॥ श्रीहरिः ॥

279

संक्षिप्त

# स्कन्दपुराण

गीताप्रेस गोरखपुर

GITA PRESS, GORAKHPUR [SINCE 1923]

गीताप्रेस गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

# संक्षिप्त स्कन्दपुराण

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०७६ उनतीसवाँ पुनर्मुद्रण ३,०००
कुल मुद्रण १,२०,५००

❖ मूल्य—₹ ३८०
( तीन सौ अस्सी रुपये )

प्रकाशक एवं मुद्रक—
गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५
( गोबिन्दभवन-कार्यालय, कोलकाता का संस्थान )
फोन : ( ०५५१ ) २३३४७२१, २३३१२५०, २३३१२५१
web : gitapress.org e-mail : booksales@gitapress.org
गीताप्रेस प्रकाशन gitapressbookshop.in से online खरीदें।

॥ श्रीहरिः ॥

# नम्र निवेदन

भारतीय संस्कृतिके मूलाधारके रूपमें वेदोंके बाद पुराणोंका ही स्थान है। वेदोंमें वर्णित अगम रहस्योंतक जन-सामान्यकी पहुँच नहीं हो पाती, परन्तु पुराणोंकी मंगलमयी, ज्ञानप्रदायिनी दिव्य कथाओंका श्रवण-मनन और पठन-पाठन करके जन-साधारण भी भक्तितत्त्वके अनुपम रहस्यसे सहज ही परिचित हो सकते हैं। महाभारतमें कहा गया है—'पुराणसंहिताः पुण्याः कथा धर्मार्थसंश्रिताः।' (महाभारत, आदि० १।१६) 'अर्थात् पुराणोंकी पवित्र कथाएँ धर्म और अर्थको प्रदान करनेवाली हैं।' अध्यात्मकी दिशामें अग्रसर होनेवाले साधकोंको पौराणिक कथाओंके अनुशीलनसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होती है। इसलिये भगवान्‌के दर्शनके लिये अथवा शारीरिक और मानसिक रोगकी निवृत्तिके लिये पुराणोंका पारायण करना चाहिये।

पंचम वेदके रूपमें पौराणिक ज्ञान सर्वप्रथम सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीके द्वारा अभिव्यक्त हुआ—

इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः॥ (श्रीमद्भा० ३।१२।३९)

'इतिहास और पुराणरूप पाँचवें वेदको समर्थ, सर्वज्ञ ब्रह्माजीने अपने सभी मुखोंसे प्रकट किया।' इसी दृष्टिसे कहा गया है—'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणां स्मृतम्।' इनका विस्तार सौ करोड़ श्लोकोंका माना गया है। समयके परिवर्तनसे जब मनुष्यकी आयु कम हो जाती है और इतने बड़े पुराणका श्रवण-मनन मनुष्योंके लिये असम्भव हो जाता है, तब उनका संक्षेप करनेके लिये भगवान् स्वयं व्यासरूपमें अवतीर्ण होकर उन्हें अठारह भागोंमें बाँटकर चार लाख श्लोकोंमें सीमित कर देते हैं। पुराणोंका यह संक्षिप्त संस्करण ही यहाँ उपलब्ध है। कहते हैं स्वर्गादि लोकोंमें आज भी एक अरब श्लोकोंका विस्तृत पुराण विद्यमान हैं। इस प्रकार भगवान् व्यास भी पुराणोंके रचयिता नहीं, अपितु संक्षेपक या संग्राहक ही सिद्ध होते हैं। इसीलिये वेदोंकी भाँति पुराण भी अनादि माने जाते हैं।

विभिन्न विषयोंके विस्तृत विवेचनकी दृष्टिसे पुराणोंमें स्कन्दपुराण सबसे बड़ा है। भगवान् स्कन्दके द्वारा कथित होनेके कारण इसका नाम स्कन्दपुराण है। यह खण्डात्मक और संहितात्मक दो स्वरूपोंमें उपलब्ध है। दोनों खण्डोंमें ८१-८१ हजार श्लोक हैं। खण्डात्मक स्कन्दपुराणमें क्रमशः माहेश्वर, वैष्णव, ब्राह्म, काशी, अवन्ती (ताप्ती और रेवाखण्ड) नागर तथा प्रभास—ये सात खण्ड हैं। संहितात्मक स्कन्दपुराणमें सनत्कुमार, शंकर, ब्राह्म, सौर, वैष्णव और सूत—छः संहिताएँ हैं। इसमें बदरिकाश्रम, अयोध्या, जगन्नाथपुरी, रामेश्वर, कन्याकुमारी, प्रभास, द्वारका, काशी, कांची आदि तीर्थोंकी महिमा; गंगा, नर्मदा, यमुना, सरस्वती आदि नदियोंके उद्गमकी मनोरम कथाएँ; रामायण, भागवतादि ग्रन्थोंका माहात्म्य, विभिन्न महीनोंके व्रत-पर्वका माहात्म्य तथा शिवरात्रि, सत्यनारायण आदि व्रत-कथाएँ अत्यन्त ही रोचक शैलीमें प्रस्तुत की गयी हैं। विचित्र कथाओंके माध्यमसे भौगोलिक ज्ञान तथा प्राचीन इतिहासकी ललित प्रस्तुति इस पुराणकी अपनी अलग विशेषता है। आज भी इसमें वर्णित विभिन्न व्रत-त्योहारोंके दर्शन भारतके घर-घरमें किये जा सकते हैं।

इस पुराणकी विशेषताओंको देखकर 'कल्याण-वर्ष २५, सन् १९५१' के विशेषाङ्कके रूपमें संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्कका प्रकाशन किया गया था जिसके स्वाध्यायसे जिज्ञासु साधक अपने आत्मकल्याणका पथ प्रशस्त करते रहे हैं। अब इस संक्षिप्त स्कन्दपुराणको गीताप्रेसद्वारा पुस्तकरूपमें पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है, धर्मप्रेमी सज्जन इसके स्वाध्याय एवं मननके माध्यमसे पारमार्थिक लाभ उठाते रहेंगे।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

# विषय-सूची


| विषय | पृष्ठ-संख्या |
|---|---|
| **( १ ) माहेश्वरखण्ड** | |
| **( केदारखण्ड )** | |
| १. भगवान् शिवकी महिमा, दक्षका शिवजीसे द्वेष तथा दक्ष-यज्ञमें सतीका गमन | १ |
| २. सतीका अग्नि-प्रवेश, दक्ष-यज्ञ-विध्वंस तथा दक्षपर पुनः भगवान् शिवकी कृपा | ५ |
| ३. शिवपूजनकी महिमा | १२ |
| ४. शिवलिंग-पूजनकी महिमा तथा रावणके उत्कर्ष और पतनका वृत्तान्त | १३ |
| ५. गुरुकी अवहेलनासे इन्द्रकी दैत्योंद्वारा पराजय, समुद्र-मन्थन, शंकरजीकी कृपासे कालकूट विषसे सबकी रक्षा, विविध रत्नोंका प्राकट्य तथा लक्ष्मीजीका प्रादुर्भाव | १६ |
| ६. अमृतकी उत्पत्ति, भगवान्‌का मोहिनीरूपद्वारा देवताओंको अमृत पिलाना, शिवके द्वारा राहुसे चन्द्रमाकी रक्षा तथा शिवके लिये दीपदान, रुद्राक्षधारण और विभूतिधारणका माहात्म्य | २४ |
| ७. इन्द्रकी विजय, इन्द्रद्वारा विश्वरूपका वध, नहुषका स्वर्गसे पतन, ब्रह्महत्यासे इन्द्रकी मुक्ति तथा पुनः राज्यकी प्राप्ति | २७ |
| ८. विश्वकर्माके तपसे वृत्रासुरकी उत्पत्ति तथा दधीचिद्वारा देवताओंको अस्थिदान | ३३ |
| ९. पिप्पलादका जन्म, सुवर्चाका पतिलोकगमन, देवासुर-संग्राममें नमुचिका वध, प्रदोष-व्रतकी विधि और उद्यापन, इन्द्र और वृत्रासुरका युद्ध तथा इन्द्रकी विजय | ३५ |
| १०. बलिके द्वारा देवताओंकी पराजय, अदितिके व्रत-तपस्यासे सन्तुष्ट हो भगवान्‌का वामनरूपमें अवतार, बलिके पूर्वजन्मका प्रसंग तथा बलिपर वामनजीकी कृपा | ४२ |
| ११. तारकासुरको ब्रह्माजीका वरदान, हिमालयके घर सतीका पार्वतीरूपमें अवतार, शंकरजीके रोषसे कामदेवका भस्म होना तथा पार्वतीकी उग्र तपस्या | ५१ |
| १२. देवताओंकी प्रार्थनासे भगवान् शिवका पार्वतीजीके पास जाना और उनके प्रेमकी परीक्षा ले उनकी तपस्याको सफल बनाना | ५७ |
| १३. सप्तर्षियोंका आगमन, शिवके साथ पार्वतीके विवाहका निश्चय, समस्त देवताओंका शिवकी बारातमें आगमन, हिमवान्‌द्वारा स्वागत तथा मण्डपमें कन्यादानकी तैयारी | ६१ |
| १४. हिमवान्‌द्वारा कन्यादान, बारातका भोजन और बिदाई, शिवमहिमा तथा कुमारका जन्म | ६६ |
| १५. देवताओंका तारकासुर और उनकी सेनाके साथ संग्राम तथा कुमार कार्तिकेयद्वारा तारकासुरका वध | ७० |
| १६. यमराजके द्वारा भगवान् शिवकी स्तुति तथा शिवके द्वारा यमराजको आत्मज्ञानका उपदेश | ७४ |
| १७. कार्तिकेयजीकी स्तुति और उनके द्वारा पर्वतोंको वरदान तथा महाराज श्वेतका चरित्र | ७७ |
| १८. शिवरात्रि-व्रतकी महिमा | ८० |
| **( कुमारिकाखण्ड )** | |
| १९. पंचाप्सरसतीर्थमें अर्जुनद्वारा अप्सराओंका उद्धार | ८३ |
| २०. सारस्वत-कात्यायन-संवाद—दान और त्यागकी महिमा | ८६ |
| २१. नारदजीके द्वारा धर्मवर्माके दानसम्बन्धी जटिल प्रश्नोंका समाधान | ९१ |
| २२. कलाप-ग्रामनिवासी सुतनुद्वारा नारदजीके जटिल प्रश्नोंका समाधान | ९९ |
| २३. नारदजीके द्वारा कलाप-ग्रामके ब्राह्मणोंको महीसागरसंगममें ले आना और वहाँ उन्हें भूमि आदि देकर पुण्यस्थानकी स्थापना करना | १०७ |
| २४. लोमशजीका राजा इन्द्रद्युम्नको अपने पूर्वजन्मका चरित्र सुनाकर शिवकी आराधनाका महत्त्व बतलाना | ११२ |
| २५. संवर्तके मुखसे महीसागरसंगमकी महिमा तथा भर्तृयज्ञद्वारा शतरुद्रिय सुनकर शिवकी आराधनासे इन्द्रद्युम्न आदि सब भक्तोंको शिवसारूप्यकी प्राप्ति | ११५ |
| २६. कुमारका अनुताप, भगवान् विष्णुका उन्हें समझाना तथा उनकी सम्मतिसे स्कन्दद्वारा तीन शिवलिंगोंकी स्थापना और भगवान् शिवका वरदान | १२२ |
| २७. कुमारका विजयस्तम्भ, प्रलम्ब दानवका वध तथा भूगोलका वर्णन | १३० |
| २८. नवग्रहोंकी स्थिति, ऊपरके सात लोकोंका वर्णन, वायुके सात स्कन्ध, सात पाताल, इक्कीस नरक, ब्रह्माण्डकटाह एवं काल-मान आदिका निरूपण | १३५ |
| २९. राजा शतशृंगकी पुत्री कुमारीका चरित्र तथा कुमारीखण्डकी श्रेष्ठता | १४१ |
| ३०. कालभीतिकी तपस्या तथा धर्मनिष्ठा, महाकालका प्रादुर्भाव और कालभीतिपर भगवान् शङ्करकी कृपा | १४५ |
| ३१. महाकालद्वारा करन्धमके प्रश्नानुसार श्राद्ध तथा युगव्यवस्थाका वर्णन | १५० |
| ३२. त्रिदेवोंकी श्रेष्ठता और पापोंके भेद | १५६ |
| ३३. शिवपूजाकी विधि तथा सदाचारका निरूपण | १६१ |

विषय — पृष्ठ-संख्या

३४. नारदजीके द्वारा भगवान् वासुदेवकी स्थापना, ऐतरेयका अपनी मातासे संसारदुःखका वर्णन, भगवान्‌का प्रत्यक्ष प्रकट होकर ऐतरेयको वरदान देना तथा वासुदेवके ध्यानसे ऐतरेयकी मुक्ति... १६६
३५. भट्टादित्यकी स्थापना तथा नारदजीके द्वारा एक सौ आठ नामोंसे उनकी स्तुति ..... १७९
३६. महात्मा नन्दभद्रके सारभूत विचार तथा उनके द्वारा सत्यव्रतके नास्तिकतापूर्ण विचारोंका खण्डन १८१
३७. नन्दभद्र और बालकका संवाद, बालादित्यकी स्थापना और नन्दभद्रकी मुक्ति ..... १८७
३८. महीसागरसंगमतीर्थकी रक्षा करनेवाली देवियोंका परिचय..... १९२
३९. उभय सोमनाथके प्रादुर्भावकी कथा और कमठके द्वारा गर्भवास तथा मानव-शरीरकी उत्पत्तिका वर्णन ..... १९४
४०. कमठद्वारा शरीरकी उत्पत्ति, विनाश तथा जीवके परलोकवासका वर्णन ..... १९८
४१. पापकर्मोंके फल, जयादित्यकी स्तुति और महिमा २०२
४२. नारदजीके गुणोंका वर्णन तथा गौतमेश्वरकी महिमाके प्रसंगमें योगका निरूपण ..... २०७
४३. महीसागरसंगमकी श्रेष्ठता तथा उसके गुप्तक्षेत्र होनेका कारण..... २१७
४४. घटोत्कचका विवाह और बर्बरीकका जन्म..... २१९
४५. बर्बरीक और विजयकी गुप्तक्षेत्रमें साधना तथा पाण्डवोंसे बर्बरीककी भेंट ..... २२४
४६. बर्बरीकका वध तथा उसके पूर्वजन्मके वृत्तान्तका वर्णन और ग्रन्थका उपसंहार..... २३३

**( अरुणाचल-माहात्म्यखण्ड )**

४७. भगवान् शंकरका 'अरुणाचल' रूपसे प्रकट होना तथा ब्रह्मा और विष्णुका उनकी स्तुति करना २३८
४८. शिवके विभिन्न तीर्थोंकी महिमा ..... २४०
४९. अरुणाचलक्षेत्रकी महिमा, विभिन्न पापोंके फल और उन पापकर्मोंका प्रायश्चित्त..... २४४
५०. अरुणाचलेश्वरकी पूजा, शिवजीके द्वारा सृष्टिका प्रादुर्भाव तथा विष्णुके द्वारा भगवान् शंकरकी स्तुति ..... २४७
५१. शिव-पार्वतीके दाम्पत्यजीवनकी एक झाँकी, पार्वतीकी अरुणाचलक्षेत्रमें तपस्या और दुर्गादेवीके द्वारा शुम्भ, निशुम्भ और महिषासुरका वध.... २४८
५२. खड्गतीर्थकी उत्पत्ति, ज्योतिदर्शन, पार्वतीपर अरुणाचलेश्वरकी कृपा तथा भगवान् शिवका वरदान. २५३
५३. कान्तिशाली तथा कलाधरका उद्धार, राजा वज्रांगदद्वारा अरुणाचलेश्वरकी आराधना तथा भगवान् शिवकी उनके ऊपर कृपा ..... २५५

विषय — पृष्ठ-संख्या

**( २ ) वैष्णवखण्ड**

**( भूमिवाराहखण्ड या वेंकटाचल-माहात्म्य )**

५४. मेरुगिरिपर भगवान् वाराहकी सेवामें पृथ्वीदेवीका उपस्थित होना और श्रेष्ठ पर्वतों तथा वेंकटाचलवर्ती तीर्थोंका माहात्म्य सुनना ..... २६१
५५. भगवान् वाराहका मन्त्र, उसके जपकी विधि, ध्यान तथा उसके अनुष्ठानका फल..... २६५
५६. महर्षि अगस्त्यकी प्रार्थनासे भगवान् विष्णुका वेंकटाचलपर श्री-भू देवियोंके साथ निवास तथा आकाशराजके यहाँ पद्मावती और वसुदानका जन्म ..... २६६
५७. वेंकटाचलनिवासी श्रीहरि और पद्मावतीका विवाह २६८
५८. तोण्डमानको निषादके साथ भगवान् श्रीनिवासका दर्शन होना ..... २७६
५९. वाराहभगवान् तथा अस्थिसरोवरतीर्थकी महिमा, भक्त कुम्हार तथा राजा तोण्डमानका परमधाम-गमन ..... २८०
६०. राजा परीक्षित्‌को ब्राह्मणका शाप, तक्षकके काटनेसे उनकी मृत्यु तथा उनकी रक्षा न करनेके पापसे कलंकित काश्यप ब्राह्मणका स्वामिपुष्करिणीमें स्नान करके शुद्ध होना ..... २८४
६१. स्वामितीर्थकी महिमा और उसमें स्नान करनेसे राजा धर्मगुप्तके शापजनित उन्मादका निवारण. २८७
६२. कृष्णतीर्थ और भगवान् वेंकटेश्वरका माहात्म्य. २९०
६३. पापनाशनतीर्थकी महिमा—भद्रमति ब्राह्मणका चरित्र ..... २९२
६४. आकाशगंगातीर्थकी महिमा—रामानुजपर भगवान्‌की कृपा तथा भगवद्भक्तोंका लक्षण..... २९५
६५. दान-पात्र-विचार, चक्रतीर्थकी महिमा, पद्मनाभकी तपस्या, भगवान्‌का वरदान तथा राक्षसके आक्रमणसे चक्रद्वारा पद्मनाभकी रक्षा ..... २९७
६६. सुन्दर गन्धर्वका वसिष्ठजीके शापसे राक्षसभावको प्राप्त होकर पुनः उससे मुक्त होना..... ३००
६७. घोणतीर्थका माहात्म्य—गन्धर्वपत्नीका उद्धार.... ३०१
६८. वेंकटाचलके मुख्य तीर्थोंका वर्णन, पुराणश्रवणकी महिमा और नियम तथा अर्जुनकी तीर्थयात्रा ... ३०३
६९. अर्जुनका कालहस्तीश्वरके समीप भरद्वाजके आश्रमपर जाना और भरद्वाजजीके द्वारा अगस्त्यजीके प्रभावका वर्णन ..... ३०६
७०. महर्षि अगस्त्यकी तपस्यासे सुवर्णमुखरी नदीका प्रादुर्भाव और उसका माहात्म्य ..... ३०८
७१. सुवर्णमुखरी नदीके तीर्थोंका वर्णन, भगवान् विष्णुकी महिमा, प्रलयकालकी स्थिति तथा श्वेतवाराहरूपमें भगवान्‌का प्राकट्य ..... ३११

| विषय | पृष्ठ-संख्या |
|---|---|
| ७२. वेंकटाचलपर राजा शंख और महर्षि अगस्त्य आदिको भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन तथा वरप्राप्ति .. | ३१५ |
| ७३. आकाशगंगातीर्थमें अंजनाकी तपस्या और उसे वायुदेवद्वारा वरदानकी प्राप्ति ..... | ३१८ |
| **( उत्कलखण्ड या पुरुषोत्तमक्षेत्र-माहात्म्य )** | |
| ७४. भगवान् विष्णुका ब्रह्माजीको पुरुषोत्तमक्षेत्रमें जानेका आदेश ..... | ३२० |
| ७५. यमराज तथा मार्कण्डेयजीके द्वारा भगवान्‌की स्तुति और पुरुषोत्तमक्षेत्रकी महिमा ..... | ३२२ |
| ७६. पुरुषोत्तमक्षेत्रके विभिन्न तीर्थों और देवताओंका परिचय, तीर्थ और भगवान्‌की महिमा तथा पापपरायण पुण्डरीक और अम्बरीषका उस क्षेत्रमें आना ... | ३२६ |
| ७७. पुण्डरीक और अम्बरीषद्वारा भगवान्‌की स्तुति तथा पुरुषोत्तमक्षेत्रमें रहकर भजन करनेसे उनकी मुक्तिका वर्णन ..... | ३२८ |
| ७८. उत्कलदेशके भव्य रूपका परिचय, राजा इन्द्रद्युम्नका एक तीर्थयात्रीसे पुरुषोत्तमक्षेत्रकी महिमा सुनकर पुरोहितके भाईको वहाँ भेजना और उनका नीलाचलके समीप शबरसे वार्तालाप ..... | ३३१ |
| ७९. विद्यापतिका शबरके साथ नीलमाधवका दर्शन करके तीर्थकी परिक्रमा करना और अवन्तीमें जाकर राजा इन्द्रद्युम्नको सब समाचार सुनाना ..... | ३३५ |
| ८०. भगवान् जगन्नाथके नीलमणिमय विग्रहका वर्णन, इन्द्रद्युम्नके पास नारदजीका आगमन और भक्ति एवं भक्तके स्वरूपका विवेचन ..... | ३३९ |
| ८१. राजा इन्द्रद्युम्नका पुरुषोत्तमक्षेत्रको प्रस्थान और महानदीके तटपर विश्राम ..... | ३४४ |
| ८२. राजाका एकाम्रक्षेत्र (भुवनेश्वर)-में जाकर भगवान् शिवका पूजन करना और भगवान् शिवका नारदजीसे उनके कर्तव्यकार्योंका संकेत करना ..... | ३४७ |
| ८३. राजा इन्द्रद्युम्नका नारदजीके साथ नृसिंहजी, कल्पवट तथा नीलमाधवके स्थानका दर्शन करना और आकाशवाणी सुनना ..... | ३४९ |
| ८४. देवर्षि नारदजीके द्वारा भगवान् नृसिंहकी स्थापना और राजा इन्द्रद्युम्नके द्वारा उनका स्तवन ..... | ३५१ |
| ८५. इन्द्रद्युम्नके द्वारा सहस्र अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान और ध्यानमें भगवान्‌का दर्शन ..... | ३५३ |
| ८६. अश्वमेधकी पूर्ति, आकाशवाणी, भगवान्‌की काष्ठमयी प्रतिमाका निर्माण, संस्कार तथा स्तवन ..... | ३५६ |
| ८७. देवताओं तथा ब्रह्माजीके द्वारा भगवद्विग्रहोंका स्तवन और उनकी स्थापना ..... | ३५९ |
| ८८. ब्रह्माजीके द्वारा भगवत्स्वरूपकी एकताका प्रतिपादन तथा भगवान्‌का राजा इन्द्रद्युम्नको अपनी सेवाका आदेश देना ..... | ३६६ |
| ८९. समुद्रमें स्नानकी विधि और भगवद्विग्रहोंका वर्णन.. | ३६८ |
| ९०. इन्द्रद्युम्न-सरोवरमें स्नान, नृसिंहजीका दर्शन-पूजन तथा भगवद्विग्रहोंके ज्येष्ठ-स्नानका वर्णन..... | ३७१ |
| ९१. श्रीजगन्नाथजीकी रथयात्रा, गुण्डिचा-महोत्सव तथा पुनः मन्दिरप्रवेश सम्बन्धी यात्रा एवं उत्सवकी महिमा ..... | ३७३ |
| ९२. पुरुषोत्तमक्षेत्रमें चातुर्मास्यकी महिमा, राजा श्वेतपर भगवत्कृपा तथा भगवत्प्रसादका माहात्म्य ..... | ३७६ |
| ९३. भगवान् पुरुषोत्तमके पार्श्व-परिवर्तन, उत्थापन और प्रावरण आदि उत्सवोंका महत्त्व ..... | ३८१ |
| ९४. पुष्यस्नानोत्सव, उत्तरायणोत्सव तथा दोलारोहण-उत्सवका वर्णन ..... | ३८३ |
| ९५. भगवान्‌की द्वादशादित्य मूर्तियोंकी उपासना, दक्षके द्वारा भगवान्‌की आराधना और वर-प्राप्ति तथा विभिन्न विभूतियोंके रूपमें भगवान्‌की उपासनाका फल ..... | ३८७ |
| ९६. राजा इन्द्रद्युम्नका ब्रह्मलोकगमन, पुराण-श्रवणकी विधि और ग्रन्थका उपसंहार ..... | ३८९ |
| **( बदरिकाश्रम-माहात्म्य )** | |
| ९७. सब तीर्थोंका संक्षिप्त माहात्म्य तथा बदरीक्षेत्रकी विस्तृत महिमाका उपक्रम ..... | ३९२ |
| ९८. बदरीक्षेत्रकी महिमा—अग्निदेवके सर्वभक्षणरूप दोषका निवारण ..... | ३९३ |
| ९९. बदरीक्षेत्रकी पाँच शिलाओंमेंसे नारदशिला और मार्कण्डेयशिलाका माहात्म्य ..... | ३९५ |
| १००. गरुड़शिला, वाराहीशिला और नारसिंही-शिलाकी उत्पत्ति और महिमा ..... | ३९७ |
| १०१. बदरीक्षेत्र और वहाँ भगवान्‌के प्रसाद-ग्रहणकी विशेष महिमा ..... | ४०० |
| १०२. कपालतीर्थ, ब्रह्मतीर्थ और वसुधारातीर्थकी महिमा... | ४०१ |
| १०३. पंचतीर्थ, सोमतीर्थ, द्वादशादित्यतीर्थ, चतुःस्रोततीर्थ, सत्यपदतीर्थ तथा नर-नारायणाश्रमकी महिमा | ४०४ |
| १०४. मेरुतीर्थ, लोकपालतीर्थ, दण्डपुष्करिणी, गंगासंगम तथा धर्मक्षेत्र आदिका माहात्म्य और ग्रन्थका उपसंहार ..... | ४०५ |
| **( कार्तिकमास-माहात्म्य )** | |
| १०५. कार्तिकमासकी श्रेष्ठता तथा उसमें करनेयोग्य स्नान, दान, भगवत्पूजन आदि धर्मोंका महत्त्व.. | ४०८ |
| १०६. विभिन्न देवताओंके सन्तोषके लिये कार्तिकस्नानकी विधि तथा स्नानके लिये श्रेष्ठ तीर्थोंका वर्णन... | ४१० |
| १०७. कार्तिकव्रत करनेवाले मनुष्यके लिये पालनीय नियम ..... | ४१३ |
| १०८. कार्तिकव्रतसे एक पतित ब्राह्मणीका उद्धार तथा दीपदान एवं आकाशदीपकी महिमा ..... | ४१६ |

| विषय | पृष्ठ-संख्या |
|---|---|
| १०९. कार्तिकमें तुलसीवृक्षके आरोपण और पूजन आदिकी महिमा | ४१८ |
| ११०. त्रयोदशीसे लेकर दीपावलीतकके उत्सव-कृत्यका वर्णन | ४२१ |
| १११. कार्तिकशुक्ला प्रतिपदा और यमद्वितीयाके कृत्य तथा बहिनके घरमें भोजनका महत्त्व | ४२३ |
| ११२. आँवलेके वृक्षकी उत्पत्ति और उसका माहात्म्य | ४२५ |
| ११३. गुणवतीका कार्तिकव्रतके पुण्यसे सत्यभामाके रूपमें अवतार तथा भगवान्‌के द्वारा शंखासुरका वध और वेदोंका उद्धार | ४२७ |
| ११४. कार्तिकव्रतके पुण्यदानसे एक राक्षसीका उद्धार | ४२९ |
| ११५. भक्तिके प्रभावसे विष्णुदास और राजा चोलका भगवान्‌के पार्षद होना | ४३१ |
| ११६. जय-विजयका चरित्र | ४३५ |
| ११७. सांसर्गिक पुण्यसे धनेश्वरका उद्धार, दूसरोंके पुण्य और पापकी आंशिक प्राप्तिके कारण तथा मासोपवासव्रतकी संक्षिप्त विधि | ४३६ |
| ११८. तुलसी-विवाह और भीष्मपंचक-व्रतकी विधि एवं महिमा | ४३८ |
| ११९. एकादशीको भगवान्‌के जगानेकी विधि, कार्तिकव्रतका उद्यापन और अन्तिम तीन तिथियोंकी महिमाके साथ ग्रन्थका उपसंहार | ४४१ |
| **( मार्गशीर्षमास-माहात्म्य )** | |
| १२०. मार्गशीर्षमासमें प्रातःस्नानकी महिमा, स्नानविधि, तिलक-धारण, गोपीचन्दनका माहात्म्य, तुलसीमालाका महत्त्व, भगवत्पूजनका विधान और शंखकी महिमा | ४४४ |
| १२१. भगवान्‌के पूजनमें घण्टानाद, चन्दन, पुष्प, तुलसीदल, धूप और दीपका माहात्म्य | ४४७ |
| १२२. स्तुतिपाठ, मन्त्रजप, साष्टांग प्रणाम तथा दामोदरमन्त्रके जपका माहात्म्य | ४४९ |
| १२३. राजा वीरबाहुके पूर्वजन्मका वृत्तान्त एवं एकादशी-व्रत और उसका उद्यापन | ४५० |
| १२४. एकादशीके जागरण और मत्स्योत्सवकी विधि एवं माहात्म्य | ४५४ |
| १२५. ब्राह्मण-भोजन, प्रसाद-भक्षण और श्रीकृष्ण-कीर्तनकी महिमा | ४५६ |
| १२६. श्रीकृष्णके बालस्वरूपका ध्यान, दामोदरमन्त्रके अधिकारी शिष्य और गुरुका लक्षण और श्रीमद्भागवतकी महिमा | ४५८ |
| १२७. मार्गशीर्षमासमें मथुरासेवनका माहात्म्य और ग्रन्थका उपसंहार | ४६० |
| **( श्रीमद्भागवत-माहात्म्य )** | |
| १२८. परीक्षित् और वज्रनाभका समागम, शाण्डिल्य मुनिके मुखसे भगवान्‌की लीलाके रहस्य और व्रजभूमिके महत्त्वका वर्णन | ४६२ |
| १२९. यमुना और श्रीकृष्णपत्नियोंका संवाद, कीर्तनोत्सवमें उद्धवजीका प्रकट होना | ४६४ |
| १३०. श्रीमद्भागवतका माहात्म्य, भागवतश्रवणसे श्रोताओंको भगवद्धामकी प्राप्ति | ४६७ |
| १३१. श्रीमद्भागवतका स्वरूप, प्रमाण, श्रोता-वक्ताके लक्षण, श्रवणविधि और माहात्म्य | ४७० |
| **( वैशाखमास-माहात्म्य )** | |
| १३२. वैशाखमासकी श्रेष्ठता; उसमें जल, व्यजन, छत्र, पादुका और अन्न आदि दानोंकी महिमा | ४७४ |
| १३३. वैशाखमासमें विविध वस्तुओंके दानका महत्त्व तथा वैशाखस्नानके नियम | ४७५ |
| १३४. वैशाखमासमें छत्रदानसे हेमकान्तका उद्धार | ४७७ |
| १३५. महर्षि वसिष्ठके उपदेशसे राजा कीर्तिमान्‌का अपने राज्यमें वैशाखमासके धर्मका पालन कराना और यमराजका ब्रह्माजीसे राजाके लिये शिकायत करना | ४८० |
| १३६. ब्रह्माजीका यमराजको समझाना और भगवान् विष्णुका उन्हें वैशाखमासमें भाग दिलाना | ४८४ |
| १३७. भगवत्कथाके श्रवण और कीर्तनका महत्त्व तथा वैशाखमासके धर्मोंके अनुष्ठानसे राजा पुरुयशाका संकटसे उद्धार | ४८६ |
| १३८. राजा पुरुयशाको भगवान्‌का दर्शन, उनके द्वारा भगवत्स्तुति और भगवान्‌के वरदानसे राजाकी सायुज्य मुक्ति | ४८९ |
| १३९. शंख-व्याध-संवाद, व्याधके पूर्वजन्मका वृत्तान्त | ४९१ |
| १४०. भगवान् विष्णुके स्वरूपका विवेचन, प्राणकी श्रेष्ठता, जीवोंके विभिन्न स्वभावों और कर्मोंका कारण तथा भागवतधर्म | ४९३ |
| १४१. वैशाखमासके माहात्म्य-श्रवणसे एक सर्पका उद्धार और वैशाखधर्मके पालन तथा राम-नामजपसे व्याधका वाल्मीकि होना | ४९७ |
| १४२. धर्मवर्णकी कथा, कलिकी अवस्थाका वर्णन, धर्मवर्ण और पितरोंका संवाद एवं वैशाखकी अमावास्याकी श्रेष्ठता | ५०० |
| १४३. वैशाखकी अक्षय तृतीया और द्वादशीकी महत्ता, द्वादशीके पुण्यदानसे एक कुतियाका उद्धार | ५०३ |
| १४४. वैशाखमासकी अन्तिम तीन तिथियोंकी महत्ता तथा ग्रन्थका उपसंहार | ५०६ |
| **( श्रीअयोध्या-माहात्म्य )** | |
| १४५. अयोध्यापुरीकी महिमा और सीमाका वर्णन, चक्रतीर्थ एवं श्रीविष्णुहरिका माहात्म्य | ५०८ |
| १४६. ब्रह्मकुण्ड, ऋणमोचन तथा पापमोचन आदि तीर्थोंकी महिमा | ५१० |
| १४७. स्वर्गद्वार तथा चन्द्रहरितीर्थकी महिमा, चन्द्रसहस्रव्रतकी उद्यापनविधि | ५१२ |

| विषय | पृष्ठ-संख्या |
|---|---|
| १४८. धर्महरिकी स्थापना और स्वर्णखनि तीर्थ, रघुका सर्वस्व दान तथा कौत्सकी याचनाको सफल करना | ५१४ |
| १४९. सम्भेदतीर्थ, सीताकुण्ड, गुप्तहरि और चक्रहरि तीर्थकी महिमा | ५१७ |
| १५०. गोप्रतारतीर्थकी महिमा और श्रीरामके परमधाम-गमनकी कथा | ५२० |
| १५१. क्षीरोदकतीर्थ, बृहस्पतिकुण्ड, रुक्मिणी आदि कुण्डोंका माहात्म्य | ५२३ |
| १५२. अयोध्याक्षेत्रके अन्य विविध तीर्थोंका वर्णन तथा वसिष्ठके मुखसे विभीषण आदिका अयोध्या-माहात्म्य-श्रवण | ५२५ |
| १५३. गयाकूप आदि अनेक तीर्थोंका माहात्म्य तथा ग्रन्थका उपसंहार | ५२७ |
| **( ३ ) ब्राह्मखण्ड** | |
| **( सेतु-माहात्म्य )** | |
| १५४. सेतुतीर्थ (रामेश्वरक्षेत्र)-की महिमा | ५३० |
| १५५. सेतुबन्धकी कथा तथा सेतुमें स्थित मुख्य-मुख्य तीर्थोंके नाम | ५३२ |
| १५६. चक्रतीर्थका माहात्म्य—गालवमुनि तथा धर्मकी तपस्याका वर्णन | ५३५ |
| १५७. सेतुबन्धन आरम्भ करनेकी बात तथा सेतुयात्राका क्रम एवं विधान | ५३९ |
| १५८. सीतासरोवर और मंगलतीर्थका माहात्म्य, राजा मनोजवकी कथा | ५४० |
| १५९. एकान्तरामनाथ, ब्रह्मकुण्ड, हनुमत्कुण्ड और अगस्त्यतीर्थका माहात्म्य | ५४४ |
| १६०. रामतीर्थ, लक्ष्मणतीर्थ और जटातीर्थकी महिमा | ५४६ |
| १६१. लक्ष्मीतीर्थ और अग्नितीर्थका माहात्म्य—पिशाच-योनिको प्राप्त हुए दुष्पण्यका उद्धार | ५४८ |
| १६२. चक्रतीर्थ, शिवतीर्थ, शंखतीर्थ और यमुना, गंगा एवं गयातीर्थकी महिमा—राजा जानश्रुतिको रैक्वके उपदेशसे ब्रह्मभावकी प्राप्ति | ५५१ |
| १६३. कोटितीर्थकी महिमा—भगवान् श्रीकृष्णका अवतार, कंसवध तथा श्रीकृष्णका कोटितीर्थमें स्नान | ५५४ |
| १६४. सर्वतीर्थ तथा धनुष्कोटि तीर्थोंकी महिमा | ५५८ |
| १६५. अश्वत्थामाके द्वारा सोते हुए पाण्डव-योद्धाओंका वध तथा धनुष्कोटिमें स्नान करनेसे उसका उद्धार | ५६१ |
| १६६. धनुष्कोटिमें स्नान करनेसे परावसुका पापसे उद्धार | ५६४ |
| १६७. धनुष्कोटिकी महिमा; सियार, वानर तथा दुराचार ब्राह्मणकी कथा और महालय श्राद्धकी आवश्यकता | ५६६ |
| १६८. क्षीरकुण्डकी उत्पत्ति और महिमा—महर्षि मुद्गलको भगवान् विष्णुका दर्शन | ५७० |
| १६९. कपितीर्थकी महिमा—उसमें स्नान करनेसे रम्भा और घृताचीका शापसे उद्धार | ५७२ |
| १७०. रामेश्वर नामक महालिंगकी महिमा | ५७३ |
| १७१. भगवान् श्रीरामके द्वारा राक्षसोंसहित रावणका वध और सेतुके क्षेत्रमें रामेश्वरलिंगकी स्थापना | ५७६ |
| १७२. श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा हनुमान्‌जीको ज्ञानोपदेश | ५७९ |
| १७३. हनुमान्‌जीद्वारा भगवान् श्रीराम और सीताका स्तवन तथा अपने लाये हुए शिवलिंगका स्थापन | ५८२ |
| १७४. भगवान् रामेश्वरके प्रभावसे राजा शंकरका ब्रह्महत्या और स्त्रीहत्याके पापसे उद्धार | ५८४ |
| १७५. राजा पुण्यनिधिके यहाँ महालक्ष्मीका पुत्रीके रूपमें निवास एवं सेतुमाधवकी महिमा | ५८८ |
| १७६. सेतुतीर्थकी यात्राका क्रम | ५९४ |
| १७७. सेतुतीर्थका माहात्म्य तथा इस खण्डका उपसंहार | ५९६ |
| **( धर्मारण्य-माहात्म्य )** | |
| १७८. धर्मकी तपस्यासे धर्मारण्यक्षेत्रकी प्रसिद्धि और उसका माहात्म्य | ६०२ |
| १७९. सदाचार—शौच, स्नान, सन्ध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव आदिका महत्त्व | ६०६ |
| १८०. वेदोंके स्वाध्याय, बलिवैश्वदेव, अतिथिसेवा, आठ प्रकारके विवाह, पंचयज्ञ तथा व्यावहारिक शिष्टाचारोंका कथन | ६१२ |
| १८१. पतिव्रता स्त्रियोंके बर्ताव, धर्म और नियम तथा श्राद्ध और धर्मारण्यका महत्त्व | ६१७ |
| १८२. धर्मारण्यवासी ब्राह्मणोंके गोत्र तथा उनकी रक्षाके लिये कामधेनुद्वारा वैश्योंकी उत्पत्ति | ६२१ |
| १८३. लोलजिह्वाक्षका वध, गणेशजीकी उत्पत्ति और देवताओंद्वारा उनका स्तवन | ६२३ |
| १८४. संज्ञाकी तपस्या, अश्विनीकुमारोंका जन्म तथा वकुलादित्यकी स्थापना | ६२६ |
| १८५. इन्द्रेश्वरकी स्थापना और उनकी महिमा, देवमज्जनक तड़ागका माहात्म्य तथा लोहासुरके अत्याचारसे धर्मारण्यकी जनताका पलायन | ६२७ |
| १८६. सरस्वती नदी, द्वारकातीर्थ एवं गोवत्स आदि तीर्थोंकी महिमा | ६२९ |
| १८७. संक्षेपसे श्रीरामचन्द्रजीके सम्पूर्ण चरित्रका वर्णन | ६३१ |
| १८८. वसिष्ठजीके द्वारा भिन्न-भिन्न तीर्थोंकी महिमाका वर्णन, श्रीरामकी धर्मारण्य-यात्रा, वहाँके भगे हुए ब्राह्मणोंको पुनः लाकर बसाना और सत्यमन्दिरकी स्थापना करना | ६३६ |
| १८९. रामनामकी महिमा, कलियुगका प्रभाव तथा धर्मारण्यक्षेत्रके माहात्म्यश्रवणका फल | ६४४ |
| **( चातुर्मास्य-माहात्म्य )** | |
| १९०. चातुर्मास्य-व्रतका माहात्म्य, संयम-नियम, दया-धर्म तथा चौमासेमें अन्न आदि दानोंकी महिमा | ६४६ |

| विषय | पृष्ठ-संख्या |
|---|---|
| १९१. चातुर्मास्यमें इष्ट वस्तुके परित्याग तथा नियम-पालनका महत्त्व | ६४९ |
| १९२. चातुर्मास्यमें विशेष-विशेष तप और भगवान्‌की षोडशोपचार पूजाका क्रम | ६५१ |
| १९३. ब्रह्माजीके द्वारा मानसी और शारीरिक सृष्टिका प्रादुर्भाव, चारों वर्णोंके धर्म तथा शूद्र जातियोंके भेदोंका वर्णन | ६५४ |
| १९४. पैजवन शूद्र और महर्षि गालवका संवाद तथा शालग्राम-शिलाके पूजनका महत्त्व | ६५६ |
| १९५. सतीका देहत्याग, पार्वतीविवाह, भगवान् शिवका हरिहररूपमें प्राकट्य और शालग्राम-शिलाका महत्त्व | ६५८ |
| १९६. शालग्राम-पूजन, द्वादशाक्षर मन्त्र एवं राम-नामकी महिमा | ६६१ |
| १९७. भगवान् शिवका नर्मदेश्वर शिवलिंगरूप होना तथा गालव-शूद्र-संवादका उपसंहार | ६६३ |
| १९८. महादेवजीके द्वारा पार्वतीके प्रति ध्यानयोग एवं ज्ञानयोगका निरूपण | ६६५ |
| १९९. ज्ञानयोग और उसके साधन, स्कन्दस्वामीका सेनापतित्व और कौमारव्रत | ६६६ |
| **( ब्रह्मोत्तरखण्ड )** | |
| २००. शिवके षडक्षर एवं पंचाक्षर मन्त्रका माहात्म्य, राजा दाशार्ह तथा रानी कलावतीकी कथा | ६६९ |
| २०१. शिवरात्रिको शिवपूजनका महत्त्व, राजा मित्रसहका वसिष्ठके शापसे राक्षस होकर ब्राह्मणकी हत्या करना और गौतमजीका उन्हें गोकर्णक्षेत्रकी महिमा सुनाना | ६७१ |
| २०२. गोकर्णक्षेत्रमें शिवरात्रिके शिव-पूजनके माहात्म्यसे एक चाण्डालीका परमधामगमन | ६७४ |
| २०३. शिव-पूजाकी महिमाके विषयमें परम शिवभक्त राजा चन्द्रसेन और भक्त श्रीकर गोपकी अद्भुत कथा | ६७७ |
| २०४. प्रदोषमें शिवपूजनकी अवहेलनासे दोषकी प्राप्तिके प्रसंगमें विदर्भराज और उसके पुत्रकी कथा | ६८० |
| २०५. प्रदोषव्रतकी विधि, इसके पालनसे द्विजकुमार और राजकुमारकी दरिद्रताका निवारण तथा राज्यकी प्राप्ति | ६८३ |
| २०६. सोमवार-व्रतके प्रभावसे सीमन्तिनीको पुनः परम सौभाग्यकी प्राप्ति | ६८८ |
| २०७. त्यागी हुई रानी और राजकुमारकी वैश्य एवं शिवयोगीद्वारा रक्षा तथा शिवयोगीका राजपुत्रको धर्मका उपदेश करना | ६९३ |
| २०८. शिवयोगीसे शिव-कवचका उपदेश और दिव्य खड्ग एवं शंख पाकर भद्रायुका शत्रुओंको जीतना तथा निषधराजकी पुत्रीसे उसका विवाह | ६९८ |
| २०९. भद्रायु तथा कीर्तिमालिनीके भक्तिभावकी परीक्षा लेकर भगवान् शिवका उन्हें वरदान देना | ७०३ |
| २१०. भस्मकी महिमासे ब्रह्मराक्षसका उद्धार | ७०६ |
| २११. भस्मकी महिमा, शबरकी चिताभस्मद्वारा की हुई पूजासे शिवजीकी प्रसन्नता और उसकी जली हुई पत्नीका पुनः जीवित होना | ७०७ |
| २१२. उमामहेश्वरव्रतकी महिमा, इसके पालनसे शारदाको शिवलोककी प्राप्ति तथा सत्कथाश्रवणका माहात्म्य और ब्राह्मखण्डकी समाप्ति | ७१० |
| **( ४ ) काशीखण्ड ( पूर्वार्ध )** | |
| २१३. मेरुगिरिसे स्पर्धा करके विन्ध्याचलका सूर्यके मार्गको रोकना और ब्रह्माजीके आदेशसे देवताओंका काशीमें अगस्त्य मुनिके समीप जाना | ७१७ |
| २१४. बृहस्पतिजीके मुखसे लोपामुद्राके पातिव्रत-धर्मका वर्णन | ७२१ |
| २१५. अगस्त्यजीका काशीपुरीसे प्रस्थान, विन्ध्यपर्वतको लघुरूपमें रहनेका आदेश और महालक्ष्मीकी स्तुति | ७२२ |
| २१६. मुक्तिदायक तीर्थोंका वर्णन तथा मानसतीर्थ एवं काशीकी श्रेष्ठता | ७२५ |
| २१७. शिवशर्माका सात पुरियोंकी यात्रा करना और हरद्वारमें उसका परमधाम-गमन | ७२८ |
| २१८. शिवशर्मा और विष्णुपार्षदोंका संवाद तथा विभिन्न लोकोंका वर्णन | ७३१ |
| २१९. शिवशर्माका सूर्यलोकमें पहुँचकर सूर्यदेवकी महिमा श्रवण करना | ७३३ |
| २२०. इन्द्रलोक तथा अग्निलोकका वर्णन, विश्वानर मुनिके द्वारा की हुई आराधनासे प्रसन्न होकर शिवजीका उन्हें वरदान देना | ७३६ |
| २२१. विश्वानरके पुत्र गृहपतिका भगवान् शिवकी आराधनासे अग्नि एवं दिक्पालका पद प्राप्त करना | ७३९ |
| २२२. नैर्ऋत्यलोक तथा वरुणलोकका वर्णन | ७४२ |
| २२३. वायु, कुबेर, ईशान और चन्द्रमाके लोकोंकी स्थितिका वर्णन | ७४४ |
| २२४. बुधलोक और शुक्रलोककी स्थिति, बुध और शुक्रके द्वारा भगवान् शिवकी स्तुति और वरदान-प्राप्ति | ७४६ |
| २२५. मंगल, बृहस्पति और शनिके लोकोंकी स्थिति | ७४९ |
| २२६. सप्तर्षिलोक और ध्रुवलोककी स्थिति, ध्रुवकी तपस्या और वरदान-प्राप्ति | ७५१ |
| २२७. महर्लोक, जनलोक और तपोलोककी स्थिति, ब्रह्माजीके द्वारा सत्यलोकका महत्त्व-कथन और भारतवर्ष एवं वहाँके तीर्थोंकी महत्ता बताते हुए प्रयाग और काशीकी महिमाका प्रतिपादन | ७६० |

| विषय | पृष्ठ-संख्या |
|---|---|
| २२८. वैकुण्ठ और कैलासकी स्थिति तथा शिव और विष्णुकी अभिन्नता एवं महत्ताका निरूपण ... | ७६३ |
| २२९. अगस्त्यजीका श्रीशैलपर कार्तिकेयजीकी सेवामें जाना और उनके मुखसे काशीकी महिमा श्रवण करना ... | ७६४ |
| २३०. काशीकी उत्पत्ति-कथा, काशी और मणिकर्णिकाका माहात्म्य ... | ७६६ |
| २३१. श्रीगंगाजीकी महिमा ... | ७६८ |
| २३२. श्रीगंगाजीकी महिमा ... | ७७२ |
| २३३. गंगासहस्रनामस्तोत्र ... | ७७३ |
| २३४. शिवकी कृपाके बिना काशीवासकी दुर्लभता तथा काशीकी महिमा ... | ७९४ |
| २३५. काशीपुरीकी श्रेष्ठता, हरिकेश यक्षको शिवाराधनाके द्वारा दण्डपाणिपदकी प्राप्ति और दण्ड-पाण्यष्टक-स्तोत्र ... | ७९७ |
| २३६. ईशानके द्वारा ज्ञानोद (ज्ञानवापी) तीर्थका प्राकट्य, ज्ञानवापीकी महिमाके प्रसंगमें सुशीला (कलावती)-की कथा, काशीके विविध तीर्थोंका वर्णन ... | ८०१ |
| २३७. ज्ञानवापीकी महिमा और उसके सेवनसे माल्यकेतु और कलावतीको तारक ब्रह्मकी प्राप्ति ... | ८०४ |
| २३८. संक्षेपसे सदाचार और उसके महत्त्वका वर्णन ... | ८०६ |
| २३९. संस्कारोंका संक्षिप्त परिचय, ब्रह्मचारी एवं ब्रह्मचर्य-आश्रमके धर्म ... | ८०८ |
| २४०. गृहस्थ-आश्रमके धर्म, पंचयज्ञकी महिमा, काशीवासकी महत्ता तथा राजा दिवोदासको पृथ्वीके राज्यकी प्राप्ति ... | ८११ |
| २४१. गृहस्थोचित शिष्टाचार और धर्म ... | ८१३ |
| २४२. वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रमके धर्मका वर्णन, योगमार्गका निरूपण ... | ८१८ |
| २४३. मृत्युसूचक चिह्नोंका वर्णन ... | ८२५ |
| २४४. महाराज दिवोदासके धर्मपूर्ण राज्यका वर्णन .. | ८२६ |
| २४५. भगवान् शिवके आदेशसे सूर्यका काशीमें गमन और निवास तथा लोलार्कतीर्थका माहात्म्य ... | ८२८ |
| २४६. उत्तरार्क सूर्यकी महिमा, सुलक्षणाकी तपस्या और उसपर शिव-पार्वतीकी कृपा ... | ८३० |
| २४७. साम्बादित्य, द्रौपदादित्य और मयूखादित्यकी माहात्म्य-कथा ... | ८३२ |
| २४८. गरुडेश्वरलिंग तथा खखोल्कादित्यकी प्रादुर्भाव-कथा, काशीमें गरुड़ और विनताकी तपस्या और वरदान-प्राप्ति ... | ८३६ |
| **काशीखण्ड (उत्तरार्ध)** | |
| २४९. अरुणादित्य, वृद्धादित्य, केशवादित्य, विमलादित्य, गंगादित्य तथा यमादित्यकी महिमाका वर्णन | ८३८ |
| २५०. ब्रह्माजीका दिवोदासकी सहायतासे काशीमें यज्ञ करना और दशाश्वमेधतीर्थकी महिमा ... | ८४१ |
| २५१. पिशाचमोचनतीर्थकी महिमा ... | ८४३ |
| २५२. गणेशजीका काशीमें जाना और लोकप्रिय होना, गणेशजीका स्तवन ... | ८४५ |
| २५३. भगवान् विष्णुका काशी-गमन, केशव एवं पादोदकतीर्थकी महिमा, धर्मक्षेत्रमें पुण्यकीर्तिका उपदेश तथा राजा दिवोदासकी निर्वाण-प्राप्ति | ८४६ |
| २५४. धर्मनदतीर्थके पंचनद नाम पड़नेका कारण, अग्निविन्दुके द्वारा भगवान् विष्णुकी स्तुति, भगवान्‌के मुखसे पंचनद एवं विन्दुमाधवतीर्थकी महिमाका निरूपण ... | ८५० |
| २५५. भगवान् विष्णुद्वारा अपने आदिकेशव प्रभृति स्वरूपोंका वर्णन तथा अग्निविन्दुकी मुक्ति ... | ८५३ |
| २५६. भगवान् शिवका स्वागत या वृषभध्वजतीर्थकी महिमा तथा शिवका काशीपुरीमें प्रवेश ... | ८५४ |
| २५७. जैगीषव्यपर भगवान् शिवकी कृपा और उनके द्वारा शिवकी स्तुति ... | ८५७ |
| २५८. काशीके ब्राह्मणोंको भगवान् शिवका वरदान तथा काशीक्षेत्रकी महिमा ... | ८५९ |
| २५९. परापरेश्वर और व्याघ्रेश्वर लिङ्गकी महिमा, भगवान् शिवद्वारा व्याघ्ररूपधारी दैत्यका वध | ८६२ |
| २६०. हिमवान्‌के द्वारा काशीमें शैलेश्वर लिंगकी प्रतिष्ठा ... | ८६३ |
| २६१. रत्नेश्वर लिंगकी महिमा ... | ८६५ |
| २६२. कृत्तिवासेश्वर लिंगका प्राकट्य और उसकी महिमा ... | ८६६ |
| २६३. विभिन्न तीर्थोंके देवविग्रहोंका काशीमें आगमन और उनका स्थान ... | ८६७ |
| २६४. दैत्योंसहित दुर्गमासुरका देवी और उनकी शक्तियोंके साथ युद्ध ... | ८७० |
| २६५. दुर्गदैत्यका वध, देवताओंद्वारा देवीकी स्तुति और दुर्गानामकी प्रसिद्धि ... | ८७२ |
| २६६. काशीके अट्ठाईस प्रमुख लिंगोंका संक्षिप्त वर्णन तथा ॐकारेश्वरके प्राकट्यकी कथा, ब्रह्माजीके द्वारा ॐकारेश्वरका स्तवन और उनकी महिमा ... | ८७४ |
| २६७. त्रिलोचन लिंगकी महिमा ... | ८७८ |
| २६८. केदारेश्वर लिंगकी माहात्म्य-कथा ... | ८८२ |
| २६९. श्रीधर्मेश्वर लिंगका माहात्म्य, धर्मपीठका गौरव तथा मनोरथतृतीयाव्रतकी विधि और महिमा | ८८३ |
| २७०. वीरेश्वर लिंगकी महिमाके प्रसंगमें राजा अमित्रजित और मलयगन्धिनीका चरित्र ... | ८८८ |
| २७१. वीरेश्वरका जन्म, तपस्या, वीरेश्वर लिंगका प्राकट्य और उसकी महिमा ... | ८९१ |
| २७२. दुर्वासेश्वर (कामेश्वर) लिङ्गकी महिमा ... | ८९३ |
| २७३. श्रीविश्वकर्मेश्वर लिंगकी महिमा ... | ८९४ |
| २७४. दक्षेश्वर तथा पार्वतीश्वर लिंगका माहात्म्य ... | ८९७ |
| २७५. नर्मदेश्वर तथा सतीश्वर लिंगका माहात्म्य .... | ८९८ |

| विषय | पृष्ठ-संख्या |
|---|---|
| २७६. अमृतेश्वर लिंगकी महिमा तथा व्यासोक्त व्रत एवं धर्मोंका निरूपण | ९०० |
| २७७. काशीके तीर्थोंका संक्षिप्त वर्णन | ९०२ |
| २७८. भगवान् शिवके मुखसे विश्वेश्वर लिंगकी महिमाका वर्णन | ९०३ |
| २७९. पंचतीर्थी, चतुर्दश आयतन, अष्ट आयतन, शैलेशादि और एकादश आयतनोंकी यात्रा, गौरीयात्रा, गणेश-यात्रा, अन्तर्गृहयात्रा तथा विश्वनाथयात्राका वर्णन | ९०६ |
| **( ५ ) आवन्त्यखण्ड** | |
| **( अवन्तीक्षेत्र-माहात्म्य )** | |
| २८०. सनत्कुमारजीके द्वारा महाकालतीर्थकी श्रेष्ठताका निरूपण | ९०९ |
| २८१. महाकालवनमें भगवान् शिवका प्रवेश, कपालमोचन, देवताओंद्वारा स्तवन तथा महापाशुपतव्रतकी महिमा | ९१० |
| २८२. रुद्रभक्तिका निरूपण तथा महाकालक्षेत्रमें निवास करनेवाले मनुष्योंके नियम | ९१३ |
| २८३. हालाहल दैत्यका वध, रुद्रसरोवरकी महिमा तथा कुशस्थलीमें चार समुद्रोंका आगमन और उसका माहात्म्य | ९१५ |
| २८४. शंकरवापी, शंकरादित्य, गन्धवती नदी, हर-सिद्धिदेवी, वटयक्षिणी, पिशाचतीर्थ, शिप्रागुप्तेश्वर आदि तथा हनुमत्केश्वरकी महिमा | ९१६ |
| २८५. महाकालकी परिक्रमा, यात्रा और विभिन्न देवताओंके दर्शनका माहात्म्य | ९१९ |
| २८६. वाल्मीकिकी तपस्या और वाल्मीकेश्वरकी महिमा | ९२० |
| २८७. शुक्रेश्वर आदिके पूजनकी महिमा, पंचेशानी यात्राका माहात्म्य तथा पद्मावती आदिके दर्शनका फल | ९२२ |
| २८८. अंकपादतीर्थकी महिमा, श्रीकृष्णके द्वारा मरे हुए गुरुपुत्रके लाये जानेकी कथा | ९२३ |
| २८९. लड्डुकप्रिय गणेश, कुसुमेश्वर, मार्कण्डेयेश्वर, ब्रह्माणीदेवी, ब्रह्मेश्वर, यज्ञवापी, रूपकुण्ड, अनङ्गेश्वर तथा सोमेश्वरका माहात्म्य | ९२६ |
| २९०. नरकोंका संक्षिप्त वर्णन; केदारेश्वर, जटेश्वर, इन्द्रेश्वर, कुण्डेश्वर, गोपेश्वर, आनन्देश्वर तथा रामेश्वरके दर्शन-पूजनका माहात्म्य | ९२८ |
| २९१. सौभाग्य आदि तीर्थोंकी महिमा, अर्जुनको इन्द्रसे सूर्यप्रतिमाकी प्राप्ति तथा अवन्तीमें उसकी स्थापना और उनके दर्शनका माहात्म्य | ९२९ |
| २९२. भगवान् सूर्यकी अष्टोत्तरशत नामोंद्वारा स्तुति तथा अन्यान्य तीर्थोंकी महिमा | ९३३ |
| २९३. स्वर्णक्षुर आदिकी महिमा, अन्धकासुरका युद्ध, नरदीप एवं शंखोद्धार आदिका माहात्म्य | ९३४ |
| २९४. ॐकारेश्वर आदिका महत्त्व तथा अन्धकासुरको शिवगणोंमें श्रेष्ठ स्थानकी प्राप्ति | ९३६ |
| २९५. उज्जयिनीपुरीके कनकशृंगा आदि नाम पड़नेका कारण | ९३८ |
| २९६. काष्ठा, कला आदि कालमान, युग और कल्पभेद तथा प्रतिकल्प पुरीका माहात्म्य | ९४३ |
| २९७. शिप्राका माहात्म्य, उसके 'ज्वरघ्नी' और 'अमृतोद्भवा' आदि नाम पड़नेका कारण | ९४४ |
| २९८. जय-विजयको सनकादिका शाप, भगवान्‌का वाराहावतार, वाराहके हृदयसे शिप्राकी उत्पत्ति तथा उसका माहात्म्य | ९४६ |
| २९९. क्षातासंगम तथा उसके निकटवर्ती तीर्थोंकी महिमा, राजा युगादिदेवके धर्ममय राज्यकी प्रशंसा | ९४८ |
| ३००. गयातीर्थकी महिमा, पुरुषोत्तममास और पुरुषोत्तम-तीर्थकी महत्ता तथा गोमतीकुण्डका माहात्म्य | ९४९ |
| ३०१. गंगेश्वर और विश्वेश्वरतीर्थका माहात्म्य, बलिके द्वारा देवताओंकी पराजय, ब्रह्माजीका देवताओंको विष्णुसहस्रनामस्तोत्रका उपदेश देना | ९५१ |
| ३०२. भगवान्‌का वामनरूपसे प्रकट हो बलिसे तीन पग भूमि माँगना और वामन-कुण्डकी महिमा | ९६१ |
| ३०३. भैरवतीर्थ और नागतीर्थकी महिमा | ९६२ |
| ३०४. नृसिंहतीर्थकी महिमा | ९६३ |
| ३०५. कुटुम्बेश्वर, देवप्रयाग तथा कर्कराजतीर्थकी महिमा | ९६४ |
| ३०६. अवन्तीक्षेत्रके महत्त्वपूर्ण तीर्थ, देवता, वहाँकी यात्राके क्रम एवं माहात्म्यका वर्णन | ९६६ |
| **( रेवाखण्ड )** | |
| ३०७. राजा युधिष्ठिरके पूछनेपर मार्कण्डेयजीके द्वारा पुरूरवाकी तपस्यासे नर्मदाजीके मर्त्यलोकमें आगमनका वर्णन | ९७० |
| ३०८. राजा हिरण्यतेजाके तपसे नर्मदाका अवतरण | ९७२ |
| ३०९. नर्मदाका मर्त्यलोकमें आकर पुरुकुत्सुको अपना पति बनाना तथा नर्मदास्नानकी महिमा | ९७३ |
| ३१०. नर्मदा तटवर्ती अनन्तपुर एवं व्यासतीर्थकी महिमा | ९७५ |
| ३११. वरांगना-नर्मदासंगम तथा कपिलातीर्थका माहात्म्य, महाराज मनुकी त्रिपुरीयात्रा और नर्मदासे वरदान पाना | ९७६ |
| ३१२. भृगुतीर्थ और भास्करतीर्थका माहात्म्य | ९७९ |
| ३१३. सोमतीर्थ, ब्रह्मकुण्ड, ब्रह्मेश्वर लिंग, सिद्धेश्वर लिंग तथा संगमतीर्थकी महिमा | ९८१ |
| ३१४. ध्रुवेश्वर, वाराह, चान्द्रायण, द्वादशादित्य तथा गांजालतीर्थकी महिमा, राजा हरिकेशकी शुद्धि | ९८२ |
| ३१५. नर्मदा और मत्स्याके संगमका माहात्म्य, महर्षि आपस्तम्बके द्वारा गौओंकी महत्ताका प्रतिपादन तथा तीर्थके प्रभावसे निषादोंका मछलियों-सहित उद्धार | ९८४ |

| विषय | पृष्ठ-संख्या |
|---|---|
| ३१६. कलहंसेश्वरतीर्थका प्रादुर्भाव और उसका माहात्म्य | ९८७ |
| ३१७. नर्मदापुरका माहात्म्य, जमदग्निको कामधेनुकी प्राप्ति, कार्तवीर्यद्वारा मुनिका वध और धेनुका अपहरण तथा परशुरामद्वारा कार्तवीर्यका वध | ९८९ |
| ३१८. शिवनेत्रकुण्ड तथा जनकतीर्थका माहात्म्य .. | ९९० |
| ३१९. सप्तसारस्वततीर्थकी उत्पत्ति, शाण्डिल्या और नर्मदाके संगमकी महिमा तथा नर्मदा-कुब्जाके संगमपर रन्तिदेवका यज्ञ ..... | ९९२ |
| ३२०. कुब्जा और नर्मदाके संगमकी महिमा, हरिकेश ब्राह्मणका परिवारसहित ब्रह्म-राक्षसयोनिसे उद्धार..... | ९९४ |
| ३२१. माहेश्वरतीर्थकी महिमा, राजा सालंकायनका यज्ञ ... | ९९५ |
| ३२२. श्वेतकिंशुक आदि तीर्थोंकी महिमा ..... | ९९७ |
| ३२३. मान्धाताका चरित्र..... | ९९९ |
| ३२४. बाणासुरके तीन पुरोंका भगवान् शङ्करके द्वारा संहार, जालेश्वरनामक बाणलिंगकी उत्पत्ति और बाणासुरको शिवलोक प्राप्ति ..... | १००१ |
| ३२५. अमरकण्टक और यज्ञपर्वतके श्रेष्ठ तीर्थ एवं लिंग, राजा इन्द्रद्युम्नका यज्ञ और उन्हें देवोंका वरदान ..... | १००२ |
| ३२६. पुराणलक्षण, कलिकालका प्रभाव तथा राजर्षि वसुदानके यज्ञमें प्रकट हुई कपिला और नर्मदाके संगमका माहात्म्य ..... | १००७ |
| ३२७. अमरावतीमें भगवान्‌का दैत्यसूदनरूपसे निवास तथा वहाँके अन्यान्य तीर्थों और शिव-लिंगोंका माहात्म्य ..... | १००८ |
| ३२८. अमरकण्टकपर सूत्रयागका माहात्म्य, कावेरी-संगम और पयोष्णी-संगमकी महिमा तथा वहाँके अन्य तीर्थोंके सेवनकी महत्ता ..... | १०१० |
| ३२९. भद्ररुद्रेश्वरकी महिमा, दुर्वासाजीके द्वारा अमरकण्टकका गयातीर्थके तुल्य होना तथा राजा भरतका यज्ञ..... | १०१२ |
| ३३०. ब्रह्माजीके द्वारा सौम्या दृष्टिसे दानवोंका निवारण तथा रुद्रके एक सौ एक नामोंद्वारा शिवजीका स्तवन . | १०१३ |
| ३३१. कपिला-नर्मदा-संगम और ईशान आदि तीर्थोंकी महिमा, यमलोकके मार्गके कष्टों तथा अट्ठाईस नरककोटियोंका वर्णन..... | १०१५ |
| ३३२. पापियोंकी नरक-यातनाका वर्णन..... | १०१९ |
| ३३३. दान, पुण्य, शिवध्यान और नर्मदासेवनसे नरकसे उद्धार होनेका तथा संसारसे वैराग्यका उपदेश | १०२० |
| ३३४. मातंग, मृगवन और वाराहतीर्थकी महिमा | १०२२ |
| ३३५. संसारसे मुक्त होनेके लिये पाप और पाखण्डी जनोंके त्याग तथा शिव एवं नर्मदाके आश्रय लेनेका उपदेश..... | १०२३ |
| ३३६. शिवलोककी उत्कृष्टता, गोसेवाका महत्त्व, दानकी महिमा तथा नर्मदातटपर दान एवं शिव-ध्यानका माहात्म्य..... | १०२४ |
| ३३७. अमरावतीके दक्षिण विष्णुमन्दिरकी महिमा, मेघ-वनका महत्त्व तथा विभिन्न तीर्थोंकी महाशक्तियोंके नाम..... | १०२५ |
| ३३८. अशोकवनिकातीर्थमें महाराज रविश्चन्द्रके द्वारा यज्ञ, दान तथा मुनियोंका उद्धार..... | १०२७ |
| ३३९. वागीश्वरतीर्थमें राजा ब्रह्मदत्तके यज्ञमें प्रेतोंका उद्धार तथा सहस्रावर्त आदि तीर्थोंकी महिमा | १०२९ |
| ३४०. देवपथतीर्थ, शुक्लतीर्थ, दीप्तिकेश्वरकी महिमा, देवासुरोंके द्वारा महादेवजीकी स्तुति तथा वैष्णव-तीर्थकी महिमा..... | १०३० |
| ३४१. नर्मदाजीकी तथा भगवान् विष्णुकी स्तुति.. | १०३३ |
| ३४२. मेघनादतीर्थका प्राकट्य और उसकी महिमा | १०३७ |
| ३४३. करंजेश्वर तथा कुण्डलेश्वरतीर्थका प्रादुर्भाव और माहात्म्य..... | १०३८ |
| ३४४. पिप्पलेश्वर, विमलेश्वर, विश्वरूपा-नर्मदासंगम तथा एक दिनमें मेघनादेश्वर आदि पाँच लिंगोंकी यात्राका माहात्म्य, राजा धर्मसेनकी कथा... | १०३९ |
| ३४५. मृकण्ड-आश्रममें दो गन्धर्वोंका उद्धार तथा चन्द्रमती-नर्मदा-संगम आदि अन्य तीर्थोंकी महिमा ..... | १०४० |
| ३४६. भानुमतीका तीर्थसेवन, शूलभेदतीर्थमें शबर-दम्पतिका उद्धार और सती भानुमतीको कैलास-धामकी प्राप्ति ..... | १०४१ |
| ३४७. आदित्येश्वरतीर्थकी महिमा, मुनियोंद्वारा नर्मदाका स्तवन और उस तीर्थमें गोदानकी महिमा | १०४५ |
| ३४८. धनदतीर्थका माहात्म्य, पूज्य और अपूज्य ब्राह्मण, वृषोत्सर्गकी महत्ता तथा गौतमेश्वर-तीर्थकी महिमा ..... | १०४७ |
| ३४९. पराशराश्रमकी महिमा, पराशरमुनिकी तपस्या, वरदान-प्राप्ति, भीमेश्वरमें गायत्री-जपका महत्त्व और नारदेश्वरतीर्थका माहात्म्य..... | १०४८ |
| ३५०. नर्मदा-नागेशके संगममें कण्ठकी ब्रह्महत्यासे मुक्ति और सद्गति ..... | १०४९ |
| ३५१. पूतकेश्वर तथा जलशायी (चक्र) तीर्थका माहात्म्य, श्रीविष्णुके द्वारा नलमेघ दानवके वधकी कथा ..... | १०५० |
| ३५२. प्रभासेश्वर, मार्कण्डेयेश्वर, संकर्षण, मन्मथेश्वर तथा एरण्डीसंगममें पुत्रप्राप्तिपदतीर्थकी महिमा, अनसूयाजीके पुत्ररूपसे ब्रह्मा, शिव और विष्णुका अवतार..... | १०५१ |
| ३५३. सौवर्णतीर्थ, करण्डेश्वरतीर्थ, भाण्डारतीर्थ, रोहिणीतीर्थ, चक्रतीर्थ तथा धूमपाततीर्थका माहात्म्य और माहात्म्य-श्रवणका फल ..... | १०५४ |
| ३५४. श्रीसत्यनारायण-व्रतकी विधि, ब्राह्मण और लकड़हारेकी कथा ..... | १०५६ |
| ३५५. सत्यनारायण-व्रतकी महिमा, राजा उल्कामुख, साधु वणिक् और राजा वंशध्वजकी कथा | १०५८ |

| विषय | पृष्ठ-संख्या |
|---|---|
| **( ६ ) नागरखण्ड ( पूर्वार्ध )** | |
| ३५६. राजा त्रिशंकुका वसिष्ठ-पुत्रोंके शापसे चाण्डाल होना | १०६३ |
| ३५७. विश्वामित्रजीके द्वारा त्रिशंकुका यज्ञ पूरा करके नूतन सृष्टि-रचनाका उद्योग आदि | १०६५ |
| ३५८. नागबिलका महत्त्व, इन्द्रकी ब्रह्महत्यासे मुक्ति | १०६७ |
| ३५९. शंखतीर्थकी उत्पत्ति, उसमें स्नानसे राजा चमत्कारके कुष्ठरोगकी निवृत्ति | १०६९ |
| ३६०. राजा चमत्कारकी तपस्यासे सन्तुष्ट हुए शिवका अचलेश्वररूपसे निवास | १०७१ |
| ३६१. चमत्कारपुरमें गयाशीर्षतीर्थकी महिमा | १०७२ |
| ३६२. मार्कण्डेयमुनिको अमरत्वकी प्राप्ति, ब्रह्माजीकी स्थापना, बालसख्यतीर्थकी महिमा | १०७७ |
| ३६३. मृगपदतीर्थ और विष्णुपदतीर्थका प्रादुर्भाव तथा माहात्म्य, विष्णुपदीमें स्नान आदिका महत्त्व | १०७९ |
| ३६४. विष्णुपदीकी अद्भुत महिमा, चण्डशर्माकी शुद्धि | १०८० |
| ३६५. हाटकेश्वरक्षेत्रकी दक्षिणोत्तर सीमाके गोकर्णोंका परिचय, गोकर्ण और यमका संवाद | १०८२ |
| ३६६. सिद्धेश्वर लिङ्गकी महिमा तथा षडक्षर-मन्त्रका माहात्म्य एवं अहिंसाकी महत्ताका वर्णन | १०८४ |
| ३६७. सप्तर्षि आश्रमकी महिमा तथा सप्तर्षियोंका हाटकेश्वरक्षेत्रमें आगमन | १०८९ |
| ३६८. अगस्त्य-आश्रममें शिव-पूजा आदिका माहात्म्य | १०९१ |
| ३६९. दुर्वासा-लोमहर्षण-संवाद, मन्त्र-सिद्धिकी विधि | १०९२ |
| ३७०. धुन्धुमारेश्वरकी स्थापना और महिमा | १०९३ |
| ३७१. विश्वामित्रका मेनकासे वार्तालाप, सती स्त्रियोंके पालन करनेयोग्य धर्मका वर्णन | १०९५ |
| ३७२. सरस्वतीर्थकी महिमा, राजा अम्बुवीचिकी मूकताका निवारण | १०९७ |
| ३७३. महाकालके समीप जागरणकी महिमा, राजा रुद्रसेनका पूर्ववृत्तान्त | १०९९ |
| ३७४. कलशेश्वरका माहात्म्य, नन्दिनीके द्वारा व्याघ्रयोनिको प्राप्त राजा कलशका शापसे उद्धार | ११०१ |
| ३७५. अगस्त्यकुण्ड, कपिलानदी, वैष्णवीशिला और सिद्धक्षेत्र आदिकी महिमा | ११०५ |
| ३७६. गालवको सूर्यदेवकी आराधनासे पुत्रकी प्राप्ति | ११०७ |
| ३७७. चमत्कारीदेवीकी महिमा, कार्तिकेयजीके द्वारा शक्तिकी स्थापना | १११० |
| ३७८. स्कन्दस्वामी और देवयजनकी महिमा तथा तीनों सूर्य-विग्रहोंके दर्शनका माहात्म्य | १११३ |
| ३७९. चन्द्रदेवके मंदिरके निर्माणका महत्त्व, अम्बावृद्धाके दर्शनकी महत्ता | १११४ |
| ३८०. ब्रह्मकुण्ड, गोमुखतीर्थकी उत्पत्तिकथा एवं महिमा | १११७ |
| ३८१. परशुरामद्वारा लोहयष्टिकी स्थापना और उसकी महिमा तथा देवीकुण्डका माहात्म्य | १११८ |
| ३८२. राजवापीके प्रसंगमें राजा दशरथका प्रभाव, शनैश्चरग्रहकी पराजय | ११२२ |
| ३८३. श्रीरामके द्वारा लक्ष्मणका त्याग और लक्ष्मणका परमधाम-गमन | ११२३ |
| ३८४. चित्रशर्मा तथा अन्यान्य ब्राह्मणोंके द्वारा भगवान् शंकरको सन्तुष्ट करना | ११२७ |
| ३८५. अड़सठ क्षेत्रों और उनमें भी प्रधान आठ क्षेत्रोंके नाम तथा उनके कीर्तनका महत्त्व | ११२८ |
| ३८६. भगवान् शिवके दिये हुए मन्त्रद्वारा ब्राह्मणोंपर आये हुए सर्पोंके उपद्रवका निवारण | ११२९ |
| ३८७. चमत्कारपुरमें पुनर्वासी ब्राह्मणोंकी संख्या | ११३१ |
| ३८८. रैवत और क्षेमंकरी द्वारा रैवतेश्वर तथा कात्यायनी-की स्थापना | ११३२ |
| ३८९. दुर्वासाके शापसे चित्रसम दैत्यका महिष होना तथा कात्यायनीके द्वारा महिषका वध | ११३३ |
| ३९०. केदारक्षेत्रका प्रादुर्भाव तथा वहाँ भगवान् शिवकी आराधनाका माहात्म्य | ११३७ |
| ३९१. शुक्लतीर्थकी महिमा | ११३९ |
| ३९२. कर्णोत्पलातीर्थकी उत्पत्ति, राजा सत्यसन्ध और कर्णोत्पलाकी अद्भुत कथा | ११४१ |
| ३९३. शाण्डिलीके उपदेशसे कात्यायनीके द्वारा पञ्चपिण्डा गौरीकी उपासना | ११४३ |
| ३९४. वास्तुपदतीर्थ तथा अजागृहा देवीकी महिमा | ११४४ |
| ३९५. पतिव्रताकी शक्तिसे उसके मरे हुए पतिको पुनः नवजीवनकी प्राप्ति | ११४६ |
| ३९६. शूलीतीर्थ और दीर्घिकातीर्थका प्राकट्य, माण्डव्य मुनिका धर्मराजको शाप | ११४८ |
| ३९७. अन्न और जलके दानकी महत्ता | ११५० |
| ३९८. अदितिदेवीद्वारा आराधित अमरेश्वर लिंगकी महिमा | ११५१ |
| ३९९. शुकदेवजीका जन्म, वैराग्य, व्यासजीके साथ उनका संवाद और वनगमन | ११५३ |
| ४००. राजा सुरथके द्वारा भैरवजीकी स्थापना और आराधना | ११५५ |
| ४०१. गौरी, जया और विजयाकुण्डका माहात्म्य | ११५६ |
| **नागरखण्ड ( उत्तरार्ध )** | |
| ४०२. सब पापोंकी शुद्धिके लिये पुरश्चरणसप्तमी व्रतकी विधि एवं महिमा | ११५७ |
| ४०३. चण्डशर्माके द्वारा सत्ताईस शिवलिंगोंका पूजन | ११५९ |
| ४०४. विश्वामित्रकी उत्पत्ति, राज्यप्राप्ति तथा राज्य त्यागकर तप करनेका निश्चय | ११६२ |
| ४०५. विश्वामित्रकी तपस्या, ब्राह्मण पदकी प्राप्ति | ११६४ |

| विषय | पृष्ठ-संख्या |
|---|---|
| ४०६. पंचपिण्डिका गौरी-पूजासे अमाकी सौभाग्यवृद्धि .. | ११६५ |
| ४०७. पूर्वजन्ममें अमारूपा लक्ष्मीदेवीके द्वारा पंचपिण्डिका गौरीकी उत्पत्ति ..... | ११६७ |
| ४०८. हाटकेश्वरक्षेत्रमें तीनों पुष्कर तीर्थोंके आगमनका वृत्तान्त ..... | ११७० |
| ४०९. अतिथि-सत्कारका माहात्म्य ..... | ११७१ |
| ४१०. हाटकेश्वरक्षेत्रमें पुष्करके प्राकट्यका वार्षिक समय | ११७२ |
| ४११. ब्राह्मणकन्या और राजकन्याका अनुपम प्रेम | ११७३ |
| ४१२. परावसुके द्वारा मद्यपानका प्रायश्चित्त ..... | ११७४ |
| ४१३. ब्राह्मणकन्या और शूद्रराजकन्याकी तपस्या, भगवान् शिवका वरदान ..... | ११७७ |
| ४१४. त्रिविध क्षेत्र, अरण्य और पुरी आदिका वर्णन | ११७९ |
| ४१५. अहल्याका शापोद्धार तथा हाटकेश्वरक्षेत्रमें अहल्या, शतानन्द और गौतमजीकी तपस्या | ११८१ |
| ४१६. शंखतीर्थकी महिमा, राजा दम्भका चरित्र तथा ताम्बूलके दोष ..... | ११८२ |
| ४१७. विश्वामित्रतीर्थ एवं रत्नादित्यकी महिमा.... | ११८५ |
| ४१८. श्राद्धकल्प ..... | ११८७ |
| ४१९. श्राद्धकी आवश्यकता तथा समय ..... | ११८८ |
| ४२०. श्राद्धकी विधि, विहित और निषिद्ध ब्राह्मण तथा मन्वादिका वर्णन ..... | ११९० |
| ४२१. श्राद्धकर्ता और श्राद्धभोक्ताके लिये नियम ..... | ११९२ |
| ४२२. सपिण्डनकी आवश्यकता, तीन गति ..... | ११९४ |
| ४२३. नरकों और पापोंसे मुक्त होनेका उपाय तथा भगवान् जलशायीकी महिमा ..... | ११९७ |
| ४२४. चातुर्मास्य व्रतके पालनीय नियम और उनकी महिमा ..... | ११९८ |
| ४२५. शिवरात्रिकी महिमा ..... | १२०० |
| ४२६. सिद्धेश्वरकी महिमा और तुलादानका महत्त्व. | १२०२ |
| ४२७. पृथ्वीदानकी महिमा ..... | १२०३ |
| ४२८. चार प्रकारके कालमानका वर्णन ..... | १२०४ |
| ४२९. निम्बेश्वरकी स्थापना तथा ग्यारह रुद्रोंका प्राकट्य | १२०८ |
| ४३०. नागरखण्डका उपसंहार ..... | १२१० |


## (७) प्रभासखण्ड


| विषय | पृष्ठ-संख्या |
|---|---|
| ४३१. सूतजीके द्वारा प्रभास-खण्डका उपक्रम..... | १२११ |
| ४३२. शिव-पार्वती-संवाद, तीर्थोंका संक्षिप्त वर्णन | १२१५ |
| ४३३. प्रभासतीर्थकी सीमा, क्षेत्र-विभाग, महिमा तथा रक्षकगणोंका वर्णन ..... | १२१७ |
| ४३४. सोमनाथके दिव्य स्वरूपका दिग्दर्शन ..... | १२१९ |
| ४३५. सोमनाथके आठ नाम और पार्वतीके अठारह नामोंका वर्णन ..... | १२२० |
| ४३६. सोमनाथकी महिमा..... | १२२२ |
| ४३७. प्रभासमें भगवान् शिवका स्वरूप, पार्वतीद्वारा उनकी स्तुति ..... | १२२३ |
| ४३८. प्रभासमें सूर्यदेव, सिद्धेश्वरलिंग तथा सिद्धलिंगकी महिमा ..... | १२२५ |
| ४३९. अर्कस्थलका माहात्म्य, आदित्यकी महिमा, दन्तधावनकी विधि ..... | १२२६ |
| ४४०. चन्द्रमाकी उत्पत्ति तथा उनके द्वारा ओषधि आदिका पोषण ..... | १२२९ |
| ४४१. सृष्टि-कथा—दक्षकन्याओं तथा धर्म एवं कश्यपजीकी संततिका संक्षिप्त वर्णन..... | १२३० |
| ४४२. चन्द्रमाके द्वारा प्रभासक्षेत्रमें शिवकी आराधना | १२३१ |
| ४४३. सोमवारव्रतकी विधि और महिमा, गन्धर्व-सेनाकी रोगनिवृत्ति ..... | १२३५ |
| ४४४. सोमनाथकी यात्रा-विधि ..... | १२३७ |
| ४४५. समुद्रमें स्नानकी विधि और महिमा..... | १२४१ |
| ४४६. सोमनाथके दर्शन-पूजनकी महिमा ..... | १२४२ |
| ४४७. सरस्वती नदीकी महिमा तथा वहाँ स्नान, दान और श्राद्धका माहात्म्य ..... | १२४४ |
| ४४८. 'कपर्दी'की अग्रपूजाका हेतु और महिमा.. | १२४५ |
| ४४९. केदारलिंगकी महिमा, राजा शशिविन्दुके पूर्व-जन्मका वृत्तान्त ..... | १२४६ |
| ४५०. श्वेतकेत्वीश्वर आदि विभिन्न शिवलिंगोंका माहात्म्य | १२४८ |
| ४५१. प्रभासक्षेत्रकी त्रिविध शक्तियों तथा दूती शक्तियोंके दर्शन-पूजनका माहात्म्य ..... | १२५० |
| ४५२. भैरवेश्वर आदि विविध लिंगोंका माहात्म्य | १२५२ |
| ४५३. कलकलेश्वर, उत्तंकेश्वर, वैश्वानरेश्वर तथा गौतमेश्वरकी महिमा ..... | १२५४ |
| ४५४. वैष्णवक्षेत्रमें भगवान् दैत्यसूदनकी महिमा..... | १२५५ |
| ४५५. योगेश्वरीदेवीकी महिमा ..... | १२५७ |
| ४५६. आदिनारायणका माहात्म्य ..... | १२५८ |
| ४५७. पाण्डवेश्वरलिंग तथा ग्यारह रुद्रोंका माहात्म्य | १२५९ |
| ४५८. चन्द्रेश्वर, चक्रपाणि, दण्डपाणि तथा साम्बा-दित्यकी महिमा..... | १२६२ |
| ४५९. बालरूपधारी ब्रह्माकी महिमा, ब्रह्माजीकी आयुका मान ..... | १२६३ |
| ४६०. ब्राह्मणोंकी महिमा, क्षेत्रवासी ब्राह्मणोंके भेद | १२६५ |
| ४६१. ब्रह्माजीके प्रति भक्तिके भेद तथा उनके एक सौ आठ नाम..... | १२६७ |
| ४६२. प्रत्यूषेश्वर, अनिलेश्वर, प्रभासेश्वर, रामेश्वर, लक्ष्मणेश्वर आदिका माहात्म्य ..... | १२६९ |
| ४६३. गोप्यादित्यकी स्थापना और महिमा तथा नीलसे हानि ..... | १२७२ |

| विषय | पृष्ठ-संख्या |
|---|---|
| ४६४. रामेश्वर, चित्रांगदेश्वर तथा रावणेश्वरकी महिमा ... | १२७३ |
| ४६५. पौलोमीश्वर, शाण्डिल्येश्वर, क्षेमेश्वर तथा सागरादित्यका माहात्म्य ..... | १२७३ |
| ४६६. अक्षमालेश्वर, पाशुपतेश्वर, ध्रुवेश्वर तथा सिद्धि-लक्ष्मीकी महिमा ..... | १२७५ |
| ४६७. महाकाली देवी, पुष्करावर्तका नदी एवं कंकाल-भैरवकी महिमा ..... | १२७६ |
| ४६८. लोमशेश्वर, चित्रपथा नदी, रूपकुण्ड, रत्नेश्वर तथा वैनतेयेश्वरका माहात्म्य ..... | १२७८ |
| ४६९. रैवन्त और अनन्तेश्वरकी महिमा, सावित्रीकी कथा, सावित्रीव्रतकी महिमा ..... | १२७९ |
| ४७०. शालकटंकटा देवी, दशरथेश्वर, भरतेश्वर आदिका महत्त्व ..... | १२८३ |
| ४७१. देवमाता, शेषस्थान, प्रभासपंचक तथा संगममें स्नानका महत्त्व ..... | १२८४ |
| ४७२. श्राद्धके विषयमें कुछ ज्ञातव्य बातें ..... | १२८५ |
| ४७३. श्राद्ध-विधि, सप्तशुद्धिका विचार, श्राद्धमें ग्राह्य एवं त्याज्यका निर्णय ..... | १२८८ |
| ४७४. परायी वस्तुके अपहरण और प्रतिग्रहके दोष | १२९२ |
| ४७५. उत्तम-अधम जन्म, व्यर्थ और सफल दान, सुपात्रके लक्षण ..... | १२९४ |
| ४७६. मार्कण्डेयेश्वर आदि विविध लिंगोंकी महिमा | १२९५ |
| ४७७. गौतम और प्रेतका संवाद, प्रेतोंका उद्धार तथा प्रेततीर्थकी उत्पत्ति ..... | १२९६ |
| ४७८. नरकेश्वरका माहात्म्य ..... | १२९९ |
| ४७९. संवर्तेश्वर, बलभद्रेश्वर, दशाश्वमेधिक तीर्थ तथा दुर्वासादित्यका माहात्म्य ..... | १३०० |
| ४८०. नागरादित्य, पिंगा नदी, संगमेश्वर तथा गंगेश्वरकी महिमा ..... | १३०१ |
| ४८१. नन्दादित्य, पर्णादित्य, गंगेश्वर तथा मूल स्थानगत सूर्यकी महिमा ..... | १३०२ |
| ४८२. भगवान् सूर्यके अष्टोत्तरशतनामोंकी महिमा | १३०६ |
| ४८३. महर्षि च्यवनकी कथा और च्यवनेश्वरकी महिमा ..... | १३०७ |
| ४८४. सुकन्या-सरोवर, गोष्पदतीर्थ तथा कुबेरेश्वरकी महिमा ..... | १३०९ |
| ४८५. भद्रकाली, कुबेर तथा गुप्तप्रयागका माहात्म्य | १३११ |
| ४८६. माधव, शृगालेश्वर और देवविग्रहोंके सेवनकी महिमा ..... | १३१३ |
| ४८७. तलस्वामी, शंखावर्ततीर्थ और गोष्पद-तीर्थकी महिमा ..... | १३१५ |
| ४८८. पृथुके गोष्पदतीर्थमें श्राद्ध-यज्ञ करनेसे वेनको स्वर्गप्राप्ति ..... | १३१९ |
| ४८९. नारायणगृह तथा जालेश्वर-लिंगकी महिमा | १३२० |
| ४९०. चन्द्रेश्वर, कपिलेश्वर तथा नलेश्वरकी महिमा | १३२३ |
| ४९१. राजा गज और भद्रमुनिका संवाद ..... | १३२४ |
| ४९२. तीर्थमें पूजन, श्राद्ध और दानकी महिमा ... | १३२७ |
| ४९३. राजा बलिके राज्यकी प्रशंसा ..... | १३२९ |
| ४९४. देवर्षि नारदका वामनजीको मत्स्य आदि अवतारोंका वृत्तान्त सुनाना ..... | १३३१ |
| ४९५. वामनजीका बलिसे तीन पग भूमि ग्रहण करना ..... | १३३५ |


## ( श्रीद्वारका-माहात्म्य )


| | |
|---|---|
| ४९६. भगवान्‌के परमधाम पधारनेपर महर्षियोंका ब्रह्माजीकी आज्ञासे प्रह्लादजीके समीप जाना | १३३९ |
| ४९७. द्वारकाकी महिमा, वहाँकी यात्रा और उसमें योग देनेका माहात्म्य ..... | १३४१ |
| ४९८. गोमतीमें स्नान और भगवत्पूजनकी महिमा | १३४४ |
| ४९९. चक्रतीर्थ तथा रुक्मिणीह्रदका माहात्म्य ..... | १३४५ |
| ५००. विष्णुपदोद्भवतीर्थकी महिमा, उद्धवजीका व्रजमें आगमन ..... | १३४६ |
| ५०१. गोपी-सरोवरका निर्माण और उसकी महिमाका वर्णन ..... | १३५० |
| ५०२. ब्रह्मकुण्ड, चन्द्रसरोवर तथा पंचनदतीर्थका माहात्म्य ..... | १३५१ |
| ५०३. सिद्धेश्वर लिंग, ऋषितीर्थ और देवी-देवताओंके सेवनकी महिमा ..... | १३५२ |
| ५०४. श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणीदेवीके दर्शन और पूजनकी महिमा ..... | १३५४ |
| ५०५. द्वारकापुरी तथा वहाँ श्रीकृष्णके दर्शन-पूजनका माहात्म्य ..... | १३५५ |
| ५०६. शंखोद्धारतीर्थकी महिमा ..... | १३५७ |
| ५०७. द्वारकापुरी, गोपीचन्दन तथा गोमतीका माहात्म्य | १३५८ |
| ५०८. एकादशीकी रात्रिमें श्रीहरिके समीप जागरणका माहात्म्य ..... | १३६० |
| ५०९. द्वारका-यात्राकी विधि एवं महिमा ..... | १३६२ |
| ५१०. ऋषियों और देवताओंकी द्वारका-यात्रा तथा भगवद्दर्शन एवं पूजन ..... | १३६४ |
| ५११. दिलीप-वसिष्ठ-संवाद ..... | १३६५ |
| ५१२. द्वारकापुरी तथा श्रीकृष्ण-दर्शनका माहात्म्य | १३६६ |
| ५१३. द्वारकामें श्रीकृष्णदर्शनकी महिमा ..... | १३६८ |
| ५१४. द्वारका-माहात्म्यके पाठकी महिमा ..... | १३७१ |

| विषय | पृष्ठ-संख्या |
|---|---|

# चित्र-सूची

## इकरंगे


१. दक्षके द्वारा सतीका तिरस्कार ..... ६
२. वीरभद्रद्वारा दक्षयज्ञ-विध्वंस ..... ९
३. गरुड़पर मन्दराचल ..... २१
४. समुद्र-मन्थन ..... २१
५. समुद्र-मन्थनसे श्रीमहालक्ष्मीका प्रादुर्भाव ..... २३
६. श्रीलक्ष्मीका भगवान्‌को माला-अर्पण ..... २३
७. ब्राह्मणोंसे घिरे हुए देवर्षि नारदजीके साथ अर्जुनका संवाद ..... ८७
८. त्रिदेवोंकी श्रेष्ठता ..... १५७
९. अर्चाविग्रहसे प्रकट होकर भगवान् विष्णु ऐतरेयको दर्शन दे रहे हैं ..... १७६
१०. मुर-कन्याको न मारनेके लिये श्रीकृष्णसे कामाख्याका अनुरोध ..... २२१
११. बर्बरीकका बल-प्रदर्शन ..... २३५
१२. राजा वज्रांगदपर भगवान् अरुणाचलेश्वरकी कृपा ..... २६०
१३. पद्मालया और भगवान्‌का परस्पर माला पहनाना ..... २७५
१४. भूदेवी तथा श्रीदेवीसहित सपरिकर भगवान् विष्णु ..... २७९
१५. भक्त भीम कुम्हारका पत्नीसहित विमानारोहण ..... २८३
१६. ब्रह्मा और यमराजके द्वारा भगवान् विष्णुका स्तवन ..... ३२१
१७. राजा इन्द्रद्युम्नको ध्यानमें भगवान्‌के दर्शन ..... ३५५
१८. भगवान् विष्णुको लक्ष्मीदेवी भोजन परोस रही हैं ..... ३७८
१९. राजा श्वेतको भगवान् लक्ष्मीनृसिंहके दिव्य दर्शन ..... ३७९
२०. रत्नहिंडोलेपर भगवान् लक्ष्मीनारायण ..... ३८५
२१. कदम्बमूलमें भगवान् गोविन्द झूला झूल रहे हैं ३८६
२२. वटवृक्षसे देवताओंका निकलना ..... ४२०
२३. भक्त विष्णुदासके द्वारा चाण्डालकी सेवा ..... ४३४
२४. चाण्डालके स्थानपर विष्णुदासको भगवान्‌का दर्शन ..... ४३४
२५. हेमकान्तके द्वारा त्रितमुनिको छत्र-जल-दान ..... ४७९
२६. छत्र और जलदानसे हेमकान्तपर भगवत्कृपा ..... ४७९
२७. सर्वस्व दानी रघु और ब्राह्मण कौत्स ..... ५१६
२८. सुदर्शनचक्रके द्वारा गालवमुनिकी रक्षा ..... ५३८
२९. रानी सुमित्राके द्वारा अपने पति और पुत्रकी दशाका वर्णन ..... ५४२
३०. हनुमान्‌जीके द्वारा भगवान् श्रीराम और सीताका स्तवन ..... ५८३
३१. ब्राह्मणके द्वारा राजकन्याका हाथ पकड़ा जाना ५९०
३२. राजाके द्वारा ब्राह्मणको बन्दी बनाया जाना ..... ५९०
३३. राजाको स्वप्नमें भगवान्‌के दर्शन ..... ५९२
३४. राजाके द्वारा लक्ष्मीनारायणका स्तवन ..... ५९२
३५. गणेशजीका मस्तक-छेदन ..... ६२४
३६. गणेशजीको गजमस्तक-दान ..... ६२४
३७. भगवान् रामचन्द्रका दान ..... ६४२
३८. ब्रह्माजीका प्राकट्य ..... ६५५
३९. ध्रुवकी सफल साधना ..... ७५७


## इकरंगे ( लाइन )


१. लोमशजीद्वारा नैमिषारण्यमें मुनियोंको शिवजीका माहात्म्य-कथन ..... १
२. दक्षद्वारा भगवान् शंकरका स्तवन ..... ११
३. भगवान् विष्णुके द्वारा देवताओंको आश्वासन १५
४. मोहिनीद्वारा देवताओंको अमृतरसपान ..... २६
५. त्वष्टाका ब्रह्माजीसे पुत्र-प्राप्तिके लिये वर माँगना ३३
६. इन्द्रका बृहस्पतिजीसे प्रदोषव्रतकी उद्यापन-विधि पूछना ..... ३९
७. जुआरीका स्वर्गमें ऋषि-मुनियोंको अंधाधुंध दान देना ..... ४६
८. विरोचनद्वारा ब्राह्मणरूपधारी इन्द्रको अपना मस्तक उतारकर देना ..... ४७
९. भगवान् विष्णुका बलि और उसकी पत्नीको वरदान देना ..... ५०
१०. पार्वतीजीके तपसे जगत् सन्तप्त होनेपर देवताओंद्वारा ब्रह्माजीकी शरण लेना ..... ५६
११. तपस्यामें लगी हुई पार्वतीजीको भगवान् शंकरका दर्शन तथा परस्पर वार्तालाप ..... ६०
१२. पार्वतीजीका कुमार षडाननको गोदमें लेनेके लिये उनकी ओर बढ़ना ..... ७०
१३. कार्तिकेयजीके शक्ति-प्रहारसे तारककी मृत्यु ..... ७४
१४. कैलाशमें शिवजीका राज्य ..... ८२
१५. अर्जुनके द्वारा पंचाप्सरसतीर्थमें ग्राह बनी अप्सराओंका उद्धार ..... ८६
१६. धर्मवर्माका छद्मरूपमें पधारे हुए नारदजीसे परिचय पूछना ..... ९८

| विषय | पृष्ठ-संख्या |
|---|---|
| १७. नारदजीका ब्राह्मणोंके सामने अपना स्वरूप प्रकट करना | १०७ |
| १८. मेघातिथिका चिरकारीको छातीसे लगाना | ११० |
| १९. ब्रह्माजीका इन्द्रद्युम्नको पृथ्वीपर लौटनेका आदेश | ११२ |
| २०. लोमशजीका इन्द्रद्युम्नको अपनी चिरायु बताना | ११४ |
| २१. इन्द्रद्युम्न आदिके सामने भगवान् शंकरका प्राकट्य | १२२ |
| २२. महीसागरसंगमतीर्थमें कुमारद्वारा पार्वतीजी एवं गणेशजीकी स्थापना | १२८ |
| २३. कुमारीका दर्पणमें अपना मुँह देखना | १४२ |
| २४. कुमारीका पार्वतीजीकी सखी चित्रलेखाके स्वरूपको प्राप्त होना | १४४ |
| २५. कालभीतिका प्रकट हुए शिवलिंगकी स्तुति करना | १४९ |
| २६. भगवान् वासुदेवका नारदजीके समक्ष प्रकट होना | १६७ |
| २७. ऐतरेयका माताको उपदेश देना | १७० |
| २८. भगवान् सूर्यदेवका नारदजीके सामने प्राकट्य | १७९ |
| २९. सत्यव्रतका नन्दभद्रके सामने अपने नास्तिकतापूर्ण विचार रखना | १८५ |
| ३०. बालकका नन्दभद्रको उपदेश देना | १८८ |
| ३१. व्यासजीका कीटको उद्बोधन करना | १९१ |
| ३२. हारीतका अपने पुत्र कमठसे परम भोजनका स्वरूप पूछना | १९६ |
| ३३. ब्राह्मणोंद्वारा सूर्य भगवान्‌का स्तवन | २०५ |
| ३४. भगवान् श्रीकृष्णद्वारा उग्रसेनजीको नारदजीके गुणोंका कथन | २०८ |
| ३५. धर्मका महीसागरसंगमतीर्थका सावधान करना | २१८ |
| ३६. बर्बरीकका भगवान् श्रीकृष्णसे श्रेयको पूछना | २२५ |
| ३७. बर्बरीकका नागगणसे वरदान माँगना | २२८ |
| ३८. बर्बरीकका नागकन्याओंके विवाह-प्रस्तावको ठुकराना | २२९ |
| ३९. भगवान् शंकरका बर्बरीकको भीमसेनको छोड़ देनेके लिये आदेश | २३१ |
| ४०. भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा बर्बरीकका मस्तकछेदन | २३४ |
| ४१. भगवान् शंकरका भगवान् विष्णु एवं ब्रह्माजीके सामने प्रकट होना | २३९ |
| ४२. मार्कण्डेयजीका नन्दिकेश्वरसे अरुणाचलक्षेत्रकी महिमा पूछना | २४४ |
| ४३. गौतमाश्रममें हिंसक प्राणियोंका परस्पर प्रेम | २५० |
| ४४. दुर्गादेवीका महिषासुरके साथ युद्ध करनेके लिये प्रस्थान | २५१ |
| ४५. पार्वतीजीको अरुणाचलपर अपूर्व ज्योतिका दर्शन | २५३ |
| ४६. दुर्वासाजीका कान्तिशाली और कलाधरको शाप देना | २५६ |
| ४७. पृथ्वीदेवीद्वारा भगवान् वाराहका पूजन | २६२ |
| ४८. भगवान् वाराहके स्वरूपका ध्यान | २६६ |
| ४९. भगवान् श्रीकृष्णका पद्मावतीका स्मरण करना | २६९ |
| ५०. भगवान् विष्णुका वसुको अपने पुत्रका वध करनेसे रोकना | २७७ |
| ५१. अस्थिसरोवरके प्रभावसे जीवित हुई ब्राह्मणीकी अपने पतिदेवसे भेंट | २८२ |
| ५२. तक्षकके काटनेसे वृक्षका भस्म होना | २८५ |
| ५३. धर्मज्ञ रीछका सिंहको उपदेश | २८९ |
| ५४. श्रीरामकृष्णके समक्ष भगवान् विष्णुका प्राकट्य | २९० |
| ५५. रामानुजद्वारा भगवान् श्रीविष्णुका स्तवन | २९६ |
| ५६. चक्रद्वारा राक्षसका शिरश्छेदन | २९९ |
| ५७. अगस्त्यजीका गंगाजीको अपना अभीष्ट मार्ग दिखाना | ३०९ |
| ५८. राजा शंखका अगस्त्यजीके साथ भगवान् विष्णुका कीर्तन करना | ३१६ |
| ५९. अंजनाको वायुदेवके द्वारा वरदान | ३१९ |
| ६०. विश्वावसु शबरद्वारा ब्राह्मणका आतिथ्य-सत्कार | ३३५ |
| ६१. विद्यापतिका इन्द्रद्युम्नको नीलाचलवासी भगवान् विष्णुका वृत्तान्त सुनाना | ३३९ |
| ६२. इन्द्रद्युम्नका नारदजीके साथ भगवान्‌का प्रसाद ग्रहण करना | ३४५ |
| ६३. इन्द्रद्युम्नद्वारा भगवान्‌का स्तवन | ३५४ |
| ६४. श्रीजगन्नाथजीकी रथयात्रा | ३७५ |
| ६५. दक्ष प्रजापतिको श्रीजगन्नाथजीका वरदान देना | ३८८ |
| ६६. भगवान् शिवके द्वारा बदरीक्षेत्रकी महिमाका कथन | ३९४ |
| ६७. देवताओंद्वारा भगवान् विष्णुसे वरयाचना | ४०६ |
| ६८. तुलसीवृक्षके नीचे भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्तिका पूजन | ४११ |
| ६९. सत्यभामाका भगवान् श्रीकृष्णसे अपने पूर्वजन्मोंका वृत्तान्त पूछना | ४२७ |
| ७०. रोटी चुराकर दौड़ते हुए चाण्डालके पीछे विष्णुदासका घी लेकर जाना | ४३३ |
| ७१. ब्रह्माजीका भगवान्‌से मार्गशीर्षमासका माहात्म्य पूछना | ४४४ |
| ७२. राजा वीरबाहुका भरद्वाजजीसे अपने सौभाग्यका कारण पूछना | ४५१ |
| ७३. कुसुमसरोवरपर संकीर्तनमें उद्धवजीका प्राकट्य | ४६७ |

| विषय | पृष्ठ-संख्या |
|---|---|
| ७४. कुतियाका दिव्य देहको प्राप्त होना | ५०६ |
| ७५. शेषनागजीका लक्ष्मणजीके सामने प्रकट होना | ५११ |
| ७६. भगवान् रामद्वारा सीताकुण्डका माहात्म्य-कथन | ५१७ |
| ७७. भगवान् सूर्यका राजा घोषके सामने प्रकट होना | ५२५ |
| ७८. वानरोंका समुद्रपर पुल बाँधना | ५३५ |
| ७९. व्यासजीका शुकदेवजीको जटातीर्थमें स्नान करनेके लिये भेजना | ५४८ |
| ८०. सुचरित मुनिके सामने भगवान् शंकरका अर्ध-नारीश्वररूपमें प्रकट होना | ५५८ |
| ८१. वेताल-बाधासे मुक्त ब्राह्मणका दत्तात्रेयजीसे संवाद | ५६८ |
| ८२. राजा पुण्यनिधिके सामने लक्ष्मीनारायणका प्राकट्य | ५९३ |
| ८३. धर्मकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये वर्द्धिनी अप्सराका उपस्थित होना | ६०४ |
| ८४. अतिथि-सत्कार | ६१३ |
| ८५. वैश्योंकी उत्पत्ति | ६२२ |
| ८६. वसिष्ठजीके द्वारा भगवान् रामके प्रति भिन्न-भिन्न तीर्थोंकी महिमाका वर्णन | ६३६ |
| ८७. भगवान् रामका अबलाको दुःखी देखकर द्रवित होना | ६३९ |
| ८८. नारदजीका ब्रह्माजीसे चातुर्मास्य-व्रतका माहात्म्य पूछना | ६४६ |
| ८९. गालवमुनिद्वारा शालग्रामपूजनका माहात्म्य-कथन | ६५७ |
| ९०. भगवान् विष्णुकी पार्वतीजीसे क्षमा-याचना | ६६० |
| ९१. कार्तिकेयजीकी क्रौंचपर्वतपर भीषण तपस्या | ६६८ |
| ९२. शिवदूतोंका चाण्डालिनीको दिव्यतेजसे सम्पन्न करना | ६७६ |
| ९३. विदर्भराजकी पत्नीका ग्राहद्वारा पकड़ा जाना | ६८१ |
| ९४. अपनी कन्या सीमन्तिनीका भविष्य सुनकर चित्रवर्माका चिन्तामें डूब जाना | ६८८ |
| ९५. भद्रायु और रानीका शिवयोगीकी पूजा करना | ६९६ |
| ९६. भद्रायुका व्याघ्रपर तीखे बाणोंकी वर्षा करना | ७०३ |
| ९७. नैध्रुवका शारदाके प्रति उमा-महेश्वरव्रतकी महिमा-कथन | ७१२ |
| ९८. लोपामुद्राके चरण-चिह्नोंको देखकर देवताओंका नमस्कार करना | ७२० |
| ९९. लक्ष्मीजीका लोपामुद्राको हृदयसे लगाना | ७२५ |
| १००. शिवशर्माका सूर्यलोकमें पहुँचना | ७३३ |
| १०१. शिवजीका बालक गृहपतिकी इन्द्रके वज्रसे रक्षा करना | ७४२ |
| १०२. शुक्राचार्यद्वारा भगवान् शंकरका स्तवन | ७४७ |
| १०३. ध्रुवका माता सुनीतिके सामने फूट-फूटकर रोना | ७५२ |
| १०४. भगवान् नारायणका ध्रुवको वरदान देना | ७६० |
| १०५. भगवान् विष्णुका अपने चक्रसे पुष्करिणी खोदना | ७६७ |
| १०६. पार्वतीजीकी महादेवजीसे हरिकेशको वर देनेके लिये प्रार्थना | ७९९ |
| १०७. काशी-गमनके लिये कलावतीका अपने पतिसे प्रार्थना करना | ८०५ |
| १०८. रिपुंजयको ब्रह्माजीका दर्शन देना | ८१३ |
| १०९. सुलक्षणाकी बकरीपर अनुग्रह करनेके लिये शिवजीसे प्रार्थना | ८३१ |
| ११०. सूर्यदेवके सामने भगवान् शंकरका प्राकट्य | ८३३ |
| १११. विमलादित्यको भगवान् सूर्यके दर्शन | ८४० |
| ११२. कपर्दीका शिव-नाम-संकीर्तन करना | ८४३ |
| ११३. धर्मक्षेत्रतीर्थमें पुण्यकीर्तिरूपधारी भगवान्का उपदेश देना | ८४७ |
| ११४. रिपुंजयके सामने शिव-पार्षदोंसे घिरे हुए दिव्य विमानका अवतरण | ८४९ |
| ११५. अग्निविन्दुके सामने लक्ष्मीसहित भगवान् विष्णुका प्राकट्य | ८५२ |
| ११६. लीलाकमलका स्पर्श पाते ही जैगीषव्यका उल्लसित हो उठना | ८५७ |
| ११७. भगवान् शिवका व्याघ्ररूपधारी दैत्यका वध करना | ८६२ |
| ११८. पार्वतीजीका भगवान् शंकरसे रत्नेश्वर लिंगका स्वरूप एवं प्रभाव पूछना | ८६५ |
| ११९. नन्दीकी भगवान् शंकरसे सेवाके लिये प्रार्थना | ८६९ |

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीगणेशाय नमः

श्रीउमामहेश्वराभ्यां नमः

# संक्षिप्त श्रीस्कन्द-महापुराण

## माहेश्वर-खण्ड

## [ केदार-खण्ड ]

### भगवान् शिवकी महिमा, दक्षका शिवजीसे द्वेष तथा दक्ष-यज्ञमें सतीका गमन

**यस्याज्ञया जगत्स्रष्टा विरञ्चिः पालको हरिः।**
**संहर्ता कालरुद्राख्यो नमस्तस्मै पिनाकिने॥**

जिनकी आज्ञासे ब्रह्माजी इस जगत्की सृष्टि तथा विष्णुभगवान् पालन करते हैं और जो स्वयं ही कालरुद्र नाम धारण करके इस विश्वका संहार करते हैं, उन पिनाकधारी भगवान् शंकरको नमस्कार है।

नैमिषारण्य तीर्थ सब तीर्थोंसे उत्तम और समस्त क्षेत्रोंमें श्रेष्ठ है। प्राचीन कालमें वहाँ शौनक आदि तपस्वी मुनि एक ऐसे यज्ञका अनुष्ठान कर रहे थे, जो दीर्घकालतक चालू रहनेवाला था। उस यज्ञमें दीक्षित सभी महर्षियोंका सबके प्रति समान भाव था। एक दिन उन सभी महात्माओंके दर्शनकी उत्कण्ठासे प्रेरित होकर महातपस्वी व्यासशिष्य लोमश मुनि वहाँ पधारे। उस दीर्घकालिक यज्ञका अनुष्ठान करनेवाले मुनियोंने लोमशजीको आया देख एक साथ ही उठकर उनका स्वागत किया। सबके मनमें उल्लास छा गया। सभी उनके दर्शनके लिये उत्सुक थे। वे पापरहित महाभाग महर्षिगण लोमशजीको अर्घ्य और पाद्य निवेदन करके उनके सत्कारमें लग गये। आतिथ्यके पश्चात् उन्होंने विस्तारपूर्वक शिवधर्म सुनानेके लिये लोमशजीसे प्रार्थना की। इसपर उन्होंने शिवजीके उत्तम माहात्म्यका इस प्रकार वर्णन आरम्भ किया।

**लोमशजी बोले**—अठारह पुराणोंमें परम पुरुष भगवान् शिवकी महिमाका गान किया गया है; अतः शिवजीके माहात्म्यका पूर्णतया वर्णन कोई भी नहीं कर सकता। जो लोग 'शिव' इस दो अक्षरके नामका उच्चारण करेंगे, उन्हें स्वर्ग और मोक्ष दोनों प्राप्त होंगे—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।* महादेवजी देवताओंके पालक और सबका शासन करनेवाले हैं, वे बड़े उदार (औढरदानी) हैं, उन्होंने अपना सब कुछ दूसरोंको दे डाला है, इसीलिये वे 'सर्व' (या शर्व) कहे गये हैं। जो सदा कल्याण करनेवाले भगवान् शिवका भजन करते हैं, वे धन्य हैं! जिन्होंने (दूसरोंकी रक्षाके लिये) विष-भक्षण किया, दक्ष-यज्ञका विनाश किया, कालको दग्ध कर डाला और राजा श्वेतको संकटसे छुड़ाया, उन महादेवजीकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है।

**मुनियोंने पूछा**—मुने! भगवान् शिवने कैसे विष-भक्षण किया तथा कैसे दक्ष-यज्ञका विनाश किया, वे सब बातें हमें बताइये। हमारे मनमें वह सब सुननेके लिये बड़ी उत्कण्ठा है।

**लोमशजी बोले**—विप्रगण! पूर्वकालकी बात है, प्रजापति दक्षने परमेष्ठी ब्रह्माजीके कहनेसे अपनी पुत्री सतीका विवाह महात्मा शंकरजीके साथ कर दिया था। एक दिन वे ही दक्ष स्वेच्छानुसार घूमते हुए नैमिषारण्यमें आये। वहाँके ऋषि-मुनियोंने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। सम्पूर्ण देवताओं और असुरोंने भी स्तुति और नमस्कारके द्वारा दक्षका सम्मान किया; किंतु भगवान् शंकरने उनको प्रणाम नहीं किया। दक्षने जब इस बातकी ओर लक्ष्य किया, तब उनके मनमें बड़ा क्रोध हुआ। वे प्रजापति ठहरे, यह अपमान कैसे सहते; उन्होंने तुरंत भगवान् शिवके प्रति कटु वचनोंकी बौछार आरम्भ कर दी—'अहो! ये सम्पूर्ण देवता और असुर भी मेरे चरणोंमें मस्तक झुकाते हैं, श्रेष्ठ ब्राह्मण भी अत्यन्त उत्सुक होकर मुझे प्रणाम करते हैं; परन्तु वह शंकर दुष्ट पुरुषोंकी भाँति मेरे सामने शीश क्यों नहीं झुकाता? वह भूत-प्रेतोंका स्वामी है और सदा प्रेत-पिशाचोंसे घिरा रहता है; फिर भी अपनेको महान् समझता है! इसलिये आज मैं उसे शाप देनेको उद्यत हुआ हूँ। श्रेष्ठ ब्राह्मणो! मेरी बात सुनो और इसका पालन करो, आजसे इस रुद्रको मैंने यज्ञोंसे बहिष्कृत कर दिया।'

दक्षका यह कठोर वचन सुनकर नन्दीको बड़ा क्रोध हुआ। वे बोले—'अहो! मेरे स्वामी महेश्वर यज्ञभागसे वंचित किये गये। यज्ञ, दान, तप तथा नाना प्रकारके तीर्थ जिनके नामसे ही पवित्र हुए हैं, उन्हीं भगवान् शिवको शाप क्यों दिया गया? खोटी बुद्धिवाले दक्ष! वह यज्ञ, जिसमें शंकरजीका भाग न हो, व्यर्थ ही होगा; दुर्बुद्धे! तू उस यज्ञकी रक्षा कर। अरे! जिन महात्मा शिवने इस सम्पूर्ण विश्वका पालन किया है, उन्हींको तूने शाप दे डाला!'

**तब महादेवजीने नन्दीसे कहा**—महामते! तुम्हें ब्राह्मणोंके प्रति कभी क्रोध नहीं करना चाहिये। मैं ही यज्ञ हूँ, मैं ही यज्ञ करनेवाला यजमान और आचार्य हूँ, सम्पूर्ण यज्ञांग भी मैं ही हूँ; इसलिये मैं सदा यज्ञमें रत हूँ। (मुझे कोई शाप देकर यज्ञ-बहिष्कृत नहीं कर सकता।) इसी प्रकार सर्वव्यापी होनेके कारण मैं किसीके भीतर नहीं हूँ—किसी भी सीमासे आबद्ध नहीं हूँ; इस दृष्टिसे देखनेपर मैं सदा ही सब यज्ञोंसे बाह्य हूँ।

भगवान् शंकरके इस प्रकार समझानेपर महातपस्वी नन्दीने विवेकका आश्रय लिया। शिवजीका सत्संग पाकर वे परमानन्दमें निमग्न हो गये। उधर मुनियोंसे घिरे हुए दक्ष भी अत्यन्त रोषमें भरकर अपने स्थानको चले गये। वे प्रणाम

* शिवेति द्व्यक्षरं नाम व्याहरिष्यन्ति ये जनाः। तेषां स्वर्गश्च मोक्षश्च भविष्यति न चान्यथा॥

(स्क० पु०, मा० के० १।१६)

न करनेवाले रुद्रको भूल न सके। बारंबार उनका स्मरण करके क्रोधसे जलने लगे। भगवान् शिवकी ओरसे उन्होंने श्रद्धा हटा ली और वे शिवके उपासकोंकी निन्दामें संलग्न रहने लगे।

एक समय दक्षने स्वयं ही एक महान् यज्ञका आयोजन किया। उसमें उन्होंने बड़े-बड़े तपस्वी ऋषि-मुनियोंको बुलाया। वसिष्ठ आदि अनेक महर्षि उस महायज्ञमें पधारे। अगस्त्य, कश्यप, अत्रि, वामदेव, भृगु, दधीचि, भगवान् व्यास, भरद्वाज और गौतम—ये तथा और भी बहुत-से महर्षि वहाँ आये। सभी देवगण, समस्त लोकपाल, विद्याधर, गन्धर्व तथा किन्नरोंका भी आगमन हुआ। उस यज्ञमें सत्यलोकसे लोकपितामह ब्रह्माजी तथा वैकुण्ठ-धामसे भगवान् विष्णु भी बुलाये गये थे। इन्द्राणीके साथ देवराज इन्द्र, रोहिणीके साथ चन्द्रमा तथा अपनी प्रियाके साथ वरुणदेव भी आये थे। कुबेर पुष्पक विमानपर, वायुदेव मृगपर तथा अग्निदेव बकरेकी सवारीपर चढ़कर पधारे थे। नैर्ऋत्य कोणके अधिपति निर्ऋति प्रेतके कंधेपर बैठकर आये थे। इस प्रकार सब लोग दक्षकी यज्ञशालामें उपस्थित हुए। दक्षने सबका सत्कार किया। उनके यहाँ विश्वकर्माके बनाये हुए अनेक दिव्य भवन थे। वे सभी बहुमूल्य उपकरणोंसे सजे हुए तथा अत्यन्त प्रकाशमान थे। उन्हीं भवनोंमें दक्षने अपने समागत अतिथियोंको यथायोग्य स्थान देकर ठहराया।

दक्षका वह महायज्ञ कनखल तीर्थमें आरम्भ हुआ। उसमें उन्होंने भृगु आदि तपोधनोंको ऋत्विज् बनाया। अनेक प्रकारके कौतुक और मंगलाचार सम्पन्न करके दक्षने उस यज्ञकी दीक्षा ली। साथमें उनकी धर्मपत्नी भी बैठीं। ब्राह्मणोंने स्वस्तिवाचन किया। उस समय अपने सुहृदोंसे घिरे हुए दक्ष अपना महत्त्व बढ़ जानेके कारण अधिक सुशोभित हो रहे थे। इसी समय महर्षि दधीचिने वहाँ दक्षसे इस प्रकार कहना आरम्भ किया—'प्रजापते! ये देवेश्वरगण, ये बड़े-बड़े महर्षि तथा लोकपाल भी तुम्हारे यज्ञ-मण्डपमें पधारे हैं, तो भी पिनाकपाणि महात्मा शंकरके बिना यह यज्ञ अधिक शोभा नहीं पा रहा है। जिनके बिना मंगल भी अमंगल रूपमें ही परिणत हो जाते हैं तथा जिन त्रिनेत्रधारी भगवान्‌के अधिकारमें आनेपर अमङ्गल भी तत्काल मंगलके रूपमें बदल जाते हैं, वे अबतक यहाँ क्यों नहीं दर्शन दे रहे हैं? दक्ष! अब तुम्हें ही भगवान् विष्णु और इन्द्रके साथ जाकर परमेष्ठी भगवान् महेश्वरको बुला ले आना चाहिये। उन योगी शंकरकी उपस्थितिसे यहाँ सब कुछ पवित्र हो जायगा, जिनके स्मरण तथा नामोच्चारणसे सब पुण्यमय हो जाता है।'

दधीचिका यह वचन सुनकर दक्ष क्रोधमें भर गये और बड़ी उतावलीके साथ उत्तर देने लगे। उनका भीतरी भाव तो दूषित था, किंतु ऊपरसे वे हँसते हुए-से बोल रहे थे। उन्होंने कहा—'सम्पूर्ण देवताओंके मूल हैं—भगवान् विष्णु। जिनमें सनातन-धर्मकी स्थिति है, जिनमें सम्पूर्ण वेद, यज्ञ और नाना प्रकारके सत्कर्म भी प्रतिष्ठित हैं, वे भगवान् विष्णु तो यहाँ पधारे हुए हैं ही। सत्यलोकसे लोकपितामह ब्रह्माजी भी आ गये हैं। उनके साथ समस्त वेद, उपनिषद् और नाना प्रकारके आगम भी हैं। इसी प्रकार आप-जैसे निष्पाप महर्षिगण भी आ ही गये हैं। जो-जो यज्ञ-कर्मके योग्य हैं, शान्तचित्त और सुपात्र हैं, वे सब महात्मा यहाँ पदार्पण कर चुके हैं। आप सब महर्षिगण वेदके वाक्य तथा उसके अर्थके भी तत्त्वज्ञ हैं। दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले हैं। आपके होते हुए अब हमें रुद्रसे क्या प्रयोजन है? ब्रह्मन्! आप सब लोग मिलकर मेरे इस महान् यज्ञको सफल बनावें।'

**दक्षकी बात सुनकर दधीचिने कहा**—पवित्र अन्तःकरणवाले समस्त श्रेष्ठ महर्षियों और देवताओंके समुदायमें यह बड़ा भारी अन्याय हुआ है कि भगवान् शिवको आमन्त्रित नहीं किया गया। महात्मा शंकरके बिना इस यज्ञमें शीघ्र ही महान् विघ्न होनेवाला है।

यों कहकर महर्षि दधीचि अकेले ही दक्षकी यज्ञशालासे निकल पड़े और तुरंत अपने आश्रमको चले गये। उनके चले जानेपर दक्षने हँसते हुए कहा—'ब्राह्मणो! दधीचि शंकरके प्रेमी हैं। वे चले गये। आप सब लोग वैदिक सिद्धान्तमें रत रहनेवाले हैं; भगवान् विष्णु आप सबके अग्रणी हैं। अब शीघ्र ही आपलोग मेरे यज्ञको सफल बनावें।' तब उन सभी महर्षियोंने वहाँ देवयज्ञ प्रारम्भ किया।

इसी समय महादेवी दक्षकुमारी सतीने, जो गन्धमादनपर्वतपर अपनी सखियोंके साथ विराजमान थीं, रोहिणीके साथ चन्द्रमाको कहीं जाते हुए देखा। वे यज्ञमें ही जा रहे थे। सतीने अपनी सखी विजयासे कहा—'विजये! तू शीघ्र जाकर पूछ तो सही, ये चन्द्रमा कहाँ जायँगे?' उनके आदेशसे विजया चन्द्रमाके समीप गयी और यथोचित विनयके साथ उनकी यात्राका उद्देश्य पूछा। चन्द्रमाने दक्षके यज्ञमें जानेका सब वृत्तान्त बता दिया। यह सुनकर विजयाको बड़ा हर्ष और विस्मय हुआ। उसने तुरंत लौटकर सतीसे चन्द्रमाकी कही हुई सब बातें कह सुनायीं। सुनकर सती देवीने विचार किया, 'क्या कारण है, जो पिताजी मुझे नहीं बुला रहे हैं? क्या मेरी यशस्विनी माता भी मुझे भूल गयीं? आज मैं भगवान् शंकरसे इसका कारण पूछती हूँ।' यह निश्चय करके सती देवीने सखियोंको वहीं ठहरा दिया और स्वयं भगवान् शंकरके पास गयीं। उन्होंने देखा, त्रिनेत्रधारी महेश्वर सभा-मण्डपमें विराजमान हैं। चण्ड-मुण्ड आदि सभी पार्षद उन्हें सब ओरसे घेरकर बैठे हैं। बाण, भृंगी, नन्दी, महाकाल, महारौद्र, महामुण्ड, महाशिरा, धूम्राक्ष, धूम्रकेतु, धूम्रपाद तथा अन्य बहुत-से गण भगवान् रुद्रका अनुवर्तन करनेवाले हैं। वे सभी जितेन्द्रिय तथा वीतराग हैं। लोक-कल्याणकारी भगवान् शंकर इन सबसे घिरे हुए हैं और परम अद्भुत आसनपर विराजमान हैं। सतीका मन भगवान् शिवका दर्शन करते ही उनकी ओर आकृष्ट हो गया। वे सहसा उनके समीप चली गयीं। भगवान् शिवने बड़े आदरके साथ प्रीतियुक्त वचनोंसे सतीको आनन्दित किया और कहा—'प्रिये! इस समय यहाँ तुम्हारे आगमनका क्या कारण है?'

**सती बोलीं**—देवदेवेश्वर! मेरे पिताके घर महान् यज्ञ हो रहा है। उसमें चलनेके लिये आपकी रुचि क्यों नहीं होती? सदाशिव! यद्यपि आप उस यज्ञमें बुलाये नहीं गये हैं, तथापि आज मेरे कहनेसे मेरे पिताकी यज्ञशालामें आप स्वयं सब प्रकारसे प्रयत्न करके पधारें।

**सतीका यह वचन सुनकर महादेवजीने मधुर वाणीमें कहा**—कल्याणी! तुम्हारे पिताकी दृष्टिमें जो देवता, असुर तथा किन्नर आदि सम्माननीय हैं, वे सब निःसन्देह उनके यज्ञमें पहुँच गये हैं। सुन्दरी! जो लोग दूसरोंके घर बिना बुलाये जाते हैं, वे वहाँ मृत्युसे भी अधिक कष्टदायक अपमानको प्राप्त होते हैं।* शुभे! दूसरोंके घर जानेपर इन्द्र भी लघुताको प्राप्त होते हैं; इसलिये तुम्हें भी दक्षके यज्ञमें नहीं जाना चाहिये।

महात्मा भगवान् शंकरके इस प्रकार कहनेपर सतीने अपने पिताके प्रति रोष प्रकट करनेवाले वचनोंमें कहा—'नाथ! जिनसे सम्पूर्ण यज्ञ सफल होते हैं, वे देवदेवेश्वर तो आप ही हैं; फिर आपको भी मेरे दुराचारी पिताने आमन्त्रित नहीं किया! उस दुरात्माके मनमें आपके प्रति सद्भाव है या दुर्भाव, यह सब मैं जानना चाहती हूँ। इसलिये अभी पिताके यज्ञमण्डपमें जाती हूँ। देवदेव! जगत्पते! मुझे वहाँ जानेकी आज्ञा दीजिये।'

**सती देवीके यों कहनेपर भगवान् महेश्वर**

* अनाहूताश्च ये सुभ्रु गच्छन्ति परमन्दिरम्। तेऽपमानं प्राप्नुवन्ति मरणादधिकं ततः॥

(स्क० पु०, मा० के० २।५९)

**बोले**—उत्तम व्रतका पालन करनेवाली देवी! यदि ऐसी बात है तो इस नन्दीपर सवार हो नाना प्रकारके प्रमथगणोंको साथ लेकर तुम शीघ्र वहाँकी यात्रा करो; मैं आज्ञा देता हूँ।

भगवान् शिवके आदेशसे साठ हजार रुद्रगण सती देवीके साथ चले। उन गणोंसे घिरी हुई देवीने अपने पिताके घरकी ओर प्रस्थान किया। सती देवी जब पिताके घर चली गयीं, उस समय सब बातोंपर विचार करके भगवान् महेश्वरने अपने मुखसे यह वचन निकाला—'अपने पिताद्वारा अपमानित होकर दक्षकुमारी सती अब फिर यहाँ लौटकर नहीं आयेंगी।'

## सतीका अग्नि-प्रवेश, दक्ष-यज्ञ-विध्वंस तथा दक्षपर पुनः भगवान् शिवकी कृपा

दाक्षायणी सती उस स्थानपर गयीं, जहाँ वह महान् प्रकाशशाली यज्ञ हो रहा था। नाना प्रकारके आश्चर्यमय कौतूहलसे परिपूर्ण पिताके उस भवनको देखकर सती देवी द्वारपर ही ठहर गयीं और परम सौभाग्यवान् नन्दीकी पीठसे उतरकर इधर-उधर दृष्टि डालने लगीं। उन्होंने माता, पिता, सुहृद्, सम्बन्धी तथा बन्धु-बान्धवोंको देखा। माता-पिताको मस्तक झुकाकर वे बड़ी प्रसन्न हुईं। फिर अपने अभिमत प्रस्तावके अनुरूप वचन बोलीं—'पिताजी! जिनसे यह सम्पूर्ण चराचर जगत् पवित्र होता है, उन परम कल्याणमय भगवान् शंकरको आपने क्यों नहीं बुलाया?' (फिर ऋषियोंको सम्बोधित करके कहा—) 'भृगुजी! क्या आप भगवान् शिवको नहीं जानते? महामते कश्यप! क्या आप भी महादेवजीसे अपरिचित हैं? अत्रि, वसिष्ठ तथा कण्वजी! क्या आप भी महेश्वरकी महिमा नहीं जानते? इन्द्र! इस समय तुम्हारा क्या कर्तव्य है? भगवान् विष्णु! आप तो परमेश्वर महादेवजीको अच्छी तरह जानते हैं। ब्रह्माजी! क्या आपको महादेवजीके पराक्रमका ज्ञान नहीं है?'

**सतीकी बात सुनकर दक्षने कुपित होकर कहा**—भद्रे! तुम्हारे बहुत बातें बनानेसे क्या होगा? इस समय यहाँ तुम्हारी कोई आवश्यकता नहीं है। ठहरो या चली जाओ। तुम यहाँ आयी ही क्यों? तुम्हारा पति, जो शिव कहलाता है, अमंगलका मूर्तिमान् स्वरूप है। कुलीन भी नहीं है। वेदसे बहिष्कृत है। वह भूत, प्रेत और पिशाचोंका राजा है। इसीलिये इस यज्ञके निमित्त उसको आमन्त्रित नहीं किया गया है।

विश्ववन्दिता सती अपने पिताको शिवकी निन्दामें संलग्न देख अत्यन्त क्रोधमें भर गयीं और सोचने लगीं—'जो महादेवजीकी निन्दा करता है तथा जो उनकी निन्दा होती देख चुपचाप सुनता है, वे दोनों नरकमें जाते हैं, और जबतक सूर्य-चन्द्रमाकी स्थिति है तबतक उस नरकमें ही पड़े रहते हैं।* अतः अब मैं इस देहको त्याग दूँगी, अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगी।' इस प्रकार विचार करती हुई सती शिव, रुद्र आदि नामोंका उच्चारण करने लगीं और अग्निमें प्रवेश कर गयीं। यह देख उनके साथ आये हुए समस्त शिवगण हाहाकार करने लगे। ऋषि, इन्द्र आदि देवता, मरुद्गण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार तथा सम्पूर्ण लोकपाल अवाक् हो गये। दक्ष-यज्ञमें सम्मिलित हुए सभी ऋषि-मुनि इस घटनासे भयभीत हो उठे।

इसी बीचमें महात्मा नारदजीने महादेवजीके पास जाकर दक्षकी सारी करतूतें कह सुनायीं। सुनकर भयंकर पराक्रम प्रकट करनेवाले परम क्रोधवान् जगदीश्वर भगवान् रुद्र बहुत ही कुपित

* यो निन्दति महादेवं निन्द्यमानं शृणोति च। तावुभौ नरकं यातो यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥
(स्क० पु०, मा० के० ३। २२)

दक्षके द्वारा सतीका तिरस्कार

हुए। लोकसंहारकारी रुद्रने अपनी जटा उखाड़कर उसे पर्वतके शिखरपर क्रोधपूर्वक दे मारा। जटा उखाड़नेसे महायशस्वी वीरभद्र प्रकट हुए। साथ ही करोड़ों भूतोंसे घिरी हुई कालीका भी प्राकट्य हुआ। महात्मा रुद्रके क्रोध और निःश्वाससे सैकड़ों प्रकारके ज्वर तथा तेरह प्रकारके सन्निपात रोग उत्पन्न हुए। वीरभद्रने भयंकर पराक्रमी रुद्रसे निवेदन किया—'प्रभो! शीघ्र आज्ञा कीजिये, इस सेवकसे क्या काम लेना है?' भगवान् रुद्रने आज्ञा दी—'महाबाहु वीर! शीघ्र जाओ और दक्ष-यज्ञका विनाश करो।'

देवाधिदेव शूलपाणि महादेवजीकी यह आज्ञा शिरोधार्य करके महातेजस्वी वीरभद्र समस्त भूतोंसे घिरे हुए दक्ष-यज्ञकी ओर चल दिये। उनके साथ कालिका देवी भी थीं। उसी समय दक्षके यहाँ सहसा अपशकुन प्रकट होने लगे। धूल और कंकड़ोंसे भरी हुई रूक्ष वायु चलने लगी। मेघ रक्तकी वर्षा करने लगे। सम्पूर्ण दिशाओंमें अन्धकार छा गया। पृथ्वीपर सहस्रशः उल्कापात होने लगे। इस प्रकारके अनिष्टसूचक उत्पात वहाँ देवता आदिको दिखायी दिये। दक्षको भी बड़ा भय हुआ। वे भगवान् विष्णुकी शरणमें गये और विनय-पूर्वक कहने लगे—'महाविष्णो! आप हमारे परम गुरु हैं; रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। सुरश्रेष्ठ! आप ही यज्ञ हैं, इस महान् भयसे मुझे मुक्त कीजिये।'

**दक्षके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भगवान् मधुसूदनने कहा**—ब्रह्मन्! इसमें सन्देह नहीं कि मुझे तुम्हारी रक्षा करनी चाहिये; किंतु तुमने धर्मको जानते हुए भी महेश्वरकी अवहेलना की है। महेश्वरकी अवज्ञासे तुम्हारा सब कुछ निष्फल हो जायगा। जहाँ अपूज्य व्यक्तियोंका पूजन होता तथा पूजनीय महात्माका पूजन नहीं किया जाता, वहाँ तीन संकट अवश्य प्राप्त होंगे—दुर्भिक्ष, मृत्यु तथा भय।* इसलिये सब प्रकारसे यत्न करके भगवान् शंकरको मनाना चाहिये। तुम्हारे यज्ञमें महेश्वरका सम्मान नहीं किया गया है, इसी कारण यह महान् भय उपस्थित हुआ है। इस समय तो हम सब लोग मिलकर भी इस भयका निवारण करनेमें समर्थ नहीं हैं। यह सब कुछ तुम्हारी दुर्नीतिके कारण हो रहा है।

भगवान् विष्णुका यह वचन सुनकर दक्ष चिन्तित हो उठे। उनका मुँह सूख गया। इतनेमें ही अपनी सेनासे घिरे हुए महातेजस्वी वीरभद्र भी आ पहुँचे। उनके साथ काली, कात्यायनी, ईशानी, चामुण्डा, मर्दिनी, भद्रकाली, भद्रा, त्वरिता तथा वैष्णवी—ये नव दुर्गाएँ तथा भूतोंका महान् समुदाय भी था। शाकिनी, डाकिनी, भूत, प्रमथ, गुह्यक, कूष्माण्ड, कर्पट, वटुक, ब्रह्मराक्षस, भैरव, क्षेत्रपाल, राक्षस, यक्ष, विनायक तथा चौसठ योगिनियोंका मण्डल—ये सब उस महान् प्रकाशमय यज्ञ-मण्डपमें सहसा प्रकट हो गये। भगवान् शंकरके उन पार्षदोंने देवताओंके साथ युद्ध आरम्भ किया। लोकपालोंसहित देवताओंने भी शिवगणोंपर अस्त्र-शस्त्रोंसे प्रहार किया। यद्यपि वे लाखोंकी संख्यामें थे, तथापि इन्द्र आदि लोकपालोंने उन्हें रणसे विमुख कर दिया। उस समय देवताओंकी विजय और यजमानके सन्तोषके लिये महर्षि भृगुने शिवगणोंके प्रति उच्चाटनका प्रयोग किया था। इसीसे उस समय देवता विजयी हुए।

अपने सैनिकोंकी पराजय देखकर वीरभद्रको बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने भूतों, प्रेतों और पिशाचोंको पीछे करके वृषभास्यको आगे किया और स्वयं भी आगे आ गये। महाबली वीरभद्रने एक तीक्ष्ण त्रिशूल हाथमें लेकर देवताओं, यक्षों, (दक्षपक्षीय) पिशाचों, गुह्यकों तथा राक्षसोंको भी उस युद्धमें मार गिराया। समस्त शिवगणोंने शूलके आघातसे

* अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूजनीयो न पूज्यते। त्रीणि तत्र भविष्यन्ति दुर्भिक्षो मरणं भयम्॥
(स्क० पु०, मा० के० ३। ४८-४९)

देवताओंको गहरी चोट पहुँचायी। फिर तो सम्पूर्ण देवता पराजित होकर भागने लगे। सबने एक-दूसरेको छोड़कर स्वर्गकी राह ली। केवल इन्द्र आदि लोकपाल ही विजयके लिये उत्सुक होकर वहाँ खड़े रहे। वे बारंबार बृहस्पतिजीसे पूछते थे—'गुरुदेव! हमारी विजय कैसे होगी?' तब बृहस्पतिजीने कहा—'भगवान् विष्णुने जो बात बहुत पहले कह दी थी, वह आज सत्य हुई। यदि फलरूपमें परिणत हुए कर्मका नियामक कोई ईश्वर है तो वह भी कर्ताका ही आश्रय लेता है। जो कर्ता नहीं है, उसपर वह अपना प्रभुत्व नहीं प्रकट करता—कर्म करनेवालेको ही ईश्वर उसका फल देता है, न करनेवालेको नहीं। वह ईश्वर केवल अनन्य भक्तिसे जानने योग्य है। परम शान्ति और सन्तोषसे ही भगवान् सदाशिवके स्वरूपको जाना जा सकता है। उन्हींसे यह सम्पूर्ण सुख-दुःखात्मक जगत् जन्म और जीवन धारण करता है। (इस समय तुम्हारी विजयका कोई उपाय नहीं दिखायी देता।) इन्द्र! तुम मूर्खता और लोलुपताके वश इन लोकपालोंके साथ यहाँ आ गये हो। बताओ तो इस समय क्या करोगे? ये परम शोभायमान गण भगवान् शिवके किंकर हैं; वे ही इनके सहायक हैं। ये महाभाग कुपित होनेपर जब संहार आरम्भ करते हैं तब किसीको शेष नहीं छोड़ते।'

बृहस्पतिजीका यह कथन सुनकर वे सम्पूर्ण देवता, लोकपाल तथा इन्द्र भी चिन्तामें डूब गये। तदनन्तर शिवगणोंसे घिरे हुए वीरभद्रने कहा—'तुम सब देवता मूर्खताके कारण यहाँ भेंट लेनेके लिये आ गये हो। मेरे निकट तो आओ। मैं तुम्हें भेंट देता हूँ। सखे इन्द्र! मित्रवर सूर्य! चन्द्रमा! धनाध्यक्ष कुबेर! पाशधारी वरुण! मृत्यो! यमुनाके बड़े भैया यमराज! मैं आपलोगोंकी तृप्तिके लिये शीघ्र ही भेंट अर्पित करूँगा।' यों कहकर क्रोधमें भरे वीरभद्रने सब देवताओंपर बाणोंकी बौछार आरम्भ की। उन बाणोंके आघातसे पीड़ित होकर वे सब-के-सब दसों दिशाओंमें भाग गये। लोकपालोंके और देवताओंके पलायन कर जानेपर भगवान् विष्णु भी चले गये। फिर वीरभद्र अपने गणोंके साथ यज्ञशालामें आये। उस समय देवता, ऋषि तथा अन्य जो यज्ञोपजीवी लोग थे, उन सबको भगवान् शिवके गणोंने परास्त कर दिया। महर्षि भृगुको धरतीपर पटककर उनकी दाढ़ी और मूँछ नोंच ली। पूषाने दाँत दिखाकर हँसी उड़ायी थी, अतः शिवगणोंने उनके सारे दाँत उखाड़ लिये। अग्निपत्नी स्वधा और स्वाहाको भी अपमानित किया तथा क्रोधमें भरकर उन्होंने और भी ऐसे-ऐसे बर्ताव किये, जो वाणीद्वारा कहने योग्य नहीं हैं। दक्ष महान् भयके मारे अन्तर्वेदीमें छिपे हुए थे। इस बातका पता लगनेपर रोषमें भरे हुए वीरभद्र उन्हें पकड़ लाये और उनका जबड़ा पकड़कर सिरके ऊपर तलवारसे चोट की। फिर दक्षके कटे हुए सिरको उन्होंने तुरंत ही यज्ञकुण्डमें डालकर जला दिया। उस यज्ञशालामें दूसरे-दूसरे जो देवता, पितर, ऋषि, यक्ष और राक्षस रह गये थे, वे सब शिवगणोंके उपद्रवसे भयभीत होकर भाग चले। चन्द्रमा, आदित्यगण, ग्रहमण्डल, नक्षत्र और तारे—इन सबको शिवगणोंने भगा दिया। ब्रह्माजी अपने पुत्र दक्षके शोकसे पीड़ित होकर सत्यलोकको चले गये और वहाँ स्वस्थचित्तसे विचार करने लगे कि अब मुझे क्या करना चाहिये? इस अपमानके कारण ब्रह्माजीको शान्ति नहीं मिलती थी। 'यह सब कुछ उस दक्षके ही पापका फल है' यह जानकर पितामहने कैलास पर्वतपर जानेका निश्चय किया। महातेजस्वी ब्रह्माजी हंसपर आरूढ़ हो सब देवताओंके साथ पर्वतश्रेष्ठ कैलासपर गये। वहाँ उन्होंने नन्दीके साथ एकान्तमें बैठे हुए भगवान् सदाशिवका दर्शन किया। उनके मस्तकपर जटा-जूट शोभा पा रहा था। भगवान् शिवको देखकर ब्रह्माजी दण्डकी भाँति पृथ्वीपर पड़ गये और अपना अपराध क्षमा करानेके

वीरभद्रद्वारा दक्षयज्ञ-विध्वंस

लिये उद्यत हो अपने चारों मुकुटोंसे भगवान् शिवके चरणारविन्दोंका स्पर्श करते हुए उनकी स्तुति करने लगे।

**ब्रह्माजी बोले**—शान्तस्वरूप, सर्वत्र व्यापक, परब्रह्मरूप परमात्मा भगवान् रुद्रको नमस्कार है; मस्तकपर जटा-जूट धारण करनेवाले महान् ज्योतिर्मय महेश्वरको नमस्कार है। भगवन्! आप जगत्की सृष्टि करनेवाले प्रजापतियोंके भी स्रष्टा हैं। आप ही सबका धारण-पोषण करते हैं। आप सबके प्रपितामह हैं। आप ही रुद्र, महान्, नीलकण्ठ और वेधा हैं; आपको नमस्कार है। यह सम्पूर्ण विश्व आपका स्वरूप है। आप ही इसके बीज (आदिकारण) हैं। इस जगत्को आनन्दकी प्राप्ति करानेवाले भी आप ही हैं, आपको नमस्कार है। आप ही ओंकार, वषट्कार तथा सम्पूर्ण आयोजनोंके प्रवर्तक हैं। यज्ञ, यजमान और यज्ञ-प्रवर्तक भी आप ही हैं। प्रभो! देवेश्वर! यज्ञ-प्रवर्तक होकर भी आपने इस यज्ञका विनाश कैसे किया? महादेव! आप ब्राह्मणोंके हितैषी हैं, तो भी आपके द्वारा दक्षका वध कैसे हुआ? रुद्र! आप तो गौओं और ब्राह्मणोंके प्रतिपालक हैं। समस्त प्राणियोंको शरण देनेवाले हैं। रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये।

**श्रीमहादेवजीने कहा**—पितामह! सावधान होकर मेरी बात सुनिये, दक्ष अपने ही कर्मसे मारा गया। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इसलिये किसीको भी कदापि ऐसा कर्म नहीं करना चाहिये जो दूसरोंको क्लेश पहुँचानेवाला हो। ब्रह्मन्! जो दूसरोंको कष्ट देनेवाला कर्म किया जाता है, वह एक दिन अपने ही ऊपर आ पड़ता है।

यों कहकर भगवान् शंकर उस समय ब्रह्मा आदि देवताओंके साथ कनखल तीर्थमें, जहाँ प्रजापति दक्षका यज्ञमण्डप था, गये। वहाँ जाकर उन्होंने वीरभद्रके द्वारा जो कुछ किया गया था, सब देखा। स्वाहा, स्वधा, पूषा, बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ भृगु, अन्यान्य ऋषि, समस्त पितर, यक्ष, गन्धर्व और किन्नर—जो भी वहाँ जिस अवस्थामें पड़े थे, सबको भगवान् शिवने देखा। किसीके अंग-भंग हो गये थे, किसीकी दाढ़ी और मूँछें नोंच ली गयी थीं तथा कुछ लोग रणभूमिमें मरे पड़े थे। भगवान् शंकरको आया देख वीरभद्रने समस्त गणोंके साथ उनके चरणोंमें दण्डवत्-प्रणाम किया और वे सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गये। महाबली वीरभद्रको अपने आगे खड़ा देख महादेवजीने हँसते हुए कहा—'वीरवर! यह तुमने क्या किया? दक्षको शीघ्र यहाँ ले आओ, जिसने ऐसा यज्ञ किया और उसका वैसा ही विलक्षण फल भी प्राप्त किया।'

शंकरजीके यों कहनेपर वीरभद्रने बड़ी उतावलीके साथ दक्षका धड़ लाकर उनके सामने डाल दिया। तब शंकरजीने कहा—'वीर! इस दुरात्मा दक्षका मस्तक कौन ले गया? यदि मिल जाय तो कुटिल होनेपर भी इसे मैं जीवित कर दूँगा।' यह सुनकर वीरभद्र फिर बोले—'भगवन्! मैंने उसी समय इसके मस्तकको अग्निमें होम दिया था, अब तो केवल पशुका सिर बचा है। किंतु उसका मुख बहुत विकृत हो गया है।' ये सब बातें जानकर भगवान् शिवने पशुके भयंकर मुखको, जिसमें दाढ़ी भी लगी थी, दक्षके धड़से जोड़ दिया। इस प्रकार भगवान् शंकरकी कृपासे दक्षको नया जीवन प्राप्त हुआ। दक्ष अपने सामने भगवान् रुद्रको उपस्थित देख लज्जासे गड़ गये, उन्होंने लोक-कल्याणकारी भगवान् शंकरके चरणोंमें मस्तक झुकाकर उनका स्तवन किया।

**दक्ष बोले**—सबको वर देनेवाले सर्वश्रेष्ठ देव भगवान् शंकरको मैं प्रणाम करता हूँ। सनातन देवता शिवको मैं सदा नमस्कार करता हूँ। देवताओंके पालक और ईश्वर, पापहारी हरको मैं प्रणाम करता हूँ। जगत्के एकमात्र बन्धु शम्भुको मैं नमस्कार करता हूँ। जो सम्पूर्ण विश्वके स्वामी, विश्वरूप, सनातन ब्रह्म और स्वात्मरूप हैं, उन

भगवान् शिवको मैं शीश झुकाता हूँ। अपनी भक्तिसे प्राप्त होने योग्य सर्वरूप भगवान् शिवको मैं प्रणाम करता हूँ। जो वरदायक हैं, वरस्वरूप हैं और वरण करनेयोग्य हैं, उन भगवान् शिवको मैं मस्तक नवाता हूँ।[1]

**दक्षके इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान् शंकरने कहा**—सुरश्रेष्ठ! चार प्रकारके पुण्यात्मा जन मेरा सदा भजन करते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। (इन सबमें ज्ञानी श्रेष्ठ है।) इसलिये समस्त ज्ञानी पुरुष मुझे विशेष प्रिय हैं। इसमें तनिक भी संशय नहीं है। जो ज्ञानके बिना ही मुझे पानेका यत्न करते हैं, वे अज्ञानी हैं। तुम केवल यज्ञादि कर्मके द्वारा संसार-सागरके पार जाना चाहते हो; परंतु कर्ममें आसक्त हुए मूढ़ पुरुष वेद, यज्ञ, दान और तपस्यासे भी मुझे कभी नहीं प्राप्त कर सकते। अतएव तुम अन्तःकरणको एकाग्र करके ज्ञाननिष्ठ होकर कर्म करो। सुख और दुःखमें समान भाव रखकर सदा प्रसन्न रहो।[2]

तदनन्तर दक्षको वहीं कनखल तीर्थमें रहनेका आदेश देकर भगवान् शिव अपने निवास-स्थान कैलास पर्वतपर चले गये। फिर ब्रह्माजीने भृगु आदि सम्पूर्ण महर्षियोंको आश्वासन तथा बोध प्रदान किया। वे सब ऋषि-मुनि तत्क्षण ज्ञानी हो गये। इसके बाद पितामह ब्रह्माजी अपने धामको गये। इधर प्रजापति दक्षको भगवान् शंकरके उपदेशसे उत्तम ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी। वे शिवजीके ध्यानमें तत्पर होकर तपस्या करने लगे। इसलिये सर्वथा प्रयत्न करके सबको भगवान् शंकरकी आराधना करनी चाहिये।

---

१. नमामि देवं वरदं वरेण्यं नमामि देवं च सदा सनातनम्।
नमामि देवाधिपमीश्वरं हरं नमामि शम्भुं जगदेकबन्धुम्॥
नमामि विश्वेश्वरविश्वरूपं सनातनं ब्रह्म निजात्मरूपम्।
नमामि सर्वं निजभावगम्यं वरं वरेण्यं वरदं नतोऽस्मि॥

(स्क० पु०, मा० के० ५। ३९-४०)

२. दक्षेण संस्तुतो रुद्रो बभाषे प्रहसन् हरः॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनः सदा। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च सुरसत्तम॥
तस्मान्मे ज्ञानिनः सर्वे प्रियाः स्युर्नात्र संशयः। विना ज्ञानेन मां प्राप्तुं यतन्ते ते हि बालिशाः॥
केवलं कर्मणा त्वं हि संसारं तर्तुमिच्छसि। न वेदैश्च न यज्ञैश्च न दानैस्तपसा क्वचित्॥
न शक्नुवन्ति मां प्राप्तुं मूढाः कर्मवशा नराः। तस्माज्ज्ञानपरो भूत्वा कुरु कर्म समाहितः॥
सुखदुःखसमो भूत्वा सुखी भव निरन्तरम्॥

(स्क० पु०, मा० के० ५। ४१—४६)

# शिवपूजनकी महिमा

**लोमशजी कहते हैं**—जो मनुष्य शिवमन्दिरके आँगनमें झाड़ू लगाते हैं, वे निश्चय ही भगवान् शिवके लोकमें पहुँचकर सम्पूर्ण विश्वके लिये वन्दनीय हो जाते हैं। जो भगवान् शिवके लिये यहाँ अत्यन्त प्रकाशमान दर्पण अर्पण करते हैं, वे आगे चलकर शिवजीके सम्मुख उपस्थित रहनेवाले पार्षद होंगे। जो लोग देवाधिदेव, शूलपाणि शंकरको चँवर भेंट करते हैं, वे त्रिलोकीमें जहाँ कहीं जन्म लेंगे, उनपर चँवर डुलता रहेगा। जो परमात्मा शिवकी प्रसन्नताके लिये धूप निवेदन करते हैं, वे पिता और नाना दोनोंके कुलोंका उद्धार करते हैं तथा भविष्यमें यशस्वी होते हैं। जो लोग भगवान् हरि-हरके सम्मुख दीपदान करते हैं, वे भविष्यमें तेजस्वी होते और दोनों कुलोंका उद्धार करते हैं। जो मनुष्य हरि-हरके आगे नैवेद्य निवेदन करते हैं, वे एक-एक (ग्रास)-में सम्पूर्ण यज्ञका फल पाते हैं। जो लोग टूटे हुए शिव-मन्दिरको पुनः बनवा देते हैं, वे निस्सन्देह द्विगुण फलके भागी होते हैं। जो ईंट अथवा पत्थरसे भगवान् शिव तथा विष्णुके लिये नूतन मन्दिर निर्माण कराते हैं, वे तबतक स्वर्गलोकमें आनन्द भोगते हैं, जबतक इस पृथ्वीपर उनकी वह कीर्ति स्थित रहती है। जो महान् बुद्धिमान् मानव भगवान् शिवके लिये अनेक मंजिलोंका महल (मन्दिर) बनवाते हैं, वे उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं। जो अपने और दूसरोंके बनवाये हुए शिव-मन्दिरकी सफाई करते या उसमें सफेदी कराते हैं, वे भी उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं। जो पुरुष अथवा स्त्रियाँ शिवजीके आँगनमें विविध रंगोंके चौक पूरती हैं, वे सर्वश्रेष्ठ शिवधाममें पहुँचकर दिव्य रूप प्राप्त करेंगी। जो पुण्यात्मा मनुष्य भगवान् शिवको चँदोवा भेंट करते हैं, वे स्वयं तो शिवलोकमें जाते ही हैं, अपने समस्त कुलको भी तार देते हैं। जो अधिक आवाज करनेवाला घण्टा लेकर उसे शिव-मन्दिरमें बाँधते हैं, वे भी त्रिलोकीमें तेजस्वी और कीर्तिमान् होंगे। धनवान् हो या दरिद्र, जो एक-दो या तीनों समय भगवान् शिवका दर्शन करता है, वह सुखी होता और समस्त दुःखोंसे छूट जाता है।

हे हरे! और हे हर! इस प्रकार भगवान् शिव और विष्णुके नाम लेनेसे परमात्मा शिवने बहुतेरे मनुष्योंकी रक्षा की है।* तीनों लोकोंमें महादेवजीसे बढ़कर दूसरा कोई देवता नहीं दिखायी देता। इसलिये सब प्रकारके प्रयत्नोंसे भगवान् सदाशिवकी पूजा करनी चाहिये। पत्र, पुष्प, फल अथवा स्वच्छ जल तथा कनेरसे भी भगवान् शिवकी पूजा करके मनुष्य उन्हींके समान हो जाता है। आक (मदार) का फूल कनेरसे दसगुना श्रेष्ठ माना गया है। आकके फूलसे भी दसगुना श्रेष्ठ है धतूरे आदिका फल। नील-कमल एक हजार कह्लार (कचनार)-से भी श्रेष्ठ माना गया है। यह चराचर जगत् विभूतिसे प्रकट हुआ है। वह विभूति भगवान् शिवके श्रीअंगोंमें भलीभाँति लगती है, इसलिये सदा उसे धारण करना चाहिये।

जिनके मुखसे '**नमः शिवाय**' यह पंचाक्षर मन्त्र सदा उच्चारित होता रहता है, वे मनुष्य भगवान् शंकरके स्वरूप हैं। प्रातःकाल, मध्याह्नकाल तथा सन्ध्याके समय शंकरजीका दर्शन करना चाहिये। प्रातःकाल भगवान् शिवके दर्शनसे सम्पूर्ण पातकोंका नाश हो जाता है। दोपहरके समय शिवजीके दर्शनसे मनुष्योंके सात जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं तथा रात्रि-कालमें शंकरजीके दर्शनसे जो पुण्य होता है, उसकी तो कोई गणना ही नहीं है। '**शिव**' यह दो अक्षरोंका नाम महापातकोंका भी नाश करनेवाला है। जिन मनुष्योंके मुखसे '**शिव**' नामका

* हरे हरेति वै नाम्ना शम्भोश्चक्रधरस्य च। रक्षिता बहवो मर्त्याः शिवेन परमात्मना॥

(स्क० पु०, मा० के० ५।९२)

जप होता रहता है, उन्होंने ही इस सम्पूर्ण जगत्को धारण किया है। पुण्यात्मा पुरुषोंने शिवजीके आँगनमें आरतीके समय बजानेके लिये जो बड़ा-सा नगारा रख छोड़ा हो, उसकी आवाजसे पापी मनुष्य भी पवित्र हो जाते हैं। इसलिये चिरकालसे संचित प्रचुर धन, बहुमूल्य चँवर, मंच, शय्या, दर्पण, चँदोवा, आभूषण तथा विचित्र वस्त्र भगवान् शिवकी सेवामें अर्पित करने चाहिये। पुराण-पाठ, कथा, इतिहास और संगीत आदि नाना प्रकारके आयोजन भगवान् शिवको प्रिय हैं; इनकी व्यवस्था करनी चाहिये। ऐसी व्यवस्था करके पापी मनुष्य भी अपने पापसे मुक्त होकर शिवलोकमें चले जाते हैं। जो स्वधर्मका पालन करनेवाले, महात्मा और शिव-पूजाके विशेषज्ञ हैं, जिन्होंने गुरुके मुखसे शिवकी दीक्षा ली है, जो निरन्तर शिवजीकी पूजामें संलग्न रहते हैं, मनमें दृढ़ विश्वास रखकर सम्पूर्ण विश्वको शिवके रूपमें देखते हैं, उत्तम बुद्धिका आश्रय ले सदाचारका पालन करते तथा अपने वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्ममें स्थित रहते हैं, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा कोई भी क्यों न हों, भगवान् शिवके परम प्रिय होते हैं। चाण्डाल हो या सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण, भजन करनेपर सभी भगवान् शंकरको अत्यन्त प्रिय लगते हैं। भगवान् शंकर ही इस सम्पूर्ण चराचर जगत्के आधार हैं, अतः सब कुछ शिवस्वरूप है—यह बात विशेष रूपसे जाननी चाहिये। वेद, पुराण, शास्त्र, उपनिषद्, आगम और देवता—सबके द्वारा भगवान् सदाशिव ही जानने योग्य हैं। मनुष्य निष्काम हो या सकाम, सबको भगवान् सदाशिवकी आराधना करनी चाहिये।

## शिवलिंग-पूजनकी महिमा तथा रावणके उत्कर्ष और पतनका वृत्तान्त

**लोमशजी कहते हैं**—जो विष्णु हैं, उन्हें शिव जानना चाहिये और जो शिव हैं, वे विष्णु ही हैं। पीठिका (आधार अथवा अर्घा) भगवान् विष्णुका रूप है और उसपर स्थापित लिंग महेश्वरका स्वरूप है। अतः शिवलिंगका पूजन सबके लिये श्रेष्ठ है। ब्रह्माजी निरन्तर मणिमय शिवलिंगका पूजन करते हैं। इन्द्र रत्नमय, चन्द्रमा मुक्तामय तथा सूर्य ताम्रमय लिंगकी सर्वदा पूजा करते हैं। कुबेर चाँदीके शिवलिंगकी, वरुण कुछ लाल रंगके शिवलिंगकी, यमराज नीले रंग, नैर्ऋत्य कोणके अधिपति रजतवर्ण तथा वायुदेव केसरिया रंगके शिवलिंगकी निरन्तर आराधना करते हैं। इस प्रकार इन्द्र आदि समस्त लोकपाल शिवलिंगोपासक हैं। पातालमें भी सब लोग शिवपूजक हैं। गन्धर्व और किन्नर भी शिवोपासना करते हैं। दैत्योंमें प्रह्लाद आदि कोई-कोई ही वैष्णव हैं। यही बात राक्षसोंके लिये भी है, उनमें भी विभीषण आदि ही वैष्णव हैं। बलि, नमुचि, हिरण्यकशिपु, वृषपर्वा, संह्लाद—ये तथा बुद्धिमान् शुक्राचार्यके और भी बहुत-से शिष्य शिवजीकी उपासना करनेवाले हैं। इस तरह प्रायः सभी दैत्य-दानव और राक्षस शिवाराधनमें ही रत रहते हैं। हेति, प्रहेति, संयाति, प्रयाची, प्रघस, विद्युज्जिह्व, तीक्ष्णदंष्ट्र, धूम्राक्ष, भीमविक्रम, माली, सुमाली, माल्यवान्, अतिभीषण, विद्युत्केश, खड्गजिह्व, महाबली रावण, दुर्धर्ष वीर कुम्भकर्ण तथा प्रतापी वेगदंशी आदि समस्त श्रेष्ठ राक्षस सदा शिव-पूजनमें संलग्न रहे हैं। ये सर्वदा शिवलिंगका अर्चन करके उच्चकोटिकी सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। रावणने ऐसी तपस्याकी थी, जो सभीके लिये दुःसह थी। महादेवजीको तपस्या बहुत प्रिय है। वे उसकी तपस्यासे जब बहुत अधिक प्रसन्न हो गये, तब उन्होंने रावणको ऐसे-ऐसे वरदान दिये, जो अन्य सबके लिये अत्यन्त दुर्लभ हैं। रावणने भगवान् सदाशिवसे

ज्ञान, विज्ञान, संग्राममें अजेयता तथा शिवजीकी अपेक्षा दुगुने सिर प्राप्त किये। महादेवजीके पाँच मुख हैं। इसलिये उनसे द्विगुण मुख पाकर रावण दशमुख हुआ। उसने देवताओं, ऋषियों और पितरोंको भी सर्वथा परास्त करके उन सबपर अपनी प्रभुता स्थापित की। भगवान् महेश्वरके प्रसादसे वह सबसे अधिक प्रतापी हुआ। महादेवजीने उसे त्रिकूट पर्वतका महाराजा बना दिया।

इस प्रकार शिवलिंगकी पूजाके प्रसादसे रावणने तीनों लोकोंको वशमें कर लिया। देवताओंको बड़ी चिन्ता हुई। वे सब मिलकर शिवलोकमें गये और दरवाजेपर किंकरोंकी भाँति खड़े हो गये। उस समय नन्दी, जिनका मुख वानरके समान है, देवताओंसे वार्तालाप करने लगे। देवताओंने नन्दीको प्रणाम करके पूछा—'आपका मुख वानरके समान क्यों है?' नन्दीने कहा—"एक समय रावण यहाँ आया और अपने पराक्रमकी बातें बहुत बढ़-चढ़कर कहने लगा; उस समय मैंने उससे कहा—'भैया! तुम भी शिवलिंगके पूजक हो और मैं भी, अतः हम दोनों समान हैं; फिर मेरे सामने यह व्यर्थ डींग क्यों मारते हो?' मेरी बात सुनकर रावणने तुम्हीं लोगोंकी भाँति मेरे वानर-मुख होनेका कारण पूछा। उत्तरमें मैंने निवेदन किया कि 'यह मेरी शिवोपासनाका मुँहमाँगा फल है। भगवान् शिव मुझे अपना सारूप्य दे रहे थे, किंतु उस समय मैंने वह नहीं स्वीकार किया। अपने लिये वानरके समान ही मुख माँगा। भगवान् बड़े दयालु हैं। उन्होंने कृपापूर्वक मुझे मेरी माँगी हुई वस्तु दे दी। जो अभिमानशून्य हैं, जिनमें दम्भका अभाव है तथा जो परिग्रहसे दूर रहनेवाले हैं, उन्हें भगवान् शंकरका प्रिय समझना चाहिये। इसके विपरीत जो अभिमानी, दम्भी और परिग्रही हैं, वे शिवकी कल्याणमयी कृपासे वंचित रहते हैं।' रावण मेरे साथ पूर्वोक्त बातचीतमें अपने तपोबलका बखान करने लगा। उसने कहा—'मैं बुद्धिमान् हूँ, मैंने भगवान् शिवसे दस मुख माँगे हैं। अधिक मुखोंसे शिवजीकी अद्भुत स्तुति की जा सकती है। तुम्हारे इस वानरतुल्य मुखसे क्या होगा? तुम्हें किसीने खोटी सलाह दी होगी; तुमने शंकरजीसे यह वानरका मुख व्यर्थ माँगा है।' देवताओ! रावणका यह उपहासपूर्ण वचन सुनकर मैंने उसे शाप देते हुए कहा—'जब कोई महातपस्वी श्रेष्ठ मानव उन वानरोंके साथ मुझे आगे करके तुमपर आक्रमण करेगा, उस समय वह तुम्हें अवश्य मार डालेगा।' इस प्रकार सारे संसारको रुलानेवाले रावणको मैंने शाप दे डाला। देवाधिदेव महादेवजी साक्षात् विष्णुरूप हैं, अतः आपलोग भगवान् विष्णुसे प्रार्थना करें।'

नन्दीकी यह बात सुनकर सब देवता मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने वैकुण्ठमें आकर अपनी वाणीद्वारा भगवान् विष्णुकी स्तुति आरम्भ की।

**देवता बोले**—देवदेव जगदीश्वर! आप छहों ऐश्वर्योंसे युक्त होनेके कारण भगवान् कहलाते हैं। आपको नमस्कार है। यह सम्पूर्ण चराचर जगत् आपके आधारपर टिका हुआ है। यह जगत् एक लिंग है, जिसे आपने आधारपीठरूप होकर धारण किया है। प्रभो! हमलोगोंके लिये पहले भी आपने अनेक बार अवतार धारण किया है। आपने ही मत्स्यरूप धारण करके ब्रह्माजीके मुखमें वेदोंकी स्थापना की है। आपने ही हयग्रीवरूपसे मधु और कैटभ नामक दैत्योंको मारा है। कच्छप अवतार धारण करके आपने ही अपनी पीठपर मन्दराचल पर्वत उठाया था। वाराहरूप धारण कर आपने हिरण्याक्ष दैत्यका वध किया तथा नरसिंहरूपसे हिरण्यकशिपुको मौतके घाट उतारा है। वामन अवतार धारण कर आपने ही दैत्यराज बलिको बाँधा और भृगुकुलमें परशुरामरूपसे प्रकट होकर आपने ही कार्तवीर्य अर्जुनका वध किया है। विष्णो! आपने बहुत-से दैत्योंका संहार किया है। आप

ही सम्पूर्ण विश्वके पालक हैं। अतः रावणके भयसे अवश्य हमारा उद्धार करें।*

देवताओंके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भूतभावन भगवान् वासुदेवने सम्पूर्ण देवताओंसे कहा—'देवगण! तुमलोग अपने प्रस्तावके अनुसार मेरी बात सुनो, नन्दीको आगे करके तुम सभी शीघ्रतापूर्वक वानर-शरीरमें अवतार लो। मैं मायासे अपने स्वरूपको छिपाये हुए मनुष्यरूप होकर अयोध्यामें राजा दशरथके घर प्रकट होऊँगा। तुम्हारे कार्यकी सिद्धिके लिये मेरे साथ ब्रह्मविद्या भी अवतार लेंगी। राजा जनकके घर साक्षात् ब्रह्मविद्या ही सीतारूपमें प्रकट होंगी। रावण भगवान् शिवका भक्त है। वह सदा साक्षात् शिवके ध्यानमें तत्पर रहता है। उसमें बड़ी भारी तपस्याका भी बल है। जब ब्रह्मविद्यारूप सीताको बलपूर्वक प्राप्त करना चाहेगा, उस समय वह दोनों स्थितियोंसे तत्काल भ्रष्ट हो जायगा। सीताके अन्वेषणमें तत्पर होकर वह न तो तपस्वी रह जायगा और न भक्त ही। जो अपनेको न दी हुई ब्रह्मविद्याका बलपूर्वक सेवन करना चाहता है, वह पुरुष धर्मसे परास्त होकर सदा सुगमतापूर्वक जीत लेनेयोग्य हो जाता है।'

परम मंगलमय भगवान् विष्णु इस प्रकारके वचनोंद्वारा सम्पूर्ण देवताओंको आश्वासन देकर अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर सब देवता अवतार धारण करने लगे। इन्द्रके अंशसे वाली उत्पन्न हुए, सुग्रीव सूर्यके पुत्र थे। जाम्बवान् ब्रह्माजीके अंशसे प्रकट हुए थे। शिलादके पुत्र नन्दी जो भगवान् शिवके अनुचर तथा ग्यारहवें रुद्र थे, महाकपि हनुमान् हुए। वे अमित तेजस्वी भगवान् विष्णुकी सहायता करनेके लिये ही अवतीर्ण हुए थे। अन्यान्य श्रेष्ठ देवता मैन्द आदि कपियोंके रूपमें उत्पन्न हुए थे। इसी तरह सभी देवता किसी-न-किसी कपिके रूपमें प्रकट हुए। साक्षात् भगवान् विष्णु ही माता कौसल्याका आनन्द बढ़ानेवाले श्रीराम हुए। सम्पूर्ण विश्व उनके स्वरूपमें रमण करता है, इसलिये विद्वान् पुरुष उनको 'राम' कहते हैं। भगवान् विष्णुके प्रति भक्ति और तपस्यासे युक्त शेषनाग भी इस पृथ्वीपर लक्ष्मणके रूपमें अवतीर्ण हुए। श्रीविष्णुके भुजदण्डोंसे भी दो प्रतापी वीर प्रकट हुए, जो तीनों लोकोंमें भरत-शत्रुघ्नके नामसे विख्यात हुए। ब्रह्मवादी पुरुषोंद्वारा जो मिथिलापति जनककी

---

* नमो भगवते तुभ्यं देवदेव जगत्पते। त्वदाधारमिदं सर्वं जगदेतच्चराचरम्॥
एतल्लिङ्गं त्वया विष्णो धृतं वै पीठरूपिणा। अवताराः कृताः पूर्वमस्मदर्थे त्वया प्रभो॥
मत्स्यो भूत्वा त्वया वेदाः स्थापिता ब्रह्मणो मुखे। हयग्रीवस्वरूपेण घातितौ मधुकैटभौ॥
तथा कमठरूपेण धृतो वै मन्दराचलः। वराहरूपमास्थाय हिरण्याक्षो हतस्त्वया॥
हिरण्यकशिपुर्दैत्यो नृसिंहरूपिणा हतः। तथा चैव बलिर्बद्धो दैत्यो वामनरूपिणा॥
भृगूणामन्वये भूत्वा कार्तवीर्यात्मजो हतः। हता दैत्यास्त्वया विष्णो त्वमेव परिपालकः॥
रावणस्य भयात्तस्मात्त्रातुमर्हसि च ध्रुवम्।

(स्क० पु०, मा० के० ८। १००—१०६)

कन्या बतायी गयी हैं, वे सीता साक्षात् ब्रह्मविद्या थीं; वे भी देवताओंके कार्यकी सिद्धिके लिये ही अवतीर्ण हुई थीं। हलसे भूमि जोती जा रही थी; उसी समय सीता (हलकी नोक)-के द्वारा पृथ्वीके खोदे जानेपर पृथ्वीसे ये प्रकट हुई थीं, इसीलिये 'सीता' के नामसे प्रसिद्ध हुईं। मिथिलामें अवतार लेनेके कारण इन्हें 'मैथिली' भी कहते हैं। जनकके कुलमें जन्म लेनेके कारण ये 'जानकी' नामसे विख्यात हुईं। पूर्वजन्ममें इनका नाम वेदवती था। राजा जनकने ब्रह्मविद्यास्वरूप सीताको परमात्मा ब्रह्मरूप श्रीरामकी सेवामें अर्पित कर दिया। कमलनयन श्रीरामने रावणको जीतनेकी इच्छा तथा देवकार्यकी सिद्धिके उद्देश्यसे वनमें निवास किया। शेषावतार लक्ष्मणने भी उसीके लिये अत्यन्त दुष्कर एवं महान् तप किया। भरत और शत्रुघ्नने भी बड़ी भारी तपस्या की। तदनन्तर तपोबलसम्पन्न हो कपिरूपधारी देवताओंको साथ लेकर श्रीरामने छः महीनेतक युद्ध करके रावणका वध किया। भगवान् विष्णुके द्वारा शस्त्रोंसे मारा गया रावण अपने गणों, पुत्रों तथा बन्धुओंसहित तत्काल भगवान् शिवके सारूप्यको प्राप्त हो गया। शंकरजीकी कृपासे उसने सम्पूर्ण द्वैताद्वैत ज्ञान प्राप्त कर लिया।

जो नित्य (द्वादश ज्योतिर्लिंगोंमेंसे किसी भी) लिंगस्वरूप भगवान् शिवकी पूजा करते हैं वे स्त्री, शूद्र, अन्त्यज अथवा चाण्डाल ही क्यों न हों, सम्पूर्ण दुःखोंका नाश करनेवाले शिवको अवश्य प्राप्त कर लेते हैं। जो मनको अपने वशमें करके भगवान् शिवके ध्यानमें तत्पर रहते हैं, उनका मायामय अज्ञान शीघ्र दूर हो जाता है, तथा मायाका निवारण हो जानेसे तीनों गुणोंका लय हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य जब गुणातीत हो जाता है, तब वह मोक्षका भागी होता है। अतः सम्पूर्ण देहधारियोंके लिये शिव-लिंगका पूजन कल्याणकारी है। भगवान् शिव लिंगरूपमें प्रकट होकर चराचर जगत्का उद्धार करते हैं। विप्रगण! पहले तुम सब लोगोंने मुझसे जो पूछा था, वह सब मैंने बतला दिया। तुम्हारा दूसरा प्रश्न यह था कि भगवान् शिवने विष-भक्षण कैसे किया था; वह सब प्रसंग मैं यथावत् रूपसे कह रहा हूँ। तुम सब लोग सावधान होकर सुनो।

## गुरुकी अवहेलनासे इन्द्रकी दैत्योंद्वारा पराजय, समुद्र-मन्थन, शंकरजीकी कृपासे कालकूट विषसे सबकी रक्षा, विविध रत्नोंका प्राकट्य तथा लक्ष्मीजीका प्रादुर्भाव

**लोमशजी कहते हैं**—एक समय देवराज इन्द्र सम्पूर्ण लोकपालों तथा ऋषियोंसे घिरे हुए अपनी सुधर्मा सभामें बैठे थे। वहाँ सिद्ध और विद्याधरगण उनकी विजयके गीत गा रहे थे। इसी समय परम बुद्धिमान् देवेन्द्रगुरु महाभाग बृहस्पतिजी अपने शिष्योंके साथ देवसभामें पधारे। उन्हें उपस्थित देख देवताओंने सहसा उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया। इन्द्रने भी देखा, गुरुदेव वाचस्पति आगे खड़े हैं। किंतु इन्द्रकी बुद्धि राजमदसे दूषित हो रही थी; इसलिये उन्होंने गुरुके प्रति न तो आदरयुक्त वचन कहा, न उन्हें बुलाया, न बैठनेको आसन दिया और न चले जानेको ही कहा। खोटी बुद्धिवाले इन्द्रको राज्यके मदसे उन्मत्त जानकर देवताओंके आचार्य बृहस्पति कुपित हो वहाँसे अन्तर्धान हो गये। उनके चले जानेपर देवताओंके मनमें बड़ा खेद हुआ। यक्ष, नाग, गन्धर्व तथा ऋषिगण भी उदास हो गये। नृत्य और गीत समाप्त होनेपर जब इन्द्र सचेत हुए, तब उन्होंने तुरंत देवताओंसे पूछा—'महातपस्वी गुरुदेव कहाँ चले गये?'

तब नारदजीने देवराज इन्द्रसे कहा—'बलसूदन! निस्सन्देह आपके द्वारा गुरुकी अवहेलना हुई

है। गुरुके अनादरसे राज्य अपने हाथसे चला जाता है। अतः आप सब प्रकारसे प्रयत्न करके गुरुसे अपने अपराधके लिये क्षमा-प्रार्थना कीजिये।' महात्मा नारदकी यह बात सुनकर इन्द्र सहसा सिंहासनसे उठकर खड़े हो गये और उन सभी सभासदोंको साथ ले बड़ी उतावलीके साथ गुरुके निवासस्थानपर गये। इस समय इन्द्र अपने कर्तव्यके प्रति सजग हो चुके थे। वहाँ गुरुपत्नी ताराको देखकर उन्होंने प्रणाम किया और पूछा—'देवि! महातपस्वी गुरुजी कहाँ गये हैं?' ताराने इन्द्रकी ओर देखकर उत्तर दिया—'मैं नहीं जानती।' तब वे चिन्तामग्न होकर अपने घर लौट आये। इसी समय स्वर्गमें अनेक अद्भुत अनिष्टसूचक अपशकुन होने लगे, जो सम्पूर्ण स्वर्गवासियोंको तथा दुरात्मा इन्द्रको भी दुःख-प्राप्तिकी सूचना देनेवाले थे। इन्द्रकी वह करतूत पातालनिवासी राजा बलिने भी सुनी। फिर तो वे दैत्योंकी बहुत बड़ी सेना साथ ले पातालसे अमरावतीपुरीपर चढ़ आये। उस समय देवताओंका दानवोंके साथ बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। उसमें दैत्योंने देवताओंको परास्त कर दिया। एक ही क्षणमें दूषित हृदयवाले अविवेकी इन्द्रका सातों[१] अंगोंसहित सम्पूर्ण राज्य दैत्योंने अपने अधिकारमें कर लिया। विजयी दैत्य शीघ्र पातालको चले गये। शुक्राचार्यकी कृपासे ही दैत्यगण विजयी हुए थे। इन्द्रकी राज्य-लक्ष्मी नष्ट हो चुकी थी, इसलिये देवताओंने भी सर्वथा उनका त्याग कर दिया। श्रीहीन इन्द्र स्वर्गलोकसे अन्यत्र चले गये। कमलके समान कमनीय नेत्रोंवाली इन्द्रपत्नी शची भी दूसरोंकी दृष्टिसे छिपकर रहने लगीं। ऐरावतनामक महान् गजराज तथा उच्चैःश्रवा अश्व आदि जो बहुत-से रत्न थे, उन्हें दुष्ट दैत्योंने लोभवश स्वर्गलोकसे पातालमें पहुँचा दिया। परंतु वे रत्न पुण्यात्मा पुरुषोंके ही उपभोगमें आनेवाले थे। अतः दैत्योंके अधिकारमें न रहकर समुद्रमें कूद पड़े। उस समय राजा बलिने आश्चर्यचकित होकर अपने गुरु शुक्राचार्यसे कहा—'भगवन्! हम देवताओंको जीतकर बहुत-से रत्न यहाँ लाये थे; किंतु वे सभी समुद्रमें जा पड़े। यह तो बड़ी अद्भुत बात है!' राजा बलिकी यह बात सुनकर शुक्राचार्यने उत्तर दिया—'राजन्! सौ अश्वमेध यज्ञोंकी दीक्षा लेकर उन्हें पूर्ण करनेपर ही तुम्हारा देवताओंके राज्यपर अधिकार होगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। जो सौ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान कर लेता है वही स्वर्गलोकके राज्यको भोगनेका अधिकारी होता है। अश्वमेध यज्ञ किये बिना स्वर्गकी कोई भी वस्तु उपभोगमें नहीं लायी जा सकती।' गुरुका यह वचन सुनकर राजा बलि उस समय चुप हो रहे और दानवोंके साथ उचित कार्योंमें लग गये।

इन्द्र बड़ी शोचनीय दशाको प्राप्त हो गये थे। वे ब्रह्माजीके पास गये और स्वर्गके राज्यपर जो भय आदि प्राप्त हुआ था, वह सब समाचार उन्हें कह सुनाया। इन्द्रकी बात सुनकर ब्रह्माजीने उनसे कहा—'सब देवताओंको एकत्र करके हम सब लोग तुम्हारे साथ सर्वेश्वरेश्वर भगवान् विष्णुकी आराधना करनेके लिये चलते हैं।' 'ऐसा ही हो।' यह सलाह करके इन्द्र आदि सम्पूर्ण लोकपाल ब्रह्माजीको आगे रखकर क्षीर-समुद्रके तटपर गये। वहाँ उन सबने परस्पर विचार करके भगवान् विष्णुकी स्तुति आरम्भ की।

**ब्रह्माजी बोले**—देवदेव! जगन्नाथ! देवता और दैत्य दोनों आपके चरणोंमें मस्तक झुकाते हैं। आपकी कीर्ति परम पवित्र है, आप अविनाशी और अनन्त हैं। परमात्मन्! आपको नमस्कार है। रमापते! आप यज्ञ हैं, यज्ञरूप हैं तथा यज्ञांग हैं। अतः आज कृपा करके देवताओंको वरदान दीजिये। भगवन्! गुरुकी अवहेलना करनेके कारण इन्द्र इस समय ऋषियोंसहित

१. राजा, मन्त्री, राष्ट्र, किला, खजाना, सेना और मित्रवर्ग—ये परस्पर उपकार करनेवाले राज्यके सात अंग हैं।

स्वर्गके राज्यसे भ्रष्ट हो चुके हैं; इसलिये इनका उद्धार कीजिये।[१]

**श्रीभगवान् बोले**—देवगण! गुरुकी अवहेलना करनेसे सारा अभ्युदय नष्ट हो जाता है। जो पापी हैं, अधर्ममें तत्पर हैं तथा केवल विषयोंमें ही रचे-पचे रहते हैं और जिनके द्वारा अपने माता-पिताकी निन्दा होती रहती है, वे निस्सन्देह बड़े भाग्यहीन हैं।[२] ब्रह्मन्! इस इन्द्रने जो अन्याय किया है, उसका फल इसे तत्काल प्राप्त हो गया। केवल इन्द्रके ही कर्मसे सम्पूर्ण देवताओंपर संकट आया है। जब किसी भी पुरुषके लिये विपरीत काल उपस्थित हो जाय, तब उसे दूसरोंका सहयोग प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। बुद्धिमान् पुरुष अपने सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धिके लिये अन्य प्राणियोंके साथ मैत्री करते हैं। अतः इन्द्र! तुम मेरी बात मानो। इस समय अपना काम बनानेके लिये तुम्हें दैत्योंके साथ मेल-जोल कर लेना चाहिये।

भगवान् विष्णुके इस प्रकार आज्ञा देनेपर परम बुद्धिमान् इन्द्र अमरावती छोड़कर देवताओंके साथ सुतल-लोकमें गये। इन्द्र आये हैं—यह सुनकर राजा इन्द्रसेन (बलि) रोषमें भर गये। उन्होंने अपनी सेनाके साथ जाकर इन्द्रको मार डालनेका विचार किया। उस समय देवर्षि नारदने बलवानोंमें श्रेष्ठ राजा बलि और दैत्योंको ऊँच-नीच समझाकर उन्हें इन्द्रके वधसे रोका। देवर्षिके ही कहनेसे राजा बलिने इन्द्रके प्रति अपना रोष त्याग दिया। इतनेमें ही इन्द्र भी अपनी सेनाके साथ आ पहुँचे। राजा बलिने देखा लोकपालोंसे घिरे हुए इन्द्र श्रीहीन हो गये हैं। अब उनमें प्रभुताका मद नहीं रह गया है। उनका तेज चला गया और अब वे ईर्ष्या तथा अहंकारसे रहित हो गये हैं। उन्हें इस अवस्थामें देखकर राजा बलिके मनमें बड़ी दया आयी। वे बड़ी उतावलीके साथ हँसते हुए-से बोले—'देवराज इन्द्र! आप इस सुतल-लोकमें कैसे पधारे? यहाँ आनेका कारण बतलाइये।' बलिकी यह बात सुनकर इन्द्र मुसकराते हुए बोले—'भैया! हम सब देवता क्रोधके अधीन हो रहे हैं, आप सब लोगोंकी भी यही दशा है। जैसे हम हैं वैसे ही आपलोग भी हैं। अतः हमारा यह कलह निरर्थक है। भाग्यवश आपने मेरा सम्पूर्ण राज्य एक क्षणमें ही ले लिया तथा बहुत-से रत्न भी स्वर्गसे यहाँ उठा लाये। परंतु वे सभी रत्न तत्काल ही जहाँके थे वहीं चले गये। अतः विद्वान् पुरुषको एक-दूसरेसे मिलकर कर्तव्यके विषयमें विचार करना चाहिये। विचार करनेसे ज्ञान होता है और ज्ञान होनेपर संकटसे छुटकारा अवश्य मिल जायगा; इस समय तो मैं सम्पूर्ण देवताओंके साथ आपके समीप त्राण पानेके लिये आया हूँ।'

इन्द्रकी बात समाप्त होनेपर देवर्षि नारदने राजा बलिको समझाते हुए कहा—'दैत्यराज! शरणमें आये हुए प्राणीकी रक्षा करना महापुरुषोंका धर्म है। जो लोग ब्राह्मण, रोगी, वृद्ध तथा शरणागतकी रक्षा नहीं करते वे ब्रह्महत्यारे हैं। इन्द्र इस समय 'शरणागत' शब्दसे अपना परिचय देते हुए तुम्हारे

---

१. देवदेव जगन्नाथ सुरासुरनमस्कृत। पुण्यश्लोकाव्ययानन्त परमात्मन्नमोऽस्तु ते॥
यज्ञोऽसि यज्ञरूपोऽसि यज्ञाङ्गोऽसि रमापते। ततोऽद्य कृपयाविष्टो देवानां वरदो भव॥
गुरोरवज्ञया चाद्य भ्रष्टराज्यः शतक्रतुः। जातः स ऋषिभिः साकं तस्मादेनं समुद्धर॥
(स्क० पु०, मा० के० ९। ३०—३२)

२. गुरोरवज्ञया सर्वं नश्यते च समुद्भवम्। ये पापिनो ह्यधर्मिष्ठाः केवलं विषयात्मकाः॥
पितरौ निन्दितौ यैश्च निर्दैवास्ते न संशयः।
(स्क० पु०, मा० के० ९। ३३-३४)

समीप आये हैं, अतः इनका भलीभाँति रक्षण और पोषण करना तुम्हारा परम कर्तव्य है। इसमें तनिक भी संदेहकी बात नहीं है।'*

देवर्षि नारदके यों कहनेपर कर्तव्य और अकर्तव्यके ज्ञानमें कुशल दैत्यराज बलिने स्वयं भी अपनी बुद्धिसे विचार किया। तदनन्तर लोकपालों और देवताओंसहित इन्द्रका बड़े सम्मानके साथ स्वागत-सत्कार किया तथा उनके मनमें विश्वास उत्पन्न करनेके लिये अनेक प्रकारकी सच्ची शपथें भी खायीं। इन्द्रने भी राजा बलिको विश्वास दिलानेवाली शपथें खायीं। देवराज इन्द्र स्वार्थ-साधनमें तत्पर रहते हैं और अर्थशास्त्रमें ही उनकी विशेष प्रवृत्ति है। उन्होंने शपथ खाकर राजा बलिके साथ सुतल-लोकमें ही निवास किया। वहाँ रहते हुए उन्हें अनेक वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन बलिकी सभामें बैठे हुए नीति-निपुण देवराज इन्द्रने बलिको सम्बोधित करके हँसते हुए कहा—'वीरवर! हमारे हाथी-घोड़े आदि नाना प्रकारके बहुत-से रत्न जो इस समय तुम्हें प्राप्त होनेयोग्य हैं, तत्काल ही समुद्रमें गिर पड़े हैं। अतः हमलोगोंको समुद्रसे उन रत्नोंका उद्धार करनेके लिये बहुत शीघ्र प्रयत्न करना चाहिये। तुम्हारे कार्यकी सिद्धिके लिये समुद्रका मन्थन करना उचित है।' इन्द्रके इस प्रकार प्रेरणा देनेपर बलिने शीघ्रतापूर्वक पूछा—'यह समुद्र-मन्थन किस उपायसे सम्भव होगा?' इसी समय मेघके समान गम्भीर स्वरमें आकाशवाणी हुई—'देवताओ और दैत्यो! तुम क्षीर समुद्रका मन्थन करो। इस कार्यमें तुम्हारे बलकी वृद्धि होगी, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। मन्दराचलको मथानी और वासुकि नागको रस्सी बनाओ, फिर देवता और दैत्य मिलकर मन्थन आरम्भ करो।' यह आकाशवाणी सुनकर सहस्रों दैत्य और देवता समुद्र-मन्थनके लिये उद्यत हो सुवर्णके सदृश कान्तिमान् मन्दराचलके समीप गये। वह पर्वत सीधा, गोलाकार, बहुत मोटा और अत्यन्त प्रकाशमान था। अनेक प्रकारके रत्न उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। चन्दन, पारिजात, नागकेशर, जायफल और चम्पा आदि भाँति-भाँतिके वृक्षोंसे वह हरा-भरा दिखायी देता था। उस महान् पर्वतको देखकर सम्पूर्ण देवताओंने हाथ जोड़कर कहा—'दूसरोंका उपकार करनेवाले महाशैल मन्दराचल! हम सब देवता तुमसे कुछ निवेदन करनेके लिये यहाँ आये हैं, उसे तुम सुनो।' उनके यों कहनेपर मन्दराचलने देहधारी पुरुषके रूपमें प्रकट होकर कहा—'देवगण! आप सब लोग मेरे पास किस कार्यसे आये हैं, उसे बताइये।' तब इन्द्रने मधुर वाणीमें कहा—'मन्दराचल! तुम हमारे साथ रहकर एक कार्यमें सहायक बनो; हम समुद्रको मथकर उससे अमृत निकालना चाहते हैं, इस कार्यके लिये तुम मथानी बन जाओ।' मन्दराचलने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार की और देवकार्यकी सिद्धिके लिये देवताओं, दैत्यों तथा विशेषतः इन्द्रसे कहा—'पुण्यात्मा देवराज! आपने अपने वज्रसे मेरे दोनों पंख काट डाले हैं, फिर आपलोगोंके कार्यकी सिद्धिके लिये वहाँतक मैं चल कैसे सकता हूँ?' तब सम्पूर्ण देवताओं और दैत्योंने उस अनुपम पर्वतको क्षीर-समुद्रतक ले जानेकी इच्छासे उखाड़ लिया; परंतु वे उसे धारण करनेमें समर्थ न हो सके। वह महान् पर्वत उसी समय देवताओं और दैत्योंके ऊपर गिर पड़ा। कोई कुचले गये, कोई मर गये, कोई मूर्च्छित हो गये, कोई एक-दूसरेको कोसने और चिल्लाने लगे तथा कुछ लोगोंने बड़े क्लेशका अनुभव किया। इस प्रकार उनका उद्यम और उत्साह भंग हो गया। वे देवता और दानव

---

* धर्मो हि महतामेष शरणागतपालनम्॥
शरणागतं च विप्रं च रोगिणं वृद्धमेव च। य एतान्न च रक्षन्ति ते वै ब्रह्महणो नराः॥
शरणागतशब्देन आगतस्तव सन्निधौ। संरक्षणीयः पोष्यश्च त्वया नास्त्यत्र संशयः॥
(स्क० पु०, मा० के० ९।५२—५४)

सचेत होनेपर जगदीश्वर भगवान् विष्णुकी स्तुति करने लगे—'शरणागतवत्सल महाविष्णो! हमारी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। आपने ही इस सम्पूर्ण चराचर जगत्को व्याप्त कर रखा है।'

उस समय देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये गरुड़की पीठपर बैठे हुए भगवान् विष्णु सहसा वहाँ प्रकट हो गये। वे सबको अभय देनेवाले हैं। उन्होंने देवताओं और दैत्योंकी ओर दृष्टिपात करके खेल-खेलमें ही उस महान् पर्वतको उठाकर गरुड़की पीठपर रख लिया। फिर वे देवताओं और दैत्योंको क्षीर-समुद्रके उत्तर-तटपर ले गये और पर्वतश्रेष्ठ मन्दराचलको समुद्रमें डालकर तुरंत वहाँसे चल दिये। तदनन्तर सब देवता दैत्योंको साथ लेकर वासुकि नागके समीप गये और उनसे भी अपनी प्रार्थना स्वीकार करायी। इस प्रकार मन्दराचलको मथानी और वासुकिनागको रस्सी बनाकर देवताओं और दैत्योंने क्षीर-समुद्रका मन्थन आरम्भ किया। इतनेमें ही वह पर्वत समुद्रमें डूबकर रसातलको जा पहुँचा। तब लक्ष्मीपति भगवान् विष्णुने कच्छपरूप धारण करके तत्काल ही मन्दराचलको ऊपर उठा दिया। उस समय यह एक अद्भुत घटना हुई। फिर जब देवता और दैत्योंने मथानीको घुमाना आरम्भ किया तब वह पर्वत बिना गुरुके ज्ञानकी भाँति कोई सुदृढ़ आधार न होनेके कारण इधर-उधर डोलने लगा। यह देख परमात्मा भगवान् विष्णु स्वयं ही मन्दराचलके आधार बन गये और उन्होंने अपनी चारों भुजाओंसे मथानी बने हुए उस पर्वतको भली-भाँति पकड़कर उसे सुखपूर्वक घुमाने योग्य बना दिया। तब अत्यन्त बलवान् देवता और दैत्य एकीभूत हो अधिक जोर लगाकर क्षीर-समुद्रका मन्थन करने लगे। कच्छपरूपधारी भगवान्की पीठ जन्मसे ही कठोर थी और उसपर घूमनेवाला पर्वतश्रेष्ठ मन्दराचल भी वज्रसारकी भाँति दृढ़ था। उन दोनोंकी रगड़से समुद्रमें बड़वानल प्रकट हो गया। साथ ही हालाहल विष उत्पन्न हुआ। उस विषको सबसे पहले नारदजीने देखा। तब अमित-तेजस्वी देवर्षिने देवताओंको पुकारकर कहा—'अदिति-कुमारो! अब तुम समुद्रका मन्थन न करो। इस समय सम्पूर्ण उपद्रवोंका नाश करनेवाले भगवान् शिवकी प्रार्थना करो। वे परात्पर हैं, परमानन्दस्वरूप हैं तथा योगी पुरुष भी उन्हींका ध्यान करते हैं।' देवता अपने स्वार्थसाधनमें संलग्न हो समुद्र मथ रहे थे। वे अपनी ही अभिलाषामें तन्मय होनेके कारण नारदजीकी बात नहीं सुन सके। केवल उद्यमका भरोसा करके वे क्षीर-सागरके मन्थनमें संलग्न थे। अधिक मन्थनसे जो हालाहल विष प्रकट हुआ, वह तीनों लोकोंको भस्म कर देनेवाला था। वह प्रौढ़ विष देवताओंका प्राण लेनेके लिये उनके समीप आ पहुँचा और ऊपर-नीचे तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें फैल गया। समस्त प्राणियोंको अपना ग्रास बनानेके लिये प्रकट हुए उस कालकूट विषको देखकर वे सब देवता और दैत्य हाथमें पकड़े हुए नागराज वासुकिको मन्दराचल पर्वतसहित वहीं छोड़ भाग खड़े हुए। उस समय उस लोकसंहारकारी कालकूट विषको भगवान् शिवने स्वयं अपना ग्रास बना लिया। उन्होंने उस विषको निर्मल (निर्दोष) कर दिया। इस प्रकार भगवान् शंकरकी बड़ी भारी कृपा होनेसे देवता, असुर, मनुष्य तथा सम्पूर्ण त्रिलोकीकी उस समय कालकूट विषसे रक्षा हुई।

तदनन्तर भगवान् विष्णुके समीप मन्दराचलको मथानी और वासुकि नागको रस्सी बनाकर देवताओंने पुनः समुद्र-मन्थन आरम्भ किया। तब समुद्रसे देवकार्यकी सिद्धिके लिये अमृतमयी कलाओंसे परिपूर्ण चन्द्रदेव प्रकट हुए। सम्पूर्ण देवता, असुर और दानवोंने भगवान् चन्द्रमाको प्रणाम किया और गर्गाचार्यजीसे अपने-अपने चन्द्रबलकी यथार्थ-रूपसे

गरुड़पर मन्दराचल

समुद्र-मन्थन

जिज्ञासा की। उस समय गर्गाचार्यजीने देवताओंसे कहा—'इस समय तुम सब लोगोंका बल ठीक है। तुम्हारे सभी उत्तम ग्रह केन्द्र स्थानमें (लग्नमें, चतुर्थ स्थानमें, सप्तम स्थानमें और दशम स्थानमें) हैं। चन्द्रमासे गुरुका योग हुआ है। बुध, सूर्य, शुक्र, शनि और मंगल भी चन्द्रमासे संयुक्त हुए हैं। इसलिये तुम्हारे कार्यकी सिद्धिके निमित्त इस समय चन्द्रबल बहुत उत्तम है। यह गोमन्त नामक मुहूर्त है, जो विजय प्रदान करनेवाला है।' महात्मा गर्गजीके इस प्रकार आश्वासन देनेपर महाबली देवता गर्जना करते हुए बड़े वेगसे समुद्र-मन्थन करने लगे। मथे जाते हुए समुद्रके चारों ओर बड़े जोरकी आवाज उठ रही थी। इस बारके मन्थनसे देवकार्योंकी सिद्धिके लिये साक्षात् सुरभि (कामधेनु) प्रकट हुईं। उन्हें काले, श्वेत, पीले, हरे तथा लाल रंगकी सैकड़ों गौएँ घेरे हुए थीं। उस समय ऋषियोंने बड़े हर्षमें भरकर देवताओं और दैत्योंसे कामधेनुके लिये याचना की और कहा—'आप सब लोग मिलकर भिन्न-भिन्न गोत्रवाले ब्राह्मणोंको कामधेनुसहित इन सम्पूर्ण गौओंका दान अवश्य करें।' ऋषियोंके याचना करनेपर देवताओं और दैत्योंने भगवान् शंकरकी प्रसन्नताके लिये वे सब गौएँ दान कर दीं तथा यज्ञकर्मोंमें भलीभाँति मनको लगानेवाले उन परम मंगलमय महात्मा ऋषियोंने उन गौओंका दान स्वीकार किया। तत्पश्चात् सब लोग बड़े जोशमें आकर क्षीरसागरको मथने लगे। तब समुद्रसे कल्पवृक्ष, पारिजात, चूत और सन्तान—ये चार दिव्य वृक्ष प्रकट हुए। उन सबको एकत्र रखकर देवताओंने पुनः बड़े वेगसे समुद्र-मन्थन आरम्भ किया। इस बारके मन्थनसे रत्नोंमें सबसे उत्तम रत्न कौस्तुभ प्रकट हुआ, जो सूर्यमण्डलके समान परम कान्तिमान् था। वह अपने प्रकाशसे तीनों लोकोंको प्रकाशित कर रहा था। देवताओंने चिन्तामणिको आगे रखकर कौस्तुभका दर्शन किया और उसे भगवान् विष्णुकी सेवामें भेंट कर दिया। तदनन्तर, चिन्तामणिको मध्यमें रखकर देवताओं और दैत्योंने पुनः समुद्रको मथना आरम्भ किया। वे सभी बलमें बढ़े-चढ़े थे और बार-बार गर्जना कर रहे थे। अबकी बार उस मथे जाते हुए समुद्रसे उच्चैःश्रवा नामक अश्व प्रकट हुआ। वह समस्त अश्वजातिमें एक अद्भुत रत्न था। उसके बाद गजजातिमें रत्नभूत ऐरावत प्रकट हुआ। उसके साथ श्वेतवर्णके चौसठ हाथी और थे। ऐरावतके चार दाँत बाहर निकले हुए थे और मस्तकसे मदकी धारा बह रही थी। इन सबको भी मध्यमें स्थापित करके वे सब पुनः समुद्र मथने लगे। उस समय उस समुद्रसे मदिरा, भाँग, काकड़ासिंगी, लहसुन, गाजर, अत्यधिक उन्मादकारक धतूर तथा पुष्कर आदि बहुत-सी वस्तुएँ प्रकट हुईं। इन सबको भी समुद्रके किनारे एक स्थानपर रख दिया गया। तत्पश्चात् वे श्रेष्ठ देवता और दानव पुनः पहलेकी ही भाँति समुद्र-मन्थन करने लगे। अबकी बार समुद्रसे सम्पूर्ण भुवनोंकी एकमात्र अधीश्वरी दिव्यरूपा देवी महालक्ष्मी प्रकट हुईं, जिन्हें ब्रह्मवेत्ता पुरुष आन्वीक्षिकी (वेदान्त-विद्या) कहते हैं। इन्हींको दूसरे लोग 'मूल-विद्या' कहकर पुकारते हैं। कुछ सामर्थ्यशाली महात्मा इन्हींको वाणी और ब्रह्मविद्या भी कहते हैं। कोई-कोई इन्हींको ऋद्धि, सिद्धि, आज्ञा और आशा नाम देते हैं। कोई योगी पुरुष इन्हींको 'वैष्णवी' कहते हैं। सदा उद्यममें लगे रहनेवाले मायाके अनुयायी इन्हींको 'माया' के रूपमें जानते हैं। जो अनेक प्रकारके सिद्धान्तोंको जाननेवाले तथा ज्ञानशक्तिसे सम्पन्न हैं, वे इन्हींको भगवान्‌की 'योगमाया' कहते हैं। देवताओंने देखा, देवी महालक्ष्मीका रूप परम सुन्दर है। उनके मनोहर मुखपर स्वाभाविक प्रसन्नता विराजमान है। हार और नूपुरोंसे उनके श्रीअंगोंकी बड़ी शोभा हो रही है। मस्तकपर छत्र तना हुआ है, दोनों ओरसे चँवर डुल रहे हैं; जैसे माता अपने पुत्रोंकी ओर स्नेह और दुलारभरी दृष्टिसे देखती है, उसी प्रकार सती महालक्ष्मीने देवता, दानव, सिद्ध, चारण और नाग आदि सम्पूर्ण प्राणियोंकी ओर दृष्टिपात किया।

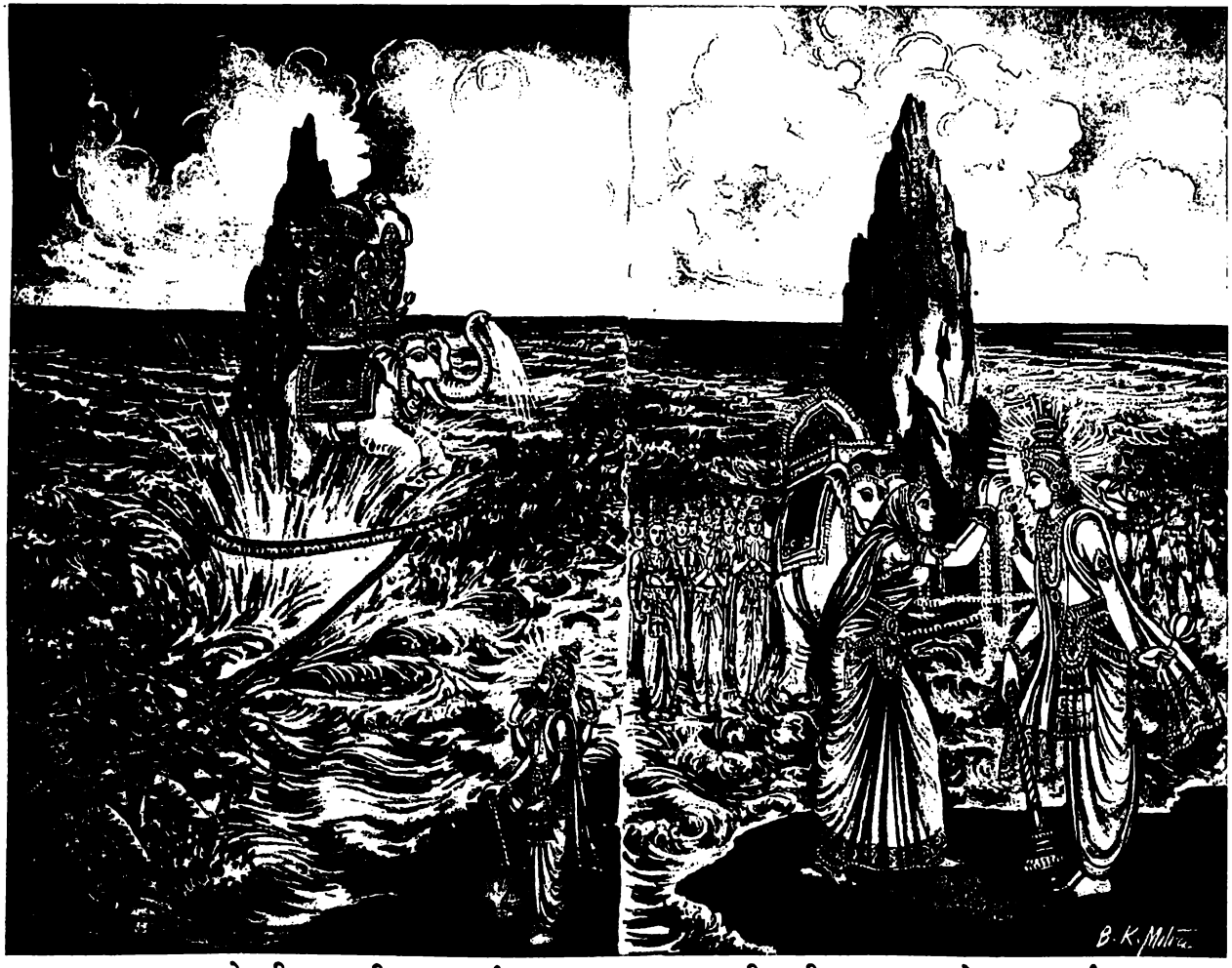


समुद्रमन्थनसे श्रीमहालक्ष्मीका प्रादुर्भाव

श्रीलक्ष्मीका भगवान्‌को माला-अर्पण

माता महालक्ष्मीकी कृपा-दृष्टि पाकर सम्पूर्ण देवता उसी समय श्रीसम्पन्न हो गये। वे तत्काल राज्याधिकारीके शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न दिखायी देने लगे।

तदनन्तर देवी लक्ष्मीने भगवान् मुकुन्दकी ओर देखा। उनके श्रीअंग तमालके समान श्यामवर्ण थे। कपोल और नासिका बड़ी सुन्दर थी। वे परम मनोहर दिव्य शरीरसे प्रकाशित हो रहे थे। उनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न सुशोभित था। भगवान्‌के एक हाथमें कौमोदकी गदा शोभा पा रही थी। भगवान् नारायणकी उस दिव्य शोभाको देखते ही लक्ष्मीजी आश्चर्यचकित हो उठीं और हाथमें वनमाला ले सहसा हाथीसे उतर पड़ीं। वह माला श्रीजीने अपने ही हाथों बनायी थीं, उसके ऊपर भ्रमर मँडरा रहे थे। देवीने वह सुन्दर वनमाला परमपुरुष भगवान् विष्णुके कण्ठमें पहना दी और स्वयं उनके वाम भागमें जाकर खड़ी हो गयीं। उन शोभाशाली दम्पतिका वहाँ दर्शन करके सम्पूर्ण देवता, दैत्य, सिद्ध, अप्सराएँ, किन्नर तथा चारणगण परम आनन्दको प्राप्त हुए।

## अमृतकी उत्पत्ति, भगवान्‌का मोहिनीरूपद्वारा देवताओंको अमृत पिलाना, शिवके द्वारा राहुसे चन्द्रमाकी रक्षा तथा शिवके लिये दीपदान, रुद्राक्षधारण और विभूति-धारणका माहात्म्य

**लोमशजी कहते हैं**—तदनन्तर लक्ष्मीजीके साथ परमानन्दमय भगवान् विष्णुको प्रणाम करके देवता और दैत्य पुनः अमृतके लिये समुद्र मथने लगे। उस समय समुद्रसे महायशस्वी धन्वन्तरिजी प्रकट हुए। उनकी तरुण अवस्था थी तथा वे द्वितीय शंकरकी भाँति मृत्युपर विजय पा चुके थे। उन्होंने अपने दोनों हाथोंमें अमृतसे भरा हुआ कलश ले रखा था। देवता जबतक उनके मनोहर स्वरूपका दर्शन करनेमें लगे थे, तबतक वृषपर्वा दैत्यने बलपूर्वक उनके हाथका कलश छीन लिया। इस प्रकार उस सुधापूर्ण कलशको लेकर अमृतपानके लिये उत्सुक हुए दैत्य पाताललोकमें चले आये। जब पीछे-पीछे देवता भी वहाँ आये, तब राजा बलिने उनसे कहा—'देवताओ! तुम सब लोग तो रत्नमय सामग्रियाँ पाकर कृतार्थ हो चुके हो। हमने तो केवल इस अमृतको ही पाकर सन्तोष किया है। अब तुमलोग प्रसन्नतापूर्वक शीघ्र यहाँसे स्वर्गलोकको चले जाओ।' राजा बलिके द्वारा इस प्रकार फटकारे जानेपर सम्पूर्ण देवता भगवान् नारायणके समीप गये। भगवान्‌ने देखा, देवताओंका मनोरथ भंग हो चुका है। तब उन्होंने अपनी वाणीसे आश्वासन देते हुए कहा—'देवताओ! डरो मत, मैं योगमायाके प्रभावसे दानवोंको मोहित करके तुम्हारे लिये अमृत ले आऊँगा।' यों कहकर अनाथोंको शरण देनेवाले भगवान् विष्णुने सब देवताओंको वहीं ठहराकर मोहिनीरूप धारण किया। इधर दैत्य आपसमें ही रोषपूर्ण बातें कर रहे थे। उनमें अमृतके लिये परस्पर विवाद छिड़ गया था। इसी समय मोहिनी देवी वहाँ आयीं। सम्पूर्ण प्राणियोंके मनको मोह लेनेवाली उस युवतीको देखकर दैत्यलोग आश्चर्यचकित हो उठे और प्यासी आँखोंसे उसकी ओर देखने लगे।

**राजा बलिने कहा**—महाभागे! मेरी एक बात मानो; हम सब लोगोंके विवादकी शीघ्र शान्ति हो जाय, इसके लिये तुम्हीं इस अमृतका विभाजन कर दो।

**श्रीमोहिनी बोलीं**—विद्वान् पुरुषको स्त्रियोंका विश्वास नहीं करना चाहिये। झूठ, साहस, माया, मूर्खता, अत्यन्त लोभ, अपवित्रता और निर्दयता—ये स्त्रियोंके स्वाभाविक दोष हैं। उनमें स्नेहहीनता

और धूर्तता भी होती है। इस बातको यथार्थ जानना चाहिये। जैसे पक्षियोंमें कौआ और शिकारी जीवोंमें सियार धूर्त हैं, वैसे ही मनुष्योंमें स्त्री सदा धूर्त होती है। यह बात बुद्धिमान् पुरुषोंको भलीभाँति समझ लेनी चाहिये। मेरे साथ आपलोग मित्रभाव कैसे प्रकट कर रहे हैं? यहाँ यह बात सर्वथा अज्ञात है कि आप कौन हैं और मैं कौन हूँ। आप सब लोग कर्तव्य और अकर्तव्यके ज्ञानमें निपुण हैं। अतः आपको भलीभाँति सोच-विचारकर ही परायी बुद्धिसे अपने हित-साधनका प्रयास करना चाहिये।

**राजा बलिने कहा**—देवि! तुम यथोचित विभाग करके आज हम सबको अमृत बाँट दो। तुम जिसे जितना दोगी, उतना ही हम ग्रहण कर लेंगे। यह बात तुमसे सत्य-सत्य कह रहे हैं।

राजा बलिके यों कहनेपर सर्वमंगला महादेवी मोहिनी दैत्योंको लौकिकी गतिका दर्शन कराती हुई-सी बोलीं—'श्रेष्ठ असुरगण! आपलोग किसी अनिर्वचनीय दैवकी सहायतासे अपने कार्यमें सफल हुए हैं। अतः अमृतका अधिवासन करें—इसे घरके भीतर सुरक्षित रूपसे रख दें। आज व्रती रहकर कल सबेरे अमृतका पारण करें। बुद्धिमान् पुरुषको उचित है कि वह अपने न्यायपूर्वक उपार्जित धनका दसवाँ भाग ईश्वरकी प्रसन्नताके लिये किसी सत्कर्ममें लगावें।'[१]

दैत्यगण योगमायासे मोहित हो चुके थे। वे अधिक समझदार भी नहीं थे। अतः मोहिनी देवीने जो कुछ कहा, उसे ठीक मानकर उन्होंने सब वैसा ही किया। रातको सबने बड़ी प्रसन्नताके साथ जागरण किया और उषाकाल आते ही प्रातःस्नान किया। समस्त आवश्यक कृत्य पूरा करके बलि आदि असुर अमृतपान करनेके लिये आये और क्रमशः पंगत लगाकर बैठ गये। बलि, वृषपर्वा, नमुचि, शंख, बुद्बुद, सुदंष्ट्र, संह्राद, कालनेमि, विभीषण, वातापि, इल्वल, कुम्भ, निकुम्भ, प्रघस, सुन्द, उपसुन्द, निशुम्भ, शुम्भ तथा अन्यान्य दैत्य-दानव एवं राक्षस क्रमशः पंक्ति लगाकर बैठे। उस समय मोहिनी देवी हाथमें सुधा-कलश लिये अपनी उत्तम कान्तिसे बड़ी शोभा पा रही थीं। इसी समय सम्पूर्ण देवता भी हाथोंमें भोजन-पात्र लिये असुरोंके समीप आये। उन्हें देखकर मोहिनी देवीने असुरोंसे कहा—'इन्हें आपलोग अपने अतिथि समझें। ये धर्मको ही सर्वस्व मानकर उसका साधन करनेवाले हैं। इनके लिये यथाशक्ति दान देना चाहिये। जो लोग अपनी शक्तिके अनुसार दूसरोंका उपकार करते हैं, उन्हें ही धन्य मानना चाहिये। वे ही सम्पूर्ण जगत्के रक्षक तथा परम पवित्र हैं।[२] जो केवल अपना ही पेट भरनेके लिये उद्योग करते हैं, वे क्लेशके भागी होते हैं।'

मोहिनी देवीके यों कहनेपर असुरोंने इन्द्रादि देवताओंको भी अमृत पीनेके लिये बुलाया। तब सभी देवता सुधापानके लिये वहाँ बैठे। उनके बैठ जानेपर सम्पूर्ण धर्मोंको जाननेवाली तथा देवताओंका स्वार्थ सिद्ध करनेवाली मोहिनी देवीने यह उत्तम बात कही—'वैदिकी श्रुति कहती है कि सबसे पहले अतिथियोंका सत्कार होना चाहिये।[३] अब आप ही लोग बतावें—महाभाग राजा बलि आदि स्वयं कहें, मैं पहले किनको अमृत परोसूँ?' बलिने उत्तर दिया—'देवि! तुम्हारी जैसी रुचि हो, वैसे ही करो।' पवित्रात्मा राजा बलिके द्वारा

---

१. न्यायोपार्जितवित्तस्य दशमांशेन धीमता। कर्तव्यो विनियोगश्च ईशप्रीत्यर्थमेव च॥
(स्क० पु०, मा० के० १२। ३५)

२. परेषामुपकारं च ये कुर्वन्ति स्वशक्तितः। धन्यास्त एव विज्ञेयाः पवित्रा लोकपालकाः॥
(स्क० पु०, मा० के० १२। ५२-५३)

३. आदौ ह्यभ्यागताः पूज्या इति वै वैदिकी श्रुतिः॥
(स्क० पु०, मा० के० १२। ५८)

इस प्रकार सम्मान दिये जानेपर मोहिनी देवीने परोसनेके लिये अमृतका कलश हाथमें उठा लिया और पहले देवताओंके समुदायको ही शीघ्रतापूर्वक

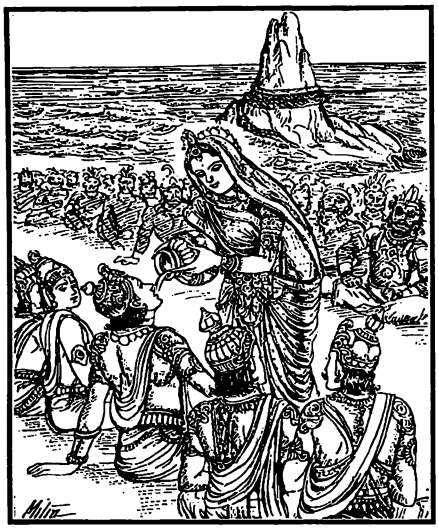

अमृत देना आरम्भ किया। मोहिनी देवी अपने सुधा-सदृश हासरसामृतकी ही भाँति उस अमृत-रसको भी देवताओंके आगे बारंबार उँड़ेलने लगीं। उनके दिये हुए सुधारसको सम्पूर्ण देवताओं, देवेश्वरों, लोकपालों, गन्धर्वों, यक्षों और अप्सराओंने खूब छककर पीया। उस समय राहुनामक दैत्य अमृत पीनेके लिये देवताओंकी पंक्तिमें जा बैठा। उसने ज्यों ही अमृत पीनेकी इच्छा की, सूर्य और चन्द्रमाने अमिततेजस्वी भगवान् विष्णुको इसकी सूचना दे दी। तब भगवान्‌ने विकृत एवं विकराल शरीरवाले राहुका मस्तक काट डाला। उसका कटा हुआ मस्तक आकाशमें उड़ गया और धड़ पृथ्वीपर गिर पड़ा।

उस समय सौ करोड़ मुख्य-मुख्य दैत्य गर्जते तथा महान् बल-पराक्रमवाले देवताओंको युद्धके लिये ललकारते हुए आगे बढ़े। महाकाय राहु चन्द्रमाको अपना ग्रास बनाकर इन्द्रके पीछे दौड़ा। वह सम्पूर्ण देवताओंपर ग्रास लगाता जा रहा था। राहु यद्यपि एक ही था, तथापि वह सर्वत्र पहुँचा हुआ दिखायी देता था। यह देख देवता भयसे विह्वल हो चन्द्रमाको आगे करके बड़ी उतावलीके साथ भागे और पृथ्वी छोड़कर स्वर्गलोकमें चले गये। वे स्वर्गमें ज्यों ही पहुँचे, त्यों ही राहु भी महान् वेगसे उनके आगे आकर खड़ा हो गया। वह चन्द्रमाको निगल जाना चाहता था। यह देख चन्द्रमाने भयसे व्याकुल होकर भगवान् शंकरकी शरणमें जानेका विचार किया। वे मन-ही-मन शिवजीका स्मरण करके स्तुति करने लगे—'देवेश! आप हमारे रक्षक हों, वृषभध्वज! मुझे संकटसे उबारें। शरणागतकी रक्षा करनेवाले श्रीपार्वतीपते! अपनी शरणमें आये हुए मेरी रक्षा करें।'

उनके इस प्रकार स्तुति करनेपर सबका कल्याण करनेवाले भगवान् सदाशिव वहीं प्रकट हो गये और चन्द्रमासे बोले—'डरो मत।' यों कहकर उन्होंने चन्द्रमाको अपने जटा-जूटके ऊपर रख लिया। तबसे चन्द्रमा उनके मस्तकपर श्वेत कमलपुष्पकी भाँति शोभा पा रहे हैं। चन्द्रमाकी रक्षा होनेके पश्चात् राहु भी वहाँ आ पहुँचा और भगवान् शिवकी स्तुति करने लगा—'शान्तस्वरूप भगवान् शिवको नमस्कार है। आप ही ब्रह्म और परमात्मा हैं। आपको नमस्कार है। लिंगरूपधारी महादेव! जगत्पते! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप सम्पूर्ण भूतोंके निवासस्थान, दिव्य प्रकाशस्वरूप तथा सब भूतोंके पालक हैं। आपको नमस्कार है। महादेव! आप समस्त जगत्‌की आनन्दप्राप्तिके कारण हैं। आपको प्रणाम है। मेरा भक्ष्य चन्द्रमा इस समय आपके समीप आया है। उसे आप मुझे दे दीजिये।'

राहुकी इस प्रार्थनासे भगवान् सोमनाथ बहुत सन्तुष्ट हुए और उन्होंने राहुसे इस प्रकार कहा—'मैं सम्पूर्ण भूतोंका आश्रय हूँ, देवता और असुर सबको मैं प्रिय हूँ।' भगवान् शिवके यों कहनेपर राहु भी उन्हें प्रणाम करके उनके मस्तकमें स्थित हो गया। तब चन्द्रमाने भयके मारे अमृतका स्राव किया। उस अमृतके सम्पर्कसे राहुके अनेक सिर

हो गये। भगवान् शंकरने उन सबको देखा। देवकार्यकी सिद्धिके लिये उन्होंने राहुके मुण्डोंकी माला बना ली।

जो भगवान् शिवके ऊपर सुशोभित दूसरोंद्वारा चढ़ायी हुई पूजा-सामग्री देखकर सन्तोष प्राप्त करता है, वह श्रेष्ठ लोकोंमें जाता है। जो कार्तिकमासकी रात्रिमें श्रद्धापूर्वक शिवजीके समीप दीपमाला समर्पित करता है, उसके चढ़ाये हुए वे दीप शिवलिंगके सामने जितने समयतक जलते हैं, उतने हजार युगोंतक दाता स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है। जिन्होंने भगवान् शिवके मन्दिरमें कुसुम्भके तेलसे युक्त दीपक अर्पित किये हैं, वे अपने ऊपर और नीचेकी दस-दस पीढ़ियोंके साथ शिवलोकमें निवास करते हैं। दीपदानके फलसे वे ज्ञानी होते हैं। जो कपूर, अगर और धूपसे भगवान् सदाशिवकी पूजा करते हैं और प्रतिदिन कपूरकी आरती उतारते हैं वे सायुज्य-मुक्तिको प्राप्त होते हैं। जो दानके समय, तपस्यामें, तीर्थमें और पर्वकालमें आलस्य छोड़कर रुद्राक्ष-धारणपूर्वक शिवकी पूजा करते हैं, उनका पुण्य अक्षय होता है।

द्विजवरो! भगवान् शिवने जिन रुद्राक्षोंका वर्णन किया है, उसे आपलोग सुनें। रुद्राक्ष एक मुखसे लेकर सोलह मुखतकके होते हैं। उनमेंसे पंचमुख तथा एकमुख—ये दो प्रकारके रुद्राक्ष मनुष्योंद्वारा धारण करने योग्य एवं श्रेष्ठ समझने चाहिये। जो प्रतिदिन एकमुख रुद्राक्ष धारण करते हैं, उन मनुष्योंको जीवन्मुक्त जानना चाहिये। जो प्रतिदिन पंचमुख रुद्राक्ष धारण करता है, वह रुद्रलोकमें जाता और उन्हींके साथ आनन्दका भागी होता है। जप, तप, क्रिया-योग, स्नान और देवपूजा आदि जो भी शुभ कर्म किया जाता है, वह रुद्राक्षधारणसे अनन्त फल देनेवाला हो जाता है। जो मन्त्र-पूत विभूतिसे अपने ललाटमें त्रिपुण्ड्र धारण करते हैं, वे रुद्रलोकमें रुद्र होंगे। कपिला गायके गोबरको भूमिपर गिरनेसे पहले ही हाथपर ले ले और उसे सुखाकर विभूतिके लिये संग्रह करे। विभूति सब पापोंका नाश करनेवाली बतायी गयी है। पहले ललाटमें प्रयत्नपूर्वक अँगूठेसे एक रेखा बनानी चाहिये। फिर मध्यमा अँगुलीको छोड़कर अनामिका और तर्जनी—इन दो अँगुलियोंसे दो रेखाएँ खींचे। इस प्रकार जिसके ललाटमें तीन सफल रेखाएँ देखी जाती हैं, उस शिवभक्तको साक्षात् शिवके ही समान जानना चाहिये। वह दर्शनमात्रसे समस्त पापोंका नाश करनेवाला है।

## इन्द्रकी विजय, इन्द्रद्वारा विश्वरूपका वध, नहुषका स्वर्गसे पतन, ब्रह्महत्यासे इन्द्रकी मुक्ति तथा पुनः राज्यकी प्राप्ति

**लोमशजी कहते हैं**—तदनन्तर उस देवासुर-संग्राममें इन्द्रने भी दैत्योंका बड़ा भयंकर संहार किया। उनका वह कृत्य अद्भुत था। उस समय अर्थशास्त्रका आश्रय लेकर शचीपति इन्द्र दुर्जय दैत्योंके लिये कालरूप हो रहे थे। जब इस प्रकार असुर मारे जा रहे थे, उस समय इन्द्रको रोकनेके लिये भगवान् नारदजी वहाँ पधारे और यों बोले—'असुरोंके मण्डलमें जो वीर योद्धा मारे गये हैं, उनके बाद अब तुम भयभीत सैनिकोंकी हत्या क्यों कर रहे हो? जो भयभीत होकर शरणमें आ जाते हैं, ऐसे सैनिकोंकी जो लोग विजय-मदसे उन्मत्त होकर हत्या करते हैं, उन्हें महापातकी और ब्रह्महत्यारा समझना चाहिये।* इसलिये तुम्हें मनसे भी किसी भयभीत प्राणीकी हिंसा नहीं करनी चाहिये।'

महात्मा नारदके यों कहनेपर इन्द्र देवसेनाके

* ये भीताश्च प्रपन्नाश्च घ्नन्ति तान् ये मदोद्धताः। ब्रह्मघ्नास्तेऽपि विज्ञेया महापातकसंयुताः॥
(स्क० पु०, मा० के० १४। १९)

साथ तत्काल स्वर्गमें चले आये। उस समय सब देवता परस्पर अधिक हर्ष प्रकट करने लगे। यक्ष, गन्धर्व और किन्नरगण भी बड़े आनन्दित हुए। श्रेष्ठ देवर्षियों और ब्रह्मर्षियोंने अमरावतीके सिंहासनपर शचीसहित इन्द्रका अभिषेक किया। इन्द्र भगवान् शंकरके प्रसादसे विजयी हुए। उस समय देवलोकमें बड़ा भारी उत्सव मनाया गया। शंख, पटह, मृदंग, ढोल, आनक, भेरी और दुन्दुभि आदि बाजे बजने लगे। देवताओंद्वारा मारे गये दैत्य पृथ्वीपर पड़े थे। महात्मा राजा बलि आदि भी प्राण त्याग चुके थे। उस समय भृगुवंशी शुक्राचार्यजी तपस्या करनेके लिये अपने शिष्योंके साथ मानसोत्तर पर्वतपर गये थे। इसीलिये वे युद्धमें उपस्थित न हो सके थे। उस युद्धमें जो दैत्य जीवित बच गये थे, वे शुक्राचार्यजीके पास गये। उन्होंने वह सारा वृत्तान्त, जो असुरोंके संहारका कारण हुआ था, विस्तारपूर्वक कह सुनाया। सुनकर भृगुनन्दन शुक्रको खेद और क्रोध भी हुआ। वे शिष्योंके साथ युद्धस्थलमें आये और अपनी मृतसंजीवनी विद्याके प्रभावसे उन्होंने मरे हुए असुरोंको भी जीवित कर दिया। शुक्राचार्यकी प्रेरणासे बलि आदि सब दैत्य पातालमें लौट आये और सुखपूर्वक रहने लगे।

**ऋषियोंने पूछा**—देवराज इन्द्रने गुरुके बिना ही कैसे राज्य प्राप्त किया? क्योंकि गुरुकी अवहेलनासे ही उन्हें अपना राज्य छोड़कर जाना पड़ा था। किसकी प्रेरणासे इन्द्र चिरकालतक राजसिंहासनपर बैठे रहे। ये सब बातें आप शीघ्र बतावें। हमें यह सुननेके लिये बड़ी उत्कण्ठा है।

**लोमशजी बोले**—गुरु बृहस्पतिके बिना भी शचीपति इन्द्रने कुछ कालतक राज्य-शासन किया। उस समय विश्वरूपजी इन्द्रके पुरोहित हुए थे। विश्वरूपके तीन मस्तक थे; वे यज्ञ और पूजनमें उचित भाग देकर देवताओं, असुरों और मनुष्योंको भी तृप्त करते थे। यह बात शचीपति इन्द्रसे छिपी न रह सकी। पुरोहित विश्वरूपजी देवताओंका भाग उच्चस्वरसे बोलकर देते थे। दैत्योंको चुपचाप बिना बोले ही देते थे और मनुष्योंको मध्यम स्वरसे मन्त्र पढ़कर भाग समर्पित करते थे। यह उनका प्रतिदिनका कार्य था। एक दिन इन्द्रको गुरुजीकी फुर्ती देखकर इस बातका पता लग गया। तब उन्होंने छिपे-छिपे यह जान लिया कि विश्वरूपजी क्या करना चाहते हैं। 'ये दैत्योंका कार्य सिद्ध करनेके लिये उन्हें भाग अर्पण करते हैं, हमारे पुरोहित होकर दूसरोंको फल देते हैं।' यों समझकर इन्द्रने सौ पर्ववाले वज्रसे विश्वरूपके मस्तक काट डाले। वज्रके आघातसे तत्काल उनकी मृत्यु हो गयी। इन्द्र ब्रह्महत्याके अपराधी हुए। पर ब्रह्महत्या, मद्यपान, चोरी तथा गुरुपत्नी-गमन आदि महापाप करनेवाले पापियोंके भी उद्धारका यही एक उपाय है कि वे भगवान् विष्णुके नामोंका कीर्तन करें, जिससे बुद्धि भगवन्मयी हो जाती है।*

तदनन्तर धुएँके समान रंगवाली तथा तीन मस्तकोंवाली ब्रह्महत्या इन्द्रको निगल जानेके लिये उनके पास आयी। उसे देखकर इन्द्रको बड़ा भय हुआ, अतः वे वहाँसे भाग चले। उन्हें भागते देख भयदायिनी ब्रह्महत्या उनका पीछा करने लगी। जब वे भागते तब वह भी पीछे-पीछे दौड़ती, और उनके खड़े होनेपर खड़ी हो जाती। अपने शरीरकी परछाईंके समान वह इन्द्रके पीछे लगी रहती। जाते-जाते सहसा वह इन्द्रको लपेट लेनेके लिये झपटी, इतनेमें ही इन्द्र बड़ी फुर्तीके साथ पानीमें कूद पड़े और वहीं गोता लगा गये, मानो वे चिरकालसे जलमें ही निवास करनेवाले कोई जलचर जीव हों। इस प्रकार उस जलमें बड़े

* ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः। इत्येषामप्यघवतामिदमेव च निष्कृतिः॥
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः॥

(स्क० पु०, मा० के० १५। ११-१२)

दु:खसे निवास करते हुए इन्द्रके तीन सौ दिव्य वर्ष पूरे हो गये। उस समय स्वर्गलोकमें भयंकर अराजकता छा गयी। देवता और तपस्वी ऋषि भी चिन्तित हो उठे। तीनों लोक विपत्तिग्रस्त हो गये। जिस राज्यमें एक भी ब्रह्महत्यारा निर्भय होकर निवास करता है, वहाँ साधु पुरुषोंकी अकालमृत्यु होती है। विप्रगण! जिस राज्यमें पापात्मा राजा निवास करता है, वहाँ प्रजाके विनाशके लिये दुर्भिक्ष, मृत्यु, उपद्रव तथा और भी बहुत-से अनर्थ उत्पन्न होते हैं। अत: राजाको श्रद्धापूर्वक धर्मका पालन करना चाहिये। राजाके पवित्र होनेसे ही उसकी प्रजा पवित्र रहकर स्थिरता प्राप्त करती है।* इन्द्रने जो पाप किया था, उसके कारण सम्पूर्ण जगत् नाना प्रकारके सन्तापोंसे पीड़ित और उपद्रवग्रस्त हो गया।

**शौनकने पूछा**—सूतजी! इन्द्रने तो सौ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करके देवताओंका विशाल राज्य प्राप्त किया है, फिर उसमें विघ्न क्यों उत्पन्न होता है?

**सूतजी बोले**—देवताओं, दानवों और विशेषत: मनुष्योंके सुख और दु:खका कारण कर्म ही है—इसमें संशय नहीं है। इन्द्रने बड़ा ही अद्भुत एवं घृणित कर्म किया। उन्होंने गुरुकी अवहेलनाके साथ ही विश्वरूपका वध भी कर डाला। इतना ही नहीं, गुरु-तुल्य महर्षि गौतमकी पत्नीका भी सेवन (उपभोग) किया। इन्हीं सब बुरे कर्मोंका फल देवराज इन्द्रको प्राप्त हुआ, जिसे टालनेका कोई उपाय नहीं था। जो पाप-कर्म करनेवाले मनुष्य उस पापके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं करते—उनका वह पाप थोड़ा हो या अधिक, उससे एक दिन वे पीड़ित होते ही हैं। विप्रगण! यदि पाप बन जाय तो उसकी पूर्णत: शान्तिके लिये तत्काल प्रायश्चित्त करना चाहिये। पापोंका प्रायश्चित्त अनेक प्रकारका बतलाया गया है। उपपातक अधिक कालतक रह जाने या बार-बार उसकी आवृत्ति होनेपर महापातकके रूपमें परिणत हो जाता है। जो मनुष्य सबेरे, दोपहर और शामको सदा स्वधर्मपालनरूप तपस्या करते हैं, उनका पाप नष्ट हो जाता है तथा वे उत्तम लोक प्राप्त करते हैं। इसलिये दुराचारपरायण इन्द्रको इस पाप-कर्मका ही फल मिला है।

विप्रगण! उस समयकी परिस्थितिपर भलीभाँति विचार करके सम्पूर्ण लोकपाल एकत्र हो बृहस्पतिके पास गये और अपना सब मनोगत विचार उनपर प्रकट किया। उन्होंने स्थिरचित्त होकर इन्द्रकी सब बातें गुरु बृहस्पतिसे कह सुनायीं। देवताओंकी बात सुनकर परम बुद्धिमान् बृहस्पतिजीने सर्वत्र फैली हुई अराजकताको लक्ष्य करके सोचा, 'अब क्या करना चाहिये? इस समय हमारा कर्तव्य क्या है? देवताओं, पवित्रात्मा ऋषियों तथा सम्पूर्ण लोकोंका कल्याण कैसे होगा?' मन-ही-मन इन सब बातोंको सोचकर और कर्तव्य-अकर्तव्यका विचार करके महायशस्वी बृहस्पतिजी देवताओंके साथ इन्द्रके पास चले; वे तुरंत ही उस जलाशयपर जा पहुँचे, जिसमें इन्द्र छिपे हुए थे और जिसके तटपर भयानक चाण्डालीके रूपमें ब्रह्महत्या खड़ी थी। वे सम्पूर्ण देवता और महर्षि जलाशयके किनारे बैठ गये। गुरु बृहस्पतिजीने स्वयं ही इन्द्रको पुकारा। उनकी आवाज सुनकर इन्द्र उठकर खड़े हो गये। उस समय उन्हें अपने

---

* एकोऽपि ब्रह्महा यत्र राष्ट्रे वसति निर्भय:। अकालमरणं तत्र साधूनामुपजायते॥
राजा पापयुतो यस्मिन् राष्ट्रे वसति तत्र वै। दुर्भिक्षं चैव मरणं तथैवोपद्रवा द्विजा:॥
भवन्ति बहवोऽनर्था: प्रजानां नाशहेतवे। तस्माद्राज्ञा प्रकर्तव्यो धर्म: श्रद्धापरेण हि॥
तथा प्रकृतयो राज्ञ: शुचित्वेन प्रतिष्ठिता:।
(स्क० पु०, मा० के० १५। १८—२१)

गुरु बृहस्पतिजीका दर्शन हुआ। इन्द्रके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली। उन्होंने सामने खड़े हुए बृहस्पतिजीको तथा वहाँ आये हुए सम्पूर्ण तपस्वी मुनियोंको शीघ्रतापूर्वक प्रणाम किया। फिर दीनवदन हो अपने ही किये हुए अज्ञानसूचक महान् कुकर्मोंपर मन-ही-मन भलीभाँति विचार करके वे बोले—'प्रभो! इस समय मेरेद्वारा पालन करनेयोग्य कौन-सा कर्तव्य है? बताइये!' उदार बुद्धिवाले भगवान् बृहस्पतिने हँसकर उत्तर दिया—'इन्द्र! पहले तुमने जो कुछ किया था, उसी कर्मका यह फल आज तुम्हें मिल रहा है। केवल भोगसे ही इसका क्षय होगा। धर्मशास्त्रकारोंने ब्रह्महत्याके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं देखा है। उनकी दृष्टिमें ब्रह्महत्या दूर करनेके लिये कोई प्रायश्चित्त है ही नहीं। अनजानमें जो पाप हो जाता है, उसीके निवारणका उपाय धर्मशास्त्रज्ञ विद्वानोंने बताया है। जो पाप स्वेच्छापूर्वक जान-बूझकर किया जाता है, उसके प्रतिकारका कोई उपाय नहीं। इच्छापूर्वक जान-बूझकर किया हुआ पाप अनिच्छा या अज्ञानपूर्वक किये हुए पापकी श्रेणीमें नहीं आ सकता। विषय-भेदसे इन दोनों प्रकारके पापोंका प्रायश्चित्त नियत किया गया है। जान-बूझकर किये हुए पापके लिये मरणान्त प्रायश्चित्तका विधान है। अज्ञानजनित पापके लिये विशेष-विशेष प्रायश्चित्त बताया गया है। तुमने जो पाप किया है, वह अनजानमें नहीं हुआ है; तुम्हारे द्वारा स्वयं जान-बूझकर विद्वान् पुरोहित ब्राह्मणका वध किया गया है। अतः उसके निवारणका कोई उपाय नहीं है। जबतक मृत्यु नहीं हो जाती, तबतक तुम इस जलमें ही स्थिरभावसे पड़े रहो। दुर्मते! तुम्हारे सौ अश्वमेध यज्ञोंका फल तो उसी समय नष्ट हो गया, जब तुमने ब्राह्मणकी हत्या की थी। जैसे छेदवाले घड़ेमें थोड़ा भी जल नहीं ठहरता, उसी प्रकार पापी मनुष्यका पुण्य प्रतिक्षण नष्ट होता रहता है।'

बृहस्पतिजीका यह वचन सुनकर इन्द्रने कहा—'गुरुदेव! इसमें सन्देह नहीं कि मेरे कुकर्मसे ही मुझे ऐसी दुर्दशा प्राप्त हुई है। अब आप इन देवर्षियोंके साथ शीघ्र ही अमरावतीपुरीको पधारें और देवताओं तथा सम्पूर्ण लोकोंका कार्य सिद्ध करनेके लिये आपके मनमें जो अच्छे प्रतीत हों, उन्हें इन्द्र बना लें। मैं तो इस ब्रह्महत्यासे आवृत होनेके कारण अब मरे हुएके ही समान हूँ।' इन्द्रके यों कहनेपर बृहस्पतिको आगे करके सम्पूर्ण देवता तुरंत अमरावतीपुरीमें लौट आये और इन्द्रका जो विचार था, वह सब शचीके सामने उन्होंने यथार्थरूपसे कह सुनाया। सब देवता बार-बार विचार करने लगे कि अब इस राज्यका संचालन करनेके लिये हमें क्या करना चाहिये। इसी समय अमित तेजस्वी देवर्षि नारद इच्छानुसार घूमते हुए वहाँ आ पहुँचे और देवताओंद्वारा पूजित होकर बोले—'देवगण! आपलोग अनमने कैसे हो रहे हैं?' उनके पूछनेपर देवताओंने इन्द्रकी सारी करतूतें कह सुनायीं। तब नारदजी बोले—'देवताओ! इन्द्रके ये सारे चरित्र मैंने पहलेसे ही सुन रखे हैं, अब तो इस महान् पापके कारण इन्द्रकी सारी श्रेष्ठता चली गयी। आप सब देवता सर्वज्ञ हैं, तपस्या और पराक्रमसे सम्पन्न हैं; अतः आपलोग चन्द्रवंशी राजा नहुषको इन्द्र बना लें। इस राज्यपर उन्हें शीघ्र ही बिठा लेना चाहिये। महात्मा नहुषने यज्ञकी दीक्षा लेकर निन्यानबे अश्वमेध यज्ञ पूर्ण कर लिये हैं।'

सब देवताओं और महर्षियोंने इन्द्रका राज्य नहुषको सौंप दिया। तबसे अगस्त्य आदि सभी महर्षि नहुषकी सेवामें उपस्थित रहने लगे। गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, विद्याधर, महानाग, सुपर्ण और पक्षी आदि जो भी स्वर्गवासी प्राणी थे, वे सब नहुषकी सेवा करने लगे।

इस प्रकार उत्तम कलाओंसे सुशोभित तथा सम्पूर्ण देवताओंसे सुपूजित राजा नहुष जब स्वर्गलोकके अधिपति हो गये, तब उन्हें महान् कामानल सन्तप्त करने लगा। राजा नहुषने पूछा—

'देवताओ! क्या कारण है कि अभीतक इन्द्राणी मेरे समीप नहीं आ रही हैं? उन्हें शीघ्र बुलाओ।'

नहुषकी यह बात सुनकर उदार बुद्धिवाले बृहस्पतिजी शचीके भवनमें गये और बोले—'कल्याणी! इन्द्रके दुष्कर्मसे विवश होकर यहाँका राज्य सँभालनेके लिये हमलोग नहुषको ले आये हैं। परंतु तुम इस कार्यके विरुद्ध जान पड़ती हो। तभी तो अबतक वहाँ उपस्थित नहीं हुई।' शचीने पापहीन गुरु बृहस्पतिजीसे हँसकर कहा—'नहुष मुझे प्राप्त करनेयोग्य नहीं है; आप स्वयं ही तत्त्वतः विचार करके देखें, क्या वह मुझे प्राप्त करनेका अधिकारी है? मैं परायी स्त्री हूँ; यदि वह मुझे पानेकी अभिलाषा करता है तो उस अज्ञानीसे कहिये—जो वाहन बनाने योग्य न हो, ऐसे वाहनपर बैठकर वह यहाँ आवे; तब मुझे प्राप्त कर सकता है।' 'तथास्तु' कहकर बृहस्पतिजी शीघ्रतापूर्वक लौट गये और कामसन्तप्त नहुषसे शचीदेवीकी कही हुई सब बातें ज्यों-की-त्यों कह सुनायीं। नहुष कामसे मोहित हो रहे थे। उन्होंने 'ठीक है' यों कहकर शचीदेवीकी शर्त स्वीकार कर ली। फिर वे अपनी बुद्धिद्वारा विचार करने लगे कि 'वाहन न बनानेयोग्य ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो प्रशंसनीय मानी जाती है। तदनन्तर उन्होंने यह निश्चय किया कि तपस्वी ब्राह्मण ही ऐसे हैं, जो वाहन बनानेके योग्य नहीं हैं। अतः उन्हींको आज अपना वाहन बनाता हूँ। आज इन्द्राणीको प्राप्त करनेके लिये दो तपस्वी ब्राह्मणोंसे वाहनका काम लूँ, ऐसी अभिलाषा मेरे मनमें उत्पन्न हुई है।' इस निश्चयके अनुसार काममोहित नहुषने दो ब्राह्मणोंको पालकी दे दी और स्वयं उस पालकीमें बैठकर बोले—'सर्प-सर्प'—शीघ्र चलो, शीघ्र चलो। नहुषके 'सर्प-सर्प' कहनेसे कुपित हुए एक तपस्वी ब्राह्मणने उन्हें शाप देकर नीचे गिरा दिया। नहुष अजगर होकर स्वर्गसे नीचे गिर पड़े। वे ऊँचे पदको पाकर भी ब्राह्मणके दुर्लंघ्य शापसे तिर्यग्योनिमें पड़ गये। जैसी दशा राजा नहुषकी हुई, वैसी ही उनके-जैसे आचरण करनेवाले सबकी होती है। जो राजमद पाकर उन्मत्त हो उठते हैं, उनपर भारी विपत्ति आती है। जो राजमदसे अन्धे, दुराचारी, कामी तथा विषयोंमें रचे-पचे रहनेवाले हैं, वे ब्राह्मणोंका अपमान करके अपवित्र नरकमें पड़ते हैं। इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको उचित है कि इहलोक और परलोकमें सुख पानेकी इच्छा होनेपर वह सर्वथा प्रयत्न करके उत्तम पदको पाकर कभी प्रमादमें न पड़े*—सदा अपने कर्तव्यके प्रति सावधान रहे। वैसा अनुचित कर्म करनेके कारण ही राजा नहुष महाभयानक जंगलमें सर्प हुए।

ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होनेपर देवलोकमें फिर अराजकता छा गयी। सब देवता उस समय विस्मितचित्त होकर कहने लगे—अहो, इस राजाने बड़ा भारी कष्ट पाया। इस दुरात्माके लिये न तो मर्त्यलोकमें स्थान रहा, न स्वर्गलोकमें। महापुरुषोंकी अवहेलना करनेसे इसका सारा पुण्य एक ही क्षणमें भस्म हो गया। अब पृथ्वीपर दूसरा कोई यज्ञकर्ता राजा नहीं दिखायी देता था, जिसका इन्द्रके सिंहासनपर अभिषेक किया जा सके। इसलिये सब देवता, ऋषि, नाग, गन्धर्व, यक्ष, पक्षी, किन्नर, चारण, विद्याधर, असुरगण, अप्सराएँ तथा मनुष्य चिन्तित हो गये।

तदनन्तर शचीदेवीने धर्म और अर्थयुक्त वाणीमें कहा—'गुरुदेव बृहस्पति तथा अन्य देवताओ! चिन्ता न करो; तुम सब लोगोंको अब वहीं जाना चाहिये, जहाँ हमारे स्वामी रहते हैं।' इन्द्राणीकी बात सुनकर बृहस्पतिजी देवताओंके साथ ब्रह्महत्या-पीड़ित इन्द्रके समीप गये। जलाशयके

* ये मदान्धा दुराचाराः कामुका विषयात्मकाः। विप्राणामवमानेन पतन्ति नरकेऽशुचौ॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन पदं प्राप्य विचक्षणैः। अप्रमत्तैर्नरैर्भाव्यमिहामुत्र च लब्धये॥
(स्क० पु०, मा० के० १५।८७-८८)

किनारे पहुँचकर देवताओंने इन्द्रको पुकारा। इन्द्रने जलमें खड़े होकर देवताओंपर दृष्टिपात किया और कहा—'अब तुमलोग यहाँ क्यों आये हो? मैं तो पापसे पीड़ित हूँ, ब्रह्महत्यामें डूबा हुआ हूँ और यहाँ अकेले ही तपस्या करते हुए इस जलमें निवास करता हूँ।' उनकी बात सुनकर देवता विह्वल हो गये और बोले—'देवराज! विश्वकर्माके पुत्र विश्वरूपने ऐसा यज्ञ कराना आरम्भ किया था, जिससे देवता और तपस्वी ऋषि विनाशको प्राप्त हो जाते। इस कारण परोपकारकी दृष्टिसे ही आपने उसका वध किया था। इसलिये हम सब लोग आपको अमरावती ले चलनेके लिये आये हैं।'

देवताओंमें जब इस प्रकार बातचीत हो रही थी, ब्रह्महत्या भी तुरंत बोल उठी—'मैं देवराज इन्द्रको अमरावती जानेसे रोकती हूँ।' यह सुनकर बृहस्पतिने सहसा उसको उत्तर दिया—'ब्रह्महत्ये! हम तुम्हारे निवासके लिये दूसरे स्थान नियत करेंगे।' कार्यकी गुरुताको दृष्टिमें रखकर देवताओंने उस समय ब्रह्महत्याको शान्त कर दिया। फिर सबने विचार करके ब्रह्महत्याको चार भागोंमें बाँटा। तत्पश्चात् देवताओंने सबसे पहले पृथ्वीसे कहा—'देवि! देवताओंकी कार्य-सिद्धिके लिये इन्द्रकी ब्रह्महत्याका एक अंश तुम्हें ग्रहण करना चाहिये।' देवताओंकी यह बात सुनकर पृथ्वी काँप उठी और बोली—'आप लोग ही विचार करें, मैं ब्रह्महत्याका अंश कैसे ग्रहण कर सकती हूँ? मैं सम्पूर्ण भूतोंको धारण करनेवाली तथा विश्वका भरण-पोषण करनेवाली हूँ। मैं इस पापपंकमें डूबकर अधिक अपवित्र हो जाऊँगी।' पृथ्वीका यह वचन सुनकर बृहस्पतिजीने कहा—'सुन्दरि! तुम भय मत करो। तुम तो सर्वथा निष्पाप हो। जिस समय यदुकुलमें भगवान् वासुदेव अवतार लेंगे, उस समय उनके चरणोंके स्पर्शसे यह ब्रह्म-हत्याका आंशिक पाप भी निवृत्त हो जायगा और तुम पूर्णतः निष्पाप होकर रहोगी।' उनके यों कहनेपर पृथ्वीने उनकी आज्ञाका पालन किया।

इसके बाद सब देवताओंने वृक्षोंको बुलाकर कहा—'आपलोग देवकार्यकी सिद्धिके लिये ब्रह्महत्याका एक अंश ग्रहण करें।' तब वृक्षोंने वहाँ पधारे हुए सम्पूर्ण देवताओंसे कहा—'यदि हम सब लोग ब्रह्महत्याके पापसे लिप्त हो जायँगे तो सम्पूर्ण महात्मा भी ब्रह्महत्यायुक्त होकर पापी हो जायँगे।' यह सुनकर बृहस्पतिजीने कहा—'तुमलोग चिन्ता न करो, इन्द्रके प्रसादसे तुमलोग काटे जानेपर भी अनेक अंशोंमें विभक्त हो शाखा और डालियोंसे सम्पन्न हो जाओगे और इस प्रकार सदा शुद्ध बने रहोगे।' बृहस्पतिके इस प्रकार आश्वासन देनेपर सब वृक्षोंने उस आंशिक ब्रह्महत्याको आपसमें बाँट लिया।

तदनन्तर देवताओंने जलोंको बुलाकर कहा—'तुमलोग भी देवकार्यकी सिद्धिके लिये इस समय ब्रह्महत्याका एक अंश स्वीकार करो।' तब सब जल एकत्र हो बृहस्पतिजीसे बोले—'जो कोई भी पाप या दुष्कर्म हैं, वे हमारे सम्पर्क और सम्बन्धसे दूर होते हैं। हमारे द्वारा स्नान, शौच एवं हमारा पान आदि करनेसे सम्पूर्ण पापाक्रान्त प्राणी पवित्र हो जाते हैं। (ब्रह्महत्यासे अभिभूत होनेपर हमारी यह शक्ति नष्ट हो जायगी!)' उनकी बात सुनकर बृहस्पतिने उत्तर दिया—'तुम दुस्तर पापसे भय न करो; मैं वरदान देता हूँ—'चराचर जगत्में निवास करनेवाले सम्पूर्ण प्राणियोंको जल पवित्र करे।' उनके यों कहनेपर जलने ब्रह्महत्याका तीसरा अंश ग्रहण किया। इसके बाद बृहस्पतिजीने स्त्रियोंको बुलाकर कहा—'तुमलोग भी इस समय सब कार्योंकी सिद्धिके लिये ब्रह्महत्याका शेष अंश ग्रहण करो।' देवगुरुका यह वचन सुनकर सब स्त्रियाँ बोलीं—'भगवन्! सम्पूर्ण स्त्रियाँ धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धिके लिये उत्पन्न हुई हैं। यदि नारी पापाचार करे तो उस पापसे अनेक पक्ष (पिता, नाना तथा पतिके कुल) लिप्त होते हैं—ऐसी वेदोंकी आज्ञा है; क्या आपने ऐसी कोई बात

नहीं सुनी है? फिर स्वयं विचार कर लें, हमारा क्या कर्तव्य है।' स्त्रियोंके यों कहनेपर बृहस्पतिजीने वरदान दिया—'देवियो! तुम सब इस पापसे भय न करो, तुम्हारे द्वारा स्वीकृत ब्रह्महत्याका यह अंश भावी पीढ़ियोंके लिये तथा दूसरोंके लिये भी शुभ फल देनेवाला होगा। तुम सबको इच्छानुसार काम-सुख प्राप्त होगा।'

इस प्रकार देवताओंने ब्रह्महत्याके चार भाग किये और वे अंश तत्काल ही पूर्वोक्त समुदायोंमें स्थित हो गये। उस समय इन्द्रका पाप सर्वथा नष्ट हो गया। अतः देवताओं और ऋषियोंने देवपुरीमें शचीसहित इन्द्रका पुनः अभिषेक किया। महात्मा इन्द्र सम्पूर्ण देवताओं, महानुभावों, मुनीश्वरों तथा सिद्धगणोंके साथ पुनः लोकपाल-पदपर प्रतिष्ठित हो गये। उस समय इन्द्रलोकके सम्पूर्ण निवासियोंके मनमें महान् उत्साह और अपार आनन्द छा गया।

## विश्वकर्माके तपसे वृत्रासुरकी उत्पत्ति तथा दधीचिद्वारा देवताओंको अस्थिदान

**लोमशजी कहते हैं**—इसी बीचमें इन्द्रका महान् उत्सव देखकर पुत्र-शोकसे पीड़ित विश्वकर्माके मनमें बड़ा क्रोध हुआ। वे बहुत खिन्न होकर अत्यन्त उग्र तपस्या करनेके लिये गये। उस तपस्यासे सन्तुष्ट होकर लोकपितामह ब्रह्माजीने प्रजापति त्वष्टासे कहा—'सुव्रत! तुम कोई वर माँगो।' तब त्वष्टाने अत्यन्त हर्षमें भरकर वर माँगा—'भगवन्!

हमें ऐसा पुत्र दीजिये, जो देवताओंके लिये भयंकर हो तथा सम्पूर्ण देवताओं और इन्द्रको भी शीघ्र मार डालनेकी इच्छा रखता हो।' 'तथाऽस्तु' कहकर परमेष्ठी ब्रह्माने वरदान दे दिया। उस वरदानसे तत्काल ही वहाँ एक बड़ा अद्भुत दैत्य प्रकट हुआ, जो वृत्र नामसे प्रसिद्ध था। वह असुर प्रतिदिन सौ धनुष (चार सौ हाथ) बढ़ता था। पूर्वकालमें अमृत-मन्थनके समय देवताओंने जिन दैत्योंको मार डाला था और शुक्राचार्यने पुनः जिन्हें जीवित कर दिया था, उनमेंसे राजा बलिको छोड़कर शेष सभी दैत्य पातालसे निकलकर वृत्रासुरके पास चले आये। पातालसे आये हुए असुरोंके साथ वृत्रासुरने अकेले ही अपने विशाल शरीरद्वारा सम्पूर्ण भूमण्डलको ढक लिया। उस समय उससे पीड़ित हुए तपस्वी ऋषि तुरंत ब्रह्माजीके पास गये और उन्होंने अपनी सारी कष्ट-कथा कह सुनायी। तब ब्रह्माजीने गन्धर्वों, मरुद्गणों तथा इन्द्रादि देवताओंसे, विश्वकर्मा क्या करना चाहते हैं, यह बताया और कहा—'विश्वकर्माने बड़ी भारी तपस्या करके तुम सब लोगोंका वध करनेके लिये अत्यन्त तेजस्वी वृत्रासुरको उत्पन्न किया है। वह सब दैत्योंका महान् अधीश्वर बना हुआ है। अब तुमलोग ऐसा प्रयत्न करो, जिससे वह तुम्हारे द्वारा मारा जा सके।' ब्रह्माजीका यह वचन सुनकर इन्द्र आदि देवताओंने कहा—'भगवन्! जब हमारे ये इन्द्र ब्रह्महत्यासे मुक्त होकर स्वर्गके सिंहासनपर बिठाये गये, उस समय हमलोगोंके

द्वारा एक न करनेयोग्य कार्य हो गया है। अब उस भूलके दुष्परिणामसे पार पाना हमारे लिये कठिन है। भूल यह हुई कि हम अज्ञानियोंने अपने अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र महर्षि दधीचिके आश्रममें रख दिये थे। उन शस्त्रोंके बिना इस समय हम क्या कर सकते हैं?'

तदनन्तर ब्रह्माजीकी आज्ञासे सब देवता दधीचिके आश्रमपर गये और उनसे बोले—'देव! हमने पूर्वकालमें जो अस्त्र-शस्त्र यहाँ रख दिये थे, वे सब हमें दे दिये जायँ।' यह सुनकर दधीचिने हँसते हुए कहा—'बड़भागी देवताओ! आपके उन अस्त्रोंको बहुत कालसे यहाँ व्यर्थ रखा हुआ जानकर मैंने सबको पी लिया।' उनकी यह बात सुनकर देवता बहुत चिन्तित हुए और पुनः ब्रह्माजीके पास लौटकर मुनिकी सब बातें कह सुनायीं। तब ब्रह्माजीने सबके अभीष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये देवताओंसे कहा—'तुम लोग दधीचिसे उनकी हड्डियाँ ही माँगो। माँगनेपर वे देंगे, इसमें तनिक भी संशय नहीं है।' ब्रह्माजीकी बात सुनकर इन्द्र बोले—'वृत्रासुर नामक जो दैत्यराज है, उसे विश्वकर्माने उत्पन्न किया है (अतः वह ब्राह्मण ही है); यद्यपि वह निरन्तर अत्यन्त क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाला है, तथापि ब्राह्मण होनेके कारण मैं उसका वध कैसे कर सकता हूँ।' इन्द्रकी बात सुनकर ब्रह्माजीने अर्थशास्त्रको प्रधानता देनेवाली युक्तिसे उन्हें समझाया और इस प्रकार कहा—'देवराज! यदि कोई आततायी मारनेकी इच्छासे आ रहा हो तो वह तपस्वी ब्राह्मण ही क्यों न हो, उसे अवश्य मार डालनेकी इच्छा करे। ऐसा करनेसे वह ब्रह्महत्यारा नहीं हो सकता।'* ब्रह्माजीका यह वचन सुनकर इन्द्रने कहा—'भगवन्! दधीचिके वधसे निश्चय ही मेरा पतन हो जायगा। उस ब्राह्मणकी हत्यासे सभी तरहके महान् पाप अपनेको लगेंगे। अतः हमें ब्राह्मणोंका अनादर नहीं करना चाहिये। परम धर्म अदृष्टरूप है। विज्ञ पुरुषको उचित है कि वह श्रेष्ठ विधिके अनुसार मनोयोगपूर्वक उस धर्मका पालन करे।'

इन्द्रके निःस्पृह वचन सुनकर ब्रह्माजी बोले—'देवेन्द्र! तुम अपनी बुद्धिके अनुसार बर्ताव करो और शीघ्र ही दधीचिके पास जाओ। कार्यकी गुरुताको दृष्टिमें रखकर दधीचिकी हड्डियाँ माँगो।' 'बहुत अच्छा' कहकर इन्द्रने ब्रह्माजीकी आज्ञा स्वीकार की और गुरु बृहस्पति तथा सम्पूर्ण देवताओंके साथ दधीचिके मंगलमय आश्रमपर गये। वह आश्रम नाना प्रकारके जीव-जन्तुओंसे संयुक्त होनेपर भी पारस्परिक वैर-भावसे रहित था। वहाँ बिल्ली और चूहे एक-दूसरेको देखकर प्रसन्न होते थे। एक ही स्थानपर सिंह, हथिनियाँ, हाथीके बच्चे और हाथी परस्पर मिलकर नाना प्रकारकी क्रीडाएँ करते थे। नेवलोंके साथ मिले हुए सर्प एक-दूसरेसे आनन्दका अनुभव करते थे। ऐसी-ऐसी अनेक आश्चर्यभरी बातें उस आश्रमपर दिखायी देती थीं। दधीचि मुनि अपने उत्तम तेजसे सूर्य अथवा दूसरे अग्निदेवकी भाँति प्रकाशित हो रहे थे। उनके साथ उनकी धर्मपत्नी सुवर्चा भी थीं। जैसे सावित्रीके साथ ब्रह्माजी शोभा पाते हैं, उसी प्रकार वे मुनिश्रेष्ठ दधीचि भी अपनी धर्मपत्नीके साथ सुशोभित थे। सम्पूर्ण देवताओंने मुनिका दर्शन करके उन्हें प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'मुने! हमें पहलेसे ही विदित है कि आप तीनों लोकोंमें सबसे बड़े दाता हैं।' देवताओंकी यह बात सुनकर मुनिश्रेष्ठ दधीचि बोले—'श्रेष्ठ देवगण! आपलोग जिस कामके लिये आये हैं, उसे बतावें। आपकी माँगी हुई वस्तु मैं अवश्य दूँगा, इसमें सन्देह नहीं है। मेरी बात कभी मिथ्या नहीं होती।' तब अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी इच्छावाले सब देवता एक साथ बोले—'ब्रह्मन्! हमलोग भयभीत होकर आपके दर्शनकी अभिलाषासे यहाँ

* आततायिनमायान्तं ब्राह्मणं वा तपस्विनम्। हन्तुकामं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत्॥
(स्क० पु०, मा० के० १६।७३)

आये हैं।' उनकी ये बातें सुनकर दधीचिने कहा—'बताइये, आपलोगोंके लिये क्या देना है?' यों कहकर महर्षिने अपनी पत्नीको आश्रमके भीतर भेज दिया। तदनन्तर देवता बोले—'विप्रवर! आप अपने शरीरकी हड्डियाँ हमें अर्पित करें, जिनसे दैत्योंका संहार हो।' महर्षिने कहा—'मैंने हड्डियाँ आपको दे दीं।' तब देवता बोले—'भगवन्! आपके जीते-जी इन हड्डियोंको हम कैसे प्राप्त कर सकते हैं?' ब्रह्मर्षिने हँसकर उत्तर दिया—'बस, क्षणभर खड़े रहिये, मैं अभी अपना शरीर त्याग देता हूँ।' ऐसा कहकर दधीचिने समाधि लगा ली। उस परम समाधिके द्वारा अपना शरीर त्यागकर वे तत्काल उस ब्रह्मधाममें चले गये, जहाँसे फिर इस संसारमें लौटना नहीं पड़ता। इस प्रकार भगवान् शंकरके प्रिय भक्त मुनिवर दधीचि परोपकारके लिये शरीर त्यागकर ब्रह्म-पदको प्राप्त हुए।

## पिप्पलादका जन्म, सुवर्चाका पतिलोकगमन, देवासुर-संग्राममें नमुचिका वध, प्रदोषव्रतकी विधि और उद्यापन, इन्द्र और वृत्रासुरका युद्ध तथा इन्द्रकी विजय

**लोमशजी कहते हैं**—तदनन्तर महर्षि दधीचिको ब्रह्मलीन हुआ देख इन्द्रने सुरभिको बुलाकर कहा—'तुम दधीचिके शरीरको चाटो।' 'बहुत अच्छा' कहकर सुरभिने तत्काल दधीचिके शरीरको चाटना आरम्भ किया। उसने सब ओरसे चाटकर उस शरीरको मांसरहित कर दिया। तब देवताओंने वे हड्डियाँ ले लीं और उनके शस्त्र बनाये। उनकी पीठकी हड्डीसे 'वज्र' बना और शिरसे 'ब्रह्मशिर' नामक अस्त्र तैयार किया गया। ऋषिके शरीरकी जो और भी बहुत-सी हड्डियाँ थीं, उन्हें भी उस समय देवताओंने ग्रहण कर लिया। इस प्रकार अस्त्र-शस्त्रोंका निर्माण करके महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न हुए देवता वृत्रासुरको मारनेके लिये उद्यत हो बड़ी उतावलीके साथ स्वर्गलोकमें गये।

तत्पश्चात् महर्षि दधीचिकी पत्नी सुवर्चा देवी, जिन्हें देवताओंकी कार्यसिद्धिके लिये महर्षिने आश्रमके भीतर भेज दिया था, वहाँ पुनः लौटकर आयीं और वहाँ जो कुछ हुआ था वह सब उन्होंने अपनी आँखोंसे देखा—'यह सब देवताओंकी ही करतूत है' ऐसा जानकर उस सती-साध्वी सुवर्चाके मनमें बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने अत्यन्त रुष्ट होकर शाप देते हुए कहा—'देवता आजसे सन्तानहीन रहें। तपस्विनी सुवर्चाने इस प्रकार देवताओंको शाप दे दिया और स्वयं एक पीपल-वृक्षके मूल भागमें बैठकर रोदन करने लगीं। इसी समय उनके उदरसे महात्मा दधीचिके पुत्र महातेजस्वी पिप्पलाद प्रकट हुए। माता सुवर्चा प्यासी आँखोंसे पुत्र पिप्पलादकी ओर देखती हुई हँसकर बोलीं—'महाभाग! तुम दीर्घकालतक इस वृक्षके ही समीप रहना। तुम मेरे आशीर्वादसे शीघ्र ही ऋषियोंमें श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करोगे।' अपने पुत्रके प्रति ऐसा कहकर साध्वी सुवर्चा श्रेष्ठ समाधि लगाकर पतिके समीप चली गयीं। इस प्रकार उन्होंने पतिके साथ सत्यलोक प्राप्त किया।

इधर वे देवतालोग अस्त्र-शस्त्रोंका निर्माण करके युद्धके लिये उत्सुक हो दैत्योंके सामने गये। इन्द्र आदि देवता महान् बल और पराक्रमसे युक्त थे। वे गुरु बृहस्पतिको आगे करके भूमिपर आकर मध्य देशमें ठहरे। उन सबके पास बड़े उत्तम शस्त्र थे। इन्द्र आदि देवताओंको आया हुआ सुनकर महातेजस्वी वृत्रासुर दैत्यवृन्दके साथ उनके समीप गया। महेन्द्रने उस समरांगणमें महादैत्य वृत्रासुरको देखा। देवताओं और दानवोंका एक-दूसरेकी ओर दृष्टिपात बड़ा अद्भुत था। उनमें वैर-भाव बहुत बढ़ा हुआ था। वे एक-दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे अत्यन्त क्रोधमें भरकर

अद्भुत स्वरमें गर्जना करने लगे। देवताओं और दानवोंके उस युद्धमें बजाये जानेवाले भयानक बाजे बड़ी गम्भीर ध्वनिमें सुनायी देते थे। उस युद्धमें समस्त चराचर जगत् महान् भयके कारण अचेत हो गया। उस समय नमुचि नामक दैत्य इन्द्रके साथ युद्ध करने लगा। देवराज इन्द्रने बड़े वेगसे उस दैत्यपर वज्रका प्रहार किया, परंतु वज्रके आघातसे भी नमुचिका एक रोम भी न टूट सका। तब इन्द्रने नमुचिपर गदा मारी, किंतु वह गदा भी चूर-चूर हो गयी। यह देख इन्द्रने एक बहुत बड़े शूलसे उस दैत्यपर प्रहार किया। नमुचिके अंगका स्पर्श होते ही उस शूलके सैकड़ों टुकड़े हो गये। इसी प्रकार नमुचिने भी हँसते हुए अनेक प्रकारके शस्त्रोंसे देवताओंको मारा, परंतु इन्द्रपर प्रहार नहीं किया। उस समय इन्द्र मौन होकर बड़ी भारी चिन्तामें डूब गये। इसी बीचमें उस महाभयानक संग्रामके भीतर इन्द्रको सम्बोधित करके आकाशवाणी हुई—'महेन्द्र! यह दैत्य देवताओंके लिये बड़ा भयंकर और घोरतर है। इसके लिये जलसे निकला हुआ फेन ही दुर्लंघ्य शस्त्र है। अतः उसीके द्वारा इस महान् असुरका शीघ्र संहार करो। दूसरे किसी शस्त्रसे आघात करनेपर यह असुर कभी मारा नहीं जा सकता।' इस मंगलमयी दैवी वाणीको सुनकर अनन्त पराक्रमवाले इन्द्र समुद्रके तटपर गये और फेन प्राप्त करनेके लिये प्रयास करने लगे। इन्द्रको समुद्रतटपर आया हुआ देख नमुचि क्रोधसे मूर्च्छित हो उठा और शूलसे आघात करके उन्हें कटुवचन सुनाने लगा। तब इन्द्रने भी क्रोधमें भरकर अद्भुत फेन ग्रहण किया और उस फेनका प्रहार करके महादैत्य नमुचिको मार गिराया। इस प्रकार नमुचिके मारे जानेपर सब देवता और ऋषि साधुवाद देते हुए इन्द्रके प्रति सम्मान प्रकट करने लगे।

इसी समय महातेजस्वी वृत्रासुर इन्द्रके समीप आया। वृत्रासुरको देखकर सब देवता और मनुष्य महान् भयसे युक्त हो पृथ्वीपर गिर पड़े। तब प्रतापी इन्द्र हाथमें वज्र लिये ऐरावत हाथीपर आरूढ़ हुए। सब देवता प्रतापी लोकपालोंके साथ युद्धके लिये एकत्र हो गये; परंतु वृत्रासुरको देखते ही सब लोकपाल अपने स्वामी इन्द्रसहित भयभीत हो गये। अतः वे भगवान् शिवकी शरणमें गये। महेन्द्र विजयके इच्छुक थे। अतः उन्होंने गुरु बृहस्पतिके बताये अनुसार बड़े विश्वासके साथ तत्काल ही विधिपूर्वक शिवलिंगका पूजन किया। फिर उदार बुद्धिवाले बृहस्पतिजी इन्द्रसे इस प्रकार बोले—''देवराज! कार्तिकमासके शुक्ल पक्षमें शनिवारके दिन यदि पूरी त्रयोदशी मिले तो यह समझना चाहिये कि मुझे सब कुछ प्राप्त हो गया। उस दिन प्रदोषकालमें सब कामनाओंकी सिद्धिके लिये लिंगरूपधारी भगवान् सदाशिवका पूजन करना चाहिये। दोपहरके समय स्नान करके तिल और आँवलेके साथ गन्ध, पुष्प और फल आदिके द्वारा शिवजीकी पूजा करे। फिर प्रदोषकालमें स्थावर लिंगका पूजन करे। गाँवसे बाहर जो शिवलिंग स्थित है, उसके पूजनका फल ग्रामकी अपेक्षा सौगुना अधिक है। उससे भी सौगुना अधिक माहात्म्य उस शिवलिंगके पूजनका है, जो वनमें स्थित हो। वनकी अपेक्षा भी सौगुना पुण्य पर्वतपर स्थित शिवलिंगके पूजनका है। पर्वतीय शिवलिंगकी अपेक्षा तपोवनमें स्थित शिवलिंगके पूजनका फल दस हजार गुना अधिक है। वह महान् फलदायक है। अतः विद्वानोंको इस विभागके अनुसार शिवलिंगका पूजन करना चाहिये और तडाग आदि तीर्थोंमें विधिवत् स्नान आदि करना चाहिये। मिट्टीके पाँच पिण्ड निकाले बिना किसी बावड़ीमें स्नान करना शुभकारक नहीं है। कुएँमेंसे अपने हाथसे जल निकालकर स्नान नहीं करना चाहिये (रस्सी आदिकी सहायतासे किसी पात्रमें जल निकालकर ही स्नान करना चाहिये)। पोखरेमेंसे मिट्टीके दस पिण्ड निकालकर ही स्नान करना चाहिये। नदीमें स्नान करना सबसे उत्तम है, यदि कोई बड़ी नदी मिल जाय

तो उसमें नहाना और भी उत्तम है। सब तीर्थोंमें गंगाका स्नान सर्वोत्तम है।

'प्रदोषकालमें स्नान करके मौन रहना चाहिये। भगवान् सदाशिवके समीप एक हजार दीपक जलाकर प्रकाश करना चाहिये। इतना सम्भव न हो तो सौ अथवा बत्तीस दीपोंसे भी भगवान्के समीप प्रकाश किया जा सकता है। शिवकी प्रसन्नताके लिये घीसे दीपक जलाना चाहिये। इसी प्रकार फल, धूप, नैवेद्य, गन्ध और पुष्प आदि षोडश उपचारोंसे लिंगरूपी भगवान् सदाशिवकी प्रदोषकालमें पूजा करनी चाहिये। वे भगवान् सम्पूर्ण मनोरथोंको सिद्ध करनेवाले हैं। यदि जलहरीका जल न उलाँघना पड़े तो पूजनके पश्चात् भगवान् शिवकी एक सौ आठ परिक्रमा करनी चाहिये। फिर यत्नपूर्वक एक सौ आठ बार ही नमस्कार भी करने चाहिये। इस प्रकार परिक्रमा और नमस्कारसे भगवान् सदाशिवको प्रसन्न करना उचित है। तत्पश्चात् सौ नामोंसे विधिपूर्वक भगवान् रुद्रकी स्तुति करनी चाहिये। रुद्र, नील, भीम और परमात्माको नमस्कार है! कपर्दी (जटाजूटधारी), सुरेश्वर (देवताओंके स्वामी) तथा आकाशरूप केशवाले श्रीव्योमकेशको नमस्कार है! जो अपनी ध्वजामें वृषभका चिह्न धारण करनेके कारण वृषभध्वज हैं, उमाके साथ विराजमान होनेसे सोम हैं, चन्द्रमाके भी रक्षक होनेसे सोमनाथ हैं, उन भगवान् शम्भुको नमस्कार है! सम्पूर्ण दिशाओंको वस्त्ररूपमें धारण करनेके कारण जो दिगम्बर कहलाते हैं, भजनीय तेजस्वरूप होनेसे जिनका नाम भर्ग है, उन उमाकान्तको नमस्कार है! जो तपोमय, भव्य (कल्याणरूप), शिवश्रेष्ठ, विष्णुरूप, व्यालप्रिय (सर्पोंको प्रिय माननेवाले), व्याल (सर्पस्वरूप) तथा सर्पोंके पालक हैं, उन भगवान्को नमस्कार है! जो महीधर (पृथ्वीको धारण करनेवाले), व्याघ्र (विशेषरूपसे सूँघनेवाले), पशुपति (जीवोंके पालक), त्रिपुरनाशक, सिंहस्वरूप, शार्दूलरूप और यज्ञमय हैं, उन भगवान् शिवको नमस्कार है। जो मत्स्यरूप, मत्स्योंके स्वामी, सिद्ध तथा परमेष्ठी हैं, जिन्होंने कामदेवका नाश किया है, जो ज्ञानस्वरूप तथा बुद्धि-वृत्तियोंके स्वामी हैं, उनको नमस्कार है! जो कपोत (ब्रह्माजी जिनके पुत्र हैं), विशिष्ट (सर्वश्रेष्ठ), शिष्ट (साधुपुरुष) तथा सर्वात्मा हैं, उन्हें नमस्कार है! जो वेदस्वरूप वेदको जीवन देनेवाले तथा वेदोंमें छिपे हुए गूढ़ तत्त्व हैं, उनको नमस्कार है! जो दीर्घ, दीर्घरूप, दीर्घार्थस्वरूप तथा अविनाशी हैं, जिनमें ही सम्पूर्ण जगत्की स्थिति है तथा जो सर्वव्यापी व्योमरूप हैं, उन्हें नमस्कार है! जो गजासुरके महान् काल हैं, जिन्होंने अन्धकासुरका विनाश किया है, जो नील, लोहित और शुक्लरूप हैं तथा चण्ड-मुण्ड नामक पार्षद जिन्हें विशेष प्रिय हैं, उन भगवान् शिवको नमस्कार है! जिनको भक्ति प्रिय है, जो द्युतिमान् देवता हैं, ज्ञाता और ज्ञान हैं, जिनके स्वरूपमें कभी कोई विकार नहीं होता, जो महेश, महादेव तथा हर नामसे प्रसिद्ध हैं, उनको नमस्कार है! जिनके तीन नेत्र हैं, तीनों वेद और वेदांग जिनके स्वरूप हैं, उन भगवान् शंकरको नमस्कार है! नमस्कार है! जो अर्थ (धन), अर्थरूप (काम) तथा परमार्थ (मोक्षरूप) हैं, उन भगवान्को नमस्कार है! जो सम्पूर्ण विश्वकी भूमिके पालक, विश्वरूप, विश्वनाथ, शंकर, काल तथा कालावयवरूप हैं, उन्हें नमस्कार है! जो रूपहीन, विकृत रूपवाले तथा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म हैं, उनको नमस्कार है! जो श्मशान-भूमिमें निवास करनेवाले तथा व्याघ्रचर्ममय वस्त्र धारण करनेवाले हैं, उनको नमस्कार है! जो ईश्वर होकर भी भयानक भूमिमें शयन करते हैं, उन भगवान् चन्द्रशेखरको नमस्कार है! जो दुर्गम हैं, जिनका पार पाना अत्यन्त कठिन है तथा जो दुर्गम अवयवोंके साक्षी अथवा दुर्गारूपा पार्वतीके सब अंगोंका

दर्शन करनेवाले हैं, उन भगवान् शिवको नमस्कार है! जो लिंगरूप, लिंग (कारण) तथा कारणोंके भी अधिपति हैं, उन्हें नमस्कार है! महाप्रलयरूप रुद्रको नमस्कार है! प्रणवके अर्थभूत ब्रह्मरूप शिवको नमस्कार है! जो कारणोंके भी कारण, मृत्युंजय तथा स्वयम्भू-रूप हैं, उन्हें नमस्कार है! हे श्रीत्र्यम्बक ! हे नीलकण्ठ! हे शर्व! हे गौरीपते! आप सम्पूर्ण मंगलोंके हेतु हैं; आपको नमस्कार है!'[१]

'प्रदोष-व्रत करनेवालेको महादेवजीके इन सौ नामोंका पाठ अवश्य करना चाहिये। महामते इन्द्र! इस प्रकार तुमसे मैंने शिव-प्रदोष-व्रतकी विधि बतलायी है। महाभाग! शीघ्रतापूर्वक इस व्रतका पालन करो। तत्पश्चात् युद्ध करना। भगवान् शिवकी कृपासे तुम्हें विजय आदि सब कुछ प्राप्त होगा।'

'एक समयकी बात है, राजा चित्ररथ विमानपर बैठकर नाना प्रकारके द्वीपोंका दर्शन करते हुए भगवान् शंकरके निवास-स्थान कैलास पर्वतपर गया। वहाँ उसने परम अद्भुत एवं अनुपम छबिवाले भगवान् शंकरके दर्शन किये। वे अपने आधे अंगमें पार्वती देवीको बिठाकर शोभा पा रहे थे। कर्पूरके समान गौरवर्ण, कमलनयन भगवान् शिवको पार्वती देवीके साथ देखकर राजा चित्ररथने उपहासपूर्वक कहा—'शम्भो! संसारमें जो विषयी मनुष्य आदि हैं तथा स्त्रियोंके वशीभूत रहनेवाले जो दूसरे-दूसरे लोग हैं, वे तथा हम-जैसे अज्ञानी जीव भी जनसमुदायमें संकोचवश स्त्री-सेवन नहीं करते।' यह सुनकर गिरिराजनन्दिनी उमाने कहा—'अरे दुरात्मन्! रे मूढ़! तूने मेरे साथ बैठे हुए भगवान् शिवका उपहास किया है। अतः इस कर्मका फल तू शीघ्र ही देखेगा। जो समतायुक्त चित्तवाले साधु पुरुषोंका उपहास करता है, वह देवता हो या मनुष्य, उसे अधमसे भी अधम जानना चाहिये।[२] तू देवता और द्विज दोनोंकी श्रेणीसे बहिष्कृत है। अपनेको बड़ा ज्ञानी माननेवाले तुझ अधमको आज मैं दैत्य बनाये देती हूँ।'

---

१. नमो रुद्राय नीलाय भीमाय परमात्मने । कपर्द्दिने सुरेशाय व्योमकेशाय वै नमः॥
वृषभध्वजाय सोमाय सोमनाथाय शम्भवे । दिगम्बराय भर्गाय उमाकान्ताय वै नमः॥
तपोमयाय भव्याय शिवश्रेष्ठाय विष्णवे । व्यालप्रियाय व्यालाय व्यालानां पतये नमः॥
महीधराय व्याघ्राय पशूनां पतये नमः । पुरान्तकाय सिंहाय शार्दूलाय मखाय च॥
मीनाय मीननाथाय सिद्धाय परमेष्ठिने । कामान्तकाय बुद्धाय बुद्धीनां पतये नमः॥
कपोताय विशिष्टाय शिष्टाय सकलात्मने । वेदाय वेदजीवाय वेदगुह्याय वै नमः॥
दीर्घाय दीर्घरूपाय दीर्घार्थायाविनाशिने । नमो जगत्प्रतिष्ठाय व्योमरूपाय वै नमः॥
गजासुरमहाकालायान्धकासुरभेदिने । नीललोहितशुक्लाय चण्डमुण्डप्रियाय च॥
भक्तिप्रियाय देवाय ज्ञात्रे ज्ञानाव्ययाय च । महेशाय नमस्तुभ्यं महादेव हराय च॥
त्रिनेत्राय त्रिवेदाय वेदाङ्गाय नमो नमः । अर्थाय चार्थरूपाय परमार्थाय वै नमः॥
विश्वभूपाय विश्वाय विश्वनाथाय वै नमः । शंकराय च कालाय कालावयवरूपिणे॥
अरूपाय विरूपाय सूक्ष्मसूक्ष्माय वै नमः । श्मशानवासिने भूयो नमस्ते कृत्तिवाससे॥
शशाङ्कशेखरायेशायोग्रभूमिशयाय च । दुर्गाय दुर्गपाराय दुर्गावयवसाक्षिणे॥
लिंगरूपाय लिंगाय लिंगानां पतये नमः । नमः प्रलयरूपाय प्रणवार्थाय वै नमः॥
नमो नमः कारणकारणाय मृत्युञ्जयायात्मभवस्वरूपिणे।
श्रीत्र्यम्बकायासितकण्ठशर्व गौरीपते सकलमङ्गलहेतवे नमः॥
(स्क० पु०, मा० के० १७। ७६—९०)

२. साधूनां समचित्तानामुपहासं करोति यः। देवो वाप्यथवा मर्त्यः स विज्ञेयोऽधमाधमः॥
(स्क० पु०, मा० के० १७। १०८)

'पार्वती-देवीके इस प्रकार शाप देनेपर राजाओंमें श्रेष्ठ चित्ररथ सहसा स्वर्गसे नीचे गिर पड़ा। वही इस समय आसुरी योनिमें आकर वृत्रासुरके नामसे प्रसिद्ध हुआ है। विश्वकर्माकी भारी तपस्यासे युक्त होनेके कारण इस समय वृत्रासुर अजेय बतलाया जाता है। इसलिये तुम प्रदोषकालमें विधिपूर्वक भगवान् शंकरकी पूजा करके देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये महादैत्य वृत्रासुरका वध करो।'

गुरु बृहस्पतिकी यह बात सुनकर इन्द्रने कहा—'भगवन्! इस समय मुझे इस प्रदोषव्रतके उद्यापनकी विधि बतलाइये।' बृहस्पतिजीने कहा—'कार्तिकमास आनेपर शनिवारके दिन यदि पूरी त्रयोदशी हो तो वह व्रतकी सिद्धिके लिये ग्राह्य है। आज वह तिथि स्वतःप्राप्त है। इसमें चाँदीका वृषभ बनवाना चाहिये। उस वृषभकी पीठपर सुन्दर सिंहासन रखना चाहिये। उस सिंहासनपर उमाकान्त भगवान् शिवकी स्थापना करनी चाहिये। भगवान्के तीन नेत्र, पाँच मुख और दस भुजाएँ हों। उनके आधे अंगमें सती-साध्वी पार्वतीका निवास हो। इस प्रकार उमा और महेश्वरकी सुवर्णमयी प्रतिमा बनवानी चाहिये। उस प्रतिमाको वृषभकी पीठपर वस्त्रसे ढके हुए ताँबेके पात्रमें स्थापित करके रात्रिमें श्रद्धा और विधिके साथ जागरण करना चाहिये। पहले यत्नपूर्वक प्रतिमाको पंचामृतसे स्नान कराना चाहिये। देवराज! मैं पूजाके मन्त्र बतलाता हूँ, सुनो—

**(दुग्धसे स्नान करानेका मन्त्र)**

**गोक्षीरधाम देवेश गोक्षीरेण मया कृतम्।**
**स्नपनं देवदेवेश गृहाण परमेश्वर॥**

'गायके दूधमें निवास करनेवाले देवेश! देवदेवेश्वर! परमेश्वर! मैंने गायके दूधसे आपको स्नान कराया है, कृपया इसे स्वीकार करें।'

**(दधि-स्नान-मन्त्र)**

**दध्ना चैव महादेव स्नपनं कार्यते मया।**
**गृहाण च मया दत्तं सुप्रसन्नो भवाद्य वै॥**

'महादेवजी! मैं दहीसे आपको स्नान करवा रहा हूँ। मेरे द्वारा समर्पित यह दधि-स्नान आप स्वीकार करें तथा आज मुझपर निश्चय ही अत्यन्त प्रसन्न हों।'

**(घृत-स्नान-मन्त्र)**

**सर्पिषा च मया देव स्नपनं क्रियतेऽधुना।**
**गृहाण श्रद्धया दत्तं तव प्रीत्यर्थमेव च॥**

'देव! अब मैं घीसे आपको स्नान करा रहा हूँ। मेरे द्वारा आपकी प्रसन्नताके लिये श्रद्धापूर्वक समर्पित यह घृत-स्नान आप अंगीकार करें।'

**(मधु-स्नान-मन्त्र)**

**इदं मधु मया दत्तं तव तुष्ट्यर्थमेव च।**
**गृहाण त्वं हि देवेश मम शान्तिप्रदो भव॥**

'देवेश्वर! आपके सन्तोषके लिये मेरा दिया हुआ यह मधु आप ग्रहण करें तथा मेरे लिये शान्तिदायक बनें।'

**(शर्करा-स्नान-मन्त्र)**

**सितया देवदेवेश स्नपनं क्रियते मया।**
**गृहाण श्रद्धया दत्तां सुप्रसन्नो भव प्रभो॥**

'देवदेवेश्वर! मैं मिश्री (या शर्करा)-से आपको स्नान करा रहा हूँ। प्रभो! श्रद्धापूर्वक दी हुई इस मिश्री (या शर्करा)-को आप स्वीकार करें तथा मुझपर भलीभाँति प्रसन्न हों।'

इस प्रकार पंचामृतद्वारा भगवान् वृषभध्वजको स्नान कराना चाहिये। तत्पश्चात् बुद्धिमान् पुरुष ताँबेके अर्घ्यपात्रद्वारा अर्घ्य प्रदान करे—

**( अर्घ्य-मन्त्र )**

**अर्घ्योऽसि त्वमुमाकान्त त्वर्घ्येणानेन वै प्रभो।**
**गृहाण त्वं मया दत्तं प्रसन्नो भव शंकर॥**

'उमावल्लभ! प्रभो! आप इस अर्घ्यद्वारा पूजन करनेयोग्य हैं। भगवान् शंकर! मेरे दिये हुए अर्घ्यको आप ग्रहण करें और मुझपर प्रसन्न हों।'

**( पाद्य-मन्त्र )**

**मया दत्तं तु ते पाद्यं पुष्पगन्धसमन्वितम्।**
**गृहाण देवदेवेश प्रसन्नो वरदो भव॥**

'देवदेवेश! मेरे द्वारा आपको समर्पित गन्ध-पुष्पयुक्त यह पाद्य (पाँव पखारनेके लिये जल) आप ग्रहण करें तथा प्रसन्न होकर मेरे लिये वर-दायक बनें।'

**( आसनसमर्पण-मन्त्र )**

**विष्टरं विष्टरेणैव मया दत्तं च वै प्रभो।**
**शान्त्यर्थं तव देवेश वरदो भव मे सदा॥**

'प्रभो! मैंने आपके सन्तोषके लिये कुशनिर्मित आसन समर्पित किया है। देवेश्वर! आप मेरे लिये सदा वरदायक बने रहें।'

**( आचमन-मन्त्र )**

**आचमनं मया दत्तं तव विश्वेश्वर प्रभो।**
**गृहाण परमेशान तुष्टो भव ममाद्य वै॥**

'प्रभो! विश्वेश्वर! मैंने आपको यह आचमनार्थ जल समर्पित किया है। परमेश्वर! आप इसे ग्रहण करें और आज मुझपर प्रसन्न हों।'

**( यज्ञोपवीत-मन्त्र )**

**ब्रह्मग्रन्थिसमायुक्तं ब्रह्मकर्मप्रवर्तकम्।**
**यज्ञोपवीतं सौवर्णं मया दत्तं तव प्रभो॥**[1]

'प्रभो! यह सुवर्णरंगका (पीत) यज्ञोपवीत मैंने आपकी सेवामें प्रस्तुत किया है; यह ब्रह्मग्रन्थिसे युक्त है तथा ब्रह्मकर्म (वैदिक यज्ञ-यागादि तथा भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म)-में लगानेवाला है।'

**( वस्त्र-मन्त्र )**

**एतद् वासो मया दत्तं सोत्तरीयं सुशोभनम्।**
**गृहाण त्वं महादेव ममायुष्यप्रदो भव॥**

'महादेवजी! मैंने यह चादरसहित परम सुन्दर वस्त्र आपको भेंट किया है; आप इसे ग्रहण करें और मुझे आयु प्रदान करें।'

**( चन्दन-मन्त्र )**

**सुगन्धं चन्दनं देव मया दत्तं तु ते प्रभो।**
**भक्त्या परमया शम्भो सुगन्धं कुरु मां भव॥**

'देव! शम्भो! मैंने आपको बड़ी भक्तिसे सुगन्धित चन्दन समर्पित किया है; सबके जन्मदाता भगवान् शिव! आप मुझे उत्तम गन्धसे युक्त करें।'

**( धूप-मन्त्र )**

**धूपं विशिष्टं परमं सर्वौषधिविजृम्भितम्।**
**गृहाण परमेशान मम शान्त्यर्थमेव च॥**

'परमेश्वर! सब प्रकारकी ओषधियोंसे सम्पन्न तथा बहुत ही विशिष्ट बनी हुई यह धूप आपकी सेवामें समर्पित है। मेरी शान्तिके लिये आप इसे ग्रहण करें।'

**( दीप-मन्त्र )**

**दीपं हि परमं शम्भो घृतप्रज्वलितं मया।**
**दत्तं गृहाण देवेश मम ज्ञानप्रदो भव॥**

'शम्भो! मैंने घीसे जलाया हुआ यह उत्तम दीप आपकी सेवामें प्रस्तुत किया है। देवेश्वर! आप इसे ग्रहण करें और मेरे लिये ज्ञानदाता बनें।'

**( आरती-मन्त्र )**

**दीपावलिं मया दत्तां गृहाण परमेश्वर।**
**आरार्तिकप्रदानेन मम तेजःप्रदो भव॥**[2]

'परमेश्वर! मेरी दी हुई यह दीप-माला आप ग्रहण करें, तथा इस आरती उतारनेसे सन्तुष्ट होकर आप मुझे तेज प्रदान करें।'

---

१. पाठान्तर इस प्रकार है—

यज्ञोपवीतं सौवर्णं मया दत्तं च शंकर। गृहाण परया तुष्ट्या तुष्टो भव तु सर्वदा॥

२. ये पूजासम्बन्धी मन्त्र स्क० पु०, मा० के० अध्याय १७ के श्लोक १२१ से १३६ तक आये हैं।

'इसी प्रकार फल, दीप आदि तथा नैवेद्य और ताम्बूल आदि सामग्रियाँ क्रमशः चढ़ाकर विधिज्ञ पुरुष भगवान् शिवकी पूजा करे तथा रात्रिमें यत्नपूर्वक जागरण करे। अपने घरमें या देवालयमें चँदोवा तनाकर अद्भुत सामग्रियोंसे सजा हुआ एक मण्डप बनावे। उसमें गीत, वाद्य और नृत्यके द्वारा भगवान् सदाशिवकी पूजा करे। इन्द्र! प्रदोष-व्रतके उद्यापनकी यही विधि है। विधिज्ञ पुरुषको चाहिये कि वह अपने सम्पूर्ण कार्योंकी सिद्धिके लिये इसी प्रकारसे सब कुछ करे।'

गुरु बृहस्पतिजीने जो कुछ बताया, उसके अनुसार इन्द्रने सब विधिका पालन किया।

नमुचिके मारे जानेपर सब देवता हर्ष और उत्साहमें भरे हुए थे। उनका दैत्योंके साथ घोर युद्ध हुआ। देवताओं और दैत्योंका संहार करनेवाले उस घोर संग्राममें अत्यन्त भयंकर तथा मर्यादाका उल्लंघन करनेवाला द्वन्द्वयुद्ध होने लगा। इसी समय पूर्वोक्त प्रकारसे भगवान् शंकरकी आराधना करके इन्द्र भी युद्धमें लग गये। उन्होंने देवताओंको साथ लेकर वृत्रासुरका पीछा किया। व्योमासुरने यमराजके साथ तथा तीक्ष्णकोपनने अग्निके साथ युद्ध आरम्भ किया। वायुके साथ धूम और नैर्ऋतके साथ अतिकोपन लड़ने लगा। कुबेरके साथ कूष्माण्ड तथा ईशके साथ दुःसह भिड़ गया। इनके सिवा और भी बहुतसे महाबली दैत्य देवताओंके साथ द्वन्द्वयुद्ध करने लगे। उन्होंने गदा, पट्टिश, खड्ग, शक्ति, तोमर, मुद्गर, ऋष्टि, भिन्दिपाल, पास, प्रास तथा मुष्टिक आदिसे प्रहार किया। उसी प्रकार देवता भी दधीचिकी हड्डियोंसे बने हुए उत्तम अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा असुरोंको विदीर्ण करने लगे। देवताओंकी मार खाकर दैत्य पुनः पराजयको प्राप्त हुए। उन्हें भयभीत देख वृत्रासुरने समझाया—'वीरो! युद्ध स्वर्गका द्वार है, इसका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये। जिनकी संग्राममें मृत्यु होती है, वे परम पदको प्राप्त होते हैं। विद्वान् पुरुष जहाँ कहीं भी सम्भव हो संग्राममें मृत्युकी अभिलाषा करते हैं। जो लोग युद्ध छोड़कर भागते हैं, वे निश्चय ही नरकमें पड़ते हैं। महापातकी मनुष्य भी यदि गौ, ब्राह्मण, भृत्य, कुटुम्ब तथा स्त्रीकी रक्षाके लिये हाथमें शस्त्र लेकर युद्ध करें तथा वे शस्त्रोंके आघातसे घायल हो जायँ अथवा युद्धस्थलमें ही प्राण त्याग दें तो उन्हें निश्चय ही उत्तम लोककी प्राप्ति होती है। वे ज्ञानियोंके लिये भी दुर्लभ उत्कृष्ट पदको प्राप्त कर लेते हैं। अतः तुमलोगोंको अपने स्वामीके कार्य-साधनमें पूर्णतः तत्पर रहकर युद्ध करना चाहिये।' वृत्रके इस प्रकार समझानेपर असुरोंने उसकी आज्ञा शिरोधार्य की और देवताओंके साथ ऐसा घमासान युद्ध आरम्भ किया, जो सम्पूर्ण लोकोंके लिये भयंकर था। इधर मारनेकी इच्छासे इन्द्रको आते देख वृत्रासुर ठठाकर हँस पड़ा; उसका वह अट्टहास इन्द्रको भी भयभीत कर देनेवाला था। वीर वृत्रासुर बड़ा तेजस्वी था। उस समय वह दैत्योंका अधिपति बना हुआ था। उसके मनमें सुरश्रेष्ठ इन्द्रको निगल जानेकी इच्छा हुई और वह बहुत बड़ा मुँह फैलाकर इन्द्रकी ओर बढ़ा। समीप आनेपर उसने ऐरावत हाथी, वज्र और किरीटसहित इन्द्रको सहसा निगल लिया और वह नाचने तथा गर्जना करने लगा। पलक मारते-मारते इन्द्र वृत्रासुरके ग्रास बन गये। वहाँ उपस्थित रहकर यह दुर्घटना देखनेवाले देवताओंमें बड़ा हाहाकार मचा। धरती काँप उठी। हजारों उल्कापात होने लगे तथा सम्पूर्ण चराचर जगत्में अन्धकार छा गया। उस समय सब देवता चिन्तामग्न हो ब्रह्माजीके पास गये और वृत्रासुरकी सारी करतूत उन्होंने ब्रह्माजीसे कह सुनायी। सुनकर लोकपितामह ब्रह्माने चित्तको भलीभाँति एकाग्र करके भगवान् शंकरका स्तवन किया। उसी समय आकाशवाणी हुई—'इन्द्रने प्रदोषव्रतका अनुष्ठान करते समय कुछ विपरीत कार्य कर डाला है। जो मूर्ख शिवनिर्माल्य, अर्घा, शिवलिंगकी छाया तथा देव-मन्दिरका लंघन करते हैं, वे शिव-गणोंमें प्रधान चण्डेशके द्वारा दण्डनीय हैं; इसमें

तनिक भी सन्देह नहीं है। इसलिये लिंगपूजनपूर्वक प्रदक्षिणा और नमस्कार करनेसे अवश्य कल्याण होता है। ऐसी उत्तम बुद्धि रखकर प्रयत्नपूर्वक लिंगपूजन करना चाहिये। कनेर, मदार, भटकटइया, धतूर, शतपत्र, अमलतास, पुन्नाग (सँदेसरा), मौलसिरी, नागकेसर, नीलकमल, कदम्ब, आक तथा नाना प्रकारके कमल आदि पुष्प तीनों कालमें सदा पवित्र जानने चाहिये। चमेली, बेला, सेवती, श्यामपुष्प, कुटज, कर्णिकार, कुसुम्भ, लाल कमल—ये पुष्प विशेषतः सायंकालमें शिवलिंगपूजनके लिये श्रेष्ठ बताये गये हैं। कमलके फूल तीनों कालमें पवित्र माने गये हैं। रात्रिमें केवल कुमुदके फूल विशेष पवित्र बताये गये हैं। इस प्रकार पूजा-भेदको जानकर शिवलिंगका पूजन करना चाहिये। विधिज्ञ पुरुषोंको शिवालयमें सदा शास्त्रीय विधिका पालन करना चाहिये। शिवलिंग और नन्दिकेश्वरके बीचमें होकर अथवा अर्घान्तरकी परिक्रमा नहीं करनी चाहिये। यदि कोई करता है तो पापका भागी होता है। इस इन्द्रने राजस्वभावका आश्रय लेकर वैसी ही प्रदक्षिणा (जिसका कि निषेध किया गया है) की है। इसीलिये इसका किया हुआ सब कुछ निष्फल हो गया और यही कारण है कि आज वृत्रासुरने इन्द्रको अपना ग्रास बना लिया। देवताओ! अब तुम्हीं लोग महारुद्र-विधानके अनुसार शिवलिंगपूजन करो, जिससे इन्द्र शीघ्र ही छुटकारा पा सकें।'

आकाशवाणीके कथनानुसार देवताओंने प्रतिदिन भगवान् शंकरका पूजन और दशांश हवन आरम्भ किया। तब देवराज इन्द्र भगवान् शिवके प्रसादसे सहसा वृत्रासुरका पेट फाड़कर बाहर निकल आये। हाथी, वज्र, किरीट और कुण्डलसहित परम शोभासम्पन्न महातेजस्वी इन्द्रको देखकर सब देवता, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष तथा ऋषि-मुनि बड़े प्रसन्न हुए। देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं। अनेक शंखोंकी ध्वनि होने लगी। इन्द्रके संकटमुक्त होते ही समस्त देवलोक-निवासियोंमें एक ही साथ महान् हर्षोल्लास छा गया। इन्द्र जहाँ संकटमुक्त हुए थे, वहाँ शची देवी भी आ पहुँचीं। महर्षियोंने शचीके साथ इन्द्रका अभिषेक किया तथा सबने यत्नपूर्वक उनके लिये पुण्याहवाचन किया। विप्रवरो! इस प्रकार जब महर्षियोंने इन्द्रका अभिषेक किया, तब इस पृथ्वीपर अधिकाधिक मंगल-उत्सव होने लगे। इन्द्रके वज्रसे विदीर्ण किया हुआ वृत्रासुरका अत्यन्त अद्भुत शरीर वहीं गिरकर मेरुगिरिके शिखरकी भाँति सुशोभित होने लगा। उसी भूमिमें ब्रह्महत्या है, जहाँ वृत्रासुरका भयानक शरीर गिरा था। गंगा और यमुनाके बीचमें जो भूमि है, जिसे अन्तर्वेदी कहते हैं, वह पुण्य-भूमि बतायी गयी है। वह लोकपावन भूमि सर्वत्र प्रसिद्ध है। वृत्रासुरके वधसे उत्पन्न होनेवाली ब्रह्महत्या जिस देशमें प्रविष्ट हुई, वह पापी बताया गया है। उस मल-भूमिमें ही वृत्रासुरका महान् मस्तक पड़ा था जिसे इन्द्र आदि देवताओंने छः महीनोंमें काटा है। इस प्रकार वृत्रासुरका वध करके इन्द्रने विजय प्राप्त की और वे शचीनाथ निर्भय होकर इन्द्रासनपर विराजमान हुए।

## बलिके द्वारा देवताओंकी पराजय, अदितिके व्रत-तपस्यासे सन्तुष्ट हो भगवान्‌का वामनरूपमें अवतार, बलिके पूर्वजन्मका प्रसंग तथा बलिपर वामनजीकी कृपा

**लोमशजी कहते हैं**—इसी बीचमें दैत्योंने पाताल-निवासी राजा बलिके पास आकर इन्द्रकी सारी चेष्टाएँ कह सुनायीं। उनकी यह बात सुनकर उदार बुद्धिवाले विरोचनपुत्र बलिने शुक्राचार्यसे पूछा—'भगवन्! इन्द्र किस प्रकार हमारे अधीन हो सकते हैं।' शुक्राचार्यने उत्तर दिया—'दैत्यराज! तुम विश्वजित्

नामक यज्ञ करो। यज्ञके बिना कार्य सिद्ध नहीं होगा।' 'ऐसा ही करूँगा' यों कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य करनेके पश्चात् दैत्यराज बलिने यज्ञ करनेका विचार किया। बलिका हृदय बड़ा उदार था। उन्होंने यज्ञके लिये जो-जो पदार्थ आवश्यक थे, उन सबका प्रयत्नपूर्वक संग्रह किया। महामना शुक्रने वह महायज्ञ आरम्भ कराया। यज्ञकी दीक्षा लेकर राजा बलिने अग्निदेवको हविष्यसे तृप्त किया। विधिपूर्वक यज्ञ-कर्मद्वारा जब अग्निदेवको आहुति दी जा रही थी उसी समय अग्निमेंसे बड़ा ही अद्भुत रथ प्रकट हुआ। उसमें चार घोड़े जुते हुए थे। अनेक ध्वज फहरा रहे थे। वह महान् कान्तिमान् रथ भाँति-भाँतिके शस्त्रोंसे संयुक्त और अनेकानेक अस्त्रोंसे अलङ्कृत था। रथ प्रकट होनेके पश्चात् शुक्राचार्यकी आज्ञा लेकर बलिने 'अवभृथ-स्नान' किया। फिर उस रथकी पूजा करके राजा बलि उसपर आरूढ़ हुए और दैत्योंकी सेना साथ लेकर इन्द्रसे युद्ध करनेके लिये तत्काल ही स्वर्गलोकमें जा पहुँचे। देवपुरीको दैत्योंद्वारा घिरी हुई देख वे श्रेष्ठ देवता बहुत देरतक परस्पर विचार करके बृहस्पतिजीसे बोले—'महाभाग! अब हम क्या करें। दैत्योंके प्रधान-प्रधान वीर युद्धकी इच्छासे यहाँ आ पहुँचे हैं।'

उनकी बात सुनकर बृहस्पतिजीने कहा—'देवताओ! ये दैत्यलोग अभी-अभी यज्ञ समाप्त करके शुक्राचार्यकी आज्ञा लेकर यहाँ आये हैं। ये सभी इस समय तपस्या और पराक्रमके द्वारा अजेय हैं।' गुरुका यह वचन सुनकर सम्पूर्ण देवता लज्जित हो गये। इन्द्रकी भी बुद्धि काम नहीं दे रही थी। वे गुरुकी फटकार पाकर लज्जायुक्त और चिन्तामग्न हो गये। सब देवता भयसे व्याकुल हो कश्यपजीके पवित्र आश्रमपर गये। वहाँ उन सबने माता अदितिसे दैत्योंकी सारी चेष्टाएँ कह सुनायीं। वह अप्रिय समाचार सुनकर पुत्रवत्सला अदितिने कश्यपजीसे कहा—'महर्षे! देवताओंपर बड़ी भारी विपत्ति आयी है; मेरी बात सुनें और सुनकर उसके लिये कोई उपाय करें। प्रजापते! देवता अमरावती छोड़कर आपके आश्रममें आये हैं। आप उनकी रक्षा करें।' अदितिकी बात सुनकर कश्यपने कहा—'भामिनि! इस समय असुरोंका क्षय बड़ी भारी तपस्याके द्वारा ही हो सकता है। देवताओंकी कार्य-सिद्धि बहुत शीघ्र नहीं हो सकती। महाभागे! मैं तुम्हारे मनोरथकी सिद्धिके लिये यह व्रत बतला रहा हूँ। शुभे! इसे प्रयत्नपूर्वक शास्त्रोक्त विधिके अनुसार करो। देवि! भाद्रपदमासमें दशमी तिथिको मनुष्य संयम-नियमके साथ पवित्रतापूर्वक रहकर भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये एकभुक्तव्रत करे (एक ही बार भोजन करे)। सुन्दरि! भगवद्भक्तोंको चाहिये कि वे सम्पूर्ण मनोवांछित वरोंके ईश्वर साक्षात् श्रीहरिकी प्रार्थना करें। प्रार्थनाका मन्त्र इस प्रकार है—

**तव भक्तोऽस्म्यहं नाथ दशम्यादि दिनत्रयम्।**
**व्रतं चराम्यहं विष्णो अनुज्ञां दातुमर्हसि॥**

'हे नाथ! मैं आपका भक्त हूँ और दशमीसे लेकर तीन दिनतक व्रत करना चाहता हूँ। विष्णो! इसके लिये आप आज्ञा दें।'

'इसी मन्त्रसे जगदीश्वर श्रीहरिकी प्रार्थना करनी चाहिये। एक ही बार भोजन करे। वह एक बारका भोजन भी केलेके पत्तेमें ही ग्रहण करना चाहिये। उस भोजनमें नमक वर्जित है। व्रती पुरुष एकादशी तिथिको यत्नपूर्वक उपवास करे और रात्रिकालमें विशेष चेष्टा करके जागता रहे। फिर द्वादशी तिथिमें विधिपूर्वक भलीभाँति उत्तम ब्राह्मणोंको भोजन कराकर कुटुम्बी-जनोंके साथ पारण करे। इस प्रकार बारह महीनोंतक प्रतिमास आलस्य छोड़कर इस व्रतका अनुष्ठान करे। वर्षके अन्तमें पुनः भाद्रपदमास आनेपर एकादशीको अपनी शक्तिके अनुसार सोने या चाँदीकी विष्णु प्रतिमा बनाकर उसे कलशपर स्थापित करे। उसीमें यत्नपूर्वक भगवान् विष्णुकी पूजा करके व्रती पुरुष सब दोषोंकी शान्तिके लिये श्रवण-नक्षत्रयुक्त पापनाशिनी द्वादशी तिथिको उपवास करे। महाभागे! इस प्रकार तुम इस कल्याणमय व्रतका अनुष्ठान करो।'

पतिव्रता अदितिने देवताओंकी कार्यसिद्धिके लिये पूर्ण एकाग्रताके साथ कश्यपजीके बताये हुए उस व्रतका पालन किया। एक वर्षतक इस प्रकार व्रत करनेसे भगवान् श्रीहरि सन्तुष्ट हो गये। ब्राह्मणो! उस समय श्रवण-नक्षत्रयुक्त द्वादशी तिथिको भगवान्‌का 'वामन' रूपमें प्रादुर्भाव हुआ। वे ब्रह्मचारी बालकका रूप धारण करके परम शोभायमान दिखायी देते थे। उनके दो भुजाएँ थीं, कमलके समान खिले हुए सुन्दर नेत्र थे। उनके श्रीअंगोंकी कान्ति अलसीके फूलकी भाँति श्याम थी। वे वनमालासे अलंकृत थे। अदिति देवी पूजाके मध्यमें ही भगवान्‌का इस रूपमें दर्शन पाकर आश्चर्यचकित हो उठीं। उस समय उन्होंने कश्यपजीके साथ भगवान्‌का इस प्रकार स्तवन किया—'जो कारणके भी परम कारण हैं उन विश्वात्मा, विश्वस्रष्टा तथा अजन्मा श्रीहरिको नमस्कार है, नमस्कार है। अनन्तरूप श्रीहरिको नमस्कार है, नमस्कार है। जिनका परम धाम अनन्त है तथा जो साक्षात् परमात्मरूप हैं, उन भगवान्‌को नमस्कार है। हे सच्चिदानन्दमय परमात्मदेव! आप पर, अपर तथा ज्ञानवान् सबके आत्मा हैं। आपको नमस्कार है। परावरात्मन्! (कार्य-कारणरूप) आपका स्वरूप सबसे श्रेष्ठ है, आपका बोध कभी कुण्ठित नहीं होता। आपको बारंबार नमस्कार है।'*

इस प्रकार अदितिद्वारा स्तुति की जानेपर देवताओंके पालक भगवान् विष्णु देवमाता अदितिसे बोले—'देवि! मैं तुम्हारी उत्कृष्ट तपस्यासे सन्तुष्ट होकर इसी शरीरसे देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये प्रकट हुआ हूँ।' भगवान्‌का वचन सुनकर अदितिने कहा—'भगवन्! महाबली असुरोंने देवताओंको परास्त कर दिया है। जनार्दन! अब सभी देवता आपकी शरणमें आये हैं, आप उन शरणागतोंकी रक्षा करें।' संतोंके आश्रय तथा वैकुण्ठधामके स्वामी एकमात्र श्रीहरिने अदितिकी बात सुनकर तथा देवताओं और राजा बलिकी सारी चेष्टाएँ जानकर मन-ही-मन विचार किया कि आज मुझे कौन-सा कार्य करना चाहिये, जिससे देवताओंको विजय प्राप्त हो और प्रधान-प्रधान दैत्योंको भी हार खानी पड़े।

उधर बलि आदि असुरोंको यह मालूम नहीं था कि देवता नाना प्रकारके रूप धारण करके स्वर्गसे निकलकर कश्यपजीके आश्रमपर चले गये हैं। उस समय दैत्योंने अमरावतीपुरीकी चहारदीवारीपर चढ़कर देवराज इन्द्रको शीघ्र मार डालनेकी इच्छासे ज्यों ही उसके भीतर प्रवेश किया, त्यों ही उन्हें वह सारी नगरी सूनी दिखायी दी। तब शुक्राचार्यने महाभिषेककी विधिसे असुरोंद्वारा घिरे हुए राजा बलिको इन्द्रके सिंहासनपर अभिषिक्त कर दिया। इस प्रकार स्वर्गलोकके राज्यपर प्रतिष्ठित हुए विरोचनकुमार बलि वहाँकी उत्तम विभूतिके द्वारा महेन्द्रसे भी अधिक शोभायमान हुए। ऋषि, अप्सरा, गन्धर्व, किन्नर, नाग तथा असुरसमुदाय इन्द्रकी ही भाँति उनकी सेवा करने लगे। सम्पूर्ण

---

* प्रादुर्बभूव द्वादश्यां श्रवणेन तदा द्विजः। वटुरूपधरः श्रीमान् द्विभुजः कमलेक्षणः॥
अतसीपुष्पसङ्काशो वनमालाविभूषितः। तं दृष्ट्वा विस्मयाविष्टा पूजामध्येऽदितिस्तदा॥
कश्यपेन समायुक्ता सास्तौषीत् कमलेक्षणा।

अदितिरुवाच

नमो नमः कारणकारणाय विश्वात्मने विश्वसृजेऽभवाय।
अनन्तरूपाय नमो नमस्ते त्वनन्तधाम्ने परमात्मरूपिणे॥
परापराणां परमात्मदैवतं चिन्मात्रकं ज्ञानवतां स्वरूपिणे।
वरेण्यरूपाय परावरात्मन्नकुण्ठबोधाय नमो नमस्ते॥

(स्क० पु०, मा० के० १८। २४—२८)

प्राणियोंमें दानकी दृष्टिसे राजा बलि ही सबसे बढ़कर दाता हैं। याचक जिन-जिन कामनाओंको प्राप्त करनेकी इच्छा करते, दानवराज बलि सम्पूर्ण याचकोंको वही-वही वस्तु प्रदान करते थे।

**शौनकजीने पूछा**—महाभाग सूतजी! देवराज इन्द्र तो स्वर्गमें रहकर कभी दान नहीं देते हैं। राजा बलि कैसे दाता हुए? यह सब यथार्थरूपसे बतलाइये।

**लोमशजी बोले**—ब्राह्मणो! इन्द्र पहले जन्ममें याज्ञिक रहे हैं। उन्होंने सौ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करके अमरावतीपुरीका राज्य प्राप्त किया है। अब वे केवल भोग-लोलुप रह गये हैं। अभीष्ट फल पानेके पश्चात् इन्द्रमें कृपणता आ गयी है। आज जो इन्द्र है वह कभी कीड़ा हो सकता है तथा पहलेका कीट इन्द्रके रूपमें उत्पन्न हो जाता है। इस विषयमें दानसे बढ़कर दूसरा कोई ऐसा साधन नहीं है। (निष्काम) दानसे ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञानसे मोक्ष। इसमें संशय नहीं है।

अब विरोचनपुत्र बलिने पूर्वजन्ममें जो कुछ किया था उसे सुनो—प्राचीन कालमें देवताओं और ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेवाला एक महापापी जुआरी था। वह सदा परायी स्त्रियोंमें आसक्त रहता था। एक दिन उसने कपटपूर्ण जूएके द्वारा बहुत धन जीता। फिर अपने हाथोंसे स्वस्तिक (पानका तिकोना बीड़ा) बनाकर तथा गन्ध और माला आदि सामग्री जुटाकर एक वेश्याको भेंट देनेके लिये वह उसके घरकी ओर दौड़ा। रास्तेमें उसके पैर लड़खड़ा गये और उसी समय वह पृथ्वीपर गिर पड़ा। गिरनेपर क्षणभरके लिये उसे मूर्च्छा आ गयी; जब मूर्च्छा दूर हुई तब पूर्वजन्मके किसी पुण्यके प्रभावसे उसके मनमें सद्बुद्धि उत्पन्न हुई। जुआरी दुःखी होकर खेद एवं वैराग्यको प्राप्त हुआ। मूर्ख और जुआरी होनेपर भी उसने पृथ्वीपर पड़ी हुई गन्ध, पुष्प आदि श्रेष्ठ सामग्रीको भगवान् शिवकी सेवामें समर्पित कर दिया। जीवनमें केवल यही एक पुण्य उसके द्वारा सम्पन्न हुआ था। मृत्युके बाद जब यमराजके दूत उसे यमलोक ले गये, तब उस पापीसे सबको भय देनेवाले यमराजने कहा—'ओ मूर्ख! तू अपने पापके कारण बड़े-बड़े नरकोंमें यातना भोगनेके योग्य है।' उसने कहा—'यमराज! यदि मेरा कोई पुण्य भी हो तो उसका भलीभाँति विचार कर लीजिये।' तब चित्रगुप्तने कहा—'तुमने देहान्त होनेके समय पृथ्वीपर पड़े हुए कुछ गन्ध और पुष्प आदिको भगवान् शिवके उद्देश्यसे दान किया है, परमात्मा शिवको वह सामग्री समर्पित की है; उस सत्कर्मके फलसे तुम्हें तीन घड़ीके लिये इन्द्रका प्रसिद्ध पद प्राप्त होगा। चित्रगुप्तकी बात सुनकर जुआरीने कहा—'मैं सबसे पहले अपना शुभ कर्म भोगूँगा।' उसके ऐसा कहनेपर उदारबुद्धिवाले बृहस्पतिजी सम्पूर्ण देवताओंके साथ तत्काल वहाँ आ पहुँचे और उस जुआरीको ऐरावत हाथीपर चढ़ाकर इन्द्रभवनमें ले गये। वहाँ पवित्रात्मा बृहस्पतिने इन्द्रको समझाया—'पुरन्दर! तुम मेरी आज्ञासे इस जुआरीको तीन घड़ीके लिये अपने सिंहासनपर बिठाओ।' गुरुकी बात मानकर इन्द्र उदासीनभावसे राज्य छोड़कर अन्यत्र चले गये। तदनन्तर जुआरीको देवराजके भवनमें पहुँचाया गया।

तब जुआरीने वहाँ दान करना आरम्भ किया। महादेवजीके उस प्रिय भक्तने 'ऐरावत' हाथी अगस्त्यको दे दिया। उसकी बुद्धि बड़ी उदार थी। उसने 'उच्चैःश्रवा' नामक घोड़ा विश्वामित्रको दे दिया। उसका महान् यश फैला हुआ था। उसने 'कामधेनु' गाय महर्षि वसिष्ठको दे दी और 'चिन्तामणि' नामक रत्न गालव मुनिको समर्पित कर दिया। उस महातेजस्वी दाताने 'कल्पवृक्ष' उठाकर कौण्डिन्य मुनिको दे दिया। जुआरी होकर भी वह बड़ा भाग्यशाली था, उसने भगवान् शंकरकी प्रसन्नताके लिये वैसे-वैसे अनेक प्रकारके रत्न ऋषि-मुनियोंको सहर्ष दान कर दिये। जबतक तीन घड़ी पूरी नहीं हुई तबतक वह दान देता ही रहा। तीन घड़ीके बाद फिर

वह स्वर्गसे चला गया। इन्द्र अमरावतीके सिंहासनपर

बैठकर बृहस्पतिजीसे इस प्रकार बोले—'गुरुदेव! ऐरावत हाथी नहीं दिखायी देता, यही दशा उच्चैःश्रवा नामक घोड़ेकी भी है। पारिजात आदि सभी पदार्थ किसीने चुरा लिये हैं।' तब बृहस्पतिजी बोले—'जुआरीने यहाँ आकर महान् कर्म किया है, जबतक उसकी सत्ता रही है उसके भीतर ही उसने आज ऐरावत आदि सभी वस्तुएँ ऋषियोंको दान कर दी है। बड़ी भारी सत्ता हस्तगत होनेपर जो स्वाधीन होते हैं और प्रमादमें न पड़कर सदा भगवान् शिवके ध्यानमें तत्पर रहते हैं, वे ही भगवान् शंकरके प्रिय भक्त हैं। वे कर्मफलोंका परित्याग कर केवल ज्ञानका आश्रय ले परमपदको प्राप्त होते हैं।'

बृहस्पतिजीका यह वचन सुनकर इन्द्रने पूछा—'आचार्य! अब हमारा क्या कर्तव्य है, यह शीघ्र बतलानेकी कृपा करें।' बृहस्पतिजीने कहा—'इन्द्र! अपनी समृद्धिके लिये ये सारी बातें प्रायः यमराजसे कहनी चाहिये।' 'ठीक है' ऐसा कहकर देवराज इन्द्र गुरु बृहस्पतिके साथ सहसा वहाँसे चल पड़े। अपना कार्य सिद्ध करनेकी इच्छासे जब इन्द्र संयमनीपुरीमें पहुँचे तब यमराजने उनका बड़ा सत्कार किया। उस समय इन्द्रने कहा—'धर्मराज! तुमने मेरा पद एक दुरात्मा जुआरीको दे दिया, किंतु उसने वहाँ पहुँचकर बहुत बुरा काम किया। तुम सच मानो उसने मेरे सभी रत्न इन ऋषियोंको दान कर दिये हैं। तुम सब कुछ जानते हो, फिर भी एक जुआरीको मेरा स्थान कैसे दे दिया?'

तब धर्मराजने इन्द्रसे इस प्रकार कहा—'तुम बड़े-बड़े देवेश्वरोंके राजा हो। बूढ़े हो गये, किंतु अभीतक तुम्हारी राज्यविषयक आसक्ति दूर नहीं हुई। केवल सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करके एक ही जन्मके उपार्जित पुण्यका फल यहाँ तुमने प्राप्त किया। परंतु जुआरीने तुम्हारी अपेक्षा महान् पुण्यका उपार्जन किया है। अब धन देकर या चरणोंमें मस्तक झुकाकर विशेषतः अगस्त्य आदि सभी मुनियोंकी प्रार्थना करके तुम्हें अपने ऐरावत आदि रत्न प्राप्त करने चाहिये।' 'बहुत अच्छा' कहकर इन्द्र अपनी अमरावतीपुरीको चले गये। वहाँ जाकर सम्पत्तिशालियोंमें सबसे श्रेष्ठ इन्द्रने बहुत धन देकर ऋषियोंसे अपनी वस्तुएँ लौटायीं। इस प्रकार अपने रत्न पाकर महातेजस्वी इन्द्र शचीदेवीके साथ अपनी पुरीमें गये। यमराजने जुआरीको पुनः जन्म दिया। वह अपने किसी कर्मविपाकसे विरोचनका पुत्र हुआ। उस समय उसकी माताका नाम सुरुचि था। सुरुचि विरोचनकी रानी थी। उसके पिताका नाम वृषपर्वा था। वह उदार मनवाला जुआरी जब सुरुचिके गर्भमें आकर स्थित हुआ, तबसे प्रह्लादकुमार विरोचन तथा सुरुचिका मन धर्म और दानमें अधिक लगने लगा। उसीने गर्भमें आकर माता-पिताकी मति बहुत ही उत्तम कर दी थी। वैसी बुद्धि बड़े-बड़े मनीषियोंके लिये भी दुर्लभ है। विरोचनका पुत्र जब गर्भमें था, उसी समय इन्द्र दैत्यराज विरोचनको मारनेकी इच्छासे भिक्षुक ब्राह्मणका रूप धारणकर उसके घर गये और इस प्रकार बोले—'राजन्! मुझे अपनी रुचिके अनुसार कुछ दान मिलना चाहिये।' याचककी बात सुनकर विरोचनने हँसते हुए कहा—'विप्रवर! यदि आपकी इच्छा हो तो मैं इस समय अपना

मस्तक भी दे सकता हूँ। इसके सिवा यह अपना अकण्टक राज्य भी आपको समर्पित कर दूँगा।'

विरोचनके ऐसा कहनेपर इन्द्रने सोच-विचारकर कहा—'महाभाग! मुझे अपना मुकुटमण्डित मस्तक उतारकर दे दीजिये।' ब्राह्मणरूपधारी इन्द्रके ऐसा कहनेपर प्रह्लादपुत्र विरोचनने बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने ही हाथसे अपना मस्तक काटकर शीघ्रतापूर्वक इन्द्रको दे दिया। आर्त प्राणियोंको अपनी शक्तिके अनुसार जो कुछ दिया जाता है,

वह दान महान् पुण्यका हेतु होता है; उसका फल अक्षय बताया जाता है। तीनों लोकोंमें दानसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है।* विरोचनका वह दान दैत्य, नरेन्द्र तथा नाग—इन तीनोंके लोकोंमें प्रसिद्ध हो गया। पूर्वजन्मका वह जुआरी ही विरोचनका महातेजस्वी पुत्र हुआ। पिताके मरनेपर जब उसका जन्म हो गया तब उसकी पतिव्रता माताने अपना शरीर त्याग दिया और वह तत्काल पतिलोकको चली गयी। शुक्राचार्यने उसी पुत्रको पिताके सिंहासनपर अभिषिक्त किया। वही महायशस्वी कुमार लोकमें बलिके नामसे विख्यात हुआ।

हम यह बात पहले ही बता आये हैं कि राजा बलिसे त्रस्त होकर सम्पूर्ण महाबली देवता कश्यपजीके शुभाश्रमपर चले गये थे। देवपुरीमें महायशस्वी बलि जब इन्द्रके पदपर प्रतिष्ठित हुए तब वे अपनी तपस्यासे स्वयं ही सूर्य बनकर तपने लगे, स्वयं ही इन्द्र, अग्नि और वायुका काम करने लगे। महात्मा बलिने धर्मराजके न रहनेपर भी धर्मलोकका संचालन किया। वे स्वयं ही ईशान होकर ईशानकोणमें विराजमान हुए। वे ही नैर्ऋत्यकोण और पश्चिममें क्रमशः निर्ऋति तथा वरुण हुए। राजा बलि ही उत्तर दिशामें धनाध्यक्ष कुबेर बनकर रहने लगे। इस प्रकार वे अकेले ही तीनों लोकोंका पालन करते थे। पूर्वजन्ममें जुआरीके रूपमें रहकर उन्होंने भगवान् शंकरका पूजन किया था। उस पूर्वाभ्यासके ही कारण बलि इस जन्ममें भी शिव-पूजापरायण थे और बड़े-बड़े दान किया करते थे। एक दिन श्रीमान् राजा बलि अपने गुरु शुक्राचार्यके साथ दैत्येन्द्रोंसे घिरे हुए अपनी सभामें बैठे थे। उस समय उन्होंने दैत्योंको सम्बोधित करके कहा—'सम्पूर्ण असुर पाताल छोड़कर यहीं मेरे समीप निवास करें। इस कार्यमें विलम्ब नहीं होना चाहिये।' यह सुनकर शुक्राचार्य हँस पड़े और बलिको समझाते हुए इस प्रकार बोले—'सुव्रत! यदि तुम यहीं आकर निवास करना चाहते हो तो सौ अश्वमेध यज्ञोंद्वारा अग्निदेवकी आराधना करो। वह भी यहाँ नहीं, कर्मभूमि भारतवर्षमें उपस्थित होकर करो। इस कार्यमें तुम्हें विलम्ब नहीं करना चाहिये।' 'अच्छा, ऐसा ही करूँगा' यों कहकर मनस्वी महात्मा बलि तत्काल स्वर्गलोकको छोड़कर दैत्यों तथा शुक्राचार्यजीके साथ भूलोकमें चले आये।

* तद्दानं च महापुण्यमार्तेभ्यो यत्प्रदीयते।
स्वशक्त्या यच्च किञ्चिच्च तदानन्त्याय कथ्यते। दानात् परतरं नान्यत् त्रिषु लोकेषु विद्यते॥
(स्क० पु०, मा० के० १८। ४१-४२)

उन्होंने सेवकोंको भी साथ ही ले लिया था। नर्मदा नदीके तटपर भृगुकच्छ नामसे प्रसिद्ध जो महान् तीर्थ है, वहाँ पहुँचकर दैत्यराजने सम्पूर्ण पृथ्वीको जीतकर अपने अधिकारमें किया। तत्पश्चात् गुरुकी आज्ञा ले अनेक अश्वमेध यज्ञोंद्वारा उन्होंने बड़ी भक्तिके साथ भगवान्‌का आराधन किया। विरोचनपुत्र बलि सत्यवादियोंमें सबसे श्रेष्ठ थे। उन्होंने ब्रह्मा और आचार्यका वरण करके सोलह ऋत्विजोंका भी वरण किया। फिर महात्मा शुक्रने भलीभाँति परीक्षा लेकर बलिको यज्ञकी दीक्षा दी और उनके द्वारा निन्यानबे यज्ञोंका अनुष्ठान करवाया। तत्पश्चात् बलिने अन्तिम अश्वमेध यज्ञ पूर्ण करनेका विचार किया। जबतक उनके सौ यज्ञ पूरे हों, उसके पहले मैं पूर्वोक्त प्रसंग बतला देना चाहता हूँ। पहले कहा जा चुका है कि अदिति देवीने उत्तम व्रतका अनुष्ठान किया और उस व्रतसे सन्तुष्ट होकर भगवान् श्रीहरि वामन ब्रह्मचारीके रूपमें उनके पुत्र होकर प्रकट हुए। परमेष्ठी ब्रह्माने आकर उन्हें यज्ञोपवीत दिया। महात्मा चन्द्रमाने दण्डकाष्ठ प्रदान किया। परम अद्भुत मृगचर्म और मेखला मँगायी गयी। पृथ्वी देवीने उन्हें चरणपादुका भेंट की। इसी तरह और लोगोंने भी वटुरूपधारी भगवान् विष्णुको अन्य आवश्यक वस्तुएँ अर्पित कीं।

तदनन्तर कश्यप और अदितिको प्रणाम करके महातेजस्वी वामनजी यजमान बलिकी यज्ञशालामें गये। उस समय सुरेश्वरगण उन वेदान्तवेद्य श्रीविष्णुकी महिमाका गान कर रहे थे। अनेक प्रकारके रूप और वेष धारण करनेवाले भगवान्‌ने उस यज्ञमें पहुँचकर सामवेदकी ऋचाओंका विधिपूर्वक गान किया। सामगानके अनन्तर वे इस प्रकार बोले—'राजन्! दैत्यराज हिरण्यकशिपुके पुत्र प्रह्लादजी हुए जो बड़े तेजस्वी, जितेन्द्रिय तथा विष्णुभक्त हैं; जिन्होंने दैत्यराजकी सभामें अतिशय तेजस्वी भगवान् नृसिंहको प्रकट किया था। महाभाग! उन्हीं प्रह्लादजीके पुत्र तुम्हारे पिताजी थे, जो संसारमें विरोचनके नामसे विख्यात हुए थे। उन महात्माने स्वयं ही अपना मस्तक दान करके इन्द्रको सन्तुष्ट किया था। राजन्! तुम उन्हीं महात्मा विरोचनके पुत्र हो। तुमने बड़े उत्तम यशका विस्तार किया है। तुम्हारे यशरूपी महान् दीपककी ज्योतिमें सम्पूर्ण देवता पतंगोंके समान दग्ध हो गये हैं। तुमने इन्द्रको भी जीत लिया है, इसमें संशय नहीं है। सुव्रत! मैं तुम्हारे सब चरित सुन चुका हूँ। तुम बड़े मनस्वी हो तथा तीनों लोकोंमें अधिक-से-अधिक दान करनेवाले दाताके रूपमें तुम्हारी ख्याति है। तथापि मेरे लिये तुम्हें तीन पग पृथ्वी देनी चाहिये।' तब विरोचनकुमार बलिने हँसकर कहा—'महाभाग! मैं पर्वत, बड़े-बड़े जंगल तथा सम्पूर्ण द्वीपोंसहित समूची पृथ्वी तुम्हें दूँगा, तुम मेरी दी हुई इस भूमिको ग्रहण करो।' वामनजीने कहा—'दैत्यराज! स्वयं चलते समय मेरे तीन पगोंसे जितनी पृथ्वी मापी जाय, उतनी ही मुझे दीजिये।' ब्रह्मचारीकी बात सुनकर बलिने हँसते हुए कहा—'बहुत अच्छा, लीजिये।' यों कहकर बलिने कश्यपकुमार वामनजीका भलीभाँति पूजन किया। उस समय बड़े-बड़े ऋषि तथा मुनीश्वर महातेजस्वी बलिके सौभाग्यकी सराहना कर रहे थे। वामनजीका पूजन करके राजा बलि ज्यों ही उन्हें दान देनेको उद्यत हुए त्यों ही शुक्राचार्यने उन्हें रोक दिया और कहा—'दैत्यराज! ब्रह्मचारीके रूपमें ये साक्षात् विष्णु हैं। इन्हें तुम दान न देना। ये तो इन्द्रका कार्य सिद्ध करनेके लिये आये हैं और तुरंत तुम्हारे यज्ञमें विघ्न डाल रहे हैं। अतः अध्यात्मतत्त्वका प्रकाश करनेवाले ये विष्णु तुम्हारे द्वारा इस समय पूजा पानेके योग्य नहीं हैं। इन्होंने ही पहले मोहिनीरूप धारण किया था। उस समय देवताओंको तो अमृत पिलाया और राहुको मार डाला। इन्होंने ही दैत्योंका संहार किया है और महाबली कालनेमि भी इन्हींके हाथों मारा गया है। ये ही ईश्वर हैं और ये ही सम्पूर्ण विश्वके पालक हैं। महामते!

अब तुम अपने मनसे हित और अहित सबका विचार करके कोई काम करो।'

गुरु शुक्राचार्यके इस प्रकार समझानेपर राजा बलिने हँसकर मेघगर्जनाके समान गम्भीर वाणीमें कहा—'गुरुदेव! जिन वाक्योंद्वारा आपने मुझे विचलित किया है, वे सब मेरे हितकी दृष्टिसे ही कहे गये हैं। तथापि विचारदृष्टिसे देखनेपर आपके हितकारक वचन भी मेरे लिये अहितकारक ही होंगे। ब्रह्मचारीका रूप धारण करके आये हुए इन भगवान् विष्णुको मैं इनकी माँगी हुई वस्तु अवश्य दूँगा। ये विष्णु सम्पूर्ण कर्मों और उनके फलोंके भी स्वामी हैं। इसलिये दानके सबसे उत्तम पात्र हैं। जिनके हृदयमें ये सदा विराजमान रहते हैं वे मनुष्य भी सर्वोत्तम पात्र माने जाते हैं, यह बात ध्रुव सत्य है। जिनके नामसे यहाँ सब कुछ पवित्र कहा जाता है; जिनके चिन्तनसे ये वेद, यज्ञ, मन्त्र तथा तन्त्र आदि सभी पूर्णताको प्राप्त होते हैं, वे ही ये समस्त विश्वके स्वामी सर्वात्मा श्रीहरि आज कृपा करके मेरा उद्धार करनेके लिये ही यहाँ पधारे हैं। इस बातको आप यथार्थ मानें। इसमें संशय नहीं है।'[1]

राजा बलिकी यह बात सुनकर शुक्राचार्य कुपित हो उठे। उन्होंने धर्मवत्सल दैत्यराजको रोषपूर्वक शाप देना आरम्भ किया। वे बोले—'ओ मूर्ख! तू मेरी आज्ञाका उल्लंघन करके दान करना चाहता है, इसलिये राज्यलक्ष्मीसे वंचित हो जा।' अथाह बोधवाले अपने महात्मा शिष्यको इस प्रकार शाप देकर शुक्राचार्यने अपने आश्रमको चले जानेका निश्चय किया। जब वे चले गये तब विरोचनकुमार बलि वामनजीकी पूजा करके उन्हें भूमिदान करनेको उद्यत हुए। दैत्यराजकी पतिव्रता पत्नी महारानी विन्ध्यावलि वहाँ आकर पतिदेवके अर्धांगरूपमें सुशोभित हुई। राजा बलि विधि-विधानके ज्ञाता थे। उन्होंने विधिपूर्वक ब्रह्मचारीके चरण पखारकर संकल्पके साथ भगवान् विष्णुको पृथ्वी दान की। उस महान् संकल्पको स्वीकार करते ही अजन्मा भगवान् विष्णु बढ़ने लगे। वे ही सम्पूर्ण जगत्के प्रभु तथा उत्पत्तिस्थान हैं। उन्होंने एक ही पैरसे सारी पृथ्वी माप ली। दूसरे पगसे ऊपरके सभी लोक व्याप्त कर लिये। उनका वह द्वितीय पग सत्यलोकमें जाकर ठहरा था। परमेष्ठी ब्रह्माने अपने कमण्डलुके जलसे भगवान्के उस चरणको पखारा। भगवान्के चरण पखारनेसे जो चरणोदक तैयार हुआ, उसीसे सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाली तथा सबके लिये परम मंगलमयी श्रीगंगाजी प्रकट हुईं, जिन्होंने अपने पावन जलसे तीनों लोकोंको पवित्र किया, सगरके सभी पुत्रोंका उद्धार किया तथा जिनके जलसे महाराज भगीरथने उस समय भगवान् शंकरका जटाजूट भर दिया था।[2] भगवान् विष्णुकी चरणधूलिसे युक्त 'गंगा' नामक तीर्थ सब तीर्थोंमें प्रधान है। इसे ब्रह्माजीने प्रकट किया और राजा भगीरथने भूतलपर उतारा है। सम्पूर्ण चराचर जगत्को भगवान्ने दो ही पगोंसे

---

१. दास्यामि भिक्षितं त्वस्मै विष्णवे बटुरूपिणे। पात्रीभूतो ह्ययं विष्णुः सर्वकर्मफलेश्वरः॥
येषां हृदि स्थितो नित्यं ते वै पात्रतमा ध्रुवम्। यस्य नाम्ना सर्वमिह पवित्रमिदमुच्यते॥
येन वेदाश्च यज्ञाश्च मन्त्रतन्त्रादयो ह्यमी। सर्वे सम्पूर्णतां यान्ति सोऽयं विश्वेश्वरो हरिः॥
आगतः कृपया मेऽद्य सर्वात्मा हरिरीश्वरः। उद्धर्तुं मां न सन्देह एतज्जानीहि तत्त्वतः॥
(स्क० पु०, मा० के० १८। २—६)

२. सत्यलोकस्थितेनैव ब्रह्मणा परमेष्ठिना। कमण्डलुगतेनैवाम्भसा चावनिनेज ह॥
तत्पादसम्पर्कजलाच्च जाता भागीरथी सर्वसुमङ्गला च।
यया त्रिलोकी च कृता पवित्रा यया च सर्वे सगराः समुद्धृताः॥
यया कपर्दः परिपूरितो वै शम्भोस्तदानीं च भगीरथेन।
(स्क० पु०, मा० के० १९। १४—१६)

माप लिया। फिर उस विराट् स्वरूपको छोड़कर देवाधिदेव भगवान् जनार्दन पुनः वामन ब्रह्मचारीके रूपमें अपने आसनपर विराजमान हुए। उस समय देवता, गन्धर्व, मुनि, सिद्ध और चारण यज्ञपति भगवान् विष्णुका दर्शन करनेके लिये बलिके यज्ञमें आये। ब्रह्माजीने वहाँ आकर परमात्मा श्रीहरिका स्तवन किया। गन्धर्वपतियोंने गीत गाये तथा अप्सराओं, विद्याधरियों और किन्नरोंने विशेष समारोहके साथ नृत्य किया। महात्मा बलिके यज्ञ-मण्डपमें प्रह्लादजी भी पधारे। अन्यान्य दैत्यपति भी बड़ी उतावलीके साथ वहाँ आ पहुँचे। उस समय भगवान् वामनने बलिकी पत्नी विन्ध्यावलिसे हँसकर पूछा—'देवि! तुम्हारे पतिके द्वारा आज मुझे तीन पग पृथ्वी मिलनी चाहिये। उसकी पूर्ति इस समय कहाँसे होगी, इसका उत्तर शीघ्र दो।' विन्ध्यावलि बड़ी साध्वी थी। उसे इस घटनासे तनिक भी विस्मय नहीं हुआ। वह भगवान् त्रिविक्रमसे इस प्रकार बोली—'देव! आप समस्त लोकोंके एकमात्र स्वामी हैं। आपने अपना भारी डग बढ़ाकर यह त्रिलोकी माप ली है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् आपसे व्याप्त है। संसारके एकमात्र बन्धु आप ही हैं। आपके स्वरूपकी तुलना कहीं नहीं है। भला हम-जैसे लोग आपको क्या दे सकते हैं? इसलिये इस समय मैं जो निवेदन करती हूँ, उसीके अनुसार कार्य कीजिये। मेरे स्वामीने इस समय आपको तीन पग भूमि देनेकी प्रतिज्ञा की थी। उसके अनुसार मेरे पूज्य पतिदेव तीनों पगोंके लिये स्थान इस प्रकार दे रहे हैं—प्रभो! देवेश्वर! आप अपना पहला पग मेरे मस्तकपर रखिये। जगत्पते! दूसरा पग मेरे इस बालकके मस्तकपर स्थापित कीजिये तथा जगन्नाथ! अपना तीसरा पग मेरे पतिके मस्तकपर रख दीजिये। केशव! इस प्रकार ये तीन पग मैं आपको दूँगी।'

विन्ध्यावलिकी यह बात सुनकर भगवान् विष्णु बड़े प्रसन्न हुए और राजा बलिसे मधुर वाणीमें बोले—'तात! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। बोलो—मैं तुम्हारा कौन-सा कार्य करूँ। महामते! सम्पूर्ण दाताओंमें तुम सबसे श्रेष्ठ हो, तुम्हारा कल्याण हो, तुम इच्छानुसार वर माँगो। मैं तुम्हारी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण किये देता हूँ।' भगवान् वामनने ऐसा कहकर विरोचनकुमार बलिको बन्धनसे मुक्त कर दिया और उन्हें छातीसे लगा लिया। तब बातचीत करनेमें चतुर राजा बलि इस प्रकार बोले—'प्रभो! आपने ही इस सम्पूर्ण चराचर जगत्को उत्पन्न किया है। अतः आपके चरणारविन्दोंके सिवा दूसरी कोई वस्तु मैं नहीं चाहता। देव! जनार्दन! आपके चरण-कमलोंमें मेरी भक्ति सदा बनी रहे। देवेश्वर! वह सनातन भक्ति बार-बार निरन्तर बढ़ती रहे।'

बलिके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भूतभावन भगवान् वामनने अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा—'राजन्! तुम अपने भाई-बन्धु और सम्बन्धियोंके साथ सुतललोकमें चले जाओ।' यह सुनकर दैत्यराज बलि बोले—'देवदेव! आप ही बताइये, सुतललोकमें मेरा क्या काम है? मैं तो आपके पास ही रहूँगा, इसके विपरीत कुछ भी कहना उचित नहीं है।' तब भगवान् हृषीकेश राजा बलिके प्रति अत्यन्त कृपालु होकर बोले—'राजन्! मैं सदा तुम्हारे समीप रहूँगा। असुरश्रेष्ठ! तुम खेद न करो, मेरी बात

सुनो। मैं सुतललोकमें तुम्हारा द्वारपाल होकर रहूँगा, मेरे इस वचनको तुम वरदान समझो। आज मैं तुम्हारे लिये वरदायक होकर उपस्थित हूँ। अपने वैकुण्ठवासी पार्षदोंके साथ तुम्हारे घरमें निवास करूँगा।' अतुल तेजस्वी भगवान् विष्णुका यह वचन सुनकर दैत्यराज बलि असुरोंके साथ सुतललोकमें चले गये। वहाँ बाणासुर आदि सौ पुत्रोंके साथ वे सुखपूर्वक निवास करने लगे। महाबाहु बलि दाताओंके भी परम आश्रय हैं। तीनों लोकोंके याचक राजा बलिके पास जाते हैं और उनके द्वारपर विराजमान भगवान् विष्णु स्वयं उन्हें मुँहमाँगी वस्तुएँ देते हैं। कोई भोगकी कामना लेकर जाय या मोक्षकी, जिनकी जैसी रुचि होती है, उसीके अनुसार, उनको वह वस्तु वे समर्पित करते हैं।

भगवान् शंकरकी कृपासे ही राजा बलि ऐसे महत्त्वशाली हुए हैं। पूर्वकालमें जुआरीके रूपमें उन्होंने परमात्मा शिवके उद्देश्यसे जो दान किया था उसीका यह फल है। अपवित्र भूमिमें पहुँचकर गिरी हुई गन्ध, पुष्प आदि सामग्रीको भी परमात्मा शिवकी सेवामें समर्पित करके जब बलिने इतनी उन्नति की, तब जो लोग श्रद्धा और भक्तिसे महादेवजीकी सेवामें गन्ध, पुष्प और जल अर्पण करते हैं उनके लिये तो कहना ही क्या है? वे साक्षात् भगवान् शिवके समीप जाते हैं। ब्राह्मणो! भगवान् शिवसे बढ़कर दूसरा कोई पूजनीय देवता नहीं है। जो गूँगे हैं, अन्धे हैं, पंगु और जड़ हैं तथा जाति-बहिष्कृत, चाण्डाल, श्वपच और अन्त्यज हैं; वे भी यदि सदा भगवान् शिवके भजनमें तत्पर रहें तो परम गतिको प्राप्त होते हैं। अतः सम्पूर्ण मनीषी पुरुषोंके लिये भी भगवान् शिव ही सदा पूजनीय हैं। पूजनीय ही नहीं, विद्वानोंके द्वारा वे सदा चिन्तनीय और वन्दनीय भी हैं। परमार्थ-तत्त्वके ज्ञाता पुरुष अपने हृदयमें विराजमान भगवान् महेश्वरका निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं।

## तारकासुरको ब्रह्माजीका वरदान, हिमालयके घर सतीका पार्वतीरूपमें अवतार, शंकरजीके रोषसे कामदेवका भस्म होना तथा पार्वतीकी उग्र तपस्या

**ऋषियोंने पूछा**—महाभाग सूतजी! दक्षकुमारी सती जब अपने पिता दक्षके यज्ञमें अग्निप्रवेश करके अन्तर्धान हो गयीं तब पुनः कब और कहाँ प्रकट हुईं? वे पुनः किस प्रकार उन्हें मिलीं?

**सूतजी बोले**—ब्राह्मणो! दक्षकुमारी सतीदेवी जब अपने पिताके यज्ञमें अन्तर्धान हो गयीं, तब अपनी शक्तिसे बिछुड़े हुए भगवान् महेश्वर उत्तम तपस्यामें संलग्न हो गये। वे लीला-देह धारणकर भृंगी और नन्दीके साथ हिमालयपर्वतपर रहने लगे। इसी समय नमुचिके पुत्र तारकासुरने बड़ी भारी तपस्या करके ब्रह्माजीको सन्तुष्ट किया। ब्रह्माजी उसपर प्रसन्न हुए और उस दुरात्माको इच्छानुसार वर देनेके लिये उद्यत हो बोले—'तुम कोई वर माँगो।' ब्रह्माजीकी यह बात सुनकर तारकासुर बोला—'प्रभो! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मुझे अजर, अमर और अजेय बना दीजिये।'

**ब्रह्माजीने कहा**—तू अमर कैसे हो सकता है? जो इस संसारमें जन्म ले चुका है, उसकी मृत्यु अटल है।

**तारकासुर बोला**—तब मुझे 'अजेय' बना दीजिये।

**ब्रह्माजीने कहा**—दैत्यराज! तू 'अजेय' होगा, इसमें संशय नहीं है। परंतु एक बालकको छोड़कर अन्य सबसे ही तेरी अजेयता रहेगी।

इस प्रकार वरदान पाकर तारकासुर बड़ा बलवान् हो गया। उस समय देवतालोग राजा मुचुकुन्दका

सहारा लेकर तारकासुरके साथ युद्ध करते और विजयी होते थे। मुचुकुन्दके ही बलसे देवताओंने विजय प्राप्त की। तब उन्होंने सोचा—'इन दिनों हमें निरन्तर युद्धमें रहना पड़ता है, ऐसे समयमें हमारा क्या कर्तव्य है? अथवा भवितव्यता ही ऐसी है।' ऐसा विचार कर वे ब्रह्माजीके लोकमें गये और उनके सामने खड़े होकर स्तुति करने लगे। स्तुतिके पश्चात् वे बोले—'महाभाग ! प्रभो! आप दैत्यपतियोंसे हमारी रक्षा करें।' उसी समय आकाशवाणी हुई—'देवताओ! तुम जितनी जल्दी हो सके मेरी आज्ञाका यथावत् पालन करो। भगवान् शिवके जब कोई महाबली पुत्र उत्पन्न होगा तब वही पुनः युद्धमें तारकासुरका वध करेगा, इसमें संशय नहीं है। सबकी हृदयगुफामें निवास करने-वाले भगवान् शंकर जिस किसी उपायसे पत्नीका पाणिग्रहण करें, वह तुम्हें करना चाहिये। इसके लिये महान् प्रयत्न करो। मेरा यह वचन अन्यथा न होने पावे।'

यह आकाशवाणी सुनकर देवताओंको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे सब बृहस्पतिजीको आगे करके हिमालयपर्वतपर आये और इस प्रकार कहने लगे—'महाभाग हिमालय! तुम समस्त पर्वतोंके स्वामी हो, यक्ष और गन्धर्व तुम्हारा सेवन करते हैं, हम तुमसे कुछ निवेदन करेंगे, हम सब देवताओंकी बात तुम्हें माननी चाहिये।'

**लोमशजी कहते हैं**—देवताओंके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर पर्वतश्रेष्ठ हिमवान् हँसकर बोले—'एक तो मैं अचल हूँ, चल-फिर नहीं सकता, दूसरे मेरी पाँखें कट गयी हैं, अतः उड़ नहीं सकता। ऐसी दशामें मैं आपलोगोंके किस काम आ सकता हूँ। देवताओ! यदि तारकासुरके संहारमें मेरी सहायता आवश्यक है तो मैं पूछता हूँ, किस उपायसे आपलोग तारकासुरका वध करना चाहते हैं, वह शीघ्र बतलावें; क्योंकि वह कार्य तो मेरा ही है।' तब देवताओंने आकाशवाणीद्वारा कही हुई सब बातें कह सुनायीं। सुनकर हिमवान्ने कहा—'जब शिवजीके बुद्धिमान् पुत्रद्वारा ही तारकासुरका वध होनेवाला है, तब देवताओंके सब कार्य शुभ हों और आकाशवाणीकी कही हुई यह बात सच निकले। इसके लिये आपलोगोंको विशेष यत्न करना चाहिये।'

**देवता बोले**—गिरिराज! आप देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके उद्देश्यसे भगवान् शंकरके विवाहके लिये स्वयं ही एक कन्या उत्पन्न करें।

**तब हिमवान्ने अपनी पत्नीसे कहा**—सुमुखि! तुम्हें एक श्रेष्ठ कन्या उत्पन्न करनी चाहिये। यह सुनकर मेनाने हँसते हुए कहा—'महामते! मैंने आपकी बात सुन ली; परंतु कन्या स्त्रियोंको शोकमें डालनेवाली होती है, अतः इस विषयमें दीर्घकालतक विचार करके आपको अपनी बुद्धिसे जो हितकर प्रतीत हो, वह बतावें।' अपनी प्रियतमा मेनाकी यह बात सुनकर परम बुद्धिमान् हिमवान्ने परोपकारयुक्त वचन कहा—'देवि! जिस प्रकारसे दूसरोंके जीवनकी रक्षा हो, परोपकारी पुरुषोंको वही करना चाहिये।' इस प्रकार पतिकी प्रेरणा पाकर सौभाग्यवती रानी मेनाने बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने गर्भमें कन्याको धारण किया। कुछ कालके अनन्तर मेनाके गर्भसे एक कन्या उत्पन्न हुई, जो 'गिरिजा' नामसे प्रसिद्ध हुई। सबको सुख देनेवाली उस देवीके प्रकट होनेपर देवताओंके नगाड़े बज उठे। अप्सराएँ नृत्य करने लगीं। गन्धर्वराज गाने तथा सिद्ध-चारण स्तुति करने लगे। उस समय देवताओंने फूलोंकी बड़ी भारी वर्षा की। सम्पूर्ण त्रिलोकीमें प्रसन्नता छा गयी। महासती गिरिजाका जब जन्म हुआ, उस समय दैत्योंके मनमें भय समा गया और देवता, महर्षि, चारण तथा सिद्धगण बड़े आनन्दको प्राप्त हुए।

सती-साध्वी गिरिजा हिमालयके घरमें दिनोंदिन बढ़ने लगी। वह कल्याणी कन्या जब आठ वर्षकी हो गयी, उस समय महादेवजी हिमालयकी कन्दरामें बड़ी भारी तपस्या कर रहे थे। भगवान्के वीरभद्र आदि सभी पार्षद उन्हें सब ओरसे घेरे रहते थे।

एक दिन परम बुद्धिमान् हिमवान् अपनी कन्या पार्वतीको साथ लेकर तपस्यामें लगे हुए महादेवजीके पास उनके चरणोंका दर्शन करनेके लिये गये। हिमवान्ने देखा—सबके स्वामी भगवान् शिव तपस्यामें लगे हुए हैं। उनके नेत्र बंद हैं, मस्तकपर जटा-जूट शोभा पा रहा है, जिसे चन्द्रमाकी कला विभूषित किये हुए है। वे वेदान्तवेद्य परमात्मा शिव एक श्रेष्ठ आसनपर विराजमान हैं। दर्शन करके हिमवान्ने भगवान्के चरणोंमें मस्तक झुकाया और मन-ही-मन बड़ी प्रसन्नताका अनुभव किया। हिमाचल बड़े धैर्यवान् एवं उत्कृष्ट प्राणियोंके आश्रय हैं। वाणीका रहस्य समझनेवाले विद्वानोंमें उनका स्थान बहुत ऊँचा है। उन्होंने सम्पूर्ण विश्वका एकमात्र मंगल करनेवाले भगवान् शिवसे इस प्रकार वार्तालाप किया—'महादेव! मैं आपके प्रसादसे बड़ा सौभाग्यशाली हूँ। देवेश्वर! आप मुझे इस कन्याके साथ प्रतिदिन अपने दर्शनके लिये आनेकी आज्ञा दें।' यह सुनकर देवाधिदेव महेश्वरने कहा—'पर्वतराज! इस कुमारी कन्याको घरमें छोड़कर ही आप प्रतिदिन मेरे दर्शनके लिये आ सकते हैं, अन्यथा मेरा दर्शन नहीं होगा।' तब हिमाचलने मस्तक झुकाकर पुनः महादेवजीसे कहा—'भगवन्! क्या कारण है कि मुझे इस कन्याके साथ यहाँ नहीं आना चाहिये?' भगवान् शंकरने हँसते हुए उत्तर दिया—'यह कुमारी सुन्दर कटि-भागसे सुशोभित पतले अंगोंवाली तथा मृदु वचन बोलनेवाली है। अतः मैं तुम्हें बार-बार मना करता हूँ कि इस कन्याको मेरे समीप न ले आना।' भगवान् शंकरका यह निष्ठुर वचन सुनकर गौरांगी पार्वती, तपस्वी शिवसे इस प्रकार बोलीं—'शम्भो! आप तपःशक्तिसे सम्पन्न हैं और बड़ी भारी तपस्यामें लगे हुए हैं। आप-जैसे महात्माके मनमें जो यह विचार उत्पन्न हुआ है, वह केवल इसलिये कि यह तपस्या निर्विघ्न चलती रहे। परंतु मैं आपसे पूछती हूँ—आप कौन हैं और यह सूक्ष्म प्रकृति क्या है? भगवन्! आप इस विषयपर भलीभाँति विचार करें।'

**महादेवजी बोले**—सुन्दरी! मैं उत्तम तपस्याके द्वारा ही प्रकृति (माया)-का नाश करता हूँ। प्रकृतिसे विलग रहकर अपने यथार्थ स्वरूपमें स्थित होता हूँ। इसलिये सिद्धपुरुषोंको प्रकृतिका संग्रह कदापि नहीं करना चाहिये।

**श्रीपार्वतीजीने कहा**—शंकर! आपने जिस उत्तम वाणीके द्वारा जो कुछ भी कहा है, क्या वह प्रकृति नहीं है? फिर आप प्रकृतिसे अतीत कैसे हैं? मेरी यह बात सुनकर आपको तत्त्वका यथार्थ निर्णय करना चाहिये। यह सम्पूर्ण जगत् सदा प्रकृतिसे बँधा हुआ है। प्रभो! हमें वाणीद्वारा विवाद करनेसे क्या प्रयोजन? शंकर! आप जो सुनते हैं, खाते हैं और देखते हैं, वह सब प्रकृतिका ही कार्य है। प्रकृतिसे परे होकर आप इस हिमालय पर्वतपर इस समय तपस्या किसलिये करते हैं? प्रकृतिसे आप मिले हुए हैं, क्या इस बातको नहीं जानते? यदि आप प्रकृतिसे परे हैं और आपकी यह बात सत्य है, तो आपको अब मुझसे भय नहीं मानना चाहिये।

**महादेवजी बोले**—साधुभाषिणी पार्वती! तुम प्रतिदिन मेरी सेवा करो।

अब वे प्रतिदिन पार्वतीके साथ उनका दर्शन करने लगे। इस प्रकार भगवान् शिवकी उपासना करते हुए पुत्री और पिताका कुछ समय व्यतीत हो गया। तब पार्वतीजीके लिये देवताओंके मनमें बड़ी चिन्ता हुई। वे सोचने लगे—'भगवान् महेश्वर गिरिजाका पाणिग्रहण कैसे करेंगे?' तब उन्होंने कामदेवका आवाहन किया। आवाहन करते ही इन्द्रका कार्य सिद्ध करनेवाला कामदेव अपनी पत्नी रति और सखा वसंतके साथ आया और देवसभामें देवराजके सम्मुख उपस्थित हो गर्वयुक्त वचन बोलने लगा—'शचीपते! शीघ्र आज्ञा दीजिये, आज मैं आपका कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ। मेरा स्मरणमात्र करनेसे कितने ही तपस्वी अपनी मर्यादासे भ्रष्ट हो

चुके हैं। इन्द्र! मेरे बल और पराक्रमको आप अच्छी तरह जानते हैं। शक्तिनन्दन पराशरको भी मेरे पराक्रमका ज्ञान है; इसी प्रकार ये भृगु आदि बहुत-से अन्य ऋषि-मुनि भी मेरी शक्ति जानते हैं। महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न क्रोध ही मेरा भाई है। हम दोनोंने सम्पूर्ण चराचर जगत्को परास्त किया है। सबको हमने मोहमहासागरमें डुबो दिया है।'

कामदेवके गर्वीले वचन सुनकर इन्द्रने उसकी पीठ ठोंकते हुए कहा—'वीरवर! पूर्वकालमें तुमने जो-जो कार्य किये हैं, उनका किसी प्रकार वर्णन नहीं हो सकता। हम सब देवता तुमसे परास्त हो चुके हैं। मदन! तुम सदैव हमको जीतनेमें समर्थ हो। इस समय देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये तुम भगवान् शंकरपर चढ़ाई करो। महामते! ऐसी चेष्टा करो जिससे भगवान् शिव पार्वतीके साथ विवाह कर लें।'

देवताओंके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर सम्पूर्ण विश्वका मन मोह लेनेवाला मदन अप्सराओंको साथ लेकर बड़ी उतावलीके साथ चला। हिमालयपर पहुँचकर योद्धाओंमें श्रेष्ठ कामदेव रति और वसन्तके साथ सब ओर सुशोभित दिखायी देने लगा। उसके मनमें पिनाकपाणि भगवान् शंकरपर विजय पानेकी अभिलाषा जाग उठी थी। रम्भा, उर्वशी, पुंजिकस्थला, सुकेशी, मिश्रकेशी, सुन्दरी तिलोत्तमा तथा इसी श्रेणीकी अन्यान्य अप्सराएँ वहाँ कामदेवके कार्यमें सहायता देनेके लिये आयीं। वहाँका आकाश असमयमें ही कोकिलाओंसे आच्छादित हो गया। अशोक, चम्पा, आम, जूही, कदम्ब, नीप, चिरौंजी, कटहल, अमलतास, चमेली, अंगूरकी लताएँ तथा अनेक प्रकारके नागकेसर वृक्ष हरे-भरे एवं फले-फूले दिखायी देने लगे। इसी समय धनुर्धर कामदेवने देवदारु वृक्षकी छायामें बैठकर अपने धनुषपर पाँच बाण चढ़ाये और भगवान् शंकरकी ओर दृष्टिपात किया। वे उत्तम आसनपर विराजमान हो तपस्यामें संलग्न थे। उनके जटा-जूटमें गंगाजी विराजमान थीं। चन्द्रमाकी कला उनके मस्तककी शोभा बढ़ा रही थी। उनके श्रीअंगोंकी कान्ति कर्पूरके समान गौर थी। तपस्यामें तत्पर हो रुद्राक्षमाला और विभूतिसे भूषित होकर वे बड़ी शोभा पा रहे थे। वसन्तसहित कामदेवने जब महादेवजीको अपने बाणसे बींधनेकी इच्छा की, उसी समय परम मंगलमयी जगज्जननी गिरिजा अपनी सखियोंके साथ पूजन करनेके लिये भगवान् सदाशिवके समीप आयीं। वे चन्द्रमाकी किरणोंके समान मनोहर थीं। उन्होंने भगवान् नीलकण्ठके कण्ठमें धतूरके फूलोंकी माला पहना दी और सुन्दर वदनारविन्दसे सुशोभित त्रिनेत्रधारी भगवान् शिवकी शोभा निहारने लगीं। इसी बीचमें वसन्तकी सहायता पानेवाले कामदेवने संमोहन नामक बाणसे भगवान् महेश्वरको बींध डाला। बाणका आघात लगनेपर शंकरजीने धीरेसे नेत्र खोलकर श्रीपार्वतीजीकी ओर देखा, जो सम्पूर्ण मंगलोंको भी मंगलमय बनानेवाली एकमात्र देवी हैं। लोकपावनी गिरिराजनन्दिनीकी ओर दृष्टि डालते ही कामदेवने उन्हें व्याकुल कर दिया। वे पार्वतीके दर्शनमात्रसे मोहित हो गये। फिर सहसा अपनी स्थितिका ध्यान आते ही भगवान् शिवके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे। उन्होंने मन-ही-मन खेद प्रकट करते हुए कहा—'मैं स्वतन्त्र हूँ, निर्विकार हूँ, तो भी आज इस पार्वतीके दर्शनसे मोहित क्यों हो गया? कहाँसे, किससे और किसने मेरा यह अप्रिय कार्य किया है।' तदनन्तर शंकरजीने सब दिशाओंकी ओर दृष्टि दौड़ायी। उसी समय दक्षिण दिशामें कामदेव दिखलायी दिया, जो हाथमें धनुष लेकर भगवान् सदाशिवपर प्रहार करनेके लिये उद्यत था। उसने चढ़े हुए धनुषको खींचकर मण्डलाकार कर रखा था और पुनः बाण सन्धान करके मदनान्तक शिवको बींधना ही चाहता था। तबतक भगवान् महेश्वरकी रोषपूर्ण दृष्टि उसके ऊपर पड़ी। भगवान्ने तीसरा नेत्र खोलकर उसकी ओर देखा। देखते ही मदन आगकी उठती हुई लपटोंमें घिर गया। उसे भस्म होते देख देवताओंमें बड़ा हाहाकार मचा।

**देवता बोले**—देवदेव! महादेव! आप देवताओंको वर दीजिये। हमने ही गिरिराजनन्दिनी पार्वतीकी सहायताके लिये कामदेवको यहाँ भेजा था, उसका कोई अपराध नहीं था। आपने महातेजस्वी कामको व्यर्थ ही दग्ध किया है। विश्वके एकमात्र बन्धु भगवान् शिव! आपको अपने उत्कृष्ट तेजसे इस समय देवताओंका कार्य सिद्ध करना चाहिये। शम्भो! आपके द्वारा इस पार्वतीके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होगा उसीसे हमारा सब कार्य सिद्ध होगा। महादेव! तारकासुरने हम सब देवताओंको बहुत सताया है। उसके भयसे हमारी रक्षा करनेके लिये इस कामदेवको जीवन-दान दें। आप पार्वतीजीका पाणिग्रहण करें। महाभाग! देवताओंका कार्य सिद्ध करनेमें आप अपनी शक्ति लगावें। गजासुरसे आपहीने हम सब देवताओंका उद्धार किया है। कालकूट विषसे भी आपहीने हमारी रक्षा की है। भगवन्! यह कामदेव देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये आया था। यह हमारे उपकारमें संलग्न रहा है। अतः आपको इसकी रक्षा करनी चाहिये।

**तब भगवान् महेश्वरने देवताओंसे रुष्ट होकर कहा**—'देवगण! तुम सबको कामनारहित होना चाहिये। इन्द्रादि देवता जब-जब कामदेवको आगे रखकर चले हैं तब-तब अपनी मर्यादासे भ्रष्ट हुए हैं, दुःखमें पड़े हैं और दीनताके भागी हुए हैं। अतः मैंने सबकी शान्तिके लिये कामदेवको जलाया है। तुम सब देवता, असुर, महर्षि तथा दूसरे प्राणी भी अब निर्भय होकर तपस्यामें मन लगाओ। आज सम्पूर्ण जगत्को मैंने काम और क्रोधसे शून्य कर दिया है। देवताओ! यह पापी काम दुःखकी जड़ है। अतः आज मैं इसे जीवन-दान नहीं दूँगा। तुम अवसरकी प्रतीक्षा करो।' भगवान् शिवके ऐसा कहनेपर सब महर्षियोंने उनसे कहा—'शम्भो! आपने जो कुछ कहा है, सब हमारे लिये परम कल्याणकारी है। किंतु देवेश्वर! हम भी कुछ निवेदन करना चाहते हैं, उसे ध्यानपूर्वक सुनें। जिस प्रकार इस संसारकी सृष्टि हुई है, उसके अनुसार (संकल्परूप) काम ही इसका अधिष्ठान है। कामके बिना यह सृष्टि कैसे होगी। यह विश्व काममय है; इससे ऊपर उठे हुए आप परमेश्वर ही निष्काम हैं।' इतना कहकर मुनि, सिद्ध और चारणोंने भगवान् सदाशिवकी स्तुति और वन्दना की। तदनन्तर वे वहाँसे शीघ्र ही अन्तर्धान हो गये। कामदेवको जलाकर महादेवजी अदृश्य हो गये। उस समय पार्वतीजी वहाँ रतिको रोती हुई देखकर बोलीं—'सखी! तुम शोक न करो, मैं कामदेवको जीवन दिलाऊँगी।' पार्वतीके इस प्रकार आश्वासन देनेपर पतिव्रता रतिने पतिको पुनः प्राप्त करनेके लिये बड़ी भारी तपस्या आरम्भ की।

तदनन्तर पार्वती भी वहीं रहकर तपस्यामें लग गयीं। उस समय माता-पिताने उन्हें रोकते हुए कहा—'बेटी! अभी तू बालिका है, शीघ्र घर चल। तू तपस्याका श्रम उठाने योग्य नहीं है।'

**पार्वती बोलीं**—माता और पिताजी! मैं घर नहीं चलूँगी। आप मेरी प्रतिज्ञा सुनें। मैं उत्तम तपस्याके द्वारा भगवान् शंकरको पुनः यहीं बुलाकर उनका वरण करूँगी।

यों कहकर मनस्विनी पार्वती एकाग्रचित्त हो, बड़ी उग्र तपस्याके द्वारा भगवान् शिवका आराधन करने लगीं। उस समय जया, विजया, माधवी, सुलोचना, सुश्रुता, श्रुता, शुकी, प्रम्लोचा, सुभगा, श्यामा, चित्रांगी, वारुणी और सुधा—ये तथा और भी बहुत-सी सखियाँ गिरिराजनन्दिनीकी सेवामें रहने लगीं। परमात्मा रुद्रने कामदेवको जहाँ दग्ध किया था, वहीं एक वेदी बनाकर पार्वतीजी उसपर विराजमान हुईं। वे अन्न और फल त्यागकर केवल हरे पत्ते खाकर रहने लगीं। तत्पश्चात् हरे पत्ते भी छोड़ दिये और सूखे पत्तोंपर निर्वाह करने लगीं। आगे चलकर जब उन्होंने सूखे पत्ते भी त्याग दिये तब वे 'अपर्णा' नामसे विख्यात हुईं। सूखे पत्ते छोड़नेपर वे कुछ कालतक केवल जलपर रहीं। फिर उसे भी

छोड़कर वायु पीकर रहने लगीं। इस प्रकार सती-साध्वी गिरिजा दीर्घकालतक तपस्यामें लगी रहीं। भगवान् शंकरकी प्रसन्नताके लिये मनमें उत्तम निष्ठा रखकर पार्वती उग्र तपस्याद्वारा आराधन करती रहीं। पार्वतीके उस महान् तपसे सम्पूर्ण चराचर जगत् सन्तप्त होने लगा, तब देवता और असुर सब मिलकर ब्रह्माजीकी शरणमें गये।

**देवता बोले**—भगवन्! आपने ही इस सम्पूर्ण चराचर जगत्की सृष्टि की है। हम देवताओंकी रक्षा करनेयोग्य आप ही हैं।

देवताओंकी यह बात सुनकर ब्रह्माजीने मन-ही-मन चिन्तन किया। चिन्तनसे उन्हें ज्ञात हुआ कि पार्वतीकी तपस्यासे बड़ी अद्भुत दावाग्नि प्रकट हुई है। यह जानकर ब्रह्माजी बड़ी शीघ्रतासे परम अद्भुत क्षीरसागरके तटपर गये। वहाँ जाकर उन्होंने अतिशोभायमान शेषशय्यापर सोये हुए भगवान् विष्णुका दर्शन किया। लक्ष्मी देवी उनके दोनों चरणारविन्दोंकी निरन्तर सेवा कर रही थीं। गरुड़जी कुछ दूरपर मस्तक झुकाये हाथ जोड़े प्रभुकी सेवामें खड़े थे। श्री, कान्ति, तुष्टि, वृत्ति और दया आदि देवियाँ भी भगवान्की सेवामें संलग्न थीं। नौ शक्तियोंसे सम्पन्न भगवान् विष्णु अपने पार्षदोंसे घिरे हुए थे। कुमुद, कुमुद्वान्, सनक, सनन्दन, महाभाग सनातन, प्रसुप्त, विजय, अरिजित्, जयन्त, जयत्सेन, परम कान्तिमान् जय, सनत्कुमार, उत्तम तपस्वी नारद, तुम्बुरु, महाशंख पांचजन्य, कौमोदकी गदा, सुदर्शन चक्र तथा परम अद्भुत शार्ङ्गनामक धनुष—ये सब वहाँ ब्रह्माजीको मूर्तिमान् दिखायी दिये।* सब देवताओंने परमात्मा भगवान् विष्णुके समीप जाकर उनसे प्रार्थनापूर्वक कहा—'महाविष्णो! हम पार्वतीजीकी अत्यन्त उग्र तपस्यासे जले जा रहे हैं और सन्तप्त होकर आपकी शरणमें आये हैं; आप हमारी रक्षा करें, रक्षा करें।'

तब शेषनागकी शय्यापर बैठे हुए परमेश्वर श्रीहरि इस प्रकार बोले—'देवताओ! आज तुम लोगोंको साथ लेकर परमेश्वर महादेवजीके पास चलता हूँ। हम सब लोग मिलकर उनसे प्रार्थना करें कि वे पार्वतीजीके साथ विवाह करनेको उद्यत हों। भगवान् शिव पुराणपुरुष हैं, सबके अधीश्वर हैं, वे सबके लिये वरेण्य (वरणीय अथवा सेव्य) हैं, उत्तम स्वरूपकी पराकाष्ठा हैं तथा वे ही परात्पर परमात्मा हैं। इस समय वे तपस्यामें लगे हैं, हम सब लोग उन्हींकी शरणमें चलें।'

---

* ज्ञात्वा ब्रह्मा जगामाशु क्षीराब्धिं परमाद्भुतम्। तत्र सुप्तं सुपर्यङ्के शेषाख्ये चातिशोभने॥
लक्ष्म्या पादोपयुगलं सेव्यमानं निरन्तरम्। दूरस्थेनापि तार्क्ष्येण नतकन्धरधारिणा॥
सेव्यमानं श्रिया कान्त्या तुष्ट्या वृत्त्या दयादिभिः। नवशक्तियुतं विष्णुं पार्षदैः परिवारितम्॥
कुमुदोऽथ कुमुद्वांश्च सनकश्च सनन्दनः। सनातनो महाभागः प्रसुप्तो विजयोऽरिजित्॥
जयन्तश्च जयत्सेनो जयश्चैव महाप्रभः। सनत्कुमारः सुतपा नारदश्चैव तुम्बुरुः॥
पाञ्चजन्यो महाशङ्खो गदा कौमोदकी तथा। सुदर्शनं तथा चक्रं शार्ङ्गं च परमाद्भुतम्॥
एतानि वै रूपवन्ति दृष्टानि परमेष्ठिना।
(स्कं० पु०, मा० के० २१। ७९—८५ )

# देवताओंकी प्रार्थनासे भगवान् शिवका पार्वतीजीके पास जाना और उनके प्रेमकी परीक्षा ले उनकी तपस्याको सफल बनाना

**सूतजी कहते हैं**—भगवान् विष्णुके इस प्रकार कहनेपर सब देवता पिनाकधारी महादेवजीका दर्शन करनेके लिये गये। भगवान् शिव समुद्रके उस पार उत्तम समाधि लगाये योगासनपर विराजमान थे। उनके पार्षद उन्हें सब ओरसे घेरे हुए थे। वे सर्पराज वासुकिको छातीसे चिपकाये हुए यज्ञोपवीतकी भाँति धारण करते थे। कम्बल और अश्वतर—इन दोनों नागोंको उन्होंने दोनों कानोंका कुण्डल बना रखा था। कर्कोटक और कुलिकसे उत्तम कंकणका काम लेते हुए उन्हें अपने दोनों हाथोंमें धारण किया था। शंख और पद्म नामक नागका भुजबंद धारण करके वे बड़ी शोभा पा रहे थे। पहनने योग्य वस्त्रके स्थानपर उन्होंने बाघका चमड़ा लपेट रखा था। वे मस्तकपर भागीरथी गंगा तथा अर्धचन्द्रयुक्त जटाजूट धारण किये बड़े-बड़े ज्ञानी महात्माओंके साथ विराजमान थे। उनके श्रीअंगोंकी कान्ति कर्पूरके समान गौर थी और कण्ठमें नील चिह्न सुशोभित था। भगवान्‌के पास ही उनके वाहन नन्दिकेश्वर भी थे। ऐसी अद्भुत शोभासे युक्त सुरश्रेष्ठ शिवका समस्त देवताओंने दर्शन किया। उस समय ब्रह्मा, विष्णु, ऋषि, देवता और दानवोंने वेदों और उपनिषदोंके अनेक सूक्तोंद्वारा भगवान् शिवका स्तवन किया।

**श्रीब्रह्माजी बोले**—कामदेवका अन्त करनेवाले श्रीरुद्रदेवको नमस्कार है। जो प्रकाशस्वरूप होनेके कारण 'भर्ग' नाम धारण करते हैं, तीनों लोकोंमें जिनका सौभाग्य सबसे बढ़कर है, उन त्रिनेत्रधारी भगवान् महेश्वरको नमस्कार है। जो सम्पूर्ण जगत्‌के भरण-पोषण करनेवाले बन्धु हैं तथा यह सम्पूर्ण विश्व जिनका स्वरूप है, उन भगवान् त्र्यम्बकको नमस्कार है। भगवन्! आप समस्त लोकोंके धारण-पोषण करनेवाले पिता, माता और ईश्वर हैं; आप ही जगत्‌के स्वामी तथा रक्षक हैं, प्रभो! आप हमारा उद्धार करें।

तब उत्तम योगसे युक्त दयालु परमात्मा महेश्वर शम्भुने धीरे-धीरे समाधिसे विश्राम लिया और देवताओंसे इस प्रकार कहा—'परम भाग्यवान् ब्रह्मा आदि देवताओ! तुम लोग मेरे समीप क्यों आये हो? इस समय यहाँ आनेका कारण बतलाओ।'

उनके इस प्रकार पूछनेपर ब्रह्माजीने देवताओंके महत्त्वपूर्ण कार्यका परिचय देते हुए कहा—'भगवन्! तारकासुरने देवताओंको महान् कष्ट पहुँचाया है। वह देवताओंका घोर शत्रु है। अतः हमारी प्रार्थना है कि आप पार्वतीजीका पाणिग्रहण करें। गिरिराज हिमवान्‌द्वारा दी हुई गिरिजाको आप पाणिग्रहणकी विधिसे अंगीकार करें।' ब्रह्माजीकी बात सुनकर महादेवजीने हँसते हुए कहा—'जब मैं सर्वसुन्दरी गिरिजादेवीका वरण कर लूँगा, तब समस्त सुरेश्वर तथा ऋषि-मुनि भी सकामभावसे युक्त हो जायँगे और निष्कामभावसे पूर्ण परमार्थके पथपर चलनेमें असमर्थ होंगे। अतः मैंने सबके पारमार्थिक कार्यकी सिद्धिके लिये कामदेवको भस्म किया था। मेरे विचारसे तो कामदेवके दग्ध होनेसे ही देवताओंका महान् कार्य सिद्ध हुआ है। इस कामदहनरूपी कार्यसे तुम सब लोग निष्काम हो गये हो। अब जैसा मैं हूँ, वैसे ही तुम लोग भी हो गये। अतः हमलोग अब प्रयत्नपूर्वक अत्यन्त दुष्कर तथा परम उत्तम तपका अनुष्ठान करें और करावें। कामदेवके न रहनेसे तुम सब देवता समाधि लगाकर परमानन्दमें निमग्न हो सदा सुखी रहोगे। काम तो नरकमें ही ले जानेवाला है। उसीसे

क्रोधका जन्म होता है। क्रोधसे सम्मोह होता है और सम्मोहसे मनुष्य जल्दी ही भ्रममें पड़ जाता है। अतः सभी श्रेष्ठ देवता काम, क्रोधका परित्याग करके शास्त्रों और संतोंके सदुपदेशोंको मानें—उनके अनुसार जीवन बनावें।'

वृषभके चिह्नसे युक्त ध्वजा धारण करनेवाले भगवान् महादेवने इस प्रकार उत्तम बातें सुनाकर देवताओं तथा ऋषि-मुनियोंको भलीभाँति समझाया। तत्पश्चात् वे पुनः ध्यान लगाकर मौन हो गये। तब वे सब देवता अपने-अपने स्थानको चले गये। फिर शिवजीने बुद्धिके द्वारा मनको आत्मामें एकाग्र करके अपने स्वरूपका इस प्रकार चिन्तन किया—'जो परसे भी अत्यन्त परे, अपने-आपमें स्थित, मल आदि दोषोंसे रहित, विघ्न-बाधाओंसे शून्य, निरंजन (निर्लिप्त) तथा निराभास (मिथ्या ज्ञानसे रहित) है, जिसके विषयमें विवेकी विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं, जहाँ सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि अथवा नक्षत्र आदि दूसरी किसी ज्योतिका प्रकाश नहीं, जहाँ वायुकी भी गति कुण्ठित हो जाती है, जो विचारदृष्टिसे भी केवल (अद्वितीय) सद्वस्तु है, सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतर वस्तुओंसे भी परे है, जिसका कोई नाम या संकेत नहीं है, जो चिन्तनका विषय नहीं है, जिसमें विकारका सर्वथा अभाव है, जो रोग और शोकसे सर्वथा दूर है, विशुद्ध ज्ञान ही जिसका स्वरूप है, सर्वत्यागी संन्यासी जिसे प्राप्त होते हैं, जो शब्द या वाणीकी पहुँचसे परे है, निर्गुण और निर्विकार है, सत्तामात्र ही जिसका स्वरूप है, जो ज्ञानगम्य होकर भी वास्तवमें अगम्य है, वेदान्त और आगम भी मूक होकर ही ('नेति-नेति'की भाषामें) जिसका सर्वदा प्रतिपादन करते हैं, वही सबके ईश्वर पिनाकधारी भगवान् वृषध्वज परमार्थ वस्तु (परब्रह्म परमात्मा) हैं।* उन्होंने ही कामदेवका नाश किया है। वे साक्षात् परमेश्वर होकर भी 'तप' का सेवन करते हैं।'

**लोमशजी कहते हैं**—उधर पार्वती देवी बड़ी कठोर तपस्यामें लगी हुई थीं। उस तपस्यासे उन्होंने भगवान् शंकरको जीत लिया। देवीकी तपस्यासे हार मानकर भगवान् शिव समाधिसे विरत हो, तुरंत उस स्थानपर गये जहाँ पार्वतीजी विराजमान थीं। वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा—देवी गिरिजा सखियोंसे घिरी हुई 'वेदी' पर बैठी हैं और चन्द्रमाकी कलाके समान प्रकाशित हो रही हैं। महादेवजीने उन्हें देखकर तत्काल ब्रह्मचारीका वेष धारण कर लिया और उसी स्वरूपसे सखियोंकी मण्डलीमें उपस्थित होकर पूछा—'सखियो! यह सर्वांगसुन्दरी कन्या अपनी सहेलियोंके बीचमें क्यों बैठी है? यह कौन है? किसकी पुत्री है? कहाँसे आयी है और किस लिये तपस्या कर रही है?'

**तब जयाने उत्तर दिया**—ब्रह्मचारीजी! ये गिरिराज हिमवान्‌की कन्या हैं और तपस्याद्वारा परमेश्वर रुद्रको पतिरूपमें प्राप्त करना चाहती हैं।'

**जयाकी यह बात सुनकर वटुरूपधारी शिव ठठाकर हँस पड़े और इस प्रकार बोले**—'सखियो! यह पार्वती भोली-भाली है। इसे अपने हित

---

* आत्मानमात्मना कृत्वा आत्मन्येवमचिन्तयत्॥
परात्परतरं स्वस्थं निर्मलं निरवग्रहम्। निरञ्जनं निराभासं यन्मुह्यन्ति च सूरयः॥
भानुर्न भात्यग्निरथो शशी वा न ज्योतिरेवं न च मारुतो हि।
यत्केवलं वस्तु विचारतोऽपि सूक्ष्मात् परं सूक्ष्मतरात्परं च॥
अनिर्देश्यमचिन्त्यं च निर्विकारं निरामयम्। ज्ञप्तिमात्रस्वरूपं च न्यासिनो यान्ति यत्र वै॥
शब्दातीतं निर्गुणं निर्विकारं सत्तामात्रं ज्ञानगम्यं त्वगम्यम्।
यत्तद् वस्तु सर्वदा कथ्यते वै वेदातीतैश्चागमैर्मूकभूतैः॥
तद्वस्तुभूतो भगवान् स ईश्वरः पिनाकपाणिर्भगवान् वृषध्वजः॥
(स्क० पु०, मा० के० २२। ३२—३७)

और अहितका कुछ भी ज्ञान नहीं है। भला, रुद्रकी प्राप्तिके लिये तपस्या करनेकी क्या आवश्यकता है? अरी! रुद्र तो अमंगलरूप हैं। हाथमें कपाल धारण करते हैं। मरघटका निवास ही उन्हें अधिक प्रिय है। जिस दिन इसके वरण कर लेनेपर रुद्रका इसके साथ सम्बन्ध होगा उसी दिनसे यह शुभांगी पार्वती भी अशुभरूप हो जायगी। रुद्र वही हैं न, जिन्हें दक्षके शापसे ब्राह्मणोंने यज्ञबहिष्कृत कर दिया है। अत्यन्त भयानक विषवाले जो-जो सर्प थे वे ही उनके अंगोंके आभूषण बने हुए हैं। रुद्र अपने अंगोंमें चिताकी राख लगाते हैं, चमड़ेका वस्त्र पहनते हैं, अमांगलिक वस्तुएँ धारण करते हैं तथा निरन्तर भूत, प्रमथ और पिशाचोंसे घिरे रहते हैं। इस सुकुमारी कन्याको उस रुद्रसे क्या लेना है। सखियोंको चाहिये कि इसे ऐसा करनेसे रोकें। मनोहर रूपवाले देवराज इन्द्र, परम तेजस्वी धर्मराज, वरुण, कुबेर, वायु तथा अग्निको छोड़कर रुद्रके प्रति इसका अनुराग कैसे हुआ?'

परमेश्वर शिवने इस प्रकारकी बहुत-सी बातें वहाँ कहीं। पार्वती सखियोंके मध्यमें बैठकर तपस्यामें संलग्न थीं। उन्होंने वटुरूपधारी रुद्रकी बातें सुनकर उनके प्रति रोष प्रकट करते हुए कहा—'जया! साध्वी विजया! विश्वसुन्दरी प्रम्लोचा! और महाभागा सुलोचना! मैं तुमलोगोंसे कहती हूँ—मैंने जो कुछ किया है, ठीक किया है। परंतु तुम्हें इस ब्रह्मचारीसे क्या काम है जो इसकी कठोर बातें सुनती हो। ब्रह्मचारीका रूप धारण करके यह कोई महादेवजीका निन्दक आ गया है, ऐसा समझो। सखियो! ऐसे व्यक्तिसे अपना क्या प्रयोजन है? जो महात्माओंकी निन्दा करनेवाले, पापी, कृतघ्न, वेददूषक, वेदभ्रष्ट और मर्यादाहीन हैं, उन लोगोंके साथ बुद्धिमान् पुरुषोंको वार्तालाप नहीं करना चाहिये। श्रेष्ठ पुरुषोंकी निन्दा सुनकर जो तुरंत वहाँसे उठकर दूसरे स्थानपर नहीं चले जाते, वे प्रतिष्ठाहीन मानव पापके भागी होते हैं।'*

गिरिजाका वचन सुनकर विजया वटुरूपधारी रुद्रसे सहसा कुपित होकर बोली—'ब्रह्मचारी! जाओ, जाओ यहाँसे; अब तुम्हें यहाँ एक क्षण भी नहीं ठहरना चाहिये।' विजया बातचीत करनेमें बड़ी कुशल थी। उसने इस प्रकार फटकारकर विवाद करनेवाले वटुरूपधारी शिवको विदा कर दिया। वे तत्काल अन्तर्धान हो गये। सम्पूर्ण सखियोंमेंसे किसीने नहीं देखा कि वे कहाँ चले गये? तदनन्तर भगवान् महेश्वर पार्वतीजीके सामने अपना वास्तविक स्वरूप धारण करके फिर सहसा वहीं प्रकट हो गये। ध्यानमें लगी हुई पार्वतीदेवी जब अपने ध्यानगत स्वरूपको ढूँढ़ रही थीं, उसी समय उनके हृदयस्थित देवता बाहर दिखायी देने लगे। विशाल नेत्रोंवाली सुशीला गिरिजाने आँख खोलकर देखा तो सर्वलोकमहेश्वर देवदेवेश्वर शिव सामने दृष्टिगोचर हुए। उन कैलाशनिवासी शंकरके दो भुजाएँ, एक मुख और अद्भुत स्वरूप था। मस्तकपर जटाओंका जूड़ा बँधा हुआ था। उसमें चन्द्रमाकी कला शोभा पा रही थी। भगवान्‌ने हाथीका चमड़ा पहन रखा था। उनके कानोंमें कुण्डलके स्थानपर महाभाग कम्बल और अश्वतर—ये दो नाग विराज रहे थे। परम कान्तिमान् सर्पराज वासुकिको हार बना लिया गया था। उनके हाथोंमें बड़े-बड़े सर्पोंके ही कंगन पड़े थे जो बड़ी शोभा दे रहे थे। इस प्रकार रुद्रने सर्पोंके आभूषण बनाये थे। ऐसा स्वरूप धारणकर भगवान् शिव पार्वतीके सामने खड़े हुए और शीघ्रतापूर्वक बोले—'कल्याणी!

---

* ये निन्दकाश्च पापाश्च कृतघ्ना वेददूषकाः। वेदभ्रष्टा ह्यप्रतिष्ठा अवाच्यास्ते मनीषिभिः॥
आर्याणां निन्दनं श्रुत्वा ये न यान्ति त्वरान्विताः। स्थानान्तरं ह्यप्रतिष्ठास्तेऽपि स्युः पापिनो जनाः॥
(स्क० पु०, मा० के० २२।६३-६४)

तुम वर माँगो।' उस समय सतीसाध्वी पार्वतीजीको बड़ी लज्जा आयी। उन्होंने शंकरजीसे कहा—'देवेश! आप मेरे सनातन स्वामी हैं, क्या आपको पहलेकी घटनाका कुछ स्मरण है? प्रभो! मैं वही सती हूँ जिसके लिये आपने दक्ष-यज्ञका विनाश किया था। वही आप हैं और वही मैं हूँ। तारकासुरके वधरूप देवकार्यकी सिद्धिके लिये मैं मेनाके गर्भसे प्रकट हुई हूँ। आपसे मेरे द्वारा एक पुत्र होगा। इसलिये महेश्वर! आप मेरी एक प्रार्थना स्वीकार करें। आपको ऋषियोंके साथ हिमवान्‌के पास जाना चाहिये और उनसे मेरे लिये याचना करनी चाहिये। मेरे पिता हिमवान् आपकी आज्ञाका पालन करेंगे इसमें सन्देह नहीं है। पूर्वकालमें जब मैं दक्षकी कन्या थी, उस समय भी मेरे पिताने ही मुझे आपकी सेवामें समर्पित किया था। महाभाग! हमारा और आपका विवाह देवताओंकी कार्य-सिद्धिके लिये हो रहा है।'

**तब महादेवजीने पार्वतीसे हँसते हुए कहा**—देवि अहंकाररूपा प्रकृतिसे महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ। महत्तत्त्वसे तामस अहंकारकी उत्पत्ति हुई। तामस अहंकारसे सर्वव्यापी आकाश प्रकट हुआ।

आकाशसे वायु और वायुसे अग्निकी उत्पत्ति हुई। अग्निसे जल और जलसे पृथ्वी हुई। सुमुखि! पृथ्वी आदि भूत तथा भौतिक वस्तुएँ जो भी दृष्टिमें आती हैं उन सबको नश्वर समझो। अविनाशी तो आत्मा ही है जो एक होकर भी अनेकताको प्राप्त हुआ है, निर्गुण होकर भी गुणोंसे आवृत हो रहा है, जो सदा अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाला है किंतु इस समय दूसरेसे प्रकाश ग्रहण करनेवाला बन गया है, स्वतन्त्र होकर भी परतन्त्र-सा हो गया है। देवि! प्रकृतिरूपसे तुमने ही महत्तत्त्वको प्रकट किया है। यह सम्पूर्ण मायामय जगत् तुम्हारे द्वारा ही रचा गया है। तीनों गुणोंका कार्य तुमने ही प्रकट किया है। तुम्हीं त्रिगुणमयी सूक्ष्म प्रकृति हो और मैं सदा तुम्हारे सब व्यापारोंका साक्षीमात्र हूँ। मैं हिमालयके पास नहीं जाऊँगा। उनसे किसी प्रकार याचना नहीं करूँगा। क्योंकि किसीके सामने 'दीजिये' ऐसा वचन मुँहसे निकालनेपर पुरुष उसी क्षण लघुताको प्राप्त हो जाता है।

ऐसा कहकर भगवान् शिव अपने स्थानको चले गये। तदनन्तर हिमवान् अपनी धर्मपत्नी मेना तथा दूसरे पर्वतोंके साथ वहाँ आये। पार्वतीजीने जब उन्हें देखा तो वे उठकर खड़ी हो गयीं और अपने माता-पिता तथा भाई-बन्धुओंको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। तब हिमालयने मधुर वाणीमें पूछा—'साध्वी! तुमने जैसे-तैसे यहाँ रहकर क्या किया है?'

**पार्वती बोलीं**—पिताजी! मैंने यहाँ उत्तम तपस्याके द्वारा कामनाशक महादेवजीकी आराधना की है। मेरा वह महान् कार्य, जो अन्य सब लोगोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ है, आज सिद्ध हो गया। महादेवजी सन्तुष्ट होकर यहीं मेरा वरण करनेके लिये पधारे थे; किंतु जब मैंने यह कहा कि मेरे पिताकी अनुपस्थितिमें इस समय आप मेरा पाणिग्रहण कैसे कर सकते हैं; तब वे जिस मार्गसे आये थे उसीसे लौट गये।

पार्वतीकी यह बात सुनकर बन्धु-बान्धवोंसहित धर्मात्मा हिमवान्‌को बड़ी प्रसन्नता हुई। वे अपनी पुत्रीसे बोले—'अब हम सब लोग घरको चलें।' उस समय सब लोग एकत्र हो पार्वतीको सब ओरसे घेरकर खड़े हो गये और उनकी प्रशंसा करने लगे। तदनन्तर हिमवान् पार्वतीको अपने घर ले आये। देवतालोग दुन्दुभि बजाने लगे। उनके शंख और तूर्य भी बज उठे। इस प्रकार अपने पिताके घरमें आयी हुई पार्वती उत्कृष्ट तेजसे सुशोभित होने लगीं। वे मन-ही-मन सदा भगवान् शिवका चिन्तन करती रहती थीं। श्रेष्ठ देवता भी उनके प्रति पूज्यभाव रखते थे।

## सप्तर्षियोंका आगमन, शिवके साथ पार्वतीके विवाहका निश्चय, समस्त देवताओंका शिवकी बारातमें आगमन, हिमवान्‌द्वारा स्वागत तथा मण्डपमें कन्यादानकी तैयारी

**लोमशजी कहते हैं**—तदनन्तर भगवान् महेश्वरके भेजे हुए सप्तर्षिगण सहसा हिमवान्‌के पास आये। उन्हें आया देख हिमवान्‌के मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने शीघ्र उठकर उन सबका स्वागत-सत्कार किया। फिर मस्तक झुकाकर विनयपूर्वक पूछा—'महर्षियो! आपलोग कैसे पधारे हैं? अपने आगमनका कारण बतलाइये।' तब सप्तर्षियोंने कहा—'पर्वतराज! हम लोग भगवान् शिवके भेजे हुए हैं, यहाँ आपहीके पास आये हैं। आपकी कन्याको देखना ही हमारे आनेका उद्देश्य है। अतः शीघ्र अपनी कन्या हमें दिखाइये।' 'बहुत अच्छा' कहकर हिमवान्‌ने पार्वतीको वहाँ बुलाया और सप्तर्षियोंसे हँसते हुए कहा—'यही मेरी कन्या है, किंतु इस समय मुझे आपसे एक विशेष बात कहनी है। जो तपस्वियोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, परम विरक्त हैं और कामदेवका नाश करनेवाले हैं, जिन्होंने कामके शरीरको जलाकर उन्हें अनंग बना डाला है; ऐसे भगवान् शंकर अब विवाहके इच्छुक कैसे हो गये? जो अधिक समीप या अधिक दूर रहनेवाला हो, (अपनेसे) अत्यन्त धनी अथवा सर्वथा निर्धन हो, जिसकी कोई आजीविका न हो तथा जो मूर्ख हो, ऐसे पुरुषको कन्या देना अच्छा नहीं माना गया है। जो मूर्ख, विरक्त, स्वयं ही अपनेको बड़ा माननेवाला, रोगी तथा प्रमादी हो, ऐसे पुरुषको कन्या नहीं देनी चाहिये।* अतः मुनिवरो! आपके साथ भलीभाँति विचार करके ही मुझे महादेवजीको अपनी कन्या देनी है, यही मेरा उत्तम निश्चय है।'

**तब महर्षियोंने कहा**—जिन्होंने तीव्र तपस्या की है और उस तपके द्वारा भगवान् शिवकी आराधना की है, उन पार्वती देवीके ऊपर आज भगवान् शिव बहुत प्रसन्न हैं। पर्वतराज! तुम्हें पार्वती और भगवान् शिवकी महिमाका थोड़ा भी ज्ञान नहीं है। अतः तुम हमारी बात मानो। अपनी पुत्री पार्वतीको परमात्मा भगवान् शिवकी सेवामें दे दो।

**पवित्रात्मा ऋषियोंका यह वचन सुनकर गिरिराज हिमवान् बड़ी उतावलीके साथ समस्त पर्वतोंसे बोले**—'हे मेरु! हे निषध! हे गन्धमादन! हे

* अत्यासन्ने चातिदूरे अत्याढ्ये धनवर्जिते। वृत्तिहीने च मूर्खे च कन्यादानं न शस्यते॥
मूढाय च विरक्ताय आत्मसम्भाविताय च। आतुराय प्रमत्ताय कन्यादानं न कारयेत्॥
(स्क० पु०, मा० के० २३। ८-९)

मन्दराचल! और हे मैनाक! तुम सब लोग अपनी यथोचित सम्मति दो, जिससे वैसा ही किया जाय।' तब बातचीत करनेमें कुशल मेनाने कहा—'नाथ! इस समय आपसमें विचार करनेसे क्या लाभ? यह कार्य तो तभी सम्पन्न हो गया था जब इस बड़भागिनी कन्याने जन्म लिया था। यह देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये उत्पन्न हुई है। भगवान् शिवके लिये ही इसका अवतार हुआ है। अतः यह शिवको ही दी जानी चाहिये। इसने भगवान् रुद्रकी आराधना की है और रुद्रने भी वरदान देकर इसका आदर किया है। महाभागा पार्वती साक्षात् सती ही है। अतः यह शिवको ही ब्याही जाय। वह वैवाहिक कृत्य हमारे द्वारा भगवान् शिवकी पूजामें निमित्त बनेगा।'

मेनाकी यह बात सुनकर हिमवान् बहुत सन्तुष्ट हुए। तदनन्तर सप्तर्षियोंने वहाँसे पुनः लौटकर भगवान् शिवसे उनकी प्रेयसी पार्वतीका सब वृत्तान्त इस प्रकार कहा—'देवेश्वर! गिरिराज हिमवान्ने अपनी कन्या आपको दे दी, इसमें संशय नहीं है। अब देवताओंको साथ ले शीघ्र ही पार्वतीसे विवाह करनेके लिये जाइये।' ऋषियोंका यह वचन सुनकर परमेश्वर शिवने कहा—'विवाह कैसे होगा और कौन-कौन उसमें चलेंगे, यह सब बात विस्तारपूर्वक बताओ।' तब उन ऋषियोंने भगवान् सदाशिवसे हँसकर कहा—'देव! भगवान् विष्णुको बुलाना चाहिये। साथ ही ब्रह्मा, इन्द्र, ऋषिगण, यक्ष, गन्धर्व, नाग, सिद्ध, विद्याधर, किन्नर, अप्सरागण तथा अन्य लोगोंको भी शीघ्र बुलाइये।' ऋषियोंकी यह बात सुनकर महादेवजीने देवर्षि नारदसे कहा—'तुम शीघ्र जाकर भगवान् विष्णुको बुला लाओ। उसके बाद ब्रह्मा, इन्द्र तथा अन्य देवगणोंको भी ले आना।' लोकपावन नारदने भगवान् शिवकी आज्ञा शिरोधार्य की और तुरंत वहाँसे भगवान् विष्णुके प्रिय धाम वैकुण्ठलोकमें गये। वहाँ उन्होंने देखा—भगवान् विष्णु एक श्रेष्ठ सिंहासनपर विराजमान हैं। देवी लक्ष्मी उनकी सेवा कर रही हैं। भगवान्के चार भुजाएँ हैं। वे सब देवताओंमें श्रेष्ठ और अत्यन्त तेजस्वी हैं। उनके श्रीअंगोंकी कान्ति नील कमलके समान श्याम है। कानोंमें बहुमूल्य रत्नजटित मनोहर कुण्डल झलमला रहे हैं। मस्तकपर परम सुन्दर विशाल मुकुट शोभा पा रहा है, जिसमें जड़े हुए उत्तम रत्नोंकी प्रभासे वे और भी प्रकाशित हो रहे हैं। गलेमें सुन्दर वैजयन्तीकी बनी हुई वनमाला शोभा दे रही है। इस प्रकार त्रिभुवनमें एकमात्र सुन्दर वे सनातन देव विष्णु वैकुण्ठमें विराज रहे हैं।*

ऋषियोंमें श्रेष्ठ सर्वज्ञ नारदजी ब्रह्मवीणा बजाते हुए भगवान् विष्णुके समीप गये और शंकरजीका सन्देश सुनाते हुए बड़े आदरसे बोले—'महाविष्णो! शीघ्र चलिये, महादेवजी विवाहके लिये उतावले हो रहे हैं। उनकी ओरसे सब कार्योंकी व्यवस्था करनेवाले केवल आप ही हैं।' नारदजीकी बात सुनकर देवाधिदेव भगवान् जनार्दन नारदजी तथा पार्षदोंको साथ ले वहाँसे चल दिये। भगवान् विष्णु योगेश्वरोंके भी प्रभु हैं, महान् हैं तथा परमात्मा हैं। वे उस समय गरुड़पर आरूढ़ हो श्रेष्ठ देवताओंके साथ आकाशमार्गसे भगवान् शिवके समीप गये।

---

* ददर्श देवं परमासने स्थितं श्रिया च देव्या परिसेव्यमानम्।
चतुर्भुजं देववरं महाप्रभुं नीलोत्पलश्यामतनुं वरेण्यम्॥
महार्हरत्नावृतचारुकुण्डलं महाकिरीटोत्तमरत्नभास्वरम्।
सुवैजयन्त्या वनमालयान्वितं सनातनं तं भुवनैकसुन्दरम्॥

(स्क० पु०, मा० के० २३। ३४-३५)

योगीजन जिनके चरणारविन्दोंका सदा चिन्तन करते हैं, वे महादेवजी भगवान् विष्णुको आया देख उठकर खड़े हो गये और आनन्दमग्न हो उन्हें छातीसे लगा लिया। फिर भगवान् हरि और हर दोनों एक ही आसनपर विराजमान हुए। दोनोंने एक-दूसरेकी कुशल पूछी। तत्पश्चात् श्रीमहादेवजी बोले—'विष्णो! पार्वतीकी तपस्यासे मैं उसके वशमें हो गया हूँ और आज उसका पाणिग्रहण करनेके लिये हिमवान्के घर चलना चाहता हूँ।' यह बातचीत हो ही रही थी कि ब्रह्माजी भी इन्द्र तथा सम्पूर्ण लोकपालोंके साथ वहाँ आ पहुँचे। इसी प्रकार सब असुर, यक्ष, दानव, नाग, पक्षी, अप्सरा और महर्षि भी आये। सबने एकत्र होकर भगवान् शिवसे एक स्वरमें कहा—'महादेवजी! अब आप हमलोगोंके साथ हिमवान्के घर पधारिये, पधारिये।' तब भगवान् विष्णुने भी इस प्रस्तावके अनुरूप बात कही—'शम्भो! आपको गृह्यसूत्रोक्त विधिके अनुसार ही यहाँ वैवाहिक कर्म करना चाहिये। जैसे नान्दीमुख श्राद्ध और मण्डपकी स्थापना आदि आवश्यक कार्य हैं।' भगवान् विष्णुके कथनानुसार महादेवजीने अपने हितके लिये सब कुछ वैसा ही किया। आभ्युदयिक श्राद्धकर्ममें जिनका पूजन उचित और आवश्यक है, ऐसे ब्रह्मादि देवताओंकी उन्होंने पूजा की। ब्रह्माजीके साथ कश्यप मुनिने नवग्रहोंका पूजन किया। अत्रि, वशिष्ठ, गौतम, भागुरि, भृगु, बृहस्पति, शक्ति, जमदग्नि, पराशर, मार्कण्डेय, शिलावाक्, शून्यपाल, अक्षतस्रम्, अगस्त्य, च्यवन तथा गोभिल—ये और दूसरे भी बहुत-से महर्षि शिवजीके समीप आये। ब्रह्माजीकी आज्ञासे उन सबने वहाँ विधिपूर्वक शास्त्रोक्त रीतिसे शुभकर्म सम्पन्न किये। चण्डी देवी सब भूतोंसे घिरी हुई सबके आगे-आगे चलीं। उन्होंने अपने मस्तकपर सोनेका कलश ले रखा था। चण्डीके पीछे भगवान् शिवके गण थे और गणोंके पीछे इन्द्र आदि देवता, लोकपाल और ऋषि चल रहे थे। ऋषियोंके पीछे भगवान् विष्णुके महातेजस्वी कुमुद आदि पार्षद थे जो भगवान्के असंख्य भावोंको शीघ्र ही समझ लेनेवाले तथा बड़े मनोहर थे। परम पुरुषार्थ प्रदान करनेवाले तथा विश्वके एकमात्र बन्धु परमात्मा भगवान् श्रीहरि शिवजीके साथ-साथ चल रहे थे। तीनों लोकोंके एकमात्र पालक भगवान् विष्णु लक्ष्मीजीके साथ अपने वाहन गरुड़जीकी पीठपर बैठे थे। बड़े-बड़े मुनीश्वर अपने हाथोंमें सुन्दर चँवर लिये हवा कर रहे थे। सर्वेश्वर श्रीहरि उन सबके साथ बड़ी शोभा पा रहे थे। इसी प्रकार ब्रह्माजी भी चारों वेदों, छहों वेदांगों, आगमों, इतिहासों और पुराणोंके साथ अपने वाहन हंसपर विराजमान थे। ब्रह्मा, विष्णु, देवेश्वरगण तथा ऋषिवृन्दसे घिरे हुए भगवान् शिव अपने वाहन वृषभपर आरूढ़ होकर चल रहे थे। वे सम्पूर्ण योगेश्वरोंके लिये भी दुर्लभ तथा अगम्य हैं। वेद, देवता, सिद्ध और महर्षिगण जिसे धर्म कहते हैं, उसी धर्मस्वरूप, धर्मवत्सल वृषभपर महादेवजी आरूढ़ थे। मातृकाएँ उन्हें सब ओरसे घेरकर अपनी मधुर वाणीद्वारा भगवान् शिवके लिये मंगलाचार करती थीं। इस प्रकार भगवान् महेश्वर सम्पूर्ण देव-दानवोंके साथ सब प्रकारसे अलंकृत हो नारियोंमें श्रेष्ठ पार्वतीजीका पाणिग्रहण करनेके लिये गिरिराज हिमवान्के घर गये।

उधर गिरिराज हिमालय भी बड़ी प्रसन्नताके साथ अपनी पुत्रीके लिये उसी प्रकार सब मंगलाचार करा रहे थे। उन्होंने गर्गजीको पुरोहित बनाकर महान् वैभवके द्वारा मांगलिक भूमि निर्माण करायी। विश्वकर्माको बुलाकर उनके द्वारा बड़े आदरके साथ अत्यन्त विस्तृत मण्डप तैयार कराया, जो बहुत-सी वेदियोंके कारण अतिशय मनोहर जान पड़ता था। वह मण्डप अनेक प्रकारके गुणोंसे तथा भाँति-भाँतिके

आश्चर्यभरे दृश्योंसे सुशोभित था। उसका विस्तार हजारों योजनका था। वह अपनी दिव्य निर्माण-कलासे देवताओंका भी मन मोहे लेता था।

तदनन्तर इन्द्र आदि सब देवता नारदजीको आगे करके हिमवान्‌के परम अद्भुत भवनमें एक साथ गये। उसे विश्वकर्माने विचित्र ढंगसे बनाया था। वहाँ अनेक प्रकारकी आश्चर्यभरी बातें देखनेमें आती थीं। वह यज्ञ-मण्डप अत्यन्त पवित्र और उत्तम था। बहुत लोगोंने सर्वश्रेष्ठ बताकर उसकी प्रशंसा की थी। उसकी कारीगरी अद्भुत थी। वह मन और बुद्धिके लिये अतर्क्य था। बुद्धिमान् विश्वकर्माने इस प्रकार विचित्र यज्ञ-मण्डपकी रचना की थी। वे सम्पूर्ण देवेश्वर ऋषियोंके साथ उस मण्डपमें प्रवेश करना ही चाहते थे तबतक हिमवान्‌की दृष्टि उनके ऊपर पड़ी। हिमवान्‌ने आगे बढ़कर उनका स्वागत किया और उन सबके ठहरनेके लिये बड़े मनोहर गृह प्रदान किये। गन्धर्व, सिद्ध, प्रमथ, यक्ष, देव, नाग तथा अप्सराएँ—इनमें जो जहाँ सुखपूर्वक रह सके, उन्हें वहीं विश्रामस्थान हिमालयने दिया।

हिमवान्‌से सम्मानित होकर सब देवताओंने अपने परिवार और वाहनोंसहित उस मण्डपमें आनन्दपूर्वक निवास किया। विश्वकर्माने उसमें बहुत विस्तृत अवकाश बना रखा था। ब्रह्माजीके निवासके लिये अत्यन्त प्रकाशमान स्थान बनाया गया था। उसी प्रकार भगवान् विष्णुके लिये दूसरा भवन बना था जो अत्यन्त विचित्र और बहुत ही प्रकाशमान था। विश्वकर्माने उसे अपने हाथों सँवारकर अत्यन्त मनोहर बना रखा था। इसी प्रकार चण्डीगृह भी उन्होंने बड़ा सुन्दर बनाया था। उसके अतिरिक्त विश्वकर्माने जो एक अत्यन्त विचित्र, परम मनोहर, महान् मंगलमय, श्रेष्ठ देवताओंद्वारा प्रशंसित, कैलासके समान अतिशय प्रभापूर्ण तथा अत्यन्त शोभायमान भवन बना रखा था, उसीमें हिमवान्‌ने महान् वैभवके साथ भगवान् शिवको ठहराया। इसी समय मेनादेवी अपनी सखियों तथा ऋषिमुनियोंके साथ भगवान् शिवकी आरती उतारनेके लिये आयीं। उस समय जो बाजे बज रहे थे, उनके शब्दसे तीनों लोक गूँज उठे। मेनाने तपस्वी शिवकी अपने हाथों आरती उतारी। वे बड़ी सती-साध्वी थीं। जामाताको देखकर उन्हें पार्वतीकी कही हुई सब बातें स्मरण हो आयीं और वे विस्मय-विमुग्ध हो उठीं। मेना मन-ही-मन कहने लगीं—'अहो! पार्वतीने पहले मेरे समीप जो कुछ कहा था, उससे कहीं अधिक सौन्दर्य इस समय मैं महादेवजीके अंगोंमें देख रही हूँ। यह सौन्दर्य तो अनिर्वचनीय है।' इस प्रकार विस्मयमें डूबी हुई मेनादेवी अपने घरमें लौट आयीं।

उस समय पार्वती स्नान करके मंगलपीठपर बैठी थीं। ब्राह्मणोंकी स्त्रियोंने सब ओरसे उन्हें घेरकर आरती उतारी। तदनन्तर गर्गाचार्यने कहा—'विद्वानो! आपलोग इसी समय पाणिग्रहणके लिये भगवान् शंकरको इस मण्डपमें ले आवें। इस कार्यमें शीघ्रता होनी चाहिये।' गर्गाचार्यका वचन सुनकर गिरिराज हिमवान्‌के सब मन्त्री भगवान् शंकरके पास गये और उन्होंने तीन कलशोंके जलसे मांगलिक विधिके अनुसार भगवान् सदाशिवको स्नान कराया तथा उनकी आरती भी उतारी। स्नान करके सुन्दर वस्त्र धारण कर लेनेके पश्चात् शंकरजीका उन सबने पुनः पूजन किया। उसके बाद उन्हें सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित करके हाथीकी पीठपर चढ़ाया। उस समय भगवान् शिवके मस्तकपर बहुत बड़ा छत्र तना हुआ था, उस छत्रसे उनकी बड़ी शोभा हो रही थी। ऊपरसे चँदोवा तना था और सब ओरसे उनके लिये चँवर डुलाये जा रहे थे। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र तथा सब लोकपाल 'वर' के आगे-आगे चलते हुए उत्कृष्ट शोभासे सम्पन्न दिखायी देते थे। उस यात्राके समय शंख, भेरी, पटह आनक और गोमुख आदि बाजे बज रहे थे। सम्पूर्ण गायक उत्तम मांगलिक गीत गा

रहे थे। अरुन्धती, अनसूया, सावित्री तथा मातृकाओंसे घिरी हुई लक्ष्मीजी भी उस शोभायात्रामें सम्मिलित थीं। इन सबके साथ जगत्के एकमात्र बन्धु भगवान् शिव अपने उत्तम तेजसे सुशोभित हो रहे थे। चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, वायु, श्रेष्ठ लोकपाल तथा महर्षिगण भी उनके साथ थे। साक्षात् वायुदेव पंखा कर रहे थे। चन्द्रमाने उनके सिरपर छत्र लगा रखा था। सूर्य आगे रहकर अपने तेजसे तप रहे थे। देवराज इन्द्र हाथमें बेंतकी छड़ी लेकर छड़ीदारका काम कर रहे थे। इस प्रकार देवता और पर्वत भगवान् शिवके आगे चलते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे। उस समय देवता और मुनि भगवान् शिवके ऊपर फूल बरसा रहे थे, जिससे उनकी शोभा और भी बढ़ गयी थी। सामने हिमवान्का सुन्दर भवन था जो महान् वैभवके कारण सब ओरसे शोभासम्पन्न दिखायी देता था। उस घरका आँगन सोनेका बना हुआ था। वहाँ द्वारपर भगवान् शिवकी विशेषरूपसे पूजा हुई। फिर मनुष्य, देवता और दानवोंके द्वारा पूजित होकर उन्होंने उस भवनमें प्रवेश किया। इस प्रकार अन्तःपुरमें पहुँचकर भगवान् शिव यज्ञ-मण्डपमें पधारे। उस समय नाना प्रकारकी स्तुतियोंसे परमेश्वर शिवके गुण गाये जा रहे थे। वहाँ पहुँचनेपर गिरिराज हिमवान्ने महेश्वरको हाथीसे उतारा और मंगलपीठपर बिठाकर सखियोंसहित मेना तथा पुरोहितने उनकी विशेषरूपसे आरती की। वहाँ मधुपर्क आदिकी जो आवश्यक विधि है, वह सब ब्रह्माजीकी आज्ञासे पुरोहितने तत्काल सम्पन्न की। तत्पश्चात् अन्तर्वेदीमें प्रवेश करके, जहाँ 'तन्वंगी' पार्वती समस्त आभूषणोंसे विभूषित हो वेदीके ऊपर विराजमान थीं, वहीं महादेवजी भी लाये गये। उनके साथ भगवान् विष्णु और ब्रह्मा भी थे। बृहस्पति आदि विद्वान् लग्नकी प्रतीक्षा कर रहे थे। गर्ग और वशिष्ठ मुनि जहाँ घड़ीका स्थान था, वहीं बैठे थे। ज्यों ही घड़ी पूरी हुई, गर्गाचार्यने ॐकारका उच्चारण करके हाथ जोड़कर निवेदन किया। अब मंगलमय पुण्य मुहूर्त आ गया। पार्वतीने अपने हाथकी अंजलिमें अक्षत लेकर उसे शिवके ऊपर छोड़ा। फिर दही, अक्षत और कुशके जलसे उनका भलीभाँति पूजन किया।

इसी समय गर्गाचार्यके आदेशसे हिमवान् अपनी पत्नी मेनाके साथ वहाँ कन्यादान करनेको उद्यत हुए। मेना सोनेका कलश लेकर उनकी अर्द्धांगिनी बनी हुई थीं। परम सौभाग्यवती मेना समस्त आभरणोंसे विभूषित होकर हिमवान्के साथ बैठी थीं। उस समय हिमवान्ने सबको वर देनेवाले भगवान् विश्वनाथसे कहा—'आज मैं ब्रह्माजी तथा भगवान् विष्णुका संग पाकर और अपने पुरोहित परम महात्मा गर्गजीके साथ बैठकर देवाधिदेव भगवान् शंकरको कन्यादान करता हूँ। विप्रवर! इस समय कन्यादानके लिये उत्तम बेला आयी है। इसमें आप संकल्प पढ़ें।' 'बहुत अच्छा' कहकर वहाँ आये हुए सब श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने हिमवान्की बात स्वीकार की। वे सभी शुभ समयके ज्ञाता थे। उन्होंने तिथि, मास, नक्षत्र आदिका यथावत् उच्चारण किया। फिर हिमवान् भगवान् शंकरसे इस प्रकार बोले।

**हिमवान्ने कहा**—तात! महाभाग! आप अपने गोत्रका नाम बतावें और अपने कुलका विशेषरूपसे परिचय दें।

भगवान् शंकरके मुखारविन्दसे इस प्रश्नका कोई उत्तर नहीं मिला। उस समय नारदजी बहुत हँसे और अपनी वीणा बजाने लगे। यह देख बुद्धिमान् हिमवान्ने उन्हें मना करते हुए कहा—'प्रभो! आप वीणा न बजाइये।' पर्वतके ऐसा कहनेपर नारदजी बोले—'गिरिराज! तुमने साक्षात् शिवजीसे उनका गोत्र बतानेके लिये कहा है; परंतु इनका गोत्र और कुल तो 'नाद' ही है। भगवान् शंकर न तो किसी कुलमें उत्पन्न हुए हैं और न इनका किसी

विशेष कुलसे ही सम्बन्ध है। ये गोत्रोंके भी परम गति हैं। महादेवजी नादमें प्रतिष्ठित हैं और नाद उनमें प्रतिष्ठित है। अतः भगवान् शिव नादमय हैं और नादसे ही उपलब्ध होते हैं। परंतप! यही भाव व्यक्त करनेके लिये मैंने इस समय वीणा बजायी है। इनके गोत्र और कुलका नाम ब्रह्मा आदि देवता भी नहीं जानते; फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या है। भगवान् शिवका कोई रूप नहीं है, इसीलिये किसी कुलमें उत्पन्न न होनेके कारण ये अकुलीन कहलाते हैं। गिरिश्रेष्ठ! इसीलिये तुम्हारे ये 'जामाता' गोत्ररहित हैं। राजन्! मेरे बहुत कहनेसे क्या लाभ। इनके अंशमात्रसे मोहित होकर ये ऋषिलोग भी इनके स्वरूपको यथावत्‌रूपसे नहीं जानते। यह कन्या कौन है, इस बातको अभी तुम भी ठीक-ठीक नहीं जानते। शिव और पार्वती—इन दोनोंसे ही सम्पूर्ण विश्वकी उत्पत्ति होती है तथा इन्हीं दोनोंके आधारपर यह टिका हुआ है।'

महात्मा नारदका यह वचन सुनकर हिमवान् आदि समस्त पर्वत और इन्द्र आदि सब देवता विस्मित होकर उन्हें 'साधुवाद' देने लगे। भगवान् महेश्वरकी गम्भीरताको जानकर वहाँ आये हुए सब विद्वान् आश्चर्यचकित हो परस्पर कहने लगे—जिनकी आज्ञासे ब्रह्माजीके द्वारा इस सम्पूर्ण विशाल विश्वकी सृष्टि हुई है, जिनसे अभिन्न होनेके कारण यह समस्त जगत् परात्पररूप तथा आत्मबोधस्वरूप है, स्वतन्त्र परमेश्वररूपसे जाननेयोग्य है, वे भगवान् शिव ही अपने त्रिभुवनमय स्वरूपसे युक्त होकर सर्वत्र विराज रहे हैं।

## हिमवान्‌द्वारा कन्यादान, बारातका भोजन और बिदाई, शिवमहिमा तथा कुमारका जन्म

**लोमशजी कहते हैं**—तदनन्तर ब्रह्माजीकी आज्ञासे हिमवान्‌ने कन्यादान किया—'**इमां कन्यां तुभ्यमहं ददामि परमेश्वर! भार्यार्थं प्रतिगृह्णीष्व**' (हे परमेश्वर! मैं अपनी यह कन्या आपको धर्मपत्नी बनानेके लिये अर्पित करता हूँ, कृपया स्वीकार करें) यह वाक्य बोलकर उन्होंने अपनी कन्या दे दी। फिर कमलके समान नेत्रोंवाले वे दोनों दम्पति (वर-वधू) वेदीके बाहर लाये गये तथा उन पार्वती और परमेश्वरको बाहरकी ही वेदीपर बिठाया गया। जब होमका कार्य आरम्भ हुआ तब ब्रह्माजी भगवान् शिवके समीप ही ब्रह्मासनपर विराजमान हो गये। हवन पूरा होनेपर ब्राह्मणलोग शान्तिपाठ करने लगे। उस समय उनकी बड़ी शोभा हो रही थी। उच्चस्वरसे बोले जानेवाले वेदमन्त्रोंकी ध्वनिसे वहाँकी सम्पूर्ण दिशाएँ गूँज उठीं। तत्पश्चात् देवांगनाओंने महादेवजीकी आरती उतारी तथा ऋषिपत्नियोंने उनका पूजन किया। गिरिराज हिमालयके घरकी स्त्रियोंने भी वरकी आरती उतारी। संगीतज्ञोंमें कुशल गन्धर्व आदिने अपने गीतोंसे तथा महर्षियोंने स्तुतियोंद्वारा भगवान् शिवको प्रसन्न किया। उदार चित्तवाले गिरिराज हिमालयने अत्यन्त सन्तुष्ट होकर ऋषि, गन्धर्व, यक्ष और वहाँ पधारे हुए अन्य लोगोंको भी बहुमूल्य रत्न भेंट किये। इसके पश्चात् ब्रह्मा, विष्णु आदि देवेश्वर भगवान् शिवको आगे करके भोजनमें तत्पर हुए। हिमालयने उन सबका सत्कार किया। उन सबने एक साथ मिलकर और एक ही स्थानपर पंक्ति लगाकर लिंगी और शृंगीके साथ भोजन किया। कोई-कोई गण पंक्तिसे अलग होकर भोजन कर रहे थे। उन्होंने अपने लिये पृथक् पात्र बना रखा था। नन्दी तथा वीरभद्र आदि महात्मा भगवान् शिवके पीछे बैठकर भोजन कर रहे थे। इन्द्र आदि देवता तथा ऋषि-मुनियोंने भी भगवान् महेश्वरके पास ही भोजन किया।

चण्डीके गणोंने भी वहाँ भोजन किया। वेताल, क्षेत्रपाल, कूष्माण्ड, भैरव, शाकिनी, डाकिनी, यक्षिणी, मातृका आदि चौंसठ योगिनी तथा अन्यान्य योगीजन भी वहाँ भोजनमें सम्मिलित थे। भगवान् शिवके उन महात्मा गणोंकी संख्या ग्यारह करोड़ थी। ऋषि और देवता आदिके विषयमें तो मैंने पहले ही कह दिया है।

इस प्रकार वे सब बराती खा-पीकर संतुष्ट हुए। उन सबके चित्तमें बड़ा हर्ष था। ब्रह्मा आदि सभी देवता विश्राम करनेके लिये अपने-अपने डेरोंपर गये। इस तरह हिमवान्ने बड़े विस्तारके साथ परम मंगलमय और अतिशय शोभायमान वह वैवाहिक उत्सव सम्पन्न किया। अन्तिम दिन हिमवान्ने उत्साहपूर्ण हृदयसे वस्त्र, आभूषण और भाँति-भाँतिके रत्न भेंट करके देवाधिदेव भगवान् शिवका पूजन किया। तत्पश्चात् वे विष्णुभगवान्के पूजनमें संलग्न हुए। सुन्दर-सुन्दर वस्त्रों और आभूषणोंद्वारा उन्होंने लक्ष्मीसहित विष्णुका पूजन किया। इसी प्रकार ब्रह्माजीकी, बृहस्पतिजी और इन्द्राणीसहित इन्द्रकी तथा अन्य लोकपालोंकी भी पृथक्-पृथक् पूजा की। तदनन्तर वस्त्राभूषणों तथा नाना प्रकारके रत्नोंसे भूत, प्रमथ और गुह्यक-गणोंसहित चण्डीदेवीका भी पूजन किया। इनके अतिरिक्त भी जो लोग वहाँ पधारे थे, उन सबका हिमवान्ने यथावत् सत्कार किया। इस प्रकार उस समय हिमवान्के द्वारा सब देवता, ऋषि, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, चारण, मनुष्य तथा अप्सरा—इन सबका भलीभाँति सत्कार किया गया।

इसके बाद भगवान् विष्णुने भी उसी तरह सब पर्वतोंका सत्कार किया। सह्याचल, विन्ध्याचल, मैनाक, गन्धमादन, माल्यवान्, मलय, महेन्द्र, मन्दराचल तथा मेरु—इन सबका श्रीहरिने प्रयत्नपूर्वक पूजन किया। श्वेतकूट, श्वेतगिरि, नीलगिरि, उदयगिरि, शृंगाचल, अस्ताचल, मानसाचल, कैलास तथा लोकालोक पर्वतका पूजन ब्रह्माजीने किया। इस प्रकार सभी श्रेष्ठ पर्वतोंकी वहाँ पूजा की गयी। साथ ही सम्पूर्ण पर्वतवासियोंका भी पूजन किया गया। भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीके साथ सबके स्वागत-सत्कारका कार्य समुचित रूपसे सम्पन्न किया। दूसरे दिन बारात लौटी। हिमालयने अपने बन्धुओंके साथ गन्धमादन पर्वततक वरका अनुगमन किया। शिव और पार्वती दोनों महातेजस्वी दम्पति हाथीपर आरूढ़ हो शोभा पा रहे थे। ब्रह्माजी विमानपर और भगवान् विष्णु गरुड़पर बैठे थे। इन्द्र ऐरावतपर और कुबेर पुष्पक विमानपर विराज रहे थे। पाशधारी वरुण मगरपर तथा यमराज भैंसेपर सवार थे। नैर्ऋत प्रेतपर और अग्निदेव बकरेपर चढ़े थे। वायुदेव मृगपर तथा ईशान वृषभपर आरूढ़ थे। इस प्रकार ये सब लोकपाल और ग्रह अपनी-अपनी सेनाओंके साथ वरको घेरे हुए चल रहे थे। प्रमथ आदि गण भी वरयात्रामें सम्मिलित थे। जिनके कन्यादानरूपी महान् दानसे भगवान् शंकर सन्तुष्ट हुए, वे गिरिराज हिमवान् तीनों लोकोंमें विख्यात हो गये।

जिनकी जिह्वाके अग्रभागपर सदा भगवान् शंकरका दो अक्षरोंवाला नाम (शिव) विराजमान रहता है वे धन्य हैं, वे महात्मा पुरुष हैं तथा वे ही कृतकृत्य हैं। आज भी जिन्होंने 'शिव' इस अविनाशी नामका उच्चारण किया है, वे निश्चय ही मनुष्यरूपमें रुद्र हैं; इसमें संशय नहीं है। महादेवजी थोड़ा-सा बिल्वपत्र पाकर भी सदा सन्तुष्ट रहते हैं। फूल और जल अर्पण करनेसे भी प्रसन्न हो जाते हैं। भगवान् शिव सदा सबके लिये कल्याणस्वरूप हैं। ये पत्र, पुष्प और जलसे ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। इसलिये सबको इनकी पूजा करनी चाहिये। शिवजी इस जगत्में मनुष्योंको महान् सौभाग्य प्रदान करनेवाले हैं। ये एक हैं, महान् हैं, ज्योतिःस्वरूप हैं तथा अजन्मा परमेश्वर हैं। महात्मा शिव कार्य और कारण सबसे

परे हैं। ये व्यवधानशून्य, निर्गुण, निर्विकार, निर्बाध, निर्विकल्प, निरीह, निरंजन, नित्ययुक्त, निष्काम, निराधार तथा सदैव नित्यमुक्त हैं।*

ऐसी महिमावाले देवाधिदेव विश्वबन्धु भगवान् शिवका सब देवताओंने पूजन किया। शिवजी सर्वज्ञ हैं, वे स्तुति, ध्यान, पूजन और चिन्तन करनेपर सबको सदा सब कुछ देनेवाले हैं। महादेवजीकी आराधनासे ही हिमवान् उस समय सबसे श्रेष्ठ, सबसे महान्, सम्पूर्ण सद्गुणोंसे प्रसिद्ध, सर्वगुण-सम्पन्न, महात्मा विश्वेश्वरोंके लिये भी वन्दनीय तथा समस्त पर्वतोंमें श्रेष्ठ हो गये। धर्मात्मा हिमालय जब मेनाके साथ अपने स्थानको लौटे तब उन्होंने सब पर्वतोंको विदा किया।

उधर भगवान् शिवने गन्धमादन पर्वतके एकान्त प्रदेशमें अत्यन्त सुन्दर रूप धारणकर पार्वती देवीके साथ रमण करनेका विचार किया। फिर वे महाप्रभु पार्वतीके साथ महती रतिक्रीड़ामें तत्पर हुए। उन दोनोंका वह महान् सुरतारम्भ उस समय सब लोगोंके लिये अनिष्टकारक, अत्यन्त अद्भुत तथा प्रलयकारी हुआ। वह महती सम्भोग-लीला आरम्भ होनेपर भगवान् शंकरके दुःसह वीर्यसे समस्त चराचर जगत् नष्ट होने लगा। यह देख ब्रह्माजी तथा अध्यात्मज्ञानको प्रकाशित करनेवाले भगवान् विष्णुने अग्निदेवका स्मरण किया। मनसे स्मरण करते ही अग्निदेव बड़ी उतावलीके साथ तत्काल वहाँ आ पहुँचे। फिर उन दोनोंकी आज्ञा पाकर अग्निने केसरके समान कान्तिवाले हंस (संन्यासी)-का रूप धारण करके शिवजीके भवनमें प्रवेश किया। वहाँ आँगनमें पहुँचकर वे बैठ गये और बोले—'माँ! हाथ ही मेरा पात्र है; इसमें मुझे भिक्षा दो।' तब माता पार्वतीने 'जातवेदा' अग्निको भिक्षा (के रूपमें वीर्य) दे दिया। अग्निने हाथपर भिक्षा लेकर उनकी आँखोंके सामने ही उसे खा लिया। यह देख पार्वतीजी कुपित हो उठीं और अग्निको शाप देती हुई बोलीं—'अरे ओ भिक्षुक! मेरे शापसे तू शीघ्र ही सर्वभक्षी हो जायगा तथा शंकरजीके इस वीर्यसे तुझे सब ओर बड़ी भारी पीड़ा प्राप्त होगी।'

तदनन्तर अग्निदेवने लोककल्याणकारी भगवान् शंकरसे कहा—'प्रभो! महादेव! अब मुझे क्या करना चाहिये; सुरश्रेष्ठ! अब मुझे ऐसा कोई उपाय बताइये जिससे मैं सर्वदा सुखी रहूँ और देवताओंका हविष्य वहन करता रहूँ।' तब भगवान् शिवने सब देवताओंके सुनते-सुनते कहा—'अग्ने! तुम अपने शरीरमें पड़े हुए मेरे वीर्यको स्त्रीके गर्भमें स्थापित कर दो।' यह सुनकर अग्निने कहा—'भगवन्! आपका तेज दुःसह है, इसे प्राकृत जन कैसे धारण कर सकते हैं।' उस समय नारदजीने अग्निदेवसे कहा—'तुम मेरी बात मानो; माघ मासमें प्रातःस्नान करके शीतके कारण जो अत्यन्त कष्ट पा रहे हों, वे जब अग्निसेवनके

---

* ते धन्यास्ते महात्मानः कृतकृत्यास्त एव हि। द्व्यक्षरं नाम येषां वै जिह्वाग्रे संस्थितं सदा॥
शिव इत्यक्षरं नाम यैरुदीरितमद्य वै। ते वै मनुष्यरूपेण रुद्राः स्युर्नात्र संशयः॥
किञ्चिद्दलेन सन्तुष्टः पुष्पेणापि तथैव च। तोयेनापि च सन्तुष्टो महादेवो निरन्तरम्॥
पत्रेण पुष्पेण तथा जलेन प्रीतो भवत्येष सदाशिवो हि।
तस्माच्च सर्वैः परिपूजनीयः शिवो महाभाग्यकरो नृणामिह॥
एको महान् ज्योतिरजः परेशः परावराणां परमो महात्मा।
निरन्तरो निर्गुणो निर्विकारो निराबाधो निर्विकल्पो निरीहः॥
निरञ्जनो नित्ययुक्तो निराशो निराधारो नित्यमुक्तः सदैव हि॥

(स्क० पु०, मा० के० २७। २२—२८)

लिये आयें तब उनके शरीरमें तुम भगवान् शिवका यह तेज स्थापित कर देना।'

नारदजीकी यह बात मानकर परम कान्तिमान् एवं महान् प्रभावशाली अग्निदेव ब्राह्ममुहूर्तमें बैठकर अपने प्रचण्ड तेजसे प्रज्वलित हो उठे। अग्निको प्रज्वलित देख शीतसे कष्ट पानेवाली कृत्तिकाओंने अग्निसेवनकी इच्छासे वहाँ आनेका विचार किया। उस समय अरुन्धती देवीने उन सबको रोका, तो भी उनकी बात न मानकर वे सब कृत्तिकाएँ आग तापने लगीं। जबतक वे आग तापती रहीं तबतक ही शंकरजीके वीर्यके सभी परमाणु उनके रोमकूपोंमें होकर शरीरमें घुस गये। अब अग्निदेव उस वीर्यसे मुक्त हो गये। फिर तो स्वयं ही उनका वह प्रज्वलित तेज शान्त हो गया। तत्पश्चात् वे कृत्तिकाएँ गर्भवती होकर वहाँसे अपने घरको लौटीं। वहाँ उनके पति महर्षियोंने जब उन्हें शाप दिया तो वे नक्षत्रोंके रूपमें आकाशमें विचरने लगीं। उसी समय उन सबने भगवान् शिवके उस वीर्यको हिमालयके शिखरपर छोड़ दिया। छोड़नेपर वह सहसा तपाये हुए सुवर्णके समान चमक उठा। फिर वह गंगाजीमें डाल दिया गया। गंगाजीमें बहता हुआ वह तेजोमय वीर्य सरकंडोंके समूहसे घिर गया। वहाँ वह तेज छः मुखोंवाले बालकके रूपमें परिणत हो गया। इसका पता लगनेपर सम्पूर्ण देवताओंको बड़ी प्रसन्नता हुई। तदनन्तर नारदजीने आकर शिव और पार्वतीसे उस बालकके जन्मका समाचार कहा—'शिवजीके अत्यन्त सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ है'। यह समाचार सुनकर गन्धमादन पर्वतपर निवास करनेवाले समस्त प्रमथगणोंका हृदय आनन्दोल्लाससे भर गया। वहाँ अनेकों पताकाएँ फहराने लगीं। बिल्वपत्रकी बन्दनवारें शोभा पाने लगीं तथा भाँति-भाँतिके वितानोंसे उस पर्वतकी शोभा बढ़ गयी। महात्मा शंकरके पुत्रके जन्मसे वह श्रेष्ठ पर्वत अत्यन्त प्रकाशित हो रहा था। उस समय सब देवता, ऋषि, सिद्ध, चारण, यक्ष, गन्धर्व, सर्प तथा अप्सराएँ सब-के-सब गंगाके तटपर विराजमान उस गंगापुत्रको देखनेके लिये वहाँ गये। पार्वतीके साथ भगवान् शंकर भी वृषभपर आरूढ़ हो इन्द्रादि देवताओंको साथ ले उस स्थानको चल दिये। देवता, सिद्ध, यक्ष, गन्धर्व, विद्याधर और नाग सभी आनन्दमें मग्न थे। वे शिवजीके साथ ही उनके वरदायक पुत्रका दर्शन करनेके लिये गये। शंकरजीके समान प्रतापी उस गंगापुत्रकी ओर देवताओंने जब दृष्टिपात किया, तब उन्हें महान् तेज दिखायी दिया, जो तीनों लोकोंमें व्याप्त था। उस तेजसे घिरा हुआ वह बालक तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिमान् था। उसका मुख बड़ा ही सुन्दर था। अंग-अंग मनोहारिणी शोभासे सम्पन्न था। नासिकाकी बनावट बड़ी सुन्दर थी। वह मन्द-मन्द मुसकराते हुए सबकी ओर देखता था। उसके दाँत बड़े ही स्वच्छ और चमकीले थे। सम्पूर्ण अंगोंमें सुन्दरता खेल रही थी। उसके सिरके बाल सब ओर बिखरे हुए थे। अत्यन्त अद्भुत रूपवाले तथा सूर्यके समान तेजस्वी उस गंगाकुमारको देखकर सम्पूर्ण देवताओंने उसका वन्दन किया। भगवान् शंकरके समस्त पार्षद, प्रमथगण और वीरभद्र आदि उस बालकको दायें-बायें दोनों ओरसे घेरकर खड़े हो गये। ब्रह्मा, विष्णु तथा देवताओंसहित इन्द्र भी उस समय बालकके समीप आये थे। ऋषि, यक्ष और गन्धर्व भी बालकको सब ओरसे घेरकर पृथ्वीपर दण्डकी भाँति पड़ गये। कुछ लोग गर्दन झुकाये खड़े रहे। कुछ लोगोंने मस्तक नवाकर प्रणाम किया तथा दूसरोंने उन्हें अपना अविनाशी स्वामी मानकर नमस्कार किया। इस प्रकार वहाँ एक महान् उत्सव छा गया। उसमें विचित्र-विचित्र बाजे बजने लगे। उस अभ्युदय-कालमें ऋषिलोग शान्तिपाठ करने लगे। इतनेहीमें गिरिजापति भगवान् शंकर भी वहाँ आ पहुँचे

और पार्वतीके साथ शीघ्र ही वृषभकी पीठसे उतरकर अपने पुत्रको देखा। देखते ही पार्वती वात्सल्यप्रेममें मग्न हो गयीं। उनके स्तनोंसे दूध बहने लगा। वे बड़े वेगसे आगे बढ़ीं और कुमारको छातीसे लगाकर अपने बहते हुए स्तनका दूध पिलाने लगीं। उस समय सम्पूर्ण देवों और देवांगनाओंने आनन्दमग्न होकर पार्वतीजीकी आरती उतारी। जय-जयकारके महान् शब्दसे आकाशमण्डल गूँज उठा। ऋषि-मुनि वेदमन्त्रोंका उच्चारण करके, गायकोंने गीत गाकर तथा बजानेवालोंने बाजे बजाकर कुमारका अभिनन्दन किया। पुत्रवानोंमें श्रेष्ठ भगवान् शंकर भी उस महातेजस्वी कुमारको अपनी गोदमें बिठाकर अत्यन्त सुशोभित हुए।

## देवताओंका तारकासुर और उनकी सेनाके साथ संग्राम तथा कुमार कार्तिकेयद्वारा तारकासुरका वध

**लोमशजी कहते हैं**—कुमारको अंकमें लेकर जगदीश्वर रुद्रने इन्द्रादि देवताओंसे कहा—'देवगण! यह बालक बड़ा प्रतापी है। इस समय मेरे इस पुत्रसे तुम्हें कौन-सा काम लेना है, बतलाओ।' तब सम्पूर्ण देवताओंने भगवान् पशुपतिसे इस प्रकार कहा—'प्रभो! इस समय सम्पूर्ण जगत्को तारकासुरसे महान् भय प्राप्त हुआ है, इसलिये हम आज ही उसे मारनेके लिये उद्यत हो यहाँसे प्रस्थान करेंगे।' यों कहकर तथा इस कार्यमें भगवान् शंकरकी अनुमति जानकर वे सम्पूर्ण देवगण सहसा वहाँसे चल पड़े और शंकरजीके पुत्र 'कार्तिकेय'को आगे करके महान् असुर तारकपर चढ़ आये। इस युद्धमें ब्रह्मा, विष्णु आदि सब देवता सम्मिलित थे। देवतालोग युद्धके लिये प्रयत्नशील हैं, यह सुनकर महाबली तारकासुर भी बड़ी भारी सेनाके साथ देवताओंसे लोहा लेनेके लिये चल दिया। देवताओंने वहाँ आती हुई तारकासुरकी बड़ी भारी सेनाको देखा। उसी समय आकाशवाणी हुई—'देवगण! तुम शंकरजीके पुत्रको आगे करके युद्धके लिये उद्यत हो जाओ। संग्राममें दैत्योंको जीतकर निश्चय ही विजयी होओगे।' यह आकाशवाणी सुनकर सब देवता युद्धके लिये उत्सुक हो गये। उसी समय कुमार कार्तिकेयका वरण करनेके लिये मृत्युकन्या 'देवसेना' वहाँ आयी। कुमारने ब्रह्माजीके कहनेसे उसे अंगीकार किया। तबसे शंकरजीके पुत्र कार्तिकेयजी देवसेनापति हो गये। उस समय शंख, नगारे, डंका, ढोल, गोमुख तथा दुन्दुभि आदि बाजे बजने लगे।

देवराज इन्द्र कुमार कार्तिकेयको हाथीपर बिठाकर आगे-आगे चलने लगे। उनके साथ देवताओंकी बड़ी भारी सेना थी और लोकपालोंने भी उन्हें सब ओरसे घेर रखा था। उस समय दुन्दुभि, भेरी और तुर्य आदि अनेक बाजे बज उठे। कुमार इन्द्रको हाथी देकर स्वयं विमानपर जा बैठे। तब इन्द्रने कुमारके मस्तकपर वरुण

देवताका छत्र धारण कराया जो बहुमूल्य मणियोंकी प्रभासे प्रकाशित हो रहा था। उसमें भाँति-भाँतिके रत्न लगे हुए थे, जिससे उसकी शोभा बहुत बढ़ गयी थी। वह छत्र चन्द्रमाकी किरणोंके पड़नेसे अत्यन्त शोभायमान जान पड़ता था। उस समय युद्धकी इच्छा रखनेवाले इन्द्र आदि सम्पूर्ण महाबली देवता अपनी-अपनी सेनाके साथ युद्धमें सम्मिलित हो गये। अपने गणोंके साथ धर्मराज भी वहाँ उपस्थित थे। मरुद्गणोंके साथ वायु, जल-जन्तुओंके साथ वरुण, गुह्यकोंसे घिरे हुए कुबेर, प्रमथगणोंके साथ ईशान और व्याधियोंके साथ नैर्ऋत युद्धके लिये आये थे। इस प्रकार आठों लोकपाल युद्धकी इच्छासे मिलकर तारकासुरको मारनेका विचार करते थे। विश्ववन्द्य शिवपुत्र सेनापति कार्तिकेय आत्मज्ञोंमें श्रेष्ठ थे। उन्हें आगे करके सब देवता पृथ्वीपर उतरे और गंगा-यमुनाके बीच अन्तर्वेदीमें आकर खड़े हुए। तारकासुरके अनुचर भी पातालसे वहीं आ गये और देवताओंका वध करनेके लिये अपनी सेनाके साथ युद्धस्थलमें विचरने लगे। तारकासुर भी विमानपर बैठकर वहाँ आया। उस विमानसे उसकी बड़ी शोभा हो रही थी। वह असुर बड़ा तेजस्वी था। उसके मस्तकपर छत्र तना हुआ था और सब ओरसे चँवर डुलाये जा रहे थे। इससे दैत्यराज तारक बड़ी शोभा पा रहा था। इस प्रकार देवता और दैत्य अन्तर्वेदीमें आकर बड़ी भारी सेनाके साथ खड़े थे। उन्होंने अपने सैनिकोंके पृथक्-पृथक् व्यूह बना रखे थे। हाथी, ऊँट, भेंड़े, भाँति-भाँतिके घोड़े तथा बहुमूल्य मणियोंसे युक्त विचित्र-विचित्र रथ भी व्यूहके आकारमें खड़े थे। बहुत-से पैदल योद्धा शक्ति, शूल, फरसा, तलवार, तोमर, तीर, पाश, मुद्गर और पट्टिश आदि शस्त्रोंसे सुसज्जित थे। देवता और दैत्योंकी वे दोनों सेनाएँ एक-दूसरेकी अपेक्षासे सजकर बड़ी शोभा पा रही थीं। उस समय देवताओंने दैत्योंको मार डालनेका विचार किया।

तदनन्तर दोनों सेनाएँ मेघके समान गम्भीर स्वरमें गर्जना करने लगीं। महाबली देवता और असुर एक-दूसरेसे भिड़ गये। उनमें घमासान युद्ध होने लगा। बाणोंकी बौछारोंसे वहाँका सारा मैदान रुण्ड-मुण्डोंसे भर गया। कितने ही धड़ बिना मस्तकके नाच रहे थे। रक्तकी नदियाँ बह चलीं। वह युद्ध बड़ा भयंकर हो रहा था। थोड़ी ही देरमें देवताओं और दानवोंका संहार करनेवाला वह युद्ध द्वन्द्व-युद्धके रूपमें परिणत हो गया। वायुदेवके साथ दनुकुमार युद्ध करने लगा। जम्भके साथ स्वयं यमराज भिड़ गये। बलके साथ वरुण और पद्मके साथ कुबेर युद्ध करने लगे। अग्निसे संह्लादका सामना हुआ। महाहनु नैर्ऋतिके साथ लोहा लेने लगा। मेघाभ ईशानके साथ और तारकासुर इन्द्रके साथ भिड़ गया। यक्ष, पिशाच, नाग, पक्षी, पितर, व्याधि, ज्वर, सन्निपात तथा भूत, प्रमथ और गुह्यक-गण भी अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे युद्धमें संलग्न हो गये। वे सब-के-सब दृढ़ निश्चय करके द्वन्द्वयुद्धमें तत्पर थे। कभी एक-दूसरेपर विजय पा जाते और कभी परस्पर विजय पाना उनके लिये अत्यन्त कठिन हो जाता था। विजयकी इच्छा रखनेवाले देवता और दानवोंमें जब इस प्रकार घमासान युद्ध चल रहा था उस समय देवतालोग दावानलसे दग्ध हुए बड़े-बड़े वृक्षोंकी भाँति उस युद्धस्थलमें गिरने लगे। गिरकर नष्ट हुए देवताओंकी लाशोंसे उस समय सारी पृथ्वी अत्यन्त भयानक प्रतीत होती थी। तारकासुरने अपनी बड़ी भारी शक्ति चलाकर देवराज इन्द्रको घायल कर दिया। वे तुरंत ही ऐरावत हाथीसे पृथ्वीपर गिर पड़े और मूर्छित हो गये। इसी प्रकार अन्य लोकपाल भी महाबली असुरोंसे पराजित हुए। उस रणभूमिमें युद्धविद्याविशारद कितने ही देवताओंको हार खानी पड़ी।

कितनोंको प्राणोंसे हाथ धोना पड़ा और कितने ही युद्ध छोड़कर भाग खड़े हुए। इस प्रकार देवसेनाको तहस-नहस होती देख महातेजस्वी राजा मुचुकुन्द तारकासुरसे युद्ध करने लगे। इन्द्र बहुतेरे असुरोंसे घिरे हुए पृथ्वीपर पड़े थे। उन्हें छोड़कर तारकासुर मुचुकुन्दके साथ भिड़ गया। इस प्रकार मुचुकुन्द और तारकासुरमें बड़ा भारी युद्ध हुआ। मुचुकुन्द बड़े बलवान् थे। उन्होंने तलवारसे तारकासुरपर ज्यों ही प्रहार किया त्यों ही तारकासुरकी शक्तिसे आहत होकर वे रणभूमिमें गिर पड़े। गिरनेपर भी वे तत्काल उठकर खड़े हो गये और तारकासुरको मारनेके लिये ब्रह्मास्त्र उठाया। तब नारदजीने कहा—'राजन्! तारकासुर मनुष्यके हाथसे नहीं मारा जायगा। अतः उसके ऊपर इस महान् अस्त्रका प्रयोग न करो। भगवान् शिवके पुत्र कुमार कार्तिकेय ही तारकासुरको मारनेमें समर्थ हैं। अतः तुम सब लोगोंको शान्त रहना चाहिये।'

नारदजीकी बात सुनकर सब देवता मुचुकुन्दके साथ ही शान्त हो गये। तब वीरभद्रने त्रिशूलसे मारकर तारकासुरको भारी आघात पहुँचाया। तारकासुर सहसा पृथ्वीपर गिरा और क्षणभर मूर्छामें डूबा रहा। फिर चेत होनेपर एक ही मुहूर्तमें वह उठकर खड़ा हो गया और शक्तिसे उसने वीरभद्रपर प्रहार किया। भगवान् शिवके सेवक महाबली वीरभद्रने भी भयानक त्रिशूलसे तारकासुरको पुनः चोट पहुँचायी। इस तरह ये दोनों एक-दूसरेको मारने लगे। भगवान् शिवके गणोंमें जो अत्यन्त युद्धकुशल और वीरभद्रके समान ही पराक्रमी थे, वे बैलपर सवार हो मस्तकपर जटा-जूट धारण किये हाथोंमें त्रिशूल लिये तथा सर्पोंका आभूषण पहने वहाँ आये और वीरभद्रको आगे करके दैत्योंके साथ लोहा लेने लगे। उन्होंने दैत्योंके साथ बड़ा भयानक संग्राम किया। उस युद्धमें प्रमथगण विजयी हुए। उनसे परास्त होकर असुरलोग युद्धसे विमुख हो गये। अत्यन्त पीड़ित होकर उन्हें पराभव स्वीकार करना पड़ा।

अपनी सेनाको तितर-बितर होती देख तारकासुरने दस हजार भुजाएँ प्रकट कीं और सिंहपर सवार हो रणभूमिमें देवताओंका संहार आरम्भ किया। उसने शिवके बहुत-से गणोंको भी मार गिराया। जान पड़ता था वह तीनों लोकोंका संहार कर डालेगा। उसके सैनिकोंने समस्त शिवगणोंको क्षत-विक्षत कर दिया तथा दैत्यसेनाके सिंहोंने शिवगणोंकी सवारीके काम आनेवाले सब बैलोंको मार डाला। इस प्रकार उस रणक्षेत्रमें जब भगवान् शिवके पार्षद मारे जाने लगे तब भगवान् विष्णुने शंकरजीके प्रिय पुत्र कुमार कार्तिकेयसे हँसकर कहा—'कृत्तिकानन्दन! तुम्हारे सिवा दूसरा कोई ऐसा वीर नहीं है जो इस पापी तारकासुरका वध कर सके; अतः तुम्हें ही इसका संहार करना चाहिये।' कार्तिकेय बोले—'भगवन्! यहाँ कौन अपने हैं और कौन पराये, इसका मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं है।' यह सुनकर देवर्षि नारदने कहा—'महाबाहो! तुम भगवान् शंकरके अंशसे उत्पन्न कुमार हो, इस जगत्के रक्षक और स्वामी हो। देवताओंको सबसे बढ़कर सहारा देनेवाले भी इस समय तुम्हीं हो। वीरवर! तारकासुरने पहले बड़ी उग्र तपस्या की थी। उसीके प्रभावसे उसने देवताओंपर विजय पायी है, स्वर्गलोकको जीत लिया तथा अजेयता प्राप्त कर ली है। उस दुरात्माने इन्द्र और लोकपालोंको भी परास्त किया है तथा तीनों लोक अपने अधिकारमें कर लिये हैं। वह धर्मात्माओंको सतानेवाला है, अतः तुम्हें उसका वध अवश्य करना चाहिये। आज तुम्हीं रक्षक होकर सबका कल्याण करो।'

नारदजीकी बात सुनकर कुमार कार्तिकेय बड़े जोरसे हँसे और विमानसे उतरकर पैदल चलने लगे। अपने हाथमें बड़ी भारी उल्काके समान देदीप्यमान और अत्यन्त प्रभावशालिनी शक्ति लेकर जब वे रणभूमिमें पैदल ही दौड़ने

लगे, उस समय बलवानोंमें श्रेष्ठ तथा अत्यन्त प्रचण्ड उस बालकको आते देख तारकासुर कहने लगा—'अहो! यह कुमार अपने शत्रुभूत बड़े-बड़े दैत्योंका संहार करनेवाला है। अतः इसके साथ मैं ही युद्ध करूँगा। अन्य सब वीरों, सम्पूर्ण गणों, गणाधीशों और लोकपालोंको भी मैं अभी मौतके घाट उतारता हूँ।'

यों कहकर महाबली तारकासुर कुमारसे युद्ध करनेके लिये आगे बढ़ा। उसने एक अद्भुत शक्ति हाथमें ले ली। वह इन्द्रका अपमान कर चुका था। उसे फिर वेगपूर्वक आते देख बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ इन्द्रने (सावधान होकर) वज्रसे आघात किया। वज्रकी मार खाकर तारकासुर व्याकुल हो पृथ्वीपर गिर पड़ा। गिरते ही वह पुनः उठकर खड़ा हो गया और बड़े रोषमें भरकर उसने इन्द्रपर शक्तिसे प्रहार किया। इन्द्र ऐरावत हाथीपर बैठे थे किंतु तारकासुरने उन्हें पृथ्वीपर गिरा दिया। उनके गिरनेपर देवताओंकी सेनामें बड़ा हाहाकार मचा। इन्द्रको पृथ्वीपर गिरा देख प्रतापी वीरभद्र अत्यन्त कुपित हो उठे। वे बड़े बलवान् वीर थे। उन्होंने हाथमें त्रिशूल लेकर इन्द्रकी रक्षा करते हुए महादैत्य तारकपर प्रहार किया। शूलके आघातसे आहत होकर तारकासुर पृथ्वीपर गिर पड़ा। परंतु वह बड़ा तेजस्वी था। गिरनेपर भी पुनः उठकर खड़ा हो गया। उसने बहुत बड़ी शक्ति लेकर वीरभद्रके वक्षस्थलपर प्रहार किया। उसकी शक्तिके आघातसे वीरभद्र भी धराशायी हो गये। उस समय समस्त शिवगण, सम्पूर्ण देवता, गन्धर्व, नाग तथा राक्षस बारंबार हाहाकार करने लगे। इतनेहीमें शत्रुओंका नाश करनेवाले महाबली वीरभद्र उठकर खड़े हो गये। उन्होंने एक चमकते हुए त्रिशूलसे जब तारकासुरको मार डालनेका विचार किया, उसी समय कुमार कार्तिकेयने उन्हें मना करते हुए कहा—'महामते! तुम इसका वध न करो।' उन्होंने उस रणभूमिमें जब सिंहनाद किया तब आकाशमें खड़े हुए देवता जय-जयकार करने लगे।

वीरवर कार्तिकेय एक बहुत बड़ी शक्ति लेकर उसके द्वारा तारकासुरको मार डालनेके लिये उद्यत हुए। तारकासुर और कुमार कार्तिकेयमें बड़ा विकट, सब प्राणियोंके लिये भयंकर तथा अत्यन्त दुस्सह संग्राम हुआ। दोनों वीर हाथोंमें शक्ति लिये एक-दूसरेसे जूझ रहे थे। वे शक्तिसे विपक्षीकी शक्तिपर चोट करते थे। दोनोंको उत्साहपूर्वक युद्ध करते देख देवता, गन्धर्व आदि आपसमें कहने लगे—'पता नहीं इस युद्धमें किसकी विजय होगी।' इसी समय आकाशवाणी हुई—'देवताओ! आज कुमार कार्तिकेय तारकासुरको अवश्य मार डालेंगे। तुम सब लोग चिन्ता न करो। सुखपूर्वक स्वर्गलोकमें स्थित रहो।'

आकाशमें प्रकट हुई इस दैवी वाणीको प्रमथगणोंसे घिरे हुए कुमार कार्तिकेयने भी सुना। सुनकर उस भयानक दैत्यको मार डालनेका निश्चय किया। अतिशय बलवान् महाबाहु कुमारने तारकासुरकी छातीमें शक्तिसे प्रहार किया। परंतु दैत्यराज तारकने उस प्रहारकी कोई परवा न करके स्वयं ही क्रोधमें भरकर अपनी शक्तिसे कुमारपर आघात किया। उस प्रहारसे शंकरनन्दन कार्तिकेय मूर्च्छित हो गये। जब पुनः वे सचेत हुए तो महर्षिगण उनकी स्तुति करने लगे। तब मतवाला सिंह जैसे हाथीपर झपटता है, उसी प्रकार प्रतापी कुमारने तारकासुरपर गहरा प्रहार किया। उस समय वायुकी गति कुण्ठित हो गयी थी, सूर्यका प्रकाश मन्द पड़ गया था, पर्वतों और वनोंसहित समूची पृथ्वी डगमगाने लगी। हिमालय, मेरु, श्वेतकूट, दर्दुर, मलयगिरि, महाशैल, मैनाक, विन्ध्याचल, महागिरि लोकालोक, मानसोत्तर पर्वत, कैलास, मन्दराचल, माल्यवान्, गन्धमादन, उदयाचल, महेन्द्रगिरि तथा अस्ताचल—ये तथा और भी बहुत-से महातेजस्वी पर्वत कुमारकी सर्वथा कुशल चाहते हुए स्नेहसे व्याकुल हो उठे। पार्वतीनन्दन कुमारने सब पर्वतोंको भयभीत देख उन्हें धीरज बँधाते हुए कहा—

'महाभाग पर्वतगण! आपलोग खेद और चिन्ता न करें। आज मैं यहाँ सबके सामने ही इस महापापी दैत्यका वध करता हूँ।'

इस प्रकार पर्वतोंको और देवताओंको भी आश्वासन देकर शंकरजीके प्रिय पुत्र कुमार कार्तिकेयने मन-ही-मन अपने पिता और माताको प्रणाम किया। फिर हाथमें शक्ति ले उन्होंने दैत्यराज तारकपर बड़े वेगसे प्रहार किया। शक्तिका आघात होते ही असुरोंका स्वामी तारक सहसा धराशायी हो गया। वज्रके मारे हुए पर्वतकी

भाँति उसका अंग-अंग चूर हो गया। कुमार कार्तिकेयके द्वारा तारकासुर बलपूर्वक मार दिया गया—यह देवताओं, ऋषियों, गुह्यकों, पक्षियों, किन्नरों, चारणों, सिद्धों तथा अप्सराओंने अपनी आँखोंसे देखा। देखकर उन्हें बड़ा हर्ष हुआ और वे सब मिलकर कुमार कार्तिकेयकी स्तुति करने लगे। यह घटना देख-सुनकर तीनों लोकोंके निवासी सहसा आश्चर्यचकित हो उठे। सब-के-सब आनन्दमग्न हो गये। भगवान् शंकर और सती पार्वती भी बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँ आये और अपने पुत्रको गोदमें बिठाकर पूर्ण सन्तोष प्राप्त किया। उस समय देवताओंने भगवान् शिव और पार्वतीकी आरती उतारी। तत्पश्चात् अपने पुत्रों तथा मेरु आदि पर्वतोंसे घिरे हुए गिरिराज हिमालय भी वहाँ आये और कुमारका स्तवन करने लगे। इसके बाद इन्द्र आदि सब देवताओंने ऋषियोंके साथ गीत और वाद्यकी ध्वनि करते हुए वेद-मन्त्रोच्चारणपूर्वक भाँति-भाँतिके सूक्तोंद्वारा कुमारका स्तवन किया। यह कुमार-विजय नामक चरित्र अत्यन्त अद्भुत है। इसमें कुमारके पराक्रम और माहात्म्यका वर्णन है। उनका यह उदार चरित्र अत्यन्त प्राचीन, परमानन्ददायक तथा मनुष्योंको मनोवांछित वस्तु प्रदान करनेवाला है। जो महात्मा कुमारके इस तारक-वध नामक चरित्रका पाठ या श्रवण करता है, उसके सब पातकोंका नाश हो जाता है।

## यमराजके द्वारा भगवान् शिवकी स्तुति तथा शिवके द्वारा यमराजको आत्मज्ञानका उपदेश

**लोमशजी कहते हैं**—ब्राह्मणो! एक समय पितरोंके स्वामी यमराज यह सुनकर कि सनातन देव भगवान् शंकर इस जगत्के रक्षक हैं उनके पास गये, और एकाग्रचित्तसे उन्होंने उनका स्तवन किया।

**यमराज बोले**—पापोंको जलानेवाले भगवान् भर्गको नमस्कार है। देवताओंके पालक प्रकाशस्वरूप महादेवको नमस्कार है। मृत्युपर विजय पानेवाले जटाजूटधारी रुद्रदेवको नमस्कार है। जिनके कण्ठमें नील चिह्न सुशोभित होता है, जो पाप-तापोंका नाश करनेवाले हैं, सर्वव्यापी आकाश जिनका एक अवयवमात्र है, जो सबको अपना ग्रास बनानेवाले काल हैं, कालके भी स्वामी हैं तथा काल ही जिनका स्वरूप है, उन भगवान् शिवको नमस्कार है।

देवदेवेश्वर! आप सबका कल्याण करनेवाले

हैं। कोई बड़ी भारी तपस्या करे तभी आप उसपर प्रसन्न होते हैं। लोकपितामह ब्रह्माजी भी पुण्यात्मा मनुष्योंपर उनके उत्तम कर्मोंसे ही सन्तुष्ट होते हैं। इसी प्रकार वेदोंद्वारा जानने योग्य सनातन देव भगवान् विष्णु भी अनेक प्रकारके यज्ञों तथा उपवास-व्रतोंसे प्रसन्न होकर मनुष्योंको केवल भक्तिभाव प्रदान करते हैं, जिससे वे मोक्षको प्राप्त हो सकें। दुर्गाजी भी आराधनासे संतुष्ट होनेपर लौकिक भोग और स्वर्गादि सम्पत्तियाँ देती हैं। भगवान् सूर्य अपने उपासकको आयु और आरोग्य प्रदान करते हैं। इसी प्रकार गणेशजी भी अर्घ्य, पाद्य और चन्दन आदिके द्वारा पूजन करने तथा उनके मन्त्रोंका जप करनेपर विघ्नोंका निवारण करते हैं। परंतु आपके पुत्र कार्तिकेयजीने तो इस जगत्के सभी प्राणियोंके लिये स्वर्गका द्वार खोल दिया है। इनके दर्शनमात्रसे सब लोग, वे पापी ही क्यों न हों, एकमात्र स्वर्गके अधिकारी हो जाते हैं। यह महान् आश्चर्यकी बात है। जिन्होंने अपनी इन्द्रियोंको जीत लिया है, लोभ जिन्हें छू भी नहीं सका है, जो काम और रागसे रहित हैं, यज्ञ करनेवाले और धर्मनिष्ठ हैं तथा वेद-वेदांगोंके पारंगत विद्वान् हैं, वे सब पुण्यात्मा पुरुष जिस उत्तम गतिको प्राप्त करते हैं, उसीको अधम-से-अधम, पापपरायण चाण्डाल आदि भी कुमार कार्तिकेयके दर्शनमात्रसे पा लेते हैं। उनका यह कर्म महान् आश्चर्यजनक है। कृत्तिका नक्षत्रसे युक्त कार्तिककी पूर्णिमामें स्नान करनेसे जो फल होता है, वही फल आपके पुत्रका दर्शनमात्र करनेसे लोग अपनी कई पीढ़ियोंसहित प्राप्त कर लेते हैं।

**यमराजका यह वचन सुनकर भगवान् शंकरने कहा**—धर्मराज! जिन पुण्यात्मा मनुष्योंका आन्तरिक पाप नष्ट हो गया है, उनके मनमें श्रद्धाका उदय होता है।* फिर पूर्वपुण्यके प्रभावसे उनके हृदयमें उत्तम तीर्थोंमें जाने और संत-महात्माओंका दर्शन करनेकी प्रबल इच्छा जाग्रत् होती है। धर्मराज! कुमारके दर्शनसे जो पुण्यफल प्रकट होता है उसके लिये तुम्हें रंचमात्र भी आश्चर्य नहीं करना चाहिये। कर्मसंयुक्त वचन—कर्तव्यका आदेश देनेवाला वेदवाक्य सबके लिये फलद होता है। सब तीर्थोंका सेवन, यज्ञोंका अनुष्ठान और नाना प्रकारके दान आदि कार्य अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये करने योग्य हैं। फिर शुद्ध अन्तःकरणके द्वारा मनुष्य स्वयं ही अपने आत्माका चिन्तन करे। मैं ही आत्मारूपसे सब प्राणियोंके भीतर स्थित हूँ। मैं नित्य, सत्तायुक्त, अपने-आपमें स्थित रहनेवाला और व्यवधानशून्य हूँ। शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे परे हूँ। मुझमें किसी प्रकारका विकल्प नहीं है। मैं आत्मनिष्ठ, नित्य, नित्ययुक्त और निरीह हूँ। कूटस्थ (निश्चल), कल्पित भेदों और विवादोंसे दूर रहनेवाला, ज्ञानगम्य, अनन्त, स्वतन्त्र तथा स्वयंप्रकाश प्रभु हूँ। वेदवेत्ता विद्वान् इसे ही ज्ञान कहते हैं। वे सर्वत्र आत्मदृष्टि रखते हैं। सर्वातीत भावगम्य तत्त्वको जानकर ज्ञानी पुरुष समतायुक्त बुद्धिसे व्यवहार करते हैं और केवल बोधस्वरूप अपने आत्माको भूल जानेके कारण सब जीवसमूह संसार बन्धनमें बँधे हुए देखे जाते हैं। तत्त्वज्ञानसे रहित बहिर्मुख जीव काम, क्रोध, भय, द्वेष, मोह और मात्सर्यसे युक्त हो एक-दूसरेको दूषित करते रहते हैं। इसलिये गुणभेदसे निर्मित इस प्रपंचको इस प्रकार असत्य जानकर अपने-आपमें स्थित गुणातीत परमात्माका साक्षात्कार ही यथार्थ दर्शन है। जहाँ भेद भी अभेदको, राग भी वैराग्यको और क्रोध भी क्रोधाभावको प्राप्त होता है, वही मेरा परमधाम

* येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्। निरस्तमस्ति भो धर्म श्रद्धा मनसि वर्तते॥
(स्क० पु०, मा० के० ३१। २९)

है। उसका वर्णन करता हूँ, सुनो। शब्द वाक्-इन्द्रियका कार्य होनेके कारण अनित्य है—जैसे घट। अतः वह उस परमार्थ वस्तुको प्रकाशित नहीं कर सकता। शब्द वह है, जिससे प्रवृत्तिप्रधान धर्मके लिये प्रेरणा मिलती है। प्रवृत्ति और निवृत्ति तथा सम्पूर्ण द्वन्द्व जिसमें विलीन हो जाते हैं, वही शाश्वत पद माना गया है। वह व्यवधानशून्य, निर्गुण, बोधस्वरूप, निरंजन (निर्लेप), निर्विकल्प, निरीह, सत्तामात्र, ज्ञानगम्य, स्वतःसिद्ध, स्वयंप्रकाश, वेदवेद्य तथा अगम्य है। प्रेतराज! जिसकी जड़ अनादि कालसे चली आ रही है, मायाके कारण जिसको विचारमें लाना भी कठिन है, उस मायामय संसारसे ऊपर उठकर तथा मायाका सर्वथा परित्याग करके जो ममता और आसक्तिसे रहित हो गये हैं, वे विकल्पशून्य नित्य पदको प्राप्त होते हैं। संसार कल्पनामूलक है। यह कल्पना ही नित्यकी भाँति प्रतीत होती है। जिन्होंने इस कल्पनाको त्याग दिया है वे परमपदको प्राप्त होते हैं। जैसे सीपीमें चाँदीकी प्रतीति, सर्पमें रस्सीकी प्रतीति तथा सूर्यकी किरणोंमें जलकी प्रतीति मिथ्या है, उसी प्रकार नित्य परमात्मामें अनित्य संसारकी प्रतीति भी मिथ्या ही है। आत्मा एक है। उसे जान लेनेपर मनुष्य ममता और अहंकारसे रहित हो जाता है। ऐसे आत्मज्ञानी पुरुषोंको बन्धन कहाँसे प्राप्त हो सकता है? क्या कभी आकाशमें फूल होना सम्भव है? ज्ञानीका संसार-बन्धन वैसा ही असत्य है जैसे खरगोशके सींगका होना। इसलिये अब इस विषयमें बहुत-सी व्यर्थ बातें कहनेसे कोई लाभ नहीं है। विद्वान्, जितेन्द्रिय तथा वीतराग ज्ञानी पुरुष ममताका परित्याग करके परमपदको प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखते हैं। जिन्होंने ममत्वको त्याग दिया है और लोभ तथा मोहको दूर कर दिया है, वे काम-क्रोधसे हीन मानव परमपदको प्राप्त होते हैं। जबतक मनमें काम, लोभ, राग और द्वेष डेरा डाले रहते हैं, तबतक केवल शब्दमात्रका बोध रखनेवाले विद्वान् परमसिद्धि (मुक्ति)-को नहीं प्राप्त होते हैं।* यमराज! जिनके सब पाप दूर हो गये हैं वे समस्त ऋषि-मुनि ज्ञानका प्रवचन करनेवाले तथा ज्ञानाभ्यासके अनुकूल बर्ताव करनेवाले हैं, तथापि ज्ञानवेत्ता नहीं हैं। ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञानगम्य वस्तुको जानकर ही मनुष्य ज्ञानी कहलाता है। कैसे जानना चाहिये, किसके द्वारा जानने योग्य है और किसको जानना अभीष्ट है, वह वस्तु क्या है—ये सब बातें मैं तुम्हारी जानकारीके लिये संक्षेपसे बतलाता हूँ। आत्मा एक ही है तथापि भेदबुद्धि होनेसे वह अनेक-सा दिखायी देता है। जैसे भँवरी देनेवालेकी दृष्टिमें यह पृथ्वी घूमती हुई-सी प्रतीत होती है, उसी प्रकार भेदबुद्धिसे एक आत्मा भी अनेक-सा प्रतीत होता है। अतः विचारके द्वारा ही आत्माका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। गुरुके मुखसे श्रवणके द्वारा तथा भलीभाँति प्रयोगमें लाये हुए विशेष मननके द्वारा भी आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करना उचित है। इस प्रकार आत्माको जानकर मनुष्य अनायास ही बन्धनसे मुक्त हो जाता है। यह सम्पूर्ण चराचर जगत् मायाका जाल है। ममतासे उपलक्षित होनेवाला यह महान् संसार मायामय है। ममताको दूर कर देनेपर बन्धनसे अनायास छुटकारा मिल जाता है। मैं कौन हूँ, तुम कौन हो तथा महामायाके आश्रित रहनेवाले अन्य लोग भी कहाँसे आये हैं? यह सारा प्रपंच बकरीके गलेमें लटकते हुए स्तनकी भाँति निरर्थक है, निष्फल है, प्रकाशहीन है तथा धूमसमूहकी भाँति निस्सार है। इसलिये यमराज! तुम सर्वथा

---

* यैस्त्यक्तो ममताभावो लोभमोहौ निराकृतौ। ते यान्ति परमं स्थानं कामक्रोधविवर्जिताः॥
यावत् कामश्च लोभश्च रागद्वेषव्यवस्थितिः। नाप्नुवन्ति परां सिद्धिं शब्दमात्रैकबोधकाः॥
(स्क० पु०, मा० के० ३१। ६३-६४)

प्रयत्न करके आत्म-तत्त्वका चिन्तन करो।

**लोमशजी कहते हैं**—भगवान् शंकरके इस प्रकार उपदेश देनेपर यमराज ज्ञानवान् होकर उस समय साक्षात् आत्मस्वरूपसे स्थित हुए। वे कर्मसे सबके शासक हैं। सब प्राणियोंको उनके कर्मानुसार दण्ड या पुरस्कार देते हैं। वे अपने चित्तको एकाग्र रखकर सदा सब भूतों तथा मनुष्योंका कल्याण करते हैं।

## कार्तिकेयजीकी स्तुति और उनके द्वारा पर्वतोंको वरदान तथा महाराज श्वेतका चरित्र

**ऋषियोंने पूछा**—सूतजी! महात्मा कुमारने युद्धमें तारकासुरको मारकर फिर कौन-सा महान् अद्भुत कर्म किया? यह बतलाइये।

**सूतजी बोले**—तारकासुरको मारा गया देख इन्द्रादि सब देवता बहुत प्रसन्न हुए और सम्पूर्ण लोकोंको पवित्र करनेवाले कुमार कार्तिकेयकी स्तुति करने लगे।

**देवता बोले**—कल्याणस्वरूप भगवान् कार्तिकेयको नमस्कार है। शिवनन्दन! आपको नमस्कार है। विश्वबन्धो! आपको नमस्कार है। विश्वभावन! आपको नमस्कार है। जिन्होंने आपका दर्शन कर लिया, वे चाण्डाल भी सर्वश्रेष्ठ हैं। जगद्बन्धो! हम आपको नमस्कार करते हैं। देव! इस समय हम आपकी शरणमें आये हैं।[१]

देवताओंद्वारा की हुई यह स्तुति सुनकर प्रसन्नतासे भरे हुए पर्वतोंने भी सर्वतोभावेन उन गिरिजाकुमारका स्तवन किया।

**पर्वत बोले**—भगवन्! आप अनाथोंके नाथ हो। शंकरनन्दन! तुम्हें नमस्कार है। श्रेष्ठ देवताओंद्वारा पूजनीय! तुम्हें नमस्कार है। ज्ञानवेत्ताओंमें श्रेष्ठ! तुम्हें नमस्कार है। महादानव तारकासुरका विनाश करनेवाले कुमार! तुम्हें नमस्कार है। देववर! तुम्हें नमस्कार है। तुम हमपर प्रसन्न होओ।[२]

पर्वतोंद्वारा इस प्रकार स्तुति की जानेपर शंकर और पार्वतीके पुत्र एवं वरदाताओंमें श्रेष्ठ स्वामी कार्तिकेय बहुत सन्तुष्ट हुए और उन्हें वर देते हुए बोले—'मेरु आदि समस्त पर्वतगण! आप सब लोग मेरे वन्दनीय और प्रयत्नपूर्वक पूजनीय हैं। तपस्वी, ज्ञानी और कर्मयोगी भी निरन्तर आप लोगोंका सेवन करेंगे। आपलोग मेरे वचनसे सम्पूर्ण जगत्को पवित्र कर सकते हैं। पर्वतसम्बन्धी सभी स्थान तीर्थस्वरूप होंगे। आपके ऊपर दिव्य शिवालय, दिव्य मन्दिर, बड़े-बड़े विचित्र गृह तथा दिव्य तपोवन सुशोभित होंगे। इतना ही नहीं, भगवान् शंकरके विशिष्ट स्वरूप तथा विशिष्ट लिंग भी आपके शिखरोंपर विराजमान होंगे। ये जो मेरे नाना पर्वतश्रेष्ठ हिमवान् हैं, आजसे ये महाभाग तपस्वियोंके फलदाता होंगे। ये गिरिराज मेरु पुण्यात्माओंके आश्रय होंगे। गिरिश्रेष्ठ लोकालोक तथा महायशस्वी उदयगिरि—ये दोनों शिवलिंगस्वरूप समझे जायँगे। श्रीशैल, महेन्द्रगिरि, सह्याचल, माल्यवान्, मलयगिरि,

---

१- नमः कल्याणरूपाय नमस्ते शिवनन्दन। विश्वबन्धो नमस्तेऽस्तु नमस्ते विश्वभावन॥
वरिष्ठाः श्वपचा यैस्तु कृतं वै दर्शनं तव। त्वां नमामो जगद्बन्धो त्वां वयं शरणं गताः॥
(स्क० पु०, मा० के० ३१।८१-८२)

२-त्वं नाथोऽसि ह्यनाथानां शङ्करात्मज ते नमः। नमो देववरैः पूज्य नमो ज्ञानविदां वर॥
नमोऽस्तु ते दानववर्यहन्तर्नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद॥
(स्क० पु०, मा० के० ३१।८४-८५)

विन्ध्याचल, गन्धमादन, श्वेतकूट, त्रिकूट तथा दर्दुर पर्वत—ये और दूसरे भी बहुत-से पर्वत लिंगस्वरूप माने जायँगे और मेरे वचनसे ये सभी पापोंका विनाश करनेवाले होंगे।'

शंकरपुत्र भगवान् कार्तिकेयने इस प्रकार उन सब पर्वतोंको वरदान दिया। जिसके मुखमें सदा ('**नमः शिवाय**' इस) पंचाक्षर मन्त्रका जप होता रहता है, जिसका चित्त सदा भगवान् शिवके चिन्तनमें संलग्न रहता है, जो सब प्राणियोंके प्रति समभाव रखता है, दूसरोंकी निन्दामें जिसकी वाणी मूक रहती है तथा जो परायी स्त्रियोंके प्रति अपनेमें नपुंसक भाव ही रखता है—ऐसे उपासकपर भगवान् शिवकी विशेष कृपा होती है।

**शौनकजी बोले**—महाभाव! हमने कुमार कार्तिकेयके विशिष्ट चरित्रका श्रवण किया, जो परम मंगलमय है। अब हम राजाधिराज श्वेतके परम अद्भुत चरित्रके विषयमें जानना चाहते हैं जिन्होंने अपनी भारी शिवभक्तिके प्रभावसे भगवान् शिवको भलीभाँति सन्तुष्ट किया था। जो लोग भक्तिपूर्वक महादेवजीकी आराधना करते हैं, वे ही भक्त हैं, वे ही महात्मा हैं तथा वे ही कर्मयोगी और ज्ञानी हैं।

**लोमशजीने कहा**—महाभाग महर्षियो! राजा श्वेतका परम अद्भुत चरित्र सुनो। महात्मा श्वेत अपने राज्यमें सब प्रकारके भोग भोगते रहे तो भी उनकी बुद्धि सदा धर्ममें ही संलग्न रहती थी। उन्होंने धर्मके अनुसार प्रजाको प्रसन्न रखते हुए समस्त पृथ्वीका पालन किया। वे ब्राह्मणभक्त, सत्यवादी, शूरवीर तथा निरन्तर शिवजीके भजनमें तत्पर रहनेवाले थे। राजा श्वेत अपनी बढ़ी-चढ़ी शक्तिसे राज्यका शासन और भक्तिभावसे भगवान् शिवकी आराधना करते थे। इस प्रकार परमेश्वरकी आराधना करते-करते महाराज श्वेतकी सारी आयु बीत चली। उनके मनमें न कभी व्यथा हुई और न शरीरमें ही कोई रोग हुआ। ये संसारी उपद्रव महाराज श्वेतको कभी कष्ट नहीं पहुँचाते थे। इनके राज्यमें सब लोग निर्भय रहते थे। किसीको कोई उपद्रव नहीं था। महाराजके राज्यमें बिना जोते-बोये ही अनाज पैदा होता था। ब्राह्मण तपस्यामें संलग्न रहते और दूसरे लोग भी अपने-अपने वर्ण तथा आश्रम-सम्बन्धी धर्मका पालन करते थे। सारी पृथ्वीमें प्रायः सर्वत्र मंगलमय उत्सव ही होता रहता था। भगवान् शिवकी कृपासे महात्मा राजा श्वेतके राज्यमें सब प्रजा सदा मानसिक कष्टसे रहित, आनन्दमग्न तथा सुखी रहती थी। कभी किसीको भी पुत्रकी मृत्यु नहीं देखनी पड़ी, दुःख नहीं उठाना पड़ा, अपमान, महामारी तथा दरिद्रताका कष्ट भी नहीं सहन करना पड़ा। इस प्रकार भगवान् शिवकी पूजामें लगे हुए महात्मा राजा श्वेतके जीवनका बहुत बड़ा समय सफलतापूर्वक बीत गया।

एक दिनकी बात है, राजा श्वेत परमार्थदाता शंकरजीकी आराधनामें लगे थे। उसी समय यमराजने उनके पास अपने दूत भेजे। उन दूतोंको आज्ञा दी कि चित्रगुप्तके कथनानुसार राजा श्वेतकी आयु पूरी हो गयी है, अतः उन्हें शीघ्र ले आओ। 'जो आज्ञा' कहकर दूतोंने उनकी आज्ञा स्वीकार की और राजाको ले जानेकी इच्छासे वे भगवान् शिवके मन्दिरमें आये। उनके हाथोंमें काल-पाश था तथा वे आकृतिसे भी बड़े भयानक थे। यमदूतोंने शीघ्रतापूर्वक वहाँ आकर देखा, महाराज गहरी समाधि लगाये भगवान् शिवके समीप बैठे थे। उन्हें देखकर उनके मनमें ज्यों ही हलचल हुई त्यों ही वे सब दूत चित्रलिखितकी भाँति निश्चेष्ट हो गये। अतः यमदूत धर्मराजकी आज्ञाका पालन न कर सके। यह सब जानकर यमराज स्वयं ही वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने राजाको सहसा ले जानेके लिये अपना दण्ड ऊपरको उठा रखा था। धर्मराजने देखा, महाबाहु श्वेत शिव-भक्तिसे युक्त होकर भगवान् शिवके ही चिन्तनमें तत्पर हैं। केवल ज्ञानका आश्रय ले, शान्तभावसे विराजमान

हैं। राजाको इस रूपमें देखकर यमराजके मनमें भी बड़ी हलचल हुई। वे अत्यन्त व्याकुल होकर सहसा चित्रलिखितकी भाँति हो गये। तदनन्तर प्रजाका विनाश करनेवाले काल भी तत्काल वहाँ आ गये। उन्होंने भी शिवपूजा-परायण राजाको तथा मन्दिरके द्वारपर खड़े हुए दूतोंसहित यमराजको देखा। देखकर यमराजसे पूछा—'धर्मराज! क्या कारण है जो अभीतक तुम इस राजाको नहीं ले गये। तुम्हारे साथ यमदूत भी हैं, तो भी कुछ डरे हुए-से प्रतीत होते हो।'

**तब धर्मराजने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया**—यह राजा भगवान् शिवका भक्त है, अतः इसका उल्लंघन करना हमारे लिये अत्यन्त कठिन है। त्रिशूलधारी महादेवजीके भयसे हम यहाँ चित्रलिखित पुतलोंकी भाँति खड़े हैं।

यमराजकी यह बात सुनकर कालदेवता कुपित हो उठे तथा राजाको मारनेके लिये उन्होंने बड़े वेगसे ढाल और तलवार उठायी। उनकी ढाल सूर्यके समान आकृतिवाले आठ फूलियोंसे सुशोभित थी। वे क्रोधमें भरकर शिवालयमें घुसे। वहाँ उन्होंने देखा, राजा श्वेत एकाग्रचित्तसे विशुद्ध ज्ञानस्वरूप, चिन्मय, स्वयंप्रकाश परमात्माका चिन्तन कर रहे हैं। ऐसी अवस्थामें उन्हें देखकर काल अहंकारवश ज्यों ही उनके पास जानेको उत्सुक हुए, त्यों ही भक्तवत्सल भगवान् शंकरने अपने भक्तकी रक्षा करते हुए तीसरा नेत्र खोलकर कालकी ओर देखा। उनके देखते ही कालदेव तत्काल जलकर भस्म हो गये। राजा श्वेत जब समाधिसे विरत हुए तब बाह्यज्ञान होनेपर उन्होंने धीरेसे आँखें खोलकर देखा। उस समय वहाँ उनके सामने ही कालदेव अद्भुत रूपसे जल रहे थे। राजाने बार-बार उनकी ओर देखा और भगवान् शंकरसे इस प्रकार प्रार्थना की—'सबके दुःखोंको दूर करनेवाले, शान्तस्वरूप, स्वयंप्रकाश एवं स्वयम्भूरूप आप भगवान् शंकरको नमस्कार है। व्यवधानशून्य, सूक्ष्मस्वरूप तथा ज्योतियोंके अधिपति महादेवजीको नमस्कार है। जगदीश्वर! आप ही सबके रक्षक हैं, आप ही इस जगत्के पिता, माता, सुहृद्, सखा, बन्धु, स्वजन, स्वामी तथा ईश्वर हैं। शम्भो! आपने यह क्या किया? किसको मेरे आगे जला दिया? मैं नहीं जानता यह क्या हुआ है और किसने यह बड़ा भारी अद्भुत कार्य कर डाला है?'

इस प्रकार प्रार्थना करते हुए राजा श्वेतका विलाप सुनकर लोक-कल्याणकारी भगवान् शंकरने कहा—'राजन्! यह काल है; तुम्हारी रक्षाके लिये मैंने इसे जला दिया है।' राजा श्वेतने पूछा—'भगवन्! इसने ऐसा कौन-सा कुकृत्य किया था, जिससे आपने इसे इस दशाको पहुँचा दिया?' भगवान् शिव बोले—'महाराज! यह संसारके समस्त प्राणियोंका भक्षक है। इस समय यह क्रूर काल तुम्हें अपना ग्रास बनानेके लिये आया था। अतः बहुत-से जीवोंका कल्याण करनेकी इच्छासे मैंने इसे जला दिया है। क्योंकि जो पापी, अतिशय अधर्मपरायण, लोकविनाशकारी तथा पाखण्डी हैं, वे मेरे वध्य हैं।' भगवान् शिवकी यह बात सुनकर राजा श्वेतने कहा—'भगवन्! काल आपकी आज्ञा शिरोधार्य करके ही लोकमें सबको नियन्त्रणमें रखता है। आपहीके आदेशसे यह तीनों लोकोंमें विचरता है। इसके डरसे ही यह संसार सदा पुण्य-कर्मका अनुष्ठान करता है। इसलिये आप कृपा करके फिर शीघ्र ही इसे जीवित कर दें।' तब शिवजीने कालको पुनः जीवित कर दिया। तदनन्तर श्रेष्ठ राजा श्वेतने कालको अपने हृदयसे लगा लिया। इस प्रकार चेतना लौटनेपर कालने भगवान् शंकरकी स्तुति की—'कालका विनाश करनेवाले देवेश्वर! आप त्रिपुरासुरका संहार करनेवाले हैं। प्रभो! जगत्पते! आपने कामदेवको जलाकर उसे अनंग (अंगहीन) बना दिया है; तथा आपहीने अत्यन्त अद्भुत ढंगसे दक्ष-यज्ञका विनाश कर डाला था। महान् लिंगरूपसे आपने तीनों लोकोंको व्याप्त

कर रखा है। सम्पूर्ण देवताओं और असुरोंने सबको अपनेमें लीन करनेके कारण आपके स्वरूपको लिंग कहा है। देवदेवेश्वर! आपको नमस्कार है। विश्वमंगल! आपको नमस्कार है। नीलकण्ठरूपमें आपको नमस्कार है। मस्तकपर जटा-जूट धारण करनेवाले! आपको नमस्कार है। आप कारणोंके भी कारण हैं; आपको नमस्कार है। आप मंगलोंके भी मंगलरूप हैं; आपको नमस्कार है। बुद्धिहीनोंके पालक! आप ज्ञानियोंके लिये ज्ञानात्मा हैं और मनीषी पुरुषोंके लिये परम मनीषी हैं। विश्वके एकमात्र बन्धु महेश्वर! आप आदिदेव हैं, पुराण-पुरुष हैं तथा आप ही सब कुछ हैं। वेदान्तद्वारा आप ही जानने योग्य हैं। आपकी महिमा और प्रभाव महान् है। महानुभाव संत आपके ही नामों और गुणोंका सब ओर कीर्तन करते हैं। महेश! आप ही तीनों लोकोंकी सृष्टि करनेवाले हैं। आप ही इनका पालन और संहार भी करते हैं। आप ही सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी हैं।'

इस प्रकार कालने उस समय जगदीश्वर शिवका स्तवन किया। तदनन्तर राजा श्वेतसे कहा—'राजन्! सम्पूर्ण मनुष्यलोकमें तुमसे बढ़कर दूसरा कोई पुरुष नहीं हैं; क्योंकि तुमने तीनों लोकोंके लिये अजेय मुझ कालको भी जीत लिया। आजसे मैं तुम्हारा अनुगामी हुआ। महादेवजीकी ओरसे मुझे अभयदान करो।'

**राजाने कहा**—भगवन्! तुम तो साक्षात् शिवके ही एक श्रेष्ठ स्वरूप हो। सम्पूर्ण प्राणियोंका पालन तथा संहार तुम्हारा ही स्वरूप है। तुम्हीं सबके नियन्ता हो। इसलिये तुम मेरे परम पूजनीय हो। आत्मसाक्षात्कारके साधनमें लगे हुए समस्त पुण्यात्मा पुरुष तुमसे ही भय माननेके कारण विविध भावोंसे परमेश्वरकी शरण लेते हैं।

इस प्रकार परम धर्मात्मा राजा श्वेतसे रक्षित होकर कालने भगवान् शिवकी कृपा प्राप्त की और उसे पुनः नवीन चेतना प्राप्त हुई। तब वे कालदेव यमराज, मृत्यु तथा यमदूतोंके साथ भगवान् शिव और महाराज श्वेतको प्रणाम करके अपने निवासस्थानको गये। वहाँ उन्होंने सब दूतोंको बुलाकर कहा—'दूतगण! संसारमें जो लोग विभूतिके द्वारा त्रिपुण्ड्र धारण करते हैं, मस्तकपर जटा और गलेमें रुद्राक्ष माला रखते हैं, ऐसे लोगोंको तुम कभी मेरे लोकमें न लाना। जो उत्तम भक्तिभावसे भगवान् सदाशिवका पूजन करते हैं, वे साक्षात् रुद्रके ही स्वरूप हैं। जो मस्तकपर एक रुद्राक्ष धारण करते, ललाटमें त्रिपुण्ड्र लगाते तथा जो साधु पुरुष पंचाक्षर मन्त्रका सदा जप करते हैं, वे सब तुम्हारे द्वारा पूजनीय हैं। जिस राष्ट्र, देश अथवा ग्राममें शिव-भक्त नहीं देखा जाता, वह श्मशानसे भी बढ़कर अशुभ है।'

यमराजने भी अपने सेवकोंको ऐसा ही आदेश दिया। भगवान् महेश्वरकी पराभक्तिसे युक्त महाराज श्वेत जब कालसे निर्भय हो गये तब उन्होंने भगवान् शिवका सायुज्य प्राप्त कर लिया। पवित्र बुद्धिवाले ज्ञानीपुरुषोंको भी अनेक जन्मोंके पश्चात् भगवान् शिवकी भक्ति प्राप्त होती है। मनुष्योंको चाहिये कि वे सदैव भगवान् सदाशिवका सेवन, वन्दन और पूजन करें।

## शिवरात्रिव्रतकी महिमा

**लोमशजी कहते हैं**—ब्रह्माजीने जब सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि की, तब राशियोंसे कालचक्र उत्पन्न हुआ। उस कालचक्रमें सब कार्योंकी सिद्धिके लिये बारह राशियाँ और सत्ताईस नक्षत्र मुख्य हैं। इन बारह राशियों और सत्ताईस नक्षत्रोंके साथ क्रीड़ा करता हुआ कालचक्रसहित काल जगत्को उत्पन्न करता है। ब्रह्मासे लेकर कीटपर्यन्त सबको काल ही उत्पन्न करता, वही पालन करता और वही संहार करता है। एकमात्र कालसे ही यह सारा जगत् बँधा हुआ है। अकेला काल ही इस लोकमें

बलवान् है, दूसरा नहीं। अतः यह सब प्रपंच कालात्मक है। सबसे पहले काल हुआ। कालसे ही स्वर्गलोकके अधिनायक उत्पन्न हुए। तदनन्तर लोकोंकी उत्पत्ति हुई। उसके बाद त्रुटि हुई। त्रुटिसे लव हुआ। लवसे क्षण हुआ। क्षणसे निमिष हुआ जो प्राणियोंमें निरन्तर देखा जाता है। साठ निमिषका एक पल कहा जाता है। साठ पलोंकी एक घड़ी होती है। साठ घड़ीका एक दिन-रात होता है। पंद्रह दिन-रातका एक पक्ष माना जाता है। दो पक्षका एक मास और बारह महीनोंका एक वर्ष होता है। कालको जाननेकी इच्छा रखनेवाले बुद्धिमान् पुरुषोंको इन सब बातोंका ज्ञान रखना चाहिये। प्रतिपदासे लेकर पूर्णमासीतक पक्ष पूरा होता है। उस दिन पक्ष पूर्ण होनेके कारण ही उसे पूर्णिमा कहते हैं। जिस तिथिको पूर्ण चन्द्रमाका उदय होता है, वह पूर्णमासी देवताओंको प्रिय है तथा जिस तिथिको चन्द्रमा लुप्त हो जाते हैं, उसे विद्वानोंने अमावस्या कहा है। अग्निष्वात्त आदि पितरोंको वह अधिक प्रिय है। ये तीस दिन पुण्यकालसे संयुक्त होते हैं। इनमें जो विशेषता है उसे आपलोग सुनें। योगोंमें व्यतीपात, नक्षत्रोंमें श्रवण, तिथियोंमें अमावस्या और पूर्णिमा तथा संक्रान्ति-काल— ये सब दान-कर्ममें पवित्र माने गये हैं। भगवान् शंकरको अष्टमी प्रिय है। गणेशजीको चतुर्थी, नागराजको पंचमी, कुमार कार्तिकेयको षष्ठी, सूर्यदेवको सप्तमी, दुर्गाजीको नवमी, ब्रह्माजीको दशमी, रुद्रदेवको एकादशी, भगवान् विष्णुको द्वादशी, कामदेवको त्रयोदशी तथा भगवान् शंकरको चतुर्दशी विशेष प्रिय है। कृष्णपक्षमें जो चतुर्दशी अर्धरात्रिव्यापिनी हो, उसमें सबको उपवास करना चाहिये। वह भगवान् शिवका सायुज्य प्रदान करनेवाली है[१]। वही शिवरात्रिके नामसे विख्यात है। वह सब पापोंका नाश करनेवाली है। इस विषयमें एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। पूर्वकालमें कोई विधवा ब्राह्मणी थी, जिसकी प्रकृति बड़ी चंचल थी। वह कामभोगमें आसक्त रहती थी। अतः किसी कामी चाण्डालके साथ उसका सम्बन्ध हो गया। उसके गर्भसे दुरात्मा चाण्डालके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम दुस्सह था। दुस्सह बड़ा ही दुष्टात्मा था। वह सब धर्मोंके विपरीत ही आचरण करता था। महान् पापपूर्ण प्रयोगोंके द्वारा वह सदा नये-नये पाप प्रारम्भ करता था। वह जुआरी, शराबी, चोर, गुरुस्त्रीगामी, वधिक, दुष्टात्मा तथा चाण्डालोचित कर्म करनेवाला था।

एक दिन वह अधर्मी मनमें कोई बुरी वृत्ति लेकर ही किसी शिवालयमें गया। उस दिन शिवरात्रि थी। वह रातमें भगवान् शिवके पास उपवासपूर्वक रहा और वहाँ पास ही दैवात् होती हुई शैवशास्त्रकी कथा सुनता रहा। वहाँ उसे लिंगस्वरूप भगवान् शिवका दर्शन हुआ। दुष्ट होते हुए भी उसने एक रात व्रत किया और शिवरात्रिमें जागता रहा। उसी शुभ कर्मके परिणामसे उसने पुण्ययोनि प्राप्त करके बहुत वर्षोंतक पुण्यात्माओंके लोकमें सुख-भोग किया। तदनन्तर वह राजा चित्रांगदका पुत्र हुआ। उसमें राजराजेश्वरोंके लक्षण थे। वहाँ वह विचित्रवीर्य[२] के नामसे प्रसिद्ध हुआ। उसका रूप सुन्दर था। उसे सुन्दरी स्त्रियाँ प्यार करती थीं। उसने बहुत बड़ा राज्य प्राप्त करके भी अपने मनमें अहंकार नहीं आने दिया। भगवान् शिवकी भक्ति करते हुए वह सदा शिवधर्मके पालनमें ही तत्पर रहा। शिवसम्बन्धी शास्त्रोंको मान्यता देकर वह उन्हींके अनुसार शिवकी पूजा किया करता था। भगवान् शिवके समीप यत्नपूर्वक रात्रिमें जागरण

१- निशीथसंयुता या तु कृष्णपक्षे चतुर्दशी। उपोष्या सा तिथिः सर्वैः शिवसायुज्यकारिका॥

(स्क० पु०, मा० के० ३३। ९२)

२- यह विचित्रवीर्य शान्तनुपुत्र नहीं है; क्योंकि यह तो शिवसायुज्य होकर वीरभद्र नामसे भगवान् शिवका गण हुआ और इसने दक्ष-यज्ञका विध्वंस किया जो कि शान्तनुसे बहुत पहलेकी बात है।

करके भगवान् शिवकी गाथाका गान करता और रोमांचित होकर नेत्रोंसे आनन्दके अश्रुकण बहाया करता था। भगवान् शिवकी कथा सुननेसे उसमें प्रेमके सभी लक्षण प्रकट हो जाते थे। उसे देवाधिदेव शिवकी प्रेमलक्षणा-भक्ति प्राप्त हुई। भगवान् शिवके ध्यानमें निरन्तर संलग्न रहनेके कारण उसकी सारी आयु व्रतमें ही बीती।

भगवान् शिव इस संसारमें पशुओं (अज्ञानियों) तथा ज्ञानीजनोंको समान रूपसे सुलभ हैं। अतः सुखकी प्राप्तिके लिये एकमात्र सदाशिवका ही सेवन करना चाहिये। शिवरात्रिके उपवाससे राजाको उत्तम ज्ञान प्राप्त हुआ। उस ज्ञानसे सब प्राणियोंमें निरन्तर समभावका अनुभव हुआ। फिर, एकमात्र भगवान् सदाशिव ही सब भूतोंके आत्मारूप हैं, इस ज्ञानका साक्षात्कार हुआ। तत्पश्चात् यह अनुभव हुआ कि इस संसारमें कहीं कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो भगवान् शिवसे रहित हो। इस प्रकार उन्होंने अत्यन्त दुर्लभ एवं पूर्ण प्रपंचातीत ज्ञान प्राप्त कर लिया। वह ज्ञान विज्ञ पुरुषोंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ है, फिर औरोंकी तो बात ही क्या है। राजा विचित्रवीर्य वह ज्ञान प्राप्त करके भगवान् शिवके अत्यन्त प्रिय भक्त हो गये। शिवरात्रिके उपवाससे उन्होंने सायुज्य मुक्ति प्राप्त कर ली। उसी पुण्यके प्रभावसे उन्होंने शिवजीकी लीलामें योग देनेके लिये शिवजीसे ही दिव्य जन्म प्राप्त किया। दक्ष-कन्या सतीसे जब शिवजीका वियोग हुआ तब उनके जटा फटकारनेके शब्दसे उन्हींके मस्तकसे जो वीरभद्र नामक वीर उत्पन्न हुआ, वह राजा विचित्रवीर्य ही है। वही दक्ष-यज्ञका विनाश करनेवाला हुआ।

इसी प्रकार अन्य बहुत-से मनुष्य भी शिवरात्रि-व्रतके प्रभावसे पूर्वकालमें सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। राजा भरत आदि तथा मान्धाता, धुन्धुमार और हरिश्चन्द्र आदि नरेश भी इस (विचित्रवीर्यद्वारा किये हुए ) उत्तम शिवरात्रि-व्रतका अनुष्ठान करके ही सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। इन सबके अतिरिक्त भी बहुत-से कुल इस श्रेष्ठ व्रतके द्वारा तारे गये हैं, जिनकी गणना या वर्णन करना असम्भव है।

देवाधिदेव जगदीश्वर शिवने अपने वीरभद्र आदि असंख्य गणोंके साथ कैलासमें राज्य किया है। वहाँ भगवान् रुद्रके साथ ऋषि और इन्द्रादि देवता भी सेवामें उपस्थित रहते हैं। ब्रह्माजी उनकी स्तुति करते रहते हैं। भगवान् विष्णु आज्ञापालक सेवककी भाँति खड़े होते हैं। इन्द्र सब देवताओंके साथ सेवा-धर्मका पालन करते हैं। चन्द्रमा भगवान्के मस्तकपर छत्र धारण करते हैं और वायुदेव चँवर डुलाते हैं। साक्षात् अग्निदेव ही सदा उनके रसोइया बने रहते हैं। स्वर्गवासी गन्धर्व उनके दरबारमें गीत गाते और स्तुति-पाठ करते हैं। इस प्रकार भगवान् महेश्वर कैलास पर्वतपर अपने प्रतापी पुत्र गणेश और कार्तिकेय आदिके साथ तथा महारानी गिरिराजनन्दिनी उमाके साथ महान् पराक्रमका परिचय देते हुए राज्य करते हैं।

# कुमारिकाखण्ड

## पंचाप्सरस तीर्थमें अर्जुनद्वारा अप्सराओंका उद्धार

**मुनियोंने पूछा**—विशाल नेत्रोंवाले सूतजी! दक्षिण समुद्रके तटोंपर जो पाँच तीर्थ हैं, उनका वर्णन कीजिये; क्योंकि मुनिलोग उन तीर्थोंकी अधिक चर्चा करते हैं।

**उग्रश्रवा बोले**—मुनिवरो! इस विषयमें पहले नारदजीने जो अर्जुनकी आश्चर्यमयी कथा कही है, उसे मैं आपलोगोंसे विस्तारपूर्वक कहूँगा। पूर्वकालकी बात है, कुछ कारणवश अर्जुन (बारह वर्षोंतक तीर्थयात्राके लिये निकले थे, वे) मणिपुर होते हुए दक्षिण समुद्रके तटपर वहाँके पाँच तीर्थोंमें स्नान करनेके लिये आये। ये तीर्थ वे ही हैं जिन्हें उस समय भयके मारे तपस्वीलोग स्वयं भी छोड़ चुके थे और दूसरोंको भी वहाँ जानेसे मना करते थे। उनमें पहला 'कुमारेश' तीर्थ है, जो मुनियोंको प्रिय है। दूसरा 'स्तम्भेश' तीर्थ है, जो सौभद्र मुनिको प्रिय है। तीसरा 'वर्करेश्वर' तीर्थ है, जो इन्द्रपत्नी शचीको प्रिय लगता है और बहुत उत्तम है। चौथा 'महाकालेश्वर' तीर्थ है, जो राजा करन्धमको अधिक प्रिय है। इसी प्रकार पाँचवाँ 'सिद्धेश' नामक तीर्थ है, जो महर्षि भारद्वाजको विशेष प्रिय है। कुरुश्रेष्ठ अर्जुनने इन पाँचों तीर्थोंका दर्शन किया, जिन्हें तपस्वियोंने त्याग दिया था। वास्तवमें वे पाँचों तीर्थ महान् पुण्यके जनक थे। अर्जुनने नारद आदि महामुनियोंका दर्शन करके उनसे पूछा—'महात्माओ! ये तीर्थ तो बड़े ही सुन्दर और अद्भुत प्रभावसे युक्त हैं, तो भी ब्रह्मवादी मुनियोंने सदाके लिये इनका परित्याग क्यों कर दिया है?'

**तपस्वी बोले**—कुरुनन्दन! इन तीर्थोंमें पाँच ग्राह निवास करते हैं, जो तपस्वी मुनियोंको जलमें खींच ले जाते हैं। इसीलिये ये तीर्थ त्याग दिये गये हैं।

यह सुनकर महाबाहु अर्जुनने समुद्रके तटपर उन तीर्थोंमें जानेका विचार किया। तब उनसे तपस्वी महात्माओंने कहा—'अर्जुन! वहाँ तुम्हें नहीं जाना चाहिये। ग्राहोंने बहुतेरे राजाओं और मुनियोंको मार डाला है। तुम तो बारह वर्षतक अनेक तीर्थोंमें स्नान कर चुके होगे। फिर इन पाँच तीर्थोंसे तुम्हें क्या लेना है? दीपशिखापर जल मरनेवाले पतंगोंकी भाँति इन तीर्थोंमें प्राण देनेके लिये न जाओ।'

**अर्जुनने कहा**—मुनिवरो! आपलोगोंका दयालु स्वभाव है, आपने जो सार बात बतायी है, वह ठीक है; तथापि अपनी ओरसे मैं सेवामें कुछ निवेदन करता हूँ। जो मनुष्य धर्माचरणकी इच्छासे कहीं जाता हो, उसे मना करना महात्माओंके लिये भी उचित नहीं है। जीवन बिजलीकी चमकके समान क्षणभंगुर है। वह यदि धर्म-पालनके लिये चला जाता (नष्ट हो जाता) है, तो जाय, इसमें क्या दोष है? जिनके जीवन, धन, स्त्री, पुत्र, खेत और घर धर्मके काममें चले जाते हैं, वे ही इस पृथ्वीपर मनुष्य कहलानेके अधिकारी हैं।*

---

* यज्जीवितं चाचिरांशुसमानं क्षणभङ्गुरम्। तच्चेद्धर्मकृते याति यातु दोषोऽस्ति को ननु॥
जीवितं च धनं दारा पुत्राः क्षेत्रं गृहाणि च। याति येषां धर्मकृते त एव भुवि मानवाः॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० १। २१-२२)

**तपस्वी बोले**—पार्थ! इस प्रकार धर्माचरण करते हुए तुम्हारी आयु बड़ी हो और धर्ममें तुम्हारा अनुराग निरन्तर बना रहे। जाओ, अपना मनोरथ सिद्ध करो।

मुनियोंके ऐसा कहनेपर अर्जुनने उन सबको प्रणाम किया और आशीर्वाद ले सौभद्र महर्षिके उत्तम तीर्थमें जाकर स्नान किया। इसी समय जलके भीतर रहनेवाले महान् ग्राहने नरश्रेष्ठ अर्जुनको पकड़ लिया। महाबाहु अर्जुन बलवानोंमें श्रेष्ठ थे। वे जोर-जोरसे फड़कते हुए उस जलचर जीवको बलपूर्वक लिये-दिये जलसे बाहर निकल आये। ज्यों ही उसे खींचकर वे बाहर लाये, वह ग्राह समस्त आभूषणोंसे विभूषित कल्याणमयी नारीके रूपमें परिणत हो गया। उसका रूप दिव्य था। वह मनको मोह लेनेवाली थी। उस समय अर्जुनने उससे पूछा—'कल्याणी! तुम कौन हो? जलमें विचरनेवाली मकरीका रूप तुम्हें कैसे मिला? ऐसा महान् पाप तुमने क्यों किया?'

**नारी बोली**—कुन्तीनन्दन! मैं देवताओंके नन्दनवनमें निवास करनेवाली अप्सरा हूँ। मेरा नाम वर्चा है। यहाँ मेरी चार सखियाँ और हैं। वे सभी सुन्दरी तथा इच्छानुसार गमन करनेवाली हैं। एक दिन उन सबको साथ लेकर मैं देवराज इन्द्रके भवनसे चली और एक वनमें पहुँचकर मैंने देखा, कोई ब्राह्मण देवता अकेले एकान्तमें बैठकर स्वाध्याय कर रहे हैं। उनका रूप बड़ा सुन्दर है। वीरवर! उनकी तपस्याके तेजसे वह सारा वन प्रकाशित हो रहा था। वे सूर्यकी भाँति उस समस्त प्रदेशको आलोकित कर रहे थे। उन्हें देखकर उनकी तपस्यामें विघ्न डालनेकी इच्छासे मैं वहाँ उतर गयी। मैं, सौरभेयी, सामेयी, बुद्बुदा और लता सब एक ही साथ उन ब्राह्मण देवताके समीप पहुँचीं तथा गाती और खेलती हुई उन्हें लुभानेकी चेष्टा करने लगीं। वीर! यह सब करनेपर भी उन्होंने अपना मन हमारी ओर नहीं आने दिया। वे महातेजस्वी ब्राह्मण निर्मल तपस्यामें स्थित थे। हमारी अनुचित चेष्टाओंसे कुपित होकर उन्होंने हम सबको शाप दे दिया—'अरी! तुम सब लोग सौ वर्षोंतक जलके भीतर ग्राह बनकर रहो।'

यह शाप सुनकर हमलोग अत्यन्त व्यथित हो उठीं और उन्हीं तपस्वी ब्राह्मणकी शरणमें गयीं। हमने प्रार्थनापूर्वक कहा—'विप्रवर! हम सबने बड़ा अनुचित किया है; फिर भी आप हमारे अपराधको क्षमा कर देने योग्य हैं। मुने! आप धर्मज्ञ हैं, ब्राह्मण सब प्राणियोंके प्रति मित्र-भाव रखनेवाला बताया गया है। मनीषी महात्माओंका यह वचन सत्य हो। साधुपुरुष शरणागतोंकी रक्षा करते हैं। हम सब आपकी शरणमें आयी हैं; अतः कृपापूर्वक हमें क्षमा कर दें।'

सूर्य और चन्द्रमाके समान तेजस्वी वे धर्मात्मा ब्राह्मण सदा कल्याणमय कर्म करनेवाले थे। अप्सराओंके प्रार्थना करनेपर उन्होंने उनपर कृपा की और इस प्रकार कहा—'देवियो! यदि लोग अपने सिरपर खड़ी हुई मृत्युको देख लें तो उन्हें भोजन भी न रुचे, फिर पापमें प्रवृत्ति तो हो ही कैसे सकती है? अहो! सब रत्नोंसे बढ़कर अत्यन्त दुर्लभ इस मनुष्य-जन्मको पाकर स्त्रियोंके मोहमें फँसे हुए कुछ नीच मनुष्य इसे तिनकेके समान गँवा देते हैं। यह कितने आश्चर्यकी बात है।* हम पूछते हैं, तुमलोगोंका जन्म किसलिये हुआ

* मस्तकस्थापिनं मृत्युं यदि पश्येदयं जनः। आहारोऽपि न रोचेत किमुताकार्यकारिता॥
अहो मानुष्यकं जन्म सर्वरत्नसुदुर्लभम्। तृणवत् क्रियते कैश्चिद् योषिन्मूढैर्नराधमैः॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० १।४९-५०)

है अथवा उससे क्या लाभ है। अपने मनमें विचार करके इसका उत्तर दो। हम स्त्रियोंकी निन्दा नहीं करते, जिनसे सबका जन्म होता है। केवल उन पुरुषोंकी निन्दा करते हैं, जो स्त्रियोंके प्रति उच्छृंखल हैं, मर्यादाका उल्लंघन करके उनके प्रति आसक्त हैं। ब्रह्माजीने संसारकी सृष्टि बढ़ानेके लिये स्त्री-पुरुषके जोड़ेका निर्माण किया है। अतः इसी भावसे स्त्री-पुरुषोंको मिथुन-धर्मका पालन करना चाहिये। इसमें कोई दोष नहीं है। परंतु इतना ध्यान रखना चाहिये कि जो नारी अपने बन्धु-बान्धवोंद्वारा ब्राह्मण और अग्निके समीप शास्त्रीय विधिसे अपनेको दी गयी हो, उसीके साथ सदा गृहस्थ-धर्मका पालन करना श्रेष्ठ माना गया है। इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक शास्त्र-मर्यादाके अनुकूल चलाया जानेवाला अपना गार्हस्थ्य उत्तम तथा महान् गुणकारक हो सकता है। जो गृहस्थी शास्त्र-मर्यादाके अनुसार नहीं चलायी जाती, वह दोषका कारण भी हो सकती है। पाँच मुखोंवाले नगरमें, जिसके द्वारोंपर ग्यारह योद्धा पहरा देते हैं, जो पुरुष अपनी स्त्री और अनेक सन्तानोंके साथ मौजूद है, वह अचेतन कैसे हो जाता है। स्त्रीके साथ संयोग इसलिये किया जाता है कि उससे पुत्र उत्पन्न होकर पंचयज्ञ आदि कर्मोंद्वारा सम्पूर्ण विश्वका उपकार कर सके, किंतु हाय! मूढ़ मनुष्य उस पवित्र संयोगको किसी और ही भावसे ग्रहण करते हैं। छः धातुओंका सारभूत जो वीर्य है उसे अपने समान वर्णवाली स्त्रीको छोड़कर अन्य किसी निन्दित योनिमें यदि कोई छोड़ता है, तो उसके लिये यमराजने ऐसा कहा है—पहले तो वह अन्नका द्रोही है, फिर आत्माका द्रोही है, फिर पितरोंका द्रोही है तथा अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण विश्वका द्रोही है। ऐसा पुरुष अनन्तकालतक अन्धकारपूर्ण नरकमें पड़ा रहता है। देवता, पितर, ऋषि, मनुष्य (अतिथि) तथा सम्पूर्ण भूत (प्राणी) मनुष्यके सहारे जीविका चलाते हैं। अतः प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह इन पाँचोंका उपकार करनेके लिये सदा उद्यत रहे। जो मन, वाणी, जिह्वा, हाथ और कानको अपने वशमें करके जितेन्द्रिय हो गया है, उसे हंसतीर्थ कहते हैं। उससे भिन्न जो अजितेन्द्रिय पुरुष हैं, वे सब काकतीर्थ हैं। जो तमोगुणी मनुष्य काकवत् आचरण करनेवाले मनुष्यमें (काकतीर्थमें) हंसबुद्धिसे रमण करते हैं, उनसे देवताओंका क्या प्रयोजन है? यह ध्यान देकर सोचनेकी बात है। इस प्रकार संसारका जो निर्माण हुआ है, उसे हृदयके भीतर स्मरण रखनेवाले पुरुषका मन त्रिलोकीका राज्य पानेके लिये भी कैसे पापमें प्रवृत्त हो सकता है। अप्सराओ! अन्यान्य मनुष्योंके कर्मोंका जो यह शास्त्रद्वारा ज्ञात होनेवाला परिणाम है, उसे मैंने यमलोकमें प्रत्यक्ष देखा है। फिर मुझे कैसे मोह हो? तुमलोग वनमें जलके भीतर ग्राह होकर रहोगी और उसमें स्नानके लिये आनेवाले पुरुषोंको पकड़ोगी। कुछ वर्षोंतक इस जीवनमें रह लेनेके पश्चात् जब कोई श्रेष्ठ पुरुष तुम्हें जलसे बाहर स्थलपर खींच ले जायगा, तब तुम पुनः अपना यह स्वरूप प्राप्त कर लोगी। मैंने पहले कभी हँसीमें भी झूठ बात नहीं कही है। जैसे निन्दित पेय पदार्थको पीने अथवा अशुद्ध वस्तुके छूनेकी शुद्धि प्रायश्चित्तसे होती है, उसी प्रकार इस शापको भोग लेनेसे ही तुम्हारी उत्तम शुद्धि हो सकती है।'

**स्त्री बोली**—तदनन्तर उन ब्राह्मण देवताको प्रणाम करके हमने उनकी परिक्रमा की और उस स्थानसे दूर हटकर अत्यन्त दुःखित हो, हम बड़ी चिन्तामें पड़ गयीं। सोचने लगीं, 'किस उपायसे थोड़े ही समयमें हम सब उस मनुष्यके समीप जा सकती हैं, जो पुनः हमें अपने स्वरूपकी प्राप्ति करा देगा।' दो घड़ीतक इस प्रकार चिन्ता करनेके पश्चात् हम बड़भागिनी स्त्रियोंने वहाँ स्वतः आये हुए देवर्षि नारदजीको देखा। तब उन्हें प्रणाम करके उदास

मुखसे हमलोग खड़ी हो गयीं। नारदजीने हमारे दुःखका कारण पूछा। उनके पूछनेपर हमने सब वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों कह सुनाया। सुनकर वे इस प्रकार बोले—'दक्षिणमें समुद्रके किनारे जो परम पवित्र और सुन्दर पाँच तीर्थ हैं, वहीं तुम सब लोग शीघ्र चली जाओ। वहाँ शुद्ध चित्तवाले नरश्रेष्ठ पाण्डुनन्दन अर्जुन तुम सबको इस दुःखसे छुटकारा दिलायेंगे।' वीरवर! देवर्षि नारदजीकी वह बात सुनकर हम सब सखियाँ यहीं आ गयी थीं। अब तुम उनकी बात सत्य करनेयोग्य हो। तुम्हारे-जैसे साधुपुरुषोंका जन्म दीन-दुःखियोंकी भलाई करनेके लिये ही होता है।

वर्चाकी यह बात सुनकर पाण्डुकुमार अर्जुनने बारी-बारीसे सब तीर्थोंमें स्नान किया और ग्राह बनी हुई सब अप्सराओंका कृपापूर्वक उद्धार कर दिया। तदनन्तर वे सब अप्सराएँ वीर अर्जुनको प्रणाम कर तथा उन्हें अनेकानेक आशीर्वाद देकर

आकाशमें उड़ गयीं।

## सारस्वत-कात्यायन-संवाद—दान और त्यागकी महिमा

**उग्रश्रवा मुनि बोले**—तदनन्तर अर्जुनने ब्राह्मणोंसे घिरे हुए देवपूजित नारदजीके समीप जाकर सबको पृथक्-पृथक् प्रणाम किया। तब नारदजीने उनसे कहा—'धनंजय! तुम्हें शत्रुओंपर विजय प्राप्त हो। तुम्हारी बुद्धि धर्म, देवता और ब्राह्मणोंकी सेवामें लगे। वीर! बारह वर्षकी यह लंबी यात्रा करते समय तुम्हें कोई कष्ट तो नहीं हुआ? जिसके हाथ, पैर और मन भलीभाँति संयममें हों तथा जिसकी सभी क्रियाएँ निर्विकार भावसे सम्पन्न होती हों, वही तीर्थका पूरा फल प्राप्त करता है।* यह बात तुम्हें अपने हृदयमें धारण करनी चाहिये। तात! हम तुमसे क्या कहें? धर्मराज युधिष्ठिर जिसके भाई और भगवान् श्रीकृष्ण जिसके मित्र हैं, उसे कोई क्या शिक्षा दे सकता है? तथापि यह उचित है कि ब्राह्मणोंद्वारा मनुष्योंको शिक्षा मिले। भगवान् विष्णुने हमें धर्मगुरुके पदपर स्थापित किया है। ब्राह्मणोंके प्रति श्रीहरिने जो उद्गार प्रकट किया है, उसे सुनो—'जिसके सुधाके समान निर्मल यशको सुनना—उसमें गोते लगाना, चाण्डालपर्यन्त सम्पूर्ण जगत्को तत्काल पवित्र कर देता है, वह मैं विष्णु जो विकुण्ठ नामसे प्रसिद्ध हूँ; मुझे यह परम पवित्र कीर्ति आप-जैसे उत्तम ब्राह्मणोंसे ही प्राप्त हुई है। अतः यदि मेरी यह बाँह भी आपलोगोंके प्रतिकूल चले तो मैं इसे काट डालूँगा; फिर औरोंकी तो बात ही क्या है?' कुन्तीनन्दन! मैं तुम्हें कुछ प्रिय समाचार सुनाता हूँ। तुम जिनकी कुशल चाहते हो, वे यदुवंशी और पाण्डव सब कुशलसे हैं। इस समय राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे भीमसेनने राजा वीरवर्माको मार डाला है, जो कौरवोंको सदा सन्ताप पहुँचाता

* यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्। निर्विकाराः क्रियाः सर्वाः स तीर्थफलमश्नुते॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० २।६)

ब्राह्मणोंसे घिरे हुए देवर्षि नारदजीके साथ अर्जुनका संवाद

था। जैसे पहले राजा बलि अत्यन्त बलवान् और अजेय थे, उसी प्रकार राजा वीरवर्मा भी समस्त राजाओंके लिये अजेय हो गया था।'

नारदजीकी कही हुई ये सब बातें सुनकर अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे बोले—'मुने! जो ब्राह्मणोंकी इच्छाके अनुसार चलते और ब्राह्मणोंका सदा समादर करते हैं, वे अकुशली कैसे हो सकते हैं? मैं सदा संयम-नियमसे रहकर तीर्थोंमें विचरता हुआ इस तीर्थमें आया हूँ। इससे मेरे हृदयमें बड़ा आनन्द है। तीर्थोंका दर्शन धन्य है! उनमें स्नान करनेका महत्त्व दर्शनसे भी अधिक है, तथा उनके माहात्म्यको सुनना दर्शन और स्नानसे भी बढ़कर है। ऐसा और्व मुनिका कथन है।[१] अतः मैं इस तीर्थके गुणोंका वर्णन सुनना चाहता हूँ।'

**नारदजीने कहा**—कुन्तीनन्दन! तुम स्वयं गुणी हो, इसलिये गुणोंको पूछते हो। यह तुम्हारे लिये सर्वथा उचित ही है। गुणी पुरुषोंमें ही धर्मसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंको सुननेकी इच्छा होनी सम्भव है। साधुपुरुषोंकी आयु प्रतिदिन धर्मकी बातें सुनने तथा धर्म और ईश्वरके कीर्तन करनेमें ही बीतती है। परंतु पापात्मा पुरुषोंकी आयु सदा बुरी चर्चाएँ करनेमें ही व्यर्थ नष्ट होती है[२]। इसलिये मैं इस तीर्थके जो बहुत-से गुण हैं, उनका वर्णन करूँगा। अर्जुन! पहलेकी बात है, मैं कपिलजीके पीछे-पीछे तीनों लोकोंमें विचरता हुआ एक दिन ब्रह्मलोकमें गया। वहाँ मैंने लोकपितामह ब्रह्माजीका दर्शन किया और उन्हें प्रणाम करके कपिलदेवजीके साथ प्रसन्नतापूर्वक बैठा। ब्रह्माजीने स्नेहपूर्ण दृष्टिसे मेरी ओर देखकर ही मानो मेरा स्वागत किया था। इसी समय वहाँ कुछ ब्राह्मण पधारे, जो सदा जगत् स्थिति देखनेके लिये लोकहितके उद्देश्यसे भ्रमण करते रहते हैं। वे भी जब प्रणाम करके बैठ गये, तब पितामहने अपनी अमृतमयी दृष्टिसे देखकर उन्हें आनन्दमग्न करते हुए पूछा—'ब्राह्मणो! तुमने कहाँ-कहाँ भ्रमण किया है? क्या-क्या देखा अथवा सुना है? यदि कहीं कोई अद्भुत बात हो तो बताओ।' उनके इस प्रकार पूछनेपर वे सुश्रवा नामवाले ब्राह्मण ब्रह्माजीको मस्तक झुकाकर इस प्रकार बोले—'भगवन्! सर्वज्ञ प्रभुके सामने किसी बातका विज्ञापन करना वैसा ही है, जैसा सूर्यके आगे दीपक दिखाना। फिर भी पुण्यके लिये आपने हमें कुछ कहनेकी आज्ञा दी है, इसलिये अवश्य कुछ निवेदन करना उचित है। कात्यायन नामके एक मुनि थे, जिन्होंने बहुत-से धर्मोंका श्रवण करके उनका सारतत्त्व जाननेकी इच्छासे एक अँगूठेके बलपर खड़े हो सौ वर्षोंतक तपस्या की। तदनन्तर दिव्य आकाशवाणी हुई—'कात्यायन! तुम परम पवित्र सरस्वती नदीके तटपर जाकर सारस्वत मुनिसे पूछो। सारस्वत मुनि धर्मके तत्त्वको जाननेवाले हैं। वे तुम्हें सारभूत धर्मका उपदेश करेंगे।'

'यह सुनकर मुनिवर कात्यायन मुनिश्रेष्ठ सारस्वतके पास गये और भूमिपर मस्तक रखकर उन्हें प्रणाम करके अपने मनकी शंका इस प्रकार पूछने लगे—'महर्षे! कोई सत्यकी प्रशंसा करते हैं, कुछ लोग तप और शौचाचारकी महिमा गाते हैं, कोई सांख्य (ज्ञान)-की सराहना करते हैं, कुछ अन्य लोग योगको महत्त्व देते हैं, कोई क्षमाको श्रेष्ठ बतलाते हैं, कोई इन्द्रिय-संयम और सरलताको तो कोई मौनको सर्वश्रेष्ठ कहते हैं, कोई शास्त्रोंके स्वाध्यायकी तो कोई सम्यक्

---

१-तीर्थानां दर्शनं धन्यमवगाहस्ततोऽधिकः। माहात्म्यश्रवणं तस्मादित्यौर्वो मुनिरब्रवीत्॥
(स्क०पु०, मा० कुमा० २। १७)

२-साधूनां धर्मश्रवणैः कीर्तनैर्याति चान्वहम्। पापानामसदालापैरायुर्याति वृथात्ययम्॥
(स्क०पु०, मा० कुमा० २। २१)

ज्ञानकी प्रशंसा करते हैं, कोई वैराग्यको उत्तम बताते हैं तो कुछ लोग अग्निष्टोम आदि यज्ञ-कर्मको श्रेष्ठ मानते हैं और दूसरे लोग मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णमें समभाव रखते हुए आत्मज्ञानको ही सबसे उत्तम समझते हैं। कर्तव्य और अकर्तव्यके विषयमें प्रायः लोककी यही स्थिति है। अतः सबसे श्रेष्ठ क्या है? यह विचार करनेवाले मनुष्य बहुधा मोहको ही प्राप्त होते हैं। मुने! आप सर्वज्ञ हैं, ऊपर बताये हुए कार्योंमें जो सर्वोत्तम, महात्मा पुरुषोंके द्वारा भी अनुष्ठान करने योग्य तथा सब पुरुषार्थोंका साधक हो, वह मुझे बतानेकी कृपा करें।'

**सारस्वत बोले**—ब्रह्मन्! माता सरस्वतीने मुझे जो कुछ बतलाया है, उसके अनुसार मैं सारतत्त्वका वर्णन करूँगा, सुनो। यह सम्पूर्ण जगत् छायाकी भाँति उत्पत्ति और विनाशरूप धर्मसे युक्त है। धन, यौवन और भोग जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाकी भाँति चंचल हैं। यह जानकर और इसपर भलीभाँति विचार करके भगवान् शंकरकी शरणमें जाना चाहिये और दान भी करना चाहिये। किसी भी मनुष्यको कदापि पाप नहीं करना चाहिये, यह वेदकी आज्ञा है। श्रुति यह भी कहती है कि महादेवजीका भक्त जन्म और मृत्युके बन्धनमें नहीं पड़ता। पूर्वकालमें सावर्णि मुनिने जो दो गाथाएँ गान की हैं, उन्हें सुनो—'भगवान् धर्मका नाम वृष है। वे ही जिनके वाहन हैं, उन महादेवजीकी यदि पूजा की जाती है, तो वही सबसे महान् धर्म कहा गया है। जिसमें दुःखरूपी भँवर उठता है, अज्ञानमय प्रवाह बहता रहता है, धर्म और अधर्म ही जिसके जल हैं, जो क्रोधरूपी कीचड़से युक्त है, जिसमें मदरूपी ग्राह निवास करता है, जहाँ लोभरूपी बुलबुले उठते रहते हैं, अभिमान ही जिसकी पातालतक पहुँचनेवाली गहराई है, सत्त्वगुणरूपी जहाज जिसकी शोभा बढ़ाता है, ऐसे संसारसमुद्रमें डूबनेवाले जीवोंको केवल भगवान् शंकर ही पार लगाते हैं। दान, सदाचार, व्रत, सत्य और प्रिय वचन, उत्तम कीर्ति, धर्मपालन तथा आयुपर्यन्त दूसरोंका उपकार—इन सार वस्तुओंका इस असार शरीरसे उपार्जन करना चाहिये। राग हो तो धर्ममें, चिन्ता हो तो शास्त्रकी, व्यसन हो तो दानका—ये सभी बातें उत्तम हैं। इन सबके साथ यदि विषयोंके प्रति वैराग्य हो जाय तो समझना चाहिये, मैंने जन्मका फल पा लिया।* इस भारतवर्षमें मनुष्यका शरीर, जो सदा टिकनेवाला नहीं है, पाकर जो अपना कल्याण नहीं कर लेता, उसने दीर्घकालतकके लिये अपने आत्माको धोखेमें डाल दिया। देवता और असुर सबके लिये मनुष्य-योनिमें जन्म लेनेका सौभाग्य अत्यन्त दुर्लभ है। उसे पाकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिससे नरकमें न जाना पड़े। यह मानव-शरीर सर्वस्वसाधनका मूल है तथा सब पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेवाला है। यदि तुम सदा लाभ उठानेके ही प्रयासमें रहते हो, तो इस मूलकी यत्नपूर्वक रक्षा करो। महान् पुण्यरूपी मूल्य देकर तुम्हारे द्वारा यह मानव-शरीररूपी नौका इसलिये खरीदी जाती है कि इसके द्वारा दुःखरूपी समुद्रके पार पहुँचा जा सके। जबतक यह नौका छिन्न-भिन्न नहीं हो जाती, तबतक ही तुम इसके द्वारा संसार-समुद्रको पार कर लो। जो नीरोग मानवशरीररूपी दुर्लभ वस्तुको पाकर भी उसके द्वारा संसारसागरके पार नहीं हो जाता, वह नीच मनुष्य आत्महत्यारा है। इसी शरीरमें रहकर यतिजन परलोकके लिये तप करते हैं, यज्ञकर्ता होम करते हैं और दाता पुरुष आदरपूर्वक दान देते हैं।'

**कात्यायनने पूछा**—सारस्वतजी! दान और

---

* दानं वृत्तं व्रतं वाचः कीर्तिर्धर्मस्तथायुषः। परोपकरणं कायादसारात् सारमुद्धरेत्॥
धर्मे रागः श्रुतौ चिन्ता दाने व्यसनमुत्तमम्। इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं सम्प्राप्तं जन्मनः फलम्॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० २। ४७-४८)

तपस्यामें कौन दुष्कर है तथा कौन परलोकमें महान् फल देनेवाला है; यह बतलाइये।

**सारस्वतने कहा**—मुने! इस पृथ्वीपर दानसे बढ़कर अत्यन्त दुष्कर कोई कार्य नहीं है। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। सभी लोग इसके साक्षी हैं। मनुष्य धनके लिये महान् लोभ होनेके कारण अपने प्यारे प्राणोंका भी मोह छोड़कर महाभयंकर समुद्र, जंगल और पहाड़ोंमें प्रवेश कर जाते हैं। दूसरे लोग धनके ही लोभसे सेवा-जैसी निन्दित वृत्तिका आश्रय लेते हैं, जिसे कुत्तेकी वृत्तिके समान त्याज्य माना गया है। कुछ लोग खेतीकी वृत्ति अपनाते हैं, जिसमें प्रायः जीवोंकी हिंसा होती है और स्वयं भी बहुत क्लेश उठाने पड़ते हैं। इस प्रकार जो बड़े दुःखसे उपार्जन किया गया, सैकड़ों आयास-प्रयाससे प्राप्त किया गया, प्राणोंसे भी अधिक प्रिय है, उस धनका त्याग अत्यन्त दुष्कर है। मनुष्य अपने हाथसे उठाकर जो धन दूसरेको देता है, अथवा जिसे वह खा-पीकर भोग लेता है, वही धन वास्तवमें उस धनीका है। मरे हुए मनुष्यके धनसे तो दूसरे लोग मौज करते हैं। जो प्रतिदिन अपने पास आकर याचना करता है, मैं उसे गुरु मानता हूँ; क्योंकि वह नित्यप्रति दर्पणकी भाँति मेरे चित्तका मार्जन करके इसे स्वच्छ बनाता है। दिया जानेवाला धन घटता नहीं, अपितु सदा बढ़ता ही रहता है। ठीक उसी प्रकार, जैसे कुएँसे पानी उलीचनेपर वह शुद्ध और अधिक जलवाला होता है। एक जन्मके सुखके लिये सहस्रों जन्मोंके सुखोंपर पानी नहीं फेरना चाहिये। बुद्धिमान् पुरुष एक ही जन्ममें इतना पुण्य संचय कर लेता है, जो सहस्रों जन्मोंके लिये पर्याप्त होता है। मूर्ख मनुष्य इस लोकमें दरिद्र हो जानेकी आशंकासे अपने धनका दान नहीं करता, परंतु विद्वान् पुरुष परलोकमें दरिद्र न होना पड़े, इस शंकासे यहाँ खुले हाथों धन बाँटता है। जिनका आश्रय ही नाशवान् है, वे मनुष्य धन रखकर क्या करेंगे? जिसके लिये वे धन चाहते हैं, वह शरीर सदा रहनेवाला नहीं है। लोगोंने पहलेसे जो 'नास्ति-नास्ति' (नहीं है, नहीं है) इन दो अक्षरोंका अभ्यास कर रखा है, उसकी जगह यह 'देहि-देहि' (दो-दो) इन दो अक्षरोंका प्रस्ताव विपरीत जान पड़ता है। याचक जन 'देहि' (दीजिये) कहकर याचना नहीं करते, अपितु कृपण मनुष्यको यह समझाते हैं कि 'दान न करनेवालेकी यही (मेरी-जैसी) अवस्था होती है। अतः आप भी ऐसे ही न बनें।' याचक दाताका उपकार करनेके लिये ही उसके सामने 'देहि' (दीजिये) कहकर याचना करता है; क्योंकि दाता तो ऊपरके लोकोंमें जाता है और दान लेनेवाला नीचे ही रह जाता है। जो दान नहीं करते, वे दरिद्र, रोगी, मूर्ख तथा सदा दूसरोंके सेवक होकर दुःखके ही भागी होते हैं। जो धनवान् होकर दान नहीं करता और दरिद्र होकर कष्ट-सहनरूप तपसे दूर भागता है, इन दोनोंको गलेमें बड़ा भारी पत्थर बाँधकर जलमें छोड़ देना चाहिये। सैकड़ों मनुष्योंमें कोई शूरवीर हो सकता है, सहस्रोंमें कोई पण्डित भी मिल सकता है तथा लाखोंमें कोई वक्ता भी निकल सकता है, परंतु इनमें एक भी दाता हो सकता है या नहीं, इसमें सन्देह है। गौ, ब्राह्मण, वेद, सती स्त्री, सत्यवादी पुरुष, लोभहीन तथा दानशील मनुष्य—इन सातोंके द्वारा ही यह पृथ्वी धारण की जाती है।* उशीनर देशके राजा शिवि ब्राह्मणके लिये

---

* अहन्यहनि याचन्तमहं मन्ये गुरुं तथा। मार्जनं दर्पणस्येव यः करोति दिने दिने॥
दीयमानं हि नापैति भूय एवाभिवर्धते। कूप उत्सिच्यमानो हि भवेच्छुद्धो बहूदकः॥
एकजन्मसुखस्यार्थे सहस्राणि न लोपयेत्। प्राज्ञो जन्मसहस्रेषु संचिनोत्येकजन्मनि॥
मूर्खो हि न ददात्यर्थानिह दारिद्र्यशङ्कया। प्राज्ञस्तु विसृजत्यर्थानमुत्र तस्य शङ्कया॥

अपने शरीरको देकर स्वर्गलोकमें चले गये। विदेहनरेश निमिने अपना सम्पूर्ण राज्य, परशुरामजीने सारी पृथ्वी तथा राजा गयने नगरोंसहित समूची पृथ्वी ब्राह्मणोंको दान कर दी। एक समय जब बहुत दिनोंतक मेघोंने वर्षा नहीं की, तब वसिष्ठजीने सब प्राणियोंको उसी प्रकार जीवित रखा, जैसे प्रजापति समस्त प्रजाके जीवनकी रक्षा करते हैं। बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ पांचाल-नरेश ब्रह्मदत्तने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको शंख निधि प्रदान करके स्वर्गलोक प्राप्त किया। ये तथा और भी बहुत-से राजर्षि, जो शान्तचित्त और जितेन्द्रिय थे, दान तथा शिवभक्तिके प्रभावसे रुद्रलोकमें गये। जबतक यह पृथ्वी टिकी रहेगी तबतक इन सबकी कीर्ति स्थिर है। ऐसा विचार करके तुम सारभूत धर्मके अभिलाषी होकर भगवान् शंकरकी प्रसन्नताके लिये सदा दान करते रहो।

यह उपदेश सुनकर कात्यायन भी मोह त्यागकर वैसे ही हो गये।

## नारदजीके द्वारा धर्मवर्माके दानसम्बन्धी जटिल प्रश्नोंका समाधान

**नारदजी बोले**—वीरश्रेष्ठ अर्जुन! इस प्रकार पृथ्वीपर जो-जो पवित्र तीर्थस्थान हैं, उन सबका दर्शन करते हुए मैं समूची पृथ्वीपर घूमता-घामता भृगुके आश्रमपर पहुँचा, जहाँ श्रेष्ठ एवं पवित्र नर्मदा नदी बहती है, जिसका स्मरण सात कल्पोंतक पुण्य फल देनेवाला होता है। नर्मदा महान् पुण्य प्रदान करनेवाली, पवित्र, सर्वतीर्थमयी तथा कल्याणकारिणी है। वह अपने नामोंका कीर्तनमात्र करनेसे पवित्र कर देती है। दर्शन करनेपर तो वह विशेष पुण्यदायिनी होती है। कुन्तीनन्दन! नर्मदामें स्नान करनेपर जीव सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। जैसे पिंगला नामवाली नाड़ी शरीरके मध्य भागमें स्थित है। इसी प्रकार यह नर्मदा ब्रह्माण्डरूपी शरीरके उसी स्थान (मध्यभाग)-में स्थित बतायी गयी है। वहाँ नर्मदामें सब पापोंका नाश करनेवाला शुक्लतीर्थ है जहाँ स्नान करनेमात्रसे ब्रह्महत्या नष्ट हो जाती है। अर्जुन! उस शुक्ल तीर्थके समीप नर्मदाके उत्तर तटपर भृगु मुनिका आश्रममण्डल है, जिसमें तीनों वेदोंके विद्वान् ब्राह्मण रहकर सब ओरसे उसकी शोभा बढ़ाते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके मन्त्रोंके उच्चघोषसे वहाँकी सम्पूर्ण दिशाएँ गूँजती रहती हैं। मुनिश्रेष्ठ भृगु जहाँ विराजमान थे, उस स्थानपर मैं भी गया; मुझे आते देख भृगु आदि सब ब्राह्मणोंने उठकर मेरा स्वागत किया। भलीभाँति स्वागत करके मुझे अर्घ्य, पाद्य आदि निवेदन कर वे सब मुनीश्वर मेरे और भृगुजीके साथ आसनोंपर बैठे। फिर यह जानकर कि मैंने पूर्ण विश्राम कर लिया, मुझसे भृगुजीने इस प्रकार पूछा—'मुनिश्रेष्ठ!

---

किं धनेन करिष्यन्ति देहिनो भङ्गुराश्रयाः। यदर्थं धनमिच्छन्ति तच्छरीरमशाश्वतम्॥
अक्षरद्वयमभ्यस्तं नास्ति नास्तीति यत्पुरा। तदिदं देहि देहीति विपरीतमुपस्थितम्॥
बोधयन्ति न याचन्ते देहीति कृपणं जनाः। अवस्थेयमदानस्य माभूदेवं भवानपि॥
दातुरेवोपकाराय वदत्यर्थीति देहि मे। यस्माद्दाता प्रयात्यूर्ध्वमधस्तिष्ठेत् प्रतिग्रही॥
दरिद्रा व्याधिता मूर्खाः परप्रेष्यकराः सदा। अदत्तदाना जायन्ते दुःखस्यैष हि भाजनाः॥
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्। उभावम्भसि मोक्तव्यौ गले बद्ध्वा महाशिलाम्॥
शतेषु जायते शूरः सहस्रेषु च पण्डितः। वक्ता शतसहस्रेषु दाता जायेत वा न वा॥
गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः। अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्य्यते मही॥

(स्क० पु०, मा० कुमा० २। ६०—७१)

आपको कहाँ जाना है और कहाँसे आप यहाँ पधारे हैं?'

**तब मैंने भृगुजीसे कहा**—महर्षे! मैंने समुद्र-पर्यन्त सम्पूर्ण पृथ्वीपर भ्रमण किया है। मेरी यात्राका उद्देश्य था ब्राह्मणोंको भूमिदान करनेके लिये उत्तम भूमिकी खोज करना। मैं पग-पगपर ऐसी भूमिका अनुसन्धान करता था, जो सर्वथा निर्दोष, पवित्र तीर्थोंसे युक्त, रमणीय और मनोरम हो। किंतु किसी प्रकार ऐसी भूमि मुझे नहीं दिखायी देती।

**भृगुजी बोले**—देवर्षे! मैंने भी ब्राह्मणोंको बसानेके लिये पूर्वकालमें समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीपर भ्रमण किया था। उस समय मैंने शुभ पुण्यभूमिका दर्शन किया है। 'मही' नामसे प्रसिद्ध एक परम पवित्र नदी है, जो सर्वतीर्थमयी होनेके साथ ही परम कल्याणकारिणी है। वह देखनेमें मनोरम, सौम्य तथा महापापोंका विनाश करनेवाली है। नारद! पृथ्वीपर जो देखे हुए और बिना देखे हुए तीर्थ हैं, वे सब मही नदीके जलमें निवास करते हैं। पुण्यसलिला मही नदी समुद्रमें मिली हुई है। जहाँ मही और समुद्रका संगम हुआ है, वहाँ स्तम्भ नामक तीर्थ है, जो तीनों लोकोंमें विख्यात है। वहाँ जो मनुष्य स्नान करते हैं, वे सब पापोंसे मुक्त हो जानेके कारण यमराजके समीप नहीं जाते।

**मैंने कहा**—भृगुजी! आप और हम दोनों मही नदीके शोभायमान तटपर चलेंगे और साथ ही उस परम उत्तम स्थानका पूर्णरूपसे दर्शन करेंगे।

मेरी बात सुनकर भृगुजी मेरे साथ परम पुण्यमय महीतटका दर्शन करनेके लिये आये। उसे देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ। मेरे सम्पूर्ण शरीरमें रोमांच हो आया और मैंने हर्ष-गद्गद वाणीमें मुनिश्रेष्ठ भृगुजीसे कहा—'ब्रह्मन्! आपके प्रसादसे मैं इस स्थानको बहुत उत्तम बनाऊँगा। अब आप अपने आश्रमपर पधारें। मैं आगेके कार्यपर विचार करूँगा।' इस प्रकार भृगुजीको विदा करके मैं महीके तटपर विचार करने लगा कि यह स्थान मेरे अधीन कैसे होगा क्योंकि यह भूमि सदा राजाओंके अधीन रही है। यदि मैं राजा धर्मवर्माके पास जाकर इस भूमिके लिये याचना करता हूँ तो वे मेरे माँगनेपर मुझे अवश्य दे देंगे; परंतु मुनियोंने तीन प्रकारके द्रव्य बतलाये हैं—शुक्ल, शबल और कृष्ण। इनमें शुक्ल सबसे उत्तम है। शबल मध्यम श्रेणीका है और कृष्ण अधम कहलाता है। वेदोंको पढ़ाकर शिष्यसे दक्षिणारूपमें जो धन प्राप्त होता है वह शुक्ल कहा गया है। कन्यासे तथा सूद, व्यापार, खेती और याचनासे मिला हुआ धन शबल कहलाता है। जुआ, चोरी, दुःसाहसपूर्ण कार्य तथा छलसे कमाया हुआ धन कृष्ण कहा गया है। (ये शुक्ल, शबल और कृष्ण द्रव्य क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस माने गये हैं।) जो मनुष्य किसी उत्तम तीर्थ और पात्रको पाकर शुक्ल धनके द्वारा श्रद्धापूर्वक धर्मका अनुष्ठान करता है, वह देवयोनिमें उसके फलका उपभोग करता है। जो राजस भावसे शबल धनके द्वारा याचकोंको दान देता है, वह उसका उपभोग मनुष्य-योनिमें करता है। जो तमोगुणसे आवृत हो कृष्ण धनके द्वारा दान करता है, वह नराधम मृत्युके पश्चात् तिर्यग् योनिमें जाकर उसके फलका उपभोग करता है। इस दृष्टिसे मेरे याचना करनेपर मिला हुआ धन राजस होगा, यह बात स्वतः स्पष्ट है। यदि ब्राह्मणभावसे उपस्थिति हो राजासे प्रतिग्रहकी याचना करता हूँ तो वह भी प्रतिग्रह होनेके ही कारण मुझे अत्यन्त कष्टदायक प्रतीत होता है। यह राजप्रतिग्रह बड़ा भयंकर है। स्वादमें तो मधुके समान है, किंतु परिणाममें विषके तुल्य है। प्रतिग्रहयुक्त ब्राह्मण नरकमें जाता है, इसीलिये मैं इस प्रतिग्रहरूपी पापसे अलग हूँ। तब दान और याचना इन दोमेंसे किसी एक उपायके द्वारा यह स्थान अपने अधिकारमें करूँ। इसी बातपर मैं बार-बार विचार करने लगा।

अर्जुन! इसी समय मही और समुद्रके पवित्र संगममें स्नान करनेके लिये वहाँ बहुत-से ऋषि-मुनि आ पहुँचे।

**मैंने उन सबसे पूछा**—'महात्माओ! आपलोग कहाँसे आये हैं?' तब वे मुझे प्रणाम करके बोले—'मुने! हमलोग सौराष्ट्र देशमें रहते हैं, जहाँके राजा धर्मवर्मा हैं। राजा धर्मवर्माने दानका तत्त्व जाननेकी इच्छासे बहुत वर्षोंतक तपस्या की, तब आकाशवाणीने उनसे एक श्लोक कहा—वह इस प्रकार है, सुनो—

**द्विहेतु षडधिष्ठानं षडङ्गं च द्विपाकयुक्।**
**चतुष्प्रकारं त्रिविधं त्रिनाशं दानमुच्यते॥**

'दानके दो हेतु, छः अधिष्ठान, छः अंग, दो प्रकारके परिणाम (फल), चार प्रकार, तीन भेद और तीन विनाशसाधन हैं; ऐसा कहा जाता है।'

''यह एक श्लोकमात्र कहकर आकाशवाणी मौन हो गयी। नारदजी! राजाके पूछनेपर भी आकाशवाणीने इस श्लोकका अर्थ नहीं बतलाया। तब महाराज धर्मवर्माने ढिंढोरा पिटवाकर यह घोषणा करायी कि 'जो मेरी तपस्याद्वारा प्राप्त हुए इस श्लोककी ठीक-ठीक व्याख्या कर देगा उसे मैं सात लाख गौएँ, इतनी ही स्वर्णमुद्राएँ तथा सात गाँव दूँगा।' डंकेकी चोटपर राजाकी यह महती घोषणा सुनकर अनेक देशोंके बहुत ब्राह्मण वहाँ गये। नारदजी! हम भी धनके लोभसे वहाँ गये थे, किंतु श्लोक दुर्बोध होनेके कारण उसकी व्याख्या न करके यहाँ लौट आये हैं और अब तीर्थयात्राके लिये जाते हैं।''

अर्जुन! उन महात्माओंकी यह बात सुनकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ और उन्हें विदा करके सोचने लगा—'अहो! इस स्थानकी प्राप्तिके लिये मुझे अच्छा उपाय मिल गया, इसमें संशय नहीं है। श्लोककी व्याख्या करके विद्याके मूल्यपर मैं राजासे स्थान और धन दोनों प्राप्त करूँगा। ऐसा करनेपर मुझे प्रतिग्रह नहीं माँगना पड़ेगा। अब मेरा दुर्लभ मनोरथ सिद्ध हो गया। यद्यपि यह श्लोक अत्यन्त दुर्बोध है, तथापि मैं इसे अच्छी तरह जानता हूँ।' कुन्तीनन्दन! इस प्रकार विचार करके मुझे बड़ा हर्ष हुआ। फिर उस महीसागर-संगम तीर्थको बार-बार प्रणाम करके मैं वहाँसे चला और वृद्ध ब्राह्मणका रूप धारण करके राजा धर्मवर्माके पास जा पहुँचा। वहाँ जाकर मैंने राजासे इस प्रकार कहा—'नरेन्द्र! मुझसे श्लोककी व्याख्या सुनिये और इसके बदलेमें जो कुछ देनेके लिये आपने ढिंढोरा पिटवाया है, उसकी यथार्थता प्रकट कीजिये।'

मेरे ऐसा कहनेपर राजा बोले—'ब्रह्मन्! ऐसी बात तो बहुत अधिक श्रेष्ठ ब्राह्मण कह चुके हैं; परंतु कोई भी इसका वास्तविक अर्थ नहीं बता सका। दानके वे दोनों हेतु कौन हैं? छः अधिष्ठान कौन-से बताये गये हैं? छः अंग कौन हैं? दो फल कौन माने गये हैं? वे चार प्रकार और तीन भेद कौन-कौन-से हैं? तथा दानके तीन विनाश-साधन कौन-कौन-से बताये गये हैं? यह सब स्पष्टरूपसे वर्णन कीजिये। विप्रवर! यदि इन सात प्रश्नोंको आप भलीभाँति स्पष्ट करके बतला सकेंगे तो मैं आपको सात लाख गौ, इतनी ही स्वर्णमुद्रा तथा सात गाँव दे दूँगा। यदि नहीं बता सकें तो खाली हाथ अपने घर लौट जाइयेगा।'

अर्जुन! उनके ऐसा कहनेपर सौराष्ट्रपति राजा धर्मवर्मासे मैंने कहा—'राजन्! दानके जो दो हेतु हैं, उन्हें सुनिये,—दानका थोड़ा होना या बहुत होना अभ्युदयका कारण नहीं होता, अपितु श्रद्धा और शक्ति ही दानोंकी वृद्धि और क्षयमें कारण होती है। इनमेंसे श्रद्धाके विषयमें ये श्लोक हैं—शरीरको बहुत क्लेश देनेसे तथा धनकी राशियोंसे सूक्ष्म धर्मकी प्राप्ति नहीं होती। श्रद्धा ही धर्म और अद्भुत तप है, श्रद्धा ही स्वर्ग और मोक्ष है तथा श्रद्धा ही यह सम्पूर्ण जगत् है। यदि कोई बिना श्रद्धाके अपना सर्वस्व दे दे अथवा अपना जीवन ही निछावर कर दे तो भी वह उसका कोई फल नहीं पाता; इसलिये सबको

श्रद्धालु होना चाहिये। श्रद्धासे ही धर्मका साधन किया जाता है; धनकी बहुत बड़ी राशिसे नहीं। क्योंकि अकिंचन ऋषि-मुनि श्रद्धालु होनेके कारण ही स्वर्गलोकमें गये हैं। देहधारियोंमें उनके स्वभावके अनुसार होनेवाली श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। उसे सुनिये। सात्त्विकी श्रद्धावाले पुरुष देवताओंकी पूजा करते हैं, राजसी श्रद्धावाले लोग यक्षों और राक्षसोंको पूजते हैं तथा तामसी श्रद्धावाले मनुष्य प्रेतों, भूतों और पिशाचोंकी पूजा किया करते हैं। इसलिये श्रद्धावान् पुरुष अपने न्यायोपार्जित धनका सत्पात्रके लिये जो दान करते हैं, वह थोड़ा भी हो तो उसीसे भगवान् शिव प्रसन्न हो जाते हैं।[१]

'शक्तिके विषयमें श्लोक इस प्रकार हैं—कुटुम्बके भरण-पोषणसे जो अधिक हो, वही धन दान करने योग्य है, वही मधुके समान मीठा है—उसीसे वास्तविक धर्मका लाभ होता है। इसके विपरीत करनेपर वह आगे चलकर विषके समान हानिकारक होता है, दाताका धर्म अधर्मरूपमें परिणत हो जाता है। यदि आत्मीयजन दुःखसे जीवननिर्वाह कर रहे हों, तो उस अवस्थामें किसी सुखी और समर्थ पुरुषको दान देनेवाला मनुष्य मधुपानके धोखेमें मानो विष-भक्षण करनेवाला है। वह धर्मके अनुकूल नहीं, प्रतिकूल चलता है। जो भरण-पोषण करनेयोग्य व्यक्तियोंको कष्ट देकर किसी मृत व्यक्तिके लिये (बहु-व्ययसाध्य) श्राद्ध करता है, उसका किया हुआ वह श्राद्ध उसके जीते-जी अथवा मरनेपर भी भविष्यमें दुःखका ही कारण होता है। जो अत्यन्त तुच्छ हो अथवा जिसपर सर्वसाधारणका अधिकार हो, वह वस्तु 'सामान्य' कहलाती है, कहींसे माँगकर लायी हुई वस्तुको 'याचित' कहते हैं, धरोहरका ही दूसरा नाम 'न्यास' है, बन्धक रखी हुई वस्तुको 'आधि' कहते हैं, दी हुई वस्तु 'दान'के नामसे पुकारी जाती है, दानमें मिली हुई वस्तुको 'दान-धन' कहते हैं, जो धन एकके यहाँ धरोहर रखा गया हो और रखनेवालेने उसे पुनः दूसरेके यहाँ रख दिया हो उसे 'अन्वाहित' कहते हैं, जिसे किसीके विश्वासपर उसके यहाँ छोड़ दिया जाय, वह धन 'निक्षिप्त' कहलाता है, वंशजोंके होते हुए भी सब कुछ दूसरोंको दे देना 'सान्वय सर्वस्व दान' कहा गया है। विद्वान् पुरुषोंको चाहिये कि वे आपत्तिकालमें भी उपर्युक्त नव प्रकारकी वस्तुओंका दान न करें। जो पूर्वोक्त नव वस्तुओंका दान करता है, वह मूढ़चित्त मानव प्रायश्चित्तका भागी होता है।[२]

---

१- कायक्लेशैश्च बहुभिर्न चैवार्थस्य राशिभिः। धर्मः सम्प्राप्यते सूक्ष्मः श्रद्धा धर्मोऽद्भुतं तपः॥
श्रद्धा स्वर्गश्च मोक्षश्च श्रद्धा सर्वमिदं जगत्। सर्वस्वं जीवितं चापि दद्यादश्रद्धया यदि॥
नाप्नुयात्स फलं किञ्चिच्छ्रद्दधानस्ततो भवेत्। श्रद्धया साध्यते धर्मो महद्भिर्नार्थराशिभिः॥
निष्किञ्चना हि मुनयः श्रद्धावन्तो दिवंगताः। त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा॥
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चैव तां शृणु। यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः॥
प्रेतान् भूतान् पिशाचांश्च यजन्ते तामसा जनाः। तस्माच्छ्रद्धावता पात्रे दत्तं न्यायार्जितं हि यत्॥
तेनैव भगवान् रुद्रः स्वल्पकेनापि तुष्यति।

(स्क० पु०, मा० कुमा० ३। २९—३५)

२- कुटुम्बभुक्तभरणाद्देयं यदतिरिच्यते। मध्वास्वादो विषं पश्चाद्दातुर्धर्मोऽन्यथा भवेत्॥
शक्ते परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि। मध्वापानविषादः स धर्माणां प्रतिरूपकः॥
भृत्यानामुपराधेन यः करोत्यौर्ध्वदैहिकम्। तद्भवत्यसुखोदर्कं जीवितोऽस्य मृतस्य च॥
सामान्यं याचितं न्यासमाधिर्दानं च तद्धनम्। अन्वाहितं च निक्षिप्तं सर्वस्वं चान्वये सति॥
आपत्स्वपि न देयानि नववस्तूनि पण्डितैः। यो ददाति स मूढात्मा प्रायश्चित्ती भवेन्नरः॥

(स्क० पु०, मा० कुमा० ३। ३६—४०)

'राजन्! ये दानके दो हेतु बताये गये हैं। अब अधिष्ठानोंका वर्णन सुनो। दानके अधिष्ठान छः हैं। उन्हें बताता हूँ— धर्म, अर्थ, काम, लज्जा, हर्ष और भय—ये दानके छः अधिष्ठान कहे जाते हैं। सदा ही किसी प्रयोजनकी इच्छा न रखकर केवल धर्मबुद्धिसे सुपात्र व्यक्तियोंको जो दान दिया जाता है, उसे 'धर्म-दान' कहते हैं। मनमें कोई प्रयोजन रखकर ही प्रसंगवश जो कुछ दिया जाता है, उसे 'अर्थ-दान' कहते हैं। वह इस लोकमें ही फल देनेवाला होता है। स्त्रीसमागम, सुरापान, शिकार और जुएके प्रसंगमें अनधिकारी मनुष्योंको प्रयत्नपूर्वक जो कुछ दिया जाता है, वह 'काम-दान' कहलाता है। भरी सभामें याचकोंके माँगनेपर लज्जावश देनेकी प्रतिज्ञा करके उन्हें जो कुछ दिया जाता है, वह 'लज्जा-दान' माना गया है। कोई प्रिय कार्य देखकर अथवा प्रिय समाचार सुनकर हर्षोल्लाससे जो कुछ दिया जाता है, उसे धर्मविचारक महात्मा पुरुष 'हर्ष-दान' कहते हैं। निन्दा, अनर्थ और हिंसाका निवारण करनेके लिये अनुपकारी व्यक्तियोंको विवश होकर जो कुछ दिया जाता है, उसे 'भय-दान' कहते हैं।*

'इस प्रकार दानके छः अधिष्ठान बताये गये। अब उसके छः अंगोंका वर्णन सुनिये—दाता, प्रतिग्रहीता, शुद्धि, धर्मयुक्त देय वस्तु, देश और काल—ये दानके छः अंग माने गये हैं। दाता नीरोग, धर्मात्मा, देनेकी इच्छा रखनेवाला, व्यसनरहित, पवित्र तथा सदा अनिन्दनीय कर्मसे आजीविका चलानेवाला होना चाहिये। इन छः गुणोंसे दाताकी प्रशंसा होती है। सरलतासे रहित, श्रद्धाहीन, दुष्टात्मा, दुर्व्यसनी, झूठी प्रतिज्ञा करनेवाला तथा बहुत सोनेवाला दाता तमोगुणी और अधम माना गया है। जिसके कुल, विद्या और आचार तीनों उज्ज्वल हों, जीवननिर्वाहकी वृत्ति भी शुद्ध और सात्त्विक हो, जो दयालु, जितेन्द्रिय तथा योनि-दोषसे मुक्त हो, वह ब्राह्मण दानका उत्तम पात्र (प्रतिग्रहका सर्वोत्तम अधिकारी) कहा जाता है। याचकोंको देखनेपर सदा प्रसन्नमुख हो उनके प्रति हार्दिक प्रेम होना, उनका सत्कार करना तथा उनमें दोषदृष्टि न रखना ये सब सद्गुण दानमें शुद्धिकारक माने गये हैं। जो धन किसी दूसरेको सताकर न लाया गया हो, अति क्लेश उठाये बिना अपने प्रयत्नसे उपार्जित किया गया हो, वह थोड़ा हो या अधिक, वही देने योग्य बताया गया है। किसीके साथ कोई धार्मिक उद्देश्य लेकर जो वस्तु दी जाती है, उसे धर्मयुक्त देय कहते हैं। यदि देय वस्तु उक्त विशेषताओंसे शून्य हो तो उसके दानसे कोई फल नहीं होता। जिस देश अथवा कालमें जो-जो पदार्थ दुर्लभ हो, उस-उस पदार्थका दान करनेयोग्य वही-वही देश और काल श्रेष्ठ है;

---

* अधिष्ठानानि वक्ष्यामि षडेव शृणु तानि च। धर्ममर्थं च कामं च व्रीडाहर्षभयानि च॥
अधिष्ठानानि दानानां षडेतानि प्रचक्षते। पात्रेभ्यो दीयते नित्यमनपेक्ष्य प्रयोजनम्॥
केवलं धर्मबुद्ध्या यद्धर्मदानं तदुच्यते। प्रयोजनमपेक्ष्यैव प्रसंगाद्यत्प्रदीयते॥
तदर्थदानमित्याहुरैहिकं फलहेतुकम्। स्त्रीपानमृगयाक्षाणां प्रसंगाद्यत्प्रदीयते॥
अनर्हेषु सुयत्नेन कामदानं तदुच्यते। संसदि व्रीडयाऽऽश्रुत्य अर्थोऽर्थिभ्यः प्रयाचितः॥
प्रदीयते तु तद्दानं व्रीडादानमिति श्रुतम्। दृष्ट्वा प्रियाणि श्रुत्वा वा हर्षेण यत्प्रदीयते॥
हर्षदानमिति प्राहुर्दानं तद्धर्मचिन्तकाः। आक्रोशानर्थहिंसानां प्रतीकाराय यद्भवेत्॥
दीयतेऽनुपकर्तृभ्यो भयदानं तदुच्यते।

(स्क० पु०, मा० कुमा० ३। ४२—४९)

दूसरा नहीं। इस प्रकार ये दानके छः अंग बताये गये हैं।[१]

'अब दानके द्विविध फलोंका वर्णन सुनो। महात्माओंने दानके दो परिणाम (फल) बतलाये हैं। उनमेंसे एक तो परलोकके लिये होता है और एक इहलोकके लिये। श्रेष्ठ पुरुषोंको जो कुछ दिया जाता है, उसका परलोकमें उपभोग होता है और असत् पुरुषोंको जो कुछ दिया जाता है, वह दान यहीं भोगा जाता है। ये दो परिणाम बताये गये हैं। अब दानके चार प्रकारोंको श्रवण करो। ध्रुव, त्रिक, काम्य और नैमित्तिक—इस क्रमसे द्विजोंने वैदिक दान-मार्गको चार प्रकारका बतलाया है। कुँआ बनवाना, बगीचे लगवाना तथा पोखरे खुदवाना आदि कार्योंमें, जो सबके उपयोगमें आते हैं, धन लगाना 'ध्रुव' कहा गया है। प्रतिदिन जो कुछ दिया जाता है, उस नित्य दानको ही 'त्रिक' कहते हैं। सन्तान, विजय, ऐश्वर्य, स्त्री और बल आदिके निमित्त तथा इच्छाकी पूर्तिके लिये जो दान किया जाता है, वह 'काम्य' कहलाता है। 'नैमित्तिक' दान तीन प्रकारका बतलाया गया है। वह होमसे रहित होता है। जो ग्रहण और संक्रान्ति आदि कालकी अपेक्षासे दान किया जाता है, वह 'कालापेक्ष' नैमित्तिक दान है। श्राद्ध आदि क्रियाओंकी अपेक्षासे जो दान किया जाता है। वह 'क्रियापेक्ष' नैमित्तिक दान है तथा संस्कार और विद्या-अध्ययन आदि गुणोंकी अपेक्षा रखकर जो दान दिया जाता है, वह 'गुणापेक्ष' नैमित्तिक दान है।[२]

इस तरह दानके चार प्रकार बतलाये गये हैं। अब उसके तीन भेदोंका प्रतिपादन किया जाता है। आठ वस्तुओंके दान उत्तम माने गये हैं। विधिके अनुसार किये हुए चार दान मध्यम हैं और शेष कनिष्ठ माने गये हैं। यही दानकी

---

१- दाता प्रतिग्रहीता च शुद्धिर्देयं च धर्मयुक्। देशकालौ च दानानामङ्गान्येतानि षड् विदुः॥
अपरोगी च धर्मात्मा दित्सुरव्यसनः शुचिः। अनिन्द्याजीवकर्मा च षड्भिर्दाता प्रशस्यते॥
अनृजुश्चाश्रद्दधानो दुष्टात्मा व्यसनी च यः। असत्यसन्धो निद्रालुर्दातायं तामसोऽधमः॥
त्रिशुक्लः शुक्लवृत्तिश्च घृणालुः संयतेन्द्रियः। विमुक्तो योनिदोषेभ्यो ब्राह्मणः पात्रमुच्यते॥
सौमुख्यादभिसम्प्रीतिरर्थिनां दर्शने सदा। सत्कृतिश्चानसूया च दाने शुद्धिरिति स्मृता॥
अपराबाधमक्लेशं स्वयत्नेनार्जितं धनम्। स्वल्पं वा विपुलं वापि देयमित्यभिधीयते॥
केनापि सह धर्मेण उद्दिश्य किल किंचन। देयं तद्धर्मयुगिति शून्ये शून्यं फलं मतम्॥
यद्यच्च दुर्लभं द्रव्यं देशे कालेऽपि वा पुनः। दानार्हौ देशकालौ तौ स्यातां श्रेष्ठौ न चान्यथा॥
षडङ्गानीति चोक्तानि ··· ···॥

(स्क० पु०, मा० कुमा० ३। ५०—५७)

२- ··· ··· ··· ··· ···। ··· द्वौ च पाकावतः शृणु॥
द्वौ पाकौ दानजौ प्राहुः परत्रार्थमिहोच्यते। सद्भ्यो यद्दीयते किंचित्तत्परत्रोपभुज्यते॥
असत्सु दीयते यत्तु तद्दानमिह भुज्यते। द्वौ पाकाविति निर्दिष्टौ प्रकारांश्चतुरः शृणु॥
ध्रुवमाहुस्त्रिकं काम्यं नैमित्तिकमिति क्रमात्। वैदिको दानमार्गोऽयं चतुर्धा वर्ण्यते द्विजैः॥
कूपारामतडागादि सर्वकामफलं ध्रुवम्। तदाहुस्त्रिकमित्येव दीयते यद्दिने दिने॥
अपत्यविजयैश्वर्यस्त्रीबलार्थे च दीयते। इच्छासंस्थं च यद्दानं काम्यमित्यभिधीयते॥
कालापेक्षं क्रियापेक्षं गुणापेक्षमिति स्मृतौ। त्रिधा नैमित्तिकं प्रोक्तं सदा होमविवर्जितम्॥

(स्क० पु०, मा० कुमा० ३। ५८—६४)

त्रिविधता है, जिसे विद्वान् पुरुष जानते हैं। गृह, मन्दिर या महल, विद्या, भूमि, गौ, कूप, प्राण और सुवर्ण—इन वस्तुओंका दान अन्य दानोंकी अपेक्षा उत्तम है। अन्न, बगीचा, वस्त्र तथा अश्व आदि वाहन—इन मध्यम श्रेणीके द्रव्योंको देनेसे यह मध्यम दान माना गया है। जूता, छाता, बर्तन, दही, मधु, आसन, दीपक, काष्ठ और पत्थर आदि—इन वस्तुओंके दानको श्रेष्ठ पुरुषोंने कनिष्ठ दान बताया है। ये दानके तीन भेद बतलाये गये। अब दाननाशके तीन हेतुओंको सुनो। जिसे देकर पीछे पश्चात्ताप किया जाय, जो अपात्रको दिया जाय तथा जो बिना श्रद्धाके अर्पण किया जाय, वह दान नष्ट हो जाता है। पश्चात्ताप, अपात्रता और अश्रद्धा—ये तीनों दानके नाशक हैं। यदि दान देकर पश्चात्ताप हो तो वह आसुर-दान है, जो निष्फल माना गया है। अश्रद्धासे जो कुछ दिया जाता है, वह राक्षस-दान है। वह भी व्यर्थ ही होता है। ब्राह्मणको डाँट-फटकारकर या उसे कटुवचन सुनाकर जो दान किया जाता है अथवा दान देकर जो ब्राह्मणको कोसा जाता है, वह पैशाच-दान माना गया है। उसे भी व्यर्थ ही समझना चाहिये। ये तीनों भाव दानके नाशक हैं।[१] राजन्! इस प्रकार सात पदोंमें बँधा हुआ जो दानका यह उत्तम माहात्म्य है, उसे मैंने तुमको बताया।

**धर्मवर्मा बोले**—आज मेरा जन्म सफल हुआ। आज मुझे अपनी तपस्याका फल मिल गया। यशस्वी पुरुषोंमें श्रेष्ठ महर्षि! आज आपने मुझे कृतार्थ कर दिया। विद्या पढ़कर यदि मनुष्य दुराचारी हो गया तो उसका सम्पूर्ण जीवन व्यर्थ है। बहुत क्लेश उठाकर जो पत्नी प्राप्त की गयी, वह यदि कटुवादिनी निकली तो वह भी व्यर्थ है। कष्ट उठाकर जो कूआँ बनवाया गया, उसका पानी यदि खारा निकला तो वह भी निरर्थक है तथा अनेक प्रकारके क्लेश सहन करनेके पश्चात् जो मनुष्यजन्म मिला, वह यदि धर्माचरणके बिना बिताया गया तो उसे भी व्यर्थ ही समझना चाहिये। इसी प्रकार मेरी तपस्या भी व्यर्थ हो गयी थी। उसे आज आपने सफल कर दिया। आपको नमस्कार है। समस्त ब्राह्मणोंको बारंबार नमस्कार है।[२] पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने वैकुण्ठधाममें आये हुए सनकादि कुमारोंसे यह ठीक ही कहा

---

१- अष्टोत्तमानि चत्वारि मध्यमानि विधानतः। कानीयसानि शेषाणि त्रिविधत्वमिदं विदुः॥
गृहप्रासादविद्याभूगोकूपप्राणहाटकम्। एतान्युत्तमदानानि उत्तमान्यन्यदानतः॥
अन्नारामौ च वासांसि हयप्रभृतिवाहनम्। दानानि मध्यमानीति मध्यमद्रव्यदानतः॥
उपानच्छत्रपात्रादिदधिमध्वासनानि च। दीपकाष्ठोपलादीनि चरमान्याहुरुत्तमाः॥
इति ते त्रिविधं प्रोक्तं दाननाशत्रयं शृणु।
यद्दत्त्वा तप्यते पश्चादपात्रेभ्यस्तथा च यत्।
अश्रद्धया च यद्दानं दाननाशास्त्रयस्त्वमी॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० २। ६५—६९)

यद्दत्त्वा तप्यते पश्चादासुरं तद्वृथा मतम्। अश्रद्धया यद्ददाति राक्षसं स्याद्वृथैव तत्॥
यच्चाक्रुश्य ददात्यङ्ग दत्त्वा वाक्रोशति द्विजम्। पैशाचं तद्वृथा दानं दाननाशास्त्रयस्त्वमी॥
(स्क० वेंकटेश्वरकी प्रतिसे)

२- अद्य मे सफलं जन्म अद्य मे तपसः फलम्। अद्य वै कृतकृत्योऽस्मि कृतः कीर्तिमतां वर॥
पठित्वा सकलं जन्म दुराचारस्य नुर्वृथा। बहुक्लेशाच्च लब्धा स्त्री सा वृथाप्रियवादिनी॥
क्लेशेन कृत्वा कूपं वा स च क्षारोदको वृथा। बहुक्लेशैर्जन्म नीत्वा विना धर्मे वृथा यथा॥
एवं मे यद् वृथा जातं तपस्तत्सफलं त्वया। कृतं तस्मान्नमस्तुभ्यं द्विजेभ्यश्च नमो नमः॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ३। १७१—१७४)

था कि 'मैं यजमानके यज्ञमण्डपमें अपने अग्निरूपी मुखके द्वारा घीमें डुबोयी हुई आहुति पाकर भी उसे उतनी तृप्तिपूर्वक नहीं खाता, जितनी कि मुझमें अपने कर्मफल समर्पित करके प्रसन्न होनेवाले ब्राह्मणके मुखसे भोजन करते समय मुझे एक-एक ग्रासमें तृप्ति होती है।' अतः मैंने अपने व्यवहारोंसे यदि कभी ब्राह्मणोंका अप्रिय किया हो तो सबके स्वामी ब्राह्मणलोग कृपापूर्वक मुझे क्षमा करें। मुने! आप कौन हैं? आप कोई साधारण व्यक्ति नहीं है। मैं चरणोंमें मस्तक रखकर आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। कृपया अपना परिचय दीजिये।

राजा धर्मवर्माके ऐसा कहनेपर उस समय मैंने अपना परिचय इस प्रकार दिया—नृपश्रेष्ठ! मैं देवर्षि नारद हूँ। स्थानकी प्राप्तिके लिये आया हूँ। तुम अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार मुझे धन दो और स्थान बनानेके लिये भूमि अर्पण करो। महाराज! यद्यपि यह भूमि और धन देवताओंके ही हैं; तथापि जिस समय जो राजा हो, उसीसे उनको माँगना चाहिये। क्योंकि वह पृथ्वीका प्रतिपालक और दाता होता है। इसलिये द्रव्यशुद्धिकी इच्छासे मैं तुमसे कुछ भूमि माँगता हूँ।

**राजाने कहा**—विप्रवर! यदि आप देवर्षि नारद हैं तो यह सारा राज्य आपका ही रहे। मैं तो आपकी और समस्त ब्राह्मणोंकी चाकरी करूँगा।

**नारदजी कहते हैं**—अर्जुन! तब मैंने राजा धर्मवर्मासे कहा—'यह धन तुम्हारे ही पास रहे। आवश्यकताके समय मैं ले लूँगा।' ऐसा कहकर मैं रैवतक पर्वतपर चला गया। उस श्रेष्ठ पर्वतका दर्शन करके मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। वहाँ तपस्या करके मनुष्य अपनी अभीष्ट वस्तुको प्राप्त कर लेता है। ठीक उसी तरह जैसे भक्तपुरुष भगवान् महादेवको पाकर अपना मनोरथ सिद्ध कर लेता है। कुन्तीनन्दन! मैं रैवतक पर्वतकी एक बहुत बड़ी शिलापर बैठ गया और शीतल, मन्द, सुगन्ध पवनके स्पर्शसे अत्यन्त प्रसन्न हो मन-ही-मन विचार करने लगा—स्थान तो मैंने प्राप्त कर लिया, जो अत्यन्त दुर्लभ था। अब मैं उत्तम ब्राह्मणकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न आरम्भ करूँ। मुझे ऐसे ब्राह्मण देखने चाहिये, जो सर्वश्रेष्ठ पात्र माने गये हैं। इस विषयमें वेदवादी विद्वानोंके वचन इस प्रकार सुने जाते हैं—जैसे खेनेवालेके बिना कोई नाव किसी प्राणीको पार उतारनेमें समर्थ नहीं है, उसी प्रकार जातिसे श्रेष्ठ ब्राह्मण भी यदि दुराचारी हो तो वह किसीका उद्धार नहीं कर सकता। जिसने शास्त्रोंका अध्ययन नहीं किया है, वह ब्राह्मण तिनकेकी आगके समान शीघ्र बुझ जाता है—तेजोहीन हो जाता है। अतः उसे हव्य प्रदान नहीं करना चाहिये, क्योंकि राखमें आहुति नहीं दी जाती। दानके सुयोग्य पात्रको छोड़कर अपात्रको जो दान दिया जाता है, वह दान वैसा ही है, जैसा कि ऊसरमें बोये हुए बीज शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। दानमें ली हुई भूमि विद्याहीन ब्राह्मणके अन्तःकरणको नष्ट करती है। इसी प्रकार गाय उसके भोगोंका, सुवर्ण उसके शरीरका, घोड़ा उसके नेत्रका, वस्त्र उसकी स्त्रीका, घृत उसके तेजका और तिल उसकी सन्तानका नाश करते हैं। अतः अविद्वान् ब्राह्मणको सदा

प्रतिग्रहसे डरना चाहिये। मूर्ख ब्राह्मण थोड़ा प्रतिग्रह लेकर भी कीचड़में फँसी हुई गायकी भाँति कष्ट पाता है। इसलिये जो मूढ़ तपस्यासे युक्त और गुप्तरूपसे स्वाध्यायका साधन करनेवाले हैं तथा जो शान्त चित्तवाले हैं, उन्हींको दिया हुआ दान सदा अक्षय होता है। उत्तम देशमें (काशी आदि तीर्थोंमें), उत्तम काल (ग्रहण आदि)-में श्रेष्ठ उपायसे सत्पात्रको श्रद्धापूर्वक जो द्रव्य दिया जाता है, वही परिपूर्ण दान-धर्मका लक्षण है। केवल विद्या अथवा तपस्यासे सुपात्रता नहीं आती। जहाँ सदाचार है और उसके साथ ये दोनों (विद्या और तपस्या) भी हैं, उसीको उत्तम पात्र कहा जाता है।

## कलाप-ग्रामनिवासी सुतनुद्वारा नारदजीके जटिल प्रश्नोंका समाधान

**नारदजी कहते हैं**—अर्जुन! मैं देश-देश घूमकर विद्यारूपी नेत्रवाले ब्राह्मणोंकी परीक्षा करता हूँ। यदि वे मेरे प्रश्नोंका उत्तर दे देंगे, तब मैं उन्हें दान करूँगा। ऐसा विचार करके मैं उस स्थानसे उठा और महर्षियोंके आश्रमोंपर इन प्रश्नरूपी श्लोकोंका गान करता हुआ विचरण करने लगा। वे श्लोक इस प्रकार हैं, सुनो—

**मातृकां को विजानाति कतिधा कीदृशाक्षराम्।**
**पञ्चपञ्चाद्भुतं गेहं को विजानाति वा द्विजः॥**
**बहुरूपां स्त्रियं कर्तुमेकरूपां च वेत्ति कः।**
**को वा चित्रकथं बन्धं वेत्ति संसारगोचरः॥**
**को वार्णवमहाग्राहं वेत्ति विद्यापरायणः।**
**को वाष्टविधं ब्राह्मण्यं वेत्ति ब्राह्मणसत्तमः॥**
**युगानां च चतुर्णां वा को मूलदिवसान् वदेत्।**
**चतुर्दशमनूनां वा मूलवारं च वेत्ति कः॥**
**कस्मिंश्चैव दिने प्राप पूर्वं वा भास्करो रथम्।**
**उद्वेजयति भूतानि कृष्णाहिरिव वेत्ति कः॥**
**को वास्मिन् घोरसंसारे दक्षदक्षतमो भवेत्।**
**पन्थानावपि द्वौ कश्चिद्वेत्ति वक्ति च ब्राह्मणः॥**
**इति मे द्वादश प्रश्नान् ये विदुर्ब्राह्मणोत्तमाः।**
**ते मे पूज्यतमास्तेषामहमाराधकश्चिरम्॥**

(स्क० पु० मा० कुमा० ३। २०५—२१२)

(१) मातृकाको कौन विशेषरूपसे जानता है? वह मातृका कितने प्रकारकी और कैसे अक्षरोंवाली है? (२) कौन द्विज पचीस वस्तुओंके बने हुए गृहको अच्छी तरह जानता है? (३) अनेक रूपवाली स्त्रीको एक रूपवाली बनानेकी कला किसको ज्ञात है? (४) संसारमें रहनेवाला कौन पुरुष विचित्र कथावाली वाक्य-रचनाको जानता है? (५) कौन स्वाध्यायशील ब्राह्मण समुद्रमें रहनेवाले महान् ग्राहकी जानकारी रखता है? (६) किस श्रेष्ठ ब्राह्मणको आठ प्रकारके ब्राह्मणत्वका ज्ञान है? (७) चारों युगोंके मूल दिनोंको कौन बता सकता है? (८) चौदह मनुओंके मूल दिवसका किसको ज्ञान है? (९) भगवान् सूर्य किस दिन पहले-पहल रथपर सवार हुए? (१०) जो काले सर्पकी भाँति सब प्राणियोंको उद्वेगमें डाले रहता है, उसे कौन जानता है? (११) इस भयंकर संसारमें कौन दक्ष मनुष्योंसे भी अत्यधिक दक्ष माना गया है? (१२) कौन ब्राह्मण दोनों मार्गोंको जानता और बतलाता है? जो श्रेष्ठ ब्राह्मण मेरे इन बारह प्रश्नोंको जानते हैं, वे मेरे लिये परमपूज्य हैं और मैं उनका चिरकालतक सेवक बना रहूँगा।

अर्जुन! इन प्रश्नोंका गान करता हुआ मैं सारी पृथ्वीपर घूमता रहा। मुझे जो-जो ब्राह्मण मिले, उन सबने यही कहा—'आपके इन प्रश्नोंकी व्याख्या बहुत कठिन है। हम तो केवल नमस्कार करते हैं।' इस प्रकार सारी पृथ्वीपर घूमकर मैं लौट आया और हिमालयके शिखरपर बैठकर पुनः इस प्रकार विचार करने लगा। 'अहो! मैंने सब ब्राह्मणोंको देख लिया, अब क्या करूँ?'

इसी समय मेरे मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि 'मैं अभीतक कलाप-ग्राममें तो गया ही नहीं। वह एक उत्तम स्थान है। जहाँ ऐसे ब्राह्मण निवास करते हैं, जो तपस्याके मूर्तिमान् स्वरूप हैं। उनकी संख्या चौरासी हजार है। वे सब-के-सब वेदाध्ययनसे सुशोभित होते रहते हैं। अतः उसी स्थानपर चलूँ।'

मन-ही-मन ऐसा निश्चय करके मैं वहाँसे चल दिया और आकाशमार्गसे वहाँ जा पहुँचा। पुण्यभूमिपर बसा हुआ वह श्रेष्ठ ग्राम सौ योजनतक फैला हुआ था। नाना प्रकारके वृक्ष वहाँ सब ओरसे छाया किये हुए थे। अग्निहोत्रसे उठा हुआ धूएँका प्रवाह वहाँ कभी शान्त नहीं होता था। कलापग्राम वह स्थान है, जहाँ सत्ययुगके लिये सूर्यवंश, चन्द्रवंश तथा ब्राह्मणवंशका बीज शेष और सुरक्षित है। उस स्थानपर पहुँचकर मैंने द्विजोंके आश्रमोंमें प्रवेश किया। वहाँ श्रेष्ठ ब्राह्मण मधुर वाणीमें अनेक प्रकारके वादोंपर वार्तालाप कर रहे थे। उस समय उस विद्वत्-सभाके बीच मैंने अपनी भुजा उठाकर घोषणा की—'ब्राह्मणो! अब आपलोग मेरे प्रश्नोंका समाधान कीजिये।'

**ब्राह्मण बोले**—विप्रवर! आप अपना प्रश्न उपस्थित कीजिये। यह हमारे लिये बहुत बड़ा लाभ है कि आप कोई प्रश्न पूछ रहे हैं।

वहाँके विद्वान् ब्राह्मण 'पहले मैं उत्तर दूँगा—पहले मैं उत्तर दूँगा।' ऐसा कहकर एक-दूसरेको मना करने लगे। तब मैंने उनके सामने अपने बारह प्रश्न उपस्थित किये। सुनकर वे मुनीश्वर उन प्रश्नोंको खिलवाड़ समझते हुए मुझसे कहने लगे—'विप्रवर! आपके प्रश्न तो बालकोंके-से हैं। इन छोटे-छोटे प्रश्नोंसे यहाँ क्या होनेवाला है? आप हमलोगोंमें जिसे सबसे छोटा और ज्ञानहीन समझते हों, वही इन प्रश्नोंका उत्तर दे।' यह सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने अपनेको कृतार्थ माना और उनमेंसे एक बालकको सबसे हीन समझकर कहा—'यह मेरे प्रश्नोंका उत्तर दे।'

उस बालक ब्राह्मणका नाम सुतनु था। उसने मेरे प्रश्नोंका उत्तर देते हुए कहा—(१) मातृकामें बावन अक्षर बताये गये हैं। उनमें सबसे प्रथम अक्षर ॐकार है। उसके सिवा चौदह स्वर, तैंतीस व्यंजन, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय—ये सब मिलकर बावन मातृका वर्ण माने गये हैं।* द्विजवर! यह तो मैंने आपसे अक्षरोंकी संख्या बतायी है। अब इनका अर्थ सुनिये। इस अर्थके विषयमें पहले आपसे एक इतिहास कहूँगा। पूर्वकालकी बात है, मिथिला नगरीमें कौथुम नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण रहते थे। उन्होंने इस पृथ्वीपर प्रचलित हुई सम्पूर्ण विद्याओंको पढ़ लिया था। वे इकतीस हजार वर्षोंतक आदरपूर्वक अध्ययनमें लगे रहे। उनका एक क्षण भी कभी व्यर्थ नष्ट नहीं हुआ। अध्ययन पूरा करके जब वे गृहस्थ हुए, तब कुछ कालके बाद उनके एक पुत्र हुआ। उनके सारे बर्ताव जडकी भाँति होते थे। उसने केवल मातृका पढ़ी। मातृका पढ़नेके बाद वह किसी प्रकार दूसरी कोई बात नहीं याद करता था। इससे उसके पिता बहुत खिन्न हुए और उस जड बालकसे कहने लगे—'बेटा! पढ़ो, पढ़ो, मैं तुम्हें मिठाई दूँगा। नहीं पढ़ोगे तो यह मिठाई दूसरेको दे दूँगा और तुम्हारे दोनों कान उखाड़ लूँगा।'

**यह सुनकर पुत्रने कहा**—पिताजी! क्या मिठाई लेनेके लिये ही पढ़ा जाता है? क्या लोभकी पूर्ति ही अध्ययनका उद्देश्य है? अध्ययन तो उसका नाम है, जो मनुष्योंको परलोकमें लाभ पहुँचानेवाला हो।

**कौथुम बोले**—वत्स! ऐसी बातें कहनेवाले, तेरी आयु बढ़े। तेरी यह बुद्धि बहुत अच्छी है। पर तू पढ़ता क्यों नहीं है?

---

* ॐकारः प्रथमस्तस्य चतुर्दश स्वरास्तथा। वर्णाश्चैव त्रयस्त्रिंशदनुस्वारस्तथैव च॥
विसर्जनीयश्च परो जिह्वामूलीय एव च। उपध्मानीय एवापि द्विपञ्चाशदमी स्मृताः॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ३। २३५—२३७)

**पुत्रने कहा**—पिताजी! जाननेयोग्य जितनी भी बातें हैं, वे सब तो मैंने मातृकामें ही जान ली। बताइये, इसके बाद अब कण्ठ किसलिये सुखाया जाय?

**पिता बोले**—वत्स! तू तो आज बड़ी विचित्र बात कहता है। मातृकामें तूने किस ज्ञातव्य अर्थका ज्ञान प्राप्त किया है? बता, बता। मैं तेरी बात फिर सुनना चाहता हूँ।

**पुत्रने कहा**—पिताजी! आपने इकतीस हजार वर्षोंतक नाना प्रकारके तर्कोंका अध्ययन करते हुए भी अपने मनमें केवल भ्रमका ही साधन किया है। 'यह धर्म है, यह धर्म है' ऐसा कहकर शास्त्रोंमें जो धर्म बताया गया है, उसमें चित्त भ्रान्त-सा हो जाता है। आप उपदेशको केवल पढ़ते हैं। उसके वास्तविक अर्थकी जानकारी नहीं रखते। जो ब्राह्मण केवल पाठमात्र करते हैं, अर्थ नहीं समझते, वे दो पैरवाले पशु हैं। अतः मैं आपसे मोहनाशक वचन सुनाता हूँ। अकार ब्रह्मा कहे गये हैं, भगवान् विष्णु उकार बतलाये गये हैं, मकारको भगवान् महेश्वरका प्रतीक माना गया है। ये तीन गुणमय स्वरूप बताये गये हैं, ॐकारके मस्तकपर जो अनुस्वाररूप अर्द्धमात्रा है, वह सर्वोत्कृष्ट भगवान् सदाशिवका प्रतीक है।[१] यह है ॐकारकी महिमा, जिसका वर्णन कोटि-कोटि ग्रन्थोंद्वारा दस हजार वर्षोंमें भी नहीं किया जा सकता।

पुनः जो मातृकाका सारसर्वस्व बताया गया है, उसे सुनिये। अकारसे लेकर औकारतक जो चौदह[२] स्वर हैं, वे चौदह मनुस्वरूप हैं। स्वायम्भुव, स्वारोचिष, औत्तम, रैवत, तामस, छठे चाक्षुष, सातवें वैवस्वत—जो इस समय वर्तमान हैं, सावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, दक्षसावर्णि, धर्मसावर्णि, रौच्य तथा भौत्य—ये चौदह मनु हैं। श्वेत, पाण्डु, लोहित, ताम्र, पीत, कपिल, कृष्ण, श्याम, धूम्र, अधिक पिंगल, थोड़ा पिंगल, तिरंगा, बहुरंगा तथा कबरा—ये क्रमशः चौदह मनुओंके रंग हैं। पिताजी! वैवस्वत मनु ऋकारस्वरूप हैं। उनका रंग काला बतलाया जाता है। 'क'से लेकर 'ह' तक तैंतीस देवता हैं। 'क' से लेकर 'ठ' तक तो बारह आदित्य[३] माने गये हैं। 'ड' से लेकर 'ब' तक जो अक्षर हैं, वे ग्यारह[४] रुद्र हैं। 'भ' से लेकर 'ष' तक आठ[५] वसु माने गये हैं। 'स' और 'ह'—ये दोनों अश्विनीकुमार बताये गये हैं। इस प्रकार ये तैंतीस देवता कहे जाते हैं। पिताजी!

---

१- अकारः कथितो ब्रह्मा उकारो विष्णुरुच्यते। मकारश्च स्मृतो रुद्रस्त्रयश्चैते गुणाः स्मृताः॥
अर्द्धमात्रा च या मूर्ध्नि परमः स सदाशिवः।
(स्क० पु०, मा० कुमा० ३। २५१-२५२)

२- अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ—ये चौदह स्वर हैं।

३- वेंकटेश्वरकी प्रतिमें आदित्य, रुद्र और वसुओंके नाम भी आये हैं। आदित्यसम्बन्धी श्लोक इस प्रकार हैं—

धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणश्चांशुरेव च।
भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा।
एकादशस्तथा त्वष्टा विष्णुर्द्वादश उच्यते॥
जघन्यजः स सर्वेषामादित्यानां गुणाधिकः॥

अर्थात् धाता, मित्र, अर्यमा, शक्र, वरुण,अंशु, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु—ये बारह आदित्य हैं। इनमें विष्णु सबसे छोटे होनेपर भी गुणोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं।

४- ग्यारह रुद्र ये हैं—

कपाली पिंगलो भीमो विरूपाक्षो विलोहितः। अजकः शासनः शास्ता शम्भुश्चण्डो भवस्तथा॥

५- आठ वसु ये हैं—

ध्रुवो घोरश्च सोमश्च आपश्चैव नलोऽनिलः। प्रत्यूषश्च प्रभासश्च अष्टौ ते वसवः स्मृताः॥

अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय—ये चार अक्षर जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज नामक चार प्रकारके जीव बताये गये हैं।[१]

पिताजी! यह भावार्थ बताया गया है। अब तत्त्वार्थ सुनिये। जो पुरुष इन देवताओंका आश्रय लेकर कर्मानुष्ठानमें तत्पर होते हैं, वे ही अर्द्धमात्रास्वरूप नित्यपद (सदाशिव)-में लीन होते हैं। चार प्रकारके जीवोंमेंसे कोई भी जब मन, वाणी और क्रियाद्वारा इन देवताओंका भजन करता है, तभी उसे मुक्ति प्राप्त होती है। जिस शास्त्रमें पापी मनुष्योंके द्वारा ये देवता नहीं माने गये हैं, उस शास्त्रको यदि साक्षात् ब्रह्माजी भी कहें तो नहीं मानना चाहिये। ये सब देवता वैदिक मार्गमें सर्वत्र प्रतिष्ठित हैं। अतः जो दुरात्मा इन देवताओंका उल्लंघन करके तप, दान अथवा जप करते हैं, वे वायुप्रधान मार्गमें जाकर सर्दीसे काँपते रहते हैं। अहो! अजितेन्द्रिय मनुष्योंके मोहकी महिमा तो देखो। वे पापी मातृका पढ़ते हैं, परंतु इन देवताओंको नहीं मानते।

**सुतनु कहते हैं**—पुत्रकी यह बात सुनकर पिताको बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने और भी बहुत-से प्रश्न पूछे। पुत्रने भी उनके प्रश्नोंके अनुसार ठीक-ठीक उत्तर दिया। मुने! मैंने भी उसी प्रकार तुम्हारे मातृकासम्बन्धी उत्तम प्रश्नका समाधान किया है। (२) अब पचीस वस्तुओंसे बने हुए गृहसम्बन्धी द्वितीय प्रश्नका उत्तर सुनिये। पाँच महा[२]भूत, पाँच[३] कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञा[४]नेन्द्रियाँ, पाँच[५] विषय—मन, बुद्धि, अहंकार, प्रकृति और पुरुष—ये पचीस तत्त्व हैं। पचीसवाँ तत्त्व पुरुष है जो सदाशिवस्वरूप है। इन पचीस तत्त्वोंसे सम्पन्न हुआ यह शरीर ही घर कहलाता है। जो इस शरीरको इस प्रकार तत्त्वतः जानता है, वह कल्याणमय परमात्माको प्राप्त होता है।[६]

(३) वेदान्तवादी विद्वान् बुद्धिको ही अनेक रूपोंवाली स्त्री कहते हैं; क्योंकि वही नाना प्रकारके विषयों अथवा पदार्थोंका सेवन करनेसे अनेक रूप ग्रहण करती है। किंतु अनेकरूपा होनेपर भी वह एकमात्र धर्मके संयोगसे एकरूपा ही रहती

---

१- औकारान्ता अकाराद्या मनवस्ते चतुर्दश। स्वायम्भुवश्च स्वारोचिरौत्तमो रैवतस्तथा॥
तामसश्चाक्षुषः षष्ठस्तथा वैवस्वतोऽधुना। सावर्णिर्ब्रह्मसावर्णी रुद्रसावर्णिरेव वा॥
दक्षसावर्णिरेवापि धर्मसावर्णिरेव च। रौच्यो भौत्यस्तथैवापि मनवोऽमी चतुर्दश॥
श्वेतः पाण्डुस्तथा रक्तस्ताम्रः पीतश्च कापिलः। कृष्णः श्यामस्तथा धूम्रः सुपिशङ्गः पिशङ्गकः॥
त्रिवर्णः शवलो वर्णैः कर्बुरश्च इति क्रमात्। वैवस्वत ऋकारश्च तात कृष्णः प्रपठ्यते॥
ककाराद्या हकारान्तास्त्रयस्त्रिंशच्च देवताः। ककाराद्याष्ठकारान्ता आदित्या द्वादश स्मृताः॥
डकाराध्या वकारान्ता रूद्राश्चैकादशैव ते।
भकाराद्याः षकारान्ता अष्टौ हि वसवो मताः। सहौ चेत्यश्विनौ ख्यातौ त्रयस्त्रिंशदिति स्मृताः॥
अनुस्वारो विसर्गश्च जिह्वामूलीय एव च। उपध्मानीय इत्येते जरायुजास्तथाऽण्डजाः॥
स्वेदजाश्चोद्भिज्जाश्चापि पितर्जीवाः प्रकीर्तिताः।

(स्क० पु०, मा० कुमा० ३। २५४—२६२)

२- पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। ३- वाक्, हाथ, पैर, गुदा और लिंग। ४- कान, नेत्र, रसना, नासिका और त्वचा। ५- शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श।

६- पञ्चभूतानि पञ्चैव कर्मज्ञानेन्द्रियाणि च। पञ्च पञ्चापि विषया मनोबुद्ध्यहमेव च॥
प्रकृतिः पुरुषश्चैव पञ्चविंशः सदाशिवः। पञ्चपञ्चभिरेतैस्तु निष्पन्नं गृहमुच्यते॥
देहमेतदिदं वेद तत्त्वतो यात्यसौ शिवम्।

(स्क० पु०, मा० कुमा० ३। २७२—२७४)

है। जो इस तत्त्वार्थको जानता है, वह (धर्मका आश्रय लेनेके कारण) कभी नरकमें नहीं पड़ता। (४) मुनियोंने जिसे नहीं कहा है तथा जो वचन देवताओंकी मान्यता नहीं स्वीकार करता, उसे विद्वानोंने विचित्र कथासे मुक्त बन्ध (वाक्यविन्यास) कहा है, तथा जो कामयुक्त वचन है वह भी इसी श्रेणीमें है।[१] (ऐसा वचन सुनने और मानने योग्य नहीं है। वास्तवमें वह बन्धन ही है।)

(५) अब पाँचवें प्रश्नका समाधान सुनिये। एकमात्र लोभ ही इस संसार-समुद्रके भीतर महान् ग्राह है। लोभसे पापमें प्रवृत्ति होती है, लोभसे क्रोध प्रकट होता है, लोभसे कामना होती है, लोभसे ही मोह, माया (शठता), अभिमान, स्तम्भ (जडता), दूसरेके धनकी स्पृहा, अविद्या और मूर्खता होती है। यह सब कुछ लोभसे ही उत्पन्न होता है। दूसरेके धनका अपहरण, परायी स्त्रीके साथ बलात्कार, सब प्रकारके दुस्साहसमें प्रवृत्ति तथा न करने योग्य कार्योंका अनुष्ठान भी लोभकी ही प्रेरणासे होता है। अपने मनको जीतनेवाले संयमी पुरुषको उचित है कि वह उस लोभको मोहसहित जीते। जो लोभी और अजितात्मा हैं, उन्हींमें दम्भ, द्रोह, निन्दा, चुगली और दूसरोंसे डाह—ये सब दुर्गुण प्रकट होते हैं। जो बड़े-बड़े शास्त्रोंको याद रखते हैं और दूसरोंकी शंकाओंका निवारण करते हैं, ऐसे बहुज्ञ विद्वान् भी लोभके वशीभूत होकर नीचे गिर जाते हैं। लोभ और क्रोधमें आसक्त मनुष्य सदाचारसे दूर हो जाते हैं। उनका अन्तःकरण छुरेके समान तीखा होता है। परंतु ऊपरसे वे मीठी बातें करते हैं। ऐसे लोग तिनकोंसे ढके हुए कुएँके समान भयंकर होते हैं। वे ही लोग केवल युक्तिवादका सहारा लेकर अनेकों पन्थ चलाते हैं। लोभवश मनुष्य समस्त धर्ममार्गोंका लोप कर देते हैं। लोभसे ही कुटुम्बीजनोंके प्रति निष्ठुरतापूर्ण बर्ताव करते हैं। कितने ही नीच मनुष्य लोभवश धर्मको अपना बाह्य आभूषण बना धर्मध्वजी होकर जगत्को लूटते हैं। वे सदा लोभमें डूबे रहनेवाले महान् पापी हैं। राजा जनक, युवनाश्व, वृषादर्भि, प्रसेनजित् तथा और भी बहुत-से राजा लोभका नाश करके स्वर्गलोकमें गये हैं। इसलिये जो लोग लोभका परित्याग करते हैं, वे ही इस संसार-समुद्रके पार जाते हैं। इनसे भिन्न लोभी मनुष्य ग्राहके चंगुलमें ही फँसे हुए हैं। इसमें संशय नहीं है।[२]

---

१- बहुरूपां स्त्रियं प्राहुर्बुद्धिं वेदान्तवादिनः। सा हि नानार्थभजनान्नानारूपं प्रपद्यते॥
धर्मस्यैकस्य संयोगाद्बहुधाप्येकिकैव सा। इति यो वेद तत्त्वार्थं नासौ नरकमाप्नुयात्॥
मुनिभिर्यच्च न प्रोक्तं यन्न मन्येत देवताम्। वचनं तद् बुधाः प्राहुर्बन्धं चित्रकथं त्विति॥
यच्च कामान्वितं वाक्यं.....।

(स्क० पु० मा० कुमा० ३। २७४—२७७)

२- .....पञ्चमं चाप्यतः शृणु। एको लोभो महान् ग्राहो लोभात्पापं प्रवर्तते॥
लोभात् क्रोधः प्रभवति लोभात् कामः प्रवर्तते। लोभान्मोहश्च माया च मानः स्तंभः परेप्सुता॥
अविद्याऽप्रज्ञता चैव सर्वं लोभात् प्रवर्तते। हरणं परवित्तानां परदाराभिमर्शनम्॥
साहसानां च सर्वेषामकार्याणां क्रियास्तथा। स लोभः सह मोहेन विजेतव्यो जितात्मना॥
दम्भो द्रोहश्च निन्दा च पैशुन्यं मत्सरस्तथा। भवन्त्येतानि सर्वाणि लुब्धानामकृतात्मनाम्॥
सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्ति बहुश्रुताः। छेत्तारः संशयानां च लोभग्रस्ता व्रजन्त्यधः॥
लोभक्रोधप्रसक्ताश्च शिष्टाचारबहिष्कृताः। अन्तःक्षुरा वाङ्मधुराः कूपाश्छन्नास्तृणैरिव॥
कुर्वते ये बहून् मार्गांस्तांस्तान् हेतुबलान्विताः। सर्वं मार्गं विलुम्पन्ति लोभाज्ज्ञातिषु निष्ठुराः॥
धर्मावतंसकाः क्षुद्रा मुष्णन्ति ध्वजिनो जगत्। एतेऽतिपापिनः सन्ति नित्यं लोभसमन्विताः॥

विप्रवर! अब आप ब्राह्मणके आठ भेदोंका वर्णन सुनें—मात्र, ब्राह्मण, श्रोत्रिय, अनूचान, भ्रूण, ऋषिकल्प, ऋषि और मुनि—ये आठ प्रकारके ब्राह्मण श्रुतिमें पहले बताये गये हैं। इनमें विद्या और सदाचारकी विशेषतासे पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। जिसका जन्म-मात्र ब्राह्मण-कुलमें हुआ है, वह जब जातिमात्रसे ब्राह्मण होकर ब्राह्मणोचित उपनयन-संस्कार तथा वैदिक कर्मोंसे हीन रह जाता है, तब उसको 'मात्र' ऐसा कहते हैं। जो एक उद्देश्यको त्यागकर—व्यक्तिगत स्वार्थकी उपेक्षा करके वैदिक आचारका पालन करता है, सरल, एकान्तप्रिय, सत्यवादी तथा दयालु है, उसे 'ब्राह्मण' कहा गया है। जो वेदकी किसी एक शाखाको कल्प और छहों अंगोंसहित पढ़कर ब्राह्मणोचित छः कर्मोंमें संलग्न रहता है, वह धर्मज्ञ विप्र 'श्रोत्रिय' कहलाता है। जो वेदों और वेदांगोंका तत्त्वज्ञ, पापरहित, शुद्धचित्त, श्रेष्ठ, श्रोत्रिय विद्यार्थियोंको पढ़ानेवाला और विद्वान् है, वह 'अनूचान' माना गया है। जो अनूचानके समस्त गुणोंसे युक्त होकर केवल यज्ञ और स्वाध्यायमें ही संलग्न रहता है, यज्ञशिष्ट अन्न भोजन करता है और इन्द्रियोंको अपने वशमें रखता है, ऐसे ब्राह्मणको श्रेष्ठ पुरुष 'भ्रूण' कहते हैं। जो सम्पूर्ण वैदिक और लौकिक विषयोंका ज्ञान प्राप्त करके मन और इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए सदा आश्रममें निवास करता है, वह 'ऋषिकल्प' माना गया है। जो पहले ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) होकर नियमित भोजन करता है, जिसको किसी भी विषयमें कोई सन्देह नहीं है तथा जो शाप और अनुग्रहमें समर्थ और सत्यप्रतिज्ञ है; ऐसा ब्राह्मण 'ऋषि' माना गया है। जो निवृत्तिमार्गमें स्थित, सम्पूर्ण तत्त्वोंका ज्ञाता, काम-क्रोधसे रहित, ध्याननिष्ठ, निष्क्रिय, जितेन्द्रिय तथा मिट्टी और सुवर्णको समान समझनेवाला है, ऐसे ब्राह्मणको 'मुनि' कहते हैं। इस प्रकार वंश, विद्या और वृत्त (सदाचार)-से ऊँचे उठे हुए ब्राह्मण 'त्रिशुक्ल' कहलाते हैं। वे ही यज्ञ आदिमें पूजे जाते हैं।*

इस प्रकार आठ भेदोंवाले ब्राह्मणत्वका वर्णन

---

जनको युवनाश्वश्च वृषादर्भिः प्रसेनजित्। लोभक्षयाद्दिवं प्राप्तास्तथैवान्ये जनाधिपाः॥
तस्मात्त्यजन्ति ये लोभं तेऽतिक्रामन्ति सागरम्। संसाराख्यमतोऽन्ये ये ग्राहग्रस्ता न संशयः॥

(स्क० पु०, मा० कुमा० ३। २७७-२८७)

* अथ ब्राह्मणभेदांस्त्वमष्टौ विप्रावधारय॥

मात्रश्च ब्राह्मणश्चैव श्रोत्रियश्च ततः परम्। अनूचानस्तथा भ्रूणो ऋषिकल्प ऋषिर्मुनिः॥
इत्येतेऽष्टौ समुद्दिष्टा ब्राह्मणाः प्रथमं श्रुतौ। तेषां परः परः श्रेष्ठो विद्यावृत्तविशेषतः॥
ब्राह्मणानां कुले जातो जातिमात्रो यदा भवेत्। अनुपेतक्रियाहीनो मात्र इत्यभिधीयते॥
एकोद्देश्यमतिक्रम्य वेदस्याचारवानृजुः। स ब्राह्मण इति प्रोक्तो निभृतः सत्यवाग्घृणी॥
एकां शाखां सकल्पां च षड्भिरङ्गैरधीत्य च। षट्कर्मनिरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्मवित्॥
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञः शुद्धात्मा पापवर्जितः। श्रेष्ठः श्रोत्रियवान् प्राज्ञः सोऽनूचान इति स्मृतः॥
अनूचानगुणोपेतो यज्ञस्वाध्याय यन्त्रितः। भ्रूण इत्युच्यते शिष्टैः शेषभोजी जितेन्द्रियः॥
वैदिकं लौकिकं चैव सर्वज्ञानमवाप्य यः। आश्रमस्थो वशी नित्यमृषिकल्प इति स्मृतः॥
ऊर्ध्वरेता भवत्यग्रे नियताशी न संशयी। शापानुग्रहयोः शक्तः सत्यसन्धो भवेदृषिः॥
निवृत्तः सर्वतत्त्वज्ञः कामक्रोधविवर्जितः। ध्यानस्थो निष्क्रियो दान्तस्तुल्यमृत्काञ्चनो मुनिः॥
एवमन्वयविद्याभ्यां वृत्तेन च समुच्छ्रिताः। त्रिशुक्ला नाम विप्रेन्द्राः पूज्यन्ते सवनादिषु॥

(स्क० पु०, मा० कुमा० ३। २८७—२९८)

किया गया। अब युगादि तिथियाँ बतलायी जाती हैं। कार्तिकमासके शुक्ल पक्षकी नवमी तिथि सत्ययुगकी आदि बतायी गयी है। वैशाख शुक्ल पक्षकी जो तृतीया है, वह त्रेतायुगकी आदि कही जाती है। माघ कृष्ण पक्षकी अमावस्याको विद्वानोंने द्वापरकी आदि-तिथि माना है और भाद्र कृष्ण त्रयोदशी कलियुगकी प्रारम्भ-तिथि कही गयी है। ये चार युगादि तिथियाँ हैं, इनमें किया हुआ दान और होम अक्षय जानना चाहिये। प्रत्येक युगमें सौ वर्षोंतक दान करनेसे जो फल होता है, वह युगादि-कालमें एक दिनके दानसे प्राप्त हो जाता है।[१]

ये युगादि तिथियाँ बतायी गयी हैं, अब मन्वन्तरकी प्रारम्भिक तिथियोंको श्रवण कीजिये। आश्विन शुक्ला नवमी, कार्तिककी द्वादशी, चैत्र और भाद्रकी तृतीया, फाल्गुनकी अमावास्या, पौषकी एकादशी, आषाढ़की दशमी, माघकी सप्तमी, श्रावणकी कृष्णा अष्टमी, आषाढ़की पूर्णिमा, कार्तिककी पूर्णिमा, फाल्गुन, चैत्र और ज्येष्ठकी पूर्णिमा—ये मन्वन्तरकी आदि तिथियाँ हैं, जो दानके पुण्यको अक्षय करनेवाली हैं।[२]

भगवान् सूर्य जिस तिथिको पहले-पहल रथपर आरूढ़ हुए, वह ब्राह्मणोंद्वारा माघमासकी सप्तमी

---

१- नवमी कार्तिके शुक्ला कृतादिः परिकीर्तिता। वैशाखस्य तृतीया या शुक्ला त्रेतादिरुच्यते॥
माघे पञ्चदशी कृष्णा द्वापरादिः स्मृता बुधैः। त्रयोदशी नभस्ये च कृष्णा सादिः कलेः स्मृता॥
एताश्चतस्रस्तिथयो युगाद्या दत्तं हुतं चाक्षयमासु विद्यात्।
युगे युगे वर्षशतेन दानं युगादिकाले दिवसेन तत्फलम्॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ३। २९९—३०२)

विशेष वक्तव्य—यहाँ जो युगादि तिथियाँ दी गयी हैं, इनमें मतभेद भी उपलब्ध होता है। कहीं-कहीं 'वैशाखस्य तृतीया या कृतस्यादिः प्रकीर्तिता। कार्तिकस्यापि नवमी शुक्ला त्रेतादिरुच्यते।' ऐसा पाठान्तर मिलता है। इसके अनुसार वैशाख शुक्ला तृतीया सत्ययुगकी और कार्तिक शुक्ला नवमी त्रेताकी प्रारम्भिक तिथि है। हिंदीशब्दसागर कोषके संपादकोंने भी कृतादि और त्रेतादि तिथिका इसी रूपमें उल्लेख किया है। परंतु मुहूर्तचिन्तामणिकारका मत इस सम्बन्धमें मूलसे मिलता है। 'सिते गोऽग्नी बाहुलराधयोः' कहकर उन्होंने यही मत स्वीकार किया है। मूलमें जो द्वापरादि और कलियुगादि तिथि दी गयी है, इससे मुहूर्तचिन्तामणिकारका मत नहीं मिलता। वे 'मदनदर्शौ भाद्रमाघासिते' कहकर भाद्र कृष्ण त्रयोदशीको द्वापरकी और माघ-अमावास्याको कलिकी आदितिथि घोषित करते हैं। हिंदीशब्दसागरने भी यही माना है। केवल माघ अमावास्याकी जगह पौष अमावास्याका उसमें उल्लेख हुआ है। मुहूर्तचिन्तामणिकारके मतका प्राचीन आधार क्या है, इसे विद्वान् लोग ढूँढ़ें। स्कन्दपुराण, कुमारिकाखण्डका उपर्युक्त मत अति प्राचीन होनेके कारण स्वतःप्रमाण तो है ही, नारद-स्मृतिके निम्नांकित वचनसे भी इसका समर्थन होता है—

कार्तिके शुक्ल नवमी चादिः कृतयुगस्य सा।
त्रेतादिर्माधवे शुक्ला तृतीया पुण्यसंमिता॥
कृष्णा पञ्चदशी माघे द्वापरादिरुदीरिता।
कल्पादिः स्यात् कृष्णपक्षे नभस्ये च त्रयोदशी॥
(इन श्लोकोंका उल्लेख मु० चि० की पीयूषधारा टीकामें हुआ है।)

२- अश्वयुक् शुक्ल नवमी द्वादशी कार्तिके तथा। तृतीया चैत्रमासस्य तथा भाद्रपदस्य च॥
फाल्गुनस्य त्वमावास्या पौषस्यैकादशी तथा। आषाढस्यापि दशमी माघमासस्य सप्तमी॥
श्रावणस्याष्टमी कृष्णा तथाषाढी च पूर्णिमा। कार्तिकी फाल्गुनी चैत्री ज्येष्ठपञ्चदशी सिता॥
मन्वन्तरादयश्चैता दत्तस्याक्षयकारिकाः॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ३। ३०३—३०६)

बतायी गयी है, जिसे रथसप्तमी कहते हैं। उस तिथिको दिया हुआ दान और किया हुआ यज्ञ सब अक्षय माना गया है। वह सब प्रकारकी दरिद्रताको दूर करनेवाला और भगवान् सूर्यकी प्रसन्नताका साधक बताया गया है।[१]

विद्वान् पुरुष जिसे सदा उद्वेगमें डालनेवाला बताते हैं, उसका यथार्थ परिचय सुनिये—जो प्रतिदिन याचना करता है, वह स्वर्गमें जानेका अधिकारी नहीं है। जैसे चोर सब जीवोंको उद्वेगमें डाल देता है, उसी प्रकार वह भी है। वह पापात्मा सबके लिये सदा उद्वेगकारक होनेके कारण नरकमें पड़ता है।[२]

ब्रह्मन्! 'इस लोकमें किस कर्मसे मुझे सिद्धि प्राप्त हो सकती है और (मृत्युके पश्चात्) यहाँसे मुझे कहाँ किस लोकमें जाना है?' इस बातका भलीभाँति विचार करके जो पुरुष भावी क्लेशके निराकरणका समुचित उपाय करता है, विद्वानोंने उसीको दक्ष पुरुषोंसे भी अधिक दक्ष (चतुरशिरोमणि) कहा है। पुरुष अपनी आयुमेंसे आठ मास, एक दिन, अथवा सम्पूर्ण पूर्वावस्थामें अथवा पूरी आयुभर ऐसा कर्म अवश्य करे, जिससे अन्तमें वह परम सुखी हो और निरन्तर उन्नतिके पथपर बढ़ता रहे।[३]

वेदान्तवादी विद्वान् अर्चि और धूम—ये दो मार्ग बतलाते हैं। अर्चिमार्गसे जानेवाला पुरुष मोक्षको प्राप्त होता है और धूममार्गसे जानेवाला जीव स्वर्गमें पुण्यफल भोगकर पुनः इस संसारमें लौट आता है। सकामभावसे किये हुए यज्ञ आदिके द्वारा धूममार्गकी प्राप्ति होती है और नैष्कर्म्य (कर्मफलत्याग एवं ज्ञान)-से अर्चिमार्ग प्राप्त होता है। इन दोनोंसे भिन्न जो अशास्त्रीय मार्ग है, वह पाखण्ड कहलाता है। जो देवताओं तथा मनुप्रोक्त धर्मोंको नहीं मानता, वह उक्त दोनों मार्गोंको नहीं प्राप्त होता। इस प्रकार यह तत्त्वार्थका निरूपण किया गया।[४] विप्रवर! आपके इन प्रश्नोंका यथाशक्ति समाधान किया गया है। यह ठीक है या नहीं, इसको आप बताइये। साथ ही अपना परिचय भी दीजिये।

---

१- यस्यां तिथौ रथं पूर्वं प्राप देवो दिवाकरः। सा तिथिः कथिता विप्रैर्माघे या रथसप्तमी॥
तस्यां दत्तं तु चेष्टं यत् सर्वमेवाक्षयं मतम्। सर्वदारिद्र्यशमनं भास्करप्रीतये मतम्॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ३। ३०७-३०८)

२- नित्योद्वेजकमाहुर्यं बुधास्तं शृणु तत्त्वतः। यश्च याचनको नित्यं न स स्वर्गस्य भाजनम्॥
उद्वेजयति भूतानि यथा चौरस्तथैव सः। नरकं याति पापात्मा नित्योद्वेगकरस्त्वसौ॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ३। ३०९-३१०)

३- इहोपपत्तिर्मम केन कर्मणा क्व च प्रयातव्यमितो भवेन्मया।
विचार्य चैवं प्रतिकारकारी बुधैः स चोक्तो द्विज दक्षदक्षः॥
मासैरष्टभिरह्ना च पूर्वेण वयसायुषा।
तत्कर्म पुरुषः कुर्याद् येनान्ते सुखमेधते॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ३। ३११—३१२)

४- अर्चिषा याति मोक्षं च धूमेनावर्तते पुनः। यज्ञैरासाद्यते धूमो नैष्कर्म्येणार्चिराप्यते॥
एतयोरपरो मार्गः पाखण्ड इति कीर्त्यते। यो देवान् मन्यते नैव धर्मांश्च मनुसूचितान्॥
न तौ स याति पन्थानौ तत्त्वार्थोऽयं निरूपितः॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ३। ३१३—३१५)

# नारदजीके द्वारा कलाप-ग्रामके ब्राह्मणोंको महीसागरसंगममें ले आना और वहाँ उन्हें भूमि आदि देकर पुण्यस्थानकी स्थापना करना

**नारदजी कहते हैं**—अर्जुन! इस प्रकार अपने प्रश्नोंका समाधान सुनकर मेरे सम्पूर्ण शरीरमें रोमांच हो आया। तब मैंने अपने स्वरूपको प्रकट करके उन ब्राह्मणोंसे इस प्रकार कहा—'अहो!

मेरे पिता ब्रह्माजी धन्य हैं, जिनकी सृष्टिके बालक भी आप-जैसे ब्राह्मणशिरोमणिके रूपमें विद्यमान हैं। मुझे अपने जन्मका फल प्राप्त हो गया, क्योंकि आप-जैसे निष्पाप और उपद्रवशून्य महात्माओंका मैंने दर्शन किया।'

इतना सुनते ही वे शातातप आदि ब्राह्मण सहसा उठकर खड़े हो गये और अर्घ्य, पाद्य आदि पूजा-सामग्रियोंसे मेरे स्वागत-सत्कारमें लग गये। तत्पश्चात् साधुजनोचित वाणीमें वे इस प्रकार बोले—'हम धन्य हैं, क्योंकि आप साक्षात् देवर्षि नारद यहाँ हमलोगोंके समीप पधारे हैं। देवर्षे! कहाँसे आपका शुभागमन हुआ है और अब कहाँ जानेका विचार है? मुनिश्रेष्ठ! इस आश्रमपर पधारनेकी क्या आवश्यकता थी, वह कार्य आप हमें बतावें।'

**नारदजी बोले**—मैं ब्रह्माजीके आदेशसे महीसागरसंगम नामक महातीर्थमें ब्राह्मणोंको उत्तम स्थान दान करना चाहता हूँ। इसके लिये आपलोग मुझे आज्ञा दें।

मेरे ऐसा कहनेपर शातातपने सब ब्राह्मणोंकी ओर दृष्टि डालकर यों कहना आरम्भ किया—'नारदजी! यह सत्य है कि भारतवर्ष देवताओंके लिये भी दुर्लभ है। उसमें भी महीसागरसंगमके विषयमें तो क्या कहना है, जहाँ स्नान करनेवाला पुरुष सम्पूर्ण महातीर्थोंमें स्नान करनेका फल प्राप्त कर लेता है। आपके प्रस्तावमें एक ही महान् दोष है, जिससे हमलोग निरन्तर डरते रहते हैं। वहाँ बहुतसे निर्दयी और दुस्साहसपूर्ण कर्म करनेवाले चोर हैं, जो हमारे-जैसे तपस्वियोंका धन हर लेते हैं। स्पर्श वर्णोंमें जो सोलहवाँ और इक्कीसवाँ अक्षर है वही हमारा धन है। उस धनसे हीन हो जानेपर हमारा जन्म कैसा निरर्थक हो जायगा। हम चोरोंके हाथमें न पड़ें, यही हमारी अभिलाषा है।'

**अर्जुनने पूछा**—ब्रह्मन्! वे चोर कौन हैं और कौन-सा धन हर लेते हैं।

**नारदजीने कहा**—कुन्तीनन्दन! 'काम' और 'क्रोध' आदि दोष ही चोर हैं और 'तप' ही उन ब्राह्मणोंका धन है, जिसके अपहरणके भयसे उन्होंने मुझसे वैसी बात कही थी।

**तब हारीत मुनि बोले**—कौन अपनी मूढ़ बुद्धिके कारण महीसागरसंगम नामक तीर्थका त्याग करेगा, जहाँ स्वर्ग और मोक्ष हाथमें ही रहते हैं। हमारे हृदयमें भगवान् उमानाथका निवास है। वे दृढ़तापूर्वक हमारा पालन करते हैं। उनके रहते हुए वहाँ चोरोंका भय हमारा क्या कर लेगा। नारदजी! आपके कहनेसे मैं वहाँ चलूँगा।

मेरे परिवारमें छब्बीस हजार ब्राह्मण हैं, वे सब-के-सब अध्ययन, अध्यापन आदि छः कर्मोंमें तत्पर, बाहर-भीतरसे शुद्ध तथा लोभ और दम्भसे रहित हैं। उन सबके साथ मैं वहाँ चल सकता हूँ। यह मेरा उत्तम निश्चय है।

उनके ऐसा कहनेपर मैंने उन सब ब्राह्मणोंको अपने दण्डके ऊपर चढ़ा लिया और बड़ी प्रसन्नताके साथ सहसा आकाशमार्गसे लौट पड़ा। बीचमें सौ योजनतक हिमका मार्ग है। उसे लाँघकर उन ब्राह्मणोंके साथ मैं केदारक्षेत्रमें आ पहुँचा। वह हिम-प्रदेश आकाशमार्गसे या बिलके मार्गसे तथा भगवान् कार्तिकेयके प्रसादसे लाँघा जा सकता है। इसके लिये दूसरा कोई उपाय नहीं है।

**अर्जुनने पूछा**—नारदजी! कलाप-ग्राम कहाँ है? उसका मार्ग बिलके द्वारा किस प्रकार लाँघा जा सकता है तथा स्वामिकार्तिकेयका कृपा-प्रसाद कैसे प्राप्त होगा? ये सब बातें मुझे बताइये।

**नारदजी बोले**—केदारक्षेत्रसे आगे सौ योजनतक हिमसंयुक्त प्रदेश माना गया है। उसके अन्तमें सौ योजन विस्तारवाला कलाप-ग्राम है, उसके अन्तमें सौ योजनतक बालूका समुद्र बताया जाता है। उसके बाद सौ योजन विस्तारवाला वह प्रदेश है, जिसे भूमिस्वर्ग कहते हैं। बिलके मार्गसे वहाँ जिस प्रकार जाना हो सकता है, उसे सुनो। अन्न और जलका त्याग करके उपवासपूर्वक दक्षिण दिशावर्ती भगवान् कार्तिकेयकी आराधना करे। कार्तिकेयजी जब साधकको पापरहित हुआ मानते हैं तब स्वप्नमें प्रकट होकर आदेश देते हैं कि तुम अभीष्ट स्थानकी यात्रा करो। कार्तिकेयजीके स्थानसे पश्चिम एक बहुत बड़ी गुफा है, वह सात सौ योजन दूरतक गयी हुई है। कार्तिकेयजीकी आज्ञा मिलनेके पश्चात् उसीमें प्रवेश करके आगे बढ़ना चाहिये। उसके भीतर मरकतमणिका एक शिवलिंग है, जो सूर्यके समान प्रकाश करनेवाला है। उस शिवलिंगके आगे अत्यन्त स्वच्छ सुवर्णके रंगकी मिट्टी मिलती है। वहाँ शिवलिंगको नमस्कार करके तथा उस पीली मिट्टीको हाथमें लेकर स्तम्भ तीर्थमें आना चाहिये। वहाँ भगवान् कुमार तथा वाराहदेवकी आराधना करके आधी रात होनेपर कुएँसे जल निकालना चाहिये। उस जल और मिट्टीसे दोनों आँखोंमें अंजन करना चाहिये। साथ ही सम्पूर्ण शरीरमें उस जल और मिट्टीका उबटन लगाना चाहिये। उस अंजनके प्रभावसे कदाचित् साठ कदम चलनेपर उसे एक सुन्दर बिल दिखायी देता है। तदनन्तर उस बिलके भीतरसे होकर वह यात्रा करे। वहाँ कारीष नामक बड़े भयंकर कीड़े होते हैं, परंतु वे उस उबटनके प्रभावसे साधकको डँसते नहीं हैं। उस बिलके भीतर भगवान् सूर्यके समान तेजस्वी सिद्ध पुरुषोंका दर्शन करते हुए साधक आगे बढ़ता है और परम उत्तम कलाप-ग्राममें पहुँच जाता है। वहाँके मनुष्योंकी आयु चार हजार वर्षकी बतलायी गयी है। वहाँ सब लोग फलोंका ही भोजन करते हैं।

इस प्रकार बिलके मार्गसे कलाप-ग्रामतक पहुँचनेकी विधि बतायी गयी है। अब आगे जो कुछ हुआ उसको श्रवण करो। अपनी तपस्याकी शक्तिसे अत्यन्त सूक्ष्म रूप धारण करनेवाले उन ब्राह्मणोंको दण्डके अग्र भागपर रखकर मैं महीसागरसंगम तीर्थमें आया और वहाँ पवित्र जलाशयके तटपर उतारकर उन्हें स्वतन्त्र कर दिया। फिर उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ मैंने सम्पूर्ण दोषोंको दग्ध करनेके लये दावानलसदृश महीसागरसंगम तीर्थमें स्नान किया और देवताओं तथा पितरोंका तर्पण करके परम उत्तम गायत्रीमन्त्रका जप करते हुए हम सब लोग संगमके समीप बैठ गये। हृदयमें भगवान् विष्णुका ध्यान करते हुए भगवान् सूर्यकी ओर देखते रहे। इसी समय इन्द्र आदि देवता, सूर्य आदि सम्पूर्ण ग्रह, लोकपाल, आठ देव-जातियाँ, गन्धर्व तथा अप्सराओंके समूह—ये सब वहाँ आ पहुँचे। तदनन्तर महामुनि कपिलजी भी वहाँ आये और नारदजीसे इस प्रकार बोले—'देवर्षे! मुझे आठ

हजार ब्राह्मण दीजिये। कलापग्रामके निवासी इन ब्राह्मणोंको मैं भूमिदान करूँगा। आप इसकी व्यवस्था करें।' तब मैंने उनसे प्रतिज्ञापूर्वक कहा—'महामुने! ऐसा ही हो। आप भी यहाँ उत्तम कपिलस्थानका निर्माण करें। श्राद्धमें अथवा श्राद्धोपयोगी समय प्राप्त होनेपर जिसके आश्रममें आया हुआ अतिथि विमुख लौट जाता है, उसका सब सत्कर्म निष्फल होता है। जो अतिथिका पूजन—स्वागत-सत्कार नहीं करता, वह रौरव नरकमें जाता है। जिसके द्वारा अतिथिका पूजन होता है, वह सम्पूर्ण देवताओंके द्वारा स्वयं भी पूजित होता है।[१] इसलिये उस तीर्थमें दान और यज्ञके द्वारा मैंने कपिल मुनिको भोजन कराया।'

तत्पश्चात् मैंने श्रीमान् हारीत मुनिको उनका चरण पखारनेके लिये बुलाया। तब मैंने ब्राह्मणोंसे कहा—

पूर्वकालकी बात है, महर्षि अंगिराके कुलमें एक प्रसिद्ध ब्राह्मण हुए थे। वे महान् विद्वान् थे, परंतु प्रत्येक कार्यमें अधिक विलम्ब किया करते थे। उनके पिताका नाम महर्षि गौतम था। वे सब कार्य भलीभाँति सोच-विचारकर बहुत देरके बाद प्रारम्भ करते थे। उनके द्वारा चिरकालमें कार्य-सिद्धि होनेके कारण वे जनसाधारणमें चिरकारी कहे जाने लगे। एक बार चिरकारीकी मातासे कोई अपराध हो गया। उससे कुपित होकर उनके अदीर्घदर्शी पिताने अन्य सब पुत्रोंको छोड़कर केवल चिरकारीको आदेश दिया कि 'तुम अपनी इस माताको मार डालो।' उन्होंने बड़ी देरके बाद उत्तर दिया—'अच्छा, ऐसा ही करूँगा।' परंतु वे तो स्वभावसे ही चिरकारी थे। अपनी चिरकारिताका विचार करके चिरकालतक इस विषयमें सोच-विचार करते रहे। 'मैं पिताकी इस आज्ञाका पालन कैसे करूँ? अपनी माताको कैसे मारूँ? पिताके आज्ञापालनरूप धर्मका बहाना लेकर इस मातृहत्यारूप अधर्ममें कैसे डूब जाऊँ? माना कि पिताकी आज्ञाका पालन सबसे बड़ा धर्म है; परंतु उसी प्रकार माताकी रक्षा भी तो मेरा अपना धर्म है। पुत्रत्व सर्वथा परतन्त्र है—पुत्र माता और पिता दोनोंके अधीन है। स्त्रीकी, उसमें भी माताकी हत्या करके कभी भी कौन सुखी रह सकता है? ऐसे ही, पिताकी भी अवहेलना करके कौन प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है? पुत्रके लिये यही उचित है कि पिताकी अवहेलना न करे। साथ ही उसके लिये माताकी रक्षा करना भी उचित है। शरीर आदि जो देनेयोग्य वस्तुएँ हैं, उन सबको एकमात्र पिता देते हैं, इसलिये पिताकी प्रत्येक आज्ञाका पालन करना चाहिये। पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले पुत्रके पूर्वकृत पातक भी धुल जाते हैं। पिता स्वर्ग है, पिता धर्म है और पिता सर्वश्रेष्ठ तपस्या है। पिताके प्रसन्न होनेपर सब देवता प्रसन्न हो जाते हैं।[२] यदि पिता प्रसन्न है, तो पुत्रके सब पापोंका प्रायश्चित्त हो जाता है। वह सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। पुत्रके स्नेहसे कष्ट पाते हुए भी पिता उसके प्रति स्नेह नहीं छोड़ते। यह पिताका गौरव है, जिसपर पुत्रकी दृष्टिसे मैंने विचार किया है। पिताका छोटा-मोटा स्थान नहीं है। उनका पद बहुत ऊँचा है। अब मैं माताके विषयमें विचार करूँगा। मेरे इस मानव-जन्ममें जो यह पंचभूतोंका समुदायरूप शरीर प्राप्त हुआ है इसका कारण तो मेरी माता ही है। जिसकी माता जीवित है, वह सनाथ है। जो मातृहीन है, वह अनाथ है। पुत्र और पौत्रसे युक्त मनुष्य यदि सौ वर्षकी आयुके बाद भी अपनी माताके आश्रयमें जाता है, तो वह दो वर्षके बालककी भाँति आचरण

१- श्राद्धे वा प्राप्तकाले वा ह्यतिथिर्विमुखो भवेत्। यस्याश्रममुपायातस्तस्य सर्वं हि निष्फलम्॥
स गच्छेद्रौरवाँल्लोकान् योऽतिथिं नाभिपूजयेत्। अतिथिः पूजितो येन स देवैरपि पूज्यते॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ४। ५७-५८)

२- पिता स्वर्गः पिता धर्मः पिता हि परमं तपः। पितरि प्रीतिमापन्ने सर्वाः प्रीणन्ति देवताः॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ४। ८९-९०)

करता है। पुत्र समर्थ हो या असमर्थ, दुर्बल हो या पुष्ट—माता उसका विधिवत् पालन करती है। माताके समान कोई तीर्थ नहीं है, माताके समान कोई गति नहीं है, माताके समान कोई रक्षक नहीं है तथा माताके समान कोई प्याऊ नहीं है। माता अपने गर्भमें धारण करनेके कारण 'धात्री' है, जन्म देनेवाली होनेसे 'जननी' है, अंगोंकी वृद्धि करनेके कारण 'अम्बा' है, वीर पुत्रका प्रसव करनेके कारण 'वीरप्रसू' कहलाती है, शिशुकी शुश्रूषा करनेसे वह 'शक्ति' कही गयी है तथा सदा सम्मान देनेके कारण उसे 'माता' कहते हैं।* मुनिलोग पिताको देवताके समान समझते हैं परंतु मनुष्यों और देवताओंका समूह माताके समीप नहीं पहुँच पाता—माताकी बराबरी नहीं कर सकता। पतित होनेपर गुरुजन भी त्याग देनेयोग्य माने गये हैं; परंतु माता किसी प्रकार भी त्याज्य नहीं है। कौशिकी नदीके तटपर स्त्रियोंसे घिरे हुए राजा बलिकी ओर वह देरतक देखती रही; केवल इसी अपराधवश पिताने मुझे अपनी माताको मार डालनेका आदेश दिया है।' चिरकारी होनेके कारण वे इन्हीं सब बातोंपर अधिक समयतक विचार करते रहे, परंतु उनकी चिन्ताका अन्त नहीं हुआ।

इसी समय उदारबुद्धिवाले मेधातिथि (गौतम) दुःखी हो आँसू बहाते हुए इस प्रकार चिन्ता करने लगे—'अहो! पतिव्रता नारीका वध करके मैं पापके समुद्रमें डूब गया हूँ। अब कौन मेरा उद्धार करेगा? मैंने उदार विचारवाले चिरकारीको बड़ी शीघ्रतासे वह कठोर आज्ञा दे दी थी। यदि यह सचमुच चिरकारी हो तो मुझे पापसे बचा सकता है। चिरकारिक! तुम्हारा कल्याण हो। यदि आज भी अपने नामके अनुसार तुम चिरकार्य बने रहे, तभी वास्तवमें चिरकार्य हो। बेटा! तुम आज मुझे अपनी माताको तथा मेरे द्वारा उपार्जित तपस्याको बचाओ। चिरकारक! तुम पातक और भयसे अपनी भी रक्षा करो।' इस प्रकार अत्यन्त दुःखित हो चिन्ता करते हुए गौतम मुनि चिरकारीके पास आये। वहाँ आकर उन्होंने अपने पुत्र चिरकारीको माताके पास बैठे देखा। चिरकारी पिताको अपने समीप आया देख बहुत दुःखी हुए और हथियार फेंककर पिताके चरणोंमें मस्तक रखकर वे उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा करने लगे। मेधातिथि पुत्रको पृथ्वीपर मस्तक रखकर पड़े देख और पत्नीको जीवित पाकर बड़े प्रसन्न हुए। जब पुत्र हाथमें हथियार लेकर खड़ा था, तब भी माताने ऐसा नहीं समझा कि यह मुझे मार डालेगा। अब उसे पिताके चरणोंमें पड़ा देख माता यह विचार करने लगी कि 'इसने हथियार उठानेकी जो चपलता की है, उसीको पिताके भयसे छिपा रहा है।' तदनन्तर पिताने बड़ी देरतक पुत्रकी ओर देखा। देरतक उसका मस्तक सूँघा। चिरकालतक उसे दोनों भुजाओंमें कसकर छातीसे लगाये रखा और अन्तमें कहा—'बेटा! तुम चिरजीवी

* नास्ति मात्रा समं तीर्थं नास्ति मात्रा समा गतिः। नास्ति मात्रा समं त्राणं नास्ति मात्रा समा प्रपा॥
कुक्षौ सन्धारणाद्धात्री जननाज्जननी तथा। अङ्गानां वर्द्धनादम्बा वीरसूत्वेन वीरसूः॥
शिशोः शुश्रूषणाच्छक्तिर्माता स्यान्माननाच्च सा। ... ... ... ... ...॥

(स्क० पु०, मा० कुमा० ४। ९९-१०१)

रहो।' मेधातिथि बड़ी देरतक प्रसन्नतामें डूबे रहे। फिर पुत्रसे इस प्रकार बोले—'चिरकारिक! तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारी आयु चिरस्थायिनी हो। सौम्य! तुमने चिरकालतक विलम्ब करके जो कार्य किया है, उसके कारण मुझे इस समय अधिक समयतक दुखी नहीं होना पड़ा है।'

तदनन्तर प्रसिद्ध विद्वान् मुनिश्रेष्ठ गौतमने गाथा गान किया, जो इस प्रकार है—'चिरकालतक विचार करके कोई मन्त्रणा स्थिर करे। स्थिर किये हुए मन्त्र (परामर्श)-को चिरकालके बाद छोड़े। चिरकालमें किसीको मित्र बनाकर उसे चिरकालतक धारण किये रहना उचित है। राग, दर्प, अभिमान, द्रोह, पापकर्म तथा अप्रिय कर्तव्यमें चिरकारी (विलम्ब करनेवाला) प्रशंसाका पात्र है। बन्धु, सुहृद्, भृत्य और स्त्रीवर्गके अव्यक्त अपराधोंमें जल्दी कोई दण्ड न देकर देरतक विचार करनेवाला पुरुष प्रशंसनीय माना गया है। चिरकालतक धर्मोंका सेवन करे। किसी बातकी खोजका कार्य चिरकालतक करता रहे। विद्वान् पुरुषोंका संग अधिक कालतक करे। इष्टमित्रोंका सेवन अथवा इष्टदेवताकी उपासना दीर्घकालतक करे। अपनेको चिरकालतक विनयशील बनाये रखनेवाला पुरुष दीर्घकालतक आदरका पात्र बना रहता है। दूसरा कोई भी यदि धर्मयुक्त वचन कहे तो उसे देरतक सुने और देरतक उसके विषयमें प्रश्न करता रहे। ऐसा करनेसे मनुष्य चिरकालतक तिरस्कारका पात्र नहीं बनता।

पर यदि कोई धर्मका कार्य आ गया हो तो उसके पालनमें विलम्ब नहीं करना चाहिये। शत्रु हाथमें हथियार लेकर आता हो तो उससे आत्मरक्षा करनेमें देर नहीं लगानी चाहिये। यदि कोई सुपात्र व्यक्ति अपने समीप आ गया हो तो उसका सम्मान करने या उसे कुछ देनेमें विलम्ब नहीं करना चाहिये। भयसे बचने और साधु पुरुषोंका स्वागत-सत्कार करनेमें भी देर नहीं करनी चाहिये। उपर्युक्त कार्योंमें जो विलम्ब करता है, वह प्रशंसाका पात्र नहीं है।'*

ऐसा कहकर स्त्री और पुत्रके साथ गौतम मुनि शान्तिको प्राप्त हुए। तदनन्तर चिरकालतक तपस्या करके उन्होंने दिव्यलोक प्राप्त किया।

यह बात मैंने उन सर्वगुणसम्पन्न ब्राह्मणोंके समक्ष वहाँ कही। तत्पश्चात् धर्मवर्माके समीप हारीत आदि मुनियोंके चरण पखारकर सम्पूर्ण देवताओंको साक्षी बनाकर मैंने संकल्पपूर्वक सुवर्ण, गौ, गृह, धन, स्त्री, वस्त्र और आभूषण आदि दे उन ब्राह्मणोंको कृतार्थ किया। इसके बाद उस देवसमाजमें इन्द्रने हाथ उठाकर कहा—'देवताओ! भगवान् शंकरके अर्द्धांगमें अपना वामार्द्ध भाग स्थापित करनेवाली देवी गिरिराजनन्दिनी जबतक विद्यमान हैं, गणेशजी, हम सब देवता और ये तीनों लोक जबतक मौजूद हैं, तबतक नारदजीके द्वारा स्थापित किया हुआ यह स्थान सदा समृद्धिशाली बना रहे। इस स्थानको नष्ट करनेवाले मनुष्यपर ब्रह्मशाप, विष्णुशाप, रुद्रशाप तथा ब्राह्मणशाप भी पड़े; क्योंकि तीर्थभूमिमें देवताओं और ब्राह्मणोंके

---

* चिरेण मन्त्रं संधीयाच्चिरेण च कृतं त्यजेत्। चिरेण विहितं मित्रं चिरं धारणमर्हति॥
रागे दर्पे च माने च द्रोहे पापे च कर्मणि। अप्रिये चैव कर्तव्ये चिरकारी प्रशस्यते॥
बन्धूनां सुहृदां चैव भृत्यानां स्त्रीजनस्य च। अव्यक्तेष्वपराधेषु चिरकारी प्रशस्यते॥
चिरं धर्मान्निषेवेत कुर्याच्चान्वेषणं चिरम्। चिरमन्वास्य विदुषश्चिरमिष्टानुपास्य च॥
चिरं विनीय चात्मानं चिरं यात्यनवज्ञताम्। ब्रुवतश्च परस्यापि वाक्यं धर्मोपसंहितम्॥
चिरं पृच्छेच्च शृणुयाच्चिरं न परिभूयते। धर्मे शत्रौ शस्त्रहस्ते पात्रे च निकटस्थिते॥
भये च साधुपूजायां चिरकारी न शस्यते।

(स्क० पु०, मा० कुमा० ४। १२०—१२६)

द्रव्यका अपहरण करनेवाले और उनका अनुमोदन करनेवाले पापात्मा मनुष्य नरकमें सैकड़ों वर्षोंतक रुद्रतालकी मार खाते रहते हैं।'

तब सबने प्रसन्न होकर 'ऐसा ही हो, ऐसा ही हो' इस प्रकार कहा। इस प्रकार मेरे द्वारा स्थापित किये हुए स्थानमें महर्षि कपिलने कापिल नामक स्थानकी संस्थापना की। तदनन्तर सब देवता देवलोकको चले गये।

## लोमशजीका राजा इन्द्रद्युम्नको अपने पूर्वजन्मका चरित्र सुनाकर शिवकी आराधनाका महत्त्व बतलाना

**अर्जुन बोले**—नारदजी! आपने महीसागरसंगमके अद्भुत माहात्म्यका वर्णन किया। उसे सुनकर मुझे बड़ा विस्मय और हर्ष हो रहा है। बताइये, किसके यज्ञमें मही नदी प्रकट हुई है?

**नारदजीने कहा**—पाण्डुनन्दन! प्राचीन कालमें इस पृथ्वीपर इन्द्रद्युम्न नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। वे बड़े दानी, सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता, माननीय पुरुषोंका सम्मान करनेवाले तथा सामर्थ्यशाली थे। वे उचित कार्योंके ज्ञाता, विवेकके निवासस्थान तथा गुणोंके समुद्र थे। भूमण्डलमें कोई भी ऐसा नगर, ग्राम या शहर नहीं था, जो राजाके द्वारा किये गये धर्मानुष्ठानके चिह्नोंसे अंकित न हो। उन्होंने ब्राह्मविवाहकी विधिसे अनेक बार कन्यादान किया था। वे धनार्थियोंको एक हजार स्वर्णमुद्रासे कम दान नहीं देते थे। दशमी तिथिके दिन रात्रिकालमें हाथीकी पीठपर नगाड़ा रखकर उनके सम्पूर्ण नगरमें बजाया जाता और यह घोषणा की जाती कि 'कल प्रातःकाल एकादशीका व्रत है, वह सबको करना चाहिये।' गंगाकी बालू, वर्षाकी धारा तथा आकाशके तारे कदाचित् विद्वान् पुरुषोंद्वारा गिने जा सकते हैं; परंतु महाराज इन्द्रद्युम्नके पुण्योंकी गणना नहीं की जा सकती। ऐसे पुण्योंके प्रभावसे राजा इन्द्रद्युम्न अपने मानव-शरीरसे ही विमानपर बैठकर ब्रह्माजीके लोकमें जा पहुँचे और वहाँ देवदुर्लभ भोगोंका उपभोग किया। इस प्रकार अनेक कल्प बीत जानेके बाद ब्रह्माजीने अपने लोकमें निवास करनेवाले राजा इन्द्रद्युम्नसे कहा—'राजन्! अब तुम पृथ्वीपर जाओ।'

राजाने ब्रह्माजीकी यह बात सुनी और सुननेके साथ ही अपनेको पृथ्वीपर आया हुआ देखा।

(उसके बाद राजा इन्द्रद्युम्न मार्कण्डेय मुनि, नाडीजंघ बक, प्राकारकर्ण उलूक, चिरायु गीधराज एवं मन्थर कछुएसे मिले और) वे बोले—स्वयं चार मुखवाले ब्रह्माने ही मुझे स्वर्गसे निकाल दिया है। इसके कारण मैं लज्जित हूँ, अतः बार-बार पतन होनेके दोषसे दूषित स्वर्गलोकमें अब मैं नहीं जाऊँगा। अब तो मैं अविद्या और पापका नाश करनेवाले विवेक-वैराग्यका आश्रय ले ज्ञान-प्राप्तिपूर्वक मोक्षके लिये यत्न करूँगा। इसलिये यदि आप अपने घरपर आये हुए मुझ अतिथिका आज सत्कार करना चाहते हैं तो मुझे ऐसे किसी

गुरुका पता बता दीजिये जो मुझे इस संसारसागरसे पार कर देनेवाला हो।

**कछुएने कहा**—राजन्! लोमश नामवाले एक महामुनि हैं, जिनकी आयु मुझसे भी बड़ी है। पहले मैंने उन्हें कलाप-ग्राममें कहीं देखा था।

**इन्द्रद्युम्न बोले**—तब तो चलिये, हम सब लोग साथ ही उनके पास चलें, विद्वान् पुरुष सत्संगको तीर्थसे भी अधिक पवित्र बतलाते हैं।[१]

**नारदजी कहते हैं**—अर्जुन! तदनन्तर उन सबने कलाप-ग्राममें पहुँचकर महामुनि लोमशके दर्शन किये। वे मन और इन्द्रियोंके संयममें तत्पर तथा क्रियायोगमें संलग्न थे। तीनों काल स्नान करनेसे उनकी जटाएँ कुछ पीली पड़ गयी थीं, उन्हींको अपने मस्तकपर धारण किये हुए, घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हुई अग्निकी भाँति अपने तेजसे प्रकाशित हो रहे थे। उन्होंने छाया करनेके लिये अपने बायें हाथमें एक मुट्ठी तृण ले रखा था और दाहिने हाथमें रुद्राक्षकी माला धारण कर रखी थी। वे महामुनि मैत्र मार्गमें स्थित थे। जो कटुवचन आदिके द्वारा पृथ्वीपर रहनेवाले प्राणियोंको पीड़ा न देते हुए केवल जपसे सिद्धि प्राप्त कर लेता है वह मुनि 'मैत्र' कहलाता है।[२] राजा, मुनि, बक, उलूक, गृध्र और कछुएने कलाप-ग्राममें उन पुरातन तपोनिधि महात्माका दर्शन करके उनके चरणोंमें प्रणाम किया। मुनिने भी आसन आदि देकर स्वागत-सत्कारके द्वारा उन सबको प्रसन्न किया। तत्पश्चात् उन्होंने अपना मनोगत कार्य निवेदन किया।

**कछुआ बोला**—भगवन्! ये यज्ञ करनेवाले पुरुषोंमें अग्रगण्य महाराज इन्द्रद्युम्न हैं। वसुधामें इनकी कीर्तिका लोप हो जानेसे ब्रह्माजीने इन्हें स्वर्गसे निकाल दिया है। अब ये स्वर्गकी इच्छा नहीं रखते। वहाँसे पुनः गिरनेका भय बना रहता है। इसलिये स्वर्ग इन्हें भयानक प्रतीत होता है। अब आपके अनुग्रहसे ये मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं। अतएव मैं इन्हें आपके पास ले आया हूँ, इन्हें आप अपना शिष्य समझें और इनके मनोवाञ्छित प्रश्नोंका उत्तर दें, क्योंकि परोपकार साधुपुरुषोंका व्रत है।

**लोमशजीने कहा**—कूर्म! तुम्हारा कथन उचित ही है। राजन्! तुम्हारे मनमें क्या सन्देह है सो बताओ।

**इन्द्रद्युम्न बोले**—भगवन्! मेरा पहला प्रश्न यह है कि गरमीका समय है, सूर्यदेव आकाशके मध्यमें आकर तप रहे हैं, तो भी आपने अपने लिये कोई कुटी क्यों नहीं बनायी, जो हाथमें तिनके लेकर आप मस्तकपर छाया किये हुए हैं।

**लोमशजीने कहा**—राजन्! एक दिन मरना अवश्य है। यह शरीर गिर जायगा, फिर इस अनित्य संसारमें रहनेवाले मनुष्योंद्वारा किसके लिये घर बनाया जाता है। दाँत चले जाते हैं, लक्ष्मी चली जाती है तथा यौवन और जीवन भी चला जानेवाला है। यह जो कुछ दिखायी देता है, सब अत्यन्त चंचल (क्षणभंगुर) है। ऐसी दशामें दान करना ही मनुष्योंके लिये सर्वोत्तम गृह है। इस प्रकार संसारको असार और चलायमान जान लेनेपर किसके लिये कुटी आदिका संग्रह किया जाय।

**इन्द्रद्युम्नने पूछा**—भगवन्! तीनों लोकोंमें केवल आप ही चिरायु सुने जाते हैं, इसीलिये मैं आपके पास आया हूँ। फिर आपके मुँहसे ऐसी बात क्यों निकलती है?

**लोमशजीने कहा**—राजन्! प्रत्येक कल्पमें मेरे शरीरसे एक रोम टूटकर गिर जाता है। जिस

---

१- प्राहुः पूततमां तीर्थादपि सत्संगतिं बुधाः।

(स्क० पु०, मा० कुमा० ९।४९)

२- अहिंसयन्दुरुक्ताद्यैः प्राणिनो भूमिचारिणः। यः सिद्धिमेति जप्येन स मैत्रो मुनिरुच्यते॥

(स्क० पु०, मा० कुमा० १०।४)

दिन सब रोएँ नष्ट हो जायँगे, उस दिन मेरी मृत्यु हो जायगी। देखो, मेरे घुटनेमें दो अंगुलतक

रोएँसे खाली हो गया है। इसीसे मैं डरता हूँ, जब मरना ही है तब घर बनाकर क्या होगा?

**इन्द्रद्युम्न बोले**—ब्रह्मन्! मैं पूछता हूँ कि आपको जो ऐसी बड़ी आयु प्राप्त हुई है वह दानका प्रभाव है अथवा तपस्याका?

**लोमशजीने कहा**—राजन्! सुनो, मैं अपने पूर्वजन्मका प्रसंग सुना रहा हूँ। यह कथा शिवधर्मकी महिमासे युक्त, पुण्यदायिनी तथा सब पापोंका नाश करनेवाली है। पूर्वकालमें मैं इस पृथ्वीपर अत्यन्त दरिद्र शूद्र होकर उत्पन्न हुआ था। उस समय भूखसे बहुत पीड़ित होकर पृथ्वीपर भ्रमण किया करता था। एक दिन दोपहरके समय जलके भीतर मैंने एक बहुत बड़ा शिवलिंग देखा। फिर उस जलाशयमें प्रवेश करके जल पीया और स्नान किया। तत्पश्चात् कमलके सुन्दर फूलोंसे उस नहलाये हुए शिवलिंगका पूजन किया। भूखसे मेरा गला सूखा जा रहा था। भगवान् नीलकण्ठको नमस्कार करके मैं पुनः आगे चल दिया। उस मार्गमें ही मेरी मृत्यु हो गयी। तदनन्तर दूसरे जन्ममें मैं ब्राह्मणके घरमें उत्पन्न हुआ। एक ही बार शिवलिंगको नहलाने और पूजा करनेसे मुझे अपने पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण रहने लगा। 'यह सम्पूर्ण जगत् जो सत्य-सा प्रतीत हो रहा है, मिथ्याका विलास है, अविद्या ही इसका मूलकारण है।' ऐसा जानकर मैंने मूकता धारण कर ली। उस ब्राह्मणने भगवान् शंकरकी भलीभाँति आराधना करके वृद्धावस्थामें मुझे प्राप्त किया था। इसलिये मेरा नाम ईशान रखा। मेरे माता-पिताके मनको महामायाने ममतामें बाँध रखा था। वे मेरा गूँगापन दूर करनेके लिये नाना प्रकारके मन्त्र-यन्त्र तथा दूसरे उपाय भी किया करते थे। उनकी वह मूढ़ता देखकर मुझे मन-ही-मन हँसी आती थी। कुछ कालके पश्चात् जब मैं जवान हुआ, तो रातमें अपना घर छोड़कर निकल जाता और कमलके फूलोंसे भगवान् शिवकी पूजा करके पुनः शयनस्थानपर लौट आता था। तदनन्तर पिताकी मृत्यु हो जानेपर मेरे सम्बन्धियोंने मुझे निरा गूँगा समझकर त्याग दिया। इससे मुझे प्रसन्नता ही हुई। अब मैं फलाहार करके रहने लगा और भाँति-भाँतिके कमलोंसे भगवान् भूतनाथकी पूजा करने लगा। इस प्रकार सौ वर्ष बीतनेपर वरदायक भगवान् चन्द्रशेखरने मुझे प्रत्यक्ष दर्शन दिया। उस समय मैंने याचना की—'भगवन्! मेरी जरा और मृत्युका नाश हो।'

**तब भगवान् शिव बोले**—जो नाम और रूप धारण करता है वह सर्वथा अजर-अमर नहीं हो सकता। अतः तुम अपने जीवनकी कोई सीमा निश्चित करो।

भगवान् शिवका यह वचन सुनकर मैंने इस प्रकार वरदान माँगा—'प्रत्येक कल्पके अन्तमें मेरे शरीरका एक रोम गिरे और इस प्रकार सब रोम गिर जानेपर मेरी मृत्यु हो, उसके बाद मैं आपका गण होऊँ, यही मेरा अभीष्ट वर है।' 'अच्छा, ऐसा ही होगा' यों कहकर भगवान् शिव अदृश्य हो गये और मैं तभीसे तपस्यामें संलग्न हो गया। ब्रह्म-कमल अथवा अन्य कमलोंसे भगवान्

शिवकी पूजा करनेपर मनुष्य ब्रह्महत्या आदि पापोंसे मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है। महाराज! तुम भी ऐसा ही करो। इससे तुम अपनी मनोवांछित वस्तु प्राप्त कर लोगे। भगवान् शिवके भक्तके लिये त्रिलोकीमें कुछ भी दुर्लभ नहीं। ज्ञानेन्द्रियोंकी बाह्य विषयोंमें होनेवाली प्रवृत्तिको रोककर उन सबका भगवान् सदाशिवमें नित्य लय करना 'अन्तर्योग' कहलाता है। अन्तर्योगका साधन कठिन होनेके कारण भगवान् शिवने स्वयं ही बहिर्योगका इस प्रकार वर्णन किया है, पाँच भूतोंके द्वारा भगवान् शिवका पूजन 'बहिर्योग' है, अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये सब भगवान् शिवकी पूजाके उपकरण हैं, ऐसा समझकर भावनाद्वारा इन्हें भगवान् शिवके चरणोंमें समर्पित करना, यह बहिर्योग-पूजाकी पद्धति है। बहिर्योग विशिष्ट फल देनेवाला और अक्षय माना गया है। जो अविद्या आदि पाँच[1] क्लेशों, कर्मोंके सुख-दुःखादि परिणामों तथा वासनाओंसे सर्वथा पृथक् हैं, उन भगवान् शंकरकी आराधनापूर्वक प्रणव-जप करनेवाला पुरुष मोक्षको प्राप्त होता है, सब पापोंका नाश हो जानेपर भगवान् शिवमें भावना होती है—उनके चिन्तनमें मन लगता है। जिनकी बुद्धि पापसे दूषित है उनके लिये शिवकी चर्चा भी दुर्लभ है, भारतवर्षमें जन्म होना दुर्लभ है, भगवान् शिवका पूजन दुर्लभ है, गंगा-स्नान दुर्लभ है, शिवकी भक्ति अत्यन्त दुर्लभ है, ब्राह्मणको दान देना दुर्लभ है, अग्निकी आराधना भी दुर्लभ है, थोड़े-से पुण्यवाले पुरुषोंके लिये भगवान् पुरुषोत्तमकी पूजाका अवसर तो और भी दुर्लभ है।[2] पूर्वकालमें महादेवजीकी आराधना करके जिस प्रकार मेरी आयु बड़ी हुई, वह प्रसंग मैंने तुम्हें सुनाया ही है। भगवान् शिवकी भक्ति करनेवाले महात्मा पुरुषोंको त्रिलोकीमें कुछ भी दुर्लभ, दुष्प्राप्य अथवा असाध्य नहीं है। जिनकी इच्छासे यह सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता, स्थिर रहता और अन्तमें संहारको प्राप्त होता है, उन भगवान् शंकरकी शरणमें कौन नहीं जायगा। राजन्! यह रहस्यकी बात है। भगवान् शंकरकी आराधना ही संसारके मनुष्योंका प्रधान कर्तव्य है। जो भगवान् शिवको मस्तक झुकाता है, वह निश्चय उन्हें प्राप्त करता है।

## संवर्तके मुखसे महीसागरसंगमकी महिमा तथा भर्तृयज्ञद्वारा शतरुद्रिय सुनकर शिवकी आराधनासे इन्द्रद्युम्न आदि सब भक्तोंको शिवसारूप्यकी प्राप्ति

**नारदजी कहते हैं**—मुनिवर लोमशके ये वचन सुनकर राजा इन्द्रद्युम्नने कहा, अब मैं आपको छोड़कर दूसरे किसीके पास नहीं जाऊँगा। यहीं आपसे अनुगृहीत होकर अब मैं शिवलिंगका आराधन करूँगा, जो कि मनुष्योंको सब प्रकारकी सिद्धि प्रदान करनेवाला है। वक, गृध्र, कच्छप और उलूकने भी वैसा ही विचार प्रकट किया। मुनिवर लोमश बड़े शरणागतवत्सल थे। उन सब लोगोंपर दया करके उन्होंने शिवदीक्षाकी विधिसे उन्हें लिंगपूजनका उपदेश किया। सच है, साधुपुरुषोंका समागम तीर्थसे भी बढ़कर है। उसका परिपक्व फल तत्काल प्राप्त होता है तथा वह

१- अविद्या, अस्मिता (चिज्जडग्रन्थि), राग, द्वेष और अभिनिवेश (मरणभय)।

२- पापोपहतबुद्धीनां शिववार्तापि दुर्लभा। दुर्लभं भारते जन्म दुर्लभं शिवपूजनम्॥
दुर्लभं जाह्नवीस्नानं शिवे भक्तिः सुदुर्लभा। दुर्लभं ब्राह्मणे दानं दुर्लभं वह्निपूजनम्॥
अल्पपुण्यैश्च दुष्प्राप्यं पुरुषोत्तमपूजनम्।
(स्क० पु०, मा० कुमा० १०। ५३—५५)

दुरन्त पापोंका भी नाश करनेवाला है। साधु-सभा (सत्संग) रूपी सूर्यका उदय कोई अद्भुत और अनिर्वचनीय प्रभाव रखता है; क्योंकि वह अन्तःकरणमें व्याप्त हुए अज्ञानान्धकारका अत्यन्त विनाश करने-वाला है। साधु-समागमसे प्रकट हुए आनन्दमय अमृतरसकी सभी लहरें श्रेष्ठ हैं तथा वे सुधा, माध्वी, शर्करा और मधुके समान मीठी एवं छः[१] रसोंसे युक्त हैं।[२]

तदनन्तर मार्कण्डेय मुनि और राजा इन्द्रद्युम्न आदि छहों मित्रोंने साधुसंग पाकर शिवशास्त्रके अनुसार क्रियायोग (तप, स्वाध्याय और ईश्वरका ध्यान) आरम्भ किया। एक समय उनके तपस्याकालमें ही लोमश मुनिका दर्शन करनेके लिये उत्सुक हो तीर्थयात्राके प्रसंगसे मैं वहाँ गया, क्योंकि तीर्थयात्राके प्रसंगसे महापुरुषोंके दर्शनके लिये जाना ही यात्राका प्रधान उद्देश्य है। जिस भूभागमें संत-महात्मा निवास करते हैं, वही 'तीर्थ' कहलाता है।[३] अर्जुन! पूजन और आतिथ्य-सत्कार होनेके पश्चात् जब मैं भलीभाँति विश्राम कर चुका, तब उन नाड़ीजंघ आदि भक्तोंने प्रणाम करके मुझसे पूछा—'ब्रह्मन्! मोक्ष-साधनके लिये कौन-सा स्थान है, बतलानेकी कृपा करें?'

**उनके ऐसा पूछनेपर मैंने कहा**—तुमलोग महासंवर्तसे यह बात पूछो। वे तुम्हें सब तीर्थोंके फलकी प्राप्ति करानेवाले तीर्थस्थानका पता बतायेंगे।

**वे बोले**—योगी संवर्तजी कहाँ तपस्या करते हैं, यदि जानते हों तो बताइये?

**तब मैंने कहा**—संवर्त मुनि काशीमें रहते हैं। उन्होंने गुप्त वेष धारण कर रखा है। वे नंगे रहते और भिक्षान्न भोजन करते हैं। दिनके दूसरे पहरकी पिछली घड़ी और तीसरे पहरकी पहली घड़ीको 'कुतप' काल कहते हैं। उसके बाद ही वे निकलते हैं और हाथमें ही भिक्षा लेकर उसे भोजन करते हैं। उनके पास किसी प्रकारकी वस्तुका भी संग्रह नहीं है। वे प्रणववाच्य परब्रह्म परमेश्वरका ध्यान करते रहते हैं। सायंकाल वनमें रहते हैं, किन्तु कोई भी मनुष्य उन योगीश्वर संवर्तजीको पहचान नहीं पाता। न पहचाननेका एक कारण भी है, उन्हींके-जैसे वेष और चिह्न धारण करनेवाले दूसरे लोग भी वहाँ रहते हैं। मैं एक ऐसा लक्षण बतलाता हूँ, जिससे तुमलोग संवर्तजीको पहचान लोगे। रातको उस चौड़ी सड़कपर, जो नगरके मध्यसे होकर निकलती है, तुमलोग एक मुर्दा लाकर जमीनपर इस ढंगसे रखना, जिससे दूसरोंको उसका पता न चले और स्वयं उससे थोड़ी ही दूरपर खड़े रहना। जो कोई भी उस भूमिके निकटतक आकर सहसा लौट पड़े, वही संवर्त हैं। ये मुर्देको शल्य समझकर उसे लाँघकर नहीं जाते; यह एक संशयरहित पहचान है। इस प्रकार जब संवर्तजी मिल जायँ तब विनीत भावसे उनकी शरणमें जाकर उनसे अपनी इच्छाके अनुसार प्रश्न करना। यदि वे पूछें, 'मेरा पता किसने बताया है?' तो मेरा नाम प्रकट कर देना।

मेरी बात सुनकर उन सबने वैसा ही किया।

---

१- दास्यरति, सख्यरति, वात्सल्यरति, शान्तरति, कान्तरति तथा अद्भुतरति—भक्तिरसके पोषक ये षड्विध भाव ही यहाँ छः रस बताये गये हैं।

२- तीर्थादप्यधिकः स्थाने सतां साधुसमागमः। पचेलिमफलः सद्यो दुरन्तकलुषापहः॥
अपूर्वः कोऽपि सद्गोष्ठी सहस्रकिरणोदयः। य एकान्ततयात्यन्तमन्तर्गततमोपहः॥
साधुगोष्ठीसमुद्भूतसुखामृतरसोर्मयः। सर्वे वराः सुधाशीधुशर्करामधुषड्रसाः॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ११।६—८)

३- मुख्या पुरुषयात्रा हि तीर्थयात्रानुषङ्गतः। सद्भिः समाश्रितो भूमिभागस्तीर्थतयोच्यते॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ११।११)

काशीपुरीमें पहुँचकर मेरे बताये अनुसार संवर्तको देखा। उनके रखे हुए शवको देखकर संवर्तजी भूखसे व्याकुल होनेपर भी सहसा लौट पड़े। तब वे उन्हें पहचानकर शीघ्रतापूर्वक उनके पीछे गये। सड़कपर चलते हुए संवर्तको पुकारकर कहते जाते थे—'ब्रह्मन्! क्षणभरके लिये खड़े तो हो जाइये।' परन्तु वे उन्हें फटकारते हुए चले जाते थे। साथ ही यह भी कहते जाते थे—'अरे! तुम सब लोग लौट जाओ।' भागते-भागते जब वे बहुत दूर चले गये, तब एक स्थानपर रुककर पूछा—'किसने तुम्हें मेरा पता बताया है, शीघ्र बताओ?' तब उन्होंने काँपते हुए उत्तर दिया—'नारदजीने बताया है।' तब संवर्तने पुनः मार्कण्डेय आदिसे कहा, 'मेरे रास्तेका शल्य हटा दो, मैं भूखा हूँ, पुनः पुरीमें भिक्षाके लिये जाऊँगा। तुम्हारा प्रश्न क्या है, उसे भी कहो।'

**वे बोले**—महामुने! हम आपकी शरणमें आये हैं। कृपया हमें ऐसा कोई उपाय बतावें, जिससे हमलोग आपके अनुग्रहसे मोक्ष प्राप्त कर लें। जिस तीर्थमें जाकर मनुष्य सब तीर्थोंका फल प्राप्त कर लेता है, उसका नाम बताइये, जिससे हम सब लोग जाकर वहीं रहें।

**संवर्तने कहा**—स्वामिकार्तिकेय तथा नव दुर्गाओंको नमस्कार करके मैं तुमलोगोंको सर्वोत्तम तीर्थका परिचय देता हूँ। उस तीर्थका नाम है—महीसागरसंगम। ये परम बुद्धिमान् नृपश्रेष्ठ इन्द्रद्युम्न जब यहाँ यज्ञ करते थे, तब इनके द्वारा यह पृथ्वी दो अंगुल ऊँची कर दी गयी थी। उस समय जैसे गीले काठके तपनेपर उससे पानी चूता है, उसी प्रकार यज्ञाग्निद्वारा तपती हुई पृथ्वीसे जलका स्रोत टपकने लगा। उस जलराशिको समस्त देवताओंने नमस्कार किया। वही मही नामक नदी है। पृथ्वीपर जो कोई भी तीर्थ हैं, उन सबके जलसे उत्पन्न साररूप मही नदीका जल माना गया है। मालवा नामक देशसे मही नदी उत्पन्न हुई है और दक्षिण समुद्रमें जाकर मिली है। उसके दोनों तट परम पुण्यमय तीर्थ हैं। वह सबके लिये कल्याणमयी है। पहले तो महानदी मही स्वयं ही सर्वतीर्थमयी है। फिर जहाँ सरिताओंके स्वामी समुद्रसे उसका संगम हुआ है, उस तीर्थके विषयमें कहना ही क्या है। काशी, कुरुक्षेत्र, गंगा, नर्मदा, सरस्वती, तापी, पयोष्णी, निर्विन्ध्या, चन्द्रभागा, इरावती, कावेरी, सरयू, गण्डकी, नैमिषारण्य, गया, गोदावरी, अरुणा, वरुणा तथा अन्य जो बीस हजार छः सौ नदियाँ इस पृथ्वीपर विद्यमान हैं, उन सबके सारतत्त्वसे मही नदीका जल प्रकट हुआ बताया गया है। पृथ्वीके सब तीर्थोंमें स्नान करनेसे जो फल मिलता है, वही महीसागरसंगममें भी प्राप्त होता है, ऐसा कहा गया है। स्वामिकार्तिकेयका भी इस विषयमें ऐसा ही वचन है। यदि तुमलोग किसी एक स्थानमें सब तीर्थोंका संयोग चाहते हो तो परम पुण्यमय महीसागरसंगम तीर्थमें जाओ। मैंने भी पहले बहुत वर्षोंतक वहाँ निवास किया है। यहाँ नारदजीके भयसे आकर रहता हूँ। महीसागरसंगममें नारदजी मेरे पास ही रहते थे। इधरकी बातें उधर लगा देनेका गुण उनमें विशेषरूपसे है। इन दिनों राजा मरुत्त मुझे ढूँढ़नेका प्रयास करते हैं। नारदजी उन्हें मेरा पता अवश्य बता देंगे, यही भय था। यहाँ तो बहुत-से दिगम्बर साधुओंके बीच उन्हींके समान बनकर मैं भी रहता हूँ। मरुत्तसे अधिक भयभीत होनेके कारण मैं यहाँ गुप्तरूपसे निवास करता हूँ। मुझे सन्देह है, नारद पुनः मेरा यहाँ रहना मरुत्तको बता देंगे, क्योंकि उनकी प्रायः ऐसी चेष्टा देखी जाती है। तुमलोग कभी किसीसे यह सब न कहना। राजा मरुत्त यज्ञकी सिद्धिके लिये चेष्टा कर रहे हैं। कुछ कारणवश देवताओंके आचार्य मेरे पिताने उनको त्याग दिया है। अतः उस यज्ञका ऋत्विग् बनानेके लिये उन्होंने मुझ गुरुपुत्रको ही मनोनीत किया है; परंतु अविद्याके अन्तर्गत होनेवाले हिंसात्मक यज्ञोंसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिये राजा इन्द्रद्युम्नके साथ

तुमलोग शीघ्रतापूर्वक महीसागरसंगम तीर्थमें जाओ। वहाँके पाँच तीर्थोंका सेवन करते हुए तुमलोग निश्चय ही मोक्ष प्राप्त कर लोगे।

ऐसा कहकर संवर्तजी अपने अभीष्ट स्थानको चले गये और इन्द्रद्युम्न आदि वे सब लोग भर्तृयज्ञ मुनिके पास पहुँचकर वहाँ महीसागरसंगम तीर्थमें रहने लगे। मुनिने अपने विशेष ज्ञानसे जान लिया कि ये सब लोग भगवान् शंकरके गण हैं। यह जानकर वे उन सब लोगोंसे बोले—'अहो! तुमलोगोंका पुण्य अत्यन्त निर्मल और महान् है। जिससे इस महीसागरसंगम नामक गुप्तक्षेत्रमें तुम्हारा आगमन हुआ है। महीसागरसंगममें किया हुआ स्नान, दान, जप, होम और विशेषतः पिण्डदान सब अक्षय होता है। पूर्णिमा और अमावास्याको यहाँ किया हुआ स्नान, दान और जप आदि सब कर्म अक्षय फल देनेवाला होता है। देवर्षि नारदने पूर्वकालमें जब यहाँ स्थान निर्माण किया था, उस समय ग्रहोंने आकर वरदान दिया था। शनिदेवने जो वरदान दिया, वह इस प्रकार है—'जिस समय शनिवारके साथ अमावास्या हो, उस दिन यहाँ स्नान, दानपूर्वक श्राद्ध करे। यदि श्रावण मासके शनिवारको अमावास्या तिथि हो और उसी दिन सूर्यकी संक्रान्ति तथा व्यतीपात योग भी हो तो यह 'पुष्कर' नामक पर्व होता है। इसका महत्त्व सौ सूर्यग्रहणोंसे भी अधिक है। उक्त सब योगोंका सम्बन्ध यदि किसी प्रकार उपलब्ध हो जाय, तो उस दिन लोहेकी शनिमूर्तिका और सोनेकी सूर्यप्रतिमाका महीसागरसंगममें विधिपूर्वक पूजन करना चाहिये। शनिके मन्त्रोंसे शनिका और सूर्यसम्बन्धी मन्त्रोंसे सूर्यका ध्यान करके सब पापोंकी शान्तिके लिये भगवान् सूर्यको अर्घ्य देना चाहिये। उस समय वहाँका स्नान प्रयागसे भी अधिक है, दान कुरुक्षेत्रसे भी बढ़कर है। महान् पुण्यराशि सहायक हो, तभी यह सब योग प्राप्त होता है। वहाँ किये हुए श्राद्धसे पितरोंको स्वर्गमें अक्षय तृप्ति प्राप्त होती है। जैसे परम पवित्र गयाशिर पितरोंके लिये परम तृप्तिदायक है। इसी प्रकार उससे भी अधिक पुण्य देनेवाला महीसागरसंगम है।—'**अग्निश्च ते योनिरिडा च देहो रेतोऽथ विष्णोरमृतस्य नाभिः।**' अर्थात् 'हे महीनदी! अग्नि तुम्हारी योनि (उत्पत्तिस्थान) और पृथ्वी तुम्हारी देह है। तुम यज्ञस्वरूप विष्णुके वीर्यसे उत्पन्न हुई हो और अमृतका केन्द्रस्थान हो।' इस सत्य वाक्यका श्रद्धापूर्वक उच्चारण करते हुए महीसागरसंगम तीर्थमें स्नान करना चाहिये। जो सब नदियोंमें प्रधान और पवित्र सागर है, तथा प्रचुर जलवाली समस्त तीर्थस्वरूपा जो मही नदी है, इन दोनोंको मैं अर्घ्य देता हूँ, प्रणाम करता हूँ और इनकी स्तुति भी करता हूँ। ताम्रा, रस्या, पयोवाहा, पितृप्रीतिप्रदा, शुभा, शस्यमाला, महासिन्धु, दातृदात्री, पृथुस्तुता, इन्द्रद्युम्नकन्या, क्षितिजन्मा, इरावती, महीपर्णा, महीशृंगा, गंगा, पश्चिमवाहिनी, नदी तथा राजनदी—इन अठारह नामोंकी मालाका स्नानकाल और श्राद्धकालमें मनुष्य सर्वत्र पाठ करे। ये सब नाम महाराज पृथुके कहे हुए हैं, इनका पाठ करनेवाला मनुष्य यज्ञमूर्ति भगवान् विष्णुके पदको प्राप्त होता है।* तदनन्तर निम्नांकित मन्त्र पढ़कर मही नदीको अर्घ्य देना चाहिये—

**महीदोहे महानन्दसन्दोहे विश्वमोहिनि।**
**जाता हि सरितां राज्ञि पापं हर महिद्रवे॥**

'हे देवी! तू इस पृथ्वीकी दुग्ध है, परमानन्दकी राशि है, सम्पूर्ण विश्वको मोहनेवाली है तथा

---

* मुखं च यः सर्वनदीषु पुण्यः पाथोधिरम्बुप्रचुरा मही च।
समस्ततीर्थाकृतिरंतयोश्च ददामि चार्घ्यं प्रणमामि नौमि॥
ताम्रा रस्या पयोवाहा पितृप्रीतिप्रदा शुभा। शस्यमाला महासिन्धुर्दातृदात्री पृथुस्तुता॥
इन्द्रद्युम्नस्य कन्या च क्षितिजन्मा इरावती। महीपर्णा महीशृङ्गा गङ्गा पश्चिमवाहिनी॥
नदी राजनदी चेति नामाष्टादशमालिकाम्।
स्नानकाले च सर्वत्र श्राद्धकाले पठेन्नरः। पृथूनांकानि नामानि यज्ञमूर्तिपदं व्रजेत्॥
(वेङ्कटेश्वर प्रेसकी प्रतिसे)
(स्क० पु०, मा० कुमा० १३। १२४—१२७)

समस्त सरिताओंकी महारानीके रूपमें प्रकट हुई है। महिद्रवे! तू मेरे पाप हर ले।'

इस महीसागरसंगम तीर्थमें स्नान, जप और तपस्या करके पुण्यकर्मके प्रभावसे बहुत लोग रुद्रलोकमें चले गये हैं। विशेषत: सोमवारको, उत्तम भक्तिपूर्वक यहाँ स्नान करके जो पाँच तीर्थोंकी यात्रा करता है, वह पाँच महापातकोंसे मुक्त हो जाता है। इस प्रकार इस तीर्थका बहुविध उत्तम माहात्म्य बताकर भर्तृयज्ञने उन सबको शिवागममें बताये अनुसार शिवाराधनकी विधि बतलायी तथा पूजायोगका उपदेश देकर शिवभक्तिके उद्रेकसे पूर्ण हो उन इन्द्रद्युम्न आदि भक्तोंसे पुन: इस प्रकार कहा—'शिवजीके व्रतका वर्णन करनेवाले उपासको! शिवजीसे बढ़कर दूसरा कोई देवता नहीं है। यह सर्वथा सत्य है, जो भगवान् शंकरको छोड़कर अन्य किसी भी वस्तुकी उपासना करता है वह हाथमें रखे हुए अमृतको त्यागकर मृगतृष्णाकी ओर दौड़ रहा है। यह सम्पूर्ण जगत् शिवशक्तिस्वरूप है; यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है; क्योंकि कुछ प्राणी पुँल्लिंगके चिह्नोंसे युक्त हैं और कुछ स्त्रीलिंगके चिह्नोंसे युक्त हैं। जो पुरुषचिह्नसे युक्त हैं वे शिवस्वरूप हैं तथा जिनमें स्त्रीलिंगसूचक चिह्न हैं वे सब शक्तिस्वरूप हैं। भगवान् रुद्रका उत्तम माहात्म्य 'शतरुद्रिय'के नामसे प्रसिद्ध है। तुमलोग यदि अपने पाप धोना चाहते हो तो उसका नियमपूर्वक श्रवण करो।

वह इस प्रकार है—ब्रह्माजी भगवान् शिवके सुवर्णमय लिंगकी आराधना करके उसके जगत्प्रधान (१) नामका जप करते हुए, अपने पदपर विराजमान हैं। श्रीकृष्णने स्थलभागमें काले पत्थरका शिवलिंग स्थापित करके ऊर्जित (२) नामसे उसकी आराधना की है। सनकादि महर्षियोंने अपने हृदयरूपी लिंगका जगद्गति (३) नामसे पूजन करके अपना अभीष्ट साधन किया है। सप्तर्षियोंने दर्भांकुरमय लिंगका विश्वयोनि (४) के नामसे पूजन किया है। देवर्षि नारद आकाशमें ही शिवलिंगकी भावना करके उसे जगद्बीज (५) नाम देकर उसकी आराधना करते हैं। देवराज इन्द्र वज्रमय लिंगकी विश्वात्मा (६) नामसे पूजा करते हैं। सूर्यदेव ताम्रमय लिंगकी पूजा और उसके विश्वसृग् (७) नामका जप करते हैं। चन्द्रमा मुक्तामय लिंगकी उपासना और उसके जगत्पति (८) नामका जप करते रहते हैं। अग्निदेव इन्द्रनीलमणिके शिवलिंगकी पूजा करते हुए उसके विश्वेश्वर (९) नामका जप करते हैं। बृहस्पतिजी पुखराज मणिके शिवलिंगकी आराधना और उसके विश्वयोनि (१०) नामका जप किया करते हैं। शुक्राचार्य विश्वकर्मा (११) नामसे प्रसिद्ध पद्मराग मणिमय शिवलिंगकी उपासना करते हैं। धनाध्यक्ष कुबेर सुवर्णमय लिंगकी पूजा और उसके ईश्वर (१२) नामका जप करते हैं। विश्वेदेवगण जगद्गति (१३) नामसे प्रसिद्ध रजतमय शिवलिंगकी पूजा करते हैं। यमराज पित्तलके शिवलिंगकी पूजा और उसकी शम्भु (१४) नामसे उपासना करते हैं। वसुगण काँसेके शिवलिंगकी आराधना और उसके स्वयम्भू (१५) नामका जप करते हैं। मरुद्गण त्रिविध लोहमय लिंगकी पूजा और उमेश या भूतेश (१६) नामका जप करते हैं। राक्षस लोहमय लिंगकी उपासना और भूतभव्यभवोद्भव (१७) नामका जप करते हैं। गुह्यकगण शीशेके शिवलिंगकी पूजा और योग (१८) नामका जप करते हैं। जैगीषव्य मुनि ब्रह्मरन्ध्रमय शिवलिंगकी उपासना और योगेश्वर (१९) नामका जप करते हैं। राजा निमि सबके युगल नेत्रोंमें ही शिवलिंगकी भावना करके उसकी आराधना करते और शर्व (२०) नाम जपते रहते हैं। धन्वन्तरि सर्वलोकेश्वरेश्वर (२१) नामसे प्रसिद्ध गोमयलिंगकी उपासना करते हैं। गन्धर्वगण लकड़ीके शिवलिंगकी पूजा और उसके सर्वश्रेष्ठ (२२) नामका जप करते हैं श्रीरामचन्द्रजी ज्येष्ठ (२३) नामका जप करते हुए वैदूर्यमय शिवलिंगकी पूजा करते हैं। बाणासुर मरकतमणिमय शिवलिंगकी पूजा और वासिष्ठ

(२४) नामकी पूजा करता है। वरुणजी परमेश्वर (२५) नामसे प्रसिद्ध स्फटिकमणिमय शिवलिंगकी पूजा करते हैं। नागगण मूँगेके शिवलिंगकी उपासना और लोकत्रयंकर (२६) नामका जप करते हैं। सरस्वती देवी शुद्धमुक्तामय शिवलिंगको पूजती और लोकत्रयाश्रित (२७) नामका जप करती हैं। शनिदेव शनिवारकी अमावास्याको आधी रातके समय महीसागरसंगममें आवर्त (भँवर)-मय शिवलिंगकी पूजा और जगन्नाथ (२८) नामका जप करते हैं। रावण चमेलीके फूलका शिवलिंग बनाकर पूजा करता और सुदुर्जय (२९) नामका जप करता है। सिद्धगण मानसलिंगकी उपासना और काममृत्युजरातिग (३०) नामका जप करते हैं। राजा बलि यज्ञमय लिंगकी आराधना और उसके ज्ञानात्मा (३१) नामका जप करते हैं। मरीचि आदि महर्षि पुष्पमय शिवलिंगकी उपासना और ज्ञानगम्य (३२) नामका जप करते हैं। सत्कर्म करनेवाले देवता शुभ कर्ममय लिंगको पूजते और ज्ञानज्ञेय (३३) नामका जप करते हैं। फेन पीकर रहनेवाले महर्षि फेनिज लिंगकी उपासना और सुदुर्विद (३४) नामका जप करते हैं। कपिलजी वरद (३५) नामका जप करते हुए बालुकामय शिवलिंगकी पूजा करते हैं। सरस्वतीपुत्र सारस्वत मुनि वाणीमें शिवलिंगकी उपासना करते हुए वागीश्वर (३६) नामका जप करते हैं। शिवगण भगवान् शिवके मूर्तिमय लिंगकी उपासना करते हुए रुद्र (३७) नामका जप करते हैं। देवतालोग जाम्बूनद सुवर्णमय लिंगकी आराधना और शितिकण्ठ (३८) नामका जप करते हैं। बुध कनिष्ठ (३९) नामका जप करते हुए शंखमय शिवलिंगकी पूजा करते हैं। दोनों अश्विनीकुमार सुवेधा (४०) नामसे प्रसिद्ध मृत्तिकामय (पार्थिव) शिवलिंगकी पूजा करते हैं। गणेशजी आटेका शिवलिंग बनाकर कपर्दी (४१) नामसे उसकी उपासना करते हैं। मंगल मक्खनके शिवलिंगकी कराल (४२) नामसे उपासना करते हैं। गरुड़जी ओदनमय शिवलिंगकी हर्यक्ष (४३) नामसे उपासना करते हैं। कामदेव गुड़के शिवलिंगकी रतिद (४४) नामसे उपासना करते हैं। शचीदेवी लवणमय (सैन्धव अथवा सुन्दर रूपमय) शिवलिंगकी आराधना तथा बभ्रुकेश (४५) नामका जप करती हैं। विश्वकर्मा प्रासादमय (महलके आकारका) शिवलिंग बनाकर याम्य (४६) नामसे उसकी उपासना करते हैं। विभीषण धूलिमय शिवलिंगकी पूजा और सुहृत्तम (४७) नामका जप करते हैं। राजा सगर वंशांकुरमय शिवलिंगकी पूजा और संगत (४८) नामका जप करते हैं। राहु हींगमय लिंगकी उपासना और गम्य (४९) नामका कीर्तन करते हैं। लक्ष्मीदेवी लेप्य लिंगका पूजन तथा हरिनेत्र (५०) नामका जप करती हैं।

योगी पुरुष सर्वभूतस्थ लिंगकी उपासना और स्थाणु (५१) नामका जप करते हैं। मनुष्य नानाविध लिंगका पूजन और पुरुष (५२) नामका जप करते हैं। नक्षत्र तेजोमय लिंगका पूजन तथा भग और भास्वर (५३) नामका जप करते हैं। किन्नरगण धातुमय लिंगका पूजन तथा सुदीप्त (५४) नामका जप करते हैं। ब्रह्मराक्षसगण अस्थिमय लिंगका पूजन और देवदेव (५५) नामका जप करते हैं। चारणलोग दन्तमय लिंगका पूजन तथा रंहस (५६) नामका जप करते हैं। साध्यगण सप्तलोकमय लिंगका पूजन और बहुरूप (५७) नामका जप करते हैं। ऋतुएँ दूर्वांकुरमय लिंगका पूजन और सर्व (५८) नामका जप करती हैं। अप्सराएँ कुंकुम लिंगका पूजन और आभूषण (५९) नामका जप करती हैं। उर्वशी सिन्दूरमय लिंगका पूजन और प्रियवासन (६०) नामका जप करती हैं। गुरु ब्रह्मचारी लिंगका पूजन और उष्णीवी (६१) नामका जप करते हैं। योगिनियाँ अलक्तक् लिंगका पूजन और सुवभ्रुक् (६२) नामका जप करती हैं। सिद्ध योगिनियाँ श्रीखण्ड लिंगका पूजन और सहस्राक्ष (६३) नामका जप करती हैं। डाकिनियाँ मांसमय लिंगका पूजन तथा उसके सुमीढुष् (६४) नामका जप करती हैं। मनुगण गिरिश (६५) नामसे प्रसिद्ध अन्नमय लिंगका पूजन करते हैं। अगस्त्य मुनि व्रीहिमय लिंगका पूजन और सुशान्त (६६) नामका जप करते

हैं। देवल मुनि यवमय लिंगका पूजन और पति (६७) नामका जप करते हैं। वाल्मीकि मुनि वाल्मीक लिंगका पूजन और चीरवासा (६८) नामका जप करते हैं। प्रतर्दनजी वाणलिंगका पूजन और हिरण्यभुज (६९) नामका जप करते हैं। दैत्यगण राईके शिवलिंगका पूजन और उग्र (७०) नामका जप करते हैं। दानवलोग निष्पावज लिंगका पूजन और दिक्पति (७१) नामका जप करते हैं। बादल नीरमय लिंगका पूजन तथा पर्जन्य (७२) नामका जप करते हैं। यक्षराज माषमय लिंगका पूजन और भूतपति (७३) नामका जप करते हैं। पितृगण तिलमय लिंगका पूजन और वृषपति (७४) नामका जप करते हैं। गौतम मुनि गोधूलिमय लिंगका पूजन और गोपति (७५) नामका जप करते हैं। वानप्रस्थगण फलमय लिंगका पूजन और वृक्षावृत (७६) नामका जप करते हैं। स्वामिकार्तिकेय पाषाणलिंगका पूजन और सेनान्य (७७) नामका जप करते हैं। अश्वतर नाग धान्यमय लिंगका पूजन और उसके मध्यम (७८) नामका जप करते हैं। यज्ञकर्ता पुरुष पुरोडाशमय लिंगका पूजन और स्रुवहस्त (७९) नामका जप करते हैं। यम कालायसमय लिंगका पूजन और धन्वी (८०) नामका जप करते हैं। परशुरामजी यवांकुर-लिंगका पूजन तथा भार्गव (८१) नामका जप करते हैं। पुरूरवा घृतमय लिंगका पूजन और बहुरूप (८२) नामका जप करते हैं। श्रीमान्धाता शर्करामय लिंगकी बाहुयुग (८३) नामसे आराधना करते हैं। गायें पयोमय 'दुग्धमय' लिंगका पूजन और नेत्रसहस्रक् (८४) नामका जप करती हैं। पतिव्रता स्त्रियाँ भर्तृमय लिंगका पूजन तथा विश्वपति (८५) नामका जप करती हैं। नर-नारायण मौञ्जीमय शिवलिंगका सहस्रशीर्ष (८६) नामसे आराधन करते हैं। पृथु सहस्रचरण (८७) नामवाले तार्क्ष्यलिंगका पूजन करते हैं। पक्षी सर्वात्मक (८८) नामसे व्योमलिंगका पूजन करते हैं। पृथ्वी गन्धमय लिंगका पूजन और उसके द्वितनु (८९) नामका जप करती हैं। पाशुपतगण भस्ममय लिंगका पूजन और उसके महेश्वर (९०) नामका जप करते हैं। ऋषि ज्ञानमय लिंगकी चिरस्थान (९१) नामसे उपासना करते हैं। ब्राह्मण ब्रह्म-लिंगकी ज्येष्ठ (९२) नामसे उपासना करते हैं। शेषनाग गोरोचनमय लिंगका पूजन और पशुपति (९३) नामका जप करते हैं। वासुकिनाग विषलिंगका पूजन और शंकर (९४) नामका जप करते हैं। तक्षकनाग कालकूटमय लिंगका पूजन तथा बहुरूप (९५) नामका जप करते हैं। कर्कोटकनाग हाला-हलमय लिंगका पूजन और पिंगाक्ष (९६) नामका जप करते हैं। शृंगी विषमय लिंगका पूजन तथा धूर्जटि (९७) नामका जप करते हैं। पुत्र पितृमय लिंगका पूजन और विश्वरूप (९८) नामका जप करता है। शिवादेवी पारदमय लिंगका पूजन और त्र्यम्बक (९९) नामका जप करती हैं। मत्स्य आदि जीव शस्त्रमय लिंगका पूजन तथा वृषाकपि (१००) नामका जप करते हैं।

इस प्रकार बहुत कहनेसे क्या लाभ, संसारमें जो-जो जीव किसी विलक्षण विभूतिसे युक्त हैं, उनकी यह विशेषता भगवान् शिवके आराधनाके प्रभावसे ही हुई है। यदि धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी प्राप्तिका विचार बुद्धिमें आता हो तो भगवान् शिवकी भलीभाँति आराधना करनी चाहिये; क्योंकि त्रिलोकीमें वे ही मनोवांछित वस्तु देनेवाले माने गये हैं। जो प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर इस शतरुद्रियका पाठ करेगा, उसपर प्रसन्न हो भगवान् शिव उसे सभी मनोवांछित वर प्रदान करेंगे। पृथ्वीपर इससे बढ़कर परम पवित्र दूसरी कोई वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण वेदोंका रहस्य है। भगवान् सूर्यने मुझे इसका उपदेश दिया था। शतरुद्रियका पाठ करनेपर मन, वाणी और क्रियाद्वारा आचरित समस्त पापोंका नाश हो जाता है। जो शतरुद्रियका जप करता है, वह रोगातुर हो तो रोगसे छूट जाता है, कारागारमें बँधा हुआ हो तो बन्धनसे छुटकारा पा जाता है, और भयभीत हो तो भयसे मुक्त हो जाता है। इन सौ नामोंका उच्चारण करके जो विद्वान् उतने ही फूलोंद्वारा भगवान् शिवकी पूजा करता है और सौ बार उन्हें प्रणाम करता है, वह सब पातकोंसे मुक्त हो जाता है। ये सौ लिंग, सौ इनके उपासक

और सौ इन लिंगोंके नाम ये सभी सम्पूर्ण दोषोंका नाश करनेवाले माने गये हैं। विशेषतः इस महीतीर्थके इन पाँच लिंगोंके समक्ष जो इस शतरुद्रियका पाठ करेगा, वह पंचविषयजनित दोषोंसे मुक्त हो जायगा।

**नारदजी कहते हैं**—अर्जुन! उस गुप्त क्षेत्रमें शंकरजीके आराधनका यह माहात्म्य सुनकर वे इन्द्रद्युम्न आदि भक्त बहुत प्रसन्न हुए और पंचलिंगोंकी आराधना करते हुए भगवान् शिवके ध्यानमें तत्पर रहने लगे। तदनन्तर बहुत समय बीत जानेपर उनकी विशेष भक्तिसे प्रसन्न हो भगवान् शंकरने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया और इस प्रकार कहा—

'हे वक, उलूक, गृध्र, कच्छप और राजा इन्द्रद्युम्न! तुमलोग मेरी सारूप्य मुक्तिको प्राप्त होकर मेरे ही लोकमें निवास करोगे। लोमश और मार्कण्डेय मुनि जीवन्मुक्त होंगे।'

भगवान् शिवके ऐसा कहनेपर राजा इन्द्रद्युम्नने महाकालसे पूर्वकी ओर इन्द्रद्युम्नेश्वर नामक शिवलिंगकी स्थापना की। उस तीर्थके गुणोंको जानकर राजाने वहाँ चिरस्थायिनी कीर्ति करनेकी इच्छासे परम सुन्दर अविचल शिवलिंगकी स्थापना की। फिर शिवजीने कहा—'जो इस इन्द्रद्युम्नेश्वर लिंगकी पूजा करेगा, वह मेरा गण होगा और मेरे ही लोकमें निवास करेगा।' ऐसा कहकर भगवान् चन्द्रशेखर उन पाँचोंके साथ रुद्रलोकको चले गये और वे सब-के-सब पुनः शिवजीके गण हो गये। राजा इन्द्रद्युम्न ऐसे प्रभावशाली थे; जिन्होंने यज्ञ करते हुए इस महीनदीको प्रकट किया था। इस प्रकार यह महीसागरसंगम अत्यन्त पुण्यदायक तीर्थ हुआ। कुन्तीनन्दन! इस तीर्थका माहात्म्य तुम्हें संक्षेपसे बतलाया है। जो मनुष्य यहाँ संगममें स्नान करके इन्द्रद्युम्नेश्वरका पूजन करता है, उसका निवास उस धाममें होता है, जहाँ पार्वतीवल्लभ भगवान् महेश्वर विराजमान हैं। यह लिंग सब प्रकारके बन्धनोंका नाशक तथा गणाधीशका पद प्रदान करनेवाला है; क्योंकि राजाने सब प्रकारके बन्धनोंका त्याग करके ही इस लिंगको स्थापित किया था। अर्जुन! इस प्रकार इस उत्तम संगमका पुण्यदायक माहात्म्य तुमसे कहा है, तथा इन्द्रद्युम्नेश्वरकी भी पुण्योत्पादक महिमाका वर्णन किया है। जो इसका पाठ करेगा, उसको महान् पुण्य प्राप्त होगा।

## कुमारका अनुताप, भगवान् विष्णुका उन्हें समझाना तथा उनकी सम्मतिसे स्कन्दद्वारा तीन शिवलिंगोंकी स्थापना और भगवान् शिवका वरदान

**अर्जुनने कहा**—महामुने! आपने कथाके बीचमें जो कुमार नाथके माहात्म्यकी चर्चा की थी, उसे मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ।

**नारदजी बोले**—अर्जुन! भगवान् कार्तिकेयजीने तारकासुरका वध करके स्वयं ही इस कुमारेश्वर नामक शिवलिंगको स्थापित किया था। मैं

देवताओंके सेनानायक और सबका शासन करनेमें समर्थ कुमार कार्तिकेयको प्रणाम करके उनके महान् चरित्रका वर्णन करता हूँ। तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो।

**नारदजी कहते हैं**—अर्जुन! तारकासुरके मरनेके कारण परम बुद्धिमान् कार्तिकेयजी मन-ही-मन अत्यन्त उदास हो शोक करने लगे। उन्होंने स्तुति करनेवाले देवताओंको रोककर कहा—'देवगण! मुझ पातकीका, जो सर्वथा शोचनीय है, गुण-गान कैसे करते हो? यद्यपि पापाचारीका वध करनेमें कोई दोष नहीं है, तथापि यह तारकासुर तो भगवान् शंकरका भक्त था, यह स्मरण करके मुझे बड़ा शोक हो रहा है। इसलिये मैं कोई प्रायश्चित्त सुनना चाहता हूँ; क्योंकि प्रायश्चित्त करनेसे बहुत बड़ा पाप भी नष्ट हो जाता है।'

भगवान् शंकरके बुद्धिमान् पुत्र कार्तिकेयजी जब इस प्रकार शोक कर रहे थे, उस समय भगवान् विष्णु देवताओंके बीच यों बोले—'महेशनन्दन! यदि श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणको प्रमाण माना जाय तो दुष्टोंके वधमें कोई दोष नहीं है।* जो निर्दय मनुष्य दूसरोंके प्राणोंसे अपने प्राणोंका पोषण करता है, उसका वध कर डालना ही उसके लिये कल्याणकारी है; क्योंकि अपने दोषपूर्ण आचरणसे वह मनुष्य नरकको ही जाता है। रक्षाके कार्यमें लगे हुए समर्थ पुरुषोंद्वारा यदि पापाचारियोंका वध न किया जाय तो ये असमर्थ मनुष्य किसकी शरणमें जायँगे, तथा सम्पूर्ण विश्वको धारण करनेवाले धर्मस्वरूप वेद और यज्ञ कैसे होंगे। इसलिये तुमने तारकासुरका वध करके पुण्य ही प्राप्त किया है। तुम्हें पाप तो किसी प्रकार भी नहीं लगेगा। इतनेपर भी भगवान् शंकरके भक्तोंके प्रति यदि तुम्हारा बहुत अधिक आदर है, तो उसके लिये मैं बहुत उत्तम उपाय बतलाऊँगा, जिससे जन्मभरके पापोंसे छुटकारा मिल जाता है तथा एक कल्पतक रुद्रलोकमें दिव्य शरीर धारण करके वह मनुष्य परमानन्दका उपभोग करता है। स्कन्द! पाप करनेपर जिसे बहुत अधिक पश्चात्ताप होता है, उसके लिये भगवान् शंकरके आराधनसे बढ़कर दूसरा कोई उपाय नहीं है। जिनकी महिमाका वर्णन करनेमें ब्रह्माजी भी समर्थ नहीं हैं तथा जिनके विषयमें कुछ कहनेमें श्रुति भी भयभीत होती है, उन भगवान् महेश्वरसे बढ़कर दूसरी कौन वस्तु हो सकती है।'

'त्रिलोकीमें भगवान् शंकरके सिवा दूसरा कौन ऐसा देवता है, जिसका पृथ्वी ही रथ है, ब्रह्माजी सारथी हैं, मैं बाण हूँ, मन्दराचल धनुष है तथा चन्द्रमा और सूर्य रथके पहिये हैं। कोई-कोई योगमार्गसे भगवान् शंकरकी आराधना बताते हैं, परंतु सदा शून्यकी उपासना करनेवाले उन योगियोंका मार्ग सर्वसाधारणके लिये दुःसाध्य है। इसलिये जो भोग और मुक्ति दोनों चाहता है, उसे उनके लिंगमय स्वरूपकी ही आराधना करनी चाहिये। सृष्टिके आदिमें मेरे और ब्रह्माजीके विवादमें भगवान् शिव लिंगरूपमें प्रकट हुए थे। उस लिंगमय स्वरूपमें सम्पूर्ण चराचर जगत् लीन होता है, इसीलिये वेदमें उसे लिंग कहा गया है। जो परम बुद्धिमान् भगवान् शंकरके स्वरूपभूत लिंगको श्रद्धा और पवित्र भावसे जलके द्वारा स्नान कराता है, उसने मानो ब्रह्माजीसे लेकर तृणपर्यन्त इस सम्पूर्ण जगत्को तृप्त कर दिया। मिट्टीका, काठका, ईंटेका अथवा पत्थरका मन्दिर बनाकर जो भगवान् शिवको अर्पित करता है, उसे क्रमशः सौगुना पुण्यफल प्राप्त होता है। इसलिये महासेन! तुम्हें यहाँ शिवलिंगकी स्थापना करनी चाहिये।'

भगवान् विष्णुके ऐसा कहनेपर सब देवता

* श्रुतिः स्मृतिश्चेतिहासाः पुराणं च शिवात्मज। प्रमाणं चेत्ततो दुष्टवधे दोषो न विद्यते॥ (स्क० पु०, मा० कुमा० २६। ११)

'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' कहने लगे। तत्पश्चात् महादेवजीने कार्तिकेयको छातीसे लगाकर कहा—'वत्स! तुम मेरे भक्तोंपर जो इतनी कृपा रखते हो, इससे तुम्हारे ऊपर मेरा प्रेम बहुत बढ़ गया है। जगद्गुरु भगवान् वासुदेवने जो कुछ कहा है, वह सब यथार्थ है। जो मैं हूँ, वही भगवान् विष्णुको जानना चाहिये तथा जो भगवान् विष्णु हैं, वही मैं हूँ। जैसे दो दीपकोंमें प्रकाशकी दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं होता, उसी प्रकार हम दोनोंमें भी किंचिन्मात्र अन्तर नहीं है। स्कन्द! जो भगवान् विष्णुसे द्वेष करता है वह मुझसे भी द्वेष करता है, जो उनका अनुगमन करता है, वह मेरा भी अनुगामी है*। जो ऐसा जानता है, वही मेरा वास्तविक भक्त है।'

**कुमार बोले**—पिताजी! आपका कहना सत्य है, मैं आपको और भगवान् विष्णुको एक ही समझता हूँ। भक्तवत्सल भगवान् विष्णुने जो मुझे शिवलिंग स्थापित करनेकी सलाह दी है, वही बात तारकासुरके वधके समय पहले आकाशवाणीने भी मुझसे कही थी। अतः मैं सब पापोंका नाश करनेवाले शिवलिंगकी स्थापना करूँगा। वह शिवलिंग मेरे पापोंको शान्त करनेवाला हो।

यों कहकर अग्निनन्दन स्कन्दने विश्वकर्माको बुलाया और उन्हें आदेश दिया कि 'तुम शीघ्र ही तीन विशुद्ध शिवलिंग तैयार करो।' कार्तिकेयकी आज्ञाके अनुसार विश्वकर्माने तीन विशुद्ध शिवलिंग तैयार किये और उन्हें उनको समर्पित कर दिया। तदनन्तर भगवान् विष्णु, शिव तथा ब्रह्मा आदि देवताओंके साथ स्कन्दने पहले पश्चिमदिशामें थोड़ी ही दूरपर 'प्रतिज्ञेश्वर' नामक परम सुन्दर शिवलिंगकी स्थापना की। तब भगवान् महेश्वरने कुमारकी प्रसन्नताके लिये वहाँ स्वयं ही यह वरदान दिया। 'जो इस स्थानपर कार्तिक और चैत्रमासमें अष्टमीको स्नान, उपवास, पूजा और जागरण करके निवास करेगा, वह मृत्युको भी लाँघ जायगा।'

इसके बाद वहाँसे अग्निकोणमें जहाँ दैत्यके कपालसे शक्ति निकली थी, वहाँ कार्तिकेयने द्वितीय शिवलिंगको स्थापित किया। सब पापोंका नाश करनेवाला वह कल्याणकारी शिवलिंग 'कपालेश्वर'के नामसे प्रसिद्ध हुआ। कपालेश्वरके समीप ही उस शक्तिका भी स्तवन करके कुमारने उसकी स्थापना की। जो कापालिकेश्वरी देवीके नामसे प्रसिद्ध हुई। वहाँसे उत्तर दिशामें एक तीर्थ है, जिसे 'शक्तिछिद्र' कहते हैं। वहाँ सब पापोंका नाश करनेवाली कल्याणमयी पातालगंगा प्रकट हुई हैं। उसमें स्नान करके स्कन्दने सब देवताओंके साथ कृपापूर्वक तारकासुरको जलांजलि दी। जिसका संकल्प-वाक्य इस प्रकार है—'महर्षि कश्यपके कुलमें उत्पन्न शिवभक्त तारकको अर्पित किया जानेवाला यह तिलसहित जल अक्षय भावसे प्राप्त हो।'

तब भगवान् महेश्वरने प्रसन्न होकर स्कन्दको सुनाते हुए कहा—'जो मनुष्य चैत्रमासके कृष्ण पक्षकी चतुर्दशी तिथिको यहाँ स्नान और उपवास करके भगवान् कपालेश्वरका पूजन करेगा, वह तेजस्वी महात्माओंके वधजनित पातकसे मुक्त हो जायगा। इसी तिथिको यदि सोमवार हो, शिवयोग हो और तैतिलकरण हो तो इन छहों योगोंके एकत्र होनेपर जो पुरुष 'शक्तिछिद्रा' नामक तीर्थमें स्नान करके रातमें रुद्रियका जप करेगा, वह शरीरसहित रुद्रलोकमें चला जायगा।'

---

* यो ह्यहं स हरिर्ज्ञेयो यो हरिः सोऽहमित्युत॥
नावयोरन्तरं किञ्चिद्दीपयोरिव सुव्रत। एनं द्वेष्टि स मां द्वेष्टि योऽन्वेत्येनं स मानुगः॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० २६। ४१-४२)

भगवान् शंकरका यह वचन सुनकर स्कन्द बहुत प्रसन्न हुए तथा सब देवता आनन्दमग्न हो 'साधु-साधु' कहने लगे।

तदनन्तर तीसरे लिंगकी स्थापना करनेकी इच्छावाले कार्तिकेयसे ब्रह्माजीने उनकी प्रसन्नताके लिये कहा—'कुमार! मैं स्वयं एक दूसरे लिंगका निर्माण करता हूँ।' यों कहकर ब्रह्माजीने स्वयं सब दोषोंसे रहित मनोहर शिवलिंगका निर्माण किया। इसी प्रकार सब देवताओंने भी स्कन्दको प्रसन्न करनेके लिये वहाँ एक सुन्दर सरोवर तैयार किया और उसमें गंगा आदि समस्त तीर्थोंकी स्थापना करके उनसे कहा—'जबतक यह सरोवर यहाँ रहे तबतक तुम सब तीर्थ इसमें निवास करो।' तब स्कन्दकी प्रसन्नताके लिये इन सब तीर्थोंने 'एवमस्तु' कहकर देवताओंकी आज्ञा स्वीकार की। तत्पश्चात् स्कन्दने प्रसन्नतापूर्वक उस सुन्दर सरोवरमें स्नान किया और सब तीर्थोंके जलसे भक्तिपूर्वक उस शिवलिंगको स्नान कराकर भाँति-भाँतिके पुष्पोंसे 'सद्योजातादि' पाँच मन्त्रोंद्वारा पूजन किया। पूजाके समय साक्षात् भगवान् महेश्वर स्थावर-जंगम प्राणियोंके साथ उस शिवलिंगमें स्थित हो स्वयं पूजनसामग्री ग्रहण करते थे। भक्तिभावमें डूबे हुए स्कन्दने पूजन करते समय भगवान् शंकरसे पूछा—'भगवन्! आपको कौन-सा उपहार भेंट करनेसे क्या-क्या फल प्राप्त होता है?'

**भगवान् महेश्वर बोले**—जो मेरे लिंगकी स्थापना करता और उसके लिये सुन्दर मन्दिर बनवाता है, वह कल्पभर मेरे लोकमें निवास करता है। जो मेरे मन्दिरमें झाड़ू देता और धूल आदि हटाकर शुद्ध करता है, वह सब रोगोंसे छूट जाता है। देवमन्दिरको चूने आदिसे पुतवानेपर मनुष्यका शरीर दृढ़ होता है। पुष्प, दूध आदि, कुशा, तिल, जल, अक्षत और सरसोंसे भगवान् शंकरके मस्तकपर अर्घ्य देकर मनुष्य दस हजार वर्षोंतक स्वर्गमें निवास करता है। दही और दूधसे शिवलिंगको स्नान करानेपर मनुष्यका शरीर नीरोग हो जाता है। जल, दही, दूध और घीसे स्नान करानेपर क्रमशः दसगुना फल प्राप्त होता है। उपर्युक्त वस्तुओंसे मुझे स्नान कराकर भक्तिपूर्वक गोधूम-चूर्ण आदिके द्वारा उबटन लगावे, फिर कपिला गायके पंचगव्यसे और गंगाके जलसे मुझे स्नान करावे और विधिपूर्वक मेरा पूजन करे। ऐसा करनेवाला पुरुष मेरे परम धामको प्राप्त होता है। कुशमिश्रित जलकी अपेक्षा गन्धमिश्रित जल उत्तम है, उससे भी तीर्थका जल श्रेष्ठ है तथा अन्य सब तीर्थोंके जलकी अपेक्षा महीसागर तीर्थका जल श्रेष्ठ है। ताँबे, चाँदी और सोनेके कलशोंसे स्नान करानेपर क्रमशः सौगुना फल होता है। इसी प्रकार चन्दन, अगर, केशर तथा कपूर अर्पण करनेसे उत्तरोत्तर अधिक फलकी प्राप्ति होती है। इन सब वस्तुओंको मेरे अंगमें लगानेसे मनुष्य धनवान्, सौभाग्यवान् तथा सुखी होता है। गुग्गुलका धूप उत्तम माना गया है, उससे भी श्रेष्ठ अगुरु है, इन सब धूपोंको मुझे अर्पण करनेसे सुख और स्वर्गकी प्राप्ति होती है। दीप-दान करनेवाला पुरुष कीर्ति तथा उत्तम नेत्र प्राप्त करता है। नैवेद्य अर्पण करनेसे मनुष्य मिष्ठान्नभोजी होता है। अखण्ड बिल्वपत्रों और भाँति-भाँतिके पुष्पोंसे शिवलिंगकी पूजा करनेपर मनुष्य एक लाख वर्षोंतक स्वर्गमें निवास करता है। भगवान् शिवको चँवर भेंट करनेसे मनुष्य राजा होता है। मेरे मन्दिरमें गीत, वाद्य और नृत्य करके शुद्ध चित्त हुआ मनुष्य मुझको प्राप्त होता है। मेरी पूजाके लिये शंख और घण्टा दान करके दाता अवश्य विद्वान् होता है। मेरी रथयात्राका उत्सव करके मनुष्य चिरकालके लिये शोकोंसे मुक्त हो जाता है। मुझे नमस्कार और प्रणाम करके मानव महान् कुलमें जन्म लेता है। जो मेरे आगे शास्त्रका पाठ कराता है, वह

ज्ञानी होता है। भक्तिपूर्वक मेरी स्तुति करनेपर मनुष्य मनके मोहसे मुक्ति पा जाता है। मेरे आगे आरती घुमानेसे उपासक पीड़ारहित होता है। मुझे शीतल चन्दन अर्पण करनेपर दुःखजनित सन्तापोंसे छुटकारा मिल जाता है। शिवलिंगके समीप अपनी शक्तिके अनुसार दान करनेपर दाताको उस दानका सौगुना फल मिलता है तथा वह इस लोक और परलोकमें आनन्दका भागी होता है। मैं शिवलिंगको प्रणाम करनेपर पंद्रह, उसे स्नान करानेपर बीस तथा उसकी विधिपूर्वक पूजा करनेपर सौ अपराधोंको क्षमा कर देता हूँ। कुमार! इस तीर्थमें पूर्वोक्त सम्पूर्ण फलोंकी प्राप्ति होगी। जो लोग कुमारेश्वर नामसे यहाँ मेरी पूजा करेंगे, वे पूर्वोक्त सम्पूर्ण फलोंके भागी होंगे। बेटा! जैसे काशीपुरीमें मैं विश्वनाथके रूपमें निवास करता हूँ, उसी प्रकार इस गुप्त क्षेत्रमें मैं कुमारेश्वर नाम धारण करके रहूँगा।

देवताओंके सामने ही भगवान् शंकरका यह वचन सुनकर कुमार कार्तिकेयको बड़ा विस्मय हुआ। वे भगवान् गिरिजापतिको नमस्कार करके उनकी स्तुति करने लगे—'जो सब प्रकारके रोग-शोकसे रहित हैं, उन कल्याणस्वरूप भगवान् शिवको नमस्कार है। जो सबके भीतर मनरूपसे निवास करते हैं, उन भगवान् शिवको नमस्कार है। सम्पूर्ण देवताओंसे पूजित भगवान् शंकरको नमस्कार है। भक्तजनोंपर निरन्तर कृपा करनेवाले आप भगवान् महेश्वरको नमस्कार है। सबकी उत्पत्तिके कारण भगवान् भवको नमस्कार है। भगवन्! आप भवके उद्भव (संसारके स्रष्टा) हैं, आपको नमस्कार है। कामदेवका विध्वंस करनेवाले आपको नमस्कार है। आप गूढ़ भावसे महान् व्रतका पालन करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। आप मायारूपी गहन वनके आश्रय हैं, अथवा सबको आश्रय देनेवाला आपका स्वरूप योगमायासमावृत होनेके कारण दुर्बोध है, आपको नमस्कार है। प्रलयकालमें जगत्का संहार करनेवाले 'शर्व' नामधारी आपको नमस्कार है। शिवरूप आपको नमस्कार है। आप पुरातन सिद्धरूप हैं, आपको नमस्कार है। कालरूप आपको नमस्कार है। आप सबकी कलना (गणना) करनेवाले होनेके कारण 'कल' नामसे प्रसिद्ध हैं। आपको नमस्कार है। आप कालकी कलाका अतिक्रमण करके उससे बहुत दूर रहते हैं, आपको नमस्कार है। आप स्वाभाविक ऐश्वर्यसे सम्पन्न हैं, आपको नमस्कार है। आप अप्रमेय महिमावाले वृषभ तथा महासमृद्धिसे सम्पन्न हैं, आपको नमस्कार है। आप सबको शरण देनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। आप ही निर्गुण ब्रह्म हैं, आपको नमस्कार है। आपके अनुगामी सेवक भयानक गुणसम्पन्न हैं, आपको नमस्कार है। नाना भुवनोंपर अधिकार रखनेवाले आपको नमस्कार है। भक्तोंको मनोवांछित फल प्रदान करनेवाले आपको नमस्कार है। भगवन्! आप ही कर्मोंका फल देनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। आप ही सबका धारण-पोषण करनेवाले धाता तथा उत्तम कर्ता हैं। आपको सर्वदा नमस्कार है। आपके अनन्त रूप हैं, आपका कोप सबके लिये असह्य है। आपको सदैव नमस्कार है। आपके स्वरूपका कोई माप नहीं हो सकता, आपको नमस्कार है। वृषभेन्द्रको अपना वाहन बनानेवाले आप भगवान् महेश्वरको नमस्कार है। आप सुप्रसिद्ध महौषधरूप हैं, आपको नमस्कार है। समस्त व्याधियोंका विनाश करनेवाले आपको नमस्कार है। आप चराचरस्वरूप, सबको विचार देनेवाले, कुमारनाथके नामसे प्रसिद्ध तथा परम कल्याणस्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। प्रभो! आप मेरे स्वामी हैं, सम्पूर्ण भूतोंके ईश्वर एवं महेश्वर हैं। आप ही समस्त भोगोंके अधिपति हैं। वाणी, बल और बुद्धिके अधिपति भी आप ही हैं। आप ही क्रोध और मोहपर शासन करनेवाले हैं। पर और अपर (कारण और कार्य)-के स्वामी भी आप ही हैं। सबकी हृदयगुहामें निवास करनेवाले परमेश्वर

तथा मुक्तिके अधीश्वर भी आप ही हैं,आपको नमस्कार है।'

पार्वतीनन्दन स्कन्दने सबको वर देनेवाले शूलपाणि भगवान् उमापतिकी इस प्रकार स्तुति करके उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया और '**नमो नमः**'का उच्चारण किया।*

इस प्रकार भक्तिभावसे भरे हुए अपनेयोग्य स्तवन सुनकर शिवजी बहुत सन्तुष्ट हुए और पुत्र कार्तिकेयका उन्होंने चिरकालतक अभिनन्दन करके कहा—'बेटा! मेरे भक्तके वध करनेका जो दुःख तुम्हारे मनमें हुआ है, उसका विचार तुमको नहीं करना चाहिये। अपने इस कर्मसे तुम मुनियोंके लिये भी स्पृहणीय बन गये हो। जो लोग सायंकाल और सबेरे पूर्ण भक्तिपूर्वक तुम्हारे द्वारा की हुई इस स्तुतिसे मेरा स्तवन करेंगे, उनको जो फल प्राप्त होगा, उसका वर्णन करता हूँ, सुनो—उन्हें कोई रोग नहीं होगा, दरिद्रता भी नहीं होगी तथा प्रियजनोंसे कभी वियोग भी न होगा। वे इस संसारमें दुर्लभ भोगोंका उपभोग करके मेरे परम धामको प्राप्त होंगे। इतना ही नहीं, मैं उन्हें और भी परम दुर्लभ वर प्रदान करूँगा। बेटा! मैं तुम्हारी भक्तिसे बहुत प्रसन्न हूँ और तुम्हारी प्रसन्नताके लिये सब कुछ करूँगा। जो मनुष्य वैशाखमासकी पूर्णिमाको महीसागरके तटपर मेरी स्तुति करेंगे, उनका वह सब दान, पूजन अक्षय होगा। जो मानव वैशाखकी पूर्णिमाको यहाँके सरोवरमें स्नान करेंगे, उन्हें सब तीर्थोंके स्नानजनित फलकी प्राप्ति होगी। कार्तिकेय! जब कभी अनावृष्टि हो, नाना प्रकारके उत्तम कलशोंद्वारा विधिपूर्वक गन्धयुक्त जलसे मुझे एक, तीन, पाँच अथवा सात राततक स्नान करावे और मेरे सर्वांगमें कुंकुमका लेप करे, फिर दो वस्त्र धारण कराकर लाल कनेरके पुष्पोंसे तथा जवाके पुष्पोंसे और फूलकी मालाओंसे मेरा पूजन करे। पूजनके पश्चात् उत्तम व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी ब्राह्मणोंको भोजन करावे। मेरी प्रसन्नताके लिये एक लाख आहुति हवन करे, ग्रहादिकी शान्तिके लिये भी हवन करे। तदनन्तर भूमिदान करके गौके लिये दैनिक ग्रास (अथवा एक दिनके खानेके लिये पर्याप्त चारा, दाना आदि) दे। तत्पश्चात् मंगलमय शान्तिपाठ एवं रुद्रका जप करावे। इसी विधानसे उत्तम ब्राह्मणोंद्वारा अनुष्ठान करानेपर जल-शून्य बादल भी उस समय अवश्य वर्षा करते हैं। भाँति-भाँतिके धान्यों तथा हरी-हरी घासोंसे वसुधा परिपूर्ण हो जाती है। मनुष्यों और पशुओंमें कोई रोग नहीं रह जाता। इस अनुष्ठानके प्रभावसे राजा धर्मपरायण होता है। शत्रुमण्डलीसे वह कभी पीड़ित नहीं होता। जो मनुष्य यहाँ भक्तियुक्त होकर मुझे घृतसे स्नान कराता है, उसे कन्यादानका फल होता है। जो दूध अथवा पंचामृतसे मुझे स्नान कराता है, उसे अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त होता है। जो कुमारेश्वर तीर्थमें मृत्युको प्राप्त होता है,

* नमः शिवायास्तु निरामयाय नमः शिवायास्तु मनोमयाय । नमः शिवायास्तु सुरार्चिताय तुभ्यं सदा भक्तकृपापराय॥
नमो भवायास्तु भवोद्भवाय नमोऽस्तु ते ध्वस्तमनोभवाय । नमोऽस्तु ते गूढमहाव्रताय नमोऽस्तु मायागहनाश्रयाय॥
नमोऽस्तु शर्वाय नमः शिवाय नमोऽस्तु सिद्धाय पुरातनाय । नमोऽस्तु कालाय नमः कलाय नमोऽस्तु ते कालकलातिगाय॥
नमो निसर्गात्मकभूतिकाय नमोऽस्त्वमेयोक्षमहर्द्धिकाय । नमः शरण्याय नमोऽगुणाय नमोऽस्तु ते भीमगुणानुगाय॥
नमोऽस्तु नाना भुवनाधिकर्त्रे नमोऽस्तु भक्ताभिमतप्रदात्रे । नमोऽस्तु कर्मप्रसवाय धात्रे नमः सदा ते भगवन्सुकर्त्रे॥
अनन्तरूपाय सदैव तुभ्यमसह्यकोपाय सदैव तुभ्यम् । अमेयमानाय नमोऽस्तु तुभ्यं वृषेन्द्रयानाय नमोऽस्तु तुभ्यम्॥
नमः प्रसिद्धाय महौषधाय नमोऽस्तु ते व्याधिगणापहाय । चराचरायाथ विचारदाय कुमारनाथाय नमः शिवाय॥
ममेश भूतेश महेश्वरोऽसि कामेश वागीश बलेश धीश । क्रोधेश मोहेश परापरेश नमोऽस्तु मोक्षेश गुहाशयेश॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० २७। ४०—४७)

वह महाप्रलयकालतक मेरे लोकमें निवास करता है। अयनारम्भके दिन, विषुव योगमें (जब कि दिन और रात बराबर होते हैं), चन्द्रमा और सूर्यके ग्रहणकालमें, पूर्णिमा तथा अमावास्या तिथिको, संक्रान्तिके समय तथा वैधृति योगमें जो मनुष्य महीसागरसंगममें स्नान करके भक्तिपूर्वक कुमारेश्वरका पूजन करता है, उसके पुण्यफलका वर्णन सुनो—पृथ्वीके सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नान करनेका जो महान् फल है तथा सम्पूर्ण शिवलिंगोंके पूजनका जो सर्वश्रेष्ठ फल है, वह सब उसे प्राप्त होता है। कुमारेश्वरकी सेवासे मनुष्यको निश्चितरूपसे आरोग्य, पुत्र, धन तथा उत्तम सुखकी प्राप्ति होती है। जो तपस्वी इस तीर्थमें ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए, पवित्रतापूर्वक निवास करता है, वह सर्वश्रेष्ठ पाशुपत योगको प्राप्त करके मुझमें लीन हो जाता है। बेटा! यहाँ तुम्हारे द्वारा स्थापित किये हुए शिवलिंगको तुम्हारी प्रसन्नताकी वृद्धिके लिये मैंने ये वरदान दिये हैं।

**स्कन्दने कहा**—महेश्वर! आपके दिये हुए ये वरदान पाकर मैं कृतकृत्य हो गया। आपको नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है। प्रभो! आप कभी इस स्थानका त्याग न करें।

देवेश्वर भगवान् शिवसे प्रणामपूर्वक यह प्रार्थना करनेके पश्चात् स्कन्दने माता पार्वतीके चरणोंमें मस्तक झुकाकर कहा—'माँ! मेरा प्रिय करनेकी अभिलाषासे तुम्हें भी इस स्थानका कभी त्याग न करना चाहिये।'

**पार्वती बोलीं**—बेटा! जहाँ भगवान् शंकर विराजमान होते हैं, वहाँ तो मैं स्वभावसे ही निवास करती हूँ। षडानन! यहाँ स्त्रियोंद्वारा मेरी आराधना होनेपर मैं उन्हें सौभाग्य, उत्तम पति तथा अनेक पुत्र प्रदान करूँगी। चैत्रमासकी तृतीयाको शीतल जलसे स्नान करके जो नारी फूल, चन्दन, धूप आदिसे मेरी पूजा करेगी और भक्तिपूर्वक मुझे आठ सौभाग्यसूचक वस्तुएँ अर्पण करेगी, उसे मैं पिता, माता, सास, श्वशुर, पति, पुत्र, सौभाग्य तथा सम्पत्ति—ये आठ वस्तुएँ प्रदान करूँगी। कुंकुम, पुष्प, चन्दन, ताम्बूल, काजल, ईख, लवण और जीरा—ये आठ सौभाग्यसूचक वस्तुएँ हैं। इन सब वस्तुओंको तराजूके पलड़ेपर रखकर उनसे अपनेको तोले तथा वह स्त्री अपने पैरसहित सम्पूर्ण अंगोंके साथ तुल जाय और उन वस्तुओंका मेरी प्रीतिके लिये दान कर दे। तत्पश्चात् वह बिना नमकका भोजन करे। ऐसा करनेवाली स्त्री संसारमें कभी विधवा नहीं होती—सदा सौभाग्यवती बनी रहती है। जो स्त्री माघ, कार्तिक अथवा चैत्रमें यहाँ स्नान करके मेरी पूजा करेगी, उसे दुःख, दरिद्रता और दुर्भाग्यका संयोग कभी नहीं होगा।

गिरिराजनन्दिनी पार्वतीकी यह बात सुनकर उनके पुत्र स्कन्दको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने माता पार्वतीकी स्थापना करके अपने भाई गणेशजीसे कहा—'विनायक! जो लोग पुष्प, धूप और मोदकसे पहले तुम्हारी पूजा करके फिर कुमारेश्वरका पूजन करते हैं, उनके सभी विघ्नोंका तुम निवारण करो।'

**गणेशजी बोले**—भैया! तुम्हारे द्वारा स्थापित इस शिवलिंगके प्रति जो लोग भक्ति रखते हैं, उन्हें मेरी तथा मेरे अनुगामियोंकी ओरसे कोई भी विघ्न नहीं होगा।

विघ्नराज गणेशके प्रसन्नतापूर्वक ऐसा कहनेपर कुमारने उनकी भी स्थापना की। इसलिये वहाँ सर्वदा ही विशेषतः चतुर्थी तिथिको गणेशजीका पूजन अवश्य करना चाहिये। इस प्रकार भगवान् कुमारेश्वरकी स्थापना करके भगवान् शिवसे ये वरदान पाकर प्रसन्न हुए कार्तिकेयने अपनेको कृतकृत्य माना तथा वे भगवान् कुमारेश्वरके समीप स्वयं भी अंशतः निवास करने लगे। स्वामिकार्तिकेयकी यात्रा करनेवाले जो लोग इस तीर्थमें निवास करनेवाले भगवान् शंकरका दर्शन करते हैं, उनकी वह यात्रा सफल होती है। विशेषतः कार्तिककी पूर्णिमाको कार्तिकेयजीका पूजन करे। ऐसा करनेसे स्कन्द स्वामीकी यात्राका जो फल है, वह पूर्णरूपेण प्राप्त होता है। कार्तिकेयके एक सौ आठ नामोंका ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक पवित्र भावसे एक मासतक जप करनेपर मनुष्य सब संकटोंसे छुटकारा पा जाता है।* अर्जुन! यह महीसागरसंगम तीर्थ ऐसी ही महिमावाला है।

---

* श्रीविश्वामित्रजीने कुमार कार्तिकेयजीकी स्तुति करते हुए उनके १०८ नाम इस प्रकार बतलाये हैं—

'भगवन्! आप (१) ब्रह्मवादी (वेदोंके वक्ता एवं परब्रह्म परमात्माके तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले) हैं, आप ही (२) ब्रह्मा हैं, आप ही (३) ब्रह्म, (४) ब्राह्मणवत्सल, (५) ब्रह्मण्य (ब्राह्मणभक्त), (६) ब्रह्मदेव, (७) ब्रह्मद (ब्रह्मज्ञानको देनेवाले) तथा (८) ब्रह्मसंग्रह (वेदार्थोंके संग्रही और केवल परब्रह्म परमात्माको ही सम्यक्रूपसे ग्रहण करनेवाले) हैं। आप (९) सर्वोत्कृष्ट, परमतेज, (१०) मंगलमंगल (मंगलोंके भी मंगल), (११) अप्रमेयगुण (असंख्य गुणवाले) और (१२) मन्त्रमन्त्रग (मन्त्रोंके सारभूत मन्त्रमें भी गति रखनेवाले) हैं। आप ही (१३) देव! आप ही सावित्रीमय हैं। आप (१४) सर्वत्र अपराजित (अजेय), (१५) मन्त्र, शर्वात्मक मन्त्र, (१६) देव (दिव्यप्रकाशमय) तथा (१७) षडक्षरवतां वरः (छः अक्षरवाले मन्त्र 'ॐ नमः शिवाय' का जप करनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ) हैं। आप (१८) गवाम्पुत्र (गौ अर्थात् जलस्वरूपा गंगाके पुत्र), (१९) सुरारिघ्न (देवशत्रुओंका नाश करनेवाले), (२०) सम्भव (असम्भवको भी सम्भव कर दिखानेवाले), (२१) भवभावन (ब्रह्मारूपसे संसारकी सृष्टि करनेवाले), (२२) पिनाकी (शंकररूपसे पिनाक नामक धनुष धारण करनेवाले), (२३) शत्रुहा (शत्रुनाशक), (२४) श्वेत (श्वेत पर्वतरूप), (२५) गूढ (एकान्तस्थानमें जन्म ग्रहण करनेवाले अथवा छिपी हुई शक्ति और महिमावाले), (२६) स्कन्द (उछलकर चलनेवाले), (२७) सुराग्रणी (देवताओंके अगुआ), (२८) द्वादश (बारह नेत्र और कान आदि धारण करनेवाले), (२९) भू (मण्डलस्वरूप), (३०) भुवः (अन्तरिक्ष लोकस्वरूप), (३१) भावी (सबको उत्पन्न करनेवाले अथवा भवितव्यतारूप), (३२) भुवःपुत्र (पृथ्वीपर रखे हुए भगवान् शंकरके वीर्यसे उत्पन्न होनेके कारण पृथ्वीके पुत्ररूपसे प्रसिद्ध) (३३) नमस्कृत (सबके द्वारा अभिवन्दित), (३४) नागराज (नागोंके स्वामी), (३५) सुधर्मात्मा, (३६) नाकपृष्ठ (स्वर्गके संरक्षक होनेके कारण उसकी आधारभूमि), (३७) सनातन (सदा रहनेवाले), (३८) हेमगर्भ (स्वर्णके समान कान्तिवाले तेजोमय वीर्यसे उत्पन्न), (३९) महागर्भ (अनेक माताओंके गर्भमें वास करनेवाले), (४०) जय (युद्धमें जय पानेवाले) तथा (४१) विजयेश्वर (विजयके स्वामी) हैं। आप ही (४२) कर्ता, (४३) विधाता (धारण-पोषण करनेवाले), (४४) नित्य (अविनाशी), (४५) नित्यारिमर्दन (सदा शत्रुओंका संहार करनेवाले), (४६) महासेन (विशाल सेनाके अधिपति), (४७) महातेजा (परम तेजस्वी), (४८) वीरसेन (पराक्रमी सैनिकोंके अधिनायक), (४९) चमूपति (सेनापति), (५०) शूरसेन (शौर्यशालिनी सेनाके संचालक), (५१) सुराध्यक्ष (देवताओंके सेनानायक), (५२) भीमसेन (भयंकर सेनावाले), (५३) निरामय (रोगरहित), (५४) शौरि (शौर्यसम्पन्न भगवान् शंकरके पुत्र), (५५) पटु (कुशल एवं समर्थ), (५६) महातेजा (महाप्रतापी), (५७) वीर्यवान् (बल और पराक्रमसे सम्पन्न), (५८) सत्यविक्रम (सत्यपराक्रमी), (५९) तेजोगर्भ (अग्निपुत्र अथवा तेजोमय वीर्यसे प्रादुर्भूत), (६०) असुररिपु (असुरोंके शत्रु), (६१) सुरमूर्ति (देवस्वरूप), (६२) सुरोर्जित (देवताओंसे अधिक बलवान्), (६३) कृतज्ञ (उपकारको माननेवाले) (६४) वरद (वर देनेवाले), (६५) सत्य (सत्यवादी), (६६) शरण्य (शरणागतपालक), (६७) साधुवत्सल (साधु पुरुषोंपर स्नेह रखनेवाले), (६८) सुव्रत (उत्तम व्रतका पालन करनेवाले), (६९) सूर्यसङ्काश (सूर्यके समान तेजस्वी), (७०) वह्निगर्भ (अग्निके गर्भसे उत्पन्न), (७१) रणोत्सुक (युद्धके लिये उत्कण्ठित रहनेवाले), (७२) पिप्पली (पीपलका सेवन करनेवाले), (७३) शीघ्रग (तीव्र गतिसे चलनेवाले), (७४) रौद्रि (रुद्रपुत्र), (७५) गाङ्गेय (गंगापुत्र), (७६) रिपुदारण (शत्रुओंको विदीर्ण करनेवाले), (७७) कार्तिकेय (कृत्तिकापुत्र), (७८) प्रभु (समर्थ), (७९) क्षान्त (क्षमाशील),

इस प्रकार कुमारेश्वरका संक्षेपसे वर्णन किया गया, जो कुमारेश्वरके इस माहात्म्यका उनके आगे पाठ करता है तथा जो लोग इस माहात्म्यको सुनते और प्रसन्न होते हैं, वे सभी रुद्रलोकमें निवास करते हैं। जो श्राद्धकालमें इस लिंगके माहात्म्यका पाठ करता है, उसका किया हुआ श्राद्ध पितरोंको अक्षय तृप्ति प्रदान करनेवाला होता है। यदि कोई गर्भवती स्त्रीको इस शिवलिंगका माहात्म्य सुनावे, तो उसके गर्भसे गुणवान् पुत्र उत्पन्न होता है। और यदि कन्या हुई तो वह पतिव्रता होती है। यह प्रसंग परम पवित्र, पापहारक, धर्मानुकूल तथा अतिशय आनन्द प्रदान करनेवाला है। इसे पढ़ने और सुननेवाले मनुष्योंको यह समस्त मनोवांछित फल प्रदान करनेवाला है।

## कुमारका विजयस्तम्भ, प्रलम्ब दानवका वध तथा भूगोलका वर्णन

**नारदजी कहते हैं**—कुमारके द्वारा कुमारेश्वरकी स्थापना हो जानेपर देवताओंने दोनों हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'प्रभो! हम आपकी विजयकीर्ति प्रकाशित करनेके लिये जलमें एक उत्तम स्तम्भ डालेंगे और उसके आगे आप विश्वकर्माके द्वारा बनाये हुए तीसरे शिवलिंगकी स्थापना करें।' देवताओंके ऐसा कहनेपर महामना स्कन्दने 'तथास्तु' कहकर अनुमति दे दी। तब इन्द्र आदि देवताओंने प्रसन्न होकर सुवर्ण एवं उत्तम रत्नोंके बने हुए एक उत्तम स्तम्भको जलमें डालकर खड़ा किया। उस खम्भेके चारों ओर रत्नोंका चबूतरा बनवाया। उस समय आकाशसे फूलोंकी वर्षा हुई और देवताओंके बाजे बज उठे। उस स्तम्भका नाम रखा गया 'विश्वनन्दक'। उसका आरोपण हो जानेके पश्चात् उसीके पश्चिम भागमें भगवान् स्तम्भेश्वरकी स्थापना की गयी। स्तम्भेश्वरसे पश्चिमकी ओर महात्मा स्कन्दने अपनी शक्तिके अग्र भागसे एक कूपका निर्माण किया, जिसमें पातालगंगा प्रकट हुई हैं। अर्जुन! माघके कृष्णपक्षकी चतुर्दशी तिथिको जो मनुष्य उस कूपमें स्नान करके पितरोंका तर्पण करेगा, उसे निश्चय ही गया-श्राद्धसे होनेवाले पुण्यफलकी प्राप्ति होगी। तर्पणके पश्चात् गन्ध और पुष्पसे भगवान् स्तम्भेश्वरकी पूजा करनी चाहिये। ऐसा करनेवाला पुरुष वाजपेय यज्ञका फल प्राप्त करके भगवान् शिवके परमधाममें आनन्दका

(८०) नीलदंष्ट्र (नीले दाँतवाले), (८१) महामना (अत्यन्त उदार हृदयवाले), (८२) निग्रह (निरपराध लोगोंका दमन करनेकी दानवीय प्रथाको बलपूर्वक रोकनेवाले), (८३) नेता (सेनानायक) तथा आप ही, (८४) सुरनन्दन (देवताओंको आनन्दित करनेवाले), (८५) प्रग्रह (शत्रुओंको बलपूर्वक पकड़ लेनेवाले), (८६) परमानन्द, (८७) क्रोधघ्न (अपने भक्तोंके क्रोधका नाश करनेवाले), (८८) तार (उच्च स्वरसे गर्जना करनेवाले), (८९) उच्छ्रित (ऊँचे पदपर स्थित अथवा ऊँची कदवाले), (९०) कुक्कुटी (बालके लिये मोर अथवा पहाड़ी मुर्गी पालनेवाले), (९१) बहुली (बहुत साधनसामग्रीसे सम्पन्न), (९२) दिव्य (स्वर्गीय शोभा धारण करनेवाले), (९३) कामद (मनोरथ पूर्ण करनेवाले), (९४) भूरिवर्द्धन (अधिक वृद्धि प्रदान करनेवाले), (९५) अमोघ (कभी असफल न होनेवाले), (९६) अमृतद (अमृत प्रदान करनेवाले), (९७) अग्नि (अग्निस्वरूप), (९८) शत्रुघ्न (शत्रुनाशक), (९९) सर्वबोधन (सबको ज्ञान देनेवाले), (१००) अनघ (पापरहित), (१०१) अमर (अविनाशी), (१०२) श्रीमान् (शोभासम्पन्न), (१०३) उन्नत (उन्नतिशील), (१०४) अग्निसम्भव (अग्निसे उत्पन्न), (१०५) पिशाचराज (शिवके पिशाच आदि गणोंका आधिपत्य ग्रहण करनेवाले), (१०६) सूर्याभ (सूर्यके समान कान्तिमान्), (१०७) शिवात्मा (शिवस्वरूप) तथा आप ही (१०८) सनातन (नित्य) हैं। (स्क० पु०, मा० कुमा० २३। २२ से ३५)

भागी होता है। जो पूर्णिमा और अमावास्याको महीसागरसंगममें श्राद्ध करके स्तम्भेश्वरका पूजन करता है, उसके पितर तृप्त होते हैं। तृप्त होकर उत्तम आशीर्वाद देते हैं तथा वह पुरुष सब पापोंका नाश करके भगवान् रुद्रके लोकमें प्रतिष्ठित होता है। यह बात स्वयं भगवान् शंकरने कार्तिकेयकी प्रशंसाके लिये पहले कही थी। इस प्रकार स्कन्दद्वारा स्थापित किये हुए चौथे उत्तम लिंगको सब देवताओंने प्रणाम किया और 'साधु साधु' कहकर उनके इस कार्यकी प्रशंसा की।

इस प्रकार भगवान् शंकरके पुत्र स्कन्दद्वारा पृथ्वीपर स्थापित किये हुए उन शिवलिंगोंका दर्शन करके विष्णु, ब्रह्मा और इन्द्र आदि देवता आपसमें इस प्रकार कहने लगे—'अहो! ये कुमार धन्य हैं, जिन्होंने परम दुर्लभ महीसागरसंगममें चार शिवलिंग स्थापित किये। हम लोग भी यहाँ आत्मशुद्धिके लिये, भगवान् शंकर और कुमार कार्तिकेयकी प्रसन्नताके लिये, सत्कर्मका अनुष्ठान करनेके लिये तथा अपने परम लाभके लिये शिवलिंगोंकी परम्परा स्थापित करें। ऐसी सलाह करके सबने भगवान् महेश्वरसे आज्ञा प्राप्त की। आज्ञा मिल जानेपर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने साक्षात् ब्रह्माजीके द्वारा बनाये हुए एक उत्तम शिवलिंगको एकान्त स्थानमें स्थापित किया। जिनका प्रयोजन सिद्ध हो चुका था, ऐसे ब्रह्मा आदि देवताओंने उस लिंगकी स्थापना की थी, इसलिये उसका नाम 'सिद्धेश्वर' रखा गया। फिर सब देवताओंने मिलकर वहाँ एक उत्तम सरोवर खोदा और उन महात्माओंने समस्त तीर्थोंके उत्तम जलसे उस जलाशयको भर दिया। इसी समय पातालसे शेषनागके पुत्र कुमुदने आकर शेष आदि सर्पगणोंसे कहा—'तारकासुरके साथ जब युद्ध हो रहा था, उस समय प्रलम्ब नामक दानव कुमारके भयसे भागकर पातालमें जा घुसा था। वह इस समय आपलोगोंके धन, पुत्र, पत्नी, कन्या और गृहोंका विध्वंस कर रहा है।'

यह सुनकर कुमार कार्तिकेयने शक्ति हाथमें ली और 'प्रलम्ब नामक दैत्य मारा जाय' ऐसा संकल्प करके उसे पातालकी ओर छोड़ दिया। स्कन्दके हाथसे छूटी हुई वह शक्ति पृथ्वीको चीरकर बड़े वेगसे पातालमें जा पहुँची और दस करोड़ दैत्योंसे युक्त प्रलम्बको भस्म करके जलकी लहरोंके साथ पुनः लौट आयी। शक्तिने पातालको जाते समय जो बिल बना दिया, उस मार्गसे पातालगंगाका पापहारी जल आकर वहाँ पूर्ण हो गया। स्कन्दने उसका नाम 'सिद्धकूप' रखा। जो मनुष्य उपवासपूर्वक कृष्णपक्षकी अष्टमी और चतुर्दशीको सिद्धकूपमें स्नान करता और अनन्य भावसे भगवान् सिद्धेश्वरका पूजन करता है, उसका अनेक जन्मोंका पाप भाग जाता है। जो सिद्धकुण्डमें श्रद्धापूर्वक स्नान करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर भगवान् शंकरकी भक्तिके योग्य हो जाता है।

उस तीर्थमें अक्षयवट भी है, उसके ऊपर सन्तुष्ट हो भगवान् शंकरने यों वरदान दिया—'यह वटवृक्ष प्रयागके अक्षय वटके समान है। जो यहाँ श्राद्ध करता है, उसके पिण्ड देनेसे सब पितरोंको अक्षय दान प्राप्त होता है।'

तदनन्तर ब्रह्मा आदि देवताओंने स्कन्दके साथ जाकर महाशक्ति भगवती सिद्धाम्बिकासे प्रार्थना की—'देवि! तुम यहीं रहकर इस क्षेत्रकी दुष्ट जीवोंसे रक्षा करो। शुभे! अष्टमी और चतुर्दशीको जो लोग तुम्हारी पूजा करते हैं, उनकी सब प्रकारकी आपत्तियोंसे तुम्हें रक्षा करनी चाहिये।' उनके इस प्रकार कहनेपर सिद्धाम्बिकाने 'तथास्तु' कहकर उनकी प्रार्थना स्वीकार की। तत्पश्चात् सिद्धेश्वर लिंगसे उत्तर भागमें देवताओंने भगवती सिद्धाम्बाको स्थापित किया। उस तीर्थमें भी देवसमूहने सिद्धेश्वर क्षेत्रकी रक्षाके लिये क्षेत्रपतिके रूपमें चतुःषष्ठि महेश्वरकी स्थापना की। उसके बाद उन्होंने सिद्धिके लिये वहाँ शिवजीके पुत्र गणेशकी

सिद्धिविनायकके नामसे स्थापना की। जो लोग प्रत्येक कार्यके आरम्भमें सदा उनकी पूजा करते हैं, उन सबको ये प्रबल विघ्नराज सिद्धि प्रदान करते हैं। इस प्रकार उस तीर्थके सिद्धसप्तककी जो लोग सदा पूजा, दर्शन और स्मरण करते हैं, वे सब दोषोंसे मुक्त हो जाते हैं। सिद्धेश्वर, सिद्ध-वट, सिद्धाम्बिका, सिद्धविनायक, सिद्धेश क्षेत्राधिपति, सिद्धसर तथा सिद्धकूप—ये सात सिद्धसप्तक कहलाते हैं।

सिद्धेशके सम्बन्धमें देवताओंने भी ये गाथा गायी है—'जो मनुष्य सिद्धलिंगका पूजन करेगा, उसके द्वारा हम सब देवता यज्ञ, जप, स्तोत्र और तपस्याद्वारा सन्तुष्ट किये हुएके समान हो जायँगे।'

यों कहकर वे सब देवता बड़े हर्षको प्राप्त हो स्कन्दके साथ उस क्षेत्रसे चले गये। स्कन्दने मारुतस्कन्ध नामसे प्रसिद्ध सप्तमस्कन्धको प्रस्थान किया। अर्जुन! इस प्रकार मैंने तुमसे महीसागरसंगम तीर्थके पाँच लिंगोंका वृत्तान्त कह सुनाया।

कुन्तीनन्दन! सृष्टिके पहले यहाँ सब कुछ अव्यक्त एवं प्रकाशशून्य था। उस अव्याकृत अवस्थामें प्रकृति और पुरुष—ये दो अजन्मा (जन्मरहित) एक-दूसरेसे मिलकर एक हुए, यह हम सुना करते हैं। तत्पश्चात् अपने स्वरूपभूत स्वभाव और कालकी प्रेरणा होनेपर पुरुषके ईक्षण (सृष्टिविषयक संकल्प) से क्षोभको प्राप्त हुई, प्रकृतिसे महत्तत्त्वकी उत्पत्ति हुई। फिर महत्तत्त्वमें विकार आनेपर अहङ्कार प्रकट हुआ। मुनियोंने उस अहंकारको सात्त्विक, राजस और तामसभेदसे तीन प्रकारका बतलाया है। तामस अहंकारसे पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न हुईं तथा उन तन्मात्राओंसे पाँच महाभूतोंकी उत्पत्ति हुई और रूप-रसादि पाँच विषय पाँच महाभूतोंके कार्य हैं। तैजस अर्थात् राजस अहंकारसे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। पूर्वोक्त दस इन्द्रियोंके देवता तथा ग्यारहवीं इन्द्रिय मन सात्त्विक अहंकारसे उत्पन्न हुए हैं, ऐसा विद्वान् पुरुषोंका मत है। ये ही चौबीस तत्त्व पूर्वकालमें उत्पन्न हुए, फिर परम पुरुष भगवान् सदाशिवकी दृष्टि पड़नेपर ये सभी तत्त्व बुलबुलेके आकारमें परिणत हो गये; उस बुलबुलेसे सुन्दर अण्ड उत्पन्न हुआ, जिसका परिमाण सौ कोटि योजन है। इसीको ब्रह्माण्ड कहते हैं।

ब्रह्माण्डके आत्मा ब्रह्माजी बताये गये हैं, उन्होंने इसके तीन विभाग किये—ऊर्ध्वभाग, मध्यभाग और अधोभाग। ऊर्ध्वभाग स्वर्ग है, उसमें देवता निवास करते हैं। मध्यभाग भूलोक है, इसमें मनुष्य रहते हैं। अधोभागको पाताल कहते हैं, उसमें नाग और दैत्य निवास करते हैं। ये ही ब्रह्माण्डके तीन विभाग किये गये हैं। इनमेंसे एक-एक विभागके पुनः सात-सात भाग ब्रह्माजीने किये हैं। जो सात पाताल, सात द्वीप और सात स्वर्गलोकके रूपमें प्रसिद्ध हैं।

पहले मैं सात द्वीपोंका वर्णन करूँगा। उनकी कल्पना सुनो—पृथ्वीके मध्यमें जम्बूद्वीप है; इसका विस्तार एक लाख योजनका बतलाया जाता है। जम्बूद्वीपकी आकृति सूर्यमण्डलके समान है। वह उतने ही बड़े खारे पानीके समुद्रसे घिरा हुआ है।* जम्बूद्वीप और क्षारसमुद्रके बाद शाकद्वीप है, जिसका विस्तार जम्बूद्वीपसे दुगुना है। वह अपने ही बराबर प्रमाणवाले क्षीरसमुद्रसे, उसके बाद उससे दुगुना बड़ा पुष्करद्वीप है, जो दैत्योंको मदोन्मत्त कर देनेवाले उतने ही बड़े सुरासमुद्रसे घिरा हुआ है। उससे परे कुशद्वीपकी स्थिति मानी

* भागवत आदि अन्य पुराणोंके अनुसार द्वीपोंका क्रम इस प्रकार है—जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर। परंतु स्कन्दपुराणके कुमारिकाखण्डमें क्रमभेद प्राप्त होता है। इसमें यहाँ तो जम्बू शाक, पुष्कर, कुश, क्रौंच, शाल्मलि तथा गोमेद (प्लक्ष) इस क्रमसे उल्लेख हुआ है, परंतु जहाँ इन द्वीपोंका विशेष वर्णन है, वहाँ पुष्करको सबके अन्तमें तथा प्लक्षद्वीपके बाद रखा है। मूलमें जैसा पाठ है, वैसा ही अर्थमें भी रखा गया है।

गयी है, जो अपनेसे पहले द्वीपकी अपेक्षा दुगुने विस्तारवाला है। कुशद्वीपको उतने ही बड़े विस्तारवाले दहीके समुद्रने घेर रखा है। उसके बाद क्रौंच नामक द्वीप है; जिसका विस्तार कुशद्वीपसे दूना है। वह अपने ही समान विस्तारवाले घीके समुद्रसे घिरा है। इसके बाद इसके दूने विस्तारवाला शाल्मलि द्वीप है; जो उतने ही बड़े ईखके रसके समुद्रसे घिरा है। उसके बाद उससे दुगुने विस्तारवाला गोमेद (प्लक्ष) नामक द्वीप है; जिसे उतने ही बड़े अत्यन्त रमणीय स्वादिष्ट जलके समुद्रने घेर रखा है। अर्जुन! इस प्रकार सात द्वीप और समुद्रोंसहित पृथ्वीका विस्तार दो करोड़, पचास लाख, तिरपन हजार योजन है। शुक्ल और कृष्णपक्षमें समुद्रके जलकी पाँच सौ दस अंगुलकी वृद्धि और क्षय देखे गये हैं। उसके बाद दस करोड़ योजनतक सुवर्णमयी भूमि है; वह देवताओंकी क्रीडास्थली है। उसके बाद कंकणके समान गोल आकारवाला लोकालोकपर्वत है, जिसका विस्तार दस हजार योजन है। उस पर्वतके बाह्य भागमें भयंकर अन्धकार है, जिसकी ओर देखना भी कठिन है। वहाँ कोई जीव-जन्तु नहीं रहते। वह अन्धकारपूर्ण प्रदेश पैंतीस करोड़, उन्नीस लाख, चालीस हजार योजनतक फैला हुआ है। उसके बाद गर्भोदक सागर है, जिसका विस्तार सात समुद्रोंके बराबर है। उसके बाद एक करोड़ योजन विस्तृत कड़ाह है, जो ब्रह्माजीके अण्डकटाहसे ढका हुआ है। ब्रह्माण्डके मध्यमें मेरुपर्वत है, उसकी दसों दिशाओंमें पचास-पचास करोड़ योजनतक ब्रह्माण्डका विस्तार जानना चाहिये। जम्बूद्वीपके मध्यभागमें मेरुपर्वत है, वह नीचेसे ऊपरतक एक लाख योजन ऊँचा है। सोलह हजार योजन तो वह पृथ्वीके नीचेतक गया हुआ है और चौरासी हजार योजन पृथ्वीसे ऊपर उसकी ऊँचाई है। मेरुके शिखरका विस्तार बत्तीस हजार योजन है। उसकी आकृति प्यालेके समान है। वह पर्वत तीन शिखरोंसे युक्त है, उसके मध्यम शिखरपर ब्रह्माजीका निवास है, ईशान कोणमें जो शिखर है, उसपर शंकरजीका स्थान है तथा नैर्ऋत्य कोणवाले शिखरपर भगवान् विष्णुकी स्थिति है। मेरुके सुवर्णमय शिखरपर ब्रह्माजीका, रत्नमय शिखरपर शंकरजीका तथा रजतमय शिखरपर भगवान् विष्णुका अधिकार है।

मेरुपर्वतके चारों ओर चार विष्कम्भ पर्वत माने गये हैं। पूर्वमें मन्दराचल, दक्षिणमें गन्धमादन, पश्चिममें सुपार्श्व तथा उत्तरमें कुमुद नामक पर्वत है। मन्दराचल पर्वतपर कदम्बका विशाल वृक्ष है, जो विशेषरूपसे जाननेयोग्य है। इसी प्रकार गन्धमादन पर्वतपर जम्बू वृक्ष, सुपार्श्व पर्वतपर अश्वत्थ वृक्ष तथा कुमुद पर्वतपर वट वृक्षकी स्थिति मानी गयी है। ये चारों वृक्ष उन-उन पर्वतोंकी ध्वजाके समान हैं। इनका दीर्घ विस्तार ग्यारह-ग्यारह सौ योजन है। इनके चार वन हैं, जो पर्वतके शिखरपर ही स्थित हैं। पूर्वमें नन्दन वन, दक्षिणमें चैत्ररथ वन, पश्चिममें वैभ्राज वन तथा उत्तरमें सर्वतोभद्र नामक वन है। इन्हीं चार वनोंमें चार सरोवर भी हैं। पूर्वमें अरुणोद सरोवर, दक्षिणमें मान सरोवर, पश्चिममें शीतोद सरोवर तथा उत्तरमें महाह्रद नामक सरोवर है। ये विष्कम्भ पर्वत पचीस-पचीस हजार योजन ऊँचे हैं। इनकी चौड़ाई भी हजार-हजार योजन मानी गयी है। इनके सिवा वहाँ और भी बहुत-से केसरपर्वत * हैं। मेरुगिरिके दक्षिण दिशामें निषध, हेमकूट और हिमवान्—ये तीन मर्यादा पर्वत हैं। इनकी लंबाई एक लाख योजन और चौड़ाई दो हजार योजन है। मेरुके उत्तरमें भी तीन मर्यादा पर्वत हैं—नील, श्वेत और शृंगवान्। मेरुसे पूर्व माल्यवान् पर्वत है और मेरुके पश्चिम गन्धमादन पर्वत है। ये सभी पर्वत जम्बूद्वीपमें चारों ओर फैले हुए हैं। गन्धमादन पर्वतपर जो जम्बूका वृक्ष है, उसके

* जैसे कमलकी कर्णिकाके चारों ओर केसर होते हैं, वैसे मेरुके सब ओर दो पर्वत हैं। वे केसरके ही सदृश जान पड़ते हैं। अतः उन्हें केसरपर्वत कहा है।

फल बड़े-बड़े हाथियोंके समान होते हैं। उस जम्बूके ही नामपर इस द्वीपको जम्बूद्वीप कहा गया है।

पूर्वकालमें स्वायम्भुव नामसे प्रसिद्ध एक मनु हो गये हैं; वे ही आदि मनु और प्रजापति कहे गये हैं। उनके दो पुत्र हुए, प्रियव्रत और उत्तानपाद। राजा उत्तानपादके पुत्र परम धर्मात्मा ध्रुवजी हुए, जिन्होंने भक्ति-भावसे भगवान् विष्णुकी आराधना करके अविनाशी पदको प्राप्त कर लिया। राजर्षि प्रियव्रतके दस पुत्र हुए, जिनमेंसे तीन तो संन्यास ग्रहण करके घरसे निकल गये और परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो गये। शेष सात द्वीपोंमें उन्होंने अपने सात पुत्रोंको प्रतिष्ठित किया। राजा प्रियव्रतके ज्येष्ठ पुत्र आग्नीध्र जम्बूद्वीपके अधिपति हुए। उनके नौ पुत्र जम्बूद्वीपके नौ खण्डोंके स्वामी माने गये हैं। वे नवों खण्ड आज भी उन्हींके नामसे विख्यात हैं। प्रत्येक खण्डका विस्तार एक हजार योजन है। मेरुके चारों ओर और गन्धमादन तथा माल्यवान्के बीचमें सुवर्णमयी भूमिसे सुशोभित भू-भाग है, उसे इलावृत वर्ष कहते हैं। माल्यवान् पर्वतसे लेकर समुद्रपर्यन्त भद्राश्व वर्ष कहलाता है। गन्धमादनसे समुद्रतककी भूमिको केतुमाल वर्ष कहा गया है। शृंगवान् पर्वतसे आरम्भ करके सागरतकके भूखण्डको कुरु वर्ष कहते हैं। शृंगवान् और श्वेत पर्वतके बीचका भाग हिरण्यमय वर्ष कहलाता है। नील और श्वेत पर्वतके बीचमें रम्यक् वर्ष है। निषध और हेमकूटके बीच हरिवर्षकी स्थिति है। हिमवान् और हेमकूटके मध्यका भूभाग किंपुरुष वर्ष माना गया है। हिमालयसे लेकर समुद्रतकके भूभागको नाभिखण्ड कहते हैं। नाभि और कुरु ये दोनों वर्ष धनुषकी-सी आकृतिवाले हैं। इनमें क्रमशः हिमवान् और शृंगवान् पर्वत प्रत्यंचाके स्थानपर स्थित बताये गये हैं। नाभिके पुत्र ऋषभ हुए और ऋषभसे 'भरत' का जन्म हुआ; जिनके नामपर इस देशको भारतवर्ष भी कहते हैं। अर्जुन! यहाँ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंका उपार्जन होता है। भारतवर्षके सिवा अन्य सब द्वीपों और वर्षोंमें केवल भोग-भूमि है।

शाकद्वीपमें एक हजार योजन विस्तृत शाक वृक्ष है। उसीके नामसे उस वर्षको शाकद्वीप कहा गया है। राजा प्रियव्रतके पुत्र मेधातिथि उस द्वीपके अधिपति हैं। उनके सात पुत्र हुए—पुरोजव, मनोजव, पवमान, धूम्रानीक, चित्ररेफ, बहुरूप तथा विश्वधार—ये उनके पुत्रोंके नाम हैं। इन्हीं नामोंसे प्रसिद्ध वहाँ सात खण्ड हैं। शाकद्वीपमें ऋतव्रत, सत्यव्रत, दानव्रत और अनुव्रत नामवाले चार वर्णोंके लोग हैं, जो वायुस्वरूप भगवान्के नामोंका जप करते हैं। जो अपनी प्राण आदि वृत्तियोंके द्वारा सम्पूर्ण भूतोंके भीतर प्रवेश करके उनका पालन-पोषण करते हैं तथा यह जगत् जिनके अधीन है, वे अन्तर्यामी ईश्वर साक्षात् वायुदेव हम सबकी रक्षा करें। कुशद्वीपमें एक हजार योजनतक कुशोंकी झाड़ी है। उसीके चिह्नसे चिह्नित होनेके कारण उसको कुशद्वीप कहते हैं। राजा प्रियव्रतके पुत्र हिरण्यरोमा उस द्वीपके स्वामी हैं; उनके वसु, वसुदान, दृढ़रुचि, नाभिगुप्त, स्तुत्यव्रत, विविक्त और वामदेव—इन सात पुत्रोंके नामसे प्रसिद्ध सात वर्ष कुशद्वीपमें हैं। वहाँके चार वर्णोंका नाम कुशल, कोविद, अभियुक्त और कुलक है। वे भगवान् अग्निदेवकी इस प्रकार स्तुति करते हैं—'हे अग्निदेव! आप जन्म ग्रहण करनेवाले सम्पूर्ण भूतोंको जानते हैं; इसलिये 'जातवेदा' हैं। साक्षात् परब्रह्म परमात्माके लिये आप हविष्य पहुँचाया करते हैं। सब देवता परम पुरुष भगवान्के ही अंग हैं। अतः उनके यजनद्वारा आप उन परम पुरुषका ही यजन करें।'

क्रौंचद्वीपमें क्रौंच नामक पर्वत है, जिसका विस्तार दस हजार योजन है। उसी पर्वतको स्वामिकार्तिकेयने विदीर्ण कर डाला था। उसके चिह्नसे चिह्नित होनेके कारण उस द्वीपका नाम क्रौंचद्वीप है। वहाँ प्रियव्रतके पुत्र महाराज धृतपृष्ठका अधिकार है। उनके सात पुत्र हुए—आम, मधुरुह,

मेघपृष्ठ, सुधामा, भ्राजिष्ठ, लोहितार्णव तथा वनस्पति। इन्हींके नामपर उस द्वीपके सात वर्ष हैं। वहाँ पुरुष, ऋषभ, द्रविण और देवक नामवाले चार वर्णोंके लोग रहते हैं और जलस्वरूप भगवान्‌की स्तुति करते हैं—'हे जल! तुम परम पुरुष परमात्माके रेतस् हो अथवा परमेश्वर ही तुम्हारी शक्ति हैं; तुम भूः, भुवः, स्वः तीनों लोकोंको पवित्र करते हो। अतः स्वभावसे ही पापनाशक हो। हम अपने शरीरसे तुम्हारा स्पर्श करते हैं, तुम हमें पवित्र कर दो।'

शाल्मलिद्वीपमें सेमलका एक बहुत बड़ा वृक्ष है, जिसपर गरुड़जी निवास करते हैं। उसका विस्तार एक हजार योजन है। वही वहाँका चिह्न है; इसलिये उसे शाल्मलिद्वीप कहते हैं। राजा प्रियव्रतके पुत्र यज्ञबाहु उसके अधिपति हैं। उनके सुरोचन, सौमनस्य, रमणक, देववर्हि, पारिभद्र, आप्यायन और अविज्ञात नामवाले सात पुत्र हैं, जिनके नामपर वहाँके सात वर्ष प्रसिद्ध हैं। उस द्वीपमें श्रुतधर, वीर्यधर, वसुन्धर और ईषन्धर नामवाले चार वर्णोंके लोग भगवान् सोमका यजन एवं स्तवन करते हैं। 'जो अपनी किरणोंसे कृष्ण और शुक्ल पक्षमें पितरों और देवताओंको अन्न वितरण करते हैं, वे भगवान् चन्द्रमा हम सब प्रजाओंके राजा हों।'

गोमेद या प्लक्षद्वीपमें गोमेद नामसे प्रसिद्ध एक पाकरिका वृक्ष है, जिसकी सुगन्धित छायासे विशेष सुख मिलनेके कारण लोगोंका मेदा बढ़ जाता है। अतः उससे उपलक्षित द्वीपको गोमेद द्वीप कहते हैं। वहाँ राजा प्रियव्रतके पुत्र इध्मजिह्व राजा हैं। उनके शिव, यवस, सुभद्र, शान्त, क्षेम, अमृत तथा अभय नामवाले सात पुत्र हैं, जिनके नामसे उस द्वीपके सात वर्ष प्रसिद्ध हुए हैं। वहाँ हंस, पतंग, ऊर्ध्वंचन और सत्यांग नामवाले चार वर्णोंके लोग रहते हैं जो भगवान् सूर्यकी आराधना करते हैं। जो पुराण-पुरुष भगवान् विष्णुके स्वरूप हैं, सत्य, ऋत, वेद, अमृत तथा मृत्युके भी आत्मा हैं, उन भगवान् सूर्यकी हम शरण लेते हैं।'

पुष्करद्वीपमें एक हजार योजनतक विस्तृत स्वर्णमय कमल देदीप्यमान होता है, जिसके लाखों स्वर्णमय दल शोभा पाते हैं। वही वहाँका चिह्न है। इसलिये उसे पुष्करद्वीप कहते हैं। राजा प्रियव्रतके पुत्र वीतिहोत्र वहाँके अधिपति हैं। उनके दो ही पुत्र हैं—रमणक और धातकि। इन्हींके नामसे उस द्वीपके दो खण्ड प्रसिद्ध हैं। इन दोनों खण्डोंके मध्य भागमें मानसोत्तर नामक पर्वत है; जिसकी आकृति कंगनके समान है। उसीके ऊपर भगवान् भास्कर भ्रमण करते हैं। वहाँ वर्ण-विभाग नहीं है। सब समान हैं और केवल ब्रह्माजीका चिन्तन करते रहते हैं। वे इस प्रकार प्रार्थना करते हैं—'जो सुप्रसिद्ध कर्मफलस्वरूप हैं, साक्षात् ब्रह्ममें ही जिनकी स्थिति है, सब लोग जिनका पूजन करते हैं तथा जो एकान्तनिष्ठ, अद्वितीय एवं परम शान्त हैं, उन भगवान् ब्रह्माको नमस्कार है।' पुष्करद्वीपके निवासियोंमें क्रोध और मात्सर्य नहीं होता। पुण्य और पापकी भी प्रवृत्ति नहीं होती। उनकी आयु दस हजार वर्षसे लेकर बीस हजार वर्षतककी होती है। वे लोग जप करते रहते हैं और देवताओंकी भाँति अपनी पत्नियोंके साथ विहार किया करते हैं। अर्जुन! अब मैं तुम्हें ऊपरके लोकोंकी स्थिति बतलाऊँगा।

## नवग्रहोंकी स्थिति, ऊपरके सात लोकोंका वर्णन, वायुके सात स्कन्ध, सात पाताल, इक्कीस नरक, ब्रह्माण्डकटाह एवं काल-मान आदिका निरूपण

**नारदजी कहते हैं**—कुरुश्रेष्ठ! भूमिसे लाख योजन ऊपर सूर्यमण्डल है। भगवान् सूर्यके रथका विस्तार नौ सहस्र योजन है। उसका ईषादण्ड (हरसा) अट्ठारह हजार योजन बड़ा है। इसकी

धुरी डेढ़ करोड़, साढ़े सात लाख योजनकी है। उसीमें सूर्यके रथका पहिया लगा है। उस पहियेमें तीन नाभि, पाँच अरे और छः नेमि बताये गये हैं। सूर्यके रथका जो दूसरा धुरा है, उसका माप साढ़े पैंतालीस हजार योजन है। धुरेका जो प्रमाण है, वही दोनों युगार्द्धोंका भी है। उस रथका जो छोटा धुरा और युगार्द्ध है, वह ध्रुवके आधारपर स्थित है और दूसरे बायें धुरेमें जो पहिया लगा है, वह मानसोत्तर पर्वतपर स्थित है। वेदके जो सात छन्द हैं, वे ही सूर्यरथके सात अश्व हैं। उनके नाम सुनो—गायत्री, बृहती, उष्णिक्, जगती, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् और पङ्क्ति—ये छन्द ही सूर्यके घोड़े बताये गये हैं। सदा विद्यमान रहनेवाले सूर्यका न तो कभी अस्त होता और न उदय ही होता है। सूर्यका दिखायी देना ही उदय है और उनका दृष्टिसे ओझल हो जाना ही अस्त है।

इन्द्र, यम, वरुण और कुबेर—इनमेंसे किसी एककी पुरीमें प्रकाशित होते हुए सूर्यदेव शेष तीन पुरियों और दो विकोणों (कोनों)-को प्रकाशित करते हैं और जब किसी कोनकी दिशामें स्थित होते हैं तब वे शेष तीन कोनों और दो पुरियोंको प्रकाशित करते हैं। उत्तरायणके प्रारम्भमें सूर्य मकर राशिमें जाते हैं, उसके पश्चात् वे कुम्भ और मीन राशियोंमें एक राशिसे दूसरी राशिपर होते हुए जाते हैं। इन तीनों राशियोंको भोग लेनेपर सूर्यदेव दिन और रात दोनोंको बराबर करते हुए विषुवत् रेखापर पहुँचते हैं। उसके बादसे प्रतिदिन रात्रि घटने लगती है और दिन बढ़ने लगता है। फिर मेष तथा वृष राशिका अतिक्रमण करके मिथुनके अन्तमें उत्तरायणके अन्तिम सीमापर उपस्थित होते हैं और कर्क राशिपर पहुँचकर दक्षिणायनका आरम्भ करते हैं। जैसे कुम्हारके चाकके सिरे बैठा हुआ जीव बड़ी शीघ्रतासे घूमता है उसी प्रकार सूर्य भी दक्षिणायनको पार करनेमें शीघ्रतासे चलते हैं। वे वायुवेगसे चलते हुए अत्यन्त वेगवान् होनेके कारण बहुत दूरकी भूमि भी थोड़ेमें पार कर लेते हैं। कुलालचक्रके मध्यमें स्थित जीव जिस प्रकार मन्द गतिसे चलता है, उसी प्रकार उत्तरायणमें सूर्य मन्द गतिसे चलते हैं, अतः वे थोड़ी-सी भूमिको भी चिरकालमें पार करते हैं।

सन्ध्याकाल आनेपर मन्देह नामक राक्षस भगवान् सूर्यको खा जानेकी इच्छा करते हैं। उन राक्षसोंको प्रजापतिका यह शाप है कि उनका शरीर तो अक्षय रहेगा, परंतु मृत्यु प्रतिदिन होगी। अतः सन्ध्याकालमें उन राक्षसोंके साथ सूर्यका बड़ा भयानक युद्ध होता है। उस समय द्विजलोग गायत्री मन्त्रसे पवित्र किये जलका जो अर्घ्य देते हैं, उससे वे पापी राक्षस जल जाते हैं। इसलिये सदा सन्ध्योपासना करनी चाहिये। जो सन्ध्योपासना नहीं करते, वे कृतघ्न होनेके कारण रौरव नरकमें पड़ते हैं।

प्रत्येक मासमें भिन्न-भिन्न सूर्य, ऋषि, गन्धर्व, राक्षस, अप्सरा, यक्ष तथा सर्प—इन सातोंसे संयुक्त भगवान् सूर्यका रथ गमन करता है। धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, विवस्वान्, इन्द्र, पूषा, सविता, भग, त्वष्टा तथा विष्णु ये बारह आदित्य, चैत्र आदि मासोंमें सूर्यमण्डलमें अधिकारी माने गये हैं।

सूर्यके स्थानसे लाख योजन दूर चन्द्रमाका मण्डल स्थित है, चन्द्रमाका भी रथ तीन पहियोंवाला बताया जाता है, उसमें बायीं और दाहिनी ओर कुन्दके समान श्वेत दस घोड़े जुते होते हैं। चन्द्रमासे पूरे एक लाख योजन ऊपर सम्पूर्ण नक्षत्रमण्डल प्रकाशित होता है। नक्षत्रोंकी संख्या अस्सी समुद्र चौदह अरब और बीस करोड़ बतायी गयी है। नक्षत्रमण्डलसे दो लाख योजन ऊपर बुधका स्थान है। चन्द्रनन्दन बुधका रथ वायु तथा अग्निद्रव्यसे बना हुआ है, उसमें वायुके समान वेगवाले आठ पीले रंगके घोड़े जुते रहते हैं। बुधसे भी दो लाख योजन ऊपर शुक्राचार्यका स्थान माना गया है, उनके रथमें भी आठ घोड़े जोते जाते हैं। शुक्रसे लाख योजन ऊपर मंगल हैं, इनका रथ सुवर्णके समान कान्तिवाले आठ घोड़ोंसे युक्त होता है। मंगलसे दो लाख योजन ऊपर

देवपुरोहित बृहस्पतिका स्थान माना जाता है, उनका रथ सुवर्णका बना हुआ है, उसमें श्वेत वर्णके आठ घोड़े जोते जाते हैं। बृहस्पतिसे दो लाख योजन ऊपर शनैश्चरका स्थान है। उनका रथ आकाशसे उत्पन्न हुए आठ चितकबरे घोड़ोंद्वारा जोता जाता है। राहुके रथमें भ्रमरके समान रंगवाले आठ घोड़े हैं, वे एक ही बार जोत दिये गये हैं और सदा उनके धूसर रथको खींचते रहते हैं। उनकी स्थिति सूर्यलोकके नीचे मानी गयी है। शनैश्चरसे एक लाख योजन ऊपर सप्तर्षियोंका मण्डल है और उनसे भी लाख योजन ऊपर ध्रुवकी स्थिति है। ध्रुव समस्त ज्योतिर्मण्डलके मेंह (केन्द्र) हैं। वे भी शिशुमारचक्रके पुच्छके अग्रभागमें स्थित हैं, जिन्हें भगवान् वासुदेवका सर्वोत्तम एवं अविनाशी भक्त कहते हैं। अर्जुन! यह सारा ज्योतिर्मण्डल वायुरूपी डोरसे ध्रुवमें बँधा है। सूर्यमण्डलका विस्तार नौ हजार योजन है, उससे दूना चन्द्रमाका मण्डल बताया गया है। मण्डलाकार राहु इन दोनोंके बराबर होकर पृथ्वीकी निर्मल छाया ग्रहण करके उनके नीचे चलता है। शुक्राचार्यका मण्डल चन्द्रमाके सोलहवें भागके बराबर है। बृहस्पतिमण्डलका विस्तार शुक्राचार्यसे एक चौथाई कम है। इसी प्रकार मंगल, शनैश्चर और बुध—ये बृहस्पतिकी अपेक्षा भी एक चौथाई कम हैं। नक्षत्रमण्डलका परिमाण पाँच सौ, चार सौ, तीन सौ, दो सौ तथा एक सौसे लेकर कम-से-कम एक योजन, आध योजनतकका है, इससे छोटा कोई नक्षत्र नहीं है।

पृथ्वीपर स्थित सभी लोक, जहाँ पैदल जाया जा सकता है, भूलोक कहलाता है। भूमि और सूर्यके मध्यवर्ती लोकको भुवर्लोक कहते हैं। ध्रुव तथा सूर्यलोकके बीच जो चौदह लाख योजनका अवकाश है, उसे लोकस्थितिका विचार करनेवाले विज्ञ पुरुषोंने स्वर्गलोक कहा है। ध्रुवसे ऊपर एक करोड़ योजनतक महर्लोक बताया गया है। उससे ऊपर दो करोड़ योजनतक जनलोक है, जहाँ सनकादि निवास करते हैं। उससे ऊपर चार करोड़ योजनतक तपोलोक माना गया है, जहाँ वैराज नामवाले देवता सन्तापरहित होकर निवास करते हैं। तपोलोकसे ऊपर उसकी अपेक्षा छः गुने विस्तारवाला सत्यलोक विराजमान है, जहाँ ऐसे लोग निवास करते हैं, जिनकी पुनर्मृत्यु नहीं होती (अर्थात् जो वहीं ज्ञान प्राप्त करके ब्रह्माजीके साथ मुक्त हो जाते हैं। इस संसारमें उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती)। सत्यलोक ही ब्रह्मलोक माना गया है। उसके ऊपर अठारह करोड़ पचीस लाख योजन परम कल्याणमय धाम प्रकाशित होता है; उसकी कहीं उपमा नहीं है, वह सर्वोपरि विराजमान है।

भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक—इन तीनोंको त्रैलोक्य कहते हैं। यह त्रैलोक्य कृतक (अनित्य) लोक है। जनलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक—ये तीनों अकृतक (नित्य) लोक हैं। कृतक और अकृतक लोकोंके मध्यमें महर्लोककी स्थिति मानी गयी है। कल्पके अन्तमें जब महाप्रलय होता है, उस समय त्रिलोकी सर्वथा नष्ट हो जाती है; महर्लोक जनशून्य तो हो जाता है, परंतु उसका अत्यन्त विनाश नहीं होता। ये पुण्यकर्मोंद्वारा प्राप्त होनेवाले सात लोक बताये गये हैं; वेदादि शास्त्रोंमें कहे हुए यज्ञ, दान, जप, होम, तीर्थ और व्रतसमुदाय तथा अन्यान्य साधनोंसे पूर्वोक्त सातों लोक साध्य माने गये हैं। इन सबसे ऊपर ब्रह्माण्डके शीर्षभागसे शीतल कल्याणमयी जलधाराके रूपमें श्रीगंगाजी उतरती हैं और समस्त लोकोंको आप्लावित करके मेरुपर्वतपर आती हैं। वहाँसे क्रमशः सम्पूर्ण भूतल और पाताललोकमें प्रवेश करती हैं। ब्रह्माण्डके शिखरपर स्थित हुई गंगादेवी सदैव उसके द्वारपर निवास करती हैं। कोटि-कोटि देवियों तथा पिंगल नामक रुद्रसे घिरी हुई महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न श्रीगंगादेवी सदा ब्रह्माण्डकी रक्षा तथा दुष्टगणोंका संहार करती हैं।

अर्जुन! वायुकी सात शाखाएँ हैं, उनकी

स्थिति जिस प्रकार है, वह बतलाता हूँ सुनो,—पृथ्वीको लाँघकर मेघमण्डलपर्यन्त जो वायु स्थित है, उसका नाम 'प्रवह' है। वह अत्यन्त शक्तिमान् है और वही बादलोंको इधर-उधर उड़ाकर ले जाता है। धूम तथा गर्मीसे उत्पन्न होनेवाले मेघोंको वह प्रवह वायु ही समुद्रजलसे परिपूर्ण करती है, जिससे वे मेघ काली घटाके रूपमें परिणत हो अतिशय वर्षा करनेवाले होते हैं। वायुकी दूसरी शाखाका नाम 'आवह' है, जो सूर्यमण्डलमें बँधा हुआ है। उसीके द्वारा ध्रुवसे आबद्ध होकर सूर्यमण्डल घुमाया जाता है। तीसरी शाखाका नाम 'उद्वह' है, जो चन्द्रलोकमें प्रतिष्ठित है। इसीके द्वारा ध्रुवसे सम्बद्ध होकर यह चन्द्रमण्डल घुमाया जाता है। चौथी शाखाका नाम 'संवह' है, जो नक्षत्रमण्डलमें स्थित है। उसीके द्वारा वायुमयी डोरियोंसे ध्रुवमें आबद्ध होकर सम्पूर्ण नक्षत्रमण्डल घूमता रहता है। पाँचवीं शाखाका नाम 'विवह' है, वह ग्रहमण्डलमें स्थित है। उसीके द्वारा यह ग्रहचक्र ध्रुवसे सम्बद्ध होकर घूमा करता है। वायुकी छठी शाखाका नाम 'परिवह' है, जो सप्तर्षिमण्डलमें स्थित है। इसीके द्वारा ध्रुवसे सम्बद्ध हो सप्तर्षि आकाशमें भ्रमण करते हैं। वायुके सातवें स्कन्धका नाम 'परावह' है, जो ध्रुवमें आबद्ध है। उसीके द्वारा ध्रुवचक्र तथा अन्यान्य मण्डल दृढ़तापूर्वक एक स्थानपर स्थापित हैं। ध्रुवसे ऊपर जो स्थान है, वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होते हैं और न नक्षत्र एवं तारे ही उदित होते हैं। वहाँके लोग अपने ही तेज और अपनी ही शक्तिसे सदा स्थिर रहते हैं। इस प्रकार ऊर्ध्वलोकोंका वर्णन किया गया है। अब पातालका वर्णन सुनो।

अर्जुन! भूमिकी ऊँचाई सत्तर हजार योजन है। इसके भीतर सात पाताल हैं, जो एक-दूसरेसे दस-दस हजार योजनकी दूरीपर हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—अतल, वितल, नितल, रसातल, तलातल, सुतल तथा पाताल। कुरुनन्दन! वहाँकी भूमियाँ सुन्दर महलोंसे सुशोभित हैं। वे क्रमशः कृष्ण, शुक्ल, अरुण, पीत, कंकरीली, पथरीली तथा सुवर्णमयी हैं। उन पातालोंमें दानव, दैत्य और नाग सैकड़ों संघ बनाकर रहते हैं। वहाँपर न गर्मी है, न सर्दी है, न वर्षा है, न कोई कष्ट। सातवें पातालमें 'हाटकेश्वर' शिवलिंग है, जिसकी स्थापना ब्रह्माजीके द्वारा हुई है। वहाँ अनेकानेक नागराज उस शिवलिंगकी आराधना करते हैं। पातालके नीचे बहुत अधिक जल है और उसके नीचे नरकोंकी स्थिति बतायी गयी है, जिनमें पापी जीव गिराये जाते हैं। महामते! उनका वर्णन सुनो—यों तो नरकोंकी संख्या पचपन करोड़ है; किंतु उनमें रौरवसे लेकर श्वभोजनतक इक्कीस प्रधान हैं।* उनके नाम इस प्रकार हैं—रौरव, शूकर, रोध, ताल, विशसन, महाज्वाल, तप्तकुम्भ, लवण, विमोहक, रुधिरान्ध, वैतरणी, कृमिश, कृमिभोजन, असिपत्रवन, कृष्ण, भयंकर लालाभक्ष, पापमय पूयवह, वह्निज्वाल, अधःशिरा, संदंश, कालसूत्र, तमोमय-अवीचि, श्वभोजन और प्रतिभाशून्य अपर अवीचि तथा ऐसे ही और भी नरक बड़े भयंकर हैं। झूठी गवाही देनेवाला मनुष्य रौरव नरकमें पड़ता है। गौओं तथा ब्राह्मणोंको कहीं बंद करके रोक रखनेवाला पापी रोध नरकमें जाता है। मदिरा पीनेवाला शूकर नरकमें और नरहत्या करनेवाला ताल नरकमें पड़ता है। गुरु-पत्नीके साथ व्यभिचार करनेवाला पुरुष तप्तकुम्भ नामक नरकमें गिराया जाता है तथा जो अपने भक्तकी हत्या करता है, उसे तप्तलोह नरकमें तपाया जाता है। गुरुजनोंका अपमान करनेवाला पापी महाज्वाल नरकमें डाला जाता है। वेद-

* यहाँ चौबीस नरकोंके नाम आये हैं। इनमें कालसूत्र, तमोमय-अवीचि और प्रतिभाशून्य अवीचि—ये तीन अप्रधान हैं। शेष इक्कीसको प्रधान समझना चाहिये।

शास्त्रोंको नष्ट करनेवाला लवण नामक नरकमें गलाया जाता है। धर्म-मर्यादाका उल्लंघन करनेवाला विमोहक नरकमें जाता है। देवताओंसे द्वेष रखनेवाला मनुष्य कृमिभक्ष नामक नरकमें पड़ता है। दूषित भावनासे तथा शास्त्रविधिके विपरीत यज्ञ करनेवाला पुरुष कृमिश नरकमें जाता है। जो देवताओं और पितरोंका भाग उन्हें अर्पण किये बिना ही अथवा उन्हें अर्पण करनेसे पहले ही भोजन कर लेता है, वह लालाभक्ष नामक नरकमें यमदूतोंद्वारा गिराया जाता है।

सब जीवोंसे व्यर्थ वैर रखनेवाला तथा छलपूर्वक अस्त्र-शस्त्रोंका निर्माण करनेवाला विशसन नरकमें गिराया जाता है। असत्प्रतिग्रह ग्रहण करनेवाला अधोमुख नरकमें और अकेले ही मिष्टान्न भोजन करनेवाला पूयवह नरकमें पड़ता है। मुर्गा, कुत्ता, बिल्ली तथा पक्षियोंको जीविकाके लिये पालनेवाला मनुष्य भी पूयवह नरकमें ही पड़ता है। जो दूसरोंके घर, खेत, घास और अनाज आदिमें आग लगाता है, वह रुधिरान्ध नरकमें डाला जाता है। नक्षत्रविद्या तथा नट एवं मल्लोंकी वृत्तिसे जीविका चलानेवाला मनुष्य वैतरणी नामक नरकमें जाता है। जो धन और जवानीके मदसे उन्मत्त होकर दूसरोंके धनका अपहरण करता है, वह कृष्ण नामक नरकमें पड़ता है। व्यर्थ ही वृक्षोंको काटनेवाला मनुष्य असिपत्रवनमें जाता है। जो कपटवृत्तिसे जीविका चलाते हैं, वे सब लोग वह्निज्वाल नामक नरकमें गिराये जाते हैं। परायी स्त्री और पराये अन्नका सेवन करनेवाला पुरुष संदंश नरकमें डाला जाता है। जो दिनमें सोते हैं तथा व्रतका लोप किया करते हैं और जो शरीरके मदसे उन्मत्त रहते हैं, वे सब लोग श्वभोजन नामक नरकमें पड़ते हैं। जो भगवान् शिव और विष्णुको नहीं मानते, उन्हें अवीचि नरकमें जाना पड़ता है।

इस प्रकारके शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंके आचरणरूप पापोंसे पापी जीव सहस्रों अत्यन्त घोर नरकोंमें अवश्य ही गिरते हैं। अतः जो मनुष्य इन नरकोंसे छुटकारा पाना चाहता हो, उसे वैदिक मार्गका अवलम्बन करके भगवान् विष्णु और शिव दोनोंकी आराधना करनी चाहिये। नरकोंके निम्नभागमें कालाग्निकी स्थिति है, कालाग्निके नीचे मण्डूक और मण्डूकके नीचे अनन्त हैं, जिनके मस्तकके अग्रभागमें यह सम्पूर्ण जगत् सरसोंकी भाँति प्रतीत होता है। इस प्रकार अनन्त प्रभावके कारण वे इस मानव-जगत्में अनन्त कहलाते हैं। पद्म, कुमुद, अंजन और वामन—ये दिग्गज भी वहीं स्थित हैं। इनके निम्नभागमें अण्डकटाह है, जहाँ एकवीरा नामवाली देवी विराजमान हैं। अण्डकटाहका परिमाण चौवालीस करोड़, नवासी लाख, अस्सी हजार है। उसमें कपालीशा देवी रहती हैं, जो कोटि-कोटि देवियोंसे घिरकर हाथमें दण्ड लिये वहाँ पहरा देती हैं। अनन्त नामवाले भगवान् संकर्षणके निःश्वासवायुसे प्रेरित होकर दाहक अग्नि प्रज्वलित हो उठती है। इस प्रकार ये भगवान् अनन्त ही कालाग्निको प्रेरित करते हैं, जिससे वह कल्पान्तके समय सम्पूर्ण जगत्को दग्ध कर डालती है। अर्जुन! इस प्रकार पातालके अधोभागमें स्थानका निर्माण हुआ है। जिन्होंने इस परम आश्चर्यमय ब्रह्माण्डकी स्थापना की है, उन ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेवजीको मैं नित्य नमस्कार करता हूँ। विष्णुलोक और रुद्रलोक इस ब्रह्माण्डके बाहर बताया जाता है। सदा भगवान् विष्णु और शिवकी उपासना करनेवाले मुक्त पुरुष ही वहाँ जाते हैं। उस दिव्य धामका वर्णन केवल ब्रह्माजी ही कर सकते हैं। हमलोगोंकी वहाँ गति नहीं है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड सब ओरसे कड़ाहद्वारा ढका हुआ है, ठीक उसी प्रकार जैसे कपित्थका बीज कड़ाहसे (उसके गोलाकार छिलकेसे) आच्छादित रहता है। यह समूचा अण्डकटाह अपनेसे दस गुने प्रमाणवाले जलसे घिरा है। वह जल भी दसगुने विस्तारवाले तेजसे, तेज वायुसे, वायु आकाशसे, आकाश

अहंकारसे तथा अहंकार महत्तत्त्वसे घिरा हुआ है। तथा उस महत्तत्त्वको भी सर्वप्रधान प्रकृति घेरकर स्थित है। पहले जो छः आवरण कहे गये हैं, उन सबको विद्वान् पुरुष उत्तरोत्तर दसगुना बतलाते हैं और सातवाँ आवरण प्रकृतिका है। उसे अनन्त कहा गया है। उसके भीतर ऐसे-ऐसे करोड़ों और अरबों ब्रह्माण्ड स्थित हैं तथा वे सभी ऐसे ही हैं, जैसा कि यह ब्रह्माण्ड बताया गया है। कुन्तीनन्दन! जिनका वैभव (ऐश्वर्य) ऐसा है, उन भगवान् सदाशिवको मैं प्रणाम करता हूँ। अहो! जो ऐसे मोहमें फँस जाय कि तारनेवाले भगवान् शिवका भजनतक न कर सके, उससे बढ़कर मूर्ख कौन होगा? वह मूढ़ तो बड़ा पापात्मा है।

अब मैं तुमसे कालका मान बताऊँगा, उसे सुनो—विद्वान् लोग पंद्रह निमेषकी एक 'काष्ठा' बताते हैं। तीस काष्ठाकी एक 'कला' गिननी चाहिये। तीस कलाका एक 'मुहूर्त' होता है। तीस मुहूर्तके एक 'दिन-रात' होते हैं। एक दिनमें तीन-तीन मुहूर्तवाले पाँच काल होते हैं, उनका वर्णन सुनो—'प्रातःकाल', 'संगवकाल', 'मध्याह्न-काल', 'अपराह्णकाल' तथा पाँचवाँ 'सायाह्नकाल'। इनमें पंद्रह मुहूर्त व्यतीत होते हैं। पंद्रह दिन-रातका एक 'पक्ष' कहलाता है। दो पक्षका एक 'मास' कहा गया है। दो सौरमासकी एक 'ऋतु' होती है। तीन ऋतुओंका एक 'अयन' होता है तथा दो अयनोंका एक वर्ष माना गया है। विज्ञ पुरुष मासके चार[१] और वर्षके पाँच भेद बतलाते हैं। पहला संवत्सर, दूसरा परिवत्सर, तीसरा इद्वत्सर, चौथा अनुवत्सर तथा पाँचवाँ युगवत्सर है।[२] यही वर्षगणनाकी निश्चित संख्या है। मनुष्योंके एक मासका पितरोंका एक दिन-रात होता है; कृष्णपक्ष उनका दिन बताया गया है और शुक्लपक्ष उनकी रात्रि। मनुष्योंके एक वर्षका देवताओंका एक दिन माना गया है। उत्तरायण तो उनका दिन है और दक्षिणायन रात्रि। देवताओंका एक वर्ष पूरा होनेपर सप्तर्षियोंका एक दिन माना गया है। सप्तर्षियोंके एक वर्षमें ध्रुवका एक दिन होता है। मानववर्षके अनुसार सत्रह लाख अट्ठाईस हजार वर्षोंका सत्ययुग माना गया है। मानवमानसे ही बारह लाख छानबे हजार वर्षोंका त्रेतायुग कहा गया है। आठ लाख चौसठ हजार वर्षोंका द्वापर

---

१. सौरमास, चान्द्रमास, नाक्षत्रमास और सावनमास—ये ही मासके चार भेद हैं। सौरमासका आरम्भ सूर्यकी संक्रान्तिसे होता है। सूर्यकी एक संक्रान्तिसे दूसरी संक्रान्तितकका समय सौरमास है। यह मास प्रायः तीस-इकतीस दिनका होता है। कभी-कभी उनतीस और बत्तीस दिनका भी होता है। चन्द्रमाकी कलाकी ह्रास-वृद्धिवाले दो पक्षोंका जो एक मास होता है, वही चान्द्रमास है। यह दो प्रकारका है—शुक्ल प्रतिपदासे आरम्भ होकर अमावास्याको पूर्ण होनेवाला 'अमान्त' मास मुख्य चान्द्रमास है। कृष्णप्रतिपदासे पूर्णिमातक पूरा होनेवाला गौण चान्द्रमास है। यह तिथिकी ह्रास-वृद्धिके अनुसार २९, ३०, २८ एवं २७ दिनोंका भी हो जाता है। जितने समयमें चन्द्रमा अश्विनीसे लेकर रेवतीतकके नक्षत्रोंमें विचरण करता है, वह काल नाक्षत्रमास कहलाता है। यह लगभग २७ दिनोंका ही होता है। सावनमास तीस दिनोंका होता है। यह किसी भी तिथिसे प्रारम्भ होकर तीसवें दिन समाप्त होता है। प्रायः व्यापार और व्यवहार आदिमें इसका उपयोग होता है। इसके भी सौर और चान्द्र ये दो भेद हैं। सौर सावनमास सौरमासकी किसी भी तिथिसे प्रारम्भ होकर उसके तीसवें दिन पूर्ण होता है। चान्द्र सावनमास चान्द्रमासकी किसी भी तिथिसे प्रारम्भ होकर उसके तीसवें दिन समाप्त माना जाता है। प्रत्येक संवत्सरमें बारह सौर और बारह चान्द्रमास होते हैं। परंतु सौरवर्ष ३६५ दिनका और चान्द्रवर्ष ३५५ दिनका होता है; जिससे दोनोंमें प्रतिवर्ष दस दिनका अन्तर पड़ता है। इस वैषम्यको दूर करनेके लिये प्रति तीसरे वर्ष बारहकी जगह तेरह चान्द्रमास होते हैं। ऐसे बढ़े हुए मासको अधिमास या मलमास कहते हैं।

२. बृहस्पतिकी गतिके अनुसार प्रभव आदि साठ वर्षोंमें बारह युग होते हैं तथा प्रत्येक युगमें पाँच-पाँच वत्सर होते हैं। बारह युगोंके नाम ये हैं—प्रजापति, धाता, वृष, व्यय, खर, दुर्मुख, प्लव, पराभव, रोधकृत, अनल, दुर्मति और क्षय। प्रत्येक युगके जो पाँच वत्सर हैं, उनमेंसे प्रथमका नाम संवत्सर है। दूसरा परिवत्सर, तीसरा इद्वत्सर, चौथा अनुवत्सर और पाँचवाँ युगवत्सर है। इनके पृथक्-पृथक् देवता होते हैं; जैसे संवत्सरके देवता अग्नि माने गये हैं।

होता है और चार लाख बत्तीस हजार वर्षोंका कलियुग माना गया है। इन चारोंके योगसे देवताओंका एक युग होता है। ऐसे इकहत्तर युगोंसे कुछ अधिक कालतक मनुकी आयु मानी गयी है। चौदह मनुओंका काल व्यतीत हो जानेपर ब्रह्माका एक दिन पूरा होता है। जो एक हजार चतुर्युगोंका माना गया है; वही कल्प है। अब कल्पोंके नाम श्रवण करो—भवोद्भव, तपोभव्य, ऋतु, वह्नि, वराह, सावित्र, औसिक, गान्धार, कुशिक, ऋषभ, खड्ग, गान्धारीय, मध्यम, वैराज, निषाद, मेघवाहन, पंचम, चित्रक, ज्ञान, आकूति, मीन, दंश, बृंहक, श्वेत, लोहित, रक्त, पीतवासा, शिव, प्रभु तथा सर्वरूप—इन तीस कल्पोंका ब्रह्माजीका एक मास होता है। ऐसे बारह मासोंका एक वर्ष होता है तथा ऐसे ही सौ वर्षोंतक ब्रह्माजीकी आयुका पूर्वार्ध मानना चाहिये। पूर्वार्धके समान ही अपरार्ध भी है। इस प्रकार ब्रह्माजीकी आयुका मान बताया गया। अर्जुन! भगवान् विष्णु तथा भगवान् शंकरजीकी आयुका वर्णन करनेमें मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। कहाँ तो मेरी छोटी बुद्धि और कहाँ अनन्त अपार भगवान् विष्णु और शिव (वे तो कालातीत एवं महाकालस्वरूप हैं)। पाताललोकमें भी देवताओंके मानसे ही गणना की जाती है। ये सब बातें अपनी बुद्धिके अनुसार मैंने तुम्हें बतायी हैं।

## राजा शतशृंगकी पुत्री कुमारीका चरित्र तथा कुमारीखण्डकी श्रेष्ठता

**नारदजी कहते हैं**—अर्जुन! नाभिके पुत्र जो ऋषभ नामसे प्रसिद्ध हुए हैं, उनके नामपर कलियुगमें नाना प्रकारके पाखण्डपूर्ण मतवादोंकी कल्पना हो जायगी, जो लोगोंको मोहमें डालनेवाली होगी। उन्हीं ऋषभजीके पुत्र भरत हुए और भरतके शतशृंग हुए। शतशृंगके आठ पुत्र और एक कुमारी कन्या हुई। पुत्रोंके नाम इस प्रकार हैं—इन्द्रद्वीप, कसेरु, ताम्रद्वीप, गभस्तिमान्, नाग, सौम्य, गन्धर्व तथा वरुण। इनके अतिरिक्त जो कन्या थी, उसके मुखकी आकृति बकरीके मुखके समान थी। ऐसा होनेका एक महान् आश्चर्ययुक्त कारण था, जिसे बताता हूँ, सुनो—महीसागरके तटपर जो स्तम्भतीर्थ है, उसके समीपवर्ती दुर्गम प्रदेशमें एक दिन एक बकरी अपने झुंडसे भटककर चली आयी। वहाँ लतापताओंसे एक जाल-सा बन गया था। बकरी प्याससे पीड़ित थी। वह ज्यों ही उधरसे निकली कि लताजालमें फँसकर मृत्युको प्राप्त हो गयी। कुछ समयके पश्चात् उसके शरीरका सिरसे नीचेका भाग टूटकर सब पापोंका निवारण करनेवाले सर्वतीर्थमय महीसागरसंगममें गिर पड़ा। उस दिन शनैश्चर तथा अमावास्याका भी योग था। सिर तो लतागुल्मके उस जालमें फँसकर ज्यों-का-त्यों रह गया था, अतः जलमें गिरने नहीं पाया। शेष शरीर महीसागरके जलमें गिरा था, अतः उस तीर्थके प्रभावसे वह बकरी सिंहलदेशमें राजा शतशृंगकी पुत्री हुई। परंतु उसका मुँह बकरीका ही रह गया था। शेष सभी अंग बड़े सुन्दर थे। राजा शतशृंग पहले सन्तानहीन थे; अतः उनके यहाँ जो पुत्री हुई, वह उन्हें सौ पुत्रोंके समान प्रिय थी, किंतु बकरीके तुल्य उसका मुख देखकर सब राज-परिवारके लोगोंको बड़ा विस्मय हुआ। राजा अपनी रानियोंसहित बहुत दुःखी हुए। धीरे-धीरे वह कन्या युवावस्थाको

प्राप्त हुई। एक दिन उसने दर्पणमें अपना मुँह

देखा; देखते ही उसे अपने पूर्वजन्मका स्मरण हो आया। तब उसने माता-पिताको अपने पूर्वजन्मका वृत्तान्त बताकर उनसे वहाँ जानेके लिये आज्ञा ली और नावके द्वारा वह स्तम्भतीर्थमें जा पहुँची। वहाँ राजकुमारीने सर्वस्व दक्षिणावाला दान किया। तदनन्तर लता-गुल्मोंकी जालमें ढूँढ़कर उसने अपने पूर्वजन्मके मस्तकका पता लगाया और संगमके समीप उसका दाह करके हड्डियोंको महीसागरमें फेंक दिया। तब उस तीर्थके प्रभावसे उसका मुँह चन्द्रमाके समान कान्तिमान् हो गया। देवता, दानव और मनुष्य सब उसके रूपसे मोहित होकर बार-बार उसे पानेके लिये राजासे याचना करते थे, किंतु वह उनमेंसे किसीको अपना पति बनाना नहीं चाहती थी। तत्पश्चात् कुमारीने प्रसन्नतापूर्वक अत्यन्त दुष्कर एवं कठोर तपस्या प्रारम्भ की।

तपस्या करते-करते जब एक वर्ष पूरा हो गया; तब देवाधिदेव महेश्वरने उसे प्रत्यक्ष दर्शन दिया और कहा—'मैं तुझे वर देनेके लिये आया हूँ।' तब राजकुमारी भगवान्‌का पूजन करके इस प्रकार बोली—'देवेश्वर! यदि आप प्रसन्न हैं और मुझे वर देना चाहते हैं तो इस तीर्थमें सर्वदा निवास करें।' भगवान् शिवने 'एवमस्तु' कहकर उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। इससे कुमारीको बड़ा हर्ष हुआ। जहाँ उसने बकरीके सिरका दाह किया था; वहीं 'वर्करेश' नामक शिवकी स्थापना की। यह आश्चर्यजनक समाचार सुनकर स्वस्तिक नामवाला नागराज कुमारीको देखनेके लिये तलातल लोकसे आया। सिरके बलसे आते समय वह पृथ्वीको जहाँ विदीर्ण करके बाहर निकला वहाँ स्वस्तिक नामक कूप हो गया। वह कूप वर्करेश्वरके ईशानकोणमें है; उसे गंगाजीने अपने जलसे भर दिया; इससे वह सब तीर्थोंका फल देनेवाला हो गया। वहाँ शिवलिंगको स्थापित देख भगवान् शिवने प्रसन्न होकर यह वरदान दिया। 'जिनके शवका यहाँ दाह होगा और दाह करके महीसागर-संगममें जिनकी हड्डियाँ डाली जायँगी, वे दीर्घ कालतक स्वर्गमें निवास करनेके पश्चात् इस लोकमें लौटनेपर सब प्रकारके वैभवसे परिपूर्ण प्रतापी राजा होंगे। जो मनुष्य महीसागरसंगमके जलमें स्नानकर भक्तिभावसे भगवान् वर्करेश्वरका पूजन करता है, उसका मनोरथ सफल होता है। कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीको जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक इस कूपमें स्नान और अपने पितरोंका तर्पण करके वर्करेश्वरका पूजन करेगा, वह सब पापोंसे मुक्त हो जायगा।'

ऐसा वरदान पाकर वह पुनः सिंहल देशमें लौट आयी और अपने पितासे वहाँका सब वृत्तान्त निवेदन किया। वह सुनकर राजा शतशृंग तथा अन्य सब लोग भी बड़े विस्मयको प्राप्त हुए। सबने उस महातीर्थका गुण-गान किया और उसके प्रति आदरका भाव रखकर वहाँकी यात्रा की। उस तीर्थमें स्नान और नाना प्रकारके दान करके वे सब लोग पुनः सिंहलको लौट आये। तीर्थकी अद्भुत महिमा जानकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई थी। तदनन्तर राजा शतशृंगने इस भारतवर्षके नौ विभाग किये; उनमेंसे आठ तो उन्होंने अपने आठ पुत्रोंको दे दिये और नवाँ भाग कुमारीको

अर्पित किया। नाना प्रकारके पर्वतोंसे सुशोभित उन भागोंका मैं वर्णन करता हूँ। पुत्रों और कुमारीके नामपर ही वे नवों खण्ड प्रसिद्ध हुए। यथा—इन्द्रद्वीपखण्ड, कसेरुखण्ड, ताम्रद्वीपखण्ड, गभस्तिमत् खण्ड, नागखण्ड, सौम्यखण्ड, गन्धर्वखण्ड, वरुणखण्ड और कुमारिकाखण्ड। अब पर्वतोंके नाम सुनो—महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋच्छ, विन्ध्य और पारियात्र। यही सात यहाँ कुलपर्वत हैं। महेन्द्र पर्वतसे परे जो भूभाग है, उसे इन्द्रद्वीप कहते हैं। पारियात्र पर्वतके पीछेका क्षेत्र कौमारिकखण्ड माना गया है। ये सभी खण्ड एक-एक सहस्र योजनका विस्तार रखते हैं। अब नदियोंके उद्गम स्थानोंका संक्षिप्त परिचय सुनो—वेद, स्मृति आदि नदियाँ पारियात्र पर्वतसे प्रकट हुई मानी गयी हैं। नर्मदा और सुरसा आदि सरिताएँ विन्ध्य पर्वतसे निकली हैं। शतद्रु और चन्द्रभागा (शतलज और चनाव), आदि ऋच्छ पर्वतकी सन्तान हैं। ऋषिकूला और कुमारी आदि नदियाँ शुक्तिमान्की शाखासे प्रकट हुई हैं। तापी, पयोष्णी, निर्विन्ध्या, महानदी कावेरी, कृष्णवेणी तथा भीमरथी—ये सह्यके समीपवर्ती पर्वतोंसे निकली हुई मानी गयी हैं। कृतमाला और ताम्रपर्णी आदि सरिताएँ मलय पर्वतसे निकली हैं। त्रिसामा और ऋष्यकुल्या आदि महेन्द्र पर्वतसे प्रकट हुई हैं।

इस प्रकार राजा अपने पुत्रों तथा कुमारीको भारतवर्षके विभिन्न भाग देकर स्वयं उत्तर दिशामें शतशृंग पर्वतपर चले गये और वहाँ घोर तपस्या करके ब्रह्मलोकको प्राप्त हुए। इधर महाभाग्यशालिनी कुमारी स्तम्भतीर्थमें रहकर कुमारिकाखण्डकी आयसे दान देती हुई तपस्या करने लगी। तदनन्तर कुछ कालके बाद कुमारीके आठों भाइयोंसे नौ-नौ पुत्र उत्पन्न हुए, जो महान् पराक्रम, बल और उत्साहसे सम्पन्न थे। एक दिन वे सब-के-सब वहाँ आकर कुमारीसे बोले—'शुभे! तुम हमारे कुलकी देवी हो; हमपर कृपा करो। हमलोग बहत्तर भाई हैं और हमारे पास आठ खण्ड हैं; तुम स्वयं ही बटवारा करके हम सब लोगोंको दे दो; जिससे हमलोगोंमें फूट न होने पावे।'

उनके ऐसा कहनेपर सब धर्मोंको जाननेवाली कुमारीने भारतवर्षके नौ खण्डोंके बहत्तर भाग किये। मण्डलप्रदेशमें चार करोड़ ग्रामोंको सम्मिलित किया। ढाई करोड़ ग्रामोंसे युक्त प्रदेश बालाक कहलाता है। खुरासाहणक (खुरासान) देशमें सवा करोड़ ग्राम हैं; अन्धलमें चार लाख और नेपालमें एक लाख ग्राम हैं। कान्यकुब्ज देश छत्तीस लाख ग्रामोंसे युक्त बताया गया है; जनक प्रदेश बहत्तर लाख और गौड़ देशमें अठारह लाख गाँव हैं। कामरूपमें नव लाख; लाहर्व और मालदेशमें नौ-नौ लाख, कान्तिपुरमें नौ लाख, माचिपुरमें नौ लाख तथा जालन्धर और लोहपुर देशमें भी नौ लाख ही ग्राम बताये गये हैं। पाम्बीपुरमें सात लाख, रटराजमें सात लाख, हरिआलमें पाँच लाख, इड् देशमें साढ़े तीन लाख, षाम्भण वाहकमें साढ़े तीन लाख, नीलपुरमें इक्कीस हजार, अम्ल देशमें एक लाख, नरेन्दु देशमें सवा लाख, तिलंग देशमें भी सवा लाख, मालवमें अठारह लाख बानबे हजार, सयंभर देशमें सवा लाख, मेवाड़ देशमें सवा लाख, बागुरि देशमें अस्सी हजार, गुर्जर देशमें सत्तर हजार, पाण्डु देशमें सत्तर हजार, तेजाकुतिमें बयालीस हजार, काश्मीर मण्डलमें अड़सठ हजार, कौंकण देशमें छत्तीस हजार, लघु कौंकण देशमें चौदह सौ चालीस गाँव, सौराष्ट्रमें पचपन हजार गाँव तथा ताड देशमें इक्कीस हजार गाँव बताये गये हैं। अतिसिन्धुमें दस हजार, अश्वमुखमें भी दस हजार, सजानुहूति देशमें दस हजार, वेणु देशमें दस हजार, कलहज देशमें दस हजार, द्रविड़ देशमें दस हजार, भद्राश्व तथा देवभद्राश्वमें भी दस-दस हजार गाँव माने गये हैं। चिरायुष और यमकोटि देशमें छत्तीस-छत्तीस हजार गाँव हैं। रोमक देशमें अठारह करोड़ गाँव बताये जाते हैं। कामरु, कर्णाटक तथा जांगल इन तीन देशोंमें सवा-सवा लाख गाँव हैं। स्त्री राज्यमें पाँच लाख

तथा पुलस्ति देशमें दस लाख गाँव हैं। काम्बोज और कौशलमें दस-दस लाख, बाह्लीकमें चार लाख, लंकामें छत्तीस हजार, वर्धमानमें चौंसठ हजार, सिंहलद्वीपमें दस हजार, पाण्ड्य देशमें छत्तीस हजार, भयानक देशमें एक लाख, मगध देशमें छाछठ हजार, पंगु देशमें साठ हजार, वरेन्दक देशमें तीस हजार, मूलस्थानमें पचीस हजार, यवन देशमें चालीस हजार तथा पक्षबाहु देशमें चार हजार गाँव बताये गये हैं। इस प्रकार बहत्तर देशों और उनके ग्रामोंकी संख्याका वर्णन किया गया। भारतवर्षके कुल ग्रामोंकी संख्या छानबे करोड़, बहत्तर लाख, छत्तीस हजार है। इस प्रकार कुमारीने समुद्रतकके नौ खण्डोंका विभाग करके वे सब अपने भतीजोंको दे दिये। यद्यपि भतीजे अपनी बुआका अंश नहीं लेना चाहते थे, तथापि उस देवीने अपना भाग भी उन्हें दे ही दिया। इसलिये इन सब देशोंमें कुमारीखण्ड ही चतुर्वर्गका साधक होनेके कारण सबसे श्रेष्ठ बताया गया है। उसमें भी महीसागरसंगम ही गुप्त क्षेत्र है, जिसे कुमारी जानती थी। अतः उस गुप्त क्षेत्रमें भगवान् कुमारेशका पूजन करती हुई वह महान् व्रतका पालन करने लगी। कुमारी वहाँके छहों कुण्डों तथा संगममें स्नान करती हुई उस तीर्थमें वास करने लगी। तदनन्तर बहुत समय बीत जानेपर जब स्वामि-कार्तिकेयजीका बनवाया हुआ मन्दिर पुराना हो गया तो उसके स्थानमें उसने नूतन सुवर्णमय प्रासाद निर्माण कराया। उसकी भक्तिसे महादेवजी बहुत सन्तुष्ट हुए और उन्होंने कुमारेश्वर लिंगसे प्रकट होकर उसे प्रत्यक्ष दर्शन देते हुए कहा—'भद्रे! मैं तुम्हारी भक्ति और ज्ञानसे बहुत प्रसन्न हूँ। तुमने इस जीर्ण मन्दिरका पुनः उद्धार किया है; इसलिये अब मैं तुम्हारे नामसे विख्यात होऊँगा। मन्दिर बनानेवाला तथा उसका जीर्णोद्धार करनेवाला दोनों समान फलके भागी माने गये हैं। इसलिये आजसे लोग मुझे कुमारेश्वर और कुमारीश्वर दोनों नामोंसे पुकारेंगे। वर्करेश्वरमें जो वरदान तुम्हें दिये गये हैं, वे सदैव संघटित होनेवाले हैं। अब तुम्हारा अन्तकाल समीप आ गया है। जिस स्त्रीने अपने जीवनमें पतिका वरण नहीं किया है अर्थात् जो अविवाहिता रह गयी है उसे स्वर्ग अथवा मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये इस तीर्थमें सिद्धिको प्राप्त हुए महाकालको तुम पतिरूपमें अंगीकार करो।'

भगवान् शंकरके ऐसा कहनेपर कुमारीने महाकालको पतिके रूपमें स्वीकार किया और महाकालके साथ ही वह भी रुद्रलोकमें चली गयी। वहाँ पार्वतीजीने उसे हृदयसे लगा लिया और हर्षमें भरकर कहा—'शुभे! तुमने पृथ्वीको चित्रलिखित-सा कर दिया; इसलिये चित्रलेखा नामसे प्रसिद्ध मेरी सखी होकर रहो।' तबसे वह चित्रलेखा नामवाली सखी होकर पार्वतीजीके साथ रहने लगी। उसीने ऊषाको चित्रद्वारा अनिरुद्धका

परिचय दिया था। वह योगिनियोंमें सर्वश्रेष्ठ तथा महाकालकी प्राणवल्लभा हुई। इस प्रकार राजकुमारीने कुमारीश्वरलिंग तथा वर्करेश्वरलिंगको स्थापित किया। अर्जुन! यहाँ मरे हुए मनुष्योंका दाह करना और उनके हड्डियोंको संगमके जलमें डालना प्रयागसे भी अधिक उत्तम बताया गया है।

# कालभीतिकी तपस्या तथा धर्मनिष्ठा, महाकालका प्रादुर्भाव और कालभीतिपर भगवान् शंकरकी कृपा

**नारदजी कहते हैं**—पूर्वकालकी बात है, काशीपुरीमें माण्टि नामसे प्रसिद्ध एक महायशस्वी ब्राह्मण हो गये हैं। वे जप करनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ थे। महाभाग माण्टि रुद्रके मन्त्रोंका जप किया करते थे। उनके कोई पुत्र नहीं था। अतः पुत्रके लिये रुद्रमन्त्रोंका जप करते-करते उनके सौ वर्ष पूरे हो गये, इससे भगवान् शंकर बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'माण्टे! तुम्हें एक बुद्धिमान् पुत्र उत्पन्न होगा, जिसका प्रभाव और पराक्रम मेरे ही समान होगा। वह तुम्हारे सम्पूर्ण कुलका उद्धार करेगा।' भगवान् शंकरका यह वरदान सुनकर माण्टिको बड़ा हर्ष हुआ। कुछ कालके अनन्तर महात्मा माण्टिकी पत्नीने गर्भ धारण किया, उन्हें गर्भ धारण किये चार वर्ष बीत गये; परंतु गर्भका बालक माताका उदर छोड़कर बाहर नहीं निकलता था। तब माण्टिने उससे कहा—'बेटा! विभिन्न योनियोंमें पड़े हुए जीव यह सोचा करते हैं कि हम कब मनुष्ययोनिमें जन्म लेंगे। जहाँ धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी भी प्राप्ति होती है, जिसमें किये हुए पूजनका महान् फल होता है तथा जहाँ पितरों और देवताओंके सन्तोषार्थ नाना प्रकारके धर्मानुष्ठानका अवसर प्राप्त होता है। ऐसे मनुष्यजन्मका, जिसे पानेकी अभिलाषा देवता भी करते हैं, तुम अनादर करके माताके उदरमें ही क्यों स्थित हो रहे हो?'

**गर्भने कहा**—पिताजी! मैं भी यह सब कुछ जानता हूँ। वास्तवमें यह मनुष्यजन्म परम दुर्लभ है; किंतु मैं कालके मार्गसे सदा ही बहुत डरता हूँ। विद्वान् पुरुषको उसी वस्तुके लिये यत्न करना चाहिये, जो दुःखयुक्त न हो। यदि मेरा यह मन भयानक एवं गम्भीर कालसे ताड़ित होकर भाँति-भाँतिके दोषोंको न प्राप्त हो, तो मैं परम दुर्लभ मनुष्यजन्मको शीघ्र प्राप्त कर सकता हूँ।

यह सुनकर उसके पिता माण्टि भगवान् सदाशिवकी शरणमें गये और बोले—'देव महेश्वर! मेरी रक्षा कीजिये, भगवन्! आपने ही मुझे पुत्र दिया है और आप ही जन्म कराइये।' तब माण्टिकी अतिशय भक्तिसे सन्तुष्ट हो भगवान् महेश्वर अपनी विभूतियोंसे बोले—'ज्ञान! धर्म! वैराग्य तथा ऐश्वर्य! और अज्ञान! अधर्म! अवैराग्य तथा अनैश्वर्य! तुम सब लोग शीघ्र जाओ और माण्टिके पुत्रको समझाओ।' तब वे विभूतियाँ उस गर्भको समझाती हुई बोलीं—'महामते माण्टिकुमार! तुम्हें अपने मनमें भय नहीं करना चाहिये। हम चारों धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य तुम्हारे मनसे कभी अलग न होंगे।' तत्पश्चात् अधर्म आदि बोले—'हम तुम्हारे पास नहीं आयँगे, तुम्हें नमस्कार है। तुमको हमसे कोई भय नहीं है।' इन विभूतियोंके द्वारा ऐसा आश्वासन मिलनेपर वह गर्भका बालक शीघ्र बाहर निकल आया। बाहर जन्म लेते ही वह काँपने और रोने लगा। तब विभूतियोंने कहा—'माण्टे! तुम्हारा पुत्र अब भी कालमार्गसे भयभीत होकर काँपता और रोता है; इसलिये यह कालभीति नामसे प्रसिद्ध होगा।' इस प्रकार वरदान देकर वे विभूतियाँ महादेवजीके समीप चली गयीं और वह बालक शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान प्रतिदिन बढ़ने लगा। संस्कारोंसे सुसंस्कृत होनेपर उस बुद्धिमान् बालकने पाशुपत मन्त्रकी दीक्षा ली और सद्योजातादि पाँच मन्त्रोंका जप करते हुए वह तीर्थयात्रामें तत्पर हो गया। अर्जुन! महीसागर-संगमरूप गुप्त क्षेत्रके गुणोंका वर्णन सुनकर कालभीति भी वहाँ गया और महीके जलमें स्नान करके एक करोड़ मन्त्रका जप किया। जप समाप्त करके जब वह लौटा तो थोड़ी ही दूरपर उसने बिल्वका वृक्ष देखा, वहाँ जप करते समय उस ब्राह्मणकी इन्द्रियाँ लयको प्राप्त हो गयीं। वह क्षणभरमें केवल परमानन्दस्वरूप

हो गया। उसके उस ब्रह्मानन्दकी तुलना स्वर्ग आदिके सुखोंसे कदापि नहीं हो सकती। दो घड़ीतक समाधिमें स्थित होनेके पश्चात् वह पुनः पूर्वावस्थामें आ गया।

यह देखकर कालभीतिको बड़ा विस्मय हुआ। वह मन-ही-मन कहने लगा कि—'यह महान् आनन्द तो मुझे न काशीमें मिला, न नैमिषारण्यमें, न प्रभास और केदारक्षेत्रमें प्राप्त हुआ, न अमरकण्टकमें ही। इस समय मेरी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ गंगाजीकी भाँति निर्विकार और स्वस्थ हैं तथा मेरा चित्त एक परम गोपनीय धर्मका आश्रय लेता है। अहो! इस तीर्थका प्रभाव तो यहाँ स्पष्ट रूपसे प्रकट है। कहते हैं, जो स्थान सब प्रकारके दोषोंसे रहित, पवित्र और सम्पूर्ण उपद्रवोंसे शून्य हो, वहाँ निवास करनेवाले पुरुषकी बुद्धि धर्मके कार्यमें सहस्रगुनी हो जाती है। इसलिये इस तीर्थके प्रभावसे मैं मन-ही-मन अनुभव करता हूँ कि यह स्थान काशी आदि प्रधान तीर्थोंसे भी श्रेष्ठ है। अतः मैं यहीं रहकर बड़ी भारी तपस्या करूँगा।' ऐसा विचार करके कालभीति उस बिल्ववृक्षके नीचे एक पैरके अँगूठेके अग्रभागसे खड़े हो मन्त्रोंका जप करने लगे। जपका नियम ग्रहण करनेके पश्चात् वे सौ वर्षतक जलकी एक-एक बूँद पीकर रहे। सौ वर्ष पूर्ण होनेपर उनके सामने एक मनुष्य जलसे भरा हुआ घड़ा लेकर आया, उसने कालभीतिको प्रणाम करके बड़े हर्षसे कहा—'महामते! आज आपका नियम पूरा हो गया, यह जल ग्रहण कीजिये।'

**कालभीति बोले**—आप किस वर्णके हैं तथा आपका आचार-व्यवहार कैसा है? यह सब यथार्थरूपसे बताइये। आपके जन्म और आचार जान लेनेपर मैं यह जल ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं।

**आगन्तुक मनुष्य बोला**—मैं अपने माता-पिताको नहीं जानता, अपने-आपको सदा इसी रूपमें देखता हूँ, आचारों और धर्मोंसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं।

**कालभीतिने कहा**—यदि ऐसी बात है, तो मैं आपका जल कभी ग्रहण नहीं करूँगा। इस विषयमें मेरे गुरुने वैदिक सिद्धान्तके अनुसार जो उपदेश दिया है, वह सुनो—जिसके कुलका ज्ञान न हो, जिसके जन्ममें वीर्यशुद्धिका अभाव हो, उसका अन्न खाने और जल पीनेवाला साधुपुरुष तत्काल कष्टमें पड़ जाता है।* जो हीन वर्णका है तथा जो भगवान् शिवका भक्त नहीं है, इन दो प्रकारके मनुष्योंको दान देते समय उसे लेनेका अनधिकारी समझना चाहिये।

**आगन्तुक मनुष्य बोला**—तुम्हारी इस बातपर मुझे हँसी आती है। अहो! तुम बड़े अविवेकी हो, जब सब भूतोंमें सदा भगवान् शंकर ही निवास करते हैं, तो किसीके प्रति भी भली-बुरी बात नहीं कहनी चाहिये, क्योंकि इससे भगवान् शिवकी ही निन्दा होती है। जो अपने और दूसरेके बीच अन्तर मानता है, उस भेददर्शी पुरुषके लिये मृत्यु अत्यन्त घोर भय उपस्थित करती है, अथवा यदि शुद्धिका भी विचार किया जाय, तो बताओ इस जलमें क्या अपवित्रता है? यह घड़ा मिट्टीका बना हुआ है और अग्निसे पकाया गया है, फिर जलसे भर दिया गया है। इन सब वस्तुओंमें तो कोई अशुद्धि है नहीं। यदि कहें कि मेरे संसर्गसे अशुद्धि आ गयी है, तो यह भी स्पष्ट नहीं है, क्योंकि वैसी दशामें जब मैं इस पृथ्वीपर हूँ तो आप यहाँ क्यों रहते हैं? बताइये आप क्यों इस पृथ्वीपर चलते हैं? आकाशमें क्यों नहीं चलते? अतः इस प्रकार विचार करनेपर आपकी बात मूर्खोंकी-सी जान पड़ती है।

**कालभीतिने कहा**—यदि ऐसा कहा जाता है कि सम्पूर्ण भूतोंमें एक शिव ही हैं, तो

* न ज्ञायते कुलं यस्य बीजशुद्धिं विना ततः। तस्य खादन् पिबन् वापि साधुः सीदति तत्क्षणात्॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ३४। ५०)

कथनमात्रके लिये सबको शिव माननेवाले नास्तिक लोग भक्ष्य-भोज्य आदि पदार्थोंको छोड़कर मिट्टी क्यों नहीं खाते? राख और धूल क्यों नहीं फाँकते? इसलिये संसारकी व्यवहार-सिद्धिके लिये एक मर्यादा स्थापित की गयी है, जो समयसे ही सफल होती है, अन्यथा नहीं। आप उस मर्यादाको श्रवण करें। पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इस पांचभौतिक जगत्की सृष्टि की और उसे नाममय प्रपंचसे बाँध दिया। उस नाम-प्रपंचके चार भेद हैं—ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य। ये ही नामात्मक प्रपंचके चार आधारस्थान हैं। इनमें ध्वनि 'नाद' स्वरूप है। ॐकारपूर्वक सम्पूर्ण अक्षर ही 'वर्ण' कहलाते हैं। '**शिवम्**' यह सुबन्त शब्द 'पद' है और '**शिवम् भजेत्**' (शिवका भजन करे) यह विधि ही एक तिङन्तक्रियासे अन्वित होनेके कारण वाक्य कही गयी है। वह वाक्य भी तीन प्रकारका होता है; ऐसा श्रुतिका सिद्धान्त है। पहला प्रभुसम्मत, दूसरा सुहृत्सम्मत तथा तीसरा कान्तासम्मत। यही त्रिविध वाक्य माने गये हैं। जैसे स्वामी सेवकको यह आदेश देता है कि 'अमुक काम करो'—यह प्रभुसम्मत वाक्य है। उसी प्रकार श्रुति और स्मृति दोनों प्रभुसम्मत वाक्यका प्रयोग करती हैं—स्वामीकी भाँति आज्ञा देती हैं। इतिहास और पुराण आदि सुहृत्सम्मत कहे जाते हैं। ये सुहृदोंकी भाँति समझाकर मनुष्यको यथार्थ मार्गमें लगाते हैं तथा काव्यके जो सरस एवं व्यंग्यपूर्ण आलाप आदि हैं; उन्हें कान्तासम्मत कहते हैं*। प्रभुवाक्य बाहर और भीतरसे पवित्र करनेवाला माना गया है तथा सुहृद्वाक्य भी परम पवित्र है। स्वर्ग आदि उत्तम लोकोंकी प्राप्तिकी इच्छासे उसका पालन करना चाहिये। श्रुति कहती है कि भूलोकके सम्पूर्ण मनुष्योंको प्रभुसम्मत तथा सुहृत्सम्मत वाक्यका पालन करना चाहिये। आप यदि नास्तिकवादका सहारा लेकर सर्वत्र व्यावहारिक समानताकी बात करते हैं तो इसके अनुसार क्या वेद, शास्त्र और पुराण व्यर्थ ही हैं? क्या पूर्वकालमें सप्तर्षि आदि जो ब्राह्मण और क्षत्रिय हो गये हैं, वे सब मूर्ख ही थे? केवल आप ही चतुर हैं? जो वेद, वेदांग और वेदान्तका अनुसरण करनेवाले एवं सत्त्वगुणमें स्थित हैं, वे ऊपरके लोकोंमें गमन करते हैं। रजोगुणी मनुष्य मध्यवर्ती भूलोकमें निवास करते हैं और तमोगुणी जीव नीचेके लोकों अथवा नरकोंमें रहते हैं। सात्त्विक आहार तथा सात्त्विक आचार-विचारसे मनुष्य स्वर्गगामी होता है (अतः सदाचारका ध्यान रखना आवश्यक है)। हम आपकी बातोंमें दोष ढूँढ़ते हों, ऐसी बात भी नहीं। हम यह नहीं कहना चाहते कि सम्पूर्ण भूतोंमें भगवान् शिव नहीं हैं। भगवान् तो सम्पूर्ण भूतोंमें हैं ही; किंतु इस विषयमें मैं जो उपमा दे रहा हूँ; उसे ध्यान देकर सुनिये—जैसे सुवर्णके बने हुए बहुतसे आभूषण होते हैं; उनमेंसे कोई तो विशुद्ध सुवर्णके होते हैं; और कुछ खोटे भी होते हैं। खरे, खोटे सभी आभूषणोंमें सुवर्ण तो है ही। इसी प्रकार ऊँच-नीच, शुद्ध-अशुद्ध सबमें भगवान् सदाशिव विराजमान हैं। जैसे खोटा सुवर्ण शोधित होनेपर शुद्ध सुवर्णके साथ एकताको प्राप्त होता है, उसी प्रकार इस शरीरको भी व्रत, तपस्या और सदाचार आदिके द्वारा शोधित करके शुद्ध बना लेनेपर मनुष्य निश्चय ही स्वर्गलोकमें जाता है। अतः बुद्धिमान् पुरुषको उचित है कि वह हीन या अपवित्र वस्तुको किसी प्रकार भी ग्रहण न करे। यदि वह अपने इस शरीरका शोधन

* जैसे प्रियतमा अपने प्रियतमको कोई आदेश नहीं देती, अपने हाव-भाव भ्रूभंग अथवा सरस आलापसे अपनी इच्छामात्र सूचित कर देती है और प्रियतम उसकी पूर्तिके लिये स्वयं यत्नशील हो जाता है, इसी प्रकार रामायण आदि काव्य अपने सरस वर्णनोंद्वारा सहृदयोंका मनोरंजन करते हुए स्वतः हृदयमें यह भाव भर देते हैं कि हमें श्रीराम आदिके आदर्शपर चलना चाहिये, रावण आदिके आदर्शपर नहीं।

कर ले तो शुद्ध होनेपर निश्चय ही स्वर्गलोकको प्राप्त हो सकता है। जो पुरुष व्रत, उपवास करके शुद्ध हो गया है, वह भी यदि सबसे प्रतिग्रह लेने लगे तो थोड़े ही दिनोंमें अवश्य पतित हो जाता है।[१] इसलिये मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि आपका यह जल मैं किसी तरह भी ग्रहण नहीं करूँगा। यह कार्य भला हो या बुरा, मेरे लिये वेद ही परम प्रमाण है।

कालभीतिके ऐसा कहनेपर आगन्तुक मनुष्य हँसने लगा। उसने दाहिने अंगूठेसे भूमिको खुरेदते हुए एक बहुत बड़ा एवं उत्तम गड्ढा तैयार कर दिया। फिर उसीमें वह सारा जल ढुलका दिया। उससे वह गड्ढा भर गया। फिर भी जल शेष रह गया; तब उसने पैरसे ही खुरेदकर एक तालाब बना दिया और शेष बचे हुए जलसे उसको भर दिया। यह परम अद्भुत कार्य देखकर भी ब्राह्मण देवताको कोई आश्चर्य नहीं हुआ; क्योंकि भूत, प्रेत आदिकी उपासना करनेवाले लोगोंमें अनेक प्रकारकी विचित्र बातें होती हैं। उस विचित्रताके चक्करमें आकर अपने सनातन वैदिक मार्गका परित्याग कभी नहीं करना चाहिये[२]।

**आगन्तुक मनुष्य बोला**—ब्राह्मणदेव! आप हैं तो बड़े भारी मूर्ख; परंतु बातें पण्डितों-जैसी करते हैं। क्या आपने पुराणवेत्ता विद्वानोंके मुखसे कहा हुआ यह श्लोक नहीं सुना है?

**कूपोऽन्यस्य घटोऽन्यस्य रज्जुरन्यस्य भारत।**
**पाययत्येकः पिबत्येकः सर्वे ते समभागिनः॥**

भारत! कुआँ दूसरेका, घड़ा दूसरेका और रस्सी दूसरेकी है; एक पानी पिलाता है और एक पीता है; वे सब समान फलके भागी होते हैं।

ऐसा ही मेरा भी जल है और तुम धर्मके ज्ञाता हो; फिर क्यों इसे नहीं पीयोगे?

**नारदजी कहते हैं**—अर्जुन! तदनन्तर कालभीतिने उक्त श्लोकके विषयमें अनेक प्रकारसे विचार किया, किंतु किस प्रकार सब लोग समान फलके भागी होते हैं; इसका निश्चय न कर सके। फिर घट आदि साधनोंद्वारा जो समान फलभागी होनेकी बात कही गयी थी, उसपर विशेष विचार किया और इस निश्चयपर पहुँचे कि यदि एक कार्यमें अनेक सहायक हों तो सब समान फलके भागी होते हैं। जैसे एक नौका निर्माण करानेमें यदि अनेक पुरुषोंने धन लगाया हो तो उन सबका उसमें समान भाग होता है। इस प्रकार कर्ताको प्राप्त होनेवाला सब फल सहकारियोंमें बँटकर समान हो जाता है। इस प्रकार पुनः-पुनः विचार करके कालभीतिने उस मनुष्यसे कहा—'भद्रपुरुष! आपका यह कहना ठीक है। कूप और तालाबके जल ग्रहण करनेमें दोष नहीं है तथापि आपने तो अपने घड़ेके जलसे ही इस गड्ढेको भरा है, यह बात प्रत्यक्ष देख करके भी मेरे-जैसा मनुष्य कैसे इस जलको पी सकता है। अतः यह अच्छा हो या बुरा; मैं किसी प्रकार भी इसे नहीं पीऊँगा।' कालभीतिके इस प्रकार दृढ़ निश्चय कर लेनेपर वह पुरुष हँसकर क्षणभरमें वहाँसे अन्तर्धान हो गया। इससे कालभीतिको बड़ा विस्मय हुआ। ये बार-बार सोचने लगे कि यह क्या वृत्तान्त है। इतनेहीमें उस बिल्ववृक्षके नीचे पृथ्वीसे सहसा एक परम सुन्दर शिवलिंग प्रकट हो गया, जो सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित कर रहा था। इन्द्रने उसके ऊपर पारिजातके फूलोंकी वर्षा की और देवता तथा मुनि नाना प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा स्तुति

---

१- सर्वतो यः प्रतिग्राही निराहारी च यः पुमान्। शुचिः स्यादल्पदिवसात् पतितोऽसौ भवेत् स्फुटम्॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ३४। ८१)

२- यतो बहुविधं चित्रं भवेद्भूताद्युपासिषु। तच्चित्रेण न जह्याच्च श्रुतिमार्गं सनातनम्॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ३४। ८६)

करने लगे। तब कालभीतिने प्रणाम करके

प्रसन्नतापूर्वक यह स्तुति प्रारम्भ की—

'जो पापके काल, संसाररूपी पंकके काल, कालके काल तथा कालमार्गके भी काल हैं; जिनके कण्ठमें काला चिह्न सुशोभित होता है तथा जो संसारके कालरूप हैं, उन भगवान् महाकालकी मैं शरण लेता हूँ। श्रुति आपको सम्पूर्ण विद्याओंका ईश्वर बताकर स्तुति करती है। आप समस्त भूतोंके ईश्वर तथा प्रपितामह हैं; ऐसी महिमावाले आप महेश्वरको नमस्कार है। वेद जिसकी स्तुति करता है, उस 'तत्पुरुष' नामवाले आपको हम जानते हैं और आपका ही चिन्तन करते हैं। देवेश्वर! आप हमें शरण दीजिये; आपको बारंबार नमस्कार है।'

अर्जुन! कालभीतिके इस प्रकार स्तुति करनेपर महादेवजीने उस लिंगसे निकलकर प्रत्यक्ष दर्शन दिया और अपने तेजसे त्रिलोकीको प्रकाशित करते हुए कहा—'ब्रह्मन्! तुमने इस महातीर्थमें रहकर मेरी जो अतिशय आराधना की है, उससे मैं बहुत सन्तुष्ट हूँ। वत्स! काल तुम्हारे ऊपर किसी प्रकार भी शासन नहीं कर सकता। मैं ही तुम्हारी धर्मनिष्ठा देखनेके लिये मनुष्यरूपमें यहाँ प्रकट हुआ था। यह धर्ममार्ग धन्य है, जिसका तुम्हारे-जैसे धर्मज्ञोंद्वारा पालन होता है। मैंने यह गड्ढा और तालाब सब तीर्थोंके जलसे ही भरा है। यह परम पवित्र जल है और तुम्हारे लिये मैंने इसका संग्रह किया है। तुमने जो मेरी स्तुति की है, उसमें वैदिक मन्त्रोंका रहस्य भरा हुआ है। तुम मुझसे कोई मनोवांछित वर माँगो। तुम्हारे लिये कुछ भी अदेय नहीं है।'

**कालभीतिने कहा**—भगवान् शंकर! यदि आप मुझपर सन्तुष्ट हैं, तो मैं धन्य हूँ। मुझपर आपका महान् अनुग्रह है। आपके सन्तोषसे ही सब धर्म सफल होते हैं। अन्यथा वे केवल श्रम देनेवाले ही माने गये हैं। प्रभो! यदि आप सन्तुष्ट हैं तो सदा यहाँ निवास करें। आपके इस शुभ लिंगपर जो भी दान, पूजन आदि किया जाय, वह सब अक्षय हो। देव! पाँच हजार मन्त्र जपनेसे जो फल होता है, वही फल मनुष्योंको इस शिवलिंगका दर्शन करनेसे प्राप्त हो जाय। महेश्वर! आपने काल-मार्गसे मुझे छुटकारा दिलाया है, इसलिये यह शिवलिंग महाकालके नामसे प्रसिद्ध हो। जो मनुष्य इस कूपमें स्नान करके पितरोंका तर्पण करे, उसे सब तीर्थोंका फल प्राप्त हो और उसके पितरोंको अक्षय गतिकी प्राप्ति हो।

**कालभीतिकी यह बात सुनकर भगवान् शंकर प्रसन्न हो बोले**—जहाँ स्वयम्भू-लिंग हो, वहाँ मैं नित्य निवास करता हूँ। स्वयम्भू-लिंग, रत्नमय-लिंग, धातुज-लिंग, प्रस्तरनिर्मित लिंग तथा चन्दन आदि लेपजनित-लिंग हैं। इनमें क्रमशः अन्तिम लिंगकी अपेक्षा पूर्व-पूर्ववाले लिंग दस-गुना अधिक फल देनेवाले होते हैं। आकाशमें तारकामय-लिंग, पातालमें हाटकेश्वर-लिंग तथा भूमण्डलपर स्वयम्भू-लिंग—ये तीनों शुभ होते हैं। तुमने विशेषरूपसे जिसके लिये प्रार्थना की है, वह सब पूर्ण होगा। यहाँ फूल, फल, पूजा, नैवेद्य और स्तुति निवेदन करना तथा दान या दूसरा कोई भी शुभ कर्म करना, सब

अक्षय होगा। बेटा! माघके कृष्ण-पक्षकी चतुर्दशीको शिव-योगमें जो लिंगार्चनके पहले कूपमें स्नान करके पितरोंका तर्पण करेगा, उसे सब तीर्थोंके फलकी प्राप्ति होगी तथा उसके पितरोंकी अक्षय गति होगी। उसी दिनकी रात्रिमें जो प्रत्येक प्रहरमें महाकालका पूजन करेगा, उसे सब लिंगोंके समीप जागरण करनेका फल प्राप्त होगा। द्विजोत्तम! जो पुरुष सदा जितेन्द्रिय रहकर शिवलिंगमें मेरी पूजा करेगा, भोग और मोक्ष उससे कभी दूर नहीं रहेंगे। जो चतुर्दशी, अष्टमी, सोमवार तथा पर्वके दिन इस सरोवरमें स्नान करके इस शिवलिंगकी पूजा करेगा, वह शिवको ही प्राप्त होगा। यहाँ किया हुआ जप, तप और रुद्र-जप सब अक्षय होगा। तुम नन्दीके साथ मेरे दूसरे द्वारपाल बनोगे। वत्स! काल-मार्गपर विजय पानेसे तुम चिरकालतक महाकालके नामसे प्रसिद्ध होओगे। यहाँ शीघ्र ही राजर्षि करन्धम आनेवाले हैं, उन्हें धर्मका उपदेश करके तुम मेरे लोकमें चले आओ।'

यों कहकर भगवान् रुद्र उस लिंगमें ही लीन हो गये और महाकाल भी प्रसन्न होकर वहाँ बड़ी भारी तपस्या करने लगे।

## महाकालद्वारा करन्धमके प्रश्नानुसार श्राद्ध तथा युगव्यवस्थाका वर्णन

**नारदजी कहते हैं**—अर्जुन! तदनन्तर महाकालका चरित्र सुनकर राजा करन्धम वहाँ आये। उन्होंने महीसागरसंगमके जलमें स्नान तथा महाकालका दर्शन करके अपने जीवनको सफल माना। पचास हजार मन्त्रोंका जप करनेसे जो फल प्राप्त होता है, वही जिनके दर्शनमात्रसे मिल जाता है, उन्हीं भगवान् महाकालकी विशेष पूजा, अर्चा करके राजाने उनको प्रणाम किया और उनकी स्तुति करके उन्हींके समीप बैठे। तत्पश्चात् भगवान् शिवके वचनका स्मरण करके मुसकराते हुए महाकालजीने राजाकी अगवानी की और स्वागत-सत्कारपूर्वक उन्हें अर्घ्य प्रदान किया। फिर कुशलप्रश्नके पश्चात् जब राजा सुखपूर्वक बैठे, तो उन्होंने महाकालजीसे पूछा—'भगवन्! मेरे मनमें सदा यह संशय बना रहता है कि मनुष्योंद्वारा पितरोंका जो तर्पण किया जाता है, उसमें जल तो जलमें ही चला जाता है; फिर हमारे पूर्वज उससे तृप्त कैसे होते हैं? इसी प्रकार पिण्ड आदिका सब दान भी यहीं देखा जाता है। अतः हम यह कैसे मान लें कि यह पितर आदिके उपभोगमें आता है?'

**महाकालने कहा**—राजन्! पितरों और देवताओंकी योनि ही ऐसी होती है कि ये दूरकी कही हुई बातें सुन लेते, दूरकी पूजा भी ग्रहण कर लेते और दूरकी स्तुतिसे भी सन्तुष्ट होते हैं। इसके सिवा वे भूत, भविष्य और वर्तमान सब कुछ जानते और सर्वत्र पहुँचते हैं। पाँचों तन्मात्राएँ, मन, बुद्धि, अहंकार और प्रकृति—इन नौ तत्त्वोंका बना हुआ उनका शरीर होता है। इसके भीतर दसवें तत्त्वके रूपमें साक्षात् भगवान् पुरुषोत्तम निवास करते हैं। इसलिये देवता और पितर गन्ध तथा रस-तत्त्वसे तृप्त होते हैं। शब्दतत्त्वसे रहते हैं तथा स्पर्शतत्त्वको ग्रहण करते हैं और किसीको पवित्र देखकर उनके मनमें बड़ा सन्तोष होता है। जैसे पशुओंका भोजन तृण और मनुष्योंका भोजन अन्न कहलाता है, वैसे ही देवयोनियोंका भोजन अन्नका सार-तत्त्व है। सम्पूर्ण देवताओंकी शक्तियाँ अचिन्त्य एवं ज्ञानगम्य हैं। अतः वे अन्न और जलका सार-तत्त्व ही ग्रहण करते हैं, शेष जो स्थूल वस्तु है, वह यहीं स्थित देखी जाती है।

**करन्धमने पूछा**—श्राद्धका अन्न तो पितरोंको दिया जाता है, परंतु वे अपने कर्मके अधीन होते हैं। यदि वे स्वर्ग अथवा नरकमें हों, तो श्राद्धका उपभोग कैसे कर सकते हैं? और वैसी दशामें वे वरदान देनेमें भी कैसे समर्थ हो सकते हैं?

**महाकालने कहा**—नृपश्रेष्ठ! यह सत्य है कि पितर अपने-अपने कर्मोंके अधीन होते हैं, परंतु देवता, असुर और यक्ष आदिके तीन अमूर्त तथा चारों वर्णोंके चार मूर्त—ये सात प्रकारके पितर माने गये हैं। ये नित्य पितर हैं, ये कर्मोंके अधीन नहीं, वे सबको सब कुछ देनेमें समर्थ हैं। वे सातों पितर भी सब वरदान आदि देते हैं। उनके अधीन अत्यन्त प्रबल इकतीस गण होते हैं। राजन्! इस लोकमें किया हुआ श्राद्ध उन्हीं मानव पितरोंको तृप्त करता है। वे तृप्त होकर श्राद्धकर्ताके पूर्वजोंको जहाँ कहीं भी उनकी स्थिति हो, जाकर तृप्त करते हैं। इस प्रकार अपने पितरोंके पास श्राद्धमें दी हुई वस्तु पहुँचती है और वे श्राद्ध ग्रहण करनेवाले नित्य पितर ही श्राद्धकर्ताओंको श्रेष्ठ वरदान देते हैं।

**राजाने पूछा**—विप्रवर! जैसे भूत आदिको उन्हींके नामसे **'इदं भूतादिभ्यः'** कहकर कोई वस्तु दी जाती है, उसी प्रकार देवता आदिको संक्षेपसे क्यों नहीं दिया जाता? मन्त्र आदिके प्रयोगद्वारा विस्तार क्यों किया जाता है?

**महाकालने कहा**—राजन्! सदा सबके लिये उचित प्रतिष्ठा करनी चाहिये। उचित प्रतिष्ठाके बिना दी हुई कोई वस्तु वे देवता आदि ग्रहण नहीं करते। घरके दरवाजेपर बैठा हुआ कुत्ता जिस प्रकार ग्रास (फेंका हुआ टुकड़ा) ग्रहण करता है, क्या कोई श्रेष्ठ पुरुष भी उसी प्रकार ग्रहण करता है? इसी प्रकार भूत आदिकी भाँति देवता कभी अपना भाग ग्रहण नहीं करते। वे पवित्र भोगोंका सेवन करनेवाले तथा निर्मल हैं। अतः अश्रद्धालु पुरुषके द्वारा बिना मन्त्रके दिया हुआ जो कोई हव्य भाग होता है, उसे वे स्वीकार नहीं करते। यहाँ मन्त्रोंके विषयमें श्रुति भी इस प्रकार कहती है—

**मन्त्रा दैवता यद्यद्विद्वान्मन्त्रवत्करोति देवताभिरेव तत्करोति यद्ददाति देवताभिरेव तद्ददाति यत्प्रतिगृह्णाति देवताभिरेव तत्प्रतिगृह्णाति तस्मान्नामन्त्रवत्प्रतिगृह्णीयात् नामन्त्रवत्प्रतिपद्यते।**

'सब मन्त्र ही देवता हैं, विद्वान् पुरुष जो-जो कार्य मन्त्रके साथ करता है, उसे वह देवताओंके द्वारा ही सम्पन्न करता है। मन्त्रोच्चारणपूर्वक जो कुछ देता है, वह देवताओंद्वारा ही देता है। मन्त्रपूर्वक जो कुछ ग्रहण करता है, वह देवताओंद्वारा ही ग्रहण करता है। इसलिये मन्त्रोच्चारण किये बिना मिला हुआ प्रतिग्रह न स्वीकार करे। बिना मन्त्रके जो कुछ किया जाता है, वह प्रतिष्ठित नहीं होता।'

इस कारण पौराणिक और वैदिक मन्त्रोंद्वारा ही सदा दान करना चाहिये।

**राजाने पूछा**—कुश, तिल, अक्षत और जल-इन सबको हाथमें लेकर क्यों दान दिया जाता है? मैं इसका कारण जानना चाहता हूँ।

**महाकालने कहा**—राजन्! प्राचीन कालमें मनुष्योंने बहुतसे दान किये, और उन सबको असुरोंने बलपूर्वक भीतर प्रवेश करके ग्रहण कर लिया। तब देवताओं और पितरोंने ब्रह्माजीसे कहा—'स्वामिन्! हमारे देखते-देखते दैत्यलोग सब दान ग्रहण कर लेते हैं। अतः आप उनसे हमारी रक्षा करें, नहीं तो हम नष्ट हो जायँगे।' तब ब्रह्माजीने सोच-विचारकर दानकी रक्षाके लिये एक उपाय निकाला। पितरोंको तिलके साथ दान दिया जाय, देवताओंको अक्षतके साथ दिया जाय तथा जल और कुशका सम्बन्ध सर्वत्र रहे। ऐसा करनेपर दैत्य उस दानको नहीं ग्रहण कर सकते। इन सबके बिना जो दान किया जाता है, उसपर दैत्यलोग बलपूर्वक अधिकार कर लेते हैं, और देवता तथा पितर दुःखपूर्वक उच्छ्वास लेते हुए लौट जाते हैं। वैसे दानसे दाताको कोई फल नहीं मिलता। इसलिये सभी युगोंमें इसी प्रकार (तिल, अक्षत, कुश और जलके साथ) दान दिया जाता है।

**राजा करन्धम बोले**—ब्रह्मन्! मैं चारों युगोंकी व्यवस्थाको यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ।

**महाकालने कहा**—राजन्! कृतयुगको तुम

आदियुग समझो। उसके बाद त्रेतायुगकी स्थिति मानी गयी है। फिर द्वापर और कलियुग हैं। यही संक्षेपसे चारों युगोंका परिचय है। कृतयुग सत्त्वगुण-प्रधान है, त्रेता रजोगुणमय है, द्वापरमें रजोगुण और तमोगुण दोनोंकी प्रधानता है तथा कलियुगको साक्षात् तमोगुणका स्वरूप जानना चाहिये। अब चारों युगोंमें जो युगका प्रधान आचार है, उसका वर्णन करता हूँ—कृतयुगमें ध्यान प्रधान है, त्रेतामें यज्ञको ही प्रधान कहा जाता है, द्वापरमें सत्य बर्ताव ही प्रधान धर्म है तथा कलियुगमें दान ही सर्वोत्तम धर्म बताया गया है।* कृतयुगमें मानसी सृष्टि होती है। उस समय सबके जीवन-निर्वाहकी वृत्ति रस और उल्लाससे परिपूर्ण होती है। समस्त प्रजा तेजस्विनी होती है। सब प्राणी सदा तृप्त रहते हैं। सभी आनन्दमग्न तथा सुखभोगकी सुविधासे सम्पन्न होते हैं। उनमें कोई ऊँच और नीच नहीं होता। सम्पूर्ण प्रजा समानरूपसे शुभ कार्यमें तत्पर रहती है। कृतयुगमें सब लोगोंकी आयु समान होती है, सबको सुख उपलब्ध होता है; रूप और सौन्दर्य भी सबमें समान देखे जाते हैं। किसीमें अप्रसन्नता नहीं, उद्वेग नहीं, द्वेष नहीं और ग्लानि नहीं होती। उस समय वर्णाश्रम व्यवस्था होती है। वर्णसंकरका नाम नहीं होता। कुछ लोग पर्वतोंपर और उसके आसपास तथा कुछ लोग समुद्रके तटपर निवास करते हैं। सबपर दया करना उस समयकी प्रजाको विशेष प्रिय जान पड़ता है। सब मनुष्य एकमत होकर सदा भगवान् सदाशिवका ध्यान करते हैं। कृतयुगका चतुर्थ चरण आनेपर उनकी वह रसोल्लासवृत्ति नष्ट हो गयी। तब उनके लिये गृहका काम देनेवाले कल्पवृक्ष उत्पन्न हो गये। वे वृक्ष ही उनके लिये वस्त्र, आभूषण तथा फल उत्पन्न करने लगे। उन वृक्षोंपर ही उनके लिये पत्ते-पत्तेमें उत्तम गन्ध, उत्तम रंग और उत्तम रससे युक्त अत्यन्त बलवर्धक मधु तैयार होने लगा। उसे मधुमक्खियोंने नहीं बनाया था। कृतयुगके अन्तिम भागमें उसीसे प्रजा अपने जीवनका निर्वाह करती थी। उस मधुके सेवनसे सब लोग हृष्ट, पुष्ट, अधिक बलशाली तथा नीरोग रहते थे। तदनन्तर कुछ कालके बाद जब मनुष्योंकी रसनेन्द्रिय प्रबल हो गयी, तो युगका प्रभाव पड़नेसे सब लोगोंमें भगवान्‌के ध्यानकी प्रवृत्ति कम होने लगी और वे उन वृक्षों तथा बिना मक्खीके उत्पन्न हुए मधुपर भी बलपूर्वक अधिकार करने लगे। उनके इस लोभदोषजनित अनाचारसे वे कल्पवृक्ष कहीं-कहीं मधुके साथ ही अदृश्य हो गये। उस समय उन वृक्षोंकी सम्पत्ति जब बहुत थोड़ी रह गयी, तो प्रजाजनोंमें द्वन्द्व प्रकट हो गये। वे सर्दी, गर्मी तथा मानसिक क्लेशसे बहुत दुःखी हुए। तब उन्होंने अपनेको आच्छादित करनेके लिये घर बनाये। उस समय त्रेतायुगके प्रारम्भमें उनके लिये पुनः दूसरी सिद्धि प्रकट हुई। वर्षा होनेसे जल और पृथ्वीका संयोग हुआ, और उससे बिना जोते-बोये ग्राममें (गाँवमें होनेवाले) तथा अरण्यमें (जंगलोंमें होनेवाले) चौदह प्रकारके अन्न उत्पन्न हुए। तदनन्तर ऋतुओंके अनुकूल फूल और फलसे भरे हुए वृक्षों और लताओंका प्रादुर्भाव हुआ। इस तरह अनेक प्रकारके धान्य, पुष्प और फलोंसे प्रजाका जीवन-निर्वाह होने लगा। तत्पश्चात् कालके प्रभावसे पुनः उनमें राग और लोभका संचार हुआ। फिर तो सब लोग अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार हठपूर्वक बड़ी शीघ्रताके साथ नदियों, पर्वतों, क्षेत्रों, वृक्षों, लताओं और धान्योंको भी अपने अधिकारमें करने लगे। इस धर्मविपरीत आचरणसे चौदहों प्रकारके धान्य नष्ट हो गये; सभी ओषधियाँ धरतीमें प्रवेश कर गयीं। इससे प्रजाको बड़ी पीड़ा होने लगी। यह देख वेनकुमार राजा पृथुने सब प्राणियोंके हितके लिये पृथ्वीका दोहन किया। तबसे सब प्रजा वार्तानामक वृत्तिके द्वारा हल और फालसे जोत-बोकर उत्पन्न किये हुए अन्नसे जीवन-निर्वाह करने लगी। उस समय क्षत्रियलोग समस्त प्रजाका

* ध्यानं परं कृतयुगे त्रेतायां यज्ञ उच्यते। वृत्तं च द्वापरे सत्यं दानमेव कलौ युगे॥ (स्क० पु०, मा० कुमा० ३५। ४५)

पालन करते थे। वर्णाश्रम-धर्मकी प्रतिष्ठा थी। त्रेतामें सब ओर यज्ञकी ही चर्चा होने लगी। अज्ञानी मनुष्य भगवान् सदाशिवके ध्यानमय मोक्षमार्गको छोड़कर रागवश वेदोंकी यज्ञसम्बन्धिनी पुष्पित (प्रशंसापूर्ण) वाणीका आश्रय ले यज्ञद्वारा स्वर्गप्राप्तिके साधनमें संलग्न हो गये। तदनन्तर द्वापर आनेपर मनुष्योंमें बुद्धि-भेद उत्पन्न होता है। मन, वाणी और क्रियाद्वारा बड़ी कठिनाईसे जीविका चलने लगती है। सबमें लोभ और अधैर्य बढ़ जाता है। भगवान् शंकरका आश्रय छोड़ देनेसे सबमें धर्मसंकरता आ जाती है तथा वर्ण और आश्रम-धर्मकी मर्यादा टूटने लगती है। द्वापरमें ऐसी अवस्था आनेपर भगवान् वेदव्यास प्रकट होते हैं और वे द्वापरके अन्तिम भागमें एक ही वेदके चार विभाग करते हैं। द्विजोंके हितके लिये व्यासजीके द्वारा एक ही वेद चार चरणोंमें प्रकट किया जाता है। इन्हीं वेदोंके अर्थका विस्तार होनेसे इतिहास और पुराणोंके अनेक भेद होते हैं—ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, भागवतपुराण, नारदीय पुराण, सातवाँ मार्कण्डेयपुराण, आठवाँ अग्निपुराण नवाँ भविष्यपुराण, दसवाँ ब्रह्मवैवर्तपुराण, ग्यारहवाँ लिंगपुराण, बारहवाँ वाराहपुराण, तेरहवाँ स्कन्दपुराण, चौदहवाँ वामनपुराण, पंद्रहवाँ कूर्मपुराण, सोलहवाँ मत्स्यपुराण, तत्पश्चात् गरुड़पुराण और ब्रह्माण्डपुराण। ये अट्ठारह पुराण हैं।

अब इस वाराहकल्पमें होनेवाले व्यासोंके नाम सुनो—ऋतु, सत्य, भार्गव, अंगिरा, सविता, मृत्यु, शतक्रतु, बुद्धिमान् वसिष्ठ, सारस्वत, त्रिधामा, वेदज्ञ मुनिवर त्रिवृत, शततेजा, स्वयं भगवान् नारायण, करक, आरुणि, कृतंजय, भरद्वाज, कविश्रेष्ठ गौतम, मुनिवर वाजश्रवा, शुष्मायण मुनि, तृणविन्दु, ऋक्ष, शक्ति, पराशर, जातुकर्ण्य, विष्णुरूप साक्षात् द्वैपायन मुनि तथा अश्वत्थामा—ये भूत और भविष्य व्यास सूचित किये गये। द्वापरमें लोककल्याणके लिये धर्मशास्त्रके भी अनेक भेद होते हैं। मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशना, अंगिरा, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शंख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप तथा वसिष्ठ—ये धर्मशास्त्रके प्रवर्तक ऋषि हैं।

तत्पश्चात् द्वापरकी सन्ध्यामें और कलियुगके प्रारम्भकालमें जब शैव योग नष्ट होने लगता है, तब योगसे आनन्दित होनेवाले मुनि प्रकट होते हैं। श्वेतवाराहकल्पके कलियुगमें सर्वप्रथम भगवान् रुद्र ही योगेश्वररूपमें प्रकट होते हैं। तदनन्तर सुतार, तारण, सुहोत्र, कंकण, लौगाक्षि, महामुनि जैगीषव्य, भाव्य, दधिवाहन, ऋषभ, मुनिवर धर्म, उग्र, अत्रि, बालक गौतम, वेदशीर्ष, गोकर्ण, शिखण्डी, गुहावासी, जटामाली, अट्टहास, दारुक, लांगली, संयमी, शूली, डिण्डी, मुण्डीश्वर, सहिष्णु, सोमशर्मा, लकुलीश तथा कायावरोहण इत्यादि योगेश्वर क्रमशः होनेवाले हैं। ये कलियुगमें संक्षेपसे शैव-धर्मका उपदेश करेंगे। राजन्! इस प्रकार कलियुगमें शास्त्रोंका संक्षेप बताया जाता है।

अब कलियुगकी प्रवृत्ति सुनो, जो हर्ष और उद्वेगमें डालनेवाली है। कलियुगमें तमोगुणसे व्याकुल इन्द्रियोंवाले मनुष्य माया (छल-कपट आदि), असूया (दोषदृष्टि) तथा तपस्वी महात्माओंकी हत्या भी करते हैं। कलिमें मन और इन्द्रियोंको मथ डालनेवाला राग प्रकट होता है। सदा भूखमरीका भय सताता रहता है, भयंकर अनावृष्टिका भय भी प्राप्त होता है। सब देशोंमें नाना प्रकारके उलट-फेर होते रहते हैं। सदा अधर्म-सेवन करनेके कारण मनुष्योंके लिये वेदका प्रमाण मान्य नहीं रह जाता। प्रायः लोग अधार्मिक, अनाचारी, अत्यन्त क्रोधी और तेजहीन होते हैं। लोभके वशीभूत होकर झूठ बोलते हैं, उनमें अधिकांश नारियोंका-सा स्वभाव आ जाता है, उनकी सन्तान दुष्ट होती हैं। ब्राह्मणोंके दूषित यज्ञ-याग, दोषयुक्त स्वाध्याय, दूषित आचरण तथा असत् शास्त्रोंके सेवनरूप कर्मदोषसे समस्त प्रजाका विनाश होता है। क्षत्रिय और ब्राह्मण नाशको प्राप्त होते हैं और

वैश्य तथा शूद्रोंकी वृद्धि होती है। शूद्र लोग ब्राह्मणोंके साथ एक आसनपर सोते, बैठते और भोजन भी करते हैं। शूद्र ब्राह्मणोंके आचारको अपनाते हैं और ब्राह्मण शूद्रोंके समान आचरण करते हैं। चोर राजाओंकी वृत्तिमें स्थित होते हैं और राजालोग चोरोंके समान बर्ताव करते हैं। पतिव्रता स्त्रियाँ कम होने लगती हैं और कुलटाओंकी संख्या बढ़ती है। कलियुगमें भूमि प्रायः थोड़ा फल देनेवाली होती है, कहीं-कहीं वह अधिक उपजाऊ होती है। राजालोग निडर होकर पाप करते हैं, वे रक्षक नहीं वरं प्रजाकी सम्पत्ति हड़प लेनेवाले होते हैं। कलियुगमें प्रायः क्षत्रियेतर जातिके लोग राजा होते हैं। ब्राह्मण शूद्रकी वृत्तिसे जीविका चलानेवाले होंगे। शूद्र ब्राह्मणोंसे अभिवन्दित होकर स्वयं वाद-विवाद करनेवाले होंगे। वे द्विजोंको देखकर भी अपने आसनसे उठकर खड़े न होंगे। द्विज लोग मुँहपर हाथ रखकर नीच-से-नीच शूद्रके भी कानमें अत्यन्त विनयपूर्वक कोई बात कहेंगे; द्विजोंके सामने भी शूद्र ऊँचे आसनपर बैठे रहेंगे; यह बात जानकर भी राजा उन्हें दण्ड नहीं देगा। देखो, कालका कैसा प्रभाव है। अल्प विद्या और अल्प भाग्यवाले ब्राह्मण सुन्दर-सुन्दर फूलों तथा अन्य प्रकारके अलंकारोंसे शूद्रोंकी अर्चना करेंगे। कलियुगके ब्राह्मण पाखण्डियोंके न लेनेयोग्य दूषित दानको भी ग्रहण करते हैं और उसके कारण दुस्तर रौरव नरकमें पड़ते हैं। करोड़ों द्विज कलिकालमें तप और यज्ञका फल बेचनेवाले तथा अन्यायी होते हैं। मनुष्योंके सन्तानोंमें पुत्र थोड़े और कन्याएँ अधिक होती हैं। कलियुगमें मनुष्य वेदवाक्यों तथा वेदार्थोंकी निन्दा करते हैं। शूद्रोंने जिसे स्वयं रच लिया हो, वही शास्त्र एवं प्रमाण माना जायगा। हिंसक जीव प्रबल होंगे और गोवंशका क्षय होगा। दान आदि कोई भी धर्म अपने शुद्धरूपमें नहीं पालित होगा। साधु पुरुषोंका अनेक प्रकारसे विनाश होगा। राजालोग प्रजाके रक्षक न होंगे। कलियुगका अन्तिम भाग उपस्थित होनेपर प्रत्येक जनपदके लोग अन्नका व्यापार करेंगे, ब्राह्मण वेद बेचनेवाले होंगे, स्त्रियाँ व्यभिचारसे अर्थोपार्जन करेंगी। घरोंमें स्त्रियोंकी प्रधानता होगी। वे अपवित्र कपड़े पहिननेवाली तथा कर्कशा होंगी। बहुत अधिक भोजनमें लिप्त होकर कृत्या (चुड़इलों)-की भाँति प्रतीत होंगी। कलियुगमें प्रायः सब लोग वाणिज्य-वृत्ति करनेवाले होंगे। इन्द्र छिटपुट वर्षा करनेवाले होंगे। मनुष्य दुराचार-सेवन आदि व्यर्थके पाखण्डोंसे घिरे होंगे और सब लोग एक-दूसरेसे याचना करेंगे। उस समय लोगोंको पाप करनेमें तनिक भी शंका नहीं होगी। जब कलियुगके संहारका समय आयगा उस समय मनुष्य पराया धन हड़पनेवाले, परस्त्रियोंका सतीत्व नष्ट करनेवाले तथा पंद्रह वर्षकी आयुवाले होंगे। चोरके घरमें भी चोरी करनेवाले तथा लुटेरेके घरमें भी लूट-मार करनेवाले होंगे। ज्ञान और कर्म दोनोंका अभाव हो जानेसे सब लोग उद्यम करना छोड़ देंगे। उस समय कीड़े, चूहे और सर्प मनुष्यको डसेंगे। वर्ण और आश्रम-धर्मके विरोधी जो अन्य पाखण्ड सुने जाते हैं, वे सब उस समय प्रकट होंगे और उनकी वृद्धि होगी। कलियुगमें स्त्री और पुत्रसे दुःख, शरीरका संहार, सदा रोगी रहना तथा पाप करनेमें आग्रह रखना आदि दोष क्रमशः बढ़ते ही जायँगे। राजन्! यद्यपि कलियुग समस्त दोषोंका भण्डार है, तथापि उसमें एक महान् गुण भी है, उसे सुनो—कलिकालमें थोड़े ही समय साधन करनेसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाते हैं।* सत्ययुग, त्रेता और द्वापर—इन तीन युगोंके लोग ऐसा कहते हैं कि जो मनुष्य कलियुगमें श्रद्धापरायण होकर वेदों, स्मृतियों और पुराणोंमें बताये हुए धर्मका अनुष्ठान करते हैं, वे धन्य हैं। त्रेतामें एक वर्षतक तथा

* कलेर्दोषनिधेश्चैव शृणु चैकं महागुणम्। यदल्पेन तु कालेन सिद्धिं गच्छन्ति मानवाः॥ (स्क० पु०, मा० कुमा० ३५। ११५)

द्वापरमें एक मासतक क्लेशसहनपूर्वक धर्मानुष्ठान करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषको जो फल प्राप्त होता है वह कलियुगमें एक दिनके अनुष्ठानसे मिल जाता है। राजन्! कलियुगमें भगवान् विष्णु और शिवकी नियमपूर्वक उपासना करनेवाले जितने मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होते हैं, उतने अन्य युगोंमें तीन युगोंतक उपासना करनेसे प्राप्त होते हैं।*

राजन्! अट्ठाईसवें कलियुगमें जो कुछ होनेवाला है, उसे सुनो। कलियुगके तीन हजार दो सौ नब्बे वर्ष व्यतीत होनेपर इस भूमण्डलमें वीरोंका अधिपति शूद्रक नामवाला राजा होगा, जो चर्चिता नगरीमें आराधना करके सिद्धि प्राप्त करेगा। शूद्रक पृथ्वीका भार उतारनेवाला राजा होगा। तदनन्तर कलियुगके तीन हजार तीन सौ दसवें वर्षमें नन्दवंशका राज्य होगा। चाणक्य नामवाला ब्राह्मण उन नन्दवंशियोंका संहार करेगा और शुक्लतीर्थमें वह अपने समस्त पापोंसे छुटकारा पानेके लिये प्रायश्चित्तकी अभिलाषा करेगा। इसके सिवा कलियुगके तीन हजार बीस वर्ष निकल जानेपर इस पृथ्वीपर राजा विक्रमादित्य होंगे। वे नवदुर्गाओंकी सिद्धि एवं कृपासे राज्य पायँगे और दीनोंका उद्धार करेंगे। तदनन्तर तीन हजारसे सौ वर्ष और अधिक बीतनेपर शक नामक राजा होगा। उसके बाद कलियुगके तीन हजार छः सौ वर्ष बीतनेपर मगधदेशमें हेमसदनसे अंजनीके गर्भसे भगवान् विष्णुके अंशावतार स्वयं भगवान् बुद्ध प्रकट होंगे, जो धर्मका पालन करेंगे। महात्मा बुद्धके अनेक उत्तम चरित्र स्मरणीय होंगे। अपने भक्तोंके लिये अपनी यशोगाथा छोड़कर वे स्वर्ग-लोकको चले जायँगे, भक्तजन उन्हें सर्वपापाहारी बुद्ध कहेंगे। तत्पश्चात् कलियुगके चार हजार चार सौ वर्ष बीतनेपर चन्द्रवंशमें महाराज प्रमितिका प्रादुर्भाव होगा। वे बहुत बड़ी सेनाके अधिपति तथा अत्यन्त बलवान् होंगे। करोड़ों म्लेच्छोंका वध करके सब ओरसे पाखण्डका निवारण करते हुए केवल विशुद्ध वैदिक धर्मकी स्थापना करेंगे। महाराज प्रमितिका देहावसान गंगा-यमुनाके मध्यवर्ती क्षेत्र प्रयागमें होगा।

तत्पश्चात् किसी समय कालके प्रभावसे जब प्रजा अत्यन्त पीड़ित होने लगेगी, तब भयंकर अधर्मका आश्रय लेकर शठतापूर्ण बर्ताव करेगी। कोई बन्धन न रहनेके कारण सब लोग लोभसे व्याप्त हो झुंड-के-झुंड निकलकर एक-दूसरेको लूटेंगे और मारेंगे। सभी श्रमसे पीड़ित हो अत्यन्त व्याकुल रहेंगे। उस समय वैदिक और स्मार्त धर्म नष्ट हो जानेपर सब एक-दूसरेके आघातसे नष्ट होंगे। धार्मिक और सामाजिक मर्यादाका उल्लंघन करेंगे। सबमें करुणा, स्नेह और लज्जाका अत्यन्त अभाव हो जायगा। सभी लोग नाटे कदके होंगे, उनकी पूरी आयु पचीस वर्षकी होगी। उनके मन और इन्द्रियाँ विषादसे व्याकुल होंगी और वे घर तथा स्त्रीका परित्याग करके हाहाकार करते हुए बाहर भटकेंगे। वर्षा न होनेसे सबकी जीविका मारी जायगी और सब लोग दुःखी हो कृषि और पशुपालनका काम छोड़कर पर्वतोंपर रहने लगेंगे। अपना देश छोड़कर नदी और समुद्रके तटपर निवास करेंगे, पर्वतोंकी गुफाओंमें रहेंगे, अत्यन्त दुःखी हो मांस और मूल-फलसे जीवन-निर्वाह करेंगे। पुराने चीथड़े, वल्कल और पत्ते तथा मृगचर्म धारण करेंगे। सभी अकर्मण्य तथा आवश्यक साधनोंसे भी रहित होंगे। उस समय शाल्य नामक म्लेच्छ धर्मका विनाश करनेके लिये उन सबका संहार करेगा। उत्तम, मध्यम और अधम सब प्रकारकी श्रेणियोंका विनाश करके वह अत्यन्त भयंकर कर्म करनेवाला होगा। तब उसका वध करनेके लिये सम्पूर्ण जगत्के स्वामी साक्षात् भगवान् विष्णु सम्भलग्राममें श्रीविष्णुयशाके पुत्र होकर अवतीर्ण होंगे और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ जाकर उस 'शाल्य' नामवाले म्लेच्छका संहार

* त्रेतायां वार्षिको धर्मो द्वापरे मासिकः स्मृतः। यथा क्लेशं चरन् प्राज्ञस्तदह्ना प्राप्यते कलौ॥
युगत्रयेण तावन्तः सिद्धिं गच्छन्ति पार्थिव। यावन्तः सिद्धिमायान्ति कलौ हरिहरव्रताः॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ३५। ११७-११८)

करेंगे। वे सब ओर घूम-घूमकर करोड़ों और अरबों पापियोंका वध करके उस धर्मका पालन करेंगे, जो वेदमूलक है। साधु पुरुषोंके लिये धर्मरूपी नौकाका निर्माण करके अनेक प्रकारकी लीलाएँ करनेके पश्चात् वे भगवान् 'कल्कि' परम धाममें पधारेंगे। राजन्! उसके बाद फिर सत्ययुगका आरम्भ होगा। प्रथम सत्ययुग, अन्तिम सत्ययुग तथा अट्ठाईसवाँ कलियुग ये अन्य युगोंसे कुछ विशिष्टता रखते हैं। शेष युगोंकी प्रवृत्ति औरोंके समान ही होती है। कलियुग बीतनेपर सत्ययुगके प्रारम्भमें राजा मरु (अथवा पुरु)-से सूर्यवंश, देवापिसे चन्द्रवंश तथा श्रुतदेवसे ब्राह्मणवंशकी परम्परा चालू होगी। राजन्! इस प्रकार चारों युगोंकी व्यवस्था बदलती रहती है। चारों युगोंमें वही लोग धन्य हैं, जो भगवान् शंकर और विष्णुका भजन करते हैं।

## त्रिदेवोंकी श्रेष्ठता और पापोंके भेद

**करन्धमने पूछा**—ब्रह्मन्! कोई भगवान् शिवकी, कोई विष्णुकी तथा कोई ब्रह्माजीकी शरण लेनेसे सर्वोत्कृष्ट मोक्षकी प्राप्ति बतलाते हैं; किंतु आप किससे मुक्ति मानते हैं?

**महाकालने कहा**—नरश्रेष्ठ! इन तीनों देवताओंकी महिमा अपार है। इस विषयमें बड़े-बड़े योगीश्वरोंका भी मन मोहित हो जाता है, फिर मेरी तो बात ही क्या है? कहते हैं, प्राचीन कालमें कभी नैमिषारण्यनिवासी मुनियोंको भी यह सन्देह हुआ था कि इन तीनों देवताओंमें कौन सबसे श्रेष्ठ है। तब वे ब्रह्मलोकमें गये। उसी समय भगवान् ब्रह्माने इस श्लोकका पाठ किया—

**अनन्ताय नमस्तस्मै यस्यान्तो नोपलभ्यते।**
**महेशाय च द्वावेतौ मयि स्तां सुमुखौ सदा॥**

'उन भगवान् अनन्तको नमस्कार है, जिनका कहीं अन्त नहीं मिलता तथा जो सबके महान् ईश्वर हैं, उन भगवान् शंकरको भी नमस्कार है। ये दोनों देवता सदा मुझपर प्रसन्न रहें।'

इस श्लोकके अनुसार भगवान् विष्णु और शंकरकी श्रेष्ठताका निश्चय करके वे सब मुनि क्षीरसागरको गये। वहाँ योगेश्वर भगवान् विष्णुने इस श्लोकका पाठ किया—

**ब्रह्माणं सर्वभूतेषु परमं ब्रह्मरूपिणम्।**
**सदाशिवं च वन्दे तौ भवेतां मंगलाय मे॥**

'मैं सम्पूर्ण भूतोंमें व्यापक परब्रह्मस्वरूप भगवान् ब्रह्मा और सदाशिवको प्रणाम करता हूँ। वे दोनों मेरे लिये मंगलकारी हों।'

यह श्लोक सुनकर उन ब्रह्मर्षियोंको बड़ा विस्मय हुआ। वे वहाँसे हटकर पुनः कैलासपर्वतपर गये। वहाँ उन्होंने देखा कि भगवान् शंकर गिरिराजनन्दिनी उमासे इस प्रकार कह रहे हैं—

**एकादश्यां प्रनृत्यामि जागरे विष्णुसद्मनि।**
**सदा तपस्याञ्चरामि प्रीत्यर्थं हरिवेधसोः॥**

'देवि! मैं भगवान् विष्णु और ब्रह्माजीकी प्रसन्नताके लिये भगवान् विष्णुके मन्दिरमें एकादशीको जागरणपूर्वक नृत्य करता हूँ तथा उन्हीं दोनोंकी प्रसन्नताके लिये सदा तपस्या किया करता हूँ।'

यह सुनकर वे मुनिलोग वहाँसे भी खिसक आये और आपसमें कहने लगे—जब ये तीनों देवता ही एक-दूसरेका पार नहीं पाते, तब उनके द्वारा उत्पन्न किये हुए महर्षियोंकी सन्तान-परम्परामें जन्म लेनेवाले हमलोगोंकी क्या गणना है? जो इन तीनोंमेंसे किसी एकको उत्तम, मध्यम या अधम बतलाते हैं, वे झूठ बोलनेवाले और पापात्मा हैं। उन्हें निश्चय ही नरकमें जाना पड़ता है। राजेन्द्र! नैमिषारण्यवासी तपस्वी मुनियोंने ऐसा ही निश्चय किया। यह सत्य ही है और मेरा भी यही स्पष्ट मत है। सहस्रों जप करनेवाले, सहस्रों वैष्णव तथा सहस्रों शैव ब्रह्मा, विष्णु और शिवका अनुगमन (आराधन) करके

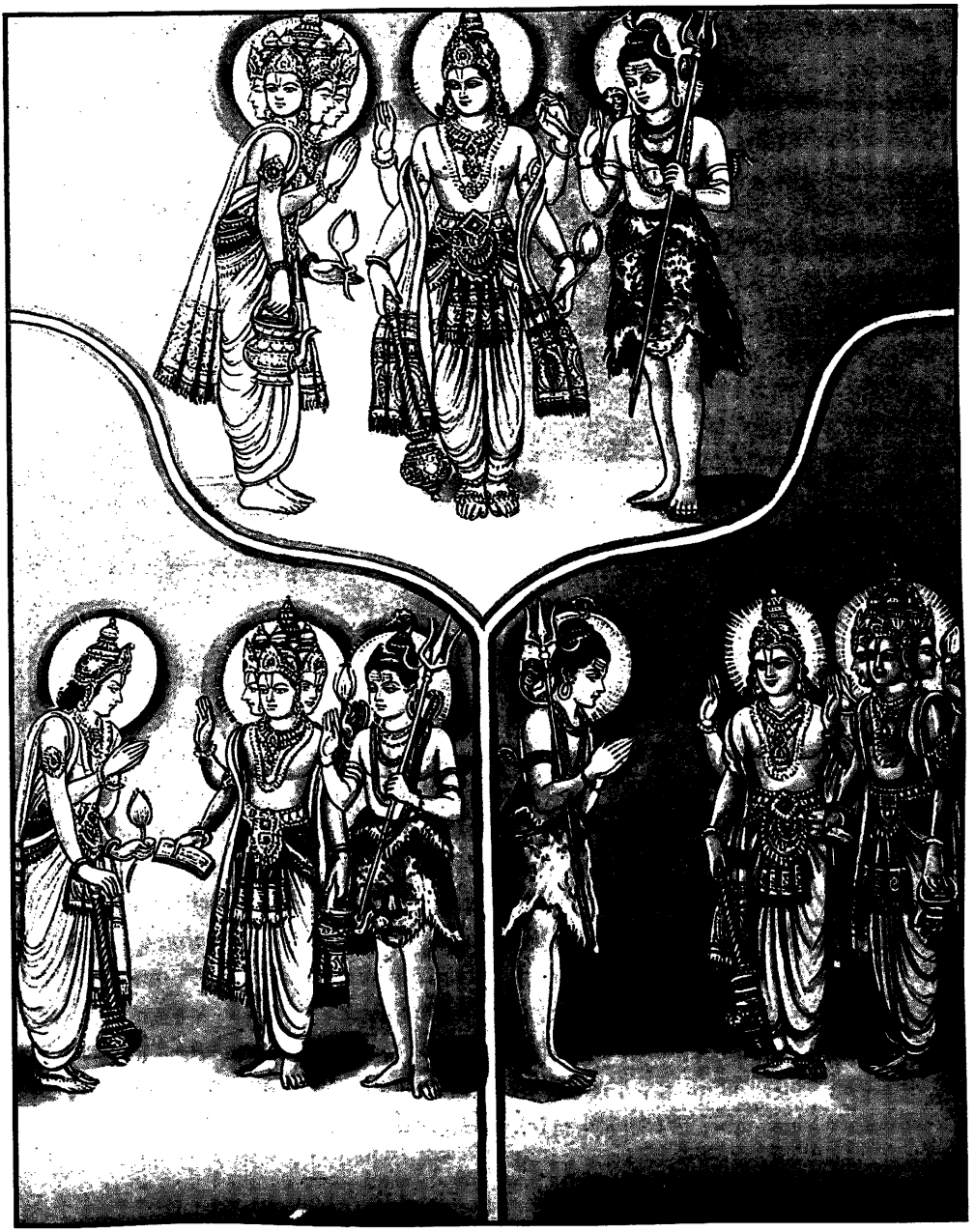

त्रिदेवोंकी श्रेष्ठता

अपनेको संसार-बन्धनसे मुक्त कर चुके हैं। इसलिये जिसका हार्दिक अनुराग जिस देवताके प्रति स्पष्टरूपसे प्रकट हो, वह उसीका भजन करे। इससे वह पापरहित हो सकता है, यही मेरा सर्वोत्तम मत है।[१]

**करन्धमने पूछा**—विप्रवर! वे कौनसे पाप हैं, जिनके द्वारा मोहित चित्तवाले मनुष्यका मन न तो देवतामें लगता है और न धर्मोंमें ही?

**महाकालने कहा**—राजन्! अपनी चित्तवृत्तियोंके भेदसे अधर्मके भेद जानने चाहिये। अधर्म तीन प्रकारके हैं—स्थूल, सूक्ष्म और अत्यन्त सूक्ष्म। ये ही अपने करोड़ों भेदोंके द्वारा अनेक प्रकारके हो जाते हैं। इनमेंसे जो स्थूल पापसमुदाय नरककी प्राप्ति करानेवाले हैं, उनका संक्षेपसे वर्णन किया जाता है। उन पापोंका अनुष्ठान मन, वाणी और कर्मोंद्वारा होता है। उनमेंसे मानसिक पापके चार भेद हैं,—पर-स्त्रीचिन्तन, दूसरोंके धन हड़प लेनेका संकल्प, अपने मनसे किसीका भी अनिष्टचिन्तन तथा न करनेयोग्य कार्योंके लिये मनमें आग्रह रखना। इसी प्रकार वाचिक पापकर्मके भी चार भेद हैं—असंगत वचन बोलना, झूठ बोलना, अप्रिय भाषण करना तथा दूसरोंकी निन्दा और चुगली करना। शारीरिक पापकर्म भी चार प्रकारके हैं—अभक्ष्य-भक्षण, हिंसा, मिथ्या भोगोंका सेवन तथा पराये धनका अपहरण।[२] इस प्रकार मन, वाणी और शरीरसे होनेवाले ये बारह प्रकारके पाप-कर्म बताये गये। इनके भेदोंका पुनः वर्णन करूँगा, जिनका फल अनन्त है। जो संसार-समुद्रसे तारनेवाले महादेवजीसे द्वेष रखते हैं, वे महान् पातकोंसे युक्त होनेके कारण नरकाग्नियोंमें जलते हैं। निरन्तर फल देनेवाले छः महापातक बताये जाते हैं—(१) जो मन्दिर आदिमें भगवान् शंकरको देखकर न तो नमस्कार करते हैं और (२) न उनकी स्तुति ही करते हैं, (३) अपितु भगवान्‌के सामने निःशंक हो मनमानी चेष्टा करते हुए खड़े होते और क्रीडा-विलास आदि करते हैं, (४) भगवान् शिव तथा गुरुजनके समीप पूजा, नमस्कार आदि आवश्यक शिष्टाचारोंका पालन नहीं करते, (५) शिवशास्त्रोंमें बताये हुए सदाचारको नहीं मानते, (६) और शिवभक्तोंसे द्वेष रखते हैं। ये छहों प्रकारके मनुष्य महापातकी समझे जाते हैं। जो पापात्मा अपने गुरुका, कष्टमें पड़े हुए व्यक्तिका, असमर्थ पुरुषका, विदेश गये हुए व्यक्तिका तथा शत्रुओंद्वारा अपमानित मनुष्यका परित्याग करता है अथवा उनके स्त्री-पुत्र एवं मित्रोंकी अवहेलना करता है, उसका यह कृत्य गुरुनिन्दाके समान महापातक समझना चाहिये। ब्रह्महत्यारा, मदिरा पीनेवाला, (सुवर्णकी) चोरी करनेवाला, गुरु-पत्नीगामी—ये चार महापातकी हैं। जो इनके पास संसर्ग रखता है, वह पाँचवाँ महापातकी है।[३] जो लोग क्रोधसे, द्वेषसे, भयसे अथवा लोभसे ब्राह्मणपर उसके मर्मको अत्यन्त पीड़ा पहुँचानेवाले महान् दोषका आरोप करते हैं, वे ब्रह्महत्यारे कहे गये हैं। जो याचना करनेवाले अकिंचन ब्राह्मणको बुलाकर पीछे 'नहीं है' ऐसा कहते हुए देना अस्वीकार कर देता है, वह भी ब्रह्महत्या करनेवाला माना गया है। जो सभामें उदासीनभावसे बैठे हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणको अपने विद्या-अभिमानसे निस्तेज करनेकी चेष्टा करता है, वह ब्राह्मणघाती बताया गया है। जो गुरुजनोंके साथ बलपूर्वक विरोध करके अपने झूठे गुणोंका बखान

१- तस्माद्यस्य मनोरागो यस्मिन् देवे भवेत्स्फुटम्। स तं भजेद्विपापः स्यान्ममेदं मतमुत्तमम्॥ (स्क० पु०, मा० कुमा० ३६। १४)

२- परस्त्रीद्रव्यसंकल्पश्चेतसानिष्टचिन्तनम्। अकार्याभिनिवेशश्च चतुर्धा कर्म मानसम्॥
असम्बद्धप्रलापित्वमसत्यं चाप्रियं च यत्। परापवादं पैशुन्यं चतुर्धा कर्म वाचिकम्॥
अभक्ष्यभक्षणं हिंसा मिथ्याकामस्य सेवनम्। परस्वानामुपादानं चतुर्धा कर्म कायिकम्॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ३६। १८—२०)

३- ब्रह्मघ्नश्च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः। महापातकिनस्त्वेते तत्संसर्गी च पञ्चमः॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ३६। २८)

करते हुए अपने-आपको उत्कृष्ट सिद्ध करना चाहता है, उसे भी ब्रह्महत्यारा कहा गया है। भूख-प्याससे जिनके शरीरको संताप हो रहा है, अतएव जो भोजन करनेके इच्छुक हैं, ऐसे ब्राह्मणोंके भोजनमें जो विघ्न डालता है, उसे ब्राह्मणघाती कहते हैं। जो सबकी चुगली करता है, सब लोगोंके छिद्र ढूँढ़नेमें ही लगा रहता है, सबके मनमें उद्वेग पैदा करता है तथा जिसमें क्रूरता भरी हुई है, ऐसा मनुष्य ब्रह्महत्यारा माना गया है। जो प्याससे पीड़ित हो जल पीनेके लिये जलाशयपर जाती हुई गौओंके मार्गमें विघ्न उपस्थित करता है, उसे गोघाती कहते हैं। ब्राह्मणोंने न्यायपूर्वक जिस धनका उपार्जन किया है, उसे छल-बलसे हर लेना ब्रह्महत्याके समान माना गया है।

माता-पिताका त्याग करना, झूठी गवाही देना, अपने मित्रका वध करना, अभक्ष्य-भक्षण करना, किसी स्वार्थवश वनजन्तुओंका वध करना, क्रोधमें आकर गाँव, वन और गोशालाओंमें आग लगा देना इत्यादि बड़े भयानक पाप मदिरापानके समान माने गये हैं। दरिद्र मनुष्योंका सर्वस्व हर लेना; मनुष्य, स्त्री, हाथी और घोड़ोंको चुरा लेना; गौ, भूमि, रत्न, सुवर्ण, ओषधियोंके रस, चन्दन, अगुरु, कपूर, कस्तूरी तथा रेशमी वस्त्रोंका अपहरण करना तथा हाथमें दी हुई धरोहरको हड़प लेना आदि पाप सुवर्णकी चोरीके समान माने गये हैं। पुत्र और मित्रकी स्त्रियों तथा बहिनोंके साथ सम्भोग करना, कन्याके साथ व्यभिचारका दुःसाहस करना, चाण्डालकी स्त्रियोंको अपने उपभोगमें लाना तथा अपने समान वर्णवाली स्त्रीके साथ भी व्यभिचार करना गुरुपत्नीगमनके समान माना गया है।

अहंकार, अधिक क्रोध, पाखण्ड, कृतघ्नता, अत्यन्त विषयासक्ति, कृपणता, शठता, ईर्ष्या तथा बिना किसी अपराधके ही पुत्र, मित्र, पत्नी, स्वामी और सेवकोंका परित्याग करना; साधु, बन्धु, तपस्वी, गाय, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री और शूद्रोंको मारना-पीटना, भगवान् शिवके आवास-स्थानपर लगे हुए वृक्षों और पुष्पवाटिका आदिको नष्ट करना, जो यज्ञके अधिकारी नहीं हैं, उनका यज्ञ कराना, जिनसे याचना करनी उचित नहीं, उनसे याचना करना; यज्ञ, बगीचा, पोखरा, पत्नी और सन्तानको बेचना; तीर्थयात्रा, उपवास, व्रत तथा मन्दिरनिर्माण आदिके पुण्योंका विक्रय करना; स्त्रीके धनसे जीविका चलाना, स्त्रियोंके अत्यन्त वशीभूत रहना, स्त्रियोंकी रक्षा न करना, ऋण न चुकाना, झूठ बोलकर जीविका चलाना, साध्वी कन्याकी बातोंमें दोष निकालना, विष तथा मारणयन्त्रोंका प्रयोग करना, किसीका मूलोच्छेद कर डालना, उच्चाटन एवं अभिचार कर्म करना, राग और द्वेषके कार्य करना, समयपर संस्कार न कराना, स्वीकार किये हुए व्रतका परित्याग करना, सब प्रकारके आहारोंका सेवन करना, असत्-शास्त्रोंके अनुसार चलना, सूखे तर्कका सहारा लेना; देवता, अग्नि, गुरु, साधु, गौ, ब्राह्मण, राजाओं तथा चक्रवर्ती नरेशोंकी उनके सामने या परोक्षमें निन्दा करना—ये सब उपपातक हैं। जिन्होंने श्राद्ध और देवयज्ञका परित्याग कर दिया है, अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंको सर्वथा छोड़ दिया है; जो दुराचारी, नास्तिक, पापी और सदा झूठ बोलनेवाले हैं; जो पर्वके समय अथवा दिनमें, जलमें, विपरीत योनिमें, पशु-योनिमें, रजस्वलाओंमें अथवा अयोनिमें मैथुन करता है; जो सबसे अप्रिय बोलते हैं, क्रूर हैं, प्रतिज्ञाको तोड़नेवाले हैं, तालाब और कुँओंको नष्ट करनेवाले हैं; जो रसका विक्रय करते हैं तथा एक ही पंक्तिमें बैठे हुए लोगोंको भोजन कराते समय पंक्ति-भेद करते हैं, वे लोग इन सभी पापोंके कारण उपपातकी माने गये हैं।

जो इनकी अपेक्षा कुछ न्यून श्रेणीके पापोंसे युक्त हैं, वे पापी कहलाते हैं। अब उनका वर्णन

सुनो। जो गौ, ब्राह्मण, कन्या, स्वामी, मित्र तथा तपस्वीजनोंके कार्योंमें अन्तर डालते हैं, वे पापी माने गये हैं। जो दूसरोंकी सम्पत्तिसे जलते हैं, नीच जातिकी स्त्रीका सेवन करते हैं, गोशाला, अग्नि, जल, सड़क तथा वृक्षोंकी छायामें, वृक्षोंपर, बगीचों और मन्दिरोंमें जो लोग मल-मूत्र आदिका त्याग करते हैं, वे पापी हैं। मतवाले होकर किलकारियाँ भरते हैं; वंचकवेष, वंचनापूर्ण कार्य तथा वंचकोंके-से आचरण करते हैं; झूठ और कपटके ही व्यवहारमें लगे रहते हैं, कपटपूर्ण शासन करते हैं और कूटनीतिका आश्रय लेकर युद्ध करते हैं, वे सब पापी हैं। जो अपने सेवकोंके प्रति अत्यन्त निष्ठुर और पशुओंका दमन करनेवाला (उनके अण्डकोष छेदन करनेवाला) है; जो झूठी बातें बोलता और स्त्री, पुत्र, मित्र, बाल, वृद्ध, दुर्बल, रोगी, भृत्यवर्ग, अतिथिवर्ग तथा भाई-बन्धुओंको भूखे छोड़कर अकेला ही भोजन करता है; स्वयं तो मिठाई खाता और ब्राह्मणोंको दूसरी वस्तुएँ देता है, उसका पाक व्यर्थ जानना चाहिये, अर्थात् उसके किये हुए दान और यज्ञ आदिका कोई फल नहीं मिलता, वह ब्रह्मवादी विद्वानोंद्वारा निन्दित होता है। जो अजितेन्द्रिय मनुष्य स्वयं ही कोई नियम लेकर फिर उन्हें त्याग देते हैं, प्रतिदिन गौओंको मारते और उन्हें बार-बार त्रास देते हैं, जो दुर्बलोंका पोषण नहीं करते, पशुओंके ऊपर अधिक भार लादकर उन्हें पीड़ा देते हैं, उनकी पीठमें घाव हो जानेपर भी उन्हें सवारीमें जोतते हैं, उनको भोजन न देकर स्वयं खाते हैं और रोगी होनेपर भी उनकी दवा नहीं करते, वे सब पापी हैं। जो सामुद्रिक शास्त्रको जीविकाका साधन बनाता है, शूद्रकुलमें उत्पन्न स्त्रीको अपनी भार्या बनाकर रखता है और जो धर्मात्मा होनेका ढोंग रचता है, वे सब-के-सब पापी माने गये हैं। जो राजा शास्त्रीय आज्ञाका उल्लंघन करके प्रजासे मनमाना कर लेता है, सदा दण्ड देनेकी ही रुचि रखता है अथवा जो अपराधीको भी दण्ड देनेकी रुचि नहीं रखता तथा जिसके राज्यमें प्रजा घूस लेनेवाले अधिकारियों और चोरोंसे पीड़ित होती है, वह नरककी आगमें पकाया जाता है। जो चोरीसे दूर रहनेवालेको चोर समझता है और वास्तविक चोरको चोर नहीं मानता, वह आलस्यदोषसे दूषित तथा दुर्व्यसनोंमें आसक्त राजा नरकमें जाता है।[१] पुराणवेत्ता विद्वान् इस प्रकारके और भी बहुत-से पाप बताते हैं। दूसरोंकी कोई भी वस्तु, वह सरसोंके बराबर भी छोटी क्यों न हो, अपहरण करनेपर मनुष्य पापी एवं नरकमें गिरनेका अधिकारी होता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इस प्रकारके पाप बन जानेपर मनुष्य प्राणत्यागके पश्चात् नरकका कष्ट भोगनेके लिये पूर्वशरीरकी ही भाँति एक यातनादेह प्राप्त करता है। अतः नरकमें डालनेवाले इन तीनों ही प्रकारके पापकर्मों[२]को त्याग देना चाहिये और श्रद्धापूर्वक भगवान् सदाशिवकी शरण लेनी चाहिये। संसर्गवश, कौतूहलवश अथवा लोभसे भी भगवान् शंकरके प्रति किये हुए नमस्कार, स्तुति, पूजा तथा नाम-संकीर्तन कभी विफल नहीं होते।

---

१. यश्च शास्त्रमतिक्रम्य स्वेच्छया चाहरेत्करम्। सदा दण्डरुचिर्यश्च यो वा दण्डरुचिर्न हि॥
उत्कोचकैरधिकृतैस्तस्करैश्च प्रपीड्यते। यस्य राज्ञः प्रजा राष्ट्रे पच्यते नरकेषु सः॥
अचौरं चौरवत्पश्येच्चौरं वाचौररूपिणम्। आलस्योपहतो राजा व्यसनी नरकं व्रजेत्॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ३६। ७२—७५)

२. स्थूल, सूक्ष्म और अत्यन्त सूक्ष्म अथवा महापातक, उपपातक तथा सामान्य पाप—ये ही त्रिविध पाप हैं।

# शिवपूजाकी विधि तथा सदाचारका निरूपण

**करन्धम बोले**—ब्रह्मन्! आप भगवान् शंकरकी पूजाका विधान संक्षेपसे बतानेकी कृपा करें, जिसका पालन करनेसे मनुष्य शिवके पूजनका पूरा फल प्राप्त कर सके।

**महाकालने कहा**—राजन्! सदा प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकालमें भगवान् शंकरका भजन करे। उनके दर्शन और स्पर्शसे मनुष्य निश्चय ही कृतार्थ हो जाता है। पहले स्नान करे अथवा यदि रोग आदि संकटसे ग्रस्त हो, तो केवल भस्मस्नान करे अथवा कण्ठतक जलसे स्नान करे। यह भी सम्भव न हो, तो केवल मन्त्रस्नान ही कर ले। स्नानके पश्चात् ऊनी वस्त्र पहने अथवा श्वेत वस्त्र धारण करे या किसी रंगमें रँगा हुआ नवीन वस्त्र पहने। मैला अथवा सिला हुआ वस्त्र न धारण करे। धौत वस्त्रके अतिरिक्त उत्तरीय वस्त्र भी धारण करना चाहिये, अन्यथा उसके बिना पूजन निष्फल होता है। जो पुरुष ललाटमें, हृदयमें और दोनों कंधोंपर भस्मका त्रिपुण्ड्र धारण करके प्रसन्नतापूर्वक महादेवजीकी पूजा करता है, वह अल्पकालमें भगवान् शिवका दर्शन पाता है। उपासक अपने सब दोषोंको मनसे निकालकर भगवान् शिवके मन्दिरमें प्रवेश करे। प्रवेश करके पहले महादेवजीको प्रणाम करे। तदनन्तर मन्दिरके गर्भगृहमें प्रवेश करे, फिर हाथ-पैर धोकर मन-ही-मन भगवान्‌का चिन्तन करते हुए उनके श्रीविग्रहपर चढ़े हुए निर्माल्यको हटावे। जो भगवान् शिवके मन्दिरमें भक्तिपूर्वक मार्जन करने (झाड़ू देने)-का कार्य करता है, भगवान् शंकर भी उसके अन्तःकरणका मार्जन (शोधन) कर देते हैं। तत्पश्चात् स्वच्छ जलसे गड़ुवोंको भर ले। सभी गड़ुवे बराबर और सुन्दर होने चाहिये। उनमें कोई छेद न रहे, वे फूटे न हों, सबकी बनावट अच्छी हो, सभी वस्त्रसे छाने हुए जलसे परिपूर्ण हों, उन्हें चन्दन और धूपसे सुवासित किया गया हो; '**ॐ नमः शिवाय**' इस षडक्षर मन्त्रका जप करते हुए उन गड़ुवोंको धोया गया, भरा गया और लाया गया हो, ऐसे एक सौ आठ गड़ुवोंका जुगाड़ कर ले। इतना न हो तो अट्ठाईस अथवा अठारह गड़ुवोंका प्रबन्ध करे। कम-से-कम चार गड़ुवे अवश्य रखे, इतनेसे कम न करे। दूध, दही, घी, शहद तथा ईखका रस—इन सब सामग्रियोंको एकत्र करके भगवान् शिवके वामभागमें रख दे। तदनन्तर बाहर निकलकर पहले प्रतिहारों (द्वारपालों)-की पूजा करे, उन सबके वाचक मन्त्र क्रमशः बतलाये जाते हैं—'**ॐ गं गणपतये नमः, ॐ क्षें क्षेत्रपालाय नमः, ॐ गुं गुरुभ्यो नमः**' इन तीन मन्त्रोंसे आकाशमें पूजन-सामग्री समर्पित करे। तत्पश्चात् चारों दिशाओंमें क्रमशः कुलदेवता, नन्दी, महाकाल और धाता-विधाताकी पूजा करे, इनकी पूजाके मन्त्र इस प्रकार हैं—'**ॐ कुं कुलदेवतायै नमः, ॐ नं नन्दिने नमः, ॐ मं महाकालाय नमः, ॐ धां धात्रे विधात्रे नमः।**'

इस प्रकार बाहर पूजा करनेके पश्चात् भीतर प्रवेश करके शिवलिंगसे कुछ दक्षिण भागमें पवित्रतापूर्वक उत्तराभिमुख होकर बैठे। शरीरको समभावसे रखते हुए आसनपर आसीन हो क्षणभर भगवान्‌का ध्यान करे। कमलके आकारका सूर्यमण्डल है, उसके मध्यभागमें चन्द्रमण्डलकी स्थिति है, उसके भी मध्यभागमें अग्निमण्डल है जो धर्म* आदिसे घिरा हुआ है। इस प्रकार अग्निमण्डलका चिन्तन करके उसके मध्यभागमें विश्वरूप भगवान्

* धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य।

शंकरका भावनाद्वारा साक्षात्कार करे। भगवान् शिव अपनी वामा और ज्येष्ठा आदि शक्तियोंसे संयुक्त हैं। उनके पाँच मुख और दस भुजाएँ हैं, प्रत्येक मुखमें तीन-तीन नेत्र शोभा पा रहे हैं, उनके मस्तक चन्द्रमासे विभूषित हैं, भगवान्के वामांगमें गिरिराजनन्दिनी भगवती उमा विराजमान हैं तथा सिद्धगण बारंबार उनकी स्तुति कर रहे हैं। इस प्रकार भगवान् शिवका ध्यान करे।

राजन्! ध्यानके पश्चात् शंकरजीकी सेवामें पाद्य और अर्घ्य निवेदन करे। जल, अक्षत, कुशा, चन्दन, पुष्प, सरसों, दूध, दही और मधु—ये अर्घ्यके नौ अंग बताये गये हैं; इन सबको एकत्र करके अर्घ्य देना चाहिये। तत्पश्चात् श्रद्धासे आर्द्रचित्त हो शिवलिंगको स्नान कराना आरम्भ करे। पहले गडुवा हाथमें लेकर स्नान करावे, आधे गडुवेसे शिवलिङ्गको पहले नहलावे, फिर हाथसे रगड़कर मैल साफ करे, पुनः गडुवेके समूचे जलसे स्नान करावे, स्नानके पश्चात् पूजन करे और धूप दे। इसके बाद भक्तिपूर्वक भगवान् शिवको प्रणाम करके मूलमन्त्रसे उन्हें स्नान करावे। '**ॐ हूं विश्वमूर्तये शिवाय नमः**' यह द्वादशाक्षर मूलमन्त्र है। इसी मूलमन्त्रसे जल और धूपसे किये हुए पूजनके अतिरिक्त जल, दूध, दही, मधु, घृत और ईखके रसद्वारा पृथक्-पृथक् स्नान करावे। फिर सब गडुवोंके जलसे स्नान करावे। तदनन्तर गन्ध-द्रव्योंका लेपन करके श्रीविग्रहका रूखापन दूर करे। रूखापन दूर करके पुनः नहलावे और चन्दनका लेप करे। तत्पश्चात् भाँति-भाँतिके पुष्पोंसे पूजन करे। उसकी विधि सुनो। आधार-पीठके अग्निकोणवाले पायेमें '**ॐ धर्माय नमः**' इस मन्त्रसे धर्मकी पूजा करे, नैर्ऋत्य कोणवाले पायेमें '**ॐ ज्ञानाय नमः**' इस मन्त्रके द्वारा ज्ञानका पूजन करे; इसी प्रकार वायव्य कोणमें '**ॐ वैराग्याय नमः**', ईशान कोणवाले पायेमें '**ॐ ऐश्वर्याय नमः**', पूर्व दिशावाले पायेमें '**ॐ अधर्माय नमः**', दक्षिणमें '**ॐ अज्ञानाय नमः**', पश्चिममें '**ॐ अवैराग्याय नमः**', उत्तरमें '**ॐ अनैश्वर्याय नमः**'—इन मन्त्रोंद्वारा क्रमशः वैराग्य आदिकी पूजा करे। फिर कमलकी कर्णिकामें ही अनन्त आदिकी इन मन्त्रोंसे पूजा करे— **ॐ अनन्ताय नमः, ॐ पद्माय नमः, ॐ अर्कमण्डलाय नमः, ॐ सोममण्डलाय नमः, ॐ वह्निमण्डलाय नमः, ॐ वामाज्येष्ठादिपञ्चमन्त्रशक्तिभ्यो नमः, ॐ परमप्रकृत्यै देव्यै नमः**। इसके बाद ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव तथा सद्योजात नामक पाँच मुखोंवाले, रुद्र-साध्य-वसु-आदित्य तथा विश्वेदेवादि देवस्वरूप, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज और जरायुजरूप स्थावर-जंगम मूर्ति परमेश्वर एवं विश्वमूर्ति शिवका नमस्कारपूर्वक पूजन करे। मन्त्र इस प्रकार है—

**ॐ ईशान तत्पुरुषाघोरवामदेव-सद्योजातपञ्चवक्त्राय रुद्रसाध्यवस्वादित्य-विश्वेदेवादिदेवरूपायाण्डजस्वेदजोद्भिज्जजरायुज-रूपस्थावरजङ्गममूर्तये परमेश्वराय ॐ हूं विश्वमूर्तये शिवाय नमः।**

तत्पश्चात् '**ॐ त्रिशूलधनुःखड्गकपालकुठारेभ्यो नमः**'—इस मन्त्रसे त्रिशूल आदिकी पूजा करे। तदनन्तर जलाधारके मुखभागमें '**ॐ चण्डीश्वराय नमः**' इस मन्त्रके द्वारा चण्डीश्वरकी पूजा करे।

इस प्रकार विधिपूर्वक पूजन करके भगवान् शिवको अर्घ्य निवेदन करे। 'हे महादेवजी! जल, अक्षत, फूल और इन उत्तम फलोंसे युक्त यह अर्घ्य ग्रहण कीजिये, पूजाकी पूर्तिके लिये मैं इसे समर्पित करता हूँ।' इस प्रकार अर्घ्य देनेके पश्चात् यदि अपनेमें शक्ति हो तो धनके द्वारा भी भगवान्का पूजन करे। इसके बाद क्रमशः धूप, दीप और नैवेद्य निवेदन करे, घण्टा बजावे और आरती करे। देवाधिदेव महादेवजीके ऊपर शंख आदि वाद्योंकी ध्वनिके साथ आरती घुमानी चाहिये। जो देवाधिदेव

त्रिशूलधारी भगवान् शिवकी आरतीका दर्शन करता है, वह समस्त पातकोंसे मुक्त हो जाता है। फिर जो स्वयं ही भगवान्‌की आरती उतारेगा, उसके लिये तो कहना ही क्या है। जो भगवान् शिवके समीप नृत्य, संगीत तथा वाद्य—इन तीनोंका आयोजन करता है, उसपर भगवान् शिव बहुत सन्तुष्ट होते हैं; क्योंकि गीत और वाद्यका फल अनन्त होता है। तदनन्तर अनेक प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा महादेवजीकी स्तुति करके दण्डकी भाँति पृथ्वीपर गिरकर प्रणाम करे और देवेश्वर शिवसे अपने अपराधोंके लिये क्षमा-प्रार्थना करते हुए कहे—'भगवन्! मुझसे जो सुकृत अथवा दुष्कृत हुआ है उसके लिये आप क्षमा करें।'

जो इस प्रकार भगवान् शंकरका विशेषतः इस महाकाललिंगका पूजन करता है, वह अपने पिता, पितामह और प्रपितामहका सब पापोंसे उद्धार करके चिरकालतक रुद्रलोकमें निवास करता है। इस विधिसे भगवान् महेश्वरका उपासक होकर और सदाचारमें स्थित रहनेका व्रत लेकर जो मनुष्य बन्धनसे छूटनेके लिये तन्मय होकर भगवान् शिवका पूजन करता है, वह सब पापोंसे छूटकर शिवलोकमें जाता है। जो इस प्रकार भगवान् शंकरकी पूजा करता है, उसने मानो समस्त संसारको तृप्त कर दिया। किंतु राजन्! यह सब पूजन उसीका सफल होता है, जो कभी सदाचारका उल्लंघन नहीं करता है। आचारसे धर्म सफल होता है, आचारसे ही मनुष्य स्वर्गका सुख भोगता है, आचारसे आयु प्राप्त होती है तथा आचार अशुभ लक्षणोंको नष्ट कर देता है। जो इस जगत्‌में सदाचारका उल्लंघन करके स्वेच्छाचारपूर्ण बर्ताव करता है, उस मनुष्यके यज्ञ, दान और तप इस लोकमें कल्याणकारक नहीं होते।[१] अतः सदाचारका भी कुछ संक्षिप्त परिचय दूँगा, उसे सुनो। गृहस्थको धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंके साधनके लिये यत्न करना चाहिये। इनकी सिद्धि होनेपर गृहस्थ पुरुषके लिये इहलोक और परलोकमें भी सिद्धि प्राप्त होती है।

ब्राह्ममुहूर्तमें उठे। उठकर धर्म और अर्थका चिन्तन करे। तत्पश्चात् शय्यासे उठकर मलत्यागके बाद कुल्ला-दाँतून कर ले। फिर स्नान करके द्विज सन्ध्योपासना करे। विद्वान् द्विजको उचित है कि वह शान्तचित्त, संयमी तथा पवित्र होकर पूर्व-सन्ध्याकी उपासना उस समय प्रारम्भ करे जब कि प्रातःकाल आकाशके तारे अभी कुछ दिखायी देते हों तथा पश्चिम-सन्ध्या सूर्यास्त होनेसे पहले ही प्रारम्भ करे। इस प्रकार न्यायपूर्वक सन्ध्योपासना करता रहे। आपत्ति कालके सिवा कभी भी सन्ध्या-कर्मका परित्याग नहीं करना चाहिये। राजन्! झूठ, असत्-प्रलाप तथा कठोरभाषण सदाके लिये त्याग दे। दुष्ट पुरुषोंकी सेवा, नास्तिकवाद तथा असत्-शास्त्रोंको भी सदाके लिये छोड़ दे।[२] दर्पणमें मुँह देखना, दाँतून करना, बाल सँवारना और देवताओंकी पूजा करना—इन सब कार्योंको महर्षियोंने पूर्वाह्णमें

---

१- आचारात् फलते धर्मो ह्याचारात् स्वर्गमश्नुते। आचाराल्लभते चायुराचारो हन्त्यलक्षणम्॥
यज्ञदानतपांसीह पुरुषस्य न भूतये। भवन्ति यः सदाचारं समुल्लङ्घ्य प्रवर्तते॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ३६। १२३—१२५)

२- ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चापि चिन्तयेत्। समुत्थाय त्वथाचम्य दन्तधावनपूर्वकम्॥
सन्ध्यामुपासीत बुधः शान्तान्तः प्रयतः शुचिः। पूर्वां सन्ध्यां सनक्षत्रां पश्चिमां सदिवाकराम्॥
उपासीत यथान्यायं नैनां जह्यादनापदि। वर्जयेदनृतं चासत् प्रलापं परुषं तथा॥
असत्सेवामसद्वादस्त्वसच्छास्त्रं च पार्थिव।
(स्क० पु०, मा० कुमा० ३६। १२७—१३०)

करनेयोग्य बताया है। पलाशकी लकड़ीका आसन, खड़ाऊँ और दाँतून भी वर्जित हैं। विद्वान् पुरुष आसनको पैरसे न खींचे। एक ही साथ जल और अग्निको न ले जाय। गुरु, देवता तथा अग्निके सम्मुख पाँव न फैलावे। चौराहा, चैत्यवृक्ष, देवालय, संन्यासी, विद्यामें बढ़े हुए पुरुष, गुरु तथा वृद्धजन—इन सबको अपने दाहिने करके चलना चाहिये। धर्मज्ञ पुरुषको आहार, विहार और मैथुन ओटमें रहकर ही करने चाहिये। इसी प्रकार अपनी वाणी और बुद्धिकी शक्ति, तपस्या, जीविका तथा आयुको अत्यन्त गुप्त रखना चाहिये।[१] दिनमें उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके मल और मूत्रका त्याग करना चाहिये तथा रातमें दक्षिण दिशाकी ओर मुँह करके करना चाहिये। ऐसा करनेसे आयु नहीं घटती। अग्नि, सूर्य, गौ, व्रतधारी पुरुष, चन्द्रमा और जलके सम्मुख तथा सन्ध्याके समय मल-मूत्र त्याग करनेवाले मनुष्यकी बुद्धि नष्ट होती है।[२] भोजन, शयन, स्नान, मल-मूत्रका त्याग तथा सड़कोंपर भ्रमण करनेपर दोनों हाथ, दोनों पैर और मुँह इन पाँचोंको भलीभाँति धोकर आचमन करे। नदीमें, श्मशान-भूमिमें, राखपर, गोबरपर, जोते-बोये हुए खेतमें तथा हरी-भरी घासवाली भूमिमें मल-मूत्रका त्याग न करे। बुद्धिमान् पुरुष कुएँ आदिसे निकाले हुए जलके द्वारा ही शौचक्रिया करे। जलके भीतरसे, देवस्थानसे, बाँबीसे और चूहोंके स्थानसे निकाली हुई तथा शौचावशिष्ट फेंकी हुई—इन पाँच प्रकारकी मिट्टियोंको त्याग दे। विद्वान् पुरुष हाथको उतना ही धोये जितनेसे मलकी गन्ध और लेप दूर हो जाय। अपने-आपको ताड़ना न दे, दुःखमें न डाले, दोनों हाथोंसे अपना सिर न खुजलावे, स्त्रीकी रक्षा करे, उसके प्रति अकारण ईर्ष्या छोड़ दे, भगवान् सूर्यको अर्घ्य दिये बिना कोई कर्म न करे, प्राणियोंसे द्रोह न करके मनमें भगवान् शंकरका चिन्तन करते हुए धनका उपार्जन करे। अत्यन्त कृपण न होवे, किसीके प्रति ईर्ष्या न रखे, कृतघ्न न होवे, दूसरोंसे द्रोह पैदा करनेवाले कार्यमें मन न लगावे, हाथ-पैरसे चंचल न हो, नेत्रोंसे भी चपलता न सूचित करे, सरल भावसे रहे, वाणीसे अथवा अंगोंकी चेष्टाओंसे भी अपनी चपलताका परिचय न दे, अशिष्ट पुरुषका संग न करे, व्यर्थ विवाद और अकारण वैर न करे, साम, दान और भेद—इन तीन उपायोंसे अपना मनोरथ सिद्ध करे। दण्डका आश्रय तो तभी लेना चाहिये जब उसके सिवा दूसरा कोई उपाय न रह जाय। फटा-टूटा आसन, टूटी खाट और फूटे बर्तनको त्याग दे। नृपश्रेष्ठ! अग्नि और शिवलिंग—इन दोनोंके बीचसे न निकले। दो अग्नि, दो ब्राह्मण, पति और पत्नी, सूर्य और चन्द्रमाकी प्रतिमा तथा भगवान् शंकर और नन्दिकेश्वर-वृषभ इनके बीचमें होकर न जाय; क्योंकि इनके बीचसे जानेवाला मनुष्य पापका भागी होता है। विद्वान् पुरुष एक वस्त्र धारण करके न तो भोजन करे, न अग्निमें आहुति दे, न ब्राह्मणोंकी पूजा करे और न देवताओंकी अर्चना ही करे। कूटना, पीसना,

---

१- पादौ प्रसारयेन्नैव गुरुदेवाग्निसम्मुखे। चतुष्पथं चैत्यतरुं देवागारं तथा यतिम्॥
विद्याधिकं गुरुं वृद्धं कुर्यादेतान् प्रदक्षिणान्।
आहारनीहारविहारयोगास्सुसंवृता धर्मविदानुकार्याः।
वाग्बुद्धिवीर्याणि तपस्तथैव दानायुषी गुप्ततमे च कार्ये॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ३६। १३३—१३५)

२- उभे मूत्रपुरीषे तु दिवा कुर्यादुदङ्मुखः। दक्षिणाभिमुखो रात्रौ ह्येवमायुर्न रिष्यते॥
प्रत्यग्निं प्रतिसूर्यञ्च प्रतिगां व्रतिनं प्रति। प्रतिसोमोदकं सन्ध्यां प्रज्ञा नश्यति मेहतः॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ३६। १३६-१३७)

झाड़ू देना, पानी छानना, राँधना, भोजन करना, सोना, उठना, जाना, छींकना, कार्यारम्भ करना, कार्यको समाप्त करना, मुँहसे अप्रिय वचन निकल जाना, पीना, सूँघना, स्पर्श करना, सुनना, बोलनेकी इच्छा करना, मैथुन करना तथा शौच कर्म—इन बीस कार्योंके होते या करते समय जो सदा भगवान् शंकरका नाम स्मरण करता है, उसीको शिवभक्त जानना चाहिये; शेष दूसरे लोग नाममात्रके शिवभक्त कहे गये हैं। शिवजीको प्रत्येक कार्यमें स्मरण करनेवाला वह शिवभक्त निश्चय ही शिव-स्वरूप होकर अन्तमें शिवको ही प्राप्त होता है।

विद्वान् पुरुष परायी स्त्रीसे बातचीत न करे; यदि कभी आवश्यकतावश उनसे वार्तालाप करे तो माताजी! बहिनजी! बेटी! अथवा आर्ये! इस प्रकार सम्बोधन करके बोले। हाथ और मुँह जूठे हों तो कोई बात न करे और न किसी वस्तुका स्पर्श ही करे। उच्छिष्ट दशामें सूर्य, चन्द्रमा, तारे, देवता और अपने मस्तककी ओर देखना भी मना है। बहन, बेटी अथवा माताके साथ भी एकान्तमें न बैठे; क्योंकि इन्द्रिय-समुदाय दुर्जय होता है; उनसे विद्वान् पुरुष भी मोहमें पड़ जाते हैं।* यदि गुरुदेव घरपर आ जायँ तो उनके लिये स्वयं उठकर यत्नपूर्वक आसनकी व्यवस्था करे और चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करे। विद्वान् मनुष्य उत्तर और पश्चिमकी ओर सिर करके कभी न सोवे। सिरहानेकी ओर दक्षिण दिशा अथवा पूर्वदिशाको रखकर शयन करना चाहिये। रजस्वला स्त्रीका दर्शन-स्पर्श न करे, उसके साथ बातचीत भी नहीं करनी चाहिये। जलके भीतर मल-मूत्र और मैथुन न करे। भगवान् शिवके भक्तको चाहिये कि वह अपने वैभवके अनुसार देवता, मनुष्य, ऋषि तथा पितरोंको उनका भाग समर्पित करके शेष अन्नका स्वयं भोजन करे। पवित्र हो आचमन करके पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके दोनों हाथोंको घुटनोंके भीतर रखकर मौन भावसे भोजन करे। उस समय भोजनमें ही मन लगाये रहे और अन्नके दोषकी चर्चा न करे। यदि वह अन्न किसी उच्छिष्ट आदि दोषसे दूषित हो गया हो तो उस दोषके प्रकट करनेमें कोई हानि नहीं है, ऐसे दोषके अतिरिक्त किसी अन्य दोषकी चर्चा नहीं करनी चाहिये। नग्न होकर न तो स्नान करे, न सोवे और न चले ही। यदि गुरुके द्वारा कोई अनुचित कार्य भी हो जाय, तो उसे अन्यत्र न कहे, वे क्रोधमें हों तो उन्हें मनावे। दूसरे लोगोंके मुखसे भी गुरुकी निन्दा न सुने। सैकड़ों कार्य छोड़कर भी धर्मकी कथा-वार्ता सुने। प्रतिदिन धर्म-चर्चा श्रवण करनेवाला मनुष्य अपने अन्तःकरणको उसी प्रकार शुद्ध कर लेता है, जैसे नित्यप्रति झाड़ू देने अथवा सफाई करनेसे घर और दर्पण स्वच्छ होते हैं। सायंकाल और प्रातःकाल अतिथिकी पूजा करके भोजन करना चाहिये। दोनों सन्ध्याओंके समय सोना, पढ़ना और भोजन करना निषिद्ध है। सन्ध्याकालमें मोहवश भोजन करनेवाला मनुष्य शराबीके तुल्य माना जाता है। स्नान करके मनुष्य अपने बालोंको न फटकारे। मार्गमें छींकने और थूकनेपर अपने दाहिने कानका स्पर्श करे तथा मन-ही-मन समस्त प्राणियोंसे इस अपराधके लिये क्षमा माँगे। नीलका रँगा हुआ वस्त्र न पहने, कपड़ेको उलटा करके न पहने, मलिन वस्त्र त्याज्य है तथा जिसके कोर या किनारा न हो, ऐसा वस्त्र भी धारण करनेयोग्य नहीं है।

हाथ, मुँह और दोनों पैर धोकर आसनपर बैठे। दोनों हाथ घुटनोंके भीतर रखकर तीन

* स्वस्रा दुहित्रा मात्रा वा नैकान्तासनमाचरेत्। दुर्जयो हीन्द्रियग्रामो मुह्यते पण्डितोऽपि सन्॥

(स्क० पु०, मा० कुमा० ३६। १५७)

बार आचमन करे, दो बार मुँह पोछे। फिर जलसे मुँह, आँख, कान, नाक तथा अपने मस्तकका स्पर्श करे। पुनः दो बार आचमन करके सब कर्म करे। छींक और थूक आनेपर, दाँतमें अन्न आदि लगे रहनेपर तथा पतितोंके साथ बातचीत करनेपर अवश्य आचमन करना चाहिये। विद्वान् पुरुषको सदा तीनों वेदोंका स्वाध्याय करना चाहिये तथा धर्मपूर्वक धनका उपार्जन करके आत्मकल्याणके लिये यत्नपूर्वक भगवान्‌का यजन करना चाहिये। बुद्धिमान् पुरुषको उचित है कि वह नीच श्रेणीके मनुष्योंके लिये भी कभी अनादरसूचक 'तू' का प्रयोग न करे। गुरुजनोंके लिये तू कह देना या उनका वध कर डालना दोनों बराबर है। सत्य बोले, मित्र-भावसे रहे, सदा ऐसी बात बोले जो दूसरोंको सान्त्वना देनेवाली हो। परलोकमें जो हितकर हो, उसी कार्यमें गम्भीर बुद्धिवाले पुरुषोंको अपना शरीर और मन लगाना चाहिये। स्वच्छ इन्द्रियोंवाले पुरुषोंको तीर्थस्नान, उपवास, व्रत, सत्पात्रको दिये गये दान, होम, जप, यज्ञ, शिव-पूजा तथा देवताओंकी विशेष पूजा आदिके द्वारा सदा अपने अन्तःकरणका शोधन करना चाहिये। राजन्! जिस कार्यको करते समय अपने आत्माको घृणा न हो तथा जो महात्मा पुरुषके लिये गोपनीय (छिपानेयोग्य) न हो, वह कार्य अनासक्तभावसे अवश्य करना चाहिये। यह मैंने तुमसे संक्षिप्तरूपमें सदाचारका किंचिन्मात्र वर्णन किया है। शेष बातें तुम्हें स्मृतियों और पुराणोंसे सुननी चाहिये। इस प्रकार भगवान् शिवकी प्रीतिके लिये धर्माचरण करनेवाले सद्गृहस्थको इहलोकमें धर्म, अर्थ और कामकी प्राप्ति होकर परलोकमें उसका परम कल्याण होता है।

**नारदजी कहते हैं**—अर्जुन! जब महाकालजी इस प्रकार भाँति-भाँतिके धर्मोंका उपदेश कर रहे थे, उस समय आकाशमें बड़ा भारी शब्द हुआ। तदनन्तर महाकाल भगवान् शिवके परमधामको चले गये। कुरुनन्दन! इस प्रकार इस महालिंगका आविर्भाव हुआ है। महाकालका यह कूप और सरोवर भी परम पवित्र एवं सिद्धिदायक है। कुन्तीनन्दन! जो मनुष्य यहाँ इस लिंगकी आराधनामें संलग्न होते हैं, महाकाल उन्हें अपने हृदयसे लगाकर भगवान् शिवकी सेवामें प्रस्तुत करते हैं। अर्जुन! इस प्रकार महीसागरसंगम तीर्थमें ये सात लिंग प्रकट हुए। जो श्रेष्ठ मानव इस प्रसंगको पढ़ते और सुनते हैं, वे भी धन्य हैं।

## नारदजीके द्वारा भगवान् वासुदेवकी स्थापना, ऐतरेयका अपनी मातासे संसारदुःखका वर्णन, भगवान्‌का प्रत्यक्ष प्रकट होकर ऐतरेयको वरदान देना तथा वासुदेवके ध्यानसे ऐतरेयकी मुक्ति

**नारदजी कहते हैं**—अर्जुन! तदनन्तर महीसागर-संगममें जब मैंने स्थानकी स्थापना कर ली, तब कालान्तरमें मन-ही-मन विचार किया कि यह तीर्थ भगवान् वासुदेवके बिना शोभा नहीं पा रहा है। ठीक उसी तरह, जैसे बिना सूर्यके संसार सुशोभित नहीं होता। भगवान् विष्णु भूषणके भी भूषण हैं। जिस तीर्थमें, जिस घरमें, जिस हृदयमें तथा जिस शास्त्रमें मेरे स्वामी भगवान् विष्णु नहीं हैं, वह सब असत् है। इसलिये वरदायक भगवान् पुरुषोत्तमको प्रसन्न करके सम्पूर्ण विश्वपर अनुग्रह करनेकी कामनासे इस तीर्थमें उन्हें साक्षात् कलासहित ले आऊँगा। ऐसा विचारकर मैं वहीं ठहर गया

और ज्ञानयोगके द्वारा योगीश्वर श्रीहरिको सन्तुष्ट करनेके लिये सौ वर्षोंतक आराधना करता रहा। सम्पूर्ण इन्द्रियोंको अपने वशमें करके वासुदेवमय होकर सब प्राणियोंपर कृपा रखते हुए अष्टाक्षरमन्त्रके जपमें लगा रहा। इस प्रकार मेरे आराधना करनेपर गरुड़पर बैठे हुए भगवान् श्रीहरिने कोटि-कोटि गणोंके साथ आकर मुझे प्रत्यक्ष दर्शन दिया। तब मैंने श्रीहरिको विधिपूर्वक अर्घ्य दे, प्रणाम करके दोनों हाथ जोड़े हुए कहा—'प्रभो! पूर्वकालमें

श्वेतद्वीप नामक धाममें मैंने आपके अजन्मा, सनातन, नर-नारायणात्मक स्वरूपका दर्शन किया है। जनार्दन! उसी रूपकी एक कला यहाँ स्थापित कीजिये। भगवन्! यदि आप प्रसन्न हैं तो मेरी यह प्रार्थना स्वीकार करें।' मेरे इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भगवान् गरुडध्वजने कहा—'ब्रह्मपुत्र नारद! तुम्हारे हृदयमें जिस आकांक्षाका उदय हुआ है, वह उसी रूपमें पूर्ण हो। मुझे इस तीर्थमें सदैव निवास करना है।' यों कहकर श्रीविष्णु-प्रतिमामें अपनी कला स्थापित करके भगवान् विष्णु जब चले गये, तब मैंने सम्पूर्ण विश्वपर अनुग्रह करनेकी इच्छासे उनके श्रीअर्चाविग्रहकी स्थापना की। यतः साक्षात् श्वेतद्वीपनिवासी श्रीहरि यहाँ विराजमान हैं, जो कि सबसे वृद्ध हैं, अतः वे इस तीर्थमें वृद्ध वासुदेवके नामसे विख्यात हुए हैं।

कार्तिकमासके शुक्लपक्षमें जो कल्याणमयी एकादशी आती है, उस दिन झरने अथवा नदी आदिके जलमें विधिपूर्वक स्नान करके जो पुरुष पंचोपचारद्वारा भक्तिभावसे श्रीहरिका पूजन करता है तथा उपवास और जागरण करते हुए श्रीहरिके आगे संगीत एवं वाद्यका आयोजन करता है, अथवा दम्भ और क्रोध त्याग कर श्रीविष्णुकी महिमा एवं लीलाकी कथा कहता है तथा मन और इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए प्रसन्नचित्त हो यथाशक्ति दान देता है, वह ब्रह्महत्यारा क्यों न हो, अनेक जन्मोंकी समस्त पापराशिसे मुक्त हो जाता है। इसके सिवा वह अन्तमें गरुड़-सम्बन्धी विमानके द्वारा साक्षात् वैकुण्ठधामको प्राप्त होता है।

श्रद्धापूर्वक, प्रसन्नतापूर्वक, उत्साहके साथ, आन्तरिक अभिलाषासे, अहंकार छोड़कर, भगवान्‌को स्नान करा उन्हें धूप और चन्दन चढ़ाकर, पुष्प और नैवेद्य समर्पण करके, अर्घ्यदान देकर, प्रत्येक प्रहरमें अत्यन्त भक्तिभावसे भगवान्‌की आरती उतारकर, चँवर डुलानेका आनन्द लेते हुए, भेरी बजाते हुए, पुराण-कथा-श्रवणपूर्वक, भक्तियुक्त नृत्य करके, नींदसे दूर रहकर, क्षुधा-पिपासा तथा रसास्वादनकी इच्छासे रहित होकर, भगवच्चरणा-रविन्दोंकी सुगन्धको सूँघते हुए, भगवत्प्रिय रात्रि-संगीतका आयोजन करके, भगवत्तीर्थमें जाकर, प्राणायामपूर्वक, ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक, स्तोत्रपाठके साथ, भगवान्‌के चरणोदकको ग्रहण करते हुए, सत्यभाषणपूर्वक, सत्संगका लाभ उठाते हुए तथा पुण्यवार्ता (कथा-उपदेश आदि)-के सहित—इन पचीस विशेषताओंके साथ जो मनुष्य एकादशीकी

रातमें भगवान्‌के समीप जागरण करता है, वह फिर इस भूमिमें जन्म नहीं लेता। पूर्वकालकी बात है। इस श्रेष्ठ तीर्थमें एक ऐतरेय नामक ब्राह्मण रहते थे। उन परम भाग्यशाली ब्राह्मण-देवताने यहीं भगवान् वासुदेवकी कृपासिद्धि प्राप्त की थी।

**अर्जुनने पूछा**—मुने! ऐतरेय किसके पुत्र थे? उनका निवास-स्थान कहाँ था? परम बुद्धिमान् ऐतरेयने किस प्रकार भगवान् वासुदेवके प्रसादसे सिद्धि प्राप्त की?

**नारदजीने कहा**—कुन्तीनन्दन! यहीं मेरे द्वारा स्थापित स्थानमें जो हारीत मुनि रहते थे, उन्हींके वंशमें एक श्रेष्ठ ब्राह्मण उत्पन्न हुए, जो माण्डूकि नामसे विख्यात थे। वे वेद-वेदांगोंके पारंगत पण्डित थे। उनके 'इतरा' नामवाली पत्नी थी, जो नारीके समस्त सद्‌गुणोंसे सुशोभित थी। उसके गर्भसे जो पुत्र हुआ, उसीका नाम 'ऐतरेय' था। ऐतरेय बाल्यावस्थासे ही निरन्तर द्वादशाक्षर मन्त्र (**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**)-का जप करता था, उसे पूर्वजन्ममें ही इस मन्त्रकी शिक्षा मिली थी। वह न तो किसीकी बात सुनता था न स्वयं कुछ बोलता था और न अध्ययन ही करता था। इससे सबको निश्चय हो गया कि यह बालक गूँगा है। पिताने अनेक उपायोंसे उसको समझाया—बोध कराया, परंतु उसने लौकिक व्यवहारमें कभी मन नहीं लगाया। यह देख पिताने भी यही निश्चय कर लिया कि यह सर्वथा जड़ है। तब उन्होंने पिंगा नामवाली दूसरी स्त्रीसे विवाह किया और उससे चार पुत्र उत्पन्न किये जो वेद-वेदांगोंके विद्वान् हुए।

ऐतरेय भी प्रतिदिन तीनों समय भगवान् वासुदेवके मन्दिरमें जाकर उस उत्तम मन्त्रका जप करने लगे। वे दूसरे किसी कार्यमें परिश्रम नहीं करते थे। एक दिन उनकी माता इतरा अपनी सौतके पुत्रोंकी योग्यता देखकर सन्तप्तचित्त हो अपने पुत्रसे बोली—'अरे! तू तो मुझे क्लेश देनेके लिये ही पैदा हुआ! मेरे जन्म और जीवनको धिक्कार है! संसारमें उस नारीका जन्म निश्चय ही व्यर्थ है, जो पतिके द्वारा तिरस्कृत हो और जिसका पुत्र गुणवान् न हो। वत्स! मैं बड़ी खोटे भाग्यवाली हूँ, अतः महीसागरसंगममें डूब मरूँगी। मेरा मर जाना ही अच्छा है। जीवित रहनेमें मुझे क्या लाभ है? मेरे मर जानेपर तू भी भगवान्‌का महामौनी भक्त होकर दीर्घकालतक आनन्द भोगना।'

**नारदजी कहते हैं**—माताकी यह बात सुनकर ऐतरेय ठठाकर हँस पड़े। वे बड़े धर्मज्ञ थे। उन्होंने दो घड़ी भगवान्‌का ध्यान करके माताके चरणोंमें प्रणाम किया और कहा—'माँ! तुम झूठे मोहमें पड़ी हुई हो। अज्ञानको ही ज्ञान मान बैठी हो। शुभे! जो शोचनीय नहीं है, उसीके लिये तुम शोक करती हो और जो वास्तवमें शोचनीय है उसके लिये तुम्हारे मनमें तनिक भी शोक नहीं होता। यह संसार मिथ्या है। इसमें तुम इस शरीरके लिये क्यों चिन्तित एवं मोहित हो रही हो? यह तो मूर्खोंका काम है! तुम-जैसी विदुषी स्त्रियोंको यह शोभा नहीं देता! संसारमें सारतत्त्व तो कुछ और ही है, किंतु अज्ञानसे मोहित मनुष्य किसी और ही असार वस्तुको सार समझते हैं। तुम इस मानव-शरीरको यदि सार मानती हो तो लो, इसकी भी असारता सुनो। यह जो मानव-शरीर है, यह गर्भसे लेकर मृत्युपर्यन्त सदा अत्यन्त कष्टप्रद है। यह शरीर एक प्रकारका घर है। हड्डियोंका समूह ही इसके भारको सँभालनेवाला खम्भा है। नाडीजालरूपी रस्सियोंसे ही इसे बाँधा गया है। रक्त और मांसरूपी मिट्टीसे इसको लीपा गया है। विष्ठा और मूत्ररूपी द्रव्योंके संग्रहका यह पात्र है। केश और रोमरूपी तृणसे इसको छाया गया है। सुन्दर रंगकी त्वचासे इसके ऊपर रंग किया गया है। मुख ही इसका प्रधान द्वार है। दो आँख, दो कान और दो नाकके छिद्र—ये ही छः इसकी खिड़कियाँ हैं। दोनों ओष्ठ ही इसके द्वारको ढकनेवाले किंवाड़ हैं। दाँत ही अर्गला (किंवाड़

बंद करनेवाली किल्ली) हैं। नाड़ी और पसीने ही नाली और जलप्रवाह हैं। यह सदा कालकी मुखाग्निमें स्थित है। ऐसे इस देहरूपी गेहमें जीव नामवाला गृहस्थ निवास करता है। इस घरमें त्रिगुणमयी प्रकृति ही उसकी पत्नी है तथा क्रोध, अहंकार, काम, ईर्ष्या और लोभ आदि ही उक्त गृहस्थकी सन्तान हैं। हाय! कितने कष्टकी बात है कि जीव इस देह-गेहकी मोहमायासे मूढ होकर तदनुकूल बर्ताव करता है। उसका जिस-जिस विषयमें जैसे मोह होता है, वह सब बताता हूँ, सुनो। जैसे पर्वतसे झरने गिरते रहते हैं, उसी प्रकार शरीरसे भी कफ और मूत्र आदि बहते रहते हैं, उसी देहके लिये जीव मोहित होता है। विष्ठा और मूत्रसे भरे हुए चर्मपात्रकी भाँति यह शरीर समस्त अपवित्र वस्तुओंका भण्डार है और इसका एक प्रदेश (एक अंश) भी पवित्र नहीं है। अपने शरीरसे निकले हुए मल-मूत्र आदिके जो प्रवाह हैं, उनका स्पर्श हो जानेपर मिट्टी और जलसे हाथ शुद्ध किया जाता है; तथापि उन्हीं अपवित्र वस्तुओंके भण्डाररूप इस देहसे न जाने क्यों मनुष्यको वैराग्य नहीं होता? सुगन्धित तेल और जल आदिके द्वारा यत्नपूर्वक भलीभाँति संस्कार (सफाई) करनेपर भी यह शरीर अपनी स्वाभाविक अपवित्रताको नहीं छोड़ता है; ठीक उसी तरह, जैसे कुत्तेकी टेढ़ी पूँछको कितना ही सीधा किया जाय, वह अपना टेढ़ापन नहीं छोड़ पाती। अपनी देहकी अपवित्र गन्धसे जो मनुष्य विरक्त नहीं होता, उसे वैराग्यके लिये अन्य किस साधनका उपदेश दिया जाय? दुर्गन्ध तथा मल-मूत्रके लेपको दूर करनेके लिये ही शारीरिक शुद्धिका विधान किया गया है। इन दोनों (गन्ध और लेप)-का निवारण हो जानेके पश्चात् आन्तरिक भावकी शुद्धि होनेसे मनुष्य शुद्ध होता है। भाव-शुद्धि ही सबसे बढ़कर पवित्रता है। वही सब कर्मोंमें प्रमाणभूत है। आलिंगन पत्नीका भी किया जाता है और पुत्रीका भी, परंतु दोनोंमें भावका महान् अन्तर है। प्यारी पत्नीका आलिंगन किसी और भावसे किया जाता है एवं पुत्रीका दूसरे भावसे। एक ही स्त्रीके स्तनोंको पुत्र दूसरे भावसे स्मरण करता है और पति दूसरे भावसे। अतः अपने चित्तको ही शुद्ध करना चाहिये। बाह्यशुद्धिके दूसरे-दूसरे साधनोंसे क्या लेना है? भावदृष्टिसे जिसका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध है, वह स्वर्ग और मोक्षको भी प्राप्त कर लेता है।

ज्ञानरूपी निर्मल जल तथा वैराग्यरूपी मृत्तिकासे ही पुरुषके अविद्या एवं रागमय मल-मूत्रके लेप और दुर्गन्धका शोधन होता है। इस प्रकार इस शरीरको स्वभावतः अशुद्ध माना गया है। जैसे केलेके वृक्षमें केवल वल्कल ही सार है, उसी प्रकार इस देहमें केवल त्वचामात्र सार है, वास्तवमें तो यह सर्वथा निःसार है। जो बुद्धिमान् अपने शरीरको इस प्रकार दोषयुक्त जानकर उदासीन हो जाता है—उसकी ओरसे अनुराग शिथिल कर लेता है—वही इस संसार-बन्धनसे छूटकर निकल पाता है। किंतु जो दृढ़तापूर्वक इस शरीरको पकड़े हुए रहता है—इसका मोह नहीं छोड़ता, वह संसारमें ही पड़ा रह जाता है। इस प्रकार यह मानव-जन्म लोगोंके अज्ञानदोषसे तथा नाना कर्मवशात् दुःखस्वरूप और महान् कष्टप्रद बताया गया है। जैसे बड़े भारी पर्वतसे दबा हुआ कोई प्राणी बड़े कष्टसे पीड़ित रहता है, उसी प्रकार गर्भकी झिल्लीमें बँधा हुआ मनुष्य महान् कष्टसे वहाँ ठहर पाता है। जैसे समुद्रमें गिरा हुआ कोई मनुष्य अत्यन्त व्याकुल होकर बड़े भारी दुःखसे घिर जाता है, उसी प्रकार गर्भगत जलसे भीगे हुए अंगोंवाला गर्भस्थ शिशु अत्यन्त व्याकुल रहता है। जैसे किसीको लोहेके घड़ेमें रखकर आगसे पकाया जाता है, वैसे ही गर्भरूपी घटमें डाला हुआ जीव जठरानलकी आँचसे पकता रहता है। यदि आगके समान दहकती हुई सुइयोंसे

किसीको निरन्तर छेदा जाय तो उसे जितनी पीड़ा हो सकती है, उससे आठ गुनी पीड़ा गर्भमें भोगनी पड़ती है। इस प्रकार स्थावर-जंगम सभी प्राणियोंको अपने-अपने गर्भके अनुरूप यह महान् गर्भ-दुःख प्राप्त होता है; ऐसा कहा गया है।

गर्भमें स्थित होनेपर सभीको अपने पूर्वजन्मोंका स्मरण हो आता है। उस समय जीव इस प्रकार सोचता है—'अहो! मैं मरकर पुनः उत्पन्न हुआ और उत्पन्न होकर पुनः मृत्युको प्राप्त हुआ। जन्म ले-लेकर मैंने सहस्रों योनियोंका दर्शन किया है। इस समय जन्म धारण करते ही मेरे पूर्वसंस्कार जाग उठे हैं; अतः अब मैं ऐसे कल्याणकारी साधनका अनुष्ठान करूँगा, जिससे पुनः मेरा गर्भवास न हो। संसार-बन्धनको दूर करनेवाले भगवदीय तत्त्वज्ञानका मैं चिन्तन करूँगा।' इस प्रकार उस दुःखसे छूटनेके उपायपर विचार करता हुआ गर्भस्थ जीव चिन्तामग्न रहता है। जब उसका जन्म होने लगता है, उस समय तो उसे गर्भकी अपेक्षा भी कोटिगुना अधिक दुःख होता है। गर्भवासके समय जो सद्बुद्धि जाग्रत् हुई रहती है, वह जन्म हो जानेपर नष्ट हो जाती है। बाहरकी हवा लगते ही मूढता आ जाती है। मोहग्रस्त होनेपर शीघ्र ही उसकी स्मरणशक्तिका नाश हो जाता है। स्मरणशक्ति नष्ट होनेपर पूर्वकर्मवशात् जीवका पुनः उसी जन्म (-के शरीर आदि)-में अनुराग हो जाता है। इस प्रकार राग और मोहके वशीभूत हुआ वह संसारमें न करनेयोग्य पापादि कर्मोंमें लग जाता है। उनमें फँसकर न तो वह अपनेको जानता है, न दूसरोको जानता है और न किसी देवताको ही कुछ समझता है। अपने परम कल्याणकी बाततक नहीं सुनता। आँख रहते हुए भी नहीं देखता। समतल मार्गपर धीरे-धीरे चलते हुए भी वह पग-पगपर लड़खड़ाता है। विद्वानोंके समझानेपर भी, बुद्धि रहते हुए भी वह नहीं समझ पाता, इसीलिये राग और मोहके वशीभूत होकर संसारमें क्लेश उठाता रहता है। जन्म लेनेपर गर्भकालमें जाग्रत् हुई पूर्वजन्मकी स्मृति अथवा गर्भके दुःखोंकी स्मृति नहीं रहती, इसलिये महर्षियोंने गर्भदुःखका निरूपण करनेके लिये शास्त्रोंका प्रतिपादन किया है। वे शास्त्र स्वर्ग और मोक्षके उत्तम साधन हैं। सब कार्यों और प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाले इस शास्त्रज्ञानके रहते हुए भी लोग उससे अपने कल्याणका साधन नहीं करते। यह अत्यन्त अद्भुत बात है।

बाल्यावस्थामें इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ अव्यक्त रहती हैं, इसलिये जीव उस समयके महान् दुःखको बतानेकी इच्छा होनेपर भी बता नहीं सकता और न उस दुःखके निवारणके लिये कुछ कर ही सकता है। फिर जब दाँत उठने लगता है तब उसे महान् कष्ट भोगना पड़ता है। मौल रोग (सिरदर्द), नाना प्रकारके बालरोग तथा पूतना आदि बालग्रह आदिसे भी बालकको बड़ी पीड़ा होती है। भूख-प्यासकी पीड़ासे उसके सब अंग व्याकुल रहते हैं तथा वह कहीं खाट आदिपर पड़ा हुआ रोता

रहता है। इसके बाद जब वह कुछ बड़ा होता है, तब अक्षरोंके अध्ययन आदिसे और गुरुके शासनसे उसको महान् दुःख होता है।

युवावस्थामें रागोन्मत्त पुरुषकी सम्पूर्ण इन्द्रिय-वृत्तियाँ काम तथा रागकी पीड़ासे सदा मतवाली रहती हैं। अतः उसे भी कहाँसे सुख प्राप्त हो सकता है। मोहवश पुरुषको यदि कहीं अनुराग हो जाता है तो ईर्ष्याके कारण उसे बड़ा भारी दुःख होता है। जो उन्मत्त और क्रोधी है उसका कहीं भी राग होना केवल दुःखका ही कारण है। रातमें कामाग्निजनित खेदसे पुरुषको निद्रा नहीं आती। दिनमें भी द्रव्योपार्जनकी चिन्ता लगी रहनेके कारण उसे सुख नहीं मिल सकता। स्त्रियाँ सब दोषोंका आश्रय हैं; यह बात भलीभाँति जान लेनेपर भी जो लोग उनमें मैथुनसे सुख मानते हैं, उनका वह सुख मल-मूत्र-त्यागके सदृश ही माना गया है। सम्मान अपमानसे, प्रियजनोंका संयोग वियोगसे तथा जवानी वृद्धावस्थासे ग्रस्त है। निर्विघ्न सुख कहाँ है?

युवावस्थाका शरीर एक दिन जरा अवस्थासे जर्जर कर दिया जानेपर सम्पूर्ण कार्योंके लिये असमर्थ हो जाता है। उसके बदनमें झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, सिरके बाल सफेद हो जाते हैं और शरीर बहुत ढीला-ढाला हो जाता है। स्त्री और पुरुषका वही रूप, जो जवानीके दिनोंमें एक-दूसरेका आधार था, जराग्रस्त हो जानेपर दोनोंमेंसे किसीको भी प्रिय नहीं लगता। बुढ़ापेसे दबा हुआ पुरुष असमर्थ होनेके कारण पत्नी-पुत्र आदि बन्धु-बान्धवों तथा दुराचारी सेवकोंद्वारा भी अपमानित होता है। वृद्धावस्थामें रोगातुर पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका साधन करनेमें असमर्थ हो जाता है; इसलिये युवावस्थामें ही धर्मका आचरण करना चाहिये।

वात, पित्त और कफकी विषमता ही व्याधि कहलाती है। इस शरीरको वात आदिका समूह बताया गया है। इसलिये अपना यह शरीर व्याधिमय है; ऐसा जानना चाहिये। इस शरीरमें अनेक प्रकारके रोगोंद्वारा बहुतेरे दुःख प्रवेश कर जाते हैं। उनका पता अपने-आपको भी नहीं लगता, फिर दूसरोंको तो लग ही कैसे सकता है। इस देहमें एक सौ एक व्याधियाँ स्थित हैं। इनमेंसे एक व्याधि तो कालके साथ रहती है और शेष आगन्तुक मानी गयी हैं। जो आगन्तुक बतायी गयी हैं, वे तो दवा करनेसे तथा जप, होम और दानसे शान्त हो जाती हैं; परन्तु मृत्युरूप व्याधि कभी शान्त नहीं होती। नाना प्रकारकी व्याधियाँ, सर्प आदि प्राणी, विष और अभिचार (पुरश्चरण)—ये सब देहधारियोंकी मृत्युके द्वार बताये गये हैं। यदि जीवका काल आ पहुँचा है, तो सर्प और रोग आदिसे पीड़ित होनेपर उसे धन्वन्तरि भी जीवित नहीं रख सकते। कालसे पीड़ित मनुष्यको औषध, तपस्या, दान, मित्र तथा बन्धु-बान्धव—कोई भी बचा नहीं सकते। रसायन, तपस्या, जप, योग, सिद्ध-महात्मा तथा पण्डित—ये सब मिलकर भी कालजनित मृत्युको नहीं टाल सकते। समस्त प्राणियोंके लिये मृत्युके समान कोई दुःख नहीं है, मृत्युके समान कोई भय नहीं है तथा मृत्युके समान कोई त्रास नहीं है। सती भार्या, उत्तम पुत्र, श्रेष्ठ मित्र, राज्य, ऐश्वर्य और सुख—ये सभी स्नेहपाशमें बँधे हुए हैं। मृत्यु इन सबका उच्छेद कर डालती है। माँ! क्या तुम नहीं देखती कि हजारों मनुष्योंमेंसे पाँच भी शायद ही ऐसे होंगे, जो पूरे सौ वर्षोंतक जीनेवाले हों। कोई-ही-कोई अस्सी वर्ष और सत्तर वर्षकी अवस्थामें मरते हैं। प्रायः साठ वर्षतककी ही लोगोंकी परमायु हो गयी है; किंतु वह भी सबके लिये निश्चित नहीं है। जिस देहधारीको अपने पूर्वकर्मानुसार जितनी आयु प्राप्त होती है, उसका आधा भाग तो मृत्युरूपिणी रात्रि हर लेती है। बाल्यावस्था, अबोधावस्था तथा वृद्धावस्थाके

द्वारा बीस वर्ष और व्यतीत हो जाते हैं—जो धर्म, अर्थ और काम—किसीके भी उपयोगमें नहीं आते। शेष आयुका आधा भाग मनुष्यपर आनेवाले बहुत-से भय तथा अनेक प्रकारके रोग और शोक आदि हर लेते हैं। इन सबसे जो शेष रह जाता है, वही मनुष्यका जीवन है।

इस जीवनकी समाप्ति होनेपर मनुष्य अत्यन्त भयंकर मृत्युको प्राप्त होता है। मृत्युके बाद वह पुनः करोड़ों योनियोंमें जन्म ग्रहण करता है। कर्मोंकी गणनाके अनुसार देह-भेदसे जो जीवका एक शरीरसे वियोग होता है, उसे 'मृत्यु' नाम दिया गया है, वास्तवमें उससे जीवका विनाश नहीं होता। मृत्युके समय महान् मोहको प्राप्त हुए जीवके मर्मस्थान जब विदीर्ण होने लगते हैं, उस दशामें उसे जो बड़ा भारी कष्ट भोगना पड़ता है, उसकी इस संसारमें कहीं उपमा नहीं है। जैसे साँप मेंढकको निगल जाता है, उसी प्रकार मृत्यु जब मनुष्यको निगलने लगती है, उस समय वह हा तात! हा मातः! हा कान्ते! इत्यादि रूपसे पुकारता हुआ अत्यन्त दुःखी हो-होकर रोता है। भाई-बन्धुओंसे साथ छूट रहा है, प्रेमीजन उसे चारों ओरसे घेरकर खड़े हैं। वह सूखते हुए मुखसे गरम-गरम लंबी साँस खींचता है। चारपाईपर चारों ओर बार-बार करवट बदलता है। पीड़ासे मोहित होकर बड़े वेगसे इधर-उधर हाथ फेंकता है। खाटसे भूमिपर और भूमिसे खाटपर तथा फिर भूमिपर आना चाहता है। उसके वस्त्र खुल गये हैं, लज्जा छूट चुकी है, विष्ठा और मूत्रमें सना हुआ है। कण्ठ, ओष्ठ और तालू सूख जानेके कारण बार-बार पानी माँगता है। अपने धन-वैभवके लिये इस बातकी चिन्ता करता है कि मेरे मर जानेपर ये किसके हाथमें पड़ेंगे। पुनः कालपाशसे खींचे जानेपर उसका गला घुरघुराने लगता है और पार्श्ववर्ती लोगोंके देखते-देखते मृत्युको प्राप्त हो जाता है। जैसे तृणजलौका जलमें बहते हुए तिनकेके अन्ततक पहुँचकर जब दूसरा तिनका थाम लेती है, तब पहलेको छोड़ देती है। उसी प्रकार जीव एक देहसे दूसरी देहमें क्रमशः प्रवेश करता है। भावी शरीरमें अंशतः प्रवेश करके पूर्वशरीरका त्याग करता है।

विवेकी पुरुषके लिये किसीसे कुछ माँगना मृत्युसे भी अधिक दुःखदायी होता है। मृत्युका दुःख तो क्षणभरमें समाप्त हो जाता है, परंतु याचनाजनित दुःखका कभी अन्त नहीं होता। मैंने तो इस समय यह अनुभव किया है कि मृत मनुष्य जीवित रहकर याचना करनेवालेकी अपेक्षा श्रेष्ठ है; क्योंकि अब वह फिर दूसरे किसीके सामने हाथ नहीं फैला सकता। तृष्णा ही लघुताका कारण है। आदिमें दुःख है, मध्यमें दुःख है तथा अन्तमें भी दारुण दुःख प्राप्त होता है। दुःखोंकी यह परंपरा समस्त प्राणियोंको स्वभावतः प्राप्त होती है। क्षुधाको सब रोगोंसे महान् रोग माना गया है। वह अन्नरूपी ओषधिका लेप करनेसे कुछ क्षणोंके लिये शान्त हो जाती है। क्षुधारूपी व्याधिकी तीव्र वेदना सम्पूर्ण बलका उच्छेद करनेवाली है। जैसे अन्य रोगोंसे लोग मरते हैं, उसी प्रकार क्षुधासे पीड़ित होनेपर भी मनुष्यकी मृत्यु हो जाती है। (यदि कहें धन-धान्यसम्पन्न राजा सुखी होंगे तो यह भी ठीक नहीं।) राजाको केवल यह अभिमान ही होता है कि मेरे घरमें इतना वैभव शोभा पा रहा है। वास्तवमें तो उनका सारा आभरण भाररूप है, समस्त आलेपन-द्रव्य मलमात्र है, सम्पूर्ण संगीत-राग प्रलापमात्र है तथा नृत्य आदि भी पागलोंकी-सी चेष्टा है। विचार-दृष्टिसे देखनेपर इन राज्यभोगोंके द्वारा राजाओंको सुख कहाँ मिलता है? क्योंकि वे लोग तो एक-दूसरेको जीतनेके लिये सदा ही चिन्तित रहते हैं। प्रायः राज्यलक्ष्मीके मदसे उन्मत्त होनेके कारण नहुष आदि महाराज स्वर्गका साम्राज्य पाकर भी वहाँसे नीचे गिर गये हैं। राजलक्ष्मी अथवा धन-

ऐश्वर्यसे भला कौन सुख पाता है? मनुष्य स्वर्गलोकमें जो पुण्यफल भोगते हैं, वह अपने मूलधनको गँवाकर ही भोगते हैं; क्योंकि वहाँ वे दूसरा नवीन कर्म नहीं कर सकते। यही स्वर्गमें अत्यन्त भयंकर दोष है। जैसे वृक्षकी जड़ काट देनेपर वह विवश होकर पृथ्वीपर गिर पड़ता है, उसी प्रकार पुण्यरूपी मूलका क्षय हो जानेपर स्वर्गवासी जीव पुनः पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं। इस तरह विचारपूर्वक देखा जाय तो स्वर्गमें भी देवताओंको कोई सुख नहीं है। नरकमें गये हुए पापी जीवोंका दुःख तो प्रसिद्ध ही है—उनका क्या वर्णन किया जाय। स्थावर-योनिमें पड़े हुए जीवोंको भी बहुत दुःख भोगने पड़ते हैं। दावानलसे जलना, पाला पड़नेसे गलना, धूप और हवासे सूखना, कुल्हाड़ीसे काटा जाना, उनके वल्कलों (छिलकों)-का उतारा जाना, प्रचण्ड आँधीके वेगसे पत्तों, डालियों और फलोंका गिराया जाना तथा हाथियों और अन्य जंगली जन्तुओंद्वारा कुचला जाना आदि उनके लिये महान् दुःख हैं।

सर्पों और बिच्छुओंको प्यास और भूखका कष्ट रहता है, उन्हें क्रोधका भी दारुण दुःख सहन करना पड़ता है। संसारमें प्रायः दुष्ट साँप-बिच्छुओंको मारा जाता है, उन्हें जालमें फँसाकर बंद रखा जाता है। माताजी! इस प्रकार उस योनिके जीवोंको बारंबार कष्ट उठाना पड़ता है। कीड़े आदिका अकस्मात् जन्म होता है और अचानक ही उनकी मौत भी हो जाती है; अतः उनका दुःख भी कम नहीं है। मृगों और पक्षियोंको वर्षा, सर्दी और धूपका महान् कष्ट तो है ही, भूख-प्यासके भारी दुःखसे भी मृग सदा संत्रस्त रहते हैं। पशु-समूहके जो दुःख हैं, उन्हें भी सुन लो। भूख-प्यास तथा सर्दी-गरमी आदिका कष्ट सहना, मारा जाना, बन्धनमें डाला जाना और डंडे आदिसे पीटा जाना, नाकका छेदा जाना, चाबुक और अंकुशकी मार पड़ना आदि उनके महान् क्लेश हैं। इनके अतिरिक्त बोझ ढोनेका भी उन्हें बड़ा भारी कष्ट है। कार्यकी शिक्षा देते समय भी उन्हें मारा-पीटा जाता है, फिर युद्ध आदिकी पीड़ा भी सहनी पड़ती है। अपने झुंडसे जो उनका वियोग होता है और वे वनसे जो अन्यत्र लाये जाते हैं—यह सब कष्ट अलग हैं।

दुर्भिक्ष, दुर्भाग्यका प्रकोप, मूर्खता, दरिद्रता, नीच-ऊँचका भाव, मृत्यु, राष्ट्रविप्लव (एक राज्यका नाश करके दूसरे राज्यकी स्थापना), पारस्परिक अपमानका दुःख, आपसमें एक-दूसरेसे धन-वैभव या मान-प्रतिष्ठामें बढ़ जानेका कष्ट, अपनी प्रभुताका सदा स्थिर न रहना, ऊँचे चढ़े हुए लोगोंका नीचे गिराया जाना इत्यादि महान् दुःखोंसे यह सम्पूर्ण चराचर जगत् व्याप्त है। जैसे इस कंधेका भार उस कंधेपर कर देनेको मनुष्य विश्राम समझता है, उसी प्रकार इस लोकमें एक दुःख दूसरे दुःखसे ही शान्त होता है। अतः एक-दूसरेसे ऊँची स्थितिमें स्थित हुए इस सम्पूर्ण जगत्को दुःखोंसे भरा हुआ जानकर उसकी ओरसे अत्यन्त उद्विग्न हो जाना चाहिये। उद्वेगसे वैराग्य होता है, वैराग्यसे ज्ञान प्रकट होता है तथा ज्ञानसे परमात्मा विष्णुको जानकर मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

माँ! जैसे कौओंके अपवित्र स्थानमें विशुद्ध राजहंस नहीं रह सकता, उसी प्रकार ऐसे दुःखमय संसारमें मैं तो कभी रम नहीं सकता। मैया! जहाँ रहकर मैं बिना किसी विघ्न-बाधाके आनन्दपूर्वक रह सकता हूँ, वह स्थान भी बताता हूँ, सुनो। अविद्यारूपी वन तो बड़ा भयंकर है। उसमें नाना प्रकारके कर्ममय बड़े-बड़े वृक्ष खड़े हैं। वहाँ संकल्पोंके डाँस और मच्छर बहुत हैं। शोक और हर्ष ही वहाँकी सर्दी और धूप हैं। उस वनमें मोहका घना अन्धकार छाया रहता है। वहाँ

लोभरूपी साँप और बिच्छू रहते हैं। विषयोंके अनेक मार्गोंसे वह प्रदेश व्याप्त है। काम और क्रोधरूपी बधिक तथा लुटेरे उसमें सदा डेरा डाले रहते हैं। उस महादुःखमय विशाल वनको लाँघकर अब मैं एक ऐसे महान् विपिनमें प्रवेश कर चुका हूँ, जहाँ पहुँचकर उसके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुष न शोक करते हैं, न हर्ष। वहाँ किसीसे भय नहीं है, किसीको भी भय नहीं है। उस विद्यारूपी वनमें सात बड़े भारी वृक्ष हैं। वहाँ सात ही पर्वत हैं, जिन्होंने तीनों लोकोंको धारण कर रखा है। सात ही ह्रद (कुण्ड) हैं और सात ही नदियाँ हैं, जो सदा ब्रह्मरूप जल बहाया करती हैं। तेज, अभयदान, अद्रोह, कौशल (दक्षता), अचपलता, अक्रोध और प्रिय वचन बोलना—ये ही सात पर्वत उस विद्यावनमें स्थित हैं। दृढ-निश्चय, सबके साथ समता, मन और इन्द्रियोंका संयम, गुणसंचय, ममताका अभाव, तपस्या तथा सन्तोष—ये सात ह्रद हैं। भगवान्‌के गुणोंका विशेष ज्ञान होनेसे जो उनके प्रति भक्ति होती है, वह विद्या-वनकी पहली नदी है। वैराग्य दूसरी, ममताका त्याग तीसरी, भगवदाराधन चौथी, भगवदर्पण पाँचवीं, ब्रह्मैकत्वबोध छठी तथा सिद्धि सातवीं नदी है। ये ही सात नदियाँ वहाँ स्थित बतायी गयी हैं। वैकुण्ठ धामके निकट इन सातों नदियोंका संगम होता है। जो आत्मतृप्त, शान्त तथा जितेन्द्रिय होते हैं, वे ही महात्मा उस मार्गसे परात्पर ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। कोई श्रेष्ठ ज्ञानीजन उन वृक्षोंको प्राप्त करते हैं, कोई पर्वतोंको, कोई ह्रदोंको तथा कोई उन सात सरिताओंको ही प्राप्त होते हैं।

माँ! मैं ग्रहण किये हुए व्रतको धारण करनेकी इच्छा रखकर यहाँ ब्रह्मचर्यका आचरण करता हूँ। इस ब्रह्मचर्यमें ब्रह्म ही समिधा, ब्रह्म ही अग्नि तथा ब्रह्म ही कुशास्तरण हैं। जल भी ब्रह्म हैं और गुरु भी ब्रह्म ही हैं—यही मेरा ब्रह्मचर्य है। विद्वान् पुरुष इसीको सूक्ष्म ब्रह्मचर्य मानते हैं। माता! अब मेरे गुरुका परिचय सुनो, जिन्होंने मुझे विद्या प्रदान की है। एक ही शिक्षक है, दूसरा कोई शिक्षक नहीं है। हृदयमें विराजमान अन्तर्यामी पुरुष ही शिक्षक होकर शिक्षा देता है। उसीसे प्रेरित होकर मैं झरनेसे बहकर जानेवाले जलकी भाँति जहाँ जिस कार्यमें नियुक्त होता हूँ, वहाँ वैसा ही करता हूँ। एक ही गुरु हैं, उनके सिवा दूसरा कोई गुरु नहीं है। जो हृदयमें विराजमान हैं, वे ही गुरु हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूँ। उन्हीं गुरुस्वरूप भगवान् मुकुन्दकी अवहेलना करके सम्पूर्ण दानव पराभवको प्राप्त हुए हैं।* एक ही बन्धु है, उसके सिवा दूसरा बन्धु नहीं है। जो हृदयमें विराजमान है, वह परमात्मा ही बन्धु है, मैं उसे नमस्कार करता हूँ। उसीसे शिक्षा प्राप्त करके सात बन्धुमान् भाई सप्तर्षि आकाशमें प्रकाशित हो रहे हैं। ऐसे ही ब्रह्मचर्यका भलीभाँति सेवन करना चाहिये। अब मेरा गार्हस्थ्य कैसा है, यह भी सुन लो। माताजी! प्रकृति ही मेरी पत्नी है, किन्तु मैं कभी उसका चिन्तन नहीं करता; वही सदा मेरा चिन्तन किया करती है। वह मेरे सब प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाली है। नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, कान, मन तथा बुद्धि—यह सात प्रकारकी अग्नि सदा मेरी अग्निशालामें प्रज्वलित होती रहती हैं। गन्ध, रस, रूप, शब्द, स्पर्श, मन्तव्य और बोधव्य—ये ही सात मेरी समिधाएँ हैं। होता भी नारायण हैं और ध्यानसे साक्षात् नारायण ही उपस्थित हो उस हविष्यका उपयोग भी करते हैं। ऐसे यज्ञद्वारा मैं अपनी इस गृहस्थीमें उन परमेश्वर विष्णुका यजन (आराधन) करता हूँ। किसी भी वस्तुकी कामना नहीं रखता, तथापि मेरे सम्पूर्ण काम स्वतः सिद्ध हैं। मैं

* एको गुरुर्नास्ति ततो द्वितीयो यो हृद्गतस्तमहं वै नमामि।
पञ्चावमन्यैव गुरुं मुकुन्दं पराभूता दानवास्सर्व एव॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ३७। ६२)

सांसारिक सम्पूर्ण दोषोंसे द्वेष नहीं करता, तथापि कोई भी दोष मुझमें प्रकट नहीं होता! जैसे कमलके पत्तेपर जलकी बूँदका लेप नहीं होता, उसी प्रकार मेरा स्वभाव राग-द्वेष आदिसे लिप्त नहीं होता। मैं नित्य हूँ, बहुतोंके स्वभावोंका साक्षी हूँ, अनित्य भोग मुझपर अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। जैसे सूर्यकी किरणें आकाशमें लिप्त नहीं होतीं, वैसे ही मेरे भगवदर्थ किये गये निष्काम कर्मोंमें भोगसमूह नहीं लिप्त होते (मेरे कर्मोंका फल भोग-सामग्रीके रूपमें नहीं उपस्थित होता, वे कर्म तो भगवत्प्राप्ति करानेवाले होते हैं), माता! ऐसे मुझ पुत्रसे तुम दुःखी न होओ। मैं तुम्हें उस पदपर पहुँचाऊँगा, जहाँ सैकड़ों यज्ञ करके भी पहुँचना असम्भव है।'

अपने पुत्रकी यह बात सुनकर इतराको बड़ा विस्मय हुआ। वह सोचने लगी, 'अहो! यदि मेरा पुत्र ऐसा दृढ़निष्ठावाला विद्वान् है, तब तो संसारमें जब इसकी ख्याति होगी, उस समय मेरा भी महान् यश फैलेगा।' माता इस प्रकारकी बातें सोच ही रही थी कि शंख-चक्र-गदाधारी भगवान् विष्णु उस अर्चा-विग्रहसे साक्षात् प्रकट हो गये। वे उस द्विजपुत्रकी बातोंसे अत्यन्त प्रसन्न थे। भगवान्‌की दिव्य कान्ति करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशमान थी। वे अपनी प्रभासे सम्पूर्ण जगत्‌को उद्भासित कर रहे थे। भगवान्‌को देखते ही ऐतरेय धरतीपर दण्डकी भाँति पड़ गये। उनके शरीरमें रोमांच हो आया। नेत्रोंसे प्रेमके आँसू बहने लगे। वाणी गद्‌गद हो गयी। बुद्धिमान् ऐतरेयने मस्तकपर अंजलि बाँधकर भगवान्‌का इस प्रकार स्तवन प्रारम्भ किया—

"आप भगवान् वासुदेवका हम ध्यान और नमस्कार करते हैं। आप ही प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा संकर्षण हैं, आपको नमस्कार है। आप केवल विज्ञानस्वरूप तथा परमानन्दमूर्ति हैं, आपको नमस्कार है। आप आत्माराम, शान्त तथा आप समस्त इन्द्रियोंके स्वामी (हृषीकेश) हैं, सबसे महान् तथा अनन्त शक्तियोंसे सम्पन्न हैं; आपको नमस्कार है। मनसहित वाणीके थककर निवृत्त हो जानेपर जो एकमात्र अपनी कृपासे ही सुलभ होनेवाले हैं, नाम और रूपसे रहित चैतन्यघन ही जिनका स्वरूप है, वे सत् और असत्‌से परे विराजमान परमात्मा हम सबकी रक्षा करें। आप परम सत्य तथा निर्मल हैं, हम आपकी उपासना करते हैं। जो षड्विध ऐश्वर्यसे युक्त परम पुरुष महानुभाव एवं समस्त महाविभूतियोंके अधिपति हैं, उन भगवान्‌को नमस्कार है। परमेष्ठिन्! आप सबसे उत्कृष्ट हैं, सम्पूर्ण भक्तसमुदाय आपके युगल चरणारविन्दोंकी बड़े लाड़-प्यारसे सेवा करते हैं। आपको नमस्कार है। अग्नि आपका मुख है, पृथ्वी आपके दोनों चरण हैं, आकाश मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य दोनों नेत्र हैं, सम्पूर्ण लोक आपका शरीर है तथा चारों दिशाएँ आपकी चार भुजाएँ हैं। भगवन्! आपको नमस्कार है। हे स्तुति करनेयोग्य परमात्मन्! हे नाथ! इस पृथ्वीपर कोई भी ऐसे प्रदेश नहीं हैं, जिनमें मेरा जन्म न हुआ हो, जहाँ मेरी मृत्यु न हुई हो। मैं समझता हूँ, यदि मेरे माता-पिताओंकी गणना की जाय, तो यह विशाल पृथ्वी परमाणुओंकी स्थितिमें पहुँच जायगी—असंख्य जन्मोंके मेरे माता-पिताओंकी गणना करनेके लिये पृथ्वीके परमाणु बराबर टुकड़े करने पड़ेंगे। देवदेव! मेरे जो मित्र, शत्रु, अनुजीवी तथा भाई-बन्धु इस संसारमें हो गये हैं, उन सबकी गणना करनेमें मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। नाथ! मैंने अपना मन बार-बार आपके चरणोंमें समर्पित किया, परंतु मेरा दुर्जय शत्रु काम अपने क्रोध आदि सहायकोंके द्वारा उसे हठात् अपने वशमें कर लेता है। भगवन्! अब आप ही बताइये, ऐसी दशामें मैं क्या करूँ? सर्वव्यापी परमेश्वर! मैं बहुत ही पीड़ित हूँ। संसाररूपी गड्ढेमें गिरे हुए इस दीनपर आप दया कीजिये। दुर्गतिमें पड़ा

अर्चाविग्रहसे प्रकट होकर भगवान् विष्णु ऐतरेयको दर्शन दे रहे हैं

हुआ प्राणी भी महात्माओंकी शरणमें आ जानेपर कष्ट नहीं भोगता। रोगी मनुष्योंको शरण देनेवाला वैद्य है, महासागरमें डूबे हुए मनुष्यका सहारा नौका है, बालकको आश्रय देनेवाले माता और पिता हैं, परंतु भगवन्! अत्यन्त घोर संसार-बन्धनसे दुःखी हुए मनुष्यको शरण देनेवाले केवल आप ही हैं।* सर्वस्वरूप सर्वेश्वर! प्रसन्न होइये, आप ही सबके कारण हैं। पारमार्थिक सारतत्त्व भी आप ही हैं। महान् दुःख-समूहसे भरे हुए, संसाररूपी गड्ढेसे स्वयं ही हाथ पकड़कर मुझे निकालिये। हे अच्युत! हे उरुक्रम! यह संसार भूख और प्याससे; वात, पित्त और कफ—इन तीन धातुओंसे; सर्दी, गरमी, आँधी और वर्षासे, आपसमें ही एक-दूसरेसे तथा कभी तृप्त न होनेवाली कामाग्नि तथा क्रोधाग्निसे बारंबार पीड़ित होता है। इसे इस दशामें देखकर मेरा मन बहुत दुःखी हो रहा है। मैंने अपनी शक्तिके अनुसार सम्पूर्ण जगत्को धारण करनेवाले परमेश्वर भगवान् आप वासुदेवका स्तवन किया है। इससे सबका कल्याण हो, सम्पूर्ण जगत्के समस्त दोष नष्ट हो जायँ। आज मेरे द्वारा जगद्धाता वासुदेवकी स्तुति हुई है; इससे इस पृथ्वीपर, अन्तरिक्षमें, स्वर्गलोकमें तथा रसातलमें भी जो कोई प्राणी रहते हों, वे सिद्धिको प्राप्त हों। मेरे द्वारा स्तुति-पाठ करते समय जो लोग इसको सुनते हैं, इस स्तोत्रका उच्चारण करते समय जो मुझे देखते हैं, वे देवता, असुर, मनुष्य तथा पशु-पक्षी कोई भी क्यों न हों, सभी भगवान् विष्णुके तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करें। इनके सिवा जो गूँगे तथा अन्यान्य इन्द्रियोंसे रहित हैं, जो देख-सुन नहीं सकते वे, तथा पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े आदि भी आज भगवत्तत्त्वज्ञानके भागी हो जायँ। संसारमें दुःखोंका नाश हो जाय, समस्त प्रजाके हृदयसे लोभ आदि दोषसमुदाय निकल जायँ। अपनेमें, अपने भाई और पुत्रमें जैसा प्रेम और आत्मीयताका भाव होता है, सब लोगोंका सबके प्रति वैसा ही भाव हो जाय। जो संसाररूपी रोगके चिकित्सक, सम्पूर्ण दोषोंके निवारणमें चतुर तथा परमानन्दकी प्राप्तिके हेतुभूत हैं, वे भगवान् विष्णु सबके हृदयमें विराजमान हों और ऐसा होनेसे सब लोगोंके संसार-बन्धन शिथिल हो जायँ। सम्पूर्ण विश्वको धारण करनेवाले भगवान् वासुदेवका स्मरण करनेपर मन, वाणी और शरीरद्वारा आचरित मेरे समस्त पाप नष्ट हो जायँ। हे वासुदेव! ऐसा उच्चारण करनेपर अथवा भगवान् विष्णुके भक्तकी महिमाका कीर्तन करनेपर, अथवा श्रीहरिका स्मरण करनेपर समस्त पापोंका नाश हो जाता है। यदि यह सत्य है, तो इस सत्यके प्रभावसे मेरा पाप नष्ट हो जाय। अखिलेश्वर! आपके चरणोंमें पड़े हुए मुझ सेवकपर आप यह सोचकर कृपा कीजिये कि 'यह बेचारा मूढ है—कुछ जानता नहीं, इसकी बुद्धि बहुत थोड़ी है, इसके द्वारा उद्यम भी बहुत कम हो पाता है। विषयोंसे इसका मन सदा क्लेशमें पड़ा रहता है, इसीलिये वह मुझमें नहीं लग पाता।' देव! आपकी स्तुति करनेमें ब्रह्माजी भी समर्थ नहीं हैं। भगवन्! आप प्रसन्न होइये। हे विष्णो! आप बड़े दयालु हैं, मुझ अनाथपर कृपा कीजिये। हे अनन्त! हे पापहारी हरि! आप पुरुषोत्तम हैं, संसार-सागरमें डूबे हुए मुझ दीनका उद्धार कीजिये।''

अर्जुन! ऐतरेयके इस प्रकार स्तुति करनेपर विशालकाय भगवान् वासुदेवने आनन्दमग्न होकर कहा—'वत्स ऐतरेय! मैं तुम्हारी भक्तिसे और

---

* सोऽहं भृशार्तः करुणां कुरु त्वं संसारगर्ते पतितस्य विष्णो।
महात्मनां संश्रयमभ्युपेतो नैवावसीदत्यपि दुर्गतोऽपि॥
परायणं रोगवतां हि वैद्यो महाब्धिमग्नस्य च नौर्नरस्य।
बालस्य मातापितरौ सुघोरसंसारखिन्नस्य हरे त्वमेकः॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ३७। ९१-९२)

इस स्तुतिसे बहुत प्रसन्न हूँ। तुम मुझसे कोई मनोवांछित एवं दुर्लभ वर माँगो।'

**ऐतरेयने कहा**—नाथ! हरे! मेरा अभीष्ट वर तो यही है कि घोर संसारसागरमें डूबते हुए मुझ असहायके लिये आप कर्णधार हो जायँ।

**भगवान् वासुदेव बोले**—वत्स! तुम तो संसारसागरसे मुक्त ही हो। जो सदा इस स्तोत्रसे गुप्तक्षेत्रमें स्थित हुए मुझ वासुदेवका स्तवन करेगा, उसके सम्पूर्ण पापोंका नाश हो जायगा। अतः यह 'अघनाशन' नामसे विख्यात होगा। जो एकादशीको उपवास करके मेरे आगे इस स्तोत्रका पाठ करेगा, वह शुद्धचित्त होकर मेरे परम धामको प्राप्त होगा। जैसे सब क्षेत्रोंमें यह गुप्तक्षेत्र मुझे अधिक प्रिय है, उसी प्रकार सब स्तोत्रोंमें यह स्तोत्र मुझे विशेष प्रिय है। जिन प्राणियोंके उद्देश्यसे महात्मा पुरुष इस स्तोत्रका जप करते हैं, वे सब प्राणी मेरी कृपासे शान्ति, ऐश्वर्य तथा उत्तम बुद्धि प्राप्त करेंगे। बेटा! तुम श्रद्धापूर्वक वैदिक धर्मोंका आचरण करो, उन्हें निष्कामभावसे मुझे समर्पित कर देनेपर उनके द्वारा तुम्हें बन्धन नहीं प्राप्त होगा। पत्नीका पाणिग्रहण करके तुम यज्ञोंद्वारा भगवान्‌की आराधना करो और अपनी माताकी प्रसन्नता बढ़ाओ। मुझमें तीव्र ध्यान करनेसे निःसन्देह तुम मुझे ही प्राप्त होओगे। बुद्धि, मन, अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ—ये तेरह ग्रह हैं। बोद्धव्य, मन्तव्य, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वचन, आदान, कर्म, गमन, मलोत्सर्ग और रतिजनित आनन्द—ये तेरह महाग्रह हैं। बेटा! अपने बुद्धि आदि शुद्ध (आसक्तिशून्य) ग्रहोंके द्वारा मेरा ध्यान करते हुए पूर्वोक्त महाग्रहोंको शुद्ध रूपमें ग्रहण करो, भगवत्प्रसाद मानकर स्वीकार करो। ऐसा करनेसे तुम मोक्ष प्राप्त कर लोगे। वीर! इस प्रकार भगवदर्पण बुद्धिसे कर्म करनेपर तुम नैष्कर्म्यभावको प्राप्त होओगे। ठीक उसी तरह, जैसे चतुर स्वर्णकार रससंबिद्ध ताँबेको सुवर्णके रूपमें उपलब्ध करता है। वर्णाश्रमोचित आचारवाला पुरुष भी यदि अपने सब कर्म मुझे समर्पित करके स्वयं मेरे ध्यानमें संलग्न हो जाता है, तो उसे भी यहाँ मोक्ष दुर्लभ नहीं है। इसलिये मेरे बताये अनुसार बर्ताव करते हुए नियमपरायण होकर तुम आनन्दपूर्वक रहो। अपनी सात पीढ़ियोंका उद्धार करके फिर मुझमें लीन हो जाओगे। यद्यपि वेदोंका अध्ययन तुमने नहीं किया है, तो भी सम्पूर्ण वेद तुम्हारी बुद्धिमें स्वयं प्रतिभासित होंगे। अब यहाँसे कोटितीर्थमें, जहाँ हरिमेधाका यज्ञ हो रहा है, जाओ। वहाँ तुम्हारी माताका सम्पूर्ण मनोरथ सफल होगा।

यों कहकर भगवान् विष्णु पुनः वासुदेव-विग्रहमें ही प्रवेश कर गये। उस समय ऐतरेयकी माता और ऐतरेय दोनों एकटक दृष्टिसे भगवान्‌की ओर देख रहे थे। तत्पश्चात् वासुदेव-विग्रहको नमस्कार करके विस्मय और आनन्दमें निमग्न हुए ऐतरेयने अपनी मातासे कहा—"माँ! मैं पूर्वजन्ममें शूद्र था, एक दिन सांसारिक दोषोंसे भयभीत हो एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मणकी शरणमें गया। वे बड़े दयालु थे। उन्होंने मुझे द्वादशाक्षर मन्त्रका उपदेश दिया और कहा, 'सदा इस मन्त्रका जप किया कर।' उनकी इस आज्ञाके अनुसार मैं निरन्तर उस मन्त्रका जप करने लगा। उस जपके प्रभावसे तुम्हारे गर्भसे मेरा जन्म हुआ। मुझे पूर्वजन्मकी स्मृति हुई, भगवान् विष्णुके प्रति मेरे मनमें भक्तिका उदय हुआ और इस तीर्थमें सर्वदा निवास करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ।" मातासे ऐसा कहकर ऐतरेय यज्ञमें गये और वहाँ यह श्लोक बोले—

**नमस्तस्मै भगवते विष्णवेऽकुण्ठमेधसे।**
**यन्मायामोहितधियो भ्रमामः कर्मसागरे॥**

'जिनकी बुद्धि कहीं कुण्ठित नहीं होती तथा जिनकी मायासे मोहितचित्त होकर हमलोग

कर्मोंके समुद्रमें भटक रहे हैं, उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है।'

इस श्लोकका आशय बहुत गम्भीर है। हरिमेधा आदि ब्राह्मणोंने जब इसे सुना, तब आसन और पूजा आदिके द्वारा ऐतरेयका बहुत सत्कार किया। तत्पश्चात् ऐतरेयने अपनी विद्यासे उन वेदार्थनिपुण ब्राह्मणोंको संतुष्ट किया। फिर सबने उन्हें दक्षिणा दी। हरिमेधाने ऐतरेयको अपनी पुत्री भी दे दी। धन और पत्नीको ग्रहण करके ऐतरेय अपने घर आये। उन्होंने माताको आनन्दित किया और अनेकों निर्मल पुत्रोंको जन्म दिया। ऐतरेय सदा द्वादशी व्रतका पालन करते रहे। वे अनेक यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करके निरन्तर वासुदेवका ध्यान किया करते थे। इससे देहत्यागके पश्चात् उन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया। अर्जुन! ऐसी महिमावाले भगवान् वासुदेव यहाँ स्वयं विराजमान हैं। जो इनकी पूजा, अर्चा और स्तुति करता है, उसका सब पुण्य अक्षय माना गया है।

## भट्टादित्यकी स्थापना तथा नारदजीके द्वारा एक सौ आठ नामोंसे उनकी स्तुति

**नारदजी कहते हैं**—कुन्तीनन्दन! भगवान् वासुदेवकी स्थापनाके पश्चात् मैंने पुनः मनुष्योंपर कृपा करनेकी इच्छासे प्रत्यक्ष देवता भगवान् सूर्यको इस तीर्थमें लानेका विचार किया। भगवान् सूर्य समस्त प्राणियोंके उद्‌गमस्थान हैं। वे इस लोक और परलोकमें भी सबका अभ्युदय करते हैं। श्रीसूर्यदेव सम्पूर्ण विश्वके आधार माने गये हैं। जो भक्तिपूर्वक भगवान् सूर्यका प्रतिदिन स्मरण, कीर्तन और पूजन करते हैं, वे निस्सन्देह कृतार्थ हो जाते हैं। जिसने इस संसारमें जन्म लेकर सहस्रों किरणोंवाले देवेश्वर भगवान् सूर्यका पूजन नहीं किया, उसने अपने आत्मासे ही द्रोह किया है। जो सदा भगवान् सूर्यकी भक्तिमें तत्पर और सर्वदा उन्हींमें मन लगाये रहनेवाले हैं, जो सदा सूर्यका ही स्मरण किया करते हैं, वे कभी दुःखके भागी नहीं होते हैं। भगवान् भास्करकी भक्ति दुर्लभ है, उनका पूजन दुर्लभ है, उनके लिये दान देनेका सौभाग्य दुर्लभ है तथा उनकी प्रसन्नताके लिये होम करना तो और भी दुर्लभ है। जिसकी जिह्वाके अग्रभागमें नमस्कार आदिसे युक्त 'रवि' ये दो अक्षर विराजते हैं, उसका जीवन सफल है। इस प्रकार भगवान् सूर्यके बड़े भारी माहात्म्यका चिन्तन करके मैंने पूरे सौ वर्षतक भक्तिपूर्वक सूर्यदेवकी आराधना की। मैं वायु पीकर रहता और सूर्यसम्बन्धी वैदिक मन्त्रोंके विशुद्ध जपसे भगवान् सूर्यकी स्तुति किया करता था। तब, अत्यन्त तेजके कारण जिनकी ओर देखना बहुत कठिन है, उन भगवान् सूर्यने योगबलसे दूसरी मूर्ति धारण करके आकाशमें

आकर मुझे प्रत्यक्ष दर्शन दिया। तब मैंने हाथ जोड़कर भगवान्‌को नमस्कार किया और सामवेदके विविध मन्त्रोंद्वारा उनका स्तवन भी किया। इससे प्रसन्न होकर वर देनेवाले भगवान् सूर्यने कहा—'देवर्षे! तुमने दीर्घकालतक तपस्याके द्वारा मेरी आराधना की है। अब कोई अभीष्ट वर माँगो।'

**उनके ऐसा कहनेपर मैं हाथ जोड़कर बोला—** भगवन्! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं और मुझे वर देना उचित समझते हैं, तो आपकी जो कामरूपिणी कला है, पूर्वकालमें राजा राजवर्धनने जिसकी आराधना की थी, उसी कलाके द्वारा आप सदा हमारी रक्षा करते रहें। तदनन्तर भगवान् सूर्यने सन्तुष्ट होकर जब 'तथास्तु' कह दिया, तब मैंने इस तीर्थमें भट्टादित्यके नामसे उनकी स्थापना की। मुझ भट्टके द्वारा स्थापित होनेके कारण भगवान् सूर्यका उक्त नाम प्रसिद्ध हुआ। तत्पश्चात् फूलोंसे भलीभाँति पूजा करनेपर मूर्तिमें भगवान् सूर्यका आवेश हुआ। यह देख मेरा सम्पूर्ण अंग भक्तिरसके उद्रेकमें डूब गया और मैंने सम्पूर्ण वेदोंके रहस्यभूत एक सौ आठ नामोंद्वारा सूर्यदेवका इस प्रकार स्तवन किया—

भगवान् सूर्य आप १ सप्तसप्ति (सात घोड़ोंसे युक्त रथपर विचरण करनेवाले), २ अचिन्त्यात्मा (जिनका स्वरूप चिन्तनमें नहीं आ सकता), ३ महाकारुणिकोत्तम (अत्यन्त करुणा करनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ), ४ संजीवन (सबको भलीभाँति जीवित रखनेवाले), ५ जय (विजयी), ६ जीव (जीवन-दाता), ७ जीवनाथ (जीवोंके स्वामी) और ८ जगत्पति (संसारके स्वामी) हैं। आप ९ कालाश्रय (कालके आधार), १० कालकर्ता, ११ महायोगी, १२ महामति (परम बुद्धिमान्), १३ भूतान्तःकरण (समस्त भूतोंके अन्तरात्मा), १४ देव (द्युतिमान्), १५ कमलानन्दनन्दन (कमलोंका आनन्द बढ़ानेवाले), १६ सहस्रपाद् (किरणरूपी सहस्रों चरणोंसे सुशोभित), १७ वरद (वर देनेवाले), १८ दिव्यमण्डलमण्डित, १९ धर्मप्रिय, २० अर्चितात्मा (पूजित स्वरूपवाले), २१ सविता (सम्पूर्ण जगत्‌के उत्पादक), २२ वायुवाहन (प्रवह वायुके सहारे आकाशमें विचरण करनेवाले अथवा वायुके ऊपर स्थित), २३ आदित्य (अदिति-पुत्र), २४ अक्रोधन (क्रोधरहित), २५ सूर्य, २६ रश्मिमाली (किरण-समूहसे सुशोभित), २७ विभावसु (विशेषरूपसे प्रकाशित होनेवाले), २८ दिनकृत (अपने उदयसे दिन प्रकट करनेवाले), २९ दिनहृत् (स्वयं अस्त होकर दिनको हर लेनेवाले), ३० मौनी (मौन रहनेवाले), ३१ सुरथ (सुन्दर रथवाले), ३२ रथिनां वर (रथियोंमें श्रेष्ठ), ३३ राज्ञां पति (राजाओंके अधिपति), ३४ स्वर्णरेता (सुवर्णरूप बीजवाले), ३५ पूषा (पोषण करनेवाले), ३६ त्वष्टा, ३७ दिवाकर, ३८ आकाशतिलक, ३९ धाता (धारण-पोषण करनेवाले), ४० संविभागी (दिन-रातका विभाग करनेवाले), ४१ मनोहर, ४२ प्राज्ञ (विद्वान्), ४३ प्रज्ञापति (बुद्धिके स्वामी अथवा प्रेरक), ४४ धन्य, ४५ विष्णु (व्यापक), ४६ श्रीश (शोभा और संपत्तिके स्वामी), ४७ भिषग्वर (अपनी किरणोंद्वारा नाना प्रकारके रोगोंके निवारण करनेवाले श्रेष्ठ वैद्य), ४८ आलोककृत (प्रकाशक), ४९ लोक-नाथ, ५० लोकपालनमस्कृत, ५१ विदिताशय (सबके अभिप्रायको जाननेवाले), ५२ सुनय (उत्तम नीतिवाले), ५३ महात्मा, ५४ भक्तवत्सल, ५५ कीर्ति, ५६ कीर्तिकर, ५७ नित्य, ५८ रोचिष्णु (कान्तिमान्), ५९ कल्मषापह (पापोंका नाश करनेवाले), ६० जितानन्द (आनन्दको अपने अधीन रखनेवाले), ६१ महावीर्य (परम पराक्रमी), ६२ हंस (आकाशरूपी सरोवरमें हंसके समान विचरण करनेवाले अथवा परमात्मा), ६३ संहारकारक (प्रलयकालमें संवर्तकानलरूपसे प्रकट होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको दग्ध करनेवाले), ६४ कृतकृत्य,

६५ असंग (अनासक्त), ६६ बहुज्ञ, ६७ वचसां पति (वाणीके अधिपति), ६८ विश्वपूज्य, ६९ मृत्युहारी, ७० घृणी (दयालु), ७१ धर्मकारण, ७२ प्रणतार्तिहर (शरणागतोंका कष्ट हर लेनेवाले), ७३ अरोग (रोगरहित), ७४ आयुष्मान्, ७५ सुखद, ७६ सुखी, ७७ मंगल, ७८ पुण्डरीकाक्ष (कमलके समान नेत्रोंवाले), ७९ व्रती (व्रतोंका पालन करनेवाले), ८० व्रतफलप्रद (व्रतोंका फल देनेवाले), ८१ शुचि (पवित्र), ८२ पूर्ण, ८३ मोक्ष-मार्ग, ८४ दाता, ८५ भोक्ता, ८६ धन्वन्तरि, ८७ प्रियाभास (जिनका प्रकाश लोकप्रिय है), ८८ धनुर्वेदवित् (धनुर्वेदके ज्ञाता), ८९ एकराट् (आकाशमें एकमात्र प्रकाशित होनेवाले), ९० जगत्पिता, ९१ धूमकेतु (अग्निरूप), ९२ विद्युत् (विशेष दीप्तिमान्), ९३ ध्वान्तहा (अन्धकारनाशक), ९४ गुरु, ९५ गोपति (किरणोंके स्वामी), ९६ कृतातिथ्य (सब लोग अर्घ्य देकर जिनका आतिथ्यसत्कार करते हैं), ९७ शुभाचार (पुण्यकर्मोंके प्रवर्तक), ९८ शुचिप्रिय (पवित्र आचार-विचारवाले जिन्हें अधिक प्रिय हैं), ९९ सामप्रिय (साम-गानके प्रेमी), १०० लोकबन्धु, १०१ नैकरूप (अनेक रूपवाले), १०२ युगादिकृत (युगादिके उत्पादक), १०३ धर्मसेतु (धर्म-मर्यादाके रक्षक), १०४ लोक-साक्षी (सब लोगोंके शुभाशुभ कर्मोंको देखनेवाले), १०५ खेट (आकाशमें विचरनेवाले), १०६ अर्क (अर्चनीय), १०७ सर्वद (सब कुछ देनेवाले) तथा १०८ प्रभु (सर्वशक्तिमान्) हैं। मेरे द्वारा इस प्रकार एक सौ आठ नामोंसे जिनकी भलीभाँति स्तुति की गयी है, वे सर्वलोकप्रिय भगवान् सूर्य समस्त लोकोंपर प्रसन्न हों।

**इस स्तुतिसे प्रसन्न होकर भगवान् सूर्यने मुझसे कहा**—देवर्षे! तुम्हारा प्रिय करनेकी इच्छासे मैं अपनी एक कलाद्वारा सदा इस स्थानमें निवास करूँगा। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक यहाँ मुझ भट्टादित्यकी पूजा करेगा, वह कामरूपधारी साक्षात् मुझ सहस्रांशुके पूजनसे प्राप्त होनेवाले फलको पा लेगा। जो मनुष्य मेरे उद्देश्यसे यहाँ थोड़ा या अधिक दान करेगा, उसे मैं सहर्ष स्वीकार करूँगा और उसका पुण्य अक्षय होगा। जो मानव रविवारको अथवा षष्ठी या सप्तमी तिथिको लाल कमल, कह्लार, केशर, कनेर तथा सौ पत्तोंवाले महाकमलके पुष्पोंसे यहाँ मेरी पूजा करेंगे, वे जिन-जिन कामनाओंके लिये प्रार्थना करेंगे, उन सबको निश्चय ही प्राप्त कर लेंगे। भक्तिपूर्वक मेरा दर्शन करनेसे रोग और दरिद्रताका नाश होगा। प्रतिदिन मुझे प्रणाम करनेसे स्वर्गकी तथा नित्य प्रति मेरी स्तुति करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होगी।

## महात्मा नन्दभद्रके सारभूत विचार तथा उनके द्वारा सत्यव्रतके नास्तिकतापूर्ण विचारोंका खण्डन

**नारदजी कहते हैं**—अर्जुन! अब बहूदक स्थानकी एक अद्भुत कथा सुनो। कामरूपमें जो बहूदक नामक कुण्ड है, वह इस तीर्थमें आकर भलीभाँति प्रकट हुआ है। इसीलिये इसे बहूदक कहा गया है। महात्मा कपिलने बहुत वर्षोंतक तपस्या करके यहाँ एक बहुत सुन्दर शिवलिंगकी स्थापना की है, जो कपिलेश्वरके नामसे प्रसिद्ध है। अर्जुन! नन्दभद्र नामके एक वणिक् थे, जो तीनों समय बड़े आदरके साथ कपिलेश्वर लिंगकी पूजा किया करते थे। वे साक्षात् दूसरे धर्मराजकी भाँति समस्त धर्मोंके विशेषज्ञ थे। धर्मोंके विषयमें जो कुछ कहा गया है, उसमें कोई भी ऐसी बात नहीं थी, जो नन्दभद्रको ज्ञात न हो। वे सबके सुहृद् थे और सदा सभीके हितसाधनमें संलग्न

रहते थे। उन्होंने मन, वाणी और क्रियाद्वारा इस परोपकार-धर्मका ही आश्रय ले रखा था। संसारमें ऐसा कोई धर्म न तो प्रकट हुआ है और न होनेवाला है, जो सब अवस्थाओंमें सर्वथा निर्दोष हो। इस निश्चयपर पहुँचे हुए नन्दभद्रने इस विशाल धर्म-समुद्रका सब ओरसे मन्थन करके जो सारतत्त्व ग्रहण किया था, उसे बतलाता हूँ, सुनो। नन्दभद्र जीविकाके लिये वाणिज्यको ही श्रेष्ठ मानते थे और उसीको अपनाये हुए थे। उन्होंने थोड़े-से काठ और घास-फूससे अपने रहनेके लिये घर बना रखा था और सब लोगोंकी भलाईके लिये वे थोड़ा-सा ही लाभ लेकर व्यापार करते थे। उनके क्रय-विक्रयकी वस्तुओंमें मदिरा सर्वथा वर्जित थी। उनके यहाँ ग्राहकोंके साथ भेद-भाव नहीं किया जाता था। झूठ और कपटका तो वहाँ नाम भी न था। वस्तुओंके आदान-प्रदानमें वे सबके साथ समतापूर्ण बर्ताव करते थे। बिना छल-कपटके दूसरोंसे खरीदकी वस्तु लेकर उसे बिना किसी धोखाधड़ीके वे सब लोगोंके हाथ बेचते थे; यही उनका श्रेष्ठ व्रत था। कुछ लोग यज्ञकी प्रशंसा करते हैं, परंतु नन्दभद्र ऐसा नहीं मानते थे। उन्होंने यज्ञमें आये हुए कुछ दोषोंको लक्ष्य करके ही ऐसी धारणा बनायी थी, तथापि वे श्रद्धापूर्वक देवपूजन, नमस्कार, स्तुति, नैवेद्य-निवेदन आदि यज्ञकी सारभूत बातोंका सदा ही पालन करते थे। कोई-कोई संन्यासकी प्रशंसा करते हैं, परंतु नन्दभद्र उनसे भी सहमत नहीं थे। उनका कहना था कि जो विषयोंका बाहरसे त्याग करके मनके द्वारा पुनः उनको ग्रहण करता है वह गृहस्थ और संन्यास अथवा इहलोक और परलोक दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर फटे हुए बादलकी भाँति नष्ट हो जाता है। संन्यासका जो सारभूत उत्तम तत्त्व है, उसका आदर तो नन्दभद्र भी करते थे। वे किसीके कर्मोंकी निन्दा या प्रशंसा नहीं करते थे। अनेक भिन्न-भिन्न मार्गोंमें स्थित हुए लोगोंको चन्द्रमाकी भाँति तटस्थ रहकर लीलापूर्वक देखते थे। किसीके साथ न उनका द्वेष था, न राग; न अनुरोध था, न विरोध। पत्थर और सुवर्णको वे समान समझते तथा अपनी निन्दा और स्तुतिमें भी समान भाव रखते थे। वे स्वभावसे ही धीर थे। सम्पूर्ण भूतोंसे निर्भय रहते थे। अपनी आकृति ऐसी बनाये रखते थे, मानो अन्धे और बहरे हों। कर्मोंके फलकी उन्हें कोई आकांक्षा नहीं थी। अतः वह कर्म उनके लिये भगवान् सदाशिवकी आराधना बन जाता था। इसी कारण वे धर्मका अनुष्ठान तो चाहते और करते थे, परंतु उसमें कोई लोभ नहीं रखते थे। नन्दभद्रने भलीभाँति विचार करके इसीको मोक्षके साररूपसे ग्रहण किया था। कुछ लोग खेतीकी प्रशंसा करते हैं; परंतु नन्दभद्रने उसके भी सारभागको ही अपनाया था। आठ बैलोंसे जुड़ा हुआ एक हल होना चाहिये और खेतीकी आयमेंसे तीसवें भागका त्याग करना चाहिये—उसे धर्मके कार्यमें लगा देना चाहिये। बूढ़े पशुओंका भी स्वयं ही पालन-पोषण करना चाहिये। जो ऐसा करे, वही श्रेष्ठ किसान है। नन्दभद्रने इसीको खेतीका सार मानकर इसका आदर किया था। उनके मतसे प्रतिदिन अपनी शक्तिके अनुसार देवताओं, पितरों, मनुष्यों (अतिथियों), ब्राह्मणों तथा पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि भूतोंके लिये अन्न देना चाहिये। सदा इन सबको देकर ही स्वयं भोजन करना उचित है। कुछ लोग ऐश्वर्यकी प्रशंसा करते हैं; परंतु नन्दभद्र उसे भी प्रशंसाके योग्य नहीं मानते थे। क्योंकि ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हो मनुष्य दूसरे मनुष्योंको दास बनाकर उनका उपभोग करते हैं। वे मनुष्योंका वध करते हैं, उन्हें बाँधते हैं और बंदी बनाकर दिन-रात पीड़ा देते हैं। ऐश्वर्यशाली पुरुष अपनेको अजर-अमर समझकर दूसरोंके साथ दुर्व्यवहार करते

हैं। उनपर ऐश्वर्यका मद तो रहता ही है, मदिरापानके मदसे भी वे अत्यन्त मतवाले हो उठते हैं। वास्तवमें जो धनके मदसे उन्मत्त होता है, वह पतित होकर विवेक खो बैठता है। अतः सम्पूर्ण भूतों (प्राणियों)-को अपना स्वरूप मानकर उनके प्रति अपने ही जैसा बर्ताव करना चाहिये। जिसकी सर्वत्र आत्मदृष्टि है, वह ऐश्वर्यसे मतवाला नहीं होता। जो सबके शरीरमें अपने ही जैसे सुख-दुःखका अनुभव करता हो, ऐसा ऐश्वर्यशाली पुरुष आज कहाँ है? इसलिये नन्दभद्रने ऐश्वर्यका जो सार ग्रहण किया था, वह भी सुनो। वे अपनी शक्तिके अनुसार सभी प्राणियोंकी सेवा करते थे, किसीकी भी सेवासे विमुख नहीं होते थे।

इस प्रकार इधर-उधर प्रकट हुए सारभूत सदाचारका संग्रह करके बुद्धिमान् नन्दभद्र उसीका पालन करते थे। इस आचरणसे रहनेवाले साधु-शिरोमणि नन्दभद्रके सद्व्यवहारकी देवतालोग भी स्पृहा रखते थे। इन्द्र आदि सब देवताओंको उनकी स्थिति देखकर बड़ा विस्मय होता था। इसी स्थानमें एक शूद्र भी रहता था, जो नन्दभद्रका पड़ोसी था। उसका नाम तो था सत्यव्रत, किंतु वह बड़ा भारी नास्तिक और दुराचारी था। धर्मपरायण नन्दभद्रपर बारंबार दोषारोपण किया करता था और सदा उनके दोष ही ढूँढ़ता रहता था। उसकी इच्छा थी, यदि इनका कोई छिद्र देख पाऊँ तो इन्हें धर्मसे गिरा दूँ। खोटे हृदयवाले क्रूर नास्तिकोंका यह स्वभाव ही होता है कि वे अपनेको तो नीचे गिराते ही हैं, दूसरोंको भी गिरानेकी चेष्टा करते हैं।

धार्मिक वृत्तिसे रहनेवाले बुद्धिमान् नन्दभद्रके वृद्धावस्थामें बड़े कष्टसे एक पुत्र हुआ, किंतु वह चल बसा। इसे प्रारब्धका फल मानकर उन महामति वैश्यने शोक नहीं किया। देवता हो या मनुष्य, प्रारब्धके विधानसे कौन छूट पाता है। तदनन्तर नन्दभद्रकी प्यारी पत्नी कनका, जो अरुन्धतीकी भाँति साध्वी स्त्रियोंके समस्त सद्गुणोंसे विभूषित तथा गृहस्थधर्मकी साक्षात् मूर्ति थी, सहसा मृत्युको प्राप्त हो गयी। नन्दभद्र जितेन्द्रिय थे; फिर भी पत्नीके न रहनेसे गृहस्थ-धर्मका नाश होगा, यह सोचकर उन्हें शोक हुआ।

नन्दभद्रका यह अन्तर देखकर सत्यव्रतको बहुत दिनोंके बाद बड़ी प्रसन्नता हुई। वह 'हाय-हाय! बड़े कष्टकी बात हुई' ऐसा कहता हुआ शीघ्र ही नन्दभद्रके पास आया और मित्रकी भाँति मिलकर उनसे बोला—'हा नन्दभद्र! यदि तुम-जैसे धर्मात्माको भी ऐसा फल मिला तो इससे मेरे मनमें यही आता है कि यह धर्म-कर्म व्यर्थ ही है। भाई नन्दभद्र! मैं सदा तुमसे कुछ कहना चाहता था, किंतु तुम्हारी ओरसे कोई प्रस्ताव न होनेके कारण मैंने कभी कुछ नहीं कहा, क्योंकि बिना किसी प्रस्तावके बृहस्पतिजी भी कोई बात कहें, तो उनकी बुद्धिकी अवहेलना होती है और उन्हें नीच पुरुषकी भाँति अपमान प्राप्त होता है। मैं वाणीके अठारह और बुद्धिके नौ दोषोंसे रहित सर्वथा निर्दोष वाक्य बोलूँगा। सूक्ष्मता, संख्या, क्रम, निर्णय और प्रयोजन—ये पाँच अर्थ जिसमें उपलब्ध होते हैं, उसे 'वाक्य' कहते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके उद्देश्यसे जो कुछ कहा जाता है, वह 'प्रयोजन' नामक वाक्य कहा गया है। यह वाक्यका प्रथम लक्षण है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके विषयमें प्रतिज्ञा करके वाक्यके उपसंहारमें 'यही वह है' ऐसा कहकर जो विशेषरूपसे सिद्धान्त बताया जाता है, वह 'निर्णय' नामक वाक्य है। 'यह पहले और यह पीछे कहना चाहिये'—इस प्रकार क्रमविभागपूर्वक जो प्रस्तुत विषयका प्रतिपादन किया जाता है, उसे वाक्यतत्त्वके ज्ञाता विद्वान् 'क्रमयोग' कहते हैं। जहाँ दोषों और गुणोंका

यथावत् विभाग करके दोनोंके लिये प्रमाण उपस्थित किया जाय उसे 'संख्या' वाक्य समझना चाहिये। और जहाँ वाक्यके विभिन्न अर्थोंमें अभेद देखा जाता है, उस अतिशय अभेदकी प्रतीतिमें जो हेतु है; उसे ही 'सूक्ष्मता' कहते हैं। यह वाक्यके गुणोंकी गणना हुई। अब वाणीके अठारह दोषोंका वर्णन सुनो। अपेतार्थ, अभिन्नार्थ, अप्रवृत्त, अधिक, अश्लक्ष्ण, सन्दिग्ध, पदान्त अक्षरका गुरु होना, पराङ्मुखमुख, अनृत एवं असंस्कृत, त्रिवर्गविरुद्ध, न्यून, कष्टशब्द, अतिशब्द, व्युत्क्रमाभिहत, सशेष, अहेतुक तथा निष्कारण*—ये वाणीके दोष हैं। अब बुद्धिके दोषोंको सुनो। काम, क्रोध, भय, लोभ, दैन्य, अनार्जव (कुटिलता)—इन छः दोषोंसे युक्त होकर तथा दया, सम्मान और धर्म—इन तीन गुणोंसे हीन होकर मैं कोई बात न कहूँगा। (उक्त छः दोषोंके साथ दयाहीनता, सम्मानहीनता और धर्महीनता—ये तीन दोष और मिल जानेसे नौ दोष होते हैं।) जब वक्ता, श्रोता और वाक्य तीनों अविकल रहकर बोलनेकी इच्छामें समान अवस्थाको प्राप्त हों, तभी वक्ताका अभिप्राय यथावत् रूपसे प्रकट होता है। बातचीत करते समय जब वक्ता श्रोताकी अवहेलना करता है अथवा श्रोता ही वक्ताकी उपेक्षा करने लगता है, तब बोला हुआ वाक्य बुद्धिपथपर नहीं चढ़ता। इसके सिवा, जो सत्यका परित्याग करके अपनेको अथवा श्रोताको प्रिय लगनेवाला वचन बोलता है, उसके उस वाक्यमें सन्देह उत्पन्न होने लगता है; अतः वह वाक्य भी सदोष ही है। इसलिये जो अपनेको या श्रोताको प्रिय लगनेवाली बात छोड़कर केवल सत्य ही बोलता है, वही इस पृथ्वीपर यथार्थ वक्ता है, दूसरा नहीं।

शास्त्रोंके जालसे पृथक् हो मिथ्यावादोंको छोड़कर केवल सत्य कहना ही मेरा व्रत है। इसलिये मैं 'सत्यव्रत' कहलाता हूँ। मैं तुमसे सच्ची बात कहूँगा और तुम्हें भी उसे सत्य मानकर ही स्वीकार करना चाहिये। भलेमानुस! जबसे तुम पत्थर पूजनेमें लग गये, तबसे तुम्हें कोई अच्छा फल मिला हो, ऐसा मैं नहीं देखता। तुम्हारे एक ही तो पुत्र था, वह भी नष्ट हो गया। पतिव्रता पत्नी थी, सो भी संसारसे चल बसी। साधो! झूठे तथा कपटपूर्ण कर्मोंका ही ऐसा फल हुआ करता है। भैया! देवता कहाँ हैं? सब मिथ्या है। यदि होते तो दिखायी न देते? यह सब कुछ कपटी ब्राह्मणोंकी झूठी कल्पना है। लोग पितरोंके उद्देश्यसे दान देते हैं, यह देखकर मुझे तो हँसी आती है। मेरी दृष्टिमें यह अन्नकी बरबादी है। भला, मरा हुआ मनुष्य क्या खायेगा? मूर्ख एवं नीच ब्राह्मण, जो समस्त संसारकी सृष्टिका अनेक प्रकारसे वर्णन किया करते हैं, उसमें भी जो यथार्थ बात है उसे सुनो। संसारकी सृष्टि और संहार—ये दोनों बातें झूठी हैं। वास्तवमें यह जगत् सत्य है और इसी रूपमें सदा बना रहता है। यह विश्व स्वभावसे ही सदा वर्तमान

* जिस वाणीके उच्चारण करनेपर भी अर्थका भान न हो, वह 'अपेतार्थ' है। जिससे अर्थभेदकी स्पष्ट प्रतीति न हो, वह अभिन्नार्थ है। जो सदा व्यवहारमें न आता हो ऐसा शब्द 'अप्रवृत्त' कहा गया है। जिसके न रहनेपर भी वाक्यार्थ-बोध हो जाता है, वह वाक् या शब्द अधिक है। अस्पष्ट अथवा अपरिमार्जित वाणीको अश्लक्ष्ण कहते हैं। जिससे अर्थमें सन्देह हो वह सन्दिग्ध है। पदान्त अक्षरका गुरु उच्चारण भी एक दोष ही है। वक्ता जिस अर्थको व्यक्त करना चाहता है, उसके विपरीत अर्थकी ओर जानेवाली वाणीको पराङ्मुखमुख कहा गया है। अनृतका अर्थ है असत्य। व्याकरणसे सिद्ध न होनेवाली वाणीको असंस्कृत कहते हैं। धर्म, अर्थ और कामके विपरीत विचार प्रकट करनेवाली वाणी त्रिवर्ग-विरुद्ध कही गयी है। अर्थ-बोधके लिये पर्याप्त शब्दका न होना न्यून दोष है। जिसके उच्चारणमें क्लेश हो, वह कष्टशब्द है। अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दको यहाँ अतिशब्द कहा है। जहाँ क्रमका उल्लंघन करके शब्दप्रयोग हुआ हो, वह व्युत्क्रमाभिहत कहलाता है। वाक्य पूरा होनेपर भी यदि बात पूरी नहीं हुई तो वहाँ सशेष नामक दोष है। कथित अर्थकी सिद्धिके लिये जहाँ उचित तर्क या युक्तिका अभाव हो; वहाँ अहेतुक दोष है। जब किसी बातके कहे जानेका कोई कारण नहीं बताया गया हो अथवा किसी शब्दके प्रयोगका उचित कारण न हो, तब वहाँ निष्कारण दोष है।

रहता है, ये सूर्य आदि ग्रह स्वभावसे ही आकाशमें विचरण करते हैं, स्वभावसे ही निरन्तर वायु चलती है, स्वभावसे ही मेघ पानी बरसाता है और स्वभावसे ही बोया हुआ धान्य जमता है। स्वभावसे ही पृथ्वी स्थिर है, स्वभावसे ही नदियाँ बहती हैं, स्वभावसे ही पर्वत अविचलभावसे सुशोभित हैं और स्वभावसे ही समुद्र अपनी मर्यादामें स्थित है। स्वभावसे ही गर्भवती स्त्री पुत्र पैदा करती है, स्वभावसे ही ये बहुतेरे जीव उत्पन्न होते हैं। जैसे स्वभावसे ही लोग टेढ़े होते हैं, ऋतुके स्वभावसे ही बेरोंमें काँटे पैदा होते हैं—उसी प्रकार स्वभावसे ही यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है। इसका कोई प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला कर्ता नहीं है। इस प्रकार स्वभावसे ही सम्पूर्ण लोक स्थित हैं। ऐसी अवस्थामें भी मूर्ख मनुष्य इस विषयको लेकर मतवालेकी भाँति व्यर्थ मोहमें पड़ा रहता है। धूर्तलोग इस मनुष्ययोनिको भी जो सबसे श्रेष्ठ बतलाते हैं, इसकी भी पोल खोलता हूँ, सुनो। मनुष्ययोनिसे बढ़कर दूसरी किसी योनिमें कष्ट नहीं है। मनुष्योंको जो कष्ट है, वह हमारे शत्रुओंको भी न हो। मनुष्योंके समक्ष क्षण-क्षणमें शोकके सहस्रों स्थान आते हैं। यह मानवयोनि क्या है, बन्दीगृह है! कोई बड़भागी पुरुष ही इससे छुटकारा पाता है। ये पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े बिना किसी बन्धनके सुखपूर्वक विहार करते हैं; इनकी योनि अत्यन्त दुर्लभ है। ये स्थावर (वृक्ष-पर्वत आदि) कितने निश्चिन्त हैं। पृथ्वीपर इन्हींका सुख महान् है। अधिक क्या कहें, मनुष्योंकी अपेक्षा अन्य योनियोंमें उत्पन्न होनेवाले सभी जीव धन्य हैं। कोई स्थावर हैं, कोई कीड़े हैं, कोई पतंग हैं और कोई मनुष्य आदि जीवोंके रूपमें उत्पन्न हुए हैं। इसमें स्वभावको ही प्रधान कारण समझो। पुण्य और पाप आदि तो कल्पनामात्र हैं। इसलिये नन्दभद्र! तुम मिथ्या-धर्मका परित्याग करके मौजसे खाओ, पीओ, खेलो और भोग भोगो। पृथ्वीपर, बस यही सत्य है।'

**नारदजी कहते हैं**—सत्यव्रतके इन वाक्योंसे, जो अशुभकर, अयुक्तिसंगत तथा असमंजस (दोषपूर्ण) थे, महाबुद्धिमान् नन्दभद्र तनिक भी विचलित नहीं हुए। वे क्षोभरहित समुद्रकी भाँति गम्भीर थे। उन्होंने हँसते हुए उत्तर दिया—'सत्यव्रतजी! आपने जो यह कहा कि धर्मनिष्ठ मनुष्य सदा दुःखके भागी होते हैं, वह झूठ है। हम तो पापियोंपर भी बहुतेरे दुःख आते देखते हैं। संसारबन्धनजनित क्लेश तथा पुत्र और स्त्री आदिकी मृत्युके दुःख, पापी मनुष्योंके यहाँ भी देखे जाते हैं। इसलिये मेरे मतमें धर्म ही श्रेष्ठ है। किसी पुण्यात्मा साधुपुरुषपर संकट आया देखकर बड़े-बड़े लोग सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए यह कहते हैं कि 'अहो! ये तो साधु पुरुष हैं, इनपर कष्ट आया, यह तो हमारे लिये बड़े दुःखकी बात है' इत्यादि। पापियोंको तो यह सहानुभूति भी दुर्लभ है। स्त्री तथा धन आदिके लोभसे जब कोई पापी लुटेरा घरमें घुसता है, तो आप भी उससे डर जाते हैं; उसके प्रति द्वेषका परिचय देते हैं और उसके

ऊपर क्रोध भी करते हैं। यह सब व्यर्थ ही तो है। दूसरी बात जो आप यह कहते हैं कि इस संसारका कारण कोई महान् ईश्वर नहीं है, यह भी बच्चोंकी-सी बात है। क्या प्रजा बिना राजाके रह सकती है? इसके सिवा जो आप यह कहते हैं कि तुम झूठे ही पत्थरके लिंगकी पूजा करते हो, इसके उत्तरमें मुझे इतना ही निवेदन करना है कि आप शिवलिंगकी महिमाको नहीं जानते हैं। ठीक उसी तरह, जैसे अन्धा सूर्यके स्वरूपको नहीं जानता। ब्रह्मा आदि समस्त देवता, बड़े-बड़े समृद्धिशाली राजा, साधारण मनुष्य तथा मुनि भी शिवलिंगकी पूजा करते हैं। उनके द्वारा स्थापित किये हुए शिवलिंग उन्हींके नामसे अंकित एवं प्रसिद्ध हैं, क्या ये सब-के-सब मूर्ख ही थे और अकेले आप सत्यव्रतजी ही बुद्धिमानीका ठेका लिये बैठे हैं? भगवान् विष्णु (राम)-ने युद्धमें रावणको मारकर समुद्रके किनारे रामेश्वरलिंगकी स्थापना की है, क्या वह झूठा ही है? प्राचीन कालमें इन्द्रने वृत्रासुरका वध करके महेन्द्रपर्वतपर शिवलिंगको स्थापित किया, जिससे वृत्रवधके पापसे मुक्त होकर इन्द्र आज भी स्वर्गलोकमें आनन्द भोगते हैं! चन्द्रमाने पश्चिम समुद्रके तटपर प्रभासक्षेत्रमें भगवान् सोमनाथकी स्थापना करके आरोग्यलाभ किया था। यमराज और कुबेरने काशीमें, गरुड़ और कश्यपने सह्यपर्वतपर तथा वायु और वरुणने नैमिषारण्यक्षेत्रमें शिवलिंगको स्थापित किया है, जिससे वे सदा आनन्दमग्न रहते हैं। इसी स्तम्भतीर्थमें भगवान् स्कन्दने कुमारेश्वर-लिंगकी स्थापना की है, क्या वह समस्त पापोंका नाशक नहीं है? इसी प्रकार अन्य देवताओं, राजाओं और मुनियोंने जो-जो शिवलिंग स्थापित किये हैं, उनकी गणना करनेमें मैं असमर्थ हूँ। भूलोकवासी, स्वर्गलोकवासी तथा पातालनिवासी भी शिवलिंगके पूजनसे तृप्त होते हैं। आप जो यह कहते हैं कि देवता नहीं हैं और यदि हैं तो कहीं भी दिखायी क्यों नहीं देते? आपके इस प्रश्नसे मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। जैसे दरिद्रलोग द्वार-द्वार जाकर कुलथी माँगते हैं, उसी प्रकार क्या देवता भी आपके पास आकर याचना करें? भैया! आप बड़े बुद्धिमान् हैं, आप जो चाहते हैं उसकी सिद्धि तो आपके गुरु ही कर सकते हैं। यदि आपके मतमें सब पदार्थ स्वभावसे ही सिद्ध होते हैं, तो बताइये, कर्ताके बिना भोजन क्यों नहीं तैयार हो जाता? इसलिये जो भी निर्माण-कार्य है, वह अवश्य किसी-न-किसी कर्ताका ही है। जिस पदार्थमें जितनी निर्माणशक्ति विधाताने भर दी है, वह वैसा ही है। और आपने जो यह कहा है कि ये पशु आदि प्राणी ही सुखी तथा धन्य हैं, यह बात आपके सिवा और किसीने न तो कही है और न सुनी ही है। तमोगुणी और अनेक इन्द्रियोंसे रहित जो पशु-पक्षी आदि प्राणी हैं तथा उनके जो कष्ट हैं, वे भी यदि स्पृहणीय और धन्य हैं तो सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे युक्त मनुष्य श्रेष्ठ और धन्य क्यों नहीं? मैं तो समझता हूँ कि आपका जो यह अद्भुत सत्यव्रत है, इसे आपने नरक जानेके लिये ही संग्रह किया है। आपने पहले ही जो आडम्बरपूर्ण भूमिका बाँधकर अपने ज्ञानका परिचय देना आरम्भ किया है, उसीमें आपके इन वचनोंकी सारहीनता व्यक्त हो गयी है। क्योंकि मायावी लोग जब बोलने लगते हैं, तब उनकी बातें आडम्बरसे आच्छादित होती हैं। आपने प्रतिज्ञा तो की थी कुछ और कहनेके लिये, परंतु कह डाला कुछ और ही। इसमें आपका कोई दोष नहीं है, सब दोष मेरा ही है, जो मैं आपकी बात सुनता हूँ। नास्तिक, सर्प और विष इनका तो यह गुण ही है कि ये दूसरेको मोहित करते हैं। प्रतिदिन साधुपुरुषोंका संग करना धर्मका कारण है। इसलिये विद्वान्,

वृद्ध, शुद्ध भाववाले तपस्वी तथा शान्तिपरायण संत-महात्माओंके साथ सम्पर्क स्थापित करना चाहिये। नीच, अज्ञानी तथा आत्मज्ञानसे रहित पुरुषोंका संग नहीं करना चाहिये। जिनके कुल, विद्या और कर्म तीनों शुद्ध हों और जिन्हें शास्त्रका ज्ञान हो, ऐसे पुरुषोंका विशेषरूपसे सेवन करना चाहिये। दुष्ट पुरुषोंके दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप, एक आसनपर बैठने तथा एक साथ भोजन करनेसे धार्मिक आचार नष्ट होते हैं और मनुष्योंको सिद्धि नहीं प्राप्त होती। नीचोंके संगसे पुरुषोंकी बुद्धि नष्ट होती है, मध्यमश्रेणीके लोगोंके साथ उठने-बैठनेसे बुद्धि मध्यम स्थितिको प्राप्त होती है और श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ समागम होनेसे बुद्धि श्रेष्ठ हो जाती है।* इस धर्मका स्मरण करके मैं पुनः आपसे मिलनेकी इच्छा नहीं रखता, क्योंकि आप सदा ब्राह्मणोंकी ही निन्दा करते हैं। वेद प्रमाण हैं, स्मृतियाँ प्रमाण हैं तथा धर्म और अर्थसे युक्त वचन प्रमाण हैं, परंतु जिसकी दृष्टिमें ये तीनों ही प्रमाण नहीं हैं, उसकी बातको कौन प्रमाण मानेगा?

महात्मा नन्दभद्र सत्यव्रतसे ऐसा कहकर उसी समय सहसा घरसे निकल पड़े और भगवान् भट्टादित्यके परम पावन बहूदक तीर्थमें जा पहुँचे।

## नन्दभद्र और बालकका संवाद, बालादित्यकी स्थापना और नन्दभद्रकी मुक्ति

**नारदजी कहते हैं**—तदनन्तर परम बुद्धिमान् नन्दभद्र बहूदक कुण्डके तटपर वर्तमान कपिलेश्वर-लिंगकी पूजा करके प्रणामपूर्वक हाथ जोड़कर भगवान्‌के आगे खड़े हुए। संसारके चरित्रोंसे उनके मनमें कुछ दुःख हो गया था। इसलिये उन्होंने दुःखी होकर यह गाथा गायी—यदि इस संसारकी सृष्टि करनेवाले भगवान् सदाशिवको मैं देख पाऊँ, तो अनेक प्रश्नोंके साथ उनसे तुरंत यह प्रश्न करूँगा कि भगवन्! क्या आपके उत्पन्न किये बिना ही यह अनेक रूपोंमें उपलब्ध होनेवाला निरीह संसार भरता चला जा रहा है? आप चेतन हैं, शुद्ध हैं और राग आदि दोषोंसे रहित हैं, तो भी आपने जो अखिल विश्वकी सृष्टि की है, उसे अपने समान ही चेतन, विशुद्ध एवं राग आदि दोषोंसे रहित क्यों नहीं बनाया? क्यों जड़ बना दिया? आप तो निर्वैर और समदर्शी हैं; फिर आपका बनाया हुआ यह जगत् सुख-दुःख और जन्म-मरण आदिसे क्लेश क्यों पा रहा है? संसारके ऐसे चरित्रसे मैं मोहित हो गया हूँ। अतः अब किसी दूसरे स्थानपर नहीं जाऊँगा, भोजन नहीं करूँगा और पानी भी नहीं पीऊँगा। उपर्युक्त बातोंका चिन्तन करता हुआ मृत्युपर्यन्त यहीं खड़ा रहूँगा। इस प्रकार विचार करते हुए नन्दभद्र वहीं खड़े रहे। तत्पश्चात् उसके चौथे दिन कोई सात वर्षका बालक पीड़ासे पीड़ित होकर बहूदकके सुन्दर तटपर आया। वह बहुत ही दुर्बल तथा गलित कुष्ठका रोगी था। उसे पग-पगपर पीड़ाके मारे मूर्च्छा आ जाती थी। उस बालकने बड़े क्लेशसे अपनेको सँभालकर नन्दभद्रसे कहा—'अहो! आपके तो सभी अंग सुन्दर और स्वस्थ हैं, फिर भी आप दुःखी क्यों हैं?' उसके पूछनेपर नन्दभद्रने अपने दुःखका सब कारण कह सुनाया। वह सब सुनकर बालकने दुःखी होकर कहा—

* बुद्धिश्च हायते पुंसां नीचैस्सह समागमात्। मध्यस्थैर्मध्यतां याति श्रेष्ठतां याति चोत्तमैः॥
(स्कं० पु०, मा० कुमा० ४०। २८)

'अहो! इस बातसे मुझे बड़ा भयंकर कष्ट हो

रहा है कि विद्वान् पुरुष भी अपने कर्तव्यको नहीं समझ पाते हैं। जिसका शरीर सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे युक्त और स्वस्थ है, वह भी व्यर्थ मरनेकी इच्छा रखता है। जहाँ राजा खट्वांगने दो ही घड़ीमें मोक्षका मार्ग प्राप्त कर लिया, उसी भारतवर्षको आयु रहते कौन त्याग सकता है। मैं तो अपनेको ही दृढ़ मानता हूँ; क्योंकि मेरे माता-पिता कोई नहीं हैं, मुझमें चलनेकी भी शक्ति नहीं है, तथापि मैं मरना नहीं चाहता हूँ। धैर्यवान्‌को सभी लाभ प्राप्त होते हैं, यह श्रुतिका वचन सत्य है। आपको तो श्रुतिके इस कथनसे सन्तोष धारण करना ही उचित है; क्योंकि आपका यह शरीर अभी दृढ़ है। यदि मेरा भी शरीर किसी प्रकार नीरोग हो जाय, तो मैं एक-एक क्षणमें वह सत्कर्म करूँ, जिसको एक-एक युगमें भोगा जा सकता है। इन्द्रियाँ जिसके वशमें हों और शरीर जिसका दृढ़ हो, वह भी यदि साधनके सिवा और किसी वस्तुकी इच्छा करे, तो उससे बढ़कर मूर्ख कौन हो सकता है? मूर्ख मनुष्यको ही प्रतिदिन शोकके सहस्रों और हर्षके सैकड़ों स्थान प्राप्त होते हैं, विद्वान् पुरुषको नहीं।* जो ज्ञानके विरुद्ध हों, जिनमें नाना प्रकारके विनाशकारी विघ्न प्राप्त हों तथा जो मूलका ही उच्छेद कर डालनेवाले हों, ऐसे कर्मोंमें आप-जैसे बुद्धिमान् पुरुषोंकी आसक्ति नहीं होती। आठ अंगोंवाली जिस बुद्धिको सम्पूर्ण श्रेयकी सिद्धि करनेवाली बताया गया है, वह वेदों और स्मृतियोंके अनुकूल चलनेवाली निर्मल बुद्धि आपके भीतर मौजूद है। इसलिये आप-जैसे लोग दुर्गम संकटोंमें तथा स्वजनोंकी विपत्तियोंमें भी शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे पीड़ित नहीं होते। पण्डितोंकी-सी बुद्धिवाले विवेकी मनुष्य प्राप्त होने योग्य वस्तुकी भी अभिलाषा नहीं करते, नष्ट हुई वस्तुके लिये शोक करना नहीं चाहते तथा आपत्तियोंमें मोहित नहीं होते हैं। सम्पूर्ण जगत् मानसिक और शारीरिक दुःखोंसे पीड़ित है। उन दोनों प्रकारके दुःखोंकी शान्तिका उपाय विस्तारपूर्वक और संक्षेपसे भी सुनिये। रोग, अनिष्ट वस्तुकी प्राप्ति, परिश्रम तथा अभीष्ट वस्तुके वियोग—इन चार कारणोंसे शारीरिक और मानसिक दुःख उत्पन्न होते हैं। अप्रियका संयोग और प्रियका वियोग—यह दो प्रकारका मानसिक महाकष्ट बताया गया है। इस प्रकार यहाँ शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकारका दुःख बताया गया। जैसे लोहपिण्डके तप जानेसे उसपर रखा हुआ घड़ेका जल भी गरम हो जाता है, उसी प्रकार मानसिक दुःखसे

* शोकस्थानसहस्राणि हर्षस्थानशतानि च। दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥

(स्क० पु०, मा० कुमा० ४१। २३)

शरीरको भी सन्ताप होता है। अतः शीघ्र ही औषध आदिके द्वारा उचित प्रतीकार करनेसे व्याधि अर्थात् शारीरिक दुःखका और सर्वदा परित्याग करनेसे आधि अर्थात् मानसिक दुःखका शमन होता है। इन दो क्रियायोगोंसे व्याधि और आधिकी शान्ति बतायी गयी है। इसलिये जैसे जलसे आगको बुझाया जाता है, उसी प्रकार ज्ञानसे मानसिक दुःखको शान्त करे। मानसिक दुःखके शान्त होनेपर मनुष्यका शारीरिक दुःख भी शान्त हो जाता है। मनके दुःखकी जड़ है स्नेह। स्नेहसे ही प्राणी आसक्त होता है और दुःख पाता है। स्नेहसे दुःख और स्नेहसे ही भय उत्पन्न होते हैं। शोक, हर्ष तथा आयास—सब कुछ स्नेहसे ही होता है। स्नेहसे इन्द्रियराग तथा विषयरागका जन्म हुआ है, ये दोनों ही श्रेयके विरोधी हैं। इनमें पहला अर्थात् इन्द्रियराग भारी माना गया है। इसलिये जो स्नेह या आसक्तिका त्यागी, निर्वैर तथा निष्परिग्रह होता है, वह कभी दुःखी नहीं होता। जो त्यागी नहीं है, वह इस संसारमें बार-बार जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है। इस कारण मित्रोंसे तथा धनसंग्रहसे होनेवाले स्नेहमें कभी लिप्त न हो और अपने शरीरके प्रति होनेवाले स्नेहका ज्ञानद्वारा निवारण करे। ज्ञानी, सिद्ध, शास्त्रज्ञ और जितात्मा—इनमें स्नेहजनित आसक्ति नहीं होती। ठीक वैसे ही, जैसे कमलके पत्तोंमें पानी नहीं सटता। रागके वशीभूत हुए पुरुषको काम अपनी ओर खींचता है, फिर उसके मनमें भोगकी इच्छा उत्पन्न होती है, उस इच्छासे ही तृष्णा या लोभकी उत्पत्ति होती है। तृष्णा सबसे बढ़कर पापिष्ठ और सदा उद्वेगमें डालनेवाली मानी गयी है। इसके द्वारा बहुत-से अधर्म होते हैं। तृष्णाका रूप भी बड़ा भयंकर है। वह सबके मनको बाँधनेवाली है। खोटी बुद्धिवाले पुरुषोंके द्वारा बड़ी कठिनाईसे जिसका त्याग हो पाता है, जो इस शरीरके वृद्ध होनेपर भी स्वयं बूढ़ी नहीं होती तथा जो प्राणान्तकारी रोगके समान है, उस तृष्णाका त्याग करनेवालेको ही सुख मिलता है।* तृष्णाका आदि और अन्त नहीं है। जैसे लोहेकी मैल लोहेका नाश करती है, उसी प्रकार तृष्णा मनुष्योंके शरीरके भीतर रहकर उनका विनाश करती है।

**नन्दभद्र बोले**—शुद्ध बुद्धिवाले बालक! यह क्या बात है कि पापी मनुष्य भी निरापद होकर स्त्री और धनके साथ आनन्दमग्न देखे जाते हैं?

**बालकने कहा**—यह तो बहुत स्पष्ट है। जिन्होंने पूर्वजन्मोंमें तामसिक भावसे दान दिया है, उन्होंने इस जन्ममें उसी दानका फल प्राप्त किया है। परंतु तामसभावसे जो कर्म किया गया है, उसके प्रभावसे उन लोगोंका धर्ममें कभी अनुराग नहीं होता। ऐसे मनुष्य पुण्य-फलको भोगकर अपने तामसिक भावके कारण नरकमें ही जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। इस संशयके विषयमें मार्कण्डेयजीने पूर्वकालमें जो बात कही है, वह इस प्रकार सुनी जाती है—एक मनुष्य ऐसा है, जिसके लिये इस लोकमें तो सुखका भोग सुलभ है, परंतु परलोकमें नहीं। दूसरा ऐसा है, जिसके लिये परलोकमें सुखका भोग सुलभ है, किंतु इस लोकमें नहीं। तीसरा ऐसा है, जिसके लिये इस लोकमें और परलोकमें भी सुखभोग प्राप्त होता है और एक चौथे प्रकारका मनुष्य ऐसा है, जिसके लिये न तो इस लोकमें सुख है और न परलोकमें ही। जिसका पूर्वजन्ममें किया हुआ पुण्य शेष है, उसीको वह भोगता है

---

*तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी मता। अधर्मबहुला चैव घोररूपानुबन्धिनी॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः। यासौ प्राणान्तको रोगस्तां तृष्णां त्यजतस्सुखम्॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ४१। ४०-४१)

और नूतन पुण्यका उपार्जन नहीं करता, उस मन्दबुद्धि एवं भाग्यहीन मानवको प्राप्त हुआ वह सुखभोग केवल इसी लोकके लिये बताया गया है। जिसका पूर्वजन्मोपार्जित पुण्य नहीं है, किंतु वह तपस्या करके नूतन पुण्यका उपार्जन करता है, उस बुद्धिमान्‌को परलोकमें सदा ही सुखका भोग प्राप्त होता है। जिसका पहलेका किया हुआ पुण्य भी वर्तमान है और तपस्यासे नूतन पुण्यका भी उपार्जन हो रहा है, ऐसा बुद्धिमान् कोई-ही-कोई होता है, जिसे इहलोकमें और परलोकमें भी सुख-भोग प्राप्त होता है। जिसका पहलेका भी पुण्य नहीं है और इस लोकमें भी जो पुण्यका उपार्जन नहीं करता, ऐसे मनुष्यको न इहलोकमें सुख मिलता है न परलोकमें ही। उस नराधमको धिक्कार है। हे महाभाग! ऐसा जानकर सब कार्योंका त्याग करके भगवान् सदाशिवका भजन और वर्णधर्मका पालन कीजिये। इससे बढ़कर दूसरा कोई कर्म नहीं है। जो अपने मनोरथोंके नष्ट होने तथा प्राप्त होनेपर भी शोक करता है, अथवा जो भोगोंसे तृप्त नहीं होता, वह निश्चय ही दूसरे जन्ममें बन्धनमें पड़ता है।

**नन्दभद्र बोले**—हे बालक! आप बालरूपमें उपस्थित होनेपर भी वास्तवमें बालक नहीं हैं, बड़े बुद्धिमान् हैं, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। मैं बड़े विस्मयमें पड़ा हूँ और आप कौन हैं, यह यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ। मैंने बहुत-से वृद्ध पुरुषोंका दर्शन और सत्संग लाभ किया है, किंतु उन सबकी ऐसी बुद्धि न तो मैंने देखी है और न सुनी ही है। आपने तो मेरे जन्मभरके सन्देह खेल-खेलमें ही नष्ट कर दिये। अतः आप कोई साधारण बालक नहीं हैं, यह मेरा निश्चित मत है।

**बालकने कहा**—यह बड़ी लम्बी कथा है। एकाग्रचित्त होकर सुनिये। इससे पहले आठवें जन्ममें मैं विदिशा नगरके भीतर ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न हुआ था। मेरा नाम धर्मजालिक था। मैं वेद-वेदान्तोंका तत्त्वज्ञ, धर्मशास्त्रोंके अर्थ जाननेवाले विद्वानोंमें श्रेष्ठ तथा साक्षात् बृहस्पतिके समान धर्मशास्त्रोंका व्याख्याता था। लोगोंके लिये तो मैं नाना प्रकारके धर्मोंका विस्तारपूर्वक वर्णन करता था, परंतु स्वयं अत्यन्त दुराचारी तथा पापियोंमें भी सबसे बड़ा पापिराज था। मांस खाता, मदिरा पीता और परायी स्त्रियोंके साथ सदा रमण किया करता था। झूठा, दम्भी, पाखण्डी, दुष्ट, लोभी, दुरात्मा और शठ—इन सभी विशेषणोंसे मैं विभूषित था। कभी और कहीं भी कोई सत्कर्म नहीं करता था। जाली पुरुषोंकी भाँति लोगोंको केवल जाल सिखाता था। इसलिये मेरे यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले लोग मुझे धर्मजालिक कहते थे। इस प्रकार मैंने बहुत-से पातक बटोरे। फिर अन्तकाल आनेपर मृत्युके पश्चात् मैं यमलोकमें गया और वहाँ मुझे कूटशाल्मलि नामक नरकमें गिराया गया। पुनः यमदूत मुझे अपने कुकृत्योंका स्मरण दिलाते हुए इधर-उधर घसीटने लगे। मैं कभी तलवारोंसे काटा जाता और कभी कुत्तोंसे नुचवाया जाता था। इस दशामें वहाँ प्रतिक्षण जीता और मरता रहा अर्थात् बार-बार मूर्च्छित होता था। उस समय अनेक प्रकारसे अपनी निन्दा करता हुआ मैं बहुत वर्षोंतक पड़ा रहा। धर्मराजके दूतोंद्वारा पीड़ित होनेपर नरकमें जैसी बुद्धि होती है, वही यदि यहाँ दो घड़ी भी रह जाय, तो मनुष्य धन्य-धन्य हो जाय। तदनन्तर अत्यन्त यातना भोगनेके पश्चात् यमदूतोंने मुझे किसी प्रकार छोड़ा। फिर स्थावर-योनिमें जाकर अनेक प्रकारके क्लेशोंका उपभोग करके मैं सरस्वती नदीके सुन्दर तटपर एक कीड़ा हुआ। कीड़ेकी योनिमें रहते समय एक दिन मैं मार्गमें सुखपूर्वक सो रहा था। इतनेहीमें वहाँ अकस्मात् आते हुए रथकी घरघराहट मुझे बड़े जोरसे सुनायी पड़ी। उस आवाजको सुनकर मैं डर गया और सहसा मार्ग छोड़कर बड़े वेगसे दूर भागने लगा। उसी बीचमें इच्छानुसार घूमते

हुए भगवान् वेदव्यास उधर आ निकले। मुनिवर व्यासने वहाँ उस अवस्थामें पड़े हुए मुझे कृपापूर्वक देखा। ब्राह्मणजन्ममें मैंने सब लोगोंको जो नाना प्रकारके धर्मोंका उपदेश किया था, उसीके प्रभावसे उस कीट जन्ममें मुझे व्यासजीका संग प्राप्त हुआ। वे सब जीवोंकी भाषा जानते हैं, उन्होंने कीड़ेकी भाषामें मुझसे कहा—'ओ कीट! क्यों इस प्रकार भागा जा रहा है? किसलिये मृत्युसे इतना डरता है? अहो!

मनुष्यको यदि मृत्युसे भय हो तो उचित हो सकता है, तू तो कीट है। तुझे इस शरीरके छूटनेका इतना भय क्यों है?'

व्यासजीके ऐसा कहनेपर पूर्वपुण्यके प्रभावसे मेरी भी बुद्धि जाग्रत् हुई। तब मैंने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—'विश्ववन्द्य मुनीश्वर! मुझे इस मृत्युसे किसी प्रकारका भय नहीं, मेरे मनमें यही भय है कि मैं इससे भी नीच योनिमें न चला जाऊँ। इस कुत्सित कीटयोनिसे भी अधम दूसरी करोड़ों योनियाँ हैं। उनमें गर्भ आदि धारणके क्लेशसे मुझे डर लगता है और किसी कारणसे मैं भयभीत नहीं हूँ।'

**व्यासजी बोले**—कीट! तू भय न कर, जबतक तुझे ब्राह्मणशरीरमें न पहुँचा दूँगा, तबतक सभी योनियोंसे शीघ्र ही छुटकारा दिलाता रहूँगा।

व्यासजीके ऐसा कहनेपर उन जगद्गुरुको प्रणाम करके मैं पुनः मार्गमें लौट आया और रथके पहियेसे दबकर मृत्युको प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् कौवे और सियार आदि योनियोंमें मैं जब-जब उत्पन्न हुआ, तब-तब व्यासजीने आकर मुझे पूर्वजन्मका स्मरण करा दिया। तदनन्तर बहुत-सी योनियोंमें भ्रमण करके अत्यन्त क्लेश भोगता हुआ मैं अब अन्तमें ब्राह्मणके घरमें आकर इस मानव-योनिमें उत्पन्न हुआ हूँ। इसमें जन्म लेकर भी अत्यन्त दुःखी हूँ। जन्मसे ही पिता-माताने मुझे अकेला छोड़ दिया। मेरे शरीरमें गलित कोढ़का रोग हो गया है। इसके कारण मैं बड़ी भारी पीड़ाका अनुभव करता हूँ। जब मैं पाँच वर्षका हुआ, तभी व्यासजीने आकर मेरे कानमें सारस्वत-मन्त्रका उपदेश कर दिया। उसके प्रभावसे मुझे बिना पढ़े ही वेदों, शास्त्रों तथा सम्पूर्ण धर्मोंका स्मरण हो आया। फिर व्यासजीने ही मुझे यह आज्ञा दी कि तुम भगवान् कार्तिकेयके क्षेत्रमें जाओ और वहाँ महामति नन्दभद्रको आश्वासन दो। इसके बाद बहूदक तीर्थमें प्राणत्याग करके महीसागरसंगमके जलमें अपनी हड्डियाँ डलवा दो। उसके बाद तुम भावी जन्ममें 'मैत्रेय' नामक श्रेष्ठ मुनि होओगे। मुनि होनेके पश्चात् तुम्हें मोक्ष प्राप्त होगा।

स्वयं व्यासजीने इस प्रकार मुझसे कहा है, इसलिये मैं भारवाहकोंकी सहायतासे अत्यन्त क्लेश उठाकर इस तीर्थमें आया हूँ। इस प्रकार आपसे मैंने अपना सब चरित्र कह सुनाया। नन्दभद्रजी! पाप इस प्रकार कष्टदायक होता है, अतः आप सदा ही उसका त्याग करें।

**नन्दभद्र बोले**—अहो! आपका यह चरित्र

बड़ा अद्भुत है। इससे मेरे हृदयमें पुनः धर्मके लिये सौगुनी दृढ़ता आ गयी है। परंतु आपने जो मुझे धर्मका उपदेश किया है, उसके बदलेमें मैं आपकी कोई सेवा करना चाहता हूँ। अतः आप धर्मका स्मरण कीजिये और मुझे कोई निश्चित आदेश दीजिये।

**बालकने कहा**—नन्दभद्रजी! मैं इस तीर्थमें एक सप्ताहतक निराहार रहकर भगवान् सूर्यके मन्त्रोंका जप करूँगा। तत्पश्चात् शरीर त्याग दूँगा। उसके बाद आप बर्करिका तीर्थमें ले जाकर मेरे शरीरका दाह कर दीजियेगा और मेरी सब हड्डियाँ इसी तीर्थमें डाल दीजियेगा। इस बहूदक तीर्थमें जहाँ मैं प्राणत्याग करूँगा, वहाँ मेरे नामसे भगवान् सूर्यकी स्थापना भी कर दीजियेगा। भगवान् सविता सर्वश्रेष्ठ देवता हैं, द्विजोंके तो वे सर्वस्व ही हैं। सम्पूर्ण वेदों और वेदांगोंने भगवान् सूर्यकी महिमाका गान किया है। आप भी सदा इन सूर्यभगवान्‌का भजन और इस बहूदक कुण्डका सेवन करते रहें। व्यासजीके बताये अनुसार इस तीर्थका संक्षिप्त माहात्म्य भी मैं आपको बता रहा हूँ। जो मनुष्य माघमासकी सप्तमी तिथिको बहूदक तीर्थमें स्नान करके पितरोंको पिण्डदान देता है, उनके वे पितर अक्षय तृप्तिको प्राप्त होते हैं। बहूदक तीर्थके किनारे पितरोंके उद्देश्यसे जो कुछ भी दिया जाता है, वह अक्षय होकर उनके समीप पहुँच जाता है। बहूदक कुण्डमें किया हुआ स्नान, दान, जप, होम, स्वाध्याय और पितृ-तर्पण सब महान् फल देनेवाले होते हैं।

**नारदजी कहते हैं**—यों कहकर वह बालक मौन हो गया और बहूदक कुण्डमें स्नान करके पवित्र हो तटवर्ती वृक्षके नीचे बैठकर स्वयं सूर्य-मन्त्रोंका जप करने लगा। सातवीं रात्रि व्यतीत होनेपर बालकने प्राण त्याग दिये। फिर नन्दभद्रने बालकके कथनानुसार ब्राह्मणोंद्वारा उसके शवका विधिपूर्वक दाहसंस्कार करवाया। सूर्यमन्त्रके जपमें लगे हुए उस बालकने जहाँ प्राणत्याग किये थे, वहाँ नन्दभद्रने बालादित्यके नामसे विख्यात भगवान् सूर्यकी प्रतिमा स्थापित की। जो बहूदकमें स्नान करके बालादित्यका पूजन करता है, उसपर भगवान् सूर्य प्रसन्न होते हैं और वह मोक्षका उपाय प्राप्त कर लेता है।

तदनन्तर नन्दभद्रने भी दूसरी स्त्रीसे विवाह करके उसके गर्भसे अपने ही समान अनेक पुत्र उत्पन्न किये। वे सदा भगवान् शिव तथा सूर्यकी उपासनामें लगे रहे। अन्तमें उन्होंने भगवान् शिवका सारूप्य प्राप्त किया, जिससे फिर इस संसारमें लौटना नहीं होता। इस प्रकार यह महाकुण्ड बहूदकके नामसे विख्यात हुआ है। जो श्रद्धापूर्वक इस तीर्थके माहात्म्यको सुनता है, उसपर भगवान् सूर्य प्रसन्न होते हैं तथा वह अपने हृदयमें मोक्षका चिन्तन करते हुए भवसागरसे मुक्त हो जाता है।

## महीसागरसंगमतीर्थकी रक्षा करनेवाली देवियोंका परिचय

**नारदजी कहते हैं**—अर्जुन! तदनन्तर मैंने इस तीर्थकी रक्षाके लिये देवियोंकी आराधना करके जिस प्रकार उन्हें यहाँ स्थापित किया वह प्रसंग सुनो। जैसे सबके आत्मा परमेश्वर सब भूतोंमें व्यापक हैं, उसी प्रकार उनकी शक्ति परमेश्वरी प्रकृति भी नित्य एवं व्यापक है। शक्तिके प्रसादसे मनुष्य सुख और समस्त सम्पदाओंको प्राप्त करता है। अर्जुन! भगवती ईश्वरी सम्पूर्ण भूतोंमें इस प्रकार स्थित है—बुद्धि, ह्री, पुष्टि, लज्जा, तुष्टि, शान्ति, क्षमा, स्पृहा, श्रद्धा, चेतना, मन्त्रशक्ति, उत्साहशक्ति तथा प्रभुशक्ति—इन सब रूपोंमें परमेश्वरी शक्ति ही सर्वव्यापक है। यही अविद्यारूपसे बन्धनका और विद्यारूपसे मोक्षका कारण होती है। सदा इसीकी

आराधना करके इन्द्र आदि देवताओंने ऐश्वर्य प्राप्त किया है। भगवती शक्ति ही परा प्रकृति है। वही अनेक भेदों (भिन्न-भिन्न अनेक रूपों)-में स्थित है। इसलिये मैंने जिन महादेवियोंको जहाँ स्थापित किया है, वह सुनो। चारों दिशाओंमें चार महाशक्तियोंकी स्थापना की गयी है। पूर्व दिशामें स्कन्दस्वामीके द्वारा सिद्धाम्बिकाकी स्थापना हुई है, उन्हींको सृष्टिकी आदिमें प्रकट हुई मूलप्रकृति कहते हैं। सिद्धोंने उनकी आराधना की है, इसलिये उनका नाम सिद्धाम्बिका है। दक्षिण दिशामें तारादेवी विराजमान हैं, उनकी स्थापना मैंने ही की है। ये वही तारा हैं जिन्होंने देवताओंको तारनेके लिये भगवान् कच्छपका आश्रय लिया है। उन्हींके आवेशसे युक्त होनेके कारण जगद्गुरु भगवान् कूर्मने देवताओंका उद्धार किया। ये गिरिराजनन्दिनी तारा बड़ी आराधनाके बाद मेरे द्वारा यहाँ लायी गयी हैं। ये करोड़ों देवियोंसे घिरी हुई बड़ी उग्र देवी हैं। मेरे प्रति आदरका भाव होनेके कारण मेरी प्रार्थनासे दक्षिण दिशामें आकर रहती हैं। इसी प्रकार पश्चिम दिशामें शुभस्वरूपा भास्वरादेवी स्थित हैं, जिनसे व्याप्त होकर सूर्य आदि मण्डल प्रकाशित होते हैं। जिनकी शक्तिसे सम्पूर्ण नक्षत्रमण्डल सब ओर आते-जाते हैं, वे भास्वरादेवी ही हैं। वे बड़ी प्रबल शक्ति हैं। मैं आराधना करके ब्रह्माण्डकटाहसे उन्हें यहाँ लाया हूँ। वे कोटि देवियोंसे आवृत होकर यहाँ रहती हैं और सदा पश्चिम दिशाकी रक्षा करती हैं। उत्तर दिशामें योगनन्दिनीदेवीका निवास है, जो पूर्वकालमें भगवती पराप्रकृतिके शरीरसे प्रकट हुईं तथा जिनकी निर्मल दृष्टिसे देखे जानेपर चारों सनकादिकोंने योग प्राप्त कर लिया। इसीलिये सनकादि महात्माओंने उन्हें 'योगेश्वरी' कहा है। उन्हें भी मैं आराधना करके अण्डकटाहसे ही लाया हूँ। वे योगिनियोंसे घिरी हुई यहाँ उत्तर दिशामें निवास करती हैं। इस प्रकार ये चार महाशक्तियाँ इस तीर्थमें सदा स्थित रहती हैं।

तदनन्तर मैं नौ दुर्गाओंको भी यहाँ ले आया, उनका परिचय सुनो। त्रिपुरा नामसे प्रसिद्ध एक उच्चकोटिकी देवी हैं, जिनसे आविष्ट होकर जगदीश्वर भगवान् शिवने त्रिपुरासुरको भस्म किया था। इसीलिये भगवान् हरने त्रिपुरा कहकर स्वयं देवी दुर्गाका स्तवन किया। अतः वे सम्पूर्ण जगत्के लिये पूजनीय हैं, मैं उनकी आराधना करके उन्हें अमरेश पर्वतसे यहाँ लाया हूँ। भक्तोंकी मनोवांछित कामनाएँ पूर्ण करनेवाली वे त्रिपुरादेवी भट्टादित्यके समीप विराजमान हैं। इनके सिवा दूसरी कोलम्बा नामकी देवी हैं, जो सनातन महाशक्ति हैं। उन्हींके आवेशसे युक्त होकर वाराहरूपधारी भगवान् विष्णुने इस पृथ्वीको जलसे ऊपर उठाया था। इसीलिये भगवान् विष्णुने कोलम्बा नामसे उनकी स्तुति और पूजा की है। अर्जुन! मैंने शक्तियोगसे कोलम्बादेवीको प्रसन्न किया है। वे वाराह गिरिपर निवास करती हैं, वहींसे मैं उनको यहाँ लाया हूँ। तीसरी दुर्गा भी इस पूर्व दिशामें ही स्थित हैं, उनका नाम कपालेशा है। मैंने और कार्तिकेयजीने उनकी स्थापना की है। उनके प्रभावका वर्णन पहले किया जा चुका है। वे नरश्रेष्ठ धन्य हैं जो कपालेश्वरकी पूजा करके उन कपालेशा देवीका नित्य दर्शन करते हैं। वे सम्पूर्ण विश्वकी शक्ति हैं, इस प्रकार तीन दुर्गाएँ पूर्व दिशामें विराज रही हैं। अब पश्चिम दिशामें जो परम उत्तम तीन दुर्गाएँ सुशोभित हैं, उनका वर्णन करूँगा। पश्चिममें जो सुवर्णाक्षीदेवी हैं, वे समस्त ब्रह्माण्डका भलीभाँति पालन करनेवाली हैं। मैंने बड़ी आराधना करके इस तीर्थमें उन्हें विराजमान किया है। जो उन्हें प्रणाम तथा भक्तिपूर्वक उनका पूजन करते हैं, वे तैंतीस करोड़ देवियोंके समादरके पात्र होते हैं। पश्चिममें दूसरी महादुर्गा चर्चिता भी निवास करती

हैं। उन्हें मैंने बड़ी भक्तिके साथ प्रार्थना करके रसातलसे यहाँ बुलाया है। उसी दिशामें त्रैलोक्य-विजया नामसे प्रसिद्ध तीसरी महादुर्गाका भी निवास है, जिनकी आराधना करके रोहिणीवल्लभ चन्द्रमाने त्रिभुवनमें विजय प्राप्त की थी। उनको मैं सोमलोकसे लाया हूँ। वे पूजित होनेपर सदा विजय देनेवाली हैं।

अब उत्तर दिशामें निवास करनेवाली देवियोंका परिचय सुनो। उत्तरमें भी एकवीरा आदि तीन देवियाँ स्थित हैं। एकवीरा देवी पूजन तथा आराधन करनेपर मनुष्योंको उनकी समस्त अभीष्ट वस्तुएँ प्रदान करती हैं। अर्जुन! उन्हें मैं बड़ी आराधनाके बाद ब्रह्मलोकसे लाया हूँ। उनका नामकीर्तन भी दुष्टोंका विनाश करनेवाला है। दूसरी हरसिद्धि नामवाली दुर्गादेवी हैं, जो बड़ी बलवती हैं। उन्हें मैं शाकोत्तर नामक स्थानसे आराधना करके लाया हूँ। जो लोग हरसिद्धिकी उपासनामें तत्पर रहनेवाले हैं, उनके पास डाकिनी आदि नहीं जातीं। तीसरी दुर्गा चण्डिका देवी ईशान कोणमें स्थित हैं। वे ही नवीं दुर्गा हैं। उन्होंने पार्वतीके शरीरसे निकलकर रोषपूर्वक चण्ड-मुण्ड नामक महान् असुरोंका संहार किया था। जो थोड़ी या बहुत सामग्रीके द्वारा कात्यायनी देवीका पूजन करते हैं, उन्हें करोड़ों देवियोंसे घिरी हुई वे दुर्गादेवी ऐश्वर्य प्रदान करती हैं। जो मनुष्य देवीको प्रणाम करता है, वह सब प्रकारके अरिष्टोंसे छुटकारा पा जाता है।

## उभय सोमनाथके प्रादुर्भावकी कथा और कमठके द्वारा गर्भवास तथा मानव-शरीरकी उत्पत्तिका वर्णन

**नारदजी कहते हैं**—अब मैं सोमनाथकी महिमाका स्पष्ट रूपसे वर्णन करूँगा। जो इसका श्रवण और कीर्तन करता है, वह सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है। अर्जुन! पहलेकी बात है। त्रेतायुगमें गौड़ देशके भीतर दो महातेजस्वी ब्राह्मण थे। एकका नाम था 'ऊर्जयन्त' और दूसरेका 'प्रालेय'। उन दोनोंने एक दिन पुराणमें एक श्लोक देखा। वे शास्त्रोंके ज्ञाता थे। वह श्लोक देखकर उनके शरीरमें रोमांच हो आया। श्लोक इस प्रकार था—

**प्रभासाद्यानि तीर्थानि पुलस्त्यायाह पद्मभूः।**
**न यैस्तत्राप्लुतञ्चैव न तैस्तीर्थमुपासितम्॥**

'ब्रह्माजीने पुलस्त्य मुनिसे प्रभास आदि तीर्थोंका वर्णन किया है। जिन्होंने इनमें डुबकी नहीं लगायी, उन्होंने तीर्थोंका सेवन नहीं किया।'

यह श्लोक पढ़कर वे बार-बार इसे दुहराने लगे। तदनन्तर वे दोनों ब्राह्मण प्रभासस्नानके लिये घरसे निकले और वनों एवं नदियोंको धीरे-धीरे पार करते हुए महर्षियोंसे सेवित कल्याणमयी नर्मदा नदीके पारतक चले गये। मार्गमें गुप्तक्षेत्र महीसागरसंगमकी महिमा सुनकर वहाँ स्नान करके पुनः वे प्रभासके ही पथपर चल दिये। वह मार्ग सर्वथा जनशून्य था। वे दोनों यात्री भूख और प्याससे बहुत पीड़ित हुए और सिद्धलिंगके समीप पहुँचकर मूर्छित हो गये। फिर दो ही घड़ीके बाद कुछ चेतमें आनेपर प्रालेयने ऊर्जयन्तसे धैर्यपूर्वक कहा—'सखे! मुझे यहाँ कुछ सुनायी पड़ा है। वह बतलाता हूँ, सुनो। 'तीर्थयात्रासे थककर मनुष्य ज्यों-ज्यों शिथिल एवं कान्तिहीन होता जाता है, त्यों-त्यों उसके किये हुए दानसे भगवान् सोमनाथ प्रसन्न होते हैं।' यह बात एक-दूसरेसे कह-सुनकर मूर्छा दूर होनेके बाद ऊर्जयन्त और प्रालेय लोटते हुए प्रभासक्षेत्रकी ओर चले। उनकी यह निष्ठा देखकर भगवान् शंकरने दोनोंको प्रत्यक्ष दर्शन दिया और उन दोनोंके शरीरको अपनी कृपादृष्टिसे देखकर सुदृढ़ एवं सबल बना दिया।

तब ये दोनों प्रभासतीर्थमें शिवजीके स्थानको चले गये। वे ही ये दो सोमनाथ सिद्धेश्वरके समीप विद्यमान हैं। पश्चिममें ऊर्जयन्त और पूर्वमें प्रालेयेश्वर हैं। जो सोमकुण्डके जलमें तथा महीसागरसंगममें धीरेसे स्नान करके युगल सोमनाथका दर्शन करता है, वह जन्मभरके पापोंसे छूट जाता है। ब्रह्माजीने यहाँ हाटकेश्वर नामक शिवलिंगकी स्थापना करके एकाग्रचित्त हो उसकी स्तुति की थी। अर्जुन! उस स्तुतिको सुनो। 'भगवान् रुद्र! सूर्यके समान अमित तेजस्वी आपको नमस्कार है। आप सबकी उत्पत्ति करनेवाले भव, दुःखोंको दूर भगानेवाले रुद्र तथा जलमय रस हैं; आपको नमस्कार है। आप संहारकारी शर्व हैं। पृथ्वी आपका रूप है। आप नित्य सुन्दर गन्ध धारण करनेवाले हैं। आपको नमस्कार है। आप सबके ईश्वर तथा वायुरूप हैं। आपने ही कामदेवका नाश किया है। आपको नमस्कार है। आप पशुओं (जीवों) के अधिपति, पालक तथा अत्यन्त तेजस्वी हैं। आपका स्वरूप भयंकर है। यह आकाश आपका ही एक रूप है। आप शब्दमात्र परमेश्वरको नमस्कार है। आप महादेव हैं। सोम (चन्द्रमारूप अथवा उमासहित) हैं तथा अमृतस्वरूप हैं। आपको नमस्कार है। आप उग्ररूप, यजमानमूर्ति तथा कर्मयोगी हैं। आपको नमस्कार है।' इस प्रकार दिव्य नामोंके साथ उच्चारित इस हाटकेश्वर स्तोत्रको जिसका निर्माण साक्षात् ब्रह्माजीने किया है, जो पढ़ता और सुनता है, वह भगवान् शिवके सायुज्यको प्राप्त होता है। इसमें सन्देह नहीं है। महीसागरसंगममें इस प्रकारके बहुत-से पवित्र तीर्थ हैं, जिनका मैंने संक्षेपसे वर्णन किया है।

**अर्जुन बोले**—मुने! आपके द्वारा स्थापित महीसागर स्थानमें जो-जो प्रधान तीर्थ हैं, उनका मुझसे वर्णन कीजिये।

**नारदजीने कहा**—अर्जुन! महीसागरमें जो-जो मुख्य तीर्थ हैं, उन्हें बतलाता हूँ। उस तीर्थमें जयादित्य नामसे प्रसिद्ध भगवान् सूर्य विराजमान हैं। उनके प्रादुर्भावकी कथा सुनो। मैं इस महीसागर-संगमस्थानकी स्थापना करके कुछ कालके अनन्तर भगवान् सूर्यका दर्शन करनेके लिये उनके लोकमें गया। वहाँ प्रणाम करके आसनपर बैठ जानेके बाद सूर्यदेवने अर्घ्यसे मेरा पूजन किया और हँसकर मधुर वाणीमें कहा—'विप्रवर! आप कहाँसे आये हैं और कहाँ जायँगे।' मैंने उत्तर दिया—'प्रभो! मैं भारतवर्षके महीनगरसे आपका दर्शन करनेके लिये आया हूँ।'

**सूर्यदेव बोले**—आपने जो वहाँ स्थान स्थापित किया है, उसमें जो ब्राह्मण निवास करते हैं, उनके गुण मुझसे बतलाइये। वे ब्राह्मण कैसे गुणोंसे युक्त हैं?

**भगवान् सूर्यके ऐसा पूछनेपर मैंने फिर उत्तर दिया**—भगवन्! यदि मैं उनकी प्रशंसा करता हूँ, तो मुझपर यह दोष लगाया जा सकता है कि यह अपने आत्मीय जनोंकी स्तुति करता है, और निन्दाके तो वे पात्र ही नहीं हैं; फिर निन्दा कैसे कर सकता हूँ? दोनों ही ओर संकट है। अथवा उन महात्मा ब्राह्मणोंकी महिमा तो अपार है। यदि मैंने उसे बहुत घटा करके कहा तब तो मुझे महान् दोष ही लगेगा। अतः मेरी यह सम्मति है कि यदि आप मेरे द्वारा पूजित द्विजेन्द्रोंकी महिमा श्रवण करना चाहते हों तो स्वयं वहाँ चलकर उन्हें देखें।

मेरी यह बात सुनकर भगवान् सूर्यको बड़ा विस्मय हुआ। वे बार-बार कहने लगे, मैं स्वयं ही चलकर उनका दर्शन करूँगा। यों कहकर भगवान् भास्करने मुझे तो विदा कर दिया और अपनी योगशक्तिके प्रभावसे आकाशमें तपते हुए भी दूसरे स्वरूपसे समुद्रके तटको चल दिये। उन्होंने महातेजस्वी वृद्ध ब्राह्मणका रूप धारण कर लिया था। त्रिकाल-स्नानसे जैसी पिंगल वर्णकी जटा हो जाती है वैसी पिंगल वर्णकी जटा धारण किये हुए उन महात्माको मेरे ब्राह्मणोंने देखा। फिर तो वे हारीत आदि द्विज अपनी ब्रह्मशालासे उठकर उन

ब्राह्मण देवताकी ओर दौड़ पड़े। उस समय उनके नेत्र हर्षसे खिल उठे थे। नये आये हुए उन श्रेष्ठ द्विजको नमस्कार करके वे सब-के-सब प्रसन्नतापूर्वक बोले—'विप्रवर! आज हमारा दिन बड़ा ही पुण्यजनक है, आज यह स्थान परम उत्तम है; क्योंकि आपने स्वयं कृपा करके यहाँ पदार्पण किया है। इसमें सन्देह नहीं कि उत्तम ब्राह्मण कृपा करके ही किसी धन्य गृहस्थको पवित्र करनेके लिये उसके घर अतिथिके रूपमें पधारते हैं। अत: आप इन पैरोंसे चल-फिरकर आज हमारे गृहोंको पवित्र कीजिये। साथ ही दर्शन, भोजन और विश्राम आदिके द्वारा हमारेसहित इस स्थानको भी पावन बनाइये।'

**अतिथि बोले**—ब्राह्मणो! भोजन दो प्रकारका होता है—एक प्राकृत और दूसरा परम। अत: मैं आपलोगोंका दिया हुआ उत्तम परम भोजन प्राप्त करना चाहता हूँ।

अतिथिकी यह बात सुनकर हारीतने अपने आठ वर्षके बालकसे कहा—'बेटा कमठ! क्या तुम ब्राह्मणके बताये हुए भोजनको जानते हो?'

**कमठने कहा**—पिताजी! मैं आपको प्रणाम करके वैसे परम भोजनका परिचय दूँगा तथा ब्राह्मणदेवताको वह भोजन देकर तृप्त करूँगा। प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वोंके समुदायको जो तृप्त करता है, वही प्राकृत भोजन कहलाता है। वह छ:[१] रसों और पाँच[२] भेदोंवाला बताया गया है। उसके भोजन करनेसे शरीररूपी क्षेत्रकी तृप्ति होती है। दूसरा जो परम भोजन कहा गया है, उसकी व्याख्या इस प्रकार है—परम कहते हैं आत्माको, उसका जो भोजन है वही परम भोजन है। अत: नाना प्रकारके धर्मका जो श्रवण है, उसे अन्न कहा गया है। क्षेत्रज्ञ आत्मा उस अन्नका भोक्ता है और दोनों कान उस अन्नको ग्रहण करनेके लिये मुख हैं। पिताजी! वही परम भोजन आज मैं इन ब्राह्मणदेवताको दूँगा। 'विप्रवर! आपकी जो इच्छा हो पूछिये, विद्वान् ब्राह्मणोंकी इस सभामें अपनी शक्तिके अनुसार मैं आपको सन्तुष्ट करूँगा।'

कमठकी यह महत्त्वपूर्ण बात सुनकर अतिथि ब्राह्मणने मन-ही-मन उसकी सराहना की और यह प्रश्न उपस्थित किया—'जीव कैसे उत्पन्न होता है?'

**कमठने कहा**—ब्रह्मन्! पहले गुरुको, उसके बाद धर्मको नमस्कार करके मैं इस वेदवर्णित प्रश्नका यथाशक्ति समाधान करूँगा! जीवके जन्म लेनेमें तीन प्रकारका कर्म कारण होता है—पुण्य, पाप और उभय मिश्रित। अर्थात् कर्म तीन प्रकारके हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। इन कर्मोंके अनुसार जो सात्त्विक पुरुष है, वह स्वर्गमें जाता है। फिर समयानुसार जब स्वर्गसे नीचे गिरता है, तब संसारमें धनी, धर्मी और सुखी होता है। जो तमोगुणी पुरुष है, वह नरकमें पड़ता है और वहाँ नाना प्रकारकी यातनाएँ भोगनेके पश्चात् यहाँ आकर स्थावरयोनिमें जन्म लेता है। तदनन्तर

१- मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय तथा तिक्त—ये छ: रस हैं।
२- भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य तथा चोष्य—ये भोजनके पाँच भेद हैं।

दीर्घकालतक उस योनिमें रहते हुए महात्मा पुरुषोंके दर्शन, स्पर्श, उपभोग और समीप बैठने आदिसे स्थावर शरीरसे मुक्त होकर वह मनुष्य होता है। मनुष्य होनेपर भी वह दुःखी, दरिद्रता आदिसे घिरा हुआ तथा विकलेन्द्रिय (अन्धा, बहरा, काना, कुबड़ा, लँगड़ा, लूला आदि) होता है। यह सब लोगोंके प्रत्यक्ष है। यह सब पापका ही लक्षण है। जो पाप और पुण्य दोनोंसे मिश्रित कर्मवाला पुरुष है, वह पशु-पक्षी आदिकी योनिको प्राप्त होता है। तत्पश्चात् वह इस संसारमें मनुष्य होता है। जिसका पुण्य अधिक और पाप थोड़ा होता है, वह पहले दुःखी होकर पीछे सुखी होता है। जिसका पाप बहुत अधिक और पुण्य बहुत कम हो, वह पहले सुखी और पीछे दुःखी होता है; यह मिश्रित कर्मका लक्षण है। इनमेंसे पहले मनुष्यकी उत्पत्तिका प्रसंग सुनिये।

पुरुष और स्त्रीके वीर्य तथा रजका संगम होनेपर सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा शुभाशुभ कर्मसंस्कारके साथ जीव गर्भमें प्रवेश करके रजोवीर्यमय कललमें स्थित होता है। उस समय वह मूर्छित अवस्थामें रहकर एक मासतक कललमें ही पड़ा रहता है। दूसरा महीना आनेपर वह कललाकार जीव घनीभावको प्राप्त हो जाता है। तीसरे महीनेमें उसके अवयवोंका निर्माण होने लगता है। (इस प्रकार होते हुए) सातवें महीनेमें वह माताके खाये-पीये हुए अन्न और जलका सार अंश ग्रहण करने लगता है। आठवें और नवें महीनेमें उस बालकको गर्भमें बड़ा उद्वेग प्राप्त होता है। उसके सब अंग झिल्लीमें लपेटे हुए होते हैं और हाथोंकी अंगुलियाँ मुखसे बँधी होती हैं। यदि गर्भका बालक अधिकतर उदरके मध्यभागमें रहता है तब वह नपुंसक है, यदि वाम भागमें ठहरता है तो कन्या है, और यदि दक्षिण भागमें रहा करता है तो पुरुष है। इस प्रकार वह उदरके किसी एक भागमें स्थित होता है। जिन योनियोंमें वह जन्म लेता है उनका ज्ञान उस समय उसे होता है। इतना ही नहीं, उसे पहलेके अनेक जन्मोंकी बातोंका भी स्मरण हो आता है। वह गाढ़ अन्धकारमें अदृश्य होकर पड़ा रहता है। वहाँकी दुर्गन्धसे वह अत्यन्त मोहको प्राप्त होता है। यदि माता ठंढा जल पीती है तो उसे सर्दी मालूम होती है। यदि गरम जल पीती है तो उसे गरमीका अनुभव होता है। माताके मैथुन या परिश्रम करनेपर उसको क्लेश होता है। यदि माताको कोई रोग है तो उससे गर्भके बालकको भी पीड़ा होती है। इसके सिवा इस बालकको स्वयं भी ऐसे रोग होते हैं, जिन्हें पिता-माता नहीं देख पाते। अधिक सुकुमारता होनेसे वे रोग गर्भस्थ शिशुके अंगोंमें तीव्र वेदना उत्पन्न करते हैं। उस अवस्थामें थोड़े-से समयको भी वह सौ वर्षोंके समान दुःसह मानता है। अपने प्राचीन कर्मोंसे भी गर्भमें बालकको बड़ा सन्ताप होता है। वहाँ वह बार-बार पुण्य करनेके मनसूबे बाँधता है। 'यदि मैं मनुष्य-शरीरमें जन्म और जीवन पा जाऊँ तो ऐसा कार्य करूँगा, जिससे निश्चय ही मेरा मोक्ष हो जाय।' सीमन्तोन्नयन-संस्कारके बाद उपर्युक्त चिन्तामें पड़े हुए बालकके शेष दो मास अधिक पीड़ाके कारण तीन युगोंके समान बीतते हैं। तत्पश्चात् जन्मका समय आनेपर प्रसूति वायुसे प्रेरित होकर नीचे मुखवाला वह बालक बड़ी पीड़ाका अनुभव करता है तथा योनिके संकीर्ण द्वारसे कष्टपूर्वक निकलने लगता है। उस समय उसे ऐसी पीड़ा होती है, मानो कोई उसकी चमड़ी नोंच रहा हो। किसीके हाथका स्पर्श आदि भी उसे आरेकी धारके स्पर्श-सा जान पड़ता है। जन्म लेनेके पश्चात् वह अचेत बालक केवल माताके स्तनमात्रको जानता है। पूर्वकर्मोंके अधीन होनेके कारण उसका गर्भगत ज्ञान नष्ट हो जाता है। फिर तो वह पूर्ववत् काले, लाल और सफेद

(तामस, राजस और सात्त्विक) कर्म करने लगता है। मनुष्यका शरीर एक घरके समान है। इसमें हड्डियाँ ही प्रधान स्तम्भ हैं, नस-नाड़ियोंके बन्धनसे ही यह बँधा हुआ है, रक्त और मांसरूपी मिट्टीसे यह लिपा हुआ है, विष्ठा और मूत्ररूपी द्रव्यका पात्र है। सात धातुरूपी सात दीवारोंसे यह अत्यन्त दृढ़ बना हुआ है, केश और रोमरूपी घास-फूससे इसे छाया गया है, मुख ही इस घरका प्रधान दरवाजा है। शेष दो आँख, दो कान, दो नाक, लिंग और गुदा—ये आठ खिड़कियाँ इस घरकी शोभा बढ़ा रही हैं। दोनों ओठ मुखरूपी द्वारके किवाड़ हैं, दाँतोंकी अर्गलासे इस द्वारको बंद किया गया है। नाड़ी ही इसकी नाली और पसीने आदि ही इसके गंदे जलके प्रवाह हैं। यह देह-गेह कफ और पित्तमें डूबा हुआ है। जरावस्था और शोकसे व्याप्त है, कालकी मुखाग्निमें इसकी स्थिति है, राग और द्वेष आदिसे यह सदा ग्रस्त रहता है तथा यह नाना प्रकारके शोककी उत्पत्तिका स्थान है। इस प्रकार मनुष्योंका यह देहरूपी गेह उत्पन्न होता है, जिसमें क्षेत्रज्ञ आत्मा गृहस्थके रूपमें निवास करता है और बुद्धि उसकी गृहिणी है। इस शरीरमें रहकर जीव नाना प्रकारके साधनोंमें संलग्न हो नरक, स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त करता है।

## कमठद्वारा शरीरकी उत्पत्ति, विनाश तथा जीवके परलोकवासका वर्णन

**अतिथि बोले**—वत्स कमठ! तुम्हारी बुद्धि तो वृद्धोंकी-सी है। तुम बहुत अच्छा प्रतिपादन कर रहे हो। अब मैं तुमसे शरीरका लक्षण सुनना चाहता हूँ; उसे बताओ।

**कमठने कहा**—विप्रवर! जैसा यह ब्रह्माण्ड है, वैसा ही यह शरीर भी बताया जाता है। पैरोंका मूल (तलवा) पाताल है, पैरोंका ऊपरी भाग रसातल है, दोनों गुल्फ तलातल हैं, दोनों पिण्डलियोंको महातल कहा गया है, दोनों घुटने सुतल, दोनों ऊरु (जाँघ) तथा कटिभाग अतललोक हैं। नाभिको भूलोक, उदरको भुवर्लोक, वक्षःस्थलको स्वर्गलोक, ग्रीवाको महर्लोक और मुखको जनलोक कहते हैं। दोनों नेत्र तपोलोक हैं तथा मस्तकको सत्यलोक कहा गया है। जैसे पृथ्वीपर सात द्वीप स्थित हैं, उसी प्रकार इस शरीरमें सात धातुएँ हैं, उनके नाम सुनिये। त्वचा, रक्त, मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा और वीर्य—ये सात धातुएँ हैं। शरीरमें तीन सौ साठ हड्डियाँ हैं तथा तीस लाख छप्पन हज़ार नौ नाड़ियाँ बतायी गयी हैं। जैसे नदियाँ इस पृथ्वीपर जल बहाती हैं, उसी प्रकार वे नाड़ियाँ शरीरमें रसका संचार करती हैं। यह शरीर साढ़े तीन करोड़ स्थूल एवं सूक्ष्म रोएँसे आच्छादित है। स्थूल रोएँ तो दिखायी देते हैं और सूक्ष्म नहीं दिखायी देते। शरीरमें छः अंग प्रधान बताये जाते हैं—दो बाँह, दो जाँघें, मस्तक और उदर। देहके भीतर साढ़े तीन-तीन व्याम * पुरुषकी तीन आँतें हैं। स्त्रियोंकी आँतें तीन-तीन व्यामकी ही होती हैं; वेदवेत्ता द्विज ऐसा ही कहते हैं। हृदयमें एक कमल बताया जाता है, जिसकी नाल तो है ऊपरकी ओर और मुख है नीचेकी ओर। उस हृदय-कमलके वामभागमें प्लीहा है और दक्षिण-भागमें यकृत्। शरीरमें मज्जा, मेदा, वसा, मूत्र, पित्त, कफ, विष्ठा, रक्त तथा रसके गड्ढे हैं; इनका माप दो-दो अंजलि माना गया है। उन्हीं

* यह लम्बाईकी एक माप है। दोनों हाथोंको जहाँतक हो सके, दोनों बगलमें फैलानेपर एक हाथकी अँगुलियोंके सिरेसे दूसरे हाथकी अँगुलियोंके सिरेपर जितनी दूरी होती है, वह व्याम कहलाती है।

गड्ढोंसे प्रवृत्त होकर वे मज्जा, मेदा आदि धातु इस शरीरको धारण करते हैं। इन गड्ढोंके सिवा शरीरमें सात सीवनी (विशेष नाड़ी) हैं। इनमेंसे पाँच तो मस्तककी ओर गयी हैं, एक नाड़ी लिंगतक तथा एक जिह्वातक गयी है। सब नाड़ियाँ नाभि-कमलसे ही सब ओर गयी हैं। इन सबमें मस्तककी ओर गयी हुई तीन नाड़ियाँ प्रधान हैं—सुषुम्ना, इडा और पिंगला। इडा और पिंगला नाड़ी नासिकाके द्वारतक पहुँची हुई है। ये ही दोनों शरीरकी वृद्धि एवं पुष्टि करनेवाली हैं। शरीरमें वायु, अग्नि तथा चन्द्रमा—ये पाँच-पाँच भागोंमें विभक्त होकर स्थित हैं। प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—ये वायुके पाँच भेद माने गये हैं। उच्छ्वास (ऊपरकी ओर श्वास खींचना), निःश्वास (श्वासको बाहर निकालना) तथा अन्न और जलको शरीरके भीतर पहुँचाना—ये तीन प्राणवायुके कर्म हैं। कण्ठसे लेकर मस्तकतक इसका निवासस्थान है। मल, मूत्र तथा वीर्यका त्याग और गर्भको योनिसे बाहर निकालना यह अपान वायुका कर्म बताया गया है। इसका स्थान गुदाके ऊपर है। समान वायु खाये हुए अन्नको धारण करती, उसके विभिन्न अंशोंको बिलगाती तथा सम्पूर्ण शरीरमें रस-संचार करती हुई बेरोक-टोक विचरती है। वाक्य बोलना, उद्गार (कण्ठके भीतरसे कुछ निकालना) तथा कर्मोंके लिये सब प्रकारके प्रयत्न करना—ये उदान वायुके कार्य हैं। इसका स्थान कण्ठसे लेकर मुखतक है। व्यान वायु सदा हृदयमें स्थित रहती है और सम्पूर्ण देहका भरण-पोषण करती है। धातुको बढ़ाना, पसीना, लार आदिको निकालना तथा आँखके खोलने-मीचनेकी क्रिया करना—ये सब व्यान वायुके कार्य हैं।

पाचक, रंजक, साधक, आलोचक तथा भ्राजक—इन पाँच रूपोंमें अग्नि इस शरीरके भीतर स्थित है। पाचक अग्नि सदा पक्वाशयमें स्थित होकर खाये हुए अन्नको पचाती है। रंजक अग्नि आमाशयमें स्थित होकर अन्नके रसको रँगकर रक्तके रूपमें परिणत कर देती है। साधक अग्नि हृदयमें रहकर बुद्धि और उत्साह आदिको बढ़ाती है। आलोचक अग्नि नेत्रोंमें निवास करके रूप देखनेकी शक्ति बढ़ाती है तथा भ्राजक अग्नि त्वचामें स्थित हो शरीरको निर्मल एवं कान्तिमान् बनाती है। क्लेदक, बोधक, तर्पण, श्लेषण तथा आलम्बक—इन पाँच रूपोंमें चन्द्रमाका शरीरके भीतर निवास है। क्लेदक चन्द्रमा पक्वाशयमें स्थित होकर प्रतिदिन खाये हुए अन्नको गलाता है। बोधक रसनेन्द्रियमें रहकर मधुर आदि रसोंका अनुभव कराता है। तर्पण चन्द्रमा मस्तकमें स्थित होकर नेत्र आदि इन्द्रियोंकी तृप्ति एवं पुष्टि करता है। इसीलिये उसका नाम तर्पण है। श्लेषण सब सन्धियोंमें व्याप्त होकर उन्हें परस्पर मिलाये रखता है तथा आलम्बक चन्द्रमा हृदयमें स्थित हो शरीरके सब अंगोंको परस्पर अवलम्बित रखता है। इस प्रकार वायु, अग्नि तथा चन्द्रमाने इस शरीरको धारण कर रखा है। इन्द्रियोंके छिद्र, रोमकूप तथा उदरका अवकाश-भाग—ये सब आकाशजनित हैं। नासिका, केश, नख, हड्डी, धीरता, भारीपन, त्वचा, मांस, हृदय, गुदा, नाभि, मेदा, यकृत्, मज्जा, आँत, आमाशय, शिरा, स्नायु तथा पक्वाशय—इन सबको वेदवेत्ता विद्वानोंने पृथ्वीका अंश बताया है। नेत्रोंमें जो श्वेत भाग है, वह कफसे उत्पन्न होता है और काला भाग वायुसे पैदा होता है। श्वेत भाग पिताका तथा काला भाग माताका अंश है। नेत्रमें पाँच मण्डल होते हैं। पहला पक्ष्म-मण्डल, दूसरा चर्म-मण्डल, तीसरा शुक्ल-मण्डल, चौथा कृष्ण-मण्डल तथा पाँचवाँ दृङ्-मण्डल है। नेत्रके दो भाग और हैं—उपांग और अपांग। नेत्रोंका जो अन्तिम किनारा है, उसे उपांग कहते हैं और नासिकाके मूल भागसे मिला हुआ जो नेत्रका अंश है, उसका नाम अपांग है। दोनों अण्डकोष मेदा, रक्त, कफ

और मांस—इन चार धातुओंसे युक्त बताये गये हैं। समस्त प्राणियोंकी जिह्वा रक्त-मांसमयी ही होती है। दोनों हाथ, दोनों ओठ, लिंग और गला—इन छः स्थानोंमें चर्मप्रधान मांस और रक्त होते हैं। इस प्रकार इन सात धातुओंके बने हुए पचीस तत्त्वयुक्त शरीरमें जीव निवास करता है। त्वचा, रक्त और मांस—ये तीनों माताके अंशसे तथा मेदा, मज्जा और अस्थि—ये पिताके अंशसे उत्पन्न बताये गये हैं। इन्हीं छः कोषोंसे इस शरीरका संगठन हुआ है।

यह पांचभौतिक शरीर पाँच भूतोंसे उत्पन्न होनेवाले अन्नद्वारा जिस प्रकार पुष्टिको प्राप्त होता है, उसका वर्णन करता हूँ। देहधारी जीव पिण्ड, कौर तथा ग्रासके रूपमें जो अन्न खाते हैं, उसे प्राणवायु पहले स्थूलाशयमें एकत्र करती है; फिर उस अन्नमें प्रवेश करके अन्न और जलको पृथक्-पृथक् कर देती है। जलको अग्निके ऊपर रखकर अन्नको उसके ऊपर रखती है और स्वयं जलके नीचे स्थित हो धीरे-धीरे अग्निको उद्दीप्त करती है। वायुसे उद्दीप्त हुई अग्नि जलको अत्यन्त गरम कर देती है; फिर उस उष्ण जलसे वह अन्न सब ओरसे पकने लगता है। पकनेपर उसके दो भाग हो जाते हैं; मैल अलग छँट जाती है और रस पृथक् हो जाता है। मल निकलनेके बारह मार्गोंसे वह छँटी हुई मैल शरीरसे बाहर हो जाती है। दो कान, दो आँख, दो नाक, जिह्वा, दाँत, लिंग, गुदा, नख और रोमकूप—ये बारह मलके आश्रय हैं। शरीरकी सब नाड़ियाँ सब ओरसे हृदय-कमलमें बँधी हुई हैं। व्यान वायु पूर्वोक्त अन्न-रसको उन नाड़ियोंके मुखमें रख देती है; तब समान वायु सभी नाड़ियोंको उस रससे परिपूर्ण करती है। तत्पश्चात् वे रसपूर्ण नाड़ियाँ देहमें सब ओर उस रसको पहुँचा देती हैं। नाड़ियोंमें स्थित हुआ वह रस रंजक अग्निकी उष्णतासे पकने लगता है और पकते-पकते रुधिररूपमें परिणत हो जाता है। तदनन्तर त्वचा, रोम, केश, मांस, स्नायु, शिरा, अस्थि, नख, मज्जा, इन्द्रियोंकी शुद्धि तथा वीर्यकी वृद्धि—ये कार्य क्रमशः होते हैं। इस प्रकार अन्नका बारह रूपोंमें परिणाम बताया जाता है। इन सबसे बना हुआ यह शरीर पुण्यके लिये प्राप्त हुआ है, जैसे सुन्दर रथ भार ढोनेके लिये ही होता है। यदि वह भार न ढो सके तो, केवल तेल लगाने आदि नाना प्रकारके यत्नोंद्वारा रथकी रक्षा करनेसे क्या कार्य सिद्ध हो सकता है? इसी प्रकार उत्तम-उत्तम भोजनोंसे पुष्ट किये हुए इस शरीरके द्वारा पुण्य-सम्पादनके सिवा और क्या लाभ है? यदि यह पुण्य नहीं करता, तो पशुके तुल्य है। इस विषयमें ये श्लोक स्मरण रखने योग्य हैं—

**यस्मिन्काले च देशे च वयसा यादृशेन च।**
**कृतं शुभाशुभं कर्म तत्तथा तेन भुज्यते॥**
**तस्मात् सदा शुभं कार्यमविच्छिन्नसुखार्थिभिः।**
**विच्छिद्यन्तेऽन्यथा भोगा ग्रीष्मे कुसरितो यथा॥**
**यस्मात्पापेन दुःखानि तीव्राणि सुबहून्यपि।**
**तस्मात्पापं न कर्तव्यमात्मपीडाकरं हि तत्॥**

'जिस समय जिस देशमें और जिस आयुसे शुभ तथा अशुभ कर्म किये जाते हैं उसी देश, काल और आयुमें कर्ताको उनका फल भोगना पड़ता है। इसलिये अक्षय सुखकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको सदा शुभ कर्म ही करना चाहिये। अन्यथा गरमीमें सूख जानेवाली छोटी-छोटी नदियोंकी भाँति समस्त सुख-भोग छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। क्योंकि पापसे बहुत तीव्र दुःख प्राप्त होते हैं, अतः पाप-कर्मका आचरण कदापि नहीं करना चाहिये; क्योंकि वह अपनेको पीड़ा देनेवाला है।'

महात्मन्! इस प्रकार मैंने आपके प्रश्नका यथाशक्ति उत्तर दिया है। प्राणी किस प्रकार

उत्पन्न होता है, यह बात बता दी गयी। अब किस प्रकार उसकी मृत्यु होती है, यह सुनिये। कर्मके अनुसार आयु क्षीण होनेपर जब मनुष्योंका मृत्युकाल उपस्थित होता है, उस समय अपने कर्मोंके अधीन रहनेवाले जीवको यमराजके दूत शरीरसे बाहर खींचते हैं। तब पुण्य और पापके बन्धनमें बँधा हुआ जीव पंचतन्मात्राओंको तथा मन, बुद्धि और अहंकारको साथ लेकर शरीरको त्याग देता है। पुण्यात्मा पुरुषोंके प्राण मुखमण्डलमें स्थित सात छिद्रोंके द्वारा बाहर निकलते हैं। पापियोंके प्राण गुदा-मार्गसे बाहर होते हैं और योगी पुरुषोंके प्राण ब्रह्मरन्ध्र फोड़कर ऊर्ध्वलोकमें गमन करते हैं।

मृत्यु होनेपर जीव उसी क्षणमें आतिवाहिक शरीर धारण करता है; वह अँगूठेकी पोरके बराबर होता है। उस शरीरका निर्माण अपने ही प्राणोंसे किया जाता है। उस आतिवाहिक शरीरमें जब जीव स्थित हो जाता है, तब यमराजके दूत उस देहको बाँधकर बलपूर्वक यमलोकके मार्गसे ले जाते हैं। वह मार्ग तपे हुए भाड़के समान, गरम किये हुए लोहेके गोलेके सदृश, तपी हुई बालूवाले स्थानकी भाँति तथा जलते हुए ताम्रपत्रके समान होता है। पृथ्वीसे छियासी हजार योजन दूर यमराजकी पुरी है, जहाँ यमदूत पापी जीवको घसीटकर ले जाते हैं। मार्गमें कहीं अत्यन्त सर्दी पड़ती है, कहीं अत्यन्त दुर्गम स्थान लाँघना पड़ता है, कहीं भारी अन्धकार छाया रहता है तथा कहीं अग्निके समान मुखवाले काक, कंक, जम्बुक, मक्खी, डाँस, मच्छर तथा साँप और बिच्छू आदि जीव काट खाते हैं। उनके काटनेपर जीव चीखता और चिल्लाता है, परंतु मरता नहीं है। कहीं-कहीं भयंकर राक्षस उसे खाते, घसीटते और इधर-उधर फेंकते हैं। कहीं तपी हुई बालूवाले अत्यन्त भयंकर मार्गसे जलता हुआ पापी जीव ले जाया जाता है। यमपुरीके उस अत्यन्त दुस्तर मार्गको वह केवल दस मुहूर्त (चार घंटे)-में पार करता है; परंतु उतना ही समय वह एक वर्षके बराबर बड़ा भारी समझता है। उस मार्गमें पापी जीवको पीब और रक्तकी धारा बहानेवाली भयंकर वैतरणी नदी पार करनी पड़ती है, जिसमें बाल ही शैवालका काम देते हैं।

यमलोकमें पहुँचनेपर यमदूत पापी मनुष्यको ले जाकर यमराजके सामने खड़ा कर देते हैं। पापात्मा जीव काल और अन्तक आदिसे घिरे हुए यमराजको बड़े भयंकर रूपमें देखता है तथा पुण्यात्मा पुरुष यमराजका परम शान्त सौम्य रूपमें दर्शन पाता है। मनुष्य ही यमलोकमें जाते हैं, दूसरे प्राणी नहीं। अन्य प्राणियोंकी मृत्यु होनेपर शीघ्र ही किसी-न-किसी योनिमें उनका जन्म हो जाता है। इस प्रकार उनकी योनिपूर्ति मात्र की जाती है। केवल मनुष्य ही प्रेत होते सुने जाते हैं, अन्य प्राणी नहीं। धर्मात्मा पुरुष यमलोकमें जानेपर वहाँ पूजित होता है और पापी जीव बन्धनमें डाला जाता है।

विप्रवर! धर्मात्मा पुरुष जिस प्रकार परलोकमें जाते हैं, उस मार्गका वर्णन करता हूँ। जो इस लोकमें बगीचा और वृक्षका दान करते हैं, वे फल और फूलवाले वृक्षोंकी छायासे होकर सुखपूर्वक यात्रा करते हैं। इसी प्रकार जो छत्र दान करनेवाले मनुष्य हैं, वे भी छायामें ही सुखसे जाते हैं। उपानह (जूता आदि) दान करनेवाले सवारीसे यात्रा करते हैं। कुआँ और पोखरा खुदानेवाले प्यासकी पीड़ासे रहित होकर जाते हैं। सवारी, शय्या और आसन देनेवाले लोग विमानोंपर बैठकर जाते हैं। जो लोग भोजन-दान करनेवाले हैं, वे लोग भक्ष्य-भोज्यसे भलीभाँति तृप्त होकर यात्रा करते हैं। दीप-दान करनेवाले उजालेमें जाते हैं, गोदान करनेवाले वैतरणी नदीको सुखसे पार करते हैं। जो जन्मसे ही लेकर जीवनभर भगवान् सूर्य, भगवान् शिव अथवा भगवान् विष्णुकी पूजा करते हैं, वे यमदूतोंसे पूजित होकर भगवान्के धाममें जाते हैं। भूमि, गौ, सोना, लोहा, तेल,

रूई, नमक और सप्तधान्य दान करके मनुष्य सुखपूर्वक परलोककी यात्रा करते हैं।

चित्रगुप्त यमलोकमें गये हुए पापी और पुण्यात्मा पुरुषोंकी सूचना यमराजको देते हैं। फिर वह एक वर्षतक प्रेतलोकमें निवास करता है। उसी वर्षमें उसे भोगदेहकी प्राप्ति होती है। भाई-बन्धु जो जलयुक्त कुम्भदान और अन्न आदि दान करते हैं, उसे ही वह प्रतिदिन खाकर पुष्ट होता है। उसने पहले भी जो अन्न आदिका दान कर रखा है, वह भी यमलोकमें उसके पास स्वयं उपस्थित हो जाता है। जिसने स्वयं कुछ दान नहीं किया तथा जिसके लिये दूसरा कोई अन्नदाता और जलदाता नहीं है, वह यमलोकमें भूख और प्याससे पीड़ित होता है। भाई-बन्धुओंद्वारा किया हुआ जलदान उसके पास नदी होकर पहुँचता है। जिसके लिये यहाँ षोडश श्राद्धपूर्वक प्रतिमास मासिक श्राद्ध नहीं किया जाता, वह प्रेतयोनिसे मुक्त नहीं होता है। प्रेतलोकमें मनुष्यके दिनके बराबर ही दिन होता है। इसलिये प्रेतको प्रतिदिन एक वर्षतक अन्न देना चाहिये। यमलोकमें सर्दी, आँधी और धूपके कष्टसे युक्त पापात्मा पुरुषकी रक्षा श्माशानिक नामवाले भयंकर यमदूत करते हैं। जैसे इस लोकमें भी कठोर पुरुष बन्धनमें पड़े हुए किसी कैदीकी रक्षा करते हैं। जिसके लिये षोडश श्राद्धपूर्वक प्रेतपिण्ड नहीं दिये जाते, उसका कई युगोंके बाद भी प्रेतयोनिसे उद्धार नहीं होता। प्रेतपिण्ड देनेके पश्चात् जब भाई-बन्धु एक वर्ष पूरा होनेपर सपिण्डीकरण श्राद्धका अनुष्ठान भलीभाँति कर देते हैं, तब जीवका भोगशरीर पूर्णताको प्राप्त हो जाता है। पापात्मा जीव भयंकर शरीर प्राप्त करता है और धार्मिक पुरुषको परम उत्तम दिव्य रूपकी प्राप्ति होती है। तदनन्तर जीव अपने कर्मके अनुसार स्वर्ग या नरकमें जाता है। रौरव आदि नरक पातालतलमें स्थित हैं, देवता आदि पुण्यात्मा स्वर्गलोकके ऊपर सत्यलोकतक निवास करते हैं। इतिहास, पुराण, वेद तथा स्मृतियोंमें जो पुण्यकर्म विहित है, उससे स्वर्गकी प्राप्ति होती है। उसके विपरीत पाप करनेसे नरक होता है। स्वर्ग हो या नरक, वहाँ भी मनुष्य अपने कर्मोंके अनुरूप नियत समयतक ही निवास करता है। वर्षके पहले ही जिसका सपिण्डीकरण श्राद्ध कर दिया जाता है, उसका भी प्रेतत्व एक वर्षतक अवश्य रहता है। जिन्होंने अश्वमेध आदि तीन यज्ञोंद्वारा यजन किया हो अथवा ब्रह्मा, विष्णु और शिव—इन तीन देवताओंकी पूजा की हो, या जो सम्मुख युद्धमें मारे गये हों, वे कभी प्रेतलोकमें नहीं जाते। केवल पुण्यसे एकमात्र स्वर्गकी प्राप्ति होती है और केवल पापसे एकमात्र अन्धकारपूर्ण नरकमें जाना पड़ता है। पाप और पुण्य दोनोंके अनुष्ठानसे मानव स्वर्ग और नरक दोनोंमें जाता है और उसीके अनुसार उसको शरीर भी प्राप्त हो जाता है। विप्रवर! जन्म, मृत्यु और परलोकवास आपके इन तीन प्रश्नोंको लेकर, जैसी कि मेरे पिताने मुझे शिक्षा दी है, आपसे निवेदन किया। अब और आप क्या सुनना चाहते हैं? उसे भी कहूँगा।

## पापकर्मोंके फल, जयादित्यकी स्तुति और महिमा

**अतिथि बोले**—कमठ! तुमने शास्त्रीय मतका आश्रय लेकर परलोकका जो यह स्वरूप बतलाया है, वह वैसा ही है। इसमें तनिक भी संशय नहीं है; तथापि इस विषयमें नास्तिक, पापाचारी तथा मन्दबुद्धि मनुष्य सन्देह करते हैं। उनका सन्देह दूर करनेके लिये तुम कर्मोंके फलका निरूपण करो। किस-किस पापकर्मका कौन-सा फल यहीं प्राप्त हो जाता है तथा किस पापके प्रभावसे

मनुष्य किस रूपमें जन्म लेता है? इन सब बातोंको यदि तुम जानते हो तो बताओ।

**कमठने कहा**—विप्रवर! इस विषयमें मेरे पिताने जो उपदेश दिया है और मेरे चित्तमें जो विचार स्थित है, वह सब आपको बताऊँगा। आप स्थिर होकर सुनिये। ब्राह्मणकी हत्या करनेवाले मनुष्यको क्षयका रोग होता है, शराबीके दाँत काले होते हैं, सोनेकी चोरी करनेवालेका नख खराब होता है, गुरुपत्नीगामीके शरीरका चमड़ा खराब हो जाता है, इन सबके साथ संसर्ग रखनेवाले पुरुषको वे सभी रोग होते हैं। ये पाँच प्रकारके लोग महापातकी कहलाते हैं। जो साधु पुरुषोंकी निन्दा सुनता है, वह बहरा होता है; आप ही अपनी कीर्तिका बखान करनेवाला पापी गूँगा होता है; गुरुजनोंकी आज्ञाका उल्लंघन करनेवाला मनुष्य मिरगीके रोगसे पीड़ित होता है। जो गुरुजनोंका अपमान करता है, वह कीड़ा होता है। पूजनीय पुरुषोंके कार्यकी उपेक्षा करनेवाले पुरुषकी बुद्धि दूषित होती है। साधुजनोंके द्रव्यकी चोरी करनेको जो जितने पग आगे बढ़ाता है, वह नराधम उतने ही वर्षोंतक पंगु होता है। जो दान देकर फिर छीन लेता है, वह गिरगिटकी योनिमें उत्पन्न होता है। जो क्रोधमें भरे हुए पूजनीय पुरुषोंको प्रसन्न नहीं करता उसे सिरदर्दका रोग होता है। रजस्वला स्त्रीसे समागम करनेवाला मनुष्य चाण्डाल होता है। कपड़ा चुरानेवाला सफेद कोढ़से लांछित होता है। आग लगानेवाला काली कोढ़के रोगसे पीड़ित होता है। चाँदी चुरानेवाला मेढक तथा झूठी गवाही देनेवाला मुखका रोगी होता है। परायी स्त्रियोंको काम-भावसे देखनेवाला नेत्ररोगसे कष्ट पाता है। कुछ देनेकी प्रतिज्ञा करके जो नहीं देता है वह अल्पायु होता है। ब्राह्मणकी वृत्तिका अपहरण करनेवाला सदा अजीर्णरोगका रोगी और अधम होता है। नैष्ठिक ब्रह्मचारीको भोजन करानेसे मुँह मोड़नेवाला गृहस्थ सदा रोगी होता है। बहुत-सी पत्नियोंके होनेपर किसी एकहीमें अनुराग रखनेवाला पुरुष मेदाके क्षयरोगसे युक्त होता है। स्वामीने जिसे किसी धर्मके कार्यमें लगा दिया हो, वह यदि अन्यायपूर्वक आचरण करता है, अथवा मालिकके धनको स्वयं ही खा जाता है, तो उसे जलोदर रोग होता है। जो बलवान् होकर भी किसीके द्वारा सताये जाते हुए दुर्बलकी उपेक्षा करता है—उसे बचानेकी चेष्टा नहीं करता, वह अंगहीन होता है। अन्न चुरानेवाला भूखसे पीड़ित रहता है। व्यवहारमें पक्षपात करनेवाला मनुष्य जिह्वाके रोगसे युक्त होता है। जो धर्मके कार्यमें लगे हुए मनुष्यको उससे मना कर देता है, वह पत्नीवियोगी होता है। जो अपनी ही बनायी हुई रसोईमें सबसे पहले स्वयं भोजन करता है, उसके गलेमें रोग होता है। पंचयज्ञोंका अनुष्ठान किये बिना ही भोजन करनेवाला मनुष्य गाँवका सूअर होता है। पर्वोंके दिन मैथुन करनेवालेको प्रमेहका रोग होता है। अर्थसंकटमें पड़े हुए मित्र, बन्धु, स्वामी तथा प्रिय सेवकोंका परित्याग करके उनकी ओरसे मनको हटा लेनेवाला निर्दय मनुष्य सदा जीविकाके लिये कष्ट पाता रहता है। जो माता-पिता, गुरु और स्वामीकी छलसे सेवा करता है, वह बड़े कष्टसे धन पाकर भी उससे वंचित हो जाता है। जो विश्वास करनेवाले पुरुषके धनको हड़प लेता है, वह सदा दुःखोंका भागी होता है। जो धार्मिक पुरुषके प्रति क्षुद्रतापूर्ण बर्ताव करता है, वह बौना होता है। जो दुबले बैलको हल या गाड़ीमें जोतता है, उसकी कमरमें लूता (मकरी)- का रोग होता है। गायकी हत्या करनेवाला जन्मसे ही अन्धा होता है। गौओंको दुःख देनेवाला मनुष्य पशुसे रहित होता है। जो मारने आदिके द्वारा गौओंके प्रति निर्दयताका परिचय देता है, वह

मार्गमें कष्ट भोगता है। सभामें पक्षपात करनेवालेको गलगण्डका रोग होता है। सदा क्रोध करनेवाला चाण्डाल होता है। चुगली खानेवाले मनुष्यके मुँहसे सदा दुर्गन्ध आती है। बकरी बेचनेवाला मनुष्य बहेलिया होता है। कुण्ड (पतिके जीते-जी जार पुरुषसे उत्पन्न पुत्र)-का अन्न भोजन करनेवाला मनुष्य सेवक होता है। नास्तिक पुरुष तेली होता है और श्रद्धाहीन मनुष्य मुर्दाके समान बना रहता है। अभक्ष्य भक्षण करनेवाले मनुष्यको गण्डमालाका रोग होता है। सबको दुःख देनेवाला मनुष्य सदा शोकमें डूबा रहता है। अन्यायसे ज्ञान ग्रहण करनेवाला मनुष्य मूर्ख होता है। शास्त्र चुरानेवाला राक्षस होता है। जो पवित्र कथासे द्वेष करता है, वह कीटमुख होता है। नरकसे लौटे हुए पुरुषकी बुद्धि अत्यन्त खोटी होती है। तालाब और बगीचेको नष्ट करनेवाला पुरुष बिना हाथका होता है। व्यवहारमें छलका सहारा लेनेवाला मनुष्य अपने सेवकोंसे मारा जाता है। परायी स्त्रीसे रति करनेवाला पुरुष सदा प्रमेहरोगसे पीड़ित रहता है। खोटा वैद्य वातका रोगी होता है। गुरुपत्नीगामी मनुष्य कोढ़ी होता है। पशुओंसे मैथुन करनेवाला भी प्रमेही होता है। अपने गोत्रकी स्त्रीसे मैथुन करनेवाला सन्तानहीन होता है। माता, बहिन और पतोहूसे सम्भोग करनेवाला मनुष्य नपुंसक होता है। कृतघ्न मनुष्यको समस्त कार्योंमें असफलता प्राप्त होती है।

ब्रह्मन्! इस प्रकार मैंने आपसे पापियोंका लक्षण संक्षेपसे बताया है। सम्पूर्ण लक्षणोंका वर्णन करनेमें तो चित्रगुप्त भी मोहित हो सकते हैं। ये नरकोंसे भ्रष्ट हुए पापात्मा सहस्रों योनियोंकी यातनाएँ भोगकर अन्तमें उपर्युक्त चिह्नोंसे युक्त मनुष्यके रूपमें उत्पन्न होते हैं। जो धर्मको नहीं मानते हैं तथा जो दुर्व्यसनोंसे पराजित हैं, उन शेष पापियोंको अनुमानसे ही जानना चाहिये। जिनका पाप नष्ट हो गया है अथवा जो स्वर्गसे लौटे हैं, वे समस्त दुर्व्यसनोंसे मुक्त होकर एकमात्र धर्मका आश्रय लेते हैं। इस विषयमें ये श्लोक स्मरणीय हैं—

**धर्मदानकृतं सौख्यमधर्माद् दुःखसम्भवम्।**
**तस्माद्धर्मं सुखार्थाय कुर्यात् पापं विवर्जयेत्॥**
**लोकद्वयेऽपि यत्सौख्यं तद्धर्मात्प्रोच्यते यतः।**
**धर्म एव मतिं कुर्यात् सर्वकार्यार्थसिद्धये॥**
**मुहूर्तमपि जीवेद्धि नरः शुक्लेन कर्मणा।**
**न कल्पमपि जीवेच्च लोकद्वयविरोधिना॥**

'धर्म और दानसे सुख प्राप्त होता है और अधर्मसे दुःखकी उत्पत्ति होती है, अतः सुखके लिये धर्मका आचरण करे और पापको सर्वथा त्याग दे। इस लोक और परलोक दोनों लोकोंमें जो सुख है, उसकी प्राप्ति धर्मसे ही बतायी जाती है; अतः समस्त कार्यों और मनोरथोंकी सिद्धिके लिये धर्ममें ही मन लगावे। मनुष्य दो घड़ी भी पुण्यकर्म करते हुए ही जीवे। उभयलोकविरोधी कर्मके साथ कल्पभर भी जीनेकी इच्छा न रखे।'

विप्रवर! आपने जो कुछ पूछा है उसका मैंने अपनी शक्तिके अनुसार वर्णन किया है। यह अच्छा कहा गया हो या नहीं, उसके लिये आप क्षमा करें। अब और क्या कहूँ।

**नारदजी कहते हैं**—आठ वर्षके बालक कमठका यह भाषण सुनकर भगवान् सूर्य अत्यन्त विस्मित एवं बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उस समय हारीत आदि ब्राह्मणोंकी इस प्रकार प्रशंसा की—'अहो! ऐसे उत्तम ब्राह्मणोंसे यह पृथ्वी धन्य है। भगवान् प्रजापति भी धन्य हैं, जिनकी मर्यादाका इन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंद्वारा पालन हो रहा है। इस समय इन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे चारों वेद भी धन्य हो गये हैं। जिन ब्राह्मणोंमेंसे एक बालककी बुद्धि इतनी तीव्र और स्पष्ट है, उन हारीत आदि ब्राह्मणोंकी बुद्धि कैसी होगी? निश्चय ही त्रिलोकीमें ऐसी कोई बात नहीं है, जो इन ब्राह्मणोंको विदित न हो। नारदने इनके

विषयमें जितना कहा है, उससे भी ये बहुत बढ़कर हैं।' इस प्रकार उन विप्रोंकी प्रशंसा करके हर्षमें भरे हुए सूर्यदेवने कहा—'श्रेष्ठ ब्राह्मणो! मैं सूर्य हूँ, आपका दर्शन करनेके लिये सूर्यलोकसे यहाँ आया हूँ। आज मेरे नेत्र सफल हो गये। आप-जैसे उत्तम ब्राह्मणोंके साथ वार्तालाप करने और बैठनेसे चाण्डाल भी पवित्र होते हैं। देवर्षि नारद भी सर्वथा धन्य हैं, जो त्रिलोकीके तत्त्वको जानते हैं। जिनका श्रेय आपके द्वारा उसी प्रकार बढ़ रहा है, जैसे वैधृति योगमें किये हुए दानका पुण्य बढ़ता है। मैं अपने मन और बुद्धिको एकाग्र करके आप सब लोगोंको प्रणाम करता हूँ; क्योंकि तप, विद्या और सदाचार ही बड़प्पनका प्रधान कारण है। देवताओंका संसर्ग निष्फल नहीं होता, इसलिये मुझसे कोई वर माँगिये; मैं उसे आपलोगोंको दूँगा।'

भगवान् सूर्यकी यह बात सुनकर वे श्रेष्ठ ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने पाद्य, अर्घ्य, स्तुति और चन्दनसे अत्यन्त भक्तिपूर्वक सूर्यदेवका पूजन किया और मण्डलब्राह्मण आदि जपनीय मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए उनकी इस प्रकार

स्तुति की—'आदित्य! आपकी जय हो। स्वामिन्! आपकी जय हो। भानो! आपकी जय हो। निर्मल प्रकाशस्वरूप! आपकी जय हो। वेदोंके पालक! दिवानाथ! सूर्यदेव! आपकी जय हो। आप हमारा उद्धार करें। ब्राह्मणोंके सबसे प्रधान देवता आप ही हैं। ब्राह्मण-सृष्टि सूर्यमयी ही है। आपकी कृपादृष्टि पड़नेसे हमारा यह स्थान अत्यन्त पवित्र हो गया। आज हमारे वेदाध्ययन सफल हो गये। आज हमें अपने समस्त पुण्यकर्मोंका फल मिल गया। गोपते! आपका संग पाकर आज हमारा यह गृह सफल हो गया। यदि आप हमें वर देना चाहते हैं, तो हम यही माँगते हैं कि आप हमारे इस स्थानका कभी परित्याग न करें।'

**भगवान् सूर्य बोले**—क्योंकि आपलोगोंने पहले 'जयादित्य' कहकर मेरा स्तवन किया है, इसलिये मैं 'जयादित्य' नामसे विख्यात होकर सदा इस स्थानमें निवास करूँगा। हे विप्रगण! जबतक पृथ्वी, समुद्र, पर्वत और नगर विद्यमान हैं, तबतक मैं इस स्थानमें अवश्य रहूँगा; कभी इसका त्याग नहीं करूँगा। यहाँ रहकर मैं अपने भक्तोंके दारिद्र्य, रोगसमूह, दाद-खुजली, कोढ़, चकता तथा अन्य प्रकारकी कोढ़ आदिका नाश करता रहूँगा। जो मानव यहाँ प्रतिष्ठित हुए मेरे श्रीविग्रहका पूजन करेगा, उसकी उस पूजाको मैं ग्रहण करूँगा।

भगवान् सूर्यके ऐसा कहनेपर हारीत आदि श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने वेदोक्त विधिसे उनकी मूर्ति स्थापित की। तत्पश्चात् सब द्विजोंने कहा—'कमठ! तुम्हारे कारण ही भगवान् सूर्य यहाँ विराजमान हुए हैं, अतः पहले तुम्हीं इनका गुणगान करो।' ब्राह्मणोंके ऐसा कहनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ कमठने जयादित्यको प्रणाम करके इस महास्तोत्रका गान किया—'आदिदेव! आपके यथार्थरूपका साक्षात्कार नहीं, केवल यजुर्वेदके

मन्त्रमें श्रवण हुआ है। ज्ञानीजन ऐसा ही कहते हैं। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—यह चार प्रकारकी वाणी सदा आपसे दूर-ही-दूर रहती है—आपतक पहुँच नहीं पाती। तथापि मैं इतना धृष्ट हूँ कि स्वार्थकी कामना लेकर आपका स्तवन करता हूँ। प्रभो! मेरे इस अपराधको क्षमा करें। देव! मार्तण्ड, सूर्य, अंशु, रवि, इन्द्र, भानु, भग, अर्यमा, स्वर्णरेता, दिवाकर, मित्र तथा विष्णु—इन बारह नामोंसे आप विख्यात हैं। द्वादशात्मन्! आपको नमस्कार है। त्रिलोकी आपका गर्भ-गृह है, सम्पूर्ण आकाश जलाधार (अर्घा) है, नक्षत्रसमूह पुष्पमाला हैं तथा आप आकाशमें स्थापित ज्योतिर्मय लिंग हैं; आपको नमस्कार है। आप देवताओंके देवता, अनाथोंके नाथ, पालनीय जनोंके पालक तथा दीनोंपर दया करनेवाले हैं। नेत्रोंके भी नेत्र (दृष्टिशक्ति-प्रदाता), मनुष्योंकी बुद्धिकी भी बुद्धि, बुद्धिसे परे तथा जीवके भी जीवन हैं। आपकी जय हो। आप दरिद्रताकी दरिद्रता, निधिकी निधि, रोगके रोग पृथ्वीमें प्रसिद्ध हैं। अप्रमेय जयादित्य! आपकी दीर्घकालतक जय हो। जो नाना प्रकारकी व्याधियोंसे ग्रस्त है, कोढ़के रोगसे पीड़ित है, जिसकी नाक गल गयी है, शरीर भी जीर्ण-शीर्ण हो गया है तथा जो अपनी चेतना भी खो बैठा है, ऐसे मनुष्यको उसके बन्धु-बान्धव, माता-पिता भी छोड़ देते हैं, परंतु सबके ठुकराये हुए उस अनाथ जीवका भी आप पालन करते हैं। हे देव! हे विवस्वान्! आपके सिवा दूसरा कौन इतना दयालु श्रेष्ठ देवता है? आप मेरे पिता हैं, आप ही मेरी माता हैं, आप ही गुरु तथा आप ही बन्धु-बान्धव हैं। आप ही मेरे धर्म तथा आप ही मोक्षके मार्ग हैं। देव! मैं आपका दास हूँ। त्यागिये या उबारिये। मैं पापी हूँ, मूढ हूँ, अत्यन्त भयंकर कर्म करनेवाला एवं भयानक हूँ। इतना ही नहीं, मैं पापोंकी निधि हूँ। तथापि प्रतिदिन आपके चरणोंमें साष्टांग प्रणाम करके आपका भजन करता हूँ। हे श्रीजयादित्य! आप अपने भक्तोंका पालन कीजिये।'*

**नारदजी कहते हैं**—महात्मा कमठके इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान् जयादित्यने हँसते हुए स्निग्ध एवं गम्भीर वाणीमें उनसे कहा—'कमठ! तुमने जो यह जयादित्याष्टक सुनाया है, इससे जो

---

* त्वं नैव दृष्टः केवलसंश्रुतश्च यजुष्येवं व्याहरन्त्यादिदेव।
चतुर्विधा भारती दूरदूरं धृष्टः स्तौमि स्वार्थकामः क्षमैतत्॥
मार्त्तण्डसूर्यांशुरविस्तथेन्द्रो भानुर्भगश्चार्यमा स्वर्णरेताः।
दिवाकरो मित्रविष्णुश्च देव ख्यातस्त्वं वै द्वादशात्मा नमस्ते॥
लोकत्रयं वै तव गर्भगेहं जलाधारः प्रोच्यते खं समग्रम्।
नक्षत्रमाला कुसुमाभिमाला तस्मै नमो व्योमलिंगाय तुभ्यम्॥
त्वं देवदेवस्त्वमनाथनाथस्त्वं पाल्यपालः कृपणे कृपालुः।
त्वं नेत्रनेत्रं जनबुद्धिबुद्धिर्बुद्धेः परस्त्वं जय जीवजीव॥
दारिद्र्यदारिद्र्य निधे निधीनां रोगप्ररोगः प्रथितः पृथिव्याम्।
चिरञ्जयादित्य जयाप्रमेय व्याधिग्रस्तं कुष्ठरोगाभिभूतम्॥
भग्नघ्राणं शीर्णदेहं विसंज्ञं माता पिता बान्धवाः सन्त्यजन्ति।
सर्वैस्त्यक्तं पासि देव विवस्वंस्त्वत्तो देवः कोऽस्ति श्रेष्ठस्त्वदन्यः॥
त्वं मे पिता त्वं जननी त्वमेव त्वं मे गुरुर्बान्धवाश्च त्वमेव।
त्वं मे धर्मस्त्वं च मे मोक्षमार्गो दासस्तुभ्यं त्यज वा रक्ष देव॥
पापोऽस्मि मूढोऽस्मि महोग्रकर्मा रौद्रोऽस्मि पापस्य निधानमस्मि।
तथापि नित्यं प्रणिपत्य पादयोर्भजामि भक्तान् पालय श्रीजयार्क॥

मेरी स्तुति करेगा, उसके लिये इस पृथ्वीपर कुछ भी दुर्लभ न होगा। विशेषतः रविवारको मेरी पूजा करके जो इसका पाठ करेगा, उसके रोग और दरिद्रताका नाश होगा। वत्स! तुमने मुझे बहुत सन्तुष्ट किया है, अतः तुम्हें यह वर देता हूँ कि इस पृथ्वीपर सर्वज्ञ होकर तुम मोक्ष प्राप्त कर लोगे। तुम्हारे पिता कभी स्मृतिकार होंगे। वत्स! मैं इस स्थानका कभी त्याग नहीं करूँगा।'

भगवान् सूर्यने जब ऐसा कहा, तब ब्राह्मणोंने पुनः उनका पूजन और स्तवन किया। तत्पश्चात् उन द्विजेन्द्रसे आज्ञा लेकर वे वहाँसे अन्तर्धान हो गये। कुन्तीनन्दन! इस प्रकार इस भूतलपर आश्विनमासमें जयादित्यका प्रादुर्भाव हुआ, इसलिये वह मास वहाँ अति विशेष पर्व माना जाता है। आश्विनमासमें रविवारको कोटितीर्थमें नहाकर जो जयादित्यका पूजन करता है, वह बड़े भारी पुण्यफलको प्राप्त होता है। जयादित्यको लाल फूलमाला चढ़ाने, लाल चन्दन और रोलीका लेप करने, गन्ध-धूप आदि देने तथा घृतपक्व नैवेद्य समर्पण करनेसे ब्रह्मघाती, शराबी, सुवर्णचोर तथा गुरुपत्नीगामी भी अपने समस्त पातकोंसे मुक्त हो सूर्यलोकको जाता है। इस लोकमें पुत्र, स्त्री, धन और आयु आदि संसारी सुखको पाकर अभीष्ट भोगोंसे सम्पन्न हो सूर्यलोकमें चिरकालतक निवास करता है। प्रत्येक रविवारको जयादित्यका दर्शन, कीर्तन और स्मरण भी सब रोगोंकी शान्ति करनेवाला है। जो अनादि, अनन्त, तेजोनिधि एवं अव्यक्तदेव भगवान् सूर्यकी भक्तिपूर्वक पूजा करते हैं, वे रोग-शोकसे रहित सूर्यधाममें लीन होते हैं। अर्जुन! जो लोग सूर्यग्रहण प्राप्त होनेपर एकाग्रचित्त हो सूर्यकूपमें स्नान करते, प्रयत्नपूर्वक आहुति देते तथा जयादित्यके आगे यथाशक्ति दान देते हैं, उनके पुण्यकी कैसी महिमा है, यह एकाग्रचित्त होकर सुनो। कुरुक्षेत्र, प्रभास, पुष्कर, काशी, प्रयाग अथवा नैमिषारण्यमें जो पुण्य प्राप्त होता है, वही पुण्य जयादित्यके प्रसादसे वे लोग वहाँ भी पा लेते हैं।

## नारदजीके गुणोंका वर्णन तथा गौतमेश्वरकी महिमाके प्रसंगमें योगका निरूपण

**अर्जुन बोले**—देवर्षे! आप सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति समान भाव रखनेवाले, जितेन्द्रिय तथा राग-द्वेषरहित हैं। तथापि आपमें जो कलह करानेकी प्रवृत्ति है, उसके कारण कई हजार देवता, गन्धर्व, राक्षस, दैत्य तथा मुनि नष्ट हो गये। विप्रवर! आपकी ऐसी चेष्टा क्यों होती है? मेरे इस सन्देहका निवारण कीजिये।

**सूतजी कहते हैं**—शौनक! अर्जुनके मुखसे यह बात सुनकर नारदमुनि हँसते हुए-से बाभ्रव्य मुनिके मुखकी ओर देखने लगे। बाभ्रव्यका जन्म हारीतके कुलमें हुआ था। वे उस समय नारदजीके पास ही उपस्थित थे। बाभ्रव्य बड़े बुद्धिमान् थे। उन्होंने नारदजीका मनोभाव समझ लिया और हँसते हुए स्नेहयुक्त मधुर वाणीमें अर्जुनसे इस प्रकार कहा।

**बाभ्रव्य बोले**—पाण्डुनन्दन! आपने नारदजीसे जो कुछ कहा है, वह सब सत्य है। प्रत्येक मनुष्यके मनमें ऐसा सन्देह हो जाता है। इस विषयमें भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे जो बात सुनी है, वही मैं आपको बताऊँगा। आजसे कुछ काल पहलेकी बात है, सम्पूर्ण यादवोंको आनन्दित करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण महीसागरसंगमकी यात्रामें इधर आये थे। उनके साथ उग्रसेन, वसुदेव तथा बभ्रु, प्रद्युम्न आदि भी थे। भगवान्ने कुटुम्बीजनोंके साथ महीसागरसंगममें स्नान करके बहुत दान किये। पिण्डदान आदि करके देवपूजनके

पश्चात् नारदजीकी भी पूजा की। तदनन्तर यादवोंकी सभामें महाराज उग्रसेन इस प्रकार बोले—'जगदीश्वर श्रीकृष्ण! मैं एक सन्देह पूछता हूँ, आप उसका समाधान करें। ये जो महाबुद्धिमान् नारदजी हैं, समस्त संसारमें इनकी ख्याति है। मैं जानना चाहता हूँ, ये अत्यन्त चपल क्यों हैं? क्यों वायुकी भाँति समस्त जगत्में चक्कर लगाया करते हैं? इन्हें कलह कराना इतना प्रिय क्यों है? तथा आपमें इनका अत्यन्त प्रेम कैसे है?'

**भगवान् श्रीकृष्णने कहा**—राजन्! आपने जो पूछा है, वह सत्य है। मैं इसका कारण बतलाता हूँ। पूर्वकालमें प्रजापति दक्षने मुनिश्रेष्ठ नारदको शाप दिया था। ऐसा इसलिये हुआ कि सृष्टि-मार्गमें लगे हुए दक्षके कुछ पुत्रोंको नारदजीने अपने वैराग्यपूर्ण उपदेशोंसे विरक्त बनाकर वहाँसे अन्यत्र भेज दिया। यह घटना एक ही बार नहीं, दो बार हुई। यह सब देखकर दूसरे पुत्रोंके भी विचलित होनेसे रुष्ट होकर दक्षने शाप दिया—'नारद! तुम सदा संसारमें भ्रमण करते रहोगे, कहीं भी तुम्हारे ठहरनेके लिये स्थान न मिलेगा तथा तुम इधर-उधरकी चुगली खानेवाले होओगे।'

ये दो शाप प्राप्त करके उन्हें दूर करनेमें समर्थ होकर भी नारद मुनिने ज्यों-के-त्यों स्वीकार कर लिये। यही साधुता है कि स्वयं समर्थ होकर भी दूसरोंके अपराध क्षमा कर दे। नारदजी पहले यह देख लेते हैं कि अमुक दैत्य या राक्षस आदिका विनाशकाल आ पहुँचा है, तब वे उसकी कलह-भावना बढ़ाते हैं और चुगलीके लिये झूठ न बोलकर सच्ची बात बताया करते हैं, इसलिये वे पापसे लिप्त नहीं होते। सर्वत्र भ्रमण करते रहनेपर भी इनका मन ध्येयसे विचलित नहीं होता, अतः भ्रमदोषसे ये भ्रान्त नहीं होते तथा मुझमें जो इनका अधिक प्रेम है, उसका भी कारण सुनिये। मैं देवराज इन्द्रद्वारा किये गये स्तोत्रसे दिव्यदृष्टिसम्पन्न श्रीनारदजीकी सदा स्तुति करता हूँ। वह स्तोत्र श्रवण कीजिये—

'जो ब्रह्माजीकी गोदसे प्रकट हुए हैं, जिनके मनमें अहंकार नहीं है, जिनका विश्वविख्यात चरित्र किसीसे छिपा नहीं है, उन देवर्षि नारदको मैं नमस्कार करता हूँ। जिनमें अरति (उद्वेग), क्रोध, चपलता और भयका सर्वथा अभाव है, जो धीर होते हुए भी दीर्घसूत्री (किसी कार्यमें अधिक विलम्ब करनेवाले) नहीं हैं, उन नारदजीको मैं प्रणाम करता हूँ। जो कामना अथवा लोभवश झूठी बात मुँहसे नहीं निकालते और समस्त प्राणी जिनकी उपासना करते हैं, उन नारदजीको मैं नमस्कार करता हूँ। जो अध्यात्मगतिके तत्त्वको जाननेवाले, ज्ञानशक्तिसम्पन्न तथा जितेन्द्रिय हैं, जिनमें सरलता भरी है तथा जो यथार्थ बात कहनेवाले हैं, उन नारदजीको मैं प्रणाम करता हूँ। जो तेज, यश, बुद्धि, नय, विनय, जन्म तथा तपस्या सभी दृष्टियोंसे बढ़े हुए हैं, उन नारदजीको मैं नमस्कार करता हूँ। जिनका स्वभाव सुखमय, वेष सुन्दर तथा भोजन उत्तम है; जो प्रकाशमान, पवित्र, शुभदृष्टिसम्पन्न तथा सुन्दर वचन बोलनेवाले

हैं; उन नारदजीको मैं प्रणाम करता हूँ। जो उत्साहपूर्वक सबका कल्याण करते हैं, जिनमें पापका लेश भी नहीं है तथा जो परोपकार करनेसे कभी अघाते नहीं हैं, उन नारदजीको नमस्कार करता हूँ। जो सदा वेद, स्मृति और पुराणोंमें बताये हुए धर्मका आश्रय लेते हैं तथा प्रिय और अप्रियसे रहित हैं, उन नारदजीको प्रणाम करता हूँ। जो समस्त संगोंसे अनासक्त हैं, तथापि सबमें आसक्त हुए-से दिखायी देते हैं, जिनके मनमें किसी संशयके लिये स्थान नहीं है, जो बड़े अच्छे वक्ता हैं, उन नारदजीको मैं नमस्कार करता हूँ। जो किसी भी शास्त्रमें दोषदृष्टि नहीं करते, तपस्याका अनुष्ठान ही जिनका जीवन है, जिनका समय कभी भगवच्चिन्तनके बिना व्यर्थ नहीं जाता और जो अपने मनको सदा वशमें रखते हैं, उन श्रीनारदजीको मैं प्रणाम करता हूँ। जिन्होंने तपके लिये श्रम किया है, जिनकी बुद्धि पवित्र एवं वशमें है, जो समाधिसे कभी तृप्त नहीं होते, अपने प्रयत्नमें सदा सावधान रहनेवाले उन नारदजीको मैं नमस्कार करता हूँ। जो अर्थलाभ होनेसे हर्ष नहीं मानते और लाभ न होनेपर मनमें क्लेशका अनुभव नहीं करते, जिनकी बुद्धि स्थिर तथा आत्मा अनासक्त है, उन नारदजीको नमस्कार करता हूँ। जो सर्वगुणसम्पन्न, दक्ष, पवित्र, कातरतारहित, कालज्ञ और नीतिज्ञ हैं, उन देवर्षि नारदको मैं भजता हूँ।'

नारदजीके इस स्तोत्रका मैं नित्य जप करता हूँ। इससे वे मुनिश्रेष्ठ मुझपर अधिक प्रेम रखते हैं। दूसरा कोई भी यदि पवित्र होकर प्रतिदिन इस स्तुतिका पाठ करे तो देवर्षि नारद बहुत शीघ्र उसपर अपना अतिशय कृपाप्रसाद प्रकट करते हैं। राजन्! आप भी नारदजीके इन गुणोंको सुनकर प्रतिदिन इस पवित्र स्तोत्रका जप करें, इससे वे मुनि आपपर बहुत प्रसन्न होंगे।

**बाभ्रव्य कहते हैं**—श्रीकृष्णके मुखसे नारदजीके इन गुणोंको सुनकर राजा उग्रसेन बहुत प्रसन्न हुए और उनके बताये अनुसार उनका स्तोत्रपाठ भी किया। तदनन्तर नारदजीकी पूजा करके तथा पर्याप्त दान देकर अपने बन्धु-बान्धव एवं कुटुम्बी जनोंके साथ भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकापुरीको लौट गये। अर्जुन! तुम भी नारदजीके इन गुणोंका श्रवण करके श्रद्धामय होकर उनका पूजन करो।

बाभ्रव्यका यह वचन सुनकर अर्जुनको बड़ा विस्मय हुआ। उनके अंगोंमें रोमांच हो आया और उन्होंने भक्तिपूर्वक नारदजीके चरणोंमें प्रणाम किया। तत्पश्चात् इस प्रकार कहा—'मुने! आपके मुखसे इस गुप्तक्षेत्रका माहात्म्य सुनकर मुझे तृप्ति नहीं होती, अतः पुनः उसका वर्णन कीजिये।'

**नारदजीने कहा**—अर्जुन! पूर्वकालमें महायोगी अक्षपाद गौतम मुनि हो गये हैं, जो गोदावरी गंगाको यहाँ लाये थे और अहल्याके पति थे। वे बड़े शक्तिशाली थे। उन्होंने गुप्तक्षेत्रका माहात्म्य सुनकर और उसे सर्वोत्तम जानकर वहाँ योगसाधना करते हुए भारी तपस्या प्रारम्भ की। तदनन्तर महात्मा गौतमने योगसिद्धि प्राप्त करके इस तीर्थमें गौतमेश्वर नामसे प्रसिद्ध शिवलिंगकी स्थापना की। इस गौतमेश्वर लिंगको भलीभाँति नहलाकर उसपर चन्दनका आलेप करके उसे भाँति-भाँतिके पुष्पोंसे पूजे और गुग्गुलकी धूप जलावे। ऐसा करनेवाला मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो रुद्रलोकमें प्रतिष्ठित होता है।

**अर्जुन बोले**—देवर्षे! मैं योगके स्वरूपका तात्त्विक विवेचन सुनना चाहता हूँ, क्योंकि योगको समस्त उत्तम साधनोंसे भी उत्तम बताकर सब लोग उसकी बड़ी प्रशंसा करते हैं।

**नारदजीने कहा**—कुरुश्रेष्ठ! मैं संक्षेपसे ही तुम्हें योगका तत्त्व बतलाता हूँ। इसके सुननेसे भी चित्त निर्मल होता है, फिर सेवन करनेसे तो कहना ही क्या है? चित्तकी वृत्तियोंको जो रोकना है, वही योगका तत्त्व कहलाता है। योगी

पुरुष अष्टांगकी विधिसे उसकी साधना करते हैं। यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्येय, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ[१] अंग हैं। इस प्रकार योग आठ अंगोंसे युक्त बताया गया है। उन आठोंमेंसे प्रत्येकका लक्षण क्रमशः सुनो, जिसके साधनसे साधकको योगकी प्राप्ति होती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' कहे गये हैं, इन सबका भी लक्षण सुनो। जो सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मभाव रखकर सबके हितके लिये चेष्टा करता है, उसकी यह प्रवृत्ति 'अहिंसा' कही गयी है। जिसका वेदोंमें भी विधान किया गया है, जो स्वयं देखा गया हो, सुना गया हो, अनुमान किया गया हो, अथवा अपने अनुभवमें लाया गया हो, उसे दूसरोंको पीड़ा न देते हुए यथार्थरूपसे वाणीद्वारा प्रकट करना 'सत्य' कहलाता है। अपने ऊपर आपत्ति पड़नेपर भी मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसी प्रकार भी दूसरोंका धन न लेना 'अस्तेय' कहा गया है। मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा मैथुनसे सर्वथा दूर रहना यह संन्यासियोंका 'ब्रह्मचर्य' है तथा ऋतुकालमें अपनी ही पत्नीके साथ केवल एक बार समागम करना तथा अन्य समयमें पूर्ण संयम रखना यह गृहस्थोंका 'ब्रह्मचर्य' है। मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा सब वस्तुओंका त्याग कर देना यह संन्यासियोंका 'अपरिग्रह' है तथा सब वस्तुओंका संग्रह रखते हुए भी केवल मनसे उनका त्याग करना—उनके प्रति ममता और आसक्तिका न होना—यह गृहस्थोंका 'अपरिग्रह' माना गया है। ये पाँच यम बताये गये हैं। अब पाँच नियमोंका श्रवण करो। शौच, सन्तोष, तप, जप और गुरुभक्ति—ये पाँच[२] नियम हैं। अब इनका भी पृथक्-पृथक् लक्षण श्रवण करो। शौच दो प्रकारका बतलाया जाता है—बाह्य और आभ्यन्तर। मिट्टी और जलसे जो शरीरकी शुद्धि की जाती है, वह 'बाह्य शौच' कहलाता है और मनकी शुद्धिको 'आन्तरिक शौच' कहते हैं। न्यायसे प्राप्त हुई जीविका या भिक्षा अथवा वार्ता (कृषि-वाणिज्य आदि)-के द्वारा जो कुछ प्राप्त हो, उसीसे सदा सन्तुष्ट रहना 'सन्तोष' कहलाता है। अपने आहारको घटाते हुए साधक पुरुष जो चान्द्रायण आदि विहित तपका अनुष्ठान करता है, उसका नाम 'तप' है। वेदोंके स्वाध्याय तथा प्रणवके अभ्यास आदिको 'जप' कहा गया है। भगवान् शिव ही ज्ञानस्वरूप गुरु हैं, उनमें जो भक्ति की जाती है, वही 'गुरुभक्ति' मानी गयी है। इस प्रकार नियमों और यमोंका भलीभाँति साधन करके विद्वान् पुरुष प्राणायामके लिये सन्नद्ध होवे, अन्यथा वह योगकी सिद्धि नहीं कर सकता; क्योंकि जिसका शरीर बाहर और भीतरसे शुद्ध नहीं हुआ है, उसमें वायुका महान् प्रकोप हो जाता है और वायुके प्रकोपसे शरीरमें कोढ़ हो जाती है। इतना ही नहीं, वह जडता आदिका भी उपभोग करता है (लकवा आदि मार जानेसे उसका शरीर जड हो जाता है), इसलिये बुद्धिमान् पुरुष शरीरको शुद्ध करके ही दूसरे साधनके लिये प्रयोग करे। पाण्डुनन्दन! अब मैं प्राणायामका लक्षण बतलाता हूँ, सुनो।

---

१- पातंजलयोगदर्शनके अनुसार योगके आठ अंगोंमें आसनकी भी गणना की गयी है, ध्येय तो साध्य है। अतः साधनका अंग नहीं हो सकता; इसलिये वहाँ साध्यको अष्टांगोंमें नहीं लिया गया है। यम-नियम आदि अन्य सात साधन उसमें भी वे ही हैं, जो यहाँ स्कन्दपुराणमें दिये गये हैं।

२- योगदर्शनमें शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये पाँच नियम कहे गये हैं। यहाँ भी तीन तो वैसे ही हैं। स्वाध्यायके स्थानमें यहाँ जप लिया गया है। परन्तु जपके लक्षणमें स्वाध्यायको ग्रहण करके दोनोंकी एकता मान ली गयी है। शिवकी भक्ति ही यहाँ गुरुभक्ति है, अतः यह भी ईश्वर-प्रणिधानसे भिन्न नहीं है।

प्राण और अपान वायुका निरोध 'प्राणायाम' कहलाता है। विद्वान् पुरुषोंने उसे तीन प्रकारका बतलाया है—लघु, मध्यम और उत्तरीय (उत्तम)। लघु प्राणायाम बारह मात्राका होता है। आँखको बंद करने और खोलनेमें जितना समय लगता है, वह एक मात्रा है। लघुसे दूना अर्थात् चौबीस मात्रावाला मध्यम प्राणायाम बताया गया है। त्रिगुण अर्थात् छत्तीस मात्राका उत्तम प्राणायाम माना गया है। प्रथम अर्थात् लघु प्राणायामसे स्वेद (पसीने)-को जीते, मध्यमसे कम्पको तथा तृतीय (उत्तम) प्राणायामसे विषादको जीते। इस प्रकार क्रमशः इन तीनों दोषोंपर विजय प्राप्त करे। किसी सुन्दर आसनपर सुखपूर्वक विराजमान हो पद्मासन* लगाकर रेचक, पूरक और कुम्भक भेदसे त्रिविध प्राणायामका अभ्यास करे। प्राणोंका उपरोध (संयम) करनेसे उस साधनका नाम 'प्राणायाम' है। जैसे आगमें धौंके जानेपर पर्वतीय धातुओंकी मैल जल जाती है, उसी प्रकार प्राणायामसे इन्द्रियजनित सम्पूर्ण दोष दग्ध हो जाते हैं। सौ कपिला गायोंका दान करनेसे जो फल प्राप्त होता है, वही प्राणायामसे भी मिल जाता है। इसलिये योगज्ञ पुरुष सदैव प्राणायाम करे। प्राणायामसे शान्ति आदि दिव्य गुण सिद्ध होते हैं। शान्ति, प्रशान्ति, दीप्ति और प्रसाद—ये क्रमशः प्रकट होनेवाले दिव्य गुण हैं। स्वाभाविक और आगन्तुक पापोंकी निवृत्ति तथा उनकी वासनाओंका शमन यह 'शान्ति' नामक प्रथम गुण है। मन और बुद्धिके द्वारा लोभ और मोहरूपी दोषोंका पूर्णतया निराकरण करके जो शान्तिकी प्राप्ति होती है, उसीको इस लोकमें 'प्रशान्ति' कहते हैं। भूत, भविष्य, दूरस्थ तथा अदृश्य पदार्थोंका यहाँ भलीभाँति ज्ञान होना ही 'दीप्ति' है। सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी प्रसन्नता तथा बुद्धि और प्राणोंकी भी निर्मलताको 'प्रसाद' कहा गया है। इस प्रकार ये चार फल प्राणायामके द्वारा प्राप्त करने योग्य हैं। ऐसे फलवाले प्राणायामका योगी पुरुष सदैव अभ्यास करे। जैसे सदा सेवन करनेपर सिंह, व्याघ्र और हाथी भी मृदुता (कोमलता एवं नम्रता)-को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार प्राणायामद्वारा साधित (संयममें लाया हुआ) प्राण भी वशमें हो जाता है। यह प्राणायाम बताया गया। अब प्रत्याहारका वर्णन सुनो। विषय-सेवनमें लगे हुए चित्तको विषयोंकी ओरसे लौटानेका जो प्रयत्न है, उसे 'प्रत्याहार' बताया गया है। चित्तको संयममें रखना ही प्रत्याहारका मुख्य लक्षण है। इस प्रकार प्रत्याहार बताया गया। अब धारणाका लक्षण सुनो। जैसे जल पीनेकी अभिलाषा रखनेवाले लोग पत्र और नाल आदिके द्वारा धीरे-धीरे जल पीते हैं, उसी प्रकार योगी पुरुष धारणाद्वारा साधित वायुका धीरे-धीरे पान करता है। गुदा, लिंग, नाभि, हृदय, तालु तथा भ्रूमध्यभाग (ललाट)-में क्रमशः चतुर्दल, षड्दल, दशदल, द्वादशदल, षोडशदल तथा द्विदल कमलका चिन्तन करके उन सबमें प्राणवायुकी धारणा करे और धीरे-धीरे एक स्थानसे समेटकर दूसरे स्थानमें ऊपर उठाते हुए उस प्राणको मस्तकके भीतर ब्रह्मरन्ध्रमें स्थापित कर दे। गुदा आदि छः अंग और चतुर्दल आदि छः चक्र—इन बारह स्थानोंमें प्राणवायुकी धारणा तथा संकोच करनेसे सब मिलकर बारह प्राणायाम

* पद्मासन लगानेकी विधि यह है—दायीं जाँघपर बायाँ चरण रखे और बायीं जाँघपर दायाँ चरण रखे। फिर बायें हाथको पीठकी ओरसे ले जाकर दायें चरणका अँगूठा दृढ़ताके साथ पकड़ ले। इसी प्रकार दायें हाथको पीछेकी ओरसे ले जाकर बायें चरणका अँगूठा पकड़ ले। फिर गर्दन झुकाकर अपनी ठोढ़ीको छातीमें सटा ले और नेत्रोंसे केवल नासिकाके अग्रभागको ही देखे। यह योगाभ्यासी पुरुषोंके उपयोगमें आनेवाला पद्मासन कहलाता है, यह रोगोंका नाश करनेवाला है।

होते हैं। इसीको 'धारणा' कहा गया है। इन धारणाओंको सिद्ध कर लेनेपर योगी पुरुष अक्षर ब्रह्मकी समताको प्राप्त हो जाता है। धारणामें स्थित हुए पुरुषके ये जो ध्येयतत्त्व हैं, उसका लक्षण सुनो। अर्जुन! ध्येयतत्त्व बहुत प्रकारका है, उनका कहीं अन्त नहीं मिलता। कोई शिवका, कोई विष्णुका, कोई सूर्य और ब्रह्माका तथा कोई महादेवीका ध्यान करते हैं। जो जिसका ध्यान करता है, वह उसीमें लीन होता है, इसलिये सदा कल्याण करनेवाले पंचमुख भगवान् शंकरका ध्यान करना चाहिये। भगवान् शिव वृषभकी पीठपर पद्मासनसे विराजमान हैं, उनकी अंगकान्ति गौर है, उनके दस हाथ हैं और मुखपर अत्यन्त प्रसन्नता छा रही है तथा वे ध्यानमग्न हो रहे हैं। इस प्रकार तुम्हारे लिये 'ध्येय' का स्वरूप बताया गया। इसका सदा ध्यान करना चाहिये। 'ध्यान'का लक्षण इस प्रकार है। धारणामें स्थित हुआ साधक आधे पलके लिये भी अपने ध्येय (इष्टदेव)-से भिन्न वस्तुका चिन्तन न करे। इस प्रकार इस दुर्गम भूमिकामें स्थित होकर योगवेत्ता पुरुष कुछ भी चिन्तन न करे—यही 'समाधि' कहलाती है। समाधिका ठीक-ठीक लक्षण बता रहा हूँ, सुनो। जो शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध तथा रूपसे सर्वथा रहित है, उस परम पुरुष परमात्माको प्राप्त हुआ योगी 'समाधिस्थ' कहा गया है। समाधिमें स्थित हुआ मनुष्य कभी विघ्नोंसे अभिभूत नहीं होता। भारी-से-भारी दुःख क्यों न आ जाय, वह उससे भी विचलित नहीं होता। उसके कानोंके पास यदि सैकड़ों शंख फूँके जायँ और बहुत-से नगाड़े पीटे जायँ तो भी वह बाहरके शब्दको नहीं सुनता। कोड़ोंके प्रहारसे उसे घायल कर दिया जाय, आगसे उसका शरीर जल जाय तथा सर्दीसे भरे हुए भयंकर स्थानमें उसे बैठा दिया जाय, तो भी वह बाहरके स्पर्शका अनुभव नहीं करता। फिर वैसे पुरुषके लिये बाहरी रूप, गन्ध और रसके विषयमें तो कहना ही क्या है? जो इस प्रकार आत्माका साक्षात्कार करके पुनः समाधिको प्राप्त करता है, उसे भूख और प्यास कभी बाधा नहीं पहुँचा सकती। निश्चल समाधिको पाकर मनुष्य जिस सुखका अनुभव करता है, वह न तो स्वर्गलोकमें है और न पातालमें ही है; फिर मनुष्यलोकमें तो वह हो ही कहाँ सकता है।

कुरुनन्दन! इस प्रकार योगमार्गमें आरूढ़ हुए पुरुषके लिये भी पाँच उपसर्ग प्राप्त होते हैं, जो बड़े ही कटु हैं—उनका परिचय सुनो। प्रातिभ, श्रावण, दैव, भ्रम और आवर्त—ये ही पाँच उपसर्ग हैं। सम्पूर्ण शास्त्रोंकी प्रतिभा (ज्ञान)-का हो जाना ही 'प्रातिभ' उपसर्ग है। यह है तो सात्त्विक परंतु इसके कारण जिसके हृदयमें अहंकार आ जाता है, इससे वह योगी अपनी स्थितिसे नीचे गिर जाता है। हजारों योजन दूरसे भी शब्दको सुन लेना 'श्रावण' नामक उपसर्ग है। यह दूसरा विघ्न है। यह भी सात्त्विक ही है परंतु इसके कारण भी जो गर्व करता है, वह नष्ट हो जाता है (साधनासे गिर जाता है)। जिससे देवताओंकी आठ योनियोंको देखता है, उस शक्तिका प्राप्त होना 'दैव' उपसर्ग है। यह भी सात्त्विक दोष है, इससे भी घमण्ड होनेपर साधकका विनाश होता है। जैसे जलके भँवरमें डूबा हुआ मनुष्य व्याकुल होता है, उसी प्रकार सहसा प्रकट हुए विविध विज्ञानके आवर्तमें जो चित्तकी व्याकुलता होती है, उसका नाम 'आवर्त' है। यह राजस दोष है, जो बड़ा भयंकर है। जब योगीका मन अनेक प्रकारके दोषोंसे आक्रान्त हो समस्त आधारोंसे भ्रष्ट होनेके कारण अवलम्बशून्य होकर भटकने लगता है तब उसे 'भ्रम' नामक दोष बताया जाता है। यह तामस दोष है। इन

अत्यन्त घोर उपद्रवोंसे योगका नाश हो जानेके कारण सम्पूर्ण देवयोनियाँ बार-बार आवर्तन करती (आवागमनमें पड़ी रहती) हैं।

इसलिये योगी मनोमय* श्वेत कंबलका आवरण डालकर परब्रह्म परमात्मामें चित्तको स्थिर करके निरन्तर उन्हींका चिन्तन करे। सिद्धिकी इच्छा रखनेवाले योगीको सदा सात्त्विक आहारका सेवन करना चाहिये। राजस और तामस आहारोंसे योगीको कभी सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। स्वधर्मपालनमें लगे हुए श्रद्धालु, जितेन्द्रिय, श्रोत्रिय महात्माओंके यहाँ योगीको भिक्षा माँगनी चाहिये। भिक्षामें मिले हुए यवान्न, मट्ठा, दूध, जौकी लपसी, पका हुआ फल-मूल अथवा कन, तिलकी खली या सत्तू—ये सब पवित्र आहार हैं, जो योगियोंको सिद्धि प्रदान करनेवाले हैं।

योगका साधक विभिन्न लक्षणोंसे अपनी मृत्युका समय जानकर कालको वंचित करनेके लिये एकाग्रचित्त हो योगतत्पर हो जाय। अब मैं उन निमित्तों (लक्षणों)-को बतलाता हूँ, जिनसे योगवेत्ता पुरुष अपनी मृत्युको जान लेता है। लाल चमड़ा अथवा लाल वस्त्र धारण किये हुए हँसती-गाती हुई कोई स्त्री स्वप्नमें जिस पुरुषको दक्षिण दिशाकी ओर ले जाय, वह जीवित नहीं रहता। स्वप्नमें किसी नंगे संन्यासीको हँसते और उछलते-कूदते देखकर यह समझ लेना चाहिये कि उसके रूपमें अपनी मृत्यु आ गयी है। जो स्वप्नमें रीछ और वानरसे जुते हुए रथपर बैठकर गाता हुआ दक्षिण दिशाकी ओर जाता है अथवा कीचड़ या गोबरमें डूबता है, वह जीवित नहीं रहता। स्वप्नमें बिना जलकी नदीको केश, अंगार, भस्म अथवा सर्पमेंसे किसी एकके द्वारा भरी हुई देखकर मनुष्य जीवित नहीं रहता। यदि विकराल, भयंकर तथा क्रूर स्वभाववाले मनुष्य हाथमें हथियार लिये स्वप्नमें पत्थरोंसे मारें तो मनुष्य तत्काल मृत्युको प्राप्त हो जाता है। सूर्योदयकालमें रोती हुई गीदड़ी जिसके सामने होकर दाहिने अथवा बायें चली जाती है, वह भी शीघ्र मृत्युको प्राप्त हो जाता है। जो दीपके बुझनेकी गन्धको नहीं जानता, रातमें रक्तवमन करता है तथा दूसरेके नेत्रमें अपना प्रतिबिम्ब नहीं देख पाता, वह जीवित नहीं रहता। आधी रातमें इन्द्रधनुष और दिनमें तारागणोंको देखकर शास्त्रविश्वासी पुरुष यह मान ले कि उसकी आयु क्षीण हो गयी है। जिसकी नाक टेढ़ी हो जाय, कानोंमें नीचाई-ऊँचाई आ जाय तथा बायीं आँख सदा बहती रहे; उसकी आयु समाप्त हो गयी है। जब मुँह कुछ-कुछ लाल हो जाय और जीभ काली पड़ जाय, तब विद्वान् पुरुषको यह समझ लेना चाहिये कि अपनी मृत्यु समीप आ गयी है। जो स्वप्नमें ऊँट और गदहेकी सवारीसे दक्षिण दिशाकी ओर जाता है तथा जो अपने दोनों कान बंद करके आवाज नहीं सुन पाता; वह जीवित नहीं रहता है। स्वप्नमें जो गड्ढेमें गिर जाय और उसके निकलनेका दरवाजा बंद कर दिया जाय, जिससे वह फिर उठ न सके; जिसकी स्वच्छ दृष्टि भी लाल हो जाय, जो स्वप्नमें अग्निप्रवेश करके फिर वहाँसे न निकले, इसी तरह जलमें प्रवेश करके वहाँसे न निकले, तो वही उसके जीवनका अन्तिम काल है। जो रात या दिनमें दुष्ट भूतोंद्वारा मारा जाता है तथा जिसकी प्रकृतिमें कोई विकार आ गया है, उसके निकट ही यमराज और काल मौजूद हैं। जो भक्त होकर भी देवता, गुरु, पिता-माता तथा ज्ञानी पुरुषोंकी निन्दा और अवहेलना करता है, वह जीवित नहीं रहता है।

* मनसे यह भावना करे कि मेरे सब ओर श्वेत कंबलका आवरण पड़ा है, मैं अकेला हूँ, जगत्की कोई विघ्न-बाधा मेरे पासतक नहीं पहुँच सकती।

योगवेत्ता पुरुष इस प्रकार मृत्युसूचक विपरीत लक्षणोंको देखकर उत्तम धारणाका आश्रय ले समाधिमें स्थिर हो जाय। यदि वह उस मृत्युको नहीं चाहता तो उसे वह नहीं प्राप्त होती अथवा यदि मुक्तिकी इच्छा हो तो उस मृत्युको ब्रह्मरन्ध्रमें छोड़ दे। इस प्रकार विमुक्त हुए शरीरमें भी जो उपसर्ग योगीको प्राप्त होते हैं, उनके नाम सुनो। ईशान, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व, इन्द्र, चन्द्र, प्रजापति तथा ब्रह्मा—इनसे सम्बन्ध रखनेवाली आठ लोकोंमें क्रमशः आठ सिद्धियाँ होती हैं, जो इस प्रकार हैं—पार्थिवी, जलमयी, तैजसी, वायुसम्बन्धिनी, आकाशसम्बन्धिनी, मानसी, अहंकारोद्भवा तथा बुद्धिजा। इनमें प्रत्येकके आठ-आठ भेद हैं और ये उत्तरोत्तर लोकोंमें क्रमशः द्विगुण-त्रिगुण आदिके क्रमसे स्थित हैं। पूर्व अर्थात् ईशानलोकमें आठ सिद्धियाँ हैं और अन्तिम अर्थात् ब्रह्मलोकमें इनकी संख्या चौसठ हो जाती है। ऐसा किस प्रकार होता है, सो सुनो। मोटा होना, पतला होना, बालक बन जाना, बूढ़ा होना, जवान हो जाना, भिन्न-भिन्न जातिके जीवोंके रूपमें अपनेको प्रकट करना, एक ही जातिमें भी अनेक रूप ग्रहण करना तथा पार्थिव अंशके बिना ही केवल चार तत्त्वोंसे शरीरको धारण करना—ये आठ पार्थिवी सिद्धियाँ हैं, जो ईशानलोकमें पृथ्वीतत्त्वपर विजय प्राप्त होनेके बाद प्रकट होती हैं।

जलतत्त्वपर विजय होनेके पश्चात् मनुष्य पृथ्वीकी ही भाँति जलमें निवास करता है। बिना किसी घबराहटके समुद्रको पी सकता है, उसे सर्वत्र जलकी प्राप्ति होती है, वह सूखे फलको भी हरा और रसीला कर सकता है। पृथ्वी और जलको छोड़कर केवल तीन भूतोंसे शरीर धारण करता है। नदियोंको हाथमें रख सकता है, उसके शरीरमें कोई घाव नहीं होता तथा उसकी बड़ी सुन्दर कान्ति होती है। इस प्रकार ये आठ नूतन और आठ पहलेकी, कुल सोलह सिद्धियाँ राक्षसलोकमें मानी गयी हैं।

अग्नितत्त्वपर अधिकार हो जानेपर देहसे अग्नि प्रकट करना, अग्निके तापका भय दूर हो जाना, समस्त लोकोंको भस्म कर डालनेकी शक्तिका होना, पानीमें आग लगा देना, हाथसे आगको उठा लेना, स्मरणमात्रसे किसीको पवित्र कर देना, आगसे जलकर भस्म हुए पदार्थका पुनः निर्माण कर देना तथा केवल दो महाभूत वायु और आकाशके आधारपर शरीरको धारण करना—ये आठ तैजस सिद्धियाँ और पहलेकी सोलह सब मिलकर चौबीस सिद्धियाँ यक्षलोकमें प्रकट होती हैं।

मनके समान गमनशक्तिका होना, प्राणियोंके भीतर प्रवेश करना, पर्वत आदि बड़ी भारी वस्तुओंका भार लीलापूर्वक ढोना, हलका होना, भारी हो जाना, दोनों हाथोंसे वायुको पकड़ लेना, अंगुलिके अग्रभागके धक्केसे समूची पृथ्वीको हिला देना तथा एकमात्र आकाशतत्त्वसे ही शरीरको धारण करना—ये वायुसम्बन्धिनी शक्तियाँ गन्धर्वलोकमें हैं। पहलेकी चौबीस और आठ नूतन कुल मिलाकर बत्तीस सिद्धियाँ गन्धर्वलोकमें हैं।

अपनी छायाको मिटा देना, इन्द्रियोंका दर्शन न होना, सदा आकाशमें चलना, इन्द्रिय और मन आदिका स्वयं शान्त रहना, दूरके शब्दको सुन लेना, सब प्राणियोंके शब्दको समझ लेना, तन्मात्राओंके चिह्नको ग्रहण कर लेना तथा समस्त प्राणियोंको देखना—ये आठ आकाशतत्त्वको जीतनेसे प्राप्त होनेवाली तथा पहलेकी बत्तीस कुल चालीस सिद्धियाँ इन्द्रलोकमें हैं।

इच्छाके अनुरूप वस्तुओंका प्राप्त होना, जहाँ इच्छा हो वहीं निकल जाना, सब प्रकारकी शक्तियोंका होना, समस्त गोपनीय वस्तुओंको देखना तथा समस्त संसारकी घटनाओंको देखना आदि आठ सिद्धियाँ मानसी हैं—ये तथा पहलेकी चालीस कुल अड़तालीस सिद्धियाँ चन्द्रलोकमें मानी गयी हैं।

काटना, तपाना, छेदना, संसारको बदल डालना, समस्त प्राणियोंको प्रसन्न कर देना तथा मृत्युकालपर विजय पाना आदि आठ अहंकारोद्भवा तथा पहलेकी अड़तालीस, कुल छप्पन सिद्धियाँ प्राजापत्यलोकमें हैं।

संकेतमात्रसे ही संसारकी सृष्टि कर देना, सबपर अनुग्रह करना, प्रलयका अधिकार प्राप्त कर लेना, अन्य लोगोंके चित्तमें प्रवेश करके उसे प्रेरित करना, जिसकी कहीं समता नहीं ऐसी वस्तु प्रकट कर देना, चित्रलिखित वस्तुको प्रत्यक्ष प्रकट कर देना, अशुभको शान्त कर देना तथा कर्तृत्वशक्तिसे सम्पन्न होना—ये आठ बुद्धिजनित सिद्धियाँ तथा पहलेकी छप्पन मिलाकर कुल चौसठ सिद्धियाँ ब्रह्मलोकमें विद्यमान हैं।

यह गोपनीय रहस्य मैंने तुमसे प्रकट किया है। ये सब सिद्धियाँ जीते-जी अथवा देह-भेद होनेपर योगीको प्राप्त होती हैं। परंतु इनके द्वारा सदैव पतनका भय बना रहता है। इसलिये योगीको इन सिद्धियोंके प्रति आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। इन सब सिद्धिजनक गुणोंका निवारण करके सदा योगसाधनामें लगे रहनेवाले योगीको ऐसी आठ सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, जो योगमें भलीभाँति सिद्धि प्रदान करनेवाली हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व तथा कामावसायिता। ये आठ सिद्धियाँ माहेश्वरपदमें स्थिति सूचित करती हैं। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म हो जाना 'अणिमा' शक्ति है। अत्यन्त शीघ्रतासे कोई काम करना 'लघिमा' है। समस्त लोकसे पूजनीय पदकी प्राप्ति होनेसे 'महिमा' मानी गयी है। 'प्राप्ति' नामक सिद्धि वह है, जब कि योगीके लिये कुछ भी अप्राप्य नहीं रह जाता है। सर्वत्र व्यापक होनेके कारण उसमें 'प्राकाम्य' नामक सिद्धिका उदय माना जाता है। सिद्ध योगी जिससे ईश्वरतुल्य हो जाता है, वह 'ईशित्व' नामक सिद्धि है। सबको वशमें करनेके कारण उसमें 'वशिता' नामक उत्तम सिद्धि मानी गयी है। जहाँ इच्छा हो वहीं पहुँच जाना 'कामावसायिता' नामक सिद्धि है। ये समस्त सिद्धियाँ ईश्वरपदको प्राप्त हुए योगीमें प्रकट होती हैं। इसलिये वह न तो जन्म लेता है, न बढ़ता है और न मृत्युको ही प्राप्त होता है। ऐसा योगी मुक्त कहा गया है। जो इस प्रकार मुक्ति पाता है, उसका आत्मा परमात्माके साथ उसी प्रकार एक हो जाता है, जैसे जलमें डाला हुआ जल परस्पर एकताको प्राप्त हो जाता है। योगका ऐसा फल जानकर योगी पुरुष सदा योगका अभ्यास करे। निर्मल योगीजन यहाँ योगसिद्धिके लिये कुछ उपमाएँ दिया करते हैं। जैसे सूर्यकान्तमणि चन्द्रमाकी किरणोंके संयोगसे अथवा चन्द्रकान्तमणिके सम्पर्कसे अग्नि प्रकट नहीं करता अपितु अकेला होनेपर ही सजातीय सूर्यकिरणके संयोगसे वह आग प्रज्वलित करता है, उसी प्रकार योगीकी भी उपमा है। योगी भी तभी सिद्धि लाभ करता है, जब वह प्रतिबन्धकोंसे दूर रहकर अनुकूल साधन-सामग्रीके साथ अकेला रहकर साधनमें संलग्न होता है। जैसे चिड़िया, चूहा और नेवला घरमें स्वामीकी भाँति निवास करते हैं और घर गिर जानेपर अन्यत्र चले जाते हैं, किंतु उनके मनको इसके लिये दुःख नहीं होता। यही उपमा योगीके लिये भी है। उसको भी देह-गेहमें ममता नहीं रखनी चाहिये। जैसे चींटी या दीमक अपने बहुत छोटे मुखाग्रसे थोड़ी-थोड़ी मिट्टी जमा करके मिट्टीका ढेर लगा देते हैं, यही उपदेश योगीके लिये भी है। योगी निरन्तर थोड़ी-थोड़ी साधनशक्तिका संचय करते हुए एक दिन महती योगशक्तिसे सम्पन्न हो जाता है। पत्र, पुष्प और फलसे भरे हुए वृक्षको पशु, पक्षी और मनुष्य आदि नष्ट

कर देते हैं। इस रहस्यको समझकर योगी पुरुष सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। सारांश यह कि यदि योगी भी सिद्धिका चमत्कार प्रकट करने लगे तो संसारके लोग उसे अपनी साधनासे भ्रष्ट कर देंगे। अतः उसे गुप्त रहकर ही साधना करनी चाहिये। हिरनके बच्चेके सिरपर जब पहले सींग उगते हैं तो वे तिलकके समान दिखायी देते हैं और धीरे-धीरे बढ़कर बहुत बड़े हो जाते हैं। इस बातको लक्ष्य करके योगी उस हिरनके सींगके साथ-साथ यदि बढ़ने लगे (धीरे-धीरे अपनी साधना बढ़ाता रहे) तो वह सिद्धिको प्राप्त कर लेता है। मनुष्य जल या तेल आदि द्रव पदार्थोंसे भरे हुए पात्रको लेकर पृथ्वीसे बहुत ऊँचे मार्गपर चढ़ जाता है, यह देखकर भी क्या योगी पुरुषोंको अपने कर्तव्यका ज्ञान नहीं होता? उसको भी चाहिये कि वह अत्यन्त सावधान होकर योगके उच्च शिखरपर आरोहण करे।

वही घर है, जहाँ निवास हो; वही भोजन है, जिससे जीवनकी रक्षा हो। जिससे प्रयोजन सिद्ध हो और जो स्वयं ही योगसिद्धिमें सहायक हो, वैसे ही ज्ञानकी योगी उपासना करे। वही उसके लिये कार्यसाधक हो सकता है। नाना प्रकारके ज्ञानका जो अधिक संग्रह है, वह योगकी साधनामें विघ्नकारक ही होता है। जो 'यह जानने योग्य है, यह जानने योग्य है' ऐसा सोचते हुए बहुविध ज्ञानके लिये प्यासा फिरता है, वह एक हजार कल्पोंमें भी ज्ञेय वस्तुको नहीं प्राप्त कर सकता। आसक्ति छोड़कर, क्रोधको जीतकर परिमित आहारका सेवन करते हुए जितेन्द्रिय होवे और बुद्धिके द्वारा इन्द्रियद्वारोंको बंद करके मनको ध्यानमें लगावे। सात्त्विक आहारका सेवन करे; ऐसे आहारका नहीं, जिससे उसका चित्त काबूके बाहर हो जाय। चित्तको बिगाड़नेवाले आहारका सेवन करनेवाला मनुष्य रौरव नरकका प्रिय अतिथि होता है। वाणी दण्ड है, कर्म दण्ड है और मन दण्ड है। ये तीनों दण्ड जिसके अधीन हैं; वह 'त्रिदण्डी' यति माना गया है। जब सामने आया हुआ मनुष्य अनुरक्त हो जाय, परोक्षमें गुणोंका कीर्तन होने लगे और कोई भी जीव उससे भयभीत न हो; तब यह सब योगीके लिये सिद्धिसूचक लक्षण बताया जाता है। लोलुपताका न होना, निरोग रहना, निष्ठुरताका अभाव होना, सुन्दर गन्ध प्रकट होना, मल और मूत्रका कम हो जाना, शरीरमें कान्ति, मनमें प्रसन्नता तथा वाणीमें कोमलता—ये योगसिद्धिके प्रारम्भिक चिह्न हैं। जो एकाग्रचित्त, ब्रह्मचिन्तन-परायण, प्रमादशून्य, पवित्र, एकान्तप्रेमी और जितेन्द्रिय है; वह महामना योगी इस योगमें सिद्धि प्राप्त करता है और उस योगके प्रभावसे मोक्षको प्राप्त हो जाता है। जिसका चित्त मोक्षमार्गमें आकर परब्रह्म परमात्मामें संलग्न हो सुखके अपार सिन्धुमें निमग्न हो गया है, उसका कुल पवित्र हो गया, उसकी माता कृतार्थ हो गयी, तथा उसे पाकर यह सारी पृथ्वी भी सौभाग्यवती हो गयी।* जिसकी बुद्धि अत्यन्त शुद्ध है, जो मिट्टीके ढेले और सुवर्णमें समान भाव रखता है, समस्त प्राणियोंमें सम भावसे निवास करता है; वह यत्नशील साधक अपनी साधना पूर्ण करके उस सर्वोत्कृष्ट सनातन एवं अविनाशी पदको प्राप्त होता है, जहाँ पहुँच जानेपर कोई भी मनुष्य पुनः इस संसारमें जन्म नहीं लेता।

अर्जुन! यह योगका रहस्य मैंने तुमसे बतलाया है। गौतमने ऐसे ही योगको प्राप्त किया और उन्होंने ही इस गौतमेश्वरलिंगको स्थापित

* कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा भाग्यवती च तेन। विमुक्तिमार्गे सुखसिन्धुमग्नं लग्नं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ५२। ३८)

किया है, जो कि दर्शन करनेवाले मनुष्यके समस्त कलिकलुषका विनाश करनेवाला है। जो पुरुष आश्विनमासके कृष्णपक्षकी चतुर्दशीको रात्रिमें महान् उपहार समर्पित करके इस लिंगका पूजन करता है, वह पापरहित हो उसी लोकमें जाता है, जहाँ इस समय महामुनि गौतम विराजमान हैं। कुन्तीनन्दन! इस गुप्तक्षेत्रका माहात्म्य मैंने तुम्हें संक्षेपसे बताया है। जो यह सब सुनता है वह शुद्धचित्त हो जाता है। अब और क्या कहूँ?

## महीसागरसंगमकी श्रेष्ठता तथा उसके गुप्त-क्षेत्र होनेका कारण

**अर्जुनने पूछा**—नारदजी! इस तीर्थको गुप्तक्षेत्र क्यों कहते हैं? जिसका इतना महान् प्रभाव सुना गया है, वह गुप्त कैसे हुआ?

**नारदजी बोले**—अर्जुन! इस क्षेत्रके गुप्त होनेका जो कारण है उसके विषयमें एक बहुत प्राचीन कथा है, उसको श्रवण करो। यह क्षेत्र पूर्वकालमें शापवश गुप्त हो गया था। एक समय किसी निमित्तसे सब तीर्थोंके अधिदेवता एकत्र हो ब्रह्माजीको प्रणाम करनेके लिये उनकी सभामें गये। सब तीर्थोंको आया हुआ देखकर ब्रह्माजी अपने समस्त सभासदोंके साथ उठकर खड़े हो गये। उनके नेत्र आश्चर्यसे खिले हुए थे। भगवान् ब्रह्माने हाथ जोड़कर सब तीर्थोंको प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'तीर्थवरो! आज आप सब लोगोंके पदार्पणसे पवित्र होकर हमारा स्थान सफल हो गया। हम सब देवता भी आपके दर्शनसे बहुत पवित्र हो गये। तीर्थोंका दर्शन, स्पर्श तथा स्नान सब परम कल्याणकारक है। बड़े-बड़े पापोंसे भरे हुए जो भयंकर एवं अत्यन्त निर्दय मनुष्य हैं, वे भी तीर्थमें पवित्र हो जाते हैं; फिर जो धर्मपरायण हैं, उनके लिये तो कहना ही क्या है?' यों कहकर ब्रह्माजीने अपने पुत्र पुलस्त्यको आज्ञा दी—'बेटा! तुम तीर्थोंके लिये शीघ्र ही अर्घ्य ले आओ, जिससे मैं पूजन करूँ। जब अर्घ्य देने योग्य असंख्य पुरुष एकत्र हो जायँ, तब पूजनकालमें उन सबमेंसे श्रेष्ठ एक पुरुषको एक अर्घ्य प्रदान करना चाहिये।'

पिताकी यह आज्ञा पाकर पुलस्त्यजी बड़े वेगसे एक उत्तम अर्घ्यपात्र सजाकर ले आये। ब्रह्माजीने उसे हाथमें लेकर सब तीर्थोंसे कहा—'आप सब लोग मिलकर किसी एक मुख्य तीर्थका नाम बतलावें, मैं उसीको अर्घ्य देना चाहता हूँ। ऐसा करनेसे मुझे अन्यायरूपी दोष नहीं लगेगा।'

**तीर्थ बोले**—प्रभो! हम किसी प्रकार भी आपसमें श्रेष्ठताका निर्णय नहीं कर पाते। इसीलिये आपके पास आये हैं। आप ही हममेंसे जो श्रेष्ठ हो उसको समझकर अर्घ्य दे दीजिये।

**ब्रह्माजी बोले**—मैं आपलोगोंमेंसे किसी एककी श्रेष्ठताको नहीं समझ पाता। आपलोगोंको नमस्कार है। आप सभी अपार महिमासे सम्पन्न हैं। अतः स्वयं ही अपनेमेंसे श्रेष्ठ पुरुषको बतलावें।

ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर जब उनमेंसे कोई भी बहुत देरतक कुछ न बोला, तब महीसागरसंगम तीर्थने कहा—'चतुरानन! आप शीघ्र मुझे यह अर्घ्य प्रदान करें; क्योंकि दूसरा कोई भी तीर्थ मेरी करोड़वीं कलाके सामने भी पूरा नहीं पड़ता। पूर्वकालमें महाराज इन्द्रद्युम्नकी तपस्यासे तपकर यह सर्वतीर्थमयी समूची पृथ्वी ही मही नामवाली नदी हो गयी। वह सब तीर्थोंसहित मुझसे आकर मिली है, इसलिये मैं तीनों लोकोंमें सर्वतीर्थमय होकर प्रसिद्ध हूँ।'

तीर्थराज महीसागरसंगमके ऐसा कहनेपर अन्य सब तीर्थ मौन रहे। देखें ब्रह्माजी हमारे विषयमें क्या कहते हैं, यह सोचकर कोई कुछ न बोले।

तब ब्रह्माजीके ज्येष्ठ पुत्र धर्मने अपनी दाहिनी भुजा उठाकर इस प्रकार कहा—'अहो! बड़े कष्टकी

बात है, इस तीर्थराज महीसागरसंगमने मोहवश बड़ी कुत्सित बात कह डाली है। साधु पुरुषोंको उचित है कि वे अपनेमें अच्छे गुण होते हुए भी उनका अपने ही मुखसे बखान न करें। जो भरी सभामें दूसरोंपर आक्षेप करते हुए अपने गुणोंका वर्णन करता है, वह रजोगुणी, अहंकारी तथा निन्दित है। इसलिये यह तीर्थ इन सब गुणोंके रहते हुए भी अपने अहंकारके कारण विख्यात न होगा। इसका स्वरूप विध्वस्त-सा हो जायगा।'

धर्मदेवके ऐसा कहनेपर सब ओर हाहाकारका शब्द गूँज उठा। तब योगीश्वर स्कन्दजी तथा मैं दोनों शीघ्रतापूर्वक वहाँ जा पहुँचे। कार्तिकेयने उस देवसमाजमें धर्मसे इस प्रकार कहा—'धर्म! तुमने धृष्टताके कारण जो यह शाप दे डाला है, वह अनुचित ही हुआ है। कोई भी बतावे तो सही कि तीनों लोकोंमें विद्यमान समस्त तीर्थोंमेंसे कौन-सा ऐसा तीर्थ है, जिससे यह महीसागरसंगम अर्घ्य पानेका अधिकारी नहीं है? इस तीर्थराजने अपने जिस गुणका वर्णन किया है, वह सब इसमें मौजूद है। ऐसी दशामें कौन-सी बुराई हो गयी? क्योंकि अवगुण तो झूठ बोलनेमें है, सत्य कहनेमें नहीं! अहो! जो सबका पालन करनेवाले हैं, उनके द्वारा ऐसा बर्ताव होना कदापि उचित नहीं है। यदि वे भी विचार न करके ऐसे कार्य करेंगे तब प्रजा किसकी शरणमें जायगी।'

स्कन्द स्वामीके ऐसा कहनेपर धर्मने इस प्रकार उत्तर दिया—'आपका यह कहना ठीक है कि यह महीसागरसंगम सब तीर्थोंमें प्रधान होने और ब्रह्माजीसे अर्घ्य पानेके सर्वथा योग्य है, किंतु साधु पुरुषोंका यह सनातन नियम है कि अपने ही मुँहसे अपने गुणोंका बखान नहीं करना चाहिये। दूसरोंका किया हुआ आक्षेप और अपनी प्रशंसा—ये दो दोष ब्रह्माजीको भी अपने पदसे विचलित कर सकते हैं। दूसरोंपर आक्षेप करते हुए अपनी प्रशंसा करनेवाले राजा ययाति क्या स्वर्गसे नीचे नहीं गिर गये थे? बुद्धिमान् ईश्वरने पूर्वकालमें जो-जो बातें प्रमाणित कर दी हैं, उन सबका भलीभाँति पालन करना चाहिये। कौन विद्वान् उनका उल्लंघन कर सकता है? कार्तिकेयजी! आपके पिताने आदेश देकर जिस कार्यके लिये हमें नियुक्त किया है, हम सदा उसीका पालन करते हैं। आपको भी उसका पालन करना चाहिये।'

यों कहकर धर्म जब अपनी मुद्रा त्याग देनेको तैयार हो गये, तब मैंने उस प्रस्तावपर विचार करके यह बात कही—'विश्वको धारण करनेवाले परम महान् महात्मा धर्मको नमस्कार है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी जिनकी प्रतिदिन पूजा करते हैं, उन पापनाशी धर्मको नमस्कार है। धर्म! यदि कदाचित् आप मुद्रा त्याग देंगे तो हमलोगोंकी सत्ता कैसे रह सकती है? प्रभो! आप इस विश्वका नाश न कीजिये। योगीश्वर कार्तिकेयको आप सम्मान देने योग्य हैं। ये साक्षात् भगवान् शंकरके पुत्र हैं; अतः उन्हींकी भाँति हम सबके लिये

माननीय हैं। मानद! आपने इस तीर्थराजको विख्यात न होनेका जो शाप दे दिया है, उसका निवारण करनेके लिये अनुग्रह कीजिये।'

**मेरे ऐसा कहनेपर ब्रह्माजीने मेरी प्रशंसा करते हुए कहा**—धर्म! नारदने अच्छी बात कही है, तुम इनकी बात मानो। तब धर्मने कार्तिकेयजीसे कहा—'हमलोग जिसके किंकर हैं, उन परम सिद्ध कार्तिकेयजीको नमस्कार है। स्कन्द! मेरे नाथ! मेरी यह विनय ध्यान देकर सुनिये। स्तम्भ अर्थात् गर्वके कारण यह महातीर्थ अप्रसिद्ध होगा तथापि शनिवारकी अमावास्याको महीसागरकी यात्रा करनेसे जो फल मिलेगा, उसपर ध्यान दीजिये—प्रभासकी दस बार, पुष्करकी सात बार और प्रयागकी आठ बार यात्रा करनेसे जो फल होता है वही फल इसकी एक बारकी यात्रासे प्राप्त होगा।'

इस प्रकार वरदान देनेपर कार्तिकेयजी मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए। ब्रह्माजीने भी एकाग्रचित्त होकर स्तम्भ तीर्थको अर्घ्य दिया और उसे सब तीर्थोंमें श्रेष्ठता प्रदान की। फिर सब तीर्थों और स्कन्द स्वामीको सम्मान देकर विदा किया। इस तीर्थके गुप्त होनेका यही प्राचीन वृत्तान्त है। इस प्रकार मैंने तुमसे सम्पूर्ण तीर्थके महान् फलका वर्णन किया। यह सब आदिसे ही सुनकर पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

**सूतजी कहते हैं**—यह सब सुनकर विस्मयमें पड़े हुए अर्जुनने उस तीर्थकी बड़ी प्रशंसा की और नारद आदिसे विदा लेकर द्वारकाको प्रस्थान किया।

## घटोत्कचका विवाह और बर्बरीकका जन्म

**शौनकजी बोले**—सूतजी! आपने गुप्तक्षेत्रके इस अत्यन्त अद्भुत, परम पावन, अनुपम तथा हर्षवर्धक माहात्म्यका वर्णन किया। यहाँ अब हम यह जानना चाहते हैं कि चण्डिल और विजय कौन थे तथा सिद्धमाताकी कृपासे उन्होंने कैसे सिद्धि प्राप्त की? यह सब यथार्थरूपसे कहिये।

**उग्रश्रवा (सूतजी)-ने कहा**—ब्रह्मन्! इस विषयमें मैं श्रीव्यासजीके मुखसे सुनी हुई कथा कहूँगा। पहलेकी बात है, पाण्डवोंने राजा द्रुपदकी पुत्री द्रौपदीको पाकर धृतराष्ट्रकी आज्ञासे इन्द्रप्रस्थ नामक नगर बसाया। वे वहाँ भगवान् वासुदेवसे सुरक्षित होकर रहते थे। एक समय पाण्डव अपनी राजसभामें बैठकर नाना प्रकारकी बातें कर रहे थे, इतनेहीमें भीमका पुत्र घटोत्कच वहाँ आया। उसे आया देख पाँचों भाई पाण्डव तथा परम पराक्रमी श्रीकृष्ण सहसा सिंहासनसे उठे और बड़ी प्रसन्नताके साथ सबने घटोत्कचको हृदयसे लगाया। भीमनन्दन घटोत्कचने भी अत्यन्त विनीतभावसे उन सबको प्रणाम किया। तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिरने उसे अपनी गोदमें बिठाकर आशीर्वाद दिया और स्नेहपूर्वक उसका मस्तक सूँघते हुए सभामें इस प्रकार पूछा—'बेटा! कहाँसे आते हो? इतने दिनोंतक कहाँ विचरते रहे? हिडिम्बाकुमार! तुम देवता, ब्राह्मण, गौ तथा साधु-महात्माओंका कोई अपराध तो नहीं करते हो? भगवान् श्रीकृष्णमें और हमलोगोंमें तुम्हारा प्रेम तो है न? तुम्हारा अत्यन्त प्रिय करनेवाली तुम्हारी माता हिडिम्बा तो खूब प्रसन्न है न?'

**धर्मराजके इस प्रकार पूछनेपर हिडिम्बाकुमारने कहा**—महाराज! मेरे मामाके मारे जानेपर मैं उसीके राज्यसिंहासनपर बिठाया गया हूँ और दुष्टोंका दमन करता हुआ सर्वत्र विचरता हूँ। मेरी माता हिडिम्बा देवी भी कुशलसे हैं, वे इस समय दिव्य तपस्यामें लगी हुई हैं। उन्होंने मुझे आज्ञा दी है—'बेटा! तुम सदा अपने पिता पाण्डवोंमें भक्ति रखनेवाले बनो।' माताकी यह बात सुनकर

मैं भक्तियुक्त चित्तसे आपको प्रणाम करनेके लिये ही मेरुगिरिके शिखरसे यहाँ आया हूँ। मेरी इच्छा है कि आपलोग मुझे किसी महान् कार्यमें नियुक्त करें। क्योंकि यही इस जीवनका महान् फल है कि पुत्र सदा अपने पितृवर्गकी आज्ञाका पालन करे। इससे वह पुण्यलोकोंपर विजय पाता है और इस संसारमें भी यशस्वी होता है।

**घटोत्कचके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिर उससे इस प्रकार बोले**—'बेटा! तुम्हीं हमारे भक्त और सहायक हो। हिडिम्बाकुमार! निश्चय ही जैसी माता होती है, वैसा ही उसका पुत्र भी होता है। तुम्हारी माता हमलोगोंके प्रति अविचल भक्ति रखनेवाली है, तुम भी ऐसे ही हो। अहो! मेरी प्यारी पतोहू हिडिम्बादेवी बड़ा कठिन कार्य कर रही है, जो कि अपने प्यारे पतिकी सेवाका सुख छोड़कर तपस्यामें ही संलग्न है।

**इस प्रकार बहुत-सी बातें कहकर धर्मराजने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा**—पुण्डरीकाक्ष! आप तो जानते ही हैं कि घटोत्कचका जन्म भीमसेनसे हुआ है। यह उत्पन्न होते ही तरुण हो गया था। श्रीकृष्ण! मैं चाहता हूँ, मेरे इस पुत्रको योग्य पत्नी प्राप्त हो, आप सर्वज्ञ हैं, बताइये, इसके योग्य पत्नी कौन हो सकती है? धर्मराजके ऐसा कहनेपर भगवान् श्रीकृष्णने क्षणभर ध्यान करके उनसे कहा—'राजन्! मैं बतलाता हूँ, घटोत्कचके योग्य एक बड़ी सुन्दरी स्त्री है, जो इस समय प्राग्ज्योतिषपुरमें निवास करती है। अद्भुत पराक्रम करनेवाला जो मुर नामक दैत्य था, उसीकी वह पुत्री है। मुर दैत्य बड़ा भयंकर था और पाशमय दुर्गमें रहता था। वह मेरे हाथसे मारा गया। उसके मारे जानेपर उसकी पुत्री कामकटंकटा मुझसे युद्ध करनेके लिये आयी। वह अत्यन्त पराक्रमी होनेके कारण बड़ी भयानक जान पड़ती थी। तब खड्ग और खेटक धारण करनेवाली उस दैत्य-कन्याके साथ महासमरमें मैंने भी युद्ध आरम्भ किया। मेरे शार्ङ्ग नामक धनुषसे बड़े-बड़े बाण छूटने लगे, परंतु मुरकी पुत्रीने मेरे उन सभी बाणोंको खड्गसे ही काट डाला। तब मैंने उसका वध करनेके लिये अपना सुदर्शन चक्र उठाया। यह देख कामाख्या देवी मेरे आगे आकर खड़ी हो गयी और इस प्रकार बोली—'पुरुषोत्तम! आपको इसका वध नहीं करना चाहिये। मैंने स्वयं इसको खड्ग और खेटक प्रदान किये हैं, जो अजेय हैं।'

**कामाख्या देवीकी यह बात सुनकर मैंने कहा**—शुभे! मैं ही इस युद्धसे निवृत्त होता हूँ, तुम इस कन्याको मना करो। तब कामाख्या देवीने उसे हृदयसे लगाकर कहा—'भद्रे! तुम युद्धसे लौट चलो। ये माधव श्रीकृष्ण युद्धमें दुर्जय हैं। कोई किसी प्रकार भी संग्राममें इन्हें मार नहीं सकता। संसारमें ऐसा कोई वीर न तो हुआ है, न है और न होगा ही, जो इन्हें युद्धमें जीत सके। औरोंकी तो बात ही क्या है, साक्षात् भगवान् शंकर भी इन्हें परास्त नहीं कर सकते। बेटी! ये तुम्हारे भावी श्वशुर हैं; अतः तुम इन्हें प्रणाम करके युद्धसे हट जाओ। यही तुम्हारे लिये उचित होगा। तुम इनके भाई भीमसेनकी पुत्रवधू होओगी। इसलिये अपने श्वशुरके समान पूजनीय जनार्दनका तुम आदर करो। अब पिताके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। इन श्रीकृष्णके हाथसे जो तुम्हारे पिताकी मृत्यु हुई है, वह सर्वथा स्पृहणीय है; क्योंकि इनके हाथसे मरनेपर अब तुम्हारे पिता सब पातकोंसे मुक्त होकर विष्णुधाममें चले गये।' कामाख्याके ऐसा कहनेपर कामकटंकटाने क्रोध त्याग दिया और विनीत अंगोंसे मुझे प्रणाम किया। तब मैंने उसे आशीर्वाद देकर कहा—'बेटी! तुम भगदत्तसे सम्मानित होकर इसी नगरमें निवास करो। यहाँ रहती हुई ही तुम वीर हिडिम्बाकुमारको पतिरूपमें प्राप्त करोगी।' इस प्रकार आश्वासन देकर मैंने कामाख्या देवी तथा मौर्वी (मुरपुत्री)-को विदा किया। फिर वहाँसे

मुर-कन्याको न मारनेके लिये श्रीकृष्णसे कामाख्याका अनुरोध

द्वारका होता हुआ मैं यहाँ आकर आपसे मिला हूँ। अतः वह मुरदैत्यकी सुन्दरी कन्या ही घटोत्कचके लिये योग्य स्त्री है। मैं श्वशुर हूँ, इसलिये मेरे द्वारा उसके रूपका वर्णन करना उचित न होगा। साधु पुरुषके लिये यह कदापि उचित नहीं है कि वह स्त्रियोंके रूप-सौन्दर्यका वर्णन करे। एक बात और सुन लीजिये। उसने प्रतिज्ञा कर रखी है कि जो मुझे किसी प्रश्नपर निरुत्तर करके जीत ले तथा जो मेरे समान ही बलवान् हो, वही मेरा पति होगा। उसकी यह प्रतिज्ञा सुनकर बहुत-से दैत्य तथा राक्षस उसे जीतनेके लिये गये किंतु मौर्वीने उन सबको परास्त करके मार डाला। यदि महापराक्रमी घटोत्कच ऐसी मौर्वीको जीतनेका उत्साह रखता हो तो वह अवश्य ही इसकी पत्नी होगी।'

**युधिष्ठिर बोले**—प्रभो! उसके सब गुणोंसे क्या लाभ है, जब उसमें यह एक ही महान् अवगुण भरा हुआ है। उस दूधको लेकर क्या किया जायगा जिसमें विष मिला दिया गया हो। अपने प्राणोंसे भी अधिक प्यारे भीमसेनकुमारको केवल साहसके भरोसे कैसे इस संकटमें डाल दें? यह बेचारा तो शुद्ध वाक्य भी बोलना नहीं जानता। जनार्दन! देश-देशमें और भी तो बहुत-सी स्त्रियाँ हैं, उन्हींमेंसे किसी उत्तम स्त्रीको बतलाइये।

**भीमसेन बोले**—भगवान् श्रीकृष्णने जो बात कही है, वह अनेक प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाली, सत्य और उत्तम है। मेरा विश्वास है, घटोत्कच शीघ्र ही मौर्वीको प्राप्त करेगा।

**अर्जुन बोले**—कामाख्या देवीने मौर्वीसे कहा है, 'भद्रे! भीमसेनका पुत्र तुम्हारा पाणिग्रहण करेगा।' इस कारण मेरी राय यही है कि घटोत्कच शीघ्र वहाँ जाय।

**श्रीभगवान् बोले**—अर्जुन! मुझको तुम्हारी और भीमकी बात पसंद है। हिडिम्बाकुमार! बोलो तुम्हारी क्या राय है?

**घटोत्कचने कहा**—पूजनीय पुरुषोंके आगे अपने गुणोंका वर्णन करना उचित नहीं है। सूर्यकी किरणें और उत्तम गुण व्यवहारमें आकर ही प्रकाशित होते हैं। मैं सर्वथा ऐसी चेष्टा करूँगा, जिससे मेरे निर्मल पिता पाण्डव मुझ पुत्रके कारण सत्पुरुषोंकी सभामें लज्जित न हों।

यों कहकर महाबाहु घटोत्कचने उन सबको प्रणाम किया। फिर पितरोंसे विजयका आशीर्वाद पाकर उत्साहसम्पन्न हो वहाँसे जानेका विचार किया। उस समय भगवान् जनार्दनने उसकी प्रशंसा करके कहा—'बेटा! कथा कहते समय विजयकी प्राप्ति करानेवाले मुझ श्रीकृष्णका स्मरण अवश्य कर लेना, जिससे मैं तुम्हारी दुर्भेद्य बुद्धिको अविलम्ब बढ़ा दूँगा।' ऐसा कहकर श्रीकृष्णने उसे हृदयसे लगाया और आशीर्वाद देकर विदा किया। तदनन्तर हिडिम्बाकुमार महापराक्रमी घटोत्कच सूर्याक्ष, बालाख्य और महोदर—इन तीन सेवकोंके साथ आकाशमार्गसे चला और दिन बीतते-बीतते प्राग्ज्योतिषपुरमें जा पहुँचा।

वहाँ जानेपर घटोत्कचने प्राग्ज्योतिषपुरसे बाहर एक सोनेका सुन्दर भवन देखा, जो एक विशाल वाटिकामें शोभा पा रहा था। उसकी ऊँचाई एक हजार मंजिलकी थी। मेरुपर्वतके शिखरकी भाँति सुशोभित होनेवाले उस भवनके पास पहुँचकर घटोत्कचने देखा—दरवाजेपर एक सखी खड़ी है। उसका नाम 'कर्णप्रावरणा' था। वीर हिडिम्बाकुमारने सरस भाषामें उससे पूछा—'कल्याणी! मुरकी पुत्री कहाँ हैं? मैं दूर देशसे आया हुआ उनकी कामना करनेवाला अतिथि हूँ और उन्हें देखना चाहता हूँ।'

भीमसेनकुमारकी यह बात सुनकर वह निशाचरी लड़खड़ाती हुई दौड़ी और महलकी छतपर बैठी हुई मौर्वीके पास जाकर इस प्रकार बोली—'देवि! कोई सुन्दर तरुण कामका अतिथि होकर तुम्हारे द्वारपर खड़ा है। उसके समान सुन्दर

कान्तिवाला पुरुष कोई त्रिलोकीमें भी नहीं होगा। अतः अब उसके लिये क्या कर्तव्य है, यह आज्ञा दीजिये।'

**कामकटंकटा बोली**—अरी! उन्हें शीघ्र ले आ, क्यों विलम्ब करती है? कदाचित् दैवकी सहायतासे उन्हींके द्वारा मेरी प्रतिज्ञाकी पूर्ति हो जाय।

**मौर्वीके ऐसा कहनेपर दासीने घटोत्कचके पास जाकर कहा**—कामी पुरुष! उस मृत्युरूपा नारीके समीप शीघ्र जाओ। उसके ऐसा कहनेपर हँसते हुए घटोत्कचने वहींपर अपना धनुष छोड़कर घरके भीतर प्रवेश किया और विद्युत्की भाँति प्रकाशित होनेवाली उस दैत्य-कन्याको देखकर इस प्रकार सोचा—'अहो! मेरे पितृस्वरूप श्रीकृष्णने मेरे लिये योग्य स्त्रीको ही बतलाया है।' इस प्रकार विचार करते हुए उसने मौर्वीसे कहा—'ओ वज्रके समान कठोर हृदयवाली निष्ठुर नारी! मैं अतिथि होकर तुम्हारे घर आया हूँ। अतः सत्पुरुषोंके लिये जो उचित स्वागत-सत्कार है, वह अपने हार्दिक भावके अनुसार करो।' हिडिम्बाकुमारका यह वचन सुनकर कामकटंकटा उसके रूपसे विस्मित हो अपनी निन्दा करके इस प्रकार बोली—'भद्रपुरुष! तुम व्यर्थ ही यहाँ चले आये। जीते-जी पुनः सुखपूर्वक लौट जाओ, अथवा यदि मुझे चाहते हो तो शीघ्र कोई कथा कहो। कथा कहकर यदि मुझे सन्देहमें डाल दोगे तो मैं तुम्हारे वशमें हो जाऊँगी। उसके बाद मेरे द्वारा तुम्हारी सेवा होगी।'

उसके ऐसा कहनेपर घटोत्कचने यह सम्पूर्ण चराचर जगत् जिनकी कथा है, उन भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करके कथा प्रारम्भ की। 'मान लो किसी पत्नीके गर्भसे कोई बालक उत्पन्न हुआ जो युवा होनेपर बड़ा अजितेन्द्रिय निकला। उस युवकके एक पुत्री हुई तथा उसकी पत्नी मर गयी। तब पिताने ही उस नन्ही-सी पुत्रीकी रक्षा एवं पालन-पोषण किया। वह कन्या जब जवान हुई और उसके सब अंग विकसित हो गये, तब उसके पिताका मन उसके प्रति कामलोलुप हो उठा। तदनन्तर उस पापीने अपनी ही पुत्रीसे कहा—'प्रिये! तुम मेरे पड़ोसीकी लड़की हो। मैंने तुम्हें अपनी पत्नी बनानेके लिये यहाँ लाकर दीर्घकालतक पालन-पोषण किया है। अतः अब मेरा वह अभीष्ट कार्य सिद्ध करो।' उसके ऐसा कहनेपर उस लड़कीने ऐसा ही माना। उसने इसे पतिरूपमें स्वीकार किया और इसने उसे पत्नीरूपमें। तत्पश्चात् उस कामी गदहेसे एक कन्या उत्पन्न हुई। अब बताओ, वह कन्या उसकी क्या लगेगी—पुत्री अथवा दौहित्री?' यदि तुममें शक्ति है, तो मेरे इस प्रश्नका शीघ्र उत्तर दो।'

यह प्रश्न सुनकर मौर्वीने अपने हृदयमें अनेक प्रकारसे विचार किया, किंतु किसी प्रकार उसे इस प्रश्नका निर्णय नहीं सूझता था। तब उस प्रश्नसे परास्त होकर मौर्वीने अपनी शक्तिका उपयोग किया। वह ज्यों ही झूलेसे सहसा उठकर हाथमें तलवार लेना चाहती थी त्यों ही घटोत्कचने बड़े वेगसे पहुँचकर बायें हाथसे उसके केश पकड़ लिये और धरतीपर गिरा दिया। फिर उसके गलेपर बायाँ पैर रखकर दाहिने हाथमें कतरनी ले, उसकी नाक काट लेनेका विचार किया। मौर्वीने बहुत हाथ-पैर मारे, किंतु अन्तमें शिथिल होकर उसने मन्द स्वरमें कहा—'नाथ! मैं तुम्हारे प्रश्नसे और शक्ति तथा बलसे परास्त हो गयी हूँ। तुम्हें नमस्कार है। अब मुझे छोड़ दो, मैं तुम्हारी दासी हूँ। जो आज्ञा दो वही करूँगी।'

**घटोत्कचने कहा**—यदि ऐसी बात है तो लो, मैंने तुम्हें छोड़ दिया।

घटोत्कचके यों कहकर छोड़ देनेपर कामकटंकटाने पुनः उसे प्रणाम किया और कहा—'महाबाहो! मैं जानती हूँ, तुम बड़े वीर हो। त्रिलोकीमें कहीं भी तुम्हारे पराक्रमकी तुलना नहीं है। तुम इस पृथ्वीपर साठ करोड़ राक्षसोंके स्वामी हो।

ये बातें मुझे कामाख्या देवीने बतलायी थीं, वे सब आज याद आ रही हैं। मैंने अपने सेवकों तथा इस शरीरके साथ यह सारा घर तुम्हारे चरणोंमें समर्पित कर दिया। प्राणनाथ! आज्ञा दो, मैं तुम्हारे किस आदेशका पालन करूँ?'

**घटोत्कचने कहा**—मौर्वी! जिसके पिता और भाई-बन्धु मौजूद हैं, उसका विवाह छिपकर हो, यह किसी प्रकार उचित नहीं है। इसलिये अब तुम शीघ्र मुझे इन्द्रप्रस्थ ले चलो। यही हमारे कुलकी परिपाटी है। इन्द्रप्रस्थमें गुरुजनोंकी आज्ञा लेकर मैं तुमसे विवाह करूँगा। तदनन्तर मौर्वी अनेक प्रकारकी सामग्री साथ ले घटोत्कचको अपनी पीठपर बैठाकर इन्द्रप्रस्थमें आयी। भगवान् श्रीकृष्ण और पाण्डवोंने घटोत्कचका अभिनन्दन किया, उसके बाद शुभलग्नमें भीमकुमारने मौर्वीका पाणिग्रहण किया। कुन्ती और द्रौपदी दोनों ही वधूको देखकर बहुत प्रसन्न हुईं। विवाह-सम्बन्ध हो जानेपर राजा युधिष्ठिरने घटोत्कचका आदर-सत्कार करके उसे पत्नीसहित अपने राज्यको जानेका आदेश दिया। महाराजकी आज्ञा शिरोधार्य करके हिडिम्बाकुमार अपनी राजधानी हिडम्ब-वनको चला गया। वहाँ उसने मौर्वीके साथ बहुत दिनोंतक क्रीड़ा की। तदनन्तर समयानुसार उसके गर्भसे एक महातेजस्वी एवं बालसूर्यके समान कान्तिमान् बालक उत्पन्न हुआ, जो जन्म लेते ही युवावस्थाको प्राप्त हो गया। उसने माता-पितासे कहा—'मैं आप दोनोंको प्रणाम करता हूँ, बालकके आदिगुरु माता-पिता ही हैं। अतः आप दोनोंके दिये हुए नामको मैं ग्रहण करना चाहता हूँ।' तब घटोत्कचने अपने पुत्रको छातीसे लगाकर कहा—'बेटा! तुम्हारे केश बर्बराकार (घुँघराले) हैं, इसलिये तुम्हारा नाम 'बर्बरीक' होगा। महाबाहो! तुम अपने कुलका आनन्द बढ़ानेवाले होओगे। तुम्हारे लिये जो परम कल्याणमय वस्तु है, उसको हमलोग द्वारकापुरी चलकर यदुकुलनाथ भगवान् वासुदेवसे पूछेंगे।'

## बर्बरीक और विजयकी गुप्तक्षेत्रमें साधना तथा पाण्डवोंसे बर्बरीककी भेंट

तदनन्तर कामकटंकटाको घरपर ही छोड़कर बुद्धिमान् घटोत्कच अपने पुत्रको साथ ले आकाशमार्गसे द्वारकाको गया। वहाँ यादवोंकी सभामें पहुँचकर उसने उग्रसेन, वसुदेव, सात्यकि, अक्रूर, बलराम तथा श्रीकृष्ण आदि प्रधान-प्रधान यदुवीरोंको प्रणाम किया। पुत्रसहित घटोत्कचको अपने चरणोंमें पड़ा देख भगवान् श्रीकृष्णने उसको और उसके पुत्रको भी उठाकर छातीसे लगा लिया और आशीर्वाद दे अपने समीप बिठाकर इस प्रकार पूछा—'बेटा! कुरुवंशको बढ़ानेवाले राक्षसश्रेष्ठ! बतलाओ, तुम्हें सब ओरसे कुशल तो है न? यहाँ किसलिये तुम्हारा आगमन हुआ है?'

**घटोत्कच बोला**—देव! आपके प्रसादसे मुझे सब ओरसे कुशल ही है। आपकी बतायी हुई स्त्री मौर्वीके गर्भसे मेरे इस पुत्रका जन्म हुआ है, यह आपसे कुछ प्रश्न पूछेगा; उसे सुनिये। इसीलिये मैं यहाँ आया हूँ।

**श्रीभगवान्‌ने कहा**—बेटा मौर्वेय! तुम्हें जो-जो पूछनेकी इच्छा हो, सब पूछ लो।

**बर्बरीक बोला**—आर्यदेव माधव! मैं मन, बुद्धि और समाधिके द्वारा आपको प्रणाम करके

यह पूछता हूँ कि संसारमें उत्पन्न हुए जीवका

कल्याण किस साधनसे होता है? कोई धर्मको कल्याणकारक कहते हैं तो कोई ऐश्वर्यदानको। कुछ लोग दम (इन्द्रिय-संयम)-को, कोई तपस्याको, कोई द्रव्यको, कोई भोगोंको तथा कोई मोक्षको ही श्रेय कहते हैं। पुरुषोत्तम! इस प्रकार सैकड़ों श्रेयोंमेंसे किसी एक श्रेयको निश्चित करके बतलाइये जो मेरे इस कुलके लिये कल्याणकारी हो।

**श्रीभगवान् बोले**—बेटा! प्रत्येक वर्णके लिये पृथक्-पृथक् उत्तम श्रेय बताया गया है। ब्राह्मणोंके कल्याणका मूल है—तप, इन्द्रिय-संयम तथा स्वाध्याय। मनीषी पुरुषोंने धर्मके स्वरूपका निरूपण भी ब्राह्मणोंके लिये कल्याणकी बात बतायी है। क्षत्रियोंके लिये सर्वप्रथम बल ही साध्य है, यह बात पहले ही बतायी गयी है। दुष्टोंका दमन और साधुओंका संरक्षण भी क्षत्रियोंके लिये श्रेयस्कर है। वैश्योंके श्रेयका साधन है—पशुपालन और कृषिविज्ञान। शूद्रके लिये द्विजोंकी सेवा ही श्रेयस्कर है, उसके द्वारा जीवन-निर्वाह करनेवाला शूद्र सुखी होता है। अथवा शूद्र भाँति-भाँतिके शिल्पकर्मोंद्वारा जीविका चलावे और द्विजातियोंके हितमें लगा रहे। तुम क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुए हो, अतः अपना कर्तव्य सुनो। पहले तुम ऐसे बलकी प्राप्तिके लिये साधन करो, जिसकी कहीं तुलना न हो। फिर उस बलसे दुष्टोंका दमन और साधु पुरुषोंका पालन करो। ऐसा करनेसे तुम्हें स्वर्गलोककी प्राप्ति होगी। बेटा! देवियोंकी अत्यन्त कृपा होनेसे ही बल प्राप्त होता है, इसलिये तुम बल प्राप्त करनेके उद्देश्यसे देवीकी आराधना करो।

**बर्बरीकने पूछा**—प्रभो! मैं किस क्षेत्रमें, किस देवीकी, कैसे आराधना करूँ?

**उसके इस प्रकार पूछनेपर भगवान् दामोदरने क्षणभर ध्यान करके कहा**—महीसागरसंगम तीर्थमें, जो गुप्तक्षेत्रके नामसे विख्यात है, वहीं नारदजीद्वारा बुलायी हुई नौ दुर्गाएँ निवास करती हैं। वहाँ जाकर उनकी आराधना करो। बर्बरीकसे ऐसा कहकर भगवान् श्रीकृष्णने घटोत्कचसे कहा—'भीमनन्दन! तुम्हारा यह पुत्र अत्यन्त सुन्दर हृदयवाला है, इसलिये मैंने इसे 'सुहृदय' यह दूसरा नाम प्रदान किया है।' यों कहकर भगवान्ने उसे छातीसे लगा लिया और नाना प्रकारके धनसे उसको सन्तुष्ट करके गुप्तक्षेत्रमें जानेका आदेश दिया। तब भगवान् श्रीकृष्णको, अपने पिता घटोत्कचको और वहाँ बैठे हुए सब यादवोंको प्रणाम करके उन सबकी आज्ञा ले बर्बरीक गुप्तक्षेत्रको चला गया। घटोत्कच भी भगवान् श्रीकृष्णसे विदा ले अपने वनको गया और पुत्रके गुणोंका स्मरण करता हुआ अपने राज्यका पालन करने लगा।

तदनन्तर बुद्धिमान् सुहृदय गुप्तक्षेत्रमें रहकर प्रतिदिन कर्मके द्वारा पुष्प, धूप और नाना प्रकारके उपहारोंसे तीनों समय देवियोंकी पूजा करने लगा। तीन वर्षोंतक आराधना करनेपर देवियाँ उसपर बहुत सन्तुष्ट हुईं और प्रत्यक्ष दर्शन देकर उन्होंने उसको ऐसा दुर्लभ बल प्रदान किया, जो तीनों

लोकोंमें किसीके पास नहीं है। तत्पश्चात् वे बोलीं—'महाद्युते! कुछ कालतक तुम यहीं निवास करो। फिर विजयकी संगति पाकर तुम अधिक कल्याणके भागी होओगे।' देवियोंके ऐसा कहनेपर सुहृदय वहीं ठहर गया। तदनन्तर मगधदेशके ब्राह्मण विजय वहाँ आये। उन्होंने कुमारेश्वर आदि सात लिंगोंका पूजन किया और अपनी विद्याको सफल बनानेके लिये चिरकालतक देवियोंकी आराधना की। इससे सन्तुष्ट होकर देवियोंने स्वप्नमें यह आदेश दिया—'ब्रह्मन्! तुम आँगनमें सिद्धमाताके आगे सम्पूर्ण विद्याओंका साधन करो। सुहृदय हमारा भक्त है, यह तुम्हारी सहायता करेगा।' यह बात सुनकर विजय उठा और सब देवियोंको प्रणाम करके उसने भीमपौत्र सुहृदयसे कहा—'तुम निद्रारहित एवं पवित्र हो देवीके स्तोत्रका पाठ करते हुए यहीं रहो, जिससे जबतक मैं यह विद्या-साधनरूप कर्म करूँ तबतक किसी प्रकारका विघ्न न आने पावे।'

विजयके ऐसा कहनेपर महाबली बर्बरीक जब विघ्ननिवारणके लिये वहाँ खड़ा हुआ, तब विजयने सुखपूर्वक आसनपर बैठकर '**गुं गुरुभ्यो नमः**' इस मन्त्रसे गुरुओंको नमस्कार किया। उसके बाद उक्त गुरु-मन्त्रका अष्टोत्तरशत जप करके पुनः गुरुजनोंको प्रणाम करनेके पश्चात् गणेश्वर-विधान आरम्भ किया। अब मैं गणपतिके उस उत्तम मन्त्रका वर्णन करता हूँ जो बहुत छोटा होनेपर भी समस्त कार्योंका साधक, महान् प्रयोजनोंकी प्राप्ति करानेवाला तथा सब प्रकारकी सिद्धि देनेवाला है। '**ॐ गां गीं गूं गैं गौं गः**' यह सात अक्षरोंका मन्त्र है। मन्त्रका विनियोग-वाक्य इस प्रकार है—'**ॐ अस्य गणपतिमन्त्रस्य गणो नाम ऋषिर्विघ्नेश्वरो देवता गं बीजम् ॐ शक्तिः पूजार्थे जपार्थे तिलकार्थे वा मनईप्सितार्थे होमार्थे वा विनियोगः।**' अर्थात् इस गणपति-मन्त्रके गण नामक ऋषि, विघ्नेश्वर देवता, गं बीज और ॐ शक्ति है। पूजा, जप, तिलक, मनोरथसिद्धि अथवा होमके लिये इसका विनियोग है। पूर्वोक्त मूल-मन्त्रसे चन्दन, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य और ताम्बूल निवेदन करे। इसके बाद मूल-मन्त्रका जप करे। अष्टोत्तरशत, सहस्र, लक्ष अथवा कोटि बार यथाशक्ति जप करके दशांश हवनके लिये अग्निदेवका आवाहन करे। आवाहनके पश्चात् '**गं गणपतये स्वाहा**' इस मन्त्रसे गुग्गुलकी गोलियोंद्वारा होम करे। जो इस प्रकार सब विघ्नोंमें इस उत्तम मन्त्रका साधन करता है, उसके समस्त विघ्न नष्ट होते हैं और उसे मनोऽभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति हो जाती है। विजय भी इस गणेश्वरकल्पको जानते थे। अतः उन्होंने अष्टोत्तरशत जप करके गुग्गुलकी गुटिकाओंद्वारा दशांश आहुति दी और सिद्धि-विनायकका पूजन किया। इसके बाद सिद्धाम्बिकाको नमस्कार करके अपराजिता नामक वैष्णवी महाविद्याका साधनसहित जप किया, जिसके स्मरणमात्रसे सब दुःखोंका नाश हो जाता है। विप्रवर! मैं उस विद्याका वर्णन करता हूँ, सुनो—

ॐ भगवान् वासुदेवको नमस्कार है; सहस्र मस्तकोंवाले भगवान् अनन्तको नमस्कार है; जो क्षीरसमुद्रमें शयन करते हैं, शेषनागका विशाल शरीर जिनकी शय्या है, गरुड़ जिनका वाहन है, जो पीताम्बर धारण करते हैं, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—ये चारों व्यूह जिनके स्वरूप हैं; जिन्होंने हयग्रीवरूप धारण किया है; उन्हीं भगवान् विष्णुको नमस्कार है। नृसिंह! वामन! त्रिविक्रम! तथा वरदायक राम! आपको नमस्कार है। विश्वरूप! बहुरूप! मधुसूदन! महावराह! महापुरुष! वैकुण्ठ! नारायण! पद्मनाभ! गोविन्द! दामोदर! हृषीकेश! समस्त असुरोंका संहार करनेवाले! सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने वशमें रखनेवाले! सब दुःखोंका नाश करनेवाले! सम्पूर्ण विपत्तियोंका भंजन करनेवाले! सब नागोंका मान मर्दन करनेवाले! सर्वदेव महेश्वर! सबका बन्धन छुड़ानेवाले! सब

शत्रुओंका संहार करनेवाले! समस्त ज्वरोंका नाश करनेवाले! सम्पूर्ण ग्रहोंका निवारण तथा सब पापोंका शमन करनेवाले! भक्तजन-आनन्ददायक! जनार्दन! आपको नमस्कार है। आपके लिये सुन्दर हविष्यका भाग समर्पित है।

जो साधक इस अपराजिता वैष्णवी महाविद्याका जप, पाठ, श्रवण, स्मरण, धारण और कीर्तन करता है उसे वायु, अग्नि, वज्र, पत्थर, बिजली और वर्षाका भय नहीं प्राप्त होता। उसके लिये समुद्रसे, ग्रहोंसे तथा चोरोंसे भी भय नहीं रहता है। इस प्रकार विजयने संयमशील होकर मन, बुद्धि और समाधिके द्वारा इस अपराजिता वैष्णवी महाविद्याका साधन आरम्भ किया। जो बिना साधनके भी प्रतिदिन इस विद्याका पाठ करता है, उसके भी समस्त विघ्न नष्ट हो जाते हैं।

विजय साधनमें लगे थे। उस समय रात्रिके पहले पहरमें एक राक्षसीने विघ्न उपस्थित किया, किन्तु बर्बरीकने उस राक्षसीको भगा दिया। तत्पश्चात् आधी रातमें दूसरा विघ्न उपस्थित हुआ; बर्बरीकने उसका भी निवारण कर दिया। तदनन्तर रेपलेन्द्र नामका एक दानव विजयकी ओर दौड़ा। उसका शरीर एक योजन लम्बा था। उसके मस्तक और उदर सौ-सौ थे। वह अपने मुखोंसे अग्निकी बड़ी भारी ज्वाला उगलता हुआ आ रहा था। उसे दौड़कर आते देख महाबली बर्बरीक भी उसकी ओर वेगसे आगे बढ़ा। दोनों बहुत देरतक स्थिरतापूर्वक युद्ध करते रहे। फिर बर्बरीकने उसे भूमिपर गिराकर खूब रगड़ा और तबतक नहीं छोड़ा, जबतक उसके प्राण नहीं निकल गये। मरनेपर उसे अग्निकोणमें महीसागरसंगमके तटपर फेंक दिया। इस प्रकार उसका वध करके वीर बर्बरीक पुनः विजयकी रक्षाके लिये खड़ा हो गया। तत्पश्चात् तीसरे पहरमें पश्चिम दिशाकी ओरसे एक राक्षसी आयी, जो पर्वताकार दिखायी देती थी। वह बड़े जोर-जोरसे गर्जना करती और अपने पैरोंकी धमकसे पृथ्वीको कँपाती हुई चलती थी; उसका नाम 'द्रुहद्रुहा' था। उसे आती देख सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी बर्बरीक बड़े वेगसे उसके समीप पहुँचा। उसने हँसते हुए मार्ग रोक लिया और मुक्केसे मारकर राक्षसीको धरतीपर गिरा दिया। उसके बाद गला दबाकर मार डाला। उसे मारकर बर्बरीक पुनः रक्षाके लिये खड़ा हो गया। तदनन्तर चौथे पहरमें एक अद्भुत नकली संन्यासी मूड़ मुड़ाये दिगम्बरवेशमें वहाँ आया। उसने बड़ा भारी व्रती होनेका ढोंग रच रखा था। उसने आते ही कहा—'हाय हाय! अरे भाई! यह तो बड़े कष्टकी बात है। अहिंसा ही परम धर्म है! तूने यह आग क्यों जला रखी है? आगमें हवन करते समय सूक्ष्म जीवोंका बड़ा भारी वध हो रहा है।' उसकी यह बात सुनकर बर्बरीकने हँसते हुए कहा—'अग्निमें आहुति देनेपर सब देवताओंकी तृप्ति होती है। दुर्बुद्धि पापी! तू झूठ बोलता है, इसलिये दण्डका पात्र है।' यों कहकर बर्बरीक सहसा उसके पास जाकर खड़ा हो गया और मुक्केसे मार-मारकर उसके सारे दाँत गिरा दिये। वास्तवमें वह एक दैत्य था। क्षणभरमें सचेत होनेपर वह बर्बरीकके भयसे भागा और एक गुफाके बिलमें समा गया। बर्बरीकने क्रोधमें भरकर बड़े वेगसे उसका पीछा किया, किन्तु वह दैत्य वायुके समान वेगसे दौड़ता पातालमें समा गया। साठ योजन विस्तृत 'बहुप्रभा' नामकी नगरीमें वह निवास करता था। बर्बरीक वहाँ भी उसके पीछे-पीछे जा पहुँचा। उसे देखकर 'पलाशी' नामवाले दैत्योंमें 'दौड़ो, मारो, काटो और फाड़ डालो' आदिके रूपमें महान् कोलाहल मच गया। हल्ला सुनकर अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र धारण किये नौ करोड़ भयानक दैत्य योद्धा वीर बर्बरीकपर टूट पड़े। इस प्रकार करोड़ों

दैत्योंको देखकर घटोत्कचका पुत्र क्रोधसे जल उठा। उसने किन्हींको पैरोंसे, किन्हींको भुजदण्डोंसे और किन्हींको छातीके धक्केसे मार-मारकर क्षणभरमें यमलोक पहुँचा दिया।

दैत्योंके मारे जानेपर वासुकि आदि नाग वहाँ आये और नाना प्रकारके प्रिय वचनोंद्वारा सुहृदयकी स्तुति करते हुए बोले—'भैमिनन्दन! आपने नागोंका बड़ा भारी उपकार किया, क्योंकि आपके द्वारा यह पलाशी नामक दैत्य अपने सेवकोंसहित मारा गया। वीर! इस दुरात्माने अपने सेवकोंकी सहायतासे भाँति-भाँतिके उपाय करके हमलोगोंको पीड़ा दी और पातालसे भी नीचे कर दिया था। आज आप हम नागोंसे कोई मनोवांछित वर माँगिये। हम सब आपपर प्रसन्न होकर वर देनेको उत्सुक हैं।'

**बर्बरीक बोला**—नागगण! यदि मुझे वर देना है, तो मैं यही माँगता हूँ कि विजय सब प्रकारके विघ्नोंसे मुक्त होकर सिद्धि प्राप्त कर लें।

**तब नागोंने प्रसन्न होकर कहा**—बहुत अच्छा, ऐसा ही होगा। बर्बरीक नागोंको वह दैत्यपुरी देकर उनके द्वारा सम्मानित हो वहाँसे लौटा। बिलके मनोहर मार्गसे लौटते समय उसने देखा, कल्पवृक्षके नीचे एक सर्वरत्नमय लिंग विराजमान है; उसका महान् प्रकाश सब ओर फैल रहा है तथा बहुत-सी नागकन्याएँ उसका पूजन कर रही हैं। यह सब देखकर बर्बरीकको बड़ा विस्मय हुआ! उसने नागकन्याओंसे पूछा—'सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी इस शिवलिंगकी किसने स्थापना की है? तथा इस शिवलिंगसे चारों दिशाओंकी ओर जो ये मार्ग गये हैं, इनका भी परिचय दो।'

**वीर बर्बरीकका यह वचन सुनकर नाग-कन्याओंने सकुचाते हुए कहा**—सम्पूर्ण नागोंके राजा महात्मा शेषने तपस्या करके यहाँ इस महालिंगकी स्थापना की है। इसके दर्शन, स्पर्श, ध्यान और पूजनसे यह सब सिद्धियोंको देनेवाला है। इस लिंगसे पूर्वदिशाकी ओर जानेवाला यह मार्ग भूलोकमें 'श्री' पर्वततक चला गया है। नागलोक सुविधापूर्वक वहाँतक पहुँच सकें, इसके लिये 'इलापत्र' नागने इस मार्गका निर्माण किया है। दक्षिणसे जानेवाला यह मार्ग पृथ्वीपर 'शूर्पारक' क्षेत्रमें पहुँचता है, इसे 'कर्कोटक' नागने वहाँ जानेके लिये बनवाया है। पश्चिमका यह मार्ग अतिशय प्रकाशमान 'प्रभास' तीर्थको जाता है, इसे ऐरावतने नागोंकी यात्राके लिये बनवाया है। इसी प्रकार उत्तरसे होकर निकला हुआ यह मार्ग पृथ्वीपर 'कुरुक्षेत्र' में जाता है, महात्मा तक्षकने वहाँ जानेके लिये यह मार्ग तैयार किया है। लिंगसे ऊपरकी ओर जो मार्ग जाता है, जिससे जानेके लिये आप खड़े हैं; यह गुप्तक्षेत्रमें सिद्धलिंगके पास गया है। यह मार्ग स्वामी स्कन्दने अपनी शक्तिके प्रहारसे बनाया है। वीर! ये सब बातें हमने बता दीं, अब आप हमारा निवेदन सुनिये। पहले तो यह बताइये कि आप कौन हैं? अभी-अभी आप दैत्यके पीछे लगे गये थे और अब अकेले ही लौट रहे हैं; इसका क्या कारण है,

हम सब आपकी दासियाँ हैं और पतिरूपमें आपका वरण करती हैं। आप हमारे साथ यहाँके विविध स्थानोंमें क्रीडा कीजिये।

**बर्बरीकने कहा**—देवियो! मेरा जन्म कुरुवंशमें हुआ है। मैं पाण्डुनन्दन भीमसेनका पौत्र हूँ। बर्बरीक मेरा नाम है। मैं उस दैत्यको मारनेके लिये आया था। वह पापी दैत्य मारा गया; अतः अब पृथ्वीपर लौटा जा रहा हूँ। आप लोगोंसे किसी प्रकार मेरा कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि मैंने सदा ब्रह्मचारी रहनेका व्रत लिया है।

यों कहकर बर्बरीकने उस शिवलिंगका पूजन और साष्टांग प्रणाम किया। फिर उन सब कन्याओंके देखते-देखते ऊपरके मार्गसे चल दिया। बिलसे बाहर आकर उसने पूर्वदिशाके मुखको प्रकाशयुक्त देखा, फिर बड़े हर्षके साथ वह विजयसे मिला। उस समयतक विजय अपना सब कार्य पूरा कर चुके थे। उन्होंने बर्बरीकसे कहा—'वीरेन्द्र! तुम्हारे प्रसादसे मैंने अनुपम सिद्धि प्राप्त की है। तुम दीर्घकालतक जीओ, आनन्द करो, दान दो और विजयी बनो। इसीलिये साधु पुरुष साधुओंका ही संग करना चाहते हैं, क्योंकि सत्पुरुषोंका संग सब दोषोंको दूर करनेकी दवा है। मेरे होमकुण्डमें सिन्दूरके समान लाल रंगका सात्त्विक एवं अत्यन्त पवित्र भस्म है, उसे हाथमें भरकर ले लो। युद्धभूमिमें इसे पहले छोड़ देनेपर शत्रुके स्थानपर मृत्यु भी हो, (साक्षात् मृत्यु ही शत्रु बन कर आ जाय) तो उसके शरीरको भी यह नष्ट कर देगा। इस प्रकार शत्रुओंपर तुम्हें सुखपूर्वक विजय प्राप्त होगी।'

**बर्बरीक बोला**—जो निष्काम भावसे किसीका उपकार करता है, वही साधु कहलाता है। जो किसी वस्तुकी इच्छा रखकर उपकार करता है, उसकी साधुतामें कौन गुण है।* अतः यह भस्म किसी दूसरेको दे दीजिये। मेरा इससे कोई प्रयोजन नहीं है। मैं तो केवल आपको प्रसन्नमुख देखना चाहता हूँ, इसके सिवा और कुछ नहीं।

तदनन्तर देवियोंसहित देवताओंने विजयका सम्मान करके उन्हें सिद्धैश्वर्य प्रदान किया और उनका नाम 'सिद्धसेन' रखा। इस प्रकार विजयने अत्यन्त दुर्लभ सिद्धि प्राप्त की।

तत्पश्चात् कुछ काल बीतनेपर पाण्डवलोग जूएमें हार गये और विभिन्न तीर्थोंमें घूमते हुए उस शुभ तीर्थमें भी स्नानके लिये आये। वहाँ चण्डिका देवीका दर्शन करके मार्गके थके-माँदे होनेके कारण कहीं बैठ गये। पाँचों पाण्डवोंके साथ द्रौपदी भी थी। उस समय चण्डिकाका गण भी वहीं विराजमान था। बर्बरीकने वहाँ पधारे हुए पाण्डव वीरोंको देखा, परंतु वह उन्हें पहचानता नहीं था। पाण्डव भी उसे नहीं पहचानते थे; क्योंकि जन्मसे लेकर अबतक पाण्डवोंके साथ उसकी भेंट ही नहीं हुई थी।

* उपकुर्यान्निराकाङ्क्षो यः स साधुरितार्यते। साकाङ्क्षमुपकुर्याद्यः साधुत्वे तस्य को गुणः॥ (स्क० पु०, मा० कुमा० ५९। ८०)

पाण्डवोंने अपनी गठरी आदि वहीं खोल दी और प्याससे पीड़ित होकर जलकी ओर देखा। तब भीमसेन कुण्डमें पानी पीनेके लिये घुसे। उस समय युधिष्ठिरने उनसे कहा—'भीमसेन! तुम कुण्डसे पानी निकालकर बाहर ही हाथ-पैर धो लो, उसके बाद जल पीना; अन्यथा तुम्हें बड़ा दोष लगेगा।' भीमसेनके नेत्र प्याससे व्याकुल हो रहे थे। उन्होंने युधिष्ठिरकी बातें बिना सुने ही जल पीनेकी इच्छासे कुण्डमें प्रवेश किया। जल देखकर उन्होंने वहीं पीनेका निश्चय किया और शुद्धिके लिये मुख, दोनों हाथ और दोनों पैर धोये। भीमसेन जब इस प्रकार पैर धो रहे थे, उस समय सुहृदयने ऊपरसे यह सत्य वचन कहा—'ओ दुर्मते! तुम यह क्या कर रहे हो? तुम्हारा विचार तो बड़ा पापपूर्ण है। अहो! तुम देवीके कुण्डमें हाथ, पैर और मुँह धो रहे हो। मैं देवीको सदा इसी जलसे स्नान कराता हूँ। मलसे दूषित जलको तो मनुष्य भी नहीं छूते, फिर देवता उसका स्पर्श कैसे कर सकते हैं? जब तुम इतने बड़े मूढ़ हो, तब तीर्थोंमें क्यों घूम रहे हो?'

**भीमसेनने कहा**—क्रूर राक्षसाधम! तू क्यों ऐसी कठोर बातें कहता है? जलका दूसरा उपयोग ही क्या है? वह प्राणियोंके भोगके लिये ही तो होता है? बड़े-बड़े मुनीश्वरोंने भी तीर्थोंमें स्नानका विधान किया है। अंगोंको धोना ही तो स्नान कहा गया है। फिर तू मेरी निन्दा क्यों करता है? यदि स्नान और अंग-प्रक्षालन न किया जाय तो धर्मात्मा पुरुष किसलिये पूर्त धर्मका अनुष्ठान करते हैं? क्यों बावड़ी, कूप और तड़ाग आदि बनवाते हैं?

**सुहृदय बोला**—निःसन्देह तुम्हारा यह कथन सत्य है कि मुख्य-मुख्य तीर्थोंमें स्नान करना चाहिये। ऐसी विधि है भी, परंतु जो नदी आदि चर तीर्थ हैं—जिनके जल बहते रहते हैं, उन्हींमें भीतर प्रवेश करके स्नान आदि करना चाहिये। कूप-सरोवर आदि स्थावर तीर्थोंमें तो बाहर खड़े होकर ही स्नानादि करना उचित है। स्थावर तीर्थोंमें भी वहीं भीतर प्रवेश करके स्नान करनेका विधान है, जहाँ भक्त पुरुष देवताको स्नान करानेके लिये जल न लेते हों तथा जो सरोवर देवस्थानसे सौ हाथसे भी अधिक दूर बनाया गया हो। उसके भीतर प्रवेश करनेका भी यह एक क्रम है कि पहले बाहर ही दोनों पैर धोकर फिर कुण्डमें स्नान किया जाय, अन्यथा दोष बताया गया है।[१] क्या तुमने ब्रह्माजीका कहा हुआ यह श्लोक नहीं सुना है?—

**मलं मूत्रं पुरीषं च श्लेष्मनिष्ठीवितं तथा।**
**गण्डूषमप्सु मुञ्चन्ति ये ते ब्रह्महभिः समाः॥**

'जो जलमें मल, मूत्र, विष्ठा, कफ, थूक और कुल्ला छोड़ते हैं, वे ब्रह्महत्यारोंके समान हैं।'

इसलिये ओ दुराचारी! तुम शीघ्र जलसे बाहर निकल आओ। यदि तुम्हारी इन्द्रियाँ तुम्हारे काबूमें नहीं हैं, तो तुम तीर्थोंमें किसलिये घूमते हो? नादान! जिसके हाथ, पैर और मन भलीभाँति संयममें हों और जिसके द्वारा समस्त क्रियाएँ निर्विकार भावसे की जाती हों, वही तीर्थका फल पाता है।[२] मनुष्य पुण्यकर्मके द्वारा यदि दो

---

१- स्नातव्यं तीर्थमुख्येषु सत्यमेतन्न संशयः। चरेषु किंतु संविश्य स्थावरेषु बहिः स्थितैः॥
स्थावरेष्वपि संविश्य तत्र स्नानं विधीयते। न यत्र देवस्नानार्थं भक्तैः संगृह्यते जलम्॥
यच्च हस्तशतादूर्ध्वं सरस्तत्र विधीयते। संवेशेऽपि क्रमश्चायं पादौ प्रक्षाल्य यद्बहिः॥
ततः स्नानं प्रकर्तव्यमन्यथा दोष उच्यते।
(स्क० पु०, मा० कुमा० ६०। २०—२३)

२- यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्। निर्विकाराः क्रियाः सर्वाः स हि तीर्थफलं लभेत्॥
(स्क० पु०, मा० कुमा० ६०। २६)

घड़ी भी जीवित रहे, तो वह उत्तम है। परंतु उभय लोकविरोधी पापकर्मके साथ एक कल्पकी भी आयु मिले, तो उसे न स्वीकार करे।

**भीमसेन बोले**—कौवोंकी तरह तेरी कायँ-कायँकी कर्कश ध्वनिसे मेरे तो कान बहरे हो गये। अब तू अपनी इच्छाके अनुसार यहाँ विलाप कर या चिन्ताके मारे सूख जा; मैं तो जल पीकर ही रहूँगा।

**सुहृदयने कहा**—मैं धर्मकी रक्षा करनेवाले क्षत्रियोंके कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ, अतः किसी प्रकार भी तुम्हें पाप न करने दूँगा। हमारे इस कुण्डसे तो तुम शीघ्र ही बाहर निकल आओ नहीं तो इन ईंटोंके टुकड़ोंसे तुम्हारा मस्तक चूर-चूर कर दूँगा।

यों कहकर बर्बरीकने ईंटे उठा लिये और भीमके मस्तकको लक्ष्य करके फेंकना आरम्भ किया। भीमसेन उसके प्रहारको बचाकर उछले और सरोवरसे बाहर आ गये। फिर तो दोनों भयंकर पराक्रमी वीर एक-दूसरेको घुड़कते हुए आपसमें गुथ गये। दोनों ही युद्धविद्यामें पारंगत थे। अतः अपनी विशाल भुजाओंसे युद्ध करने लगे। दो ही घड़ीमें उस राक्षसके सामने पाण्डव भीमसेन दुर्बल पड़ने लगे। अन्तमें बर्बरीकने भीमसेनको उठा लिया और जलमें फेंकनेके लिये समुद्रकी ओर चल दिया। समुद्रके किनारे पहुँचनेपर भगवान् शंकरने आकाशमें स्थित हो बर्बरीकसे कहा—'राक्षसोंमें श्रेष्ठ महाबली बर्बरीक! ये भरतकुलके रत्न और तुम्हारे पितामह भीमसेन हैं, इन्हें छोड़ दो। ये तीर्थयात्राके प्रसंगसे अपने भाइयों तथा द्रौपदीके साथ विचरते हुए इस तीर्थमें भी स्नान करनेके लिये ही आये हैं। अतः तुम्हारे द्वारा सर्वथा सम्मान पानेके ही योग्य हैं।'

भगवान् शंकरका यह वचन सुनकर सुहृदय सहसा भीमसेनको छोड़कर उनके चरणोंमें गिर पड़ा और बोल उठा—'हाय! मुझे धिक्कार है। यह बड़े कष्टकी बात है, बड़े कष्टकी बात है, पितामह! मुझे क्षमा कीजिये, क्षमा कीजिये।' उसे इस प्रकार शोक करते और बार-बार मोहित होते देख भीमसेनने छातीसे लगा लिया और स्नेहसे मस्तक सूँघकर कहा—'वत्स! जन्मकालसे ही न तो हम तुम्हें पहचानते हैं न तुम हमको। केवल घटोत्कच तथा भगवान् श्रीकृष्णसे यह सुन रखा है कि तुम इसी तीर्थमें निवास करते हो। किंतु यह सब बात भी हमें भूल गयी थी, क्योंकि जो लोग अनेक प्रकारके दुःखोंसे दुःखी और मोहित होते हैं, उनकी सारी स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है। अतः हमपर जो यह दुःख आया है, वह सब कालकी प्रेरणासे प्राप्त हुआ है। बेटा! तुम शोक न करो। तुम्हारा इसमें तनिक भी दोष नहीं है, क्योंकि कुमार्गपर चलनेवाला कोई भी क्यों न हो, क्षत्रियके

लिये दण्डनीय ही है। साधु क्षत्रियको उचित है कि यदि कुमार्गपर चले तो अपनी आत्माको भी दण्ड दे। फिर पिता, माता, सुहृद्, भ्राता और पुत्र आदिके लिये तो कहना ही क्या है? मुझे आज बड़ा हर्ष प्राप्त हुआ है। मैं और मेरे पूर्वज धन्य हैं, जिनका पुत्र ऐसा धर्मज्ञ और धर्मपालक है। तुम वर पानेके योग्य हो, मेरे तथा दूसरे सत्पुरुषोंके द्वारा प्रशंसा पानेके अधिकारी हो। अतः यह शोक छोड़कर तुम्हें स्वस्थ हो जाना चाहिये।'

**बर्बरीक बोला**—पितामह! मैं पापी हूँ, ब्रह्महत्यारेसे भी अधिक घृणाका पात्र हूँ। प्रशंसाके योग्य कदापि नहीं हूँ। प्रभो! न तो आप मेरी ओर देखें और न मेरा स्पर्श ही करें। ब्राह्मणलोग सभी पापोंका प्रायश्चित्त बतलाते हैं; परंतु जो पिता-माताका भक्त नहीं है, उसके उद्धारका कोई उपाय नहीं।[१] अतः जिस शरीरसे मैंने पितामहको पीड़ा पहुँचायी है, उस अपने शरीरको आज मैं महीसागरसंगममें त्याग दूँगा; जिससे अन्य जन्मोंमें भी ऐसा ही पातकी न होऊँ।

यों कहकर बलवान् बर्बरीक उछलकर समुद्रके भीतर चला गया। समुद्र भी यह सोचकर काँप उठा कि 'मैं कैसे इसका वध करूँ'। तदनन्तर सिद्धाम्बिका तथा चारों दिशाओंकी देवियाँ रुद्रके साथ वहाँ आयीं और उसे हृदयसे लगाकर बोलीं—'वीरेन्द्र! अनजानमें किये हुए पापसे दोष नहीं लगता, यह बात शास्त्रोंमें बतायी गयी है। अतः तुम्हें इसके विपरीत कोई बर्ताव नहीं करना चाहिये।[२] देखो, तुम्हारे पितामह भीम पुत्र-पुत्र पुकारते हुए तुम्हारे पीछे लगे हुए चले आ रहे हैं। तुम्हारी मृत्यु हो जानेपर वे स्वयं भी प्राण त्याग देनेको उत्सुक हैं। वीर! यदि इस समय तुम शरीर छोड़ोगे तो भीमसेन भी शरीरको त्याग देंगे। उस दशामें तुम्हें बड़ा भारी पातक लगेगा। अतः महामते! तुम ऐसा जानकर अपने शरीरको धारण करो। थोड़े ही समयमें देवकीनन्दन श्रीकृष्णके हाथसे तुम्हारे शरीरका नाश होगा, ऐसा बताया गया है। वत्स! वे साक्षात् भगवान् विष्णु हैं और उनके हाथसे शरीरका नाश होना बहुत उत्तम (मुक्तिदायक) है। इसलिये तुम उस समयकी प्रतीक्षा करो और हमारी बात मानो।' देवियोंके ऐसा कहनेपर बर्बरीक उदास मनसे लौट आया। 'बर्बरीक चण्डिकाके कार्यकी सिद्धिके लिये बड़ा भारी युद्ध करेगा, इसलिये संसारमें चण्डिल नामसे प्रसिद्ध और समस्त विश्वके लिये पूजनीय होगा।' यों कहकर वहाँ आयी हुई सब देवियाँ अन्तर्धान हो गयीं। भीमसेन भी बर्बरीकको साथ लेकर आये और अन्य पाण्डवोंसे भी यह सारा समाचार कह सुनाया। सुनकर सब पाण्डवोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। सबने बार-बार उसकी प्रशंसा की और आलस्य त्यागकर विधिके अनुसार तीर्थ-स्नान किया।

---

१- सर्वेषामेव पापानां निष्कृतिः प्रोच्यते द्विजैः। पित्रोरभक्तस्य पुनर्निष्कृतिर्नैव विद्यते॥

(स्क० पु०, मा० कुमा० ६०। ५५-५६)

२- अज्ञातविहिते पापे नास्ति वीरेन्द्र कल्मषम्। शास्त्रेषूक्तमिदं वाक्यं नान्यथा कर्तुमर्हसि॥

(स्क० पु०, मा० कुमा० ६०। ६१)

# बर्बरीकका वध तथा उसके पूर्वजन्मके वृत्तान्तका वर्णन और ग्रन्थका उपसंहार

**सूतजी कहते हैं**—तदनन्तर पाण्डवोंके वनवासका तेरहवाँ वर्ष व्यतीत हो जानेपर जब 'उपप्लव्य' नामक स्थानमें सब राजा युद्धके लिये एकत्र हो गये, तब महारथी पाण्डव भी युद्ध करनेके लिये कुरुक्षेत्रमें आकर स्थित हुए। दुर्योधन आदि कौरव भी वहाँ पहलेसे ही टिके हुए थे। उस समय भीष्मजीने रथियों और अतिरथियोंकी गणना की थी। उसका सब समाचार गुप्तचरोंद्वारा सुनकर राजा युधिष्ठिरने अपने पक्षके राजाओंके बीच भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'देवकीनन्दन! पितामह भीष्मने रथियों और अतिरथियोंका वर्णन किया है, उसे सुनकर दुर्योधनने अपने पक्षके महारथियोंसे पूछा है कि 'कौन वीर कितने समयमें सेनासहित पाण्डवोंका वध कर सकता है?' इसके उत्तरमें पितामह भीष्म तथा कृपाचार्यने एक मासमें हम सबको मारनेकी प्रतिज्ञा की है। द्रोणाचार्यने पन्द्रह दिनोंमें, अश्वत्थामाने दस दिनमें तथा सदा मुझे भयभीत करनेवाले कर्णने छः दिनमें सेनासहित पाण्डवोंको मारनेकी घोषणा की है। अतः यही प्रश्न मैं अपने पक्षके महारथियोंके सामने रखता हूँ—'कौन कितने समयमें सेनासहित कौरवोंको मार सकता है?'

**राजा युधिष्ठिरका यह वचन सुनकर अर्जुन बोले**—महाराज! भीष्म आदि महारथियोंने जो प्रतिज्ञा या घोषणा की है वह सर्वथा असंगत है; क्योंकि विजय और पराजयमें पहलेसे किया हुआ निश्चय झूठा होता है। आपके पक्षमें भी जो वीर राजा हैं, वे युद्धके लिये कमर कसकर रणभूमिमें डटे हुए हैं। देखिये—ये नरश्रेष्ठ कालके समान दुर्धर्ष हैं—द्रुपद, विराट, कैकेय, सहदेव, सात्यकि, दुर्जय वीर चेकितान, धृष्टद्युम्न, पुत्रसहित महापराक्रमी घटोत्कच, महाधनुर्धर भीमसेन आदि तथा कभी किसीसे परास्त न होनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण—ये सब आपके पक्षमें हैं। मैं तो समझता हूँ, इनमेंसे एक-एक वीर सारी कौरवसेनाका संहार कर सकता है। इनके डरसे कौरव इस प्रकार भागेंगे जैसे सिंहसे डरे हुए मृग। बूढ़े भीष्मसे, बूढ़े बाबा द्रोण और कृपसे तथा अश्वत्थामासे अपनेको क्या भय है? अथवा यदि चित्तकी शान्तिके लिये आप जानना ही चाहते हैं, तो मेरी बात सुनिये—मैं अकेला ही युद्धमें सेनासहित समस्त कौरवोंको एक दिनमें नष्ट कर सकता हूँ।

**अर्जुनकी यह बात सुनकर घटोत्कचके पुत्रने हँसते हुए कहा**—महात्मा अर्जुनने जो प्रतिज्ञा की है, वह मुझे नहीं सही जाती, क्योंकि इनके द्वारा दूसरे वीरोंपर महान् आक्षेप हो रहा है। अतः अर्जुन और श्रीकृष्णसहित आप सब लोग चुपचाप खड़े रहें, मैं एक ही मुहूर्तमें भीष्म आदि सबको यमलोकमें पहुँचा दूँगा। मेरे भयंकर धनुषको, इन दोनों अक्षय तूणीरोंको तथा भगवती सिद्धाम्बिकाके दिये हुए इस खड्गको भी आपलोग देखें। ऐसी दिव्य वस्तुएँ मेरे पास हैं। तभी मैं इस प्रकार सबको जीतनेकी बात कहता हूँ। बर्बरीकका यह वचन सुनकर सब क्षत्रिय बड़े विस्मयको प्राप्त हुए। अर्जुनने भी आक्षेप करनेके कारण लज्जित हो श्रीकृष्णकी ओर देखा। तब श्रीकृष्णने कहा—'पार्थ! घटोत्कचके इस पुत्रने अपनी शक्तिके अनुरूप ही बात कही है। इसके विषयमें बड़ी अद्भुत बातें सुनी जाती हैं। पूर्वकालमें इसने पातालमें जाकर नौ करोड़

पलाशी नामक दैत्योंको क्षणभरमें मौतके घाट उतार दिया था।'

**तत्पश्चात् यादवेन्द्र श्रीकृष्णने घटोत्कचके पुत्रसे कहा**—वत्स! भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा, कर्ण और दुर्योधन आदि महारथियोंके द्वारा सुरक्षित कौरवसेनाको, जिसपर विजय पाना महादेवजीके लिये भी कठिन है, तुम इतना शीघ्र कैसे मार सकते हो? तुम्हारे पास ऐसा कौन-सा उपाय है? समस्त प्राणियोंके अधीश्वर भगवान् वासुदेवके इस प्रकार पूछनेपर सिंहके समान वक्षःस्थल, पर्वताकार शरीर तथा अतुलित बलसे सम्पन्न एवं नाना प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित बर्बरीकने तुरंत ही धनुष चढ़ाया और उसपर बाण सन्धान किया। फिर उस बाणको उसने लाल रंगके भस्मसे भर दिया और कानतक खींचकर छोड़ दिया। उस बाणके मुखसे जो भस्म उड़ा, वह दोनों सेनाओंमें सैनिकोंके मर्मस्थलोंपर गिरा। केवल पाँच पाण्डव, कृपाचार्य और अश्वत्थामाके शरीरसे उसका स्पर्श नहीं हुआ। यह कर्म करके बर्बरीकने पुनः सब लोगोंसे कहा—'आपलोगोंने देखा, इस क्रियाके द्वारा मैंने मरनेवाले वीरोंके मर्मस्थानका निरीक्षण किया है। अब उन्हीं मर्मस्थानोंमें देवीके दिये हुए तीक्ष्ण और अमोघ बाण मारूँगा, जिनसे ये सभी योद्धा क्षणभरमें मृत्युको प्राप्त हो जायँगे। आप सब लोगोंको अपने-अपने धर्मकी सौगन्ध है, कदापि शस्त्र ग्रहण न करें। मैं दो ही घड़ीमें इन सब शत्रुओंको तीखे बाणोंसे मार गिराऊँगा।'

यह सुनकर युधिष्ठिर आदिके चित्तमें बड़ा विस्मय हुआ। वे सब लोग बर्बरीकको साधुवाद देने लगे, जिससे महान् कोलाहल छा गया। बर्बरीकने ज्यों ही उपर्युक्त बात कही त्यों ही श्रीकृष्णने कुपित होकर अपने तीखे चक्रसे बर्बरीकका मस्तक काट गिराया। यह देख सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। सब एक-दूसरेसे कहने लगे—'अहो! यह क्या हुआ? घटोत्कचका पुत्र कैसे मारा गया?' पाण्डव भी अन्य सब

राजाओंके साथ आँसू बहाने लगे! घटोत्कच तो 'हा पुत्र! हा पुत्र!' कहता हुआ शोकसे मूर्छित होकर गिर पड़ा। इसी समय सिद्धाम्बिका आदि चौदह देवियाँ वहाँ आ पहुँचीं। श्रीचण्डिकाने घटोत्कचको सान्त्वना देकर उच्चस्वरसे कहा—'सब राजा सुनें। विदितात्मा भगवान् श्रीकृष्णने महाबली बर्बरीकका वध किस कारणसे किया है, वह मैं बतलाती हूँ। पूर्वकालकी बात है, मेरुपर्वतके शिखरपर सब देवता एकत्र हुए थे। उस समय भारसे पीड़ित हुई यह पृथ्वी वहाँ गयी और सब देवताओंसे बोली—'आपलोग मेरा भार उतारें।' तब ब्रह्माजीने भगवान् विष्णुसे कहा—'भगवन्! आप मेरी प्रार्थना सुनें। आप ही पृथ्वीका भार उतारें, इस कार्यमें देवता आपका अनुसरण करेंगे।' तब भगवान् विष्णुने 'तथास्तु' कहकर ब्रह्माजीकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। इसी समय 'सूर्यवर्चा' नामक यक्षराजने

बर्बरीकका बलप्रदर्शन

अपनी भुजा ऊपर उठाकर कहा—'आपलोग मेरे रहते हुए मनुष्यलोकमें क्यों जन्म धारण करते हैं? मैं अकेला ही अवतार लेकर पृथ्वीके भारभूत सब दैत्योंका संहार करूँगा।'

**सूर्यवर्चाके ऐसा कहनेपर ब्रह्माजी कुपित होकर बोले**—दुर्मते! पृथ्वीका यह महान् भार समस्त देवताओंके लिये भी दुःसह है, उसे तू मोहवश केवल अपने ही द्वारा साध्य बतलाता है। मूर्ख! पृथ्वीका भार उतारते समय जब युद्धका आरम्भ होगा, उस समय श्रीकृष्णके हाथसे तेरे शरीरका नाश होगा। इसमें संशय नहीं है। ब्रह्माजीके द्वारा ऐसा शाप प्राप्त होनेपर सूर्यवर्चाने भगवान् विष्णुसे यह याचना की—'भगवन्! यदि इस प्रकार मेरे शरीरका नाश होनेवाला है, तो मैं एक प्रार्थना करता हूँ—'जन्मसे ही मुझे ऐसी बुद्धि दीजिये, जो सब अर्थोंको सिद्ध करनेवाली हो।' यह सुनकर भगवान् विष्णुने देवसभामें कहा—'ऐसा ही होगा। देवियाँ तुम्हारे मस्तककी पूजा करेंगी। तुम पूज्य हो जाओगे।' भगवान्के ऐसा कहनेपर सूर्यवर्चा तथा आप सब देवता भी इस पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए। सूर्यवर्चा ही, यह घटोत्कचका पुत्र था, जो मारा गया है। अतः समस्त राजाओंको श्रीकृष्णमें दोष नहीं देखना चाहिये।'

**श्रीभगवान् बोले**—राजाओ! देवीने जो कुछ कहा है, वह निःसन्देह वैसा ही है। मैंने देवसमाजमें सूर्यवर्चाको जो वर दिया था, उसका स्मरण करके ही गुप्तक्षेत्रमें देवीकी आराधनाके लिये मैंने इसे नियुक्त कर दिया था।

**राजाओंसे ऐसा कहकर भगवान् श्रीकृष्ण फिर चण्डिकासे बोले**—देवि! यह भक्तका मस्तक है। इसे अमृतसे सींचो और राहुके सिरकी भाँति अजर-अमर बना दो। देवीने वैसा ही किया। जीवित होनेपर उस मस्तकने भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम किया और कहा—'मैं युद्ध देखना चाहता हूँ। इसके लिये मुझे अनुमति मिले।' तब भगवान् श्रीकृष्णने मेघके समान गम्भीर वाणीमें कहा—'वत्स! जबतक यह पृथ्वी, नक्षत्र, चन्द्रमा तथा सूर्य रहेंगे, तबतक तुम सब लोगोंके द्वारा पूजनीय होओगे। अब तुम इस पर्वतशिखरपर चढ़कर वहाँ रहो। वहींसे होनेवाले युद्धको देखना।' भगवान् वासुदेवके ऐसा कहनेपर समस्त देवियाँ आकाशमें जाकर अन्तर्धान हो गयीं। बर्बरीकका मस्तक पर्वतके शिखरपर स्थित हो गया। उसका शरीर जमीनपर था, उसका यथाविधि संस्कार कर दिया गया। मस्तकका कोई संस्कार नहीं हुआ। तत्पश्चात् कौरव और पाण्डवोंकी सेनामें भयानक संग्राम छिड़ गया जो लगातार अठारह दिनोंतक चला। युद्धमें द्रोण और कर्ण आदि सब वीर मारे गये। अठारह दिनों बाद निर्दयी दुर्योधन भी मारा गया। तब अपने बन्धु-बान्धवोंके बीचमें धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान् श्रीगोविन्दसे कहा—'पुरुषोत्तम! इस महान् संग्राम-सागरसे आपने ही हमलोगोंको पार उतारा है। हे नाथ! हे हरे! हे पुरुषोत्तम! आपको नमस्कार है।' भीमसेन बहुत भोले थे। उन्हें धर्मराजकी यह बात कुछ भारी लगी और उन्होंने तनिक असहिष्णुताके साथ युधिष्ठिरसे कहा—'राजन्! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारनेवाला तो यह मैं भीम हूँ। आप मेरा तिरस्कार करके 'पुरुषोत्तम', 'पुरुषोत्तम' कहकर कृष्णकी इतनी बड़ाई क्यों कर रहे हैं? धृष्टद्युम्न, अर्जुन, सात्यकि और मैं, जिन लोगोंने युद्धमें पराक्रम दिखाकर विजय पायी, उन्हें छोड़कर आप ऐसा क्यों कह रहे हैं?' भीमसेनकी यह अनुचित बात सुनकर अर्जुनसे नहीं रहा गया। अर्जुन बोले—'भाई भीमसेनजी! राम! राम! आप ऐसा बिलकुल न कहिये, आप जनार्दन श्रीकृष्णको यथार्थतः

जानते नहीं हैं। मेरे, आपके या किसी भी अन्य वीरके द्वारा शत्रुका वध नहीं किया गया है। युद्धके समय मैं सदा देखता था कि मेरे आगे-आगे कोई एक पुरुष शत्रुओंको मारता हुआ चला करता था। मुझे पता नहीं, वह कौन था।'

**अर्जुनकी बात सुनकर भीमसेन बोले—** अर्जुन! तुम निश्चय ही बड़े भ्रममें पड़े हो। भला, युद्धमें दूसरा कौन शत्रुओंको मारता। तथापि यदि तुम्हें विश्वास न हो तो चलो, पर्वतशिखरपर स्थित पौत्र बर्बरीकके मस्तकसे पूछ लें, उसने तो सारा युद्ध देखा ही है। इतना कहकर भीमने वहाँ जाकर बर्बरीकसे पूछा—'बेटा! बताओ, इस युद्धमें कौरवोंको किसने मारा है?' बर्बरीकने कहा—'मैंने तो शत्रुओंके साथ केवल एक पुरुषको युद्ध करते देखा है। उस पुरुषके बायीं ओर पाँच मुख थे और दस हाथ थे, जिनमें वह शूल आदि आयुध धारण किये हुए था। उसके दाहिनी ओर एक मुख और चार भुजाएँ थीं, जो चक्र आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित थीं। उसके बायीं ओरके मस्तक जटाओंसे सुशोभित थे और दाहिनी ओर मस्तकपर मुकुट झलमला रहा था। उसने बायीं ओर भस्म धारण कर रखी थी तथा दायीं ओर चन्दन लगा रखा था। बायीं ओर चन्द्रकला शोभा पा रही थी और दायीं ओर कौस्तुभमणिकी छटा छा रही थी। उस पुरुषके अतिरिक्त कौरववाहिनीका विनाश करनेवाले किसी अन्य पुरुषको मैंने नहीं देखा।' बर्बरीकके ऐसा कहते ही आकाश-मण्डल उद्भासित हो उठा। उससे पुष्पवृष्टि होने लगी। देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं और 'साधु-साधु'की ध्वनिसे आकाश भर गया। इससे भीमसेन लज्जित होकर लंबी साँस लेने लगे। तदनन्तर भीमसेनने तन, मन, वचनसे भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करके कहा—'केशव! मैंने जन्मसे लेकर अबतक जितने भी अपराध किये हैं, उन सबके लिये तुम मुझे क्षमा करो। हे पुरुषोत्तम! हे नाथ! मैं मूर्ख हूँ, तुम मेरे प्रति प्रसन्न होओ।' भगवान्ने हँसकर कहा—'अच्छी बात है, सब क्षमा किये।' तदनन्तर भीमको साथ लेकर भगवान् श्रीकृष्णने बर्बरीकके समीप जाकर कहा—'तुमको इस क्षेत्रका त्याग नहीं करना चाहिये। हमलोगोंसे जो अपराध हो गये हों, उन्हें क्षमा करना।' भगवान्के ऐसा कहनेपर बर्बरीकने उन्हें प्रणाम किया और प्रसन्नतापूर्वक वह अपने अभीष्ट स्थानको चला गया। भगवान् वासुदेव भी अवतारसम्बन्धी सब कार्य पूर्ण करके परमधामको पधारे। ब्राह्मणो! इस प्रकार मैंने तुम्हें बर्बरीकके जन्मका वृत्तान्त बतलाया है और गुप्तक्षेत्रका भी संक्षेपसे वर्णन किया है। इस क्षेत्रका प्रमाण ब्रह्माजीने सात कोसका बताया है। यह सम्पूर्ण मनोरथोंको सिद्ध करनेवाला है। इस प्रकार परम पवित्र महीसागर-संगमका वर्णन किया गया। जो इसका श्रवण अथवा पाठ करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। यह प्रसंग बहुत ही पवित्र, पुण्यदायक, यशकी वृद्धि करनेवाला तथा पापको हर लेनेवाला है। जो पुरुष भक्तिपूर्वक इसका श्रवण करता है, वह पुण्यका भागी होता है और प्राणनाशके पश्चात् भगवान् शिवके परम-धाममें जाता है। जो मनुष्य मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर पवित्र हो इस परम धन्य, यशोदायक, निश्चय पुण्यप्रद, मनुष्यमात्रके पापहारक तथा उत्तम मोक्षदायक पुराणका प्रतिदिन श्रवण करता है, वह सूर्यमण्डलको वेधकर भगवान् विष्णुके परमधामको प्राप्त होता है।

# अरुणाचल-माहात्म्यखण्ड

## भगवान् शंकरका 'अरुणाचल' रूपसे प्रकट होना तथा ब्रह्मा और विष्णुका उनकी स्तुति करना

**नैमिषारण्यनिवासी मुनियोंने कहा**—सूतजी! अब हमलोग आपसे अरुणाचल-माहात्म्य सुनना चाहते हैं।

**श्रीसूतजी बोले**—महर्षियो! प्राचीन कालकी बात है, ब्रह्माजी सत्यलोकमें कमलके आसनपर विराजमान थे। उस समय महात्मा सनकने उन्हें प्रणाम करके हाथ जोड़कर पूछा—'भगवन्! आप सम्पूर्ण भुवनके आधार तथा वेदवेद्य पुरुष हैं। चतुर्मुख! आपकी कृपासे मुझे सम्पूर्ण विज्ञान प्राप्त है। दयानिधे! भूमण्डलके समस्त शिवलिंगोंमें जो परम निर्मल, दिव्य तथा अपरिच्छिन्न महिमासे युक्त है, जिसके नाम-स्मरणमात्रसे समस्त पातकोंका विनाश हो जाता है, जो मनुष्योंको सदा भगवान् शिवका सारूप्य प्रदान करनेवाला है, जिसका आदि नहीं है, जो समस्त जगत्का आधार तथा भगवान् शंकरका अविनाशी तेज है और जिसका दर्शन करके जीव कृतार्थ हो जाता है, उसकी महिमाका मुझे उपदेश कीजिये।'

**ब्रह्माजीने कहा**—बेटा! तुमने मेरे अन्तःकरणमें पुरातन शिवयोगकी स्मृति दिलायी है। तुम्हारे प्रति आदरका भाव होनेसे मैंने चिन्तन करके उस योगको स्मरण कर लिया है। तुम्हारी अधिक तपस्याके प्रभावसे मेरे चित्तमें परम उत्तम शिवभक्तिका उदय हुआ है, जिसने मेरे हृदयको क्षणभरमें अपनी ओर आकृष्ट-सा कर लिया है। जिन पुरुषोंकी सदा आकुलतारहित (परम शान्त) भगवान् सदाशिवके प्रति भक्ति बढ़ती है, वे अपने चरित्रोंसे सम्पूर्ण जगत्को पवित्र कर देते हैं। शिवभक्तोंके साथ वार्तालाप, निवास, मेल-जोल, उनका दर्शन तथा स्मरण—ये सब पापोंका नाश करनेवाले हैं। पूर्वकालमें सबकी पापराशिको दूर करनेवाला, अविनाशी, करुणासे भरा हुआ और अद्भुत शैव तेज जिस प्रकार प्रकट हुआ था, वह वृत्तान्त सुनो। एक समय मेरे और भगवान् विष्णुके समक्ष एक अग्निमय स्तम्भ प्रकट हुआ, जो सम्पूर्ण लोकोंको लाँघकर ऊपरसे नीचेतक फैला था और सब ओरसे अग्निके समान प्रज्वलित हो रहा था। उसका कहीं भी आदि-अन्त न होनेके कारण वह सम्पूर्ण दिगन्तोंमें व्याप्त जान पड़ता था। भगवान् शिवके उस तेजोमय स्वरूपको देखकर मैंने भक्तिपूर्ण चित्तसे उसका मानसिक पूजन किया और अपने चारों मुखोंसे वेदमन्त्रोंका उच्चारण करते हुए शिवकी इस प्रकार स्तुति की—

'जो सम्पूर्ण लोकोंकी उत्पत्तिके एकमात्र हेतु हैं, उन परम महान् भगवान् शिवको नमस्कार है। प्रभो! जिनसे सब कुछ प्रकाशित होता है, उन्हीं आपको सादर नमस्कार है। शम्भो! आपका यह विश्वव्यापी तेज सब ओर प्रकाश फैला रहा है; किंतु जो लोग आपकी कृपासे वंचित हैं, वे इसका दर्शन नहीं कर पाते। ठीक वैसे ही, जैसे जन्मके अन्धे सूर्यको नहीं देख पाते। अपने-आप प्रकट हुआ यह निर्मल लिंग अध्यात्म-दृष्टिसे देखनेयोग्य है। यह भीतर और बाहर सर्वत्र विराजमान है, ऐसा आपके भक्त अनुभव करते हैं। देवेश्वर! जैसे दर्पण अपनेमें प्रतिबिम्ब धारण करता है, उसी प्रकार योगीजन अपने अन्तरात्मामें आपके इस प्रज्वलित तेज—अपरिच्छेद्य विग्रहका दर्शन करते हैं। अथवा भगवान् शंकरकी नित्यशक्ति सूक्ष्मसे भी अतिशय सूक्ष्म है, वह शक्ति मुझमें भी विलीन होती है; अतः मुझसे बढ़कर दूसरा

नहीं है। अणु (छोटे-से-छोटा जीव या पदार्थ) भी आपकी कृपाका पात्र बन जानेपर निश्चय ही महत्त्वको प्राप्त होता है। आपसे बढ़कर तो कोई है ही नहीं, किन्तु आपका ही आश्रय लेनेके कारण मुझसे बढ़कर भी दूसरा कोई नहीं है। भगवन्! आपमें लगाया हुआ मन आपसे एक क्षणके लिये भी वियोग नहीं चाहता, फिर किसकी प्रेरणासे मेरी वाणी आपकी महिमाके वर्णनमें प्रवृत्त हो। ईश! महादेव! आप समस्त भुवनोंमें सबसे उत्कृष्ट हैं; अतः स्वयं ही कृपा करके मुझपर प्रसन्न होइये। नाथ! आपके चरणोंमें पड़े हुए इस भक्तको अपेक्षित कार्योंमें नियुक्त होनेके लिये आज्ञा दीजिये।'

विनयपूर्वक यह निवेदन करके मैंने हाथ जोड़कर देव-देवेश्वर भगवान्‌को बारंबार प्रणाम किया और उन्हींके समीप बैठ गया। तत्पश्चात् नूतन जलधरके समान गम्भीर ध्वनिवाले श्रीविष्णुने शंकरजीकी महिमाके कीर्तनद्वारा अपनी विशुद्ध वाणीको और भी कृतार्थ करते हुए कहा—'तीनों लोकोंके अधीश्वर! प्रभो! गंगाधर! जगन्नाथ! विरूपाक्ष चन्द्रार्धशेखर! आपकी जय हो। शम्भो! आपकी दया असीम है और वह भक्तजनोंपर सदा अकारण बढ़ती रहती है, जिससे उन भक्तोंमें स्वच्छ एवं पूर्ण ज्ञानका आधान होता है। प्रायः सम्पूर्ण विद्याओंका पालन और समस्त ऐश्वर्योंका संग्रह भी आपकी कृपासे ही सम्भव है। आपको जाननेमें आप ही समर्थ हैं, अथवा जिसको आपका कृपाप्रसाद प्राप्त है, वह समर्थ हो सकता है। क्या भ्रमर किसी कीटको आकृष्ट करके उसे अपने स्वरूपकी प्राप्ति नहीं करा देता? उसी प्रकार आप भी अपने तुच्छ भक्तको अपनाकर अपने समान बना लेते हैं। देवता आपके अंशसे उत्पन्न हुए हैं, इसीलिये क्या वे प्रभावशाली नहीं हैं? क्या तपाये लोहेमें जो अग्निदेवता स्थित हैं, उनमें जलानेकी शक्ति नहीं होती? देव! शंकर! सर्वाधार! आप कृपा करके हमारे नेत्रोंको आनन्द प्रदान करनेवाली अपनी दिव्य मूर्तिका दर्शन कराइये।'

**श्रीसूतजी कहते हैं**—इस प्रकार श्रद्धा और भक्तिके साथ प्रणाम और स्तुति करनेवाले ब्रह्मा और भगवान् विष्णुके ऊपर भगवान् शंकर बहुत प्रसन्न हुए तथा उस तेजोमय स्तम्भसे गौर वर्ण, नीलकण्ठ पुरुषरूपसे प्रकट हुए। उनके मस्तकपर अर्धचन्द्रका मुकुट शोभा पा रहा था। हाथोंमें परशु, बालमृग तथा अभय और विश्रामकी मुद्राएँ थीं। वे ब्रह्मा और विष्णुसे बोले—'मुझमें चित्त लगानेवाले तुम दोनोंकी भक्तिसे मैं बहुत सन्तुष्ट हूँ। तुम मुझसे कोई वर माँगो।'

भगवान् शंकरके इस वचनसे उन दोनोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने हाथ जोड़कर अपना-अपना पृथक् प्रयोजन निवेदन किया और कभी परास्त न होनेवाले त्रिभुवनविधाता भगवान् शिवका वैदिक मन्त्रोंसे स्तवन करते हुए इस प्रकार कहा—'भगवन्! आपके इस दिव्यरूपको हम नमस्कार करते हैं। आप सतत वर देनेवाले ईश्वर हैं, तेजोमय हैं, देवताओंमें सबसे श्रेष्ठ महादेव हैं तथा योगियोंके ध्यान करनेयोग्य निरंजन

ब्रह्मरूप हैं। देव! आपने अपने तेजसे सम्पूर्ण आकाशका अन्तराल परिपूर्ण कर रखा है, इससे क्षणभरमें ऐसी स्थिति हो जानेकी सम्भावना है जिससे यह पूछना पड़ेगा कि देवताओंका निवासस्थान कहाँ था—समस्त देवलोक भस्म हो जाना चाहता है। सिद्ध, चारण, गन्धर्व, देवता और महर्षि आपके तेजसे संतप्त हो आकाशमें न तो ठहर पाते हैं और न कहीं आने-जानेके लिये मार्ग ही पाते हैं। आपके उग्र तेजसे तपती हुई यह समूची पृथ्वी अब चराचर जगत्को उत्पन्न करनेमें समर्थ न होगी। अतः समस्त संसारपर अनुग्रह करनेके लिये आप इस तेजको समेटकर 'अरुणाचल' नामसे स्थावरलिंग हो जाइये। जो मनुष्य आपके अरुणाचल नामक इस ज्योतिर्मय स्वरूपको भक्तिपूर्वक नमस्कार करेंगे, वे देवताओंसे भी अधिक सम्मानित होंगे। अरुणाचल! आपकी शरण लेकर सब लोग ऐश्वर्य, सौभाग्य, महत्त्व तथा कालपर भी विजय प्राप्त करें।'

यह स्तुति सुनकर भगवान् शंकरने 'तथास्तु' कहकर वैसा ही वर दिया। उस समय कमलाकान्त भगवान् विष्णुने अरुणाचलपति शिवजीसे प्रार्थना करते हुए पुनः कहा—'करुणानिधान! अरुणाचलेश्वर! प्रसन्न होइये। प्रभो! महेश्वर! आपका प्राकट्य समस्त लोकोंके हितके लिये हुआ है। आपके इस परम अद्भुत स्वरूपकी उपासना थोड़े पुण्यवाले लोगोंको सुलभ नहीं है। मैंने और ब्रह्माजीने वेदोक्त स्तोत्रद्वारा आपका स्तवन किया है। जो मनुष्य आपका पूजन करेंगे, वे निष्पाप एवं कृतार्थ होंगे। जो लोग नाना प्रकारके उपहारों और पूजन-सामग्रियोंद्वारा आपकी पूजा करें, वे अवश्य चक्रवर्ती राजा हों तथा सब पापोंसे तत्काल मुक्त होकर शुद्धचित्त हो जायँ। आपके समीप आये हुए सब मनुष्योंको अहंता और ममताका परित्याग करके निरन्तर आपके चरणकमलोंका ध्यान करना चाहिये।'

तब भगवान् चन्द्रशेखरने 'ऐसा ही होगा' यह कहकर भगवान् विष्णुको वरदान दिया और अरुणाचलरूपसे भी स्थावरलिंग हो गये। समस्त लोकोंका एकमात्र कारण यह तैजसलिंग अरुणाचल नामसे विख्यात हो इस भूतलपर दृष्टिगोचर हो रहा है। प्रलयकालमें सम्पूर्ण लोकोंको अपने भीतर डुबो देनेवाले चारों समुद्र भी इस अरुणाचलके निकटकी भूमिका स्पर्शतक नहीं कर पाते।

## शिवके विभिन्न तीर्थोंकी महिमा

**ब्रह्माजी बोले**—हे सनक! अरुणाचलरूपसे स्थित हुए भगवान् शंकरके स्वरूपका जो लोग दर्शन और नमस्कार करते हैं, वे निश्चय ही कृतार्थ हो जाते हैं। अरुणाचलका दर्शन समस्त तीर्थोंमें स्नान और सम्पूर्ण यज्ञोंके अनुष्ठानका फल देनेवाला है; उससे भगवान् सदाशिवकी प्रसन्नता प्राप्त होती है। जो लोग प्रदक्षिणा, नमस्कार, तपस्या और नियमोंद्वारा अरुणाचलेश्वरका पूजन करते हैं, भगवान् शिव उनके अधीन हो जाते हैं। तपस्या, योग और दानसे भी भगवान् शंकर वैसे प्रसन्न नहीं होते, जैसे कि एक बार भी अरुणाचलके दर्शनसे होते हैं। जिसके द्वारा अरुणाचल-लिंगकी पूजा होती है, उसे कलियुगका दोष नहीं प्राप्त होता तथा उसकी आधि-व्याधि भी नहीं बढ़ने पाती।

**नैमिषारण्यतीर्थमें निवास करनेवाले मुनियोंने सूतजीसे कहा**—सब स्थानोंमें जो शिवजीका परम उत्तम स्थान हो उसका हमसे वर्णन कीजिये।

**सूतजी बोले**—मुनियो! पूर्वकालमें नन्दीश्वरके मुखसे मार्कण्डेयजीने जो कुछ सुना था, उसका वर्णन करता हूँ, आदरपूर्वक सुनो।

**मार्कण्डेयजी बोले**—नन्दीश्वर! इस त्रिलोकीमें

तथा समस्त आगमों, पुराणों और वेदोंमें भी कोई ऐसी बात नहीं है जो आपको विदित न हो। आपने पहले यह बताया है कि भूमिपर मनुष्योंको लौकिक सुख, स्वर्गभोग तथा कैवल्य तीनोंकी प्राप्ति हो सकती है; इनमेंसे प्रथम दो वस्तुएँ (लौकिक सुख और स्वर्गभोग) पुण्य क्षीण होनेपर प्रायः नष्ट हो जाती हैं, परंतु तृतीय वस्तु (मोक्ष)-का नाश नहीं होता। उसकी सिद्धि आपने बुद्धि एवं विज्ञानके द्वारा बतलायी है। किंतु समस्त देहधारियोंको विशुद्ध ज्ञान दुर्लभ है; वही ज्ञान किसी-किसी क्षेत्रमें शास्त्र आदि पढ़े बिना ही केवल शिवके पूजनमात्रसे सिद्ध हो जाता है। अतः जिस स्थानके माहात्म्यसे समस्त शरीरधारियोंको नियमपूर्वक शुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति हो जाय, उसका मुझसे वर्णन कीजिये।

यों कहकर मार्कण्डेयजीने अन्यान्य मुनीन्द्रों और महात्माओंके साथ शिलादपुत्र नन्दीश्वरके चरणारविन्दोंमें सब शास्त्रोंकी प्राप्तिके लिये नमस्कार किया।

**तब नन्दिकेश्वरने कहा**—मुने! तुमने जिनके विषयमें पूछा है, वे शिवप्रधान तीर्थस्थान इस भूतलपर अवश्य हैं। भगवान् शंकरने समस्त चराचर जीवोंका कल्याण करनेके लिये वैसे दिव्य स्थानोंको प्रकट किया है। देहधारियोंका अपने-अपने कर्मोंके अनुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म होता है। आपने उन्हींके महान् हितके लिये शिवप्रधान तीर्थोंको सुननेकी इच्छा प्रकट की है; अन्यथा करोड़ों कल्पोंमें भी उन देहधारियोंके जन्म-मरणरूप संसारकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। थोड़े कर्म तथा अधूरे ज्ञानसे जन्म-मरणकी परम्परा नहीं शान्त होती। जैसे रहटमें लगे हुए घड़े बार-बार डूबते और ऊपर आते हैं, उसी प्रकार देहधारियोंका आवागमन होता रहता है। विशुद्ध ज्ञानके सिवा अन्य किस उपायसे देहधारी जीव गर्भवासके कष्टों और सांसारिक शोकोंसे विरक्त होकर शान्ति लाभ कर सकते हैं? (शिवप्रधान तीर्थोंके सेवनसे उस ज्ञानकी प्राप्ति होती है, जिससे मनुष्य संसार-बन्धनसे छुटकारा पा जाता है; अतः शैव तीर्थोंका वर्णन किया जाता है।)

'वाराणसी क्षेत्र' पाँच कोसतक परम पावन बताया गया है, जहाँ 'अविमुक्त' नामक महादेवजी 'विशालाक्षी' देवीके द्वारा पूजित होते हैं। वहीं 'कपालमोचन' तीर्थ है और वहीं कालभैरवका भी निवास है। मुने! उस काशीपुरीमें मरे हुए मनुष्योंको शिवस्वरूपकी प्राप्ति होती है। गया और प्रयाग भी सब सिद्धियोंको देनेवाले तीर्थ कहे गये हैं; वहाँ पिण्डदान करनेसे पितर बहुत सन्तुष्ट होते हैं। मुने! तुमने 'केदार' तीर्थका नाम सुना होगा; जहाँ भगवान् शंकर इस समय भी महिषरूप धारण करके रहते और मनुष्योंका सर्वथा कल्याण करते हैं। 'बदरिकाश्रम' तीर्थ मनुष्योंको सब प्रकारकी सिद्धि प्रदान करनेवाला है। वहाँ देवी पार्वतीके साथ महादेवजी नर-नारायणद्वारा पूजित होकर रहते हैं। तुमने 'नैमिषारण्य' क्षेत्रका नाम भी सुना होगा, जहाँ त्रिपुरासुरका विनाश करनेवाले देवाधिदेव महादेवजी निवास करते हैं। 'अमरेश' तीर्थ भी सब पुरुषार्थोंका साधक बताया गया है, वहाँ 'ओंकार' नामवाले महादेवजी और 'चण्डिका' नामसे प्रसिद्ध पार्वतीजी निवास करती हैं। 'पुष्कर' नामक महातीर्थमें 'रुजोगन्धि' शिव और 'पुरुहूता' देवी निवास करती हैं। 'आषाढ़ी' नामका पवित्र तीर्थस्थान है। वहाँ 'आषाढ़ेश' महादेव तथा 'रति' नामवाली देवी निवास करती हैं। 'दण्डिमुण्डी' नामसे प्रसिद्ध जो तीर्थस्थान है, वहाँ 'मुण्डी' महादेव और 'दण्डिका' देवीका निवास है। 'लाकुलि' नामक विशुद्ध तीर्थ है, जहाँ 'लाकुलीश' महादेव और 'सर्वमंगला' देवी निवास करती हैं। 'भारभूति' नामक स्थानमें 'भार' नामक शिव और 'भूति' नामवाली पार्वती रहती हैं। 'अरालकेश्वर' नामक

स्थान है, जहाँ 'सूक्ष्म' नामवाले शिव तथा 'सूक्ष्मा' नामवाली गिरिराजकुमारी निवास करती हैं। 'कुरुक्षेत्र' नामक स्थान है, जहाँ 'स्थाणु' नामवाले महादेव और 'स्थाणुप्रिया' नामवाली महादेवीका निवास है। 'कनखल' नामक उत्तम तीर्थस्थान है, जहाँ भगवान् शिव 'उग्र' नामसे और गिरिराजनन्दिनी 'उमा' नामसे निवास करती हैं। मार्कण्डेय! 'तालक' नामवाले तीर्थमें 'स्वयम्भू' महादेव और 'स्वायम्भुवी' महादेवी रहती हैं। 'अट्टहास' नामक महातीर्थ है, जहाँ सूर्यदेवने भगवान् शंकरकी पूजा करके अपना मनोरथ पूर्ण किया था। वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ मार्कण्डेय! 'कृत्तिवास' क्षेत्र है, जहाँका निवास महादेवजीके लिये कैलाशकी अपेक्षा भी अधिक प्रिय है। 'श्रीशैल' पर भगवान् महेश्वर 'भ्रमराम्बिका' देवीके साथ 'मल्लिकार्जुन' नामसे निवास करते हैं। ब्रह्माजीने सृष्टिकार्यकी सिद्धिके लिये इनका पूजन किया था। 'सुवर्णमुखरी' नदीके तटपर भगवान् शंकर 'कालहस्ती' नामसे प्रसिद्ध हैं; उनके साथ 'भृंगमुखरालका' नामवाली अम्बिका देवी रहती हैं। भगवान् व्यासने वहाँ अम्बासहित भगवान् शिवकी आराधना की थी। 'कांचीपुरी' में एक आमके वृक्षके नीचे 'कामाक्षी' देवीके साथ भगवान् शिव 'कामशासन' नामसे निवास करते हैं। 'व्याघ्रपुर' नामसे प्रसिद्ध एक तीर्थ है, जहाँ तिल्लीवनके भीतर नृत्य करते हुए भगवान् 'नटराज' की महर्षि पतंजलि उपासना करते हैं। 'सेतुबन्ध' नामक तीर्थ है, जहाँ भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने समस्त पापोंका नाश करनेवाले महादेवजीकी 'रामेश्वर' नामसे स्थापना की है। 'गजप्रपा' नामक एक तीर्थस्थान है, जहाँ भगवान् 'वृषभध्वज' सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करनेके लिये अश्वत्थवृक्षके नीचे विराजमान हैं। 'वृद्धाचल' क्षेत्रमें 'मणिमुक्ता' नदीके तटपर महादेवजी सदा निवास करते हैं, यह बात तो तुमने सुनी ही होगी। 'मध्यार्चन' नामक उत्तम स्थानका नाम भी तुमने सुना ही होगा, जहाँ मनोवांछित वर देनेवाले भगवान् शंकर गौरीदेवीके साथ नित्य निवास करते हैं। भगवान् 'सोमनाथ' जहाँ निवास करते हैं, उस 'सोमतीर्थ' का नाम भी तुमने सुना होगा, जहाँ शरीर त्याग करनेवाले पुरुषोंको पुनः संसार-बन्धनकी प्राप्ति नहीं होती। 'सिद्धवट' नामक क्षेत्रकी चर्चा भी तुम्हारे सुननेमें आयी होगी, जहाँ सिद्धपुरुष उत्तम 'ज्योतिर्लिंग' की पूजा करते हैं। 'कमलालय' नामक क्षेत्रका नाम तुम्हारे कानोंमें अवश्य पड़ा होगा, जहाँ 'वाल्मीकेश्वर' की पूजा करनेसे लक्ष्मीदेवीने अद्भुत ज्ञान प्राप्त किया था।

'द्रोणपुर' नामक तीर्थको तो तुम जानते ही हो, जहाँ कलियुगकी समाप्तिमें समुद्रके क्षुब्ध होनेपर भगवान् पार्वतीपति नौकापर आरूढ होते हैं। 'ब्रह्मपुर' क्षेत्रका नाम भी तुम्हारे सुननेमें आया होगा, जहाँ ब्रह्माजीने पुष्करिणीके तटपर महादेवजीकी स्थापना की थी। तुम 'कोटिक' नामक क्षेत्रको भी जानते हो, जहाँ भगवान् चन्द्रशेखर भलीभाँति ध्यान करनेवाले पुरुषोंके करोड़ों पापोंका संहार करते हैं। 'गोकर्ण' क्षेत्रका नाम तुम्हारे कानोंमें पड़ा होगा, जिसके समीप भगवान् शिवकी आराधनाकी अभिलाषा रखनेवाले परशुरामजी स्वर्गलोकका सुख भी नहीं चाहते। 'त्रिपुरान्तक' क्षेत्रका नाम भी तुम्हें बताया है, जहाँ तीन नेत्रोंवाले भगवान् शिव अपना दर्शन करनेवाले पुरुषोंके नरकभयका निवारण करते हैं। 'कालंजर' क्षेत्र है, जहाँ निवास करनेवाले भगवान् 'नीलकण्ठ' भक्तोंके भयंकर संसाररोगका निवारण करते हैं। 'प्रियाल' वन प्रसिद्ध क्षेत्र है, जहाँ भगवान् अम्बिकापतिने दूधकी इच्छा रखनेवाले उपमन्युको दूधका समुद्र ही दे डाला

था। 'प्रभास' क्षेत्रका परिचय भी तुम्हें दिया गया है, जहाँ भगवान् 'चन्द्रार्धशेखर' ने श्रीकृष्ण और बलभद्रसे पूजित होकर अक्षय फल प्रदान किया है। 'वेदारण्य' तीर्थको जानते हो, जहाँ प्रजापति दक्षने मोक्षके लिये भगवान् शंकरकी प्रार्थना की थी। 'हेमकूट' का नाम तुमने सुना होगा, जो भगवान् 'त्रिलोचन' का स्थान है, जहाँ तपस्या करनेवाले पुरुषोंका पुनर्जन्म नहीं होता। 'वेणुवन' नामक क्षेत्र सब पापोंका नाश करनेवाला है, जहाँ वंशलताके गर्भसे मुक्तामणिमय भगवान् शिव प्रकट हुए। अन्धकासुरके शत्रु भगवान् शिवका 'जालन्धर' नामक स्थान तुमने सुना होगा, जहाँ तपस्या करके जलन्धरने शिवगणोंका आधिपत्य प्राप्त किया है। 'ज्वालामुख' नामक स्थानको तो तुम जानते ही हो, जहाँ ज्वालामुखी देवीने भगवान् 'कालरुद्र' का पूजन किया है। 'भद्रपट' नामसे प्रसिद्ध एक क्षेत्र है, जिसे तुमने भी सुना होगा, जहाँ भक्तोंने सम्पत्तिके लिये भगवान् त्रिलोचनका पूजन किया है। 'गन्धमादन' क्षेत्र तुम्हारे सुननेमें आया होगा, जहाँ भगवान् मृत्युंजयकी पूजा करके मनुष्य निश्चय ही सुख प्राप्त करता है। मैंने शिवजीके 'गो-पर्वत' नामक स्थानका भी परिचय दिया है, जहाँ उपासना करके पाणिनि वैयाकरणोंमें अग्रगण्य हो गये। 'वीरकोष्ठ' नामक क्षेत्रको तो तुम्हें स्मरण है न, जहाँ तपस्या करके महर्षि वाल्मीकिने कवियोंमें प्रधानता प्राप्त कर ली। 'महातीर्थ' को तो तुम जानते ही होगे, जहाँ भगवान् शंकरने ब्रह्मा आदि देवताओंको पढ़ाया है। 'मयूरपुर' (मायावरम्) नामक माहेश्वर तीर्थ है, जहाँ तपस्या करके इन्द्रने वज्र प्राप्त किया। वेगवती नदीके तटपर 'श्रीसुन्दर' नामक क्षेत्र है, जहाँ कलियुगमें भी देवाधिदेव महादेवजी शोभा पाते हैं। भगवान् शंकरके 'कुम्भकोण' नामक स्थानको तुम जानते हो, जहाँ माघमासमें साक्षात् गंगा भी अपने पापकी शान्तिके लिये निवास करती हैं। गोदावरी नदीके तटपर 'त्र्यम्बक' नामक स्थान है, जहाँ कार्तिकेयजीने तारकासुरको मारनेवाली शक्ति प्राप्त की है। श्रीपाटलमें 'व्याघ्रपुर' नामक स्थान है, जहाँ त्रिशंकु मुनिने जाति-शुद्धिके लिये 'गंगाधर' शिवका पूजन किया था। 'कदम्बपुरी' नामक क्षेत्र तो तुम्हें याद ही होगा, जहाँ महादेवजीने तुम्हारे ही लिये त्रिशूलसे कालपर भी आघात किया था। 'अविनाश' क्षेत्रमें भगवान् शिव पार्वतीदेवीके साथ सदा निवास करते हैं। 'रक्तकानन' नामसे प्रसिद्ध जो क्षेत्र है, उसमें भगवान् शिवने मित्र और वरुण देवताको वरदान दिया था। पातालमें 'हाटकेश्वर' क्षेत्र है, जहाँ विरोचनकुमार बलि अपने अभिलषित पदकी प्राप्तिके लिये महादेवजीकी पूजा करते हैं। भगवान्के प्रिय निवास 'कैलास' को तो तुम जानते ही हो, जहाँ यक्षराज कुबेर भक्तिभावसे भगवान् त्रिलोचनकी पूजा करते हैं। भगवान् शिवके ये सभी स्थान तुम्हें बतलाये हैं, तुमने भी इनको ध्यानसे सुना ही होगा। अब और क्या सुनना चाहते हो?

~~o~~

# अरुणाचल क्षेत्रकी महिमा, विभिन्न पापोंके फल और उन पापकर्मोंका प्रायश्चित्त

**मार्कण्डेयजी बोले**—प्रभो! आपने पहले जिन स्थानोंका वर्णन किया है, उनमें भिन्न-भिन्न फल प्राप्त होते हैं। जहाँ सब फलोंकी प्राप्ति एक ही जगह हो जाय, वह स्थान मुझे बतलाइये। मुझे उस देशका परिचय दीजिये, जिसके स्मरण करनेमात्रसे ज्ञानी और अज्ञानी समस्त चराचर जीवोंकी मुक्ति हो जाती है।

**नन्दिकेश्वरने कहा**—मुने! तुम्हारे सिवा अन्य किस व्यक्तिने इस प्रकार दीर्घकालतक मेरी सेवा की है? मेरा भी तुम्हारे ऊपर जैसा प्रेम है, ऐसा और किसीपर नहीं है। इसलिये मैं तुम्हें महादेवजीके गुप्तक्षेत्रका उपदेश करूँगा, जो भक्ति और मुक्ति चाहनेवाले पुरुषोंके द्वारा श्रद्धापूर्वक सुननेयोग्य है। मेरे द्वारा परमेश्वर शिवके रहस्यका उपदेश किया जाता है, तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो और इसपर दृढ़ विश्वास करो। कामदेवका नाश करनेवाले भगवान् शिवका स्मरण करो, भगवती पार्वतीजीके चरणोंमें मस्तक झुकाओ। तत्पश्चात् ॐकारका उच्चारण करो, यह तुम्हारे लिये महान् कल्याणका अवसर प्राप्त हुआ है। तपोधन! दक्षिण दिशामें द्राविड़देशके भीतर भगवान् चन्द्रशेखरका अरुणाचल नामक महान् क्षेत्र है, जिसका विस्तार तीन योजन है। शिवभक्तोंको उस क्षेत्रका अवश्य सेवन करना चाहिये। उस प्रदेशको पृथ्वीका हृदय समझो। भगवान् शिव उसे सदा अपने हृदयमें रखते हैं। लोकहितकारी महादेवजी उस क्षेत्रमें स्वयं ही पर्वतरूपमें प्रकट हो 'अरुणाचल' नामसे विख्यात हैं। अरुणाचल क्षेत्र समस्त सिद्धों, महर्षियों, देवताओं, विद्याधरों, यक्षों, गन्धर्वों तथा अप्सराओंका निवासस्थान है। अरुणाचल साक्षात् परमेश्वर शिवका स्वरूप है तथा वह महर्षियोंके लिये मेरु, कैलास और मन्दराचलसे भी अधिक माननीय है। वहाँ सिंह, व्याघ्र आदि पशु भी जब काल आनेपर अपने शरीरका परित्याग करते हैं, तब उन्हें अरुणाचलवासी भगवान् शिव निश्चय ही अपने सेवकोंके रूपमें स्वीकार करते हैं। लाख-लाख वृक्षों और पल्लवोंके रूपमें लक्षित होनेवाली जटा धारण किये यह अरुणाचल जंगम शिवकी भाँति स्थावर शिव है। जिसके सुन्दर शिखरमें लगा हुआ नीला और लाल रंग भगवान् शिवके नीललोहित रूपकी झाँकी कराता है तथा जहाँ स्थावररूपमें प्रकट हुए महादेवजी स्थाणुभावको प्रत्यक्ष धारण करते हैं। यहीं उनका स्थाणु नाम सार्थक होता है। इस अरुणाचल क्षेत्रमें योगिराज गौतमने सहस्रों वर्षोंतक तीव्र तपस्या करके भगवान् सदाशिवका साक्षात्कार किया है। पूर्वकालमें गिरिराजनन्दिनी उमाने भी वहीं तपस्या करके प्रसन्न किये हुए शिवके शरीरमें वामार्द्ध भागपर

अधिकार प्राप्त किया था। गौरीदेवीने वहाँ अरुणाचलेश्वर लिंगकी स्थापना की है, जो मनुष्योंको भोग और मोक्ष प्रदान करता है। पार्वतीकी आज्ञासे वहाँ साक्षात् महिषासुरमर्दिनी दुर्गादेवी निवास करती हैं, जो अपने भक्तोंको निर्विघ्न मन्त्रसिद्धि प्रदान करती हैं। वहाँ श्रीदुर्गाजीके द्वारा पूजित 'पापनाशन' नामक लिंग भी सुशोभित है, जो एक बार प्रणाम करनेमात्रसे मनुष्योंके समस्त पाप हर लेता है। इस क्षेत्रमें वज्रांगद नामक राजाने, जो कुबेरके अपराधसे हीन दशाको पहुँच गये थे, पुनः भगवान् शिवकी भक्तिके माहात्म्यसे शिवसायुज्य प्राप्त कर लिया। अरुणाचलकी प्रदक्षिणा करनेमात्रसे कान्तिशाली और कलाधर नामक विद्याधरराज दुर्वासाके शापबन्धनसे मुक्त हो गये थे। भगवान् शिवके ज्ञानसे बढ़कर दूसरा कोई ज्ञान नहीं है, रुद्रियसे बढ़कर दूसरी कोई श्रुति नहीं है, भगवान् विष्णुसे बढ़कर दूसरा कोई श्रेष्ठ शिवभक्त नहीं है, विभूतिसे बढ़कर रक्षाका कोई साधन नहीं है, भक्तिसे उत्तम कोई सदाचार नहीं है, दीक्षा देनेवालेसे बढ़कर दूसरा कोई गुरु नहीं है, रुद्राक्षसे बढ़कर कोई आभूषण नहीं है, शिवशास्त्रसे उत्तम कोई शास्त्र नहीं है, बिल्व-पत्रसे उत्तम पत्र, धतूरेसे उत्तम फूल, वैराग्यसे बढ़कर सुख और मुक्तिसे बढ़कर कोई श्रेष्ठ पद नहीं है।

शिलादपुत्र नन्दिकेश्वरके ऐसा कहनेपर मार्कण्डेयका चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। वे आश्चर्यचकित हो उठे। उन्होंने पुनः बार-बार प्रणाम करके नन्दीश्वरजीसे निवेदन किया—'प्रभो! मनुष्योंका कौन-कौन-सा कर्म कैसे-कैसे होता है और किस प्रकार वह नरककी प्राप्ति करानेवाला सुना जाता है? उन-उन कर्मोंका प्रतीकार (प्रायश्चित्त) कैसे होता है? यह सब आप मुझे बताइये।'

**नन्दिकेश्वर बोले**—मुने! इस संसारमें सात्त्विक पुरुष पुण्यशील होनेके कारण कल्याणको प्राप्त होता है। कर्म तीन प्रकारके हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। अतः विधाताने इन तमःप्रधान कर्मोंके उपभोगके लिये विचित्र-विचित्र नरकोंका भी निर्माण किया है। ब्रह्महत्याके पापसे मनुष्य मृत्युके पश्चात् गदहा, कुत्ता अथवा सूअर होकर फिर चाण्डाल होता है। शराब पीनेसे द्विज चिरकालतक नरकमें पड़े रहनेके पश्चात् कृमि, कीट एवं पतंगयोनिको प्राप्त होता है, अथवा कर्मकार (दास) होता है। ब्राह्मणके धनका अपहरण करनेसे मनुष्य ब्रह्मराक्षस होता है तथा जिस-जिस वस्तुकी वह चोरी करता है, दूसरे जन्ममें वह-वह वस्तु उसे नहीं प्राप्त होती। गुरुपत्नीगमन करनेवाला पुरुष चिरकालतक असिपत्र वनमें यातना भोगकर अन्तमें नपुंसक होता है। पर-स्त्रीगामी मनुष्य यमदूतोंद्वारा लोहेके तपाये हुए डंडोंसे पीटा जाता और कालसूत्र नामक नरकमें निवास करता है। आग लगानेवाला घोर नरकमें वास करता है, जहर देनेवाला सुघोर नरकमें, चुगलखोर महाघोर नरकमें और धर्मकी निन्दा करनेवाला अवीचि नरकमें पड़ता है। मित्रद्रोही कराल नामक नरकमें, हिंसक भीम नरकमें, छिपकर पाप करनेवाला संहार नरकमें, असत्यवादी भयानक नरकमें तथा पराये खेत और धन आदिका अपहरण करनेवाला मनुष्य असिघोर नरकमें निवास करता है। परद्रोहपरायण पुरुष वज्रमें, मांस-भक्षण करनेवाला द्विज तरलमें, माता-पितासे द्रोह करनेवाला तीक्ष्ण और जपकी निन्दा करनेवाला तापन नामक नरकमें पड़ता है। घोड़ेकी हत्या करनेवाला निरुच्छ्वासमें, गोहत्यारा दारुणमें, भ्रूण-हत्यारा चण्डमें और स्त्रीकी हत्या करनेवाला कूलक नरकमें वास करता है। देवसम्पत्तिका अपहरण करनेवाला दहनमें और पराया धन हरण करनेवाला घोर-घोर नरकमें पड़ता है। यमराजके दूत सभी पापियोंको नरकमें गिराते हैं, उन्हें रस्सियोंसे बाँधते हैं, डंडोंसे पीटते हैं और कीलोंसे छेदते हैं। तीखी चोंचवाले बगुले, गीध, भयंकर नेत्रोंवाले बड़े-बड़े सर्प, काले नाग, व्याघ्र तथा अन्य हिंसक जीव उन पापियोंको

डँसते हैं। शस्त्रोंसे काटकर टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं, देहको आगमें डालकर जलाते हैं, गहरे गड्ढेमें गाड़ते हैं, ऊपरसे कोड़ोंसे पीटते हैं, खौलते हुए तेलके कड़ाहेमें पकाते हैं तथा महीन सूइयोंसे छेद-छेदकर पीड़ा पहुँचाते हैं। यमदूत पापियोंसे ऐसे बड़े-बड़े भार ढुलवाते हैं, जिनको ढोना बहुत ही कठिन है। भगवान् विष्णुसे वैर करनेवाला मनुष्य गिरगिट और शिवद्रोही पुरुष मर्कट (वानर) होता है। इस प्रकार पापोंका फल जानकर उसकी शान्तिके लिये प्रायश्चित्त करना चाहिये। आस्तिक पुरुषोंको इस 'अरुण' क्षेत्रमें ही पापोंका भलीभाँति प्रायश्चित्त करना उचित है।

अब मैं पापपूर्ण चित्तवाले समस्त प्राणियोंकी शुद्धिके लिये विस्तारपूर्वक प्रायश्चित्तका वर्णन करता हूँ—ब्रह्मघाती मनुष्य अरुणाचलक्षेत्रमें जाकर कद्रूतीर्थमें गोता लगावे और भस्म एवं रुद्राक्ष धारण करके पंचाक्षरमन्त्रका जप करते हुए उपवास करे, मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर परमेश्वर भगवान् शिवकी पूजा करे और ब्राह्मणोंको भोजन करावे। तत्पश्चात् एक वर्षतक भिक्षाके अन्नपर निर्वाह करते हुए जितेन्द्रियभावसे वहाँ रहे और भगवान् अरुणाचलका भक्तिपूर्वक विशेष पूजन करे। ऐसा करनेवाला पुरुष ब्रह्महत्यासे मुक्त हो ब्रह्मलोकमें सम्मानित होता है। मदिरा पीनेवाला मनुष्य भी अरुणक्षेत्रमें एक वर्षतक विशुद्ध आचार-विचारसे रहे और महादेवजीकी पूजा करके शतरुद्रियका पाठ करते हुए उन्हें दूधसे नहलावे। ऐसा करनेपर वह मदिरापानजनित पापसे शीघ्र मुक्त हो जाता है। सुवर्णकी चोरी करनेवाला पातकी अरुणक्षेत्रमें महादेवजीकी बिल्वपत्रोंसे पूजा करके यदि ब्राह्मणोंको भोजन करावे तो उस दुस्तर पापसे छुटकारा पा जाता है। गुरुपत्नीगामी पुरुष अरुणाचलमें जाकर भक्तिपूर्वक व्रतका पालन करते हुए प्रतिदिन षडक्षर मन्त्रका जप करे तो उस पापसे मुक्त हो जाता है। परायी स्त्रीका अपहरण करनेवाला मनुष्य अरुणाचल-क्षेत्रमें जितेन्द्रियभावसे निवास करे और एक मासतक प्रतिदिन नये-नये फूलोंसे अरुण शिवकी पूजा करे तथा शक्तिके अनुसार धनका दान करे, तो वह तत्काल पापमुक्त हो जायगा। जहर देनेवाला मनुष्य भी अरुण-क्षेत्रमें पूर्वोक्त रीतिसे व्रतका पालन करते हुए निवास करे और महादेवजीको सब प्रकारके उपहार भेंट करे तो वह उस दोषसे छूट जाता है। चुगलीका पाप करनेवाला भी अरुण-क्षेत्रमें व्रती होकर वेदोक्त कर्ममें तत्पर रहते हुए यदि श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको पढ़ावे या पढ़नेमें सहायता करे तो वह पापरहित हो जाता है। स्त्री, बालक और गायकी हत्या करनेवाला पुरुष भी अरुण-क्षेत्रमें जाकर अपने पापका नाश करनेके लिये व्यतीपात-योगमें ब्राह्मणोंको तिल दान करे। छिपे पाप करनेवाला भी यदि अरुण-क्षेत्रमें इन्द्रियसंयमपूर्वक गुप्तदान करे तो निष्पाप हो जाता है। असत्यवादी मनुष्य अरुणक्षेत्रमें छः महीनेतक निवास करके प्रतिदिन अरुणाचलेश्वर-स्तोत्रका पाठ करनेसे पापरहित हो जाता है। घरका अपहरण करनेवाला मनुष्य नूतन शिवमन्दिर बनवा दे, तो शीघ्र ही पापसे मुक्त हो भगवान् शिवके सायुज्यको प्राप्त होता है। यदि किसी अभीष्ट वस्तुके लिये प्रार्थना करनी हो, तो पैदल चलकर ही भगवान् अरुणाचलकी प्रदक्षिणा करे; इससे वह शुभ अभीष्ट अनायास ही प्राप्त हो सकता है। छींक आनेपर, पाँव लड़खड़ानेपर, परवश होनेपर, बुरे सपने देखनेपर और प्रीतिकी अधिकता होनेपर भी विद्वान् पुरुषोंको भगवान् अरुण—शंकरका नामोच्चारण करना चाहिये। गया, प्रयाग, काशी, पुष्कर तथा सेतुबन्ध तीर्थमें मनुष्योंको जो पुण्य प्राप्त होता है, उससे भी अधिक पुण्य इस अरुण-क्षेत्रमें मिलता है। अरुण-क्षेत्रके समीप किये हुए शास्त्रोक्त सोलह दान द्विगुण फल देनेवाले होते हैं।

# अरुणाचलेश्वरकी पूजा, शिवजीके द्वारा सृष्टिका प्रादुर्भाव तथा विष्णुके द्वारा भगवान् शंकरकी स्तुति

**नन्दिकेश्वरजी कहते हैं**—षडक्षर मन्त्रके द्वारा दहीसे और प्रणवद्वारा दूधसे भगवान् शिवको स्नान कराना चाहिये। विषुव-योगमें तथा अयनारम्भके दिन अरुणाचलनाथको प्रातःकाल भक्तिपूर्वक तुलसी निवेदन करना चाहिये। दोपहरको अमलतास और तीसरे पहरमें वेलाका पुष्प चढ़ाना अरुणाचलेश्वरके लिये उत्तम माना गया है। अघोर मन्त्रद्वारा एक हजार कलशोंके जलसे उन्हें स्नान कराना चाहिये। शिवरात्रिमें शतरुद्रियका पाठ करके बिल्वपत्रोंके द्वारा अरुणाचलेश्वरकी विशेष पूजा करनी चाहिये। रात्रिको जागरण करते हुए जितेन्द्रिय होकर कमल और कनेरके फूलोंसे तथा गीत, वाद्य और नृत्यके द्वारा दिव्य आगमोक्त विधिसे मोक्षके लिये अरुणाचलवासी महेश्वरकी पूजा करनी चाहिये। भक्तिमान् पुरुष अपने जन्म-नक्षत्रके दिन तथा सम्पत्ति, विपत्ति और भयका अवसर आनेपर भगवान् अरुणाचलनाथकी विशेष पूजा करे। प्रवेश और यात्राके समय भी अरुणेश्वरकी पूजा करनी चाहिये। यदि इस क्षेत्रमें स्थित होकर तीनों समय शिवजीकी पूजा करे, तो भुजा उठाकर डंकेकी चोट यह कहा जा सकता है कि स्वर्ग और मोक्षके लिये अरुणाचल-क्षेत्रसे बढ़कर दूसरा कोई स्थान नहीं है। 'अरुणक्षेत्र' अपना स्मरण करनेसे मनको, श्रवण करनेसे दोनों कानोंको, दर्शन करनेसे दोनों नेत्रोंको तथा नामोच्चारण करनेसे जिह्वाको तत्काल पवित्र कर देता है। इस महाक्षेत्रमें जन्म प्राप्त होनेपर देहधारी जीव जीते-जी भोग और मरनेपर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

मुने! पूर्वकालमें देव-कल्पके आदिमें विकल्प-शून्य भगवान् शिवने स्वेच्छासे ही सम्पूर्ण विश्वको उत्पन्न किया। उत्पन्न हुए विश्वकी सृष्टि-परम्परा चालू रखने तथा सर्वदा इसकी रक्षा करनेके लिये भगवान् त्रिलोचनने अपने दाहिने अंगसे ब्रह्मा और बायें अंगसे विष्णुको प्रकट किया। तत्पश्चात् ब्रह्माको रजोगुणसे और विष्णुको सत्त्वगुणसे युक्त किया। फिर देवाधिदेव महादेवसे प्रेरित होकर वे दोनों देवता सृष्टि एवं रक्षाके कार्यमें संलग्न हो सम्पूर्ण जगत्का शासन करने लगे। तदनन्तर ब्रह्माजीने मरीचि आदि दस पुत्रोंको अपने मनःसंकल्पसे तथा दक्षको दाहिने अँगूठेसे उत्पन्न किया। फिर मुखसे ब्राह्मणों, दोनों बाहोंसे क्षत्रियों, दोनों ऊरुओंसे वैश्यों और दोनों चरणोंसे शूद्रोंको प्रकट किया। मरीचिनन्दन कश्यपसे देवता और असुर उत्पन्न हुए। मरुत्, नाग, यक्ष, गन्धर्व तथा अप्सराओंका जन्म भी उन्हींसे हुआ। इसी प्रकार मनु भी ब्रह्माजीसे उत्पन्न हुए, जिनकी यह मानव-सन्तान आजतक चल रही है। महर्षि अत्रिसे ऋषिवंश तथा क्षत्रियोंका विविध कुल उत्पन्न हुआ। पुलस्त्य और पुलहसे यक्ष एवं राक्षस हुए। अंगिरा-मुनिसे उत्तथ्य और बृहस्पति आदिका जन्म हुआ। भृगुसे अग्निकी उत्पत्ति हुई तथा च्यवन आदि महर्षि भी उन्हींसे उत्पन्न हुए। वसिष्ठ आदि अन्य ब्रह्मर्षियोंसे भी बहुत-से महर्षियोंका जन्म हुआ। जिनके पुत्र-पौत्रोंसे यह सम्पूर्ण जगत् भरा हुआ है। इस प्रकार ब्रह्माजीने अपनी सन्तानोंसे इस जगत्को पूर्ण किया है।

एक समय भगवान् विष्णुने भगवान् शंकरका इस प्रकार स्तवन किया—'पृथ्वीरूप शरीरवाले महादेव! आपकी जय हो। जलरूपधारी शंकर! आपकी जय हो। सूर्यका रूप धारण करनेवाले शिव! चन्द्रमाकी आकृति धारण करनेवाले रुद्रदेव! आपकी जय हो। अग्निरूप महेश्वर! पवनरूपधारी परमेश्वर! यजमान-मूर्तिधारी शिव! आपकी जय हो। आकाशस्वरूप महेश्वर! त्रिगुणातीत परमेश्वर!

कालस्वरूप मृत्युंजय! मेरी रक्षा कीजिये। अक्षय ऐश्वर्यसे सम्पन्न महादेव! करुणानिधान! मेरी रक्षा कीजिये। आप सम्पूर्ण जगत्के स्रष्टा और समस्त देहधारियोंके रक्षक हैं, सब भूतोंका संहार करनेवाला भी आपके सिवा दूसरा कौन है? आप सूक्ष्म वस्तुओंमें सबसे अधिक सूक्ष्म (परमाणु) हैं और महान् पदार्थोंमें सबसे महान् भी आप ही हैं। आप ही इस जगत्के बाहर और भीतर व्याप्त होकर विराज रहे हैं। सम्पूर्ण वेद आपके निःश्वास हैं। यह सारा विश्व आपके शिल्पकर्मकी विभूति है। प्रभो! सब कुछ आपका ही है; मुझे ज्ञान दीजिये। देवता, दानव, दैत्य, सिद्ध, विद्याधर, मनुष्य, पशु-पक्षी, पर्वत और वृक्ष भी आप ही हैं। स्वर्ग, अपवर्ग, ॐकार और यज्ञ भी आप ही हैं; आप ही योग तथा पराशक्ति हैं। महेश्वर! ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो आप नहीं हैं? स्थावर, जंगम सभी प्राणियोंके आदि, मध्य और अन्त भी आप ही हैं। आप ही कालरूप होकर सम्पूर्ण जगत्को अपना ग्रास बनाते हैं। आप ही परात्पर परमेश्वर, सबपर शासन करनेवाले तथा सबपर दया दिखानेवाले शिव हैं। वे भगवान् शंकर किस प्रकार मुझे प्रत्यक्ष दर्शन देंगे, जिनका दर्शन पाकर शरणागत भक्त परम कल्याणको प्राप्त होता है। अथवा अपनी बुद्धिके अनुसार मैं उन विश्व-विधाताकी स्तुति करता हूँ।'

देव! महादेव! वामदेव! वृषध्वज! आपकी जय हो! आप कालके भी काल हैं; आपने दक्षके यज्ञका विध्वंस किया है। नीलकण्ठ! चन्द्रशेखर! आपकी जय हो। शम्भो! शिव! ईशान! शर्व! त्र्यम्बक! धूर्जटे! आपकी जय हो। आप कामके शत्रु हैं। आपने त्रिपुरासुरका विनाश किया है। आप स्थिर होनेसे स्थाणु, उद्भव-हेतु होनेसे भव तथा महान् ईश्वर होनेसे महेश्वर कहलाते हैं। ईश! आपकी जय हो। खण्डपरशो! शूलिन्! पशुपते! हर! सर्वज्ञ! भर्ग! भूतनाथ! कपालिन्! नीललोहित! आपकी जय हो। रुद्र! यज्ञविनाशन! पिनाकपाणे! प्रमथाधिप! गंगाधर! व्योमकेश! गिरीश! परमेश्वर! आपकी जय हो। भीम! मृगव्याध! कृत्तिवासा! कृपानिधे! आपकी जय हो। प्रभो! अग्नि आपका बीज है, आप कैलासपर सदा ही निवास करते हैं, आपहीकी आज्ञासे वायु चलती है और शेषनाग पृथ्वीका भार ढोते हैं। शर्व! आपहीके शासनसे सूर्य और चन्द्रमा प्रकाशित होते हैं, समूचा ब्रह्माण्ड समुद्रमें तैरता रहता है और ग्रह-नक्षत्र आकाशमें विचरण करते हैं। आपके ही आदेशसे मैं और ब्रह्मा पालन तथा सृष्टिके कार्यमें समर्थ होते हैं और कल्पके अन्तमें मैं निद्रा त्यागकर पृथ्वीका पालन करता हूँ। आपका आदि और अन्त नहीं मिला; यह आपकी महिमा ही है। अणिमा, महिमा आदि महासिद्धियोंके कारण आपका वैभव असाधारण है। आप अन्य सब देवताओंसे श्रेष्ठ हैं। शंकर! मैं किस प्रकार आपकी स्तुति करूँ? सम्पत्तिमें तो हम आपको भूल जाते हैं और विपत्तिमें स्मरण करते हैं। भक्तोंपर आपको कभी क्रोध नहीं आता; सदा ही उनपर कृपा और प्रसन्नता बनी रहती है। जब आप अपनी भक्ति प्रदान करते हैं, तब बोध प्राप्त होता है और उससे मोक्ष मिलता है।'

## शिव-पार्वतीके दाम्पत्य-जीवनकी एक झाँकी, पार्वतीकी अरुणाचल क्षेत्रमें तपस्या और दुर्गादेवीके द्वारा शुम्भ, निशुम्भ और महिषासुरका वध

**मार्कण्डेयजीने पूछा**—भगवन्! महादेवी गौरीने अरुणाचल-तीर्थमें किस प्रकार तपस्या की है, यह बताइये।

**नन्दिकेश्वरने कहा**—महामते मार्कण्डेय! मुझे

जैसा मालूम है, वैसा बता रहा हूँ, तुम सावधान होकर सुनो। यह तो तुम जानते ही हो कि पूर्वकालमें भगवान् शिवने दक्ष-कन्या सतीके साथ विवाह किया था और सती उन्हें बहुत प्यारी थीं। फिर जब उनके पिता दक्षप्रजापतिने उन्हींके पति भगवान् शंकरसे द्रोह किया, तब उन्होंने किस प्रकार क्रोधमें आकर योग-शक्तिसे अपने शरीरका त्याग कर दिया; यह बात भी तुमने सुनी ही होगी। उस समय भगवान् शिवकी आज्ञासे वीरभद्रने जो दक्ष-यज्ञका विध्वंस किया था, वह महान् इतिहास भी तुम्हें ज्ञात ही होगा। तदनन्तर देवी सतीने पुनः गिरिराज हिमवान्‌के घरमें जन्म लिया, उस समय उनका नाम उमा और पार्वती पड़ा। कुछ समय बाद देवी पार्वती स्थाणुवनमें भगवान् शिवकी एकान्त सेवा करने लगीं, परंतु महादेवजीने उनकी ओर रुचि नहीं की और कामदेवको कालाग्निसे भस्म कर दिया। तब अपने प्रियगणोंके साथ कहीं एकान्तवास करनेवाले जितेन्द्रिय महादेवजीको गौरीदेवीने वनवासिनी हो तपस्याके द्वारा सन्तुष्ट किया। तत्पश्चात् उनके साथ विवाह करके महादेवजीने उमाके साथ एकान्तमें प्रसन्नतापूर्वक रमण किया।

उन्हीं दिनों शुम्भ और निशुम्भ नामक दो दैत्योंने ब्रह्माजीसे यह वरदान प्राप्त किया कि देवता, दानव और मनुष्योंमें किसी भी पुरुषसे मेरी मृत्यु न हो। उसके इस वचनको सुनकर सब देवता थर्रा उठे, तब विष्णु आदिने महादेवजीसे प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना सुनकर महादेवजी बोले—'भय न करो, समयानुसार ऐसा प्रयत्न किया जायगा, जिससे वे दोनों दानव मारे जायँ।' यों कहकर भगवान् शिवने देवताओंको विदा कर दिया और स्वयं पार्वतीदेवीके साथ प्रसन्नतापूर्वक रहने लगे। पार्वतीजीका रंग साँवला था। उन्होंने शंकरजीकी प्रसन्नताके लिये अपनी उस काली चमड़ीको उतार फेंका। जहाँ वह चमड़ी फेंकी गयी, वहाँ 'महाकाली-प्रपात' नामक उत्तम क्षेत्र बन गया और काली कौशिकी-नामसे प्रसिद्ध हो, विन्ध्याचल पर्वतपर रहकर तपस्या करने लगीं। वहीं उन्होंने अपने प्रति आसक्त होनेवाले शुम्भ-निशुम्भ नामक दोनों महादैत्योंको मार डाला। फिर वहीं परम मनोहर गौरीशिखरपर तपस्यासे गौर वर्ण प्राप्त करके देवीने अपने (आदिस्वरूपमें स्थित होकर) पतिको सन्तुष्ट किया। पुनः क्रमशः गर्भवती होकर पार्वतीने गणेश तथा छः मुखोंवाले सेनानी—इन दो पुत्रोंको जन्म दिया। बालकोंको बढ़ते हुए देखकर माता-पिता हर्षके समुद्रमें मग्न हुए-से रहते थे और पुत्रोंके प्रति उनका प्रेम अत्यन्त पुष्ट हो रहा था। भगवान् शिव और पार्वती कभी वीणा बजाते और कभी दिव्य शास्त्रोंकी चर्चा करते। कभी मैनाक, कभी मेना और कभी हिमवान् इन दोनों दम्पतिकी पूजा किया करते थे। इस प्रकार चराचर जगत्‌के माता-पिता शिव-पार्वतीने मेरु आदि पर्वतोंपर निवास करके दीर्घकालतक एक-दूसरेके साथ अत्यन्त सुखका अनुभव किया।

एक समयकी बात है, गिरिराजकुमारी पार्वतीने अरुणाचल पर्वतके समीप जाकर किसी आश्रमको देखा। वहाँ कौवे और उल्लू, शुक और श्येन (बाज), मृग और व्याघ्र, हाथी और सिंह, मोर तथा सर्प और चूहे तथा बिल्लियोंने परस्पर मित्रता स्थापित कर ली थी* तथा वृक्षोंके बीचसे निकलती हुई अत्यन्त पवित्र धूमराशि जहाँ होम किये हुए पुरोडाशकी सुगन्ध फैला रही थी। उस आश्रमपर एक ऋषिश्रेष्ठ दिखायी दिये, जो हाथके अग्रभागसे

* काकोलूकैः शुकश्येनैर्मृगव्याघ्रैर्हरिद्विपैः। कलापिसर्पैर्यत्राखुमार्जारैः सौहृदं श्रितम्॥
(स्क० पु०, मा० अ० ख० उ० वें० प्र० १८। २९)

रुद्राक्षकी माला जप रहे थे। वहाँ पहुँचकर पार्वतीने

तपोधनसे पूछा—'तुम कौन हो? तथा यह श्रेष्ठ पर्वत कौन है? जहाँ तुम तपस्या करते हो?' वे बोले—'देवि! यह अरुणाचल पर्वत है, जो समस्त पुण्य-क्षेत्रोंमें सम्मानित है। मैं गौतम नामक मुनि हूँ और तपस्याद्वारा भगवान् शिवकी आराधना करता हूँ।' यों कहकर तथा विजया आदि सखियोंके मुँहसे पार्वतीजीका परिचय पाकर उन्होंने बड़ी भक्तिसे देवीको प्रणाम किया और अपनी पर्णशालामें ले जाकर कन्द-मूल और फल आदिके द्वारा उनका आतिथ्य-सत्कार किया। मुनिने सम्पूर्ण जगत्के मंगलकी मूलभूता तपस्याके लिये अनुमति दी और ज्योतिस्तम्भके प्रादुर्भावसे लेकर अरुणाचलकी समस्त महिमाका यथाशक्ति वर्णन किया। साथ ही यह भी बताया कि मैं यहीं भगवान् त्रिलोचनकी स्थापना करके पवित्र चित्तसे तपस्याके द्वारा यथाशक्ति उनकी आराधना करता हूँ। देवि! मेरे आश्रमके समीप यह बड़ा भारी पुण्यक्षेत्र है, यहाँ आश्रम बनाइये और चिरकालतक तपस्या कीजिये।

मुनिके इस प्रकार आदेश देनेपर पार्वतीने आश्रम बनाना स्वीकार किया और बड़ी भारी तपस्या करनेके लिये उद्योग किया। अन्यान्य जीवोंसे आश्रमकी रक्षा करनेके लिये वनवासिनी उमाने सुभगा और धुन्धुमारीको पूर्व आदि दिशाओंमें स्थापित किया। फिर सम्पूर्ण तपोवनकी रक्षा करनेके लिये उन्होंने उन दुर्गाजीको आदेश दिया जिनका प्रयत्न कभी प्रतिहत नहीं होता तथा जो पार्वतीजीकी आज्ञा निबाहनेमें समर्थ हैं। तत्पश्चात् उमाने मन्दारके फूल गूँथनेयोग्य अपनी वेणीको खोलकर उसे तपस्याके लिये जटाभारके रूपमें परिणत कर दिया। हंसछाप किनारेकी हलकी साड़ीको उतारकर कठोर वल्कल पहन लिया। उन्होंने कुश और बिल्वपत्र तोड़े तथा सबेरे पवित्र नदीमें स्नान करके रक्त चन्दनमिश्रित जल और फूलसे सूर्यनारायणको विधिपूर्वक अर्घ्य दिया। उसके बाद प्रदक्षिणा करके सहस्रों बार प्रणाम किया। फिर स्वयं ही शास्त्रोक्त विधिसे शिवलिंगकी स्थापना करके उसकी विधिपूर्वक पूजा की। पाद्य और अर्घ्य निवेदन करके भगवान्का अभिषेक किया। चन्दन और पुष्प चढ़ाये तथा धूप और दीप अर्पण किये। तत्पश्चात् पंचोपचारोंसे पुनः भगवान् शिवके हृदयादि छः अंगोंका पूजन किया। इस प्रकार एक दिनका पूजन पूर्ण करके प्रतिदिन वे इसी प्रकार प्रदक्षिणा और प्रणाम आदिके सहित शिवजीकी पूजा करने लगीं। शिवशास्त्रोंमें बतायी हुई विधिके अनुसार सौभाग्यदायक द्रव्योंसे पूजाके अन्तमें प्रज्वलित अग्निके भीतर वे आहुति देती थीं। कन्द, मूल, फल आदि समस्त उपचारोंका संग्रह करके वे उनके द्वारा अतिथियोंका सत्कार करती थीं। ग्रीष्म ऋतुमें पाँच प्रदीप्त अग्नियोंके मध्य अँगूठेके बलपर खड़ी रहती थीं। सर्दीमें सरोवरके भीतर खड़ी हो, चन्द्रमाकी सुधामयी किरणोंसे पुष्ट होती थीं। वर्षाकी रात्रियोंमें अन्धकारके भीतर स्थिरभावसे खड़ी हुई पार्वती ऐसी दिखायी देती थीं मानो वर्षाकी धाराओं और बादलोंके साथ बिजली ही प्रकाशित हो रही हो। अपने

मनोरथकी सिद्धिके लिये वे सखियोंके साथ अरुणाचलकी प्रदक्षिणा करती थीं। पंचाक्षरका जप, शिवजीके स्तोत्रोंका पाठ तथा मनके द्वारा अरुणाचल पर्वतरूपी महादेवजीका ध्यान तथा साष्टांग प्रणाम करना उनका नित्यका नियम था। इस प्रकार उन्होंने दीर्घकालतक तपस्या की।

इसी बीचमें देवताओंकी अवहेलना तथा इन्द्रके वैभवका विध्वंस करनेवाले महिषासुरने कहींसे यह सुनकर कि अरुणाचलमें पार्वती रहती हैं, उन्हें देखनेके लिये किसी दूतीको भेजा। वह वरदानके प्रभावसे सम्पूर्ण शस्त्रोंद्वारा अवध्य हो गया था। वह पापी धर्ममार्गका नाशक तथा मुनिपत्नियोंको भी कलंकित करनेवाला था। बल, पुलोमा, नमुचि तथा वृत्रासुरसे भी उसमें अधिक बल था। उसकी भेजी हुई दूती तपस्विनीका रूप धारण करके पार्वतीके पास आयी और सखियोंके सामने ही अनुनय-विनयके साथ इस प्रकार बोली—'सुन्दरी! तुम इस भयंकर स्थानमें क्यों निवास करती हो? तुम्हें यहाँ देखकर मुझे खेद होता है। तुम तो मनोहर अन्तःपुरके महलोंमें विहार करनेयोग्य हो। तुमने अपने चित्तको भोगोंकी ओरसे हटाकर किसलिये ऐसी तपस्यामें लगा रखा है, जो देवताओंके लिये भी दुष्कर है? भाग्यवश तपस्वी शिवकी पूजा तो तुमने पहले ही कर ली है, तुम्हारे योग्य देवताओंमें दूसरा कोई नहीं है। किंतु इस त्रिभुवनके स्वामी दानवराज महिष अवश्य तुम्हारे योग्य हैं। सुभ्रु! यदि तुम उन्हें देख लोगी तो क्षणभरमें इस तपस्याका त्याग कर दोगी। वे सबके स्वामी महाराज महिषासुर तुम्हें यहाँ आयी हुई सुनकर कामवेदनासे व्याकुल हो उठे हैं, उन्होंने तुम्हें बुला लानेके लिये मुझ दूतीको यहाँ भेजा है।'

इस प्रकार वह दूती जब अत्यन्त विरुद्ध और अनाप-शनाप वाक्य बोलने लगी, तब देवी पार्वतीकी मानसिक अवस्थाको जानकर उनकी सखी विजयाने उसे आश्रमके बाहर निकाल दिया। तब उसने अपना दैत्यरूप प्रकट करके अत्यन्त रोषके साथ पार्वतीको ले जानेकी प्रतिज्ञा की और घर जाकर महिषासुरको सब समाचारोंसे अवगत कराया। वह भी वहाँकी सब बातें सुनकर क्रोधसे जल उठा और अत्यन्त लाल आँखें करके करोड़ों दैत्योंके साथ पार्वती देवीको पकड़ ले जानेके लिये आया। रथ, हाथी, घोड़े और पैदल—इस चतुरंगिणी सेनाके द्वारा उसने पृथ्वीको और रथके ध्वजोंसे आकाशको आच्छादित कर दिया। दैत्योंके पदाघातसे पृथ्वी फटने लगी। कराल, दुर्धर, विचष्णु, विकराल, वाष्कल, दुर्मुख, चण्ड, प्रचण्ड, अमरासुर, महाहनु, महामौलि, उग्रास्वि, विकटेक्षण, ज्वालास्य और दहन—ये सेनापति भी युद्धके लिये प्रस्थित हुए। यह कोलाहल सुनकर पार्वती देवीने अपनी तपस्यामें विघ्न पड़नेकी आशंकासे दुर्गादेवीको दैत्योंके संहारके लिये आदेश दिया। दुर्गादेवी अरुणाचलकी एकान्त गुफामें सिंहपर आरूढ़ हुईं और अपने हाथोंमें प्रदीप्त अस्त्र धारण करके कालिकाकी भाँति पृथ्वीपर आयीं। उन्होंने मेघकी गम्भीर गर्जनाके समान बड़ा भयंकर सिंहनाद किया। पार्वतीका प्रिय तथा दैत्योंका संहार करनेके लिये

दुर्गादेवीके अंगोंसे योगिनियोंकी मण्डली तथा सहस्रों रोषमें भरी हुई मातृकाएँ प्रकट हुईं। उन सबकी कान्ति कमलके समान थी, उन्होंने व्याघ्रपर सवार हो रणके लिये प्रस्थान किया। उनके साथ घर्घर शब्द करनेवाले बहुत-से गण तथा अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाली करोड़ों मातृकाएँ भी चलीं। चन्द्रमाके समान गौर वर्णवाली उन मातृकाओंने आश्रमके बाहर पहुँचकर हठपूर्वक चौसठ करोड़ दैत्योंको घेर लिया। तदनन्तर योगिनीमण्डल तथा दानवसेनामें परस्पर घोर युद्ध होने लगा, जो समस्त प्राणियोंके लिये भयंकर था। योगिनियोंके छोड़े हुए बाणोंसे दैत्योंके मस्तक कट-कटकर पृथ्वीको इस प्रकार आच्छादित करने लगे, मानो वे स्थलसे ही उत्पन्न हुए हैं। थोड़ी ही देरमें रक्तकी नदियाँ बह चलीं। कुछ दैत्य डंडोंसे, कुछ शूलोंसे, कुछ शक्तियोंसे, कुछ वज्रोंसे और कुछ योगिनियोंकी तलवारोंसे मौतके घाट उतारे गये। इस प्रकार मारे हुए दानवेश्वर बिना सेनापतिके सैनिकोंकी भाँति सर्वथा नष्ट हो गये। चामुण्डाने चक्रके अग्रभागसे चण्ड-मुण्डके मस्तक काट डाले, इन्हीं दोनों दैत्योंका संहार करनेसे इनका यह (चामुण्डा) नाम प्रसिद्ध हुआ। तब महिषासुरने क्रोधमें भरकर युद्ध करनेके लिये देवीपर आक्रमण किया। उस समय प्रचण्ड, चामर, महामौलि, महाहनु, उग्रास्य, विकटाक्ष, ज्वालास्य तथा दहन भी उसके पीछे-पीछे चले। ठीक वैसे ही, जैसे कालनेमि आदि असुर विप्रचित्तिके पीछे चलते हैं। वे सभी शिरस्त्राण (टोप) धारण किये, रथपर बैठे, तरकस बाँधे और धनुष लिये युद्ध-भूमिमें पहुँचे। दैत्य बाणोंकी वर्षा करते हुए मातृमण्डलकी ओर दौड़े। उस समय वे मातृकाएँ देवीकी इस प्रकार स्तुति करने लगीं—

'देवि! आप ही ब्रह्माकी सृष्टिशक्ति, विष्णुकी पालनशक्ति तथा रुद्रकी संहारशक्ति कही जाती हैं। आप ही यशोदा और नन्दसे उत्पन्न हुई देवी हैं, जो एका और अनंशाके नामसे प्रसिद्ध हैं। आप ही कंस आदि असुरोंका संहार करनेके कार्यमें भगवान् विष्णुकी सहायता करेंगी। देवि! दुर्गे! आप ही महामाया, लक्ष्मी, सरस्वती तथा पार्वती हैं।'

इस स्तोत्रसे सन्तुष्ट होकर दुर्गादेवीने मातृकाओंको अभयदान दिया और स्वयं महिषासुरसे युद्ध करनेके लिये निकलीं। उन्होंने हलके अग्रभागसे प्रचण्डको, भिन्दिपालसे चामरको, छुरीसे महामौलिको, कृपाणसे महाहनुको, कुठारसे उग्रवक्त्रको, शक्तिसे विकटाक्षको, मुद्गरसे ज्वालामुखको और मुसलसे दहनको मार गिराया। फिर महिषासुरके सामने स्वयं ही रोषपूर्वक युद्ध करती हुई देवीने बड़ा भयंकर सिंहनाद किया। उस समय वे मन-ही-मन प्रसन्न थीं। देवीका सिंहनाद सुनकर महिषासुरको बड़ा क्रोध हुआ। उसने बाणोंसे दुर्गाजीके तालू और नेत्रोंपर प्रहार किया। तब दुर्गाने भी कुपित होकर उस असुरेश्वरकी दोनों बाहों, छाती और मुखमें जलती हुई धारवाले बाणोंसे प्रहार किया। यह देख दैत्यने तीन बाणोंसे दुर्गाके मुखको बींध डाला, पाँच-पाँच बाणोंसे उनकी दोनों भुजाओंमें और दो-दो बाणोंसे दोनों नेत्रोंमें आघात किया। फिर दुर्गाने भी एक बाणसे दैत्यके सारथिको और आठ बाणोंसे घोड़ोंको मार डाला। तीन बाणोंसे उसके धनुषको और चार सायकोंसे रथकी ध्वजाको भी काट गिराया। तब दैत्यराज महिषने पैदल होकर दुर्गाजीके ऊपर सब ओरसे प्रज्वलित एक शतघ्नी चलायी, जो कालदण्डके समान भयंकर थी। देवता हाहाकार कर उठे, मातृकाएँ भाग खड़ी हुईं; परंतु दुर्गाने अपनी ओर आती हुई उस शतघ्नीको लीलापूर्वक पकड़ लिया। तब प्रलयकालीन मेघके समान महिषासुरने एकके बाद एक करके धनुष, पाश, भुशुण्डी, तलवार, कील, शक्ति, गदा, चक्र, तोमर, फलक, अंकुश, फरसा, भिन्दिपाल, पट्टिश और दण्ड आदि अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा की, परंतु शत्रुके चलाये

हुए उन सभी आयुधोंको अपने पास आते ही दुर्गादेवी हाथसे पकड़ लेतीं और जैसे हथिनी कमलकी नालको अनायास ही तोड़ डालती है, उसी प्रकार वे उनके टुकड़े-टुकड़े कर डालती थीं। महिषासुर क्षणमें सिंह, क्षणमें वाराह, क्षणमें व्याघ्र, क्षणमें हाथी तथा क्षणमें भैंसा होकर दुर्गाजीसे युद्ध कर रहा था। उसने अत्यन्त रोषमें भरकर अपने तीखे सींगोंसे दुर्गादेवी और उनके सिंहको भी बार-बार घायल किया। वह क्षणमें आकाशमें चला जाता, क्षणमें पृथ्वीपर उतर आता, क्षणमें चारों दिशाओंमें घूम आता और क्षणमें गर्जना करने लगता था।

इसी समय दानवराज महिष अपने असली रूपमें देवीके सामने आया। तब दुर्गाने तलवारसे ही उसके मस्तकको काट डाला और उस कटे हुए मस्तकको हाथमें लेकर वे रणभूमिमें नृत्य करने लगीं। इस प्रकार दुर्गादेवीके द्वारा समस्त भुवनोंके कण्टकरूप महिषासुरके मारे जानेपर देवता हर्षसे नाचने लगे, महर्षि अत्यन्त प्रसन्न हो गये और मेघोंने दिव्य पुष्पोंकी वर्षा की।

## खड्गतीर्थकी उत्पत्ति, ज्योतिदर्शन, पार्वतीपर अरुणाचलेश्वरकी कृपा तथा भगवान् शिवका वरदान

**मार्कण्डेयजी बोले**—प्रभो! इस प्रकार भद्रकालीद्वारा महिषासुरके मारे जानेपर तपस्यामें लगी हुई गिरिराजनन्दिनी पार्वतीने क्या किया?

**नन्दिकेश्वरने कहा**—मुने! तदनन्तर दुर्गादेवीने एक हाथमें दैत्यका मस्तक लिये दूसरे खड्गयुक्त हाथसे गौरीदेवीको प्रणाम किया। हर्षसे नृत्य करती हुई दुर्गाको दयार्द्रदृष्टिसे देखकर पार्वतीने अपने दाँतोंकी किरणोंसे आकाशमें प्रकाश बिखेरते हुए उनसे इस प्रकार कहा—'विन्ध्यवासिनि! तुमने अत्यन्त दुष्कर पराक्रम किया है। तुम्हारे प्रभावसे मेरी तपस्याका विघ्न दूर हो गया। देवि! तुम्हारा चरित्र सम्पूर्ण जगत्में पवित्र है। तुमने अपने हाथमें जो यह महिषासुरका अपवित्र एवं भयंकर मस्तक ले रखा है, उसे त्याग दो और एक नूतन पापनाशक तीर्थ उत्पन्न करो, जिसमें स्नान करनेसे पापका प्रायश्चित्त होगा।' गौरीदेवीके यों कहनेपर पापकी आशंकावाली सामर्थ्यशालिनी दुर्गाने अपनी तलवारसे एक शिलाखण्डको विदीर्ण किया। वह पत्थर पातालतक छिद्रयुक्त हो गया। फिर वहाँसे अत्यन्त निर्मल, परम पवित्र, तरंगयुक्त जल ऊपरकी ओर उठा। उस पावन एवं गम्भीर जलमें दुर्गादेवीने **'नमः शोणाद्रिनाथाय'** इस उत्तम मन्त्रका उच्चारण करके गोता लगाया। इतनेहीमें महिषासुरके कण्ठमें स्थित शिवलिंग उसमेंसे खिसककर जलके किनारे स्वयं प्रतिष्ठित हो गया और 'पापनाशन' नामसे प्रसिद्ध हुआ। तत्पश्चात् तीर्थके जलसे समस्त पाप धुल जानेपर दुर्गादेवी बाहर निकलीं। फिर उनके हाथसे महिषासुरका मस्तक नीचे गिर पड़ा।

तदनन्तर कार्तिककी पूर्णिमाको रात्रिमें अरुणाचलके शिखरपर कोई अपूर्व ज्योति दिखायी दी।

ईंधन, तेल और रूईकी बत्तीके बिना ही जलते हुए उस महाप्रदीपको देखकर पार्वतीको बड़ा विस्मय हुआ। वे प्रदक्षिणा करके पग-पगपर अरुणाचलनाथको प्रणाम करती हुई इस प्रकार स्तुति करने लगीं—'मेरुगिरिपर निवास करनेवाले आप कैलासवासी भगवान् शिवको नमस्कार है। हिमाचलके जामाता, अरुणाचलरूपधारी आपको प्रणाम है। वरुण आदि देवताओंके पूजनीय, मध्याह्नकालीन सूर्यके समान तेजस्वी, करुणामूर्ति अरुणाचलनाथको नमस्कार है। भगवन्! आपका मस्तक जाह्नवी गंगा तथा चन्द्रमाकी कलासे सुशोभित है; आप भगवान् शिवकी जय हो। मायासे नारायणस्वरूप धारण करके भाँति-भाँतिकी लीलाएँ करनेमें परम प्रवीण महादेव! अपने आनन्दसे ताण्डव नृत्य करनेवाले शम्भो! शिव! ईशान! देवता, गन्धर्व, सिद्ध और विद्याधरोंसे पूजित होनेवाले प्रभो! गणेशके जन्मदाता आपकी जय हो। छः मुखोंवाले कार्तिकेयपर अत्यन्त स्नेह रखनेवाले शिव! आपकी जय हो। हिमवान्‌कुमारी पार्वतीके प्रार्थनीय पतिदेव! प्रभो! राजाओंको भी आपका दर्शन दुर्लभ है; आपकी जय हो।'

इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक स्तुति करके उस ज्योतिमें नेत्र लगाये रखनेवाली देवी पार्वतीको देखकर उनपर दया करनेके व्याजसे भगवान् वृषभध्वज अन्तर्धान हो गये और पुनः अपने अत्यन्त सुन्दर रूपको प्रकट करके दिव्य वृषभपर आरूढ़ हो कल्याणमयी पार्वतीको सान्त्वना देनेके लिये उद्यत हुए। महादेवजीको अपने समीप आया देख उमादेवी आनन्दमें निमग्न हो गयीं। उन्होंने चिरकालसे प्राप्त प्रियतमके वियोगजनित दुःखको भुला दिया। उनके शरीरमें रोमांच हो आया, मुखपर पसीना छा गया। उन्होंने काँपते-काँपते पतिदेवके चरणोंकी अंगुलियोंपर दृष्टिपात किया। तब भगवान् शिव वृषभसे उतरकर उनका हाथ अपने हाथमें ले मुसकराते हुए मुखारविन्दसे प्रेमपूर्वक बोले—'देवि! क्यों अकारण अपने चित्तको व्याकुल कर रही हो? क्या तुम नहीं जानती—चन्द्रमा और चाँदनीकी भाँति हम दोनों सदा एक-दूसरेसे अभिन्न हैं? मैं नारायण हूँ, तुम लक्ष्मी हो; मैं ब्रह्मा हूँ, तुम सरस्वती हो; मैं शेषनाग हूँ, तुम वारुणी हो; मैं चन्द्रमा हूँ और तुम रोहिणी हो; तुम स्वाहा, मैं अग्नि; तुम सुवर्चला, मैं सूर्य; तुम शची, मैं इन्द्र; तुम रति, मैं काम; तुम बुद्धि, मैं राजराज; तुम शिवा, मैं समीर; तुम लहर, मैं समुद्र तथा तुम प्रकृति और मैं पुरुष हूँ। तुम विद्या हो और मैं तुम्हारे द्वारा जाननेयोग्य तत्त्व हूँ। तुम वाणी हो, मैं अर्थ हूँ। पार्वती! मैं ईश्वर हूँ और तुम्हीं मेरी शक्ति हो। सृष्टि, पालन और संहारके कार्यमें सदा अनुग्रह रखनेवाली ईश्वरी! तुम्हें अन्य साधारण जनोंकी भाँति मुझमें और अपनेमें भेद-भाव नहीं करना चाहिये। देवि! हम दोनों चेतना और प्रकाशरूप हैं। हमने स्वेच्छासे पृथक् शरीर धारण किये हैं।'

ऐसा कहकर महादेवजीने स्वयं बैठकर पार्वतीको भी अपने वामपार्श्वमें बिठा लिया। वे लज्जासे भगवान् शिवके वामांगमें मानो छिपी जा रही थीं। प्रेमसे परस्पर लीन हुए शिव और पार्वतीके दो शरीर एकताको प्राप्त हो गये; मानो अत्यन्त सन्निकट पहुँचे हुए दो अर्थ स्पष्ट प्रतीत हो रहे हों। शिव और शिवाका एकताको प्राप्त हुआ वह शरीर विचित्र शोभा धारण कर रहा था। आधा अंग कपूरके समान श्वेत था, तो आधा अंग ईंगुरके समान लाल। आधे सिरमें घुँघराले बाल, आधी छातीमें हार और चोली, एक पैरमें नूपुर, एक कानमें झूमक और एक हाथमें कंकणसे वह रूप बड़ा ही मनोहर प्रतीत होता था। इस प्रकार अपना वामार्द्ध भाग पार्वतीदेवीको समर्पित करके महादेवजीने उनसे कहा—'देवि! अब तुम्हें ऐसे रोषका अवसर न मिले, जिससे कि तुम दूध पीनेकी इच्छा रखनेवाले कार्तिकेयको छोड़कर तपस्याके लिये चल दी थीं; इसलिये अब मेरे समीप इस तीर्थमें तुम 'अपीतस्तनी'

नामसे निवास करो। देवि! अपीतस्तनी नामसे तुम्हारा और अरुणाचलेश्वर नामसे मेरा आराधन करके सब लोग भोग और मोक्षका सुख प्राप्त करें। तुम्हारे अंशसे उत्पन्न हुई यह महिषासुरमर्दिनी दुर्गा यहाँ साधन करनेवाले मनुष्योंको मन्त्रसिद्धि प्रदान करेंगी। यह पवित्र खड्गतीर्थ एक ही बार गोता लगानेसे मनुष्योंके सब रोगोंको हर लेनेवाला और सब पापोंका नाश करनेवाला हो। ये पापनाशक भगवान् अरुणाचलनाथ अपनेमें भक्ति और श्रद्धा रखनेवाले मनुष्योंको सदा ऐश्वर्य प्रदान करनेवाले हों। देवि! ये गौतम मुनि तुम्हारे कृपापात्र हैं; अतः जबतक चन्द्रमा और ताराओंकी स्थिति रहे, तबतक ये सब लोकोंमें अपनी तपस्याके अनुरूप फल प्राप्त करें। ये सात लोकोंकी एकमात्र जननी सातों मातृकाएँ संसारको वैभव प्रदान करनेके लिये आजसे इस तीर्थमें निवास करें। शासक भैरव, क्षेत्रपाल और बटुक भी इस अरुणाचलक्षेत्रमें ही नित्य निवास करें। मैं भी तुम करुणामयी अरुणादेवीके साथ अरुण नाम धारण करके इस अरुणाचलक्षेत्रमें निवास करूँगा। अतः इस अरुणक्षेत्रमें सब प्रकारकी सिद्धियाँ सुलभ होंगी।' जो गिरिराजनन्दिनी पार्वतीद्वारा अरुणाचलेश्वरको प्रसन्न करनेके इस पावन प्रसंगको सुनता है, वह काम-क्रोध आदि शत्रुओंका नाश करके अनायास सुलभ स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त कर लेता है।

## कान्तिशाली तथा कलाधरका उद्धार, राजा वज्रांगदद्वारा अरुणाचलेश्वरकी आराधना तथा भगवान् शिवकी उनके ऊपर कृपा

**मार्कण्डेयजीने पूछा**—भगवन्! पाण्ड्यदेशके राजा वज्रांगदने किस प्रकार भगवान् अरुणाचलका व्यतिक्रम किया और फिर उन्हींकी भक्तिसे वे किस प्रकार वैभवको प्राप्त हुए? कान्तिशाली और कलाधर—ये दोनों विद्याधरराज भगवान् अरुणाचलेश्वरकी कृपासे किस प्रकार दुर्वासाके शाप-बन्धनसे मुक्त हुए?

**नन्दिकेश्वर बोले**—मुने! पाण्ड्यदेशमें वज्रांगद नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। वे बड़े धर्मात्मा, न्यायवेत्ता, शिवपूजापरायण, जितेन्द्रिय, गम्भीर, उदार, क्षमाशील, शान्त, बुद्धिमान्, एकपत्नीव्रती और पुण्यात्मा थे। राजा वज्रांगद शीलवानोंमें सबसे श्रेष्ठ थे और शत्रुओंको जीतकर समूची पृथ्वीका शासन करते थे। एक दिन घोड़ेपर सवार हो वे शिकार खेलनेके लिये निकले और अरुणाचलतकके दुर्गम वनमें गये। उन्होंने वहाँ किसी कस्तूरी-मृगको देखा। उसके शरीरसे सब ओर बहुत सुगन्ध फैल रही थी। उसे देखते ही राजाने कौतूहलवश उसके पीछे घोड़ा दौड़ाया। मृग वायु और मनके समान वेगसे भागा और अरुणाचल पर्वतके चारों ओर चक्कर लगाने लगा। तब अधिक परिश्रम होनेके कारण राजा कान्तिहीन होकर घोड़ेसे गिर पड़े। उस समय मध्याह्नकालीन सूर्यके प्रखर तापसे उन्हें अत्यन्त पीड़ा हुई। वे ग्रहसे गृहीत हुएकी भाँति क्षणभरके लिये अपने-आपकी भी सुध-बुध खो बैठे थे। तत्पश्चात् उन्होंने सोचा—'मेरी शक्ति और धैर्यका यह अकारण ह्रास कहाँसे हो गया? वह हृष्ट-पुष्ट मृग मुझे इस पर्वतपर छोड़कर कहाँ चला गया?' राजा जब इस प्रकारकी चिन्तासे व्याकुल और अज्ञानसे दुःखी हो रहे थे, इसी समय आकाश सहसा विद्युत्पुंजसे व्याप्त-सा दिखायी दिया। उनके देखते-देखते घोड़े और मृगने तिर्यग् (पशु) योनिका शरीर त्यागकर क्षणभरमें आकाशचारी विद्याधरका रूप धारण कर लिया। उनके मस्तकपर किरीट, कानोंमें

कुण्डल, कण्ठमें हार और बाहोंमें भुजबन्ध शोभा पा रहे थे। दोनों रेशमी धोती और दिव्य पुष्पोंकी मालाएँ धारण करके शोभा पा रहे थे।

यह सब देखकर राजाका चित्त आश्चर्यचकित हो रहा था; तब वे दोनों विद्याधर बोले—'राजन्! विषाद करनेकी आवश्यकता नहीं। आपको मालूम होना चाहिये, हम दोनों भगवान् अरुणाचलेश्वरके प्रभावसे इस उत्तम दशाको प्राप्त हुए हैं।' उनकी इस बातसे राजाको कुछ आश्वासन-सा मिला। तब वे हाथ जोड़कर उन दोनोंसे विनयपूर्वक बोले—'आप दोनों कौन हैं? मेरा यह पराभव किस कारणसे हुआ है? आप दोनों कल्याणकारी पुरुष हैं, अतः मुझे मेरी पूछी हुई बातें बताइये? क्योंकि संकटमें पड़े हुए पुरुषोंकी रक्षा करना महापुरुषोंका महान् गुण है।'

राजाके ऐसा प्रश्न करनेपर कलाधरने कान्तिशालीकी आज्ञासे इस प्रकार कहा—'राजन्! हम दोनों पहले विद्याधरोंके राजा थे। हममें बसन्त और कामदेवकी भाँति परस्पर बड़ी मित्रता थी। एक दिन मेरुगिरिके पार्श्वभागमें दुर्वासाके तपोवनमें, जहाँ मनसे भी पहुँचना अत्यन्त कठिन है,हम दोनों जा पहुँचे। वहाँ मुनिकी परम पवित्र पुष्पवाटिका थी, जो एक कोसतक फैली हुई थी। वह वाटिका शिवाराधनके काममें आती थी। हमने देखा—खिले हुए फूलोंसे वह बड़ी मनोहर जान पड़ती थी। हम लोग तत्त्व-चिन्तनमें तत्पर हो फूल तोड़नेकी उत्कण्ठासे उस फुलवाड़ीमें घुस गये। उस रमणीय स्थानके प्रति प्रेम हो जानेसे हमारा मित्र यह कान्तिशाली गर्वसे फूल उठा और बारंबार वहाँकी भूमिपर पैर पटकता हुआ इधर-उधर विचरने लगा। मैं वहाँ पुष्पोंकी अतिशय सुगन्धसे मोहित हो दुर्वासनावश विकसित पुष्पोंपर हाथ रख दिया करता था।

'मेरे इस अपराधके कारण बिल्ववृक्षके नीचे व्याघ्र-चर्मके आसनपर बैठे हुए तपोराशि दुर्वासा मुनि आगकी भाँति जल उठे और अपनी दृष्टिसे मानो हमें जला डालेंगे—इस प्रकार देखते हुए हमारे

समीप आ गये। आकर हमें फटकारते हुए बोले—'ओ पापियो! तुमलोगोंने सज्जनोचित सदाचारका उल्लंघन किया है और अत्यन्त अहंकारमें भरकर मेरे इस पवित्र तपोवनमें विचर रहे हो। मेरा यह उद्यान सब प्राणियोंका पोषण करनेवाला है। इसे अपने चरणोंके प्रहारसे दूषित करनेवाला यह पापी संसारमें घोड़ा हो जाय तथा दूसरेकी सवारी ढोनेके कारण कष्ट उठाता रहे तथा दूसरा जो यह अत्यन्त उग्र स्वभाववाला है, फूलोंकी सुगन्धके प्रति लोभ रखकर आया है इसलिये कस्तूरीमृग होकर पर्वतकी कन्दरामें गिरे।'

'इस प्रकार भयानक रोषसे वज्रके समान दुर्वासा मुनिका शाप प्राप्त होनेपर उसी क्षण हम दोनोंका गर्व गल गया और हम मुनिकी शरणमें गये। उनके चरणारविन्दोंको अपने हाथोंसे पकड़कर हमने प्रार्थना की—'भगवन्! आपका यह शाप अमोघ है, अतः यह बतानेकी कृपा करें कि इसका अन्त कब होगा।' राजन्! तब हम दोनोंको अत्यन्त दीन एवं दुःखी देखकर मुनिके हृदयमें दयाका संचार हो आया। वे करुणाकी वर्षासे शीतलस्वभाव होकर बोले—'अरे! तुम दोनों अब कभी खोटी बुद्धिका आश्रय लेकर ऐसे बर्ताव

न करना। अरुणाचलकी परिक्रमा करनेसे तुम्हारे इस शापका निवारण होगा। अरुणाचल साक्षात् भगवान् शिवके स्वरूप हैं। प्राचीन कालमें इन्द्र, उपेन्द्र और यम आदि दिक्पालोंने सैकड़ों वर्षोंतक इनकी उपासना की थी। उसी समय नन्दनवनके देवता इन्द्रने देवाधिदेव महादेवजीको एक लाल रंगका अद्भुत फल भेंट किया। वह मनको लुभा लेनेवाला था। उसे देखकर गणेश और कार्तिकेय दोनों भाई अपने बालक-स्वभावके कारण कौतूहलवश उसकी ओर आकृष्ट हो गये और अपने पिता भगवान् शंकरसे वह फल माँगने लगे। तब भगवान् शिवने वह फल अपनी मुट्ठीमें छिपा लिया और उसकी अभिलाषा रखनेवाले दोनों कुमारोंसे इस प्रकार कहा, 'पुत्रो! तुम दोनोंमेंसे जो भी लोकालोक पर्वतसे घिरी हुई इस समूची पृथ्वीकी परिक्रमा करनेमें समर्थ हो उसे ही यह फल दूँगा।' पार्वतीवल्लभ शिवने जब मुसकराते हुए मुखचन्द्रसे ऐसी बात कही, तब कार्तिकेयजीने समस्त पृथ्वीकी परिक्रमा आरम्भ कर दी। परंतु गणेशजी अरुणाचलरूपी पिता महादेवजीकी ही परिक्रमा करके तत्काल उनके सामने खड़े हो गये। उनकी यह चतुराई देखकर भगवान् शिवने स्नेहसे उनका मस्तक सूँघकर उन्हींको वह फल दे दिया और यह वरदान दिया कि 'आजसे तुम सभी फलोंके अधिपति हो जाओ।' एक दाँतवाले गणेशजीको ऐसा वर देकर भगवान् शंकरने वहाँ आये हुए समस्त देवताओं और असुरोंसे कहा—'यह अरुणाचल मेरा स्थावर विग्रह है। जो इसकी परिक्रमा करता है, वह समस्त ऐश्वर्योंका भागी होता है। जो पुरुष इस पर्वतको अपने दाहिने रखकर इसके चारों ओर चक्कर लगाता है वह चक्रवर्ती राजा होकर अन्तमें सर्वोत्कृष्ट सनातन पदको प्राप्त कर लेता है।' महादेवजीकी इस आज्ञासे सब देवताओंने अरुणाचलकी परिक्रमा करके अपना-अपना अभीष्ट मनोरथ प्राप्त किया। अतः तुम दोनों भी जब अरुणाचलकी प्रदक्षिणा कर लोगे, तब उससे तुम्हारे शापका अन्त हो जायगा। पशुयोनिमें रहनेपर भी पाण्ड्यनरेश वज्रांगदके सम्बन्धसे तुम दोनोंके द्वारा अरुणाचलकी परिक्रमा सम्पन्न होगी और वह सफल भी हो जायगी।'

**कलाधरने कहा**—नृपश्रेष्ठ! तदनन्तर मेरा मित्र कान्तिशाली काम्बोजदेशमें घोड़ा हुआ और आपकी सवारीमें आया। मैं भी कस्तूरी-मृग होकर अपने ही शरीरसे उत्पन्न सुगन्धके मदसे उन्मत्त हो इस अरुणाचलपर विचरने लगा। धर्मात्मन्! आपने मृगयाके बहाने इस समय यहाँ आकर हम दोनोंसे अरुणाचलनाथकी परिक्रमा करवा दी। आपने सवारीपर चढ़कर यह परिक्रमा की है। इस दोषसे आपकी ऐसी शोचनीय दशा हो गयी है। हम दोनोंने पैदल चलनेके पुण्यसे अपने पूर्वपदको प्राप्त किया। महाराज! आपके ही सम्बन्धसे हम इस पशुयोनिके बन्धनसे छूटकर अपने धामको प्राप्त हुए हैं; इसलिये आपका सदा ही कल्याण हो।

यों कहकर कलाधर अपने मित्र कान्तिशालीके साथ जब अपने धामको जाने लगा, तब राजाने हाथ जोड़कर कहा—'आप दोनों तो अरुणाचलरूपी भगवान् शंकरके प्रभावसे शापरूपी समुद्रके पार हो पुनः अपने पदको प्राप्त हो गये, परंतु मेरा चित्त भ्रान्त-सा हो रहा है। मेरे नेत्र अन्धे-से हो गये हैं और ऐसा जान पड़ता है मानो मेरे प्राण निकले जा रहे हैं। अतः ऐसा होनेमें दैवबलका ही उत्कर्ष सूचित होता है।'

**कलाधरने कहा**—राजन्! मैं तुमसे तुम्हारे हितके लिये भी जो कहता हूँ उसे निश्चिन्त तथा एकाग्रचित्त होकर सुनो। संसारकी सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले भगवान् महेश्वरके स्वरूपभूत अरुणाचलनाथ करुणाके सागर हैं। तुम इन्हींमें अपना मन लगाओ (इनकी महिमा तो तुमने इस समय अपनी आँखों देखी जो कि पशुयोनिमें पड़े हुए हम दोनोंको इन्होंने ऐसे दिव्य पदकी प्राप्ति करा दी)। तुम भी पैदल होकर भगवान् अरुणाचलकी परिक्रमा करो। इन्हें कस्तूरीकी

गन्ध बहुत प्रिय है इसलिये कस्तूरीके चन्दन और कचनारके फूलोंसे तुम इनकी पूजा करो। प्रभो! तुम्हारे पास जितनी सम्पत्ति है वह सब भगवान् अरुणाचलके मन्दिर, गोपुर, चहारदिवारी तथा आँगनका चौक आदि बनवानेके लिये दे डालो। ऐसा करनेसे शीघ्र ही तुम्हें बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त होगी। मनु, मान्धाता, नाभाग तथा भगीरथसे भी उत्कृष्ट पद तुम्हें प्राप्त हो जायगा।

तत्काल अपने धामको प्राप्त करनेवाले उन दोनों विद्याधरोंका यह वचन सुनकर राजा वज्रांगदने सन्देहरहित चित्तसे भगवान् अरुणाचलनाथके प्रति भक्ति बढ़ायी और उसी समयसे विशेष संयम-नियमका पालन आरम्भ किया।

**मार्कण्डेयजीने पूछा**—भगवन्! पाण्ड्य-नरेश वज्रांगदने किस प्रकार महादेवजीका पूजन किया और देव अरुणाचलनाथने कैसे उनपर अनुग्रह किया?

**नन्दिकेश्वर बोले**—मुने! राजा वज्रांगदने अपने नगरको लौटनेकी इच्छा त्यागकर उन्हीं भगवान् अरुणाचलनाथके चरणोंके समीप रहना पसंद किया। तदनन्तर रथ, हाथी, घोड़े और पैदलसे भरी हुई उनकी विशाल चतुरंगिणी सेना घोड़ेके मार्गका अनुसरण करती हुई वहाँ आ पहुँची। पुरोहित, मन्त्री, सामन्त, सेनापति तथा सुहृदोंने धैर्यसिन्धु महाराज वज्रांगदका उस अवस्थामें दर्शन किया। तब वहाँ आयी हुई सेनाको राजाने आदरपूर्वक अरुणाचल क्षेत्रके बाहर ही ठहराया और भक्तियुक्त होकर अपने सम्पूर्ण कोश तथा समृद्धिशाली देशोंको भगवान् अरुणाचलनाथकी पूजाके लिये संकल्प कर दिया। उन्होंने गौतमजीके आश्रमके निकट अपने लिये एक तपोवन बनाया और पुरोहितके कथनानुसार मन्त्रीसहित वे भगवान् शिवकी पूजामें तत्पर हो गये। अपने पदपर उन्होंने राजकुमार रत्नांगदको बैठा दिया और उसके भेजे हुए धनसे भी भगवान् अरुणाचलनाथको ही तृप्त किया। राजाने अरुणाचलके चारों ओर जलसे भरे हुए जलाशय खुदवाये और ब्राह्मणोंको बहुत-से दान दिये। अग्निस्तम्भरूपी अरुणाचलनाथके तेजसे यद्यपि वह देश मरुभूमिकी भाँति निर्जल-सा हो गया था तथापि वहाँ राजा वज्रांगदने सैकड़ों बावलियोंका निर्माण कराया। उस समय लोपामुद्राके साथ आये हुए महर्षि अगस्त्यने अरुणाचलेश्वरकी पूजामें लगे हुए राजाका अभिनन्दन किया। प्रतिदिन नयतीर्थ नामक सरोवरमें स्नान करके वे पापनाशक श्रीप्रवालेश्वरका पूजन करते थे। समस्त दुर्गम पीड़ाओंका निवारण करनेवाली महिषासुरमर्दिनी भगवती दुर्गाकी आराधना भी उनके द्वारा प्रतिदिन होती रहती थी। ब्रह्मा और भगवान् विष्णुकी प्रार्थनासे लिंगरूपमें प्रकट हुए आदिदेव भगवान् शिवकी वे प्रतिक्षण नाना प्रकारकी सेवा-पूजा किया करते थे। प्रतिदिन सबेरे उठते और स्नान करके पंचाक्षरमन्त्रका जप करते हुए अरुणाचलनाथकी तीन बार परिक्रमा करते थे। कार्तिककी पूर्णिमा आनेपर राजाने पार्वतीवल्लभ शिवके महादीपोत्सवका आयोजन किया, जो तीनों लोकोंमें पूजित एवं प्रशंसित है। कस्तूरी, कह्लार-पुष्प, कर्पूर और जलसे भरे हुए एक हजार स्वर्णकलशोंसे उन्होंने भगवान् त्रिलोचनका अभिषेक किया। प्रत्येक मासमें राजा ध्वजारोपणपूर्वक तीर्थोत्सव आदिका प्रबन्ध करते तथा रथपर भगवान्की सवारी निकालते थे। उस समय रथारोहणका बड़ा भारी उत्सव मनाया जाता था। यह उत्सव तीनों लोकोंमें विशेष सम्मानित है। महामना राजा वज्रांगदने तीन योजनतक फैले हुए अरुणाचलकी प्रदक्षिणा भी की। उस समय वे 'हे अरुणाचलनाथ! हे करुणामृतसागर! हे अरुणाम्बाके प्राणनाथ!' इस प्रकार पुकारते हुए बार-बार भगवान्की स्तुति करते थे। भाँति-भाँतिके द्रव्योंसे भगवान्के अंगोंमें आलेपन करके पंचामृत आदिके द्वारा उनका अभिषेक करते तथा कपूरका चूर्ण मिलानेसे उज्ज्वल प्रतीत होनेवाले कस्तूरीके चन्दनसे भगवान्की पूजा करते थे। एक लिंगस्वरूप अरुणाचलनाथकी पीठसे लेकर सम्पूर्ण अंगोंतक वे कस्तूरी और कह्लार-पुष्पोंसे भलीभाँति अर्चना करते थे। इस प्रकार तीन वर्षोंतक निरन्तर

सेवा करनेसे सन्तुष्ट होकर अरुणाचलनाथने राजाको प्रत्यक्ष दर्शन दिया। वे हिमालयके समान श्वेत वृषभराजकी पीठपर चढ़कर अपने पीछे बैठी हुई पार्वतीदेवीसे सटे हुए थे। वसिष्ठ आदि ब्रह्मर्षि, नारद आदि महर्षि तथा निकुम्भ, कुम्भ आदि गण उनकी जय-जयकार एवं स्तुति कर रहे थे। कमलके समान विकसित एवं विशाल नेत्रोंके कटाक्षपात मानो करुणासिन्धुकी उठती हुई तरंग थे और उनके द्वारा भगवान् शिव सम्पूर्ण जगत्की मलिनताका निवारण-सा कर रहे थे। इस प्रकार देवाधिदेव महादेवको उपस्थित देखकर महाराज वज्रांगदको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने भगवान्को साष्टांग प्रणाम किया और मस्तकपर अंजलि बाँधकर कहा—'देवेश! मैंने जो मोहवश आपके समीप सवारीपर बैठकर विचरण किया है, उस मेरे एकमात्र अपराधको आप क्षमा करें।'

**इस प्रकार अत्यन्त दीन भावसे बोलनेवाले राजासे करुणानिधान जगदीश्वर भगवान् अरुणाचलेश्वरने कहा**—वत्स! भय न करो, तुम्हारा कल्याण हो। मेरी आठ मूर्तियाँ हैं। वे सब सम्पूर्ण जीवोंके कल्याणके लिये कल्पित हुई हैं। पूर्वकालमें तुम इन्द्र थे और अहंकारवश तुमने कैलाशशिखरपर बैठे हुए मेरा अपमान किया। तब मैंने उसी समय तुम्हें स्तम्भित करके जडवत् बना दिया। तुम्हारा सारा अभिमान और पापभार क्षणभरमें गल गया और तुम लज्जित होकर मेरे समीप बैठ गये। उस समय मैंने तुम्हें समस्त ऐश्वर्योंके कारणभूत शिव-ज्ञानका उपदेश किया और यह आज्ञा दी कि तुम पृथ्वीपर जन्म ले राजा वज्रांगद होकर मेरी कृपा प्राप्त करोगे। इस समय तुम्हारी की हुई दिन-रातकी सेवाओंसे मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। अतः तुम्हें यह ज्ञान देता हूँ, सुनो। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा और पुरुष—इन मेरी आठ मूर्तियोंसे व्याप्त होकर सम्पूर्ण चराचर जगत् प्रकाशित होता है। मैं इन सब तत्त्वोंसे परे शिव हूँ, मुझसे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है। मेरे स्वरूपभूत चिदानन्द-समुद्रसे उठी हुई कुछ लहरें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओंको आनन्दसे परिपूर्ण करती हैं। मैं समस्त संसारका स्वामी हूँ। यह गौरीदेवी मेरी महाशक्ति माया हैं। इन्हींके द्वारा सम्पूर्ण विश्व सदा आच्छादित होता और विस्तारको प्राप्त होता है। इन महाशक्तिके द्वारा सदा सृष्टि-रक्षा और संहाररूप लीलाविलासोंसे अत्यन्त विचित्ररूपमें प्रस्तुत किये हुए इस जगत्को मैं स्वेच्छासे देखता रहता हूँ। तुम अपने-आपको मेरी महिमासे उसी प्रकार अभिन्न देखो जैसे समुद्रकी तरंग उससे भिन्न नहीं होती। ऐसी दृष्टि हो जानेपर यह सारी पृथ्वी तुम्हें मेरे ही रूपसे सुशोभित दिखायी देगी और उसपर मेरी कृपासे प्रभुत्व प्राप्त करके तुम उत्तम भोगोंका सुखसे उपभोग करोगे। इसके बाद तुम्हें पुनः इन्द्ररूपसे दिव्य सुखदायी भोग दीर्घकालके लिये प्राप्त होंगे। तदनन्तर तुम मुझसे एकरूपता एवं विशुद्ध चिन्मयता प्राप्त कर लोगे।

यों कहकर भगवान् शंकर अन्तर्धान हो गये और पुण्यात्मा राजा वज्रांगदने भगवान् अरुणाचलनाथकी आराधना करते हुए ही समस्त भोगोंको प्राप्त किया। 'मुने! इस प्रकार तुमसे शिवभक्तकी उन्नतिका वृत्तान्त, अरुणाचलकी प्रदक्षिणाका फल तथा सदाचारका अक्षय परिणाम बताया गया। अरुणाचलसे बढ़कर दूसरा क्षेत्र नहीं है। अरुणाचलेश्वरसे बढ़कर और कोई देवता नहीं है तथा उनकी परिक्रमासे अधिक तीनों लोकोंमें दूसरा कोई तप नहीं है।' नन्दिकेश्वरके ऐसा कहनेपर मार्कण्डेयजीके सम्पूर्ण अंगोंमें रोमांच हो आया। वे बार-बार नेत्रोंसे आनन्दाश्रुकी वर्षा करते हुए अमृतके महासागरमें निमग्न हो गये।

**अरुणाचल-माहात्म्यखण्ड सम्पूर्ण**

**माहेश्वरखण्ड समाप्त**

राजा वज्रांगदपर भगवान् अरुणाचलेश्वरकी कृपा

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीउमामहेश्वराभ्यां नमः

# संक्षिप्त श्रीस्कन्द-महापुराण

## वैष्णव-खण्ड

## भूमिवाराहखण्ड या वेंकटाचल-माहात्म्य

### मेरुगिरिपर भगवान् वाराहकी सेवामें पृथ्वीदेवीका उपस्थित होना और श्रेष्ठ पर्वतों तथा वेंकटाचलवर्ती तीर्थोंका माहात्म्य सुनना

एक समय कथा कहनेके लिये रोमहर्षण-पुत्र उग्रश्रवा मुनि आये, जो व्यासजीके परम बुद्धिमान् शिष्य थे। वहाँ आनेपर मुनियोंने उनका भलीभाँति स्वागत-सत्कार किया। तत्पश्चात् पौराणिकोंमें श्रेष्ठ सूतजीने उनसे स्कन्द नामक दिव्य पुराणकी कथा कही। सृष्टि-संहार, वंश-परिचय, विभिन्न वंशोंमें उत्पन्न महापुरुषोंके चरित्र तथा मन्वन्तरोंकी कथाका उन्होंने विस्तारपूर्वक वर्णन किया। तीर्थोंके माहात्म्यकी बहुत-सी कथाएँ सुनकर उन मुनिवरोंने अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले सूतजीसे कथाश्रवणकी अभिलाषा मनमें रखकर इस प्रकार कहा।

**ऋषि बोले**—रोमहर्षणकुमार सूतजी! आप सर्वज्ञ हैं, पौराणिक विषयोंका वर्णन करनेमें कुशल हैं, अतः हमलोग आपके मुखसे भूतलके मुख्य-मुख्य पर्वतोंका माहात्म्य सुनना चाहते हैं।

**सूतजीने कहा**—महर्षियो! पूर्वकालमें मैंने यही प्रश्न गंगाजीके तटपर बैठे हुए मुनिश्रेष्ठ व्यासजीसे पूछा था। उसके उत्तरमें मेरे सर्वोत्तम गुरु व्यासजीने इस प्रकार कहा।

**व्यासजी बोले**—सूत! प्राचीन युगकी बात है। एक दिन मुनिश्रेष्ठ नारद नाना प्रकारके रत्नोंसे सुशोभित सुमेरु-पर्वतके शिखरपर गये और उसके मध्यभागमें ब्रह्माजीका अत्यन्त प्रकाशमान दिव्य एवं विस्तृत भवन देखा। उसके उत्तरप्रदेशमें पीपलका एक उत्तम वृक्ष था, जिसकी ऊँचाई एक हजार योजनकी और विस्तार दुगुना था। उस पीपलके मूलभागके समीप अनेक प्रकारके रत्नोंसे युक्त दिव्य मण्डप बना हुआ था, जिसमें वैदूर्य, मोती और मणियोंके द्वारा स्वस्तिक गृह बनाये गये थे। वह दिव्यमण्डप नूतन रत्नोंसे चिह्नित तथा दिव्य तोरणों (बाहरी फाटकों)-से सुशोभित था। उसका मुख्यद्वार पुष्पराग मणिका बना हुआ था, जिसका गोपुर सात मंजिलका था। चमकते हुए हीरोंसे बनाये गये दो किवाड़ उस द्वारकी शोभा बढ़ा रहे थे। उस मण्डपके भीतर प्रवेश करके नारदजीने देखा, दिव्य मोतियोंका एक मण्डप है, उसमें वैदूर्यमणिकी वेदी बनी हुई है। महामुनि नारद उस ऊँचे मण्डपके ऊपर चढ़ गये। वहाँ उक्त मण्डपके मध्यभागमें एक बहुत ऊँचा सिंहासन था, जिसकी कहीं तुलना नहीं है। उस मध्यभागमें सहस्र दलोंसे सुशोभित दिव्य कमल था, जिसका रंग श्वेत था। उसकी प्रभा सहस्रों चन्द्रमाओंके समान

थी। उस कमलके मध्यमें दस हजार पूर्ण चन्द्रमाओंसे भी अधिक कान्तिमान् कैलाशपर्वतके समान आकारवाले एक सुन्दर पुरुष बैठे हुए थे। उनके चार भुजाएँ थीं, अंग-अंगसे उदारता टपक रही थी, वाराहके समान मुख था। वे परम सुन्दर भगवान् पुरुषोत्तम अपने चारों हाथोंमें शंख, चक्र, अभय एवं वर धारण किये हुए थे। उनके कटिभागमें पीताम्बर शोभा पाता था। दोनों नेत्र कमलदलके समान विशाल थे। सौम्यमुख पूर्ण चन्द्रमाकी शोभाको तिरस्कृत कर रहा था। मुखारविन्दसे धूपकी-सी सुगन्ध निकलती थी। सामवेद उनकी ध्वनि, यज्ञ उनका स्वरूप, स्रुक् उनका मुख था और स्रुवा उनकी नासिका थी। मस्तकपर धारण किये हुए मुकुटके प्रकाशसे उनका मुख अत्यन्त उद्भासित हो रहा था। उनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न सुशोभित था। श्वेत यज्ञोपवीत धारण करनेसे उनके श्रीअंगोंकी शोभा और भी बढ़ गयी थी। उनकी छाती चौड़ी और विशाल थी। वे कौस्तुभमणिकी दिव्य प्रभासे देदीप्यमान हो रहे थे। ब्रह्मा, वसिष्ठ, अत्रि, मार्कण्डेय तथा भृगु आदि अनेक मुनीश्वर दिन-रात उनकी सेवामें संलग्न रहते थे। इन्द्र आदि लोकपालों और गन्धर्वोंसे सेवित देवदेवेश्वर भगवान्‌के पास जाकर नारदजीने प्रणाम किया और पृथ्वीको धारण करनेवाले उन वाराहभगवान्‌का दिव्य उपनिषद्-मन्त्रोंसे स्तवन करके अत्यन्त प्रसन्न हो वे उनके पास ही खड़े हो गये।

इतनेहीमें दिव्य दुन्दुभी बज उठी। तत्पश्चात् वहाँ पृथ्वीदेवीका शुभागमन हुआ। रत्नोंसहित समुद्रके सदृश दिव्य वस्त्र धारण करके वे बड़ी शोभा पा रही थीं। इला और पिंगला नामवाली दो सखियाँ उनके साथ थीं। उन दोनोंके लाये हुए फूलोंको लेकर पृथ्वीदेवीने भगवान् वाराहके चरणोंमें बिखेर दिया और उन देवदेवेश्वरको प्रणाम करके वे दोनों हाथ जोड़कर उनके आगे खड़ी हो गयीं।

तब भगवान् वाराहने कहा—'पृथ्वीदेवि! मैं तुम्हें शेषनागके सुखदायक मस्तकपर बिठाकर और सम्पूर्ण विश्वको तुम्हारे ऊपर स्थापित करके पर्वतोंको तुम्हारा सहायक बनाकर यहाँ आया हूँ। फिर किसलिये तुम यहाँ आयी हो?'

**पृथ्वी बोली**—भगवन्! आपने पातालसे मेरा उद्धार करके ऊँचे रत्नसिंहासनकी भाँति शेषनागके रत्नयुक्त मस्तकपर, जो सहस्रों फणोंसे सुशोभित है, मुझे बिठाया है। इस प्रकार मुझे भलीभाँति स्थिर करके मुझ धारण करनेमें समर्थ पुण्यमय पर्वतोंको भी मेरे ऊपर स्थापित किया है, जो आपके ही स्वरूप हैं। महाबाहु पुरुषोत्तम! उन पर्वतोंमेंसे जो मेरे आधारभूत मुख्य-मुख्य पर्वत हैं, उनका मुझे परिचय दीजिये।

**श्रीभगवान् वाराहने कहा**—सुमेरु, हिमवान्, विन्ध्याचल, मन्दराचल, गन्धमादन, शालग्राम, चित्रकूट, माल्यवान्, पारियात्रक, महेन्द्र, मलय, सह्य, सिंहाचल, रैवत तथा मेरुपुत्र अंजन, जो बड़ा भारी स्वर्णमय पर्वत है; वसुन्धरे! ये सभी

श्रेष्ठ पर्वत तुम्हारे आधार हैं। मैंने देवसमूह और ऋषिसमूहके साथ इन पर्वतोंका सेवन किया है। माधवि! इनमें जो श्रेष्ठ पर्वत हैं, उनका यथार्थ वर्णन करता हूँ, सुनो। देवि! शालग्राम, सिंहाचल तथा गिरिराज गन्धमादन—ये उत्तम शैल हिमालयकी ओर उत्तर दिशामें स्थित हैं। वसुधे! अब मैं दक्षिणके प्रधान पर्वतोंका नाम बतलाता हूँ—अरुणाचल, हस्तिपर्वत, गृध्राचल तथा घटिकाचल—ये सभी श्रेष्ठ पर्वत क्षीर नदीके समीपवर्ती हैं। हस्तिपर्वतसे पाँच योजन उत्तर सुवर्णमुखरी नामक उत्तम नदी बहती है। उसीके उत्तर तटपर कमला सरोवर है, जिसके किनारे शुकदेवजीको वर देनेवाले तथा भक्तोंकी पीड़ाओंका नाश करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण बलभद्रजीके साथ निवास करते हैं। शुद्धचित्तवाले वानप्रस्थ मुनि सदा उनकी आराधना करते हैं। कमला सरोवरसे उत्तर दो कोसकी दूरीपर कल्पवृक्षोंसे सुशोभित श्रेष्ठ वनमें श्रीवेंकटाचल नामक प्रसिद्ध पर्वत है, जो भगवान् विष्णुका महान् आश्रय है। वह शैलराज एक योजन ऊँचा और सात योजन चौड़ा है। वह समूचा पर्वत सुवर्णमय है। उसके शिखर रत्न धारण करनेवाले हैं। इन्द्र आदि देवता, वसिष्ठ आदि मुनीश्वर, सिद्ध, साध्य, मरुद्गण, दानव, दैत्य, राक्षस तथा रम्भा आदि अप्सराएँ वहाँ नियमपूर्वक निवास करती हैं। नाग, गरुड़ और किन्नर वहाँ तपस्या करते हैं। इन सबसे सेवित अनेक नदियाँ हैं, जिनका दर्शन भी पुण्यप्रद है। पृथ्वी! उस पर्वतपर अनेक प्रकारके दिव्य सरोवर शोभा पा रहे हैं।

अब सब तीर्थोंमें प्रधान चक्र आदि तीर्थोंका वर्णन सुनो। चक्रतीर्थ, दैवतीर्थ, आकाशगंगा, कुमारधारिकातीर्थ, पापनाशनतीर्थ, पाण्डवतीर्थ तथा स्वामिपुष्करिणीतीर्थ—ये सात तीर्थ उस उत्तम नारायणगिरि (वेंकटाचल)-पर सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं। इन सातोंमें भी सबसे श्रेष्ठ कल्याणमयी स्वामिपुष्करिणी है। भूदेवि! उस स्वामिपुष्करिणीके पश्चिम तटपर तुम्हारे साथ मैं निवास करता हूँ और दक्षिण तटपर सम्पूर्ण जगत्के स्वामी भगवान् लक्ष्मीनिवास (विष्णु) विराजमान हैं। समुद्रवसना पृथ्वी! वह स्वामिपुष्करिणी गंगा आदि सम्पूर्ण तीर्थोंके समान है। तीनों लोकोंमें जो तीर्थ, सरोवर और नदियाँ हैं, उन सबका आधिपत्य स्वामिपुष्करिणी तीर्थको प्राप्त है। उस परम पवित्र स्वामिपुष्करिणी तीर्थका सेवन करनेके लिये दिव्य गिरि वेंकटाचलपर सम्पूर्ण तीर्थ निवास करते हैं। उनमें भी छः सबसे प्रधान हैं।

माधवि! अब मैं तुम्हें नारायणगिरिका माहात्म्य बतलाता हूँ, ध्यान देकर सुनो। देवता, ऋषि तथा सनकादि योगी सत्ययुगमें अंजनगिरिको, त्रेतामें नारायणगिरिको, द्वापरमें सिंहाचलको और कलियुगमें श्रीवेंकटाचलको परमात्मा भगवान् विष्णुका निवासस्थान कहते हैं। अन्य विद्वानोंका भी यही मत है। जो सहस्रों योजन दूरसे अथवा द्वीपान्तरमें पहुँचकर भी गिरिराज वेंकटाचलको प्रणाम करता है, उसे प्रणाम करनेके उद्देश्यसे उसकी दिशाकी ओर भक्तिभावसे मस्तक झुकाता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो विष्णुलोकमें जाता है। उस पर्वतपर जो छः प्रधान तीर्थ हैं, उनका समयानुसार माहात्म्य बतलाता हूँ। माघमासमें जब भगवान् सूर्य कुम्भ राशिपर स्थित हों, तब मघा-नक्षत्रयुक्त महातिथि पूर्णिमाको गिरिराज वेंकटाचलपर जो कुमारधारिका नामवाली पुष्करिणी है, वह समस्त लोकोंको पवित्र करनेवाली हो जाती है। जिसके तटपर कृत्तिका और अग्निसे उत्पन्न पार्वतीनन्दन स्कन्द देव-सेनाके साथ भगवान् विष्णुका पूजन करते हुए निवास करते हैं, उस तीर्थमें जो मध्याह्नकालमें स्नान करता है, उसके पुण्यफलको श्रवण करो। वसुधे! गंगा आदि सब तीर्थोंमें जो बारह वर्षोंतक नियमपूर्वक स्नान करता है, उसे जिस फलकी प्राप्ति होती है, वही फल कुमारधारा तीर्थमें स्नान करनेवालेको भी मिल जाता है। जो उस

तीर्थमें यथाशक्ति दक्षिणाके साथ अन्नदान करता है, उसे भी उतना ही फल मिलता है, जितना स्नानके लिये बताया गया है।

वसुन्धरे! जब मीन राशिके सूर्य हों, तब उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रसे युक्त पूर्णिमा तिथिको चौथे पहरमें पर्वतकी गुफाके भीतर तुम्बतीर्थमें जो मनुष्य स्नान करता है, वह पुनः गर्भमें नहीं आता। जब सूर्यदेव मेष राशिपर स्थित हों, तब चित्रा नक्षत्रसे युक्त पूर्णिमा तिथिको पुण्यमय प्रभातके समय आकाशगंगाके जलमें स्नान करनेवाला पुरुष मोक्ष प्राप्त कर लेता है। सूर्यदेव जब वृष राशिपर विराजमान हों, तब वैशाखमासमें शुक्ल या कृष्ण पक्षकी द्वादशी तिथिको रविवार या मंगलवारका योग होनेपर अथवा शुक्ल या कृष्ण पक्षमें रविवारके दिन पुष्य या हस्त नक्षत्रके योग होनेपर जो मनुष्य संगवकालमें पाण्डव तीर्थके भीतर स्नान करता है, वह इस लोकमें कभी दुःख नहीं पाता तथा परलोकमें सुख भोगता है। महाभागे! शुक्ल अथवा कृष्ण पक्षमें रविवारके साथ जो सप्तमी तिथि आवे, उसमें यदि पुष्य नक्षत्र अथवा हस्त नक्षत्रका योग हो, तब गिरिराज वेंकटाचलके शिखरपर वर्तमान पापनाशन नामक तीर्थमें जो स्नान करता है, वह श्रेष्ठ मनुष्य कोटिजन्मोपार्जित पापोंसे मुक्त हो जाता है। भूदेवि! अब तुम एक रहस्यकी बात सुनो। 'अनन्त' नामक महापर्वतपर मेरे दिव्य मन्दिरके वायव्य कोणमें शिखरपर स्थित गुफामें देवतीर्थ नामसे प्रसिद्ध एक परम सुन्दर सरोवर है। उसमें पुष्य नक्षत्रयुक्त बृहस्पतिवारको अथवा व्यतीपात योगमें अथवा श्रवण नक्षत्रयुक्त सोमवारको जो स्नान करता है, उसके पुण्यफलका वर्णन सुनो। इस लोकमें जान-बूझकर या अनजानमें किये हुए जो कोई भी पाप हैं, वे सब अत्यन्त पावन देवतीर्थमें गोता लगाते ही नष्ट हो जाते हैं, पुण्यकी वृद्धि होती है तथा अन्तमें वह चन्द्रलोकमें सम्मानित होता है।

**यह सब सुनकर पृथ्वीदेवीने भगवान् वाराहकी इस प्रकार स्तुति की**—देवदेवेश्वर! वाराहमुख! अच्युत! आपको नमस्कार है। महाबाहो! आपकी श्वेतकान्ति क्षीरसागरके समान है। वज्रशृंग! आपको नमस्कार है। देव! आपकी सहस्रों भुजाएँ हैं। आपने कल्पके आदिमें एकार्णवके जलसे मेरा उद्धार किया है; तभी मैं सम्पूर्ण जगत्को धारण करती हूँ। प्रभो! आप अनेक दिव्य आभूषणोंसे विभूषित तथा यज्ञसूत्रसे सुशोभित हैं, लाल-लाल वस्त्र धारण करते हैं और दिव्य रत्नोंसे अलंकृत होते हैं। आपके चरणारविन्द प्रातःकाल उदय होनेवाले सूर्यनारायणके समान अरुण कान्तिवाले हैं। आपको बारंबार नमस्कार है। आपके दाढ़ोंका अग्रभाग बाल-चन्द्रमाके समान शोभा पाता है। आपका बल और पराक्रम महान् है। आपके श्रीअंगोंमें दिव्य चन्दनका आलेप लगा हुआ है और कानोंमें तपाये हुए सुवर्णके कुण्डल झिलमिला रहे हैं। आप इन्द्रनीलमणिसे प्रकाशमान, सुवर्णमय अंगद (बाजूबन्द)-से विभूषित हैं। महाबल! आपने अपनी दाढ़ोंके अग्रभागसे हिरण्याक्ष नामक दैत्यका वक्षःस्थल चीर डाला है। आपके नेत्र खिले हुए कमलपुष्पके समान परम सुन्दर हैं। आप अपने मुखसे सामवेदके मन्त्रोंका गान करते समय मेरे मनको मोहे लेते हैं। विशाललोचन! ब्रह्माजी और भगवान् शिव आपके चरणोंकी वन्दना करते हैं। आपका श्रीविग्रह सर्वविद्यामय है। आप शब्दोंकी पहुँचसे परे हैं। आपको बारंबार नमस्कार है। आनन्दविग्रह! अनन्त! कालकाल! आपको नमस्कार है।

इस प्रकार स्तुति करके पृथ्वीदेवीने भगवान्के चरणोंमें प्रणाम किया। यह देखकर भगवान् वाराहदेवके नेत्र हर्षसे खिल उठे। उन्होंने

पृथ्वीदेवीको साथ लेकर, गरुड़पर आरूढ़ हो, वहाँसे वृषभाचल (वेंकटगिरि)-को प्रस्थान किया। नारद आदि मुनीश्वरोंसे प्रशंसित होकर पृथ्वीपति भगवान् वाराह स्वामिपुष्करिणीके लोकपूजित पश्चिम तटपर निवास करते हैं। वहाँ अनेकानेक मुनीश्वर, महाभाग वैखानस तथा ब्रह्माजीके तुल्य महात्मा पुरुष वाराहमुख भगवान् विष्णुकी आराधनामें संलग्न रहते हैं। सूत! जो मनुष्य हम दोनोंके इस धर्ममय पावन संवादको सुनता अथवा देवता और ब्राह्मणोंके आगे पढ़ता है, वह प्रतिष्ठाको प्राप्त होता है। तथा जितने लोग सुनते हैं, उन सभीको अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती है।

**सूतजी कहते हैं**—मुनीश्वरो! भगवान् व्यासने यह माहात्म्य मुझसे कहा है और मैंने जैसा सुना है, वैसा ही आपलोगोंके सामने वर्णन किया है।

## भगवान् वाराहका मन्त्र, उसके जपकी विधि, ध्यान तथा उसके अनुष्ठानका फल

**ऋषियोंने कहा**—सूतजी! पृथ्वीके साथ भगवान् वाराह जब वृषभाचलपर चले गये, तब वहाँ उन्होंने पृथ्वीसे क्या कहा? महामते! वह सब प्रसंग हमें सुनाइये।

**सूतजी बोले**—मुनियो! आप सब लोग पूर्व-कालकी पुण्यमयी कथा श्रवण करें। पहले वैवस्वत मन्वन्तरके परम पवित्र सत्ययुगमें वाराहरूपधारी पृथ्वीपति देवेश्वर भगवान् विष्णु नारायणगिरिपर निवास करते थे। उस समय पृथ्वीदेवी अपनी सखियोंके साथ उनकी सेवामें उपस्थित हुईं और उनके चरणोंमें प्रणाम करके उन्होंने भगवान्के सामने यह प्रश्न उपस्थित किया—'देवेश! आप किस मन्त्रसे आराधना करनेपर प्रसन्न होंगे? जो मन्त्र आपको सदा ही प्रिय है और नियमपूर्वक रहनेवाले मनुष्योंको आपके परमधामकी प्राप्ति करा देता है, उसका मुझे उपदेश कीजिये।'

**भूदेवीके इस प्रकार प्रश्न करनेपर भगवान् वाराहने प्रेमसे मुसकराते हुए कहा**—देवि! सुनो। यह परम गोपनीय मन्त्र है, इसे कभी अनधिकारीके सामने प्रकाशमें नहीं लाना चाहिये। जो सेवा करनेवाला भक्त तथा मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला है, उसीको इस मन्त्रका उपदेश करना चाहिये। मन्त्र इस प्रकार है—'**ॐ नमः श्रीवराहाय धरण्युद्धारणाय स्वाहा**'। मुमुक्षु पुरुषोंको इस मन्त्रका सदैव जप करना चाहिये। भूदेवि! यह मन्त्र सब सिद्धियोंको देनेवाला है। इस मन्त्रके संकर्षण ऋषि हैं और मैं ही देवता कहा गया हूँ। इसका छन्द पंक्ति है, श्री बीज है। सद्गुरुसे इस मन्त्रकी दीक्षा लेकर इसका चार लाख जप करना चाहिये और घी तथा मधु मिलाये हुए खीरका हवन करना चाहिये।

अब मैं अपने स्वरूपका ध्यान बतला रहा हूँ, जो अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाला है। समुद्रवसने! मेरे अंगोंकी कान्ति शुद्ध स्फटिक गिरिके समान श्वेत है। खिले हुए लाल कमलदलोंके समान सुन्दर नेत्र हैं, वाराहके समान मुख है, स्वरूप सौम्य है, चार भुजाएँ हैं, मस्तकपर किरीट शोभा पाता है, वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न है। हाथोंमें चक्र, शंख, अभयदायिनी मुद्रा और कमल सुशोभित हैं। मेरी बायीं जाँघपर तुम बैठी हो। मैंने लाल, पीले वस्त्र पहनकर लाल रंगके ही आभूषणोंसे अपनेको विभूषित किया है। श्रीकच्छपके पृष्ठके मध्यभागमें शेषनागकी मूर्ति है। उसके ऊपर सहस्रदल कमलका आसन है

और उसपर मैं विराजमान हूँ। इस प्रकार ध्यान करके जो सदा अष्टोत्तरशत मन्त्रका जप करता

है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको पाता और अन्तमें निश्चय ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

**यह सुनकर पृथ्वीदेवीने पुनः प्रश्न किया**—देव! पूर्वकालमें किसने इस मन्त्रका अनुष्ठान किया है और उसे किस फलकी प्राप्ति हुई है?

**भगवान् वाराहने कहा**—देवि! पहले कृतयुगमें धर्म नामक महात्मा मनुने ब्रह्माजीसे इस मन्त्रको प्राप्त किया और इसी पर्वतपर उसका जप करके मेरा प्रत्यक्ष दर्शन पाया। फिर मुझसे अभीष्ट वरदान प्राप्त करके वे मेरे पदको प्राप्त हो गये। पूर्वकालमें इन्द्र दुर्वासाके शापसे स्वर्गभ्रष्ट हो गये थे; उस समय इसी मन्त्रसे यहीं मेरी आराधना करके उन्होंने पुनः स्वर्गका राज्य प्राप्त कर लिया। भूदेवि! अन्यान्य मुनियोंने भी इस मन्त्रका जप करके परम गति प्राप्त की है। सर्पोंके स्वामी अनन्तने कश्यपजीसे इस मन्त्रको पाकर श्वेत-द्वीपमें इसका जप किया और उसीसे अद्भुत शक्ति पाकर वे पृथ्वीको धारण करनेमें समर्थ हुए हैं। अतः पृथ्वीकी अभिलाषा रखनेवाले मनुष्योंको इहलोकमें सदा ही इस मन्त्रका जप करना चाहिये।

## महर्षि अगस्त्यकी प्रार्थनासे भगवान् विष्णुका वेंकटाचलपर श्री-भू देवियोंके साथ निवास तथा आकाशराजके यहाँ पद्मावती और वसुदानका जन्म

**भगवान् वाराह कहते हैं**—महादेवी पृथ्वी! मैं तुम्हें एक पवित्र इतिहास सुनाता हूँ, सुनो। वैवस्वत मन्वन्तरके आदि सत्ययुगमें वायु देवताका बड़ा भारी तप देखकर लक्ष्मीनिवास भगवान् विष्णु श्रीदेवी और भूदेवीके साथ स्वामिपुष्करिणीके तटपर आये। इसके दक्षिण तटपर परम पवित्र आनन्द नामक विमानमें वे श्रीलक्ष्मीकान्त विष्णु सदा वायु देवताका प्रिय करते हुए निवास करते हैं। तभीसे कुमार कार्तिकेयद्वारा निरन्तर पूजित हो, भगवान् हृषीकेश इस विमानपर अदृश्य भावसे रहते हैं और आगे भी रहेंगे।

**पृथ्वीने पूछा**—मनुष्योंकी दृष्टिमें न आनेवाले भगवान् विष्णु किस प्रकार यहाँ उन्हें प्रत्यक्ष दिखायी देंगे?

**भगवान् वाराहने कहा**—देवि! महर्षि अगस्त्यने इस पर्वतपर आकर सनातनदेव भगवान् विष्णुका दर्शन किया और बारह वर्षोंतक आराधना करके उन्हें बारंबार प्रसन्न किया। तत्पश्चात् भगवान्से यह याचना की कि 'प्रभो! आप सदा यहाँ निवास करें और सब लोगोंको आपका प्रत्यक्ष दर्शन होता रहे।'

**उनके ऐसा कहनेपर श्री-भू देवियोंके साथ**

**भगवान् विष्णु इस प्रकार बोले**—देवर्षे! मैं तुम्हारे सन्तोषके लिये यहाँ समस्त देहधारियोंको प्रत्यक्ष दर्शन देता हुआ निवास करूँगा, परंतु यह विमान कभी किसीकी दृष्टिमें नहीं आवेगा। भगवान्‌का यह वचन सुनकर अगस्त्य मुनि प्रसन्न हो अपने आश्रमको चले गये। तबसे भगवान् विष्णु मुनियोंके ही ध्यानमें आनेवाले इस विमानपर मनुष्य आदि प्राणियोंकी दृष्टिके विषय होकर चतुर्भुज रूपसे निवास करते हैं और आगे भी निवास करते रहेंगे। स्कन्द-स्वामी सदा उनकी आराधना करते हैं और वायु देवता सेवामें संलग्न रहते हैं। एक समयकी बात है कि मित्रवर्माकी मनोरमा धर्मपत्नीके गर्भसे 'आकाश' नामक पुत्र हुआ, जो अपने कुलका आभूषण था। शकवंशमें उत्पन्न धरणी नामवाली कन्या राजकुमार आकाशकी धर्मपत्नी हुई। नृपश्रेष्ठ मित्रवर्माने अपने उस पुत्रको राज्यका सारा भार सौंपकर स्वयं वेंकटाचलके समीप पवित्र तपोवनको प्रस्थान किया। राजकुमार आकाश महान् चक्रवर्ती राजा हुए। वे एकपत्नीव्रती थे। केवल अपनी धर्मपत्नी धरणीके प्रति ही उनका मन अनुरक्त था। एक दिन उन्होंने यज्ञके लिये आरणी नदीके किनारे भूमिका शोधन कराया। जब सोनेके हलसे पृथ्वी जोती जाने लगी तब बीजकी मुट्ठी बिखेरते समय राजाने देखा, पृथ्वीसे एक कन्या प्रकट हुई है, जो कमलकी शय्यापर सोयी हुई है। वह बड़ी सुन्दरी और समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न थी, सोनेकी पुतली-सी शोभा पा रही थी। उसे देखकर राजाके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे। उन्होंने उसे गोदमें उठा लिया और 'यह मेरी ही पुत्री है' ऐसा बार-बार कहते हुए मन्त्रियोंके साथ बड़े प्रसन्न हुए। इसी समय आकाशवाणी हुई—'राजन्! वास्तवमें यह तुम्हारी ही पुत्री है। इस सुन्दर नेत्रवाली कन्याका तुम पालन-पोषण करो।' यह सुनकर राजाके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने अपने नगरमें प्रवेश किया और महारानी धरणीदेवीको बुलाकर कहा—'प्रिये! यह भगवान्‌की दी हुई अपनी कन्या है, इसे देखो। यह पृथ्वीसे प्रकट हुई है। हम दोनों सन्तानहीन हैं। हमारे लिये यही पुत्री होगी।' यों कहकर आकाशराजने रानीके हाथमें प्रेमपूर्वक वह कन्या दे दी। उस कन्याके घरमें प्रवेश करनेपर धरणीदेवीने भी गर्भ धारण किया और समय आनेपर उन्होंने उत्तम मुहूर्तमें पुत्रको जन्म दिया। उस समय पाँच ग्रह उच्च स्थानोंमें स्थित थे और सूर्यदेव मेष राशिपर विराजमान थे। उस पुत्रके जन्म-कालमें देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं तथा राजाके घरमें फूलोंकी वर्षा हुई। उस समय सुखदायिनी हवा चल रही थी। जिन लोगोंने महाराजको पुत्र-जन्मका समाचार सुनाया, उन्हें अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्होंने जो कुछ उनके पास था, सब दे डाला। केवल छत्र और चामर रख लिया। एक करोड़ कपिला गौएँ और एक करोड़ एक सौ बैल दान किये। बारहवें दिनका पुण्य-मुहूर्त आनेपर उन्होंने जातकर्म आदि क्रियाएँ सम्पन्न कीं और स्वयं ही पुत्रका नाम वसुदान रखा।

पृथ्वीदेवी! आकाशराजका पुत्र वसुदान बड़ा ही सुन्दर था। वह बालक प्रतिदिन शुक्ल पक्षके चन्द्रमाकी भाँति बढ़ने लगा। वेदोंके पारंगत विद्वान् गुरुजनोंने उस विनयशील कुमारका उपनयन-संस्कार किया। पितासे ही उसने मन्त्रपूर्वक अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा पायी। अंग और उपांगोंसहित धनुर्वेदके चारों पादोंका अध्ययन किया।

**पृथ्वीदेवीने पूछा**—भगवन्! आपने आकाशराजके पुत्रका नाम बताया। अब यह बतानेकी कृपा करें कि उनकी अयोनिजा कन्याका नाम उस समय क्या रखा गया था?

**भगवान् वाराहने कहा**—देवि! बुद्धिमान्

आकाशराजने उस कन्याका नाम पद्मिनी (पद्मावती, पद्मालया आदि) रखा था। धीरे-धीरे वह युवा अवस्थाको प्राप्त हुई। एक दिन पद्मिनी शुक और कोकिलोंके कलरवसे व्याप्त उपवनमें अपनी सखियोंके साथ विहार कर रही थी। उसी समय मुनिश्रेष्ठ नारद अकस्मात् घूमते हुए वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने वनकी मूर्तिमती लक्ष्मीकी भाँति उस कन्याको देखकर विस्मयसे पूछा—'भीरु! तुम कौन हो, किसकी कन्या हो? मुझे अपना हाथ तो दिखाओ।' यह सुनकर पद्मिनीने नारदजीसे कहा—'ब्रह्मन्! मैं आकाशराजकी कन्या हूँ। मेरे लक्षण बताइये।'

**नारदजी बोले**—सुन्दरि! सुनो, तुम्हारा मस्तक गोलाकार और सम है। इसके ऊपर चिकने और लंबे बाल शोभा पा रहे हैं। तुम्हारा मुख मन्द मुसकानसे सुशोभित है और तुम्हारे अधर बिम्बाफलके समान अरुण हैं। इस प्रकार तुम्हारा यह मुख भगवान् विष्णुके ही योग्य है। ऐसा मेरी बुद्धिका निश्चय है। तुम क्षीरसागरसे प्रकट हुई साक्षात् लक्ष्मीके समान दिखायी देती हो।

## वेंकटाचलनिवासी श्रीहरि और पद्मावतीका विवाह

**भगवान् वाराह कहते हैं**—यों कहकर नारदजी पद्मिनी और उसकी सखियोंद्वारा सम्मानित हो वहाँसे अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर सखियोंने पद्मिनीसे कहा—'सखि! चलो वनमें फूल लानेके लिये चलें।' यों कहकर आकाशराजकी कन्याके साथ वे सखियाँ वनमें गयीं और फूलोंको तोड़ती हुई इधर-उधर विचरने लगीं। फिर वे सब सखियाँ एक वनस्पतिके नीचे जा बैठीं। इसी समय उन्होंने चन्द्रमाके समान श्वेतवर्णवाले एक ऊँचे घोड़ेको देखा। उसके ऊपर श्यामवर्णका पुरुष सवार था, जिसकी आकृति और कान्ति कामदेवको भी लज्जित कर रही थी। उसके विशाल नेत्र पद्मपत्राकार कानोंके समीप पहुँचे हुए थे। उसने एक हाथमें दिव्य शार्ङ्ग धनुष और दूसरेमें सुवर्णमय बाण धारण कर रखा था। उसका कटिप्रदेश पीले रंगके रेशमी वस्त्रसे आच्छादित था। शरीरका मध्यभाग बहुत ही सुन्दर था। वह रत्ननिर्मित कंकण, बाजूबंद और करधनीसे सुशोभित था। उसकी छाती चौड़ी थी, जिससे उस पुरुषकी दक्षिणावर्तनाभि अधिक शोभा पा रही थी। उसका बायाँ कंधा स्वर्णमय यज्ञोपवीतसे चमक रहा था। इस प्रकार उस तरुणका सुन्दर रूप मनको मोह लेनेवाला था। उसे देखकर वे सब स्त्रियाँ चकित हो उठीं। वह घुड़सवार एक भेड़ियेको ढूँढ़ता हुआ वहाँ फूल तोड़नेवाली स्त्रियोंके समीप आया और उनसे पूछने लगा—'इधर कोई भेड़िया आया है क्या?' स्त्रियोंने उत्तर दिया—'तुम धनुष धारण किये हमारे वनमें क्यों आये हो? यहाँके सभी मृग अवध्य हैं। आकाशराजके द्वारा सुरक्षित इस वनसे शीघ्र बाहर निकल जाओ।' उनकी यह बात सुनकर सवार घोड़ेसे उतर पड़ा। उसने पूछा—'तुम सब लोग कौन हो? यह कमलके समान रंगवाली परम सुन्दरी कन्या कौन है?' उसका यह प्रश्न सुनकर एक सखीने उत्तर दिया—'शूरवीर! ये हमारी स्वामिनी हैं। इनका नाम पद्मिनी है। ये आकाशराजकी पुत्री हैं, इनका प्रादुर्भाव पृथ्वीसे हुआ है। सुन्दर शरीरवाले पुरुष! तुम अपना परिचय दो। तुम्हारा नाम क्या है और निवासस्थान कहाँ है? तुम किसलिये यहाँ आये हो?'

सखियोंके इस प्रकार पूछनेपर उस पुरुषने मन्द मुसकानयुक्त मुखारविन्दसे इस प्रकार कहा—'मेरे नाम अनन्त हैं। तपस्वी लोग रंग, रूप और नाम दोनों ही दृष्टियोंसे मुझे कृष्ण कहते हैं। मैं वह हूँ, जिसके धनुषकी समता करनेवाला कोई धनुष देवताओंके पास भी नहीं है। लोग मुझे वेंकटाचलनिवासी वीरपति कहते हैं। शिकारके लिये वनमें आया हूँ। इस वनकी शोभा देखते हुए मेरी दृष्टि सुन्दरीपर भी पड़ गयी। क्या यह मुझे प्राप्त हो सकती है?'

श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर सब सखियाँ कुपित हो गयीं। तब कृष्ण घोड़ेपर चढ़कर शीघ्र ही वेंकटाचलपर चले गये। वहाँ अपने दिव्य निवासस्थानपर पहुँचकर वे घोड़ेसे उतर गये। कृष्णके रूपमें साक्षात् श्रीहरि ही थे। घोड़ेसे उतरकर उन्होंने रत्नमय मण्डपमें प्रवेश किया और मुक्तामय मन्दिरमें जाकर नूतन रत्नमय

सिंहासनपर वे विराजमान हुए और उसी विशाल नेत्रोंवाली तथा मन्द मुसकानसे सुशोभित मुखारविन्दवाली पद्मावतीका स्मरण करने लगे।

तदनन्तर मध्याह्न कालमें भगवान्‌के भोग लगानेयोग्य दिव्य उत्तम एवं सुगन्धित अन्न तैयार करके वकुलमालिका नामकी सखी भगवान्‌को देखनेके लिये शीघ्रतापूर्वक गयी और उनके चरणोंमें भक्ति-भावसे प्रणाम करके पास ही बैठ गयी। उसने देखा, श्रीहरि नेत्र बंद किये किसीकी याद कर रहे हैं। तब उस सखीने कहा—'देवदेवेश्वर! उठिये, पुरुषोत्तम! आपके लिये बहुत उत्तम रसोई तैयार की गयी है। माधव! अब भोजनके लिये पधारिये।'

**श्रीभगवान् बोले**—सखी! प्राचीन कालकी बात है। पवित्र त्रेतायुगमें जब मैंने रावणका वध किया था, उस समय वेदवती नामवाली एक कन्याने लक्ष्मीजीकी सहायता की थी। लक्ष्मी राजा जनकके यहाँ पृथ्वीसे उत्पन्न हो सीताके रूपमें निवास करती थीं। फिर मुझसे विवाह होनेपर जब वे मेरे साथ वनमें गयीं, तब एक दिन पंचवटीमें मारीच नामक राक्षसका वध करनेके लिये मैं आश्रमसे बाहर गया। मेरा छोटा भाई लक्ष्मण भी सीताके कहनेसे मेरे ही पीछे चला आया। तत्पश्चात् राक्षसराज रावण सीताको हर ले जानेके लिये मेरे आश्रमके समीप आया। उस समय मेरे अग्निहोत्र-गृहमें विद्यमान अग्निदेव रावणकी वैसी चेष्टा जानकर सीताको साथ ले पातालमें चले गये और अपनी पत्नी स्वाहाकी देख-रेखमें सीताको सौंपकर लौट आये। पूर्वकालमें कल्याणमयी वेदवतीको एक बार उसी राक्षसने स्पर्श कर लिया था, जिससे दुःखी होकर उसने प्रज्वलित अग्निमें अपने शरीरको त्याग दिया। उस समय उसी वेदवतीको रावणका संहार करनेके उद्देश्यसे अग्निदेवने सीताके समान रूपवाली बना दिया और मेरी पर्णशालामें सीताके स्थानपर उसे लाकर छोड़ दिया। रावणने उसीका अपहरण करके लंकामें ला बिठाया। तदनन्तर रावणके मारे जानेपर अग्नि-परीक्षाके समय उसी वेदवतीने अग्निमें प्रवेश किया। उस समय अग्निदेवने

स्वाहाके समीप सुरक्षित जनकनन्दिनी सीतारूपा लक्ष्मीको लाकर पुनः मेरे हाथमें दिया और इस प्रकार कहा—'देव! यह वेदवती सीताका परम प्रिय करनेवाली है; अतः आप इसे वरदान देकर प्रसन्न करें।' अग्निकी यह बात सुनकर कल्याणमयी सीताने भी मुझसे कहा—'प्रभो! यह वेदवती सदा मेरा प्रिय कार्य करनेवाली है। यह उच्चकोटिकी भगवद्भक्त है। अतः आप स्वयं ही इसे अंगीकार करें।'

**तब मैंने कहा**—देवि! मैं कलियुगमें तुम्हारे कथनानुसार कार्य करूँगा। तबतक यह देवताओंसे पूजित होकर ब्रह्मलोकमें निवास करे। पश्चात् पृथ्वीसे उत्पन्न होकर आकाशराजकी पुत्री होगी। सखी! इस प्रकार मैंने और लक्ष्मीने पूर्वकालमें जिसे वरदान दिया था, वह सुन्दरी इस समय नारायणपुरमें पृथ्वीसे प्रकट हुई है। वह लक्ष्मीके समान ही सद्गुणवती है। उसके नेत्र कमलके समान परम सुन्दर हैं। आज जब मैं शिकार खेलने गया था, तब वह मेरे देखनेमें आयी थी। वह अपने ही समान सुन्दरी सखियोंके साथ वनमें फूल तोड़ रही थी। वकुलमालिके! तुम वहाँ जाकर उस कन्याको देखो और यह जान लो कि वह अपने अनुपम रूप और लावण्यसे इस प्रशंसाके योग्य है या नहीं।

तब वकुलमालिका सखी देवाधिदेव भगवान्‌को प्रणाम करके गुंजाके दानेके समान लाल रंगवाले घोड़ेपर सवार हुई और उनके बताये हुए मार्गसे चल दी। रास्तेमें अनेक प्रकारके मृगों, पक्षियों तथा वृक्ष-लताओंका अवलोकन करती और बार-बार प्रसन्न होती हुई वह आरणी नदीके पश्चिम तटपर जा पहुँची। वह स्थान बहुतेरे वृक्षोंसे हरा-भरा था। वहाँ अगस्त्येश्वरके समीप अपने लाल घोड़ेसे उतरकर वकुलमाला स्नान तथा जलपान करके नदीके तटपर विश्राम करने लगी। इतनेमें ही राजभवनसे बहुत-सी स्त्रियाँ देवताके समीप वहाँ आयीं। वे सब-की-सब पद्मावतीकी सखियाँ थीं। उन्हें देखकर वकुलमालिका उनके समीप गयी और इस प्रकार बोली—'सुन्दरियो! तुम कौन हो? तुम्हारे आभूषण और हार तो बड़े विचित्र हैं। तुम कहाँसे आयी हो और इस स्थानपर तुम्हारा क्या कार्य है?'

**उसकी बात सुनकर सखियोंने मन्द-मन्द मुसकराते हुए कहा**—हम आकाशराजकी रनिवासमें रहनेवाली स्त्रियाँ और महाराजकी पुत्री पद्मावतीकी सहेलियाँ हैं। एक दिन राजकुमारीको आगे करके हम वनमें गयी थीं। वहाँ उनके लिये फूल तोड़ती हुई सब सखियाँ एक वृक्षके नीचे जा बैठीं। वहीं हमें एक सुन्दर पुरुषका दर्शन प्राप्त हुआ। उनके श्रीअंगोंकी कान्ति इन्द्रनीलमणिके समान श्याम थी। उनका वक्षःस्थल लक्ष्मीका निवास जान पड़ता था। मुखपर मन्द-मन्द मुसकानकी छटा छा रही थी। दोनों भुजाएँ बहुत ही सुन्दर, विशाल और हृष्ट-पुष्ट थीं। कटिप्रदेशमें शुद्ध पीताम्बर शोभायमान था। उन्होंने एक हाथमें सुवर्णमय धनुष और दूसरेमें बाण धारण कर रखा था। मस्तकपर सोनेका मुकुट चमक रहा था। वे हार और भुजबंद आदि आभूषणोंसे विभूषित थे। उन्हें देखकर सुवर्णसदृश गौर वर्णवाली हमारी कमलनयनी सखी पद्मावती सहसा बोल उठी—'देखो, देखो!' तब हम सब सखियाँ उन्हींकी ओर देखने लगीं। इतनेहीमें वे शीघ्र चले गये। उनके चले जानेपर सखी पद्मावती मूर्च्छित हो गयीं। उसे उसी अवस्थामें हमलोग राजभवनमें ले गयी। पुत्रीकी ऐसी अवस्था देखकर महाराजने ज्यौतिषीसे पूछा—'विप्रवर! मेरी पुत्रीकी ग्रहदशाका फल बताइये।' तब बृहस्पतिके समान विद्वान् ब्राह्मणने मन-ही-मन ग्रहोंको विचारकर कहा—'नृपश्रेष्ठ! कोई उत्तम पुरुष आपकी कन्याके समीप आया था, उसे ही देखकर राजकुमारी मूर्च्छित हो गयी हैं। उसीके साथ पद्मावतीका विवाहसम्बन्ध होगा।'

राजासे ऐसा कहकर ज्यौतिषीजी अपने घर चले गये। तब आकाशराजने वैदिक ब्राह्मणोंको बुलाकर आदरपूर्वक कहा—'ब्राह्मणो! आपलोग देवमन्दिरमें जाकर वेदमन्त्रोंके साथ शंकरजीका महा-अभिषेक कीजिये।' उनको ऐसा आदेश देकर महाराजने हमें बुलाया और इस प्रकार कहा—'कन्याओ! तुम भगवान्‌के महा-अभिषेककी सामग्री जुटाओ।' राजाकी यह आज्ञा पाकर हम सब सखियाँ देवमन्दिरमें आयी हैं। सुभगे! अब तुम हमें अपना परिचय दो। कहाँसे या किसके कामसे यहाँ आगमन हुआ है अथवा यहाँसे कहाँ जानेका तुम्हारा विचार है? जान पड़ता है, इस दिव्य अश्वपर आरूढ़ होकर तुम देवलोकसे आयी हो।

सखियोंके इस प्रकार पूछनेपर वकुलमालिकाको बड़ा हर्ष हुआ। उसने मधुर वाणीमें कहा—'मैं वेंकटाचलसे इस घोड़ेपर सवार होकर आयी हूँ और महारानी धरणीदेवीसे मिलना चाहती हूँ। क्या राजभवनमें महारानीके दर्शन हो सकते हैं?' उसकी यह बात सुनकर उन कन्याओंने कहा—'शुभे! तुम हमारे साथ धरणीदेवीका दर्शन कर सकती हो।' तब वकुलमालिका उन कन्याओंके साथ राजभवनमें आयी। उधर धरणीदेवीने अन्तःपुरमें जाकर अपनी पुत्रीसे कहा—'बेटी! तुम्हारा कौन कार्य करूँ? तुम्हें कौन वस्तु प्रिय लगती है?' माताके इस प्रकार पूछनेपर मनस्वी कन्या पद्मावतीने मन्द स्वरमें कहा—'अम्बे! संसारमें जो सबसे अधिक नयनाभिराम है, साधु-संतोंके मनको भी जो परम प्रिय लगता है, ब्रह्मा आदि देवता भी जिसके दर्शनकी इच्छा रखते हैं, जो सबसे महान् और सर्वत्र व्यापक है, तेजस्वी पदार्थोंमें भी सर्वाधिक तेजस्वी है, देवताओंका भी देवता है, श्रेष्ठ भक्तोंको ही जो इस लोकमें सुलभ है तथा अभक्तोंको जिसकी प्राप्ति कभी नहीं होती, उसी वस्तुमें मेरा मन लग रहा है। माताजी! वह भक्तोंको सम्पूर्ण कामनाएँ देनेवाला है, तुम मेरे लिये उसी वस्तुकी खोज कराओ।'

**धरणी बोली**—सुलोचने! उसके भक्तोंका लक्षण बतलाओ, जिनके लिये वह संसारमें सुलभ है।

**पद्मावतीने कहा**—उनके मनोरम लक्षणोंका वर्णन करती हूँ, सुनो। वे वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर होकर सदा वैदिक कर्मका अनुष्ठान करते हैं, सत्य बोलते हैं, दूसरोंके दोषोंको कभी नहीं देखते हैं, परायी निन्दासे दूर रहते हैं, दूसरोंके धनका अपहरण नहीं करते। परायी स्त्रियाँ कितनी ही सुन्दरी क्यों न हों, वे न तो उनकी याद करते हैं, न उनकी ओर देखते हैं और न कभी उनका स्पर्श ही करते हैं। ऐसे सदाचारी महात्माओंको ही तुम वैष्णव जानो। जो सब प्राणियोंके प्रति दयाभावसे युक्त होकर सबके हितमें संलग्न रहते हैं तथा देवेश्वर विष्णुके गुणोंका गान करते हैं, उनको निश्चय ही भगवान्‌का भक्त समझो। जिस किसी वस्तुसे भी जो सन्तुष्ट रहते, अपनी ही स्त्रीके प्रति अनुराग रखते तथा राग, भय और क्रोधसे दूर रहते हैं, उन पुरुषोंको तुम भगवान् विष्णुका भक्त जानो। जो ऐसे लक्षणोंसे युक्त हैं, वे ही वैष्णव माने गये हैं। ऐसे सदाचारी भक्तोंको ही उन परमात्माकी प्राप्ति होती है। उन्हीं परमेश्वरमें मेरा प्रेम हो गया है, मेरा मन उन्हींसे मिलना चाहता है। मा! भगवान् विष्णुके सिवा और किसी वस्तुकी मुझे कोई इच्छा नहीं है। मैं श्यामसुन्दर भगवान् विष्णुका स्मरण करती हूँ। उन्हींके हरि, अच्युत आदि नाम लेती हूँ और उन्हींके सहारे जीवन धारण करती हूँ। अतः जिस प्रकार उनसे सम्बन्ध हो सके वैसा उपाय सोचो।

मातासे ऐसा कहकर दयनीय दशाको पहुँची हुई कमलसदृश मुखवाली पद्मावती चुप हो गयी। पुत्रीकी बातें सुनकर धरणीदेवी यह सोचने लगी

कि—'भगवान् विष्णु कैसे प्रसन्न होंगे?' इसी समय अगस्त्येश्वरकी पूजा करके पूर्वोक्त कन्याएँ वकुलमालिकाके साथ धरणीदेवीका दर्शन करनेके लिये आयीं। महारानी धरणीने घरपर पधारे हुए ब्राह्मणोंको उत्तम भोजन दे उनका स्वागत-सत्कार करके वस्त्र और आभूषणोंसहित पर्याप्त दक्षिणा दी तथा अपने मनोरथकी सिद्धिके लिये आशीर्वाद लेकर उन सबको विदा किया। तत्पश्चात् वहाँ आयी हुई मनस्विनी कन्याओंसे पूछा—'बताओ, यह श्रेष्ठ कन्या कौन है? तुमलोगोंसे इसका साथ कहाँ हुआ है? इस राजभवनमें यह किसलिये आयी है? मुझे तो यह कोई पूजनीया देवी प्रतीत होती है।'

**कन्याएँ बोलीं**—महारानी! यह देवी वास्तवमें दिव्यांगना है और किसी कार्यसे आपके ही पास आयी है। देवालयमें भगवान् शंकरके समीप हमलोगोंसे यह मिली है। हमारे पूछनेपर इसने बताया कि 'मैं पूजनीया महारानीसे मिलने आयी हूँ।' तब हमने कहा—'तुम हमारे ही साथ चलो। हम महारानीकी दासियाँ हैं और अभी राजमहलमें चलेंगी।' इस प्रकार यह आपके समीप आयी है। अब आप ही पूछें, इसके आगमनका क्या उद्देश्य है।

**तब धरणीदेवीने पूछा**—तुम कहाँसे आयी हो? मुझसे तुम्हें क्या काम है? सच-सच बताओ।

**वकुलमालिका बोली**—महारानी! मैं वेंकटाचलसे आयी हूँ। मेरा नाम वकुलमालिका है। हमारे स्वामी भगवान् नारायण सदा श्रीवेंकटाचलमें निवास करते हैं। एक दिन वे हंसके समान श्वेत और मनके समान वेगशाली अश्वपर सवार हो वेंकटगिरिके पास ही वनमें शिकार खेलनेके लिये गये और एक वनसे दूसरे वनमें विचरते हुए आरणी नदीके तटपर जा पहुँचे। वहाँ घोड़ेसे उतरकर वे नदीके सुन्दर तटपर भ्रमण करने लगे। उसी समय उन्होंने फूल तोड़ती हुई कुछ सुन्दरी कन्याओंको देखा। उनके बीचमें एक तन्वंगी कन्या थी, जो लक्ष्मीजीके समान सुवर्ण गौरी एवं अत्यन्त मनोहर थी। उस कन्याके प्रति भगवान्‌का मन अनुरक्त हो गया। उसे प्राप्त करनेकी इच्छासे श्रीहरिने उन कन्याओंसे पूछा—'यह सुन्दरी कुमारी कौन है?' कन्याओंने उत्तर दिया—'महाबल! यह आकाशराजकी कन्या है।' इतना सुनकर वे घोड़ेपर सवार हो गये और बड़े वेगसे अपने निवासस्थान वेंकटाचलपर जा पहुँचे। वहाँ स्वामिपुष्करिणीके किनारे अपने धाममें प्रवेश करके भगवान्‌ने मुझे बुलाया और इस प्रकार कहा—'सखी वकुलमालिके! तुम आकाशराजके नगरमें जाकर महाराजके अन्तःपुरमें प्रवेश करो और महारानी धरणीसे मिलकर कुशल-प्रश्न पूछनेके पश्चात् उनकी सुन्दरी पुत्री पद्मालयाको मेरे लिये माँगो तथा राजाका मनोभाव जानकर शीघ्र लौट आओ।' महारानी! भगवान्‌की ऐसी आज्ञा होनेपर मैं तुम्हारे महलमें आयी हूँ। अब तुम मन्त्रीसहित महाराजसे सलाह करके जो उचित जान पड़े वैसा करो।

वकुलमालिकाकी बात सुनकर महारानी धरणी बहुत प्रसन्न हुईं। उन्होंने आकाशराजको बुलाया और पद्मालयाके पास जाकर मन्त्रियोंके बीचमें उसकी कही हुई सारी बातें कह सुनायीं। सुनकर राजा भी अत्यन्त प्रसन्न हुए और मन्त्रियों तथा पुरोहितोंसे बोले—'मेरी पुत्री पद्मालया दिव्यरूपवाली अयोनिजा कन्या है। उसके लिये वेंकटाचल-निवासी देवाधिदेव भगवान् नारायणने याचना की है। आज मेरा मनोरथ पूर्ण हो गया। बताइये, आपलोगोंकी क्या राय है?' महाराजका उत्तम वचन सुनकर सब मन्त्री प्रसन्नचित्त होकर बोले—'राजेन्द्र! यदि ऐसी बात है, तो हम सब लोग कृतार्थ हो गये। इस सम्बन्धसे आपका यह कुल सबसे उन्नत होगा। आपकी अनुपम कन्या साक्षात् भगवती लक्ष्मीके साथ आनन्दपूर्वक रहेगी। आप

इसे देवाधिदेव शार्ङ्गधनुषधारी परमात्मा विष्णुको समर्पित करें। यह शोभामय वसन्त-ऋतु है। इसमें इस शुभ कार्यका अनुष्ठान शीघ्र कर डालना चाहिये। बृहस्पतिजीको बुलाकर आप विवाहके लिये लग्न निश्चित करें।'

तदनन्तर 'बहुत अच्छा' कहकर आकाशराजने देवलोकसे बृहस्पतिजीको बुलाया और वर-कन्याके विवाहके लिये लग्न पूछा—'ब्रह्मन्! कन्याका जन्मनक्षत्र मृगशिरा है और वरका श्रवण। अतः इन दोनोंके विवाह-सम्बन्धका विचार कीजिये।' तब बृहस्पतिजीने कहा—'वर और कन्या दोनोंके सुखकी वृद्धिके लिये ज्यौतिषियोंने उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रको सर्वश्रेष्ठ माना है। अतः वैशाखमासके उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमें दोनोंका विधिपूर्वक विवाहकार्य सम्पन्न किया जाय।' यह सुनकर राजाने बृहस्पतिजीकी पूजा करके उन्हें विदा किया और भगवान्‌की दूतीसे कहा—'शुभे! तुम भगवान्‌के निवासस्थानको जाओ और देवाधिदेव नारायणसे कहो—वैशाखमासमें यह मंगलकार्य सम्पन्न होगा। आप वैवाहिक मंगलाचार सम्पन्न करके यहाँ पधारें।'

इसके बाद देवीका प्रिय करनेवाले शुकरूपी दूतको वकुलमालिकाके साथ भेजकर आकाशराजने अपने पुत्रको वायु, इन्द्र आदि देवताओंके बुलानेके कार्यमें नियुक्त किया। साथ ही विश्वकर्माको बुलाकर अपने नगरकी सजावटके काममें लगाया। विश्वकर्माने पलभरमें अपना कार्य पूर्ण कर दिया। उधर वकुलमालिका अश्वपर सवार हो शुकके साथ प्रस्थित हुई और वेंकटाचलपर पहुँचकर देवालयके समीप घोड़ेसे नीचे उतरी। फिर शुकको अपने साथ ले मन्दिरके भीतर गयी। वहाँ सुन्दर नेत्रोंवाले भगवान् नारायणको लक्ष्मीजीके साथ रत्नसिंहासनपर विराजमान देख प्रणाम करके प्रसन्नतापूर्वक बोली—'प्रभो! वहाँका कार्य तो मैंने पूरा कर लिया, उधरसे मांगलिक वार्ता करनेके लिये यह शुक आया हुआ है।' तब भगवान्‌की आज्ञा पाकर शुकने उन्हें प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'माधव! भूमिकन्या पद्मावतीने आपके पास यह सन्देश भेजा है कि मुझे अंगीकार कीजिये। रमापते! मैं आपके ही नाम लेती हूँ, आपके ही स्वरूपका सदा स्मरण करती हूँ। मधुसूदन! आपकी प्रसन्नताके लिये ही मैं सब कार्य करती हूँ। मेरे इस काममें पिता और माताकी भी सम्मति है। देवेश! मुझपर कृपा करके मुझे अंगीकार कीजिये।'

शुकका यह प्रिय वचन सुनकर श्रीहरिने कहा—'शुक! जाओ और पद्मालयासे इस प्रकार कहो'—'देवि! श्रीनारायणदेवने कहा है कि मैं देवताओंको साथ लेकर मंगलमय विवाहकार्य सम्पन्न करनेके लिये अवश्य आऊँगा।' भगवान्‌का यह वचन सुनकर और प्रसादरूपसे उनकी दी हुई वनमाला लेकर शुक शीघ्र ही आकाशराजकी कन्याके पास लौट गया। उसने कस्तूरीकी सुगन्धसे युक्त वह तुलसीमाला राजकुमारीको देकर प्रणाम किया और भगवान्‌का शुभ सन्देश कह सुनाया। सुनकर उस प्रसादमालाको हाथमें ले पद्मालयाने उसे मस्तकपर चढ़ा लिया और भगवान्‌के आगमनकी प्रतीक्षा करती हुई योग्य आभूषण धारण किये। आकाशराजने भी आनन्दमग्न हो चन्द्रदेवको बुलाकर आदरपूर्वक कहा—'राजन्! आप नाना प्रकारका सरस भोजन तैयार कीजिये जो भगवान् विष्णुके भोगमें आने योग्य हो। उत्तम-से-उत्तम अन्नकी व्यवस्था होनी चाहिये।' इस प्रकार प्रबन्ध करके भगवान्‌के आगमनकी प्रतीक्षा करते हुए आकाशराज प्रसन्न मनसे राजसभामें बैठे थे।

तदनन्तर देवाधिदेव भगवान् नारायणने भी लक्ष्मीजीको बुलाकर कहा—'कल्याणी! अपनी सखियोंको आज्ञा दो और वैवाहिक कार्य सम्पन्न करो।' भगवान्‌का यह आदेश सुनकर लक्ष्मीदेवीने सखियोंको बुलाया और सबको आवश्यक कार्य करनेकी आज्ञा दी। लक्ष्मीकी आज्ञासे प्रीतिदेवीने

सुगन्धित तेल लिया, श्रुतिदेवी रेशमी वस्त्र लेकर भगवान्‌के समीप खड़ी हुईं, स्मृति भी भाँति-भाँतिके आभूषण लेकर प्रसन्नतापूर्वक उपस्थित हुईं। धृतिने दर्पण हाथमें लिया, शान्तिने कस्तूरीको प्रस्तुत किया, लज्जादेवी यक्षकर्दम[१] लेकर भगवान्‌के सामने खड़ी हुईं, कीर्तिने सोनेका पट्ट तथा रत्नयुक्त मुकुट हाथमें लिया, शचीने छत्र लगाया, सरस्वतीदेवी चँवर डुलाने लगीं, गौरीदेवीने दूसरा चँवर हाथमें लिया, विजया और जया पंखा झलने लगीं। उपर्युक्त सब देवियोंको वहाँ उपस्थित देख लक्ष्मीदेवीने शीघ्रतापूर्वक उठकर सुगन्धित तेल हाथमें लिया और भगवान्‌के मस्तकसे लेकर सब अंगोंमें उसे लगाकर सुगन्धित चूर्णसे उबटन किया। इस प्रकार श्रीनारायणदेवके सब अंगोंको भलीभाँति मलकर आकाशगंगा आदि तीर्थोंसे भरकर लाये हुए सौ सुवर्णमय कलश मँगवाये और उनमेंसे एक-एकको लेकर उसके जलसे भगवान्‌का अभिषेक किया। तत्पश्चात् सुनहरे रंगके सुगन्धयुक्त चन्दनसे भगवान्‌के अंगमें लेप लगाया। फिर उनकी कमरमें रेशमी पीताम्बर बाँधकर उसमें करधनी पहना दी। मस्तकपर मुकुट रखा और अन्यान्य आभूषणोंसे भी विभिन्न अंगोंको विभूषित किया। उनकी सभी अंगुलियोंमें लक्ष्मीजीने दिव्य सोनेकी अंगूठियाँ पहना दीं। इसके बाद धृतिदेवीने भगवान्‌के समीप जाकर दर्पण दिखाया। दर्पण देखकर देवाधिदेव विष्णुने स्वयं ही ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण किया। तदनन्तर वे लक्ष्मीजीके साथ गरुड़पर आरूढ़ हुए। इसी समय ब्रह्मा, महादेवजी, इन्द्र, वरुण, यम और कुबेर उनकी सेवामें उपस्थित हुए। इन सब देवताओं, वसिष्ठ आदि मुनीश्वरों, सनकादि योगियों तथा अन्य भगवद्भक्तोंके साथ भगवान् विष्णु नारायणपुरको गये। उस समय भगवान् विष्णुके समीप देवताओंके नगाड़े बज रहे थे। मुनिलोग स्वस्त्ययनसम्बन्धी सूक्तोंका जप करते हुए भगवान्‌के पीछे-पीछे चल रहे थे। भगवान्‌के साथ सम्पूर्ण देवता और विष्वक्सेन आदि पार्षद चल रहे थे। वकुलमाला आदि सखियाँ रथोंमें बैठकर गयीं। इस प्रकार भगवान्‌ने बारात लेकर आकाशराजके सजे-सजाये नगरमें प्रवेश किया।

आकाशराजने देखा, भगवान् आ गये और पुत्री पद्मावती भी ऐरावतपर बैठकर समस्त पुरीकी परिक्रमा करके गोपुरद्वारपर आ पहुँची है। तब वे वर-वधूको साथ ले आकर भाई-बन्धुओंके साथ भगवान्‌का दर्शन करते हुए खड़े हो गये। भगवान्‌ने अपने कण्ठमें पड़ी हुई माला हाथमें लेकर पद्मालयाके गलेमें डाल दी और पद्मालयाने बेलाके फूलोंका गजरा लेकर भगवान्‌के कण्ठमें पहना दिया। ऐसा करके वे दोनों सवारीसे उतर गये और थोड़ी देर पीढ़ेपर खड़े होनेके पश्चात् सुन्दर गृहमें प्रवेश किया। उनके साथ ब्रह्मा आदि देवताओंका समुदाय भी था। ब्रह्माजीने अंकुरारोपणपूर्वक मांगल्य-सूत्र-बन्धन (कंकण-बन्धन)-से लेकर लाजाहोमतककी सम्पूर्ण वैवाहिक विधि सम्पन्न करायी। फिर व्रत-पालनकी आज्ञा लेकर पद्मालया और श्रीहरिने पृथक्-पृथक् शयन किया। पुनः चौथे दिन चतुर्थी कर्म आदि सब कार्य पूर्ण करके चतुर्मुख ब्रह्माने आकाशराजकी अनुमति ले दोनों देवियोंके साथ भगवान्‌को गरुड़पर बिठाया और देवताओंके साथ वहाँसे चलनेकी तैयारी की। तब आकाशराजने इन्द्र आदि देवताओंके साथ अपनी पुत्री और दामादका प्रिय करनेके लिये सोनेके कड़ाहोंमें अगहनीके चावल, मूँगसे भरे हुए अनेक पात्र और सैकड़ों घीके घड़े दहेजमें दिये। हजारों

१- कपूर, अगर, कस्तूरी और कंकोलसे बनी हुई अंगराग-सामग्रीका नाम 'यक्षकर्दम' है।

पद्मालया और भगवान्‌का परस्पर माला पहनाना

घड़े दूध और दहीसे भरे हुए अनेकों भाण्ड, आम, केला और नारियलके दिव्य फल, आँवले, कूष्माण्ड, राजकदलीके फल, कटहल, बिजौरा नीबू, शक्करसे भरे हुए घड़े, सोना, मणि, मोती, करोड़ों रेशमी वस्त्र, हजारों दास-दासी, करोड़ों गाय, हंस और चन्द्रमाके समान श्वेत रंगके दस हजार घोड़े और सदा उन्मत्त रहनेवाले सौसे अधिक ऊँचे-ऊँचे हाथी—ये सारी वस्तुएँ भगवान् विष्णुको भेंट करके आकाशराज उनके आगे खड़े हुए।

पद्मावती और लक्ष्मीदेवीके साथ वेंकटनाथ भगवान् विष्णु दहेजकी वह सब सामग्री देखकर बड़े प्रसन्न हुए और अपने श्वसुरसे बोले—'राजन्! इस समय आप मेरे गुरु हैं। आपकी जो इच्छा हो मुझसे वर माँगिये।' भगवान्‌की यह बात सुनकर आकाशराजने कहा—'देव! इस संसारमें आपकी अनन्य सेवा ही मेरे द्वारा होती रहे, मेरा मन आपके चरणारविन्दोंमें रमता रहे और आपमें मेरी निरन्तर भक्ति बनी रहे।'

**श्रीभगवान् बोले**—राजेन्द्र! आपने जो कहा है, वह सब पूर्ण होगा। तत्पश्चात् ब्रह्मा आदि देवताओंने और शुक आदि मुनिगणोंने भगवान् पुरुषोत्तमका स्तवन किया। फिर ब्रह्मा आदि सब देवताओंका यथायोग्य सत्कार करके श्रीहरिने उन्हें स्वर्गलोकमें जानेके लिये प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा दे दी। उन सबके चले जानेपर भगवान् नारायण स्वामिपुष्करिणीके तटपर लक्ष्मीदेवी और पद्मावतीके साथ अपने दिव्य धाममें रहने लगे।

## तोण्डमानको निषादके साथ भगवान् श्रीनिवासका दर्शन होना

**पृथ्वीने पूछा**—मुझे धारण करनेवाले प्रियतम! कलियुगमें आपका दर्शन किसको होगा तथा परम सुन्दर विग्रहवाले भगवान् श्रीनिवासका दर्शन भी किसे प्राप्त हो सकेगा? यह मुझे बतलाइये।

**भगवान् वाराह बोले**—देवि! सुनो। जो भविष्यमें होनेवाली बात है उसे भूतकालकी भाँति बतला रहा हूँ। इस पवित्र पर्वतपर एक वसु नामक निषाद था, जो श्यामाक वन (सावाँके जंगल)-की रक्षा किया करता था। भगवान् पुरुषोत्तमके प्रति उसके मनमें बड़ी भक्ति थी। वह सावाँके चावलोंका भात बनाकर उसमें मधु मिला देता और श्रीदेवी तथा भूदेवीसहित देवाधिदेव भगवान् विष्णुको निवेदन करके स्वयं प्रसाद पाता था। इस प्रकार भक्ति करनेवाले उस निषादकी कल्याणमयी भार्या चित्रवतीने एक उत्तम पुत्रको जन्म दिया, जिसका नाम वीर था। वसु अपने पुत्र तथा पतिव्रता पत्नीके साथ आनन्दपूर्वक रहता था। एक दिन वह अपने पुत्रको सावाँकी रक्षा करनेका आदेश दे स्वयं पत्नीके साथ मधुकी खोजमें चला। मधुका छाता देखनेकी इच्छासे वह एक वनसे दूसरे वनमें शीघ्रतापूर्वक चला जा रहा था। इधर उसके पुत्रने सावाँके तैयार किये हुए भातको लेकर कुछ अग्निमें डाल दिया और कुछ पीसकर वृक्षकी जड़में भगवान् श्रीपतिको भोग लगाया। फिर भगवान्‌का प्रसाद खाकर वीर वहाँ सुखसे बैठा रहा। तदनन्तर वसु मधु लेकर आया और सावाँके चावलोंको खाया हुआ देख अपने पुत्रको फटकारने लगा। उसने बड़ी उतावलीके साथ वीरको मार डालनेके लिये तलवार लेकर हाथको ऊपर उठाया। उस समय भगवान् विष्णु उस वृक्षपर ही विराजमान थे। उन्होंने वसुकी तलवार हाथसे पकड़ ली। तब उसने वृक्षकी ओर देखा। भगवान् विष्णु हाथमें शंख, चक्र

और गदा लिये तथा आधा शरीर वृक्षपर टिकाये

खड़े थे। उन्हें देखते ही वसुने तलवार छोड़ दी और भगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम करके कहा—'देवदेवेश्वर! आप यह क्या कर रहे हैं?'

**श्रीभगवान् बोले**—वसो! तुम मेरी बात सुनो। तुम्हारा पुत्र मुझमें भक्ति रखता है। यह तुमसे भी बढ़कर मुझे प्यारा है। इसलिये मैंने इसे प्रत्यक्ष दर्शन दिया। इसकी दृष्टिमें मैं सर्वत्र हूँ, किंतु तुम्हारी दृष्टिमें केवल स्वामिपुष्करिणीके तटपर रहता हूँ।

भगवान्‌का यह वचन सुनकर वसु बड़ा प्रसन्न हुआ। एक समय चन्द्रवंशमें तोण्डमान नामसे प्रसिद्ध एक राजा हुए। वे बड़े वीर थे। उनके पिताका नाम सुवीर और माताका नाम नन्दिनी था। पाँच ही वर्षकी अवस्थामें उनके हृदयमें भगवान् विष्णुकी भक्ति प्रकट हो गयी थी। वे बड़े बुद्धिमान् और सुशीलता, शूरता तथा पराक्रम आदि गुणोंकी निधि थे। युवा होनेपर उन्होंने पाण्ड्यनरेशकी सुन्दरी पुत्री पद्माके साथ विवाह किया। तत्पश्चात् भिन्न-भिन्न देशोंकी सैकड़ों स्वयंवरा कन्याओंको भी वे ब्याह लाये और नारायणपुरमें रहकर इस पृथ्वीपर देवराज इन्द्रकी भाँति सुख भोगने लगे। एक दिन सिंहके समान पराक्रमी तोण्डमान अपने पिताकी आज्ञा लेकर वेंकटाचलके समीप शिकार खेलनेके लिये गये। वहाँ अपने सेवकोंके साथ पैदल घूमते हुए उन्होंने एक यूथपति गजराजको देखा और उसे पकड़नेके लिये उसका पीछा किया। सुवर्णमुखरी नदीको पार करके वे परम उत्तम ब्रह्मर्षि शुकके पास गये और उन्हें प्रणाम करके, उनकी आज्ञा ले एक वनसे दूसरे वनमें चलते गये। एक जगह उन्होंने रेणुकादेवीको देखा, जो वल्मीक—बाँबी (बिमौट)-के आकारमें खड़ी थीं। उनको प्रणाम करके वीर तोण्डमान पश्चिमकी ओर चले गये। आगे जाकर उन्हें एक पँचरंगा तोता दिखायी दिया। फिर उसे पकड़नेके लिये वे भी उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगे। तोता श्रीनिवासका नाम रटता हुआ शीघ्र ही पर्वतके शिखरपर जा पहुँचा। पीछा करते हुए राजा भी गिरिराजपर चढ़ गये और उस तोतेको ढूँढते-ढूँढ़ते श्यामाक वनमें जा पहुँचे। वहाँ तोतेको न देखकर उन्होंने उस वनकी रक्षा करनेवाले निषादको देखा। उसने भी राजाको आते देख शीघ्रतापूर्वक आगे आकर उनकी अगवानी की और उन्हें प्रणाम करके विनीतभावसे वह दोनों हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। तोण्डमानने भी उसका आदर करके उससे पूछा—'वनेचर! इधर कोई पँचरंगा तोता आया है? क्या तुमने उसे देखा है? वह 'श्रीनिवास-श्रीनिवास' की रट लगा रहा था। बताओ वह किधर गया है?'

**वनेचर बोला**—महाराज! वह पाँच रंगोंवाला शुक भगवान् श्रीनिवासको बहुत प्रिय है। उसे श्रीदेवी और भूदेवीने पाल-पोसकर बड़ा किया है। वह सदा भगवान् श्रीहरिके ही पास रहता

है और स्वामिपुष्करिणीके तटपर भगवान्‌के समीप विचरता रहता है। उस सुन्दर शुकको कोई भी पकड़ नहीं सकता। राजकुमार! अब मैं भगवान्‌की आराधनाके लिये जाऊँगा, जबतक मैं लौटकर न आऊँ तबतक आप यहीं वृक्षके नीचे विश्राम कीजिये।

**राजा बोले**—वनेचर! मैं भी तुम्हारे साथ भगवान् जनार्दनका दर्शन करनेके लिये चलूँगा। तुम मुझे वेंकटाचलनिवासी देवेश्वरका दर्शन कराओ।

राजाकी यह बात सुनकर निषादने मधुमिश्रित सावाँका भात आमके पत्तेके दोनेमें रख लिया और राजाको भी साथ लेकर वह भगवान्‌के समीप गया। वहाँ राजासहित विधिपूर्वक स्नान करके निषादराजने स्वामिपुष्करिणीके तटपर बिल्ववृक्षके नीचे विराजमान भगवान् विष्णुका राजाको दर्शन कराया। उनके श्रीअंगोंकी कान्ति अलसीके फूलकी भाँति श्याम थी। कमलदलके समान सुन्दर एवं विशाल नेत्र थे। वे चार भुजाओंसे सुशोभित थे। उनके अंग-अंगसे उदारता प्रकट हो रही थी। मुखारविन्दपर मन्द-मन्द मुसकानकी छटा छा रही थी। उनके अंगोंपर दिव्य पीताम्बर शोभा पा रहा था। मस्तकपर किरीट और हाथोंमें कंकण आदि आभूषणोंसे उनकी शोभा और भी बढ़ गयी थी। भगवान्‌के दोनों पार्श्वमें परमसुन्दरी श्रीदेवी और भूदेवी विराज रही थीं। शंख, चक्र, खड्ग, गदा, शार्ङ्गधनुष और बाण आदि आयुध मूर्तिमान् होकर सब ओरसे भगवान्‌की सेवामें उपस्थित थे। इस प्रकार उन पुरुषोत्तमका दर्शन करके उन दोनोंने आनन्दमग्न होकर उन्हें प्रणाम किया। निषादने भी मधुमिश्रित सावाँका भात भगवान्‌को निवेदन किया। फिर राजाके साथ श्यामाक वनमें अपनी पवित्र पर्णकुटीपर वह लौट आया। राजा एक रात उसकी कुटीमें रहे और सबेरे उठकर अपनी सेनाके साथ पुनः नगरकी ओर लौटे। फिर देवीके वनमें जाकर वे घोड़ेसे उतरे और चैत्र शुक्ला नवमीको उन्होंने रेणुकादेवीका पूजन किया। उनसे पूजित होकर देवीने प्रसन्न हो उन्हें वर दिया—'राजन्! तुम्हारा राज्य निष्कण्टक होगा। राजधानी तुम्हारे ही नामसे प्रसिद्ध होगी। मेरे समीप तुम दीर्घकालतक राज्य करोगे और तुम्हारे ऊपर देवाधिदेव भगवान् विष्णुका कृपाप्रसाद सदा बना रहेगा।'

इस प्रकार वरदान पाकर राजा पुनः शुकमुनिके आश्रमपर गये और उन्हें प्रणाम करके उनके द्वारा सम्मानित हो हर्षको प्राप्त हुए। फिर उन्होंने मुनिसे कहा—'महर्षे! आप कमलसरोवरका माहात्म्य बतलाइये।'

**श्रीशुक मुनिने कहा**—राजन्! यह कमल-सरोवर नामक तड़ाग सब पापोंका नाश करनेवाला है। कीर्तन, स्मरण और स्नान करनेसे यह मनुष्योंको इस पृथ्वीपर लक्ष्मी प्रदान करनेवाला होता है। तुम भी इसमें स्नान करके अपने पिताके समीप जाओ।

शुक मुनिका यह वचन सुनकर राजकुमारने कमलसरोवरमें स्नान किया और मुनिको प्रणाम करके घोड़ेपर सवार हो अपने नगरको प्रस्थान किया। पिताने तोण्डमानको तीन वर्षके लिये युवराज बनाकर देख लिया कि मेरे पुत्रमें प्रजाको प्रसन्न रखनेकी योग्यता, सामर्थ्य, पराक्रम, शौर्य, सुशीलता और ब्राह्मणभक्ति है। तब उन्होंने मन्त्रियोंसे सलाह करके विधिपूर्वक पुत्रका राज्याभिषेक किया और उन्हें अपने पदपर स्थापित करके उनकी अनुमति ले राजा सुवीर वनमें चले गये। तोण्डमानने वह विशाल साम्राज्य पाकर धर्मपूर्वक राज्य किया।

भूदेवी तथा श्रीदेवीसहित सपरिकर भगवान् विष्णु

# वाराहभगवान् तथा अस्थिसरोवर तीर्थकी महिमा, भक्त कुम्हार तथा राजा तोण्डमानका परमधामगमन

**भगवान् वाराह कहते हैं**—एक दिन निषादराज वसु तोण्डमानके द्वारपर आया। द्वारपालोंसे उसके आगमनकी सूचना पाकर महाराजने उसे दरबारमें बुलाया और मन्त्रियोंके साथ पुत्र और परिवारसहित उसका स्वागत-सत्कार किया। तत्पश्चात् प्रसन्न होकर उन्होंने वसुसे पूछा—'वनेचर! किस कार्यसे तुम्हारा यहाँ आगमन हुआ है?'

**वसुने कहा**—राजन्! मैंने वनमें एक बड़े आश्चर्यकी बात देखी है, उसे सुनिये। रातमें कोई श्वेत रंगका वाराह आकर मेरा सावाँ चरने लगा। तब मैंने हाथमें धनुष लेकर उसका पीछा किया। खदेड़नेपर वह वायुके समान वेगसे भागा और मेरे देखते-देखते स्वामिपुष्करिणीके तटपर वल्मीकमें घुस गया। तब मैंने क्रोधवश उस वल्मीकको खोदना आरम्भ किया। इतनेमें ही मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। उसी समय मेरा यह पुत्र भी आ गया और मुझे पृथ्वीपर मूर्छित होकर पड़ा देख, पवित्र होकर देवाधिदेव भगवान् मधुसूदनकी स्तुति करने लगा। तब भगवान् वाराहका मुझमें आवेश हुआ, उन्होंने मेरे पुत्रसे कहा—'निषादराज! तुम शीघ्र राजाके पास जाकर मेरा सारा वृत्तान्त उनसे कहो। राजा काली गौके दूधसे अभिषेक करते हुए इस वल्मीकको धो डालें, तब इसके भीतर एक परमसुन्दर शिला दिखायी देगी। उसे लेकर किसी कारीगरसे मेरी मूर्ति बनवावें, जिसमें मैं भूमिदेवीको अपने बायें अंकमें लेकर खड़ा रहूँ और मेरा मुख सूकरके समान हो। मूर्ति तैयार हो जानेपर बड़े-बड़े मुनीश्वरों और वैखानस महात्माओंद्वारा उसकी स्थापना कराकर स्वयं तोण्डमान भी उसकी पूजा करें।' यों कहकर भगवान् वाराहने मुझे छोड़ दिया, तब मैं स्वस्थ हो गया। देवाधिदेव भगवान् वाराह आपसे क्या कराना चाहते हैं, यह बतलानेके लिये ही मैं यहाँ आया हूँ।

राजा तोण्डमान भी यह सुनकर बहुत प्रसन्न और विस्मित हुए। तदनन्तर पुष्कर आदि मन्त्रियोंके साथ कार्यका निश्चय करके वेंकटाचल जानेका विचार किया और सब ग्वालोंको बुलाकर कहा—'गोपगण! जितनी भी मेरी काली और कपिला गौएँ हैं, उन सबको बछड़ोंसहित वेंकटाचलके समीप लाओ।' गोपोंको ऐसी आज्ञा देकर राजाने मन्त्रियोंको सूचित किया—'कल ही यात्रा करनी है।' इसके बाद सब प्रजाको विदा करके जितेन्द्रिय राजाने अन्तःपुरमें प्रवेश किया और अपनी पत्नियोंसे वाराहजीकी वह कथा सुनाकर वे रातमें वहीं सोये। सपनेमें भगवान् श्रीनिवासने राजाको बिलका मार्ग दिखाया और उनके नगरसे लेकर बिलके अन्ततक मार्गमें पल्लव बिछा दिये। राजा यह स्वप्न देखकर जब सबेरे उठे, तब उन्होंने शीघ्र ही मन्त्रियों, प्रजाओं और ब्राह्मणोंको भी बुलाया। उन सबसे अपना देखा हुआ स्वप्न सुनाकर जब उन्होंने दरवाजेपर दृष्टि डाली, तब वहाँ पल्लव बिछे हुए दिखायी दिये। तब उपयुक्त मुहूर्त्तमें घोड़ेपर सवार हो राजा तोण्डमान घरसे चले और बिलके पास पहुँचकर वहीं उन्होंने नगर बनाया। उस समय देवाधिदेव भगवान्ने स्वयं राजाको यह आदेश दिया अर्थात् संकेत किया कि 'इमली और चम्पा—ये दो वृक्ष बहुत उत्तम हैं, इनका पालन करो। इमली मेरा आश्रय है और चम्पा लक्ष्मीजीका स्थान है। अतः राजाओं, ऋषिओं, देवताओं तथा मनुष्योंको इन दो वृक्षोंकी वन्दना करनी चाहिये।'

तोण्डमानसे ऐसा कहकर भगवान् विष्णु चुप

हो गये। उनका वचन सुनकर राजाने चाहारदिवारी बनवायी और वैखानस कुलके मुनियोंसे पूजन कराया। वे प्रतिदिन बिलके मार्गसे आकर भगवान्‌को प्रणाम करते और लौट जाते थे। उन्होंने उत्तम भोग भोगते हुए धर्मपूर्वक राज्य किया। इसी समय दक्षिण देशके एक श्रेष्ठ ब्राह्मण गंगास्नानके लिये स्त्रीसहित घरसे चले। मार्गमें ब्राह्मणी गर्भवती हो गयी। उसे इस दशामें देखकर और अपने साथ चलनेमें असमर्थ जानकर ब्राह्मण देवता राजाके द्वारपर आये। द्वारपालसे उनके आगमनकी सूचना पाकर राजाने उन्हें दरबारमें बुलाया और उनकी विधिपूर्वक पूजा करके उनसे कुशल-समाचार पूछा—'ब्रह्मन्! आपके आगमनका क्या हेतु है? बताइये, मैं आपकी किस आज्ञाका पालन करूँ?'

**ब्राह्मणने कहा**—नृपश्रेष्ठ! मैं वसिष्ठकुलमें उत्पन्न वीरशर्मा नामक सामवेदी ब्राह्मण हूँ। घरसे गंगास्नान करनेके लिये पत्नीको साथ लेकर निकला था। मार्गमें यह गर्भवती हो गयी। यह कुशिकवंशकी कन्या तथा बड़ी पुण्यशालिनी है। इसका नाम लक्ष्मी है। यह बड़ी सुशील और पतिव्रता है। इसे मैं आपके घरमें रखकर अपना व्रत पूर्ण करना चाहता हूँ। अतः जबतक मैं लौटकर न आ जाऊँ, तबतक आप इसकी रक्षा करें।

ब्राह्मणकी बात सुनकर राजाने छः महीनेके लिये चावल और धन देकर ब्राह्मणीके लिये अन्तःपुरमें एक घर दे दिया। अपनी पत्नीको वहाँ रखकर ब्राह्मण प्रसन्नतापूर्वक गंगास्नानके लिये चले गये। उत्तम क्षेत्र प्रयागमें भागीरथी गंगाके तटपर पहुँचकर उन्होंने स्नान किया। वहाँसे काशीकी यात्रा की और वहाँ भी तीन दिनोंतक रहकर वे गया चले गये। वहाँ उन श्रेष्ठ ब्राह्मणने अपने पितरोंका श्राद्ध किया। तत्पश्चात् अयोध्यापुरीकी यात्रा करके वे बद्रिकाश्रमको गये। फिर शालिग्राम-तीर्थका सेवन करके अपने देशकी ओर लौटे। इसीमें दो वर्ष बीत गये। वैशाखमासकी शुक्लपक्षीया एकादशी तिथिको वे पुनः राजाके पास गये। राजा ब्राह्मणीको भूल गये थे। उन्होंने उसका कभी स्मरण नहीं किया। ब्राह्मणी स्वाभिमानिनी थी, (छः महीने बाद अन्न समाप्त हो जानेपर भी वह माँगने नहीं गयी) घरमें ही मरकर सूख गयी थी। तदनन्तर वीरशर्मा ब्राह्मणने गंगाजलकी पिटारी खोलकर एक शीशी गंगाजल राजाको भेंट किया और पूछा—'मेरी धर्मपत्नी कुशलसे तो है न?' तब राजाने ब्राह्मणको स्मरण करके कहा, 'आप ठहरिये, मैं अभी आता हूँ।' यों कहकर उन्होंने अन्तःपुरमें जाकर देखा तो ब्राह्मणी घरमें मर गयी थी। ब्राह्मणको यह बात न बताकर राजाने उसी उत्तम बिलमें प्रवेश किया और श्री तथा भूदेवीके सहित भगवान् श्रीनिवासका दर्शन करनेके लिये वे वेंकटाचलपर गये। राजाको सहसा आते देख श्रीदेवी और भूदेवी—दोनों छिप गयीं। उन्हें प्रणाम करते देख भगवान्‌ने पूछा, 'राजन्! यह असमयमें तुम्हारा आगमन कैसे हुआ?' राजाने भयभीत होकर ब्राह्मणीकी मृत्युका वृत्तान्त बतलाया। उसे सुनकर देवदेव भगवान् विष्णुने कहा—'राजन्! उस श्रेष्ठ ब्राह्मणसे भय न करो। तुम ब्राह्मणीके शवको डोलीमें बैठाकर अपनी रानियोंके साथ यहाँ ले आओ और मेरे निवासस्थानसे पूर्व भागमें जो अस्थिसरोवर है, उसीमें द्वादशीको नहलाओ। वह सरोवर अपमृत्युका निवारण करनेवाला है। उसमें स्नान करके ब्राह्मणी जीवित हो जायगी और अन्य स्त्रियोंके साथ ही सरोवरसे बाहर निकलेगी। फिर उसका ब्राह्मणके साथ संयोग होगा।'

भगवान् श्रीनिवासका यह वचन सुनकर राजा अपने नगरमें गये और सुन्दर-सुन्दर डोलियोंमें अपनी रानियोंको तथा एक डोलीमें मरी हुई ब्राह्मणीको भी बैठाकर ब्राह्मणको आगे करके वहाँसे भगवान्‌का दर्शन करनेके लिये चले। अस्थिकूटसरोवरपर पहुँचकर राजाने उन सब

स्त्रियोंको स्नान करनेकी आज्ञा दी। उनकी रानियोंने अस्थिचर्मविशिष्ट ब्राह्मणीको भी सरोवरमें डाल दिया। फिर तो वह जी उठी। उसके शरीरके सभी चिह्न पूर्ववत् प्रकट हो गये। तत्पश्चात् वह मंगलमयी ब्राह्मणी रानियोंके साथ नहाकर सरोवरसे बाहर आयी और तीर्थयात्रासे पुनः लौटे हुए अपने स्वामी ब्राह्मणदेवतासे

प्रसन्नतापूर्वक मिली। राजाने भगवान्‌की पूजा करके ब्राह्मणको धन दिया। एक हजार स्वर्णमुद्रा और भाँति-भाँतिके वस्त्र देकर स्वदेश जानेके लिये उन ब्राह्मणदम्पतिको सादर विदा किया। ब्राह्मणने जब अपनी स्त्रीका समाचार और भगवान् वेंकटेश्वरका प्रभाव सुना, तब राजाको आशीर्वाद देकर अपने देशको प्रस्थान किया।

राजा तोण्डमान भगवान् श्रीनिवासजीकी आज्ञाके अनुसार प्रतिदिन सुवर्णमय कमलोंसे उनकी पूजा किया करते थे। एक दिन उन्होंने देखा भगवान्‌के ऊपर मिट्टीका बना हुआ तुलसी-पुष्प चढ़ा हुआ है। इससे विस्मित होकर राजाने पूछा—'भगवन्! ये मिट्टीके कमल और तुलसीपुष्प चढ़ाकर कौन आपकी पूजा करता है?' उनके इस प्रकार पूछनेपर देवाधिदेव भगवान्‌ने स्मरण करके कहा—'मेरा एक भक्त कुम्हार है जो कूर्मग्राममें निवास करता है। वह अपने घरमें मेरी पूजा करता है और मैं उसे स्वीकार करता हूँ।'

भगवान्‌की यह बात सुनकर राजा उस कुम्हारको देखनेके लिये गये और कूर्मपुरमें जाकर उसके घर पहुँचे। राजाको आया देख कुम्हार उन्हें प्रणाम करके आगे खड़ा हो गया; उसका नाम भीम था। राजाने उससे पूछा—'भीम! तुम अपने कुलमें सबसे श्रेष्ठ हो, बताओ भगवान्‌की पूजा किस प्रकार करते हो?' उनके पूछनेपर कुलालने कहा—'महाराज! मैं कभी कोई पूजा नहीं जानता। भला, आपसे किसने कह दिया कि कुम्हार पूजा करता है?'

**तोण्डमान बोले**—स्वयं भगवान् श्रीनिवासने तुम्हारे पूजनकी बात कही है।

राजाकी बात सुनकर कुम्हारको पूर्वकालमें दिये हुए भगवान्‌के वरदानका स्मरण हो आया। उसने कहा—'महाराज! पहले भगवान् वेंकटेश्वरने मुझे यह वरदान दिया है कि 'जब तुम्हारी की हुई पूजा प्रकाशित हो जायगी, जब राजा तोण्डमान तुम्हारे द्वारपर आ जायँगे और उनके साथ तुम्हारा संवाद होगा, तब तुम्हें मोक्ष प्राप्त हो जायगा।' यों कहकर पत्नीसहित कुम्हारने वहाँ आये हुए विमानको और उसपर बैठे हुए भगवान् जनार्दनको देखकर उन्हें प्रणाम करते हुए प्राण त्याग दिया तथा राजाधिराज तोण्डमानके देखते-देखते विमानपर बैठकर दिव्यरूप धारण करके दिव्य रूपधारिणी पत्नीके साथ वह भगवान् विष्णुके परमधामको चला गया।'

यह अद्भुत घटना देखकर राजा हर्षमें भरे हुए अपने नगरको आये और अपने श्रीनिवास नामक पुत्रका विधिपूर्वक राज्याभिषेक करके बोले—'वत्स! तुम धर्मपूर्वक सब मनुष्योंका

भक्त भीम कुम्हारका पत्नीसहित विमानारोहण

पालन और पृथ्वीकी रक्षा करो।' पुत्रको यह आज्ञा देकर बुद्धिमान् राजाने बड़ी भारी तपस्या की। तपस्या करते समय भगवान्‌ने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया। वे श्री तथा भूदेवियोंके साथ गरुड़पर आरूढ़ होकर वहाँ आये थे।

**श्रीभगवान् बोले**—नृपश्रेष्ठ! मैं तुम्हारी तपस्यासे बहुत सन्तुष्ट हूँ, बोलो—तुम्हारी किस इच्छाको पूर्ण करूँ?

देवाधिदेव भगवान्‌के ऐसा कहनेपर सम्राट् तोण्डमान अत्यन्त प्रसन्न हो हाथ जोड़कर गद्‌गद वाणीमें बोले—'माधव! मैं आपके जरा-मृत्यु-रहित धाममें निवास करना चाहता हूँ, मुझे यही मनोवांछित वरदान दीजिये।' ऐसा कहकर राजा भगवान्‌के समीप पृथ्वीपर साष्टांग पड़ गये और शरीर त्यागकर विमानपर जा बैठे। उस समय गन्धर्वगण उनकी स्तुति कर रहे थे। राजा भगवान् विष्णुका सारूप्य प्राप्त करके शोक-मोहरहित, जरा-मरणवर्जित तथा पुनरावृत्तिशून्य वैकुण्ठधामको चले गये।

**सूतजी कहते हैं**—देवाधिदेव भगवान् वाराहके द्वारा कहे हुए इस भविष्य-प्रसंगको जो सुनता है तथा पुण्यमयी पुराणकथाका भक्तिपूर्वक पाठ करता है, वह सब कामनाओंको भोगकर अन्तमें भगवान् विष्णुके परमपदको प्राप्त होता है।

## राजा परीक्षित्‌को ब्राह्मणका शाप, तक्षकके काटनेसे उनकी मृत्यु तथा उनकी रक्षा न करनेके पापसे कलंकित काश्यप ब्राह्मणका स्वामिपुष्करिणीमें स्नान करके शुद्ध होना

**श्रीसूतजी कहते हैं**—महर्षियो! अब मैं श्रीस्वामिपुष्करिणीके माहात्म्यका प्रतिपादन करनेवाला इतिहास कहता हूँ, जो इसे पढ़नेवालोंके भी पापका नाश करनेवाला है। अभिमन्युके पुत्र राजा परीक्षित् धर्मके अनुसार इस पृथ्वीका पालन करते हुए हस्तिनापुरमें निवास करते थे। एक समय वे मृगयामें अनुरक्त होकर वनमें घूम रहे थे। उस समय उनकी अवस्था साठ वर्षकी हो गयी थी। वे भूख और प्याससे पीड़ित थे। घूमते-घूमते उन्होंने एक ध्यानमग्न मुनिको देखकर पूछा—'मुने! मैंने इस समय वनमें अपने बाणसे एक मृगको घायल किया है। वह भयसे कातर होकर भाग गया है। क्या आपने उसे देखा है?' मुनिकी समाधि लग गयी थी, उन्होंने मौन रहनेका व्रत भी लिया था, इस कारण राजाको कुछ भी उत्तर नहीं दिया। तब राजाने कुपित हो एक मरे हुए साँपको धनुषसे उठाकर मुनिके कंधेपर रख दिया और अपने नगरकी राह ली। मुनिके एक पुत्र था, जिसका नाम शृंगी रखा गया था। शृंगीके कृष नामवाला कोई श्रेष्ठ द्विज मित्र था। उसने विवादमें अपने मित्र शृंगीसे व्यंगपूर्वक कहा—'सखे! तुम्हारे पिता इस समय मरा हुआ साँप कंधेपर ढो रहे हैं। तुम बहुत घमंड न दिखाया करो और मेरे आगे यह व्यर्थ क्रोध न किया करो।'

यह सुनकर शृंगी कुपित हो उठा और शाप देते हुए बोला—'जिस मूढ़बुद्धि मानवने मेरे पिताके कंधेपर मरा हुआ साँप रखा है, वह सातवें दिन तक्षक नागके काटनेपर मृत्युको प्राप्त होगा।' इस प्रकार उस मुनिकुमारने उत्तरानन्दन परीक्षित्‌को शाप दे दिया। उसके पिता शमीक मुनिने जब यह सुना कि मेरे पुत्रने राजाको शाप दिया है, तब वे उससे बोले—'अरे! समस्त लोगोंकी रक्षा करनेवाले राजाको तूने क्यों शाप दिया? राजाके न रहनेपर हमलोग संसारमें सुखपूर्वक कैसे रह

सकेंगे? क्रोधसे पाप होता है और दयासे सुख मिलता है। जो मनुष्य मनमें आये हुए क्रोधको क्षमासे शान्त कर देता है, वह इहलोक और परलोकमें भी अतिशय सुखका भागी होता है। क्षमायुक्त मनुष्य ही उत्तम श्रेय प्राप्त करते हैं।' बेटेको इस प्रकार समझाकर शमीकने दौर्मुख नामवाले अपने शिष्यसे कहा—'वत्स दौर्मुख! तुम जाकर राजा परीक्षित्से मेरे पुत्रके दिये हुए शापका वृत्तान्त, जिसमें तक्षक नागके डँसनेकी बात है, बता दो। महामते! फिर शीघ्र मेरे पास लौट आना।'

शमीकके ऐसा कहनेपर दौर्मुखने उत्तराकुमार राजा परीक्षित्के पास जाकर कहा—राजन्! आपके द्वारा पिताके कंधेपर रखे हुए मृतक सर्पको देखकर, शमीकके पुत्र शृंगी ऋषिने रोषमें आकर आपको यों शाप दिया है—'आजसे सातवें दिन अभिमन्युपुत्र परीक्षित् महानाग तक्षकके काटनेपर उसकी विषाग्निसे जलकर भस्म हो जायँ।' राजासे ऐसा कहकर दौर्मुख शीघ्र लौट गया। उसके जानेपर राजाने गंगाकी बीच धारामें एक ही खंभेका एक बहुत ऊँचा और विस्तृत मण्डप बनवाया और भगवान् विष्णुके प्रति भक्तिभाव बढ़ाते हुए अनेक देवर्षि, ब्रह्मर्षि तथा राजर्षियोंके साथ वे उस ऊँचे मण्डपमें रहने लगे। उसी अवसरपर मन्त्र जाननेवालोंमें श्रेष्ठ काश्यप नामवाला ब्राह्मण तक्षकके महान् विषसे राजाकी प्राणरक्षा करनेके लिये सातवें दिन वहाँ जा रहा था। दरिद्र होनेके कारण वह राजासे धन पानेकी इच्छा रखता था। इसी बीचमें तक्षक नाग भी ब्राह्मणका रूप धारण करके आ गया। मार्गमें काश्यपको देखकर उसने पूछा—'ब्रह्मन्! महामुने! तुम कहाँ जाते हो? मुझे बताओ।' काश्यपने उत्तर दिया—आज महाराज परीक्षित्को तक्षक नाग अपनी विषाग्निसे जलायेगा। उसकी विषाग्निको शान्त करनेके लिये मैं महाराजके समीप जाता हूँ।'

**तक्षक बोला**—विप्रवर! मैं ही तक्षक हूँ। मैं जिसे काट लूँ, उसकी चिकित्सा सौ वर्षोंमें भी, दस हजार महामन्त्रोंसे भी नहीं हो सकती। यदि तुममें मेरे काटे हुए को भी अपनी चिकित्साद्वारा जिला देनेकी शक्ति है, तो बहुत ऊँचे इस वृक्षको मैं डँसता हूँ, तुम जिला दो।

यों कहकर तक्षकने उस वृक्षको काट लिया। उसके डँसते ही वह अत्यन्त ऊँचा वृक्ष जलकर भस्म हो गया। उस वृक्षपर पहलेसे ही कोई

मनुष्य चढ़ा हुआ था, वह भी तक्षकके विषकी ज्वालाओंसे दग्ध हो गया। तब मन्त्रज्ञोंमें श्रेष्ठ काश्यपने अपनी मन्त्रशक्तिसे उस जले हुए वृक्षको भी जिला दिया। उसके साथ ही वह मनुष्य भी जी उठा। यह देख तक्षकने मन्त्रकुशल काश्यपसे कहा—'ब्रह्मन्! राजा तुम्हें जितना धन दे सकते हैं, उससे दूना मैं देता हूँ। इसे लेकर शीघ्र लौट जाओ।' यों कहकर तक्षकने उसे बहुमूल्य रत्न देकर लौटा दिया।

तत्पश्चात् तक्षकने सब सर्पोंको बुलाकर कहा—'तुम सब लोग मुनियोंके वेष धारण करके राजाके पास जाओ और उन्हें भेंटमें फल समर्पित

करो।' 'बहुत अच्छा' कहकर सभी राजाको फल देने लगे। उस समय तक्षक भी किसी बेरके फलमें कृमिका रूप धारण करके राजाको डँसनेके लिये बैठ गया। ब्राह्मणरूपी सर्पोंके दिये हुए सभी फल राजा परीक्षित्ने बूढ़े मन्त्रियोंको देकर कौतूहलवश एक मोटे फलको हाथमें ले लिया। इसी समय सूर्य भी अस्ताचलपर पहुँच गये। उस फलमें सब लोगोंने तथा राजाने भी एक लाल रंगका कीट देखा, वही तक्षक था। उसने शीघ्र ही फलसे निकलकर राजाके शरीरको लपेट लिया। यह देख आसपास बैठे हुए सब लोग भयसे भाग गये। ब्राह्मणो! तक्षककी अत्यन्त प्रबल विषाग्निसे राजा परीक्षित् मण्डपसहित तत्काल जलकर भस्म हो गये। पुरोहित और मन्त्रियोंने उनका और्ध्वदेहिक संस्कार करके प्रजाकी रक्षाके लिये उनके पुत्र जनमेजयको राजाके पदपर अभिषिक्त कर दिया।

तक्षकसे राजाकी रक्षा करनेके लिये जो काश्यप नामक ब्राह्मण आया था, उसकी सब लोग निन्दा करने लगे। अन्तमें वह शाकल्य मुनिकी शरणमें गया और उन्हें प्रणाम करके बोला—'भगवन्! आप सब धर्मोंके ज्ञाता और भगवान् विष्णुके प्रिय भक्त हैं। ये मुनि, ब्राह्मण, सुहृद् तथा अन्य लोग जो मेरी निन्दा करते हैं, इसका क्या कारण है, यह मैं नहीं जानता। यदि आप जानते हों तो बतायें।' तब महामुनि शाकल्यने क्षणभर ध्यान करके काश्यपसे कहा—'तुम तक्षकसे महाराज परीक्षित्को बचानेके लिये जा रहे थे, किंतु आधे मार्गमें तक्षकने तुम्हें मना कर दिया। जो मनुष्य विष, रोग आदिकी चिकित्सा करनेमें समर्थ होकर भी काम, क्रोध, भय, लोभ, मात्सर्य अथवा मोहसे विष एवं रोगसे पीड़ित मनुष्यकी रक्षा नहीं करता, वह ब्रह्महत्यारा, शराबी, चोर, गुरुपत्नीगामी तथा इन सबके संसर्गदोषसे दूषित है। उसके उद्धारका कोई उपाय नहीं है। महाराज परीक्षित् पवित्र यशवाले, धर्मात्मा, विष्णुभक्त, महायोगी तथा चारों वर्णोंकी रक्षा करनेवाले थे। उन्होंने व्यासपुत्र शुकदेवजीसे भक्तिपूर्वक श्रीमद्भागवतकी कथा सुनी थी। ऐसे पुण्यात्मा राजाकी रक्षा न करके जो तुम तक्षकके कहनेसे (धन लेकर) लौट गये उसी कारणसे श्रेष्ठ ब्राह्मण और बन्धु-बान्धव तुम्हारी निन्दा करते हैं। मरनेवाले मनुष्यके प्राण जबतक कण्ठमें रहते हैं, तबतक उसकी चिकित्सा करनी चाहिये। तुम चिकित्सा करनेमें समर्थ होकर भी उनकी दवा किये बिना ही आधे मार्गसे लौट आये। इसलिये तुम वास्तवमें निन्दाके पात्र हो।'

**काश्यप बोले**—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले शाकल्यजी! मेरे दोषकी शान्तिके लिये कोई उपाय बताइये। जिससे मेरे बन्धु-बान्धव और सुहृद् मुझे ग्रहण करें। आप भगवान्के प्रिय भक्त हैं, मुझपर अवश्य कृपा करें।

**तब मुनिवर शाकल्यने क्षणभर ध्यान करके कृपापूर्वक काश्यपसे कहा**—ब्रह्मन्! इस पापकी शान्तिके लिये मैं तुम्हें एक उपाय बताता हूँ। सुवर्णमुखरी नदीके तटपर भगवान् लक्ष्मीपतिकी निवासभूमि है, उसका नाम वेंकटाचल है, जो सब लोगोंमें पूजित है। उसका दूसरा नाम शेषाचल भी है। वह परमपवित्र तथा देवता और दानवोंसे भी वन्दित है। ब्रह्महत्या, सुरापान तथा सुवर्णकी चोरी आदि बड़े-बड़े पापोंका वह नाश करनेवाला है। उसी पर्वतपर स्वामिपुष्करिणी है, जो सब पापोंका निवारण करनेवाली है। वह मंगलदायिनी पुष्करिणी भगवान् श्रीनिवासके स्थानसे उत्तर दिशामें है। तुम वेंकटाचलपर जाकर कल्याणमयी स्वामिपुष्करिणीमें संकल्पपूर्वक स्नान करो। फिर पश्चिम तटपर बसे हुए वाराह-स्वामीकी सेवा करके भगवान्के मुख्य मन्दिरमें

जाओ। वहाँ भक्तोंको अभय प्रदान करनेवाले शंख-चक्रधारी वनमालाविभूषित स्वर्णाचलनिवासी भगवान् श्रीनिवासका विधिपूर्वक दर्शन करके तुम सब पापोंसे मुक्त हो जाओगे।

यह सुनकर मुनिवर काश्यपने देव-दानववन्दित स्वामिपुष्करिणीमें नियमपूर्वक स्नान किया। इससे वे शुद्ध और स्वस्थ हो गये। फिर सब बन्धु-बान्धवोंने उनका विधिपूर्वक पूजन करके कहा—'आप निःसन्देह हमारे पूज्य हैं।' ब्राह्मणो! इस प्रकार मैंने आपलोगोंसे वेंकटाचलकी महिमाका वर्णन किया है। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक इसे सुनता है, वह विष्णुलोकमें प्रतिष्ठित होता है।

## स्वामितीर्थकी महिमा और उसमें स्नान करनेसे राजा धर्मगुप्तके शापजनित उन्मादका निवारण

**ऋषि बोले**—सूतजी! आप स्वामिपुष्करिणी तीर्थकी महिमाका पुनः वर्णन कीजिये।

**सूतजीने कहा**—जो लोग स्वामितीर्थमें स्नान करते हैं, वे तामिस्र, अन्धतामिस्र, महारौरव, रौरव, कुम्भीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, कृमिभक्ष, अन्धकूप, सन्दंश, शाल्मलि, लालाभक्ष, अवीचि, सारमेयादन, वज्रकर्णक, क्षारकर्दमपातन, रक्षोगणाशन, शूलप्रोतनिरोधन, तिरोधान, सूचीमुख, पूयभक्ष, शोणितभक्ष और विषाग्निपरिपीडन आदि अट्ठाईस नरकोंमें नहीं जाते। जो दूसरोंके धन, सन्तान और स्त्रियोंका अपहरण करनेवाला है, वह बहुत वर्षोंतक तामिस्र नामक भयंकर नरकमें डाला जाता है। जो अधम मनुष्य माता-पिता और ब्राह्मणोंसे द्वेष रखता है, वह दस हजार योजन विस्तृत कालसूत्र नरकमें डाला जाता है। जो वेदमार्गका उल्लंघन करके कुपथपर चलता है, वह यमदूतोंद्वारा भयंकर असिपत्रवनमें गिराया जाता है। जो पकवान और दाल-शाक आदि अन्न पंक्तिभेद करके खाता है और मोहवश पंचयज्ञोंका अनुष्ठान किये बिना ही भोजन करता है, वह कृमिभोजन नरकमें डाला जाता है, जहाँ सैकड़ों कीड़े उसको खाते हैं और वह भी कीड़ोंको ही खाकर रहता है। जो स्नेह अथवा बलसे ब्राह्मणका धन हड़प लेता है तथा जो राजा या राजपुरुष दूसरोंके धनका अपहरण कर लेता है, वह सन्दंश नामक भयंकर नरकमें गिराया जाता है। जो नीच मानव अगम्या स्त्रीके साथ गमन करता है, अथवा जो नारी अगम्य पुरुषके साथ संगम करती है, वे दोनों क्रमशः लोहेकी तपायी हुई नारी-मूर्ति और पुरुष-मूर्तिका आलिंगन करके तबतक खड़े रहते हैं, जबतक चन्द्रमा और सूर्यकी सत्ता रहती है। तत्पश्चात् वे सूचीनामक घोर नरकमें डाले जाते हैं। जो मनुष्य अनेक प्रयत्नों और उपद्रवोंसे सब प्राणियोंको सताता है, वह बहुत काँटोंवाले भयंकर शाल्मलि नरकमें गिराया जाता है। जो राजा अथवा राजाका नौकर पाखण्डमतका अनुयायी होकर धार्मिक मर्यादाओंको तोड़ता है, वह वैतरणी नरकमें डाला जाता है। वृषलीसंगसे दूषित, शौचाचारहीन, अशास्त्रीय कर्मोंके करनेमें लज्जित न होनेवाले, वेदमार्गके त्यागी, सदा पशुका-सा आचरण करनेवाले व्यक्तियोंको यमकिंकर पूय, विष्ठा, मूत्र, कफ और पित्तादिसे पूर्ण अत्यन्त वीभत्स नरकमें गिराते हैं। जो कुत्तोंको अथवा जंगलमें वन्य मृगादि पशुओंको बाणोंके द्वारा पीड़ा पहुँचाता है, यमकिंकर उसको बाणोंके द्वारा बींधते हैं और पुनः प्राणरोध नामक नरकमें गिराते हैं। जो पाखण्डी यज्ञमें पशुओंकी हत्या

करता है, वह परलोकमें वैशस नामक नरकमें गिराया जाता है। जो लुटेरोंके मार्गका आश्रय लेकर दूसरोंको जहर देता, गाँवोंको जला डालता और बनियोंके धनका अपहरण करता है, वह परलोकमें वज्रदंष्ट्र नामक भयानक नरकमें दीर्घकालतकके लिये डाल दिया जाता है। ये तथा और भी जितने नरक हैं, उन सबमें वह मनुष्य कभी नहीं पड़ता, जो स्वामिपुष्करिणी तीर्थमें गोता लगाता है। स्वामिपुष्करिणीमें एक बार स्नान करनेसे मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल पाता है। उसे आत्मज्ञान तथा चार प्रकारकी साक्षात् मुक्तिकी भी प्राप्ति होती है। जो महापातकों अथवा सम्पूर्ण पातकोंसे युक्त है, वह भी स्वामितीर्थमें गोता लगानेसे तत्काल पवित्र हो जाता है। स्वामितीर्थके सेवनसे मनुष्योंकी बुद्धि, लक्ष्मी, कीर्ति, सम्पत्ति, ज्ञान, धर्म और वैराग्यकी वृद्धि तथा मनकी शुद्धि होती है।

इस प्रकार अद्वैतज्ञान, भोग और मोक्ष तथा मनोवांछित कामना प्रदान करनेवाले अज्ञाननाशक स्वामितीर्थके प्रभावका वर्णन किया गया, जो मनुष्योंके समस्त पापोंका नाश करनेवाला है।

नैमिषारण्यनिवासी महर्षियो! मैं तुमलोगोंसे स्वामितीर्थकी महिमाका अभी और वर्णन करूँगा। चन्द्रवंशमें नन्द नामसे प्रसिद्ध एक महाराजा थे, जो समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका धर्मपूर्वक पालन करते थे। उनके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम धर्मगुप्त था। नन्दने राज्यकी रक्षाका भार अपने पुत्रपर रख दिया और स्वयं इन्द्रियोंको वशमें करके आहारपर विजय पाकर तपस्याके लिये तपोवनमें चले गये। पिताके तपोवन चले जानेपर राजा धर्मगुप्तने सारी पृथ्वीका पालन किया। वे धर्मोंके ज्ञाता और नीतिपरायण थे। उन्होंने अनेक प्रकारके यज्ञोंद्वारा इन्द्र आदि देवताओंका पूजन किया और ब्राह्मणोंको धन एवं बहुत-से क्षेत्र प्रदान किये। उनके शासनकालमें समस्त प्रजा अपने-अपने धर्मका पालन करती थी। उनके राज्यमें कभी चोर आदिसे किसीको कष्ट नहीं प्राप्त हुआ। एक दिन धर्मगुप्त उत्तम घोड़ेपर सवार हो वनमें गये। वहीं रात हो गयी। विनयशील राजाने वहीं सायं-सन्ध्याकी उपासना करके वेदमाता गायत्रीका जप किया। तत्पश्चात् सिंह, व्याघ्र आदिके भयसे वे एक वृक्षपर जा बैठे। उस वृक्षके पास एक रीछ आया, जो सिंहके भयसे पीड़ित था। वनमें विचरनेवाला एक सिंह उस रीछका पीछा कर रहा था। रीछ वृक्षपर चढ़ गया। वहाँ उसने महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न राजा धर्मगुप्तको बैठे देखा। उन्हें देखकर रीछ बोला—'महाराज! भय न करो। हम दोनों रातभर यहीं रहेंगे, क्योंकि वृक्षके नीचे बड़ा भयंकर सिंह आया हुआ है। महामते! तुम आधी राततक निर्भय होकर नींद लो, मैं सजग होकर तुम्हारी रक्षा करता रहूँगा। उसके बाद जब मैं सो जाऊँ, तब शेष आधी राततक तुम मेरी रक्षा करना।'

रीछकी यह बात सुनकर धर्मगुप्त सो गये। उस समय सिंहने रीछसे कहा—'यह राजा तो सो गया है, अब तुम इसे मेरे लिये नीचे गिरा दो।' तब धर्मज्ञ रीछने सिंहको उत्तर दिया—'वनचारी मृगराज! तुम धर्मको नहीं जानते। अहो! विश्वासघात करनेवाले प्राणियोंको संसारमें बड़ा कष्ट भोगना पड़ता है। मित्रद्रोहियोंका पाप दस हजार यज्ञोंके अनुष्ठानसे भी नष्ट नहीं होता। ब्रह्महत्या आदि पापोंका तो किसी प्रकार निवारण हो सकता है, परंतु विश्वासघातियोंका पाप कोटिजन्मोंमें भी नष्ट नहीं हो सकता है।*

* ब्रह्महत्यादिपापानां कथञ्चिन्निष्कृतिर्भवेत्। विश्वासघातिनां पापं न नश्येज्जन्मकोटिभिः॥ (स्क० पु०, वै० वे० १३।२२)

सिंह! मैं मेरुपर्वतको इस पृथ्वीका बड़ा भारी भार नहीं मानता, संसारमें जो विश्वासघाती है, उसीको मैं भूतलका महान् भार समझता हूँ।'

रीछके ऐसा कहनेपर सिंह चुप हो गया। तत्पश्चात् धर्मगुप्त जागे और रीछ वृक्षपर सो गया। तब सिंहने राजासे कहा—'इस रीछको नीचे छोड़ दो।' तब राजाने अपने अंकमें सिर रखकर सोये हुए रीछको पृथ्वीपर ढकेल दिया। राजाके गिरानेपर रीछ वृक्षकी डाली पकड़ता लटक गया। वह पुण्यवश वृक्षसे नीचे नहीं गिरा। अब वह राजाके पास आकर क्रोधपूर्वक बोला—'राजन्! मैं इच्छानुसार रूप धारण करनेवाला ध्यानकाष्ठ नामक मुनि हूँ। मेरा जन्म भृगुवंशमें हुआ है। मैंने स्वेच्छासे रीछका रूप धारण किया है। मैंने तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया था। फिर सोते समय तुमने मुझे क्यों ढकेला? जाओ, मेरे शापसे बहुत शीघ्र पागल होकर पृथ्वीपर विचरो।' राजाको इस प्रकार शाप देकर मुनिने सिंहसे कहा—'तुम सिंह नहीं, महायक्ष हो। पहले कुबेरके मन्त्री थे। एक दिन अपनी स्त्रीके साथ हिमालयके शिखरपर आकर अनजानमें गौतम मुनिके समीप ही तुम विहार करने लगे थे। दैवकी प्रेरणासे महर्षि गौतम समिधा लानेके लिये कुटीसे बाहर निकले। उन्होंने तुम्हें नंगा देख इस प्रकार शाप दिया—'अरे! तू मेरे आश्रममें आकर नंगा खड़ा है। अतः अभी तू सिंह हो जायगा।' इस प्रकार तुम्हें सिंहयोनि प्राप्त हुई है। मृगराज! ये सारी बातें मैं ध्यानसे जानता हूँ।' ध्यानकाष्ठ मुनिके ऐसा कहनेपर उसने सिंहका रूप त्याग दिया और कुबेर-सचिवके रूपमें दिव्य यक्षका शरीर धारण कर लिया। उसके बाद उसने हाथ जोड़कर कहा—'महामुने! आज मुझे अपने समस्त पूर्ववृत्तान्तका ज्ञान हो गया। गौतमजीने शाप देते समय उसके उद्धारका समय भी इस प्रकार बताया था—'जब रीछरूपधारी ध्यानकाष्ठके साथ तुम्हारा वार्तालाप होगा, तब तुम सिंह-देह त्याग करके यक्षरूप धारण कर लोगे।'

यों कहकर वह यक्षराज मुनिवर ध्यानकाष्ठको प्रणाम करके उत्तम विमानपर बैठा और अलकापुरीको चला गया। नृपश्रेष्ठ धर्मगुप्तको पागलके रूपमें देखकर मन्त्रीलोग उन्हें नर्मदाके तटपर उनके पिता नन्दके पास ले गये और यह बताया कि आपके पुत्रकी बुद्धि विकृत हो गयी है। पुत्रका वृत्तान्त जानकर राजा नन्द उसे साथ ले सहसा जैमिनि मुनिके समीप गये और उनसे इस प्रकार बोले—'भगवन्! मेरा पुत्र इस समय उन्मादग्रस्त हो गया है। महामुने! इस रोगके निवारणका कोई उपाय बतलाइये।' उनके ऐसा पूछनेपर मुनिवर जैमिनिने दीर्घकालतक ध्यान करके कहा, 'राजन्! तुम्हारा पुत्र ध्यानकाष्ठ मुनिके शापसे उन्मत्त हुआ है। इस शापसे छुटकारा पानेके लिये मैं तुम्हें उपाय बतलाता हूँ। सुवर्णमुखरी नदीके तटपर एक वेंकट नामसे प्रसिद्ध पर्वत है, जो सब पापोंको हरनेवाला तथा परमपवित्र है। उसके शिखरपर स्वामिपुष्करिणी नामक एक बड़ा भारी तीर्थ है। महामते! वहीं

ले जाकर अपने पुत्रको उसमें नहलाओ। ऐसा करनेसे इसका उन्माद तत्काल नष्ट हो जायगा।' यह सुनकर राजा नन्दने मुनिश्रेष्ठ जैमिनिको प्रणाम किया और पुत्रको लेकर वे स्वामिपुष्करिणी तीर्थको गये। वहाँ नियमपूर्वक पुत्रको नहलाया। स्नान करते ही उसी क्षण उसका उन्माद नष्ट हो गया। राजा नन्दने स्वयं भी स्वामिपुष्करिणीके जलमें स्नान किया। फिर पुत्रके साथ एक दिन उस तीर्थमें निवास किया और वेंकटगिरिके स्वामी दयानिधान भगवान् श्रीनिवासकी सेवा करके पुनः तपस्याके लिये वनको प्रस्थान किया। पिताके चले जानेपर राजा धर्मगुप्तने भगवान् वेंकटेश्वरमें भक्ति रखते हुए ब्राह्मणोंको बहुत धन-धान्य और क्षेत्र प्रदान किये। तत्पश्चात् मन्त्रियोंके साथ वे अपनी नगरीको चले गये। ब्राह्मणो! इस प्रकार तुमसे मैंने राजा धर्मगुप्तकी कल्याणमयी कथा सुनायी। इसके श्रवणमात्रसे ब्रह्महत्याका नाश हो जाता है।

## कृष्णतीर्थ और भगवान् वेंकटेश्वरका माहात्म्य

**सूतजी कहते हैं**—मुनिवरो! सब पापोंका नाश करनेवाले महान् पुण्यप्रद वेंकटाचलपर जो कृष्णतीर्थ है, उसका माहात्म्य श्रवण करो। पूर्वकालमें विप्रवर रामकृष्ण नामक एक बहुत बड़े मुनि थे। वे सत्यवादी, शीलवान्, उत्तम भक्त, सब प्राणियोंपर दया करनेवाले, शत्रु और मित्रके प्रति समभाव रखनेवाले, जितात्मा, तपस्वी और जितेन्द्रिय थे। परब्रह्ममें निष्णात तथा एकमात्र ब्रह्मतत्त्वके आश्रित थे। ऐसे प्रभाववाले मुनिवर रामकृष्णने उस तीर्थमें बड़ी कठोर तपस्या की। वे अपने सब अंगोंको स्थिर करके खड़े रहते। वहाँ खड़े होकर तपस्या करते हुए उनको कई सौ वर्ष बीत गये। उनके सब अंगोंपर वल्मीककी मिट्टी जम गयी और उसने उन्हें आच्छादित कर लिया। तो भी महामुनि रामकृष्ण तपस्यामें संलग्न रहे। उन्होंने वल्मीककी कोई परवा नहीं की। इन्द्रने तपस्या करते हुए उस मुनिश्रेष्ठपर मेघोंको भेजकर बड़े वेगसे वृष्टि करवायी। सात दिनोंतक लगातार वर्षा होती रही। मूसलाधार पानी पड़नेपर भी मुनिने अपने नेत्र बंद करके वर्षाको सहन किया। तब बड़ी भारी गड़गड़ाहटके साथ कानोंको बधिर बनाती हुई बिजली वल्मीकके ऊपर गिरी। वल्मीक ढह गया। उसी समय शंख, चक्र, गदाधारी भगवान् विष्णु प्रकट हो गये। वे विनतानन्दन गरुड़पर आरूढ़ थे। गलेमें पड़ी हुई वनमाला उनकी शोभा बढ़ा रही थी। श्रीरामकृष्णकी तपस्यासे सन्तुष्ट हो भगवान् इस प्रकार बोले—'रामकृष्ण! तुम

वेद-शास्त्रके पारंगत विद्वान् हो और तपस्याकी निधि हो। मेरे प्रादुर्भावके दिन जो मनुष्य यहाँ स्नान करता है, उसके पुण्यफलका वर्णन शेषनाग भी नहीं कर सकते। सूर्य मकर-राशिपर स्थित हों और महातिथि पूर्णिमा पुष्य-नक्षत्रसे युक्त हो तो वह इस तीर्थमें स्नान करनेका सर्वोत्तम समय बताया गया

है। जो मनुष्य उस दिन कृष्णतीर्थमें स्नान करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर समस्त कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। आजसे यह महातीर्थ तुम्हारे ही नामसे संसारमें प्रसिद्ध हो।' ऐसा कहकर भगवान् श्रीनिवास वहीं अन्तर्धान हो गये। उस तीर्थका ऐसा प्रभाव है कि वह बड़े-बड़े पापोंको शुद्ध करनेवाला है। मनुष्योंकी बुद्धिको शुद्ध करता और उन्हें सम्पूर्ण ऐश्वर्योंको देता है। ब्राह्मणो! इस प्रकार तुमलोगोंसे यह कृष्णतीर्थका माहात्म्य बतलाया गया, जो इसके श्रोता और वक्ता दोनोंको विष्णुलोक प्रदान करनेवाला है।

अब मैं भगवान् वेंकटेश्वरके वैभवका वर्णन करूँगा, जिसे सुनकर मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। जो मानव एक बार भगवान् वेंकटेश्वरका दर्शन कर लेता है, वह मोक्षको प्राप्त होता है। सत्ययुगमें जो पुण्य दस वर्षोंमें प्राप्त किया जाता है, वही त्रेतामें एक ही वर्षमें, द्वापरमें पाँच महीनोंमें और कलियुगमें एक ही दिनमें सिद्ध हो जाता है। परंतु जो भगवान् श्रीनिवासका दर्शन करते हैं, उन्हें एक-एक पलमें वही पुण्यफल कोटि-कोटि गुना होकर मिलता है। श्रीभगवान् वेंकटेश्वरमें सम्पूर्ण तीर्थ, सब देवता, मुनि और पितर विद्यमान हैं। भगवान् वेंकटेशका सच्चिदानन्दमय विग्रह श्रेष्ठ शंखसे पूजित है। उसके स्मरण करनेमात्रसे यमराजकी पीड़ा नहीं होती। जो इस पृथ्वीपर परम दुर्लभ मनुष्य-शरीर पाकर सर्वश्रेष्ठ देवता भगवान् वेंकटेशका दर्शन एवं पूजन करते हैं, उनका जन्म सफल है और वे ही कृतार्थ हैं। भगवान् नारायणका दर्शन होनेपर सहस्रों ब्रह्महत्या और दस हजार मद्यपानके पाप भी पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं। जो मनुष्य सदा भोग और स्वर्गलोकका राज्य चाहते हैं, वे एक बार प्रसन्नतापूर्वक वेंकटाचलनिवासी भगवान् श्रीनिवासको प्रणाम करें। करोड़ों जन्मोंमें किये हुए जो कोई भी पाप हैं, वे सब भगवान् वेंकटेश्वरके दर्शनसे नष्ट हो जाते हैं। जो सम्पर्कसे, कौतूहलसे, लोभसे अथवा भयसे भी महादेव वेंकटाचलेश्वरका स्मरण करता है, वह इहलोक और परलोकमें कभी दुःखका भागी नहीं होता। वेंकटाचलवासी देवेश्वर भगवान् श्रीविष्णुका कीर्तन और पूजन करनेवाला अवश्य ही श्रीविष्णुका सारूप्य प्राप्त कर लेता है। जैसे प्रज्वलित अग्नि क्षणभरमें ढेर-के-ढेर ईंधन जलाकर भस्म कर देती है, वैसे ही भगवान् वेंकटेश्वरका दर्शन सब पापोंको दग्ध कर देता है।

भगवान् वेंकटेश्वरकी भक्ति आठ प्रकारकी मानी गयी है—१-भगवान्के भक्तोंके प्रति स्नेह-भाव, २-भगवद्भक्तोंकी पूजा करके उन्हें सन्तुष्ट करना, ३-स्वयं भक्तिपूर्वक भगवान्की पूजा करना, ४-अपने शरीरकी समस्त चेष्टाएँ भगवान्के लिये ही करना, ५-भगवान्के माहात्म्यकी कथामें रुचि रखना और उसे सुननेमें आदरका भाव होना, ६-अपने नेत्र और शरीरमें भगवद्भक्ति एवं भगवत्प्रेमजनित विकारका स्फुरण होना, ७-भगवान् श्रीनिवासका निरन्तर स्मरण करना तथा ८-वेंकटाचलनिवासी भगवान् श्रीनिवासकी शरण लेकर ही जीवन धारण करना। ऐसी आठ प्रकारकी भक्ति यदि किसी म्लेच्छमें भी हो तो वह निश्चय ही मोक्षको प्राप्त कर लेता है। भगवान्की अनन्य भक्ति तथा ब्रह्मज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति निश्चित है। संन्यासियों और नैष्ठिक ब्रह्मचारियोंको वेदान्तशास्त्र-श्रवणजनित ज्ञानसे जो मुक्ति प्राप्त होती है, वही सब लोगोंको केवल भगवान् वेंकटेश्वरके दर्शनसे अविलम्ब मिल जाती है। वेंकटगिरिके स्वामी भगवान् श्रीनिवासका दर्शन कर लेनेपर सब लोग महापुरुषकी श्रेणीमें चले आते हैं, उनमेंसे कोई एक-दूसरेसे कम या अधिक नहीं रह जाता। सब पातकोंका नाश करनेवाले परम पवित्र वेंकटाचलपर जाकर जो सर्वश्रेष्ठ देव भगवान्

श्रीनिवासका भक्तिपूर्वक दर्शन करता है, उसकी समानता इस भूतलपर चारों वेदोंका विद्वान् भी नहीं कर सकता। सम्पूर्ण वेद भगवान् श्रीनिवासका ही प्रतिपादन करते हैं। सब यज्ञ श्रीनिवासकी ही आराधनाके साधन हैं तथा सब लोग भगवान् श्रीनिवासके ही आश्रित हैं। अन्य सबका आश्रय छोड़कर भगवान् श्रीनिवासकी ही शरण लेनी चाहिये। वेंकटाचलनिवासी भगवान् श्रीहरिका दो घड़ी चिन्तन करनेवाला मनुष्य भी अपनी इक्कीस पीढ़ियोंका उद्धार करके विष्णुलोकमें सम्मानित होता है। इस प्रकार यह वेंकटेश्वरका माहात्म्य बताया गया। जो मनुष्य प्रतिदिन भक्तिपूर्वक इसको सुनता अथवा पढ़ता है, वह भगवान् वेंकटनाथकी सेवाका फल पाता है।

## पापनाशन तीर्थकी महिमा—भद्रमति ब्राह्मणका चरित्र

वेंकटाचलपर चढ़नेके पूर्व उस पुण्यवर्द्धक पर्वतकी इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये—हे स्वर्णाचल! हे महापुण्यमय! सर्वदेवसेवित गिरिश्रेष्ठ! ब्रह्मा आदि देवता भी जिनकी श्रद्धापूर्वक सेवा करते हैं, उन्हीं आपके ऊपर मैं अपने दोनों पैरोंसे चलूँगा। मुझ पापचेता पुरुषके इस पापको आज आप कृपापूर्वक क्षमा करें। आपके शिखरपर निवास करनेवाले भगवान् लक्ष्मीपतिका आप मुझे दर्शन कराइये। इस प्रकार पर्वतश्रेष्ठ वेंकटाचलकी प्रार्थना करके मनुष्य उसपर धीरे-धीरे चले। ऊपर पहुँचकर सब पापोंका नाश करनेवाले परम पुण्यमय स्वामिपुष्करिणी तीर्थमें नियमपूर्वक स्नान करे। तत्पश्चात् पितरोंको पिण्डदान करे। ऐसा करनेसे स्वर्गवासी पितर मोक्षको प्राप्त होते हैं और नरकवासी पितर स्वर्गमें चले जाते हैं।

तदनन्तर उस पर्वतके ऊपर जो सब तीर्थोंमें श्रेष्ठ और पवित्र पापविनाशन नामक तीर्थ है, जिसके स्मरणमात्रसे मनुष्य फिर गर्भमें नहीं आता, उसके पास जाकर उसमें स्नान करना चाहिये। वह स्वामितीर्थसे उत्तर दिशामें है। वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य वैकुण्ठधाममें जाते हैं।

पूर्वकालमें भद्रमति नामक एक श्रेष्ठ ब्राह्मण थे, जो वेद-वेदांगोंके पारंगत पण्डित थे, परंतु वे बड़े दरिद्र थे। उनके पास जीविकाका कोई साधन नहीं था। उन बुद्धिमान् ब्राह्मणने सम्पूर्ण शास्त्र, पुराण और धर्मशास्त्रोंका श्रवण किया था। उनके छः स्त्रियाँ थीं। कृता, सिन्धु, यशोवती, कामिनी, मालिनी और शोभा—ये उनके नाम थे। उनके गर्भसे ब्राह्मणने दो सौ पुत्र उत्पन्न किये थे। वे सभी पुत्र आदि भूखसे पीड़ित हो रहे थे। अपने प्यारे पुत्रों और प्रियतमा पत्नियोंको क्षुधासे व्याकुल देखकर दरिद्र भद्रमति विलाप करने लगा—'हाय! भाग्यहीन जन्मको धिक्कार है, धन और कीर्तिसे रहित जीवनको धिक्कार है। उस जन्मको भी धिक्कार है, जिसमें धनाभावके कारण अतिथियोंका सत्कार न हो पाता हो। ज्ञान और सदाचारसे शून्य जीवनको भी धिक्कार है और बहुत सन्तानोंवाले मनुष्यके धनहीन जन्मको भी धिक्कार है। ब्राह्मण, पुत्र, पौत्र, भाई, बन्धु और शिष्य आदि सभी मनुष्य धनहीन पुरुषको त्याग देते हैं। जो धनवान् है, वह निर्दयी हो या दयावान्, गुणहीन हो या गुणवान्, मूर्ख हो या पण्डित तथा सब धर्मोंसे युक्त हो या धर्महीन, यदि वह ऐश्वर्यके गुणसे युक्त है, तो पूजने ही योग्य होता है। अहो! दरिद्रता बड़ा भारी दुःख है, उसमें भी आशा तो अत्यन्त दुःखदायिनी होती है। आशाके वशीभूत हुए मनुष्य क्षण-क्षणमें दुःख भोगते हैं। जो आशाके दास हैं, वे समस्त संसारके दास हैं और जिन्होंने आशाको अपनी दासी बना लिया है उनके लिये

यह सम्पूर्ण जगत् दासके तुल्य है।* अहो! दरिद्रता महान् दुःख है, महान् दुःख है, महान् दुःख है। उसमें भी पुत्र और स्त्रियोंका अधिक होना तो और भी दुःखदायी है।'

ऐसा उद्गार प्रकट करके सब शास्त्रोंके अर्थज्ञानमें पारंगत विद्वान् भद्रमति मन-ही-मन ऐसे धर्मका विचार करने लगे, जो अत्यन्त ऐश्वर्य प्रदान करनेवाला हो। उस समय उनकी स्त्रियोंमें जो कामिनी नामवाली पतिव्रता पत्नी थी, उसने अपने पतिदेवसे कहा—'भगवन्! मेरे प्राणनाथ! मेरी एक बात सुनिये। ऋषि-मुनियोंसे सेवित सुवर्णमुखरी नदीके तटपर देवताओंके निवास करनेयोग्य परम पवित्र वेंकट पर्वत है। उसके शिखरपर सब पापोंका नाश करनेवाला पावन तीर्थ है। महामते! आप पत्नी और पुत्रोंके साथ वहाँ चलकर पापनाशन तीर्थमें स्नान कीजिये। मैंने बचपनमें अपने पिताके समीप नारदजीके मुखसे उस तीर्थका माहात्म्य इस प्रकार सुना था कि 'सब पापोंका नाश करनेवाले परम पवित्र वेंकटाचलपर पापनाशन नामक एक महान् तीर्थ है, जो समस्त दुःखोंका निवारण तथा सब प्रकारकी सम्पदाओंका दान करनेवाला है। उसमें संकल्पपूर्वक स्नान करके अधिक ऐश्वर्य प्रदान करनेवाले धर्मका मन-ही-मन चिन्तन करना चाहिये। सब दानोंमें उत्तम भूमिदान है। वह परलोकमें उत्तम फलकी प्राप्ति करानेवाला तथा समस्त मनोवांछित कामनाओंको देनेवाला है। भूमिदान देकर मनुष्य अपनी सभी अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त कर लेता है।' नारदजीकी यह बात सुनकर मेरे पिता बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने शेषाचलपर जाकर पापनाशन तीर्थमें स्नान करनेके पश्चात् एक श्रोत्रिय ब्राह्मणको भूमिदान दिया, जो समस्त ऐश्वर्योंको देनेवाला है। उससे मेरे पिता इस संसारमें सब प्रकारसे सौभाग्यशाली हुए और अन्तमें भगवान् विष्णुके परमधाममें गये। महाभाग! आप भी गिरिश्रेष्ठ वेंकटाचलपर चलकर सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाला भूमिदान कीजिये। अग्निहोत्री श्रोत्रिय ब्राह्मणको थोड़ी-सी भी भूमिका दान करके मनुष्य पुनरावृत्तिरहित ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है। वेंकटाचल पर्वतपर किया हुआ भूमिदान सब पापोंका नाश करनेवाला है। जो ईख, गेहूँ, धान और सुपारी आदि वृक्षोंसे युक्त पृथ्वीका दान करता है, वह साक्षात् विष्णुके समान है। जीविकाहीन कुटुम्बी एवं दरिद्र ब्राह्मणको थोड़ी भी भूमि देकर मनुष्य भगवान् विष्णुके सायुज्यको प्राप्त होता है।'

अपनी पत्नीकी बात सुनकर और शेषाचलनिवासी भगवान् विष्णुका ध्यान करके भद्रमति ब्राह्मण बहुत सन्तुष्ट हुए। उन्होंने अपनी बुद्धिसे परम उत्तम क्रीडाचल पर्वतपर जानेका निश्चय किया। वे पूर्णतः धर्मपरायण थे, अपनी स्त्रीके साथ सुशाली नामवाली नगरीमें गये और सब ऐश्वर्योंसे सम्पन्न विप्रवर सुघोषसे उन्होंने पाँच हाथ भूमि माँगी। सुघोष भी बड़े धर्मात्मा थे। उन्होंने प्रसन्नचित्तवाले इन कुटुम्बी ब्राह्मणको देखकर इनका विधिपूर्वक पूजन किया और इस प्रकार कहा—'भद्रमते! मैं कृतार्थ हो गया, आज मेरा जन्म सफल हुआ।' यों कहकर सुघोषने—

**पृथिवी वैष्णवी पुण्या पृथिवी विष्णुपालिता।**
**पृथिव्यास्तु प्रदानेन प्रीयतां मे जनार्दनः॥**

'पृथिवी भगवान् विष्णुकी प्रिया है, पवित्र पृथिवी भगवान् विष्णुद्वारा सुरक्षित है, पृथिवीके दानसे भगवान् जनार्दन मुझपर प्रसन्न हों।'

—इस मन्त्रके उच्चारणपूर्वक विष्णुबुद्धिसे

* आशाया ये दासा दासास्ते सर्वलोकस्य। आशा दासी येषां तेषां दासायते लोकः॥

(स्क० पु०, वै० वे० २०। १८)

भद्रमतिकी पूजा करके पाँच हाथ पृथिवी उन्हें दे दी। उस भूमिदानके पुण्यसे सुघोष भगवान् विष्णुके धामको प्राप्त हुआ, जहाँ जाकर कोई भी शोक नहीं करता। तदनन्तर भद्रमति अपने पुत्रों और स्त्रियोंके साथ देव-दानववन्दित वेंकटाचलपर गये। वहाँ स्वामिपुष्करिणीके परम पवित्र निर्मल जलमें उन्होंने स्त्रियों और पुत्रोंके साथ संकल्पपूर्वक स्नान किया। तत्पश्चात् उसके पश्चिम तटपर पृथ्वीको धारण करनेवाले भगवान् श्वेतवाराहको नमस्कार करके वे भगवान् श्रीनिवासके मन्दिरमें गये। वहाँ ब्रह्मा आदि देवताओंसे सेवित कृपानिधान श्रीनिवासका अपने पुत्र आदिके साथ दर्शन किया और भगवान्‌को प्रणाम करके पत्नी और पुत्रसहित पापनाशन तीर्थमें आये। फिर वहाँ विधिपूर्वक स्नान करके धर्म आदि शुभ कर्मोंका अनुष्ठान किया और किसी श्रोत्रिय विष्णुभक्त पुरुषको विष्णुबुद्धिसे मोक्षदायक भूमिदान (जो सुघोषसे ली थी वह) दिया। उस दानके प्रभावसे शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले वनमाला-विभूषित भगवान् विष्णु गरुड़पर चढ़े हुए पापनाशन तीर्थके तटपर प्रकट हुए। उस समय शान्त स्वभाववाले भद्रमतिने भगवान्‌की इस प्रकार स्तुति आरम्भ की—

**नमो नमस्तेऽखिलकारणाय**
**नमो नमस्तेऽखिलपालकाय।**
**नमो नमस्तेऽमरनायकाय**
**नमो नमो दैत्यविमर्दनाय॥**
**नमो नमो भक्तजनप्रियाय**
**नमो नमः पापविदारणाय।**
**नमो नमो दुर्जननाशकाय**
**नमोऽस्तु तस्मै जगदीश्वराय॥**
**नमो नमः कारणवामनाय**
**नारायणायामितविक्रमाय ।**
**श्रीशार्ङ्गचक्रासिगदाधराय**
**नमोऽस्तु तस्मै पुरुषोत्तमाय॥**
**नमः पयोराशिनिवासकाय**
**नमोऽस्तु लक्ष्मीपतयेऽव्ययाय।**
**नमोऽस्तु सूर्याद्यमितप्रभाय**
**नमो नमः पुण्यगतागताय।**
**नमो नमोऽर्केन्दुविलोचनाय**
**नमोऽस्तु ते यज्ञफलप्रदाय।**
**नमोऽस्तु यज्ञाङ्गविराजिताय**
**नमोऽस्तु ते सज्जनवल्लभाय॥**
**नमो नमः कारणकारणाय**
**नमोऽस्तु शब्दादिविवर्जिताय।**
**नमोऽस्तु तेऽभीष्टसुखप्रदाय**
**नमो नमो भक्तमनोरमाय॥**
**नमो नमस्तेऽद्भुतकारणाय**
**नमोऽस्तु ते मन्दरधारकाय।**
**नमोऽस्तु ते यज्ञवराहनाम्ने**
**नमो हिरण्याक्षविदारकाय॥**
**नमोऽस्तु ते वामनरूपभाजे**
**नमोऽस्तु ते क्षत्रकुलान्तकाय।**
**नमोऽस्तु ते रावणमर्दनाय**
**नमोऽस्तु ते नन्दसुताग्रजाय॥**
**नमस्ते कमलाकान्त नमस्ते सुखदायिने।**
**श्रितार्तिनाशिने तुभ्यं भूयो भूयो नमो नमः॥**

'सबके कारणरूप आप भगवान्‌को नमस्कार है, नमस्कार है। सबको पालन करनेवाले आपको नमस्कार है, नमस्कार है। समस्त देवताओंके स्वामी आपको नमस्कार है, नमस्कार है। दैत्योंका संहार करनेवाले आपको नमस्कार है, नमस्कार है। जो भक्तजनोंके प्रियतम, पापोंके नाशक तथा दुष्टोंके संहारक हैं, उन जगदीश्वरको बार-बार नमस्कार है। जिन्होंने किसी विशेष हेतुसे वामनरूप धारण किया, जो नारस्वरूप जलमें निवास करनेके कारण नारायण कहलाते हैं, जिनके विक्रमकी कोई सीमा नहीं है तथा जो शंख, चक्र, खड्ग और गदा धारण करते हैं, उन भगवान् पुरुषोत्तमको बार-बार नमस्कार है। क्षीरसिन्धुमें निवास करनेवाले

भगवान्‌को नमस्कार है। अविनाशी लक्ष्मीपतिको नमस्कार है। जिनके अनन्त तेजकी सूर्य आदिसे भी तुलना नहीं हो सकती, उन भगवान्‌को नमस्कार है तथा जो पुण्य-कर्मपरायण पुरुषोंको स्वतः प्राप्त होते हैं, उन कृपालु श्रीहरिको बार-बार नमस्कार है। सूर्य और चन्द्रमा जिनके नेत्र हैं, जो सम्पूर्ण यज्ञोंका फल देनेवाले हैं, यज्ञांगोंसे जिनकी शोभा होती है तथा जो साधु पुरुषोंके परम प्रिय हैं, उन भगवान् श्रीनिवासको बार-बार नमस्कार है। जो कारणके भी कारण, शब्दादि विषयोंसे रहित, अभीष्ट सुख देनेवाले तथा भक्तोंके हृदयमें रमण करनेवाले हैं, उन भक्तवत्सल भगवान्‌को नमस्कार है। अद्भुत कारणरूप आपको नमस्कार है, नमस्कार है। मन्दराचल पर्वत धारण करनेवाले कच्छपरूपधारी आपको नमस्कार है। यज्ञवाराहरूपमें प्रकट होनेवाले आपको नमस्कार है। हिरण्याक्षको विदीर्ण करनेवाले आपको नमस्कार है। वामनरूपधारी आपको नमस्कार है। क्षत्रियकुलका अन्त करनेवाले परशुरामरूपमें आपको नमस्कार है। रावणका मर्दन करनेवाले श्रीरामरूपधारी आपको नमस्कार है तथा नन्दनन्दन श्रीकृष्णके बड़े भाई बलरामरूपमें आपको नमस्कार है। कमलाकान्त! आपको नमस्कार है। सबको सुख देनेवाले आपको नमस्कार है। भगवन्! आप शरणागतोंकी पीड़ाका नाश करनेवाले हैं। आपको बारंबार नमस्कार है।'

ब्राह्मण भद्रमतिके इस प्रकार स्तुति करनेपर भक्तवत्सल दयानिधान भगवान् श्रीनिवासने वात्सल्यपूर्वक कहा—'तात! तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारे इस महास्तोत्रसे मैं सन्तुष्ट हूँ। ब्रह्मन्! तुम इस संसारमें पुत्र-पौत्र आदिके साथ सब भोगोंसे सम्पन्न होकर सुख भोगनेके पश्चात् अन्तमें मोक्ष प्राप्त करोगे।' ऐसा कहकर भगवान् विष्णु वहीं अन्तर्धान हो गये। ब्राह्मणो! इस प्रकार मैंने पापनाशन तीर्थकी महिमा और उसके तटपर भूमिदानकी महत्ताका भी वर्णन किया।

## आकाशगंगातीर्थकी महिमा—रामानुजपर भगवान्‌की कृपा तथा भगवद्भक्तोंका लक्षण

**श्रीसूतजी कहते हैं**—तपोधनो! रामानुज नामसे प्रसिद्ध एक जितेन्द्रिय विष्णुभक्त ब्राह्मण थे। धर्मात्मा रामानुजने वानप्रस्थ-आश्रममें स्थित होकर आकाशगंगातीर्थके समीप तपस्या की। गरमीमें भगवान् विष्णुका ध्यान करते हुए वे पंचाग्निके मध्यमें स्थित रहते थे, वर्षामें खुले आकाशके नीचे बैठकर मुखसे अष्टाक्षर (**ॐ नमो नारायणाय**) मन्त्रका जप और हृदयमें भगवान् जनार्दनका ध्यान करते थे तथा जाड़ेमें जलके भीतर निवास करते थे। वे समस्त प्राणियोंके हितैषी, जितेन्द्रिय तथा सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे दूर रहनेवाले थे। उन्होंने कितने ही वर्षोंतक सूखे पत्ते खाकर निर्वाह किया, कुछ कालतक जलका ही आहार किया और कुछ वर्षोंतक वे केवल वायु पीकर रहे। तदनन्तर उनकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर भक्तवत्सल भगवान् विष्णुने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया। भगवान्‌के हाथोंमें शंख, चक्र और गदा आदि शोभा पा रहे थे। उनके नेत्र विकसित कमलके दलोंकी भाँति सुन्दर थे, श्रीअंगोंकी दिव्य प्रभा कोटि-कोटि सूर्यके समान थी। वे विनतानन्दन गरुड़पर आरूढ़ हो छत्र और चमरसे सुशोभित थे। हार, भुजबन्द, मुकुट और कड़े आदि आभूषण उनके अंगोंकी शोभा बढ़ाते थे। विष्वक्सेन और सुनन्द आदि पार्षद भगवान्‌को

सब ओरसे घेरकर खड़े थे। वीणा, वेणु और मृदंग आदि बाजे बजानेवाले नारद आदिके द्वारा उनकी महिमाका गान हो रहा था। भगवान्‌का ऐश्वर्य परम उत्तम रूपसे प्रकट हो रहा था। वे पीताम्बरसे शोभायमान थे। उनके वक्षःस्थलमें लक्ष्मीका निवास था। श्याम मेघके समान उनकी कान्ति थी। दोनों पार्श्वभागमें खड़े हुए सनक आदि महायोगी भगवान्‌की सेवामें लगे थे। अपनी मन्द-मन्द मुसकानसे तीनों लोकोंको मोहते और अंगोंकी दिव्य प्रभासे दसों दिशाओंको सम्मानित एवं प्रकाशित करते हुए भक्तसुलभ दयानिधान भगवान् वेंकटेश्वर महामुनि रामानुजके समीप उपस्थित हुए। उन्होंने अपनी चारों बाहोंसे मुनिको पकड़कर हृदयसे लगा लिया और प्रेमपूर्वक कहा—'महामुने! कोई वर माँगो, मैं तुम्हारी तपस्यासे बहुत प्रसन्न हूँ। तुमने जो नमस्कार किया है, उससे मेरा प्रेम और बढ़ गया है। मैं तुम्हें वर देनेके लिये आया हूँ।'

**रामानुज बोले**—नारायण! रमानाथ! श्रीनिवास! जगन्मय! जनार्दन! जगद्धाम! गोविन्द! नरकान्तक! वेंकटाचलशिरोमणे! मैं आपके दर्शनसे ही कृतार्थ हो गया। धर्मनिष्ठ पुरुष आपको नमस्कार करते हैं; क्योंकि आप धर्मके रक्षक हैं। जिन्हें महादेवजी और ब्रह्माजी भी नहीं जानते, तीनों वेदोंको भी जिनका ज्ञान नहीं हो पाता, उन्हीं आप परमात्माको आज मैं जान पाया हूँ। इससे अधिक और कौन-सा वरदान हो सकता है? जिन्हें योगी नहीं देख पाते, केवल कर्मकाण्डीलोग जिनकी झाँकी नहीं कर पाते, उन्हीं आप परमात्माका आज मुझे प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा है। इससे बढ़कर और क्या हो सकता है? सम्पूर्ण जगत्‌के स्वामी वेंकटेश्वर! मैं इतनेसे ही कृतार्थ हूँ। जिनके नामका स्मरण करनेमात्रसे बड़े-बड़े पातकी मनुष्य भी मुक्तिको प्राप्त हो जाते हैं, उन्हीं भगवान् जनार्दनका आज मैं प्रत्यक्ष दर्शन करता हूँ। प्रभो! आपके युगल चरणारविन्दोंमें मेरी अविचल भक्ति बनी रहे।

**श्रीभगवान्‌ने कहा**—महामते रामानुज! मुझमें तुम्हारी दृढ़ भक्ति हो। ब्रह्मन्! मेरी कही हुई दूसरी बात भी सुनो। जब सूर्य मेषराशिपर जाते हैं, उस समय चित्रा नक्षत्रसे युक्त पूर्णिमा होनेपर जो लोग आकाशगंगामें स्नान करते हैं, वे पुनरावृत्ति-रहित परमधामको प्राप्त होते हैं। रामानुज! तुम आकाशगंगाके समीप ही निवास करो। प्रारब्धकर्मके अनुसार प्राप्त हुए इस शरीरका अन्त होनेपर तुम्हें मेरे स्वरूपकी प्राप्ति होगी। इस विषयमें बहुत कहनेकी क्या आवश्यकता है। आकाशगंगाके शुभ जलमें जो कोई भी स्नान करते हैं, वे सभी उत्तम भगवद्भक्त हो जाते हैं।

**रामानुजने पूछा**—भगवन्! भगवद्भक्तोंके लक्षण क्या हैं? किस कर्मसे उनकी पहचान होती है? मैं इस विषयको सुनना चाहता हूँ।

**भगवान् वेंकटेश बोले**—मुनिश्रेष्ठ! तुम भगवद्भक्तोंके लक्षण सुनो। जो समस्त प्राणियोंके हितैषी हैं, जिनमें दूसरोंके दोष देखनेका स्वभाव नहीं है, जो किसीसे भी डाह नहीं रखते और ज्ञानी, निःस्पृह तथा शान्तचित्त हैं, वे श्रेष्ठ भगवद्भक्त

हैं। जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा दूसरेको पीड़ा नहीं देते और जिनमें संग्रह करनेका स्वभाव नहीं है तथा उत्तम कथा श्रवण करनेमें जिनकी सात्त्विक बुद्धि संलग्न रहती है तथा जो मेरे चरणारविन्दोंके भक्त हैं, जो उत्तम मानव माता-पिताकी सेवा करते हैं, देवपूजामें तत्पर रहते हैं, जो भगवत्पूजनके कार्यमें सहायक होते हैं और पूजा होती देखकर मनमें आनन्द मानते हैं, वे भगवद्भक्तोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। जो ब्रह्मचारियों और संन्यासियोंकी सेवा करते हैं तथा दूसरोंकी निन्दा कभी नहीं करते हैं, जो श्रेष्ठ मनुष्य सबके लिये हितकारक वचन बोलते हैं और जो लोकमें सद्गुणोंके ग्राहक हैं, वे उत्तम भगवद्भक्त हैं। जो सब प्राणियोंको अपने समान देखते हैं तथा शत्रु और मित्रमें समभाव रखते हैं, जो धर्मशास्त्रके वक्ता तथा सत्यवादी हैं और जो ऐसे पुरुषोंकी सेवामें रहते हैं, वे सभी उत्तम भगवद्भक्त हैं। दूसरोंका अभ्युदय देखकर जो प्रसन्न होते हैं तथा भगवन्नामोंका कीर्तन करते रहते हैं, जो भगवान्‌के नामोंका अभिनन्दन करते, उन्हें सुनकर अत्यन्त हर्षमें भर जाते और सम्पूर्ण अंगोंमें रोमांचित हो उठते हैं, जो अपने आश्रमोचित आचारके पालनमें तत्पर, अतिथियोंके पूजक तथा वेदार्थके वक्ता हैं, वे उत्तम वैष्णव हैं। जो अपने पढ़े हुए शास्त्रोंको दूसरोंके लिये बतलाते हैं और सर्वत्र गुणोंको ग्रहण करनेवाले हैं, जो एकादशीका व्रत करते, मेरे लिये सत्कर्मोंका अनुष्ठान करते रहते, मुझमें मन लगाते, मेरा भजन करते, मेरे भजनके लिये लालायित रहते तथा सदा मेरे नामोंके स्मरणमें तत्पर होते हैं, वे उत्तम भगवद्भक्त हैं। सद्गुणोंकी ओर जिनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है, वे सभी श्रेष्ठ भक्त हैं।

## दान-पात्र-विचार, चक्रतीर्थकी महिमा, पद्मनाभकी तपस्या, भगवान्‌का वरदान तथा राक्षसके आक्रमणसे चक्रद्वारा पद्मनाभकी रक्षा

**ऋषियोंने पूछा**—भगवन्! दान किसको देना चाहिये? दानका समय कौन-सा है?

**सूतजी बोले**—द्विजवरो! नपुंसक, पुत्रहीन, पाखण्डी, वेदवेत्ताओं तथा ब्राह्मणोंसे द्वेष रखनेवाले और अपने वर्णाश्रमोचित कर्मका त्याग करनेवाले पुरुषको दिया हुआ दान निष्फल होता है। जो परायी स्त्रियोंमें आसक्त है, दूसरोंके धनका जिसके मनमें बड़ा लोभ है तथा जो गीत गानेवाला है, ऐसे ब्राह्मणको दिया हुआ दान निष्फल होता है। जिसके मनमें असूया (दोषदर्शन)-का भाव भरा है, जो कृतघ्न और मायावी है, जिसमें ज्ञानका अभाव है, जो सदा भीख माँगनेवाला है, हिंसक है, जो नाम-विक्रय, वेद-विक्रय, स्मृति-विक्रय तथा धर्म-विक्रय करनेवाला है और दूसरोंको सताना ही जिसका स्वभाव बन गया है; ऐसे ब्राह्मणको दिया हुआ दान भी निष्फल होता है। जो कोई भी पापमें संलग्न रहनेवाले हैं, उनसे न तो कुछ लेना चाहिये और न उन्हें कुछ देना ही चाहिये। उत्तम कर्ममें तत्पर श्रोत्रिय, अग्निहोत्री, जीविकाहीन, दरिद्र तथा कुटुम्बी ब्राह्मणको दान देना चाहिये। जो देवताओंकी पूजामें लगा रहनेवाला और पुराणोंकी कथा बाँचनेवाला है, ऐसे ब्राह्मणको, उनमें भी प्रायः जो दरिद्र हो उसे, दान देना उचित है। पाखण्डी, पतित, संस्कारभ्रष्ट, वेद बेचनेवाले, कृतघ्न तथा पापपरायण ब्राह्मणको कभी प्रणाम न करे। जो स्नान कर

रहा हो, जिसके हाथोंमें समिधा और फूल हो, जिसने जलपात्र ले रखा हो तथा जो भोजन करता हो, ऐसे व्यक्तिको प्रणाम न करे। जो कलहप्रिय, अत्यन्त क्रोधी, दमन करनेवाला, जनसमुदायके मध्यमें स्थित, भिक्षान्नधारी तथा सोया हुआ हो, उसको भी प्रणाम न करे। रजस्वला, व्यभिचारिणी, सूतिका, गर्भपात करनेवाली, व्रत नाश करनेवाली तथा अत्यन्त क्रोधमें भरी हुई स्त्रीको कभी प्रणाम न करे। जो श्राद्धके नियममें नियुक्त हो, देवताओंकी पूजा कर रहा हो अथवा यज्ञ एवं तर्पण कर रहा हो—ऐसे पुरुषको भी प्रणाम न करे। यदि श्राद्धके लिये कोई सुपात्र ब्राह्मण न मिले तो केवल सूत कातकर (जनेऊ आदि बनाकर) जीविका चलानेवाले सदाचारी एवं पुत्रवान् ब्राह्मणको श्राद्धके लिये निमन्त्रित करे। यदि वह भी न मिले, तो पुत्रको या छोटे भाईको अथवा अपनेको ही श्राद्धमें नियुक्त करे। पुत्रहीन ब्राह्मणको किसी प्रकार भी श्राद्धके लिये नियुक्त न करे।

पूर्वकालमें श्रीवत्स गोत्रमें उत्पन्न पद्मनाभ नामक एक जितेन्द्रिय ब्राह्मण था। वह दयालु, उपवासशील, सत्यवादी, सब प्राणियोंको अपने ही समान देखनेवाला तथा विषयकामनासे रहित था। सब भूतोंका हितैषी, मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला तथा सब प्रकारसे द्वन्द्वोंसे रहित था। कितने ही वर्षतक वह सूखे पत्ते चबाकर रहा, कुछ कालतक केवल जल पीता रहा, फिर कई वर्षतक उसने केवल वायुका आहार किया। इस प्रकार महामुनि पद्मनाभने बारह वर्षोंतक कठोर तपस्या की।

तदनन्तर भगवान् लक्ष्मीपतिने पद्मनाभकी तपस्यासे सन्तुष्ट हो उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया। श्रीहरिने अपने हाथोंमें शंख, चक्र और गदा आदिको धारण किया था। उनके नेत्र खिले हुए कमलदलकी भाँति शोभा पा रहे थे और श्रीअंगोंकी कान्ति कोटि-कोटि सूर्यको भी लज्जित कर रही थी। पद्मनाभने आँख खोलकर शंख-चक्रधारी, शान्तस्वरूप, करुणासागर वेंकटनाथ भगवान् श्रीनिवासका दर्शन किया। उन्हें देखकर मुनिने इस प्रकार स्तुति प्रारम्भ की—

'शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले देवाधिदेव भगवान् वेंकटेश्वरको नमस्कार है। नारायणगिरिपर निवास करनेवाले आप श्रीनिवासजीको नमस्कार है। पापोंका नाश करनेवाले सर्वव्यापी भगवान् विष्णुको नमस्कार है। शेषाचलनिवासी आप भगवान् श्रीनिवासको नमस्कार है। जो तीनों लोकोंके स्वामी, विश्वरूप, सबके साक्षी तथा शिव और ब्रह्मा आदिके लिये भी वन्दनीय हैं, जिनके नेत्र कमलके समान हैं, जो क्षीरसागरमें शयन करते हैं तथा जो दुष्ट राक्षसोंका संहार करते हैं, उन भगवान् श्रीनिवासको नमस्कार है। जो भक्तोंके प्रियतम, दिव्य स्वरूप, देवताओंके स्वामी तथा शरणागतोंकी पीड़ाका नाश करनेवाले हैं, जो योगियोंके पालक, वेदवेद्य तथा भक्तोंके पापोंका संहार करनेवाले हैं, उन श्रीनिवास भगवान् विष्णुको नमस्कार है।'

चक्रतीर्थनिवासी पद्मनाभ मुनिके द्वारा इस प्रकार स्तुति की जानेपर परम ऐश्वर्यशाली, विश्वरूप, दयानिधान वेंकटनाथ भगवान् श्रीनिवासजी बहुत सन्तुष्ट हुए और बोले—'महाभाग! तुम मेरे चरणारविन्दोंके पूजक हो। द्विजश्रेष्ठ! इस चक्रतीर्थतटपर मेरी पूजा करते हुए तुम एक कल्प निवास करो।' ऐसा कहकर भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये। तबसे परम बुद्धिमान् पद्मनाभ मुनि चक्रतीर्थके किनारे निवास करने लगे। कुछ कालके पश्चात् वहाँ एक भयंकर राक्षस आया। वह क्रूर क्षुधासे पीड़ित होकर नारायणपरायण पद्मनाभ मुनिको अपना ग्रास बनाना चाहता था। उसने बड़े वेगसे ब्राह्मणको पकड़ लिया। तब उन्होंने शरणागतोंके रक्षक दयासागर चक्रपाणि श्रीनारायणको पुकारा और बार-बार ऐसा कहा—'प्रभो! रक्षा कीजिये,

रक्षा कीजिये, हे वेंकटेश! हे दयासिन्धो! हे शरणागतपालक! हे पुरुषसिंह! मैं राक्षसके वशमें आ गया हूँ। मेरी रक्षा कीजिये। हे लक्ष्मीकान्त! हे दुःखहारी हरि! हे विष्णुदेव! हे वैकुण्ठनाथ! हे गरुड़ध्वज! आपने ग्राहके चंगुलमें फँसे हुए गजराजकी जिस प्रकार रक्षा की थी उसी प्रकार राक्षसके आक्रमणसे दबे हुए मुझ भक्तकी रक्षा कीजिये। हे दामोदर! हे जगन्नाथ! हे हिरण्यकशिपु दैत्यका मर्दन करनेवाले नृसिंह! प्रह्लादजीकी भाँति मैं भी राक्षसके द्वारा अत्यन्त पीड़ित हूँ; अतः उन्हींके समान आप मेरी भी रक्षा कीजिये।'

पद्मनाभके इस प्रकार स्तुति करनेपर अपने भक्तके ऊपर भय आया हुआ जानकर दयानिधान चक्रपाणिने भक्तकी रक्षाके लिये अपने चक्रको भेजा। भगवान्‌का वह चक्र बड़े वेगसे चक्रतीर्थके तटपर आया। वह अनन्त सूर्यके समान तेजस्वी तथा अनन्त अग्निके समान ज्वालामालाओंसे प्रज्वलित था। उससे बड़े जोरकी गड़गड़ाहट हो रही थी। बड़े-बड़े असुरोंका संहार करनेवाले उस सुदर्शन चक्रको देखकर राक्षस भागा, परंतु सुदर्शनने सहसा पास पहुँचकर उसका मस्तक

काट डाला। राक्षसको पृथ्वीपर पड़ा हुआ देख विप्रवर पद्मनाभ मुनि अत्यन्त प्रसन्न हो सुदर्शन चक्रकी स्तुति करने लगे।

**पद्मनाभ बोले**—सम्पूर्ण विश्वके संरक्षणकी दीक्षा लेनेवाले विष्णुचक्र! आपको नमस्कार है। आप भगवान् नारायणके करकमलको विभूषित करनेवाले हैं। आप युद्धमें असुरोंका संहार करनेमें कुशल हैं। अतिशय गर्जना करनेवाले सुदर्शन! आप भक्तोंकी पीड़ाका विनाश करते हैं। आपको नमस्कार है। मैं भयसे उद्विग्न हूँ। आप सब प्रकारके पाप-तापसे मेरी रक्षा कीजिये। स्वामिन्! सुदर्शन! प्रभो! संकटसे छुटकारा चाहनेवाले सम्पूर्ण जगत्‌का हित करनेके लिये आप सदा इस चक्रतीर्थमें निवास करें।

पद्मनाभ ब्राह्मणके ऐसा कहनेपर भगवान् विष्णुके चक्रने अपने स्नेहसे उन्हें तृप्त-से करते हुए कहा—'पद्मनाभ! यह चक्रतीर्थ अत्यन्त उत्तम और परम पवित्र है। मैं सम्पूर्ण लोकोंका हित करनेके लिये सदा इस तीर्थमें निवास करूँगा। आपके ऊपर दुरात्मा राक्षसके द्वारा आये हुए संकटका विचार करके भगवान् विष्णुसे प्रेरित होकर मैं शीघ्र यहाँ आ पहुँचा। आपको पीड़ा देनेवाले उस अधम राक्षसको मैंने मार डाला और आपकी उसके भयसे रक्षा की; क्योंकि आप भगवान्‌के भक्त हैं। विप्रवर! सब पापोंका हरण करनेवाले इस परम पवित्र चक्रतीर्थमें सब लोगोंकी रक्षाके लिये मैं सदा निवास करूँगा। मेरे निवास करनेसे यह तीर्थ चक्रतीर्थके नामसे प्रसिद्ध होगा और जो मनुष्य इस मोक्षदायक चक्रतीर्थमें स्नान करेंगे, उन सबके पुत्र, पौत्र आदि वंशज, निष्पाप होकर भगवान् विष्णुके परमधामको प्राप्त होंगे।' यों कहकर भगवान् विष्णुके चक्रने पद्मनाभ मुनि तथा अन्य ब्राह्मणोंके देखते-देखते सहसा उस चक्र-सरोवरमें प्रवेश किया। शौनकादि महर्षियो!

इस प्रकार मैंने तुमलोगोंसे चक्रतीर्थके माहात्म्यका वर्णन किया। जो मनुष्य एकाग्रचित्त होकर इस अध्यायको पढ़ता या सुनता है उसे चक्रतीर्थमें स्नान करनेका उत्तम फल प्राप्त होता है।

## सुन्दर गन्धर्वका वसिष्ठजीके शापसे राक्षसभावको प्राप्त होकर पुनः उससे मुक्त होना

**ऋषियोंने पूछा**—सूतजी! वह राक्षस कौन था जिसने भगवान् विष्णुके भक्त महात्मा ब्राह्मणको कष्ट पहुँचाया?

**सूतजी बोले**—ब्राह्मणो! पूर्वकालकी बात है। श्रीरंगक्षेत्रमें जो वैकुण्ठके सदृश भगवान् विष्णुका विशाल मन्दिर है, उसमें वसिष्ठ और अत्रि आदि महातेजस्वी मोक्षके लिये वैष्णव भक्तोंको अभय प्रदान करनेवाले देवेश्वर श्रीविष्णुभगवान्की उपासना करते थे। एक दिन वीरबाहुका बलवान् पुत्र सुन्दर नामवाला गन्धर्व सैकड़ों स्त्रियोंके साथ उस क्षेत्रमें आया और एक जलाशयमें नग्न होकर नग्न हुई युवतियोंके साथ आनन्दपूर्वक जल-विहार करने लगा। उसी समय मध्याह्न-सन्ध्या करनेके लिये मुनिवर वसिष्ठ अन्य महर्षियोंके साथ श्रीरंग-मन्दिरसे बाहर निकले और उस जलाशयपर गये। उन ऋषियोंको देखकर वे सभी रमणियाँ भयसे कातर हो अपने-अपने कपड़े ओढ़कर बैठ गयीं; परंतु साहसी सुन्दर ज्यों-का-त्यों खड़ा रहा। यह देख वसिष्ठ मुनिने कुपित होकर उस निर्लज्जको शाप दिया—'सुन्दर गन्धर्व! तूने हमलोगोंको देखकर भी लज्जावश वस्त्र धारण नहीं किया, इसलिये तू शीघ्र राक्षस हो जा।'

महर्षि वसिष्ठके ऐसा कहनेपर उसकी स्त्रियाँ हाथ जोड़कर उनके चरणोंमें गिर पड़ीं और भक्तिभावसे विनीतचित्त होकर बोलीं—'भगवन्! आप सब धर्मोंके ज्ञाता हैं, साक्षात् ब्रह्माजीके पुत्र हैं। दयासिन्धो! पति ही नारियोंका उत्तम भूषण कहलाता है। पतिहीन नारी सौ पुत्रोंवाली होकर भी संसारमें विधवा ही कहलाती है। ऐसी नारियोंका जन्म व्यर्थ समझा जाता है। अतः मुने! हमारे पतिके ऊपर आप प्रसन्न हों। तत्त्वदर्शी मुनियोंको एक अपराध क्षमा कर देना चाहिये। दयासिन्धो! सुन्दर आपका शिष्य है, इसे क्षमा करें।'

सुन्दरकी स्त्रियोंके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर वसिष्ठजीने कहा—'सुन्दरियो! मेरा वचन कभी व्यर्थ नहीं होगा, इससे छूटनेका उपाय बतलाता हूँ, उसे श्रद्धापूर्वक सुनो। यह राक्षसके समान आकारवाला सुन्दर आजसे सोलह वर्षोंके बाद इच्छानुसार घूमता-घामता सर्वपापहारी वेंकटाचलपर पहुँच जायगा और वहाँ चक्रतीर्थपर जायगा। देवांगनाओ! चक्रतीर्थपर महायोगी मुनिवर पद्मनाभजी रहते हैं। उन्हें खा जानेके लिये जब यह आक्रमण करेगा, तब ब्राह्मणकी रक्षाके लिये भगवान् विष्णुका भेजा हुआ उत्तम चक्र इसका मस्तक काट डालेगा। तदनन्तर शापसे मुक्त होकर यह तुम्हारा पति सुन्दर अपने स्वरूपको प्राप्त होकर पुनः स्वर्गलोकमें चला जायगा।'

श्रीरंगनाथमें भक्ति करनेवाले वसिष्ठजी ऐसा कहकर शीघ्र ही अपने आश्रमको चले गये। तदनन्तर राक्षसरूपमें परिणत हुआ भयानक आकारवाला सुन्दर इधर-उधर घूमता हुआ गिरिश्रेष्ठ वेंकटाचलपर गया और चक्रतीर्थपर भी जा पहुँचा। इस भ्रमणमें ही उसके सोलह वर्ष पूरे हो गये थे। तदनन्तर चक्रतीर्थनिवासी पद्मनाभको खा जानेके लिये उसने बड़े वेगसे आक्रमण किया। मुनिने भगवान् विष्णुकी स्तुति की और भगवान्ने राक्षसद्वारा

पीड़ित पद्मनाभकी रक्षाके लिये चक्रको भेजा। इस प्रकार चक्रने आकर उस राक्षसका मस्तक काट डाला। तब वह राक्षस शरीर छोड़कर दिव्य देह धारण करके विमानपर जा बैठा। उस समय उसके ऊपर फूलोंकी वर्षा हो रही थी। उसने हाथ जोड़कर सुदर्शनको प्रणाम किया। फिर उन द्विजश्रेष्ठ पद्मनाभको भी प्रणाम करके उनकी आज्ञा लेकर सुन्दर गन्धर्व स्वर्गको चला गया।

ब्राह्मणो! इस प्रकार मैंने उस राक्षसकी उत्पत्तिका वृत्तान्त और चक्रतीर्थका पापनाशक माहात्म्य आपलोगोंसे बतलाया। इसे सुनकर मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

## घोणतीर्थका माहात्म्य—गन्धर्वपत्नीका उद्धार

ब्राह्मणो! अब घोणतीर्थका माहात्म्य सुनो! महापापोंमें तत्पर, चाण्डालकुलमें सबसे नीच, क्रूर, कुलका नाश करनेवाला, कष्टकारक, दानशून्य, सत्कर्मरहित, पशुघाती, परद्रोही, चुगलखोर, असत्यवादी, पाखण्डी, मित्रद्रोही, कृतघ्न, भ्रूणहत्या करनेवाला, परस्त्रीगामी, स्वामीसे द्रोह करनेवाला, ठग, लोभी, पितृघाती, देवताओंसे विमुख, आत्मप्रशंसा करनेवाला, शठ, अयोग्य पात्रके लिये व्यय करनेवाला, धर्ममें बाधा डालनेवाला, अनुकूलतामें अन्तर डालनेवाला, फल-फूल और पल्लवोंसे युक्त वृक्षको काटनेवाला, विश्वासघाती, वीर-हत्यापरायण, अग्निहोत्रका त्याग करनेवाला, विषका प्रयोग करनेवाला, गुरुद्वेषी, पति-पत्नीमें वैमनस्य उत्पन्न करनेवाला, गाँवका अगुआ, देवमन्दिरका अध्यक्ष, वेतन लेकर पढ़ानेवाला, कठोर कर्म करनेवाला, पापोंमें स्वभावतः रत रहनेवाला, गुप्त पाप करनेवाला, अनजानमें या जान-बूझकर दुष्कर्म करनेवाला—इन सभी प्रकारके पापियोंको परम मनोहर घोणतीर्थ अपनेमें स्नान और जलपान आदि करनेपर पवित्र कर देता है।

इस विषयमें मैं एक प्राचीन इतिहास सुनाऊँगा, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है। पूर्वकालमें महातेजस्वी गार्ग्य मुनिने महात्मा देवलको नमस्कार करके कहा—'महाभाग! आप घोणतीर्थके सर्वपापहारी शुभ माहात्म्यका वर्णन कीजिये।'

**देवलने कहा**—मुने! तुम्बुरु नामक गन्धर्व अपनी पतिव्रता पत्नीको शाप देकर इस तीर्थमें स्नान करके दयानिधान वेंकटेश्वरकी पूजा करनेसे पुनरावृत्तिरहित विष्णुधामको प्राप्त हो गया था। वह वृत्तान्त इस प्रकार है। एक दिन तुम्बुरु नामक गन्धर्वने अपनी प्यारी पत्नीसे इस प्रकार कहा—'देवि! सब पातकोंका नाश करनेवाले माघमासमें सूर्योदयके समय इस तटपर भगवान् विष्णुकी पूजा करनी है, इसलिये गोबरसे इस भूमिको लीप दो और इस माघमें प्रतिदिन माधवके लिये दीप-बत्ती बनाओ। भगवान्‌के आगे भक्तिपूर्वक धूप समर्पित करो, पवित्र होकर भगवान्‌के लिये रसोई तैयार करो और मेरे साथ-साथ रहकर परिक्रमा तथा नमस्कार आदिके द्वारा भक्तिपूर्वक भगवान्‌की पूजा करो। नित्यप्रति आलस्य छोड़कर भगवान् विष्णुकी पुराण-कथा सुनो। नित्य सबेरे स्नान करके यत्नपूर्वक श्रीहरिका चरणोदक पान करो। कृष्ण, विष्णु, मुकुन्द, नारायण, जनार्दन, अच्युत, अनन्त और विश्वात्मन् इत्यादि भगवन्नामोंका सदा कीर्तन किया करो और क्रोध, मात्सर्य तथा लोभ आदिका परित्याग करके व्रत-नियमका पालन करो। इससे तुम्हें भवबन्धनसे छुटकारा मिलेगा और सनातन विष्णुधामकी प्राप्ति होगी।'

स्वामीका ऐसा कथन सुनकर गन्धर्वकी उस

प्यारी पत्नीने क्रोधपूर्वक उत्तर दिया—'आर्यपुत्र! माघके महीनेमें बहुत सर्दी पड़ती है, उस समय प्रातःकाल, जब कि सूर्यका तेज बहुत मन्द रहता है, सूर्योदय-कालमें कोई कैसे स्नान करेगा? माघमें उस समय शीतका अधिक कष्ट रहता है। इसलिये आपके बताये हुए ये सब कार्य मुझसे बार-बार न हो सकेंगे। अतः प्रातःकालमें मैं आपके साथ स्नान नहीं करूँगी। क्योंकि अधिक सर्दी पड़नेसे यदि मेरी मृत्यु हो गयी, तो उस समय आप मेरी रक्षा नहीं करेंगे।'

पत्नीकी यह बात सुनकर तुम्बुरुने सोचा कि 'धर्मविरुद्ध चलनेवाले पुत्रको, अप्रिय वचन बोलनेवाली पत्नीको तथा ब्राह्मण एवं ईश्वरको न माननेवाले राजाको तत्काल शापके द्वारा दण्ड देना चाहिये।' इस नीतिके वचनका विचार करके गन्धर्वने अपनी सती पत्नीको इस प्रकार शाप दिया—'ओ मूढ़े! सौ पातकोंका नाश करनेवाले परम पुण्यमय वेंकटाचलपर घोणतीर्थके समीप जो पीपलका वृक्ष है, उसके खोखलेमें तू मेढकी हो जा।' पतिदेवकी यह बात सुनकर वह गन्धर्ववल्लभा उनके चरणोंमें गिर पड़ी और प्रार्थना करने लगी। तब तुम्बुरुने उसे शापसे मुक्त होनेकी यह अवधि बतलायी कि अपनी इन्द्रियोंपर विजय पानेवाले परम तपस्वी महाभाग अगस्त्य मुनि जब महातिथि पूर्णिमाको परम उत्तम घोणतीर्थमें जाकर स्नान करेंगे और उसी पीपल वृक्षके समीप बैठकर शिष्योंको घोणतीर्थका माहात्म्य बतलावेंगे, उस समय पीपलके खोखलेमें ही एकाग्रचित्त होकर जब तुम मोक्षदायक घोणतीर्थका माहात्म्य सुनोगी, तब समस्त पापोंका नाश करके मेरे साथ आ मिलोगी।

गन्धर्वके ऐसा कहनेपर उसकी धर्मपत्नी चुप हो गयी। स्वामीके शापसे उसने मेढकके शरीरमें प्रवेश किया और धीरे-धीरे शेषाचलके शिखरपर घोणतीर्थके दक्षिण उस पीपल-वृक्षके खोखलेमें जाकर रहने लगी। तदनन्तर किसी समय अगस्त्यजी मनोहर वेंकटाचलपर गये। वहाँ उन्होंने नियमपूर्वक स्वामितीर्थमें स्नान करके वाराहस्वामीको नमस्कार किया। तत्पश्चात् उस तीर्थके दक्षिण वेंकटेशजीके मन्दिरमें जाकर वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य विशाल नेत्रवाले सनातन देवदेव दयानिधान श्रीनिवासजीको मस्तक झुकाया। उसके बाद वे घोणतीर्थमें गये और वहाँ शिष्योंके साथ उस श्रेष्ठ तीर्थमें स्नान करके उसी पीपल वृक्षकी छायामें जा बैठे। उस समय उन्होंने शिष्योंसे भक्तिपूर्वक घोणतीर्थका पवित्र माहात्म्य वर्णन किया, जो ब्रह्महत्याका नाश करनेवाला तथा सम्पूर्ण मंगलों और समस्त सम्पदाओंको देनेवाला है। उस माहात्म्यको सुनकर वह मेढकी पूर्ववत् गन्धर्वपत्नीके मनोहर स्वरूपको प्राप्त होकर योगी अगस्त्यके चरणोंमें गिर पड़ी और बोली—'योगियोंमें श्रेष्ठ दयानिधान अगस्त्यजी! मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। ब्रह्मन्! मैं पतिके वचनोंका विरोध करनेवाली स्त्री हूँ, दया करके मेरी रक्षा कीजिये।'

**अगस्त्यजी बोले**—देवि! तुम्हारे पतिकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण है। उन्होंने जो रोषमें आकर तुम्हें शाप दिया है, वह पतिके वचनोंका विरोध करनेवाली तुम-जैसी स्त्रीके लिये उचित ही है। जो स्त्री पतिके वचनोंकी अवहेलना करके अपनी इच्छाके अनुसार बर्ताव करती है, वह जबतक चन्द्रमा और तारे रहते हैं तबतक घोर नरकमें निवास करती है। स्त्रियोंके लिये स्वतन्त्रता उचित नहीं है, उन्हें पतिकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करना चाहिये। स्त्रियाँ पतिकी सेवा तथा पातिव्रत्यरूपी पुण्यसे ही भगवान् विष्णुके परमधाममें जाती हैं। स्त्रियोंके लिये पति ही माता है, पति ही विष्णु है, पति ही ब्रह्मा है, पति ही शिव है, पति ही गुरु है तथा पति ही तीर्थ है, ऐसा विद्वान्

पुरुष मानते हैं।* पतिकी बात टालकर जो स्त्री दूसरे-दूसरे पुण्योंमें सदा लगी रहती है, वह भी शुद्ध नहीं होती। वही स्त्री जब पतिकी प्रेरणाके अनुसार चलती, पतिकी बुद्धिके अधीन रहती और पतिके चरणारविन्दोंके पवित्र जलसे अपना अभिषेक करती है, तब भगवान्‌को प्रिय होती है। इसलिये तुम्हारा किया हुआ दोष ही तुम्हें इस शापके रूपमें प्राप्त हुआ था। उसे यहाँ भोगकर घोणतीर्थका माहात्म्य सुनते-सुनते तुम्हारी उस शापसे मुक्ति हो गयी और पहलेके समान तुम्हें सुन्दर अंगोंवाला नारीरूप पुनः प्राप्त हो गया। इसीलिये विद्वान् पुरुष घोणतीर्थको परम पवित्र मानते हैं। जो मनुष्य सब पापोंका नाश करनेवाले इस इतिहासका श्रवण करता है, वह वाजपेय-यज्ञका फल पाता है और उसे सनातन विष्णुलोककी प्राप्ति होती है।

## वेंकटाचलके मुख्य तीर्थोंका वर्णन, पुराण-श्रवणकी महिमा और नियम तथा अर्जुनकी तीर्थयात्रा

**ऋषियोंने पूछा**—पौराणिकोंमें श्रेष्ठ सूतजी! इस वेंकटाचलपर उत्तम धर्मविषयक अनुराग प्रदान करनेवाले मुख्य-मुख्य तीर्थ कितने हैं? कौन ज्ञानदायक हैं? कौन भक्ति और वैराग्य देनेवाले हैं? तथा कौन मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं? उन सबका वर्णन कीजिये।

**श्रीसूतजी बोले**—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले शौनक! इस श्रेष्ठ पर्वतपर मुख्य-मुख्य एक सौ आठ तीर्थ ऐसे हैं, जो उत्तम धर्ममें अनुराग प्रदान करनेवाले है। इन एक सौ आठ तीर्थोंमें साठ तीर्थ भक्ति और वैराग्य देनेवाले हैं और इस वेंकटाचलके शिखरपर छः तीर्थ मुक्तिदायक माने गये हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—स्वामिपुष्करिणी, आकाशगंगा, पापविनाशन, पाण्डुतीर्थ, कुमारधारिका-तीर्थ और तुम्बुतीर्थ। जो मनुष्य इन तीर्थोंके माहात्म्यके साथ भगवान् विष्णुकी भुवनपावनी कथाको सर्वदा श्रवण करते हैं, वे इस लोकमें निश्चय ही भगवान् विष्णुके भक्त होते हैं। सम्पूर्ण भुवनोंको पवित्र करनेवाली श्रीविष्णुकथाको सर्वदा श्रवण करनेमें यदि कोई समर्थ न हो, तो दो घड़ी, एक घड़ी अथवा एक क्षण भी जो भक्तिपूर्वक इसे श्रवण कर लेता है, उसकी कभी दुर्गति नहीं होती। सम्पूर्ण यज्ञों और सब प्रकारके दानोंसे जो फल प्राप्त होता है, वही फल मनुष्य एक बार पुराणकथाका श्रवण करनेसे प्राप्त कर लेता है। पुराणका श्रवण और भगवान् विष्णुके नामोंका कीर्तन—ये दो ही मनुष्यके पुण्यरूपी वृक्षके महान् फल हैं। यदि कोई बड़ा प्रयत्न करके अमृत ही पी ले, तो भी वह अकेला ही अजर-अमर होता है; परंतु भगवान् विष्णुका कथारूप अमृत तो समस्त कुलको ही अजर-अमर बना देता है। पुराणका जाननेवाला विद्वान् बालक, युवा, वृद्ध, दरिद्र अथवा दुर्भाग्ययुक्त ही क्यों न हो, वह पुण्यात्मा पुरुषोंद्वारा सदैव वन्दनीय और पूजनीय होता है। पुराणवेत्ता ब्राह्मण जब कथा कहनेके लिये व्यासासनपर बैठ जाय तब प्रसंगकी समाप्ति होनेतक वह किसीको प्रणाम न करे। जहाँ खोटे मनुष्य रहते हों, जो

* पतिर्माता पतिर्विष्णुः पतिर्ब्रह्मा पतिः शिवः। पतिर्गुरुः पतिस्तीर्थमिति स्त्रीणां विदुर्बुधाः॥
(स्क० पु०, वै० वे० २६। ८३-८४)

स्थान हिंसक जन्तुओंसे घिरा हो तथा जिस घरमें जुआ खेला जाता हो, वहाँ विद्वान् पुरुष पवित्र कथा न कहे। जो उत्तम ग्राम हो, जहाँ अच्छे लोग बसते हों, जो उत्तम क्षेत्र, पवित्र देवालय अथवा नदीका पवित्र तट हो, वहीं विद्वान् पुरुष पवित्र कथा बाँचे। जो श्रद्धा और भक्तिसे युक्त हों, अन्य कार्योंमें जिनका मन न लगा हो तथा जो मौन, पवित्र और शान्त भावसे सुनते हों ऐसे श्रोता पुण्यके भागी होते हैं। जो अधम मनुष्य बिना भक्ति-भावके पवित्र कथा सुनते हैं, उनको पुण्य फलकी प्राप्ति नहीं होती। जो पान चबाते हुए भगवान्‌की पवित्र कथा सुनते हैं, वे नरकमें पड़ते हैं। जो पाखण्डी ऊँचे आसनपर बैठकर कथा सुनते हैं, वे नरकोंको भोगकर अन्तमें कौवे होते हैं। जो वीरासन लगाकर अथवा सिंहासनपर बैठकर भगवान्‌की कथा सुनते हैं, वे टेढ़े-मेढ़े वृक्ष होते हैं। जो प्रणाम न करके कथा सुनते हैं, वे विषवृक्ष होते हैं और जो स्वस्थ होकर भी सोकर कथा सुनते हैं, वे अजगर होते हैं। जो वक्ताके समान आसनपर बैठकर कथा सुनता है, वह पापका भागी होकर नरकमें पड़ता है। जो पुराणके ज्ञाता विद्वान्‌की तथा सब पापोंका नाश करनेवाली उत्तम कथाकी निन्दा करते हैं, वे कुत्ते होते हैं। जब कथा बाँची जाती हो, उस समय जो दुष्टतापूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तर करते हैं, वे गधे होते हैं तथा उसके बाद गिरगिटकी योनिमें जन्म लेते हैं। जो कथा होते समय उसमें विघ्न डालते हैं, वे करोड़ों वर्षोंतक नरक भोगकर अन्तमें ग्राम-सूकर होते हैं। जो नरश्रेष्ठ पुराणवेत्ता विद्वान्‌के बैठनेके लिये कम्बल, मृगचर्म, वस्त्र तथा चौकी देते हैं, वे स्वर्गलोकमें जाकर मनोवांछित भोगोंको भोगकर ब्रह्मादि देवताओंके लोकोंमें स्थित होते और निरामय पदको प्राप्त हो जाते हैं। जो पराणके बेठनके लिये सूत और नया कपड़ा देते हैं, वे प्रत्येक जन्ममें भोगवान् और ज्ञानसम्पन्न होते हैं।

इस प्रकार वेंकटाचलके माहात्म्यको सुनकर सब ऋषियोंने पौराणिकोंमें श्रेष्ठ सूतजीका यथायोग्य सम्मान करके अनुपम हर्ष प्राप्त किया।

**ऋषि बोले**—सूतजी! अब हमलोग कटाह-तीर्थका माहात्म्य सुनना चाहते हैं।

**सूतजी बोले**—विप्रवरो! कटाहतीर्थ सब लोकोंमें प्रसिद्ध है। वह सब प्रकारकी सम्पत्तियोंको देनेवाला, शुद्ध तथा सब पापोंका नाश करनेवाला है। उससे दुःस्वप्नोंका नाश हो जाता है। वह महापातकोंका नाश करनेवाला, बड़े-बड़े विघ्नोंका निवारण करनेवाला तथा मनुष्योंको परम शान्ति देनेवाला है। कटाहतीर्थ स्मरण करनेमात्रसे सब पापोंका संहार कर देता है। अतः '**केशवाय नमः, नारायणाय नमः, माधवाय नमः**'—इन नामोंसे पृथक्-पृथक् उस तीर्थके जलका आचमन करे। अथवा तीनों नामोंसे एक ही बार उस तीर्थके कल्याणप्रद जलका पान करे अथवा भगवान् वेंकटेश्वरके अष्टाक्षर मन्त्रसे भोग, मोक्ष प्रदान करनेवाले उक्त तीर्थका जल पीये। पहले यह प्रार्थना करे कि हे तीर्थवर! जन्मान्तरमें किये हुए मेरे महापापका शीघ्र नाश करो। उसके बाद मोक्षमार्गके एकमात्र साधन कटाहतीर्थके जलका नित्य पान करे। स्वामिपुष्करिणी-तीर्थका स्नान, वाराह स्वामीका दर्शन और कटाहतीर्थके जलका पान—ये तीन बातें त्रिलोकीमें दुर्लभ हैं। कटाहतीर्थका यत्नपूर्वक सेवन करना चाहिये; क्योंकि उस तीर्थका परम उत्तम जल पीकर पापी भी कृतार्थ हो जाते हैं। ब्राह्मणो! कटाहतीर्थका माहात्म्य मैंने जैसा सुना था, उसी प्रकार तुम्हें बताया है।

अब मैं एक दिव्य पापनाशक कथा सुनाता हूँ, तुम सब लोग सावधान होकर सुनो। द्वापरकी बात है। कुन्तीके पुत्र पाँचों पाण्डव परम

बुद्धिमान् राजा द्रुपदसे उनकी पुत्री याज्ञसेनीको पाकर धृतराष्ट्रकी आज्ञासे हस्तिनापुरमें गये। वहाँ पितामह भीष्म तथा अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्रके द्वारा सम्मानित होकर उन्होंने दुर्योधन आदिके साथ पाँच वर्षोंतक निवास किया। तदनन्तर भीष्म आदिके समझानेसे महायशस्वी धृतराष्ट्रने अपने कुलके सभी बड़े-बूढ़ोंके सामने और भगवान् श्रीकृष्णके आगे पाण्डवोंकी सेवासे प्रसन्न हो, उन्हें आधे राज्यके साथ खाण्डवप्रस्थ (वर्तमान दिल्ली) नामक नगर प्रदान किया। तब धृतराष्ट्र आदि कौरवोंकी अनुमति ले सब पाण्डव श्रीकृष्णके साथ खाण्डवप्रस्थमें चले गये। वहाँ विश्वकर्मासे सुरक्षित इन्द्रप्रस्थ नामक पुरमें रहते हुए भाइयोंसहित युधिष्ठिरने पृथ्वीका पालन किया। भगवान् श्रीकृष्णके द्वारका चले जानेपर धर्मके जाननेवाले कुन्तीपुत्रोंने नारदजीके उपदेशसे द्रौपदीके विषयमें यह प्रतिज्ञा की कि द्रौपदी क्रमशः एक-एक वर्ष एक-एक पाण्डवके घरमें निवास करेगी। इस निर्णयके बाद जो दूसरे भाईके घरमें रहती हुई पांचाल-राजकुमारी द्रौपदीको देख लेगा, उसे एक वर्षतक तीर्थ-सेवन करना पड़ेगा। इस प्रकार प्रतिज्ञा करके वे पाण्डव आलस्य छोड़कर सामान्य लौकिक व्यापारोंमें संलग्न हो समय व्यतीत करने लगे।

तदनन्तर एक दिन उसी जनपदके निवासी ब्राह्मणने राजाके आँगनमें खड़े होकर कई बार पुकार लगायी—'महाराज! चोरोंने मेरी गाय चुरा ली।' उसकी आवाज सुनकर अर्जुन वहाँ आये और ब्राह्मणको सान्त्वना देकर अपने अस्त्र-शस्त्र लानेके लिये शीघ्रतापूर्वक शस्त्रागारको गये। वहाँ उन्होंने द्रौपदी और राजा युधिष्ठिरको एक जगह बैठे देखा। इस विषयमें की हुई प्रतिज्ञाको जानते हुए भी उन्होंने वहाँसे धनुष और बाण ले लिये और युद्धमें लुटेरोंको मारकर ब्राह्मणकी गाय लौटा ली। फिर उसे ले जाकर ब्राह्मणको आदरपूर्वक समर्पित कर दिया। तत्पश्चात् अर्जुनने धर्मनन्दन युधिष्ठिरको सूचित किया कि मेरे द्वारा प्रतिज्ञाका उल्लंघन हुआ है, इसलिये मुझे तीर्थयात्रा करनी चाहिये।

अपने छोटे भाईकी बात सुनकर सब धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ धर्मनन्दन युधिष्ठिरने आदरपूर्वक कहा, 'सुव्रत! तुमने ब्राह्मण और गायके लिये ऐसा किया है। प्रजाकी रक्षा करना राजाका कर्तव्य है; यदि उसके द्वारा चोरोंकी उपेक्षा हो जाय तो उसे ब्रह्महत्याका पाप लगता है और चोरोंको दण्ड देनेपर वह पुण्यका भागी होता है। तुमने राजा और प्रजा दोनोंके लिये जो हितकर कार्य है, वही किया है; इसलिये तुम्हारा दोष नहीं है।' धर्मराजका यह वचन सुनकर सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले अर्जुनने हाथ जोड़कर कहा, 'भूपाल! आप ऐसी बात न कहें, आप धर्मके सर्वस्वको जानते हैं, धर्मके साक्षात् स्वरूप हैं तथा कर्तव्य और अकर्तव्यके ज्ञाता हैं। समर्थ पुरुषको अपनी की हुई प्रतिज्ञाका कभी उल्लंघन नहीं करना चाहिये। आर्य! यदि मुझपर दया करके मुझे तीर्थोंमें जानेसे रोक देंगे, तो संसारके मनुष्य यदि मुझे हतप्रतिज्ञ कहने लगें, तो उन्हें कौन रोक सकता है। मेरा मन भी तीर्थयात्राकी उत्कण्ठासे उतावला हो रहा है। राजन्! नारदजीने जो अनुशासन किया है, वह हमारे लिये सर्वथा कर्तव्य है। अतः महाराज! तीर्थयात्राके लिये मैंने जो यह उद्योग किया है, इससे आपको प्रसन्न होना चाहिये। स्वामीको सेवकोंकी प्रतिज्ञाका उनके द्वारा निर्वाह करवाना चाहिये।'

तब भाइयोंकी सलाह ले 'बहुत अच्छा' कहकर युधिष्ठिरने अर्जुनका अनुरोध स्वीकार कर लिया। अर्जुनने प्रणाम और विनय आदिके द्वारा अपने बड़े भाईको सन्तुष्ट किया। फिर यथायोग्य भीमसेन आदि बन्धुओंसे भी विदा ले, ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर अर्जुनने वहाँसे

यात्रा की। राजकुमार अर्जुनने पहले गंगा नदीके तटपर पहुँचकर उसीके किनारे-किनारे निकटवर्ती मार्गसे जाते हुए हरिद्वार, प्रयाग और काशी आदि तीर्थोंका सेवन किया और अन्य तीर्थोंका दर्शन करते हुए वे ऊँची-ऊँची तरंगोंसे लहराते हुए दक्षिण समुद्रतक जा पहुँचे। फिर परम पवित्र महानदी, प्रसिद्ध पुरुषोत्तम तीर्थ और सिंहाचलका दर्शन करके उन्होंने अपनेको कृतकृत्य माना। तत्पश्चात् अर्जुनने समस्त पातकसमूहका विनाश करनेके कारण अतिशय गौरवको प्राप्त हुई पुण्यमयी गोदावरी नदीका दर्शन किया। उसके जलसे विधिपूर्वक स्नान करके वे मलापहा नदीके तटपर गये। उसके दर्शनसे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उसके बाद वे सरिताओंमें श्रेष्ठ कृष्णवेणी नदीके समीप जा पहुँचे और भगवान् शंकरके निवास-स्थान श्रीपर्वतका दर्शन किया। फिर पिनाकिनी नदीको पार करके देवताओं और ऋषियोंद्वारा सेवित वेंकटाचल पर्वतका दर्शन किया, जो भगवान् नारायणका प्रिय निवास है। उस पर्वतके शिखरपर स्थित सम्पूर्ण लोकोंके एकमात्र स्वामी सुप्रसिद्ध भगवान् श्रीहरिका अर्जुनने कल्याणकी सिद्धिके लिये भक्तिपूर्वक पूजन किया। तदनन्तर महापर्वत वेंकटाचलके शिखरसे उतरकर उन्होंने सिद्धों और मुनियोंके समुदायसे सेवित सुवर्णमुखरी नामवाली नदीका दर्शन किया, जिसे मुनिवर अगस्त्यजी यहाँ ले आये थे।

## अर्जुनका कालहस्तीश्वरके समीप भरद्वाजके आश्रमपर जाना और भरद्वाजजीके द्वारा अगस्त्यजीके प्रभावका वर्णन

**सूतजी कहते हैं**—इस प्रकार सब तीर्थोंका दर्शन करके आये हुए अर्जुनके मनमें महानदी सुवर्णमुखरीने कई गुना आनन्द बढ़ा दिया। उस नदीके पूर्व तटपर अर्जुनने एक ऊँचा पर्वत देखा, जो कालहस्तीके नामसे प्रसिद्ध है। उस महानदीमें स्नान करके वे पर्वतके शिखरपर गये और वहाँ देवपूजित कालहस्तीश्वर नामक महादेवजीका दर्शन किया। पार्वतीके साथ महादेवजीका भक्तियुक्त चित्तसे पूजन करके वे कृतार्थ हो गये। तदनन्तर अर्जुन वहाँके अभूतपूर्व पदार्थोंका दर्शन करनेके लिये उस पर्वतपर विचरने लगे। वहाँ पर्वतीय शिखरोंपर एकान्त प्रदेशमें उन्होंने शिवजीके ध्यानमें तत्पर हुए अनेकानेक दिव्य योगियोंका दर्शन किया। साथ ही इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाले अनेकों शान्त मुनियोंको भी देखा। उनमें कोई तो निराहार रहते थे, कोई वायु पीते थे, कोई पत्ते चबाते थे और कोई सूर्यकी धूपके ही आहारपर निर्वाह करते थे। उसके बाद उस पर्वतके दक्षिण भागमें घूमते हुए उन्होंने महर्षि भरद्वाजका पवित्र आश्रम देखा, जो सब प्रकारकी लक्ष्मीसे सुशोभित था। कौतुकका तो वह एकमात्र स्थान था। सिंह, हाथी, व्याघ्र, चीता, रुरू, रंकु तथा अन्य मृगोंसे भरा हुआ था और वे सभी जीव आपसका सहज वैर भुलाकर एक-दूसरेका हितसाधन करते थे। उस आश्रमको देखकर पाण्डुनन्दन अर्जुनने तपस्वियोंके प्रभावकी प्रशंसा की। अनेक श्रेष्ठ ब्राह्मण उस यात्रामें अर्जुनके साथ थे। उन सभी मित्रोंके साथ उन्होंने आश्रममें प्रवेश किया और अपने सामने ही अनेक मुनियोंसे घिरे हुए प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी भरद्वाजजीको बैठे देखा। उनके सब अंगोंमें भस्म लगा हुआ था और कंधेपर मृगचर्मका उत्तरीय शोभा पा रहा था। इससे वे नूतन श्याम मेघसे आच्छादित कैलासकी भाँति सुशोभित हो रहे थे। सुवर्णके समान पीले रंगकी लम्बी जटाओंसे प्रकाशमान थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो श्रुति-स्मृति और

पुराणोंके अर्थोंने एकीभूत होकर मुनिका शरीर धारण कर लिया हो। वे दिव्य ज्ञानके शुभ आश्रय थे। धृति, क्षान्ति, दया, तुष्टि और शान्ति आदि सद्गुण नित्य उनकी सेवामें रहते थे। वे अखण्ड ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान हो रहे थे। अर्जुनने धीरे-धीरे निकट जाकर मुनिके चरणारविन्दोंके आगे पृथ्वीपर गिरकर साष्टांग प्रणाम किया।

अपने आश्रमपर आये हुए कुन्तीनन्दन अर्जुनको मुनिने स्वयं उठाकर अभ्युदयका आशीर्वाद दिया। उस समय उनका चित्त हर्षोल्लाससे परिपूर्ण था। यथायोग्य अर्घ्य आदि प्रस्तुत करके मुनिने अपने प्रिय अतिथिका सत्कार किया और एक आसनकी ओर संकेत करके उन्हें उसपर बिठाया। जब वे बैठ गये तब उनसे स्वास्थ्यसम्बन्धी कुशल-प्रश्न किया। तदनन्तर अर्जुन भोजन करके तपोनिधि भरद्वाज मुनिके समीप ही बैठे और कथा सुननेके कौतूहलसे दिनका शेष भाग वहीं व्यतीत किया। तत्पश्चात् सायं-सन्ध्या करके अग्निमें आहुति दे अपने साथ आये हुए ब्राह्मणोंसहित वे मुनिके कुटीगृहमें गये और वहाँ उनके आशीर्वादसे आनन्दित होकर बैठे। उस समय सुवर्णमुखरी नदीके शीतल जलको छूकर चलनेवाली ठंडी वायुसे अर्जुनको बड़ा हर्ष प्राप्त हो रहा था।

**सूतजी कहते हैं**—अर्जुनने सुखपूर्वक बैठे हुए भरद्वाज मुनिको प्रणाम करके विनयपूर्वक यह गम्भीर वचन कहा—'मुनिश्रेष्ठ! इस संसारमें एकमात्र मैं ही धन्य हूँ, जिसका आपने अपने पुत्रके समान भलीभाँति आदर किया है। भगवन्! यह महानदी किस पर्वतसे प्रकट हुई है और कौन इसे ले आया है? तथा इसमें स्नान, दान आदि करनेसे कौन सा पुण्य प्राप्त होता है?'

**भरद्वाजजीने कहा**—महाबाहु अर्जुन! तुम कौरवकुलको पवित्र करनेवाले हो और धर्मपुत्र युधिष्ठिरके छोटे भाई हो। मैंने अनेक राजा देखे हैं। परंतु वे तुम्हारे समान लीलायुक्त, सरलता, दया, उदारता, धीरता और गम्भीरता आदि गुणोंसे सुशोभित नहीं थे। कुल, विद्या और धन—ये बलवान् पुरुषोंके अभिमानमें कारण होते हैं। परंतु तुम्हारे-जैसे कल्याणमय पुरुषोंके लिये वे भी नम्रता लानेमें कारण हुए हैं। राजन्! मैंने मुनियोंके मुखसे जो दिव्य कथा सुनी है, वह तुमसे कहता हूँ, उसे सुनो। पूर्वकालकी बात है, दक्षकुमारी सती अपने पितासे अपमानित हो शरीर त्यागकर हिमालयकी पुत्रीके रूपमें उत्पन्न हुई। फिर सप्तर्षियोंने आकर जब प्रार्थना की, तब गिरिराज हिमालय विवाहके समय अपनी पुत्री भगवान् शंकरको देनेको उद्यत हुए। उसके बाद जगदीश्वर शिव पार्वतीको ब्याह लानेके लिये हिमालयके निवासस्थानपर गये। उस समय स्थावर-जंगम सभी प्राणी भगवान् शिवके मंगलमय विवाहका अभिनन्दन करनेके लिये वहाँ उपस्थित हुए। उन सबके भारी भारसे उत्तरकी भूमि नीची हो गयी और दक्षिणकी भूमि भार न होनेसे अत्यन्त हलकेपनके कारण ऊँची हो गयी। इससे सबको बड़ा भय हुआ। तब महादेवजीने अगस्त्यजीके समीप जाकर कहा, 'मुने! यह पृथ्वी अधिक भारसे दबकर विकृतावस्थाको प्राप्त हो गयी है, तुम्हीं इसको बराबर करनेमें समर्थ हो। अतः मेरे कहनेसे इस पृथ्वीको बराबर करो।' तब 'बहुत अच्छा' कहकर भगवान् शिवको प्रणाम करके अगस्त्यजी दक्षिण दिशामें चले गये। विन्ध्यगिरिको लाँघकर अगस्त्यके दक्षिण दिशामें जाते ही पृथ्वी समभावको प्राप्त हो गयी।

तदनन्तर अगस्त्यजीने आगे जाकर किसी ऊँचे पर्वतको देखा, जो अपनी फैली हुई घाटियोंसे पृथ्वीको धारण करके स्थित था। वे धीरे-धीरे उस पर्वतपर चढ़ गये और उसके मनोहर शिखरकी सुरम्य स्थलीमें उन्होंने रहनेका विचार किया। वहाँ अमृतके समान जलसे भरा हुआ एक सरोवर था, जिसमें पद्म और उत्पल आदि फूलोंकी शोभा फैली हुई थी। उसके चारों ओर बहुत-से वृक्ष

लगे थे। अगस्त्यजीने उसी सरोवरके उत्तर तटपर एक मनोहर भूभागमें उत्तम आश्रम बनाकर तथा पितरों, देवताओं, ऋषियों और वास्तुदेवका विधिपूर्वक पूजन करके मुनिसमुदायके साथ उसमें दीर्घकाल-तक निवास किया। तपस्यामें मनकी वृत्तियोंको लगाकर वहाँके तपोवनमें जब अगस्त्य मुनि रहने लगे, तब वह उत्तम सौभाग्यसे सुशोभित पर्वत अगस्ति-शैलके नामसे प्रसिद्ध हुआ।

## महर्षि अगस्त्यकी तपस्यासे सुवर्णमुखरी नदीका प्रादुर्भाव और उसका माहात्म्य

**भरद्वाजजी कहते हैं**—एक दिन मुनिवर अगस्त्यजी पूर्वाह्नकालका नित्य-नियम पूरा करके भगवान् शिवकी आराधना करनेके लिये देवमन्दिरमें गये। उसी समय आकाशवाणी हुई—'मुने! यह प्रदेश नदीसे हीन है, अतः ज्ञान-विज्ञानसे रहित केवल शरीरधारी ब्राह्मणकी भाँति, दक्षिणाहीन दीक्षा और चाँदनीशून्य रात्रिके समान शोभा नहीं पाता। इसलिये तुम सम्पूर्ण लोकोंका हित करनेके लिये इस भूभागमें कोई ऐसी नदी बहाओ, जो अगाध पापराशिजनित भयका निवारण करके सदैव सुशोभित रहे। मुनिवर! देवसमुदायकी यही प्रार्थना है, जो सबके लिये हितकर है।'

इस आकाशवाणीको सुनकर ब्रह्मर्षि अगस्त्यजी क्षणभर कुछ विचार करते रहे। तत्पश्चात् देव-पूजन समाप्त करके वे बाहर वेदीपर बैठे। उनके आश्रमपर जितने मुनि रहते थे, उन सबको उन्होंने बुलवाया और आकाशवाणीकी कही हुई बात कह सुनायी। तब मुनियोंने अगस्त्यजीको प्रणाम करके कहा, 'महर्षे! आपके हुंकारमात्रसे राजा नहुष देवताओंके साम्राज्यसे नीचे गिर गये और सर्पयोनिको प्राप्त हुए। जिसने सम्पूर्ण भूमण्डलको घेर रखा है तथा जो अपनी उत्ताल तरंगोंसे आकाशको भी ताड़ित करता है, ऐसे महासागरको भी आपने अपने चुल्लूमें रख लिया। विन्ध्यपर्वत भगवान् सूर्यका मार्ग रोकनेके लिये उद्यत हुआ था, परंतु आपने उसे भी शान्त कर दिया। इन सबसे बढ़कर आश्चर्यकी बात और क्या हो सकती है। महामुने! तीनों लोकोंमें हम सब लोग कृतार्थ हैं जो कि आपसे सनाथ होकर आपके इस आश्रममें निवास करते हैं। यह प्रदेश दक्षिण दिशामें वर्णनीय है और समस्त वस्तुओंसे परिपूर्ण है तो भी बहुत दूरतक यहाँ कोई नदी नहीं है, इसलिये यह शोभा नहीं पाता। अनघ! कब ऐसा शुभ अवसर प्राप्त होगा जब हम इस देशमें आपके द्वारा बहायी हुई किसी महानदीमें स्नान करके कृतार्थताका अनुभव करेंगे। हमारी भी प्रार्थना है कि आप यहाँ सबको शरण देनेवाली किसी सर्वश्रेष्ठ विश्ववन्द्य नदीको निश्चय ही ले आनेके लिये प्रयत्न कीजिये।'

तब मुनीश्वरोंकी आज्ञा ले देवताओं तथा भगवान् शिवकी विशेष पूजा करके मुनिने महान् क्लेशमय दुःसह व्रतको अंगीकार किया और बड़े यत्नसे भारी तपस्या प्रारम्भ की। गरमीमें पंचाग्निका ताप सहन किया। वर्षामें आँधी-पानी और विद्युत्का सामना किया तथा सर्दीमें गलेतक पानीमें खड़े हो जप-ध्यान करते रहे। तत्पश्चात् मनकी वृत्तियोंको रोककर, निराहार रह, इन्द्रियोंको काबूमें करके वे पत्थरकी भाँति स्थिर हो गये। उस समय उन्हें बाहरकी बातोंका कुछ भी भान नहीं होता था। तदनन्तर तपस्यामें लगे हुए अगस्त्यजीके आगे ब्रह्माजी प्रकट हुए। उन्हें देखकर मुनिने प्रणाम किया और अनेक प्रकारके

स्तोत्रोंद्वारा स्तुति की। तब विनयावनत अगस्त्यजीकी ओर देखकर प्रसन्नवदन हो ब्रह्माजीने पवित्र वाणीमें कहा, 'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षे! तुम्हारे इस दुष्कर तपसे मैं बहुत सन्तुष्ट हूँ। तुम्हें जो-जो अभीष्ट हो, माँगो, मैं उसे दूँगा।'

**अगस्त्यजी बोले**—प्रभो! आपकी कृपासे मुझे सब कुछ प्राप्त है, किंतु इस प्रदेशको नदीसे हीन देखकर मेरे मनमें खेद होता है। देवेश्वर! यहाँकी भूमिको पवित्र और सुरक्षित करनेमें समर्थ किसी महानदीको प्रकट करनेकी कृपा करें। यही मेरे लिये अभीष्ट वर है।

अगस्त्यजीका वचन सुनकर ब्रह्माजीने कहा, 'ऐसा ही होगा।' फिर उन्होंने अपने मनसे आकाशगंगाका स्मरण किया और जब वह उनके आगे आकर खड़ी हो गयी तब उससे कहा, 'गंगे! संसारका उपकार करनेवाले कार्यमें संलग्न होनेके लिये मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ। इस नदीहीन देशमें सब लोगोंके हितके लिये कोई नदी प्रवाहित करनेके लिये ये अगस्त्यजी तपस्या एवं चेष्टा कर रहे हैं। इसलिये तुम अपने एक अंशसे पृथ्वीपर उतरकर अगस्त्यजीके दिखाये हुए मार्गसे जाओ और यहाँके रहनेवाले मनुष्योंको पवित्र करो। समस्त नदियों में तुम्हारा श्रेष्ठ स्थान हो और तुम अपनी शरणमें आये हुए लोगोंकी रक्षा करो।' यों कहकर ब्रह्माजी उस आकाशगंगा और अगस्त्य मुनिके द्वारा किये गये प्रणाम, पूजा तथा विशेष स्तुतियोंसे अभिनन्दित होकर वहाँसे अन्तर्धान हो गये। तत्पश्चात् मुनीश्वर अगस्त्यके आगे अपने अंशसे उत्पन्न दिव्य तेजोमयी मूर्तिका दर्शन कराकर आकाशगंगाने कहा, 'मुनीश्वर! यह मेरा अंश है, यह पृथ्वीपर पहुँचकर नदीरूपमें परिणत हो तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करेगा।'

ऐसा कहकर आकाशगंगा तो चली गयीं और उनके अंशसे उत्पन्न हुई दिव्य मूर्तिने पूछा—'मुने! मुझे किस मार्गसे चलना होगा?' तब मुनिने कहा—'कल्याणि! मैं आगे-आगे चलकर तुम्हारे जानेयोग्य मार्ग दिखाऊँगा। तुम मेरे पीछे-पीछे आओ।' तदनन्तर मुनिवर अगस्त्यजी अत्यन्त प्रसन्नचित्त होकर गंगाजीको अभीष्ट मार्ग दिखलाते

हुए आगे-आगे चले। उस नदीको देखकर उस भूमिके निवासी मनुष्य बड़े प्रसन्न हुए। 'अहो! हमारे सौभाग्यसे यह सुधाके समान मधुर एवं निर्मल जल प्राप्त हुआ'—ऐसा कहते हुए वे अत्यन्त उत्कण्ठित हो गये। उस समय ब्रह्माजीकी आज्ञासे सब देवताओंके सुनते हुए वायुदेवने कहा—'यह नदी लोकोंके सौभाग्यसे सुवर्णकी भाँति प्राप्त हुई है तथा महर्षि अगस्त्यके द्वारा इस पृथ्वीपर लायी जानेपर अपनी कल-कलध्वनिसे सम्पूर्ण दिशाओंको मुखरित कर रही है। इसलिये यह सुवर्णमुखरीके नामसे प्रसिद्ध होगी तथा मोक्ष-सम्पत्ति प्रदान करनेवाले अपने तेजसे सम्पूर्ण लोकोंद्वारा प्रशंसित होगी।' इस प्रकार यह दिव्य नदी स्नान-पान आदिकी व्यवस्थासे सब मनुष्योंको सुख पहुँचाती हुई इस पृथ्वीपर प्रतिष्ठित हुई। जो रोगोंसे पीड़ित और अधिक व्याकुल मनुष्य हैं,

उन सबके रोगोंका निवारण करके उन्हें स्वस्थ बना देनेवाला एकमात्र सुवर्णमुखरीका जल है। अर्जुन! वह नदी कीचड़से रहित, अत्यन्त निर्मल, पापनाशक, मंगलयुक्त और अत्यन्त स्वादिष्ट अमृतके समान जल धारण करती है। अगस्त्य पर्वतसे इसकी उत्पत्ति हुई है तथा उत्तम तीर्थसमूहोंसे सुशोभित होकर यह दक्षिण समुद्रमें जाकर मिली है। महर्षि अगस्त्य इस नदीका दक्षिण समुद्रसे संगम कराकर इसकी स्तुति करके कृतार्थताका अनुभव करते हुए पुनः इच्छानुसार अपने आश्रमपर लौट आये।

**अर्जुनने कहा**—भगवन्! आपने इस महानदीकी उत्पत्तिका वृत्तान्त कहा—अब मैं इसके प्रभावको सुनना चाहता हूँ।

**भरद्वाजजी बोले**—पाण्डुनन्दन! सौ योजन दूरसे भी इस सुवर्णमुखरीका स्मरण करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। यदि सुवर्णमुखरीके जलमें देहधारियोंकी अस्थि डाल दी जाय, तो वह उनके ब्रह्मलोकपर चढ़नेके लिये सीढ़ी बन जाती है। सुवर्णमुखरीका स्मरण करते हुए मनुष्य जहाँ कहीं भी अन्य जलोंमें स्नान कर लें, तो उन्हें उत्तम पदकी प्राप्ति होती है। इन्द्र आदि देवता सुवर्णमुखरी नदीमें स्नान करनेके लिये ललचाये हुए चित्तसे मनुष्य-शरीरको ही प्राप्त करना चाहते हैं। यदि तोला भर भी सुवर्णमुखरी नदीका जल पी लिया जाय तो वह देहधारियोंके पर्वतसमान पापोंका भी शीघ्र नाश कर देता है। देवताओंमें विष्णु, नक्षत्रोंमें चन्द्रमा, मनुष्योंमें राजा, वृक्षोंमें कल्पवृक्ष, महाभूतोंमें आकाश, समस्त शक्तियोंमें मायाशक्ति, मन्त्रोंमें गायत्री मन्त्र, देवताओंके अस्त्र-शस्त्रोंमें वज्र, तत्त्वोंमें आत्मतत्त्व, यजुर्वेदके मन्त्रोंमें रुद्राष्टाध्यायी, नागोंमें शेषनाग, पर्वतोंमें हिमालय, क्षेत्रोंमें वराहक्षेत्र तथा इन्द्रियोंमें मनके समान सम्पूर्ण नदियोंमें सुवर्णमुखरी नदी श्रेष्ठ है। 'अगस्त्य पर्वतसे प्रकट हो दक्षिण समुद्रमें मिलनेवाली और सब पापोंका नाश करनेवाली तुम स्वर्णमुखरी नदीकी मैं शरण लेता हूँ। जगदम्बे! बड़े-बड़े पातकोंसे दग्ध हुए अपने इस शरीरको मैं तुम्हारे जलसे धोता हूँ। मुझे कल्याणसे युक्त करो।'* इन दो सूक्तोंका भलीभाँति उच्चारण करके जो मनुष्य नियमपूर्वक सुवर्णमुखरीके जलमें स्नान करता है, वह शुद्ध होकर आनन्दका भागी होता है। कुन्तीनन्दन! चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहणके समय सुवर्णमुखरीके तटपर किया हुआ स्नान, दान आदि अनन्त फलकी प्राप्ति करानेवाला होता है। संक्रान्ति, अयन तथा व्यतीपातके दिन सुवर्णमुखरी नदीमें किया हुआ स्नान मनुष्यका उद्धार कर देता है। सुवर्णमुखरीके जलमें स्नान करके मनुष्य दुःस्वप्नके विघ्नसे तथा ग्रहोंके दुष्ट स्थानमें रहनेसे प्राप्त होनेवाले पाप-तापसे तर जाता है। सुवर्णमुखरीके तटपर किया हुआ जप, होम, तप, दान, श्राद्ध और देवपूजन सौगुना फल देनेवाला होता है।

अर्जुन! इस प्रकार तुमसे महानदी सुवर्ण-मुखरीकी उत्पत्ति और प्रभावका भलीभाँति वर्णन किया गया।

---

* अगस्त्याचलसम्भूतां दक्षिणोदधिगामिनीम्। समस्तपापहन्त्रीं त्वां सुवर्णमुखरीं श्रये॥
महापातकविप्लुष्टं गात्रं मम तवोदकैः। क्षालयामि जगद्धात्रि श्रेयसा योजयस्व माम्॥
(स्क० पु०, वै० वे० ३३। ४२-४३)

# सुवर्णमुखरी नदीके तीर्थोंका वर्णन, भगवान् विष्णुकी महिमा, प्रलयकालकी स्थिति तथा श्वेतवाराहरूपमें भगवान्‌का प्राकट्य

**अर्जुनने पूछा**—मुने! सुवर्णमुखरी नदीमें किन-किन पवित्र नदियोंका संगम हुआ है तथा इसमें कहाँ स्नान करनेसे समस्त पाप कट जानेके कारण मनुष्य यमराजके भयको नहीं प्राप्त होते हैं?

**भरद्वाजजी बोले**—कुन्तीनन्दन! अगस्त्य पर्वतसे जहाँ पहले-पहल महानदी सुवर्णमुखरी पृथ्वीपर उतरी है, उस तीर्थमें स्नान करके मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। वह पावन तीर्थ त्रिभुवनमें अगस्त्यतीर्थके नामसे प्रसिद्ध है। उस तीर्थमें जो प्रयत्नशील साधक अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए स्नान करते हैं, वे सम्पूर्ण फल प्राप्त करते हैं। वहाँ सब लोगोंको आनन्द देनेवाले अगस्त्य मुनिके द्वारा स्थापित किये हुए भगवान् शिव अगस्त्येश्वरके नामसे प्रसिद्ध हैं। उस महानदीमें स्नान करके जो लोग अगस्त्येश्वरकी पूजा करते हैं, उन्हें दस अश्वमेध यज्ञोंका फल प्राप्त होता है। अगस्त्यतीर्थसे ईशानकोणकी ओर एक कोसकी दूरीपर तीन तीर्थ हैं, जो देवतीर्थ, ऋषितीर्थ तथा पितृतीर्थके नामसे प्रसिद्ध हैं। वहींपर अगस्त्यमुनिने देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंका पूजन किया था। जो लोग स्नान करके उन तीर्थोंमें तर्पण करते हैं, वे तीनों ऋणोंसे मुक्त होकर अक्षय स्वर्गको प्राप्त होते हैं। वहाँसे पूर्व-उत्तरकी ओर दो योजनकी सीमामें वेणा नामवाली महानदी सुवर्णमुखरीमें मिली है। इन दोनों नदियोंके संगममें विधिपूर्वक स्नान करनेवाले मनुष्य दस अश्वमेध यज्ञोंका फल प्राप्त करते हैं। वेणासे मिलकर परम पवित्र सुवर्णमुखरी नदी पर्वतोंके दुर्गम मार्गसे उत्तरवाहिनी होकर गयी है। फिर पर्वतोंके बीचसे होकर विषम मार्गसे आगे बढ़ती हुई चार योजन दूर जाकर प्रकाशमें आयी है। वहाँसे पूर्व डेढ़ योजनकी दूरीपर उदक्कल नामक मनोहर स्थानमें यह महानदी पूर्ववाहिनी हो गयी है। वहीं भगवान् शंकरका अगस्त्येश्वर नामसे प्रसिद्ध एक और शिवलिंग है, जो स्मरणमात्रसे मनुष्योंके समस्त पापोंका निवारण करता है। जो मनुष्य उस महानदीमें स्नान करके इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए अगस्त्य-मुनिके द्वारा स्थापित भगवान् पार्वतीनाथका दर्शन करते हैं, वे अनेक जन्मोंकी उपार्जित पापराशिको दूर करके अनन्त कालतक स्वर्गलोकमें सुख भोगते हैं। वहाँसे तीर्थसमुदायसे सुशोभित सुवर्णमुखरी नदी पुनः आधे योजनतक उत्तरकी ओर गयी है। वह प्रदेश हिन्ताल, ताल और शाल आदि वृक्षोंसे बड़ा मनोहर प्रतीत होता है। वहीं व्याघ्रपदा नामवाली नदी सुवर्णमुखरी नदीमें मिली है। उन दोनों नदियोंके संगममें स्नान करनेवाले श्रेष्ठ मनुष्य दस अश्वमेध यज्ञोंका पूर्ण फल प्राप्त करते हैं। व्याघ्रपदा नदीके तटपर शंखतीर्थ सुशोभित है, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है। अर्जुन! वहाँ शंखेश्वर नामसे प्रसिद्ध भगवान् शिव विराजमान हैं। जो उस तीर्थमें भलीभाँति स्नान करके भगवान् शंकरका दर्शन करते हैं, वे दस अश्वमेध यज्ञोंका फल प्राप्त करके देवलोकमें जाते हैं। व्याघ्रपदासंगमसे एक योजन भूमि आगे जाकर शुभ एवं निर्मल जल बहानेवाली मुनीन्द्रसेवित सुवर्णमुखरी नदी वृषभाचलके समीप पहुँची है।

वहाँ मंगलदायिनी कल्या नामवाली पवित्र नदी सुवर्णमुखरीमें आकर मिली है। वह वृषभाचलसे प्रकट हुई है। तीर्थराजसे उसकी शोभा और बढ़ गयी है। नदियोंमें उत्तम कल्या नदी पापसमूहका नाश करनेवाली है। उन दोनों नदियोंके संगमकी महिमा बतलानेमें कौन समर्थ है? जहाँ नदीके

बीचमें ब्रह्मशिला विराजमान है और अगस्त्यजीकी तपस्याके प्रभावसे जहाँ गयातीर्थका वास है। उन दोनों नदियोंके पवित्र संगममें स्नान करनेवाले मनुष्य सौ पुण्डरीक यज्ञोंका फल प्राप्त करते हैं और उनके ब्रह्महत्या आदि समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। तदनन्तर महानदी सुवर्णमुखरीके उत्तर भागमें आधे योजन दूर सुप्रसिद्ध वेंकटाचल पर्वत विराजमान है, जिसकी ऊँचाई एक योजनकी है। भगवान् मधुसूदनने पहले वाराह शरीरसे इस पर्वतको अपने रहनेके लिये स्वीकार किया था, इसलिये श्रेष्ठ पुरुषोंने इसे वाराहक्षेत्र कहा है। वेंकटाचलपर भगवान् विष्णु श्रीलक्ष्मीजीके साथ सदैव निवास करते हैं। जो लोग वेंकटाचलनिवासी जगदीश्वर विष्णुका स्मरण करते हैं, वे सब दोषोंसे रहित हो सनातन अविनाशी पदको प्राप्त होते हैं।

**अर्जुनने पूछा**—महामुने! लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु परम पवित्र वेंकटाचलपर कैसे प्रकट हुए? किस पुण्यात्मापर प्रसन्न होकर उन्होंने भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाले अपने अद्भुत रूपको प्रकाशित किया है?

**भरद्वाजजी बोले**—कुन्तीनन्दन! पूर्वकालमें भागीरथीके तटपर यज्ञदीक्षापरायण तथा विशुद्ध ज्ञानसे विभूषित महात्मा राजा जनकसे वामदेवजीने जो पापनाशक कथा कही थी, वह भगवान् विष्णुके कीर्तनसे युक्त होनेके कारण सबको पवित्र करनेवाली है। वही कथा अब मैं तुम्हें सुनाऊँगा। भगवान् नारायण ही समस्त प्राणियोंके आदिकारण हैं। सम्पूर्ण विश्व उन्हींका रूप है, वे जगत्के स्रष्टा हैं, उनका स्वरूप चिन्मय तथा निरंजन है। उनके सहस्रों मस्तक, सहस्रों नेत्र और सहस्रों चरण हैं। उन्हींके तेजसे यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है। उनसे बढ़कर तेज, उनसे बड़ा तप, उनसे बड़ा ज्ञान, उनसे बड़ा योग तथा उनसे बड़ी विद्या भी नहीं है। वे भगवान् श्रीहरि सदा समस्त प्राणियोंमें विद्यमान हैं। समस्त जीव उन्हींमें सुखपूर्वक निवास करते हैं। वे ही यज्ञ, यजमान और यज्ञके स्रुक्-स्रुवा आदि साधन हैं। वे ही फल हैं, वे ही फलदाता हैं और वे ही सबके प्राप्त करनेयोग्य परमगति हैं। हरि, सदाशिव, ब्रह्मा, महेन्द्र, परम तथा स्वराट् आदि सभी नाम उन सर्वेश्वर विष्णुके ही पर्याय कहे गये हैं। जो एकाग्रचित्त होकर परमात्मा नारायणके इस माहात्म्यका अनुसन्धान करता है, वह पुनः संसारमें जन्म नहीं लेता। भगवान् विष्णु चिदानन्दस्वरूप, सबके साक्षी, निर्गुण, उपाधिशून्य तथा नित्य होते हुए भी स्वेच्छासे भिन्न-भिन्न अवस्थाओंको अंगीकार करते हैं। वे पवित्रोंमें परम पवित्र हैं, निराश्रितोंकी परम गति हैं, देवताओंके भी देवता हैं तथा कल्याणमय वस्तुओंमें भी परम कल्याणस्वरूप हैं।* बोध्य पदार्थोंमें एकमात्र वे ही बोध्य हैं। ध्येय तत्त्वोंमें वे ही सर्वोत्तम ध्येय हैं। विनयोंमें सबसे अधिक विनय और नय भी वे ही हैं। वे सम्पूर्ण तेजोंको उत्पन्न करनेवाले तेज हैं, तपस्याओंमें उच्चकोटिकी तपस्या हैं तथा सब प्राणियोंके परम आधार हैं। जनार्दन भगवान् विष्णुका आदि और अन्त नहीं है। उनके स्वरूपको इदमित्थम् रूपसे जान लेनेमें ब्रह्मा आदि भी मूढ हैं। वे अजन्मा होकर भी जन्म लेते हैं, सर्वात्मा होकर भी शत्रुओंका वध करते हैं तथा स्वतन्त्र होकर भी अपने भक्तोंके परतन्त्र रहते हैं। सर्वज्ञ भगवान् गरुडध्वज ही कर्मोंके साक्षी हैं। मुनिलोग एकाग्रचित्त होकर उनके स्वरूपकी खोज करते हैं। भगवान्की चतुर्व्यूह नामसे प्रसिद्ध चार मूर्तियाँ हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध। पहले प्रणवका उच्चारण हो, तत्पश्चात्

* पवित्राणां पवित्रं यो ह्यगतीनां परा गतिः। दैवतं देवतानां च श्रेयसां श्रेय उत्तमम्॥ (स्क० पु०, वै० वे० ३५। ३८)

भगवान्‌के प्रकाशमान हृदयस्वरूप **नमः** पदका उच्चारण हो, उसके बाद भगवान् और वासुदेव— ये दो पद हों, इनसे जो मन्त्र बनता है, वह (**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**) मन्त्र भगवान्‌के स्वरूपका प्रकाशक है। जो प्रतिदिन एकाग्रचित्त होकर इस मन्त्रराजका जप करता है, वह भगवान् विष्णुकी कृपासे समस्त सिद्धियोंका भाजन होता है। आपत्तियोंका निवारण और सम्पत्तियोंकी प्राप्ति करानेवाले भोग-मोक्षप्रदाता श्रीहरिने कल्पके आदिमें जिस प्रकार प्राणियोंकी सृष्टि की है, वह सुनो। सृष्टिका चिन्तन करते समय भगवान् विष्णुका जो रजोगुणयुक्त तेजोमय स्वरूप प्रकट हुआ, वह ब्रह्माके नामसे विख्यात हुआ। उन्हीं भगवान्‌के मुखसे त्रिभुवनके स्वामी इन्द्र और अग्नि उत्पन्न हुए। उनके नित्य करुणापूर्ण शीतल हृदयसे चन्द्रमा प्रकट हुए, जो जल, समस्त ओषधिवर्ग तथा ब्राह्मणोंके रक्षक हैं। भगवान्‌के नेत्रोंसे सम्पूर्ण विश्वको प्रकाशित करनेवाले तेजोनिधि सूर्य उत्पन्न हुए, जो जाड़ा, गरमी और वर्षाकालके कारण हैं। श्रीहरिके प्राणोंसे समस्त जगत्‌के प्राणस्वरूप महाबली वायुका प्रादुर्भाव हुआ, जो ग्रह, नक्षत्र आदिको धारण करनेवाले हैं। महात्मा भगवान्‌की नाभिसे अन्तरिक्ष और मस्तकसे आकाशकी उत्पत्ति हुई, जो समस्त भूतोंके आविर्भावका कारण है। भगवान् विष्णुके चरणारविन्दोंसे सब भूतोंको आश्रय देनेवाली पृथ्वी उत्पन्न हुई। उन परमात्माके कानोंसे सम्पूर्ण दिशाएँ प्रकट हुईं। उनके चिन्तनमात्रसे भूर्भुवः आदि लोक, रसातल आदि पाताल और यक्ष-राक्षसगण आदि उत्पन्न हुए। भगवान्‌ने अपने मुख, बाहु, ऊरु और चरणोंसे क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र आदिको जन्म दिया। वेद, यज्ञ, घोड़े, गौ और भेड़ आदि जीव, जिनकी उत्पत्तिका कारण अचिन्त्य है, जिन परमेश्वरसे उत्पन्न हुए हैं, उन्हीं देवाधिदेव भगवान् विष्णुके संकल्पसे स्थावर-जंगम प्राणियोंका समुदाय तथा भूत, भविष्य, वर्तमान काल भी प्रकट हुआ है। वे ही बडवानलका रूप धारण करके समुद्रोंका जल पीते हैं और प्रलयकालमें अपने भीतर विलीन हुए समस्त जगत्‌की पुनः कल्पके आरम्भमें सृष्टि करते हैं। सूर्य और चन्द्रमाका रूप धारण करके वे ही अन्धकारका नाश करते और सबको कालके अनुसार धर्ममें लगाते हैं। इस प्रकार वे सब जीवोंकी जीवनवृत्ति चलाते हैं। फिर कल्पान्तके समय समस्त संसारको अपने उदरमें रखकर लीलासे शिशुकी आकृति धारण किये एकार्णवके जलमें वटके पत्रपर शयन करते हैं। इसके बाद प्रचण्ड नागराजके शरीरकी सुखशय्यापर सोकर केवल भगवती लक्ष्मीजीके साथ योगनिद्राका आश्रय लेते हैं। यह सब अपनी इच्छाके अनुसार योगशक्तिको प्रवृत्त करनेवाले भगवान् मुकुन्दकी लीला है। उन परमेश्वरको यथार्थ रूपसे कोई भी नहीं जानता। जब-जब धर्मकी हानि होती और अधर्म बढ़ने लगता है। अथवा जब-जब देवताओंको बड़ी भारी पीड़ा भोगनी पड़ती है और जब-जब अपने भक्त साधु पुरुषोंपर भय उत्पन्न करनेवाली भारी विपत्ति अनिवार्यरूपसे आ जाती है, तब-तब कौतुकवश उस अवसरके अनुकूल रूप धारण करके भगवान् शीघ्र ही अधर्मका निवारण और जगत्‌का कल्याण करते हैं। स्वयं ही रजोगुणका आश्रय लेकर वे ब्रह्माके नामसे प्रसिद्ध हो सृष्टि करते हैं, सत्त्वगुणमें स्थित हो हरि-नाम धारण करके सारे संसारके पालन-पोषणका भार ढोते हैं और तमोगुणी वृत्तिको अपनाकर हर-नामसे प्रसिद्ध हो सबका संहार करते हैं। भगवान् मधुसूदनकी महिमाको यथार्थ रूपसे जाननेवाला कोई नहीं है।

साठ विनाडिकाकी एक नाड़ी (घटिका) और साठ नाड़ियोंका एक दिन होता है। तीस दिनका एक मास कहा गया है, जिसमें दो पक्ष होते हैं। दो मासकी एक ऋतु और छः ऋतुओंका एक वर्ष होता है। वर्षमें दो अयन होते हैं। यह वर्ष ही जाड़ा, गरमी और वर्षाका आधार है। देवताओं

और दैत्योंका दिन-रात एक-दूसरेके विपरीत है। सूर्यका उत्तरायण देवताओंका दिन और दैत्योंकी रात्रि, इसी प्रकार दक्षिणायन दैत्योंका दिन और देवताओंकी रात्रि है। यह सब क्रमके अनुसार समझना चाहिये। अर्जुन! तैंतालीस लाख बीस हजार वर्षोंका एक महायुग होता है, जिसमें सत्ययुगसे लेकर कलियुगतक सभी युग सम्मिलित हैं। इकहत्तर महायुगोंका एक मन्वन्तर होता है। स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत तथा चाक्षुष—ये छः मनु अपने इन्द्र, देवता और ऋषियोंसहित व्यतीत हो चुके हैं। इस समय सातवें मनु वर्तमान हैं। इनके समयमें आदित्य, वसु तथा रुद्र आदि देवतागण हैं। सौ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करके तेजस्वीने इन्द्रपद प्राप्त किया है। विश्वामित्र, मैं (भरद्वाज), अत्रि, जमदग्नि, कश्यप, वसिष्ठ तथा गौतम ये ही सप्तर्षि हैं। वैवस्वत मनुके महाबली शूरवीर पुत्र धर्मपरायण राजा इक्ष्वाकु आदिने इस पृथ्वीका पालन किया है। सूर्य, दक्ष, ब्रह्म, धर्म तथा रुद्र इन पाँचोंके पाँच सावर्णिसंज्ञक पुत्र और रौच्य तथा भौम आदि ये सात भविष्यमें होनेवाले मनु हैं। ये चौदहों मनु ब्रह्माके एक दिनमें पूरे हो जाते हैं। इसीका नाम कल्प है। उसके अन्तमें उसीके समान रात्रि होती है। ब्रह्माके दिनकी समाप्ति होते समय पृथ्वीपर सौ वर्षोंतक बड़ा भयंकर उत्पात होता है। उस उपद्रवके समय पृथ्वी सूखकर रसहीन हो जाती है, जिससे उसपर रहनेवाले चार प्रकारके प्राणी नष्ट हो जाते हैं। तब सूर्यदेव अग्निके समान आगकी ज्वाला उगलती हुई प्रज्वलित लपटोंकी आकारवाली किरणोंसे संयुक्त होते हैं। उनके दुःसह तापसे गाँव, नगर, शैल, वन और वृक्ष आदिके भस्म हो जानेपर कछुएकी पीठकी-सी आकृति धारण करनेवाली यह पृथ्वी तपाये हुए लोहेके पिण्डकी भाँति जान पड़ती है। तब ब्रह्माजीके अंगोंसे महामेघ उत्पन्न होते हैं और घोर गर्जना करते हुए समस्त आकाशको आच्छादित कर लेते हैं। वे सौ वर्षोंतक बड़ी भारी वर्षा करते हैं। उस जलसे सूर्यद्वारा उत्पन्न की हुई प्रचण्ड आग बुझ जाती है। वे महामेघ पुनः सौ वर्षोंतक भयंकर वृष्टि करते हैं। उस वृष्टिके जलसे समुद्र अपनी मर्यादा लाँघकर क्षोभको प्राप्त होते हैं। उस समय पृथ्वी जलमें डूबकर पातालके मूलमें चली जाती है। वह ब्रह्माजीकी शक्तिसे अवलम्बित होनेके कारण किसी प्रकार नष्ट नहीं होती। तदनन्तर ब्रह्माजीके निःश्वाससे वायु प्रकट होती है, जो कल्पान्तमें उत्पन्न हुए समस्त महामेघोंको छिन्न-भिन्न कर देती है। फिर वह वायु भी सौ वर्षोंतक दुर्निवार वेगसे बहती रहती है। तत्पश्चात् उस वायुको भगवान्‌के नाभिकमलमें छोड़कर भगवान् ब्रह्मा उस जलमें योगनिद्राका आश्रय लेकर सोते हैं। योगनिद्रामें पड़े-पड़े ब्रह्माजीकी उतनी ही बड़ी रात व्यतीत होती है, जितना बड़ा उनका दिन है। रात बीतनेपर ब्रह्माजी उठते हैं और भगवान् विष्णुकी आज्ञासे पूर्ववत् सब जीवोंकी वेगपूर्वक सृष्टि करने लगते हैं। प्रत्येक कल्पमें समुचित रूप धारण करके भगवान् विष्णु जगत्‌का पालन करते हैं। इस कल्पमें उन्होंने श्वेत वर्णके यज्ञ वाराहका रूप धारण किया और उसी वाराह-शरीरसे भूतलपर विहार करते हुए उन्होंने अपने पूर्व कल्पोंके निश्चित निवासस्थान वेंकटाचल पर्वतपर पदार्पण किया। स्वामिपुष्करिणीके तटपर चिरकालतक विचरण करते हुए वाराहजीने कमलके आसनपर विराजमान भक्तियुक्त ब्रह्माजीको देखा। ब्रह्माजीने भक्तिभावन भगवान्‌की पूजा करके प्रार्थना की—'प्रभो! अपने पुरातन दिव्य स्वरूपको धारण कीजिये।' ब्रह्माजीकी यह विनय सुनकर भगवान्‌ने वाराहकी आकृति त्याग दी और अनन्य भावसे भजन करनेयोग्य विश्वमय रूपको ग्रहण कर लिया।

# वेंकटाचलपर राजा शंख और महर्षि अगस्त्य आदिको भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन तथा वरप्राप्ति

**अर्जुनने पूछा**—मुने! भगवान् श्रीहरि नेत्रोंद्वारा दर्शन और मनद्वारा चिन्तन आदिके विषय नहीं हैं, तो भी वे यहाँ मनुष्योंको प्रत्यक्ष कैसे हुए?

**भरद्वाजजीने कहा**—अर्जुन! हैहयवंशमें श्रुत नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं, जिन्होंने पृथ्वी और यहाँकी प्रजाका दीर्घकालतक अपनी सन्तानकी भाँति पालन किया था। उनके पुत्र शंख हुए, जो समस्त गुणोंके निधि और सब शास्त्रोंमें कुशल थे। उन्होंने भी पृथ्वीका न्यायपूर्वक शासन किया। कमलके समान नेत्रोंवाले जगदीश्वर भगवान् विष्णुमें राजा शंखकी निश्चल एवं अनन्य भक्ति थी। उन्होंने दृढ़ निश्चयपूर्वक अद्भुत महिमावाले देवाधिदेव जगत्पति अनन्य पुरुषोत्तमका सदैव ध्यान करते हुए नाना प्रकारके व्रत, दान और पुण्य किये तथा वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य भगवान् मधुसूदनकी प्रीतिके लिये ही अश्वमेध आदि यज्ञोंका अनुष्ठान किया। भक्तवत्सल केशवमें मन लगाकर वे प्रतिदिन गोविन्दका स्मरण, अविनाशी अच्युतका जप, कमलनयन विष्णुका पूजन तथा शार्ङ्ग धनुषधारी श्रीहरिका कीर्तन करते थे। पुराणके विद्वानोंद्वारा कही जानेवाली पवित्र भगवत्कथाओंको, जो संसार-समुद्रसे पार उतारनेवाली हैं, वे सदैव सुना करते थे। भगवत्प्रीतिके लिये ही ब्राह्मणोंकी पूजा-अर्चा करते थे। इस प्रकार सर्वथा अविराम गतिसे श्रीहरिकी आराधनामें संलग्न होनेपर भी राजा शंखने परम स्वतन्त्र भगवान् पुरुषोत्तमका कभी प्रत्यक्ष दर्शन नहीं पाया। भगवान्‌का दर्शन न पानेसे उनका हृदय शोकसे व्याकुल हो गया, वे बड़ी चिन्ताको प्राप्त हुए।

**शंख बोले**—मैंने बीते हुए सहस्राधिक जन्मोंमें बहुत बड़ा पाप किया है, जिसके कारण आजतक मुझे भगवान् विष्णुका दर्शन नहीं प्राप्त हुआ। अनेक जन्मोंमें उपार्जित सम्पूर्ण तपस्याओंका यह एक ही अखण्ड फल है कि मधुसूदन भगवान् विष्णुका दर्शन प्राप्त हो। अहो! भगवान् मेरे नेत्रोंके समक्ष कैसे प्रकट होंगे? कानोंसे उनके वचन सुननेका सौभाग्य कैसे प्राप्त होगा?

इस प्रकार चिन्तासे व्याकुल होकर जब राजाके मनमें जीवित रहनेकी अभिलाषा नहीं रह गयी, तब अव्यक्तमूर्ति भगवान् विष्णुने सबके सुनते हुए कहा—'राजन्! तुम शोकके अधीन न होओ। तुम तो एकमात्र मेरी शरणमें आये हुए साधु भक्त हो। मैं तुम्हारा त्याग कैसे कर सकता हूँ। यह वेंकट नामक पर्वत तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है। राजन्! यहाँका निवास मुझे वैकुण्ठसे भी अधिक प्रिय है। उस श्रेष्ठ पर्वतपर जाकर भक्तिपूर्वक तपस्या करते रहनेपर मैं तुम्हें प्रत्यक्ष दर्शन दूँगा। तुम्हारी ही तरह महर्षि अगस्त्य भी ब्रह्माजीकी आज्ञासे अंजनाचलके महानिवासमें तपस्या करनेके लिये आवेंगे। उसी पवित्र पर्वतपर निवास करते हुए तुम भी मेरी आराधना करो। इससे मेरा दर्शन प्राप्त कर लोगे।'

भगवान्‌के इस प्रकार आज्ञा देनेपर राजा शंखको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने मन-ही-मन अपनेको धन्य माना और अपने पुत्र वज्रको प्रजापालनके कार्यमें नियुक्त करके भगवान् विष्णुके दर्शनकी आकाङ्क्षासे नारायणगिरिको प्रस्थान किया। उस पर्वतके ऊँचे शिखरपर पहुँचकर उन्होंने अमृतके समान दिव्य जलसे परिपूर्ण कल्याणमयी स्वामिपुष्करिणी देखी और उसके किनारे कुटी बनाकर स्नान, पान आदिके द्वारा सन्तोष लाभ किया। जगदीश जनार्दनको अपने समस्त कर्म समर्पित करके राजा शंख प्रतिदिन जप और

ध्यानमें संलग्न रहने लगे। वहाँ उन्होंने तपस्या भी की। इसी समय सैकड़ों मुनियोंसे घिरे हुए अगस्त्यजी भी उस आदिपर्वतपर आये और वहाँकी आश्चर्यमयी वस्तुओंको देखते हुए सब ओर विचरते रहे। स्कन्दधारा आदि तीर्थोंमें स्नान करके वहाँ उन्होंने जगदीश्वर भगवान् विष्णुकी बहुत समयतक आराधना की। परंतु कमलनयन भगवान् श्रीहरिको कहीं भी प्रत्यक्ष नहीं देखा। इससे वे चिन्ता और शोकमें डूब गये। उस समय बृहस्पति, शुक्र तथा राजा उपरिचर और वसु—ये सब महानुभाव अगस्त्यजीके पास आये और इस प्रकार बोले—"मुनिश्रेष्ठ! लोकनाथ ब्रह्माजीने हमें जो आज्ञा दी है, उसे हम आपको बता रहे हैं—'दक्षिण दिशामें वेंकटाचल नामक पर्वत है। वहाँका निवासस्थान भगवान् विष्णुको श्वेतद्वीपसे भी अधिक प्रिय है। जगद्गुरु गोविन्द उस पर्वतपर महर्षि अगस्त्य तथा राजा शंखको अपने स्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन करायेंगे। उस समय सब देवताओं, ऋषियों तथा अन्य सब लोगोंको भी देवाधिदेव श्रीहरिका दर्शन होगा। यह बात शीघ्र ही होनेवाली है।' ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर हमलोग यहाँ आये हैं और भाग्यवश यहाँ आपका दर्शन भी हमें मिल गया। अब हम आपके साथ स्वामिपुष्करिणीके तटपर भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ राजा शंखका भी दर्शन करेंगे।" यह सुनकर अगस्त्य मुनि शोकसमूहका त्याग करके शीघ्र ही उन सबके साथ चल दिये। उस समय वहाँ यत्र-तत्र चौड़ी शिलाओंपर बैठे हुए तथा भगवान् विष्णुके गुण-वैभवका गान करते हुए अनेकानेक सिद्ध पुरुष उन्हें दिखायी दिये। फिर उन्होंने निर्मल जलवाली दिव्य स्वामिपुष्करिणीका भी दर्शन किया और उसके किनारे आश्रम बनाकर रहनेवाले राजा शंखको भी देखा, जो मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले समस्त कर्म भगवान् विष्णुको समर्पित करके विराजमान थे। उन्हें आया देख राजाने सबका यथावत् सत्कार किया। फिर सब लोग एक-दूसरेका समादर करते हुए वहाँ बैठे और उत्कण्ठित होकर गोविन्दके नामोंका कीर्तन करते हुए कृतार्थ हो गये।

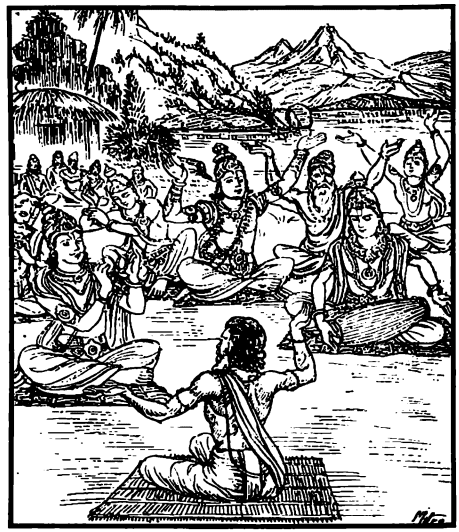

सम्पूर्ण जगत्के स्वामी भगवान् विष्णुमें मन लगाकर उन्हींकी पूजा और स्तुतिमें लगे हुए उन सब लोगोंके तीन दिन व्यतीत हो गये। तीसरे दिन रातमें उन सबको नींद आ गयी। फिर चौथे पहरमें उत्तम सपना देखा—भगवान् पुरुषोत्तम हाथोंमें शंख, चक्र और गदा धारण किये प्रसन्नमुखसे वर देनेके लिये खड़े हैं। उनके नेत्र खिले हुए हैं। भगवान्की यह झाँकी देखकर सभी प्रसन्नचित्त होकर उठे और कुटीसे निकलकर सबने स्वामिपुष्करिणीके पावन जलमें विधिपूर्वक स्नान किया। तत्पश्चात् प्रातःकालोचित समस्त कर्मोंका अनुष्ठान करके भगवान् विष्णुकी आराधना करनेके लिये वे राजाके आश्रमपर लौटे। मार्गमें पक्षियोंद्वारा ऐसे शुभ शकुनकी सूचना मिली जो तत्काल कल्याणकी प्राप्ति करानेवाला था। उस शकुनको देखकर सबको यह विश्वास हो गया कि भगवान्का कृपाप्रसाद अवश्य प्राप्त होगा।

तदनन्तर त्रिभुवन-विधाता भगवान् जनार्दनका पूजन करके उन्होंने वेदवर्णित पवित्र स्तोत्रोंद्वारा उनका स्तवन किया। स्तुतिके अन्तमें महर्षि अगस्त्य और राजा शंख भगवान्‌के अष्टाक्षर (**ॐ नमो नारायणाय**) मन्त्रका जप करने लगे।

इस प्रकार जगत्स्वामी श्रीहरिमें चित्त लगाये हुए उन महात्माओंके आगे एक महान् अद्भुत तेज प्रकट हुआ, जो कोटि-कोटि सूर्य-चन्द्रमा और अग्नियोंके तेजपुंज-सा प्रतीत होता था। उस तेजका दर्शन करके सबको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने उसके भीतर परमानन्दविग्रह दिव्यरूपधारी भगवान् श्रीनारायणका चिन्तन किया, जो मन और वाणीके मार्गसे सर्वथा दूर हैं, अपने विख्यात ऐश्वर्यसे सदा प्रकाशित होते हैं, सहस्र नेत्र, सहस्र भुजा और सहस्र चरणोंसे संयुक्त हैं, तपाये हुए सुवर्णके समान देदीप्यमान कान्तिसे जिनका रूप बड़ा मनोहर लगता है। जो अपने वक्षःस्थलपर लक्ष्मीको धारण करते और कौस्तुभमणिसे सुशोभित होते हैं। जिनका स्वरूप अचिन्त्य है। जो अनादि और अनन्त हैं, समस्त ब्रह्माण्डको अपने-आपमें ही प्रकाशित करते हैं और सर्वत्र व्यापक हैं। उन्हीं भगवान् जगन्नाथको अपने सामने देखकर अगस्त्य और शंख आदि सब मुनियोंके मनमें बड़ा हर्ष हुआ। सबने बार-बार भगवान्‌के चरणोंमें मस्तक झुकाया। उस समय लोकरक्षाके लिये सब ओर भ्रमण करनेवाले भगवान्‌के तेज-बलसम्पन्न आयुध उनकी सेवामें उपस्थित हो गये। सूर्यके समान तेजस्वी चक्र, दिव्य गदा, नन्दक नामक खड्ग, कमल तथा भयानक गर्जना करनेवाला चन्द्रमाके समान कान्तिमान् पांचजन्य शंख—ये सभी उपस्थित हो गये। शंखने अपनी ध्वनिसे समस्त ब्रह्माण्डको परिपूर्ण कर दिया। उस शंखनादको सुनकर वसिष्ठ आदि मुनि, गन्धर्व, नाग, किन्नर, विष्वक्सेन, गरुड़ तथा जय-विजय आदि श्वेतद्वीपनिवासी पार्षद भी आये। देववृक्षोंसे उत्पन्न पारिजात आदि फूलोंकी वहाँ अद्भुत वर्षा होने लगी, जिसकी घनीभूत सुगन्धसे सबका अन्तःकरण आमोदित हो उठा। भक्तवत्सल कमलनयन भगवान् विष्णुको प्रसन्न देखकर सब देवताओं और ऋषियोंने नाना प्रकारके स्तोत्रोंसे साष्टांग प्रणामपूर्वक स्तवन किया।

**ब्रह्मा आदि देवता बोले**—दयासागर भगवान् विष्णु! आपकी जय हो। कमलनयन! आपकी जय हो। समस्त लोकोंको एकमात्र वर देनेवाले भक्तार्तिभंजन! आपकी जय हो, जय हो। आप अनन्त हैं, अविनाशी हैं, परम शान्त हैं। मन और वाणीकी आपतक पहुँच नहीं है। आपका स्वरूप विशुद्ध सच्चिदानन्दमय है। आपको सम्यक् रूपसे कौन जानता है? विद्वान् पुरुष आपको सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म, स्थूलसे भी स्थूल, सबके भीतर विराजमान, प्रकृतिसे परे अच्युत पुरुष कहते हैं। वेदान्तका सारभूत ब्रह्म आपका स्वरूप है। आप सबके भीतर और बाहर भी विद्यमान हैं। मायाके अधीन रहनेवाले देहाभिमानी पुरुषोंमेंसे कौन आपका वर्णन करनेमें समर्थ है? आपका यह स्वरूप अत्यन्त भयदायक है, इसे देखकर हम भयसे उद्विग्न हुए जाते हैं; अतः आप शान्तरूप धारण करें।

ब्रह्मा आदि देवताओंके द्वारा इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान् गरुडध्वजने उसी क्षण सौम्यरूप धारण कर लिया। उनका मुख चन्द्रमण्डलके समान शोभा पाने लगा। प्रचण्ड तेज शान्त हो गया। श्रीअंगोंकी श्यामकान्ति नील कमलदलके समान सुशोभित हुई। दिव्य शरीरपर सुनहरे रंगका पीताम्बर छबि पा रहा था। भगवान् रत्नमय आभूषणोंसे विभूषित दिखायी देने लगे। उनके चारों हाथ शंख, चक्र, गदा और पद्मसे शोभायमान थे। भगवान् लक्ष्मीपतिके इस मनोहर रूपको देखकर सबने बार-बार प्रणाम किया। भगवान्‌ने अभीष्ट वरदानसे ब्रह्मा आदि देवताओंको सन्तुष्ट करके मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यसे कहा—'मुनीन्द्र! तुमने

मेरे लिये कठोर व्रतोंका अनुष्ठान करके बहुत क्लेश उठाया है। अतः मैं तुम्हें अभीष्ट वरदान दूँगा। बोलो क्या चाहते हो?' भगवान् लक्ष्मीपतिका यह वचन सुनकर अगस्त्यजीके सम्पूर्ण अंगोंमें रोमांच हो आया। वे भगवान्‌को बार-बार प्रणाम करके बोले—'प्रभो! आपने जो मेरा इतना आदर किया, इसीसे मैंने जो भी हवन किया है, जो भी तप, स्वाध्याय और श्रवण किया है वह सब सफल हो गया। भगवन्! मैं तो आपको ढूँढ़ रहा था और आप मुझे ढूँढ़ते हुए आ गये। आपकी कृपासे मैं सब कुछ पहले ही पा गया हूँ। माधव! इस समय बहुत सोचने-विचारनेपर भी मुझे ऐसी कोई वस्तु नहीं दिखायी देती, जो प्राप्त करने योग्य हो। अतः आपके चरणारविन्दोंमें निरन्तर ऐसी ही भक्ति बनी रहे, यही कृपा कीजिये। सुवर्णमुखरी नदीके जलमें स्नान करके जो लोग वेंकटाचलपर विराजमान आपका दर्शन करें, वे भोग और मोक्षके भी भागी हों। भगवन्! थोड़ी आयुवाले अज्ञानी मनुष्य व्रत, स्वाध्याय और कर्मोंद्वारा आपका दर्शन नहीं कर सकते। अतः आप सबपर कृपा करनेके लिये सदैव उस पर्वतपर निवास कीजिये और सबको मनोवांछित वस्तु देनेवाले होइये।'

**श्रीभगवान्‌ने कहा**—ब्रह्मन्! तुमने जो प्रार्थना की है वह सब पूर्ण होगी। आजसे वैकुण्ठ नामवाले इस पर्वतपर मैं सदा निवास करूँगा। सुवर्णमुखरी नदीके जलमें स्नान करके अपने पाप-पंकको धोकर जो लोग एकाग्रचित्तसे इस वैकुण्ठ शैलपर मेरा दर्शन करेंगे, वे पुनरावृत्तिसे रहित तथा केवल परमानन्दसे प्रकाशमान मेरे परम धामको प्राप्त होंगे। जो मनुष्य जिन कामनाओंकी अपेक्षासे यहाँ आकर मेरा दर्शन करेंगे, वे उन-उन कामनाओंको निःसन्देह प्राप्त कर लेंगे।

**अगस्त्य मुनिसे ऐसा कहकर भगवान् विष्णुने राजा शंखकी ओर देखा और ब्रह्मा आदिके सुनते हुए कहा**—राजन्! मैं तुम्हारी भक्तिसे बहुत सन्तुष्ट हूँ, तुम कोई मनोवांछित वर माँगो।

**शंख बोले**—भगवन्! आपके चरण-कमलोंकी सेवाके अतिरिक्त दूसरा मैं कुछ नहीं माँगता। आपके भक्त जिस गतिको पाते हैं, उसी उत्तम गतिके लिये मैं भी याचना करता हूँ।

**श्रीभगवान्‌ने कहा**—शंख! तुमने जो कुछ माँगा है, वह सब उसी रूपमें प्राप्त होगा। मेरी सेवामें लगे रहनेवाले कल्याणमय पुरुषोंके लिये कौन-सी वस्तु दुर्लभ है?

तदनन्तर ब्रह्मा आदि सब देवताओंको विदा करके भगवान् कमलनयन विष्णु वहीं अन्तर्धान हो गये। अर्जुन! यह वेंकटाचलका प्रभाव तुम्हें बताया गया है। इस पावन कथाको श्रवण करके सब मनुष्य पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। ब्रह्माण्डमें भगवान् वेंकटेश्वरके समान दूसरा कोई देवता न हुआ है न होगा और वेंकटाचलके समान कोई तीर्थस्थान न हुआ है न होगा। स्वामितीर्थके समान सरोवर अन्यत्र कहीं नहीं है। जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर भगवान् वेंकटेश्वरका स्मरण करते हैं, मोक्ष उनके हाथमें है। जो श्रेष्ठ मानव वेंकटाचलका माहात्म्य सुनते हैं, उन्हें इहलोक ओर परलोकमें भोग और मोक्ष प्राप्त होते हैं।

## आकाशगंगातीर्थमें अंजनाकी तपस्या और उसे वायुदेवद्वारा वरदानकी प्राप्ति

**सूतजी कहते हैं**—पूर्वकालमें पुत्ररहित अंजना दुःखी होकर तपस्यामें संलग्न हुई। उसे देखकर मुनियोंमें श्रेष्ठ विष्णुभक्त मतंगजीने कहा—'अंजना देवि! उठो, तुम किस लिये तपस्यामें लगी हो?' अंजनाने कहा—'मुनिश्रेष्ठ! केशरी नामक श्रेष्ठ वानरने मेरे पितासे मेरे लिये याचना की। तब

पिताजीने मुझे उनकी सेवामें समर्पित कर दिया। पतिदेवके साथ सुखपूर्वक विहार करते हुए मुझे बहुत समय व्यतीत हो गया, परंतु अबतक मुझे कोई पुत्र नहीं प्राप्त हुआ। मैंने किष्किन्धा महापुरीमें अनेक प्रकारके व्रत भी किये तथापि पुत्र न पाकर मुझे दुःख हुआ। अतः अब मैं तपस्यामें तत्पर हुई हूँ। विप्रवर! किस प्रकार मुझे त्रिभुवनमें प्रसिद्ध पुत्र प्राप्त होगा, यह बताइये। मैं आपके आगे मस्तक झुकाकर यही माँगती हूँ।' तब मुनिवर मतंगने अंजनासे कहा—'देवि! सुनो। यहाँसे दक्षिण दिशामें दस योजनकी दूरीपर घनाचल नामसे प्रसिद्ध पर्वत है, जो भगवान् नृसिंहका निवासस्थान है। उसके ऊपर परम मनोहर ब्रह्मतीर्थ है। उसके पूर्वभागमें दस योजन दूर सुवर्णमुखरी नामवाली श्रेष्ठ नदी बहती है। उस नदीके उत्तरभागमें वृषभाचल (वेंकटाचल) नामक पर्वत है और उस पर्वतके शिखरपर स्वामिपुष्करिणी तीर्थ है। वहाँ जाकर उसके शुभ जलका दर्शन करते ही तुम्हारा मन पवित्र हो जायगा। उसमें विधिपूर्वक स्नान करके वाराहस्वामीको प्रणाम करो और भगवान् वेंकटेश्वरको नमस्कार करके स्वामितीर्थके उत्तर जाओ। वहाँ आकाशगंगा नामसे प्रसिद्ध एक तीर्थ शोभा पाता है। उसमें संकल्पपूर्वक विधिवत् स्नान करके उसके शुभ जलको पी लेना। फिर उस तीर्थके सामने खड़ी हो वायुदेवकी प्रसन्नताके उद्देश्यसे तपस्या करना। ऐसा करनेसे तुम्हें देवता, राक्षस, ब्राह्मण, मनुष्य तथा अस्त्र-शस्त्रोंसे भी अवध्य पुत्र प्राप्त होगा।'

मुनिके ऐसा कहनेपर अंजना देवीने उन्हें बार-बार प्रणाम किया और पतिको साथ लेकर वह शीघ्र ही वेंकटाचल पर्वतपर गयी। वहाँ स्वामिपुष्करिणीमें नहाकर उसने वाराह स्वामीको प्रणाम किया और भगवान् वेंकटेश्वरके चरणोंमें भी मस्तक नवाया। तत्पश्चात् वह शीघ्र ही आकाशगंगाके तटपर गयी और उसमें नहाकर उसके उत्तम जलको पीकर उसीके तटपर तीर्थकी ओर मुख करके खड़ी हो प्राणस्वरूप वायुदेवताकी प्रसन्नताके लिये संयम एवं व्रतका पालन करती हुई तपस्या करने लगी। तब सूर्यदेवके मेषराशिपर रहते समय चित्रानक्षत्रयुक्त पूर्णिमा तिथिको परम बुद्धिमान् वायुदेव प्रकट हुए और इस प्रकार बोले—'उत्तम व्रतका पालन करनेवाली देवि! तुम कोई वर माँगो। मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगा।' उनकी बात सुनकर सती अंजनाने कहा—'महाभाग! मुझे पुत्र प्रदान कीजिये।' वायुदेवताने कहा—'सुमुखि! मैं ही

तुम्हारा पुत्र होऊँगा और तुम्हारे नामको विश्वमें विख्यात कर दूँगा।' अंजनाको ऐसा वरदान देकर महाबली वायु वहीं रहने लगे और अंजना देवी भी वह वरदान पाकर अपने पतिके साथ बहुत प्रसन्न हुई।

**वेंकटाचल-माहात्म्य (अथवा भूमिवाराहखण्ड) सम्पूर्ण।**

# उत्कलखण्ड या पुरुषोत्तमक्षेत्र-माहात्म्य

## भगवान् विष्णुका ब्रह्माजीको पुरुषोत्तमक्षेत्रमें जानेका आदेश

**नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।**
**देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥**

'भगवान् नारायण, नरश्रेष्ठ नर, देवी सरस्वती तथा महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके तत्पश्चात् भगवान्‌की विजय-कथासे परिपूर्ण इतिहास-पुराणादिका कीर्तन करे।'

**मुनि बोले**—भगवन्! आप सब शास्त्रोंके तत्त्वज्ञ तथा सब तीर्थोंके महत्त्वको जाननेवाले हैं। भगवन्! पुरुषोत्तमक्षेत्र परम पावन है, जहाँ भगवान् लक्ष्मीपति विष्णु मानवलीलाके अनुसार काष्ठमय विग्रह धारण करके विराजमान हैं, जो दर्शनमात्रसे ही सबको मोक्ष देनेवाले और सब तीर्थोंका फल प्रदान करनेवाले हैं, उनकी महिमाका हमसे विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये।

**जैमिनिजीने कहा**—मुनियो! यह अत्यन्त गूढ़ रहस्य है, सुनो। यद्यपि ये भगवान् जगन्नाथ सर्वत्र व्यापक और सबको उत्पन्न करनेवाले हैं तथापि यह परम उत्तम पुरुषोत्तमक्षेत्र इन महात्मा जगदीश्वरका साक्षात् स्वरूप है। वहाँ वे स्वयं ही शरीर धारण करके निवास करते हैं। इसीलिये उस क्षेत्रको भगवान्‌ने अपने नामसे प्रसिद्ध किया। वह क्षेत्र दस योजनके विस्तारमें है। उसका प्रादुर्भाव तीर्थराज समुद्रके जलसे हुआ है तथा वह सब ओर बालुकाराशिसे व्याप्त है। उसके मध्यभागमें महान् नीलगिरि उस तीर्थकी शोभा बढ़ाता है। पूर्वकालमें वराहरूपधारी भगवान्‌ने इस पृथ्वीको समुद्रके जलसे निकालकर जब सब ओरसे बराबर करके स्थापित किया और पर्वतोंद्वारा सुस्थिर कर दिया, तब ब्रह्माजीने पहलेकी भाँति समस्त चराचर जगत्‌की सृष्टि करके तीर्थों, सरिताओं, नदियों और क्षेत्रोंको यथास्थान स्थापित किया। तत्पश्चात् सृष्टिके भारसे पीड़ित होकर वे सोचने लगे। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—इन तीन प्रकारके तापोंसे पीड़ित होनेवाले संसारके जीव इनसे किस प्रकार मुक्त होंगे। इस प्रकार विचार करते हुए ब्रह्माजीके मनमें यह भाव आया कि मैं मुक्तिके एकमात्र कारण परमेश्वर श्रीविष्णुका स्तवन करूँ।

**तब ब्रह्माजी बोले**—शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले जगदाधार! आपको नमस्कार है। सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि करनेवाला मैं ब्रह्मा आपके नाभिकमलसे उत्पन्न हुआ हूँ। अतः जगन्मय! अपने यथार्थ स्वरूपको आप ही जानते हैं। जिनकी मायासे महत्तत्त्व आदि सम्पूर्ण जगत् रचा गया है और जिनके निःश्वाससे प्रकट हुआ शब्दब्रह्म (वेद) ऋक्, साम और यजु—इन तीन भेदोंमें अभिव्यक्त हुआ है, जिसका सहारा लेकर मैंने सम्पूर्ण भुवनोंकी सृष्टि की है, उन्हीं आप परमात्मासे भिन्न स्थूल-सूक्ष्म, ह्रस्व-दीर्घ आदि कोई भी वस्तु नहीं है। भगवन्! तीनों गुणोंके विभागपूर्वक भिन्न-भिन्न कार्योंके रूपमें आप ही यह चराचर जगत् हैं; ठीक उसी तरह जैसे सुवर्ण ही कंकण, कुण्डल आदिके रूपमें विभासित होता है। प्रभो! आप ही सृष्टिकर्ता और सृज्य पदार्थ हैं तथा आप ही पोषक और पोष्य जगत् हैं। परमेश्वर! आप ही आधार, आधेय और उन दोनोंको धारण करनेवाले हैं। मनुष्य आपकी ही प्रेरणासे कर्म करता है और आप ही द्वारा की हुई व्यवस्थासे वह कर्मानुसार गति प्राप्त करता है। परमेश्वर! आप ही इस जगत्‌की गति, भर्ता और साक्षी हैं। चराचरगुरो! आप अखिल जीवस्वरूप हैं। दयामय जगन्नाथ! मैं सदा आपकी शरणमें हूँ, आप मुझपर प्रसन्न होइये।

ब्रह्मा और यमराजके द्वारा भगवान् विष्णुका स्तवन

ब्रह्माजीके इस प्रकार स्तुति करनेपर मेघके समान श्याम, शंख, चक्र आदि चिह्नोंसे उपलक्षित भगवान् विष्णु गरुड़पर आरूढ़ हो वहाँ प्रकट हुए। उनका मुखकमल पूर्णतः प्रकाशमान था। उन्होंने ब्रह्माजीसे कहा—'ब्रह्मन्! तुम जिस कार्यके लिये मेरी स्तुति करते हो, वह सम्भव नहीं जान पड़ता। तथापि यदि इसके लिये तुम्हारा उद्योग है, तो जिस क्रमसे यह सिद्ध होता है, वह तुम्हें बतला रहा हूँ। ब्रह्मन्! मैं तुम हो और तुम मैं हूँ। सम्पूर्ण जगत् मुझसे व्याप्त (विष्णुमय) है। जहाँ तुम्हारी रुचि है, वहाँ मेरी है। अतः तुम्हारी मनोवांछाकी सिद्धिका उपाय बतलाता हूँ—समुद्रके उत्तर तटपर महानदीके दक्षिण भागमें जो प्रदेश है, वह इस भूतलपर सब तीर्थोंका फल देनेवाला है। वहाँ जो उत्तम बुद्धिवाले मनुष्य निवास करते हैं, वे अन्य जन्मोंमें किये हुए पुण्यका फल भोगते हैं। ब्रह्मन्! समुद्रके किनारे जो नीलपर्वत सुशोभित हो रहा है, वह पग-पगपर अत्यन्त श्रेष्ठ और परम पावन है। वह स्थान इस पृथ्वीपर गुप्त है। वहाँ सब प्रकारके संगोंसे दूर रहनेवाला मैं देह धारण करके निवास करता हूँ और क्षर तथा अक्षर दोनोंसे ऊपर उठकर पुरुषोत्तमस्वरूपमें विद्यमान हूँ। मेरा वह पुरुषोत्तमक्षेत्र सृष्टि और प्रलयसे आक्रान्त नहीं होता। ब्रह्मन्! चक्र आदि चिह्नोंसे युक्त मेरा जैसा स्वरूप यहाँ देखते हो, वैसा ही वहाँ जाकर भी देखोगे। नीलाचलके भीतरकी भूमिमें कल्पोंतक रहनेवाले अक्षयवटकी जड़के समीप पश्चिम दिशामें जो रौहिण नामसे विख्यात कुण्ड है, उसके किनारे निवास करते हुए मुझ पुरुषोत्तमको जो चर्म-चक्षुओंसे देखते हैं, वे उसके जलसे क्षीणपाप होकर मेरे सायुज्यको प्राप्त कर लेते हैं। महाभाग! वहाँ जाओ। उस तीर्थमें मेरा दर्शन करके ध्यान करते समय तुम्हारे समक्ष पुरुषोत्तमक्षेत्रकी श्रेष्ठ महिमा स्वतः प्रकाशमें आ जायगी। वह क्षेत्र श्रुतियों, स्मृतियों, इतिहासों और पुराणोंमें गुप्त है। मेरी मायासे वह किसीको ज्ञात नहीं होता। मेरी ही कृपासे अब वह प्रकाशमें आयगा और सबको प्रत्यक्ष उपलब्ध होगा। व्रत, तीर्थ, यज्ञ और दानका जो पुण्य बताया गया है, वह सब यहाँ एक दिनके निवाससे ही प्राप्त हो जाता है और एक निःश्वासभर निवास करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है।' ब्राह्मणो! इस प्रकार ब्रह्माजीको आदेश देकर भगवान् पुरुषोत्तम सबके देखते-देखते वहीं अन्तर्धान हो गये।

## यमराज तथा मार्कण्डेयजीके द्वारा भगवान्‌की स्तुति और पुरुषोत्तमक्षेत्रकी महिमा

**जैमिनिजी कहते हैं**—मनुष्य जिनका नाम लेकर सब पापोंसे मुक्त हो जाता है, उन्हींके दर्शन करनेपर क्या मोक्ष दुर्लभ होगा? मनसे भगवान् विष्णुका चिन्तन करते हुए यदि मनुष्य प्राणत्याग करता है, तो वह भी मुक्त हो जाता है। फिर जिसने साक्षात् भगवान्‌का दर्शन कर लिया, वह मुक्ति प्राप्त कर लेता है तो क्या आश्चर्य है?* पुरुषोत्तमक्षेत्रकी महिमा अद्भुत है। वह क्षेत्र अज्ञानियोंको भी मुक्ति देनेवाला है। फिर जो सदैव शान्त, वैराग्य और ज्ञानसे संयुक्त हैं, ऐसे मनुष्योंके लिये तो कहना ही क्या है?

**ऋषियोंने पूछा**—मुने! नीलाचलपर भगवान् विष्णुका दर्शन करके ब्रह्माजीने क्या किया?

**जैमिनिजी बोले**—पुरुषोत्तमक्षेत्रका अत्यन्त

* मनसा ध्याययन् विष्णुं त्यजन् प्राणान् विमुच्यते। साक्षात्कृतो भगवतः किं चित्रं मुक्तिमेति यत्॥
(स्क० पु०, वै० उ० २। ९-१०)

अद्भुत माहात्म्य देखकर ब्रह्मा जबतक भगवान् विष्णुका ध्यान करते रहे, तबतक पितरोंके स्वामी यमराज अपने अधिकारके संकुचित होनेसे व्याकुल होकर दीनमुखसे नीलाचलपर्वतपर आये और वहाँ भगवान् लक्ष्मीपतिका दर्शन तथा उन्हें साष्टांग प्रणाम करके अपने अधिकारकी दृढ़ताके लिये भगवान् जगन्नाथकी स्तुति करने लगे।

**यमराज बोले**—सृष्टि, पालन और संहारके एकमात्र कारण देवदेवेश्वर! आपको नमस्कार है। सूतमें मणियोंकी भाँति आपमें यह सब जगत् गुँथा हुआ है। आपने ही इस विश्वको धारण किया है, आपने ही इसकी सृष्टि की है तथा आपहीने इसका पालन-पोषण भी किया है। चन्द्रमा और सूर्य आदिका रूप धारण करके आप सदा समस्त संसारको प्रकाशित करते हैं। आप इस विश्वके स्वामी, जगत्की उत्पत्तिके कारण, संसारके आवासस्थान, जगद्गुरु, लोकसाक्षी तथा आदि-अन्तसे रहित हैं। आपको मैं प्रणाम करता हूँ। प्रभो! आप उत्तम करुणारूपी जलसे भरे हुए समुद्र हैं, आपको नमस्कार है। आपका वैभव पर, अपर एवं परात्परसे भी अतीत है। आप ही इस विश्वके उत्पादक हैं। संसारके सन्तापरूपी हिमको सुखा डालनेवाले सूर्य! आपको नमस्कार है। दीनबन्धो! आपको नमस्कार है। आपने अपनी मायासे समस्त वैभवोंकी रचना की है, तीनों गुण आपकी रज्जु (रस्सी) हैं, आपको मेरा नमस्कार है। कमल-केसरकी भाँति निर्मल पीत वस्त्र धारण करनेवाले आपको नमस्कार है। आपके कटाक्षपातमात्रसे ही संसारकी सृष्टि, पालन और संहार होते हैं तथा यह ऊँच-नीच जगत् बार-बार जन्म लेता है। नीलाचलकी गुफामें निवास करनेवाले आप कृपानिधान प्रभुको मैं प्रणाम करता हूँ। आप शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण करनेवाले तथा सबको शुभ प्रदान करनेवाले हैं। शरणागत प्राणियोंके समस्त पापोंका नाश करनेवाले मुरारिको मैं नमस्कार करता हूँ। आपका मनोहर एवं विशाल वक्ष श्रीवत्सचिह्न तथा कौस्तुभमणिसे उद्भासित है,आपको नमस्कार है। आपके युगल चरणारविन्दोंका आश्रय लेनेसे ऐश्वर्यभागिनी लक्ष्मीकी सब लोग शरण लेते हैं और वे सबको पृथक्-पृथक् ऐश्वर्य देनेमें समर्थ होती हैं। वे लक्ष्मी आपकी परा और अपरा प्रकृति हैं। वे समस्त शुभ लक्षणोंसे लक्षित होती हैं तथा आप लक्ष्मीपतिके वक्षःस्थलपर नित्य निवास करती हैं। भगवन्! आपकी प्रिया उन लक्ष्मीको मैं प्रणाम करता हूँ।

उस समय धर्मराजके इस प्रकार स्तुति करनेपर परम सन्तोषको प्राप्त हुए भगवान् लक्ष्मीपतिने अपने वामपार्श्वमें बैठी हुई लक्ष्मीजीकी ओर कटाक्षपूर्वक देखकर उनसे कुछ कहनेके लिये संकेत किया। उनकी प्रेरणा पाकर संसारदुःखका विनाश करनेवाली लक्ष्मीने सब लोगोंके कल्याणके लिये यमराजसे कहा—'सूर्यनन्दन! तुम जिस उद्देश्यसे यहाँ हम दोनोंकी स्तुति करते हो, उसकी सिद्धि इस क्षेत्रमें तो दुर्लभ है; क्योंकि हमारे लिये इस पुरुषोत्तमक्षेत्रका त्याग करना असम्भव है। इस क्षेत्रमें कभी कर्मोंके फल नहीं प्राप्त होते। यहाँ बसनेवाले मनुष्यों और पशु-पक्षियोंके पाप भी जलकर भस्म हो जाते हैं। इस क्षेत्रमें नीलेन्द्रमणिके समान मनोहर श्यामविग्रहधारी साक्षात् भगवान् नारायणका दर्शन करके मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है। अतः इसको छोड़कर अन्यत्र कर्मभूमिमें ही तुम्हारा अधिकार है। जो तुम्हारे भी प्रतितामह हैं, वे ब्रह्माजी इस क्षेत्रका माहात्म्य जानकर भगवान् गदाधरकी स्तुति करते हैं। इसलिये जो प्राणी यहाँ निवास करते हैं, वे तुम्हारे वशमें जानेयोग्य नहीं हैं। वैवस्वत! यहाँ जीवन्मुक्त एवं मुमुक्षुपुरुष निवास करते हैं।'

**लक्ष्मीजीके इस प्रकार समझानेपर लज्जासे विनीत हो यमराजने कहा**—सुरेश्वरि! आपने जो

यह कहा है कि यह क्षेत्र भगवान् विष्णुके सान्निध्यसे मोक्ष देनेवाला है, सो ठीक है। ईश्वरकी इच्छा निरंकुश (प्रतिबन्धरहित) होती है। जो विष्णु अन्यत्र किसीको बन्धन देते हैं, वही यहाँ मोक्ष प्रदान करते हैं। मातः! मेरे तथा स्वर्ग-नरकके भी वे ही स्रष्टा हैं। अतः यदि उनकी इच्छासे यहाँ मरे हुए लोगोंको मोक्ष प्राप्त होता है, तो इस क्षेत्रका प्रमाण और यहाँ निवास करनेका फल आदि सब बातें मुझे विस्तारपूर्वक बतलाइये।

**लक्ष्मीदेवीने कहा**—रविनन्दन! जब समस्त चराचर जगत् नष्ट होकर प्रलयकालके समुद्रमें डूब चुका था, उस समय सात कल्पोंतक जीवित रहनेवाले मार्कण्डेय मुनि कहीं भी ठहरनेके लिये स्थान न पाकर बहुत चिन्तित हुए। उन्हें कहीं भी शान्ति नहीं मिलती थी। जलके समुद्रमें इधर-उधर बहते हुए वे पुरुषोत्तमक्षेत्रमें आये। यहाँ उन्होंने अक्षयवटको देखा और एक बालकका वचन अपने कानोंसे सुना—'मार्कण्डेय! शोक न करो, मेरे पास आकर अपने अनुपम दुःखको छोड़ दो।' यह विचित्र वचन, जिसके सुनायी देनकी कोई आशा नहीं थी, सुनकर मार्कण्डेय मुनिको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे सोचने लगे—'इस महाभयानक एकार्णवके जलमें यह क्षेत्र नौकाकी भाँति दिखायी देता है और इसमें यह महान् बरगदका वृक्ष खम्भके समान खड़ा है। इस प्रलयकालीन एकार्णवमें जब समस्त स्थावर-जंगमका नाश हो गया है, तब भूतलका यह प्रदेश बहुत सुस्थिर कैसे प्रतीत होता है तथा 'मार्कण्डेय! आओ' यह स्नेह एवं आग्रहयुक्त वचन कहाँसे सुन पड़ता है।'

यही सब सोचते और जलमें तैरते हुए मार्कण्डेयजीने शंख, चक्र, गदा हाथमें लिये भगवान् विष्णुको तथा उनके हृदय-कमलके आसनपर बैठी हुई मुझ लक्ष्मीको भी देखा। तब उनका चित्त प्रसन्न हो गया और उन्होंने हम दोनोंको साष्टांग प्रणाम किया। तदनन्तर भगवान् विष्णुको प्रसन्न करनेके लिये वे इस प्रकार स्तुति करने लगे—'दयासागर! आज आपके चरणारविन्दोंकी सेवाका प्रसंग पाकर मैं रुद्र, इन्द्र और ब्रह्माजीके समान वैभवसम्पन्न हो गया हूँ। आजतक सब ओर सन्ताप उठाता रहा। प्रभो! अब अपनी शरणमें आये हुए मुझ दीनकी रक्षा कीजिये। आपके युगल चरणारविन्द अचिन्त्य शक्तिसे सम्पन्न और कल्याणकी प्राप्तिके प्रधान कारण हैं। इसीलिये ब्रह्मा आदि देवता सदा उनकी परिचर्यामें लगे रहते हैं। मैं तो भक्तिभावसे हीन और दीन हूँ। दयासिन्धो! मेरी रक्षा कीजिये। यह समस्त ब्रह्माण्ड जिनके अंगसे उत्पन्न हुआ है और ऐसे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड जिनमें स्थित प्रतीत होते हैं तथा जिनके लीला-विलाससे ही सबकी सृष्टि, पालन और संहार-कार्य होते हैं; वे ही आप विष्णु हैं। भगवन्! मुझ अत्यन्त दीनकी रक्षा कीजिये। जैसे एक ही सुवर्ण कड़े और कुण्डल आदिके भेदसे अनेक-सा प्रतीत होता है, अथवा जिस प्रकार आकाशमें उदित एक ही सूर्य आधारकी विषमतासे विषम प्रतीत होनेवाली अनेक जलराशियोंमें प्रतिबिम्बित होकर अनेक रूपोंमें प्रतीत होता है, उसी प्रकार आप एकमात्र निर्गुण परमात्मा ही भिन्न-भिन्न शरीरोंमें प्रवेश करके अनेकवत् प्रतीत होते हैं। हे अपार शक्तिशाली परमेश्वर! आप सब प्रकारकी समस्त इच्छाओंसे रहित तथा ग्रहण और संकल्पसे शून्य हैं तथापि प्रत्येक युगमें दीनोंके ऊपर दया करनेके योग्य शरीर धारण करते रहते हैं। जगदीश्वर! पूर्वकालमें अनात्म पदार्थोंमें चित्त आसक्त होनेके कारण जो मैंने आपके चरणारविन्दोंका सेवन नहीं किया, इसीलिये भगवद्विमुख कर्मसे मुझे भयंकर परिणाम भोगना पड़ा है। दयासागर! मुझ दीनकी रक्षा

कीजिये। महात्मन्! सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि, पालन और संहारकी लीलासे सुशोभित होनेवाला जो आपका त्रिगुणमय (ब्रह्मविष्णु-शिवात्मक) स्वरूप है, वही महत्तत्त्व आदिका भी कारण है। आप प्रकृतिसे परे तथा सबके आदिकारण हैं, आपको नमस्कार है। सर्वव्यापी जगन्नाथ! मेरी रक्षा कीजिये। मैं संसार-समुद्रमें डूबा हुआ हूँ। गोविन्द! अपनी कृपाकटाक्षपूर्ण दृष्टिसे मेरी ओर देखकर इस भवसागरसे मेरा उद्धार कीजिये।'

इस प्रकार स्तुति करते हुए ब्रह्मर्षि मार्कण्डेयको कृपादृष्टिसे देखकर भगवान् नारायण इस प्रकार बोले—'विप्रवर! मेरे तत्त्वको न जाननेके कारण ही तुम अत्यन्त दीन हो रहे हो। तुमने अत्यन्त दुष्कर तपका अनुष्ठान किया है, किंतु उससे केवल दीर्घजीवी हुए हो। महामुने! इस कल्पवटके ऊपर पत्तेके दोनेमें सोये हुए उस बालस्वरूपको देखो। वह सबका कालरूप है। उसके फैले हुए मुखमें प्रवेश करके वहाँ सुखपूर्वक रह सकते हो।' भगवान्के ऐसा कहनेपर मार्कण्डेयजीका मुख आश्चर्यसे चकित हो गया। उन्होंने वृक्षपर चढ़कर भगवान्के बालरूपको देखा और उसमें प्रवेश किया। भीतर जानेपर उन्होंने चौदह भुवन देखे। ब्रह्मा आदि देवता, दिक्पाल, सिद्ध, गन्धर्व, राक्षस, ऋषि, मुनि, देवर्षि, समुद्रोंसे चिह्नित भूतल, अनेक तीर्थ, नदी, पर्वत तथा वनोंसे उपलक्षित श्रेष्ठ नगर देखा। सातों पाताल और सहस्रों नागकन्याएँ देखीं। हजारों फणोंसे सुशोभित सम्पूर्ण जगत्का भार धारण करनेवाले शेषनागका दर्शन किया तथा ब्रह्माण्डके मध्यमें ब्रह्माजीने जो कुछ भी सृष्टि की है, वह सब अवलोकन किया। इधर-उधर घूमनेपर भी कहीं उस बालकके उदरका अन्त नहीं मिला, तब पुनः कण्ठमार्गसे बाहर निकलकर उन्होंने मेरे साथ पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुका दर्शन किया।

**श्रीभगवान् बोले**—मुने! यह विचित्र क्षेत्र मेरा सनातन धाम है, ऐसा समझो। यहाँ न सृष्टि है, न प्रलय है और न संसारका बन्धन ही है। सदा एक रूपसे रहनेवाले मुझ मोक्षदायक पुरुषोत्तमको यहाँ विद्यमान जानकर इस क्षेत्रमें प्रवेश करनेवाला पुरुष घनानन्दस्वरूप हो पुनः गर्भमें नहीं आता।

**महामुनि मार्कण्डेयने कहा**—प्रभो! मैं यहाँ निवास करूँगा। पुरुषोत्तम! मुझपर कृपा कीजिये।

**श्रीभगवान्ने कहा**—ब्रह्मर्षे! इस मोक्षसाधक क्षेत्रमें मैं प्रलयकी समाप्तिपर्यन्त रहूँगा। प्रलयके अन्तमें तुम्हारे लिये यहाँ सनातन तीर्थका निर्माण करूँगा, जिसके तटपर तपस्या करके मेरे द्वितीय शरीर शिवकी आराधना करते हुए तुम मेरी कृपासे मृत्युको निश्चितरूपसे जीत लोगे।

इस प्रकार पहलेसे वरदान पाये हुए मार्कण्डेय महामुनिने वटके वायव्य कोणमें भगवान्के चक्रसे एक कुण्ड खोदा। उस पवित्र कुण्डमें रहकर भारी तपस्यासे भगवान् महेश्वरकी आराधना करके उन्होंने मृत्युको अनायास ही जीत लिया। उन्हीं मार्कण्डेयजीके नामसे यह कुण्ड प्रसिद्ध है, जिसमें स्नान करके मार्कण्डेयेश्वर शिवका दर्शन करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है। यह पुरुषोत्तमक्षेत्र पाँच कोसतक तो समुद्रके भीतर स्थित है और दो कोसतक उसके तटकी भूमिपर विद्यमान है। यह अत्यन्त निर्मल, सुनहरी बालुकाओंसे व्याप्त तथा नीलगिरिसे सुशोभित है। वे जो विश्वनाथ भगवान् शिव हैं, साक्षात् नारायणस्वरूप ही हैं। वे भगवान् जगन्नाथकी उपासना करनेके लिये समुद्रके तटपर निवास करते हैं। यमराजके दण्डका भय नष्ट करनेके कारण उनका नाम यमेश्वर है। उनका दर्शन और पूजन करनेसे कोटि शिवलिंगोंके दर्शन और पूजनका फल प्राप्त होता है।

# पुरुषोत्तमक्षेत्रके विभिन्न तीर्थों और देवताओंका परिचय, तीर्थ और भगवान्‌की महिमा तथा पापपरायण पुण्डरीक और अम्बरीषका उस क्षेत्रमें आना

**श्रीलक्ष्मीजी कहती हैं**—इस क्षेत्रका आकार शंखके समान है। उसके मस्तकपर पश्चिमकी सीमामें सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाले भगवान् शंकर विराजते हैं। शंखके आगे अर्थात् पूर्व सीमापर भगवान् नीलकण्ठ हैं। इन दोनोंके मध्यका प्रदेश एक कोसका है। भगवान् नारायणका यह परम पावन क्षेत्र अत्यन्त दुर्लभ है। यहाँ मृत्यु होनेसे प्राणियोंकी मुक्ति हो जाती है तथा यहाँका समुद्र स्नानमात्रसे मोक्ष प्रदान करनेवाला है। शंखाकार तीर्थके दूसरे आवर्तमें कपालमोचन नामक लिंग स्थित है। जो मनुष्य कपालमोचनका दर्शन, पूजन और उन्हें प्रणाम करता है, वह ब्रह्महत्या आदि पापोंको त्याग देता है। धर्मराज! शंखके तृतीय आवर्तके स्थानमें मेरी आद्याशक्ति विमला देवीको स्थित जानो। वे भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाली हैं। जो भक्तिपूर्वक इनका दर्शन, पूजन और इन्हें प्रणाम करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है और अन्तमें मोक्षको भी पाता है। शंखके नाभिस्थानमें कुण्ड, वट और भगवान् पुरुषोत्तम—इन तीनोंकी स्थिति है। कपालमोचनसे लेकर अर्द्धांशिनीतक शंखका मध्य भाग जानना चाहिये। जो अर्द्धांशिनीका दर्शन करके उन्हें प्रणाम करता है, वह अक्षय भोगोंका उपभोग करता है। तीनों लोकोंमें जो स्वर्ग और मोक्ष प्रदान करनेवाले तीर्थ हैं, उन सबमें यह पुरुषोत्तमक्षेत्र तीर्थराज कहा गया है। मुक्तिदायक जितने क्षेत्र हैं, उन सबमें यह सायुज्य प्रदान करनेवाला माना गया है। यहाँ निवास करनेवाले प्राणी जन्म, मृत्यु और जराका शोक नहीं करते। रौहिण नामक कुण्ड भगवान्‌के करुणारूप जलसे भरा हुआ है। वह स्पर्श करनेमात्रसे भवबन्धनसे मुक्ति देता है। प्रलयकालमें जो जल बढ़ता है, वह पीछे इसी कुण्डमें विलीन हो जाता है। धर्मराज! यहाँके निवासी मोक्षके अधिकारी हैं। उनपर तुम्हारा शासन नहीं चल सकता। यह क्षेत्र पृथ्वीपर रहनेवाले सब प्राणियोंको मोक्ष प्रदान करता है। कामाख्य और क्षेत्रपालके मध्यमें विमलाकी स्थिति है। भगवान् पुरुषोत्तमके दक्षिण भागमें साक्षात् ब्रह्मस्वरूप नृसिंहजी विराजमान हैं। ये प्रभासे उज्ज्वल हैं और हिरण्यकशिपुका वक्षःस्थल विदीर्ण करके यहाँ स्थित हुए हैं। इनके दर्शनसे सब पापोंका नाश हो जाता है। इनके आगे प्राणोंका त्याग करनेवाला मनुष्य ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त होता है। अविमुक्तक्षेत्र (काशी) में मरनेवाले प्राणीके कानोंमें भगवान् महेश्वर बोधके उपायभूत ब्रह्मज्ञानका उपदेश करते हैं। बुद्धिसे उसका अभ्यास करके जीव क्रमशः मोक्षको प्राप्त होता है। उपदेशक भगवान् शिवकी महिमासे वह ज्ञान विस्मृत नहीं होता, क्रमशः अभ्यासमें आकर मोक्षकी प्राप्ति करा देता है। परंतु जो लोग इस पुरुषोत्तमक्षेत्रमें प्राणत्याग करते हैं, उनकी तत्काल मुक्ति हो जाती है। यहाँ समुद्र स्नान करनेसे, भगवान् पुरुषोत्तम अपने दर्शनसे, कल्पवृक्ष अपनी छायामें जानेसे तथा यह सम्पूर्ण क्षेत्र अपने भीतर कहीं भी मृत्यु होनेसे मोक्ष प्रदान करता है। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक जिसमें विश्वास करता है, वह उसीसे यहाँ मुक्त हो जाता है। ऐसा तीर्थ दूसरा नहीं है। इस क्षेत्रमें अन्तर्वेदीकी रक्षाके लिये आठ शक्तियाँ बतायी गयी हैं—वटवृक्षकी जड़में मंगला, पश्चिममें विमला, शंखके पृष्ठभागमें सर्वमंगला, उत्तर दिशामें

अर्द्धांशिनी तथा लम्बा, दक्षिणमें कालरात्रि, पूर्वमें मरीचिका तथा कालरात्रिके पीछे चण्डरूपा शक्ति स्थित है। इस प्रकार इन उग्र रूपवाली आठ शक्तियोंसे यह क्षेत्र सब ओरसे सुरक्षित है। इन आठों शक्तियोंके दर्शन तथा कीर्तनसे सब पापोंका नाश होता है। रुद्राणीके आठ भेद देखकर भगवान् शंकर भी अपनेको आठ स्वरूपोंमें व्यक्त करके परमेश्वर श्रीहरिकी उपासना करते हैं। कपालमोचन, क्षेत्रपाल, यमेश्वर, मार्कण्डेयेश्वर, ईशान, बिल्वेश्वर, नीलकण्ठ और वटवृक्षकी जड़में वटेश्वर—ये आठ भगवान् शिवके लिंग हैं, जिनका दर्शन, स्पर्श और पूजन करके मनुष्य मुक्त हो जाता है। इस क्षेत्रमें जिनकी मृत्यु होती है, उनके स्वामी यमराज नहीं हैं। तथापि भक्तको आत्मसमर्पण करनेवाले शरणागत-दुःखभंजन भगवान् जगन्नाथको यमराजने अपनी भक्तिसे सन्तुष्ट कर लिया है। इसलिये मेरे और सुदर्शनचक्रके साथ भगवान् विष्णु स्वर्णबालुकासे आवृत होकर न त्यागने योग्य इस उत्तम तीर्थमें अदृश्य भावसे रहेंगे।

**यमराजसे ऐसा कहकर लक्ष्मीजीने आगे खड़े हुए ब्रह्माजीसे कहा**—सत्ययुगमें राजा इन्द्रद्युम्न होनेवाले हैं, जो भगवान् विष्णुके परम भक्त तथा शास्त्रोंके विद्वान् होंगे। प्रजानाथ! उस राजापर अनुग्रह करनेके लिये भगवान् एक काष्ठसे उत्पन्न चार प्रतिमाओंके रूपमें अभिव्यक्त होंगे। काष्ठकी उन प्रतिमाओंका निर्माण स्वयं विश्वकर्मा करेंगे और तुम इन्द्रद्युम्नपर प्रसन्न होकर उन प्रतिमाओंकी स्थापना कराओगे। लक्ष्मीजीकी यह बात सुनकर ब्रह्मा और यमराज दोनों परम प्रसन्न होकर अपने-अपने स्थानको चले गये। पुरुषोत्तम-क्षेत्रकी महिमाका बार-बार स्मरण करके विस्मय और हर्षसे उनके शरीरमें रोमांच हो आता था।

मुनियो! इस समय उस क्षेत्रमें इन्द्रद्युम्नकी भक्तिसे सन्तुष्ट हो नीलमेघके समान श्यामसुन्दर शंखचक्रधारी भगवान् काष्ठमय शरीर धारण करके सम्पूर्ण लोकोंका उपकार करनेके लिये नीलाचलकी गुफामें विराजमान हैं। करुणासागर भगवान् काष्ठनिर्मित बलभद्र, सुभद्रा तथा सुदर्शनचक्रकी प्रतिमाओंके साथ स्वयं भी दारुमय विग्रह धारण करके शरणागतोंकी पीड़ाका नाश करते हैं। उनका दर्शन करके मनुष्य पापोंके सुदृढ़ बन्धनसे भी मुक्त हो जाता है। भगवान् विष्णुका यह परम उत्तम स्थान अत्यन्त गुप्त है तथा वह अलौकिक प्रतिमा लौकिक रूपसे प्रकाशित है। राजा इन्द्रद्युम्नको दारुमय शरीर धारण करनेवाले भगवान्ने वर दिया है। भगवान् दीनों और अनाथोंके एकमात्र शरण हैं। भवसागरसे पार उतारनेके लिये नौका हैं। उनके चरण समस्त चराचर जगत्के लिये वन्दनीय हैं। वे ही सबके परम आश्रय हैं। भगवान् नारायण सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिके स्थान तथा सृष्टि और संहारके कारण हैं। वे समस्त पापोंको छुड़ानेवाले तथा सब आपत्तियोंका नाश करनेवाले हैं। विभूतियोंका प्रसार करनेवाले तथा सब योगियोंको वरण करनेवाले हैं। सम्पूर्ण जीवोंका भरण तथा अखिल विश्वको धारण करनेवाले भी वे ही हैं। वे सब भाषाओंको बोलते और समस्त दुष्कर्मोंका विनाश करते हैं। मुनीश्वरो! तुम अनन्यभावसे उन्हीं भगवान् श्रीहरिकी शरण लो। वे चेष्टारहित काष्ठशरीर धारण करके भी दिव्य लीलाविलास करनेवाले हैं। थोड़ी-सी भक्ति करनेपर भी मनुष्योंके सौ-सौ अपराध क्षमा करते हैं।

कुरुक्षेत्रमें उत्पन्न हुए एक ब्राह्मण और एक क्षत्रिय दोनों मित्र थे। दोनोंने प्रेमपूर्वक परदेशकी यात्रा की। उनका आहार-विहार एक ही था। दोनों सदाचारके मार्गसे भ्रष्ट हो चुके थे और मोहवश शास्त्रनिषिद्ध आचरण करते थे। स्वाध्याय, वषट्कार, स्वधा (श्राद्ध-तर्पण) और स्वाहा (यज्ञ) इनसे वे कोसों दूर थे। महापातकोंसे कलंकित

होकर वे मदिरा पीते और वेश्याके सहवासमें रहकर आनन्दका अनुभव करते थे। परलोककी चिन्ता तो उन्हें कभी स्वप्नमें भी नहीं होती थी। इसी प्रकार मनमाना बर्ताव करते हुए उनकी आधी आयु बीत गयी। एक दिन घूमते हुए वे दोनों यज्ञशालामें जा पहुँचे और दूरसे ही स्तोत्र तथा शास्त्रचर्चा सुनने लगे। वहाँ होनेवाली वैदिक क्रियाओंको देखकर उस समय उन अधार्मिकोंके मनमें भी धर्मके प्रति श्रद्धा हो गयी। उनका नाम पुण्डरीक और अम्बरीष था। वे अपनी उच्च जातिका स्मरण करके अपने दुराचारोंकी निन्दा करते हुए एक-दूसरेसे कहने लगे—'हम दोनों पापके भयंकर समुद्रको कैसे पार करेंगे?' हमने जो-जो पाप संचित किये हैं, उनको शास्त्र भी नहीं जानता। उन घोर पापोंका प्रायश्चित्त अत्यन्त दुर्लभ है तथापि इस यज्ञसभामें जो ये ब्रह्मनिष्ठ पधारे हुए हैं, उन्हें प्रणामसे प्रसन्न करके हम अपने उद्धारका उपाय पूछें।'

ऐसा निश्चय करके उन दोनोंने ब्राह्मणोंको प्रणाम किया और अपने-अपने पापोंको ठीक-ठीक बताकर उनसे प्रायश्चित्त पूछा। उन दोनोंकी बातें सुनकर उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने आँखें बंद कर लीं। किसीने कुछ भी नहीं कहा। उनके बीच एक श्रेष्ठ वैष्णव थे, जो उस यज्ञसभामें प्रधान थे। भगवान्‌की भक्तिके माहात्म्यसे उन्होंने समस्त पापोंका नाश कर दिया था। वक्ताओंमें श्रेष्ठ उन वैष्णव ब्राह्मणने हँसकर वहाँ बैठे हुए उन दोनोंसे कहा—'हे ब्राह्मण! और हे क्षत्रियकुमार! यदि तुम दोनों अत्यन्त भयंकर पापराशिसे छुटकारा पाना चाहते हो तो शीघ्र पुरुषोत्तमक्षेत्रमें चले जाओ। वह सब क्षेत्रोंसे उत्तम है, जहाँ राजर्षि इन्द्रद्युम्नकी भक्तिसे उनपर अनुग्रह करनेवाले भगवान् पुरुषोत्तम काष्ठमय शरीर धारण करके रहते हैं। शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले उन भगवान् जगन्नाथकी आराधना करके तुम इच्छानुसार पापक्षय और मोक्ष भी पा सकोगे, यह ध्रुव सत्य है। उनका दर्शन करनेसे सब पाप एक साथ ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिये परम पवित्र उत्कलदेशमें दक्षिण समुद्रके तटपर नीलाचलके शिखरपर निवास करनेवाले सर्वव्यापी भगवान् जगदीशकी शरणमें जाओ। वे करुणानिधान भगवान् तुम दोनोंका मनोरथ अवश्य सिद्ध करेंगे।'

वैष्णव महात्माके इस प्रकार आदेश देनेपर वे ब्राह्मण और क्षत्रिय अत्यन्त हर्षयुक्त हो उसी मार्गसे पुरुषोत्तमक्षेत्रको चल दिये।

## पुण्डरीक और अम्बरीषद्वारा भगवान्‌की स्तुति तथा पुरुषोत्तमक्षेत्रमें रहकर भजन करनेसे उनकी मुक्तिका वर्णन

**जैमिनिजी कहते हैं**—उन दोनोंके मनमें निर्वेद (खेद एवं वैराग्य)-का उदय हुआ था। वे कुसंग छोड़कर मन-ही-मन भगवान् विष्णुका ध्यान करते हुए तथा शुद्ध आहार और व्रतका पालन करते हुए कुछ समयमें भगवान् पुरुषोत्तमके नीलाचल-निवासपर पहुँचे। वहाँ तीर्थराजके जलमें विधिपूर्वक स्नान करके वे मन्दिरके दरवाजेपर खड़े हो गये और साष्टांग प्रणाम करके भगवान्‌का निरीक्षण करने लगे। परंतु उस समय उन्हें भगवद्विग्रहका दर्शन नहीं हुआ। तब चिन्तासे व्याकुल होकर उन्होंने भगवान्‌का दर्शन जबतक न हो जाय तबतकके लिये अनशन आरम्भ किया और भगवान्‌के पापनाशक नामोंका कीर्तन करने लगे। तीसरी रात्रिमें उन्हें एक ज्योतिका दर्शन हुआ। तत्पश्चात् वे पुनः तीन दिनोंतक धैर्यपूर्वक उपवास करते रहे। इस प्रकार

जब सातवीं रात्रि आयी, तब उन्हें भगवत्स्वरूपका दर्शन हुआ। उनके भीतर दिव्य ज्ञान प्रकट हुआ और वे पापसे छूटकर साक्षात् भगवान् जगन्नाथका दर्शन करने लगे। भगवान्‌के हाथोंमें शंख, चक्र और गदा विराजमान थे। वे दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित थे। उन्होंने अपने चरणकमलोंको रत्नमयी पादुकाके ऊपर रखा था। खिले हुए कमलके समान विशाल नेत्र शोभा पा रहे थे। मुखपर प्रसन्नता छायी हुई थी। बायीं ओर श्रीलक्ष्मीजी विराजमान थीं। आगे खड़े होकर भगवत्स्वरूपका ध्यान करनेवाले प्रह्लाद आदि वैष्णवोंको, जो कि भगवान्‌का चित्त अपनी ओर आकृष्ट कर रहे थे, भगवान् श्रीहरि मानो अपने श्रीविग्रहमें धारण कर रहे थे। वक्षःस्थलपर शोभा पानेवाली कौस्तुभमणिमें प्रतिबिम्बित हुए देवता आदिके द्वारा मानो भगवान् अपनी विश्वमय मूर्तिका प्रकाश कर रहे थे। इस प्रकार भगवान्‌की झाँकी करके वे ब्राह्मण और क्षत्रिय क्षणभरमें सब विद्याओंके पारंगत विद्वान् हो गये। उन्होंने तीन बार देवेश्वर विष्णुकी परिक्रमा करके दोनों हाथ जोड़कर उन्हें साष्टांग प्रणाम किया और अत्यन्त प्रसन्न होकर स्तुति प्रारम्भ की।

**पुण्डरीक बोले**—जगदाधार! आपको नमस्कार है। आप सृष्टि, पालन और संहारके कारण हैं। परमात्मन्! नारायण! आप सबको शरण देनेवाले हैं। आपको नमस्कार है। एकमात्र आप ही परमार्थ हैं। उत्पत्ति और नाश आदि विकार आपसे सर्वथा दूर हैं। ध्यानरूपी नेत्रोंसे देखनेवाले महात्मा आपको नित्यानन्दस्वरूप मानते हैं। आप चैतन्यमात्र सम्पूर्ण जगत्‌के स्वामी, सबके अधिष्ठान तथा परसे भी परे हैं। आपका स्वरूप अत्यन्त निर्मल है। मूढ हृदयवाले मनुष्य आपको कैसे जान सकते हैं? नाथ! मैं अत्यन्त दीन होकर आपकी शरणमें आया हूँ, मुझपर दया कीजिये। मैं अज्ञानी, पापाचारी तथा संसार-समुद्रमें डूबा हुआ हूँ, मेरा उद्धार कीजिये। ब्रह्माण्डमें आपके समान दूसरा कौन बन्धु है, जो अपने स्वार्थकी अपेक्षा न रखकर दीनों और अनाथोंपर दया करता हो? जो मूढ़ योग और क्षेमकी इच्छा रखकर अनायास ही मोक्ष प्रदान करनेवाले आपकी उपासना करते हैं, वे आपकी मायासे मोहित हैं। जगन्नाथ! अकस्मात् लिया हुआ आपका 'नारायण' नाम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि अकेले ही कर देता है। नाथ! संसार-सागरमें डूबे हुए लोगोंके लिये एकमात्र आप ही शरण हैं। आप अनन्य भक्तिसे चिन्तन करनेपर ज्ञानरूपी नौकापर आरूढ़ हो करुणाकी पतवार हाथमें लेकर अचेतन प्राणीको संसार-समुद्रके दूसरे पार पहुँचानेमें अकेले ही समर्थ हैं। भगवन्! मुझे अपने चरणकमलोंके प्रति दृढ़ भक्ति प्रदान कीजिये, जिससे मैं इस अत्यन्त दुस्तर भयंकर संसार-समुद्रके पार हो जाऊँ। धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्गका सेवन केवल मन्दबुद्धि पुरुष ही करते हैं। ये तीनों बहुत क्षुद्र हैं और अहितकर एवं अल्प सुख प्रदान करनेवाले हैं। अतः इनसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। मुझे तो आप अब अपने युगल चरणारविन्दोंके चिन्तनसे बढ़े हुए घनीभूत आनन्दके समुद्रमें अवगाहन करनेकी आज्ञा दीजिये।

इस प्रकार स्तुति करके ब्राह्मण पुण्डरीक अश्रुगद्गद वाणीसे 'त्राहि कृष्ण' की पुकार लगाते हुए भगवान् जगन्नाथके चरणकमलोंमें गिर पड़े। तत्पश्चात् क्षत्रियकुमार अम्बरीषने उठकर हाथ जोड़े हुए इस प्रकार स्तवन किया।

**अम्बरीष बोला**—देव! सर्वात्मन्! मुझपर प्रसन्न होइये। आपके मस्तक और भुजाएँ असंख्य हैं। नासिका, नेत्र और हाथ-पैरोंकी भी कोई संख्या नहीं है। आपको नमस्कार है। विश्वमूर्ते! आप छत्तीस तत्त्वोंसे परे हैं। प्रपंचसे रहित होते

हुए भी इसके विस्तारमें सहायक हैं। जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—इन चार प्रकारके प्राणियोंसे भरे हुए जगत्के आप ही आश्रय हैं। आपको नमस्कार है। जिनके चरणोंसे प्रकट हुई गंगा तीनों लोकोंको पवित्र करती है, जिनका नाम ब्रह्महत्या आदि पापोंकी निश्चित शुद्धि करनेवाला है तथा कीर्तन करनेपर सबको कल्याण प्रदान करता है, उन कल्याणस्वरूप आप परमात्माको नमस्कार है। देव! केवल आपके नामकीर्तनसे भी सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। बुद्धिशाली विद्वान् पुरुष कौतूहलपूर्वक आपकी खोज करते हैं। नाथ! आपके चरणकमलोंके जल (चरणोदक)-का आश्रय लेनेपर वह सन्तापको हर लेता है। मैं तीनों तापोंसे पीड़ित हूँ। अपने इन युगल चरणोंमें मेरी भक्ति दृढ़ कर दीजिये। मेरा दूसरा कोई स्वामी नहीं है तथा मेरे माँगने योग्य दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है। जगन्नाथ! मैं आपके चरणोंमें सहस्रों बार प्रणाम करके यह याचना करता हूँ कि जबतक मैं प्राण धारण करूँ तबतक आपके इन युगल चरणकमलोंमें ही मेरी दृढ़ भक्ति बनी रहे। आपके ये चरण ही समस्त पुरुषार्थोंके बीज हैं। इन चरणोंकी भक्ति करके ब्रह्माजीने यह सृष्टि की है, रुद्रदेव सबका संहार करते हैं तथा लक्ष्मीजी सबको ऐश्वर्य प्रदान करती हैं। दीनोंपर दया करनेवाले प्रभो! मैं अनन्यचित्त होकर आपके उन्हीं चरणोंकी भक्ति माँगता हूँ। अनादि अविद्याके इस दुस्तर एवं सुदृढ़ पंकमें डूबकर मैं कोई आश्रय न मिलनेके कारण नष्ट हो रहा हूँ। जगन्नाथ! इससे मेरा उद्धार करनेके लिये आपकी महामहिमामयी भक्तिके सिवा दूसरा कोई आश्रय नहीं है। आपकी भक्तिको छोड़कर कोई भी साधन प्राणियोंका उद्धार करनेमें समर्थ नहीं है। स्वामिन्! आपके अतिरिक्त दूसरा कोई मुझे शरण देनेवाला नहीं है। प्रभो! मुझ शरणागतपर कृपा कीजिये।

इस प्रकार स्तुति करते हुए अम्बरीष भगवान् जगन्नाथके चरण-कमलोंके समीप 'प्रभो! प्रसन्न होइये, प्रसन्न होइये' ऐसा बार-बार कहकर दण्डकी भाँति गिर पड़ा। तदनन्तर पुण्डरीक और अम्बरीषने जब पुनः नेत्र खोले तब चर्मचक्षुसे दिव्य सिंहासनपर विराजमान नीलमेघके समान श्यामसुन्दर भगवान् पुरुषोत्तमको देखा। उनके नेत्र खिले हुए कमलके समान विशाल थे। अधर लाल और नासिका मनोहर थी। उनके कानोंमें दिव्य कुण्डल झिलमिला रहे थे। भगवान्ने अपने चारों हाथोंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण कर रखे थे। वे वनमालासे विभूषित थे। उनका वक्षःस्थल ऊँचा दिखायी देता था। कण्ठमें परम सुन्दर हार शोभा पा रहे थे। मस्तकपर बहुमूल्य मुकुट प्रकाशमान था। वक्षमें श्रीवत्सका चिह्न और कौस्तुभमणि शोभा दे रहे थे। भुजाओंमें उन्होंने दिव्य अंगद (भुजबंद) धारण कर रखे थे। उनकी विशाल भुजाएँ घुटनोंतक लंबी थीं। वे दीनों और दुखियोंकी रक्षाके लिये सदैव उद्यत प्रतीत होते थे। उनकी कटिमें दिव्य पीताम्बर शोभा पाता था। उसके ऊपर सोनेकी करधनी बँधी हुई थी, जिसकी बिचली गाँठमें मणि पिरोयी गयी थी। भगवान् दिव्य हार और दिव्य चन्दनसे विभूषित थे। वे सुवर्णमय कमलके आसनपर विराजमान थे। उनके सब अंगोंमें अनुपम शोभाका निवास था। वे शरणागतोंका सन्ताप हरनेके लिये महान् सुधासागरके समान प्रतीत होते थे। भलीभाँति खिले हुए कल्पवृक्षके समान वे सम्पूर्ण मनोवांछित फलोंको देनेवाले थे। उनके दक्षिण भागमें हलमय शस्त्र धारण करनेवाले भगवान् बलभद्र बैठे थे। जिन्होंने अपने महान् बलसे समस्त ब्रह्माण्डका भार धारण किया है, वे बलभद्रजी नागराज शेषके रूपमें शोभा पाते थे। मस्तकपर सात फन उन्हें सुशोभित करते थे। वे कैलासशिखरके समान ऊँचे और श्वेतवर्ण थे। उनके कानोंमें कुण्डल प्रकाशित हो रहा था।

गलेमें विचित्र वनमाला थी। उन्होंने दिव्य नीलवस्त्र पहन रखा था। उनकी पीठ नीची और छाती ऊँची थी। वे सम्पूर्ण शरीरको कुण्डलित करके बैठे थे। उनके चारों हाथोंमें भी शंख, चक्र, गदा और पद्म शोभायमान थे। अनेक प्रकारके अलंकार धारण करनेसे वे और भी सुन्दर प्रतीत होते थे। भगवान् बलभद्र प्रणाम करनेवालोंके समस्त पापोंका नाश करनेवाले हैं। इन दोनोंके मध्यभागमें कुंकुमके समान लाल वर्णवाली कल्याणमयी सुभद्रादेवी विराजमान थीं, जो सम्पूर्ण लावण्यका निवासस्थान जान पड़ती थीं। समस्त देवता उनके चरणोंमें मस्तक झुकाते थे। उन्होंने अपने हाथोंमें कमल धारण कर रखा था। वे दिव्य आभूषणोंसे विभूषित थीं। सुभद्रा भी शरणागतोंके लिये कल्पवृक्ष हैं। समस्त पापोंका नाश करनेवाली हैं तथा संसार-समुद्रमें डुबे हुए मनुष्योंको पार उतारनेवाली और देवताओंको भी तारनेवाली हैं। भगवान् पुरुषोत्तमके वामभागमें उत्तम चक्र प्रकाशित होता था। श्रेष्ठ काष्ठसे निर्मित तथा स्वर्णके संयोगसे परम उज्ज्वल चार स्वरूपोंमें स्थित भगवान् पुरुषोत्तमका प्रातःकालका दर्शन करके उन ब्राह्मण और क्षत्रियकुमारोंने अपने परिश्रमको सार्थक माना और पूर्वोक्त स्वप्नलीलाका स्मरण करके वे बड़े विस्मयको प्राप्त हुए और सोचने लगे 'यह काष्ठकी प्रतिमा नहीं, यहाँ तो साक्षात् ब्रह्म प्रकाशमान हैं।' उस समय उन्होंने यज्ञसभामें आये हुए ब्राह्मणोंकी बातपर पूर्ण विश्वास किया और आपसमें कहा—'कहाँ हम दोनों महापातकी क्रमशः यमयातना भोगनेके अधिकारी और कहाँ देवताओंसे सेवित भगवान् विष्णुका दर्शन! हम तो निरे मूर्ख थे। इस समय अठारह विद्याओंमें प्रवीण हो गये हैं। इसलिये यह भ्रम नहीं, वास्तविक ज्ञान है। यथार्थवादी ब्राह्मणोंने जो कहा था कि तीर्थराज समुद्रके तटपर साक्षात् ब्रह्म विराजमान हैं और वटवृक्षकी जड़में ये सदा प्रकाशमान होते हैं। उनके दर्शनसे सब प्राणी मुक्त हो जाते हैं, उन सब बातोंका आज प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। ये वही भगवान् जगन्नाथ हैं, जो चार स्वरूपोंमें स्थित हुए हैं। पृथ्वीपर जब ये अवतार लेते हैं, तब चार रूपोंमें प्रकाशित होते हैं। अब हम दोनों जबतक प्राण धारण करेंगे, इन्हींके समीप रहेंगे। क्षुद्र कामनाओंसे मुँह मोड़कर अन्यत्र जानेका नाम भी न लेंगे।'

ऐसा निश्चय करके वे दोनों भगवान् विष्णुके भजनमें तत्पर हो गये। सदा नारायणका नाम जपते हुए उन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया। यह पापनाशक चरित्र अत्यन्त गोपनीय है। इस तीर्थके प्रसंगसे मैंने इसका वर्णन किया है। जो मनुष्य पुण्डरीक और अम्बरीषके इस चरित्रको सुनते और कहते हैं, वे परम आनन्दके साथ भगवान् विष्णुके परमधामको प्राप्त होते हैं।

## उत्कल देशके भव्य रूपका परिचय, राजा इन्द्रद्युम्नका एक तीर्थयात्रीसे पुरुषोत्तमक्षेत्रकी महिमा सुनकर पुरोहितके भाईको वहाँ भेजना और उनका नीलाचलके समीप शबरसे वार्तालाप

**मुनियोंने पूछा**—द्विजश्रेष्ठ! जहाँ काष्ठप्रतिमाके रूपमें साक्षात् भगवान् नारायण विराजमान हैं, वह पुरुषोत्तमक्षेत्र किस देशमें है?

**जैमिनिजीने उत्तर दिया**—उत्कल (उड़ीसा) नामसे प्रसिद्ध एक परम पावन देश है, जहाँ अनेक तीर्थ और बहुत-से पवित्र देवमन्दिर हैं।

वह प्रदेश दक्षिण समुद्रके तटपर बसा हुआ है। उसमें रहनेवाले पुरुष सदाचारके आदर्श हैं। वहाँके ब्राह्मण उत्तम आचार और स्वाध्यायसे सम्पन्न हो सदा यज्ञकर्ममें संलग्न रहते हैं। सृष्टिके आदिमें यज्ञ और वेदाध्ययनकी प्रवृत्ति वहींसे होती है, अतः वहाँके निवासी ब्राह्मण वेद-शास्त्रोंके प्रवर्तक हैं। उस देशको अठारह विद्याओंकी निधि बताया गया है। वहाँ भगवान् नारायणकी आज्ञासे घर-घरमें लक्ष्मीका वास है। उस देशके निवासी मनुष्य लज्जाशील, विनयी, चिन्ता तथा रोगसे रहित, पिता-माताके सेवक, सत्यवादी तथा विष्णुभक्त होते हैं। वहाँ कोई भी ऐसा पुरुष नहीं होगा, जो विष्णुका भक्त एवं आस्तिक न हो। उस देशके सब लोग परोपकारी होते हैं। लोभी, दुष्ट और शठ मनुष्योंका वहाँ सर्वथा अभाव है। उस प्रदेशके लोग दीर्घजीवी होते हैं। स्त्रियाँ पतिव्रता, सुशीला, धर्मपरायणा, लज्जा और सदाचारसे विभूषित, रूपवती, सब प्रकारके आभूषणोंसे अलंकृत तथा कुल, शील और वयके अनुसार आचार-विचारका पालन करनेवाली होती हैं।

वहाँके क्षत्रिय भी अपने कर्तव्यका पालन करते हैं। वे सब-के-सब प्रजाकी रक्षाके व्रतमें दीक्षित होते हैं। दान देनेमें उदार और सब शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण होते हैं। सदा अधिक दक्षिणावाले यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं। उनकी यज्ञवेदियाँ सदा प्रज्वलित रहती हैं तथा सुवर्णभूषित यूप शोभा पाते रहते हैं। उनके घरपर पधारे हुए अतिथियोंको उनकी कामनासे अधिक वस्तुएँ देकर सन्तुष्ट किया जाता है। उत्कलके वैश्य भी कृषि, वाणिज्य और गोरक्षाकी वृत्तिमें स्थित होते हैं। वे अपनी भक्ति और धनसे देवता, गुरु और ब्राह्मणोंको तृप्त करते हैं। वहाँ एकके घरपर पधारे हुए याचकको दूसरेके घरपर जानेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। उस देशके शूद्र संगीत, काव्य, कला और शिल्पमें कुशल तथा प्रिय वचन बोलनेवाले होते हैं। धार्मिक एवं स्नान-दानादि कर्मोंमें तत्पर होते हैं। वे अपने मन, वाणी, क्रिया तथा धनके द्वारा द्विजोंकी सेवामें लगे रहते हैं। वहाँ वर्णसंकरजातिके लोग भी अपने-अपने धर्ममें स्थित होते हैं। ऋतुएँ विपरीतभाव नहीं धारण करतीं। मेघ असमयमें वर्षा नहीं करते। खेतीको हानि नहीं पहुँचती। हवाका भी कष्ट नहीं होता तथा प्रजाको भूखकी पीड़ा नहीं सहन करनी पड़ती। अकाल और महामारीका प्रकोप नहीं होता। राज्यका नाश नहीं होता। पृथिवीपर होनेवाली कोई भी वस्तु वहाँ अलभ्य नहीं है। यही वह सब देशोंमें श्रेष्ठ उत्कल है। दक्षिण समुद्रमें मिलनेवाली ऋषिकुल्या नदीतक पहुँचकर स्वर्णरेखा और महानदीके बीचमें जो देश प्रतिष्ठित है, वही उत्कल है। इस पवित्र प्रान्तमें बहुत-से उत्तम क्षेत्र हैं।

सत्ययुगमें इन्द्रद्युम्न नामसे प्रसिद्ध एक श्रेष्ठ राजा हो गये हैं। उनका जन्म सूर्यवंशमें हुआ था। वे ब्रह्माजीसे पाँचवीं पीढ़ी नीचे थे। राजा इन्द्रद्युम्न सत्यवादी, सदाचारी, शुद्ध तथा सात्त्विक पुरुषोंमें अग्रगण्य थे। प्रजाको अपनी सन्तान समझकर सदा न्यायपूर्वक उसका पालन करते थे। वे आध्यात्मिक ज्ञानमें कुशल, शूर, समरविजयी, सदा उद्यमशील, ब्राह्मणपूजक तथा पितृभक्त थे। अठारह विद्याओंमें दूसरे बृहस्पतिके समान प्रवीण थे। ऐश्वर्यमें देवराज इन्द्र तथा कोष-संग्रहमें कुबेरकी समानता करते थे। रूपवान्, सौभाग्यशाली, शीलवान्, दानी, भोगी, प्रिय वक्ता, समस्त यज्ञोंका यजन करनेवाले तथा सत्यप्रतिज्ञ भी थे। उनमें भगवान् विष्णुकी भक्ति थी, सत्यभाषणका गुण था। उन्होंने क्रोध और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली थी। वे श्रेष्ठ राजसूय यज्ञ तथा सहस्रों अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान कर चुके थे। संसारबन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छा रखकर सदा धर्माचरणमें ही लगे रहते थे। इस प्रकार वे सर्वगुणसम्पन्न राजा इन्द्रद्युम्न समूची पृथ्वीका पालन करते हुए मालव देशमें विख्यात

और समस्त रत्नोंसे सम्पन्न द्वितीय अमरावतीके समान सुशोभित अवन्ती नामवाली नगरीमें निवास करते थे। वहाँ रहते हुए राजाने भगवान् विष्णुमें मन, वाणी और क्रियाद्वारा परम अद्भुत एवं उत्तम भक्ति बढ़ायी।

एक दिन भगवान् लक्ष्मीपतिकी पूजाके समय देवपूजागृहमें बैठे हुए राजाने अपने पुरोहितसे आदरपूर्वक कहा—'आप उस उत्तम क्षेत्रका पता लगाइये जहाँ हम इसी नेत्रसे साक्षात् भगवान् जगन्नाथका दर्शन करें।' वैष्णव राजाके ऐसा कहनेपर पुरोहितजीने तीर्थयात्रियोंके एक झुंडको देखकर उनसे प्रेमपूर्वक कहा—'तीर्थोंमें विचरनेवाले तथा तीर्थोंका ज्ञान रखनेवाले धर्मात्मा पुरुषो! हमारे महाराज जो आज्ञा देते हैं उसे तुमलोगोंने सुना है क्या? तुममेंसे किसीको उत्तम तीर्थका पता है क्या?' उनका अभिप्राय समझकर उन यात्रियोंमेंसे एक व्यक्ति, जो बहुत तीर्थोंमें घूम चुका था और अच्छा वक्ता था, राजाके पास आ हाथ जोड़कर बोला—'राजन्! मैंने बचपनसे ही अनेक तीर्थोंमें भ्रमण किया है। भारतवर्षमें ओद्र नामसे प्रसिद्ध एक देश है। उस देशमें दक्षिण समुद्रके तटपर श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्र है, जहाँ नीलाचल नामक एक पर्वत है। वह सब ओरसे वनोंद्वारा घिरा हुआ है। उसके बीचमें कल्पवृक्ष है, जिसके पश्चिम भागमें रौहिण कुण्ड है। वह भगवान्‌की करुणारूप जलसे भरा हुआ है, जो स्पर्श करनेमात्रसे ही मोक्ष देनेवाला है। उसके पूर्वीय तटपर इन्द्रनीलमणिकी बनी हुई भगवान् वासुदेवकी प्रतिमा है, जो साक्षात् मोक्ष प्रदान करनेवाली है। उस कुण्डमें स्नान करके जो भगवान् पुरुषोत्तमका दर्शन करता है, वह मुक्त हो जाता है। वहाँ शबरदीपक नामक एक श्रेष्ठ आश्रम है, जो भगवद्विग्रहसे पश्चिम दिशामें स्थित है। उस आश्रमसे एक पगडंडीका रास्ता है, जिससे भगवान् विष्णुके स्थानतक जा सकते हैं। वहाँ शंख-चक्र-गदाधारी साक्षात् भगवान् जगन्नाथ विराजमान हैं। वे करुणाके समुद्र हैं, दर्शनमात्रसे ही सब जीवोंको मुक्ति प्रदान करते हैं। राजन्! देवाधिदेव जगन्नाथजीकी प्रसन्नताके लिये मैंने एक वर्षतक पुरुषोत्तमक्षेत्रमें निवास किया। मैं महामूर्ख था परंतु उनकी कृपासे इस समय अठारहों विद्याओंमें प्रवीण हो गया हूँ। मेरी बुद्धि भी निर्मल हो गयी है, जिससे भगवान् विष्णुके सिवा और कुछ मैं नहीं देखता। तुम सदैव दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले विष्णुभक्त हो, इसलिये तुम्हारे पास आया हूँ। मैं तुमसे इस समय धन अथवा भूमि नहीं माँगता। केवल इतना ही कहता हूँ कि मेरी इस बातको झूठ न मानकर वहाँ पुरुषोत्तमक्षेत्रमें निवास करनेवाले भगवान् लक्ष्मीपतिका भजन करो।'

यों कहकर वह जटाधारी यात्री सबके देखते-देखते शीघ्र अन्तर्धान हो गया। इससे राजाको बड़ा विस्मय हुआ। वे व्याकुल होकर पुरोहितसे बोले—'यह अलौकिक वृत्तान्त अलौकिक पुरुषसे ही सुना गया है। अब मेरी बुद्धि जहाँ भगवान् गदाधर विराजमान हैं, वहाँ जानेके लिये उतावली हो रही है। द्विजश्रेष्ठ! मेरे धर्म, अर्थ और काम एक-दूसरेके अनुकूल रहकर सदा आपके अधीन रहे हैं। आपके प्रसादसे मैंने त्रिवर्गका साधन तो कर लिया। यदि आप इस भगवद्दर्शनके कार्यमें भी मेरे साथ चलेंगे तो मैं आपके सहयोगसे चारों पुरुषार्थोंको प्राप्त कर लूँगा।'

**पुरोहित बोले**—राजन्! मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा कि हमलोग सहायकोंसहित पुरुषोत्तमक्षेत्रमें चलकर बस जायँ। जन्मकी सफलता इससे बढ़कर और क्या हो सकती है कि साक्षात् भगवान् लक्ष्मीपतिका दर्शन किया जाय। इस समय मेरा छोटा भाई विद्यापति सब देशोंमें घूमनेवाले दूतोंके साथ वहाँ जायगा और जगन्नाथजीका दर्शन करके उस पर्वतपर सैनिकोंके ठहरनेयोग्य स्थानका पता

लगाकर शीघ्र सब समाचार ले आयेगा। इससे हमलोगोंका कल्याण होगा।

**पुरोहितकी यह बात सुनकर राजा इन्द्रद्युम्नने कहा**—ब्रह्मन्! बहुत अच्छा। अब मैं भगवान् विष्णुके समीप उसी क्षेत्रमें चलकर बसूँगा।

ऐसा कहकर राजाने प्रसन्नतापूर्वक अन्तःपुरमें प्रवेश किया और पुरोहितने उन सब यात्रियोंको यथायोग्य सम्मान देकर अपने-अपने आश्रमको भेजा। फिर अपने भाईको ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर शुभ मुहूर्तमें भेजा। विद्यापति समस्त विश्वसनीय पुरुषोंके साथ पुष्पशोभित रथपर आरूढ़ हो वहाँसे प्रस्थित हुआ। उसने रथमें बैठे-बैठे यह विचार किया कि 'अहो! मेरा जन्म सफल हो गया। मेरी रात्रि मंगलमय प्रभातका दर्शन करानेवाली होगी; क्योंकि मैं भगवान्के उस मुखारविन्दका दर्शन करूँगा, जो समस्त पापोंको दूर करनेवाला है। श्रवण, मनन आदि साधनोंसे निरन्तर प्रयत्न करनेवाले साधक जिन्हें अपने हृदय-कमलके मध्य विराजमान देखते हैं, उन्हीं भगवान् चक्रपाणिको आज मैं नीलाचलके शिखरपर साक्षात् शरीर धारण किये देखूँगा, जो शरीरबन्धनका नाश करनेवाले हैं। श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणके वचनोंद्वारा जिनके स्वरूपका भलीभाँति निरूपण करना असम्भव है, उन्हीं भगवान् लक्ष्मीनिधिके अदृष्टपूर्व स्वरूपका दर्शन करके आज मैं भवसागरसे पार हो जाऊँगा। जिनके नामसंकीर्तनमात्रसे उनका स्मरण करनेवाले मनुष्योंके विविध पापोंका संहार हो जाता है, उन्हीं अप्रमेय भगवान् जगन्नाथके नीलगिरिनिवासी स्वरूपका आज मैं प्रत्यक्ष दर्शन करूँगा जिनके रोम-रोममें असंख्य ब्रह्माण्डोंकी मालाएँ हैं, जिनके सहस्रों मस्तक, चरण और नेत्र हैं, जिनकी निःश्वास-वायुसे सम्पूर्ण वेदोंकी राशि प्रकट हुई है तथा जो सब प्रपंचोंके स्वामी हैं, उन पुराणपुरुष भगवान् विष्णुकी मैं शरण लेता हूँ। अहा! मेरा कैसा भाग्य है कि इन्हीं चर्मचक्षुओंसे मैं जगत्के आदिकारण भगवान् नारायणका दर्शन करूँगा।'

इसी विचारमें पड़े हुए प्रसन्नचित्त ब्राह्मणको रथके वेगसे लाँघे हुए विशाल मार्गका कुछ भी पता न चला। मार्गमें मिले हुए अनेकों वन, पर्वत तथा दुर्गम स्थानोंको देखते हुए वे सूर्यास्तके समय महानदीके तटपर जा पहुँचे। उन्होंने रथसे उतरकर विधिपूर्वक नित्यकर्म किया और सायंसन्ध्या करके भगवान् मधुसूदनका ध्यान किया। तत्पश्चात् रथपर ही बैठे-बैठे रात बितायी। सबेरा होनेपर शीघ्र ही महानदीको पार किया। फिर प्रातःकालिक कृत्य समाप्त करके रथपर आरूढ़ हो गोविन्दका चिन्तन करते हुए ही आगेको प्रस्थान किया। भगवान्के निकट जानेवाले मार्गको देखते हुए वे एकाम्रवनमें पहुँचे। उसके बाद कल्पवटसे विभूषित गगनचुम्बी नीलाचलका शिखर देखा, जो दर्शकोंके पापोंका नाश करनेवाला है। साक्षात् शरीरधारी भगवान् विष्णुके उस अद्भुत निवासस्थानको खोजते हुए विद्यापति नीलाचलकी उपत्यका (तराई)-में जा पहुँचे। अब वे भगवान्के दर्शनके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो गये; किंतु आगे बढ़नेका मार्ग नहीं मिला। तब भूमिपर कुशा बिछाकर मौनभावसे लेट गये और भगवद्दर्शनकी सिद्धिके लिये भगवान्के ही शरणागत हो गये। तब पर्वतसे पश्चिम भगवद्भक्तके विषयमें बातचीत करनेवाले लोगोंकी अलौकिक वाणी सुनायी देने लगी। तब वे प्रसन्न होकर उसी शब्दका अनुसरण करते हुए आगे बढ़े। कुछ ही दूरपर विख्यात शबरदीपक नामक आश्रम मिला। वहाँ उन्होंने वैष्णव भक्तोंका दर्शन किया और उन्हें प्रणाम करके हाथ जोड़कर खड़े हो गये। तब विश्वावसु नामक शबर भगवान् विष्णुका पूजन समाप्त करके पूजाके प्रसादसे सुशोभित हो पर्वतके बीचसे वहाँ आया। उसे देखकर ब्राह्मणको बड़ा हर्ष हुआ और वे सोचने लगे—ये श्रेष्ठ वैष्णव हैं, इनसे मुझे भगवान् विष्णुके सम्बन्धमें

दुर्लभ समाचार प्राप्त होगा। इसी विचारमें पड़े हुए ब्राह्मणसे शबरने कहा—'ब्रह्मन्! आप कहाँसे

इस वनमें पधारे हैं? यह वनका मार्ग तो बड़ा दुस्तर है, आप भूख-प्याससे बहुत थक गये होंगे। यहाँ सुखपूर्वक बैठिये और दीर्घकालतक विश्राम कीजिये।' ऐसा कहते हुए विश्वावसुने ब्राह्मणके लिये पाद्य, आसन और अर्घ्य प्रदान किया तथा विनययुक्त वाणीमें पूछा—'विप्रवर! आप फलाहार करेंगे या तैयार की हुई रसोई? जैसी आपकी रुचि हो, वैसा ही भोजन मैं प्रस्तुत करूँगा। भगवन्! आज मेरा अहोभाग्य है, यह जीवन सफल हो गया; क्योंकि आप साक्षात् दूसरे विष्णुकी भाँति मेरे घरपर पधारे हैं।'

**इस प्रकार पूछनेपर श्रेष्ठ ब्राह्मण विद्यापतिने कहा**—वैष्णवश्रेष्ठ! फल अथवा तैयार की हुई रसोईसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। मैं बहुत दूरसे जिस उद्देश्यको लेकर यहाँ आया हूँ, उसे सफल करें। मैं अवन्तीपुरीके निवासी महाराज इन्द्रद्युम्नका पुरोहित हूँ और भगवान् विष्णुके दर्शनकी इच्छासे यहाँ आया हूँ। राजाने मुझे यहाँ निवास करनेवाले नीलमाधव श्रीहरिका दर्शन करनेके लिये भेजा है। दर्शन करके मैं जबतक राजाके पास इसका समाचार न पहुँचा दूँगा, तबतक राजा निराहार रहेंगे। इसलिये आप मुझे भगवान् विष्णुका दर्शन कराइये।

## विद्यापतिका शबरके साथ नीलमाधवका दर्शन करके तीर्थकी परिक्रमा करना और अवन्तीमें जाकर राजा इन्द्रद्युम्नको सब समाचार सुनाना

**जैमिनिजी कहते हैं**—ब्राह्मणकी बात सुनकर शबरने अविनाशी भगवान् विष्णुका ध्यान करते हुए कहा—'विप्रवर! हमने पहलेसे भी यह समाचार सुन रखा है कि इस तीर्थमें राजा इन्द्रद्युम्न निवास करेंगे। चलिये, पर्वतके ऊपरकी भूमिपर चलें।' ऐसा कहकर शबर ब्राह्मणको उसी मार्गसे गहन वनमें ले गया। ऊपर-ऊपर चढ़कर शिलाखण्डोंके कारण ऊँची-नीची भूमिपर एक-एक मनुष्यके चलनेयोग्य रास्ता था, वह भी काँटोंसे भरा होनेके कारण अति दुर्गम हो रहा था और वहाँ प्रायः अन्धकार छाया रहता था। शबर वाणीद्वारा बोल-बोलकर ब्राह्मणको रास्तेका परिचय कराता चलता था। इस प्रकार चार घड़ीतक चलकर वे दोनों रौहिण कुण्डके तटपर पहुँचे। उसे देखकर शबरने कहा—'द्विजश्रेष्ठ! यह रौहिण नामक कुण्ड है, जो समस्त जलोंकी उत्पत्तिका कारणभूत महातीर्थ है। यहाँ स्नान करके मनुष्य वैकुण्ठ धाममें जाता है। इसके पूर्वभागमें यह महान् कल्पवट है, जिसकी छायामें जाकर मनुष्य ब्रह्महत्याका भी नाश कर देता है। इन दोनोंके मध्यभागमें जो

कुंज है, उसमें वेदान्तप्रतिपादित साक्षात् भगवान् जगन्नाथजी विराजमान हैं; इनका दर्शन कीजिये। दर्शन करके समस्त पापराशिका विनाश कर डालिये और इसके बाद 'मैं भवसागरमें पड़ा हूँ'—इस शोक और चिन्ताको सदाके लिये त्याग दीजिये।'

तब विद्वान् ब्राह्मण विद्यापतिने प्रसन्नचित्त होकर उस कुण्डमें स्नान किया और दूरसे ही मन, वाणी एवं मस्तकद्वारा भगवान्‌को प्रणाम करके हर्षगद्‌गद वचन बोलकर उनकी स्तुति की—'प्रभो! आप प्रकृति और पुरुषसे सर्वथा अतीत पुरुषोत्तम हैं। सर्वव्यापी एवं परात्पर हैं। इस चराचर जगत्‌को भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें परिणत करनेवाले आप ही हैं। परमार्थस्वरूप परमेश्वर! आपको नमस्कार है। जगत्पते! श्रुति-स्मृति-पुराण और इतिहासद्वारा प्रतिपादित समस्त कर्मोंसे एकमात्र आपकी ही आराधना होती है। जिनके चरणकमलोंके संयोगसे सर्वतीर्थमयी गंगा सब लोगोंको पवित्र करती हैं, उन परमपावन भगवान् श्रीहरिको नमस्कार है। जिनके अंशभूत आनन्दको पाकर सम्पूर्ण विश्वके प्राणी आनन्दमय होकर जीवन धारण करते हैं, समस्त पापोंसे रहित उन ब्रह्मस्वरूप विष्णुको नमस्कार है। प्रभो! आप निर्मलस्वरूप, कल्याणरूप, सब प्रकारकी आसक्तियोंसे रहित तथा विश्वसाक्षी हैं, आपको नमस्कार है। आपके असंख्य चरण, नेत्र, मस्तक, मुख और भुजाएँ हैं। आप सबको जीतनेवाले हैं। सभी जीव आपके स्वरूप हैं; आप सर्वरूपी परमात्माको नमस्कार है। भगवन्! इस असार संसारमें चक्कर लगानेके कारण मैं रोग और शोकोंसे बहुत पीड़ित हो गया हूँ और आपके युगल चरणारविन्दोंकी शरणमें आया हूँ। आप इस सांसारिक दुःखसमुदायसे मेरा उद्धार कीजिये।'

प्रणवरूपी देवेश्वर भगवान् विष्णुका इस प्रकार स्तवन करके उनके चरणोंमें मस्तक झुकाकर विद्यापति ब्राह्मण भगवान् विष्णुके आगे प्रणवमन्त्रका जप करने लगे। जपके अन्तमें शबरने कहा—'द्विजश्रेष्ठ! इस समय आप भगवान्‌का दर्शन पाकर कृतार्थ हो गये। दिन बीत गया, आप थके-मादे और भूखे-प्यासे हैं, अतः चलिये घर चलें। इस घोर वनमें हिंसक जन्तुओंका निवास है; इसलिये हमारा यहाँ ठहरना उचित नहीं है। जबतक सूर्यकी किरणोंका प्रकाश है, तबतक ही हमलोग अपने घर पहुँच जायँ।' ऐसा कहकर ब्राह्मणके साथ शबर शीघ्रतापूर्वक आश्रमको लौटा। ब्राह्मण भी आनन्दसागर भगवान् जगन्नाथके ध्यानमें डूबे हुए थे, अतः उन्हें भूख-प्यास और थकावटसे प्राप्त होनेवाले दुःखोंका भान नहीं हुआ। भगवच्चिन्तनमें संलग्न होनेसे शरीरमें उनकी आस्था नहीं रह गयी थी। वे शरीरस्थितिसे ऊपर उठ चुके थे, इसलिये कण्टकराशिसे व्याप्त शिलाखण्डोंके ऊँचे-नीचे दुर्गम मार्गमें चलते हुए भी कष्टका अनुभव नहीं करते थे। घर आनेपर शबरने ब्राह्मण अतिथिको नाना प्रकारके पवित्र दिव्य पदार्थ देकर भलीभाँति उनका पूजन किया। तदनन्तर शबरके दिये हुए राजोचित उपचारोंसे पूर्णतः तृप्त होकर ब्राह्मणको बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने चकित होकर कहा—'साधो! तुमने मेरे सत्कारके लिये जो ये अलौकिक वस्तुएँ समर्पित की हैं, उनका दर्शन राजाओंने भी नहीं किया है। तुम्हारे घरमें ऐसी दिव्य वस्तुओंका संग्रह आश्चर्यकी बात है!'

**शबरने कहा**—द्विजश्रेष्ठ! इन्द्र आदि देवता प्रतिदिन दिव्य उपचार लेकर जगन्नाथजीकी पूजा करनेके लिये आते हैं, पूजा करके भक्तिपूर्वक स्तुति और नमस्कार करते हैं। फिर गीत, वाद्य और नृत्यके द्वारा भगवान्‌को सन्तुष्ट करके अपने स्थानको लौट जाते हैं। ये सब दिव्य पदार्थ जगन्नाथजीके प्रसाद हैं, जो मैंने आपको अर्पित किये हैं। भगवान्‌के इस प्रसादको खाकर हमलोगोंके रोग और बुढ़ापेका नाश हो गया है। जिसके

सेवनसे मनुष्य मोक्षका भागी होता है, उस प्रसादका यदि ऐसा प्रभाव हो तो यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

भगवत्प्रसादका यह दुर्लभ प्रभाव सुनकर ब्राह्मणके शरीरमें रोमांच हो आया, आनन्दके आँसुओंसे उनकी आँखें बंद हो गयीं और उन्होंने अपनेको कृतार्थ मानते हुए कहा—'अहो! यह शबरकुलमें उत्पन्न मनुष्य प्रतिदिन अविनाशी परमात्माका दर्शन करता है और उनके प्रसादस्वरूप दिव्य भोगका उपभोग करता है। इस पृथ्वीपर चराचर जगत्में इसके समान भाग्यवान् दूसरा कोई नहीं है। इसके साथ मैत्री करके मैं भी इस वनमें निवास करूँगा।' इस प्रकार दीर्घकालतक विचार करके भगवान् श्रीविष्णुमें मन लगाये रहनेवाले उस ब्राह्मणने शबरसे कहा—'यदि मुझपर तुम्हारा अनुग्रह हो, तो मैं तुम्हारे साथ मित्रता करूँगा। यह मेरे मनका महान् निश्चय है। बड़े भाग्यसे तुम्हारे साथ समागम हुआ है। अब तुम्हारे प्रसादसे मैं दुस्तर भवसागरको पार कर जाऊँगा। वैष्णवके साथ मित्रता होना दुःखमय संसारसे पार करनेवाला है। इसीको इस असार संसारसागरमें सार वस्तु बताकर साधु पुरुष इसकी सराहना करते हैं। तुम-जैसे मित्रके सहवाससे कमलके समान नेत्रोंवाले, शंख-चक्र-गदाधारी भगवान् विष्णुका पुनः प्रत्यक्ष दर्शन होगा। सखे! मेरे लौट जानेपर राजा इन्द्रद्युम्न भगवान्की आराधना करनेके लिये यहीं आकर निवास करेंगे। उनकी इच्छा है, यहाँ एक विशाल मन्दिर बनवावें, जो भगवान्को प्रिय है। जगन्नाथजीकी पूजाके लिये सहस्रों उपचारोंका प्रबन्ध करूँगा—यह उनकी महाप्रतिज्ञा है।'

**शबरने कहा**—सखे! यह भी पुरातनकालसे वैसी ही बात प्रसिद्ध है, जैसी कि आपने इन्द्रद्युम्नके आगमनके सम्बन्धमें कही है। केवल इतनी ही बात होगी कि राजा यहाँ नीलमाधवका दर्शन नहीं कर सकेंगे। भगवान्ने यमराजसे एक प्रतिज्ञा की है, उसके अनुसार वे शीघ्र ही स्वर्णमयी बालुकामें छिपकर अदृश्य हो जायँगे। आपने महान् सौभाग्यके फलसे भगवान्का प्रत्यक्ष दर्शन कर लिया है। इन्द्रद्युम्नके आनेपर निश्चय ही आँखोंसे ओझल हो जायँगे, परन्तु यह बात आपको राजाके आगे नहीं कहनी चाहिये। राजा जब यहाँ आकर भगवान्को नहीं देखेंगे और अन्न-जल त्यागकर मरनेको तैयार हो जायँगे, तब स्वप्नमें उन्हें भगवान् गदाधरका दर्शन होगा और उन्हींके आदेशसे वे भगवान्की काष्ठमयी चार मूर्तियोंको ब्रह्माजीके द्वारा स्थापित कराकर भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करेंगे।

इस प्रकार परस्पर पुण्यमयी चर्चा करके दोनों सुन्दर स्थानमें पल्लव बिछी हुई शय्यापर सो गये। सबेरा होनेपर दोनोंने तीर्थराज समुद्रके जलमें विधिपूर्वक स्नान किया और भगवान् माधवको प्रणाम करके राजाके रहने योग्य उत्तम स्थानका निश्चय करनेके पश्चात् वे दोनों लौट आये। तत्पश्चात् मित्रसे विदा लेकर ब्राह्मण रथपर आरूढ़ हो अवन्तीपुरीको चले।

रथपर बैठे हुए विद्यापति ब्राह्मणने यह विचार किया कि मैंने जो भगवान् नीलमाधवका दर्शन कर लिया, उससे मेरा कर्तव्य पूरा हो गया। अब श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्रकी परिक्रमा करके शीघ्र यहाँसे लौटूँ। ऐसा निश्चय करके वे नाना प्रकारके वृक्षोंसे भरे हुए क्षेत्र और वनको देखते हुए उस समय उस पुरुषोत्तमतीर्थकी परिक्रमा करने लगे। परिक्रमा पूरी करके भगवान्का ध्यान करते हुए बिना खाये-पीये चले और सन्ध्या होते-होते अवन्तीपुरीमें पहुँच गये। दूतोंने महाराजको उनके लौटनेका समाचार सुनाया; सुनकर महाराज इन्द्रद्युम्न बहुत प्रसन्न हुए। वे भगवान् जनार्दनकी पूजा करके विद्वान् ब्राह्मणोंके साथ प्रसन्नतापूर्वक बैठे और विद्यापतिके आगमनकी प्रतीक्षा करने लगे। इसी समय प्रवेशमार्ग बतानेवाले छड़ीदार सिपाहियों और द्वारपालोंद्वारा सूचित किये हुए रास्तेसे उत्कण्ठित

पुरवासियोंके साथ विद्यापति ब्राह्मणने भगवान् नीलमाधवकी प्रसादस्वरूप सुन्दर माला हाथमें लेकर राजाके आगे दरबारमें प्रवेश किया। उन्हें देखकर राजा सिंहासनसे उठकर खड़े हो गये और 'हे जगदीश! प्रसन्न होइये' ऐसा कहते हुए उनके समीप गये। तत्पश्चात् यों बोले—'आज मेरा जीवन, जन्म और कर्म—दोनों ही दृष्टियोंसे सफल हो गया; क्योंकि इस समय मैं यहाँ प्रसादमालाके रूपमें साक्षात् माधवका दर्शन कर रहा हूँ। संसारके समस्त पापोंका विनाश करनेवाली भगवान् विष्णुके मस्तकपर चढ़ी हुई इस दिव्य मालाको मैं प्रणाम करता हूँ। जिनके चरणकमलोंकी धूलिको अपने मस्तकमें लगाकर ब्रह्मा आदि देवताओंने महान् ऐश्वर्य प्राप्त किया है, उन भगवान् विष्णुके श्रीअंगोंमें लगे हुए उज्ज्वल अंगरागसे संयुक्त पुष्पोंकी आधारभूत इस मालाको मैं प्रणाम करता हूँ। हे नीलाचलके शिखरको विभूषित करनेवाले पापहारी हरि! आपकी जय हो। शरणागतोंकी पीड़ा दूर करनेवाले श्रीमान् नारायण! मैं आपकी शरणमें आया हूँ, मेरा उद्धार कीजिये।'

अश्रुगद्गद वाणीसे इस प्रकार कहते हुए राजा इन्द्रद्युम्नने धरतीपर मस्तक रखकर भगवान्को प्रणाम किया। उस समय उनके अंग-अंगमें रोमांच हो आया था। वे विद्यापति ब्राह्मण भी समस्त पापोंसे रहित हो भगवान् माधवका ध्यान करते हुए राजाके सम्मुख उपस्थित हुए और इस प्रकार बोले—'अपने तेजसे सम्पूर्ण लोकोंके पापोंका निवारण करनेवाले परम बुद्धिमान् नीलाचलशिखर-निवासी भगवान् श्रीमाधव आपपर अनुग्रह करें।' यों कहकर विद्यापतिने वह माला राजा इन्द्रद्युम्नके गलेमें डाल दी। राजाने भी उठकर अपने हृदयपर लटकती हुई मालाको देखकर ऐसा माना कि इसके रूपमें साक्षात् भगवान् लक्ष्मीपति ही मेरे हृदयमें आ गये हैं। फिर दोनों हाथ मस्तकपर जोड़कर उन्होंने अपने नेत्र कुछ-कुछ बंद कर लिये और आनन्दके आँसुओंसे गद्गदकण्ठ होकर श्रीहरिका इस प्रकार स्तवन किया।

**इन्द्रद्युम्न बोले**—समस्त संसारकी सृष्टि, पालन और संहाररूपी शिल्पके कारीगर! आपकी जय हो। अपने विश्वरूपके रोम-रोममें लीलासे ही असंख्य ब्राह्मणोंका भार धारण करनेवाले नारायण! आपकी जय हो। प्रभो! आप सबके अन्तर्यामी तथा शरणागतोंका दुःख दूर करनेवाले हैं। ब्रह्मा, इन्द्र तथा रुद्र आदि देवताओंके मुकुटसे आपके चरणारविन्दोंकी विचित्र शोभा होती है। आप दीनों, अनाथों और विपत्तिग्रस्त प्राणियोंकी रक्षामें सदैव तत्पर रहते हैं। अकारणकरुणावरुणालय! परात्पर! आपकी जय हो। जगन्नाथ! भक्तवत्सल! मैं अनादि कालसे भ्रममें भटकनेवाला दीन मनुष्य एकमात्र आपकी शरणमें आया हूँ, आप मेरी रक्षा करें।

इस प्रकार स्तुति करके राजा अपने आसनपर बैठे। उस समय गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी सब उन्हें घेरे हुए थे। अठारहों विद्याओंमें कुशल यज्ञकर्ता ब्राह्मणोंके साथ राजाने बहुत आदरपूर्वक विद्यापतिका पूजन किया और अपने सामने चौकीपर बिठाकर आदिसे ही कुशल-समाचार पूछा। पुरुषोत्तमक्षेत्रके माहात्म्य, नीलमणिविग्रहधारी भगवान् विष्णुकी महिमा तथा स्वरूपके विषयमें भी प्रश्न किया। तब विद्यापतिने अपने अनुभवमें आये हुए शबरद्वीपमें प्रवेशसे लेकर समुद्रमें स्नान करनेतकके पुरुषोत्तम-क्षेत्रसम्बन्धी समस्त वृत्तान्तको विस्तारपूर्वक कह सुनाया। नीलाचलपर चढ़ना, नीलमाधवका दर्शन करना, रौहिण कुण्डमें स्नान करना, कल्पवटकी महिमा, नृसिंह आदि स्वरूपोंकी प्रतिष्ठा, आठ शिव और आठ शक्तियोंकी स्थिति, रथसे घूमकर देखी हुई पुरुषोत्तमक्षेत्रकी लंबाई और चौड़ाई—सबका क्रमशः यथावत् वर्णन किया। वह अद्भुत वृत्तान्त सुनकर प्रसन्नचित्त हुए राजा इन्द्रद्युम्नने कहा—'भगवन्!

नीलेन्द्रमणिमय विग्रहवाले भगवान् विष्णुके स्वरूपका यथार्थ वर्णन कीजिये।'

**विद्यापति बोले**—राजन्! मैं भगवान् जगन्नाथकी उस दिव्य मूर्तिका वर्णन करता हूँ, जिसे इस चर्मचक्षुसे देखकर मनुष्य मोक्षका भाजन बन जाता है। भगवान्की वह मूर्ति बहुत प्राचीन तथा इन्द्रनीलमणि नामक प्रस्तरकी बनी है। ब्रह्मा, रुद्र और इन्द्र आदि देवता प्रतिदिन जाकर उसकी पूजा करते हैं। यह दिव्य माला देवताओंने ही पूजामें चढ़ायी थी। राजन्! यह न तो कभी मलिन होती है और न कभी इसकी सुगन्ध ही कम होती है। भगवान्के दिव्य उपहारमें आये हुए प्रसादके भक्षण करनेसे मेरे समस्त पाप क्षीण हो गये हैं और मैं देवताओंके सदृश अलौकिक तेजसे सम्पन्न हो गया हूँ। क्या आप इस बातको नहीं देख रहे हैं? महाराज! वहाँ भोग और मोक्ष दोनों एक ही साथ स्थित हैं। बुढ़ापा, रोग और शोक आदि दुःखोंका वहाँ अत्यन्त अभाव है। उस तीर्थमें विकसित नीलकमलके सदृश विशाल नेत्रोंवाले साक्षात् भगवान् जगन्नाथ प्रसन्नवदनसे विराजमान हैं, जो शरणागतोंको अमृतमय मोक्ष प्रदान करते हैं।

## भगवान् जगन्नाथके नीलमणिमय विग्रहका वर्णन, इन्द्रद्युम्नके पास नारदजीका आगमन और भक्ति एवं भक्तके स्वरूपका विवेचन

**इन्द्रद्युम्नने पूछा**—द्विजश्रेष्ठ! जन्मसे लेकर कुछ काल पहलेतक तो आप पुरुषोत्तमक्षेत्रमें कभी गये ही नहीं थे, फिर आपने वहाँके दिव्य वृत्तान्तको कैसे जान लिया?

**विद्यापतिने कहा**—राजन्! मैं सन्ध्याके समय पुरुषोत्तमतीर्थमें भगवान् नीलाचलवासी विष्णुके समीप पहुँचा था। उस समय वहाँ दिव्य सुगन्धयुक्त वायु चल रही थी। आकाशमार्गमें देवताओंका सम्मिलित शब्द सुनायी पड़ता था। वहाँ विश्वावसु नामक शबर मेरा मित्र है, उसने दिव्य उपहार, भोजन तथा यह माला मुझे प्रदान की थी। कभी मलिन न होनेवाली यह बहुमूल्य माला लक्ष्मी तथा राज्यका सुख प्रदान करनेवाली है और दरिद्रता एवं पापका संहार करनेवाली है। इसलिये इसे आपके योग्य समझकर मैं यहाँ ले आया हूँ। भगवान् विष्णुका वह उत्तम क्षेत्र सब ओरसे घने जंगलोंसे व्याप्त है। नीलाचल उसकी नाभि (केन्द्रस्थान) है, लंबाई और चौड़ाईमें वह (वर्गके हिसाबसे) पाँच कोसका बताया गया है। तीर्थराज समुद्रके तटपर उसकी स्थिति है और वह सब ओरसे सुवर्णमयी बालुकाद्वारा आवृत है। पर्वतके शिखरपर एक बहुत ऊँचा वटवृक्ष है, जो प्रलयकालमें भी स्थिर रहता है। उसकी लंबाई एक कोसकी

है। वह फूल और फलसे रहित तथा पल्लवोंसे सुशोभित है। सूर्यके हटनेपर भी उसकी छायामें कोई परिवर्तन नहीं होता। उसके पश्चिम रौहिण नामसे प्रसिद्ध कुण्ड है, वहाँ जलका उद्गम है। उसमें उतरनेके लिये नील पत्थरोंकी सीढ़ी उसकी शोभा बढ़ाती है। कुण्डके बाहर चारों दिशाओंमें स्फटिकमणिकी चार वेदियाँ हैं; पापराशिका संहार करनेवाले पवित्र जलसे भरा हुआ वह कुण्ड बड़ा ही मनोरम है। कुण्डकी पूर्व दिशामें जो वेदी है, उसके मध्यभागमें शंख-चक्र-गदाधारी इन्द्रनीलमणिमय भगवान् विष्णु विराजमान हैं। वह स्थान वटवृक्षकी छाया पड़नेसे सदा शीतल बना रहता है। भगवान्‌का वह विग्रह इक्यासी अंगुल ऊँचा है और सुवर्णमय कमलके ऊपर स्थित है। उस श्रीविग्रहके मुखचन्द्रसे तीनों प्रकारके तापोंका निवारण होता है। भगवान्‌के दोनों नासिकापुट तिलके फूलके समान शोभा धारण करते हैं। प्रस्तरमयी मूर्ति होनेपर भी भगवान्‌के अधरपर मुसकानकी छटा रहती है। हँसीसे खिले हुए युगल कपोलोद्वारा ठोढ़ी बहुत सुन्दर दिखायी देती है। मुँहके दोनों कोने ऐसे दिखायी देते हैं मानो और किसी मूर्तिके मुखकोण वैसे कभी बने ही न हों। हासयुक्त अधर, कपोल, ठोढ़ी और मुँहके सुन्दर कोने आदिको धारण करनेवाले भगवान् माधव विश्वकर्मा आदि शिल्पियोंके लिये आदर्श बने हुए हैं। मकराकार कुण्डलोंसे सुशोभित दोनों कानोंके द्वारा भगवान्‌का मुखचन्द्र गुरु और शुक्रके मध्यभागमें स्थित पूर्णचन्द्रका उपहास कर रहा है। गलेके सुन्दर आभूषणसे शोभाजनक कण्ठप्रदेशके द्वारा भगवान् अपना दर्शन करनेवाले पुरुषोंके चित्तमें दक्षिणावर्त शंखसे मुक्तामणिके प्रकट होनेकी आशंका उत्पन्न करते हैं। उनके कन्धे मोटे और चौड़े हैं। घुटनेतककी लंबी चार भुजाएँ हैं। वक्षःस्थलपर स्वच्छ एवं निर्मल हार शोभा पा रहा है। दिव्य कौस्तुभमणिमें पड़े हुए प्रतिबिम्बके रूपमें मानो वे चौदह भुवनोंको धारण करते हैं। गहरे नाभिरूपी सरोवरमें प्रविष्ट हुई सूक्ष्म रोमावलियोंके कारण भगवान्‌का श्रीविग्रह बड़ा मनोहर प्रतीत होता है। गलेमें लटकता हुआ हार त्रिवलीके मध्यभागतकका स्पर्श करता है। मोतीकी माला कमरके पासतक लटकी हुई है। वे पीताम्बरसे शोभा पाते हैं। दोनों जंघाएँ दो खम्भोंके समान जान पड़ती हैं, मानो वे मोक्षके मंगलमय धाममें जानेके लिये बाहरी द्वारके आश्रय हों। भगवान्‌के दोनों चरण गोलाकार घुटनों, पैरोंतक लटकती हुई वनमाला तथा रत्नमय कड़ोंसे शोभा पाते हैं। वे हार, कंकण, भुजबन्द और मुकुट आदिसे विभूषित हैं। भगवान् अपने चारों हाथोंमें क्रमशः चक्र, पद्म, गदा और शंखरूपमें परिणत ज्ञान, अहंकार, ऐश्वर्य तथा शब्दब्रह्म (वेदराशि)-को धारण करते हैं।* भगवान् जगन्नाथ सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करते हुए नीलाचलके शिखर-पर विराजमान हैं, जिनका दर्शन करके, भक्तिपूर्वक प्रणाम करनेसे मनुष्य देहबन्धनसे मुक्त हो जाता है। भगवान्‌के वामपार्श्वमें भगवती लक्ष्मी वीणा बजा रही हैं। उनकी दृष्टि भगवान्‌के मुखकी ओर है। वे सम्पूर्ण लावण्यका निवास तथा समस्त अलंकारोंसे विभूषित हैं। जगत्‌के पिता और माता भगवान् विष्णु और भगवती लक्ष्मी दोनों उस पर्वतपर निवास करते हैं। मैंने उन दोनोंका दर्शन किया। वे दोनों मौनभावसे बैठे हैं और अपनी मुसकराती हुई दृष्टिसे दर्शन करनेवाले प्राणीपर कृपाकी वर्षा करते हैं। दीनोंपर दया करनेके कारण मैंने उन्हें चैतन्यरूप ही माना है। उनके पीछे अपने फणोंका छत्र लगाये भगवान् शेषनाग खड़े हैं और आगे सुदर्शन चक्रको दिव्य शरीर

* तेजोमय सुदर्शन चक्र प्रकाशस्वरूप ज्ञानका प्रतीक है। इस प्रकार कमल अहंकारका, गदा ऐश्वर्यका और शंख नादात्मक शब्दब्रह्मका प्रतीक है।

धारण करके खड़े हुए देखा है। सुदर्शनके पीछे गरुड़जी हाथ जोड़े खड़े हैं। इस प्रकार अद्भुत रूप धारण करनेवाले साक्षात् लक्ष्मीपति भगवान् विष्णुका दर्शन करके मेरा मन बार-बार उन्हींकी ओर दौड़ रहा है मानो कोई इसे रस्सियोंमें बाँधकर अपनी ओर खींच रहा हो। तीर्थस्नान, तप, दान, देवयज्ञ और व्रतोंके द्वारा भी कोई वैसे दिव्यरूपमें भगवान्‌का दर्शन नहीं कर सकता। जो लोग निर्मल आकाशकी भाँति प्रतीत होनेवाले पुरुषोत्तमतीर्थनिवासी नील-विग्रह भगवान् विष्णुका ध्यान करते हैं वे सब प्रकारके बन्धनोंसे रहित होकर भगवान् विष्णुके धाममें प्रवेश करते हैं। जिसने नीलाचलनाथ भगवान्‌का दर्शन कर लिया है, वही दानी, वही यज्ञकर्ता, वही सत्यवादी, वही धर्मात्मा तथा वही सम्पूर्ण गुणोंसे श्रेष्ठ और समस्त जगत्‌में महान् है। राजन्! वहाँ जगदीश्वर माधवके जो सेवक हैं, उन्हींसे मैंने भगवान्‌के इस माहात्म्यका परिचय प्राप्त किया। वहाँ आदिसृष्टिकी परम्परासे चला आता हुआ पुरातन एवं सुप्रसिद्ध आख्यान सुनकर मैं यहाँ आया हूँ। महाराज! आपकी ही आज्ञासे श्रीपुरुषोत्तमका दर्शन करके वहाँका सब वृत्तान्त आपसे निवेदन किया है। अब आपकी जैसी इच्छा हो वैसा करें।

**इन्द्रद्युम्न बोले**—भगवन्! आपका वचन मेरे लिये सर्वथा विश्वसनीय है। आपके मुखसे भगवान्‌के पापहारी स्वरूपका वर्णन सुनकर तथा इस दिव्य प्रसादमालाका संयोग पाकर मैं कृतकृत्य हो गया। अनेक जन्मोंमें उपार्जित मेरी समस्त पापराशि आज नष्ट हो गयी। अब मैं भगवान् लक्ष्मीपतिके दर्शनका अधिकारी हो गया। सर्वतोभावेन वहाँकी यात्रा करूँगा और इस राज्य एवं बढ़ी हुई समृद्धिके द्वारा पुरुषोत्तमतीर्थमें निवासस्थान, नगर और दुर्ग बनवाऊँगा। भगवान् विष्णुकी प्रीतिके लिये सौ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करूँगा और प्रतिदिन सैकड़ों उपचारोंसे श्रीनाथजीकी पूजा करूँगा, व्रत, उपवास और नियमोंद्वारा जगद्गुरु भगवान्‌को प्रसन्न करूँगा, जिससे वे मुझ सन्तप्त प्राणीको अपने वचनामृतसे अभिषिक्त करेंगे। भगवान् नारायण दीनोंपर अनुग्रह करनेवाले हैं।

इस प्रकार राजा इन्द्रद्युम्न श्रद्धा और भक्तिसे भगवान् जगदीश्वरकी स्तुति कर रहे थे। इतनेमें ही सम्पूर्ण भुवनोंको देखनेकी उत्सुकता रखनेवाले देवर्षि नारदजी वहाँ आ पहुँचे। विष्णुभक्तोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मपुत्र नारदजीको आते देख राजा सहसा उठकर खड़े हो गये और पाद्य, अर्घ्य एवं आचमनीय निवेदन करके उन्हें उत्तम आसनपर बैठाकर प्रणामपूर्वक हाथ जोड़कर बोले—'आज मेरे सम्पूर्ण यज्ञ, दान, स्वाध्याय और तप सफल हो गये; क्योंकि मेरे घरपर ब्रह्माजीके द्वितीय स्वरूप देवर्षि नारद कृपापूर्वक पधारे हैं। मुने! आपने यहाँतक आनेकी कृपा की, इतनेसे ही यद्यपि मैं कृतार्थ हो गया हूँ तथापि आपकी प्रसन्नताके लिये आपकी क्या सेवा करूँ, आपकी किस आज्ञाका पालन करूँ? कौन-सा प्रयोजन लेकर आपने मेरे इस घरको पवित्र किया है?'

भक्ति और विनयसे सनी हुई राजाकी यह कोमल वाणी सुनकर नारदजीने मुसकराते हुए कहा—'नृपश्रेष्ठ! तुम्हारे निर्मल गुणोंसे ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण देवता, सिद्ध और मुनि अत्यन्त प्रसन्न हैं। तुमने बहुत अच्छा निश्चय किया। हजारों जन्मोंके अभ्याससे नीलाचलगुहानिवासी भगवान् माधवमें भक्ति होती है। परम बुद्धिमान् ब्रह्माजीने उन्हीं भगवान् जगदीश्वरकी आराधना करके इस सृष्टिका निर्माण किया और पितामहकी पदवी पायी है। तुम भी उन्हींके वंशमें उत्पन्न हुए हो, अतः भगवान्‌के प्रति तुम्हारी ऐसी भक्ति होनी उचित ही है। पग-पगपर दुःख और संकटोंसे व्याप्त इस संसाररूपी वनमें भटकते हुए मनुष्योंके लिये एकमात्र भगवान् विष्णुकी भक्ति ही सुख देनेवाली है। यह संसार एक

समुद्र है जहाँ कोई भी सहारा देनेवाला नहीं है। सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंकी प्रचण्ड आँधीसे इसमें सदा तूफान आता रहता है, इस कारण यह अत्यन्त दुस्तर है। इस भवसागरमें डूबे हुए मनुष्योंके लिये भगवान् विष्णुकी भक्ति ही नौका मानी गयी है। एकमात्र माता भगवती विष्णुभक्तिका आश्रय लेकर सन्तुष्ट रहनेवाले साधुपुरुष कभी शोक नहीं करते। राजन्! देहधारियोंकी जो बड़ी भारी पापराशि है, वह विष्णुभक्तिरूपी महान् दावानलमें पतंगोंकी भाँति जल जाती है। प्रयाग, गंगा आदि तीर्थ, तपस्या, श्रेष्ठ अश्वमेध यज्ञ, महान् दान, व्रत, उपवास और नियम—इन सबका सहस्रों बार सेवन किया जाय और इनके पुण्यसमूहको कोटि-कोटि गुना करके एकत्र किया जाय तो भी वह विष्णुभक्तिके हजारवें अंशके बराबर भी नहीं बताया गया है[१]।'

नारदजीके बताये हुए विष्णुभक्ति-माहात्म्यको सुनकर राजा इन्द्रद्युम्नके मनमें विष्णुभक्तिका स्वरूप जाननेकी इच्छा हुई। अतः उन्होंने पूछा—'भगवन्! भक्तिका क्या स्वरूप है? उसके लक्षणका वर्णन कीजिये।'

**नारदजीने कहा**—राजन्! सावधान होकर सुनो। मैं भगवान् विष्णुकी सनातन भक्तिका सामान्य और विशेषरूपसे वर्णन करता हूँ। गुणोंके भेदसे भक्तिके तीन भेद हैं—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। इनके अतिरिक्त एक चौथी भक्ति भी है, जो निर्गुणा मानी गयी है। राजन्! जो लोग काम और क्रोधके वशीभूत हैं और प्रत्यक्ष (इस जगत्)-के सिवा और किसी (परलोक आदि)-की ओर दृष्टि नहीं रखते, वे अपनेको लाभ और दूसरोंको हानि पहुँचानेके लिये जो भजन करते हैं, उनकी वह भक्ति तामसी कही गयी है। अधिक यशकी प्राप्तिके लिये अथवा दूसरेकी स्पर्धा (लाग-डाँट)-से, प्रसंगवश परलोकके लिये भी, जो भक्ति होती है, वह राजसी मानी गयी है। पारलौकिक लाभको स्थायी समझकर और इहलोकके समस्त पदार्थोंको नश्वर देखकर अपने वर्ण तथा आश्रमके धर्मोंका परित्याग न करते हुए आत्मज्ञानके लिये जो भक्ति की जाती है, वह सात्त्विकी है। यह जगत् जगन्नाथका ही स्वरूप है, उनसे भिन्न इसका दूसरा कोई कारण नहीं है, मैं भी भगवान्से भिन्न नहीं हूँ और वे भी मुझसे पृथक् नहीं हैं, ऐसा समझकर भेद उत्पन्न करनेवाली बाह्य उपाधियोंका त्याग करना और अधिक प्रेमसे भगवत्-स्वरूपका चिन्तन करते रहना—यह अद्वैत (निर्गुणा) नामवाली भक्ति है, जो मुक्तिका साक्षात् साधन है। यह अत्यन्त दुर्लभ है।[२]

अब मैं भगवान् विष्णुके भक्तोंका लक्षण बतलाता हूँ—जिनका चित्त अत्यन्त शान्त है, जो सबके प्रति कोमल भाव रखते हैं, जिन्होंने स्वेच्छानुसार अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली है तथा जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी दूसरोंसे द्रोह करनेकी इच्छा नहीं रखते, जिनका चित्त दयासे द्रवीभूत होता है, जो चोरी और हिंसासे सदा ही मुख मोड़े रहते हैं, सद्गुणोंके संग्रह तथा दूसरोंके कार्यसाधनमें जो प्रसन्नतापूर्वक संलग्न रहते हैं, सदाचारसे जिनका जीवन सदा उज्ज्वल (निष्कलंक) बना रहता है, जो दूसरोंके उत्सवको अपना उत्सव मानते हैं, सब प्राणियोंके

---

१- अश्वमेधः क्रतुवरो दानानि सुमहान्ति च। व्रतोपवासनियमाः सहस्राण्यर्जिता अपि॥
समूह एषामेकत्र गणितः कोटिकोटिभिः। विष्णुभक्तेः सहस्रांशसमोऽसौ न हि कीर्तितः॥
(स्क० पु०, वै० उ० १०। ७३-७४)

२- जगच्चेदं जगन्नाथो नान्यच्चापि च कारणम्। अहं च न ततो भिन्नो मत्तोऽसौ न पृथक् स्थितः।
हानं बहिरुपाधीनां प्रेमोत्कर्षेण भावनम्। दुर्लभा भक्तिरेषा हि मुक्तयेऽद्वैतसंज्ञिता॥
(स्क० पु०, वै० उ० १०। ८६—८८)

भीतर भगवान् वासुदेवको विराजमान देखकर कभी किसीसे ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखते, दीनोंपर दया करना जिनका स्वभाव बन गया है और जो सदा परहितसाधनकी इच्छा रखते हैं, अविवेकी मनुष्योंका विषयोंमें जैसा प्रेम होता है, उससे सौ कोटि गुनी अधिक प्रीतिका विस्तार वे भगवान् श्रीहरिके प्रति करते हैं।[१] नित्य कर्तव्यबुद्धिसे विष्णुस्वरूप शंकर आदि देवताओंका भक्तिपूर्वक पूजन और ध्यान करते हैं, पितरोंमें भगवान् विष्णुकी ही बुद्धि रखते हैं, भगवान् विष्णुसे भिन्न दूसरी किसी वस्तुको नहीं देखते। समष्टि और व्यष्टि सब भगवान्के ही स्वरूप हैं, भगवान् जगत्से भिन्न होकर भी भिन्न नहीं हैं, 'हे भगवान् जगन्नाथ! मैं आपका दास हूँ, आपके स्वरूपमें भी मैं हूँ, आपसे पृथक् कदापि नहीं हूँ, जब आप भगवान् विष्णु अन्तर्यामीरूपसे सबके हृदयमें विराजमान हैं, तब सेव्य अथवा सेवक कोई भी आपसे भिन्न नहीं है।' इस भावनासे सदा सावधान रहकर जो ब्रह्माजीके द्वारा वन्दनीय युगल चरणारविन्दोंवाले श्रीहरिको सदा प्रणाम करते, उनके नामोंका कीर्तन करते, उन्हींके भजनमें तत्पर रहते और संसारके लोगोंके समीप अपनेको तृणके समान तुच्छ मानकर विनयपूर्ण बर्ताव करते हैं। जगत्में सब लोगोंका उपकार करनेके लिये जो कुशलताका परिचय देते हैं, दूसरोंके कुशल-क्षेमको अपना ही मानते हैं, दूसरोंका तिरस्कार देखकर उनके प्रति दयासे द्रवीभूत हो जाते हैं तथा सबके प्रति मनमें कल्याणकी भावना करते हैं, वे ही विष्णुभक्तके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो पत्थर, परधन और मिट्टीके ढेलेमें, परायी स्त्री और कूटशाल्मली नामक नरकमें, मित्र, शत्रु, भाई तथा बन्धुवर्गमें समान बुद्धि रखनेवाले हैं, वे ही निश्चितरूपसे विष्णुभक्तके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो दूसरोंकी गुणराशिसे प्रसन्न होते और पराये मर्मको ढकनेका प्रयत्न करते हैं, परिणाममें सबको सुख देते हैं, भगवान्में सदा मन लगाये रहते तथा प्रिय वचन बोलते हैं, वे ही वैष्णवके नामसे प्रसिद्ध हैं।[२] जो भगवान् के पापहारी शुभनाम-सम्बन्धी मधुर पदका जप करते और जय-जयकी घोषणाके साथ भगवन्नामोंका कीर्तन करते हैं, वे अकिंचन महात्मा वैष्णवके रूपमें प्रसिद्ध हैं। जिनका चित्त श्रीहरिके चरणारविन्दोंमें निरन्तर लगा रहता है, जो प्रेमाधिक्यके कारण जडबुद्धि-सदृश बने रहते हैं, सुख और दुःख दोनों ही जिनके लिये समान हैं, जो भगवान्की पूजामें चतुर हैं तथा अपने मन और विनययुक्त वाणीको भगवान्की सेवामें समर्पित कर चुके हैं, वे ही वैष्णवके नामसे प्रसिद्ध हैं। मद और अहंकार गल जानेके कारण जिनका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध हो गया है, अमरोंके विश्वसनीय बन्धु भगवान् नृसिंहका यजन करके जो शोकरहित हो गये हैं, ऐसे वैष्णव निश्चय ही उच्चपदको प्राप्त होते हैं। भगवान्में सदैव उत्तम भक्ति रखनेवाले भक्तोंके शुभ चरित्र और लक्षणका वर्णन मैंने तुमसे किया है। यह मनुष्योंके कानोंमें पड़ते ही उनके चिरसंचित मलका नाश करता है। भजनके लिये कभी धनकी आवश्यकता तथा शरीरको कष्ट देकर किये जानेवाले किसी विशेष प्रकारके प्रयोगकी भी आवश्यकता नहीं है। मृदुल एवं मन्द स्वरसे वाणीके द्वारा भगवान्के

---

१- विषयेष्वविवेकानां या प्रीतिरुपजायते।
वितन्वते तु तां प्रीतिं शतकोटिगुणां हरौ॥ (स्क० पु०, वै० उ० १०। १०४-१०५)

२- दृषदि परधने लोष्टखण्डे परवनितासु च कूटशाल्मलीषु।
सखिरिपुसहजेषु बन्धुवर्गे सममतयः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः॥
गुणगणसुमुखाः परस्य मर्मच्छदनपराः परिणामसौख्यदा हि।
भगवति सततं प्रदत्तचित्ताः प्रियवचसः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः॥
(स्क० पु०, वै० उ० १०। ११-१२)

नामोंका कीर्तन होता रहे, तो मैं इसीको भजन मानता हूँ। तुम्हारे मनमें भगवान्‌के दास्यभावका ही चिन्तन होना चाहिये।

किंतु जो मनुष्योंके शुभ आचरणोंसे भी द्वेष करते हैं और स्वयं अपने चित्तको दुराचारमें ही बाँधे रखते हैं, बड़े भारी अमंगलको पा करके भी निश्चिन्त रहते हैं और सदा ऐश्वर्य तथा विषयभोगके रसमें ही सुखका अनुभव करते हैं, वे मनुष्य वैष्णव नहीं हैं; वे तो बहुत ही निम्नश्रेणीके मनुष्य हैं। अपने हृदयरूपी कमलमें विराजमान परमानन्दमय श्रीहरिके स्वरूपका जो क्षणभर भी चिन्तन नहीं करते, उन्मत्तभावसे बैठे रहते हैं और अपने झूठे वचनोंके जालसे भगवान्‌के नामको भी निरन्तर आच्छादित किये रहते हैं, वे भी भगवान्‌के भक्त नहीं हैं। जिनके मनमें परायी स्त्री और पराये धनके लिये सदा लोभ बना रहता है, जो कृपण बुद्धिवाले हैं और सदा अपना ही पेट भरनेमें लगे रहते हैं, वे नरपशु विष्णुभक्तिसे सर्वथा रहित हैं। जो निरन्तर दुष्ट पुरुषोंके साथ अनुराग रखते हैं, दूसरोंका तिरस्कार और हिंसा करते हैं, जिनका स्वभाव अत्यन्त भयंकर है तथा जो भगवान् नृसिंहके चरणोंके चिन्तनसे विरक्त रहते हैं, उन मलिन मनुष्योंको दूरसे ही त्याग देना चाहिये।

## राजा इन्द्रद्युम्नका पुरुषोत्तमक्षेत्रको प्रस्थान और महानदीके तटपर विश्राम

**जैमिनिजी कहते हैं**—ब्रह्मपुत्र देवर्षि नारदसे इस प्रकार उत्तम भगवद्भक्तिका वर्णन सुनकर राजा इन्द्रद्युम्न बहुत प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले—'भगवन्! विद्वान् पुरुषोंने मुझे बताया था कि साधु पुरुषोंका संग संसाररूपी रोगका नाश करनेवाला है, ऐसा साधुसंग मुझे इसी समय प्राप्त हुआ है। आपके संगसे मेरे अज्ञानमय अन्धकारका नाश हो गया, क्योंकि मेरा चित्त इस समय नीलमाधवकी पूजा करनेके लिये अत्यन्त उतावला हो रहा है। अतः हम और आप दोनों ही रथपर बैठकर चलें और भगवान् नीलमाधवका दर्शन करें। यदि आपके मुखसे पुरुषोत्तमक्षेत्रके तीर्थोंका ज्ञान प्राप्त कर सकूँ, तो पहलेके कहे हुए महात्माओंके वचन भी सफल हो जायँ।'

**नारदजीने कहा**—राजन्! यह तो बड़े हर्षकी बात है। मैं तुम्हें पुरुषोत्तमक्षेत्र और वहाँके तीर्थोंके दर्शन कराऊँगा। उस तीर्थमें जो शक्तियाँ और शिव आदि हैं, उन्हें भी दिखाऊँगा। उस क्षेत्रके माहात्म्यका भी परिचय दूँगा। तुम वहाँ भक्तोंको आत्मसमर्पण करनेवाले देवेश्वर भगवान् जगन्नाथका साक्षात् दर्शन करोगे।

इस प्रकार वार्तालाप करके दोनोंने प्रसन्नतापूर्वक दिनका कृत्य समाप्त किया और ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी बुधवारको पुष्य नक्षत्रमें उत्तम लग्न आनेपर यात्रा अनुकूल होगी, ऐसा निर्णय करके दोनोंने रातके समय एक ही स्थानपर शयन किया। फिर सबेरा होनेपर नृपश्रेष्ठ इन्द्रद्युम्नने भाइयोंसहित नीलाचलपर जानेके विषयमें अपने राज्यमें यह घोषणा करायी कि 'हमलोग जीवनपर्यन्त पुरुषोत्तमक्षेत्रमें निवास करेंगे। राजालोग अपनी रानियों, मन्त्रियों तथा परिकरोंसमेत रथ, हाथी, घोड़ा, खजाना और पैदल सेना साथ लेकर वहाँ चलें।' इस प्रकार आज्ञा देकर राजा इन्द्रद्युम्न अपने आगे खड़े हुए नारद मुनिकी परिक्रमा करके छड़ीदार सिपाहियोंसे घिरे हुए मध्यद्वारपर आये। उनके आगे-आगे अग्निहोत्रकी अग्नि ले जायी जा रही थी। वहाँ उन्होंने अपने दाहिनी ओर ब्राह्मणोंको खड़े हुए देखा, जो मांगल्यसूक्तका पाठ कर रहे थे। राजाने भक्तिसे विनीत होकर वस्त्र, आभूषण, माला, सुगन्ध और अनुलेपनके

द्वारा उन ब्राह्मणोंका पूजन किया। इसी समय एक ही साथ सैकड़ों शंख बज उठे। उनके साथ और भी बहुत-से बाजोंकी तुमुल ध्वनि महाराजने सुनी। तदनन्तर वे मन्दिरमें भगवान् विष्णुका दर्शन करनेके लिये गये, जिनका स्मरण करनेसे मनुष्य सब प्रकारके कल्याणका भागी होता है। दिव्य सिंहासनपर बैठे हुए उन्हीं भगवान् विष्णुका दूरसे दर्शन करके उन्होंने साष्टांग प्रणाम किया और उपनिषदोंकी दिव्य वाणीसे उनकी स्तुति करके दुर्गाजीके चरणोंमें भी मस्तक झुकाया। तत्पश्चात् उन दोनों देवताओंकी परिक्रमा करके उन्हें पालकीमें बिठाया और उनको आगे करके प्रस्थान किया। बाहरके दरवाजेपर पहुँचकर उन्होंने अपना रथ तैयार देखा और परिक्रमा करके वे नारदजीके साथ उस रथपर बैठे। इन्द्रद्युम्नके रथके दोनों ओर उनके अधीन राजाओंके अनेकों रथ शोभा पा रहे थे, जो नाना प्रकारके अस्त्र-शास्त्रोंसे संयुक्त तथा ध्वजा-पताकाओंसे अलंकृत थे। उसी समय पुरवासी भी अपना-अपना सामान लेकर तैयार हो गये और घोड़े, खच्चर तथा ऊँट आदि वाहनोंपर चढ़कर वहाँसे चल दिये। राजाओंकी सैकड़ों रानियाँ, नपुंसक सिपाहियोंसे घिरी हुई अनेक प्रकारकी सवारियोंपर चढ़कर राजभवनसे बाहर निकलीं। बड़े-बड़े राज्याधिकारी तथा विशाल सैनिक भी उनकी रक्षामें तत्पर थे। राजाके सामन्त, मन्त्री, सेवक, पुरोहित, ऋत्विग् तथा राजाके व्यक्तिगत सेवक भी सब प्रकारके उपयोगी सामान साथ लेकर चले। कोषके संरक्षणमें नियुक्त किये गये राजकर्मचारी सारा खजाना साथ लेकर शीघ्र ही प्रस्थित हुए, जो अवसरके अनुसार राजसेवामें उपस्थित होते थे। सामान बेचकर जीविका चलानेवाले सेठ, व्यापारी, माली आदि भी अपनी-अपनी विक्रयकी वस्तुएँ लेकर राजाज्ञाका पालन करते हुए चले। जिसके लिये जो मार्ग सीधा प्रतीत हुआ, वह उसीसे गया। नीलाचलपर पहुँचानेवाले कठिन-से-कठिन मार्गके द्वारा भी लोगोंने यात्रा की। महाराज इन्द्रद्युम्न समस्त पुरवासियों तथा हर्षमें भरी हुई चतुरंगिणी सेनासे घिरे हुए थे। जंगलका रास्ता जाननेवाले पुरुष जो मार्ग बतलाते, उसीसे राजा यात्रा करते थे। मार्गके दोनों ओर आनेवाले देशों और वनोंको देखते हुए वे बड़ी शीघ्रतासे यात्रा कर रहे थे। महानदीके तटपर जहाँ वृक्ष बहुत कम थे तथा पर्वतीय गुफाओंके कारण जो स्थान बहुत प्रसिद्ध था, वहाँ उन्होंने अपराह्नकालका आवश्यक कृत्य करनेके लिये अपनी सेनाका पड़ाव डाला। फिर अपने पुरोहितके साथ नदीके जलमें उतरे और स्नान करके देवताओं तथा पितरोंका तर्पण किया। तत्पश्चात् विधिपूर्वक भगवान् विष्णुकी पूजा करके नारदजीके

साथ बैठकर भोजन किया। जब सूर्य अस्ताचलके शिखरपर पहुँचे, तब सायंकालकी उपासना पूरी करके राजा सभामें बैठे। उस समय उन्होंने श्रेष्ठ वैष्णवोंका चन्दन, माला और ताम्बूलोंसे पूजन किया। तदनन्तर भगवान्‌के सर्वपापापहारी चरित्रका श्रवण करनेके लिये सिंहासनपर बैठे हुए मुनिवर नारदजीसे राजा इस प्रकार कहा—'भगवन्! आप वेद और वेदांगोंकी निधि हैं, भगवान्‌के प्रिय

भक्त हैं। यदि मुझपर आपकी कृपा हो तो भगवान् विष्णुकी लीलाकथारूपी सुधासे मेरे मलिन अन्तःकरणको शुद्ध कर दीजिये।'

देवर्षि नारद तथा राजा इन्द्रद्युम्नमें इस प्रकारकी बात चल ही रही थी कि द्वारपालने समीप आकर सूचना दी 'महाराज! उत्कल देशके राजा आपके द्वारपर उपस्थित हैं और श्रीमान्के चरणारविन्दोंका दर्शन करना चाहते हैं।' राजा बोले—'श्रीमान् ओढ्रनरेशको शीघ्र ही भीतर ले आओ, उनका दर्शन करके हम सब लोग पापरहित हो जायँगे।' महाराजका यह वचन सुनकर द्वारपालने शीघ्र ही राजसभामें उत्कल-नरेशका प्रवेश कराया। अपने वैष्णव मन्त्रियोंके साथ राजसभामें प्रवेश करके ओढ्रदेशके राजाने इन्द्रद्युम्नके वन्दनीय चरणोंको सादर नमस्कार किया। तब उन वैष्णव नरेशको उठाकर महाराज इन्द्रद्युम्नने उनका सत्कार किया और अपने आसनपर ही बिठाकर विनययुक्त वाणीमें कहा—'राजन्! आप कुशलसे तो हैं न? ओढ्रपते! नीलाचल-शिखरनिवासी भगवान् माधव तो वहाँ विजयपूर्वक विराज रहे हैं न? क्या आपकी निर्मल बुद्धि भगवान्के चरणारविन्दोंमें लगती है? समस्त प्राणियोंमें समान चित्त रखनेवाले आपका मन भगवान्में अनुरक्त तो है न?'

तब उत्कलनरेशने हाथ जोड़, नम्रतापूर्वक कहा—'स्वामिन्! आपके चरणोंकी कृपासे मेरे लिये सर्वत्र कुशल है। दक्षिण समुद्रके तटपर जंगलोंसे घिरा हुआ नीलाचल विद्यमान है, किंतु वहाँ लोगोंका आना-जाना नहीं है। भगवान् नीलमाधव भी वहीं हैं परंतु इस समय प्रचण्ड आँधीके कारण उठी हुई अधिक बालुकाराशिसे छिप गये हैं, ऐसी बात सुनी जाती है। इसीलिये मेरे राज्यमें भी अकाल और मृत्युका भय बढ़ गया है, परंतु अब आप पधारे हैं, तो सर्वत्र कुशल ही होगा।' उत्कलनरेशके ऐसा कहनेपर राजा इन्द्रद्युम्नने उनका आदर करते उन्हें विदा किया और नारदजीकी ओर देखकर उदासीन भावसे कहा—'मुने! यह क्या हो गया?'

**नारदजी बोले**—राजन्! इस विषयमें तुम्हें विस्मय नहीं करना चाहिये। श्रेष्ठ वैष्णव भाग्यवान् होता है। वैष्णवोंका मनोरथ कभी निष्फल नहीं होता। जगत्के आदिकारण एवं रोग-शोकसे रहित प्रत्यक्ष शरीर धारण किये हुए भगवान् नारायणको तुम अवश्य देखोगे। वे तुमपर ही अनुग्रह करनेके लिये इस पृथ्वीपर उतरेंगे। सम्पूर्ण चराचर जगत् भगवान् विष्णुके वशमें है। सनातन परमात्मा विष्णु किसीके भी वशमें नहीं हैं; वे भगवान् भक्तवत्सल हैं। अतः केवल भक्तिके वशमें रहते हैं। भगवान् विष्णुकी भक्ति ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी चारों पुरुषार्थोंकी जड़ है। वह भक्ति ही भगवान्को वशमें करनेका उपाय है। एक ही भगवान् विष्णु अपनी मायासे अनेक रूपमें प्रकट हुए हैं। इसलिये उन परमात्माके सिवा और कोई भी सुखका कारण नहीं है। राजेन्द्र! तुम ब्रह्माजीकी सन्तान-परम्परामें पाँचवें पुरुष हो, साथ ही श्रेष्ठ वैष्णव हो। तुमने अठारह विद्याओंमें पूर्ण विद्वत्ता प्राप्त की है और तुम सदैव सदाचारमें स्थित रहते हो। तुमने इस पृथ्वीका न्यायपूर्वक पालन किया है, विशेषतः तुम ब्राह्मणोंके पूजक हो। अतः पुरुषोत्तमक्षेत्रमें इन चर्मचक्षुओंसे भगवान् पुरुषोत्तमका दर्शन तुम्हें अवश्य प्राप्त होगा। तुम्हारे इस कार्यमें स्वयं ब्रह्माजीने मुझे नियुक्त किया है। पुरुषोत्तमक्षेत्रमें चलनेपर वह सब बात मैं तुम्हें बताऊँगा। इस समय रातका तीसरा पहर चल रहा है; इन सब राजाओंको अपने-अपने डेरेमें जानेकी आज्ञा दो और तुम भी आराम करो।

# राजाका एकाम्रक्षेत्र ( भुवनेश्वर )-में जाकर भगवान् शिवका पूजन करना और भगवान् शिवका नारदजीसे उनके कर्तव्यकार्योंका संकेत करना

**जैमिनिजी कहते हैं**—नारदजीके इस प्रकार आश्वासन देनेपर राजा इन्द्रद्युम्नने प्रसन्नचित्त होकर जब उत्तम बुद्धिसे विचार किया, तब अपने परिश्रमको सफल माना और सभासदोंको विदा करके मुनिका हाथ अपने हाथमें लेकर अन्तःपुरमें प्रवेश किया। फिर विधिपूर्वक उनकी पूजा करके उन्हें पलंगपर सुलाया और उन्हींके साथ बातचीत करते शेष रात्रि व्यतीत की। तदनन्तर निर्मल प्रभात होनेपर नित्यकर्म पूरा करके उन्होंने जगन्नाथजीका पूजन किया। तदनन्तर सब महानदीके पार उतरे। इसके बाद ओढ्रदेशके राजाके बताये हुए मार्गसे राजा इन्द्रद्युम्न अपनी सेनाके साथ एकाम्रवन नामक क्षेत्रकी ओर चले। वहाँसे कुछ दूर आगे जानेपर मार्गमें 'गन्धवहा' नामवाली नदी मिली, जो बड़े वेगसे बह रही थी। उसको पार करके आगे बढ़नेपर शंख आदि वाद्योंकी ध्वनि सुनायी पड़ी। तब राजाने नारदजीसे पूछा—'महामुने! यह शब्द कहाँ हो रहा है?'

**नारदजीने कहा**—राजन्! यह अत्यन्त दुर्लभ क्षेत्र है, जिसे भगवान् विष्णुने गुप्त कर रखा है। तुम भाग्यवानोंमें श्रेष्ठ हो, इसीलिये तुम्हारे सौभाग्यसे जितेन्द्रिय पुरोहितने किसी प्रकार जाकर भगवान्का दर्शन किया है। यहाँसे तीसरे योजनपर नीलगिरि विद्यमान है और यह भगवान् गौरीपतिका एकाम्रवन नामक क्षेत्र है, जो अब अधिक दूर नहीं है। एक समय भगवान् शिवने लोकोंके आदिकारण अनादि पुरुषोत्तमका इस प्रकार स्तवन किया—'हे नारायण! हे परम धाम! हे परमात्मन्! हे परात्पर! हे सच्चिदानन्दमय वैभवसे युक्त निरंजन परमेश्वर! आपको मेरा नमस्कार है। आप संसारके कारण हैं और गुणोंके भेदसे सृष्टि, पालन तथा संहाररूप कर्म किया करते हैं। स्वप्रकाश परमात्मन्! आपने अपनी ही योगमायासे अपनेको गुप्त कर रखा है; आपको नमस्कार है। आप न भीतर हैं न बाहर, साथ ही बाहर भी हैं और भीतर भी। दूर होते हुए भी अत्यन्त निकट हैं; भारी, हलके, स्थिर, अत्यन्त सूक्ष्म और अतिशय स्थूल भी आप ही हैं; आपके लिये नमस्कार है। जिनके कटाक्षविलाससे कोटि-कोटि ब्रह्मा और अगणित रुद्र उत्पन्न होते हैं, उन कालात्मा श्रीहरिको नमस्कार है। जिनके एक-एक रोममें अनेकानेक ब्रह्माण्डोंका समुदाय भरा हुआ है तथा जिनका शरीर माँप-जोखके बाहर है, उन विश्वरूप भगवान्को नमस्कार है। जिनके स्वरूपभूत कालके परिमाणसे ब्रह्माकी सृष्टि और प्रलय होते हैं, मन्वन्तर आदिकी संघटना करनेवाले उन भगवान्को नमस्कार है।'

त्रिपुरासुरका दाह करनेवाले भगवान् शंकरने जब इस प्रकार स्तवन किया, तब शंख, चक्र, गदा धारण करनेवाले, वनमालाविभूषित, हार, कुण्डल, केयूर और मुकुट आदिसे सुशोभित कृपानिधान भगवान् गरुड़वाहन विष्णुने शिवजीसे कहा—'दक्षिण समुद्रके किनारे नीलाचलसे विभूषित जो दस योजन विस्तृत क्षेत्र चित्रोत्पला नदीसे लेकर समुद्रतक फैला हुआ है, उसके उत्तर 'एकाम्रवन' नामक सुन्दर वन है। वहीं पार्वतीजीके साथ आप निवास करें। यहाँ सब लोकोंकी सृष्टि करनेवाले ब्रह्माजी मेरे आदेशसे आपको कोटि लिंगोंके अधीश्वर पदपर अभिषिक्त करेंगे।'

भगवान् विष्णुके ऐसा कहनेपर शिवजीने कहा—'देवदेव! जगन्नाथ! शरणागतदुःखभंजन!

प्रभो! जगत्पते! आप पुरुषोत्तमक्षेत्रमें जानेके लिये जो आज्ञा दे रहे हैं, उसे शिरोधार्य करके मैं उस मोक्षदायक कल्याणमय तीर्थमें जाऊँगा।' यों कहकर भगवान् शंकर उस क्षेत्रमें पधारे। साक्षात् ब्रह्माजीने वहाँ भगवान् शंकरकी स्थापना की। राजन्! अब हम सब लोग वहाँ चलेंगे और त्रिपुरविनाशक शिवजीका दर्शन करेंगे। यह जो शिवजीका क्षेत्र है, इसे तमोगुणका नाशक बताया गया है। जो रजोगुणको धो डालनेवाला क्षेत्र है, वह 'विरजमण्डल' नामसे प्रसिद्ध है। सत्त्वगुणकी अधिकताके कारण पुरुषोत्तमक्षेत्र मुक्तिदायक बताया गया है। महाराज! जिनका चित्त पापकर्मोंसे मलिन हो गया है, उनका विश्वास इस क्षेत्रपर नहीं जमता।

नारदजीकी बात सुनकर राजाका चित्त प्रसन्न हो गया और वे बोले—'ब्रह्मन्! आपने मुझे परम पावन क्षेत्रका परिचय दिया। जहाँपर साक्षात् भगवान् उमापति विराजमान हैं वहाँपर हम अवश्य चलेंगे।' इस निश्चयके अनुसार देवर्षि नारद और राजा इन्द्रद्युम्न दोपहरके समय सेनाके साथ एकाम्रवन नामक क्षेत्रमें पहुँच गये। वहाँ विन्दुतीर्थमें स्नान करके उसके तटपर विद्यमान भगवान् पुरुषोत्तमका उन्होंने विधिपूर्वक पूजन किया। उसके बाद वे कोटीश्वर महालयको गये। वहाँके जलसे भलीभाँति आचमन करके सात्त्विक धर्ममें स्थित राजाने त्रिभुवनेश्वर (भुवनेश्वर) नामक लिंगका महास्नानकी विधिसे पूजन किया। फिर अनन्यचित्तसे भगवान् शंकरका ध्यान करते हुए वे खड़े रहे। तब परमेश्वर भगवान् शंकरने प्रसन्न होकर स्पष्ट वाणीमें कहा—'महाराज इन्द्रद्युम्न! थोड़े ही समयमें तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा।' तत्पश्चात् उन्होंने नारदजीसे कहा—'महाभाग! ब्रह्माजीने जो आज्ञा दी है, उसे इस राजाद्वारा अश्वमेध यज्ञ कराते हुए पूर्ण करो। पुरुषोत्तमक्षेत्र साक्षात् भगवान् विष्णुका स्वरूप है। उसमें भी परम पुण्यमयी अन्तर्वेदी भगवान् विष्णुके हृदयके समान मानी गयी है, जिसकी रक्षाके लिये श्रीविष्णुने आठ स्वरूपोंमें मुझे स्थापित किया है। शंखाकार पुरुषोत्तमक्षेत्रके अग्रभागमें दुर्गा देवीके साथ मैं नीलकण्ठ नामसे निवास करता हूँ, वहीं इस राजाको ले चलो। इस समय नीलमणिमय विग्रहवाले भगवान् श्रीहरि अन्तर्धान हो गये हैं। वहाँ मेरी आज्ञासे भगवान् श्रीनृसिंहदेवका क्षेत्र बनाओ। उस क्षेत्रमें हमारे समीप नृपश्रेष्ठ इन्द्रद्युम्न एक सहस्र अश्वमेध यज्ञ करें। यज्ञ समाप्त होनेपर इन्हें वह अद्भुत ब्रह्मस्वरूप वृक्ष दिखलाओ। उसके द्वारा विश्वकर्मा चार प्रतिमाओंका निर्माण करेंगे और उन प्रतिमाओंकी स्थापनाके समय ब्रह्माजी स्वयं पधारेंगे। तदनन्तर ये राजा समस्त पापोंका नाश करनेवाले और सम्पूर्ण जगत्के आधारभूत भगवान् विष्णुका दर्शन करेंगे। काष्ठमय शरीर धारण करके प्रकट हुए भगवान् दर्शनमात्रसे मोक्ष प्रदान करनेवाले होंगे। नारद! भगवान् विष्णु अपनी आज्ञाके पालन एवं भक्तिसे प्रसन्न होते हैं।'

**नारदजी भी जगद्गुरु महादेवजीको प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले**—प्रभो! आपने जो आदेश दिया है वैसा ही करनेके लिये ब्रह्माजीने भी मुझे आज्ञा दी है। नाथ! आप और ब्रह्माजी परमात्मा श्रीहरिसे भिन्न नहीं हैं। इन राजा इन्द्रद्युम्नकी भाग्य-समृद्धि महान् है, इसीसे इन्हें आप तीनों देवताओंका वह विशाल अनुग्रह प्राप्त हुआ, जिसको मनके द्वारा सोचा भी नहीं जा सकता था। जिनके प्रसंगसे पापी मनुष्य भी भवसागरसे तर जाते हैं, वे भूतभावन भगवान् विष्णु अचिन्त्य महिमावाले हैं। वे भगवान् कितनी भक्तिसे प्रसन्न होते हैं, यह बात बुद्धिमें नहीं आ सकती। वेदोंके स्वाध्याय आदि साधनोंद्वारा चिरकालतक विद्वान् पुरुष यत्न करते रह जाते

हैं, किंतु सफलता नहीं पाते। और एक नीच मनुष्य अनायास होनेवाले कर्मसे मोक्ष पा जाता है। वनचर ग्वालोंके घरमें रहकर दही-दूध एवं जंगली फल-मूलोंसे जीविका चलानेवाली गोपियाँ भगवान्‌के स्नेह-सुखका उपभोग करके ही मुक्ति पा गयीं। निरन्तर भगवान्‌से द्रोह रखनेवाला शिशुपाल भी राजसूय यज्ञकी सभामें भगवान्‌को कटु वचन सुनाकर भी मोक्षको प्राप्त हुआ। भगवान्‌का चरित्र ऐसा है, वैसा है, इस प्रकारके निश्चयका विषय नहीं है। बहुत समयतक महान् प्रयत्न करते रहनेपर भी भगवान् विष्णुके दिव्य चरित्रके विषयमें कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता। इस संसारमें पुरुषोत्तमक्षेत्रका निवास भगवान्‌की सायुज्यकी प्राप्ति करानेवाला है। भगवान् विष्णु इन्द्रद्युम्नके प्रसंगसे वहाँ सब लोगोंको प्रत्यक्ष दर्शन देंगे।

तदनन्तर महादेवजी 'तथास्तु' कहकर उसी क्षण अन्तर्धान हो गये।

## राजा इन्द्रद्युम्नका नारदजीके साथ नृसिंहजी, कल्पवट तथा नीलमाधवके स्थानका दर्शन करना और आकाशवाणी सुनना

**जैमिनिजी कहते हैं**—तदनन्तर नारदजी और राजा इन्द्रद्युम्न पुरोहितके छोटे भाई विद्यापतिके साथ पुरुषोत्तक्षेत्रमें नीलकण्ठ महादेवजीके समीप गये। वहाँ महादेवजीकी पूजा करके राजाने श्रीदुर्गाजीको भी प्रणाम किया। फिर सब लोग अपना उत्तम रथ छोड़कर अनुगामियोंसहित पैदल हो गये और अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए नीलगिरिपर चढ़नेके लिये आगे बढ़े। वह पर्वत नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे व्याप्त था। भाँति-भाँतिके पक्षी वहाँ कलरव करते थे। बड़ी-बड़ी चट्टानोंके कारण उस पर्वतका किनारा ऊँचा-नीचा एवं दुर्गम दिखायी देता था। वह नीलगिरि चारों ओरसे गोलाकार था। वे सब लोग उस मार्गसे गये, जहाँ काले अगुरु वृक्षके नीचे सब विपत्तियों और भयोंको हरनेवाले दिव्य सिंहरूपधारी भगवान् नृसिंह निवास करते हैं, जिनका दर्शन करके मनुष्योंकी कोटि-कोटि ब्रह्महत्याएँ विलीन हो जाती हैं। उनका मुख फैला हुआ है, दाँत बड़े भयंकर दिखायी देते हैं। कुछ पीले रंगके अयालों (गर्दनके बालों)-से उनका मुखमण्डल व्याप्त है। वे तीन नेत्रोंसे युक्त एवं भयानक हैं। अपनी जाँघोंपर उत्तान सोये हुए दैत्यके वक्षःस्थलको वज्रतुल्य कठोर नखोंसे विदीर्ण कर रहे हैं। मुखपर अट्टहासकी छटा है, जिसमें लपलपाती हुई लाल रंगकी जिह्वा शोभा पाती है। उनके हाथोंमें शंख और चक्र सुशोभित हैं। मस्तक किरीट-मुकुटसे उद्भासित हो रहा है। नेत्रोंसे आगकी चिनगारियाँ निकलती हैं, जिनसे समस्त दिशाएँ संत्रस्त हो रही हैं। प्रचण्ड आघातके कारण भगवान्‌के चरण-कमल धरतीमें धँस गये हैं। उन आदिमूर्ति भगवान् नृसिंहका दर्शन करके सबने प्रणाम किया। इन्द्रद्युम्नने भी भगवान् नृसिंहका दर्शन करके नारदजीके वचनोंपर विश्वास किया और कहा—'महर्षे! मैं कृतार्थ हो गया। आप तो ज्ञानकी निधि हैं। मैं तो भगवान्‌के दर्शनमात्रसे ही सब पातकोंसे छूट गया। दयासिन्धु भगवान्‌की नीलमणिमयी मूर्ति किस स्थानपर विराजमान है, जो दर्शनमात्रसे ही मुक्ति देनेवाली है। विप्रवर! उसीका मुझे दर्शन कराइये।' तब नारदजीने राजा इन्द्रद्युम्नको उस परम पावन स्थानका दर्शन कराया, जहाँ भगवान् विष्णु स्वर्णमयी बालुकासे आच्छादित हो गये थे। मुनिने वहाँ ले जाकर राजासे कहा—'महाराज!

इस दो योजन ऊँचे और एक योजनतक फैले हुए वटवृक्षको देखो। यह प्रलयकालमें भी स्थिर रहता है और मनुष्योंको मोक्ष प्रदान करनेवाला है। इसकी छायामें जानेसे ही मानव पापसे मुक्त हो जाता है। इसकी जड़में प्राण त्याग करनेवाला मनुष्य मोक्षको प्राप्त होता है। फिर जो इसकी पूजा और स्तुति करता है, उसके लिये तो कहना ही क्या है। इसके मूलभागसे पश्चिम और नृसिंहजीसे उत्तर भगवान् नीलमाधव विराजमान थे। वे ही तुमपर अनुग्रह करनेके लिये अब चार स्वरूपोंमें यहाँ प्रकट होंगे। जैसे श्वेतद्वीपके भीतर भगवान्‌का अपना धाम है, उसी प्रकार जम्बूद्वीपके अन्तर्गत यह पुरुषोत्तमक्षेत्र ही भगवान्‌का अपना धाम है। राजन्! जो मोक्षका अधिकारी है, वही इसकी महिमाको समझ पाता है। अन्य मनुष्योंके विशेषतः पापकर्मियोंके लिये यह विश्वासकी भूमि नहीं है। भगवान् जगन्नाथका अन्तर्धान होना या छिप जाना किसी विशेष कारणसे होता है, परंतु वे साधुपुरुषोंपर अनुग्रह करनेके लिये प्रत्येक युगमें प्रकट होते रहते हैं। राजन्! भगवान् मत्स्य, कच्छप आदि अनेक अवतारोंके द्वारा जब अवतारका उद्देश्य पूर्ण कर देते हैं, तब कारणकी निवृत्ति हो जानेसे वे अन्तर्धान हो जाते है। परंतु वे ही दयासागर भगवान् इस पुरुषोत्तमक्षेत्रमें बिना किसी कारणके नित्य निवास करते हैं। जैसे श्वेतद्वीपसे जाकर भगवान् विष्णु अन्यत्र अवतार लेते हैं, उसी प्रकार यहाँ रहते हुए भी वे द्वारिका, कांची और पुष्कर आदिमें कृपापूर्वक प्रकट होते हैं। राजन्! अनेकानेक तीर्थ, देश, क्षेत्र और मन्दिरोंमें भगवान् विराज रहे हैं।'

महात्मा नारदजीके दिखाये हुए उस स्थानको महाराज इन्द्रद्युम्नने साष्टांग प्रणाम किया और भगवान्‌को वहाँ प्रत्यक्ष स्थित मानकर इस प्रकार स्तवन किया—'देवदेव! जगन्नाथ! शरणागतोंकी पीड़ा दूर करनेवाले कमलनयन नारायण! मैं भवसागरमें डूबा हुआ हूँ, मेरा उद्धार कीजिये। परमेश्वर! एकमात्र आप ही दुःखराशिका विध्वंस करनेवाले हैं। क्षुद्र मनुष्य लेशमात्र सुखकी लिप्सासे क्षुद्र देवताओंकी सेवा करते हैं। भगवन्! आप भक्तिभावसे आराधना करनेपर मनुष्योंको साक्षात् मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं। अजामिल ब्राह्मणने अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंका परित्याग करके कौन-सा पाप नहीं किया था? किंतु नाथ! वह भी आपके नामका उच्चारण करनेमात्रसे मुक्त हो गया। आपके स्मरणमात्रसे ही पाश हाथमें लेकर आये हुए यमदूतोंने उसे छोड़ दिया। देवेश्वर! समस्त शास्त्रीय उपाय आपके दर्शनके लिये ही बताये गये हैं। आपका साक्षात्कार हो जानेपर हृदयके सभी संशय नष्ट हो जाते हैं, उसी क्षण मनुष्य सन्देहरहित हो जाता है। प्रभो! आप ही सबको आश्रय देनेवाले हैं। मुझ दीनपर अनुग्रह कीजिये। मैं आपसे केवल इतनी ही भीख माँगता हूँ कि आपकी जो मूर्ति यहाँ विराजमान है, उसका मैं इस नेत्रसे दर्शन करूँ। इसके सिवा दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है।'

इस प्रकार हाथ जोड़े हुए राजा इन्द्रद्युम्नने भगवान् मधुसूदनकी स्तुति करके पृथ्वीपर लोटकर उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। उस समय उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये थे। इसी समय आकाशवाणी हुई, जिसे इन्द्रद्युम्नने भी सुनी—'राजन्! चिन्ता न करो, मैं तुम्हें प्रत्यक्ष दर्शन दूँगा। देवर्षि नारदने ब्रह्माजीका जो वचन तुमसे कहा है, उसके अनुसार कार्य करो।' उस दिव्य वाणीको सुनकर राजाने नारदजीसे कहा—'मुने! आपने ब्रह्माजीकी आज्ञासे जो कुछ कहा था, इस आकाशवाणीने भी उसीका अनुमोदन किया है। ब्रह्माजी साक्षात् जगन्नाथ हैं। इन दोनोंमें कुछ भी भेद नहीं है। आप ब्रह्माजीके पुत्र हैं, आपका वचन भगवान्‌का ही वचन है; अतः मुझे उसका प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिये।'

# देवर्षि नारदजीके द्वारा भगवान् नृसिंहकी स्थापना और राजा इन्द्रद्युम्नके द्वारा उनका स्तवन

**नारदजीने कहा**—राजन्! चलो, अब हमलोग भगवान् नीलकण्ठके समीप चलें। वहीं सब राक्षसोंका संहार तथा समस्त विघ्नोंका निवारण करनेवाले भगवान् नृसिंहकी पश्चिमाभिमुख स्थापना करूँगा। इससे अन्तर्धानको प्राप्त हुए भगवान् विष्णु नृसिंहजीके रूपमें प्रकट होंगे और उनके समीप किया हुआ यज्ञ अतिशय फल देनेवाला होगा। तुम आगे चलो और शीघ्र ही वहाँ एक मन्दिर बनवाओ। मेरे स्मरण करनेसे विश्वकर्माका पुत्र आकर शीघ्र पश्चिमाभिमुख मन्दिरका निर्माण करेगा। भगवान् नीलकण्ठके दक्षिण सौ धनुषकी दूरीपर जो बहुत बड़ा चन्दनका वृक्ष है, उसके पश्चिमका स्थान क्षेत्र होगा। वहीं तुम्हें एक हजार यज्ञोंका अनुष्ठान करना है। तुम अभी जाओ। मैं पाँच दिनोंतक अभी यहीं ठहरूँगा और इन ज्योति:स्वरूप अनन्तशक्तिसम्पन्न दिव्य नृसिंहभगवान्की आराधना करके एक अर्चाविग्रहमें इनकी प्रतिष्ठा करूँगा। वे उसमें प्राण, इन्द्रिय और मनके साथ विराजेंगे।

नारदजीकी यह बात सुनकर राजा इन्द्रद्युम्न चन्दनवृक्षके समीप गये। वहाँ उन्होंने विश्वकर्माके पुत्र सुघटकको उपस्थित देखा। सुघटक राजाको देखकर हाथ जोड़कर बोले—'देव! मैं शिल्पशास्त्रका ज्ञाता हूँ; इस समय आपके परम सुन्दर नृसिंह-भवनका निर्माण करूँगा।' राजा बोले—'तुम कोई साधारण शिल्पी नहीं, विश्वकर्माके पुत्र हो। यह नारदजीने मुझे बता दिया है। अत: प्राकार और तोरणके साथ नृसिंहजीका सुन्दर मन्दिर तुम शीघ्र तैयार करो। उसका मुख्य द्वार पश्चिमकी ओर होगा।' यों कहकर देवशिल्पीका विधिवत् पूजन-सत्कार करके राजाने उन्हें मन्दिरनिर्माणके कार्यमें नियुक्त किया और शिला-संग्रह करनेवाले सेवकोंको बहुत धन देकर उस कार्यमें लगा दिया। वह सुन्दर मन्दिर यद्यपि बहुत दिन में बननेवाला था, तथापि देव-शिल्पीकी महिमासे चौथे दिन ही बनकर तैयार हो गया। तदनन्तर पाँचवें दिन सबेरे नित्यकर्मके पश्चात् प्रतिष्ठा-विधिकी सारी सामग्री एकत्र करके जब राजा नारदजीके आनेकी प्रतीक्षा कर रहे थे, तभी शंख, मृदंग, ढोल, गीत, मंगलवाद्य तथा हाथियोंके घण्टोके शब्द सहसा सुनायी पड़े। साथ ही उच्च स्वरसे जय-जयकारका शब्द आकाश-मण्डलमें गूँज उठा। इतनेमें ही नारदजी विश्वकर्माकी बनायी हुई सुन्दर नृसिंहमूर्तिको लेकर वहाँ आ गये। उस मूर्तिमें प्राणप्रतिष्ठा हो चुकी थी। उसने दिव्यमाला और वस्त्र धारण किये थे। उसपर दिव्य चन्दनका अनुलेप किया गया था। वह सब ओरसे तेज:पुंजसे व्याप्त थी और सबको हर्ष प्रदान करती थी। उसे देखकर राजा और उनके अनुयायी बहुत प्रसन्न हुए। सबने देवर्षि नारदजीकी प्रशंसा की। फिर निकटसे देखकर उसमें नृसिंहजीकी आकृति पहचानी और यह निश्चय किया कि यह आदिमूर्ति भगवान् नृसिंहजीकी प्रतिमा है। तब प्रसन्नचित्त हुए राजा इन्द्रद्युम्नने भगवान् नृसिंहकी परिक्रमा की और धरतीपर मस्तक रखकर साष्टांग प्रणाम किया। तत्पश्चात् राजाके अनुरोधसे नारदमुनिने भूदेवी और लक्ष्मी देवीके साथ देवाधिदेव भगवान् नृसिंहकी प्रतिमाको रत्नमयी वेदीपर शुभ मुहूर्तमें स्थापित कराया। उसके बाद वैष्णव, ब्राह्मण, अन्यान्य नरेशगण तथा बुद्धिमान् नारदजीके साथ राजा इन्द्रद्युम्नने उपनिषदों और धर्मशास्त्रीय स्तोत्रोंद्वारा प्रसन्नतापूर्वक भगवान्का

स्तवन किया—'भगवन्! आप एक, अनेक, स्थूल, सूक्ष्म तथा अत्यन्त लघु शरीर धारण करते हैं, आप आकाशसे परे होकर भी आकाशस्वरूप हैं, आपका रूप सदा एकरस रहता है, अथवा आप अद्वितीयस्वरूप हैं। आपका आकार आकाशके समान सर्वव्यापी है, आप आकाशमें स्थित हैं, आकाशपर आरूढ़ हैं। व्योमकेश शिव तथा पद्मयोनि ब्रह्मा आपके ही स्वरूप हैं। दिव्य नृसिंहरूपमें प्रकट हुए परमात्मन्! आपका तेज कई करोड़ सूर्योंके समान है। प्रभो! आप दुःखरूपी समुद्रसे मेरा उद्धार कीजिये। आप नित्य समीप हैं, दूर-से-दूर स्थित हैं, न दूर हैं, न समीप हैं तथा बोध्य और बोध आपके ही स्वरूप हैं। आप ज्ञेयके भी ज्ञेय हैं, ज्ञानगम्य होते हुए भी अगम्य हैं। मायासे अतीत हैं, आपतक किसी भी प्रमाणकी पहुँच नहीं है, तो भी लोग अनुमानसे आपके विषयमें विचार करते हैं। आप सबके आदि, सबके कर्ता, सबको अनुमति प्रदान करनेवाले तथा सबके पालक और संहारक हैं। विश्वसाक्षिन्! आपको नमस्कार है। आप ज्योतिःस्वरूप, ज्ञानरूप, प्रकाशपुंज, व्यूहाकार और सृष्टिके हेतु हैं। दुःखोंके विनाश करनेके एकमात्र कारण होकर भी आप वस्तुतः कारण नहीं हैं। सबके संशयोंको छिन्न-भिन्न करनेके लिये आप सबसे पहले प्रकट हुए हैं। स्वामिन्! आप मुझे अपने चरणारविन्दोंकी श्रेष्ठ भक्ति प्रदान कीजिये; जो चारों पुरुषार्थोंकी मूल कारण मानी गयी है। भक्तोंके अभीष्ट मनोरथकी पूर्ति करनेवाले आप भगवान् नृसिंहकी मैं शरण लेता हूँ। अपने चरणोंका आश्रय लेनेवाले लोगोंकी पापराशिका विनाश करनेवाले दयासागर श्रीनृसिंहजीको मैं प्रणाम करता हूँ। तीनों लोक जिनके उदरमें स्थित हैं, उन नृसिंहदेवको मैं नमस्कार करता हूँ। दीनोंपर दया करनेवाले विष्णो! आपको नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है। आप मुझ अनाथकी रक्षा कीजिये। मैं अपने इस चर्मचक्षुसे आपके दिव्य स्वरूपका दर्शन कर सकूँ, ऐसी कृपा कीजिये। आपकी कृपासे मेरे सहस्र अश्वमेधयज्ञ निर्विघ्न पूर्ण हों; मेरी करोड़ों पापराशियाँ नष्ट हो जायँ। भगवन्! जो मनुष्य आपकी शरण लेते हैं, वे मोक्षके भागी होते हैं।'

इस प्रकार दिव्य नृसिंहकी स्तुति करके राजा इन्द्रद्युम्नके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने बार-बार धरतीपर लेटकर भगवान्‌को दण्डवत् प्रणाम किया। जो लोग इस स्तोत्रसे दिव्य नृसिंहजीकी स्तुति करते हैं, उन्हें भगवान् नृसिंह मोक्ष प्रदान करते हैं। ज्येष्ठमासके शुक्ल पक्षकी द्वादशी तिथिको स्वातीनक्षत्रके योगमें महर्षि नारदने उस क्षेत्रमें दिव्य नृसिंहदेवकी स्थापना की है। जो लोग वहाँ उनका दर्शन करते हैं, वे सहस्र अश्वमेध यज्ञसे अधिक फल प्राप्त करते हैं। जो पंचामृत, दूध, नारियलके रस अथवा सुगन्धित जलसे भगवान् नृसिंहको नहलाते, खीर आदि उपचार समर्पित करके पूजा करते, जवाकुसुमकी माला, चन्दन, धूप, दीप और ताम्बूल चढ़ाकर, स्तुति-पाठ, जय-जयकार, परिक्रमा, प्रणाम तथा दानसे नृसिंहजीको सन्तुष्ट करते हैं, वे ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं। वैशाखकी चतुर्दशीको शनिवारके दिन स्वातीनक्षत्रमें प्रदोषके समय भगवान् नृसिंहका आदि-अवतार हुआ है। उस तिथिको विधिपूर्वक नृसिंहजीकी पूजा करके मनुष्य अपने करोड़ों जन्मोंकी संचित पापराशिको तत्काल भस्म कर देता है। जो भगवान् नृसिंहका दर्शन, स्पर्श, नमस्कार, भक्तिपूर्वक दण्डवत् तथा स्तुति करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

# इन्द्रद्युम्नके द्वारा सहस्त्र अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान और ध्यानमें भगवान्‌का दर्शन

**मुनियोंने पूछा**—महर्षे! उस क्षेत्रमें भगवान् नृसिंहके स्थापित हो जानेपर राजा इन्द्रद्युम्नने क्या किया?

**जैमिनिजी बोले**—राजाने सर्वप्रथम इन्द्रादि देवताओंका आवाहन किया। छहों अंग, पद और क्रमसहित चारों वेदोंके विद्वान् सहस्त्रों ऋषियों और ब्राह्मणोंको निमन्त्रित किया, जो यज्ञविद्यामें कुशल और मीमांसाशास्त्रमें परिनिष्ठित थे। सदाचारी, शुद्ध, कुलीन एवं सत्यवादी वैष्णवोंको भी आदरपूर्वक निमन्त्रित किया। राजाका सभाभवन पत्थरका बना हुआ था। उसकी ऊँचाई बहुत थी और वह चूनेसे लेपा गया था। उसका विस्तार दो कोसका था। उसमें नीचेकी भूमि कहीं रत्नोंसे मढ़ी गयी थी, कहीं सोनेसे, कहीं स्फटिकमणिसे तथा कहीं चाँदीसे। उस भवनके चारों ओर सुखपूर्वक उतरनेके लिये सैकड़ों सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। शुभ दिन और शुभ नक्षत्रमें सब सभासदोंकी बैठक बुलाकर राजाने सबको यथायोग्य आसन दिया। जब सब लोग यथायोग्य स्थानपर सुखपूर्वक बैठ गये, तब राजाने अपने पुरोहितके साथ उपस्थित हो देवताओं, ऋषियों तथा राजाओंके बीचमें रत्नसिंहासनपर बैठे हुए शचीपति इन्द्रका दिव्य माला, चन्दन, वस्त्र और विष्टर (आसन) आदिके द्वारा सबसे पहले पूजन किया। तत्पश्चात् वैष्णवोंकी पूजा की। फिर नारद और पुरोहितसहित उन्होंने इन्द्रसे कहा—'देवेश्वर! मैं अश्वमेध-यज्ञद्वारा यज्ञपुरुष भगवान् विष्णुका पूजन करूँगा, आप इसके लिये मुझे आज्ञा दें और जबतक सहस्त्र यज्ञ पूर्ण न हो जायँ, तबतक देवताओंसहित आप इस सभाभवनमें निवास करें। आपने पहले यहाँ जिन शरीरधारी नीलमाधवका दर्शन किया है, वे बालुकाराशिमें छिप गये हैं। उनके पुनः प्रकाशमें आनेपर आपलोगोंका भी कल्याण होगा। इसीलिये मेरा सारा प्रयत्न है।' राजाके इस प्रकार सूचित करनेपर इन्द्रादि देवताओंने कहा—'इन्द्रद्युम्न! तुम सचमुच महात्मा हो। तुमने इस पृथ्वीपर सत्यव्रतका पालन किया है। हमने पहलेसे ही तुम्हारे भविष्य कार्यक्रमको जान लिया है। तुम्हारा यह कार्य तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाला है। हम इसमें तुम्हारे सहायक होंगे। तुम भक्तवत्सल भगवान् विष्णुका सहस्त्र अश्वमेध यज्ञोंद्वारा सुखपूर्वक पूजन करो।'

तदनन्तर राजाने यज्ञके आरम्भके लिये भगवान्‌का पूजन किया। भगवान् विष्णुको सभाभवनमें इष्टदेवके स्थानपर बिठाकर राजा अपनी पत्नीके साथ निश्चित लग्नकी प्रतीक्षा करने लगे। स्वस्तिवाचन हो जानेपर पुण्याहवाचन और आभ्युदयिक श्राद्ध सम्पन्न किया। उसके बाद सब सामग्री लेकर राजाने ऋत्विजोंका वरण किया। वरण हो जानेपर उन्होंने सपत्नीक राजाको यज्ञकी दीक्षा दी। वेदीका संस्कार करके उसपर प्रज्वलित आहवनीय अग्निकी स्थापना की गयी। वह अग्नि साक्षात् भगवान् विष्णुका तेज है। फिर प्रोक्षण और अभिमन्त्रण करके उत्तम लक्षणोंवाले अश्वको छोड़ा गया। यज्ञकी दीक्षा लिये हुए राजा मौन होकर मृगचर्मपर बैठे। जबतक महायज्ञका कार्य चलता रहा, तबतक सब मनुष्योंके लिये वहाँ छः प्रकारके अन्न-पान आदि चतुर रसोइयोंद्वारा तैयार किये जाते थे। उस यज्ञमें प्रतिदिन लोगोंके सम्मान और आदरमें वृद्धि होती थी। साथ ही नित्य नये-नये भोज्यपदार्थ एक-से-एक बढ़कर प्रस्तुत किये जाते थे। वहाँ सर्वत्र प्रयत्न करके लोगोंका आदर-सम्मान किया जाता और आग्रहपूर्वक भोजन कराया जाता था। वहाँ किसीको याचना नहीं करनी पड़ती थी। कोई विमुख नहीं लौटता

था। महाराजके महल सब मनुष्योंके लिये अपने घरके समान हो गये थे। भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये किये जानेवाले उस यज्ञमें यज्ञानुष्ठानमें कुशल तथा सदाचारविभूषित विद्वान् कार्य करते थे। अग्न्याधानसे लेकर अवभृथ-प्रचारतक सब कार्य क्रमशः और विधिके अनुसार सम्पन्न हुए। कोई भी मन्त्र कभी स्वर और वर्णसे हीन नहीं होने पाया। विधिके विधायक महर्षि ही वहाँ यज्ञकर्मके अधिष्ठाता थे; अतः कर्ममें कहीं कोई त्रुटि नहीं होने पाती थी। वहाँ सप्तर्षि याज्ञवल्क्य आदि मुनि, जो गुण-दोषका विभाग करनेवाले हैं, यज्ञके दिव्य सदस्य, यज्ञके साक्षी और यज्ञकर्म करानेवाले थे। उन्हींका ऋत्विजोंके रूपमें वरण कराया गया था। यज्ञमें सम्मिलित हुए मुनिलोग परस्पर कथा-वार्ताके प्रसंगमें वैदिक वाकोवाक्य, सूक्त तथा गुह्य उपनिषद्की चर्चा करते थे। सब पापोंका नाश करनेवाले भगवच्चरित्रोंकी कथा वहाँ सभामें हुआ करती थी। राजा इन्द्रद्युम्नके यज्ञमें सब देवता प्रत्यक्ष होकर हविष्य ग्रहण करते थे। वह यज्ञ तीनों लोकोंको प्रसन्न करनेवाला था।

इस प्रकार क्रमशः विधिपूर्वक चलनेवाला वह अश्वमेध यज्ञ नौ सौ निन्यानबेकी संख्यातक पहुँच गया। जब अन्तिम यज्ञ होने लगा, तब राजा इन्द्रद्युम्न प्रतिदिन दिव्यावस्थाको प्राप्त होने लगे। सुत्या (सोमरस निकालनेके दिन) से सात दिनके बाद जो रात्रि आयी, उसके चौथे पहरमें राजा इन्द्रद्युम्नने अविनाशी भगवान् विष्णुका ध्यान किया। उस ध्यानमें उन्होंने स्फटिकमणिमय श्वेतद्वीपको प्रत्यक्ष हुआ-सा देखा। उसके चारों ओर क्षीरसमुद्र लहरा रहा था। उस श्वेतद्वीपके मध्यभागमें दिव्य मणियोंका बना हुआ एक उत्तम मण्डप दिखायी दिया। उसके भीतर प्रकाशमान रत्नसिंहासन सुशोभित था। उस रत्नसिंहासनपर मध्यभागमें शंख-चक्र-गदाधारी भगवान् विष्णुका दर्शन हुआ। उनके श्रीअंगोंकी कान्ति नीलमेघके समान श्याम थी। वे वनमालासे विभूषित थे। उनके दाहिने भागमें हिमालयके सदृश गौर तथा कोटि चन्द्रमाओंके समान कान्तिमान् धरणीधर अनन्त विराजमान थे, जो फणरूपी मुकुटका विस्तार करके सुन्दर छत्रके आकारमें परिणत हो गये थे। उनका स्वरूप बड़ा ही मनोहर था। उनके कानोंमें दो रत्नमय कुण्डल झिलमिला रहे थे। शरीरपर सुन्दर नील वस्त्र शोभायमान था। भगवान्के वाम भागमें शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न भगवती लक्ष्मी विराजमान थीं। उनके हाथोंमें वर और अभयकी मुद्रा तथा कमल सुशोभित थे। उनके शरीरकी कान्ति कुंकुमके समान थी और नेत्र बड़े सुन्दर थे। वे कमलके आसनपर बैठी हुई थीं। भगवान्के आगे ब्रह्माजी हाथ जोड़े खड़े थे। श्रीहरिके वाम भागमें नाना मणिमय सुदर्शनचक्र स्थित था। सनकादि मुनीश्वर उन जगद्गुरु भगवान् विष्णुकी स्तुति कर रहे थे। ध्यानमें भगवान्का इस प्रकार दर्शन पाकर राजा इन्द्रद्युम्नको बड़ा हर्ष हुआ। वे गद्गद वाणीसे उनकी स्तुति करने लगे।

**इन्द्रद्युम्न बोले**—जगदाधार! आपको नमस्कार

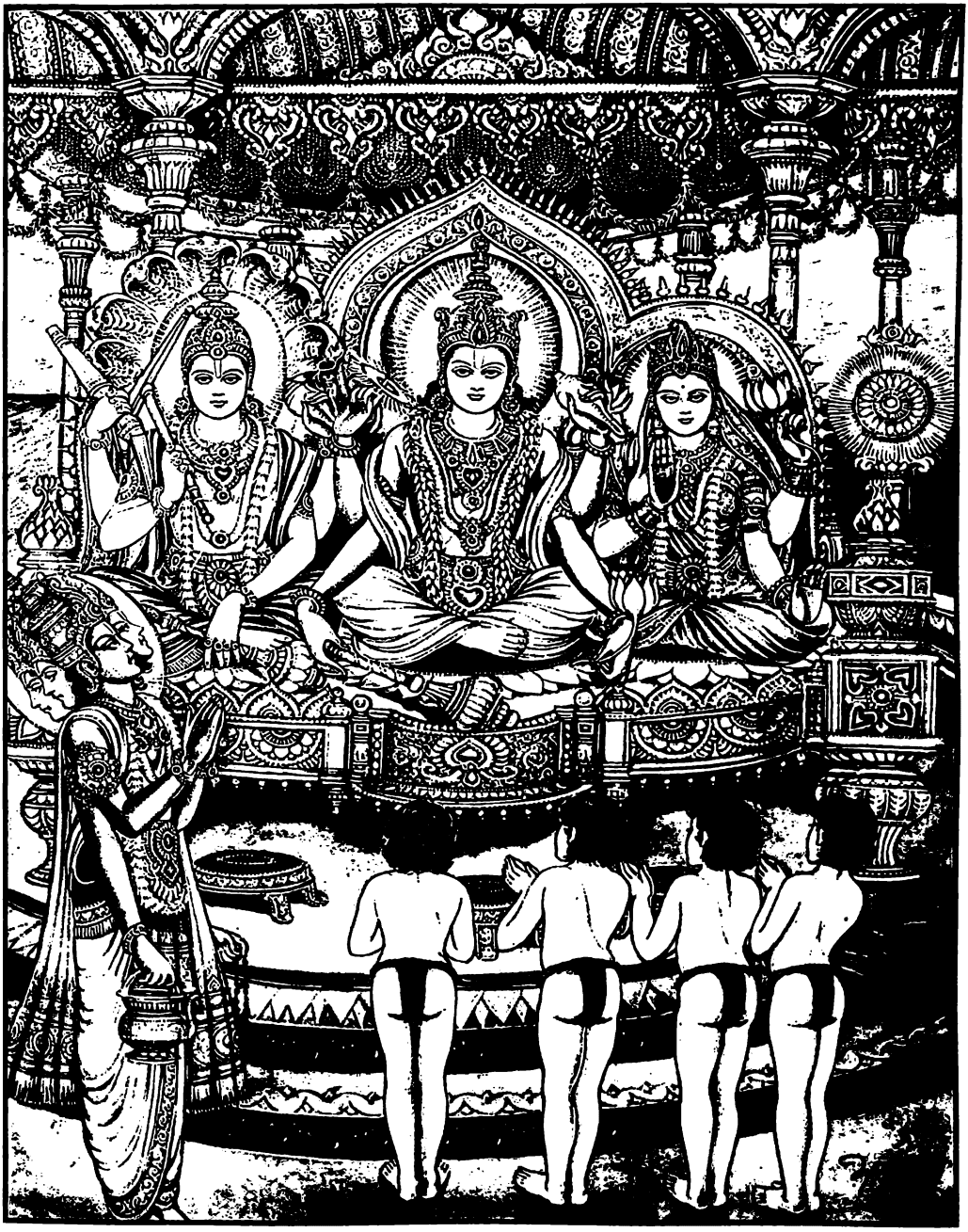

राजा इन्द्रद्युम्नको ध्यानमें भगवान्‌के दर्शन

है। जगदात्मन्! आपको नमस्कार है। कैवल्यस्वरूप! त्रिगुणातीत! गुणांजन! आपको नमस्कार है। आप विशुद्ध निर्मल ज्ञानस्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। शब्दब्रह्म नामसे प्रसिद्ध आपको नमस्कार है। जगत्स्वरूप! आपको नमस्कार है। संसारसागरमें गिरे हुए दीन-दुःखी मनुष्योंके दुःखका नाश करनेवाले आपको नमस्कार है। हृदयकी दुर्भेद्य ग्रन्थियोंका भेदन करनेवाले आपको नमस्कार है। आप चौदह भुवनरूपी भवनके मूलस्तम्भ हैं। आपको नमस्कार है। कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी रचना करनेवाले शिल्पीरूप आप भगवान् चक्रपाणिको नमस्कार है। आप करुणारूपी अमृतसिन्धुको बढ़ानेवाले चन्द्रमा हैं, आपको नमस्कार है। दीनोंका उद्धार करनेके लिये एकमात्र गुप्त दयासिन्धु-स्वरूप आपको नमस्कार है। जगत्को प्रकाशित करनेवाले जो सूर्य आदि ज्योतिर्मय ग्रह और नक्षत्र हैं, उनकी भी ज्योति आप हैं; आपको नमस्कार है। आप अन्तःकरणके पापोंको जलानेके लिये प्रदीप्त अग्निरूप हैं, आपको नमस्कार है। आप सबको पवित्र करनेवाले हैं। पवित्र वस्तुओंमें सबसे अधिक पवित्र हैं आपको बार-बार नमस्कार है। आप सबसे अधिक भारी, सबसे महान् और सबसे अधिक विस्तारयुक्त हैं, आपको बार-बार नमस्कार है। आप अतिशय निकट, बहुत ही दूर और अत्यन्त छोटे हैं, आपको बार-बार नमस्कार है। नारायण! आप सबसे श्रेष्ठ और परम पवित्र हैं, आपको नमस्कार है। जगन्नाथ! मेरी रक्षा कीजिये। दीनबन्धो! आपको नमस्कार है। प्रभो! आपको सुखदायिनी नौकाके रूपमें पाकर मैं भवसागरके पार हो गया। रमानाथ! आपका दर्शन होनेसे मेरे सब क्लेश दूर हो गये। आप सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। आपको प्राप्त हुए मनुष्योंके दुःखोंका सर्वथा नाश हो जाता है।

इस प्रकार ध्यानमें स्थित हुए राजा इन्द्रद्युम्नने जगदीश्वर भगवान् विष्णुकी यों स्तुति करके उन्हें प्रणाम किया। फिर ध्यानके अन्तमें राजाको अपने-आपका भान हुआ। वे सोचने लगे—यहाँपर भगवान् विष्णु कैसे स्वयं मेरे प्रत्यक्ष होंगे? इस चिन्तासे उनका मन व्याकुल हो उठा। उन्होंने नारदजीसे सब बातें कहीं। तब नारदजीने आश्वासन देते हुए कहा—'राजन्! अब तुम्हारा शोक समाप्त हो गया। इस यज्ञके अन्तमें भगवान् तुम्हें यहाँ प्रत्यक्ष दर्शन देंगे। ये सब बातें दूसरे किसीके आगे प्रकाशित न करना।'

## अश्वमेधकी पूर्ति, आकाशवाणी, भगवान्‌की काष्ठमयी प्रतिमाका निर्माण, संस्कार तथा स्तवन

**जैमिनिजी कहते हैं**—तदनन्तर राजाके अश्वमेध यज्ञमें सुत्या (सोमरस निकालने)-का उत्सव प्रारम्भ हुआ। उसमें दीनोंको बेरोक-टोक मनोवांछित दान दिये जाने लगे। उस समय नारदजीने नृपश्रेष्ठ इन्द्रद्युम्नसे कहा—'राजन्! अब पूर्णाहुतिका कार्य समाप्त हो, जिससे यह यज्ञ सफल हो जाय। पहले ध्यानमें तुमने जो कुछ देखा है, उसके अनुसार तुम्हारे भाग्योदयका समय समीप आ गया है। श्वेतद्वीपमें जिन विश्वमूर्ति अविनाशी विष्णुका तुमने दर्शन किया है, उनके शरीरसे गिरा हुआ रोम वृक्षभावको प्राप्त हो जाता है। वह इस पृथ्वीपर स्थावररूपमें भगवान्‌का अंशावतार

होता है। भक्तवत्सल भगवान् अब उसी रूपमें अवतीर्ण हो रहे हैं। तुम्हारे ही सौभाग्यसे सर्वपापापहारी भगवान् यहाँ सब लोगोंके नेत्रोंके अतिथि बनेंगे। अब यज्ञान्तस्नान समाप्त करके वृक्षरूपमें प्रकट हुए यज्ञेश्वर भगवान् विष्णुको तुम इस महावेदीपर स्थापित करो।' इस प्रकार विचार करके नारद और इन्द्रद्युम्न दोनों प्रसन्नतापूर्वक वहाँ गये और उस वृक्षको देखकर 'इसके रूपमें साक्षात् ब्रह्म भगवान् विष्णु प्रकट हो गये'—ऐसा मानते हुए सब लोग बड़े प्रसन्न हुए। चार शाखाओंसे युक्त उस चतुर्भुज वृक्षका दर्शन करके राजाने अपने परिश्रमको सफल माना। फिर नीलमणि माधवके अन्तर्धान होनेका जो शोक था, उसे उन्होंने त्याग दिया और बार-बार उस वृक्षको प्रणाम करके नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहाते हुए राजाने ब्राह्मणोंसे उस वृक्षको मँगवाया। वे लोग माला और चन्दनसे विभूषित विष्णुके उस दिव्य वृक्षको महावेदीपर ले आये। नारदजीके कहनेके अनुसार राजाने उस वृक्षका पूजन किया और पूजा समाप्त करके मुनिश्रेष्ठ नारदजीसे पूछा—'मुने! भगवान् विष्णुकी कैसी प्रतिमाएँ बनेंगी और उन्हें कौन बनायेगा?' नारदजीने उत्तर दिया—'राजन्! भगवान्की लीला सब लोकोंसे परे है, उसे कौन जान सकता है।' इस प्रकार बातचीत हो ही रही थी कि ऊपरसे आकाशवाणी सुनायी दी—'भगवान् विष्णु अत्यन्त गुप्त रखी हुई महावेदीपर स्वयं अवतीर्ण होंगे। पंद्रह दिनोंतक इसे ढक दिया जाय। हाथमें हथियार लेकर उपस्थित हुआ जो यह बूढ़ा बढ़ई है, इसे भीतर प्रवेश कराकर सब लोग यत्नपूर्वक दरवाजा बंद कर लें। जबतक मूर्तियोंकी रचना हो, तबतक बाहर बाजे बजते रहें; क्योंकि रचनाका शब्द कानमें पड़नेपर वह बहरा बना देनेवाला है। कोई भी भीतर प्रवेश न करे और न कभी देखनेकी चेष्टा करे; क्योंकि वहाँ काम करनेवालेके अतिरिक्त जो भी देखेगा, उसके दोनों नेत्र अन्धे हो जायँगे।'

तत्पश्चात् राजाने जिस प्रकार आकाशवाणीने कहा था, वैसी ही व्यवस्था कर दी। क्रमशः पंद्रहवाँ दिन आते ही भगवान् स्वयं चार विग्रहोंमें प्रकट हुए। बलभद्र, सुभद्रा और सुदर्शनचक्रके साथ भगवान् जनार्दन दिव्य सिंहासनपर विराजमान हुए। भगवान्के चार दिव्य रूप सम्पन्न हो जानेपर सम्पूर्ण विश्वके उपकारके लिये पुनः आकाशवाणी हुई—'राजन्! इन चारों प्रतिमाओंको वस्त्रोंसे भलीभाँति आच्छादित करके इन्हें अपने-अपने स्वाभाविक रंगकी प्राप्ति कराओ। भगवान् जनार्दन नीलमेघके समान श्यामवर्ण धारण करें, भगवान् बलभद्र शंख और चन्द्रमाके समान गौर वर्णसे विराजमान हों, सुदर्शन चक्रका रंग लाल होना चाहिये और सुभद्रादेवी कुंकुमके समान अरुण वर्णकी होनी चाहिये। इन विग्रहोंपर पहलेका किया हुआ रंग आदि संस्कार छूटनेपर प्रतिवर्ष नूतन संस्कार कराना चाहिये। केवल दिव्य वल्कल-लेप रहने देना चाहिये। यदि कोई प्रमादवश इस लेपको दूर करेगा तो राज्यमें दुर्भिक्ष और महामारी फैलेगी। राजन्! तुम्हें भी नग्न रूपमें इन मूर्तियोंका दर्शन नहीं करना चाहिये। अन्य मनुष्य भी यदि नग्न रूपमें देखेंगे तो उनके लिये भी ये भय उपस्थित करनेवाली होंगी। नाना प्रकारके लेपसे लिप्त एवं विचित्र शृंगारोंसे युक्त मूर्तियोंका ही दर्शन करना चाहिये। राजन्! तुम्हारे ऊपर कृपा करके भगवान् प्रकट हुए हैं और तुम्हारे ही प्रसादसे वे सब जीवोंको धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्रदान करेंगे। नीलाचलपर कल्पवृक्षके वायव्य कोणमें सौ हाथकी दूरीपर और भगवान् नृसिंहके उत्तर भागमें जो बहुत बड़ा मैदान है, उसमें अत्यन्त सुदृढ़ और हजार हाथ ऊँचा मन्दिर बनवाकर उसीमें भगवान्की स्थापना करो। पहले इस पर्वतपर जो प्रतिदिन भगवान् नील-

माधवका पूजन करता था, वह विश्वावसु नामवाला शबर (भील) वैष्णवोंमें श्रेष्ठ है। उसके साथ तुम्हारे पुरोहितकी मित्रता हो चुकी है। इन्हीं दोनोंकी सन्ततिको भावी उत्सवोंमें भगवान्‌के विग्रहपर लेप और संस्कार करनेके कार्यमें लगाया जाय।'

इतना कहकर वह दिव्य आकाशवाणी मौन हो गयी। उसका उपदेश सुनकर राजाने प्रसन्नतापूर्वक उसका पालन किया। जब बलराम, श्रीकृष्ण, सुभद्रा तथा सुर्दशन चक्रपर आकाशवाणीके कथनानुसार लेप आदि संस्कार हो गया, तब उनकी आकृति बड़ी ही सुन्दर हो गयी। उसके बाद राजाने महावेदीका पर्दा खुलवा दिया। फिर सबने रत्नसिंहासनपर विराजमान भगवान्‌की झाँकी की। (वस्त्रालंकारोंसहित) उन भगवद्विग्रहोंका दर्शन करके राजा इन्द्रद्युम्न आनन्दके समुद्रमें डूब गये और नेत्रोंको कुछ-कुछ बंद किये, प्रेमके आँसू बहाते हुए हाथ जोड़कर खम्भेके समान खड़े रहे। तब नारदजीने राजासे कहा—'नृपश्रेष्ठ! कमलके समान नेत्रोंवाले इन भगवान् जगन्नाथका दर्शन करो। ये भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये सम्पूर्ण ज्ञानकी निधि हैं। इन्हीं श्रीहरिको देखनेके लिये योगीलोग मनको संयममें रखकर सदा प्रयत्न करते रहते हैं। वे ही भगवान् विष्णु आज काष्ठमय शरीरमें स्थित हो तुमपर अनुग्रह करनेके लिये प्रत्यक्ष हुए हैं। इन करुणासागर भगवान्‌की स्तुति करो।'

नारदजीके द्वारा इस प्रकार सचेत किये जानेपर राजा इन्द्रद्युम्नने करुणामय जगन्नाथका स्तवन किया—'दयासागर मुरारे! कहाँ तो ब्रह्मा, रुद्र तथा इन्द्रके मुकुटोंमें मग्न हुए आपके निर्मल युगलचरणारविन्द और कहाँ मल, मूत्र, रक्त, मांस एवं हड्डियोंसे बना और चमड़ेसे ढका हुआ मुझ दीनका यह अधम शरीर? ईश! इस असार संसारमें भटकते रहनेके कारण मैं श्रमसे व्याकुल हूँ। भला आपको कैसे जानूँ? देव! मैंने अपने कर्मोंद्वारा सुख भोगनेके लिये जिन विषय-भोगोंका संग्रह किया, वे ही परिणाममें मेरे लिये दुःखरूप हो गये। अतः मेरे समान दुःखी दूसरा कोई नहीं है। प्रभो! यदि मैंने पहले कभी मनसे भी आपकी उपासना की होती तो दुःख भोगनेके लिये बार-बार नाना प्रकारके जन्म मुझे क्यों प्राप्त होते? मुरारे! क्या आपके चरणारविन्दोंसे दूर रहनेका ही यह फल नहीं है? सम्पूर्ण पृथ्वीके धनसे भरा हुआ मेरा खजाना, सेना, मनके अनुकूल सैकड़ो स्त्रियाँ और निष्कण्टक राज्य यह सब कुछ आपके तत्त्वज्ञानसे शून्य पशुके तुल्य मुझ अधमके लिये बड़ा भारी भार हो रहा है। इसमें सदा कष्ट ही प्राप्त हुआ करता है। दीनोंपर दया करनेवाले प्रभो! आपके स्मरण करनेमात्रसे ही जीवकी मुक्ति होती है। इस संसारमें आपके सिवा मेरा कोई बन्धु नहीं है। मेरी बुद्धि आपके चरणारविन्दोंसे कभी अलग न हो। आप सच्चिदानन्दमय परिपूर्ण सिन्धु हैं। जो सहस्रों जन्मोंका भाग्योदय होनेपर आपको पा गये हैं, वे क्या कभी लेशमात्र सुख और अनन्त दुःखोंसे भरे हुए विषय-भोगरूपी इन्द्रजालकी ओर आँख उठाकर देखते है? कहाँ तो जिसमें लेशमात्र सुख और अनन्त दुःखोंकी खानरूप सैकड़ों ग्रन्थियाँ हैं, ऐसे कर्मोंका अटूट बन्धन और कहाँ अनन्त, अनादि, एक एवं आनन्दप्रद आपके पवित्र चरणारविन्द? सबपर स्वभावतः कृपा करनेवाले प्रभो! मूलभूत आप परमेश्वरको न पाकर तुच्छ कार्यके लिये बहुत भटकनेवाले क्लेशके ही भाजनरूप मुझ अत्यन्त दीनकी रक्षा कीजिये। सम्पूर्ण विश्वके एकमात्र वन्दनीय विष्णुदेव! वेदान्तवेद्य! अव्यय! विश्वनाथ! आप ही समस्त पापराशियोंका नाश करनेमें समर्थ हैं।

बलवानोंमें श्रेष्ठ बलभद्र! आपका विग्रह सहस्रों फणोंसे आवृत है। आप ईश्वर हैं, मैं आपकी शरणमें आया हूँ। संसारको आश्रय देनेवाली तथा सम्पूर्ण देवताओंको उत्पन्न करनेवाली मंगलमयी सुभद्राके दोनों चरणोंको प्रणाम करता हूँ। हे नाथ! यह ब्रह्माण्डोंका समूह जिसकी किरणोंके समुदायसे रचा गया है और जो दैत्योंकी सेनाका संहार करनेवाला है, उस सुदर्शन चक्रके रूपमें आपको मैं प्रणाम करता हूँ।'

इस प्रकार स्तुति करके श्रेष्ठ राजा इन्द्रद्युम्नने भगवान्‌को साष्टांग प्रणाम किया और कहा—'अनाथोंके बन्धु जगन्नाथ! संसार-समुद्रमें डूबे हुए मुझ दीन तथा दुःख-शोकसे व्याकुल मनुष्यका आप कृपापूर्वक उद्धार करें।'

**तत्पश्चात् नारदजीने कहा**—अपार भवसागरसे पार उतारनेमें तत्पर भगवान् नारायण! आपकी जय हो, जय हो। सनक, सनन्दन और सनातन आदि श्रेष्ठ योगी आपके दिव्य तत्त्वका चिन्तन करते रहते हैं। आप सर्वलोकस्वरूप, सब लोगोंको सुख देनेवाले, सम्पूर्ण विश्वके उपकारक तथा समस्त जगत्‌के वन्दनीय हैं। कोटि-कोटि ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, मरुद्‌गण, अश्विनीकुमार, साध्य तथा सिद्धगण आपके लीला-विलाससे उत्पन्न हैं। सम्पूर्ण देवता और दानव आपके चरणोंमें प्रणाम करते हैं। त्रिभुवनगुरो! आप किसीके भी पूर्णतया जाननेमें नहीं आते। आपको नमस्कार है, नमस्कार है।

तदनन्तर अन्यान्य राजा, वेदोंके पारंगत विद्वान्, श्रोत्रिय मुनि, ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा विद्वान् वैश्य जातिके लोगोंने भी वैदिक सूक्तों, स्तोत्रों, पौराणिक स्तुतियों और स्वरचित कविताओंसे, जैसे बना उसी प्रकार, बलभद्र और सुभद्राके साथ कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णका स्तवन किया। इसके बाद राजाने पुरोहितजीसे भगवान् वासुदेवकी पूजाके लिये सामग्री संग्रह करनेको कहा। फिर नारदजीके उपदेशसे स्वयं राजाने ही विधि एवं मन्त्रोच्चारणके साथ क्रमशः उन सब विग्रहोंका पूजन किया। द्वादशाक्षर (**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**) मन्त्रसे बलभद्रजीकी पूजा की। इसी मन्त्रके द्वारा उपासना करके ध्रुवजीने परम उत्तम स्थान प्राप्त किया है। पुरुषसूक्तसे राजाने यथाशक्ति भगवान् नारायणकी पूजा की। देवीसूक्तसे सुभद्राका और सुदर्शन-सम्बन्धिनी ऋचासे सुदर्शन चक्रका पूजन किया। इस प्रकार अपने वैभवके अनुसार भक्तिपूर्वक उन सबकी पूजा करके भगवत्प्रीतिके लिये उन्होंने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको दान दिया। इसके बाद राजाने शुभ समय एवं शुभ नक्षत्रमें नारद आदि श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी पूजा करके स्वस्तिवाचन कराया और जगन्नाथजीका स्मरण करते हुए वास्तुपूजनपूर्वक शिल्पीका भी पूजन किया। भगवान् विष्णुके उस काष्ठमय अवतारको देखकर कृतार्थ एवं पापरहित हुए राजाओंको इन्द्रद्युम्नने बड़े आदरके साथ विदा किया।

## देवताओं तथा ब्रह्माजीके द्वारा भगवद्विग्रहोंका स्तवन और उनकी स्थापना

**जैमिनिजी कहते हैं**—तदनन्तर राजा इन्द्रद्युम्नने शिल्पशास्त्रमें प्रवीण सब कारीगरोंको मन्दिरके निर्माणकार्यमें नियुक्त किया। थोड़े ही समयमें मन्दिर बनकर इतना ऊँचा हो गया कि वह नीचेसे दिखायी नहीं पड़ता था। उस समय भारतवर्षमें जितने समकालीन राजा थे, वे सभी राजा इन्द्रद्युम्नके उस पुण्य कार्यमें संलग्न थे। वह मन्दिर ऊँचाईमें आकाशको छूता था और चौड़ाईमें सब दिशाओंको पूरा कर रहा था। उसमें स्थान-स्थानपर सुवर्ण जड़ा हुआ था और अनेक प्रकारके रत्नोंसे वह

परम उज्ज्वल प्रतीत होता था। कहीं स्फटिकशिलाका योग होनेसे उसकी छबि शरद्-ऋतुके बादलोंकी-सी श्वेत जान पड़ती थी। कहीं काले पत्थरकी बनी हुई दीवार बादलोंकी काली घटा-सी दिखायी पड़ती थी। इस प्रकार परम सुन्दर बने हुए भगवान् विष्णुके मनोहर प्रासादमें विधिपूर्वक गर्भप्रतिष्ठा करके बिजली गिरने आदि उपद्रवोंसे मन्दिरको कोई क्षति न पहुँचे, इसके लिये शिल्पशास्त्रोंमें निश्चित विधानके अनुसार अपने पुरुषार्थसे उपार्जित की हुई मणि आदिको यथायोग्य स्थानोंपर लगाया गया। फिर मन्दिर-निर्माणके लिये आवश्यक सामग्रीके अनुरूप बहुमूल्य वस्तुओंका वहाँ यत्नपूर्वक संग्रह करवाया। तीनों लोकोंके राजा मनसे भी जिसकी सम्भावना नहीं कर सकते थे, ऐसे मनोहर एवं कीर्ति बढ़ानेवाले मन्दिरका निर्माण होने लगा। उसके तैयार हो जानेपर राजा इन्द्रद्युम्नने मुनिवर नारदजीसे कहा—'देवताओं और असुरोंके लिये भी जो असम्भव था, वह सब मेरा कार्य भगवत्कृपासे सम्पन्न हो गया।' यह कहकर उन्होंने नारदजीके चरणोंमें प्रणाम किया। नारदजीने भी राजाको उठाकर उनका सत्कार किया और कहा—'राजन्! इस समय तुम जीवन्मुक्त हो गये हो। भगवान्के चरणारविन्दोंमें अनन्य भक्तिपूर्वक तुम्हारा चित्त जिस प्रकार लगा हुआ है, उससे बढ़कर मनुष्यके लिये और कौन-सा पुरुषार्थ हो सकता है? भूपाल! तीर्थ, मन्त्र, जप, दान, बहुत दक्षिणावाले यज्ञ, व्रत, स्वाध्याय और तपस्यासे भी जिसे प्राप्त करना असम्भव है, वही केवल भक्तिसे तुम्हारे हाथमें आ गया है। राजेन्द्र! तुम दीर्घकालतक पृथ्वीपर स्थित रहकर बड़े-बड़े उत्सवों और उपचारोंसे जगन्नाथजीकी उत्कृष्ट पूजा करो।'

तत्पश्चात् इन्द्रद्युम्नने जगन्नाथजीको दण्डवत्-प्रणाम किया और इस प्रकार स्तुति की—'ब्रह्मण्यदेव भगवान्को नमस्कार है। गौओं और ब्राह्मणोंके हितैषी, शरणागतोंका दुःख दूर करनेवाले तथा चार पुरुषार्थोंके एकमात्र हेतु भगवान् श्रीहरिको नमस्कार है। हिरण्यगर्भरूप पुरुष और प्राकृत व्यक्त जगत् दोनों आपके स्वरूप हैं। आपको नमस्कार है। शुद्ध ज्ञानस्वरूप सच्चिदानन्दमय भगवान् वासुदेवको नमस्कार है।' इस प्रकार स्तुति करते हुए राजाके नेत्रोंमें आँसू भर आया। उन्होंने परिक्रमा करके बार-बार भगवान्को प्रणाम किया। तदनन्तर जो अन्य देवता वहाँ आये थे, वे प्रसन्नतापूर्वक भगवान्को प्रणाम करके हाथ जोड़कर उनकी स्तुति करने लगे।

**देवता बोले**—परब्रह्म और परमात्माके नामसे जिसकी महिमाका गान किया जाता है, वह पुरुष ही भूत, वर्तमान और भविष्य सब कुछ है। इतनी इसकी महिमा (अपार वैभव) है। यह परम पुरुष श्रीहरि सबसे ज्येष्ठ और सबका स्वामी है। सम्पूर्ण विश्व इसके एक अंशमें स्थित है। इसका शेष तीन अंश विशुद्ध अमृतस्वरूप है, जो परम व्योममें विराजमान है। भगवन्! वह अमृतमय पुरुष आप ही हैं। आपसे ही वेद प्रकट हुए हैं, यज्ञमय पुरुष भी आपसे ही उत्पन्न हैं। आपसे ही घोड़े, गौ और भेड़ आदि पशु उत्पन्न हुए हैं। ब्राह्मण आपके मुखसे प्रकट हुए हैं, क्षत्रिय आपकी भुजाओंसे उत्पन्न हैं, वैश्योंका जन्म आपके ऊरुसे हुआ है तथा शूद्र आपके चरणोंसे प्राप्त हुए हैं। आपके मनसे चन्द्रमा, नेत्रसे सूर्य, कानों और प्राणोंसे वायु तथा जिह्वासे अग्निकी उत्पत्ति हुई है। आपकी नाभिसे आकाश, मस्तकसे स्वर्ग, पैरोंसे पृथ्वी और कानोंसे आठों दिशाएँ प्रकट हुई हैं। आपहीसे यज्ञकुण्डकी सात परिधियाँ (मेखलाएँ) तथा इक्कीस समिधाएँ प्रकट हुई हैं। समस्त चराचर भाव आपसे ही उत्पन्न हुए हैं। आप ही सम्पूर्ण जगत्के स्वामी

और संरक्षक हैं। परमेश्वर! भयानक रूप धारण करके सृष्टिका संहार करनेवाले भी आप ही हैं। आप ही यज्ञ, यज्ञांश, यज्ञेश तथा परात्पर परमात्मा हैं। आप शब्दब्रह्मसे परे और शब्दब्रह्मरूप ही हैं। जगन्नाथ! आप ही विश्वराट्, स्वराट् और विराट् हैं। जगत्पते! आप जगत्स्वरूप हैं। आपने ही ऊपर-नीचे तथा दायें-बायें सम्पूर्ण विश्वको व्याप्त कर रखा है। आपका यजन करनेवाले याज्ञिक पुरुष परम धामको प्राप्त होते हैं। आप ही भोज्य, भोक्ता, हविष्य, होता, हवन और उसके फलदाता हैं। प्रभो! आप समस्त कर्मोंके भोक्ता, सर्वकर्मस्वरूप, सब कर्मोंके उपकरण तथा सम्पूर्ण कर्मोंके फल देनेवाले हैं। आप ही सत्कर्मोंके लिये प्रेरणा करते हैं। धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धि देनेवाले भी आप ही हैं। हृषीकेश! मुक्ति देनेवाला भी आपके सिवा दूसरा कौन है? आपको नमस्कार है। आपका कहीं अन्त नहीं है। आपके सहस्रों रूप, सहस्रों पैर, नेत्र, मस्तक, ऊरु और भुजाएँ हैं। आपको नमस्कार है। सहस्रों कोटि युगोंको धारण करनेवाले और सहस्रों नामोंवाले आप सनातन पुरुषको नमस्कार है। प्रभो! संसारसमुद्रमें गिरे हुए प्राणीको शरण देनेवाले एकमात्र आप ही हैं। आपकी सृष्टिमें आपके समान दीनोंकी रक्षा करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। दीनों और अनाथोंके एकमात्र आश्रय आप हैं। प्रभो! आप ही इस जगत्के पिता, पालक, पोषक और सम्पूर्ण आपत्तियोंका निवारण करनेवाले हैं। जगन्नाथ! विष्णो! हमारी रक्षा कीजिये। परमेश्वर! हमारी रक्षा कीजिये। कमलाकान्त! आपके सिवा कौन हमारी रक्षा करनेमें समर्थ है? अन्तर्यामिन्! आपको नमस्कार है। सर्वतेजोनिधे! आपको नमस्कार है।

इस प्रकार स्तुति करके देवताओंने बार-बार प्रणाम किया और इन्द्रद्युम्नके साथ बाहर निकलकर सब-के-सब भगवान् नृसिंहके क्षेत्रमें गये। वहाँ साष्टांग प्रणाम और नमस्कार करके परम भक्तिपूर्वक उन्होंने श्रीनृसिंहदेवका पूजन किया। उसके बाद वे नीलाचलके शिखरपर, जहाँ उत्तम प्रासादका निर्माण हुआ था, गये। देवताओंने आकाशमण्डलमें व्याप्त उस उच्चतम मन्दिरको देखा। राजा इन्द्रद्युम्नने विचार किया कि यह पूर्ण हुआ भगवान्का उत्तम मन्दिर दीर्घकालके बाद मेरे दृष्टिपथमें आया है। यह सब भगवान्के अनुग्रहसे हुआ है, इसमें मनुष्यका कोई पुरुषार्थ नहीं है। तदनन्तर उन्होंने अपने सहायकोंसे कहा—'जब काष्ठमय शरीर धारण करके स्वयं भगवान् यहाँ प्रकट हुए थे, उस समय आकाशवाणीने मुझसे कहा था कि तुम नीलाचलके शिखरपर जगन्नाथजीकी प्रतिष्ठाके लिये एक हजार हाथका मन्दिर बनाओ, उसकी स्थापनाके समय स्वयं ब्रह्माजी सिद्धों, ब्रह्मर्षियों और देवताओंके साथ पधारेंगे।'

**तत्पश्चात् राजाने नारदजीसे पूछा**—मुनिश्रेष्ठ! मैं प्रतिष्ठाविधिकी वस्तुओंके विषयमें कोई जानकारी नहीं रखता। जो-जो एकत्र करनेयोग्य वस्तुएँ हों, उन सबको क्रमसे बतलाइये।

राजाके इस प्रकार कहनेपर नारदजीने शास्त्रके अनुसार विचार करके सब सामग्रीकी सूची एक पत्रपर लिखकर उन्हें दे दी। राजाने वह पत्र पद्मनिधिको दिया और कहा—'इसमें लिखी हुई वस्तुएँ एकत्र करो। ब्रह्माजीके लिये दिव्य भवनका निर्माण करो। ब्रह्मर्षियों, इन्द्रादि देवताओं, सिद्धों, मनुष्यों तथा मुनीश्वरोंके लिये यथायोग्य स्थान बनाओ।' इस प्रकार आदेश देते हुए राजा इन्द्रद्युम्नसे नारदजीने कहा—'राजन्! तीन रथ तैयार कराइये। भगवान् वासुदेवके रथपर गरुड़ध्वज फहरा रहा हो और सुभद्राजीके रथके ऊपर कमलके चिह्नसे युक्त ध्वजा लगायी गयी हो। श्रीबलभद्रजीके रथपर तालध्वज या हलके चिह्न-युक्त ध्वज होना चाहिये। श्रीविष्णुके रथमें सोलह, बलभद्रके रथमें चौदह और सुभद्राके रथमें बारह पहिये होने

चाहिये। चक्रधारी श्रीकृष्णके रथका विस्तार सोलह हाथ, बलभद्रजीके रथका विस्तार चौदह हाथ और सुभद्राजीके रथका विस्तार बारह हाथका हो।' नारदजीके इस वचनको सुनकर एक दिनमें तीन रथ बनाये गये, जिनके धुरे, चक्के, खंभे और द्वार सभी सुन्दर थे। तीनों रथोंका विस्तार उत्तम था। सबमें सुन्दर ध्वजा-पताका लगी थी। नाना प्रकारकी चित्रकारीसे वे तीनों रथ बड़े मनोहर प्रतीत होते थे। उनमें लगाम और बागडोरसे युक्त वायुके समान वेगवाले सैकड़ों सफेद घोड़े जुते हुए थे। नारदजीने शास्त्रके अनुकूल विधिसे रथोंकी प्रतिष्ठा की।

तत्पश्चात् ब्रह्माजीकी प्रेरणासे उस उत्तम प्रासादके समीप शुभ मुहूर्तमें सब देवता आ पहुँचे। राजा इन्द्रद्युम्नकी आज्ञासे विश्वकर्माने एक बहुत बड़ी रत्नमयी शाला तैयार की। उसमें प्रतिष्ठाकालिक पूजनोपयोगी वस्तु, हविष्य, समिधा, कुशा तथा अनेक प्रकारके भोजन और सम्पत्तिका संचय करके रखा गया।

उस समय पृथ्वीपर 'गाल' नामक राजा राज्य करते थे। उन्होंने भी माधवकी एक प्रस्तरमूर्ति बनवायी और उसके लिये एक छोटा-सा मन्दिर तैयार कराकर उसमें उसकी स्थापना और पूजा की। फिर दूतके मुखसे राजा इन्द्रद्युम्नके उद्योगको सुनकर राजाको क्रोध हुआ और वे सेनासमेत कुपित हो नीलाचलपर आये। वहाँ आनेपर उन्होंने प्रतिष्ठाका ऐसा आयोजन देखा, जो मनुष्योंके लिये स्वप्नमें भी दुर्लभ था। उसे देखकर राजाके मनमें बड़ा विस्मय हुआ। वहाँके सब वृत्तान्तको जानकर राजा गालने अपनेको कृतार्थ माना और यह अनुभव किया कि इससे बढ़कर कल्याणकारक कर्म न हुआ है और न होगा। फिर तो वे हाथ जोड़कर राजा इन्द्रद्युम्नके समीप गये और बोले—'देव! आप राजाओंके राजा तथा जीवन्मुक्त हैं। मैं आपकी क्या स्तुति करूँ। आप मुझपर प्रसन्न होइये।'

इस प्रकार निवेदन करते हुए श्रेष्ठ राजा गालसे इन्द्रद्युम्नने कहा—'राजन्! आप अपनी तुच्छताका अधिक बखान क्यों करते हैं? आप भी सार्वभौम सम्राट् और भगवान् विष्णुके भक्त हैं। प्रजाओंके पालनमें तत्पर रहनेवाला राजा प्रजाके रक्षारूप उत्तम मार्गपर चलकर इस लोकमें कीर्ति और धर्मका उपार्जन करता है। आप तो भगवान्के भक्त हैं। अतः आपको विशेषरूपसे सफलता मिलेगी। राजन्! काष्ठरूपमें अवतीर्ण हुए साक्षात् भगवान् विष्णुका यह प्रासाद है। चार स्वरूपोंमें व्यक्त हुए भगवान् जनार्दनकी इस मन्दिरमें स्थापना करके मैं यह मन्दिर आपको ही सौंपकर चला जाऊँगा। आप ही इसमें पूजा आदिकी व्यवस्था करेंगे।' यह सब सुनकर राजा गाल बहुत प्रसन्न हुए। इन्द्रद्युम्नने जो-जो आदेश दिया, उसका वे बड़ी शीघ्रताके साथ पालन करने लगे। इस प्रकार सब सामग्री जुट जानेपर देवताओंसे घिरे हुए सिंहासनपर विराजमान राजा इन्द्रद्युम्न इन्द्रकी भाँति शोभा पाने लगे। इतनेमें ही देवताओंके जय-जयकारसे स्तुति किये जाते हुए साक्षात् ब्रह्माजी दिखायी पड़े। राजा इन्द्रद्युम्नने दोनों हाथ जोड़कर भक्तिभावसे उन्हें मस्तक झुकाया तथा गालराज और नारदजीके साथ भूमिपर सिर रखकर साष्टांग प्रणाम किया। फिर उठकर प्रसन्नताका अनुभव करते हुए अपनेको कृतार्थ माना। उस समय उनके सब अंगोंमें रोमांच हो आया था।

**जैमिनिजी कहते हैं**—राजा इन्द्रद्युम्नको अपने चरणोंमें प्रणाम करते देख प्रजापति ब्रह्माजीने मुसकराते हुए कहा—'राजन्! अपना सौभाग्य तो देखो—ये सब देवता, ऋषि, पितर और सिद्ध-विद्याधर आदि मुझे आगे करके तुम्हारे लिये यहाँ एकत्र हुए हैं।' ऐसा कहकर ब्रह्माजी शीघ्र

ही भगवान् नारायणके रथके समीप गये और उन जगदीशजीको प्रणाम करके तीन बार परिक्रमा करनेके पश्चात् आनन्दके समुद्रमें निमग्न हो गये। उनके शरीरमें रोमांच हो आया। उन्होंने गद्गद स्वरमें अपने ही स्वरूपभूत भगवान् जगन्नाथकी इस प्रकार स्तुति की—'प्रभो! आपको नमस्कार है। मैं आप हैं और आप मैं हूँ। यह सम्पूर्ण चराचर जगत् आपका ही स्वरूप है। महत्तत्त्वसे लेकर सम्पूर्ण प्राकृत जगत् आपकी ही मायाका विलास है। विश्वात्मन्! यह संसार आपमें ही अध्यस्त (आरोपित) है और आपके ही द्वारा इसमें परिणाम (परिवर्तन अथवा विकार) होता है। यह सम्पूर्ण प्रपंच, जो भासित हो रहा है, आपके तत्त्वको न जाननेके कारण ही है। आपके स्वरूपका यथार्थ बोध हो जानेपर यह आपमें ही विलीन हो जाता है। ठीक उसी तरह जैसे रज्जुके स्वरूपका निश्चय हो जानेपर उसमें भ्रमवश प्रतीत होनेवाला सर्प वहीं लीन हो जाता है। सत्ताके विचारसे यह सब कुछ सत्स्वरूप होनेके कारण अनिर्वचनीय ही है। प्रभो! आप अद्वितीय हैं। जगत्को आपसे ही प्रकाश मिलता है, आप स्वयंप्रकाश हैं। आपको नमस्कार है। संसारका समस्त आनन्द सहजानन्दस्वरूप आप परमात्माका एक तुच्छतम अंश है, जिसके सहारे सब प्राणी जीवन धारण करते हैं। आप प्रपंचशून्य, निराकार, निर्विकार और निराश्रय हैं। आप स्थूल हैं, सूक्ष्म हैं, अणु हैं और महान् हैं; साथ ही आप स्थूल, सूक्ष्म आदि सभी भेदोंसे रहित हैं। गुणोंसे अतीत होकर भी समस्त गुणोंके आधार हैं। त्रिगुणात्मन्! आपको नमस्कार है। मैं आपके नाभिकमलसे उत्पन्न हुआ हूँ। जैसे इस ब्रह्माण्डके मध्य मैं सृष्टिकर्ममें लगाया गया हूँ, वैसे आपके एक-एक रोममें ब्रह्माण्ड हैं और उन ब्रह्माण्डोंमें मुझ-जैसे करोड़ों ब्रह्मा हैं। आपकी महिमा अचिन्त्य है, आपको नमस्कार है। आपका स्वरूप चिन्मय है, आपको बार-बार नमस्कार है। आप देवताओंके अधिदेवता हैं, आपको नमस्कार है। देवदेव! आपको नमस्कार है। दिव्य और अदिव्य स्वरूपवाले आपको नमस्कार है। दिव्य रूपमें प्रकट होनेवाले आपको नमस्कार है। आप जरा और मृत्युसे रहित तथा मृत्युरूप हैं, आपको नमस्कार है। आप मृत्युकी भी मृत्यु हैं, शरणागतोंकी मृत्युका नाश करनेवाले हैं, सहज आनन्द आपका स्वरूप है, भक्ति आपको प्रिय है, आप जगत्के माता और पिता हैं, आपको बार-बार नमस्कार है। शरणागतोंकी पीड़ाका नाश करनेके लिये सदा उद्योग करनेवाले प्रभो! आपको नमस्कार है। आप दीनोंके प्रति करुणाके स्वाभाविक समुद्र हैं, आपको बार-बार नमस्कार है। आप पर हैं, पररूप हैं तथा परपार (भवसागरके दूसरे पार) हैं, आपको नमस्कार है। जिसको कहीं पार नहीं मिलता उसके पारस्वरूप आप ही हैं, आप ही ब्रह्मरूप हैं, आपको नमस्कार हैं, आप परमार्थस्वरूप तथा परहेतु (उत्कृष्ट कारण) हैं। आपको नमस्कार है। परम्परासे व्याप्त परमतत्त्वमें तत्पर रहनेवाले आपको नमस्कार है। प्रणतजनोंके दुःखका संहार करनेवाले आपको नमस्कार है। नाथ! यदि आप प्रसन्न हों, तो मेरे लिये कौन-सी वस्तु दुर्लभ है? अज्ञानरूपी अन्धकारसे आच्छन्न हुए इस विश्वरूपी कारागारके भीतर मुक्तिकी इच्छासे भटकनेवाला मनुष्य, आपके सिवा और कोई द्वार नहीं पाता। आप सम्पूर्ण विश्वके लिये एकमात्र वन्दनीय हैं, आपको नमस्कार है। देवता और दानव सभी आपके चरणारविन्दोंकी अर्चना करते हैं, आपको नमस्कार है। आप सन्ताप हरनेके लिये एकमात्र चन्द्रमा हैं, आपको नमस्कार है, नमस्कार है। आप कल्याणमय ज्ञानघनस्वरूप हैं, आपको बार-बार नमस्कार है। आप कल्पना करनेवालोंसे सदा ही दूर रहते हैं, आपको नमस्कार है। आप दुर्लभ कामनाओंको देनेवाले कल्पवृक्षरूप हैं, आपको

नमस्कार है। दीनों, असहायों और शरणागतोंकी दुःखराशिका संहार करनेके लिये एकमात्र आप ही सदा कमर कसे रहते हैं, आपको नमस्कार है। जगन्नाथ! दुःखके समुद्रमें डूबे हुए प्राणियोंपर आप प्रसन्न होइये। करुणाकर! आप लीलापूर्वक कृपाकटाक्ष करके उन सबका उद्धार कीजिये।'

इस प्रकार वेदार्थोंद्वारा श्रीजगन्नाथकी स्तुति करके ब्रह्माजी धरणीधर शेषके अवतारभूत बलभद्रजीका दर्शन करनेके लिये गये और अतिशय भक्तिपूर्वक प्रणाम करके उन्होंने उनका भी स्तवन किया—'देवेश! आकाश आपका मस्तक है और जल आपका शरीर है। पृथ्वी चरण है, अग्नि मुख है और वायुदेवता श्वास हैं। मन चन्द्रमा, नेत्र सूर्य और भुजा सम्पूर्ण दिशाएँ हैं। नाथ! ज्ञानदर्पण! आपको नमस्कार है। चौदहों भुवनोंके मूल स्तम्भरूप आप हलधरको नमस्कार है। जो आपके चरणारविन्दोंकी शरण लेते हैं, उनकी पापराशिको आप विदीर्ण कर डालते हैं; आपको नमस्कार है। आपके मुख, नेत्र, कान, चरण और भुजाएँ अनन्त हैं। अनादि, महामूल, अज्ञानान्धकार-राशिका विनाश करनेके लिये सूर्यस्वरूप आप बलभद्रजीको नमस्कार है। वेदत्रयी आपका स्वरूप है। तीन प्रकारके दोषोंका नाश करनेके लिये त्रिविध अवतार धारण करनेवाले आपको नमस्कार है। भगवन्! ये नारायणदेव जो वेदान्तोंमें गाये जाते हैं, आपसे भिन्न नहीं हैं। आप शय्या हैं और वे शयन करनेवाले हैं। वे आच्छादनीय हैं और आप उनका आच्छादन करनेवाले हैं। जो कृष्ण हैं, वे बलराम हैं; जो बलराम हैं, वे ही कृष्ण हैं। आप दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। जगन्मय! आप प्रसन्न होइये।'

इस प्रकार परमेश्वर बलभद्रजीको प्रणाम करके ब्रह्माजी जगदीश्वरी सुभद्राका दर्शन करनेके लिये उनके रथके समीप गये और इस प्रकार बोले—'जगदम्ब! देवि! तुम्हारी जय हो। परमेश्वरि! तुम्हीं सर्वशक्ति हो, तुम्हें नमस्कार है। कैवल्य मोक्ष प्रदान करनेवाली सुभद्रा देवी! मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। कल्याणमयी सुभद्रे! तुम्हारी जय हो।'

इस प्रकार ब्रह्माजीने कल्याणमयी सुभद्राकी स्तुति करके उन्हींके समीप रथपर विराजमान भगवान् विष्णुके चौथे स्वरूप चक्र सुदर्शनको भी प्रणाम किया। तत्पश्चात् बड़ी भक्तिसे उसकी इस प्रकार स्तुति की—'हे सुदर्शन! आप महाज्वालामय हैं। आपकी प्रभा करोड़ों सूर्योंके समान है। जो अज्ञानरूपी अन्धकारसे अन्धे हो रहे हैं, उन्हें वैकुण्ठका मार्ग दिखानेवाले आप ही हैं। आप नित्य शोभाशाली तथा वैष्णवोंके अपने धाम हैं। आप भगवान् विष्णुके ही एक स्वरूप हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूँ।'

इस प्रकार प्रणाम और स्तुति करके ब्रह्माजी देवताओंके साथ मन्दिरके समीप गये और वहाँ उन्होंने अपने मनको अनुकूल प्रतीत होनेवाली परम सुन्दर शाला देखी। तदनन्तर वे राजाके दिये हुए दिव्य सिंहासनपर आसीन हुए। ब्रह्माजीकी आज्ञासे राजा इन्द्रद्युम्नने शान्तिकर्म करनेके लिये महामुनि भरद्वाजका वरण किया। प्रतिष्ठाकर्ममें भेंट-पूजा चढ़ानेके लिये जो-जो देवता अभीष्ट माने गये हैं तथा होमकर्ममें जिन-जिन देवताओंके लिये आहुति देनेका विधान है, वे सभी ध्यान करनेपर ब्रह्माजीकी आज्ञासे चारों दिशाओंमें आकर स्वयं उपस्थित हो गये। फिर गन्ध, पुष्प, माला, अलंकार और आभूषण आदिके द्वारा उनकी भलीभाँति पूजा की गयी। तत्पश्चात् बुद्धिमान् भरद्वाजजीने देवाधिदेव ब्रह्मा तथा सब देवताओंके समक्ष कर्म आरम्भ किया। राजा इन्द्रद्युम्नने बड़ी प्रसन्नताके साथ सबका पूजन किया। भगवान्‌के विग्रहस्वरूप उस मनोहर मन्दिरकी, जिसमें अत्यन्त महान् ध्वज फहरा रहा था, प्रतिष्ठा करके भरद्वाजजीने भगवद्विग्रहोंमें प्राणप्रतिष्ठाके लिये ब्रह्माजीसे अनुरोध किया। तब ब्रह्माजी

उठे। उन्होंने नारद आदि ऋषियों तथा विद्वान् ब्राह्मणोंके साथ स्वयं स्वस्तिवाचन किया। ब्राह्मणलोग वैदिक सूक्तोंका पाठ करने लगे। भाँति-भाँतिके मंगल वाद्य बजने लगे। उस समय सबने रथके समीप जाकर सीढ़ियोंके मार्गसे सावधानीके साथ भगवद्विग्रहोंको उतारा। दोनों बगलमें, भुजाओंमें, मस्तकपर तथा दोनों चरणोंमें हाथ लगाकर लोग धीरे-धीरे भगवान् नारायणको रूईदार गद्देपर विश्राम कराते हुए मन्दिरके समीप ले गये। ऊपर-ऊपरसे पारिजात पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। ब्रह्माजी इस प्रकार स्तुति करने लगे—'जगन्नाथ श्रीकृष्ण! आपकी जय हो। सब पापोंका नाश करनेवाले प्रभो! आपकी जय हो। लीलासे काष्ठ-विग्रह धारण करनेवाले नारायण! आपकी जय हो। सबको मनोवांछित फल देनेवाले माधव! आपकी जय हो। संसार-सागरमें डूबे हुए जीवोंका लीलापूर्वक उद्धार करनेवाले अविनाशी परमेश्वर! आपकी जय हो, जय हो। करुणासागर! आपकी जय हो। दीनोद्धार-परायण! आपकी जय हो। अच्युत! अनन्त! ईशान! आपकी जय हो, जय हो, जय हो। प्रभो! आपको नमस्कार है।' यह स्तुति होते समय नारदजी बड़ी प्रसन्नताके साथ वीणा बजाते थे। भगवान्‌के मस्तकपर पीछेकी ओरसे दो रत्नमय छत्र लगाये गये। दोनों पार्श्वभागमें चामरग्राही देवता पंक्तिबद्ध खड़े थे, जो धीरे-धीरे चँवर डुला रहे थे। इसी प्रकार सब लोग बड़े कौतूहलके साथ बलभद्र, सुभद्रा तथा सुदर्शन चक्रके विग्रहोंको भी ले गये। मन्दिरके मुख्यद्वारपर रत्नमय स्तम्भोंसे सुशोभित मण्डप तैयार किया गया था। उसमें अभिषेकके लिये भगवान्‌को पधराया गया। उन सब विग्रहोंके सामने दर्पण रख दिये गये। फिर रत्नोंके कलशोंमें रखे हुए तीर्थोंके जलसे क्रमशः पुरुषसूक्त और श्रीसूक्त पाठ करते हुए स्वयं ब्रह्माजीने लोकशिक्षाके लिये अभिषेक किया। तत्पश्चात् अलंकार धारण कराकर भगवद्विग्रहोंको गन्ध और माला आदिसे सुशोभित करके ब्रह्माजीने स्वयं ही आरती उतारी और मन्त्र पढ़ते हुए उन सब विग्रहोंको रत्नमय सिंहासनोंपर स्थापित किया।

**ब्रह्माजी बोले**—सम्पूर्ण जगत्‌के आधार तथा समस्त लोकोंमें प्रतिष्ठित सर्वव्यापी जनार्दन! आप इस मन्दिरमें सुस्थिर भावसे विराजमान होइये। यह प्रतिष्ठा सुप्रतिष्ठा हो। नाथ! आपके प्रतिष्ठित होनेपर हम सब यहाँ प्रतिष्ठित होंगे। आपकी आज्ञा और आपके प्रसादसे यह प्रतिष्ठा परिपूर्ण हो।

इस प्रकार जगन्नाथकी स्थापना करके ब्रह्माजीने उनके हृदय-कमलका स्पर्श करते हुए आनुष्टुभ मन्त्रराज*का एक सहस्र जप किया। वैशाखमासके शुक्ल पक्षमें अष्टमी तिथिको पुष्य नक्षत्रके योगमें उत्तम बृहस्पतिके दिन भगवान् जगन्नाथकी प्रतिष्ठा की गयी। इसलिये वह दिन परम पवित्र एवं सब पापोंका नाश करनेवाला है। उसमें किया हुआ स्नान, दान, तप, होम आदि सब पुण्यकार्य अक्षय होता है। जो मनुष्य उस दिन भक्तिभावसे भगवान् श्रीकृष्ण, बलराम और सुभद्राजीका दर्शन करते हैं, वे निःसन्देह मोक्षके भागी होते हैं। वैशाखमासमें जो शुक्ल पक्षकी अष्टमी आती है, उसमें यदि बृहस्पतिवार और पुष्य नक्षत्रका योग हो तो उस दिन किया हुआ जगन्नाथजीका पूजन कोटि जन्मोंके पापोंका नाश करनेवाला होता है।

---

* मन्त्रराज आनुष्टुभ इस प्रकार है—

उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्॥

# ब्रह्माजीके द्वारा भगवत्स्वरूपकी एकताका प्रतिपादन तथा भगवान्‌का राजा इन्द्रद्युम्नको अपनी सेवाका आदेश देना

**जैमिनिजी कहते हैं**—तदनन्तर राजा इन्द्रद्युम्नने मन-ही-मन आश्चर्यसे चकित होकर ब्रह्माजीसे पूछा—'भगवन्! यज्ञके अन्तमें भगवान् विष्णुने वैसे ही काष्ठनिर्मित स्वरूप धारण किये थे, जो रथपर विराजमान थे। आपने मन्दिरके भीतर भी उन्हीं विग्रहोंके रूपमें भगवान्‌की प्रतिष्ठा की है। पहले आकाशवाणीने भी मुझसे यही कहा था कि इस अपौरुषेय वृक्षसे भगवान् चार स्वरूपोंमें अभिव्यक्त होंगे। परंतु इस समय ये एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मरूपमें प्रतिष्ठित दिखायी देते हैं। प्रभो! यदि आप मुझे इस रहस्यको सुननेका अधिकारी समझते हैं तो ठीक-ठीक बताइये।'

**ब्रह्माजीने कहा**—राजन्! यह काष्ठकी मूर्ति है, ऐसा सोचकर तुम्हारे मनमें इसके प्रति साधारण प्रतिमा-बुद्धि न हो। वास्तवमें यह परब्रह्मका स्वरूप है। जो विदारण करे या दान दे उसको दारु कहते हैं। परब्रह्म परमात्मा स्वभावसे ही सब दुःखोंका विदारण और अखण्ड आनन्दका दान करते हैं। इसलिये उनका नाम दारु है। इस प्रकार चारों वेदोंके अनुसार भगवान् श्रीहरि दारुमय हैं। वे जगत्‌के स्रष्टा हैं। इसलिये उन्होंने अपनेको भी दारुमय स्वरूपमें प्रकट कर लिया। शब्दब्रह्म और परब्रह्ममें कोई भेद नहीं है। प्रलयके समय दोनों एक हैं। केवल सृष्टिकालमें व्यावहारिक भेद रहता है। शब्द और अर्थ दोनों एक-दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाले हैं। अर्थके अभावमें शब्द नहीं और शब्दके अभावमें अर्थबोध नहीं होता। इसलिये चारों वेद जैसे शब्द हैं, वैसे ही अर्थ भी हैं। भगवान् हलधर ऋग्वेद-स्वरूप हैं। नृसिंहजी सामवेदरूप हैं। सुभद्रादेवी यजुर्वेदकी मूर्ति हैं और यह सुदर्शन चक्र अथर्ववेदका स्वरूप माना गया है। वेद चार हैं—यह भेद दृष्टि है। अभेद दृष्टिसे सम्पूर्ण वेद एक ही राशि हैं। अतः तुम्हारे मनमें सन्देह नहीं होना चाहिये। एक ही सर्वव्यापी भगवान् अनेक रूपोंमें व्यक्त होते हैं। अन्य अवतारोंमें भी वे इसी न्यायसे बर्ताव करते हैं। राजन्! इस प्रकार मैंने तुमसे भगवान् जगन्नाथके भेद और अभेद—दोनों ही बताये हैं। जिससे तुम्हारे मनको सन्तोष हो, उसी दृष्टिसे भक्तिपूर्वक भगवान्‌की आराधना करो। भगवान् सर्वरूपमय हैं तथा सर्वमन्त्रमय हैं। जो जिस प्रकार उनकी आराधना करता है, उसे वे उसी प्रकार फल देते हैं। इसी महिमासे भगवान् विष्णु यहाँ प्रकट हुए हैं। जिसका जितना विश्वास है, उसे उतनी सिद्धि प्राप्त होती है। तुम शुद्ध चित्तसे मन, वाणी और क्रियाद्वारा यहाँ दारु-विग्रह (काष्ठमय स्वरूप) धारण करनेवाले भगवान् गोविन्दकी आराधना करो और इस मन्त्रराजके द्वारा श्रीहरिकी पूजा किया करो। इस मन्त्रसे बढ़कर दूसरा कोई मन्त्र न हुआ है, न होगा। इससे पूजित होनेपर भगवान् विष्णु तत्काल प्रसन्न होते हैं तथा भक्तवत्सल भगवान् अपना परम धाम देते हैं। राजन्! मैं तुमसे एक तत्त्वकी बात कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो। समुद्रके तटपर वटवृक्षके मूलके समीप नीलाचल पर्वतके शिखरपर निवास करनेवाले जो काष्ठमयी मूर्तिके व्याजसे साक्षात् अमृतमय परब्रह्म हैं, उनका दर्शन करके मनुष्य निश्चय ही मोक्षको प्राप्त होता है।

ब्रह्माजीने लोकशिक्षाके लिये राजासे यह सब कहकर पहले प्रकाशमें आये हुए भगवान् विष्णुके

चतुर्विध स्वरूपको प्रकट किया। रथसे उतारते समय जो चार मूर्तियाँ देखी गयी थीं, अब वे ही सिंहासनके ऊपर विराजमान हो गयीं, यह सब लोगोंने प्रत्यक्ष देखा। तत्पश्चात् ब्रह्माजीने द्वादशाक्षर मन्त्रसे बलभद्रजीकी, पुरुषसूक्तसे भगवान् नारायणकी, देवीसूक्तसे सुभद्राजीकी तथा द्वादशाक्षर ( **ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**) मन्त्रसे सुदर्शन चक्रकी पूजा की। उसके बाद राजापर अनुग्रह करनेके लिये उन्होंने भगवान्से इस प्रकार निवेदन किया।

**ब्रह्माजी बोले**—भगवन्! भक्तोंपर अनुग्रह करनेवाले देवदेवेश्वर! इन्द्रद्युम्न दीर्घकालसे आपकी भक्ति करते आ रहे हैं और अब इन्हें आपका दर्शन हुआ। भगवन्! यद्यपि आपका दर्शन सायुज्य मुक्तिका कारण है तो भी ये भक्तियोगके द्वारा आपकी पूजा करनेकी ही अभिलाषा रखते हैं। इसलिये इन्हें आज्ञा दीजिये, जिससे ये भक्तियोगके द्वारा देशकालोचित व्रत आदि तथा भाँति-भाँतिके उपचारोंसे आपकी पूजा करते रहें।

ब्रह्माजीके द्वारा इस प्रकार निवेदन करनेपर काष्ठमय शरीर धारण किये होनेपर भी भगवान्ने मुसकराते हुए गम्भीर वाणीमें कहा, 'इन्द्रद्युम्न! मैं तुम्हारी भक्ति तथा निष्काम कर्मोंसे बहुत प्रसन्न हूँ। मुझमें तुम्हारी स्थिर भक्ति हो। करोड़ोंका धन लगाकर जो तुमने मेरा मन्दिर बनवाया है, इसके भंग हो जानेपर भी मैं इस स्थानका परित्याग नहीं करूँगा। कालान्तरमें भी जो कोई दूसरा पुरुष यहाँ मन्दिर बनवायेगा, तुम्हारे प्रेमसे उसमें भी मेरी स्थिति रहेगी। मन्दिर भंग होनेपर भी मैं इस स्थानका कभी त्याग नहीं करूँगा। जबतक ब्रह्माजीका दूसरा परार्ध पूरा होगा तबतक इस काष्ठमय विग्रहसे ही मैं यहाँ निवास करूँगा। सत्ययुगके प्रथम ज्येष्ठमें यज्ञका प्रारम्भ हुआ और ज्येष्ठकी अमावस्याको* मैंने अवतार लिया है। वही मेरा पवित्र जन्मदिन है। उस दिन महास्नानकी विधिसे प्रत्यर्चामें अधिवासपूर्वक मुझे स्नान कराना चाहिये। ऐसा करनेसे मैं कोटि जन्मोंमें उपार्जित पापराशिका विनाश कर डालूँगा। उस दिन मेरा दर्शन करनेवालोंको सम्पूर्ण तीर्थों, यज्ञों और दानोंका फल प्राप्त होगा। वटवृक्षके उत्तर एक सर्वतीर्थमय कूप है, उसे खोदकर प्रकाशमें लाओ। ज्येष्ठकी अमावस्याको प्रातःकाल मुझको, बलभद्रजीको और सुभद्राको उस कूपके जलसे स्नान कराकर मनुष्य मेरे लोकको प्राप्त कर लेगा। आषाढ़ मासकी शुक्ला द्वितीया यदि पुष्य नक्षत्रसे युक्त हो तो वह इस तीर्थमें मोक्षदायिनी मानी गयी है। नक्षत्रके अभावमें भी मेरी प्रसन्नताके लिये उस तिथिको यात्रा करनी चाहिये। आषाढ़ शुक्ल पक्षकी पुष्य नक्षत्रयुक्त द्वितीया तिथिको मुझको, बलभद्रजीको, सुभद्राको रथपर बिठाकर महान् उत्सवके लिये बहुत-से ब्राह्मणोंको तृप्त करके 'गुण्डिचामण्डप' नामक स्थानको ले जाना चाहिये, जहाँ पहले मैं प्रकट हुआ था। सहस्र अश्वमेध यज्ञकी महावेदी उस समय वहीं थी। उससे बढ़कर पवित्र स्थान इस पृथ्वीपर दूसरा नहीं है। जैसे ब्रह्माके अनुरोधसे और तुम्हारे बनवाये हुए इस महामन्दिरसे इस समय यह नीलाचलका शिखर मेरी अत्यन्त प्रसन्नताका कारण हो रहा है, उसी प्रकार नृसिंह क्षेत्रमें तुम्हारे यज्ञकी वह महावेदी तथा मेरी उत्पत्तिका वह मण्डप मुझे अत्यन्त प्रसन्नता देनेवाला है। मैं बहुत समयतक वहाँ स्थित रहा हूँ, इसलिये उसपर मेरा बहुत प्रेम है। मैं यहाँ तुम्हारी भक्तिसे सदैव स्थित रहूँगा। मेरे उत्थान (हरिबोधिनी एकादशी), मेरे शयन (हरिशयनी एकादशी), मेरे करवट बदलने

* यह तिथि गुजरातके हिसाबसे है। अन्य कई प्रान्तोंकी गणनासे यह आषाढ़ कृष्णा अमावस्या होती है। शुक्ल पक्षमें सब प्रान्तोंकी गणना समान है।

(भाद्रपद शुक्ला एकादशी), मेरे मार्ग प्रावरण तथा पुष्य स्नानका महोत्सव करें। फाल्गुनकी पूर्णिमाको मेरे लिये दोलोत्सव करना चाहिये। जो दोलामें दक्षिणाभिमुख पूजित हुए मेरा दर्शन करते हैं, वे ब्रह्महत्या आदि सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं।'

## समुद्रमें स्नानकी विधि और भगवद् विग्रहोंका वर्णन

**मुनियोंने पूछा**—महर्षे! इन्द्रद्युम्नने भगवान् लक्ष्मीपतिके जन्मस्नानका उत्सव किस विधिसे किया? इसके अतिरिक्त भगवान्‌के अन्य सब उत्सवोंका भी विधिपूर्वक वर्णन कीजिये।

**जैमिनिजी बोले**—मुनिवरो! इस समय मैं ज्येष्ठस्नानका वर्णन करता हूँ। ज्येष्ठ शुक्ला दशमीको व्रतसंकल्प करके मौन रहे। प्रातःकाल उठकर 'मार्कण्डेयावट' नामक तीर्थको जाय और आचमन करके दोनों हाथ जोड़कर मार्कण्डेयेश्वरको प्रणाम करके भगवान् भैरवसे भी आज्ञा ले। फिर तीर्थमें प्रवेश करके वरुणदेवता सम्बन्धी पाँच वैदिक मन्त्रोंसे, तीन आवृत्ति करके अघमर्षण सूक्तसे तथा निम्नांकित मन्त्रसे स्नान करे—

**संसारसागरे मग्नं पापग्रस्तमचेतनम्।**
**त्राहि मां भगनेत्रघ्न त्रिपुरारे नमोऽस्तु ते॥**

'भगनेत्रविनाशक भगवान् त्रिपुरारि! आपको नमस्कार है। मैं पापग्रस्त मूढ़ मानव संसार-सागरमें डूबा हुआ हूँ, मेरी रक्षा कीजिये।'

इस प्रकार स्नान करके बाहर निकले और भगवान् शंकरका दर्शन करके मौनभावसे भगवान् नारायणके समीप जाय। मार्कण्डेयेश्वरसे दक्षिण दिशामें जो विष्णुस्वरूप उत्तम वटवृक्ष स्थित है, वह दर्शनमात्रसे पाप-राशिका नाश करनेवाला है। उसका दर्शन करके उसमें भगवान् पुरुषोत्तमकी भावना करते हुए दूरसे ही प्रणाम करे। फिर निम्नांकित मन्त्रका उच्चारण करते हुए उसकी परिक्रमा करे—

**अमरस्त्वं सदा कल्प विष्णोरायतनं महत्।**
**न्यग्रोध हर मे पापं विष्णुरूप नमोऽस्तु ते॥**
**नमोऽस्त्वव्यक्तरूपाय महाप्रलयस्थायिने।**
**एकाश्रयाय जगतां कल्पवृक्षाय ते नमः॥**

'हे कल्पवट! आप सदाके लिये अमर हैं। भगवान् विष्णुके महान् निवासस्थान हैं। हे विष्णुरूप वट! मेरे पापको हर लीजिये, आपको नमस्कार है। आप अव्यक्तस्वरूप, महाप्रलय कालमें भी स्थिर रहनेवाले, जगत्‌के एकमात्र आश्रय तथा कल्पवृक्ष हैं। आपको नमस्कार है।'

इस प्रकार स्तुति करके मनुष्य उस वृक्षके नीचे भक्तिपूर्वक भगवान् विष्णुके नामोंका जप करे। इससे वह सौ करोड़ जन्मोंके पापोंसे भी मुक्त हो जाता है। उसकी छायामें चलनेमात्रसे भी मनुष्यके पाप दूर हो जाते हैं। तत्पश्चात् भगवान्‌के वाहनरूप गरुड़जीको, जो भगवान् श्रीहरिके आगे भक्तिसे नतमस्तक होकर हाथ जोड़े खड़े हैं, प्रणाम करे। उसके बाद—

**छन्दोमय जगद्धामन् यानरूप त्रिवृद्वपुः।**
**यज्ञरूप जगद्व्यापिन् प्रीयमाणाय ते नमः॥**

'हे गरुड़! आप छन्दोमय, जगत्‌के आश्रय, भगवान्‌के वाहनरूप, वेदत्रयीमय शरीरवाले, यज्ञरूप और विश्वव्यापी हैं। सदा प्रसन्न रहनेवाले आपको मेरा नमस्कार है।'

इस प्रकार गरुड़की स्तुति करके भगवान्‌के मन्दिरमें प्रवेश करे और उसकी तीन बार परिक्रमा करके मन्त्रराज आनुष्टुभसे या पुरुषसूक्तसे अथवा द्वादशाक्षर (**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**) मन्त्रसे—जिसमें जिसकी रुचि हो उससे, पूजन करे। पंचोपचारकी विधिसे परमेश्वर जगन्नाथजीकी पूजा करे। पूजाके पश्चात् हाथ जोड़कर इस प्रकार

स्तुति करे—'देवदेव जगन्नाथ! आप संसार-समुद्रसे तारनेवाले हैं। भक्तोंपर अनुग्रह करनेवाले जगदीश्वर! आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ, आप सदा मेरी रक्षा करें। श्रीकृष्ण! आपकी जय हो। जगन्नाथ! आपकी जय हो। आप सबके पापोंका नाश करनेवाले हैं। आपके युगल चरणारविन्द विश्वके लिये वन्दनीय हैं। आपको नमस्कार है। कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके ईश्वर! आपकी जय हो। वेद आपके निःश्वास वायु हैं, समस्त जगत्के आधारभूत परमात्मन्! आपको नमस्कार है। प्रभो! आप शरणमें आये हुए ब्रह्मा, इन्द्र तथा रुद्र आदि देवताओं और प्रणतजनोंकी पीड़ाको दूर करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। समस्त संसारके निवासस्थान आपकी जय हो। अन्तर्यामिन्! आपको नमस्कार है। अकारण करुणासागर! दीनदयालु! आपकी जय हो। दीनों और अनाथोंको एकमात्र शरण देनेवाले विश्वसाक्षी परमेश्वर! आपको नमस्कार है। देवेश्वर! जिसमें मोहरूपी भँवर उठते हैं, जो अत्यन्त दुस्तर है, क्षुधा-पिपासा आदि छहों ऊर्मियोंके कारण जिसके दूसरे किनारेतक पहुँचना अत्यन्त कठिन है, कुकर्मरूपी ग्राहोंके कारण जो अत्यन्त भयानक दिखायी देता है, जहाँ कोई आश्रय अथवा अवलम्ब नहीं दिखायी देता, जो सर्वथा निस्सार और दुःखरूपी फेनसे युक्त है, उस संसारसमुद्रके जलमें मैं आपकी मायाके गुणोंसे आबद्ध होकर विवश अवस्थामें पड़ा हूँ। आप अपनी कृपाकटाक्षपूर्ण दृष्टिसे देखकर वहाँसे मेरा उद्धार कीजिये। सुरश्रेष्ठ! आप अपनी परम प्रसन्नताके प्रकाशक हैं। जगन्नाथ! संसारभयसे डरनेवाले जीवोंके सहायक बन्धु एकमात्र आप ही हैं। भूख और प्यास प्राणके, शोक और मोह मनके तथा जरा और मृत्यु शरीरके कष्ट हैं। ये ही संसार-सागरकी छः ऊर्मियाँ हैं। इनसे रक्षा कीजिये। भगवन्! आपकी सृष्टिमें आपके समान दीनोंका पालन करनेवाला दूसरा कोई नहीं है, अतः सब लोगोंपर कृपा करनेके लिये आप स्वयं अवतीर्ण हुए हैं। अन्यथा आप पूर्णकाम परमेश्वरके इस पृथ्वीपर आनेका और क्या कारण हो सकता है? जगत्पते! आपके चरणकमलोंकी शरणमें आ जानेसे कोई चिन्ता नहीं रह जाती, क्योंकि आपके चरणारविन्द चारों पुरुषार्थोंके एकमात्र साधक हैं—दर्शनमात्रसे सबके समस्त मनोवांछित फल देनेवाले हैं।'

तदनन्तर शेषसम्बन्धी मन्त्रसे भगवान् बलभद्रजीकी पूजा करे। द्वादशाक्षर मन्त्रसे अथवा आदिमें प्रणव लगाकर नाम मन्त्रसे भी पूजा कर सकते हैं। फिर एकाग्रचित्त होकर प्रणाम करके स्तुतिपाठके द्वारा उन्हें प्रसन्न करे—'सदा सत्पुरुषोंको सुख देनेवाले सच्चिदानन्दस्वरूप बलरामजी! आपकी जय हो। आपकी निर्मल आकृति अविद्यामय पंकसे रहित है, आपको नमस्कार है। सम्पूर्ण जगत्का भार धारण करके भी कभी थकित न होनेवाले बलभद्र! आपकी जय हो। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—तीनों तापोंका विकर्षण (विनाश) करनेके लिये आप सदा अपने हाथमें हल लिये रहते हैं। शरणागतों और दीनोंकी रक्षाके लिये आपके नेत्र सदा खुले रहते हैं। ईश्वर! आप ही दूसरोंके समस्त पापोंका नाश करनेमें समर्थ हैं। निर्मल करुणासागर! दीनबन्धु! आपको नमस्कार है। आपने अपने फणके अग्रभागसे समस्त चराचरसहित इस पृथ्वीको धारण कर रखा है। प्रभो! जिसके पार जाना कठिन है, उस अपार भवसागरसे मेरा उद्धार कीजिये। आप पर और अपर—सबसे श्रेष्ठ हैं। परमेश्वर! आपको नमस्कार है।'

मुसलधारी नागराज बलभद्रकी इस प्रकार स्तुति करके जगत्की आदिकारणरूपा कल्याणमय नेत्रोंवाली सुभद्रा देवीकी पूजा करे। फिर चरणोंमें प्रणाम करके उन विजयस्वरूपा भगवतीको स्तुतिद्वारा इस प्रकार प्रसन्न करे—'देवि! सुभद्रे! आपकी जय हो। संसारसे पार उतारनेवाली

महादेवी! आप प्रसन्न होइये। शरणागतोंको सुख देनेवाली तथा सबको सन्तुष्ट करनेवाली देवि! आपकी जय हो। परमात्माके सृष्टि, पालन और संहार आदि कर्मोंकी सिद्धि करनेवाली उनकी अनुपम शक्ति एकमात्र आप ही हैं। आप ही सब लोकोंकी जननी, भगवान् विष्णुकी माया, तपस्विनी तथा भद्ररूपा सुभद्रा हैं। आपको नमस्कार करता हूँ। जगत्की मूलभूता सुभद्रा देवीको मैं प्रणाम करता हूँ।'

इसके बाद समुद्रस्नानके लिये भगवान् पुरुषोत्तमकी प्रार्थना करे—'विश्वव्यापी! चराचरस्वरूप भगवान् विष्णु! आपको नमस्कार है। प्रभो! मेरा समुद्रस्नान निर्विघ्न पूर्ण हो। शंख-चक्र-गदाधारी जगदीश्वर! मुझे स्नानके लिये आज्ञा दीजिये।' तदनन्तर भगवान् विष्णुका ध्यान करते हुए एकाग्रचित्त एवं मौन होकर समुद्रके समीप जाय और तीर्थराजके आत्माका चिन्तन करते हुए हाथ जोड़कर इस मन्त्रका उच्चारण करे—

**सुदर्शन नमस्तेऽस्तु कोटिसूर्यसमप्रभ।**
**अज्ञानतिमिरान्धस्य विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय॥**

'कोटि-कोटि सूर्योंके समान प्रकाशमान सुदर्शन! आपको नमस्कार है। मैं अज्ञानान्धकारसे अन्धा हो रहा हूँ, मुझे भगवान् विष्णुका मार्ग दिखाइये।'

इस प्रकार सुदर्शनकी प्रार्थना करके तीर्थराज समुद्रके जलके समीप पृथ्वीपर घुटने टेककर भक्तिभावसे प्रणाम करे और—

**तीर्थराज नमस्तुभ्यं जलरूपाय विष्णवे।**
**जीवनाय च जन्तूनां परं निर्वाणहेतवे॥**

'हे तीर्थराज! आप जलरूपी विष्णु हैं, समस्त जन्तुओंके जीवनदाता हैं और परम शान्तिके हेतु हैं। आपको नमस्कार है।'

यह मन्त्र पढ़ते हुए जलके भीतर प्रवेश करे। समुद्रके जलमें डूबकर मन्त्र-जप करनेका विधान नहीं है। समुद्रमें स्नान करके उठे और विधिपूर्वक आचमन करके प्रार्थना करे—'जगत्पते! तीर्थराज! तुम्हें नमस्कार है। पहलेके कोटिसहस्र जन्मोंमें जिस पाप-राशिका संचय किया गया है, वह सब नष्ट हो जाय।' इस प्रकार स्नान करके तटपर आ जाय और आचमन करके मौन हो दो उज्ज्वल वस्त्र धारण करे। फिर भू-देवी और लक्ष्मी-देवीके साथ शंख-चक्र-गदाधारी चतुर्भुज भगवान् नारायणका ध्यान करके उन्हें मानसिक पूजासे सन्तुष्ट करे। तत्पश्चात् बाहर आवाहन करके भी पूजा करे, जिसकी विधि इस प्रकार है— भगवान्के लिये भावनाद्वारा रत्नसिंहासन देकर यह चिन्तन करे कि भगवान् इसपर विराजमान हैं। फिर उनके दोनों चरणारविन्दोंमें पाद्य निवेदन करे। वह पाद्य श्यामाक, कमल, दूर्वा और अपराजिता लतासे युक्त हो तथा मूलमन्त्रसे उसका संस्कार किया गया हो। पाद्य अर्पण करनेके पश्चात् सोने, चाँदी, ताँबे अथवा शंखके पात्रमें जल, चन्दन, फूल, यव, दूर्वा, कुशाग्र, फल, सरसों और तिलसे विधिपूर्वक अर्घ्यका संस्कार करे। दूर्वा और कुशके अग्रसे अर्घ्य करे। जल लेकर भगवान्के मस्तकपर सींचे। फिर बचे हुए जलको उन्हींके आगे पृथ्वीपर गिरा दे। यह अर्घ्यकी विधि बतायी गयी। उसके बाद जायफल, कंकोल और लवंगसे संस्कार किये हुए जलको भगवान्के आचमनके लिये दे। पुनः अपनी शक्तिके अनुसार पाट, रेशम अथवा कपासके बने हुए दो वस्त्र अर्पण करने चाहिये। फिर यथाशक्ति हार, केयूर, मुकुट और कण्ठा आदि आभूषण भगवान्के अंगोंमें पहनावे। सूतके बने हुए यज्ञोपवीतको गन्ध एवं चन्दनसे चर्चित करके अर्पण करे। तत्पश्चात् कपूर, चन्दन, कस्तूरी और कुंकुमसे अनुलेपन करे। चमेली, कमल, चम्पा, अशोक, पुन्नाग, नागकेसर तथा अन्य सुगन्धित पुष्पोंसे बनी हुई माला अथवा माल्य

और तुलसीदलकी माला पहनावे तथा कुछ छूटे फूल भी भगवान्‌के मस्तकपर बिखेरे। जो गलेसे लेकर पैरोंतक लंबी हो, उसका नाम माला है और जिसकी लंबाई कण्ठसे लेकर जंघातक हो, उसे माल्य कहते हैं। जो केशोंके मध्यमें पहनाया जाय, वह गर्भक कहा गया है। उसके बाद मस्तकपर पुष्पांजलि बिखेरनी चाहिये। पुष्पांजलिके पश्चात् गुग्गुल, अगुरु, खस, शक्कर, घी, मधु और चन्दनके द्वारा सुगन्धित धूप तैयार करके दे। उसके बाद गायके घीसे सुन्दर दीप जलाकर दे अथवा कर्पूरयुक्त बत्तीके साथ तिलके तेलसे दीपक जलाकर दे। तदनन्तर घीमें तैयार किया हुआ सुगन्धित अन्न, गायका दही, गायके दूधमें पकाकर शक्कर मिलाया हुआ केला, नाना प्रकारके व्यंजनोंसे युक्त पूआ और भाँति-भाँतिके फल—इन सबके सहित मनोरम सुगन्धयुक्त सरस एवं नूतन नैवेद्य तैयार करके भगवान्‌को समर्पित करे। धूप, दीप, नैवेद्य, स्नान, अर्घ्य, मधुपर्क, वस्त्र तथा यज्ञोपवीत—इनमेंसे प्रत्येकके अर्पण करनेपर भगवान्‌को आचमन करावे। अन्य कर्मोंमें आचमनके लिये केवल जल देना चाहिये। परंतु नैवेद्यके अन्तमें संस्कार किया हुआ उपचारयुक्त आचमन देना चाहिये। साथ ही करोद्वर्तनके लिये सुगन्धित चन्दन भी देना चाहिये। उसके बाद कपूर, लवंग, इलायची, जायफल और सुपारीके साथ ताम्बूल अर्पण करे। तत्पश्चात् एक सौ आठ बार मूल मन्त्रका जप करके अनन्य भावसे स्तुतिपाठ करे। फिर प्रदक्षिणा करके भगवान् पुरुषोत्तमकी प्रार्थना करे—'समस्त तीर्थोंके प्रवर्तक देवाधिदेव जगन्नाथ! आप सर्वतीर्थमय तथा सर्वदेवमय हैं। पापकी राशिमें डूबे हुए मुझ सेवककी रक्षा कीजिये। आपको नमस्कार है।'

इस प्रकार देवेश्वर भगवान् नारायणकी पूजा करके तीर्थराज समुद्रमें स्नान करनेवाला मनुष्य सब तीर्थोंका फल पाता है। कोटि गोदानसे, कोटि यज्ञसे, कोटि ब्राह्मणभोजनसे तथा कोटि महादानोंसे कर्म करनेवालोंके लिये जो पुण्य बताया गया है, वह इस समुद्रस्नानपूर्वक भगवत्-पूजनसे प्राप्त हो जाता है। अन्य तीर्थोंमें किया हुआ पाप समुद्रके किनारे नष्ट होता है और समुद्रके किनारे किया हुआ पाप समुद्रमें स्नान करनेसे नष्ट होता है। ब्रह्महत्यारा, शराबी, गोघाती आदि पाँच प्रकारके महापातकी मनुष्य भी समुद्रस्नान करनेसे निःसन्देह उन पापोंका प्रायश्चित्त कर लेते हैं। जो मनुष्य अपने जन्म, जीवन और शास्त्राध्ययनको सफल बनाना चाहे वह समुद्रतटपर आकर देवताओं और पितरोंका तर्पण अवश्य करे। कृच्छ्र और चान्द्रायण आदि तप सुलभ हैं, बहुत दक्षिणावाले अग्निष्टोम आदि यज्ञ भी सुलभ हैं, परंतु सिन्धुके जलसे पितरोंका तर्पण अत्यन्त दुर्लभ है। स्नानके आदि और अन्तमें जगन्नाथजीका पूजन और बीचमें तीर्थराजके जलमें स्नान करके मनुष्य मोक्षका भागी होता है। तदनन्तर शुद्ध चित्तवाला मनुष्य श्रीकृष्ण, बलभद्र और सुभद्राको नमस्कार करके उनके स्वरूपका चिन्तन करे।

## इन्द्रद्युम्न-सरोवरमें स्नान, नृसिंहजीका दर्शन-पूजन तथा भगवद्विग्रहोंके ज्येष्ठ-स्नानका वर्णन

**जैमिनिजी कहते हैं**—इसके बाद अपनेको कृतार्थ मानता हुआ मनुष्य अश्वमेध यज्ञके अंगसे उत्पन्न हुए इन्द्रद्युम्न-सरोवरके समीप जाय। उसीके तटपर नृसिंहका स्वरूप धारण करनेवाले भगवान् श्रीहरि निवास करते हैं। वहाँ नृसिंहजीकी प्रार्थना करके विधिपूर्वक स्नान करे। प्रार्थना इस प्रकार

है—'हे भगवान् नृसिंह! आपको नमस्कार है। आपके उत्तम क्षेत्रमें आपके ही प्रसादसे नृपश्रेष्ठ इन्द्रद्युम्नने एक सहस्र अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया था। प्रभो! उस यज्ञके अंगसे प्रकट हुए इस सरोवरमें स्नान करनेके लिये मुझे आज्ञा दीजिये।'

इस प्रकार भगवान्‌की प्रार्थना करनेके पश्चात् सरोवरके किनारे जाकर हाथ धो आचमन करके अंजलि बाँधे प्रार्थना करे—'हे तीर्थप्रवर! अश्वमेध यज्ञके अंगभूत दानके लिये लायी हुई करोड़ों गौओंके खुरसे आपकी भूमि खोदी गयी है। उन गौओंके मूत्र, फेन और दानके जलसे परिपूर्ण होनेके कारण आप सबको पवित्र करनेवाले हैं। मैं आपके सर्वतीर्थमय पवित्र जलमें स्नान करनेके लिये आया हूँ। आप स्नानसे मेरे सब पापोंको छुड़ा दीजिये।'

तत्पश्चात् स्नान करे। जलके भीतर डुबकी लगाकर तीन बार अघमर्षण मन्त्रका जप करे। उसके बाद पुनः तीर्थकी प्रार्थना करे—'अश्वमेधके अंगसे प्रकट हुए सर्वपापनाशक तीर्थ! तुममें स्नान करनेसे मेरे पाप नष्ट हो जायँ।' इस प्रकार तीन बार कहकर तीन बार जलमें गोता लगावे। नृसिंहाकारधारी भगवान् विष्णुका स्मरण करे। देवताओं, ऋषियों और पितरोंका विधिपूर्वक तर्पण करे। फिर पश्चिमाभिमुख विराजमान भगवान् नृसिंहके समीप जाय और अथर्ववेदके मन्त्रसे उनकी पूजा करे। वह अथर्ववेदोक्त मन्त्रराज पूर्वकालमें नारदजीके द्वारा प्रतिष्ठित हुआ। तत्पश्चात् राजा इन्द्रद्युम्नने दीर्घकालतक उस मन्त्रकी उपासना की। नृसिंहाकार भगवान्‌की उपासनाके लिये उसके समान दूसरा मन्त्र नहीं है। उसके उच्चारणमात्रसे भगवान् नृसिंह प्रसन्न हो जाते हैं। ब्रह्माजीने इसी मन्त्रसे काष्ठविग्रहधारी जगदीशजीकी भी स्थापना की है। पूर्वोक्त उपचारोंसे तथा लाल जवापुष्प और अन्यान्य सुगन्धित पुष्पोंसे भगवान् नृसिंहकी पूजा करे। मिश्री और गायका घी मिलाकर गोदुग्धमें तैयार की हुई खीर, घीमें पकाकर बनाये हुए खाँड़ और कपूरसे युक्त मोदक, संयाव (हलवा), घीमें बने हुए पूए, नाना प्रकारके फल, शक्कर और दही मिलाये हुए चावल आदि नैवेद्य निवेदन करे। भगवान् नृसिंहका दर्शन, चरणस्पर्श, नमस्कार और पूजन करके मनुष्य अपने-अपने मनोरथोंको प्राप्त कर लेता है।

फिर पूर्णिमाको प्रातःकाल पूर्वोक्त विधिसे तीर्थराजके जलमें स्नान करके शुद्ध आहारका सेवन तथा इन्द्रियोंका संयम करते हुए मनुष्य भगवत्प्रीतिके लिये पाँच दिनोंतक केवल एक समय भोजन करे। तत्पश्चात् मन्दिरमें प्रवेश करके मंचपर विराजमान पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण, बलभद्र और सुभद्राजीका दर्शन करके मनुष्य पापसे मुक्त हो जाता है। जो ज्येष्ठकी अमावास्याको सर्वतीर्थमय कूपसे लाये हुए सुगन्धित जलके द्वारा स्नान कराये जाते हुए श्रीहरिका दर्शन करता है, उसके तन-मनमें पापका सम्पर्क नहीं रहता।

चतुर्दशीको तृण अथवा काष्ठका सुदृढ़ एवं सुन्दर मंच बनवाकर हरी-हरी घासवाली भूमिपर स्थापित करे। उसके ऊपर सुन्दर चँदोवा लगाकर उसे भलीभाँति सजा दे। नाना प्रकारकी मणियोंकी मालासे बन्दनवार बनावे। इस प्रकार मंचको स्थापित करके उसके दक्षिण भागमें कुएँसे जल निकालकर कलशोंमें भरकर शास्त्रोक्त विधिसे उन्हें शालाके भीतर रखे। फिर उन कलशोंमें पावमानी ऋचाके द्वारा सुवासित जल भरे। यह कर्म चतुर्दशीकी आधी रातमें करनेयोग्य बताया गया है। तदनन्तर धीरे-धीरे भगवान् बलभद्र और श्रीकृष्णको राजासे सम्मानित ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ले जायँ। चँवर और ताड़के पंखेसे उनपर निरन्तर हवा करते रहें। भगवान्‌के शरीरपर जो पहले किया हुआ कच्चा लेप हो, उसे न छुड़ावे। जिस प्रकार सुगन्धित लेपसे प्रतिदिन भगवान्‌का अंग पुष्ट हो, वैसा प्रयत्न करे। भगवान्‌को ले

जानेवाले मनुष्य सावधान और सदाचारी हों। उन्हें ले जाकर मंचपर विराजमान करें। फिर शान्तिपूर्वक अधिवासित कलशोंके जलसे समुद्रज्येष्ठा मन्त्रके द्वारा भगवद्विग्रहोंको स्नान करावे। यह स्नान दर्शन करने तथा अभिषेक करनेवाले मनुष्योंको कृतकृत्य करनेवाला है। जो मनुष्य वहाँ खड़े होकर प्रसन्नतापूर्वक भगवान्‌के ज्येष्ठस्नान और यात्राका उत्कण्ठित चित्तसे दर्शन करते हैं, वे संसारसमुद्रमें नहीं गिरते। श्रीहरिके इस स्नानका दर्शन करनेवाले पुरुषोंकी जान-बूझकर या अनजानमें की हुई अनादिसंचित पापराशि तत्काल नष्ट हो जाती है। स्नान-दर्शन करनेमें जो पुण्य बताया गया है, वही मंचपर विराजमान श्रीहरिका दर्शन करनेसे भी प्राप्त होता है। ब्राह्मणो! वहाँ एक ही जगन्नाथजी तीन विग्रहोंमें स्थित हैं। उनमेंसे एक-एकका भी स्नान-दर्शन; भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाला है। जो भगवान्‌के स्नानके समय 'जय रामभद्र! जय सुभद्रे! जय कृष्ण! जय जगन्नाथ!' इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक उच्चारण करता है, वह मोक्षको प्राप्त होता है।

## श्रीजगन्नाथजीकी रथयात्रा, गुण्डिचा-महोत्सव तथा पुनः मन्दिरप्रवेश सम्बन्धी यात्रा एवं उत्सवकी महिमा

**जैमिनिजी कहते हैं**—तदनन्तर श्रद्धासे युक्त प्रस्तुत किये हुए उपचारोंद्वारा बलभद्र, श्रीकृष्ण और सुभद्राजीका पूजन करे। उसके बाद जैसे पहले मन्दिरसे ले आते समय उत्सव किया गया था, उसी प्रकार महान् उत्सव करके उन सब भगवत्स्वरूपोंको पुनः दक्षिणाभिमुख ले जाय। उस समय जो मनुष्य दक्षिणाभिमुख जाते हुए श्रीकृष्ण, बलभद्र और सुभद्राका दर्शन करता है, वह स्नान-दर्शनजनित समस्त पुण्य-फलको प्राप्त करता है। मन्दिरके समीप पहुँचनेपर बलभद्र और सुभद्राके साथ जगन्नाथजीकी आरती उतारकर मन्दिरके भीतर प्रवेश करावे और फिर किसी प्रकार उन्हें न देखे।

ज्येष्ठ मासके शुक्लपक्षमें जो पूर्णिमा आती है, उसमें ज्येष्ठा नक्षत्रके एक ही अंशमें चन्द्रमा और बृहस्पति हों, बृहस्पतिका ही दिन हो और शुभ योग भी हो तो वह महाज्येष्ठी पूर्णिमा कहलाती है, जो सब पापोंका नाश करनेवाली है। महाज्येष्ठी पूर्णिमा महापुण्यमयी तथा भगवान्‌की प्रीतिको बढ़ानेवाली है। उसमें करुणासिन्धु देवेश्वर जगन्नाथजीका पूजन और उनके स्नानका दर्शन करके मनुष्य पापराशिसे मुक्त हो जाता है।

वैशाखके शुक्लपक्षमें जो पापनाशिनी तीज आती है, उसमें रोहिणी नक्षत्रका योग होनेपर राजा पवित्रभावसे संकल्पपूर्वक एक आचार्यका वरण करे। फिर जिन्होंने काष्ठ कर्म देखा और जाना हो, ऐसे एक या तीन बढ़इयोंसे पूर्वोक्त प्रकारसे श्रीकृष्ण, बलभद्र और सुभद्राजीके लिये तीन रथ तैयार करावे, जिनमें बैठनेके लिये सुन्दर आसन हों और जो सुन्दर कलापूर्ण ढंगसे बनाये गये हों। रथोंका निर्माण हो जानेपर राजा शास्त्रोक्त विधिसे मन्त्रके अनुसार पूर्ववत् उनकी प्रतिष्ठा करे। मार्गका भलीभाँति संस्कार करावे। मार्गके दोनों ओर फूलोंके गुच्छे, माल्य, सुन्दर वस्त्र, चँवर, गुल्मलता आदि और फूलोंके द्वारा मण्डल बनावे। देखनेपर ऐसा मालूम हो कि वहाँ सुन्दर फूलोंसे सुशोभित वन-पंक्ति शोभा पा रही है। रास्तेकी भूमि बराबर कर देनी चाहिये। वहाँ कीचड़ नहीं रहना चाहिये, जिससे भगवान्‌का रथ सुखपूर्वक चल सके। पग-पगपर रास्तेके दोनों पार्श्वोंमें दिशाओंको सुगन्धित करनेवाले धूपपात्र

रखे जायँ। सड़कपर चन्दनके जलका छिड़काव हो। नगाड़ा और ढक्का आदि बाजे बजाये जायँ। सोने-चाँदीके ध्वज, जिनके बीचमें चित्रकारी की गयी हो, लगाये जायँ और उनपर पताकाएँ फहराती रहें। भूमिपर बहुत-सी वैजयन्ती मालाएँ बिछी हों। अनेकों कसे-कसाये हाथी-घोड़े प्रस्तुत किये जायँ, जिनका भलीभाँति शृंगार किया गया हो। इस प्रकार सामग्री एकत्र करके उत्तम भक्तिसे युक्त राजा महान् उत्सव करे।

आषाढ़के शुक्लपक्षमें पुष्य नक्षत्रसे युक्त द्वितीया तिथि आनेपर उसमें अरुणोदयके समय भगवान्‌की पूजा करे। ब्राह्मणों, वैष्णवों, तपस्वी और यतियोंके साथ स्वयं भी हाथ जोड़कर राजा देवाधिदेव भगवान्‌से यात्राके लिये निवेदन करे—'प्रभो! आपने पूर्वकालमें राजा इन्द्रद्युम्नको जैसी आज्ञा दी है उसके अनुसार रथसे गुण्डिचामण्डपके प्रति विजययात्रा कीजिये। आपकी कृपा-कटाक्षपूर्ण दृष्टिसे दसों दिशाएँ पवित्र हों तथा स्थावर-जंगम समस्त प्राणी कल्याणको प्राप्त हों। आपने यह अवतार लोगोंके ऊपर दयाकी इच्छासे ग्रहण किया है। इसलिये भगवन्! आप प्रसन्नतापूर्वक पृथ्वीपर चरण रखकर पधारिये।'

इसके बाद कुछ लोग मंगलगीत गावें। कोई जय-जयकार करें और '**जितं ते पुण्डरीकाक्ष०**' इत्यादि मन्त्रका उच्च स्वरसे जप करें। सूत, मागध आदि हर्षमें भरकर भगवान्‌के पवित्र यशका गान करें। भगवान्‌के दोनों पार्श्वमें सुवर्णमय दण्डसे सुशोभित व्यजनोंकी पंक्ति धीरे-धीरे डुलती रहे। कृष्णागरुकी धूपसे सम्पूर्ण दिशाएँ और वहाँका आकाश सुवासित रहे। झाँझ, करताल, वेणु, वीणा, माधुरिका आदि वाद्य गोविन्दकी इस विजययात्राके समय मधुर स्वरसे बजते रहें। इस प्रकार उत्सव आरम्भ होनेपर बलभद्र, श्रीकृष्ण और सुभद्राको ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य लोग धीरे-धीरे पैर रखते हुए ले जायँ। बीच-बीचमें रूईदार बिछौनोंपर उन्हें विश्राम करावें और इस प्रकार उन सबको रथपर ले जायँ। फिर उस उत्तम रथको घुमाकर बलभद्र, कृष्ण तथा सुभद्राको सुन्दर चँदोवायुक्त मण्डपसे सुशोभित रथमें विराजमान करें। उन सबको रूईदार गद्दोंपर बैठाकर भक्तिपूर्वक भाँति-भाँतिके वस्त्र, आभूषण और मालाओंसे विभूषित करें। नाना प्रकारके उपचारोंसे उनकी पूजा भी करें। उस समय रथपर विराजमान होकर यात्रा करते हुए श्रीजगन्नाथजीका जो लोग भक्तिपूर्वक दर्शन करते हैं, उनका भगवान्‌के धाममें निवास होता है। भगवान् श्रीहरिके उस उत्सवका माहात्म्य क्या बतलाऊँ। जिनके नामका संकीर्तन करनेमात्रसे सौ जन्मोंका पाप नष्ट हो जाता है, रथमें स्थित हो महावेदीकी ओर जाते हुए उन पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण, बलभद्र और सुभद्राजीका दर्शन करके मनुष्य अपने करोड़ों जन्मोंके पापोंका नाश कर लेता है। मेघोंके द्वारा जलकी वर्षाके संयोगसे रथका मार्ग जब कीचड़युक्त हो जाता है, उस समय भी वह श्रीकृष्णकी दिव्यदृष्टि पड़नेसे समस्त पापोंका नाश करनेवाला होता है। उस पंकिल रथमार्गमें जो उत्तम वैष्णव भगवान्‌को साष्टांग प्रणाम करते हैं, वे अनादिकालसे अपने ऊपर चढ़े हुए पापपंकको त्याग कर मुक्त हो जाते हैं। जो भगवान् वासुदेवके आगे जय शब्दका उच्चारण करते हुए स्तुति करते हैं, वे भाँति-भाँतिके पापोंपर निःसन्देह विजय पा जाते हैं। जो श्रेष्ठपुरुष वहाँ नृत्य करते और गाते हैं, वे उत्तम वैष्णवोंके संसर्गसे मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। जो भगवान्‌के नामोंका कीर्तन करता हुआ उस यात्रामें साथ-साथ जाता है तथा गुण्डिचा नगरको जाते हुए श्रीकृष्णकी ओर देखकर भक्तिपूर्वक 'जय कृष्ण, जय कृष्ण, जय कृष्ण' का उच्चारण करता है, वह माताके गर्भमें निवास करनेका दुःख कभी नहीं भोगता। जो मनुष्य रथके आगे खड़ा होकर चँवर, व्यजन, फूलके गुच्छों अथवा वस्त्रोंसे भगवान् पुरुषोत्तमको हवा करता है, वह

ब्रह्मलोकमें जाकर मोक्ष पाता है। जो पवित्र सहस्रनामका पाठ करते हुए रथकी प्रदक्षिणा करते हैं, वे भगवान् विष्णुके समान होकर वैकुण्ठधाममें निवास करते हैं। जो मनुष्य भगवान् श्रीकृष्णके उद्देश्यसे दान देता है, उसका वह थोड़ा भी दान मेरुदानके समान अक्षय फल देनेवाला होता है। जो भगवान्के आगे रहकर उनके मुखारविन्दका दर्शन करते हुए पग-पगपर प्रणाम करते हैं और मार्गकी धूलि या कीचड़में लोटते हैं, वे क्षणभरमें मुक्तिरूपी फलको पाकर श्रीविष्णुके उत्तम धाममें जाते हैं।

इस प्रकार बलभद्र और सुभद्राके साथ भगवान् श्रीकृष्ण उत्तम रथपर विराजमान हो चारों दिशाओंको प्रकाशित करते हुए और अपने अंगोंका स्पर्श करके बहनेवाली वायुके द्वारा समस्त देहधारियोंके

पापोंका नाश करते हुए यात्रा करते हैं। वे बड़े दयालु और भक्तोंके पालक हैं। जो अज्ञानी और अविश्वासके पात्र हैं, उनके मनमें भी विश्वास उत्पन्न करनेके लिये भगवान् विष्णु प्रतिवर्ष यात्रा प्रारम्भ करते हैं।

इस प्रकार गुण्डिचा नगरमें जाकर भगवान् विन्दुतीर्थके तटपर सात दिन निवास करते हैं; क्योंकि प्राचीन कालमें उन्होंने राजा इन्द्रद्युम्नको यह वर दिया था कि 'मैं तुम्हारे तीर्थके किनारे प्रतिवर्ष निवास करूँगा। मेरे वहाँ स्थित रहनेपर सभी तीर्थ उसमें निवास करेंगे। उस तीर्थमें विधिपूर्वक स्नान करके जो लोग सात दिनोंतक गुण्डिचामण्डपमें विराजमान मेरा, बलरामका और सुभद्राका दर्शन करेंगे, वे मेरा सायुज्य प्राप्त कर लेंगे।' अतः परम पवित्र, सर्वपापनाशक, अकेले ही सब तीर्थोंका फल देनेवाले तथा श्रीविष्णुकी प्रसन्नता बढ़ानेवाले उस शुभ तीर्थमें स्नान करके पितरों और देवताओंका विधिपूर्वक तर्पण करनेके पश्चात् जो तटवर्ती नृसिंह भगवान्का दर्शन, पूजन और उन्हें नमस्कार करता है तथा पुनः महावेदीके समीप जाकर पूर्ववत् भक्तिपूर्वक भगवान्का पूजन और वन्दन करता है, वह पुरुष हो या स्त्री, उसे भगवान् विष्णुकी सायुज्यमुक्ति प्राप्त हो जाती है।

मघा नक्षत्र पितरोंका है, अतः वह पितरोंको अधिक प्रीति प्रदान करनेवाला है। उस नक्षत्रमें पुत्रोंद्वारा दिया हुआ श्राद्धका दान पितरोंको विशेष तृप्त करता है। उक्त सर्वतीर्थमय सरोवरके तटपर भगवान् विष्णुके समीप नृसिंह और नीलकण्ठके मध्यवर्ती अतिपवित्र स्थानमें यदि मनुष्य श्रद्धापूर्वक श्राद्ध करे तो अपनी सौ पीढ़ियोंका उद्धार करता है। आषाढ़के शुक्ल पक्षमें पंचमी तिथि, मघा नक्षत्र और जगन्नाथजीका महावेदीपर आगमन—ये तीनों योग यदि इन्द्रद्युम्न-सरोवरपर प्राप्त हों तो वह पितरोंको अक्षय प्रीति देनेवाला चतुष्पादयोग माना गया है। भाद्रपद मासकी अमावास्याको अथवा चारों युगादि तिथियोंमें जो पितरोंके उद्देश्यसे अश्वमेधांग-सम्भूत इन्द्रद्युम्न-सरोवरपर श्राद्ध करता है, उसका किया हुआ वह श्राद्ध सब पापोंका नाश करनेवाला है। सात दिनोंतक मौनभावसे तीनों काल स्नान करे और तीनों संध्याओंमें

कलशपर भक्तिपूर्वक भगवान्‌की पूजा करे। गायके घी अथवा तिलके तेलसे दीपक जलावे और उसे भगवान्‌के आगे रखकर रात-दिन उसकी रक्षा करे। दिनमें मौन रहे और रातमें जागरण करके भगवत्सम्बन्धी मन्त्रका जप करे। इस प्रकार सात दिन बिताकर आठवें दिन प्रातःकाल उठकर प्रतिष्ठा करावे। इस व्रतराजका विधिपूर्वक पालन करके मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंको अपनी रुचिके अनुसार प्राप्त करता है।

सात दिनोंतक वहाँ रथकी भलीभाँति रक्षा करके आठवें दिन उन सब रथोंको पुनः दक्षिणाभिमुख कर दे और वस्त्र, माला, पताका तथा चँवर आदिसे उनकी पुनः सजावट करे। आषाढ़ शुक्ला नवमीको प्रातःकाल उन सब भगवद्विग्रहोंको रथपर विराजमान करे। भगवान् विष्णुकी यह दक्षिणाभिमुख यात्रा अत्यन्त दुर्लभ है। भक्ति और श्रद्धासे युक्त मनुष्योंको इस यात्रामें प्रयत्नपूर्वक भाग लेना चाहिये। जैसे पहली यात्रा है उसी प्रकार यह दूसरी भी है। दोनों ही मोक्षदायिनी हैं। यात्रा और मन्दिरप्रवेश—ये दोनों मिलाकर भगवान्‌का एक ही उत्सव माना गया है। यह पूरी यात्रा नौ दिनकी होती है। जिन लोगोंने तीन अंगोंवाली इस यात्राकी पूर्णतः उपासना की है, उन्हींके लिये यह महावेदी महोत्सव सम्पूर्ण फल देनेवाला होता है। गुण्डिचामण्डपसे रथपर बैठकर दक्षिण दिशाकी ओर आते हुए श्रीकृष्ण, बलभद्र और सुभद्राका जो दर्शन करते हैं, वे मोक्षके भागी होते हैं, अर्थात् भगवान्‌के वैकुण्ठधाममें जाते हैं।

मुनिवरो! इस प्रकार मैंने तुमसे महावेदी महोत्सवका वर्णन किया, जिसके कीर्तनमात्रसे मनुष्य निर्मल हो जाता है। जो प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर इस प्रसंगका पाठ करता है अथवा सावधान होकर सुनता है और भगवत्प्रतिमाका चित्र लेकर भी उसे रथपर बैठाकर भक्तिभावसे इस रथयात्राको सम्पन्न करता है, वह भी भगवान् विष्णुकी कृपासे गुण्डिचामहोत्सवके फलस्वरूप वैकुण्ठधाममें जाता है।

## पुरुषोत्तमक्षेत्रमें चातुर्मास्यकी महिमा, राजा श्वेतपर भगवत्कृपा तथा भगवत्प्रसादका माहात्म्य

**जैमिनिजी कहते हैं**—सूर्यके कर्क राशिपर रहते हुए आषाढ़ शुक्ला एकादशीसे लेकर कार्तिक शुक्ला एकादशीतक वर्षाकालिक चार महीनोंमें भगवान् विष्णुका शयन होता है। यह श्रीहरिकी आराधनाका परम पवित्र समय है। वर्षाके चार महीनोंमें जितने दिन मनुष्य जनार्दनके समीप रहकर व्यतीत करता है, उतने समयतक वह प्रतिदिन अश्वमेधयज्ञके फलका भागी होता है। समुद्रके पवित्र जलमें स्नान करके श्रीपुरुषोत्तमका दर्शन करते हुए चातुर्मास्य व्रतका पालन करना मुक्तिका साधन माना गया है। इसलिये मनुष्य बड़े यत्नसे पुण्यमय पुरुषोत्तमक्षेत्रमें निवास करे। चातुर्मास्यमें भगवान् शेषशय्यापर शयन करते हैं। आठ महीने पुरुषोत्तमक्षेत्रमें निवास करके प्रतिदिन भगवान् विष्णुका दर्शन करनेसे मनुष्य जिस फलको पाता है, उसीको चातुर्मास्यमें एक दिनके निवास और दर्शनसे प्राप्त कर लेता है। जो सब प्रकारके पापोंमें आसक्त, सम्पूर्ण सदाचारोंसे भ्रष्ट तथा समस्त धर्मोंसे बहिष्कृत हो, वह भी पुरुषोत्तमक्षेत्रमें निवास करे। जो दूध पीकर अथवा शाकाहार करके यहाँ चातुर्मास्य व्यतीत करता है, वह यहाँ प्रचुर सुख भोगकर अन्तमें परम शान्तिको प्राप्त होता है। देवाधिदेव भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये मनुष्य यहाँ भीष्मपंचक नामक उत्तम व्रतका पालन करे और जंगली फल-मूल खाकर रहे। यह व्रत भगवान्‌की प्रसन्नताको

बढ़ानेवाला, सब पापोंका नाश करनेवाला और वैकुण्ठधामरूपी सद्गति देनेवाला है। मुनीश्वरो! यह सब तुम्हें रहस्यकी बातें बतायी गयी हैं। ये जितने भी व्रत हैं, वे भगवद्भक्तिहीन मनुष्योंके लिये निष्फल होते हैं, यह अच्छी तरह जान लो। तीर्थोंका तथा सात्त्विक दान और तपस्याओंका जो उत्तम फल है, वह सब केवल विष्णुभक्तिसे मनुष्य प्राप्त कर लेता है।

प्राचीन कालकी बात है, त्रेतायुगमें श्वेत नामक एक महान् राजा हो गये हैं। उन्होंने व्रतमें स्थित होकर भगवान् पुरुषोत्तममें बड़ी भक्ति की। राजा इन्द्रद्युम्नके द्वारा निश्चित किये हुए भोगोंकी मात्राके अनुसार वे प्रतिदिन प्रसन्नतापूर्वक भगवान् लक्ष्मीपतिके लिये भोग प्रस्तुत करते थे। अनेक प्रकारके भक्ष्य, भोज्य पदार्थ, भलीभाँति संस्कार किये हुए छहों रस, विचित्र माल्य, सुगन्ध, अनुलेपन तथा बहुत प्रकारके राजोचित उपचार अवसर-अवसरपर भगवान्की सेवामें समर्पित करते थे। एक दिन राजा श्वेत प्रातःकाल पूजाके समय भगवान्का दर्शन करनेके लिये गये और पूजा होते समय उन्होंने श्रीहरिका दर्शन किया। देवाधिदेव भगवान्को प्रणाम करके दोनों हाथ जोड़े प्रसन्नतापूर्वक वे मन्दिरके द्वारके समीप खड़े रहे। अपने ही द्वारा तैयार किये हुए उत्तम उपचारों तथा सहस्रों उपहारकी सामग्रियोंको राजाने भगवान्के सामने उपस्थित देखा। तब वे कुछ ध्यानस्थ होकर मन-ही-मन सोचने लगे—'क्या भगवान् श्रीहरि यह मनुष्यनिर्मित भोग ग्रहण करेंगे? यह बाह्यपूजनकी सामग्री भावदूषित होनेके कारण निश्चय ही भगवान्को प्रसन्न करनेवाली न होगी।'

इस प्रकार विचार करते हुए राजाने देखा—दिव्य सिंहासनपर साक्षात् भगवान् विष्णु विराजमान हैं और दिव्य सुगन्ध, दिव्य वस्त्र एवं दिव्य हारोंसे विभूषित साक्षात् लक्ष्मीदेवी उनके आगे अन्न-पान आदि भोजनसामग्री परोस रही हैं और भगवान् भोजन कर रहे हैं। यह अद्भुत झाँकी देखकर राजाने अपनेको कृतार्थ माना तथा आँखें खोल दीं। फिर उन्हें पहले देखी हुई सब बातें दिखायी दीं। इससे राजाको बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। भगवान्को निवेदित किये हुए प्रसादको ही खानेवाले व्रतशील राजाने बड़ी भारी तपस्या की। उस तपस्याका उद्देश्य यह था कि मेरे राज्यमें किसीकी अकालमृत्यु न हो और मरे हुए प्राणियोंकी मुक्ति हो जाय। शरणागतोंके लिये कल्पवृक्षस्वरूप मन्त्रराज आनुष्टुभका उन्होंने नित्य नियमपूर्वक जप किया। इस प्रकार सौ वर्षतक जप और तपस्याके पश्चात् राजाने समस्त पापोंका अपहरण करनेवाले साक्षात् भगवान् नृसिंहका दर्शन प्राप्त किया। वे योगासनपर कमलके ऊपर विराजमान थे। उनके वामभागमें भगवती लक्ष्मी शोभा पा रही थीं। देवता, सिद्ध और मुक्त पुरुष उनकी स्तुतिमें लगे थे। ऐसे भगवान्को उपस्थित देखकर आश्चर्यसे चकित होकर राजा श्वेत हर्ष-गद्गद वाणीमें 'हे नाथ! प्रसन्न होइये' ऐसा कहते हुए धरतीपर गिर पड़े। तपस्यासे दुर्बल तथा चरणोंमें पड़े हुए निष्पाप राजा श्वेतसे भक्तवत्सल भगवान् नृसिंहने कहा—'वत्स! उठो, मुझे भक्तिसे प्रसन्न जानो और कोई अभीष्ट वर माँगो।' भगवान्का यह वचन सुनकर राजा उठे और दोनों हाथ जोड़कर भक्तिसे विनम्र होकर बोले—'स्वामिन्! यदि मुझपर आपकी अत्यन्त दुर्लभ कृपा है, तो मैं मरनेके बाद आपके समान रूप प्राप्त करके आपके समीप ही सेवामें रहूँ तथा जबतक इस पृथ्वीपर मैं राजाके पदपर रहूँ, तबतक मेरे राज्यमें कोई भी मनुष्य अकालमृत्युको न प्राप्त हो और जिसकी कालमृत्यु हो, उसकी भी सायुज्य मुक्ति हो जाय।'

यह सुनकर भगवान्ने परम उत्तम राजा श्वेतसे कहा—'श्वेत! तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो। एक

भगवान् विष्णुको लक्ष्मीदेवी भोजन परोस रही हैं।

राजा श्वेतको भगवान् लक्ष्मी-नृसिंहके दिव्यदर्शन

हजार वर्षोंतक तुम अपने समृद्धिशाली राज्यका उपभोग करो। प्रतिदिन मेरे नैवेद्यका भोजन करनेसे तुम्हारी सारी पापराशि नष्ट हो जायगी और अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध हो जायगा। तत्पश्चात् तुम मेरी सायुज्य मुक्ति प्राप्त कर लोगे। तुम्हारे राज्यमें जो लोग मेरे निर्माल्यका भोजन करेंगे, उनकी कभी अकालमृत्यु नहीं होगी।'

इस प्रकार राजा श्वेतको वरदान देकर भगवान् नृसिंह अन्तर्धान हो गये। यहाँ अमृतके समान स्वादिष्ट एवं सुपक्व अन्नको सबके स्वामी भगवान् नारायण भोजन करते हैं। उनके प्रसादका उपभोग सब पापोंका क्षय करनेवाला है। भगवान् जगन्नाथजीके मन्दिरमें पहुँचकर भगवान्‌को भोग लग जानेपर जैसे भगवान् विष्णु नित्य शुद्ध हैं वैसे ही उनका प्रसाद भी शुद्ध है। व्रतपरायण विधवा स्त्रियाँ, वर्णाश्रम-धर्ममें तत्पर रहनेवाले मनुष्य, यज्ञमें दीक्षित पुरुष तथा अग्निहोत्री भी भगवान् पुरुषोत्तमके प्रसादको खाकर पवित्र होते हैं। दरिद्र, कृपण, गृहस्थ, प्रभु, स्वदेशी, परदेशी, जो भी वहाँ आते हैं, उन्हें चाहिये कि वे कोई भी भगवान् विष्णुका प्रसाद ग्रहण करनेमें अहंकार न दिखावें। भक्तिसे, लोभसे, कौतूहलसे अथवा क्षुधा-शान्तिके निमित्त आकण्ठ भोजन किया हुआ भगवत्प्रसाद सब पापोंको पवित्र कर देता है। जो पण्डितमानी मूर्ख अमित तेजस्वी भगवान् विष्णुके उस अमृतमय प्रसादकी निन्दा करते हैं, उनकी निश्चय ही दुर्गति होती है। उस प्रसादको बेचना या मोल लेना भी अच्छा नहीं माना गया है। मैं जगन्नाथजीके प्रसादका भोजन करके और कुछ नहीं खाऊँगा, इस प्रकार सच्ची प्रतिज्ञा करके जो प्रतिदिन प्रसाद ग्रहण करता है, वह मनुष्य सब पापोंसे मुक्त एवं शुद्धचित्त होकर विशुद्ध वैकुण्ठधामको जाता है। भगवान्‌का प्रसाद यदि चिरकालका रखा हो, सूख गया हो अथवा दूर देशसे लाया गया हो, जिस किसी प्रकार भी उसका उपयोग करनेपर वह सब पापोंका नाश करनेवाला है। जगन्नाथजीके प्रसादका अन्न और गंगाजल दोनों बराबर हैं। उनको भोजन करनेसे सब पापोंका नाश हो जाता है। वहाँ काष्ठरूपी परब्रह्म सबके नेत्रोंके समक्ष प्रकाशित हैं। थोड़े पुण्यवाले मनुष्योंका उस प्रसादमें विश्वास नहीं होता, उसकी महिमाको कोई नहीं जानता। भयंकर कलिकालमें धर्मके तीन चरणोंका नाश हो जाता है, उसका एक ही पाद रह जाता है। उस समय प्रायः सब लोग असत्यवादी, दम्भी और शठवृत्तिके होते हैं, धर्मसे विमुख तथा जिह्वा और उपस्थके भोगोंमें तत्पर रहते हैं। ध्यान, तपस्या और व्रत कभी नहीं करते, सभी अत्यन्त अधर्मी, लोभी और हिंसक होते हैं। अपना कोई प्रयोजन न होनेपर भी दूसरोंकी निन्दासे सन्तुष्ट होते हैं, प्रसंग अथवा कौतूहलवश भी दूसरोंके कार्यकी हानि करते हैं और अपने छोटेसे कार्यके लिये भी दूसरोंके महत्त्वपूर्ण कार्योंमें बाधा उपस्थित करते हैं। धर्मतः प्राप्त होकर अपने घरमें आयी हुई सुन्दरी स्त्रीकी भी अवहेलना करके दूसरोंकी निन्दनीय स्त्रीमें आसक्त होते हैं। अग्निहोत्र आदि कर्म अथवा दूसरा कोई व्रत भी कहीं पालित नहीं होता। यदि कहीं है तो वह ब्राह्मणोंकी जीविकाके रूपमें है। जो पारलौकिक कर्म हैं वे भी यथार्थरूपसे सम्पादित न होनेके कारण फलदायक नहीं होते। कलियुगमें राजालोग प्रायः प्रजाकी रक्षासे मुँह मोड़े रहते हैं। वे सदा कर वसूल करते हैं, प्रायः पापिष्ठ और चोरीकी वृत्तिवाले होते हैं। कलियुगमें प्रायः सब लोग वर्णसंकर और शूद्रके तुल्य हो जाते हैं। राजा ही प्रजाका धन अपहरण करते और शूद्र राजसेवक होते हैं। वैदिक और स्मार्त आदि कर्मोंका कलिमें भलीभाँति अनुष्ठान नहीं किया जाता। उस समय दान-धर्म सबसे उत्तम है। कलियुग प्राप्त होनेपर यहाँ भगवान् विष्णु ही सबकी गति हैं। शालग्राम आदि क्षेत्रमें भगवान्‌का स्मरण और कीर्तन किया जाता है, परंतु यह पुण्यक्षेत्र नीलाचल तो उन क्षेत्रज्ञ परमात्माका

शरीर है। काष्ठके बहाने सबके जीवनरूप विष्णु साक्षात् शरीर धारण करके यहाँ विराजमान हैं। पापियोंके कलिकालजनित पापका नाश करनेके लिये ही यहाँ भगवान्‌का प्राकट्य हुआ है। वे यहाँ अपने दर्शन, स्तवन और प्रसादभोजनसे मोक्षदायक होते हैं। भगवान्‌के प्रसादसे जिसका शरीर व्याप्त है, वह उस विशुद्ध आहारसे विशुद्धात्मा होनेके कारण पातकोंमें लिप्त नहीं होता। भगवान् जगदीश इसी तीर्थमें अर्पित किये हुए नैवेद्यका साक्षात् भोजन करते हैं।

भगवान् विष्णुके श्रीअंगोंसे उतारी हुई तुलसीकी मालाको जो भक्त अपने मस्तक या गलेमें धारण करता है अथवा जो उसे हृदयसे लगाये रखता है या भगवत्प्रसादरूप तुलसीदल भक्षण करता है, वह भगवान् विष्णुके धाममें जाता है। तुलसीदलसे मिश्रित भगवत्प्रसाद भोजन करके मनुष्य निश्चय ही मोक्ष पाता है। भगवान् विष्णुके आचमन, चरणोदक तथा स्नान-जल सब पापोंका नाश करनेवाले हैं। शव आदि अपवित्र वस्तुओंके स्पर्शजनित दोषका भी उनके द्वारा नाश होता है। इतना ही नहीं, वे समस्त दीक्षाओं और व्रतोंके फल देनेवाले तथा ऐश्वर्यकी वृद्धि करनेवाले हैं। भगवान्‌का चरणामृत अकालमृत्युका निवारण, रोगसमूहका संहार तथा पापराशिका नाश करनेवाला है। इस प्रकार पुरुषोत्तमतीर्थमें लक्ष्मीजीके साथ निवास करनेवाले भगवान् विष्णु सब लोगोंपर अनुग्रह करनेकी इच्छासे निवास करते हुए अनायास ही मोक्ष देते हैं।

## भगवान् पुरुषोत्तमके पार्श्व-परिवर्तन, उत्थापन और प्रावरण आदि उत्सवोंका महत्त्व

**जैमिनिजी कहते हैं**—जगन्मय भगवान् पुरुषोत्तम सब प्रकारसे इस संसारका कल्याण करनेके लिये ही अनेक प्रकारके रूप और लीलाएँ करते हुए नाना शरीर धारण करके प्रकट होते हैं। अहंकारके बिना कर्मका फल नहीं भोगना पड़ता। अहंकारसे मनुष्य इस संसाररूपी कारागारमें बाँधे जाते हैं। बुद्धि और अहंकारसे युक्त होकर मनुष्य जो कर्म करता है, उसके अनुसार शुभाशुभ फलको पाता है। उन कर्म करनेवाले मनुष्योंमें जो सात्त्विक बुद्धिके लोग हैं, वे फलप्राप्तिकी इच्छा न रखकर मुमुक्षुभावसे केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही कर्म करते हैं। उन सात्त्विक पुरुषोंके द्वारा दर्शन, ध्यान अथवा स्मरण भी करनेपर सर्वभावन भगवान् जगन्नाथ उन्हें मोक्ष प्रदान करते हैं।

भाद्रपदके शुक्ल पक्षकी एकादशीको जगन्नाथजीके शयनगृहके दरवाजेपर धीरे-धीरे जाकर उसमें प्रवेश करे और शय्यापर सोये हुए उन जगदीश्वरको नमस्कार करके उपचारोंद्वारा उनके चरणोंकी पूजा करे। तत्पश्चात् भक्तिपूर्वक प्रणाम करके गुह्य उपनिषदोंसे स्तुति करे। फिर निम्नांकित प्रार्थना करते हुए भगवान्‌की करवट बदलकर उन्हें उत्तरकी ओर मुँह करके सुला दे। उस समय इस प्रकार प्रार्थना करे—'देवाधिदेव जगन्नाथ! आप अनेकानेक कल्पोंका परिवर्तन करनेवाले हैं, आपसे ही यह स्थावर-जंगमरूप सम्पूर्ण जगत् परिवर्तित होता है। भगवन्! आपने स्वेच्छासे स्वीकार की हुई जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिरूप चेष्टाओंद्वारा जगत्‌का हित करनेके लिये ही शयन किया है। अब इस समय करवट बदल लीजिये; क्योंकि जगत्‌का पालन करनेके लिये यह आपके करवट बदलनेका समय प्राप्त हुआ है।'

इस प्रकार भगवान्‌की प्रार्थना करके व्यजन और चँवर डुलावे तथा सुगन्धित चन्दनका भगवान्‌के

सब अंगोंपर लेपन करे। तत्पश्चात् स्वादयुक्त मिठाई, खीर, हलुवा, भाँति-भाँतिके फल, अन्य स्वादिष्ट व्यंजन, घीके बने हुए पूए तथा ताम्बूलपत्र आदि सब सामग्री शयनगृहके द्वारपर रखकर भक्तिपूर्वक निवेदन करे। उस दिन यदि भगवान्‌के स्वरूपका दर्शन हो जाय तो बड़ा भारी फल होता है।

कौमुदी नामक महोत्सवके अवसरपर जगन्नाथजीकी पूजा करके उसी पूर्णिमाकी रातको उत्सवपूर्वक नारियल आदि द्रव्यों तथा पिष्टक (पीठी)-से भगवान् विष्णुकी पूजा करे। तत्पश्चात् सबेरे कार्तिकमास आरम्भ होनेपर उत्तम व्रतका संकल्प ले शुक्लपक्षकी एकादशीतक उसी व्रतके नियमसे रहे। एकादशी आनेपर सोये हुए भगवान् जगदीश्वरको उठावे। पहलेकी भाँति आधी रातके समय जगद्गुरु भगवान्‌की पूजा करके निम्नांकित मन्त्रका उच्चारण करते हुए प्रसन्नतापूर्वक भगवान्‌को जगावे—

**उत्तिष्ठ देवदेवेश तेजोराशे जगत्पते।**
**वीक्षस्व सकलं देव प्रसुप्तं तव मायया॥**
**प्रफुल्लपुण्डरीकश्रीहारिणा नयनेन वै।**
**त्वया दृष्टं जगदिदं पावित्र्यं परमेष्यति॥**

'देवदेवेश्वर! उठिये। तेजःपुंज जगदीश्वर! देव! सम्पूर्ण जगत् आपकी मायासे सो रहा है, इसकी ओर दृष्टिपात कीजिये। प्रभो! खिले हुए कमलकी शोभाका अपहरण करनेवाले आपके नेत्रसे देखा जानेपर यह जगत् अत्यन्त पवित्र हो जायगा।'

इस प्रकार जगदीशजीको जगाकर शंख, धौंसा, ढोल आदि वाद्यों, नृत्य और गीतों, जय-जयकारके शब्दों तथा नाना प्रकारके स्तोत्रोंके साथ नृत्यमण्डपमें ले जाय। वहाँ सुगन्धित तेलसे उबटन करके जगन्नाथजीको पंचामृत, फलोंके रस तथा नारियलके जलसे स्नान करावे। उसके बाद सुगन्धयुक्त आँवले और जौके चूर्णसे भगवान्‌के शरीरपर लेप करे। तुलसीके चूर्णसे उनके शरीरको मले और सुगन्धित चन्दनका लेप करे। उस समय जो लोग हर्षपूर्वक श्रीजगदीशजीका दर्शन करते हैं वे अनेक जन्मोंके सुदृढ़ पापपंकको धो डालते हैं। तत्पश्चात् बड़े-बड़े उपचारोंसे भगवान्‌की विधिवत् पूजा करके उनकी आरती उतारे और हाथ जोड़कर बड़ी प्रसन्नताके साथ प्रार्थना करे—'प्रभो! यह सम्पूर्ण चराचर जगत् केवल आपकी ही शरणमें है, जगद्गुरो! अपनी कृपासुधासे परिपूर्ण दृष्टिद्वारा इसे पवित्र कीजिये।' तदनन्तर शेष रात्रि भगवत्सम्बन्धी नृत्य-गीतको देखते हुए व्यतीत करे। जो लोग शयनसे उठे हुए भगवान् गदाधरका दर्शन करते हैं वे अपनी मोहमयी निद्राका भेदन करके शान्त ज्योतिःस्वरूप श्रीहरिको प्राप्त होते हैं।

शालग्रामशिलामें स्थित भगवान् श्रीहरिकी चक्रमूर्तिका शुद्धचित्त होकर पूजन करे। पूजाके समय भगवान्‌का ध्यान इस प्रकार करे—दामोदर-स्वरूपधारी भगवान्‌के चार भुजाएँ हैं। उन्होंने हाथोंमें शंख और कमल धारण कर रखा है। उनके वामभागमें कमलके आसनपर लक्ष्मीजी बैठी हैं और वे बायें हाथसे उनका स्पर्श करके बैठे हैं। भगवान् अपने दाहिने हाथसे भक्तोंको वर देनेके लिये उद्यत हैं। उनकी नासिका, ललाट, उनके दोनों नेत्र और कान सभी बहुत सुन्दर हैं। उनका वक्षःस्थल विशाल है, वे सम्पूर्ण लावण्यसे सुशोभित हैं, समस्त अलंकारोंको धारण करके वे बड़े ही मनोहर प्रतीत होते हैं। उनके श्रीअंगोंपर दिव्य पीताम्बर शोभा पा रहा है।

मार्गशीर्षके शुक्ल पक्षमें षष्ठी तिथिको मनुष्य भक्तिभावसे प्रावरणोत्सव अथवा उस उत्सवका दर्शन करके भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है। पंचमीकी रात्रिमें भगवान्‌का वस्त्राधिवास करे, भगवान्‌को वस्त्रोंके मध्यमें स्थापित करके अन्य वस्त्रसे आच्छादित करे और पुरुषोत्तमके स्मरणपूर्वक उनका स्पर्श करके इस प्रकार प्रार्थना करे—'हे वस्त्र! जो अविनाशी भगवान् विष्णु अपने

तेजसे सम्पूर्ण जगत्को आच्छादित करनेवाले हैं, उनका भी वसन (आच्छादन) करनेसे तुम्हारा नाम वस्त्र है। तुम जगदीश्वरके वासस्थानमें निवास करो।' तत्पश्चात् चन्दन और पुष्पसे भगवान्का पूजन करे और नृत्य-गीतके द्वारा जागरणपूर्वक रात्रि व्यतीत करे। फिर अरुणोदयकालमें प्रातः-सन्ध्याके समीप पूर्ववत् एकाग्रचित्त हो पुनः भगवान्की पूजा करे। उसके बाद तीन बार मन्दिरकी परिक्रमा करके भगवान्को भी तीन बार घुमावे और उस आच्छादित वस्त्रको हटाकर दर्शन आदिके द्वारा संस्कार करे। तदनन्तर दूर्वा और अक्षतसे पूजा करके भगवान्की आरती उतारे।

हेमन्त ऋतुके आनेपर जो लोग उत्तम वस्त्रोंद्वारा भगवान् नृसिंहको आच्छादित करते हैं अथवा जो आच्छादन-महोत्सवका दर्शन करते हैं वे कभी मोहसे आच्छादित नहीं होते। देवाधिदेव भगवान्के इस प्रावरण-महोत्सवका जो लोग भक्तिपूर्वक दर्शन करते हैं, वे सम्पूर्ण मनोरथोंको प्राप्त कर लेते हैं।

## पुष्यस्नानोत्सव, उत्तरायणोत्सव तथा दोलारोहणोत्सवका वर्णन

**जैमिनिजी कहते हैं**—पौषके महीनेमें पूर्णिमाको जब पुष्य नक्षत्र हो, तब भगवान्का पुष्यस्नानोत्सव करे। चतुर्दशीकी रातमें ८१ कलशोंका अधिवासन (स्थापन) करे। भगवान्के आगे सर्वतोभद्रमण्डल बनावे और उसके बीचमें एक बड़ा-सा दर्पण स्थापित करे। रात्रिमें गीत और नृत्य आदिके द्वारा जागरण करे। प्रातःकाल दर्पणमें प्रतिबिम्बित भगवान् पुरुषोत्तमका उपचारोंद्वारा पूजन करे। तदनन्तर पुरुषसूक्तसे कलशोंको अभिमन्त्रित करके फिर उन कलशोंके जलसे अटूट धारा गिराते हुए भगवान् पुरुषोत्तमको स्नान करावे। फिर पावमानीय सूक्त और श्रीसूक्तसे भी क्रमशः बलभद्र और सुभद्राको स्नान करावे। फिर विष्णुगायत्रीसे* चन्दनयुक्त जलके द्वारा स्नान कराकर श्रीसूक्तसे पूजा करे। तत्पश्चात् भगवान्के श्रीअंगोंमें गन्ध और चन्दनसे लेप करे और उन्हें सुगन्धित पुष्पोंकी मालाओंसे विभूषित करे। फिर रत्नमय छत्र ऊपर उठाकर लक्ष्मीसहित पुरुषोत्तमका पूजन करे। फिर उच्चस्वरसे शंखध्वनि, मंगलगीत और नृत्य आदि हों। भगवान्को चँवर डुलाये जायँ, ब्राह्मणलोग जय-जयकार करें और तीन बार अंजलिमें दूर्वा एवं अक्षत लेकर भगवान्की पूजा करके कपूरयुक्त बत्तियोंवाले गायके घीमें जलाये हुए दीपकोंसे जगन्नाथजीकी आरती करे। उसके बाद सुन्दर पानका बीड़ा लगाकर धीरे-धीरे भगवान्के मुखके समीप निवेदन करे। तत्पश्चात् आचार्यको दक्षिणा दे और ब्राह्मणोंका पूजन करे। जो प्रसन्नतापूर्वक पुष्यस्नानका पवित्र उत्सव देखते हैं, वे भगवान् विष्णुके धाममें जाते हैं।

जब भगवान् सूर्य उत्तरदिशाकी ओर गमन करनेकी इच्छासे मकर राशिपर जाते हैं, उस समय उत्तरायण प्रारम्भ होता है। उनके संक्रमणकालका आधा बीस कलाका समय परम पुण्यमय काल माना गया है। वह पितरों, देवताओं तथा ब्राह्मणोंको अत्यन्त प्रिय है। उस समय तीर्थराज समुद्रके जलमें विधिपूर्वक स्नान करके मनुष्य भगवान् नारायणका पूजन करे। कल्पवृक्षको प्रणाम करके देवमन्दिरमें प्रवेश करे और तीन बार श्रीपुरुषोत्तमकी परिक्रमा करके मन्त्रराजके

* विष्णुगायत्री इस प्रकार है—

ॐ नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।

द्वारा उनकी पूजा करे। इसी प्रकार बलभद्र और सुभद्राका भी उन-उनके नाममन्त्रोंद्वारा पूजन करे। उत्तरायणके प्रारम्भकालमें भगवान् विष्णुका दर्शन करके मनुष्य देहबन्धनसे मुक्त हो जाता है। पूर्वकालमें महर्षि कश्यपने सृष्टिरचना करके इस महान् उत्सवको भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये किया था। कश्यपजीके द्वारा चालू किये हुए इस उत्सवका जो लोग दर्शन करते हैं, वे मोक्षको प्राप्त होते हैं। मुनियो! इस उत्सवमें भी रसोईघरका और अग्निका संस्कार करना चाहिये तथा प्रतिदिन बलिवैश्वदेव करना चाहिये। अग्न्याधानपूर्वक अग्निका संस्कार हो जानेपर प्रतिदिन दिव्यरूपा भगवती लक्ष्मी अदृश्यभावसे वहाँ पहुँचकर भगवान्‌के भोजनके लिये स्वयं रसोई तैयार करती हैं। उत्तरायण या मकरसंक्रान्तिके उत्सवमें किये हुए स्नान, दान, तप, होम, स्वाध्याय और पितृतर्पण सब अक्षय होते हैं।

फाल्गुनमासमें भगवान्‌के लिये दोलारोहणका उत्तम उत्सव करना चाहिये। देवदेव श्रीविष्णुकी गोविन्द नामसे प्रसिद्ध प्रतिमा बनवाये और मन्दिरके आगे सोलह खंभोंका एक ऊँचा मण्डप तैयार करे। वह मण्डप चौकोर हो, उसमें चार दरवाजे हों और बीचमें वेदी बनी हुई हो। वेदीके ऊपर सुन्दर चँदोवा तना हो और माल्य, चँवर तथा ध्वजा आदिसे मण्डपको सुशोभित किया गया हो। वेदीके ऊपर श्रीपर्णी (गम्भारी) काष्ठका बना हुआ भद्रासन स्थापित करे और पाँच या तीन दिनतक वहाँ फाल्गुनोत्सव मनावे। गोविन्दजीकी पूजा करके उन्हें कुछ दूरतक भ्रमण करावे। चतुर्दशीको प्रातःकाल गोविन्दजीकी सुन्दर प्रतिमा जगन्नाथजीके आगे स्थापित करके उन भगवान् पुरुषोत्तमकी पूजा करे। तत्पश्चात् गोविन्दजीकी प्रतिमाका भी पूजन करे। उसके बाद वस्त्र और माला उतारकर मन्त्रज्ञ पुरुष परम ज्योतिकी भावना करते हुए प्रतिमामें उसका न्यास (स्थापन) करे। तदनन्तर वह प्रतिमा पुरुषोत्तमरूप हो जाती है। फिर उसे रत्नमयी डोलीमें बैठाकर स्नानमण्डपमें ले जाय। वहाँ छत्र, ध्वजा, पताका, चँवर, व्यजन तथा दीपमालाओंसे बड़ा भारी उत्सव करे। उसके बाद भद्रासनपर पधराकर विभिन्न उपचारोंद्वारा गोविन्दजीकी पूजा करे। पहले महास्नानकी विधिसे उनको स्नान करावे। फिर सुगन्धित जलसे श्रीसूक्तके द्वारा अभिषेक करे। अभिषेकके पश्चात् वस्त्र, अलंकार और पुष्पहारसे भगवान्‌का शृंगार करे और पूजन-आरती करके सात बार मन्दिरकी परिक्रमा करावे। तत्पश्चात् भगवान्‌को डोलामण्डपमें ले आवे। मण्डपके निम्न भागमें सात बार भ्रमण करावे। फिर मण्डपके ऊर्ध्व भागमें सात बार भ्रमण कराकर स्तम्भवेदीपर भी सात बार घुमावे। उसके बाद यात्राके अन्तमें भी पुनः इसी क्रमसे इक्कीस बार भ्रमण करावे। रत्ननिर्मित हिंडोलेमें भगवान्‌को विराजमान करे। भगवान्‌के मस्तकपर सुन्दर रत्नमय मुकुट हो, वक्षःस्थलपर तारहार उनकी शोभा बढ़ा रहा हो, कानोंमें बहुमूल्य रत्नोंद्वारा निर्मित कुण्डल झिलमिला रहे हों। अन्य अंगोंमें भी यथायोग्य शोभा बढ़ानेवाले दिव्य आभूषणोंसे भगवान्‌का मनोहर शृंगार किया गया हो। भगवान् विकसित कमलपुष्पके मध्यमें लक्ष्मीजीके साथ बैठे हों। उनके हाथोंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म तथा कण्ठमें वनमाला हो। मुखपर प्रसन्नता छा रही हो। सुन्दर नासिका हो। पीन वक्षःस्थलके कारण भगवान्‌का सौन्दर्य और भी बढ़ गया हो। ऐसी मनोहर झाँकीसे सुशोभित गोविन्दजीको डोलापर बैठाकर सब दिशाओंमें सुगन्धित चन्दनकी धूलि बिखेरते हुए उनकी पूजा करे। उस समय गोविन्दजीका ध्यान इस प्रकार करे—'भगवान् कदम्ब वृक्षके नीचे गोपियोंके मध्यमें विराजमान हैं। गोपी और ग्वालबाल लीलापूर्वक हिंडोलेको डुला रहे हैं और भगवान् उसके भीतर बैठकर लीलारसमें निमग्न हैं।' ऐसा ध्यान करके लाल, पीले और सफेद रंगके

रत्नहिंडोलेपर भगवान् लक्ष्मीनारायण

कदम्बमूलमें भगवान् गोविन्द झूला झूल रहे हैं।

कर्पूरयुक्त सुगन्धित चूर्ण, अबीर, गुलाल आदि सब ओर बिखेरे। फिर दिव्य वस्त्र, दिव्य माल्य, दिव्य गन्ध और उत्तम धूप निवेदन करके चँवर डुलाने, गीत गाने और स्तुति-पाठ करने आदिके द्वारा भगवान्‌की पूजा करके धीरे-धीरे सात बार डोलामें विराजमान भगवान्‌को झुलावे। उस समय जो लोग भगवान् श्रीकृष्णजीके विग्रहका दर्शन करते हैं, उनकी निःसन्देह मुक्ति होती है और उनके ब्रह्महत्या आदि पाँच महापातकोंका भी नाश हो जाता है। हिंडोलेमें झूलते हुए भगवान्‌का दर्शन करके मनुष्य सम्पूर्ण पापों और आध्यात्मिक आदि तीनों तापोंसे भी छूट जाता है।

## भगवान्‌की द्वादशादित्य मूर्तियोंकी उपासना, दक्षके द्वारा भगवान्‌की आराधना और वर-प्राप्ति तथा विभिन्न विभूतियोंके रूपमें भगवान्‌की उपासनाका फल

**जैमिनिजी कहते हैं**—ब्राह्मणो! अनादिदेव भगवान् विष्णुकी जो बारह मूर्तियाँ हैं, उनका प्रतिमास पूजन करे। उनमेंसे एक-एक मूर्तिकी एक-एक मासमें प्रतिदिन पूजा करते हुए बारह महीनोंमें बारह मूर्तियोंकी पूजा सम्पन्न होती है। क्रमशः बारह पुष्पों और बारह फलोंसे पूजन करना चाहिये। अशोक, मल्लिका (बेला), पाटल, कदम्ब, कनेर, चमेली, मालती, शतदलकमल, नीलकमल, वासन्ती, कुन्द और पुन्नाग—इन पुष्पोंको भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये क्रमशः एक-एक मासमें अर्पण करना चाहिये। अनार, नारियल, आम, कटहल, खजूर, ताल, प्राचीन आँवला, श्रीफल, नारंगी, सुपारी, करौदा और जायफल—इन बारह फलोंको भी क्रमशः एक-एक मासमें देना चाहिये। भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य और मधुर भोजन तथा आसन आदि उपचार समर्पित करके जगद्गुरु भगवान्‌की स्तुति करे—'हे सर्वव्यापी जगन्नाथ! आप भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालोंके स्वामी हैं। कमलनयन विष्णो! आप संसारसागरसे मेरी रक्षा कीजिये। मधुसूदन! आपने पूर्वकालमें अत्यन्त भयंकर तथा अवलम्बनरहित एकार्णवके जलमें सम्पूर्ण विश्वकी रक्षाके लिये मधु नामक दैत्यका वध किया था। इस समय मेरी रक्षा कीजिये। त्रिविक्रम! जिन्होंने तीन पग चलकर तीनों लोकोंको नाप लिया और दैत्योंकी विशाल सेनाका वध करके त्रिभुवनकी रक्षा की, उन आपके लिये नमस्कार है। जिन्होंने ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदका ज्ञान अपने भीतर लिये हुए वामनरूप धारण करके अद्भुत रूपसे सबको मोहित कर लिया, उन मायावी भगवान् विष्णुको नमस्कार है। जो भक्तोंके लिये ही अपने हृदयमें लक्ष्मीजीको धारण करते हैं और उन्हें सम्पत्ति देते हैं, उन भगवान् श्रीधरको नमस्कार है। हृषीकेश! आप समस्त इन्द्रियोंके अधिष्ठाता, सबके स्वामी और सदा भक्तोंके सुखके एकमात्र हेतु हैं, आपको नमस्कार है। पद्मनाभ! आपके नाभिकमलसे यह चराचर जगत् उत्पन्न हुआ है। वह कमल ही विधाताका आसन है। आपको नमस्कार है। जिनके तीन गुणोंसे यह चराचर जगत् बँधा हुआ है, उन्हींको गोपीने अपने दाम (रस्सी)-से बाँध लिया, इसलिये दामोदर नाम धारण करनेवाले प्रभो! आपको नमस्कार है। जो जगत्‌के आदिकारण हैं और जिन्होंने ब्रह्माजीके रूपसे सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि की, उन अचिन्त्य महिमावाले आप सर्वव्यापी नारायणको नमस्कार है। गोविन्द! आप ज्ञानियोंके लिये ज्ञानगम्य हैं और अशरणको शरण देनेवाले हैं, आपके प्रसादसे मेरा यह व्रत सम्पूर्ण हो।'

इस प्रकार प्रतिमास पूजाके अन्तमें इन स्तुतियोंद्वारा

अतिशय भक्तिके साथ हाथ जोड़कर भगवान् जनार्दनकी प्रार्थना करनी चाहिये।

ब्राह्मणो! प्राचीन कालमें प्रजापति दक्षने मनुष्योंको आध्यात्मिक आदि पापोंसे अत्यन्त क्लेश उठाते देख वैशाख मासके शुक्ल पक्षमें तृतीयाको जगन्नाथजीके अंगमें चन्दनका लेप करके प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकार स्तवन किया था—'देवदेव जगन्नाथ! आप सहज आनन्दसे परिपूर्ण एवं निर्मल हैं। परमेश्वर! संसारसागरमें डूबे हुए हम दुःखियोंका उद्धार कीजिये। ये मनुष्य नाना प्रकारके संतापोंसे संतप्त हो रहे हैं। हे कृष्णमेघ! मुझपर कृपा करनेकी बुद्धिसे अपनी शुभ दृष्टिमयी सुधाधारासे इन सबको तृप्त कीजिये। जगदीश्वर! कलियुगके पापसे मोहित हुए मनुष्योंका उद्धार करनेके लिये ही इस नीलाचल-गुफामें आपका यह अवतार हुआ है। जय कृष्ण! जय ईशान! जय अक्षर! जय अविनाशी परमेश्वर! आप प्रसन्न होइये और इन दीन, मूढ एवं अज्ञानी मनुष्योंपर कृपा कीजिये।'

इस प्रकार स्तुति करके 'हे ईश्वर! प्रसन्न होइये, प्रसन्न होइये, प्रसन्न होइये' ऐसा कहते हुए दक्ष प्रजापतिने जगन्नाथजीके चरणारविन्दोंमें दण्डवत्-प्रणाम किया। तब भगवान्ने स्पष्ट वाणीमें

प्रजापतिसे कहा—'वत्स! उठो, मैंने तुम्हें दुर्लभ वर प्रदान किया। तुम्हारी जो अभिलाषा है, वह मेरे प्रसादसे निःसन्देह पूर्ण होगी। यह तो तुम जानते ही हो कि अल्प पुण्यवाले प्राणियोंको मेरा अनुग्रह दुर्लभ है, परंतु मेरे उत्सवसे मुझे सन्तुष्ट करके तुमने मेरी प्रार्थना की है, इसलिये मैं तुम्हें यह वर देता हूँ—'जो मनुष्य भक्तिपूर्वक अक्षय तृतीयाको इस अक्षय यात्राका दर्शन करते हैं, वे उस समय मनमें जो इच्छा करते हैं, उसीको प्राप्त कर लेते हैं।' जैसे चन्दनका लेप तापको हर लेता है, वैसे ही मेरा यह उत्सव तीनों तापोंका विनाश करनेवाला है। मैंने तुम्हारी बुद्धिको प्रेरित किया है, इसीलिये तुमने इस उत्सवको सम्पन्न किया है। मैंने दीनोंका उद्धार करनेके लिये मन-ही-मन यह संकल्प किया था, उसीके अनुसार तुम इस कार्यमें प्रवृत्त हुए हो। प्रजापते! तुमने जो अभिलाषा की है, वह सब मैं पूर्ण करूँगा। ये गुण्डिचा आदि बारह महायात्राएँ पवित्र करनेवाली मानी गयी हैं। इनमेंसे एक-एक यात्रा मुक्ति देनेवाली है और सब यात्राएँ तो धर्म, काम, अर्थ, मोक्ष चारों पुरुषार्थोंको प्राप्त करानेवाली हैं। जो भक्तिपूर्वक इनमेंसे एक यात्राका भी दर्शन करता है, वह उसी एकसे भवसागरको पार करके भगवान् विष्णुके धाममें जाता है।'

प्रजापति दक्षसे ऐसा कहकर भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये। तब श्रद्धालु दक्ष प्रजापतिने भगवान्की आज्ञासे एक वर्षतक नीलाचलपर निवास करके वहाँके सब बड़े-बड़े उत्सवोंका दर्शन किया। जो अल्पबुद्धिवाले मनुष्य हैं, उनमें भी भगवत् विश्वास बढ़ानेके लिये ये यात्राएँ बतायी गयी हैं। जिस किसी प्रकार भी जगन्नाथजीका दर्शन करनेपर वे निश्चय ही मोक्ष प्रदान करते हैं।

इस संसारमें जो समस्त चराचर विभूतियाँ हैं, वे सब भगवान् विष्णुकी ही हैं। विभूति

और उसके दाता वे एक ही परमेश्वर हैं। जो मनुष्य जिस भावसे भगवान्‌की सेवा करता है, वह वैसा ही हो जाता है। भगवान्‌की इतनी ही महिमा है, इस प्रकार उसका माप नहीं किया जा सकता। जो जिस भावसे भगवान्‌की उपासना करता है, उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्तिके लिये एक ही मार्ग है—दारुब्रह्म जगन्नाथजीकी उपासना। धर्मके स्वरूपका यथार्थ निश्चय करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है। भगवान् विष्णु ही धर्म हैं। ये जनार्दन ही धर्म और जगत् दोनोंके स्वामी हैं। वे ही चतुर्विध पुरुषार्थस्वरूप हैं। उनमें जिसकी भक्ति स्थिर हो गयी है, वह सम्पूर्ण कामनाओंसे तृप्त होकर न कभी शोक करता है और न आकाङ्क्षा। इन्द्ररूपसे उपासना किये जानेपर वे ही भगवान् विष्णु त्रिलोकीका ऐश्वर्य प्रदान करते हैं। ब्रह्माजीके रूपमें ध्यान किये जानेपर वंशकी वृद्धि करते हैं, सनत्कुमारके रूपमें इनका चिन्तन किया जाय तो ये दीर्घ आयु प्रदान करते हैं। राजा पृथुके रूपमें भावना करनेपर जीविका और सम्पत्ति प्रदान करते हैं, बृहस्पतिके रूपमें भगवान्‌की उपासना की जाय तो वे गंगा आदि तीर्थोंका फल देते हैं। सूर्यरूपसे चिन्तन करनेपर वे अन्तःकरणके अज्ञानान्धकारका नाश करते हैं। चन्द्रमाके रूपमें श्रीहरिकी उपासना की जाय तो वे अनुपम सौभाग्य देते हैं। भगवान् वाणीके अधिपति हैं, इस रूपमें भावना करनेपर मनुष्य अष्टादश विद्याओंका तत्त्वज्ञ होता है। यज्ञेश्वर-स्वरूपमें चिन्तन करनेपर जगन्मय सनातन भगवान् अश्वमेध आदि यज्ञोंका फल देते हैं। कुबेररूपमें ध्यान किया जाय तो भगवान् अनुपम समृद्धि प्रदान करते हैं। इस प्रकार दीनों और अनाथोंपर अनुग्रह करनेके लिये दयासागर भगवान् काष्ठमय शरीर धारण करके नीलगिरिपर निवास करते हैं। ब्राह्मणो! तुम सब लोग वहाँ जाओ, एकाग्रचित्त होकर निवास करो और भगवान् लक्ष्मीपतिके युगल चरणारविन्दोंकी शरण लो।

## राजा इन्द्रद्युम्नका ब्रह्मलोकगमन, पुराण-श्रवणकी विधि और ग्रन्थका उपसंहार

**मुनियोंने पूछा**—भगवन्! विष्णुभक्त राजा इन्द्रद्युम्नने मन्दिरकी प्रतिष्ठाके पश्चात् कौन-सा कार्य किया?

**जैमिनिजी बोले**—साक्षात् ब्रह्मस्वरूप जगन्नाथजीसे वरदान पाकर नरश्रेष्ठ इन्द्रद्युम्नने अपनेको कृतार्थ माना। भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार उन्होंने पुण्य एवं मोक्ष प्रदान करनेवाली सम्पूर्ण यात्राएँ करवायीं। अनेक प्रकारके उपचारोंसे जगद्गुरु श्रीहरिकी नाना प्रकारसे पूजा की और राजा गाल श्वेतको भगवान्‌की आज्ञा भलीभाँति समझाकर धर्म और न्यायसे युक्त यह वचन कहा—'राजन्! तुम बहुश्रुत विद्वान् हो, धर्ममें तुम्हारी निष्ठा है, भगवान्‌में भी मन, वाणी और क्रियाद्वारा तुम्हारी बड़ी भक्ति है। भगवान् श्रीहरि किसी एकके उपदेशके लिये अनुशासन नहीं करते हैं, ये समस्त चराचरके गुरु हैं और सम्पूर्ण विश्व इनका शिष्य है। मुझपर अनुग्रह करनेके लक्ष्यसे अवतीर्ण हुए भगवान् जगन्नाथ यहाँ दीन-दुःखियोंके उद्धारके लिये सदैव निवास करेंगे। तुम भक्ति और श्रद्धाके साथ इनकी आज्ञाके पालनमें लगे रहो। ये साधारण काष्ठकी प्रतिमा हैं—ऐसी व्यावहारिक बुद्धिसे इन्हें न देखो, ये साक्षात् जगदीश्वर हैं। इनके मन्दिर-प्रवेश-कालमें तीनों लोकोंके निवासी इस पृथ्वीपर

आ गये थे, यह तो तुमने प्रत्यक्ष देखा है। ब्रह्मा आदि सब देवता एक ही साथ यहाँ पधारे थे। काष्ठस्वरूप धारण करनेवाले ये साक्षात् चराचरमय विष्णु हैं। इन्हें पृथ्वीपर प्राप्त कल्पवृक्ष समझो। ये सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाले हैं। इनकी उपासना करके जो जैसी कामना रखता है, वैसा फल प्राप्त कर लेता है। ये अन्धकारसे परे अनिर्वचनीय ज्योतिस्वरूप हैं। यतिजन बहुधा प्रयत्न करके भी इन्हें यथार्थरूपसे नहीं जान पाते। नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले, शुद्ध धर्मनिष्ठ यतियों तथा अनन्यभक्तिसे युक्त योगियोंके एक ही मार्ग भगवान् श्रीहरि हैं। जैसे संतप्त मनुष्य ग्रीष्म-ऋतुमें शीतल एवं गहरे जलाशयमें गोता लगाकर बड़े सन्तोषका अनुभव करता है उसी प्रकार इन करुणासागर भगवान् पुरुषोत्तमके प्राप्त होनेपर मनुष्य त्रिविध तापजनित दुःखको त्याग देता है। शरणमें आये हुए दीनजनोंका जैसा उपकार ये भगवान् विष्णु करते हैं, वैसा माता, पिता, मित्र, पत्नी और पुत्र कोई भी नहीं कर सकता। अतः भोग और मोक्ष दोनों फलोंको देनेवाले इन जगदीश्वरका तुम सेवन करो और पुरवासियों तथा प्रजाओंके द्वारा भगवान्‌की विभिन्न यात्राओंको भलीभाँति सम्पन्न करते रहो। नृपश्रेष्ठ! सभी राजाओंके लिये धर्मका मार्ग एक-सा ही है। किसी पूर्वपुरुषने उसे चलाया है और पीछे होनेवाले लोग उसका पालन करते हैं। राजेन्द्र! श्रेष्ठ उपचारों और समृद्धियोंद्वारा तीनों समय भगवान् नृसिंहका भजन-पूजन करो, इससे तुम्हें परम शान्ति प्राप्त होगी। अपनी कृतिकी अपेक्षा दूसरेकी कृतिका संरक्षण करना श्रेष्ठ बताया गया है। जो दूसरेके दिये हुए दानकी रक्षा करता है, उसके लिये वह अपने दिये हुए दानसे उत्तम है।'

यह सुनकर नृपश्रेष्ठ श्वेतने राजा इन्द्रद्युम्नके आदेशको गुणयुक्त मालाकी भाँति शिरोधार्य किया। राजर्षि इन्द्रद्युम्न भी भगवान् पुरुषोत्तमको प्रसन्न करके नारदजीके साथ ब्रह्मलोक चले गये।

ब्राह्मणो! यह मैंने तुमसे पुरुषोत्तमक्षेत्रके उत्तम माहात्म्यका वर्णन किया। वहाँ नित्य निवास करनेवाले दारुब्रह्म जगन्नाथजीके माहात्म्यको जो भक्तिपूर्वक श्रवण करता है, उसे अनेक अश्वमेध यज्ञोंका फल प्राप्त होता है। स्वामिकार्तिकेयजीके बताये हुए अर्द्धोदययोगकी अपेक्षा इस विष्णु-माहात्म्यके कीर्तनका पुण्य अधिक है। जो प्रतिदिन प्रातःकाल इसको सुनता है उसके लिये यह धन, यश, आयु, पुण्य तथा सन्तानकी वृद्धि करनेवाला है। स्वर्गमें प्रतिष्ठारूप फल देता और सब पापोंका नाश करता है।

पुराण-श्रवणके आरम्भमें अपने वैभवके अनुसार तैयारी करनी चाहिये। पहले संकल्प करके पुराण-पाठ श्रवण करनेके लिये अति सुन्दर आभूषणों तथा वस्त्र, चन्दन और माला आदिके द्वारा विधिपूर्वक ब्राह्मणका वरण करे। वह ब्राह्मण शुद्ध कुलमें उत्पन्न हो, किसी अंगसे हीन न हो, शान्त स्वभाववाला हो, अपनी ही शाखाको माननेवाला और अपना पुरोहित हो तथा सब शास्त्रोंके अर्थको यथार्थरूपसे जाननेवाला हो। वरण किये हुए ब्राह्मणको उत्तम आसनपर बिठाकर उसके गलेमें माला पहना दे और मस्तकपर भी पुष्पगर्भ माला रखे। चन्दनसे ब्राह्मणके ललाटमें लेप करे। उस समय वह ब्राह्मण व्यासके समान मान्य होता है। उसी ब्राह्मणके द्वारा विष्णुस्वरूप पुस्तकपर श्रीखण्ड, अगुरु आदि पुष्पों और नाना प्रकारके रुचिर उपचारोंसे व्यास-पूजन करावे। कथा सुननेके लिये आने-जानेवाले लोगोंके बैठनेके निमित्त यथायोग्य आसन बनवाकर रखे। स्वयं उत्तम आसनपर बैठकर उत्कण्ठित चित्तसे कथा सुने

अथवा झाड़-बुहारकर शुद्ध किये हुए स्थानमें सबके साथ बैठे। व्यासके आगे ऊँचे आसनपर न बैठे। स्नान करके दो शुद्ध वस्त्र धारण करे। आचमन करके शरीरमें यथास्थान तिलक करे और प्रसन्नतापूर्वक मनसे भगवान् विष्णुका ध्यान करते हुए कथामें विश्वास करे। पुराण, ब्राह्मण, देवता, मन्त्र, कर्म, तीर्थ तथा बड़े-बूढ़ोंके वचनमें विश्वास फलदायक होता है। सब पुण्य विश्वासका कारण है। पुराण-श्रवणके समय पाखण्डी आदिसे बातचीत, व्यर्थकी बकवाद और सब प्रकारकी चिन्ताओंका प्रयत्नपूर्वक त्याग करे। इसी विधिसे प्रतिदिन प्रसन्नतापूर्वक कथा सुने। पाठ समाप्त होनेपर बारंबार करताल आदि बजाकर 'जय कृष्ण! जगन्नाथ! हरे!' इत्यादि नामोंका कीर्तन करे। कीर्तन इतने उच्चस्वरसे होना चाहिये कि आकाशमें उसकी ध्वनि गूँज उठे। इस प्रकार भगवान् विष्णुकी प्रीति के लिये प्रतिदिन कीर्तन करना चाहिये। तदनन्तर ग्रन्थ समाप्त होनेपर भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये बड़ी भक्तिके साथ वस्त्र, माला, चन्दन और आभूषण आदिकी विशेष व्यवस्था करके व्याससदृश माननीय आचार्यको विभूषित करे और अपनी शक्तिके अनुसार विधिपूर्वक दक्षिणा दे। दक्षिणा ऐसी देनी चाहिये जिससे आचार्यको सन्तोष हो जाय। शान्तिकर्म, पौष्टिककर्म, व्रतबन्ध, विवाह आदि कर्म, मोक्षसाधक कर्म, पुराण-श्रवण, यज्ञादिका अनुष्ठान, दान और अनेक प्रकारके व्रत—ये यदि दक्षिणाहीन हों तो निष्फल हो जाते हैं। तत्पश्चात् यथाशक्ति तैयार कराये हुए अन्नसे ब्राह्मणोंको भोजन करावे। मुनिवरो! इस प्रकार तुमलोगोंसे पुराण-श्रवणकी यह सांगोपांग विधि बतायी गयी।

**मुनि बोले**—अहो! हमारा महान् सौभाग्य है कि पापराशिका विनाश करनेवाला यह पुराण-श्रवणका फल हमने आपके मुखारविन्दसे सुना। मुने! इस समय इसके फलकी प्राप्तिके लिये हम आपको यथाशक्ति दक्षिणा देते हैं, इसे आप प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करें। यह कह उन अकिंचन मुनियोंने समिधा, कुशा, फूल, फल और अक्षत आदि जैमिनिजीको देकर बड़े हर्षके साथ पुरुषोत्तमक्षेत्रको प्रस्थान किया।

**॥ उत्कलखण्ड या पुरुषोत्तमक्षेत्र-माहात्म्य संपूर्ण ॥**

# बदरिकाश्रम-माहात्म्य

## सब तीर्थोंका संक्षिप्त माहात्म्य तथा बदरीक्षेत्रकी विस्तृत महिमाका उपक्रम

**शौनकजी बोले**—समस्त धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ और सम्पूर्ण शास्त्रोंके तत्त्वज्ञ पुराणपरिनिष्ठित सूतजी! सब धर्मोंसे रहित भयंकर कलियुग प्राप्त होनेपर मनुष्य दुष्कर्ममें प्रवृत्त हो सब धर्मोंका त्याग कर देते हैं, उनकी आयु बहुत थोड़ी होती है, उनकी प्राणशक्ति, बल, पराक्रम, तपस्या और कर्मानुष्ठान सब अत्यन्त क्षीण हो जाते हैं। वे सब अधर्मपरायण और वेदशास्त्रसे दूर होते हैं; तीर्थयात्रा, तपस्या, दान और भगवान् विष्णुकी भक्तिका उनमें अभाव-सा होता है। ऐसे क्षुद्र मनुष्योंका थोड़े प्रयाससे किस प्रकार उद्धार हो सकता है?

**सूतजी बोले**—महाभाग शौनक! तुम्हें साधुवाद है, तुम सदा दूसरोंके हितमें तत्पर रहते हो, भगवान् विष्णुकी भक्तिमें आसक्त होनेके कारण तुम्हारे मनका मल धुल गया है। संसारमें साधुपुरुषोंका संग दुर्लभ है। वह देहाभिमानी अजितात्मा पुरुषोंकी संचित पापराशिको हर लेता है और अधिक पुण्यके कारण उन्हें उत्तम गति प्रदान करता है। तीनों लोकोंके मनुष्योंके लिये सत्संग दुर्लभ है, वह कर्मपाशसे पीड़ित मनुष्योंकी हृदय-ग्रन्थि (आन्तरिक बन्धन)-को दूर करता है, बहुत कम बोलनेवाले और एकमात्र भगवान्‌का भजन करनेवाले लोगोंको उच्चपद प्रदान करता है और जन्म-मृत्युके चक्रसे थके हुए मानवोंको चिर-विश्रामकी प्राप्ति करानेका कारण होता है*। शौनकजी! यही प्रश्न पूर्वकालमें परम सुन्दर कैलाश-पर्वतके शिखरपर श्रोता ऋषियोंके समक्ष सत्पुरुषोंका कल्याण करनेके लिये स्वामिकार्तिकेयजीने भगवान् शंकरके आगे उपस्थित किया था।

**तब श्रीमहादेवजीने कहा**—षडानन! परमार्थके पथपर चलनेवाले पुरुषोंको वैकुण्ठधामका निवास प्रदान करनेवाले बहुत-से तीर्थ और क्षेत्र हैं। कोई कामनाके अनुसार फल देनेवाले हैं और कोई मोक्षदायक हैं। गंगा, गोदावरी, नर्मदा, तपती, यमुना, क्षिप्रा, पुण्यमयी गौतमी, कौशिकी, कावेरी, ताम्रपर्णी, चन्द्रभागा, महेन्द्रजा, चित्रोत्पला, वेत्रवती, सरयू, चर्मण्वती, शतद्रु, पयस्विनी, गण्डकी, बाहुदा, सिन्धु और सरस्वती—ये सब पवित्र नदियाँ हैं और बार-बार सेवन करनेपर भोग तथा मोक्ष प्रदान करनेवाली हैं। अयोध्या, द्वारका, काशी, मथुरा, अवन्ती, कुरुक्षेत्र, रामतीर्थ, कांची, पुरुषोत्तमक्षेत्र, पुष्करक्षेत्र, दर्दुरक्षेत्र, वाराहक्षेत्र तथा बदरी नामक महापुण्यमय क्षेत्र, जो सब मनोरथोंका साधक है, ये सभी उत्तम तीर्थ हैं। मुक्तिकी एक साधन अयोध्यापुरीका विधिपूर्वक दर्शन करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो भगवान् विष्णुके धाममें जाते हैं। भाँति-भाँतिसे भगवान् विष्णुकी सेवापूर्वक पूजन, नृत्य और कीर्तन

* हरति हृदयबन्धं कर्मपाशार्दितानां वितरति पदमुच्चैरल्पजल्पैकभाजाम्।
जननमरणकर्मश्रान्तविश्रान्तिहेतुस्त्रिजगति मनुजानां दुर्लभः सत्प्रसंगः॥

(स्क० पु० वै० बद० १। १२)

करनेवाले पुरुष घर त्यागकर श्रीहरिका चिन्तन करनेसे गृहकी आसक्ति तथा मृत्युके पराक्रमपर विजय पा जाते हैं। द्वारकामें साक्षात् भगवान् श्रीहरि विराजमान हैं, वे अपने निवास-मन्दिरको कभी नहीं छोड़ते। षडानन! गोमतीमें स्नान करके भगवान् श्रीकृष्णके मुखारविन्दका दर्शन करनेसे बिना ज्ञानके ही मनुष्यकी मुक्ति हो जाती है।

असी और वरुणाके बीचमें पाँच कोसतक वाराणसीक्षेत्र है। वहाँ मणिकर्णिका, ज्ञानवापी, विष्णुपादोदक और पंचनद कुण्ड (पंचगंगा)-में स्नान करके मनुष्य पुनः माताके स्तनोंका दूध नहीं पीता है। किसी प्रसंगसे भी काशीमें विश्वनाथजीका दर्शन करके मनुष्यको जन्म-मृत्युरहित मुक्ति प्राप्त होती है। कार्तिकेय! तपस्या और उपवासमें लगा हुआ मनुष्य मथुरापुरीमें जन्मस्थानपर जाकर सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। विश्रामतीर्थमें विधिपूर्वक स्नान करके तिलसहित जलसे तर्पण करे तो मनुष्य अपने पितरोंका नरकसे उद्धार करके स्वयं विष्णुलोकको जाता है। अवन्तीपुरीमें वैशाखमास आनेपर मनुष्य क्षिप्राके जलमें विधिपूर्वक स्नान करके कोटि तीर्थमें गोता लगावे और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको भोजन कराकर महाकालेश्वर शिवका दर्शन करे तो सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। कुरुक्षेत्र तथा रामतीर्थमें सूर्यग्रहणके अवसरपर यथाशक्ति सुवर्णदान करनेसे मनुष्य मोक्षका भागी होता है। हरिक्षेत्रमें पादोदक तीर्थके जलमें स्नान करके श्रीहरिका दर्शन करनेसे पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो भगवान् विष्णुके साथ आनन्द भोगता है। विष्णुकांचीमें साक्षात् भगवान् विष्णु और शिवकांचीमें साक्षात् भगवान् शिव निवास करते हैं। दोनोंमें कोई भेद न होनेके कारण दोनोंकी ही भक्तिसे मुक्ति हाथमें आ जाती है, भेदबुद्धि पैदा करनेसे मनुष्योंकी निन्दित गति होती है। पुरुषोत्तमक्षेत्रमें मार्कण्डेय-सरोवरके जलमें स्नान करके एक बार जगन्नाथजीका दर्शन कर लेनेसे मनुष्य ज्ञान अथवा योगके बिना भी पुनः माताके स्तनोंका दूध नहीं पीता। रोहिणिक्षेत्रके अन्तर्गत समुद्रमें तथा इन्द्रद्युम्न-सरोवरमें स्नान करके भगवान् विष्णुके प्रसादको खाकर मनुष्य वैकुण्ठधाममें स्थान पाता है। कार्तिकी पूर्णिमाको पुष्करतीर्थमें स्नान करके दक्षिणासहित श्राद्ध एवं भक्तिपूर्वक ब्राह्मण-भोजन कराकर मनुष्य ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित होता है। माघ मासमें भक्तिभावसे त्रिवेणीसंगममें स्नान करके मनुष्य उस पुण्यको प्राप्त करता है, जो बदरीतीर्थके कीर्तनसे प्राप्त होता है।

भगवान् विष्णुका बदरी नामक क्षेत्र तीनों लोकोंमें दुर्लभ है, उसके स्मरणमात्रसे महापातकी मनुष्य भी तत्काल पापरहित होकर मृत्युके पश्चात् मोक्षके भागी होते हैं। स्वर्ग, पृथ्वी तथा रसातलमें बहुत-से तीर्थ हैं, परंतु बदरी तीर्थके समान दूसरा कोई तीर्थ न हुआ है, न होगा। कार्तिकेय! तप, योग और समाधिसे तथा सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नान करनेसे जो फल प्राप्त होता है, वह बदरीक्षेत्रके भलीभाँति दर्शनमात्रसे मिल जाता है।

~~o~~

## बदरीक्षेत्रकी महिमा—अग्निदेवके सर्वभक्षणरूप दोषका निवारण

**स्कन्दने पूछा**—यह क्षेत्र कैसे उत्पन्न हुआ ? किन लोगोंने इसका सेवन किया है तथा इस क्षेत्रके अधिपति कौन हैं? यह सब बातें मुझे विस्तारपूर्वक बताइये।

**भगवान् शिवने कहा**—यह बदरीक्षेत्र अनादिसिद्ध है। जैसे वेद भगवान्‌के शरीर हैं, उसी प्रकार यह भी है। इस क्षेत्रके अधिपति साक्षात् भगवान् नारायण हैं। नारद आदि महर्षियोंने इस तीर्थका सेवन किया है। काशीमें, श्रीपर्वतके शिखरपर तथा कैलाशमें पार्वतीसहित मेरी जैसी प्रीति है उससे अनन्तगुनी अधिक बदरीक्षेत्रमें है। अन्य तीर्थोंमें स्वधर्मका विधिपूर्वक पालन करते हुए मृत्यु होनेसे मुक्ति होती है; परंतु बदरीक्षेत्रके दर्शनमात्रसे ही मुक्ति मनुष्योंके हाथ आ जाती है। जहाँ भगवान् नारायणके चरणोंका सान्निध्य है, जहाँ साक्षात् अग्निदेवका निवास है और केदाररूपसे मेरा लिंग प्रतिष्ठित है, वह सब बदरीक्षेत्रके अन्तर्गत है। केदारके दर्शन, स्पर्श तथा भक्तिभावसे पूजन करनेपर कोटि-कोटि जन्मोंका पाप तत्काल भस्म हो जाता है। उस क्षेत्रमें विशेषतः मैं अपनी सम्पूर्ण कलासे स्थित रहता हूँ। वहाँ मेरे श्रीविग्रहमें पंद्रहों कलाएँ विद्यमान हैं। वहाँ कोमल कमलकी-सी कान्तिसे सुशोभित मुखकमलवाले शिवभक्त दोनों हाथ जोड़े मुझ महादेवकी ओर ही दृष्टि लगाये प्रदोषकालमें मेरी ही उपासना करते हैं। हाथमें जपमाल तथा मनमें शान्ति और सन्तोष धारण किये प्रतिदिन मेरी वन्दना और प्रार्थना करनेवाले मेरे भक्त सदा मेरे चरणोंके चिन्तनसे विज्ञानस्वरूप हो हृदयस्थित कामको नष्ट करके सर्वतोभावसे निरन्तर मेरा भजन करते हैं। काशीमें मरे हुए पुरुषोंको तारकब्रह्म मुक्ति देनेवाला होता है, परंतु केदारक्षेत्रमें मेरे लिंगके पूजनसे मनुष्योंकी मुक्ति हो जाती है। श्रीनारायणके चरणोंके समीप प्रकाशमान अग्नितीर्थका तथा मेरे केदारसंज्ञक महालिंगका दर्शन करके मनुष्य पुनर्जन्मका भागी नहीं होता।

पूर्वकालमें ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले) ऋषियोंका समुदाय प्रयागमें एकत्र हुआ था। जहाँ भगवती गंगा यमुनाके साथ मिली हैं और जहाँ त्रिभुवनविख्यात दशाश्वमेध नामक तीर्थ है, वहाँ भगवान् अग्निदेवने ऋषियोंके आगे उपस्थित हो विनीतभावसे पूछा—'आपलोगोंकी एक दृष्टि और एक ज्ञान है; आप सभी ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, दीनोंके लिये करुणासे भरे हुए आर्द्रहृदय और दयालु हैं। आप लोगोंको यहाँ उपस्थित देखकर मैं पूछता हूँ—सब प्रकारकी दूषित वस्तुओंके भक्षणजनक पातकसे मेरा अन्तःकरण लिप्त हो गया है। ब्रह्मज्ञानियो! बताइये मेरा उद्धार कैसे होगा?'

इतनेमें ही सब मुनियोंमें श्रेष्ठ व्यासजी गंगामें स्नान करके वहाँ आ पहुँचे और इस प्रकार बोले—'अग्निदेव! आपके सर्वभक्षणरूप पापकी निवृत्तिके लिये एक श्रेष्ठ उपाय है। आप बदरीक्षेत्रकी शरण लीजिये, जहाँ देवताओंके देवता साक्षात् भगवान् जनार्दन विराजमान हैं, जो सबके पापोंका नाश करनेवाले हैं। वहाँ गंगाजीके जलमें स्नान करके भगवान्‌की परिक्रमा और दण्डवत्-प्रणाम करनेसे सब पापोंका क्षय हो जाता है।'

तब अग्निदेव उत्तराभिमुख होकर गन्धमादन-पर्वतपर आये और बदरीतीर्थमें पहुँचकर गंगाजीके

जलमें स्नान करके भगवान् नारायणके आश्रमपर गये। वहाँ भगवान्‌को प्रणाम करके उन्होंने भक्तिपूर्वक स्तवन किया। 'जो विशुद्ध विज्ञानघन-स्वरूप पुराणपुरुष सनातन प्रजापतियोंके पति, सबके गुरु, एक होते हुए भी अनेक रूपोंको धारण करनेवाले और सम्पूर्ण जगत्‌के एकमात्र स्वामी हैं, शेषनागकी शय्यापर शयन करनेवाले उन शुद्धबुद्धि नारायणको मैं नमस्कार करता हूँ। जो अपनी मायामयी शक्तिका आश्रय लेकर संसारकी सृष्टि करनेके उद्देश्यसे रजोगुणसे युक्त ब्रह्माका रूप धारण करते हैं, सत्त्वगुणसे युक्त होकर इस जगत्‌की रक्षामें कारण बनते हैं और तमोगुणसे संयुक्त हो इस विश्वके भयंकर संहारकारी रुद्र बने हुए हैं, उन त्रिविध रूपधारी भगवान्‌की मैं स्तुति करता हूँ। जो अविद्यासे मोहितचित्त सम्पूर्ण विश्वके रूपमें प्रकट हुआ है और विद्यासे समस्त त्रिलोकीमें एक ही रूपसे व्याप्त हो रहा है, विद्याका आश्रय लेनेसे जिसे सर्वज्ञ और ईश्वर कहते हैं, उस परमेश्वरकी मैं शरण लेता हूँ। जिन्होंने भक्तोंकी इच्छासे अपने दिव्य स्वरूपको प्रकट किया है, योगनिद्राको स्वीकार करके शेषनागकी विशाल शय्यापर अपनेको अर्पित कर रखा है, जो रेशमी पीताम्बर धारण करते हैं और आठ प्रकारकी विचित्र शक्तियोंसे सम्पन्न हैं, उन भगवान् विष्णुकी मैं स्तुति करता हूँ।'

इस प्रकार स्तुति किये जानेपर सर्वान्तर्यामी भगवान् नारायण प्रसन्न होकर पवित्रताकी इच्छा रखनेवाले अग्निदेवसे मधुर वाणीमें बोले—'अनघ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम कोई वर माँगो। मैं तुम्हें वर देनेके लिये आया हूँ। मैं तुम्हारी इस स्तुति और विनयसे बहुत प्रसन्न हूँ।'

**अग्नि बोले**—प्रभो! मैं जिस उद्देश्यसे आया हूँ वह सब आपको ज्ञात है। तथापि कहता हूँ और इस रूपमें आप जगदीश्वरकी आज्ञाका पालन करता हूँ। मुझे सर्वभक्षी तो होना ही पड़ता है, किंतु मेरे इस दोषका निवारण कैसे हो, यही सोचकर मुझे अत्यन्त भय हो रहा है।

**भगवान् नारायणने कहा**—इस क्षेत्रका दर्शन करनेमात्रसे किसी भी प्राणीका पाप नहीं रह जाता। मेरे प्रसादसे तुममें कभी पातकका सम्पर्क न होगा।

तबसे लेकर सब दोषोंसे रहित भूतात्मा अग्निदेव यहाँ अपनी कलासे विराजमान हैं। जो प्रातःकाल उठकर पवित्र भावसे इस प्रसंगको सुनता और सुनाता है, वह निश्चय ही अग्नितीर्थमें स्नान करनेका फल पाता है।

## बदरीक्षेत्रकी पाँच शिलाओंमेंसे नारदशिला और मार्कण्डेयशिलाका माहात्म्य

**महादेवजी कहते हैं**—स्कन्द! जो महापातकी और अतिपातकी हैं, वे भी अग्नितीर्थमें स्नान करनेमात्रसे पवित्र हो जाते हैं। जैसे अत्यन्त मलिन सोना आगमें तपानेसे शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार देहधारी प्राणी अग्नितीर्थमें आकर पापमुक्त हो जाता है। जो पाँच प्रकारके महापातक करनेवाले हैं, वे भी इस तीर्थमें स्नान करके प्राणायाम और जप करनेसे शुद्ध हो जाते हैं, ऐसा मेरा मत है। यहाँ जो पाँच शिलाएँ हैं, उनमें सदा भगवान् विष्णुकी स्थिति है, वहींपर सब पापोंका नाश करनेवाला अग्नितीर्थ है।

**स्कन्दने पूछा**—पिताजी! वहाँ कैसी पाँच शिलाएँ हैं और किसने उनका निर्माण किया है? ये सब बातें पूर्णतः बतलानेकी कृपा करें।

**भगवान् शिवने कहा**—बेटा! वहाँ नारदी, नारसिंही, वाराही, गारुड़ी और मार्कण्डेयी—

ये पाँच शिलाएँ विख्यात हैं, जो सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धि करनेवाली हैं। एक समय भगवान् नारदने एक शिलापर बैठकर वायु पीकर रहते हुए महाविष्णुका दर्शन करनेके लिये अत्यन्त कठोर तपस्या की। वे साठ हजार वर्षोंतक वृक्षकी भाँति स्थिरभावसे उस शिलापर विराजमान रहे। तदनन्तर भगवान् विष्णु ब्राह्मणका रूप धारण करके कृपापूर्वक उनके सामने गये और उन मुनिश्रेष्ठ नारदसे इस प्रकार बोले—'मुने! बताओ, तुम क्या चाहते हो?'

**नारदजीने कहा**—आप कौन हैं? इस निर्जन वनमें आपके दर्शनसे मेरे मनमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है।

नारदजीके ऐसा कहनेपर भगवान् विष्णुने कृपा करके उन्हें अपने दिव्य स्वरूपका दर्शन कराया। उनके हाथोंमें शंख, चक्र, गदा आदि आयुध शोभा पा रहे थे। वे पीताम्बरसे सुशोभित और कमलोंकी मालासे विभूषित थे। लक्ष्मीका निर्मल निवासभूत भगवान्‌का वक्ष श्रीवत्सचिह्न तथा कौस्तुभमणिकी प्रभासे प्रकाशमान था। सुनन्द आदि पार्षद भगवान् जनार्दनकी स्तुति कर रहे थे। उन्हें देखकर नारदजीके शरीरमें नूतन प्राण-सा आ गया। वे सहसा खड़े हो गये और हाथ जोड़कर बार-बार नमस्कार करते हुए जगदीश्वरोंके भी ईश्वर श्रीविष्णुकी स्तुति करने लगे—'जो सबके साक्षी और सम्पूर्ण जगत्‌के अधीश्वर हैं, जिन्होंने भक्तोंकी इच्छासे दिव्य देह धारण किया है, जो शरणागतोंके लिये दयाके महासागर हैं, वे पावन दिव्यमूर्तिधारी भगवान् श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों। जो सम्पूर्ण जगत्‌के हितके लिये और साधुपुरुषोंके मनको सन्तुष्ट और उनका कल्याण करनेके लिये शीघ्र ही अपनी उत्तम कलाओंद्वारा दिव्य देह धारणकर प्रसन्नतापूर्वक दिव्यलीला और हास्यपूर्ण दृष्टि प्रकट करते हैं, सत्त्वगुणका समुदाय ही जिनका स्वरूप है, वे भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हों। जिनके चरणारविन्दोंका अर्चन करनेसे निर्मल चित्त हुए मनुष्य ज्ञानरूपी खड्गसे संसारबन्धनके मूल हेतुओंको काट डालते हैं और खेदरहित हो जिनके स्वरूपभूत ब्रह्मानन्दकी उपलब्धि कर लेते हैं, दीनोंपर दयार्द्रचित्त रहनेवाले वे भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हों। जिनका अनुसरण करनेवाले देवता विपत्तियोंके समुद्रको भी बछड़ेके खुरके समान लाँघकर निर्भय हो स्वर्गमें निवास करते हैं, वे सर्वभूतात्मा हैं। प्रभो! आप वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्धस्वरूप विष्णुको बार-बार नमस्कार है। जनार्दन! आज आपके दर्शनसे मेरा जीवन धन्य हो गया, मेरी तपस्या फलवती हुई और मेरा ज्ञान भी सफल हो गया।'

**श्रीभगवान् बोले**—नारद! तुम्हारी इस तपस्या और स्तुतिसे मैं प्रसन्न हूँ। तीनों लोकोंमें तुमसे बढ़कर दूसरा कोई मेरा भक्त नहीं है। तुम्हारा कल्याण हो, तुम कोई वर माँगो।

**नारदजीने कहा**—देव! यदि आप मुझे वर देते हैं तो एक तो अपने चरणकमलोंमें अविचल भक्ति दीजिये। मेरी शिलाके समीप रहना आप कभी न छोड़िये, यह दूसरा वर है; और मेरे इस तीर्थके दर्शन, स्पर्श, स्नान और आचमन करनेवाला मनुष्य पुनः संसारमें शरीर न धारण करे, यह मेरा तीसरा वर है।

**श्रीभगवान् बोले**—'**एवमस्तु**'। मैं तुम्हारे स्नेहवश समस्त चराचर जीवोंको मुक्ति देनेके लिये तुम्हारे तीर्थमें निवास करूँगा।

ऐसा कहकर भगवान् विष्णु वहीं अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर नारदजी भी कुछ दिनोंतक बदरीक्षेत्रमें निवास करके मथुरापुरीको चले गये।

**स्कन्दने कहा**—भगवन्! अब मुझे मार्कण्डेय-शिलाकी महिमा बताइये।

**भगवान् शिव बोले**—पहले त्रेतायुगके अन्तमें मार्कण्डेयजी तीर्थयात्राका परिश्रम उठाते हुए मथुरामें आये। वहाँ उन्हें नारदजीका दर्शन हुआ। मार्कण्डेयजीने

नारदजीका पूजन और उन्हें प्रणाम किया। तब उन्होंने जहाँ साक्षात् नारायण विद्यमान हैं, उस बदरीक्षेत्रका माहात्म्य इस प्रकार बताया—'साधो! बदरीतीर्थ महाक्षेत्र है, वहाँ भगवान् विष्णुका नित्यनिवास है। तुम वहीं जाओ वहाँ तुम्हें साक्षात् श्रीहरिका दर्शन होगा।' यह सुनकर मार्कण्डेयजीको बड़ा विस्मय हुआ। वे विशालापुरी (बदरिकाश्रम)-में आये और वहाँ स्नान करके शिलापर बैठकर परम उत्तम अष्टाक्षर (**ॐ नमो नारायणाय**) मन्त्रका जप करने लगे। तीन राततक जप करनेके बाद भगवान् जनार्दन उनपर प्रसन्न हुए और उन्हें शंख, चक्र, गदा, पद्म और वनमाला आदिसे विभूषित स्वरूपका दर्शन कराया। उन्हें देखकर मार्कण्डेयजी सहसा उठे और प्रणाम करके प्रेमसे गद्गदवाणीमें उनकी स्तुति करने लगे।

**मार्कण्डेयजी बोले**—परमेश्वर! इस अशाश्वत (क्षणभंगुर) संसारमें आपके युगल चरणारविन्द ही सार हैं। संसारी मनुष्योंका उद्धार कैसे हो? अच्युत! मैं आध्यात्मिक आदि तीनों तापोंसे अत्यन्त थका हुआ हूँ, अनेक प्रकारके बढ़े हुए अज्ञानसे आच्छादित होकर संसाररूपी कुहरेमें भटक रहा हूँ, कृपया मेरा उद्धार कीजिये। करुणासागर! अनेक प्रकारके योनियन्त्रोंमें दबकर निकलनेसे प्राप्त हुई गर्भवासजनित शारीरिक वेदनाको मैं कितनी ही बार पा चुका हूँ, अब मेरी रक्षा कीजिये। जरा, मृत्यु और बाल्यावस्था आदिके दुःखोंसे भरे हुए संसारसे मैं बहुत पीड़ित हूँ तथापि इस दुःखके समुद्रमें मेरी सुखबुद्धि हो रही है; दयासिन्धो! मेरी रक्षा कीजिये। कभी मैं कीटयोनिमें पड़ा, कभी स्वेदज जीवके रूपमें जन्म लिया, कभी उद्भिज्ज योनिमें आया और कभी सौभाग्यवश मनुष्य-शरीरको भी प्राप्त हुआ। सब योनियोंमें जन्म लेकर विपत्ति भोग चुका हूँ, अब सर्वथा निस्तेज और अनाथ हूँ। अच्युत! कृपा करके अपनी शरणमें आये हुए मुझ सेवकका उद्धार कीजिये।

बुद्धिमान् मार्कण्डेयजीके द्वारा ऐसा कहनेपर भगवान् श्रीविष्णुने प्रसन्न होकर कहा—'ब्रह्मर्षे! मुझसे कोई वर माँगो।' मार्कण्डेयजीने कहा—'भगवन्! दीनवत्सल! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो अपने पूजन और दर्शनमें मुझे अविचल भक्ति दीजिये। साथ ही, मैं चाहता हूँ इस शिलापर आपका निवास बराबर बना रहे। यही मेरे लिये वर है।' 'बहुत अच्छा' कहकर भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर मार्कण्डेयजी अत्यन्त प्रसन्न हो अपने पिताके आश्रमपर चले गये। जो मनुष्य इस प्रसंगको सुनता और सुनाता है, उसे भगवान् गोविन्दकी प्राप्ति होती है।

## गरुड़शिला, वाराहीशिला और नारसिंहीशिलाकी उत्पत्ति और महिमा

**भगवान् शिव कहते हैं**—कश्यपजीसे विनताके गर्भसे दो महाबली और महापराक्रमी पुत्र हुए, जिनका नाम था गरुड़ और अरुण। इनमेंसे अरुण तो सूर्यके सारथि हुए और गरुड़ने भगवान् विष्णुका वाहन होनेकी अभिलाषासे बदरीक्षेत्रके दक्षिण भागमें गन्धमादनके शिखरपर तपस्या प्रारम्भ की। वे फल-मूल और जलका आहार करते, द्वन्द्वोंको धैर्यपूर्वक सहते और जप करनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ होकर एक पैरसे पृथ्वीपर खड़े हो जप करते थे। भगवान्के दर्शनकी लालसासे उन्होंने बहुत वर्षोंतक तपस्या की। तब साक्षात् भगवान् विष्णु पीताम्बर धारण करके अपने शंख, चक्र आदि आयुधोंसे युक्त हो, पूर्व दिशामें उदित होनेवाले पूर्ण चन्द्रमाकी भाँति गरुड़के सामने प्रकट हुए और मेघके समान गम्भीर शब्द करते हुए बोले। तथापि गरुड़की बाह्य वृत्ति नहीं हुई। तब उन्होंने अपना श्रेष्ठ शंख बजाया, पर उससे भी

महात्मा गरुड़का ध्यान नहीं टूटा। तब भगवान् श्वासके साथ गरुड़के भीतर प्रवेश करके उनमें बहिर्मुखवृत्ति पैदा करते हुए पुनः बाहर आकर प्रकट हो गये। उस समय भगवान् विष्णुको अपने सामने देखकर गरुड़ निर्भय हो गये। उनके सम्पूर्ण शरीरमें रोमांच हो आया और उन्होंने हाथ जोड़कर भगवान्‌की स्तुति प्रारम्भ की—'भगवन्! तीनों लोकोंमें निवास करनेवाले देहधारियोंका अन्तःकरण आपका निवासस्थान है, आपकी जय हो, जय हो। आप अपने गुणोंसे समग्र पापराशिका विनाश करते हैं, सम्पूर्ण देहवृन्द आपके युगल चरणारविन्दोंकी मनोहर सुगन्धका अभिवन्दन करते हैं, आप असंख्य शत्रुओंके समूहका विनाश करनेवाले हैं। आपके सिंहासनपर जो कमल है, वह प्रणाम करनेवाले समस्त देवताओं और असुरोंके अतिशय प्रकाशमान कोटि-कोटि किरीटोंसे सुशोभित होता है। आप अपने भक्तोंके हृदयमें फैली हुई अज्ञानमय अनन्त अन्धकारराशिका चन्द्रमाकी भाँति निवारण करते हैं। आपके मनोहर चरण आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकारके सन्तापसमूहका अपहरण करनेवाले हैं। संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहाररूपी लीलाविलाससे विलसित जो आपकी ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूपी त्रिविध मूर्ति है, उसकी कीर्तिमयी प्रभासे सम्पूर्ण जगत्समुदाय प्रकाशित होता है, ठीक उसी प्रकार, जैसे सूर्य अपनी किरणोंसे समस्त विश्वको प्रकाशित करते हैं। आप अपने भक्तजनोंके हृदयकमलमें भ्रमरकी भाँति शोभा पाते हैं। अपने ज्ञानमें आयी हुई सम्पूर्ण वेदविद्यासे आपका मानस सदैव प्रकाशमान रहता है। जो मुनिजन आपके भक्त हैं, वे आपके चरणोंकी सदा वन्दना किया करते हैं तथा आपके चरणनखोंके प्रक्षालनसे प्रकट हुई गंगाके जलसे अपनेको पवित्र करनेवाले देवता और मुनि आपकी चरणरेणुको हृदयसे प्रणाम करते हैं और उसीको आपकी प्रसन्नताका सार मानते हैं। जगदीश्वर! आपको नमस्कार है, नमस्कार है। जो आठ शक्तियोंके साथ विराजमान हैं, जिनके गलेमें वनमाला शोभा दे रही है, जो पीताम्बर और पुष्पोंकी मालासे शोभायमान हैं, जिनके चरण कमलवनसे सुशोभित होते हैं तथा जिनकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ सतत सावधान रहती हैं वे भगवान् विष्णु मेरी रक्षा करें! चल, अचल, त्रिविध तापकी शान्तिके लिये जो चन्द्रमाके समान हैं, देदीप्यमान सूर्यके सदृश जिनकी कान्ति है, जिन्होंने एक होकर भी अनेक रूप धारण कर रखे हैं, वे परम बुद्धिमान् श्रीहरि मेरी रक्षा करें। जो भक्तोंके चिन्तनके लिये नूतन अवताररूप धारण किया करते हैं, जो वैदिकमार्गमें चलनेवालोंका अनेक प्रकारसे हित किया करते हैं, जिन परमेश्वरकी यही (लोकहित साधन) रीति है तथा जो समस्त गुणोंसे शोभा पाते हैं, प्रेम और भक्तिसे सम्पन्न पुरुषोंको ही जिनकी उपलब्धि होती है और अपने सेवकोंको देखनेमात्रसे ही जिनके हृदयमें करुणा उमड़ आती है, वे भगवान् विष्णु समस्त संसारकी रक्षा करें। ये ही भगवान् अपने हाथमें दण्ड लेकर स्वेच्छाचारी मनुष्योंका यमराजकी भाँति शासन करते हैं और ये ही अपने बताये हुए नियमोंमें संलग्न रहनेवाले महापुरुषोंका पालन करनेके लिये सदा अनुकूल बनकर शोभा पाते हैं। ये भगवान् श्रीहरि हमारे सम्पूर्ण दुःखोंका निवारण करनेवाले हों।'

महात्मा गरुड़के इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान् विष्णुने वहाँ त्रिपथगामिनी गंगाको बुलाया। तब उस पर्वतके ऊपर साक्षात् पंचमुखी गंगा प्रकट हुईं। उन्हींके जलसे गरुड़जीने भगवान्‌को पादार्घ्य दिया। फिर वर माँगनेके लिये भगवान्‌के प्रेरित करनेपर गरुड़जीने कहा—'भगवन्! मैं एकमात्र

आपका वाहन होऊँ और आपके प्रसादसे देवता और दैत्योंमेंसे कोई भी बल, वीर्य एवं पराक्रमद्वारा मुझे जीत न सके। यह शिला मेरे नामसे विख्यात होकर समस्त पापोंका अपहरण करनेवाली हो तथा इसके स्मरणसे मनुष्योंको कभी विषजनित व्याधि न हो।' तदनन्तर 'बहुत अच्छा' कहकर भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये।

**स्कन्दने कहा**—भगवन्! अब वाराहीशिलाका माहात्म्य बतलाइये।

**भगवान् शिव बोले**—रसातलसे पृथ्वीका उद्धार करके और युद्धमें हिरण्याक्ष नामक दैत्यको मारकर भगवान् वाराह बदरीक्षेत्रमें आये तथा प्रलयकालकी समाप्तितक वहीं बने रहे। वाराहजीने शिलाके रूपमें ही वहाँ निवास किया।

**स्कन्दने कहा**—प्रभो! अब नारसिंहीशिलाका माहात्म्य कहिये।

**भगवान् शिव बोले**—भगवान् नृसिंह अपने नखोंके अग्रभागसे ही लीलापूर्वक हिरण्यकशिपुका वध करके प्रलयकालकी अग्निके समान उद्दीप्त दिखायी देने लगे। तब दयालु देवताओंने आकर और दूर ही खड़े रहकर लीलासे अवतार-विग्रह धारण करनेवाले भगवान् विष्णुका स्तवन किया। तब अपने तेजसे समस्त देवताओं और असुरोंको भी व्याप्त करनेवाले भयानक पराक्रमी नृसिंहजी प्रसन्न होकर बोले—'देवताओ! तुमलोग मुझसे कोई वर माँगो जो तुम्हारी शान्ति और सुखका एकमात्र साधन हो।' उस समय देवताओंके स्वामी ब्रह्माजीने कहा—'भगवान् नृसिंह! आपका यह अत्यन्त उग्ररूप समस्त देहधारियोंको भयभीत करनेवाला है, अतः इसको समेट लीजिये।' उनकी प्रार्थनाके अनुसार दिव्य रूप धारण करके भगवान्ने फिर कहा—'देवताओ! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, बोलो तुम्हारा कौन-सा कार्य करूँ?' देवता बोले—'हमारा अभीष्ट वर यही है कि आप मनको प्रसन्न करनेवाले परम शान्त चतुर्भुजरूपसे ही हमें दर्शन दिया करें।' तब भगवान् उन्हें दिव्यदृष्टिसे देखकर विशालापुरी (बदरिकाश्रम)-को चले गये। तदनन्तर देवताओंका भय शान्त हो गया और उन्होंने जलके मध्यमें विराजमान भगवान् विष्णुका दर्शन, नमस्कार और परिक्रमा करके उन्हींमें अपना मन लगाकर अपने-अपने लोकको प्रस्थान किया। तत्पश्चात् अतिशय भक्तिभारसे नम्र तपस्वी ऋषि आये और अत्यन्त अद्भुत पराक्रमवाले भगवान् नृसिंहका दर्शन करके उनकी इस प्रकार स्तुति करने लगे—'सम्पूर्ण विश्वके स्वामी जगदीश्वर! आपको नमस्कार है, नमस्कार है। विश्वको अभय प्रदान करनेवाले विश्वमूर्ते! आप कृपाके समुद्र हैं, आपके चरणकमल सेवन करनेयोग्य तीर्थरूप हैं। लक्ष्मीपते! हमपर दया कीजिये। भक्तकी इच्छाके अनुसार विचित्र शरीर धारण करनेवाले विश्वमुख! विश्वभावन! आप प्रसन्न होइये।' तब भगवान् नृसिंहने प्रसन्न होकर ऋषियोंसे कहा—'वर माँगो।' ऋषि बोले—'जगदीश्वर! यदि आप प्रसन्न हों तो कृपा करके कभी बदरीक्षेत्रका त्याग न करें, यही हमारा अभीष्ट वर है।' भगवान्ने '**एवमस्तु**' कहकर उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। उसके बाद सब ऋषि अपने-अपने आश्रमको चले गये और भगवान् नृसिंह भी शिलारूप हो गये। जो तीन उपवास करके वहाँ भगवान् नृसिंहके जप और ध्यानमें तत्पर होता है, वह साक्षात् नृसिंहरूपधारी भगवान्का दर्शन पाता है। जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक इस प्रसंगको सुनता और सुनाता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो वैकुण्ठमें निवास करता है।

# बदरीक्षेत्र और वहाँ भगवान्‌के प्रसाद-ग्रहणकी विशेष महिमा

**स्कन्दने पूछा**—प्रभो! भगवान् विष्णु वहाँ किसलिये निवास करते हैं? उनके दर्शन और स्पर्श आदिसे किस पुण्य और किस फलकी प्राप्ति होती है?

**भगवान् शिव बोले**—पहले सत्ययुगके आदिमें भगवान् विष्णु सब प्राणियोंका हित करनेके लिये मूर्तिमान् होकर रहते थे। त्रेतायुगमें ऋषिगणोंको केवल योगाभ्याससे दृष्टिगोचर होते थे। द्वापर आनेपर भगवान् सर्वथा दुर्लभ हो गये, उनका दर्शन कठिन हो गया। तब देवता और मुनि बृहस्पतिजीको आगे करके ब्रह्माजीके लोकमें गये और उन्हें प्रणाम करके बोले—'पितामह! आपको नमस्कार है। आप समस्त जगत्‌के आश्रय और शरणागतोंके दुःख दूर करनेवाले हैं। सुरेश्वर! आपका हृदय करुणासे भरा हुआ है। जबसे द्वापर आया है, विशाल बुद्धिवाले भगवान् विष्णु विशालापुरी (बदरिकाश्रम)-में नहीं दिखायी देते हैं। इसका क्या कारण है, बतलाइये?'

**ब्रह्माजी बोले**—देवताओ! मैं इस बातको नहीं जानता। आज तुम्हारे ही मुँहसे इसको सुना है। आओ, हमलोग क्षीरसमुद्रके तटपर चलें।

ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर देवता और तपोधन मुनि उन्हें आगे करके गये और क्षीरसागरपर पहुँचकर विचित्र पद एवं अर्थवाली वाणीद्वारा देवाधिदेव जगदीश्वर विष्णुकी स्तुति करने लगे। ब्रह्माजी बोले—'समस्त प्राणियोंकी हृदयगुफामें निवास करनेवाले पुरुषाध्यक्ष! आपको नमस्कार है। वासुदेव! आप सबके आधार हैं, संसारकी उत्पत्तिके कारण हैं और यह समस्त जगत् आपका स्वरूप है। आप ही सम्पूर्ण भूतोंके हेतु, पति और आश्रय हैं। एकमात्र सुन्दर पुरुषोत्तम! आप अपनी मायाशक्तिका आश्रय लेकर विचरते हैं। आप एक होकर भी अनेक रूपोंमें व्यक्त होते हैं, सर्वत्र व्यापक होनेपर भी दयावश भक्तोंके हृदयकमलमें भ्रमरकी भाँति विराजते हैं और उन्हें नाना प्रकारसे आनन्द देते हैं, आप जगदीश्वर विष्णुको मैं प्रणाम करता हूँ। जिनके नामोंकी सुधाका रस एक बार भी पी लेनेपर मनुष्य मोक्षसुखको तिनकेकी भाँति ठुकरा देता है, उन भगवान् विष्णुका मैं भजन करता हूँ।'

इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान् विष्णु क्षीरसागरसे ऊपर उठे। उन्हें केवल ब्रह्माजी देख सके, अन्य लोगोंने न तो उन्हें देखा और न जाना ही। भगवान्‌ने जो कुछ कहा, उसे ब्रह्माजीने सुना और भगवान्‌को प्रणाम करके देवताओंको समझाया—'देवताओ! सब लोगोंकी बुद्धि खोटी हो गयी, यह देखकर भगवान् उनकी दृष्टिसे छिप गये हैं।' यह सुनकर सब देवता स्वर्गलोकको चले गये। तब मैंने संन्यासीका रूप धारण करके नारदतीर्थसे भगवान् विष्णुको उठाया और समस्त लोकोंके हितकी इच्छासे विशालापुरीमें स्थापित कर दिया। उनके दर्शनमात्रसे बड़े-बड़े पातक क्षणभरमें नष्ट हो जाते हैं। षडानन! बदरीतीर्थके स्वामी भगवान् श्रीहरिका दर्शन करके मनुष्य धर्म और अधर्मपर विजय पाकर अनायास ही मोक्ष पा जाते हैं। बदरीतीर्थमें साक्षात् भगवान् नारायण निवास करते हैं। कलिकालको पाकर जिन्हें मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छा हो, उन्हें बदरीक्षेत्रका दर्शन अवश्य करना चाहिये; क्योंकि वहाँ ज्ञान और योगसाधनके बिना ही केवल एक जन्ममें मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जैसे दीपकको देखनेसे अन्धकारकी बाधा नहीं रहती, वैसे ही बदरीक्षेत्रका दर्शन कर लेनेपर मनुष्यको जन्म-मृत्युका भय नहीं रह सकता। भगवान् बदरीनाथको मैं प्रणाम करता हूँ। बदरीक्षेत्रमें पग-पगपर भगवान्

विष्णुकी प्रदक्षिणा होती है। षडानन! बदरीक्षेत्रमें भगवान् विष्णुके प्रसादका एक दाना भी मिल जाय तो वह भोजन करनेपर समस्त पापोंको उसी प्रकार शुद्ध करता है जैसे भूसीकी आग सोनेको तपाकर शुद्ध करती है। भगवान् विष्णु नारद आदि ऋषियोंके साथ जिस अन्नको ग्रहण करते हैं वह प्रसाद अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये सबको बिना विचारे भोजन करना चाहिये। भगवान्‌का प्रसाद ग्रहण करनेके लिये देवता भी बदरीक्षेत्रमें आते हैं और भगवान्‌के भोजन कर लेनेके बाद प्रसाद लेकर अपने लोकको लौट जाते हैं। इसी प्रकार प्रह्लाद आदि भक्त वह प्रसाद लेकर भगवान्‌के धाममें जाते हैं। बचपन, जवानी और बुढ़ापेमें जान-बूझकर भी जो पाप किया गया है वह बदरीक्षेत्रमें जाकर भगवान् विष्णुका प्रसाद भक्षण करनेपर नष्ट हो जाता है। जिस पापके लिये प्राणोंका अन्त कर देना ही प्रायश्चित्त बतलाया गया है वह भी बदरीक्षेत्रमें भगवान् विष्णुका प्रसाद खानेसे निवृत्त हो जाता है। बदरीक्षेत्रमें भगवान् विष्णुका प्रसाद भक्षण करनेसे मनुष्य भगवान्‌की सालोक्य मुक्तिको पाता है। जिसके हृदयमें भगवान् विष्णुका रूप, मुखमें भगवान्‌का नाम, पेटमें श्रीहरिका प्रसाद और मस्तकपर निर्माल्यसहित भगवान्‌का चरणामृत है, वह विष्णुस्वरूप ही है। ब्रह्महत्या, मदिरापान, चोरी और गुरुपत्नीगमन—ये महापाप बदरीक्षेत्रमें भगवान् विष्णुका प्रसाद ग्रहण करनेसे नष्ट हो जाते हैं। पृथ्वीमें जो तीर्थ, व्रत और नियम हैं, उनसे भी शीघ्र बदरीक्षेत्रमें भगवान्‌का चरणामृत पवित्र करनेवाला है। यदि बदरीक्षेत्रमें मनुष्यको एक बूँद भी भगवान्‌का चरणामृत मिल जाय तो उसको क्या दुर्लभ है? प्रायश्चित्त तभीतक गर्जना करते हैं जबतक बदरीक्षेत्रमें भगवान्‌का चरणामृत नहीं मिल जाता है। जिन मनुष्योंको अनायास ही मोक्षके मार्गपर जानेकी इच्छा हो, उन्हें प्रयत्नपूर्वक बदरीक्षेत्रमें भगवान् विष्णुके प्रसादका भक्षण करना चाहिये। जो मनुष्य बदरीक्षेत्रमें दिये हुए दानको ग्रहण करते हैं वे पापी जन्म-मरणरूप संसारके भागी होते हैं। उनको कभी यात्राका फल नहीं मिलता। बदरीक्षेत्रमें संन्यासियोंको भोजन देनेसे अपराधी भी भगवान्‌को प्रिय हो जाता है। विष्णुके समान कोई देवता नहीं, विशालाके समान कोई पुरी नहीं, संन्यासीके समान कोई सेवाका पात्र नहीं और ऋषितीर्थ (बदरीक्षेत्र)-के समान कोई तीर्थ नहीं है*। संन्यासियोंको यहाँ विशेष फलकी प्राप्ति बतायी गयी है। दस बार वेदान्तश्रवणसे जो पुण्य कहा गया है, वह बदरीतीर्थके दर्शनमात्रसे संन्यासियोंको प्राप्त हो जाता है। ज्ञानी, अज्ञानी, संन्यासी अथवा व्रतपरायण सभी पुरुषोंको अभीष्ट फलकी प्राप्तिके लिये बदरीक्षेत्रका अवश्य दर्शन करना चाहिये।

## कपालतीर्थ, ब्रह्मतीर्थ और वसुधारातीर्थकी महिमा

**स्कन्द बोले**—महेश्वर! जहाँ आपके हाथसे कपाल गिरा है, कृपया उस तीर्थका माहात्म्य बतलाइये।

**भगवान् शिवने कहा**—वत्स! वह अत्यन्त गोपनीय तीर्थ है। देवता और असुर सभी वहाँ मस्तक झुकाते हैं। ब्रह्महत्यारा मनुष्य भी वहाँ स्नान करनेमात्रसे शुद्ध हो जाता है। पापमोचन कपालतीर्थमें पाँच तीर्थ हैं। उनमें किया हुआ स्नान, तप और दान सब अक्षय होता है। वहाँ विधिपूर्वक पिण्डदान देकर पितरोंको नरकसे

* न विष्णुसदृशो देवो न विशालासमा पुरी। न भिक्षुसदृशं पात्रमृषितीर्थसमं न हि॥ (स्क० पु० वै० ब० ५। ५८)

उद्धार करे। यह पितृतीर्थ कहा गया है। वहाँ तिलसे तर्पण करनेपर पितर उत्तम स्वर्गलोकको जाते हैं। जो मनुष्य एकाग्रचित्त हो स्थिरतापूर्वक वहाँ एक दिन और एक रात जपमें लगा रहता है, उसके महान् मनोरथकी सिद्धि तत्काल हो जाती है।

**स्वामिकार्तिकेयने पूछा**—पिताजी! ब्रह्मतीर्थ कहाँ है और उसका कैसा फल बताया गया है?

**भगवान् शिवने कहा**—एक समय भगवान् विष्णुकी नाभिसे निकले हुए कमलपर प्रजापति ब्रह्माजी विराजमान थे। उसी समय मधु और कैटभ नामक दैत्य ब्रह्माजीसे वेदोंको चुराकर चल दिये। तब ब्रह्माजीने भगवान् विष्णुके द्वारा प्रतिपालित बदरीतीर्थमें आकर उन्हें प्रणाम किया और उन सनातन भगवान्की स्तुति की। तब भगवान् श्रीहरि हयग्रीव अवतार धारण करके एक कुण्डसे प्रकट हुए। उनके हाथोंमें शंख, चक्र आदि आयुध शोभा पा रहे थे। उनकी कटिमें पीताम्बर सुशोभित था। श्रीअंगोंकी कान्ति श्वेत थी। वे चार भुजाधारी भगवान् हयग्रीव दर्पपूर्ण दृष्टिसे सब ओर देख रहे थे। उनका स्वरूप अद्भुत था, नेत्रोंसे कठोरता प्रकट हो रही थी। उनकी गर्दनके चंचल बालोंसे टकराकर मेघोंकी घटा छिन्न-भिन्न हो जाती थी। वे अपने दिव्य तेजसे समस्त ज्योतिर्मय ग्रहोंकी प्रभाको तिरस्कृत कर रहे थे। भगवान् बड़ी कृपा करके इस अद्भुत रूपमें ब्रह्माजीके आगे खड़े हुए। उन्हें देखकर ब्रह्माजीभी आश्चर्यचकित हो उठे। उनके नेत्रोंमें प्रसन्नता छा गयी और वे प्रणाम करके भगवान्की स्तुति करने लगे।

**ब्रह्माजी बोले**—जिनकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ है, उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है। लक्ष्मीजीके आश्रयभूत नारायण! आपको नमस्कार है। लक्ष्मीनिवास! विशाल वनमाला धारण करनेवाले आपको नमस्कार है। विज्ञानस्वरूप! आपको नमस्कार है। सबकी हृदयगुफामें निवास करनेवाले आपको नमस्कार है। जो समस्त इन्द्रियोंके स्वामी और परम शान्त हैं उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है। अपने भक्तोंकी रक्षाके लिये शरीर धारण करनेवाले भगवान् शार्ङ्गपाणिको नमस्कार है। अनन्त क्लेशोंका नाश करनेवाले गदाधारी ब्रह्मको नमस्कार है। संसारकी विविध असार वस्तुओंसे निवृत्त करनेके लिये कर्म करनेवाले भगवान्को नमस्कार है। समस्त जीवोंके रक्षक विजयशील विष्णुको नमस्कार है। विश्वम्भर! समस्त गुणवृत्तियोंसे निवृत्त होनेवाले आपको नमस्कार है। देवताओं और असुरोंके श्रेष्ठतम अवलम्बन! सांसारिक विषयोंसे निवृत्ति और समस्त विश्वकी रक्षा—ये दोनों आपकी कीर्तियाँ हैं। आपको नमस्कार है।

सबके हृदयमें रहनेवाले सर्वज्ञ महेश्वर श्रीविष्णुकी ब्रह्माजीने जब इस प्रकार स्तुति की, तब वे शीघ्र ही वहाँ गये और उन दोनों दैत्योंको बाँधकर उन्होंने लीलापूर्वक उन्हें मार डाला। तत्पश्चात् वेदोंको लेकर वे ब्रह्माजीके समीप आये और ब्रह्माजीको देकर स्वरूपमें स्थित हो गये। तबसे ब्रह्माद्वारा प्रकट किया हुआ वह तीर्थ तीनों लोकोंमें ब्रह्मकुण्डके नामसे विख्यात हुआ। उसके दर्शनमात्रसे महापातकी मनुष्य भी पापरहित हो तत्काल ब्रह्मलोकमें चले जाते हैं। जो लोग यहाँ स्नान और व्रत करते हैं, वे ब्रह्मलोकको भी लाँघकर विष्णुलोकमें जाते हैं।

**स्कन्दने पूछा**—वेदोंको पाकर ब्रह्माजीने क्या किया?

**श्रीमहादेवजी बोले**—वत्स! बदरिकाश्रमतीर्थ देखकर चारों वेद ब्रह्माजीके साथ जाना नहीं चाहते थे। तब सिद्धोंके समझानेपर वेदोंने दो स्वरूप धारण किये। द्रवरूपसे तो वे बदरिकाश्रमतीर्थमें रह गये और ज्ञानरूपसे ब्रह्माजीके साथ गये। तब ब्रह्माजीने (वेदोंके अनुसार) विधिपूर्वक तीनों लोकोंको रचा। (इस ओर) ब्रह्मकुण्डमें, जहाँ द्रवरूपी वेद स्थित हैं, किये हुए स्नान, दान

और तप प्रलयकालतक नष्ट नहीं होते। फलरूपसे वैदिक ज्ञानकी अभिलाषा रखकर जो मनुष्य वहाँ तीन उपवास करते हैं, वे चारों वेदोंकी व्याख्या करनेवाले होते हैं। वेदतीर्थसे उत्तर जलरूपा सरस्वती हैं जो अपने नामका जप करनेपर मनुष्योंकी जड़ताका नाश करती हैं। सरस्वतीके जलमें स्थित होकर एकाग्रचित्तसे जो जप करता है, उसका मन्त्र कभी खण्डित नहीं होता। जगदीश्वर विष्णुने तीनों लोकोंका हित करनेके लिये वाग्वैभव प्रदान करनेवाली सरस्वती नदीका विधिपूर्वक यहाँ स्थापन किया है। इस तीर्थके दर्शन, स्पर्श, स्नान, पूजन, स्तुति और प्रणाम करनेसे मनुष्यके कुलमें कभी सरस्वतीसे बिछोह नहीं होता। सरस्वतीके दक्षिण भागमें द्रवधारा नामसे प्रसिद्ध इन्द्रपद तीर्थ है, जहाँ इन्द्रने तपस्या की थी। प्रत्येक मासके शुक्लपक्षमें त्रयोदशी तिथिको इन्द्रको सन्तुष्ट करनेवाले उस तीर्थमें स्नान करके दो उपवास और भगवान् विष्णुका पूजन करनेसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो इन्द्रलोकमें प्रतिष्ठित होता है। वहीं मानसोद्भेद तीर्थ है जो सब पापोंका नाश करनेवाला है। वह सब जीवोंके लिये दुर्लभ है। वहाँ जो महर्षि हैं, वे हृदयग्रन्थिका भेदन करते हैं, सब संशयोंको काटते हैं और कर्मबन्धनको क्षीण कर डालते हैं। इसीलिये उस तीर्थका नाम मानसोद्भेद है। यदि भाग्यवश मनुष्य वहाँ एक बूँद भी जल पा जाय तो तत्काल उसकी मुक्ति हो जाती है। जो मनके विषयोंको जीत चुके हैं, जिनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण है और जो फल, मूल एवं जलका आहार करके रहते हैं, ऐसे महर्षिगण यहाँकी पर्वतीय गुफाओंमें निवास करते हैं। ये मुनि फलाहार, शुद्ध वायुसेवन, गुफाका निवास, झरनोंके जलमें स्नान तथा आश्रमधर्मका पालन करते हैं और वल्कल या ऊर्णामय उत्तम वस्त्र धारण करके तीनों समयके स्नानसे दुर्जय इन्द्रियोंके पराक्रमपर भी विजय पा चुके हैं। यहाँपर बिना इच्छाके भी मुक्ति होती है। यदि कोई प्रमादवश किसी वस्तुकी कामना करता है तो उस कामनाके अनुसार फल भोग लेनेपर फिर उसकी मुक्ति होती ही है। मानसोद्भेदतीर्थसे पश्चिम वसुधारा नामसे प्रसिद्ध एक मनोहर तीर्थ है। कहते हैं कि त्रिलोकीमें बदरिकाश्रम सब तीर्थोंसे श्रेष्ठ है, यह बात नारदजीके मुँहसे सुनकर सभी वसु वहाँ गये। उन्होंने पत्ते चबाकर और जल पीकर वहाँ बड़ी कठोर तपस्या की। इससे उन्हें भगवान्‌का दर्शन प्राप्त हुआ और वे आनन्दमें डूब गये। इस प्रकार नारायणदेवका दर्शन करके उनसे मनोरम वरदानके रूपमें हरिभक्ति, सुख और ऐश्वर्य पाकर वे बहुत प्रसन्न हुए। इस वसुतीर्थमें स्नान और आचमन करके भगवान् जनार्दनका पूजन करनेसे मनुष्य इहलोकमें सुख भोगता और अन्तमें परमपदको प्राप्त होता है। यहाँ पुण्यात्मा पुरुषोंको जलके मध्यसे ज्योति निकलती दिखायी देती है, जिसे देखकर मनुष्य फिर गर्भवासमें नहीं आता। यहाँ तीन दिनतक पवित्र हो उपवास और भक्तिपूर्वक भगवान् जनार्दनकी पूजा करनेसे साधुपुरुष सिद्धोंका दर्शन पाते हैं। जो लोभी और चंचल हैं, जो सत्य नहीं बोलते, परिहासके व्याजसे पराये धन और परायी स्त्रीको कपटसे ग्रहण करना चाहते हैं, जिन्होंने सत्कर्मोंका त्याग कर दिया है, जो अशान्त और अपवित्र रहते हैं, ऐसे मलिनचित्त मानवोंको यहाँ कोई फल नहीं मिलता। जो साधनसंलग्न, शान्त, एकाकी और विधिमार्गका पालन करनेवाले हैं, उनके द्वारा यथाशक्ति किये हुए जप, तप, होम, दान और व्रत आदि कर्म यहाँ अक्षय फल देनेवाले होते हैं। जो मनुष्य भक्तिभावसे विभूषित हो इस पुण्यतीर्थके विषयको पढ़ते-पढ़ाते एवं प्रकाशित करते हैं, वे भगवान् विष्णुके कल्याणमय धाममें जाते हैं।

# पंचतीर्थ, सोमतीर्थ, द्वादशादित्यतीर्थ, चतुःस्रोततीर्थ, सत्यपदतीर्थ तथा नर-नारायणाश्रमकी महिमा

**भगवान् शिवजी कहते हैं**—वहाँसे नैर्ऋत्य कोणमें पाँच धाराएँ गिरती हैं, उन्हें द्रवरूपमें पाँच तीर्थ जानो, जिनके नाम इस प्रकार हैं—प्रभास, पुष्कर, गया, नैमिष और कुरुक्षेत्र। उनमें विधिपूर्वक स्नान और नित्यकर्म करके पवित्र हुआ मनुष्य उन-उन तीर्थोंका फल पाता और अन्तमें परम पदको प्राप्त होता है। उन तीर्थोंमें भगवान् विष्णुकी पूजा करके मानव इस लोकमें बहुत सुख भोगता और अन्तमें विष्णुका सालोक्य प्राप्त करता है। उसके बाद सोमकुण्ड नामक निर्मल तीर्थ हैं, जहाँ चन्द्रमाने तपस्या की है। पूर्वकालमें अत्रिकुमार चन्द्रमा जब युवावस्थाको प्राप्त हुए, तब उन्होंने गन्धर्वोंसे स्वर्गवासियोंके सुखकी बार-बार प्रशंसा सुनकर अपने पितासे पूछा कि 'स्वर्गीय सुख कैसे मिलता है।' अत्रिने कहा—'बेटा! तपस्या, यम और नियमोंके द्वारा भगवान् विष्णुकी आराधना की जाय तो साधुपुरुषोंके लिये इहलोक और परलोकमें कौन-सी वस्तु दुर्लभ है?' तदनन्तर नारदजीसे यह सुनकर कि 'बदरीक्षेत्र अत्यन्त निर्मल है' वे अपने पिताको प्रणाम करके उत्तर दिशाको गये। बदरीतीर्थमें पहुँचकर उन्होंने पवित्र फलोंसे भगवान् विष्णुका पूजन किया और परम उत्तम अष्टाक्षर '**ॐ नमो नारायणाय**' मन्त्रका जप प्रारम्भ किया। दीर्घकालतक जप-तप करनेके पश्चात् भक्तवत्सल भगवान् प्रसन्न होकर चन्द्रमासे बोले—'सुव्रत! कोई वर माँगो'। तब चन्द्रमाने उठकर बार-बार प्रणाम करके कहा—'भगवन्! मैं आपके प्रसादसे ग्रह, नक्षत्र, तारा, ओषधिवर्ग तथा सम्पूर्ण ब्राह्मणोंका राजा होना चाहता हूँ।'

**श्रीभगवान् बोले**—वत्स! तुमने दुर्लभ वर माँगा है तथापि तुम्हें देता हूँ—ऐसा ही होगा।

तब सम्पूर्ण देवताओंने आकर राजा सोमका विधिपूर्वक अभिषेक किया। उसके बाद वे उज्ज्वल रथके द्वारा स्वर्गको चले गये। तबसे वह तीर्थ सोमकुण्डके नामसे प्रसिद्ध हुआ, जिसके दर्शनमात्रसे मनुष्य निष्पाप हो जाते हैं। उसमें आचमन करनेसे निन्दित मनुष्य भी चन्द्रलोकमें जाते हैं और वहाँ विधिपूर्वक स्नान करके देवताओं तथा पितरोंका तर्पण करनेवाला पुरुष चन्द्रलोकको भेदकर विष्णुलोकको प्राप्त होता है। वहाँ तीन राततक भगवान् विष्णुकी पूजा करके जप करनेवाले पुरुषको विशेषरूपसे मन्त्रसिद्धि प्राप्त होती है। मनुष्य मन, वाणी और क्रियाद्वारा जो पाप करता है वह सब वहाँ सोमकुण्डके दर्शनसे नष्ट हो जाता है। वहाँसे आगे द्वादशादित्य नामक तीर्थ है जहाँ तपस्या करके कश्यपजीके पुत्रने सूर्यकी पदवी प्राप्त की है। वहाँ प्रत्येक रविवारको सप्तमी तिथिमें अथवा संक्रान्तिके अवसरपर विधिपूर्वक स्नान करनेमात्रसे मनुष्य सात जन्मोंके पापसे मुक्त हो जाता है। महान् रोगसे पीड़ित पुरुष यदि यहाँ स्नान करके जल पीकर पवित्र हो तो शीघ्र ही वह रोगसे छुटकारा पा जाता है। इसके सिवा वहाँ चतुःस्रोत नामक तीर्थ है। उस वैष्णवक्षेत्रमें भगवान्की आज्ञाके अनुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चारों पुरुषार्थ द्रवरूप होकर स्थित हैं जो सब प्राणियोंकी मुक्तिके हेतु हैं। पूर्व आदि दिशाओंमें क्रमशः उनकी स्थिति है अर्थात् पूर्वमें धर्म, दक्षिणमें अर्थ, पश्चिममें काम और उत्तरमें मोक्ष नामक स्रोत है। ये धर्मप्रधान पुरुषोंकी भाँति मूर्तिमान् होकर स्थित हैं। जो क्रमशः विद्यमान उन चारों

तीर्थोंका सेवन करते हैं, उन्हें सदैव प्रसन्नता प्राप्त होती है। पूर्वोपार्जित पुण्यपुंजके प्रभावसे श्रेष्ठ जन्म पाकर जो मनुष्य साधनमें प्रवृत्त हैं वे उन चारों पुरुषार्थोंको देखते हैं और जो ग्राम्यवधुओंके क्रीडामृग—विषयभोगोंमें आसक्त हैं वे उन पुरुषार्थोंका दर्शन नहीं कर पाते।

उसके बाद सत्यपद नामक तीर्थ है जो त्रिकोणाकार कुण्डके रूपमें विद्यमान है। वह सब पापोंका नाश करनेवाला है। एकादशी तिथिको उस पावन तीर्थमें साक्षात् भगवान् विष्णु पधारते हैं। तत्पश्चात् ऋषि, मुनि, तपस्वी उस कुण्डमें स्नान करनेके लिये आते हैं। उस तीर्थके दर्शनसे बड़े-बड़े पातक भाग जाते हैं। उसमें स्नान करके बुद्धिमान् पुरुष सत्यलोकको प्राप्त होता है और वहाँसे उसका मोक्ष हो जाता है। जो वहाँ एक दिन और एक रात उपवास करके भगवान् जनार्दनकी यथाशक्ति पूजा करता है वह जीवन्मुक्तिका भागी होता है। त्रिकोण आकृतिसे सुशोभित सत्यपदतीर्थ सब पापोंसे मुक्ति चाहनेवाले पुरुषोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक दर्शन करनेयोग्य है। वहाँ जप, तप, हरिस्तोत्र, पूजा, स्तुति और प्रणाम करनेवाले पुरुषोंकी महिमाका वर्णन ब्रह्माजी भी नहीं कर सकते।

तदनन्तर अत्यन्त निर्मल भगवान् नर-नारायणका आश्रम है। वहाँका स्वच्छ जल दो प्रकारका दिखायी देता है। उन दोनों जलोंके सेवनसे उन दोनों नर और नारायणके प्रति प्रीति होती है, यह निश्चय किया गया है। वहाँ स्नान और यत्नपूर्वक भगवान्‌का पूजन करनेसे मनुष्य तत्काल सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। धर्मकी पत्नी मूर्तिसे भगवान्‌का नर और नारायणके रूपमें अवतार हुआ। वे दोनों माता-पिताकी आज्ञा लेकर तपस्याके लिये गये और नर-नारायण नामवाले दोनों पर्वतोंके बीच तपस्याकी साक्षात् मूर्तिके समान स्थित हो गये। उस तीर्थमें स्नान करके भगवान् विष्णुका पूजन करनेसे मनुष्य नरसे नारायण हो जाता है। वहाँ प्राणियोंका कल्याण करनेवाले साक्षात् भगवान् नारायण तपोमूर्ति होकर स्थित हैं। वहाँ वायु श्रीलक्ष्मीपतिके चरणारविन्दोंसे प्राप्त होनेवाली सुगन्ध लेकर बहती है, जिसका स्पर्श होनेसे कलियुगके पापसे आतुर हुए मनुष्योंका पाप नष्ट हो जाता है। उस तीर्थमें जाकर मुनियोंकी बुद्धि बाह्य पदार्थोंको नहीं देखती, केवल भगवच्चरणारविन्दोंके चिन्तनमें संलग्न रहती है और वहाँ विराजमान साक्षात् भगवान् विष्णु क्रमशः वहाँकी यात्रा करनेवाले पुरुषोंको अपना पद प्रदान करते हैं। उस नारायणगिरिपर सब पापोंका नाश करनेवाले बहुत-से तीर्थ हैं जिन्हें मैं जानता हूँ, साधारण मनुष्य नहीं जानते। उसके दक्षिण भागमें जगदीश्वर विष्णुके अस्त्र विद्यमान हैं, जिनके दर्शनसे मनुष्य अस्त्र-शस्त्रोंके भयका भागी नहीं होता। जो एकाग्रचित्त हो भक्तिपूर्वक इस माहात्म्यको सुनता अथवा सुनाता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो भगवान् विष्णुका सालोक्य प्राप्त करता है।

## मेरुतीर्थ, लोकपालतीर्थ, दण्डपुष्करिणी, गंगासंगम तथा धर्मक्षेत्र आदिका माहात्म्य और ग्रन्थका उपसंहार

**भगवान् शिव कहते हैं**—ब्रह्मकुण्डसे दक्षिण नरका निवासभूत महान् पर्वत है। जहाँ भगवान् श्रीहरिने लोकसुन्दर मेरुपर्वतको स्थापित किया है। जब भगवान्‌का निवास विशालापुरीमें हुआ,

तब विद्याधर और चारणोंसहित सम्पूर्ण देवता, महर्षि और सिद्ध भगवद्दर्शनके लिये उत्कण्ठित हो मेरुपर्वतके शिखरोंको छोड़कर वहाँ आ गये। भगवान्‌के दर्शनसे उन्हें ऐसा आह्लाद प्राप्त हुआ कि देवलोक तुच्छ प्रतीत होने लगा। तब भगवान्‌ने उनके सुखके लिये एक ही हाथसे मेरुपर्वतके शिखरोंको उखाड़ लिया और लीलापूर्वक उन्हें यहाँ स्थापित कर दिया; क्योंकि भगवान् विष्णु सबकी प्रीति बढ़ानेवाले हैं। उस समय वहाँ सुवर्णनिर्मित पर्वतको देखकर सब देवता बड़े प्रसन्न हुए और रोग-शोकसे रहित भगवान् नारायणका उन्होंने इस प्रकार स्तवन किया।

**देवता बोले**—जो हम देवताओंके सुखके लिये तथा संसारबन्धनजनित दुःखको दूर करनेके लिये लीलामय शरीर धारण करके स्वर्णमय पर्वतको यहाँ ले आये हैं तथा जिन्होंने एकमात्र देवताओंका पक्ष लेकर सैकड़ों दैत्योंपर विजय पायी है, उग्र तपस्याकी दिव्य शोभासे सम्पन्न उन भगवान् नारायणको हम नमस्कार करते हैं। जो दीनजनोंकी पीड़ारूपी रूईको भस्म करनेके लिये अग्निमय पर्वत हैं, हमपर दया करके जो हमें दयालु पिताकी भाँति उत्तम शिक्षा देते हैं, त्रिभुवनकी रक्षा करनेमें समर्थ दृष्टिपातसे जो पूर्णसुधाका समुद्र प्रवाहित करते हैं, वे भगवान् विपत्तियोंसे हमारी रक्षा करें। ऋषि बोले—'यह समस्त संसार जिनसे व्याप्त होकर शोभा पा रहा है, उन आप सनातन प्रभुको हम प्रणाम करते हैं।' सिद्ध बोले—'भगवान्‌की दयाके लवलेशमात्रसे महापुरुष सिद्धिको प्राप्त हुए हैं तथा दूसरे संसारी मनुष्य भी उनकी कृपाके कणमात्रसे भयंकर संसारसागरसे शीघ्र ही पार हो गये हैं। ऐसा हमारी बुद्धिका निश्चय है।' विद्याधर बोले—'सर्वव्यापी प्रभो! आप सद्‌गुणोंके समूह, कल्याणकी मूर्ति परमेश्वर और सम्मानके विस्तारमें हेतु हैं, आपके चरणारविन्दोंके रसका आस्वादन करके हम कृतार्थ हो गये।'

तब भगवान् विष्णुने प्रसन्न होकर देवताओंसे कहा—'तुमलोग कोई वर माँगो।' यह आज्ञा पाकर देवताओंने वरदाताओंमें श्रेष्ठ श्रीहरिसे कहा—'आप देवताओंके भी देवता और साक्षात् लक्ष्मीपति हैं। यदि आप सन्तुष्ट हैं तो हम यही चाहते हैं कि आप बदरीतीर्थ और मेरुपर्वतका कभी त्याग न करें। जो पुण्यभागी मनुष्य यहाँ मेरु-शिखरका दर्शन करते हैं, आपके प्रसादसे उनका मेरुगिरिपर निवास हो और वहाँ चिरकालतक उत्तम भोग भोगनेके पश्चात् उनका आपमें लय हो।' तब '**एवमस्तु**' कहकर भगवान् श्रीहरि अन्तर्धान हो गये।

इसके पश्चात् परम उत्तम लोकपालतीर्थ है जहाँ भगवान् विष्णुने स्वयं ही लोकपालोंको स्थापित किया है। एक समय भगवान् विष्णु मेरुनिवासी देवताओंको यहाँ लानेकी इच्छासे वहाँ गये और देवताओं तथा प्रधान-प्रधान ऋषियोंके चरित्रको देखनेके लिये उद्यत हुए। भगवान्‌को वहाँ उपस्थित देख सब देवताओंने सहसा उठकर नमस्कार किया और विनयपूर्वक

कहा—'भगवन्! प्रसन्न होइये।' क्षणभर विश्राम करनेके पश्चात् भगवान्ने वहाँकी विरल भूमिको भलीभाँति देखा और देवताओं तथा ऋषियोंका वहाँ एक साथ रहना उचित न समझकर हँसते हुए कहा—'लोकपालो! आपको यहाँ नहीं रहना चाहिये। आपलोगोंके योग्य स्थानकी व्यवस्था मैंने पहलेसे ही कर रखी है।' यों कहकर उन्होंने लोकपालोंको बुलाया और बदरीक्षेत्रमें सुन्दर पर्वतके शिखरपर स्थापित किया। वहीं जलकी इच्छासे उन्होंने शैलदण्डके द्वारा एक पर्वतको तोड़कर मनोहर सरोवर बनाया जहाँ भगवान् विष्णु द्वादशी और पूर्णिमाको स्नान करनेके लिये आते हैं। तत्पश्चात् तपस्वी ऋषि-मुनि वहाँ विधिपूर्वक स्नान करके जलमें असंग परम ज्योतिका दर्शन करते हैं। सब तीर्थोंमें स्नान करनेका जो फल कहा गया है, वह दण्डपुष्करिणीके दर्शनमात्रसे तत्काल प्राप्त हो जाता है। वहाँ मनीषी पुरुषोंके सभी काम्य कर्म सफल होते हैं तथा यज्ञ, दान और तप सब अक्षय हो जाते हैं। वहाँ ज्येष्ठ मासमें शुक्ल पक्षकी द्वादशी तिथिको विधिपूर्वक स्नान करनेसे मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। जो सदा भगवान्के निकट स्थान प्राप्त करना चाहता हो उसे प्रयत्नपूर्वक बदरीक्षेत्रका सेवन करना चाहिये। मानसोद्भेदतीर्थके समीप जो गंगाजीमें संगम है वह निर्मल एवं पवित्र तीर्थ प्रयागसे भी अधिक महत्त्वशाली है। तीस हजार वर्षोंतक वायु पीकर तपस्या करनेसे जो फल प्राप्त होता है, वह गंगासंगममें स्नान करनेमात्रसे मिल जाता है।

संगमसे दक्षिण भागमें धर्मक्षेत्र है जहाँ मूर्तिके गर्भसे नर-नारायण ऋषिकी उत्पत्ति हुई सुनी जाती है। मर्त्यलोकमें वह सबसे उत्तम एवं पावन क्षेत्र है। वहाँ भगवान् धर्म चारों चरणोंसे स्थित हैं। वहाँ मनुष्य यज्ञ, दान, तप आदि जो कोई भी सत्कर्म करते हैं, उसके पुण्यका करोड़ों कल्पोंमें भी क्षय नहीं होता। वहाँसे दक्षिण भागमें उर्वशीसंगम नामक तीर्थ है जो स्नानमात्रसे ही मनुष्योंके सब पापोंको हर लेनेवाला है। उसके बाद कूर्मोद्धारतीर्थ है जो भगवान् विष्णुकी भक्तिका एकमात्र साधन है। वहाँ स्नान करनेसे ही प्राणियोंके अन्तःकरणकी शुद्धि हो जाती है। तदनन्तर ब्रह्मावर्ततीर्थ है जो साक्षात् ब्रह्मलोककी प्राप्तिका प्रधान कारण है। उस तीर्थके दर्शनसे ही सब पापोंका क्षय हो जाता है। वत्स! यहाँ बहुत-से तीर्थ हैं जो देहधारियोंके लिये दुर्गम हैं। मैंने तुम्हारे स्नेहवश संक्षेपसे बतलाया है। जो मनुष्य सदा एकाग्रचित्त होकर प्रतिदिन इस माहात्म्यको सुनता या सुनाता है वह सब पापोंसे मुक्त हो भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है। जो मनुष्य एक मासतक एकाग्रचित्त हो भक्तिपूर्वक इसको सुनता है उसके दुर्लभ अभीष्टकी भी सिद्धि हो जाती है। जिन घरोंमें इस माहात्म्यका पाठ होता है वहाँ आधि-व्याधिका घोर भय, दरिद्रता और कलह—ये कभी नहीं होते हैं।

~~o~~

# कार्तिकमास-माहात्म्य

## कार्तिकमासकी श्रेष्ठता तथा उसमें करनेयोग्य स्नान, दान, भगवत्पूजन आदि धर्मोंका महत्त्व

**नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।**
**देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥**

'भगवान् नारायण, नरश्रेष्ठ नर तथा सरस्वतीदेवीको नमस्कार करके जयस्वरूप इतिहास-पुराणका पाठ करना चाहिये।'

**ऋषि बोले**—सूतजी! हमलोग कार्तिकमासका माहात्म्य सुनना चाहते हैं।

**सूतजी बोले**—ऋषियो! तुमने मुझसे जो प्रश्न किया है, उसीको ब्रह्मपुत्र नारदजीने जगद्गुरु ब्रह्मासे इस प्रकार पूछा था—'पितामह! मासोंमें सबसे श्रेष्ठ मास, देवताओंमें सर्वोत्तम देवता और तीर्थोंमें विशिष्ट तीर्थ कौन हैं, यह बताइये।'

**ब्रह्माजी बोले**—मासोंमें कार्तिक, देवताओंमें भगवान् विष्णु और तीर्थोंमें नारायणतीर्थ (बदरिकाश्रम) श्रेष्ठ है। ये तीनों कलियुगमें अत्यन्त दुर्लभ हैं।

**इतना कहकर ब्रह्माजीने भगवान् राधाकृष्णका स्मरण किया और पुनः नारदजीसे कहा**—बेटा! तुमने समस्त लोकोंका उद्धार करनेके लिये यह बहुत अच्छा प्रश्न किया। मैं कार्तिकका माहात्म्य कहता हूँ। कार्तिकमास भगवान् विष्णुको सदा ही प्रिय है। कार्तिकमें भगवान् विष्णुके उद्देश्यसे जो कुछ पुण्य किया जाता है, उसका नाश मैं नहीं देखता। नारद! यह मनुष्ययोनि दुर्लभ है। इसे पाकर मनुष्य अपनेको इस प्रकार रखे कि उसे पुनः नीचे न गिरना पड़े। कार्तिक सब मासोंमें उत्तम है। यह पुण्यमय वस्तुओंमें सबसे अधिक पुण्यतम और पावन पदार्थोंमें सबसे अधिक पावन है। इस महीनेमें तैंतीसों देवता मनुष्यके सन्निकट हो जाते हैं और इसमें किये हुए स्नान, दान, भोजन, व्रत, तिल, धेनु, सुवर्ण, रजत, भूमि, वस्त्र आदिके दानोंको विधिपूर्वक ग्रहण करते हैं। कार्तिकमें जो कुछ दिया जाता है, जो भी तप किया जाता है, उसे सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णुने अक्षय फल देनेवाला बतलाया है। भगवान् विष्णुके उद्देश्यसे मनुष्य कार्तिकमें जो कुछ दान देता है, उसे वह अक्षयरूपमें प्राप्त करता है। उस समय अन्नदानका महत्त्व अधिक है। उससे पापोंका सर्वथा नाश हो जाता है। जो कार्तिकमास प्राप्त हुआ देख पराये अन्नको सर्वथा त्याग देता है, वह अतिकृच्छ्र यज्ञका फल प्राप्त करता है। कार्तिकमासके समान कोई मास नहीं, सत्ययुगके समान कोई युग नहीं, वेदोंके समान कोई शास्त्र नहीं और गंगाजीके समान दूसरा कोई तीर्थ नहीं है*। इसी प्रकार अन्नदानके सदृश दूसरा कोई दान नहीं है। दान करनेवाले पुरुषोंके लिये न्यायोपार्जित द्रव्यके दानका सुअवसर दुर्लभ है, उसका भी तीर्थमें दान किया जाना तो और भी दुर्लभ है। मुनिश्रेष्ठ! पापसे डरनेवाले मनुष्यको कार्तिकमासमें शालग्रामशिलाका पूजन और भगवान् वासुदेवका स्मरण अवश्य करना चाहिये। दान आदि करनेमें असमर्थ मनुष्य प्रतिदिन प्रसन्नतापूर्वक नियमसे भगवन्नामोंका स्मरण करे। कार्तिकमें भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये विष्णु-मन्दिर अथवा शिव-मन्दिरमें रातको जागरण करे। शिव और विष्णुके मन्दिर न हों तो किसी भी देवताके

* न कार्तिकसमो मासो न कृतेन समं युगम्। न वेदसदृशं शास्त्रं न तीर्थं गङ्गया समम्॥
(स्क० पु०, वै० का० मा० १। ३६-३७)

मन्दिरमें जागरण करे। यदि दुर्गम वनमें स्थित हो या विपत्तिमें पड़ा हो तो पीपलके वृक्षकी जड़में अथवा तुलसीके वनोंमें जागरण करे। भगवान् विष्णुके समीप उन्हींके नामों और लीला-कथाओंका गायन करे। यदि आपत्तिमें पड़ा हुआ मनुष्य कहीं अधिक जल न पावे अथवा रोगी होनेके कारण जलसे स्नान न कर सके तो भगवान्के नामसे मार्जनमात्र कर ले। व्रतमें स्थित हुआ पुरुष यदि उद्यापनकी विधि करनेमें असमर्थ हो, तो व्रतकी समाप्तिके बाद उसकी पूर्णताके लिये केवल ब्राह्मणोंको भोजन करावे। जो स्वयं दीपदान करनेमें असमर्थ हो, वह दूसरेके बुझे हुए दीपको जला दे अथवा हवा आदिसे यत्नपूर्वक उसकी रक्षा करे। भगवान् विष्णुकी पूजा न हो सकनेपर तुलसी अथवा आँवलेका भगवद्बुद्धिसे पूजन करे। मन-ही-मन भगवान् विष्णुके नामोंका निरन्तर कीर्तन करता रहे।

गुरुके आदेश देनेपर उनके वचनका कभी उल्लंघन न करे। यदि अपने ऊपर दुःख आदि आ पड़े तो गुरुकी शरणमें जाय। गुरुकी प्रसन्नतासे मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर लेता है। परम बुद्धिमान् कपिल और महातपस्वी सुमति भी अपने गुरु गौतमकी सेवासे अमरत्वको प्राप्त हुए हैं। इसलिये विष्णु-भक्त पुरुष कार्तिकमें सब प्रकारसे प्रयत्न करके गुरुकी सेवा करे। ऐसा करनेसे उसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। सब दानोंसे बढ़कर कन्यादान है, उससे अधिक विद्यादान है, विद्यादानसे भी गोदानका महत्त्व अधिक है और गोदानसे भी बढ़कर अन्नदान है; क्योंकि यह समस्त संसार अन्नके आधारपर ही जीवित रहता है। इसलिये कार्तिकमें अन्नदान अवश्य करना चाहिये। कार्तिकमें नियमका पालन करनेपर अवश्य ही भगवान् विष्णुका सारूप्य एवं मोक्षदायक पद प्राप्त होता है। कार्तिकमें ब्राह्मण पति-पत्नीको भोजन कराना चाहिये, चन्दनसे उनका पूजन करना चाहिये, अनेक प्रकारके वस्त्र, रत्न और कम्बल देने चाहिये। ओढ़नेके साथ ही रूईदार बिछावन, जूता और छाता भी दान करने चाहिये। कार्तिकमें भूमिपर शयन करनेवाला मनुष्य युग-युगके पापोंका नाश कर डालता है। जो कार्तिकमासमें भगवान् विष्णुके आगे अरुणोदय-कालमें जागरण करता है और नदीमें स्नान, भगवान् विष्णुकी कथाका श्रवण, वैष्णवोंका दर्शन तथा नित्यप्रति भगवान् विष्णुका पूजन करता है, उसके पितरोंका नरकसे उद्धार हो जाता है। अहो! जिन लोगोंने भक्तिपूर्वक भगवान् विष्णुका पूजन नहीं किया, वे इस कलियुगकी कन्दरामें गिरकर नष्ट हो गये, लुट गये। जो मनुष्य कमलके एक फूलसे देवताओंके स्वामी भगवान् कमलापतिकी पूजा करता है, वह करोड़ों जन्मोंके पापोंका नाश कर डालता है। मुनिश्रेष्ठ! जो कार्तिकमें एक लाख तुलसीदल चढ़ाकर भगवान् विष्णुकी पूजा करता है, वह एक-एक दलपर मुक्तादान करनेका फल प्राप्त करता है। जो भगवान्के श्रीअंगोंसे उतारी हुई प्रसादस्वरूपा तुलसीको मुखमें, मस्तकपर और शरीरमें धारण करता है तथा भगवान्के निर्माल्योंसे अपने अंगोंका मार्जन करता है, वह मनुष्य सम्पूर्ण रोगों और पापोंसे मुक्त हो जाता है। भगवत्पूजनसम्बन्धी प्रसादस्वरूप शंखका जल, भगवान्की भक्ति, निर्माल्य-पुष्प आदि, चरणोदक, चन्दन और धूप ब्रह्महत्याका नाश करनेवाले हैं। नारद! कार्तिकमासमें प्रातःकाल स्नान करे और प्रतिदिन अपनी शक्तिके अनुसार ब्राह्मणोंको अन्नदान दे; क्योंकि सब दानोंमें अन्नदान ही सबसे बढ़कर है। अन्नसे ही मनुष्य जन्म लेता और अन्नसे ही बढ़ता है। अन्नको समस्त प्राणियोंका प्राण माना गया है। अन्नदान करनेवाला पुरुष संसारमें सब कुछ देनेवाला और सम्पूर्ण यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाला है। पूर्वकालमें सत्यकेतु ब्राह्मणने केवल अन्नदानसे सब पुण्योंका फल पाकर परमदुर्लभ मोक्षको भी प्राप्त कर लिया था। कार्तिकमासमें अनेक प्रकारके दान देकर भी यदि मनुष्य भगवान्का चिन्तन नहीं करता

तो वे दान उसे कभी पवित्र नहीं करते। भगवन्नाम-स्मरणकी महिमाका वर्णन मैं भी नहीं कर सकता। **'गोविन्द गोविन्द हरे मुरारे गोविन्द गोविन्द मुकुन्द कृष्ण। गोविन्द गोविन्द रथाङ्गपाणे गोविन्द दामोदर माधवेति॥'** इस प्रकार प्रतिदिन कीर्तन करे। नित्यप्रति भागवतके आधे श्लोक या चौथाई श्लोकका भी कार्तिकमें श्रद्धा और भक्तिके साथ अवश्य पाठ करे। जिन्होंने भागवतपुराणका श्रवण नहीं किया, पुराणपुरुष भगवान् नारायणकी आराधना नहीं की और ब्राह्मणोंके मुखरूपी अग्निमें अन्नकी आहुति नहीं दी, उन मनुष्योंका जन्म व्यर्थ ही गया। देवर्षे! जो मनुष्य कार्तिकमासमें प्रतिदिन गीताका पाठ करता है, उसके पुण्यफलका वर्णन करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। गीताके समान कोई शास्त्र न तो हुआ है और न होगा। एकमात्र गीता ही सदा सब पापोंको हरनेवाली और मोक्ष देनेवाली है*। गीताके एक अध्यायका पाठ करनेसे मनुष्य घोर नरकसे मुक्त हो जाते हैं, जैसे जड़ ब्राह्मण मुक्त हो गया था। सात समुद्रोंतककी पृथ्वीका दान करनेसे जो फल प्राप्त होता है, शालग्रामशिलाके दान करनेसे मनुष्य उसी फलको पा लेता है। अतः कार्तिकमासमें स्नान तथा दानपूर्वक शालग्रामशिलाका दान अवश्य करना चाहिये।

## विभिन्न देवताओंके संतोषके लिये कार्तिकस्नानकी विधि तथा स्नानके लिये श्रेष्ठ तीर्थोंका वर्णन

**ब्रह्माजी कहते हैं**—कार्तिकका व्रत आश्विन शुक्ल पक्षकी दशमीसे आरम्भ करके कार्तिक शुक्ला दशमीको समाप्त करे, अथवा आश्विनकी पूर्णिमाको आरम्भ करके कार्तिककी पूर्णिमाको पूरा करे। भक्तिमान् पुरुष आश्विन शुक्ल पक्षकी एकादशी आनेपर भगवान् विष्णुको नमस्कार करके उनसे कार्तिकव्रत करनेकी आज्ञा प्राप्त करे और विधिसे कार्तिकव्रतका पालन करे। बारहों महीनोंमें मार्गशीर्ष मास अत्यन्त पुण्यप्रद है, उससे अधिक पुण्यफल देनेवाला नर्मदातटपर वैशाख मास बताया गया है। उससे लाख गुना अधिक प्रयागमें माघ मासका महत्त्व है। उससे भी महान् फल देनेवाला कार्तिक मास है। इसका महत्त्व सर्वत्र जलमें एक-सा ही है। एक ओर सब दान, व्रत और नियम तथा दूसरी ओर कार्तिकका स्नान तराजूपर रखकर ब्रह्माजीने तौला, तो कार्तिकका ही पलड़ा भारी रहा। स्नान, दीपदान, तुलसीके पौधोंको लगाना और सींचना, पृथ्वीपर शयन, ब्रह्मचर्यका पालन, भगवान् विष्णुके नामोंका संकीर्तन तथा पुराणोंका श्रवण—इन सब नियमोंका जो कार्तिक मासमें (निष्कामभावसे) पालन करते हैं, वे ही जीवन्मुक्त हैं। यह व्रत भगवान् श्रीकृष्णको बहुत प्रिय है। सूर्यभक्त, गणेशभक्त, शक्ति-उपासक, शिवोपासक और वैष्णव—सभीको सब पापोंका निवारण करनेके लिये कार्तिकस्नान करना चाहिये। सूर्यकी प्रीतिके लिये जबतक सूर्यनारायण तुला राशिपर स्थित हों, तबतक व्रत करना चाहिये। आश्विनकी पूर्णिमासे लेकर कार्तिककी पूर्णिमातक भगवान् शंकरकी प्रसन्नताके लिये स्नान करना चाहिये। देवीपक्ष अर्थात् आश्विन शुक्ल पक्षकी प्रतिपदासे लेकर कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीकी महारात्रिके आनेतक भगवती दुर्गाकी प्रसन्नताके लिये स्नान

* कार्तिके मासि विप्रेन्द्र यस्तु गीतां पठेन्नरः। तस्य पुण्यफलं वक्तुं मम शक्तिर्न विद्यते॥
गीतायास्तु समं शास्त्रं न भूतं न भविष्यति। सर्वपापहरा नित्यं गीतैका मोक्षदायिनी॥
(स्क० पु० वै० का० मा० २। ४९-५०)

करना चाहिये। गणेशजीकी प्रसन्नताके लिये आश्विन कृष्ण चतुर्थीसे लेकर कार्तिक कृष्ण चतुर्थीतक नियमपूर्वक स्नान करना चाहिये। जो आश्विन शुक्ल पक्षकी एकादशीसे लेकर कार्तिक शुक्ल एकादशीतक कार्तिकव्रतकी समाप्ति करता है, उसके ऊपर भगवान् जनार्दन प्रसन्न होते हैं। जो दूसरोंके संगवश या बलात् जानकर अथवा बिना जाने ही कार्तिकमासमें प्रातःस्नानका नियम पूरा कर लेता है, वह कभी यम-यातनाको नहीं देखता। अथवा जो ब्राह्मण कार्तिकमें प्रातःस्नान करते हैं, उन्हें ओढ़नेके लिये कम्बल या रजाई देकर स्नानजनित पुण्यफलको प्राप्त करे। कार्तिकमासमें विशेषतः श्रीराधा और श्रीकृष्णकी पूजा करनी चाहिये। जो कार्तिकमें तुलसीवृक्षके नीचे श्रीराधा

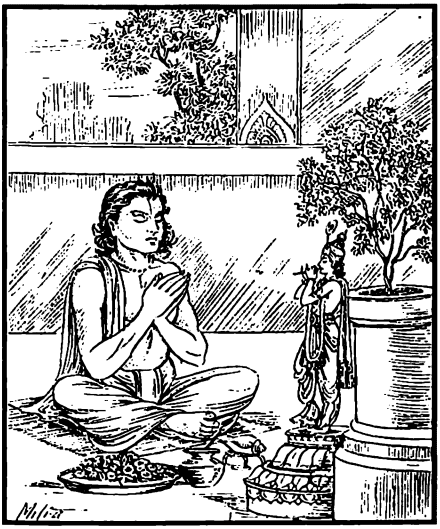

और श्रीकृष्णकी मूर्तिका (निष्कामभावसे) पूजन करते हैं, उन्हें जीवन्मुक्त समझना चाहिये। हजारों पापोंसे युक्त मनुष्य क्यों न हो, वह कार्तिकस्नानसे अवश्य पापमुक्त हो जाता है। तुलसीके अभावमें आँवलेके नीचे पूजा करनी चाहिये। मुख्य पूजाकी विधि सूर्यमण्डलमें करनी चाहिये अर्थात् सूर्यमण्डलकी ओर देखकर सूर्यरूपी नारायणके लिये पूजनोपचार समर्पित करना चाहिये। सब देवता अप्रत्यक्ष हैं, केवल ये भगवान् सूर्य ही प्रत्यक्ष हैं। अन्य सब देवता कालके अधीन हैं, परंतु भगवान् सूर्य कालके भी काल हैं। जो दरिद्र है, वही दानका पात्र है। उसकी अपेक्षा भी विद्वान् पुरुष दानका विशेष पात्र है। भगवान् विष्णुकी चल मूर्तिसे अचल मूर्ति श्रेष्ठ मानी गयी है। मूर्तिके अभावमें भगवद्बुद्धिसे पीपल अथवा वटकी पूजा करनी चाहिये। पीपल भगवान् विष्णुका और वट भगवान् शंकरका स्वरूप है। शालग्रामशिलाके चक्रमें सदा भगवान् विष्णुका निवास है, इसलिये प्रयत्नपूर्वक शालग्रामकी पूजा करनी चाहिये। पलाश ब्रह्माजीके अंशसे उत्पन्न हुआ है। जो कार्तिकमासमें उसके पत्तलमें भोजन करता है, वह भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है। पीपलके रूपमें साक्षात् भगवान् विष्णु विराजमान हैं, इसलिये कार्तिकमें प्रयत्नपूर्वक उसका पूजन करना चाहिये। जो लोग कार्तिकमासमें स्नान, जागरण, दीपदान और तुलसीवनकी रक्षा करते हैं, वे भगवान् विष्णुके स्वरूप हैं। जो भगवान् विष्णुके मन्दिरमें झाड़ू देकर स्वस्तिक आदिका (निष्काम भावसे) मंगल चिह्न बनाते और भगवान् विष्णुकी पूजा करते हैं, वे जीवन्मुक्त हैं।

जब दो घड़ी रात बाकी रहे, तब तुलसीकी मृत्तिका, वस्त्र और कलश लेकर जलाशयके समीप जाय। पैर धोकर गंगा आदि नदियों तथा विष्णु और शिव आदि देवताओंका स्मरण करे। फिर नाभिके बराबर जलमें खड़ा होकर इस मन्त्रको पढ़े।

**कार्तिकेऽहं करिष्यामि प्रातःस्नानं जनार्दन।**
**प्रीत्यर्थं तव देवेश दामोदर मया सह॥**

'जनार्दन! देवेश्वर दामोदर! लक्ष्मीसहित आपकी प्रसन्नताके लिये मैं कार्तिकमें प्रातःस्नान करूँगा।'

तत्पश्चात्—

**गृहाणार्घ्यं मया दत्तं राधया सहितो हरे।**
**नमः कमलनाभाय नमस्ते जलशायिने॥**
**नमस्तेऽस्तु हृषीकेश गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते।**

'भगवन्! आप श्रीराधाके साथ मेरे दिये हुए इस अर्घ्यको स्वीकार करें। हरे! आप कमलनाभको नमस्कार है। जलमें शयन करनेवाले आप नारायणको नमस्कार है। हृषीकेश! यह अर्घ्य ग्रहण कीजिये, आपको बार-बार नमस्कार है।'

मनुष्य किसी भी तीर्थमें स्नान करे, उसे गंगाका स्मरण अवश्य करना चाहिये। पहले मृत्तिका आदिसे स्नान करके पावमानी ऋचाओंद्वारा अपने मस्तकपर अभिषेक करे। अघमर्षण और स्नानांगतर्पण करके पुरुषसूक्तसे सिरपर जल छिड़के। उसके बाद बाहर आकर पुनः मस्तकपर तीर्थका जल सींचे। फिर हाथमें तुलसी लेकर तीन बार आचमन करके पानीसे बाहर धोती निचोड़े। वस्त्र निचोड़नेके पश्चात् तिलक आदि करे। कार्तिकमें जहाँ कहीं भी प्रत्येक जलाशयके जलमें स्नान करना चाहिये। गरम जलकी अपेक्षा ठण्डे जलमें स्नान करनेसे दसगुना पुण्य होता है। उससे सौगुना पुण्य बाहरी कुएँके जलमें स्नान करनेसे होता है। उससे अधिक पुण्य बावड़ीमें और उससे भी अधिक पुण्य पोखरेमें स्नान करनेसे होता है। उससे दसगुना झरनोंमें और उससे भी अधिक पुण्य कार्तिकमें नदीस्नान करनेसे होता है। उससे भी दसगुना पुण्य वहाँ होता है, जहाँ दो नदियोंका संगम हो और यदि कहीं तीन नदियोंका संगम हो, तब तो पुण्यकी कोई सीमा ही नहीं है। सिन्धु, कृष्णा, वेणी, यमुना, सरस्वती, गोदावरी, विपासा (व्यास), नर्मदा, तमसा, मही, कावेरी, सरयू, क्षिप्रा, चर्मण्वती (चम्बल), बितस्ता (झेलम), वेदिका, शोणभद्र, वेत्रवती (बेतवा), अपराजिता, गण्डकी, गोमती, पूर्णा, ब्रह्मपुत्रा, मानसरोवर, वाग्मती*, शतद्रु (शतलज)—ये तीर्थ कार्तिकमें दुर्लभ हैं। सब स्थलोंसे अधिक आर्यावर्त (विन्ध्याचल और हिमालयके भीतरका प्रदेश—उत्तर भारत) पुण्यदायक है, उससे भी कोल्हापुरी श्रेष्ठ है, कोल्हापुरीसे श्रेष्ठ विष्णुकांची और शिवकांची हैं। उससे श्रेष्ठ है अनन्तसेनका निवासस्थान वराहक्षेत्र, वराहक्षेत्रसे चक्रकक्षेत्र और चक्रकक्षेत्रसे अधिक पुण्यमय मुक्तिकक्षेत्र है। उससे श्रेष्ठ अवन्तीपुरी और अवन्तीपुरीसे श्रेष्ठ बदरिकाश्रम है। बदरिकाश्रमसे अयोध्या, अयोध्यासे गंगाद्वार, गंगाद्वारसे कनखल और कनखलसे भी श्रेष्ठ मथुरा है; क्योंकि कार्तिकमें वहाँ स्वयं भगवान् राधाकृष्ण स्नान करते हैं। मथुरासे भी श्रेष्ठ द्वारका है। जिन्होंने भगवान् गोविन्दमें अपने चित्तको लगा रखा है, उनके लिये द्वारका सूर्यके समान पुण्यका प्रकाश करनेवाली है। द्वारकासे भी श्रेष्ठ भागीरथी हैं। वह भी जहाँ विन्ध्यपर्वतसे मिलती हैं, वहाँ अधिक श्रेष्ठ हैं। उससे दसगुना पुण्य तीर्थराज प्रयागमें होता है। उससे श्रेष्ठ काशी है, जिसके आश्रयसे गंगाजी भी मनुष्योंके सब पापोंका नाश करती हैं। काशीमें पंचनद (पंचगंगा) तीर्थ है, जो तीनों लोकोंमें विख्यात है। कार्तिकमास आनेपर रौरव नरकमें पड़े हुए पितर भी चिल्लाते हैं कि क्या हमारे वंशमें कोई ऐसा भाग्यवान् पैदा होगा, जो पंचगंगामें जाकर हमारे लिये नरकसे उद्धार करनेवाला तर्पण करेगा। लाखों पाप करके भी मनुष्य यदि पंचगंगामें नहाकर विन्दुमाधवजीकी पूजा करे तो उसके सभी पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं।

कुछ रात बाकी रहे तभी स्नान किया जाय तो वह उत्तम और भगवान् विष्णुको सन्तुष्ट करनेवाला है। सूर्योदयकालमें किया हुआ स्नान मध्यम श्रेणीका है, जबतक कृत्तिका अस्त न हो, तभीतक स्नानका उत्तम समय है, अन्यथा बहुत विलम्ब करके किया हुआ स्नान कार्तिकस्नानकी श्रेणीमें नहीं आता। स्त्रियोंको पतिकी आज्ञा

* नेपालकी एक पुण्यमयी नदी जो सरस्वतीका स्वरूप समझी जाती है और जिसका महत्त्व गंगाके समान है।

लेकर कार्तिकस्नान करना चाहिये; क्योंकि पतिसे बिना पूछे जो धर्मकार्य किया जाता है, वह पतिकी आयुको क्षीण कर देता है। स्त्रियोंके लिये पतिकी सेवा छोड़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है[१]। जो पतिकी आज्ञाका पालन करे, वही इस संसारमें धर्मवती है; केवल व्रत आदिसे धर्मवती नहीं होती। पति यदि दरिद्र, पतित, मूर्ख अथवा दीन भी हो, तो वह वैसा होता हुआ भी स्त्रीका आश्रय है। उसके त्यागसे स्त्री नरकमें गिरती है। जिसके दोनों हाथ, दोनों पैर, वाणी और मन—ये काबूमें रहें तथा जिसमें विद्या, तप एवं कीर्ति हो, वही मनुष्य तीर्थके फलका भागी होता है। जिसकी तीर्थोंमें श्रद्धा न हो, जो तीर्थमें भी पापकी ही बात सोचता हो, नास्तिक हो, जिसका मन दुबिधामें पड़ा हो तथा जो कोरा तर्कवादी हो—ये पाँच प्रकारके मनुष्य तीर्थफलके भागी नहीं होते[२]। जो ब्राह्मण प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर तीर्थमें स्नान करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है।

स्नानका तत्त्व जाननेवाले मनीषी पुरुषोंने चार प्रकारके स्नान बतलाये हैं—वायव्य, वारुण, ब्राह्म और दिव्य। गोधूलिसे किया हुआ स्नान वायव्य कहलाता है। समुद्र आदिके जलमें जो स्नान किया जाता है, उसे वारुण कहते हैं। वेदमन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक जो स्नान होता है, उसका नाम ब्राह्म है तथा मेघों अथवा सूर्यकी किरणोंद्वारा जो जल अपने शरीरपर गिरता है, उसे दिव्य स्नान कहा गया है। इन सभी स्नानोंमें वारुण स्नान सबसे उत्तम है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यको मन्त्रोच्चारणपूर्वक स्नान करना चाहिये। स्त्री और शूद्रके लिये बिना मन्त्रके ही स्नानका विधान है। प्राचीन समयमें श्रेष्ठ तीर्थ पुष्करमें जहाँ नन्दा-संगम है, वहीं नन्दाके कहनेसे राजा प्रभंजन कार्तिकमासमें पुष्करस्नान करके व्याघ्रयोनिसे मुक्त हुए थे और नन्दा भी कार्तिकमें पुष्करका स्पर्श पाकर परम धामको प्राप्त हुई थी।

## कार्तिकव्रत करनेवाले मनुष्यके लिये पालनीय नियम

**ब्रह्माजी कहते हैं**—व्रत करनेवाले पुरुषको उचित है कि वह सदा एक पहर रात बाकी रहते ही सोकर उठ जाय। फिर नाना प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा भगवान् विष्णुकी स्तुति करके दिनके कार्यका विचार करे। गाँवसे नैऋत्यकोणमें जाकर विधिपूर्वक मल-मूत्रका त्याग करे। यज्ञोपवीतको दाहिने कानपर रखकर उत्तराभिमुख होकर बैठे। पृथ्वीपर तिनका बिछा दे और अपने मस्तकको वस्त्रसे भलीभाँति ढक ले, मुखपर भी वस्त्र लपेट ले, अकेला रहे तथा साथ जलसे भरा हुआ पात्र रखे। इस प्रकार दिनमें मल-मूत्रका त्याग करे। यदि रातमें करना हो, तो दक्षिण दिशाकी ओर मुँह करके बैठे। मलत्यागके पश्चात् गुदामें पाँच या सात बार मिट्टी लगाकर धोवे, बायें हाथमें दस बार मिट्टी लगावे, फिर दोनों हाथोंमें सात बार और दोनों पैरोंमें तीन बार मिट्टी लगानी चाहिये। यह गृहस्थके लिये शौचका नियम बताया गया है। ब्रह्मचारीके लिये

१- अपृष्ट्वा यत्कृतं धर्म्यं भर्तारं तत्क्षयं नयेत्। स्त्रीणां नास्त्यपरो धर्मो भर्तारं प्रोज्झ्य कश्चन॥

२- दरिद्रः पतितो मूर्खो दीनोऽपि यदि चेत्पतिः। तादृशः शरणं स्त्रीणां तत्त्यागान्निरयं व्रजेत्॥
यस्य हस्तौ च पादौ च वाङ्मनश्च सुसंयतम्। विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलभाङ्नरः॥
अश्रद्दधानः पापात्मा नास्तिकश्छिन्नमानसः। हेतुवादी च पञ्चैते न तीर्थफलभागिनः॥
(स्क० पु०, वै० का० मा० ४। ७२। ७४, ७६, ७७)

इससे दूना, वानप्रस्थके लिये तीन गुना और संन्यासीके लिये चौगुना शौच कहा गया है। यह दिनमें शौचका नियम है। रातमें इससे आधा ही पालन करे। यात्रामें गये हुए मनुष्यके लिये उससे भी आधे शौचका विधान है तथा स्त्रियों और शूद्रोंके लिये उससे भी आधा शौच बताया गया है। शौचकर्मसे हीन पुरुषकी समस्त क्रियाएँ निष्फल होती हैं।

तदनन्तर दाँत और जिह्वाकी शुद्धिके लिये वृक्षके पास जाकर यह मन्त्र पढ़े—

**आयुर्बलं यशो वर्चः प्रजाः पशुवसूनि च।**
**ब्रह्म प्रज्ञां च मेधां च त्वं नो देहि वनस्पते॥**

'हे वनस्पते! आप मुझे आयु, बल, यश, तेज, सन्तति, पशु, धन, वैदिक ज्ञान, प्रज्ञा और धारणाशक्ति प्रदान करें।'

ऐसा कहकर वृक्षसे बारह अंगुलकी दाँतन ले, दूधवाले वृक्षोंसे दाँतन नहीं लेनी चाहिये। इसी प्रकार कपास, काँटेदार वृक्ष तथा जले हुए पेड़से भी दाँतन लेना मना है। जिससे उत्तम गन्ध आती हो और जिसकी टहनी कोमल हो, ऐसे ही वृक्षसे दन्तधावन ग्रहण करना चाहिये। उपवासके दिन, नवमी और षष्ठी तिथिको, श्राद्धके दिन, रविवारको, ग्रहणमें, प्रतिपदाको तथा अमावास्याको भी काष्ठसे दाँतन नहीं करनी चाहिये*। जिस दिन दाँतनका विधान नहीं है, उस दिन बारह कुल्ले कर लेने चाहिये। विधिपूर्वक दाँतोंको शुद्ध करके मुँहको जलसे धो डाले और भगवान् विष्णुके नामोंका उच्चारण करते हुए दो घड़ी रात रहते ही स्नानके लिये जलाशयपर जाय। कार्तिकके व्रतका पालन करनेवाला पुरुष विधिसे स्नान करे। फिर धोती निचोड़कर अपनी रुचिके अनुसार तिलक करे। तत्पश्चात् अपनी शाखाके अनुकूल आह्निकसूत्रकी बतायी हुई पद्धतिसे सन्ध्योपासन करे। जबतक सूर्योदय न हो जाय, तबतक गायत्रीमन्त्रका जप करता रहे। यह रात्रिके अन्तका कृत्य बताया गया है। अब दिनका कार्य बताया जाता है। सन्ध्योपासनाके अन्तमें विष्णुसहस्रनाम आदिका पाठ करे, फिर देवालयमें आकर पूजन प्रारम्भ करे। भगवत्सम्बन्धी पदोंके गान, कीर्तन और नृत्य आदि कार्योंमें दिनका प्रथम प्रहर व्यतीत करे। तत्पश्चात् आधे पहरतक भलीभाँति पुराण-कथाका श्रवण करे। उसके बाद पुराण बाँचनेवाले विद्वान्‌की और तुलसीकी पूजा करके मध्याह्नका कर्म करनेके पश्चात् दालके सिवा शेष अन्नका भोजन करे। बलिवैश्वदेव करके अतिथियोंको भोजन कराकर जो मनुष्य स्वयं भोजन करता है, उसका वह भोजन केवल अमृत है। मुखशुद्धिके लिये तीर्थ-जल (भगवच्चरणामृत)-से तुलसी-भक्षण करे। फिर शेष दिन सांसारिक व्यवहारमें व्यतीत करे। सायंकालमें पुनः भगवान् विष्णुके मन्दिरमें जाय और सन्ध्या करके शक्तिके अनुसार दीपदान करे। भगवान् विष्णुको प्रणाम करके उनकी आरती उतारे और स्तोत्रपाठ आदि करते हुए प्रथम प्रहरमें जागरण करे। प्रथम प्रहर बीत जानेपर शयन करे। ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करे। इस प्रकार एक मासतक प्रतिदिन शास्त्रोक्त विधिका पालन करे। जो कार्तिकमासमें उत्तम व्रतका पालन करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो भगवान् विष्णुके सालोक्यको प्राप्त होता है।

कार्तिकमास आनेपर निषिद्ध वस्तुओंका त्याग करना चाहिये। तेल लगाना, परान्न भोजन करना, तेल खाना, जिसमें बहुत-से बीज हों ऐसे फलोंका सेवन तथा चावल और दाल—

* उपवासे नवम्यां च षष्ठ्यां श्राद्धदिने रवौ। ग्रहणे प्रतिपद्दर्शे न कुर्याद्दन्तधावनम्॥
(स्क० पु०, वै० का० मा० ५। १५)

ये सभी कार्तिकमासमें त्याज्य हैं। लौकी, गाजर, बैगन, वनभंटा (ऊँटकटारा), बासी अन्न, भँसीड़, मसूर, दुबारा भोजन, मदिरा, पराया अन्न, काँसीके पात्रमें भोजन, छत्राक, काँजी, दुर्गन्धित पदार्थ, समुदाय (संस्था आदि)-का अन्न, वेश्याका अन्न, ग्रामपुरोहित और शूद्रका अन्न और सूतकका अन्न—ये सभी त्याग देने योग्य हैं। श्राद्धका अन्न, रजस्वलाका दिया हुआ अन्न, जननाशौचका अन्न और लसोड़ेका फल—इन्हें कार्तिकव्रतका पालन करनेवाला पुरुष अवश्य त्याग दे। निषिद्ध पत्तलोंमें भोजन न करे। महुआ, केला, जामुन और पकड़ी—इनके पत्तोंमें भोजन करना चाहिये। कमलके पत्तेपर कदापि भोजन न करे। कार्तिकमास आनेपर जो वनवासी मुनियोंके अनुसार नियमित भोजन करता है, वह चक्रपाणि भगवान् विष्णुके परम धाममें जाता है। कार्तिकमें प्रातःकाल स्नान और भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये। उस समय कथाश्रवण उत्तम माना गया है। कार्तिकमें केला और आँवलेके फलका दान करे और शीतसे कष्ट पानेवाले ब्राह्मणको कपड़ा दे। जो कार्तिकमें भक्तिपूर्वक भगवान् विष्णुको तुलसीदल समर्पित करता है, वह संसारसे मुक्त हो भगवान् विष्णुके परम पदको प्राप्त होता है। श्रीहरिके परम प्रिय कार्तिकमासमें जो नित्य गीतापाठ करता है, उसके पुण्यफलका वर्णन सैकड़ों वर्षोंमें भी नहीं किया जा सकता। जो श्रीमद्भागवतका भी श्रवण करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो परम शान्तिको प्राप्त होता है*। जो कार्तिककी एकादशीको निराहार रहकर व्रत करता है, वह निःसन्देह पूर्वजन्मके पापोंसे मुक्त हो जाता है। जो कार्तिकमें भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये दूसरेके अन्नका त्याग करता है, वह भगवान् विष्णुके प्रेमको भलीभाँति प्राप्त करता है। जो राह चलकर थके-माँदे और भोजनके समयपर घरपर आये हुए अतिथिका भक्तिपूर्वक पूजन करता है, वह सहस्रों जन्मोंके पापका नाश कर डालता है। जो मूढ़ मानव वैष्णव महात्माओंकी निन्दा करते हैं, वे अपने पितरोंके साथ महारौरव नरकमें गिरते हैं। जो भगवान्‌की और भगवद्भक्तोंकी निन्दा सुनते हुए भी वहाँसे दूर नहीं हट जाता, वह भगवान्‌का प्रिय भक्त नहीं है। जो कार्तिकमासमें भगवान् विष्णुकी परिक्रमा करता है, उसे पग-पगपर अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है। जो कार्तिकमासमें परायी स्त्रीके साथ संगम करता है, उसके पापकी शान्ति कैसे होगी यह बताना असम्भव है। जिसके ललाटमें तुलसीकी मृत्तिकाका तिलक दिखायी देता है, उसकी ओर देखनेमें यमराज भी समर्थ नहीं हैं; फिर उनके भयानक दूतोंकी तो बात ही क्या? कार्तिकमें भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये धर्मका अनुष्ठान करना चाहिये। मासव्रतकी समाप्ति होनेपर उस व्रतकी पूर्णताके लिये श्रेष्ठ ब्राह्मणको दान देना चाहिये। जो कार्तिकमें भगवान् विष्णुके मन्दिरमें चूना आदिका लेप कराता है या तसवीर आदि लिखता है, वह भगवान् विष्णुके समीप आनन्दका अनुभव करता है। जो ब्राह्मण कार्तिकमासमें गभस्तीश्वरके समीप शतरुद्रीका जप करता है, उसके मन्त्रकी सिद्धि होती है। जिन्होंने तीन वर्षोंतक काशीमें रहकर भक्तिपूर्वक सांगोपांग कार्तिकव्रतका अनुष्ठान किया है, उन्हें सम्पत्ति, सन्तति, यश तथा धर्मबुद्धिकी प्राप्तिके द्वारा इस लोकमें ही उस व्रतका प्रत्यक्ष फल दिखायी देता है। कार्तिकमें प्याज, शृंग (सिंघाड़ा), सेज, बेर, राई, नशीली वस्तु, चिउड़ा—इन सबका

* गीतापाठं तु यः कुर्यात् कार्तिके विष्णुवल्लभे। तस्य पुण्यफलं वक्तुं नालं वर्षशतैरपि॥
श्रीमद्भागवतस्यापि श्रवणं यः समाचरेत्। सर्वपापविनिर्मुक्तः परं निर्वाणमृच्छति॥
(स्क० पु०, वै० का० मा० ६। १९-२०)

उपयोग न करे। कार्तिकका व्रत करनेवाला मनुष्य देवता, वेद, ब्राह्मण, गुरु, गौ, व्रती, स्त्री, राजा और महात्माओंकी निन्दा न करे। कार्तिकमें केवल नरकचतुर्दशी (दिवालीके एक रोज पहले)-को शरीरमें तेल लगाना चाहिये। उसके सिवा और किसी दिन व्रती मनुष्य तेल न लगावे। नालिका, मूली, कुम्हड़ा, कैथ इनका भी त्याग करे। रजस्वला, चाण्डाल, म्लेच्छ, पतित, व्रतहीन, ब्राह्मणद्वेषी और वेद-बहिष्कृत लोगोंसे व्रती मनुष्य बातचीत न करे।

## कार्तिकव्रतसे एक पतित ब्राह्मणीका उद्धार तथा दीपदान एवं आकाशदीपकी महिमा

**ब्रह्माजी कहते हैं**—स्त्रियों और पुरुषोंने जन्मसे लेकर जो पाप किया है, वह सब कार्तिकमें दीपदानसे नष्ट हो जाता है। इस विषयमें मैं तुमसे एक प्राचीन इतिहासका वर्णन करता हूँ। पूर्वकालमें द्रविड़देशमें एक बुद्ध नामक ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री बड़ी दुष्टा और दुराचारपरायणा थी। उसके संसर्गदोषसे पतिकी आयु क्षीण हो गयी और वह मृत्युको प्राप्त हुआ। पतिके मर जानेपर भी वह विशेषरूपसे व्यभिचारमें लग गयी। उसको लोकनिन्दासे तनिक भी लज्जा नहीं होती थी। उसके न तो कोई पुत्र था और न भाई ही। वह सदा भिक्षाके अन्नका भोजन करती थी। अपने हाथसे बनाये हुए शुद्ध और स्वल्प अन्नको कभी न खाकर माँगकर लाये हुए बासी अन्नको ही खाती थी। दूसरेके घर रसोई बनाया करती और तीर्थयात्रा आदिसे दूर रहती थी। उसने कभी कथा भी नहीं सुनी थी। एक दिन तीर्थयात्रामें लगा हुआ कोई विद्वान् ब्राह्मण उसके घरपर आया। उसका नाम कुत्स था। उसको व्यभिचारमें आसक्त देखकर उस ब्रह्मर्षिश्रेष्ठ कुत्सने कहा—'ओ मूढ़ नारी! तू मेरी बातको ध्यान देकर सुन। पृथ्वी आदि पाँच भूतोंसे बने हुए और पीब एवं रक्तसे भरे हुए इस शरीरको, जो केवल दुःखका ही कारण है, तू क्यों पोसती है? अरी! यह देह पानीके बुलबुलेके समान है, एक दिन इसका नाश होना निश्चित है। इस अनित्य शरीरको यदि तू नित्य मानती है तो अपने मनमें बैठे हुए इस मोहको विचारपूर्वक त्याग दे। सबसे श्रेष्ठ देवता भगवान् विष्णुका चिन्तन कर और उन्हींकी लीला-कथाको आदरपूर्वक सुन और जब कार्तिकमास आवे, तब भगवान् दामोदरकी प्रीतिके लिये स्नान, दान आदि कर, दीपदान दे, भगवान् विष्णुकी परिक्रमा करके उन्हें प्रणाम कर। यह व्रत विधवा और सौभाग्यवती सभी स्त्रियोंके करनेयोग्य है, यह सब पापोंकी शान्ति और समस्त उपद्रवोंका नाश करनेवाला है। कार्तिकमासमें निश्चय ही दीपदान भगवान् विष्णुकी प्रसन्नता बढ़ानेवाला है।'

ऐसा कहकर कुत्स ब्राह्मण दूसरेके घर चला गया और वह ब्राह्मणी भी कुत्सकी बात सुनकर पश्चात्ताप करती हुई इस निश्चयपर पहुँची कि मैं कार्तिकमासमें अवश्य व्रत करूँगी। तत्पश्चात् कार्तिकमास आनेपर उसने पूरे महीनेभर प्रातः सूर्योदयकालमें स्नान और दीपदान किया। तदनन्तर कुछ कालके बाद आयु समाप्त होनेपर उसकी मृत्यु हो गयी। स्वर्गलोकमें गयी और समयानुसार उसकी मुक्ति भी हो गयी। कार्तिकके व्रतमें तत्पर हो दीपदान आदि करनेवाला जो इस दीपदानका इतिहास सुनता है, वह मोक्षको प्राप्त होता है।

नारद! अब आकाशदीपका माहात्म्य सुनो। कार्तिकमास आनेपर जो प्रातःस्नानमें तत्पर हो आकाशदीपका दान करता है, वह सब लोकोंका स्वामी और सब सम्पत्तियोंसे सम्पन्न होकर इस लोकमें सुख भोगता और अन्तमें मोक्षको प्राप्त होता है। इसलिये कार्तिकमें स्नान-दान आदि कर्म करते हुए भगवान् विष्णुके मन्दिरके कँगूरेपर एक मासतक अवश्य दीपदान करना चाहिये। महाराज सुनन्दने चन्द्रशर्मा ब्राह्मणके बताये अनुसार एक मासतक विधिपूर्वक व्रत किया। वे कार्तिकमें प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान करके पवित्र होते और कोमल तुलसीदलोंसे भगवान् विष्णुकी पूजा करके रातमें उनके लिये आकाशदीप देते थे। दीप देनेके समय वे इस मन्त्रका उच्चारण करते थे—

**दामोदराय विश्वाय विश्वरूपधराय च।**
**नमस्कृत्वा प्रदास्यामि व्योमदीपं हरिप्रियम्॥**

'मैं सर्वस्वरूप एवं विश्वरूपधारी भगवान् दामोदरको नमस्कार करके यह आकाशदीप देता हूँ, जो भगवान्‌को परम प्रिय है।'

'देवेश्वर! इस व्रतसे आपमें मेरी भक्ति बढ़े' इस भावसे प्रार्थना करके राजा सुनन्द दीपदान करते थे। ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर वे पुनः आकाशदीप देते थे। उनका प्रातःकाल स्नान और भगवान् विष्णुकी पूजाका क्रम नियमपूर्वक चलता रहा। मासकी समाप्तिपर उन्होंने व्रतका उद्यापन करके आकाशदीपके नियमको भी समाप्त किया और ब्राह्मणोंको भोजन कराकर इस विष्णुव्रतकी पूर्ति की। इस पुण्यके प्रभावसे राजाने इस लोकमें स्त्री, पुत्र, पौत्र और स्वजनोंके साथ लाख वर्षोंतक पार्थिव भोगोंका उपभोग किया और अन्तमें स्त्रियोंसहित सुन्दर विमानपर आरूढ़ हो चार भुजाधारी, शंख, चक्र, गदा आदि आयुधोंसे सुशोभित, पीताम्बरधारी विष्णुका-सा दिव्य शरीर पाकर मोक्षका आश्रय लिया। वे विष्णुलोकमें भगवान् विष्णुके ही समान सुखपूर्वक रहने लगे। अतः कार्तिकमासमें दुर्लभ मनुष्य-जन्मको पाकर भगवान् विष्णुको प्रिय लगनेवाले आकाशदीपका विधिपूर्वक दान देना चाहिये। जो संसारमें भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये आकाशदीप देते हैं, वे कभी अत्यन्त क्रूर मुखवाले यमराजका दर्शन नहीं करते।

एकादशीसे, तुलाराशिके सूर्यसे अथवा पूर्णिमासे लक्ष्मीसहित भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये आकाशदीप प्रारम्भ करना चाहिये।

**नमः पितृभ्यः प्रेतेभ्यो नमो धर्माय विष्णवे।**
**नमो यमाय रुद्राय कान्तारपतये नमः॥**

'पितरोंको नमस्कार है, प्रेतोंको नमस्कार है, धर्मस्वरूप विष्णुको नमस्कार है, यमराजको नमस्कार है तथा दुर्गम पथमें रक्षा करनेवाले भगवान् रुद्रको नमस्कार है।'

—इस मन्त्रसे जो मनुष्य पितरोंके लिये आकाशमें दीपदान करते हैं, उनके वे पितर नरकमें हों तो भी उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं। जो देवालयमें, नदीके किनारे, सड़कपर तथा नींद लेनेके स्थानमें दीप देता है, उसे सर्वतोमुखी लक्ष्मी प्राप्त होती हैं। जो ब्राह्मण या अन्य जातिके मन्दिरमें दीपक जलाता है, वह विष्णुलोकमें प्रतिष्ठित होता है। जो कीट और काँटोंसे भरी हुई दुर्गम एवं ऊँची-नीची भूमिपर दीपदान करता है, वह नरकमें नहीं पड़ता है। पूर्वकालमें राजा धर्मनन्दनने आकाशदीप-दानके प्रभावसे श्रेष्ठ विमानपर आरूढ़ हो विष्णुलोकको प्रस्थान किया। जो कार्तिक मासमें हरिबोधिनी एकादशीको भगवान् विष्णुके आगे कपूरका दीपक जलाता है, उसके कुलमें उत्पन्न हुए सभी मनुष्य भगवान् विष्णुके प्रिय भक्त होते और अन्तमें मोक्ष प्राप्त करते हैं। पूर्वकालमें कोई गोप अमावास्या तिथिको भगवान् विष्णुके मन्दिरमें दीपक जलाकर तथा बार-बार जय-जयका उच्चारण करके राजराजेश्वर हो गया था।

# कार्तिकमें तुलसीवृक्षके आरोपण और पूजन आदिकी महिमा

**ब्रह्माजी कहते हैं**—कार्तिकमासमें जो विष्णुभक्त पुरुष प्रातःकाल स्नान करके पवित्र हो कोमल तुलसीदलसे भगवान् दामोदरकी पूजा करता है, वह निश्चय ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जो भक्तिसे रहित है, वह यदि सुवर्ण आदिसे भगवान्‌की पूजा करे, तो भी वे उसकी पूजा ग्रहण नहीं करते। सभी वर्णोंके लिये भक्ति ही सबसे उत्कृष्ट मानी गयी है। भक्तिहीन कर्म भगवान् विष्णुको प्रसन्न करनेवाला नहीं होता। यदि तुलसीके आधे पत्तेसे भी प्रतिदिन भक्तिपूर्वक भगवान्‌की पूजा की जाय, तो भी वे स्वयं आकर दर्शन देते हैं। पूर्वकालमें भक्त विष्णुदास भक्तिपूर्वक तुलसी-पूजनसे शीघ्र ही विष्णुधामको चला गया और राजा चोल उसकी तुलनामें गौण हो गये। अब तुलसीका माहात्म्य सुनो—वह पापका नाश और पुण्यकी वृद्धि करनेवाली है। अपनी लगायी हुई तुलसी जितना ही अपने मूलका विस्तार करती है, उतने ही सहस्र युगोंतक मनुष्य ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित होता है। यदि कोई तुलसीसंयुक्त जलमें स्नान करता है, तो वह सब पापोंसे मुक्त हो भगवान् विष्णुके लोकमें आनन्दका अनुभव करता है। महामुने! जो लगानेके लिये तुलसीका संग्रह करता और लगाकर तुलसीका वन तैयार कर देता है, वह उतनेसे ही पापमुक्त हो ब्रह्मभावको प्राप्त होता है। जिसके घरमें तुलसीका बगीचा विद्यमान है, उसका वह घर तीर्थके समान है, वहाँ यमराजके दूत नहीं जाते। तुलसीवन सब पापोंको नष्ट करनेवाला, पुण्यमय तथा अभीष्ट कामनाओंको देनेवाला है। जो श्रेष्ठ मानव तुलसीका बगीचा लगाते हैं, वे यमराजको नहीं देखते। जो मनुष्य तुलसीकाष्ठसंयुक्त गन्ध धारण करता है, क्रियमाण पाप उसके शरीरका स्पर्श नहीं करता। जहाँ तुलसीवनकी छाया होती है, वहीं पितरोंकी तृप्तिके लिये श्राद्ध करना चाहिये। जिसके मुखमें, कानमें और मस्तकपर तुलसीका पत्ता दिखायी देता है, उसके ऊपर यमराज भी दृष्टि नहीं डाल सकते; फिर दूतोंकी तो बात ही क्या है। जो प्रतिदिन आदरपूर्वक तुलसीकी महिमा सुनता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो ब्रह्मलोकको जाता है।

पूर्वकालकी बात है, काश्मीर देशमें हरिमेधा और सुमेधा नामक दो ब्राह्मण थे, जो भगवान् विष्णुकी भक्तिमें संलग्न रहते थे। उनके हृदयमें सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति दया थी। वे सब तत्त्वोंका यथार्थ मर्म समझनेवाले थे। किसी समय वे दोनों श्रेष्ठ ब्राह्मण तीर्थयात्राके लिये चले। जाते-जाते किसी दुर्गम वनमें वे परिश्रमसे व्याकुल हो गये; वहाँ उन्होंने एक स्थानपर तुलसीका वन देखा। उनमेंसे सुमेधाने वह तुलसीका महान् वन देखकर उसकी परिक्रमा की और भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। यह देख हरिमेधाने तुलसीका माहात्म्य और फल जाननेके लिये बड़ी प्रसन्नताके साथ बार-बार पूछा—'ब्रह्मन्! अन्य देवताओं, तीर्थों, व्रतों और मुख्य-मुख्य ब्राह्मणोंके रहते हुए तुमने तुलसीवनको क्यों प्रणाम किया है?'

**सुमेधा बोला**—महाभाग! सुनो। यहाँ धूप सता रही है, इसलिये हमलोग उस बरगदके समीप चलें। उसकी छायामें बैठकर मैं यथार्थरूपसे सब बात बताऊँगा।

**वहाँ विश्राम करके सुमेधाने हरिमेधासे कहा**—विप्रवर! पूर्वकालमें दुर्वासाके शापसे जब इन्द्रका ऐश्वर्य छिन गया था, उस समय ब्रह्मा आदि देवताओं और असुरोंने मिलकर क्षीरसागरका मन्थन किया। उससे ऐरावत हाथी, कल्पवृक्ष,

चन्द्रमा, लक्ष्मी, उच्चैःश्रवा घोड़ा, कौस्तुभमणि तथा धन्वन्तरिरूप भगवान् श्रीहरि और दिव्य ओषधियाँ प्रकट हुईं। तदनन्तर अजरता और अमरता प्रदान करनेवाले उस अमृतकलशको दोनों हाथोंमें लिये हुए श्रीविष्णु बड़े हर्षको प्राप्त हुए। उनके नेत्रोंसे आनन्दाश्रुकी कुछ बूँदें उस अमृतके ऊपर गिरीं। उनसे तत्काल ही मण्डलाकार तुलसी उत्पन्न हुईं। इस प्रकार वहाँ प्रकट हुई लक्ष्मी तथा तुलसीको ब्रह्मा आदि देवताओंने श्रीहरिकी सेवामें समर्पित किया और भगवान्ने उन्हें ग्रहण कर लिया। तबसे तुलसीजी जगदीश्वर श्रीविष्णुकी अत्यन्त प्रिय करनेवाली हो गयीं। सम्पूर्ण देवता भगवत्प्रिया तुलसीकी श्रीविष्णुके समान ही पूजा करते हैं। भगवान् नारायण संसारके रक्षक हैं और तुलसी उनकी प्रियतमा हैं; इसलिये मैंने उन्हें प्रणाम किया है।

सुमेधा इस प्रकार कह ही रहे थे कि सूर्यके समान अत्यन्त तेजस्वी एक विशाल विमान उनके निकट ही दिखायी दिया। उन दोनोंके आगे ही वह बरगदका वृक्ष गिर पड़ा और उससे दो दिव्य पुरुष निकले, जो अपने तेजसे सूर्यके समान सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित कर रहे थे। उन दोनोंने हरिमेधा और सुमेधाको प्रणाम किया। उन्हें देखकर वे दोनों ब्राह्मण भयसे विह्वल हो गये और आश्चर्यचकित होकर बोले—'आप दोनों कौन हैं? देवताओंके समान आपका सर्वमंगलमय स्वरूप है। आप नूतन मन्दारकी माला धारण किये कोई देवता प्रतीत हो रहे हैं।' उन दोनोंके इस प्रकार पूछनेपर वृक्षसे निकले हुए पुरुष बोले—'विप्रवरो! आप दोनों ही हमारे माता-पिता और गुरु हैं, बन्धु आदि भी आप ही दोनों हैं।'

इतना कहकर उनमेंसे जो ज्येष्ठ था, वह बोला—'मेरा नाम आस्तीक है, मैं देवलोकका निवासी हूँ। एक दिन मैं नन्दनवनमें एक पर्वतपर क्रीडा करनेके लिये गया। वहाँ देवांगनाओंने मेरे साथ इच्छानुसार विहार किया। उस समय युवतियोंके मोती और बेलाके हार तपस्या करते हुए लोमश मुनिके ऊपर गिर पड़े। वह सब देखकर मुनिको बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने सोचा स्त्रियाँ तो परतन्त्र होती हैं, अतः यह उनका अपराध नहीं है। यह दुराचारी आस्तीक ही शाप पाने योग्य है। ऐसा निश्चय करके उन्होंने मुझे शाप दिया—'अरे, तू ब्रह्मराक्षस होकर बरगदके वृक्षपर निवास कर।' फिर मैंने विनयपूर्वक जब उन्हें प्रसन्न किया, तब उन्होंने इस शापसे मुक्त होनेकी अवधि भी निश्चित कर दी। 'जब तू किसी ब्राह्मणके मुखसे भगवान् विष्णुका नाम और तुलसीदलकी महिमा सुनेगा, तब तत्काल तुझे उत्तम मोक्ष प्राप्त होगा।' इस प्रकार मुनिका शाप पाकर मैं चिरकालसे अत्यन्त दुःखी हो इस वटवृक्षपर निवास करता था। आज दैववश आप दोनोंके दर्शनसे मुझे निश्चय ही ब्राह्मणके शापसे छुटकारा मिल गया। अब मेरे इस दूसरे साथीकी कथा सुनिये—ये पहले एक श्रेष्ठ मुनि थे और सदा गुरुकी सेवामें ही लगे रहते थे। एक समय गुरुकी आज्ञाका उल्लंघन करके ये ब्रह्मराक्षसभावको प्राप्त हो गये, किंतु आपके प्रसादसे इस समय इनकी भी ब्राह्मणके शापसे मुक्ति हो गयी। आप दोनोंने तीर्थयात्राका फल तो यहीं साध लिया।

ऐसा कहकर वे दोनों उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको बार-बार प्रणाम करके उनकी आज्ञा ले प्रसन्नतापूर्वक दिव्य धामको गये। तत्पश्चात् वे दोनों श्रेष्ठ मुनि परस्पर पुण्यमयी तुलसीकी प्रशंसा करते हुए तीर्थयात्राके लिये चल दिये। इसलिये भगवान् विष्णुको प्रसन्नता देनेवाले इस कार्तिकमासमें तुलसीकी पूजा अवश्य करनी चाहिये।

वटवृक्षसे देवताओंका निकलना

# त्रयोदशीसे लेकर दीपावलीतकके उत्सवकृत्यका वर्णन

**ब्रह्माजी कहते हैं**—कार्तिक कृष्णा त्रयोदशीको प्रातःकाल दन्तधावन करके स्नान करे और त्रिरात्रि-व्रतका नियम लेकर भगवान् गोविन्दके भजनमें तत्पर रहे तथा इस व्रतके अन्तमें गोवर्द्धनोत्सव मनावे। त्रयोदशी तीन मुहूर्तसे अधिक हो तो वह इस व्रतमें ग्राह्य है; पर तिथिसे वेध होना दोषकी बात नहीं है। कार्तिकके कृष्ण पक्षमें त्रयोदशीके प्रदोषकालमें यमराजके लिये दीप और नैवेद्य समर्पित करे तो अपमृत्यु (अकालमृत्यु या दुर्मरण)-का नाश होता है।

**एक दिन यमदूतोंने यमराजसे कहा**—प्रभो! ऐसे महोत्सवके अवसरपर जिस प्रकार जीव अपने जीवनसे वियुक्त न हो, वह उपाय हमारे आगे वर्णन कीजिये।

**यमराजने कहा**—कार्तिक कृष्णा त्रयोदशीको प्रतिवर्ष प्रदोषकालमें जो अपने घरके दरवाजेपर निम्नांकित मन्त्रसे उत्तम दीप देता है, वह अपमृत्युको प्राप्त होनेपर भी यहाँ ले आने योग्य नहीं है। वह मन्त्र इस प्रकार है—

**मृत्युना पाशदण्डाभ्यां कालेन च मया सह।**
**त्रयोदश्यां दीपदानात् सूर्यजः प्रीयतामिति॥**

'त्रयोदशीको दीपदान करनेसे मृत्यु, पाश, दण्ड, काल और लक्ष्मीके साथ सूर्यनन्दन यम प्रसन्न हों।'

इस मन्त्रसे जो अपने द्वारपर उत्सवमें दीपदान करता है, उसे अपमृत्युका भय नहीं होता। दीपावलीके पहलेकी चतुर्दशीको तेलमात्रमें लक्ष्मी और जलमात्रमें गंगा निवास करती हैं। जो उस दिन प्रातःकाल स्नान करता है, वह यमलोक नहीं देखता। नरकभयका नाश करनेके लिये स्नानके बीचमें अपामार्ग (चिच्चिड़ा)-को मस्तकपर घुमावे। तीन बार मन्त्र पढ़कर तीन ही बार घुमाना चाहिये। मन्त्र इस प्रकार है—

**सीतालोष्ठसमायुक्त सकण्टकदलान्वित।**
**हर पापमपामार्ग भ्राम्यमाणः पुनः पुनः॥**

'जोते हुए खेतके ढेलेसे युक्त और कण्टकविशिष्ट पत्तोंसे सुशोभित अपामार्ग! तुम बार-बार घुमाये जानेपर मेरे पापोंको हर लो।'

ऐसा कहकर अपने सिरपर अपामार्ग घुमावे। स्नान करके भीगे वस्त्रसे मृत्युके पुत्ररूप दो कुत्तोंको दीपदान दे। उस समय यह मन्त्र पढ़े—

**शुनकौ श्यामशवलौ भ्रातरौ यमसेवकौ।**
**तुष्टौ स्यातां चतुर्दश्यां दीपदानेन मृत्युजौ॥**

'काले और चितकबरे रंगके दो श्वान जो मृत्युके पुत्र, यमराजके सेवक तथा परस्पर भाई हैं, चतुर्दशीको दीपदान करनेसे मुझपर प्रसन्न हों।'

फिर स्नानांगतर्पण करनेके पश्चात् चौदह यमोंका तर्पण करे, जिनके नाम-मन्त्र इस प्रकार हैं—

**यमाय धर्मराजाय मृत्यवे चान्तकाय च।**
**वैवस्वताय कालाय सर्वभूतक्षयाय च॥**
**औदुम्बराय दध्नाय नीलाय परमेष्ठिने।**
**वृकोदराय चित्राय चित्रगुप्ताय ते नमः॥**

ये चौदह नाम-मन्त्र हैं। इनमेंसे प्रत्येकके अन्तमें **नमः** पद जोड़कर बोले और एक-एक मन्त्रको तीन-तीन बार कहकर तिलमिश्रित जलकी तीन-तीन अंजलियाँ दे। यमराजका तर्पण यज्ञोपवीती होकर अर्थात् यज्ञोपवीतको बायें कन्धेपर रखकर अथवा प्राचीनावीती होकर (जनेऊको दाहिने कन्धेपर करके) भी किया जा सकता है। क्योंकि यमराज देवता और पितर दोनों ही पदोंपर स्थित हैं। अतः उनमें उभयरूपता है। जिसके पिता जीवित हों, वह भी यम और भीष्मके लिये तर्पण कर सकता है। कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीको यदि अमावास्या भी हो और उसमें स्वाती नक्षत्रका योग हो तो उसी दिन दीपावली होती है। उस

दिनसे आरम्भ करके तीन दिनोंतक दीपोत्सव करना चाहिये। क्योंकि एक समय राजा बलिने भगवान्‌से यह वर माँगा था कि 'मैंने छद्मसे वामनरूप धारण करनेवाले आपको भूमिदान दी है और आपने उसे तीन दिनोंमें तीन पगोंद्वारा नाप लिया है, अतः आजसे लेकर तीन दिनोंतक प्रतिवर्ष पृथ्वीपर मेरा राज्य रहे। उस समय जो मनुष्य पृथ्वीपर दीपदान करें, उनके घरमें आपकी पत्नी लक्ष्मी स्थिरभावसे निवास करें।'

दैत्यराज बलिको भगवान् विष्णुने चतुर्दशीसे लेकर तीन दिनोंतकका राज्य दिया है। इसलिये इन तीन दिनोंमें यहाँ सर्वथा महोत्सव करना चाहिये। चतुर्दशीकी रात्रिमें देवी महारात्रिका प्रादुर्भाव हुआ है, अतः शक्तिपूजापरायण पुरुषोंको चतुर्दशीका उत्सव अवश्य करना चाहिये। भगवान् सूर्यके तुलाराशिमें स्थित होनेपर चतुर्दशी और अमावास्याकी सन्ध्याके समय मनुष्य हाथमें उल्का लेकर पितरोंको मार्ग-प्रदर्शन करावें। कार्तिकमासमें चतुर्दशी आदि तीन तिथियाँ दीपदान आदिके कार्योंमें ग्रहण करने योग्य हैं। यदि ये तीन तिथियाँ संगवकालसे पहले ही समाप्त हो जाती हों तो दीपदान आदिके कार्योंमें इन्हें पूर्वतिथिसे युक्त ही ग्रहण करना चाहिये*।

तदनन्तर अमावास्याके प्रातःकाल स्नान करके भक्तिपूर्वक देवताओं और पितरोंकी पूजा और उन्हें प्रणाम करे। फिर दही, दूध तथा घी आदिसे पार्वण श्राद्ध करे। इस दिन बालकों और रोगियोंके सिवा और किसीको दिनमें भोजन नहीं करना चाहिये। प्रदोषके समय कल्याणमयी लक्ष्मीदेवीका पूजन करे। उस दिन लक्ष्मीजीका सुख बढ़ानेके लिये जो उनके लिये कमलके फूलोंकी शय्या बनाता है, उसके घरको छोड़कर भगवती लक्ष्मी कहीं नहीं जातीं। जावित्री, लवंग, इलायची और कपूरके साथ गायके दूधको अच्छी तरह पकाकर उसमें आवश्यकताके अनुसार शक्कर देकर लड्डू बना ले तथा उन्हें महालक्ष्मीजीको अर्पण करे। पूजाके पश्चात् लक्ष्मीजीकी स्तुति इस प्रकार करनी चाहिये—'दीपककी ज्योतिमें विराजमान महालक्ष्मी! तुम ज्योतिर्मयी हो। सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, सुवर्ण और तारा आदि सभी ज्योतियोंकी ज्योति हो; तुम्हें नमस्कार है। कार्तिककी दीपावलीके पवित्र दिनको इस भूतलपर और गौओंके गोष्ठमें जो लक्ष्मी शोभा पाती हैं, वे सदा मेरे लिये वरदायिनी हों।'

इस प्रकार स्तुति करनेके पश्चात् प्रदोषकालमें दीपदान करे। अपनी शक्तिके अनुसार देवमन्दिर आदिमें दीपकोंका वृक्ष बनावे। चौराहेपर, श्मशान-भूमिमें, नदीके किनारे, पर्वतपर, घरोंमें, वृक्षोंकी जड़ोंमें, गोशालाओंमें, चबूतरोंपर तथा प्रत्येक गृहमें दीपक जलाकर रखना चाहिये। पहले ब्राह्मणों और भूखे मनुष्योंको भोजन कराकर पीछे स्वयं नूतन वस्त्र और आभूषणसे विभूषित होकर भोजन करना चाहिये। जीवहिंसा, मदिरापान, अगम्यागमन, चोरी और विश्वासघात—ये पाँच नरकके द्वार कहे गये हैं। इनका सदैव त्याग करना चाहिये। तदनन्तर आधी रातके समय नगरकी शोभा देखनेके लिये धीरे-धीरे पैदल चले और उस समयका आनन्दोत्सव देखकर अपने घर लौट आवे।

~~o~~

* यदि त्रयोदशी तीन मुहूर्तसे कम हो तो द्वादशी ले लेनी चाहिये।

# कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा और यमद्वितीयाके कृत्य तथा बहिनके घरमें भोजनका महत्त्व

**ब्रह्माजी कहते हैं**—तत्पश्चात् प्रतिपद्को आरती करके स्वयं सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित हो कथा, गायन, कीर्तन और दान आदिके द्वारा दिनको व्यतीत करे। इस दिन स्त्री और पुरुष सभीको तिलका तेल लगाकर स्नान करना चाहिये। इस प्रतिपदाको जो लोग तैल, स्नान आदि पूर्वक पूजन करेंगे, उनका वह सब कुछ अक्षय होगा। संसारमें प्रतिपद्-तिथि प्रसिद्ध है, उसे पूर्वविद्धा होनेपर नहीं ग्रहण करना चाहिये। अमावास्याविद्ध प्रतिपदामें तैलाभ्यंग नहीं करना चाहिये, अन्यथा मनुष्य मृत्युको प्राप्त होता है। यदि दूसरे दिन एक घड़ी भी अविद्धा (अमावास्याके वेधसे रहित) प्रतिपदा हो तो उत्सव आदि कार्योंमें मनीषी पुरुषोंको उसे ही ग्रहण करना चाहिये। दूसरे दिन यदि थोड़ी भी प्रतिपदा न हो तो पूर्वविद्धा तिथि ही ग्रहण करनी चाहिये, उस दशामें वह दोषकारक नहीं होती है। जो मनुष्य उस तिथिमें या उस शुभ दिनमें जिस रूपसे स्थित होता है, उसी स्थितिमें वह एक वर्षतक रहता है। इसलिये यदि सुन्दर, दिव्य एवं उत्तम भोगोंको भोगनेकी इच्छा हो तो उस दिन मंगलमय उत्सव अवश्य करे। प्रातःकाल गोवर्द्धनकी पूजा करे। उस समय गौओंको विभूषित करना चाहिये और उनसे बोझ ढोने या दूहनेका काम नहीं लेना चाहिये। गोवर्द्धनपूजनके समय इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये—

**गोवर्द्धनधराधार गोकुलत्राणकारक।**
**विष्णुबाहुकृतोच्छ्राय गवां कोटिप्रदो भव॥**
**या लक्ष्मीर्लोकपालानां धेनुरूपेण संस्थिता।**
**घृतं वहति यज्ञार्थे मम पापं व्यपोहतु॥**
**अग्रतः सन्तु मे गावो गावो मे सन्तु पृष्ठतः।**
**गावो मे हृदये सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम्॥**

'पृथ्वीको धारण करनेवाले गोवर्द्धन! आप गोकुलकी रक्षा करनेवाले हैं। भगवान् विष्णुने अपनी भुजाओंसे आपको ऊँचे उठाया था। आप मुझे कोटि गोदान देनेवाले हों। लोकपालोंकी जो लक्ष्मी यहाँ धेनुरूपसे विराज रही है और यज्ञके लिये घृतका भार वहन करती है, वह मेरे पापोंको दूर करे। गायें मेरे आगे हों, गायें मेरे पीछे हों, गायें मेरे हृदयमें हों और मैं सदा गौओंके मध्यमें निवास करूँ।'

इस प्रकार गोवर्द्धन-पूजा करके उत्तमभावसे देवताओं, सत्पुरुषों तथा साधारण मनुष्योंको सन्तुष्ट करे। अन्य लोगोंको अन्न-पान देकर और विद्वानोंको संकल्पपूर्वक वस्त्र, ताम्बूल आदिके द्वारा प्रसन्न करे। कार्तिक शुक्लपक्षकी यह प्रतिपदा तिथि वैष्णवी कही गयी है। जो लोग सब प्रकारसे सब मनुष्योंको आनन्द देनेवाले दीपोत्सव तथा शुभके हेतुभूत बलिराजका पूजन करते हैं, वे दान, उपभोग, सुख और बुद्धिसे सम्पन्न कुलोंका हर्ष प्राप्त करते हैं और उनका सम्पूर्ण वर्ष आनन्दसे व्यतीत होता है। प्रतिपदा और अमावास्याके योगमें गौओंकी क्रीड़ा उत्तम मानी गयी है। उस दिन गौओंको भोजन आदिसे भलीभाँति पूजित करके अलंकारोंसे विभूषित करे और गाने-बजाने आदिके साथ सबको नगरसे बाहर ले जाय। वहाँ ले जाकर सबकी आरती उतारे। ऐसा करनेसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

अब तुम मृत्युनाशक यमद्वितीया व्रतका वर्णन सुनो। द्वितीया तिथिको ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर मन-ही-मन अपने हितकी बातोंका चिन्तन करे। तदनन्तर शौच आदिसे निवृत्त हो दन्तधावनपूर्वक प्रातःकाल स्नान करे। फिर श्वेत वस्त्र, श्वेत

पुष्पोंकी माला और श्वेत चन्दन धारण करे। नित्यकर्म पूरा करके प्रसन्नतापूर्वक औदुम्बर (गूलर)-के वृक्षके नीचे जाय। वहाँ उत्तम मण्डल बनाकर उसमें अष्टदल कमल बनावे। तत्पश्चात् उस औदुम्बर-मण्डलमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा वीणापुस्तकधारिणी वरदायिनी सरस्वतीदेवीका स्वस्थचित्तसे आवाहन एवं पूजन करे। चन्दन, अगरु, कस्तूरी, कुंकुम, पुष्प, धूप, नैवेद्य एवं नारियल आदिके द्वारा पूजन करके अपमृत्युनिवारणके लिये वेदवेत्ता ब्राह्मणको अलंकारसहित दूध देनेवाली सवत्सा गाय दान करे। उस समय ब्राह्मणसे इस प्रकार कहे—'हे विप्र! मैं अपमृत्युका निवारण करनेके लिये संसारसमुद्रसे तारनेवाली यह सीधी-सादी गाय आपको दे रहा हूँ।' यदि गाय न मिल सके तो ब्राह्मणको भक्तिपूर्वक एक जोड़ा जूता ही अर्पण करे। तदनन्तर पूजा समाप्त करके भगवान् विष्णुमें भक्ति रखते हुए अपने कुटुम्बके श्रेष्ठ वयोवृद्ध पुरुषोंको श्रद्धाभक्तिके साथ प्रणाम करे। फिर अनेक प्रकारके सुन्दर फलोंद्वारा अपने स्वजनोंको तृप्त करे। उसके बाद अपनी सहोदरा बड़ी भगिनीके घर जाय और उसे भी भक्तिपूर्वक प्रणाम करते हुए कहे—'सौभाग्यवती बहिन! तुम कल्याणमयी हो। मैं अपने कल्याणके लिये तुम्हारे चरणारविन्दोंमें प्रणाम करनेके उद्देश्यसे तुम्हारे घर आया हूँ।' ऐसा कहकर बहिनको भगवद्बुद्धिसे प्रणाम करे। तब बहिन भाईसे यह उत्तम वचन कहे—'भैया! आज मैं तुम्हें पाकर धन्य हो गयी। आज सचमुच मैं मंगलमयी हूँ। कुलदीपक! आज अपनी आयुवृद्धिके लिये तुम्हें मेरे घरमें भोजन करना चाहिये। मेरे सहोदर भैया! पूर्वकालमें इसी कार्तिक शुक्ला द्वितीयाको यमुनाजीने अपने भाई यमराजको अपने ही घरपर भोजन कराया और उनका सत्कार किया था। उस दिन कर्मपाशमें बँधे हुए नारकीय पापियोंको भी यमराज छोड़ देते हैं, जिससे वे अपनी इच्छाके अनुसार घूमते हैं। इस तिथिमें विद्वान् पुरुष भी प्रायः अपने घर भोजन नहीं करते।' बहिनके ऐसा कहनेपर व्रतवान् पुरुष वस्त्र और आभूषणोंसे हर्षपूर्वक उसका पूजन करे। बड़ी बहिनको प्रणाम करके उसका आशीर्वाद ले। तत्पश्चात् सभी बहिनोंको वस्त्र और आभूषण देकर सन्तुष्ट करे। अपनी सगी बहिन न होनेपर चाचाकी पुत्री अथवा पिताकी बहिनके घर जाकर आदरपूर्वक भोजन करे।

नारद! जो इस प्रकार यमद्वितीयाका व्रत करता है, वह अपमृत्युसे मुक्त हो पुत्र-पौत्र आदिसे सम्पन्न होता है और अन्तमें मोक्ष पाता है। ये सभी व्रत और नाना प्रकारके दान गृहस्थके लिये ही योग्य हैं। व्रतमें लगा हुआ जो पुरुष यमद्वितीयाकी इस कथाको सुनता है, उसके सब पापोंका नाश हो जाता है, ऐसा माधवका कथन है। कार्तिक शुक्लकी द्वितीयाको यमुनाजीमें स्नान करनेवाला पुरुष यमलोकका दर्शन नहीं करता। जिन्होंने यमद्वितीयाके दिन अपनी सौभाग्यवती बहिनोंको वस्त्रदान आदिसे सन्तुष्ट किया है, उन्हें एक वर्षतक कलह अथवा शत्रुभयका सामना नहीं करना पड़ता। उस तिथिको यमुनाजीने बहिनके स्नेहसे यमराजदेवको भोजन कराया था। इसलिये उस दिन जो बहिनके हाथसे भोजन करता है, वह धन एवं उत्तम सम्पदाको प्राप्त होता है। राजाओंने जिन कैदियोंको कारागृहमें डाल रखा हो, उन्हें यमद्वितीयाके दिन बहिनके घर भोजन करनेके लिये अवश्य भेजना चाहिये। वह भी न हो तो मौसी अथवा मामाकी पुत्रीको बहिन माने अथवा गोत्र या कुटुम्बके सम्बन्धसे किसीके साथ बहिनका नाता जोड़ ले। सबके अभावमें किसी भी समान वर्णकी स्त्रीको बहिन मान ले और उसीका आदर करे। वह भी न मिल सके तो किसी गाय या नदी आदिको ही बहिन बना ले। उसके भी अभावमें किसी जंगल,

झाड़ीको ही बहिन मानकर वहाँ भोजन करे। यमद्वितीयाको कभी भी अपने घर भोजन न करे। भाईके भोजनमें वही द्वितीया ग्राह्य है, जो दोपहरके बादतक मौजूद रहे।

## आँवलेके वृक्षकी उत्पत्ति और उसका माहात्म्य

**सूतजी कहते हैं**—कार्तिकके शुक्ल पक्षकी चतुर्दशीको आँवलेका पूजन करे। आँवलेका महान् वृक्ष सब पापोंका नाश करनेवाला है। उक्त चतुर्दशीका नाम वैकुण्ठचतुर्दशी है। उस दिन आँवलेकी छायामें जाकर मनुष्य राधासहित देवेश्वर श्रीहरिका पूजन करे। तदनन्तर आँवलेकी एक सौ आठ प्रदक्षिणा करे। फिर साष्टांग प्रणाम करके परमेश्वर श्यामसुन्दर श्रीकृष्णकी प्रार्थना करे। आँवलेकी छायामें बैठकर इस कथाको सुने, फिर ब्राह्मणोंको भोजन करावे और यथाशक्ति दक्षिणा दे। ब्राह्मणोंके सन्तुष्ट होनेपर मोक्षदायक श्रीहरि भी प्रसन्न होते हैं।

पूर्वकालमें जब सारा जगत् एकार्णवके जलमें निमग्न हो गया था, समस्त चराचर प्राणी नष्ट हो गये थे, उस समय देवाधिदेव सनातन परमात्मा ब्रह्माजी अविनाशी परब्रह्मका जप करने लगे थे। ब्रह्मका जप करते-करते उनके आगे श्वास निकला। साथ ही भगवद्दर्शनके अनुरागवश उनके नेत्रोंसे जल निकल आया। प्रेमके आँसुओंसे परिपूर्ण वह जलकी बूँद पृथ्वीपर गिर पड़ी। उसीसे आँवलेका महान् वृक्ष उत्पन्न हुआ, जिसमें बहुत-सी शाखाएँ और उपशाखाएँ निकली थीं। वह फलोंके भारसे लदा हुआ था। सब वृक्षोंमें सबसे पहले आँवला ही प्रकट हुआ, इसलिये उसे 'आदिरोह' कहा गया। ब्रह्माने पहले आँवलेको उत्पन्न किया। उसके बाद समस्त प्रजाकी सृष्टि की। जब देवता आदिकी भी सृष्टि हो गयी, तब वे उस स्थानपर आये जहाँ भगवान् विष्णुको प्रिय लगनेवाला आँवलेका वृक्ष था। उसे देखकर देवताओंको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसी समय आकाशवाणी हुई—'यह आँवलेका वृक्ष सब वृक्षोंसे श्रेष्ठ है; क्योंकि यह भगवान् विष्णुको प्रिय है। इसके स्मरणमात्रसे मनुष्य गोदानका फल प्राप्त करता है। इसके दर्शनसे दुगुना और फल खानेसे तिगुना पुण्य होता है। इसलिये सर्वथा प्रयत्न करके आँवलेके वृक्षका सेवन करना चाहिये। क्योंकि वह भगवान् विष्णुको परम प्रिय एवं सब पापोंका नाश करनेवाला है, अतः समस्त कामनाओंकी सिद्धिके लिये आँवलेके वृक्षका पूजन करना उचित है।'

जो मनुष्य कार्तिकमें आँवलेके वनमें भगवान् श्रीहरिकी पूजा तथा आँवलेकी छायामें भोजन करता है, उसका पाप नष्ट हो जाता है। आँवलेकी छायामें वह जो भी पुण्य करता है, वह कोटिगुना हो जाता है। प्राचीन कालकी बात है, कावेरीके उत्तर तटपर देवशर्मा नामसे विख्यात एक श्रेष्ठ ब्राह्मण थे, जो वेद-वेदांगोंके पारंगत विद्वान् थे। उनके एक पुत्र हुआ जो बड़ा दुराचारी निकला। पिताने उसे हितकी बात बताते हुए कहा—'बेटा! इस समय कार्तिकका महीना है जो भगवान् विष्णुको बहुत ही प्रिय है। तुम इसमें स्नान, दान, व्रत और नियमोंका पालन करो; तुलसीके फूलसहित भगवान् विष्णुकी पूजा करो। भगवान्के लिये दीप-दान, नमस्कार तथा प्रदक्षिणा करो।' पिताकी यह बात सुनकर वह दुष्टात्मा पुत्र क्रोधसे जल उठा, उसके ओष्ठ फड़कने लगे और उसने पिताकी निन्दा करते हुए कहा—'तात! मैं कार्तिकमें पुण्य-संग्रह नहीं करूँगा।' पुत्रका यह उद्दण्डतापूर्ण वचन सुनकर देवशर्माने क्रोधपूर्वक कहा—'ओ दुर्बुद्धि! तू वृक्षके खोखलेमें चूहा हो जा।' इस शापके भयसे डरे हुए पुत्रने पिताको नमस्कार करके पूछा—'पूज्यवर! उस घृणित योनिसे मेरी मुक्ति कैसे

होगी, यह बताइये।' इस प्रकार पुत्रके द्वारा प्रसन्न किये जानेपर ब्राह्मणने शापनिवृत्तिका कारण बताया—'जब तुम भगवान्‌को प्रिय लगनेवाले कार्तिकव्रतका पवित्र माहात्म्य सुनोगे, उस समय उस कथाके श्रवणमात्रसे तुम्हारी मुक्ति हो जायगी।' पिताके ऐसा कहनेपर वह उसी क्षण चूहा हो गया और कई वर्षोंतक सघन वनमें निवास करता रहा। एक दिन कार्तिकमासमें विश्वामित्रजी अपने शिष्योंके साथ उधर आ निकले तथा नदीमें स्नान करके भगवान्‌की पूजा करनेके पश्चात् आँवलेकी छायामें बैठे। वहाँ बैठकर वे अपने शिष्योंको कार्तिकमासका माहात्म्य सुनाने लगे। उसी समय कोई दुराचारी व्याध शिकार खेलता हुआ वहाँ आया। वह प्राणियोंकी हत्या करनेवाला तो था ही, ऋषियोंको देखकर उन्हें भी मार डालनेकी इच्छा करने लगा। परंतु उन महात्माओंके दर्शनसे उसके भीतर सुबुद्धि जाग उठी। उसने ब्राह्मणोंको नमस्कार करके कहा—'आपलोग यहाँ क्या करते हैं?' उसके ऐसा पूछनेपर विश्वामित्र बोले—'कार्तिकमास सब महीनोंमें श्रेष्ठ बताया जाता है। उसमें जो कर्म किया जाता है, वह बरगदके बीजकी भाँति बढ़ता है। जो कार्तिकमासमें स्नान, दान और पूजन करके ब्राह्मण-भोजन कराता है, उसका वह पुण्य अक्षय फल देनेवाला होता है।'

व्याधकी प्रेरणासे विश्वामित्रजीके कहे हुए इस धर्मको सुनकर वह शापभ्रष्ट ब्राह्मणकुमार चूहेका शरीर छोड़कर तत्काल दिव्य देहसे युक्त हो गया और विश्वामित्रको प्रणाम करके अपना वृत्तान्त निवेदन कर ऋषिकी आज्ञा ले विमानपर बैठकर स्वर्गको चला गया। इससे विश्वामित्र और व्याध दोनोंको बड़ा विस्मय हुआ। व्याध भी कार्तिक-व्रतका पालन करके भगवान् विष्णुके धाममें गया। इसलिये कार्तिकमें सब प्रकारसे प्रयत्न करके आँवलेकी छायामें बैठकर भगवान् श्रीकृष्णके सम्मुख कथा-श्रवण करे। जो ब्राह्मण कार्तिकमासमें आँवले और तुलसीकी माला धारण करता है, उसे अनन्त पुण्यकी प्राप्ति होती है। जो मनुष्य आँवलेकी छायामें बैठकर दीपमाला समर्पित करता है, उसको अनन्त पुण्य प्राप्त होता है। विशेषतः तुलसी-वृक्षके नीचे श्रीराधा और श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा करनी चाहिये। तुलसीके अभावमें यह शुभ पूजा आँवलेके नीचे करनी चाहिये। जो आँवलेकी छायाके नीचे कार्तिकमें ब्राह्मण-दम्पतिको एक बार भी भोजन देकर स्वयं भी भोजन करता है,वह अन्न-दोषसे मुक्त हो जाता है। लक्ष्मी-प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य सदा आँवलोंसे स्नान करे। विशेषतः एकादशी तिथिको आँवलेसे स्नान करनेपर भगवान् विष्णु सन्तुष्ट होते हैं। नवमी, अमावास्या, सप्तमी, संक्रान्ति-दिन, रविवार, चन्द्रग्रहण तथा सूर्यग्रहणके दिन आँवलेसे स्नान नहीं करना चाहिये*। जो मनुष्य आँवलेकी छायामें बैठकर पिण्डदान करता है, उसके पितर भगवान् विष्णुके प्रसादसे मोक्षको प्राप्त होते हैं। तीर्थ या घरमें जहाँ-जहाँ मनुष्य आँवलेसे स्नान करता है, वहाँ-वहाँ भगवान् विष्णु स्थित होते हैं। जिसके शरीरकी हड्डियाँ आँवलेके स्नानसे धोयी जाती हैं, वह फिर गर्भमें वास नहीं करता। जिनके सिरके बाल आँवलामिश्रित जलसे रंगे जाते हैं, वे मनुष्य कलियुगके दोषोंका नाश करके भगवान् विष्णुको प्राप्त होते हैं। जिस घरमें सदा आँवला रखा रहता है, वहाँ भूत, प्रेत, कूष्माण्ड और राक्षस नहीं जाते। जो कार्तिकमें आँवलेकी छायामें बैठकर भोजन करता है, उसके एक वर्षतक अन्न-संसर्गसे उत्पन्न हुए पापका नाश हो जाता है।

~~o~~

* नवम्यां दर्शे सप्तम्यां संक्रान्तौ रविवासरे। चन्द्रसूर्योपरागे च स्नानमामलकैस्त्यजेत्॥ (स्क० पु०, वै० का० मा० १२। ७५)

# गुणवतीका कार्तिकव्रतके पुण्यसे सत्यभामाके रूपमें अवतार तथा भगवान्‌के द्वारा शंखासुरका वध और वेदोंका उद्धार

**सूतजी कहते हैं**—एक समय हर्षोल्लाससे प्रसन्नमुखवाली देवी सत्यभामाने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'भगवन्! मैं धन्य हूँ, कृतकृत्य हूँ और मेरा जीवन सफल है। प्रभो! मैंने पूर्वजन्ममें कौन-सा दान, व्रत अथवा तप किया है, जिससे मर्त्यलोकमें जन्म लेकर भी मैं आपकी अर्द्धांगिनी हुई हूँ? जन्मान्तरमें मेरा कैसा स्वभाव था, मैं कौन थी और किसकी पुत्री थी, जो इस जन्ममें आपकी प्रियतमा पत्नी हुई? यह सब बातें मुझे बताइये।'

**भगवान् श्रीकृष्ण बोले**—प्रिये! सत्ययुगके अन्तमें हरद्वारमें एक श्रेष्ठ ब्राह्मण रहते थे, जिनका नाम देवशर्मा था। वे अत्रिकुलमें उत्पन्न हुए थे और वेद-वेदांगोंके पारंगत विद्वान् थे। उनकी अवस्था बहुत अधिक हो चली थी, किंतु उनके कोई पुत्र नहीं हुआ। केवल एक कन्या थी, जिसका नाम गुणवती था। देवशर्माने चन्द्र नामक अपने शिष्यको ही अपनी पुत्री ब्याह दी और उसीको पुत्रकी भाँति माना। चन्द्र जितेन्द्रिय तथा आज्ञाकारी था; वह देवशर्माको पिताके ही समान मानकर उनकी सेवा करता था। एक दिन वे दोनों कुश लानेके लिये वनमें गये; वहाँ यमराजके समान आकारवाले किसी विकराल राक्षसने उन दोनोंको मार डाला। वे दोनों अपने-अपने पुण्यके प्रभावसे भगवान् विष्णुके लोकमें गये। उनके मारे जानेका समाचार सुनकर गुणवती पिता और पतिके वियोगदुःखसे पीड़ित होकर करुणस्वरमें विलाप करने लगी। उसने घरका सारा सामान बेचकर अपनी शक्तिके अनुसार उन दोनोंका पारलौकिक कर्म सम्पन्न किया। उसके बाद वह उसी नगरमें निवास करने लगी। जीवित रहनेपर भी गुणवती संसारके लिये मर चुकी थी। उसने होश सँभालनेके बादसे मृत्युपर्यन्त दो व्रतोंका विधिपूर्वक पालन किया—एक तो एकादशीका उपवास और दूसरा कार्तिकमासका भलीभाँति सेवन। इस प्रकार गुणवती प्रतिवर्ष कार्तिकका व्रत किया करती थी। एक समय, जब कि वह रुग्णा थी, उसके सारे अंग दुर्बल हो गये थे और ज्वरसे वह बहुत पीड़ित थी, किसी तरह धीरे-धीरे चलकर गंगाजीमें स्नान करनेके लिये गयी। ज्यों-ही जलके भीतर घुसी, शीतसे पीड़ित हो काँपती हुई गिर पड़ी। उस व्याकुलताकी दशामें ही उसने देखा, आकाशसे विमान उतर रहा है। मृत्युके पश्चात् वह दिव्य रूपसे उस विमानपर बैठकर वैकुण्ठलोकको चली गयी। कार्तिकव्रतके पुण्यसे वह मेरे समीप रहने लगी। तदनन्तर ब्रह्मा आदि देवताओंकी प्रार्थनासे जब मैं इस पृथ्वीपर आया, तब मेरे साथ मेरे समस्त पार्षद भी यहाँ आये। भामिनि! ये सब यदुवंशी मेरे पार्षदगण ही हैं। पूर्वजन्मके देवशर्मा ही तुम्हारे पिता सत्राजित हुए और वे चन्द्र नामक

ब्राह्मण ही इस समय अक्रूर हुए हैं तथा तुम वही कल्याणमयी गुणवती हो। कार्तिकव्रतके पुण्यसे तुम मेरे लिये अधिक प्रसन्नता देनेवाली बन गयी। पूर्वजन्ममें तुमने जो मेरे मन्दिरके द्वारपर तुलसीकी वाटिका लगा रखी थी, उसीका फल है कि इस समय तुम्हारे आँगनमें यह कल्पवृक्ष शोभा पा रहा है। तुमने जो मृत्युपर्यन्त कार्तिकव्रतका अनुष्ठान किया है, उसके प्रभावसे तुम्हारा मुझसे कभी भी वियोग नहीं होगा।

प्रिये! पूर्वकालमें राजा पृथु और महर्षि नारदका इस विषयमें जो संवाद हुआ है, उसको सुनो। पृथुके पूछनेपर नारदजीने इस प्रकार कहना आरम्भ किया। प्राचीन कालमें शंख नामक एक असुर था, जो समुद्रसे उत्पन्न हुआ था। उसने इन्द्र आदि समस्त लोकपालोंके अधिकार छीन लिये। देवता मेरुगिरिकी दुर्गम कन्दराओंमें छिपकर रहने लगे। उस समय दैत्यने विचार किया—'यद्यपि मैंने देवताओंको जीत लिया है तथापि वे बलवान् दिखायी देते हैं। अब इस विषयमें मुझे क्या करना चाहिये। यह बात तो मुझे अच्छी तरह मालूम है कि देवता वेदमन्त्रोंके बलसे ही प्रबल प्रतीत होते हैं। अतः मैं वेदोंका ही अपहरण करूँगा। इससे सब देवता निर्बल हो जायँगे।' ऐसा निश्चय करके वह दैत्य ब्रह्माजीके सत्यलोकसे शीघ्र ही वेदोंको हर लाया। उसके द्वारा ले जाये जाते हुए वेद भयसे उसके चंगुलसे निकल भागे और यज्ञ, मन्त्र एवं बीजोंके साथ जलमें समा गये। शंखासुर उन्हें ढूँढ़ता हुआ समुद्रके भीतर घूमने लगा, किंतु उसने कहीं भी एक जगह वेदमन्त्रोंको नहीं देखा। इधर देवताओंने भगवान् विष्णुके पास जाकर उनकी स्तुति की। तब भगवान् जगे और इस प्रकार बोले—'देवताओ! मैं तुम्हारे गीत, वाद्य आदि मंगल साधनोंसे प्रसन्न होकर तुम्हें वर देनेके लिये उद्यत हूँ। कार्तिक शुक्ल पक्षकी एकादशीको तुमने मुझे जगाया है, इसलिये यह तिथि मेरे लिये अत्यन्त प्रीतिदायिनी और माननीय है। शंखासुरके द्वारा हरे गये सम्पूर्ण वेद जलमें स्थित हैं। मैं सागरपुत्र शंखका वध करके उन वेदोंको अभी लाये देता हूँ। इस कार्तिकमासमें जो श्रेष्ठ मनुष्य प्रातःकाल स्नान करते हैं, वे सब यज्ञके अवभृथ-स्नानद्वारा भलीभाँति नहा लेते हैं। आजसे मैं भी कार्तिकमें जलके भीतर निवास करूँगा। तुम सब देवता भी मुनीश्वरोंसहित मेरे साथ जलमें आओ।' ऐसा कहकर मछलीके समान रूप धारण करके भगवान् विष्णु आकाशसे जलमें गिरे। फिर, शंखासुरको मारकर भगवान् विष्णु बदरीवनमें आ गये और वहाँ उन्होंने सम्पूर्ण ऋषियोंको बुलाकर इस प्रकार आदेश दिया—'मुनीश्वरो! तुम जलके भीतर बिखरे हुए वेदमन्त्रोंकी खोज करो और जितनी जल्दी हो सके, उन्हें सागरके जलसे बाहर निकाल लाओ। तबतक मैं देवताओंके साथ प्रयागमें ठहरता हूँ।'

तब उन तपोबलसम्पन्न महर्षियोंने यज्ञ और बीजोंसहित सम्पूर्ण वेदमन्त्रोंका उद्धार किया। उनमेंसे जितने मन्त्र जिस ऋषिने उपलब्ध किये, वही उन मन्त्रोंका उस दिनसे ऋषि माना जाने लगा। तदनन्तर सब ऋषि एकत्र होकर प्रयागमें गये। वहाँ उन्होंने ब्रह्माजीसहित भगवान् विष्णुको उपलब्ध हुए सभी वेदमन्त्र समर्पित कर दिये। सब वेदोंको पाकर ब्रह्माजी बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने देवताओं और ऋषियोंके साथ प्रयागमें अश्वमेध यज्ञ किया। यज्ञ समाप्त होनेपर सब देवताओंने भगवान्से यह निवेदन किया—

**देवता बोले**—देवाधिदेव जगन्नाथ! इस स्थानपर ब्रह्माजीने खोये हुए वेदोंको पुनः प्राप्त किया है और हमने भी यहाँ आपके प्रसादसे यज्ञभाग पाये हैं। अतः यह स्थान पृथ्वीपर सबसे श्रेष्ठ, पुण्यकी वृद्धि करनेवाला एवं भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाला हो। साथ ही यह समय भी महापुण्यमय और ब्रह्मघाती आदि महापापियोंकी भी शुद्धि करनेवाला

हो तथा यह स्थान यहाँ दिये हुए दानको अक्षय बना देनेवाला भी हो, यह वर दीजिये।

**भगवान् विष्णुने कहा**—देवताओ! तुमने जो कुछ कहा है, वह मुझे भी स्वीकार है; तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो। आजसे यह स्थान ब्रह्मक्षेत्रके नामसे प्रसिद्ध होगा। सूर्यवंशमें उत्पन्न राजा भगीरथ यहाँ गंगाको ले आयेंगे और वह यहाँ सूर्यकन्या यमुनासे मिलेंगी। ब्रह्माजी और तुम सब देवता मेरे साथ यहाँ निवास करो। आजसे यह तीर्थ तीर्थराजके नामसे विख्यात होगा। तीर्थराजके दर्शनसे तत्काल सब पाप नष्ट हो जायँगे। सूर्य जब मकर राशिमें स्थित होंगे, उस समय यहाँ स्नान करनेवाले मनुष्योंके सब पापोंका यह तीर्थ नाश करेगा। यह काल भी मनुष्योंके लिये सदा महान् पुण्यफल देनेवाला होगा। माघमें सूर्यके मकर राशिमें स्थित होनेपर यहाँ स्नान करनेसे सालोक्य आदि फल प्राप्त होंगे।

देवाधिदेव भगवान् विष्णु देवताओंसे ऐसा कहकर ब्रह्माजीके साथ वहीं अन्तर्धान हो गये। तत्पश्चात् इन्द्रादि देवता भी अपने अंशसे प्रयागमें रहते हुए वहाँसे अन्तर्धान हो गये। जो मनुष्य कार्तिकमें तुलसीजीकी जड़के समीप श्रीहरिका पूजन करता है, वह इस लोकमें सम्पूर्ण भोगोंका उपभोग करके अन्तमें वैकुण्ठधामको जाता है।

## कार्तिकव्रतके पुण्यदानसे एक राक्षसीका उद्धार

**नारदजी कहते हैं**—कार्तिकके उद्यापनमें तुलसीके मूल प्रदेशमें भगवान् विष्णुकी पूजा की जाती है, क्योंकि वह उन्हें अधिक प्रीति प्रदान करनेवाली मानी गयी है। राजन्! जिसके घरमें तुलसीवन है, वह घर तीर्थस्वरूप है; वहाँ यमराजके दूत नहीं आते। तुलसीका वन सदा सब पापोंका नाश करनेवाला तथा अभीष्ट कामनाओंको देनेवाला है। जो श्रेष्ठ मनुष्य तुलसीका बगीचा लगाते हैं, वे यमराजको नहीं देखते। नर्मदाका दर्शन, गंगाका स्नान और तुलसीवनका संसर्ग—ये तीनों एक समान कहे गये हैं। जो तुलसीकी मंजरीसे संयुक्त होकर प्राणत्याग करता है, वह सैकड़ों पापोंसे युक्त हो, तो भी यमराज उसकी ओर नहीं देख सकते। जो मनुष्य आँवलेके फलों और तुलसीके पत्तोंसे मिश्रित जलके द्वारा स्नान करता है, उसे गंगास्नान करनेका फल प्राप्त होता है।

पूर्वकालकी बात है, सह्यपर्वतपर करवीरपुरमें धर्मदत्त नामसे विख्यात कोई धर्मज्ञ ब्राह्मण थे। एक दिन कार्तिकमासमें भगवान् विष्णुके समीप जागरण करनेके लिये वे भगवान्के मन्दिरकी ओर चले। उस समय एक पहर रात बाकी थी। भगवान्के पूजनकी सामग्री साथ लिये जाते हुए ब्राह्मणने मार्गमें देखा एक भयंकर राक्षसी आ रही है। उसे देखते ही ब्राह्मण भयसे थर्रा उठे। उनका सारा शरीर काँपने लगा। उन्होंने साहस करके पूजाकी सामग्री तथा जलसे ही उस राक्षसीके ऊपर प्रहार किया। उन्होंने हरिनामका स्मरण करके तुलसीदलमिश्रित जलसे उसको मारा था, इसलिये उसका सारा पातक नष्ट हो गया। अब उसे अपने पूर्वजन्मके कर्मोंके परिणामस्वरूप प्राप्त हुई दुर्दशाका स्मरण हो आया। उसने ब्राह्मणको दण्डवत् प्रणाम करके इस प्रकार कहा—'ब्रह्मन्! मैं पूर्वजन्मके कर्मोंके फलसे इस दशाको पहुँची हूँ। अब कैसे मुझे उत्तम गतिकी प्राप्ति होगी?'

**धर्मदत्तने पूछा**—किस कर्मके फलसे तुम इस दशाको पहुँची हो? कहाँकी रहनेवाली हो? तुम्हारा नाम क्या है और आचार-व्यवहार कैसा है? ये सारी बातें मुझे बताओ।

**कलहा बोली**—ब्रह्मन्! मेरे पूर्वजन्मकी बात है, सौराष्ट्र नगरमें भिक्षु नामके एक ब्राह्मण रहते

थे। मैं उन्हींकी पत्नी थी। मेरा नाम कलहा था और मैं बड़े क्रूरस्वभावकी स्त्री थी। मैंने वचनसे भी कभी अपने पतिका भला नहीं किया, उन्हें कभी मीठा भोजन नहीं परोसा। सदा अपने स्वामीको धोखा ही देती रही। मुझे कलह विशेष प्रिय था, इससे मेरे पतिका मन मुझसे सदा उद्विग्न रहा करता था। अन्ततोगत्वा उन्होंने दूसरी स्त्रीसे विवाह करनेका निश्चय कर लिया। तब मैंने विष खाकर अपने प्राण त्याग दिये। फिर यमराजके दूत आये और मुझे बाँधकर पीटते हुए यमलोकमें ले गये। वहाँ यमराजने मुझे देखकर चित्रगुप्तसे पूछा—'चित्रगुप्त! देखो तो सही इसने कैसा कर्म किया है? जैसा इसका कर्म हो, उसके अनुसार यह शुभ या अशुभ प्राप्त करे।'

**चित्रगुप्तने कहा**—इसका किया हुआ कोई भी शुभ कर्म नहीं है। यह स्वयं मिठाइयाँ उड़ाती थी और अपने स्वामीको उसमेंसे कुछ भी नहीं देती थी। इसने सदा अपने स्वामीसे द्वेष किया है, इसलिये यह चमगादुरी होकर रहे। तथा सदा कलहमें ही इसकी प्रवृत्ति रही है, इसलिये यह विष्ठाभोजी सूकरीकी योनिमें रहे। जिस बरतनमें भोजन बनाया जाता है, उसीमें यह सदा अकेली खाया करती थी। अतः उसके दोषसे यह अपनी ही सन्तानका भक्षण करनेवाली बिल्ली हो। इसने अपने पतिको निमित्त बनाकर आत्मघात किया है, इसलिये यह अत्यन्त निन्दनीय स्त्री प्रेतके शरीरमें भी कुछ कालतक अकेली ही रहे। इसे यमदूतोंके द्वारा निर्जल प्रदेशमें भेज देना चाहिये, वहाँ दीर्घकालतक यह प्रेतके शरीरमें निवास करे। उसके बाद यह पापिनी शेष तीन योनियोंका भी उपभोग करेगी।

**कलहा कहती है**—विप्रवर! मैं वही पापिनी कलहा हूँ। इस प्रेतशरीरमें आये मुझे पाँच सौ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। मैं सदा भूख-प्याससे पीड़ित रहा करती हूँ। एक बनियेके शरीरमें प्रवेश करके मैं इस दक्षिण देशमें कृष्णा और वेणीके संगमतक आयी हूँ। ज्यों-ही संगम-तटपर पहुँची, त्यों-ही भगवान् शिव और विष्णुके पार्षदोंने मुझे बलपूर्वक उसके शरीरसे दूर भगा दिया। तबसे मैं भूखका कष्ट सहन करती हुई इधर-उधर घूम रही हूँ। इतनेमें ही आपके ऊपर मेरी दृष्टि पड़ी है। आपके हाथसे तुलसीमिश्रित जलका संसर्ग पाकर मेरे सब पाप नष्ट हो गये। द्विजश्रेष्ठ! अब आप ही कोई उपाय कीजिये। बताइये मैं इस प्रेतशरीरसे और भविष्यमें होनेवाली भयंकर तीन योनियोंसे किस प्रकार मुक्त होऊँगी?

कलहाका यह वचन सुनकर द्विजश्रेष्ठ धर्मदत्तने बहुत समयतक सोच-विचार करनेके बाद कहा—'तीर्थमें दान और व्रत आदि सत्कर्म करनेसे मनुष्यके पाप नष्ट हो जाते हैं, परंतु तू तो प्रेतके शरीरमें है; अतः उन कर्मोंको करनेकी अधिकारिणी नहीं है। इसलिये मैंने जन्मसे लेकर अबतक जो कार्तिकका व्रत किया है, उसके पुण्यका आधा भाग मैं तुझे देता हूँ। तू उसीसे सद्गतिको प्राप्त हो जा।' यों कहकर धर्मदत्तने द्वादशाक्षर-मन्त्रका श्रवण कराते हुए तुलसीमिश्रित जलसे ज्यों-ही उसका अभिषेक किया, त्यों-ही वह प्रेतयोनिसे मुक्त हो प्रज्वलित अग्निशिखाके समान तेजस्विनी एवं दिव्य-रूपधारिणी देवी हो गयी और सौन्दर्यमें लक्ष्मीजीकी समानता करने लगी। तदनन्तर उसने भूमिपर दण्डकी भाँति गिरकर ब्राह्मणदेवताको प्रणाम किया और हर्षगद्गद वाणीमें कहा—'द्विजश्रेष्ठ! आपके प्रसादसे आज मैं इस नरकसे छुटकारा पा गयी। मैं पापके समुद्रमें डूब रही थी, आप मेरे लिये नौकाके समान हो गये।' वह इस प्रकार ब्राह्मणसे कह ही रही थी कि आकाशसे एक दिव्य विमान उतरता दिखायी दिया। वह अत्यन्त प्रकाशमान एवं विष्णुरूपधारी पार्षदोंसे युक्त था। विमानके द्वारपर खड़े हुए

पुण्यशील और सुशीलने उस देवीको उठाकर श्रेष्ठ विमानपर चढ़ा लिया। तब धर्मदत्तने बड़े विस्मयके साथ उस विमानको देखा और विष्णुरूपधारी पार्षदोंको देखकर साष्टांग प्रणाम किया। पुण्यशील और सुशीलने प्रणाम करनेवाले ब्राह्मणको उठाया और उसकी सराहना करते हुए कहा—'द्विजश्रेष्ठ! तुम्हें साधुवाद है; क्योंकि तुम सदा भगवान् विष्णुके भजनमें तत्पर रहते हो, दीनोंपर दया करते हो, सर्वज्ञ हो तथा भगवान् विष्णुके व्रतका पालन करते हो। तुमने बचपनसे लेकर अबतक जो कार्तिकव्रतका अनुष्ठान किया है, उसके आधे भागका दान करनेसे तुम्हें दूना पुण्य प्राप्त हुआ है और इसके सैकड़ों जन्मोंके पाप नष्ट हो गये हैं। अब यह वैकुण्ठधाममें ले जायी जा रही है। तुम भी इस जन्मके अन्तमें अपनी दोनों स्त्रियोंके साथ भगवान् विष्णुके वैकुण्ठधाममें जाओगे। धर्मदत्त! जिन्होंने तुम्हारे समान भक्तिपूर्वक भगवान् विष्णुकी आराधना की है, वे धन्य और कृतकृत्य हैं। इस संसारमें उन्हींका जन्म सफल है। भलीभाँति आराधना करनेपर भगवान् विष्णु देहधारी प्राणियोंको क्या नहीं देते हैं? उन्होंने ही उत्तानपादके पुत्रको पूर्वकालमें ध्रुवपदपर स्थापित किया। उनके नामोंका स्मरण करनेमात्रसे समस्त जीव सद्गतिको प्राप्त होते हैं। पूर्वकालमें ग्राहग्रस्त गजराज उन्हींके नामोंका स्मरण करनेसे मुक्त हुआ था। तुमने जन्मसे ही लेकर जो भगवान् विष्णुको सन्तुष्ट करनेवाले व्रतका अनुष्ठान किया है, उससे बढ़कर न यज्ञ है, न दान है और न तीर्थ हैं। विप्रवर! तुम धन्य हो, क्योंकि तुमने जगद्गुरु भगवान् विष्णुको प्रसन्न करनेवाला ऐसा व्रत किया है कि जिसके आधे भागके फलको पाकर यह स्त्री हमारे साथ भगवान्के लोकमें जा रही है।'

## भक्तिके प्रभावसे विष्णुदास और राजा चोलका भगवान्के पार्षद होना

**नारदजी कहते हैं**—इस प्रकार विष्णुपार्षदोंके वचन सुनकर धर्मदत्तने कहा, 'प्रायः सभी मनुष्य भक्तोंका कष्ट दूर करनेवाले श्रीविष्णुकी यज्ञ, दान, व्रत, तीर्थसेवन तथा तपस्याओंके द्वारा विधिपूर्वक आराधना करते हैं। उन समस्त साधनोंमें कौन-सा ऐसा साधन है, जो भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाला तथा उनके सामीप्यकी प्राप्ति करानेवाला है।'

**दोनों पार्षद अपने पूर्वजन्मकी कथा कहने लगे**—ब्रह्मन्! पहले कांचीपुरीमें चोल नामक एक चक्रवर्ती राजा हो गये हैं। उन्हींके नामपर उनके अधीन रहनेवाले सभी देश चोल नामसे विख्यात हुए। राजा चोल जब इस भूमण्डलका शासन करते थे, उस समय उनके राज्यमें कोई भी मनुष्य दरिद्र, दुःखी, पापमें मन लगानेवाला अथवा रोगी नहीं था। एक समयकी बात है, राजा चोल अनन्तशयन नामक तीर्थमें गये, जहाँ जगदीश्वर भगवान् विष्णुने योगनिद्राका आश्रय लेकर शयन किया था। वहाँ भगवान् विष्णुके दिव्य विग्रहकी राजाने विधिपूर्वक पूजा की। दिव्य मणि, मुक्ताफल तथा सुवर्णके बने हुए सुन्दर पुष्पोंसे पूजन करके राजाने साष्टांग प्रणाम किया। प्रणाम करके वे ज्यों ही बैठे, उसी समय उनकी दृष्टि भगवान्के पास आते हुए एक ब्राह्मणपर पड़ी, जो उन्हींकी कांचीनगरीके निवासी थे। उनका नाम विष्णुदास था। उन्होंने भगवान्की पूजाके लिये अपने हाथमें तुलसीदल और जल ले रखा था। निकट आनेपर उन ब्रह्मर्षिने विष्णुसूक्तका पाठ करते हुए देवाधिदेव भगवान्को स्नान कराया और तुलसीकी मंजरी तथा पत्तोंसे उनकी विधिवत्

पूजा की। राजा चोलने जो पहले रत्नोंसे भगवान्‌की पूजा की थी, वह सब तुलसीपूजासे ढक गयी। यह देख राजा कुपित होकर बोले—'विष्णुदास! मैंने मणियों तथा सुवर्णसे भगवान्‌की जो पूजा की थी, वह कितनी शोभा पा रही थी; तुमने तुलसीदल चढ़ाकर उसे ढक दिया। बताओ, ऐसा क्यों किया? मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि तुम दरिद्र और गँवार हो! भगवान् विष्णुकी भक्तिको बिलकुल नहीं जानते!'

राजाकी यह बात सुनकर द्विजश्रेष्ठ विष्णुदासने कहा—'राजन्! आपको भक्तिका कुछ भी पता नहीं है, केवल राजलक्ष्मीके कारण आप घमण्ड कर रहे हैं। बतलाइये तो, आजसे पहले आपने कितने वैष्णवव्रतोंका पालन किया है?' तब नृपश्रेष्ठ चोलने हँसकर कहा—'तुम तो दरिद्र और निर्धन हो, तुम्हारी भगवान् विष्णुमें भक्ति ही कितनी है? तुमने भगवान् विष्णुको सन्तुष्ट करनेवाला कोई भी यज्ञ और दान आदि नहीं किया और न पहले कभी कोई देवमन्दिर ही बनवाया है। इतनेपर भी तुम्हें अपनी भक्तिका इतना गर्व है! अच्छा, तो ये सभी ब्राह्मण मेरी बात सुन लें। भगवान् विष्णुके दर्शन पहले मैं करता हूँ, या यह ब्राह्मण। इस बातको आप सब लोग देखें। फिर हम दोनोंमेंसे किसकी भक्ति कैसी है, यह सब लोग स्वतः जान लेंगे।'

ऐसा कहकर राजा अपने राजभवनको चले गये। वहाँ उन्होंने महर्षि मुद्गलको आचार्य बनाकर वैष्णव यज्ञ प्रारम्भ किया। उधर सदैव भगवान् विष्णुको प्रसन्न करनेवाले शास्त्रोक्त नियमोंमें तत्पर विष्णुदास भी व्रतका पालन करते हुए वहीं भगवान् विष्णुके मन्दिरमें टिक गये। उन्होंने माघ और कार्तिकके उत्तम व्रतका अनुष्ठान, तुलसीवनकी रक्षा, एकादशीको द्वादशाक्षर (**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**) मन्त्रका जप, नृत्य, गीत आदि मंगलमय आयोजनोंके साथ प्रतिदिन षोडशोपचारसे भगवान् विष्णुकी पूजा आदि नियमोंका आचरण किया। वे प्रतिदिन चलते, फिरते और सोते—सब समय भगवान् विष्णुका स्मरण किया करते थे। उनकी दृष्टि सर्वत्र सम हो गयी थी। वे सब प्राणियोंके भीतर एकमात्र भगवान् विष्णुको ही स्थित देखते थे। इस प्रकार राजा चोल और विष्णुदास दोनों ही भगवान् लक्ष्मीपतिकी आराधनामें संलग्न थे, दोनों ही अपने-अपने व्रतमें स्थित रहते थे और दोनोंकी ही सम्पूर्ण इन्द्रियाँ तथा समस्त कर्म भगवान् विष्णुको समर्पित हो चुके थे। इस अवस्थामें उन दोनोंने दीर्घकाल व्यतीत किया।

एक दिनकी बात है, विष्णुदासने नित्यकर्म करनेके पश्चात् भोजन तैयार किया। किंतु कोई अलक्षित रहकर उसको चुरा ले गया। विष्णुदासने देखा भोजन नहीं है, परन्तु उन्होंने दुबारा भोजन नहीं बनाया; क्योंकि ऐसा करनेपर सायंकालकी पूजाके लिये उन्हें अवकाश नहीं मिलता। अतः प्रतिदिनके नियमका भंग हो जानेका भय था। दूसरे दिन पुनः उसी समयपर भोजन बनाकर वे ज्यों ही भगवान् विष्णुको भोग अर्पण करनेके लिये गये, त्यों ही किसीने आकर फिर सारा भोजन हड़प लिया। इस प्रकार लगातार सात दिनोंतक कोई आ-आकर उनके भोजनका अपहरण करता रहा। इससे विष्णुदासको बड़ा विस्मय हुआ। वे मन-ही-मन इस प्रकार विचार करने लगे—'अहो! कौन प्रतिदिन आकर मेरी रसोई चुरा ले जाता है। यदि दुबारा रसोई बनाकर भोजन करता हूँ तो सायंकालकी पूजा छूट जाती है! यदि रसोई बनाकर तुरंत ही भोजन कर लेना उचित हो तो भी मुझसे यह न होगा; क्योंकि भगवान् विष्णुको सब कुछ अर्पण किये बिना कोई भी वैष्णव भोजन नहीं करता। आज उपवास करते मुझे सात दिन हो गये। इस प्रकार मैं व्रतमें कबतक स्थिर रह सकता हूँ। अच्छा आज मैं रसोईकी भलीभाँति रक्षा करूँगा।'

ऐसा निश्चय करके भोजन बनानेके पश्चात् वे वहीं कहीं छिपकर खड़े हो गये। इतनेमें ही उन्हें एक चाण्डाल दिखायी दिया, जो रसोईका अन्न हरकर जानेके लिये तैयार खड़ा था। भूखके मारे उसका सारा शरीर दुर्बल हो गया था, मुखपर दीनता छा रही थी, शरीरमें हाड़ और चामके सिवा और कुछ शेष नहीं बचा था। उसे देखकर श्रेष्ठ ब्राह्मण विष्णुदासका हृदय करुणासे भर आया। उन्होंने भोजन चुरानेवाले चाण्डालकी ओर देखकर कहा—'भैया! जरा ठहरो, ठहरो। क्यों रूखा-सूखा खाते हो? यह घी तो ले लो।' यों कहते हुए विप्रवर विष्णुदासको आते देख वह चाण्डाल भयके मारे बड़े वेगसे भागा और कुछ

ही दूरपर मूर्छित होकर गिर पड़ा। चाण्डालको भयभीत और मूर्छित देखकर द्विजश्रेष्ठ विष्णुदास बड़े वेगसे उसके समीप आये तथा दयावश अपने वस्त्रके छोरसे उसको हवा करने लगे। तदनन्तर जब वह उठकर खड़ा हुआ तब विष्णुदासने देखा, वहाँ चाण्डाल नहीं है, साक्षात् भगवान् नारायण ही शंख, चक्र और गदा धारण किये सामने उपस्थित हैं। अपने प्रभुको प्रत्यक्ष देखकर विष्णुदास सात्त्विक भावोंके वशीभूत हो गये। वे स्तुति और नमस्कार करनेमें भी समर्थ न हो सके। तब भगवान् विष्णुने सात्त्विक व्रतका पालन करनेवाले अपने भक्त विष्णुदासको छातीसे लगा लिया और उन्हें अपने ही जैसा रूप देकर वे वैकुण्ठधामको ले चले। उस समय यज्ञमें दीक्षित हुए राजा चोलने देखा—विष्णुदास एक श्रेष्ठ विमानपर बैठकर भगवान् विष्णुके समीप जा रहे हैं। विष्णुदासको वैकुण्ठधाममें जाते देख राजाने शीघ्र ही अपने गुरु महर्षि मुद्गलको बुलाया और इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया—'जिसके साथ स्पर्धा करके मैंने इस यज्ञ, दान आदि कर्मका अनुष्ठान किया है वह ब्राह्मण आज भगवान् विष्णुका रूप धारण करके मुझसे पहले ही वैकुण्ठधामको जा रहा है। मैंने इस वैष्णवयागमें भलीभाँति दीक्षित होकर अग्निमें हवन किया और दान आदिके द्वारा ब्राह्मणोंका मनोरथ पूर्ण किया। तथापि अभीतक भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न नहीं हुए और इस विष्णुदासको केवल भक्तिके ही कारण श्रीहरिने प्रत्यक्ष दर्शन दिया है। अतः जान पड़ता है भगवान् विष्णु केवल दान और यज्ञोंसे प्रसन्न नहीं होते। उन प्रभुका दर्शन करानेमें भक्ति ही प्रधान कारण है।'

**दोनों पार्षद कहते हैं**—यों कहकर राजाने अपने भानजेको राजसिंहासनपर अभिषिक्त कर दिया। वे बचपनसे ही यज्ञकी दीक्षा लेकर उसीमें संलग्न रहते थे, इसलिये उन्हें कोई पुत्र नहीं हुआ था। यही कारण है कि उस देशमें अबतक भानजे ही राज्यके उत्तराधिकारी होते हैं। भानजेको राज्य देकर राजा यज्ञशालामें गये और यज्ञकुण्डके सामने खड़े होकर भगवान् विष्णुको सम्बोधित करते हुए तीन बार उच्चस्वरसे निम्नांकित वचन बोले—'भगवान् विष्णु! आप मुझे मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा होनेवाली

भक्त विष्णुदासके द्वारा चाण्डालकी सेवा

चाण्डालके स्थानपर विष्णुदासको भगवान्‌का दर्शन

अविचल भक्ति प्रदान कीजिये।' यों कहकर वे सबके देखते-देखते अग्निकुण्डमें कूद पड़े। बस, उसी क्षण भक्तवत्सल भगवान् विष्णु अग्निकुण्डमें प्रकट हो गये। उन्होंने राजाको छातीसे लगाकर एक श्रेष्ठ विमानपर बैठाया और उन्हें साथ ले वैकुण्ठधामको प्रस्थान किया।

**नारदजी कहते हैं**—राजन्! जो विष्णुदास थे, वे तो पुण्यशील नामसे प्रसिद्ध भगवान्के पार्षद हुए और जो राजा चोल थे, उनका नाम सुशील हुआ। इन दोनोंको अपने ही समान रूप देकर भगवान् लक्ष्मीपतिने अपना द्वारपाल बना लिया।

## जय-विजयका चरित्र

**धर्मदत्तने पूछा**—मैंने सुना है कि जय और विजय भी भगवान् विष्णुके द्वारपाल हैं। उन्होंने पूर्वजन्ममें कौन-सा पुण्य किया था, जिससे वे भगवान्के समान रूप धारण करके वैकुण्ठधामके द्वारपाल हुए?

**दोनों पार्षदोंने कहा**—ब्रह्मन्! पूर्वकालमें तृणविन्दुकी कन्या देवहूतिके गर्भसे महर्षि कर्दमकी दृष्टिमात्रसे दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनमेंसे बड़ेका नाम जय था और छोटेका विजय। पीछे उसी देवहूतिके गर्भसे योगधर्मके जाननेवाले भगवान् कपिल उत्पन्न हुए। जय और विजय सदा भगवान् विष्णुकी भक्तिमें तत्पर रहते थे। वे नित्य अष्टाक्षर (**ॐ नमो नारायणाय**) मन्त्रका जप और वैष्णवव्रतोंका पालन करते थे। एक समय राजा मरुत्तने उन दोनोंको अपने यज्ञमें बुलाया। वहाँ जय ब्रह्मा बनाये गये और विजय आचार्य। उन्होंने यज्ञकी सम्पूर्ण विधि पूर्ण की। यज्ञान्तमें अवभृथस्नानके पश्चात् राजा मरुत्तने उन दोनोंको बहुत धन दिया। धन लेकर दोनों भाई अपने आश्रमपर गये। वहाँ उस धनका विभाग करते समय दोनोंमें परस्पर लागडाँट पैदा हो गयी। जयने कहा—'इस धनको बराबर-बराबर बाँट लिया जाय।' विजयका कहना था—'नहीं। जिसको जो मिला है, वह उसीके पास रहे।' तब जयने क्रोधमें आकर लोभी विजयको शाप दिया—'तुम ग्रहण करके देते नहीं हो, इसलिये ग्राह हो जाओ।' जयके इस शापको सुनकर विजयने भी शाप दिया—'तुमने मदसे भ्रान्त होकर शाप दिया है, इसलिये मातंग (हाथी)-की योनिमें जाओ।' तत्पश्चात् उन्होंने भगवान्से शापनिवृत्तिके लिये प्रार्थना की। श्रीभगवान्ने कहा—'तुम मेरे भक्त हो, तुम्हारा वचन कभी असत्य नहीं होगा। तुम दोनों अपने ही दिये हुए इन शापोंको भोगकर फिर मेरे धामको प्राप्त होओगे।' ऐसा कहकर भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर वे दोनों गण्डकी नदीके तटपर ग्राह और गज हो गये। उस योनिमें भी उन्हें पूर्वजन्मका स्मरण बना रहा और वे विष्णुके व्रतमें तत्पर रहे। किसी समय वह गजराज कार्तिकमासमें स्नानके लिये गण्डकी नदीमें गया। उस समय ग्राहने शापके हेतुको स्मरण करते हुए उस गजको पकड़ लिया। ग्राहसे पकड़े जानेपर गजराजने भगवान् रमानाथका स्मरण किया। तब भगवान् विष्णु शंख, चक्र और गदा धारण किये वहाँ प्रकट हो गये। उन्होंने चक्र चलाकर ग्राह और गजराज दोनोंका उद्धार किया और उन्हें अपने ही जैसा रूप देकर वे वैकुण्ठधामको ले गये। तबसे वह स्थान हरिक्षेत्रके नामसे प्रसिद्ध है। वे ही दोनों विश्वविख्यात जय और विजय हैं, जो भगवान् विष्णुके द्वारपाल हुए हैं।

धर्मदत्त! तुम भी मात्सर्य और दम्भका त्याग करके सदा भगवान् विष्णुके व्रतमें स्थिर रहो, समदर्शी बनो, तुला (कार्तिक), मकर (माघ) और मेष (वैशाख)-के महीनोंमें सदैव प्रातःकाल

स्नान करो। एकादशीव्रतके पालनमें स्थिर रहो। तुलसीके बगीचेकी रक्षा करते रहो। ऐसा करनेसे तुम भी शरीरका अन्त होनेपर भगवान् विष्णुके परम पदको प्राप्त होओगे। भगवान् विष्णुको सन्तुष्ट करनेवाले तुम्हारे इस व्रतसे बढ़कर न यज्ञ हैं, न दान हैं और न तीर्थ ही हैं। विप्रवर! तुम धन्य हो, जिसके व्रतके आधे भागका फल पाकर यह स्त्री हमारे द्वारा वैकुण्ठधाममें ले जायी जा रही है।

**नारदजी कहते हैं**—राजन्! धर्मदत्तको इस प्रकार उपदेश करके वे दोनों विमानचारी पार्षद उस कलहाके साथ वैकुण्ठधामको चले गये। धर्मदत्त जीवनभर भगवान्के व्रतमें स्थिर रहे और देहावसानके बाद उन्होंने अपनी दोनों स्त्रियोंके साथ वैकुण्ठधाम प्राप्त कर लिया। इस प्राचीन इतिहासको जो सुनता और सुनाता है, वह जगद्गुरु भगवान्की कृपासे उनका सान्निध्य प्राप्त करानेवाली उत्तम गति पाता है।

## सांसर्गिक पुण्यसे धनेश्वरका उद्धार, दूसरोंके पुण्य और पापकी आंशिक प्राप्तिके कारण तथा मासोपवास व्रतकी संक्षिप्त विधि

**भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं**—प्रिये! नारदजीके मुखसे यह कथा सुनकर राजा पृथुके मनमें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने नारदजीका भलीभाँति पूजन करनेके पश्चात् उन्हें विदा किया। पूर्वकालमें अवन्तिपुरीमें धनेश्वर नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह क्रय-विक्रयके कार्यसे घूमता हुआ किसी समय माहिष्मतीपुरीमें जा पहुँचा, जहाँ पापनाशिनी नर्मदा सदैव शोभा पाती है। वहाँ कार्तिकका व्रत करनेवाले बहुत-से मनुष्य अनेक गाँवोंसे स्नान करनेके लिये आये हुए थे। धनेश्वरने उन सबको देखा और अपना सामान बेचता हुआ वह एक मासतक वहीं रहा। वह प्रतिदिन नर्मदाके किनारे घूम-घूमकर स्नान, जप और देवार्चनमें लगे हुए ब्राह्मणोंको देखता और वैष्णवोंके मुखसे भगवान् विष्णुके नामोंका कीर्तन सुनता था। इस प्रकार नर्मदा-तटपर रहते हुए उसको जब एक मास बीत गया, तब एक दिन अकस्मात् उसे किसी काले साँपने डँस लिया। इससे विह्वल होकर वह भूमिपर गिर पड़ा। यमदूत उसे बाँधकर ले गये और कुम्भीपाकमें डाल दिया। वहाँ उसके गिरते ही सारा कुण्ड शीतल हो गया; ठीक उसी तरह, जैसे पूर्वकालमें प्रह्लादजीको डालनेसे दैत्योंकी जलायी हुई आग ठंडी हो गयी थी। तदनन्तर यमराज इस विषयमें पूछ-ताछ करने लगे। इतनेमें ही वहाँ नारदजी आये और इस प्रकार बोले—'सूर्यनन्दन! यह नरकोंका उपभोग करने योग्य नहीं है। जो मनुष्य पुण्यकर्म करनेवाले लोगोंका दर्शन, स्पर्श और उनके साथ वार्तालाप करता है, वह उनके पुण्यका छठा अंश प्राप्त कर लेता है। यह धनेश्वर तो एक मासतक श्रीहरिके कार्तिकव्रतका अनुष्ठान करनेवाले असंख्य मनुष्योंके संपर्कमें रहा है, अतः यह उन सबके पुण्यांशका भागी हुआ है। इसको अनिच्छासे पुण्य प्राप्त हुआ है, इसलिये यह यक्षकी योनिमें रहे और पापभोगके रूपमें सब नरकोंका दर्शनमात्र करके ही यमयातनासे मुक्त हो जाय।'

प्रिये! यों कहकर देवर्षि नारद चले गये। तब प्रेतराजने धनेश्वरको नरकोंके समीप ले जाकर उन सबको दिखलाते हुए कहा—'धनेश्वर! महान् भय देनेवाले इन घोर नरकोंकी ओर दृष्टि डालो। इनमें पापी पुरुष सदा दूतोंद्वारा पकाये जाते हैं। इन नरकोंके पृथक्-पृथक् चौरासी भेद हैं। तुम्हें कार्तिकव्रत करनेवाले पुरुषोंका संसर्ग प्राप्त हुआ था, उससे पुण्यकी वृद्धि हो जानेके

कारण ये सभी नरक तुम्हारे लिये निश्चय ही नष्ट हो गये हैं।' इस प्रकार धनेश्वरको नरकोंका दर्शन कराकर प्रेतराज उसे यक्षलोकमें ले गये। वहाँ जाकर वह यक्ष हुआ। वही कुबेरके अनुचर 'धनयक्ष'के नामसे प्रसिद्ध हुआ।

**सूतजी कहते हैं**—इस प्रकार अपनी अत्यन्त प्रिय सत्यभामाको यह कथा सुनाकर भगवान् श्रीकृष्ण सन्ध्योपासना करनेके लिये माताके घरमें गये।

**ब्रह्माजी कहते हैं**—नारद! यदि कार्तिकव्रत करनेके लिये अपनेमें सामर्थ्य न हो तो अन्य उपायसे भी इसका फल प्राप्त हो सकता है। ब्राह्मणको धन देकर कार्तिकव्रतके उत्तम फलको ग्रहण करे। शिष्यसे, भृत्यवर्गसे, स्त्रियोंसे अथवा अपने किसी विश्वासपात्र मनुष्यसे भी व्रतका पालन करावे। ऐसा करनेसे भी मनुष्य फलका भागी होता है।

**नारदजीने पूछा**—पितामह! यह कार्तिकव्रत थोड़े परिश्रमद्वारा साध्य होनेवाला और महान् फल देनेवाला है, तो भी मनुष्य इसे क्यों नहीं करते हैं ?

**ब्रह्माजीने कहा**—काम, क्रोध और लोभके वशीभूत होनेवाले मनुष्य व्रत आदि धर्मकृत्य नहीं कर पाते। जो इनसे मुक्त हैं वे ही धर्मकार्य करते हैं। इस पृथ्वीपर श्रद्धा और मेधा—ये दो वस्तुएँ ऐसी हैं जो काम, क्रोध आदिका विनाश करनेवाली हैं। इनसे व्याप्त मनुष्य भगवान् विष्णुका श्रवण, कीर्तन आदि करता है। पर जिसकी बुद्धि खोटी है वह यह सब नहीं करता। इसीसे वह अन्धकारपूर्ण नरकमें गिरता है। पढ़ानेसे, यज्ञ करानेसे और एक पंक्तिमें बैठकर भोजन करनेसे मनुष्य दूसरोंके किये हुए पुण्य और पापका चौथाई भाग प्राप्त कर लेता है। एक आसनपर बैठने, एक सवारीपर यात्रा करने तथा श्वाससे शरीरका स्पर्श होनेसे मनुष्य निश्चय ही पुण्य और पापके छठे अंशके फलका भागी होता है। दूसरेके स्पर्शसे, भाषणसे तथा उसकी प्रशंसा करनेसे भी मानव सदा उसके पुण्य और पापके दसवें अंशको पाता है। दर्शन और श्रवणसे अथवा मनके द्वारा उसका चिन्तन करनेसे, वह दूसरेके पुण्य और पापका शतांश प्राप्त करता है। जो दूसरेकी निन्दा करता, चुगली खाता तथा उसे धिक्कार देता है, वह उसके किये हुए पातकको स्वयं लेकर बदलेमें उसे अपना पुण्य देता है। जो मनुष्य किसी पुण्यकर्म करनेवाले पुरुषकी सेवा करता है, वह यदि उसकी पत्नी, भृत्य और शिष्योंसे भिन्न है तथा उसे उसकी सेवाके अनुरूप कुछ धन नहीं दिया जा रहा है, तो वह भी सेवाके अनुसार उस पुण्यात्माके पुण्यफलका भागी होता है। जो एक पंक्तिमें बैठे हुए पुरुषको रसोई परोसते समय छोड़कर आगे बढ़ जाता है, उसके पुण्यका छठा अंश वह छूटा हुआ व्यक्ति पा लेता है। स्नान और सन्ध्या आदि करते समय जो दूसरेका स्पर्श अथवा दूसरेसे भाषण करता है, वह अपने कर्मजनित पुण्यका छठा अंश उसे निश्चय ही दे डालता है। जो धर्मके उद्देश्यसे दूसरोंके पास जाकर धनकी याचना करता है, उसके उस पुण्यकर्मजनित फलका भागी वह धन देनेवाला भी होता है। जो दूसरोंका धन चुराकर उसके द्वारा पुण्यकर्म करता है, वहाँ कर्म करनेवाला तो पापी होता है तथा जिसका धन चुराकर उस कर्ममें लगाया गया है, वही उसके पुण्यफलको प्राप्त करता है। जो दूसरोंका ऋण चुकाये बिना मर जाता है, उसके पुण्यमेंसे वह धनी अपने धनके अनुरूप हिस्सा बँटा लेता है। जो बुद्धि (सलाह) देनेवाला, अनुमोदन करनेवाला, साधनसामग्री देनेवाला तथा बल लगानेवाला है, वह भी पुण्य-पापमेंसे छठे अंशको ग्रहण करता है। प्रजाके पुण्य और पापमेंसे छठा अंश राजा लेता है। इसी प्रकार शिष्यसे गुरु, स्त्रीसे उसका पति और पुत्रसे उसका पिता पुण्य-पापका छठा

अंश ग्रहण करता है। स्त्री भी यदि अपने पतिके मनके अनुकूल चलनेवाली और सदा उसे सन्तुष्ट रखनेवाली हो तो वह उसके पुण्यका आधा भाग प्राप्त कर लेती है। जो दूसरेके हाथसे दान आदि पुण्य कर्म करता है, उसके पुण्यका छठा अंश वह कर्ता ही ले लेता है परंतु यदि वह पुत्र अथवा भृत्य हो तो षष्ठांशका भागी नहीं होता है। वृत्ति देनेवाला पुरुष वृत्ति भोगनेवालेके पुण्यका छठा अंश ले लेता है। किंतु ऐसा तभी होता है जब वह उस वृत्ति भोगनेवालेसे अपनी या दूसरेकी सेवा न कराता हो। इस प्रकार दूसरोंके द्वारा संचित किये हुए पुण्य-पाप बिना दिये हुए भी आ जाते हैं। पूर्वकालमें एक दम्भी तपस्वी पतिव्रता स्त्रीके शुद्ध प्रभावसे, पिता-माताका पूजन देखनेसे, कार्तिकव्रतका सेवन करके उत्तम लोकको प्राप्त हो गया था।

**नारदजीने कहा**—भगवन्! मैं मासोपवासकी विधि और उसके फलका यथोचित वर्णन सुनना चाहता हूँ।

**ब्रह्माजीने कहा**—नारद! जैसे देवताओंमें भगवान् विष्णु श्रेष्ठ हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण व्रतोंमें यह मासोपवास व्रत श्रेष्ठ है। अपने शरीरके बलाबलको समझकर मासोपवास व्रत करना चाहिये। आश्विनके शुक्लपक्षकी एकादशीको उपवास करके तीस दिनोंके लिये इस व्रतको ग्रहण करना चाहिये और उतने दिनोंतक भगवान्के मन्दिरमें जाकर तीनों समय भक्तिपूर्वक नैवेद्य, धूप, दीप तथा नाना प्रकारके पुष्पोंसे मन, वाणी और क्रियाद्वारा भगवान् गरुडध्वजकी पूजा करनी चाहिये। स्वधर्मपरायण मनुष्य और अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाली सौभाग्यवती अथवा विधवा स्त्री भगवान् वासुदेवकी पूजा करे। दूसरेका अन्न ग्रहण न करे, परंतु स्वयं दूसरोंको अन्न दे। व्रतस्थ पुरुष शरीरमें उबटन लगाना, मस्तकमें तेल मलना, पान खाना और चन्दन आदिका लेप करना छोड़ दे। इसके सिवा अन्य निषिद्ध वस्तुओंका भी त्याग करे। व्रतका पालन करनेवाला मनुष्य विपरीत कर्ममें लगे रहनेवाले किसी मनुष्यका न तो स्पर्श करे और न उससे वार्तालाप ही करे। गृहस्थ भी देवमन्दिरमें रहकर व्रतका आचरण करे। यथोक्त विधिसे मासोपवासव्रत पूरा करके द्वादशीमें परम पवित्र भगवान् विष्णुका पूजन करे, दक्षिणा दे। मासोपवासके अन्तमें तेरह ब्राह्मणोंका वरण करके वैष्णव यज्ञ करावे। तत्पश्चात् ब्राह्मणोंको भोजन करावे और उन्हें ताम्बूलसहित दो-दो वस्त्र देकर पूजनपूर्वक विदा करे। इस प्रकार मासोपवासकी विधि बतायी गयी।

## तुलसीविवाह और भीष्मपंचक-व्रतकी विधि एवं महिमा

**ब्रह्माजी कहते हैं**—कार्तिक शुक्ला नवमीको द्वापर युगका प्रारम्भ हुआ है। अतः वह तिथि दान और उपवासमें क्रमशः पूर्वाह्नव्यापिनी तथा पराह्णव्यापिनी हो तो ग्राह्य है। इसी तिथिको (नवमीसे एकादशीतक) मनुष्य शास्त्रोक्त विधिसे तुलसीके विवाहका उत्सव करे तो उसे कन्यादानका फल होता है। पूर्वकालमें कनककी पुत्री किशोरीने एकादशी तिथिमें सन्ध्याके समय तुलसीकी वैवाहिकविधि सम्पन्न की। इससे वह किशोरी वैधव्य दोषसे मुक्त हो गयी। अब मैं उसकी विधि बतलाता हूँ—एक तोला सुवर्णकी भगवान् विष्णुकी सुन्दर प्रतिमा तैयार करावे अथवा अपनी शक्तिके अनुसार आधे या चौथाई तोलेकी ही प्रतिमा बनवा ले। फिर तुलसी और भगवान् विष्णुकी प्रतिमामें प्राणप्रतिष्ठा करके स्तुति आदिके द्वारा भगवान्को उठावे। पुनः

पुरुषसूक्तके मन्त्रोंद्वारा षोडशोपचारसे पूजा करे। पहले देश-कालका स्मरण करके गणेशपूजन करे, फिर पुण्याह-वाचन कराकर नान्दीश्राद्ध करे। तत्पश्चात् वेद-मन्त्रोंके उच्चारण और बाजे आदिकी ध्वनिके साथ भगवान् विष्णुकी प्रतिमाको तुलसीजीके निकट लाकर रखे। प्रतिमाको वस्त्रोंसे आच्छादित किये रहे। उस समय भगवान्‌का इस प्रकार आवाहन करे—

**आगच्छ भगवन् देव अर्चयिष्यामि केशव।**
**तुभ्यं दास्यामि तुलसीं सर्वकामप्रदो भव॥**

'भगवान् केशव! आइये, देव! मैं आपकी पूजा करूँगा। आपकी सेवामें तुलसीको समर्पित करूँगा। आप मेरे सम्पूर्ण मनोरथोंको पूर्ण करें।'

इस प्रकार आवाहनके पश्चात् तीन-तीन बार अर्घ्य, पाद्य और विष्टरका उच्चारण करके इन्हें बारी-बारीसे भगवान्‌को समर्पित करे। फिर आचमनीय पदका तीन बार उच्चारण करके भगवान्‌को आचमन करावे। इसके बाद कांस्यके पात्रमें दही, घी और मधु रखकर उसे कांस्यके पात्रसे ही ढक दे तथा भगवान्‌को अर्पण करते हुए इस प्रकार कहे—'वासुदेव! आपको नमस्कार है, यह मधुपर्क ग्रहण कीजिये।' तदनन्तर हरिद्रालेपन और अभ्यंग-कार्य सम्पन्न करके गोधूलिकी बेलामें तुलसी और श्रीविष्णुका पूजन पृथक्-पृथक् करना चाहिये। दोनोंको एक-दूसरेके सम्मुख रखकर मंगल-पाठ करे। जब भगवान् सूर्य कुछ-कुछ दिखायी देते हों, तब कन्यादानका संकल्प करे। अपने गोत्र और प्रवरका उच्चारण करके आदिकी तीन पीढ़ियोंका भी आवर्तन करे। तत्पश्चात् भगवान्‌से इस प्रकार कहे—

**अनादिमध्यनिधन त्रैलोक्यप्रतिपालक।**
**इमां गृहाण तुलसीं विवाहविधिनेश्वर॥**
**पार्वतीबीजसम्भूतां वृन्दाभस्मनि संस्थिताम्।**
**अनादिमध्यनिधनां वल्लभां ते ददाम्यहम्॥**
**पयोघटैश्च सेवाभिः कन्यावद्वर्द्धिता मया।**
**त्वत्प्रियां तुलसीं तुभ्यं ददामि त्वं गृहाण भोः॥**

'आदि, मध्य और अन्तसे रहित त्रिभुवन-प्रतिपालक परमेश्वर! इस तुलसीको आप विवाहकी विधिसे ग्रहण करें। यह पार्वतीके बीजसे प्रकट हुई है, वृन्दाकी भस्ममें स्थित रही है तथा आदि, मध्य और अन्तसे शून्य है। आपको तुलसी बहुत ही प्रिय है, अतः इसे मैं आपकी सेवामें अर्पित करता हूँ। मैंने जलके घड़ोंसे सींचकर और अन्य प्रकारकी सेवाएँ करके अपनी पुत्रीकी भाँति इसे पाला, पोसा और बढ़ाया है, आपकी प्रिया तुलसी मैं आपको ही दे रहा हूँ। प्रभो! आप इसे ग्रहण करें।'

इस प्रकार तुलसीका दान करके फिर उन दोनों (तुलसी और विष्णु)-की पूजा करे। विवाहका उत्सव मनाये। सबेरा होनेपर पुनः तुलसी और विष्णुका पूजन करे। अग्निकी स्थापना करके उसमें द्वादशाक्षरमन्त्रसे खीर, घी, मधु और तिलमिश्रित हवनीय द्रव्यकी एक सौ आठ आहुति दे। फिर 'स्विष्टकृत्' होम करके पूर्णाहुति दे। आचार्यकी पूजा करके होमकी शेष विधि पूरी करे। उसके बाद भगवान्‌से इस प्रकार प्रार्थना करे—'देव! प्रभो!! आपकी प्रसन्नताके लिये मैंने यह व्रत किया है। जनार्दन! इसमें जो न्यूनता हो, वह आपके प्रसादसे पूर्णताको प्राप्त हो जाय।'

यदि द्वादशीमें रेवतीका चौथा चरण बीत रहा हो तो उस समय पारण न करे। जो उस समय भी पारण करता है, वह अपने व्रतको निष्फल कर देता है। भोजनके पश्चात् तुलसीके स्वतः गलकर गिरे हुए पत्तोंको खाकर मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। भोजनके अन्तमें ऊख, आँवला और बेरका फल खा लेनेसे उच्छिष्ट-दोष मिट जाता है।

तदनन्तर भगवान्‌का विसर्जन करते हुए कहे—'भगवन्! आप तुलसीके साथ वैकुण्ठधाममें पधारें। प्रभो! मेरे द्वारा की हुई पूजा ग्रहण करके आप सदा सन्तुष्ट रहें।' इस प्रकार देवेश्वर विष्णुका विसर्जन करके मूर्ति आदि सब सामग्री आचार्यको अर्पण करे। इससे मनुष्य कृतार्थ हो जाता है।

कार्तिक शुक्ल पक्षमें एकादशीको प्रातःकाल विधिपूर्वक स्नान करके पाँच दिनका व्रत ग्रहण करे। बाणशय्यापर सोये हुए महात्मा भीष्मने राजधर्म, मोक्षधर्म और दानधर्मका वर्णन किया, जिसे पाण्डवोंके साथ ही भगवान् श्रीकृष्णने भी सुना। उससे प्रसन्न होकर भगवान् वासुदेवने कहा—'भीष्म! तुम धन्य हो, धन्य हो, तुमने धर्मोंका स्वरूप अच्छी तरह श्रवण कराया है। कार्तिककी एकादशीको तुमने जलके लिये याचना की और अर्जुनने बाणके वेगसे गंगाजल प्रस्तुत किया, जिससे तुम्हारे तन, मन, प्राण सन्तुष्ट हुए। इसलिये आजसे लेकर पूर्णिमातक तुम्हें सब लोग अर्घ्यदानसे तृप्त करें और मुझको सन्तुष्ट करनेवाले इस भीष्मपंचक नामक व्रतका पालन प्रतिवर्ष करते रहें।'

निम्नांकित मन्त्र पढ़कर सव्यभावसे महात्मा भीष्मके लिये तर्पण करना चाहिये। यह भीष्मतर्पण सभी वर्णोंके लोगोंके लिये कर्तव्य है*। मन्त्र इस प्रकार है—

**सत्यव्रताय शुचये गाङ्गेयाय महात्मने।**
**भीष्मायैतद् ददाम्यर्घ्यमाजन्मब्रह्मचारिणे॥**

'आजन्म ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले परम पवित्र सत्यव्रतपरायण गंगानन्दन महात्मा भीष्मको मैं यह अर्घ्य देता हूँ।'

जो मनुष्य पुत्रकी कामनासे स्त्रीसहित भीष्मपंचकव्रतका पालन करता है, वह वर्षके भीतर ही पुत्र प्राप्त करता है। जो भीष्मपंचकव्रतका पालन करता है, उसके द्वारा सब प्रकारके शुभकृत्योंका पालन हो जाता है। यह महापुण्यमय व्रत महापातकोंका नाश करनेवाला है। अतः मनुष्योंको प्रयत्नपूर्वक इसका अनुष्ठान करना चाहिये। इसमें भीष्मजीके लिये जलदान और अर्घ्यदान विशेष यत्नसे करना चाहिये। जो नीचे लिखे मन्त्रसे भीष्मजीके लिये अर्घ्यदान करता है, वह मोक्षका भागी होता है।

**अर्घ्य-मन्त्र**

**वैयाघ्रपदगोत्राय साङ्कृतप्रवराय च।**
**अपुत्राय ददाम्येतदुदकं भीष्मवर्मणे॥**
**वसूनामवताराय शन्तनोरात्मजाय च।**
**अर्घ्यं ददामि भीष्माय आजन्मब्रह्मचारिणे॥**

'जिनका व्याघ्रपद गोत्र और सांकृत प्रवर है, उन पुत्ररहित भीष्मवर्माको मैं यह जल देता हूँ। वसुओंके अवतार, शन्तनुके पुत्र, आजन्म ब्रह्मचारी भीष्मको मैं अर्घ्य देता हूँ।'

पंचगव्य, सुगन्धित चन्दनके जल, चन्दन, उत्तम गन्ध और कुंकुमके द्वारा भक्तिपूर्वक सर्वपापहारी श्रीहरिका पूजन करे। कर्पूर और खस मिले हुए कुंकुमसे भगवान् गरुड़ध्वजके अंगोंमें लेप करे। सुन्दर पुष्प एवं गन्ध, धूप आदिके द्वारा भगवान्‌की अर्चना करे। पाँच दिनोंतक भगवान्‌के समीप दिन-रात दीपक जलाता रहे। देवाधिदेव भगवान्‌के लिये उत्तम-से-उत्तम नैवेद्य निवेदन करे। इस प्रकार भगवान्‌की पूजा-अर्चा, ध्यान और नमस्कारके पश्चात् '**ॐ नमो वासुदेवाय**' इस मन्त्रका एक सौ आठ बार जप करे। फिर घी मिलाये हुए तिल, चावल और जौ आदिके द्वारा स्वाहाविशिष्ट षडक्षर (**ॐ रामाय नमः**) मन्त्रसे आहुति दे। इसके बाद सायं-सन्ध्या करके

* सव्येनानेन मन्त्रेण तर्पणं सार्ववर्णिकम्। (स्क० पु०, वै० का० मा० ३२। १०)

भगवान् विष्णुको प्रणाम करे तथा पूर्ववत् मन्त्र जपकर धरतीपर ही शयन करे। भक्तिपूर्वक भगवान्‌में ही मनको लगावे। व्रतके समय बुद्धिमान् पुरुष ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए पापपूर्ण विचार तथा पापके कारणभूत मैथुनका परित्याग करे। शाकाहार तथा मुनियोंके अन्नसे निर्वाह करते हुए सदा भगवान् विष्णुके पूजनमें तत्पर रहे। रात्रिमें पंचगव्य लेकर भोजन करे। इस प्रकार भलीभाँति व्रतको समाप्त करे। ऐसा करनेसे मनुष्य शास्त्रोक्त फलको पाता है। स्त्रियोंको अपने पतिकी आज्ञा लेकर पुण्यकी वृद्धि करनी चाहिये। विधवाओंको भी मोक्षसुखकी वृद्धिके लिये व्रतका अनुष्ठान करना चाहिये। पहले अयोध्यापुरीमें कोई अतिथि नामके राजा हो गये हैं। उन्होंने वसिष्ठजीके वचनसे इस परम दुर्लभ व्रतका अनुष्ठान किया था, जिससे इस लोकमें सम्पूर्ण भोगोंका उपभोग करके अन्तमें वे भगवान् विष्णुके परम धाममें गये। इस प्रकार नियम, उपवास और पंचगव्यसे तथा दूध, फल, मूल एवं हविष्यके आहारसे निर्वाह करते हुए भीष्मपंचक व्रतका पालन करे। पौर्णमासी आनेपर पहलेके समान पूजन करके ब्राह्मणोंको भोजन करावे और बछड़े सहित गौका दान करे। एकादशीसे लेकर पूर्णिमातक पाँच दिनोंका भीष्मपंचकव्रत समस्त भूमण्डलमें प्रसिद्ध है। अन्न भोजन करनेवाले पुरुषके लिये यह व्रत नहीं कहा गया है, इसमें अन्नका निषेध है। इस व्रतका पालन करनेपर भगवान् विष्णु शुभ फल प्रदान करते हैं।

## एकादशीको भगवान्‌के जगानेकी विधि, कार्तिकव्रतका उद्यापन और अन्तिम तीन तिथियोंकी महिमाके साथ ग्रन्थका उपसंहार

**ब्रह्माजी कहते हैं**—जो पुरुष कार्तिकमासमें प्रतिदिन पुरुषसूक्तके मन्त्रोंद्वारा अथवा पांचरात्र आगममें बतायी हुई विधिके अनुसार भगवान् विष्णुका पूजन करता है, वह मोक्षका भागी होता है। जो कार्तिकमें '**ॐ नमो नारायणाय**'—इस मन्त्रसे श्रीहरिकी आराधना करता है, वह नरकके दुःखोंसे मुक्त हो, रोग-शोकसे रहित वैकुण्ठधामको प्राप्त होता है। कार्तिकमासमें जो मनुष्य विष्णुसहस्रनाम तथा गजेन्द्रमोक्षका पाठ करता है, उसका फिर संसारमें जन्म नहीं होता। सुव्रत! जो कार्तिकमासमें रात्रिके पिछले पहरमें भगवान्‌की स्तुतिका गान करता है, वह पितरोंसहित श्वेतद्वीपमें निवास करता है। आषाढ़के शुक्ल पक्षमें एकादशी तिथिको शंखासुर दैत्य मारा गया है। अतः उसी दिनसे आरम्भ करके भगवान् चार मासतक क्षीरसमुद्रमें शयन करते हैं और कार्तिक शुक्ला एकादशीको जागते हैं। इस कारण वैष्णवोंको एकादशीमें निम्नांकित मन्त्रका उच्चारण करके भगवान्‌को जगाना चाहिये।

**उत्तिष्ठोत्तिष्ठ गोविन्द उत्तिष्ठ गरुडध्वज।**
**उत्तिष्ठ कमलाकान्त त्रैलोक्यमङ्गलं कुरु॥**

'हे गोविन्द! उठिये, उठिये, हे गरुड़ध्वज! उठिये, हे कमलाकान्त! निद्राका त्याग कर तीनों लोकोंका मंगल कीजिये।'

ऐसा कहकर प्रातःकाल शंख और नगाड़े आदि बजवावे। वीणा, वेणु और मृदंग आदिकी मधुर ध्वनिके साथ नृत्य-गीत और कीर्तन आदि करे। देवेश्वर श्रीविष्णुको उठाकर उनकी पूजा करे और सायंकालमें तुलसीकी वैवाहिक विधिको सम्पन्न करे। एकादशी सदा ही पवित्र है, विशेषतः

कार्तिककी एकादशी परम पुण्यमयी मानी गयी है। उत्तम बुद्धिवाला मनुष्य वृद्ध माता-पिताका विधिपूर्वक पूजन करके अपनी स्त्रियोंके साथ भगवान् विष्णुके प्रसादको भक्षण करे। जो इस प्रकार विधिसे द्वादशी व्रतका अनुष्ठान करता है, वह मनुष्य उत्तम सुखोंका उपभोग करके अन्तमें मोक्षको प्राप्त होता है। मुनिश्रेष्ठ! जो मनुष्य द्वादशी तिथिके इस परम उत्तम पुण्यमय माहात्म्यका पाठ अथवा श्रवण करता है, वह उत्तम गतिको प्राप्त होता है।

अब मैं कार्तिक-व्रतके उद्यापनका वर्णन करता हूँ, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है। व्रतका पालन करनेवाला मनुष्य कार्तिक शुक्ला चतुर्दशीको व्रतकी पूर्ति और भगवान् विष्णुकी प्रीतिके लिये उद्यापन करे। तुलसीके ऊपर एक सुन्दर मण्डप बनवावे। उसे केलेके खंभोंसे संयुक्त करके नाना प्रकारकी धातुओंसे उसकी विचित्र शोभा बढ़ावे। मण्डपके चारों ओर दीपकोंकी श्रेणी सुन्दर ढंगसे सजाकर रखे। उस मण्डपमें सुन्दर बंदनवारोंसे सुशोभित चार दरवाजे बनावे और उन्हें फूलों तथा चँवरसे सुसज्जित करे। द्वारोंपर पृथक्-पृथक् मिट्टीके द्वारपाल बनाकर उनकी पूजा करे। उनके नाम इस प्रकार हैं—जय, विजय, चण्ड, प्रचण्ड, नन्द, सुनन्द, कुमुद और कुमुदाक्ष। उन्हें चारों दरवाजोंपर दो-दोके क्रमसे स्थापित कर भक्तिपूर्वक पूजन करे। तुलसीकी जड़के समीप चार रंगोंसे सुशोभित सर्वतोभद्रमण्डल बनावे और उसके ऊपर पूर्णपात्र तथा पंचरत्नसे संयुक्त कलशकी स्थापना करे। कलशके ऊपर शंख-चक्र-गदाधारी भगवान् विष्णुका पूजन करे। भक्तिपूर्वक उस तिथिमें उपवास करे तथा रात्रिमें गीत, वाद्य, कीर्तन आदि मंगलमय आयोजनोंके साथ जागरण करे। जो भगवान् विष्णुके लिये जागरण करते समय भक्तिपूर्वक भगवत्सम्बन्धी पदोंका गान करते हैं, वे सैकड़ों जन्मोंकी पापराशिसे मुक्त हो जाते हैं। उसके बाद पूर्णमासीमें एक सपत्नीक ब्राह्मणको निमन्त्रित करे। प्रातःकाल स्नान और देवपूजन करके वेदीपर अग्निकी स्थापना करे और '**अतो देव०**' इत्यादि मन्त्रके द्वारा देवाधिदेव भगवान्‌की प्रीतिके लिये तिल और खीरकी आहुति दे। होमकी शेष विधि पूरी करके भक्तिपूर्वक ब्राह्मणोंका पूजन करे और उन्हें यथाशक्ति दक्षिणा दे। भगवान् द्वादशी तिथिको शयनसे उठे, त्रयोदशीको देवताओंसे मिले और चतुर्दशीको सबने उनका दर्शन एवं पूजन किया, इसलिये उस तिथिमें भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये। गुरुकी आज्ञासे भगवान् विष्णुकी सुवर्णमयी प्रतिमाका पूजन करे। इस पूर्णिमाको पुष्कर तीर्थकी यात्रा श्रेष्ठ मानी गयी है। नारद! कार्तिकमासमें इस विधिका पालन करना चाहिये। जो इस प्रकार कार्तिकके व्रतका पालन करते हैं, वे धन्य और पूजनीय हैं; उन्हें उत्तम फलकी प्राप्ति होती है। जो भगवान् विष्णुकी भक्तिमें तत्पर हो कार्तिकमें व्रतका पालन करते हैं, उनके शरीरमें स्थित सभी पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं। जो श्रद्धापूर्वक कार्तिकके उद्यापनका माहात्म्य सुनता है या सुनाता है, वह भगवान् विष्णुका सायुज्य प्राप्त करता है।

भगवान् विष्णुकी पूजामें रात्रिकालव्यापिनी चतुर्दशी ग्रहण करनी चाहिये और अरुणोदयके समय भगवान् शिवकी पूजा करनी चाहिये। सायंकाल काशीके पंचगंगातीर्थमें स्नान करके भगवान् विन्दुमाधवकी पूजा करे। पहले विष्णुकांचीमें स्नान करके भगवान् अनन्तसेनकी पूजा करे। फिर रुद्रकांचीमें स्नान करके ओंकारेश्वरके अग्नितीर्थमें नहाकर भगवान् नारायणकी, रेतोदकमें स्नान करके केदारेश्वरकी, प्रयागकी यमुनामें नहाकर भगवान् वेणीमाधवकी और फिर गंगामें स्नान करके संगमेश्वरकी पूजा करे। जो ऐसा करता है, उसके सब प्रकारकी सम्पत्तियाँ अधीन हो जाती हैं।

कार्तिकमासके शुक्ल पक्षमें जो अन्तिम तीन पुण्यमयी तिथियाँ हैं, वे त्रयोदशी, चतुर्दशी और पूर्णिमा कल्याण करनेवाली मानी गयी हैं। उनकी अति पुष्करिणी संज्ञा है। वे सब पापोंका नाश करनेवाली हैं। जो पूरे कार्तिकमासमें स्नान करता है, वह इन्हीं तीन तिथियोंमें स्नान करके पूर्ण फलका भागी होता है। त्रयोदशीमें समस्त वेद जाकर प्राणियोंको पवित्र करते हैं, चतुर्दशीमें यज्ञ और देवता सब जीवोंको पावन बनाते हैं और पूर्णिमामें भगवान् विष्णुसे अधिष्ठित सम्पूर्ण श्रेष्ठ तीर्थ ब्रह्मघाती और शराबी आदि सब पापी प्राणियोंको शुद्ध करते हैं। जो गृहस्थ उक्त तीन तिथियोंमें ब्राह्मणकुटुम्बको भोजन कराता है, वह अपने समस्त पितरोंका उद्धार करके परम पदको प्राप्त होता है। जो कार्तिकके अन्तिम तीन दिनोंमें गीतापाठ करता है, उसे प्रतिदिन अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है। जो उक्त तीनों दिन विष्णुसहस्रनामका पाठ करता है, वह जलसे कमलके पत्तोंकी भाँति पापोंसे कभी लिप्त नहीं होता। वैसा करनेवाले कुछ मनुष्य देवता और कुछ सिद्ध होते हैं। कार्तिकमासकी अन्तिम तीन तिथियोंमें सब पुण्योंका उदय होता है। उनमें भी पूर्णिमाका महत्त्व विशेष है। पूर्णिमाको प्रातःकाल उठकर शौच-स्नानादिसे निवृत्त हो समस्त नित्यकर्मोंकी समाप्ति करके भगवान् विष्णुका पूजन करे। बगीचेमें अथवा घरपर भगवद्भक्त पुरुष कार्तिक-पूर्णिमाके दिन मण्डप बनावे। उसे केलेके खंभोंसे सुशोभित करे। उसमें आमके पल्लवोंकी बंदनवार लगावे और ऊखके डंडे खड़े करके उस मण्डपको सजावे। विचित्र वस्त्रोंसे मण्डपको अलंकृत करके उसमें भगवान् विष्णुकी पूजा करे। पवित्र, चतुर, शान्त, ईर्ष्यारहित, साधु, दयालु, उत्तम वक्ता और श्रेष्ठ बुद्धिवाला पुराणज्ञ विद्वान् वहाँ बैठकर पवित्र कथा कहे। पौराणिक विद्वान् जब व्यासासनपर बैठ जाय, तबसे लेकर उस प्रसंगकी समाप्ति होनेतक किसीको नमस्कार न करे। जहाँ दुष्ट मनुष्य भरे हुए हों, जो शूद्र और हिंसक प्राणियोंसे घिरा हुआ हो अथवा जहाँ जुएका अड्डा हो—ऐसे स्थानमें बुद्धिमान् पुरुष पुण्यकथा न कहे। जो शुद्ध और भक्तिसे संयुक्त, अन्य कार्योंकी अभिलाषा न रखनेवाले, मौन, पवित्र एवं चतुर हों, वे ही श्रोता पुण्यके भागी होते हैं। जो मनुष्य बिना भक्तिके तथा अधम भाव लेकर पवित्र कथाको सुनते हैं, उनको पुण्यफल नहीं प्राप्त होता। मासके अन्तमें गन्ध-माल्य-वस्त्र-आभूषण तथा धनके द्वारा भक्तिपूर्वक पौराणिक विद्वान्का पूजन करे। जो मनुष्य कल्याणमयी पुराणकथाको सुनाते हैं, वे सौ कोटि कल्पोंसे अधिक कालतक ब्रह्मलोकमें निवास करते हैं। जो पौराणिक विद्वान्के बैठनेके लिये कम्बल, मृगचर्म, वस्त्र, चौकी अथवा पलंग देते हैं, जो पहननेके लिये कपड़े देते हैं, वे ब्रह्मलोकमें निवास करते हैं। यह कार्तिक-माहात्म्य सब रोगों और सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाला है। जो मनुष्य इस माहात्म्यको भक्तिपूर्वक पढ़ता और जो सुनकर धारण करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है। जिसकी बुद्धि खोटी हो तथा जो श्रद्धासे हीन हो, ऐसे किसी भी मनुष्यको यह माहात्म्य नहीं सुनाना चाहिये।

**सूतजी कहते हैं**—ब्रह्माजीके मुखसे इस प्रकार कार्तिक-माहात्म्यकी कथा सुनकर नारदजी प्रेममें मग्न हो गये। उन्होंने ब्रह्माजीको बारंबार प्रणाम किया और स्वेच्छानुसार वहाँसे चले गये।

**कार्तिकमास-माहात्म्य सम्पूर्ण।**

# मार्गशीर्षमास-माहात्म्य

## मार्गशीर्षमासमें प्रातःस्नानकी महिमा, स्नानविधि, तिलक-धारण, गोपीचन्दनका माहात्म्य, तुलसीमालाका महत्त्व, भगवत्पूजनका विधान और शंखकी महिमा

**सूतजी कहते हैं—**

**देवकीनन्दनं कृष्णं जगदानन्दकारकम्।**
**भुक्तिमुक्तिप्रदं वन्दे माधवं भक्तवत्सलम्॥**

'जो सम्पूर्ण जगत्‌को आनन्द प्रदान करनेवाले तथा भोग और मोक्ष देनेवाले हैं, उन लक्ष्मीपति भक्तवत्सल देवकीनन्दन श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ।'

श्वेतद्वीपमें देवाधिदेव भगवान् रमाकान्त सुखसे विराजमान थे। उस समय ब्रह्माजीने उन्हें नमस्कार करके पूछा—'हृषीकेश! आप सम्पूर्ण जगत्‌को धारण करनेवाले हैं। आपके नामोंका श्रवण और

कीर्तन परम पवित्र है। आपने पहले यह कहा है कि **'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्'**—महीनोंमें मैं मार्गशीर्ष हूँ। अतः उस महीनेका माहात्म्य क्या है, यह मैं यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ।'

**श्रीभगवान् बोले**—ब्रह्मन्! जो कोई पुण्य करनेवाले मेरे भक्त हैं, उन्हें मार्गशीर्षमासका व्रत अवश्य करना चाहिये, क्योंकि यह मेरी प्राप्ति करानेवाला है। मार्गशीर्षमास मुझे सदैव प्रिय है। जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर मार्गशीर्षमें विधिपूर्वक स्नान करता है, उसपर सन्तुष्ट होकर मैं अपने-आपको भी उसे समर्पित कर देता हूँ। इस विषयमें इस इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं—इस पृथ्वीपर महात्मा नन्दगोप सर्वत्र विख्यात थे। उनके रमणीय गोकुलमें सहस्रों गोपकन्याएँ थीं। उन सबका चित्त मेरे स्वरूपमें लग गया। तब मैंने उन्हें मार्गशीर्षमें स्नान करनेकी सलाह दी। उन्होंने उस समय प्रतिदिन प्रातःकाल विधिपूर्वक स्नान और पूजन किया, हविष्यान्न भोजन किया और अपने इष्टदेवको नमस्कार किया। इस प्रकार विधिपूर्वक मार्गशीर्षव्रतका पालन करनेसे मैं उनपर बहुत प्रसन्न हुआ और वरदानके रूपमें मैंने अपने-आपको ही उनके अर्पित कर दिया। अतः सब लोगोंको मार्गशीर्ष-व्रतकी विधिका पालन करना चाहिये।

रात्रिके अन्तमें शयनसे उठकर विधिपूर्वक आचमन करके अपने गुरुको नमस्कार करे तथा आलस्य छोड़कर मेरा चिन्तन करे। भक्तिपूर्वक सहस्रनामोंका पाठ एवं कीर्तन करे। फिर मौन होकर गाँवके बाहर जाय और विधिपूर्वक मल-मूत्रका त्याग करके हाथ-मुँह धोवे, यथोचित रीतिसे कुल्ला करे तथा शुद्ध होकर दन्तधावनपूर्वक स्नान करे। स्नानकी विधि इस प्रकार है—तुलसीके

जड़की मिट्टीको उसके पत्रके साथ लेकर मूलमन्त्र ( **ॐ नमो नारायणाय**) अथवा गायत्रीमन्त्रके द्वारा अभिमन्त्रित करे। मन्त्रसे ही उस मृत्तिकाको अपने अंगोंमें लगावे और जलमें प्रवेश करके अघमर्षण स्नान करे। विद्वान् पुरुष उक्त अष्टाक्षर मन्त्रसे ही तीर्थकी कल्पना करे। '**ॐ नमो नारायणाय**' इस मन्त्रको ही मूलमन्त्र कहा गया है। स्नान करते समय निम्नांकित मन्त्रसे गंगाजीकी प्रार्थना करे।

**विष्णुपादप्रसूतासि वैष्णवी विष्णुदेवता।**
**त्राहि नस्त्वमघादस्मादाजन्ममरणान्तिकात्॥**

'गंगे! तुम भगवान् विष्णुके चरणोंसे प्रकट हुई हो, इसलिये वैष्णवी हो। श्रीविष्णु ही तुम्हारे देवता हैं। तुम जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त सभी पापोंसे मेरी रक्षा करो।'

इस प्रकार सात बार जप करके हाथ जोड़कर तीर्थजलको प्रणाम करे और तीन, चार, पाँच या सात बार जलमें गोता लगावे। तत्पश्चात् पूर्ववत् मिट्टीको भी अभिमन्त्रित करके उसका शरीरमें लेप करे तथा नहावे। मृत्तिकाको अभिमन्त्रित करनेका मन्त्र इस प्रकार है—

**अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे।**
**मृत्तिके हर मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम्॥**
**उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना।**
**नमस्ते सर्वभूतानां प्रभवारणि सुव्रते॥**

'वसुन्धरे! तुम्हारे ऊपर अश्व और रथ चलते हैं, भगवान् विष्णुने तुम्हें अपने पगोंसे नाप लिया था। मृत्तिके! मैंने जो दुष्कर्म किया है, उस मेरे सारे पापको तुम हर लो। उत्तम व्रतका पालन करनेवाली देवी! जैसे अरणीसे अग्नि प्रकट होती है, उसी प्रकार तुम समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिका अधिष्ठान हो। तुम्हें सैकड़ों भुजाओंवाले वराहावतारधारी भगवान् विष्णुने एकार्णवके जलसे ऊपर निकाला है, तुम्हें नमस्कार है।'

इस प्रकार स्नान करके विधिपूर्वक आचमन करे और जलाशयके किनारे आकर दो शुद्ध वस्त्र धारण करे। तत्पश्चात् पुनः आचमन करके देवताओं, पितरों तथा ऋषियोंका तर्पण करनेके बाद खोले हुए वस्त्रको निचोड़े। तदनन्तर पुनः आचमन करके धौत वस्त्रसे अपनेको आच्छादित कर तीर्थकी विमल मृत्तिका हाथमें ले और उक्त मन्त्रसे ही अभिमन्त्रित करके उसके द्वारा वैष्णव पुरुष ललाट आदि अंगोंमें ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करे। ललाटमें तिलक लगाते समय '**केशवाय नमः**' कहकर भगवान् केशवका चिन्तन करे। इसी प्रकार उदरमें नारायण, वक्षःस्थलमें माधव, कण्ठकूपमें गोविन्द, दाहिनी कुक्षिमें विष्णु, दाहिनी भुजामें मधुसूदन, कानोंके मूलभागमें त्रिविक्रम, वामपार्श्वमें वामन, बायीं भुजामें श्रीधर, पीठमें पद्मनाभ, गर्दनके पीछे दामोदर और मस्तकमें भगवान् वासुदेवका न्यास एवं चिन्तन करे। इस प्रकार भगवान् विष्णुके सालोक्यकी सिद्धिके लिये नित्य ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करना चाहिये।

जो द्वारकाकी मृत्तिकाको हाथमें लेकर उससे प्रतिदिन अपने ललाटमें ऊर्ध्वपुण्ड्र करता है, उसके द्वारा किये जानेवाले सत्कर्मोंका फल कोटिगुना हो जाता है। ललाटमें गोपीचन्दनका तिलक करनेसे मनुष्य अपने कर्मोंका अक्षय फल पाता है। जो ब्राह्मण गोपीचन्दनका सुन्दर ऊर्ध्वपुण्ड्र प्रतिदिन अपने ललाटमें धारण करता है, वह मेरे धाममें स्थित होता है और मैं लक्ष्मीजीके साथ उस घरमें सदैव निवास करता हूँ। मृत्युकालमें जिसकी भुजाओंमें, ललाटमें, हृदयमें और मस्तकमें गोपीचन्दन लगा होता है, वह मुझ लक्ष्मीपतिके लोकमें जाता है। जिसके ललाटमें गोपीचन्दन विद्यमान है, उसको मेरे प्रभावसे ग्रह, राक्षस, यक्ष, पिशाच, नाग और भूत आदि पीड़ा नहीं देते हैं। चतुरानन! मेरा प्रिय करनेके लिये तथा अपने कल्याण और रक्षाके लिये मेरा भक्त प्रतिदिन सायंकाल और प्रातःकाल मेरी पूजा और होममें एकाग्रचित्त हो, ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करे। ऊर्ध्वपुण्ड्र संसारबन्धनका नाश करनेवाला है।

जो तुलसीकाष्ठकी माला मुझे भक्तिपूर्वक निवेदन करके फिर प्रसादरूपसे उसको स्वयं धारण करता है, उसके पातकोंका नाश हो जाता है और उसके ऊपर मैं सदैव प्रसन्न रहता हूँ। जिसके घरमें तुलसीका काष्ठ अथवा तुलसीका हरा या सूखा पत्ता रहता है, उसके घरमें कलियुगका पाप नहीं फैलता। इसलिये तुलसीकी मालाको प्रयत्नपूर्वक धारण करना चाहिये। पद्माक्ष और आँवलेकी माला भी भक्तिपूर्वक मुझे निवेदन करके धारण की जाय, तो वह उत्तम पुण्य देनेवाली होती है।

रत्नमय सिंहासनकी भावना करके उसके ऊपर अष्टदल कमलका चिन्तन करे। उसके प्रत्येक दलमें '**ॐ नमो नारायणाय**' इस अष्टाक्षर मन्त्रका एक-एक अक्षर है—उस कमलपर बैठे हुए कोटि-कोटि चन्द्रमाके समान कान्तिमान् मुझ चतुर्भुज विष्णुका ध्यान करे। उस समय मेरे हाथोंमें महान् पद्म, शंख, चक्र और गदा सुशोभित हैं, नेत्र विकसित कमलदलके समान विशाल हैं, विग्रह समस्त शुभ लक्षणोंसे लक्षित है, वक्षस्थलमें श्रीवत्सचिह्न और कौस्तुभमणि शोभा पा रहे हैं, कटिप्रदेशमें पीताम्बर शोभायमान है मेरा स्वरूप दिव्य अलंकारोंसे अलंकृत, दिव्य चन्दनोंसे चर्चित दिव्य पुष्पोंसे सुशोभित तथा तुलसीके कोमल दल और वनमालासे विभूषित है। मेरी अंगकान्ति करोड़ों प्रभातकालीन सूर्योंके सदृश उद्भासित हो रही है। मेरे साथ समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न दिव्यरूपा महालक्ष्मीजी भी विराजमान हैं। इस प्रकार मेरा ध्यान करते हुए एकाग्रचित्त हो मेरे मन्त्रका यथाशक्ति हजार या सौ बार जप करे। पहले मानसिक पूजन करके फिर पूजन-सामग्रियोंद्वारा विधिपूर्वक बाह्य पूजा करे। मेरा स्मरण करके पूजनके प्रारम्भमें मंगलपाठ करे। उसके बाद मेरे परम प्रिय पांचजन्य शंखकी पूजा करे। शंखके पूजनमें निम्नांकित मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए प्रार्थना करे—

**त्वं पुरा सागरोत्पन्न विष्णुना विधृतः करे।**
**निर्मितः सर्वदेवैश्च पाञ्चजन्य नमोऽस्तु ते॥**
**तव नादेन जीमूता वित्रसन्ति सुरासुराः।**
**शशाङ्कायुतदीप्ताभ पाञ्चजन्य नमोऽस्तु ते॥**

'पांचजन्य शंख! तुम पूर्वकालमें समुद्रसे उत्पन्न हुए और भगवान् श्रीविष्णुने तुम्हें अपने हाथमें धारण किया तथा सम्पूर्ण देवताओंने मिलकर तुम्हें सँवारा है। तुम्हें नमस्कार है। तुम्हारी गम्भीर ध्वनिसे मेघ डर जाते हैं, देवता और असुर थर्रा उठते हैं, तुम्हारी उज्ज्वल आभा दस हजार चन्द्रमाओंसे भी अधिक उद्दीप्त है। पांचजन्य! तुम्हें नमस्कार है।'

तत्पश्चात् सुगन्धित तेलसे मेरे विग्रहमें अभ्यंग (आमर्दन) करे। फिर कस्तूरीके चन्दनसे उबटन आदि लगावे। उत्तम गन्धसे वासित शुभ जलसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक नहलाकर पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय अर्पण करे। उसके बाद अन्य सब उपचारोंको भी क्रमशः चढ़ावे। पीठको दिव्य वस्त्र और आभूषणोंसे अलंकृत करके पुष्पोंसे उसकी पूजा करे। उसके ऊपर मेरे विग्रहको पधराकर श्रद्धापूर्वक मेरे लिये वस्त्र, अलंकार और गन्ध आदि निवेदन करे। खीर तथा पूआ आदिके साथ नाना प्रकारका नैवेद्य भोग लगावे। फिर भक्तिपूर्वक कर्पूरयुक्त ताम्बूल भेंट करे। उत्तम गन्धवाले पुष्पोंको भक्तिभावसे निवेदन करे। दशांग अथवा अष्टांग धूप देकर अतिशय सुन्दर दीप जलाकर रखे। प्रणाम करके आदरपूर्वक स्तुति करे। तदनन्तर पलंगपर सुलाकर मंगल अर्घ्य निवेदन करे।

द्वादशी अथवा पूर्णिमाको यदि गायके दूधसे मुझे स्नान कराया जाय तो वह बड़े-बड़े पातकोंका नाश करनेवाला है। जो मनुष्य मार्गशीर्षमासमें मुझको मधु और शक्करसे स्नान कराता है, वह स्वर्गसे इस लोकमें लौटनेपर राजा होता है। जो अगहनमें मुझे दूधसे नहलाता है, वह

स्वर्गलोकमें चन्द्रमा, इन्द्र, रुद्र और मरुद्गणोंपर विजय पाता है। जो उपासक मार्गशीर्षके महीनेमें शंखमें तीर्थका जल लेकर उसकी एक बूँदसे भी मुझे नहलाता है, वह अपने समूचे कुलको तार देता है। जो अगहनमासमें भक्तिपूर्वक शंखध्वनि करके मुझे स्नान कराता है, उसके पितर स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होते हैं। जो शंखमें जल लेकर '**ॐ नमो नारायणाय**' का उच्चारण करते हुए मुझे नहलाता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है। नदी, तड़ाग, बावड़ी और कूआँ आदिका जो जल शंखमें रखा जाता है, वह सब गंगाजलके समान हो जाता है। जो वैष्णव मेरे चरणोदकको शंखमें रखकर अपने मस्तकपर धारण करता है, वह तपस्वी मुनियोंमें सबसे श्रेष्ठ है। तीनों लोकोंमें जितने तीर्थ हैं, वे सब मेरी आज्ञासे शंखमें निवास करते हैं, इसलिये शंख श्रेष्ठ माना गया है। जो शंखमें फूल, जल और अक्षत रखकर मुझे अर्घ्य देता है, उसे अनन्त पुण्यकी प्राप्ति होती है। जो वैष्णव मेरे मस्तकपर शंखका जल घुमाकर उससे अपने घरको सींचता है, उसके घरमें कोई अशुभ नहीं होता है। बाजोंके उच्च स्वर और गीत-कीर्तन आदिके मंगलमय शब्दोंके साथ जो भक्तिपूर्वक मुझे स्नान कराता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है।

## भगवान्‌के पूजनमें घण्टानाद, चन्दन, पुष्प, तुलसीदल, धूप और दीपका माहात्म्य

**श्रीभगवान् कहते हैं**—घण्टा सर्ववाद्यमय है, वह मुझे सर्वदा प्रिय है। मेरी पूजाके समय उसे बजानेसे मनुष्य सौ कोटि यज्ञोंका फल प्राप्त करता है। घण्टानाद सदा ही करने योग्य है। विशेषतः मेरी पूजाके समय घण्टा अवश्य बजाना चाहिये। मृदंग और शंखकी ध्वनि तथा प्रणवके उच्चारणके साथ किया हुआ मेरा पूजन मनुष्योंको सदैव मोक्ष प्रदान करनेवाला है। मेरे पूजनके समय जो घण्टानाद करता है, उसके सौ जन्मोंके पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं। जो मनुष्य गरुड़की पीठपर लक्ष्मीके साथ बैठे हुए मुझ शंख, चक्र, गदा और पद्मधारी विष्णुकी पूजा करते हैं, वे मेरे धामको प्राप्त होते हैं। मेरे समीप गीत, कीर्तन और नृत्य करके मनुष्य अपने पितरोंका उद्धार करता है। जो गरुड़चिह्नसे युक्त घण्टा हाथमें लेकर धूप, आरती, स्नान, पूजा और विलेपनके समय मेरे आगे प्रतिदिन बजाता है, वह प्रत्येक उपचारमें बजानेके बदले सौ-सौ चान्द्रायणसे प्राप्त होनेवाले फलको पाता है। जो तुलसीकाष्ठका घिसा हुआ चन्दन मुझे अर्पण करता है, उसके सौ जन्मोंके समस्त पातकोंको मैं भस्म कर देता हूँ। जो कलियुगके मार्गशीर्षमासमें मुझे तुलसीकाष्ठका चन्दन देते हैं, वे निश्चय ही कृतार्थ हो जाते हैं। जो शंखमें चन्दन रखकर मार्गशीर्षमासमें मेरे अंगोंमें लगाता है, उसके ऊपर मैं विशेष प्रेम करता हूँ। जो अगहनमें तुलसीदल और आँवलोंसे भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करता है, वह मनोवांछित फलको पाता है।

बेला, चमेली, जूही, अतिमुक्ता (माधवी लता), कनेर, वैजयन्ती, विजया, चमेलीके गुच्छे, कर्णिकार, कुरैया, चम्पक, चातक, कुन्द, कर्चूर, मल्लिका, अशोक, तिलक तथा अपरयूथिका इत्यादि फूल मेरी पूजाके लिये उत्तम होते हैं। केतकीका पत्ता और पुष्प, भृंगराज, तुलसीका पत्ता और फूल—ये सब मुझे शीघ्र प्रसन्न करनेवाले हैं। लाल, नील और सफेद कमल मार्गशीर्षमासमें मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। मेरी पूजाके लिये वे ही फूल उत्तम माने गये हैं, जो सुन्दर रंगवाले होनेके साथ ही सरस

और सुगन्धित हों। बिल्वपत्र, शमीपत्र, भृंगराजपत्र और आमलकीपत्र—ये मेरे पूजनके लिये शुभ हैं। वन अथवा पर्वतमें उत्पन्न होनेवाले फूल और पत्र यदि तुरंतके तोड़े हुए छिद्ररहित और कीटवर्जित हों, तो उन्हें जलसे धोकर उनके द्वारा मेरी पूजा करनी चाहिये। बगीचेमें खिलनेवाले फूलोंसे भी मेरी पूजा की जा सकती है। जिन वृक्षोंके फूल मेरी पूजाके लिये उत्तम माने गये हैं, उनके पत्ते भी उत्तम हैं। फूलों और पत्तोंके अभावमें उनके फल भी चढ़ाये जा सकते हैं। इन पत्तों, फलों और फूलोंसे जो अगहनमें मेरी पूजा करता है, उसपर प्रसन्न होकर मैं अपनी भक्ति देता हूँ।

जो मनुष्य तुलसीकी मंजरियोंसे मेरी पूजा करता है, वह मोक्षका भागी होता है। जो तुलसीका पौधा लगाकर उसके पत्तोंसे मेरी पूजा करता है, वह मेरे निवासस्थान श्वेतद्वीपमें आनन्दका अनुभव करता है। जो तुलसीदलसे प्रतिदिन मुझ लक्ष्मीपतिकी पूजा करता है, उसके महापातक भी नष्ट हो जाते हैं, फिर उपपातकोंकी तो बात ही क्या है। बासी फूल और बासी जल पूजाके लिये वर्जित हैं। परंतु तुलसीदल और गंगाजल बासी होनेपर भी वर्जित नहीं हैं।* बिल्वपत्र, शमीपत्र, चमेलीपत्र और कमल तथा कौस्तुभमणिसे भी तुलसीदल मुझे अधिक प्रिय है। जिसके पत्ते कटे न हों और जो मंजरीके साथ हो, ऐसी तुलसी मुझे लक्ष्मीके समान प्रिय है। जैसी कृष्ण और शुक्ल दोनों पक्षोंकी एकादशी मुझे प्रिय है, उसी प्रकार गौर और कृष्ण दोनों प्रकारकी तुलसी मुझे प्रिय है। कौस्तुभ आदि असंख्य रत्न तभीतक गर्जते हैं, जबतक कि श्यामा तुलसीकी श्याम मंजरी नहीं मिलती है। जो मेरी पूजाके लिये माँगनेवालोंको तुलसीदल देते हैं तथा अन्य भक्तोंको भी तुलसीदल अर्पण करते हैं, वे मेरे अविनाशी धामको जाते हैं।

जो काले अगुरुके बने हुए धूपसे मेरे मन्दिरको सुवासित करता है, वह वैष्णव नरक-समुद्रसे मुक्त हो जाता है। गुग्गुलमें भैंसका घी और शक्कर मिलाकर जो मुझे धूप देता है, उसकी अभिलाषाको मैं पूर्ण करता हूँ। अगुरुका धूप देह और गेह दोनोंको पवित्र करता है, रालका बना हुआ धूप यक्षों और राक्षसोंका नाश करता है। चमेलीका फूल, इलायची, गुग्गुल, हर्रे, कूट, राल, गुड़, छडछरीला और वज्रनखी नामक गन्ध-द्रव्य—इनके साथ धूपका संयोग होनेसे इन सबको दशांग धूप कहते हैं†। यदि मेरे अत्यन्त प्रिय मार्गशीर्षमासमें कोई मनुष्य दशांग धूप देता है, तो मैं उसे अत्यन्त दुर्लभ मनोरथ, बल, पुष्टि, स्त्री, पुत्र और भक्ति देता हूँ।

अनेक बत्तियोंसे युक्त और घीसे भरे हुए दीपको जलाकर जो मनुष्य मेरी आरती उतारता है, वह कोटि कल्पोंतक स्वर्गलोकमें निवास करता है। जो अगहनके महीनेमें मेरे आगे होती हुई आरतीका दर्शन करता है, वह अन्तमें परमपदको प्राप्त होता है। जो मेरे आगे भक्तिपूर्वक कपूरकी आरती करता है, वह मुझ अनन्तमें प्रवेश कर जाता है। जो मन्त्रहीन और क्रियाहीन मेरा पूजन किया गया है, वह मेरी आरती कर देनेपर सर्वथा परिपूर्ण हो जाता है। जो मार्गशीर्षमासमें कपूरसे दीपक जलाकर मुझे अर्पण करता है, वह अश्वमेध यज्ञका फल पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है।

~~~O~~~

* वर्ज्यं पर्युषितं पुष्पं वर्ज्यं पर्युषितं जलम्। न वर्ज्यं तुलसीपत्रं न वर्ज्यं जाह्नवीजलम्॥

† जातिपुष्पमथैला च गुग्गुलश्च हरीतकी। कूटः सर्जरसश्चैव गुडः शैलाच्छडस्तथा॥
नखयुक्तानि चैतानि दशाङ्गो धूप उच्यते।
(स्क० पु०, वै० मा० मा० ८।९, ८।२७)
~~~

# स्तुतिपाठ, मन्त्रजप, साष्टांग प्रणाम तथा दामोदरमन्त्रके जपका माहात्म्य

**श्रीभगवान् कहते हैं**—तदनन्तर नैवेद्यका भोग लग जानेपर कर्पूरवासित जलसे मुझे आचमन करावे, पान दे और हाथ धोनेके लिये चन्दन अर्पण करे। फिर पुष्पांजलि देकर भक्तिपूर्वक कपूरसे आरती करे। मुकुट और आभूषण आदि समर्पित करके छत्र, चँवर भेंट करे तथा श्यामसुन्दर विग्रहवाले भगवान् विष्णु मेरे प्रति कृपापूर्वक प्रसन्नमुख हैं, ऐसा ध्यान करते हुए अष्टाक्षर मन्त्रका एक सौ आठ बार जप और स्तोत्रोंद्वारा भगवान्‌का स्तवन करे। विद्वान् पुरुष चलते, हँसते और अगल-बगलमें देखते हुए तथा पैरसे पैरको दबाकर हाथको मस्तकपर रखकर, खड़े होकर और व्यग्रचित्त होकर मेरे मन्त्रका जप न करे। जपके समय तथा व्रत, होम और पूजन आदिमें दूसरोंसे वार्तालाप न करे। जपका फल तीर्थ आदिमें सहस्रगुना और मेरे समीप अनन्तगुना होता है।

इस प्रकार अगहनके महीनेमें मेरी पूजा करके जो प्रदक्षिणा करता है, वह पग-पगपर सात द्वीपोंवाली पृथ्वीकी परिक्रमाका पुण्यफल पाता है। सहस्रनामका पाठ अथवा केवल एक नामका उच्चारण करते हुए जो भक्तिपूर्वक मेरी एक परिक्रमा भी करता है, वह प्रतिदिनके पापको भस्म कर डालता है। जिसने भक्तिभावके साथ मेरी एक सौ आठ बार परिक्रमा की है, उसने उत्तम दक्षिणावाले सम्पूर्ण यज्ञोंका अनुष्ठान पूरा कर लिया। अब तुम एक गूढ़ रहस्यकी बात सुनो। अपने दामोदर नामसे मुझे ऐसी प्रसन्नता होती है कि जिसकी कहीं तुलना नहीं है। गोकुलमें जब मैंने दहीका मटका फोड़ डाला, तब मैया यशोदाने मेरी कमरमें रस्सी लपेटकर मुझे खूब कसकर ओखलीमें बाँध दिया, तभीसे मेरा दामोदर नाम प्रसिद्ध हुआ। जो प्रतिदिन एकाग्र चित्त हो सूर्योदयकालमें पवित्रतापूर्वक '**दामोदराय नमः**' इस मन्त्रका तीन हजार जप करता है और साढ़े तीन लाख जप पूरा होनेपर उसका उद्यापन करता है, जपके दशांशका हवन, तर्पण और ब्राह्मण-भोजन कराता है और इस प्रकार भक्तिपूर्वक इस अनुष्ठानको पूरा करता है, उसे मैं मनोवांछित वस्तुएँ देता हूँ। '**दामोदराय नमः**' इस मन्त्रराजका जप करते हुए प्रतिदिन मेरी प्रदक्षिणा और दण्डकी भाँति पृथ्वीपर गिरकर सदैव मुझे साष्टांग प्रणाम करना चाहिये। दोनों हाथ, दोनों पैर, दोनों घुटने, छाती, मस्तक, मन, वाणी और दृष्टिसे जो प्रणाम किया जाता है, उसे साष्टांग प्रणाम कहते हैं*। अपने मस्तकको मेरे चरणोंपर रखकर दोनों भुजाओंको परस्पर मिला दे और प्रार्थना करे, 'हे परमेश्वर! मैं मृत्युरूपी ग्राहसे परिपूर्ण इस संसारसमुद्रसे भयभीत होकर आपकी शरणमें आया हूँ, आप मेरी रक्षा करें।' फिर मेरेद्वारा दी हुई प्रसाद-माला आदिको सादर मस्तकपर चढ़ाकर मेरी पूजाकी पूर्तिके लिये इस प्रकार कहे 'देव जनार्दन! मैंने मन्त्रहीन, भक्तिहीन और क्रियाहीन जो पूजन किया है, वह सब आपकी कृपासे परिपूर्ण हो।'†

विष्णुसहस्रनाम, भीष्मस्तवराज, गजेन्द्रमोक्ष,

---

* पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यामुरसा शिरसा तथा। मनसा वचसा दृष्ट्या प्रणामोऽष्टाङ्ग उच्यते॥

† मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्दन। यत्पूजितं मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे॥

(स्क० पु०, वै० मा० मा० १०। ३०, ३३)

अनुस्मृति तथा गीता—ये पाँच प्रकारके स्तोत्र मुझे अभीष्ट हैं। महाभाग! इन्हें सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है। जो मनुष्य एक बूँद भी शालग्रामशिलाका जल पी लेता है, वह मोक्षका भागी होता है। जिनके मस्तकपर शालग्राम-शिलाका चरणोदक है तथा जो उस चरणोदकको पीते हैं, उनपर सूतक और मृतकका भी अशौच लागू नहीं होता। मृत्युकालमें जिसको वह चरणामृत दिया जाता है, वह भी उत्तम गतिको प्राप्त होता है।

## राजा वीरबाहुके पूर्वजन्मका वृत्तान्त एवं एकादशीव्रत और उसका उद्यापन

**श्रीभगवान् कहते हैं**—ब्रह्मन्! काम्पिल्य नगरमें वीरबाहु नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। वे सत्यवादी, क्रोधपर विजय पानेवाले, ब्रह्मज्ञानी तथा मेरे भक्त थे। उनका स्वभाव बड़ा दयालु था। वे वैष्णवोंके भक्त थे और मेरी कथा सुननेमें सदा रुचि रखते थे। दानी, विद्वान्, क्षमाशील, पराक्रमी, जितेन्द्रिय तथा अपनी ही स्त्रीसे स्नेह रखनेवाले थे। उनकी स्त्री पतिव्रता, परम साध्वी तथा मेरी भक्तिमें तत्पर रहनेवाली थी। अपनी उस रानीके साथ वे समूची पृथ्वीका पालन करते और मेरे सिवा दूसरे किसी देवताको नहीं जानते थे। एक दिन महामुनि भारद्वाज महात्मा वीरबाहुके घर पधारे। उन्हें देखकर राजाने विधिपूर्वक अर्घ्य दे उनका स्वागत-सत्कार किया। अपने ही हाथसे उनके लिये आसन बिछाया और बड़ी भक्तिसे प्रणाम करके मुनिके आगे खड़े होकर कहा—'ब्रह्मर्षे! आज मेरा जन्म सफल हो गया। परमात्मा भगवान् विष्णु मुझपर बहुत प्रसन्न हैं, जिससे आप-जैसे योगिराजने आज मेरे घरपर पदार्पण किया। आपकी पवित्र दृष्टि पड़नेसे आज मैं कोटि-कोटि पापोंसे मुक्त हो गया।'

**भारद्वाज बोले**—महाभाग! तुम भगवान् विष्णुके भक्त हो। उत्तम प्रजाओंसे युक्त वह धरती धन्य है, जिसकी तुम रक्षा करते हो। जहाँका राजा भगवान् विष्णुका भक्त न हो, उस राज्यमें निवास नहीं करना चाहिये। जंगल और तीर्थमें निवास करना अच्छा है, परंतु वैष्णवहीन राज्यमें रहना कदापि श्रेयस्कर नहीं। जहाँ भगवद्भक्त राजा इस पृथ्वीका शासन करता है, उस पापशून्य राज्यको वैकुण्ठ मानना चाहिये। जैसे मन्त्रहीन आहुति, मरे हुए बछड़ेवाली गायका दूध, दशमी-विद्धा एकादशी, लम्बे-लम्बे केश रखनेवाली विधवा तथा स्नानके बिना व्रत—ये सब श्रेष्ठ नहीं माने जाते, उसी प्रकार बिना वैष्णवका राज्य भी अच्छा नहीं है।*

राजन्! मैंने जो तुम्हारी ओर देखा है, उससे मेरी दृष्टि सफल हो गयी। जो तुम्हारे साथ वार्तालाप करती है, वह मेरी वाणी भी आज सफल हो गयी। तुम भगवान् विष्णुके भजनमें तत्पर रहनेवाले परम पवित्र राजा हो। मैंने तुम्हारा दर्शन कर लिया। तुम्हारा कल्याण हो, तुम सुखी रहो, अब मैं जाऊँगा।

इसी समय महारानी कान्तिमतीने भी आकर मुनिश्रेष्ठ भारद्वाजको प्रणाम किया। तब मुनिने उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा—'सुन्दरि! तुम

* यथाऽऽहुतिर्मन्त्रहीना मृतवत्सापयो यथा॥
सकेशा विधवा यद्वद् व्रतं स्नानविवर्जितम्। एकादशी दशमीयुक्ता तथा राष्ट्रमवैष्णवम्॥

सौभाग्यवती और पतिव्रता रहो। शुभे! भगवान् विष्णुमें तुम्हारी अविचल भक्ति हो।' तत्पश्चात्

राजाने पूछा—'मुनिश्रेष्ठ! मैंने पूर्वजन्ममें कौन-सा पुण्य किया है, जिससे मुझे अकण्टक राज्य, गुणवान् पुत्र, मुझमें मन लगाये रहनेवाली परम सुन्दरी एवं भगवद्भक्त पत्नी आदिकी प्राप्ति हुई? मुने! मैं कौन था और मेरी यह स्त्री कौन थी?'

**भारद्वाजने कहा**—राजन्! तुम पूर्वजन्ममें जीवहिंसापरायण शूद्र थे। नास्तिक, दुराचारी, परस्त्रीगामी, कृतघ्न, उद्दण्ड और सदाचारशून्य थे। परंतु तुम्हारी जो यह स्त्री है, यह पूर्वजन्ममें भी तुम्हारी ही पत्नी थी। इसके लिये मन, वाणी और क्रियाद्वारा सेवन करने योग्य तुम्हारे सिवा दूसरा कोई नहीं था। यह पतिव्रता नारी निरन्तर तुम्हारी ही सेवामें रहती थी। तुम पापकर्मी थे इसलिये मित्रोंने तुम्हारा साथ छोड़ा, भाई-बन्धुओंने तुम्हें त्याग दिया, तुम्हारे पूर्वजोंने जो धन संचित कर रखा था, वह सब नष्ट हो गया। धन नष्ट हो जानेपर भी तुम्हें भोगकी अभिलाषा ज्यों-की-त्यों बनी रही। पूर्वकर्मोंके परिणामसे तुम्हारी खेती भी चौपट हो गयी। उस दशामें सबने तुम्हें छोड़ दिया, परंतु इस साध्वी स्त्रीने प्रतिदिन क्षीणकाय होती हुई भी तुम्हें नहीं छोड़ा। सब ओरसे विफलमनोरथ होकर तुम निर्जन वनमें चले गये और वहाँ अनेक प्रकारके जीवोंको मारकर अपना पोषण करने लगे। इस प्रकार रहते हुए तुम्हें बहुत वर्ष बीत गये।

एक दिनकी बात है, एक महामुनि राह भूलकर उधर आ निकले। वे श्रेष्ठ ब्राह्मण थे और उनका नाम देवशर्मा था। उन्हें दिशाका भी ज्ञान नहीं रह गया था। वे भूख और प्याससे अत्यन्त पीड़ित होकर दोपहरके समय वनमें गिर पड़े। उस दुःखसे पीड़ित ब्राह्मणको देखकर तुम्हारे मनमें दया आ गयी। वे बूढ़े थे और तुमसे अपरिचित भी थे, तो भी तुमने उनका हाथ पकड़कर उठाया और कहा—'ब्रह्मर्षे! तुम कृपा करके मेरे आश्रमपर चलो। वहाँ जलसे भरा हुआ सरोवर है, जो कमलोंके समुदायसे सदा सुशोभित रहता है। वह आश्रम सुन्दर फल-फूलोंवाले मनोहर वृक्षोंसे घिरा हुआ है। वहाँ ठंडे जलमें स्नान करके नित्यकर्म करो, उसके बाद फल खाओ और शीतल जल पीओ।' ब्राह्मणको कुछ-कुछ चेत हुआ और वे उस शूद्रका हाथ पकड़कर जलाशयके समीप गये। वहाँ सरोवरके तटपर वृक्षकी छायामें बैठे। फिर विधिपूर्वक स्नान करके देवताओं और पितरोंका तर्पण करनेके पश्चात् भगवान् विष्णुकी पूजा की और शीतल जल पिया। वृक्षके नीचे आकर जब वे विश्राम करने लगे, तब उस शूद्रने अपनी स्त्रीके साथ आकर मुनिको साष्टांग प्रणाम किया और बड़ी भक्तिसे कहा—'ब्रह्मर्षे! आप हमारे अतिथि हैं और हम दोनोंका उद्धार करनेके लिये यहाँ पधारे हैं। आपके दर्शनमात्रसे हमारे सब पापोंका नाश हो गया।' यह कहकर उसने अपनी स्त्रीसे कहा—'प्रिये! इन ब्राह्मण देवताके लिये

तुम स्वादिष्ट, कोमल, सरस, पके हुए तथा प्रिय लगनेवाले फल अर्पण करो।'

**ब्राह्मण बोले**—बेटा! मैं तुम्हें नहीं जानता। पहले तुम अपनी जाति और कुलका परिचय दो, क्योंकि बिना जाने हुए ब्राह्मणके यहाँ भी भोजन नहीं करना चाहिये।

**शूद्रने कहा**—द्विजश्रेष्ठ! मैं शूद्र हूँ, मेरे दुष्ट बन्धुओंने मुझे त्याग दिया है।

वे दोनों इस प्रकार बात कर रहे थे। इतनेमें ही शूद्रकी पत्नीने ब्राह्मणके आगे फल परोस दिये। ब्राह्मणने उन फलोंका भोजन किया और ठंडा जल पीकर उनका चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। वहाँ सुख पाकर उन्होंने वृक्षके नीचे विश्राम किया। शूद्रने भी घरमें जाकर अपनी पत्नीके साथ भोजन किया और फिर ब्राह्मणके समीप आकर कहा—'मुनिश्रेष्ठ! आप कहाँसे इस निर्जन वनमें आये हैं।'

**ब्राह्मणने उत्तर दिया**—महाभाग! मैं ब्राह्मण हूँ और प्रयाग जाना चाहता हूँ। अपरिचित मार्गसे चलकर इस भयंकर वनमें आ गया हूँ। तुमने आज मुझे जीवनदान दिया है। बोलो, मैं तुम्हारा क्या उपकार करूँ? शूद्र बोला—'राजा भीमसे सुरक्षित विदर्भ नगरी मेरा निवासस्थान है, मैं महाराष्ट्र प्रान्तका रहनेवाला हूँ, मेरी जाति शूद्र है, मैं सदा पापमें ही लगा रहा, अपने वर्णधर्मको मैंने छोड़ दिया, फिर बन्धुओंने मुझे त्याग दिया और मैं इस वनमें चला आया। यहाँ प्रतिदिन जीवहिंसा करके अपनी स्त्रीके साथ जीवन-निर्वाह करता हूँ। महामुने! अब इस पातकसे मुझे अत्यन्त खेद और वैराग्य हो गया है। प्रभो! मुझ पापीके ऊपर कुछ अनुग्रह कीजिये। द्विजश्रेष्ठ! मेरे किसी पूर्वपुण्यके प्रभावसे आप यहाँ आये हैं। आप कृपा करके ऐसा उपदेश दें, जिसके प्रभावसे मुझे अपनी पत्नीके साथ यमराजका दर्शन न करना पड़े। मैं भगवान् विष्णुको छोड़कर और कुछ नहीं चाहता।'

**देवशर्माने कहा**—शूद्र! सहसा तुम्हारे मनमें भगवान् विष्णुके ऊपर जो ऐसी पूर्ण श्रद्धाबुद्धि हुई है, इससे तुम तीर्थ और व्रतके बिना ही करोड़ों पापोंसे मुक्त हो गये। आतिथ्य-सत्कार और भक्तिसे तुम्हें भगवान् विष्णुका पद प्राप्त हुआ। यों कहकर देवशर्मा ब्राह्मण तीर्थराज प्रयागको चले गये। राजन्! तुमने जो कुछ पूछा था, वह सब कुछ मैंने तुमसे कह सुनाया।

**राजा बोले**—ब्रह्मन्! सम्पूर्ण एकादशीकी उत्तम विधिका उपदेश कीजिये, जिससे भगवान् विष्णुकी प्रसन्नता प्राप्त हो।

**ऋषिने कहा**—नृपश्रेष्ठ! मार्गशीर्ष आदि महीनोंमें सभी द्वादशी तिथियोंको कल्याणमय अखण्ड एकादशी-व्रतका पालन करना चाहिये। दशमीको नक्तव्रत करे, एकादशीको दिनमें और रात्रिमें भी उपवास करे तथा द्वादशीको पारणाके रूपमें केवल एक बार भोजन करे। इसे अखण्डा एकादशी कहते हैं। दिनके आठवें भागमें जब सूर्यकी ज्योति मन्द हो गयी हो, उसी समयको नक्त जानना चाहिये; उसीमें किये हुए भोजनको नक्तव्रत कहते हैं। रात्रिमें भोजन करनेका नाम नक्तव्रत नहीं है।[१] काँस्यके बर्तनमें भोजन, उड़द, मसूर, चना, कोदो, साग, शहद, दूसरेका अन्न, दुबारा भोजन और मैथुन—इन दस वस्तुओंको विष्णुभक्त मनुष्य दशमीको त्याग दे।[२] बार-बार

---

१- दशम्यां चैव नक्तं च एकादश्यामुपोषणम्। द्वादश्यामेकभुक्तं च अखण्डा इति कथ्यते॥
दिवसस्याष्टमे भागे मन्दीभूते दिवाकरे। तद्धि नक्तं विजानीयान्न नक्तं निशि भोजनम्॥
(स्क० पु०, वै० मा० मा० १२। २२—२४)

२- कांस्यं भाषं मसूरांश्च चणकान् कोद्रवाँस्तथा। शाकं मधु परान्नं च पुनर्भोजनमैथुने॥
विष्णुभक्तो नरो वापि दशम्यां दश वर्जयेत्।
(स्क० पु०, वै० मा० मा० १२। २४-२५)

जलपान, हिंसा, अपवित्रता, असत्य-भाषण, पान चबाना, दाँतन करना, दिनमें सोना, मैथुन-सेवन, जुआ खेलना, रातमें सोना और पतित मनुष्योंसे वार्तालाप करना—विष्णुभक्त पुरुष इन ग्यारह बातोंको एकादशीके दिन त्याग दे। एकादशीको भगवान्‌से प्रार्थना करे कि—'हे केशव! आज आपकी प्रसन्नताके लिये मेरे द्वारा दिन और रातमें संयम-नियमका पालन हो। मेरी सोयी हुई इन्द्रियोंके द्वारा यदि स्वप्नमें कोई विकलता, भोजन या मैथुनकी क्रिया हो जाय अथवा मेरे दाँतोंके अंदर यदि पहलेसे अन्न सटा हुआ हो तो हे पुरुषोत्तम! इन सब बातोंको क्षमा कीजिये।'

पापोंसे उपावृत्त (निवृत्त) होकर जो गुणोंके साथ वास किया जाय, उसीको 'उपवास' समझना चाहिये। शरीरको सुखा डालनेका नाम 'उपवास' नहीं है*। पहले कही हुई दस बातें तथा पराया अन्न, शहद और शरीरमें तेल मलना आदि कार्य द्वादशीके दिन विष्णुभक्त पुरुष न करे। फिर द्वादशी आनेपर भगवान्‌से इस प्रकार प्रार्थना करे—'हे भगवान् गरुड़ध्वज! आज सब पापोंका नाश करनेवाली पुण्यमयी पवित्र द्वादशी तिथि मेरे लिये प्राप्त हुई है। इसमें मैं पारण करूँगा। आप प्रसन्न होइये।'

तदनन्तर ब्राह्मणोंको भोजन कराकर स्वयं भोजन करे। इस विधिसे जबतक वर्षकी समाप्ति हो, तबतक विद्वान् पुरुष एकादशी-व्रत करता रहे। वर्ष पूरा होनेपर उसका उद्यापन करे। मार्गशीर्षमासके शुभ शुक्ल पक्षमें एकादशीका उद्यापन किया जाता है। उसमें विधिके जाननेवाले बारह ब्राह्मणोंको आमन्त्रित करके तेरहवें विधिज्ञ आचार्यको पत्नीसहित आमन्त्रित करे। यजमान स्नान करके पवित्र हो श्रद्धा एवं इन्द्रियसंयमपूर्वक पाद्य, अर्घ्य और वस्त्र आदि सामग्रियोंसे आचार्य आदिका पूजन करे। तत्पश्चात् आचार्य उत्तम रंगोंसे चक्र-कमलसंयुक्त सर्वतोभद्रमण्डल बनावे। उस मण्डलको श्वेत वस्त्रसे आवेष्टित करे। फिर पंचपल्लव तथा पंचरत्नसे युक्त कर्पूर और अगुरुके सुगन्धसे वासित जलपूर्ण कलशको लाल कपड़ेसे वेष्टित करके उसके ऊपर ताँबेका पूर्णपात्र रखे। साथ ही उस कलशको फूलोंकी मालाओंसे भी आवेष्टित करे और उसे सर्वतोभद्रमण्डलके ऊपर स्थापित कर दे। कलशके ऊपर भगवान् श्रीलक्ष्मीनारायणकी स्थापना करे। तदनन्तर सर्वतोभद्रमण्डलमें बारह मासोंके अधिपतियोंकी स्थापना करके अखण्ड व्रतकी पूर्तिके लिये उनका पूजन करना चाहिये। मण्डलसे पूर्वभागमें शुभ शंखकी स्थापना करते हुए कहे—'हे पांचजन्य! तुम पहले समुद्रसे उत्पन्न हुए, फिर भगवान् विष्णुने तुम्हें अपने हाथोंमें धारण किया। सम्पूर्ण देवताओंने तुम्हारे रूपको सँवारा है, तुम्हें नमस्कार है।'

सर्वतोभद्रमण्डलसे उत्तर दिशामें हवनके लिये वेदी बनावे और संकल्पपूर्वक वेदोक्त विष्णुसम्बन्धी मन्त्रोंसे हवन करे। फिर भगवान् विष्णुकी प्रतिमाका स्थापन और पुरुषसूक्त एवं पौराणिक शुभ मन्त्रोंसे उसका पूजन करे। नैवेद्य चढ़ावे, धूप-दीप आदि उपहार भेंट करके आरती उतारे। फिर यक्ष-कर्दम (कपूर, अगुरु, कस्तूरी और कंकोलसे बनाये हुए अंगलेप)-से पूजा करके परिक्रमा करे। ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर नमस्कार करे। उसके बाद ब्राह्मणोंको आचार्य आदि क्रमसे वैदिक मन्त्रोंका जप करना चाहिये। जपके लिये पवमानसूक्त, मण्डलब्राह्मण '**मधुव्वाता ऋतायते०**' इत्यादि तीन मन्त्र '**तेजोऽसि०**', '**सुक्रजं०**', '**वाचं ब्रह्म०**' (साम०), '**पवित्रवन्तं सूर्यस्य०**' तथा '**विष्णोर्महसि०**' इत्यादि वैदिक

* उपावृत्तस्तु पापेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह। उपवासः स विज्ञेयो न शरीरस्य शोषणम्॥
(स्क० पु०, वै० मा० मा० १२। ३०)

संहितोक्त मन्त्र श्रेष्ठ माने गये हैं। जपके अन्तमें भगवान् विष्णुका कलशके ऊपर स्थापन करना चाहिये। सबेरे दिन निकलनेपर नीचे लिखे क्रमसे हवन करे। यज्ञाग्निक्रियापरायण पुरुष पहले पात्र-स्थापन करके विधिपूर्वक पूजा करनेके पश्चात् स्तुति करे। उसके बाद अपनी शाखाके गृह्यसूत्रमें बतायी हुई विधिके अनुसार चरुपूर्वक होम करे। चरु दो पात्रोंमें तैयार करे। पुरुषसूक्तके मन्त्रसे चरुकी सोलह आहुतियाँ दे तथा घृतयुक्त पायसद्वारा चार बार श्रेष्ठ आहुति प्रदान करे। उसके बाद प्रादेशमात्र (अँगूठेसे लेकर तर्जनीतककी लंबी) एक सौ पलाशकी समिधाएँ लेकर उन्हें घीमें डुबो दे और '**इदं विष्णुर्विचक्रमे०**' इत्यादि मन्त्रोंसे कर्मकी सिद्धिके लिये उनका हवन करे। समिधाओंकी एक सौ आहुति देनेके बाद तिलकी दो सौ आहुतियाँ दे। इस प्रकार वैष्णव होम करके ग्रहयज्ञ प्रारम्भ करे। उसमें भी क्रमशः समिधाहोम, चरुहोम और तिलहोम करने चाहिये। तत्पश्चात् स्वस्तिवाचन कराकर पूजन करे। फिर ऋत्विजोंको दक्षिणा दे और भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ब्राह्मणको एक दूध देनेवाली गौ तथा सुन्दर बैल दे। तदनन्तर ब्राह्मणोंको तेरह पद दान करे। सपत्नीक आचार्यको वस्त्रोंसे सन्तुष्ट करे और धनसहित महादान दे। पारण कर लेनेपर रातको ब्राह्मणोंको जलसे भरे हुए वस्त्र-वेष्टित पचीस कलश दान करे। अपनी शक्तिके अनुसार व्रतका उद्यापन करना चाहिये। इस प्रकार अखण्ड एकादशी-व्रतका वर्णन किया गया।

## एकादशीके जागरण और मत्स्योत्सवकी विधि एवं माहात्म्य

**श्रीभगवान् कहते हैं**—गीत, वाद्य, नृत्य, पुराणपाठ, धूप, दीप, नैवेद्य, पुष्प, चन्दन, अनुलेपन, फल-निवेदन, श्रद्धा, दान, इन्द्रियसंयम, सत्यभाषण, निद्रात्याग, प्रसन्नतापूर्वक मेरा पूजन, आश्चर्य और उत्साहसहित पाप और आलस्यादिका त्याग, प्रदक्षिणा, नमस्कार, हर्षयुक्त हृदयसे नीराजन तथा प्रत्येक पहरमें आरती—इन गुणोंसे युक्त जागरण एकादशीकी रात्रिमें करना चाहिये। जो इस प्रकार भक्तिपूर्वक जागरण करता है, वह पुनः इस संसारमें जन्म नहीं लेता। यदि कोई कथावाचक मिले तो एकादशीके जागरणमें पहले पुराणपाठकी व्यवस्था करनी चाहिये। जो अविद्ध एकादशीके दिन-रातमें मेरे लिये जागरण करते हैं, उनके बीचमें मैं प्रसन्न होकर नृत्य करता हूँ। जो एकादशीकी रातमें जागरण करते समय दीप-दान करता है, वह एक-एक निमेषमें गोदानका फल पाता है। जो जागरणमें मेरे लिये कपूर और गुग्गुल मिलाया हुआ धूप देता है, वह अपने लाखों जन्मोंकी पापराशिको भस्म कर डालता है। मेरे लिये जागरण करते समय जो भक्तिपूर्वक पुराणकी पुस्तक बाँचता है, वह मेरे समीप निवास करता है। मेरी परिक्रमा करनेसे विद्वानोंने जिस फलकी प्राप्ति बतायी है, वह पुण्यफल चार करोड़ यज्ञोंसे भी नहीं प्राप्त हो सकता। जो जागरणकालमें मेरे बालचरित्रोंका पाठ करता है, वह कोटि सहस्र युगोंतक श्वेतद्वीपमें निवास करता है। जो रात्रिमें गीता और श्रीविष्णुसहस्रनामका पाठ करता है, वह उसके साथ जागरण करनेसे वेद और पुराणोंमें बताये हुए सभी पुण्यफलोंको पाता है। जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा जागरण करते हैं, उनकी मेरे लोकसे किसी प्रकार भी पुनरावृत्ति नहीं होती। बहुत पुत्रोंके उत्पन्न होनेसे क्या लाभ, एक ही गुणवान् एवं भक्त पुत्र हो तो एकादशीके जागरणसे समस्त पूर्वजोंको तार दे। जो मेरे द्वारा कहे हुए जागरणके माहात्म्यको भक्तिपर्वूक पढ़ता

है, वह सौ पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है। अनजानमें या जान-बूझकर जो पातक किया गया है, पूर्वजन्ममें और इस जन्ममें ही जिस पापराशिका संचय किया गया है, एकादशीके जागरणसे उन सबका नाश हो जाता है। चतुरानन! जो द्वादशीके इस माहात्म्यको पढ़ता अथवा सुनता है, वह सब पापोंसे शुद्ध होकर सनातन गतिको प्राप्त होता है। द्वादशी-व्रतके प्रभावसे सदा धर्मपर बुद्धि स्थिर रहती है, मेरे प्रति अत्यन्त निर्मल भक्तिका उदय होता है और मनुष्यको पाप नहीं लगता।

मार्गशीर्ष शुक्ल पक्षकी द्वादशी तिथिमें विद्वानोंको प्रातःकाल विधिपूर्वक मत्स्योत्सव मनाना चाहिये। उसकी विधि इस प्रकार है—मार्गशीर्षमासकी दशमी तिथिको मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए बुद्धिमान् पुरुष देवपूजनके पश्चात् विधिपूर्वक अग्निस्थापन करे। उसके बाद शंख, चक्र, गदा, किरीट तथा पीताम्बर धारण करनेवाले सर्वलक्षणलक्षित मुझ प्रसन्नवदनारविन्द गोविन्दका ध्यान करके हाथमें अर्घ्यके लिये जल ले और मुझे सूर्यमण्डलमें स्थित जानकर उस हाथके जलसे अर्घ्य दे। उस समय इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये—'कमलके समान नेत्रोंवाले भगवान् अच्युत! मैं एकादशीको निराहार रहकर दूसरे दिन भोजन करूँगा, आप मेरे रक्षक हों।'

तदनन्तर रात्रिमें मेरे विग्रहके समीप बैठकर विधिपूर्वक '**ॐ नमो नारायणाय**' इस मन्त्रका जप करे। एकादशीको प्रातःकाल किसी स्वच्छ जलवाली समुद्रगामिनी नदीके समीप जाकर अथवा दूसरी किसी नदी या तड़ागके समीप पहुँचकर आगे बताये जानेवाले मन्त्रसे वहाँकी मिट्टी ले—

**धारणं पोषणं त्वत्तो भूतानां देवि सर्वदा।**
**तेन सत्येन मे पापं यावन्मोचय सुव्रते॥**

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाली देवि! सम्पूर्ण भूतोंका धारण और पोषण सदा तुमसे ही होता है, इस सत्यके प्रभावसे तुम मेरे समस्त पापोंको छुड़ाओ।'

तत्पश्चात् वरुणसे प्रार्थना करे—

**त्वयि नित्यं रसाः सर्वे स्थिता वरुण सर्वदा।**
**तेनेमां मृत्तिकां प्लाव्य पूतां कुरुष्व मा चिरम्॥**

'हे वरुण! सब रस सदा आपमें ही स्थित रहते हैं, इसलिये इस मृत्तिकाको आप्लावित करके आप शीघ्र पवित्र कीजिये।'

इस प्रकार मृत्तिका और जलके अधिष्ठाता देवताओंको प्रसन्न करके उस मिट्टी और जलको अपने शरीरमें लगावे। समूची मिट्टीके तीन भाग करके उसे जलमें मिलाकर नाभिसे नीचेके भागोंमें, नाभि और वक्षःस्थलके बीचमें तथा वक्षःस्थलसे ऊपरके भागमें लगाना चाहिये। उसके बाद जलमें, जहाँ मगर और कछुओंका भय न हो, नहाकर नित्यकर्म करके फिर मेरे मन्दिरमें आवे और मुझ भगवान् नारायणकी आराधना करे। '**केशवाय नमः**' इस मन्त्रसे मेरे दोनों पैरोंकी पूजा करे। इसी प्रकार '**दामोदराय नमः**' से कटिभागकी, '**नृसिंहाय नमः**' से दोनों घुटनोंकी, '**श्रीवत्सधारिणे नमः**' से वक्षःस्थलकी, '**कौस्तुभनाभाय नमः**' से कण्ठकी, '**श्रीपतये नमः**' से हृदयकी, '**त्रैलोक्यविजयाय नमः**' से बाहुकी, '**सर्वात्मने नमः**' से सिरकी, '**रथाङ्गधारिणे नमः**' से चक्रकी, '**श्रीकराय नमः**' से शंखकी, '**गम्भीराय नमः**' से गदाकी और '**शान्तमूर्तये नमः**' से पद्मकी पूजा करे। इस प्रकार सबके स्वामी मुझ देवेश्वर नारायणकी पूजा करके मेरे आगे चार कलशोंकी स्थापना करे, जो जलसे भरे हुए, मालासे सुशोभित, श्वेत चन्दनसे चर्चित, आम्रपल्लवोंसे संयुक्त, श्वेत वस्त्रोंसे अवगुण्ठित तथा सुवर्णयुक्त तिलसहित ताँबेके पूर्णपात्रोंसे आच्छादित हों। उन सबके मध्यमें एक पीठ (छोटी-सी चौकी) स्थापित करे;

जिसके ऊपर वस्त्र बिछा हुआ हो। उस पीठके ऊपर एक पात्र रखे और उसे जलसे भर दे। फिर उसमें मत्स्यावतार भगवान्‌की सुवर्णमयी प्रतिमा रखे। उस प्रतिमामें देवाधिदेव भगवान्‌के सभी अंग स्पष्ट होने चाहिये। उनके हाथ श्रुतियों और स्मृतियोंके ग्रन्थोंसे विभूषित हों। वहाँ अनेक प्रकारके भक्ष्य पदार्थों, फल, फूल, गन्ध, धूप और वस्त्र आदि सामग्रियोंसे विधिपूर्वक भगवान्‌की पूजा करके यह प्रार्थना करे—

**रसातलगता वेदा यथा देव त्वयोद्धृताः।**
**मत्स्यरूपेण तद्वन्मां भवादुद्धर केशव॥**

'देव! केशव! पूर्वकालमें मत्स्यरूप धारण करके आपने जिस प्रकार रसातलमें गये हुए वेदोंका उद्धार किया, उसी प्रकार मेरा भी इस संसारसे उद्धार कीजिये।'

ऐसा कहकर भगवान्‌के आगे जागरण करे। फिर प्रातःकाल होनेपर वे चारों कलश चार ब्राह्मणोंको दे दे। भगवान् मत्स्यकी मूर्तिको गन्ध, धूप और वस्त्र आदिसे पूजित करके आचार्यको दे दे। जो मनुष्य इस विधिसे मत्स्योत्सव करता है और भक्तिपूर्वक इस उत्तम द्वादशीव्रतको सुनता-सुनाता है, वह सभी पातकोंसे छूट जाता है।

## ब्राह्मण-भोजन, प्रसाद-भक्षण और श्रीकृष्णकीर्तनकी महिमा

**श्रीभगवान् कहते हैं**—मार्गशीर्षमासमें कीर्तियुक्त भगवान् केशवकी पूर्वोक्त विधिसे पूजा करनी चाहिये। जो प्रतिदिन एक बार भोजन करके समूचे मार्गशीर्षको व्यतीत करता है और भक्तिपूर्वक ब्राह्मणोंको भोजन कराता है, वह रोगों और पातकोंसे मुक्त हो जाता है। मानद! अग्नि और ब्राह्मण दोनों ही मेरे मुख हैं, परंतु ब्राह्मण नामक मुख जैसा श्रेष्ठ है, वैसा अग्नि नहीं है। अग्नि नामक मुख तो ब्राह्मणके अधीन है, परंतु ब्राह्मण स्वतन्त्र है। अगहनमें कुमुदके समान स्वच्छ और सुगन्धदायक सुन्दर भात, मूँगकी दाल और गायके प्रचुर घीसे पूर्ण भोजनका ब्राह्मणके मुखमें हवन करे। चतुर्मुख! मेरे भक्तोंको मेरा प्रसाद भोजन करना चाहिये। वह पवित्र करनेवाला तथा पापियोंको भी मुक्त करनेवाला है। इसलिये अन्न-पानादि ओषधि मुझको अर्पण करे और अशुद्धको भी शुद्ध करनेवाले उस प्रसादको भक्तिपूर्वक भोजन करे। अन्य देवताओंका नैवेद्य न ग्रहण करे। अगहनके महीनेमें विशेषरूपसे 'कृष्ण-कृष्ण' कहकर मेरा नाम लेना चाहिये। यह मुझे अत्यन्त प्रसन्न करनेवाला है। मेरी एक प्रतिज्ञा है, जिसे देवता और असुर भी नहीं जानते। वह प्रतिज्ञा इस प्रकार है—जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा मेरी शरणमें आ जाता है, वह यहाँ सम्पूर्ण लौकिक कामनाओंको प्राप्त कर लेता है और अन्तमें सर्वोत्कृष्ट वैकुण्ठधाममें जाता है। जो 'हे कृष्ण! हे कृष्ण!! हे कृष्ण!!!' ऐसा कहकर मेरा प्रतिदिन स्मरण करता है, उसे जिस प्रकार कमल जलको भेदकर ऊपर निकल आता है, उसी प्रकार मैं नरकसे निकाल लाता हूँ।* जो विनोदसे, पाखण्डसे, मूर्खतासे, लोभसे अथवा छलसे भी मेरा भजन करता है, वह मेरा भक्त कभी कष्टमें नहीं पड़ता। मृत्युकाल उपस्थित होनेपर जो कृष्ण-नामकी रट लगाते हैं, वे यदि पापी हों तो भी कभी यमराजका दर्शन नहीं करते। पूर्व अवस्थामें किसीने सम्पूर्ण पाप किये हों तथापि यदि वह अन्तकालमें श्रीकृष्णका स्मरण कर लेता है, तो निश्चय ही

* कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः। जलं भित्त्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम्॥
(स्क० पु०, वै० मा० मा० १५। ३६)

मुझे प्राप्त होता है। मृत्युकाल उपस्थित होनेपर यदि कोई 'परमात्मा श्रीकृष्णको नमस्कार है' ऐसा विवश होकर भी कहे, तो वह अविनाशी पदको प्राप्त होता है। जो श्रीकृष्णका उच्चारण करके प्राण त्याग करता है, उसे प्रेतराज यम दूरसे ही खड़े होकर स्वर्गमें जाते देखते हैं। यदि कृष्ण-कृष्णका उच्चारण करता हुआ कोई श्मशानमें अथवा सड़कपर भी मर जाता है तो वह मुझे ही प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है। जो मेरे भक्तोंका दर्शन करके कहीं मृत्युको प्राप्त होता है, वह मनुष्य मेरा स्मरण किये बिना भी मोक्ष प्राप्त कर लेता है*। बेटा! पापरूपी प्रज्वलित अग्निसे भय न करो, श्रीकृष्णके नामरूपी मेघोंके जलकी बूँदोंसे उसे सींचकर बुझा दिया जाता है। तीखे दाढ़ोंवाले कलिकालरूपी सर्पका क्या भय है? श्रीकृष्णके नामरूपी इन्धनसे उत्पन्न आगके द्वारा वह जलकर नष्ट हो जाता है। पापरूपी अग्निसे दग्ध होकर जो सत्कर्मकी चेष्टासे शून्य हो गये हैं, ऐसे मनुष्योंके लिये श्रीकृष्णके नामस्मरणके सिवा दूसरी कोई ओषधि नहीं है। जैसे प्रयागमें गंगा, शुक्लतीर्थमें नर्मदा और कुरुक्षेत्रमें सरस्वती हैं, उसी प्रकार सर्वत्र श्रीकृष्णका कीर्तन सब पापोंका नाश करनेवाला है। संसार-समुद्रमें डूबकर जो महान् पापोंकी लहरोंमें गिर गये हैं, ऐसे मनुष्योंके लिये श्रीकृष्ण-स्मरणके सिवा दूसरी कोई गति नहीं है। जो पापी हैं, जिनमें श्रीकृष्ण-स्मरणकी इच्छा नहीं है, ऐसे मनुष्योंके लिये मृत्युकालमें तथा परलोककी यात्राके समय श्रीकृष्ण-चिन्तनके सिवा दूसरा कोई पाथेय (राहखर्च) नहीं है। बेटा! जिस मन्दिरमें प्रतिदिन कृष्ण-कृष्णका कीर्तन होता है, वहाँ गया, काशी, पुष्कर और कुरुक्षेत्र सब तीर्थ हैं। उसीका जन्म और जीवन सफल है तथा उसीका मुख सार्थक है, जिसकी जिह्वा सदा 'कृष्ण-कृष्ण' का कीर्तन करती है। जिसने एक बार भी 'हरि' इन दो अक्षरोंका उच्चारण कर लिया, उसने मोक्षके लिये जानेको कमर कस ली है। समस्त पापोंको भस्म कर डालनेके लिये मुझ भगवान्‌के नाममें जितनी शक्ति है, उतना पातक कोई पातकी मनुष्य कर ही नहीं सकता†। 'कृष्ण-कृष्ण'के कीर्तनसे मनुष्यका शरीर और मन कभी श्रान्त नहीं होता, उसे पाप नहीं लगता और विकलता भी नहीं होती। जो श्रीकृष्णनामोच्चारणरूपी पथ्यका कलियुगमें त्याग नहीं करता, उसके चित्तमें पापरूपी रोग नहीं पैदा होते। श्रीकृष्णनामका कीर्तन करते हुए मनुष्यकी आवाज सुनकर दक्षिण दिशाके अधिपति यमराज उसके सौ जन्मोंके पापोंका परिमार्जन कर देते हैं। सैकड़ों चान्द्रायण और सहस्रों पराक व्रतसे जो पाप नष्ट नहीं होता, वह कृष्ण-कृष्णके कीर्तनसे चला जाता है। श्रीकृष्णनामका उच्चारण करनेसे मेरी अधिकाधिक प्रीति बढ़ती है। कोटि-कोटि चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहणमें स्नान करनेसे जो फल बतलाया गया है, उसे मनुष्य कृष्ण-कृष्णके कीर्तनमात्रसे पा लेता है। जैसे सूर्य-किरणोंके तापसे बर्फ गल जाती है, उसी

---

* श्मशाने यदि रथ्यायां कृष्ण कृष्णेति जल्पति। म्रियते यदि चेत्पुत्र मामेवैति न संशयः॥
दर्शनान्मम भक्तानां मृत्युमाप्नोति यः क्वचित्। विना मत्स्मरणात्पुत्र मुक्तिमेति स मानवः॥
(स्क० पु०, वै० मा० मा० १५। ४२-४३)

† जीवितं जन्मसाफल्यं मुखं तस्यैव सार्थकम्। सततं रसना यस्य कृष्ण कृष्णेति जल्पति॥
सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्। बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥
नाम्नोश्च यावती शक्तिः पापनिर्दहने मम। तावत् कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः॥
(स्क० पु०, वै० मा० मा० १५। ५१—५३)

प्रकार श्रीकृष्ण-कीर्तनसे गुरुपत्नीगमन और सुवर्णकी चोरी आदि महापातक नष्ट हो जाते हैं। अगम्यागमन आदि महापापोंसे युक्त मनुष्य भी अन्तकालमें एक बार श्रीकृष्णनामका कीर्तन कर ले तो वह उससे पापमुक्त हो जाता है। जो जिह्वा कलिकालमें श्रीकृष्णके गुणोंका कीर्तन नहीं करती, वह दुष्टा मुँहमें न रहे, रसातलको चली जाय। जो कलियुगमें श्रीकृष्णके गुणोंका प्रयत्नपूर्वक कीर्तन करती है, वह जिह्वा अपने मुखमें हो या दूसरेके मुखमें, वन्दना करने योग्य है। जो दिन-रात श्रीकृष्णके गुणोंका कीर्तन नहीं करती, वह जिह्वा नहीं—मुखमें कोई पापमयी लता है, जिसे जिह्वाके नामसे पुकारा जाता है। जो 'श्रीकृष्ण-कृष्ण-कृष्ण-श्रीकृष्ण' इस प्रकार श्रीकृष्णनामका कीर्तन नहीं करती, वह रोगरूपिणी जिह्वा सौ टुकड़े होकर गिर जाय*।

जो श्रीकृष्णके नामकी इस महिमाका प्रातःकाल उठकर पाठ करता है, उसके लिये निश्चय ही मैं कल्याणदाता होता हूँ। जो तीनों सन्ध्याओंके समय श्रीकृष्णनामके माहात्म्यका पाठ करता है, वह जीते-जी सम्पूर्ण कामनाओंको और मरनेपर परम गतिको पाता है।

## श्रीकृष्णके बालस्वरूपका ध्यान, दामोदरमन्त्रके अधिकारी शिष्य और गुरुका लक्षण और श्रीमद्भागवतकी महिमा

**श्रीभगवान् कहते हैं**—ब्रह्मन्! अब मैं ध्यानका वर्णन करता हूँ। शोभाशाली उद्यानसे घिरी हुई एक सुवर्णमयी स्थली है। उसमें जगमगाते हुए रत्नोंका बना हुआ एक प्रकाशमान मण्डप है। उसके भीतर कल्पवृक्ष शोभा पा रहा है। उसके नीचे उद्दीप्त रत्नमय सिंहासन है, जिसके ऊपर कमलका आसन है। उसके ऊपर बालगोपाल श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण विराजमान हैं। उनके श्रीअंगोंकी कान्ति महानील-मणिके समान श्याम है। उनकी अत्यन्त बाल्यावस्था है। मुखके समीपतक चिकने काले, घुँघराले बाल बिखरे हुए हैं। उनसे उनके मुग्ध मुखारविन्दकी ऐसी शोभा हो रही है, मानो खिले हुए कमलपर भ्रमरोंके समूह छा रहे हों। उनके नेत्र नीलकमलके समान परम सुन्दर हैं। फूलके समान खिले हुए गाल हिलते हुए कुण्डलोंसे अतिशय सुशोभित हो रहे हैं। उनकी नुकीली नाक, लाल ओष्ठ और मन्द-मुसकानसे सुशोभित मुख सभी सुन्दर हैं। कण्ठमें अनेकानेक चमकते हुए आभूषण उनकी शोभा बढ़ा रहे हैं। वे विकसित कमलके समान बघनखा पहने हुए हैं। उनके नेत्र सुन्दर हैं। गौओंकी धूलि पड़नेसे उनका वक्षःस्थल धूसरित हो रहा है। उनके सभी अंग हृष्ट-पुष्ट हैं। सुवर्णमय अलंकारोंसे उनकी दीप्ति बढ़ रही है। मनोहर पिण्डलियों और जाँघोंसे सुशोभित कटिप्रदेशमें करधनी बँधी हुई है, जिसकी क्षुद्रघण्टिकाओंसे मधुर झनकार हो रही है। बन्धुजीव पुष्पके समान लाल-लाल हथेली और लाल कमलके समान चरणोंकी उदार शोभासे वे सुशोभित हैं। वे मन्द-मन्द हँस रहे हैं। उनके दाहिने हाथमें खीर है और बायें हाथमें वे तुरंतका निकाला हुआ शुद्ध माखन लिये हुए हैं। गायें और गोपियाँ उन्हें घेरकर बैठी हैं। इन्द्र आदि देवता भी उनके चरणोंमें मस्तक

* पततां शतखण्डा तु सा जिह्वा रोगरूपिणी। श्रीकृष्णकृष्णकृष्णेति श्रीकृष्णेति न जल्पति॥
(स्क० पु०, वै० मा० मा० १५। ६६)

झुकाते हैं। शेषनाग और वज्र आदिसे उपलक्षित उन देवाधिदेव भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन करके भक्तिभावसे नम्र हो प्रातःकाल उनकी पूजा करे और माखन-मिश्री, दही-दूध एवं कमल आदि अर्पण करके उन्हें प्रसन्न करे।

जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकाल आस्तिक भावसे युक्त होकर सदा इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णका पूजन करता है, वह शीघ्र ही इस लोकमें समग्र लक्ष्मीको प्राप्त करता है और मृत्युके पश्चात् शुद्ध परम धाममें गमन करता है। उनका लोकमनोहर मन्त्र पहले ही बतलाया गया है। उसका नाम है श्रीमद्दामोदर-मन्त्र (**श्रीदामोदराय नमः**)। इस मन्त्रके कौन-कौन अधिकारी हैं, उनका वर्णन सुनो। इस मन्त्रराजका उपदेश किसी अयोग्य व्यक्तिको नहीं देना चाहिये। यह शीघ्र सिद्धि प्रदान करनेवाला एक रहस्य है, इसलिये यत्नपूर्वक इसकी रक्षा करनी चाहिये। आलसी, मलिन, क्लेशग्रस्त, दम्भी, मोहयुक्त, दरिद्र, रोगी, क्रोधी, रागी, भोगलोलुप, दोषदर्शी, ईर्ष्या रखनेवाला, शठ, कटुवादी, अन्यायपूर्वक धन कमानेवाला, परस्त्रियोंमें आसक्त रहनेवाला, विद्वानोंका वैरी, मूर्ख, अपनेको पण्डित माननेवाला, व्रतभ्रष्ट, जीविकाके क्लेशसे युक्त, चुगलखोर, दुष्टचित्त, बहुभोजी, निर्दयतापूर्ण चेष्टावाला, दुष्टोंका नेता, कंजूस, पापी, भयंकर, आश्रितोंको भय देनेवाला—इस प्रकारके दुर्गुणोंसे युक्त शिष्यको इस मन्त्रके उपदेशके लिये कभी नहीं ग्रहण करना चाहिये। यदि कोई ग्रहण करता है तो शिष्यका दोष प्रायः गुरुमें भी आ जाता है। मन्त्रीका दोष राजामें, स्त्रीका दोष पतिमें और शिष्यका दोष गुरुमें आता है—इसमें कोई सन्देह नहीं। इसलिये गुरुको चाहिये कि वह सदा शिष्यकी परीक्षा लेकर ही उसे ग्रहण करे।

जो मन, वाणी और शरीरसे गुरुकी सेवामें तत्पर रहनेवाला हो, जिसमें चोरीकी वृत्तिका सर्वथा अभाव हो, जो आस्तिक होनेके साथ ही मोक्षके लिये उद्योगशील हो, ब्रह्मचर्यका पालन करता हो, सदा दृढ़तापूर्वक व्रतमें स्थित रहता हो, जिसकी पापमें प्रवृत्ति न हो, जिसका चित्त प्रसन्न और अन्तःकरण निर्मल हो, जिसमें शठताका अभाव हो, जो शुद्ध, परोपकारी और स्वार्थकामनासे रहित हो, अपने तन, मन और धनसे गुरुको सन्तुष्ट रखनेवाला हो, आश्रितजनोंको प्रसन्न रखनेवाला और पवित्र हो—ऐसे ही शिष्यको मन्त्रका उपदेश दे, अन्यथा नहीं।

अब गुरुका लक्षण बतलाता हूँ। जिसका चित्त सम और शान्त हो, जो क्रोधरहित, सब लोगोंका सुहृद्, साधु, महात्मा, लोकमें सबपर समान दृष्टि रखनेवाला हो, वह गुरु कहा गया है। जो सदा मेरे व्रतको धारण करता है, वैष्णवगण जिसे सम्मानकी दृष्टिसे देखते हैं, जो मेरी कथावार्तामें अनुरक्त और मेरे उत्सवोंमें संलग्न रहता है, जो दयासगर, पूर्णकाम, सर्वभूतोपकारी, सब ओरसे निःस्पृह, सिद्ध, सर्वविद्याविशारद, समस्त संशयोंको निवारण करनेवाला और आलस्यरहित है, जो सब कालोंका ज्ञाता है तथा सबपर अनुग्रह रखता है, ऐसा आदरणीय ब्राह्मण गुरु कहा गया है। पूर्वोक्त लक्षणोंसे युक्त शिष्य ऐसे गुरुसे मेरी प्राप्ति करानेवाले मार्गशीर्षमासमें उक्त दामोदर-मन्त्रका उपदेश ग्रहण करे।

विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह वैष्णवोंके व्रतोंको स्वीकार करे। जो मुझे प्रिय लगनेवाले परम उत्तम श्रीमद्भागवतपुराणका पाठ करता है, उसे प्रत्येक अक्षरपर कपिला गौके दानका फल मिलता है। जो प्रतिदिन श्रीमद्भागवतके आधे या चौथाई श्लोकका पाठ करता अथवा सुनता है, उसे सहस्र गोदानका फल मिलता है। जो प्रतिदिन पवित्रचित्त हो भागवतके श्लोकका पाठ करता है, उसे अठारह पुराणोंके पाठ करनेका फल मिलता है। जहाँ नित्य मेरी कथा होती है, वहाँ वैष्णवगण स्थित होते हैं। जो सदा मेरी

पूजा करते हैं, वे मनुष्य कलियुगके बाहर हैं। जो कलियुगमें अपने घरपर प्रतिदिन भागवतशास्त्रकी पूजा करते हैं, उनके ऊपर मैं प्रसन्न होता हूँ। बेटा! जितने दिनोंतक घरमें भागवतशास्त्र रहता है, उतने दिनोंतक पितर दूध, घी और मधुके साथ जल पीते हैं। जो भक्तिपूर्वक वैष्णव विद्वान्‌को भागवतशास्त्र देते हैं, वे मेरे लोकमें निवास करते हैं। जो अपने घरपर सदा भागवतशास्त्रकी पूजा करते हैं, उनके उस पूजनसे सब देवता प्रलयकालतकके लिये तृप्त हो जाते हैं। सदा मेरी प्रसन्नताके लिये सबको वैष्णव-शास्त्रोंका संग्रह करना चाहिये। कलियुगमें जहाँ-जहाँ परम पवित्र भागवतशास्त्र रहता है, वहाँ-वहाँ मैं सम्पूर्ण देवताओंके साथ सदैव निवास करता हूँ। वहीं सम्पूर्ण तीर्थ, नदी, नद, सरोवर, यज्ञ, सातों पुरी तथा सम्पूर्ण पवित्र पर्वत निवास करते हैं। धर्मबुद्धि पुरुषको पापके नाश और मोक्षकी प्राप्तिके लिये सदा भागवतशास्त्र श्रवण करना चाहिये। श्रीमद्भागवत परम पवित्र, आयु, आरोग्य तथा पुष्टिको देनेवाला है। इसके पढ़ने और सुननेसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। जो परम उत्तम श्रीमद्भागवतको न तो सुनते हैं और न सुनकर प्रसन्न ही होते हैं, उनपर सदा यमराजका प्रभुत्व रहता है, यह सर्वथा सत्य बात है। जिसके घरमें भागवतका एक या आधा श्लोक भी लिखकर रखा हुआ है, उसके यहाँ मैं स्वयं निवास करता हूँ। जो मेरी कथा बाँचता है, मेरी कथा सुननेमें संलग्न रहता है और मेरी कथा सुनकर जिसका मन प्रसन्न होता है, उस मनुष्यको मैं कभी नहीं छोड़ता। जो श्रीमद्भागवतका दर्शन करके उठकर खड़ा हो जाता और बारंबार प्रणामके द्वारा उसका सम्मान करता है, उसको देखकर मुझे अनुपम प्रसन्नता होती है। जो दूरसे भागवतशास्त्रको देखकर उसके सामने जाता है, उसे पग-पगपर अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं। जो श्रीमद्भागवतको सुनते हैं, मैं उनके वशमें होता हूँ। जो वस्त्र, आभूषण, पुष्प, धूप, दीप और नाना प्रकारके उपहारोंके साथ भक्तिपूर्वक मेरी प्रसन्नताके लिये श्रीमद्भागवत सुनते हैं, वे मुझे वशमें कर लेते हैं। ठीक उसी तरह जैसे साध्वी स्त्री अपने श्रेष्ठ पतिको वशमें कर लेती है।

## मार्गशीर्षमासमें मथुरासेवनका माहात्म्य और ग्रन्थका उपसंहार

**श्रीभगवान् कहते हैं**—मथुरा नामसे विख्यात जो मेरा उत्तम क्षेत्र है, वह मेरी परम प्रिय प्रशस्त एवं रमणीय जन्मभूमि है। चतुर्मुख! मथुरामें जहाँ कहीं भी मनुष्य स्नान करता है, घोर पापसे मुक्त हो जाता है। सब धर्मोंसे रहित दुष्टात्मा पुरुषोंके लिये पापनाशिनी मथुरा नरककी पीड़ा दूर करनेवाली है। कृतघ्न, शराबी, चोर तथा प्रतिज्ञा भंग करनेवाला मनुष्य मथुरामें जाकर घोर पापसे मुक्त हो जाता है। जो किसी दूसरे प्रसंगसे अथवा व्यापार या नौकरीके लिये भी जाते हैं, वे भी मथुरामें स्नान करनेमात्रसे पापरहित होकर स्वर्गलोकमें चले जाते हैं। मथुराका नाम लेनेवाले लोगोंकी भी मुक्ति होती है। जो मनुष्य वहाँ तीन रात भी निवास करते हैं, वे अपने दर्शन तथा चरणरेणुके स्पर्शसे भी दूसरोंको पवित्र कर देते हैं। जैसे छोटी-छोटी चिनगारियाँ घास-फूसके बड़े भारी ढेरको भी जला डालती हैं, उसी प्रकार मथुरापुरी बड़े-बड़े पापोंको भस्म कर देती है। अन्य स्थानोंमें किया हुआ पाप तीर्थस्थानमें जानेसे नष्ट होता है, किंतु तीर्थोंमें किया हुआ पाप वज्रलेप हो जाता है*। चतुरानन! अन्य स्थानोंमें जिस पापका

* अन्यत्र हि कृतं पापं तीर्थमासाद्य नश्यति। तीर्थेषु यत्कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति॥ (स्क० पु० वै० मा० मा० १७। १७)

भोग दस वर्षमें पूरा होता है, वह मथुरामें दस दिनमें ही पूरा हो जाता है। स्वर्ग, पाताल, अन्तरिक्ष तथा मनुष्यलोकमें मथुरापुरीके समान मेरा प्रिय क्षेत्र दूसरा नहीं है।

तीर्थराज प्रयागमें एक हजार वर्षतक निवास करनेसे जो फल प्राप्त होता है, वह मथुरापुरीमें केवल अगहनमें निवास करनेसे मिल जाता है। जिसने कभी मथुरापुरी नहीं देखी है और उसे देखनेकी इच्छा रखता है, उसकी कहीं भी मृत्यु क्यों न हो, वह मथुरामें जन्म लेता है। मेरे प्रिय भक्तो! तुम मथुरापुरीमें निवास करो, निवास करो। वहाँ गोपकन्याओंसे घिरा हुआ मैं सदैव निवास करता हूँ। संसारमें डूबे हुए शिष्यो! मेरी बात सुनो—यदि तुम घनीभूत आनन्द पाना चाहते हो, तो मथुरापुरीमें निवास करो। अहो! यह संसार बड़ा अंधा है, आँखें होते हुए भी नहीं देखता। मुक्तिदायिनी मथुराके होते हुए भी सदा जन्म-मरणरूपी संसार-चक्रका ही सेवन करता है। सौभाग्यवश अनुपम मनुष्ययोनि पाकर भी जिन्होंने मथुरापुरी नहीं देखी, उनकी आयु व्यर्थ ही बीत गयी। अहो! यह कैसी बुद्धिकी दुर्बलता है, मोहकी कितनी अद्भुत महिमा है कि मनुष्य मथुरापुरीका सेवन नहीं करते। जो मथुरापुरीको पाकर भी अन्यत्र जानेकी अभिलाषा करता है, वह अज्ञानसे ही सम्पन्न है। जो पापकी राशियोंसे आक्रान्त हैं, दरिद्रतासे पराजित हैं और जिनकी कहीं भी गति नहीं है, उन सबके लिये मेरी मथुरापुरी आश्रय है। यह सारसे भी अतिशय सारभूत स्थान है, गोपनीयसे भी अति गोपनीय परम रहस्य है। उत्तम गतिकी खोज करनेवाले पुरुषोंके लिये मथुरापुरी परम गति है। योगयुक्त ब्रह्मज्ञानी मनीषी पुरुषकी जो गति होती है, वही मथुरामें प्राणत्याग करनेवाले मनुष्यकी भी होती है। संसारमें काशी आदि पुरियाँ भी मोक्ष देनेके लिये प्रसिद्ध हैं तथापि उनमें मथुरा ही धन्य है; क्योंकि वह मनुष्योंको चार प्रकारकी मुक्ति प्रदान करती है। मथुरामें आकर मरे हुए कीट, पतंग आदि भी चतुर्भुजरूप हो जाते हैं। मथुरामें जिसे साँप डँस लेता है, जो पशुओंसे मारे जाते हैं, आगमें जलकर या पानीमें डूबकर मरते हैं—इस प्रकार अपमृत्यु पानेवाले लोग भी मेरे लोकमें जाते हैं। जो कामना रखनेवाले पुरुषोंको धर्म, अर्थ और काम देनेवाली है, मनुष्योंको मुक्ति प्रदान करती है और भक्तिकी इच्छा रखनेवालोंको भक्ति देती है, उस मथुराका कौन विद्वान् पुरुष आश्रय नहीं लेगा। ऐसी महिमामयी मधुपुरी मार्गशीर्षमासमें सेवन करने योग्य है। मार्गशीर्षमासमें जो पूर्णिमा होती है, उसमें जो पुण्य किया जाता है, वह मुझे अधिक प्रसन्न करनेवाला होता है। पुष्कर और मथुरामें पूर्णिमा तिथिको स्नान अवश्य करना चाहिये। मार्गशीर्षकी पूर्णिमा अनन्त फल देनेवाली है। अतः सब प्रकारके प्रयत्नोंसे उसका आदर करना चाहिये। जो भक्तिपूर्वक मेरे परम प्रिय मार्गशीर्षमासका व्रत करता है, वह पुत्ररहित हो तो पुत्र पाता है, निर्धन हो तो उसे धन मिलता है, विद्यार्थी हो तो विद्या और रूपार्थी हो तो रूप प्राप्त करता है। ब्राह्मण ब्रह्मतेजको पाता है, क्षत्रिय विजयी होता है, वैश्य खजानेका मालिक होता है और शूद्र पापसे शुद्ध होता है। तीनों लोकोंमें जो दुर्लभ वस्तु है, वह सब मनुष्य मार्गशीर्षमासमें स्नान एवं व्रत करनेसे प्राप्त कर लेता है। मुझको वशमें करनेवाली उत्तम भक्ति सर्वथा दुर्लभ है। वह भी इस मार्गशीर्षमासका माहात्म्य श्रवण करनेपर प्राप्त हो जाती है।

**मार्गशीर्षमास-माहात्म्य सम्पूर्ण**

# श्रीमद्भागवत-माहात्म्य

## परीक्षित् और वज्रनाभका समागम, शाण्डिल्य मुनिके मुखसे भगवान्‌की लीलाके रहस्य और व्रजभूमिके महत्त्वका वर्णन

महर्षि व्यास कहते हैं—

**श्रीसच्चिदानन्दघनस्वरूपिणे**
**कृष्णाय चानन्तसुखाभिवर्षिणे।**
**विश्वोद्भवस्थाननिरोधहेतवे**
**नुमो वयं भक्तिरसाप्तयेऽनिशम्॥**

'जिनका स्वरूप सच्चिदानन्दघन है, जो अपने सौन्दर्य और माधुर्यादि गुणोंसे सबका मन अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं और सदा-सर्वदा अनन्त सुखकी वर्षा करते रहते हैं, जिनकी ही शक्तिसे इस विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं—उन भगवान् श्रीकृष्णको हम भक्तिरसका आस्वादन करनेके लिये नित्य-निरन्तर प्रणाम करते हैं।'

नैमिषारण्यक्षेत्रकी बात है, श्रीसूतजी स्वस्थ चित्तसे अपने आसनपर बैठे हुए थे। उस समय भगवान्‌की अमृतमयी लीलाकथाके रसिक, उसके रसास्वादनमें अत्यन्त कुशल शौनकादि ऋषियोंने सूतजीको प्रणाम करके उनसे यह प्रश्न किया।

**ऋषियोंने पूछा**—सूतजी! धर्मराज युधिष्ठिर जब मथुरामण्डलमें अनिरुद्धनन्दन वज्रका और हस्तिनापुरमें अपने पौत्र परीक्षित्‌का राज्याभिषेक करके हिमालयपर चले गये, तब राजा वज्र और परीक्षित्‌ने कैसे-कैसे कौन-कौन-सा कार्य किया?

**सूतजी बोले**—शौनकादि ब्रह्मर्षियो! जब धर्मराज युधिष्ठिर आदि पाण्डवगण स्वर्गारोहणके लिये हिमालय चले गये, तब सम्राट् परीक्षित् एक दिन मथुरा गये। उनकी इस यात्राका उद्देश्य इतना ही था कि वहाँ जाकर वज्रनाभसे मिल-जुल आयें। जब वज्रनाभको यह समाचार मालूम हुआ कि मेरे पितातुल्य परीक्षित् मुझसे मिलनेके लिये आ रहे हैं, तब उनका हृदय प्रेमसे भर गया। उन्होंने नगरसे आगे बढ़कर उनकी अगवानी की, चरणोंमें प्रणाम किया और बड़े प्रेमसे उन्हें वे अपने महलमें ले आये। वीर परीक्षित् भगवान् श्रीकृष्णके परम प्रेमी भक्त थे। उनका मन नित्य-निरन्तर आनन्दघन श्रीकृष्णचन्द्रमें ही रमता रहता था। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके प्रपौत्र वज्रनाभका बड़े प्रेमसे आलिंगन किया। इसके बाद अन्तःपुरमें जाकर भगवान् श्रीकृष्णकी पत्नियोंको नमस्कार किया। श्रीकृष्ण-पत्नियोंने भी सम्राट् परीक्षित्‌का अत्यन्त सम्मान किया। वे जब आरामसे बैठ गये, तब उन्होंने वज्रनाभसे यह बात कही।

**राजा परीक्षित्‌ने कहा**—तुम्हारे पिता और पितामहोंने मेरे पिता-पितामहको बड़े-बड़े संकटोंसे बचाया है। मेरी रक्षा भी उन्होंने ही की है।

**वज्रनाभ बोले**—महाराज! आप मुझसे जो कुछ कह रहे हैं, वह सर्वथा आपके अनुरूप है। आपके पिताने भी मुझे धनुर्वेदकी शिक्षा देकर मेरा महान् उपकार किया है। इसलिये मुझे किसी बातकी तनिक भी चिन्ता नहीं है। क्योंकि उनकी कृपासे मैं क्षत्रियोचित शूरवीरतासे भली-भाँति सम्पन्न हूँ। मुझे चिन्ता है, तो केवल एक बातकी। सचमुच वह बहुत बड़ी चिन्ता है। आप उसके सम्बन्धमें कुछ विचार कीजिये। वह चिन्ता यह है कि यद्यपि मैं मथुरामण्डलके राज्यपर अभिषिक्त हूँ, तथापि मैं यहाँ निर्जन वनमें ही रहता हूँ। इस

बातका मुझे कुछ भी पता नहीं है कि यहाँकी प्रजा कहाँ चली गयी; क्योंकि राज्यका सुख तो तभी है जब प्रजा रहे। जब वज्रनाभने परीक्षित्से यह बात कही, तब उन्होंने वज्रनाभका सन्देह मिटानेके लिये महर्षि शाण्डिल्यको बुलवाया। ये ही महर्षि शाण्डिल्य पहले नन्द आदि गोपोंके पुरोहित थे। परीक्षित्का सन्देश पाते ही महर्षि शाण्डिल्य वहाँ आ पहुँचे। वज्रनाभने विधिपूर्वक उनका स्वागत-सत्कार किया और वे एक ऊँचे आसनपर विराजमान हुए एवं उनको सान्त्वना देते हुए कहने लगे।

**शाण्डिल्यजीने कहा**—प्रिय परीक्षित् और वज्रनाभ! मैं तुमलोगोंसे व्रजभूमिका रहस्य बतलाता हूँ। तुम एकाग्र होकर सुनो! 'व्रज' शब्दका अर्थ है व्याप्ति। व्यापक होनेके कारण ही इस भूमिका नाम 'व्रज' पड़ा है। सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंसे अतीत जो परब्रह्म है, वही व्यापक है। इसलिये उसे 'व्रज' कहते हैं। वह सदानन्दस्वरूप, परम ज्योतिर्मय और अविनाशी है। जीवन्मुक्त पुरुष उसीमें स्थित रहते हैं। इस परब्रह्मस्वरूप व्रजधाममें नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका निवास है। उनका एक-एक अंग सच्चिदानन्दस्वरूप है। वे आप्तकाम हैं। प्रेमरसमें डूबे हुए रसिकजन ही उनका अनुभव करते हैं। 'काम' शब्दका अर्थ है—कामना, अभिलाषा; व्रजमें भगवान् श्रीकृष्णके वांछित पदार्थ हैं—गौएँ, ग्वालबाल, गोपियाँ और उनके साथ लीला-विहार आदि; वे सब-के-सब यहाँ नित्य प्राप्त हैं। इसीसे श्रीकृष्णको 'आप्तकाम' कहा गया है। भगवान् श्रीकृष्णकी यह रहस्यलीला प्रकृतिसे परे है। वे जिस समय प्रकृतिके साथ खेलने लगते हैं, उस समय दूसरे लोग भी उनकी लीलाका अनुभव करते हैं। प्रकृतिके साथ होनेवाली लीलामें ही रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणके द्वारा सृष्टि, स्थिति और प्रलयकी प्रतीति होती है। इस प्रकार यह निश्चय होता है कि भगवान्की लीला दो प्रकारकी है—एक वास्तवी और दूसरी व्यावहारिकी। वास्तवी लीला स्वसंवेद्य है—उसे स्वयं भगवान् और उनके रसिक भक्तजन ही जानते हैं। जीवोंके सामने जो लीला होती है, वह व्यावहारिकी लीला है। वास्तवी लीलाके बिना व्यावहारिकी लीला नहीं हो सकती; परंतु व्यावहारिकी लीलाका वास्तवी लीलाके राज्यमें कभी प्रवेश नहीं हो सकता। तुम दोनों भगवान्की जिस लीलाको देख रहे हो, यह व्यावहारिकी लीला है। यह पृथ्वी और स्वर्ग आदि लोक इसी लीलाके अन्तर्गत हैं। इसी पृथ्वीपर यह मथुरामण्डल है। यहीं वह व्रजभूमि है, जिसमें भगवान्की वह वास्तवी रहस्यलीला गुप्तरूपसे सदा होती रहती है। वह कभी-कभी प्रेमपूर्ण हृदयवाले रसिक भक्तोंको सब ओर दीखने लगती है। कभी अट्ठाईसवें द्वापरके अन्तमें जब भगवान्की रहस्य-लीलाके अधिकारी भक्तजन यहाँ एकत्र होते हैं, जैसा कि इस समय भी कुछ काल पहले हुए थे, उस समय भगवान् अपने अन्तरंग प्रेमियोंके साथ अवतार लेते हैं। उनके अवतारका यह प्रयोजन होता है कि रहस्यलीलाके अधिकारी भक्तजन भी अन्तरंग परिकरोंके साथ सम्मिलित होकर लीला-रसका आस्वादन कर सकें। इस प्रकार जब भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं, उस समय भगवान्के अभिमत प्रेमी देवता और ऋषि आदि भी सब ओर अवतार लेते हैं।

अभी-अभी जो अवतार हुआ था, उसमें भगवान् अपने सभी प्रेमियोंकी अभिलाषाएँ पूर्ण करके अब अन्तर्धान हो चुके हैं। इससे यह निश्चय हुआ कि यहाँ पहले तीन प्रकारके भक्तजन उपस्थित थे; ऐसा माननेमें तनिक भी सन्देहके लिये गुंजाइश नहीं है। उन तीनोंमें प्रथम तो उनकी श्रेणी है, जो भगवान्के नित्य 'अन्तरंग' पार्षद हैं—जिनका भगवान्से कभी वियोग होता ही नहीं। दूसरे वे हैं, जो एकमात्र भगवान्को पानेकी इच्छा रखते

हैं—उनकी अन्तरंग लीलामें अपना प्रवेश चाहते हैं। तीसरी श्रेणीमें देवता आदि हैं। इनमेंसे जो देवता आदिके अंशसे अवतीर्ण हुए थे, उन्हें भगवान्ने व्रजभूमिसे हटाकर पहले ही द्वारका पहुँचा दिया था; फिर जब ब्राह्मणोंके शापसे यदुवंशका संहार करनेके लिये साम्बके पेटसे मूसल प्रकट हुआ और उस मूसलके चूरेसे प्रभासक्षेत्रमें एरका नामकी घास उत्पन्न हो गयी, उस समय परस्पर कलह होनेपर सभी यदुवंशी उन एरकाओंसे एक-दूसरेको मारकर मर गये। इस प्रकार भगवान्ने उस मूसलके मार्गसे यदुकुलमें उत्पन्न हुए देवताओंको स्वर्गमें भेजकर पुनः अपने-अपने अधिकारपर स्थापित कर दिया। तथा जिन्हें एकमात्र भगवान्को ही पानेकी इच्छा थी, उन्हें प्रेमानन्दस्वरूप बनाकर श्रीकृष्णने सदाके लिये अपने नित्य अन्तरंग पार्षदोंमें सम्मिलित कर लिया। जो नित्य पार्षद हैं, वे यद्यपि यहाँ गुप्तरूपसे होनेवाली नित्यलीलामें सदा ही रहते हैं, परंतु जो उनके दर्शनके अधिकारी नहीं हैं, ऐसे पुरुषोंके लिये वे भी अदृश्य हो गये हैं। जो लोग व्यावहारिक लीलामें स्थित हैं, वे नित्यलीलाका दर्शन पानेके अधिकारी नहीं हैं; इसीलिये यहाँ आनेवालोंको सब ओर निर्जन वन—सूना-ही-सूना दिखायी देता है, क्योंकि वे वास्तविक लीलामें स्थित भक्तजनोंको देख नहीं सकते।

इसलिये वज्रनाभ! तुम्हें तनिक भी चिन्ता न करनी चाहिये। तुम मेरी आज्ञासे यहाँ बहुत-से गाँव बसाओ; इससे निश्चय ही तुम्हारे मनोरथोंकी सिद्धि होगी। भगवान् श्रीकृष्णने जहाँ जैसी लीला की है, उसके अनुसार उस स्थानका नाम रखकर तुम अनेकों गाँव बसाओ और इस प्रकार परम उत्तम व्रजभूमिका सम्यक् प्रकारसे सेवन करते रहो। गोवर्धन, दीर्घपुर (डीग), मथुरा, महावन (गोकुल), नन्दिग्राम (नन्दगाँव) और वृहत्सानु (बरसाना) आदिमें तुम्हें अपने लिये छावनी बनवानी चाहिये और उन-उन स्थानोंमें रहकर भगवान्की लीलाके स्थल नदी, पर्वत, कन्दरा, सरोवर और कुण्ड तथा कुंज-वन आदिका सेवन करते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे तुम्हारे राज्यमें प्रजा बहुत ही सम्पन्न होगी और तुम भी अत्यन्त प्रसन्न रहोगे। यह व्रजभूमि सच्चिदानन्दमयी है—इसके कण-कणमें भगवान् श्रीकृष्ण रम रहे हैं; अतः तुम्हें हर तरहसे प्रयत्नपूर्वक इस भूमिका सेवन करना चाहिये। मैं आशीर्वाद देता हूँ; मेरी कृपासे भगवान्की लीलाके जितने भी स्थल हैं, सबकी तुम्हें ठीक-ठीक पहचान हो जायगी। वज्रनाभ! एक और बड़े महत्त्वकी बात बतलाता हूँ। इस व्रजभूमिका सेवन करते रहनेसे तुम्हें किसी दिन उद्धवजी मिल जायँगे। फिर तो अपनी माताओंसहित तुम उन्हींसे इस भूमिका तथा भगवान्की लीलाका रहस्य भी जान लोगे।

मुनिवर शाण्डिल्यजी उन दोनोंको इस प्रकार समझा-बुझाकर भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करते हुए अपने आश्रमपर चले गये। उनकी बातें सुनकर राजा परीक्षित् और वज्रनाभ दोनों ही बहुत प्रसन्न हुए।

## यमुना और श्रीकृष्णपत्नियोंका संवाद, कीर्तनोत्सवमें उद्धवजीका प्रकट होना

**सूतजी कहने लगे**—महाराज परीक्षित्को भगवान् श्रीकृष्णने ही जीवन-दान दिया था; अतः वे उनके पौत्र वज्रनाभके लिये क्या नहीं कर सकते थे? अखिल भूमण्डलके सम्राट् तो थे ही, उनकी

आज्ञा कौन नहीं मानता? उन्होंने इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली)-से हजारों बड़े-बड़े सेठोंको बुलवाकर उन्हें मथुरामें रहनेकी जगह दी। इनके अतिरिक्त मथुरामण्डलके ब्राह्मणोंको, जो भगवान्‌के बड़े ही प्रेमी थे, बुलवाया और उन्हें आदरके योग्य समझकर मथुरानगरीमें बसाया। इस प्रकार राजा परीक्षित्‌की सहायता और महर्षि शाण्डिल्यकी कृपासे वज्रनाभने क्रमशः उन सभी स्थानोंकी खोज की, जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रेमी गोप-गोपियोंके साथ नाना प्रकारकी लीलाएँ करते थे। लीलास्थानोंका ठीक-ठीक निश्चय हो जानेपर उन्होंने वहाँ-वहाँकी लीलाके अनुसार उस-उस स्थानका नामकरण किया, भगवान्‌के लीलाविग्रहोंकी स्थापना की तथा उन-उन स्थानोंपर अनेकों गाँव बसाये। स्थान-स्थानपर भगवान्‌के नामसे कुण्ड और कुएँ खुदवाये। कुंज और बगीचे लगवाये, शिव आदि देवताओंकी स्थापना की तथा गोविन्ददेव, हरिदेव आदि नामोंसे भगवद्विग्रह स्थापित किये। इन सब शुभ कर्मोंके द्वारा वज्रनाभने अपने राज्यमें सब ओर एकमात्र श्रीकृष्णभक्तिका प्रचार किया और ऐसा करके वे बड़े ही प्रसन्न हुए। उनके प्रजाजनोंको भी बड़ा आनन्द था। वे सदा भगवान्‌के मधुर नाम तथा लीलाओंके कीर्तनमें संलग्न हो परमानन्दके समुद्रमें डूबे रहते थे और सदा ही वज्रनाभके राज्यकी प्रशंसा किया करते थे।

एक दिनकी बात है, भगवान् श्रीकृष्णकी सोलह हजार रानियाँ यमुनाके तटपर स्नानके लिये गयीं। वे सभी निरन्तर भगवान्‌की विरह-वेदनासे व्याकुल रहती थीं। यमुनाजी भी भगवान्‌की ही पत्नी थीं, पर उनपर भगवान्‌के वियोगका कुछ असर न था। श्रीकृष्णकी पत्नियोंने देखा—यमुनाजी बहुत प्रसन्न हैं, उनके अंदरसे आनन्दकी लहरें उठ रही हैं। सौतकी यह प्रसन्नता देखकर भी रानियोंके मनमें डाह नहीं हुई। वे सरलभावसे पूछ बैठीं।

**श्रीकृष्णकी रानियोंने कहा**—बहिन कालिन्दी! जैसे हम सब श्रीकृष्णकी धर्मपत्नी हैं, वैसे ही तुम भी तो हो। हम तो उनकी विरहाग्निमें जली जा रही हैं, उनके वियोगदुःखसे हमारा हृदय व्यथित हो रहा है; किंतु तुम्हारी यह स्थिति नहीं है, तुम प्रसन्न हो। इसका क्या कारण है? कल्याणी! कुछ बताओ तो सही।

उनका प्रश्न सुनकर यमुनाजी हँस पड़ीं। साथ ही यह सोचकर कि मेरे प्रियतमकी पत्नी होनेके कारण ये भी मेरी ही बहिनें हैं, पिघल गयीं; उनका हृदय दयासे द्रवित हो उठा। अतः वे इस प्रकार कहने लगीं।

**यमुनाजी बोलीं**—अपनी आत्मामें ही रमण करनेके कारण भगवान् श्रीकृष्ण आत्माराम हैं और उनकी आत्मा हैं—श्रीराधाजी। मैं दासीकी भाँति राधाजीकी सेवा करती रहती हूँ; अवश्य ही उनकी सेवाका यह फल है कि मैं प्रसन्न हूँ। उनकी दासताके प्रभावसे ही विरह-शोक मुझे छू भी नहीं सकता। भगवान् श्रीकृष्णकी जितनी भी रानियाँ हैं, सब-की-सब श्रीराधाके ही अंशका विस्तार हैं। भगवान् श्रीकृष्ण और राधा सदा एक-दूसरेके सम्मुख हैं, उनका परस्पर नित्य संयोग है, इसलिये राधाके स्वरूपमें अंशतः विद्यमान जो श्रीकृष्णकी अन्य रानियाँ हैं, उनको भी भगवान्‌का नित्य संयोग प्राप्त है। श्रीकृष्ण ही राधा हैं और राधा ही श्रीकृष्ण हैं। उन दोनोंका प्रेम ही वंशी है तथा राधाकी प्यारी सखी चन्द्रावली भी श्रीकृष्णचरणोंके नखरूपी चन्द्रमाओंकी सेवामें आसक्त रहनेके कारण ही 'चन्द्रावली' नामसे कही जाती है। श्रीराधा और श्रीकृष्णकी सेवामें उसकी बड़ी लालसा, बड़ी लगन है। इसीलिये वह कोई दूसरा स्वरूप धारण

नहीं करती। मैंने श्रीराधामें ही रुक्मिणी आदिका भी समावेश देखा है। यह सब तरहसे निश्चित बात है कि तुमलोगोंका भी श्रीकृष्णसे वियोग नहीं हुआ है; किंतु तुम इस रहस्यको इस रूपमें जानती नहीं हो, इसीलिये इतनी व्याकुल हो रही हो। इसी प्रकार पहले भी जब अक्रूर श्रीकृष्णको नन्दगाँवसे मथुरामें ले आये थे, उस अवसरपर जो गोपियोंको श्रीकृष्णसे विरहकी प्रतीति हुई थी, वह भी वास्तविक विरह नहीं, केवल विरहका आभास था। इस बातको जबतक वे नहीं जानती थीं, तबतक उन्हें बड़ा कष्ट था; फिर जब उद्धवजीने आकर उनका समाधान किया, तब वे इस बातको समझ सकीं। उद्धवजीने उनके इस विरहको विरहाभास ही बतलाया, वास्तवमें तो उनका भगवान्‌से नित्य संयोग था। यदि तुम्हें भी उद्धवजीका सत्संग प्राप्त हो जाय, तो तुम सब भी अपने प्रियतम श्रीकृष्णके साथ नित्य विहारका सुख प्राप्त कर लोगी।

**सूतजी कहते हैं**—ऋषिगण! जब उन्होंने इस प्रकार समझाया, तब श्रीकृष्णकी पत्नियाँ सदा प्रसन्न रहनेवाली यमुनाजीसे पुनः बोलीं। उस समय उनके हृदयमें इस बातकी बड़ी लालसा थी कि किसी उपायसे उद्धवजीका दर्शन हो, जिससे हमें अपने प्रियतमके नित्य संयोगका सौभाग्य प्राप्त हो सके।

**श्रीकृष्णपत्नियोंने कहा**—सखी! तुम्हारा ही जीवन धन्य है; क्योंकि तुम्हें कभी भी अपने प्राणनाथके वियोगका दुःख नहीं भोगना पड़ता। जिन श्रीराधिकाजीकी कृपासे तुम्हारे अभीष्ट अर्थकी सिद्धि हुई है, उनकी अब हमलोग भी दासी हुईं। किंतु तुम अभी कह चुकी हो कि उद्धवजीके मिलनेपर ही हमारे सभी मनोरथ पूर्ण होंगे; इसलिये कालिन्दी! अब ऐसा कोई उपाय बताओ, जिससे उद्धवजी भी शीघ्र ही मिल जायँ।

**सूतजी कहते हैं**—श्रीकृष्णकी रानियोंने जब यमुनाजीसे इस प्रकार कहा, तब वे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी सोलह कलाओंका चिन्तन करती हुई उनसे कहने लगीं—"उद्धवजी भगवान् श्रीकृष्णके मन्त्री थे। जब भगवान् अपने परमधामको पधारने लगे, तब उन्होंने मन्त्री उद्धवसे कहा—'उद्धव! साधना करनेकी भूमि है बदरिकाश्रम, अतः अपनी साधना पूर्ण करनेके लिये तुम वहीं जाओ।' भगवान्‌की इस आज्ञाके अनुसार उद्धवजी इस समय अपने साक्षात् स्वरूपसे बदरिकाश्रममें विराजमान हैं और वहाँ जानेवाले जिज्ञासु लोगोंको भगवान्‌के बताये हुए ज्ञानका उपदेश करते रहते हैं। साधनकी फलरूपा भूमि है—व्रजभूमि; इसे भी इसके रहस्योंसहित भगवान्‌ने पहले ही उद्धवको दे दिया था। किंतु वह फलभूमि यहाँसे भगवान्‌के अन्तर्धान होनेके साथ ही स्थूल दृष्टिसे परे जा चुकी है; इसीलिये इस समय यहाँ उद्धव प्रत्यक्ष दिखायी नहीं पड़ते। फिर भी एक स्थान है, जहाँ उद्धवजीका दर्शन हो सकता है। गोवर्धन पर्वतके निकट भगवान्‌की लीलासहचरी गोपियोंकी विहार-स्थली है; वहाँकी लता, अंकुर और बेलोंके रूपमें अवश्य ही उद्धवजी वहाँ निवास करते हैं। लताओंके रूपमें उनके रहनेका यही उद्देश्य है कि भगवान्‌की प्रियतमा गोपियोंकी चरणरज उनपर पड़ती रहे। उद्धवजीके सम्बन्धमें एक निश्चित बात यह भी है कि उन्हें भगवान्‌ने अपना उत्सव-स्वरूप प्रदान किया है। भगवान्‌का उत्सव उद्धवजीका अंग है, वे उससे अलग नहीं रह सकते; इसलिये अब तुमलोग वज्रनाभको साथ लेकर वहाँ जाओ और कुसुमसरोवरके पास ठहरो। भगवद्भक्तोंकी मण्डली एकत्रित करके वीणा, वेणु और मृदंग आदि बाजोंके साथ भगवान्‌के नाम और लीलाओंके कीर्तन, भगवत्सम्बन्धी काव्य-कथाओंके श्रवण तथा भगवद्गुणगानसे युक्त सरस संगीतोंद्वारा महान् उत्सव आरम्भ करो। इस प्रकार जब उस महान्

उत्सवका विस्तार होगा, तब निश्चय है कि वहाँ उद्धवजीका दर्शन मिलेगा। उद्धवजी ही भलीभाँति तुम सब लोगोंके मनोरथ पूर्ण करेंगे।''

**सूतजी कहते हैं**—यमुनाजीकी बतायी हुई बातें सुनकर श्रीकृष्णकी रानियाँ बहुत प्रसन्न हुईं। उन्होंने यमुनाजीको प्रणाम किया और वहाँसे लौटकर वज्रनाभ तथा परीक्षित्से वे सारी बातें कह सुनायीं। सब बातें सुनकर परीक्षित्को बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने वज्रनाभ तथा श्रीकृष्णपत्नियोंको उसी समय साथ ले उस स्थानपर पहुँचकर तत्काल वह सब कार्य आरम्भ करवा दिया, जो कि यमुनाजीने बताया था। गोवर्धनके निकट वृन्दावनके भीतर कुसुमसरोवरपर, जो सखियोंकी विहार-स्थली है, वहाँ ही श्रीकृष्णकीर्तनका उत्सव आरम्भ हुआ। श्रीराधाजी तथा उनके प्रियतम श्रीकृष्णकी वह लीलाभूमि जब साक्षात् संकीर्तनकी शोभासे सम्पन्न हो गयी, उस समय वहाँ रहनेवाले सभी भक्तजन एकाग्र हो गये; उनकी दृष्टि, उनके मनकी वृत्ति कहीं अन्यत्र न जाती थी। तदनन्तर सबके देखते-देखते वहाँ फैले हुए तृण, गुल्म और लताओंके समूहसे प्रकट होकर श्रीउद्धवजी सबके सामने आये। उनका शरीर श्यामवर्ण था, उसपर पीताम्बर शोभा पा रहा था। वे गलेमें वनमाला और गुंजाकी माला धारण किये हुए थे तथा मुखसे बारंबार गोपीवल्लभ श्रीकृष्णकी मधुर लीलाओंका गान कर रहे थे। उद्धवजीके आगमनसे उस

संकीर्तनोत्सवकी शोभा कई गुनी बढ़ गयी। उस समय सभी लोग आनन्दके समुद्रमें निमग्न हो अपना सब कुछ भूल गये, सारी सुध-बुध खो बैठे। थोड़ी देर बाद जब उनकी चेतना दिव्य लोकसे नीचे आयी, अर्थात् जब उन्हें होश हुआ तब उद्धवजीको भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपमें उपस्थित देख, अपना मनोरथ पूर्ण हो जानेके कारण प्रसन्न हो वे उनकी पूजा करने लगे।

## श्रीमद्भागवतका माहात्म्य, भागवतश्रवणसे श्रोताओंको भगवद्धामकी प्राप्ति

**सूतजी कहते हैं**—उद्धवजीने वहाँ एकत्र हुए सब लोगोंको श्रीकृष्णकीर्तनमें लगा देखकर सभीका सत्कार किया और राजा परीक्षित्को हृदयसे लगाकर कहा।

**उद्धवजी बोले**—राजन्! तुम्हारा मन इस श्रीकृष्णकीर्तनके उत्सवमें रम रहा है, अतः तुम धन्य हो; तुम्हारा अन्तःकरण सदा ही केवल श्रीकृष्ण-भक्तिसे परिपूर्ण रहता है। तात! तुम जो कुछ कर रहे हो, सब तुम्हारे अनुरूप ही है। क्यों न हो, श्रीकृष्णने ही तुम्हें शरीर और वैभव प्रदान किया है; अतः तुम्हारा उनके प्रपौत्रपर प्रेम होना स्वाभाविक ही है। इसमें

तनिक भी सन्देह नहीं कि समस्त द्वारकावासियोंमें ये लोग सबसे बढ़कर धन्यवादके पात्र हैं, जिन्हें व्रजमें निवास करानेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको आज्ञा की थी। श्रीकृष्णका मनरूपी चन्द्रमा राधाके मुखकी प्रभारूप चाँदनीसे युक्त हो उनकी लीलाभूमि वृन्दावनको अपनी किरणोंसे सुशोभित करता हुआ यहाँ सदा प्रकाशमान रहता है। श्रीकृष्णचन्द्र नित्य परिपूर्ण हैं, प्राकृत चन्द्रमाकी भाँति उनमें वृद्धि और क्षयरूप विकार नहीं होते। उनकी जो सोलह कलाएँ हैं, उनसे सहस्रों चिन्मय किरणें निकलती रहती हैं; इससे उनके सहस्रों भेद हो जाते हैं। इन सभी कलाओंसे युक्त, नित्य परिपूर्ण श्रीकृष्ण इस व्रजभूमिमें सदा ही विद्यमान रहते हैं। इस भूमिमें और उनके स्वरूपमें कुछ अन्तर नहीं है। राजेन्द्र परीक्षित्! इस प्रकार विचार करनेपर सभी व्रजवासी भगवान्‌के अंगमें स्थित हैं। शरणागतोंका भय दूर करनेवाले जो ये वज्र हैं, इनका स्थान श्रीकृष्णके दाहिने चरणमें है। श्रीकृष्णका प्रकाश प्राप्त हुए बिना किसीको भी अपने स्वरूपका बोध नहीं हो सकता। जीवोंके अन्तःकरणमें जो श्रीकृष्णतत्त्वका प्रकाश है, उसपर सदा मायाका पर्दा पड़ा रहता है। अट्ठाईसवें द्वापरके अन्तमें जब भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही सामने प्रकट होकर मायाका पर्दा उठा लेते हैं, उस समय जीवोंको उनका प्रकाश प्राप्त होता है। किंतु अब वह समय तो बीत गया; इसलिये उनके प्रकाशकी प्राप्तिके लिये अब दूसरा उपाय बतलाया जा रहा है, सुनो। अट्ठाईसवें द्वापरके अतिरिक्त समयमें यदि कोई श्रीकृष्णतत्त्वका प्रकाश पाना चाहे, तो उसे वह श्रीमद्भागवतसे ही प्राप्त हो सकता है। भगवान्‌के भक्त जहाँ जब कभी श्रीमद्भागवतशास्त्रका कीर्तन और श्रवण करते हैं, वहाँ उस समय भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात्‌रूपसे विराजमान रहते हैं। जहाँ श्रीमद्भागवतके एक या आधे श्लोकका ही पाठ होता है, वहाँ भी श्रीकृष्ण अपनी प्रियतमा गोपियोंके साथ विद्यमान रहते हैं। जिन बड़भागियोंने प्रतिदिन श्रीमद्भागवतशास्त्रका सेवन किया है, उन्होंने अपने पिता, माता और पत्नी—तीनोंके ही कुलका भलीभाँति उद्धार कर दिया। श्रीमद्भागवतके स्वाध्याय और श्रवणसे ब्राह्मणोंको विद्याका प्रकाश (बोध) प्राप्त होता है, क्षत्रियलोग शत्रुओंपर विजय पाते हैं, वैश्योंको धन मिलता है और शूद्र स्वस्थ—नीरोग बने रहते हैं। श्रीमद्भागवतसे स्त्रियों तथा अन्त्यज आदि अन्य लोगोंकी भी इच्छा पूर्ण होती है। अतः कौन ऐसा भाग्यवान् पुरुष है, जो श्रीमद्भागवतका नित्य ही सेवन न करेगा। अनेकों जन्मोंतक साधना करते-करते जब मनुष्य पूर्ण सिद्ध हो जाता है, तब उसे श्रीमद्भागवतकी प्राप्ति होती है। भागवतसे भगवान्‌का प्रकाश मिलता है, जिससे भगवद्भक्ति उत्पन्न होती है। पूर्वकालमें भगवान्‌ने श्रीमद्भागवतका उपदेश देकर कहा—'ब्रह्मन्! तुम अपने मनोरथकी सिद्धिके लिये सदा ही इसका सेवन करते रहो।' ब्रह्माजी श्रीमद्भागवतका उपदेश पाकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने श्रीकृष्णकी नित्य-प्राप्तिके लिये तथा सात आवरणोंको भंग करनेके लिये श्रीमद्भागवतका सप्ताह-पारायण किया।

**उद्धवजी कहते हैं**—श्रीमद्भागवतके माहात्म्यके सम्बन्धमें यह आख्यायिका मैंने अपने गुरु श्रीबृहस्पतिजीसे सुनी, और उनसे भागवतका उपदेश प्राप्त कर उनके चरणोंमें प्रणाम करके मैं बहुत ही प्रसन्न हुआ। तत्पश्चात् मैंने भी एक मासतक श्रीमद्भागवत-कथाका भलीभाँति रसास्वादन किया। उतनेसे ही मैं भगवान् श्रीकृष्णका प्रियतम सखा हो गया। इसके पश्चात् भगवान्‌ने मुझे व्रजमें अपनी प्रियतमा गोपियोंकी सेवामें

लगाया। यद्यपि भगवान् अपने लीला-परिकरोंके साथ नित्य विहार करते रहते हैं, इसलिये गोपियोंका श्रीकृष्णसे कभी भी वियोग नहीं होता; तथापि जो भ्रमसे विरहवेदनाका अनुभव कर रही थीं, उन गोपियोंके प्रति भगवान्ने मेरे मुखसे सन्देश कहलाया। उस सन्देशको अपनी बुद्धिके अनुसार ग्रहण कर गोपियाँ तुरंत ही विरह-वेदनासे मुक्त हो गयीं। मैं भागवतके इस रहस्यको तो नहीं समझ सका, परंतु उसका चमत्कार मैंने प्रत्यक्ष देखा। इसके बहुत समयके बाद जब ब्रह्मादि देवता भगवान्से अपने परम धाममें पधारनेकी प्रार्थना करके चले गये, उस समय पीपलके वृक्षकी जड़के पास अपने सामने खड़े हुए मुझे भगवान्ने श्रीमद्भागवत-विषयक उस रहस्यका स्वयं ही उपदेश किया और मेरी बुद्धिमें उसका दृढ़ निश्चय करा दिया। उसीके प्रभावसे मैं बदरिकाश्रममें रहकर भी यहाँ व्रजकी लताओं और बेलोंमें निवास करता हूँ। उसीके बलसे यहाँ नारदकुण्डपर सदा स्वेच्छानुसार विराजमान रहता हूँ। भगवान्के भक्तोंको श्रीमद्भागवतके सेवनसे श्रीकृष्ण-तत्त्वका प्रकाश प्राप्त हो सकता है, इस कारण यहाँ उपस्थित हुए इन सभी भक्तजनोंके कार्यकी सिद्धिके लिये मैं श्रीमद्भागवतका पाठ करूँगा; किंतु इस कार्यमें तुम्हें ही सहायता करनी पड़ेगी।

**सूतजी कहते हैं**—यह सुनकर राजा परीक्षित् उद्धवजीको प्रणाम करके उनसे बोले।

**परीक्षित्ने कहा**—हरिदास उद्धवजी! आप निश्चिन्त होकर श्रीमद्भागवत-कथाका कीर्तन करें और इस कार्यमें मुझे जिस प्रकारकी सहायता करनी आवश्यक हो, उसके लिये आज्ञा दें।

**सूतजी कहते हैं**—परीक्षित्का यह वचन सुनकर उद्धवजी मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए और बोले।

**उद्धवजीने कहा**—राजन्! भगवान् श्रीकृष्णने जबसे इस पृथ्वीतलका परित्याग कर दिया है, तबसे यहाँ अत्यन्त बलवान् कलियुगका प्रभुत्व हो गया है। जिस समय यह शुभ अनुष्ठान यहाँ आरम्भ हो जायगा, बलवान् कलियुग अवश्य ही इसमें बहुत बड़ा विघ्न डालेगा। इसलिये तुम दिग्विजयके लिये जाओ और कलियुगको जीतकर अपने वशमें करो। इधर, मैं तुम्हारी सहायतासे वैष्णवी रीतिका सहारा लेकर एक महीनेतक यहाँ श्रीमद्भागवत-कथाका रसास्वादन कराऊँगा और इस प्रकार भागवत-कथाके रसका प्रसार करके इन सभी श्रोताओंको भगवान् मधुसूदनके नित्य गोलोकधाममें पहुँचा दूँगा।

**सूतजी कहते हैं**—उद्धवजीकी बात सुनकर राजा परीक्षित् पहले तो कलियुगपर विजय पानेके विचारसे बड़े ही प्रसन्न हुए; परंतु पीछे यह सोचकर कि मुझे भागवत-कथाके श्रवणसे वंचित ही रहना पड़ेगा, चिन्तासे व्याकुल हो उठे। उस समय उन्होंने उद्धवजीसे अपना अभिप्राय इस प्रकार प्रकट किया।

**परीक्षित् बोले**—हे तात! आपकी आज्ञाके अनुसार तत्पर होकर मैं कलियुगको तो अवश्य ही अपने वशमें करूँगा, परंतु श्रीमद्भागवतकी प्राप्ति मुझे कैसे होगी? मैं भी आपके चरणोंकी शरणमें आया हूँ, अतः मुझपर भी आपको अनुग्रह करना चाहिये।

**सूतजी कहते हैं**—उनके इस वचनको सुनकर उद्धवजी पुनः बोले।

**उद्धवजीने कहा**—राजन्! तुम्हें तो किसी भी बातके लिये किसी प्रकार भी चिन्ता न करनी चाहिये; क्योंकि इस भागवतशास्त्रके प्रधान अधिकारी तो तुम्हीं हो। संसारके मनुष्य नाना प्रकारके कर्मोंमें रचे-पचे हुए हैं, वे लोग आजतक प्रायः भागवत-श्रवणकी बात भी नहीं जानते। तुम्हारे ही प्रसादसे इस भारतवर्षमें

रहनेवाले अधिकांश मनुष्य श्रीमद्भागवत-कथाकी प्राप्ति होनेपर उस नित्य सनातन सुखस्वरूप परमात्माको प्राप्त करेंगे। महर्षि भगवान् श्रीशुकदेवजी साक्षात् नन्दनन्दन श्रीकृष्णके स्वरूप हैं। वे ही तुम्हें श्रीमद्भागवतकी कथा सुनायेंगे, इसमें तनिक भी सन्देहकी बात नहीं है। राजन्! उस कथाके श्रवणसे तुम व्रजेश्वर श्रीकृष्णके नित्यधामको प्राप्त करोगे। इसके पश्चात् इस पृथ्वीपर श्रीमद्भागवत-कथाका प्रचार होगा। अतः राजेन्द्र परीक्षित्! तुम जाओ और कलियुगको जीतकर अपने वशमें करो।

**सूतजी कहते हैं**—उद्धवजीके इस प्रकार कहनेपर राजा परीक्षित्ने उनकी परिक्रमा करके उन्हें प्रणाम किया और दिग्विजयके लिये चले गये। इधर वज्रने भी अपने पुत्र प्रतिबाहुको अपनी राजधानी मथुराका राजा बना दिया और माताओंको साथ ले उसी स्थानपर, जहाँ उद्धवजी प्रकट हुए थे, जाकर श्रीमद्भागवत सुननेकी इच्छासे रहने लगे। तदनन्तर उद्धवजीने वृन्दावनमें गोवर्धन पर्वतके निकट एक महीनेतक श्रीमद्भागवत-कथाके रसकी धारा बहायी। उस रसका आस्वादन करते समय प्रेमी श्रोताओंकी दृष्टिमें सब ओर भगवान्की सच्चिदानन्दमयी लीला प्रकाशित हो गयी और उन्हें सर्वत्र श्रीकृष्णचन्द्रका साक्षात्कार होने लगा। उस समय सभी श्रोताओंने अपनेको भगवान्के स्वरूपमें स्थित देखा। वज्रनाभने श्रीकृष्णके दाहिने चरणकमलमें अपनेको स्थित देखा और श्रीकृष्णके विरहशोकसे मुक्त होकर उस स्थानपर अत्यन्त सुशोभित होने लगे। वज्रनाभकी वे रोहिणी आदि माताएँ भी रासकी रजनीमें प्रकाशित होनेवाले श्रीकृष्णरूपी चन्द्रमाके विग्रहमें अपनेको कला और प्रभाके रूपमें स्थित देख बहुत ही विस्मित हुईं तथा अपने प्राणप्यारेकी विरह-वेदनासे छुटकारा पाकर उनके परम धाममें प्रविष्ट हो गयीं। इनके अतिरिक्त भी जो श्रोतागण वहाँ उपस्थित थे, वे भी भगवान्की नित्य अन्तरंग लीलामें सम्मिलित होकर इस स्थूल व्यावहारिक जगत्से तत्काल अन्तर्धान हो गये। वे सभी सदा ही गोवर्धन पर्वतके कुंज और झाड़ियोंमें, वृन्दावन-काम्यवन आदि वनोंमें तथा वहाँकी दिव्य गौओंके बीचमें श्रीकृष्णके साथ विचरते हुए अनन्त आनन्दका अनुभव करते रहते हैं। जो लोग श्रीकृष्णके प्रेममें मग्न हैं, उन भावुक भक्तोंको उनके दर्शन भी होते हैं।

**सूतजी कहते हैं**—जो लोग इस भगवत्प्राप्तिकी कथाको सुनेंगे और कहेंगे, उन्हें भगवान् मिल जायँगे और उनके दुःखोंका सदाके लिये अन्त हो जायगा।

## श्रीमद्भागवतका स्वरूप, प्रमाण, श्रोता-वक्ताके लक्षण, श्रवणविधि और माहात्म्य

**सूतजी कहते हैं**—ऋषिगण! श्रीमद्भागवत और श्रीभगवान्का स्वरूप सदा एक ही है और वह है सच्चिदानन्दमय। भगवान् श्रीकृष्णमें जिनकी लगन लगी है, उन भावुक भक्तोंके हृदयमें जो भगवान्के माधुर्य भावको अभिव्यक्त करनेवाला, उनके दिव्य माधुर्य-रसका आस्वादन करानेवाला सर्वोत्कृष्ट वचन है, उसे श्रीमद्भागवत समझो। जो वाक्य ज्ञान, विज्ञान, भक्ति एवं इनके अंगभूत साधनचतुष्टयको प्रकाशित करनेवाला है तथा जो मायाका मर्दन करनेमें समर्थ है, उसे भी तुम श्रीमद्भागवत समझो। श्रीमद्भागवत अनन्त, अक्षरस्वरूप है; इसका नियत प्रमाण भला कौन

जान सकता है? पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीके प्रति चार श्लोकोंमें इसका दिग्दर्शनमात्र कराया था। विप्रगण! इस भागवतकी अपार गहराईमें डुबकी लगाकर इसमेंसे अपनी अभीष्ट वस्तुको प्राप्त करनेमें केवल ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि ही समर्थ हैं, दूसरे नहीं। परंतु जिनकी बुद्धि आदि वृत्तियाँ परिमित हैं, ऐसे मनुष्योंका हितसाधन करनेके लिये श्रीव्यासजीने परीक्षित् और शुकदेवजीके संवादके रूपमें जिसका गायन किया है, उसीका नाम श्रीमद्भागवत है। उस ग्रन्थकी श्लोकसंख्या अठारह हजार है। इस भवसागरमें जो प्राणी कलिरूपी ग्राहसे ग्रस्त हो रहे हैं, उनके लिये वह श्रीमद्भागवत ही सर्वोत्तम अवलम्बन है।

श्रोता दो प्रकारके माने गये हैं—प्रवर (उत्तम) तथा अवर (अधम)। प्रवर श्रोताओंके 'चातक', 'हंस', 'शुक' और 'मीन' आदि कई भेद हैं। अवरके भी 'वृक', 'भूरुण्ड', 'वृष' और 'उष्ट्र' आदि अनेकों भेद बतलाये गये हैं। 'चातक' कहते हैं पपीहेको। वह जैसे बादलसे बरसते हुए जलमें ही स्पृहा रखता है, दूसरे जलको छूता ही नहीं—उसी प्रकार जो श्रोता सब कुछ छोड़कर केवल श्रीकृष्णसम्बन्धी शास्त्रोंके श्रवणका व्रत ले लेता है, वह 'चातक' कहा गया है। जैसे हंस दूधके साथ मिलकर एक हुए जलसे निर्मल दूध ग्रहण कर लेता और पानीको छोड़ देता है, उसी प्रकार जो श्रोता अनेकों शास्त्रोंका श्रवण करके भी उसमेंसे सार भाग अलग करके ग्रहण करता है, उसे 'हंस' कहते हैं। जिस प्रकार भलीभाँति पढ़ाया हुआ तोता अपनी मधुर वाणीसे शिक्षकको तथा पास आनेवाले दूसरे लोगोंको भी प्रसन्न करता है, उसी प्रकार जो श्रोता कथावाचक व्यासके मुँहसे उपदेश सुनकर उसे सुन्दर और परिमित वाणीमें पुनः सुना देता और व्यास एवं अन्यान्य श्रोताओंको अत्यन्त आनन्दित करता है, वह 'शुक' कहलाता है। जैसे क्षीरसागरमें मछली मौन रहकर अपलक आँखोंसे देखती हुई सदा दुग्ध पान करती रहती है, उसी प्रकार जो कथा सुनते समय निर्निमेष नयनोंसे देखता हुआ मुँहसे कभी एक शब्द भी नहीं निकालता और निरन्तर कथारसका ही आस्वादन करता रहता है, वह प्रेमी श्रोता 'मीन' कहा गया है। ये प्रवर अर्थात् उत्तम श्रोताओंके भेद बताये गये। अब अवर यानी अधम श्रोता बताये जाते हैं। 'वृक' कहते हैं भेड़ियेको। जैसे भेड़िया वनके भीतर वेणुकी मीठी आवाज सुननेमें लगे हुए मृगोंको डरानेवाली भयानक गर्जना करता है, वैसे ही जो मूर्ख कथाश्रवणके समय रसिक श्रोताओंको उद्विग्न करता हुआ बीच-बीचमें जोर-जोरसे बोल उठता है, वह 'वृक' कहलाता है। हिमालयके शिखरपर एक भूरुण्ड जातिका पक्षी होता है। वह किसीके शिक्षाप्रद वाक्य सुनकर वैसा ही बोला करता है, किन्तु स्वयं उससे लाभ नहीं उठाता। इसी प्रकार जो उपदेशकी बात सुनकर उसे दूसरोंको तो सिखाये, पर स्वयं आचरणमें न लाये, ऐसे श्रोताको 'भूरुण्ड' कहते हैं। 'वृष' कहते हैं बैलको। उसके सामने मीठे-मीठे अंगूर हों या कड़वी खली, दोनोंको वह एक-सा ही मानकर खाता है। उसी प्रकार जो सुनी हुई सभी बातें ग्रहण करता है, पर सार और असार वस्तुका विचार करनेमें उसकी बुद्धि अंधी—असमर्थ होती है, ऐसा श्रोता 'वृष' कहलाता है। जिस प्रकार ऊँट माधुर्यगुणसे युक्त आमको भी छोड़कर केवल नीमकी ही पत्ती चबाता है, उसी प्रकार जो भगवान्‌की मधुर कथाको छोड़कर उसके विपरीत संसारी बातोंमें रमता रहता है, उसे 'उष्ट्र' कहते हैं। ये कुछ थोड़े-से भेद यहाँ बताये गये। इनके अतिरिक्त भी प्रवर-अवर दोनों

प्रकारके श्रोताओंके 'भ्रमर' और 'गर्दभ' आदि बहुत-से भेद हैं; इन सब भेदोंको उन-उन श्रोताओंके स्वाभाविक आचार-व्यवहारोंसे परखना चाहिये। जो वक्ताके सामने उन्हें विधिवत् प्रणाम करके बैठे और अन्य संसारी बातोंको छोड़कर केवल श्रीभगवान्‌की लीला-कथाओंको ही सुननेकी इच्छा रखे, समझनेमें अत्यन्त कुशल हो, नम्र हो, हाथ जोड़े रहे, शिष्यभावसे उपदेश ग्रहण करे और भीतर श्रद्धा तथा विश्वास रखे, इसके सिवा जो कुछ सुने उसका बराबर चिन्तन करता रहे, जो बात समझमें न आवे, उसे पूछे और पवित्र भावसे रहे तथा श्रीकृष्णके भक्तोंपर सदा ही प्रेम रखता हो—ऐसे ही श्रोताको वक्तालोग उत्तम श्रोता कहते हैं। अब वक्ताके लक्षण बतलाते हैं। जिसका मन सदा भगवान्‌में लगा रहे, जिसे किसी भी वस्तुकी अपेक्षा न हो, जो सबका सुहृद् और दीनोंपर दया करनेवाला हो तथा अनेकों युक्तियोंसे तत्त्वका बोध करा देनेमें चतुर हो, उसी वक्ताका मुनिलोग भी सम्मान करते हैं।

विप्रगण! अब मैं भारतवर्षकी भूमिपर श्रीमद्भागवत-कथाका सेवन करनेके लिये जो आवश्यक विधि है, उसे बतलाता हूँ; आप सुनें। इस विधिके पालनसे श्रोताकी सुख-परम्पराका विस्तार होता है। श्रीमद्भागवतका सेवन चार प्रकारका है—सात्त्विक, राजस, तामस और निर्गुण। जिसमें यज्ञकी भाँति तैयारी की गयी हो, बहुत-सी पूजासामग्रियोंके कारण जो अत्यन्त शोभासम्पन्न दिखायी दे रहा हो और बड़े ही परिश्रमसे बहुत उतावलीके साथ सात दिनोंमें ही जिसकी समाप्ति की जाय, वह प्रसन्नतापूर्वक किया हुआ श्रीमद्भागवतका सेवन 'राजस' है। एक या दो महीनेमें धीरे-धीरे कथाके रसका आस्वादन करते हुए बिना परिश्रमके जो श्रवण होता है, वह पूर्ण आनन्दको बढ़ानेवाला 'सात्त्विक' सेवन कहलाता है। तामस सेवन वह है जो कभी भूलसे छोड़ दिया जाय और याद आनेपर फिर आरम्भ कर दिया जाय, इस प्रकार एक वर्षतक आलस्य और अश्रद्धाके साथ चलाया जाय। यह 'तामस' सेवन भी न करनेकी अपेक्षा अच्छा और सुख ही देनेवाला है। जब वर्ष, महीना और दिनोंके नियमका आग्रह छोड़कर सदा ही प्रेम और भक्तिके साथ श्रवण किया जाय, तब वह सेवन 'निर्गुण' माना गया है। राजा परीक्षित् और शुकदेवके संवादमें भी जो भागवतका सेवन हुआ था, वह निर्गुण ही बताया गया है। उसमें जो सात दिनोंकी बात आती है, वह राजाकी आयुके बचे हुए दिनोंकी संख्याके अनुसार है, सप्ताहकथाका नियम करनेके लिये नहीं।

भारतवर्षके अतिरिक्त अन्य स्थानोंमें भी त्रिगुण (सात्त्विक, राजस और तामस) अथवा निर्गुण सेवन अपनी रुचिके अनुसार करना चाहिये। तात्पर्य यह कि जिस किसी प्रकार भी हो सके, श्रीमद्भागवतका सेवन, उसका श्रवण करना ही चाहिये। जो केवल श्रीकृष्णकी लीलाओंके ही श्रवण, कीर्तन एवं रसास्वादनके लिये लालायित रहते और मोक्षकी भी इच्छा नहीं रखते उनका तो श्रीमद्भागवत ही धन है तथा जो संसारके दुःखोंसे घबड़ाकर अपनी मुक्ति चाहते हैं, उनके लिये भी यही इस भवरोगकी ओषधि है। अतः इस कलिकालमें इसका प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिये। इनके अतिरिक्त जो लोग विषयभोगोंमें ही परायण रहनेवाले हैं, सांसारिक सुखोंकी ही जिन्हें सदा चाह रहती है, उनके लिये भी अब इस कलियुगमें सामर्थ्य, धन और विधि-विधानका ज्ञान न होनेके कारण कर्ममार्ग (यज्ञादि)-से मिलनेवाली सिद्धि अत्यन्त

दुर्लभ हो गयी है। ऐसी दशामें उन्हें भी सब प्रकारसे अब इस भागवतकथाका ही सेवन करना चाहिये। यह श्रीमद्भागवतकी कथा धन, पुत्र, स्त्री, हाथी-घोड़े आदि वाहन, यश, मकान और निष्कण्टक राज्य भी दे सकती है। सकाम भावसे भागवतका सहारा लेनेवाले मनुष्य इस संसारमें मनोवांछित उत्तम भोगोंको भोगकर अन्तमें श्रीमद्भागवतके ही संगसे श्रीहरिके परमधामको प्राप्त हो जाते हैं।

जिनके यहाँ श्रीमद्भागवतकी कथा-वार्ता होती हो तथा जो लोग उस कथाके श्रवणमें लगे रहते हों, उनकी सेवा और सहायता अपने शरीर और धनसे करनी चाहिये। उन्हींके अनुग्रहसे सहायता करनेवाले पुरुषको भी भागवत-सेवनका पुण्य प्राप्त होता है। कामना दो वस्तुओंकी होती है—श्रीकृष्णकी और धनकी। श्रीकृष्णके सिवा जो कुछ भी चाहा जाय यह सब धनके अन्तर्गत है, उसकी 'धन' संज्ञा है। श्रोता और वक्ता भी दो प्रकारके माने गये हैं, एक श्रीकृष्णको चाहनेवाले और दूसरे धनको चाहनेवाले। जैसा वक्ता, वैसा ही श्रोता भी हो तो वहाँ कथामें रस मिलता है, अतः सुखकी वृद्धि होती है। यदि दोनों विपरीत विचारके हों तो रसाभास हो जाता है, अतः फलकी हानि होती है। किंतु जो श्रीकृष्णको चाहनेवाले वक्ता और श्रोता हैं, उन्हें विलम्ब होनेपर भी सिद्धि अवश्य मिलती है। श्रीकृष्णकी चाह रखनेवाला सर्वथा गुणहीन हो और उसकी विधिमें कुछ कमी रह जाय तो भी, यदि उसके हृदयमें प्रेम है तो, वही उसके लिये सर्वोत्तम विधि है। सकाम पुरुषको कथाकी समाप्तिके दिनतक स्वयं सावधानीके साथ सभी विधियोंका पालन करना चाहिये। भागवतकथाके श्रोता और वक्ता दोनोंके ही पालन करनेयोग्य विधि यह है—प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान करके अपना नित्यकर्म पूरा कर ले। फिर भगवान्‌का चरणामृत पीकर पूजाके सामानसे श्रीमद्भागवतकी पुस्तक और गुरुदेव (व्यास)-का पूजन करे। इसके पश्चात् अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक श्रीमद्भागवतकी कथा स्वयं कहे अथवा सुने। दूध या खीरका मौन भोजन करे। नित्य ब्रह्मचर्यका पालन और भूमिपर शयन करे। क्रोध और लोभ आदिको त्याग दे। प्रतिदिन कथाके अन्तमें कीर्तन करे और कथा समाप्त होनेपर रात्रिमें जागरण करे। समाप्ति होनेपर ब्राह्मणोंको भोजन कराकर उन्हें दक्षिणासे सन्तुष्ट करे। कथावाचक गुरुको वस्त्र, आभूषण आदि देकर गौ भी अर्पण करे। इस प्रकार विधि-विधान पूर्ण करनेपर मनुष्यको स्त्री, घर, पुत्र, राज्य और धन आदि जो-जो उसे अभीष्ट होता है, वह सब मनोवांछित फल प्राप्त होता है। परंतु सकामभाव बहुत बड़ी विडम्बना है, वह श्रीमद्भागवतकी कथामें शोभा नहीं देता। श्रीशुकदेवजीके मुखसे कहा हुआ यह श्रीमद्भागवतशास्त्र तो कलियुगमें साक्षात् श्रीकृष्णकी प्राप्ति करानेवाला और नित्य प्रेमानन्द प्रदान करनेवाला है। इसका तुच्छ कामनाके लिये उपयोग उचित नहीं है।

**श्रीमद्भागवत-माहात्म्य सम्पूर्ण**

# वैशाखमास-माहात्म्य

## वैशाखमासकी श्रेष्ठता; उसमें जल, व्यजन, छत्र, पादुका और अन्न आदि दानोंकी महिमा

**नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।**
**देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥**

'भगवान् नारायण, नरश्रेष्ठ नर, देवी सरस्वती तथा महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके भगवान्‌की विजय-कथासे परिपूर्ण इतिहास-पुराण आदिका पाठ करना चाहिये।'

**सूतजी कहते हैं**—राजा अम्बरीषने परमेष्ठी ब्रह्माके पुत्र देवर्षि नारदसे पुण्यमय वैशाखमासका माहात्म्य इस प्रकार पूछा—'ब्रह्मन्! मैंने आपसे सभी महीनोंका माहात्म्य सुना। उस समय आपने यह कहा था कि सब महीनोंमें वैशाखमास श्रेष्ठ है। इसलिये यह बतानेकी कृपा करें कि वैशाख-मास क्यों भगवान् विष्णुको प्रिय है और उस समय कौन-कौन-से धर्म भगवान् विष्णुके लिये प्रीतिकारक हैं?'

**नारदजीने कहा**—वैशाखमासको ब्रह्माजीने सब मासोंमें उत्तम सिद्ध किया है। वह माताकी भाँति सब जीवोंको सदा अभीष्ट वस्तु प्रदान करनेवाला है। धर्म, यज्ञ, क्रिया और तपस्याका सार है। सम्पूर्ण देवताओंद्वारा पूजित है। जैसे विद्याओंमें वेद-विद्या, मन्त्रोंमें प्रणव, वृक्षोंमें कल्पवृक्ष, धेनुओंमें कामधेनु, देवताओंमें विष्णु, वर्णोंमें ब्राह्मण, प्रिय वस्तुओंमें प्राण, नदियोंमें गंगाजी, तेजोंमें सूर्य, अस्त्र-शस्त्रोंमें चक्र, धातुओंमें सुवर्ण, वैष्णवोंमें शिव तथा रत्नोंमें कौस्तुभमणि है, उसी प्रकार धर्मके साधनभूत महीनोंमें वैशाखमास सबसे उत्तम है। संसारमें इसके समान भगवान् विष्णुको प्रसन्न करनेवाला दूसरा कोई मास नहीं है। जो वैशाखमासमें सूर्योदयसे पहले स्नान करता है, उससे भगवान् विष्णु निरन्तर प्रीति करते हैं। पाप तभीतक गर्जते हैं, जबतक जीव वैशाखमासमें प्रातःकाल जलमें स्नान नहीं करता। राजन्! वैशाखके महीनेमें सब तीर्थ आदि देवता (तीर्थके अतिरिक्त) बाहरके जलमें भी सदैव स्थित रहते हैं। भगवान् विष्णुकी आज्ञासे मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये वे सूर्योदयसे लेकर छः दण्डके भीतरतक वहाँ मौजूद रहते हैं।

वैशाखके समान कोई मास नहीं है, सत्ययुगके समान कोई युग नहीं है, वेदके समान कोई शास्त्र नहीं है और गंगाजीके समान कोई तीर्थ नहीं है।* जलके समान दान नहीं है, खेतीके समान धन नहीं है और जीवनसे बढ़कर कोई लाभ नहीं है। उपवासके समान कोई तप नहीं, दानसे बढ़कर कोई सुख नहीं, दयाके समान धर्म नहीं, धर्मके समान मित्र नहीं, सत्यके समान यश नहीं, आरोग्यके समान उन्नति नहीं, भगवान् विष्णुसे बढ़कर कोई रक्षक नहीं और वैशाखमासके समान संसारमें कोई पवित्र मास नहीं है। ऐसा विद्वान् पुरुषोंका मत है। वैशाख श्रेष्ठ मास है और शेषशायी भगवान् विष्णुको सदा प्रिय है। सब दानोंसे जो पुण्य होता है और सब तीर्थोंमें जो फल होता है, उसीको मनुष्य वैशाखमासमें केवल जलदान करके प्राप्त कर लेता है। जो जलदानमें असमर्थ है, ऐसे ऐश्वर्यकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषको उचित है कि वह दूसरेको

* न माधवसमो मासो न कृतेन युगं समम्। न च वेदसमं शास्त्रं न तीर्थं गङ्गया समम्॥ (स्क० पु०, वै० वै० मा० २।१)

प्रबोध करे, दूसरेको जलदानका महत्त्व समझावे। यह सब दानोंसे बढ़कर हितकारी है। जो मनुष्य वैशाखमें सड़कपर यात्रियोंके लिये प्याऊ लगाता है, वह विष्णुलोकमें प्रतिष्ठित होता है। नृपश्रेष्ठ! प्रपादान (पौंसला या प्याऊ) देवताओं, पितरों तथा ऋषियोंको अत्यन्त प्रीति देनेवाला है। जिसने प्याऊ लगाकर रास्तेके थके-माँदे मनुष्योंको सन्तुष्ट किया है, उसने ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि देवताओंको सन्तुष्ट कर लिया है। राजन्! वैशाखमासमें जलकी इच्छा रखनेवालेको जल, छाया चाहनेवालेको छाता और पंखेकी इच्छा रखनेवालेको पंखा देना चाहिये। राजेन्द्र! जो प्याससे पीड़ित महात्मा पुरुषके लिये शीतल जल प्रदान करता है, वह उतने ही मात्रसे दस हजार राजसूय यज्ञोंका फल पाता है। धूप और परिश्रमसे पीड़ित ब्राह्मणको जो पंखा डुलाकर हवा करता है, वह उतने ही मात्रसे निष्पाप होकर भगवान्‌का पार्षद हो जाता है। जो मार्गसे थके हुए श्रेष्ठ द्विजको वस्त्रसे भी हवा करता है, वह उतनेसे ही मुक्त हो भगवान् विष्णुका सायुज्य प्राप्त कर लेता है। जो शुद्ध चित्तसे ताड़का पंखा देता है, वह सब पापोंका नाश करके ब्रह्मलोकको जाता है। जो विष्णुप्रिय वैशाखमासमें पादुका दान करता है, वह यमदूतोंका तिरस्कार करके विष्णुलोकमें जाता है। जो मार्गमें अनाथोंके ठहरने लिये विश्रामशाला बनवाता है, उसके पुण्य-फलका वर्णन किया नहीं जा सकता। मध्याह्नमें आये हुए ब्राह्मण अतिथिको यदि कोई भोजन दे, तो उसके फलका अन्त नहीं है। राजन्! अन्नदान मनुष्योंको तत्काल तृप्त करनेवाला है, इसलिये संसारमें अन्नके समान कोई दान नहीं है। जो मनुष्य मार्गके थके हुए ब्राह्मणके लिये आश्रय देता है, उसके पुण्यफलका वर्णन किया नहीं जा सकता। भूपाल! जो अन्नदाता है, वह माता-पिता आदिका भी विस्मरण करा देता है। इसलिये तीनों लोकोंके निवासी अन्नदानकी ही प्रशंसा करते हैं। माता और पिता केवल जन्मके हेतु हैं, पर जो अन्न देकर पालन करता है, मनीषी पुरुष इस लोकमें उसीको पिता कहते हैं।

## वैशाखमासमें विविध वस्तुओंके दानका महत्त्व तथा वैशाखस्नानके नियम

**नारदजी कहते हैं**—वैशाखमासमें धूपसे तपे और थके-माँदे ब्राह्मणोंको श्रमनाशक सुखद पलंग देकर मनुष्य कभी जन्म-मृत्यु आदिके क्लेशोंसे कष्ट नहीं पाता। जो वैशाखमासमें पहननेके लिये कपड़े और बिछावन देता है, वह उसी जन्ममें सब भोगोंसे सम्पन्न हो जाता है और समस्त पापोंसे रहित हो ब्रह्मनिर्वाण (मोक्ष)-को प्राप्त होता है। जो तिनकेकी बनी हुई या अन्य खजूर आदिके पत्तोंकी बनी हुई चटाई दान करता है, उसकी उस चटाईपर साक्षात् भगवान् विष्णु शयन करते हैं। चटाई देनेवाला बैठने और बिछाने आदिमें सब ओरसे सुखी रहता है। जो सोनेके लिये चटाई और कम्बल देता है, वह उतने ही मात्रसे मुक्त हो जाता है। निद्रासे दुःखका नाश होता है, निद्रासे थकावट दूर होती है और वह निद्रा चटाईपर सोनेवालेको सुखपूर्वक आ जाती है। धूपसे कष्ट पाये हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणको जो सूक्ष्मतर वस्त्र दान करता है, वह पूर्ण आयु और परलोकमें उत्तम गतिको पाता है। जो पुरुष ब्राह्मणको फूल और

रोली देता है, वह लौकिक भोगोंका भोग करके मोक्षको प्राप्त होता है। जो खस, कुश और जलसे वासित चन्दन देता है, वह सब भोगोंमें देवताओंकी सहायता पाता है तथा उसके पाप और दुःखकी हानि होकर परमानन्दकी प्राप्ति होती है। वैशाखके धर्मको जाननेवाला जो पुरुष गोरोचन और कस्तूरीका दान करता है, वह तीनों तापोंसे मुक्त होकर परम शान्तिको प्राप्त होता है। जो विश्रामशाला बनवाकर प्याऊसहित ब्राह्मणको दान करता है, वह लोकोंका अधिपति होता है। जो सड़कके किनारे बगीचा, पोखरा, कुआँ और मण्डप बनवाता है, वह धर्मात्मा है, उसे पुत्रोंकी क्या आवश्यकता है। उत्तम शास्त्रका श्रवण, तीर्थयात्रा, सत्संग, जलदान, अन्नदान, पीपलका वृक्ष लगाना तथा पुत्र—इन सातको विज्ञ पुरुष सन्तान मानते हैं। जो वैशाखमासमें तापनाशक तक्र दान करता है, वह इस पृथ्वीपर विद्वान् और धनवान् होता है। धूपके समय मट्ठेके समान कोई दान नहीं, इसलिये रास्तेके थके-माँदे ब्राह्मणको मट्ठा देना चाहिये। जो वैशाखमासमें धूपकी शान्तिके लिये दही और खाँड़ दान करता है तथा विष्णुप्रिय वैशाखमासमें जो स्वच्छ चावल देता है, वह पूर्ण आयु और सम्पूर्ण यज्ञोंका फल पाता है। जो पुरुष ब्राह्मणके लिये गोघृत अर्पण करता है, वह अश्वमेध यज्ञका फल पाकर विष्णुलोकमें आनन्दका अनुभव करता है। जो दिनके तापकी शान्तिके लिये सायंकालमें ब्राह्मणको ऊख दान करता है, उसको अक्षय पुण्य प्राप्त होता है। जो वैशाखमासमें शामको ब्राह्मणके लिये फल और शर्बत देता है, उससे उसके पितरोंको निश्चय ही अमृतपानका अवसर मिलता है। जो वैशाखके महीनेमें पके हुए आमके फलके साथ शर्बत देता है, उसके सारे पाप निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं। जो वैशाखकी अमावास्याको पितरोंके उद्देश्यसे कस्तूरी, कपूर, बेला और खसकी सुगन्धसे वासित शर्बतसे भरा हुआ घड़ा दान करता है, वह छियानबे घड़ा दान करनेका पुण्य पाता है।

वैशाखमें तेल लगाना, दिनमें सोना, कांस्यके पात्रमें भोजन करना, खाटपर सोना, घरमें नहाना, निषिद्ध पदार्थ खाना, दुबारा भोजन करना तथा रातमें खाना—ये आठ बातें त्याग देनी चाहिये*। जो वैशाखमें व्रतका पालन करनेवाला पुरुष पद्म-पत्तेमें भोजन करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो विष्णुलोकमें जाता है। जो विष्णुभक्त पुरुष वैशाखमासमें नदी-स्नान करता है, वह तीन जन्मोंके पापसे निश्चय ही मुक्त हो जाता है। जो प्रातःकाल सूर्योदयके समय किसी समुद्रगामिनी नदीमें वैशाख-स्नान करता है, वह सात जन्मोंके पापसे तत्काल छूट जाता है। जो मनुष्य सात गंगाओंमेंसे किसीमें ऊषःकालमें स्नान करता है, वह करोड़ों जन्मोंमें उपार्जित किये हुए पापसे निस्सन्देह मुक्त हो जाता है। जाह्नवी (गंगा), वृद्ध गंगा (गोदावरी), कालिन्दी (यमुना), सरस्वती, कावेरी, नर्मदा और वेणी—ये सात गंगाएँ कही गयी हैं।† वैशाखमास आनेपर जो प्रातःकाल बावलियोंमें स्नान करता है, उसके महापातकोंका नाश हो जाता है। कन्द, मूल, फल, शाक, नमक, गुड़, बेर, पत्र, जल और तक्र—जो भी वैशाखमें दिया जाय, वह सब अक्षय होता है।

* तैलाभ्यङ्गं दिवास्वापं तथा वै कांस्यभोजनम्। खट्वानिद्रां गृहे स्नानं निषिद्धस्य च भक्षणम्॥
वैशाखे वर्जयेदष्टौ द्विभुक्तं नक्तभोजनम्।
(स्क० पु०, वै० वै० मा० ४। १-२)

† जाह्नवी वृद्धगङ्गा च कालिन्दी च सरस्वती। कावेरी नर्मदा वेणी सप्तगङ्गा प्रकीर्तिता॥ (स्क० पु०, वै० वै० मा० ४। १५)

ब्रह्मा आदि देवता भी बिना दिये हुए कोई वस्तु नहीं पाते। जो दानसे हीन है, वह निर्धन होता है। अतः सुखकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको वैशाखमासमें अवश्य दान करना चाहिये। सूर्यदेवके मेषराशिमें स्थित होनेपर भगवान् विष्णुके उद्देश्यसे अवश्य प्रातःकाल स्नान करके भगवान् विष्णुकी पूजा करनी चाहिये। कोई महीरथ नामक एक राजा था, जो कामनाओंमें आसक्त और अजितेन्द्रिय था। वह केवल वैशाख-स्नानके सुयोगसे स्वतः वैकुण्ठधामको चला गया। वैशाखमासके देवता भगवान् मधुसूदन हैं। अतएव वह सफल मास है। वैशाखमासमें भगवान्की प्रार्थनाका मन्त्र इस प्रकार है—

**मधुसूदन देवेश वैशाखे मेषगे रवौ।**
**प्रातःस्नानं करिष्यामि निर्विघ्नं कुरु माधव॥**

'हे मधुसूदन! हे देवेश्वर माधव! मैं मेषराशिमें सूर्यके स्थित होनेपर वैशाखमासमें प्रातःस्नान करूँगा, आप इसे निर्विघ्न पूर्ण कीजिये।'

तत्पश्चात् निम्नांकित मन्त्रसे अर्घ्य प्रदान करे—

**वैशाखे मेषगे भानौ प्रातःस्नानपरायणः।**
**अर्घ्यं तेऽहं प्रदास्यामि गृहाण मधुसूदन॥**

'सूर्यके मेषराशिपर स्थित रहते हुए वैशाख-मासमें प्रातःस्नानके नियममें संलग्न होकर मैं आपको अर्घ्य देता हूँ। मधुसूदन! इसे ग्रहण कीजिये।'

इस प्रकार अर्घ्य समर्पण करके स्नान करे। फिर वस्त्रोंको पहनकर सन्ध्या-तर्पण आदि सब कर्मोंको पूरा करके वैशाखमासमें विकसित होनेवाले पुष्पोंसे भगवान् विष्णुकी पूजा करे। उसके बाद वैशाखमासके माहात्म्यको सूचित करनेवाली भगवान् विष्णुकी कथा सुने। ऐसा करनेसे कोटि जन्मोंके पापोंसे मुक्त होकर मनुष्य मोक्षको प्राप्त होता है। यह शरीर अपने अधीन है, जल भी अपने अधीन ही है, साथ ही अपनी जिह्वा भी अपने वशमें है। अतः इस स्वाधीन शरीरसे स्वाधीन जलमें स्नान करके स्वाधीन जिह्वासे 'हरि' इन दो अक्षरोंका उच्चारण करे। जो वैशाखमासमें तुलसीदलसे भगवान् विष्णुकी पूजा करता है, वह विष्णुकी सायुज्य मुक्तिको पाता है। अतः अनेक प्रकारके भक्तिमार्गसे तथा भाँति-भाँतिके व्रतोंद्वारा भगवान् विष्णुकी सेवा तथा उनके सगुण या निर्गुण स्वरूपका अनन्य चित्तसे ध्यान करना चाहिये।

## वैशाखमासमें छत्रदानसे हेमकान्तका उद्धार

**नारदजी कहते हैं**—एक समय विदेहराज जनकके घर दोपहरके समय श्रुतदेव नामसे विख्यात एक श्रेष्ठ मुनि पधारे, जो वेदोंके ज्ञाता थे। उन्हें देखकर राजा बड़े उल्लासके साथ उठकर खड़े हो गये और मधुपर्क आदि सामग्रियोंसे उनकी विधिपूर्वक पूजा करके राजाने उनके चरणोदकको अपने मस्तकपर धारण किया। इस प्रकार स्वागत-सत्कारके पश्चात् जब वे आसनपर विराजमान हुए, तब विदेहराजके प्रश्नके अनुसार वैशाखमासके माहात्म्यका वर्णन करते हुए वे इस प्रकार बोले।

**श्रुतदेवने कहा**—राजन्! जो लोग वैशाखमासमें धूपसे सन्तप्त होनेवाले महात्मा पुरुषोंके ऊपर छाता लगाते हैं, उन्हें अनन्त पुण्यकी प्राप्ति होती है। इस विषयमें एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। पहले वंगदेशमें हेमकान्त नामसे विख्यात एक राजा हो गये हैं। वे कुशकेतुके पुत्र परम बुद्धिमान् और शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ थे। एक दिन वे शिकार खेलनेमें आसक्त होकर एक गहन वनमें जा घुसे। वहाँ अनेक प्रकारके मृग और वराह आदि जन्तुओंको मारकर जब वे बहुत

थक गये, तब दोपहरके समय मुनियोंके आश्रमपर आये। उस समय आश्रमपर उत्तम व्रतका पालन करनेवाले शतर्चि नामवाले ऋषि समाधि लगाये बैठे थे, जिन्हें बाहरके कार्योंका कुछ भी भान नहीं होता था। उन्हें निश्चल बैठे देख राजाको बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने उन महात्माओंको मार डालनेका निश्चय किया। तब उन ऋषियोंके दस हजार शिष्योंने राजाको मना करते हुए कहा—'ओ खोटी बुद्धिवाले नरेश! हमारे गुरुलोग इस समय समाधिमें स्थित हैं, बाहर कहाँ क्या हो रहा है—इसको ये नहीं जानते। इसलिये इनपर तुम्हें क्रोध नहीं करना चाहिये।'

**तब राजाने क्रोधसे विह्वल होकर शिष्योंसे कहा**—द्विजकुमारो! मैं मार्गसे थका-माँदा यहाँ आया हूँ। अतः तुम्हीं लोग मेरा आतिथ्य करो। राजाके ऐसा कहनेपर वे शिष्य बोले—'हमलोग भिक्षा माँगकर खानेवाले हैं। गुरुजनोंने हमें किसीके आतिथ्यके लिये आज्ञा नहीं दी है। हम सर्वथा गुरुके अधीन हैं। अतः तुम्हारा आतिथ्य कैसे कर सकते हैं।' शिष्योंका यह कोरा उत्तर पाकर राजाने उन्हें मारनेके लिये धनुष उठाया और इस प्रकार कहा—'मैंने हिंसक जीवों और लुटेरोंके भय आदिसे जिनकी अनेकों बार रक्षा की है, जो मेरे दिये हुए दानोंपर ही पलते हैं, वे आज मुझे ही सिखलाने चले हैं। ये मुझे नहीं जानते, ये सभी कृतघ्न और बड़े अभिमानी हैं। इन आततायियोंको मार डालनेपर भी मुझे कोई दोष नहीं लगेगा।' ऐसा कहकर वे कुपित हो धनुषसे बाण छोड़ने लगे। बेचारे शिष्य आश्रम छोड़कर भयसे भाग चले। भागनेपर भी हेमकान्तने उनका पीछा किया और तीन सौ शिष्योंको मार गिराया। शिष्योंके भाग जानेपर आश्रमपर जो कुछ सामग्री थी, उसे राजाके पापात्मा सैनिकोंने लूट लिया। राजाके अनुमोदनसे ही उन्होंने वहाँ इच्छानुसार भोजन किया। तत्पश्चात् दिन बीतते-बीतते राजा सेनाके साथ अपनी पुरीमें आ गये। राजा कुशकेतुने जब अपने पुत्रका यह अन्यायपूर्ण कार्य सुना, तब उसे राज्य करनेके अयोग्य जानकर उसकी निन्दा करते हुए उसे देशनिकाला दे दिया। पिताके त्याग देनेपर हेमकान्त घने वनमें चला गया। वहाँ उसने बहुत वर्षोंतक निवास किया। ब्रह्महत्या उसका सदा पीछा करती रहती थी, इसलिये वह कहीं भी स्थिरतापूर्वक रह नहीं पाता था। इस प्रकार उस दुष्टात्माके अट्ठाईस वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन वैशाखमासमें जब दोपहरका समय हो रहा था, महामुनि त्रित तीर्थयात्राके प्रसंगसे उस वनमें आये। वे धूपसे अत्यन्त संतप्त और तृषासे बहुत पीड़ित थे, इसलिये किसी वृक्षहीन प्रदेशमें मूर्छित होकर गिर पड़े। दैवयोगसे हेमकान्त उधर आ निकला; उसने मुनिको प्याससे पीड़ित, मूर्छित और थका-माँदा देख उनपर बड़ी दया की। उसने पलाशके पत्तोंसे छत्र बनाकर उनके ऊपर आती हुई धूपका निवारण किया। वह स्वयं मुनिके मस्तकपर छाता लगाये खड़ा हुआ और तूँबीमें रखा हुआ जल उनके मुँहमें डाला। इस उपचारसे मुनिको चेत हो आया और उन्होंने क्षत्रियको दिये हुए पत्तेके छातेको लेकर अपनी व्याकुलता दूर की। उनकी इन्द्रियोंमें कुछ शक्ति आयी और वे धीरे-धीरे किसी गाँवमें पहुँच गये। उस पुण्यके प्रभावसे हेमकान्तकी तीन सौ ब्रह्महत्याएँ नष्ट हो गयीं। इसी समय यमराजके दूत हेमकान्तको लेनेके लिये वनमें आये। उन्होंने उसके प्राण लेनेके लिये संग्रहणी रोग पैदा किया। उस समय प्राण छूटनेकी पीड़ासे छटपटाते हुए हेमकान्तने तीन अत्यन्त भयंकर यमदूतोंको देखा, जिनके बाल ऊपरकी ओर उठे हुए थे। उस समय अपने कर्मोंको याद करके वह चुप हो गया। छत्र-दानके प्रभावसे उसको भगवान् विष्णुका स्मरण हुआ। उसके स्मरण करनेपर भगवान् महाविष्णुने विष्वक्सेनसे कहा—'तुम शीघ्र जाओ, यमदूतोंको

हेमकान्तके द्वारा त्रितमुनिको छत्र-जल-दान

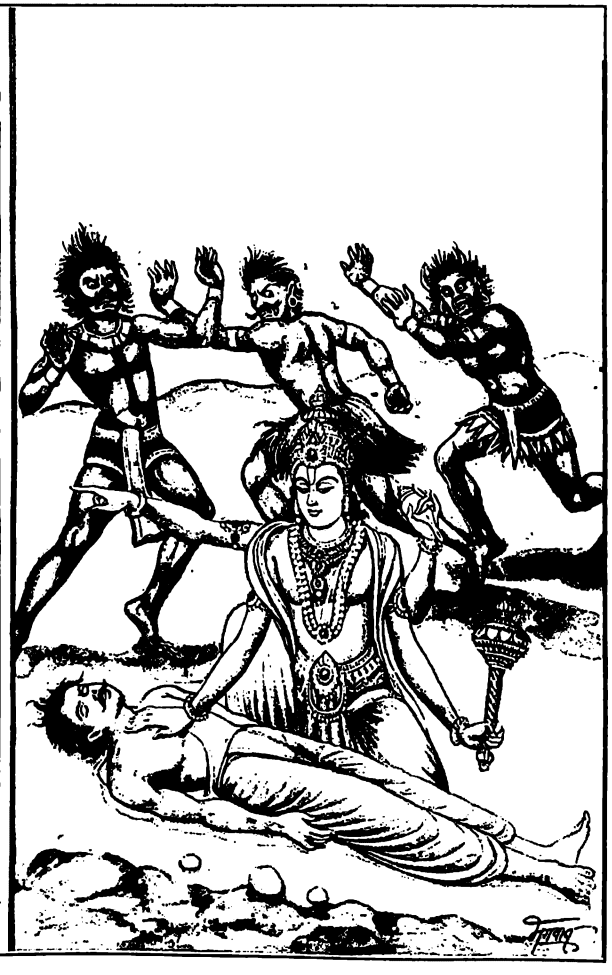

छत्र और जल-दानसे हेमकान्तपर भगवत्कृपा

रोको, हेमकान्तकी रक्षा करो। अब वह निष्पाप एवं मेरा भक्त हो गया है। उसे नगरमें ले जाकर उसके पिताको सौंप दो। साथ ही मेरे कहनेसे कुशकेतुको यह समझाओ कि तुम्हारे पुत्रने अपराधी होनेपर भी वैशाखमासमें छत्र-दान करके एक मुनिकी रक्षा की है। अतः वह पापरहित हो गया है। इस पुण्यके प्रभावसे वह मन और इन्द्रियोंको अपने वशमें रखनेवाला दीर्घायु, शूरता और उदारता आदि गुणोंसे युक्त तथा तुम्हारे समान गुणवान् हो गया है। इसलिये अपने इस महाबली पुत्रको तुम राज्यका भार सँभालनेके लिये नियुक्त करो। भगवान् विष्णुने तुम्हें ऐसी ही आज्ञा दी है। इस प्रकार राजाको आदेश देकर हेमकान्तको उनके अधीन करके यहाँ लौट आओ।'

भगवान् विष्णुका यह आदेश पाकर महाबली विष्वक्सेनने हेमकान्तके पास आकर यमदूतोंको रोका और अपने कल्याणमय हाथोंसे उसके सब अंगोंमें स्पर्श किया। भगवद्भक्तके स्पर्शसे हेमकान्तकी सारी व्याधि क्षणभरमें दूर हो गयी। तदनन्तर विष्वक्सेन उसके साथ राजाकी पुरीमें गये। उन्हें देखकर महाराज कुशकेतुने आश्चर्ययुक्त हो भक्तिपूर्वक मस्तक झुकाकर पृथ्वीपर साष्टांग प्रणाम किया और भगवान्के पार्षदका अपने घरमें प्रवेश कराया। वहाँ नाना प्रकारके स्तोत्रोंसे इनकी स्तुति तथा वैभवोंसे उनका पूजन किया। तत्पश्चात् महाबली विष्वक्सेनने अत्यन्त प्रसन्न होकर राजाको हेमकान्तके विषयमें भगवान् विष्णुने जो सन्देश दिया था, वह सब कह सुनाया। उसे सुनकर कुशकेतुने पुत्रको राज्यपर बिठा दिया और स्वयं विष्वक्सेनकी आज्ञा लेकर उन्होंने पत्नीसहित वनको प्रस्थान किया। तदनन्तर महामना विष्वक्सेन हेमकान्तसे पूछकर और उसकी प्रशंसा करके श्वेतद्वीपमें भगवान् विष्णुके समीप चले गये। तबसे राजा हेमकान्त वैशाखमासमें बताये हुए भगवान्की प्रसन्नताको बढ़ानेवाले शुभ धर्मोंका प्रतिवर्ष पालन करने लगे। वे ब्राह्मणभक्त, धर्मनिष्ठ, शान्त, जितेन्द्रिय, सब प्राणियोंके प्रति दयालु और सम्पूर्ण यज्ञोंकी दीक्षामें स्थित रहकर सब प्रकारकी सम्पदाओंसे सम्पन्न हो गये। उन्होंने पुत्र-पौत्र आदिके साथ समस्त भोगोंका उपभोग करके भगवान् विष्णुका लोक प्राप्त किया। वैशाख सुखसे साध्य, अतिशय पुण्य प्रदान करनेवाला है। पापरूपी इन्धनको अग्निकी भाँति जलानेवाला, परम सुलभ तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंको देनेवाला है।

## महर्षि वसिष्ठके उपदेशसे राजा कीर्तिमान्का अपने राज्यमें वैशाखमासके धर्मका पालन कराना और यमराजका ब्रह्माजीसे राजाके लिये शिकायत करना

**मिथिलापतिने पूछा**—ब्रह्मन्! जब वैशाखमासके धर्म अतिशय सुलभ, पुण्यराशि प्रदान करनेवाले, भगवान् विष्णुके लिये प्रीतिकारक, चारों पुरुषार्थोंकी तत्काल सिद्धि करनेवाले, सनातन और वेदोक्त हैं, तब संसारमें उनकी प्रसिद्धि कैसे नहीं हुई?

**श्रुतदेवजीने कहा**—राजन्! इस पृथ्वीपर लौकिक कामना रखनेवाले ही मनुष्य अधिक हैं। उनमेंसे कुछ राजस और कुछ तामस हैं। वे लोग इस संसारके भोगों तथा पुत्र-पौत्रादि सम्पदाओंकी ही अभिलाषा रखते हैं। कहीं किसी प्रकार कभी बड़ी कठिनाईसे कोई एक मनुष्य ऐसा मिलता है, जो स्वर्गलोकके लिये प्रयत्न करता है और

इसीलिये वह यज्ञ आदि पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान बड़े प्रयत्नसे करता है; परंतु मोक्षकी उपासना प्रायः कोई नहीं करता। तुच्छ आशाएँ लेकर बहुत-से कर्मोंका आयोजन करनेवाले लोग प्रायः काम्य-कर्मोंके ही उपासक हैं। यही कारण है कि संसारमें राजस और तामस धर्म अधिक विख्यात हो गये, परंतु सात्त्विक धर्मोंकी प्रसिद्धि नहीं हुई। ये सात्त्विक धर्म भगवान् विष्णुको प्रसन्न करनेवाले हैं, निष्काम भावसे किये जाते हैं और इहलोक तथा परलोकमें सुख प्रदान करते हैं। देवमायासे मोहित होनेके कारण मूढ़ मनुष्य इन धर्मोंको जानते ही नहीं हैं।

पूर्वकालकी बात है, काशीपुरीमें कीर्तिमान् नामसे विख्यात एक चक्रवर्ती राजा थे। वे इक्ष्वाकुवंशके भूषण तथा महाराज नृगके पुत्र थे। संसारमें उनका बड़ा यश था। वे अपनी इन्द्रियोंपर और क्रोधपर विजय पा चुके थे। ब्राह्मणोंके प्रति उनके मनमें बड़ी भक्ति थी। राजाओंमें उनका स्थान बहुत ऊँचा था। एक दिन वे मृगयामें आसक्त होकर महर्षि वसिष्ठके आश्रमपर आये। वैशाखकी चिलचिलाती हुई धूपमें यात्रा करते हुए राजाने मार्गमें देखा, महात्मा वसिष्ठके शिष्य जगह-जगह अनेक प्रकारके कार्योंमें विशेष तत्परताके साथ संलग्न थे। वे कहीं पौंसला बनाते थे और कहीं छायामण्डप। किनारेपर झरनोंके जलको रोककर स्वच्छ बावली बनाते थे। कहीं वृक्षोंके नीचे बैठे हुए लोगोंको वे पंखा डुलाकर हवा करते थे, कहीं ऊख देते, कहीं सुगन्धित पदार्थ भेंट करते और कहीं फल देते थे। दोपहरीमें लोगोंको छाता देते और सन्ध्याके समय शर्बत। कोई शिष्य घनी छायावाले वनमें झाड़-बुहारकर साफ किये हुए आश्रमके प्रांगणोंमें हितकारक बालुका बिछाते थे और कुछ लोग वृक्षोंकी शाखामें झूला लटकाते थे।

उन्हें देखकर राजाने पूछा—'आपलोग कौन हैं?' उन्होंने उत्तर दिया—'हमलोग महर्षि वसिष्ठके शिष्य हैं।' राजाने पूछा—'यह सब क्या हो रहा है?' वे बोले—'ये वैशाखमासमें कर्तव्यरूपसे बताये गये धर्म हैं, 'जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंके साधक हैं। हमलोग गुरुदेव वसिष्ठकी आज्ञासे इन धर्मोंका पालन करते हैं।' राजाने पुनः पूछा—'इनके अनुष्ठानसे मनुष्योंको कौन-सा फल मिलता है? किस देवताकी प्रसन्नता होती है?' उन्होंने उत्तर दिया—'हमें इस समय यह बतानेके लिये अवकाश नहीं है, आप गुरुजीसे ही यथोचित प्रश्न कीजिये। वे महायशस्वी महर्षि इन धर्मोंको यथार्थरूपसे जानते हैं।'

शिष्योंसे ऐसा उत्तर पाकर राजा शीघ्र ही महर्षि वसिष्ठके पवित्र आश्रमपर, जो विद्या और योगशक्तिसे सम्पन्न था, गये। राजाको आते देख महर्षि वसिष्ठ मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने सेवकोंसहित महात्मा राजाका विधिपूर्वक आतिथ्य-सत्कार किया। जब वे आरामसे बैठ गये, तब गुरु वसिष्ठसे प्रसन्नतापूर्वक बोले—'भगवन्! मैंने मार्गमें आपके शिष्योंद्वारा परम आश्चर्यमय शुभ कर्मोंका अनुष्ठान होते देखा है; किंतु उसके सम्बन्धमें जब प्रश्न किया, तब उन्होंने दूसरी कोई बात न बताकर आपके पास जानेकी आज्ञा दी। उनकी आज्ञाके अनुसार मैं इस समय आपके समीप आया हूँ। मेरे मनमें उन धर्मोंको सुननेकी बड़ी इच्छा है। अतः आप मुझसे उनका वर्णन करें।'

**तब महायशस्वी वसिष्ठजीने प्रसन्नतापूर्वक कहा**—राजन्! तुम्हारी बुद्धिको उत्तम शिक्षा मिली है। अतः उसने यह उत्तम निश्चय किया है। भगवान् विष्णुकी कथाके श्रवण और भगवद्धर्मोंके अनुष्ठानमें जो तुम्हारी बुद्धिकी आत्यन्तिक प्रवृत्ति हुई है, यह तुम्हारे किसी पुण्यका ही फल है। जिसने वैशाखमासमें बताये हुए महाधर्मोंके द्वारा

भगवान् श्रीहरिकी आराधना की है, उसके उन धर्मोंसे भगवान् बहुत सन्तुष्ट होते और उसे मनोवांछित वस्तु प्रदान करते हैं। सम्पूर्ण जगत्के स्वामी भगवान् लक्ष्मीपति समस्त पापराशिका विनाश करनेवाले हैं। वे सूक्ष्म धर्मोंसे प्रसन्न होते हैं, केवल परिश्रम और धनसे नहीं। भगवान् विष्णु भक्तिसे पूजित होनेपर अभीष्ट वस्तु प्रदान करते हैं; इसलिये सदा भगवान् विष्णुकी भक्ति करनी चाहिये। जगदीश्वर श्रीहरि जलसे भी पूजा करनेपर अशेष क्लेशका नाश करते और शीघ्र प्रसन्न होते हैं। वैशाखमासमें बताये हुए ये धर्म थोड़े-से परिश्रमद्वारा साध्य होनेपर भी भगवान् विष्णुके लिये प्रीतिकारक एवं शुभ होनेके कारण अधिक व्ययसे सिद्ध होनेवाले बड़े-बड़े यज्ञादि कर्मोंका भी तिरस्कार करनेवाले हैं। अतः भूपाल! तुम भी वैशाखमासमें बताये हुए धर्मोंका पालन करो और तुम्हारे राज्यमें निवास करनेवाले अन्य सब लोगोंसे भी उन कल्याणकारी धर्मोंका पालन कराओ।

इस प्रकारसे वैशाख-धर्मके पालनकी आवश्यकताको शास्त्रों और युक्तियोंसे भलीभाँति सिद्ध करके वसिष्ठजीने वैशाखमासके सब धर्मोंका राजाके समक्ष वर्णन किया। उन सब धर्मोंको सुनकर राजाने गुरुका भक्तिभावसे पूजन किया और घर आकर वे सब धर्मोंका विधिपूर्वक पालन करने लगे। देवाधिदेव भगवान् विष्णुमें भक्ति रखते हुए राजा कीर्तिमान् देवेश्वर पद्मनाभके अतिरिक्त और किसी देवताको नहीं देखते थे। उन्होंने हाथीकी पीठपर नगाड़ा रखकर सिपाहियोंसे अपने राज्यभरमें डंकेकी चोट यह घोषणा करा दी कि 'मेरे राज्यमें जो आठ वर्षसे अधिककी आयुवाला मनुष्य है, उसकी आयु जबतक अस्सी वर्षकी न हो जाय, तबतक मेषराशिमें सूर्यके स्थित होनेपर यदि वह प्रातःकाल स्नान नहीं करेगा तो मेरे द्वारा दण्डनीय, वध्य तथा राज्यसे निकाल देने योग्य समझा जायगा—यह मेरा निश्चित आदेश है। पिता, पुत्र, अथवा सुहृद्—जो कोई भी वैशाखधर्मका पालन नहीं करेगा, वह चोरकी भाँति दण्डका पात्र समझा जायगा। प्रातःकाल शुभ जलमें स्नान करके श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको दान करना चाहिये। तुम सब लोग अपनी शक्तिके अनुसार पौंसला और दान आदि धर्मोंका आचारण करो।'

राजा कीर्तिमान्ने प्रत्येक ग्राममें धर्मका उपदेश करनेवाले एक-एक ब्राह्मणको बसाया। पाँच-पाँच गाँवोंपर एक-एक ऐसे अधिकारीकी नियुक्ति की, जो धर्मका त्याग करनेवाले लोगोंको दण्ड दे सके। उस अधिकारीकी सेवामें दस-दस घुड़सवार रहते थे। इस प्रकार चक्रवर्ती नरेशके शासनसे सर्वत्र और सब देशोंमें यह धर्मका पौधा प्रारम्भ हुआ और आगे चलकर खूब बढ़े हुए वृक्षके रूपमें परिणत हो गया। उस राजाके राज्यमें जो लोग मर जाते थे, वे भगवान् विष्णुके धाममें जाते थे। वहाँके मनुष्योंको विष्णुलोककी प्राप्ति निश्चित थी। एक बार भी वैशाखस्नान कर लेनेसे मनुष्य यमराजके पास नहीं जाता। अपने धर्मानुकूल कर्ममें स्थित हुए सब लोगोंके विष्णुलोकमें चले जानेसे यमपुरीके सब नरक खाली हो गये। वहाँ एक भी पापी प्राणी नहीं रह गया। वैशाखमासके प्रभावसे यमपुरीके मार्गकी यात्रा ही बंद हो गयी। सब मनुष्य दिव्य आकृति धारण करके भगवान्के धाममें जाने लगे। देवताओंके जो लोक हैं, वे सब भी शून्य हो गये। स्वर्ग और नरक दोनोंके शून्य हो जानेपर एक दिन नारदजीने धर्मराजके पास जाकर कहा—'धर्मराज! आपके इस नरकमें अब पहले-जैसा कोलाहल नहीं सुनायी पड़ता; पहलेकी भाँति पाप-कर्मोंका लेखा भी नहीं लिखा जा रहा है। चित्रगुप्तजी तो ऐसे मौनभावसे बैठे हुए हैं, जैसे कोई मुनि हों। महाराज! इसका कारण तो बताइये?'

**महात्मा नारदके ऐसा कहनेपर राजा यमने कुछ दीनताके स्वरमें कहा**—नारद! इस समय पृथ्वीपर जो यह राजा राज्य करता है, वह पुराणपुरुषोत्तम भगवान् विष्णुका बड़ा भक्त है। उसके भयसे कोई भी मनुष्य कभी वैशाखमासका उल्लंघन नहीं करता। उस पुण्यकर्मके प्रभावसे सभी भगवान् विष्णुके परम धाममें चले जाते हैं। मुनिश्रेष्ठ! उस राजाने इस समय मेरे लोकका मार्ग लुप्त-सा कर रखा है। स्वर्ग और नरक दोनोंको शून्य बना दिया है। अतः ब्रह्माजीके समीप जाकर यह सब समाचार उनसे निवेदन करके तभी मैं स्वस्थ होऊँगा। ऐसा निश्चय करके यमराज ब्रह्माजीके लोकमें गये और वहाँ बैठे हुए उन ब्रह्माजीका दर्शन किया, जिनका आश्रय ध्रुव है, जो इस जगत्के बीज तथा सब लोकोंके पितामह हैं और समस्त लोकपाल, दिक्पाल तथा देवता जिनकी उपासना करते हैं।

ब्रह्माजीने यमराजको देखा और यमराज ब्रह्माजीके आगे पृथ्वीपर गिर पड़े। फिर यमराजने कहा—'कमलासन! काममें लगाया हुआ जो पुरुष स्वामीकी आज्ञाका ठीक-ठीक पालन नहीं करता और उसका धन लेकर भोगता है, वह काठका कीड़ा होता है। जो बुद्धिमान् मनुष्य लोभवश स्वामीके धनका उपभोग करता है, वह तीन सौ कल्पोंतक तिर्यग्-योनिरूप नरकमें जाता है। जो कार्यमें नियुक्त हुआ पुरुष कार्य करनेमें समर्थ होकर भी अपने घरमें ही बैठा रहता है, वह बिलाव होता है। देव! मैं आपकी आज्ञासे धर्मपूर्वक प्रजाका शासन करता आ रहा हूँ। मैं अबतक मुनियों और धर्मशास्त्रोंके कथनानुसार पुण्यात्माको पुण्यके फलसे और पापात्माको पापके फलसे संयुक्त किया करता था, परंतु अब आपकी आज्ञाका पालन करनेमें असमर्थ हो गया हूँ। कीर्तिमान्के राज्यमें सब लोग वैशाखमासोक्त पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करके पितरों और पितामहोंके साथ वैकुण्ठधाममें चले जाते हैं। उनके मरे हुए पितर और मातामह आदि भी विष्णुलोकमें चले जाते हैं। इतना ही नहीं, पत्नीके पिता—श्वशुर आदि भी मेरे लेखको मिटाकर विष्णुलोकमें चले जाते हैं। देव! बड़े-बड़े यज्ञोंद्वारा भी मनुष्य वैसी गति नहीं पाता है, जैसी वैशाखमासमें मिल रही है। सम्पूर्ण तीर्थोंसे, दान आदिसे, तपस्याओंसे, व्रतोंसे अथवा सम्पूर्ण धर्मोंसे युक्त मनुष्य भी उस गतिको नहीं पाता, जो वैशाखधर्ममें तत्पर हुए मनुष्यको प्राप्त हो रही है। वैशाखमें प्रातःकाल स्नान करके देवपूजन, मास-माहात्म्यकी कथाका श्रवण तथा भगवान् विष्णुको प्रिय लगनेवाले तदनुकूल धर्मोंका पालन करनेवाला मनुष्य एकमात्र विष्णुलोकका स्वामी होता है और जगत्पति भगवान् विष्णुके लोककी तो मेरी समझमें कोई सीमा ही नहीं है; क्योंकि सब ओरसे कोटि-कोटि प्राणियोंका समुदाय वहाँ पहुँच रहा है तो भी वह भरता नहीं है। इस संसारमें पवित्र और अपवित्र सभी लोग राजाकी आज्ञासे वैशाखमासके धर्मका पालन करके विष्णुलोकको जा रहे हैं। लोकनाथ! उसकी प्रेरणासे संस्कारहीन मनुष्य भी वैशाख-स्नानमात्रसे वैकुण्ठधाममें चले जाते हैं। वह केवल भगवान् विष्णुके चरणोंकी शरण लेनेवाला है। जान पड़ता है, वह समस्त संसारको विष्णुलोकमें पहुँचा देगा। जो पुत्र धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके प्रतिकूल चलता हो, वह पृथ्वीपर माताके पेटसे पैदा हुआ रोग है। वह अधम पुरुष अपनी माताका घात करनेवाला कहा जाता है; किंतु राजा कीर्तिमान्की माता और उसकी पत्नीका पुण्य संसारमें विख्यात है। उसकी माता एकमात्र वीरजननी है और वह राजा निश्चय ही संसारमें बहुत बड़ा वीर है। जिस प्रकार कीर्तिमान् मेरी लिपिको मिटानेमें उद्यत हुआ है, ऐसा उद्योग पुराणोंमें और किसीका

नहीं सुना गया है। भगवान् विष्णुकी भक्तिमें तत्पर हुए राजा कीर्तिमान्‌के सिवा दूसरे ऐसे किसीको मैं नहीं जानता, जो डंका बजाकर घोषणा करते हुए लोगोंको ऐसी प्रेरणा देता हो और मेरे लोकके मार्गको विलुप्त करनेकी चेष्टा करता रहा हो।'

## ब्रह्माजीका यमराजको समझाना और भगवान् विष्णुका उन्हें वैशाखमासमें भाग दिलाना

**ब्रह्माजीने कहा**—यमराज! तुमने क्या आश्चर्य देखा है? क्यों तुम्हें खेद हो रहा है? भगवान् गोविन्दको एक बार भी प्रणाम कर लिया जाय तो वह सौ अश्वमेध यज्ञोंके अवभृथ-स्नानके समान होता है। यज्ञ करनेवाला तो पुनः इस संसारमें जन्म लेता है, परंतु भगवान्‌को किया हुआ प्रणाम पुनर्जन्मका हेतु नहीं बनता—मुक्तिकी प्राप्ति करा देता है।* जिसकी जिह्वाके अग्रभागपर 'हरि' ये दो अक्षर विद्यमान हैं, उसको कुरुक्षेत्र-तीर्थके सेवन अथवा सरस्वती नदीके जलमें स्नान करनेसे क्या लेना है? जो मृत्युकालमें भगवान् विष्णुका स्मरण करता है, वह अभक्ष्य-भक्षण आदिसे प्राप्त हुई पापराशिका परित्याग करके भगवान् विष्णुके सायुज्यको पाता है; क्योंकि भगवान् विष्णुको अपना स्मरण बहुत ही प्रिय है। यमराज! इसी प्रकार वैशाख नामक मास भी भगवान् विष्णुको प्रिय है। जिसके धर्मको श्रवण करनेमात्रसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है, उसके अनुष्ठानमें तत्पर रहनेवाला मनुष्य यदि मुक्तिको प्राप्त हो तो उसके लिये क्या कहना है? वैशाखमासमें भगवान् पुरुषोत्तमके नाम और यशका गान किया जाता है, जिससे भगवान् बहुत प्रसन्न होते हैं। पुरुषोत्तम श्रीहरि सम्पूर्ण जगत्‌के स्वामी और हमारे जनक हैं। यह राजा कीर्तिमान् वैशाखमासमें उन्हीं भगवान्‌के प्रिय धर्मोंका अनुष्ठान करता है, जिससे प्रसन्नचित्त होकर भगवान् विष्णु सदा उसकी सहायतामें स्थित रहते हैं। भगवान् वासुदेवके भक्तोंका कभी अमंगल नहीं होता; उन्हें जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिका भय भी नहीं प्राप्त होता। कार्यमें नियुक्त किया हुआ पुरुष यदि अपनी पूरी शक्ति लगाकर स्वामीके कार्यसाधनकी चेष्टा करता है तो उतनेसे ही वह कृतार्थ हो जाता है। यदि शक्तिके बाहरका कार्य उपस्थित हो जाय तो स्वामीको उसकी सूचना दे दे। उतना कर देनेसे वह उऋण हो जाता है और सुखका भागी होता है। जिसने उस प्रयोजनको स्वामीसे निवेदित कर दिया है, उसके ऊपर न तो कोई ऋण है और न पातक ही लगता है। अपने कर्तव्य-पालनके लिये पूरा यत्न कर लेनेपर प्राणीका कोई अपराध नहीं रहता। यह कार्य तुम्हारे लिये असम्भव है। अतः इसके विषयमें तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।

ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर यमराजने दीन वाणीमें कहा—'तात! मैंने आपके चरणोंकी सेवासे सब कुछ पा लिया।' तब ब्रह्माजीने पुनः समझाते हुए कहा—'धर्मराज! राजा कीर्तिमान् विष्णु-धर्मके पालनमें तत्पर है। चलो, हमलोग भगवान् विष्णुके समीप चलें और उन्हें सब बात

* एकोऽपि गोविन्दकृतः प्रणामः शताश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
यज्ञस्य कर्ता पुनरेति जन्म हरेः प्रणामो न पुनर्भवाय॥
(स्क० पु०, वै० वै० मा० १३। ३)

बताकर पीछे उनके कथनानुसार कार्य किया जायगा। वे ही इस जगत्के कर्ता, धर्मके रक्षक और नियामक हैं।'

इस प्रकार यमराजको आश्वासन देकर ब्रह्माजी उनके साथ क्षीरसागरके तटपर गये। वहाँ उन्होंने सच्चिदानन्दस्वरूप गुणातीत परमेश्वर विष्णुका स्तवन किया। ब्रह्माजीकी स्तुतिसे संतुष्ट होकर भगवान् विष्णु वहाँ प्रकट हुए। यमराज और ब्रह्माजीने तुरंत ही उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया। तब भगवान् महाविष्णुने मेघके समान गम्भीर वाणीमें उन दोनोंसे कहा—'तुमलोग यहाँ क्यों आये हो?' ब्रह्माजीने कहा—'प्रभो! आपके श्रेष्ठ भक्त राजा कीर्तिमान्के शासनकालमें सब मनुष्य वैशाख-धर्मके पालनमें संलग्न हो आपके अविनाशी पदको प्राप्त हो रहे हैं। इससे यमपुरी सूनी हो गयी है।'

**उनके ऐसा कहनेपर भगवान् विष्णु हँसते हुए बोले**—मैं लक्ष्मीको त्याग दूँगा। अपने प्राण, शरीर, श्रीवत्स, कौस्तुभमणि, वैजयन्ती माला, श्वेतद्वीप, वैकुण्ठधाम, क्षीरसागर, शेषनाग तथा गरुड़जीको भी छोड़ दूँगा, परंतु अपने भक्तका त्याग नहीं कर सकूँगा। जिन्होंने मेरे लिये सब भोगोंका त्याग करके अपना जीवनतक मुझे सौंप दिया है, जो मुझमें मन लगाकर मेरे स्वरूप हो गये हैं, उन महाभाग भक्तोंको मैं कैसे त्याग सकता हूँ?* राजा कीर्तिमान्को इस पृथ्वीपर मैंने दस हजार वर्षोंकी आयु दी है। उसमेंसे आठ हजार वर्ष तो बीत गये। शेष आयु और बीत जानेपर उसे मेरा सायुज्य प्राप्त होगा। उसके बाद पृथ्वीपर बेन नामक दुष्टात्मा राजा होगा, जो संपूर्ण वेदोक्त महाधर्मोंका लोप कर देगा। उस समय वैशाखमासके धर्म भी छिन्न-भिन्न हो जायँगे। बेन अपने ही पापसे भस्म हो जायगा। तत्पश्चात् मैं पृथु होकर पुनः सब धर्मोंका प्रचार करूँगा। उस समय लोगोंमें वैशाखमासके धर्मको भी प्रसिद्ध करूँगा। सहस्रों मनुष्योंमें कोई ऐसा होता है, जो मुझमें अपने मन-प्राण अर्पित करके अपना सर्वस्व मुझे समर्पित कर दे और मेरा भक्त हो जाय। जो ऐसा होता है, वही मेरे धर्मोंका प्रचार करता है। इस वैशाखमासमेंसे भी मैं वैशाखधर्ममें तत्पर रहनेवाले महात्मा पुरुषों तथा राजाके द्वारा समयानुसार तुम्हारे लिये भाग दिलाऊँगा। लोकमें जो कोई भी वैशाखमासका व्रत करेंगे, वे तुम्हें भाग देनेवाले होंगे। उनके वैशाखमासमें बताये हुए महाधर्मके पालनमें तुम कभी विघ्न न उपस्थित करना।

यमराजको इस प्रकार आश्वासन देकर भगवान् विष्णु वहीं अन्तर्धान हो गये। ब्रह्माजी भी अपने सेवकोंके साथ सत्यलोकको चले गये। उनके बाद यमराज भी अपनी पुरीको पधारे। वैशाखमासकी पूर्णिमाको पहले धर्मराजके उद्देश्यसे जलसे भरा हुआ घड़ा, दही और अन्न देना चाहिये। उसके बाद पितरों, गुरुओं और भगवान् विष्णुके उद्देश्यसे शीतल जल, दही, अन्न, पान और दक्षिणा फलके साथ काँसीके पात्रमें रखकर ब्राह्मणको देना चाहिये। भगवान् विष्णुकी दिव्य प्रतिमा वैशाखमासकी माहात्म्यकथा सुनानेवाले दीन ब्राह्मणको देनी चाहिये। उस धर्मवक्ता ब्राह्मणको अपने धनसे भी पूजित करना चाहिये। राजा कीर्तिमान्ने सब कुछ उसी प्रकार किया। उन्होंने पृथ्वीपर मनोवांछित भोग भोगकर शेष आयु पूर्ण होनेके पश्चात् पुत्र-पौत्र आदिके साथ श्रीविष्णुधामको प्रस्थान किया।

---

* लक्ष्मीं वापि परित्यक्ष्ये प्राणान्देहमथापि वा। श्रीवत्सं कौस्तुभं मालां वैजयन्तीमथापि वा॥
श्वेतद्वीपं च वैकुण्ठं क्षीरसागरमेव च। शेषं च गरुडं चैव न भक्तं त्यक्तुमुत्सहे॥
विसृज्य सकलान् भोगान् मदर्थे त्यक्तजीवितान्। मदात्मकान् महाभागान् कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
(स्क० पु०, वै० वै० मा० १३। ३४—३६)

**मिथिलापतिने कहा**—महामते! दुरात्मा राजा बेन प्रथम (स्वायम्भुव) मन्वन्तरमें हुआ था और ये राजा इक्ष्वाकुकुलभूषण कीर्तिमान् वैवस्वत मन्वन्तरके व्यक्ति हैं। यह बात पहले मैंने आपके मुखसे सुन रखी है। परंतु इस समय आपने और ही बात कही है कि यह राजा जब वैकुण्ठवासी हो जायँगे, उसके बाद राजा बेन उत्पन्न होगा। मेरे इस संशयको आप निवृत्त कीजिये।

**श्रुतदेवने कहा**—राजन्! पुराणोंमें जो विषमता प्रतीत होती है, वह युगभेद और कल्पभेदकी व्यवस्थाके अनुसार है। (किसी कल्पमें ऐसा ही हुआ होगा कि पहले राजा कीर्तिमान् और पीछे बेन हुआ होगा) इसलिये कहीं कथामें समयकी विपरीतता देखकर उसके अप्रामाणिक होनेकी आशंका नहीं करनी चाहिये।

## भगवत्कथाके श्रवण और कीर्तनका महत्त्व तथा वैशाखमासके धर्मोंके अनुष्ठानसे राजा पुरुयशाका संकटसे उद्धार

**श्रुतदेव बोले**—मेषराशिमें सूर्यके स्थित रहनेपर जो वैशाख मासमें प्रातःकाल स्नान करता है और भगवान् विष्णुकी पूजा करके इस कथाको सुनता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो भगवान् विष्णुके परम धामको प्राप्त होता है। इस विषयमें एक प्राचीन इतिहास कहते हैं, जो सब पापोंका नाशक, पवित्रकारक, धर्मानुकूल, वन्दनीय और पुरातन है।

गोदावरीके तटपर शुभ ब्रह्मेश्वर क्षेत्रमें महर्षि दुर्वासाके दो शिष्य रहते थे, जो परमहंस, ब्रह्मनिष्ठ, उपनिषद्विद्यामें परिनिष्ठित और इच्छारहित थे। वे भिक्षामात्र भोजन करते और पुण्यमय जीवन बिताते हुए गुफामें निवास करते थे। उनमेंसे एकका नाम था सत्यनिष्ठ और दूसरेका तपोनिष्ठ। वे इन्हीं नामोंसे तीनों लोकोंमें विख्यात थे। सत्यनिष्ठ सदा भगवान् विष्णुकी कथामें तत्पर रहते थे। जब कोई श्रोता अथवा वक्ता न होता, तब वे अपने नित्यकर्म किया करते थे। यदि कोई श्रोता उपस्थित होता तो उसे निरन्तर वे भगवत्कथा सुनाते और यदि कोई कथावाचक भगवान् विष्णुकी कल्याणमयी पवित्र कथा कहता तो वे अपने सब कर्मोंको समेटकर श्रवणमें तत्पर हो उस कथाको सुनने लगते थे। वे अत्यन्त दूरके तीर्थों और देवमन्दिरोंको छोड़कर तथा कथाविरोधी कर्मोंका परित्याग करके भगवान्की दिव्य कथा सुनते और श्रोताओंको स्वयं भी सुनाते थे। कथा समाप्त होनेपर सत्यनिष्ठ अपना शेष कार्य पूरा करते थे। कथा सुननेवाले पुरुषको जन्म-मृत्युमय संसारबन्धनकी प्राप्ति नहीं होती। उसके अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, भगवान् विष्णुमें जो अनुरागकी कमी है, वह दूर हो जाती है और उनके प्रति गाढ़ अनुराग होता है। साथ ही साधुपुरुषोंके प्रति सौहार्द बढ़ता है। रजोगुणरहित गुणातीत परमात्मा शीघ्र ही हृदयमें स्थित हो जाते हैं। श्रवणसे ज्ञान पाकर मनुष्य भगवच्चिन्तनमें समर्थ होता है। श्रवण, ध्यान और मनन—यह वेदोंमें अनेक प्रकारसे बताया गया है। जहाँ भगवान् विष्णुकी कथा न होती हो और जहाँ साधुपुरुष न रहते हों, वह स्थान साक्षात् गंगातट ही क्यों न हो, निःसन्देह त्याग देने योग्य है। जिस देशमें तुलसी नहीं हैं अथवा भगवान् विष्णुका मन्दिर नहीं है, ऐसा स्थान निवास करने योग्य नहीं है। यह निश्चय करके मुनिवर सत्यनिष्ठ सदा भगवान् विष्णुकी कथा और चिन्तनमें संलग्न रहते थे।

दुर्वासाका दूसरा शिष्य तपोनिष्ठ दुराग्रहपूर्वक कर्ममें तत्पर रहता था। वह भगवान्‌की कथा छोड़कर अपना कर्म पूरा करनेके लिये इधर-उधर हट जाता था। कथाकी अवहेलनासे उसे बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। अन्ततोगत्वा कथापरायण सत्यनिष्ठने ही उसका संकटसे उद्धार किया।

जहाँ लोगोंके पापका नाश करनेवाली भगवान् विष्णुकी पवित्र कथा होती है, वहाँ सब तीर्थ और अनेक प्रकारके क्षेत्र स्थित रहते हैं। जहाँ विष्णु-कथारूपी पुण्यमयी नदी बहती रहती है, उस देशमें निवास करनेवालोंकी मुक्ति उनके हाथमें ही है।

पूर्वकालमें पांचालदेशमें पुरुयशा नामक एक राजा थे, जो पुण्यशील एवं बुद्धिमान् राजा भूरियशाके पुत्र थे। पिताके मरनेपर पुरुयशा राज्यसिंहासनपर बैठे। वे धर्मकी अभिलाषा रखनेवाले, शूरता, उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न और धनुर्वेदमें प्रवीण थे। उन महामति नरेशने अपने धर्मके अनुसार पृथ्वीका पालन किया। कुछ कालके पश्चात् राजाका धन नष्ट हो गया। हाथी और घोड़े बड़े-बड़े रोगोंसे पीड़ित होकर मर गये। उनके राज्यमें ऐसा भारी अकाल पड़ा, जो मनुष्योंका अत्यन्त विनाश करनेवाला था। पांचालनरेश राजा पुरुयशाको निर्बल जानकर उनके शत्रुओंने आक्रमण किया और युद्धमें उनको जीत लिया। तदनन्तर पराजित हुए राजाने अपनी पत्नी शिखिणीके साथ पर्वतकी कन्दरामें प्रवेश किया। साथमें दासी आदि सेवकगण भी थे। इस प्रकार छिपे रहकर राजा मन-ही-मन विचार करने लगे कि मेरी यह क्या अवस्था हो गयी। मैं जन्म और कर्मसे शुद्ध हूँ, माता और पिताके हितमें तत्पर रहा हूँ, गुरुभक्त, उदार, ब्राह्मणोंका सेवक, धर्मपरायण, सब प्राणियोंके प्रति दयालु, देवपूजक और जितेन्द्रिय भी हूँ; फिर किस कर्मसे मुझे यह विशेष दुःख देनेवाली दरिद्रता प्राप्त हुई है? किस कर्मसे मेरी पराजय हुई और किस कर्मके फलस्वरूप मुझे यह वनवास मिला है?

इस प्रकार चिन्तासे व्याकुल होकर राजाने खिन्न चित्तसे अपने सर्वज्ञ गुरु मुनिश्रेष्ठ याज और उपयाजका स्मरण किया। राजाके आवाहन करनेपर दोनों बुद्धिमान् मुनीश्वर वहाँ आये। उन्हें देखकर पांचालप्रिय नरेश सहसा उठकर खड़े हो गये और बड़ी भक्तिके साथ गुरुके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया। फिर वनमें पैदा होनेवाली शुभ सामग्रियोंके द्वारा उन्होंने उन दोनोंका पूजन किया और विनीतभावसे पूछा—'विप्रवरो! मैं गुरुचरणोंमें भक्ति रखनेवाला हूँ। मुझे किस कर्मसे यह दरिद्रता, कोषहानि और शत्रुओंसे पराजय प्राप्त हुई है? किस कारणसे मेरा वनवास हुआ और मुझे अकेले रहना पड़ा? मेरे न कोई पुत्र है, न भाई है और न हितकारी मित्र ही हैं। मेरे द्वारा सुरक्षित राज्यमें यह बड़ा भारी अकाल कैसे पड़ गया? ये सब बातें विस्तारपूर्वक मुझे बताइये।'

**राजाके इस प्रकार पूछनेपर वे दोनों मुनिश्रेष्ठ कुछ देर ध्यानमग्न हो इस प्रकार बोले**—राजन्! तुम पहलेके दस जन्मोंतक महापापी व्याध रहे हो। तुम सब लोगोंके प्रति क्रूर और हिंसापरायण थे। तुमने कभी लेशमात्र भी धर्मका अनुष्ठान नहीं किया। इन्द्रियसंयम तथा मनोनिग्रहका तुममें सर्वथा अभाव था। तुम्हारी जिह्वा किसी प्रकार भगवान् विष्णुके नाम नहीं लेती थी। तुम्हारा चित्त गोविन्दके चारु चरणारविन्दोंका चिन्तन नहीं करता था और तुमने कभी मस्तक नवाकर परमात्माको प्रणाम नहीं किया। इस प्रकार दुरात्मा व्याधका जीवन व्यतीत करते हुए तुम्हारे नौ जन्म पूरे हो गये। दसवाँ जन्म प्राप्त होनेपर तुम सह्य पर्वतपर पुनः व्याध हुए। वहाँ सब लोगोंके प्रति क्रूरता करना ही तुम्हारा स्वभाव था। तुम मनुष्योंके लिये यमके समान थे। दयाहीन, शस्त्रजीवी और हिंसापरायण थे।

अपनी स्त्रीके साथ रहते हुए राह चलनेवाले पथिकोंको तुम बड़ा कष्ट दिया करते थे। बड़े भारी शठ थे। इस प्रकार अपने हितको न जानते हुए तुमने बहुत वर्ष व्यतीत किये। जिनके छोटे-छोटे बच्चे हैं, ऐसे मृगों और पक्षियोंके वध करनेके कारण तुम दयाहीन दुर्बुद्धिको इस जन्ममें कोई पुत्र नहीं प्राप्त हुआ। तुमने सबके साथ विश्वासघात किया, इसलिये तुम्हारे कोई सहोदर भाई नहीं हुआ। मार्गमें सबको पीड़ा देते रहे, इसलिये इस जन्ममें तुम मित्ररहित हो। साधुपुरुषोंके तिरस्कारसे शत्रुओंद्वारा तुम्हारी पराजय हुई है। कभी दान न देनेके दोषसे तुम्हारे घरमें दरिद्रता प्राप्त हुई है। तुमने दूसरोंको सदा उद्वेगमें डाला, इसलिये तुम्हें दुःसह वनवास मिला। सबके अप्रिय होनेके कारण तुम्हें असह्य दुःख मिला है। तुम्हारे क्रूर कर्मोंके फलसे ही इस जन्ममें मिला हुआ राज्य भी छिन गया है। वैशाख मासकी गरमीमें तुमने स्वार्थवश एक दिन एक ऋषिको दूरसे तालाब बता दिया था और हवाके लिये पलाशका एक सूखा पत्ता दे दिया था। बस, जीवनमें इस एक ही पुण्यके कारण तुम्हारा यह जन्म परम पवित्र राजवंशमें हुआ है। अब यदि तुम सुख, राज्य, धन-धान्यादि सम्पत्ति, स्वर्ग और मोक्ष चाहते हो अथवा सायुज्य एवं श्रीहरिके पदकी अभिलाषा रखते हो तो वैशाख मासके धर्मोंका पालन करो। इससे सब प्रकारके सुख पाओगे। इस समय वैशाख मास चल रहा है। आज अक्षय तृतीया है। आज तुम विधिपूर्वक स्नान और भगवान् लक्ष्मीपतिकी पूजा करो। यदि अपने समान ही गुणवान् पुत्रोंकी अभिलाषा करते हो तो सब प्राणियोंके हितके लिये प्याऊ लगाओ। इस पवित्र वैशाख मासमें भगवान् मधुसूदनकी प्रसन्नताके लिये यदि तुम निष्कामभावसे धर्मोंका अनुष्ठान करोगे, तो अन्तःकरण शुद्ध होनेपर तुम्हें भगवान् विष्णुका प्रत्यक्ष दर्शन होगा।

यों कहकर राजाकी अनुमति ले उनके दोनों ब्राह्मण पुरोहित याज और उपयाज जैसे आये थे, वैसे ही चले गये। उनसे उपदेश पाकर महाराज पुरुयशाने वैशाख मासके सम्पूर्ण धर्मोंका श्रद्धापूर्वक पालन किया और भगवान् मधुसूदनकी आराधना की। इससे उनका प्रभाव बढ़ गया तथा बन्धु-बान्धव उनसे आकर मिल गये। तत्पश्चात् वे मरनेसे बची हुई सेनाको साथ ले बन्धुओंसहित पांचाल नगरीके समीप आये। उस समय पांचाल राजाके साथ राजाओंका पुनः संग्राम हुआ। महारथी पुरुयशाने अकेले ही समस्त महाबाहु राजाओंपर विजय पायी। विरोधी राजाओंने भागकर विभिन्न देशोंके मार्गोंका आश्रय लिया। विजयी पांचालराजने भागे हुए राजाओंके कोष, दस करोड़ घोड़े, तीन करोड़ हाथी, एक अरब रथ, दस हजार ऊँट और तीन लाख खच्चरोंको अपने अधिकारमें करके अपनी पुरीमें पहुँचा दिया। वैशाखधर्मके माहात्म्यसे सब राजा भग्नमनोरथ हो पुरुयशाको कर देनेवाले हो गये और पांचालदेशमें अनुपम सुकाल आ गया। भगवान् विष्णुकी प्रसन्नतासे इस वसुधापर उनका एकछत्र राज्य हुआ और गुरुता, उदारता आदि गुणोंसे युक्त उनके पाँच पुत्र हुए, जो धृष्टकीर्ति, धृष्टकेतु, धृष्टद्युम्न, विजय और चित्रकेतुके नामसे प्रसिद्ध थे। धर्मपूर्वक प्रतिपालित होकर समस्त प्रजा राजाके प्रति अनुरक्त हो गयी। इससे उसी क्षण उन्हें वैशाख मासके प्रभावका निश्चय हो गया। तबसे पांचालराज भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये वैशाख मासके धर्मोंका निष्कामभावसे बराबर पालन करने लगे। उनके इस धर्मसे सन्तुष्ट होकर भगवान् विष्णुने अक्षय तृतीयाके दिन उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया।

# राजा पुरुयशाको भगवान्‌का दर्शन, उनके द्वारा भगवत्स्तुति और भगवान्‌के वरदानसे राजाकी सायुज्य मुक्ति

**श्रुतदेव कहते हैं**—परमात्मा भगवान् नारायण चार भुजाओंसे सुशोभित थे। उन्होंने हाथोंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण कर रखे थे। वे पीताम्बर धारण करके वनमालासे विभूषित थे। भगवती लक्ष्मी तथा एक पार्षदके साथ गरुड़की पीठपर विराजित थे। उनका दुःसह तेज देखकर राजाके नेत्र सहसा मुँद गये। उनके सब अंगोंमें रोमांच हो आया और नेत्रोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। भगवद्दर्शनके आनन्दमें उनका हृदय सर्वथा डूब गया। उन्होंने तत्काल आगे बढ़कर भगवान्‌को साष्टांग प्रणाम किया; फिर प्रेमविह्वल नेत्रोंसे विश्वात्मदेव जगदीश्वर श्रीहरिको बहुत देरतक निहारकर उनके चरण धोये और उस जलको अपने मस्तकपर धारण किया। उन्हीं चरणोंकी धोवनरूपा श्रीगंगाजी ब्रह्माजीसहित तीनों लोकोंको पवित्र करती हैं। तत्पश्चात् राजाने महान् वैभवसे, बहुमूल्य वस्त्र-आभूषण और चन्दनसे, हार, धूप, दीप तथा अमृतके समान नैवेद्यके निवेदन आदिसे एवं अपने तन, मन, धन और आत्माका समर्पण करके अद्वितीय पुराणपुरुष भगवान् विष्णुका पूजन किया। पूजाके बाद इस प्रकार स्तुति की—'जो निर्गुण, निरंजन एवं प्रजापतियोंके भी अधीश्वर हैं, ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण देवता जिनकी वन्दना करते रहते हैं, उन परम पुरुष भगवान् श्रीहरिको मैं प्रणाम करता हूँ। शरणागतोंकी पापराशिका नाश करनेवाले आपके चरणारविन्दोंको परिपक्व योगवाले योगियोंने जो अपने हृदयमें धारण किया है, यह उनके लिये बड़े सौभाग्यकी बात है। बढ़ी हुई भक्तिके द्वारा अपने अन्तःकरण तथा जीवभावको भी आपके चरणोंमें ही चढ़ाकर वे योगीजन उन चरणोंके चिन्तनमात्रसे आपके धामको प्राप्त हुए हैं। विचित्र कर्म करनेवाले! आप स्वतन्त्र परमेश्वरको नमस्कार है। साधु पुरुषोंपर अनुग्रह करनेवाले! आप परमात्माको प्रणाम है। प्रभो! आपकी मायासे मोहित होकर मैं स्त्री और धनरूपी विषयोंमें ही भटकता रहा हूँ, अनर्थमें ही मेरी अर्थदृष्टि हो गयी थी। प्रभो! विश्वमूर्ते! जब जीवपर आप अनन्त शक्ति परमेश्वरकी कृपा होती है, तभी उसे महापुरुषोंका संग प्राप्त होता है, जिससे यह संसारसमुद्र गोपदके समान हो जाता है। ईश्वर! जब सत्संग मिलता है, तभी आपमें मन तथा बुद्धिका अनुराग होता है*। मेरा समस्त राज्य जो मुझसे छिन गया था, वह भी आपका मुझपर महान् अनुग्रह ही हुआ था, ऐसा मैं मानता हूँ। मैं न तो राज्य चाहता हूँ, न पुत्र आदिकी इच्छा रखता हूँ और न कोषकी ही अभिलाषा करता हूँ। अपितु मुनियोंके द्वारा ध्यान करने योग्य जो आपके आराधनीय चरणारविन्द हैं, उन्हींका नित्य सेवन करना चाहता हूँ। देवेश्वर! जगन्निवास! मुझपर प्रसन्न होइये, जिससे आपके चरणकमलोंकी स्मृति बराबर बनी रहे। तथा स्त्री, पुत्र, खजाना एवं आत्मीय कहे जानेवाले सब पदार्थोंमें जो मेरी आसक्ति

---

* तदैव जीवस्य भवेत्कृपा विभो दुरन्तशक्तेस्तव विश्वमूर्ते।
समागमः स्यान्महतां हि पुंसां भवाम्बुधिर्येन हि गोष्पदायते॥
सत्संगमो देव यदैव भूयात्तर्हीश देवे त्वयि जायते मतिः।

(स्क० पु०, वै० वै० मा० १६। १८-१९)

है, वह सदाके लिये दूर हो जाय। भगवन्! मेरा मन सदा आपके चरणारविन्दोंके चिन्तनमें लगा रहे, मेरी वाणी आपकी दिव्य कथाके निरन्तर वर्णनमें तत्पर हो, मेरे ये दोनों नेत्र आपके श्रीविग्रहके दर्शनमें, कान कथाश्रवणमें तथा रसना आपके भोग लगाये हुए प्रसादके आस्वादनमें प्रवृत्त हो। प्रभो! मेरी नासिका आपके चरणकमलोंकी तथा आपके भक्तजनोंके गन्ध-विलेपन आदिकी सुगन्ध लेनेमें, दोनों हाथ आपके मन्दिरमें झाड़ू देने आदिकी सेवामें, दोनों पैर आपके तीर्थ और कथास्थानकी यात्रा करनेमें तथा मस्तक निरन्तर आपको प्रणाम करनेमें संलग्न रहें। मेरी कामना आपकी उत्तम कथामें और बुद्धि अहर्निश आपका चिन्तन करनेमें तत्पर हो। मेरे घरपर पधारे हुए मुनियोंद्वारा आपकी उत्तम कथाका वर्णन तथा आपकी महिमाका गान होता रहे और इसीमें मेरे दिन बीतें। विष्णो! एक क्षण तथा आधे पलके लिये भी ऐसा प्रसंग न उपस्थित हो, जो आपकी चर्चासे रहित हो। हरे! मैं परमेष्ठी ब्रह्माका पद, भूतलका चक्रवर्ती राज्य और मोक्ष भी नहीं चाहता, केवल आपके चरणोंकी निरन्तर सेवा चाहता हूँ, जिसके लिये लक्ष्मीजी तथा ब्रह्मा, शंकर आदि देवता भी सदा प्रार्थना किया करते हैं।*

राजाके इस प्रकार स्तुति करनेपर कमलनयन भगवान् विष्णुने प्रसन्न हो मेघके समान गम्भीर वाणीमें इस प्रकार कहा—'राजन्! मैं जानता हूँ—तुम मेरे श्रेष्ठ भक्त हो, कामनारहित और निष्पाप हो। नरेश्वर! मुझमें तुम्हारी दृढ़ भक्ति हो और अन्तमें तुम मेरा सायुज्य प्राप्त करो। तुम्हारे द्वारा किये हुए इस स्तोत्रसे इस पृथ्वीपर जो लोग स्तुति करेंगे, उनके ऊपर सन्तुष्ट हो मैं उन्हें भोग और मोक्ष प्रदान करूँगा। यह अक्षय तृतीया इस पृथ्वीपर प्रसिद्ध होगी, जिसमें भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाला मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हुआ। जो मनुष्य इस तिथिको किसी भी बहानेसे अथवा स्वभावसे ही स्नान, दान आदि क्रियाएँ करते हैं, वे मेरे अविनाशी पदको प्राप्त होते हैं। जो मनुष्य पितरोंके उद्देश्यसे अक्षय तृतीयाको श्राद्ध करते हैं, उनका किया हुआ वह श्राद्ध अक्षय होता है। इस तिथिमें थोड़ा-सा भी जो पुण्य किया जाता है, उसका फल अक्षय होता है। नृपश्रेष्ठ! जो कुटुम्बी ब्राह्मणको गाय दान करता है, उसके हाथमें सब सम्पत्तियोंकी वर्षा करनेवाली भुक्ति और मुक्ति भी आ जाती है। जो वैशाख मासमें मेरा प्रिय करनेवाले धर्मोंका अनुष्ठान करता है, उसके जन्म, मृत्यु, जरा, भय और पापको मैं हर लेता हूँ। अनघ! यह वैशाख मास मेरे चरण-चिन्तनकी ही भाँति ऐसे सहस्रों

---

* भूयान्मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि ते दिव्यकथानुवर्णने।
नेत्रे ममेमे तव विग्रहेक्षणे श्रोत्रे कथायां रसना त्वदर्पिते॥
घ्राणं च त्वत्पादसरोजसौरभे त्वद्भक्तगन्धादिविलेपनेऽसकृत्।
स्यातां च हस्तौ तव मन्दिरे विभो सम्मार्जनादौ मम नित्यदैव॥
पादौ विभोः क्षेत्रकथानुसर्पणे मूर्धा च मे स्यात्तव वन्दनेऽनिशम्।
कामश्च मे स्यात्तव सत्कथायां बुद्धिश्च मे स्यात्तव चिन्तनेऽनिशम्॥
दिनानि मे स्युस्तव सत्कथोदयैरुद्गीयमानैर्मुनिभिर्गृहागतैः।
हीनः प्रसंगस्तव मे न भूयात् क्षणं निमेषार्धमथापि विष्णो॥
न पारमेष्ठ्यं न च सार्वभौमं न चापवर्गं स्पृहयामि विष्णो।
त्वत्पादसेवां च सदैव कामये प्रार्थ्यां श्रिया ब्रह्मभवादिभिः सुरैः॥

(स्क० पु०, वै० वै० मा० १६। २४—२८)

पापोंको हर लेता है, जिनके लिये शास्त्रोंमें कोई प्रायश्चित्त नहीं मिलता है।'

राजाको यह वरदान देकर देवाधिदेव भगवान् जनार्दन सबके देखते-देखते वहीं अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर राजा पुरुयशा सदा भगवान्‌में ही मन लगाये हुए उन्हींकी सेवामें तत्पर रहकर इस पृथ्वीका पालन करने लगे। देवदुर्लभ समस्त मनोरथोंका उपभोग करके अन्तमें उन्होंने चक्रधारी भगवान् विष्णुका सायुज्य प्राप्त कर लिया। जो इस उत्तम उपाख्यानको सुनते और सुनाते हैं, वे सब पापोंसे मुक्त हो भगवान् विष्णुके परम पदको प्राप्त होते हैं।

## शंख-व्याध-संवाद, व्याधके पूर्वजन्मका वृत्तान्त

**श्रुतदेवजी कहते हैं**—राजन्! पम्पाके तटपर कोई शंख नामसे प्रसिद्ध परम यशस्वी ब्राह्मण थे, जो बृहस्पतिके सिंह राशिमें स्थित होनेपर कल्याणमयी गोदावरी नदीमें स्नान करनेके लिये गये। मार्गमें परम पवित्र भीमरथीको पार करनेके बाद दुर्गम, जलशून्य एवं भयंकर निर्जन वनमें धूपसे विकल हो गये थे। वैशाखका महीना था और दोपहरका समय। वे किसी वृक्षके नीचे जा बैठे। इसी समय कोई दुराचारी व्याध हाथमें धनुष धारण किये वहाँ आया। ब्राह्मणके दर्शनसे उसकी बुद्धि पवित्र हो गयी और वह इस प्रकार बोला—'मुने! मैं अत्यन्त दुर्बुद्धि एवं पापी हूँ। मेरे ऊपर आपने बड़ी कृपा की है; क्योंकि साधु-महात्मा स्वभावसे ही दयालु होते हैं। कहाँ मैं नीच कुलमें उत्पन्न हुआ व्याध और कहाँ मेरी ऐसी पवित्र बुद्धि—मैं इसे केवल आपका ही उत्तम अनुग्रह मानता हूँ। साधुबाबा! मैं आपका शिष्य हूँ, कृपापात्र हूँ। साधुपुरुषोंका समागम होनेपर मनुष्य फिर कभी दुःखको नहीं प्राप्त होता; अतः आप मुझे अपने पापनाशक वचनोंद्वारा ऐसा उपदेश दीजिये, जिससे संसारबन्धनसे छूटनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्य अनायास ही भवसागरसे पार हो जाते हैं। साधु पुरुषोंका चित्त सबके प्रति समान होता है। वे सब प्राणियोंके प्रति दयालु होते हैं। उनकी दृष्टिमें न कोई नीच है, न ऊँच; न अपना है, न पराया। मनुष्य सन्तप्त होकर जब-जब गुरुजनोंसे उपाय पूछता है, तब-तब वे उसे संसार-बन्धनसे छुड़ानेवाले ज्ञानका उपदेश करते हैं। जैसे गंगाजी मनुष्योंके पापका नाश करनेवाली हैं, उसी प्रकार मूढ़ जनोंका उद्धार करना साधुपुरुषोंका स्वभाव ही माना गया है।'

व्याधके ये वचन सुनकर शंखने कहा—'व्याध! यदि तुम कल्याण चाहते हो तो वैशाख मासमें भगवान् विष्णुको प्रसन्न और संसार-समुद्रसे पार करनेवाले जो दिव्य धर्म बताये गये हैं, उनका पालन करो।' मुनिश्रेष्ठ शंख प्याससे बहुत कष्ट पा रहे थे। दोपहरके समय उन्होंने सुन्दर सरोवरमें स्नान किया और युगल वस्त्र धारण करके मध्याह्नकालकी उपासना पूरी की। फिर देव-पूजा करनेके पश्चात् व्याधके लाये हुए श्रमहारी एवं स्वादिष्ट कैथका फल खाया। जब वे खा-पीकर सुखपूर्वक विराजमान हुए, उस समय व्याधने हाथ जोड़कर कहा—'मुने! किस कर्मसे मेरा तमोमय व्याध कुलमें जन्म हुआ और किससे ऐसी सद्बुद्धि तथा महात्माकी संगति प्राप्त हुई? प्रभो! यदि आप ठीक समझें तो मैंने जो कुछ पूछा है, वह तथा अन्य जानने योग्य बातें भी मुझसे कहिये।'

**शंख बोले**—पूर्वजन्ममें तुम वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मण थे। शाकल्य नगरमें तुम्हारा जन्म हुआ था। तुम्हारा गोत्र श्रीवत्स और नाम स्तम्भ था। उस समय तुम बड़े तेजस्वी समझे जाते थे; किंतु आगे चलकर किसी वेश्यामें तुम्हारी आसक्ति हो गयी। उसके संग-दोषसे तुमने नित्यकर्मोंको त्याग दिया और शूद्रकी भाँति घर आकर रहने लगे। यद्यपि तुम सदाचारशून्य, दुष्ट तथा धर्म-कर्मोंके त्यागी थे, तो भी उस समय तुम्हारी ब्राह्मणी पत्नी कान्तिमतीने वेश्यासहित तुम्हारी सेवा की। वह सदा तुम्हारा प्रिय करनेमें लगी रहती थी। वह तुम दोनोंके पैर धोती, दोनोंकी आज्ञाका पालन करती और दोनोंसे नीचे आसनपर सोती थी। इस प्रकार वेश्यासहित पतिकी सेवा करती हुई उस दुःखिनी ब्राह्मणीका इस भूतलपर बहुत समय बीत गया। एक दिन उसके पतिने मूलीसहित उड़द खाया और तिलमिश्रित निष्पाव भक्षण किया। उस अपथ्य भोजनसे उसका मुँह-पेट चलने लगा और उसे बड़ा भयंकर भगन्दर रोग हो गया। वह उस रोगसे दिन-रात जलने लगा। जबतक घरमें धन रहा, तबतक वेश्या भी वहाँ टिकी रही। उसका सारा धन लेकर पीछे उसने उसका घर छोड़ दिया। वेश्या तो क्रूर और निर्दयी होती ही है। उसे छोड़कर दूसरेके पास चली गयी!

तब वह ब्राह्मण रोगसे व्याकुलचित्त हो रोता हुआ अपनी स्त्रीसे बोला—'देवि! मैं वेश्याके प्रति आसक्त और अत्यन्त निष्ठुर मनुष्य हूँ, मेरी रक्षा करो। सुन्दरी! तुम परम पवित्र हो, मैंने तुम्हारा कुछ भी उपकार नहीं किया। कल्याणि! जो पापी एवं निन्दित मनुष्य अपनी विनीत पत्नीका आदर नहीं करता, वह पंद्रह जन्मोंतक नपुंसक होता है। महाभागे! दिन-रात साधुपुरुष उसकी निन्दा करते हैं। तुम साध्वी और पतिव्रता हो, मैं तुम्हारा अनादर करके पाप योनिमें गिरूँगा। तुम्हारा अनादर करनेसे जो तुम्हारे मनमें क्रोध हुआ होगा, उससे मैं दग्ध हो चुका हूँ।'

इस प्रकार अनुतापयुक्त वचन कहते हुए पतिसे वह पतिव्रता हाथ जोड़कर बोली—'प्राणनाथ! आप मेरे प्रति किये हुए व्यवहारको लेकर दुःख न मानें, लज्जाका अनुभव न करें। मेरा आपके ऊपर तनिक भी क्रोध नहीं है, जिससे आप अपनेको दग्ध हुआ बतलाते हैं। पूर्वजन्ममें किये हुए पाप ही इस जन्ममें दुःखरूप होकर आते हैं। जो उन दुःखोंको धैर्यपूर्वक सहन करती है, वही स्त्री साध्वी मानी जाती है और वही पुरुष श्रेष्ठ समझा जाता है।' वह उत्तम वर्णवाली स्त्री अपने पिता और भाइयोंसे धन माँगकर लायी और उसीसे पतिका पालन करने लगी। उसने अपने स्वामीको साक्षात् क्षीरसागरनिवासी विष्णु ही माना। वह दिन-रात पतिके मल-मूत्र साफ करती और उसके शरीरमें पड़े हुए कष्टदायक कीड़ोंको धीरे-धीरे नखसे खींचकर निकालती थी। ब्राह्मणी न रातमें सोती थी, न दिनमें। अपने स्वामीके दुःखसे संतप्त होकर वह दुःखिनी सदा इस प्रकार प्रार्थना किया करती थी—'प्रसिद्ध देवता और पितर मेरे स्वामीकी रक्षा करें, इन्हें रोगहीन एवं निष्पाप कर दें। मैं पतिके आरोग्यके लिये चण्डिकादेवीको भैंसका दही और उत्तम अन्न चढ़ाऊँगी, महात्मा गणेशजीकी प्रसन्नताके लिये मोदक बनवाऊँगी, दस शनिवारोंको उपवास करूँगी तथा मीठा और घी नहीं खाऊँगी। मेरे पति रोगहीन होकर सौ वर्ष जीवें।'

इस प्रकार वह देवी प्रतिदिन देवताओंसे प्रार्थना करती थी। उन्हीं दिनों कोई देवल नामक महात्मा वहाँ आये। वैशाख मासमें धूपसे पीड़ित हो सायंकालके समय उस ब्राह्मणके घरमें उन्होंने

पदार्पण किया। ब्राह्मणीने महात्माके चरण धोकर उस जलको मस्तकपर चढ़ाया और धूपसे कष्ट पाये हुए महात्माको पीनेके लिये शर्बत दिया। प्रातःकाल सूर्योदय होनेपर मुनि जैसे आये थे, वैसे चले गये। तदनन्तर थोड़े ही समयमें उस ब्राह्मणको सन्निपात हो गया। ब्राह्मणी सोंठ, मिर्च और पीपल लेकर जब उसके मुँहमें डालने लगी, तब उसने पत्नीकी अँगुली काट ली। उसके दोनों दाँत सहसा सट गये और ब्राह्मणीकी अँगुलीका वह कोमल खण्ड उसके मुँहमें ही रह गया। अँगुली काटकर उस वेश्याका ही चिन्तन करता हुआ वह ब्राह्मण मर गया। तब उसकी पत्नी कान्तिमतीने कंगन बेचकर बहुत-सा इन्धन खरीदा और चिता बनाकर वह साध्वी पतिके साथ उसमें जा बैठी। उसने पतिके रोगी शरीरका गाढ़ आलिंगन करके उसके साथ अपने आपको भी चितामें जला दिया। शरीर त्यागकर वह सहसा भगवान् विष्णुके धाममें चली गयी। उसने वैशाख मासमें जो देवल मुनिको शर्बत पिलाया और उनके चरणोदकको शीशपर चढ़ाया था, इससे उसको योगिगम्य परम पदकी प्राप्ति हुई। तुमने अन्तकालमें वेश्याका चिन्तन करते हुए शरीर त्याग किया था, इसलिये इस घोर व्याधके शरीरमें आये हो और हिंसामें आसक्त हो सबको उद्वेगमें डाला करते हो। तुमने वैशाख मासमें मुनिको शर्बत देनेके लिये ब्राह्मणीको अनुमति दी थी, उसी पुण्यसे आज व्याध होनेपर भी तुम्हें सब सुखोंके एकमात्र साधन धर्मविषयक प्रश्न पूछनेके लिये उत्तम बुद्धि प्राप्त हुई है। तुमने जो सब पापोंको हरनेवाले मुनिके चरणोदकको सिरपर धारण किया था, उसीका यह फल है कि वनमें तुम्हें मेरा संग मिला है।

## भगवान् विष्णुके स्वरूपका विवेचन, प्राणकी श्रेष्ठता, जीवोंके विभिन्न स्वभावों और कर्मोंका कारण तथा भागवतधर्म

**व्याधने पूछा**—ब्रह्मन्! आपने पहले कहा था कि भगवान् विष्णुकी प्रीतिके लिये कल्याणकारी भागवतधर्मोंका और उनमें भी वैशाख मासमें कर्तव्यरूपसे बताये हुए नियमोंका विशेषरूपसे पालन करना चाहिये। वे भगवान् विष्णु कैसे हैं? उनका क्या लक्षण है? उनकी सत्तामें क्या प्रमाण है तथा वे सर्वव्यापी भगवान् किनके द्वारा जानने योग्य हैं? वैष्णव धर्म कैसे हैं? और किससे भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होते हैं? महामते! मैं आपका किंकर हूँ, मुझे ये सब बातें बताइये।

**व्याधके इस प्रकार पूछनेपर शंखने रोग-शोकसे रहित सम्पूर्ण जगत्के स्वामी भगवान् नारायणको प्रणाम करके कहा**—व्याध! भगवान् विष्णुका स्वरूप कैसा है, यह सुनो। भगवान् समस्त शक्तियोंके आश्रय, सम्पूर्ण गुणोंकी निधि तथा सबके ईश्वर बताये गये हैं। वे निर्गुण, निष्कल तथा अनन्त हैं। सत्-चित् और आनन्द—यही उनका स्वरूप है। यह जो अखिल चराचर जगत् है, अपने अधीश्वर और आश्रयके साथ नियत रूपसे जिसके वशमें स्थित है, जिससे इसकी उत्पत्ति, पालन, संहार, पुनरावृत्ति तथा नियमन आदि होते हैं, प्रकाश, बन्धन, मोक्ष और जीविका—इन सबकी प्रवृत्ति जहाँसे होती है, वे ही ब्रह्म नामसे प्रसिद्ध भगवान् विष्णु हैं। वे ही विद्वानोंके सम्मान्य सर्वव्यापी परमेश्वर हैं। ज्ञानी पुरुषोंने उन्हींको साक्षात् परब्रह्म कहा है। वेद, शास्त्र, स्मृति, पुराण, इतिहास, पांचरात्र और महाभारत—सब विष्णुस्वरूप हैं—विष्णुके ही

प्रतिपादक हैं। इन्हींके द्वारा महाविष्णु जानने योग्य हैं। वेदवेद्य, सनातनदेव भगवान् नारायणको कोई इन्द्रियोंसे (प्रत्यक्ष प्रमाणद्वारा), अनुमानसे और तर्कसे भी नहीं जान सकता है। उन्हींके दिव्य जन्म-कर्म तथा गुणोंको अपनी बुद्धिके अनुसार जानकर उनके अधीन रहनेवाले जीव-समूह सदा मुक्त होते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् प्राणसे उत्पन्न हुआ है, प्राणस्वरूप है, प्राणरूपी सूत्रमें पिरोया हुआ है तथा प्राणसे ही चेष्टा करता है। सबका आधारभूत यह सूत्रात्मा प्राण ही विष्णु है,—ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं।

**व्याधने पूछा**—ब्रह्मन्! जीवोंमें यह सूत्रात्मा प्राण सबसे श्रेष्ठ किस प्रकार है?

**शंखने कहा**—व्याध! पूर्वकालमें सनातन देव भगवान् नारायणने ब्रह्मा आदि देवताओंकी सृष्टि करके कहा—'देवताओ! मैं तुम्हारे सम्राट्के पदपर ब्रह्माजीकी स्थापना करता हूँ, यही तुम सबके स्वामी हैं। अब तुमलोगोंमें जो सबसे अधिक शक्तिशाली हो, उसे तुम स्वयं ही युवराजके पदपर प्रतिष्ठित करो।' भगवान्के इस प्रकार कहनेपर इन्द्र आदि सब देवता आपसमें विवाद करते हुए कहने लगे—'मैं युवराज होऊँगा, मैं होऊँगा।' किसीने सूर्यको श्रेष्ठ बताया और किसीने इन्द्रको। किन्हींकी दृष्टिमें कामदेव ही सबसे श्रेष्ठ थे। कुछ लोग मौन ही खड़े रहे। आपसमें कोई निर्णय होता न देखकर वे भगवान् नारायणके पास पूछनेके लिये गये और प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले—'महाविष्णो! हम सबने अच्छी तरह विचार कर लिया, किंतु हम सबमें श्रेष्ठ कौन है, यह हम अभीतक किसी प्रकार निश्चय न कर सके। अब आप ही निर्णय कीजिये।' तब भगवान् विष्णुने हँसते हुए कहा—'इस विराट् ब्रह्माण्डरूपी शरीरसे जिसके निकल जानेपर यह गिर जायगा और जिसके प्रवेश करनेपर पुनः उठकर खड़ा हो जायगा, वही देवता सबसे श्रेष्ठ है।'

भगवान्के ऐसा कहनेपर सब देवताओंने कहा—'अच्छा ऐसा ही हो।' तब सबसे पहले देवेश्वर जयन्त विराट् शरीरके पैरसे बाहर निकला। उसके निकलनेसे उस शरीरको लोग पंगु कहने लगे; परंतु शरीर गिर न सका। यद्यपि वह चल नहीं पाता था तो भी सुनता, पीता, बोलता, सूँघता और देखता हुआ पूर्ववत् स्थिर रहा। तत्पश्चात् गुह्यदेशसे दक्ष प्रजापति निकलकर अलग हो गये। तब लोगोंने उसे नपुंसक कहा; किंतु उस समय भी वह शरीर गिर न सका। उसके बाद विराट् शरीरके हाथसे सब देवताओंके राजा इन्द्र बाहर निकले। उस समय भी शरीरपात नहीं हुआ। विराट् पुरुषको सब लोग हस्तहीन (लूला) कहने लगे। इसी प्रकार नेत्रोंसे सूर्य निकले। तब लोगोंने उसे अंधा और काना कहा। उस समय भी शरीरका पतन नहीं हुआ। तदनन्तर नासिकासे अश्विनीकुमार निकले, किंतु शरीर नहीं गिर सका। केवल इतना ही कहा जाने लगा कि यह सूँघ नहीं सकता। कानसे अधिष्ठातृ देवियाँ दिशाएँ निकलीं। उस समय लोग उसे बधिर कहने लगे; परंतु उसकी मृत्यु नहीं हुई। तत्पश्चात् जिह्वासे वरुणदेव निकले। तब लोगोंने यही कहा कि यह पुरुष रसका अनुभव नहीं कर सकता; किंतु देहपात नहीं हुआ। तदनन्तर वाक्-इन्द्रियसे उसके स्वामी अग्निदेव निकले। उस समय उसे गूँगा कहा गया; किंतु शरीर नहीं गिरा। फिर अन्तःकरणसे बोधस्वरूप रुद्र देवता अलग हो गये। उस दशामें लोगोंने उसे जड कहा; किंतु शरीरपात नहीं हुआ। सबके अन्तमें उस शरीरसे प्राण निकला; तब लोगोंने उसे मरा हुआ बतलाया। इससे देवताओंके मनमें बड़ा विस्मय हुआ। वे बोले—'हमलोगोंमेंसे जो भी इस शरीरमें प्रवेश करके इसे पूर्ववत् उठा देगा—जीवित कर देगा, वही युवराज होगा।' ऐसी प्रतिज्ञा करके सब क्रमशः उस शरीरमें प्रवेश करने लगे। जयन्तने पैरोंमें प्रवेश किया;

किंतु वह शरीर नहीं उठा। प्रजापति दक्षने गुह्य इन्द्रियोंमें प्रवेश किया; फिर भी शरीर नहीं उठा। इन्द्रने हाथमें, सूर्यने नेत्रोंमें, दिशाओंने कानमें, वरुणदेवने जिह्वामें, अश्विनीकुमारने नासिकामें, अग्निने वाक्-इन्द्रियमें तथा रुद्रने अन्तःकरणमें प्रवेश किया; किंतु वह शरीर नहीं उठा, नहीं उठा। सबके अन्तमें प्राणने प्रवेश किया, तब वह शरीर उठकर खड़ा हो गया। तब देवताओंने प्राणको ही सब देवताओंमें श्रेष्ठ निश्चित किया। बल, ज्ञान, धैर्य, वैराग्य और जीवनशक्तिमें प्राणको ही सर्वाधिक मानकर देवताओंने उसीको युवराज पदपर अभिषिक्त किया। इस उत्कृष्ट स्थितिके कारण प्राणको उक्थ कहा गया है। अतः समस्त चराचर जगत् प्राणात्मक है। जगदीश्वर प्राण अपने पूर्ण एवं बलशाली अंशोंद्वारा सर्वत्र परिपूर्ण है। प्राणहीन जगत्का अस्तित्व नहीं है। प्राणहीन कोई भी वस्तु वृद्धिको नहीं प्राप्त होती। इस जगत्में किसी भी प्राणहीन वस्तुकी स्थिति नहीं है; इस कारण प्राण सब जीवोंमें श्रेष्ठ, सबका अन्तरात्मा और सर्वाधिक बलशाली सिद्ध हुआ। इसलिये प्राणोपासक प्राणको ही सर्वश्रेष्ठ कहते हैं। प्राण सर्वदेवात्मक है, सब देवता प्राणमय हैं। वह भगवान् वासुदेवका अनुगामी तथा सदा उन्हींमें स्थित है। मनीषी पुरुष प्राणको महाविष्णुका बल बतलाते हैं। महाविष्णुके माहात्म्य और लक्षणको इस प्रकार जानकर मनुष्य पूर्वबन्धनका अनुसरण करनेवाले अज्ञानमय लिंगको उसी प्रकार त्याग देता है, जैसे सर्प पुरानी केंचुलको। लिंगदेहका त्याग करके वह परम पुरुष अनामय भगवान् नारायणको प्राप्त होता है।

**शंख मुनिकी कही हुई यह बात सुनकर व्याधने पुनः पूछा**—ब्रह्मन्! यह प्राण जब इतना महान् प्रभावशाली और इस सम्पूर्ण जगत्का गुरु एवं ईश्वर है, तब लोकमें इसकी महिमा क्यों नहीं प्रसिद्ध हुई?

**शंखने कहा**—पहलेकी बात है। प्राण अश्वमेध यज्ञोंद्वारा अनामय भगवान् नारायणका यजन करनेके लिये गंगाके तटपर प्रसन्नतापूर्वक गया। अनेक मुनिगणोंके साथ उसने फलोंके द्वारा पृथ्वीका शोधन किया। उस समय वहाँ समाधिमें स्थित हुए महात्मा कण्व बाँबीकी मिट्टीमें छिपे हुए बैठे थे। हल जोतनेपर बाँबी गिर जानेसे वे बाहर निकल आये और क्रोधपूर्वक देखकर सामने खड़े हुए महाप्रभु प्राणको शाप देते हुए बोले—'देवेश्वर! आजसे लेकर आपकी महिमा तीनों लोकोंमें—विशेषतः भूलोकमें प्रसिद्ध न होगी। हाँ, आपके अवतार तीनों लोकोंमें विख्यात होंगे।'

व्याध! तभीसे संसारमें महाप्रभु प्राणकी महिमा प्रसिद्ध नहीं हुई। भूलोकमें तो उसकी ख्याति विशेष रूपसे नहीं।

**व्याधने पूछा**—महामते! भगवान् विष्णुके रचे हुए करोड़ों एवं सहस्रों सनातन जीव नाना मार्गपर चलने और भिन्न-भिन्न कर्म करनेवाले क्यों दिखायी देते हैं? इन सबका एक-सा स्वभाव क्यों नहीं है? यह सब विस्तारपूर्वक बतलाइये?

**शंखने कहा**—रजोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुणके भेदसे तीन प्रकारके जीवसमुदाय होते हैं। उनमें राजस स्वभाववाले जीव राजस कर्म, तमोगुणी जीव तामस कर्म तथा सात्त्विक स्वभाववाले जीव सात्त्विक कर्म करते हैं। कभी-कभी संसारमें इनके गुणोंमें विषमता भी होती है, उसीसे वे ऊँच और नीच कर्म करते हुए तदनुसार फलके भागी होते हैं। कभी सुख, कभी दुःख और कभी दोनोंको ही ये मनुष्य गुणोंकी विषमतासे प्राप्त करते हैं। प्रकृतिमें स्थित होनेपर जीव इन तीनों गुणोंसे बँधते हैं। गुण और कर्मोंके अनुसार उनके कर्मोंका भिन्न-भिन्न फल होता है। ये जीव फिर गुणोंके अनुसार ही प्रकृतिको प्राप्त होते हैं। प्रकृतिमें स्थित हुए प्राकृतिक प्राणी

गुण और कर्मसे व्याप्त होकर प्राकृतिक गतिको प्राप्त होते हैं। तमोगुणी जीव तामसीवृत्तिसे ही जीवननिर्वाह करते और सदा महान् दुःखमें डूबे रहते हैं। उनमें दया नहीं होती, वे बड़े क्रूर होते हैं और लोकमें सदा द्वेषसे ही उनका जीवन चलता है। राक्षस और पिशाच आदि तमोगुणी जीव हैं, जो तामसी गतिको प्राप्त होते हैं। राजसी लोगोंकी बुद्धि मिश्रित होती है। वे पुण्य तथा पाप दोनों करते हैं; पुण्यसे स्वर्ग पाते और पापसे यातना भोगते हैं। इसी कारण ये मन्दभाग्य पुरुष बार-बार इस संसारमें आते-जाते रहते हैं। जो सात्त्विक स्वभावके मनुष्य हैं, वे धर्मशील, दयालु, श्रद्धालु, दूसरोंके दोष न देखनेवाले तथा सात्त्विक वृत्तिसे जीवननिर्वाह करनेवाले होते हैं। इसीलिये भिन्न-भिन्न कर्म करनेवाले जीवोंके एक-दूसरेसे पृथक् अनेक प्रकारके भाव हैं; उनके गुण और कर्मके अनुसार महाप्रभु विष्णु अपने स्वरूपकी प्राप्ति करानेके लिये उनसे कर्मोंका अनुष्ठान करवाते हैं। भगवान् विष्णु पूर्णकाम हैं, उनमें विषमता और निर्दयता आदि दोष नहीं हैं। वे समभावसे ही सृष्टि, पालन और संहार करते हैं। सब जीव अपने गुणसे ही कर्मफलके भागी होते हैं। जैसे माली बगीचेमें लगे हुए सब वृक्षोंको समानरूपसे सींचता है और एक ही कुआँके जलसे सभी वृक्ष पलते हैं तथापि वे पृथक्-पृथक् स्वभावको प्राप्त होते हैं। बगीचा लगानेवालेमें किसी प्रकार विषमता और निर्दयताका दोष नहीं होता।

देवाधिदेव भगवान् विष्णुका एक निमेष ब्रह्माजीके एक कल्पके समान माना गया है। ब्रह्मकल्पके अन्तमें देवाधिदेवशिरोमणि भगवान् विष्णुका उन्मेष होता है अर्थात् वे आँख खोलकर देखते हैं। जबतक निमेष रहता है तबतक प्रलय है। निमेषके अन्तमें भगवान् अपने उदरमें स्थित सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि करनेकी इच्छा करते हैं। सृष्टिकी इच्छा होनेपर भगवान् अपने उदरमें स्थित हुए अनेक प्रकारके जीवसमूहोंको देखते हैं। उनकी कुक्षिमें रहते हुए भी सम्पूर्ण जीव उनके ध्यानमें स्थित होते हैं। अर्थात् कौन जीव कहाँ किस रूपमें है, इसकी स्मृति भगवान्को सदा बनी रहती है। भगवान् विष्णु चतुर्व्यूहस्वरूप हैं। वे उन्मेषकालके प्रथम भागमें ही चतुर्व्यूह रूपमें प्रकट हो, व्यूहगामी वासुदेवस्वरूपसे महात्माओंमेंसे किसीको सायुज्य-साधक तत्त्वज्ञान, किसीको सारूप्य, किसीको सामीप्य और किसीको सालोक्य प्रदान करते हैं। फिर अनिरुद्ध मूर्तिके वशमें स्थित हुए सम्पूर्ण लोकोंको वे देखते हैं, देखकर उन्हें प्रद्युम्न मूर्तिके वशमें देते हैं और सृष्टि करनेका संकल्प करते हैं। भगवान् श्रीहरिने पूर्ण गुणवाले वासुदेव आदि चार व्यूहोंके द्वारा क्रमशः माया, जया, कृति और शान्तिको स्वयं स्वीकार किया है। उनसे संयुक्त चतुर्व्यूहात्मक महाविष्णुने पूर्णकाम होकर भी भिन्न-भिन्न कर्म और वासनावाले लोकोंकी सृष्टि की है। उन्मेषकालका अन्त होनेपर भगवान् विष्णु पुनः योगमायाका आश्रय लेकर व्यूहगामी संकर्षण स्वरूपसे इस चराचर जगत्का संहार करते हैं। इस प्रकार महात्मा विष्णुका यह सब चिन्तन करनेयोग्य कार्य बतलाया गया, जो ब्रह्मा आदि योगसे सम्पन्न पुरुषोंके लिये भी अचिन्त्य एवं दुर्विभाव्य है।

**व्याधने पूछा**—मुने! भागवतधर्म कौन-कौन-से हैं और किनके द्वारा भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं?

**शंखने कहा**—जिससे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, जो साधुपुरुषोंका उपकार करनेवाला है तथा जिसकी किसीने भी निन्दा नहीं की है, उसे तुम सात्त्विक धर्म समझो। वेदों और स्मृतियोंमें बताये हुए धर्मका यदि निष्कामभावसे पालन किया जाय तथा वह लोकसे विरुद्ध न

हो, तो उसे भी सात्त्विक धर्म जानना चाहिये। वर्ण और आश्रम विभागके अनुसार जो चार-चार प्रकारके धर्म हैं, वे सभी नित्य, नैमित्तिक और काम्य भेदसे तीन प्रकारके माने गये हैं। वे सभी अपने-अपने वर्ण और आश्रमके धर्म जब भगवान् विष्णुको समर्पित कर दिये जाते हैं, तब उन्हें सात्त्विक धर्म जानना चाहिये। वे सात्त्विक धर्म ही मंगलमय भागवतधर्म हैं। अन्यान्य देवताओंकी प्रीतिके लिये सकामभावसे किये जानेवाले धर्म राजस माने गये हैं। यक्ष, राक्षस, पिशाच आदिके उद्देश्यसे किये जानेवाले लोकनिष्ठुर, हिंसात्मक निन्दित कर्मोंको तामस धर्म कहा गया है। जो सत्त्वगुणमें स्थित हो भगवान् विष्णुको प्रसन्न करनेवाले शुभकारक सात्त्विक धर्मोंका सदा निष्कामभावसे अनुष्ठान करते हैं, वे भागवत (विष्णुभक्त) माने गये हैं। जिनका चित्त सदा भगवान् विष्णुमें लगा रहता है, जिनकी जिह्वापर भगवान्‌का नाम है और जिनके हृदयमें भगवान्‌के चरण विराजमान हैं, वे भागवत कहे गये हैं। जो सदाचारपरायण, सबका उपकार करनेवाले और सदैव ममतासे रहित हैं, वे भागवत माने गये हैं। जिनका शास्त्रमें, गुरुमें और सत्कर्मोंमें विश्वास है तथा जो सदा भगवान् विष्णुके भजनमें लगे रहते हैं, उन्हें भागवत कहा गया है। उन भगवद्भक्त महात्माओंको जो धर्म नित्य मान्य हैं, जो भगवान् विष्णुको प्रिय हैं तथा वेदों और स्मृतियोंमें जिनका प्रतिपादन किया गया है, वे ही सनातनधर्म माने गये हैं*। जिनका चित्त विषयोंमें आसक्त है, उनका सब देशोंमें घूमना, सब कर्मोंको देखना और सब धर्मोंको सुनना कुछ भी लाभकारक नहीं है। साधु-पुरुषोंका मन साधु-महात्माओंके दर्शनसे पिघल जाता है। निष्काम पुरुषोंद्वारा श्रद्धापूर्वक जिसका सेवन किया जाता है तथा जो भगवान् विष्णुको सदा ही प्रिय है, वह भागवत धर्म माना गया है।

भगवान् विष्णुने क्षीरसागरमें सबके हितकी कामनासे भगवती लक्ष्मीजीको दहीसे निकाले हुए मक्खनकी भाँति सब शास्त्रोंके सारभूत वैशाख धर्मका उपदेश किया है। जो दम्भरहित होकर वैशाख मासके व्रतका अनुष्ठान करता है, वह सब पापोंसे रहित हो सूर्यमण्डलको भेदकर भगवान् विष्णुके योगिदुर्लभ परम धाममें जाता है।

इस प्रकार द्विजश्रेष्ठ शंखके द्वारा भगवान् विष्णुके प्रिय वैशाख मासके धर्मोंका वर्णन होते समय वह पाँच शाखाओंवाला वटवृक्ष तुरंत ही भूमिपर गिर पड़ा। उसके खोंखलेमें एक विकराल अजगर रहता था, वह भी पापयोनिमय शरीरको त्यागकर तत्काल दिव्य स्वरूप हो मस्तक झुकाये शंखके सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया।

## वैशाखमासके माहात्म्य-श्रवणसे एक सर्पका उद्धार और वैशाखधर्मके पालन तथा रामनाम-जपसे व्याधका वाल्मीकि होना

**श्रुतदेव कहते हैं**—तदनन्तर व्याधसहित शंख मुनिने विस्मित होकर पूछा—'तुम कौन हो? और तुम्हें यह दशा कैसे प्राप्त हुई थी?'

**सर्पने कहा**—पूर्वजन्ममें मैं प्रयागका एक

* तेषां हि संमता धर्माः शाश्वता विष्णुवल्लभाः। श्रुतिस्मृत्युदिता ये च ते धर्माः शाश्वता मताः॥ (स्क० पु०, वै० वै० मा० २०। ६३)

ब्राह्मण था। मेरे पिताका नाम कुशीद मुनि और मेरा नाम रोचन था। मैं धनाढ्य, अनेक पुत्रोंका पिता और सदैव अभिमानसे दूषित था। बैठे-बैठे बहुत बकवाद किया करता था। बैठना, सोना, नींद लेना, मैथुन करना, जुआ खेलना, लोगोंकी बातें करना और सूद लेना यही मेरे व्यापार थे। मैं लोकनिन्दासे डरकर नाममात्रके शुभ कर्म करता था; सो भी दम्भके साथ। उन कर्मोंमें मेरी श्रद्धा नहीं थी। इस प्रकार मुझ दुष्ट और दुर्बुद्धिके कितने ही वर्ष बीत गये। तदनन्तर इसी वैशाख मासमें जयन्त नामक ब्राह्मण प्रयागक्षेत्रमें निवास करनेवाले पुण्यात्मा द्विजोंको वैशाख मासके धर्म सुनाने लगे। स्त्री, पुरुष, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—सहस्रों श्रोता प्रातःकाल स्नान करके अविनाशी भगवान् विष्णुकी पूजाके पश्चात् प्रतिदिन जयन्तकी कही हुई कथा सुनते थे। वे सभी पवित्र एवं मौन होकर उस भगवत्कथामें अनुरक्त रहते थे। एक दिन मैं भी कौतूहलवश देखनेकी इच्छासे श्रोताओंकी उस मण्डलीमें जा बैठा। मेरे मस्तकपर पगड़ी बँधी थी। इसलिये मैंने नमस्कार तक नहीं किया और संसारी वार्तालापमें अनुरक्त हो कथामें विघ्न डालने लगा। कभी मैं कपड़े फैलाता, कभी किसीकी निन्दा करता और कभी जोरसे हँस पड़ता था। जबतक कथा समाप्त हुई, तबतक मैंने इसी प्रकार समय बिताया। तत्पश्चात् दूसरे दिन सन्निपात रोगसे मेरी मृत्यु हो गयी। मैं तपाये हुए शीशेके जलसे भरे हुए हलाहल नरकमें डाल दिया गया और चौदह मन्वन्तरोंतक वहाँ यातना भोगता रहा। उसके बाद चौरासी लाख योनियोंमें क्रमशः जन्म लेता और मरता हुआ मैं इस समय क्रूर तमोगुणी सर्प होकर इस वृक्षके खोंखलेमें निवास करता था। मुने! सौभाग्यवश आपके मुखारविन्दसे निकली हुई अमृतमयी कथाको मैंने अपने दोनों नेत्रोंसे सुना, जिससे तत्काल मेरे सारे पाप नष्ट हो गये। मुनिश्रेष्ठ! मैं नहीं जानता कि आप किस जन्मके मेरे बन्धु हैं; क्योंकि मैंने कभी किसीका उपकार नहीं किया है तो भी मुझपर आपकी कृपा हुई। जिनका चित्त समान है, जो सब प्राणियोंपर दया करनेवाले साधुपुरुष हैं, उनमें परोपकारकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। उनकी कभी किसीके प्रति विपरीत बुद्धि नहीं होती। आज आप मुझपर कृपा कीजिये, जिससे मेरी बुद्धि धर्ममें लगे। देवाधिदेव भगवान् विष्णुकी मुझे कभी विस्मृति न हो और साधु चरित्रवाले महापुरुषोंका सदा ही संग प्राप्त हो। जो लोग मदसे अंधे हो रहे हों, उनके लिये एकमात्र दरिद्रता ही उत्तम अंजन है। इस प्रकार नाना भाँतिसे स्तुति करके रोचनने बार-बार शंखको प्रणाम किया और हाथ जोड़कर चुपचाप उनके आगे खड़ा हो गया।

**तब शंखने कहा**—ब्रह्मन्! तुमने वैशाख मास और भगवान् विष्णुका माहात्म्य सुना है, इससे उसी क्षण तुम्हारा सारा बन्धन नष्ट हो गया। द्विजश्रेष्ठ! परिहास, भय, क्रोध, द्वेष, कामना अथवा स्नेहसे भी एक बार भगवान् विष्णुके पापहारी नामका उच्चारण करके बड़े भारी पापी भी रोग-शोकरहित वैकुण्ठधाममें चले जाते हैं। फिर जो श्रद्धासे युक्त हो क्रोध और इन्द्रियोंको जीतकर सबके प्रति दयाभाव रखते हुए भगवान्‌की कथा सुनते हैं, वे उनके लोकमें जाते हैं, इस विषयमें तो कहना ही क्या है*। कितने ही मनुष्य

---

* हास्याद्भयात्तथा क्रोधाद्द्वेषात्कामादथापि वा । स्नेहाद्वा सकृदुच्चार्य विष्णोर्नामाघहारि च॥
पापिष्ठा अपि गच्छन्ति विष्णोर्धाम निरामयम् । किमु तच्छ्रद्धया युक्ता जितक्रोधा जितेन्द्रियाः॥
दयावन्तः कथां श्रुत्वा गच्छन्तीति द्विजोत्तम।
(स्क० पु०, वै० वै० मा० २१। ३६—३८)

केवल भक्तिके बलसे एकमात्र भगवान्‌की कथा-वार्तामें तत्पर हो अन्य सब धर्मोंका त्याग कर देनेपर भी भगवान् विष्णुके परम पदको पा लेते हैं। भक्तिसे अथवा द्वेष आदिसे भी जो कोई भगवान्‌की भक्ति करते हैं, वे भी प्राणहारिणी पूतनाकी भाँति परमपदको प्राप्त होते हैं। सदा महात्मा पुरुषोंका संग और उन्हींके विषयमें वार्तालाप करना चाहिये। रचना शिथिल होनेपर भी जिसके प्रत्येक श्लोकमें भगवान्‌के सुयशसूचक नाम हैं, वही वाणी जनसमुदायकी पापराशिका नाश करनेवाली होती है; क्योंकि साधुपुरुष उसीको सुनते, गाते और कहते हैं। जो भगवान् किसीसे कष्टसाध्य सेवा नहीं चाहते, आसन आदि विशेष उपकरणोंकी इच्छा नहीं रखते तथा सुन्दर रूप और जवानी नहीं चाहते, अपितु एक बार भी स्मरण कर लेनेपर अपना परम प्रकाशमय वैकुण्ठधाम दे डालते हैं, उन दयालु भगवान्‌को छोड़कर मनुष्य किसकी शरणमें जाय। उन्हीं रोग-शोकसे रहित, चित्तद्वारा चिन्तन करनेयोग्य, अव्यक्त, दयानिधान, भक्तवत्सल भगवान् नारायणकी शरणमें जाओ। महामते! वैशाख मासमें कहे हुए इन सब धर्मोंका पालन करो, उससे प्रसन्न होकर भगवान् जगन्नाथ तुम्हारा कल्याण करेंगे।

ऐसा कहकर शंख मुनि व्याधकी ओर देखकर चुप हो रहे। तब उस दिव्य पुरुषने पुनः इस प्रकार कहा—'मुने! मैं धन्य हूँ, आप-जैसे दयालु महात्माने मुझपर अनुग्रह किया है। मेरी कुत्सित योनि दूर हो गयी और अब मैं परमगतिको प्राप्त हो रहा हूँ, यह मेरे लिये सौभाग्यकी बात है।' यों कहकर दिव्य पुरुषने शंख मुनिकी परिक्रमा की तथा उनकी आज्ञा लेकर वह दिव्यलोकको चला गया। तदनन्तर सन्ध्या हो गयी। व्याधने शंखको अपनी सेवासे सन्तुष्ट किया और उन्होंने सांयकालकी सन्ध्योपासना करके शेष रात्रि व्यतीत की। भगवान्‌के लीलावतारोंकी कथा-वार्ताद्वारा रात व्यतीत करके शंख मुनि ब्राह्ममुहूर्तमें उठे और दोनों पैर धोकर मौनभावसे तारक ब्रह्मका ध्यान करने लगे। तत्पश्चात् शौचादि क्रियासे निवृत्त होकर वैशाख मासमें सूर्योदयसे पहले स्नान किया और सन्ध्या-तर्पण आदि सब कर्म समाप्त करके उन्होंने हर्षयुक्त हृदयसे व्याधको बुलाया। बुलाकर उसे 'राम' इस दो अक्षरवाले नामका उपदेश दिया, जो वेदसे भी अधिक शुभकारक है। उपदेश देकर इस प्रकार कहा—'भगवान् विष्णुका एक-एक नाम भी सम्पूर्ण वेदोंसे अधिक महत्त्वशाली माना गया है। ऐसे अनन्त नामोंसे अधिक है भगवान् विष्णुका सहस्रनाम। उस सहस्रनामके समान राम-नाम माना गया है*। इसलिये व्याध! तुम निरन्तर रामनामका जप करो और मृत्युपर्यन्त मेरे बताये हुए धर्मोंका पालन करते रहो। इस धर्मके प्रभावसे तुम्हारा वल्मीक ऋषिके घर जन्म होगा और तुम इस पृथ्वीपर वाल्मीकि नामसे प्रसिद्ध होओगे।'

व्याधको ऐसा आदेश देकर मुनिवर शंखने दक्षिण दिशाको प्रस्थान किया। व्याधने भी शंख मुनिकी परिक्रमा करके बार-बार उनके चरणोंमें प्रणाम किया और जबतक वे दिखायी दिये, तबतक उन्हींकी ओर देखता रहा। फिर उसने अति योग्य वैशाखोक्त धर्मोंका पालन किया। जंगली कैथ, कटहल, जामुन और आम आदिके फलोंसे राह चलनेवाले थके-माँदे पथिकोंको वह भोजन कराता था। जूता, चन्दन, छाता, पंखा आदिके द्वारा तथा बालूके बिछावन और छाया आदिकी व्यवस्थासे पथिकोंके परिश्रम और

* विष्णोरेकैकनामापि सर्ववेदाधिकं मतम्। तेभ्यश्चानन्तनामभ्योऽधिकं नाम्नां सहस्रकम्॥
तादृङ्नामसहस्रेण रामनामसमं मतम्।

(स्क० पु०, वै० वै० मा० २१। ५३-५४)

पसीनेका निवारण करता था। प्रातःकाल स्नान करके दिन-रात राम-नामका जप करता था। इस प्रकार धर्मानुष्ठान करके वह दूसरे जन्ममें वल्मीकका पुत्र हुआ। उस समय वह महायशस्वी वाल्मीकिके नामसे विख्यात हुआ। उन्हीं वाल्मीकिजीने अपने मनोहर प्रबन्ध रचनाद्वारा संसारमें दिव्य राम-कथाको प्रकाशित किया, जो समस्त कर्म-बन्धनोंका उच्छेद करनेवाली है।

मिथिलापते! देखो, वैशाखका माहात्म्य कैसा ऐश्वर्य प्रदान करनेवाला है, जिससे एक व्याध भी परम दुर्लभ ऋषिभावको प्राप्त हो गया। यह रोमांचकारी उपाख्यान सब पापोंका नाश करनेवाला है। जो इसे सुनता और सुनाता है, वह पुनः माताके स्तनका दूध पीनेवाला नहीं होता।

## धर्मवर्णकी कथा, कलिकी अवस्थाका वर्णन, धर्मवर्ण और पितरोंका संवाद एवं वैशाखकी अमावास्याकी श्रेष्ठता

**मिथिलापतिने पूछा**—ब्रह्मन्! इस वैशाख मासमें कौन-कौन-सी तिथियाँ पुण्यदायिनी हैं?

**श्रुतदेवजी बोले**—सूर्यके मेष राशिपर स्थित होनेपर वैशाख मासमें तीसों तिथियाँ पुण्यदायिनी मानी गयी हैं। एकादशीमें किया हुआ पुण्य कोटिगुना होता है। उसमें स्नान, दान, तपस्या, होम, देवपूजा, पुण्यकर्म एवं कथाका श्रवण किया जाय तो वह तत्काल मुक्ति देनेवाला है। जो रोग आदिसे ग्रस्त और दरिद्रतासे पीड़ित हो वह मनुष्य इस पुण्यमयी कथाको सुनकर कृतकृत्य होता है। वैशाख मास मनसे सेवन करने योग्य है; क्योंकि वह समय उत्तम गुणोंसे युक्त है। दरिद्र, धनाढ्य, पंगु, अन्धा, नपुंसक, विधवा, साधारण स्त्री, पुरुष, बालक, युवा, वृद्ध तथा रोगसे पीड़ित मनुष्य ही क्यों न हो, वैशाख मासका धर्म सबके लिये अत्यन्त सुखसाध्य है। परम पुण्यमय वैशाख मासमें जब सूर्य मेष राशिमें स्थित हों, तब पापनाशिनी अमावास्या कोटि गयाके समान फल देनेवाली होती है। राजन्! जब पृथ्वीपर राजर्षि सावर्णिका शासन था, उस समय तीसवें कलियुगके अन्तमें सभी धर्मोंका लोप हो चुका था। उसी समय आनर्त देशमें धर्मवर्ण नामसे विख्यात एक ब्राह्मण थे। मुनिवर धर्मवर्णने उस कलियुगमें ही किसी समय महात्मा मुनियोंके सत्रयागमें सम्मिलित होनेके लिये पुष्कर क्षेत्रकी यात्रा की। वहाँ कुछ व्रतधारी महर्षियोंने कलियुगकी प्रशंसा करते हुए इस प्रकार कहा था—'सत्ययुगमें भगवान् विष्णुको संतुष्ट करनेवाला जो पुण्य एक वर्षमें साध्य है, वही त्रेतामें एक मासमें और द्वापरमें पंद्रह दिनोंमें साध्य होता है; परंतु कलियुगमें भगवान् विष्णुका स्मरण कर लेनेसे ही उससे दसगुना पुण्य होता है*। कलिमें बहुत थोड़ा पुण्य भी कोटिगुना होता है। जो एक बार भी भगवान्‌का नाम लेकर दयादान करता है और दुर्भिक्षमें अन्न देता है, वह निश्चय ही ऊर्ध्वलोकमें गमन करता है।'

यह सुनकर देवर्षि नारद हँसते हुए उन्मत्तके समान नृत्य करने लगे। सभासदोंने पूछा—'नारदजी! यह क्या बात है?' तब बुद्धिमान् नारदजीने हँसते हुए उन सबको उत्तर दिया—

* कृते यद् वत्सरात्साध्यं पुण्यं माधवतोषणम्। त्रेतायां मासतः साध्यं द्वापरे पक्षतो नृप॥
तस्माद्दशगुणं पुण्यं कलौ विष्णुस्मृतेर्भवेत्।

(स्क० पु०, वै० वै० मा० २२। २०-२१)

'आपलोगोंका कथन सत्य है। इसमें सन्देह नहीं कि कलियुगमें स्वल्प कर्मसे भी महान् पुण्यका साधन किया जाता है तथा क्लेशोंका नाश करनेवाले भगवान् केशव स्मरणमात्रसे ही प्रसन्न हो जाते हैं। तथापि मैं आपलोगोंसे यह कहता हूँ कि कलियुगमें ये दो बातें दुर्घट हैं—शिश्नेन्द्रियका निग्रह और जिह्वाको वशमें रखना। ये दोनों कार्य जो सिद्ध कर ले, वही नारायणस्वरूप है। अत: कलियुगमें आपको यहाँ नहीं ठहरना चाहिये।'

नारदजीकी यह बात सुनकर उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षि सहसा यज्ञको समाप्त करके सुखपूर्वक चले गये। धर्मवर्णने भी वह बात सुनकर भूलोकको त्याग देनेका विचार किया। उन्होंने ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करके दण्ड और कमण्डलु हाथमें लिया और जटा-वल्कलधारी होकर वे कलियुगके अनाचारी पुरुषोंको देखनेके लिये घर छोड़कर चल दिये। उनके मनमें बड़ा विस्मय हो रहा था। उन्होंने देखा, प्राय: मनुष्य पापाचारमें प्रवृत्त हो बड़े भयंकर एवं दुष्ट हो गये हैं। ब्राह्मण पाखण्डी हो चले हैं। शूद्र संन्यास धारण करते हैं। पत्नी अपने पतिसे द्वेष रखती है। शिष्य गुरुसे वैर करता है। सेवक स्वामीके और पुत्र पिताके घातमें लगा हुआ है। ब्राह्मण शूद्रवत् और गौएँ बकरियोंके समान हो गयी हैं। वेदोंमें गाथाकी ही प्रधानता रह गयी है। शुभकर्म साधारण लौकिक कृत्योंके ही समान रह गये हैं, इनके प्रति किसीकी महत्त्व बुद्धि नहीं है। भूत, प्रेत और पिशाच आदिकी उपासना चल पड़ी है। सब लोग मैथुनमें आसक्त हैं और उसके लिये अपने प्राण भी खो बैठते हैं। सब लोग झूठी गवाही देते हैं। मनमें सदा छल और कपट भरा रहता है। कलियुगमें सदा लोगोंके मनमें कुछ और, वाणीमें कुछ और तथा क्रियामें कुछ और ही देखा जाता है। सबकी विद्या किसी-न-किसी स्वार्थको लेकर ही होती है और केवल राजभवनमें उसका आदर होता है। संगीत आदि कलात्मक विद्याएँ भी राजाओंको प्रिय हैं। कलिमें अधम मनुष्य पूजे जाते हैं और श्रेष्ठ पुरुषोंकी अवहेलना होती है। कलिमें वेदोंके विद्वान् ब्राह्मण दरिद्र होते हैं। लोगोंमें प्राय: भगवान्‌की भक्ति नहीं होती। पुण्यक्षेत्रमें पाखण्ड अधिक बढ़ जाता है। शूद्रलोग जटाधारी तपस्वी बनकर धर्मकी व्याख्या करते हैं। सभी मनुष्य अल्पायु, दयाहीन और शठ होते हैं। कलिमें प्राय: सभी धर्मके व्याख्याता बन जाते हैं और दूसरोंसे कुछ लेनेमें ही उत्सव मानते हैं। अपनी पूजा कराना चाहते हैं और व्यर्थ ही दूसरोंकी निन्दा करते हैं। अपने घर आनेपर सभी अपने स्वामीके दोषोंकी चर्चामें तत्पर रहते हैं। कलिमें लोग साधुओंको नहीं जानते। पापियोंको ही बहुत आदर देते हैं। दुराग्रही लोग इतने दुराग्रही होते हैं कि साधुपुरुषोंके एक दोषका भी ढिंढोरा पीटते हैं और पापात्माओंके दोषसमूहोंको भी गुण बतलाते हैं। कलिमें गुणहीन मनुष्य दूसरोंके गुण न देखकर उनके दोष ही ग्रहण करते हैं। जैसे पानीमें रहनेवाली जोंक प्राणियोंके रक्त पीती है, जल नहीं पीती, उसी प्रकार जोंकके धर्मसे संयुक्त हो मनुष्य दूसरेका रक्त चूसते हैं। ओषधियाँ शक्तिहीन होती हैं। ऋतुओंमें उलट-फेर हो जाता है। सब राष्ट्रोंमें अकाल पड़ता है। कन्या योग्य समयमें सन्तानोत्पत्ति नहीं करती। लोग नट और नर्तकोंकी विद्याओंसे विशेष प्रेम करते हैं। जो वेद-वेदान्तकी विद्याओंमें तत्पर और अधिक गुणवान् हैं, उन्हें अज्ञानी मनुष्य सेवककी दृष्टिसे देखते हैं, वे सब-के-सब भ्रष्ट होते हैं। कलिमें प्राय: लोग श्राद्धकर्मका त्याग करते हैं। वैदिक कर्मोंको छोड़ बैठते हैं। प्राय: जिह्वापर भगवान्

विष्णुके नाम कभी नहीं आते। लोग शृंगार रसमें आनन्दका अनुभव करते हैं और उसीके गीत गाते हैं। कलियुगके मनुष्योंमें न कभी भगवान् विष्णुकी सेवा देखी जाती है, न शास्त्रीय चर्चा होती है, न कहीं यज्ञकी दीक्षा है, न विचारका लेश है, न तीर्थयात्रा है और न दान-धर्म ही होते देखे जाते हैं। यह कितने आश्चर्यकी बात है?

उन सबको देखकर धर्मवर्णको बड़ा भय लगा। पापसे कुलकी हानि होती देख, अत्यन्त आश्चर्यसे चकित हो वे दूसरे द्वीपमें चले गये। सब द्वीपों और लोकोंमें विचरते हुए बुद्धिमान् धर्मवर्ण किसी समय कौतूहलवश पितृलोकमें गये। वहाँ उन्होंने कर्मसे कष्ट पाते हुए पितरोंको बड़ी भयंकर दशामें देखा। वे दौड़ते, रोते और गिरते-पड़ते थे। उन्होंने अपने पितरोंको भी नीचे अन्धकूपमें पड़े हुए देखा। उनको देखकर आश्चर्यचकित हो दयालु धर्मवर्णने पूछा—'आपलोग कौन हैं, किस दुस्तर कर्मके प्रभावसे इस अन्धकूपमें पड़े हैं?'

**पितरोंने कहा**—हम श्रीवत्स गोत्रवाले हैं। पृथ्वीपर हमारी कोई सन्तान नहीं रह गयी है, अतः हम श्राद्ध और पिण्डसे वंचित हैं, इसीलिये यहाँ हमें नरकका कष्ट भोगना पड़ता है। सन्तानहीन दुरात्माओंका अन्धकूपमें पतन होता है। हमारे वंशमें एक ही महायशस्वी पुरुष है, जो धर्मवर्णके नामसे विख्यात है। किंतु वह विरक्त होकर अकेला घूमता-फिरता है। उसने गृहस्थ-धर्मको नहीं स्वीकार किया है। वह एक ही तन्तु हमारे कुलमें अवशिष्ट है। उसकी भी आयु क्षीण हो जानेपर हमलोग घोर अन्धकूपमें गिर पड़ेंगे, जहाँसे फिर निकलना कठिन होगा। इसलिये तुम पृथ्वीपर जाकर धर्मवर्णको समझाओ। हमलोग दयाके पात्र हैं, हमारे वचनोंसे उसको यह बताओ कि 'हमारी वंशरूपा दूर्वाको कालरूपी चूहा प्रतिदिन खा रहा है। क्रमशः सारे वंशका नाश हो गया है, एक तुम्हीं बचे हो। जब तुम भी मर जाओगे तब सन्तान-परम्परा न होनेके कारण तुम्हें भी अन्धकूपमें गिरना पड़ेगा। इसलिये गृहस्थ-धर्मको स्वीकार करके सन्तानकी वृद्धि करो। इससे हमारी और तुम्हारी दोनोंकी ऊर्ध्वगति होगी। यदि एक भी पुत्र वैशाख, माघ अथवा कार्तिक मासमें हमारे उद्देश्यसे स्नान, श्राद्ध और दान करेगा तो उससे हमलोगोंकी ऊर्ध्वगति होगी और नरकसे उद्धार हो जायगा। यदि एक पुत्र भी भगवान् विष्णुका भक्त हो जाय, एक भी एकादशीका व्रत रहने लगे अथवा यदि एक भी भगवान् विष्णुकी पापनाशक कथा श्रवण करे तो उसकी सौ बीती हुई पीढ़ियोंका तथा सौ भावी पीढ़ियोंका उद्धार होता है। वे पीढ़ियाँ पापसे आवृत होनेपर भी नरकका दर्शन नहीं करतीं। दया और धर्मसे रहित उन बहुत-से पुत्रोंके जन्मसे क्या लाभ, जो कुलमें उत्पन्न होकर सर्वव्यापी भगवान् नारायणकी पूजा नहीं करते*।' इस प्रकार प्रिय वचनोंद्वारा धर्मवर्णको समझाकर तुम उसे विरक्तिपूर्ण ब्रह्मचर्य-आश्रमसे गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करनेकी सलाह दो।

पितरोंकी यह बात सुनकर धर्मवर्ण अत्यन्त विस्मित हुआ और हाथ जोड़कर बोला—'मैं ही धर्मवर्ण नामसे विख्यात आपके वंशका दुराग्रही बालक हूँ। यज्ञमें महात्मा नारदजीका यह वचन सुनकर कि 'कलियुगमें प्रायः कोई भी रसनेन्द्रिय और शिश्नेन्द्रियको दृढ़तापूर्वक संयममें नहीं रखता'—मैं दुर्जनोंकी संगतिसे भयभीत हो अबतक दूसरे-दूसरे द्वीपोंमें घूमता रहा। इस कलियुगके तीन चरण बीत गये, अन्तिम चरणमें भी साढ़े तीन भाग व्यतीत हो चुके हैं। मेरा जन्म व्यर्थ बीता है; क्योंकि जिस कुलमें मैंने जन्म लिया, उसमें

* किमन्यैर्बहुभिः पुत्रैर्दयाधर्मविवर्जितैः। ये जाता नार्चयन्त्यद्धा विष्णुं नारायणं कुले॥ (स्क० पु०, वै० वै० मा० २२। ८१)

माता-पिताके ऋणको भी मैंने नहीं चुकाया। पृथ्वीके भारभूत उस शत्रुतुल्य पुत्रके उत्पन्न होनेसे क्या लाभ जो पैदा होकर भगवान् विष्णु और देवताओं तथा पितरोंकी पूजा न करे। मैं आपलोगोंकी आज्ञाका पालन करूँगा। बताइये, पृथ्वीपर किस प्रकार मुझे कलियुगसे और संसारसे भी बाधा नहीं प्राप्त होगी?'

**धर्मवर्णकी बात सुनकर पितरोंके मनको कुछ आश्वासन मिला, वे बोले**—बेटा! तुम गृहस्थ-आश्रम स्वीकार करके सन्तानोत्पत्तिके द्वारा हमारा उद्धार करो। जो भगवान् विष्णुकी कथामें अनुरक्त होते, निरन्तर श्रीहरिका स्मरण करते और सदाचारके पालनमें तत्पर रहते हैं, उन्हें कलियुग बाधा नहीं पहुँचाता। मानद! जिसके घरमें शालग्राम शिला अथवा महाभारतकी पुस्तक हो, उसे भी कलियुग बाधा नहीं दे सकता। जो वैशाख मासके धर्मोंका पालन करता, माघ-स्नानमें तत्पर होता और कार्तिकमें दीप देता है, उसे भी कलिकी बाधा नहीं प्राप्त होती। जो प्रतिदिन महात्मा भगवान् विष्णुकी पापनाशक एवं मोक्षदायिनी दिव्य कथा सुनता है, जिसके घरमें बलिवैश्वदेव होता है, शुभकारिणी तुलसी स्थित होती हैं तथा जिसके आँगनमें उत्तम गौ रहती हैं, उसे भी कलियुग बाधा नहीं देता। अतः इस पापात्मक युगमें भी तुम्हें कोई भय नहीं है। बेटा! शीघ्र पृथ्वीपर जाओ। इस समय वैशाख मास चल रहा है, यह सबका उपकार करनेवाला मास है। सूर्यके मेषराशिमें स्थित होनेपर तीसों तिथियाँ पुण्यदायिनी मानी गयी हैं। एक-एक तिथिमें किया हुआ पुण्य कोटि-कोटि गुना अधिक होता है। उनमें भी जो वैशाखकी अमावास्या तिथि है, वह मनुष्योंको मोक्ष देनेवाली है, देवताओं और पितरोंको वह बहुत प्रिय है, शीघ्र ही मोक्षकी प्राप्ति करानेवाली है। जो उस दिन पितरोंके उद्देश्यसे श्राद्ध करते और जलसे भरा हुआ घड़ा एवं पिण्ड देते हैं, उन्हें अक्षय फलकी प्राप्ति होती है। अतः महामते! तुम शीघ्र जाओ और जब अमावास्या हो, तब कुम्भसहित श्राद्ध एवं पिण्डदान करो। सबका उपकार करनेके लिये गृहस्थ-धर्मका आश्रय लो। धर्म, अर्थ और कामसे सन्तुष्ट हो, उत्तम सन्तान पाकर फिर मुनिवृत्तिसे रहते हुए सुखपूर्वक द्वीप-द्वीपान्तरोंमें विचरण करो।

पितरोंके इस प्रकार आदेश देनेपर धर्मवर्ण मुनि शीघ्रतापूर्वक भूलोकमें गये। वहाँ मेषराशिमें सूर्यके स्थित रहते हुए वैशाख मासमें प्रातःकाल स्नान करके देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंका तर्पण किया; फिर कुम्भदानसहित पापविनाशक श्राद्ध करके उसके द्वारा पितरोंको पुनरावृत्तिरहित मुक्ति प्रदान की। तत्पश्चात् उन्होंने स्वयं विवाह करके उत्तम सन्तानको जन्म दिया और लोकमें उस पापनाशिनी अमावास्या तिथिको प्रसिद्ध किया। तदनन्तर वे भक्तिपूर्वक भगवान्‌की आराधना करनेके लिये हर्षके साथ गन्धमादन पर्वतपर चले गये। इसलिये वैशाख मासकी यह अमावास्या तिथि परम पवित्र मानी गयी है।

## वैशाखकी अक्षय तृतीया और द्वादशीकी महत्ता, द्वादशीके पुण्यदानसे एक कुतियाका उद्धार

**श्रुतदेवजी कहते हैं**—जो मनुष्य अक्षय तृतीयाको सूर्योदयकालमें प्रातःस्नान करते हैं और भगवान् विष्णुकी पूजा करके कथा सुनते हैं, वे मोक्षके भागी होते हैं। जो उस दिन श्रीमधुसूदनकी प्रसन्नताके लिये दान करते हैं, उनका वह पुण्यकर्म भगवान्‌की आज्ञासे अक्षय फल देता है। वैशाख

मासकी पवित्र तिथियोंमें शुक्ल पक्षकी द्वादशी समस्त पापराशिका विनाश करनेवाली है। शुक्ला द्वादशीको योग्य पात्रके लिये जो अन्न दिया जाता है, उसके एक-एक दानेमें कोटि-कोटि ब्राह्मण-भोजनका पुण्य होता है। शुक्ल पक्षकी एकादशी तिथिमें जो भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये जागरण करता है, वह जीवन्मुक्त होता है। जो वैशाखकी द्वादशी तिथिको तुलसीके कोमलदलोंसे भगवान् विष्णुकी पूजा करता है, वह समूचे कुलका उद्धार करके वैकुण्ठलोकका अधिपति होता है। जो मनुष्य त्रयोदशी तिथिको दूध, दही, शक्कर, घी और शुद्ध मधु—इन पाँच द्रव्योंसे भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये उनकी पूजा करता है तथा जो पंचामृतसे भक्तिपूर्वक श्रीहरिको स्नान कराता है, वह सम्पूर्ण कुलका उद्धार करके भगवान् विष्णुके लोकमें प्रतिष्ठित होता है। जो सायंकालमें भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये शर्बत देता है, वह अपने पुराने पापको शीघ्र ही त्याग देता है। वैशाख शुक्ला द्वादशीमें मनुष्य जो कुछ पुण्य करता है, वह अक्षय फल देनेवाला होता है।

प्राचीन कालमें काश्मीरदेशमें देवव्रत नामक एक ब्राह्मण थे। उनके सुन्दर रूपवाली एक कन्या थी, जो मालिनीके नामसे प्रसिद्ध थी। ब्राह्मणने उस कन्याका विवाह सत्यशील नामक बुद्धिमान् द्विजके साथ कर दिया। मालिनी कुमार्गपर चलनेवाली पुंश्चली होकर स्वच्छन्दतापूर्वक इधर-उधर रहने लगी। वह केवल आभूषण धारण करनेके लिये पतिका जीवन चाहती थी, उसकी हितैषिणी नहीं थी। उसके घरमें काम-काज करनेके बहाने उपपति रहा करता था। सभी जातिके मनुष्य जारके रूपमें उसके यहाँ ठहरते थे। वह कभी पतिकी आज्ञाका पालन करनेमें तत्पर नहीं हुई। इसी दोषसे उसके सब अंगोंमें कीड़े पड़ गये, जो काल, अन्तक और यमकी भाँति उसकी हड्डियोंको भी छेदे डालते थे। उन कीड़ोंसे उसकी नाक, जिह्वा और कानोंका उच्छेद हो गया, स्तन तथा अंगुलियाँ गल गयीं, उसमें पंगुता भी आ गयी। इन सब क्लेशोंसे मृत्युको प्राप्त होकर वह नरककी यातनाएँ भोगने लगी। एक लाख पचास हजार वर्षोंतक वह ताँबेके भाण्डमें रखकर जलायी गयी, सौ बार उसे कुत्तेकी योनिमें जन्म लेना पड़ा। तत्पश्चात् सौवीर देशमें पद्मबन्धु नामक ब्राह्मणके घरमें वह अनेक दुःखोंसे घिरी हुई कुतिया हुई। उस समय भी उसके कान, नाक, पूँछ और पैर कटे हुए थे, उसके सिरमें कीड़े पड़ गये थे और योनिमें भी कीड़े भरे रहते थे। राजन्! इस प्रकार तीस वर्ष बीत गये। एक दिन वैशाखके शुक्ल पक्षकी द्वादशी तिथिको पद्मबन्धुका पुत्र नदीमें स्नान करके पवित्र हो भीगे वस्त्रसे घर आया। उसने तुलसीकी वेदीके पास जाकर अपने पैर धोये। दैवयोगसे वह कुतिया वेदीके नीचे सोयी हुई थी। सूर्योदयसे पहलेका समय था, ब्राह्मणकुमारके चरणोदकसे वह नहा गयी और तत्काल उसके सारे पाप नष्ट हो गये। फिर तो उसी क्षण उसे अपने पूर्वजन्मोंका स्मरण हो आया। पहलेके कर्मोंकी याद आनेसे वह कुतिया तपस्वीके पास जाकर दीनतापूर्वक पुकारने लगी—'हे मुने! आप हमारी रक्षा करें।' उसने पद्मबन्धु मुनिके पुत्रसे अपने पूर्वजन्मके दुराचारपूर्ण वृत्तान्त सुनाये और यह

भी कहा—'ब्रह्मन्! जो कोई भी दूसरी युवती पतिके ऊपर वशीकरणका प्रयोग करती है, वह दुराचारिणी मेरी ही तरह ताँबेके पात्रमें पकायी जाती है। पति स्वामी है, पति गुरु है और पति उत्तम देवता है। साध्वी स्त्री उस पतिका अपराध करके कैसे सुख पा सकती है?* पतिका अपराध करनेवाली स्त्री सैकड़ों बार तिर्यग्योनि (पशु-पक्षियोंकी योनि)-में और अरबों बार कीड़ेकी योनिमें जन्म लेती है। इसलिये स्त्रियोंको सदैव अपने पतिकी आज्ञा पालन करनी चाहिये। ब्रह्मन्! आज मैं आपकी दृष्टिके सम्मुख आयी हूँ। यदि आप मेरा उद्धार नहीं करेंगे, तो मुझे पुनः इसी यातनापूर्ण घृणित योनिका दर्शन करना पड़ेगा। अतः विप्रवर! मुझ पापाचारिणीको वैशाख शुक्ल पक्षमें अपना पुण्य प्रदान करके उबार लीजिये। आपने जो पुण्यकी वृद्धि करनेवाली द्वादशी की है, उसमें स्नान, दान और अन्नभोजन करानेसे जो पुण्य हुआ है, उससे मुझ दुराचारिणीका भी उद्धार हो जायगा। महाभाग! दीनवत्सल! मुझ दुःखियाके प्रति दया कीजिये। आपके स्वामी जगदीश्वर जनार्दन दीनोंके रक्षक हैं। उनके भक्त भी उन्हींके समान होते हैं। दीनवत्सल! मैं आपके दरवाजेपर रहनेवाली कुतिया हूँ। मुझ दीनाके प्रति दया कीजिये, मेरा उद्धार कीजिये। अन्तमें मैं आप द्विजेन्द्रको नमस्कार करती हूँ।'

**उसका वचन सुनकर मुनिके पुत्रने कहा—** कुतिया! सब प्राणी अपने किये हुए कर्मोंके ही सुख-दुःखरूप फल भोगते हैं। जैसे साँपको दिया हुआ शर्करामिश्रित दूध केवल विषकी वृद्धि करता है, उसी प्रकार पापीको दिया हुआ पुण्य उसके पापमें सहायक होता है।

मुनिकुमारके ऐसा कहनेपर कुतिया दुःखमें डूब गयी और उसके पिताके पास जाकर आर्तस्वरसे क्रन्दन करती हुई बोली—'पद्मबन्धु बाबा! मैं तुम्हारे दरवाजेकी कुतिया हूँ। मैंने सदा तुम्हारी जूठन खायी है। मेरी रक्षा करो, मुझे बचाओ। गृहस्थ महात्माके घरपर जो पालतू जीव रहते हैं, उनका उद्धार करना चाहिये, यह वेदवेत्ताओंका मत है। चाण्डाल, कौवे, कुत्ते—ये प्रतिदिन गृहस्थोंके दिये हुए टुकड़े खाते हैं; अतः उनकी दयाके पात्र हैं। जो अपने ही पाले हुए रोगादिसे ग्रस्त एवं असमर्थ प्राणीका उद्धार नहीं करता, वह नरकमें पड़ता है, यह विद्वानोंका मत है। संसारकी सृष्टि करनेवाले भगवान् विष्णु एकको कर्ता बनाकर स्वयं ही पत्नी, पुत्र आदिके व्याजसे समस्त जन्तुओंका पालन करते हैं; अतः अपने पोष्यवर्गकी रक्षा करनी चाहिये, यह भगवान्‌की आज्ञा है। दयालु होनेके कारण आप मेरा उद्धार कीजिये।'

दुःखसे आतुर हुई कुतियाकी यह बात सुनकर घरमें बैठा हुआ मुनिपुत्र तुरंत घरसे बाहर निकला। इसी समय दयानिधान पद्मबन्धुने कुतियासे पूछा—'यह क्या वृत्तान्त है?' तब पुत्रने सब समाचार कह सुनाया। उसे सुनकर पद्मबन्धु बोले—'बेटा! तुमने कुतियासे ऐसा वचन क्यों कहा? साधुपुरुषोंके मुँहसे ऐसी बात नहीं निकलती। वत्स! देखो तो, सब लोग दूसरोंका उपकार करनेके लिये उद्यत रहते हैं। चन्द्रमा, सूर्य, वायु, रात्रि, अग्नि, जल, चन्दन, वृक्ष और साधुपुरुष सदा दूसरोंकी भलाईमें लगे रहते हैं। दैत्योंको महाबली जानकर महर्षि दधीचिने देवताओंका उपकार करनेके लिये दयापूर्वक उन्हें अपने शरीरकी हड्डी दे दी थी। महाभाग!

* भर्ता नाथो गुरुर्भर्ता भर्ता दैवतमुत्तमम्। विक्रियां कृत्य साध्वी सा कथं सुखमवाप्नुयात्॥
(स्क० पु०, वै० वै० मा० २४। ६२)

पूर्वकालमें राजा शिविने कबूतरके प्राण बचानेके लिये भूखे बाजको अपने शरीरका मांस दे दिया था। पहले इस पृथ्वीपर जीमूतवाहन नामक राजा हो गये हैं। उन्होंने एक सर्पका प्राण बचानेके लिये महात्मा गरुड़को अपना जीवन समर्पित कर दिया था। इसलिये विद्वान् ब्राह्मणको दयालु होना चाहिये; क्या इन्द्रदेव शुद्ध स्थानमें ही वर्षा करते हैं, अशुद्ध स्थानमें जल नहीं बरसाते? क्या चन्द्रमा चाण्डालोंके घरमें प्रकाश नहीं करते? अतः बार-बार प्रार्थना करनेवाली इस कुतियाका मैं अपने पुण्योंसे उद्धार करूँगा।'

इस प्रकार पुत्रकी मान्यताका निराकरण करके परम बुद्धिमान् पद्मबन्धुने संकल्प किया—'कुतिया! ले, मैंने द्वादशीका महापुण्य तुझे दे दिया।' ब्राह्मणके इतना कहते ही कुतियाने सहसा अपने प्राचीन शरीरका त्याग कर दिया और दिव्य देह धारणकर दिव्य वस्त्र-आभूषणोंसे विभूषित हो, दसों दिशाओंको प्रकाशित करती

हुई ब्राह्मणकी आज्ञा ले स्वर्गलोकको चली गयी। वहाँ महान् सुखोंका उपभोग करके इस पृथ्वीपर भगवान् नर-नारायणके अंशसे 'उर्वशी' नामसे प्रकट हुई।

## वैशाख मासकी अन्तिम तीन तिथियोंकी महत्ता तथा ग्रन्थका उपसंहार

**श्रुतदेवजी कहते हैं**—राजेन्द्र! वैशाखके शुक्ल पक्षमें जो अन्तिम तीन त्रयोदशीसे लेकर पूर्णिमातककी तिथियाँ हैं, वे बड़ी पवित्र और शुभकारक हैं। उनका नाम 'पुष्करिणी' है, वे सब पापोंका क्षय करनेवाली हैं। जो सम्पूर्ण वैशाख मासमें स्नान करनेमें असमर्थ हो, वह यदि इन तीन तिथियोंमें भी स्नान करे तो वैशाख मासका पूरा फल पा लेता है। पूर्वकालमें वैशाख मासकी एकादशी तिथिको शुभ अमृत प्रकट हुआ। द्वादशीको भगवान् विष्णुने उसकी रक्षा की। त्रयोदशीको उन श्रीहरिने देवताओंको सुधा-पान कराया। चतुर्दशीको देवविरोधी दैत्योंका संहार किया और पूर्णिमाके दिन समस्त देवताओंको उनका साम्राज्य प्राप्त हो गया। इसलिये देवताओंने सन्तुष्ट होकर इन तीन तिथियोंको वर दिया—'वैशाख मासकी ये तीन शुभ तिथियाँ मनुष्योंके पापोंका नाश करनेवाली तथा उन्हें पुत्र-पौत्रादि फल देनेवाली हों। जो मनुष्य इस सम्पूर्ण मासमें स्नान न कर सका हो, वह इन तिथियोंमें स्नान कर लेनेपर पूर्ण फलको ही पाता है। वैशाख मासमें लौकिक कामनाओंका नियमन करनेपर मनुष्य निश्चय ही भगवान् विष्णुका सायुज्य प्राप्त कर लेता

है। महीनेभर नियम निभानेमें असमर्थ मानव यदि उक्त तीन दिन भी कामनाओंका संयम कर सके तो उतनेसे ही पूर्ण फलको पाकर भगवान् विष्णुके धाममें आनन्दका अनुभव करता है।'

इस प्रकार वर देकर देवता अपने धामको चले गये। अतः पुष्करिणी नामसे प्रसिद्ध अन्तिम तीन तिथियाँ पुण्यदायिनी, समस्त पापराशिका नाश करनेवाली तथा पुत्र-पौत्रको बढ़ानेवाली हैं। जो वैशाख मासमें अन्तिम तीन दिन गीताका पाठ करता है, उसे प्रतिदिन अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है। जो उक्त तीनों दिन विष्णुसहस्रनामका पाठ करता है, उसके पुण्यफलका वर्णन करनेमें इस भूलोक तथा स्वर्गलोकमें कौन समर्थ है? पूर्णिमाको सहस्रनामोंके द्वारा भगवान् मधुसूदनको दूधसे नहलाकर मनुष्य पापहीन वैकुण्ठधाममें जाता है। वैशाख मासमें प्रतिदिन भागवतके आधे या चौथाई श्लोकका पाठ करनेवाला मनुष्य ब्रह्मभावको प्राप्त होता है। जो वैशाखके अन्तिम तीन दिनोंमें भागवतशास्त्रका श्रवण करता है, वह जलसे कमलके पत्तेकी भाँति कभी पापोंसे लिप्त नहीं होता। उक्त तीनों दिनोंके सेवनसे कितने ही मनुष्योंने देवत्व प्राप्त कर लिया, कितने ही सिद्ध हो गये और कितनोंने ब्रह्मत्व पा लिया। ब्रह्मज्ञानसे मुक्ति होती है। अथवा प्रयागमें मृत्यु होनेसे या वैशाख मासमें नियमपूर्वक प्रातःकाल जलमें स्नान करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। इसलिये वैशाखके अन्तिम तीन दिनोंमें स्नान, दान और भगवत्पूजन आदि अवश्य करना चाहिये। वैशाख मासके उत्तम माहात्म्यका पूरा-पूरा वर्णन रोग-शोकसे रहित जगदीश्वर भगवान् नारायणके सिवा दूसरा कौन कर सकता है। तुम भी वैशाख मासमें दान आदि उत्तम कर्मका अनुष्ठान करो। इससे निश्चय ही तुम्हें भोग और मोक्षकी प्राप्ति होगी।

इस प्रकार मिथिलापति जनकको उपदेश देकर श्रुतदेवजीने उनकी अनुमति ले वहाँसे जानेका विचार किया। तब राजर्षि जनकने अपने अभ्युदयके लिये उत्तम उत्सव कराया और श्रुतदेवजीको पालकीपर बिठाकर विदा किया। वस्त्र, आभूषण, गौ, भूमि, तिल और सुवर्ण आदिसे उनकी पूजा और वन्दना करके राजाने उनकी परिक्रमा की। तत्पश्चात् उनसे विदा हो महातेजस्वी एवं परम यशस्वी श्रुतदेवजी सन्तुष्ट हो प्रसन्नतापूर्वक वहाँसे अपने स्थानको गये। राजाने वैशाखधर्मका पालन करके मोक्ष प्राप्त किया।

**नारदजी कहते हैं**—अम्बरीष! यह उत्तम उपाख्यान मैंने तुम्हें सुनाया है, जो कि सब पापोंका नाशक तथा सम्पूर्ण सम्पत्तियोंको देनेवाला है। इससे मनुष्य भुक्ति, मुक्ति, ज्ञान एवं मोक्ष पाता है।

नारदजीका यह वचन सुनकर महायशस्वी राजा अम्बरीष मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने बाह्य जगत्के व्यापारोंसे निवृत्त होकर मुनिको साष्टांग प्रणाम किया और अपने सम्पूर्ण वैभवोंसे उनकी पूजा की। तत्पश्चात् उनसे विदा लेकर देवर्षि नारदजी दूसरे लोकमें चले गये; क्योंकि दक्ष प्रजापतिके शापसे वे एक स्थानपर नहीं ठहर सकते। राजर्षि अम्बरीष भी नारदजीके बताये हुए सब धर्मोंका अनुष्ठान करके निर्गुण परब्रह्म परमात्मामें विलीन हो गये। जो इस पापनाशक एवं पुण्यवर्द्धक उपाख्यानको सुनता अथवा पढ़ता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है। जिनके घरमें यह लिखी हुई पुस्तक रहती है, उनके हाथमें मुक्ति आ जाती है। फिर जो सदा इसके श्रवणमें मन लगाते हैं, उनके लिये तो कहना ही क्या है।

**वैशाखमास-माहात्म्य सम्पूर्ण**

# श्रीअयोध्या-माहात्म्य

## अयोध्यापुरीकी महिमा और सीमाका वर्णन, चक्रतीर्थ एवं श्रीविष्णुहरिका माहात्म्य

**नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।**
**देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥**

महाक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें जब महात्मा राजा श्रीरामचन्द्रजीका बारह वर्षोंमें पूरा होनेवाला यज्ञ चल रहा था, उस समय उस यज्ञमें निमन्त्रित होकर शुद्ध अन्तःकरणवाले सभी मुनि पधारे थे, जो वेदों और वेदांगोंके पारगामी विद्वान् थे। वे वहाँ स्नान करके न्यायपूर्वक जप आदि कर्म करके वेद-वेदांगोंके पारंगत पण्डित भरद्वाज मुनिको आगे करके क्रमशः विचित्र-विचित्र आसनोंपर बैठे। उस समय व्यासशिष्य रोमहर्षण सूतजीसे भरद्वाज आदि मुनिवरोंने पूछा—'महाभाग! इस समय हम महापुरी अयोध्याका गुणोंसे उज्ज्वल एवं रहस्ययुक्त सनातन माहात्म्य सुनना चाहते हैं। विष्णुप्रिया अयोध्या कैसी है? उसमें कैसे स्थान हैं, कौन-कौन-से तीर्थ हैं और उसके सेवनसे कैसा फल प्राप्त होता है?'

**सूतजी बोले**—तपोधनो! मैं भगवान् व्यासको प्रणाम करके आपके आगे महापुरी अयोध्याके रहस्ययुक्त माहात्म्यका यथावत् वर्णन करता हूँ। अलसीके फूलकी भाँति जिनकी श्याम कान्ति है तथा जिन्होंने रावणका विनाश किया है, उन कमलके समान नेत्रोंवाले अविनाशी परमात्मा श्रीरामचन्द्रजीको मैं नमस्कार करता हूँ।* अयोध्यापुरी परम पवित्र है, पापी मनुष्योंको इसकी प्राप्ति होनी बहुत कठिन है। जिसमें साक्षात् भगवान् श्रीहरि निवास करते हैं, वह अयोध्यापुरी भला किसके सेवनके योग्य नहीं है? अयोध्या सरयूके तटपर बसी है। वह दिव्य पुरी परम शोभासे युक्त है। प्रायः बहुत-से तपस्वी महात्मा उसके भीतर निवास करते हैं। जिस पुरीमें सूर्यवंशी इक्ष्वाकु आदि सब राजा प्रजापालनमें तत्पर रहे हैं। जिसके किनारे मानसरोवरसे निकली हुई पुण्यसलिला सरयू नामवाली नदी सदा सुशोभित होती है और उसके तटपर भ्रमरोंके गुंजन एवं पक्षियोंके कलरव होते रहते हैं। मुनिवरो! भगवान् विष्णुके दहिने चरणके अँगूठेसे गंगाजी और बायें चरणके अँगूठेसे शुभकारिणी सरयूजी निकली हैं। इसलिये वे दोनों नदियाँ परम पवित्र तथा सम्पूर्ण देवताओंसे वन्दित हैं। इनमें स्नान करनेमात्रसे मनुष्य ब्रह्महत्याका नाश कर डालता है। अकार कहते हैं ब्रह्माको, यकार विष्णुका नाम है और धकार रुद्रस्वरूप है, इन सबके योगसे 'अयोध्या' नाम शोभित होता है। समस्त उपपातकोंके साथ ब्रह्महत्या आदि महापातक इस पुरीसे युद्ध नहीं कर सकते, इसलिये इसे 'अयोध्या' कहते हैं। यह भगवान् विष्णुकी आदिपुरी है और विष्णुके सुदर्शनचक्रपर स्थित है। अतएव पृथ्वीपर अतिशय पुण्यदायिनी है। इस पुरीकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है, जहाँ साक्षात् भगवान् विष्णु आदरपूर्वक निवास करते हैं। सहस्रधारातीर्थसे पूर्व दिशामें एक योजनतक और सम नामक स्थानसे पश्चिम दिशामें एक योजनतक, सरयूतटसे दक्षिण दिशामें एक योजनतक और तमसासे उत्तर दिशामें एक योजनतक इस अयोध्याक्षेत्रकी स्थिति है। यही भगवान् विष्णुका अन्तर्गृह है। यह

* नमामि परमात्मानं रामं राजीवलोचनम्। अतसीकुसुमश्यामं रावणान्तकमव्ययम्॥ (स्क० पु०, वै० अ० मा० १।२९)

विष्णुपुरी मछलीके आकारवाली बतलायी गयी है। पश्चिम दिशामें गो-प्रतारतीर्थसे लेकर असीतीर्थपर्यन्त इसका मस्तक है, पूर्व दिशामें इसका पुच्छ भाग है और दक्षिण एवं उत्तर दिशामें इसका मध्यम भाग है।

प्राचीन कालमें विष्णुशर्मा नामसे विख्यात एक श्रेष्ठ ब्राह्मण थे। वे वेद-वेदांगके तत्त्वज्ञ और धर्म-कर्ममें तत्पर रहनेवाले थे। विष्णुशर्मा निरन्तर भगवान् विष्णुके भजनमें संलग्न रहते थे। एक दिनकी बात है, वे तीर्थयात्राके प्रसंगसे अयोध्यापुरीमें आये। वहाँ उन्होंने शाक, मूल और फल खाकर तपस्या प्रारम्भ की। सबेरे स्नान करके विधिपूर्वक भगवान् विष्णुकी पूजा करते और इन्द्रियसमुदायको वशमें करके विशुद्ध चित्तसे भगवान् विष्णुमें मन लगाकर प्राणायाम करते हुए ओंकारका जप करते तथा हृदयमें विकसित कमलका चिन्तन करके उसके ऊपर पीताम्बरधारी शंख-चक्र-गदाधर भगवान् विष्णुका ध्यान एवं पुष्प आदिसे मानसिक पूजन करते थे। ब्रह्मरूप श्रीहरिका ध्यान और द्वादशाक्षर मन्त्रका जप करते हुए वे वायु पीकर रहने लगे। इस प्रकार उस ब्राह्मणके तीन वर्ष बीत गये। तदनन्तर विप्रवर विष्णुशर्माने ध्यानपूर्वक भगवान् विष्णुका इस प्रकार स्तवन किया।

**विष्णुशर्मा बोले**—भगवन्! विष्णो! आप प्रसन्न होइये। पुरुषोत्तम! प्रसन्न होइये। देवदेवेश्वर! प्रसन्न होइये। कमलनयन! प्रसन्न होइये। कृष्ण! आपकी जय हो। अचिन्त्य परमेश्वर! आपकी जय हो। विष्णो! आपकी जय हो। अव्यय! आपकी जय हो। नाथ! यज्ञपते! आपकी जय हो। विष्णो! आप सबके पालक और सर्वत्र व्यापक हैं, आपकी जय हो। पापहारी अनन्त! आपकी जय हो। जन्मरूपी ज्वरका निवारण करनेवाले प्रभो! आपकी जय हो। जिनकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ है तथा जो कमलकी माला धारण करते हैं, ऐसे आप श्रीहरिको नमस्कार है, नमस्कार है। सर्वेश! आपको नमस्कार है। कैटभका संहार करनेवाले भूतेश्वर! आपको नमस्कार है। जगत्के मूल कारण जगदीश्वर! आप तीनों लोकोंके रक्षक हैं, आपको नमस्कार है। आप देवताओंके भी अधिदेवता हैं, आपको नमस्कार है। आप जलमें शयन करनेवाले नारायण हैं, आपको नमस्कार है। सबको अपनी ओर आकृष्ट करनेवाले सच्चिदानन्दमय श्रीकृष्णको नमस्कार है। जहाँ योगीजनोंका मन रमण करता है, उन श्रीरामको नमस्कार है। चक्र-सुदर्शनधारी श्रीहरिको नमस्कार है। आप सब लोगोंकी माता हैं, आप ही जगत्के पिता हैं, भयसे व्याकुल प्राणियोंके लिये आप ही सुहृद् और मित्र हैं, आप ही पिता और पितामह हैं, हविष्य, वषट्कार, प्रभु और अग्नि सब कुछ आप ही हैं, आप ही करण, कारण, कर्ता और परमेश्वर हैं। हाथमें शंख-चक्र-गदा धारण करनेवाले माधव! मेरा उद्धार कीजिये। मन्दराचलधारी कच्छप! आप प्रसन्न होइये। मधुसूदन! प्रसन्न होइये। कमलाकान्त! प्रसन्न होइये। भुवनेश्वर! प्रसन्न होइये।

इस प्रकार स्तुति करते हुए महात्मा विष्णुशर्माकी भक्तिसे प्रसन्न हो विश्वात्मा भगवान् विष्णु गरुड़की पीठपर बैठे हुए वहाँ प्रकट हुए। उनके हाथोंमें शंख, चक्र और गदा शोभा पा रहे थे। वे पीताम्बरधारी अविनाशी श्रीहरि प्रसन्न चित्त हो विष्णुशर्मासे इस प्रकार बोले—'वत्स! मैं तुम्हारी बड़ी भारी तपस्यासे इस समय सन्तुष्ट हूँ। इस स्तोत्रसे तुम्हारा पाप नष्ट हो गया है। विप्रवर! कोई वर माँगो।' विष्णुशर्मा बोले—'देवेश! इस समय आपके दर्शनसे मैं कृतार्थ हो गया हूँ। जगदीश्वर! मुझे एकमात्र अपनी अविचल भक्ति प्रदान कीजिये।'

**श्रीभगवान्ने कहा**—तुम्हें मोक्ष देनेवाली मेरी अविचल वैष्णवी भक्ति प्राप्त हो और यहींपर

मुक्तिदायिनी गंगा भी प्रकट होकर अविचल-रूपसे रहें।

यों कहकर देवदेवेश्वर श्रीविष्णुने चक्रसे उस स्थलको खोदकर पातालमण्डलसे गंगाजीका जल प्रकट किया। तबसे वह स्थान चक्रतीर्थके नामसे विख्यात हुआ। वह त्रिभुवनप्रसिद्ध तीर्थ समस्त पापराशिका नाश करनेवाला है। वहाँ स्नान और दान करनेसे मनुष्य विष्णुलोकमें जाता है। तदनन्तर भगवान् विष्णुने विष्णुशर्मासे पुनः कहा—'विप्रवर! यहाँ भक्तोंको मुक्ति देनेवाली मेरी मूर्ति विष्णुहरिके नामसे प्रसिद्ध होकर रहे।' भगवान्‌की यह बात सुनकर बुद्धिमान् ब्राह्मणने भगवान् विष्णुकी उस मूर्तिको स्थापित किया। तबसे शंख, चक्र, गदा और पीताम्बर धारण करनेवाले चतुर्भुज भगवान् विष्णु वहाँ विष्णुहरिके नामसे स्थित हुए। कार्तिक शुक्ल पक्षकी दशमीसे लेकर पूर्णिमातक वहाँकी वार्षिक यात्रा होती है। चक्रतीर्थमें स्नान करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। जो वहाँ पितरोंके उद्देश्यसे पिण्डदान करेगा, उसके पितर तृप्त होकर भगवान् विष्णुके लोकमें जायँगे। समस्त सद्‌गुणोंके सागर ध्येयमूर्ति सच्चिदानन्दमय श्रीहरि इस प्रकार लोगोंको मुक्ति प्रदान करनेके लिये उत्तम स्वरूप धारण करके वहाँ स्थित हुए। जो वहाँ चक्रतीर्थमें स्नान करके अधिक भक्तिभावसे भगवान् विष्णुहरिकी पूजा करता है, वह पुण्यात्मा मनुष्य वैकुण्ठधाममें निवास करता है।

## ब्रह्मकुण्ड, ऋणमोचन तथा पापमोचन आदि तीर्थोंकी महिमा

**सूतजी कहते हैं**—प्राचीन कालमें जगत्स्रष्टा ब्रह्माजीने भगवान् विष्णुको अयोध्यापुरीमें निवास करते देख स्वयं भी वहाँ रहनेका निश्चय किया। उन्होंने वहाँकी यात्रा की और अपने नामसे एक विशाल कुण्ड बनाया, जो अनेक देवताओंसे संयुक्त तथा अगाध जलराशिकी लोल लहरोंसे सुशोभित था। कुमुद, उत्पल, कह्लार और पुण्डरीकसे आच्छादित हुआ वह कुण्ड सब पापोंका नाश करनेवाला है। उस समय ब्रह्माजीने कुण्डके विषयमें इस प्रकार कहा—'इसमें विधिपूर्वक स्नान करनेसे पापी जीव भी विमानपर बैठकर सुन्दर, दिव्य वस्त्रसे सुशोभित हो प्रलयकालपर्यन्त ब्रह्मलोकमें निवास करेंगे। यहाँ यथाशक्ति दान और होम करनेसे मनुष्य तुलादान और अश्वमेध यज्ञका पुण्य प्राप्त कर लेंगे। इस तीर्थमें विधिपूर्वक किया हुआ स्नान, दान और जप आदि कर्म सम्पूर्ण यज्ञोंके समान महापातकोंका नाश करनेवाला होगा। यह कुण्ड ब्रह्मकुण्डके नामसे प्रसिद्ध होगा और इसके समीप मैं सदा निवास करूँगा।'

यों कहकर देवदेव, लोकपितामह ब्रह्माजी उस तीर्थको देखकर देवताओंके साथ अन्तर्धान हो गये। तभीसे वह कुण्ड इस पृथ्वीपर विशेष विख्यात है। वह महाकुण्ड चक्रतीर्थसे पूर्व दिशामें स्थित है। ब्रह्मकुण्डसे पूर्व-उत्तर दिशामें सात सौ धनुषकी दूरीपर सरयूजीके जलमें ऋणमोचन नामक तीर्थ विद्यमान है। वहाँ पूर्वकालमें तीर्थयात्राके प्रसंगसे आये हुए मुनिवर लोमशने विधिपूर्वक स्नान किया था। इससे वे ऋणमुक्त एवं पापशून्य हो गये। तब उन्होंने अपनी दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर हर्षसे आँसू बहाते हुए कहा—'यह ऋणमोचन नामक तीर्थ बहुत उत्तम है। मनुष्यपर इहलोक और परलोकके जो तीन प्रकारके ऋण हैं, वे सब इस तीर्थमें स्नान करनेमात्रसे क्षणभरमें नष्ट हो जाते हैं। इसलिये यहाँ फलकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको श्रद्धापूर्वक विधिके साथ यथाशक्ति स्नान और दान करना चाहिये।' इस प्रकार तीर्थका माहात्म्य बतलाकर मुनिश्रेष्ठ लोमश उसके गुणकी प्रशंसा करते हुए अन्तर्धान हो गये। ऋणमोचन

तीर्थसे पूर्व दिशामें बीस धनुषकी दूरीपर पापमोचन तीर्थ है। यह भी सरयूके जलमें ही है। वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य उसी क्षण सब पापोंसे मुक्त हो शुद्धचित्त हो जाता है। पांचालदेशमें नरहरि नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण था जो दुष्टोंके संगके प्रभावसे पापात्मा हो गया था। उसने ब्रह्महत्या आदि अनेक प्रकारके पाप किये थे। पापियोंके संसर्गमें आकर वह तीनों वेदोंके मार्गकी निन्दा करता था। वह किसी समय साधुओंके साथ तीर्थयात्राके प्रसंगसे अयोध्याजीमें आया। उस महापातकी ब्राह्मणने साधुसंगसे पापमोचन तीर्थमें स्नान किया। फिर तो उसी क्षण उसकी सारी पापराशि नष्ट हो गयी और वह निष्पाप हो दिव्य विमानपर बैठकर विष्णुधाममें चला गया। मनुष्योंको सब पापकी शुद्धिके लिये वहाँ माघकृष्ण चतुर्दशीको विशेषरूपसे स्नान और दान करना चाहिये। अन्य समयमें भी स्नान करनेपर सब पापोंका क्षय हो जाता है।

पापमोचन तीर्थसे पूर्व दिशामें सौ धनुषकी दूरीपर सहस्रधारा नामक उत्तम तीर्थ है जो सब पापोंका नाश करनेवाला है। उसीमें शत्रु-वीरोंका नाश करनेवाले वीरवर लक्ष्मण श्रीरामचन्द्रकी आज्ञासे योगशक्तिद्वारा प्राण त्यागकर अपने शेष नामक स्वरूपको प्राप्त हुए थे। एक धनुषका प्रमाण साढ़े तीन हाथ माना गया है और चार हाथका एक दण्ड बताया गया है। पहलेकी बात है, रघुकुलनायक श्रीरामचन्द्रजी देवताओंका कार्य पूरा करके कालके साथ बैठकर एकान्तमें मन्त्रणा कर रहे थे। उस समय उन्होंने यह प्रतिज्ञा की थी कि परस्पर मन्त्रणा करते समय हम दोनोंको जो कोई समीप आकर देखेगा, वह शीघ्र ही मेरे द्वारा त्याग दिया जायगा। ऐसा निश्चय करके जब वे मन्त्रणा करने लगे तब लक्ष्मणजी राजद्वारपर खड़े हो पहरा देने लगे। उसी समय तेजोनिधि, तपोराशि दुर्वासाजी आ पहुँचे और भूखसे व्याकुल हो लक्ष्मणजीसे प्रेमपूर्वक बोले—'सुमित्रानन्दन! तुम शीघ्र जाओ तथा श्रीरामचन्द्रजीके आगे मेरे आगमनकी सूचना दो। मैं कार्यवश उनसे मिलने आया हूँ। तुम्हें मेरी यह बात टालनी नहीं चाहिये।'

तब लक्ष्मणजी शापसे डरकर शीघ्र ही भीतर गये और श्रीरामचन्द्रजी तथा कालदेव दोनोंके सामने खड़े हो यह निवेदन किया कि 'तपोराशि अत्रिनन्दन दुर्वासा श्रीरघुनाथजीका दर्शन करनेके लिये आये हैं।' श्रीरामचन्द्रजीने कालसे सलाह करके उन्हें विदा किया तथा स्वयं बाहर निकले। बाहर आनेपर उन्होंने मुनिको देखा और प्रणाम करके उन्हें आदरपूर्वक भोजन कराया। उसके बाद उन्हें सम्मानपूर्वक विदा किया तथा सत्य-भंग होनेके भयसे श्रीरघुवीरने लक्ष्मणको त्याग दिया। लक्ष्मणजी भी अपने बड़े भाईकी आज्ञाको सफल बनानेके लिये सरयूके तटपर आये और स्नान करके ध्यानका आश्रय ले सच्चिदानन्दमय परमेश्वरमें अपने शान्त मनको शीघ्र ही लगाकर अविचलभावसे बैठ गये। तदनन्तर सहस्रफणोंसे

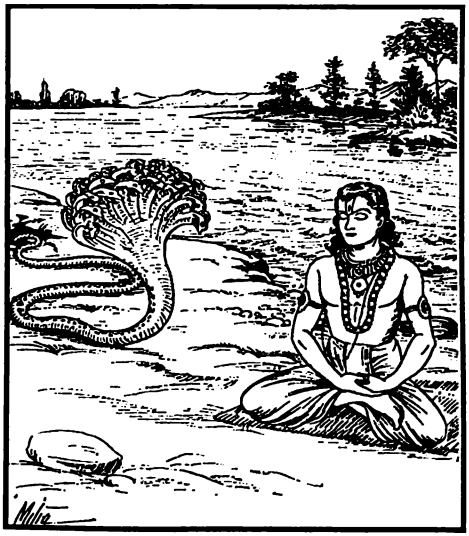

सुशोभित शेषनाग पृथ्वीको सहस्र छिद्रोंमें भेदन करके वहाँ प्रकट हुए। इसी समय देवराज इन्द्र

भी देवताओंको साथ लेकर स्वर्गलोकसे वहाँ आये। शेषनागके फणोंकी सहस्र मणियोंसे वहाँकी पृथ्वी दग्ध हो गयी थी; इसलिये सरयूतटवर्ती यह शुभकारक महातीर्थ सहस्रधाराके नामसे विख्यात हुआ। इस क्षेत्रका प्रमाण पचीस धनुष है; इस तीर्थमें मनुष्य श्रद्धापूर्वक स्नान, दान और श्राद्ध करनेसे सब पापोंसे शुद्ध हो भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है। इसमें स्नान करके अविनाशी भगवान् शेषकी विधिपूर्वक पूजा करनेवाला मनुष्य वैकुण्ठधामको प्राप्त होता है। अतः इस तीर्थमें विधिवत् स्नान करना चाहिये। श्रावणके शुक्ल पक्षमें जो पंचमी तिथि होती है, उसमें यहाँ नागोंके उद्देश्यसे यत्नपूर्वक उत्सव करना चाहिये। उस उत्सवमें पहले शेषनागका पूजन करना उचित है। नागपूजापूर्वक ब्राह्मणको भक्तिपूर्वक सन्तुष्ट किया जाय, तो सभी सर्प प्रसन्न होते हैं और प्रसन्न होनेपर वे मनुष्योंको कभी पीड़ा नहीं देते हैं। जो वैशाख मासमें एकाग्रचित्त होकर यहाँ स्नान करते हैं, उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती। इसलिये मनुष्योंको इस तीर्थमें यत्नपूर्वक वैशाख मासका स्नान, दान, श्रीहरिका पूजन और ब्राह्मणोंका सत्कार करना चाहिये। जो बुद्धिमान् मनुष्य इस तीर्थमें अपनी शक्तिके अनुसार विधिपूर्वक स्नान-दान आदि करता है, वह शुद्धचित्त होकर इस लोकमें प्रचुर सुखोंका उपभोग करता है और भक्तिभावके प्रभावसे अन्तमें शेषशायी भगवान् विष्णुका सायुज्य प्राप्त कर लेता है।

## स्वर्गद्वार तथा चन्द्रहरितीर्थकी महिमा, चन्द्रसहस्रव्रतकी उद्यापनविधि

**सूतजी कहते हैं**—स्वर्गद्वार नामसे प्रसिद्ध तीर्थ सब पापोंको दूर करनेवाला है। स्वर्गद्वारके माहात्म्यका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है, इसलिये संक्षेपसे सुनो। सरयूके जलमें सहस्रधारा तीर्थसे लेकर पूर्व दिशामें छः सौ छत्तीस धनुषतक पुराणके ज्ञाताओंने स्वर्गद्वारका विस्तार बतलाया है। सब तीर्थोंमें स्नान करनेका फल अपनेको प्राप्त हो, ऐसी इच्छा रखनेवाले पुरुषको यहाँ विशेषरूपसे प्रातःकाल स्नान करना चाहिये। स्वर्गद्वारमें जो जप, तप, हवन, दर्शन और ध्यान, अध्ययन एवं दान आदि किया जाता है, वह सब अक्षय होता है। सहस्रों जन्मान्तरोंमें पहले जो पाप संचित किया गया है, वह स्वर्गद्वारमें प्रवेश करनेमात्रसे तत्काल नष्ट हो जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, वर्णसंकर, म्लेच्छ, संकीर्ण पापयोनि, कीड़े, मकोड़े, मृग, पक्षी जो भी स्वर्गद्वारमें कालसे मृत्युको प्राप्त होते हैं, वे सब हाथमें कौमोदकी गदा ले गरुड़ध्वज रथपर आरूढ़ हो सुन्दर कल्याणमय वैकुण्ठधाममें जाते हैं। जो लोग आदरपूर्वक वहाँ मध्याह्नमें स्नान करते हैं तथा जो जितेन्द्रिय पुरुष स्वर्गद्वारमें निराहार व्रत करते हैं अथवा जो एक मासतक उपवास करनेवाले हैं, वे सभी उत्तम स्थानको प्राप्त होते हैं। जो स्वर्गद्वारमें ब्राह्मणोंको अन्नदान, रत्नदान, भूमिदान, गोदान तथा वस्त्रदान करते हैं, वे सब श्रीहरिके धामको जाते हैं। देवाधिदेव भगवान् विष्णु अपने स्वरूपको चार शरीरोंमें व्यक्त करके रघुवंशशिरोमणि श्रीराम होकर अपने तीनों भाइयोंके साथ यहाँ नित्य विहार करते हैं। इसी स्वर्गद्वारमें कैलासनिवासी शिव भी वास करते हैं। मेरु तथा मन्दराचलके समान पापकी बड़ी भारी राशि भी स्वर्गद्वारमें पहुँचते ही नष्ट हो जाती है। ऋषि, देवता, असुर, जप-होमपरायण मनुष्य, संन्यासी और मुमुक्षु पुरुष स्वर्गद्वारका सेवन करते हैं। काशीमें योगयुक्त होकर शरीर त्याग करनेवाले पुरुषोंको

जो गति प्राप्त होती है, वही एकादशीको सरयूमें स्नान करनेमात्रसे मिल जाती है। वे भगवान् विष्णुकी भक्तिको पाकर निश्चय ही परमानन्दको प्राप्त होते हैं।

एक समय शीतरश्मि चन्द्रमा अयोध्यावासी भगवान् विष्णुको नमस्कार करके उत्कण्ठापूर्वक यहाँके तीर्थकी महिमाका साक्षात्कार करनेके लिये आये। यहाँ आकर उन्होंने क्रमशः प्रत्येक तीर्थमें विधिपूर्वक यात्रा की। इससे उन्हें अनेक प्रकारके आश्चर्यका अनुभव हुआ। तत्पश्चात् दुष्कर तपस्याद्वारा भगवान् विष्णुकी आराधना करके उनकी प्रसन्नता प्राप्त की और वहाँ अपने नामके साथ भगवान्का नाम रखकर उनके अर्चाविग्रहको स्थापित किया। इससे वे भगवान् वहाँ चन्द्रहरिके नामसे विख्यात हुए। श्रीवासुदेवके प्रसादसे वह स्थान अद्भुत हो गया। वह श्रीविष्णुका अत्यन्त गूढ़ स्थान है। समस्त प्राणियोंके मोक्षके स्वामी श्रीरघुनाथजीके इस दिव्य स्थानमें सिद्धपुरुष सदा श्रीविष्णुका व्रत धारण किये निवास करते हैं। नाना प्रकारके वेषवाले जितेन्द्रिय मुक्तात्मा पुरुष यहाँ विष्णुलोककी आकांक्षा रखकर नित्य उत्तम योगका अभ्यास करते हैं। यहाँ मनुष्य जिस प्रकार धर्मका फल पाता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं पाता। इसमें किया हुआ दान, व्रत और होम सब अक्षय होता है। मनुष्योंको यहाँ भगवान् चन्द्रहरिके आगे ब्राह्मणकी प्रधानतामें चन्द्रसहस्रव्रतकी उद्यापनविधि करनी चाहिये। दो वर्ष, आठ महीने और सत्रह दिन बीतनेपर दिनके आठवें भागमें एक अधिमास आकर प्राप्त होता है*। तिरासी वर्ष चार महीनेमें एक सहस्रसे अधिक चन्द्रमा (पूर्णमासी तिथिमें) होते हैं। उतने समयतक जो मनुष्य जीवित रहता है, उसको यात्राके प्रसंगसे यहाँ आकर उद्यापन करना चाहिये। चतुर्दशीमें दन्तधावनपूर्वक स्नान करके पवित्र हो, ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए मन, वाणी और शरीरको काबूमें रखे और पूर्णिमा तिथिको भी उसी प्रकार रहते हुए चन्द्रमाकी पूजा करे। पहले गौरी आदि षोडश मातृकाओंकी पूजा करनी चाहिये। उसके बाद भक्तिपूर्वक नान्दीमुख श्राद्ध करके ऋत्विजोंका पूजन करे। मनको पवित्र रखते हुए चन्द्रमण्डलके आकारकी प्रतिमा बनवावे। तदनन्तर शास्त्रोक्त विधानसे चन्द्रमाकी पूजा करे। चन्द्रमाके मन्त्रसे होम करे। प्रतिमा स्थापन करते समय भी सोममन्त्रका उच्चारण करे, सोमकी उत्पत्ति और सोमसूक्तका पाठ करे। मण्डलमें चन्द्रन्यास, कलान्यास और विधिपूर्वक एकादश इन्द्रियोंका न्यास करे। उत्तम अक्षतोंसे चन्द्रबिम्बके समान मण्डल बनावे। उसके बीचमें गायके दूधसे भरे हुए कलशकी स्थापना करे। फिर उस मण्डलमें भिन्न-भिन्न नामोंद्वारा क्रमशः चन्द्रमाकी पूजा करे— **हिमांशवे नमः, सोमचन्द्राय नमः, चन्द्राय नमः, विधवे नमः, कुमुदबन्धवे नमः, सुधांशवे नमः, सोमाय नमः, ओषधीशाय नमः, अब्जाय नमः, मृगाङ्काय नमः, कलानिधये नमः, नक्षत्रनाथाय नमः, शर्वरीपतये नमः, जैवातृकाय नमः, द्विजराजाय नमः, चन्द्रमसे नमः** —इन सोलह नामोंसे क्रमशः चन्द्रमाका स्तवन करे। तदनन्तर पवित्र चित्त हो शंखमें जल, फल, फूल और चन्दन लेकर निम्नांकित मन्त्रसे विधिपूर्वक अर्घ्य दे—

**अर्घ्य-मन्त्र**

**नमस्ते मासमासान्ते जायमान पुनः पुनः।**
**गृहाणार्घ्यं शशाङ्क त्वं रोहिण्या सहितो मम॥**

'प्रत्येक मासके अन्तमें पूर्णरूपेण प्रकट होनेवाले चन्द्रदेव! आपको नमस्कार है, आप रोहिणी देवीके साथ पधारकर मेरा यह अर्घ्य स्वीकार करें।'

इस प्रकार विधिपूर्वक अर्घ्य देकर चन्द्रमाको

* गते वर्षद्वये सार्धे पञ्चपक्षे दिनद्वये। दिवसस्याष्टमे भागे पतत्येकोऽधिमासकः॥ (स्क० पु०, वै० अ० मा० ३।५६)

प्रणाम करे। दूधसे भरे हुए अन्य सोलह कलशोंको वस्त्रसे आच्छादित करके शान्तिके लिये ब्राह्मणोंको दान करना चाहिये। तत्पश्चात् दूधमिश्रित जलसे अभिषेक करे; फिर वैभवके अनुसार दक्षिणा देकर ऋत्विजोंको सन्तुष्ट करे। उसके बाद ब्राह्मणको उसके कुटुम्बसहित भोजन करावे। द्विजदम्पतिकी वस्त्रोंद्वारा विधिपूर्वक पूजा करे। तदनन्तर पर्याप्त दक्षिणा दान करना चाहिये; फिर उपवासकी विधिसे बुद्धिमान् पुरुष शेष दिन व्यतीत करे। दूसरे दिन पुनः भगवान् विष्णुकी पूजा करके भाई-बन्धुओंके साथ भोजन करे और नियमका विसर्जन करे। जो इस प्रकार उत्तम चन्द्रसहस्रव्रतका पालन करता है, वह महापातकी हो, तो भी शुद्धचित्त होकर चन्द्रलोकमें जाता है।

## धर्महरिकी स्थापना और स्वर्णखनि तीर्थ, रघुका सर्वस्व दान तथा कौत्सकी याचनाको सफल करना

चन्द्रहरिके स्थानसे अग्निकोणमें भगवान् धर्महरिके नामसे विराजमान हैं, जो कलिके समस्त पापोंका नाश करनेवाले हैं। प्राचीनकालमें वेद और वेदांगोंके तत्त्वज्ञ तथा अपने वर्णाश्रमोचित कर्ममें तत्पर धर्म नामक ब्राह्मण तीर्थयात्रा करनेकी इच्छासे अयोध्यापुरीमें आये और बड़ी श्रद्धाके साथ यहाँके प्रत्येक तीर्थमें घूमते रहे। अयोध्याका अनुपम माहात्म्य देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने बड़े हर्षके साथ यह उद्गार प्रकट किया, 'अहो! अयोध्याके समान दूसरी कोई पुरी नहीं दिखायी देती। जहाँ साक्षात् भगवान् विष्णु निवास करते हैं, उसकी किससे उपमा हो सकती है। अहो! यहाँके सब तीर्थ भगवान् विष्णुका लोक प्रदान करनेवाले हैं।' ऐसा कहकर ब्राह्मणने आनन्दमग्न होकर बहुत नृत्य किया। अयोध्याका विशेष माहात्म्य देखकर जब धर्म नृत्य कर रहे थे, उस समय पीताम्बरधारी भगवान् विष्णु उनपर कृपा करके प्रकट हुए। धर्मने भगवान्‌को प्रणाम करके आदरपूर्वक उनका स्तवन किया।

**धर्म बोले**—क्षीरसागरमें निवास करनेवाले आपको नमस्कार है। शेषनागकी शय्यापर शयन करनेवाले श्रीहरिको नमस्कार है। भगवान् शंकर जिनके दिव्य चरणारविन्दोंका स्पर्श करते हैं, उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है। जिनके उत्तम चरण भक्तिभावसे पूजित हैं, उन भगवान्‌को नमस्कार है। ब्रह्मा आदिके प्रियतम आप श्रीनारायणको नमस्कार है। शुभ अंग तथा सुन्दर नेत्रोंवाले भगवान् लक्ष्मीपतिको बार-बार नमस्कार है। जिनके चरण कमलके समान सुन्दर हैं, उन भगवान्‌को नमस्कार है। जिनकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ है, उन मधुसूदनको नमस्कार है। क्षीरसागरकी उत्ताल तरंगे जिनके श्रीअंगोंका स्पर्श करती रहती हैं, उन शार्ङ्ग-धनुषधारी भगवान् विष्णुको नमस्कार है। योगनिद्राका आश्रय लेनेवाले भगवान्‌को नमस्कार है। गरुड़की पीठपर बैठनेवाले भगवान् गोविन्ददेवको बार-बार नमस्कार है। जिनके केश, नासिका और ललाट सब सुन्दर हैं, उन भगवान् चक्रपाणिको नमस्कार है। सुन्दर वस्त्र तथा मनोहर श्यामवर्णवाले भगवान् श्रीधरको बार-बार नमस्कार है। सुन्दर भुजाओंवाले आप श्रीहरिको नमस्कार है। मनोहर जंघावाले आपको नमस्कार है। सुन्दर वस्त्र, सुन्दर दिव्य वेष और सुन्दर विद्यावाले आप भगवान् गदाधरको नमस्कार है। शान्तस्वरूप, वामनरूपधारी केशवको बार-बार नमस्कार है। जिन्हें धर्म प्रिय है, उन पीताम्बरधारी आप भगवान् विष्णुको नमस्कार है।

धर्मके द्वारा स्तुति की जानेपर सम्पूर्ण जगत्‌के

स्वामी भगवान् लक्ष्मीपतिने प्रसन्न होकर कहा—'धर्म! मैं तुम्हारे इस स्तोत्रसे बहुत प्रसन्न हूँ। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले धर्मज्ञ धर्म! जो तुम्हारे मनको प्रिय हो, ऐसा कोई वर माँगो। जो मनुष्य इस स्तोत्रद्वारा मेरी स्तुति करेगा, वह सब कामनाओंको प्राप्त कर लेगा।'

**धर्म बोले**—भगवन्! देवदेव जगत्पते! जगद्गुरो! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं, तो मैं यहाँ आपकी स्थापना करूँगा।

'एवमस्तु' कहकर सर्वव्यापक भगवान् विष्णु धर्महरिके नामसे प्रसिद्ध हुए। भगवान् धर्महरिका स्मरण करनेमात्रसे मनुष्य मुक्त हो जाता है। कितनी ही चिन्तासे व्याकुल क्यों न हो, यदि सरयूजीके जलमें स्नान करके मनुष्य भगवान् धर्महरिका दर्शन करता है तो वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है; जहाँ साक्षात् भगवान् विष्णु आदरपूर्वक निवास करते हैं; अतः मनुष्य इसकी महिमाका वर्णन नहीं कर सकता। आषाढ़ मासके शुक्ल पक्षकी एकादशी तिथिमें वहाँकी वार्षिक यात्रा विधिपूर्वक सम्पन्न करनी चाहिये। स्वर्गद्वारमें स्नान करके भगवान् धर्महरिका दर्शन करनेसे मनुष्य सब पापोंसे शुद्ध हो भगवान् विष्णुके धाममें निवास करता है।

धर्महरिसे दक्षिण दिशामें सोनेकी उत्तम खान है, जहाँ कुबेरने राजा रघुके भयसे सोनेकी वर्षा की थी। पूर्वकालमें इक्ष्वाकुवंशकी कीर्ति बढ़ानेवाले राजा रघु अपनी उदार भुजाओंके बलसे सम्पूर्ण भूमण्डलका शासन करते थे। उनके प्रतापसे संतप्त हुए शत्रुवर्गके लोग उनके उत्तम यशका वर्णन करते थे। प्रजाओंका न्यायपूर्वक पालन करनेवाले उस नीतिमान् राजाने अपने यशके प्रवाहसे दसों दिशाओंको उज्ज्वल प्रभासे आलोकित कर रखा था। उन्होंने दिग्विजययात्राके क्रमसे बहुत अधिक धनका संग्रह किया था। घर लौटकर उन्होंने यज्ञके लिये उत्सुक हो अपनी वंश-परम्पराके योग्य कर्म किया और निर्मल बुद्धिका परिचय दिया। वशिष्ठ मुनिसे आज्ञा लेकर राजा रघुने वामदेव, कश्यप तथा अन्य मुनिवरोंको, जो अनेक तीर्थोंमें निवास करते थे, एक विनयशील ब्राह्मणके द्वारा बुलवाया। प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी उन सब मुनियोंके वहाँ उपस्थित होनेका समाचार पाकर शत्रुविजयी महायशस्वी रघु स्वयं ही राजभवनसे बाहर निकले और उन सबके सामने नतमस्तक होकर यज्ञकी सिद्धिके लिये यह धर्मयुक्त वचन बोले—'मुनिवरो! मैं यज्ञ करना चाहता हूँ, इसके लिये आप मुझे आज्ञा प्रदान करें।'

**मुनि बोले**—राजन्! विश्वजित् नामक यज्ञ सब यज्ञोंमें उत्तम है। इस समय उसीका यत्नपूर्वक अनुष्ठान कीजिये।

तब राजाने अनेक प्रकारकी सामग्रियोंसे परम मनोहर प्रतीत होनेवाला वह विश्वदिग्जय (विश्वजित्) नामक यज्ञ किया, जिसमें सर्वस्वकी दक्षिणा दे दी जाती है। नाना प्रकारके दानसे उन्होंने मुनियोंको सन्तोष और हर्ष प्रदान किया और ब्राह्मणोंको अत्यन्त आदरपूर्वक सर्वस्व दान कर दिया। वे सब ब्राह्मण जब राजाद्वारा पूजित होकर अपने-अपने घरोंको चले गये तथा प्रणाम आदिसे सत्कृत हुए मुनि भी अपने आश्रमको पधारे, तब वे सदाचारी राजा रघु विधिपूर्वक किये हुए उस यज्ञसे बड़ी शोभा पाने लगे। इसी समय विश्वामित्र मुनिके शिष्य एवं संयमी पुरुषोंमें श्रेष्ठ कौत्स गुरुकी दक्षिणाके लिये राजाको पवित्र करनेके लिये आये। उनको आया हुआ जान राजा रघु बड़े आदरसे उठे और विधिपूर्वक उनका पूजन किया। राजाने मिट्टीके पात्रोंद्वारा ही कौत्स मुनिका पूजनकार्य सम्पन्न किया। तत्पश्चात् कौत्सने कहा—'राजन्! आपका अभ्युदय हो, इस समय मैं अन्यत्र जाता हूँ। आपने अपना सर्वस्व दक्षिणामें दे डाला है। मैं गुरुजीको देनेके लिये धन माँगनेके लिये आया था, किंतु आपके पास धनका अभाव है; इसलिये आपसे याचना नहीं करता।'

मुनिके ऐसा कहनेपर शत्रुविजयी रघुने क्षणभर

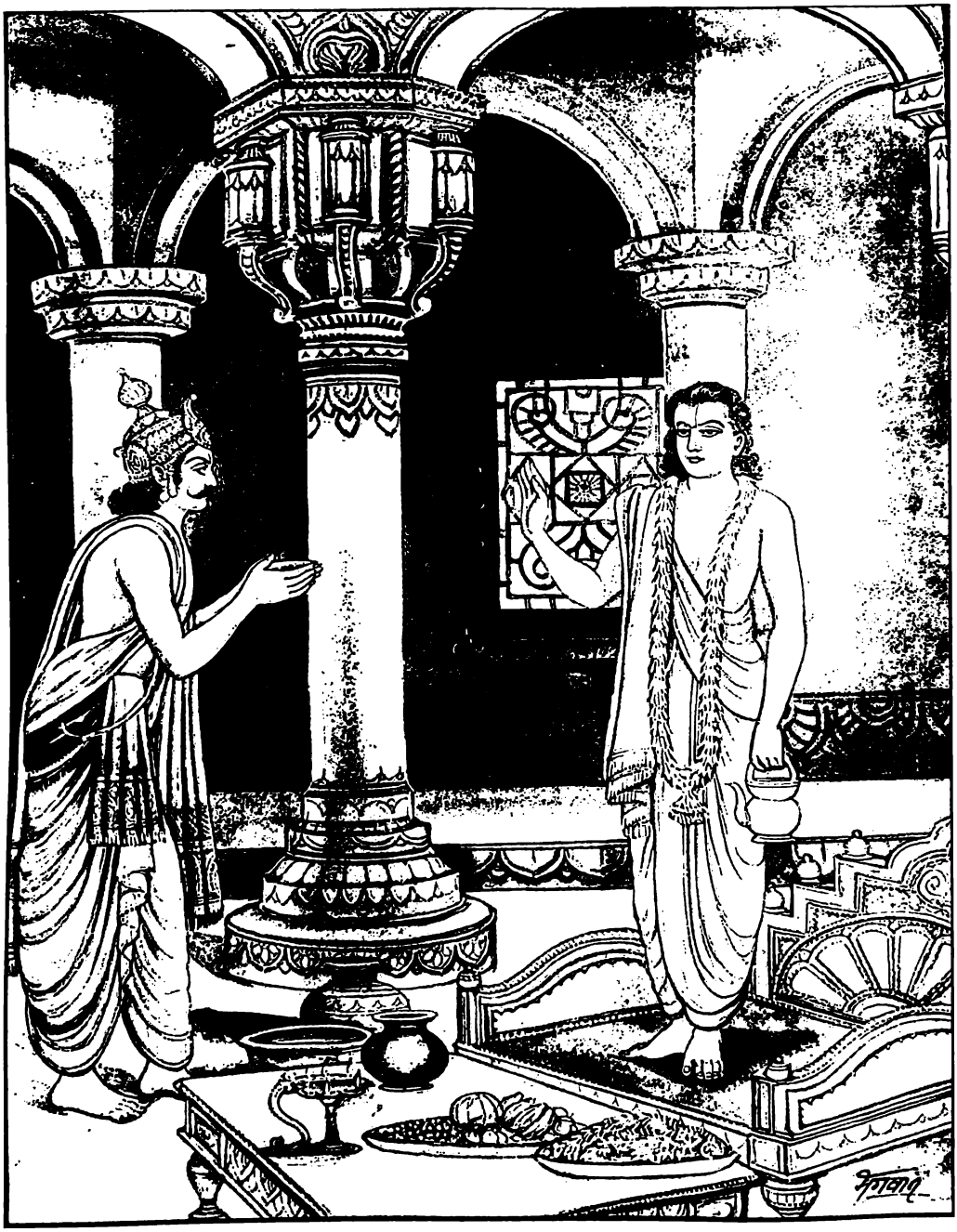

सर्वस्वदानी रघु और ब्राह्मण कौत्स

कुछ विचार किया; फिर विनयसे हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! मेरे महलमें एक दिन ठहरिये। तबतक मैं आपके धनके लिये विशेष प्रयत्न करता हूँ।' उदारबुद्धिवाले राजा रघुने यह परम उदारतापूर्ण वचन कहकर धनाध्यक्ष कुबेरको जीतनेकी इच्छासे प्रस्थान किया। कुबेरजीने उन्हें आते देख सन्देश भेजकर उनके मनको संतुष्ट किया और अयोध्यामें ही सुवर्णकी अक्षय वर्षा की। जहाँ वह वर्षा हुई थी, वहाँ सोनेकी उत्तम खान बन गयी। कुबेरकी दी हुई वह सोनेकी खान राजाने मुनिको दिखलायी और उन्हें समर्पित कर दी। मुनीश्वर कौत्सने भी गुरुके लिये जितना आवश्यक था, उतना धन आदरपूर्वक ले लिया और शेष सारा धन राजाको ही निवेदन किया और कहा—'राजन्! तुम्हें अपने कुलके गुणोंसे सम्पन्न सत्पुत्रकी प्राप्ति हो और यह जो सुवर्णकी खान है, वह मनोवांछित फल देनेवाली हो। यहाँ सब पापोंका अपहरण करनेवाला उत्तम तीर्थ हो जाय। वैशाख मासके शुक्ल पक्षकी द्वादशी तिथिको यहाँकी वार्षिक यात्रा हो और उसमें मेरे कथनानुसार लोगोंको अनेक प्रकारके अभीष्ट फलकी प्राप्ति हो।'

इस प्रकार राजाको वर देकर संतुष्ट चित्तवाले कौत्स मुनि अपना कार्य सिद्ध करनेके लिये उत्कण्ठापूर्वक गुरुके आश्रमपर चले गये।

## सम्भेदतीर्थ, सीताकुण्ड, गुप्तहरि और चक्रहरि तीर्थकी महिमा

**सूतजी कहते हैं**—स्वर्णखनिसे दक्षिण दिशामें सिद्धसेवित 'सम्भेद' तीर्थ है, जो तिलोदकी और सरयूके संगमसे विख्यात हुआ है। महाभाग! उसमें स्नान करके मनुष्य पापरहित होते हैं। दस अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करनेसे जो फल होता है, वही धर्मात्मा पुरुष नियमपूर्वक उसमें स्नान करके प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य वहाँ वेदोंके पारगामी विद्वान् ब्राह्मणको सुवर्ण आदि देता है, वह उत्तम गतिको पाता है। भादोंके कृष्ण पक्षकी अमावास्याको वहाँकी यात्रा होती है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने दूसरे समुद्रकी भाँति उस नदीका निर्माण किया था। उसमें तिलकी तरह काले रंगका जल सदा शोभा पाता था। इसलिये वह पुण्यसलिला नदी 'तिलोदकी' नामसे विख्यात हुई। पवित्र व्रत धारण करनेवाला मनुष्य संगमसे अन्यत्र भी यदि तिलोदकीमें स्नान करे तो वह सात जन्मके पापोंसे मुक्त हो जाता है। धर्मकी अभिलाषा रखनेवाले मनुष्योंको यत्नपूर्वक वहाँ स्नान करना चाहिये। वहाँ किये हुए स्नान, दान, व्रत, होम सभी अक्षय होते हैं। उस संगमसे पश्चिम दिशामें तटपर 'सीताकुण्ड' नामसे विख्यात एक तीर्थ है, जो समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाला है। उसमें स्नान करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। सीताजीने स्वयं ही उस कुण्डका निर्माण किया है तथा श्रीरामचन्द्रजीने वरदान देकर उसे महान् फलोंकी निधि बना दिया है।

**श्रीराम बोले**—सौभाग्यवती सीते! इस तीर्थमें विधिपूर्वक किया हुआ स्नान, दान, जप, होम अथवा तप सब अक्षय हो। मार्गशीर्ष कृष्णा चतुर्दशीको यहाँ स्नानका विशेष पर्व होगा। उस समय इसमें स्नान करनेवाले मनुष्योंके समस्त पापोंका नाश होगा।

प्रजाप्रेमी श्रीरामचन्द्रजीने सीताजीको इस प्रकार वरदान दिया था। तभीसे यह तीर्थ पृथ्वीपर प्रसिद्ध है। सीताकुण्ड मनुष्योंके लिये बड़ा अद्भुत तीर्थ है। उस तीर्थमें स्नान करके मनुष्य निश्चय ही भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको प्राप्त कर लेता है। उसमें स्नान, दान और तपस्या करके चन्दन, माला, धूप, दीप तथा अनेक भाँतिके वैभवविस्तारसे श्रीराम और सीताजीकी पूजा करके मनुष्य मुक्त हो जाता है। मार्गशीर्ष मासमें यहाँ स्नान करना चाहिये। इससे फिर गर्भमें नहीं आना पड़ता। अन्य समयमें भी यहाँ स्नान करके मनुष्य भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है। भगवान् विष्णुहरिके पश्चिम दिशामें चक्रहरि नामसे प्रसिद्ध श्रीविष्णु निवास करते हैं, जो समस्त मनोवांछित फलोंको देनेवाले हैं। बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ विद्वान् पुरुष भी चक्रहरिकी महिमाका वर्णन नहीं कर सकते। वहाँसे पश्चिम हरिस्मृति नामसे प्रसिद्ध भगवान् विष्णुका परम पवित्र मन्दिर है, जो पारमार्थिक फल देनेवाला है। उसके दर्शनमात्रसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। चक्रहरि और हरिस्मृति इन दोनोंके दर्शनसे मनुष्य इस पृथ्वीपर जितने पाप करते हैं, उन सबका नाश हो जाता है।

पूर्वकालकी बात है, देवताओं और असुरोंमें बड़ा भयंकर संग्राम हुआ। वरदानके मदसे उन्मत्त हुए दैत्योंने उस युद्धमें देवताओंको परास्त कर दिया। देवता भागने लगे। तब भगवान् शंकरने उनका अगुआ बनकर उन्हें रोका और ब्रह्माजीको आगे करके सब लोग क्षीरसागरपर गये। वहाँ भगवान् विष्णु क्षीरसमुद्रमें शेषनागकी शय्यापर शयन कर रहे थे। भगवती लक्ष्मी उनके पास बैठकर अपने हाथसे उनके चरणारविन्दोंकी सेवा करती थीं। नारद आदि श्रेष्ठ मुनि भगवान्के गुण-गौरवका उच्चस्वरसे गान कर रहे थे। गरुड़जी सामने खड़े होकर निरन्तर हाथ जोड़े उनकी स्तुति करते थे। क्षीरसागरके जलसे उठती हुई तरंगोंके कारण भगवान्के पीताम्बरमें जलके कुछ छींटे पड़े हुए थे। नक्षत्रसमुदायके समान प्रकाशमान उज्ज्वल हार भगवान्के वक्षःस्थलकी शोभा बढ़ा रहे थे। उनके कटिप्रदेशमें पीताम्बर शोभायमान था। मुखपर मुसकानकी छटा छा रही थी। भगवान् एक अद्भुत भावसे भावित थे। कानोंमें मोती जड़े हुए दिव्य एवं स्थूल कुण्डल पहने हुए थे। श्वेतद्वीपकी स्वच्छ रत्नमयी लता-सी भगवान्ने धारण कर रखी थी। मस्तकपर किरीट और हाथोंमें पद्मरागमणिके वलय सुशोभित थे। भगवान् शंकरने विनीतभावसे सम्पूर्ण देवताओंके साथ उस समय भगवान्की शरण ली और एकाग्रचित्त होकर स्तवन किया।

**भगवान् शिव बोले**—जो संसारसमुद्रसे तारने और गरुड़जीको सुख देनेवाले हैं, घनीभूत मोहान्धकारका निवारण करनेके लिये चन्द्रस्वरूप हैं, उन भगवान् श्रीहरिको नमस्कार है। जहाँ ज्ञानमयी मणिकी प्रज्वलित शिखा प्रकाशित होती है तथा जो चित्तमें भगवत्संगरूपी सुधाकी वर्षा करनेवाली चन्द्रिकाके तुल्य है, मानसके उद्यानमें जो प्रवाहित होती है, उस भगवद्भक्तिरूपी मन्दाकिनीकी मैं शरण लेता हूँ। वह लीलापूर्वक उत्साहशक्तिको जाग्रत् करनेवाली तथा सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त है। सात्त्विक भावोंकी पूर्वकोटि है। उसे ही वैष्णवी शक्ति कहते हैं। हवासे हिलते हुए कमलदलके पर्वके भीतर रहनेवाले पतनशील जन्तुओंकी भाँति पतनके गर्तमें गिरनेवाले प्राणियोंको स्थिरता देनेवाली एकमात्र श्रीहरिकी

स्मृति ही है। हृदयकमलकी कलिकाको विकसित करनेवाली ज्ञानरूपी किरणमालाओंसे मण्डित सूर्यस्वरूप आप भगवान्‌को नमस्कार है। योगियोंकी एकमात्र गति आप संयमशील श्रीहरिको नमस्कार है। तेज और अन्धकार दोनोंसे परे विराजमान आप परमेश्वरको नमस्कार है। आप यज्ञस्वरूप, हविष्यके उपभोक्ता तथा ऋक्, यजु एवं सामवेदस्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। भगवती सरस्वतीके द्वारा गाये जानेवाले दिव्य सद्‌गुणोंसे विभूषित आप भगवान् विष्णुको नमस्कार है। आप शान्तस्वरूप, धर्मके निधि, क्षेत्रज्ञ एवं अमृतात्मा हैं, आपको नमस्कार है। आप साधकके योगकी प्रतिष्ठा तथा जीवके एकमात्र हेतु हैं, आपको नमस्कार है। आप घोरस्वरूप, मायाकी विधि तथा सहस्रों मस्तकवाले हैं, आपको नमस्कार है। आप योगनिद्रास्वरूप होकर शयन करते और अपने नाभिकमलसे उत्पन्न संसारकी सृष्टि रचते हैं, आपको नमस्कार है। आप जलस्वरूप एवं संसारकी स्थितिके कारण हैं, आपको नमस्कार है। आपके कार्योंद्वारा आपकी शक्तिका अनुमान होता है। आप महाबली, सबके जीवन और परमात्मा हैं, आपको नमस्कार है। समस्त भूतोंके रक्षक और प्राण आप ही हैं, आप ही विश्व तथा उसके स्रष्टा ब्रह्मा हैं, आपको नमस्कार है। आप नृसिंहशरीर धारण करके दर्पयुक्त हो दैत्यका संहार करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। आप ही सबके पराक्रम हैं। आपका हृदय अनन्त है। आप सम्पूर्ण संसारके भावको ग्रहण करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। आप संसारके कारणभूत अज्ञानरूपी घोर अन्धकारका नाश करनेवाले हैं। आपका धाम अचिन्त्य है, आपको नमस्कार है। आप गूढ़रूपसे स्थित तथा अत्यन्त उद्वेगकारक रुद्र हैं, आपको नमस्कार है। आप शान्त हैं, जहाँ समस्त ऊर्मियाँ शान्त हो जाती हैं ऐसे कैवल्यपदको देनेवाले हैं। सम्पूर्ण भावपदार्थोंसे परे तथा सर्वमय हैं, आपको नमस्कार है। जो नील कमलके समान श्याम हैं और चमकते हुए केसरके समान सुशोभित कौस्तुभमणि धारण करते हैं तथा नेत्रोंके लिये रसायनरूप हैं, ऐसे आप भगवान् विष्णुको मैं प्रणाम करता हूँ।

इस प्रकार स्तुति करनेपर प्रसन्नचित्त, वरदायक भगवान् गरुड़ध्वजने कृपायुक्त हो सम्पूर्ण देवताओंपर अपनी सुधावर्षिणी दृष्टिसे अमृतकी वर्षा की और विनीत देवताओंसे यह मधुर वचन कहा—'देवताओ! मैं ध्यानसे तुम्हारा सारा अभिप्राय जान गया हूँ। मैं इस समय अयोध्या नगरमें जाकर तुम्हारे तेजकी वृद्धि और दैत्योंके उपद्रवकी शान्तिके लिये गुप्त रहकर उत्तम तपका अनुष्ठान करूँगा। तुमलोग भी शुद्धचित्त हो अयोध्यामें जाकर दैत्योंके विनाशके लिये तीव्र तपस्या करो।'

ऐसा कहकर भगवान् गरुड़वाहन अन्तर्धान हो गये। उन्होंने अयोध्यामें आकर गुप्त रहकर देवताओंके तेजकी वृद्धिके लिये शीघ्र उत्तम तपस्या प्रारम्भ की। इसलिये वे गुप्तहरिके नामसे प्रसिद्ध हुए। यहाँ पहले आये हुए भगवान् विष्णुके हाथसे सुदर्शन-चक्र छूटकर गिरा था, अतः चक्रहरिके नामसे भगवान्‌की प्रसिद्धि हुई। उन दोनोंके दर्शनमात्रसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। भगवान् श्रीहरिके प्रभावसे देवता प्रबल तेजस्वी हो गये। उन्होंने युद्धमें दैत्योंको परास्त करके अपना स्थान प्राप्त कर लिया और परम आनन्दयुक्त हो वे अतिशय शोभा पाने लगे। तत्पश्चात् बृहस्पति आदि सब देवताओंने भगवान्‌को प्रणाम किया और उनके दर्शनके लिये उत्कण्ठित हो सब-के-सब अयोध्यामें आये। वहाँ पुनः प्रणाम करके हाथ जोड़कर एकाग्रचित्तसे श्रीहरिका ध्यान करते हुए उन्हींमें तन्मय हो गये। तब भगवान् विष्णुने उनसे कहा—'देवताओ! मैं इस समय तुम्हारी कौन-सी इच्छा पूर्ण करूँ।'

**देवता बोले**—जगत्पते! इस समय आपके द्वारा हमारा सब कार्य सिद्ध हो गया तथापि हमारी रक्षाके लिये आपको सदैव यहीं रहना चाहिये।

**श्रीभगवान् बोले**—देवताओ! यह कथा संसारमें प्रसिद्धिको प्राप्त होगी। समस्त प्राणियोंमें श्रेष्ठ जो पुरुष यहाँ उत्तम भक्तिसे पूजा, यज्ञ और जप आदिका अनुष्ठान करता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है। जो जितेन्द्रिय मानव अपनी शक्तिके अनुसार यहाँ दान करता है, वह अनुपम स्वर्गलोकको पाकर फिर कभी शोक नहीं करता। यहाँ मेरी प्रसन्नताके लिये शुद्धचित्तसे गोदान करना चाहिये। जो मेरी भक्तिमें तत्पर होकर यहाँ आत्मशुद्धिके लिये स्नान करते हैं, उनकी मुक्ति उनके हाथमें ही है। भगवान् चक्रहरिके स्थानपर मेरी प्रीतिके लिये प्रयत्नपूर्वक उत्तम दान और जप-होमादि करना चाहिये। श्रेष्ठ देवताओ! तुम भी यहाँ विधानसे यात्रा करो। इस गुप्तहरिके स्थानके निकट ही शुभ संगम है, जहाँ गोप्रतारघाटसे तीन योजन पश्चिम घाघरा नदीसे सरयूका संगम हुआ है। वहाँ विधिपूर्वक स्नान करके समस्त मनोरथोंकी सिद्धि करनेवाले भगवान् गुप्तहरिका दर्शन करना चाहिये।

ऐसा कहकर पीताम्बरधारी भगवान् विष्णु वहीं अन्तर्धान हो गये। देवता भी विधिपूर्वक यात्रा करके यत्नपूर्वक अयोध्यामें रहने लगे। तबसे यह स्थान पृथ्वीमें विख्यात हो गया। कार्तिककी पूर्णिमाको विशेषरूपसे यहाँकी वार्षिक यात्रा होती है। वहाँ संगमस्नान करके भगवान् गुप्तहरिका दर्शन किया जाता है। तत्पश्चात् सरयू और घाघराके मिले हुए जलके तटपर गोप्रतारतीर्थमें स्नान करके सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाले भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये। मार्गशीर्ष शुक्ला द्वादशीको चक्रहरिकी यात्रा करनी चाहिये। जो इस प्रकार यात्रा करता है, वह भगवान् विष्णुके लोकमें आनन्दका अनुभव करता है।

## गोप्रतारतीर्थकी महिमा और श्रीरामके परमधामगमनकी कथा

सरयू और घाघराके संगममें दस कोटिसहस्र तथा दस कोटिशत तीर्थ हैं। उस संगमके जलमें स्नान करके एकाग्रचित्त हो देवताओं और पितरोंका तर्पण करे तथा अपनी शक्तिके अनुसार दान दे। फिर वैष्णवमन्त्रसे हवन करके पवित्र होवे। अमावास्या, पूर्णिमा, दोनों द्वादशी तिथि, अयन और व्यतीपातयोग आनेपर संगममें किया हुआ स्नान विष्णुलोक प्रदान करनेवाला है। विष्णुभक्त पुरुष भगवान् विष्णुकी पूजा करके उन्हींकी लीला-कथाका श्रवण करते हुए विष्णुप्रीतिकारक गीत, वाद्य, नृत्य तथा पुण्यमयी कथा-वार्ताके द्वारा रात्रिमें जागरण करे। तत्पश्चात् प्रातःकाल विधिपूर्वक श्रद्धासे स्नान करके भगवान् विष्णुका पूजन करे और ब्राह्मणोंको यथाशक्ति सुवर्ण आदि दान करे। जो संगमपर श्रद्धापूर्वक सुवर्ण, अन्न और वस्त्र देता है, वह उत्तम गतिको प्राप्त होता है। संगममें स्नान करनेवाला मनुष्य सात पीढ़ी पूर्वकी तथा सात पीढ़ी भावी सन्तति इन सबको तार देता है। संगमके समीप ही एक दूसरा गोप्रतार नामक तीर्थ है। वह भी बड़े-बड़े पातकोंका नाश करनेवाला है। उसमें स्नान और दान करनेसे मनुष्य कभी शोकके वशीभूत नहीं होता है। जैसे काशीमें मणिकर्णिका, उज्जयिनीमें महाकाल-मन्दिर तथा नैमिषारण्यमें चक्रवापीतीर्थ सबसे श्रेष्ठ है, उसी प्रकार अयोध्यामें गोप्रतार-तीर्थका महत्त्व सबसे अधिक है, जहाँ भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे समस्त साकेतनिवासियोंको उनके दिव्य धामकी प्राप्ति हुई थी।

पूर्वकालमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने आलस्यहीन हो देवताओंका कार्य पूरा करके अपने भाइयोंके साथ परम धाममें जानेका विचार किया। गुप्तचरोंके मुँहसे यह समाचार सुनकर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वानर, भालु, गोपुच्छ एवं राक्षस झुंड-के-झुंड वहाँ आये। वानरगण देवताओं, गन्धर्वों तथा ऋषियोंके पुत्र थे। वे सब-के-सब श्रीरामचन्द्रजीके अन्तर्धान होनेका समाचार पाकर वहाँ आ पहुँचे। श्रीरामचन्द्रजीके समीप आकर सब वानर यूथपतियोंने कहा—'राजन्! हम सब लोग आपके साथ चलनेके लिये आये हैं। पुरुषोत्तम! यदि आप हमें छोड़कर चले जायँगे तो हम सब लोग महान् दण्डसे मारे गये प्राणियोंकी-सी अवस्थामें पहुँच जायँगे।' उन वानर, भालु और राक्षसोंकी बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने उसी क्षण विभीषणसे कहा—'विभीषण! जबतक भूतलपर प्रजा रहे, तबतक तुम भी यहीं रहकर लंकाके महान् साम्राज्यका पालन करो। मेरा वचन अन्यथा न करो।' विभीषणसे ऐसा कहकर भगवान् श्रीरामचन्द्र हनुमान्‌जीसे बोले—'वायुनन्दन! तुम चिरजीवी रहो। कपिश्रेष्ठ! जबतक लोग मेरी कथा कहें, तबतक तुम प्राणोंको धारण करो। मयंद और द्विविद—ये दोनों अमृतभोजी वानर हैं। ये दोनों तबतक इस पृथ्वीपर जीवित रहें, जबतक कि सम्पूर्ण लोकोंकी सत्ता बनी रहे। ये सभी वानर यहाँ रहकर मेरे पुत्र-पौत्रोंकी रक्षा करते रहें।'

ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजीने शेष वानरोंसे कहा—'तुम सब लोग मेरे साथ चलो।' तदनन्तर रात बीतनेपर जब प्रातःकाल हुआ, तब विशालवक्ष और कमलदलके समान नेत्रोंवाले महाबाहु श्रीराम अपने पुरोहित वशिष्ठजीसे बोले—'भगवन्! प्रज्वलित अग्निहोत्रकी अग्नि आगे चले। वाजपेय यज्ञ और अतिरात्र यज्ञकी अग्नि भी आगे-आगे ले जायी जाय।' तब महातेजस्वी वशिष्ठजीने अपने मनमें सब बातोंका निश्चय करके विधिपूर्वक महाप्रस्थान-कालोचित कर्म किया। तदनन्तर ब्रह्मचर्यपूर्वक रेशमी वस्त्र धारण किये भगवान् श्रीराम दोनों हाथोंमें कुश लेकर महाप्रस्थानको उद्यत हुए। वे नगरसे बाहर निकलकर शुभ या अशुभ कोई वचन नहीं बोले। भगवान् श्रीरामके वामपार्श्वमें हाथमें कमल लिये लक्ष्मीजी खड़ी हुईं और दाहिने पार्श्वमें विशाल नेत्रोंवाली लज्जा देवी उपस्थित हुईं। आगे मूर्तिमान् व्यवसाय (उद्योग एवं दृढ़निश्चय) विद्यमान था। धनुष, प्रत्यंचा और बाण आदि नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र पुरुषशरीर धारण करके भगवान्‌के पीछे-पीछे चले। ब्राह्मणरूपधारी वेद वामभागमें और गायत्री दक्षिण भागमें स्थित हुई। ॐकार, वषट्कार सभी श्रीरामचन्द्रजीके साथ चले। ऋषि, महात्मा और पर्वत सभी स्वर्गद्वारपर उपस्थित भगवान् श्रीरामके पीछे-पीछे चले। अन्तःपुरकी स्त्रियाँ वृद्ध, बालक, दासी और द्वाररक्षक सबको साथ लेकर श्रीरामचन्द्रजीके साथ प्रस्थित हुईं। रनिवासकी स्त्रियोंको साथ ले शत्रुघ्नसहित भरत भी चले। रघुकुलसे अनुराग रखनेवाले महात्मा ब्राह्मण भी स्त्री, पुत्र और अग्निहोत्रसहित जाते हुए श्रीरामचन्द्रजीके पीछे-पीछे चले। मन्त्री भी सेवक, पुत्र, बन्धु-बान्धव तथा अनुगामियोंसहित श्रीरामचन्द्रजीके पीछे गये। भगवान्‌के गुणोंसे सतत प्रसन्न रहनेवाली अयोध्याकी सारी प्रजा हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे घिरी हुई श्रीरामचन्द्रजीका अनुगमन करनेके लिये घरसे चल दी। उस समय वहाँ कोई दीन, भयभीत अथवा दुःखी नहीं था, सभी हर्ष और आनन्दमें मग्न थे। अयोध्यामें उस समय कोई अत्यन्त सूक्ष्म प्राणी भी ऐसा नहीं था जो स्वर्गद्वारके समीप खड़े हुए श्रीरामचन्द्रजीके पीछे न गया हो। वहाँसे

आधा योजन दक्षिण जाकर भगवान् पश्चिमकी ओर मुख करके चलने लगे। आगे जाकर रघुनाथजीने पुण्यसलिला सरयूका दर्शन किया। उस समय सब देवताओं तथा महात्मा ऋषियोंसे घिरे हुए लोकपितामह ब्रह्माजी श्रीरामचन्द्रजीके समीप आये। उनके साथ सौ कोटि दिव्य विमान भी थे। वे उस समय आकाशको सब ओरसे तेजोमय एवं प्रकाशित कर रहे थे। वहाँ परम पवित्र सुगन्धित एवं सुखदायिनी वायु चलने लगी। श्रीरामचन्द्रजीने अपने चरणोंसे सरयूजीके जलका स्पर्श किया।

**तदनन्तर ब्रह्माजी देवताओंके साथ श्रीरामचन्द्रजीकी स्तुति करने लगे**—देव! आप समस्त लोकोंके पति हैं, आपके स्वरूपको कोई नहीं जानता। विशाललोचन! आप अचिन्त्य एवं अविनाशी ब्रह्मरूप हैं। महावीर्य! आप अपने जिस दिव्य स्वरूपको ग्रहण करना चाहें ग्रहण करें। ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर भगवान् श्रीरामने अपने भाइयोंसहित दिव्य वैष्णवतेजमें सशरीर प्रवेश किया। तत्पश्चात् सुरश्रेष्ठ भगवान् विष्णुका सब देवताओंने पूजन किया। देवताओंका मनोरथ पूर्ण हुआ था; इसलिये वे सब बहुत प्रसन्न थे। उस समय महातेजस्वी भगवान् विष्णुने पितामह ब्रह्मासे कहा—'सुव्रत! इस जनसमुदायको तुम्हें उत्तम लोक देना चाहिये।' भगवान्‌का यह आदेश पाकर सर्वलोकेश्वर ब्रह्माने कहा—'वे समस्त मानव सान्तानिक लोकमें निवास करेंगे। स्वर्गद्वार तीर्थमें श्रीरामचन्द्रजीका चिन्तन करते हुए जो प्राणत्याग करता है वह परम उत्तम सान्तानिक लोकको प्राप्त होता है। सान्तानिक लोक मेरे लोकसे भी ऊपर है। वानर आदिमेंसे जो जिस देवताके अंश थे, वे उसीमें मिलेंगे। सूर्यपुत्र सुग्रीव सूर्यमण्डलमें चले जायँगे। ऋषि, नाग और यक्ष सभी अपने-अपने कारणको प्राप्त होंगे।'

देवेश्वर ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर गोप्रतारतीर्थमें उपस्थित जल सरयूको प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् वहाँ सरयूजल परिपूर्ण हो गया। फिर तो सबने जलमें डुबकी लगायी और हर्षपूर्वक प्राणत्याग करके मनुष्य-शरीरको त्याग दिया तथा विमानोंपर बैठकर दिव्यलोकको प्रस्थान किया। पशु-पक्षी आदिकी योनिमें जो जीव थे, वे भी सरयूमें प्रवेश करके शरीर त्यागकर दिव्यरूपधारी हो गये। इसी प्रकार अन्य चराचर प्राणी भी उत्तम शरीर पाकर देवलोक (सान्तानिक)-में गये। भगवान् श्रीराम देवताओंके साथ परमधामको गये। अतः सबको तारनेवाला वह तीर्थ 'गोप्रतार' के नामसे प्रसिद्ध हुआ। गोप्रतारतीर्थमें उत्तम मोक्ष प्राप्त होता है। गोप्रतारतीर्थमें निःसन्देह भगवान् विष्णु स्थित हैं। उसमें जो स्नान करता है, वह निश्चय ही योगियोंके लिये भी दुर्लभ परम धामको प्राप्त होता है। जितेन्द्रिय मनुष्योंको वहाँ विशेषरूपसे कार्तिककी पूर्णिमामें स्नान करना चाहिये। नियमपूर्वक व्रत पालन करनेवाले श्रद्धालु पुरुषोंको भगवान् विष्णुके उद्देश्यसे वहाँ स्नानपूर्वक ब्राह्मणोंका विशेषरूपसे पूजन करना चाहिये तथा श्रीहरिकी प्राप्तिके लिये बड़ी भक्तिके साथ नाना प्रकारके अन्न, सुवर्ण और भाँति-भाँतिके वस्त्र दान करना चाहिये। इस प्रकार पुण्यात्मा पुरुष उत्तम विधिसे गोप्रतारतीर्थमें यत्नपूर्वक स्नान करके आदरपूर्वक भगवान् विष्णुकी पूजा करनेपर समस्त पाप-तापसे रहित हो उन्हींके सायुज्यको प्राप्त होता है।

# क्षीरोदकतीर्थ, बृहस्पतिकुण्ड, रुक्मिणी आदि कुण्डोंका माहात्म्य

**सूतजी कहते हैं**—सीताकुण्डसे वायव्य कोणमें क्षीरोदक नामक तीर्थ है, जो सब दुःखोंका नाश करनेवाला है। पूर्वकालमें राजा दशरथने वहीं पुत्रके लिये पुत्रेष्टि नामक यज्ञ किया था। यज्ञके अन्तमें वहाँ भगवान् अग्निदेव अपने हाथमें हविष्यसे भरा हुआ सोनेका पात्र लिये दृष्टिगोचर हुए थे। उस हविष्यमें परम उत्तम विष्णुतेज व्याप्त था। राजाने उसके चार भाग करके अपनी पत्नियोंको बाँट दिया। जहाँ उस क्षीर (खीर या हविष्य)-की प्राप्ति हुई, वहीं क्षीरोदक नामवाला तीर्थ प्रसिद्ध हुआ। जितेन्द्रिय पुरुष उस तीर्थमें आदरपूर्वक स्नान करके सम्पूर्ण भोगों और बहुज्ञ पुत्रोंको प्राप्त करता है। आश्विन शुक्ला एकादशीको व्रतका पालन करनेवाला पुरुष वहाँ विधिपूर्वक स्नान करके ब्राह्मणको यथाशक्ति दान दे। इससे वह सम्पूर्ण मनोरथोंको प्राप्त कर लेता है। उस क्षीरोदक स्थानसे नैर्ऋत्यकोणमें बृहस्पतिका कुण्ड प्रसिद्ध है। वह सब पापोंका नाशक तथा पवित्र जलकी तरंगोंसे सुशोभित है, जहाँ साक्षात् बृहस्पतिजीने निवास किया है। वह तीर्थ सघन पत्तोंकी छायासे सुशोभित एवं नाना प्रकारके फल देनेवाला है। पापियोंके लिये वह दुर्लभ है। भादोंके शुक्ल पक्षकी पंचमी तिथिमें वहाँकी यात्रा फलदायिनी होती है। अन्य समयमें भी बृहस्पतिके दिन उसमें किया हुआ स्नान बहुत फलदायक है। जो मनुष्य वहाँ भगवान् विष्णु तथा बृहस्पतिका पूजन करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो वैकुण्ठधाममें आनन्दका अनुभव करता है।

उसके दक्षिण भागमें परम उत्तम रुक्मिणीकुण्ड है, जिसे श्रीकृष्णकी प्रियतमा महारानी रुक्मिणी देवीने स्वयं निर्माण कराया था। उस समय भगवान् विष्णुने स्वयं ही उस कुण्डके जलमें निवास किया। पत्नीके स्नेहसे वर देकर भगवान्ने उस कुण्डके महत्त्वको और बढ़ा दिया है। मनुष्यको चाहिये कि वह मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर वहाँ स्नान, दान, वैष्णवमन्त्रसे होम, ब्राह्मणपूजन तथा भगवान् विष्णुका अर्चन करे। कार्तिक कृष्णा नवमीको वहाँकी वार्षिक यात्रा करनी चाहिये। इससे सब पापोंका नाश होता है। यात्रा करनेवाला मनुष्य रुक्मिणी और श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये अपनी शक्तिके अनुसार दान दे। वहाँ शंख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण करनेवाले भगवान् लक्ष्मीपतिका इस प्रकार ध्यान करना चाहिये—भगवान्के श्रीअंगोंमें पीताम्बर शोभा पा रहा है। वे वनमाला पहने हुए हैं और नारद आदि ऋषि उनकी स्तुति करते हैं। मस्तकपर मुकुट शोभा पा रहा है तथा वे इन्द्रनीलमणि आदि दिव्य रत्नोंके आभूषणोंसे विभूषित हैं। वक्षःस्थलमें कौस्तुभमणि प्रकाशित हो रही है, जो समस्त कामनाओं एवं फलकी प्राप्ति करानेवाली है। भगवान्की अंगकान्ति अलसीके फूलकी भाँति श्याम है। उनके नेत्र कमलदलके समान परम सुन्दर हैं। इस प्रकार ध्यान करनेपर मनुष्य निःसन्देह सम्पूर्ण मनोरथोंको पा लेता है और इहलोकमें सुख भोगकर भगवान्के लोकमें आनन्दका अनुभव करता है।

रुक्मिणीकुण्डके वायव्य कोणमें 'धनयक्ष' नामसे प्रसिद्ध उत्तम तीर्थ है। पूर्वकालकी बात है विश्वामित्र मुनिने राजसूय यज्ञ करनेवाले राजा हरिश्चन्द्रसे (दानमें) सारा राज्य ले लिया। तत्पश्चात् वह सब राज्य और धन एक यक्षके संरक्षणमें दे दिया। किसी समय परम बुद्धिमान् विश्वामित्र मुनि उस यक्षपर प्रसन्न हुए और बोले—'यक्ष! यह तीर्थ 'धनयक्ष' के नामसे प्रसिद्ध होगा। यहाँ नवों निधियोंका पूजन करनेसे मनुष्य इहलोकमें सुख और परलोकमें आनन्दका अनुभव करता है। महापद्म, पद्म, शंख, मकर,

कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील और खर्व—ये नौ निधियाँ हैं*। इन सबका इस कुण्डमें निवास होगा। यहाँ जलमें निधि-लक्ष्मीका पूजन करना चाहिये। माघ कृष्णा चतुर्दशीको यहाँकी वार्षिक यात्रा होनी चाहिये। उस समय स्नान और पितृतर्पण विशेषरूपसे करने चाहिये।'

धनयक्षतीर्थसे उत्तर दिशामें वशिष्ठकुण्ड नामक विख्यात तीर्थ है, जो सदा सब पापोंका नाश करनेवाला है। वहाँ तपोनिधि वशिष्ठ और निर्मल व्रतवाली अरुन्धतीजीका नित्य निवास है। उसमें आलस्य छोड़कर जो बुद्धिमान् पुरुष स्नान और विशेषरूपसे श्राद्ध करता है, उसे उत्तम पुण्यकी प्राप्ति होती है। वहाँ वशिष्ठ और वामदेवजीका यत्नपूर्वक पूजन करना चाहिये। पतिव्रता अरुन्धती देवी वहाँ विशेषरूपसे पूजनीय हैं। उस तीर्थमें विधिपूर्वक स्नान और यथाशक्ति दान करना चाहिये। जो उसमें स्नान करता है, वह वशिष्ठके समान होता है। भाद्रमासकी शुक्ला पंचमीको विधिपूर्वक मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए वहाँकी वार्षिक यात्रा करनी चाहिये और प्रयत्नपूर्वक श्रद्धासे भगवान् विष्णुकी पूजा करनी चाहिये। ऐसा करनेवाला पुरुष सब पापोंसे शुद्धचित्त हो भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है।

वशिष्ठकुण्डसे पश्चिम दिशामें सागरकुण्डके नामसे विख्यात एक तीर्थ है, जो सम्पूर्ण कामनाओं और मनोरथोंकी सिद्धि देनेवाला है। उसमें स्नान और दान करनेसे मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। सागरसे नैर्ऋत्यकोणमें उत्तम योगिनीकुण्ड है, जहाँ जलमें चौंसठ योगिनियाँ निवास करती हैं। वे पुरुषोंका सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध करती हैं और स्त्रियोंको विशेषरूपसे उत्तम सिद्धि प्रदान करनेवाली हैं। वे सब-की-सब समस्त मनोवांछित फलोंको देनेवाली हैं। योगिनीकुण्डसे पूर्व परम उत्तम उर्वशीकुण्ड है, जिसमें स्नान करनेवाला पुरुष स्वर्गमें उर्वशीको प्राप्त करता है। यहाँ स्नान करके मनुष्योंको भगवान् विष्णुका पूजन करना चाहिये। ऐसा करनेवाला विद्वान् मनुष्य सदैव विष्णुलोकमें निवास करता है। वह स्त्री हो या पुरुष, सब मनोरथोंको पाता है। उर्वशीकुण्डके दक्षिणभागमें उत्तम घोषार्ककुण्ड है, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है। वहाँ स्नान और दान करनेसे मनुष्य सूर्यलोकमें प्रतिष्ठित होता है। घावसे युक्त, कोढ़ी, निर्धन अथवा दुःखसे घिरा हुआ जो कोई भी मनुष्य वहाँ विधिपूर्वक स्नान करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। विशेषतः रविवारको वहाँ आदरपूर्वक स्नान करना चाहिये। रविवारके साथ यदि सप्तमी तिथिका भी योग हो तो वहाँका स्नान बहुत फलदायक होता है। घोष नामक एक राजाने किसी समय उस तीर्थमें स्नान और सन्ध्या करते हुए मुनियोंको देखा। तब उसने भी विधिपूर्वक आचमन करके स्नान किया। स्नान करते ही राजाका शरीर दिव्य हो गया। उनका मन आनन्दसे परिपूर्ण हो गया। तब मुनियोंसे उस तीर्थकी महिमा जानकर राजाने सूर्यदेवकी प्रसन्नताके लिये स्तुति की।

**राजा बोले**—देवदेवेश्वर! भगवान् सूर्य! आपका स्वरूप सच्चिदानन्दमय है, आपको नमस्कार है। आप सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न करनेवाले तथा जगत्को आनन्द देनेवाले सूर्यदेवको नमस्कार है। आप प्रभाके निकेतन तथा दिव्यरूपधारी हैं। तीनों वेद आपके ही स्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। योगके ज्ञाता एवं सत्स्वरूप आप भगवान् विवस्वान्को नमस्कार है। आप सबसे परे हैं, परमेश्वर हैं और त्रिलोकीका अन्धकार नष्ट करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। आपका स्वरूप अचिन्त्य है, आप प्रभा फैलानेवाले तेजसे सम्पन्न हैं, आपको सदा नमस्कार है। आप योगप्रिय, योगस्वरूप और योगज्ञ हैं, आपको

* महापद्मस्तथा पद्मः शंखो मकरकच्छपौ। मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव॥ (स्क० पु०, वै० अ० मा० ७। ५१)

सदैव नमस्कार है। आप ओंकाररूप, वषट्कारस्वरूप और ज्ञानरूप हैं, आपको नमस्कार है। यज्ञ, यजमान, हविष्य तथा ऋत्विज सब कुछ आप हैं, आपको नमस्कार है। आप सम्पूर्ण रोगोंके नाशक, आत्मस्वरूप तथा कमलोंको आनन्द प्रदान करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। आप अत्यन्त कोमल और अतिशय तीक्ष्ण हैं, सम्पूर्ण देवताओंका पालन करनेवाले आपको नमस्कार है। आप यज्ञभोक्ता, भक्तरक्षक तथा प्रियस्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। आप निरन्तर प्रकाश देनेवाले और समस्त लोकोंके हितकारी हैं, आपको नमस्कार है। मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करनेवाला शरणागत भक्त हूँ। प्रभो! आज मुझपर प्रसन्न होइये।

इस प्रकार स्तुति करते हुए अपने भक्त राजा घोषपर भगवान् सूर्य प्रसन्न हो गये और भक्तका प्रिय करनेकी इच्छासे सहसा प्रकट होकर बोले—'राजेन्द्र! तुमने जो यह स्तवन किया है, इसे जो मनुष्य पढ़ेंगे, उनपर प्रसन्न होकर मैं उनके सब मनोरथोंको पूर्ण करूँगा। यह स्थान आजसे इस पृथ्वीपर तुम्हारे ही नामसे विख्यात होगा। जो

यहाँ स्नान करेगा, वह अपनी सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेगा। इस प्रकार वरदान देकर भगवान् सूर्यदेव अन्तर्धान हो गये। राजाने भगवान् सूर्यके शरीरसे प्रकट हुई दिव्य सूर्यमूर्ति लेकर वहाँ उसको स्थापित किया और स्वयं ही उसकी पूजा की। अतः राजा घोषके नामपर उस तीर्थका नाम घोषार्ककुण्ड हुआ।

## अयोध्याक्षेत्रके अन्य विविध तीर्थोंका वर्णन तथा वसिष्ठके मुखसे विभीषण आदिका अयोध्या-माहात्म्य-श्रवण

घोषार्कतीर्थसे पश्चिम दिशामें रतिकुण्ड नामक प्रसिद्ध तीर्थ है, जो सब पापोंको हरनेवाला है। उससे पश्चिम कुसुमायुधकुण्ड है, जो समस्त मनोरथोंकी सिद्धिके लिये प्रसिद्ध है। जो पति-पत्नी इन दोनों कुण्डोंमें स्नान करते हैं, वे रति और कामदेवके समान सुन्दर होते हैं। कुसुमायुधकुण्डसे पश्चिम दिशामें मन्त्रेश्वरतीर्थ है। उसमें स्नान करके जो भगवान् मन्त्रेश्वरका दर्शन करता है, वह परम गतिको पाता है। उसके उत्तर कुमुद और कमलोंसे सुशोभित एक सुन्दर सरोवर है, जिसमें किये हुए स्नान और दान अनेक प्रकारके फल देनेवाले हैं। चैत्र शुक्ला चतुर्दशीको वहाँकी वार्षिक यात्रा उत्तम मानी गयी है। मन्त्रेश्वरकी महिमाका कोई भी भलीभाँति वर्णन नहीं कर सकता। सुगन्धित पुष्प, धूप, चन्दन आदि उपचारोंसे उनका प्रयत्नपूर्वक पूजन करना चाहिये। वे सम्पूर्ण कामनाओं और प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाले हैं। उनके पूजनसे मुक्ति हो जाती है। वहीं पूर्व दिशामें महारत्ननामक तीर्थ है, जो सब तीर्थोंमें उत्तम है। उसमें स्नान, दान और ब्राह्मण-पूजन करनेसे

समस्त कामनाओंकी सिद्धि होती है। भादों कृष्णा चतुर्दशीको वहाँकी वार्षिक यात्रा होती है। उससे नैर्ऋत्यकोणमें दुर्भर सरोवर है, जहाँ स्नान करनेसे मनुष्य स्वर्गलोकको प्राप्त करता है। महारत्न और दुर्भर दोनों तीर्थोंमें भक्तिभावसे स्नान करके नीलकण्ठ महादेवजीका गन्ध-पुष्प आदिके द्वारा भलीभाँति पूजन करना चाहिये। पार्वतीसहित भगवान् शिवका ध्यान करके मनुष्य सब कामनाओंको शीघ्र पाकर सदैव शिवलोकमें निवास करता है। भादों कृष्णा चतुर्दशीको जो मनुष्य श्रद्धासहित विधिपूर्वक शिवपूजा तथा ब्राह्मणपूजा विशेषरूपसे करता है, वह शिवलोकमें निवास करता है। भगवान् विष्णु और शिव उसके ऊपर बहुत प्रसन्न होते हैं, जिनके स्मरणमात्रसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

दुर्भरस्थानसे ईशान कोणमें महाविद्या नामक महान् तीर्थ है। उसके दर्शनमात्रसे मनुष्योंके हाथमें सब सिद्धियाँ उपस्थित हो जाती हैं। महाविद्याके आगे सरोवरमें स्नान करके जो महाविद्याका श्रद्धा और भक्तिसे दर्शन करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है। वहीं सुप्रसिद्ध सिद्धपीठ है। वहाँ उत्तम भक्तिसे पूजा करनी चाहिये। जो पवित्र मनुष्य वहाँ श्रद्धासे शिव, शक्ति, गणपति तथा भगवान् विष्णुके मन्त्रको एकाग्रचित्त होकर जपता है, उसको सदा सिद्धि प्राप्त होती है। आश्विन शुक्ल पक्षके नवरात्रमें वहाँकी यात्रा करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। उसके समीप ही क्षीरकुण्डमें दुग्धेश्वर नामसे प्रसिद्ध भगवान् शिव विराजमान हैं। उस क्षीरसंगम कुण्डका सीताजीने बड़ा सत्कार किया है, इसलिये सीताकुण्डके नामसे भी उसकी प्रसिद्धि हुई है। सीताकुण्डमें स्नान करके सीता, राम, लक्ष्मण और दुग्धेश्वरनाथका पूजन करके मनुष्य सब मनोरथोंको पा लेता है। ज्येष्ठ मासकी चतुर्दशीको वहाँकी वार्षिक यात्रा सम्पन्न होती है। वहाँ पूर्व दिशामें सुग्रीवद्वारा निर्मित एक उत्तम तीर्थ है, जो तपोनिधितीर्थके नामसे विख्यात है। उसमें स्नान, दान करके श्रीरामचन्द्रजीका यत्नपूर्वक पूजन करनेसे मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। उससे पश्चिम हनुमत्कुण्ड है और हनुमत्कुण्डके पश्चिम विभीषणकुण्ड है। उन दोनोंमें स्नान, दान और श्रीरामचन्द्रजीका पूजन करनेसे मनुष्य सब कामनाओंको प्राप्त कर लेता है।

**एक समय विभीषण आदिने मुनिवर वशिष्ठसे विनयपूर्वक पूछा**—तपोनिधे! विद्वान् पुरुष अयोध्याका जो सर्वोत्तम माहात्म्य बतलाते हैं, उसका वर्णन कीजिये।

**वशिष्ठजीने कहा**—यह अयोध्या नामक उत्तम तीर्थ अत्यन्त गुप्त है। यह सदा सभी प्राणियोंके मोक्षका साधक है। इसमें सिद्ध और देवता भी वैष्णवव्रतका आश्रय लेकर नाना प्रकारके वेष धारण किये विष्णुलोककी अभिलाषासे नित्य निवास करते हैं। नाना प्रकारके वृक्षोंसे व्याप्त एवं अनेकानेक विहंगमोंके कलरवसे युक्त इस उत्तम तीर्थमें वे सिद्ध और देवता जितेन्द्रिय हो प्राणायामपूर्वक योगाभ्यास करते हैं। इस उत्तम क्षेत्रमें निवास करना भगवान् विष्णुको सदैव रुचिकर है। जिन्होंने अपने समस्त कर्म भगवान् विष्णुको समर्पित कर दिये हैं, वे विष्णुभक्त यहाँ मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ भगवान् विष्णुका निवास है, इसलिये यह अयोध्या नामक महाक्षेत्र अत्यन्त उत्तम है। जो मोक्ष अन्यत्र दुर्लभ माना गया है, वही यहाँ सब सिद्धों और महर्षियोंको प्राप्त होता है। जिसका चित्त विषयोंमें आसक्त है और जिसने धर्मका अनुराग त्याग दिया है, ऐसा मनुष्य भी यदि इस क्षेत्रमें मृत्युको प्राप्त हो तो वह पुनः संसार-बन्धनमें नहीं

पड़ता। सहस्रों जन्मोंतक योगाभ्यास करनेवाला योगी भी जिस मोक्षको नहीं पाता, उसीको यहाँ मृत्यु होनेसे मनुष्य प्राप्त कर लेता है। यह अयोध्या ही उत्तम स्थान है, यही परम पद है। यहाँ पुण्याभिलाषी पुरुषोंको विधिपूर्वक यात्रा करनी चाहिये। नियमपूर्वक स्नान और यथाशक्ति दान करना चाहिये। मनको वशमें करके पवित्र व्रतवाला पुरुष भलीभाँति यहाँकी यात्रा सम्पन्न करे। अयोध्यामें जहाँ कहीं भी मृत्युको प्राप्त होनेपर धीर पुरुष उत्तम मोक्षको पाता है।

वशिष्ठजीका कहा हुआ यह माहात्म्य सुनकर विभीषण आदि सब लोगोंका चित्त निर्मल हो गया।

## गयाकूप आदि अनेक तीर्थोंका माहात्म्य तथा ग्रन्थका उपसंहार

वहाँसे आग्नेय कोणमें गयाकूप नामक तीर्थ प्रसिद्ध है, जो सम्पूर्ण अभीष्ट फलोंको देनेवाला है। इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाला श्रेष्ठ द्विज उसमें स्नान करके यथाशक्ति दान दे और पितरोंका श्राद्ध करे तो वह सम्पूर्ण मनोरथोंको प्राप्त कर लेता है। उस तीर्थमें श्राद्ध करनेपर नरकमें पड़े हुए पितर और पितामह विष्णुलोकमें चले जाते हैं। सोमवती अमावास्या हो उस समय वहाँ पितरोंके उद्देश्यसे किया हुआ श्राद्ध अक्षय एवं अनन्त फल देनेवाला होता है। वहाँसे पूर्वभागमें पिशाचमोचन नामक सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है जो उत्तम फल देनेवाला है। उसमें स्नान और दान करनेसे मनुष्य पिशाच नहीं होता। अतः अगहनकी शुक्ला चतुर्दशीको वहाँ विशेषरूपसे स्नान करना चाहिये। पिशाचमोचनके पास ही पूर्वभागमें मानस नामक तीर्थ है। वहाँ स्नान और दान करनेसे मनुष्य सब कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। मन, वाणी और शरीरमें जो कुछ पाप होता है वह सब मानसतीर्थमें स्नान करनेसे नष्ट हो जाता है। उससे दक्षिण दिशामें तमसा नामक नदी है, जिसमें किया हुआ स्नान और दान सब पापोंको हरनेवाला है। तमसाके सुन्दर तटपर पवित्रात्मा मुनियोंके अनेक स्थान हैं और माण्डव्य मुनिका भी पापनाशक आश्रम है। जहाँसे उत्तम तरंगोंवाली तमसा नदी प्रकट हुई है, वह वन अत्यन्त पवित्र है। उसके दर्शनसे मनुष्योंके सब पापोंका नाश हो जाता है। वह तीर्थ सब ओरसे मनोहर है। वहाँ माण्डव्य मुनिने बड़ी भारी तपस्या की, जिसके प्रभावसे वह तीर्थ परम पावन हुआ है। वहाँ पहले गौतम ऋषिका परम पवित्र आश्रम था। च्यवन और पराशर मुनिका भी पूर्वकालमें वहाँ स्थान रहा है। इसमें किये हुए स्नान, दान और श्राद्धसे सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धि होती है। मार्गशीर्ष शुक्ल पक्षकी पूर्णिमामें वहाँका स्नान मनुष्योंके लिये विशेष फलकी प्राप्ति करानेवाला है। उसके उत्तर भागमें सुन्दर भरतकुण्ड है, जिसमें स्नान करके मनुष्य सब पापोंसे छूट जाता है। पूर्वकालमें रघुकुलमें उत्पन्न भरतजी वहीं नन्दिग्राममें निवास करते थे। श्रीरामवनवासके बाद निर्मल अन्तःकरणवाले भरतजी इन्द्रियोंको संयममें रखकर श्रीरामचन्द्रजीका हृदयमें ध्यान करते हुए वहीं रहकर प्रजाका पालन करते थे। उस कुण्डमें स्नान करनेसे बड़ा भारी पुण्य होता है। उसके पश्चिम भागमें अति उत्तम जटाकुण्ड है, जहाँ वनसे लौटनेपर श्रीराम आदिने अपनी जटाएँ कटवायी थीं। उनके जटा छोड़नेसे ही उसका नाम जटाकुण्ड हो गया। वह सब तीर्थोंमें उत्तम तीर्थ है। वहाँ स्नान और दान करनेसे मनुष्य सब कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। पूर्वकुण्डोंमें श्रीभरतजीका पूजन करना चाहिये। जटाकुण्डमें सीता, राम और लक्ष्मणजीका पूजन करना उचित है। चैत्र कृष्णा चतुर्दशीको वहाँकी वार्षिक यात्रा होती है। इस प्रकार पूजन करके पुण्यात्मा मनुष्य विष्णुलोकमें निवास करता है।

इसके उत्तरमें वीर मत्तगजेन्द्रका शुभ सूचक स्थान है। उनके सामने जो सरोवर है, उसमें स्नान करके जो निश्चितरूपसे वहाँ निवास करता है, वह पूर्ण सिद्धिको पाता है। अयोध्याकी रक्षा करनेवाले वीर मत्तगजेन्द्र समस्त कामनाओंकी सिद्धि करनेवाले हैं। उसके पश्चिम भागमें परम पुरुषार्थी वीर पिण्डारकका स्थान है। सरयूके जलमें स्नान करके वीर पिण्डारककी पूजा करे। वे पापियोंको मोहनेवाले और पुण्यात्माओंको सदा सद्बुद्धि प्रदान करनेवाले हैं। पिण्डारकके पश्चिम भागमें विघ्नेश्वर (गणेश)-जीकी पूजा करे। उनके दर्शन करनेसे मनुष्योंको लेशमात्र विघ्नका भी सामना नहीं करना पड़ता।

विघ्नेशसे ईशान कोणमें श्रीरामजन्म-स्थान है। इसे 'जन्म-स्थान' कहते हैं। यह मोक्षादि फलोंकी सिद्धि करनेवाला है। विघ्नेशसे पूर्व, वशिष्ठसे उत्तर तथा लोमशसे पश्चिम भागमें जन्मस्थान तीर्थ माना गया है। उसका दर्शन करके मनुष्य गर्भवासपर विजय पा लेता है। रामनवमीके दिन व्रत करनेवाला मनुष्य स्नान और दानके प्रभावसे जन्म-मृत्युके बन्धनसे छूट जाता है। आश्रममें निवास करनेवाले तपस्वी पुरुषोंको जो फल प्राप्त होता है, सहस्रों राजसूय और प्रतिवर्ष अग्निहोत्र करनेसे जो फल मिलता है, जन्मस्थानमें नियममें स्थित पुरुषके दर्शनसे तथा माता, पिता और गुरुकी भक्ति करनेवाले सत्पुरुषोंके दर्शनसे मनुष्य जिस फलको पाता है, वही सब फल जन्मभूमिके दर्शनसे प्राप्त कर लेता है। सरयूका दर्शन करके भी मनुष्य उस फलको पा लेता है। एक निमेष या आधे निमेष भी किया हुआ श्रीरामचन्द्रजीका ध्यान मनुष्योंके संसार-बन्धनके कारणभूत अज्ञानका निश्चय ही नाश करनेवाला है। जहाँ कहीं भी रहकर जो मनसे अयोध्याजीका स्मरण करता है, उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती। सरयू नदी सदा मोक्ष देनेवाली है। यह जलरूपसे साक्षात् परब्रह्म है। यहाँ कर्मका भोग नहीं करना पड़ता। इसमें स्नान करनेसे मनुष्य श्रीरामरूप हो जाता है। पशु, पक्षी, मृग तथा अन्य जो पापयोनि प्राणी हैं, वे सभी मुक्त होकर स्वर्गलोकमें जाते हैं, जैसा कि श्रीरामचन्द्रजीका वचन है। सत्यतीर्थ, क्षमातीर्थ, इन्द्रियनिग्रहतीर्थ, सर्वभूतदयातीर्थ, सत्यवादितातीर्थ, ज्ञानतीर्थ और तपस्तीर्थ—ये सात मानसतीर्थ कहे गये हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति दया करनारूप जो तीर्थ है, उसमें मनकी विशेष शुद्धि होती है। केवल जलसे शरीरको पवित्र कर लेना ही स्नान नहीं कहलाता। जिस पुरुषका मन भलीभाँति शुद्ध है, उसीने वास्तवमें तीर्थस्नान किया है*। भूमिपर वर्तमान जो तीर्थ हैं उनकी पवित्रताका कारण यह है। जैसे शरीरके कोई अंग मध्यम और कोई उत्तम माने गये हैं, उसी प्रकार पृथ्वीपर भी कुछ प्रदेश अत्यन्त पवित्र होते हैं। इसलिये भौम और मानस दोनों प्रकारके तीर्थोंमें निवास करना चाहिये। जो दोनोंमें स्नान करता है वह परमगतिको प्राप्त होता है। जलचर जीव जलमें ही जन्म लेते और जलमें ही मरते हैं, परंतु वे स्वर्गमें नहीं जाते; क्योंकि उनका मन अशुद्ध होता है और वे मलिन होते हैं। विषयोंमें निरन्तर राग होना मनका मल कहलाता है। उन्हीं विषयोंमें जब

---

* सत्यतीर्थं क्षमातीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः। सर्वभूतदयातीर्थं तीर्थानां सत्यवादिता॥
ज्ञानतीर्थं तपस्तीर्थं कथितं तीर्थसप्तकम्। सर्वभूतदयातीर्थे विशुद्धिर्मनसो भवेत्॥
न तोयपूतदेहस्य स्नानमित्यभिधीयते। स स्नातो यस्य वै पुंसः सुविशुद्धं मनो मतम्॥
(स्क० पु०, वै० अ० मा० १०। ४६—४८)

आसक्ति न रह जाय, तब उसे मनकी निर्मलता कहते हैं। यदि मनुष्य भावसे निर्मल है—उसके अन्तःकरणमें शुद्ध भाव है तो उसके लिये दान, यज्ञ, तप, शौच, तीर्थसेवा और वेदोंका अध्ययन—ये सभी तीर्थ हैं। इन्द्रियसमुदायको वशमें रखनेवाला पुरुष जहाँ निवास करता है, वहीं उसके लिये कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य और पुष्कर हैं। यह मानसतीर्थका लक्षण बतलाया गया, जिसमें स्नान करनेसे क्रियावान् पुरुषोंके सब कर्म सफल होते हैं।

बुद्धिमान् मनुष्य प्रातःकाल उठकर संगममें स्नान करे, फिर भगवान् विष्णुहरिका दर्शन करके ब्रह्मकुण्डमें स्नान करे। तत्पश्चात् चक्रतीर्थमें स्नान करके मनुष्य भगवान् चक्रहरिका दर्शन करे। उसके बाद धर्महरिका दर्शन करके वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। प्रत्येक एकादशीको यह यात्रा शुभकारक होती है।

बुद्धिमान् पुरुष प्रातःकाल उठकर स्वर्गद्वारके जलमें गोता लगावे। फिर नित्य कर्म करके अयोध्यापुरीका दर्शन करे। तत्पश्चात् पुनः सरयूका दर्शन करके वीर मत्तगजेन्द्र, वन्दीदेवी, शीतलादेवी और वटुकभैरवका दर्शन करे। उनके आगे सरोवरमें स्नानकर महाविद्याका दर्शन करे। तत्पश्चात् पिण्डारकका दर्शन करे। अष्टमी और चतुर्दशीको यह यात्रा फलवती होती है। अंगारक चतुर्थीको पूर्वोक्त देवताओंके साथ-साथ समस्त कामनाओंकी सिद्धिके लिये विघ्नेशका भी दर्शन करे।

पूर्ववत् प्रातःकाल उठकर बुद्धिमान् पुरुष ब्रह्मकुण्डके जलमें स्नान करे। फिर विष्णु और विष्णुहरिका दर्शन करके मनुष्यके मन, वाणी और शरीरकी शुद्धि होती है। उसके बाद मन्त्रेश्वर और महाविद्याका दर्शन करे। तत्पश्चात् सब कामनाओंकी सिद्धिके लिये अयोध्याका दर्शन करके जितेन्द्रिय पुरुष स्वर्गद्वारमें वस्त्रसहित स्नान करे। उससे मनुष्यके अनेक जन्मोंके उपार्जित नाना प्रकारके पाप नष्ट हो जाते हैं। इसलिये वस्त्रसहित स्नान अवश्य करे। यह यात्रा सब पापोंका नाश करनेवाली बतायी गयी है। जो प्रतिदिन इस प्रकार शुभ फल देनेवाली यात्रा करता है, उसकी सौ कोटि कल्पोंमें भी पुनरावृत्ति नहीं होती। अयोध्यापुरी सर्वोत्तम स्थान है। यह भगवान् विष्णुके चक्रपर प्रतिष्ठित है।

**सूतजी कहते हैं**—जो मनुष्य पवित्रचित्त होकर अयोध्याके इस अनुपम माहात्म्यका पाठ करता है अथवा जो श्रद्धासे इसको सुनता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है। अतः मनुष्योंको सदा यत्नपूर्वक इसका श्रवण करना चाहिये। ब्राह्मणों तथा भगवान् विष्णुकी पूजा करनी चाहिये और अपनी शक्तिके अनुसार ब्राह्मणके लिये सुवर्ण आदि देना चाहिये। पुत्रकी इच्छा रखनेवाला पुरुष इस माहात्म्यको सुनकर पुत्र पाता है और धर्मार्थीको धर्मकी प्राप्ति होती है। जो श्रेष्ठ मनुष्य अति विस्तृत विधानके साथ वर्णित इस धर्मयुक्त आदिक्षेत्रके उत्तम माहात्म्यका भक्तिपूर्वक श्रवण करता है, वह लक्ष्मीसे सनाथ होकर संसारमें सब उत्तम भोगोंको भोगनेके पश्चात् भगवान् विष्णुके लोकमें निवास करता है।

**श्रीअयोध्या-माहात्म्य सम्पूर्ण।**

**वैष्णवखण्ड समाप्त**

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीउमामहेश्वराभ्यां नमः

# संक्षिप्त श्रीस्कन्दमहापुराण

## ब्राह्मखण्ड

## सेतु-माहात्म्य

### सेतुतीर्थ ( रामेश्वर-क्षेत्र )-की महिमा

**शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम्।**
**प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये॥**

'जिन्होंने श्वेत वस्त्र धारण कर रखा है, जिनका चन्द्रमाके समान गौर वर्ण है, चार भुजाएँ हैं और मुखपर प्रसन्नता छा रही है, ऐसे भगवान् विष्णुका सब विघ्नोंकी शान्तिके लिये ध्यान करना चाहिये।'

नैमिषारण्य तीर्थमें शौनक आदि ऋषि अष्टांगयोगके साधनमें तत्पर हो एकमात्र ब्रह्मज्ञानके साधनमें संलग्न थे। वे सभी महात्मा संसार-बन्धनसे मुक्ति चाहनेवाले थे। उनमें ममताका सर्वथा अभाव था। वे ब्रह्मवादी, धर्मज्ञ, किसीके दोष न देखनेवाले, सत्यव्रती, इन्द्रियसंयमी, क्रोधको जीतनेवाले तथा सब प्राणियोंके प्रति दया रखनेवाले थे। शौनक आदि महर्षि इस परम पवित्र मोक्षदायक नैमिषारण्यमें अतिशय भक्तिके साथ सनातनदेव भगवान् विष्णुकी पूजा करते हुए तपस्यामें लगे रहते थे। एक समय उन महात्माओंने उत्तम सत्संगका आयोजन किया। उसमें वे परम पुण्यमयी पापनाशक कथाएँ कहते और मुक्तिके उपायपर परस्पर प्रश्नोत्तर किया करते थे। उसी अवसरपर वहाँ व्यासजीके शिष्य महाविद्वान् पौराणिकोंमें श्रेष्ठ मुनिवर सूतजी आये। उन्हें देखकर शौनकादि महर्षियोंने अर्घ्य आदिके द्वारा उनका पूजन किया। जब वे सुखपूर्वक उत्तम आसनपर बैठे, तब महर्षियोंने उनसे पूछा—'सूतजी! जीवोंकी संसारसागरसे किस प्रकार मुक्ति होती है? भगवान् शिव अथवा विष्णुमें मनुष्योंकी भक्ति कैसे होती है? ये तथा अन्य सब बातें भी आप कृपा करके हमें बताइये।'

तब सूतजीने पहले अपने गुरु श्रीव्यासदेवजीको प्रणाम करके इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया—'ब्राह्मणो! श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा बँधाये हुए सेतुसे जो परम पवित्र हो गया है, वह रामेश्वर नामक क्षेत्र सब तीर्थोंमें उत्तम है। उसके दर्शनमात्रसे संसारसागरसे मुक्ति हो जाती है। भगवान् विष्णु और शिवमें भक्ति तथा पुण्यकी वृद्धि होती है। सेतुका दर्शन करनेपर मनुष्य सब यज्ञोंका कर्ता माना गया है। उसने सब तीर्थोंमें स्नान और सब प्रकारकी तपस्याका अनुष्ठान कर लिया। सेतुमें स्नान करनेवाला पुरुष विष्णुधाममें जाकर वहीं मुक्त हो जाता है। सेतु, रामेश्वर-लिंग और गन्धमादनपर्वतका चिन्तन करनेवाला मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। द्विजवरो! जो सेतुकी

बालुकाओंमें शयन करता है, उसकी धूलसे वेष्टित होता है, उसके शरीरमें बालूके जितने कण सटते हैं, उतनी ब्रह्महत्याओंका नाश हो जाता है। सेतुके मध्यवर्ती प्रदेशकी वायु जिसके सम्पूर्ण शरीरका स्पर्श करती है, उसके दस हजार सुरापानका पाप तत्काल नष्ट हो जाता है। पुत्र और पौत्रोंके द्वारा जिसकी हड्डी सेतुमें डाली गयी है, उसका दस हजार बार की हुई सुवर्णकी चोरीका पाप उसी क्षण नष्ट हो जाता है। जिस मनुष्यका स्मरण करके सेतुतीर्थमें कोई स्नान करता है, उसका भी महापातकियोंके संसर्गसे प्राप्त हुआ दोष तत्क्षण नष्ट हो जाता है। मार्गको नष्ट करनेवाला, केवल अपने लिये भोजन बनानेवाला, संन्यासियों और ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेवाला, चाण्डालका अन्न खानेवाला और वेद बेचनेवाला—ये पाँच ब्रह्महत्यारे कहे गये हैं। जो ब्राह्मणोंको बुलाकर यह आशा देता है कि 'तुम्हें धन आदि दूँगा' और फिर यह कह देता है कि 'मेरे पास नहीं है' वह भी ब्रह्महत्यारा कहा गया है। जो जिससे धर्मका उपदेश ग्रहण करता है, वह उसीसे द्वेष करे या उसकी अवहेलना करे तो वह भी ब्रह्महत्यारा कहा गया है। जो पानी पीनेके लिये जलाशयकी ओर जाती हुई गौओंके समूहको रोक देता है, उसको भी ब्रह्मघाती कहा गया है। सेतुतीर्थमें आकर वे सभी अपनी पापराशिसे मुक्त हो जाते हैं। ब्रह्महत्यारोंके समान जो दूसरे पापी हैं, वे भी सेतुतीर्थमें आकर अपने पापोंसे छुटकारा पा जाते हैं। जो उपासनाका परित्याग करता, देवताका अन्न खाता, शराब पीता, शराब पीनेवाली स्त्रीसे संसर्ग रखता, वेश्याका अन्न खाता और किसी समुदाय अथवा संस्थाका अन्न भोजन करता है तथा जो पतितका अन्नं खानेमें तत्पर रहता है, ये सभी सुरापी (शराब पीनेवाले) कहे गये हैं। ये सब कर्मोंसे बहिष्कृत हैं। ऐसे लोग भी सेतुतीर्थमें स्नान करनेसे पापरहित हो मुक्त हो जाते हैं। शराब पीनेवालेके समान अन्य जो पापी हैं, वे भी सेतुमें गोता लगानेसे पापमुक्त हो जाते हैं। कन्द, मूल, फल, कस्तूरी, रेशमी वस्त्र, दूध, चन्दन, कपूर, सुपारी, शहद, घी, ताँबा, काँस तथा रुद्राक्षकी चोरी करनेवाले मनुष्योंको सुवर्ण चुरानेवाला समझना चाहिये। वे सेतुक्षेत्रमें आकर मुक्त हो जाते हैं। अन्य प्रकारके चोर भी वहाँ स्नान करनेसे पापमुक्त होते हैं। बहिन, पुत्रवधू, रजस्वला स्त्री, भाईकी स्त्री, मित्रकी स्त्री, मदिरा पीनेवाली स्त्री, परायी स्त्री, हीन जातिकी स्त्री तथा अपने ऊपर विश्वास रखनेवाली स्त्रीके पास जब आसक्त पुरुष जाता है, तब वह गुरुशय्यागामी समझा जाने योग्य है। वह सब कर्मोंसे बहिष्कृत है। ये तथा और भी जो गुरुशय्यागामीके समान पापी हैं, वे सेतुतीर्थमें स्नान करके पापमुक्त हो जाते हैं। इन सबके साथ संसर्ग रखनेवाले जो पापी हैं, वे भी सेतुतीर्थके महास्नानसे पापरहित हो जाते हैं। सेतुतीर्थका स्नान अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाला तथा मोक्ष देनेवाला है। पापनाशक सेतुतीर्थमें निष्कामभावसे किया हुआ स्नान मोक्ष देनेवाला है। जो मनुष्य धन-सम्पत्तिके उद्देश्यसे सेतुतीर्थमें स्नान करता है, वह प्रचुर सम्पत्ति पाता है और यदि वह आत्मशुद्धिके लिये स्नान करता है तो आत्मशुद्धिको पाता है। यदि स्वर्गीय सुख भोगनेके लिये स्नान करता है, तो उसे ही प्राप्त करता है और यदि मोक्षदायक सेतुतीर्थमें मुक्तिके लिये स्नान करे, तो मनुष्य पुनरावृत्तिरहित मुक्तिको पाता है। जो अंगोंसहित चारों वेदोंके ज्ञानमें पारंगत होने, समस्त शास्त्रोंकी विद्वत्ता और सम्पूर्ण मन्त्रोंकी अभिज्ञता प्राप्त करनेके उद्देश्यसे सर्वार्थसिद्धिदायक सेतुतीर्थमें स्नान करता है, वह उस मनोवांछित सिद्धिको अवश्य प्राप्त होता है। श्रद्धालु मनुष्य हो या श्रद्धाहीन, यदि वह सेतुतीर्थमें स्नान करता है तो इहलोक और

परलोकमें कभी दुःखका भागी नहीं होता। संसारमें कामधेनु, चिन्तामणि तथा कल्पवृक्ष जिस प्रकार मनुष्योंको अभीष्ट वस्तुएँ प्रदान करते हैं, वैसे ही सेतुस्नान मनुष्योंके सब मनोरथ पूर्ण करता है। जो मनुष्य सेतुतीर्थमें जानेवाले पुरुषको धन-धान्य अथवा वस्त्र आदि देकर उसमें प्रवृत्त कराता है, वह अश्वमेधादि यज्ञोंके उत्तम फलको पाता है। उसके ब्रह्महत्या आदि पापोंका नाश हो जाता है। जो मनुष्य 'मैं सेतुतीर्थमें जाऊँगा' ऐसा कहकर दूसरोंसे धन लेता है और लेकर लोभवश नहीं जाता, उसको ब्रह्मघाती कहते हैं। जो सम्पन्न होकर भी दरिद्रकी भाँति सेतुतीर्थमें जानेके लिये लोभवश धनकी याचना करता है, उसे विद्वानोंने चोर कहा है। जिस किसी उपायसे हो सके, मनुष्य प्रसन्नतापूर्वक सेतुतीर्थकी यात्रा करे। जो वहाँतक जानेमें असमर्थ हो, वह ब्राह्मणको दक्षिणा देकर उससे वहाँकी यात्रा करवावे।

## सेतुबन्धकी कथा तथा सेतुमें स्थित मुख्य-मुख्य तीर्थोंके नाम

**ऋषियोंने पूछा**—महाभाग सूतजी! अनायास ही सब कार्य करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने अगाध समुद्रमें किस प्रकार सेतु बाँधा? सेतुतीर्थमें एवं गन्धमादन पर्वतपर कितने तीर्थ हैं? ये सब हमें बताइये।

**श्रीसूतजीने कहा**—मुनिवरो! पिताकी आज्ञासे भगवान् श्रीराम सीताजी और लक्ष्मणके साथ दण्डकारण्यके अन्तर्गत पंचवटीमें एकाग्रचित्त होकर निवास करते थे। वहाँ रहते हुए महात्मा रघुनाथजीकी पत्नी सीताको मारीचद्वारा छल करके रावणने हर लिया। दशरथनन्दन श्रीराम उस वनमें अपनी पत्नी सीताकी खोज करते हुए किष्किन्धामें पम्पासरोवरके तटपर गये। वहाँ उन्हें कोई वानर दिखायी दिया। उस वानरने निकट आकर श्रीरामचन्द्रजीसे पूछा—'आप कौन हैं?' तब उन्होंने अपना सब वृत्तान्त प्रारम्भसे ही उसको कह सुनाया। तत्पश्चात् श्रीरामने भी वानरसे पूछा—'तुम कौन हो?' तब उसने महात्मा राघवेन्द्रको अपना परिचय इस प्रकार दिया—'मैं सुग्रीवका मन्त्री हनुमान् नामक वानर हूँ। सुग्रीवके भेजनेसे मैं यहाँ आया हूँ। वे आप दोनोंसे मित्रता करना चाहते हैं। आपका कल्याण हो, आप दोनों शीघ्र ही सुग्रीवके समीप चलें।' 'बहुत अच्छा' कहकर श्रीरामचन्द्रजी हनुमान्‌जीके साथ सुग्रीवके समीप आये। सुग्रीवने उनके साथ अग्निको साक्षी देकर मित्रता स्थापित की। श्रीरामचन्द्रजीने उनसे बालिके वधकी प्रतिज्ञा की और सुग्रीवने विदेहराजनन्दिनी सीताको पुनः खोज लानेके लिये प्रतिज्ञा की। इस प्रकार प्रतिज्ञापूर्वक परस्पर विश्वास करके वे दोनों नरराज और वानरराज प्रसन्नतापूर्वक ऋष्यमूक पर्वतपर रहने लगे। श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीवको अपनी शक्तिका विश्वास दिलानेके लिये दुन्दुभि दानवके शरीरको शीघ्र ही पैरके अंगूठेसे मारकर अनेक योजन दूर फेंक दिया तथा एक ही बाणसे सात ताल बींध डाले। यह सब देखकर सुग्रीवके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'रघुनन्दन! मुझे इन्द्र आदि देवताओंसे भी भय नहीं है, क्योंकि आप-जैसे अत्यन्त पराक्रमी वीर मुझे मित्रके रूपमें प्राप्त हुए हैं। मैं लंकापति रावणको मारकर आपकी पत्नी सीताको यहाँ ले आऊँगा।'

तदनन्तर लक्ष्मण, सुग्रीव और महाबली श्रीरामचन्द्रजी बालिके द्वारा सुरक्षित किष्किन्धापुरीमें शीघ्रतापूर्वक गये। वहाँ बालिको युद्धके लिये बुलानेकी इच्छासे सुग्रीवने बड़ी भारी गर्जना की। अपने छोटे भाईकी वह गर्जना बालि नहीं सह सका। वह अन्तःपुरसे बाहर निकला और सुग्रीवसे भिड़ गया। बालिके मुक्केकी मारसे आहत हो सुग्रीव बहुत व्याकुल हो गये और शीघ्र ही वहाँ चले

गये, जहाँ महाबली श्रीरामचन्द्रजी खड़े थे। तब महाबाहु श्रीरामने सुग्रीवके गलेमें पहचाननेके लिये चिह्नस्वरूप एक लता बाँध दी और पुनः युद्धके लिये भेजा। सुग्रीवने फिर गर्जना करके बालिको ललकारा तथा श्रीरामचन्द्रजीकी प्रेरणासे उसके साथ बाहुयुद्ध प्रारम्भ किया। इसी समय राघवेन्द्रने एक ही बाणसे बालिको मार डाला। उसके मारे जानेपर सुग्रीवने किष्किन्धाके राज्यपर अधिकार पाया। तत्पश्चात् वर्षा बीत जानेपर वानरराज सुग्रीव सीताको खोज लानेके लिये वानरोंकी विशाल सेना साथ लेकर राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मणके समीप आये। सीताकी खोजके लिये उन्होंने बहुत-से वानरोंको इधर-उधर भेजा। वायुपुत्र हनुमान्‌जीने लंकामें जाकर विदेहनन्दिनी सीताका पता लगाया और वहाँसे लौटकर सीताकी दी हुई चूड़ामणि श्रीरामचन्द्रजीको भेट की। उसे पाकर श्रीरामचन्द्रजीको हर्ष तथा शोक दोनों हुआ।

तत्पश्चात् सुग्रीव, लक्ष्मण, हनुमान् तथा जाम्बवान् और नल आदि अन्य वानर वीरोंके साथ श्रीरघुनाथजीने अभिजित् मुहूर्तमें यात्रा की और अनेक प्रकारके देशोंको लाँघकर वे महेन्द्रपर्वतपर जा पहुँचे। वहाँ चक्रतीर्थमें जाकर उन सबने निवास किया। वहीं राक्षसराज रावणके भाई धर्मात्मा विभीषण आकर श्रीरामचन्द्रजीसे मिले। महामना श्रीरामने स्वागतपूर्वक उन्हें ग्रहण किया। उस समय सुग्रीवके मनमें यह शंका हुई कि 'हो न हो, यह कोई गुप्तचर है।' परंतु राघवेन्द्रने विभीषणकी उत्तम चेष्टाओं और हितकारक चरित्रोंसे ही यह समझ लिया कि इसके मनमें कोई दुष्टता नहीं है। तभी उन्होंने विभीषणका स्वागत-सत्कार किया तथा उन्हें समस्त राक्षसोंके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया। श्रीरामने सूर्यनन्दन सुग्रीवको अपना श्रेष्ठ मन्त्री नियुक्त किया और कुछ विचार करते हुए सुग्रीव आदिसे कहा—'मित्रो! आपने इस समुद्रको लाँघनेके लिये कौन-सा उपाय सोचा है?'

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार पूछनेपर सुग्रीव आदिने हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! हम सब लोग नाना प्रकारकी नावोंसे समुद्रको पार करेंगे।' तब विभीषणने कहा—'राजा सगरके पुत्रोंने वरुणके निवासभूत इस समुद्रको खोदा है, अतः श्रीरामचन्द्रजीको समुद्रकी शरणमें जाना चाहिये। ये सगरके कुटुम्बी हैं, अतः समुद्र इनका कार्य अवश्य सिद्ध करेगा।' यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने वानरोंको समझाते हुए कहा—'श्रेष्ठ वानरो! हमारी सेनाके लिये बहुत-सी नौकाएँ चाहिये, सो यहाँ उपस्थित नहीं हैं। यदि व्यापारी बनियोंकी नावें ले ली जायँ, तो उनकी बड़ी हानि होगी। हम-जैसे लोग यह अनुचित कार्य कैसे कर सकेंगे। हमारी सेनाका विस्तार बहुत अधिक है। यदि नावपर बैठकर या तैरकर समुद्रमें जायँ, तो यह छिद्र देखकर कोई भी शत्रु हमपर प्रहार कर सकता है। इसलिये तैरकर जाना या नावसे पार करना मुझे ठीक नहीं जँचता। विभीषणकी ही बात मुझे सुखदायक प्रतीत होती है। अतः मार्गकी सिद्धिके लिये मैं इस समुद्रकी उपासना करूँगा। यदि यह मार्ग नहीं दिखायेगा, तो अपने महान् अस्त्रोंसे इसे जलाकर राख कर दूँगा।'

ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणके साथ समुद्रके जलका स्पर्श करके तटपर बिछाये हुए कुशके आसनपर बैठे। श्रीरामचन्द्रजी नीतिके ज्ञाता और धर्मपरायण थे; उन्होंने समुद्रसे मार्गकी प्राप्तिके लिये तीन राततक उसकी उपासना की तथा यथायोग्य सामग्रियोंसे उसका पूजन भी किया। तथापि उसने अपने-आपको श्रीरामचन्द्रजीके सम्मुख प्रकट नहीं किया। इससे श्रीरामको समुद्रपर बड़ा क्रोध हुआ। उनकी आँखें लाल-लाल हो गयीं। उन्होंने पास ही बैठे हुए लक्ष्मणसे कहा—'सुमित्रानन्दन! आज मैं अपने बाणोंसे समुद्रनिवासी मगर आदि जल-जन्तुओंको छिन्न-भिन्न करते हुए सागरके जलको क्षणभरमें स्तब्ध कर दूँगा

और शंख, शुक्ति, मछली, मगर आदिके सहित इस जलनिधिको अमोघ बाणोंद्वारा सुखा डालूँगा। मुझे क्षमायुक्त देखकर यह असमर्थ समझने लगा। शान्तिपूर्ण ढंगसे प्रार्थना करनेपर यह अपने-आपको मेरे सामने नहीं प्रकट करता है। लक्ष्मण! तुम शीघ्र मेरा धनुष और सर्पोंके समान मेरे बाण उठा लाओ, अब सागरको सुखा दूँगा। मेरे वानर सैनिक पैदल ही इसे पार करें।'

ऐसा कहकर भगवान् श्रीरामने धनुष हाथमें लिया। वे उस समय त्रिपुरविनाशक शिवजीकी भाँति दुर्धर्ष प्रतीत होने लगे। उन्होंने धनुषको खींचकर अपने बाणोंसे संसारको कम्पित करते हुए उन भयंकर बाणोंको उसी प्रकार छोड़ा, जैसे भगवान् शंकरने त्रिपुरोंके ऊपर बाणका प्रहार किया था। वे तेजस्वी बाण दसों दिशाओंको प्रकाशित करते हुए अभिमानी दानवोंसे भरे हुए समुद्रके जलमें धँस गये। तब तो समुद्र भयभीत होकर काँपने लगा और कहीं भी शरण न पाकर पातालसे उठकर हाथ जोड़े हुए मोक्षके कारणभूत भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी शरणमें आया। उसने मनोहर शब्दोंमें राघवेन्द्रकी इस प्रकार स्तुति की।

**समुद्र बोला**—रघुकुलशिरोमणि सीतापते! मैं आपके चरणारविन्दोंको नमस्कार करता हूँ, जो अपनी सेवा करनेवाले पुरुषोंको सुख देनेवाले हैं। देववृन्दसे सेवित आपकी श्रीचरणरेणुको प्रणाम करता हूँ, जो गौतमपत्नी अहल्याको शापसे मुक्त करनेवाली है। राम! राम! आप देवताओंका कार्य करनेकी इच्छासे रघुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं और भक्तोंका अभीष्ट सिद्ध करनेवाले हैं, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप आदि-अन्तरहित, मोक्षदायक, कल्याणस्वरूप तथा अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले नारायण हैं, मैं आपको प्रणाम करता हूँ। राम! महाबाहु श्रीराम! मैं आपकी शरणमें आया हूँ, मेरी रक्षा कीजिये। राजेन्द्र! आप अपने क्रोधको शान्त कीजिये। करुणालय! मेरे अपराधको क्षमा कीजिये। रघुवंशशिरोमणे! पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और अग्नि—इन सबको विधाताने जिस स्वभावका बनाया है, वे उसी स्वभावके अनुसार बर्तते हैं। मेरा स्वभाव ही अगाधता है। यदि मैं अगाध न होऊँ, तो यह मेरे लिये विकारकी बात होगी, मैं यह सब आपसे सत्य कहता हूँ। राघवेन्द्र! लोभ, काम, भय अथवा रागसे भी मैं वंशपरम्परासे प्राप्त हुए अपने गुणका किसी प्रकार त्याग करनेमें समर्थ नहीं; अतः इस समय आपकी सेनाके पार उतारनेमें मैं सहायता करूँगा। सर्वथा सूख नहीं जाऊँगा। यदि सेनासहित पार जानेकी इच्छावाले आपकी आज्ञासे मैं सूख जाऊँ, तो दूसरे लोग भी मुझे धनुषके बलसे ऐसी ही आज्ञा देंगे। अतः आपकी सेनाके उतरनेके लिये मैं दूसरा उपाय बतलाता हूँ—भगवन्! आपकी सेनामें यहाँ नल नामक वानर मौजूद है; वह बड़े-बड़े कारीगरोंमें माननीय है। महाबली नल साक्षात् विश्वकर्माका पुत्र है। वह अपने हाथसे जो कुछ भी काठ, तृण अथवा पत्थर मेरे अंदर फेंकेगा, वह सब मैं पानीके ऊपर धारण करूँगा। वही आपके लिये सेतु (पुल) हो जायगा, उसीके द्वारा आप रावणपालित लंकामें सेनासहित जाइये।

यों कहकर समुद्र अन्तर्धान हो गया। तब श्रीरामचन्द्रजीने नलसे कहा—'महामते! तुम समुद्रमें पुल बनाओ; क्योंकि तुममें यह कार्य करनेकी शक्ति है।' उस समय नलने धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'भगवन्! मैं अगाध समुद्रमें सेतुका निर्माण करूँगा। मन्दराचल पर्वतपर विश्वकर्माने मेरी माताको वरदान दिया था कि तुम्हारा पुत्र मेरे समान शिल्पकर्ममें निपुण होगा। अतः समस्त श्रेष्ठ वानर आज ही सेतु बाँधना आरम्भ कर दें।' तब श्रीरामचन्द्रजीके भेजे हुए अतिशय बलवान् वानर पर्वत, गिरिशिखर, लता, तृण तथा वृक्षोंको उठा-उठाकर लाने लगे। वे सभी गरुड़के समान वेगवान् तथा विशालकाय वानर थे। नलने समुद्रके बीचमें बहुत बड़ा पुल

तैयार किया, जो दस योजन चौड़ा और सौ

योजन लंबा था। इस प्रकार सीतावल्लभ श्रीरामने विश्वकर्मापुत्र वानरराज नलके द्वारा इस सेतुका निर्माण कराया। उस सेतुपर पहुँचकर सम्पूर्ण पातकी मनुष्य सब प्रकारके पातकोंसे मुक्त हो जाते हैं। श्रीरामचन्द्रजीने लंकामें जानेकी इच्छासे वानरोंद्वारा उस पवित्र पापनाशक सेतुका जहाँ प्रारम्भ कराया, वह स्थान आगे चलकर लोगोंमें दर्भशयनके नामसे प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार समुद्रमें सेतुबन्धनकी कथा कही गयी। वहाँ अनेक पवित्र तीर्थ हैं, जिनमें चौबीस तीर्थ प्रधान हैं। वे सब सेतुपर ही स्थित हैं। पहला चक्रतीर्थ है, दूसरा वेतालवरदतीर्थ और तीसरा पापविनाशनतीर्थ है, जो सब लोकोंमें विख्यात है। उसके बाद सीतासरोवर नामक पुण्यतीर्थ है। तत्पश्चात् मंगलतीर्थ है। मंगलतीर्थके अनन्तर सब पापोंका नाश करनेवाली अमृतवापिका है। फिर ब्रह्मकुण्ड, हनुमत्कुण्ड, अगस्त्यतीर्थ, रामतीर्थ, लक्ष्मणतीर्थ, जयतीर्थ, लक्ष्मीतीर्थ, अग्नितीर्थ, चक्रतीर्थ, शिवतीर्थ, शंखतीर्थ, यामुनतीर्थ, गंगातीर्थ, गयातीर्थ, कोटितीर्थ, साध्यामृततीर्थ, मानसतीर्थ तथा धनुष्कोटितीर्थ है। विप्रवरो! ये सेतुके मध्यमें स्थित प्रधान-प्रधान तीर्थ बताये गये हैं, जो सब पापोंका अपहरण करनेवाले हैं। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक इस प्रसंगको पढ़ता और सुनता है, वह अनन्त विजय प्राप्त करता है तथा परलोकमें भी उसे पुनर्जन्मका क्लेश नहीं उठाना पड़ता।

## चक्रतीर्थका माहात्म्य—गालवमुनि तथा धर्मकी तपस्याका वर्णन

**ऋषि बोले**—आपने पापनाशक सेतुपर स्थित जिन चौबीस तीर्थोंके नाम बताये हैं, उनमें सबसे पहले तीर्थका नाम चक्रतीर्थ कैसे हुआ?

**श्रीसूतजीने कहा**—विप्रवरो! चौबीस प्रधान तीर्थोंमें जो आदितीर्थ बताया गया है, वह सब लोकोंमें विख्यात है। उसकी चक्रतीर्थके नामसे प्रसिद्धि क्यों हुई, यह बात बता रहा हूँ, सुनो। जो स्थान सेतुका मूल कहा गया है, वही दर्भशयनतीर्थ है। वहींपर महापातकोंका नाश करनेवाला चक्रतीर्थ है। पूर्वकालमें वहाँपर गालव नामसे प्रसिद्ध एक वैष्णव महात्मा रहते थे। वे दक्षिण समुद्रके तटपर हालास्यसे थोड़ी दूरपर फुल्लग्रामके समीप क्षीरसरोवरके निकट धर्मपुष्करिणीके किनारे बड़ी भारी तपस्या करते थे। उनका स्वभाव दयालु था, वे सत्यवादी और जितेन्द्रिय थे और उन्होंने आहारका सर्वथा त्याग कर दिया था। वे सब प्राणियोंको अपने ही समान देखते हुए विषयकी स्पृहासे रहित, सब प्राणियोंके हितैषी, मनको वशमें रखनेवाले तथा सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे दूर थे। कुछ वर्षोंतक तो वे सूखे पत्ते चबाकर रहे, फिर कुछ समयतक उन्होंने केवल जलका आहार किया। तत्पश्चात् कुछ वर्षोंतक वे वायु पीकर रहे। इस प्रकार उन महामुनिने बड़ी कठोर तपस्या की। कितने ही वर्षोंतक वे बिना खाये, बिना किसीकी ओर

देखे, बिना श्वास लिये और बिना आश्रयके रहे। वर्षा-ऋतुमें आकाशसे गिरती हुई पानीकी धाराका कष्ट सहन करते, सर्दीकी रातमें जलके भीतर खड़े रहते और गरमीके समय पंचाग्नि सेवन करते हुए भगवान् विष्णुके ध्यानमें तत्पर रहते थे। मुखसे अष्टाक्षर मन्त्रका* जप और हृदयमें भगवान् विष्णुका ध्यान करते हुए वे महातेजस्वी गालव मुनि तपस्यामें संलग्न रहे। इस प्रकार कितने ही वर्ष बीतनेपर भगवान् लक्ष्मीपतिने उनकी तपस्यासे सन्तुष्ट हो उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया। भगवान्ने अपने हाथोंमें शंख, चक्र और गदा आदि धारण कर रखे थे, उनके नेत्र विकसित कमलदलके समान सुशोभित थे, उनका तेज कोटि सूर्योंके समान था, वे गरुड़की पीठपर आरूढ़ थे, उनके सिरपर छत्र और पार्श्वभागमें डुलाये जाते हुए चवँरकी शोभा हो रही थी। वे हार, भुजबन्द, मुकुट और कड़े आदि आभूषणोंसे विभूषित थे, विष्वक्सेन तथा सुनन्द आदि पार्षद उन्हें सब ओरसे घेरकर खड़े थे। भगवान् अपनी मन्द मुसकानसे त्रिभुवनके मनको मोहित किये लेते थे तथा अपनी दिव्य कान्तिसे समस्त पदार्थों एवं दसों दिशाओंको प्रकाशित कर रहे थे। कण्ठमें धारण की हुई कौस्तुभमणिसे उनकी बड़ी शोभा हो रही थी।

उस समय उन पीताम्बरधारी भगवान् विष्णुको देखकर महामुनि गालव बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने बड़ी भक्तिसे भगवान् जगदीश्वरका स्तवन किया—'शंख, चक्र तथा गदा धारण करनेवाले देवाधिदेव भगवान् विष्णुको नमस्कार है। नित्य शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीनारायणको नमस्कार है। भक्तोंकी पीड़ाका नाश करनेवाले हव्य-कव्यस्वरूप आप यज्ञपुरुषको नमस्कार है। जगत्की सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले आप ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूप त्रिमूर्तिको नमस्कार है। आप परमेश्वरको नमस्कार है। सर्वव्यापी प्रभुको नमस्कार है। जगत्की रचना करनेवाले आप लक्ष्मीपतिको नमस्कार है। सूर्य और चन्द्रमारूपी नेत्रोंवाले आप भगवान्को नमस्कार है। ब्रह्मा आदि देवताओंसे वन्दित आप भगवान् विष्णुको नमस्कार है। जो नाम और जाति आदि भेदोंसे रहित तथा समस्त दोषोंसे वर्जित हैं, समस्त संसारका भय दूर करनेवाले उन दैत्यविनाशक विष्णुको नमस्कार है। जो वेदान्तवेद्य परमेश्वर हैं, वैकुण्ठधाममें जिनका निवास है, जो ब्रह्माजीके पिता हैं, भक्तजनोंके दुःखोंका तत्काल नाश करनेवाले हैं, उन अमित पराक्रमी भगवान् नारायणको नमस्कार है। शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले आप भगवान् वासुदेवको नमस्कार है। शेषनागकी शय्यापर शयन करनेवाले आप भगवान् नारायणको बार-बार नमस्कार है।'

इस प्रकार महात्मा गालवकी की हुई स्तुति सुनकर भगवान्ने प्रसन्न हो उन्हें चारों हाथोंसे खींचकर छातीसे लगा लिया और प्रेमपूर्वक कहा—'गालव! मैं तुम्हारी तपस्या और इस स्तुतिसे बहुत सन्तुष्ट हूँ तथा वर देनेके लिये आया हूँ।' गालवने कहा—'नारायण! रमानाथ! पीताम्बर! जगन्मय! जनार्दन! जगद्धाम! गोविन्द! नरकान्तक! मैं आपके दर्शनमात्रसे सर्वाधिक कृतार्थ हो गया। इससे अधिक दूसरा वर क्या हो सकता है। जिन्हें योगी नहीं देख पाते, कर्मठ लोग भी जिनका दर्शन नहीं कर पाते, उन्हीं परमात्माका आज मैं साक्षात् दर्शन कर रहा हूँ। इससे अधिक दूसरा वर क्या हो सकता है। जगत्पते! जनार्दन! मैं इतनेसे ही कृतार्थ हो गया। जिनके नामोंका स्मरण करनेमात्रसे महापातकी भी मुक्तिको प्राप्त होते हैं, उन्हीं भगवान् विष्णुको मैं यहाँ प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। प्रभो! आपके युगल चरणारविन्दोंमें मेरी अविचल भक्ति हो।'

**भगवान् विष्णुने कहा**—गालव! मुझमें तुम्हारी दृढ़ एवं निष्काम भक्ति हो। प्रारब्धके फलस्वरूप

* 'ॐ नमो नारायणाय' यह अष्टाक्षर मन्त्र है।

इस शरीरका अन्त होनेपर तुम्हें मेरे स्वरूपकी प्राप्ति होगी। मुनिश्रेष्ठ! तुम इसी पवित्र आश्रमपर निवास करो। यह धर्मपुष्करिणी पुण्यमयी एवं पापनाशिनी है। इसके किनारे तप करनेवाला मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है। पूर्वकालमें धर्मराजने यहाँ आकर दक्षिण समुद्रके तटपर महादेवजीका चिन्तन करते हुए तपस्या की थी। इसीसे यह धर्मपुष्करणीके नामसे प्रसिद्ध है। धर्मराजकी तपस्यासे प्रसन्न हो शूलपाणि भगवान् महेश्वर अपनी प्रभासे दसों दिशाओंको प्रकाशित करते हुए प्रकट हुए। तब धर्मने उनकी इस प्रकार स्तुति की—'मैं जगत्के स्वामी ॐकारस्वरूप ईश्वरको नमस्कार करता हूँ। समस्त देवता जिनके स्वरूप हैं, जो आदि, मध्य और अन्तसे रहित हैं, जिनके नेत्र भयंकर हैं, उन विश्वरूप ऊर्ध्वरेता भगवान् शंकरको मैं नमस्कार करता हूँ। जो सम्पूर्ण जगत्के आधार, अनन्त, अजन्मा और अविनाशी हैं, योगीश्वर जिनको सदा प्रणाम करते हैं, उन पुष्टिवर्द्धक भगवान् शिवको मैं प्रणाम करता हूँ। जो समस्त लोकोंके स्वामी हैं, उन भगवान् महादेवको नमस्कार है। जिनके कण्ठमें नील चिह्न है, जो समस्त पशुओं (जीवों) के पालन करनेवाले पति हैं, उन भगवान् महेश्वरको बार-बार नमस्कार है। समस्त पापोंका नाश करनेवाले भगवान् शंकरको नमस्कार है। समस्त कामनाओंकी वर्षा करनेवाले महेश्वरको नमस्कार है। रुद्रदेवको नमस्कार है। सर्पोंको प्रश्रय देनेवाले शिवको नमस्कार है। उत्कृष्ट चित्तवाले प्रचेता (वरुण) रूप शम्भुको नमस्कार है। हाथोंमें पिनाक और त्रिशूल धारण करनेवाले आपको बार-बार नमस्कार है। चैतन्यरूप शिवको नमस्कार है। पुष्टिपालक महेश्वरको नमस्कार है। समस्त क्षेत्रों (शरीरों) के स्वामी भगवान् पंचानन शिवको नमस्कार है।'

**इस प्रकार स्तुति करनेपर लोककल्याणकारी भगवान् शंकरने कहा**—महामते धर्म! मैं तुम्हारे इस स्तोत्रसे बहुत प्रसन्न हूँ, तुम मुझसे वर माँगो।

**धर्मने कहा**—पार्वतीपते! मैं सदा आपका वाहन होऊँ।

**शिवजीने कहा**—धर्म! तुम सदैव मनुष्योंसे पूजित हो, तुम मेरे वाहन बनो। तुम्हारा सेवन करनेवाले मनुष्योंकी मुझमें सदैव भक्ती बनी रहेगी और तुमने दक्षिण समुद्रके तटपर जो तीर्थ बनाया है, वह धर्मपुष्करिणीके नामसे प्रसिद्ध होगा।

इस प्रकार उस धर्मतीर्थके लिये वर देकर भगवान् शंकर वृषभरूपधारी धर्मपर आरूढ़ हो कैलास पर्वतपर चले गये। महर्षि गालव! तुम भी इस धर्मपुष्करिणीके किनारे तपस्या करते हुए तबतक निवास करो, जबतक कि तुम्हारे शरीरका अन्त न हो जाय।

ऐसा कहकर भगवान् विष्णु वहीं अन्तर्धान हो गये। तब मुनिश्रेष्ठ गालव धर्मपुष्करिणीके तटपर भगवान् विष्णुके ध्यानमें तत्पर हो निवास करने लगे। किसी समय माघ मासमें शुक्ल पक्षकी एकादशीको उपवास करके उन्होंने रात्रिमें जागरण किया और दूसरे दिन द्वादशीको धर्मपुष्करिणीके जलमें स्नान करके सन्ध्या-वन्दनपूर्वक नित्य कर्मोंका अनुष्ठान किया। तत्पश्चात् भगवान् विष्णुकी पूजा सम्पन्न करके उन्होंने इस प्रकार स्तवन किया—

**गालव बोले**—सहस्रों मस्तक धारण करनेवाले भगवान् विष्णुको मैं नमस्कार करता हूँ। मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, श्रीकृष्ण तथा कल्किरूप धारण करनेवाले भगवान् विष्णुको मैं प्रणाम करता हूँ। जो प्रणतजनोंकी पीड़ाका नाश करनेवाले और समस्त प्राणियोंके आधार हैं, उन आधारशून्य वासुदेव भगवान् जनार्दनको मैं प्रणाम करता हूँ। जो सर्वज्ञ, सबके कर्ता, सच्चिदानन्द-स्वरूप, तर्कके अविषय एवं नामनिर्देशसे रहित हैं, उन भगवान् जनार्दनको मैं प्रणाम करता हूँ।

सुदर्शनचक्रके द्वारा गालवमुनिकी रक्षा

इस प्रकार स्तुति करते हुए महायोगी गालव मुनि धर्मपुष्करिणीके तटपर ध्यानमग्न होकर बैठे। इसी समय कोई भयंकर राक्षस क्षुधासे पीड़ित हो गालव मुनिको खा जानेके लिये वहाँ आया। उसने गालव मुनिको बड़े वेगसे पकड़ लिया। तब गालवजीने शरणागतरक्षक, दयासागर, चक्रपाणि भगवान् नारायणको बार-बार पुकारते हुए कहा—'प्रभो! मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। परेश! परमानन्द! शरणागतपालक! करुणासिन्धो! मेरी रक्षा कीजिये। लक्ष्मीकान्त! हरे! विष्णो! वैकुण्ठ! गरुड़ध्वज! मेरी रक्षा कीजिये। दामोदर! जगन्नाथ! हिरण्यकशिपुमर्दन! प्रह्लादकी भाँति मेरी रक्षा कीजिये।'

इस प्रकार स्तुति करते हुए अपने भक्त गालव मुनिके भयको जानकर चक्रपाणि भगवान् विष्णुने भक्तकी रक्षाके लिये अपने चक्रको प्रेरित किया। भगवान्‌का भेजा हुआ वह चक्र धर्मपुष्करिणीके तटपर बड़े वेगसे आया। सुदर्शनचक्रको आया देख राक्षस वहाँसे भागा। किंतु ज्वालामालाओंसे मण्डित उस चक्रने भागते हुए राक्षसका मस्तक सहसा धड़से अलग कर दिया!

**तब गालवजीने सुदर्शन चक्रकी इस प्रकार स्तुति की**—सम्पूर्ण विश्वकी रक्षाका व्रत लेनेवाले चक्र! तुम्हें नमस्कार है। भगवान् नारायणके करकमलोंको विभूषित करनेवाले तुम सुदर्शनको नमस्कार है। महान् गर्जना करनेवाले सुदर्शन! तुम युद्धमें असुरोंका संहार करनेमें प्रवीण हो, भक्तोंकी पीड़ाका नाश करनेवाले तुम्हें नमस्कार है। मैं भयसे उद्विग्न हूँ, तुम समस्त कल्मषोंसे मेरी रक्षा करो। स्वामिन्! प्रभो! सुदर्शन! तुम सदा मुक्तिकी इच्छा रखनेवाले जगत्‌के हितके लिये इस तीर्थमें निवास करो।

**महर्षि गालवके ऐसा कहनेपर भगवान् विष्णुके उस चक्रने अपने सौहार्दसे उन्हे प्रसन्न करते हुए-से कहा**—गालवजी! यह महापुण्यमय, परम उत्तम धर्मतीर्थ है। मैं इसमें सम्पूर्ण लोकोंके हितके लिये सदैव निवास करूँगा। तुम सदा भगवान् विष्णुके भक्त बने रहोगे। मेरे निवाससे यह धर्मपुष्करिणी अब चक्रतीर्थके नामसे प्रसिद्ध होगी। जो मनुष्य इस मुक्तिदायक चक्रतीर्थमें निवास करेंगे, उनके कुलमें पैदा हुए सभी पुरुष पापरहित होकर भगवान् विष्णुके परम धामको जायँगे। गालव! जो लोग यहाँ पितरोंके लिये पिण्ड देते हैं, वे स्वर्गमें जाते हैं और उनके पितर भी यहाँ तृप्त होते हैं।

यों कहकर भगवान् विष्णुका वह चक्र गालव मुनिके देखते-देखते सहसा उस पापनाशिनी धर्मपुष्करिणीमें समा गया। तबसे धर्मतीर्थकी चक्रतीर्थके नामसे प्रसिद्धि हुई। यह प्रसंग मैंने तुम सब लोगोंको सुनाया। जो मनुष्य धर्मतीर्थ, उग्र समाधियोगमें स्थित गालव मुनि तथा सुदर्शनचक्रका एक बार स्मरण करता है, वह कभी पापका भागी नहीं होता।

## सेतुबन्धन आरम्भ करनेकी बात तथा सेतुयात्राका क्रम एवं विधान

**श्रीसूतजी कहते हैं**—मुनीश्वरो! जहाँ जानकी-वल्लभ रघुकुलशिरोमणि श्रीरामचन्द्रजीने नौ पत्थरोंकी स्थापना करके पहले-पहल समुद्रमें सेतु बाँधा था, वहींपर देवीपत्तन नामक नगर है। उसीके एक किनारेपर चक्रतीर्थ है।

भगवान् श्रीरामने शुभ मुहूर्तमें अच्छे दिनको देवीपत्तनसे कार्य प्रारम्भ किया। उन्होंने प्रारम्भमें गणेशजीकी पूजा करके महादेवजीकी आज्ञा ले अपने हाथसे प्रसन्नतापूर्वक नौ प्रस्तरोंकी स्थापना की। इस प्रकार उनके द्वारा सेतुबन्धनका कार्य प्रारम्भ होनेपर वानरलोग पर्वत, शाखायुक्त वृक्ष, शिलाखण्ड, काष्ठसमूह और तृणराशि एकत्र

करके लाने लगे। नलने उन सबको लेकर महासागरमें सेतु निर्माण किया। उन्होंने पाँच ही दिनमें लंकाके समीपतक पुल बाँध दिया। उसकी लंबाई सौ योजन और चौड़ाई दस योजन थी। इस प्रकार नलके द्वारा वह पापनाशक पुण्यमय सेतु तैयार किया गया। देवीपुरके निकट जो नौ पत्थर गड़े हैं, वे ही सेतुके मूल हैं। मनुष्य वहाँ अपने पापकी शुद्धिके लिये स्नान करे। फिर चक्रतीर्थमें स्नान करके सेतुके स्वामी श्रीहरिका पूजन करे। देवीपत्तनसे लेकर जो सेतु बाँधा गया है, उसके कारण वह यथार्थरूपसे सेतुमूल कहलाता है। सेतुका पश्चिम किनारा दर्भशयनतीर्थ कहा गया है और पूर्व किनारा देवीपत्तन। ये दोनों ही सेतुके मूल हैं। दोनोंको ही परम पवित्र, पुण्यजनक एवं पापनाशक कहा गया है। जो मनुष्य जिस मार्गसे जिस (पूर्व या पश्चिम) सेतुमूलको जायँ, वे उसी मार्गसे उस मोक्षदायक सेतुमूलमें स्नान करके फिर चक्रतीर्थमें स्नान करें। तत्पश्चात् संकल्पपूर्वक सेतुबन्धतीर्थको जायँ। प्रसन्नतापूर्वक श्रीरामचन्द्रजीका हृदयमें ध्यान करते हुए सबसे पहले सेतुको नमस्कार करें। सेतुवन्दनका मन्त्र इस प्रकार है—

**रघुवीरपदन्यासपवित्रीकृतपांसवे ।**
**दशकण्ठशिरश्छेदहेतवे सेतवे नमः॥**
**केतवे रामचन्द्रस्य मोक्षमार्गैकहेतवे।**
**सीताया मानसाम्भोजभानवे सेतवे नमः॥**

'श्रीरघुवीरके चरण रखनेसे जिसकी धूलि परम पवित्र हो गयी है, जो दशग्रीव रावणके शिरश्छेदका एकमात्र हेतु है, उस सेतुको नमस्कार है। जो मोक्षमार्गका प्रधान हेतु तथा श्रीरामचन्द्रजीके सुयशको फहरानेवाला केतु (ध्वज) है और सीताजीके हृदयकमलको विकसित करनेके लिये सूर्यदेवके समान है, उस सेतुको नमस्कार है।'

इस मन्त्रसे सेतुको साष्टांग प्रणाम करके परम शक्तिशाली वेतालवरद नामक तीर्थको जायँ। जो मनुष्य चक्रतीर्थके दक्षिण भागमें स्थित इस वेतालवरद नामक तीर्थमें कभी स्नान करते हैं, वे जीवन्मुक्त होते हैं। यहाँ संकल्पपूर्वक स्नान करके पितरोंको पिण्ड देना चाहिये। वेतालवरदमें स्नान करनेके पश्चात् मनुष्य धीरे-धीरे गन्धमादन पर्वतको जाय। वह पर्वत समुद्रमें सेतुके रूपमें विद्यमान है। उस सेतुरूप गन्धमादनपर्वतकी इस प्रकार प्रार्थना करे—'परमपुण्यमय गन्धमादनपर्वत! तुम्हें सब देवता नमस्कार करते हैं। विष्णु आदि देवता भी तुम्हारा सेवन करते हैं। नगश्रेष्ठ! उसी तुम्हारे शिखरपर मैं पैरोंसे चलूँगा, मेरे चरणोंसे तुम्हारे ऊपर आघात होगा। मुझ पापात्माके अपराधको कृपापूर्वक क्षमा करो और तुम्हारे शिखरपर निवास करनेवाले भगवान् शंकरका मुझे दर्शन कराओ।' इस प्रकार प्रार्थना करके उस श्रेष्ठ पर्वतपर धीरे-धीरे पैर रखते हुए चले। वहाँ समुद्रमें स्नान करके गन्धमादन पर्वतपर मनुष्य यदि सरसोंभर भी पिण्डदान करे, तो उससे प्रलयकालतक पितर तृप्त रहते हैं। तत्पश्चात् वहाँ सब तीर्थोंमें उत्तम, जो पापविनाशन नामक महातीर्थ है, उसका दर्शन करनेके लिये जाय। वहाँ पहुँचकर शरीरके मलोंका नाश करनेवाले उस तीर्थमें स्नान करे। वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य वैकुण्ठधाममें जाता है।

## सीतासरोवर और मंगलतीर्थका माहात्म्य, राजा मनोजवकी कथा

**श्रीसूतजी कहते हैं**—सब पापोंका नाश करनेवाले पापनाशनतीर्थमें स्नान करनेके पश्चात् मनुष्य यम-नियमका पालन करते हुए सीतासरोवरमें स्नान करनेके लिये जाय। श्रीरामचन्द्रजीको अपने सतीत्वका विश्वास दिलानेके लिये जब जनकनन्दिनी सीताने सम्पूर्ण देवताओंके समीप प्रज्वलित अग्निमें

प्रवेश किया और सब अंगोंसे सुशोभित एवं पवित्र रूपसे वे उस अग्निसे बाहर निकलीं, तब लोकरक्षाके लिये उन्होंने अपने नामसे एक उत्तम तीर्थ निर्माण किया तथा स्वयं भी उसमें स्नान किया। इसलिये उस तीर्थका नाम सीतासरोवर हुआ। उसमें जो मनुष्य स्नान करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको पाता है। विप्रवरो! उस तीर्थमें अवगाहन करके अनेक प्रकारके दान देकर एवं बहुत दक्षिणावाले यज्ञोंका अनुष्ठान करके मनुष्य परमेश्वरके परम धामको जाता है।

महापवित्र सीताकुण्डमें स्नान करके मनुष्य एकाग्रचित्त हो मंगलतीर्थकी यात्रा करे। वहाँ भगवान् विष्णुकी प्यारी पत्नी लक्ष्मीजी सदा निवास करती हैं। पूर्वकालमें मनोजव नामसे प्रसिद्ध एक चन्द्रवंशी राजा हो गये हैं। उन्होंने प्रतिवर्ष यज्ञोंद्वारा देवताओंको, अन्नराशिसे ब्राह्मणोंको तथा श्राद्धसे पितरोंको तृप्त किया। वे निरन्तर वेदोंका स्वाध्याय किया करते थे। इस प्रकार राजा मनोजव धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन करते थे। उनके शासनकालमें उस राज्यमें एक भी शत्रु नहीं रह गया था, इससे राजाके मनमें अहंकार उत्पन्न हो गया। जहाँ अहंकार होता है, वहाँ लोभ, मद, काम, क्रोध, हिंसा तथा मोहमें डालनेवाली असूया—ये सभी प्रकट हो जाते हैं। और जिस पुरुषमें ये उत्पन्न होते हैं, वह पुत्र-पौत्र तथा सम्पत्तियोंके साथ प्राणोंसे भी हाथ धो बैठता है। उस राजाके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि मैं ब्राह्मणोंके गाँवोंमें कर लगाऊँगा। मनसे ऐसा निश्चय करके उसने वही किया। शिव और विष्णु आदि देवताओंके भी धन उसने ले लिये। अहंकारने उसकी विवेक-बुद्धिको नष्ट कर दिया था। इसलिये उसने ब्राह्मणोंके खेत छीन लिये थे। इस दुष्कर्मका परिणाम यह हुआ कि एक बलवान् शत्रुने आकर उसके नगरको घेर लिया। रणदेशके राजा गोलभ ही उसके शत्रु बन बैठे। गोलभने चतुरंगिणी सेनाके साथ आक्रमण किया। दुरात्मा मनोजवका गोलभके साथ छः महीनेतक युद्ध चलता रहा। अन्तमें गोलभकी जीत हुई। मनोजव पराजित होकर राज्यसे वंचित हो गया। उसने अपनी स्त्री और पुत्रके साथ वनका आश्रय लिया। गोलभ उस राज्यका पालन करते हुए दीर्घकालतक मनोजवपुरमें टिके रहे। इधर एक दिन मनोजवका बालक पुत्र क्षुधासे पीड़ित हो माता-पितासे खानेके लिये अन्न माँगने लगा—'पिताजी! मुझे खानेको दो। मा! मुझे भोजन दो, बहुत भूख लगी है।' पुत्रका यह करुणाजनक वचन सुनकर माता-पिता शोकसे पीड़ित हो सहसा मूर्छित हो गये। कुछ चेत होनेपर राजाने अपनी स्त्रीसे कहा—'सुमित्रे! मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? मेरी क्या गति होगी? मेरा यह पुत्र भूखसे पीड़ित होकर थोड़ी ही देरमें मर जायगा। हाय! मैंने ब्राह्मणोंके खेत छीन लिये, विष्णु और शिव आदि देवताओंके धनका हरण कर लिया। इस प्रकार दुष्कर्मकी अधिकताके कारण ही गोलभने मुझे परास्त किया है। मेरे पास अन्नका एक दाना भी नहीं है। मैं निर्धन हूँ, दुःखी हूँ और स्वयं भी भूखा-प्यासा हूँ। इस समय इस भूखे बालकको कैसे अन्न दूँगा?'

इस प्रकार विलाप करता हुआ राजा मनोजव अत्यन्त खिन्न हो पृथ्वीपर गिर पड़ा और मूर्छित हो गया। सुमित्रा पतिको इस प्रकार गिरा हुआ देख उसे हृदयसे लगाकर विलाप करने लगी। उसी समय मुनिवर पराशरजी स्वेच्छासे घूमते हुए वहाँ आ गये। उन्हें देखकर पतिव्रता सुमित्राने पुत्रसहित उठकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। पराशरजीने सुमित्राको आश्वासन देते हुए पूछा—'सुन्दरी! तुम कौन हो? यह कौन तुम्हारे आगे पड़ा हुआ है और यह बालक कौन है?'

**पतिव्रता सुमित्रा बोलीं**—मुनिश्रेष्ठ! ये मेरे

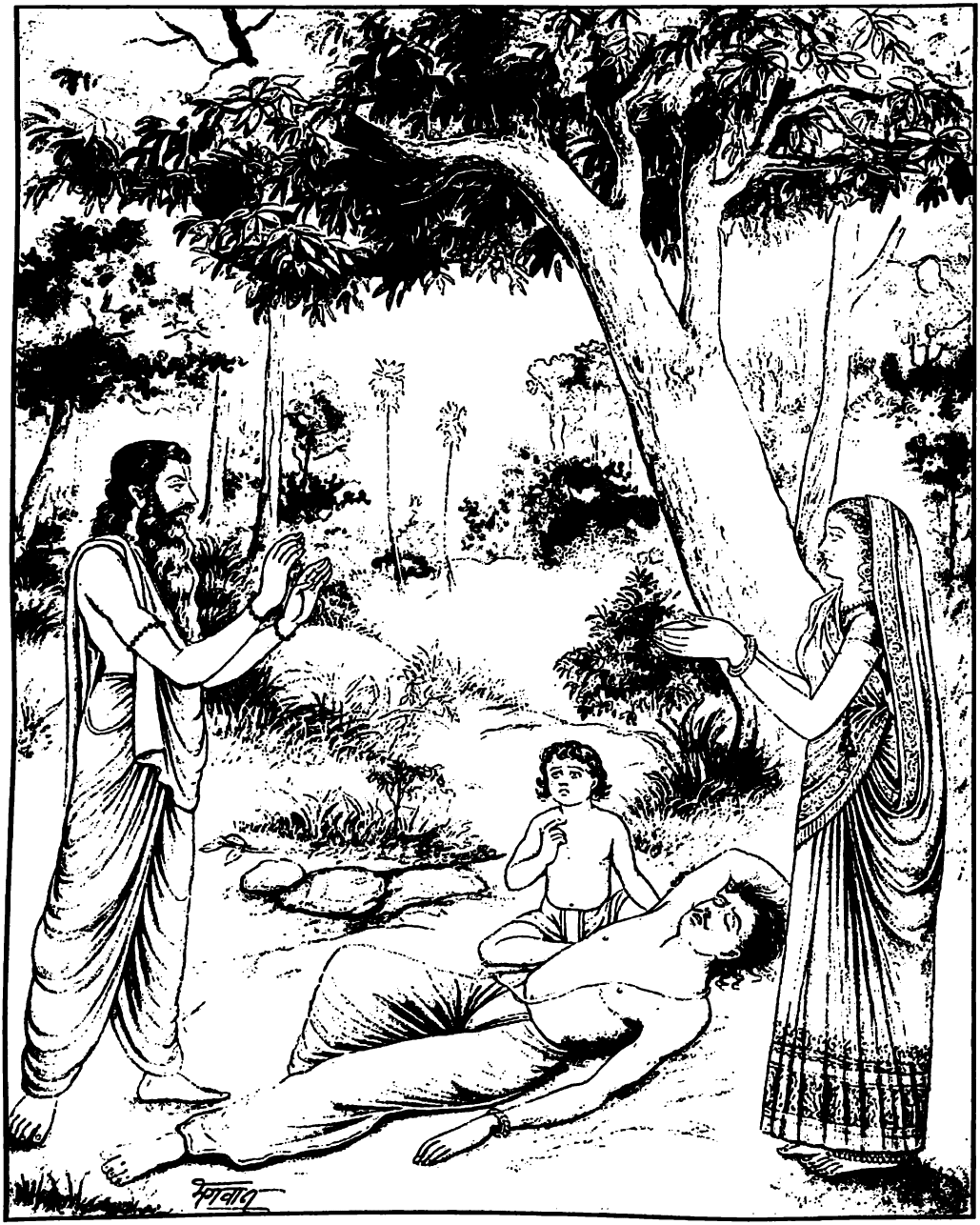

रानी सुमित्राके द्वारा अपने पति और पुत्रकी दशाका वर्णन

पति हैं। हम दोनोंसे उत्पन्न यह चन्द्रकान्त हमारा पुत्र है। मेरे पतिदेव चन्द्रवंशी राजा मनोजव हैं। ये विक्रमाढ्यके पुत्र हैं। मैं इनकी पतिव्रता पत्नी सुमित्रा हूँ। गोलभने राजा मनोजवको युद्धमें परास्त किया है। ये राज्यसे भ्रष्ट हो अवलम्बशून्य होकर पत्नी और पुत्रके साथ इस भयंकर वनमें चले आये हैं। यहाँ मेरे भूखे पुत्रने हम दोनोंसे भोजन माँगा है। राजा अन्नहीन होनेके कारण पुत्रको क्षुधासे व्याकुल देख शोकसे मूर्छित हो गिर पड़े हैं।

**रानीकी यह बात सुनकर दयालु पराशर मुनिने कहा**—सुमित्रे! तुमको किसी प्रकारका भय नहीं होना चाहिये। अब तुमलोगोंका अमंगल शीघ्र ही नष्ट हो जायगा। यों कहकर मन्त्र-जप करते हुए भगवान् शंकरका ध्यान करके पराशरजीने अपने हाथसे राजाका स्पर्श किया। महामुनिके हाथका स्पर्श पाते ही राजा मनोजव मूर्च्छा त्यागकर सहसा उठ बैठे और पराशर मुनिको प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले—'मुने! आज आपके चरणकमलोंके सेवनसे मेरी मूर्च्छा शीघ्र ही दूर हो गयी और मेरे सब पातकोंका भी नाश हो गया। जो पुण्यात्मा नहीं है, उसको आपका दर्शन कदापि नहीं हो सकता। मुझे शत्रुओंने अपने नगरसे बाहर निकाल दिया है। आप अपनी कृपादृष्टिसे देखकर मेरी रक्षा कीजिये।'

**पराशरजी बोले**—राजन्! तुम्हें शत्रुपर विजय पानेके लिये मैं एक उपाय बतलाता हूँ। परम पुण्यमय गन्धमादन पर्वतपर जहाँ श्रीरामचन्द्रजीका परम पुण्यमय सेतु है, वहाँ सब ऐश्वर्योंको देनेवाला मंगलतीर्थ विद्यमान है। उस सरोवरमें सब लोगोंका उपकार करनेके लिये रघुनाथजी लक्ष्मीस्वरूपा सीताजीके साथ सदैव स्थित रहते हैं। तुम पुत्र और स्त्रीसहित वहाँ जाकर भक्तिपूर्वक स्नान करो। उस तीर्थके प्रभावसे तुम्हें शीघ्र ही सब प्रकारके मंगलोंकी प्राप्ति होगी और युद्धमें शत्रुओंको जीतकर पुनः अपना राज्य प्राप्त कर लोगे।

ऐसा कहकर राजा, रानी और बालक इन तीनोंके साथ पराशर मुनि मंगलतीर्थमें स्नानके उद्देश्यसे रामसेतुपर गये। वहाँ विधिपूर्वक संकल्प लेकर मुनिश्रेष्ठ पराशरने स्वयं स्नान किया और राजा आदिसे भी विधिपूर्वक स्नान करवाया। राजा, रानी और राजकुमारने वहाँ तीन महीनेतक नियमपूर्वक स्नान किया। तत्पश्चात् मुनिने राजाको रामजीके एकाक्षर मन्त्रका, जो सब अनर्थोंका नाश करनेवाला है, उपदेश दिया। राजाने चालीस दिनोंतक विधिपूर्वक उस एकाक्षर मन्त्रका जप किया। इस प्रकार मन्त्र जपते हुए राजाके आगे एक सुदृढ़ धनुष प्रकट हुआ। दो अक्षय तरकश, सोनेकी मूठवाली दो तलवारें, एक ढाल, एक गदा, एक उत्तम मुशल, एक भयंकर शब्द करनेवाला शंख, एक घोड़ोंसे जुता हुआ रथ, सारथि, पताका, अग्निके समान प्रकाशमान सुवर्णमय कवच, हार, केयूर, मुकुट और वलय आदि आभूषण, सहस्रों दिव्य वस्त्र और दिव्य माला—ये सब वस्तुएँ उस तीर्थसे प्रकट हुईं। यह सब देखकर राजाने मुनिसे निवेदन किया। तब मुनिने तीर्थका जल लेकर उसे मन्त्रसे अभिमन्त्रित करके उसके द्वारा राजाका अभिषेक किया।

तदनन्तर राजा मनोजव कमर कसकर युद्धके लिये तैयार हुए। उन्होंने कवच, खड्ग, धनुष और बाण धारण किया। हार, केयूर, मुकुट और कंकण आदिसे विभूषित हो दिव्य वस्त्र धारणकर उस घोड़े जुते हुए रथपर बैठे। महामुनि पराशरने राजाको अंग, रहस्य, प्रयोग और उपसंहारकी विधिके साथ ब्रह्मास्त्र आदिका उपदेश दिया। राजाने रथसे उतरकर मुनिको प्रणाम किया और आशीर्वाद ले उनकी आज्ञा पाकर तथा उनकी परिक्रमा करके वे पत्नी और पुत्रके साथ विजयके लिये उस रथपर आरूढ़ हुए। नगरमें पहुँचकर राजाने शंख बजाया। शंखनाद

सुनकर गोलभ सेनाके साथ युद्धके लिये तुरंत ही बाहर निकला और मनोजवके साथ तीन दिनोंतक युद्ध करता रहा। चौथे दिन मनोजवने युद्धमें ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करके सेनासहित गोलभको नष्ट कर दिया। उसके बाद स्त्री और पुत्रसहित नगरमें आकर राजा समूची पृथ्वीका पालन करने लगा। तबसे उसने कभी अहंकार नहीं किया। असूया आदि दोषोंको त्याग दिया। अहिंसा, इन्द्रियसंयम और धर्ममें सदा तत्पर रहने लगा। इस प्रकार सहस्रों वर्षोंतक राजाने पृथ्वीका पालन किया। फिर विरक्त होकर अपने पुत्रको राज्य दे वह गन्धमादनपर्वतपर मंगलतीर्थपर चला गया। वहाँ हृदयमें भगवान् सदाशिवका ध्यान करते हुए तपस्यामें संलग्न हो गया। तदनन्तर थोड़े ही समयमें शरीर त्यागकर मनोजवने उस तीर्थके माहात्म्यसे शिवलोकको प्रस्थान किया। उसकी पत्नी सुमित्रा भी उसके शरीरका आलिंगन करके चितापर आरूढ़ हो गयी और पतिलोकको प्राप्त हुई।

इसलिये मंगलतीर्थ सर्वथा प्रयत्न करके सेवन करने योग्य है। यह तीर्थ अतिशय सुन्दर एवं कल्याणमय है। मनुष्योंको सदा भोग और मोक्ष देनेवाला है। पापराशिरूपी तिनकों और रूईके ढेरको जलानेके लिये अग्निके समान है। इसका मोक्षके लिये सब लोग सेवन करो।

## एकान्तरामनाथ, ब्रह्मकुण्ड, हनुमत्कुण्ड और अगस्त्यतीर्थका माहात्म्य

**श्रीसूतजी कहते हैं**—मंगल नामक महातीर्थमें स्नान करके पापरहित हुआ मनुष्य 'एकान्तरामनाथ' नामक उत्तम क्षेत्रमें जाय। वहाँ समस्त लोगोंपर अनुग्रह करनेकी इच्छासे जगदीश्वर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सीता, लक्ष्मण तथा हनुमान् आदि वानरोंके साथ सदा निवास करते हैं। वहाँ 'अमृतवापिका' नामक एक पुण्यदायिनी पुष्करिणी है, जिसमें गोता लगानेवाले मनुष्योंको जरा और मृत्युका भय नहीं होता। जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक उस अमृतवापीमें स्नान करता है, वह भगवान् शंकरके प्रसादसे अमृतत्वको प्राप्त होता है। जो मनुष्य इस तीर्थमें सावधान होकर तीन वर्षोंतक स्नान करते हैं, वे मोक्षको प्राप्त होते हैं।

**ऋषियोंने पूछा**—सूतजी! उस क्षेत्रका नाम 'एकान्तरामनाथ' कैसे हुआ?

**श्रीसूतजी बोले**—पूर्वकालमें दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजी सुग्रीव, विभीषण, लक्ष्मण और मन्त्रज्ञ हनुमान् इन सबके साथ वानरोंद्वारा बाँधे हुए सेतुपर समुद्रके बीचमें एकान्त प्रदेशमें मन-ही-मन सीताका चिन्तन करते हुए कुछ सलाह करने लगे। उस समय समुद्र अपनी उत्ताल तरंगोंके साथ जोर-जोरसे गर्जना करने लगा। उसकी भयंकर ध्वनि बढ़ती ही चली जाती थी। इसलिये वे परस्परकी बातचीतको सुन नहीं पाते थे। तब श्रीरामचन्द्रजीने समुद्रको बलपूर्वक काबूमें करके राक्षसोंको मारनेके विषयमें एकान्तमें उन सबके साथ परामर्श किया। इसीलिये उस क्षेत्रका नाम 'एकान्तरामनाथ' हो गया। उस स्थानपर आज भी समुद्रका जल निश्चल एवं शान्त दिखायी देता है। जो मनुष्य वहाँ जाकर अमृतवापीमें नियमपूर्वक स्नान करेंगे और श्रीराम आदिकी सेवामें तत्पर होंगे, वे सब मुक्तिको प्राप्त होंगे।

अमृतवापीमें स्नान और एकान्तरामनाथका सेवन करके जितेन्द्रिय मनुष्य ब्रह्मकुण्डमें स्नान करनेके लिये जाय। गन्धमादनपर्वतपर सेतुके मध्यभागमें वह महातीर्थ ब्रह्मकुण्ड विद्यमान है। ब्रह्मकुण्डका दर्शन सब पापराशिका नाश करनेवाला है। वह लाखों ब्रह्महत्याओंका निवारण करनेवाला है। ब्रह्मकुण्डसे उत्पन्न हुए भस्मसे जो त्रिपुण्ड्र लगाते हैं, मोक्ष उनके हाथमें ही स्थित है। जो मनुष्य इस तीर्थमें आकर स्नान करते हैं, वे

अवश्य ही महादेवजीका सायुज्य प्राप्त कर लेते हैं। जो एक बार ब्रह्मकुण्डमें स्नान कर लेता है, उसके लिये मोक्षधामके द्वारके कपाट खुल जाते हैं। यह उत्तम कुण्ड देवता, मनुष्य और मुनीश्वरोंसे वन्दित, सबके संसार-बन्धनका नाश करनेवाला, शुभकारक, सर्वपापहारक तथा सम्पूर्ण मनोरथोंको देनेवाला है।

महापुण्यमय ब्रह्मकुण्डमें स्नान करनेके पश्चात् एकाग्रचित्त होकर मनुष्य हनुमत्कुण्डपर जाय। पूर्वकालमें समस्त राक्षसोंका वध हो जानेपर जब युद्ध समाप्त हो गया और श्रीरामचन्द्रजी आदि लंकासे लौटकर गन्धमादन पर्वतपर आ गये, तब पवनपुत्र हनुमान्‌जीने सब लोकोंका उपकार करनेके लिये अपने नामसे एक उत्तम तीर्थका निर्माण किया, जो सब तीर्थोंसे उत्तम है। उसमें स्नान करके मनुष्य सनातन शिवलोकको प्राप्त होते हैं। पूर्वकालमें धर्मसख नामसे प्रसिद्ध एक राजा राज्य करते थे। वे शत्रुविजयी, परम धार्मिक, प्रजापालनपरायण तथा नीतिमान् थे। उनके सौ पतिव्रता स्त्रियाँ थीं। किंतु उनसे कोई वंशकी वृद्धि करनेवाला पुत्र नहीं हुआ। तब राजाने ब्राह्मणोंसे कहा—'विप्रवरो! मैंने बहुत सोच-विचारकर सौ स्त्रियोंसे विवाह किया, उन सबके साथ रहते हुए मेरी वृद्धावस्था आ गयी। अतः आप बतावें किस उपायसे मेरे बहुत-से पुत्र होंगे? मेरी सौ स्त्रियोंमेंसे प्रत्येकको एक-एक गुणवान् पुत्र हो जाय, वह यत्न सोचिये। छोटा-बड़ा अथवा दुष्कर ही कर्म क्यों न हो, यदि उससे यह कार्य सिद्ध होनेवाला हो, तो उसे मैं अवश्य करूँगा।'

राजाके इस प्रकार पूछनेपर सब ऋत्विज् और पुरोहित एकत्र हो उनसे अपना निश्चय किया हुआ विचार प्रकट करते हुए बोले—'राजन्! कोई परम पवित्र गन्धमादन पर्वत है, जो दक्षिण समुद्रके बीच सेतुके रूपमें विद्यमान है। वहाँ लोकविख्यात हनुमत्कुण्ड है, जो बड़े भारी दुःखोंका नाश करनेवाला और स्वर्ग एवं मोक्षरूपी फल देनेवाला है। वह नरकोंके क्लेशका निवारण तथा दरिद्रताको दूर करनेवाला है। पुत्रहीन मनुष्योंको पुत्र और स्त्रीहीन पुरुषोंको स्त्री देनेवाला है। वहाँ संयमपूर्वक स्नान करके तुम एकाग्रचित्त हो उस तीर्थके तटपर पुत्रेष्टि यज्ञ करो। उससे तुम्हारी सौ स्त्रियोंमें प्रत्येकको एक-एक पुत्र प्राप्त हो सकता है।' यह सुनकर राजा धर्मसख अपनी स्त्रियों, मन्त्रियों, सेवकों और पुरोहितजीको साथ ले यज्ञकी आवश्यक सामग्रीसहित दक्षिणसमुद्रके किनारे गन्धमादन पर्वतपर गये। वहाँ हनुमत्कुण्डमें जाकर उन्होंने सैनिकोंके साथ स्नान किया। इस प्रकार वे उसके किनारे एक मासतक ठहरकर प्रतिदिन स्नान करते रहे। तत्पश्चात् वसन्त आनेपर चैत्र मासमें पुरोहितसहित राजाने पुत्रेष्टि यज्ञ प्रारम्भ किया। पुरोहित और ऋत्विजोंने विधिपूर्वक सब कर्म सम्पन्न किये। सपत्नीक राजाका जब वह यज्ञ समाप्त हुआ, तब पुरोहितने हवनसे बचे हुए हविष्यको लेकर राजाकी सब स्त्रियोंको भोजन कराया। उसके बाद राजा धर्मसखने अपनी सौ पत्नियोंके साथ यज्ञान्तस्नान किया और ऋत्विजोंको बहुत-सी दक्षिणा दी। इस प्रकार यज्ञ पूरा करके मन्त्री, परिवार और पत्नियोंके साथ वे धर्मात्मा राजा प्रसन्नतापूर्वक अपनी राजधानीको लौट आये। कुछ समयमें जब दसवाँ मास व्यतीत हो गया, तब उन सौ स्त्रियोंने सौ गुणवान् पुत्रोंको जन्म दिया। ब्राह्मणो! जब वे सब पुत्र बढ़कर युवा हुए, तब राजाने उन्हें राज्य बाँटकर दे दिया और स्वयं अपनी स्त्रियोंके साथ गन्धमादन पर्वतपर हनुमत्कुण्डके किनारे जाकर तपस्या करने लगे। भगवान् शंकरका ध्यान करते हुए तपस्यामें तत्पर हुए राजाको जब वहाँ बहुत समय व्यतीत हो गया, तब एक दिन वे मृत्युको प्राप्त हुए। उनकी पत्नियोंने

भी उन्हींका अनुसरण किया। राजाके ज्येष्ठ पुत्र सुचन्द्रने पिता-माताका दाहसंस्कार करके श्रद्धापूर्वक श्राद्धपर्यन्त सब कर्म किये। राजा पत्नियोंसहित वैकुण्ठलोकमें गये। सुचन्द्र आदि सब महातेजस्वी राजकुमार आपसमें ईर्ष्या-द्वेषका त्याग करके अपने-अपने राज्यका उपभोग करने लगे। अतः समस्त कामनाओंकी सिद्धिके लिये मनुष्य हनुमान्‌जीके कुण्डमें स्नान करे।

हनुमत्कुण्डमें स्नान करनेके पश्चात् एकाग्रचित्त होकर अगस्त्यतीर्थमें जाय। साक्षात् अगस्त्यजीने इस तीर्थका निर्माण किया है। एक समयकी बात है, अगस्त्यजी दक्षिणके देशोंमें भ्रमण करते हुए गन्धमादन पर्वतपर गये। वहाँ गन्धमादनका माहात्म्य जानकर महर्षि अगस्त्यने अपने नामसे यह महापुण्यमय तीर्थ बनाया। वे आज भी अपनी धर्मपत्नी लोपामुद्राके साथ वहाँ निवास करते हैं। उसमें स्नान और जलपान करके मनुष्य पुनर्जन्मका भागी नहीं होता।

## रामतीर्थ, लक्ष्मणतीर्थ और जटातीर्थकी महिमा

**श्रीसूतजी कहते हैं**—अगस्त्यतीर्थमें स्नान करनेके पश्चात् सब पापोंसे मुक्त होनेके लिये परम पवित्र रामकुण्डको जाय। रघुनाथजीका वह पवित्र सरोवर पुण्यदायक तथा पापोंका अपहरण करनेवाला है। रामकुण्डके किनारे किया हुआ थोड़ी दक्षिणावाला यज्ञ भी पूर्ण फल देनेवाला होता है। इसी प्रकार स्वाध्याय और जप भी थोड़ा भी हो, तो वहाँ पूर्ण फलद होता है। रामकुण्डके किनारे मुट्ठीभर अन्न भी यदि वेदज्ञ ब्राह्मणको दिया जाय, तो वह अनन्तगुना फल देनेवाला होता है। विप्रवरो! मुनिवर अगस्त्यके शिष्य एक मुनि थे, जो अपने मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते थे। उनका नाम सुतीक्ष्ण था। वे भगवान् श्रीरामके चरणारविन्दोंका चिन्तन करते हुए रामकुण्डके तटपर अत्यन्त दुष्कर तपस्या करने लगे। प्रतिदिन श्रीरामचन्द्रजीके षडक्षर मन्त्र* रूप मन्त्रराजका पाँच हजार जप करते थे। आलस्य छोड़कर रघुनाथसरोवरके जलमें स्नान करते, भिक्षाके अन्नका नियमपूर्वक आहार करते तथा क्रोधको काबूमें और इन्द्रियोंको वशमें रखते थे। इस प्रकार उनका बहुत समय व्यतीत हो गया। एक दिन सुतीक्ष्णजी सीतासहित श्रीरामका हृदयमें ध्यान करते हुए भक्तिपूर्वक उनकी स्तुति करने लगे।

**सुतीक्ष्ण बोले**—जानकीनाथ! आपको नमस्कार है। विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षाका व्रत लेनेवाले श्रीराम! आपको नमस्कार है। कौसल्यानन्दन! आपको नमस्कार है। विश्वामित्रजीके परमप्रिय! आपको प्रणाम है। शिवधनुषको भंग करनेवाले रघुवीर! आपको नमस्कार है। दशरथनन्दन विष्णो! आप परशुरामजीको जीतनेवाले हैं, आपको प्रणाम है। समुद्रके गर्वको हरनेवाले और उसमें सेतुनिर्माण करनेवाले आपको प्रणाम है।

इस प्रकार सुतीक्ष्णजी श्रीरामचन्द्रजीमें चित्त लगाकर प्रतिदिन उनकी स्तुति करते हुए समय बिताते थे। सदा श्रीरामके षडक्षर मन्त्रका जप, उनकी स्तुति और रामकुण्डमें स्नान आदि करते हुए उनकी श्रीरामचन्द्रजीमें अत्यन्त निर्मल एवं निश्चल भक्ति हो गयी। उन्हें आत्मसाक्षात्कार करानेवाला अद्वैत विज्ञान प्राप्त हुआ और बिना पढ़े हुए ही तीनों वेदोंका ज्ञान हो गया। बिना सुनी हुई बातको भी जान लेना, दूसरेके शरीरमें प्रवेश करना, आकाशमें विचरण करना, समस्त कलाओंमें निपुण हो जाना, जो शास्त्र कभी

* 'ॐ रामाय नमः' यह षडक्षर मन्त्र है।

नहीं सुने गये, उनका भी बिना गुरुके ही ज्ञान हो जाना, सब लोकोंमें बेरोक-टोक आना-जाना, इन्द्रियातीत विषयोंका भी साक्षात्कार होना, देवताओंसे वार्तालाप होना, चींटी आदि जन्तुओंकी भी बातें समझ लेना तथा ब्रह्मा, विष्णु और शिवके लोकोंमें भी चला जाना आदि जो योगियोंको प्राप्त होनेवाली एवं अन्यान्य दुर्लभ सिद्धियाँ हैं, वे सभी श्रीरामतीर्थके सेवनसे सुतीक्ष्णजीको प्राप्त हो गयीं। उस तीर्थका ऐसा ही प्रभाव है। वह बड़े-बड़े पातकोंका नाश करनेवाला है। उसके द्वारा बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। वह अपमृत्युनिवारक, भोग-मोक्षदायक तथा नरकसम्बन्धी क्लेशोंको दूर करनेवाला है। वह तीर्थ सदा श्रीरामचन्द्रजीकी भक्ति देनेवाला तथा संसारबन्धनका नाश करनेवाला है। रामतीर्थके तटपर समस्त लोकोंपर अनुग्रहकी इच्छासे महान् शिवलिंग प्रकट हुआ है। उस तीर्थमें स्नान करके उक्त शिवलिंगका दर्शन करनेसे मनुष्योंको मोक्षतक प्राप्त हो जाता है, फिर अन्य विभूतियोंकी तो बात ही क्या है?

तारकब्रह्म श्रीरामचन्द्रजीके तीर्थमें स्नान करनेके अनन्तर चित्तको एकाग्र करके श्रीलक्ष्मणजीके तीर्थमें जाय। उसमें स्नान करके सब पापोंसे मुक्त हुआ मनुष्य निर्मल मुक्तिको प्राप्त होता है। लक्ष्मणतीर्थके तटपर जो उनके मन्त्रका जप करता है, वह सब शास्त्रोंका विद्वान् और चारों वेदोंका ज्ञाता होता है। उसके तटपर लक्ष्मणजीने महान् शिवलिंगकी स्थापना की है। जो उस तीर्थमें स्नान करके लक्ष्मणेश्वरका सेवन करता है, वह इस संसारमें दरिद्रता, रोग और संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है।

लक्ष्मणजीके महान् तीर्थमें स्नान करके अपने चित्तकी शुद्धिके लिये जटातीर्थमें जाना चाहिये। पूर्वकालमें साक्षात् भगवान् शंकरने गन्धमादन पर्वतपर सबके उपकारके लिये इस अज्ञाननाशक तीर्थको प्रकट किया है। रावणके मारे जानेपर धर्मात्मा भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने जिस जलमें अपनी जटाको धोया था, वही जटातीर्थ कहलाता है। उसमें स्नान करनेवाले मनुष्योंके अन्तःकरणकी शुद्धि हो जाती है। उससे ज्ञान होता है और उस ज्ञानसे मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है। वह अखण्ड सच्चिदानन्दस्वरूपसे स्थित होता है। पूर्वकालमें मुनिश्रेष्ठ व्यासजीको प्रणाम करके शुकदेवजीने पूछा—'तात! जिससे अन्तःकरणकी शुद्धि, अज्ञानका नाश, ज्ञानका उदय और अन्तमें सनातन मुक्ति प्राप्त हो, वह उपाय मुझे बतलाइये।'

**व्यासजी बोले**—बेटा शुकदेव! महापुण्यमय गन्धमादन पर्वतपर जो रामसेतु है, वहाँ सब पापोंका नाश करनेवाला जटातीर्थ है। वह अविद्याकी ग्रन्थिको भेदन करनेवाला, अन्तःकरणको शुद्ध बनानेवाला तथा मनुष्योंके जन्म-मृत्यु आदि भयका नाश करनेवाला है। वहाँ दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजीने अपनी जटा धोयी है और उस तीर्थको यह वरदान दिया है कि 'यज्ञ, ज्ञान, जप और उपवासके बिना ही केवल जटातीर्थमें स्नान करनेमात्रसे मनुष्योंकी बुद्धि शुद्ध हो जायगी।'

शुक! वरुणनन्दन भृगुने पूर्वकालमें अपने पितासे जब बुद्धिको शुद्ध करनेवाले शुभ एवं पावन उपायके विषयमें प्रश्न किया, तब वरुणने उन्हें जटातीर्थमें स्नान करनेकी सलाह दी। पिताके कहनेसे भृगुजी जटातीर्थमें गये और वहाँ स्नान करनेसे उनकी बुद्धि शुद्ध हो गयी। तत्पश्चात् वे अद्वैत बोध प्राप्त करके अखण्ड सच्चिदानन्दस्वरूप पूर्णतम परमात्मरूपसे स्थित हुए। इसी प्रकार शिवजीके अंश दुर्वासा भी जटातीर्थमें स्नान करनेसे अन्तः-शुद्धिको प्राप्त हो ब्रह्मानन्दमय हो गये। जो अपने अज्ञानका नाश चाहता है, वह सब पापोंका नाश करनेवाले पुण्यमय परम शुद्ध जटातीर्थमें स्नान करे। इसलिये तुम जटातीर्थमें जाओ और मनको शुद्ध करनेवाले उस पुण्यदायक तीर्थमें स्नान करो।

पिताकी बात मानकर शुकदेवजी महापुण्यमय रामसेतुरूप गन्धमादन पर्वतपर गये और शुद्धिदायक जटातीर्थमें स्नान करनेकी इच्छासे संकल्प करके उसमें स्नान किया। इससे अन्तःशुद्धिको पाकर अज्ञानका नाश हो जानेपर वे अपने परमानन्द-स्वरूपको प्राप्त हो गये। दूसरे लोग भी, जो मनकी शुद्धि चाहते हैं, जटातीर्थमें भक्तिपूर्वक स्नान करें। वेदोंके प्रवचनसे, पुण्यसे, यज्ञ, दान, तप और व्रतसे तथा उपवास, जप और योगसे भी मनुष्योंके मनकी शुद्धि होती है, किंतु परमपावन जटातीर्थमें स्नान कर लेनेपर इन पूर्वोक्त साधनोंके बिना भी निश्चितरूपसे मनकी शुद्धि हो जाती है। इस प्रकार यह जटातीर्थका माहात्म्य बतलाया गया।

## लक्ष्मीतीर्थ और अग्नितीर्थका माहात्म्य—पिशाचयोनिको प्राप्त हुए दुष्पण्यका उद्धार

**श्रीसूतजी कहते हैं**—सब पातकोंका नाश करनेवाले जटातीर्थमें स्नान करके विशुद्ध चित्तवाला पुरुष लक्ष्मीतीर्थको जाय। जो-जो कामना मनमें रखकर मनुष्य लक्ष्मीतीर्थमें स्नान करता है, वह सब प्राप्त कर लेता है। लक्ष्मीतीर्थ बड़ी भारी दरिद्रताकी शान्ति करनेवाला, महान् धन-धान्यकी समृद्धि देनेवाला, बड़े-बड़े दुःखोंका नाश करनेवाला और महान् वैभवको बढ़ानेवाला है। वह स्वर्ग और मोक्ष देनेवाला, महान् ऋणसे छुटकारा दिलानेवाला तथा श्रेष्ठ पुत्र प्रदान करनेवाला है। ब्राह्मणो! इस प्रकार यह लक्ष्मीतीर्थका माहात्म्य बतलाया गया।

इस तीर्थमें स्नान करनेके पश्चात् अग्नितीर्थको जाय। वह महापुण्यमय और महापातकोंका विनाशक है। पूर्वकालमें रावणको उसकी सेनासहित मारकर तथा विभीषणको लंकाका राजा बनाकर दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजी जब सीता और लक्ष्मणके साथ सेतुमार्गसे गन्धमादन पर्वतपर आये, तब लक्ष्मीतीर्थके किनारे ठहरकर उन्होंने देवताओं, ऋषियों और पितरोंके समीप वहाँ अग्निदेवका आवाहन किया। तब लक्ष्मीतीर्थसे कुछ दूरपर अग्निदेव महासागरसे ऊपर उठे और मानवरूपधारी श्रीरघुनाथजीको देखकर इस प्रकार बोले—'राम! राक्षसोंको भय देनेवाले महाबाहु श्रीराम! आपने जो रावणका वध किया है, वह जानकीजीके पातिव्रत्य धर्मके बलसे ही सम्भव हुआ है। यह बात सत्य है, सत्य है, सत्य है। ये साक्षात् जगन्माता लक्ष्मी हैं। इन्होंने लीलाके लिये मानव-शरीर धारण किया है। जब आप देवशरीरमें स्थित होते हैं, तब ये भी दिव्य देहसे आपकी सेवा करती हैं। आपने मानवशरीर धारण किया है, इसलिये ये भी मानवकन्याके रूपमें प्रकट हुई हैं। आप भगवान् विष्णुके शरीरके अनुरूप ही ये भी शरीर धारण कर लेती हैं। जगत्स्वामिन्! देवाधिदेव

जनार्दन! आप जब-जब अवतार धारण करते हैं, तब-तब ये आपकी सहायिका होती हैं। जब आप भृगुनन्दन परशुरामके रूपमें अवतीर्ण हुए थे, तब ये धरणी नामसे प्रकट हुई थीं। इस समय आपके साथ ये जनकनन्दिनी सीताके रूपमें प्रकट हुई हैं और भविष्यमें जब आप श्रीकृष्ण अवतार लेंगे, तब ये रुक्मिणी होंगी। इसी प्रकार अन्यान्य अवतारोंमें भी ये आपकी सहायिका होती हैं। अतः रघुनन्दन! आप मेरे कहनेसे इन्हें आदरपूर्वक ग्रहण करें।'

अग्निका यह वचन सुनकर देवताओं और महर्षियोंने दशरथनन्दन श्रीराम तथा जनकनन्दिनी सीताकी बार-बार प्रशंसा की। श्रीरामचन्द्रजीने अग्निके साक्षी देनेसे परम निर्मल सती-साध्वी सीताको ग्रहण किया। जिस स्थानपर अग्निदेव प्रकट हुए, उसीको अग्नितीर्थ समझो। अग्निके प्रकट होनेसे ही उसका नाम अग्नितीर्थ हुआ। उस मोक्षदायक तीर्थमें भक्तिपूर्वक स्नान करके मनुष्य उपवासपूर्वक वेदवेत्ता ब्राह्मणोंको भोजन करावे। उन्हें वस्त्र और धन दे। ऐसा करनेसे वह सब पापोंसे मुक्त हो भगवान् विष्णुका सायुज्य प्राप्त कर लेता है।

पूर्वकालकी बात है, पाटलिपुत्रमें पशुमान् नामक एक वैश्य रहते थे। वे सदा धर्ममें तत्पर और ब्राह्मणोंकी सेवामें संलग्न रहा करते थे। सदा कृषि और गोरक्षा करते हुए पशुमान् बाजारकी गलियोंमें धर्मतः सुवर्ण आदिका विक्रय किया करते थे। उनके तीन स्त्रियाँ थीं, जो सदा पतिकी सेवामें लगी रहती थीं। उन तीनों स्त्रियोंसे सुपण्य आदि आठ पुत्र उत्पन्न हुए। वे जब पाँच वर्षके हो गये तब उन्हें कर्तव्यकी शिक्षा दी जाने लगी। वे धीरे-धीरे खेती, गोरक्षा और व्यापारका काम भलीभाँति सीख गये। सुपण्य आदि सात पुत्र पिताकी बात सुनते और पशुमान् जो कहते उस कार्यको तत्काल पूरा करते थे। उन्होंने सोनेके कारबारमें भी अत्यन्त कुशलता प्राप्त कर ली।

किंतु वैश्यका आठवाँ पुत्र 'दुष्पण्य' बचपनसे ही खोटे मार्गपर चलने लगा। वह पिताकी बात नहीं सुनता था। दुष्पण्य बाल्यकालसे ही बालकोंको सताया करता था। पशुमान्‌ने उसे दुष्कर्मपरायण देखकर भी 'यह नादान है' ऐसा कहकर उसकी उपेक्षा कर दी। तदनन्तर वैश्यके आठों पुत्र युवावस्थाको प्राप्त हुए। आठवाँ पुत्र दुष्पण्य नगरके बालकोंको दोनों हाथोंमें पकड़ लेता और कुआँ, नदी या तालाबमें फेंक देता था। उसके इस दुश्चरित्रको कोई नहीं जानता था। जलमें उनका शव देखकर लोग उनका संस्कार करते थे। तब पुरवासियोंने आकर राजासे यह वृत्तान्त निवेदन किया। उनका वचन सुनकर राजाने ग्रामरक्षकोंको बुलाया और यह आज्ञा दी—'बालकोंकी मृत्युका क्या कारण है, इसका पता लगाओ।' ग्रामरक्षक बालकोंके मारे जानेके रहस्यका पता लगाने लगे। किंतु बहुत खोज करनेपर भी उन्हें उस बालघातकका पता नहीं लगा। वे डरते हुए राजाके पास गये और बोले—'महाराज! हम बहुत खोज करनेपर भी यह न जान सके कि कौन इस नगरमें रहकर निरन्तर बालकोंकी हत्या करता है।'

तदनन्तर किसी समय वह वैश्य-बालक अन्य पाँच बालकोंके साथ कमल निकालकर ले आनेके बहाने सरोवरके निकट गया। वहाँ उसने उन बालकोंको जबरदस्ती पकड़कर पानीमें डुबो दिया। वे बालक चीखते-चिल्लाते रहे तो भी उस क्रूरात्माने उन्हें कण्ठतक पानीमें ले जाकर डुबा दिया। उन सबको मरा हुआ जानकर दुष्पण्य शीघ्र अपने घरको चला गया। उन पाँचों बालकोंके पिता अपने पुत्रोंको नगरमें ढूँढ़ने लगे। वे पाँचों बालक अधिक छोटे नहीं थे। पानीमें डाल देनेपर भी वे मर न सके, धीरे-धीरे सरोवरके किनारे आ गये और वहीं घूमते रहे। इतनेमें ही अपने बन्धुओंद्वारा नाम ले-लेकर पुकारनेकी आवाज

उन्हें दूरसे सुनायी दी। तब उन्होंने भी जोरसे बोलकर उत्तर दिया। बालकोंकी आवाज सुनकर उनके पिता सरोवरके तटपर गये। वहाँ उन्हें जीवित देखकर उन सबको बड़ा हर्ष हुआ। फिर पिता आदिने पूछा—'तुम्हारी ऐसी दशा क्यों हुई?' तब बालकोंने दुष्पण्यके उस दुष्कर्मका वृत्तान्त अपने बन्धुओंको कह सुनाया। यह बात जानकर पुरवासियोंने राजाको इसकी सूचना दी। राजाने पशुमान्‌को बुलाकर कहा—'पशुमन्! यह नगर बहुत-से बालकोंसे भरा-पूरा रहा है, किंतु तुम्हारे दुरात्मा पुत्रने इसे प्रायः सूना कर दिया। अभी-अभी इन बालकोंको उसने जलमें डुबो दिया था, परंतु दैवयोगसे ये जीवित निकल आये हैं। बताओ, इस समय क्या करना चाहिये? मैं तुम्हींसे पूछता हूँ, क्योंकि तुम सदा धर्ममें तत्पर रहते हो।'

**राजाके ऐसा कहनेपर धर्मज्ञ पशुमान्‌ने कहा**—राजन्! जिसने सारे नगरको सूना कर दिया है, वह वधके ही योग्य है। इस विषयमें कुछ पूछनेकी बात ही नहीं है। यह अत्यन्त पापात्मा मेरा पुत्र नहीं, शत्रु ही है। जिसने इस नगरको बालकोंसे खाली कर दिया, उस दुष्टके उद्धारका मुझे कोई उपाय नहीं दिखायी देता। मैं सच कहता हूँ, इस दुष्टात्माको प्राणदण्ड दिया जाय। पशुमान्‌का यह वचन सुनकर समस्त पुरवासी पशुमान्‌की प्रशंसा करते हुए राजासे बोले—'महाराज! इस दुष्टको मारा न जाय अपितु चुपचाप नगरसे निकाल दिया जाय।' तब राजाने दुष्पण्यको बुलाकर कहा—'ओ दुष्टात्मन्! तू शीघ्र हमारे राज्यसे बाहर चला जा। यदि यहाँ रहेगा, तो मैं तेरा वध कर डालूँगा।' इस प्रकार डाँट बताकर राजाने दूतोंद्वारा उसे नगरसे निर्वासित कर दिया।

तदनन्तर दुष्पण्य भयभीत हो उस देशको छोड़कर मुनिमण्डलीसे युक्त वनमें चला गया। वहाँ जाकर भी उसने एक मुनिके बालकको जलमें डुबो दिया। कुछ बालक खेलनेके लिये गये हुए थे, उन्होंने उस बालकको मरा हुआ देख अत्यन्त दुःखी हो उसके पितासे यह समाचार कहा। तब उग्रश्रवाने बालकोंसे अपने पुत्रके मारे जानेका समाचार सुनकर तपके प्रभावसे दुष्पण्यके चरित्रको जान लिया और उसे शाप देते हुए कहा—'अरे, तूने मेरे पुत्रको पानीमें फेंककर मार डाला है, इसलिये तेरी मृत्यु भी जलमें ही डूबनेसे होगी और मरनेके बाद तू दीर्घकालतक पिशाच बना रहेगा।' यह शाप सुनकर दुष्पण्यको बड़ा दुःख हुआ तथा वह उस वनको छोड़कर सिंह आदि क्रूर जन्तुओंसे युक्त दूसरे भयंकर वनमें चला गया। वहाँ बड़े जोरकी वर्षा और आँधी चलने लगी। दुष्पण्यने देखा एक मरे हुए हाथीका सूखा कंकाल पड़ा है। उस समय आँधी और प्रचण्ड वर्षाके कष्टको न सह सकनेके कारण वह उस हाथीके पेटकी गुफामें घुस गया। फिर बड़ी भारी वर्षा हुई। जलका महान् प्रवाह हाथीके पेटमें भी भर गया। हाथीका शव उस महाप्रवाहमें बहते-बहते समुद्रमें चला गया। दुष्पण्य उस जलमें डूबकर क्षणभरमें प्राणहीन हो गया। मृत्युके बाद उसे पिशाचकी योनि मिली। भूख-प्याससे पीड़ित होकर वह भयानक रूपधारी पिशाच अनेक प्रकारके दुःख सहता हुआ गहन वनमें रहने लगा। एक वनसे दूसरे वनमें दौड़ता और कष्ट भोगता हुआ वह क्रमशः दण्डकारण्यमें आया। वहाँ उसने उच्चस्वरसे पुकार लगायी—'हे तपस्वी महात्माओ! आपलोग बड़े कृपालु और सब प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले हैं। मैं दुःखसे अत्यन्त पीड़ित हूँ। अतः मुझे अपनी दयादृष्टिसे अनुगृहीत करें। पूर्वकालमें मैं पाटलिपुत्र नगरमें पशुमान्‌का पुत्र दुष्पण्य नामक वैश्य था। उस समय मैंने बहुत-से बालकोंकी हत्या की। अब मैं पिशाचयोनिको प्राप्त हुआ हूँ। भूख-प्यास सहन करनेकी मुझमें शक्ति नहीं रह गयी है। अतः आपलोग कृपा करके मेरी रक्षा करें। तपोधनो! जिस प्रकार मैं पिशाचयोनिसे छूट जाऊँ वैसा प्रयत्न कीजिये।'

पिशाचका यह वचन सुनकर तपस्वी मुनियोंने महर्षि अगस्त्यजीसे कहा—'भगवन्! इस पिशाचके उद्धारका कोई उपाय बतलावें।' तब अगस्त्यजीने अपने प्रिय शिष्य सुतीक्ष्णको बुलाकर कहा—'वत्स सुतीक्ष्ण! तुम शीघ्र गन्धमादन पर्वतपर चले जाओ। वहाँ सब पापोंका नाश करनेवाला महान् अग्नितीर्थ है। महामते! इस पिशाचके उद्धारके उद्देश्यसे तुम उस तीर्थमें स्नान करो।' अगस्त्यजीके ऐसा कहनेपर सुतीक्ष्णजी गन्धमादन पर्वतपर गये और अग्नितीर्थमें जाकर पिशाचके लिये स्नानका संकल्प करके वहाँ उन्होंने तीन दिनतक नियमपूर्वक स्नान किया। फिर रामनाथ आदि तीर्थोंका सेवन और स्नान करके श्रेष्ठ ब्राह्मण सुतीक्ष्णजी अपने आश्रमपर लौट आये। उस तीर्थमें स्नानके प्रभावसे वह पिशाच शीघ्र ही दिव्य देहको प्राप्त हुआ और सुतीक्ष्ण, अगस्त्य तथा अन्य तपोधनोंको बार-बार प्रणाम करके उनकी आज्ञा ले प्रसन्नतापूर्वक स्वर्गलोकको चला गया।

## चक्रतीर्थ, शिवतीर्थ, शंखतीर्थ और यमुना, गंगा एवं गयातीर्थकी महिमा—राजा जानश्रुतिको रैक्वके उपदेशसे ब्रह्मभावकी प्राप्ति

अग्नितीर्थमें स्नान करके शुद्धात्मा पुरुष सब पातकोंका नाश करनेवाले चक्रतीर्थकी यात्रा करे। जिस-जिस कामनाके उद्देश्यसे मनुष्य चक्रतीर्थमें स्नान करता है, उस-उसको वह प्राप्त कर लेता है। पूर्वकालमें कठोर नियमोंका पालन करनेवाले 'अहिर्बुध्न्य' नामक तपस्वी महर्षि इस गन्धमादन तीर्थमें सुदर्शनचक्रकी उपासना करते थे। वहाँ तपस्या करते हुए मुनिको भयानक-रूपधारी राक्षस सताते और उनकी तपस्यामें विघ्न डाला करते थे। तब भक्तकी रक्षा करनेके लिये सुदर्शन चक्रने आकर बाधा देनेवाले उन समस्त राक्षसोंको लीलापूर्वक मार डाला। भक्तकी प्रार्थनासे वह चक्र उसी तीर्थमें रहने लगा। तभीसे उसका नाम चक्रतीर्थ हो गया। उस तीर्थमें स्नान करनेपर सुदर्शन चक्रके प्रसादसे राक्षस और पिशाच आदिकी पीड़ा कभी नहीं होती।

श्यामलापुरमें हरिहर नामक एक ब्राह्मण निवास करते थे। वे एक दिन वनमें गये। वहाँ एक वनवासी व्याध मनोरंजनके लिये लक्ष्य-भेदन कर रहा था। हरिहर बाबा उसके बाणोंके लक्ष्यमें आ गये और उनके दोनों पैर कट गये। तब मुनियोंकी प्रेरणासे वे गन्धमादन पर्वतपर पहुँचाये गये और वहाँ इस तीर्थमें स्नान करनेपर उनके दोनों पैर पुनः ज्यों-के-त्यों हो गये। तबसे यह पुण्यतीर्थ मुनितीर्थ कहलाता था। आगे चलकर चक्रके नामसे यह चक्रतीर्थ कहलाने लगा। जिनके हाथ, पैर या अन्य कोई अंग कट गये हों, वे उस कटे हुए अंगकी पूर्तिके लिये सर्वमनोरथदायक इस चक्रतीर्थका सेवन करें। इस प्रकार यह चक्रतीर्थका प्रभाव बतलाया गया।

चक्रतीर्थमें स्नान करके मनुष्य शिवतीर्थको जाय, जहाँ स्नान करनेसे कोटि-कोटि महापातक नष्ट हो जाते हैं। महापातकोंके संसर्गसे होनेवाले पाप भी उसी क्षण दूर हो जाते हैं। शिवतीर्थ महान् दुःखों और नरकके क्लेशोंका निवारण करनेवाला है तथा स्वर्ग और मोक्षको देनेवाला है।

शिवतीर्थमें स्नान करनेके पश्चात् अपने पापसमुदायकी शान्तिके लिये शंखतीर्थकी यात्रा करे, जिसमें स्नान करनेमात्रसे कृतघ्न पुरुष भी पापमुक्त हो जाता है। पूर्वकालमें गन्धमादन पर्वतपर शंख नामक मुनि निवास करते थे। वे एकाग्रचित्त हो भगवान् विष्णुका ध्यान करते हुए तपस्यामें

संलग्न रहते थे। उन्होंने वहाँ स्नान करनेके लिये उत्तम तीर्थका निर्माण किया। शंखसे निर्मित होनेके कारण उसे शंखतीर्थ कहते हैं। उसमें स्नान करनेसे माता-पिता और गुरुसे द्रोह करनेवाले पापी तथा अन्य कृतघ्न भी मुक्त हो जाते हैं। इस कारण कृतघ्न मनुष्योंको इस तीर्थका अवश्य सेवन करना चाहिये। जो माता-पिताका पालन नहीं करता और गुरुदक्षिणा नहीं देता, वह कृतघ्नताको प्राप्त होता है। स्वयं ही चितामें जल मरना उसका प्रायश्चित्त है। परंतु इस शंखतीर्थमें स्नानमात्रसे ही उस कृतघ्नताका भी प्रायश्चित्त हो जाता है।

शंखतीर्थमें स्नान करके मनुष्य क्रमशः यमुना, गंगा और गया आदि तीर्थोंकी यात्रा करे। ये तीनों तीर्थ मनुष्योंके महापातकोंका नाश करनेवाले, परम पवित्र हैं और समस्त लोकोंमें प्रसिद्ध हैं। इनके द्वारा समस्त विघ्नों तथा रोगोंका निवारण हो जाता है। ये तीर्थ अज्ञानका नाश और ज्ञान प्रदान करनेवाले हैं। पूर्वकालमें महाराज जानश्रुतिने इन्हीं तीर्थोंमें स्नान करके द्विजश्रेष्ठ रैक्वसे उत्तम ज्ञान प्राप्त किया था।

महर्षि रैक्व पहले गन्धमादन पर्वतपर रहकर अत्यन्त दुष्कर तपस्या करते थे। वे जन्मसे ही पंगु थे। अतः गन्धमादन पर्वतपर जो-जो तीर्थ हैं, वे उन्हींकी यात्रा करते थे; क्योंकि वे सब समीपवर्ती थे। पैदल न चल सकनेके कारण वे गाड़ीसे ही उन तीर्थोंमें जाते थे। इसीलिये गाड़ीवाले रैक्वके नामसे उनकी प्रसिद्धि हुई। उन्होंने तपस्यासे अपना शरीर सुखा डाला था। उनके उस शरीरमें खाज हो गयी थी, जिसे वे दिन-रात खुजलाते रहते थे। फिर भी उन्होंने तपस्या नहीं छोड़ी। एक दिन उनके मनमें ऐसा विचार हुआ कि 'मैं यमुना, गंगा और गया—इन तीनों पवित्र तीर्थोंमें स्नान करूँ; परंतु मैं तो जन्मसे ही पंगु हूँ, अतः मेरे लिये वहाँका स्नान दुर्लभ है। गाड़ीसे इतनी दूरकी यात्रा नहीं की जा सकती। तब इस समय मैं क्या करूँ?' इस प्रकार तर्क-वितर्क करते हुए महाबुद्धिमान् रैक्वने तीनों तीर्थोंमें स्नान करनेके सम्बन्धमें अपने कर्तव्यका निश्चय किया। उन्होंने सोचा—'मेरा तपोबल दुर्धर्ष एवं असह्य है, उसीके द्वारा मैं यहाँ उक्त तीर्थोंका आवाहन करूँगा।' मन-ही-मन ऐसा निश्चय करके वे पूर्वाभिमुख बैठे, मन-इन्द्रियोंको संयममें रखकर तीन बार आचमन किया और एक क्षणतक ध्यानमें लगे रहे। उनके मन्त्रके प्रभावसे महानदी यमुना, गंगा और पापनाशिनी गया—तीनों भूमि फोड़कर सहसा पातालसे प्रकट हुईं और मानव-शरीर धारणकर गाड़ीवाले रैक्वके समीप आ उन्हें प्रसन्न करती हुई प्रसन्नतापूर्वक बोलीं—'रैक्व! तुम्हारा कल्याण हो, इस ध्यानसे निवृत्त होओ। तुम्हारे मन्त्रसे आकृष्ट हो हम तीनों यहाँ उपस्थित हुई हैं।'

उनका यह वचन सुनकर महामुनि रैक्व ध्यानसे निवृत्त हुए और उन्हें अपने सामने उपस्थित देखा। तब उन्होंने उन तीनोंका पूजन करके कहा—'हे यमुने! हे देवि गंगे! और हे पापनाशिनी गये! तुम तीनों गन्धमादन पर्वतपर वहीं निवास करो, जहाँ भूमि फोड़कर यहाँ प्रकट हुई हो। वे स्थान तुम्हारे नामसे पवित्र तीर्थ हो जायँ।' तब वे तीनों देवियाँ 'तथास्तु' कहकर सहसा अन्तर्धान हो गयीं। तबसे ये तीनों तीर्थ भूतलमें मनुष्योंद्वारा उन्हींके नामसे पुकारे जाते हैं। जहाँ भूमि फोड़कर यमुना निकली, उसी स्थानको लोग 'यमुनातीर्थ' कहते हैं, जहाँ पृथ्वीके छिद्रसे सहसा गंगाका प्रादुर्भाव हुआ, वह स्थान लोकमें पापनाशक 'गंगातीर्थ'के नामसे विख्यात हुआ और जहाँ गयाका प्रादुर्भाव हुआ, वह भूमि-विवर 'गयातीर्थ' कहलाता है। इस प्रकार वे तीनों तीर्थ बड़े पवित्र हैं। जो मनुष्य इन उत्तम तीर्थोंमें स्नान करते हैं, उनके अज्ञानका नाश और ज्ञानका उदय होता है। रैक्व मुनि अपने मन्त्रद्वारा आकर्षित किये हुए उन तीनों तीर्थोंमें स्नान करते हुए समय व्यतीत करने लगे।

इसी समय महाराज जानश्रुति इस भूतलपर

राज्य करते थे। वे राजर्षि पुत्रके पौत्र थे और एकमात्र धर्मके आचरणमें ही संलग्न रहते थे। याचकोंको श्रद्धापूर्वक अन्न आदि देते थे। अतः मुनिलोग उन्हें लोकमें 'श्रद्धादेय' कहते थे। भूखे याचकोंकी तृप्तिके लिये उस अन्न-धन-सम्पन्न राजाके यहाँ नाना प्रकारके वचन कहे जाते थे, इसलिये सब याचकोंने उनका नाम 'बहुवाक्य' रख दिया था। जनश्रुतके पुत्र महाबली जानश्रुतिको अतिथि बहुत प्रिय थे। इसलिये वे बहुत दान करनेके कारण 'बहुदायी' के नामसे प्रसिद्ध हुए। नगरोंमें, राज्यमें, गाँवों और जंगलोंमें, चौराहोंपर तथा सभी बड़े-बड़े मार्गोंमें उनकी ओरसे खाने-पीनेकी बहुत सामग्री प्रस्तुत रहती थी। अतिथियोंकी तृप्तिके लिये वे अन्न, पान, दाल, साग आदि उत्तम भोजनकी व्यवस्था रखते थे। उस पौत्रायण राजाके गुणोंसे महाभाग देवर्षि बहुत सन्तुष्ट हुए। उन सबके मनमें राजाके ऊपर कृपा करनेकी इच्छा हुई। एक दिन राजा जानश्रुति गरमीकी रातमें अपने महलके भीतर खिड़कीके पास सो रहे थे। उसी समय देवर्षिगण हंसका रूप धारण करके एक पंक्तिमें आकाशमार्गसे उड़ते हुए आये और राजाके ऊपर होकर जाने लगे। उस समय बड़े वेगसे उड़ते हुए एक हंसने आगे जानेवाले हंसको सम्बोधित करके राजाको सुनाते हुए उपहासपूर्वक कहा—'भल्लाक्ष! अरे ओ भल्लाक्ष! क्या आगे-आगे जाता हुआ तू अन्धोंकी नाईं देखता नहीं है कि आगे पूजनीय राजा जानश्रुति विराजमान हैं? यदि तू उन राजर्षिको लाँघकर ऊपर जायगा, तो उनका तेज इस समय तुझे जलाकर भस्म कर डालेगा।' ऐसा कहते हुए उस हंसको आगे जानेवाले हंसने उत्तर दिया—'अहो! तुम तो बड़े ज्ञानी हो, विद्वानोंके द्वारा भी प्रशंसनीय हो, तथापि इस तुच्छ मनुष्यकी इतनी प्रशंसा क्यों करते हो? यह धर्मोंके रहस्यको नहीं जानता, जैसा कि ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ गाड़ीवाले रैक्व मुनि जानते हैं। इस राजाका तेज उनके समान नहीं है। रैक्वकी पुण्यराशियोंकी इयत्ता (संख्या) नहीं हो सकती। पृथ्वीके धूलिकण गिने जा सकते हैं, आकाशके नक्षत्र भी गणनामें आ सकते हैं, परंतु रैक्व मुनिके महामेरु-सदृश पुण्यपुंजोंकी गणना नहीं की जा सकती। राजा जानश्रुतिमें तो वैसा धर्म ही नहीं है, फिर वह ज्ञान-वैभव कहाँसे हो सकता है। अतः इस तुच्छ मनुष्यकी चर्चा छोड़कर उसी गाड़ीवाले रैक्व मुनिकी प्रशंसा करो। उन्होंने जन्मसे पंगु होकर भी स्नान करनेकी इच्छासे मन्त्रद्वारा यमुना, गंगा और गयाको भी अपने आश्रमके समीप बुला लिया है।'

आगे जानेवाला हंस जब ऐसा कहकर चुप हो गया, तब वे हंसरूपधारी देवर्षि पुनः ब्रह्मलोकको चले गये। तदनन्तर पौत्रायण राजा जानश्रुति रैक्व मुनिको उन्नतिकी चरम सीमापर पहुँचे हुए सुनकर बहुत उदास हो गये और बारंबार लंबी साँस खींचते हुए विचार करने लगे—'उस हंसने रैक्वको ऊँचा बताते हुए मुझे तुच्छ कहा था। अहो! रैक्वकी कैसी महिमा है? अब मैं संसार तथा समूचे राज्यको छोड़कर गाड़ीवाले महात्मा रैक्वकी शरणमें जाता हूँ। वे कृपानिधान मुनि अपनी शरणमें आये हुए मुझे अपनाकर आत्मज्ञानका उपदेश देंगे।' रात्रि बीतनेपर महाराज जानश्रुतिने सारथीको बुलाकर कहा—'सूत! तुम तीव्रगामी रथपर आरूढ़ हो शीघ्र जाओ और महर्षियोंके आश्रमों, पवित्र वनों, एकान्त प्रदेशों, सत्पुरुषोंके निवासस्थानों, तीर्थों, नदी-तटों तथा अन्यान्य स्थानोंमें, जहाँ मुनीश्वर लोग रहते हैं, योगीश्वर रैक्वका पता लगाओ। वे जन्मसे पंगु हैं, गाड़ीपर बैठे रहते हैं, सब धर्मोंके एकमात्र आश्रय हैं और ब्रह्मज्ञानकी निधि हैं। मेरी प्रसन्नताके लिये उनका शीघ्र अन्वेषण करके पुनः मेरे पास लौट आओ।'

'बहुत अच्छा' कहकर सारथी वेगवान् रथपर बैठकर नगरसे बाहर निकला। उसने ब्रह्मज्ञानी

रैक्व मुनिकी सर्वत्र खोज की। अनेकों स्थानोंमें ढूँढ़नेके पश्चात् वह क्रमशः महर्षियोंसे भरे हुए गन्धमादन पर्वतपर गया। वहाँ खोजते-खोजते उसने मुनीश्वर रैक्वको देखा, जो गाड़ीपर बैठकर अपनी खाज खुजला रहे थे। वे कलारहित अद्वैत ब्रह्मके चिन्तनमें संलग्न थे। गाड़ीसहित उस महामुनिको देखकर सारथीने पहचान लिया कि यही रैक्व हैं। तब उनके पास जाकर उसने प्रणाम किया और उनके समीप बैठकर विनयपूर्वक पूछा—'ब्रह्मन्! क्या आप ही गाड़ीवाले रैक्व नामसे विख्यात हैं?' मुनि बोले—'हाँ, मैं ही गाड़ीवाला रैक्व हूँ।' मुनिका यह वचन सुनकर सारथी गन्धमादन पर्वतसे लौटा और राजाके पास पहुँचकर उसने सब समाचार निवेदन किया। तब राजा जानश्रुति छः सौ गौएँ, धन और स्वर्णमुद्राओंका भार और खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ अपने साथ लेकर शीघ्रतापूर्वक रैक्व मुनिके समीप चले। वहाँ पहुँचकर राजाने रैक्वसे कहा—'भगवन्! मेरी दी हुई ये सब वस्तुएँ स्वीकार कीजिये। इन सबको लेकर मेरे लिये अद्वैत ब्रह्मज्ञानका उपदेश कीजिये।' तब गाड़ीवाले रैक्वने राजा जानश्रुतिको इस प्रकार उत्तर दिया—'राजन्! ये गौएँ, यह सोनेका भार और यह रथ सब तुम्हारे ही पास रहें, मैं तो बहुत कल्पोंतक जीवित रहनेवाला हूँ। इस धनके द्वारा मेरा कौन-सा लाभ होगा?'

**रैक्वका यह वचन सुनकर जानश्रुतिने कहा**—ब्रह्मन्! आपके द्वारा उपदेश किये जानेवाले ब्रह्मज्ञानका मूल्य नहीं है। आप ये गाय, धन और रथ ग्रहण करें या न करें, किंतु मुझे निष्फल अद्वैत ब्रह्मज्ञानका उपदेश अवश्य दें।

**रैक्व बोले**—जिसका संसारमें वैराग्य हो और जिसके पुण्य-पापरूप प्रारब्धका विनाश हो जाय, वही ज्ञानके उपदेशका भागी है। यद्यपि तुम्हें संसारसे वैराग्य हो गया है तथापि अभी तुम्हारे पुण्य-पापोंका विनाश नहीं हुआ है। यहाँपर तीन पवित्र तीर्थ हैं, जो समस्त मनोवांछित फलोंको देनेवाले हैं। उनके नाम हैं—यमुनातीर्थ, गंगातीर्थ और गयातीर्थ। इन तीनोंमें तुम शीघ्र स्नान करो। इससे तुम्हारे सब प्रारब्ध कर्मोंका क्षय हो जायगा और अन्तःकरण शुद्ध होगा। तब मैं तुमको ज्ञानका उपदेश करूँगा।'

रैक्व मुनिके ऐसा कहनेपर राजाके नेत्र हर्षसे खिल उठे। उन्होंने शीघ्रतापूर्वक तीनों तीर्थोंमें स्नान किया। उस स्नानमात्रसे उनका चित्त शुद्ध हो गया। तब वे अपने गुरु रैक्व मुनिके पास आये। रैक्वने जानश्रुतिको कृपापूर्वक ज्ञानका उपदेश दिया। उपदेश प्राप्त होनेपर राजा अबाधित अनुभवसे सम्पन्न हो योगी रैक्वके प्रसादसे ब्रह्मभावको प्राप्त हो गये।

## कोटितीर्थकी महिमा—भगवान् श्रीकृष्णका अवतार, कंसवध तथा श्रीकृष्णका कोटितीर्थमें स्नान

**श्रीसूतजी कहते हैं**—यमुना, गंगा और गया तीर्थमें प्रसन्नतापूर्वक स्नान करके 'कोटितीर्थ' की यात्रा करे। वह महापुण्यमय तीर्थ सब लोकोंमें विख्यात है। दुःस्वप्न, महापातक और बड़े-बड़े विघ्नोंका नाश करनेवाला तथा मनुष्योंको परम शान्ति देनेवाला है। पूर्वकालमें दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजीने युद्धमें रावणको मारकर गन्धमादन पर्वतपर लोकानुग्रहके लिये एक शिवलिंगकी स्थापना की। उस लिंगका अभिषेक करनेके लिये वे शुद्ध जल ढूँढ़ने लगे। किंतु वैसा जल उन्हें प्राप्त नहीं हुआ। तब रघुनाथजीने मन-ही-मन गंगाजीका स्मरण करते हुए धनुषकी कोटिसे शीघ्र ही पृथ्वीको विदीर्ण किया। श्रीरामके धनुषकी वह कोटि रसातलतक पहुँच गयी। फिर उन्होंने धनुषको

पृथ्वीसे ऊपर निकाला। तब उसी मार्गसे पातालगंगा बाहर निकल आयीं। उसी जलसे श्रीरामचन्द्रजीने शिवलिंगका अभिषेक किया। श्रीरामचन्द्रजीकी धनुषकी कोटिसे उस तीर्थका निर्माण हुआ था, इसलिये वह तीनों लोकोंमें 'कोटितीर्थ'के नामसे विख्यात हुआ। गन्धमादन पर्वतपर जो-जो तीर्थ हैं, उन सबमें पहले स्नान करके पापरहित हुआ मनुष्य अवशिष्ट पापोंसे छूटनेके लिये कोटितीर्थमें स्नान करे। अन्य तीर्थोंमें स्नान करनेसे भी जो पापसमुदाय नहीं नष्ट होता, वह अनेक कोटि जन्मोंका उपार्जित तथा शरीरकी हड्डियोंमें स्थित पापपुंज कोटितीर्थमें स्नान करनेसे पूर्णतः नष्ट हो जाता है। यदि कोई स्वेच्छानुसार कहीं जा रहा हो या तीर्थयात्रा करता हो और मार्गमें उसे कोई तीर्थ या देवालय मिल जाय, तो उसको देख या सुनकर भी जो मोहवश उसका सेवन नहीं करता, वह मनुष्य अधम है—ऐसा महर्षियोंका वचन है। इसलिये सेतुको जानेवाला पुरुष यदि वहाँके अन्य तीर्थोंमें स्नान नहीं करता, तो वह तीर्थोल्लंघनके दोषसे ब्राह्मणोंद्वारा बाहर कर देने योग्य है। अतः चक्रतीर्थ आदिमें अवश्य स्नान करना चाहिये। इन तीर्थोंमें स्नान करनेके पश्चात् शेष पापोंसे छुटकारा पानेके लिये मनुष्योंको कोटितीर्थमें स्नान करना चाहिये। पूर्वकालमें श्रीरामचन्द्रजी उसमें स्नान करके उसी क्षण पुष्पक विमानपर आरूढ़ हो वानरों तथा लक्ष्मण और सीताके साथ अयोध्याको चल दिये थे। अतः उन्हींकी भाँति कोटितीर्थमें स्नान करके शेष पापसे छूटा हुआ मनुष्य उसी क्षण वहाँ लौट आवे। यह श्रेष्ठ तीर्थ सब लोकोंमें प्रसिद्ध है। श्रीरामचन्द्रजीने भगवान् रामेश्वरका अभिषेक करनेके लिये उसका निर्माण किया था। साक्षात् भगवती गंगा उसमें निवास करती हैं तथा तारकब्रह्म श्रीरामने वहाँ स्नान किया है। उस कोटितीर्थकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है।

यदुवंशमें वसुदेव नामसे विख्यात एक क्षत्रिय थे, जो शूरसेनके पुत्र थे। उन्हीं दिनों भोजकुलमें देवककी एक पुत्री थी, जो देवकीके नामसे विख्यात थी। वसुदेवजी देवकीसे विवाह करके रथपर आरूढ़ हो अपने निवासस्थानको चले। उस समय उग्रसेनका पुत्र कंस वसुदेवका सारथि बनकर रथ हाँकने लगा। इतनेमें ही बहिन और बहनोईको ले जानेवाले कंसको सम्बोधित करके आकाशवाणीने कहा—'शत्रुदमन कंस! जिस देवकीको तुम लिये जा रहे हो, उसका आठवाँ गर्भ तुम्हारा घातक होगा।' यह दिव्यवाणी सुनकर कंसने तलवार खींच ली और बहिनको मार डालनेका प्रयत्न किया। यह देख वसुदेवजीने कहा—'कंस! इससे जो सन्तानें पैदा होंगी, उन सबको मैं तुम्हें सौंप दूँगा। यह तुम्हारी बहिन है, इसको मत मारो। इससे तो तुम्हें कोई भय नहीं है।' यह सुनकर कंसने देवकीको मारनेका विचार छोड़ दिया और वसुदेव-देवकीके साथ अपने घरको लौटा। कंस बड़ा दुष्टात्मा था। उसने बहिन और बहनोई दोनोंके पैरोंमें बेड़ी डालकर कारागारमें कैद कर लिया। तदनन्तर बहुत समय व्यतीत होनेपर देवकीने वसुदेवजीसे क्रमशः छः पुत्रोंको जन्म दिया। उन सबको वसुदेवने कंसको अर्पित कर दिया और कंसने उनका वध कर डाला। इस प्रकार देवकीके गर्भसे उत्पन्न होनेवाले छः पुत्रोंके मारे जानेपर सातवें गर्भके रूपमें साक्षात् भगवान् शेषने देवकीके उदरमें प्रवेश किया। उस समय भगवान् विष्णुकी आज्ञासे मायादेवीने उस गर्भको रोहिणीके उदरमें स्थापित कर दिया। रोहिणी उन दिनों नन्दगोपके घरमें निवास करती थी। लोगोंमें यह बात फैल गयी कि देवकीका सातवाँ गर्भ गिर गया। तदनन्तर स्वयं भगवान् विष्णुने आठवाँ गर्भ होकर देवकीकी कुक्षिमें प्रवेश किया। दस महीने बीत जानेपर अविनाशी भगवान् श्रीहरि

देवकीके उदरसे प्रकट हुए, जो कृष्ण नामसे विख्यात हुए। जन्मके समय वे शंख, चक्र, गदा और खड्गसे सुशोभित चतुर्भुजरूपमें दृष्टिगोचर हुए। उनके मस्तकपर किरीट और गलेमें वनमाला शोभा पा रही थी। वे माता-पिताके शोकका नाश करनेवाले थे। सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरिको देखकर वसुदेवजीने उनका स्तवन किया।

**वसुदेवजी बोले**—प्रभो! आप ही सम्पूर्ण विश्वके रूपमें विराजमान हैं। आप ही इस विश्वके पालक हैं, इसकी उत्पत्तिके स्थान भी आप ही हैं, यह सम्पूर्ण विश्व आपमें ही स्थित है। भगवन्! आप ही प्रकृति, महत्तत्त्व, विराट्, स्वराट् और सम्राट् सब कुछ हैं। इस प्रकार आपका तेज सम्पूर्ण जगत्का कारणभूत है, आपके पराक्रमका कोई परिमाण नहीं है। आप साक्षात् नारायण हैं। आपको नमस्कार है। आप शार्ङ्ग धनुष, सुदर्शन चक्र, नन्दक खड्ग और कौमोदकी गदा धारण करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। अत्यन्त मनोरम रूप धारण करनेवाले आपको नमस्कार है।

इस प्रकार स्तुति करनेवाले वसुदेवको और देवी देवकीको भी प्रसन्न करते हुए भगवान् श्रीहरिने कहा—'माता और पिताजी! आप दोनों भयभीत न हों, मैं कंसका वध करूँगा। नन्दगोपकी पत्नी यशोदाने एक पुत्रीको जन्म दिया है। वह सब लोकोंको मोहनेवाली मेरी माया ही है। आप मुझे ले जाकर यशोदाकी शय्यापर सुला दें और यशोदाकी पुत्रीको लाकर देवकीकी शय्यापर सुलावें।' भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर वसुदेवजीने वैसा ही किया। देवकीकी शय्यापर सुलाते ही वह मायामयी पुत्री रोने लगी। बालकके रोनेकी ध्वनि सुनकर कंस व्याकुलचित्त होकर आया और सूतिकाघरमें घुसकर उसने कन्याको ले लिया। उसके मनमें तनिक भी लज्जा और दया नहीं थी। उसने उस बालिकाको ले जाकर पत्थरपर पटक दिया। उसके हाथसे छूटते ही वह बालिका आठ बड़ी-बड़ी भुजाओंसे युक्त अस्त्र-शस्त्रोंसे सुशोभित महादेवीके रूपमें प्रकट हुई और कंसको पुकारकर अत्यन्त कुपित होकर बोली—'अरे पापात्मा कंस! ओ दुर्बुद्धे। रे मूर्ख! तेरे प्राणोंको हरनेवाला शत्रु कहीं-न-कहीं उत्पन्न हो गया है। अब तू अपनी मृत्युरूप उस शत्रुकी खोज करता रह।' ऐसा कहकर देवी, जो मनुष्योंसे पूजा पाकर उनका अभीष्ट सिद्ध करनेवाली है, दिव्य स्थानोंमें चली गयी। देवीका वचन सुनकर कंस अत्यन्त व्याकुल हो उठा। उसने अपना प्राणान्त करनेवाले शत्रुको पीड़ा देनेके लिये तथा दूसरे-दूसरे बालकोंको भी सतानेके लिये पूतना आदि बालग्रहोंको भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भेजा। वे सभी बालग्रह नन्दके गोकुलमें गये और वहाँ श्रीकृष्णके हाथों मारे गये। तदनन्तर कुछ दिन और बीत जानेपर बलभद्र और श्रीकृष्ण गोकुलमें बढ़कर सयाने हो गये। उन्होंने अनेक प्रकारकी बालक्रीडाओंसे खेल किये। कुछ कालतक वे दोनों भाई बाँसुरी बजाते हुए बछड़े चराते रहे। कुछ वर्षोंतक गाय चराते रहे। उस समय वे वनमें गुंजा और तापिच्छके आभूषण धारण करते थे। इस प्रकार बलराम और श्रीकृष्ण दीर्घकालतक गोकुलमें नाना प्रकारकी लीलाएँ करते रहे।

एक समय कंसने बलराम और श्रीकृष्णको बुलानेके लिये अक्रूरजीको गोकुलमें भेजा। अक्रूरजी कंसकी आज्ञासे जाकर उन दोनों भाइयोंको गोकुलसे मथुरा बुला ले आये। मथुरापुरी सुवर्णमय द्वारसे शोभा पा रही थी। बलराम और श्रीकृष्णको लाकर अक्रूरजी पुरीमें गये और कंससे मिलकर उसे सब समाचार बताया। तत्पश्चात् उन्होंने अपने घरमें प्रवेश किया। तदनन्तर दूसरे दिन वसुदेवके दोनों पुत्र अपने प्रिय मित्र गोपबालकोंके साथ मथुरापुरीमें आये। नगरकी युवतियाँ उनके रूप-गुणकी प्रशंसा करतीं और वे उसे सुनते हुए आगे बढ़ते जाते थे। तदनन्तर, श्रीकृष्णने

बलरामके साथ धनुषशालामें जाकर दृढ़ प्रत्यंचावाले बड़े भारी धनुषको देखा और सब रक्षकोंको दूर भगाकर लीलापूर्वक उस धनुषको हाथमें ले लिया। फिर जब प्रत्यंचा चढ़ानेके लिये उसे झुकाया, तब बीचसे टूटकर उसके दो टुकड़े हो गये। धनुष टूटनेका शब्द सुनकर वहाँ आये हुए बलवान् रक्षकोंको मारनेके लिये उन दोनों महाबली बन्धुओंने धनुषके दोनों टुकड़े उठा लिये और उन्हींसे सबको मार गिराया। तत्पश्चात् रंगशालाके द्वारपर खड़े हुए कुवलयापीड नामक हाथीको मारकर महान् बल और पराक्रमसे युक्त बलराम तथा श्रीकृष्णने उसके दोनों दाँत उखाड़ लिये और उन्हें हाथसे पकड़कर कन्धेपर रखे हुए क्षणभरमें वे रंगभूमिमें जा पहुँचे। वहाँ उन दोनोंने चाणूर, मुष्टिक, बल तथा दूसरे-दूसरे प्रमुख पहलवानोंको मारकर परम धामको पहुँचा दिया। फिर दोनों भाई शीघ्र ही उछलकर ऊँचे मंचपर चढ़ गये। वहाँ कंस एक ऊँचे आसनपर बैठा हुआ था। उसे तिनकेके समान समझकर वे उसके समीप इस प्रकार स्थित हुए, जैसे दो सिंह तुच्छ मृगके पास खड़े हों। तदनन्तर श्रीकृष्णने मंचपर बैठे हुए कंसके पैर पकड़कर उसे खींच लिया और बड़े वेगसे आकाशमें घुमाया। इतनेमें ही उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। तब प्राणरहित कंसको उन्होंने धरतीपर गिरा दिया। फिर बलरामजीने भी कंसके आठ भाइयोंको मुक्कोंसे ही मार गिराया। इस प्रकार कंसको मारकर श्रीकृष्णने अत्यन्त दुःख भोगनेवाले अपने माता-पिताको कारागारके बन्धनसे मुक्त किया और अन्य सब लोगोंको भी बलराम तथा श्रीकृष्णने आश्वासन दिया। श्रीकृष्णके द्वारा कंस मारा गया, यह समाचार सुनकर वसुदेवके अन्य बन्धु-बान्धव, जो पहले कंसके द्वारा पीड़ित होकर अन्यत्र चले गये थे, मथुरापुरीमें लौट आये। भगवान् श्रीकृष्णने मथुराके राज्यपर उग्रसेनको स्थापित किया।

तत्पश्चात् एक दिन भगवान् श्रीकृष्णने दर्शनके लिये अपने पास आये हुए नारदादि मुनियोंसे इस प्रकार पूछा—'ब्राह्मणो! मैंने अत्यन्त पापात्मा कंसका वध किया है, पर वह कंस मेरा मामा था। शास्त्रोंके ज्ञाता विद्वान् मामाके वधमें दोष बताते हैं; अतः उस दोषके निवारणके लिये आपलोग मुझे कोई प्रायश्चित्त बतलाइये।' यह सुनकर नारदजीने अद्भुत पराक्रमी श्रीकृष्णसे मधुर वाणीमें भक्ति एवं प्रेमके साथ कहा—'यदुनन्दन! आप नित्य, शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त सच्चिदानन्दस्वरूप सनातन परमात्मा हैं, आपके लिये पुण्य अथवा पाप नहीं है। तथापि गरुड़ध्वज! आपको लोकशिक्षाके लिये विधिपूर्वक प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिये। माधव! गन्धमादन पर्वतपर जो परम पुण्यमय रामसेतु है, वहाँ पूर्वकालमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा स्थापित किया हुआ रामेश्वर नामक शिवलिंग है। उसके अभिषेकके लिये जलकी आवश्यकता होनेपर श्रीरघुनाथजीने धनुषकी कोटिसे पृथ्वीको भेदकर एक तीर्थ प्रकट किया था, जो कोटितीर्थके नामसे विख्यात है। वह धर्मके लिये हितकर और पापोंका नाश करनेवाला तीर्थ है। आप उसीमें स्नान करें। कोटितीर्थका स्नान ब्रह्महत्या आदिका भी निवारण करनेवाला है।'

नारदजीका यह वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण रामसेतुपर गये और कुछ दिनोंमें कोटितीर्थमें स्नान एवं अनेक प्रकारके दान करके रामेश्वरकी सेवा-पूजा करनेके पश्चात् मथुरापुरीमें लौट आये। कोटितीर्थका ऐसा ही पुण्यमय प्रभाव है। ब्राह्मणो! इस तीर्थमें स्नान करनेसे ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा अन्य देवता भी प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार यह कोटितीर्थका माहात्म्य बतलाया गया, जिसका श्रवण करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

# सर्वतीर्थ तथा धनुष्कोटि तीर्थोंकी महिमा

**श्रीसूतजी कहते हैं**—तदनन्तर मनुष्य सर्वतीर्थकी यात्रा करे। पूर्वकालमें सुचरित नामसे प्रसिद्ध एक मुनि थे, जो सदा ही नियमोंमें संलग्न रहते थे। उनका जन्म भृगुवंशमें हुआ था। वे जन्मके ही अन्धे थे, फिर बुढ़ापेने आकर उनको और भी आतुर बना दिया। नेत्र न होनेके कारण वे तीर्थयात्रा करनेमें असमर्थ थे। उनके मनमें सभी तीर्थोंमें स्नान करनेकी इच्छा होती थी। वे महामुनि दक्षिण समुद्रके तटपर पुण्यमय गन्धमादन पर्वतपर गये और भगवान् शंकरकी प्रसन्नताके लिये अत्यन्त दुष्कर तपस्या करने लगे। वे तीनों समय इन्द्रियसंयमपूर्वक भगवान् शिवकी पूजा करते थे। तीनों समय स्नान और अतिथियोंका सत्कार उनकी दिनचर्याका अंग बन गया था। वे भस्मद्वारा त्रिपुण्ड्र लगाते और जाबालोपनिषद्में बतायी हुई रीतिसे रुद्राक्षकी माला धारण करते थे। इस प्रकार ब्राह्मणने दस वर्षोंतक उग्र तपस्या की। इससे भगवान् चन्द्रशेखर बहुत प्रसन्न हुए और सुचरित मुनिके आगे प्रकट हुए। वे महान् वृषभ नन्दीपर आरूढ़ हो

भूतसमुदायसे घिरे हुए थे। उनके आधे शरीरमें भगवती गिरिराजनन्दिनी विद्यमान थीं। वे अपने दिव्य प्रकाशसे सम्पूर्ण दिशाओंको अन्धकारशून्य किये देते थे। उनका सब अंग विभूतियोंसे उज्ज्वल दिखायी देता था। वे जटाभारसे शोभा पा रहे थे। भगवान् शिवने अपने स्वरूपका दर्शन करानेके लिये उन्हें दो नेत्र प्रदान किये। तब सुचरितने परमेश्वर शिवका दर्शन करके प्रसन्नचित्त हो इस प्रकार स्तुति की।

**सुचरित बोले**—देव महेश्वर! आपकी जय हो। कल्याणकारी धूर्जटे! आपकी जय हो। ब्रह्मा आदि देवताओंके पूजनीय देव! आप त्रिपुरासुरके विनाशक तथा कालके भी काल हैं, आपकी जय हो। भगवती उमाके स्वामी महादेव! आपकी जय हो। कामदेवका विनाश करनेवाले निर्मल परमेश्वर! आपकी जय हो। शिव! आप संसाररोगका निवारण करनेवाले वैद्य, सम्पूर्ण भूतोंके रक्षक तथा अविनाशी देवता हैं, आपकी जय हो। त्रिलोचन! आपने भक्तोंकी रक्षाका व्रत ग्रहण किया है, आपको नमस्कार है। व्योमकेश! आपको नमस्कार है। करुणाविग्रह! आपकी जय हो। नीलकण्ठ! आपको नमस्कार है। आप संसारबन्धनसे छुड़ानेवाले हैं, आपकी जय हो। महेश्वर! परमानन्दस्वरूप! आपको नमस्कार है। गंगाधर! आपको नमस्कार है। विश्वेश्वर! सुखस्वरूप अविनाशी देव! आपको नमस्कार है। आप भगवान् वासुदेव हैं। शम्भो! आपको नमस्कार है। आप शर्व, उग्र, भर्ग एवं कैलाशपतिको नमस्कार है। करुणासिन्धो! अपनी कृपादृष्टिसे देखकर मेरी रक्षा कीजिये। भगवान् हर! मेरे चरित्रकी ओर न देखकर अपनी दयासे ही मेरा उद्धार कीजिये।

इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान् उमानाथने

सुचरित मुनिसे कहा—'मुने! तुम कोई मनोवांछित वर माँगो।' तब मुनिने दयानिधान शिवजीसे कहा—'भगवन्! चन्द्रशेखर! वृद्धावस्थाके कारण मेरा शरीर बहुत ढीला हो गया है, इसलिये मैं कहीं भी जानेमें असमर्थ हूँ। तथापि सब तीर्थोंमें स्नान करनेकी मेरी इच्छा है। अतः सब तीर्थोंमें स्नान करनेसे मनुष्य जिस फलको पाता है, उसकी प्राप्तिका साधन मुझे भी बताइये।'

**महादेवजी बोले**—श्रीरामचन्द्रजीके सेतुसे पवित्र हुए इस गन्धमादन पर्वतपर मैं सम्पूर्ण तीर्थोंका आवाहन करूँगा।

यों कहकर महादेवजीने मुनिकी प्रसन्नताके लिये वहाँ सब तीर्थोंका आवाहन किया और सुचरितसे इस प्रकार कहा—'मुने! यहाँ सब तीर्थोंका निवास होनेसे इसका नाम 'सर्वतीर्थ' होगा। यह सर्वतीर्थ बड़े-बड़े पातकोंका नाश करनेवाला होगा। अतः शीघ्र मुक्ति पानेके लिये इस तीर्थमें स्नान करो। यह काम, मोह, भय, क्रोध, लोभ और रोग आदिका नाशक, तत्काल मोक्षकी प्राप्तिका साधन, जन्म-मृत्यु आदि ग्राहसमूहोंसे भरे हुए संसारसमुद्रसे पार उतारनेवाला तथा कुम्भीपाक आदि समस्त नरकोंकी आग बुझा देनेवाला है।'

भगवान् शंकरके ऐसा कहनेपर सुचरितने उनके समीप ही सर्वतीर्थमें स्नान किया। स्नान करके जब वे जलसे बाहर निकले, तब सब मनुष्योंने देखा, उनके शरीरमें वृद्धावस्थाकी झुर्रियाँ नहीं रह गयी हैं और वे अत्यन्त सुन्दर तरुण हो गये हैं।

**तदनन्तर महादेवजीने कहा**—'सुचरित! तुम इस तीर्थके किनारे रहते हुए मुझ मुक्तिदाता शिवका स्मरण करते हुए सदा इसीमें स्नान करो, अन्य देशके तीर्थोंमें मत जाओ। अन्तमें इस तीर्थके माहात्म्यसे तुम मुझे अवश्य प्राप्त कर लोगे। दूसरे मनुष्य भी जो इस तीर्थमें स्नान करेंगे, वे मुझे प्राप्त कर लेंगे।

ऐसा कहकर महादेवजी वहीं अन्तर्धान हो गये। उसके बाद सुचरित मुनि बहुत समयतक सर्वतीर्थके किनारे टिके रहे। वे मनको संयममें रखते हुए सदा उसी तीर्थमें स्नान करते थे। देहावसान होनेपर उन्होंने सब बन्धनोंसे मुक्त हो भगवान् शिवका सायुज्य प्राप्त कर लिया। इस प्रकार यहाँ सर्वतीर्थके माहात्म्यका वर्णन किया गया। जो मनुष्य इसे पढ़ता अथवा सुनता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

अत्यन्त पावन सर्वतीर्थमें स्नान करनेके पश्चात् मनुष्य ब्रह्महत्या आदि पापोंका नाश करनेवाली धनुष्कोटिमें स्नान करनेके लिये जाय। उसके स्मरणमात्रसे मनुष्य मुक्त हो जाता है। जो लोग धनुष्कोटिका दर्शन, उसमें स्नान अथवा उसकी चर्चा करते हैं, वे अट्ठाईस भेदोंवाले नरकमें कभी नहीं पड़ते। मनुष्योंको तुलापुरुषके दानसे जो फल मिलता है, वही धनुष्कोटिमें गोता लगानेसे भी मिल जाता है। एक सहस्र गोदान करनेसे जिस पुण्यकी प्राप्ति होती है, वह धनुष्कोटिमें स्नान करनेसे प्राप्त हो जाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारोंमेंसे मनुष्य जिस-जिस पुरुषार्थकी इच्छा करता है, उस-उसको धनुष्कोटिमें स्नान करनेसे तत्क्षण प्राप्त कर लेता है। धनुष्कोटितीर्थ सब पातकोंका नाशक, अद्वैत ज्ञान देनेवाला, भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाला, अभीष्ट मनोरथोंका दाता तथा अज्ञान दूर करनेवाला है। उसके होते भी मनुष्य उस तीर्थको छोड़कर अन्यत्र रमता रहता है, यह बड़े आश्चर्यकी बात है।

**ऋषियोंने पूछा**—सूतजी! उस तीर्थका नाम धनुष्तीर्थ कैसे हुआ?

**सूतजी बोले**—समस्त लोकोंके लिये कण्टकरूप रावण जब युद्धमें श्रीरामचन्द्रजीके हाथों मारा गया और विभीषणको लंकाके राज्यपर स्थापित कर दिया गया, तब सीता, लक्ष्मण तथा सुग्रीव

आदि वानरोंके साथ श्रीरामचन्द्रजी गन्धमादन पर्वतपर आये। वहाँ आनेपर धर्मज्ञ विभीषणने महात्मा रघुनाथजीसे हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'भगवन्! आपके बनाये हुए इस सेतुके मार्गसे सभी बलाभिमानी राजा आकर मेरी लंकापुरीको पीड़ित करेंगे। अतः आप अपनी धनुषकी कोटिसे इस सेतुको तोड़ डालिये।' विभीषणके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर श्रीरामचन्द्रजीने धनुषकी कोटिसे उस पुलको तोड़ डाला। इसीलिये उस तीर्थका नाम धनुष्कोटि हो गया। श्रीरामके धनुषकी कोटिसे की हुई रेखाका जो दर्शन करता है, उसकी मुक्ति हो जाती है। नर्मदाके तटपर किया हुआ तप बड़े-बड़े पातकोंका नाश करनेवाला है, गंगातटपर मृत्यु हो तो वह मोक्षरूप फल देनेवाली है और कुरुक्षेत्रमें दिया हुआ दान ब्रह्महत्या आदि पापोंको शुद्ध करनेवाला है; किंतु धनुष्कोटिमें तप, मृत्यु अथवा दान कोई भी हो तो वह महापातकोंका नाश, मोक्षकी प्राप्ति और मनोरथकी सिद्धि करानेवाला होता है। मनुष्य तभीतक पातकों और उपपातकोंसे पीड़ित होता है, जबतक कि उसे मोक्षदायक धनुष्कोटिका दर्शन नहीं होता। धनुष्कोटिका दर्शन करनेवाले पुरुषके हृदयकी अज्ञानमयी ग्रन्थि कट जाती है, उसके सब संशय नष्ट हो जाते हैं और समस्त पापकर्मोंका क्षय हो जाता है। पृथ्वीपर दस कोटि सहस्र (एक खर्व) तीर्थ हैं। उन सबका निवास इस धनुष्कोटिमें है। धनुष्कोटिमें तपस्या करके देवता और महर्षि बड़ी-बड़ी सिद्धियोंको प्राप्त हुए हैं। जो मनुष्य उसमें स्नान करके देवताओं तथा पितरोंका तर्पण करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो ब्रह्मलोकमें पूजित होता है। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक यहाँ एक ब्राह्मणको भोजन कराता है, वह इहलोक और परलोकमें अक्षय सुखका भागी होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र—कोई भी धनुष्कोटिमें स्नान करनेसे निन्दित योनिमें जन्म नहीं लेता। जो मानव मकर राशिमें सूर्यके स्थित होनेपर माघ मासमें धनुष्कोटिमें स्नान करता है, वह गंगा आदि सब तीर्थोंमें स्नान करनेका पुण्य प्राप्त करता है। उसे अक्षय लोकोंकी तथा मोक्षकी प्राप्ति होती है। स्त्री अथवा पुरुषके जन्मसे लेकर जितने पाप हैं, वे सब माघ मासमें धनुष्कोटितीर्थमें स्नान करनेसे नाशको प्राप्त होते हैं। जो क्रोधको जीतकर प्रतिदिन एक समय भोजन करते हुए माघ मासमें धनुष्कोटिमें नहाता है, वह ब्रह्महत्यासे मुक्त हो जाता है। शिवरात्रिमें निराहार एवं जितेन्द्रिय रहकर रातमें जागरण करे और प्रत्येक पहरमें रामेश्वर महादेवकी विशेष विधिपूर्वक पूजा करे। फिर दूसरे दिन सूर्योदय होनेपर धनुष्कोटिमें गोता लगाकर अन्य तीर्थोंमें भी नियमपूर्वक रहकर स्नान करे। पुनः नित्यकर्म करके भगवान् रामेश्वरकी आराधना करे, ब्राह्मणोंको यथाशक्ति अन्न भोजन करावे। उसके बाद अपनी शक्तिके अनुसार भूमि, गौ, तिल, धान्य और धन दान करे। तदनन्तर ब्राह्मणोंसे आज्ञा ले स्वयं भी मौन होकर भोजन करे। ऐसा करनेवाले पुरुषके ऊपर प्रसन्न हो भगवान् रामेश्वर उसके सब पाप छुड़ा देते और उसे भोग एवं मोक्ष प्रदान करते हैं। अतः मोक्ष चाहनेवाले पुरुषोंको माघ मासमें धनुष्कोटिमें अवश्य स्नान करना चाहिये। जो सूर्यनारायणके आधे उदयके समय धनुष्कोटिमें स्नान करता है, उसके वशमें ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों देवता हो जाते हैं। जो मनुष्य चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहणके समय इस तीर्थमें स्नान करता है, वह सायुज्य मोक्षको पाता है। मुनिवरो! तुम सब कुछ छोड़कर भोग और मोक्षरूप फल देनेवाले परम पवित्र धनुष्कोटिको जाओ। वहाँ जाकर पितरोंको पिण्डदान करो। क्योंकि वहाँ पिण्डदान करनेसे कल्पपर्यन्त

पितरोंकी तृप्ति होती है। सेतुमूल, धनुष्कोटि तथा गन्धमादन पर्वत ये देवनिर्मित तीनों स्थान ऋणसे छुटकारा दिलानेवाले कहे गये हैं। इसलिये सर्वथा प्रयत्न करके धनुष्कोटिका सेवन करना चाहिये। द्रोणाचार्यका पुत्र अश्वत्थामा धनुष्कोटिमें आकर यहाँ नियमपूर्वक स्नान करके सोते हुए बालकोंको मारनेके भयंकर पापसे क्षणभरमें मुक्त हो गया।

## अश्वत्थामाके द्वारा सोते हुए पाण्डव योद्धाओंका वध तथा धनुष्कोटिमें स्नान करनेसे उसका उद्धार

**ऋषियोंने पूछा**—सूतजी! अश्वत्थामाने किस प्रकार सोते हुए मनुष्योंको मारनेका पाप किया और कैसे धनुष्कोटिमें स्नान करके वह पापमुक्त हो गया?

**सूतजी बोले**—ब्राह्मणो! पहले पाण्डवोंका धृतराष्ट्रके पुत्रोंके साथ राज्यके लिये युद्ध छिड़ा था। अनेक अक्षौहिणी सेनाओंसे युक्त उस महायुद्धमें लगातार दस दिनोंतक संग्राम करके शान्तनुनन्दन भीष्मजी मारे गये। पाँच दिन युद्ध करनेपर द्रोणाचार्य, दो दिनकी लड़ाईमें कर्ण और एक दिन युद्ध करके राजा शल्य मार डाले गये। अठारहवें दिनके युद्धमें जब दुर्योधनसे सामना हुआ, तब भीमने गदा मारकर उसकी जाँघ तोड़ डाली। इससे वह श्रेष्ठ राजा दुर्योधन धराशायी हो गया। तदनन्तर युद्धकी समाप्ति हो गयी। सब राजा अपनी-अपनी छावनीपर लौट जानेकी जल्दी करने लगे। सबने प्रसन्नतापूर्वक शिविरको प्रस्थान किया। धृष्टद्युम्न, शिखण्डी आदि समस्त सृंजयवंशी क्षत्रिय तथा अन्य राजा लोग भी अपने-अपने शिविरको लौट गये। श्रीकृष्ण और सात्यकिके साथ पाण्डव भी अपने शिविरमें चले गये। उस समय श्रीकृष्णने पाण्डवोंसे कहा—'हमलोगोंको मंगलके लिये आजकी रातमें शिविरसे बाहर निवास करना चाहिये। तब श्रीकृष्ण और सात्यकिके साथ सब पाण्डव छावनीसे बाहर निकल गये। उन सबने ओघवती नदीके किनारे जाकर सुखपूर्वक वह रात्रि व्यतीत की।'

इधर कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामा सूर्यास्त होनेसे पहले दुर्योधनके पास गये। दुर्योधन रणभूमिमें धूलि-धूसरित होकर पड़ा था। उसका सारा वदन रक्तसे नहा गया था और वह धरतीपर पड़ा-पड़ा छटपटाता था। उसे उस अवस्थामें देखकर अश्वत्थामा आदि तीनोंको बड़ा शोक हुआ। राजा दुर्योधन भी उन सुहृदोंको देखकर शोकमग्न हो गया। तब अश्वत्थामा क्रोधसे प्रचण्ड अग्निकी भाँति जल उठा और इस प्रकार बोला—'राजन्! इन नीच शत्रुओंने छलसे मेरे पिताजीको रणभूमिमें गिरा दिया था, परंतु उसके कारण मुझे वैसा शोक नहीं हुआ, जितना कि आज तुम्हारे गिराये जानेपर हो रहा है। सुयोधन! मैं अपने सत्कर्मोंकी शपथ खाकर कहता हूँ, आज रातमें सृंजयोंसहित पाण्डवोंका श्रीकृष्णके देखते-देखते वध कर डालूँगा, मुझे आज्ञा दो।'

अश्वत्थामाके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधनने 'तथास्तु' कहकर उसे स्वीकृति दे दी और कृपाचार्यसे कहा—'आचार्य! आप द्रोणपुत्रको कलशके जलसे सेनापतिके पदपर अभिषिक्त कीजिये।' कृपाचार्यने ऐसा ही किया। सेनापतिके रूपमें अभिषिक्त होनेपर अश्वत्थामाने दुर्योधनको हृदयसे लगाया और कृपाचार्य तथा कृतवर्माके साथ तुरंत वहाँसे चल दिया। वे तीनों वीर दक्षिणकी ओर गये और सूर्यास्तसे पहले ही

शिविरके समीप पहुँच गये। वहाँ पाण्डवोंकी भयंकर गर्जना सुनकर वे तीनों विजयाभिलाषी योद्धा भयसे भाग चले। एक स्थानपर उन्होंने घोड़ोंको पानी पिलाया। पास ही अनेक शाखाओंसे युक्त सघन वटका वृक्ष था। वहाँ जाकर तीनों रथसे उतर गये और घोड़ोंको वहीं छोड़कर आचमन एवं सन्ध्योपासना की। तदनन्तर, अन्धकारसे व्याप्त भयानक रात्रि सब ओर फैल गयी। कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामा शोकसे पीड़ित हो वटके समीप बैठ गये। कृतवर्मा और कृपाचार्यको तो नींद आ गयी, किंतु क्रोधसे कलुषितचित्त होनेके कारण अश्वत्थामाको निद्रा नहीं आती थी। वह सर्पकी भाँति लंबी साँस खींचता रहा। उसने देखा, इस बरगदपर बहुत-से कौए रहते हैं और सब-के-सब भिन्न-भिन्न शाखाओंपर सुखपूर्वक सो गये हैं। इतनेमें ही वहाँ मास नामक पक्षी आया। वह बड़ा भयंकर था। मास बहुत शब्द करके उस वृक्षमें छिप गया और उछल-उछलकर सोये हुए कौओंको मारने लगा। थोड़ी ही देरमें कौओंके कटे हुए अंगोंसे उस वृक्षके सब ओरका भाग आच्छादित हो गया। इस प्रकार कौओंका अन्त करके वह उल्लू बहुत प्रसन्न हुआ।

अश्वत्थामाने उल्लूकी वह सारी करतूत रातमें देखी। फिर उसने भी मनमें यह निश्चय किया कि मैं भी इसी प्रकार रात्रिमें सोते हुए शत्रुओंका संहार करूँगा। उसने उल्लूके उस कुकृत्यको अपने लिये उपदेश माना और सोचा, सीधे मार्गसे युद्ध करके मैं पाण्डवोंको जीत नहीं सकूँगा, अतः छलसे ही उन्हें मारना चाहिये। ऐसा विचार करके अश्वत्थामाने सोते हुए कृपाचार्य और कृतवर्माको जगाया और इस प्रकार कहा—'निर्दयी भीमने राजा दुर्योधनके सिरपर लात मारी है, अतः आज रातमें पाण्डवोंके शिविरमें जाकर हमलोग उन्हें सोतेमें ही अनेक अस्त्र-शस्त्रोंसे मार डालेंगे।' यह सुनकर कृपाचार्यने कहा—'सोते हुओंको मारना इस लोकमें धर्म नहीं है। इस कुकर्मका कहीं भी आदर नहीं होता। इसी प्रकार जो लोग शस्त्र, रथ और घोड़ोंको त्याग चुके हैं, उनको भी मारना धर्म नहीं है। हमलोग धृतराष्ट्र, पतिव्रता गान्धारी तथा विदुरजीसे पूछ लें और वे लोग जैसा कहें, वैसा करें।' तब अश्वत्थामा बोला—'मामाजी! पाण्डवोंने छलसे युद्धमें मेरे पिताको मारा है, उसी प्रकार मैं भी रातमें सोते हुए पाण्डवोंका वध करूँगा।'

ऐसा कहकर अश्वत्थामा घोड़े जुते हुए रथपर सवार हो क्रोधसे जलता हुआ पाण्डवोंकी ओर चल दिया। उसके पीछे-पीछे कृतवर्मा और कृपाचार्य भी गये। शिविरके द्वारपर पहुँचकर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा खड़ा हो गया। उसने रातमें ही कृपानिधान महादेवजीकी आराधना करके उनसे एक उज्ज्वल खड्ग प्राप्त किया। तत्पश्चात् कृतवर्मा और कृपाचार्य दोनोंको शिविरके द्वारपर ही खड़ा करके वह स्वयं भीतर घुस गया। उस समय द्रोणपुत्र अत्यन्त कुपित हो तेजसे प्रज्वलित-सा हो रहा था। धीरे-धीरे वह धृष्टद्युम्नके शिविरमें गया। वहाँ महायुद्धसे थके हुए धृष्टद्युम्न आदि वीर अपनी सेनाके साथ निश्चिन्त होकर सो रहे थे। अश्वत्थामाने उत्तम शय्यापर सोते हुए महाबली धृष्टद्युम्नको क्रोधपूर्वक लातसे मारा। उस आघातसे जगकर धृष्टद्युम्न शय्यासे उठने लगा। उसी समय द्रोणपुत्रने उसके बाल खींचकर उसे पृथ्वीपर गिरा दिया और उसकी छातीपर चढ़कर धनुषकी डोरीसे उसके गलेको कसकर बाँध दिया। बेचारा विवश होकर चीखता और छटपटाता रहा, किंतु अश्वत्थामाने उसे पशुकी तरह गला दबाकर मार डाला। उसने सब सैनिकोंको भी सोतेमें ही मार डाला। युधामन्यु

और महापराक्रमी उत्तमौजाको, द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंको तथा युद्धसे बचे हुए सोमक नामवाले क्षत्रिय वीरोंको भी उसने मौतके घाट उतार दिया। शिखण्डी आदि बहुत-से क्षत्रिय वीरोंको अश्वत्थामाने तलवारसे काट डाला। उसके भयसे भागकर जो लोग दरवाजेसे निकले, उन सब सैनिकोंको कृतवर्मा और कृपाचार्यने मृत्युका ग्रास बना दिया। इस प्रकार सारी सेनाके मारे जानेसे वह शिविर उसी प्रकार सूना हो गया, जैसे प्रलयकालमें तीनों लोक शून्य हो जाते हैं। तदनन्तर वे तीनों योद्धा पाण्डवोंसे भयभीत होकर शीघ्र गतिसे इधर-उधर निकल भागे।

अश्वत्थामा नर्मदाके मनोरम तटपर चला गया। वहाँ सहस्रों वेदवादी ऋषि परस्पर पुण्यकथाएँ कहते हुए उत्तम तपस्यामें संलग्न रहते थे। द्रोणाचार्यका पुत्र उन ऋषियोंके आश्रमोंमें गया। उसके प्रवेश करते ही ब्रह्मवादी मुनियोंने योगबलसे उसका दुश्चरित्र जान लिया और इस प्रकार कहा—'द्रोणपुत्र! तू सोते हुए मनुष्योंको मारनेवाला पापी अधम ब्राह्मण है। तेरे दर्शनसे भी हमलोग निश्चय ही पतित हो जायँगे। तुझसे वार्तालाप करनेपर दस हजार ब्रह्महत्याओंका पाप लगेगा। अतः नराधम! तू हमारे आश्रमोंसे दूर हो जा।'

उनके ऐसा कहनेपर अश्वत्थामा लज्जित हो उस मुनिसेवित आश्रमसे निकल गया। इसी प्रकार वह काशी आदि सभी पुण्यतीर्थोंमें गया; परंतु वहाँके महात्मा ब्राह्मणोंसे निन्दित होकर लौट आया और अन्तमें प्रायश्चित करनेकी इच्छासे भगवान् वेदव्यासजीकी शरणमें गया। महामुनि व्यासजी बदरिकारण्यमें विराजमान थे। उनके पास जाकर उसने भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। तब व्यासजीने उससे कहा—'द्रोणकुमार! तू शीघ्र मेरे आश्रमसे निकल जा। सोते हुओंको मारनेके पापसे तू महापातकी हो गया है। तेरे साथ बात करनेसे भी मुझे महान् पाप लगेगा।'

**अश्वत्थामा बोला**—भगवन्! सबसे निन्दित होकर मैं आपकी शरणमें आया हूँ। यदि आप भी ऐसी बात कहते हैं तो दूसरा कौन मुझे शरण देनेवाला होगा? ब्रह्मन्! मुझपर कृपा कीजिये। क्योंकि साधुपुरुष दीनोंपर दया करनेवाले होते हैं। सोते हुए मनुष्योंको मारनेसे जो पाप हुआ है, उसकी शान्तिके लिये आप मुझे कोई प्रायश्चित्त बताइये। कारण कि आप सर्वज्ञ हैं।

**अश्वत्थामाके ऐसा कहनेपर व्यासजीने दीर्घकालतक सोच-विचारकर उससे कहा**—इस पापकी शान्तिके लिये धर्मशास्त्रोंमें कोई प्रायश्चित्त नहीं है। तथापि मैं उस दोषके निवारणके लिये एक उपाय बतलाता हूँ। दक्षिण समुद्रके तटपर जो परम पवित्र रामसेतु है, वह मोक्ष देनेवाला है। वहीं धनुष्कोटि नामसे विख्यात एक महान् तीर्थ है, जो बड़े-बड़े पातकोंका नाश करनेवाला और मनुष्योंको स्वर्ग एवं मोक्ष देनेवाला है। उसमें स्नान करनेसे ब्रह्महत्या आदि पाप भी शुद्ध हो जाते हैं। वह पवित्रोंमें सबसे अधिक पवित्र तथा तीर्थोंमें सबसे उत्तम है। दुःस्वप्न और नरकके क्लेशोंका नाशक तथा पुण्यजनक है। उस धनुष्कोटितीर्थमें जाकर तुम एक महीनेतक निरन्तर स्नान करो तो सोते हुओंको मारनेके पापसे शुद्ध हो जाओगे।

महर्षि व्यासके इस प्रकार कहनेपर अश्वत्थामा रामसेतुपर जाकर पुण्यदायिनी धनुष्कोटिमें पहुँचा। वहाँ उसने संकल्पपूर्वक एक मासतक निरन्तर स्नान किया। वह प्रतिदिन तीनों समय श्रीरामेश्वर शिवकी सेवामें रहता था। तदनन्तर तीसवें दिन जलमें स्नान करके उसने पंचाक्षर मन्त्रका जप और उपवास किया। फिर रातमें भगवान् रामेश्वरके समीप जागरण किया। दूसरे दिन पुनः संकल्पपूर्वक धनुष्कोटिमें स्नान करके उसने श्रीरामेश्वरकी भक्तिपूर्वक सेवा-पूजा की। तदनन्तर आनन्दके आँसू बहाता हुआ वह शिवजीके आगे नृत्य करने

लगा। उस समय भगवान् शंकर प्रसन्न होकर उसके सामने प्रकट हो गये। उनका दर्शन करके उसने भगवान् शिवका इस प्रकार स्तवन किया—'देवदेवेश्वर! आपको नमस्कार है। करुणाकर शंकर! विपत्ति-रूपी समुद्रमें डूबे हुए प्राणियोंको पार लगानेके लिये आपके चरणारविन्द जहाजरूप हैं। मृत्युंजय! त्रिलोचन! आप अपनी कृपादृष्टिसे मेरी रक्षा कीजिये।'

इस प्रकार स्तुति करनेपर महादेवजी प्रसन्न हो अश्वत्थामासे बोले—'द्रोणकुमार! सोते हुओंको मारनेके कारण जो तुम्हें पाप लगा था, वह धनुष्कोटिमें नहानेसे दूर हो गया। अब तुम कोई वर माँगो।' अश्वत्थामा बोला—'महेश्वर! आज आपके दर्शनमात्रसे मैं कृतार्थ हो गया। आपके चरणारविन्दोंमें मेरी अविचल भक्ति हो।' 'तथास्तु' कहकर देवदेव महादेवजी वहीं अन्तर्धान हो गये। इस प्रकार पापरहित, शुद्ध एवं निर्मल हुए अश्वत्थामाको उस समयसे सभी महर्षियोंने ग्रहण किया।

## धनुष्कोटिमें स्नान करनेसे परावसुका पापसे उद्धार

**सूतजी कहते हैं**—पहलेकी बात है, बृहद्द्युम्न नामसे प्रसिद्ध एक महाबली चक्रवर्ती राजा हो गये हैं। वे समुद्रपर्यन्त समस्त पृथ्वीका धर्मपूर्वक पालन करते थे। उन्होंने सत्रयागद्वारा इन्द्र आदि देवताओंका यजन किया। परम विद्वान् धर्मात्मा रैभ्यजी उनके पुरोहित थे। रैभ्यके दो पुत्र हुए, अर्वावसु और परावसु। वे दोनों छहों अंगोंसहित सम्पूर्ण वेदोंके विद्वान् तथा श्रौत-स्मार्त कर्मोंके तत्त्वज्ञ थे। न्याय, मीमांसा, सांख्य, वेदान्त, वैशेषिक, योगशास्त्र और व्याकरणशास्त्रके मर्मज्ञ विद्वान् थे। मनु आदि धर्मशास्त्रोंके वे निष्णात पण्डित और सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें चतुर थे। इन दोनों विद्वानोंको सत्रयागमें सहायता करनेके लिये राजा बृहद्द्युम्नने माँगा। पिताकी आज्ञा ले वे दोनों भाई बृहद्द्युम्नके सत्रमें गये। वे युगल अश्विनीकुमारोंकी भाँति परम सुन्दर दिखायी देते थे। रैभ्य मुनि जेठी पुत्रवधूके साथ स्वयं ही आश्रमपर रह गये थे।

उन दोनों बन्धुओंने वहाँ जाकर राजा बृहद्द्युम्नके यज्ञको बड़ी उत्तमतासे सम्पन्न कराया। जब वह यज्ञ होने लगा, तब राजाके बुलाये हुए सभी मुनि उस यज्ञको देखनेके लिये आये। उनको आया हुआ देख महाराज बृहद्द्युम्नने सबका आदरपूर्वक अर्घ्य आदिसे सत्कार किया। उसी समय आमन्त्रित हुए राजालोग आदरपूर्वक वह यज्ञोत्सव देखनेके लिये अनेक दिशाओंसे चतुरंगिणी सेनाके साथ आये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन चारों वर्णों तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—इन चारों आश्रमोंके लोग भी वहाँ जुटे हुए थे। श्रेष्ठ राजाने उन सबका यथायोग्य सत्कार किया और सबको भोजनके लिये अन्न, घी आदि पदार्थ दिये। वस्त्र, सुवर्ण, हार एवं नाना प्रकारके रत्न भी भेंट किये। इस प्रकार राजा बृहद्द्युम्नने यज्ञमें पधारे हुए सभी अतिथियोंका सत्कार किया।

रैभ्यके पुत्र अर्वावसु और परावसुने यज्ञ आदि कर्मोंको बिना किसी भूलके विधिपूर्वक कराया। उन दोनों भाइयोंकी निपुणता देखकर वसिष्ठ आदि सभी महर्षियोंने उनकी प्रशंसा की। परावसु कुछ कर्म कराकर तृतीय सवनके अन्तमें सायंकालके समय घरका काम-काज देखनेके लिये चले गये। उस समय रैभ्य मुनि काला मृगचर्म ओढ़कर वनमें विचर रहे थे। उन्हें देखकर परावसुके मनमें मृगकी आशंका हुई। रात्रिमें निविड अन्धकारमें उनके नेत्र निद्रासे

भारी हो रहे थे। उन्होंने पिताको देखकर यह समझा कि यह कोई वनवासी मृग है, मुझे मारनेके लिये आ रहा है। ऐसा सोचकर उस सघन वनमें अपने शरीरकी रक्षा चाहनेवाले परावसुने मृगके धोखेसे अपने पिताको ही मार डाला। निकट जाकर उसने अपने मरे हुए पिताको पहचाना; फिर तो वह शोकमें डूब गया। उसकी सारी इन्द्रियाँ व्यथासे व्याकुल हो उठीं। तत्पश्चात् परावसु पिताका दाहसंस्कार करके पुनः राजाके सत्रमें आ गये और अपने द्वारा जो पाप हो गया था, वह सब उन्होंने छोटे भाईको बताया। पिताको मरा हुआ सुन अर्वावसु शोकसे व्याकुल हो उठा। तब बड़े भाईने छोटेको यह आदेश दिया कि राजाका यह महान् यज्ञ आरम्भ हुआ है, तुम अभी बालक हो, तुममें इस यज्ञका भार सँभालनेकी शक्ति नहीं है। मैंने रातमें मृगकी आशंकासे पिताका ही वध कर डाला है, अतः उस ब्रह्महत्यासे मुक्त होनेके लिये प्रायश्चित्त भी करना चाहिये। तात! छोटे भैया! तुम्हीं मेरे लिये व्रत करो। मैं अकेला भी इस यज्ञका भार वहन करनेमें समर्थ हूँ।

**बड़े भाईके ऐसा कहनेपर अर्वावसुने कहा—** बड़े भैया! आपकी जैसी आज्ञा हो वैसा ही होगा। ऐसा कहकर वह यज्ञसे निकल गया और बड़े भाईने सब कर्मोंको कराया। छोटे भाईने बारह वर्षोंतक बड़े भाईके लिये ब्रह्महत्यानाशके लिये व्रत किया। तत्पश्चात् प्रसन्नतापूर्वक वह पुनः सत्रयज्ञमें आया। अपने भाईको आया देख ज्येष्ठने राजा बृहद्द्युम्नसे कहा—'राजन्! यह अर्वावसु ब्रह्महत्यारा है, इस समय आपके यज्ञमें आया है। नृपश्रेष्ठ! इसे शीघ्र ही इस यज्ञसे हटा दीजिये, अन्यथा सत्रयागके फलकी हानि होगी।' परावसुके ऐसा कहनेपर राजाने अपने सेवकोंद्वारा अर्वावसुको यज्ञसे निकाल दिया। वहाँके ब्राह्मण भी उसे धिक्कार दे रहे थे। अर्वावसु यह सब सहन करके चुपचाप वनको चला गया और वहाँ ऐसी तपस्या की, जो देवताओंके लिये भी दुष्कर थी। उसके तपसे भगवान् सूर्यनारायण प्रसन्न हो सामने प्रकट हुए और इस प्रकार बोले—'अर्वावसो! तुम तपस्या, ब्रह्मचर्य, आचार, शास्त्रश्रवण तथा वेद-शास्त्र आदिकी शिक्षाकी दृष्टिसे सर्वश्रेष्ठ हो। परावसुने तुम्हें अपमानपूर्वक निकाला है तथापि क्षमायुक्त होकर तुम उसके प्रति क्रोध नहीं करते हो। तुम्हारे बड़े भाईने ही पिताको मारा है, तुमने नहीं; फिर भी तुमने भाईकी शुद्धिके लिये स्वयं ही ब्रह्महत्यानाशक व्रत किया है, इसलिये हम तुम्हें श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं।' ऐसा कहकर देवताओंने उसको ज्येष्ठ बना दिया। तत्पश्चात् इन्द्रादि देवताओंने सूर्यनारायणको आगे करके कहा—'अर्वावसो! तुम कोई वर माँगो।' उसने प्रार्थना की—'मेरे पिता जीवित हो जायँ और उन्हें अपने मारे जानेकी स्मृति न हो।' देवताओंने कहा—'ऐसा ही होगा। इसके सिवा हम तुम्हें दूसरा वर भी देना चाहते हैं, माँगो।'

**अर्वावसु बोला—**मेरे भाईकी दुष्टता दूर हो। अर्वावसुकी यह बात सुनकर देवताओंने कहा—'परावसुने अपने ब्राह्मणपिताकी हत्या की है, अतः उसे महान् पाप लगा है। दूसरेके किये हुए पापकी दूसरे द्वारा किये गये प्रायश्चित्तसे निवृत्ति नहीं होती, विशेषतः पाँच महापातकोंके सम्बन्धमें ऐसी ही बात है। इस कारण तुम्हारे भाई परावसुका अभी पापसे उद्धार नहीं हुआ है।' देवताओंकी यह बात सुनकर अर्वावसुने कहा—'आपका कहना ठीक है तथापि आपलोगोंके माहात्म्य और प्रसादसे पिता और ब्राह्मणकी हत्या करनेवाले मेरे भाईका जिस प्रकार उद्धार हो, वह उपाय कृपापूर्वक आप बतावें।'

अर्वावसुका यह वचन सुनकर देवताओंने दीर्घकालतक विचार किया। फिर एक निश्चयपर

पहुँचकर इस प्रकार कहा—'उस महापातकके निवारणका उपाय तुम्हें हम बता रहे हैं। दक्षिण समुद्रके तटपर जो परम पवित्र मोक्षदायक रामसेतु है, उसीपर धनुष्कोटि नामसे विख्यात एक परम उत्तम मुक्तिदायक तीर्थ है, जो ब्रह्महत्या, मदिरापान, सुवर्णकी चोरी, गुरुशय्यागमन तथा इन सबके संसर्गरूप महापातकोंका विनाश करनेवाला है। जो मनुष्य मनमें कोई कामना नहीं रखकर उसमें स्नान करता है, उसको वह तीर्थ मोक्षफल प्रदान करता है। वह दुःस्वप्नों तथा नरकके क्लेशोंका नाश करनेवाला एवं धन्य है। तुम्हारा ज्येष्ठ भाई परावसु यदि वहीं जाकर स्नान करे तो तत्काल ब्रह्महत्यासे मुक्त हो सकता है।' यों कहकर देवतालोग अपनी पुरीको चले गये।

तदनन्तर अर्वावसु अपने बड़े भाई परावसुको साथ ले श्रीरामचन्द्रजीके धनुष्कोटि नामक तीर्थमें गया। परावसुने पातकशुद्धिके लिये उस सेतुवर्ती तीर्थमें संकल्प करके अपने भाईके साथ नियमपूर्वक स्नान किया। स्नान करके जब वे उठे, तब आकाशवाणीने कहा—'परावसो! तुम्हारी पितृहत्या और ब्रह्महत्या नष्ट हो गयी।' तब छोटे भाईके साथ परावसुने श्रीरामचन्द्रजीकी धनुष्कोटिको भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और रामेश्वर महादेवको भक्तिभावसे मस्तक नवाकर दोनों भाई अपने पिताके आश्रमपर गये। वहाँ रैभ्य मुनि मरकर पुनः जीवित हो गये थे। उन्होंने अपने दोनों पुत्रोंको आया देख मन-ही-मन बड़े सन्तोषका अनुभव किया और पुत्रोंके साथ वे आश्रमपर सुखपूर्वक रहने लगे। श्रीरामचन्द्रजीकी धनुष्कोटिमें स्नान करनेसे परावसुके पातकका नाश हो गया था। इसलिये सब मुनियोंने उन्हें स्वीकार किया।

## धनुष्कोटिकी महिमा; सियार, वानर तथा दुराचार ब्राह्मणकी कथा और महालय श्राद्धकी आवश्यकता

**सूतजी कहते हैं**—अब मैं धनुष्कोटिकी प्रशंसामें सियार और वानरके संवादका वर्णन करता हूँ। प्राचीन कालमें एक स्थानपर सियार और वानर रहते थे। दोनोंको अपने पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण था। वे दोनों परस्पर मित्र थे। सियारका नाम रुद्रभूमिष्ठ था। एक समय वानरने शृगालको श्मशानभूमिमें देखकर पूर्वजन्मका स्मरण करते हुए पूछा—'सियार! तुमने पूर्वजन्ममें कौन-सा अत्यन्त भयंकर पाप किया था, जिससे तुम श्मशानभूमिमें घृणित एवं दुर्गन्धयुक्त मुर्दोंको खा रहे हो?' वानरके ऐसा पूछनेपर सियारने कहा—'वानर! मैं पूर्वजन्ममें वेदोंका पारंगत विद्वान् और समस्त कर्मकलापोंका ज्ञाता ब्राह्मण था। मेरा नाम वेदशर्मा था। मैंने उस जन्ममें एक ब्राह्मणको धन देनेके लिये संकल्प करके भी वह धन उसे नहीं दिया, उसीसे सियार हुआ और अब इस प्रकारके अत्यन्त घृणित पदार्थोंको खाता हूँ। जो दुरात्मा देनेकी प्रतिज्ञा करके भी कोई वस्तु नहीं देते हैं, वे अत्यन्त घृणित सियारकी योनिको प्राप्त होते हैं। वानर! ब्राह्मणको देनेकी प्रतिज्ञा करके यदि वह वस्तु उसे न दी जाय, तो उसी क्षण उसके दस जन्मोंका पुण्य नष्ट हो जाता है। इसलिये समझदार मनुष्यको उचित है कि वह देनेकी प्रतिज्ञा करनेपर उस वस्तुको अवश्य दे डाले।'

**ऐसा कहकर सियारने वानरसे पूछा**—तुमने क्या पाप किया था, जो वानर हो गये?

**वानर बोला**—पूर्वजन्ममें मैं भी ब्राह्मण था। मेरा नाम वेदनाथ था। मेरे पिता विश्वनाथ नामसे विख्यात थे और मेरी माताका नाम कमलालया था। सियार! पूर्वजन्ममें भी हमारी तुम्हारी मित्रता

थी। तुम इस बातको नहीं जानते हो, परंतु पुण्यके गौरवसे मुझे उसका स्मरण है। पूर्वजन्ममें मैंने ब्राह्मणका साग चुरा लिया था, उसी पापसे मैं वानर हुआ हूँ। अतः ब्राह्मणका धन अपहरण नहीं करना चाहिये। ब्राह्मणका धन लेनेसे नरक होता है और नरक भोगनेके बाद वानरकी योनि मिलती है। ब्राह्मणका धन अपहरण करनेसे बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं है। विष तो केवल पीनेवालेको मारता है, किंतु ब्राह्मणका धन समूचे कुलको जला डालता है। ब्राह्मणके धनका अपहरण करनेसे पापी मनुष्य कुम्भीपाक नामक नरकमें पकाया जाता है। पश्चात् शेष पापोंके फलस्वरूप वह वानर योनिको प्राप्त होता है। इसलिये ब्राह्मणके धनका अपहरण नहीं करना चाहिये। उनके साथ सदा क्षमाका ही व्यवहार करना चाहिये। बालक, दरिद्र, कृपण तथा वेदशास्त्र आदिके ज्ञानसे शून्य ब्राह्मणोंका भी अपमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि क्रोधमें आनेपर वे अग्निके समान भस्म कर देनेवाले हो जाते हैं। सियार! कितने ही समयसे ऐसा कष्ट भोगते हुए हम दोनोंको इस पापसे छुड़ानेवाला कौन होगा?

सियार और वानर इस प्रकार बातचीत कर रहे थे, इतनेमेंही दैवयोगसे अथवा पूर्वजन्मके किसी पुण्यवश वहाँ महातेजस्वी सिन्धुद्वीप नामक मुनि स्वेच्छानुसार घूमते हुए आ पहुँचे। वे रुद्राक्षकी मालासे विभूषित हो भगवान् शिवके नामोंका कीर्तन कर रहे थे। सियार और वानरने मुनिको देखकर प्रणाम किया तथा इस प्रकार पूछा—'भगवन्! आप सब धर्मोंके ज्ञाता हैं, अपनी कृपादृष्टिसे हमारी ओर देखिये और हम दोनोंकी रक्षा कीजिये। हमारी वानर और सियारकी योनि जिस उपायसे छूट जाय, उसे बतानेकी कृपा कीजिये। साधुपुरुष सदा किसी प्रकारकी अपेक्षा न रखते हुए अपनी कृपादृष्टिसे अनाथों, दीनों, अज्ञानियों, बालकों तथा रोगपीड़ित मनुष्योंकी रक्षा करते हैं।'

उन दोनोंके ऐसा कहनेपर महामुनि सिन्धुद्वीपने मन-ही-मन बहुत देरतक विचार किया और इस प्रकार कहा—'सियार और वानर! तुम दोनोंके पापकी शान्तिके लिये मैं एक उपाय बताता हूँ। तुम दोनों दक्षिण समुद्रके तटपर श्रीरामचन्द्रजीके धनुष्कोटि तीर्थमें शीघ्र जाकर स्नान करो। ऐसा करनेसे पापसे मुक्त हो जाओगे।' सिन्धुद्वीपके इस वचनको सुनकर सियार और वानर बड़े प्रयाससे धनुष्कोटिमें गये और उसके जलमें स्नान करके सब पापोंसे मुक्त हो श्रेष्ठ विमानपर आरूढ़ होकर देवलोकमें चले गये। वहाँ उन्हें इन्द्रका आधा आसन प्राप्त हुआ।

गोदावरीके तटपर दुराचार नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण रहता था। वह बड़ा पापी और निर्दयतापूर्ण कर्म करनेवाला था। ब्रह्महत्यारे, शराबी, सुवर्णकी चोरी करनेवाले तथा गुरुपत्नीगामी महापातकियोंके संसर्गसे दूषित होकर वह सदा वैसे ही लोगोंके साथ निवास करता था। महापातकियोंके संसर्गदोषसे उस ब्राह्मणकी ब्राह्मणता पूर्णतः नष्ट हो गयी थी। ब्राह्मणतासे हीन उस दुराचार ब्राह्मणको एक महाभयंकर महाबलवान् वेतालने अपने अधीन कर लिया। वेतालके आवेशसे अत्यन्त पीड़ित एवं परवश होकर वह देश-देश और वन-वन घूमने लगा। घूमते-घूमते वह श्रीरामचन्द्रजीके धनुष्कोटिमें चला गया। वहाँ वेतालने प्रेरित करके उसे धनुष्कोटिके जलमें नहलाया। स्नान करके वह ज्यों ही जलसे निकला, वेतालने उसे छोड़ दिया। तब वह ब्राह्मण स्वस्थ होकर विचार करने लगा कि 'यह समुद्रके किनारे कौन-सा देश है? गोदावरीके तटपर निवास करनेवाला मैं यहाँ कैसे आ गया?' इसी चिन्तामें पड़ा हुआ वह धनुष्कोटिनिवासी योगिप्रवर महात्मा दत्तात्रेयके पास गया और उन्हें प्रणाम करके बोला—

'भगवन्! मैं नहीं जानता यह कौन-सा देश है? मेरा घर तो गोदावरीके किनारे है, मैं यहाँ कैसे

आ पहुँचा। यह सब बतानेकी कृपा करें।' उसकी यह बात सुनकर महायोगी दत्तात्रेयने थोड़ी देरतक ध्यान करके कहा—'पहले महापातकियोंके संसर्गसे तुम्हारी ब्राह्मणता नष्ट हो गयी थी, इसलिये तुम्हें किसी वेतालने पकड़ लिया। उसीके आवेशसे विवश होकर तुम यहाँ आये हो। वेतालने तुम्हें धनुष्कोटिके जलमें नहलाया है। धनुष्कोटिमें स्नान करनेसे ही तुम्हारा महापातकियोंके संसर्गका दोष सर्वथा नष्ट हो गया। जिस वेतालने तुम्हें पकड़ रखा था, वह पूर्वजन्ममें ब्राह्मण था। उसने आश्विनमासके कृष्ण पक्षमें पार्वणकी विधिसे पितरोंका हर्षपूर्वक महालय श्राद्ध नहीं किया। अतः पितरोंके शाप देनेसे वह वेतालभावको प्राप्त हुआ। इस धनुष्कोटिके दर्शनसे वह वेताल भी वेताल-योनिसे मुक्त हो भगवान् विष्णुके लोकको प्राप्त हुआ है। जो मनुष्य आश्विनमासके कृष्णपक्षमें अत्यन्त लोभवश पितरोंके उद्देश्यसे महालय श्राद्ध नहीं करते, वे वेताल होते हैं। जो आश्विनमासके कृष्णपक्षमें महालय श्राद्धके अवसरपर अपनी शक्तिके अनुसार एक, दो या तीन ब्राह्मणोंको भोजन कराता है, उसकी कभी दुर्गति नहीं होती। भादों शुक्लपक्षसे लेकर मार्गशीर्षमासके अन्ततक तत्त्वदर्शी मुनियोंने महालय श्राद्धका समय बतलाया है। इसमें भी भादोंका शुक्लपक्ष विशिष्ट है और उसकी अपेक्षा भी आश्विनका कृष्णपक्ष अधिक उत्तम माना गया है। उस कृष्णपक्षमें प्रतिपदा तिथिको जो मनुष्य भक्तिपूर्वक महालय श्राद्ध करता है, उसके ऊपर सबको पवित्र करनेवाले भगवान् अग्निदेव प्रसन्न होते हैं। वह अग्निलोकको प्राप्त होता है। जो मनुष्य द्वितीया तिथिमें महालय श्राद्ध करता है, उसके ऊपर गिरिजापति भगवान् शंकर प्रसन्न होते हैं और वह कैलाशको प्राप्त होता है। जो तृतीया तिथिमें भक्तिपूर्वक महालय श्राद्ध करता है, उसपर ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों देवता अनुग्रह करते हैं। इसी प्रकार तृतीयासे लेकर चतुर्दशीतक महालय श्राद्धकी उत्तरोत्तर अधिक-से-अधिक महिमा है। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक अमावास्या तिथिमें महालय श्राद्ध करता है, उसके पितरोंको अनन्तकालतक तृप्ति बनी रहती है। स्वर्गलोकमें देवताओंको अमृत पीनेसे जो तृप्ति प्राप्त होती है, वैसी ही अनन्त तृप्ति पितरोंको अमावास्यामें महालय श्राद्ध करनेसे होती है। अमावास्या तिथि भगवान् शंकरको अत्यन्त प्रिय है। यह परम शान्त तिथि है। इसमें महालय श्राद्ध करके वेदवेत्ता ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिये। अमावास्याको श्राद्ध करनेवाला पुरुष प्रत्यगात्मा और ब्रह्मकी एकताको जानकर सायुज्य मोक्षको प्राप्त होता है।'

'भाद्रपदमास आनेपर देवस्वरूप पितर हर्षसे नाचने लगते हैं कि हमारे पुत्र हमलोगोंको तृप्तिके उद्देश्यसे श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको भोजन करायेंगे। उस भोजनसे हमें अत्यन्त दारुण नरकका क्लेश नहीं भोगना पड़ेगा और जबतक चन्द्रमा तथा सूर्य बने

रहेंगे, तबतक हमारा स्वर्गलोकमें निवास होगा। पितरोंको तृप्ति देनेवाले भाद्रपदमास एवं आश्विन-मास प्राप्त होनेपर प्रतिदिन भक्तिपूर्वक एक-एक ब्राह्मणको भोजन कराना चाहिये। इससे उसके पितृकुल और मातृकुलके पितर तृप्तिको प्राप्त होते हैं। आश्विन कृष्णा सप्तमीसे लेकर अमावास्यातक मनुष्य प्रतिदिन तीन-तीन ब्राह्मणोंको सत्कारपूर्वक भोजन करावे। द्वादशीसे लेकर अमावास्यातक तो अवश्य ही ऐसा करे। वेदवेत्ता ब्राह्मणोंको इस प्रकार भोजन करावे, जिससे उन्हें पूर्णतः तृप्ति हो। उस ब्राह्मणकी तृप्तिसे ब्रह्मा, विष्णु और शिव तृप्त होते हैं। अग्निष्वात्त आदि पितर, इन्द्र आदि देवता और अधिक कहाँतक कहें, तीनों लोक भी तृप्त होते हैं। मनुष्य महालय पार्वणविधिसे श्राद्ध करे। महालय श्राद्धमें पितृकुलके पितरोंकी ही भाँति मातृकुलके मातामहादि पितरोंको भी प्रसन्नतापूर्वक भोजन कराना चाहिये। भोजनके पश्चात् यथाशक्ति दक्षिणा देनी चाहिये। जैसे आगे चलनेवाले बैलोंके बिना गाड़ी रास्तेमें आगे नहीं बढ़ती, उसी प्रकार पितृयज्ञ भी बिना दक्षिणाके सफल नहीं होता। अतः कल्याणकी सिद्धिके लिये महालय श्राद्ध अवश्य करना चाहिये। यदि माता-पिताके क्षयाहके दिन एक-उद्दिष्ट श्राद्ध भूलसे न किया गया हो तो भी महालय श्राद्ध अवश्य करे। यदि अपने पास शक्ति न हो तो दूसरोंसे धनकी याचना करके भी पितरोंका महालय श्राद्ध करे। पहले ब्राह्मणोंसे याचना करनी चाहिये। यदि उनसे धन-धान्य आदिकी प्राप्ति न हो तो महालय श्राद्ध करनेकी इच्छासे उत्तम क्षत्रियोंके यहाँ याचना करे। यदि क्षत्रिय भी देनेवाले न हों तो वैश्योंसे माँगे। यदि लोकमें वैश्य भी दाता न हों तो पितरोंकी तृप्तिके लिये भाद्रपदमासमें गोग्रास अर्पण करे। यदि भादों या आश्विनमासमें सूतक आदिके द्वारा श्राद्धमें विघ्न उपस्थित हो जाय, तो सूतकका समय निवृत्त होनेपर अगहनमासके भीतर किसी दिन भी पार्वण श्राद्ध कर लेना चाहिये। विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह महालय श्राद्धके लिये नौ ब्राह्मणोंका वरण करे। एक ब्राह्मण पिताके लिये, एक पितामहके लिये और एक प्रपितामहके लिये वरण करे। इसी प्रकार मातामह, प्रमातामह और वृद्धप्रमातामहके लिये भी एक-एक ब्राह्मणका वरण करे। दो श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका वरण विश्वेदेवोंके लिये करे और एक वेदवेत्ता ब्राह्मणका वरण भगवान् विष्णुके लिये करना चाहिये। अथवा पितृवर्गके लिये एक, मातामह वर्गके लिये एक, विश्वेदेवोंके लिये एक और भगवान् विष्णुके लिये एक। इस प्रकार चार ब्राह्मणोंका महालय श्राद्धके लिये वरण करे। वे ब्राह्मण वेदज्ञ एवं सुशील होने चाहिये। जो खोटे स्वभाववाले ब्राह्मणोंका वरण करता है, वह श्राद्धका घातक है। भाद्रपद शुक्लपक्षमें अथवा विशेषतः आश्विन कृष्णपक्षमें महालय श्राद्ध करना चाहिये। जो श्रद्धापूर्वक इस प्रकार महालय श्राद्ध करता है, वह सब तीर्थोंमें स्नान करनेका फल पा लेता है। महालय श्राद्ध नित्यकर्ममें गिना जाता है। अतः उसे न करनेपर बड़ा भारी पाप लगता है।'

'धर्मपुत्र युधिष्ठिर वनवासमें महालय श्राद्ध करनेसे ही दुःखके समुद्रसे पार हो धृतराष्ट्रपुत्रोंको मारकर युद्धमें विजयी हुए। मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठ, अत्रि, भृगु, कुत्स, गौतम, अंगिरा, काश्यप, भरद्वाज, विश्वामित्र, अगस्त्य, पराशर, मृकण्ड तथा अन्यान्य मुनिवर विधिपूर्वक उत्तम महालय श्राद्धका अनुष्ठान करके ही अणिमा आदि आठों सिद्धियों, व्रतों और तपस्याओंके निवासस्थान बन गये। महालय श्राद्ध करनेसे ही उन्हें सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त हुआ। अतः अपना कल्याण एवं अभ्युदय चाहनेवाले पुरुषको महालय श्राद्ध अवश्य करना चाहिये। तुम्हारे भीतर जिस भूतने प्रवेश किया था, वह पूर्वजन्ममें ब्राह्मण

था। उसका नाम वेदनिधि था। वह महात्मा भरद्वाजका पुत्र तथा कुशस्थली ग्रामका निवासी था। उसने विधिपूर्वक महालय श्राद्धको नहीं किया, इसलिये पितरोंके शापसे वह वेताल हो गया। दुराचार! तुम भाद्रपदमास (आश्विन कृष्णपक्ष) में पितरोंकी तृप्तिके लिये षड्रस भोजन तैयार करके ब्राह्मणोंको भक्तिपूर्वक भोजन कराओ। ऐसा करनेसे तुम्हें कभी दरिद्रता नहीं होगी और तुम सदा सुखी रहोगे। आजसे तुम कभी महापातकियोंसे संसर्ग न रखना, मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ। अब शीघ्रतापूर्वक अपने देशको चले जाओ।'

योगी दत्तात्रेय मुनिके इस प्रकार आज्ञा देनेपर दुराचार कृतार्थमनसे उन्हें प्रणाम करके अपने देशको चला गया और दत्तात्रेयजीके बताये हुए मार्गसे अपने वर्णाश्रमोचित कर्तव्यका पालन करते हुए प्रसन्नतापूर्वक रहने लगा। उसने महापातकियोंका संसर्ग त्याग दिया। श्रीरामचन्द्रजीके धनुष्कोटितीर्थमें स्नान करनेकी महिमासे दुराचार देहान्त होनेपर परम मोक्षको प्राप्त हुआ। ब्राह्मणो! इस प्रकार मैंने तुम्हें दुराचारके उद्धारकी पवित्र कथा कह सुनायी। इस प्रकार धनुष्कोटितीर्थ बड़े-बड़े पातकोंका नाश करनेवाला है।

## क्षीरकुण्डकी उत्पत्ति और महिमा—महर्षि मुद्गलको भगवान् विष्णुका दर्शन

**श्रीसूतजी कहते हैं**—नैमिषारण्यनिवासियो! चक्रतीर्थसे लेकर धनुष्कोटिपर्यन्त चौबीस तीर्थोंका तुमसे वर्णन किया, अब और क्या सुनना चाहते हो?

**मुनि बोले**—सूतजी! हमलोग क्षीरकुण्डका माहात्म्य सुनना चाहते हैं, जिसके समीप पहले आपने चक्रतीर्थकी स्थिति बतलायी है।

**सूतजीने कहा**—मुनिवरो! परम पवित्र देवीपुरसे पश्चिम थोड़ी ही दूरपर फुल्लग्रामके नामसे प्रसिद्ध बड़ा भारी स्थान है, जहाँसे प्रारम्भ करके श्रीरामचन्द्रजीने महासागरमें सेतु बाँधा है। वह फुल्लग्राम अतिशय पुण्यतम क्षेत्र है। वहाँपर महापातकोंका नाश करनेवाला क्षीरकुण्ड है, जो दर्शन, स्पर्श, ध्यान और कीर्तनसे भी मोक्ष देनेवाला है। प्राचीन कालमें दक्षिण समुद्रके तटपर अतिशय पवित्र फुल्लग्राममें वेदोक्त मार्गपर चलनेवाले मुद्गल नामक मुनि निवास करते थे। उन्होंने भगवान् विष्णुको प्रसन्न करनेवाले एक उत्तम यज्ञका अनुष्ठान किया। उस यज्ञसे सन्तुष्ट होकर प्रसन्नात्मा भगवान् विष्णु उनके आगे प्रकट हुए। उनकी कान्ति श्याम मेघके समान थी। वे पीताम्बरसे सुशोभित थे। विनतानन्दन गरुड़की पीठपर बैठे हुए थे। कौस्तुभमणि उनके वक्षःस्थलकी शोभा बढ़ा रही थी। उनके चारों हाथ शंख, चक्र, गदा और पद्मसे शोभायमान थे। उनका दर्शन करके मुद्गल मुनि भक्ति एवं प्रेमसे विह्वल हो गये। उनके शरीरमें रोमांच हो आया। उन्होंने कानोंको सुख देनेवाले मधुर शब्दोंमें भगवान् विष्णुका स्तवन किया।

**मुद्गल बोले**—पहले संसारके सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीके रूपमें, तत्पश्चात् उसका पालन करनेवाले विष्णुके रूपमें, तदनन्तर जगत्का संहार करनेवाले रुद्ररूपमें आप भगवान् नारायणको मेरा नमस्कार है। मत्स्य और कच्छपरूप धारण करनेवाले आप सच्चिदानन्दमय प्रभुको प्रणाम है। वराह और नृसिंहरूप धारण करनेवाले आपको नमस्कार है। वामन और परशुरामरूपधारी आप भगवान्को प्रणाम है। राम और बलरामके रूपमें आपको नमस्कार

है। श्रीकृष्ण, कल्कि तथा विज्ञानात्मा बुद्धके रूपमें आपको नमस्कार है। करुणासिन्धो! नारायण! जगत्पते! आप मेरी रक्षा कीजिये। मैं निर्लज्ज, कृपण, क्रूर, चुगलखोर, दम्भी, दुर्बल, परायी स्त्री, पराये धन और पराये क्षेत्रके लिये सदा लोलुप रहनेवाला तथा मनसे सबके दोषोंपर ही दृष्टि रखनेवाला हूँ। हरे! कृपया मेरी रक्षा कीजिये।

**महर्षि मुद्गलके इस प्रकार स्तुति करनेपर साक्षात् भगवान् विष्णु मेघके समान गम्भीर वाणीमें इस प्रकार बोले**—मुद्गल! मैं तुम्हारे इस स्तोत्र और यज्ञसे बहुत प्रसन्न हूँ और प्रत्यक्षरूपसे हविष्यको भोग लगानेके लिये तुम्हारे यज्ञमें आया हूँ।

**मुद्गलने कहा**—हृषीकेश! मैं कृतार्थ हो गया। मेरी धर्मपत्नी भी धन्य-धन्य हो गयी। आज मेरा जन्म सफल हुआ। मेरी तपस्या सफल हुई; मेरा वंश, मेरे पुत्र, मेरा आश्रय और मेरा सब कुछ आज सफल हो गया। क्योंकि आप साक्षात् भगवान् विष्णु मेरी यज्ञशालामें हविष्य ग्रहण करनेके लिये पधारे हैं। योगपरायण योगी लोग अपने हृदयमें जिनकी खोज करते हैं, उन्हीं आप नारायणको मैं आज प्रत्यक्ष देख रहा हूँ।

ऐसा कहकर भगवान् विष्णुके लिये आसन दे मुनिने चन्दन और पुष्प आदि उपचारोंसे भगवान्‌को अर्घ्य दे उनका पूजन किया और उनके लिये प्रसन्नतापूर्वक पुरोडाश आदि हविष्य अर्पण किया। विश्वभावन भगवान् विष्णुने महर्षि मुद्गलके द्वारा समर्पित उस हविष्यको स्वयं हाथसे लेकर भोजन किया। भगवान् विष्णुके द्वारा उस हविष्यके भोजन करनेपर अग्निसहित सम्पूर्ण देवता तृप्त हो गये। इतना ही नहीं, ऋत्विज्, यजमान, वहाँके ब्राह्मण तथा जीवलोकमें जो कोई भी चराचर प्राणी थे, वे सब-के-सब तृप्त हो गये। सम्पूर्ण जगत् तृप्त हुआ। तदनन्तर भगवान् विष्णुने कहा—'सुव्रत! मैं प्रसन्न हूँ और वर देनेको उद्यत हूँ, अतः कोई वर माँगो।' भगवान् विष्णुके ऐसा कहनेपर महर्षि बोले—'प्रभो! आपने प्रत्यक्षरूपसे दर्शन देकर मेरे यज्ञमें हविष्यको भोग लगाया है। इतनेसे ही मैं कृतार्थ हो गया। इससे अधिक और क्या वर हो सकता है। तथापि भगवन्! 'आपमें निश्चल एवं निष्कपट भक्ति सदा बनी रहे' यह मेरा प्रथम वर है। माधव! मैं प्रतिदिन सायंकाल और प्रातःकाल आपके स्वरूपभूत अग्निकी तृप्ति एवं आपकी प्रीतिके लिये गायके दूधसे हवन करना चाहता हूँ, मेरी यह इच्छा पूर्ण हो—यह मेरे लिये दूसरा वर है।' मुद्गलजीके ऐसा कहनेपर भगवान् नारायणने अमृतभोजी देवता विश्वकर्मा शिल्पीको बुलाकर उनके द्वारा एक सुन्दर सरोवरका निर्माण करवाया। विश्वकर्माने उसे चारों ओरसे चहारदिवारी आदि लगाकर सब प्रकारसे सुशोभित कर दिया। उसके बाद भगवान्‌ने सुरभिको बुलाकर कहा—'सुरभे! ये मेरे भक्त मुद्गलजी प्रतिदिन मेरी प्रसन्नताके लिये दूधसे हवन करना चाहते हैं। अतः तुम मेरे आदेशसे नित्य सबेरे और सन्ध्याके समय यहाँ आकर इस सरोवरको दूधसे भर दिया करो।' सुरभिने 'बहुत अच्छा' कहकर भगवान्‌की आज्ञा स्वीकार की। फिर भगवान्‌ने मुद्गलजीसे कहा—'ब्रह्मन्! इस सरोवरमें सदा सुरभिका दूध वर्तमान रहेगा। तुम उसके द्वारा प्रतिदिन सायंकाल और प्रातःकाल मेरी प्रसन्नताके लिये अग्निमें होम करो। इससे मैं तुमपर प्रसन्न रहूँगा और मेरी प्रसन्नतासे तुम्हें सम्पूर्ण सिद्धि प्राप्त होगी। यह 'क्षीरसरोवर' नामसे विख्यात तीर्थ होगा। इसमें स्नान करनेवाले मनुष्योंके पाँच महापातक तथा अन्यान्य पाप तत्काल नष्ट हो जायँगे। मुद्गल! तुम देहावसान होनेपर सब बन्धनोंसे मुक्त हो मुझे प्राप्त होओगे।'

यों कहकर भगवान् विष्णुने मुद्गलको हृदयसे

लगा लिया। तत्पश्चात् महर्षि मुद्गलने भगवान्‌को प्रणाम किया और भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये। भगवान् विष्णुके चले जानेपर महर्षि मुद्गलने प्रतिदिन सुरभिके दूधसे श्रीहरिकी प्रसन्नताके लिये अग्निमें आहुति करते हुए मोक्षदायक फुल्लग्राममें अनेक सौ वर्षोंतक निवास किया। तदनन्तर देहान्त होनेपर उन्होंने भगवान् विष्णुका सायुज्य प्राप्त कर लिया।

## कपितीर्थकी महिमा—उसमें स्नान करनेसे रम्भा और घृताचीका शापसे उद्धार

**श्रीसूतजी कहते हैं**—अब मैं 'कपितीर्थ' के माहात्म्यका वर्णन करता हूँ, जिसे पूर्वकालमें सब वानरोंने मिलकर गन्धमादन पर्वतपर निर्माण किया था। उस तीर्थको बनाकर वानरोंने उसमें हर्षपूर्वक स्नान किया और तीर्थके लिये इस प्रकार वर दिया—'जो मनुष्य भक्तिसे विनीतचित्त होकर इस तीर्थमें स्नान करेंगे, वे महापातकोंसे मुक्त होकर मोक्षके भागी होंगे। इस तीर्थमें गोता लगानेवाले पुरुषोंको नरकका भय नहीं होगा। इसमें स्नान करनेवाले लोगोंको दरिद्रता नहीं प्राप्त होगी। यमराजकी यातना भी नहीं भोगनी पड़ेगी।' इस प्रकार इस तीर्थके लिये वरदान देकर कपीश्वरोंने दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजीको प्रणाम करके उनसे भी प्रार्थना की—'स्वामिन्! आप भी इस तीर्थके लिये अद्भुत वरदान दें।' वानरोंके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर उनकी प्रीतिके लिये श्रीरामचन्द्रजीने हर्षपूर्वक उस तीर्थको वरदान दिया—'इस तीर्थमें गोता लगानेवालोंको गंगास्नानका फल मिलेगा, प्रयागस्नानका पुण्य प्राप्त होगा तथा सब तीर्थोंके फलकी प्राप्ति होगी। यह अति उत्तम तीर्थ कपियोंद्वारा बनाया गया है, इसलिये संसारमें 'कपितीर्थ' के नामसे इसकी प्रसिद्धि होगी।' अतः मोक्षकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको इस तीर्थमें अवश्य स्नान करना चाहिये। प्राचीन कालकी बात है, कुशिकवंशमें विश्वामित्र नामक राजा हुए। एक समय महाराज विश्वामित्रने अपने राज्यका निरीक्षण करनेके लिये विशाल सेनाके साथ पृथ्वीपर घूमना आरम्भ किया। अनेक देशोंमें घूमकर वे वसिष्ठजीके आश्रमपर गये। महात्मा वसिष्ठने अपनी कामधेनुके प्रभावसे राजा विश्वामित्रका उत्तम आतिथ्य-सत्कार किया। कौशिक विश्वामित्रने कामधेनुका प्रभाव जानकर वसिष्ठजीसे वह सब मनोरथोंको देनेवाली गाय माँगी। वसिष्ठजीने उसे देना अस्वीकार कर दिया। तब वे बलपूर्वक उस गायको खींचकर ले चले। कामधेनुने म्लेच्छोंकी बहुत बड़ी सेना उत्पन्न की, जिससे विश्वामित्रको हार खानी पड़ी। तब उन्होंने महादेवजीकी आराधना करके उनसे अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र प्राप्त किये और वसिष्ठजीके आश्रमपर जाकर उन सबका प्रयोग करना प्रारम्भ किया। विश्वामित्रने सब अस्त्र चलाये, ब्रह्मास्त्रका भी प्रयोग किया; परंतु ब्रह्मनन्दन वसिष्ठजीने अपने तपोबलसे एकमात्र ब्रह्मदण्डके द्वारा विश्वामित्रके उन सब अस्त्रोंको नष्ट कर दिया। इस प्रकार पराजित होनेपर विश्वामित्रको बड़ी लज्जा हुई। अब वे स्वयं ब्राह्मणत्वप्राप्तिके उद्देश्यसे तपस्या करनेके लिये वनमें चले गये। उन्होंने उत्तर दिशामें जाकर हिमालय पर्वतपर कौशिकी नदीके पापनाशक पुण्यमय तटपर एक हजार दिव्य वर्षोंतक तपस्या की। निराहार और जितेन्द्रिय रहकर नेत्र बंद करके श्वास और क्रोधको जीतकर वे निश्चल भावसे खड़े रहे। तब इन्द्र आदि देवताओंने रम्भासे कहा—'रम्भे! तुम हिमालय पर्वतपर कौशिकी नदीके किनारे तपस्या करनेवाले महामुनि

विश्वामित्रको अपने हाव-भावोंसे लुभाओ। जिस प्रकार उनकी तपस्यामें विघ्न पड़े, वैसा प्रयत्न करो।'

इन्द्रके ऐसा कहनेपर रम्भा विश्वामित्रके आश्रमपर गयी और मुनिके नेत्रोंके सामने खड़ी हो सुन्दर रूप धारण करके अपनी मनोहर चेष्टाओंद्वारा उनके मनको लुभाने लगी। इतनेमें ही मनमें आनन्द बढ़ाती हुई कोयल भी कूक उठी। पिकीका मधुर कलरव सुनकर और रम्भाको वहाँ उपस्थित देखकर मुनिवर विश्वामित्रका हृदय संशयमें पड़ गया। उन्होंने समझ लिया कि 'यह सारी करतूत इन्द्रकी है।' तब उन तपोधनने क्रोधमें आकर रम्भाको शाप दिया—'रम्भे! मैं क्रोधको जीतनेकी इच्छा रखता हूँ और तू यहाँ विघ्न डालनेके लिये आकर मेरे क्रोधको बढ़ा रही है, इसलिये तू दस लाख वर्षोंतक यहाँ शिला होकर पड़ी रह।'

विश्वामित्रके इस प्रकार शाप देनेपर रम्भा उनके आश्रमपर बहुत कालतक शिला होकर रही। धर्मात्मा विश्वामित्रने पुनः बड़ी भारी तपस्या करके वसिष्ठके वचनोंद्वारा अनुमोदित तथा दूसरे क्षत्रियोंके लिये दुर्लभ ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया। फिर उसी पवित्र आश्रममें अगस्त्यजीके प्रिय शिष्य श्वेत मुनिने मोक्षकी इच्छा रखकर बड़ा भारी तप किया। दीर्घकालतक तपस्यामें लगे हुए मुनिवर श्वेतके आश्रमपर एक दिन कोई राक्षसी आयी। उसका नाम अंगारका था। उस भयानक राक्षसीने मूत्र, रक्त और विष्ठा आदिके द्वारा उनके आश्रमको गंदा कर दिया और अनेक उपद्रवोंसे उन्हें सताना आरम्भ किया। तब श्वेतजीने कुपित हो विश्वामित्रजीके शापसे शिलाभावको प्राप्त रम्भाको ही वायव्यास्त्रसे संयोजित करके उस राक्षसीके ऊपर फेंका। वह शिला वायव्यास्त्रसे प्रेरित हो राक्षसीके ऊपर टूट पड़ी। राक्षसी उस शिलाके भयसे भाग चली। भागते-भागते वह दक्षिण समुद्रके तटपर कपितीर्थके समीप जा पहुँची। भयसे वह राक्षसी अत्यन्त व्याकुल हो रही थी। वह शिला भी राक्षसीका पीछा करती हुई वहाँतक गयी और कपितीर्थमें गोता लगाती हुई राक्षसीके ऊपर गिर पड़ी। मस्तकपर शिलाके आघातसे राक्षसी वहीं मर गयी। इधर कपितीर्थमें स्नान करनेसे विश्वामित्रके शापको प्राप्त हुई वह शिला अपने शिलारूपको छोड़कर रम्भाके रूपमें परिणत हो गयी। तत्पश्चात् दिव्य वस्त्रोंसे सुशोभित हो वह दिव्य विमानपर चढ़ी और बारंबार कपितीर्थके माहात्म्यकी प्रशंसा करती हुई अमरावती पुरीको चली गयी। वह राक्षसी भी घृताची नामक अप्सरा थी, जो कपितीर्थमें स्नान करके अपने स्वरूपको प्राप्त हुई। इस प्रकार अगस्त्यशिष्य श्वेतजीके प्रसादसे रम्भा और घृताची कपितीर्थमें स्नान करके शिलाभाव और राक्षसीरूपको त्यागकर अपने-अपने स्वरूपको प्राप्त हो गयीं। इसलिये प्रयत्नपूर्वक कपितीर्थमें स्नान करना चाहिये।

## रामेश्वर नामक महालिंगकी महिमा

**श्रीसूतजी कहते हैं**—जो मनुष्य भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा स्थापित रामेश्वर शिवलिंगका एक बार दर्शन कर लेता है, वह भगवान् शंकरके सायुज्यस्वरूप मोक्षको प्राप्त करता है। सत्ययुगमें दस वर्षोंमें जो पुण्य किया जाता है, उसीको त्रेताके मनुष्य एक वर्षमें सिद्ध करते हैं। वही द्वापरमें एक मास और कलियुगमें एक दिनमें साध्य होता है। परंतु जो लोग भगवान् रामेश्वरका दर्शन करते हैं, उनको वही पुण्य कोटिगुना होकर एक-एक पलमें प्राप्त होता है,

इसमें सन्देह नहीं है*। रामेश्वर नामक महालिंगमें सब तीर्थ, सम्पूर्ण देवता, ऋषि-मुनि तथा पितर विद्यमान हैं। जो एक समय, दो समय, तीनों समय अथवा सर्वदा ही मोक्षदायक रामेश्वर नामक महादेवजीका स्मरण या कीर्तन करते हैं, वे पापसमूहसे मुक्त हो जाते हैं और सच्चिदानन्दमय अद्वैतरूप साम्बशिवको प्राप्त होते हैं। रामेश्वर नामक शिवलिंग भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा पूजित हुआ है, उसके स्मरण करनेमात्रसे यमराजकी पीड़ा नहीं प्राप्त होती। जो मनुष्य रामेश्वर नामक महालिंगको नमस्कार और उसका पूजन करते हैं, उनका जन्म सफल है, वे कृतार्थ हो जाते हैं। जो मनुष्य रामेश्वर नामक महालिंगके प्रति भक्ति रखते हैं, उन लोगोंके प्रणाम, स्मरण और पूजनमें तत्पर रहनेवाले मानव भी कभी दुःख नहीं देखते। करोड़ों जन्मोंमें किये गये जो कोई भी पाप हैं, वे भगवान् रामेश्वरका दर्शन कर लेनेपर तत्काल नष्ट हो जाते हैं। रामेश्वर महालिंगका कीर्तन और पूजन करनेवाला मनुष्य अवश्य ही भगवान् रुद्रका सारूप्य प्राप्त कर लेता है। जैसे प्रज्वलित अग्नि क्षणभरमें काष्ठके ढेरको भस्म कर डालती है, वैसे ही भगवान् रामेश्वरका दर्शन करनेवाले लोगोंके सब पाप तत्काल भस्म हो जाते हैं। रामेश्वर महालिंगकी भक्ति आठ प्रकारकी बतायी गयी है—(१) रामेश्वरके भक्तोंके प्रति स्नेह एवं दयाभाव रखना, (२) उन भक्तोंका पूजन करके उन्हें सन्तुष्ट करना, (३) स्वयं भगवान् रामेश्वरकी भक्तिपूर्वक पूजा करना, (४) उन्हींके लिये देहकी सारी चेष्टाओंका होना, (५) श्रीरामेश्वरकी माहात्म्य-कथा श्रवण करनेमें आदरभाव रखना, (६) उनके प्रति प्रेमाधिक्यके कारण वाणीका गद्गद होना, नेत्रोंमें आँसू आना, शरीरमें रोमांचका उदय होना आदि भावोंका स्फुरण, (७) श्रीरामेश्वर महालिंगका निरन्तर स्मरण करना तथा (८) उसीकी शरण लेकर जीवनधारण करना। जिस-किसी म्लेच्छमें भी ऐसी आठ प्रकारकी भक्ति हो, वह भी मुक्तिक्षेत्रोंके मोक्षरूपी धनका अधिकारी बताया गया है। अनन्य भक्ति और ब्रह्मज्ञानके द्वारा मुक्ति निश्चित है। ऊर्ध्वरेता संन्यासियोंको वेदान्तशास्त्रके श्रवणसे जो मुक्ति प्राप्त होती है, वही सब वर्णों और सब आश्रमके लोगोंको दर्शनशास्त्रके श्रवणजनित ज्ञानके बिना ही केवल रामेश्वर महालिंगके दर्शनसे ही प्राप्त हो जाती है। योगयुक्त ऊर्ध्वरेता मुनियोंकी जो गति होती है, वही भगवान् रामेश्वरका दर्शन करनेवाले समस्त प्राणियोंकी होती है। जो मनुष्य रामेश्वर शिवके क्षेत्रकी प्रसन्नतापूर्वक यात्रा करते हैं, उन्हें पग-पगपर अश्वमेध-यज्ञका पुण्य प्राप्त होता है। अम्बा-पार्वतीसहित परम दयालु रामेश्वर महालिंगरूप भगवान् शिवमें भक्ति होनी अत्यन्त दुर्लभ है, उनकी पूजाका शुभ अवसर भी दुर्लभ है तथा उनका स्तवन और स्मरण भी अत्यन्त दुर्लभ है। जिसकी बुद्धि निरन्तर रामेश्वर महालिंगका चिन्तन करती है, वही इस पृथ्वीपर धन्यातिधन्य पुरुष है। श्रीरामेश्वर महालिंगका दर्शन करनेवाले पुरुषके दर्शनमात्रसे दूसरे प्राणियोंका पाप तत्काल नष्ट हो जाता है। जो प्रातःकाल उठकर तीन बार रामनाथ (रामेश्वर) शब्दका

---

* दशवर्षैस्तु यत्पुण्यं क्रियते तु कृते युगे। त्रेतायामेकवर्षेण तत्पुण्यं साध्यते नृभिः॥
द्वापरे तच्च मासेन तद्दिनेन कलौ युगे। तत्फलं कोटिगुणितं निमिषे निमिषे नृणाम्॥
निस्सन्देहं भवेदेवं रामनाथविलोकिनाम्॥

(स्क० पु० ब्रा० से० मा० ४३। ३—५)

उच्चारण करता है, उसका पहले दिनका पाप तत्काल नष्ट हो जाता है। यदि प्राणत्यागके समय मनुष्य भगवान् रामेश्वरका स्मरण करे, तो फिर उसका जन्म नहीं होता। 'रामनाथ! महादेव! करुणानिधे! सदा मेरी रक्षा कीजिये।' इस प्रकार जो सदा उच्चारण करता है, वह कलियुगसे पीड़ित नहीं होता*। 'रामनाथ! जगन्नाथ! धूर्जटे! नीललोहित!' जो इस प्रकार सदा बोलता है, उसे माया नही सताती। 'नीलकण्ठ! महादेव! रामेश्वर! सदाशिव!' सदा ऐसा बोलनेवाला प्राणी कभी कामसे कष्ट नहीं पाता। 'हे रामेश्वर! हे यमराजके शत्रु! हे कालकूट विषका भक्षण करनेवाले शिव!' प्रतिदिन इस प्रकार उच्चारण करनेवाला पुरुष कभी क्रोधसे पीड़ित नहीं होता। जो स्फटिक आदि भिन्न-भिन्न शिलाओंसे भगवान् रामेश्वरका मन्दिर बनाता है, वह श्रेष्ठ विमानपर बैठकर भगवान् शिवके लोकको जाता है। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक त्रिशूलधारी भगवान् रामेश्वरके स्नानके समयमें रुद्राध्याय, चमक, पुरुषसूक्त, त्रिसुपर्ण, पंचशान्ति तथा पावमानी आदि ऋचाओंको प्रेमपूर्वक जपता है, वह कभी नरकका कष्ट नहीं भोगता है। जो रामेश्वर महालिंगको गायके दूधसे स्नान कराता है, वह अपनी इक्कीस पीढ़ियोंका उद्धार करके शिवलोकमें पूजित होता है। दहीसे स्नान करानेवाला पुरुष सब पापोंसे छूटकर भगवान् विष्णुके लोकमें प्रतिष्ठित होता है। रामेश्वर शिवको नारियलके जलसे कराया हुआ स्नान ब्रह्महत्या आदि पापोंका नाशक बताया गया है। वस्त्रसे छानकर शुद्ध किये हुए जलके द्वारा रामेश्वर महादेवको स्नान करानेवाला पुरुष वरुणलोकमें जाता है। पुष्पोंके सुगन्धसे वासित जलके द्वारा दयानिधान रामेश्वर महालिंगको स्नान करानेवाला मनुष्य शिवलोकमें पूजित होती है। 'रामसेतु धनुष्कोटिमें विराजमान भगवान् रामेश्वर!' ऐसा उच्चारण करके मनुष्य जहाँ कहीं भी स्नान करे, सेतु-स्नानका फल प्राप्त करता है। जो मनुष्य रामेश्वर शिवके टूटे-फूटे हुए मन्दिरको बनाता या उसकी मरम्मत करता है, वह दस सहस्र ब्रह्महत्याओंको जला डालता है। जो मनुष्य भगवान् रामेश्वरके आगे प्रसन्नतापूर्वक दीपक अर्पण करता है, वह अविद्यामय अन्धकारका भेदन करके प्रकाशस्वरूप सनातन ब्रह्मको प्राप्त होता है। भगवान् रामेश्वरके उद्देश्यसे जो थोड़ा भी आदरपूर्वक दान किया जाता है, वह दाताको परलोकमें अनन्त फल देनेवाला होता है। महाक्षेत्र रामेश्वरमें श्रीरामनाथजीके समीप निवास करनेवाला मनुष्य पुनरावृत्तिरहित मोक्षको प्राप्त होता है। संसारका लाड़-प्यार छोड़कर आपत्तिग्रस्त मनुष्योंकी पीड़ा दूर करनेवाले रामेश्वर महालिंगका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिये। भगवान् रामेश्वरका पूजन, वन्दन, स्मरण, श्रवण और दर्शन कर लेनेपर कोई वस्तु दुर्लभ नहीं रह जाती। जो लाये हुए गंगाजलके द्वारा रामेश्वर नामक महालिंगको स्नान कराता है, वह भगवान् शिवके लिये भी आदरणीय हो जाता है। जबतक मृत्यु नहीं आती, जबतक बुढ़ापाका आक्रमण नहीं होता और जबतक सम्पूर्ण इन्द्रियाँ शिथिल नहीं हो जातीं, तभीतक मोक्ष चाहनेवाले मनुष्योंको सदैव भगवान् रामेश्वरका वन्दन, पूजन, चिन्तन तथा स्तवन कर लेना चाहिये। परम दयालु भगवान् रामेश्वरका जो भक्तिपूर्वक सदा भजन करते हैं, वे इस

* रामनाथ महादेव मां रक्ष करुणानिधे। इति यः सततं ब्रूयात् कलिनासौ न बाध्यते॥

(स्क० पु०, ब्रा० से० मा० ४३। ७१)

भूतलपर सदा सुखी होते हैं और अन्तमें सनातन मोक्षको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार रामेश्वर महालिंगकी महिमाका वर्णन किया गया। जो इस प्रसंगको भक्तिपूर्वक पढ़ता और सुनता है, वह श्रीरामेश्वरकी सेवाके परम उत्तम फलको पाता है।

## भगवान् श्रीरामके द्वारा राक्षसोंसहित रावणका वध और सेतुके क्षेत्रमें रामेश्वरलिंगकी स्थापना

**ऋषि बोले**—सब प्राणियोंका उपकार करनेवाले सूतजी! आपने इस पुराणकी कथा सुनाकर हमलोगोंपर बड़ा अनुग्रह किया। दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजीने जिस प्रकार शिवलिंगकी स्थापना की है, उसको हमलोग सुनना चाहते हैं।

**सूतजीने कहा**—वानरोंकी सेनाके साथ महेन्द्रगिरिपर आकर लक्ष्मणसहित महाबली श्रीरामचन्द्रजीने समुद्रका दर्शन किया। तत्पश्चात् अपार समुद्रके ऊपर सेतु बाँधकर उसीके मार्गसे श्रीरघुनाथजी रावणपालित लंकापुरीको गये। वहाँ पहुँचनेपर सूर्यास्त हो गया। पूर्णिमाके प्रदोषकालमें सेनासहित श्रीरामचन्द्रजी सुवेल पर्वतपर आरूढ़ हो गये। तदनन्तर रात्रिमें महलकी छतपर खड़े हुए लंकापति रावणको देखकर महाबली सूर्यपुत्र सुग्रीवने उसके मुकुटको धरतीपर गिरा दिया। मुकुट भंग हो जानेसे राक्षस घरमें घुस गया। लंकेश्वरके घरमें घुस जानेपर सुग्रीव, लक्ष्मण और सेनासहित श्रीरामचन्द्रजीने पर्वतके किनारेसे उतरकर लंकाके समीप अपनी सेनाको ठहराया। वहाँ ठहराये जाते हुए वानरोंपर रावणके विशालकाय सैनिकोंने अस्त्र-शस्त्र लेकर आक्रमण किया। वे सभी दुष्टात्मा राक्षस अदृश्य होकर आये थे। विभीषणने उन सबका अन्तर्धान-विद्यासे ही वध किया। बहुतसे बलवान् वानरोंद्वारा कितने ही राक्षस मारे गये। भयंकर पराक्रमी वानरोंने जिनका अंग-भंग कर दिया था, ऐसे मरनेसे बचे हुए राक्षस शीघ्र ही रावणपालित लंकापुरीमें भाग गये। उस सेनाके नष्ट हो जानेपर रावणके भेजे हुए इन्द्रजित्ने युद्धमें अत्यन्त भयंकर नागास्त्रोंद्वारा दोनों दशरथकुमार श्रीराम और लक्ष्मणको बाँध लिया। तत्पश्चात् विनतानन्दन महात्मा गरुड़ने आकर उन दोनों भाइयोंको नागपाशसे मुक्त किया। तब विभीषणने आठ घण्टावाली विशाल शक्ति हाथमें लेकर उसे अभिमन्त्रित करके प्रहस्तके मस्तकपर चलाया। उस वज्रकी भाँति गिरती हुई शक्तिने राक्षसका मस्तक काट लिया, जिससे वह आँधीसे गिराये हुए वृक्षकी भाँति दिखायी देने लगा। राक्षस प्रहस्तको युद्धमें मारा गया देख धूम्राक्षने बड़े वेगसे वानरोंपर आक्रमण किया। वानर भाग चले। वानर-सेनाको भागते हुए देख पवनकुमार हनुमान्जीने धूम्राक्षको शीघ्र ही मार डाला। धूम्राक्षको मारा गया देख मरनेसे बचे हुए निशाचरोंने सब समाचार राजा रावणको बताया। तब रावणने कुम्भकर्णको सोतेसे जगाया और उसे युद्ध करनेके लिये भेजा। युद्धमें आये हुए कुम्भकर्णको लक्ष्मणजीने कुपित होकर ब्रह्मास्त्रसे मारा, जिससे वह प्राणहीन होकर धरतीपर गिर पड़ा। तब वहाँ दूषण नामक राक्षसके दो छोटे भाई वज्रवेग और प्रमाथी, जो युद्धमें रावणके समान ही बली थे, आये और हनुमान् एवं अंगदके हाथों मारे गये। विश्वकर्माके पुत्र नलने वज्रदंष्ट्रको तथा कुमुद नामक श्रेष्ठ वानरने अकम्पनको मारा। लक्ष्मणजीने अतिकाय और त्रिशिराका वध किया। सुग्रीवने देवान्तक तथा

नरान्तकको मौतके घाट उतारा। हनुमान्‌जीने कुम्भकर्णके दोनों पुत्रोंको मार डाला। विभीषणने खरके पुत्र मकराक्षका वध किया।

तदनन्तर रावणने इन्द्रजित्‌को युद्धके लिये भेजा। इन्द्रजित्‌ने दोनों भाई राम और लक्ष्मणको मोहित किया। इतनेमें ही अंगदने उसके रथके घोड़ोंको मार डाला। वाहनशून्य हो जानेपर वह आकाशमें स्थित हो गया। उसके प्रहारसे घायल हुए कुमुद, अंगद, सुग्रीव, नल और जाम्बवान् आदिके साथ प्रायः सभी वानर धरतीपर गिर पड़े। इस प्रकार सेनासहित श्रीराम और लक्ष्मणको युद्धमें घायल करके महाबली मेघनाद आकाशमें अदृश्य हो गया। तब विभीषणने इक्ष्वाकुकुलभूषण श्रीरामचन्द्रजीसे बारंबार प्रणाम करके हाथ जोड़कर कहा—'प्रभो! कुबेरकी आज्ञासे एक गुह्यक आपकी सेवामें यह दिव्य जल लेकर उपस्थित हुआ है, महाराज! इसे कुबेर अन्तर्धान-विद्यासे अदृश्य हुए प्राणियोंको देखनेके लिये आपको अर्पित करते हैं। इसको आँखमें लगा लेनेसे आप आकाशमें अदृश्य हुए प्राणियोंको भी देख सकेंगे और जिसके लिये आप यह जल देंगे, वह भी उन प्राणियोंको देख सकेगा।' 'बहुत अच्छा' कहकर श्रीरामचन्द्रजीने आदरपूर्वक उस जलको ग्रहण किया और उससे अपने नेत्रोंको धोया। तत्पश्चात् महाबली लक्ष्मण, सुग्रीव, जाम्बवान्, हनुमान्, अंगद, मैंद, द्विविद, नील तथा अन्य जो वानर थे, उन सबने श्रीरामचन्द्रजीके दिये हुए जलसे अपने-अपने नेत्र धो लिये। तब उन्होंने आकाशमें छिपे हुए वीरवर मेघनादको देखा। दृष्टि पड़ जानेपर सुमित्रानन्दन लक्ष्मणने उसपर आक्रमण किया। तब लक्ष्मण और मेघनादमें अत्यन्त विचित्र तथा आश्चर्यजनक युद्ध हुआ। तीसरे दिन बड़े प्रयाससे महाबली लक्ष्मणके द्वारा मेघनाद युद्धमें मारा गया।

अपने प्रिय पुत्रके मारे जानेपर रावणको बड़ा क्रोध हुआ। वह बहुत-सी सेना साथ ले रथपर बैठकर नगरसे बाहर निकला। तब इन्द्रसारथि मातलि हरे घोड़े जुते हुए सूर्यके समान तेजस्वी रथके साथ श्रीरामचन्द्रजीकी सेवामें उपस्थित हुए। धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामने इन्द्रके भेजे हुए उस रथपर सवार हो युद्धमें ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करके राक्षसराज रावणके सभी मस्तक काट डाले। रावणके मारे जानेपर देवताओं और ऋषियोंने दशरथनन्दन श्रीरामको आशीर्वाद दे उनकी जय-जयकार की और अत्यन्त सन्तुष्ट हो भगवान्‌का स्तवन किया। सिद्धों तथा विद्याधरोंने कमलनयन श्रीरामचन्द्रजीपर फूलोंकी वर्षा की। तब श्रीरामचन्द्रजी उन देवताओं, वानर सैनिकों तथा सीता और लक्ष्मणके साथ लंकामें विभीषणको राजाके पदपर अभिषिक्त करके पुष्पक विमानपर आरूढ़ हो गन्धमादन पर्वतपर आये। गन्धमादन पर्वतपर विदेहनन्दिनी सीताकी अग्निपरीक्षाद्वारा शुद्धि की गयी। तदनन्तर दण्डकारण्यमें निवास करनेवाले मुनि अगस्त्यजीको आगे करके कमलनयन जानकी-वल्लभ श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन करनेके लिये आये और उनकी स्तुति करने लगे।

**मुनि बोले**—सम्पूर्ण लोकोंपर अनुग्रह करनेवाले आप भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको नमस्कार है। आपने इस संसारको रावणसे शून्य करनेके लिये अवतार लिया है, आपको नमस्कार है। ताड़काका संहार और विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा करनेवाले आपको नमस्कार है। मारीचको जीतनेवाले, सुबाहुका प्राण हरण करनेवाले श्रीराम! आपको नमस्कार है। आपके चरणारविन्दोंकी धूलि अहल्याको मुक्ति देनेवाली है, आपने भगवान् शंकरके धनुषको लीलापूर्वक भंग किया है, आपको नमस्कार है। मिथिलेशकुमारी सीताके पाणिग्रहण-सम्बन्धी उत्सवसे सुशोभित होनेवाले आपको नमस्कार है। रेणुकानन्दन परशुरामजीको पराजित करनेवाले आपको नमस्कार है। कैकेयीके दो

वरदानोंसे विवश हुए पिताके वचनको सत्य करनेके लिये सीता और लक्ष्मणके साथ वनकी यात्रा करनेवाले आपको नमस्कार है। भरतकी प्रार्थनापर उन्हें अपने चरणोंकी युगल पादुका समर्पित करनेवाले आपको नमस्कार है। शरभंग मुनिको अपने परम धामकी प्राप्ति करानेवाले आपको नमस्कार है। विराध राक्षसका संहार करनेवाले तथा गृध्रराज जटायुको अपना सखा बनानेवाले आपको नमस्कार है। मायासे मृगका रूप धारण करके आये हुए महाक्रूर मारीचके शरीरको अपने बाणोंसे विदीर्ण करनेवाले आपको नमस्कार है। रावणसे हरी गयी सीताको छुड़ानेके लिये जिन्होंने युद्धमें अपने शरीरका त्याग कर दिया, उन जटायुको अपने हाथसे दाह-संस्कार करके कैवल्य मोक्ष प्रदान करनेवाले आपको नमस्कार है। कबन्धका संहार करनेवाले आपको नमस्कार है। शबरीने आपके चरणारविन्दोंका पूजन किया है, आपने सुग्रीवके साथ मैत्री जोड़ी है तथा बालि नामक वानरका वध किया है, आपको नमस्कार है। वरुणालय समुद्रमें सेतुनिर्माण करनेवाले आपको नमस्कार है। समस्त राक्षसोंका संहार तथा रावणका प्राण हरण करनेवाले आपको नमस्कार है। आपके चरणारविन्द संसारसागरसे पार उतारनेके लिये जहाज हैं, आपको नमस्कार है। भक्तोंकी पीड़ा दूर करनेवाले सच्चिदानन्दस्वरूप आप श्रीरघुनाथजीको नमस्कार है। जगत्के अभ्युदयके कारणभूत आप श्रीरामभद्रको नमस्कार है। राम आदि पवित्र नामोंका जप करनेवाले मनुष्योंके पाप हर लेनेवाले आपको नमस्कार है। आप सब लोकोंकी सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। करुणामूर्ति! आपको नमस्कार है। भक्तोंकी रक्षाके व्रतकी दीक्षा लेनेवाले प्रभो! आपको नमस्कार है। सीतासहित आपको नमस्कार है। विभीषणको सुख देनेवाले श्रीराम! आपने लंकापति रावणका वध करके सम्पूर्ण जगत्की रक्षा की है, आपको नमस्कार है। जगन्नाथ! हमारी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। जानकीपते! हम सबका पालन कीजिये।

इस प्रकार स्तुति करके सब मुनि चुप हो गये।

**सूतजी कहते हैं**—मुनियोंद्वारा किये हुए श्रीरामचन्द्रजीके इस स्तोत्रका जो भक्तिपूर्वक तीनों समय पाठ करता है, वह भोग और मोक्षको प्राप्त करता है। इस स्तोत्रका पाठ करनेसे भूत-वेताल भाग जाते हैं, रोग दूर होते हैं और पापसमूहोंका नाश हो जाता है।

**तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने हाथ जोड़ प्रणाम करके मुनियोंसे कहा**—मुनिवरो! जो सदा आत्मलाभसे ही सन्तुष्ट, सम्पूर्ण भूतोंके सुहृद्, अहंकारशून्य, शान्त और ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) हैं, उन साधु-महात्माओंको मैं भक्तियुक्त चित्तसे प्रणाम करता हूँ। मैं ब्राह्मणोंका हितकारी—ब्रह्मण्यदेव हूँ; इसलिये सदा ब्राह्मणोंका सेवन करता हूँ। इस समय आपलोगोंसे मैं कुछ पूछता हूँ, आप उसे विचारकर उत्तर दें। ब्राह्मणो! रावणके वधसे मुझे जो पाप लगा है, उसका प्रायश्चित्त क्या है? यह मुझे बताइये।

**मुनि बोले**—सत्यकी रक्षाका व्रत लेनेवाले जगन्नाथ! आप समस्त संसारकी रक्षाका भार वहन करनेवाले हैं। सम्पूर्ण जगत्के उपकारके लिये यहाँ शिवजीकी आराधना कीजिये। गन्धमादन पर्वतका यह शिखर अतिशय पुण्यमय तथा मोक्ष देनेवाला है। आप यहाँ लोकसंग्रहके लिये शिवलिंगकी प्रतिष्ठा कीजिये। इससे रावणके मारनेसे होनेवाला दोष भी दूर हो जायगा। प्रभो! गन्धमादन पर्वतपर आपके द्वारा जिस शिवलिंगकी स्थापना होगी, उसका दर्शन मनुष्योंको काशी-विश्वनाथके दर्शनसे कोटिगुना अधिक फल देनेवाला होगा। साथ ही वह शिवलिंग संसारमें आपके ही नामसे ख्यातिलाभ करेगा। इसलिये रघुनाथजी! आप शिवलिंग-स्थापनाके कार्यमें विलम्ब न करें।

मुनियोंके ये वचन सुनकर जगत्पति श्रीरामचन्द्रजीने लिंगस्थापनाके लिये पुण्यकाल निश्चित किया, जो दो ही मुहूर्तमें आनेवाला था। उसे निश्चित करके उन्होंने हनुमान्‌जीको शिवलिंग ले आनेके लिये कैलास पर्वतपर भेजा। हनुमान्‌जी बड़े पराक्रमी थे, उन्होंने दो मुहूर्तका पुण्यकाल जानकर भी भुजाओंपर ताल ठोंकी। वे सब देवताओं तथा महात्मा ऋषियोंके देखते-देखते बड़े वेगसे ऊपरको उड़े और आकाशमार्गको लाँघते हुए कैलास पर्वतपर जा पहुँचे। वहाँ उन्हें लिङ्गरूपधारी महादेवजीका दर्शन नहीं हुआ। तब उन्होंने महादेवजीको प्रसन्न किया और उनकी कृपासे शिवलिंगको प्राप्त किया। इतनेमें ही वहाँ तत्त्वदर्शी मुनियोंने जब यह देखा कि हनुमान्‌जी अभी नहीं आये तथा स्थापनाका मुहूर्त अब बीतना ही चाहता है, तब उन्होंने परम बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'महाबाहु श्रीरामचन्द्रजी! अब तो पुण्यकाल बीत रहा है, अतः जानकीने जो लीलापूर्वक बालूका शिवलिंगका बनाया है, उसीको इस समय स्थापित कर दीजिये।' यह सुनकर श्रीरघुनाथजीने शीघ्रतापूर्वक श्रीजानकीजी तथा मुनियोंके सहित मंगलाचार आरम्भ किया और ज्येष्ठ मासके शुक्ल पक्षकी दशमी तिथिको बुधवार और हस्त नक्षत्रके योगमें गद करण, आनन्द और व्यतीपात योग, कन्याराशिके चन्द्रमा तथा वृषराशिके सूर्यमें परम पुण्यमय उपयुक्त दस योगोंकी उपस्थितिमें गन्धमादन पर्वतपर सेतुकी सीमामें लिंगरूपधारी भगवान् शिवकी स्थापना की। उस समय लिंगमें पार्वतीसहित भगवान् शंकर प्रत्यक्ष प्रकट हो गये थे। उनके ललाटपर चन्द्रमाकी कला और साक्षात् गंगा शोभा पा रही थीं। भगवान् साम्बशिवने सब लोगोंको शरण देनेवाले महात्मा रघुनाथजीको इस प्रकार वरदान दिया—'राघवेन्द्र! आपके द्वारा यहाँ स्थापित किये गये शिवलिंगका जो दर्शन करेंगे, वे महापातकोंसे युक्त होंगे, तो भी उनके पापोंका नाश हो जायगा। जैसे धनुष्कोटिमें गोता लगानेसे सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार इस 'रामेश्वर लिंग'के दर्शनसे महापातक भी नष्ट हो जायँगे।'

तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीने भगवान् रामेश्वरके सामने नन्दिकेश्वरको स्थापित किया और अपने धनुषकी कोटिसे रामेश्वर शिवके अभिषेकके लिये धरती फोड़कर एक कूप तैयार किया। फिर उससे जल लेकर भगवान् शंकरको स्नान कराया। वही पुण्यमय तीर्थ 'कोटितीर्थ' के नामसे विख्यात हुआ। मुनिवरो! कोटितीर्थकी महिमाका वर्णन पहले किया जा चुका है।

## श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा हनुमान्‌जीको ज्ञानोपदेश

**श्रीसूतजी कहते हैं**—इस प्रकार अनायास ही सब कर्म करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा उस शिवलिंगकी प्रतिष्ठा हो जानेपर पवनपुत्र हनुमान्‌जी एक उत्तम शिवलिंग लेकर आ पहुँचे। आकर उन्होंने दशरथनन्दन वीरवर श्रीरामचन्द्रजीको प्रणाम किया। फिर क्रमशः सीता, लक्ष्मण तथा सुग्रीवको भी मस्तक झुकाया। हनुमान्‌जीने देखा रघुनाथजी सीताजीके बनाये हुए बालुकामय शिवलिंगका मुनियोंके साथ पूजन कर रहे हैं। तब वे खिन्न होकर बोले—'भगवन्! कैलास पहुँचनेपर वहाँ मुझे भगवान् शंकरका दर्शन नहीं हुआ। तब मैंने तपस्याद्वारा उन्हें प्रसन्न किया और उनकी कृपासे शिवलिंग प्राप्त होनेपर मैं तुरंत यहाँ लौट आया हूँ। तबतक आपने दूसरे ही बालुकामय शिवलिंगकी स्थापना कर ली और अब मुनियों, देवताओं तथा गन्धर्वोंके साथ

उसीकी पूजा करते हैं। मैं जो कैलास पर्वतसे इस शिवलिंगको लेकर आया सो व्यर्थ ही हुआ। अब मैं इस शिवलिंगको क्या करूँ?'

**श्रीरामचन्द्रजी बोले**—कपे! इस संसारमें जो जन्म ले चुके हैं, जो जन्म लेनेवाले हैं और जो मर चुके हैं, उन सबके तथा अपने और पराये सब कार्योंको मैं भलीभाँति जानता हूँ। जीव अपने कर्मके अनुसार अकेला ही जन्म लेता और अकेला ही मरता है। अपने कर्मोंके अनुसार नरकमें भी वह अकेला ही जाता है। वानरश्रेष्ठ! तत्त्वज्ञानमें बाधा उपस्थित करनेवाले इस शोकको अपने मनमें क्यों स्थान देते हो। तत्त्वज्ञानमें ही सदा स्थित रहो। यह आत्मा स्वयंप्रकाश है, तुम सदा आत्माके इसी स्वरूपका चिन्तन करो। देह आदिमें ममता त्याग दो, सदा धर्मका आश्रय लो, साधु पुरुषोंका सेवन करो, सम्पूर्ण इन्द्रियोंका दमन करो, दूसरोंके दोषकी चर्चासे दूर रहो एवं शिव और विष्णु आदि देवताओंकी सदा पूजा करो। सर्वदा सत्य बोलो, शोक छोड़कर आत्मा और परमात्माकी एकताका अनुभव करो। इस संसारमें भ्रम भी यथार्थकी भाँति प्रतीत होता है, कहीं शोभनमें अशोभनका भ्रम होता है और कहीं अशोभनमें शोभनका। यह सब मोहके वैभवसे ही होता है। भ्रान्त मनुष्योंका विभिन्न विषयोंमें राग हो जाता है। राग और द्वेषके बलसे बँधकर वे धर्म और अधर्मके वशीभूत होते हैं तथा उन्हींके अनुसार देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि योनियोंमें तथा नरकोंमें पड़ते हैं। चन्दन, अगर और कपूर आदि पदार्थ अत्यन्त शोभन हैं, परंतु जिसके स्पर्शसे ये भी मलरूप हो जाते हैं, वह शरीर सुखस्वरूप कैसे माना जा सकता है? जिसके सम्पर्कसे अत्यन्त सुन्दर भक्ष्य-भोजन आदि सब उत्तम पदार्थ विष्ठारूपमें बदल जाते हैं, वह शरीर सुखरूप कैसे हो सकता है? जिसके संगसे सुगन्धित एवं शीतल जल मूत्ररूप हो जाता है, उस शरीरको शोभन कैसे कहा जा सकता है? कपे! तुम्हीं बताओ, जिसके संसर्गमें आनेपर अत्यन्त सफेद एवं धुले हुए वस्त्र भी पसीने आदिके लगनेसे मैले हो जाते हैं, वह शरीर कैसे शोभन माना जा सकता है? वायुनन्दन! मुझसे परमार्थकी बात सुनो। यह संसार एक गड्ढेके समान है। इसमें कुछ भी सुख नहीं। यहाँ पहले तो जीवका जन्म होता है, तत्पश्चात् उसकी बाल्यावस्था रहती है, फिर वह जवान होता है। उसके बाद वह बुढ़ापा भोगता है। तदनन्तर मृत्युको प्राप्त होता है और मृत्युके बाद पुनः जन्मका कष्ट भोगता है। इस प्रकार अज्ञानके प्रभावसे ही मनुष्य दुःख पाता है और अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर उसे उत्तम सुखकी प्राप्ति होती है। अज्ञानकी निवृत्ति ज्ञानसे ही होती है, कर्मसे नहीं। ज्ञान परब्रह्म परमात्माका नाम है। वेदान्तवाक्यके श्रवण और मननसे जो ज्ञान होता है, वह विरक्त पुरुषको ही होता है, दूसरेको नहीं। श्रेष्ठ अधिकारीको गुरुदेवकी कृपासे भी ज्ञान हो जाता है—यह सत्य है। मनुष्यके हृदयमें जो कामनाएँ हैं, वे सब-की-सब जब छूट जाती हैं, तब वह जीवन्मुक्त होकर इसी जीवनमें परब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है। क्रूर काल जागते, सोते, खाते और ठहरते समय सदा ही इस जीवको अपनी ओर खींचता रहता है। संग्रहका अन्त विनाश है, अधिक ऊँचे चढ़नेका अन्त नीचे गिरना है, संयोगका अन्त वियोग और जीवनका अन्त मरण है*। जैसे पके हुए फलोंको गिरनेके

* सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः। संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥
(स्क० पु०, ब्रा० से० मा० ४५। ४१)

सिवा और कोई भय नहीं है, वैसे ही जन्म लेनेवाले मनुष्योंको मृत्युके सिवा और कोई भय नहीं है। जैसे सुदृढ़ खम्भोंवाला गृह सुदीर्घकालके बाद जीर्ण होनेपर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य जराजीर्ण होकर मृत्युके अधीन हो नष्ट हो जाता है। दिन और रात बीतते चले जा रहे हैं। इससे मनुष्योंकी आयु नष्ट होती है। इस दशामें तुम अपनी आत्माके लिये शोक करो। दूसरी किसी बातके लिये क्यों शोक करते हो? कपीश्वर! कोई खड़ा हो या दौड़ता हो, उसकी आयुका प्रतिक्षण नाश हो रहा है। मृत्यु साथ-साथ चलती है, साथ ही बैठती है और दूर देशमें साथ-साथ जाकर पुनः साथ ही लौट आती है*। शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयीं, सिरके बाल सफेद हो गये और वृद्धावस्था एवं दमा और खाँसीसे देह शिथिल होती जाती है। कपिश्रेष्ठ! जैसे समुद्रमें बहते हुए दो काठ एक-दूसरेसे मिलकर फिर विलग हो जाते हैं, उसी प्रकार कालयोगसे मनुष्योंका एक-दूसरेके साथ संयोग और वियोग होता है। इसी प्रकार स्त्री, पुत्र, भाई, क्षेत्र और धन—ये सब कभी कुछ कालके लिये एकत्र होते और फिर अन्यत्र चले जाते हैं। जैसे कोई पथिक राह चलते हुए किसी दूसरे पथिकसे कहता है कि 'ठहरिये मैं भी आपके साथ चलूँगा' और इस प्रकार दोनों कुछ कालतक साथ हो जाते हैं और फिर अलग-अलग चले जाते हैं, कपे! इसी प्रकार स्त्री और पुत्र आदिका समागम नश्वर है। शरीरके उत्पन्न होनेके साथ ही निश्चय ही मृत्यु भी उत्पन्न होती है। इस अवश्यम्भावी मृत्युको टालनेका कोई उपाय नहीं है। वत्स! इस शरीरका अन्त हो जानेपर देहाभिमानी जीव अपने कर्मकी गतिके अनुसार दूसरा शरीर धारण कर लेता है। वानर! प्राणियोंका सदा एक स्थानपर निवास नहीं होता। अपने-अपने कर्मवश सभी जीव एक-दूसरेसे विलग हो जाते हैं।

कपिश्रेष्ठ! जीवोंके शरीर जिस प्रकार उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं, उस प्रकार आत्माका जन्म और मरण नहीं होता। अंजनानन्दन! तुम शोकरहित अद्वैत ज्ञानमय सत्स्वरूप निर्मल परब्रह्म परमात्माका दिन-रात चिन्तन करो। ऐसी दृष्टि होनेपर तुम्हारा किया हुआ प्रत्येक कर्म मेरा किया हुआ है और मेरा किया हुआ प्रत्येक कर्म तुम्हारा किया हुआ है। इसलिये कपे! मैंने जो शिवलिंगकी स्थापना की है, वह तुमने ही की है—ऐसा समझना चाहिये। शिवलिंगस्थापनका पुण्यकाल बीता जा रहा था, इसलिये मैंने सीताजीके बनाये हुए बालुकामय शिवलिंगको यहाँ स्थापित किया है। अतः तुम कोप और दुःख न करो। आज शुभ दिन है। इसमें कैलाससे लाये हुए शिवलिंगको तुम्हीं स्थापित करो। यह लिंग तीनों लोकोंमें तुम्हारे नामसे प्रसिद्ध होगा। पहले हनुमदीश्वरका दर्शन करके तब रामेश्वरका दर्शन होगा। कपे! तुमने ब्रह्मराक्षसोंके समुदायका वध किया है, इसलिये अपने नामसे शिवलिंगकी स्थापना करनेपर तुम उस पापसे छूट सकोगे। यह हनुमन्नामक शिवलिंग साक्षात् भगवान् शिवका दिया हुआ है। इसका दर्शन करके जो रामेश्वर शिवका दर्शन करेगा, वह कृतकृत्य हो जायगा।

---

* नश्यत्यायुः स्थितस्यापि धावतोऽपि कपीश्वर।
सहैव मृत्युर्व्रजति सह मृत्युर्निषीदति। चरित्वा दूरदेशं च सह मृत्युर्निवर्तते॥
(स्क० पु०, ब्रा० से० मा० ४५। ४५-४६)

# हनुमान्‌जीद्वारा भगवान् श्रीराम और सीताका स्तवन तथा अपने लाये हुए शिवलिंगका स्थापन

**सूतजी कहते हैं**—तदनन्तर परम दयालु दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजीकी ओर देखकर हनुमान्‌जीने पृथ्वीपर दण्डकी भाँति गिरकर साष्टांग प्रणाम किया और हाथ जोड़कर श्रवण-सुखद स्तोत्रोंद्वारा भगवान् जानकीनाथका स्तवन किया।

**हनुमान्‌जी बोले**—सबकी उत्पत्तिके आदिकारण सर्वव्यापी श्रीहरिस्वरूप श्रीरामचन्द्रजीको नमस्कार है। आदिदेव पुराणपुरुष भगवान् गदाधरको नमस्कार है। पुष्पकके आसनपर नित्य विराजमान होनेवाले महात्मा श्रीरघुनाथजीको नमस्कार है। प्रभो! हर्षमें भरे हुए वानरोंका समुदाय आपके युगल चरणारविन्दोंकी सेवा करता है, आपको नमस्कार है। राक्षसराज रावणको पीस डालनेवाले तथा सम्पूर्ण जगत्‌का अभीष्ट सिद्ध करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीको नमस्कार है। आपके सहस्रों मस्तक, सहस्रों चरण और सहस्रों नेत्र हैं, आप विशुद्ध विष्णुस्वरूप राघवेन्द्रको नमस्कार है। आप भक्तोंकी पीड़ा दूर करनेवाले तथा सीताके प्राणवल्लभ हैं, आपको नमस्कार है। दैत्यराज हिरण्यकशिपुके वक्षःस्थलको विदीर्ण करनेवाले आप नृसिंहरूपधारी भगवान् विष्णुको नमस्कार है। अपनी दाढ़ोंपर पृथ्वीको उठानेवाले भगवान् वराह! आपको नमस्कार है। बलिके यज्ञको भंग करनेवाले आप भगवान् त्रिविक्रमको नमस्कार है। वामनरूपधारी भगवान्‌को नमस्कार है। अपनी पीठपर महान् मन्दराचल धारण करनेवाले भगवान् कच्छपको नमस्कार है। तीनों वेदोंकी सुरक्षा करनेवाले मत्स्यरूपधारी भगवान्‌को नमस्कार है। क्षत्रियोंको अन्त करनेवाले परशुरामरूपी रामको नमस्कार है। राक्षसोंका नाश करनेवाले आपको नमस्कार है। राघवेन्द्रका रूप धारण करनेवाले आपको नमस्कार है। महादेवजीके महान् भयंकर महाधनुषको भंग करनेवाले आपको नमस्कार है। क्षत्रियोंका अन्त करनेवाले क्रूर परशुरामको भी त्रास देनेवाले आपको नमस्कार है। भगवन्! आप अहल्याका सन्ताप और महादेवजीका चाप हरनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। दस हजार हाथियोंका बल रखनेवाली ताड़काके शरीरका अन्त करनेवाले आपको नमस्कार है। पत्थरके समान कठोर और चौड़ी बालिकी छाती छेद डालनेवाले आपको नमस्कार है। आप मायामय मृगका नाश करनेवाले तथा अज्ञानको हर लेनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। दशरथजीके दुःखरूपी समुद्रको शोष लेनेके लिये आप मूर्तिमान् अगस्त्य हैं, आपको नमस्कार है। अनन्त उत्ताल तरंगोंसे उद्वेलित समुद्रका भी दर्प दलन करनेवाले आपको नमस्कार है। मिथिलेशनन्दिनी सीताके हृदयकमलको विकसित करनेवाले सूर्यरूप आप लोकसाक्षी श्रीहरिको नमस्कार है। हरे! आप राजाओंके भी राजा और जानकीजीके प्राणवल्लभ हैं, आपको नमस्कार है। कमलनयन! आप ही तारक ब्रह्म हैं, आपको नमस्कार है। आप ही योगियोंके मनको रमानेवाले 'राम' हैं। राम होते हुए चन्द्रमाके समान आह्लाद प्रदान करनेके कारण 'रामचन्द्र' हैं। सबसे श्रेष्ठ और सुखस्वरूप हैं। आप विश्वामित्रजीके प्रिय हैं, खर नामक राक्षसका हृदय विदीर्ण करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। भक्तोंको अभयदान देनेवाले देवदेवेश्वर! प्रसन्न होइये। करुणासिन्धु श्रीरामचन्द्र! आपको नमस्कार है, मेरी रक्षा कीजिये। वेदवाणीके भी अगोचर राघवेन्द्र! मेरी रक्षा कीजिये। श्रीराम! कृपा करके मुझे उबारिये। मैं आपकी शरणमें आया हूँ। रघुवीर! मेरे महान् मोहको इस समय दूर कीजिये। रघुनन्दन! स्नान, आचमन, भोजन, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि

हनुमान्‌जीके द्वारा भगवान् श्रीराम और सीताका स्तवन

सभी क्रियाओं और सब अवस्थाओंमें आप मेरी रक्षा कीजिये। तीनों लोकोंमें कौन ऐसा पुरुष है, जो आपकी महिमाका वर्णन या स्तवन करनेमें समर्थ हो सकता है। रघुकुलको आनन्दित करनेवाले श्रीराम! आप ही अपनी महिमाको जानते हैं।

करुणानिधान श्रीरामचन्द्रजीकी इस प्रकार स्तुति करके वायुपुत्र हनुमान्‌ने भक्तियुक्त चित्तसे सीताजीका भी स्तवन किया। 'जनकनन्दिनी! आपको नमस्कार करता हूँ। आप सब पापोंका नाश तथा दारिद्र्यका संहार करनेवाली हैं। भक्तोंको अभीष्ट वस्तु देनेवाली भी आप ही हैं। राघवेन्द्र श्रीरामको आनन्द प्रदान करनेवाली विदेहराज जनककी लाड़िली श्रीकिशोरीजीको मैं प्रणाम करता हूँ। आप पृथ्वीकी कन्या और विद्या हैं, कल्याणमयी प्रकृति भी आप ही हैं। रावणके ऐश्वर्यका संहार तथा भक्तोंके अभीष्टका दान करनेवाली सरस्वतीरूपा भगवती सीताको मैं नमस्कार करता हूँ। पतिव्रताओंमें अग्रगण्य आप श्रीजनकदुलारीको मैं प्रणाम करता हूँ। आप सबपर अनुग्रह करनेवाली समृद्धि, पापरहित और श्रीविष्णुप्रिया लक्ष्मी हैं। आप ही आत्मविद्या, वेदत्रयी तथा पार्वतीस्वरूपा हैं, आपको मैं नमस्कार करता हूँ। आप ही क्षीरसागरकी कन्या और चन्द्रमाकी भगिनी कल्याणमयी महालक्ष्मी हैं, जो भक्तोंपर कृपाप्रसादका प्रसाद करनेके लिये सदा उत्सुक रहती हैं, आप सर्वांगसुन्दरी सीताको मैं प्रणाम करता हूँ। आप धर्मका आश्रय और करुणामयी वेदमाता गायत्री हैं, आपको मैं प्रणाम करता हूँ। आपका कमलवनमें निवास है, आप ही हाथमें कमल धारण करनेवाली तथा भगवान् विष्णुके वक्षःस्थलमें निवास करनेवाली लक्ष्मी हैं, चन्द्रमण्डलमें भी आपका निवास है, आप चन्द्रमुखी सीतादेवीको मैं नमस्कार करता हूँ। आप श्रीरघुनन्दनकी आह्लादमयी शक्ति हैं, कल्याणमयी सिद्धि हैं और कल्याणकारिणी सती हैं। श्रीरामचन्द्रजीकी परम प्रियतमा जगदम्बा जानकीको मैं प्रणाम करता हूँ। सर्वांगसुन्दरी सीताका मैं अपने हृदयमें सदैव चिन्तन करता हूँ।'

**श्रीसूतजी कहते हैं**—द्विजवरो! इस प्रकार हनुमान्‌जी भक्तिपूर्वक श्रीसीताजी और श्रीरामचन्द्रजीकी स्तुति करके आनन्दके आँसू बहाते हुए मौन हो गये। जो वायुपुत्र हनुमान्‌जीद्वारा वर्णित श्रीराम और सीताके इस पापनाशक स्तोत्रका प्रतिदिन पाठ करता है, वह सदा मनोवांछित महान् ऐश्वर्यका उपभोग करता है। अनेक क्षेत्र, धान्य, दूध देनेवाली गौएँ, आयु, विद्या, मनोरमा भार्या तथा श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त करता है। इस स्तोत्रका एक बार भी पाठ करनेवाला मनुष्य इन सब वस्तुओंको निःसन्देह प्राप्त कर लेता है। इसके पाठसे मनुष्य नरकमें नहीं पड़ता है, उसके ब्रह्महत्या आदि बड़े-बड़े पाप नष्ट हो जाते हैं। वह सब पापोंसे मुक्त हो देहावसान होनेपर मोक्ष पा लेता है।

तदनन्तर वायुपुत्र हनुमान्‌जीने श्रीरामेश्वरके उत्तर भागमें भगवान् रामचन्द्रजीकी आज्ञाके अनुसार अपने द्वारा लाये हुए शिवलिंगको स्थापित किया।

## भगवान् रामेश्वरके प्रभावसे राजा शंकरका ब्रह्महत्या और स्त्रीहत्याके पापसे उद्धार

**श्रीसूतजी कहते हैं**—मुनिवरो! प्राचीन कालमें पाण्ड्य देशमें शंकर नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। वे बड़े ब्राह्मणभक्त, सत्यप्रतिज्ञ, यज्ञनिष्ठ तथा धर्मात्मा थे। चारों वर्णों और आश्रमोंका धर्मपूर्वक पालन करते थे। वे भगवान् विष्णु और शिवके समानरूपसे उपासक थे। महात्मा ब्राह्मणोंको

बड़े-बड़े दान देते थे। एक दिन बुद्धिमान् राजा शंकर शिकार खेलनेके लिये तपोवनमें गये और वहाँ दुर्गम एवं रमणीय प्रदेशों, पर्वतों तथा गुफाओंमें भ्रमण करने लगे। वनके एक भागमें व्याघ्रचर्मधारी, शान्त, जितेन्द्रिय एवं मनको वशमें रखनेवाले एक मुनि गुफाके भीतर निवास करते थे। राजाने दूरसे उन्हें देखकर व्याघ्र ही समझा और बड़े वेगसे झुकी हुई गाँठवाले बाणका प्रहार करके उन्हें मार डाला। राजाके उस बाणने पतिके पास बैठी हुई पतिव्रता मुनिपत्नीका भी वध कर डाला। माता और पिता दोनोंको मारा गया देख उनका पुत्र अत्यन्त दुःखसे पीड़ित होकर कातरभावसे वनमें रोने और विलाप करने लगा—'हा तात! हा माता! तुम दोनों मुझे छोड़कर कहाँ चले गये। पिताजी! अब मुझे वेद-शास्त्र कौन पढ़ायेगा? मा! कौन मुझे शिक्षाके साथ-साथ भोजन देगी। हाय तात! आप तो परलोकगामी हो गये। अब मुझे सदाचारकी शिक्षा कौन देगा? हाय! आज किस पापीने अपने बाणोंसे बिना किसी अपराधके आप दोनोंको मार डाला! आप ही दोनों मेरे गुरु और मेरे प्राण थे, सदा तपस्यामें लगे रहते थे, तो भी न जाने किस पापीके हाथसे आप मारे गये?'

इस प्रकार कहकर उन दोनों दम्पतिका पुत्र फूट-फूटकर रोने लगा। उसका प्रलाप सुनकर वनमें विचरनेवाले राजा शंकर तुरंत ही उस शब्दकी ओर लक्ष्य करके उस कन्दराके समीप जा पहुँचे। उस वनके रहनेवाले मुनि भी उस आश्रमपर एकत्रित हो गये। मुनियोंने बाणसे मरे हुए मुनि और उनकी पत्नीको देखा। पासमें धनुष धारण किये हुए राजा शंकरपर भी दृष्टिपात किया तथा माता-पिताके लिये विलपते हुए उस मुनिकुमारको भी देखा। उसे देखकर वे अत्यन्त व्याकुल हो उठे और 'मत रोओ' ऐसा कहते हुए उस कातर बालकको धैर्य बँधाने लगे।

**मुनि बोले**—बेटा! धनी, दरिद्र, मूर्ख, पण्डित, मोटे अथवा पतले, सभी जीवोंके प्रति यमराजका समान बर्ताव होता है। कोई वनमें रहता हो, या नगर और गाँवमें; पर्वतपर रहता हो, या दूसरे किसी स्थानमें—सभी जन्तुओंको एक दिन मृत्युके वशमें जाना पड़ता है। वत्स! गर्भमें रहनेवाले, जन्म ग्रहण कर चुकनेवाले, बालक, जवान और बूढ़े—सभी जीवोंको यमलोककी यात्रा करनी पड़ती है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी सबको समय आनेपर यह शरीर त्यागना पड़ता है। महामते! द्विजपुत्र! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और वर्णसंकर सबको एक दिन यमलोक जाना पड़ता है। देवता, मुनि, यक्ष, गन्धर्व, नाग, राक्षस तथा अन्य सब प्राणी भी नाशको प्राप्त होते हैं। इसलिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप जो उपनिषत्प्रतिपादित ब्रह्म है, उसका जन्म-मरण और वृद्धिको प्राप्त होना नहीं बनता। यह नौ द्वारोंवाला शरीर मल-मूत्रका भाण्ड है, पीब और रक्तका घर है। पानीके बुलबुलेके समान यह क्षणभंगुर है एवं इसमें कीड़ोंका ढेर (कीटाणुओंका समुदाय) भरा है। काम, क्रोध, भय, द्रोह, मोह और मात्सर्यका एकमात्र कारण यह शरीर ही है। मल और मूत्रका यह एकमात्र भाजन है। ऐसे घृणित शरीरमें जो सुन्दर एवं श्रेष्ठ बुद्धि रखता है, वह मूर्ख है तथा वह खोटी बुद्धिवाला है। जैसे अनेक छेदवाले घड़ेमें पानी नहीं ठहरता, उसी प्रकार अनेक छेदोंवाले इस अपवित्र शरीरमें प्राणवायुकी स्थिति दीर्घकालतक कैसे हो सकती है? अतः तुम अपने पिता और माताके लिये शोक न करो। वे दोनों अपने कर्मवश इस घरको छोड़कर कहीं चले गये। तुम अपने कर्मवश इस भूतलपर वर्तमान हो। जब तुम्हारे प्रारब्धकर्मका क्षय होगा, तब तुम भी मर जाओगे। तब उनके लिये शोक क्या

करना है? क्या मरनेवाला प्रेत मरे हुए प्रेतके लिये शोक करे? तुम्हारे माता और पिता जब उत्पन्न हुए थे, उस समय तुम्हारा जन्म नहीं हुआ था। अतः तुमसे उनकी गति भिन्न है। यदि तुम्हारी और उनकी समान गति होती, तो तुम भी उन्हींके साथ चले जाते। जिस बाणसे वे मरे हैं, उसीसे तुम भी मर गये होते और वे मरकर जहाँ गये हैं, वहीं तुम भी पहुँच जाते। ऐसा नहीं हुआ इससे सिद्ध है कि तुम्हारी और उनकी समान गति नहीं है। अतः उनके लिये शोक नहीं करना चाहिये। मरे हुए प्राणियोंके भाई-बन्धु जो इस भूतलपर आँसू बहाते हैं, उन आँसुओंको मरे हुए प्रेत परलोकमें पीते हैं*। अतः शोक छोड़कर एकाग्रचित्त हो धैर्य धारण करो और वैदिक रीतिसे माता-पिताका प्रेतकार्य करो। तुम्हारे पिता और माता बाणके आघातसे मरे हैं, अतः उस दोषकी शान्तिके लिये इनकी अस्थियाँ लेकर रामेश्वर शिवके क्षेत्रमें मुक्तिदायक रामसेतुमें स्थापित करो तथा सपिण्डीकरण आदि श्राद्ध भी वहीं करो। इससे उनके दुर्मृत्युजनित दोषकी शान्ति हो जायगी।

मुनियोंके ऐसा कहनेपर शाकल्यपुत्र जांगलने माता-पिताके सब अन्त्येष्टि संस्कार किये। तत्पश्चात् दूसरे दिन उनकी अस्थियाँ लेकर वे हालास्य क्षेत्रमें गये। हालास्य क्षेत्रसे रामेश्वरक्षेत्रमें जाकर मुनियोंके बताये अनुसार वहाँ उन अस्थियोंको डाल दिया और वहीं रहकर एक वर्ष पूरा होनेतक सब श्राद्ध आदि कार्य सम्पन्न किये। वर्षभर निवास करनेके पश्चात् एक दिन जांगल मुनिने रातको सपनेमें अपने माता-पिताको देखा। उन दोनोंने अपने-अपने हाथोंमें शंख, चक्र, गदा आदि धारण कर रखे थे। दोनों ही पद्ममाला और तुलसीकी मालासे विभूषित हो गरुड़की पीठपर बैठे थे। उनके कानोंमें मकराकृति कुण्डल झिलमिला रहे थे, कौस्तुभमणि उनके वक्षःस्थलको अलंकृत कर रही थी और वे दोनों पीत वस्त्र धारण करके अतिशय शोभा पा रहे थे। मुनिपुत्रने इस प्रकारकी झाँकीमें माता-पिताका दर्शन करके मन-ही-मन बड़ी प्रसन्नताका अनुभव किया। तदनन्तर जांगल मुनि पुनः अपने आश्रमपर आकर सुखपूर्वक रहने लगे। उन्होंने माता-पिताके विषयमें सपनेमें देखा हुआ वृत्तान्त वहाँके सब ब्राह्मणोंको बड़ी प्रसन्नताके साथ सुनाया। सुनकर वे सब मुनि बड़े प्रसन्न हुए।

इधर जांगलको अन्त्येष्टि संस्कारका आदेश देनेके पश्चात् राजा शंकरकी ओर देखकर उन सभी महर्षियोंने उस समय बड़ा क्रोध किया। वे उन्हें कोसते हुए बोले—'महामूर्ख पाण्ड्यनरेश! तूने क्रूरतावश ब्राह्मणकी हत्या की है, तुझे स्त्रीहत्या और ब्रह्महत्याका पाप लगा है। अतः तू प्रज्वलित अग्निमें जलकर अपने शरीरका त्याग कर दे। अन्यथा सैकड़ों प्रायश्चित्त करनेपर भी तेरी शुद्धि न होगी। तेरे साथ वार्तालाप करनेमात्रसे दूसरोंको भारी पाप लगेगा।' मुनियोंके ऐसा कहनेपर राजा शंकरने कहा—'महात्माओ! ऐसा ही हो। मैं ब्रह्महत्याकी शुद्धिके लिये आपके समीप प्रज्वलित अग्निमें अपने शरीरकी आहुति दे दूँगा। आपलोग मुझपर अनुग्रह करें, जिससे शरीर त्याग देनेपर मेरा यह पातक नष्ट हो जाय।' सब मुनियोंसे ऐसा कहकर पाण्ड्यनरेशने अपने मन्त्रियोंको बुलाकर कहा—'सचिवगण! मैंने अनजानमें ब्रह्महत्या तथा क्रूरतापूर्ण स्त्रीहत्या कर डाली है, जो महानरक प्रदान करनेवाली है। इस पातककी शुद्धिके लिये मैं बड़ी-बड़ी

* मृतानां बान्धवा ये तु मुञ्चन्त्यश्रूणि भूतले। पिबन्त्यश्रूणि तान्यद्धा मृताः प्रेताः परत्र वै॥ (स्क० पु०, ब्रा० से० मा० ४८। ४२)

लपटोंवाली प्रज्वलित अग्निमें मुनियोंकी आज्ञासे अपने शरीरको त्याग दूँगा। तुम जल्दी काष्ठ ले आओ और उसके द्वारा अग्निको प्रज्वलित करो। मेरे पुत्र सुरुचिको शीघ्र ही राज्यसिंहासनपर बिठा दो।'

**राजाके इस प्रकार आज्ञा देनेपर मन्त्रीलोग रोने लगे और बोले**—पाण्ड्यनाथ! महाराज! आप तो शत्रुओंपर भी स्नेह रखनेवाले हैं। हम सबको आपने सदा पुत्रकी भाँति पाला है। हम आपके बिना देवपुरीके समान सुन्दर अपनी राजधानीमें प्रवेश नहीं करेंगे। हम भी आपके साथ महाकाष्ठोंद्वारा प्रज्वलित अग्निमें प्रवेश कर जायँगे।

**मन्त्रियोंका प्रलाप सुनकर पाण्ड्यनरेश शंकरने उन्हें समझाते हुए कहा**—'मन्त्रियो! मुझ महापातकी राजाको लेकर क्या करोगे? अग्निमें प्रवेश करनेके लिये शीघ्र काष्ठ एकत्रित करो। उनके ऐसा कहनेपर मन्त्रीलोग शीघ्र काष्ठ ले आये। राजा शंकरने देखा, काष्ठोंद्वारा अग्नि प्रज्वलित हो चुकी है। तब उन्होंने स्नान और आचमन करके शुद्धचित्त हो मुनियोंके समीप उस अग्निकी परिक्रमा की। फिर उन मुनियोंकी भी परिक्रमा करके अग्नि और मुनि दोनोंको प्रणाम किया। उसके बाद भगवान् शंकरका ध्यान करके राजा धैर्यपूर्वक ज्यों ही अग्निमें गिरनेको तैयार हुए, त्यों ही सब ऋषि-मुनियोंके सुनते-सुनते आकाशवाणी हुई—'राजा शंकर! तुम अभी अग्निमें प्रवेश न करो। महामते! तुम्हें ब्रह्महत्याके कारण भय नहीं होना चाहिये। दक्षिण समुद्रके किनारे गन्धमादन पर्वतपर महापातकोंका नाश करनेवाले परम पुण्यमय रामसेतुमें श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा स्थापित जो रामेश्वर नामक शिवलिंग है, उसकी एक वर्षतक तीनों समय भक्तिपूर्वक सेवा करो। भगवान् रामेश्वरकी परिक्रमापूर्वक उन्हें नमस्कार करो, उनका महाभिषेक करो और प्रतिदिन नाना प्रकारका नैवेद्य निवेदन करो। चन्दन, अगर और कपूरके द्वारा श्रीरामलिंगकी पूजा करो। दो भार गायके घीसे भगवान्‌का अभिषेक कराओ। प्रतिदिन दो भार गोदुग्धसे और एक द्रोण शहदसे उस शिवलिंगको नहलाओ। नित्यप्रति खीरसे भगवान्‌को नैवेद्य लगाओ तथा रोज-रोज रातमें तिलके तेलसे दीपक जलाकर दीपदानद्वारा आराधना करो। महाराज! रामेश्वर शिवकी इस प्रकार उपासना करनेसे तुम्हारी स्त्रीहत्या और ब्रह्महत्या तत्काल नष्ट हो जायगी। तुम शीघ्र रामसेतुपर जाओ और निरन्तर रामेश्वरका भजन करो। इस कार्यमें विलम्ब न करो।'

**वह आकाशवाणी सुनकर सब ऋषि राजाको जल्दी जानेकी प्रेरणा देने लगे**—महाराज! मोक्षदायक रामसेतुपर शीघ्र जाओ। हमने भगवान् रामेश्वरके माहात्म्यको न जाननेके कारण ही आपको प्रज्वलित अग्निमें देह त्याग करनेकी सलाह दी थी। मुनीश्वरोंकी ऐसी आज्ञा पाकर महाराज शंकरने चतुरंगिणी सेना तो नगरमें भेज दी और स्वयं हर्षयुक्त चित्तसे महर्षियोंको नमस्कार करके कुछ इने-गिने सैनिकोंके साथ बहुत धन लेकर भगवान् रामेश्वरकी सेवाके लिये गन्धमादन पर्वतपर गये तथा वहाँ शुद्धिदायक रामसेतुपर उन्होंने एक वर्षतक निवास किया। राजा एक समय भोजन करते और क्रोध एवं इन्द्रियसमूहको वशमें रखते थे। वे तीनों समय भक्तिपूर्वक भगवान् रामेश्वरकी सेवा करते हुए उन्हें प्रतिदिन दस भार धन भेंट करते थे। उन्होंने नित्यप्रति भगवान् रामेश्वरकी महापूजा करवायी। प्रतिदिन धनुष्कोटिमें भक्तिपूर्वक स्नान और प्रसन्नतापूर्वक ब्राह्मणोंको अन्नदान किया। आकाशवाणीने जैसा बताया था, उसके अनुसार सब पूजन किया। इस प्रकार एक वर्ष पूरा होनेपर राजा शंकरने सन्तुष्टचित्त हो दयानिधान भगवान् रामेश्वरका इस प्रकार स्तवन किया—'मैं सबके ईश्वर रुद्रको नमस्कार करता हूँ। रामेश्वर नामसे प्रसिद्ध भगवान् उमापतिको

प्रणाम करता हूँ। देव! कृपया मेरी रक्षा कीजिये और मेरी ब्रह्महत्याको शीघ्र जला डालिये। त्रिपुरासुरका नाश करनेवाले महादेव! आप कालकूट विषको भक्षण करनेवाले हैं। दयासिन्धो! आप मेरी रक्षा करें और मुझे स्त्रीहत्यारूपी पापसे छुड़ावें। गंगाधर! विरूपाक्ष! रामनाथ! त्रिलोचन! प्रभो! आप अपनी कृपादृष्टिसे मेरा पालन कीजिये। विभो! मेरा पातक नष्ट कर दीजिये। कामारे! आप भक्तोंकी मनोवांछित कामनाओंको देनेवाले हैं। रामेश्वर! मुझपर कृपाकटाक्ष कीजिये। धूर्जटे! मुझे शुद्ध बना लीजिये। मार्कण्डेयजीको भयसे बचानेवाले मृत्युंजय! आप अविनाशी शिव हैं, भगवती गिरिराजनन्दिनी आपके आधे अंगमें निवास करती हैं, आपको नमस्कार है। आप मुझे पापरहित कीजिये। रुद्राक्षकी मालासे विभूषित चन्द्रशेखर भगवान् शंकर! आप मुझे वैदिक सदाचारके योग्य बना दीजिये, आपको नमस्कार है। रामेश्वरदेवको नमस्कार है। आप मुझे शुद्धि देनेवाले हों। जो आनन्दस्वरूप और सच्चिदानन्दघन हैं, उन रामेश्वर शिवको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ। मेरा पातक नष्ट हो जाय।'

इस प्रकार रामेश्वर महादेवकी भक्तिपूर्वक स्तुति करते हुए राजा शंकरके मुखसे अत्यन्त भयानक ब्रह्महत्या निकली, जो नील वस्त्र धारण करनेवाली और अत्यन्त क्रूर थी। उसके सिरके बाल रक्तकी भाँति लाल थे। राजाके मुखसे निकली हुई उस बीभत्स ब्रह्महत्याको भगवान् शंकरकी आज्ञासे भैरवने त्रिशूलसे मार डाला। तब भगवान् रामेश्वरने राजासे कहा—'पाण्ड्यनरेश! महाराज! मैं तुम्हारे इस स्तोत्रसे प्रसन्न होकर तुम्हें वर देना चाहता हूँ, तुम कोई मनोवांछित वर माँगो। स्त्रीहत्या और ब्रह्महत्यासे जो तुम्हें दोष लगा था, वह निकल गया। अब तुम शुद्ध हो, निष्पाप हो, पूर्ववत् अपने राज्यका पालन करो। राजन्! मेरी सेवा करनेवाले मनुष्य फिर संसारमें जन्म नहीं लेते। वे मेरे सायुज्य मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं। जो मानव इस स्तोत्रद्वारा भक्तिपूर्वक मेरी स्तुति करेंगे, उनके महापातकोंकी राशिको मैं अवश्य नष्ट कर दूँगा। अब तुम इच्छानुसार वर माँगो।'

**राजा बोले**—महेश्वर! मैं आपके दर्शनमात्रसे ही कृतार्थ हो गया हूँ। इस समय मुझे इससे बढ़कर माँगने योग्य कोई वस्तु नहीं प्रतीत होती। आपके दोनों चरणकमलोंमें मेरी अविचल भक्ति बनी रहे।

'तथास्तु' कहकर भगवान् रामेश्वरने राजापर अनुग्रह किया और वे पुनः उसी शिवलिंगमें अन्तर्धान हो गये। भगवान् रामेश्वरकी कृपा प्राप्त करके राजा भी कृतार्थ हो गये और उन्हें प्रणाम करके अपनी पुरीको चले गये। उन्होंने वनवासी मुनियोंको यह वृत्तान्त बतलाया। तब उन मुनियोंने प्रसन्नचित्त होकर राजाको पुनः उनके राज्यपर अभिषिक्त किया। तदनन्तर अन्तकाल आनेपर राजाने रामेश्वर शिवका ध्यान करते हुए देहका त्याग किया और भगवान् रामेश्वरके सायुज्य मोक्षको प्राप्त कर लिया।

## राजा पुण्यनिधिके यहाँ महालक्ष्मीका पुत्रीके रूपमें निवास एवं सेतुमाधवकी महिमा

**श्रीसूतजी कहते हैं**—पूर्वकालमें चन्द्रवंशी राजा पुण्यनिधि मथुरा नामक पुरीका पालन करते थे। किसी समय राजा पुण्यनिधि मथुरामें अपने पुत्रका राज्याभिषेक करके अन्तःपुरकी रानियोंके साथ स्नानके लिये उत्सुक हो रामसेतु नामक तीर्थमें गये। उनके साथ उनकी चतुरंगिणी सेना भी थी। वहाँ धनुष्कोटिमें संकल्पपूर्वक स्नान करके उन नृपश्रेष्ठने वहाँके अन्य तीर्थोंमें

भी स्नान किया और भक्तिपूर्वक भगवान् रामेश्वरकी सेवा की। इस प्रकार उन्होंने बहुत कालतक उसी तीर्थमें सुखपूर्वक निवास किया। वहाँ रहते हुए राजा पुण्यनिधिने किसी समय भगवान् विष्णुको प्रसन्न करनेवाला एक यज्ञ किया। यज्ञ पूर्ण होनेपर वे अपनी स्त्री तथा परिवारके लोगोंके साथ अवभृथ स्नानके लिये श्रीरामचन्द्रजीकी धनुष्कोटिमें गये और वहाँ विधिपूर्वक स्नान किया।

इस प्रकार राजा पुण्यनिधि जब उस तीर्थमें निवास करते थे, उसी समय एक दिन राजाकी भक्तिकी परीक्षा करनेके लिये भगवान् विष्णुने लक्ष्मीजीको भेजा। वे आठ वर्षकी सुन्दरी बालिका होकर गन्धमादन पर्वतपर गयीं। उस समय राजा पुण्यनिधि धनुष्कोटिमें स्नान करनेके लिये गये थे। वहाँ स्नान करके पुण्यकर्म करनेके पश्चात् राजाने अलौकिक रूप-सौन्दर्यसे सुशोभित एक अष्टवर्षीया कन्या देखी। उसे देखकर पुण्यनिधिने पूछा—'बेटी! तुम कौन हो? यहाँ तुम्हारे आनेका क्या प्रयोजन है?' राजाके इस प्रकार पूछनेपर कन्याने कहा—'महाराज! मेरे न माता हैं, न पिता हैं और न कोई भाई-बन्धु हैं। मैं अनाथ हूँ। मैं आपकी पुत्री होकर रहना चाहती हूँ। आपको पिताके रूपमें देखती हुई सदा आपके घरमें निवास करूँगी। परन्तु मेरी एक शर्त है, 'जो मुझे हाथसे पकड़े अथवा हठपूर्वक खींचकर ले जाय, उसको यदि आप दण्ड दें, तभी मैं आपके घरमें आपकी पुत्री होकर चिरकालतक निवास करूँगी।' कन्याके ऐसा कहनेपर राजा पुण्यनिधि बोले—'शुभे! मैं तुम्हारी कही हुई सब बातें मानूँगा। मेरे भी कोई पुत्री नहीं है। एक ही वंशधर पुत्र है। भद्रे! जिसके प्रति तुम्हारा अनुराग होगा, उसे ही तुम्हें समर्पित करूँगा। बेटी! आओ मेरे घर चलो और मेरी पत्नीकी पुत्री होकर अन्तःपुरमें स्वेच्छानुसार निवास करो।'

'बहुत अच्छा' कहकर वह कन्या राजाके साथ उनके घर गयी। राजाने अपनी पत्नीके हाथमें उस कल्याणमयी कन्याको सौंप दिया। रानीका नाम विन्ध्यावली था। राजाने उनसे कहा—'देवि! यह हम दोनोंकी पुत्री है। इसकी दूसरे पुरुषोंसे सर्वथा रक्षा करो।' विन्ध्यावलीने राजाकी आज्ञा शिरोधार्य की और उस कन्याको हाथमें ले लिया। राजाके द्वारा कन्याका पुत्रकी भाँति पालन-पोषण होने लगा। वह लाड़-प्यार और सुखसे राजभवनमें रहने लगी। तदनन्तर जगदीश्वर भगवान् विष्णु अपनी लक्ष्मीको ढूँढ़नेके लिये वैकुण्ठसे निकले और रामसेतुपर गये। वहाँ सब ओर भ्रमण करते रहे। इसी समय फूल तोड़नेके कौतूहलसे वह कन्या सखियोंके सहित राजाके गृहोद्यानमें गयी और वृक्षोंसे फूल चुनने लगी। तब भगवान् विष्णु ब्राह्मणका रूप धारण करके वहीं आकर खड़े हो गये। ब्राह्मणको सहसा वहाँ आया देख वह कन्या ठिठककर खड़ी रह गयी। उस मधुरभाषिणी कन्याको देखकर उस द्विजने शीघ्रतापूर्वक उसका हाथ पकड़ लिया। यह देख वह कन्या अपनी सखियोंके साथ उस उपवनमें चिल्लाने लगी। उसकी चिल्लाहट सुनकर राजा पुण्यनिधि वहाँ आ गये। वहाँ राजाने उस कन्या और उसकी सखियोंसे पूछा—'बेटी! तुम इस समय अपनी सखियोंके साथ क्यों चिल्ला उठी थी?'

**कन्या बोली**—पाण्ड्यनाथ! इस ब्राह्मणने हठपूर्वक मेरा हाथ पकड़ लिया था। तात! यहीं उस वृक्षके नीचे वह निर्भय होकर खड़ा है। राजा परम बुद्धिमान् और सद्गुणोंके निधान थे। उन्होंने उस ब्राह्मणका यथार्थ बल न जानते हुए उसे हठात् पकड़ लिया और रामेश्वर मन्दिरमें ले जाकर वहाँ पैरोंमें बेड़ी डाल और हाथोंमें रस्सीसे बाँधकर पुनः उसे मण्डपमें ले आये। अपनी पुत्रीको आश्वासन देकर राजाने अन्तःपुरमें भेज दिया और स्वयं भी परम सुन्दर भवनमें

ब्राह्मणके द्वारा राजकन्याका हाथ पकड़ा जाना

राजाके द्वारा ब्राह्मणको बन्दी बनाया जाना

जाकर शयन किया। सोते समय उन्होंने स्वप्नमें उस ब्राह्मणको देखा। वह शंख, चक्र, गदा, पद्म और वनमालासे विभूषित था। उसके वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणिका आभूषण शोभा पा रहा था। ब्राह्मणके रूपमें साक्षात् श्रीहरि विराजमान थे। उन्होंने अपने श्रीअंगोंमें पीताम्बर धारण किया था। उनके श्रीअंगोंकी कान्ति कृष्ण मेघके समान श्याम थी, मुखपर मनोहर मुसकानकी मनोहर छटा छा रही थी और स्वच्छ दन्तपंक्ति चमक रही थी। कानोंमें मकराकृति कुण्डल शोभायमान थे। विष्वक्सेन आदि पार्षद उनकी सेवामें उपस्थित थे। भगवान् शेषशय्यापर लेटे हुए थे और नारद आदि देवर्षि उनकी स्तुति कर रहे थे। वहीं उन्होंने अपनी कन्याको भी देखा, जो विकसित कमलके आसनपर विराजमान थी। वह कन्या नहीं, साक्षात् लक्ष्मी थीं। उन्होंने अपने हाथमें कमल धारण कर रखा था और उनके मस्तकपर काले-काले घुँघराले बाल बड़ी शोभा पा रहे थे। इस प्रकार राजाने रात्रिमें अपनी कन्याको महालक्ष्मीके स्वरूपमें देखा। यह देखकर राजा सहसा उठ बैठे और कन्याके घरमें गये। वहाँ उन्होंने कन्याको उसी रूपमें देखा, जैसे स्वप्नमें उसका दर्शन हुआ था। प्रातःकाल सूर्योदय होनेपर राजा पुण्यनिधि कन्याको साथ ले रामेश्वरमन्दिरमें पहुँचे और उस श्रेष्ठ मण्डपमें गये, जहाँ ब्राह्मणको रख छोड़ा था। वहाँ ब्राह्मण देवताको उन्होंने साक्षात् श्रीहरिके रूपमें देखा, ठीक उसी रूपमें, जैसा कि स्वप्नमें दर्शन हुआ था। वनमाला आदि चिह्नोंसे पहचाने जानेवाले भगवान् विष्णुको जानकर राजाने उनकी इस प्रकार स्तुति की—'कमलाकान्त! आपको नमस्कार है। गरुड़ध्वज! आप प्रसन्न होइये। शार्ङ्गपाणे! आपको नमस्कार है, आप मेरा अपराध क्षमा करें। आप निर्गुण, अप्रमेय तथा बुद्धिके साक्षी विष्णु हैं, आपको नमस्कार है। सम्पूर्ण जगत्को धारण करनेवाले परमात्मा श्रीनिवासको नमस्कार है। कृपामूर्ते! आपके लिये नमस्कार है। मधुसूदन! आप मेरा यह अपराध क्षमा करें।'

इस प्रकार महाविष्णुकी स्तुति करके राजा पुण्यनिधिने सम्पूर्ण जीवोंकी जननी श्रीलक्ष्मीजीका भी स्तवन किया—'सम्पूर्ण जगत्को धारण करनेवाली देवि! आपको नमस्कार है। आप भगवान् विष्णुके वक्षःस्थलमें निवास करनेवाली हैं, आपको नमस्कार है। समुद्रसे प्रकट हुई हरिप्रिया महालक्ष्मी! आपको नमस्कार है। आप ही सिद्धि, पुष्टि, स्वधा, स्वाहा, सन्ध्या, प्रभा, धात्री, भूति, श्रद्धा, मेधा और सरस्वती हैं, आपको बारंबार नमस्कार है। देवेश्वरि! आप ही यज्ञविद्या, महाविद्या, अतिशय शोभामयी गुह्यविद्या, आत्मविद्या तथा सब प्राणियोंको मुक्ति देनेवाली हैं, आपको नमस्कार है। संसारकी रक्षा करनेवाली जगदम्बिके! आप अपनी दयादृष्टिसे मेरी रक्षा करें। महेश्वरि! आप ब्रह्माजीकी माता हैं, आपको नमस्कार है।'

**महालक्ष्मीकी इस प्रकार स्तुति करके राजाने पुनः भगवान् विष्णुसे इस प्रकार प्रार्थना की**—विष्णो! मैंने अज्ञानवश आपके पैरोंमें बेड़ी डालकर जो इस समय आपके प्रति अपराध किया है, वह स्पष्ट ही द्रोह है आप उसे क्षमा करें। मधुसूदन! आप सम्पूर्ण जगत्के पिता हैं, पिताको पुत्रका अपराध क्षमा करना चाहिये। आपने अपराधी दैत्योंको अपना स्वरूपतक दे डाला है। भगवन्! मेरे भी इस अपराधको आप क्षमा करें। कृपानिधे! मारनेके लिये आयी हुई पूतनाको भी आपने अपने चरण-कमलोंमें स्थान दिया है, मेरी भी रक्षा कीजिये। लक्ष्मीकान्त! केशव! मुझपर अपनी कृपापूर्ण दृष्टि डालिये।

**राजाके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भगवान् विष्णुने कहा**—राजन्! मुझे बन्धनमें डालनेके कारण जो तुमको भय हो रहा है, उसे त्याग दो। तुमने इस तीर्थमें मेरी प्रसन्नताके लिये यज्ञ किया है। अतः तुम मेरे प्रिय भक्त हो। शत्रुदमन! मैं भक्तोंके अपराध सदा ही क्षमा करता हूँ। तुम्हारी भक्ति जाननेके लिये मेरी

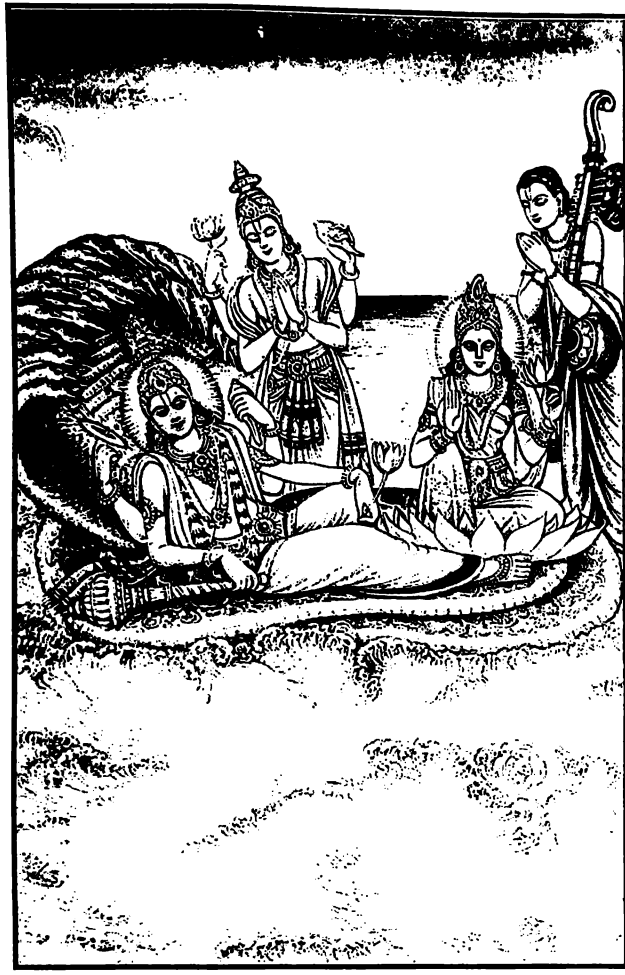

राजाको स्वप्नमें भगवान्‌के दर्शन

राजाके द्वारा लक्ष्मीनारायणका स्तवन

ही प्रेरणासे मेरी प्रिया लक्ष्मी तुम्हारे घर आयी थीं और तुमने इनका भलीभाँति संरक्षण किया है। अतः मैं तुमपर बहुत सन्तुष्ट हूँ। संसारमें जो पुरुष मेरी स्वरूपभूता इन महालक्ष्मीमें भक्ति रखता है, वह मेरा भक्त कहलाता है और जो इनसे विमुख है, वह मेरा द्वेषपात्र माना गया है। तुमने भक्तिपूर्वक इनका पूजन किया है,अतः तुम्हारे द्वारा मेरी भी पूजा सम्पन्न हो गयी; क्योंकि ये लक्ष्मी मुझसे अभिन्न हैं। इसलिये तुमने मेरा अपराध नहीं, पूजन ही किया है। मेरी स्वरूपभूता लक्ष्मी सम्पूर्ण जगत्की माता तथा वेदत्रयीरूपा हैं। उनकी रक्षा करते हुए जो तुमने मुझे बन्धनमें डाला है, वह मुझे अत्यन्त प्रिय है। ये लक्ष्मी वास्तवमें तुम्हारी पुत्री हैं।

**भगवान् विष्णुके ऐसा कहनेके पश्चात् लक्ष्मीने भी कहा**—राजन्! तुमने अपने घरमें मेरी रक्षा की, इससे मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारी भक्तिका शोधन करनेके लिये ही मैं और भगवान् दोनों यहाँ आये हैं। तुम्हारे मनःसंयमरूप योग और भक्तिभावसे हमें बड़ी प्रसन्नता हुई है। हम

दोनोंकी कृपासे तुम्हें सदा सुखकी प्राप्ति होगी। हमारे चरणोंमें तुम्हारी अविचल भक्ति बनी रहेगी और देहावसान होनेपर तुम्हें पुनरावृत्तिरहित मेरा सायुज्य मोक्ष प्राप्त होगा। भगवान् विष्णुकी भक्तिसे युक्त तुम्हारी बुद्धि सदा धर्ममें लगी रहेगी।

**तदनन्तर भगवान् विष्णुने पुनः इस प्रकार कहा**—नृपश्रेष्ठ! तुमने जिस प्रकार मुझे यहाँ बेड़ीसे बाँधा है, उसी रूपसे मैं इस मण्डपमें निवास करूँगा। 'सेतुमाधव' के नामसे यहाँ मेरी प्रसिद्धि होगी। जो मनुष्य यहाँ मुझ सेतुमाधवकी सेवा करेंगे, वे सम्पूर्ण मनोरथों और अन्तमें सायुज्य मोक्षको भी प्राप्त होंगे। तुम्हारे द्वारा किये हुए मेरे तथा लक्ष्मीजीके स्तोत्रको जो प्रसन्नतापूर्वक पढ़ेंगे, सुनेंगे और लिखेंगे, उनकी मेरे परमधामसे कभी पुनरावृत्ति नहीं होगी। राजा पुण्यनिधिसे ऐसा कहकर भगवान् विष्णु सदा पूर्णरूपसे वहाँ निवास करने लगे हैं। राजाने सेतुमाधवरूपी भगवान् विष्णुको प्रणाम करके भक्तिभावसे उनकी महापूजा की और श्रीरामेश्वरका सेवन करके अपने घरको प्रस्थान किया। मथुरामें उन्होंने अपने पुत्रको राजा बना दिया और स्वयं जीवनभर उस परम उत्तम सेतुतीर्थमें निवास किया। देहावसान होनेपर राजाने मोक्ष प्राप्त कर लिया। उनकी पत्नी विन्ध्यावली भी उन्हींके साथ मृत्युको प्राप्त हुई। उस पतिव्रताने भी पतिके साथ उत्तम गति प्राप्त कर ली।

जो सेतुतीर्थमें भक्तिपूर्वक प्रतिदिन सेतुमाधवका दर्शन करते हैं, उनकी कभी पुनरावृत्ति नहीं होती। जो सेतुतीर्थकी रेणुका लेकर गंगाजीमें डालता है, वह मृत्युके पश्चात् भगवान् विष्णुके वैकुण्ठधाममें निवास करता है। जो गंगाजीका जल लाकर भगवान् रामेश्वरको स्नान कराता और उसके भारको सेतुतीर्थमें रखता है, वह निश्चय ही परब्रह्मको प्राप्त होता है। ब्राह्मणो! इस प्रकार तुमसे भगवान् सेतुमाधवकी महिमाका वर्णन किया गया।

# सेतुतीर्थकी यात्राका क्रम

**सूतजी कहते हैं**—द्विजवरो! अब मैं सेतुतीर्थकी यात्राका क्रम बतलाता हूँ, जिसे सुनकर मनुष्य तत्काल सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। श्रेष्ठ बुद्धिवाला पुरुष स्नान और आचमन करके विशुद्धचित्त हो नित्यकर्म पूरा कर ले। उसके बाद भगवान् रामेश्वर शिव तथा राघवेन्द्र श्रीरामचन्द्रजीकी प्रसन्नताके लिये वेदोंके पारगामी ब्राह्मणोंको यथाशक्ति भोजन करावे। फिर सब अंगोंमें भस्म धारण करके मस्तकमें त्रिपुण्ड्र अथवा गोपीचन्दनसे तिलक करे। रुद्राक्षकी माला धारण करके हाथमें पवित्री पहन ले और पवित्रतापूर्वक यह संकल्प करे कि 'मैं सेतुतीर्थकी यात्रा करूँगा।' तत्पश्चात् भक्तिभावसे अष्टाक्षर मन्त्रका जप करते हुए मौनावलम्बनपूर्वक अपने घरसे निकले। अथवा शिवजीका पंचाक्षर नाममन्त्र जपता रहे। मनको वशमें रखे। प्रतिदिन एक बार हविष्यान्न भोजन करे। क्रोध और इन्द्रियोंको काबूमें रखे। जूता, खड़ाऊँ अथवा छाता न धारण करे। पान न खाये। तेल न लगावे। स्त्री-प्रसंग आदिसे बचकर रहे। शौच-सन्तोष आदि नियमोंके तथा सदाचारके पालनमें तत्पर रहे। समयपर सन्ध्योपासना करे। तीनों समय गायत्रीकी उपासना और श्रीरामचन्द्रजीका ध्यान करता रहे। मार्गमें सेतुतीर्थकी महिमाका प्रतिदिन आदरपूर्वक पाठ करे अथवा रामायण या किसी अन्य पुराणका पाठ करे। व्यर्थकी बातें छोड़कर सेतुतीर्थकी यात्रा करे। आत्मशुद्धिके लिये प्रतिग्रह न स्वीकार करे। सदाचारको न छोड़े। मार्गमें शिव-विष्णु आदिकी पूजा तथा बलिवैश्वदेवादि कर्म करता रहे। ब्रह्मयज्ञ आदि धर्म, अग्निहोत्र कर्म तथा शक्तिके अनुसार अतिथियोंको अन्न-पान आदिका दान करे। रास्तेमें भगवान् शिव और विष्णु आदिके नाम जपे तथा उनके स्तोत्रोंका पाठ करे। निषिद्ध कर्मोंको सर्वथा त्याग दे और सदा धर्मका ही आचरण करे। इस प्रकारके नियमोंका पालन करते हुए पहले सेतुमूल स्थानको जाय। वहाँ एकाग्रचित्त हो समुद्रका आवाहन करके उसे प्रणाम करे। तदनन्तर समुद्रके लिये अर्घ्य दे। अर्घ्यके पश्चात् भगवान्से आज्ञा लेकर समुद्रमें स्नान करे। मन-ही-मन भगवान्का चिन्तन करते हुए मुनि, देवता, वानर और पितरोंके लिये तर्पण करे।

समुद्रको प्रणाम करनेका मन्त्र

**नमस्ते विश्वगुप्ताय नमो विष्णो ह्यपाम्पते।**
**नमो हिरण्यशृङ्गाय नदीनां पतये नमः॥**

'विश्वमें गुप्तरूपसे व्यापक एवं जलोंके स्वामी श्रीविष्णुदेव*! आपको नमस्कार है, नमस्कार है। हिरण्यमय शृंगसे सुशोभित नदीपति सागर! आपको नमस्कार है।'

अर्घ्यदानका मन्त्र

**सर्वरत्नमयः श्रीमान् सर्वरत्नाकराकर।**
**सर्वरत्नप्रधानस्त्वं गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥**

'सब रत्नोंके आकर महासागर! तुम सर्वरत्नमय एवं श्रीसम्पन्न हो। तुम्हीं सब रत्नोंमें प्रधान हो। मेरा दिया हुआ यह अर्घ्य स्वीकार करो।'

भगवान्से आज्ञा लेनेका मन्त्र

**अशेषजगदाधार शंखचक्रगदाधर।**
**देहि देव ममानुज्ञां युष्मत्तीर्थनिषेवणे॥**

'सम्पूर्ण जगत्के आधार शंख-चक्र-गदाधारी नारायण! अपने तीर्थका सेवन करनेके लिये मुझे आज्ञा दीजिये।'

सेतुकी पूर्व दिशामें सुग्रीवका, दक्षिणमें नलका, पश्चिममें मयन्दका, उत्तरमें द्विविदका और मध्यमें श्रीराम, लक्ष्मण, यशस्विनी सीता, अंगद, वायुपुत्र

* 'सरसामस्मि सागरः' इस भगवद्वचनके अनुसार समुद्र भगवान्की विभूति है। इसलिये उसे 'विष्णु' कहा गया है।

हनुमान् तथा विभीषणका स्मरण करना चाहिये। 'हिरण्यशृंगम्' इत्यादि दो मन्त्रोंद्वारा नाभिमें भगवान् नारायणका स्मरण करे। स्नानादि कर्मोंमें भगवान् नारायणका चिन्तन करनेवाला पुरुष ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है। वह इस संसारमें फिर जन्म नहीं लेता; उसके समस्त पापोंका भी प्रायश्चित्त हो जाता है। प्रह्लाद, नारद, व्यास, अम्बरीष, शुक तथा अन्यान्य भगवद्भक्तोंका एकाग्रचित्त होकर चिन्तन करना चाहिये।*

समुद्रमें स्नान करनेका मन्त्र

**वेदादिर्यो वेदवसिष्ठयोनिः सरित्पतिः सागररत्नयोनिः।**
**अग्निश्च ते योनिरिडा च देहो रेतोधा विष्णोरमृतस्य नाभिः॥**
**इदं तेऽन्याभिरस्यमानमद्भिर्याः काश्च सिन्धुं प्रविशन्त्यापः।**
**सर्पो जीर्णामिव त्वचं जहामि पापं शरीरात्सशिरस्कोऽभ्युपेत्य॥**

'हे सागर! तुम वेदोंके आदि तथा वेद और वशिष्ठकी योनि हो, सरिताओंके स्वामी हो और सम्पूर्ण रत्नोंकी उत्पत्तिके स्थान हो। अग्नि तुम्हारा कारण तथा यज्ञ तुम्हारे शरीरका उपादान है। तुम भगवान् विष्णुके वीर्यको धारण करते हो। तुम अमृतकी नाभि हो। तुम्हारे जलसे तथा जो नदियाँ समुद्रमें प्रवेश करती हैं, उनसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य जलसे भी सिरसहित स्नान करके मैं अपने इस पापको शरीरसे उसी प्रकार त्याग देता हूँ, जैसे सर्प अपने पुराने केंचुलको त्याग देता है।'

इस प्रकार सेतुमें तीन बार स्नान करे। यदि मनुष्य देवीपत्तनसे प्रारम्भ करके सेतुकी यात्रा करे, तो नौ प्रस्तरोंके बीचसे मोक्षदायक सेतुमें अपनी पापराशिके निवारणके लिये समुद्र-स्नान करे और यदि दर्भशयनके मार्गसे मुक्तिदायक सेतुतीर्थमें जाय तो वहाँ समुद्रमें ही स्नान करे।

स्नानके पश्चात् पिप्पलाद, कवि, कण्व, कृतान्त, जीवितेश्वर, मन्यु, कालरात्रि, विद्या, अहः, गणेश्वर, वसिष्ठ, वामदेव, पराशर, उमापति, वाल्मीकि, नारद, वालखिल्य मुनिगण, नल, नील, गवाक्ष, गवय, गन्धमादन, मैन्द, द्विविद, शरभ, ऋषभ, सुग्रीव, हनुमान्, वेगदर्शन, राम, लक्ष्मण, महाभागा यशस्विनी सीता तथा विभु—इन सबके लिये चतुर्थ्यन्त नामोंका नमःसहित उच्चारण करके तर्पण करना चाहिये। जैसे '**पिप्पलादाय नमः**', '**कवये नमः**' इत्यादि। देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंको विधिपूर्वक क्रमशः अक्षत, यव, तिलयुक्त जलसे उनके द्वितीयान्त नामोंका उच्चारण करके तर्पण करे। यथा '**ब्रह्माणं तर्पयामि, विष्णुं तर्पयामि**' इत्यादि। मनुष्य प्रसन्नचित्त हो हाथमें पवित्री धारण करके जलमें खड़ा होकर तर्पण करे। इस प्रकार तर्पण और नमस्कार करके जलसे बाहर निकले। भीगे वस्त्रको खोलकर सूखा वस्त्र पहन ले; फिर आचमन करके हाथमें पवित्री लिये हुए विधिपूर्वक श्राद्ध करे। तिल और चावलोंसे पितरोंको पिण्ड दे।

तदनन्तर चक्रतीर्थमें जाकर वहाँ भी स्नान करे और सेतुके अधिपति भगवान् श्रीनारायणका दर्शन करे। जो पश्चिम मार्गसे जाता हो, वह वहाँके चक्रतीर्थमें स्नान करके दर्भशय्यापर सोनेवाले भगवान्का भक्तिपूर्वक दर्शन करे। उसके बाद कपितीर्थमें स्नान करके सीताकुण्डमें गोता लगावे। तत्पश्चात् उत्तम फलवाले ऋणमोचनतीर्थमें स्नान करके वहाँ भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको प्रणाम करे। फिर लक्ष्मणतीर्थमें जाय और कण्ठसे ऊपर क्षौर कराकर अपने पापोंका चिन्तन करते हुए उसमें स्नान करे। इसके बाद रामतीर्थमें नहाकर देवालयमें जाय। पुनः पापविनाशनतीर्थमें नहाकर गंगा, यमुना, सावित्री, सरस्वती, गायत्री एवं हनुमत्कुण्डमें स्नान करके ब्रह्मकुण्डमें जाकर विधिपूर्वक स्नान करे। ब्रह्मकुण्डके बाद नागकुण्डमें जाकर स्नान

* प्रह्लादं नारदं व्यासमम्बरीषं शुकं तथा। अन्यांश्च भगवद्भक्तांश्चिन्तयेदेकमानसः॥ (स्क० पु०, ब्रा० से० मा० ५१। २९-३०)

करे, वह समस्त पापों और नरकके क्लेशोंका नाश करनेवाला है।

तदनन्तर अति उत्तम अगस्त्यतीर्थमें स्नान करे। वहाँसे अग्नितीर्थमें जाकर स्नान, तर्पण और विधिपूर्वक श्राद्ध करे। चक्र आदि तीर्थ सब पातकोंका अपहरण करनेवाले हैं। वे क्रमशः यहाँ बताये गये हैं। उसी क्रमसे अथवा अपनी रुचिके अनुसार उन सब तीर्थोंमें नहाकर श्राद्ध आदि करे। तत्पश्चात् रामेश्वरमें पहुँचकर परमेश्वर भगवान् शिवकी सेवा करे। फिर सेतुमाधवमें आकर क्रमशः राम, लक्ष्मण, सीता, हनुमान् तथा अन्य कपिवरोंके तीर्थोंमें वहाँ जाकर नियमपूर्वक स्नान करे। फिर भगवान् रामेश्वर तथा श्रीरामचन्द्रजीको नमस्कार करके धनुष्कोटिमें नहानेके लिये जाय। वहाँ स्नान करके अपनी शक्तिके अनुसार धन-दान करे। उसके बाद कोटितीर्थमें आकर नियमपूर्वक स्नान करे और रामेश्वर नामक भगवान् शिवको प्रणाम करके अपने पास धन हो तो ब्राह्मणोंको सुवर्ण-दान करे। तिल, धान्य, गौ, क्षेत्र, वस्त्र, चावल आदि दान करे। धूप, दीप, नैवेद्य एवं पूजाके अन्य उपकरण भगवान् रामेश्वरको अर्पण करे। फिर भक्तिपूर्वक प्रणाम करके आज्ञा ले सेतुमाधवके समीप जाय। उन्हें भी धूप, दीप आदि भेंट करके उनकी आज्ञा ले पूर्वोक्त नियमोंका पालन करते हुए अपने घर लौटे। घर आनेपर षड्रस भोजनके द्वारा ब्राह्मणोंको तृप्त करे। इससे भगवान् रामेश्वर प्रसन्न होकर उसे मनोवांछित वस्तु देते हैं। उसके लिये नरकका भय नहीं रहता और उसकी दरिद्रताका नाश हो जाता है। उस पुरुषकी सन्तति बढ़ती है और शीघ्र ही संसारबन्धनका नाश करके वह सायुज्य मोक्षको प्राप्त होता है। जो यहाँकी यात्रा करनेमें असमर्थ हो, वह श्रुति-स्मृति तथा आगम ग्रन्थोंमें जो सेतुमाहात्म्यसूचक परम पुण्यमय ग्रन्थ हो, उसका पाठ करावे अथवा स्वयं भक्तिपूर्वक उसका पाठ करे। ऐसा करनेसे वह सेतुस्नानके पुण्य-फलको निःसन्देह प्राप्त कर लेता है। मनीषी पुरुषोंने यह सुविधा अन्धे और पंगु मनुष्योंके लिये ही बतायी है। विप्रवरो! इस प्रकार यहाँ सेतुतीर्थकी यात्राका क्रम बतलाया गया। जो इसे पढ़ता अथवा सुनता है, वह सब दुःखोंसे मुक्त हो जाता है।

## सेतुतीर्थका माहात्म्य तथा इस खण्डका उपसंहार

**श्रीसूतजी कहते हैं**—मुनिवरो! सेतुतीर्थमें किया हुआ जप, होम, तप और दान सब अक्षय कहा जाता है। धनुष्कोटिमें स्नान करके भक्तिपूर्वक श्रीरामेश्वर शिवका दर्शन करते हुए मनुष्य तीन दिन यहाँ निवास करे। यहाँ आदि षडक्षर (**ॐ नमः शिवाय**) इस मन्त्रका भक्तिपूर्वक एक हजार आठ बार जप करके मनुष्य भगवान् शिवका सायुज्य प्राप्त कर लेता है। इस सेतुतीर्थकी महिमाका वर्णन करनेके उद्देश्यसे '**द्वौ समुद्रौ०**' इत्यादि श्रुति सनातन कालसे विद्यमान है, जो माताके समान आदरणीय है। इसी प्रकार '**अदो यद्दारु०**' यह दूसरी श्रुति भी उसी विषयमें है। '**विष्णोः कर्माणि पश्यत्०**' यह श्रुति भी सेतुतीर्थके वैभवका वर्णन करनेवाली है। '**तद्विष्णोः०**' यह दूसरी श्रुति भी सेतुका माहात्म्य सूचित करती है। इन वैदिक श्रुतियोंके अतिरिक्त इतिहास, पुराण और स्मृतियाँ भी एक स्वरसे सेतुतीर्थकी महिमाका वर्णन करती हैं। चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहणके अवसरपर सेतुतीर्थमें स्नान करनेवाला मनुष्य तत्काल कोटि जन्मोंके पापका नाश कर

देता है। विषुवयोग, उत्तरायण या दक्षिणायनके प्रारम्भ दिन, संक्रान्तिकाल, सोमवार तथा अमावास्या एवं पूर्णिमा तिथि—इन सभी अवसरोंपर सेतुतीर्थका दर्शन करनेमात्रसे सात जन्मोंका पाप नष्ट हो जाता है। सूर्यनारायणके मकर राशिमें स्थित होनेपर सूर्योदयकालमें तीन दिनतक धनुष्कोटिमें स्नान करनेसे मनुष्य पापहीन हो जाता है। जो मनुष्य माघ मासमें पंद्रह दिनोंतक धनुष्कोटिमें स्नान करता है, वह वैकुण्ठधामको पाता है। माघ मासमें रामसेतुतीर्थमें बीस दिनोंतक स्नान करनेवाला मनुष्य भगवान् शिवका सामीप्य प्राप्त करता और उन्हींके साथ आनन्दित होता है तथा तीस दिनोंतक वहाँ स्नान करनेवाला मनुष्य भगवान् शिवका सायुज्य प्राप्त कर लेता है। अतः माघ मासमें जब सूर्यका किंचिन्मात्र उदय हुआ हो, उस समय मनुष्य रामसेतुमें अवश्य स्नान करे। वह स्नान ब्रह्महत्यादि पातकोंका नाशक है। चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण तथा अर्धोदय योगमें धनुष्कोटि तीर्थमें स्नान करना अत्यन्त आवश्यक है। पूर्वकालमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने रावणका विनाश करनेके लिये इस तीर्थमें स्नान किया था और उक्त योगोंमें स्नानका नियम बताया था। उस समय सिद्ध, चारण, गन्धर्व, किन्नर, नाग, ब्रह्मर्षि, देवर्षि, राजर्षि, पितृसमुदाय तथा ब्रह्मा आदि देवसमुदाय भी धनुष्कोटि तीर्थका सेवन करते हैं। जो मनुष्य पुण्यमय रामसेतुका स्मरण करके जहाँ कहीं भी पोखरे आदिके जलमें स्नान करता है, उसका किंचिन्मात्र भी पाप कभी शेष नहीं रहता। सेतुके मध्यमें विद्यमान तीर्थोंमें मुट्ठीभर अन्न देनेसे भी सब रोग और भ्रूणहत्या आदि पाप नष्ट हो जाते हैं। धनुष्कोटिके दर्शनमात्रसे मनुष्य अपने समस्त कुलको तार देता है। श्रीरामचन्द्रजीके धनुषकी कोटिसे की हुई रेखामें स्नान करनेसे करोड़ों पातकोंका तत्काल नाश हो जाता है। जहाँ सीताजी अग्निमें समायी थीं, उस कुण्डमें स्नान करनेसे सैकड़ों भ्रूणहत्याएँ क्षणभरमें नष्ट हो जाती हैं। जैसे श्रीरामचन्द्रजी हैं, वैसा ही सेतुतीर्थ है। जैसे विष्णुभगवान् हैं, वैसे ही गंगा भी है। अतः 'हे गंगे! हे हरे! हे रामसेतुतीर्थ!' ऐसा उच्चारण करता हुआ जहाँ कहीं तीर्थके बाहर भी स्नान करता है, उससे वह परम गतिको प्राप्त होता है। गन्धमादन पर्वतपर सेतुमें अर्धोदय योगकी बेलामें स्नान करके जो पितरोंके उद्देश्यसे सरसोंभर भी पिण्डदान देता है, उसके पितर जबतक सूर्य और चन्द्रमा स्थिर रहते हैं, तबतक तृप्त रहते हैं। सेतु, पद्मनाभ, गोकर्ण और पुरुषोत्तम—इन तीर्थोंमें समुद्रके जलमें किया जानेवाला स्नान सभी समयोंमें अभीष्ट है। शुक्र, मंगल, शनैश्चरके दिन सन्तानकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य सेतुतीर्थके सिवा और कहीं क्षारसमुद्रमें स्नान न करे। जिसकी पत्नी गर्भिणी हो, वह भी सेतुके सिवा अन्य स्थानोंमें समुद्रमें स्नान न करे। सेतुका स्नान सदैव उत्तम है। दिन, तिथि और नक्षत्रके नियम सेतुसे भिन्न तीर्थोंके लिये ही हैं। सेतुमें, नदी और समुद्रके संगममें, गंगा-सागर-संगममें, गोकर्ण क्षेत्रमें और पुरुषोत्तमतीर्थमें भी सदैव समुद्र-स्नानका विधान है। इन तीर्थोंके अतिरिक्त और कहीं बिना पर्वके समुद्रके जलका स्पर्श नहीं करे। सीता और लक्ष्मणके साथ भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने यहाँ सब देवताओं, पितरों और मुनियोंके सुनते हुए यह प्रतिज्ञा की थी—'जो मनुष्य यहाँ मेरे द्वारा निर्मित सेतुमें स्नान करेंगे, वे यहाँ मेरे प्रसादसे फिर जन्म नहीं ग्रहण करेंगे। मेरे सेतुके दर्शनमात्रसे सब पाप नष्ट हो जाते हैं।' रामसेतुमें रक्षाके लिये भगवान् महाविष्णु सेतुमाधव नामसे प्रसिद्ध होकर निवास करते हैं। माघके महीनेमें जब सूर्यनारायण श्रवण नक्षत्रमें स्थित हों, तब रविवारके दिन सूर्यके अर्धोदय कालमें यदि नाग-करण रहित

अमावास्या हो, साथ ही व्यतीपात योग भी हो, तो उस समय वह अर्धोदययोग पुण्यदायक माना गया है। उस योगमें सेतुतीर्थमें किया हुआ स्नान सायुज्य मुक्तिका कारण है। पूर्वोक्त योगोंमेंसे यदि एक-एक भी मिल जाय तो वह स्नान, दान, जप और पूजनसे मोक्षदायक होता है। फिर तिथि, वार, नक्षत्र, योग और संक्रान्ति—ये पाँचों मिल जायँ तब तो पुण्यके विषयमें कहना ही क्या है? नक्षत्रोंमें श्रवण, तिथियोंमें अमावास्या, योगोंमें व्यतीपात और दिनोंमें रविवार यहाँके लिये श्रेष्ठ हैं। मकरराशिमें सूर्यके स्थित होनेपर यदि पूर्वोक्त चारोंका योग हो तो उस समय जो मनुष्य सेतुतीर्थमें स्नान करता है, वह मानव फिर कभी माताके गर्भमें नहीं जाता, अपितु सायुज्य मोक्षको पा लेता है। इस प्रकार उक्त महोदयकारक काल पुण्यकाल बताया गया है। इन पुण्य समयोंमें सेतुतीर्थके भीतर दानका विधान है।

जिस ब्राह्मणमें सदाचार, तप, वेद, वेदान्त-श्रवण, शिव-विष्णु आदिकी पूजा तथा पुराणार्थ-प्रवचनकी शक्ति हो, वह दानका उत्तम पात्र बताया गया है। यदि सेतुतीर्थमें सुपात्र ब्राह्मण मिल जाय तो उसीको दान देना चाहिये। फलको चाहनेवाले पुरुषोंके लिये उचित है कि वे अधम पात्रके लिये दान न दें।

**एक समय राजा दिलीपने श्रीवसिष्ठजीसे पूछा**—पुरोहितजी! दान किसको देने चाहिये? यह यथार्थ रूपसे बतलाइये।

**वसिष्ठजी बोले**—वैदिक आचारके पालनमें लगा हुआ ब्राह्मण समस्त दानपात्रोंमें सर्वोत्तम है। वेद-पुराणोंके मन्त्र, शिव-विष्णु आदिका पूजन, वर्णाश्रमधर्मोंका अनुष्ठान—ये सब जिसमें सदा विद्यमान हों तथा जो दरिद्र और कुटुम्बी हो, वह दानका श्रेष्ठ पात्र कहलाता है। उस सत्पात्रको दिया हुआ दान धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका साधक होता है। पुण्यतीर्थोंमें विशेषतः सत्पात्रको दिया हुआ दान हितकारक होता है। दुष्ट पात्रको दान देनेसे नाना प्रकारके दोष प्राप्त होते हैं, अतः सब प्रकारके यत्न करके सत्पात्रको दान देना चाहिये। सत्पात्र तीर्थमें उपस्थित न हो तो किसी भी सत्पात्रको देनेका संकल्प करके तीर्थमें जल छोड़ देना चाहिये। यदि वह सत्पात्र जीवित न हो तो संकल्पित वस्तु उसके पुत्रको देनी चाहिये, परंतु तीर्थमें अधम पात्रको दान कदापि नहीं देना चाहिये।

**श्रीसूतजी कहते हैं**—वसिष्ठजीके ऐसा कहनेपर राजा दिलीपने तबसे सदा सत्पात्रको ही उत्तम दान दिया। अयोध्या, दण्डकारण्य, विरूपाक्ष, वेंकटाचल, शालग्राम, प्रयाग, कांची, द्वारका, मदुरा, पद्मनाभ, काशी विश्वनाथपुरी, सब नदियाँ, समुद्र तथा भास्कर पर्वत—इन क्षेत्रोंमें मुण्डन और उपवास आवश्यक बताया गया है। जो मनुष्य मुण्डन और उपवास न करके अपने घरको चला जाता है, उसके साथ ही उसके पातक भी उसके घर लौट जाते हैं। गन्धमादन पर्वतपर जो चौबीस तीर्थ हैं, उनमेंसे लक्ष्मणतीर्थमें मुनियोंने मुण्डन करानेका आदेश दिया है। लक्ष्मणतीर्थके तटपर केवल सिरके बाल बनवाने चाहिये। इस प्रकार सेतुमें सदा अर्धोदय योगमें स्नान करना चाहिये। सेतुमें अर्धोदयके समय अर्धोदय नामसे प्रसिद्ध निर्मल भगवान् जगन्नाथका पूजन करे। उससे श्रीविष्णु प्रसन्न होते हैं।

तत्पश्चात् निम्नांकित मन्त्र पढ़कर सूर्य और चन्द्रमाको अर्घ्य दे—

**दिवाकर नमस्तेऽस्तु तेजोराशे जगत्पते।**
**अत्रिगोत्रसमुत्पन्न लक्ष्मीदेव्याः सहोदर॥**
**अर्घ्यं गृहाण भगवन् सुधाकुम्भ नमोऽस्तु ते।**

'सम्पूर्ण जगत्के स्वामी तेजोराशि दिवाकर! आपको नमस्कार है। लक्ष्मीदेवीके सहोदर सुधा-कलशरूप भगवन् चन्द्रदेव! आप अत्रिगोत्रमें

उत्पन्न हुए हैं, आपको नमस्कार है। यह अर्घ्य स्वीकार करें।'

व्यतीपात योगके लिये अर्घ्यदानका मन्त्र

**व्यतीपात महायोगिन् महापातकनाशन।**
**सहस्त्रबाहो सर्वात्मन् गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥**

'महापातकोंका नाश करनेवाली महायोगी व्यतीपात! सहस्त्रबाहो! सर्वात्मन्! आपको नमस्कार है। यह अर्घ्य ग्रहण करें।'

तिथि, वार, नक्षत्रके स्वामीको अर्घ्यदान-मन्त्र

**तिथिनक्षत्रवाराणामधीश परमेश्वर।**
**मासरूप गृहाणार्घ्यं कालरूप नमोऽस्तु ते॥**

'तिथि, नक्षत्र और दिनोंके अधीश्वर! मासरूप और कालरूप परमेश्वर! आपको नमस्कार है। यह अर्घ्य ग्रहण कीजिये।'

इस प्रकार पृथक्-पृथक् मन्त्रोंसे अर्धोदय कालमें अर्घ्य देकर चौदह, बारह, आठ, सात, छः अथवा पाँच ब्राह्मणोंको अपनी शक्तिके अनुसार अन्न-पान आदिसे पूजित करे। तत्पश्चात् भगवान् जगन्नाथ, चन्द्रमा, सूर्य, व्यतीपात एवं भगवान् विष्णुकी इस प्रकार प्रार्थना करे—'जगन्नाथ! केशव! श्रवण नक्षत्र, वामनावतारके समय आपके जन्म-समय जन्मनक्षत्र रहा है, इसमें मैंने याचकोंको जो कुछ दिया है, वह आपके लिये अक्षय हो। देवताओंको अमृत प्रदान करनेवाले रोहिणीवल्लभ कलाशेष नक्षत्राधिपते! आपको नमस्कार है। दीनानाथ! जगन्नाथ! कालनाथ! कृपानिधान! सूर्यदेव! आपके युगल चरणारविन्दोंमें मेरी अविचल भक्ति हो। चन्द्रमा और सूर्यके पुत्र व्यतीपात! आपको नमस्कार है। आपकी उपस्थितिमें मैंने जो दान आदि कर्म किया है, वह अक्षय हो। भगवान् वासुदेव! जनार्दन! आप याचकोंके लिये कल्पवृक्ष हैं। मास, ऋतु, अयन और काल, सबके स्वामी हैं। हरे! मेरे पापोंको शान्त कीजिये।'

इस प्रकार पूजन और प्रार्थना करके श्राद्ध आरम्भ करे। अपनी रुचिके अनुसार हिरण्यश्राद्ध[१], आमश्राद्ध[२], अथवा पाकश्राद्ध[३] करे। उसके बाद पार्वणश्राद्ध भी करे। स्नानकालमें 'सेतु' 'सेतु' इस नामका उच्चस्वरसे उच्चारण करनेपर मनुष्योंके करोड़ों पातक तत्काल नष्ट हो जाते हैं और वे भगवान् विष्णुके परमपदको प्राप्त होते हैं। रामसेतु, धनुष्कोटि, राम, सीता और लक्ष्मण, रामेश्वर, हनुमान्, सुग्रीव आदि वानर, विभीषण, नारद, विश्वामित्र, अगस्त्य, वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि तथा कश्यप—इन सबका स्नानकालमें चिन्तन करनेवाला रामभक्त या अन्य पुरुष सब दुःखोंसे छूट जाता और परमपदको प्राप्त होता है। सत्यक्षेत्र, हरिक्षेत्र, कृष्णक्षेत्र, नैमिषक्षेत्र, शालग्रामतीर्थ, बदरिकाश्रम, हस्तिशैल (कालहस्ती), वृषाचल, शेषाद्रि, चित्रकूट, लक्ष्मीक्षेत्र, कुरंगक्षेत्र, कांची, कुम्भकोण, मोहिनीपुर, इन्द्राचल, श्वेताचल, पुण्यमय महास्थल पद्मनाभ, फुल्लग्राम, घटिकाद्रि, सारक्षेत्र, हरिस्थल, श्रीनिवासक्षेत्र, भक्तनाथ-महास्थल, अलिन्द नामक महाक्षेत्र, शुकक्षेत्र, वारुणक्षेत्र, मथुरा, श्रीगोष्ठी, पुरुषोत्तम, श्रीरंगक्षेत्र पुण्डरीकाक्ष तथा अन्य वैष्णवस्थलोंमें स्नान करनेसे जो पाप नष्ट होते हैं, वे सब केवल सेतुतीर्थमें स्नान करनेसे निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं।

जो प्रातःकाल जलाशयमें जाकर स्नान और आचमन करके शुद्धचित्त हो प्रसन्न मनसे सन्ध्योपासनपूर्वक वेदमाता गायत्रीकी उपासना नहीं करता अथवा जो पापसे दूषित अन्तःकरणवाले मनुष्य आलस्य छोड़कर सायं, प्रातः एवं मध्याह्न-

---

१- श्राद्धमें प्रत्येक अवसरपर जो अन्न आदि सामग्री अपेक्षित होती है, उसकी पूर्ति तथा श्राद्ध-प्रतिष्ठाके लिये निष्क्रयरूपसे सुवर्ण दक्षिणामात्र दे देना हिरण्यश्राद्ध है।

२- कच्चा अन्न संकल्प करके श्राद्धमें दिया जाय तो वह आमश्राद्ध है।

३- जिसमें पाक बनाकर उसका पिण्ड दिया जाय और ब्राह्मणोंको पक्वान्न भोजन कराया जाय, वह पाकश्राद्ध कहलाता है।

कालकी सन्ध्या नहीं करते, ब्रह्मयज्ञ, बलिवैश्वदेव और दोपहरके समय अतिथिपूजासे मुँह मोड़ते हैं, इसी प्रकार जो सायंकालमें भी अतिथियोंका उनकी इच्छाके अनुरूप सत्कार नहीं करते, उन सबके उन-उन कर्मोंके त्यागसे होनेवाले समस्त पाप धनुष्कोटिमें स्नान करनेसे नष्ट हो जाते हैं। जो मनुष्य मध्याह्नकालमें संन्यासियोंको भिक्षा नहीं देते, जो कुत्सित बुद्धिवाले विप्र अपने पढ़े हुए तीनों वेदोंको भूल जाते अथवा वेद और वेदांगोंका अध्ययन नहीं करते, प्रत्येक वर्षमें माता-पिताका श्राद्ध नहीं करते तथा जो लोभवश महालयश्राद्ध, नित्यश्राद्ध, अष्टकाश्राद्ध और अन्य नैमित्तिक श्राद्धोंसे जी चुराते हैं, उनके भी पातक धनुष्कोटिमें नहानेसे दूर हो जाते हैं। कोई दुराचारी रहा हो अथवा उत्तम आचरणवाला हो, यदि वह धनुष्कोटि तीर्थका सेवन करता है, तो उसके संसारबन्धनका नाश और पुनर्जन्मका अभाव हो जाता है। जो संसारसमुद्रसे पार होना चाहता हो, उसे शीघ्र ही श्रीरामचन्द्रजीके धनुष्कोटिमें जाना चाहिये। मुनीश्वरो! तुम भी मुक्तिकी सिद्धिके लिये श्रीरामचन्द्रजीकी धनुष्कोटिमें जाओ।

विप्रवरो! इस प्रकार तुमसे मैंने सेतुतीर्थके उत्तम माहात्म्यका वर्णन किया। जो मनुष्य एकाग्रचित्त होकर इस पवित्र माहात्म्यको पढ़ता अथवा सुनता है, वह अग्निष्टोम आदि यज्ञोंका पूर्ण फल पाता है। जो इसका दो बार पाठ या श्रवण करता है, वह श्रेष्ठ विमानपर आरूढ़ हो भगवान् शिवके समीप जाता है। जो तीन बार एकाग्रचित्तसे इसका पाठ या श्रवण करता है, वह शिवजीको प्रसन्न करके उनका सारूप्य प्राप्त कर लेता है। जो बार-बार इस उत्तम माहात्म्यको पढ़ता अथवा सुनता है, वह गिरिजापति महादेवजीका सायुज्य प्राप्त करता है। जो मनुष्य प्रतिदिन इस माहात्म्यका एक श्लोक, आधा श्लोक, एक चरण, एक पद—अथवा एक अक्षर भी पढ़ता है, उसका उस दिनका किया हुआ पाप उसी क्षण नष्ट हो जाता है। सेतुके मध्यमें विद्यमान अन्य तीर्थोंमें स्नान करनेसे जो फल होता है, वह इस माहात्म्यके पढ़ने और सुननेसे प्राप्त हो जाता है। जिसके घरमें यह माहात्म्य हस्तलिखित पुस्तकके रूपमें विद्यमान है, वहाँ भूत, वेतालादिसे भय नहीं प्राप्त होता। शनैश्चर, मंगल आदि क्रूर ग्रहोंकी पीड़ा भी नहीं रहती। यह पवित्र एवं उत्तम माहात्म्य जिसके घरमें विद्यमान हो, उसके घरको रामसेतु तीर्थ जानना चाहिये। इस पुण्यदायक माहात्म्यको मठ अथवा देवालयमें पढ़ना चाहिये। नदी और सरोवरके किनारे अथवा पवित्र वनभूमि या श्रोत्रियोंके घरपर इसका पाठ करना चाहिये। विषुवयोगमें, अयनारम्भके दिन, पुण्यमय एकादशी तिथिको तथा अष्टमी और चतुर्दशीको इस माहात्म्यका विशेषरूपसे पाठ करना चाहिये। मनुष्य मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर ही इस माहात्म्यको पढ़े तथा श्रोता भी शौच-सन्तोषादि नियमोंसे युक्त होकर ही इस उत्तम प्रसंगको सुने। यह पवित्र माहात्म्य वेदार्थोंके समावेशसे विस्तारको प्राप्त हुआ है। यह सब पापोंका नाश करनेवाला है। स्मृतिकारोंको यह मान्य है और मुनिवर व्यासजीको भी अत्यन्त प्रिय है। अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको इसका श्रवण और पाठ करना चाहिये। सुनानेवाले आचार्यको भी अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार जो कुछ बन सके, सुवर्ण आदि देना चाहिये; क्योंकि कथावाचकके पूजित होनेपर ब्रह्मा, विष्णु और शिव—तीनों देवता पूजित होते हैं और उनके पूजित होनेपर तीनों लोक पूजित हो जाते हैं। दशरथनन्दन श्रीरामके रूपमें भूतलपर अवतीर्ण हुए साक्षात् श्रीहरि

सीता और लक्ष्मणके साथ कृपा करके इस महावाक्यके वक्ता और श्रोताओंको इहलोकमें भोग और परलोकमें मुक्ति प्रदान करते हैं।

नैमिषारण्यनिवासियो! तुमलोगोंने मुझसे इस वेदसम्मत गूढ़ माहात्म्यका भलीभाँति श्रवण किया। अब प्रतिदिन नियमपूर्वक रहकर आदरके साथ इस माहात्म्यको पढ़ो और अपने नियमपरायण शिष्योंको निरन्तर पढ़ाओ। ऐसा कहकर सूतजी रोमांचित शरीर होकर अपने गुरु श्रीव्यासजीका मन-ही-मन स्मरण करते हुए आँसू बहाने और नृत्य करने लगे। इसी बीचमें महाविद्वान् पराशरनन्दन महामुनि व्यास शिष्यपर अनुग्रह करनेकी इच्छासे वहाँ शीघ्र प्रकट हो गये। सत्यवतीनन्दन व्यासजीको वहाँ आया हुआ देख सूतजीने नैमिषारण्यवासी समस्त मुनियोंके साथ उनके चरणारविन्दोंमें दण्डकी भाँति गिरकर साष्टांग प्रणाम किया और आनन्दके आँसू बहाने लगे। चरणोंमें पड़े हुए अपने प्यारे शिष्यको व्यासजीने दोनों हाथोंसे उठाया तथा आशीर्वादसे प्रसन्न करते हुए बारंबार हृदयसे लगाया। तत्पश्चात् मुनियोंके लाये हुए उत्तम आसनपर महातेजस्वी व्यासजी बैठे। उस समय उन्होंने शौनकादि मुनियोंसे कहा—'मुनिवरो! मैंने इस समय यह जान लिया था कि मेरे शिष्य सूतने तुमसे सेतुतीर्थका उत्तम माहात्म्य कहा है, जो बड़े-बड़े पातकोंका नाश करनेवाला है। यह माहात्म्य बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। सब पुराणोंमें यही मुझे अधिक प्रिय है। धर्मराज युधिष्ठिर मेरी आज्ञा मानकर अपने पुरोहित धौम्यसे प्रतिदिन यह माहात्म्य सुनते हैं। अतः तुम भी इस उत्तम सेतु-माहात्म्यको सदा पढ़ो, सुनो और अपने शिष्योंको पढ़ाओ।' व्यासजीका यह वचन सुनकर मुनियोंने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। तदनन्तर व्यासजी भी अपने शिष्य सूतजीको साथ ले मुनियोंसे पूछकर कैलास पर्वतको चले गये।

**सेतु-माहात्म्य सम्पूर्ण।**

# धर्मारण्य-माहात्म्य

## धर्मकी तपस्यासे धर्मारण्यक्षेत्रकी प्रसिद्धि और उसका माहात्म्य

**तर्तुं संसृतिवारिधिं त्रिजगतां नौर्नाम यस्य प्रभो-**
**र्येनेदं सकलं विभाति सततं जातं स्थितं संसृतम्।**
**यश्चैतन्यघनप्रमाणविधुरो वेदान्तवेद्यो विभु-**
**स्तं वन्दे सहजप्रकाशममलं श्रीरामचन्द्रं परम्॥**
**दाराः पुत्रा धनं वा परिजनसहितो बन्धुवर्गः प्रियो वा**
**माता भ्राता पिता वा श्वशुरकुलजना भृत्य ऐश्वर्यवित्ते।**
**विद्या रूपं विमलभवनं यौवनं यौवतं वा**
**सर्वं व्यर्थं मरणसमये धर्म एकः सहायः॥**

'जिन भगवान्‌का नाम तीनों लोकोंमें संसार-समुद्रसे पार होनेके लिये नौकारूप है, जिनसे उत्पन्न और पालित होकर यह सम्पूर्ण संसार सदैव शोभा पाता है, जो चैतन्यघनस्वरूप एवं प्रमाणसे परे हैं, वेदान्तशास्त्रके द्वारा जाननेके योग्य और सर्वत्र व्यापक हैं, उन सहज प्रकाशरूप निर्मल परमात्मा श्रीरामचन्द्रजीको मैं प्रणाम करता हूँ। स्त्री, पुत्र, धन, परिजन, भाई, बन्धु, प्रिय, सुहृद्, माता, पिता, भ्राता, श्वशुर-कुलके लोग, भृत्यवर्ग, ऐश्वर्य, धन, विद्या, रूप, उज्ज्वल भवन, जवानी और युवतियोंका समुदाय—ये सभी मृत्युकालमें व्यर्थ सिद्ध होते हैं। उस समय एकमात्र धर्म ही सहायक होता है।'

एक समय सूतजीको आते हुए देख नैमिषारण्यवासी शौनक आदि महर्षियोंने बड़े हर्षसे जाकर उन्हें सब ओरसे घेर लिया। फिर जब वे सभी तपस्वी महात्मा बैठ गये, तब उनके बताये हुए आसनपर लोमहर्षणकुमार सूतजी भी विनयपूर्वक विराजमान हुए। तब उन ऋषियोंने सूतजीसे कहा—'मुने! आप पापोंका नाश करनेवाली कोई पुण्यमयी कथा कहिये।'

**सूतजी बोले**—मैं श्रीसरस्वतीजी, गणेशजीके तथा सम्पूर्ण देवताओंके युगल चरणारविन्दोंको नमस्कार करके और सबके नियन्ता धर्मस्वरूप परमेश्वरके चरणोंमें मस्तक झुकाकर उन सबके प्रसादसे तीर्थोंके उत्तम फलका वर्णन करता हूँ। एक समयकी बात है, सत्यवतीनन्दन व्यासजी राजा युधिष्ठिरके दरबारमें आये। उनके आनेका समाचार सुनकर सबको बड़ा हर्ष हुआ। भीमसेन आदि सब भाई धर्मराज युधिष्ठिरके साथ उठकर खड़े हो गये। तदनन्तर युधिष्ठिरने सामने जाकर भाइयोंसहित उन्हें साष्टांग प्रणाम किया और विधिपूर्वक उनकी पूजा करके उन्हें सिंहासनपर बिठाकर उनका कुशल-मंगल पूछा। तब धर्मज्ञ व्यासजीने उनसे पवित्र एवं दिव्य कथा सुनायी। कथाके अन्तमें राजा युधिष्ठिरने मुनिश्रेष्ठ व्याससे इस प्रकार कहा—'ब्रह्मन्! आपके प्रसादसे मैंने बहुत-सी उत्तम कथाएँ सुनी हैं। इस समय मैं धर्मारण्यके उत्तम माहात्म्यकी कथा सुनना चाहता हूँ।'

**व्यासजीने कहा**—नृपश्रेष्ठ! धर्मारण्य अनेक प्रकारके वृक्षोंसे युक्त तथा भाँति-भाँतिकी लताओं और गुल्मोंसे सुशोभित है। वह सदैव पुण्यदायक है तथा निरन्तर फलोंसे भरा रहता है। वहाँ किसीका किसीसे भी वैर नहीं होता। धर्मारण्य सर्वथा निर्भय स्थान है। वहाँ गौ और व्याघ्र, चूहे और बिलाव साथ-साथ क्रीडा करते हैं। मेढक साँपके साथ खेलता है, मनुष्य राक्षसोंके साथ विहार करते हैं। धर्मारण्य महानन्दमय, दिव्य एवं पावनसे भी पावन है। स्वर्गमें देवतालोग धर्मारण्यनिवासियोंकी प्रशंसा करते हैं।

**युधिष्ठिरने पूछा**—मुने! देवताओंने उस क्षेत्रका नाम धर्मारण्य कब रखा ?

**व्यासजी बोले**—नृपश्रेष्ठ! एक समय धर्मराजने बड़ी कठिन तपस्या की। तपस्यामें लगे हुए

धर्मराजको देखकर ब्रह्मा और इन्द्र आदि सब देवता कैलास पर्वतपर गये। वहाँ भगवान् शंकर भगवती उमादेवीके साथ पारिजात वृक्षकी छायामें बैठे थे। उनके पास पहुँचकर ब्रह्माजीने इस प्रकार स्तवन किया—'नीलकण्ठ! आपके अनन्तरूप हैं, आपको बार-बार नमस्कार है। आपके इस स्वरूपका यथावत् ज्ञान किसीको नहीं है, आप कैवल्य एवं अमृतस्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। देवता जिसका अन्त नहीं जानते, उन भगवान् शिवको नमस्कार है, नमस्कार है। वाणी जिनकी प्रशंसा (गुणगान) करनेमें असमर्थ है, उन चिदात्मा शिवको नमस्कार है। योगी समाधिमें निश्चल होकर अपने हृदयकमलके कोषमें जिनके ज्योतिर्मय स्वरूपका दर्शन करते हैं, उन श्रीब्रह्मको नमस्कार है। जो कालसे परे, कालस्वरूप, स्वेच्छासे पुरुषरूप धारण करनेवाले, त्रिगुणस्वरूप तथा प्रकृतिरूप हैं, उन भगवान् शंकरको नमस्कार है। प्रभो! आप भक्तजनोंपर कृपा करके स्वेच्छासे सगुण रूप धारण करते हैं, आपको नमस्कार है। भगवन्! आपके मनसे चन्द्रमा और नेत्रोंसे सूर्यकी उत्पत्ति हुई है। देव! आप ही सब कुछ हैं, आपमें ही सबकी स्थिति है। इस लोकमें सब प्रकारकी स्तुतियोंके द्वारा स्तवन करने योग्य आप ही हैं। ईश्वर! आपके द्वारा यह सम्पूर्ण विश्वप्रपंच व्याप्त है, आपको पुनः-पुनः नमस्कार है।

इस प्रकार महादेवजीकी स्तुति करके ब्रह्मा आदि देवता उनके आगे दण्डकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़े। तब भगवान् शंकरने उनसे कहा—'देवताओ! तुम क्या चाहते हो?'

**ब्रह्माजीने कहा**—सबके दुःखोंका नाश करनेवाले महादेव! धर्मात्मा धर्मराजने बड़ी दुःसह तपस्या की है। न जाने वे देवताओंका कौन-सा उत्तम स्थान लेना चाहते हैं, यही सोचकर इन्द्र आदि सब देवता उनकी तपस्यासे थर्रा उठे हैं। देवेश! आप उन्हें तपस्यासे उठाइये।

**महादेवजी बोले**—देवताओ! मैं सच कहता हूँ, तुम्हें धर्मराजसे कोई भय नहीं है।

यह सुनकर सब देवता उठे और भगवान् शिवकी परिक्रमा एवं बारंबार नमस्कार करके अपने-अपने स्थानको चले गये। परंतु इन्द्रको नींद नहीं आयी, उनकी सुख-शान्ति खो गयी। वे मन-ही-मन सोचने लगे, 'मेरे लिये यह बड़ा भारी विघ्न उपस्थित हुआ। धर्मराजने मेरा इन्द्रपद हड़प लेनेके लिये ही यह अत्यन्त दुष्कर तप प्रारम्भ किया है।' ऐसा विचार करते हुए इन्द्रने देवताओंसे कहा—'मैंने बहुत क्लेश उठाकर जिसे प्राप्त किया है, उसीको धर्मराज क्या मुझसे छीन लेना चाहते हैं?' यह सुनकर बृहस्पतिजी बोले—'इनकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये वहाँ उर्वशी आदि अप्सराओंको भेजा जाय।' तब इन्द्रने अप्सराओंसे कहा—'तुम सब लोग शीघ्र धर्मारण्यको जाओ और जहाँ धर्मराज दुष्कर तपस्यामें संलग्न हैं, वहाँ पहुँचकर उन्हें इस प्रकार लुभाओ, जिससे वे तपस्यासे भ्रष्ट हो जायँ।' इन्द्रका यह वचन सुनकर वर्द्धिनी नामक अप्सराने कहा—'पाकशासन! मैं देवताओंके कार्यकी सिद्धिके लिये अपनी माया तथा रूपके बलसे पूरी चेष्टा करूँगी।' ऐसा कहकर वर्द्धिनी उस स्थानपर गयी, जहाँ धर्मराज तपस्या करते थे। वह अधिकाधिक वस्त्रों और आभूषणोंसे विभूषित हो कपोलपर रोलीकी बेंदी और नयनोंमें काजर लगा मनोहर रूप बनाकर उनके सामने गयी और सबके मनको लुभानेवाला नृत्य करने लगी। उस समय धर्मराजका मन सहसा क्षुब्ध-सा हो उठा। राजन्! भूतलमें नारीका योनिकुण्ड कुम्भीपाकके समान रचा गया है। वे रमणियाँ अपने नेत्ररूपी रज्जुसे दृढ़तापूर्वक बाँधकर मनस्वी पुरुषोंको नीचा दिखाती हैं। अज्ञानी पुरुषको अपने कुचरूपी महादण्डोंसे ताड़ित करके अचेत कर देतीं और शीघ्र ही उसे नरकमें गिरा देती हैं। तबतक ही मनकी स्थिरता, शास्त्रज्ञान तथा

सत्य आदि गुण सुरक्षित रहते हैं, जबतक कि सचेत पुरुषोंके आगे बिछाये हुए जालकी भाँति रूप-यौवनके मदसे मतवाली युवती नहीं आती है। तभीतक तपस्याकी वृद्धि होती है, तभीतक दान, दया और इन्द्रियसंयम सूझते हैं तथा तभीतक स्वाध्याय, सदाचार, पवित्रता, धैर्य और व्रतकी रक्षा होती है, जबतक कि मनुष्य भयभीत हरिणीकी भाँति चंचल लोचनोंवाली चपला तरुणीको नेत्रोंसे नहीं देखता है।

**वर्द्धिनीने धर्मराजसे पूछा**—प्रभो! समस्त चराचर जगत् धर्ममें ही स्थित है। वही साक्षात् धर्मरूप होकर आप यह दुष्कर तप क्यों कर रहे हैं?

**यमराजने कहा**—भामिनि! मैं भगवान् महेश्वरके स्वरूपका दर्शन करना चाहता हूँ। इसीलिये कठिन तपस्या कर रहा हूँ।

**वर्द्धिनी बोली**—धर्म! इस तपस्याके ही कारण इन्द्र आपसे भयभीत हो गये हैं। उन्हींसे प्रेरित होकर मैं यहाँ आपकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये आयी हूँ।

वर्द्धिनीके इस सत्य भाषणसे सूर्यनन्दन यम बहुत सन्तुष्ट हुए। उन्होंने वर्द्धिनीसे इस प्रकार कहा—'मैं समस्त पापकर्मा दुष्टात्मा प्राणियोंके लिये यमराज हूँ और सभी जितेन्द्रिय मनुष्योंके लिये धर्मस्वरूप हूँ। वही मैं तुम्हें दुर्लभ वर देता हूँ। तुम कोई मनोवांछित वर माँगो।'

**वर्द्धिनी बोली**—धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ! मुझे लोकोंके हितके लिये इन्द्रलोकमें स्थिरतापूर्वक निवास प्रदान कीजिये।

**यमराजने कहा**—'एवमस्तु'। अब तुम शीघ्रतापूर्वक कोई दूसरा वर और माँगो।

**वर्द्धिनी बोली**—महामते! इस महाक्षेत्रमें इसी स्थानपर मेरे नामसे एक प्रसिद्ध तीर्थ हो, जो सब पापोंका नाश करनेवाला हो। उसमें किया हुआ दान, होम, तप और स्वाध्याय अक्षय हो।

'तथास्तु' कहकर भगवान् धर्मराज चुप हो गये। तब वर्द्धिनीने उनकी तीन बार परिक्रमा करके मस्तक नवाकर स्वर्गलोकको प्रस्थान किया। वहाँ जाकर वह देवराज इन्द्रसे इस प्रकार बोली—'देवेश! आप सूर्यनन्दन यमसे भय न कीजिये। वे यशके लिये तपस्या कर रहे हैं।' इतना कहकर वह इन्द्रको प्रणाम करके अपने स्थानको चली गयी। तदनन्तर धर्मराज विधिपूर्वक तपस्यामें स्थित हो गये। उनकी घोर तपस्या देखकर देवताओंकी प्रार्थनासे भगवान् शंकर वृषभपर आरूढ़ हो अस्त्र-शस्त्र एवं सुन्दर कवच धारण करके उस स्थानको गये, जहाँ धर्मराज तपस्यामें स्थित थे। वहाँ पहुँचकर महादेवजी बोले—'धर्म! तुम्हारी इस तपस्यासे मेरा चित्त बहुत सन्तुष्ट है। तुम कोई वर माँगो, वर माँगो, वर माँगो।'

इस प्रकार सम्भाषण करते हुए भगवान् महेश्वरको देखकर धर्मराज बाँबीसे उठकर खड़े हो गये और दोनों हाथ जोड़कर शुद्ध वचनोंद्वारा उन्होंने लोकनाथ शिवका इस प्रकार स्तवन किया—'भगवन्! आप सबपर शासन करनेवाले ईश्वर हैं, आपको नमस्कार है। योगरूपी आप परमेश्वरको

नमस्कार है। नीलकण्ठ! आपका स्वरूप तेजोमय है, आपको नमस्कार है, नमस्कार है। ध्यान करनेवाले मनुष्य आपके स्वरूपका जिस प्रकार चिन्तन करते हैं, उसके अनुरूप ही विग्रह धारण करके आप प्रकट होते हैं, आपको नमस्कार है। केवल भक्तिभावसे प्राप्त होनेवाले आप प्रभुको नमस्कार है। ब्रह्माजीके रूपमें आपको नमस्कार है। विष्णुरूपधारी प्रभो! आपको नमस्कार है। आप ही स्थूल और सूक्ष्म जगत् हैं, आपको नमस्कार है। अणुरूपधारी आपको नमस्कार है। कामरूपमें प्रकट हुए अथवा इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले आपको नमस्कार है। आप ही सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। आप नित्य, सौम्य, मृड (सुखस्वरूप) एवं श्रीहरि हैं, आपको बारंबार नमस्कार है, आप ही सब ओरसे तपानेवाले सूर्य तथा शीतल किरणोंवाले चन्द्रमा हैं, आपको नमस्कार है, नमस्कार है। सृष्टिस्वरूप! आपको नमस्कार है। लोकपाल! आपको नमस्कार है। आप रुद्र, भीम एवं शान्तस्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। आपके रूप अनन्त हैं, आप सम्पूर्ण विश्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। चन्द्रशेखर! आपके सब अंगोंमें भस्म लगा हुआ है, आपको नमस्कार है, नमस्कार है। आपके पाँच मुख एवं तीन नेत्र हैं, आपको बार-बार नमस्कार है। सर्प आपके आभूषण हैं तथा आप दिशाओंको ही वस्त्रके रूपमें धारण करते हैं, आप अन्धकासुरका विनाश करनेवाले और दक्षके पापको हर लेनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। त्रिपुरारे! आपने कामदेवको भस्म किया है, आपको नमस्कार है। मेरे द्वारा कहे हुए इन चालीस नामोंका जो पाठ करे और पवित्र होकर तीनों काल इसको पढ़े अथवा सुने, वह सब पापोंसे छूटकर कैलाशधामको जाय।'

इस प्रकार धर्मराजने प्रणाम करके जब बड़ी भक्तिसे भगवान् शिवका स्तवन किया, तब शिवजीने कहा—'महाभाग! तुम्हारे मनमें जो कोई अभिलाषा हो, उसके अनुसार कोई वर माँगो।'

**यमराजने कहा**—देव! शंकर! यदि मुझे आप मनोवांछित वर देते हैं तो इस महाक्षेत्रमें आप मेरे नामसे प्रसिद्ध होकर निवास कीजिये। यह स्थान धर्मारण्यके नामसे तीनों लोकोंमें प्रसिद्धि प्राप्त करे।

**महादेवजी बोले**—धर्मराज! यह स्थान प्रत्येक युगमें सदा धर्मारण्यके नामसे विख्यात होगा। तुम्हारे मनमें और भी कोई इच्छा हो तो बताओ, उसे भी पूर्ण करूँगा।

**धर्मराजने कहा**—भगवन्! दो योजन विस्तारवाला यह उत्तम स्थान मेरे नामसे प्रसिद्ध तीर्थ हो। यह समस्त देहधारियोंके लिये पावन एवं सनातन मोक्षस्थान हो।

**महादेवजी बोले**—'एवमस्तु' एक अंशसे इस तीर्थमें मेरी भी स्थिति होगी। तुम्हारे इस निर्मल स्थानको मैं कभी नहीं छोड़ूँगा। यहाँ मेरे नामसे विश्वेश्वर नामक महालिंग प्रकट होगा।

ऐसा कहकर महादेवजी वहीं अन्तर्धान हो गये। तत्पश्चात् वहाँ एक अद्भुत लिंग प्रकट हुआ। धर्मके द्वारा स्थापित किया हुआ वह लिंग धर्मेश्वरके नामसे प्रसिद्ध हुआ। उसका स्मरण और पूजन करनेसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। धर्मराजने वहींपर एक धर्मवापीका निर्माण किया, जो बड़ी मनोरम है। उसमें स्नान और जलपान करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। जो मनुष्य व्याधिदोषके नाश और क्लेशकी शान्तिके लिये उस धर्मवापीमें स्नान करके यमतर्पण करता है, उसको कोई उपद्रव नहीं होता। अँतरिया, तिजारी, चार दिनोंपर होनेवाला ज्वर, किसी नियत समयपर होनेवाला ज्वर तथा शीतज्वर आदि जितने भी रोग हैं, सभी उस मनुष्यको पीड़ा नहीं देते। जो मानव उस परम पुण्यमयी

धर्मवापीमें स्नान करके शमीके पत्तेके बराबर भी पिण्डदान करता है, वह गर्भवासको नहीं प्राप्त होता है तथा महाभयंकर कुम्भीपाक, रौरव एवं अन्धतामिस्र आदि नरकसे भी छुटकारा पा जाता है। धर्मवापीमें तर्पण करनेसे बर्हिषद्, अग्निष्वात्त, आज्यप और सोमप नामवाले पितर उत्तम तृप्तिको प्राप्त होते हैं। जो मायासे मोहित होकर इस क्षेत्रमें अत्यन्त दूषित परस्त्रीगमन तथा सुवर्णकी चोरी आदि पाप करते हैं, वे सभी नरकमें पड़ते हैं। दूसरे क्षेत्रमें किया हुआ पाप धर्मारण्यमें नष्ट होता है; किंतु धर्मारण्यमें किया हुआ पाप वज्रलेप हो जाता है। पुण्य, पाप या जो कुछ भी शुभाशुभ कर्म होता है, वह सब सौ वर्षतक यहाँ नित्य बढ़ता रहता है। मनमें कामना रखनेवालोंके लिये यह पवित्र तीर्थ कामदायक है, योगियोंके लिये मुक्तिदायक है तथा सिद्धोंके लिये सदैव सिद्धिदायक बताया गया है।

## सदाचार—शौच, स्नान, सन्ध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव आदिका महत्त्व

**व्यासजी कहते हैं**—धर्मारण्यमें शुद्ध कुलमें उत्पन्न हुए अठारह हजार ब्राह्मण रहते हैं, जो ब्रह्मा, विष्णु और शिवजीके द्वारा उत्पन्न किये गये हैं। वे सभी सदाचारी, पवित्र तथा ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ हैं। उनके दर्शनमात्रसे मनुष्य बड़े-बड़े पापोंसे मुक्त हो जाता है। चार प्रकारके जीवोंमें प्राणधारी अति उत्तम हैं। प्राणधारियोंमें भी जो बुद्धिजीवी हैं, वे सभी श्रेष्ठ माने गये हैं। बुद्धिजीवी प्राणियोंमें भी मनुष्य श्रेष्ठ हैं। मनुष्योंसे भी ब्राह्मण, उनसे भी विद्वान्, विद्वानोंसे भी पवित्र बुद्धिवाले, उनसे भी कर्मठ, कर्मठोंसे भी ब्रह्मपरायण पुरुष सबसे श्रेष्ठ है। युधिष्ठिर! ब्रह्मपरायण पुरुषोंसे श्रेष्ठ तीनों लोकोंमें कोई नहीं है। ब्रह्माजीने ब्राह्मणको सब प्राणियोंका स्वामी बनाया है। इसलिये संसारमें जो कुछ है, सबका योग्य अधिकारी ब्राह्मण ही है। सदाचारी ब्राह्मण ही सब कार्यों एवं अधिकारोंके योग्य होता है। जो आचारसे भ्रष्ट हो गया है, वह योग्य नहीं है। इसलिये ब्राह्मणको सदा आचारवान् होना चाहिये। राग और द्वेषसे रहित उत्तम बुद्धिवाले महापुरुष जिसका पालन करते हैं, उसीको विद्वानोंने धर्ममूलक सदाचार कहा है। जो अच्छे लक्षणोंसे हीन है, उस मनुष्यको भी चाहिये कि वह श्रद्धालु एवं अदोषदर्शी होकर भलीभाँति सदाचारका पालन करे; ऐसा करनेसे वह सौ वर्षोंतक (आयुभर) जीवित रह सकता है। अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंमें वेदों और स्मृतियोंद्वारा प्रतिपादित धर्ममूलक सदाचारका आलस्य छोड़कर सेवन करे। दुराचारी मनुष्य संसारमें निन्दनीय होता है। साथ ही वह अनेक प्रकारके रोगोंसे ग्रस्त हो अल्पायु तथा सदैव अतिशय दुःखका भागी होता है। जिस कर्मके करते समय अन्तरात्मामें सहज प्रसाद—निर्मलताका उदय होता है, उसी कर्मको करना चाहिये। इसके विपरीत कर्म कभी न करे। धर्मकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको यम-नियमोंके पालनके लिये ही विशेष यत्न करना चाहिये। सत्य, क्षमा, सरलता, ध्यान, क्रूरताका अभाव, हिंसाका सर्वथा त्याग, मन और इन्द्रियोंका संयम, सदा प्रसन्न रहना, मधुर बर्ताव करना और सबके प्रति कोमल भाव रखना—ये दस 'यम' कहे गये हैं। शौच, स्नान, तप, दान, मौन, यज्ञ, स्वाध्याय, व्रत, उपवास और उपस्थ-इन्द्रियका दमन—ये दस 'नियम' बताये गये हैं*। काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ और मात्सर्य—इन

* सत्यं क्षमाऽऽर्जवं ध्यानमानृशंस्यमहिंसनम्। दमः प्रसादो माधुर्यं मृदुतेति यमा दश॥
शौचं स्नानं तपो दानं मौनेज्याध्ययनं व्रतम्। उपोषणोपस्थदण्डौ दशैते नियमाः स्मृताः॥
(स्क० पु०, ब्रा० ध० मा० ५। १९—२१)

छः वैरियोंको जीतकर मनुष्य सर्वत्र विजयी होता है। दूसरोंको कष्ट न देते हुए परलोकमें सहायता देनेवाले धर्मका धीरे-धीरे संग्रह करे। यदि धर्मकी भलीभाँति रक्षा की जाय तो वही परलोकमें सहायक होता है। पिता, माता, पुत्र, भाई, स्त्री और बन्धुजनोंसे भी बढ़कर मनुष्यका सहायक धर्म ही है। जीव अकेला ही जन्म लेता, अकेला मरता, अकेला पुण्य भोगता और अकेला ही पापका उपभोग करता है। मृत्यु हो जानेपर इस शरीरको काठ और मिट्टीके ढेलेकी भाँति त्यागकर भाई-बन्धु मुँह फेर लेते हैं। परलोकमें जाते हुए जीवके साथ केवल उसका धर्म ही जाता है*। अतः धर्मका संग्रह अवश्य करे। धर्म ही इस लोक और परलोकमें सहायक होता है। धर्मकी सहायता पाकर जीव नरकके दुस्तर अन्धकारसे पार हो जाता है। बुद्धिमान् पुरुष सदा उत्तम-उत्तम पुरुषोंके साथ सम्बन्ध जोड़े। अधम कोटिके मनुष्योंका संग छोड़कर अपने कुलको उन्नतिशील बनावे। सद्धर्मके पालनसे ब्राह्मण श्रेष्ठताको प्राप्त होता है। जो स्वाध्याय नहीं करता, सदाचारका उल्लंघन करता है, आलसी और दूषित अन्न खानेवाला है, ऐसे ब्राह्मणको यमराज कष्ट देते हैं। अतः ब्राह्मण प्रयत्नपूर्वक सदाचारका पालन करे।

रात्रिके अन्तमें आधे पहरका समय ब्राह्ममुहूर्त कहलाता है। उस समय उठकर विद्वान् पुरुष सर्वदा अपने हितका चिन्तन करे। फिर गणेश, शिव, पार्वती, श्रीरंग (विष्णु), लक्ष्मी, ब्रह्मा, इन्द्रादि देवता, वसिष्ठ आदि मुनि, गंगा आदि नदी, श्रीशैल आदि पर्वत, क्षीरसागर आदि समुद्र, मानसरोवर आदि तड़ाग, कामधेनु आदि गौ तथा प्रह्लाद आदि भगवद्भक्त पुरुषोंका स्मरण करे। माताके चरण सब तीर्थोंसे भी अधिक उत्तम हैं, अतः उनका स्मरण करके पिता और गुरुका भी हृदयमें ध्यान करे। तत्पश्चात् आवश्यक कार्य (शौच आदि) करनेके लिये नैर्ऋत्य कोणकी ओर जाय। गाँवसे सौ धनुष दूर जाना चाहिये और नगरसे चार सौ धनुष। वहाँ तिनकेसे पृथ्वीको आच्छादित करके अपने मस्तकको भी कपड़ेसे अच्छी तरह ढक ले। यज्ञोपवीतको कानपर चढ़ाकर उत्तरकी ओर मुँह किये हुए मौनभावसे बैठकर मल-मूत्रका त्याग करे। उत्तराभिमुख बैठनेका नियम दिनमें और दोनों सन्ध्याओंके समय है। रात्रिमें शौच आदिके लिये दक्षिण दिशाकी ओर मुँह करके बैठना चाहिये। खड़े होकर मल-मूत्रका त्याग न करे। इस कार्यमें जल्दबाजी भी न करे। ब्राह्मण, गौ, अग्नि तथा आती हुई वायुकी ओर मुँह करके भी शौचके लिये न बैठे। फालसे जोती हुई भूमिमें, सड़कपर और उठने-बैठनेके योग्य भूमिमें मल-मूत्रका त्याग न करे। मलोत्सर्गके समय चारों दिशाओंकी ओर न देखे। ग्रह और नक्षत्रोंकी ओर दृष्टि न डाले। ऊपर आकाशकी ओर न ताके। मलकी ओर भी दृष्टिपात न करे। मलत्यागके पश्चात् मनुष्य कंकड़ आदिसे रहित चिकनी मिट्टी ले। वह मिट्टी चूहोंकी खोदी हुई या शौचसे बची हुई या केश आदिसे मिली हुई नहीं होनी चाहिये। बायें हाथसे गुदामें एक बार मिट्टी लगाकर उसे जलसे धो डाले। इसी प्रकार पाँच बार मिट्टी लगाकर गुदाको धोये। एक-एक बार दोनों पैरोंमें मिट्टी लगाकर धोये और दोनों हाथोंको तीन-तीन बार मृत्तिकालेपनपूर्वक धोये। गृहस्थ पुरुष इसी प्रकार शौचकी शुद्धि करे।

---

* जायते चैकलः प्राणी म्रियते च तथैकलः। एकलः सुकृतं भुङ्क्ते भुङ्क्ते दुष्कृतमेकलः॥
देहे पञ्चत्वमापन्ने त्यक्त्वैकं काष्ठलोष्टवत्। बान्धवा विमुखा यान्ति धर्मो यान्तमनुव्रजेत्॥
(स्क० पु०, ब्रा० ध० मा० ५। २४—२६)

जबतक मलका लेप और दुर्गन्ध मिट न जाय, तबतक उसे धोना ही चाहिये। ब्रह्मचर्य आदि तीन आश्रमोंमें क्रमशः दुगुने शौचका विधान है। दिनमें जो शौचका विधान है, उससे आधा रात्रिमें करना चाहिये। पराये गाँवमें उससे आधा और मार्गमें उससे भी आधे शौचका विधान है। रोगीके लिये उससे भी आधे शौचका नियम है। परंतु जब मनुष्य स्वस्थ हो जाय, तब शौचसम्बन्धी नियमोंके पूर्ण पालनमें कमी न करे। हाथ-पैरोंकी शुद्धिके पश्चात् मनुष्य पवित्र भूमिमें बैठकर पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके जलसे कुल्ला करे। उस जलमें भूसी, कोयला, अस्थि एवं भस्मका संसर्ग नहीं रहना चाहिये। अत्यन्त शुद्ध एवं स्वच्छ जलसे आचमन करे। आचमनमें इतना जल पीये कि वह हृदयतक पहुँच सके। इस कार्यमें जल्दी नहीं करनी चाहिये। ब्राह्मण ब्रह्मतीर्थसे आचमन करे। आचमनके लिये जल लेते समय उसे भलीभाँति दृष्टि डालकर देख ले। वह पवित्र हो तभी उसका उपयोग करे। यदि दोनों पैरोंको न धोये तो आचमन करनेपर भी मनुष्य अशुद्ध ही माना जाता है। अपनी शुद्धिके लिये मनुष्य तीन बार जल पीकर आँख, कान आदि इन्द्रियछिद्रोंका स्पर्शद्वारा शुद्ध करे। अंगूठेके मूल भागसे अपने ओठोंको पोंछे, जलसे हृदयका स्पर्श करके समस्त अंगुलियोंसे मस्तकका स्पर्श करे। जलसहित अंगुलियोंके अग्रभागसे दोनों कन्धोंका स्पर्श करे। सड़क या गलीमें घूम आनेपर आचमन किया हुआ मनुष्य भी फिर आचमन करे। स्नान, भोजन और जलपान करनेपर, शुभ कर्मके प्रारम्भमें, सोकर उठनेपर, वस्त्र बदलने या नूतन वस्त्र धारण करनेपर, कोई अमांगलिक वस्तु दीख जानेपर अथवा भूलसे किसी अपवित्र वस्तुको छू लेने या उसकी याद कर लेनेपर दो बार आचमन करनेसे मनुष्य शुद्ध होता है। तदनन्तर धर्मशास्त्रोंमें बताये हुए नियमोंके अनुसार दन्तधावन करे; क्योंकि आचमन करनेवाला मनुष्य भी यदि दन्तधावन न करे तो वह अपवित्र ही माना गया है। प्रतिपदा, अमावास्या, षष्ठी, नवमी तथा रविवारको काठकी दाँतन न करे। जिस दिन दाँतन निषिद्ध है, उस दिन मुखकी शुद्धिके लिये बारह बार कुल्ला करना चाहिये। कनिष्ठा अंगुलीके बराबर मोटी, बारह अंगुल लंबी, हरी, गीली लकड़ी, जिसका छिलका उतारा न गया हो तथा जिसमें छेद या रोग न हो, दाँतनके लिये उपयुक्त मानी गयी है। दन्तधावनके काष्ठका अग्रभाग एक अंगुलतक चबाना चाहिये फिर उसीके कूँचेसे दाँतोंको रगड़कर साफ करना और जलसे कुल्ला करना चाहिये। शरीरशुद्धिके लिये प्रातःकाल स्नान करना चाहिये। यदि तीर्थ (तालाब या नदी)-का जल मिल जाय तो विशेष उत्तम है। शरीरके नौ छिद्रोंसे दिन-रात मल निकलता रहता है, अतः वह सदा मलिन है। प्रातःकाल स्नान करनेसे इसकी शुद्धि होती है। प्रातःकालका स्नान प्राजापत्य व्रतके समान पापनाशक माना गया है। वह उत्साह, मेधा, सौभाग्य, रूप तथा सम्पदाको बढ़ानेवाला है। वह दरिद्रता, पाप, ग्लानि, अपवित्रता और दुःस्वप्नका नाश करनेवाला है तथा तुष्टि और पुष्टि प्रदान करनेवाला है।

नृपश्रेष्ठ! अब मैं प्रसंगवश स्नानकी विधिका वर्णन करता हूँ; क्योंकि विद्वानोंने विधिपूर्वक किये हुए स्नानका महत्त्व साधारण स्नानसे सौगुना अधिक बताया है। विशुद्ध कुशा लेकर पवित्र स्थानपर रखे और आचमन करके स्नान करे। हाथमें कुश लेकर, शिखा बाँधकर जलके भीतर प्रवेश करे और अपनी शाखामें बतायी हुई विधिके अनुसार विधिपूर्वक स्नान करे। इस प्रकार स्नानकार्य समाप्त करके वस्त्र निचोड़कर दो नूतन वस्त्र धारण करे। फिर आचमन करके

कुश हाथमें लिये हुए ही प्रातःकालकी सन्ध्या करे। अपने मनको दृढ़तापूर्वक संयममें रखकर प्राणायाम करनेवाला ब्राह्मण दिन और रातमें किये हुए पापोंसे तत्काल मुक्त हो जाता है। यदि मनको संयममें रखकर दस या बारह बार प्राणायाम कर लिये जायँ तो ऐसा मानना चाहिये कि उस पुरुषने बड़ी भारी तपस्या कर ली। व्याहृति और प्रणवके साथ किये हुए सोलह प्राणायाम यदि प्रतिदिन होते रहें तो एक मासमें वे भ्रूणहत्या करनेवाले पापीको भी पवित्र कर देते हैं। जैसे पार्थिव धातुओंका मल आगमें तपानेसे जल जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियोंद्वारा किये हुए दोष प्राणायामसे भस्म हो जाते हैं। नृपश्रेष्ठ! प्रणव परब्रह्म है। प्राणायाम उत्तम तपस्या है और गायत्रीसे बढ़कर दूसरा कोई पवित्र करनेवाला मन्त्र नहीं है। मनुष्य मन, वाणी और क्रियाद्वारा रातमें जो पाप करता है, वह प्रातःसन्ध्याकी उपासना करते हुए प्राणायामोंके द्वारा शुद्ध कर देता है। इसी प्रकार मन, वाणी और क्रियाद्वारा दिनमें जो पाप करता है, उसे सायंकालकी सन्ध्योपासनामें प्राणायामोंके द्वारा नष्ट कर डालता है। सायंकालकी सन्ध्या करनेवाला पुरुष दिनमें किये हुए पापका नाश करता है। जो प्रातःकाल और सायंकालकी सन्ध्या नहीं करता, वह समस्त ब्राह्मणोचित कर्मोंसे शूद्रकी भाँति बाहर कर देने योग्य है*।

प्राणायामके पश्चात् विधिपूर्वक आचमन करे। फिर **'आपो हिष्ठा मयो भुवः'** इत्यादि तीन ऋचाओंद्वारा मार्जन करे। पृथ्वीपर, मस्तकपर, आकाशमें, आकाशमें, पृथ्वीपर, मस्तकपर, मस्तकपर, आकाशमें तथा भूमिपर—इस तरह नौ बार नौ स्थानोंमें जल छिड़कना चाहिये। यहाँ भूमि या पृथ्वी शब्दसे दोनों चरण लिये गये हैं। आकाशका अर्थ हृदय माना गया है। सिर या मस्तक शब्द अपने प्रसिद्ध अर्थमें ही है। इस प्रकार इन्हीं अंगोंका मार्जन उक्त मन्त्रोंद्वारा बताया गया है। स्नान छः प्रकारके होते हैं—वारुण स्नान (जलसे किया हुआ स्नान), आग्नेय स्नान (अग्निकी लपटोंसे अपने अंगोंको तपाना या सर्वांगसे धूप-सेवन करना), वायव्य स्नान (स्वच्छ वायुका सेवन), ऐन्द्र स्नान (वर्षाके जलसे नहाना), मन्त्र स्नान (मन्त्रोच्चारण और श्रवणसे अपनेको शुद्ध करना) तथा ब्राह्म स्नान (वेद-मन्त्रोंद्वारा मार्जन या अभिषेक)। इनमें पूर्वोक्त सभी स्नानोंकी अपेक्षा यह ब्राह्म-स्नान (मार्जन) अधिक उत्तम है। जो ब्राह्म-स्नानकी विधिसे स्नान करता है, वह बाहर और भीतरसे भी शुद्ध हो जाता है तथा सर्वत्र देवपूजा आदि कर्मोंमें सम्मिलित होनेकी योग्यता प्राप्त कर लेता है; क्योंकि इससे अन्तःशुद्धि एवं भावशुद्धि हो जाती है। केवल जलस्नानसे ही कोई परम शुद्ध नहीं माना जाता। जो भावसे दूषित हैं, वे सैकड़ों बार स्नान करके भी शुद्ध नहीं होते। जिसका चित्त निर्मल है, उसीने सब तीर्थोंमें स्नान किया है, वही सब प्रकारके मलोंसे रहित है और उसीने सैकड़ों यज्ञोंका अनुष्ठान किया है।

चित्त जिस प्रकार निर्मल होता है, वह

---

* एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः। गायत्र्यास्तु परं नास्ति पावनं च नृपोत्तम॥
कर्मणा मनसा वाचा यद्रात्रौ कुरुते त्वघम्। उत्तिष्ठन् पूर्वसन्ध्यायां प्राणायामैर्विशोधयेत्॥
यदह्ना कुरुते पापं मनोवाक्कायकर्मभिः। आसीनः पश्चिमां सन्ध्यां प्राणायामैर्व्यपोहति॥
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम्। नोपतिष्ठेत्तु यः पूर्वां नोपास्ते यस्तु पश्चिमाम्॥
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः।

(स्क० पु०, ब्रा० ध० मा० ५। ७३—७६)

बतलाता हूँ, सुनो। यदि भगवान् विश्वनाथ प्रसन्न हो जायँ तो चित्त शुद्ध होता है। अतएव चित्तकी शुद्धिके लिये काशीपति विश्वनाथकी शरण लेनी चाहिये। जो ऐसा करता है, वह इस शरीरका त्याग करनेके बाद परब्रह्मको प्राप्त होता है। पूर्वोक्त मार्जन करनेके अनन्तर '**द्रुपदादिव मुमुचानः०**' इत्यादि मन्त्रका जप करते हुए जलको अभिमन्त्रित करे और उस जलको सिरपर छिड़क ले। उसके बाद हाथमें जल लेकर विधिज्ञ पुरुष '**ऋतञ्च सत्यञ्च०**' इत्यादि मन्त्रके द्वारा अघमर्षण करे। जो विद्वान् जलमें गोता लगाकर तीन बार अघमर्षण मन्त्रका जप करता है अथवा स्थलमें भी बैठकर हाथमें जल ले अघमर्षण मन्त्रका जप करता है, उसकी पापराशि उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकार। अघमर्षणके पश्चात् प्रणव तथा महाव्याहृतिके साथ गायत्री-मन्त्रका जप करते हुए खड़ा होकर सूर्यके लिये तीन अंजलि जल दे। वह जल वज्रके समान होकर उन्हें प्राप्त होता है और उसके द्वारा मन्देह नामक राक्षस शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, जो कि पर्वताकार शरीर धारण करके सूर्यके तेजको आच्छादित किया करते हैं। प्रातःकाल गायत्री-जप करते हुए तबतक खड़ा रहे, जबतक कि सूर्यका दर्शन न हो जाय। इसी प्रकार सायंकालमें बैठकर तबतक गायत्री-जप करना चाहिये, जबतक नक्षत्रोंका दर्शन न होने लगे। अपना हित चाहनेवाले द्विजको सन्ध्योपासनाके कालका लोप नहीं करना चाहिये। जब सूर्यका आधा उदय या आधा अस्त हुआ हो, उस समय उनके लिये अंजलिका वज्रोदक डालना चाहिये। विधिपूर्वक की हुई सन्ध्या भी समय बिताकर करनेसे निष्फल हो जाती है*। बायाँ हाथ जलमें डालकर द्विजोंद्वारा जो सन्ध्या की जाती है, वह वृषली (शूद्रा) जानने योग्य है। वह राक्षसगणोंको आनन्द देनेवाली मानी गयी है। सूर्यार्घ्य देनेके पश्चात् अपनी शाखामें बतायी हुई विधिके अनुसार सूर्यका उपस्थान करे। एक हजार अथवा एक सौ अथवा दस बार गायत्री-मन्त्रके जपद्वारा सूर्योपस्थान करना चाहिये। जो अधिक-से-अधिक एक हजार, मध्यम श्रेणीमें एक सौ अथवा कम-से-कम दस बार प्रतिदिन, गायत्रीमन्त्रका जप करता है, वह पापोंसे लिप्त नहीं होता। लाल चन्दनमिश्रित जल, फूल और कुशोंके द्वारा वेदोक्त अथवा आगमोक्त मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए सूर्यको अर्घ्य देना चाहिये†। जिसने भगवान् सूर्यदेवका पूजन किया, उसने तीनों लोकोंकी पूजा कर ली। भगवान् सूर्य पूजित होनेपर पुत्र, पशु और धन देते हैं, रोग हर लेते हैं, पूरी आयु देते हैं और मनोवांछित कामनाओंको पूर्ण करते हैं।

इस प्रकार सन्ध्योपासना पूर्ण होनेपर अपनी शाखामें कही हुई विधिके अनुसार चन्दन, अगरु, कपूर, सुगन्धित पुष्प एवं शुद्ध जलसे '**तृप्यन्तु**' का उच्चारण करते हुए ब्रह्मा आदि देवताओं, मरीचि आदि मुनियों तथा अन्य ऋषि, देवता और पितरोंका तर्पण करना चाहिये। निवीती होकर अर्थात् यज्ञोपवीतको गलेमें मालाकी भाँति करके सनकादि मनुष्योंका जौ मिले हुए जलसे तर्पण करे। यह तर्पण सीधे एवं उत्तराग्र कुशद्वारा प्राजापत्य तीर्थसे होना चाहिये। फिर प्राचीनावीती होकर अर्थात् जनेऊको दाहिने कंधेपर करके

---

* विधिनापि कृता सन्ध्या कालातीताऽफला भवेत्। (स्क० पु०, ब्रा० ध० मा० ५। ९४)

† रक्तचन्दनमिश्राभिरद्भिश्च कुसुमैः कुशैः। वेदोक्तैरागमोक्तैर्वा मन्त्रैरर्घ्यं प्रदापयेत्॥ (स्क० पु०, ब्रा० ध० मा० ५। ९८-९९)

दुहरे मुड़े हुए कुशों एवं तिलमिश्रित जलसे पितृतीर्थसे कव्यवाट्, अनल आदि दिव्य पितरोंका तर्पण करे। रविवार, शुक्ल पक्षकी त्रयोदशी, सप्तमी तिथि, रात्रि एवं दोनों सन्ध्याकालमें कल्याणकी इच्छा रखनेवाला ब्राह्मण कभी तिलसे तर्पण न करे। यदि करना ही पड़े तो सफेद तिलोंसे ही तर्पण करे। तत्पश्चात् चौदह यमोंके नामोंका उच्चारण करते हुए उनके लिये तर्पण करे। यमतर्पणके बाद अपना बायाँ घुटना जमीनपर रखकर मौन हो अपने गोत्रका उच्चारण करते हुए अपने पितरोंका पितृतीर्थसे प्रसन्नतापूर्वक तर्पण करे। तर्पणमें देवता एक-एक अंजलि, सनकादि दो-दो अंजलि तथा पितर तीन-तीन अंजलि जल चाहते हैं। पितृवर्गमें जो स्त्रियाँ हैं, वे एक-एक अंजलि जलकी ही इच्छा रखती हैं। अंगुलियोंका अग्रभाग देवतीर्थ है; अंगुलियोंका मूलभाग ऋषितीर्थ है; अंगूठेके मूलमें ब्राह्मतीर्थ है और हाथके बीचमें प्रजापतितीर्थ है। अंगुष्ठ और तर्जनीके बीचके भागको पितृतीर्थ कहते हैं। ब्रह्मासे लेकर कीटपर्यन्त जो भी देवता, ऋषि, मनुष्य, पितर, पिता, माता, मातामह आदि हैं, वे सब तृप्त हों—ऐसा कहकर अथवा और भी जो वैदिक या पौराणिक मन्त्र हैं, उनका उच्चारण करके पितरोंका सांग तर्पण करना चाहिये। वह पितरोंको सुख देनेवाला है।

तत्पश्चात् अग्निहोत्र करके वेदाभ्यास करना चाहिये। वेदाभ्यास पाँच प्रकारसे किया जाता है—(१) स्वीकार (गुरुसे ग्रहण), (२) अर्थ-विचार, (३) मन्त्र-पाठका अभ्यास, (४) तप (वेदानुसार आचरण) और (५) शिष्योंको पढ़ाना। प्राप्तकी रक्षा और अप्राप्तकी प्राप्तिके लिये यह द्विजातियोंका प्रातःकालिक कृत्य बताया गया है। अथवा प्रातःकाल उठकर शौचादि आवश्यक कार्योंसे निवृत्त हो हाथ-पैरोंकी शुद्धि एवं आचमन करके दन्तधावन करे। सारे शरीरकी शुद्धि करके प्रातःसन्ध्या करे। वेदार्थोंका विचार करे। नाना प्रकारके शास्त्रोंको पढ़े और अपने हितमें लगे हुए पवित्र एवं बुद्धिमान् शिष्योंको पढ़ावे तथा योग-क्षेम आदिकी सिद्धिके लिये परमेश्वरकी शरण ले। तत्पश्चात् मध्याह्नकालके नियमोंकी सिद्धिके लिये पुनः पूर्वोक्त रीतिसे स्नान करे, स्नान करके मध्याह्न-सन्ध्या करे। देवताकी पूजा करके नैमित्तिक कृत्योंका पालन करे। अग्निको प्रज्वलित करके बलिवैश्वदेव करे। निष्पाव, कोदो, उड़द, मटर और चनाका वैश्वदेव-होममें त्याग करे। तेलका पका, बिना पका तथा नमक मिलाया हुआ सब अन्न छोड़ दे। अरहर, मसूर, गोलधान्यसे बना हुआ भोजन, दूसरोंके खानेसे बचा हुआ भोजन अथवा बासी अन्नको भी वैश्वदेव-होममें त्याग दे। हाथमें कुश धारण करके आचमन और प्राणायाम करे। फिर '**पृष्टो दिवि०**' इत्यादि मन्त्रसे दो बार अग्निका पर्युक्षण करके कुशास्तरण करे। फिर वैदिक मन्त्रसे अग्निको अपने अभिमुख करके गन्ध, पुष्प तथा अक्षत आदिके द्वारा पूजा करे। फिर अपनी शाखामें बतायी हुई विधिके अनुसार विद्वान् पुरुष होम करे। राह चलनेवाला पथिक, जिसकी जीविका नष्ट हो गयी हो ऐसा पुरुष, विद्यार्थी, गुरुका पालन-पोषण करनेवाला पुरुष, संन्यासी और ब्रह्मचारी—ये छः धर्मभिक्षुक माने गये हैं*। चाण्डाल और कुत्तेको भी दिया हुआ अन्न निष्फल नहीं होता। अतः अन्नकी याचना करनेके लिये कोई आवे तो उसके अपाय होनेका विचार नहीं करना चाहिये। कुत्ते, पतित, चाण्डाल, पापरोगी, काक और कीड़ोंके लिये घरसे बाहर पृथ्वीपर अन्न डाल देना चाहिये। कौओंको

* अध्वगः क्षीणवृत्तिश्च विद्यार्थी गुरुपोषकः। यतिश्च ब्रह्मचारी च षडेते धर्मभिक्षुकाः॥

(स्क० पु०, ब्रा० ध० मा० ५। १२६)

अन्नका भाग देते हुए इस प्रकार कहना चाहिये—'पूर्व, पश्चिम, उत्तर, वायव्य और नैर्ऋत्य कोणमें रहनेवाले जो कौए हैं, वे सब भूमिपर मेरे द्वारा समर्पित किये हुए अन्नके ग्रासको ग्रहण करें।' इस प्रकार पंचभूतोंके लिये बलि अर्पण करके जितनी देरमें गाय दुही जाती है, उतनी देरतक किसी अतिथिके आनेकी राह देखे। यदि कोई आ जाय तो उसे भोजन देनेके लिये रसोईघरमें प्रवेश करे। काकबलि न करके नित्यश्राद्ध करे। नित्यश्राद्धमें अपनी शक्तिके अनुसार तीन, दो अथवा एक ब्राह्मणको भोजन करावे। पितृयज्ञके लिये जल निकालकर देवे। नित्यश्राद्ध विश्वेदेव तथा नियमोंसे रहित होता है। उसमें दक्षिणाकी भी आवश्यकता नहीं होती। यह नित्यश्राद्ध दाता और भोक्ता दोनोंको परम तृप्त करनेवाला है। इस प्रकार पितृयज्ञ करके स्वस्थबुद्धिसे आतुरभावका परित्याग करके पवित्र आसनपर बैठकर भोजन करे। उत्तम गन्धसे युक्त माला और दो शुद्ध वस्त्र धारण करके प्रसन्नचित्त हो पूर्व या उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके भोजन करना चाहिये। भोजनके पहले आचमन करके भोजनके बाद भी आचमन करना चाहिये। नीचे और ऊपरसे जलद्वारा आच्छादित होनेके कारण अन्न नग्न नहीं रहता। इस प्रकार आचमनकी विधिसे उत्तम बुद्धिवाला पुरुष भोजन करे। भोजन प्रारम्भ करनेसे पूर्व भूमिपर तीन ग्रास बलि अर्पण करे। फिर उसके ऊपर जल गिरा दे। तत्पश्चात् एक बार आचमन करके प्राणाग्निहोत्र करे। '**प्राणाय स्वाहा०**' इत्यादि मन्त्रोंसे अपने उदरकुण्डकी अग्निमें अन्नकी पाँच आहुतियाँ डाले। उस समय हाथमें कुशकी पवित्री पहने रहे और चित्तको प्रसन्न रखे। जो अपने एक हाथमें कुश धारण किये हुए दूसरे हाथसे भोजन करता है, उसे केश और कीट आदिके स्पर्शसे उत्पन्न दोष नहीं लगता। अतः कुशधारणपूर्वक ही भोजन करे। भोजन करते समय मौन रहे। दाँतोंको परस्पर रगड़े नहीं। धोने योग्य जूठे हाथके अँगूठेके मूलसे जल गिराते हुए रौरवनरकके पापमय आश्रयमें रहनेवाले और उच्छिष्ट जल चाहनेवाले नरकनिवासी जीवोंको अक्षय्योदक दे। मनमें यह भाव रखे कि यह जल उन जीवोंको प्राप्त हो। तदनन्तर आचमन करके पवित्र हो मेधावी पुरुष मुखशुद्धि करके पुराण-श्रवण आदिके द्वारा दिनका शेष भाग व्यतीत करे। तत्पश्चात् सायंकालमें पुनः सन्ध्योपासना करे। इस प्रकार यह नित्यकर्मका विधान संक्षेपसे बताया गया है। इसका पालन करनेवाला ब्राह्मण कभी दुःखी नहीं होता।

## वेदोंके स्वाध्याय, बलिवैश्वदेव, अतिथिसेवा, आठ प्रकारके विवाह, पंचयज्ञ तथा व्यावहारिक शिष्टाचारोंका कथन

**व्यासजी कहते हैं**—गृहस्थ-आश्रममें निवास करनेवाले साधुपुरुषोंके उपकारके लिये जिस प्रकार धर्मका अनुष्ठान किया जाता है, उसका मैं यथावत् रूपसे वर्णन करता हूँ। युधिष्ठिर! गृहस्थधर्मका आश्रय लेकर मनुष्य इस सम्पूर्ण जगत्का पोषण करता है। इसलिये वह मनोवांछित लोकोंपर अधिकार प्राप्त करता है। देवता, पितर, मनुष्य, भूतप्राणी, कृमि, कीट, पतंग, पक्षी और असुर—ये सभी गृहस्थके सहारे जीवननिर्वाह करते हैं और उसीसे उनकी तृप्ति होती है। युधिष्ठिर! ऋक्, साम और यजुः—इन तीन वेदरूप शरीरवाली एक धेनु है, जो सबकी आधारभूत है। उस वेदत्रयीरूपा

धेनुमें ही सम्पूर्ण विश्व प्रतिष्ठित है। वही इस विश्वका कारण मानी गयी है। ऋग्वेद उसकी पीठ है, यजुर्वेद मध्यभाग है और सामवेद उसकी कुक्षि एवं स्तन हैं। इष्ट (यज्ञ-याग आदि) और आपूर्त (वापी, कूप, तड़ाग, उद्यानादि)—ये दो उस धेनुके सींग हैं। वेदोंके जो उत्तम सूक्त हैं, वे ही इस गौके रोम हैं। शान्तिकर्म और पुष्टिकर्म उसके गोबर और मूत्र हैं। अक्षर ही उसके चरण हैं। पद, क्रम, जटा और घन पाठके द्वारा वह जगत्के लिये उपजीव्य होती है। स्वाहाकार, स्वधाकार, वषट्कार और हन्तकार—ये उस धेनुके चार स्तन हैं। स्वाहाकाररूपी स्तनको देवता, स्वधाकारको पितर, वषट्कारको देवता, भूत, ऋषि, मुनि एवं सुरेश्वरगण तथा हन्तकाररूपी स्तनको मनुष्य सदा पान करते हैं। इस प्रकार यह त्रयीरूपा धेनु सम्पूर्ण जगत्को तृप्त करती है। जो पुरुष इन वेदोंका उच्छेद करनेवाला है, वह असंख्य पाप करनेवाला मानव अन्धतामिस्र नामक अन्धकारमय नरकमें डूबता है। जो इस गौको अपने देवतादि बछड़ोंसे उचित समयपर संयोग कराकर दुग्धपानका अवसर देता है, वह स्वर्गलोकको जाता है। इसलिये मनुष्यको प्रतिदिन अपने शरीरकी ही भाँति देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य एवं अन्य प्राणियोंका पोषण करना चाहिये। स्नान करके पवित्र हो ब्रह्मयज्ञके अन्तमें एकाग्रचित्तसे जलद्वारा देवताओं, ऋषियों और पितरोंका तर्पण करना चाहिये। पुष्प, गन्ध और धूप आदिसे देवताओंकी पूजा करके अग्निहोत्रके द्वारा अग्निका तर्पण करे। उसके बाद बलिवैश्वदेव करे। राक्षसों और भूतोंके लिये आकाशमें बलि अर्पण करे और पितरोंके लिये दक्षिणाभिमुख होकर अन्न दे। तदनन्तर गृहस्थ पुरुष एकाग्रचित्त हो जल हाथमें लेकर उन सबकी आचमनक्रियाके लिये उन्हीं-उन्हीं स्थानोंपर उन्हीं-उन्हीं देवताओंका नाम लेकर जल छोड़े। इस प्रकार घरमें बलि अर्पण करके गृहस्थ पुरुष पवित्र हो आचमन करे। तत्पश्चात् घरके दरवाजेकी ओर देखे और कुछ समयतक अतिथिके आगमनकी प्रतीक्षा करे। यदि कोई अतिथि आ जाय तो अर्घ्य और पाद्यके जलसे उसका सत्कार करे। खानेकी इच्छासे आये हुए थके-माँदे अकिंचन याचक ब्राह्मणको अतिथि कहा गया है। ऐसे अतिथिकी यथाशक्ति पूजा करके उसके आचरण और स्वाध्यायके विषयमें प्रश्न न करे। वह सुन्दर हो या असुन्दर, उसे साक्षात् प्रजापति समझे। वह नित्य स्थित नहीं रहता, इसीलिये अतिथि कहलाता है। ऐसे अतिथिको देकर जो भोजन करता है, वह अमृत भोजन करता है। जिसके घरसे अतिथि निराश होकर लौटता है, वह उसे अपना पाप देकर बदलेमें उसका पुण्य ले जाता है*। अतःसाग देकर अथवा

* अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते। स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति॥

(स्क० पु०, ब्रा० ध० मा० ६। २३-२४)

केवल जल ही देकर अपनी शक्तिके अनुसार मनुष्य अतिथिका पूजन करे। तभी वह उसके ऋणसे मुक्त होता है।

**युधिष्ठिर बोले**—मुने! आठ प्रकारके विवाह बतलाये जाते हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच। इन विवाहोंकी विधि तथा इनमें करने योग्य कार्यका यथावत् वर्णन कीजिये।

**व्यासजीने कहा**—जहाँ वरको बुलाकर वस्त्र और आभूषणोंसे अलंकृत हुई अपनी कन्या दी जाती है, वह ब्राह्म-विवाह है। यज्ञमें वरण किये हुए ऋत्विजके लिये जो कन्यादान किया जाता है, वह दैव-विवाह है। वरसे एक गाय और एक बैल लेकर जो उसको कन्या दी जाती है, वह आर्ष-विवाह है। जहाँ वर और कन्याको यह कहकर कि तुम दोनों साथ-साथ रहकर धर्मका पालन करो, विवाह-बन्धनमें आबद्ध किया जाता है, वह प्राजापत्य-विवाह कहा गया है। जहाँ एक-दूसरेसे मैत्री होनेके कारण वर और वधूमें स्वेच्छासे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, वह गान्धर्व-विवाह कहलाता है। बलपूर्वक कन्याको अपहरण कर लेनेसे राक्षस-विवाह होता है, जो सत्पुरुषोंद्वारा निन्दित है। छलसे कन्याका अपहरण करनेपर पैशाच-विवाह माना गया है, यह अत्यन्त निन्दित है। [कन्याके माता-पिताको धन देकर जो कन्या खरीद ली जाती है और उससे विवाह किया जाता है, ऐसे विवाहको आसुर-विवाह कहते हैं।] यह आठवाँ जो पैशाच विवाह है, वह अत्यन्त पापिष्ठ है। ऐसे विवाहसे पापिष्ठ सन्तानोंकी ही उत्पत्ति होती है। अपने समान वर्णकी स्त्रियोंसे ही पाणिग्रहण करना चाहिये, यह विधि है। धर्मानुकूल विवाहमें धार्मिक एवं सौ वर्षोंतक जीवित रहनेवाले पुत्र पैदा होते हैं तथा अधार्मिक विवाहसे धर्मरहित, मन्दभाग्य, धनहीन और अल्पायु सन्तान उत्पन्न होती हैं। ऋतुकाल आनेपर स्त्रीके साथ समागम करना गृहस्थके लिये श्रेष्ठ धर्म है। दिनमें स्त्रीके साथ समागम पुरुषके लिये बड़ा भारी आयुका नाशक माना गया है। श्राद्धके दिन तथा सभी पर्वोंके दिन बुद्धिमान् पुरुषोंको स्त्रीसम्भोग नहीं करना चाहिये। उन अवसरोंपर मोहवश स्त्री-समागम करनेवाला पुरुष धर्मसे गिर जाता है। जो केवल ऋतुकालमें स्त्री-समागम करता और सदा अपनी ही स्त्रीमें अनुराग रखता है, वह गृहस्थ रहनेपर भी सदा ब्रह्मचारी ही जानने योग्य है*। आर्ष-विवाहमें जो दो गौ लेनेकी बात कही गयी है, वह उत्तम नहीं है। क्योंकि कन्याका थोड़ा भी शुल्क लिया जाय, तो वह कन्या-विक्रयरूपी पापका कारण बनता है। कन्या-विक्रय करनेसे मनुष्य एक कल्पतक विष्ठा एवं कृमिभोजन नामक नरकमें निवास करता है। अतः कन्याके थोड़े-से धनका भी मनुष्यको अपने जीवनमें उपयोग नहीं करना चाहिये। वाणिज्य, नीच पुरुषोंकी सेवा, वेदाध्ययनका अभाव, निन्दित विवाह और क्रियालोप—ये कुलमें पतनके हेतु बनते हैं। गृहस्थ पुरुष वैवाहिक अग्निमें प्रतिदिन गृह्यकर्मका अनुष्ठान करे। प्रतिदिन पंचयज्ञका अनुष्ठान तथा पाकयज्ञ करे। गृहस्थ पुरुषसे प्रतिदिन पाँच प्रकारके हिंसापूर्ण कर्म बनते हैं। ओखली, चक्की, चूल्हा, जलका घड़ा और झाड़ू—इनसे होनेवाली पाँच प्रकारकी हिंसाओंके निवारणके लिये पाँच यज्ञ बताये गये हैं, जो गृहस्थके कल्याणकी अभिवृद्धि करनेवाले हैं। वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण पितृयज्ञ है, होम देवयज्ञ है, बलि भूतयज्ञ है और अतिथि-सत्कार मनुष्ययज्ञ है।

* ऋतुकालाभिगामी यः स्वदारनिरतश्च यः। स सदा ब्रह्मचारी हि विज्ञेयः स गृहाश्रमी॥

(स्क० पु०, ब्रा० ध० मा० ६। ३७)

जो बलिवैश्वदेव कर्मके भीतर आ जाय अथवा सूर्यके मध्याह्नकालमें आनेपर भूख और तापसे सन्तप्त हो द्वारपर आ जाय, वह अतिथि माना गया है। देवता, पितर और अतिथियोंको देकर जो गृहस्थ भोजन करता है, वह अमृतभोजी है। जो इन सबको अन्न दिये बिना ही भोजन करता है, वह केवल अपना पेट भरनेवाला है [शास्त्रोंमें ऐसे मनुष्यको पापभोजी बताया गया है]। जो वैश्वदेवसे हीन और आतिथ्यसे वर्जित हैं, वे वेदोंके विद्वान् हों तो भी उन्हें शूद्र ही समझना चाहिये। जो अधम द्विज बलिवैश्वदेव न करके भोजन कर लेते हैं, वे इस लोकमें अन्नहीन होते हैं और मरनेपर कौवेकी योनिमें जाते हैं। वेदोक्त कर्मका ज्ञान प्राप्त करके नित्य आलस्य छोड़कर यदि उसका यथाशक्ति पालन करे, तो मनुष्य परम सद्गतिको प्राप्त होता है।

उदय और अस्त होते हुए तथा मध्याह्नकालके सूर्यको न देखे। सूर्यग्रहणके समय तथा उदयके पहले अण्डस्थ (अण्डाकारमें स्थित) सूर्यपर दृष्टिपात न करे। जलमें अपनी परछाहीं न देखे, कीचड़में न दौड़े, नंगी स्त्रीकी ओर न देखे और नंगा होकर जलमें न घुसे। देवमन्दिर, ब्राह्मण, गौ, मधु, मिट्टीका ढेर, उत्तम जाति, अवस्थामें बड़े और विद्यामें बड़े मनुष्य, अश्वत्थ-वृक्ष, चैत्य-वृक्ष, गुरु, जलसे भरे हुए घड़े, तैयार अन्न, दही और सरसों आदिको अपनेसे दाहिने करके जाना चाहिये। रजस्वला स्त्रीका सेवन न करे, स्त्रीके साथ बैठकर न खाय, एक वस्त्र धारण करके भोजन न करे और जिसपर आरामसे बैठ न सकें ऐसे आसनपर भोजन न करे। तेजकी इच्छा रखनेवाला श्रेष्ठ द्विज अपवित्र स्त्रीकी ओर न देखे, देवताओं और पितरोंको तृप्त किये बिना कहीं कदापि अन्न ग्रहण नहीं करे। गोशालामें, बाँबीमें तथा राखमें कभी मूत्रत्याग न करे, जिस गड्ढेमें जीव रहते हों उसमें भी पेशाब न करे, खड़ा होकर या चलते-चलते मूत्रत्याग न करे, ब्राह्मण, सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, नक्षत्र और गुरुजनोंकी ओर देखते हुए मल-मूत्रका त्याग न करे। मुखसे आग न फूँके, वस्त्रहीन अवस्थामें स्त्रीकी ओर न देखे, अपने पैरोंको आगमें न तपावे तथा कोई अपवित्र वस्तु अग्निमें न डाले तथा किसी भी जीवकी हिंसा न करे। दोनों सन्ध्याओंके समय भोजन न करे। प्रातःकाल और सायंकालकी गोधूलि वेलामें विद्वान् पुरुष शयन न करे। दूध पिलाती हुई गायको देखकर भी किसीसे न कहे। इन्द्रधनुष किसीको न दिखावे। कहीं शून्यस्थानमें अकेला न सोवे। किसी सोये हुए मनुष्यको न जगावे, अकेला रास्ता न चले और अंजलिसे जल न पीये। जिसकी मलाई उतार ली गयी हो, ऐसे दहीको दिनमें न खाय और रात्रिमें तो दहीका सर्वथा निषेध है। रजस्वला स्त्रीसे बातचीत न करे, रात्रिमें भरपेट भोजन न करे। नाचने-गाने और बाजा बजानेके प्रेमी न हो। काँसेके बरतनमें पैर न धुलावे। जो अज्ञानी मनुष्य अपने घर श्राद्ध करके फिर दूसरे घर भोजन करता है, उसमें दाताको श्राद्धका फल नहीं मिलता और भोजन करनेवाला पापका भागी होता है। दूसरेके पहने हुए वस्त्र और जूते न पहने, फूटे हुए बरतनमें न खाय और आगसे जले हुए आसनपर न बैठे। जो दीर्घकालतक जीवित रहना चाहता हो, वह गाय-बैलोंकी पीठपर न चढ़े, चिताका धूम अपने अंगमें न लगने दे, (गिरनेकी आशंकावाले) नदीके तटपर न बैठे, उदयकालीन सूर्यकी किरणोंका स्पर्श न करे और दिनका सोना छोड़ दे। स्नान कर लेनेपर शरीरका मार्जन न करे, रास्तेमें शिखा खोलकर न चले, हाथ और सिरको न कँपाये। पैरसे आसन खींचकर न बैठे, हाथसे शरीरको न पोंछे अथवा स्नानकालमें पहने हुए वस्त्रसे भी न पोंछे। स्नानकालीन वस्त्रसे शरीर पोंछनेपर कुत्तेसे चाटे हुएके समान अशुद्ध हो जाता है।

उस दशामें पुनः स्नान करनेसे ही शुद्धि होती है। दाँतसे कभी नख या रोएँको न काटे। यदि शुभकी इच्छा हो तो नखसे नखको न काटे। अपने घरमें भी कभी बिना दरवाजेके (दीवार फाँदकर) न जाय, धर्मघातीके साथ न बैठे, कभी नग्न होकर न सोवे और हाथमें भोजन रखकर न खाय। हाथ, पैर और मुख भीगे रखकर भोजन करनेवाला मनुष्य दीर्घजीवी होता है। भीगे हुए पैरोंवाला मनुष्य शयन न करे, जूँठे मुँह कहीं न जाय, शय्यापर बैठकर न खाय और न जल ही पीये। जूता पहने हुए न बैठे, खड़ा होकर पानी न पीये, आरोग्यकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य सब खट्टी वस्तुओंको त्याग दे। जूँठे हाथसे सिरका स्पर्श न करे, भूसी, अंगार, भस्म, केश और कपालके ऊपर खड़ा न हो। पतित मनुष्योंके साथ निवास करना पतनका ही कारण होता है। शूद्रके लिये ऊँचा आसन और मंच न दे। द्विजोंकी सेवा करना शूद्रोंके लिये परम धर्म माना गया है। दोनों हाथोंसे सिर खुजलाना शुभ नहीं है। शूद्रको कभी वैदिक मन्त्रका उपदेश नहीं करना चाहिये, उसे वेदोपदेश करनेवाला ब्राह्मण ब्राह्मणत्वसे गिर जाता है, और शूद्र भी स्वधर्मसे भ्रष्ट हो जाता है। दोनों हाथोंसे किसीको पीटना, निन्दा करना, बाल नोचना, शास्त्रके विपरीत बर्ताव करना और लोभीसे दान लेना—यह सब करनेवाला ब्राह्मण इक्कीस नरकोंमें पड़ता है।

असमयमें मेघकी गर्जना सुनायी दे, वर्षा-ऋतुमें धूल बरसानेवाली आँधी चले तथा रात्रिमें बालकोंके रोनेकी विशेष ध्वनि हो, तब अनध्याय बताया गया है। उल्कापात, भूकम्प और दिग्दाह (अग्निकाण्ड) होनेपर, अर्धरात्रिमें, दोनों सन्ध्या-कालमें, शूद्रके समीप, राज्यके अपहरण होनेपर, सूतकमें, दस अष्टकाओंमें, चतुर्दशीको, श्राद्धके दिन, प्रतिपदा तिथिमें, पूर्णिमामें, अष्टमीमें, कुत्तेके रोनेपर, राज्यभंग होनेपर, वेदोंके उपाकर्म और उत्सर्गके दिन, कल्पादि एवं युगादि तिथियोंमें, आरण्यकका अध्ययन पूरा होनेपर, बाण और सामकी ध्वनि सुनायी देनेपर अनध्याय होता है। इन अनध्यायोंमें कदापि स्वाध्याय नहीं करना चाहिये।

चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमाको सदा ब्रह्मचर्यका पालन करे। परायी स्त्रीसे सम्बन्ध रखना इस लोकमें आयुका विनाश करनेवाला है, अतः पर-स्त्री-संसर्ग दूरसे ही त्याग दे। शत्रुओंका सेवन भी दूरसे ही त्याग देना चाहिये। सत्य बोले, प्रिय बोले, अप्रिय सत्य कभी न बोले, प्रिय भी असत्य हो तो न बोले। यह धर्म वेद-शास्त्रोंद्वारा विहित है*। वाणी, मन और जिह्वाके वेगको रोके, गुप्तांगोंमें जो रोएँ हैं, उनका त्याग करे; क्योंकि उनके स्पर्शसे मनुष्य अशुद्ध हो जाता है। पैरोंके धोवनका जल, मूत्र और पीनेसे बचा हुआ जूठा जल, थूक तथा कफ—इन सबको घरसे दूर फेंकना चाहिये। दिन-रात वैदिक मन्त्रके जपसे, शौच और सदाचारके सेवनसे तथा द्रोहरहित बुद्धिसे मनुष्य अपने पूर्वजन्मका स्मरण कर लेता है। बड़े-बूढ़े पुरुषोंको यत्नपूर्वक प्रणाम करे, उन्हें बैठनेके लिये अपना आसन दे, उनके सामने नतमस्तक होकर रहे और जब वे जाने लगें, तब उनके पीछे-पीछे जाय। वेद, ब्राह्मण, देवता, राजा, साधु, तपस्वी और पतिव्रता स्त्रियोंकी कभी निन्दा न करे। दूसरेके जलाशयमें स्नान करना हो तो उसमेंसे पाँच ढेला मिट्टी निकाल करके स्नान करे। उत्तम देश और उत्तम कालमें किसी सुपात्रको पाकर

* सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मो विधीयते॥
(स्क० पु०, ब्रा० ध० मा० ६। ८८)

उसे श्रद्धा और विधिके साथ जो धन दिया जाता है, वह अक्षय फल देनेवाला होता है।

भूमिदान करनेवाला मण्डलेश्वर होता है, अन्नदाता सर्वत्र सुखी होता है और जल देनेवाला सुन्दर रूप पाता है। भोजन देनेवाला हृष्ट-पुष्ट होता है। दीप देनेवाला निर्मल नेत्रसे युक्त होता है। गोदान देनवाला सूर्यलोकका भागी होता है। सुवर्ण देनेवाला दीर्घायु और तिल देनेवाला उत्तम प्रजासे युक्त होता है। घर देनेवाला बहुत ऊँचे महलोंका मालिक होता है। वस्त्र देनेवाला चन्द्रलोकमें जाता है। घोड़ा देनेवाला दिव्य शरीरसे युक्त होता है। बैल देनेवाला लक्ष्मीवान् होता है। पालकी देनेवाला सुन्दर स्त्री पाता है। उत्तम पलंग देनेवालेको भी यही फल मिलता है। जो श्रद्धापूर्वक दान देता और श्रद्धापूर्वक ग्रहण करता है, वे दोनों स्वर्गलोकके अधिकारी होते हैं तथा अश्रद्धासे दोनोंका अध:पतन होता है। झूठ बोलनेसे यज्ञका फल नष्ट होता है। अपने तपको लेकर आश्चर्य प्रकट करनेसे तपस्या क्षीण होती है और दानके बिना कीर्तिका नाश होता है। गन्ध, पुष्प, कुश, गौ, दूध, दही, साग, मधु, जल, फल, मूल, ईंधन और अभयदक्षिणा—ये वस्तुएँ निकृष्ट मनुष्यसे भी प्राप्त हों तो ग्रहण करनी चाहिये।

## पतिव्रता स्त्रियोंके बर्ताव, धर्म और नियम तथा श्राद्ध और धर्मारण्यका महत्त्व

**व्यासजी कहते हैं**—जो मनुष्य धर्मवापीमें पितरोंका तर्पण करता है, उसके पितर तबतक तृप्त रहते हैं, जबतक कि चौदह इन्द्र बीत नहीं जाते। यहाँ पितरोंकी भी पूजा करनी चाहिये। जो पूर्वज पितर स्वर्गमें गये हों, उन सबके लिये इस मोक्षदायिनी वापीके तटपर जाकर पिण्डदान करना चाहिये। त्रेतामें पाँच दिनोंतक और द्वापरमें तीन दिनोंतक श्राद्ध करनेसे जो फल मिलता है, वही कलियुगमें एकचित्त होकर जो एक पिण्डदान देता है, उसको भी मिल जाता है। कलियुग आनेपर संसारके मनुष्य लोलुप और पर-स्त्री-लम्पट हो जाते हैं एवं स्त्रियाँ अत्यन्त चपल हो जाती हैं। स्त्री, पुरुष और नपुंसक—ये सब दूसरोंसे द्रोह करनेवाले, परनिन्दापरायण तथा सदैव दूसरोंके छिद्र देखनेवाले होते हैं; दूसरोंको उद्वेगमें डालनेवाले, झगड़ालु और दो मित्रोंमें फूट पैदा करनेवाले होते हैं। वे सब भी इस धर्मारण्यमें आकर पवित्र हो जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनोंने अपने श्रीमुखसे धर्मारण्यकी ऐसी महिमा बतलायी है। महाभाग! इस प्रकार मैंने धर्मारण्यका वर्णन किया। जो इसका पठन करते हैं अथवा इस तीर्थका सेवन करते हैं, वे मन, वाणी और शरीरसे शुद्ध होते हैं। जो परायी स्त्रियोंसे मुँह मोड़ लेते हैं, कहीं भी द्रोह न करके सर्वत्र समबुद्धि रखते हैं, शुद्धाचारी और माता-पिताके भक्त होते हैं, उनमें लोभ और चपलता नहीं होती। वे दान-धर्ममें तत्पर, आस्तिक, धर्मज्ञ और स्वामिभक्ति-परायण होते हैं। जो स्त्री इस तीर्थका सेवन करती है, वह पतिव्रता और पतिसेवामें तत्पर रहनेवाली होती है। धर्मारण्यके सेवनसे सब मनुष्य अहिंसक, अतिथिपूजक और सदा स्वधर्मपरायण होते हैं।

**शौनकजी बोले**—सब धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ महाभाग सूतजी! पतिव्रता स्त्रियोंका कैसा लक्षण होता है, यह बतलाइये।

**सूतजी बोले**—(गुरुदेव व्यासजीने राजा युधिष्ठिरको यह बात इस प्रकार बतायी थी) जिसके घरमें पतिव्रता स्त्री होती है, उसका जीवन सफल हो जाता है। उसके अंगोंकी छायाके

तुल्य उसकी कथा भी पुण्यकारक होती है। पतिव्रता स्त्रियाँ अरुन्धती, सावित्री, अनुसूया, शाण्डिली, सती, लक्ष्मी, शतरूपा, सुनीति, संज्ञा और स्वाहाके समान होती हैं। पतिव्रताओंके धर्म मुनिवर व्यासजीने इस प्रकार बतलाये हैं—पतिव्रता स्त्री पतिके भोजन कर लेनेपर भोजन करती है, उनके खड़े रहनेपर स्वयं भी खड़ी रहती हैं, पतिके सो जानेपर सोती है और पहले ही जाग उठती है। स्वामी यदि दूसरे देशमें हो, तो वह अपने शरीरका शृंगार नहीं करती अथवा यदि किसी कार्यवश पति बाहर जायँ तो वह सब प्रकारके आभूषणोंको उतार देती है। पतिकी आयु बढ़े, इस उद्देश्यसे वह कभी पतिके नामका उच्चारण नहीं करती। वह दूसरे पुरुषका नाम भी कभी नहीं लेती। पति चाहे कितनी ही खरी-खोटी बात क्यों न कह डाले, वह उसे नहीं कोसती। जब स्वामी कहते हैं कि 'यह कार्य करो' तब वह शीघ्र उत्तर देती 'जो आज्ञा नाथ! मैंने अभी इस कामको पूरा किया। आप यह समझ लें कि कार्य पूरा हो गया।' पतिके बुलानेपर वह घरका काम-काज छोड़कर तुरंत उनके पास दौड़ी जाती है और पूछती है—'प्राणनाथ! किस लिये दासीको बुलाया है? मुझे सेवाका आदेश देकर अपने कृपाप्रसादकी भागिनी बनाइये।' वह घरके दरवाजेपर देरतक नहीं खड़ी होती। दरवाजेपर सोती-बैठती भी नहीं। जो वस्तु नहीं देने योग्य होती है, उसे वह स्वयं किसीको कभी नहीं देती। पतिव्रता स्त्रीको चाहिये कि स्वामीके लिये पूजनकी सामग्री बिना कहे ही जुटा दे। नित्य-नियमके लिये जल, कुशा, पत्र, पुष्प, अक्षत आदि प्रस्तुत करे और पतिकी प्रतीक्षामें खड़ी होकर जिस समय जो वस्तु आवश्यक हो, वह सब शीघ्र बिना किसी उद्वेगके अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक प्रस्तुत करे। स्वामीके भोजनसे बचे हुए प्रसादस्वरूप अन्न और फल आदिको अत्यन्त प्रिय मानकर ग्रहण करे। सामाजिक उत्सवोंका दर्शन तो वह दूरसे ही त्याग दे। पतिकी आज्ञाके बिना वह तीर्थयात्राको और विवाहोत्सवोंको देखने आदिके लिये भी न जाय। पति सुखसे सोये हों, सुखसे बैठे हों या स्वेच्छानुसार किसी कार्य अथवा विचारमें रम रहे हों, तो कार्यमें विघ्न आनेपर भी उन्हें कभी न उठावे। रजस्वला होनेपर वह तीन राततक पतिको अपना मुँह न दिखावे। जबतक स्नान करके शुद्ध न हो जाय, तबतक अपनी आवाज भी पतिके कानोंमें न पड़ने दे। भलीभाँति स्नान कर लेनेपर सबसे पहले पतिके ही मुखका दर्शन करे, दूसरे किसीका नहीं। अथवा पतिदेव उपस्थित न हों तो मन-ही-मन उनका ध्यान करके सूर्यदेवका दर्शन करे। पतिकी आयु बढ़नेकी इच्छा रखनेवाली पतिव्रता स्त्री हल्दी, कुंकुम, सिन्दूर, कज्जल, चोली, पान, मांगलिक आभूषण, केशोंके शृंगार तथा हाथ और कान आदिके आभूषण अपने शरीरसे कभी अलग न करे। पतिसे विद्वेष रखनेवाली स्त्रीसे पतिव्रता नारी कभी बातचीत न करे। कभी अकेली न रहे और नंगी होकर न नहाये। ओखली, मूसल, झाड़ू, सिलवट, चक्की और चौकठ (देहली)-पर सती स्त्री कभी न बैठे। पतिके सम्मुख धृष्टता न करे। जहाँ-जहाँ पतिकी रुचि हो, वहाँ-वहाँ उसे भी प्रेम रखना चाहिये। स्त्रियोंके लिये यही सबसे उत्तम व्रत, यही महान् धर्म और यही पूजा है कि वह पतिकी आज्ञाका उल्लंघन न करे। नपुंसक, दुर्दशाग्रस्त, रोगी, वृद्ध, सुस्थिर अथवा दुःस्थिर कैसा भी पति क्यों न हो, उस पतिका वह कभी उल्लंघन न करे। वह लोहेके बरतनमें भोजन न करे। यदि उसे तीर्थस्नानकी इच्छा हो, तो वह प्रतिदिन पतिका चरणोदक पीये। उसके लिये शंकर और भगवान् विष्णुसे भी बढ़कर उसका

पति ही है। जो स्त्री पतिकी आज्ञाका उल्लंघन करके व्रत और उपवास आदिका नियम करती है, वह पतिकी आयु हर लेती है और मरनेपर नरकमें जाती है।*

जो नारी पतिके कोई बात कहनेपर क्रोधपूर्वक उसका उत्तर देती है, वह गाँवमें कुतिया और निर्जन वनमें सियारिन होती है। स्त्रियोंके लिये एकमात्र यही सर्वोत्तम नियम बताया गया है कि वह प्रतिदिन अपने पतिके चरणोंकी पूजा करके ही भोजन करे और दृढ़ निश्चयपूर्वक इस नियमका पालन करे। पतिसे ऊँचे आसनपर न बैठे। दूसरेके घरमें न जाय और कड़वी बातें कभी मुँहसे न निकाले। गुरुजनोंके समीप जोरसे न बोले तथा न किसीको पुकारे ही। जो खोटी बुद्धिवाली स्त्री पतिका साथ छोड़कर एकान्तमें विचरती है, वह वृक्षके खोंखलेमें सोनेवाली क्रूर उलूकी होती है। जो दूसरे पुरुषकी ओर कटाक्षसे देखती है, वह ऐंची आँखवाली हो जाती है। जो पतिको छोड़कर अकेली मिठाइयाँ उड़ाती है, वह गाँवकी विष्ठाभोजी सूकरी अथवा चमगादड़ होती है। जो हुंकार और त्वंकार करके (पतिके प्रति अनादरसूचक वचन कहकर) अप्रिय भाषण करती है, वह गूँगी होती है। जो सौतसे सदा ही ईर्ष्या रखती है, वह खोटे भाग्यवाली होती है। जो पतिकी आँख बचाकर किसी दूसरे पुरुषको निहारती है, वह कानी, विकृत मुखवाली अथवा कुरूपा होती है। पतिको बाहरसे आते देख जो तुरंत उठकर पानी और आसन देती है, पानका बीड़ा खिलाती है, पंखा करती, पाँव दबाती, प्रिय वचन बोलती और पसीना आदि दूर करके प्रियतमको सन्तुष्ट करती है, उसके द्वारा तीनों लोक तृप्त हो जाते हैं। पिता, भाई और पुत्र—ये सब परिमित—नपी-तुली वस्तुएँ प्रदान करते हैं, परंतु पति अपनी पत्नीको अपरिमित दान करता है। इसके दानकी कोई सीमा नहीं होती। ऐसे पतिका कौन ऐसी स्त्री है, जो पूजन न करे? पति ही देवता है, पति ही गुरु है और पति ही धर्म, तीर्थ एवं व्रत है। अतः स्त्री सब छोड़कर एकमात्र पतिकी पूजा करे।†

कन्याके विवाहकालमें ब्राह्मणलोग यह प्रतिज्ञा करवाते हैं कि तू पतिके जीवन और मरणमें भी उनकी सहचरी होकर रह। जो श्मशानमें जाते हुए स्वामीके शवके पीछे-पीछे घरसे (सती होनेके लिये) प्रसन्नतापूर्वक जाती है, उसे पग-पगपर अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है। जैसे साँप पकड़नेवाला मनुष्य साँपको बलपूर्वक बिलसे बाहर निकाल लेता है, उसी प्रकार सती स्त्री अपने पतिको बलपूर्वक यमदूतोंके हाथसे छीनकर स्वर्गमें ले जाती है। पतिव्रता स्त्रीको देखकर यमदूत भाग जाते हैं, सूर्य भी उसके तेजसे सन्तप्त होते हैं और अग्निदेव भी उसके तेजकी आँचसे जलने लगते हैं। पतिव्रताका तेज देखकर सम्पूर्ण तेज काँप उठते हैं। अपने शरीरमें जितने रोएँ हैं, उतने करोड़ अयुत वर्षोंतक वह पतिके साथ स्वर्गसुख भोगती है और विहार करती है। संसारमें वह माता धन्य है, वह पिता धन्य है और वह पति धन्य है, जिनके घरमें पतिव्रता स्त्री शोभा पाती है। केवल पतिव्रता नारीके पुण्यसे उसके पिता, माता और पति—इन तीनों कुलोंकी तीन-तीन पीढ़ियाँ स्वर्गीय सुख भोगती हैं। दुराचारिणी स्त्रियाँ अपना शील

---

* व्रतोपवासनियमं पतिमुल्लङ्घ्य या चरेत्। आयुष्यं हरते भर्तुर्मृता निरयमृच्छति॥

(स्क० पु०, ब्रा० ध० मा० ७। ३७)

† मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः। अमितस्य हि दातारं भर्तारं का न पूजयेत्॥
भर्ता देवो गुरुर्भर्त्ता धर्मतीर्थव्रतानि च। तस्मात् सर्वं परित्यज्य पतिमेकं समर्चयेत्॥

(स्क० पु०, ब्रा० ध० मा० ७। ४७-४८)

भंग करनेके कारण पिता-माता और पति तीनों कुलोंको नरकमें गिराती हैं और स्वयं भी इहलोक तथा परलोकमें दुःख भोगती हैं। पतिव्रताका चरण जहाँ-जहाँ धरतीका स्पर्श करता है, वह-वह स्थान तीर्थभूमिकी भाँति मान्य है। वहाँ भूमिपर कोई भार नहीं रहता। वह स्थान परम पावन हो जाता है। सूर्य भी डरते-डरते अपनी किरणोंसे पतिव्रताका स्पर्श करते हैं। चन्द्रमा अपनेको पवित्र करनेके लिये ही उसका स्पर्श करते हैं। जल सदा पतिव्रता देवीके चरणस्पर्शकी अभिलाषा रखता है। वह जानता है कि पतिव्रता गायत्रीदेवीके द्वारा जो हमारे पापका नाश होता है, उसमें उस देवीका पातिव्रत्य ही कारण है। पातिव्रत्यके बलसे ही वह हमारे पापोंका नाश करती है। क्या घर-घरमें अपने रूप और लावण्यपर गर्व करनेवाली नारियाँ नहीं हैं? परंतु पतिव्रता स्त्री भगवान् विश्वेश्वरकी भक्तिसे ही प्राप्त होती हैं। गृहस्थ-आश्रमका मूल भार्या है। सुखका मूल कारण भार्या है, धर्मफलकी प्राप्ति तथा सन्तानवृद्धिका कारण भी भार्या ही है। भार्यासे इहलोक और परलोक दोनोंपर विजय प्राप्त होती है। घरमें भार्याके होनेसे देवताओं, पितरों और अतिथियोंकी तृप्ति होती है। वास्तवमें गृहस्थ उसीको समझना चाहिये, जिसके घरमें पतिव्रता स्त्री है। जैसे गंगामें स्नान करनेसे शरीर पवित्र होता है, उसी प्रकार पतिव्रताका दर्शन करके सम्पूर्ण गृह पवित्र हो जाता है।

यदि विधवा स्त्री पलंगपर सोती है, तो वह पतिको नरकमें गिरा देती है; अतः पतिके सुखकी इच्छासे विधवा स्त्रीको धरतीपर ही शयन करना चाहिये। विधवा स्त्रीको कभी अपने अंगोंमें उबटन नहीं लगाना चाहिये तथा उसे कभी सुगन्धित वस्तुका उपयोग भी नहीं करना चाहिये। प्रतिदिन तिल और कुशयुक्त जलसे पतिके लिये तर्पण करना चाहिये तथा पतिके पिता और पितामहके भी नाम-गोत्र आदिका उच्चारण करते हुए उनके लिये जलकी अंजलि देनी चाहिये। पतिबुद्धिसे भगवान् विष्णुका पूजन करना चाहिये। वह विष्णुरूपधारी पति-परमेश्वरका ही ध्यान करे। संसारमें जो-जो वस्तु पतिको प्रिय रही हो, वह पतिको तृप्त करनेकी इच्छासे गुणवान् विद्वान्को देनी चाहिये। विधवा स्त्री वैशाख और कार्तिक मासमें विशेष नियमोंका पालन करे। स्नान, दान, तीर्थयात्रा और पुराणश्रवण बारंबार करती रहे।

मनुष्यको चाहिये कि वह धर्मकूपपर पितरोंके लिये विधिपूर्वक श्राद्ध करे। श्राद्धमें मनुष्य जो भूमिपर अन्न बिखेरते हैं, उससे पिशाच योनिको प्राप्त हुए पितर तृप्त होते हैं। जिनके स्नानवस्त्रसे पृथ्वीपर जल गिरता है, उनके उस जलसे स्थावरयोनिको प्राप्त हुए पितर तृप्त होते हैं। श्राद्धकर्ता मनुष्योंके हाथसे जो यवान्नकी कणिका पृथ्वीपर गिरती है, उससे देवभावको प्राप्त हुए पितरोंकी तृप्ति होती है। तथा पिण्डोंके उठानेपर जो यवान्नकी कणिका गिरती है, उससे पातालमें गये हुए पितरोंकी तृप्ति होती है। जो वर्ण और आश्रमके आचार एवं कर्मका लोप करनेवाले एवं संस्कारहीन होकर मरे हैं, वे श्राद्धमें सम्मार्जनके लिये जो जलका छींटा दिया जाता है, उससे तृप्त होते हैं। ब्राह्मणलोग भोजन करके जब मुँह-हाथ धोते और आचमन करते हैं, उस समय जो जल गिरता है, उससे अन्यान्य पितरोंकी तृप्ति होती है। इसी प्रकार यजमानके हाथसे अथवा उन श्राद्धसम्बन्धी ब्राह्मणोंके हाथसे जो शुद्ध या स्पर्शरहित जल और अन्न गिराया जाता है, उससे उन पितरोंकी तृप्ति होती है, जो नरकमें पड़े हैं अथवा दूसरी किसी योनिमें चले गये हैं। मनुष्य अन्यायोपार्जित द्रव्यसे जो श्राद्ध करते

हैं, उससे चाण्डाल आदि योनिके पितरोंकी तृप्ति होती है। वत्स! इस प्रकार श्राद्धसे अनेकानेक बान्धवोंकी तृप्ति होती है। यदि अन्नद्वारा श्राद्ध करनेकी शक्ति न हो तो केवल सागोंसे भी उसका अनुष्ठान हो सकता है। अतः मनुष्य भक्तिपूर्वक शाकसे भी श्राद्ध करे। श्राद्ध करनेवाले मनुष्यका कुल कभी दुःखमें नहीं पड़ता।

यदि धर्मारण्यमें सब पाप-ही-पाप किया गया तो निश्चय ही पाप भी बढ़ता है और उसे करनेवाला घोर नरकमें पकाया जाता है। जैसे पुण्य, वैसे पाप; धर्मारण्यमें किया हुआ सब शुभाशुभ कर्म अवश्य वृद्धिको प्राप्त होता है।

## धर्मारण्यवासी ब्राह्मणोंके गोत्र तथा उनकी रक्षाके लिये कामधेनुद्वारा वैश्योंकी उत्पत्ति

**युधिष्ठिरने पूछा**—धर्मारण्यमें जिन श्रेष्ठ आचार-व्यवहारवाले ब्राह्मणोंने निवास किया, वे किस कुलमें उत्पन्न हुए थे?

**व्यासजी बोले**—नृपश्रेष्ठ! उन ऊर्ध्वरेता ऋषियों एवं महात्मा ब्राह्मणोंकी शाखा, प्रशाखा, पुत्र-पौत्र आदिकी संख्या बहुत हुई। मुख्य-मुख्य चौबीस गोत्रोंके नाम तुम्हें बतलाता हूँ—भारद्वाज, वत्स (प्रथम), कौशिक, कुश, शाण्डिल्य, काश्यप, गौतम, छान्दन, जातूकर्ण्य, वत्स (द्वितीय), वसिष्ठ, धारण, आत्रेय, भाण्डिल, लौकिक, कृष्णायन, उपमन्यु, गार्ग्य, मुद्गल, मौषक, पुण्यासन, पराशर, कौण्डिन्य तथा गांगासन। इन गोत्रोंमें उत्पन्न ब्राह्मण वेदोंके पारंगत विद्वान्, नाना प्रकारके यज्ञानुष्ठानमें तत्पर, द्विजपूजन कर्ममें संलग्न, सत्कर्मपरायण तथा गुणवान् हुए। धर्मारण्यनिवासी सब ब्राह्मण सदाचारी, अत्यन्त दक्ष, वेद-शास्त्रपरायण, यज्ञकर्ता तथा सत्य और शौचाचारमें प्रवृत्त रहनेवाले हैं। राजा युधिष्ठिर! पहले वहाँके ब्राह्मणोंको यक्ष, राक्षस और पिशाच आदि व्याकुल किये रहते थे। तब उन ब्राह्मणोंने देवताओंसे कहा—'देवगण! यक्ष और राक्षस आदिसे हम सताये जाते हैं, अतः उनके भयसे हमलोग अब इस उत्तम स्थानको त्याग देंगे।' यह सुनकर देवताओंने लोकहितकी कामनासे ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये प्रत्येक गोत्रमें एक-एक योगिनीकी स्थापना की। जिस गोत्रकी रक्षा और पालनमें जो शक्ति समर्थ हुई, वह उस गोत्रकी कुलदेवी मानी गयी। श्रीमाता, तारणीदेवी, गोत्रपा, आशापूरी, इच्छार्तिनाशिनी, पिप्पली, विकारवशा, जगन्माता, महामाता, सिद्धा, भट्टारिका, कदम्बा, विकरा, मीठा, सुपर्णा, वसुजा, महादेवी, मातंगी, वाणी, मुकुटेश्वरी, भद्री, महाशक्ति संहारी, महाबला और महादेवी चामुण्डा। ये गोत्रोंकी माताएँ हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि देवताओंने वहाँ रक्षाके लिये उन गोत्रमातृकाओंकी स्थापना की है। वहाँके स्वधर्मपरायण श्रेष्ठ ब्राह्मण उन सब योगिनियोंकी पूजा करने लगे। तभीसे योगिनियोंद्वारा वे अपने-अपने समयमें सुरक्षित हुए। सब ब्राह्मण स्वस्थ एवं पुत्र-पौत्रोंसे संयुक्त हो गये।

राजन्! सौ वर्ष बीतनेके पश्चात् ब्रह्मा, विष्णु और शिव धर्मारण्यको देखनेके लिये प्रातःकाल सूर्योदयके समय उत्तम विमानपर बैठकर आये। उस समय ब्राह्मणलोग समिधा, पुष्प और कुशा लानेके लिये आश्रम छोड़कर सब दिशाओंमें चले गये थे। आश्रम सूना देखकर महादेवजीने भगवान्से कहा—'प्रभो! यहाँके ब्राह्मण बड़ा कष्ट पाते हैं, अतः इनकी सेवाके लिये कुछ सेवकोंकी व्यवस्था करूँ, ऐसा मेरा विचार हो रहा है।' भगवान् शंकरका यह वचन सुनकर श्रीविष्णुने कहा—'ठीक है, ठीक है।' फिर वे ब्रह्माजीसे बोले—

'ब्रह्मन्! आप यहाँके ब्राह्मणोंकी सेवाके लिये कोई उपाय कीजिये।' भगवान् विष्णुका यह आदेश सुनकर ब्रह्माजीने कामधेनुका स्मरण किया। स्मरण करनेसे कामधेनु उसी क्षण वहाँ आ गयी।

**तब ब्रह्माजीने कामधेनुसे कहा**—मातः! इन ब्राह्मणोंमेंसे प्रत्येकके लिये दो-दो शुद्ध हृदयवाले अनुचरोंकी व्यवस्था करो। 'बहुत अच्छा' कहकर उस महाधेनुने खुरसे पृथ्वीको खोदा और हुंकार किया। इससे छत्तीस हजार शिखा-सूत्रधारी मनुष्य प्रकट हुए। वे सभी महाबली वैश्य थे। उन्होंने

यज्ञोपवीत धारण कर रखा था। वे सब शास्त्रोंमें चतुर, ब्राह्मणभक्त, ब्राह्मणोंका हित चाहनेवाले, तपस्वी, उत्तम आचारवाले और धार्मिक थे। उस समय एक-एक ब्राह्मणके लिये दो-दो अनुचर दिये गये। राजन्! ब्राह्मणका पहले जो गोत्र बताया गया है, वही उसके अनुचरका भी हुआ। तदनन्तर ब्रह्माजीने उनके हितके लिये कहा—'तुम सब लोग इन ब्राह्मणोंका वचन मानो और इन्हें जिस-जिस वस्तुकी आवश्यकता हो, उसे ला दिया करो। प्रतिदिन समिधा, कुशा और फूल आदि ले आओ। सदा इनकी आज्ञाके अनुसार चलो, कभी इनका अनादर न करो। जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकरण ,उपनयन आदि संस्कार तथा जो व्रत, दान, उपवास आदि कर्म प्राप्त हों, उन्हें इन ब्राह्मणोंकी आज्ञाके अनुसार ही करना चाहिये। इनकी आज्ञा लिये बिना जो दर्शयाग, श्राद्धकार्य या और कोई कर्म करेगा, वह दरिद्रता, पुत्रशोक एवं कीर्तिनाशको प्राप्त होगा।' तब उन अनुचरोंने 'बहुत अच्छा' कहकर देवताओंकी आज्ञा स्वीकार की। तदनन्तर वे इन्द्र आदि श्रेष्ठ देवता कामधेनुकी स्तुति करने लगे—'अनघे! तुम सब देवताओंकी माता और सब यज्ञोंका कारण हो। सब तीर्थोंमें तुम्ही उत्तम तीर्थ हो। तुम्हें सदा नमस्कार है। तुम्हारे ललाटमें सूर्य, चन्द्रमा, अरुण तथा भगवान् शंकर विराजमान हैं। हुंकारमें सरस्वती वास करती हैं, गलेके कंबलमें नागोंका निवास है, खुरपृष्ठमें गन्धर्व और चारों वेद हैं तथा तुम्हारे मुखके अग्रभागमें समस्त चराचर तीर्थ हैं।' इस प्रकार भाँति-भाँतिके वचनोंसे प्रसन्न की हुई कामधेनु स्वर्गको चली गयी।

उन वैश्योंके विवाहके लिये भगवान् शंकर और यमने गन्धर्वोंकी कन्याओंको लाकर उनकी पत्नीके रूपमें स्थापित किया। 'विश्वावसु' नामसे प्रसिद्ध जो गन्धर्वोंके राजा हैं, उनके यहाँ साठ हजार कन्याएँ थीं। वे सभी रूप, यौवन और उदारतासे सम्पन्न थीं। उन्हींको वेदोक्त विधिसे देवताके समीप उन वैश्योंके लिये अर्पण किया। उस समय उन वैश्योंने गन्धर्वोंको, पूर्वज देवताओंको, सूर्य और चन्द्रमाको तथा यमराज और मृत्युको भी आज्यभाग दिया। विधिपूर्वक आज्यभाग अर्पण करनेके पश्चात् ही उन वैश्योंने उन कन्याओंका वरण (पाणिग्रहण) किया। तबसे लेकर आजतक गान्धर्व विवाह उपस्थित होनेपर देवता आज्यभाग ग्रहण करते हैं। जिन छत्तीस हजार धेनुकुमारोंकी चर्चा की गयी है, उनके पुत्र-पौत्रोंकी संख्या

लाखोंतक पहुँच गयी। वे सब ब्राह्मणोंके सेवक हुए। तत्पश्चात् देवताओंके चले जानेपर सब ब्राह्मण इस स्थानपर निवास करने लगे। राजन्! तबसे वहाँके ब्राह्मण निर्भय हो पुत्र-पौत्रोंके साथ रहते और वेदोंका पाठ करते हैं। वे वेदज्ञ विद्वान् कभी शास्त्रोंका अर्थ सुनाते, कभी कोई भगवान् विष्णुका जप करते, कोई शिवजीके गुण गाते, कोई ब्रह्माजीके नाम लेते और कोई यमसूक्तका जप करते हैं। कितने ही याजक बनकर यज्ञ एवं अग्निहोत्रकी उपासना करते हैं। वे स्वाहाकार, स्वधाकार और वषट्कारके शब्दोंसे चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण त्रिलोकीको परिपूर्ण करते रहते हैं। वहाँके वैश्य भी बड़े दक्ष होते हैं और सदा ब्राह्मणोंकी सेवाके लिये उत्कण्ठित रहते हैं। वे धर्मारण्यके दिव्य प्रदेशमें सुस्थिर होकर बसते हैं और ब्राह्मणोंके लिये अन्न, पान, समिधा, कुश तथा फल आदिका प्रबन्ध करते हैं। पुष्पोपहारका संग्रह करना, स्नान किये हुए वस्त्रको धोना, उपले आदि बनाना, झाड़ने-बुहारनेका काम करना तथा कूटना और पीसना आदि कार्य उन वैश्योंकी स्त्रियाँ करती थीं। ब्रह्मा, विष्णु और शिवके वचनसे सब लोग उन ब्राह्मणोंकी सेवा करते थे। तबसे सब ब्राह्मण स्वस्थ हो, हर्षपूर्वक दिन-रात ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदिकी उपासना करने लगे।

## लोलजिह्वाक्षका वध, गणेशजीकी उत्पत्ति और देवताओंद्वारा उनका स्तवन

**व्यासजी बोले**—तत्पश्चात् कुछ काल बीतनेपर जब सत्ययुगकी समाप्ति हुई, तब त्रेताके प्रारम्भमें 'लोलजिह्वाक्ष' नामका एक राक्षस हुआ, जो समस्त राक्षसोंका राजा था। उसने ब्राह्मणोंसे सेवित उस परम पवित्र एवं सुन्दर धर्मारण्यमें द्वेषवश आग लाग दी। अपने नगरको जलते देख वे श्रेष्ठ ब्राह्मण भाग खड़े हुए। तब श्रीमाता आदि देवियाँ क्रोधमें भरकर उस राक्षसको फटकारती हुई उसपर प्रहार करने लगीं। राक्षसने उन देवियोंको देखकर भयंकर सिंहनाद किया। उस समय धर्मारण्यमें बड़ा भारी कोलाहल मच गया। उसे सुनकर इन्द्रने नलकूबरको भेजा। नलकूबर वहाँ गये और श्रीमाता तथा लोलजिह्वाक्षमें जो महान् युद्ध चल रहा था, उसको उन्होंने देखा। जैसा देखा, वैसा ही इन्द्रके आगे निवेदन किया। यह समाचार सुनकर भगवान् विष्णु सुदर्शन चक्र लेकर सत्यलोकसे पृथ्वीपर आये। धर्मारण्यमें पहुँचकर उन्होंने चक्र चलाया। तब लोलजिह्वाक्ष राक्षस मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा और प्राण त्यागकर परम धामको चला गया। देवता और गन्धर्वोंने हर्षमें भरकर जगदीश्वर भगवान् विष्णुका स्तवन किया। उस नगरको उजड़ा हुआ देख भगवान् विष्णुने कहा—'ऋषियोंके आश्रममें निवास करनेवाले वे सब ब्राह्मण कहाँ हैं?' देवता और गन्धर्वोंने इधर-उधर भगे हुए ब्राह्मणोंको खोज निकाला तथा इस प्रकार कहा—'ब्राह्मणो! उस अधम राक्षसको भगवान् वासुदेवने अपने चक्रसे काट डाला है।' यह सुनकर ब्राह्मणोंके नेत्र हर्षसे खिल उठे और उन सबने अपने-अपने स्थानमें प्रवेश किया तथा भगवान् श्रीलक्ष्मीपतिसे कहा—'प्रभो! आपने सत्यलोकसे आकर ब्राह्मणोंके हितके लिये इस मन्दिररूपी नगरकी पुनः स्थापना की है। इसलिये संसारमें यह सत्यमन्दिरके नामसे विख्यात होगा। सत्ययुगमें यह धर्मारण्य था, त्रेतामें इसका नाम सत्यमन्दिर होगा।' भगवान् विष्णुने 'तथास्तु' कहकर उनकी प्रार्थना स्वीकार की।

गणेशजीका मस्तक-छेदन

गणेशजीको गजमस्तक-दान

तदनन्तर वे सब ब्राह्मण अपने पुत्र-पौत्र, पत्नी और सेवकोंके साथ पूर्ववत् निवास करने लगे।

उस नगरके पूर्वभागमें धर्मेश्वर, दक्षिणमें गणेश, पश्चिममें सूर्यदेव और उत्तरमें साक्षात् स्वयम्भू ब्रह्माजीका स्थान है।

**युधिष्ठिरजीने पूछा**—महाभाग! गणेशजीको किसने स्थापित किया?

**व्यासजी बोले**—महाराज! पूर्वकालमें सब देवताओंने धर्मारण्यमें दुर्गाजीके पुत्र गणेशजीको स्थापित किया था। अब मैं गणेशजीकी उत्पत्तिका कारण बतलाता हूँ। एक समय पार्वतीजीने अपने अंगोंमें उबटन लगाया और उससे जो मैल निकली, उसे हाथपर रखकर उसकी एक सुन्दर स्वरूप प्रतिमा बना दी। फिर उसमें उन्होंने जीवका भी संचार कर दिया। तब वह बालक उनके आगे उठकर खड़ा हो गया और मातासे बोला—'आज्ञा दीजिये, मैं कौन-सा कार्य करूँ?'

**पार्वतीजीने कहा**—मैं जबतक स्नान करूँ, तबतक तुम मेरे द्वारपर खड़े रहो। महादेवीके इस प्रकार आज्ञा देनेपर गणेशजी हथियार ले द्वारपर खड़े हो गये। इसी समय महादेवजी आये और उन्होंने घरके भीतर प्रवेश करनेका विचार किया। किंतु द्वारपर खड़े हुए बालकने उन्हें भीतर नहीं जाने दिया। इससे महादेवजी कुपित हो उठे और दोनों पिता-पुत्रमें परस्पर युद्ध होने लगा। महादेवजीने त्रिशूलसे उस बालकका मस्तक काट डाला। अपने पुत्रको मरकर गिरा हुआ देख पार्वतीजी फूट-फूटकर रोने लगीं। पार्वतीजीको दुःखी देखकर भगवान् शंकरको बड़ी चिन्ता हुई। इतनेमें ही उनकी दृष्टि वहाँ आये हुए गजासुरपर पड़ी। उस महादैत्यको देखकर भगवान् शंकरने उसे मार डाला और उसका मस्तक लेकर पार्वतीके बनाये हुए बालकके धड़से जोड़ दिया। तब वह बालक उठकर खड़ा हो गया। शिवजीने उसका नाम गजानन रखा। फिर सब देवताओं और मुनियोंने मिलकर गणेशजीका स्तवन किया।

**देवता बोले**—भगवन्! आपको नमस्कार है। आप देवताओंके ईश्वर तथा गणोंके स्वामी हैं, आपको नमस्कार है। गजानन! आप महादेवजीके भी अधिदेवता हैं, आपको नमस्कार है। गणाध्यक्ष! आप भक्तिप्रिय देवता हैं, आपको नमस्कार है।

**इन शुभ स्तोत्रोंद्वारा स्तुति करनेपर गणोंके स्वामी गणेशजी अत्यन्त प्रसन्न होकर इस प्रकार बोले**—देवताओ! मैं तुमपर बहुत सन्तुष्ट हूँ, तुम कोई मनोवांछित वस्तु माँगो, मैं तुम्हें देता हूँ।

**देवता बोले**—महाभाग! आप यहीं रहकर हमारा कार्य-साधन करें। धर्मारण्यमें रहनेवाले ब्राह्मण, वैश्यजन, धार्मिक पुरुष तथा वर्णाश्रमसे भिन्न मनुष्योंका भी आप सदा संरक्षण करें। आपके प्रसादसे यहाँके ब्राह्मण और महाबली वैश्य सदा धन और सुखसे सम्पन्न हों। जबतक सूर्य, चन्द्रमा और पृथ्वी रहे, तबतक आप यहीं रहकर सबकी रक्षा करते रहें।

गणेशजीने 'एवमस्तु' कहकर उनकी प्रार्थना स्वीकार की। तब देवताओंने हर्षमें भरकर गणेशजीका पूजन किया। संसारके दूसरे लोगोंने भी विघ्ननिवारणके लिये उनकी पूजा की। इसीलिये गणेशजी विवाह, उत्सव और यज्ञमें पहले पूजित होते हैं। धर्मारण्यमें रहनेवाले लोगोंपर वे सर्वदा प्रसन्न रहते हैं।

# संज्ञाकी तपस्या, अश्विनीकुमारोंका जन्म तथा वकुलादित्यकी स्थापना

**व्यासजी कहते हैं**—महाभाग युधिष्ठिर! भगवान् शंकरके पश्चिम भागमें कश्यपनन्दन भगवान् सूर्यकी स्थापना की गयी है। वह स्थान रविक्षेत्र कहलाता है। वहीं रूप और यौवनसे सम्पन्न नासत्य नामसे प्रसिद्ध महादिव्य दोनों अश्विनीकुमार उत्पन्न हुए, जो देवलोकके वैद्योंके रूपमें प्रसिद्ध हैं। विश्वकर्माकी पुत्री संज्ञा अंशुमाली भगवान् सूर्यको ब्याही गयी थी। संज्ञाके यमराज और यमुना—ये दो सन्तान उत्पन्न हुईं। यमुना महानदीके रूपमें प्रसिद्ध हुई। संज्ञाको भगवान् सूर्यका तेज सहन नहीं होता था। अतः उसने अपनी छायाका ही आवाहन करके उससे कहा—'तुम मेरी ही भाँति भगवान् सूर्यकी सेवामें उपस्थित रहो। मेरे पुत्रोंसे और मेरे पतिदेव सूर्यदेवसे सदा उत्तम बर्ताव करना, ऐसा कहकर संज्ञादेवी पिताके घर चली गयी। वहाँ उसने अपने पिता विश्वकर्माका दर्शन किया और विश्वकर्माने भी बड़े आदरसे उन्हें रखा। कुछ समयतक वे पिताके घरमें ही टिकी रहीं। तब उनके धर्मज्ञ पिता विश्वकर्माने अपनी पुत्रीसे प्रेमपूर्वक कहा—'बेटी! यहाँ तुम्हारे रहनेसे धर्मका लोप हो रहा है, क्योंकि अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ स्त्रियोंका अधिक कालतक रहना उनके लिये यशकारक नहीं होता। स्त्री पतिके घरमें रहे, तभी उसकी शोभा है। इसलिये तुम पतिके घर जाओ।' पिताके ऐसा कहनेपर संज्ञाने 'बहुत अच्छा' कहकर उनका आदर किया और वहाँसे निकलकर उत्तर कुरुको प्रस्थान किया। वे सूर्यके तेजसे भयभीत थीं, अतः घोड़ीका रूप धारण करके वहाँ तपस्या करने लगीं। इधर भगवान् सूर्यने अपनी दूसरी पत्नीको संज्ञा ही समझकर उसके गर्भसे दो पुत्र और एक सुन्दर कन्याको जन्म दिया। छाया अपनी सन्तानोंके प्रति जैसा प्रेमपूर्ण बर्ताव करती थी, वैसा संज्ञाकी कन्या एवं पुत्रोंके साथ नहीं करती थी। लाड़-प्यार तथा भोजन आदिमें वह प्रतिदिन भेदभाव करती थी। यमुनाने तो उसके इस बर्तावको सह लिये किंतु यमराजसे नहीं सहा गया। उन्होंने पिताके समीप जाकर प्रणामपूर्वक कहा—'तात! यह मेरी माता नहीं है।' यह सुनकर भगवान् सूर्यने छाया—संज्ञाको बुलाकर पूछा—'देवी! संज्ञा कहाँ चली गयीं?' उनके बार-बार पूछनेपर भी जब उसने नहीं बताया, तब वे क्रोधमें आकर शाप देनेको उद्यत हो गये। इससे भयभीत हो उसने सब वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों बता दिया। यथार्थ बात ज्ञात होनेपर सूर्यदेव विश्वकर्माके घर गये और विश्वकर्मासे उन्होंने संज्ञाके विषयमें पूछा। वे बोले—'देव! संज्ञा आपके भेजनेसे मेरे घर आयी अवश्य थी, किंतु मैंने उसे पुनः वहीं भेज दिया।' यह सुनकर भगवान् सूर्यने समाधिमें स्थित होकर देखा कि संज्ञा घोड़ीका रूप धारण करके उत्तर कुरुमें तपस्या कर रही हैं। उन्होंने ध्यानके द्वारा यह भी समझ लिया कि तेजसे असह्य होनेके कारण वह मेरी ओर देखनेमें समर्थ न हो सकी। आज पचास वर्ष व्यतीत हो गये। उसने पृथ्वीपर जाकर तपस्या की है। तब भगवान् सूर्य शीघ्रतापूर्वक संज्ञाके पास गये। उस समय वे धर्मारण्यपुरमें आकर तपस्यामें संलग्न थीं। भगवान् सूर्यको आया हुआ देख सूर्यपत्नी संज्ञा पुनः घोड़ीके रूपमें स्थित हो गयीं। तब भगवान् सूर्य भी अश्व हो गये। फिर उन दोनोंका मिलन हुआ। इससे वे दोनों अश्विनीकुमार जुड़वें प्रकट हुए। उनके दाहिने खुरसे पृथ्वी विदीर्ण हो जानेके कारण वहाँ एक कुण्ड बन गया और उसमें जल प्रकट हो गया। इसी प्रकार पिछले चरणोंसे भी एक दूसरा कुण्ड

बन गया। उसमें स्नान करनेसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है और उसका शरीर कोढ़ आदि रोगोंसे पीड़ित नहीं होता। राजन्! इस प्रकार तुमसे अश्विनीकुमारोंकी उत्पत्तिका वृत्तान्त बतलाया। देवताओंने वहाँ भगवान् सूर्यको वकुलवनके स्वामीके रूपमें स्थापित किया। साथ ही वहाँ संज्ञारानी और दोनों अश्विनीकुमारोंकी भी स्थापना की गयी। जो मनुष्य इन्द्रियोंको संयममें रखकर श्रद्धापूर्वक सूर्यकुण्डमें स्नान करता है, वह महानरकमें पड़े हुए पितरोंका भी उद्धार कर देता है। जो श्रद्धापूर्वक देवताओं और पितरोंका तर्पण करके उस कुण्डका जल पीता है, उसका पुण्य कोटिगुना होता है। रविवारयुक्त सप्तमीमें तथा चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहणके समय जो सूर्यकुण्डमें स्नान करते हैं, वे फिर गर्भमें नहीं जाते। संक्रान्ति, व्यतीपात और वैधृति योगमें, पर्वोंके अवसरपर, शुक्ल और कृष्ण पक्षकी पूर्णिमा, अमावास्या एवं चतुर्दशीको जो सूर्यकुण्डमें स्नान करता है, उसे कोटि यज्ञोंका फल प्राप्त होता है। जो मनुष्य एकचित्त होकर वकुलादित्यका पूजन करता है, वह जबतक सूर्यदेव तपते हैं तबतक परम धाममें निवास करता है। उसे कभी सर्पका भय नहीं होता। भूत और प्रेत आदिकी बाधा भी नहीं प्राप्त होती। जो मनुष्य रोगग्रस्त हो, वह सूर्यकुण्डमें छः महीनेतक स्नान करनेसे सभी रोगोंसे मुक्त हो जाता है। युधिष्ठिर! जो मनुष्य इस धर्मारण्यक्षेत्रमें कन्यादान करता है, वह उस विवाहयज्ञसे पवित्रचित्त होकर ब्रह्मलोकमें पूजित होता है। इस क्षेत्रमें गोदान, शय्यादान, मूँगा, घोड़ा, दासी, भैंस, तिल एवं सुवर्णका दान करना चाहिये। रविवारयुक्त सप्तमी तिथिमें जो वकुलादित्यका स्मरण करता है, उसे ज्वर आदि रोगों, शत्रुओं तथा व्याधियोंसे भय नहीं प्राप्त होता।

**युधिष्ठिरजीने पूछा**—मुने! वहाँ भगवान् सूर्यका वकुलार्क अथवा वकुलादित्य नाम कैसे पड़ा?

**व्यासजी बोले**—राजेन्द्र! जब संज्ञारानीने भगवान् सूर्यकी प्राप्ति तथा उनके तेजकी शान्तिके लिये एकचित्त होकर वकुल-वृक्षके नीचे तपस्या की, उस समय उस वृक्षके नीचे आकर भगवान् सूर्य बहुत शान्त हो गये। तभी रानीने दो परम मनोहर दिव्यरूपधारी पुत्र उत्पन्न किये। इसीसे भगवान् सूर्यका नाम वकुलार्क हुआ। जो वहाँ स्नान करता है, उसे कोई व्याधि पीड़ा नहीं देती तथा वह धर्म, अर्थ एवं कामको प्राप्त करता है। वहाँ छः महीनेमें मनुष्यको सिद्धि प्राप्त होती है और वह अन्तमें मोक्ष पाता है।

## इन्द्रेश्वरकी स्थापना और उनकी महिमा, देवमज्जनक तड़ागका माहात्म्य तथा लोहासुरके अत्याचारसे धर्मारण्यकी जनताका पलायन

**व्यासजी कहते हैं**—भारत! धर्मारण्यपुरसे उत्तर दिशामें देवराज इन्द्रने भगवान् शंकरको प्रसन्न करनेके लिये तीन सौ वर्षोंतक अत्यन्त दुष्कर तप किया। वृत्रासुरके वधसे जो पाप लगा था, उसको दूर करनेके लिये ही इन्द्र जितेन्द्रिय एवं एकाग्रचित्त होकर भगवान् शंकरकी आराधनामें लगे थे। उस समय भगवान् चन्द्रशेखर उनकी तपस्यासे बहुत प्रसन्न हुए और उनके समीप आकर बोले—'देवराज! तुम जो कुछ माँगते हो, उसे मैं दूँगा।'

**इन्द्रने कहा**—देवेश्वर! कृपासिन्धु महेश्वर! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो वृत्रासुरके मरनेसे जो पाप लगा है, उसका नाश कीजिये।

**भगवान् शिवने कहा**—देवराज! धर्मारण्यमें ब्रह्महत्या किसीको पीड़ा नहीं दे सकती। गोहत्या, द्विजहत्या, बालहत्या और स्त्रीहत्या भी मेरे, ब्रह्माजीके, भगवान् विष्णुके तथा यमराजके वचनसे कभी यहाँ प्रवेश नहीं करती। अतः तुम इस तीर्थमें प्रवेश करके स्नान करो।

**इन्द्रने कहा**—दयासिन्धो! महेश्वर! यदि आप मुझपर सन्तुष्ट हैं तो मेरे नामसे यहाँ स्थापित हों।

तब महादेवजीने 'तथास्तु' कहकर इन्द्रकी प्रार्थना स्वीकार की और लोगोंके हितकी इच्छासे सबके पापोंकी शुद्धिके लिये धर्मारण्यमें इन्द्रेश्वर नामसे वे विराजमान हुए। जो मनुष्य सदा भक्तिपूर्वक पुष्प और धूप आदिसे भगवान् इन्द्रेश्वरका पूजन करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। विशेषतः माघ मासमें अष्टमी और चतुर्दशी तिथिको सब पापोंकी शुद्धिके लिये भगवान् शिवकी पूजा करनेवाला पुरुष शिवलोकमें प्रतिष्ठित होता है। जो चतुर्दशी तिथिमें सांग रुद्रजप करता है, वह सब पापोंसे शुद्धचित्त हो परम पदको प्राप्त होता है। जो कुष्ठ आदि महारोगोंसे ग्रस्त होते हैं, वे स्नानमात्रसे शुद्ध हो दिव्य देह धारण कर लेते हैं। जो स्नान करके देवाधिदेव इन्द्रेश्वरका पूजन करता है, वह ज्वरके बन्धनसे छूट जाता है। जो वन्ध्या, दुर्भाग्यवती, काकवन्ध्या, जिसकी सन्तान मर जाती हो, वह, मृतवत्सा तथा महादुष्टा नारी कुण्डमें भगवान् शिवके आगे स्नान करके एकचित्तसे उनकी पूजा करती है, वह स्नानमात्रसे ही शुद्ध हो जाती है।

इस प्रकार इन्द्रको बहुतसे वरदान देकर पिनाकधारी भगवान् शंकर देवता और असुरोंसे सेवित हो अपने धामको चले गये। तत्पश्चात् महातेजस्वी इन्द्र भी अपनी पुरीको गये। इन्द्रपुत्र जयन्तने भी वहाँ उत्तम शिवलिंगकी स्थापना की है। उस लिंगमें स्थित भगवान् शिव जयन्तके द्वारा अपनी स्तुति सुनकर सदा उनपर सन्तुष्ट रहते हैं।

राजन्! वहाँ 'धराक्षेत्र' नामक तीर्थ है, जिसमें 'देवमज्जनक' नामक उत्तम तड़ाग शोभा पाता है। आश्विन कृष्णा चतुर्दशीके दिन उसमें स्नान और जलपान करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। विधिपूर्वक उपवास करके देवेश्वर भगवान् शिवकी पूजा करनेसे शाकिनी, डाकिनी, वेताल, पितर, ग्रह और नक्षत्र पीड़ा नहीं देते। वहाँ सांग रुद्रजप करनेसे सब पापोंसे छुटकारा मिल जाता है और अनेक प्रकारके रोग नष्ट हो जाते हैं। यह देवमज्जनक तड़ागका शुभ माहात्म्य बतलाया गया। इस प्रसंगके स्मरण और कीर्तनसे कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकारके पाप नष्ट हो जाते हैं। जो इस माहात्म्यको सुनता है, वह सब प्रकारके सुखसे सम्पन्न होता है।

त्रेतायुगकी बात है। 'लोहासुर' नामक एक मदोन्मत्त राक्षस ब्राह्मणका वेष धारण करके सदा धर्मारण्य क्षेत्रमें आता और वहाँके धर्मज्ञ ब्राह्मणोंको सताया करता था। वह उस क्षेत्रके शूद्रों और वैश्योंको डंडोंसे पीटता था। यज्ञ आदिको विध्वंस करता और होमकी सामग्री खा जाता था। वहाँकी वेदी और बावली आदिको देखकर वह मोहवश उन सबको अपवित्र कर दिया करता था। उस स्थानमें जो-जो पुण्यभूमि थी, उसे लोहासुरने मल-मूत्र डालकर गंदा कर दिया। उसके डरसे व्याकुल हो सब ब्राह्मण परिवारसहित सब दिशाओंमें भाग गये। वैश्य भी भयभीत होकर ब्राह्मणोंके ही पीछे चले गये। महान् भयसे व्याकुल हो दूर जाकर सब शूद्रों और ब्राह्मणोंके साथ मिलकर वैश्योंने कुछ विचार किया और सब एक मत होकर परम पवित्र 'मुक्तारण्य' नामक निर्जन वनमें चले गये। वहाँ थोड़ी ही दूरपर उन्होंने निवास बनाया और उस गाँवको 'वजिङ्' नामसे बसाया। वह गाँव संसारमें 'शम्भुग्राम'के नामसे विख्यात हुआ।

तदनन्तर भयसे भागे हुए कुछ वैश्योंने थोड़ी दूर जाकर 'मण्डल' नामसे एक गाँव बसाया। कुछ वैश्य ब्राह्मणोंके यूथसे अलग होकर किसी दूसरे मार्गमें जा पहुँचे और धर्मारण्यसे थोड़ी ही दूर जाकर इस चिन्तामें पड़े कि हमलोग कहाँ चले आये। वहाँ उन्होंने 'अडालंज' नामसे प्रसिद्ध एक ग्राम बसाया। जिस गाँवका आदिनिवासी वैश्य जिस नामसे प्रसिद्ध था, उसी नामसे उस गाँवकी प्रसिद्धि हुई। सब वैश्य और ब्राह्मण भयसे व्याकुल हो मोहको प्राप्त हुए। इसलिये उन्होंने अपनी निवास-भूमिका नाम 'मोहमयी' रखा। इस प्रकार सब लोग धर्मारण्यसे दसों दिशाओंकी ओर पलायन कर गये। ब्राह्मण और वैश्य कोई भी धर्मारण्यमें नहीं ठहर सके। उस समय सब तीर्थोंका भूषणरूप परम दुर्लभ धर्मारण्य क्षेत्र उजाड़ हो गया। लोहासुरने उसकी बड़ी दुर्दशा कर डाली। वह दानव उस स्थानके तीर्थोंका नाश और ब्राह्मणोंका निष्कासन करके बहुत प्रसन्न हो अपने घरको चला गया।

## सरस्वती नदी, द्वारकातीर्थ एवं गोवत्स आदि तीर्थोंकी महिमा

**सूतजी बोले**—अब मैं धर्मारण्यतीर्थके उत्तम माहात्म्यकी दूसरी कथा कहता हूँ। धर्मारण्यमें सत्यलोकसे जिस प्रकार सरस्वतीजी लायी गयीं, वह प्रसंग सुनिये। एक समय प्रभातकालीन सूर्यके समान तेजस्वी तथा सब शास्त्रोंमें प्रवीण महामुनिसेवित महर्षि मार्कण्डेयजीको भक्तिपूर्वक प्रणाम करके सब ऋषियोंने कहा—'भगवन्! आपने ब्रह्माजीकी पुत्री जिस सरस्वती नदीको उतारा है, वह दर्शनसे प्राणियोंके पापोंका नाश करनेवाली और पुण्य देनेवाली है, उसके माहात्म्यका वर्णन कीजिये।'

**मार्कण्डेयजी बोले**—ब्राह्मणो! मैंने शरणार्थियोंको शरण देनेवाली सरस्वती देवीको भाद्रपद मासके शुक्ल पक्षकी पुण्यमयी द्वादशी तिथिको धर्मारण्यके अन्तर्गत द्वारावतीतीर्थमें उतारा था। द्वारावतीतीर्थ मुनियों और गन्धर्वोंसे सेवित है। उक्त तिथिको उस तीर्थमें पिण्डदान आदि करना चाहिये। उसमें पितरोंको दिया हुआ अक्षय होता है और श्राद्धकर्ता भी उसके पुण्यफलको प्राप्त होता है। यह महत्त्वपूर्ण उपाख्यान पापोंका नाशक एवं पुण्यदायक है। पवित्र वस्तुओंमें पवित्र और महापातकोंका निवारण करनेवाला है। सरस्वतीजीका जल समस्त मंगलोंके लिये मंगलकारक और परम पवित्र है। प्रभास तीर्थके मध्यमें सरस्वतीका जो पुण्यमय जल है, वह क्या ऊपरके लोकोंमें सुलभ है? सरस्वतीका जल मनुष्योंकी ब्रह्महत्याको भी दूर करता है। सरस्वतीमें स्नान और देवता-पितरोंका तर्पण करके पश्चात् पिण्ड देनेवाले मनुष्य फिर कभी माताका दूध पीनेवाले शिशु नहीं होते। जैसे कामधेनु गौएँ मनोवांछित फल देनेवाली होती हैं, उसी प्रकार सरस्वती नदी भी स्वर्ग और मोक्षकी एकमात्र हेतु है।

**व्यासजी कहते हैं**—मार्कण्डेयजीने सरस्वती देवीको यहाँ लाकर वैकुण्ठका दरवाजा खोल दिया है। जो फलकी आकांक्षासे यहाँ शरीर-त्याग करते हैं, वे उस फलको पाते हैं और अन्तमें भगवान् विष्णुका सायुज्य प्राप्त कर लेते हैं। अधिक कहनेसे क्या लाभ; मनुष्योंको सदैव विष्णुलोक प्राप्त करनेकी इच्छासे द्वारकामें ही शरीर-त्याग करना चाहिये। द्वारकामें मृत्युको प्राप्त हुए मनुष्य सब पापोंसे छूटकर भगवान् विष्णुके धाममें जाते हैं। उस तीर्थमें स्नान करके जो मनुष्य भगवान् विष्णुका पूजन करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो विष्णुधामको जाता है। वह सब तीर्थोंमें उत्तम तीर्थ है, जहाँ साक्षात् श्रीहरि निवास

करते और उस तीर्थमें रहनेवाले मनुष्यके सब पापोंको हर लेते हैं। द्वारकातीर्थ मोक्ष चाहनेवाले मनुष्योंको मुक्ति देनेवाला, धनार्थियोंको धन देनेवाला तथा आयु, सुख एवं सम्पूर्ण मनोवांछित फल प्रदान करनेवाला है। जो मनुष्य वहाँ एकादशीमें उपवास करके श्राद्ध करता है, वह नरकोंसे सब पितरोंका उद्धार कर देता है।

वहाँ द्वारकाके समीप मार्कण्डेयजीसे उपलक्षित एक गोवत्स नामक तीर्थ है, जो पृथ्वीमें सर्वत्र विख्यात है। उस तीर्थमें जगत्पति उमाकान्त भगवान् शिव गायके बछड़ेके रूपमें अवतीर्ण हो स्वयम्भू लिंगरूपसे विराज रहे हैं। पूर्वकालमें बलाहक नामके एक शत्रुविजयी राजा थे, जो महान् बलवान् और भगवान् शिवके परम भक्त थे। एक दिन जब वे शिकार खेलनेमें लगे थे, उनके किसी पैदल सैनिकने मृगोंके झुण्डमें एक गायके बछड़ेको स्थित देखकर राजासे कहा—'नृपश्रेष्ठ! मैंने मृगोंके समुदायमें एक गायका बछड़ा देखा है, जो उन्हींमें हिला-मिला है। उसकी माँ उसके साथ नहीं है।' राजाने उस नौकरसे कहा—'तू मुझे उस बछड़ेको दिखा।' तब उस पैदल सेवकने वनमें जाकर राजाको वह बछड़ा दिखाया। उस समय पैदल सैनिकोंके भयसे मृगोंका वह झुण्ड पीलु वृक्षकी झाड़ीकी ओर भागा। तब गायका बछड़ा भी उसी ओर चला। राजा उसे पकड़नेके लिये झाड़ीमें घुस गये और ज्यों ही उसे पकड़ने लगे त्यों ही वह उज्ज्वल शिवलिंगके रूपमें परिणत हो गया। यह देखकर राजाको बड़ा विस्मय हुआ। वे सोचने लगे—'यह क्या बात है।' तबतक उस शिवलिंगके मध्य भागमें उन्होंने गायके बछड़ेको स्थित देखा। अब उनके मनमें यह निश्चय हो गया कि 'अवश्य ही गायके बछड़ेके रूपमें साक्षात् भगवान् महेश्वर विराजमान हैं।' तदनन्तर उन्हें ले जानेके लिये उद्यत हो राजाने उस शिवलिंगको उखाड़नेका प्रयत्न किया, किंतु वे उस देवलिंगको किसी प्रकार उठा न सके। तब राजाके साथ सब देवताओंने भगवान् शंकरसे प्रार्थना की।

**देवता बोले**—भगवन्! सर्वदेवेश्वर! प्रभो! आपको सब लोकोंका हित-साधन करनेकी इच्छासे शुक्ल लिंगरूपसे स्थित होना चाहिये।

**श्रीमहादेवजीने कहा**—देवताओ! मैं यहाँ सदा ही लिंगरूपसे स्थित रहूँगा। भाद्रपद मासके कृष्ण पक्षमें अमावास्याके दिन मेरा प्राकट्य हुआ है, इसलिये उस दिन विधिपूर्वक स्नान करके जो लोग इस शिवलिंगका पूजन करेंगे, उन्हें भय नहीं होगा। यहाँ पिण्डदान करनेसे पूर्वजोंको सदाके लिये उत्तम लोककी प्राप्ति होगी। घोर रौरव, कुम्भीपाक तथा अन्य अनेक नरकोंमें गिरे हुए अथवा पशु-पक्षियोंकी योनिमें पड़े हुए जो पितर हैं, उन्हें यहाँ एक बार पिण्डदान करनेसे अक्षय गतिकी प्राप्ति होती है।

तदनन्तर राजा बलाहकने सब देवताओंके समीप उस शिवलिंगको स्थापित किया और लोकहितकी कामनासे अनेक प्रकारके दान दिये। जबतक वे उस लिंगकी पूजा करते रहे, तभीतक साक्षात् भगवान् शिव भी वहाँ आ गये।

**शिवजीने कहा**—जो मनुष्य आजकी रातमें श्रद्धा और भक्तिसे इस देवेश्वर शिवकी पूजा करेंगे, उन्हें अक्षय पुण्यकी प्राप्ति होगी। जो गीता-शास्त्रका पाठ करते हुए जागरण करेंगे, वे मनुष्य अपनी एक सौ एक पीढ़ियोंका उद्धार कर देंगे।

यह देवाधिदेव भगवान् शिवका अद्भुत लिंग है। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक इसका माहात्म्य सुनता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। गोवत्स नामसे विख्यात शिवलिंग मनुष्योंको परम पुण्य प्रदान करनेवाला है। वह अनेक जन्मोंके पापोंका नाश कर देता है, ऐसा मार्कण्डेयजीका वचन है। जिनका चित्त पापसे दूषित है, उनके पापयुक्त

शरीरकी शुद्धिके लिये उस तीर्थमें स्नान करना आवश्यक है। गोवत्सतीर्थमें एक बार किया हुआ स्नान भी मनुष्योंको रुद्रलोक प्रदान करनेवाला है। वहाँ विशेषतः भाद्रपद मासमें पक्षके अन्तमें कूपके तटपर तर्पण और श्राद्ध करनेसे कलियुगमें पितरोंको अधिक तृप्ति होती है। गयामें इक्कीस बार तर्पण करनेपर पितरोंको जो परम तृप्ति होती है, वह गंगकूपमें एक बार तर्पण करनेसे ही हो जाती है। गोवत्स महादेवके समीप ही गंगकूप विद्यमान है। वहाँ तिल और जलसे भी तर्पण करनेपर पितर सद्गतिको प्राप्त होते हैं, नरकोंसे छूट जाते हैं। उस तीर्थमें मुनीश्वरगण गोदानकी प्रशंसा करते हैं। वहाँ दो पीलुके वृक्ष स्थित हैं। वहीं मुनिसेवित गोवत्सतीर्थ है, जो स्नानसे स्वर्ग देनेवाला, आचमनसे पापकी शुद्धि करनेवाला, कीर्तनसे पुण्य उत्पन्न करनेवाला और सेवनसे मोक्ष देनेवाला है।

गोवत्सतीर्थसे नैर्ऋत्य कोणमें 'लोहयष्टि' दीख पड़ती है। वहाँ स्वयम्भू लिंगके रूपमें साक्षात् भगवान् शंकर विराजमान हैं। भाद्रपद (आश्विन)-की अमावास्याके दिन लोहयष्टिमें श्राद्ध करनेपर पितर प्रेतयोनिसे मुक्त हो स्वर्गमें क्रीड़ा करते हैं। पितरलोग यह कहते हैं 'क्या हमारे कुलमें भी ऐसा कोई पुरुष उत्पन्न होगा, जो श्राद्धपक्षमें आश्विनकी अमावास्याके दिन लोहयष्टि तीर्थमें हमारे लिये तिल, जल, पिण्डदान अथवा केवल जल ही प्रदान करेगा?' मुनि कहते हैं—'यदि पितर अधिक प्रिय हों तो भाद्रपद (आश्विन)-की अमावास्या तिथिको उनके लिये अवश्य श्राद्ध करना चाहिये।' जो सरस्वतीके जलमें स्नान करके दूधसे और श्वेत तिलोंसे पितरोंका तर्पण करता है, उसके पितर अवश्य तृप्त होते हैं। लोहयष्टि तीर्थमें भक्ति-भावसे तर्पण करनेपर मनुष्य स्वयं भी तृप्तिको प्राप्त होता है। जल देनेवाला तृप्ति और अन्न देनेवाला अक्षय सुख पाता है। फल देनेवाला पितृभक्त पुत्र और अभय देनेवाला आरोग्य लाभ करता है। न्यायोपार्जित धनमेंसे जो थोड़ा भी दान दिया जाय, तो वह महान् फल देनेवाला होता है। उस तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य भगवान् शिवका पार्षद होता है।

## संक्षेपसे श्रीरामचन्द्रजीके सम्पूर्ण चरित्रका वर्णन

**व्यासजी कहते हैं**—पूर्वकालमें त्रेतायुग आनेपर भगवान् विष्णुका अंश सूर्यवंशमें रघुवंशशिरोमणि कमलनयन श्रीरामचन्द्रजीके रूपमें अवतीर्ण हुआ। श्रीराम और लक्ष्मण अभी काकपक्षधारी बालक थे, तभी पिताकी आज्ञासे वे विश्वामित्रके अनुगामी हो गये। राजा दशरथने यज्ञकी रक्षाके लिये उन अपने दोनों कुमारोंको विश्वामित्रजीकी सेवामें सौंप दिया था। वे दोनों वीर धनुष और बाण धारण करके पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये चले। रास्तेमें जाते हुए उन दोनों भाइयोंके समक्ष ताड़का नामवाली राक्षसी विघ्न डालनेके लिये आ खड़ी हुई। तब विश्वामित्र मुनिकी आज्ञासे श्रीरामचन्द्रजीने ताड़काको मार डाला। विश्वामित्रजीने श्रीरामचन्द्रजीको धनुर्वेद विद्याका उपदेश भी दिया। रघुनाथजीके चरणोंके स्पर्शसे शिलारूपधारिणी अहल्या, जो इन्द्रके साथ संयोग होनेके कारण शापवश प्रस्तर हो गयी थी, पुनः गौतम-वधूके रूपमें प्रकट हो गयी। विश्वामित्रजीका यज्ञ आरम्भ होनेपर रघुनाथजीने मारीचको मार भगाया और सुबाहुको अपने उत्तम बाणोंसे मौतके घाट उतार दिया। उन्होंने राजा जनकके घरमें रखे हुए महादेवजीके धनुषको तोड़ डाला और अयोनिजा सीताके साथ विवाह किया। जब वे अयोध्याको लौटने लगे, तब रास्तेमें परशुरामजी

मिले। उन्हें जीतकर श्रीरामचन्द्रजी सीताके साथ घर आये। तत्पश्चात् सत्ताईसवें वर्षकी आयुमें जब श्रीरामचन्द्रजीको युवराज पद दिया जाने लगा, तब कैकेयीने राजासे दो वर माँगे। उनमेंसे एक वरके द्वारा यह माँगा कि 'श्रीराम जटा धारण करके चौदह वर्षोंके लिये वनमें चले जायँ और दूसरे वरसे यह माँग लिया कि भरत युवराज-पदके अधिकारी हों।' कैकेयी भोली-भाली थी। उसने मन्थराके बहकानेसे ऐसा वर माँगा। राजा दशरथने जानकी और लक्ष्मणके साथ श्रीरामचन्द्रजीको वनवास दे दिया। श्रीरामचन्द्रजी तीन राततक केवल जल पीकर रहे। चौथे दिन फलाहार किया और पाँचवें दिन चित्रकूटमें पहुँचकर उन्होंने पर्णकुटी बनायी। उस समय राजा दशरथ श्रीरामचन्द्रजीका नाम लेते हुए स्वर्गको सिधारे। उन्होंने ऋषिके शापको सफल बनाकर स्वर्गलोकको प्रस्थान किया। उसके बाद भरत और शत्रुघ्न चित्रकूटमें आये। भरतने पिताके स्वर्गगामी होनेका समाचार बतलाकर श्रीरामचन्द्रजीको घर लौट चलनेके लिये समझाया। जब वे लौटनेको राजी न हुए, तब उनकी चरणपादुका लेकर भरत और शत्रुघ्न नन्दिग्रामको लौट आये। वहाँ दोनों भाई राज्यकी रक्षा करते हुए श्रीरामकी चरणपादुकाके पूजनमें तत्पर रहे।

श्रीरामचन्द्रजी महात्मा अत्रिसे मिलकर दण्डकारण्यमें आये और राक्षसोंका वध आरम्भ किया। सबसे पहले विराध मारा गया। उसके बाद साढ़े बारह वर्षोंतक श्रीरामचन्द्रजी पंचवटीमें टिके रहे। वहाँ उन्होंने लक्ष्मणजीके द्वारा 'शूर्पणखा' नामक राक्षसीको कुरूप करा दिया। जानकीके साथ वनमें विचरते हुए श्रीरामचन्द्रजीके आश्रमके समीप भयंकर राक्षस रावण आया। वह सीताका अपहरण करनेके लिये आया था। माघ मासके कृष्ण पक्षकी अष्टमी तिथिको वृन्द मुहूर्तमें जब राम और लक्ष्मण दोनों आश्रमसे बाहर चले गये थे, दशमुख रावणने सीताको अकेली पाकर हर लिया। रावण पहले मारीचके आश्रमपर गया था। मारीच मृगरूपमें आकर लक्ष्मणसहित श्रीरामको दूर हटा ले गया था। तब श्रीरामचन्द्रजीने मृगरूपधारी मारीचको मार डाला और पुनः लौटकर जब वे आश्रमपर आये, तब उसे सीतासे रहित एवं सूना देखा।

उधर सीता रावणके द्वारा हरी जानेपर कुररीकी भाँति विलाप करने लगी—'हा राम! हा राम! मुझे राक्षस हरकर लिये जाता है, आप आकर मुझे बचाइये, मेरी रक्षा कीजिये।' जैसे भूखा बाज चीत्कार करती हुई चिड़ियाको उठा ले जाता है, वैसे ही राक्षस रावण जनकनन्दिनी सीताको हरकर लिये जा रहा था। यह समाचार सुनकर पक्षिराज जटायुने राक्षसराज रावणसे युद्ध किया। अन्तमें रावणने उन्हें घायल करके गिरा दिया। माघ कृष्णा नवमीको रावणके घरमें निवास करनेवाली सीताकी खोज करते हुए दोनों भाई राम और लक्ष्मण जटायुसे मिले। उसके मुखसे राक्षसद्वारा हरी गयी सीताका समाचार पाकर श्रीरामने भक्तिपूर्वक पक्षिराजका दाहादि संस्कार किया। फिर आगे-आगे श्रीराम और उनके पीछे लक्ष्मण चले। पम्पासरोवरके निकट पहुँचकर उन्होंने शबरीपर अनुग्रह किया। फिर पम्पासरोवरके जलका आचमन करके श्रीरामजी हनुमान्‌जीसे मिले। तदनन्तर रघुनाथजीने हनुमान् एवं सुग्रीवसे मैत्री की। सुग्रीवके पास आकर उन्होंने बाली नामक वानरको मारा। तत्पश्चात् श्रीरामदेवने अपनी प्राणवल्लभा सीताकी खोजके लिये हनुमान् आदि प्रमुख वानरोंको भेजा। हनुमान्‌जी श्रीरामकी अँगूठी लेकर गये। दसवें महीनेमें सम्पातीने हनुमान्‌जीको सीताका पता बतलाया। सम्पातीके कहनेसे हनुमान्‌जी सौ

योजन समुद्र लाँघकर लंकामें पहुँचे और रातभर सब ओर सीताकी खोज करते रहे। रात्रि समाप्त होते-होते हनुमान्‌जीको सीताका दर्शन हुआ। द्वादशीको हनुमान्‌जी अशोक वृक्षपर बैठे रहे। उसी रातमें उन्होंने जानकीजीके विश्वासके लिये उत्तम कथा कही। तदनन्तर त्रयोदशीको अक्षकुमार आदिके साथ युद्ध हुआ। त्रयोदशीको ही मेघनादने ब्रह्मास्त्रसे हनुमान्‌को बाँध लिया। ब्रह्मास्त्रसे बँधे होनेपर भी वायुपुत्र हनुमान्‌जीने राक्षसराज रावणको कितने ही रूखे एवं कठोर वचन सुनाये। तब राक्षसोंने उनकी पूँछमें आग लगा दी। उसी आगसे हनुमान्‌जीने समस्त लंकाको जला डाला और वे पूर्णिमाको पुनः महेन्द्र पर्वतपर लौट आये। मार्गशीर्ष प्रतिपदासे पाँच दिनतक रास्तेमें रहकर वे मधुवनमें आये और षष्ठीको मधुवनका विध्वंस किया। फिर सप्तमीको श्रीरामचन्द्रजीकी सेवामें पहुँचकर पहचान देते हुए सब समाचार निवेदन किया। सीताजीकी मणि देकर श्रीरामसे उन्होंने सब बातें बतायीं। फिर अष्टमीको उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमें, जब विजयसंज्ञक मुहूर्त व्यतीत हो रहा था, ठीक दोपहरके समयमें श्रीरामचन्द्रजीने प्रस्थान किया। रामने दक्षिण दिशामें जानेकी प्रतिज्ञा करते हुए कहा—'मैं समुद्रको लाँघकर भी राक्षसराज रावणका वध करूँगा। दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थान करते समय श्रीरामचन्द्रजीके साथी वानरराज सुग्रीव हुए। सात दिनोंमें समुद्रके तटपर सेनाकी छावनी पड़ी। पौष शुक्ला प्रतिपदासे लेकर तृतीयातक सेनासहित श्रीरामचन्द्रजीकी उपस्थिति सागरके तटपर हुई। चतुर्थीको विभीषण आकर श्रीरामचन्द्रजीसे मिले। पंचमीको समुद्र पार करनेके विषयमें विचार किया गया। उसके बाद चार दिनतक श्रीरामचन्द्रजीने समुद्रके किनारे उपवास-व्रत किया। चौथे दिन समुद्रसे वर प्राप्त हुआ। साथ ही समुद्रने समुद्र-पार करनेका उपाय बताया। दशमीसे सेतु बाँधनेका कार्य प्रारम्भ हुआ और त्रयोदशीको पूरा हो गया। चतुर्दशीको सुबेल पर्वतपर पहुँचकर श्रीरामचन्द्रजीने सेनाका पड़ाव डाला। पूर्णिमासे लेकर द्वितीयातक तीन दिनोंमें सारी सेना समुद्र पार करके लंका पहुँच गयी। तत्पश्चात् शुभलक्षण श्रीरामने सीताको प्राप्त करनेके लिये शूरवीर वानरोंकी सेनाके साथ लंकापुरीको चारों ओरसे घेर लिया। तृतीयासे लेकर दशमीतक आठ दिनोंतक सेना टिकी रही। एकादशीके दिन शुक और सारण इन दो मन्त्रियोंका आगमन हुआ। पौष कृष्णा द्वादशीको सेनाकी गणना की गयी। कपिश्रेष्ठ सुग्रीवने अपनी सेनाके बलाबलका वर्णन किया। त्रयोदशीसे लेकर अमावास्यातक तीन दिन लंकामें रावणने अपनी सेनाका संगठन, उसकी गणना एवं सैनिकोंमें युद्धके लिये उत्साह भरनेका कार्य किया। माघ शुक्ला प्रतिपदाको अंगदजी दूत बनकर रावणके दरबारमें गये। द्वितीयाके दिन सीताजीको मायासे उनके पतिके कटे हुए मस्तक आदिका दर्शन कराया गया। उस दिनसे सात दिनोंतक अर्थात् अष्टमी तिथितक राक्षसों और वानरोंमें घमासान युद्ध हुआ। माघ शुक्ला नवमीकी रातमें मेघनादने युद्ध करके राम और लक्ष्मणको नागपाशमें बाँध लिया। इससे सब कपीश्वर व्याकुल और हताश हो गये। तब वायुके उपदेशसे श्रीरघुनाथजीने गरुड़का स्मरण किया। दशमीको गरुड़जी नागपाशसे छुड़ानेके लिये आये। फिर माघ शुक्ला एकादशीसे लेकर दो दिनतक युद्ध बंद रहा। द्वादशीको हनुमान्‌जीने धूम्राक्षका और त्रयोदशीको उन्होंने ही अकम्पनका वध किया। रावणने श्रीरामको मायामयी सीताका दर्शन कराकर समस्त सैनिकोंको भयभीत कर दिया। माघ शुक्ला चतुर्दशीसे लेकर कृष्ण पक्षकी प्रतिपदातक तीन दिनमें

नीलने प्रहस्तका वध किया। माघ कृष्णा द्वितीयासे लेकर चतुर्थीतक तीन दिनोंमें श्रीरामचन्द्रजीने तुमुल युद्ध करके रावणको रणस्थलसे मार भगाया। पंचमीसे अष्टमीतक रावणद्वारा जगाया हुआ कुम्भकर्ण चार दिनतक केवल भोजन ही करता रहा। नवमीसे चार दिनतक कुम्भकर्णने युद्ध किया और बहुतसे वानरोंको खा डाला। अन्तमें वह श्रीरामचन्द्रजीके हाथसे मारा गया। अमावास्याके दिन लंकामें उसके लिये शोक मनाया गया। फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदासे लेकर चतुर्थीतक चार दिनोंमें नरान्तक आदि पाँच राक्षस मारे गये। पंचमीसे सप्तमीतक तीन दिनोंमें अतिकायका वध हुआ। अष्टमीसे द्वादशीतक पाँच दिनोंमें निकुम्भ और कुम्भ मारे गये। फिर चार दिनोंमें मकराक्षका वध किया गया। फाल्गुन कृष्णा द्वितीयाके दिन मेघनाद पराजित हुआ। तीजसे लेकर सप्तमीतक पाँच दिन दवा आदि लानेकी व्यग्रताके कारण युद्ध बंद रहा। अष्टमीको दुर्बुद्धि रावणने शोकके आवेगसे मायामयी मैथिलीका वध किया। तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीने सेनाके द्वारा इसका पूर्णतः निश्चय किया। फिर त्रयोदशीसे पाँच दिनोंमें लक्ष्मणजीने विख्यात बल और पराक्रमवाले मेघनादको युद्धमें मार डाला। चतुर्दशीको रावणने युद्ध बंद करके यज्ञकी दीक्षा ली। फिर अमावास्याके दिन वह युद्धके लिये निकला। चैत्र शुक्ला प्रतिपदासे लेकर पाँच दिनतक रावण लगातार युद्ध करता रहा। इस युद्धमें बहुत-से राक्षसोंका संहार हुआ। फिर तीन दिनोंतक रावणके रथ, घोड़े आदि मारे गये। चैत्र शुक्ला नवमीको लक्ष्मणजीको शक्ति लगी। तब श्रीरामचन्द्रजीने क्रोधमें भरकर दशमुख रावणको खदेड़ दिया। फिर विभीषणकी सलाहसे हनुमान्‌जी लक्ष्मणके लिये ओषधि लानेको द्रोणाचल पर्वतपर गये और वहाँसे विशल्या (संजीवनी बूटी) ले आकर उन्होंने लक्ष्मणको पिलायी। दशमीके दिन युद्ध बंद रहा। रातमें राक्षसोंने युद्ध आरम्भ किया। एकादशीके दिन श्रीरामचन्द्रजीके पास मातलि नामक सारथिके साथ इन्द्रका रथ आ पहुँचा। चैत्र शुक्ला द्वादशीसे लेकर कृष्णा चतुर्दशीतक अठारह दिनोंमें श्रीरामचन्द्रजीने द्वन्द्वयुद्ध करके रावणको मार डाला। अमावास्याके दिन रावण आदि राक्षसोंके दाह-संस्कार हुए। इस प्रकार घोर संग्राम होनेपर श्रीरामचन्द्रजीको विजय प्राप्त हुई। माघ शुक्ला द्वितीयासे लेकर चैत्र कृष्णा चतुर्दशीतक सत्तासी दिनके संग्राममें केवल पंद्रह दिन युद्ध बंद रहा। शेष बहत्तर दिन युद्ध चालू रहा। वैशाख शुक्ला प्रतिपदाको श्रीरामचन्द्रजी रणभूमिमें ही रहे। द्वितीयाके दिन उन्होंने विभीषणका लंकाके राज्यपर अभिषेक किया। तृतीयाको सीताकी शुद्धि हुई, देवताओंसे वरदान प्राप्त हुआ। उसी दिन दशरथजीका आगमन हुआ और उनके द्वारा भी सीताजीकी पवित्रताके विषयमे अनुमोदन प्राप्त हुआ।

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी राक्षसोंद्वारा कष्टमें डाली हुई परम पवित्र जानकीको बड़े प्रेमसे ग्रहण करके वहाँसे लौटे। वैशाखकी चतुर्थीको श्रीरामचन्द्रजी पुष्पक विमानपर बैठे और आकाशमार्गसे अयोध्यापुरीकी ओर चल दिये। चौदहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर वैशाख शुक्ला पंचमीको श्रीरामचन्द्रजी अपने दलबलके साथ भरद्वाज आश्रमपर आकर रहे। फिर षष्ठीको पुष्पक विमानसे वे नन्दिग्राममें आये। सप्तमीमें अयोध्याके राज्यपर रघुनाथजीका अभिषेक हुआ। चौदह महीने दस दिनतक सीताको रामसे अलग रावणके घरमें रहना पड़ा था। बयालीसवें वर्षमें श्रीरामचन्द्रजीने राज्यकार्य प्रारम्भ किया। उस समय सीताजीकी आयु पैंतीस वर्षकी थी। चौदह वर्षके बाद ही

श्रीरामने अयोध्यापुरीमें प्रवेश किया था। उस समय रावणका दर्प दलन करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी बहुत प्रसन्न थे। उन्होंने अपने भाइयोंके साथ ग्यारह हजार वर्षोंतक राज्य किया। राज्यका पालन करनेके पश्चात् वे सबके साथ परम धाममें गये। रामराज्यमें सब लोग बहुत प्रसन्न रहते थे। सभी धन-धान्यसे सम्पन्न तथा पुत्र-पौत्रोंसे भरे-पूरे थे। बादल इच्छाके अनुसार पानी बरसाते थे, अन्नकी उपज कई गुनी अधिक होती थी, गौएँ घड़ाभर दूध देती थीं और वृक्षोंमें सदैव फल लगे रहते थे। श्रीरामचन्द्रजीके राज्यमें किसीको आधि-व्याधि नहीं सताती थी, सभी स्त्रियाँ पतिव्रता होती थीं, पुरुष पिता-माताकी भक्ति करनेवाले होते थे, ब्राह्मण सदा वेदपाठमें लगे रहते, क्षत्रिय ब्राह्मणोंकी सेवा करते और वैश्यलोग ब्राह्मणों एवं गौओंमें सदा भक्ति रखते थे। उस समय वर्णसंकरता और कर्मसंकरताका नाम नहीं सुना जाता था। कोई भी स्त्री वन्ध्या, दुर्भाग्यवती, काकवन्ध्या, मृतवत्सा अथवा विधवा नहीं थी। सधवा स्त्रीको कभी विलाप नहीं करना पड़ता था। कोई भी माता-पिता और गुरुकी अवहेलना नहीं करते थे। प्रत्येक मनुष्य पुण्य करता और बड़े-बूढ़ोंकी आज्ञा नहीं टालता था। कोई दूसरेकी भूमिपर अधिकार नहीं जमाते थे। सभी परायी स्त्रियोंसे विमुख रहते थे। कोई मनुष्य परनिन्दक, दरिद्र, रोगी, चोर, जुआरी, शराबी और पापी नहीं था। सुवर्ण चुरानेवाला, गुरुपत्नीगमन करनेवाला, ब्रह्महत्या, स्त्रीहत्या और बालहत्या करनेवाला तथा झूठ बोलनेवाला एक भी मनुष्य नहीं था। कोई किसीकी जीविका नष्ट नहीं करता और झूठी गवाही नहीं देता था। शठ, कृतघ्न और मलिन मनुष्य कहीं देखनेको भी नहीं मिलता था। ब्राह्मण वेदोंके पारंगत विद्वान् होते थे और सदा सर्वत्र उनकी पूजा होती थी। अत्यन्त विख्यात रामराज्यमें कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं था, जो व्रतका पालन करनेवाला एवं ईश्वरका भक्त न हो। राज्य करते हुए श्रीरामचन्द्रजीके पास उनके पुरोहित महाभाग वसिष्ठ मुनि अनेक तीर्थोंमें भ्रमण करके आये। श्रीरामचन्द्रजीने अभ्युत्थान, अर्घ्य, पाद्य और मधुपर्क आदिके द्वारा मुनियोंसहित गुरु वसिष्ठका पूजन किया। तत्पश्चात् मुनिवर वसिष्ठने श्रीरामचन्द्रजीसे उनके राज्य, अश्व, हाथी, खजाना, देश, उत्तम बन्धु तथा सेवकोंके विषयमें कुशल-समाचार पूछा। श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'गुरुदेव! आपके प्रसादसे मेरे लिये सर्वत्र कुशल है।' तदनन्तर श्रीरामने मुनिवर वसिष्ठजीसे उनकी पत्नी और पुत्रके कुशल-मंगलका समाचार पूछा। तब वसिष्ठजीने भूमण्डलमें जिन-जिन क्षेत्रों, तीर्थों और देवालयोंका सेवन किया था, उन सबकी चर्चा करते हुए सर्वत्र अपना कुशल-मंगल बतलाया। इससे कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी बड़े विस्मित होकर वसिष्ठजीसे उत्तमोत्तम तीर्थका माहात्म्य पूछने लगे।

# वसिष्ठजीके द्वारा भिन्न-भिन्न तीर्थोंकी महिमाका वर्णन, श्रीरामकी धर्मारण्ययात्रा, वहाँके भगे हुए ब्राह्मणोंको पुनः लाकर बसाना और सत्यमन्दिरकी स्थापना करना

**श्रीरामचन्द्रजीने कहा**—भगवन्! आपने जिन-जिन तीर्थोंका सेवन किया है, उनमें सबसे उत्तम तीर्थ कौन है, यह मुझे बताइये। सीताका अपहरण होनेपर मैंने बहुत-से ब्रह्मराक्षसोंका वध किया है। उस पापकी शुद्धिके लिये आप मुझे किसी ऐसे तीर्थका परिचय दीजिये, जो उत्तम-से-उत्तम हो।

**वसिष्ठजी बोले**—गंगा, नर्मदा, तापी, यमुना, सरस्वती, गण्डकी, गोमती और पूर्णा—ये सभी नदियाँ परम पावन हैं। इन सबमें नर्मदा और त्रिपथगामिनी गंगा श्रेष्ठ हैं। रघुनन्दन! श्रीगंगाजी दर्शनमात्रसे ही सब पापोंको जला देती हैं। कलियुगमें नर्मदाका दर्शन करनेसे सौ जन्मोंके, समीप जानेसे तीन सौ जन्मोंके और जलमें स्नान करनेसे एक हजार जन्मोंके पापोंका वह नाश कर देती हैं। नर्मदाके तटपर जाकर साग और मूल-फलसे भी एक ब्राह्मणको भोजन करानेसे कोटि ब्राह्मणोंको भोजन देनेका फल होता है। जो सौ योजन दूरसे भी गंगा-गंगाका उच्चारण करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होता और भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है*। फाल्गुन (चैत्र) मासके अन्तमें अमावास्या तिथिको तथा भाद्रपद (आश्विन) कृष्ण पक्षमें गंगाजीके तटपर जाकर जो मनुष्य स्नान, पितरोंका तर्पण और पिण्डदान करता है, वह अक्षय फलका भागी होता है। तापी नदीका स्मरण करनेपर महापातकियोंके भी सात गोत्रोंका उद्धार हो जाता है। यमुनामें स्नान करनेसे मनुष्य सब पापोंसे छूट जाता है और महापातकोंसे युक्त होनेपर भी परम गतिको प्राप्त होता है। कार्तिककी पूर्णिमाको कृत्तिका नक्षत्रका योग होनेपर जो सरस्वती नदीमें स्नान करता है, वह गरुड़की पीठपर बैठकर उत्तम देवताओंके मुखसे अपनी स्तुति सुनता हुआ वैकुण्ठधामको जाता है। जो कार्तिक मासमें प्राची सरस्वतीके जलमें स्नान करके भगवान् प्राचीमाधवकी स्तुति करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है। जो गण्डकी (नारायणी) नदीके पुण्यतीर्थमें स्नान करता और शालग्रामशिलाकी पूजा करता है, उसका फिर जन्म नहीं होता है। जो द्वारकावासी श्रीकृष्णके समीप गोमतीके जलकी लहरोंमें स्नान करता है, वह चतुर्भुजरूप धारण करके वैकुण्ठधाममें आनन्दका अनुभव करता है। चर्मण्वती (चम्बल) नदीको नमस्कार करके

* गंगा गङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि। मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥
(स्क० पु०, ब्रा० ध० मा० ३१। ७)

जो उसके जलका स्पर्श करता है, वह पहले और पीछेकी दस-दस पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है। दोनोंका संगम देखकर अथवा समुद्रकी ध्वनि सुनकर ब्रह्महत्यासे युक्त मनुष्य भी पवित्र हो परम गतिको प्राप्त होता है। जो मनुष्य माघ मासमें प्रयागमें गोता लगाता है, वह इहलोकमें सुख भोगकर अन्तमें विष्णुधामको प्राप्त होता है। जो मनुष्य प्रभासक्षेत्रमें तीन राततक ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक निवास करते हैं, वे यमलोक एवं कुम्भीपाक आदिका दर्शन नहीं करते। जो मनुष्य नैमिषारण्यमें निवास करता है, वह देवत्वको प्राप्त होता है। श्रीराम! जो मनुष्य कुरुक्षेत्रमें चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहणके अवसरपर स्नान करके सुवर्णदान करता है, उसका इस लोकमें पुनर्जन्म नहीं होता। जो मनुष्य इस पृथ्वीपर कपिला गौको स्पर्श करके दान देता है, वह कामधेनु गौओंके निवासभूत ऋषिलोकको जाता है। जो वैशाख मासमें उज्जयिनीपुरीमें क्षिप्राके जलमें स्नान करता है, वह अपने सहस्रों पूर्वजोंको घोर रौरव नरकसे छुटकारा दिला देता है। जो मनुष्य तीन दिनोंतक सिन्धुनदी अथवा समुद्रमें स्नान करता है, वह सब पापोंसे शुद्धचित्त हो कैलासमें आनन्द भोगता है। कोटितीर्थमें स्नान करके कोटीश्वर शिवका दर्शन करनेवाला मनुष्य कहीं भी ब्रह्महत्या आदि पापोंसे लिप्त नहीं होता। महान् अपवित्र स्थानमें जानेवाले अज्ञानी जीव भी यदि भगवान्‌के चरणोंसे प्रकट हुई गंगाका जल पी लें तो उनका सब पाप नष्ट हो जाता है। जो मनुष्य सूर्योदयकालमें वेदवती नदीमें स्नान करता है, वह सब रोगोंसे मुक्त हो उत्तम सुखका भागी होता है। रघुनन्दन! प्रायः सभी तीर्थ स्नान, जलपान तथा गोता लगानेसे अनायास ही मनुष्योंके सब पापोंका नाश कर देते हैं। सब तीर्थोंमें उत्तम तीर्थ धर्मारण्य बतलाया जाता है; क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि देवताओंने पूर्वकालमें सबसे पहले इसी तीर्थको स्थापित किया था। सब वनों और तीर्थोंमें विशेषतः धर्मारण्यसे बढ़कर भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाला दूसरा कोई तीर्थ नहीं है। स्वर्गके देवता भी धर्मारण्यनिवासी मनुष्योंकी सराहना करते हैं।

रघुनन्दन! द्वारका, काशी, त्रिशूलधारी शिव तथा भैरव—ये सब जैसे मुक्तिदायक हैं, उसी प्रकार धर्मारण्य भी मोक्ष देनेवाला उत्तम तीर्थ है। यह सुनकर महाधनुर्धर श्रीरामचन्द्रजी बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने सीतादेवी और अपने भाइयोंके साथ तीर्थयात्राके लिये प्रस्थान किया। उनके पीछे कपीश्वर हनुमान्‌जी, माता कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी, लक्ष्मण, भरत, सेनासहित शत्रुघ्न, अयोध्याके अन्यान्य निवासी तथा प्रजावर्गके लोग भी गये। तीर्थयात्राकी विधिका पालन करनेके लिये घरसे चले हुए राजा श्रीरामने अपने कुलके आचार्य महर्षि वसिष्ठसे कहा—'मुने! यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि आदिमें यह धर्मारण्य क्षेत्र हुआ या द्वारका हुई। धर्मारण्य क्षेत्रकी उत्पत्ति कितने कालसे हुई है, यह बताइये।'

**वसिष्ठजी बोले**—महाराज! मैं नहीं जानता कि यह क्षेत्र कितने दिनोंसे प्रकट है। दीर्घजीवी लोमश और जाम्बवान् इसका कारण जानते होंगे। शरीरमें जो अनेक जन्म-जन्मान्तरोंका किया हुआ पाप संचित है, उन सभी पापोंका उत्तम प्रायश्चित्त यह धर्मारण्य क्षेत्र माना गया है।

वसिष्ठजीका यह वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने वहाँ जानेका विचार करके यात्रा-विधिका पालन किया। फिर वसिष्ठजीको आगे करके महामाण्डलिक राजाओं (सामन्तों)-के साथ पुरश्चरणविधि पूर्ण कर उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान किया। आगे जाकर फिर वे पश्चिम दिशाकी ओर मुड़ गये। गाँव-से-गाँव, देश-से-देश और वन-से-वनको लाँघते हुए आगे बढ़ते चले गये। सेना, सामान, हजारों हाथी, घोड़े, करोड़ों रथ आदि वाहनों और असंख्य शिविकाओंके साथ श्रीरघुनाथजी

यात्रा कर रहे थे। वे हाथीपर बैठकर नाना प्रकारसे मैत्रीभाव प्रदर्शित करनेवाले विभिन्न देशोंको देखते हुए जा रहे थे। उनके ऊपर श्वेत छत्र तना हुआ था और उनके पार्श्व भागमें सुन्दर चँवर डुलाया जा रहा था।

दसवें दिन श्रीरामचन्द्रजी परम उत्तम धर्मारण्य क्षेत्रके निकट पहुँच गये। धर्मारण्यके समीप ही 'माण्डलिकपुर' को देखकर श्रीरामने अपनी सेनाके साथ रातमें वहीं निवास किया। उन्होंने सुना, धर्मारण्य क्षेत्र इस समय निर्जन एवं उजाड़ होकर बड़ा भयानक प्रतीत होता है। वहाँ बाघ और सिंह भरे हुए हैं। यक्ष और राक्षस निवास करते हैं। धर्मारण्य अब केवल जंगल रह गया है। जनताके मुखसे ये सारी बातें सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'तुमलोग चिन्ता न करो।' उन्होंने वहाँके व्यवसायकुशल, शूरवीर, महान् बली एवं पराक्रमी तथा समर्थ वैश्योंको बुलाकर कहा—'तुमलोग मेरी यह सोनेकी पालकी शीघ्र ले चलो, जिससे मैं अभी धर्मारण्यमें पहुँच जाऊँ। वहाँ स्नान और जलपान करनेसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।' इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीसे प्रेरित होकर उन सभी वैश्योंने 'तथास्तु' कहकर पालकी उठायी और उन्हें धर्मारण्यमें पहुँचा दिया। सेनासहित श्रीरामने जब उस क्षेत्रमें प्रवेश किया तब प्रत्येक वाहनकी गति मन्द हो गयी। बाजोंकी आवाज भी कम हो गयी, हाथी मन्द गतिसे चलने लगे, घोड़ोंकी भी यही दशा हुई। यह सब देखकर श्रीरामचन्द्रजीको बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने विनयपूर्वक मुनिश्रेष्ठ गुरु वसिष्ठसे पूछा—'मुनीश्वर! यह क्या बात है? सब वाहनोंकी गति मन्द हो गयी, यह तो एक विचित्र बात है?' तब तीनों कालोंकी बात जाननेवाले मुनि वसिष्ठने कहा—'राम! यह धर्मक्षेत्र आ गया। इस पुरातन तीर्थमें पैदल यात्रा करनी चाहिये। ऐसा करनेसे पीछे सेनाको सुख मिलेगा।' तब श्रीरामचन्द्रजी सेनाके साथ पैदल चलने लगे। जाते-जाते वे 'मधुवासनक' नामवाले परम पावन ग्राममें पहुँचे। वहाँ गुरु वसिष्ठकी बतायी हुई पद्धतिसे भाँति-भाँतिके उपहारोंद्वारा प्रतिष्ठाविधिके साथ मातृकाओंका पूजन किया। तदनन्तर श्रीरामने सुवर्णा नदीके दक्षिण तटपर हरिक्षेत्रका निरीक्षण किया और यज्ञके योग्य बहुत-से स्थलोंको देखा। उस समय रघुनाथजीने धर्मस्थानका निरीक्षण करके अपने-आपको कृतार्थ माना और सुवर्णाके उत्तर तटपर सैनिकोंको उतारकर स्वयं उस क्षेत्रमें भ्रमण करने लगे। वहाँके सभी तीर्थों और देवमन्दिरोंमें जा-जाकर श्रीरामने सभी शास्त्रोक्त कर्म विधिपूर्वक सम्पन्न किये। उन्होंने बड़ी श्रद्धाके साथ विधिपूर्वक पितरोंका श्राद्ध किया। स्थानसे वायव्य कोणमें सुवर्णाके दोनों तटोंपर श्रीरामेश्वर और कामेश्वरका स्थापन किया। इन सब विधियोंका पालन करके वे अपनी पत्नी सीताके साथ रात्रिमें उस नदीके तटपर ही सोये। जब आधी रात हुई, तब सबके सो जानेपर भी धर्मवत्सल श्रीराम अकेले जागते रहे। उस समय उन्हें किसी स्त्रीके रोनेका शब्द सुनायी दिया। वह करुणाजनक बातें कहकर उस रातमें कुररीकी भाँति विलाप कर रही थी। श्रीरामने उसी क्षण गुप्तचर भेजकर उस स्त्रीका निरीक्षण कराया। करुणाजनक स्वरसे क्रन्दन करती हुई उस व्याकुल नारीको देखकर श्रीरामके दूतोंने पूछा—'सुन्दरी! तुम कौन हो? देवी हो या दानवी? किसने तुम्हें भय पहुँचाया है? किसने तुम्हारा धन लूट लिया है, जिससे व्याकुल हो बार-बार तुम कठोर शब्दोंका उच्चारण करती हुई रो रही हो? सच-सच बताओ, राजा श्रीराम तुम्हारा समाचार पूछते हैं?' उस स्त्रीने उत्तर दिया—'दूतो! अपने स्वामीको ही मेरे पास भेज दो, जिससे मैं अपने मानसिक दुःखको उनसे कहूँ और शान्ति पाऊँ।' 'बहुत अच्छा' कहकर दूत लौट गये और उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीके पास जाकर सब बातें कह सुनायीं।

**दूत बोले**—भगवन्! उस स्त्रीने कहा है कि श्रीरामचन्द्रजी ही मेरे दुःखका निवारण कर सकते हैं; अतः तुम्हारा कल्याण हो, तुम उन्हींको भेज दो।

यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजी तुरंत वहाँ गये और दुःखसे सन्तप्त हुई उस अबलाको देखकर वे स्वयं भी दुखी हो गये। उस समय उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर पूछा—'शुभे! तुम कौन हो?

किसकी पत्नी हो? किसने तुम्हें दुखी करके इस निर्जन वनमें निकाल दिया है? किसने तुम्हारा धन लूटा है? ये सब बातें मेरे सामने कहो।'

**उनके इस प्रकार पूछनेपर उस स्त्रीने मधुर वाणीमें प्रेमपूर्वक श्रीरामचन्द्रजीका स्तवन किया**—परमात्मन्! आप सनातन परमेश्वर एवं सबका दुःख हरनेवाले हैं। जिसके लिये आपका अवतार हुआ था, वह कार्य आपने पूरा कर लिया। रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद, खर, दूषण, त्रिशिरा, मारीच और अक्षकुमार आदि असंख्य भयानक राक्षसोंको आपने समरांगणमें परास्त किया है। लोकेश! मैं आपकी उत्तम कीर्तिका वर्णन क्या कर सकती हूँ, जब साक्षात् ब्रह्माजी आपकी नाभिसे प्रकट कमलसे उत्पन्न हुए हैं और जैसे वटके बीजमें महान् वटवृक्षकी स्थिति मानी गयी है, उसी प्रकार उन्होंने इस सम्पूर्ण विश्वको आपके उदरमें विराजमान देखा है। श्रीराम! संसारमें राजा दशरथ तथा आपकी माता कौशल्या धन्य हैं, जिनकी कुक्षिसे आप प्रकट हुए हैं। वह कुल धन्य है, जिसमें आप स्वयं आये हैं। वह अयोध्या नगरी धन्य है, जिसे आपकी जन्मभूमि होनेका गौरव मिला है। वे लोग धन्य हैं, जो आपकी शरणमें रहते हैं। वे महर्षि वाल्मीकि धन्य हैं, जिन्होंने मुख्य-मुख्य ब्राह्मणोंके लिये अपनी बुद्धिसे भावी रामायणकी रचना की। आपके द्वारा यह रघुकुल अत्यन्त पवित्र हो गया है। लोकमें जो साधारण राजा होता है, उसे भी सब लोग भगवान् विष्णुका अंश समझते हैं। परंतु आप तो अपने रमणीय गुणोंसे सुशोभित स्वयं ही साक्षात् विष्णु हैं। लोकहितका कोई भी कार्य, जिसे करनेका विचार करके आपने यहाँ अवतार लिया है, करते समय आपके मार्गमें कभी कोई विघ्न-बाधा न आवे। इस प्रकार स्तुति करके उसने श्रीरामजीसे कहा—'रघुनन्दन! आप-जैसे स्वामीके रहते हुए जो मैं दीर्घकालसे सूनी हो रही हूँ, यह आपका ही दोष है। मुझे धर्मारण्य क्षेत्रकी अधिदेवता समझिये। आज बारह वर्ष हो गये, मैं यहीं दुःखमें डूबी रहती हूँ। महामते! आजसे आप यहाँकी निर्जनता दूर कीजिये। इस तीर्थमें निवास करनेवाले ब्राह्मण लोहासुरके भयसे सब दिशाओंमें भाग गये हैं, उन्हींके साथ सब वैश्य भी दुःखी होकर भिन्न-भिन्न स्थानोंमें चले गये। यद्यपि देवताओंने यहाँ आक्रमण करके उस महामायावी दुर्जय एवं दुर्धर्ष दैत्यको मार डाला है तथापि उसके भयसे अत्यन्त शंकित रहनेवाले मनुष्य अबतक यहाँ लौटकर

नहीं आ रहे हैं। बारह वर्ष बीत गये, यहाँका प्रत्येक घर अनाथकी भाँति सूनसान पड़ा है। जिस बावलीमें स्नान और दानके लिये उद्यत मनुष्योंकी भीड़ लगती थी, उसीमें अब सूअर कूदते हैं। जहाँ ब्राह्मणलोग निरन्तर सामवेदका गान करते थे, वहाँ अब सियारिनोंके अत्यन्त भयंकर शब्द सुनायी देते हैं। जहाँ घर-घरमें अग्निहोत्रका धूम दृष्टिगोचर होता था, वहीं अत्यन्त भयंकर दावानल धूएँके साथ दिखायी देता है। जिस सभामण्डपमें मन्त्रजप करनेवाले ब्राह्मण बैठा करते थे, वहीं अब गवय, रीछ और स्याही आदि जीव बैठते हैं। यहाँ जो ऊँची-ऊँची यज्ञकी चौकोर वेदियाँ बनी थीं, वे अब बाँबीकी मिट्टीके ढेरसे घिरी दिखायी देती हैं। नृपश्रेष्ठ श्रीराम! अब मेरा निवास-स्थान इस दशाको पहुँच गया है। यहाँसे जो ब्राह्मण चले गये, इसका मुझे बहुत दुःख है। नरेश्वर! मुझे इस संकटपूर्ण अवस्थासे उबारिये।'

**यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजी बोले**—आपके ब्राह्मण चारों दिशाओंमें चले गये हैं। मैं न तो उनकी संख्या जानता हूँ और न उनके नाम-गोत्रसे ही मेरा परिचय है। अतः उनकी जाति और गोत्रके विषयमें आप यथार्थ रूपसे बताइये, जिससे उन सबको यहाँ ले आकर मैं अपने-अपने स्थानपर बसाऊँ।

**श्रीमाता बोली**—नरेश्वर! ब्रह्मा, विष्णु और शिवने जिन्हें यहाँ स्थापित किया था, वे वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मण अठारह हजारकी संख्यामें यहाँ रहते थे। तीनों वेदोंकी विद्यामें उनकी बड़ी ख्याति है। वे प्रतिष्ठित ब्राह्मण चौंसठ गोत्रोंके हैं। उनके साथ छत्तीस हजार वैश्य थे, जो धर्मपरायण, सदाचारी और ब्राह्मणोंकी सेवामें संलग्न रहनेवाले थे। जहाँ संज्ञारानीके साथ राजा वकुलादित्य नामसे विख्यात भगवान् सूर्य विराजते हैं; जहाँ दोनों अश्विनीकुमार हैं, जहाँ व्ययकी पूर्ति करनेवाले साक्षात् कुबेर हैं, वही यह धर्मारण्य क्षेत्र है, जिसकी अधिष्ठातृदेवी मैं मानी गयी हूँ। मैं यहाँकी भट्टारिका (स्वामिनी) हूँ।

**श्रीसूतजी कहते हैं**—उस स्थानके जो आचार और वहाँ रहनेवालोंके जो कुलाचार थे, उन सब प्राचीन वृत्तान्तोंको श्रीमाताने श्रीरामचन्द्रजीके आगे निवेदन किया। उसकी बात सुनकर रघुनाथजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने कहा—'आपने मुझसे सत्य-सत्य बातें बतायी हैं। अतः मैं इसी नामसे यहाँ नगर बसाऊँगा। यह नगर तीनों लोकोंमें उत्तम सत्यमन्दिरके नामसे विख्यात होगा।' यों कहकर श्रीरामचन्द्रजीने अपने एक लाख सेवकोंको ब्राह्मणोंको बुला लानेके लिये भेजा और कहा—'जिस देश, प्रदेश, नदी, तट, वन अथवा ग्राममें जहाँ-जहाँ धर्मारण्यनिवासी ब्राह्मण गये हों, वहाँ-वहाँसे अर्घ्य-पाद्य आदिके द्वारा उनकी पूजा करके उन्हें तुमलोग शीघ्र यहाँ बुला लाओ। मैं तभी यहाँ भोजन करूँगा, जब उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके दर्शन कर लूँगा।'

भगवान्‌का यह आदेश सुनकर उनके आज्ञापालक दूत सब दिशाओंमें चले गये। उन्होंने सब ब्राह्मणोंको खोज निकाला और उन्हें पाकर सब-के-सब बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने शास्त्रोक्त विधानसे अर्घ्य-पाद्य आदिके द्वारा उन सबका पूजन किया, स्तुति की और विनययुक्त बर्ताव करते हुए श्रीरामचन्द्रजीका अनुरोध सुनाकर उन सबको धर्मारण्य चलनेके लिये आमन्त्रित किया। तदनन्तर वे सभी वेद-शास्त्रपरायण ब्राह्मण सेवकोंके साथ वहाँ जानेको उद्यत हुए और बड़े आदरपूर्वक श्रीरामके समीप गये। उन्हें देखकर दशरथनन्दन महाराज रामके अंगोंमें हर्षसे रोमांच हो आया और उन्होंने अपनेको कृतार्थ-सा माना। वे बड़े वेगसे उठकर पैदल ही उनकी अगवानीके लिये

गये और धरतीपर घुटने टेककर आनन्दके आँसू बहाते हुए दोनों हाथ जोड़कर बोले—'ब्राह्मणो! मैं ब्राह्मणके ही प्रसादसे लक्ष्मीपति हूँ, ब्राह्मणके ही प्रसादसे धरणीधर हूँ, ब्राह्मणके ही प्रसादसे जगतीपति हूँ और ब्राह्मणके ही प्रसादसे मेरा राम नाम है*।' श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर वे ब्राह्मण बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने जय-जयकार एवं आशीर्वादसे उनका सम्मान करते हुए कहा—'रघुनन्दन! आप दीर्घायु हों।' श्रीरामने उन्हें पुनः प्रणाम करके पाद्य, अर्घ्य और आसन आदिके द्वारा उनका सत्कार किया और दण्डवत् प्रणाम करके स्तुति की। तत्पश्चात् हाथ जोड़कर उनके चरणोंकी वन्दना की। फिर विचित्र प्रकारके आसन और सोनेके आभूषण समर्पित किये। अँगूठी, यज्ञोपवीत और कानोंके कुण्डल दिये। इतना ही नहीं, उन्होंने उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके लिये अनेक रंगकी सौ-सौ गायें भी दीं, जो बछड़ेवाली थीं और जिनके थन घड़ेके समान थे। उनकी पीठपर वस्त्र ओढ़ाया गया था, गलेमें घंटे बँधे थे, सींग सोनेसे और खुर चाँदीसे मढ़े गये थे। उनका पृष्ठभाग ताम्रपत्रसे विभूषित था और दूध दूहनेके लिये प्रत्येक गायके साथ एक-एक काँसेका पात्र था।

**तत्पश्चात् श्रीराम बोले**—ब्राह्मणो! मैं श्रीमाताकी आज्ञासे इस तीर्थका जीर्णोद्धार करूँगा। आपलोग इस कार्यके लिये मुझे आज्ञा दें और मेरा दान ग्रहण करें। सत्पात्रको ही दान देना चाहिये। अपात्रको कुछ नहीं दिया जाता; क्योंकि सुपात्र नौकाकी भाँति सदा पार उतारता है और अपात्र लोहपिण्डके समान केवल डुबानेवाला होता है। द्विजो! केवल जातिमात्रसे ब्राह्मणता नहीं आती है, उसके साथ-साथ ब्राह्मणोचित कर्म भी होना चाहिये। संसारमें क्रिया बलवती होती है। कर्महीन ब्राह्मणोंको दान देनेसे कहाँसे फल प्राप्त होगा? इस कारण सत्यवादी ब्राह्मण ही परम पूजनीय माने गये हैं। अब यज्ञकार्य प्रारम्भ होनेवाला है, इसमें आपलोग सदा कृपा करें।

तब वे सब ब्राह्मण आपसमें मिलकर विचार करने लगे। उनमेंसे कुछ ब्राह्मणोंने श्रीरामचन्द्रजीसे इस प्रकार कहा—'रघुनन्दन! हम सब शिलोञ्छवृत्तिसे जीविका चलानेवाले हैं। पूर्ण सन्तोषका आश्रय लेकर धर्मानुष्ठानमें लगे रहते हैं। अतः हमें दान लेनेसे कोई प्रयोजन नहीं है। राजाका प्रतिग्रह बड़ा भयंकर होता है, अतः हम भयदायक प्रतिग्रह नहीं लेना चाहते।' उन ब्राह्मणोंमेंसे कुछ एकाहित व्रतवाले थे। वे दिनमें एक बार भोजन करते थे। कुछ अमृतवृत्तिसे रहते थे—बिना माँगे जो कुछ मिल जाय, उसीपर सन्तोष करते थे। कुछ कुम्भीधान्य संज्ञावाले ब्राह्मण थे, वे एक घड़ेसे अधिक धान्यका संग्रह नहीं करते थे। कुछ ब्राह्मण यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन और दान तथा प्रतिग्रह—इन छः कर्मोंमें तत्पर रहते थे। वे सभी ब्राह्मण ब्रह्मा, विष्णु और शिव—इन तीन मूर्तियोंके स्थापित किये हुए थे। सबके स्वभाव और गुण पृथक्-पृथक् थे। कुछ ब्राह्मण इस प्रकार बोले—'हमलोग ब्रह्मा, विष्णु और शिव—इन तीनों स्वरूपोंकी आज्ञा लिये बिना कैसे प्रतिग्रह स्वीकार कर सकते हैं। जबतक ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओंने नहीं कहा, तबतक हमने किसीका ताम्बूल भी स्वीकार नहीं किया है।'

यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने महात्मा वसिष्ठजीसे परामर्श किया और गुरुके साथ ही उन्होंने ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव आदि देवताओंका स्मरण

* विप्रप्रसादात्कमलावरोऽहं विप्रप्रसादाद्धरणीधरोऽहम्। विप्रप्रसादाज्जगतीपतिश्च विप्रप्रसादान्मम राम नाम॥
(स्क० पु०, ब्रा० ध० मा० ३२। ६०)

भगवान् रामचन्द्रका दान

किया। स्मरण करते ही सब देवता वहाँ आ पहुँचे। उनके विमानोंकी पंक्ति कोटि-कोटि सूर्योंके समान प्रकाशित हो रही थी। श्रीरामने बड़ी प्रसन्नताके साथ उन सबका यथायोग्य पूजन किया और वह सब वृत्तान्त निवेदन करते हुए कहा—'मैं इस क्षेत्रकी अधिदेवीके कहनेसे यहाँ धर्मारण्य हरिक्षेत्रमें धर्मकूपके समीप जीर्णोद्धार करना चाहता हूँ।' तदनन्तर वे सब ब्राह्मण तीनों मूर्तियोंको प्रणाम करके हर्षमें भर गये। उनका मनोरथ सफल हो गया। उन्होंने अर्घ्य-पाद्य आदिकी विधिसे श्रद्धापूर्वक उनका पूजन किया। वे तीनों देवता ब्रह्मा, विष्णु और शिव क्षणभर विश्राम करके विनयसे हाथ जोड़े हुए महाशक्तिशाली श्रीरामचन्द्रजीसे बोले—'सूर्यवंश-विभूषण राम! तुमने देवद्रोही रावण आदि राक्षसोंका जो संहार किया है, इससे हमलोग बहुत प्रसन्न हैं। तुम इस महास्थानका उद्धार करो और महान् सुयश प्राप्त करो।'

उन देवताओंकी आज्ञा पाकर दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजी बहुत प्रसन्न हुए और ब्रह्मा आदि देवताओंके समीप जीर्णोद्धारका कार्य प्रारम्भ किया। उन्होंने पहले महान् पर्वतके समान सुन्दर एवं विशाल वेदी बनवायी और उसके ऊपर अनेकानेक सुन्दर बाह्यशाला, गृहशाला तथा ब्रह्मशालाका निर्माण कराया। उन शालाओंमें यथास्थान खजाना और गृहोपयोगी आवश्यक वस्तुओंका संग्रह किया गया। कोटि-कोटि स्वर्णमुद्राओं तथा रस और वस्त्र आदिसे वे शालाएँ भर गयीं। उनमें धन-धान्य-समृद्धि एवं सब प्रकारके धातुओंका भी संग्रह किया गया था। यह सब करके श्रीरामने ब्राह्मणोंको दान दिया। उन्होंने एक-एक ब्राह्मणके लिये दस-दस दूध देनेवाली गौएँ दीं। उन्होंने वेदवेत्ता ब्राह्मणोंके लिये चार हजार चार गाँव दिये। ब्रह्मा, विष्णु और शिव—इन तीन देवताओंने उन्हें स्थापित किया था, इसीलिये संसारमें त्रैविद्य नामसे उनकी ख्याति हुई। इस प्रकार ब्राह्मणोंको वह परम अद्भुत दान दिया। मण्डलोंमें जो उत्तम शूद्र वैश्यवृत्तिसे जीविका चला रहे थे, उनकी संख्या सवा लाख थी। वे सब श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञाका पालन करनेवाले थे और माण्डलिक कहलाते थे। उन सबको श्रीरामने ब्राह्मणोंकी सेवामें नियुक्त किया। श्रीरामचन्द्रजीने दो चँवर और खड्ग दिये। प्रतिष्ठा-विधिके साथ अपने कुलके स्वामी भगवान् सूर्यको स्थापित किया। चार वेदोंसे युक्त ब्रह्माजीकी स्थापना की, महाशक्ति श्रीमाता एवं श्रीहरिको भी स्थापित किया। विघ्नोंका निवारण करनेके लिये दक्षिण द्वारपर उन्होंने गणेशजी तथा अन्य देवताओंकी स्थापना की। वीरवर श्रीरघुनाथजीने सात मंजिलके मन्दिर बनवाये और यह नियम किया कि 'जो कोई भी यहाँ शुभ एवं मांगलिक कार्य करे, पुत्र होनेपर जातकर्म, अन्नप्राशन तथा मुण्डन आदि कर्म करे, यज्ञकर्मोंमें लक्ष होम और कोटि होम करे, वास्तुपूजा एवं ग्रहशान्ति करे तथा ऐसे महोत्सवोंके अवसरपर मनुष्य जो कुछ भी द्रव्य, अन्न, वस्त्र, धेनु, सुवर्ण, रजत आदिका दान ब्राह्मणों, शूद्रों, दीनों, अनाथों और अन्धोंके लिये देवे, उस समय पहले कार्यकी निर्विघ्नतापूर्वक सिद्धि होनेके लिये भगवान् वकुलादित्य और श्रीमाताका भाग निकाल दे। जो मनुष्य मेरी आज्ञाका उल्लंघन करके विपरीत आचरण करेगा, उसके उस कर्ममें विघ्न उपस्थित होगा।'

ऐसा कहकर श्रीरामने प्रसन्नचित्तसे देवताओंकी बावलियों, सुन्दर चहारदिवारियों, दुर्गके उपकरणों, विस्तृत सड़कों और गलियों, कुण्ड, सरोवर, तलैया, धर्मवापी तथा अन्यान्य देवनिर्मित कूपोंका पुनर्निर्माण कराया। इस प्रकार मनोरम धर्मारण्यमें इन सब वस्तुओंका विस्तारपूर्वक निर्माण कराकर

श्रीरघुनाथजीने उन्हें त्रयीविद्याके मुख्य-मुख्य विद्वानोंको सौंप दिया। श्रीरामचन्द्रजीका शासन वहाँ ताम्रपत्रपर लिखकर रख लिया गया है। जो उसको लोप करेगा, उसके पूर्वज नरकमें पड़ेंगे और आगे उसके कुलमें संतति नहीं होगी। तत्पश्चात् श्रीरामने पवनपुत्र हनुमान्‌जीको बुलाकर कहा—'महावीर वायुकुमार! तुम्हारी भी पूजा होगी। तुम इस क्षेत्रकी रक्षाके लिये यहाँ निवास करो।' हनुमान्‌जीने प्रणाम करके प्रभुकी आज्ञाको शिरोधार्य किया। इस प्रकार उस तीर्थका जीर्णोद्धार किया। श्रीमाताका पूजन करके वे अन्य तीर्थोंमें जानेको उद्यत हुए। ब्रह्मा आदि देवता भी श्रीरामको आशीर्वाद दे अपने-अपने लोकको चले गये।

## रामनामकी महिमा, कलियुगका प्रभाव तथा धर्मारण्यक्षेत्रके माहात्म्यश्रवणका फल

**व्यासजी कहते हैं**—जो लोग 'राम-राम-राम' इस मन्त्रका उच्चारण करते हैं, खाते, पीते, सोते, चलते और बैठते समय सुखमें या दुःखमें राममन्त्रका जप करते हैं, उन्हें दुःख, दुर्भाग्य, आधि-व्याधिका भय नहीं रहता। उनकी आयु, सम्पत्ति और बल प्रतिदिन बढ़ते रहते हैं। रामका नाम लेनेसे मनुष्य भयंकर पापसे छूट जाता है। वह नरकमें नहीं पड़ता और अक्षयगतिको प्राप्त होता है।

इस प्रकार श्रीरामजीने तीर्थोद्धारका सब कार्य पूरा कर ब्राह्मणोंकी परिक्रमा करके उन्हें प्रणाम किया और गाय, घोड़े, भैंस तथा रथ आदि बहुत-से दान देकर वे सेनासहित लौट आये। क्रमशः अयोध्या नगरीमें आकर उन्होंने दीर्घकालतक राज्य किया।

**युधिष्ठिरने पूछा**—मुने! कलियुग प्राप्त होनेपर संसारमें कैसा भय होता है?

**व्यासजी बोले**—राजन्! कलियुगमें लोग असत्यवादी और साधुपुरुषोंकी निन्दा करनेवाले होंगे। वे सभी लुटेरोंके कर्म करनेवाले तथा पितृभक्तिसे दूर होंगे। अपने ही गोत्रकी स्त्रियोंसे रमण करनेवाले और चपलताके ही चिन्तनमें तत्पर होंगे। सब एक-दूसरेके विरोधी, ब्राह्मणद्वेषी तथा शरणागतोंका वध करनेवाले होंगे। कलियुग प्राप्त होनेपर ब्राह्मण वेदभ्रष्ट, अहंकारी, वैश्योचित आचार (कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य)-में तत्पर और सन्ध्याकर्मका लोप करनेवाले होंगे। शान्तिकालमें शूरताकी डींग मारनेवाले और भय प्राप्त होनेपर अत्यन्त दीन होंगे। श्राद्ध और तर्पणसे दूर रहेंगे। असुरोंके समान आचारवाले तथा विष्णुभक्तिसे रहित होंगे। दूसरोंके धन हड़पनेकी इच्छावाले और सूदखोर होंगे। ब्राह्मण बिना नहाये भोजन कर लेंगे। क्षत्रिय युद्धका नाम सुनकर दूर भागेंगे। कलिमें सब लोग दुष्टवृत्तिवाले तथा मलिन होंगे। मदिरा पीयेंगे और जो यज्ञके अधिकारी नहीं हैं, ऐसे लोगोंसे भी यज्ञ करावेंगे। स्त्रियाँ पतिसे द्वेष करनेवाली तथा पुत्र पितासे वैर रखनेवाले होंगे। कलियुगके क्षुद्र मनुष्य भाईसे शत्रुता रखेंगे। ब्राह्मण धनसंग्रहमें तत्पर होकर गायका दूध, दही और घी बेचेंगे। कलिकालमें गौएँ प्रायः दूध नहीं देती हैं, वृक्षोंमें कभी फल नहीं लगते हैं। लोग कन्या बेचनेवाले होंगे। गाय और बकरीको भी बेचेंगे। विष-विक्रय तथा रस-विक्रय करेंगे। कलियुगके ब्राह्मण वेद बेचनेवाले होंगे। स्त्रियाँ ग्यारह वर्षकी आयुमें

ही गर्भ धारण करेंगी। प्राय: लोग एकादशीके उपवाससे रहित होंगे। तीर्थसेवनमें ब्राह्मणोंकी प्रवृत्ति नहीं होगी। ब्राह्मण अधिक खानेवाले और अधिक सोनेवाले होंगे। सब लोग कुटिलवृत्तिसे जीविका चलानेवाले तथा वेदोंकी निन्दामें तत्पर होंगे। संन्यासियोंकी निन्दा करेंगे और परस्पर एक-दूसरेको छलनेवाले होंगे। कलियुगमें छूआछूतके दोषको नहीं मानेंगे। क्षत्रियलोग राज्यसे वंचित होंगे और म्लेच्छ राजा होगा। प्राय: सब विश्वासघाती, गुरुद्रोही, मित्रद्रोही तथा शिश्नोदरपरायण होंगे। महाराज! कलियुग आनेपर चारों वर्णके लोग एक हो जायँगे, यह मेरा वचन अन्यथा नहीं होगा। कलियुग प्राप्त होनेपर सब ब्राह्मण स्थानसे भ्रष्ट होंगे। वे बलवान् पक्षको ग्रहण करेंगे और पक्षपाती होंगे तथा वेदभ्रष्ट होंगे।

प्राचीन कालमें ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि देवताओंने धर्मारण्य तीर्थको स्थापित किया था। सत्ययुगमें इस तीर्थका नाम धर्मारण्य, त्रेतामें सत्यमन्दिर, द्वापरमें वेदभवन और कलियुगमें मोहेरक हुआ*। जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक सब पापोंका नाश करनेवाले धर्मारण्य-माहात्म्यको सुनता है, वह मन, वाणी और शरीरसे होनेवाले त्रिविध पातकका नाश कर देता है। एक बार इसके सुनने अथवा कीर्तन करनेसे सब पापोंका नाश हो जाता है। स्त्री हो या पुरुष, जो भक्तिपूर्वक इसे सुनता है, वह कभी नरकका दर्शन नहीं करता है। श्रेष्ठ पुरुष पवित्रचित्त होकर इस पुराणकी पुस्तकको किसी उत्तम स्थानपर स्थापित करके रेशमी वस्त्र तथा गन्ध, माल्य आदिसे इसकी पृथक्-पृथक् पूजा करे। कथा समाप्त होनेपर वाचककी भी पूजा करे। विचित्र वस्त्र दे। गन्ध, माला और चन्दन आदिके द्वारा देवताके समान पूजा करके वाचकको दूध देनेवाली गौका दान करे।

**धर्मारण्य-माहात्म्य सम्पूर्ण।**

* धर्मारण्यं कृतयुगे त्रेतायां सत्यमन्दिरम्। द्वापरे वेदभवनं कलौ मोहेरकं स्मृतम्॥

(स्क० पु०, ब्रा० ध० मा० ४०। ६७)

# चातुर्मास्य-माहात्म्य

## चातुर्मास्य व्रतका माहात्म्य, संयम-नियम, दयाधर्म तथा चौमासेमें अन्न आदि दानोंकी महिमा

**नारदजी बोले**—देवाधिदेव! इस समय मैं शुभकारक चातुर्मास्य व्रतको सुनना चाहता हूँ।

**ब्रह्माजीने कहा**—देवर्षे! ये भगवान् विष्णु ही सबको मोक्ष देनेवाले तथा संसारसागरसे पार उतारनेवाले हैं। इनके स्मरणमात्रसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। संसारमें मनुष्य-जन्म दुर्लभ है। उसमें भी उत्तम कुलमें जन्म पाना और दुर्लभ है। कुलीन होनेपर भी दयालु स्वभावका होना और कठिन है। यह सब होनेपर भी कल्याणमय सत्संग प्राप्त होना और भी दुर्लभ है। जहाँ सत्संग नहीं, विष्णुभक्ति नहीं और व्रत नहीं हैं, वहाँ कल्याणकी प्राप्ति दुर्लभ है। विशेषतः चातुर्मास्यमें भगवान् विष्णुका व्रत करनेवाला मनुष्य उत्तम माना गया है। सब तीर्थ, दान, पुण्य और देवस्थान चातुर्मास्य आनेपर भगवान् विष्णुकी शरण लेकर स्थित होते हैं। जो चातुर्मास्यमें श्रीहरिको प्रणाम करता है, उसीका जीवन शुभ है। संसारमें मनुष्यका जन्म और भगवान् विष्णुकी भक्ति दोनों ही दुर्लभ हैं। जो मनुष्य चातुर्मास्यमें नदीस्नान करता है, वह सिद्धिको प्राप्त होता है। जो झरना, तड़ाग और बावलीमें स्नान करता है, उसके सहस्रों पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं। पुष्कर, प्रयाग अथवा और किसी महातीर्थके जलमें जो चातुर्मास्यमें स्नान करता है, उसके पुण्यकी संख्या नहीं है। नर्मदा, भास्करक्षेत्र, प्राची सरस्वती तथा समुद्र-संगममें एक दिन भी जो चातुर्मास्यमें स्नान करता है, उसमें पापका लेशमात्र भी नहीं रह जाता। जो नर्मदामें एकाग्रचित्त होकर तीन दिन भी चौमासेका स्नान करता है, उसके पापके सहस्रों टुकड़े हो जाते हैं। जो गोदावरी नदीमें सूर्योदयके समय चौमासेमें पंद्रह दिनतक स्नान करता है, वह कर्मजनित शरीरका परित्याग करके भगवान् विष्णुके धाममें जाता है। जो मनुष्य तिलमिश्रित एवं आँवलामिश्रित जलसे अथवा बिल्वपत्रके जलसे चातुर्मास्यमें स्नान करता है, उसमें दोषका लेशमात्र भी नहीं रह जाता। देवाधिदेव भगवान् विष्णुके चरणोंके अंगुष्ठसे प्रवाहित होनेवाली गंगाजी सदा ही पापनाशिनी कही गयी हैं। चातुर्मास्यमें उनका यह माहात्म्य विशेषरूपसे प्रकट होता है। भगवान् विष्णु स्मरण करनेपर सहस्रों पाप भस्म कर डालते हैं, इसलिये उनका चरणोदक मस्तकपर चौमासेमें धारण किया जाय तो वह कल्याणकारी होता है। चातुर्मास्यमें भगवान् नारायण जलमें

शयन करते हैं, अतः उसमें भगवान् विष्णुके तेजका अंश व्याप्त रहता है। उस समय उसमें किया हुआ स्नान सब तीर्थोंसे अधिक फल देनेवाला होता है। नारद! बिना स्नानके जो पुण्यकार्यमय शुभकर्म किया जाता है, वह निष्फल होता है, उसे राक्षस ग्रहण कर लेते हैं। स्नानसे मनुष्य सत्यको पाता है। स्नान सनातन धर्म है, धर्मसे मोक्षरूप फल पाकर मनुष्य फिर दुःखी नहीं होता[१]। रातको और सन्ध्याकालमें बिना ग्रहणके स्नान न करे, गर्म जलसे भी स्नान नहीं करना चाहिये। सूर्यके दर्शनसे सब कर्मोंमें शुद्धि कही गयी है। चातुर्मास्यमें विशेषरूपसे जलकी शुद्धि होती है। शरीर असमर्थ हो तो भस्मस्नानसे उसकी शुद्धि होती है। मन्त्रस्नानसे, भगवान् विष्णुके चरणोदकसे अथवा भगवान् नारायणके आगे क्षेत्र, तीर्थ और नदी आदिमें जो स्नान करता है, उसका चित्त शुद्ध हो जाता है। चातुर्मास्यमें यह महत्त्व और बढ़ जाता है।

चातुर्मास्यमें भगवान्के शयन करनेपर प्रतिदिन स्नानके अन्तमें श्रद्धायुक्त चित्तसे पितरोंका तर्पण करना चाहिये। इससे महान् फलकी प्राप्ति होती है। नदियोंके संगममें स्नानके पश्चात् पितरों और देवताओंका तर्पण करके जप, होम आदि कर्म करनेसे अनन्त फलकी प्राप्ति होती है। पहले भगवान् गोविन्दका स्मरण करके पीछे शुभकर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये। ये भगवान् गोविन्द ही देवता, पितर और मनुष्य आदिको तृप्ति देनेवाले हैं। चातुर्मास्य सब गुणोंसे उत्कृष्ट समय है। उसमें धर्मयुक्त श्रद्धा एवं स्मृतिसे पवित्र समस्त कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये। सत्संग, ब्राह्मणभक्ति, गुरु, देवता और अग्निका तर्पण, गोदान, वेदपाठ, सत्कर्म, सत्यभाषण, गोभक्ति और दानमें प्रीति—ये सब सदा धर्मके साधन हैं[२]। भगवान् विष्णुके शयन करनेपर उक्त धर्मोंका साधन एवं नियम भी महान् फल देनेवाला होता है। दो घड़ी भी भगवान् विष्णुका ध्यान एवं उन निरंजन परमेश्वरके सेवनसे सौ जन्मोंका पाप भस्म हो जाता है। यदि मनुष्य चौमासेमें भक्तिपूर्वक योगके अभ्यासमें तत्पर न हुआ, तो निःसन्देह उसके हाथसे अमृत गिर गया। बुद्धिमान् मनुष्यको सदैव मनको संयममें रखनेका प्रयत्न करना चाहिये; क्योंकि मनके भलीभाँति वशमें होनेसे ही पूर्णतः ज्ञानकी प्राप्ति होती है। यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है। अतः क्षमाके द्वारा मनको वशमें करना चाहिये। एकमात्र सत्य ही परम धर्म है, एक सत्य ही परम तप है, केवल सत्य ही परम ज्ञान है और सत्यमें ही धर्मकी प्रतिष्ठा है। अहिंसा धर्मका मूल है, इसलिये उस अहिंसाको मन, वाणी और क्रियाके द्वारा आचरणमें लाना चाहिये[३]। पराये धनका अपहरण और चोरी आदि पापकर्म सदा सब मनुष्योंके लिये वर्जित हैं। चातुर्मास्यमें इनसे विशेषरूपसे बचना चाहिये। ब्राह्मण तथा देवताकी सम्पत्तिका विशेषरूपसे त्याग करना चाहिये। न करने योग्य कर्मोंका आचरण विद्वान् पुरुषोंके

---

१- स्नानेन सत्यमाप्नोति स्नानं धर्मः सनातनः। धर्मान्मोक्षफलं प्राप्य पुनर्नैवावसीदति॥
(स्क० पु०, ब्रा० चा० मा० १। २५)

२- सत्संगो द्विजभक्तिश्च गुरुदेवाग्नितर्पणम्। गोप्रदानं वेदपाठः सत्क्रिया सत्यभाषणम्॥
गोभक्तिर्दानभक्तिश्च सदा धर्मस्य साधनम्।
(स्क० पु०, ब्रा० चा० मा० २। ५-६)

३- सत्यमेकं परो धर्मः सत्यमेकं परं तपः। सत्यमेकं परं ज्ञानं सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः॥
धर्ममूलमहिंसा च मनसा तां च चिन्तयन्। कर्मणा च तथा वाचा तत एतां समाचरेत्॥
(स्क० पु०, ब्रा० चा० मा० २। १८-१९)

लिये सदैव त्याज्य है। नारद! जो सम्पूर्ण कार्योंमें निष्कामभावसे प्रवृत्त होता है, जिसमें अहंबुद्धिका अभाव है, जो बुद्धिके नेत्रोंसे ही देखता है, ऐसा पुरुष ही महाज्ञानी और योगी है। मनुष्योंके शरीरमें यह अहंकार विष है। अतः वह सदैव त्याग देने योग्य है। मनुष्य कामनाके त्यागद्वारा क्रोध और लोभको जीते। ऐसे मनुष्यके सहस्रों पाप उसके शरीरसे निकलकर सहस्रों टुकड़ोंमें नष्ट हो जाते हैं। शान्तिके द्वारा मोह और मनको जीतकर विचारके द्वारा शान्तिभावको अपनाना चाहिये। सन्तोषसे भी शान्तिका उदय होता है। जो अपनी कोमलता एवं सरलताके द्वारा ईर्ष्याभावको दबा देता है, यह मुनीश्वर है। चातुर्मास्यमें जीवदया विशेष धर्म है। प्राणियोंसे द्रोह करना कभी भी धर्म नहीं माना गया है। अतः सदा सब मासोंमें भूतद्रोहका परित्याग करना चाहिये। मनीषी पुरुष इस भूतद्रोहको सहस्रों पापोंका मूल बताते हैं। इसलिये मनुष्योंको सर्वथा प्रयत्न करके प्राणियोंके प्रति दया करनी चाहिये। सब प्राणियोंके हृदयमें सदा भगवान् विष्णु विराज रहे हैं। जो उन प्राणियोंसे द्रोह करनेवाला है, उसके द्वारा भगवान्‌का ही तिरस्कार होता है। जिस धर्ममें दया नहीं है, वह दूषित माना गया है। दयाके बिना न विज्ञान होता है, न धर्म होता है और न ज्ञान ही होता है। अतः सब प्राणियोंके प्रति आत्मभाव रखकर सबके ऊपर दया करना सनातन धर्म है, जो सब पुरुषोंके द्वारा सदा सेवन करने योग्य है।

सब धर्मोंमें दानधर्मकी विद्वान् लोग सदा प्रशंसा करते हैं। वेदमें अन्नको ब्रह्म कहा गया है, अन्नमें ही प्राणोंकी प्रतिष्ठा है। अतः मनुष्य सदा अन्न एवं जलका दान करे। जल देनेवाला तृप्तिको और अन्न-दान करनेवाला मनुष्य अक्षय सुखको पाता है। अन्न और जलके समान दूसरा कोई दान न हुआ है, न होगा। मणि, रत्न, मूँगा, चाँदी, सोना और वस्त्र तथा अन्य वस्तुओंके दानोंमें भी अन्नदान ही सबसे बढ़कर है[१]। चातुर्मास्यमें अन्न और जलका दान, गोदान, प्रतिदिन वेदपाठ और अग्निमें हवन—ये सब महान् फल देनेवाले हैं। यदि भगवान् विष्णुके साथ समागमके लिये वैकुण्ठधाममें जानेकी इच्छा हो, तो सब पापोंके नाशके लिये चौमासेमें अन्नदान करना चाहिये। अन्नदान करनेसे सब प्राणी प्रसन्न होते हैं। देवता भी अन्नदाताकी स्पृहा रखते हैं। गुरु और ब्राह्मणोंको भोजन कराना, घृतदान करना तथा सत्कर्मोंमें संलग्न रहना—ये सब बातें चातुर्मास्यकालमें जिसमें मौजूद हैं, वह साधारण मनुष्य नहीं है। सद्धर्म, सत्कथा, सत्पुरुषोंकी सेवा, संतोंका दर्शन, भगवान् विष्णुका पूजन और दानमें अनुराग—ये सब बातें चौमासेमें दुर्लभ बतायी गयी हैं[२]। जो मनुष्य चौमासेमें पितरोंके उद्देश्यसे अन्नदान करता है, वह सब पापोंसे शुद्धचित्त होकर पितरोंके लोकमें जाता है। उसके अन्नदानसे तृप्त हुए देवतालोग उसे मनोवांछित वस्तु प्रदान करते हैं। चींटी भी उसके घरसे भोजन लेकर जाती है। अन्नदान सबसे उत्तम है, उसका न रातमें निषेध है, न दिनमें। चौमासेमें वह विशेषरूपसे पापोंका नाश करनेवाला है। शत्रुओंको भी अन्न देना मना नहीं है। चौमासेमें दूध, दही एवं मट्ठाका दान

---

१- अन्नं ब्रह्म इति प्रोक्तमन्ने प्राणाः प्रतिष्ठिताः। तस्मादन्नप्रदो नित्यं वारिदश्च भवेन्नरः॥
वारिदस्तृप्तिमायाति सुखमक्षय्यमन्नदः। वार्यन्नयोः समं दानं न भूतं न भविष्यति॥
मणिरत्नप्रवालानां रूप्यहाटकवाससाम्। अन्येषामपि दानानामन्नदानं विशिष्यते॥
(स्क० पु०, ब्रा० चा० मा० ३। २—४)

२- सद्धर्मः सत्कथा चैव सत्सेवा दर्शनं सताम्। विष्णुपूजा रतिर्दाने चातुर्मास्यसुदुर्लभा॥
(स्क० पु०, ब्रा० चा० मा० ३। ११)

महान् फल देनेवाला होता है। जन्मकालमें जिससे यह शरीर पुष्ट हुआ है, उस अन्न एवं दुग्धका दान उत्तम है। साग देनेवाला मनुष्य न कभी नरकमें जाता है और न यमलोकका दर्शन करता है। वस्त्र देनेवाला प्रलयकालतक चन्द्रलोकमें निवास करता है। जो चातुर्मास्यमें चन्दन, अगुरु और धूपका दान करता है, वह मनुष्य पुत्र-पौत्रोंसहित विष्णुरूप होता है। भगवान् विष्णुके शयनकालमें जो मनुष्य वेदवेत्ता ब्राह्मणको फल दान करता है, वह यमलोकको नहीं देखता। जो चौमासेमें भगवान् विष्णुकी प्रीतिके लिये विद्यादान, गोदान और भूमिदान करता है, वह अपने पूर्वजोंका उद्धार कर देता है। जो जिस देवताके उद्देश्यसे चौमासेमें गुड़, नमक, तेल, शहद, तिक्त पदार्थ, तिल और अन्न देता है, वह उसीके लोकमें जाता है। विशेषतः चातुर्मास्यमें मनुष्यको अग्निमें आहुति देनी चाहिये, ब्राह्मणको दान देना चाहिये और गौओंकी भलीभाँति सेवा-पूजा करनी चाहिये। भविष्यमें दान देनेकी प्रतिज्ञा न करके शीघ्र ही दे डालना चाहिये। मनुष्य जो कुछ देनेकी इच्छा करे, वह अवश्य दे डाले। जिसको देनेका निश्चय किया हो उसे ही दे, दूसरेको न दे। दी हुई वस्तु उससे वापस न ले। जो श्रीहरिके शयनकालमें ब्राह्मणोंके लिये सब प्रकारका दान देता है, वह पूर्वजोंसहित अपनेको पापोंसे मुक्त कर लेता है।

## चातुर्मास्यमें इष्ट वस्तुके परित्याग तथा नियम-पालनका महत्त्व

**ब्रह्माजी कहते हैं**—मनुष्य सदा प्रिय वस्तुकी इच्छा करता है। अतः जो चातुर्मास्यमें भगवान् नारायणकी प्रीतिके लिये अपने प्रिय भोगोंका पूर्ण प्रयत्नपूर्वक त्याग करता है, उसकी त्यागी हुई वे वस्तुएँ उसे अक्षयरूपमें प्राप्त होती हैं। जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक प्रिय वस्तुका त्याग करता है, वह अनन्त फलका भागी होता है। धातुपात्रोंका त्याग करके पलाशके पत्तेमें भोजन करनेवाला मनुष्य ब्रह्मभावको प्राप्त होता है। गृहस्थ मनुष्य ताँबेके पात्रमें कदापि भोजन न करे। चौमासेमें तो ताँबेके पात्रमें भोजन विशेषरूपसे त्याज्य है। मदारके पत्तेमें भोजन करनेवाला मनुष्य अनुपम फलको पाता है। चातुर्मास्यमें विशेषतः वटके पत्रमें भोजन करना चाहिये। चातुर्मास्यमें भगवान् विष्णुकी प्रीतिके लिये गृहस्थ-आश्रमका परित्याग करके बाह्य आश्रमका सेवन करनेवाले मनुष्यका पुनर्जन्म नहीं होता। मिर्च छोड़नेसे राजा होता है, रेशमी वस्त्रोंके त्यागसे अक्षय सुख मिलता है, उड़द और चना छोड़ देनेसे पुनर्जन्मकी प्राप्ति नहीं होती। चातुर्मास्यमें विशेषतः काले रंगका वस्त्र त्याग देना चाहिये। नीले वस्त्रको देख लेनेसे जो दोष लगता है, उसकी शुद्धि भगवान् सूर्यनारायणके दर्शनसे होती है। कुसुम्भ रंगके परित्याग करनेसे मनुष्य यमराजको नहीं देखता। केशरके त्यागसे वह राजाका प्रिय होता है। फूलोंको छोड़नेसे मनुष्य ज्ञानी होता है, शय्याका परित्याग करनेसे महान् सुखकी प्राप्ति होती है। असत्यभाषणके त्यागसे मोक्षका दरवाजा खुल जाता है। चातुर्मास्यमें परनिन्दाका विशेषरूपसे परित्याग करे। पर-निन्दा महान् पाप है, पर-निन्दा महान् भय है, पर-निन्दा महान् दुःख है और पर-निन्दासे बढ़कर दूसरा कोई पातक नहीं है*। पर-निन्दाको सुननेवाला भी पापी होता है। चौमासेमें केशोंका सँवारना (हजामत)

* परनिन्दा महापापं परनिन्दा महाभयम्। परनिन्दा महद्दुःखं न तस्याः पातकं परम्॥
(स्क० पु०, ब्रा० चा० मा० ४। २५)

त्याग दे तो वह तीनों तापोंसे रहित होता है। जो भगवान्‌के शयन करनेपर विशेषतः नख और रोम धारण किये रहता है, उसे प्रतिदिन गंगास्नानका फल मिलता है। मनुष्यको सब उपायोंद्वारा योगियोंके ध्येय भगवान् विष्णुको ही प्रसन्न करना चाहिये। समस्त वर्णों एवं श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा भी भगवान् श्रीहरिका ही चिन्तन करना चाहिये। भगवान् विष्णुके नामसे मनुष्य घोर बन्धनसे मुक्त हो जाता है। चातुर्मास्यमें उनका विशेषरूपसे स्मरण करना उचित है।

कर्ककी संक्रान्तिके दिन भगवान् विष्णुका भक्तिपूर्वक पूजन करके प्रशस्त एवं शुभ जामुनके फलोंसे अर्घ्य देना चाहिये। अर्घ्य देते समय इस भावका चिन्तन करे—'छः महीनेके भीतर जहाँ कहीं भी मेरी मृत्यु हो जाय तो मानो मैंने स्वयं ही अपने-आपको भगवान् वासुदेवके चरणोंमें ही समर्पित कर दिया।' सर्वथा प्रयत्न करके भगवान् जनार्दनका सेवन करना चाहिये। जो मनुष्य भगवान् विष्णुकी कथा, पूजा, ध्यान और नमस्कार सब कुछ उन्हीं श्रीहरिकी प्रसन्नताके लिये करता है, वह मोक्षका भागी होता है*। सत्यस्वरूप सनातन विष्णु वर्णाश्रम-धर्मके स्वरूप हैं। जन्म-मृत्यु आदिके कष्टका उन्हींके द्वारा नाश होता है। अतः चातुर्मास्यमें विशेषरूपसे व्रतद्वारा श्रीहरिको ही ग्रहण करना चाहिये। तपोनिधि भगवान् नारायणके शयन करनेपर अपने इस शरीरको तपस्याद्वारा शुद्ध करना चाहिये। भगवान् विष्णुकी भक्तिसे युक्त जो व्रत है, उसे विष्णुव्रत जानो। धर्ममें संलग्न होना तप है। व्रतोंमें सबसे उत्तम व्रत है—ब्रह्मचर्यका पालन। ब्रह्मचर्य तपस्याका सार है और ब्रह्मचर्य महान् फल देनेवाला है। इसलिये समस्त कर्मोंमें ब्रह्मचर्यको बढ़ावे। ब्रह्मचर्यके प्रभावसे उग्र तपस्या होती है। ब्रह्मचर्यसे बढ़कर धर्मका उत्तम साधन दूसरा नहीं है। विशेषतः चातुर्मास्यमें भगवान् विष्णुके शयन करनेपर यह महान् व्रत संसारमें अधिक गुणकारक है—ऐसा जानो। जो इस वैष्णवधर्मका पालन करता है, वह कभी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता। भगवान्‌के शयन करनेपर जो यह प्रतिज्ञा करके कि—'हे भगवन्! मैं आपकी प्रसन्नताके लिये अमुक सत्कर्म करूँगा।' उसका पालन करता है, तो उसीको व्रत कहते हैं। वह व्रत अधिक गुणोंवाला होता है। अग्निहोत्र, ब्राह्मणभक्ति, धर्मविषयक श्रद्धा, उत्तम बुद्धि, सत्संग, विष्णुपूजा, सत्यभाषण, हृदयमें दया, सरलता एवं कोमलता, मधुर वाणी, उत्तम चरित्रमें अनुराग, वेदपाठ, चोरीका त्याग, अहिंसा, लज्जा, क्षमा, मन और इन्द्रियोंका संयम, लोभ, क्रोध और मोहका अभाव, इन्द्रियसंयममें प्रेम, वैदिक कर्मोंका उत्तम ज्ञान तथा श्रीकृष्णको अपने चित्तका समर्पण—ये नियम जिस पुरुषमें स्थिर हैं, वह जीवन्मुक्त कहा गया है। वह पातकोंसे कभी लिप्त नहीं होता। एक बारका किया हुआ व्रत भी सदैव महान् फल देनेवाला होता है। चातुर्मास्यमें ब्रह्मचर्य आदिका सेवन अधिक फलद होता है। चातुर्मास्यव्रतका अनुष्ठान सभी वर्णके लोगोंके लिये महान् फलदायक है। व्रतके सेवनमें लगे हुए मनुष्योंद्वारा सर्वत्र भगवान् विष्णुका दर्शन होता है। चातुर्मास्य आनेपर व्रतका यत्नपूर्वक पालन करे। विष्णु, ब्राह्मण और अग्निस्वरूप तीर्थका सेवन करे। चारों वेदमय स्वरूपवाले अजन्मा विराट् पुरुषको भजे, जिनके प्रसादसे मनुष्य मोक्षरूपी महान् वृक्षके ऊपर चढ़ जाता है और कभी सन्तापको नहीं प्राप्त होता।

~~o~~

* विष्णोः कथा विष्णुपूजा ध्यानं विष्णोर्नतिस्तथा। सर्वमेव हरिप्रीत्या यः करोति स मुक्तिभाक्॥

(स्क० पु०, ब्रा० चा० मा० ५। ७-८)

# चातुर्मास्यमें विशेष-विशेष तप और भगवान्‌की षोडशोपचार पूजाका क्रम

**ब्रह्माजी कहते हैं**—षोडशोपचारसे सदैव भगवान् विष्णुकी पूजा करना तप है और भगवान्‌के शयन करनेपर वही महातप कहा गया है। इसी प्रकार सदा पंचयज्ञोंका अनुष्ठान भी तप है; परंतु चातुर्मास्यमें श्रीहरिको निवेदन करनेपर वही महातप हो जाता है। ऋतुकालमें स्त्रीके साथ सम्बन्ध करना गृहस्थके लिये सदा ही तप माना गया है, किंतु वही चातुर्मास्यमें श्रीहरिकी प्रीतिके लिये किया जाय तो महातप है। सदा सत्य बोलना तप है। यह भूतलपर निवास करनेवाले प्राणियोंके लिये दुर्लभ तप कहा गया है। देवेश्वर श्रीहरिके शयन करनेपर यह सत्यभाषणरूपी तपस्या करनेवाला मनुष्य अनन्त फलका भागी होता है। अहिंसा आदि गुणोंका पालन करना सदा ही तप है; किंतु चातुर्मास्यमें वैरभावका परित्याग करके उसका पालन किया जाय तो वह महातप कहा गया है। पंचायतन पूजा महातप है। मनुष्य चातुर्मास्यमें श्रीहरिकी प्रीतिके लिये इस महातपका विशेषरूपसे अनुष्ठान करे। सभी पर्वोंके अवसरपर सदा दान देना चाहिये, यह तप है; परंतु चातुर्मास्यमें विशेषरूपसे उसका पालन करनेपर वह दान अनन्त होता है।

चौमासेमें दो प्रकारका शौच ग्रहण करना चाहिये। एक बाह्य शौच और दूसरा आन्तरिक शौच। जलसे नहाना-धोना बाह्य शौच कहलाता है और श्रद्धासे अन्तःकरणको शुद्ध करना आन्तरिक शौच है। इन्द्रियोंका निग्रह करना चाहिये। यह तपस्याका उत्तम लक्षण है। किंतु चातुर्मास्यमें इन्द्रियोंकी चंचलता दूर हो तो वह महातप कहा गया है। इन्द्रियरूपी घोड़ोंको काबूमें रखकर मनुष्य सदा सुख पाता है। वे इन्द्रियरूपी अश्व जब कुमार्गसे चलने लगते हैं, तब जीवको नरकमें गिराते हैं। यह काम महान् शत्रु है। इस एकको ही दृढ़तापूर्वक जीते। जिन महात्माओंने कामको जीत लिया है, उन्होंने सम्पूर्ण जगत्‌पर विजय पा ली है। काम और संकल्पपर विजय पा लेना ही तपस्याका मूल है। वही सबसे उत्तम ज्ञान है जिसके द्वारा कामको जीत लिया जाय। लोभ सदा त्याग देनेयोग्य है; क्योंकि लोभमें पापकी स्थिति है। लोभको जीत लेना ही तप है। चातुर्मास्यमें इसका विशेष महत्त्व है। मोहका अर्थ है अविवेक। वह सदा त्याग देनेयोग्य है। जो मोहसे रहित है, वही ज्ञानी है। मनुष्योंके शरीरमें रहनेवाला मद ही महान् शत्रु है। यों तो सदा ही, किंतु चातुर्मास्यमें विशेषरूपसे उसका निग्रह करना चाहिये। मान बड़ा भयंकर शत्रु है। वह सब प्राणियोंके भीतर निवास करता है। उसे क्षमाद्वारा जीतना चाहिये। चातुर्मास्यमें उसे जीतना अधिक गुणकारी होता है। मात्सर्य (ईर्ष्या) भी महान् पातकका कारण है। अतः विद्वान् पुरुष चातुर्मास्यमें उसको जीते। जिसने उसे जीत लिया, उसने तीनों लोक जीत लिये। अहंकारके वशीभूत हुए अजितेन्द्रिय मुनि धर्ममार्गको छोड़कर कुमार्गके कर्म करने लगते हैं। अतः अहंकारका परित्याग करके मनुष्य सदैव सुख पाता है। विशेषतः चातुर्मास्यमें अहंकारके त्यागका महान् फल है। यह तपस्याका मूल है। जो मनुष्य विष्णुके शयनकालमें प्रतिदिन एक समय भोजन करता है, उसे द्वादशाह यज्ञका फल मिलता है। जो मनुष्य चातुर्मास्यमें प्रतिमास नित्य चान्द्रायणव्रत करता है, उसके पुण्यका वर्णन नहीं किया जा सकता। जो भगवान् विष्णुके शयनकालमें कृच्छ्र व्रतका सेवन करता

है, वह पापराशिका नाश करके वैकुण्ठमें भगवान्‌का पार्षद होता है। जो चातुर्मास्यमें केवल दूध पीकर रहता है, उसके सहस्रों पाप तत्काल विलीन हो जाते हैं। यदि धीर पुरुष चौमासेमें नित्य परिमित अन्नका भोजन करता है, तो वह सब पातकोंका नाश करके वैकुण्ठधाम पाता है। चौमासेमें एक अन्न भोजन करनेवाला मनुष्य रोगी नहीं होता। जो क्षार लवणका सेवन करनेवाला नहीं है, उसमें पापका अभाव हो जाता है। चौमासेमें भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये फलाहार करनेवाला मनुष्य बड़े-बड़े पापोंसे मुक्त हो जाता है। जो कन्द-मूलका आहार करता है, वह अपने साथ पूर्वजोंका भी घोर नरकसे उद्धार करके भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है। जो प्रतिदिन चौमासेमें केवल जल पीकर रहता है, उसे रोज-रोज अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है। जो मनुष्य चौमासेमें श्रीहरिकी प्रीतिके लिये शीत और वर्षा सहन करता है, उसपर प्रसन्न होकर भगवान् जगन्नाथ उसे अपने-आपको दे डालते हैं। जो मन-ही-मन भगवान् नारायणका चिन्तन करके इस परम पवित्र और पापकी शुद्धिके हेतुभूत पुराणको सुनता अथवा पढ़ता है, वह मरकर मोक्षको प्राप्त होता है।

**नारदजीने पूछा**—प्रजापते! सोलह उपचारोंसे किस प्रकार भगवान्‌की पूजा की जाती है?

**ब्रह्माजीने कहा**—वेदों और शास्त्रोंके विधानके अनुसार भगवान् विष्णुकी भक्ति दृढ़ करनी चाहिये। यह सब जो कुछ दिखायी देता है, सबका मूल वेद है और वेद सनातन भगवान् विष्णुका स्वरूप है। वेदोंके आधार हैं ब्राह्मण तथा ब्राह्मणोंके देवता अग्नि हैं। अग्निमें आहुति डालनेवाला ब्राह्मण यज्ञमें सदा भगवान् श्रीहरिका यजन करता हुआ तथा श्रीविष्णुकी पूजामें निरन्तर संलग्न रहता हुआ सम्पूर्ण जगत्‌को धारण करता है। भगवान् नारायणका स्मरण और ध्यान क्लेश, दुःख आदिका नाश करनेवाला है। चातुर्मास्यमें भगवान् श्रीहरि जलमें विशेषरूपसे व्याप्त रहते हैं। जलसे अन्न पैदा होता है, जिससे जगत्‌की तृप्ति होती है। वह अन्न भगवान् विष्णुके शरीरके अंशसे उत्पन्न होता है। अन्नको 'ब्रह्म' कहते हैं। वह अन्न आवाहनपूर्वक भगवान् विष्णुको समर्पण करके मनुष्य पुनर्जन्म, वृद्धता और क्लेशके संस्कारोंद्वारा तिरस्कृत नहीं होता। '**सहस्रशीर्षा पुरुषः०**' इत्यादि जो सोलह ऋचाओंवाला यजुर्वेदका महासूक्त है, वह सर्वोत्कृष्ट नारायणमय है। उसके पाठमात्रसे भी ब्रह्महत्या दूर हो जाती है। ब्राह्मणको उचित है कि वह पहले स्मृतियोंमें बतायी हुई विधिके अनुसार अपने शरीरमें उक्त सोलह सूक्तोंका न्यास करे। तत्पश्चात् भगवान्‌की प्रतिमा अथवा शालग्रामशिलामें विशेषरूपसे न्यास करे। फिर क्रमशः आवाहन आदि करे। वैकुण्ठधाममें विराजमान, कौस्तुभमणिसे सुशोभित, कोटि-कोटि सूर्योंके समान तेजस्वी, दण्डधारी, शिखासूत्रसे सुशोभित पीताम्बरधारी-रूपसे भगवान् विष्णुका आवाहन करके ध्यान करे। सब पापोंके समूहका नाश करनेवाले श्रीविष्णुको इस रूपमें अपने ध्यानमें स्थिर करके उन्हें पूजाके लिये अपने आगे आवाहन करे। पुरुषसूक्तकी प्रथम ऋचा '**सहस्रशीर्षा पुरुषः**' इत्यादि मन्त्रके आदिमें ॐकार जोड़कर उसका उच्चारण करे और उसीके द्वारा भगवान्‌का आवाहन करे। इसी प्रकार दूसरी ऋचा '**पुरुष एवेदम्**' इत्यादिसे पार्षदोंसहित श्रीहरिको आसन समर्पित करे। वे सभी आसन सुवर्णमय हैं, ऐसा मन-ही-मन चिन्तन करे। भक्तियोगसे चिन्तन करनेपर वह परिपूर्ण होता है। फिर तीसरी ऋचासे पाद्य समर्पण करे और उसमें गंगाजीका स्मरण करे। उसके बाद सरिताओं तथा सातों समुद्रोंके जलसे जगदीश भगवान् विष्णुको अर्घ्य दे। सरिताओं और सागरोंका चिन्तनमात्र करना

चाहिये। चौथी ऋचासे अर्घ्यदान करना उचित है। इसके बाद श्रीहरिको अमृतसे आचमन करावे। तीन आचमनसे ब्राह्मणकी शुद्धि बतायी गयी है। आचमनका जल स्वच्छ एवं फेन और बुद्बुदसे रहित होना चाहिये। ब्राह्मण इतने जलसे आचमन करे कि वह उसके हृदयतक पहुँच जाय, क्षत्रिय कण्ठतक जाने लायक जलसे आचमन करे और वैश्य तालुतक पहुँचने लायक जलसे आचमन करे। स्त्री और शूद्र एक बार जलका स्पर्शमात्र करनेसे शुद्ध हो जाते हैं। पाँचवीं ऋचाके द्वारा भक्तियुक्त चित्तसे आचमन करना चाहिये। भगवान् हृषीकेश भक्तिसे ग्रहण करने योग्य हैं। भक्तिसे वे अपने-आपको भी समर्पित कर देते हैं। तत्पश्चात् सुगन्धित पदार्थोंद्वारा सुवासित और सभी ओषधियोंसे युक्त सुवर्णमय कलशोंमें रखे हुए जलसे भगवान्को स्नान करावे। श्रद्धापूर्वक मनसे भावनाद्वारा लाये हुए तीर्थजलसे स्नान कराना चाहिये। श्रद्धाके बिना दी हुई रत्नोंकी राशि भी निष्फल होती है और श्रद्धासे दिया हुआ जल भी अक्षय फल देनेवाला होता है। छठी ऋचासे स्नान कराकर पुनः आचमन कराना चाहिये।

सातवीं ऋचासे भगवान् विष्णुके लिये वस्त्र देना चाहिये। आठवींसे यज्ञोपवीत समर्पित करे, नवीं ऋचासे यज्ञमूर्ति श्रीहरिके श्रीअंगोंपर उत्तम चन्दनका लेप करना चाहिये। जिसने सुन्दर यक्षकर्दमके द्वारा जगद्गुरु भगवान् विष्णुके अंगोंमें लेप किया है, उसने अपने सुयशसे इस संसारको आच्छादित एवं तृप्त किया है। चन्दन देनेवाला मनुष्य संसारमें अपने तेजसे भगवान् सूर्यके समान होकर देवभावको प्राप्त होता और ब्रह्मादि देवताओंके लोकमें आनन्दका अनुभव करता है। जो मनुष्य चातुर्मास्यमें भगवान् विष्णुको चन्दनके आलेपसे सुन्दर रूपमें देखते हैं, वे कभी यमपुरीमें नहीं जाते। दसवीं ऋचासे भक्तिपूर्वक पुष्प चढ़ाकर भगवान्की पूजा करे। पुष्पोंसे पूजित हुए भगवान् विष्णुको यदि दूसरे लोग भी प्रणाम करते हैं, तो उन्हें भी अक्षय लोक प्राप्त होते हैं। ग्यारहवीं ऋचासे श्रीहरिको धूप-दान करना चाहिये—'उत्तम गन्धसे युक्त दिव्य वनस्पतिका रस तथा अतिशय सुगन्धित यह धूप सम्पूर्ण देवताओंके सूँघने योग्य है, भगवन्! आप इसे ग्रहण करें।' इस मन्त्रका उच्चारण करके भगवान्को अगुरुका धूप निवेदन करे। चातुर्मास्यमें इसका महान् फल है। कपूर, चन्दनदल, मिश्री, मधु और जटामासीसे युक्त धूप श्रीहरिके शयनकालमें निवेदन करना चाहिये। देवता सूँघनेसे ही प्रसन्न होते हैं। अतः धूप उनकी घ्राणेन्द्रियको तृप्त करनेका शुभ साधन है। मुक्तिकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको बारहवीं ऋचासे दीपदान करना चाहिये। जो चातुर्मास्यमें भगवान् विष्णुके आगे दीपदान करता है, उसकी पापराशि पलभरमें जलकर भस्म हो जाती है।

दीपदानके अनन्तर मोक्षपदमें स्थित भक्तियुक्त पुरुषोंको तेरहवीं ऋचाके द्वारा भगवान्को अन्नमय नैवेद्य निवेदन करना चाहिये। अन्नदानके अनन्तर भगवान्को पुनः आचमन कराना चाहिये। तत्पश्चात् चौदहवीं ऋचासे सब पापोंका नाश करनेवाली आरती उतारे और भगवान्को नमस्कार करे। पंद्रहवीं ऋचाके द्वारा ब्राह्मणोंके साथ भगवान्के चारों ओर घूमकर परिक्रमा करनी चाहिये। चार बार परिक्रमा करनेसे चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण जगत्की परिक्रमा तथा भगवत्सम्बन्धी तीर्थोंकी यात्रा सम्पन्न हो जाती है। तदनन्तर सोलहवीं ऋचाद्वारा भगवान् विष्णुके साथ अपनी एकताका चिन्तन करे—'मैं ही सदा विष्णु हूँ' इस प्रकार अपने मनमें भावना करनेवाला ब्राह्मण जीवन्मुक्त हो जाता है। चौमासेमें ब्राह्मणको विशेषरूपसे योगयुक्त होना चाहिये। इस प्रकार यहाँ मोक्षमार्ग प्रदान करनेवाले भगवान् विष्णुकी भक्ति बतायी गयी।

# ब्रह्माजीके द्वारा मानसी और शारीरिक सृष्टिका प्रादुर्भाव, चारों वर्णोंके धर्म तथा शूद्र जातियोंके भेदोंका वर्णन

**नारदजीने पूछा**—पितामह! अट्ठारह प्रकारकी प्रजाएँ कौन-कौन-सी हैं? उनकी जीवनवृत्ति और धर्म क्या है? यह सब बताइये।

**ब्रह्माजीने कहा**—अपने कालके परिमाणसे जब जगदीश्वर भगवान् श्रीहरि योगनिद्रासे जाग्रत् हुए, तब उस समय उनकी नाभिसे प्रकट हुए कमलकोषसे मेरा जन्म हुआ। तदनन्तर उस कमलकी नालसे भगवान्‌के उदरमें प्रवेश करके जब मैंने देखा, तब वहाँ मुझे कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके दर्शन हुए; परंतु फिर जब बाहर आया तब सृष्टिके पदार्थ और उसके हेतुओंको भूल गया। तब आकाशवाणी हुई—'महामते! तपस्या करो।' यह भगवदीय आदेश पाकर मैंने दस हजार वर्षोंतक तपस्या की। फिर मनके द्वारा पहले मानसी सृष्टिका चिन्तन किया। उससे मरीचि आदि मुनीश्वर ब्राह्मण प्रकट हुए। नारद! उन्हींमें सबसे छोटे होकर तुम उत्पन्न हुए। तुम ज्ञानी एवं वेदान्तके पारंगत पण्डित हुए। वे सब मुनि कर्मनिष्ठ हो सदा सृष्टिविस्तारके लिये उद्योग करने लगे। परंतु तुम अनन्यभावसे भगवान् विष्णुके भक्त हुए। एकान्ततः ब्रह्मचिन्तनपरायण, ममता और अहंकारसे शून्य हुए। तुम भी मेरे मानस पुत्र ही हो। मानसी सृष्टिके पश्चात् मैंने देहजा सृष्टिकी रचना की। मेरे मुखसे ब्राह्मण, भुजाओंसे क्षत्रिय, दोनों ऊरुओंसे वैश्य और चरणोंसे शूद्र उत्पन्न हुए। अनुलोम और विलोम क्रमसे शूद्रसे नीचे-नीचे सब मेरे चरणतलोंसे ही प्रकट हुए हैं। वे सब प्रकृतियाँ (प्रजाजन) मेरे शरीरके अवयव-विशेषसे उत्पन्न हैं। नारद! मैं तुमसे उनके नाम बताता हूँ, सुनो—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीन ही द्विज हैं। वेद, तपस्या, पठन, यज्ञ करना और दान देना—ये सब इनके कर्म हैं। द्विजोंको पढ़ाने और थोड़ा-सा प्रतिग्रह लेनेसे ब्राह्मणोंकी जीविका चलती है। यद्यपि ब्राह्मण तपस्याके प्रभावसे दान ग्रहण करनेमें समर्थ है, तथापि वह प्रतिग्रह न स्वीकार करे; क्योंकि उसे अपने तपोबलकी रक्षा सदा करनी चाहिये। वेदपाठ, विष्णु-पूजन, ब्रह्मध्यान, लोभका अभाव, क्रोध न होना, ममताशून्यता, क्षमासारता, आर्यता (श्रेष्ठ आचारका पालन), सत्कर्मपरायणता, दानरूपी कर्म तथा सत्यभाषण आदि सद्‌गुणोंसे जो सदा विभूषित होता है, वह ब्राह्मण कहलाता है। क्षत्रियको तपस्या, यज्ञ, दान, वेदपाठ और ब्राह्मणभक्ति—ये सब कर्म करने चाहिये। शस्त्रोंसे इनकी जीविका चलती है। स्त्री, बालक, गौ, ब्राह्मण और भूमिकी रक्षाके लिये, स्वामीपर आये हुए संकटको टालनेके लिये, शरणमें आये हुएकी रक्षाके लिये तथा पीड़ितोंकी आर्त पुकार सुनकर उन सबका संकट दूर करनेके लिये जो सदा तत्पर रहते हैं, वे ही क्षत्रिय हैं। वैश्य धन बढ़ानेवाला, पशुओंका पालक, कृषिकर्म करनेवाला, रस आदिका विक्रेता तथा देवताओं और ब्राह्मणोंका पूजक है। वह सूद लेकर धनकी उत्पत्ति करे, यज्ञ आदि कर्मोंका अनुष्ठान करता रहे, दान और स्वाध्याय भी करे। ये सब वैश्यके कर्म बताये गये हैं। शूद्र भी प्रातःकाल उठकर भगवान्‌का चरण-वन्दन करके विष्णुभक्तिमय श्लोकोंका पाठ करते हुए भगवान् विष्णुके स्वरूपको प्राप्त होता है। जो वर्षमें आनेवाले सभी व्रतोंका तिथि तथा वारके अधिदेवताकी प्रसन्नताके लिये पालन करता है और सब जीवोंको अन्नदान करता है, वह शूद्र गृहस्थ श्रेष्ठ माना गया है। वह वेदमन्त्रोंके उच्चारणके

ब्रह्माजीका प्राकट्य

बिना ही इस लोकमें सब कर्म करते हुए मुक्त होता है। चातुर्मास्यका व्रत करनेवाला शूद्र भी श्रीहरिके स्वरूपको प्राप्त होता है। महामुने! सभी वर्णों, आश्रमों और जातियोंके लिये भगवान् विष्णुकी भक्ति सबसे उत्तम मानी गयी है। जो पवित्र चित्तवाला मनुष्य इस परम पवित्र पुराणको पढ़ता अथवा सुनता है, वह पूर्वजन्मोपार्जित समस्त पापोंका नाश करके श्रीविष्णुकी आराधनामें तत्पर हो विष्णुलोकको प्राप्त होता है।

## पैजवन शूद्र और महर्षि गालवका संवाद तथा शालग्रामशिलाके पूजनका महत्त्व

**ब्रह्माजी कहते हैं**—महामते! प्राचीन त्रेतायुगमें पैजवन नामसे प्रसिद्ध एक शूद्र था, जो धर्ममें तत्पर और विष्णु तथा ब्राह्मणोंका पूजक था। वह न्यायपूर्वक धनका उपार्जन करता और सदा शान्तभावसे रहता था। सभी लोग उससे प्रेम करते थे। वह सत्यवादी और विवेकशील था। उसकी स्त्री समान कुलमें उत्पन्न, धर्मपूर्वक विवाहित तथा शुभ आचरणवाली पतिव्रता थी। वह भी सदा देवताओं और ब्राह्मणोंके हितमें तत्पर रहती थी। महात्मा पैजवनको पूर्वपुण्यके प्रभावसे धनकी प्राप्ति हुई थी। वह सदा स्वजनोंके द्वारा स्वदेश और परदेशमें व्यापार किया करता था। अपने और दूसरेके धनसे भी वह व्यापार करता-कराता था। इस प्रकार धर्मपर दृष्टि रखनेवाले उस पैजवनको नाना प्रकारका प्रचुर धन प्राप्त हुआ। उसके दो पुत्र हुए। वे दोनों ही पिताकी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहनेवाले थे। धन आदिका अहंकार तो उन्हें छू तक नहीं गया था। वे अपने धर्मयुक्त आचरणसे शोभा पाते थे और पिता-माताकी सेवाके अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तुका आदर नहीं करते थे। उनकी स्त्रियाँ भी अपने सास-श्वशुरकी सेवामें अनिवार्य-रूपसे लगी रहती थीं। पैजवनका घर धन-धान्यसे भरा रहता था। वह स्वयं भी सदा धर्मपरायण हो देवताओं और अतिथियोंके पूजनमें तत्पर रहता था। उसके घरपर आया हुआ कोई भी अतिथि विमुख नहीं लौटता था। वह शीतकालमें धन और उष्णकालमें अन्न एवं जलका दान करता था। वर्षाकालमें वस्त्र तथा अन्न बाँटा करता था। भगवान् शिव और विष्णुके व्रतमें स्थित होकर उचित समयमें वह बावली, कूप, तड़ाग, प्याऊ तथा देवमन्दिर बनवाता था। चातुर्मास्यमें वह विशेषरूपसे भगवान् विष्णुके भजनमें लगा रहता था।

एक दिन ब्रह्मज्ञानपरायण शान्त तपस्वी परम जितेन्द्रिय गालव मुनि पैजवन शूद्रके घरमें आये। वह अभ्युत्थान और आसन आदि उपचारोंसे मुनिकी पूजा करके मधुर वाणीमें बोला—'आज मेरा जन्म सफल हो गया, जीवन अति उत्तम हो गया, आज मेरा धर्माचरण भी सार्थक हुआ। मुने! आपने यहाँ पधारकर कुलसहित मुझे उन्नत कर दिया। आपकी दृष्टिसे मेरे सहस्रों पाप जलकर भस्म हो गये, मुझ गृहस्थके सम्पूर्ण गृहको आज आपने पवित्र कर दिया।'

उस शूद्रकी भक्तिसे गालव मुनि बहुत प्रसन्न हुए। उनकी सारी थकावट दूर हो गयी। वे हाथ जोड़कर खड़े हुए शूद्रसे बोले—'सौम्य! तुम कुशलसे तो हो न? तुम्हारा मन धर्ममें लगता है न? क्योंकि भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र आदि सब लोग सदा स्वार्थसे ही सम्बन्ध रखते हैं। तुम गोविन्दमें सदा भक्ति रखते हो न? दानमें तो तुम्हारी रुचि है न? क्या धर्म, अर्थ और कामसम्बन्धी कार्योंमें

तुम्हारा मन उत्साहके साथ संलग्न होता है? भगवान् विष्णुका चरणोदक प्रतिदिन सिरपर धारण करते हो न? भगवान् विष्णुका भजन, श्रीविष्णुकी कथा, श्रीविष्णुका स्तोत्र, श्रीविष्णुका नमस्कार, श्रीविष्णुका ध्यान और भगवान् विष्णुका पूजन—यह सब भगवान्के शयनकाल (चातुर्मास्य) में किया जाय तो मोक्ष देनेवाला होता है।'

**ऐसा कहते हुए मुनिको प्रणाम करके शूद्रने फिर कहा**—मुने! आपकी कृपादृष्टिसे ही मुझे इस आश्रमका पूरा-पूरा फल मिल गया। तथापि मैं आपकी उपदेशयुक्त वाणी सुनना चाहता हूँ। आपके आगमनका क्या प्रयोजन है, यह कृपा करके बतावें?

**तब गालवजीने उस धर्मात्मा एवं सत्यवादी शूद्रसे कहा**—इधर तीर्थयात्रामें लगे हुए मुझे कई मास व्यतीत हो गये, अब चातुर्मास्य आ गया है। अतः अपने आश्रमको जाऊँगा। भगवान् नारायणकी प्रसन्नताके लिये आषाढ़ शुक्ला एकादशीको अपने घरपर चातुर्मास्यका नियम ग्रहण करूँगा।

**पैजवन बोला**—द्विजश्रेष्ठ! मेरे ऊपर अनुग्रह करके कोई ज्ञानकी बात मुझे भी बताइये। वेदमें मेरा अधिकार नहीं है। वेदसारके जपका भी मुझे अधिकार नहीं है। अतः विशेषतः चातुर्मास्यमें पालन करने योग्य यदि कोई मोक्षसाधक उपाय हो तो उसे बताइये।

**गालवजीने कहा**—जो मनुष्य शालग्राममें स्थित भगवान् विष्णुका पूजन करते हैं, भक्ति उनसे दूर नहीं है। जिसका मन भगवान् शालग्रामके चिन्तनमें लगा हुआ है, उसके द्वारा जो कुछ भी शुभ कर्म किया जाता है, वह अक्षय होता है। चातुर्मास्यमें इसका विशेष माहात्म्य है। जहाँ शालग्राम-शिला और द्वारकाकी शिला दोनोंका संगम हो, वहाँ मनुष्यके लिये मुक्ति दुर्लभ नहीं है। जिस भूमिमें सैकड़ों पापोंसे युक्त मनुष्योंद्वारा भी शालग्रामकी शिला पूजी जाती है, वहाँ यह शिला पाँच कोसतकके प्रदेशको पवित्र करती है। यह शालग्रामशिला तेजोमय पिण्ड है, साक्षात् ब्रह्मस्वरूप है। इसके दर्शनमात्रसे भी तत्काल सब पापोंका नाश हो जाता है। महाशूद्र! शालग्रामशिलाकी उपस्थितिसे सब तीर्थ और देवमन्दिर पवित्र हो जाते हैं तथा समस्त नदियाँ तीर्थत्वको प्राप्त होती हैं। शालग्रामशिलाकी सन्निधिमात्रसे सर्वत्र सम्पूर्ण क्रियाएँ शोभन होती हैं। जिसके घरमें शुभ शालग्रामशिलाका कोमल तुलसीदलोंद्वारा पूजन होता है, वहाँ यमराज अपना मुँह नहीं दिखाते। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा सच्छूद्रोंको भी शालग्रामशिलाके पूजनका अधिकार है।

**सच्छूद्रने पूछा**—ब्रह्मन्! आप वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ हैं। सुना जाता है कि स्त्री और शूद्र आदिके लिये शालग्रामशिलाके पूजनका निषेध है। अतः मेरे-जैसा मनुष्य किस प्रकार शालग्रामका पूजन करे?

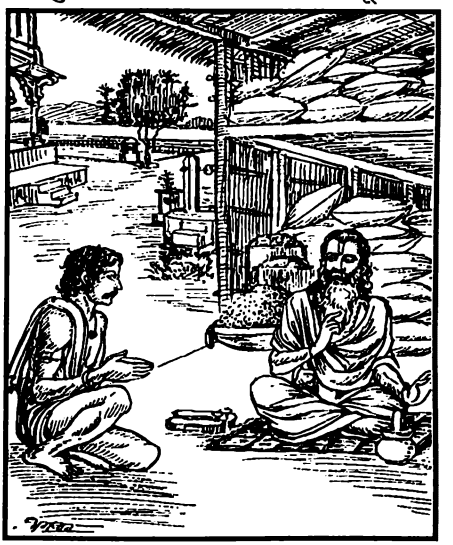

**गालवजीने कहा**—मानद! शूद्रोंमें केवल असत् शूद्रके लिये शालग्रामशिलाका निषेध है। स्त्रियोंमें भी पतिव्रता स्त्रियोंके लिये उसका निषेध नहीं किया गया है। जो शालग्रामशिलाके ऊपर चढ़ायी

हुई माला अपने मस्तकपर धारण करते हैं, उनके सहस्रों पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं। जो शालग्राम-शिलाके आगे दीपदान करते हैं, उनका कभी यमपुरमें निवास नहीं होता। जो शालग्राममें व्याप्त भगवान् विष्णुकी मनोहर पुष्पोंद्वारा पूजा करते हैं तथा जो भगवान् विष्णुके शयनकाल (चातुर्मास्य)-में शालग्रामशिलाको पंचामृतसे स्नान कराते हैं, वे मनुष्य संसारबन्धनमें कभी नहीं पड़ते। मुक्तिके आदिकारण निर्मल शालग्रामगत श्रीहरिको अपने हृदयमें स्थापित करके जो प्रतिदिन भक्तिपूर्वक उनका चिन्तन करता है, वह मोक्षका भागी होता है। जो सब समयमें, विशेषतः चातुर्मास्यकालमें, भगवान् शालग्रामके ऊपर तुलसीदलकी माला चढ़ाता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। तुलसीदेवी भगवान् विष्णुको सदा प्रिय हैं। शालग्राम महाविष्णुके स्वरूप हैं और तुलसीदेवी साक्षात् लक्ष्मी हैं। इसलिये चन्दनचर्चित सुगन्धित जलसे तुलसीमंजरीसहित शालग्रामशिलारूप श्रीहरिको नहलाकर जो तुलसीकी मंजरियोंसे उनका पूजन करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको पाता है। उत्तम पुष्पोंसे पूजित भगवान् शालग्रामका दर्शन करके मनुष्य सब पापोंसे शुद्धचित्त होकर श्रीहरिमें तन्मयताको प्राप्त होता है। शालग्राम-शिलाके चौबीस भेद हैं, उनका वर्णन सुनो। पहले केशव हैं, उनकी पूजा करनी चाहिये। दूसरे मधुसूदन, तीसरे संकर्षण, चौथे दामोदर, पाँचवें वासुदेव, छठें प्रद्युम्न, सातवें विष्णु, आठवें माधव, नवें अनन्तमूर्ति, दसवें पुरुषोत्तम, ग्यारहवें अधोक्षज, बारहवें जनार्दन, तेरहवें गोविन्द, चौदहवें त्रिविक्रम, पंद्रहवें श्रीधर, सोलहवें हृषीकेश, सत्रहवें नृसिंह, अठारहवें विश्वयोनि, उन्नीसवें वामन, बीसवें नारायण, इक्कीसवें पुण्डरीकाक्ष, बाईसवें उपेन्द्र, तेईसवें हरि और चौबीसवें श्रीकृष्ण कहे गये हैं। ये चौबीस मूर्तियाँ चौबीस एकादशियोंसे सम्बन्ध रखती हैं। सालभरमें चौबीस एकादशियाँ और ये चौबीस मूर्तियाँ पूजी जाती हैं। इनकी नित्य पूजा करनेवाला मनुष्य भक्तिमान् होता है। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक इस प्रसंगको सुनता और पढ़ता है, उसके ऊपर भूतसृष्टिकी रक्षा करनेवाले भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होते हैं।

## सतीका देहत्याग, पार्वतीविवाह, भगवान् शिवका हरिहररूपमें प्राकट्य और शालग्रामशिलाका महत्त्व

**गालवजी कहते हैं**—भगवान् विष्णु जिस प्रकार शालग्रामशिलाके स्वरूपको प्राप्त हुए हैं और भगवान् शिव भी जिस प्रकार लिंगाकारमें स्थित हुए हैं, वह सब प्रसंग मैं तुमसे कहता हूँ, सुनो। पूर्वकालमें ब्रह्माजीके अंगूठेसे प्रजापति दक्ष उत्पन्न हुए थे। दक्षके सती नामकी एक पुत्री हुई, जो उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न और बड़ी साध्वी थी। विधिके ज्ञाता भगवान् शंकरने सतीके साथ वेदोक्त विधिसे विवाह किया। दक्ष प्रजापतिका चित्त मोहवश मूढताको प्राप्त हो गया था। उन्होंने एक महान् यज्ञका आयोजन किया और उसमें भगवान् शंकरके प्रति द्वेष-भावका परिचय दिया। पिताके उस महान् द्वेषसे सतीदेवी कुपित हो उठीं और यज्ञवेदीमें आकर प्राणायाममें तत्पर हो उन्होंने अग्निमयी धारणाके द्वारा अपना शरीर त्याग दिया। उनके शरीरमें जो पैतृक अंश था, उसका परित्याग करके अपने भागके साथ सतीदेवीने मन-ही-मन शीतल हिमालयका चिन्तन किया। मृत्युकालमें अपने कर्मके अधीन हुआ मन जहाँ-जहाँ जाता है, वहीं-वहीं उसका अवतार होता है। अतः

अग्निमें जली हुई सतीदेवी शीतल हिमालयका चिन्तन करनेके कारण हिमालयकी पुत्री हुईं। वहाँ पर्वतकन्या होकर उन्होंने शिवभक्तिमें तत्पर हो बड़ी उग्र तपस्या की। तदनन्तर सहस्रों वर्षोंके पश्चात् भूतभावन भगवान् महेश्वर ब्राह्मणका वेष धारण कर उस स्थानपर आये और पार्वतीके कर्म एवं स्वभावकी परीक्षा लेकर उन्हें तपस्यासे विशुद्ध जाना। तत्पश्चात् दिव्यशरीर धारण करके भगवान् शिवने पार्वतीका हाथ पकड़ लिया और कहा—'देवि! तुमने तपस्यासे मुझे जीत लिया है, बोलो तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?' तब पार्वतीने महेश्वरसे कहा—'आप मुझे अंगीकार करनेमें मेरे पिताको निमित्त बनाइये।' उनके इस प्रकार कहनेपर भगवान् शंकरने सप्तर्षियोंको हिमालयके पास भेजा। सप्तर्षियोंने हिमालयके पास जाकर लग्नका समय बतलाया और महादेवजीसे सब समाचार कहकर वे अपने स्थानको चले गये। तदनन्तर लग्नके दिन इन्द्र आदि सब देवता ब्रह्मा, विष्णु और अग्निको आगे करके आये और 'वर' वेषमें भगवान् शंकरका दर्शन करके बड़े प्रसन्न हुए। हिमवान्ने दूलह-वेषमें भगवान् शंकरका दर्शन करके अपनेको कृतार्थ माना और प्रसन्नतापूर्वक मधुपर्क आदि शुभ उपचारोंसे उनका पूजन किया। तत्पश्चात् वेदोक्त विधिसे उस गुणवती कन्याको हिमवान्ने भगवान् शिवको सौंप दिया। उसके बाद भगवान् शिवने अग्निकी परिक्रमा की और जब उनसे गोत्र आदि पूछा गया, तब वे लज्जित-से हो गये। तत्पश्चात् ब्रह्माजीके कथनानुसार विवाहकी शेष विधि पूरी की गयी। जो यज्ञमें चरु ग्रहण करते समय अपने पाँच मुख प्रकाशित करनेवाले हैं, वे ही भगवान् महेश्वर गिरिराजनन्दिनीके लिये सुन्दर रूप और वेष-भूषासे सम्पन्न 'वर' बने हुए विराजमान थे। पार्वतीने भगवान् शंकरको ही अपना प्राणवल्लभ स्वीकार किया। विवाहके पश्चात् दहेज देकर हिमालयने शिवजीको विदा किया। वहाँसे भगवान् शिव मन्दराचल पर्वतपर आये। वहाँ विश्वकर्माने उनके लिये क्षणभरमें मणिमय भवनका निर्माण किया। वह मन्दिर देवाधिदेव भगवान् शिवकी इच्छाके अनुसार बढ़नेवाला था। उस सुन्दर भवनमें पार्वतीके साथ निवास करते हुए भगवान् शंकरकी दृष्टिमें वायुरूपधारी कामदेव आया। कामदेवने शिवजीको देखकर इस प्रकार स्तवन किया—'वृषभध्वज! आपको नमस्कार है। आप सर्वस्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। आप गणोंके स्वामी हैं, आपको नमस्कार है। हे नाथ! मेरी रक्षा कीजिये। प्रभो! आपके इस चराचर जगत्में कोई ऐसी वस्तु नहीं दिखायी देती, जो आपसे रहित हो। आप ही रक्षक, आप ही सृष्टि करनेवाले तथा आप ही समस्त संसारका संहार करनेवाले हैं। महादेव! मुझपर कृपा कीजिये और मुझे देहदान दीजिये।'

**भगवान् शिव बोले**—कामदेव! मैंने पूर्व कालमें तुम्हें पार्वतीके आगे भस्म किया है। अब पुनः उन्हींके समीप शरीरधारी हो जाओ।

भगवान् शिवके ऐसा कहनेपर कामदेवने अपना शरीर धारण किया और विनयसे नम्र हो उसने पार्वतीके दोनों चरणोंमें प्रणाम किया। उस समय उसके मनमें बड़ी प्रसन्नता थी। पार्वती और परमेश्वरका प्रसाद पाकर महामोह एवं बलसे सम्पन्न महातेजस्वी कामदेव तीनों लोकोंमें विचरण करने लगा।

प्राचीन कालमें देवासुर-संग्रामके अवसरपर भयंकर रूप धारण करनेवाले बलोन्मत्त दानवोंने देवताओंको मारा। देवता भयभीत होकर ब्रह्माजीकी शरणमें गये। बृहस्पति आदि सभी देवताओंने जगत्पिता ब्रह्माको नमस्कार करके उनका स्तवन किया। फिर सब-के-सब हाथ जोड़कर खड़े हो गये। तब ब्रह्माजीने उनसे पूछा—'देवताओ! किसलिये मेरे पास आये हो?'

**देवता बोले**—तात! अद्भुत पराक्रम करनेवाले

दैत्योंने युद्धमें हमें परास्त कर दिया। अतः हम सब लोग आपकी शरणमें आये हैं। देवेश्वर! अपनी शरणमें आये हुए हमलोगोंकी आप रक्षा कीजिये।

**देवताओंकी यह बात सुनकर ब्रह्माजीने कहा—** एक समय शिवभक्तोंने भगवान् विष्णुके भक्तोंके साथ एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे बड़ा विवाद हुआ। तब भगवान् शंकरने अपने भक्तोंके देखते-देखते एक परम अद्भुत रूप धारण किया। वह उनका हरिहरस्वरूप था। वे आधे शरीरसे शिव और आधे शरीरसे विष्णु हो गये। एक ओर भगवान् विष्णुके चिह्न और दूसरी ओर भगवान् शिवके चिह्न प्रकट हुए। एक ओर गरुड़ और दूसरी ओर नन्दी वृषभ उपस्थित थे। एक ओर मेघके समान श्याम वर्ण था तो दूसरी ओर कर्पूरके समान गौर वर्ण। दोनोंमें एकताका स्पष्टीकरण हुआ। इसी प्रकार सम्पूर्ण विश्वमें एक ही भगवान् व्यापक हैं। अतः विश्व भगवान्से भिन्न नहीं है। इस तरह भगवान्की एकताका बोध हुआ। श्रुतियों और स्मृतियोंके अर्थको बाधित करनेवाली भेदबुद्धि नष्ट हो गयी। पाखण्डी और युक्तिवादी सब आश्चर्यचकित हो गये। सबने अपने-अपने मतका आग्रह छोड़कर मोक्षमार्गकी शरण ली। मन्दराचल पर्वतपर वह हरिहर-मूर्ति आज भी विद्यमान है, जिसकी प्रमथ आदि गण सदा स्तुति करते रहते हैं। सृष्टि, पालन और संहार करनेवाली वह मूर्ति सम्पूर्ण विश्वका बीज एवं अनन्त है। शिव और विष्णुकी उस संयुक्त मूर्तिका स्मरण करनेपर वह सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाली है। वह परम सत्य एवं योगी पुरुषोंके द्वारा चिन्तन करने योग्य है। मुक्तिकी इच्छा करनेवाले मनुष्य उस मूर्तिका ध्यान करके परम पदको प्राप्त होते हैं। चातुर्मास्यमें विशेषरूपसे उसका ध्यान करके मनुष्य फिर मानवलोकमें जन्म नहीं लेता। उस हरिहर-मूर्तिके समीप जो लोग जाते हैं, उनका वे भगवान् कल्याण करते हैं।

ऐसा कहकर ब्रह्माजी वहीं अन्तर्धान हो गये। तत्पश्चात् वे अग्नि आदि देवता मन्दराचल पर्वतपर गये और भगवान् महेश्वरको खोजते हुए वहीं भ्रमण करने लगे। तदनन्तर चातुर्मास्य पूर्ण होनेपर हरिहरस्वरूपधारी भगवान् शिव उनके ऊपर प्रसन्न हो प्रत्यक्ष दर्शन देकर बोले—'देवेश्वरो! अब तुमलोग जाओ और अपने-अपने अधिकारोंका उपभोग करो। मैंने उन दानवोंको जिनसे तुम्हें भय था, मार डाला है।' तब प्रसन्नचित्त एवं बाधारहित देवता कोटि-कोटि विमानोंके द्वारा अपने-अपने अधिकारोंको प्राप्त हुए।

एक समय सब देवताओं तथा भगवान् विष्णु और शिवके द्वारा भी पार्वतीजीकी इच्छाके प्रतिकूल कोई कार्य हो गया। इससे उन्होंने देवताओंको मर्त्यलोकमें प्रस्तर-प्रतिमा होनेका शाप दिया। उसी समय उन्होंने भगवान् विष्णुसे कहा—'आप भी मर्त्यलोकमें शिलारूप होंगे और शिवजीको भी ब्राह्मणोंके शापसे लिंगाकार प्रस्तररूप प्राप्त होगा।' तब भगवान् विष्णुने पार्वतीजीको प्रणाम करके कहा—'महाव्रते! महादेवि! आप सदैव महादेवजीकी प्रिया हैं। सम्पूर्ण भूतोंकी जननि! आपको नमस्कार

है। आप कल्याणमयी हैं, आपको नमस्कार है।' तब पार्वतीजीने प्रसन्न होकर कहा—'जनार्दन! आप शिलारूपमें रहकर भी योगीश्वरोंको मोक्ष देनेवाले होंगे। विशेषतः चातुर्मास्यमें सब भक्तोंकी कामनाएँ पूर्ण करनेवाले होंगे। ब्रह्माजीकी प्यारी पुत्री जो गण्डकी नामवाली नदी है, वह महान् जलराशिसे भरी हुई और परम पुण्यदायिनी है। उसीके अत्यन्त निर्मल नीरमें आपका निवास होगा। पुराणोंके ज्ञाता आपको चौबीस स्वरूपोंमें देखेंगे। आपके मुखमें सुवर्ण होगा और शालग्राम आपकी संज्ञा होगी। गोलाकार तेजोमय शरीर अपूर्व शोभासे युक्त होगा। उस शालग्रामस्वरूपमें आप सम्पूर्ण सामर्थ्यसे युक्त होकर योगियोंको भी मोक्ष देनेवाले होंगे। शालग्राम-शिलामें व्याप्त हुए आपका जो मनुष्य पूजन करेंगे, उन भक्तोंको आप मनोवांछित सिद्धि प्रदान करेंगे।'

**गालवजी कहते हैं**—महाशूद्र! भगवान् विष्णु जिस प्रकार शालग्राम-शिलामय स्वरूपको प्राप्त हुए, वह सब प्रसंग मैंने तुम्हें बता दिया।

## शालग्राम-पूजन, द्वादशाक्षर मन्त्र एवं रामनामकी महिमा

**गालवजी कहते हैं**—गण्डकी नदीमें भगवान् विष्णु शालग्रामरूपसे प्रकट होते हैं और नर्मदा नदीमें भगवान् शिव नर्मदेश्वर रूपसे उत्पन्न होते हैं। ये दोनों स्वयं प्रकट हैं, कृत्रिम नहीं। शालग्रामशिलामें व्याप्त भगवान् विष्णु चौबीस भेदोंसे उपलब्ध होते हैं; किन्तु भगवान् सदाशिव सदा एक हाथसे ही नर्मदासे प्रकट होते हैं। जहाँ गण्डकीके जलमें शालग्रामशिला उपलब्ध होती है, वहाँ स्नान और जलपान करके मनुष्य ब्रह्मपदको प्राप्त होता है। गण्डकीसे प्रकट होनेवाली शालग्रामशिलाका पूजन करके मनुष्य शुद्धात्मा योगीश्वर होता है। भगवान् विष्णु पूजन, पठन, ध्यान और स्मरण करनेपर समस्त पापोंका नाश करनेवाले हैं। फिर शालग्रामशिलामें उनकी पूजा की जाय, तो उसके महत्त्वके विषयमें क्या कहना है; क्योंकि शालग्राममें साक्षात् श्रीहरि विराजमान होते हैं। चातुर्मास्यमें शालग्रामगत भगवान् विष्णुको नैवेद्य, फल और जल अर्पण करना विशेषरूपसे शुभ होता है। चातुर्मास्यमें शालग्रामशिला सबको पवित्र करती है। जहाँ शालग्रामस्वरूप भगवान् विष्णुकी पूजा की जाती है, वहाँ पाँच कोसतकके भूभागको वे भगवान् पवित्र कर देते हैं। वहाँ कोई अशुभ नहीं होता। जहाँ लक्ष्मीपति भगवान् शालग्रामका पूजन होता है, वहाँ वह पूजन ही सबसे बड़ा सौभाग्य है, वही महान् तप है और वही उत्तम मोक्ष है। जहाँ दक्षिणावर्त शंख, लक्ष्मीनारायणस्वरूप शालग्रामशिला, तुलसीका वृक्ष, कृष्णसार मृग और द्वारकाकी शिला (गोमतीचक्र) हो, वहाँ लक्ष्मी, विजय, विष्णु और मुक्ति—इन चारोंकी उपस्थिति होती है। भगवान् लक्ष्मीनारायण (शालग्राम)-की पूजा करनेवाले मनुष्यको भगवान् अति पुण्य प्रदान करते हैं, जिससे वह उसी क्षण मुक्त हो जाता है। भगवान् विष्णुका ध्यान पापोंका नाश करनेवाला है। तुलसीकी मंजरियोंसे पूजित हुए भगवान् शालग्राम पुनर्जन्मका नाश करनेवाले हैं। सब प्रकारसे यत्न करके उन्हीं जगदीश्वर विष्णुका सेवन करना चाहिये। वे सम्पूर्ण संसारमें व्याप्त होकर स्थित हैं।

**एक समय पार्वतीजीने शिवजीसे कहा**—महेश्वर! आपके हाथमें यह रुद्राक्षकी माला सदा मौजूद रहती है। देव! आप किस मन्त्रका जप करते हैं, यह सन्देह मेरे मनमें उठा करता है; क्योंकि आप ही सबके स्वामी हैं। आपसे बढ़कर दूसरे किसीको मैं नहीं जानती। फिर भी आप बड़ी भक्तिसे सदा किसी मन्त्रका जप करते

हुए दिखायी देते हैं। देवेश! आपसे भी श्रेष्ठ और कौन है, जिसका आप मन-ही-मन चिन्तन किया करते हैं।

**भगवान् शिव बोले**—प्रिये! भगवान् विष्णुके सहस्र नामोंमें जो सारभूत नाम है, मैं उसीका नित्य निरन्तर चिन्तन करता हूँ। मैं रामनाम जपता हूँ और उसीके अंककी इस मालाद्वारा गणना करता हूँ। श्रीरामका अवतार बहुत ही श्रेष्ठ है। द्वादश अक्षरोंसे युक्त जो सनातन ब्रह्मरूप प्रणव है वह अ, ऊ, म—इन तीन अक्षरोंसे सम्बद्ध है, तीन ग्रामोंसे युक्त है। उस विन्दुयुक्त प्रणव-मन्त्रका मैं सदैव मालाद्वारा जप करता हूँ। यह सम्पूर्ण वेदोंका सारभूत है। यह नित्य, अक्षर, निर्मल, अमृत, शान्त, तद्रूप, अमृततुल्य, कलातीत, सम्पूर्ण जगत्का आधार, मध्य और कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका बीज है। इसको जानकर मनुष्य शीघ्र ही घोर संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है। ॐकारसहित जो द्वादशाक्षर बीज है, उसका जप करनेवाले मनुष्यके लिये वह कोटि-कोटि पापोंका दाह करनेवाला दावानल बन जाता है। द्वादशाक्षर मन्त्र (**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**)-का चिन्तन ही सबसे उत्तम ज्ञान है, जो शुभ और अशुभ दोनोंका विनाश करनेवाला है। द्वादशाक्षर मन्त्र करोड़ों जन्मोंमें कहीं किसीको उपलब्ध होता है। चातुर्मास्यमें उसका स्मरण विशेषरूपसे ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाला तथा मनोवांछित वस्तु देनेवाला है। इस अक्षरसे प्रकट हुए मन्त्रका जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा आश्रय लेता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। जो भगवान् विष्णुकी भक्तिमें तत्पर हो उनके बारह मास सम्बन्धी पापहारी नामोंका शालग्रामशिलामें न्यास करता है, उसे प्रतिदिन द्वादशाह यज्ञका फल प्राप्त होता है। द्वादशाक्षर मन्त्रके माहात्म्यका सहस्रों जिह्वाओंद्वारा भी वर्णन नहीं किया जा सकता। संसारमें इसका जप, ध्यान और स्तवन करनेपर यह महामन्त्र सभी मासोंमें पाप-नाश करनेवाला होता है; किंतु चातुर्मास्यमें तो इसका यह माहात्म्य विशेषरूपसे बढ़ जाता है। इस मन्त्रके चिन्तनमात्रसे ही मनुष्योंको मनचाही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसके जपसे सनातन मोक्ष प्राप्त होता है। शान्तिपरायण जप एवं ध्यानसे मनुष्य निश्चय ही मोक्षको प्राप्त होता है। शूद्रों और स्त्रियोंके लिये प्रणवरहित जपका विधान है। पूर्वोक्त अठारह शूद्र जातिवाले मनुष्योंको जप-तप करनेकी आवश्यकता नहीं है। वे ब्राह्मण-भक्ति, दान और विष्णु भगवान्के चिन्तनसे सिद्ध हो जाते हैं। उनके लिये रामनाम मन्त्र ही है। यही उन्हें कोटि मन्त्रोंसे अधिक फल देनेवाला होता है। 'राम' इस दो अक्षरके नामका जप सब पापोंका नाश करनेवाला है। मनुष्य चलते, खड़े होते और सोते समय भी श्रीरामनामका कीर्तन करनेसे इहलोकमें सुख पाता है और अन्तमें भगवान् विष्णुका पार्षद होता है। 'राम' यह दो अक्षरोंका मन्त्र कोटिशत मन्त्रोंसे भी बढ़कर है। यह सभी संकर जातियोंके पापका नाशक बतलाया गया है। चातुर्मास्य प्राप्त होनेपर तो यह राममन्त्र अनन्त फल देनेवाला होता है। इस भूतलपर रामनामसे बढ़कर कोई पाठ नहीं है। जो रामनामकी शरण ले चुके हैं, उन्हें कभी यमलोककी यातना नहीं भोगनी पड़ती। जो-जो विघ्नकारक दोष हैं, सब रामनामका उच्चारण करनेमात्रसे नष्ट हो जाते हैं। जो परमात्मा समस्त स्थावर-जंगम प्राणियोंमें अन्तर्यामी आत्मारूपसे रम रहा है, उसे 'राम' कहते हैं। 'राम' यह मन्त्रराज भय तथा व्याधियोंका नाश करनेवाला है। यह युद्धमें विजय देनेवाला तथा समस्त कार्यों एवं मनोरथोंको सिद्ध करनेवाला है। रामनामको सम्पूर्ण तीर्थोंका फल कहा गया है। वह ब्राह्मणोंके लिये भी मनोवांछित फल देनेवाला है। रामचन्द्र,

राम-राम इत्यादि रूपसे उच्चारण किया जानेवाला यह दो अक्षरोंका मन्त्रराज भूतलपर सब कार्य सिद्ध करनेवाला है। देवता भी रामनामके गुण गाते हैं। इसलिये पार्वती! तुम भी सदा रामनामका जप करो। जो रामनामका जप करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। रामनामसे ही सहस्र नामोंका पुण्य होता है। विशेषतः चातुर्मास्यमें उसका पुण्य दसगुना बढ़ जाता है। रामनामके उच्चारणसे हीनजातिमें उत्पन्न हुए लोगोंका महान् पाप भी भस्म हो जाता है। ये भगवान् श्रीराम सम्पूर्ण जगत्को अपने तेजसे व्याप्त करके स्थित हैं और सब मनुष्योंमें अन्तरात्मारूपसे रहकर उनके पूर्वजन्मोपार्जित स्थूल एवं सूक्ष्म पापोंको क्षणभरमें भस्म करके उन्हें पवित्र कर देते हैं।

## भगवान् शिवका नर्मदेश्वर शिवलिंगरूप होना तथा गालव-शूद्र-संवादका उपसंहार

**श्रीमहादेवजी कहते हैं**—पार्वती! द्विजोंके लिये ॐकारसहित द्वादशाक्षर मन्त्रका विधान है तथा स्त्रियों और शूद्रोंके लिये ॐकाररहित नमस्कारपूर्वक (**नमो भगवते वासुदेवाय**) द्वादशाक्षर मन्त्रका जप बताया गया है[1]। संकरजातियोंके लिये रामनामका षडक्षरमन्त्र (**ॐ रामाय नमः**) है। वह भी प्रणवसे रहित ही होना चाहिये, ऐसा पुराणों और स्मृतियोंका निर्णय है। यही क्रम सब वर्णोंके लिये है और संकरजातियोंके लिये भी सदा ऐसा ही क्रम है। पार्वती! प्रणव-जपमें तुम्हारा अधिकार नहीं है। अतः तुम्हें सदा '**नमो भगवते वासुदेवाय**' इसी मन्त्रका जप करना चाहिये।[2] यह प्रणव सब देवताओंका आदि कहा गया है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव सभी अपनी प्रिय पत्नियोंके साथ प्रणवमें निवास करते हैं। सब प्राणी और समस्त तीर्थ उसमें विभागपूर्वक स्थित हैं। प्रणव सर्वतीर्थमय तथा कैवल्य ब्रह्ममय है। शुभानने! जब तुम चातुर्मास्यमें भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये तप करोगी, तब प्रणवसहित द्वादशाक्षरके जप करनेके योग्य होओगी। जब तपस्याकी वृद्धि होती है, तब भगवान् विष्णुमें भक्ति होती है। प्रतिदिन भगवान् विष्णुका स्मरण करना चाहिये। इससे जिह्वा पवित्र होती है। जैसे दीपक प्रज्वलित होनेपर बड़े भारी अन्धकारका नाश हो जाता है, उसी प्रकार भगवान् विष्णुकी कथा सुननेसे सब पाप नष्ट हो जाते हैं। अतः पार्वती! तुम भगवान् विष्णुके शयनकालमें द्वादशाक्षर मन्त्रराजका विशुद्धचित्त होकर जप करो। वे ही भगवान् सन्तुष्ट होकर तुम्हें द्वादशाक्षरसहित अखण्ड ब्रह्मस्वरूपका उत्तम ज्ञान प्रदान करेंगे। तुम ब्रह्माजीके कोटि कल्पोंतक द्वादशाक्षरमन्त्रका जप करती रहो। जो प्रणवसहित मन्त्रराजका ध्यान करता है, उसका कभी नाश नहीं होता।

महादेवजीके ऐसा कहनेपर पार्वतीजी चौमासा आनेपर हिमालयके शिखरपर तपस्या करनेके लिये गयीं। वे तीन वस्त्रोंसे युक्त हो ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करती हुई प्रातः, मध्याह्न और सायं तीनों समय भगवान्के हरिहरस्वरूपका ध्यान करने लगीं। उनके साथ उनकी सखियाँ

---

१. द्विजातानां सहोङ्कारः सहितो द्वादशाक्षरः। स्त्रीशूद्राणां नमस्कारपूर्वकः समुदाहृतः॥

(स्क० पु०, ब्रा० चा० मा० २५। २)

२. ईश्वर उवाच—

प्रणवस्याधिकारो न तवास्ति वरवर्णिनि। नमो भगवते वासुदेवायेति जपः सदा॥

(स्क० पु०, ब्रा० चा० मा० २५। ६)

भी थीं। विशाल नेत्रोंवाली पार्वतीने अपने पिता हिमालयके मनोहर शिखरपर क्षमा आदि गुणोंसे सुशोभित हो तपस्या की।

पार्वतीजीके तपस्यामें संलग्न होनेपर भगवान् शंकर सब ओर पृथ्वीपर विचरण करने लगे। एक दिन उन्होंने जलकी उत्ताल तरंग-मालाओंसे सुशोभित यमुनाजीको देखकर उसमें स्नान करनेका विचार किया। वे ज्यों ही जलमें घुसे कि उनके शरीरकी अग्निके तेजसे वह जल काला हो गया। यमुना भी दिव्यरूप धारण करके अपने श्यामस्वरूपसे प्रकट हुईं और भगवान् शंकरकी स्तुति एवं नमस्कार करके बोलीं—'देवेश्वर! मुझपर प्रसन्न होइये, मैं आपके अधीन हूँ।'

**महादेवजीने कहा**—जो मनुष्य इस पुण्यतीर्थमें स्नान करेगा, उसके सहस्रों पाप क्षणभरमें नष्ट हो जायँगे। यह पवित्र तीर्थ संसारमें 'हरतीर्थ' के नामसे विख्यात होगा। ऐसा कहकर भगवान् शिव यमुनाको प्रणाम करके अन्तर्धान हो गये। उन्होंने यमुनाके किनारे मनोहर रूप धारण करके हाथमें वाद्य ले लिया और ललाटमें त्रिपुण्ड्र धारण करके शिखरपर जटा बढ़ाये मुनियोंके घरोंमें स्वेच्छानुसार घूम-घूमकर अंगोंकी चपल चेष्टाका प्रदर्शन प्रारम्भ किया। वे कहीं गीत गाते और कहीं अपनी मौजसे नाचने लगते थे। स्त्रियोंके बीचमें जाकर कभी क्रोध करते और कभी हँसने लगते थे। इस प्रकार उन्हें सब ओर घूमते देखकर मुनिलोगोंने क्रोध किया और यह शाप दिया कि 'तुम लिंगरूप हो जाओ।' शाप होनेपर भगवान् शिव अन्यत्र बहुत दूर चले गये। उनका वह लिंगरूप अमरकण्टक पर्वतके रूपमें अभिव्यक्त हुआ और वहाँसे नर्मदा नामक नदी प्रकट हुई। नर्मदामें नहाकर, उसका जल पीकर तथा उसके जलसे पितरोंका तर्पण करके मनुष्य इस पृथ्वीपर दुर्लभ कामनाओंको भी प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य नर्मदामें स्थित शिवलिंगोंका पूजन करेंगे, वे शिवस्वरूप हो जायँगे। विशेषत: चातुर्मास्यमें शिवलिंगकी पूजा महान् फल देनेवाली है। चातुर्मास्यमें रुद्रमन्त्रका जप, शिवकी पूजा और शिवमें अनुराग विशेष फलद है। जो पंचामृतसे भगवान् शिवको स्नान कराते हैं, उन्हें गर्भकी वेदना नहीं सहन करनी पड़ती। जो शिवलिंगके मस्तकपर मधुसे अभिषेक करेंगे, उनके सहस्रों दु:ख तत्काल नष्ट हो जायँगे। जो चातुर्मास्यमें शिवजीके आगे दीपदान करते हैं, वे शिवलोकके भागी होते हैं। जो जलधारासे युक्त नर्मदेश्वर महालिंगका चातुर्मास्यमें विधिपूर्वक पूजन करता है, वह शिवस्वरूप हो जाता है।

**गालवजी कहते हैं**—यह सब श्रीविष्णुके शालग्राम होनेकी और महेश्वर शिवके लिंगरूप होनेकी कथा सुनायी गयी। अत: जो लिंगरूपी शिव और शालग्रामगत श्रीविष्णुका भक्तिपूर्वक पूजन करते हैं, उन्हें दु:खमयी यातना नहीं भोगनी पड़ती। चौमासेमें शिव और विष्णुका विशेषरूपसे पूजन करना चाहिये। दोनोंमें भेदभाव न रखते हुए यदि उनकी पूजा की जाय तो वे स्वर्ग और मोक्ष प्रदान करनेवाले होते हैं। जो भक्तिपूर्वक हरि और हरकी पूजा करते हैं, उन्हें भगवान् श्रीहरि मोक्ष प्रदान करते हैं। विवेक आदि गुणोंसे युक्त शूद्र उत्तम गतिको प्राप्त होता है। हे महाशूद्र! तुम्हें बिना मन्त्रके भगवान् विष्णु और गिरिजापति महादेवजीका षोडशोपचारसे पूजन करना चाहिये। उनकी पूजा बड़े-बड़े पापोंका नाश करनेवाली है।

ऐसा कहकर पैजवनसे पूजित हो महर्षि गालव शीघ्र ही अपने आश्रमको चले गये। जो मनुष्य इस प्रसंगको सुनता और पढ़कर दूसरोंको भी सुनाता है, उसके पुण्यका कभी अन्त नहीं होता।

# महादेवजीके द्वारा पार्वतीके प्रति ध्यानयोग एवं ज्ञानयोगका निरूपण

**पार्वतीजी बोलीं**—देवेश्वर! आप ऐसा उपाय कीजिये, जिससे मैं ध्यानयोगको पाकर ज्ञानयोगकी प्राप्ति कर सकूँ।

**महादेवजीने कहा**—प्रिये! पहले जिस द्वादशाक्षर नामक मन्त्रराजका वर्णन किया गया है, उसीका तुम्हें जप करना चाहिये। वह वेदका सनातन सार तत्त्व है। प्रणव (ॐकार) सब वेदोंका आदि है। वह समस्त ब्रह्माण्डोंका याजक है तथा समस्त कार्योंमें प्रथम उच्चारण करने योग्य तथा सब सिद्धियोंका दाता है। उसका शुक्ल वर्ण है, मधुच्छन्दा ब्रह्मा ऋषि हैं, परमात्मा देवता हैं, गायत्री छन्द है तथा समस्त कर्मोंमें उसका विनियोग किया जाता है। देवि! जो प्रतिदिन सम्पूर्ण बीजाक्षरमय द्वादशाक्षर मन्त्रका जप करता है, वह पापोंसे लिप्त नहीं होता। यह द्वादश लिंगमय अक्षरोंसे युक्त द्वादशाक्षर मन्त्र कूर्मचक्रमें स्थित है। विनियोगसहित प्रत्येक वर्णके ध्यान, ऋषि, बीज, छन्द और देवता आदिके चिन्तनपूर्वक ध्यान, जप और पूजन करनेपर भक्तोंका कर्मजनित बन्धनोंसे मोक्ष हो जाता है। ध्यानयोगसे समस्त पापोंका नाश होता है। जप और ध्यान ही योगका स्वरूप है। शब्दब्रह्म (ॐकार एवं वेद)-से प्रकट हुआ द्वादशाक्षर मन्त्र वेदके समान है। ध्यानसे मनुष्य सब कुछ पाता है। ध्यानसे वह शुद्धताको प्राप्त होता है, ध्यानसे परब्रह्मका बोध होता है तथा सगुण स्वरूपमें चित्तवृत्तिकी एकाग्रतारूप योग भी ध्यानसे ही सम्भव होता है*। ध्यानयोग दो प्रकारका होता है। एक सालम्ब (सविशेष) और दूसरा निरालम्ब (निर्विशेष)। सगुण साकार विग्रह नारायणका दर्शन सालम्ब ध्यान है। दूसरा जो निरालम्ब ध्यान है, वह ज्ञानयोगके द्वारा बताया गया है। वह सबका आलम्ब है। रूपरहित, अप्रमेय तथा सर्वस्वरूप जो सनातन तेज है, जिसका प्रकाश कोटि-कोटि विद्युतोंके समान है, जो सदा उदयशील एवं पूर्णतम है, जो निष्कल, सकल एवं निरंजनमय है, आकाशके समान सर्वव्यापक है, सुखस्वरूप एवं तुरीयातीत है, जिसकी कहीं उपमा नहीं है, वही परमेश्वरका निराकारस्वरूप निरालम्ब ध्यानयोगके द्वारा चिन्तन करने योग्य है। वह द्वन्द्वोंसे रहित एवं साक्षीमात्र है। शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल है। अपने तेजसे उपमारहित और अगाध है। उसीको तुम अंगीकार करो।

भगवान् नारायणका सूर्य मस्तक है, पृथ्वीलोक हृदय है तथा रसातल चरण है। वे मूर्तामूर्त स्वरूपसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें स्थित हैं। भगवान् विष्णु ही ब्रह्मरूपसे ज्ञानयोगके आश्रय हैं। वे ही समस्त प्राणियोंकी सृष्टि और पालन करते हैं तथा वे ही सबका संहार करते हैं। वे सर्वदेवमय हैं। सनातन कालसे ही भगवान् विष्णु बारह मासोंके अधिपति हैं। इसलिये सम्पूर्ण मासों, समस्त दिनों और सब प्रहरोंमें श्रीहरिका स्मरण करनेवाला पुरुष संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

यह कथा जिस किसी (अनधिकारी)-के सामने नहीं कहनी चाहिये। जो नित्य भक्त, जितेन्द्रिय तथा शम (मनोनिग्रह) आदि गुणोंसे युक्त हो, उससे यह कथा कहनी चाहिये। भगवान् विष्णुका भक्त शूद्र हो या ब्राह्मण, उसे भी यह कथा सुनाने योग्य है। पार्वती! मेरी भक्तिसे तुम शीघ्र योगसिद्धि

* ध्यानेन सर्वमाप्नोति ध्यानेनाप्नोति शुद्धताम्। ध्यानेन परमं ब्रह्म मूर्तौ योगस्तु ध्यानजः॥

(स्क० पु०, ब्रा० चा० मा० ३०। २८-२९)

प्राप्त करो और ज्ञानसे प्राप्त होने योग्य सर्वोत्कृष्ट भगवान् नारायणके स्वरूपको समझो। योगका अभ्यास सदा करना चाहिये। विशेषतः चातुर्मास्यमें योगकी साधना करनेवाला पुरुष अपने सब पापोंका नाश करता है। जो योगी दो घड़ी भी अपने कानोंको बंद करके अपने मनको ब्रह्मरन्ध्रमें स्थापित करता है, वह पापोंसे मुक्त हो जाता है। जिसके घरमें एक भी योगी पुरुष एक ग्रास अन्न भी भोजन कर लेता है, वह अपने सहित तीन पीढ़ियोंका अवश्य उद्धार कर देता है। यदि ब्राह्मण योगी हो तो वह दर्शनसे भी अवश्य सब प्राणियोंकी पापराशिका संहार कर देता है। यदि ब्रह्मपरायण उत्तम कर्मोंवाला श्रेष्ठ शूद्र योगका अभ्यास करता है, सद्गुरुमें भक्ति रखता है और नियमित आहार करते हुए जो योगी परब्रह्मकी समाधिमें स्थित होता है, वह भगवान् विष्णुका सायुज्य प्राप्त करता है। भगवान् श्रीहरिकी प्रीतिसे मनुष्य उनके स्वरूपमें लीन हो जाता है। पार्वती! यह योग ज्ञानकी सिद्धि प्रदान करनेवाला है। सनकादि आचार्यों तथा मुक्तिकी इच्छावाले देवेश्वरोंने भी इसका सेवन किया है। सर्वप्रथम योगियोंके जो सदा ज्ञानकी सम्पत्ति होती है, उस ज्ञानसम्पत्तिसे गृहीत होकर मनुष्य योगी होता है। तदनन्तर योगीके आगे अणिमा आदि सिद्धियाँ उपस्थित होती हैं, परंतु श्रेष्ठ योगी उनमें मन नहीं लगाता। योगसे सम्पूर्ण दानों और यज्ञोंका फल प्राप्त होता है। योगसे सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्ति होती है। कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो योगसे प्राप्त न होती हो। योगसे हृदयकी गाँठ नहीं रहने पाती। योगसे ममतारूपी शत्रु नहीं पैदा होता। योगसिद्ध पुरुषका मन कोई भी लुभा नहीं सकता। भगवान् विष्णु स्वयं ही इस चराचर जगत्में व्याप्त हैं। योगेश्वरोंके परम उपास्य उन भगवान्को अपने ब्रह्मरन्ध्रमें स्थित जानकर मनुष्य इस मायामय जगत्का मोह उसी प्रकार छोड़ देता है, जैसे सर्प अपनी केंचुलको त्याग देता है।

## ज्ञानयोग और उसके साधन, स्कन्दस्वामीका सेनापतित्व और कौमारव्रत

**महादेवजी कहते हैं**—जब शरीरमें ममता नहीं रहती, जब चित्त अत्यन्त निर्मल होता है और जब श्रीहरिमें भक्तियोग दृढ़ होता है, तब कर्मसे बन्धन नहीं होता। जब कर्म करते हुए ही मनुष्योंका मन सदा शान्त रहे, तब योगमयी सिद्धि प्राप्त होती है। भगवान् विष्णुको कर्मोंके स्वामी जानो। उनमें सब कर्मोंका समर्पण करके मनुष्य संसार-बन्धनसे छूट जाता है। यही उत्तम ज्ञान है, यही उत्तम तप है और यही उत्तम श्रेय है कि भगवान् श्रीकृष्णको सर्वकर्म समर्पण कर दिया जाय। यही निर्मल योग है। इसीको निर्गुण कहा गया है। संसारमें वही ज्ञानवान्, वही योगियोंमें अग्रगण्य और वही महायज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाला है, जो श्रीहरिके चरणोंमें भक्ति रखता है। निरंजन भगवान् विष्णुको जान लेनेपर जिसने मनोमय, कर्ममय और वाणीमय दण्डको धारण किया है—यानी इन तीनोंको वशमें कर लिया है, वही त्रिदण्डी जानने योग्य है। अज्ञानी सदा बन्धनात्मक कर्मद्वारा बाँधा जाता है। द्विजोंको श्रुतियों और स्मृतियोंके अनुशीलनसे मोक्षका मार्ग प्राप्त होता है। यह मोक्ष मानो एक नगर है, जिसके चार दरवाजे हैं। उन दरवाजोंपर शम आदि चार द्वारपाल सदा विद्यमान रहते हैं। वे ही मोक्ष-नगरमें प्रवेश करानेवाले हैं। अतः मनुष्योंको पहले उन्हीं चारोंका सेवन करना चाहिये। उनके नाम इस प्रकार हैं—शम,

सद्विचार, सन्तोष और साधुसंग। ये चारों जिसके हाथमें हैं, उसकी सिद्धि दूर नहीं है। भगवान् विष्णुकी भक्ति तथा उत्तम धर्मके आचरणसे मनुष्योंको योगसिद्धि प्राप्त होती है। मनुष्य ज्ञानके लिये विद्यालयोंमें भटकता फिरता है। यदि कहीं सद्गुरु प्राप्त हो जायँ तो उनसे तत्काल निर्मल दीपशिखाकी भाँति यथार्थ ज्ञानकी उपलब्धि हो जाती है। राग और द्वेष छोड़कर जो क्रोध और लोभसे रहित हो गया है, जिसकी सर्वत्र समान दृष्टि है, जो विष्णुभक्तका दर्शन करता है, जिसके हृदयमें सब जीवोंके प्रति दयाका भाव स्थिर है तथा जो शौच एवं सदाचारसे युक्त है, वह योगी कभी दुःख नहीं पाता। जो माया आदिके आवरणोंसे रहित तथा मिथ्या वस्तुसे विरक्त है और कुसंगसे दूर रहता है, वह योगसिद्ध पुरुष है। बुद्धि दो प्रकारकी होती है। एक त्याज्य और दूसरी ग्राह्य। संसारविषयक बुद्धि त्याग देने योग्य है और परब्रह्मके चिन्तनमें लगनेवाली कल्याणमयी बुद्धि ग्रहण करने योग्य है। पार्वती! श्रीविष्णुका जो साकार और निराकार स्वरूप है, उसमें प्रतिष्ठित होनेवाले इस अक्षर, अव्यक्त, अमृत एवं सम्पूर्ण तत्त्वको बताया गया। इस प्रकार जानकर योगीपुरुष संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है। मनुष्य सद्गुरुके उपदेशसे इस ज्ञानको पाता है। जब उसके ऊपर गुरु प्रसन्नचित्त होते हैं, तब मानो सम्पूर्ण विश्व प्रसन्न हो जाता है, जिसने गुरुको सन्तुष्ट किया, उसने समस्त देवताओं और पितरोंको सन्तुष्ट कर लिया। गुरुका उपदेश, भगवत्प्रतिमाका पूजन, उत्तम विचार, शममें मनका तत्पर होना और ज्ञानपूर्वक कर्मका अनुष्ठान करना—यह सब मोक्षसिद्धिका लक्षण है। द्वादशाक्षरमन्त्र सब पापोंका नाश करनेवाला है। यह दुष्टोंका दमन करनेवाला और परब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाला है। देवि! द्वादशाक्षररूपधारी निर्मल परब्रह्मके स्वरूपको मैंने तुमसे प्रकाशित किया है। जो मनुष्य इस द्वादशाक्षर मन्त्ररूप भगवत्स्वरूपको, जो योगियोंके ध्यान करने योग्य तथा भक्तिसे ग्राह्य है, चातुर्मास्यमें श्रद्धापूर्वक चिन्तन करता है, भगवान् विष्णु उसके कोटि जन्मोंके पापोंको जलाकर मोक्ष प्रदान करते हैं।

**ब्रह्माजी कहते हैं**—एक समय महाबली तारकासुरके भयसे भागे हुए देवताओंने महादेवजीकी स्तुति की और उनकी आज्ञासे कुमार कार्तिकेयको अपना सेनापति बनाया। फिर स्कन्दके तेजसे प्रबल होकर सब देवता तारकासुरसे युद्ध करने लगे। उस समय देवताओंने दानवोंकी सेनाको मार गिराया। भगवान् विष्णुके चक्रसे छिन्न-भिन्न होकर सहस्रों दैत्य पृथ्वीपर गिर पड़े। युद्धमें दानवसेनाको नष्ट होती देख तारकासुर देवताओंका सामना करने लगा। देवेश्वर स्कन्दने बाणोंकी बौछारसे उसकी सेनाको शीघ्र ही तितर-बितर कर डाला। तत्पश्चात् भगवान् विष्णुकी प्रेरणासे कार्तिकेयजीने शक्तिका प्रहार करके सारथिसहित तारकासुरको क्षणभरमें भस्म कर दिया। शेष दैत्य तारकासुरको मरा हुआ देख पातालमें भाग गये। तब देवताओंने कुमारके पराक्रमकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। विजय प्राप्त करके शिव आदि सब देवताओंने स्वामी कार्तिकेयको देवताओंके सेनापति पदपर अभिषिक्त किया। इस प्रकार तारकासुरको मारकर सातवें दिन बालक कार्तिकेयने मन्दराचलपर जा अपने माता-पिताको प्रसन्न किया। परमानन्दमें निमग्न हो स्कन्दने सब वृत्तान्त स्वयं ही माता-पितासे कहा। उस समय भगवान् शंकरने पुत्रका विवाह कर देनेका विचार किया और कार्तिकेयसे कहा—'वत्स! तुम्हारे विवाहका समय प्राप्त है, तुम पत्नी प्राप्त करके उसके साथ धर्माचरण करो।' पिताकी यह बात सुनकर स्वामी कार्तिकेयने कहा—'भगवन्! संसारके दृश्य और अदृश्य

पदार्थोंमेंसे मैं किसका ग्रहण और किसका त्याग करूँ। जगत्‌में जितनी स्त्रियाँ हैं, वे सब मेरे लिये माता पार्वतीके समान हैं और जितने भी पुरुष हैं, उन सबको मैं आपके रूपमें देखता हूँ। आप मेरे गुरु हैं, अतः मुझे नरकमें डूबनेसे बचाइये। मैंने आपके प्रसादसे यह विवेक प्राप्त किया है। भयंकर संसार-सागरमें मैं फिर न गिर जाऊँ, इसकी चेष्टा रखें। जैसे दीपक हाथमें लेकर किसी वस्तुको खोजनेवाला पुरुष उस वस्तुको देख लेनेपर उसके लिये स्वीकार किये जानेवाले अन्य सब साधनोंको त्याग देता है, उसी प्रकार योगी ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर संसारको त्याग देता है। सर्वज्ञ परमेश्वर! सर्वव्यापी ब्रह्मको जानकर जिसके सब कर्म निवृत्त हो जाते हैं, उसको विद्वान् पुरुष योगी कहते हैं। महेश्वर! मानवोंके लिये ज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है। ज्ञानीजन प्राप्त किये हुए ज्ञानको किसी प्रकार भी खोना नहीं चाहते। यह ज्ञान आपके प्रभावसे ही प्राप्त होने योग्य है। मैं संसारबन्धनसे छूटनेकी इच्छा रखता हूँ। अतः मुझसे इस प्रकार विवाह आदि करनेकी बात नहीं कहनी चाहिये।'

जब देवी पार्वतीने विवाहके लिये बार-बार आग्रह किया, तब कार्तिकेयजी पिता-माताको प्रणाम करके क्रौंच पर्वतपर चले गये और वहाँ परम पवित्र आश्रममें बैठकर बड़ी भारी तपस्या करने लगे। उन्होंने द्वादशाक्षर बीजरूप परब्रह्मका

जप किया और पहले ध्यानसे सब इन्द्रियोंका वशमें करके एक मासतक मनको योगमें लगाकर ज्ञानयोग प्राप्त कर लिया। जब उनके सामने अणिमा आदि सिद्धियाँ आयीं, तब वे उनसे क्रोधपूर्वक बोले—'अरी! यदि अपनी दुष्टताके कारण तुमलोग मेरे पास भी चली आयीं, तो मेरे-जैसे शान्तपुरुषोंका कभी पराभव न कर सकोगी।'

यह चातुर्मास्यका माहात्म्य सब पापोंका नाश करनेवाला है। जो भगवान् शिव अथवा विष्णुको अपने हृदयमें स्थापित करके अभेद-बुद्धिसे उनके अद्वितीय स्वरूपका चिन्तन करता है, उसके लिये शत्रु भी अत्यन्त प्रिय हो जाता है।

**चातुर्मास्य-माहात्म्य सम्पूर्ण।**

# ब्रह्मोत्तरखण्ड

## शिवके षडक्षर एवं पंचाक्षर मन्त्रका माहात्म्य; राजा दाशार्ह तथा रानी कलावतीकी कथा

**ज्योतिर्मात्रस्वरूपाय निर्मलज्ञानचक्षुषे।**
**नमः शिवाय शान्ताय ब्रह्मणे लिंगमूर्तये॥**

'ज्योतिमात्र जिनका स्वरूप है, निर्मल ज्ञान ही जिनका नेत्र है, जो लिंगस्वरूप ब्रह्म हैं, उन परम शान्त कल्याणमय भगवान् शिवको नमस्कार है।'

**ऋषि बोले**—सूतजी! आपने संक्षेपसे भगवान् विष्णुके उत्तम माहात्म्यका वर्णन किया, जो समस्त पापोंका अपहरण करनेवाला और परम पवित्र है। हमने भी उसे ध्यानपूर्वक सुना है। अब हमलोग त्रिपुरविनाशक शिवजीके माहात्म्य और उनके मन्त्रोंकी महिमाको सुनना चाहते हैं।

**सूतजीने कहा**—मुनियो! मरणधर्मा मनुष्योंके लिये इतना ही सबसे उत्तम एवं सनातन श्रेय है कि भगवान् महेश्वरकी कथामें अकारण भक्तिभावका उदय हो*। समस्त पुण्यों, श्रेयके सम्पूर्ण साधनों और समस्त यज्ञोंमें जपयज्ञको ही सर्वोत्तम माना गया है†। जैसे सब देवताओंमें त्रिपुरारि भगवान् शंकर श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार सब मन्त्रोंमें शिवका षडक्षर मन्त्र श्रेष्ठ है। उसीको प्रणवसे रहित होनेपर पंचाक्षर मन्त्र भी कहते हैं। वह जप करनेवाले पुरुषोंको मोक्ष देनेवाला है। सिद्धिकी इच्छा रखनेवाले सब श्रेष्ठ मुनि इस मन्त्रका सम्यग् रूपसे सेवन करते हैं। शिवजीके शुभ पंचाक्षर मन्त्रमें सर्वज्ञ, परिपूर्ण, सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् शिव सदा रमते रहते हैं। यह मन्त्रराज सम्पूर्ण उपनिषदोंका आत्मा है। इसके जपसे सब मुनियोंने निरामय परब्रह्मका साक्षात्कार किया है। **'नमः शिवाय'** मन्त्रमें **'नमः'** पदके अर्थभूत नमस्कारके द्वारा जीवभाव परमात्मा शिवमें मिलकर तद्रूप हो जाता है। अतः वह मन्त्र साक्षात् परब्रह्मस्वरूप है। संसार-बन्धनमें बँधे हुए देहधारियोंके हितकी कामनासे स्वयं भगवान् शिवने **'ॐ नमः शिवाय'** इस आदिमन्त्रका प्रतिपादन किया है। जिसके हृदयमें **'ॐ नमः शिवाय'** यह मन्त्र निवास करता है, उसके लिये बहुत-से मन्त्र, तीर्थ, तप और यज्ञोंकी क्या आवश्यकता है‡? देहधारी मनुष्य तभीतक दुःखोंसे भरे हुए इस भयंकर संसारमें भटकते हैं, जबतक कि वे एक बार भी इस षडक्षर मन्त्रका उच्चारण नहीं करते। यह षडक्षर मन्त्र सम्पूर्ण ज्ञानोंकी निधि है। यह मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेवाला दीपक है। अविद्याके समुद्रको सोखनेवाला वडवानल है और महापातकोंके जंगलको जला डालनेवाला दावानल है। अतः यह पंचाक्षर मन्त्र सब कुछ देनेवाला माना गया

---

* एतावदेव मर्त्यानां परं श्रेयः सनातनम्। यदीश्वरकथायां वै जाता भक्तिरहैतुकी॥

(स्क० पु०, ब्रा० ब्रह्मो० १। ५)

† सर्वेषामपि पुण्यानां सर्वेषां श्रेयसामपि। सर्वेषामपि यज्ञानां जपयज्ञः परः स्मृतः॥

(स्क० पु०, ब्रा० ब्रह्मो० १। ७)

‡ किं तस्य बहुभिर्मन्त्रैः किं तीर्थैः किं तपोऽध्वरैः। यस्यो नमः शिवायेति मन्त्रो हृदयगोचरः॥

(स्क० पु०, ब्रा० ब्रह्मो० १। १६)

है। इसे मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले स्त्री-समुदाय, शूद्र और वर्णसंकर धारण कर सकते हैं। इस मन्त्रके लिये दीक्षा, होम, संस्कार, तर्पण, समय-शुद्धि तथा गुरुमुखसे उपदेश आदिकी आवश्यकता नहीं है। यह मन्त्र सदा पवित्र है*। 'शिव' यह दो अक्षरका मन्त्र ही बड़े-बड़े पातकोंका नाश करनेमें समर्थ है और उसमें 'नमः' पद जोड़ दिया गया, तब तो वह मोक्ष देनेवाला हो जाता है। जो गुरु निर्मल, शान्त, साधु, स्वल्पभाषी, काम-क्रोधसे रहित, सदाचारी और जितेन्द्रिय हों, उनके द्वारा दयापूर्वक दिया हुआ मन्त्र शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है। प्रयाग, पुष्कर, केदार, सेतुबन्ध, गोकर्ण और नैमिषारण्य—ये सब क्षेत्र मनुष्योंको शीघ्र ही सिद्धि प्रदान करनेवाले हैं।

मथुरापुरीमें दाशार्ह नामसे विख्यात एक राजा हो गये हैं, जो यदुकुलमें श्रेष्ठ, बुद्धिमान्, अत्यन्त उत्साही और महान् बलवान् थे। वे शास्त्रोंके ज्ञाता, नीतियुक्त वचन बोलनेवाले, शूरवीर, धैर्यवान् तथा परम कान्तिमान् थे। अनेक शास्त्रोंके तात्पर्यको जाननेमें राजाने कुशलता प्राप्त की थी। वे उदार, रूपवान्, तरुण तथा शुभ लक्षणोंसे सुशोभित थे। उन्होंने काशिराजकी पुत्री कलावतीके साथ विवाह किया था। ब्याह करके घर आनेपर रात्रिमें पलंगपर बैठी हुई उस स्त्रीको राजाने अपने पास बुलाया। पतिके बुलानेपर भी वह उनके समीप नहीं आयी। तब राजा उसे बलपूर्वक अपनी शय्यापर ले आनेके लिये उठे। यह देख रानीने कहा—'महाराज! मैं कारणका ज्ञान रखनेवाली तथा व्रतमें तत्पर हूँ। मेरा स्पर्श न कीजिये। आप तो धर्म-अधर्मको जानते हैं। अतः मेरे ऊपर बलप्रयोग न कीजिये। पति-पत्नीमें प्रेमपूर्वक जो समागम होता है, वही एक-दूसरेकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाला है। बलपूर्वक स्त्रियोंका सम्भोग करनेसे पुरुषोंको क्या प्रसन्नता होती है और कौन-सा सुख मिलता है? जो प्रेम न करती हो, रोगिणी हो, गर्भवती अथवा किसी व्रतका पालन करनेवाली हो, रजस्वला और रतिकी इच्छा न रखनेवाली हो, ऐसी स्त्रीके साथ पुरुषको बलपूर्वक समागमकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये।'

रानीके इस प्रकार कहनेपर भी राजा दाशार्हने उसकी बात नहीं मानी। रानीका शरीर तपाये हुए लोहेके पिण्डके समान तप रहा था। उसका स्पर्श करते ही सहसा राजाका अंग-अंग जलने लगा। उन्होंने भयसे विह्वल होकर अपने शरीरको जलानेवाली रानीको छोड़ दिया।

**राजा बोले**—प्रिये! यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है कि पल्लवके समान कोमल यह तुम्हारा शरीर अग्निके समान तप्त कैसे हो गया।

**रानीने उत्तर दिया**—राजन्! बचपनमें मुनिवर दुर्वासाने मुझपर दया करके शिवजीके पंचाक्षर मन्त्रका उपदेश किया था। उस मन्त्रके प्रभावसे मेरा शरीर निष्पाप हो गया है। पापी पुरुष इसका स्पर्श नहीं कर सकते। महाराज! आपने स्वभावसे ही मदिरा पीनेवाली कुलटा और वेश्याओंका सेवन किया है। आप पवित्र मन्त्रका जप और भगवान् शंकरकी आराधना भी नहीं करते। फिर मेरा स्पर्श कैसे कर सकते हैं?

**राजा बोले**—सुन्दरी! तुम मुझे भी भगवान् शंकरके शुभ पंचाक्षर मन्त्रका उपदेश करो।

**रानीने कहा**—आप मेरे गुरु हैं, मैं आपको उपदेश नहीं कर सकती। आप मन्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ गुरु गर्गाचार्यके समीप जाइये।

---

* तस्मात् सर्वप्रदो मन्त्रः सोऽयं पञ्चाक्षरः स्मृतः। स्त्रीभिः शूद्रैश्च संकीर्णैर्धार्यते मुक्तिकाङ्क्षिभिः॥
नास्य दीक्षा न होमश्च न संस्कारो न तर्पणम्। न कालो नोपदेशश्च सदा शुचिरयं मनुः॥
(स्क० पु०, ब्रा० ब्रह्मो० १। २०, २१)

इस प्रकार बातचीत करते हुए दोनों पति-पत्नी गर्ग मुनिके समीप गये और उनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया। तत्पश्चात् राजाने विनीतभावसे एकान्तमें कहा—'गुरुदेव! आपका हृदय दयासे भरा हुआ है, आप मुझे भगवान् शिवके पंचाक्षर मन्त्रका उपदेश देकर कृतार्थ कीजिये।' राजाके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर विप्रवर गर्गाचार्य दोनों दम्पतिको यमुनाजीके महापुण्यमय उत्तम तटपर ले गये। वहाँ गुरुजी एक पवित्र वृक्षके मूल भागमें बैठ गये। राजाने उपवासपूर्वक उस पुण्य तीर्थके निर्मल जलमें स्नान किया। तब उन्होंने राजाको पूर्वाभिमुख बिठाकर भगवान् शिवके चरणारविन्दोंमें नमस्कार किया और राजाके मस्तकपर हाथ रखकर उन्हें शिवस्वरूप पंचाक्षर मन्त्रका उपदेश दिया। उस मन्त्रको धारण करते ही गुरुजीके हस्तकमलका स्पर्श होनेसे राजा दाशार्हके शरीरसे करोड़ों पाप कौओंका रूप धारण करके बाहर निकल गये।

**तब गुरु गर्गाचार्यने कहा**—राजन्! भगवान् शिवका पंचाक्षर मन्त्र जब तुम्हारे हृदयमें पहुँचा, तभी तुम्हारे कोटि-कोटि पाप कौओंके रूपमें बाहर निकल गये हैं। सहस्रों कोटि जन्मोंमें जो पापराशि संचित की गयी है, वह शिवके पंचाक्षर मन्त्रको धारण करते ही क्षणभरमें भस्म हो जाती है। राजन्! इस समय तुम्हारे करोड़ों पातक जल गये। अब तुम पवित्रचित्त होकर अपनी इस रानीके साथ सुखपूर्वक विहार करो। ऐसा कहकर मुनिश्रेष्ठ गर्गजी उन दोनों दम्पतिके साथ घरको लौटे। तदनन्तर गुरुजीसे आज्ञा ले राजा और रानी प्रसन्नतापूर्वक महलमें चले गये। यह पंचाक्षर मन्त्र सम्पूर्ण वेद, उपनिषद्, पुराण और शास्त्रोंका आभूषण है, सब पापोंका नाश करनेवाला है। इस प्रकार मैंने पंचाक्षर मन्त्रका महान् प्रभाव संक्षेपसे बताया है।

## शिवरात्रिको शिवपूजनका महत्त्व, राजा मित्रसहका वसिष्ठके शापसे राक्षस होकर ब्राह्मणकी हत्या करना और गौतमजीका उन्हें गोकर्णक्षेत्रकी महिमा सुनाना

**सूतजी कहते हैं**—माघ (फाल्गुन) मासमें कृष्ण पक्षकी चतुर्दशीका उपवास अत्यन्त दुर्लभ है। उसमें भी शिवरात्रिमें जागरण करना तो मैं मनुष्योंके लिये और दुर्लभ मानता हूँ। उससे भी अत्यन्त दुर्लभ है शिवलिंगका दर्शन। तथा परमेश्वर शिवके पूजनको तो मैं और भी दुर्लभतर मानता हूँ। सौ करोड़ जन्मोंमें उत्पन्न हुई पुण्यराशिके प्रभावसे कभी भगवान् शंकरकी बिल्वपत्रसे पूजा करनेका अवसर प्राप्त होता है। दस हजार वर्षोंतक जिसने गंगाजीके जलमें स्नान किया है, उसको जो फल मिलता है, वही फल मनुष्य एक बार बिल्वपत्रसे भगवान् शंकरकी पूजा करके प्राप्त कर लेता है। प्रत्येक युगमें जो-जो पुण्य इस संसारमें लुप्त हुए हैं, वे सभी फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी (शिवरात्रि) में पूर्णतः विद्यमान रहते हैं। लोकमें ब्रह्मा आदि देवता और वसिष्ठ आदि मुनि इस फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशीकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। इस शिवरात्रिको यदि किसीने उपवास किया तो उसे सौ यज्ञोंसे अधिक पुण्य होता है। जिसने एक बिल्वपत्रसे शिवलिंगका पूजन किया है, उसके पुण्यकी समता तीनों लोकोंमें कौन कर सकता है?

इस विषयमें एक परम सुन्दर पुण्य-कथा कही जाती है। इक्ष्वाकुवंशमें 'मित्रसह' नामसे

प्रसिद्ध एक परम धर्मात्मा राजा हो गये हैं। वे समस्त धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ, सब अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता, शास्त्रज्ञ, वेदोंके पारंगत विद्वान्, शूरवीर, अत्यन्त बली, उत्साही, नित्य उद्योगी और दयाके निधान थे। राजाको शिकार खेलनेका व्यसन था। एक दिन उन्होंने अपनी बहुत बड़ी सेना साथ लेकर भयंकर वनमें प्रवेश किया और वहाँ बहुतसे व्याघ्र, जंगली सूअर तथा सिंहोंको अपने बाणोंसे बींध डाला। राजा मित्रसह रथपर सवार हो कवचसे सुरक्षित होकर वनमें विचर रहे थे। उसी समय उन्होंने अग्निके समान आकृतिवाले एक निशाचरको मारा। उसका छोटा भाई दूरसे यह देखकर शोकमग्न हो गया और वहीं कहीं छिप गया। भाईको मारा गया देख उसने मन-ही-मन इस प्रकार विचार किया—'यह राजा बड़ा दुर्धर्ष वीर है, इसे छलसे ही जीतना चाहिये।' ऐसा निश्चय करके वह पापात्मा राक्षस मनुष्यके समान आकृति बनाकर राजाके समीप आया। राजाने सेवा करनेके लिये विनीतभावसे आये हुए उस पुरुषको देखकर अज्ञानवश उसे रसोईघरका अध्यक्ष बना दिया। तत्पश्चात् राजा लौटकर अपनी पुरीको आये। महाराज मित्रसहकी पत्नी मदयन्ती नामसे प्रसिद्ध थी। वह नलकी स्त्री दमयन्तीके समान बड़ी पतिव्रता थी। एक दिन राजा मित्रसहने श्राद्धके दिन मुनिवर वसिष्ठको निमन्त्रित करके अपने घरपर बुलाया। उस समय रसोइयेके रूपमें राक्षसने सागमें मनुष्यका मांस मिला दिया और वही वसिष्ठजीके आगे परोस दिया। उसे देखकर वसिष्ठजी बोले—'राजन्! तुझे धिक्कार है, धिक्कार है। तू इतना दुष्ट और छली है कि मेरे आगे मनुष्यका मांस रख दिया। इस पापके कारण तू राक्षस हो जायगा।' जब मुनिको यह मालूम हुआ कि यह सारी करतूत राक्षसकी है, तब उन्होंने उस शापको बारह वर्षोंकी अवधिमें सीमित कर दिया। तब राजा भी कुपित होकर बोले—'यह मेरी करतूत नहीं थी और न मैं इस विषयमें कुछ जानता ही था, तो भी आपने मुझे अकारण शाप दे दिया। इसलिये गुरु होनेपर भी आपको मैं भी शाप देता हूँ।' ऐसा कहकर राजा अंजलिमें जल ले गुरुको शाप देनेके लिये उद्यत हुए। यह देख रानी मदयन्तीने पतिके चरणोंमें गिरकर उन्हें ऐसा करनेसे रोका। रानीके वचनका मान रखनेके लिये राजा शाप देनेसे निवृत्त हो गये और उस अंजलिके जलको उन्होंने अपने दोनों पैरोंपर डाल दिया। इससे राजाके दोनों पैर कल्मषयुक्त (मलिन) हो गये। तबसे राजाका नाम कल्माषपाद हो गया।

गुरुके शापसे राजा वनमें विचरनेवाले राक्षस हुए। एक दिन वनमें कहीं किशोर अवस्थावाले नवविवाहित मुनि-दम्पति रमण कर रहे थे। उस समय उस नर-भक्षी राक्षसने तरुण मुनिकुमारको खानेके लिये पकड़ लिया। ठीक उसी तरह, जैसे छोटे-से मृगशिशुको कोई व्याघ्र पकड़ लेता है। राक्षसके वशमें पड़े हुए अपने पतिको देखकर उसकी प्यारी स्त्री करुणापूर्वक बोली—'सूर्यवंशयशोधर महाराज! आप ऐसा पाप न कीजिये। आप राक्षस नहीं, अयोध्याके सम्राट् हैं, रानी मदयन्तीके पति हैं। प्रभो! ये मेरे स्वामी मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्रियतम हैं, इन्हें न खाइये। शरणमें आये हुए दीन, दुःखी मनुष्योंको आप ही सहारा देनेवाले हैं। इन महात्मा पतिके बिना मेरा यह शरीर मेरे लिये महान् भार है। इस मलिन पापमय पांचभौतिक शरीरसे क्या सुख होगा? ये मुनिकुमार देखनेको बालक हैं; किंतु वेदोंके विद्वान्, शान्त, तपस्वी और अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता हैं। इन्हें प्राणदान देकर आपको सम्पूर्ण जगत्के रक्षा करनेका पुण्य होगा। महाराज! मैं ब्राह्मणकी स्त्री हूँ, अभी बालिका हूँ, मुझपर

कृपा कीजिये। आप-जैसे साधु पुरुष अनाथों, दीनों और पीड़ितोंपर कृपा करनेवाले होते हैं।'

इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भी उस निर्दयी, नर-भक्षी राक्षसने उस ब्राह्मणकुमारकी गर्दन मरोड़ डाली और उन्हें उदरस्थ कर लिया। तब वह पतिव्रता ब्राह्मणी अत्यन्त शोकसे ग्रस्त हो विलाप करने लगी। उसने पतिकी हड्डियोंको एकत्रित करके भयंकर चिता प्रज्वलित की और पतिका अनुसरण करनेके लिये अग्निमें प्रवेश करते समय राक्षसरूपधारी राजाको इस प्रकार शाप दिया—'अरे ओ पापात्मन्! तूने मेरे पतिको खा लिया है, अतः तू भी जब स्त्रीसे समागम करेगा, उसी समय तेरी मृत्यु हो जायगी।' यों कहकर वह पतिव्रता स्त्री चिताकी आगमें प्रवेश कर गयी।

गुरुके शापका उपभोग करके राजा पुनः अपने स्वरूपको प्राप्त हुए और प्रसन्नतापूर्वक घरको गये। रानी मदयन्ती उस पतिव्रता ब्राह्मणीके शापको जानती थीं। इसलिये वैधव्यसे डरकर उन्होंने रतिकी इच्छावाले पतिको अपने पास आनेसे मना कर दिया। राजा मित्रसह राज्यके सुखभोगसे विरक्त हो गये और सम्पूर्ण लक्ष्मीका परित्याग करके पुनः वनमें चले गये। राज्य छोड़कर सम्पूर्ण पृथ्वीपर विचरते हुए राजाने अपने पीछे-पीछे आती हुई एक भयंकर रूपवाली पिशाचीको देखा। वह ब्रह्महत्या थी। श्रेष्ठ मुनियोंके उपदेशसे राजाने उस ब्रह्महत्याको पहचाना। उसके निवारणके लिये विरक्तचित्तवाले राजाने अनेक वर्षोंतक बहुत-से क्षेत्रोंमें विचरण किया। फिर भी जब ब्रह्महत्या निवृत्त नहीं हुई, तब वे मिथिलामें आये। इसी समय उधर आते हुए निर्मल अन्तःकरणवाले गौतम मुनिको उन्होंने देखा और उनके समीप जाकर बार-बार प्रणाम किया। तब मुनिश्रेष्ठ गौतमने राजाको आशीर्वाद दे मन्द-मन्द मुसकराते हुए कहा—'राजन्! तुम्हारे यहाँ कुशल तो है न? तुम्हारे राज्यमें कोई विघ्न-बाधा तो नहीं है?'

**राजाने कहा**—ब्रह्मन्! आपकी कृपासे हम सब लोग कुशलसे हैं; परंतु यह भयंकर रूपवाली पिशाची हमें बड़ा दुःख देती है। शापग्रस्त होकर हमने जो दुर्लङ्घ्य पाप कर डाला है, उसकी शान्ति सहस्रों प्रायश्चित्तोंसे भी नहीं हो रही है। आप प्रेमपूर्वक सम्भाषण करके मेरे चित्तको आनन्दित कर रहे हैं। महाभाग! आज अपने चरणकमलोंकी शरणमें आये हुए मुझ पापीको शान्ति प्रदान कीजिये, जिससे मुझे सुख मिले।

**तब करुणानिधि गौतमजीने कहा**—राजेन्द्र! तुम्हें साधुवाद है? अब अपने महान् पापोंसे होनेवाले भयको त्याग दो। जब भगवान् शंकर रक्षा करनेवाले हैं, तब उनकी शरणमें आये हुए भक्तोंको कहाँसे भय हो सकता है? गोकर्ण नामक मनोरम क्षेत्र महापातकोंका संहार करनेवाला है। वहाँ बड़े-से-बड़े पाप भी नहीं टिक सकते। गोकर्ण क्षेत्रमें विद्यमान भगवान् शिव स्मरण करनेमात्रसे समस्त पापोंका नाश कर डालते हैं। जैसे कैलास और मन्दराचलके शिखरपर भगवान् शिवका निश्चित निवास है, उसी प्रकार गोकर्णमण्डलमें भी है। वहाँ महादेवजी महाबल नामसे निवास करते हैं। रावण नामक राक्षसने घोर तपस्या करके जिस शिवलिंगको प्राप्त किया था, उसीको गणेशजीने गोकर्ण क्षेत्रमें स्थापित किया है। सनक-सनन्दन आदि महात्मा तथा मृगचर्ममय वस्त्र धारण करनेवाले साध्य एवं मुनिगण वहाँ बैठकर भगवान् शिवकी उपासना करते हैं। दण्डी, मुण्डी, स्नातक, ब्रह्मचारी तथा तपसे समस्त पातकोंको जला डालनेवाले महात्मा भी देवाधिदेव शिवकी उत्तम भक्तिसे उपासना करते हैं। इस ब्रह्माण्ड-मण्डलमें गोकर्णके समान दूसरा क्षेत्र नहीं है। वहाँ महात्मा अगस्त्य मुनिने घोर तपस्या की है। राजन्! इस तीर्थमें सम्पूर्ण देवताओंके स्थान हैं। देवाधिदेव भगवान् विष्णु,

परमेष्ठी ब्रह्मा, वीरवर कार्तिकेय तथा गणेशजीके स्थान हैं। गोकर्ण तीर्थमें कोटि-कोटि शिवलिंग विद्यमान हैं। वहाँ पग-पगपर असंख्य तीर्थ मौजूद हैं। सत्ययुगमें महाबल नामक भगवान् शिव श्वेतवर्णके होते हैं, त्रेतामें उनका रंग अत्यन्त लाल हो जाता है, द्वापरमें वे पीत वर्णके और कलियुगमें श्याम वर्णके हो जायँगे। महाबल शिव भयंकर कलियुग प्राप्त होनेपर कोमल भावको प्राप्त होंगे। परम उत्तम गोकर्ण क्षेत्र पश्चिम समुद्रके तटपर है। वह ब्रह्महत्या आदि पापोंको भस्म कर डालता है। इस संसारमें जो ब्रह्मघाती, भूतद्रोही, शठ और अन्यान्य पापी होते हैं, वे सब गोकर्ण तीर्थमें पहुँचकर वहाँके तीर्थोंमें स्नान करके महाबल नामक शिवजीका दर्शन करनेपर शिवलोकको प्राप्त होते हैं। वहाँ पुण्य तिथियोंको पुण्य नक्षत्र एवं पुण्य दिनमें जो महेश्वर शिवकी पूजा करते हैं, वे सब शिवरूप हो जाते हैं। यदा-कदा जो कोई भी मनुष्य गोकर्ण तीर्थमें जाकर भगवान् शंकरकी पूजा करता है, वह ब्रह्मपदको प्राप्त होता है। रविवार, सोमवार तथा बुधवारको जब अमावास्या तिथिका योग हो, तब वहाँ समुद्रमें किया हुआ स्नान, दान, पितृतर्पण, शिवपूजा, जप, होम, व्रतचर्या और ब्राह्मणोंका सत्कार अनन्त फल देनेवाला होता है। महाप्रदोषकी बेलामें भगवान् शिवका पूजन मोक्ष देनेवाला है। माघ मास (फाल्गुन) में जो परम पुण्यमयी कृष्ण पक्षकी चतुर्दशी आती है, उस दिन शिवलिंग और बिल्वपत्र इन सबका सुयोग दुर्लभ है। अहो! माया कैसी प्रबल है कि जिससे मूढ़ हुए मनुष्य भगवान् शिवकी इस महातिथिको उपवासतक नहीं करते। शिवरात्रिका उपवास, जागरण, भगवान् शंकरके समीप निवास तथा गोकर्ण क्षेत्रका वास इन सबका सुयोग होना मनुष्योंके लिये शिवलोकमें जानेकी सीढ़ी है। राजन्! मैं भी इस समय गोकर्ण तीर्थसे लौटकर आया हूँ। शिवरात्रिको उपवास करके भगवान् शिवका महोत्सव देखकर लौटा हूँ। शिवरात्रिपर वहाँका महान् उत्सव देखनेके लिये सब देशोंसे चारों वर्णोंके लोग आये थे। स्त्री, बालक, वृद्ध तथा चारों आश्रमोंके निवासी वहाँ आकर देवेश्वर शिवका दर्शन करके कृतकृत्यताको प्राप्त हुए। लौटते समय मार्गमें एक अद्भुत आश्चर्यकी बात देखकर मैं परमानन्दमें निमग्न हो कृतार्थ हो गया हूँ।

## गोकर्ण क्षेत्रमें शिवरात्रिके शिव-पूजनके माहात्म्यसे एक चाण्डालीका परमधाम-गमन

**राजाने पूछा**—ब्रह्मन्! आपने मार्गमें कहाँ कौन-सी आश्चर्यकी बात देखी है, वह मुझे भी बताइये।

**गौतमजीने कहा**—राजन्! गोकर्णसे आते समय एक स्थानपर दोपहरके समय मुझे एक स्वच्छ सरोवर दिखायी दिया। वहाँ जल पीकर मैंने रास्तेकी थकावट दूर की और घनी एवं शीतल छायावाले बरगदके नीचे विश्राम किया। उसी समय थोड़ी ही दूरपर मैंने एक अन्धी, बूढ़ी एवं दुबली-पतली चाण्डालीको देखा। उसका मुँह सूख गया था। उसने कुछ भी भोजन नहीं किया था और वह अनेक प्रकारके रोगोंसे पीड़ित थी। उसके सब अंगोंमें कोढ़का घाव हो गया था तथा उसमें बहुत-से कीड़े पड़ गये थे। उसकी कमरमें पीब और रक्तसे सना हुआ एक फटा-पुराना वस्त्र लिपटा हुआ था। उसे

उस दशामें देखकर मुझे बड़ी दया आयी और उसके मृत्युकालकी प्रतीक्षा करता हुआ मैं क्षणभर वहीं बैठा रहा। इतनेहीमें भगवान् शंकरके पार्षदोंद्वारा लाया जाता हुआ एक विमान देखा, जो अपनी किरणोंसे आकाशमार्गको आलोकित कर रहा था। तब मैंने शीघ्र ही समीप जाकर आकाशमें खड़े हुए उन शिवगणोंसे पूछा—'आपलोगोंको नमस्कार है। मैंने आपलोगोंको पहचान लिया है। आप सभी महादेवजीके चरणोंके सेवक हैं। आपने इस समय जो यहाँ आनेका कष्ट उठाया है, यह आपकी यात्रा सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षाके लिये हुई है या आपलोगोंको कोई विनोद सूझा है? कृपा करके मुझे बतलाइये। आप यहाँ किसलिये पधारे हैं?'

**शिवजीके दूत बोले**—मुने! यह सामने जो बूढ़ी चाण्डाली मर रही है, इसीको ले जानेके लिये भगवान् शिवने हमें आदेश दिया है।

**यह सुनकर मैंने पूछा**—अहो! यह महापापात्मा घोर चाण्डाली इस दिव्य विमानपर बैठनेकी अधिकारिणी कैसे हो सकती है? यह तो जन्मसे लेकर जीवनभर प्रायः अपवित्रतामें ही डूबी रही है। पापमग्ना एवं पापका अनुगमन करनेवाली है। इस दुराचारिणीको आपलोग शिवलोकमें क्यों ले जाना चाहते हैं? इसने कभी शिवजीका पंचाक्षर मन्त्र नहीं जपा, शिवजीका पूजन नहीं किया और न कभी भगवान् शंकरका ध्यान ही किया है? सत्संगसे सदा दूर रहनेवाली इस अत्यन्त क्रोधी स्वभाववाली स्त्रीको आपलोग भगवान् शिवके लोकमें कैसे ले जाना चाहते हैं। अहो! ईश्वरकी इस लीलाका रहस्य देहधारियोंकी समझमें आना कठिन है, जिसमें पापात्मा प्राणी भी दया करके परम पदमें पहुँचाये जाते हैं।

**मेरे ऐसा कहनेपर देवाधिदेव भगवान् शिवके दूत इस प्रकार बोले**—महामते! यह कर्मोंके परिपाकसे प्राप्त होनेवाली गति देखो, जो कि एक नीच-से-नीच नारी भी आज रोग-शोकसे रहित परम धामपर आरूढ़ हो रही है। इसने पूर्वजन्ममें अन्न-दान आदि नहीं किया था, अतः भूख-प्यास आदि क्लेशोंसे यहाँ पीड़ित हो रही है। इसने जो मदिराके नशेमें अन्धी होकर बड़ा भयंकर पाप कर डाला था, उसीके फलसे यह जन्मान्ध हो गयी। पूर्वजन्ममें इसने जान-बूझकर गायके बछड़ेको खाया था, इसलिये इस जन्ममें यह अतिशय निन्दित चाण्डाली हुई। इसने सदाचारका मार्ग त्यागकर पूर्वजन्ममें व्यभिचारके मार्गको अपनाया था, उसी अकथनीय पापसे इस जन्ममें यह दुराचारिणी और दुर्भाग्यवती हुई। विधवा होकर भी इसने दूसरे पतिका आलिंगन किया, उसी महान् पापके कारण इसके शरीरमें कोढ़के बहुत-से घाव हो गये हैं। इसने कामवेदनासे व्याकुल होकर स्वेच्छानुसार शूद्रसे रमण किया, उस पापके कारण इसे महारक्त पीब और कीड़ोंसे पीड़ित होना पड़ा है। इसने कभी उत्तम व्रतोंका पालन नहीं किया, यज्ञपूजा नहीं की, कुआँ आदि खुदवाने या बगीचे लगानेका काम नहीं किया, उसी पापसे यह सब प्रकारके भोग-साधनोंसे रहित होकर दुःख पा रही है। पूर्वजन्ममें इस मूढ़ स्त्रीने मदिरा-पान किया था, उसी पापसे यह महायक्ष्माकी पीड़ा और हृदय-शूलसे तड़प रही है। मुनिश्रेष्ठ! विवेकी महात्मा यहींपर सब मनुष्योंमें उनके सम्पूर्ण पापचिह्न देखते हैं। यहाँ जो बहुतसे रोगोंद्वारा पीड़ित और पुत्र तथा धनसे हीन हैं, जो दुष्ट लक्षणोंसे क्लेश पानेवाले और लाज छोड़कर भीख माँगनेवाले हैं, वस्त्र, अन्न, पान, शय्या, भूषण और अभ्यंग आदिसे वंचित, कुरूप, विद्याहीन, विकल अंगोंवाले (लूले-लँगड़े आदि), कुत्सित भोजन करनेवाले, दुर्भाग्यवान्, निन्दित तथा दूसरोंके सेवक हैं—ये सभी पूर्वजन्ममें बड़े भारी पापी रहे हैं। इस प्रकार यत्नपूर्वक विचार करके और संसारके मनुष्योंकी

दशा देखकर विद्वान् पुरुष कभी पाप नहीं करता। यदि करे तो वह आत्मघाती है। जीवका यह मनुष्य-शरीर अनेक प्रकारके सत्कर्मोंका एकमात्र साधन है। इसके द्वारा सदा शुभ कर्मोंका ही सेवन करे। पापकर्मोंको सर्वथा एवं सर्वदा त्याग दे। सुखकी इच्छा रखनेवालेको पुण्य करना चाहिये। मनुष्यका यह शरीर अत्यन्त दुर्लभ है। इसे पाकर जो कोई भी अपना हित चाहनेवाला मानव एकमात्र भगवान् शिवकी शरण लेता है, एकचित्त होकर उन्हींका ध्यान करता है, वह समस्त पातकोंसे तर जाता है। पहले इस दुराचारिणी स्त्रीके मुखसे असावधानीमें शिवजीका नाम उच्चारित हुआ है। श्रीगोकर्ण क्षेत्रमें शिवरात्रिको उपवास करके रातमें इसने जागरण किया और शिवजीके मस्तकपर बिल्वपत्र चढ़ाया है। उसीका जो उत्तम फल है, उसे यह आज भोगने जा रही है। यह सब तुम अपनी आँखों देखते हो।

**गौतमजी कहते हैं**—राजन्! इस प्रकार कहकर उन शिवदूतोंने उस चाण्डालकी योनिसे जीवको खींचकर उसे दिव्य तेजसे सम्पन्न कर दिया।

उस नारीको दिव्य शरीरकी प्राप्ति हुई और वह तेजकी राशिसे उद्भासित हो उठी। तत्पश्चात् शिवके दूतोंने प्रसन्न होकर उसे विमानपर बैठाया। वह परम उदाररूप और लावण्यसे सुशोभित तथा दिव्य वस्त्र धारण करनेवाली हो गयी। उसकी देहसे सब ओर दिव्य सुगन्ध और दिव्य प्रकाश फैल रहे थे। वह विमानपर बैठी हुई शिवजीके चरणारविन्दोंका स्मरण कर रही थी। उसे वे पार्षद भगवान् महादेवजीके समीप ले गये। उस समय सब लोकपाल आश्चर्यचकित होकर यह सब देख रहे थे। राजन्! गिरिजापति भगवान् शंकरके प्रति लेशमात्र भक्तिका यह अत्यन्त आश्चर्यजनक माहात्म्य मैंने तुम्हें बताया है, जो समस्त पापराशिका विनाश करनेवाला है।

**राजाने पूछा**—भगवन्! परमेश्वर शिवका उत्तम लोक कैसा है। यदि आपकी मुझपर दया है तो मुझे शिवलोकका लक्षण बतलाइये।

**गौतमजी बोले**—ब्रह्मा आदि देवेश्वरोंके लोकोंमें भी जो अत्यन्त दुर्लभ आनन्द है, वह जिस दिव्य धाममें नित्य-निरन्तर विद्यमान रहता है, वही परमेश्वर शिवका लोक है। जहाँ सब लोकोंको लाँघकर जाना होता है, जिसमें दिव्य प्रकाश स्थित है तथा जहाँ अविद्यामय अन्धकारका कहीं लेशमात्र भी संयोग नहीं है, वही परमेश्वर शिवका लोक है। जहाँ काम, क्रोध, लोभ और मद आदि विकार निवास नहीं करते तथा जहाँ जन्म आदि अवस्थाएँ नहीं प्राप्त होतीं, वह परमेश्वर शिवका लोक है। सम्पूर्ण वेदोंका जो एकमात्र प्रधान क्षेत्र कहा जाता है, जिससे अधिक उत्तम वैभव कहीं नहीं है, वह परमेश्वर शिवका धाम है। वहाँ जानेके लिये योगीजन सदा आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और ध्यान आदि साधनोंसे युक्त योगमार्गका सहारा लेकर प्रयत्न करते रहते हैं। जो लोग भगवान् शिवकी भक्तिसे परिपूर्ण हैं, वे ही

उस दिव्य धाममें जाते हैं। जो भगवान् शंकरकी कथा सुनने और कहनेमें हर्षका अनुभव करते हैं, केवल शान्तिमें जिनकी स्थिति है, जो सब प्राणियोंके अकारण सुहृद् और मोहरहित हैं, वे संसारचक्रको लाँघकर भगवान् शंकरके आनन्दमय धामको पाकर सुखी होते हैं। राजेन्द्र! इसी प्रकार तुम भी गोकर्ण क्षेत्रमें भगवान् शंकरके स्थानपर जाकर उनके दर्शनसे समस्त पापराशिका निवारण करो और कृतकृत्य हो जाओ। वहाँ सब समयमें स्नान करके महाबल शिवकी पूजा करो और शिवचतुर्दशीको एकाग्रतापूर्वक उपवास करके रात्रिमें जागरण तथा बिल्वपत्रद्वारा भगवान् शंकरका पूजन करो। इससे तुम सब पापोंसे मुक्त होकर शिवलोकको प्राप्त करोगे। ऐसा कहकर मुनिवर गौतम प्रसन्नतापूर्वक मिथिलापुरीको चले गये तथा राजा मित्रसह गोकर्ण क्षेत्रमें आये। वहाँ महाबल नामसे प्रसिद्ध महादेवजीका दर्शन और पूजन करनेसे उनकी समस्त पापराशि धुल गयी। उन्होंने भगवान् शिवके परमधामको प्राप्त कर लिया। जो मनुष्य भगवान् शिवकी इस मनोहर कथाको प्रतिदिन भक्तिपूर्वक सुनता अथवा सुनाता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है।

## शिव-पूजाकी महिमाके विषयमें परम शिवभक्त राजा चन्द्रसेन और भक्त श्रीकर गोपकी अद्भुत कथा

**सूतजी कहते हैं**—भगवान् शिव गुरु हैं, शिव देवता हैं, शिव ही प्राणियोंके बन्धु हैं, शिव ही आत्मा और शिव ही जीव हैं। शिवसे भिन्न दूसरा कुछ नहीं है*। भगवान् शिवके उद्देश्यसे जो कुछ भी दान, जप और होम किया जाता है, उसका फल अनन्त बताया गया है। यह समस्त शास्त्रोंका निर्णय है। जो एकमात्र भगवान् शिवका भजन करता है, वह सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। जो प्रीति अपने पुत्र, स्त्री और धनमें की जाती है, वही यदि भगवान् शिवकी पूजामें की जाय तो वह उद्धार कर देती है। इसलिये कितने ही महात्मा पुरुष भगवान् शिवकी पूजाके लिये सम्पूर्ण विषयरूपी मदिराको छोड़ देते हैं। वही जिह्वा सफल है, जो भगवान् शिवकी स्तुति करती है। वही मन सार्थक है, जो शिवके ध्यानमें संलग्न होता है। वे ही कान सफल हैं, जो उनकी कथा सुननेके लिये उत्सुक रहते हैं और वे ही दोनों हाथ सार्थक हैं, जो शिवजीकी पूजा करते हैं। वे नेत्र धन्य हैं, जो महादेवजीकी पूजाका दर्शन करते हैं। वह मस्तक धन्य है, जो शिवके सामने झुक जाता है। वे पैर धन्य हैं, जो भक्तिपूर्वक शिवके क्षेत्रोंमें सदा भ्रमण करते हैं। जिसकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ भगवान् शिवके कार्योंमें लगी रहती हैं, वह संसारसागरके पार हो जाता है और भोग तथा मोक्ष प्राप्त कर लेता है। शिवकी भक्तिसे युक्त मनुष्य चाण्डाल, पुल्कस, नारी, पुरुष अथवा नपुंसक कोई भी क्यों न हो तत्काल संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है†। जिसके हृदयमें भगवान् शिवकी

* शिवो गुरुः शिवो देवः शिवो बन्धुः शरीरिणाम्। शिव आत्मा शिवो जीवः शिवादन्यन्न किञ्चन॥
(स्क० पु०, ब्रा० ब्रह्मो० ४।१)

† सा जिह्वा या शिवं स्तौति तन्मनो ध्यायते शिवम्। तौ कर्णौ तत्कथालोलौ तौ हस्तौ तस्य पूजकौ॥
ते नेत्रे पश्यतः पूजां तच्छिरः प्रणतं शिवे। तौ पादौ यौ शिवक्षेत्रं भक्त्या पर्यटतः सदा॥
यस्येन्द्रियाणि सर्वाणि वर्तन्ते शिवकर्मसु। स निस्तरति संसारे भुक्तिं मुक्तिं च विन्दति॥
शिवभक्तियुतो मर्त्यश्चाण्डालः पुल्कसोऽपि च। नारी नरो वा षण्ढो वा सद्यो मुच्येत संसृतेः॥
(स्क० पु०, ब्रा० ब्रह्मो० ४।७—१०)

लेशमात्र भी भक्ति है, वह समस्त देहधारियोंके लिये वन्दनीय है।

उज्जयिनीमें चन्द्रसेन नामक एक राजा थे। वे उसी नगरमें निवास करनेवाले भगवान् महाकालका पूजन करते थे। शिवके पार्षदोंमें अग्रगण्य तथा अमंगलोंको जीतनेवाले विश्ववन्दित मणिभद्रजी राजा चन्द्रसेनके सखा हो गये थे। उन्होंने राजापर प्रसन्न होकर एक समय उन्हें दिव्य चिन्तामणि प्रदान की, जो कौस्तुभमणि तथा सूर्यके समान देदीप्यमान थी। वह देखने, सुनने अथवा ध्यान करनेपर भी मनुष्योंको मनोवांछित वस्तु प्रदान करती थी। राजा उस चिन्तामणिको कण्ठमें धारण करके जब सिंहासनपर बैठते थे, तब देवताओंमें सूर्यनारायणकी भाँति उनकी शोभा होती थी। राजा चन्द्रसेनके विषयमें यह सब बात सुनकर समस्त राजाओंके मनमें उस मणिके प्रति लोभकी मात्रा बढ़ गयी और वे क्षुब्ध रहने लगे। एक बार उन सबने बहुत-सी सेना साथ लेकर क्रोधपूर्वक पृथ्वीको कम्पित करते हुए आक्रमण किया और उज्जयिनीके चारों द्वारोंको घेर लिया। अपनी पुरीको घिरी हुई देख राजा चन्द्रसेन भगवान् महाकालकी शरणमें गये और मनको सन्देहरहित करके दृढ़ निश्चयके साथ उपवासपूर्वक दिन-रात अनन्यभावसे भगवान् गौरीपतिकी आराधना करने लगे। उन्हीं दिनों उस नगरमें कोई ग्वालिन रहती थी, जिसके एकमात्र पुत्र था। वह विधवा थी और उज्जयिनीमें बहुत दिनोंसे रहती थी। वह अपने पाँच वर्षके बालकको लिये हुए महाकालके मन्दिरमें गयी और राजा चन्द्रसेनद्वारा की हुई गिरिजापतिकी महापूजाका दर्शन किया। शिवपूजनका वह आश्चर्यमय उत्सव देखकर उसने भगवान्‌को प्रणाम किया और पुनः अपने निवासस्थानपर लौट आयी। ग्वालिनके उस बालकने भी वह सारी पूजा देखी थी। अतः घर आनेपर उसने कौतूहलवश शिवजीकी पूजा प्रारम्भ की, जो संसारसे वैराग्य प्रदान करनेवाली है। एक सुन्दर पत्थर लाकर उसे घरसे थोड़ी ही दूरपर एकान्त स्थानमें रख दिया और उसीको शिवलिंग माना। फिर अपने हाथसे मिलने लायक जो कोई भी फूल दिखायी दिये, उन सबका संग्रह करके उस बालकने जलसे शिवलिंगको स्नान कराया और भक्तिपूर्वक पूजन किया। तत्पश्चात् कृत्रिम अलंकार, चन्दन, धूप, दीप और अक्षत आदि उपचारोंसे अर्चना करके मनःकल्पित दिव्य वस्तुओंसे भगवान्‌को नैवेद्य निवेदन किया। सुन्दर-सुन्दर पत्रों और फूलोंसे बार-बार पूजा करके भाँति-भाँतिसे नृत्य किया और बारंबार भगवान्‌के चरणोंमें सीस झुकाया। इस प्रकार अनन्यचित्त होकर शिवकी आराधनामें लगे हुए अपने पुत्रको ग्वालिनने बड़े प्यारसे भोजनके लिये बुलाया। उसका मन तो पूजामें लगा हुआ था, माताके बहुत बुलानेपर भी उसे भोजन करनेकी इच्छा न हुई। तब उसकी माँ स्वयं उसके पास गयी और उसे शिवके आगे आँख बंद करके ध्यान लगाये बैठा देख हाथ पकड़कर खींचने लगी। इतनेपर भी जब वह न उठा, तब उसने क्रोधमें आकर उसे खूब पीटा। खींचने और मारने-पीटनेपर भी जब उसका पुत्र नहीं आया, तब उसने वह शिवलिंग उठाकर दूर फेंक दिया और उसपर चढ़ायी हुई सारी पूजा-सामग्री नष्ट कर दी। यह देख बालक 'हाय-हाय' करके रो उठा। रोषमें भरी हुई ग्वालिन अपने बेटेको डाँट-डपटकर पुनः घरमें चली गयी। भगवान् शिवकी पूजाको माताके द्वारा नष्ट की हुई देखकर वह बालक 'देव! देव! महादेव!' की पुकार करते हुए सहसा मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। उसके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा प्रवाहित हो रही थी। दो घड़ी बाद जब उसे चेत हुआ, तब उसने

आँखें खोलीं और देखा—उसका वही निवासस्थान परम सुन्दर शिवालय हो गया था। मणियोंके खम्भे उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। उसके द्वार, किवाड़ तथा सदर फाटक सब सुवर्णमय हो गये थे। वहाँकी भूमि बहुमूल्य नीलमणि तथा हीरोंकी वेदिकाओंसे सुशोभित थी। यह सब देखकर वह सहसा उठा और हर्षसे परमानन्दके समुद्रमें निमग्न-सा हो गया। उसने समझ लिया कि यह सब शिवजीकी पूजाका माहात्म्य है। उसीके प्रभावसे यह दिव्य विभूति प्रकट हुई है। तत्पश्चात् उस बालकने अपनी माताके अपराधकी शान्तिके लिये पृथ्वीपर मस्तक रखकर साष्टांग प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'देव! उमापते! मेरी माताका अपराध क्षमा कीजिये। वह मूढ़ है, आपके प्रभावको नहीं जानती है। शंकर! आप उसपर प्रसन्न होइये, यदि मुझमें आपकी भक्तिसे उत्पन्न हुआ कुछ भी पुण्य है, तो उससे मेरी माता आपकी दया प्राप्त करे।'

इस प्रकार भगवान् शंकरको बार-बार प्रसन्न करके उनके चरणोंमें मस्तक झुकाकर सूर्यास्तके समय वह बालक शिवालयसे बाहर निकला और उसने अपने शिविरको देखा। वह इन्द्रनगरके समान शोभा पा रहा था। वहाँ सब कुछ तत्काल सुवर्णमय होकर विचित्र वैभवसे प्रकाशित होने लगा। भवनके भीतर प्रवेश करके बालकने देखा, उसकी माँ बहुमूल्य रत्नमय पलंगपर बिछी हुई श्वेत रंगकी शय्यापर निर्भय होकर सो रही है और उसीको याद करती है। उसने माताको जगाया। ग्वालिन बड़े वेगसे उठी और अपनेको, अपने पुत्रको तथा अपने घरको भी अपूर्व रूपमें देखकर आनन्दसे विह्वल हो गयी। पुत्रके मुखसे गिरिजापति शंकरका वह सब प्रसाद सुनकर ग्वालिनने राजाको सूचना दी, जो निरन्तर भगवान् शिवके भजनमें लगे रहते थे। राजा अपना नियम पूरा करके रातमें सहसा वहाँ आये और ग्वालिनके पुत्रका वह प्रभाव, जो शंकरजीके सन्तोषसे प्रकट हुआ था, देखा। सुवर्णमय शिव-मन्दिर, रत्नमय शिवलिंग तथा सुन्दर मणि-माणिक्योंसे जगमगाता हुआ ग्वालिनका महल देखकर राजा चन्द्रसेन पुरोहित और मन्त्रियोंके साथ दो घड़ीतक आश्चर्य-चकित हो परमानन्दमें डूबे रहे। तत्पश्चात् उन्होंने नेत्रोंसे प्रेमके आँसू बहाते हुए ग्वालिनके उस बालकको हृदयसे लगा लिया। भगवान् शिवके इस अद्भुत माहात्म्यकी चर्चा समस्त पुरवासियोंमें बड़े वेगसे फैली और यही कहते-सुनते वह रात मानो क्षणभरमें व्यतीत हो गयी।

युद्धके लिये आये हुए और नगरको चारों ओरसे घेरकर खड़े हुए राजाओंने भी प्रातःकाल दूतोंके मुखसे यह परम अद्भुत समाचार सुना। सुनते ही उनके मनसे वैरभाव निकल गया। उन्होंने सहसा हथियार डाल दिये और चकित होकर महाराज चन्द्रसेनकी आज्ञासे नगरमें प्रवेश किया। उस रमणीय नगरीमें प्रवेश करके भगवान् महाकालको प्रणाम करनेके पश्चात् सब राजा उस ग्वालिनके घरपर आये। वहाँ राजा चन्द्रसेनने आगे बढ़कर उनका स्वागत किया। वे बहुमूल्य आसनोंपर बैठे और प्रीतिपूर्वक विस्मित एवं आनन्दित हुए। गोप-बालकपर कृपा करनेके लिये स्वतः प्रकट हुए शिवालय और शिवलिंगका दर्शन करके सब राजाओंने भगवान् शिवको अपनी उत्तम बुद्धि समर्पित की, उनमें भक्तिपूर्वक मन लगाया।

इसी समय सब देवताओंसे पूजित परम तेजस्वी वानरराज हनुमान्‌जी वहाँ प्रकट हुए। उनके आते ही सब राजाओंने बड़े वेगसे उठकर भक्तिभावसे विनीत हो उन्हें नमस्कार किया। तब हनुमान्‌जीने कहा—'राजाओ! भगवान् शिवकी पूजाके सिवा देहधारियोंके लिये दूसरी कोई गति नहीं है। यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि इस गोप-बालकने शनिवारको प्रदोषव्रतके दिन बिना

मन्त्रके भी शिवका पूजन करके उन्हें पा लिया। शनिवारको प्रदोषव्रत समस्त देहधारियोंके लिये दुर्लभ है। कृष्ण पक्ष आनेपर तो वह और भी दुर्लभ है। गोपवंशकी कीर्ति बढ़ानेवाला यह बालक संसारमें सबसे अधिक पुण्यात्मा है। इसकी वंश-परम्परामें आठवीं पीढ़ीमें महायशस्वी नन्द उत्पन्न होंगे, जिनके यहाँ साक्षात् भगवान् नारायण उनके पुत्ररूपसे प्रकट हो श्रीकृष्णके नामसे प्रसिद्ध होंगे। आजसे यह गोपालनन्दन संसारमें 'श्रीकर' नामसे विख्यात होगा।'

अंजनिनन्दन हनुमान्‌जी ऐसा कहकर उस गोपबालकको शिवोपासनाके आचार-व्यवहारका उपदेश दे वहीं अन्तर्धान हो गये। वे सब राजा हर्षमें भरकर महाराज चन्द्रसेनकी आज्ञा ले जैसे आये थे वैसे ही लौट गये। महातेजस्वी श्रीकर भी हनुमान्‌जीका उपदेश पाकर धर्मज्ञ ब्राह्मणोंके साथ शंकरजीकी आराधना करने लगा। समयानुसार भक्त श्रीकर गोप तथा राजा चन्द्रसेन दोनोंने भक्तिपूर्वक शिवकी आराधना करके परम पद प्राप्त किया। यह परम पवित्र उपाख्यान कहा गया। यह गोपनीय रहस्य है, सुयश एवं पुण्यसमृद्धिको बढ़ानेवाला है तथा गौरीपति भगवान् शिवके चरणारविन्दोंमें भक्तिभावकी वृद्धि और पापराशिका निवारण करनेवाला है।

## प्रदोषमें शिवपूजनकी अवहेलनासे दोषकी प्राप्तिके प्रसंगमें विदर्भराज और उसके पुत्रकी कथा

**सूतजी कहते हैं**—त्रयोदशी तिथिमें सायंकाल प्रदोष कहा गया है। प्रदोषके समय महादेवजी कैलासपर्वतके रजतभवनमें नृत्य करते हैं और देवता उनके गुणोंका स्तवन करते हैं। अतः धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको प्रदोषमें नियमपूर्वक भगवान् शिवकी पूजा, होम, कथा और गुणगान करने चाहिये। दरिद्रताके तिमिरसे अन्धे और भवसागरमें डूबे हुए संसारभयसे भीरु मनुष्योंके लिये यह प्रदोषव्रत पार लगानेवाली नौका है। भगवान् शिवकी पूजा करनेसे मनुष्य दरिद्रता, मृत्यु-दुःख और पर्वतके समान भारी ऋण-भारको शीघ्र ही दूर करके सम्पत्तियोंसे पूजित होता है।

विदर्भ देशमें सत्यरथ नामसे प्रसिद्ध एक राजा थे, जो सब धर्मोंमें तत्पर, धीर, सुशील और सत्यप्रतिज्ञ थे। धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन करते हुए उनका बहुत-सा समय सुखपूर्वक बीत गया। तदनन्तर शाल्व देशके राजाओंने विदर्भनगरपर आक्रमण करके उसे चारों ओरसे घेर लिया। अपनी पुरीको शत्रुओंसे घिरी हुई देख विदर्भराज विशाल सेना साथ लेकर युद्धके लिये आये। बलोन्मत्त शाल्वदेशीय क्षत्रियोंके साथ राजाका अत्यन्त भयंकर युद्ध हुआ। शाल्वोंकी बहुत बड़ी सेना मारी गयी; परंतु अन्तमें विदर्भराज भी उनके हाथसे मारे गये। मन्त्रियोंसहित उस महारथी वीर राजाके मारे जानेपर मरनेसे बचे हुए सैनिक भाग खड़े हुए। उस समय विदर्भराज सत्यरथकी एक पतिव्रता स्त्री अत्यन्त शोकग्रस्त हो रातके समय राजभवनसे निकलकर पश्चिम दिशाकी ओर चली गयी। वह गर्भवती थी। सबेरा होनेपर धीरे-धीरे मार्गसे जाती हुई उस साध्वी रानीने बहुत दूरका रास्ता तै कर लेनेके पश्चात् एक स्वच्छ तालाब देखा और वह उसके किनारे शोभा पानेवाले एक छायादार वृक्षके नीचे बैठ गयी। भाग्यवश उसी निर्जन स्थानमें वृक्षके ही नीचे पतिव्रता रानीने उत्तम गुणोंसे युक्त शुभ

मुहूर्तमें एक पुत्रको जन्म दिया। तत्पश्चात् अत्यन्त प्याससे व्याकुल हो वह सुन्दर अंगोंवाली रानी जलाशयमें उतरी। इतनेमें ही एक बड़े भारी ग्राहने आकर उसे अपना ग्रास बना लिया। वह बालक पैदा होते ही माता-पितासे हीन हो गया और भूख-प्याससे पीड़ित हो उस सरोवरके किनारे जोर-जोरसे रोने लगा। वह नवजात शिशु जब इस प्रकार क्रन्दन कर रहा था, उसी समय भाग्यवश वहाँ एक श्रेष्ठ ब्राह्मणी आ पहुँची। वह भी अपने एक वर्षके बालकको गोदमें लिये हुए आयी थी। ब्राह्मणी निर्धन और विधवा थी।

घर-घर भीख माँगकर जीवन-निर्वाह करती थी। उसका नाम उमा था। उसी सती-साध्वी ब्राह्मणीने उस राजकुमारको देखा। उसे अनाथकी भाँति क्रन्दन करते देखकर उसने मन-ही-मन विचार किया—'अहो! यह तो बड़े आश्चर्यकी बात दिखायी देती है कि यह नवजात शिशु, जिसकी नाल भी अभीतक नहीं कटी है, पड़ा हुआ है। इसकी माता कहाँ चली गयी। न इसका पिता है न और कोई बन्धु-बान्धव है। यह दीन अनाथ बालक बिना बिस्तरके भूमिपर सो रहा है। यह चाण्डालका पुत्र है या शूद्रका, वैश्यका बालक है या ब्राह्मणका अथवा यह क्षत्रियका शिशु है। इसका निश्चय कैसे किया जाय? मैं इस शिशुको उठाकर अपने सगे पुत्रकी तरह अवश्य पालन कर सकती हूँ; परंतु यह किस कुलका है, यह न जाननेके कारण इसे छूनेका साहस नहीं होता।' वह पतिव्रता ब्राह्मणी जब इस प्रकार कह रही थी, उसी समय कोई संन्यासी महात्मा वहाँ आ गये। वे ऐसे जान पड़ते थे, मानो साक्षात् शंकर हों। उन श्रेष्ठ भिक्षुने उस स्त्रीसे कहा—'ब्राह्मणी! खेद न करो, हृदयकी संशयवृत्ति दूरकर इस बालककी रक्षा करो। इससे तुम्हें शीघ्र ही परम कल्याणकी प्राप्ति होगी।' इतना कहकर वे दयालु भिक्षु तुरंत वहाँसे चले गये। उनके जानेके बाद ब्राह्मणीने विश्वासपूर्वक उस बालकको लेकर अपने घरकी ओर प्रस्थान किया। उस राजकुमारका ब्राह्मणीने अपने बेटेके समान ही पालन-पोषण किया। एकचक्रा नामक नगरमें उस ब्राह्मणीका घर था। वह भिक्षाके अन्नसे ही अपने पुत्र और राजकुमारको भी पालने लगी। ब्राह्मणोंने ब्राह्मणीके तथा राजाके भी पुत्रका संस्कार कर दिया। वे दोनों सर्वत्र सम्मानित होकर दिन-दिन बढ़ने लगे। समय आनेपर उनका उपनयन-संस्कार हुआ। अब वे दोनों बालक एक साथ रहकर नियमोंका पालन करने लगे। दोनों माताके साथ प्रतिदिन भिक्षाके लिये जाते थे। एक दिन वह ब्राह्मणी उन दोनों बालकोंके साथ भीख माँगती हुई दैवयोगसे देव-मन्दिरमें गयी। वहाँ बड़े-बूढ़े ऋषि-मुनि रहा करते थे। उन दोनों बालकोंको देखकर परम बुद्धिमान् शाण्डिल्य नामक मुनिने कहा—'अहो! दैवका बल बड़ा विचित्र है। कर्मोंका उल्लंघन करना किसी भी जीवके लिये अत्यन्त कठिन है। देखो न, यह बालक दूसरी माताकी शरण लेकर भिक्षासे जीवननिर्वाह करता है। इस ब्राह्मणीको

ही श्रेष्ठ माताके रूपमें पाकर ब्राह्मण बालकके साथ ब्राह्मणभावको प्राप्त हो गया है।' शाण्डिल्य मुनिका यह वचन सुनकर ब्राह्मणीको बड़ा विस्मय हुआ। उसने भरी सभामें मुनिको प्रणाम करके पूछा—'ब्रह्मन्! एक संन्यासीके कहनेसे मैं इस बालकको अपने घर ले आयी हूँ। यद्यपि अभीतक इसके कुलका पता नहीं लगा, तथापि मैं पुत्रकी भाँति इसका पालन-पोषण करती हूँ। आप ज्ञानके नेत्रोंसे देखते हैं, अतः आपसे मैं यह जानना चाहती हूँ कि यह बालक किस कुलमें उत्पन्न हुआ है और इसके माता-पिता कौन हैं?'

**मुनि बोले**—यह विदर्भदेशके राजाका पुत्र है।

इतना कहकर मुनिने उस बालकके पिताके युद्धमें मारे जानेका तथा उसकी माताके ग्राहद्वारा ग्रस्त होनेका सब समाचार पूर्णरूपसे बतलाया। यह सुनकर ब्राह्मणीको और भी आश्चर्य हुआ। अतः उसने फिर प्रश्न किया—'महामुने! वे राजा सम्पूर्ण भोगोंको छोड़कर युद्धमें क्यों मरे और इस बालकको दरिद्रता कैसे प्राप्त हुई? अब दरिद्रताको पूर्णतः नष्ट करके यह पुनः राज्य कैसे प्राप्त करेगा? मेरा यह पुत्र भी भिक्षान्नसे ही जीवन-निर्वाह करता है। अतः इसकी दरिद्रताके निवारणका भी क्या उपाय है, यह बतानेकी कृपा करें?'

**शाण्डिल्यने कहा**—इस राजकुमारके पिता विदर्भराज पूर्वजन्ममें पाण्ड्य देशके श्रेष्ठ राजा थे। वे सब धर्मोंके ज्ञाता थे और सम्पूर्ण पृथ्वीका धर्मपूर्वक पालन करते थे। एक दिन प्रदोषकालमें राजा भगवान् शंकरका पूजन कर रहे थे और बड़ी भक्तिसे त्रिलोकीनाथ महादेवजीकी आराधनामें संलग्न थे। उसी समय नगरमें सब ओर बड़ा भारी कोलाहल मचा। उस उत्कट शब्दको सुनकर राजाने बीचमें ही भगवान् शंकरकी पूजा छोड़ दी और नगरमें क्षोभ फैलनेकी आशंकासे राजभवनसे बाहर निकल गये। इसी समय राजाका महाबली मन्त्री शत्रुको पकड़कर उनके समीप ले आया। वह शत्रु पाण्ड्यराजका ही सामन्त था। उसे देखकर राजाने क्रोधपूर्वक उसका मस्तक कटवा दिया। शिवपूजा छोड़कर नियमको समाप्त किये बिना ही राजाने रातमें भोजन भी कर लिया। इसी प्रकार राजकुमार भी प्रदोषकालमें शिवजीकी पूजा किये बिना ही भोजन करके सो गया। वही राजा दूसरे जन्ममें विदर्भराज हुआ था। शिवजीकी पूजामें विघ्न होनेके कारण शत्रुओंने उसको सुखभोगके बीचमें ही मार डाला। पूर्वजन्ममें जो उसका पुत्र था, वही इस जन्ममें भी हुआ है। शिवजीकी पूजाका उल्लंघन करनेके कारण यह दरिद्रताको प्राप्त हुआ है। इसकी माताने पूर्वजन्ममें छलसे अपनी सौतको मार डाला था। उस महान् पापके कारण ही वह इस जन्ममें ग्राहके द्वारा मारी गयी। मैं सत्य कहता हूँ, परलोकमें हितकी बात कहता हूँ, शास्त्रोंका सार एवं उपनिषदोंका हृदय कहता हूँ, इस भयंकर असार संसारको प्राप्त हुए जीवके लिये ईश्वरके चरणारविन्दोंकी सेवा ही सार वस्तु है। जो प्रदोषकालमें अनन्यचित्त होकर परमेश्वरके चरणारविन्दोंकी पूजा करते हैं, वे इसी संसारमें सदा बढ़नेवाले धन-धान्य, स्त्री-पुत्र, सौभाग्य और सम्पत्तिके द्वारा सबसे बढ़कर होते हैं। ब्राह्मणी! यह तुम्हारा पुत्र पूर्वजन्ममें उत्तम ब्राह्मण था। इसने सारी आयु केवल दान लेनेमें बितायी है। यज्ञ आदि सत्कर्म नहीं किये हैं। इसीलिये यह दरिद्रताको प्राप्त हुआ है। उस दोषका निवारण करनेके लिये अब यह भगवान् शंकरकी शरणमें जाय।

# प्रदोषव्रतकी विधि, इसके पालनसे द्विजकुमार और राजकुमारकी दरिद्रताका निवारण तथा राज्यकी प्राप्ति

**सूतजी कहते हैं**—मुनिके इस प्रकार कहनेपर साध्वी ब्राह्मणीने उन्हें प्रणाम करके शिवपूजनकी विधिका क्रम पूछा।

**शाण्डिल्य बोले**—दोनों पक्षोंकी त्रयोदशीको मनुष्य जब निराहार रहे, तब सूर्यास्तसे तीन घड़ी पहले स्नान करे। फिर श्वेत वस्त्र धारण करके धीर पुरुष सन्ध्या और जप आदि नित्यकर्मकी विधि पूरी करके मौन हो शास्त्रविधिका पालन करते हुए भगवान् शिवकी पूजा प्रारम्भ करे। भगवद्विग्रहके आगेकी भूमिको नये निकाले हुए शुद्ध जलसे भलीभाँति लीप-पोतकर सुन्दर मण्डल बनावे। धौत-वस्त्र आदिके द्वारा उस मण्डलको सब ओरसे घेर दे। ऊपरसे चँदोवा आदि लगाकर फल-फूल और नवीन अंकुरोंसे उसको सजावे। मण्डलके मध्यकी भूमिमें पाँच रंगोंसे युक्त विचित्र कमल अंकित करके उसीपर सुस्थिर एवं उत्तम आसन बिछाकर बैठे और हृदयमें भक्तिभावसे युक्त हो पूजाकी सब सामग्री एकत्र करे। फिर पवित्र भावसे शास्त्रोक्त मन्त्रद्वारा देवपीठको आमन्त्रित करे। तत्पश्चात् क्रमशः आत्मशुद्धि और भूतशुद्धि आदि करके तीन प्राणायाम करे। उसके बाद विन्दुयुक्त बीजाक्षरोंके द्वारा विधिपूर्वक मातृकान्यास करे। तदनन्तर परा देवताका ध्यान करके मातृकान्यासकी विधि पूरी करे। फिर परम शिवका ध्यान करके पीठके वाम भागमें गुरुको प्रणाम करे, दक्षिण भागमें गणेशजीको मस्तक झुकावे, दोनों अंशों (कन्धों) और ऊरुओं (जाँघों) में धर्म आदि (धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य) का न्यास करे। नाभि तथा पार्श्वभागोंमें अधर्म (अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य) आदिका न्यास करे। तत्पश्चात् हृदयमें अनन्त आदिका न्यास करके देवपीठपर मन्त्रका न्यास करे। आधारशक्तिसे लेकर ज्ञानात्मातकका क्रमशः न्यास करके हृदयमें एक कमलकी भलीभाँति भावना करे। वह कमल नौ शक्तियोंसे युक्त एवं परम सुन्दर हो। उसी कमलकी कर्णिकामें कोटि-कोटि चन्द्रमाओंके समान प्रकाशमान उमापति भगवान् शिवका ध्यान करे। भगवान्के तीन नेत्र हैं। मस्तकपर चन्द्रमाका मुकुट शोभा पाता है। जटाजूट कुछ-कुछ पीला हो गया है। उसपर रत्नजटित किरीट सुशोभित है। उनके कण्ठमें नील चिह्न है और अंग-अंगसे उदारता सूचित होती है। सर्पोंके हारसे उनकी बड़ी शोभा हो रही है। उनके एक हाथमें वरद और दूसरेमें अभयकी मुद्रा है। वे फरसा धारण करते हैं। उन्होंने नागोंका कंकण, केयूर, अंगद तथा मुद्रिका धारण कर रखी है। वे व्याघ्रचर्म पहने हुए रत्नमय सिंहासनपर विराजमान हैं। उनके वाम भागमें गिरिराजनन्दिनी उमादेवीका चिन्तन करे। इस प्रकार महादेवजी तथा गिरिजादेवीका ध्यान करके क्रमशः गन्ध आदिसे उनकी मानसिक पूजा करे। पाँच वैदिक मन्त्रोंसे गन्ध आदि द्वारा पूर्वोक्त पाँच स्थानोंमें अथवा हृदयमें पूजा करे। फिर मूलमन्त्रसे तीन बार हृदयमें ही पुष्पांजलि दे। उसके बाद बाह्यपीठ (सिंहासन) पर महादेवजीका पुनः पूजन प्रारम्भ करे। पूजाके आरम्भमें एकाग्रचित्त होकर संकल्प पढ़े। तदनन्तर हाथ जोड़कर मन-ही-मन भगवान् शिवका ध्यान एवं आवाहन करे—'हे भगवान् शंकर! आप ऋण, पातक, दुर्भाग्य और दरिद्रता आदिकी निवृत्तिके लिये तथा सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेके लिये मुझपर प्रसन्न होइये। मैं दुःख और शोककी आगमें जल रहा हूँ, संसारभयसे पीड़ित हूँ, अनेक प्रकारके रोगोंसे व्याकुल और दीन हूँ। वृषवाहन! मेरी रक्षा कीजिये। देवदेवेश्वर! सबको निर्भय

कर देनेवाले महादेवजी! आप यहाँ पधारिये और मेरी की हुई इस पूजाको पार्वतीजीके साथ ग्रहण कीजिये।' इस प्रकार संकल्प और आवाहन करके पूजा आरम्भ करनी चाहिये। तत्पश्चात् मनुष्य एकाग्रचित्त हो रुद्रसूक्तका पाठ करते हुए वहाँ स्थापित किये हुए शंखके जलसे और पंचामृतसे महादेवजीका अभिषेक करके भाँति-भाँतिके मन्त्रोंसे आसन आदि उपचारोंको समर्पित करे। भावनाद्वारा दिव्य वस्त्रोंसे विभूषित स्वर्णसिंहासनकी कल्पना करे और उसीपर भगवान्‌को विराजमान करके अष्टगुणयुक्त अर्घ्य और पाद्य निवेदन करे। फिर शुद्ध जलसे आचमन कराकर मधुपर्क दे। उसके बाद पुनः आचमनके लिये जल देकर मन्त्रोच्चारणपूर्वक स्नान करावे। फिर यज्ञोपवीत, वस्त्र और आभूषण अर्पण करे। परम पवित्र अष्टांगयुक्त चन्दन चढ़ावे। बिल्व, मदार, लाल कमल, धतूर, कनेर, सनईका फूल, चमेली, कुशा, अपामार्ग, तुलसी, जूही, चम्पा, भटकटइया और करवीरके फूलोंमेंसे जितने मिल जायँ, उन सबको शिवोपासक भगवान् शिवपर चढ़ावे। इनके अतिरिक्त भी नाना प्रकारके सुगन्धित पुष्प निवेदन करे। तत्पश्चात् लाल चन्दनसे उत्पन्न धूप और निर्मल दीप समर्पित करे। उसके बाद हाथ धोकर घी, नमकीन और साग, मिठाई, पूआ, शक्कर तथा गुड़के बने हुए पदार्थ एवं खीरका नैवेद्य भोग लगावे। मधु, दही और जल भी अर्पण करे। उस खीरका ही मन्त्रद्वारा प्रज्वलित की हुई अग्निमें हवन करे। यह होम शास्त्रोक्तविधिसे आचार्यके कथनानुसार सम्पन्न करना चाहिये। भगवान् शंकरको नैवेद्य देकर मुखशुद्धिके लिये उत्तम ताम्बूल अर्पण करे। धूप, आरती, सुन्दर छत्र, उत्तम दर्पणको वैदिक—तान्त्रिक मन्त्रोंद्वारा विधिपूर्वक समर्पित करे। यदि यह सब करनेकी अपनेमें शक्ति न हो, अधिक धनका अभाव हो, तो अपने पास जितना धन हो, उसीके अनुसार भगवान्‌की पूजा करे। गौरीपति भगवान् शंकर भक्तिपूर्वक भेंट किये हुए पुष्पमात्रसे भी सन्तुष्ट हो जाते हैं। तदनन्तर स्तोत्रोंद्वारा स्तुति करके भगवान्‌को साष्टांग प्रणाम करे। फिर परिक्रमा करके पूजा समर्पित करनेके पश्चात् विधिपूर्वक श्रीगिरिजापतिकी प्रार्थना करे।

'देव! जगन्नाथ! आपकी जय हो। सनातन शंकर! आपकी जय हो। सम्पूर्ण देवताओंके अधीश्वर! आपकी जय हो। सर्वदेवपूजित! आपकी जय हो। सर्वगुणातीत! आपकी जय हो। सबको वर देनेवाले प्रभो! आपकी जय हो। नित्य, आधाररहित, अविनाशी विश्वम्भर! आपकी जय हो, जय हो। सम्पूर्ण विश्वके लिये एकमात्र जानने योग्य महेश्वर! आपकी जय हो। नागराज वासुकिको आभूषणके रूपमें धारण करनेवाले प्रभो! आपकी जय हो। गौरीपते! आपकी जय हो। चन्द्रार्धशेखर शम्भो! आपकी जय हो। कोटि सूर्योंके समान तेजस्वी शिव! आपकी जय हो। अनन्त गुणोंके आश्रय! आपकी जय हो। भयंकर नेत्रोंवाले रुद्र! आपकी जय हो। अचिन्त्य! निरंजन! आपकी जय हो। नाथ! दयासिन्धो! आपकी जय हो। भक्तोंकी पीड़ाका नाश करनेवाले प्रभो! आपकी जय हो। दुस्तर संसारसागरसे पार उतारनेवाले परमेश्वर! आपकी जय हो। महादेव! मैं संसारके दुःखोंसे पीड़ित एवं खिन्न हूँ, मुझपर प्रसन्न होइये। परमेश्वर! समस्त पापोंके भयका अपहरण करके मेरी रक्षा कीजिये। मैं महान् दारिद्र्यके समुद्रमें डूबा हुआ हूँ। बड़े-बड़े पापोंने मुझे आक्रान्त कर लिया है। मैं महान् शोकसे नष्ट और बड़े-बड़े रोगोंसे व्याकुल हूँ। सब ओरसे ऋणके भारसे लदा हुआ हूँ। पापकर्मोंकी आगमें जल रहा हूँ और ग्रहोंसे पीड़ित हो रहा हूँ। शंकर! मुझपर प्रसन्न होइये*।'

* जय देव जगन्नाथ जय शंकर शाश्वत। जय सर्वसुराध्यक्ष जय सर्वसुरार्चित॥
जय सर्वगुणातीत जय सर्ववरप्रद। जय नित्य निराधार जय विश्वम्भराव्यय॥

निर्धन मनुष्य इस प्रकार पूजाके अन्तमें भगवान् गिरिजापतिकी प्रार्थना करे। धनाढ्य अथवा राजाको इस प्रकार भगवान् शंकरकी प्रार्थना करनी चाहिये—'हे शंकरजी! आपके प्रसादसे मेरे सदा आनन्द रहे। मेरे राज्यमें लुटेरे न रहें, सब लोग निरापद होकर रहें। पृथ्वीपर अकाल, महामारी आदिके सन्ताप शान्त हो जायँ। सबकी खेती धन-धान्यसे समृद्ध हो। सम्पूर्ण दिशाओंमें सुखका साम्राज्य छा जाय।' इस प्रकार प्रदोषव्रतके दिन गिरिजापति भगवान् शंकरकी आराधना करे, ब्राह्मणोंको भोजन करावे और उन्हें दक्षिणा देकर सन्तुष्ट करे। इस प्रकार मैंने सब पापोंका नाश, सब प्रकारकी दरिद्रताका निवारण तथा समस्त मनोवांछित वस्तुओंका दान करनेवाली शिवपूजाका वर्णन किया। यह शिवकी पूजा शिवजीके द्रव्यका हरण करनेके पापको छोड़कर शेष सभी महापातकों और उपपातकोंके महान् समुदायका नाश करती है। यदि ये दोनों बालक इसी प्रकार भगवान् शंकरका पूजन प्रत्येक प्रदोषके दिन करते रहें, तो वर्षभरके भीतर ही इन्हें उत्तम सिद्धिकी प्राप्ति होगी।

शाण्डिल्य मुनिका यह वचन सुनकर उस ब्राह्मणीने दोनों बालकोंके साथ मुनिके चरणोंमें प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'भगवन्! आज मैं आपके दर्शनमात्रसे कृतार्थ हो गयी। ये दोनों बालक आजसे आपकी शरणमें हैं। ब्रह्मन्! यह मेरा पुत्र है और इसका नाम शुचिव्रत है और यह राजकुमार है, जिसका नाम मैंने धर्मगुप्त रख दिया है। ये दोनों बालक और मैं सभी आपके चरणोंके दास हैं। इस घोर दारिद्र्यसागरमें गिरे हुए हम सबका आप उद्धार कीजिये।'

इस प्रकार शरणमें आयी हुई ब्राह्मणीको अमृतके समान मधुर वचनोंद्वारा आश्वासन देकर मुनिने उसके दोनों बालकोंको भगवान् शंकरके आराधनकी मन्त्र-विद्याका उपदेश दिया। तत्पश्चात् दोनों बालक और ब्राह्मणी मुनिकी आज्ञा ले वहाँसे चले गये। मुनिवरके उपदेशानुसार दोनों बालक प्रत्येक प्रदोषव्रतके दिन पार्वतीवल्लभ शिवकी आराधना करने लगे। इस प्रकार शिवपूजा करते हुए द्विजकुमार और राजकुमारके चार महीने सुखपूर्वक बीत गये। एक दिन द्विजकुमार राजकुमारको साथ लिये बिना ही नदीके तटपर स्नान करनेके लिये गया और वहाँ मौजसे देरतक इधर-उधर घूमता रहा। वहाँ झरनेके जलके आघातसे खाईंकी भूमि कट जानेसे उसमें गड़ा हुआ एक बड़ा भारी खजानेका कलश चमक रहा था, जिसपर ब्राह्मणकुमारकी दृष्टि पड़ी। उसे देखकर वह सहसा हर्ष और कौतूहलमें भरकर उसके समीप गया और उसे देवताके प्रसादसे प्राप्त हुआ मानकर सिरपर लेकर घरको चल दिया तथा घरके भीतर उस घड़ेको रखकर मातासे कहा—'माँ! यह भगवान् शंकरका प्रसाद तो देखो, उन्होंने दया करके घड़ेके रूपमें यह खजाना दिखला दिया।' तब उस पतिव्रता ब्राह्मणीने राजकुमारको भी बुलाकर कहा—'पुत्रो! इस खजानेके घड़ेको तुम दोनों आपसमें बराबर-बराबर बाँट लो।' माताकी बातको सुनकर ब्राह्मणके पुत्रको प्रसन्नता हुई। किंतु राजपुत्रने उससे कहा—'माँ! यह तुम्हारे ही पुत्रके पुण्यसे प्राप्त हुआ है, अतः मैं इस खजानेको बाँटकर लेना नहीं चाहता हूँ। अपने पुण्यसे प्राप्त हुए खजानेका ये स्वयं ही उपभोग करें। वे ही भगवान्

जय विश्वैकवेद्येश जय नागेन्द्रभूषण। जय गौरीपते शम्भो जय चन्द्रार्धशेखर॥
जय कोट्यर्कसंकाश जयानन्तगुणाश्रय। जय रुद्र विरूपाक्ष जयाचिन्त्य निरञ्जन॥
जय नाथ कृपासिन्धो जय भक्तार्तिभञ्जन। जय दुस्तरसंसारसागरोत्तारण प्रभो॥
प्रसीद मे महादेव संसारार्तस्य खिद्यतः। सर्वपापभयं हृत्वा रक्ष मां परमेश्वर॥
महादारिद्र्यमग्नस्य महापापहतस्य च। महाशोकविनष्टस्य महारोगातुरस्य च॥
ऋणभारपरीतस्य दह्यमानस्य कर्मभिः। ग्रहैः प्रपीड्यमानस्य प्रसीद मम शंकर॥

(स्क० पु०, ब्रा० ब्रह्मो० ७।५९—६६)

शंकर मुझपर भी कृपा करेंगे।' इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक भगवान् शंकरकी पूजा करते हुए उन दोनों कुमारोंका उसी घरमें एक वर्ष व्यतीत हो गया। एक दिन राजकुमार उस ब्राह्मणकुमारके साथ वसन्त-ऋतुमें वनमें भ्रमण करनेके लिये गया। कुछ दूर जानेपर उन्होंने सैकड़ों गन्धर्वकन्याओंको परस्पर क्रीडा करते हुए देखा। उन्हें देखकर ब्राह्मणकुमारने दूरसे ही राजकुमारसे कहा—'यहाँसे आगे जाना उचित नहीं है; क्योंकि उधर स्त्रियाँ विहार कर रही हैं। स्वच्छ अन्तःकरणवाले विद्वान् पुरुष स्त्रियोंका सामीप्य त्याग देते हैं। ये रमणियाँ छल करनेवाली तथा वाणीद्वारा अनुनय-विनय करनेमें कुशल हैं। ये पुरुषोंको अपनी दृष्टिमात्रसे मोहित कर लेती हैं। इसलिये अपने धर्ममें तत्पर ब्रह्मचारी कभी स्त्रियोंके समीप जाकर उनके साथ वार्तालाप न करे।' ऐसा कहकर ब्राह्मणकुमार लौट पड़ा और दूर जाकर खड़ा हो गया। किंतु राजकुमार अकेला ही निर्भय होकर स्त्रियोंकी उस क्रीडास्थलीकी ओर चला गया। उन गन्धर्वकन्याओंमेंसे एकने राजकुमारको आते देख मन-ही-मन कुछ विचार किया और सखियोंसे कहा—'सहेलियो! यहाँसे थोड़ी ही दूरपर एक उत्तम वन है, जहाँ विचित्र चम्पा, अशोक, पुन्नाग और वकुल आदि वृक्ष खिले हुए हैं। वहाँ जाकर तुम सब लोग फूल तोड़ो। तबतक मैं यहीं बैठी हूँ। तुम फूलोंका संग्रह करके पुनः यहाँ आ जाना।' उसके इस प्रकार आदेश देनेपर सखियाँ वनके भीतर चली गयीं और वह गन्धर्वकन्या राजकुमारपर दृष्टि लगाये वहीं खड़ी रही। उसे देखकर राजकुमार कामदेवके बाणोंसे पीड़ित हो गया। गन्धर्वकन्याने अपने पास आये हुए राजकुमारको बैठनेके लिये कोमल पल्लवोंका आसन दिया और पूछा—'कमलनयन! तुम कौन हो? किस देशसे यहाँ आये हो और किसके पुत्र हो?' इस प्रकार पूछनेपर राजकुमारने अपना पूरा परिचय बतलाया—'मैं विदर्भराजका पुत्र हूँ। मेरे पिता-माता बचपनमें ही मर गये हैं। शत्रुओंने मेरे राज्यपर अधिकार जमा लिया है और मैं दूसरेके राज्यमें गुजारा करता हूँ।'

**ये सारी बातें बताकर राजकुमारने उस गन्धर्वकन्यासे पूछा**—सुन्दरी! तुम कौन हो? यहाँ तुम्हारा क्या कार्य है और तुम किसकी पुत्री हो? उनके इस प्रकार पूछनेपर कन्याने कहा—'महाराजकुमार! एक द्रविक नामक गन्धर्व हैं, जो समस्त गन्धर्वकुलके अगुआ माने जाते हैं। मैं उन्हींकी पुत्री हूँ और मेरा नाम अंशुमती है। सब सखियोंको छोड़कर मैं यहाँ अकेली हूँ। मैं तुम्हारी अभिलाषा जानती हूँ। तुम्हारा मन मुझमें आसक्त हो गया है। इसी प्रकार दैवने मेरे मनमें भी तुम्हारे लिये उत्कण्ठा भर दी है। अब हम दोनोंका स्नेह कभी भंग नहीं होना चाहिये।' ऐसा कहकर गन्धर्वकुमारीने शीघ्र ही अपने गलेसे मोतीका हार निकालकर प्रेमपूर्वक राजकुमारको भेंट किया। उस अद्भुत हारको देखकर राजकुमारने पूछा—'भीरु! मैं एक बात कहता हूँ। मैं राज्यहीन और निर्धन हूँ। तुम मेरी प्रिया कैसे होना चाहती हो? मूर्ख स्त्रीकी भाँति पिताकी आज्ञाका उल्लंघन करके अपनी इच्छाके अनुसार आचरण क्यों करती हो?' यह सुनकर गन्धर्वकन्याने कहा—'प्रियतम! आपका कहना ठीक है। मैं पिताकी आज्ञाके विरुद्ध नहीं करूँगी। आप इस समय घरको पधारें और परसों प्रातःकाल पुनः यहीं दर्शन दें। आपसे कुछ हमारा कार्य है।' इतना कहकर वह गन्धर्वकन्या अपनी सखियोंके आ जानेसे उनके साथ चली गयी और राजकुमार भी हर्षपूर्वक ब्राह्मणकुमारके समीप लौट आया। उसने द्विजपुत्रसे सब बातें बतायीं और उसके साथ घरको प्रस्थान किया। वहाँ पतिव्रता ब्राह्मणीको भी यह शुभ समाचार सुनाकर राजकुमारने प्रसन्न किया तथा पूर्वनिश्चित समय आनेपर वह पुनः द्विजपुत्रके साथ वनमें गया।

नियत स्थानपर पहुँचकर राजकुमारने देखा—

गन्धर्वराज और उनकी कन्या दोनों उपस्थित हैं। गन्धर्वराजने वहाँ आये हुए दोनों कुमारोंका अभिनन्दन किया और सुन्दर आसनपर बिठाकर राजपुत्रसे कहा—'विदर्भराजकुमार ! मैं कल कैलास पर्वतपर गया था। वहाँ मैंने पार्वतीजीके साथ महादेवजीके दर्शन किये। देवेश्वर भगवान् शिव करुणारूपी अमृतके सागर हैं। उन्होंने मुझे बुलाकर सब देवताओंके समीप इस प्रकार कहा—'पृथ्वीतलपर धर्मगुप्त नामसे प्रसिद्ध एक राजकुमार है, जो इस समय अकिंचन है। उसका राज्य छिन गया है, शत्रुओंने उसके देशको अपने अधिकारमें कर लिया है। अब वह बालक अपने गुरुकी आज्ञासे सदा मेरी आराधनामें संलग्न रहता है। उसीके प्रभावसे आज उसके समस्त पितर मेरे स्वरूपको प्राप्त हो गये हैं। गन्धर्वश्रेष्ठ! तुम भी उस राजकुमारकी सहायता करो। अब वह शत्रुओंको मारकर अपने राज्यसिंहासनपर आसीन हो जायगा।' महादेवजीके इस प्रकार आज्ञा देनेपर मैं अपने घरको आया। यहाँ इस मेरी कन्याने भी तुम्हारे लिये बहुत प्रार्थना की। यह सब परमदयालु भगवान् शिवकी प्रेरणासे ही हो रहा है, ऐसा समझकर मैं इस कन्याको साथ लेकर आया हूँ। अतः अपनी पुत्री अंशुमतीको मैं तुम्हें पत्नीरूपमें देता हूँ और भगवान् शिवजीकी आज्ञासे शत्रुओंको मारकर तुम्हें तुम्हारे राज्यपर बिठाऊँगा। अपने उस नगरमें तुम अपनी इस धर्मपत्नीके साथ दस हजार वर्षोंतक मनोवांछित सुख भोगकर अन्तमें भगवान् शिवके लोकमें जाओगे और वहाँ भी मेरी यह कन्या तुम्हारी ही सेवामें प्रस्तुत रहेगी।'

इस प्रकार कहकर गन्धर्वराजने उसी वनमें राजकुमारके साथ अपनी पुत्रीका विवाह कर दिया और दहेजमें परम उज्ज्वल रत्नभार भेंट किये। चन्द्रमाके समान चमकीली चूड़ामणि तथा दमकते हुए मोतियोंके मनोहर हार दिये। दिव्य आभूषण, वस्त्र, सुवर्णके बने हुए बहुत-से सामान, दस हजार हाथी, एक लाख नीले घोड़े और हजारों सोनेके बड़े-बड़े रथ प्रदान किये। अन्तमें एक दिव्य रथ, इन्द्रके धनुषके समान विशाल धनुष, सहस्रों अस्त्र-शस्त्र, अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तरकस, अभेद्य सुवर्णमय कवच तथा शत्रुओंका संहार करनेवाली शक्ति समर्पित की। अपनी पुत्रीकी सेवाके लिये गन्धर्वराजने प्रसन्नचित्त होकर पाँच हजार दासियाँ दीं। इतना ही नहीं, राजकुमारकी सहायताके लिये उन्होंने अत्यन्त उग्र गन्धर्वोंकी चतुरंगिणी सेना भी भेंट की। इस प्रकार परम उत्तम सम्पत्तिको पाकर राजकुमार अपनी मनोवांछित पत्नीके साथ बहुत प्रसन्न हुए। पुत्रीका विवाह कराकर गन्धर्वराज स्वर्गलोकमें चले गये। धर्मगुप्त विवाहके अनन्तर गन्धर्वोंकी सेनाके साथ अपने नगरको गये और वहाँ उन्होंने शत्रुसेनाका संहार करके राजधानीमें प्रवेश किया। तत्पश्चात् श्रेष्ठ ब्राह्मणों और मन्त्रियोंने मिलकर राजकुमारका अभिषेक किया और वे रत्नमय सिंहासनपर आरूढ़ होकर अकण्टक राज्यका उपभोग करने लगे। जिस ब्राह्मण-पत्नीने उनका अपने पुत्रकी भाँति पालन किया था, वही उनकी माता हुईं। वह द्विजकुमार ही भाई हुआ तथा गन्धर्वराजपुत्री अंशुमती महारानीके पदपर प्रतिष्ठित हुई। भगवान् शंकरकी आराधना करके धर्मगुप्त विदर्भ देशके राजा हो गये। इसी प्रकार दूसरे लोग भी प्रदोषव्रतके दिन गिरिजापतिकी आराधना करके मनोवांछित कामनाओंको प्राप्त कर लेते हैं और देहावसान होनेपर परम गतिको प्राप्त होते हैं।

**सूतजी कहते हैं**—जो प्रदोषव्रतके परम अद्भुत पुण्यमय माहात्म्यको उस व्रतके दिन शिवपूजनके पश्चात् एकाग्रचित्त होकर सुनता अथवा पढ़ता है, उसे सौ जन्मोंतक कभी दरिद्रता नहीं होती और अन्तमें वह ज्ञानके ऐश्वर्यसे युक्त हो भगवान् शंकरके परमधामको प्राप्त होता है।

# सोमवार-व्रतके प्रभावसे सीमन्तिनीको पुनः परम सौभाग्यकी प्राप्ति

**सूतजी कहते हैं**—जो नित्य, आनन्दमय, शान्त, निर्विकल्प, निरामय, अनादि, अनन्त शिव-तत्त्वको जानते हैं, वे परम पदको प्राप्त होते हैं। जो धीर पुरुष कामभोगोंसे विरक्त हो भगवान् शंकरमें हेतुरहित पराभक्ति करते हैं, उनका मोक्ष हो जाता है, वे संसारबन्धनमें नहीं पड़ते। जो मायामय संसारमें चिरकालतक सुखपूर्वक विहार करके देहावसान होनेपर मोक्ष चाहते हैं, उनके लिये यह धर्म बताया गया है कि संसारमें भगवान् शिवकी पूजा सदा ही स्वर्ग और मोक्षका हेतु है। यदि प्रदोष आदिके गुणोंसे युक्त सोमवारके दिन यह पूजा की जाय तो उसका विशेष माहात्म्य है। जो केवल सोमवारको भी भगवान् शंकरकी पूजा करते हैं, उनके लिये इहलोक और परलोकमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है। सोमवारको उपवास करके पवित्र हो इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए वैदिक अथवा लौकिक मन्त्रोंसे विधिपूर्वक भगवान् शिवकी पूजा करनी चाहिये। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, कन्या, सुहागिन स्त्री अथवा विधवा कोई भी क्यों न हो, भगवान् शिवकी पूजा करके मनोवांछित वर पाता है। इस विषयमें मैं एक कथा कहूँगा, जिसको सुनकर मनुष्य मोक्ष पाते हैं और उनके मनमें भगवान् शिवकी भक्ति होती है।

आर्यावर्तमें चित्रवर्मा नामसे प्रसिद्ध एक राजा थे। वे दुष्टोंको दण्ड देनेके लिये यमराजके समान समझे जाते थे। वे धर्ममर्यादाओंके रक्षक, कुमार्गगामी पुरुषोंको दण्ड देकर राहपर लानेवाले, समस्त यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले और शरणार्थियोंकी रक्षा करनेमें समर्थ थे। भगवान् शिव और विष्णुमें उनकी बड़ी भक्ति थी। राजा चित्रवर्माने अनेक परम पराक्रमी पुत्रोंको पाकर अन्तमें एक सुन्दर मुखवाली कन्या प्राप्त की। एक दिन राजाने जातकके लक्षण जाननेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको बुलाकर कन्याकी जन्मकुण्डलीके अनुसार भावी फल पूछे। तब उन ब्राह्मणोंमेंसे एक बहुज्ञ विद्वान्ने कहा—'महाराज! यह आपकी कन्या सीमन्तिनी नामसे प्रसिद्ध होगी। यह भगवती उमाकी भाँति मांगल्यमयी, दमयन्तीकी भाँति परम सुन्दरी, सरस्वतीके समान सब कलाओंको जाननेवाली तथा लक्ष्मीकी भाँति अत्यन्त सद्गुणोंसे सुशोभित होगी। यह दस हजार वर्षोंतक अपने स्वामीके साथ आनन्द भोगेगी और आठ पुत्रोंको जन्म देकर उत्तम सुखका उपभोग करेगी।' तत्पश्चात् एक दूसरे ब्राह्मणने कहा—'यह कन्या चौदहवें

वर्षमें विधवा हो जायगी।' यह वज्राघातके समान दारुण वचन सुनकर राजा दो घड़ीतक चिन्तामें डूबे रहे। तदनन्तर सब ब्राह्मणोंको विदा करके राजाने 'सब कुछ भाग्यके अनुसार ही होता है' ऐसा समझकर चिन्ता छोड़ दी। सीमन्तिनी धीरे-धीरे सयानी हुई। अपनी सखीके मुखसे भावी वैधव्यकी बात सुनकर उसे बड़ा खेद हुआ। उसने चिन्तामग्न होकर याज्ञवल्क्य मुनिकी पत्नी

मैत्रेयीसे पूछा—'माताजी! मैं आपके चरणोंकी शरणमें आयी हूँ। मुझे सौभाग्य बढ़ानेवाले सत्कर्मका उपदेश दीजिये।' इस प्रकार शरणमें आयी हुई राजकन्यासे पतिव्रता मैत्रेयीने कहा—'सुन्दरी! तू शिवसहित पार्वतीजीकी शरणमें जा और सोमवारको एकाग्रचित्त हो स्नान और उपवासपूर्वक स्वच्छ वस्त्र धारण करके शिव और पार्वतीका पूजन कर। सोमवारके दिन शिव और पार्वतीकी आराधना करती रह। इससे बड़ी भारी आपत्ति पड़नेपर भी तू उससे मुक्त हो जायगी। घोर-से-घोर एवं भयंकर महाक्लेशमें पड़कर भी शिव-पूजा न छोड़ना। उसके प्रभावसे महान् भयसे पार हो जाओगी।' इस प्रकर सीमन्तिनीको आश्वासन देकर पतिव्रता मैत्रेयी आश्रमको चली गयीं। राजकुमारीने उनके कथनानुसार भगवान् शिवका पूजन प्रारम्भ किया।

निषध देशमें नलकी पत्नी दमयन्तीके गर्भसे इन्द्रसेन नामक पुत्र हुआ था। राजा इन्द्रसेनके पुत्र चन्द्रांगद हुए। नृपश्रेष्ठ चित्रवर्माने राजकुमार चन्द्रांगदको बुलाकर गुरुजनोंकी आज्ञासे उन्हींके साथ अपनी पुत्री सीमन्तिनीका विवाह कर दिया। उस विवाहमें बड़ा उत्सव हुआ था। विवाहके पश्चात् चन्द्रांगद कुछ कालतक ससुरालमें ही रहे। एक दिन राजकुमार यमुनाके पार जानेके लिये कुछ मित्रोंके साथ नावपर सवार हुए। भाग्यवश नाव यमुनाके भँवरमें मल्लाहोंसहित डूब गयी। यमुनाके दोनों तटोंपर बड़ा भारी हाहाकार मच गया। इस दुर्घटनाको देखनेवाले समस्त सैनिकोंके विलापसे सारा आकाशमण्डल गूँज उठा। डूबनेवालोंमेंसे कुछ तो मर गये और कुछ ग्राहोंके पेटमें चले गये तथा रांजकुमार आदि कुछ लोग उस महाजलमें अदृश्य हो गये। यह समाचार सुनकर राजा चित्रवर्मा बड़े व्याकुल हुए और यमुनाके किनारे आकर मूर्छित होकर गिर पड़े। सीमन्तिनीने भी जब यह समाचार सुना तब वह अचेत होकर धरतीपर गिर पड़ी। राजा इन्द्रसेन भी अपने पुत्रके डूबनेका समाचार पाकर रानियोंसहित बहुत दुःखी हुए और सुध-बुध खोकर गिर पड़े। तदनन्तर बड़े-बूढ़ोंके समझानेपर राजा चित्रवर्मा धीरे-धीरे नगरमें आये और उन्होंने अपनी पुत्रीको धीरज बँधाया।

राजा चित्रवर्माने जलमें डूबे हुए अपने दामादका और्ध्वदैहिक कृत्य वहाँ आये हुए उनके बन्धु-बान्धवोंसे करवाया। पतिव्रता सीमन्तिनीने चितामें बैठकर पतिलोकमें जानेका विचार किया। किंतु उसके पिताने स्नेहवश रोक दिया। तब वह विधवा-जीवन व्यतीत करने लगी। मुनिपत्नी मैत्रेयीने जिस शुभ सोमवार व्रतका उपदेश दिया था, उसे सदाचारपरायणा सीमन्तिनीने विधवा होनेपर भी नहीं छोड़ा। इस प्रकार चौदहवें वर्षकी आयुमें अत्यन्त दारुण दुःख पाकर वह भगवान् शिवके चरणारविन्दोंका चिन्तन करने लगी। शिवकी आराधना करते-करते उसके तीन वर्ष व्यतीत हो गये। उधर पुत्रशोकसे उन्मत्त हुए राजा इन्द्रसेनको बलपूर्वक दबाकर उनके भाइयोंने सारा राज्य छीन लिया और उन्हें पत्नीसहित पकड़कर कारागृहमें डाल दिया।

इन्द्रसेनके पुत्र चन्द्रांगद यमुनाके जलमें डूबनेपर नीचे-नीचे गहराईमें उतरने लगे। बहुत नीचे जानेपर उन्होंने नागवधुओंको जलक्रीडामें निमग्न देखा। राजकुमारको देखकर वे भी विस्मित हुईं और उन्हें पाताललोकमें ले गयीं। वहाँ चन्द्रांगदने तक्षक नागके परम अद्भुत रमणीय नगरमें प्रवेश किया और इन्द्रभवनके समान मनोहर एक सुन्दर महल देखा, जो बड़े-बड़े रत्नोंकी प्रकाशमान किरणोंसे उद्दीप्त हो रहा था। भगवान् सूर्यके समान तेजस्वी तक्षक नागको सभाभवनमें विराजमान देख परम बुद्धिमान् राजकुमारने प्रणाम किया और हाथ जोड़कर खड़े हो गये। तक्षकके तेजसे उनके नेत्र

चौंधिया गये। नागराजने भी मनोरम राजकुमारको देखकर उन नागिनोंसे पूछा—'यह कौन है और कहाँसे आया है?' उन्होंने उत्तर दिया—'हमने इसे यमुनाजलमें देखा है और इसके कुल तथा नामका परिचय न होनेके कारण आपके पास ले आयी हैं।' तब तक्षकने राजकुमारसे पूछा—'तुम किसके पुत्र हो, कौन हो, कौन-सा तुम्हारा देश है और यहाँपर तुम्हारा कैसे आगमन हुआ है?'

**राजपुत्रने कहा**—भूमण्डलमें निषध नामसे प्रसिद्ध एक देश है। उसके स्वामी राजा नल महायशस्वी हो गये हैं। वे पुण्यश्लोक माने जाते हैं। उनके पुत्र इन्द्रसेन हुए और इन्द्रसेनका पुत्र मैं हुआ। मेरा नाम 'चन्द्रांगद' है। मैं अभी नूतन विवाह करके ससुरालमें ही टिका था और यमुनाजीके जलमें विहार करता हुआ दैवकी प्रेरणासे डूब गया। ये नागपत्नियाँ मुझे आपके पास ले आयी हैं। जन्मान्तरके उपार्जित पुण्योंके प्रभावसे यहाँ मैंने आपके चरणारविन्दोंका दर्शन किया है। आज मैं धन्य हूँ, मेरे माता-पिता कृतार्थ हो गये; क्योंकि आपने दया करके मेरी ओर देखा और मुझसे वार्तालाप किया है।

**इस प्रकार अत्यन्त मनोहर उदारतापूर्ण वचन सुनकर तक्षकने कहा**—राजकुमार! तुम भय न करो, धैर्य रखो और बताओ, तुम सम्पूर्ण देवताओंमें किसकी पूजा करते हो?

**राजकुमारने कहा**—जो सम्पूर्ण देवोंमें महादेव कहे जाते हैं, उन्हीं विश्वात्मा उमापति भगवान् शिवकी मैं पूजा करता हूँ। जो विधाताके भी विधाता, कारणके भी कारण और तेजोंमें सर्वोत्कृष्ट तेज हैं, वे भगवान् शिव मेरी परम गति हैं। जो अत्यन्त निकट होकर भी पापसे दूषित चित्तवाले पुरुषोंके लिये बहुत दूर हैं तथा जिनके तेजकी कोई सीमा नहीं है, जो अग्नि, भूमि, वायु, जल और आकाशमें भी स्थित हैं, वे विश्वात्मा भगवान् सदाशिव हम सबके लिये परम पूजनीय हैं। जो सम्पूर्ण भूतोंके साक्षी, सबकी आत्मामें स्थित रहनेवाले परमेश्वर तथा निरंजन हैं, सम्पूर्ण संसार जिनकी इच्छाके अधीन है, मैं उन भगवान् शिवकी पूजा करता हूँ। ज्ञानी पुरुष जिन्हें एक, आदि और पुराणपुरुष कहते हैं, गुणोंके भेदसे जिनमें भिन्नताकी प्रतीति होती है, जिन्हें कोई तो क्षेत्रज्ञ, कोई तुरीय और कोई कूटस्थ कहते हैं, वे भगवान् शिव मेरे परम आश्रय हैं। जो चैतन्यमय अचिन्त्य तत्त्व हैं, जिनके तेजका कहीं अन्त नहीं है, श्रुतिके नेति-नेति वचनोंसे तद्भिन्न समस्त वस्तुओंका बाध करके जिनके स्वरूपका निश्चय किया जाता है तथा आत्मज्ञानी पुरुषोंके भी मन और वाणीकी वृत्तियाँ जिनका स्पर्श नहीं कर पातीं, वे ही ये भगवान् शिव मेरे परम पूज्य हैं। जिनका प्रसाद पाकर साधुपुरुष अत्यन्त उज्ज्वल इन्द्रपदकी भी अभिलाषा नहीं रखते तथा कर्मोंकी अर्गला (आगल) और कालचक्रको लाँघकर निर्भय होकर विचरते हैं, वे भगवान् शिव मेरी गति हैं। जिनकी स्मृति चाण्डालकी योनिमें जन्म पानेवाले मनुष्योंके भी समस्त पापरूपी रोगोंका नाश करती है तथा जिनका सम्पूर्ण रूप श्रुतियोंके लिये भी ढूँढ़ने योग्य है, उन्हीं भगवान् शिवके उद्देश्यसे मैं सदैव पूजा करता हूँ। देवनदी गंगा जिनके मस्तकपर स्थान पाकर सुशोभित होती हैं, भगवती जगदम्बिका जिनके अर्धांगमें निवास करती हैं, अहा हा! तक्षक और वासुकि दोनों नागराज जिनके कानोंके कुण्डल हैं, वे चन्द्रार्धशेखर भगवान् शिव मेरे परम आश्रय हैं। जिनके चरणकमल वेदोंके शीर्षस्थानीय उपनिषदोंमें गौरवान्वित होते हैं, वेदान्तकी श्रुति भी जिनके चरणारविन्दोंका गुणगान करती है, जिनका दिव्य स्वरूप सदा योगियोंके हृदयमें प्रकाशित होता है तथा जिनकी सगुण मूर्ति सम्पूर्ण तत्त्वोंका प्रकाश करनेवाली है, गुणमयी सृष्टिपर विजय पानेवाले वे भगवान् शंकर मेरे द्वारा पूजित होते हैं।

राजकुमारकी यह बात सुनकर तक्षकका चित्त प्रसन्न हो गया। उनके हृदयमें महादेवजीके प्रति नूतन भक्तिभावका उदय हो आया और वे उनसे इस प्रकार बोले—'राजेन्द्रनन्दन! तुम्हारा कल्याण हो, मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ; क्योंकि तुम बालक होकर भी सर्वोत्कृष्ट परात्पर शिवतत्त्वको जानते हो। देखो, यह रत्नमय लोक है। ये मनोहर नेत्रोंवाली युवतियाँ हैं। ये मनोवांछित कामना पूर्ण करनेवाले कल्पवृक्ष हैं तथा ये अमृतरूपी जलसे भरी हुई बावलियाँ हैं। यहाँ मृत्युका दारुण भय नहीं है। बुढ़ापा और रोगसे यहाँ किसीको पीड़ा नहीं होती। तुम इच्छानुसार यहीं विहरो और यथायोग्य सुखभोगोंका उपभोग करो।' नागराजके ऐसा कहनेपर राजकुमार हाथ जोड़कर बोले—'नागराज! मैंने समयपर विवाह किया है। मेरी पत्नी उत्तम व्रतका पालन करनेवाली और शिवपूजा-परायणा है और मैं अपने माता-पिताका इकलौता पुत्र हूँ। वे सब लोग इस समय मुझे मरा हुआ मानकर महान् शोकसे घिर गये होंगे। अतः मुझे किसी प्रकार भी यहाँ अधिक समयतक नहीं ठहरना चाहिये। आप कृपा करके मुझे उसी मनुष्यलोकमें पुनः पहुँचा दें।'

**नागराज तक्षकने कहा**—राजकुमार! तुम जब-जब मेरी याद करोगे, तब-तब तुम्हारे सामने प्रकट हो जाऊँगा। ऐसा कहकर उन्होंने राजकुमारको एक सुन्दर अश्व भेंट किया, जो इच्छाके अनुसार चलनेवाला था। अनेक प्रकारके द्वीपों, समुद्रों और लोकोंमें उसकी अप्रतिहत गति थी। इसके सिवा उन्हें रत्नमय आभूषण, दिव्य वस्त्र एवं दिव्य अलंकार भेंट किये। उनकी सहायताके लिये सारी व्यवस्था करनेके पश्चात् तक्षकने 'जाओ' कहकर प्रेमपूर्वक उन्हें विदा किया। चन्द्रांगद उस घोड़ेपर सवार हो निकले और थोड़ी ही देरमें यमुनाके जलसे बाहर आकर उस दिव्य अश्वपर चढ़े हुए ही नदीके रमणीय तटपर घूमने लगे। इसी समय पतिव्रता सीमन्तिनी अपनी सखियोंसे घिरी हुई वहाँ स्नान करनेके लिये आयी। उसने यमुनाके तटपर मनुष्यरूपधारी नागकुमारके साथ भ्रमण करते हुए राजकुमार चन्द्रांगदको देखा। दिव्य अश्वपर आरूढ़ हुए अपूर्व आकारवाले उन राजकुमारको देखकर वह उन्हींकी ओर दृष्टि लगाये खड़ी हो गयी। उसे देखकर चन्द्रांगदने भी मन-ही-मन विचार किया—जान पड़ता है इसे मैंने पहले कभी देखा है। तत्पश्चात् वे घोड़ेसे उतरकर नदीके किनारे आ बैठे और उस सुन्दरीको बुलाकर समीप बैठाकर पूछा—'तुम कौन हो, किसकी स्त्री और किसकी कन्या हो?' सीमन्तिनी लज्जावश स्वयं कुछ बोल न सकी। तब उसकी सखीने सब बातें बतायीं—'इसका नाम सीमन्तिनी है। यह निषधराज इन्द्रसेनकी पुत्रवधू, युवराज चन्द्रांगदकी रानी तथा महाराज चित्रवर्माकी पुत्री है। दुर्भाग्यवश इसके पति इस महाजलमें डूब गये। इससे वैधव्यका दुःख प्राप्त करके यह बाला शोकसे सूखती जा रही है। अत्यन्त प्रबल शोकमें ही इसने तीन वर्ष व्यतीत किये हैं। आज सोमवार है, इसलिये यहाँ यमुनाजीमें स्नान करनेके लिये आयी है। इसके श्वशुरका राज्य भी शत्रुओंने छीन लिया है। बलपूर्वक उसपर अधिकार जमा लिया है और वे महाराज अपनी पत्नीके साथ उनकी कैदमें पड़े हैं। यह सब होनेपर भी यह निर्मल अन्तःकरणवाली सदाचारपरायणा राजकुमारी प्रति सोमवारको अत्यन्त भक्तिभावके साथ पार्वतीसहित महादेवजीकी पूजा करती है।'

**उत्तम व्रतका पालन करनेवाली सीमन्तिनीने अपनी सखीके मुखसे सब बातें कहलवाकर स्वयं भी राजकुमारसे पूछा**—आप कौन हैं? आपके पार्श्ववर्ती ये दोनों पुरुष कौन हैं? आपने मेरे वृत्तान्तको एक स्नेहीकी भाँति क्यों पूछा है? महाबाहो! मुझे ऐसा जान पड़ता है कि पहले

कभी मैंने आपको देखा है। आप मुझे स्वजनकी भाँति प्रतीत होते हैं।

इतना कहकर राजकुमारी सीमन्तिनी नेत्रोंसे आँसूकी धारा बहाती हुई बहुत देरतक फूट-फूटकर रोती रही और मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी। अपनी प्रियतमाके शोकका कारण सुनकर चन्द्रांगद भी शोकसे व्याकुल हो दो घड़ीतक चुपचाप बैठे रहे। तदनन्तर सीमन्तिनी उठकर राजकुमारकी ओर बारंबार निहारने लगी। उसने पहले देखे हुए अंगचिह्नों, स्वर आदि लक्षणों, अवस्थाके प्रमाण तथा रूप-रंग आदिकी परीक्षा करके यह निश्चय किया कि 'अवश्य यही मेरे पति हैं; क्योंकि मेरा हृदय प्रेमसे अधीर होकर इन्हींमें अनुरक्त हुआ है। परंतु क्या मुझ अभागिनीको अपने मरे हुए पतिका दर्शन हो सकता है? यह स्वप्न है या भ्रम अथवा मुनिपत्नी मैत्रेयीने जो मुझे यह कहा था कि तुम भारी-से-भारी विपत्तिमें पड़नेपर भी इस व्रतका पालन करती रहना, उसीका तो यह फल नहीं है। एक श्रेष्ठ ब्राह्मणने मेरा दस हजार वर्षोंका सौभाग्य बतलाया था। उन ब्राह्मण देवताका यह वचन अवश्य सत्य होगा। यह ईश्वरके बिना कौन जान सकता है? इधर प्रतिदिन मुझे मंगलसूचक शुभ शकुन दिखायी देते हैं। पार्वती देवीके प्राणनाथ भगवान् शिवके प्रसन्न होनेपर देहधारियोंके लिये कौन-सी वस्तु दुर्लभ हो सकती है।' इस प्रकार भाँति-भाँतिसे विचार करके उसका सन्देह दूर हो गया। तब लज्जासे उसने अपना मुख नीचेकी ओर कर लिया। उस समय राजकुमारने कहा—'भद्रे! मैं तुम्हारे पतिके शोकसन्तप्त माता-पितासे यह समाचार बतलानेके लिये जा रहा हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारे पति तुमसे शीघ्र ही मिलेंगे।'

यों कहकर राजकुमार घोड़ेपर सवार हुए और अपने दोनों सहायकोंके साथ शीघ्र ही अपने राज्यमें जा पहुँचे। वहाँ नगरोद्यानके समीप स्थित होकर उन्होंने नागराजके पुत्रको राजसिंहासनपर अधिकार जमाये बैठे हुए बन्धुओंके समीप भेजा। नागकुमारने शीघ्र जाकर उन सबसे कहा—'तुम सब लोग महाराज इन्द्रसेनको अविलम्ब कारागृहसे मुक्त करो और सिंहासन छोड़कर हट जाओ। महाराजके पुत्र चन्द्रांगद पाताललोकसे लौटकर यहाँ आये हैं। तुम आनाकानी न करो, नहीं तो चन्द्रांगदके बाण तुम्हारे प्राण हर लेंगे। वे यमुनाजीके जलमें डूबकर नागराज तक्षकके घर जा पहुँचे थे। वहाँसे उनकी सहायता पाकर पुनः इस लोकमें लौटे हैं।'

नागकुमारकी कही हुई ये सारी बातें सुनकर शत्रुओंने भी 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार की और महाराज इन्द्रसेनको उनके खोये हुए पुत्रके पुनः लौट आनेका समाचार बताकर उनका सिंहासन उन्हें लौटा दिया। महाराजको प्रसन्न करके भी वे लोग भयभीत बने रहे।

मेरा पुत्र आ रहा है, यह बात सुनकर राजा प्रेमके आँसू बहाते हुए आनन्दमें डूब गये। यही दशा महारानीकी भी थी। तदनन्तर सब नागरिक, वृद्ध मन्त्री और पुरोहित आगे जाकर चन्द्रांगदसे मिले और उन्हें हृदयसे लगाकर महाराजके समीप ले आये। अपने भवनमें प्रवेश करके अश्रुवर्षा करते हुए राजकुमारने माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम किया। चरणोंमें पड़े हुए पुत्रको उठाकर राजाने अश्रुसिक्त हृदयसे लगा लिया। फिर क्रमशः सब माताओंको प्रणाम करके उनका आशीर्वाद ले राजकुमार पुरवासियोंसे मिले और उन्होंने सबको यथायोग्य सम्मान दिया। पुनः सबके साथ राजसभामें बैठकर अपना सब वृत्तान्त पितासे निवेदन किया और नागराज तक्षकसे मित्रता होनेकी भी बात बतलायी। राजकुमारका चरित्र देख और सुनकर राजा इन्द्रसेन हर्षसे विह्वल हो गये। उन्होंने अपने मनमें यही माना कि मेरी पुत्रवधूने भगवान् महेश्वरकी आराधना करके इस अनुपम सौभाग्यका

अर्जन किया है। निषधराजने यह मंगलमयी वार्ता दूतोंके द्वारा महाराज चित्रवर्माको भी कहला दी। यह अमृतमयी वार्ता सुनकर महाराज चित्रवर्मा आनन्दसे विह्वल हो गये और बड़े वेगसे उठकर उन्होंने सन्देशवाहकोंको उपहारमें बहुत धन दिया। फिर अपनी पुत्रीको बुलाकर उन्होंने उससे वैधव्यके चिह्नोंका परित्याग करवाया और उसे नाना प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित किया। तत्पश्चात् समूचे राष्ट्रके गाँव और नगर आदिमें बड़ा भारी उत्सव हुआ और सब लोगोंने राजकुमारी सीमन्तिनीके सदाचारकी बड़ी प्रशंसा की। चित्रवर्माने इन्द्रसेनके पुत्र चन्द्रांगदको बुलाकर सीमन्तिनीको उनके साथ विदा कर दिया। चन्द्रांगदने तक्षकके घरसे लाये हुए रत्न आदि आभूषणोंके द्वारा, जो मानवमात्रके लिये अत्यन्त दुर्लभ हैं, अपनी पत्नीको अलंकृत किया। तपे हुए सुवर्णके समान सुशोभित चालीस कोसतक जानेवाली सुगन्धसे युक्त दिव्य अंगरागसे सीमन्तिनीकी बड़ी शोभा हो रही थी। कमलके केसरके समान रंगवाले कल्पवृक्षके पुष्पोंसे बनी हुई और कभी न कुम्हलानेवाली माला भी सती सीमन्तिनीकी शोभा बढ़ा रही थी। इस प्रकार शुभ मुहूर्तमें अपनी पत्नीको साथ लेकर श्वशुरकी आज्ञासे चन्द्रांगद पुनः अपनी नगरीमें आये। महाराज इन्द्रसेनने अपने पुत्रको राजसिंहासनपर बिठाकर तपस्याद्वारा भगवान् शिवकी आराधना करके योगी पुरुषोंको उपलब्ध होनेवाली उत्तम गति प्राप्त की। राजा चन्द्रांगदने अपनी धर्मपत्नी सीमन्तिनीके साथ दस हजार वर्षोंतक नाना प्रकारके विषयोंका उपभोग किया। उन्होंने आठ पुत्रों और एक कन्याको जन्म दिया। सीमन्तिनी प्रतिदिन भगवान् महेश्वरकी पूजा करती हुई अपने स्वामीके साथ सुखपूर्वक रहने लगी। उसने सोमवारव्रतके प्रभावसे अपना खोया हुआ सौभाग्य प्राप्त कर लिया।

## त्यागी हुई रानी और राजकुमारकी वैश्य एवं शिवयोगीद्वारा रक्षा तथा शिवयोगीका राजपुत्रको धर्मका उपदेश करना

**सूतजी कहते हैं**—एक समय दशार्णदेशके राजा वज्रबाहुकी पत्नी सुमति अपने नवजात शिशुके साथ असाध्य रोगकी शिकार हो गयी थी; इसलिये दुष्टबुद्धि राजाने उसे वनमें त्याग दिया। वहाँ अनेक प्रकारके कष्ट भोगती हुई वह यत्नपूर्वक आगे बढ़ने लगी। बहुत दूर जानेपर उसने वैश्योंका एक नगर देखा, जिसमें बहुत-से स्त्री-पुरुष निवास करते थे। उस नगरका रक्षक एक बहुत बड़ा महाजन वैश्य था, जो पद्माकरके नामसे प्रसिद्ध था। वह दूसरे कुबेरके समान धनवान् था। उस वैश्यराजके घरमें सेवा-टहलका कार्य करनेवाली कोई दासी उधर ही आ रही थी। वह दूरसे ही राजपत्नीको देखकर उनके समीप आयी। उसने रानीको देखते ही उसका सारा हाल जान लिया। वह पुत्रसहित अत्यन्त कष्ट भोग रही थी। दासीने अपने स्वामीको उस स्त्रीका दर्शन कराया। वैश्यराजने रोगी पुत्रके साथ स्वयं भी रोगसे पीड़ित हुई राजपत्नीको एकान्तमें बुलाकर उसका सब वृत्तान्त पूछा और सब बात जान लेनेपर अपने घरके पास ही एकान्त गृहमें उसे ठहराया। अन्न, वस्त्र, जल और शय्या आदिका प्रबन्ध करके वैश्यने माताके समान उसका आदर किया। उस घरमें सुरक्षित होकर निवास करती हुई राजपत्नीके व्रण और यक्ष्मा आदि रोगोंकी शान्ति नहीं हुई। कुछ ही दिनोंमें रानीका पुत्र घावसे पीड़ित होकर वैद्योंकी चिकित्साशक्तिसे परे जा पहुँचा और मृत्युको प्राप्त हो गया। पुत्रके मरनेपर रानी महान्

शोकसे ग्रस्त हो मूर्च्छित हो गयी और टूटी हुई लताके समान धरतीपर गिर पड़ी। फिर सचेत होनेपर वैश्योंकी स्त्रियोंने उसे बहुत समझाया तथापि वह अत्यन्त दुःखित हो विलाप करने लगी—'हा पुत्र! बन्धु-बान्धवोंसे त्यागी हुई अपनी इस दीन एवं अनाथ माताको छोड़कर तुम कहाँ चले गये।' जब वह इस प्रकार विलाप कर रही थी, उसी समय ऋषभ नामसे प्रसिद्ध शिवयोगी वहाँ आ पहुँचे। वैश्यराजने अर्घ्य देकर उनका सत्कार किया। तत्पश्चात् वे शोकग्रस्त राजपत्नीके समीप जाकर इस प्रकार बोले—'बेटी! तुम इतनी क्यों रो रही हो? संसारमें किसका जन्म हुआ और कौन मृत्युको प्राप्त हुआ। ये शरीर आदि जलके फेनके समान क्षणभंगुर हैं। कभी इनकी प्रतीतिका भ्रम होता है, कभी ये शान्त हो जाते हैं और कभी पुनः इनकी स्थिति होती है। अतः फेनके समान इस शरीरकी मृत्यु होनेपर विद्वान् पुरुष शोक नहीं करते। सत्त्व आदि तीनों गुण मायासे उत्पन्न होते हैं। उन्हीं तीनों गुणोंसे शरीरकी उत्पत्ति हुई है। अतः सबके शरीर त्रिगुणमय ही हैं। सत्त्वगुणकी अधिकता होनेसे जीव देवयोनिको प्राप्त होता है, रजोगुणसे मानवयोनिमें जन्म लेता है और तमोगुणकी अधिकतासे अपनी वासनाके अनुसार वह पशु-पक्षी आदि योनिमें उत्पन्न होता है। वर्तमान संसारमें जीव अपने कर्मोंके बन्धनसे बँधकर बार-बार ऐसी सुख-दुःखमयी अवस्थाको प्राप्त होता है, जिसका अनुमान करना अत्यन्त कठिन है। जिनकी आयु एक कल्पतककी मानी गयी है, ऐसे देवताओंकी स्थितिमें भी उलट-फेर होता रहता है। फिर जो अनेक प्रकारके रोगोंसे ग्रस्त हैं, ऐसे मानव-देहधारी प्राणियोंकी तो बात ही क्या है? कोई कालको ही इस शरीरकी उत्पत्तिमें कारण बताते हैं, कोई कर्मको और कोई गुणोंको हेतु मानते हैं। वस्तुतः काल, कर्म और गुण तीनोंसे ही शरीरका आधान हुआ है। यह पांचभौतिक शरीर उत्पन्न हो या मरे, इसे देखकर विद्वान् पुरुष हर्ष और शोक नहीं करते। जीव अव्यक्तसे उत्पन्न होता और अव्यक्तमें ही लीन होता है, केवल मध्यकालमें जलके बुलबुलेकी भाँति व्यक्त-सा प्रतीत होता है। जीव जब गर्भमें आता है, उसी समय उसकी मृत्यु निश्चित हो जाती है। वह दैववश जन्म लेकर जीवित रहता है अथवा जन्म लेते ही सहसा उसकी मृत्यु हो जाती है। कितने ही जीव गर्भमें ही नष्ट हो जाते हैं, कुछ जन्म लेनेपर तत्काल मर जाते हैं, कुछ जवान होनेपर मृत्युको प्राप्त होते हैं, और कुछ बुढ़ापेमें परलोकगामी होते हैं। पहलेका कर्म जैसा होता है, वैसा ही शरीर जीवको प्राप्त होता है तथा वह कर्मोंके अनुसार ही सुख-दुःख भोगता है। विधाताके द्वारा ललाटमें लिखी हुई आयु, सुख, दुःख, विद्या और धनको लिये हुए जीव जन्म लेता है। कर्मोंका उल्लंघन करना असम्भव है। कालका भी अतिक्रमण करना किसीके लिये सम्भव नहीं है। जगत्के समस्त पदार्थ अनित्य हैं। इसलिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। स्वप्नके पदार्थोंमें नियमपूर्वक स्थिरता कहाँ है? इन्द्रजालमें सच्चाई कहाँ है? शरद्-ऋतुके बादलोंमें चिरस्थायिता कहाँ है और प्राणियोंके शरीरमें नित्यता कहाँ है?* अबतक तुम्हारे सौ कोटि अयुत (दस हजार) जन्म व्यतीत हो चुके हैं। अब तुम्हीं बताओ, तुम किसकी-किसकी पुत्री हो, किसकी-किसकी माता हो और किसकी-किसकी पत्नी हो? यह शरीर पाँच भूतोंका बना हुआ है। यह त्वचा, रक्त और मांससे बँधा हुआ है। मेदा, मज्जा और हड्डियोंका समूह है तथा मल-मूत्र और

* क्व स्वप्ने नियतं स्थैर्यमिन्द्रजाले क्व सत्यता। क्व नित्यता शरन्मेघे क्व शश्वत्त्वं कलेवरे॥ (स्क० पु०, ब्रा० ब्रह्मो० १०।६४)

कफका भाजन है। मोहमें पड़ी हुई नारी! यह जो तुम्हारे पास दूसरा शरीर (तुम्हारे पुत्रका शव) पड़ा हुआ है, इस अपने पुत्रको भी अपने शरीरसे निकला हुआ मल समझकर तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। कोई पण्डित भी अपनी तपस्या, विद्या, बुद्धि, मन्त्र, ओषधि तथा रसायनसे मृत्युका उल्लंघन नहीं कर सकता*। सुमुखि! आज एक जीवकी मृत्यु होती है तो कल दूसरेकी। अतः इस अनित्य शरीरके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। मृत्यु सदा समीप ही रहती है। फिर बताओ, देहधारियोंको क्या सुख है? अतः यदि तुम जन्म, बुढ़ापा और मृत्युको जीतना चाहती हो तो मृत्युको जीतनेवाले सबके ईश्वर भगवान् उमापतिकी शरणमें जाओ। तभीतक मृत्युका घोर भय है तथा जन्म और जरावस्थाका भय है, जबतक कि जीव भगवान् शिवके चरणारविन्दोंकी शरणमें नहीं जाता। अत्यन्त भयंकर संसारमें नाना प्रकारके दुःखोंका अनुभव करके मनुष्यका मन जब उसकी ओरसे विरक्त हो जाता है, उस समय उसे भगवान् महेश्वरका ध्यान करना चाहिये। जो मनसे भगवान् शिवके ध्यानरूपी रसामृतका पान करता है, उस पुरुषको फिर संसारकी विषयरूपी मदिराको पीनेकी तृष्णा नहीं होती। जब सब प्रकारकी आसक्तियोंसे छूटा हुआ मन वैराग्यके अधीन हो भगवान् शिवके चरणोंके चिन्तनमें मग्न हो जाता है, तब मनुष्यका इस संसारमें फिर जन्म नहीं होता है। भद्रे! यह मन भगवान् शिवके ध्यानका एकमात्र साधन है, उसे शोक और मोहमें न डुबाओ। शिवजीका भजन करो।'

**इस प्रकार शिवयोगीने अनुनयपूर्वक जब रानीको समझाया तब उसने उन्हींको गुरु मानकर उनके चरणकमलोंमें प्रणाम करके कहा—** भगवन्! जिसका एकमात्र पुत्र मर गया हो, जिसे प्रिय बन्धुओंने त्याग दिया हो तथा जो महान् रोगसे अत्यन्त पीड़ित रहती हो, ऐसी मुझ अभागिनीके लिये मृत्युके सिवा दूसरी कौन गति है? इसलिये मैं इस शिशुके साथ ही प्राण त्याग देना चाहती हूँ। मृत्युके समय जो आपका दर्शन हो गया, मैं इतनेसे ही कृतार्थ हूँ।

रानीकी यह बात सुनकर दयानिधान शिवयोगी मरे हुए बालकके पास आये और शिवमन्त्रसे अभिमन्त्रित भस्म लेकर उसके मुँहमें डाल दिया। विभूतिके पड़ते ही वह मरा हुआ बालक प्राणयुक्त हो गया। प्राण लौट आनेपर बालकने आँखें खोल दीं। उसकी इन्द्रियोंमें पूर्ववत् शक्ति आ गयी और वह दूध पीनेकी इच्छासे रोने लगा। तब नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहाती हुई रानीने झपटकर बालकको गोदमें उठा लिया और उसे छातीसे चिपकाकर वह अपूर्व आनन्दमें डूब गयी। तत्पश्चात् शिवयोगीने माता और बालकके विषैले घावोंसे युक्त शरीरमें भस्मका स्पर्श कराया। इससे उन दोनोंके शरीर दिव्य हो गये। उन्होंने देवताओंके समान कान्तिमान् स्वरूप धारण कर लिया। तत्पश्चात् ऋषभने रानीसे कहा—'बेटी! तुम दीर्घकालतक जीवित रहो। जबतक इस संसारमें जीवित रहोगी, तबतक वृद्धावस्था तुम्हारा स्पर्श नहीं कर सकेगी। साध्वी! तुम्हारा यह पुत्र लोकमें भद्रायु नामसे विख्यात होगा और अपना राज्य प्राप्त कर लेगा। तबतक तुम इन्हीं वैश्यराजके घरमें निवास करो, जबतक कि तुम्हारा पुत्र पूर्ण विद्वान् न हो जाय।'

इस प्रकार ऋषभ योगीने भस्मकी शक्तिसे मरे हुए राजकुमारको जीवित करके अपने अभीष्ट स्थानको प्रस्थान किया। भद्रायु उन्हीं वैश्यराजके घरमें क्रमशः बढ़ने लगा। वैश्यके भी 'सुनय' नामक एक पुत्र था, जो राजकुमारका

* तपसा विद्यया बुद्ध्या मन्त्रौषधिरसायनैः। अतियाति परं मृत्युं न कश्चिदपि पण्डितः॥ (स्क० पु०, ब्रा० ब्रह्मो० १०। ७०)

सखा हुआ। राजकुमार और वैश्यकुमार दोनों परस्पर बड़ा स्नेह रखते थे। वैश्यराजने विद्वान् ब्राह्मणोंके द्वारा राजकुमार और अपने पुत्रका भी संस्कार विस्तारपूर्वक करवाया। समयपर उपनयन-संस्कार हो जानेके पश्चात् दोनों बालकोंने गुरुसेवामें तत्पर हो विनयपूर्वक सम्पूर्ण विद्याओंका संग्रह किया। तदनन्तर जब राजकुमारका सोलहवाँ वर्ष लगा, तब वे ही ऋषभ योगी पुनः वैश्यराजके घर आये। रानी और राजकुमारने बड़े हर्षके साथ उनको बार-बार प्रणाम करके उनकी

यथायोग्य पूजा की। उन दोनोंसे पूजित होनेपर योगीश्वर शिवयोगीने कहा—'बेटा! तुम कुशलसे तो हो न? तुम्हारी माताको भी कोई कष्ट तो नहीं है? क्या तुमने सब विद्याओंका अध्ययन कर लिया? गुरुजनोंकी सेवामें सदा संलग्न रहते हो न? वत्स! क्या मुझ प्राणदाता गुरुका कभी स्मरण करते हो?'

**योगीश्वर ऋषभके ऐसा कहते समय विनयशीला रानीने अपने पुत्रको उनके चरणोंमें डाल दिया और कहा**—गुरुदेव! यह आपका ही पुत्र है। आप ही इसके प्राणदाता पिता हैं। आप दया करके अपने इस शिष्यको अनुगृहीत करें और इसे सत्पुरुषोंके उत्तम मार्ग—शुभ कर्मका उपदेश दें। रानीके द्वारा इस प्रकार प्रसन्न कराये जानेपर परम बुद्धिमान् शिवयोगीने राजकुमारको सन्मार्गका उपदेश दिया।

**ऋषभ बोले**—वेद, स्मृति और पुराणोंमें जिसका उपदेश किया गया है, वही सनातन धर्म है। सब लोगोंको चाहिये कि अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार सदा शास्त्रोक्त धर्मका सेवन करें। वत्स! तुम सदा सत्पुरुषोंके मार्गपर चलो। उत्तम आचारका ही पालन करो। देवताओंकी आज्ञाका कभी उल्लंघन न करो, देवताओंकी अवहेलना भी न करो। गौ, देवता, गुरु और ब्राह्मणके प्रति सदा भक्तिभाव रखो। अतिथिके रूपमें चाण्डाल भी अपने घर आ जाय, तो सदा उसका सत्कार करो। अपने प्राणोंपर संकट आ जाय तो भी सत्यका परित्याग न करो। महाबाहो! पराये धनकी, परायी स्त्रीकी, देवता तथा ब्राह्मणकी वस्तुओंकी और अत्यन्त दुर्लभ पदार्थोंकी भी तृष्णा त्याग दो। महामते! सदा उत्तम कथा, उत्तम आचार, उत्तम व्रत, सत्पुरुषोंके आगमन तथा धर्म आदिके संग्रहकी ही अभिलाषा करो। स्नान, जप, होम, स्वाध्याय, पितृतर्पण, गोपूजा, देवपूजा और अतिथिपूजामें कभी आलस्यको समीप न आने दो। क्रोध, द्वेष, भय, शठता, चुगली, अनुचित आग्रह, कुटिलता, दम्भ और उद्वेगका यत्नपूर्वक त्याग करो। अकारण वैर, व्यर्थकी बकवाद और दूसरोंकी निन्दा छोड़ दो। मृगया, द्यूतक्रीडा, मद्यपान, स्त्री और स्त्रीलम्पट पुरुष—इन सबके संगका परित्याग करो। अधिक भोजन, अधिक परिश्रम, अधिक बातचीत और अधिक खेल-कूद तथा क्रीडा-विलासको सदाके लिये छोड़ दो। अधिक विद्या, अधिक श्रद्धा, अधिक पुण्य, अधिक स्मरण, अधिक उत्साह, अधिक प्रसिद्धि और अधिक धैर्य जैसे भी प्राप्त

हो, उसके लिये सदा चेष्टा करो। अपनी ही पत्नीके प्रति सकाम बनो। अपने शत्रुओंपर ही क्रोध करो। पुण्यराशिके संग्रहके लिये ही लोभ करो। पापाचारियोंके प्रति ही असूया (दोषदृष्टि) करो। पाखण्डियोंके प्रति द्वेष तथा साधुपुरुषोंके प्रति राग रखो। बुरी सलाहको समझानेमें और ग्रहण करनेमें मूर्ख बने रहो। चुगुलोंकी बातें अनसुनी करनेके लिये बहरे हो जाओ। धूर्त, अत्यन्त क्रोधी, शठ, क्रूर, छली, चंचल, दुष्ट, पतित, नास्तिक और कुटिल मनुष्यको दूरसे ही त्याग दो। अपनी प्रशंसा न करो। दूसरोंकी चेष्टाओं और इशारोंको समझो। धन और कुटुम्बमें अधिक आसक्ति न रखो। पतिव्रता पत्नी, माता, श्वशुर, साधु पुरुष और गुरुके वचनोंमें सदा विश्वास करो। अपनी रक्षामें तत्पर होकर सदा सावधान रहो। उत्तम व्रतका पालन करो। अपने सेवकोंपर भी कभी पूर्ण विश्वास न करो। महामते! जो तुम्हारा विश्वासपात्र रहा हो ऐसा कोई पुरुष यदि चोरीमें भी पकड़ा जाय, तो उसे प्राणदण्ड न दो। पापरहित मनुष्योंपर सन्देह न करो। सत्यसे विचलित न होओ। अनाथ, दीन, वृद्ध, स्त्री, बालक और निरपराध मनुष्यकी धनसे, बुद्धिसे, शक्तिसे, बलसे तथा अपने प्राणोंद्वारा भी रक्षा करो। वध करने योग्य शत्रु भी यदि शरणमें आ जाय तो उसे न मारो। माता-पिता और गुरुके कोपसे बचो। धनका व्यय, पुत्रों तथा ब्राह्मणोंका अपराध सहन करो। जिस प्रकार ब्राह्मण प्रसन्न हों, वैसा उनका हित करो। क्योंकि श्रेष्ठ द्विज संकटमें पड़े हुए राजाका उस संकटसे उद्धार करते हैं। आयु, यश, बल, सुख, धन, पुण्य और प्रजाजनोंकी उन्नति—यह सब जिस सत्कर्मसे सम्भव हो, उसका सदा सेवन करना चाहिये। देश, काल, शक्ति, कर्तव्य, अकर्तव्यका भलीभाँति विचार करके सदा यत्नपूर्वक कर्म करो। स्वयं किसीको बाधा न पहुँचाओ। दूसरोंकी बाधाका निवारण करो। उत्तम नीति और शक्तिसे चोरों तथा दुष्टोंका दमन करो। स्नान, जप, होम, देवपूजा तथा श्राद्धकर्ममें उतावली न करो। नींद लेने और भोजनमें शीघ्रता करो। उदारतायुक्त, शठतासे रहित, सत्य, मनुष्योंके मनको प्रिय लगनेवाली तथा थोड़ेसे अक्षर और अधिक अर्थवाली बात बोलो। कहीं भी भय न करो। शत्रुओं और विपत्तियोंमें पड़कर भी निडर बने रहो। ब्राह्मणकुल, गुरुकी आज्ञा तथा पापाचरणसे डरो। कुटुम्बीजनों, भाई-बन्धुओं, ब्राह्मणों, पत्नियों, पुत्रों तथा भोजनकी पंक्तियोंमें समतापूर्ण बर्ताव करो। सत्पुरुषोंके हितकारक उपदेशों, पुण्य कथाओं, विद्या-गोष्ठियों तथा धर्मचर्चाओंसे कभी मुँह न मोड़ो। जलके निकट, सर्वत्र विख्यात, ब्राह्मणोंके निवाससे युक्त, परम पवित्र तथा कल्याणमय प्रशस्त स्थानमें सदा निवास करो। जहाँ कुलटाएँ और वेश्याएँ रहती हों, जहाँ कामलम्पट पुरुषोंका निवास हो, ऐसे नीच जनसेवित दूषित स्थानमें तुम कभी निवास न करो। त्रिभुवनके स्वामी एकमात्र भगवान् शिवकी शरण लेकर भी तुम सभी देवताओंकी यथासमय उपासना करते रहो और उनके दिनों (तत्सम्बन्धी तिथियों)-का भी समादर करो। वत्स! तुम सदा पवित्र, सदा दक्ष, सदा शान्त, सदा स्थिर, सदा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—इन छहों शत्रुओंको जीतनेवाले तथा सदा एकान्तवासी बनो। वेदवेत्ता ब्राह्मण, नियमोंसे प्रकाशित होनेवाले शान्त संन्यासी, पुण्य वृक्ष, पुण्य नदी, पुण्य तीर्थ, महासरोवर, धेनु, वृषभ, पतिव्रता स्त्री तथा अपने घरके देवताओंको उनके पास जाते ही सहसा नमस्कार करो।

ब्राह्म मुहूर्तमें उठकर भलीभाँति आचमन करके तुम पहले अपने गुरुजीको प्रणाम करो। तत्पश्चात् उमापति भगवान् शिवका ध्यान करके लक्ष्मीपति नारायण, ब्रह्मा, गणेश, स्कन्द, कात्यायनी देवी, महालक्ष्मी, सरस्वती, इन्द्र आदि लोकपाल तथा पुण्यश्लोक (पवित्र यशवाले) महर्षियोंका चिन्तन

करो। उसके बाद उदयकालमें सदा भगवान् सूर्यको प्रणाम करो। गन्ध, पुष्प, ताम्बूल, शाक और पके फल आदि भक्ष्य-भोज्य प्रिय एवं नूतन पदार्थ पहले भगवान् शिवको अर्पण करके फिर प्रसादरूपसे उसका उपभोग करो। जो कुछ दान, सत्कर्म, जप, स्नान, होम, चिन्तन तथा तप तुम्हारे द्वारा किया जाय, वह सब भगवान् शिवको समर्पित कर दो। खाते, पाठ करते, सोते, घूमते, देखते, सुनते, बोलते और ग्रहण करते समय सदा भगवान् शिवका ही चिन्तन करो। प्रतिदिन मन्त्रराज पंचाक्षरका जप और ध्यान करते हुए सदा भगवान् सदाशिवके चरणोंमें अपने मनको रमाते रहो। वत्स! यह संक्षेपसे तुम्हारे लिये धर्मका उपदेश किया गया है।

## शिवयोगीसे शिव-कवचका उपदेश और दिव्य खड्ग एवं शंख पाकर भद्रायुका शत्रुओंको जीतना तथा निषधराजकी पुत्रीसे उसका विवाह

**ऋषभ शिवयोगी कहते हैं**—हे भद्रायु! पवित्र स्थानमें यथायोग्य आसन बिछाकर बैठे। इन्द्रियोंको अपने वशमें करके प्राणायामपूर्वक अविनाशी भगवान् शिवका चिन्तन करे। परमानन्दमय भगवान् महेश्वर हृदय-कमलके भीतरकी कर्णिकामें विराजमान हैं। उन्होंने अपने तेजसे आकाशमण्डलको व्याप्त कर रखा है। वे इन्द्रियातीत, सूक्ष्म, अनन्त एवं सबके आदि कारण हैं। इस प्रकार ध्यानके द्वारा समस्त कर्मबन्धनका नाश करके चिरकालतक चिदानन्दमय भगवान् सदाशिवमें अपने चित्तको लगाये रहे। फिर षडक्षरन्यासके द्वारा अपने मनको एकाग्र करके मनुष्य (निम्नलिखित) शिवकवचके द्वारा अपनी रक्षा करे।

'सर्वदेवमय महादेवजी गहरे संसार-कूपमें गिरे हुए मुझ असहायकी रक्षा करें। उनका दिव्य नाम मेरे समस्त हृदयस्थित पापोंका नाश करे। सम्पूर्ण विश्व जिनकी मूर्ति है, जो ज्योतिर्मय आनन्दघनस्वरूप चिदात्मा हैं, वे भगवान् शिव मेरी सर्वत्र रक्षा करें। जो सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म हैं, महान् शक्तिसे सम्पन्न हैं, वे 'ईश्वर' महादेवजी सम्पूर्ण भयोंसे मेरी रक्षा करें। जिन्होंने पृथ्वीके रूपमें इस विश्वको धारण कर रखा है, वे अष्टमूर्ति 'गिरीश' पृथ्वीसे मेरी रक्षा करें। जो जलके रूपमें जीवोंको जीवन-दान दे रहे हैं, वे जलसे मेरी रक्षा करें। जो विशद लीलाविहारी 'शिव' कल्पके अन्तमें समस्त भुवनोंको विदग्ध करके आनन्दसे नृत्य करते हैं, वे कालरुद्र भगवान् दावानलसे, आँधी-तूफानोंसे और समस्त तापोंसे मेरी रक्षा करें। प्रदीप्त विद्युत् एवं स्वर्णके सदृश जिनकी कान्ति है, विद्या, वर, अभय (मुद्रा) और कुठार जिनके करकमलोंमें सुशोभित हैं, जो चतुर्मुख और त्रिलोचन हैं, वे 'सत्पुरुष' भगवान् पूर्व दिशामें निरन्तर मेरी रक्षा करें। जो कुठार, वेद, अंकुश, पाश, शूल, कपाल, नगाड़ा और रुद्राक्षकी मालाको धारण किये हुए हैं, जो चतुर्मुख हैं, वे नीलरुचि, त्रिनेत्र 'अघोर' भगवान् दक्षिण दिशामें मेरी रक्षा करें। कुन्द, चन्द्रमा, शंख और स्फटिकके समान जिनकी उज्ज्वल कान्ति है, वेद, रुद्राक्षमाला, वर और अभय (मुद्रा)-से जो सुशोभित हैं, वे महाप्रभावशाली चतुरानन, त्रिलोचन 'सद्योधिजात' भगवान् पश्चिम दिशामें मेरी रक्षा करें। जिनके हाथोंमें वर, अभय (मुद्रा), रुद्राक्षमाला और टाँकी विराजमान है, कमल-किंजल्कके सदृश जिनका वर्ण है, वे चतुर्मुख त्रिनेत्र 'वामदेव'

भगवान् उत्तर दिशामें मेरी रक्षा करें। जिनके करकमलोंमें वेद, अभय, वर, अंकुश, टाँकी, पाश, कपाल, नगाड़ा, रुद्राक्षमाला और शूल सुशोभित हैं, जो सितद्युति हैं, वे परम प्रकाशरूप पंचमुख 'ईशान' भगवान् मेरी ऊपरसे रक्षा करें। भगवान् 'चन्द्रमौलि' मेरे सिरकी, 'भालनेत्र' मेरे भालकी, 'भगनेत्रहारी' मेरे नेत्रोंकी, 'विश्वनाथ' मेरी नासिकाकी, 'श्रुतिगीतकीर्ति' कानोंकी, 'पंचमुख' मुखकी, 'वेदजिह्वा' जीभकी, 'गिरीश' गलेकी, 'नीलकण्ठ' दोनों हाथोंकी, 'धर्मबाहु' कन्धोंकी, 'दक्षयज्ञ-विध्वंसी' वक्षःस्थलकी, 'गिरीन्द्रधन्वा' पेटकी, 'कामदेवके नाशक' मध्यदेशकी, 'गणेशजीके पिता' नाभिकी, 'धूर्जटि' कटिकी, 'कुबेरमित्र' दोनों पिण्डलियोंकी, 'जगदीश्वर' दोनों घुटनोंकी, 'पुंगवकेतु' दोनों जाँघोंकी और 'सुरवन्द्यचरण' मेरे पैरोंकी सदैव रक्षा करें। 'महेश्वर' दिनके पहले प्रहरमें मेरी रक्षा करें। 'वामदेव' मध्यके प्रहरमें, 'त्र्यम्बक' तीसरे प्रहरमें और 'वृषभध्वज' दिनके अन्तवाले प्रहरमें मेरी रक्षा करें। 'शशिशेखर' रात्रिके आरम्भमें, 'गंगाधर' अर्धरात्रिमें, 'गौरीपति' रात्रिके अन्तमें और 'मृत्युंजय' सर्वकालमें मेरी रक्षा करें। 'शंकर' अन्तःस्थित अवस्थामें मेरी रक्षा करें। 'स्थाणु' बहिःस्थित रक्षा करें। 'पशुपति' बीचमें रक्षा करें और 'सदाशिव' सब ओर मेरी रक्षा करें। 'भुवनैकनाथ' खड़े होनेके समय, 'प्रमथनाथ' चलते समय, 'वेदान्तवेद्य' बैठे रहते समय और 'अविनाशी शिव' सोते समय मेरी रक्षा करें। 'नीलकण्ठ' रास्तेमें मेरी रक्षा करें। 'त्रिपुरारी' शैलादि दुर्गोंमें और उदारशक्ति 'मृगव्याध' वनवासादि महान् प्रवासोंमें मेरी रक्षा करें। जिनका प्रबल क्रोध कल्पोंका अन्त करनेमें अत्यन्त पटु है, जिनके प्रचण्ड अट्टहास्यसे ब्रह्माण्ड काँप उठता है, वे 'वीरभद्रजी' समुद्रके सदृश भयानक शत्रुसेनाके दुर्निवार महान् भयसे मेरी रक्षा करें। भगवान् 'मृड' मुझपर आततायीरूपसे आक्रमण करनेवालोंकी हजारों, दस हजारों, लाखों और करोड़ों पैदलों, घोड़ों, हाथियों और रथोंसे युक्त अति भीषण सैकड़ों अक्षौहिणी सेनाओंका अपनी घोर कुठार-धारसे छेदन करें। भगवान् 'त्रिपुरान्तक'का प्रलयाग्निके समान ज्वालाओंसे युक्त जलता हुआ त्रिशूल मेरे दस्युदलका विनाश कर दे और उनका पिनाक धनुष शार्दूल, सिंह, रीछ और भेड़िया आदि हिंस्र जन्तुओंको सन्त्रस्त करे। वे जगदीश्वर मेरे बुरे स्वप्न, बुरे शकुन, बुरी गति, मनकी दुष्ट भावना, दुर्भिक्ष, दुर्व्यसन, दुःसह अपयश, उत्पात, सन्ताप, विषभय, दुष्ट ग्रहोंके दुःख तथा समस्त रोगोंका नाश करें।'

''सम्पूर्ण तत्त्व जिनके स्वरूप हैं, जो सम्पूर्ण तत्त्वोंमें विचरण करनेवाले, समस्त लोकोंके एकमात्र कर्ता और सम्पूर्ण विश्वके एकमात्र भरण-पोषण करनेवाले हैं, जो अखिल विश्वके एक ही संहारकारी, सब लोकोंके एकमात्र गुरु, समस्त संसारके एक ही साक्षी, सम्पूर्ण वेदोंके गूढ़ तत्त्व, सबको वर देनेवाले, समस्त पापों और पीड़ाओंका नाश करनेवाले, सारे संसारको अभय देनेवाले, सब लोगोंके एकमात्र कल्याणकारी, चन्द्रमाका मुकुट धारण करनेवाले, अपने सनातन प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाले, निर्गुण, उपमारहित, निराकार, निराभास, निरामय, निष्प्रपंच, निष्कलंक, निर्द्वन्द्व, निःसंग, निर्मल, गतिशून्य, नित्यरूप, नित्यवैभवसे सम्पन्न, अनुपम ऐश्वर्यसे सुशोभित, आधारशून्य, नित्य, शुद्ध-बुद्ध, परिपूर्ण, सच्चिदानन्दघन, अद्वितीय तथा परम शान्त, प्रकाशमय, तेजस्वरूप हैं, उन भगवान् सदाशिवको नमस्कार है। हे महारुद्र! महारौद्र, भद्रावतार, दुःखदावाग्नि-विदारण, महाभैरव, कालभैरव कल्पान्तभैरव, कपालमालाधारी! हे खट्वांग, खड्ग, ढाल, पाश, अंकुश, डमरू, शूल, धनुष, बाण, गदा, शक्ति, भिन्दिपाल, तोमर, मुशल, मुद्गर, पट्टिश, परशु, परिघ, भुशुण्डि, शतघ्नी और चक्र आदि आयुधोंके द्वारा भयंकर हजार हाथोंवाली!

हे मुखदंष्ट्राकराल, विकटअट्टहास्य-विस्फारित-ब्रह्माण्डमण्डल, नागेन्द्रकुण्डल, नागेन्द्रवलय, नागेन्द्रचर्मधर, मृत्युंजय, त्र्यम्बक, त्रिपुरान्तक, विरूपाक्ष विश्वेश्वर, विश्वरूप, वृषवाहन, विधुभूषण और विश्वतोमुख! आपकी जय हो, जय हो। आप मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। मेरे महामृत्यु-भयको जला दीजिये, जला दीजिये। अपमृत्युका नाश कीजिये, नाश कीजिये। (बाहरी और भीतरी) रोग-भयको जड़से मिटा दीजिये, जड़से मिटा दीजिये। सर्पविष-भयको शान्त कीजिये, शान्त कीजिये। चोर-भयको मार डालिये, मार डालिये। मेरे (काम-क्रोध-लोभादि भीतरी तथा इन्द्रियोंके और शरीरके द्वारा होनेवाले पाप-कर्मरूपी बाहरी) शत्रुओंको उच्चाटन कीजिये, उच्चाटन कीजिये। शूलके द्वारा विदारण कीजिये, विदारण कीजिये। कुठारके द्वारा काट डालिये, काट डालिये। खड्गके द्वारा छेद डालिये, छेद डालिये। खट्वांगके द्वारा नाश कीजिये, नाश कीजिये। मुशलके द्वारा पीस डालिये, पीस डालिये और बाणोंके द्वारा बींध डालिये, बींध डालिये। आप मेरी हिंसा करनेवाले राक्षसोंको भय दिखाइये, भय दिखाइये। भूतोंका विदारण कीजिये, विदारण कीजिये। कूष्माण्ड, बेताल, मारियों और ब्रह्मराक्षसोंको सन्त्रस्त कीजिये, सन्त्रस्त कीजिये। मुझको अभय कीजिये, अभय कीजिये। मुझ डरे हुएको आश्वासन दीजिये, आश्वासन दीजिये। नरक-भयसे मेरा उद्धार कीजिये, उद्धार कीजिये। मुझे जीवन-दान दीजिये, जीवन-दान दीजिये। क्षुधा-तृष्णासे मुझको आप्यायित कीजिये, आप्यायित कीजिये। आपकी जय हो, जय हो। मुझ दुःखातुरको आनन्दित कीजिये, आनन्दित कीजिये। शिवकवचसे मुझे आच्छादित कीजिये, आच्छादित कीजिये। त्र्यम्बक! सदाशिव! आपको नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है।''

इस प्रकार मैंने तुम्हें वरदायक शिव-कवचका उपदेश किया है। यह सब बाधाओंको शान्त करनेवाला तथा समस्त प्राणियोंके लिये गोपनीय वस्तु है। जो मनुष्य इस उत्तम शिव-कवचको सदा धारण करता है, उसे भगवान् शंकरकी कृपासे कहीं भी भय नहीं प्राप्त होता। जिसकी आयु क्षीण हो गयी है, जो मरणासन्न है अथवा महान् रोगसे मृतप्राय हो रहा है, वह भी इस कवचको धारण करनेसे तत्काल सुखी होता है और दीर्घ आयु पाता है। वत्स! मेरे दिये हुए इस उत्तम शिव-कवचको तुम श्रद्धापूर्वक धारण करो, इससे तुम शीघ्र ही कल्याणके भागी होओगे।

ऐसा कहकर ऋषभ योगीने उस राजकुमारको बड़ी भारी आवाज करनेवाला एक शंख तथा शत्रुओंका नाश करनेवाला एक खड्ग दिया। फिर भस्मको अभिमन्त्रित करके राजकुमारके सब अंगोंमें लगाया और उसे बारह हजार हाथियोंका बल प्रदान किया। तदनन्तर योगीने कहा—'इस तलवारकी धार बड़ी पैनी है। तुम जिसको एक बार इसे दिखा दोगे, उस शत्रुकी तत्काल मृत्यु हो जायगी; तथा तुम्हारे जो शत्रु इस शंखकी ध्वनि सुनेंगे, वे मूर्च्छित होकर गिर जायँगे, अचेत होकर हथियार डाल देंगे। ये खड्ग और शंख दोनों ही दिव्य हैं। इनके प्रभावसे और भगवान् शिवके कवचकी महिमासे बारह हजार हाथियोंके समान महान् बलसे तथा भस्मधारणजनित शक्तिसे तुम शत्रु-सेनापर अवश्य विजय प्राप्त करोगे। पिताके सिंहासनको पाकर इस पृथ्वीकी रक्षा करोगे।' इस प्रकार मातासहित भद्रायुको भलीभाँति उपदेश करके उन दोनोंसे पूजित हो योगीबाबा इच्छानुसार चले गये।

इधर मगध देशके राजाने राजा वज्रबाहुको युद्धमें हराकर उनकी राजधानीको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, उनकी स्त्रियों और गोधन आदिको हर लिया और वज्रबाहुको भी बलपूर्वक बाँधकर रथपर बैठाकर वे शत्रुलोग अपने नगरको ले गये। इस प्रकार राष्ट्रके विनाशका भयंकर कोलाहल

होनेपर बलवान् राजकुमार भद्रायुने भी यह समाचार सुना कि शत्रुओंने मेरे पिताको बाँध लिया, मेरी माताओंको भी हर लिया और दशार्णदेशका राज्य नष्ट कर दिया है। यह सुनकर राजकुमार भद्रायु सिंहकी भाँति गर्जना करने लगा। उसने शंख और खड्ग ले लिये, कवच पहना और घोड़ेपर सवार हो वह शत्रुओंको जीतनेकी इच्छासे बड़े वेगसे उस स्थानपर आया, जहाँ मागधसेना भरी हुई थी। राजकुमार शीघ्र ही शत्रुओंकी सेनामें घुस गया और धनुषको कानतक खींचकर बाणोंकी वर्षा करने लगा। राजपुत्रके बाणोंकी मार खाकर शत्रु भी उसपर टूट पड़े और बड़े वेगसे भयंकर बाणोंद्वारा उसे घायल करने लगे। युद्धोन्मत्त शत्रुओंके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षासे आहत होकर भी धीर-वीर राजकुमार रणभूमिमें विचलित नहीं हुआ। वह शिवकवचसे पूर्णतः सुरक्षित था। मागध-सैनिकोंकी अस्त्र-वर्षाका सामना करते हुए ही वीरवर भद्रायुने शत्रुसेनामें प्रवेश करके बहुत-से रथों, हाथियों और पैदल सैनिकोंको शीघ्रतापूर्वक मार गिराया। रणभूमिमें ही एक रथीको सारथिसहित मारकर राजकुमारने उस रथपर अधिकार कर लिया और अपने मित्र वैश्यकुमारको सारथि बनाकर युद्धमें विचरण प्रारम्भ किया। ऐसा जान पड़ता था, मानो मृगोंके झुंडमें कोई सिंह भ्रमण कर रहा है। तब शत्रुसेनाके सभी बलवान् सेनापति अपना धनुष उठाये क्रोधमें भरकर केवल उसीकी ओर दौड़ पड़े। यह देख राजकुमार भद्रायु उन आक्रमणकारियोंके सामने अपना भयंकर खड्ग उठाये उन्हें अपना पराक्रम दिखलानेंके लिये आगे बढ़ा। चमकती हुई विकराल तलवारको देखते ही सब सेनापति सहसा उसके प्रभावसे प्रतिहत हो प्राणोंसे हाथ धो बैठे। उस रणभूमिमें जो-जो सैनिक उस चमचमाती हुई तलवारको देख लेते थे, उन सबकी तत्काल मृत्यु हो जाती थी। तदनन्तर भद्रायुने शत्रुओंकी सम्पूर्ण सेनाका नाश करनेके लिये अतिशय गर्जना करनेवाले उस महाशंखको बजाया। उस शंख-ध्वनिके सुनते ही सब शत्रु मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। अचेत होकर पृथ्वीपर पड़े हुए शस्त्रहीन सैनिकोंको मृततुल्य मानकर धर्मशास्त्रके ज्ञाता राजकुमारने उनका वध नहीं किया। अपने बँधे हुए पिताको बन्धनमुक्त करके शत्रुओंके वशमें पड़ी हुई अपनी माताओंको भी राजकुमारने छुड़ाया। इसी प्रकार मुख्य-मुख्य मन्त्रियों तथा अन्य पुरवासियोंकी स्त्रियों, बालकों और कन्याओंको गोधन आदिसहित शत्रुओंके भयसे मुक्त करके उन सबको धैर्य बँधाया। तत्पश्चात् राजकुमारने नगरके राजा, मन्त्री तथा मुख्य-मुख्य अधिकारियों और सेनापतियोंको कैद करके बलपूर्वक अपनी पुरीमें प्रवेश कराया। पहले युद्धमें जो लोग चारों दिशाओंमें भाग गये थे, वे सब विश्वस्त होकर लौट आये और राजकुमारका पराक्रम देखकर सबके मनमें बड़ा विस्मय हुआ। सब लोग सोचने लगे—'अहो! यह कोई योगसिद्ध अथव तपःसिद्ध पुरुष है, या कोई देवता है। क्योंकि इसने जो महान् कर्म किया है, वह मनुष्यकी शक्तिसे परे है। इस अनन्त शक्तिधारी वीरने नौ अक्षौहिणी सेनाको परास्त किया है।'

इसी समय भद्रायुके पिता राजा वज्रबाहु विस्मय और आह्लादमें डूबे हुए तथा नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहाते हुए उसके सामने आये। राजकुमारने प्रेमसे विह्वल होकर पिताको प्रणाम किया। तब राजाने पूछा—'महामते! तुम कौन हो, देवता हो या मनुष्य? अथवा कोई गन्धर्व तो नहीं हो? तुम्हारे माता-पिता कौन हैं, तुम्हारा देश कौन-सा है और तुम्हारा नाम क्या है? तुमने हमें और हमारी स्त्रियोंको किस कारणसे शत्रुओंके बन्धनसे छुड़ाया है? तुम्हारे इस ऋणसे बन्धु-बान्धवोंसमेत मैं हजार जन्मोंमें भी मुक्त नहीं हो सकता। इन पुत्रों, इन पत्नियों तथा इस राज्य और नगरको छोड़कर मेरा चित्त तुम्हींमें प्रेमपूर्वक बँधा हुआ है।'

**भद्रायु बोला**—राजन्! यह मेरा सखा वैश्यपुत्र है। इसका नाम सुनय है। मैं इसीके सुन्दर गृहमें अपनी माताके साथ निवास करता हूँ। मेरा नाम भद्रायु है। मैं अपना वृत्तान्त पीछे आपको बताऊँगा। इस समय आप स्त्रियों और मित्रजनोंके साथ नगरमें प्रवेश कीजिये और शत्रुओंका भय छोड़कर सुखसे रहिये। जबतक मैं पुनः लौटकर न आऊँ, तबतक इन शत्रुओंको न छोड़ियेगा।

ऐसा कहकर राजकुमार भद्रायु राजाकी आज्ञा ले अपने घरको आया और वहाँ उसने अपनी मातासे सब समाचार कह सुनाया। रानीने प्रसन्न होकर अपने पुत्रको हृदयसे लगा लिया और वैश्यराजने भी प्रेमसे राजकुमारका आलिंगन करके उसका विशेष सत्कार किया। इधर महाराज वज्रबाहु स्त्री, पुत्र और मन्त्रियोंके साथ अपने राजमहलमें प्रवेश करके बहुत प्रसन्न हुए। वह रात्रि व्यतीत होनेपर योगियोंमें श्रेष्ठ ऋषभ महारानी सीमन्तिनीके पति राजा चन्द्रांगदके समीप गये और भद्रायुकी उत्पत्ति तथा उसके अलौकिक पराक्रमका वर्णन करके एकान्तमें प्रेमपूर्वक बोले—'राजन्! तुम अपनी पुत्री कीर्तिमालिनीका विवाह राजकुमार भद्रायुके साथ करो। इस प्रकार निषधराजको समझाकर योगी ऋषभ चले गये।'

तदनन्तर राजा चन्द्रांगदने वैवाहिक मंगलके लिये उपयुक्त शुभ मुहूर्तमें भद्रायुको बुलाया और अपनी कीर्तिमालिनी नामक पुत्री उसे ब्याह दी। भद्रायुके पिता राजा वज्रबाहुको भी बुलाकर निषधराजने मन्त्रियोंसहित उनकी अगवानी की और नगरमें आनेपर उनका यथावत् सत्कार किया। वज्रबाहुने देखा शत्रुओंका नाश करनेवाला भद्रायु विवाह करके मेरे चरणोंमें प्रणाम कर रहा है। तब उन्होंने बड़े प्रेम और हर्षसे उठाकर उसे हृदयसे लगा लिया तथा निषधराजसे कहा—'चन्द्रांगदजी! आपका यह दामाद बड़ा बलवान् है। मैं इसके वंश और जन्मका यथार्थ परिचय सुनना चाहता हूँ।' उनके इस प्रकार पूछनेपर निषधराजने उनसे एकान्तमें मिलकर हँसते हुए कहा—'महाराज! यह आपका ही पुत्र है। शैशवकालमें यह रोगसे पीड़ित था और इसकी माता भी रोगसे व्याकुल रहती थी। अतः आपने मातासहित इस बालकको वनमें त्याग दिया था। बालकके साथ वनमें घूमती हुई वह असहाय नारी दैवयोगसे एक वैश्यके घरमें जा पहुँची। वैश्यने उसकी रक्षा की। फिर आपका यह बालक रोगसे अत्यन्त पीड़ित होकर मर गया। किंतु किसी योगिराजने आकर इसे पुनः जीवित कर दिया। योगिराजका नाम ऋषभ है। शिवयोगी ऋषभके ही प्रभावसे ये माँ, बेटे देवताओंके समान दिव्य रूपको प्राप्त हुए हैं। उन्हींके दिये हुए शत्रुनाशक खड्ग और शंखके द्वारा शिव-कवचसे सुरक्षित हो भद्रायुने युद्धमें शत्रुओंपर विजय पायी है। ये अकेले ही बारह हजार हाथियोंका बल धारण करते हैं। ये सब विद्याओंमें पारंगत हैं और अब मेरे जामाता भी हो गये हैं। अतः आप इन्हें और इनकी पतिव्रता माताको साथ लेकर अपने नगरको जाइये। इससे आप उत्तम कल्याणके भागी होंगे।'

ये सब बातें बताकर राजा चन्द्रांगद अपने रनिवासमें ठहरी हुई राजाकी ज्येष्ठ पत्नीको वहाँ ले आये। वे वस्त्र-आभूषणोंसे विभूषित थीं। उन्होंने वज्रबाहुको रानीसे मिलाया। यह सब वृत्तान्त सुनकर और देखकर राजा वज्रबाहु बहुत लज्जित हुए और मूर्खतावश उनके द्वारा जो अनुचित कर्म हो गया था, उसकी वे स्वयं ही निन्दा करने लगे। पत्नी और पुत्रके दर्शनसे उन्हें बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई। उनके सब अंगोंमें रोमांच हो आया और उन्होंने दोनोंको हृदयसे लगा लिया। इस प्रकार निषधराजसे पूजित और प्रशंसित होकर राजा वज्रबाहुने अपनी बड़ी रानीको, राजकुमार भद्रायुको और पुत्रवधू कीर्तिमालिनीको भी साथ ले परिवारसहित अपनी राजधानीको प्रस्थान किया।

वहाँ जाकर भद्रायुने समस्त पुरवासियोंको आनन्दित किया। समय आनेपर उसके पिता जब स्वर्गवासी हो गये, तब युवावस्थामें अद्भुत पराक्रमी भद्रायुने ही सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन किया और ब्रह्मर्षियोंके समीप मगधराज हेमरथसे मित्रता जोड़कर उन्हें अपने बन्धनसे मुक्त किया।

## भद्रायु तथा कीर्तिमालिनीके भक्तिभावकी परीक्षा लेकर भगवान् शिवका उन्हें वरदान देना

**सूतजी कहते हैं**—राजसिंहासन प्राप्त कर लेनेपर वीर राजा भद्रायुने किसी समय अपनी धर्मपत्नीके साथ रमणीय वनमें प्रवेश किया। वहाँ उन्होंने देखा, कुछ ही दूरपर एक ब्राह्मण पति-पत्नी चिल्लाते हुए भागे जाते हैं और कोई बाघ उनका पीछा कर रहा है। वे दोनों पति-पत्नी कह रहे थे—'महाराज! हा राजन्! हे करुणानिधे! हमारी रक्षा कीजिये,रक्षा कीजिये।' यह पुकार सुनकर राजाने अपना धनुष उठाया। इतनेमें ही वह व्याघ्र आ पहुँचा। उसने ब्राह्मणीको पकड़ लिया। वह 'हा नाथ! हा नाथ! हा प्राणवल्लभ! हा शम्भो! हा जगदीश्वर!' आदि कहकर विलाप करने लगी। व्याघ्र बड़ा भयानक था। उसने ज्यों ही ब्राह्मणीको पकड़ा, त्यों ही राजा भद्रायुने अपने तीखे बाणोंसे

उसके मर्ममें आघात किया। किंतु वह महाबली व्याघ्र उन बाणोंसे तनिक भी व्यथित न हो, ब्राह्मणीको बलपूर्वक खींचकर दूर निकल गया। अपनी पत्नीको व्याघ्रके पंजेमें पड़ी हुई देख ब्राह्मणको बड़ा दुःख हुआ। वह विलाप करने लगा—'हा प्रिये! हा कान्ते! हा पतिव्रते! मुझे यहाँ अकेला छोड़कर तुम परलोकमें कैसे चली गयी? तुमको छोड़कर मैं कैसे जीवित रह सकता हूँ। राजन्! तुम्हारे वे बड़े-बड़े अस्त्र-शस्त्र कहाँ हैं, जिनकी बड़ी प्रशंसा सुनी जाती थी? वह महान् धनुष अब क्या हो गया? तुम्हारा बारह हजार हाथियोंसे भी अधिक बल कहाँ है? तुम्हारे शंख, खड्ग तथा मन्त्रास्त्रविद्यासे क्या लाभ हुआ? दूसरोंको क्षीण होनेसे बचाना क्षत्रियका परम धर्म है। धर्मज्ञ राजा अपना धन और प्राण देकर भी शरणमें आये हुए दीन-दुःखियोंकी रक्षा करते हैं। जो पीड़ितोंकी प्राणरक्षा नहीं कर सकते, ऐसे लोगोंके जीवनकी अपेक्षा तो उनकी मृत्यु ही श्रेष्ठ है।'

इस प्रकार ब्राह्मणका विलाप और उसके मुखसे अपने पराक्रमकी निन्दा सुनकर राजाने शोकसे मन-ही-मन इस प्रकार विचार किया—'अहो! आज भाग्यके उलट-फेरसे मेरा पराक्रम नष्ट हो गया। मेरे धर्मका भी नाश हो गया। अतः अब मेरी सम्पदा, राज्य और आयुका भी निश्चय ही नाश हो जायगा।' यों विचारकर राजा भद्रायु ब्राह्मणके चरणोंमें गिर पड़े और

उसे धीरज बँधाते हुए बोले—'ब्रह्मन्! मेरा पराक्रम नष्ट हो गया है। मुझ क्षत्रियाधमपर आप कृपा कीजिये। महामते! शोक छोड़ दीजिये। मैं आपको मनोवांछित पदार्थ दूँगा। यह राज्य, यह रानी और मेरा यह शरीर सब कुछ आपके अधीन है। बोलिये आप क्या चाहते हैं?'

**ब्राह्मण बोले**—राजन्! अन्धेको दर्पणसे क्या काम? जो भिक्षा माँगकर जीवन-निर्वाह करता हो, वह बहुत-से घर लेकर क्या करेगा। जो मूर्ख है, उसे पुस्तकसे क्या काम तथा जिसके पास स्त्री नहीं है, वह धन लेकर क्या करेगा? मेरी पत्नी चली गयी, मैंने कभी काम-सुखका उपभोग नहीं किया। अतः कामभोगके लिये आप अपनी इस बड़ी रानीको मुझे दे दीजिये।

**राजाने कहा**—ब्रह्मन्! क्या यही तुम्हारा धर्म है? क्या तुम्हें गुरुने यही उपदेश किया है? क्या तुम नहीं जानते कि परायी स्त्रीका स्पर्श स्वर्ग एवं सुयशकी हानि करनेवाला है? परस्त्रीके उपभोगसे जो पाप कमाया जाता है, उसे सैकड़ों प्रायश्चित्तोंद्वारा भी धोया नहीं जा सकता।

**ब्राह्मण बोले**—राजन्! मैं अपनी तपस्यासे भयंकर ब्रह्महत्या और मदिरापान-जैसे पापका भी नाश कर डालूँगा। फिर परस्त्रीसंगम किस गिनतीमें है। अतः आप अपनी इस भार्याको मुझे अवश्य दे दीजिये। अन्यथा आप निश्चय ही नरकमें पड़ेंगे।

ब्राह्मणकी इस बातपर राजाने मन-ही-मन विचार किया कि ब्राह्मणके प्राणोंकी रक्षा न करनेसे महापाप होगा। अतः इससे बचनेके लिये पत्नीको दे डालना ही श्रेष्ठ है। इस श्रेष्ठ ब्राह्मणको अपनी पत्नी देकर मैं पापसे मुक्त हो शीघ्र ही अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा। मन-ही-मन ऐसा निश्चय करके राजाने आग जलायी और ब्राह्मणको बुलाकर उसके प्रति अपनी पत्नीको दे दिया। तत्पश्चात् स्नान करके पवित्र हो देवताओंको प्रणाम करके उन्होंने अग्निकी दो बार परिक्रमा की और एकाग्रचित्त होकर भगवान् शिवका ध्यान किया। इस प्रकार राजाको अग्निमें गिरनेके लिये उद्यत देख जगत्पति भगवान् विश्वनाथ सहसा वहाँ प्रकट हो गये। उनके पाँच मुँह थे। मस्तकपर चन्द्रकला आभूषणका काम दे रही थी। कुछ-कुछ पीले रंगकी जटा लटकी हुई थी। वे कोटि-कोटि सूर्योंके समान तेजस्वी थे। हाथोंमें त्रिशूल, खट्वांग, कुठार, ढाल, मृग, अभय, वरद और पिनाक धारण किये, बैलकी पीठपर बैठे हुए भगवान् नीलकण्ठको राजाने अपने आगे प्रत्यक्ष देखा। उनके दर्शनजनित आनन्दसे युक्त हो राजा भद्रायुने हाथ जोड़कर स्तवन किया।

**राजा बोले**—जिनका दूसरा कोई स्वामी नहीं है, जो अविकारी, प्रधान गुणोंसे युक्त और महान् हैं तथा स्वयं कारणरहित होकर कारणोंके भी कारण हैं, उन सच्चिदानन्दमय प्रशान्तस्वरूप देव परमशिवको मैं नमस्कार करता हूँ। आप सम्पूर्ण विश्वके साक्षी, इस जगत्के कर्ता, महान् तेजोमय तथा सबके हृदयमें अन्तर्यामी रूपसे स्थित हैं। इसीलिये विद्वान् पुरुष सदा आपकी खोज करते हैं और योगीजन अपनी चित्तवृत्तियोंको रोककर अनेक प्रकारके योग-साधनोंद्वारा आपकी आराधना करते हैं। जो लोग एकात्मताकी भावना करते हैं, उनके लिये आप एक हैं और जिनकी बुद्धिमें नानात्वकी प्रतीति होती है, उनके लिये आप ही अनेक रूपोंमें व्यक्त हुए हैं। आपका पद (स्वरूप) इन्द्रियोंसे परे, सबका साक्षी, आविर्भाव और तिरोभावकी लीलासे युक्त तथा मनकी पहुँचसे दूर है। आप मन और वाणीके लिये दुर्लभ हैं। आपमें मोहका सर्वथा अभाव है। आप परमात्मरूप हैं। मेरी वाणी केवल सत्त्वादि गुणोंमें स्थित और प्रकृतिमें विलीन होनेवाली है। अतः वह आपके दिव्य विग्रहकी स्तुति करनेमें कैसे

समर्थ हो सकती है? तथापि शरणागतोंका दुःख दूर करनेवाले आपके चरण-कमलोंका जो लोग भक्तिपूर्वक आश्रय लेते हैं, वे आपको प्राप्त होते हैं। अतः भयंकर भवरूपी दावानलसे पीड़ित हो मैं संसारभयकी शान्तिके लिये नित्य आपका भजन करता हूँ। देवताओंके भी देवता, कल्याणनिकेतन, भगवान् महादेवको नमस्कार है। सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले त्रिमूर्तिरूप आपको नमस्कार है। विश्वके आदिरूप और संसारके प्रथम साक्षी आपको नमस्कार है। सत्तामात्र तत्त्व आपका स्वरूप है, आपको नमस्कार है। आप ज्ञानानन्दघन हैं, आपको नमस्कार है। आप सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें निवास करनेवाले हैं। आपकी आत्मशक्ति सब क्षेत्रोंसे भिन्न है। आप ही अशक्त हैं और आप ही अतिशय शक्तिमान्‌के रूपमें आभासित होते हैं। आप भूमा परमेश्वरको नमस्कार है। आप नित्य, निराभास, सत्यज्ञानमय विशुद्ध अन्तरात्मा हैं, सबसे दूर और समस्त कर्मोंसे मुक्त हैं। आपको प्रणाम है। आप वेदान्तद्वारा जाननेयोग्य तथा वेदके मूलभागमें निवास करनेवाले हैं, आपको प्रणाम है। आपकी चेष्टाएँ (लीलाएँ) विवेकयुक्त एवं पवित्र होती हैं। आप त्रिगुणमयी वृत्तियोंसे सर्वथा दूर हैं, आपको नमस्कार है। आपका पराक्रम कल्याणमय है, आप कल्याणमय फल देनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। आप अनन्त, महान्, शान्त एवं शिवरूप हैं, आपको नमस्कार है। आप अघोर (सौम्य), अत्यन्त घोर और घोर पापराशिका विदारण करनेवाले हैं। संसारबन्धनके बीजोंको भून डालनेवाले सर्वश्रेष्ठ गुरु भगवान् भर्गको नमस्कार है। मोहरहित एवं निर्मल आत्मगुणोंवाले आपको नमस्कार है। जगदीश्वर! सनातन देव शंकर! विरूपाक्ष रुद्र! अविनाशी मृत्युंजय! मेरी रक्षा कीजिये। हे कल्याणमय चन्द्रशेखर! शान्तमूर्ति गौरीपते! सूर्य, चन्द्र एवं अग्निमय नेत्रोंवाले गंगाधर! अन्धकासुरका नाश करनेवाले पुण्यकीर्ति भूतनाथ! और कैलाश पर्वतपर निवास करनेवाले महादेव! आपको बारंबार नमस्कार है।

**राजाके इस प्रकार स्तुति करनेपर माता पार्वतीके साथ प्रसन्न हुए करुणानिधान महेश्वरने कहा**—राजन्! तुमने किसी अन्यका चिन्तन न करके जो सदा-सर्वदा मेरा पूजन किया है, तुम्हारी इस भक्तिके कारण और तुम्हारे द्वारा की हुई इस पवित्र स्तुतिको सुनकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। तुम्हारे भक्तिभावकी परीक्षाके लिये मैं स्वयं ब्राह्मण बनकर आया था। जिसे व्याघ्रने ग्रस लिया था, वह ब्राह्मणी और कोई नहीं, ये गिरिराजनन्दिनी उमादेवी ही थीं। तुम्हारे बाण मारनेसे भी जिसके शरीरको चोट नहीं पहुँची, वह व्याघ्र मायानिर्मित था। तुम्हारे धैर्यको देखनेके लिये ही मैंने तुम्हारी पत्नीको माँगा था। इस कीर्तिमालिनीकी और तुम्हारी भक्तिसे मैं सन्तुष्ट हूँ। तुम कोई दुर्लभ वर माँगो, मैं उसे दूँगा।

**राजा बोले**—देव! आप साक्षात् परमेश्वर हैं। आपने सांसारिक तापसे घिरे हुए मुझ अधमको जो प्रत्यक्ष दर्शन दिया है, यही मेरे लिये महान् वर है। देव! आप वरदाताओंमें श्रेष्ठ हैं। आपसे मैं दूसरा कोई वर नहीं माँगता। मेरी यही इच्छा है कि मैं, मेरी रानी, मेरे माता-पिता, पद्माकर वैश्य और उसके पुत्र सुनय—इन सबको आप अपना पार्श्ववर्ती सेवक बना लीजिये।

तत्पश्चात् रानी कीर्तिमालिनीने प्रणाम करके अपनी भक्तिसे भगवान् शंकरको प्रसन्न किया और यह उत्तम वर माँगा—'महादेव! मेरे पिता चन्द्रांगद और माता सीमन्तिनी—इन दोनोंको भी आपके समीप निवास प्राप्त हो।' भक्तवत्सल भगवान् गौरीपतिने प्रसन्न होकर 'एवमस्तु' कहा और उन दोनों पति-पत्नीको इच्छानुसार वर देकर वे क्षणभरमें अन्तर्धान हो गये। इधर राजाने

भगवान् शंकरका प्रसाद प्राप्त करके रानी कीर्तिमालिनीके साथ प्रिय विषयोंका उपभोग किया और दस हजार वर्षोंतक राज्य करनेके पश्चात् अपने पुत्रोंको राज्य देकर उन्होंने शिवजीके परम पदको प्राप्त किया। राजा और रानी दोनों ही भक्तिपूर्वक महादेवजीकी पूजा करके भगवान् शिवके धामको प्राप्त हुए। यह परम पवित्र, पापनाशक एवं अत्यन्त गोपनीय भगवान् शिवका विचित्र गुणानुवाद जो विद्वानोंको सुनाता है अथवा स्वयं भी शुद्धचित्त होकर पढ़ता है, वह इस लोकमें भोग-ऐश्वर्यको प्राप्तकर अन्तमें भगवान् शिवको प्राप्त होता है।

## भस्मकी महिमासे ब्रह्मराक्षसका उद्धार

**सूतजी कहते हैं**—वामदेव नामसे प्रसिद्ध एक महातपस्वी शिवयोगी हुए हैं, जो सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित, निर्गुण, शान्त, असंग, समदर्शी, आत्माराम, क्रोधको जीतनेवाले तथा गृह और गृहिणीसे हीन थे। सबके ऊपर दया करनेमें संलग्न रहनेवाले वे महात्मा एक दिन स्वेच्छानुसार घूमते-फिरते बड़े भयंकर क्रौंचारण्यमें जा पहुँचे। उस निर्जन वनमें कोई भूख-प्याससे व्याकुल अत्यन्त भयानक ब्रह्मराक्षस रहता था। वामदेवजीको देखकर उन्हें खा जानेके लिये वह राक्षस बड़े वेगसे उनकी ओर दौड़ा। उसे आते देख योगीश्वर वामदेव तनिक भी विचलित नहीं हुए। उस घोर ब्रह्मराक्षसने वेगसे दौड़कर उन्हें पकड़ लिया। पर वामदेवके अंगोंका स्पर्श होते ही उसकी सारी पापराशि तत्काल नष्ट हो गयी और उसे अपने पूर्वजन्मका स्मरण हो आया। जैसे चिन्तामणि (स्पर्शमणि)-का स्पर्श करके लोहा भी सुवर्ण हो जाता है, जैसे जम्बू नदीमें पड़ी हुई मिट्टी भी सोना हो जाती है, जैसे मानस-सरोवरमें आकर कौए भी हंस हो जाते हैं और जिस प्रकार एक बार भी अमृत पी लेनेपर मनुष्य अजर-अमर देवता हो जाता है, उसी प्रकार महात्मा पुरुष अपने दर्शन तथा स्पर्श आदिसे पापियोंको भी तत्काल पवित्र कर देते हैं। अतः सत्संग दुर्लभ है*। जो राक्षस पहले भूख-प्याससे विकल हो घोररूप धारण करके वनमें भटकता फिरता था, वही साधुके सम्पर्कसे पूर्णानन्दमय हो गया। उसने योगीके युगल-चरणारविन्दोंमें प्रणाम करके कहा—'महायोगिन्! मुझपर प्रसन्न होइये। करुणानिधे! प्रसन्न होइये। कहाँ सब प्राणियोंको भय देनेवाला मुझ-जैसा पापात्मा और कहाँ आप-जैसे दयालु महात्माका दर्शन!'

**वामदेवजी बोले**—भयानक राक्षसका रूप धारण करके इस वनमें विचरनेवाले तुम कौन हो और यहाँ किस लिये रहते हो?

**राक्षसने कहा**—इससे पचीसवें जन्म पूर्व मैं पवनराष्ट्रका रक्षक था। उस समय मेरा नाम दुर्जय था। मैं बड़ा पापी और स्वेच्छाचारी था। प्रतिदिन नयी-नयी स्त्रीका उपभोग करनेकी इच्छा रखता था। नित्य एक-एक स्त्रीको भोगकर छोड़ देता और उसे घरके भीतर रखकर अन्य स्त्रियोंका अपहरण करवाता था। मेरे द्वारा भोगी हुई वे स्त्रियाँ घरके भीतर बंद रहकर दिन-रात शोकमें डूबी रहती थीं। मेरे राज्यमें जितने ब्राह्मण थे, वे सब स्त्रियोंसहित भाग गये। मैं

* यथा चिन्तामणिं स्पृष्ट्वा लोहं काञ्चनतां व्रजेत्। यथा जम्बूनदीं प्राप्य मृत्तिका स्वर्णतां व्रजेत्॥
यथा मानसमभ्येत्य वायसा यान्ति हंसताम्। यथामृतं सकृत्पीत्वा नरो देवत्वमाप्नुयात्॥
तथैव हि महात्मानो दर्शनस्पर्शनादिभिः। सद्यः पुनन्त्यघोपेतान्सत्सङ्गो दुर्लभः कृतः॥
(स्क० पु०, ब्रा० ब्रह्मो० १५। १२—१४)

सधवा, विधवा, कुमारी तथा रजस्वला सभी तरहकी स्त्रियोंका हरण करके उनके साथ कुकर्म करता था। इस प्रकार दूषित विषयभोगोंमें आसक्त, मत्त एवं मदिरापानमें रत रहनेके कारण मुझे जवानीमें ही यक्ष्मा आदि बड़े-बड़े रोगोंने घेर लिया। मन्त्रियों और सेवकोंने भी मुझे त्याग दिया। अन्तमें अपने ही कुकर्मके कारण मैं मर गया। जो मनुष्य धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है, उसकी आयु नष्ट होती है, अयश बढ़ता है, भाग्य क्षीण होता है। वह अत्यन्त दुर्गतिमें पड़ता है तथा उसके पूर्वज पितर स्वर्गसे निश्चय ही गिर जाते हैं*। मृत्युके पश्चात् यमराजके दूत मुझे यमलोक ले गये। वहाँ मैं भयंकर नरककुण्डमें डाल दिया गया। उस कुण्डके भीतर यमदूतोंसे पीड़ित होकर मुझे तीस हजार वर्षोंतक रहना पड़ा। तदनन्तर बचे हुए पापके फलसे मैं निर्जन वनमें भूख-प्याससे विकल पिशाच हुआ। पिशाचयोनिमें मैंने एक सौ दिव्य वर्ष व्यतीत किये। फिर दूसरे जन्ममें व्याघ्र, तीसरेमें अजगर, चौथेमें भेड़िया, पाँचवेंमें सूअर, छठेमें गिरगिट, सातवेंमें कुत्ता, आठवेंमें सियार, नवेंमें गवय (नीलगाय), दसवेंमें मृग, ग्यारहवें जन्ममें वानर, बारहवेंमें गीध, तेरहवेंमें नेवला, चौदहवेंमें कौआ, पंद्रहवेंमें रीछ, सोलहवेंमें वनमुर्गा, सत्रहवेंमें गदहा, अठारहवेंमें बिलाव, उन्नीसवेंमें मेढक, बीसवेंमें कछुआ, इक्कीसवेंमें मछली, बाईसवेंमें चूहा, तेईसवेंमें उल्लू, चौबीसवेंमें जंगली हाथी और पचीसवें जन्ममें मैं ब्रह्मराक्षस हुआ। इस समय आपके शरीरके स्पर्शमात्रसे मेरी पूर्वजन्मोंकी स्मृति जाग उठी है। आपके संगसे मेरे मनमें वैराग्य एवं प्रसन्नता हुई है। महामते! ऐसा प्रभाव आपको कैसे प्राप्त हुआ?

**वामदेवजी बोले**—यह मेरे शरीरमें लगे हुए भस्मका महान् प्रभाव है। भगवान् शंकरके सिवा दूसरा कौन है, जो भस्मकी शक्तिको जानता हो। महादेवजीका जैसा माहात्म्य है, वैसा ही भस्मका भी है। भस्मके संसर्गसे तुम्हारी बुद्धि भी निर्मल हो गयी। अतः तुम भी श्रद्धासे पवित्र त्रिपुण्ड्र धारण करो।

महातपस्वी शिवयोगी वामदेवने इस प्रकार भस्मका माहात्म्य बतलाकर भस्मको अभिमन्त्रित करके उसे घोर ब्रह्मराक्षसको दिया। उससे ब्रह्मराक्षसने अपने ललाटमें त्रिपुण्ड्र धारण किया और उसके प्रभावसे वह तत्काल ब्रह्मराक्षस-शरीरका त्याग करके दिव्य स्वरूपसे सुशोभित होने लगा। उसने भक्तिपूर्वक गुरु वामदेवकी परिक्रमा की और दिव्य विमानपर बैठकर पुण्य-लोकको प्रस्थान किया। महायोगी वामदेव साक्षात् शिवकी ही भाँति पुनः संसारमें भ्रमण करने लगे।

## भस्मकी महिमा, शबरकी चिताभस्मद्वारा की हुई पूजासे शिवजीकी प्रसन्नता और उसकी जली हुई पत्नीका पुनः जीवित होना

**सूतजी कहते हैं**—श्रद्धा ही सम्पूर्ण धर्मोंके लिये अत्यन्त हितकर है। श्रद्धासे ही मनुष्योंको दोनों लोकोंमें सिद्धि प्राप्त होती है। श्रद्धासे भजन करनेवाले पुरुषको पत्थरकी मूर्ति भी फल देनेवाली होती है। श्रद्धा-भक्तिसे पूजा करनेपर अज्ञानी गुरु भी सिद्धिदायक हो जाता है। श्रद्धासे

* आयुर्विनश्यत्ययशो विवर्धते भाग्यं क्षयं यात्यतिदुर्गतिं व्रजेत्। स्वर्गाच्च्यवन्ते पितरः पुरातना धर्मव्यपेतस्य नरस्य निश्चितम्॥ (स्क० पु०, ब्रा० ब्रह्मो० १५। ३५)

जप किया हुआ मन्त्र अव्यवस्थित होनेपर भी फलदाता होता है। श्रद्धासे पूजा करनेपर देवता नीच पुरुषको भी फल देनेवाले होते हैं। अश्रद्धासे की हुई पूजा, दान, यज्ञ, तप और व्रत सभी निष्फल होते हैं, जैसे बाँझ वृक्षका फूल व्यर्थ होता है। जो सर्वत्र संशययुक्त, श्रद्धाहीन और अत्यन्त चपल होता है, वह परमार्थसे भ्रष्ट होकर संसार-बन्धनसे मुक्त नहीं हो पाता। मन्त्र, तीर्थ, ब्राह्मण, देवता, ज्योतिषी, ओषधि तथा गुरुमें जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसी सिद्धि प्राप्त होती है*।

इस विषयमें एक अत्यन्त अद्भुत उपाख्यान बतलाया जाता है, जिसके श्रवणसे सब मनुष्योंकी अश्रद्धा तत्काल दूर हो जाती है। पूर्वकालमें पांचाल देशके राजाके सिंहकेतु नामसे विख्यात एक पुत्र था, जो समस्त उत्तम गुणोंसे युक्त और सदा क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाला था। एक दिन महाबली सिंहकेतु कुछ सेवकोंको साथ लेकर शिकार खेलनेके लिये वनमें गया। राजकुमारका कोई सेवक, जो शबर (भील) कुलमें उत्पन्न हुआ था, शिकारकी खोजमें इधर-उधर घूम रहा था। उसने एक टूटा-फूटा, गिरा-पड़ा पुराना देवालय देखा। उसमें चबूतरेपर एक शिवलिंग पड़ा था, जो पीठ (जलेरी)-से टूटकर अलग हो गया था। वह शिवलिंग सीधा और सूक्ष्म था। शबरने उसे मूर्तिमान् सौभाग्यकी भाँति देखा। पूर्वकर्मसे प्रेरित होकर उसने उस शिवलिंगको शीघ्रतापूर्वक उठा लिया और बुद्धिमान् राजपुत्रको दिखाया—'प्रभो! देखिये, यह कैसा सुन्दर शिवलिंग है। मैंने इसे यहीं देखा है। मैं आदरपूर्वक इसकी पूजा करूँगा। आप मुझे पूजाकी विधि बता दें, जिससे मन्त्र न जाननेवाले मुझ-जैसे पुरुषोंके द्वारा भी की हुई पूजासे भगवान् शिव प्रसन्न हों।'

**निषादके इस प्रकार पूछनेपर परिहासकुशल राजकुमारने हँसकर कहा**—शिवलिंगको शुद्ध आसनपर स्थापित करके सदा संकल्पपूर्वक नूतन जलसे अभिषेक करे। शुभ गन्ध, अक्षत, वनके नये-नये पत्र, पुष्प तथा धूप-दीप आदिके द्वारा पूजन करे। चिताका भस्म चढ़ावे और अपने भोजन करनेयोग्य अन्नके द्वारा भगवान्‌को नैवेद्य लगावे। पुनः धूप-दीप आदि उपचारोंको अर्पित करे। यथायोग्य नृत्य, वाद्य और गीत आदिकी भी व्यवस्था करे। फिर नमस्कार करके विधि-पूर्वक भगवान्‌का प्रसाद ग्रहण करना चाहिये। यह मैंने तुम्हें शिवपूजनकी साधारण विधि बतलायी है।

अपने स्वामीके इस प्रकार उपदेश देनेपर चण्डक नामवाले शबरने उसे सादर शिरोधार्य किया और अपने घर आकर लिंगमूर्ति महेश्वरका प्रतिदिन पूजन प्रारम्भ किया। वह प्रतिदिन चिता-भस्मका उपहार भेंट करता था। अपने लिये जो-जो वस्तु प्रिय थी, वह सब गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि पहले भगवान् शिवको निवेदन करता। उसके बाद वह भगवत्प्रसादको स्वयं ग्रहण करता था। इस प्रकार वह पत्नीके साथ भक्तिपूर्वक महेश्वरकी पूजामें संलग्न रहा। इस

---

* श्रद्धैव सर्वधर्मस्य चातीव हितकारिणी। श्रद्धयैव नृणां सिद्धिर्जायते लोकयोर्द्वयोः॥
श्रद्धया भजतः पुंसः शिलापि फलदायिनी। मूर्खोऽपि पूजितो भक्त्या गुरुर्भवति सिद्धिदः॥
श्रद्धया पठितो मन्त्रस्त्वबद्धोऽपि फलप्रदः। श्रद्धया पूजितो देवो नीचस्यापि फलप्रदः॥
अश्रद्धया कृता पूजा दानं यज्ञस्तपो व्रतम्। सर्वं निष्फलतां याति पुष्पं वन्ध्यतरोरिव॥
सर्वत्र संशयाविष्टः श्रद्धाहीनोऽतिचञ्चलः। परमार्थात्परिभ्रष्टः संसृतेर्न हि मुच्यते॥
मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ। यादृशी भावना यत्र सिद्धिर्भवति तादृशी॥
(स्क० पु०, ब्रा० ब्रह्मो० १७। ३—८)

आराधनामें उसके कई वर्ष बीत गये। एक दिन वह शबर जब शिवपूजाके लिये बैठा, तब देखता है कि पात्रमें चिताका भस्म तनिक भी शेष नहीं है। तब वह तुरंत उठकर दूर-दूरतक चिताभस्म ढूँढ़ता हुआ घूम आया, किंतु कहीं भी उसे चिताभस्म नहीं मिला। अन्तमें वह थककर घर लौट आया और अपनी पत्नीको बुलाकर उसने कहा—'प्रिये! चिताभस्म तो मुझे नहीं मिला। बताओ, अब क्या करूँ? आज मुझ पापीके शिव-पूजनमें विघ्न पड़ गया। पूजाके बिना मैं क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकता।'

**पतिको इस प्रकार व्याकुल देख शबरकी स्त्रीने कहा**—नाथ! डरिये मत, मैं एक उपाय बताती हूँ। यह अपना घर बहुत दिनोंका पुराना हो गया है। मैं इसमें आग लगाकर उस अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगी। इससे आपके लिये बहुत-सा चिताभस्म तैयार हो जायगा।

**शबर बोला**—प्रिये! यह मानव-शरीर ही धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षका सबसे श्रेष्ठ साधन है। इस नवयौवन-सम्पन्न सुखोचित शरीरको क्यों त्याग रही हो?

**शबरकी स्त्रीने कहा**—जीवनकी सफलता इसीमें है कि दूसरोंके हितके लिये अपने प्राणोंका त्याग किया जाय। फिर साक्षात् शिवके लिये जो स्वयं प्राणत्याग करे, उसके लिये तो कहना ही क्या है? मैंने कौन-सी घोर तपस्या की है, जिससे भगवान् शिवकी प्रीतिके लिये प्रज्वलित अग्निमें अपने शरीरका त्याग करती हूँ।

अपनी पत्नीकी इस प्रकार स्थिरबुद्धि और शिवभक्ति देखकर दृढ़ संकल्पवाले शबरने 'तथास्तु' कहकर उसकी सराहना की। शबरीने स्वामीकी आज्ञा पाकर स्नानसे पवित्र हो अलंकार धारण किया और अपने घरमें आग लगाकर अग्निदेवकी भक्तिपूर्वक परिक्रमा करके अपने पतिदेव गुरुको नमस्कार और हृदयमें भगवान् सदाशिवका ध्यान करके अग्निमें प्रवेश करनेके लिये उद्यत हो हाथ जोड़कर इस प्रकार स्तवन किया—'हे देव! मेरी इन्द्रियाँ आपकी पूजाके लिये पुष्प हों, यह शरीर धूप एवं अगुरु हों, हृदय दीपक हो, प्राण हविष्यका काम दें और कर्मेन्द्रियाँ आपके लिये अक्षत होवें। इस समय यह जीव आपकी पूजाके फलको प्राप्त हो। मैं धनाधिपति कुबेरका पद नहीं चाहती, अविचल स्वर्गभूमिकी भी इच्छा नहीं रखती तथा ब्रह्माजीके पदकी भी अभिलाषा नहीं करती। बस, यही चाहती हूँ कि यदि फिर इस संसारमें मेरा जन्म हो, तो मैं प्रत्येक जन्ममें आपके चरणारविन्दोंके सुन्दर मकरन्दका पान करनेवाली भ्रमरी होऊँ। मेरे देवता! भले ही मेरे सैकड़ों जन्म हों, परंतु अज्ञानकी हेतुभूत माया मेरे चित्तमें प्रवेश न करे। किंचित् आधे क्षणके लिये भी मेरा हृदय आपके चरणकमलोंसे अलग न हो। महेश्वर! आपको नमस्कार है, नमस्कार है*।'

इस प्रकार देवेश्वर भगवान् शिवको प्रसन्न करके दृढ़ निश्चयवाली शबरी प्रज्वलित अग्निमें

---

* पुष्पाणि सन्तु तव देव ममेन्द्रियाणि धूपोऽगुरुर्वपुरिदं हृदयं प्रदीपः।
प्राणा हवींषि करणानि तवाक्षताश्च पूजाफलं व्रजतु साम्प्रतमेष जीवः॥
वाञ्छामि नाहमपि सर्वधनाधिपत्यं न स्वर्गभूमिमचलां न पदं विधातुः।
भूयो भवामि यदि जन्मनि जन्मनि स्यां त्वत्पादपङ्कजलसन्मकरन्दभृङ्गी॥
जन्मानि सन्तु मम देव शताधिकानि माया न मे विशतु चित्तममोघहेतुः।
किञ्चित्क्षणार्धमपि ते चरणारविन्दान्नापैतु मे हृदयमीश नमो नमस्ते॥

(स्क० पु०, ब्रा० ब्रह्मो० १७। ४३—४५)

प्रवेश कर गयी और क्षणभरमें जलकर भस्म हो गयी। फिर शबरने उस भस्मको लेकर जले हुए घरके समीप ही भगवान् शिवका पूजन किया। पूजनके अन्तमें उसने प्रसाद लेनेको नित्य आनेवाली अपनी प्रियतमाका स्मरण किया। स्मरण करते ही वह पहलेकी भाँति हाथ जोड़कर सामने खड़ी दिखायी दी। पत्नीको देखकर तथा जलकर भस्म हुए घरको भी पूर्ववत् स्थित पाकर शबर आश्चर्यचकित हो सोचने लगा—'अहो! अग्नि तो अपने तेजसे वस्तुको जलाती है, सूर्य केवल किरणोंसे तपाते हैं, राजा अपने दण्डके द्वारा अपराधीको दग्ध करता है और ब्राह्मण मनसे जला डालता है। मेरी पत्नी तो प्रत्यक्ष अग्निमें जल गयी थी। यह जीवित कैसे हो गयी? पता नहीं यह स्वप्न है अथवा भ्रममें डालनेवाली माया।' इस प्रकार विचार करते हुए शबरने अपनी स्त्रीसे पूछा—'प्रिये! तुम तो अग्निमें भस्म हो गयी थी, यहाँ कैसे आ गयी और यह जला हुआ घर फिर पहलेके ही समान खड़ा कैसे हो गया?'

**शबरीने कहा**—जब मैं घरमें आग लगाकर उसके भीतर प्रविष्ट हुई, तबसे अपने-आपकी मुझे कोई सुध न रही। न तो मैंने आग देखी है और न लेशमात्र भी तापका अनुभव किया है। जान पड़ता था, मानो मैं जलमें घुसी हूँ। मैं आधे क्षणतक गाढ़ निद्रामें सोयी-सी रही और अब क्षणभरमें जाग उठी हूँ। उठते ही मैंने देखा अपना घर जला हुआ नहीं है, पूर्ववत् सुस्थिर है। इस समय भगवान्‌की पूजाके अन्तमें प्रसाद लेनेके लिये आपके पास आयी हूँ।

इस प्रकार वे दोनों दम्पति प्रेमपूर्वक आपसमें वार्तालाप कर रहे थे, इतनेमें ही उनके आगे परम अद्भुत दिव्य विमान प्रकट हुआ। उसपर भगवान् शंकरके चार सेवक आगेकी ओर बैठे थे। उन्होंने दोनों निषाद-दम्पतिका हाथ पकड़कर उन्हें विमानपर बिठा लिया। शबर और शबरीको अपने शरीरका त्याग भी नहीं करना पड़ा। शिवदूतोंके हाथोंका स्पर्श प्राप्त होते ही निषाद-दम्पतिके वे ही शरीर तत्काल उन्हींके समान दिव्य हो गये। इसलिये समस्त पुण्यकर्मोंमें श्रद्धा ही करनी चाहिये, क्योंकि शबरने नीच होकर भी श्रद्धाके बलसे योगियोंकी गति प्राप्त की। सब वर्णके लोगोंसे उत्तम जन्म पानेसे क्या लाभ? सम्पूर्ण शास्त्रोंका विचार करनेवाली विद्यासे भी यदि श्रद्धा न हो, तो क्या लाभ है? जिसके चित्तमें सदा भगवान् शिवकी भक्ति बनी रहती है, उससे बढ़कर तीनों लोकोंमें कौन पुरुष धन्य है।

## उमामहेश्वरव्रतकी महिमा, इसके पालनसे शारदाको शिवलोककी प्राप्ति तथा सत्कथा-श्रवणका माहात्म्य और ब्राह्मखण्डकी समाप्ति

**सूतजी कहते हैं**—आनर्तदेशमें वेदरथ नामक एक ब्राह्मण थे। उनका जन्म उत्तम कुलमें हुआ था। वे स्त्री-पुत्रसे सम्पन्न और विद्वान् थे। ब्राह्मणके एक कन्या हुई, जिसका नाम शारदा रखा गया। वह रूप और शुभ लक्षणोंसे सुशोभित कन्या जब बारह वर्षकी हुई, तब उसे पद्मनाभ नामक एक प्रौढ़ ब्राह्मणने माँगा। पद्मनाभजीकी पत्नी मर गयी थी। वे बड़े धनी, शान्त और राजाके मित्र थे। पिताने उनकी याचना भंग होनेके भयसे अपनी कन्या उन्हें दे दी। दोपहरमें विवाह करके पद्मनाभजी ससुरालमें सायंकाल होनेपर सन्ध्योपासना करनेके लिये एक सरोवरके

तटपर गये। वहाँ विधिपूर्वक सन्ध्योपासन करके जब लौटने लगे, तब अन्धकारपूर्ण मार्गमें एक साँपने उन्हें काट लिया। इससे उनकी मृत्यु हो गयी। विवाह करनेके पश्चात् सहसा उनकी मृत्यु होनेपर भाई-बन्धु रोने और विलाप करने लगे। सास-श्वशुर और वह कन्या सभी शोकमें डूब गये। भाई-बन्धु मृतकका दाह-संस्कार करके अपने-अपने घर लौट गये। विधवा शारदा पिताके ही घरमें रह गयी।

एक दिन 'नैध्रुव नामवाले कोई अन्धे मुनि अपने शिष्यका हाथ पकड़े हुए शारदाके घरपर आये। मुनि बहुत वृद्ध हो गये थे। जिस समय वे घरपर पधारे, शारदाके भाई कहीं बाहर चले गये थे। अतः शारदा ही उनके समीप आयी और इस प्रकार बोली—'महाभाग! आपका स्वागत है, इस पीढ़ेपर बैठिये। आप मुनिनाथको मेरा नमस्कार है। आज्ञा दीजिये मैं आपका कौन-सा कार्य करूँ?' यों कहकर शारदाने बड़े भक्ति-भावसे मुनिके पैर धुलवाये और पंखेसे हवा करके उन्हें सन्तुष्ट किया। थके-माँदे मुनिको पीढ़ेपर बिठाकर उन्हें विधिपूर्वक स्नान कराया और जब वे देवपूजा करके सुखपूर्वक आसनपर बैठे, तब उन्हें आदरपूर्वक उत्तम अन्न भोजन कराया। भोजन करके तृप्त हो जब वे मुनि आनन्दसे परिपूर्ण हुए, तब अन्धमुनिने उस कन्याके लिये उत्तम आशीर्वाद दिया—'भद्रे! तुम पतिके साथ विहार करके सर्वगुणसम्पन्न श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त करो और संसारमें बड़ी भारी कीर्ति पाकर देवताओंके प्रसादकी अधिकारिणी बनो।'

**अन्धमुनिके द्वारा कहे हुए इस वचनको सुनकर शारदा बहुत विस्मित हुई और हाथ जोड़कर बोली**—ब्रह्मन्! आपका वचन सदा सत्य होता है, कभी झूठ नहीं होता। परंतु यह मुझ अभागिनीके लिये कैसे सफल होगा? मैं विधवा हूँ, आपके इन आशीर्वादोंकी पात्र कैसे हो सकूँगी।

**मुनि बोले**—शुभे! मुझ अन्धेने तुझे न देख सकनेके कारण तुम्हारे लिये जो कुछ कहा है, उसे मैं अवश्य सिद्ध करूँगा। तुम मेरी आज्ञाका पालन करो। यदि तुम उमा-महेश्वर नामक व्रत करोगी, तो उसके प्रभावसे शीघ्र ही कल्याण-भागिनी होओगी।

**शारदाने कहा**—ब्रह्मन्! आपके बताये हुए दुष्कर व्रतका भी मैं यत्नपूर्वक पालन करूँगी। मुझे वह व्रत और उसका विधान विस्तार-पूर्वक बताइये।

**मुनि बोले**—चैत्र अथवा मार्गशीर्ष मासके शुक्ल पक्षमें शुभ दिनको इस व्रतका प्रारम्भ करना चाहिये। अष्टमी, चतुर्दशी, अमावास्या अथवा पूर्णिमाको विधिपूर्वक संकल्प करके प्रातःकाल स्नान करे, देवताओं और पितरोंका तर्पण करके अपने घर आकर एक सुन्दर मण्डप बनावे, जो चँदोवे आदिसे अलंकृत हो। उसे फल, फूल, पल्लव और बन्दनवारोंसे सजावे। बीचमें पाँच प्रकारके रंगोंसे कमलका चिह्न अंकित करे। उसके मध्यभागमें धान्य अथवा चावलोंकी राशि करके उसके ऊपर कुशा रखे और उस कुशाके ऊपर जलपूर्ण कलश स्थापित करके उसके ऊपर रँगा हुआ वस्त्र रखे। वस्त्रके ऊपर सोनेकी दो प्रतिमाएँ (जो शिव-पार्वतीकी प्रतीक हैं) स्थापित करे। तत्पश्चात् भक्तिभावसे अपनी शक्तिके अनुसार विस्तारपूर्वक उनकी पूजा करे। पंचामृतसे स्नान कराकर फिर शुद्ध जलसे नहलावे। एकादश रुद्रमन्त्रका जप करके एक सौ आठ बार **'नमः शिवाय'** इस पंचाक्षरमन्त्रसे अभिमन्त्रित करे। फिर सिंहासनपर उन प्रतिमाओंको पधराकर पूजा करे। बुद्धिमान् पुरुष स्वयं धुले हुए श्वेत वस्त्र धारण करके शुद्ध आसनपर बैठे। पीठको अभिमन्त्रित करके प्राणायाम करे। भगवान् शिवके आगे हाथ जोड़कर यों संकल्प पढ़े—

'मेरे सैकड़ों जन्मोंमें जो भयंकर पाप संचित हुए हैं, उन सबका विनाश करनेके लिये मैं शिवकी पूजा प्रारम्भ करता हूँ। सौभाग्य, विजय, आरोग्य, धर्म और ऐश्वर्यकी वृद्धि तथा स्वर्ग एवं मोक्षकी सिद्धिके लिये मैं शिवजीकी पूजा करूँगा'—इस प्रकार संकल्प बोलकर मनुष्य एकाग्रतापूर्वक यथायोग्य अंगन्यास करके शिव और पार्वतीका ध्यान करे। अपने हृदय-कमलकी कर्णिकामें जगत्के माता-पिता शिव-पार्वतीका ध्यान करके तत्सम्बन्धी मन्त्रोंका जप करे। जपके पश्चात् बाह्य-पूजन प्रारम्भ करे। दोनों सुवर्ण-प्रतिमाओंमें शिव-पार्वतीका आवाहन करके उनके लिये आसन आदि दे। फिर निम्नांकित मन्त्रसे मन्त्रज्ञ पुरुष उन्हें अर्घ्य दे—

**नमस्ते पार्वतीनाथ त्रैलोक्यवरदर्षभ।**
**त्र्यम्बकेश महादेव गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥**
**नमस्ते देवदेवेशि प्रपन्नभयहारिणि।**
**अम्बिके वरदे देवि गृहाणार्घ्यं शिवप्रिये॥**

'तीनों लोकोंको वर देनेवाले देवताओंमें सबसे श्रेष्ठ पार्वतीनाथ! आपको नमस्कार है। त्र्यम्बकेश्वर महादेव! आपको नमस्कार है, यह अर्घ्य ग्रहण कीजिये। शरणागतोंका भय दूर करनेवाली देवदेवेश्वरी जगदम्बिके! वरदायिनी देवि! शिवप्रिये! आप यह अर्घ्य स्वीकार कीजिये।'

इस प्रकार तीन बार कहकर मनुष्य एकाग्रचित्त हो उन्हें अर्घ्य दे। फिर विधिपूर्वक गन्ध, पुष्प, अक्षत, धूप और दीप आदि उपचारोंको चढ़ावे। खीरके साथ घीमें तैयार किया हुआ नैवेद्य अर्पण करे। तत्पश्चात् मूलमन्त्रद्वारा एक सौ आठ बार हविष्यकी आहुति दे। फिर नैवेद्य हटाकर धूप, आरती करके ताम्बूल अर्पण करे और मनको एकाग्र करके नमस्कार करे। इस प्रकार उपचारसे पूजा करके ब्राह्मण-दम्पतिको भोजन करावे। इसी प्रकार सायंकालकी पूजा करके ब्राह्मणकी अनुमति ले रातमें मौनभावसे दूधमें तैयार किया हुआ हविष्य भोजन करे। इस प्रकार विद्वान् पुरुष एक वर्षतक दोनों पक्षोंमें इस व्रतका पालन करता रहे। वर्ष पूरा होनेपर व्रतका उद्यापन करे। शतरुद्रियका पाठ करते हुए दोनों प्रतिमाओंको जलसे स्नान करावे। आगमोक्त मन्त्रोंसे शिव-पार्वतीकी भलीभाँति पूजा करे। अन्तमें वस्त्र, सुवर्ण और प्रतिमासहित कलश सदाचारी आचार्यको देकर ब्राह्मणोंको भोजन करावे। उनका भी यथाशक्ति स्वागत-सत्कार करके उन्हें गौ, सुवर्ण और वस्त्र आदिकी दक्षिणा दे। तत्पश्चात् ब्राह्मणोंकी आज्ञा लेकर अपने इष्टमित्रों और बन्धु-बान्धवोंके साथ स्वयं भी भोजन करे। इस प्रकार जो भक्तिपूर्वक इस त्रिभुवनप्रसिद्ध व्रतका पालन करता है, वह अपनी इक्कीस पीढ़ियोंका उद्धार करके मनोवांछित भोगोंका उपभोग करता है। इन्द्र आदि लोकपालोंके दिव्य लोकोंमें रमण करता है और अन्तमें भगवान् शिवको ही प्राप्त होता है। शुभे! मेरे बताये हुए इस महाव्रतका तुम भी श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करो। इससे अत्यन्त दुर्लभ मनोरथको भी प्राप्त कर लोगी।

मुनीश्वर नैध्रुवके इस प्रकार आदेश देनेपर शारदाने विश्वासपूर्वक उनके वचनोंको ग्रहण किया। तत्पश्चात् उसके पिता, माता और भाई बाहरसे घरमें आये। उन्होंने देखा मुनि भोजन करके सुखपूर्वक बैठे हुए हैं। सबने सहसा आकर उन महात्माके चरणोंमें प्रणाम किया और स्वयं भी उनका पूजन किया। 'साध्वी शारदाने उस श्रेष्ठ मुनिका पूजन किया है और मुनिने उसे अनुग्रहपूर्वक व्रतका उपदेश दिया है'—यह सब सुनकर उसके भाई-बन्धुओंको बड़ा हर्ष हुआ। वे सब हाथ जोड़कर बोले—'मुने! आज आपके आगमनमात्रसे हम सब लोग धन्य हो गये। हमारा समस्त कुल पवित्र हो गया और यह घर भी सार्थक हो गया। आप हमारे घरके पास ही निवास करें और जो यह घरका मठ है, यह स्नान, पूजाके लिये बहुत उपयोगी है अतः इसीमें रहिये।' इस प्रकार प्रार्थना करनेपर उन मुनिश्रेष्ठने 'बहुत अच्छा' कहकर ब्राह्मणके उत्तम मठमें निवास किया।

इस प्रकार मुनिके समीप नियममें मन लगाकर उस महाव्रतका पालन करती हुई शारदाका एक वर्ष पूरा हो गया। वर्ष व्यतीत होनेपर उसने पिताके घरमें ही ब्राह्मण-भोजनपूर्वक भलीभाँति व्रतका उद्यापन किया। उन ब्राह्मणोंको यथायोग्य दक्षिणा देकर प्रणामपूर्वक विदा किया। माता-पिताने उसके इस कार्यकी बड़ी प्रशंसा की। शारदा उस दिन भी उपवास करके नियम-पालनपूर्वक महात्मा नैध्रुवके बताये हुए उत्तम मन्त्रका जप करती रही। तदनन्तर प्रदोषकाल आनेपर उसने भगवान् शंकरका पूजन किया और घरके पासवाले मठमें भगवान् शिवका ध्यान करती हुई साध्वी शारदा रातभर भगवान् शिवके समीप जागती रही। शारदाकी भक्ति और मुनिकी तपस्या एवं समाधिसे सन्तुष्ट होकर जगन्माता पार्वती उनके सामने प्रकट हुईं। उनके प्रकट होते ही अन्धे मुनिको दो नेत्र प्राप्त हो गये। अपने सम्मुख प्रकट हुई जगन्माता पार्वतीका दर्शन करके वे मुनि और वह ब्राह्मण-कन्या दोनों उनके चरणोंमें गिर पड़े। तब उन दोनोंको उठाकर पार्वतीदेवीने बड़े प्रेमसे कहा—'मुनिश्रेष्ठ! मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ। पापरहित पुत्री शारदा! तुम्हारे ऊपर भी मैं प्रसन्न हूँ। बोलो, तुम्हारी रुचिके अनुसार कौन-सा देवदुर्लभ वर प्रदान करूँ?'

**मुनि बोले**—देवि! यह 'शारदा' नामकी कन्या विधवा हो गयी है। मैंने अन्ध होनेके कारण इस बातको न जानकर इसकी सेवासे सन्तुष्ट हो यह आशीर्वाद दिया है कि 'तुम अपने पतिके साथ चिरकालतक विहार करके उत्तम पुत्र प्राप्त करो।' जगदम्बा! आप मेरे इस वचनको सत्य करें, आपको नमस्कार है।

**श्रीपार्वतीदेवीने कहा**—ब्रह्मन्! यह शारदा पूर्वजन्ममें एक द्राविड़ ब्राह्मणकी द्वितीय पत्नी थी। उस समय इसका नाम भामिनी था। भामिनी अपने पतिकी बड़ी प्यारी थी। अपनी रूपमाधुरीसे परम मनोहर दिखायी देनेवाली भामिनीने रूपवशीकरण आदि छलपूर्ण उपायोंसे पतिको अपने वशमें कर लिया। वह मोहग्रस्त ब्राह्मण अपनी छोटी पत्नीमें ही आसक्त होनेके कारण अपनी ज्येष्ठ एवं पतिव्रता पत्नीके पास कभी नहीं गया। पति-समागमसे वंचित होनेसे वह स्त्री पुत्रहीन रह गयी। इससे वह मन-ही-मन सदा सन्तप्त रहती थी और उसी दशामें समयानुसार उसकी मृत्यु हो गयी। भामिनीके घरके पास एक तरुण ब्राह्मण रहता था। वह इस सुन्दरीको देखकर मोहित हो गया था। एक दिन उसने कामसे आतुर होकर इसका हाथ पकड़ लिया। उस समय इसने क्रोधसे लाल आँखें करके उसे दूर

भगा दिया। वह दिन-रात इसीका चिन्तन करते-करते मृत्युको प्राप्त हुआ।

इसने स्वामीको मोहित करके जो उन्हें ज्येष्ठ पत्नीसे विमुख किया था, उसी पापसे यह इस जन्ममें विधवा हुई। जो स्त्रियाँ संसारमें पति-पत्नीमें वियोग कराती हैं, उन्हें इक्कीस जन्मोंतक बाल्यावस्थामें विधवा होना पड़ता है। और वह काममोहित ब्राह्मण जो परायी स्त्रीके विरहसे पीड़ित होकर मृत्युको प्राप्त हुआ था, उसने भी पाप ही किया था। अतः इस जन्ममें वह इसका पाणिग्रहणमात्र करके मृत्युको प्राप्त हुआ है। पूर्वजन्ममें जो इसका पति था, वह इस समय पाण्ड्यदेशमें एक श्रेष्ठ ब्राह्मणके रूपमें उत्पन्न हुआ है। उसके पास धन, सम्पत्ति, स्त्री तथा सुखभोगकी सामग्री सब कुछ है। यह शारदा अपने उसी पतिके साथ प्रत्येक रात्रिमें स्वप्नावस्थामें समागम करके जागरण कालकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ रतिसुखका अनुभव करे। स्वप्नावस्थामें पति-समागमसे यह कुछ ही समयमें वेद-वेदांगोंके पारंगत विद्वान् पुत्र प्राप्त कर लेगी। वे ब्राह्मणदेवता भी स्वप्नमें अपने साथ चिरसमागमसे इसके गर्भसे उत्पन्न हुए पुत्रको सदैव देखा करेंगे। महामुने! पूर्वजन्ममें इसने मेरी आराधना की है और इसीको वर देनेके लिये मैं प्रकट हुई हूँ।

**तदनन्तर महादेवी पार्वतीने शारदासे आदरपूर्वक कहा**—बेटी! तुम मेरी उत्तम बात सुनो। जब कभी भी किसी देशमें अपने स्वप्नमें देखे हुए पूर्वपतिको देखना, तब समझ लेना कि यही मेरे पुरातन पति हैं। वे ब्राह्मण भी तुम्हें देखकर पहचान लेंगे। उस समय तुम दोनोंमें वार्तालाप होगा। ऐसा अवसर आनेपर तुम अपने विद्वान् पुत्रको उन्हीं ब्राह्मणकी सेवामें समर्पित कर देना। उमा-महेश्वर-व्रतका जो श्रेष्ठ फल है, उसके अर्धभागको इस प्रकार उन्हींके हाथोंमें सौंप देना और तबसे उन्हींके अधीन होकर रहना। तुम दोनोंको स्वप्न-मिलनके सिवा कभी शारीरिक संग नहीं करना चाहिये। समय आनेपर वे श्रेष्ठ ब्राह्मण जब मृत्युको प्राप्त होंगे, तब उन्हींके साथ चिताकी अग्निमें प्रवेश करके तुम मेरे धामको प्राप्त होओगी।

ऐसा कहकर जगन्माता पार्वती अन्तर्धान हो गयीं। वह कन्या करुणामयी पार्वतीका वरदान पाकर बहुत प्रसन्न हुई। रात्रि व्यतीत होनेपर नूतन नेत्र पाये हुए धर्मज्ञ मुनिने उसके माता-पितासे एकान्तमें सब बात बतायी। तत्पश्चात् वे चले गये। इस प्रकार कुछ दिन बीतनेपर शारदाने स्वप्नमें पतिका समागम प्राप्त किया। पार्वतीदेवीके वरदानसे उसके गर्भ रह गया। उस विधवाको गर्भवती हुई सुनकर सब लोग व्यभिचारिणी कहकर उसे धिक्कार देने लगे। उसके मरे हुए पतिके जातिभाइयोंने जब यह असह्य बात सुनी, तब वे सब लोग शारदाके पिताके घर आये। गाँवके बड़े-बूढ़े पण्डित भी आये। सबने कुलके वृद्ध पुरुषोंके साथ बैठकर गोष्ठी की। लज्जासे नतमुख हुई गर्भवती शारदाको बुलाकर कुछ लोग बड़े क्रोधमें भरकर उसे डाँटने लगे। कुछ लोगोंने उसकी ओरसे मुँह फेर लिया। कुछ निर्दयी वृद्धोंने अपना निर्णय इस प्रकार व्यक्त किया—'यह पापबुद्धिवाली कन्या दोनों कुलोंका नाश करनेवाली है, इसके केश मुँड़वाकर नाक और कान काट दिये जायँ और इसे कुल और जातिसे बहिष्कृत करके गाँवसे बाहर निकाल दिया जाय।' यह सुनकर सब लोग ऐसा ही करनेको तैयार हो गये। इसी समय सबको आकाशवाणी सुनायी पड़ी—'इस कन्याने न तो कोई पाप किया है, न कुलमें कलंक लगाया है और न इसके पातिव्रत्यका भंग ही हुआ है। यह सदाचारपरायणा स्त्री है। इसके बाद जो लोग

भी इसे कुलटा या व्यभिचारिणी कहेंगे, उन पापमोहित मनुष्योंकी जिह्वा तत्काल विदीर्ण हो जायगी।'

इस प्रकार आकाशवाणी सुनकर उसके माता-पिता आदि सब लोगोंको बड़ा हर्ष हुआ। कुछ अविश्वासी मनुष्य बोल उठे—'यह आकाशवाणी झूठी है।' इतना कहते ही उनकी जिह्वा दो टूक हो गयी। फिर तो सब जाति-भाई, बन्धु-बान्धव, स्त्रियाँ और बड़े-बूढ़े 'साधु! साधु' कहकर शारदाकी प्रशंसा करने लगे। कुलकी स्त्रियाँ प्रसन्न हो गयीं। दूसरे लोग कहने लगे—'देवता झूठ नहीं बोलते। परंतु यह समझमें नहीं आता कि इसने कैसे गर्भ धारण किया?' इस प्रकार संशयमें पड़े हुए लोगोंको देखकर लोक-तत्त्वको जाननेवाले एक वृद्ध पुरुषने कहा—'यह जो कुछ देखने और सुननेमें आता है, वह सम्पूर्ण विश्व मायामय है। इस क्षणभंगुर संसारमें अकथनीय और असम्भव बातें भी मायासे होती रहती हैं। माया ईश्वरके अधीन है। अतः उस ईश्वरकी लीलाका रहस्य कौन जानता है? सत्यवती मछलीके पेटसे पैदा हुई और महिषासुर भैंसके गर्भसे उत्पन्न हुआ है। वसुदेवजीसे रोहिणीके गर्भसे पुत्रका जन्म हुआ। मुनिके शापसे साम्बके पेटसे मूसल पैदा हुआ और मुनियोंके मन्त्रबलसे राजा युवनाश्वके भी गर्भ रह गया था। इसी प्रकार यह कल्याणमयी सती शारदा भी अपने महान् व्रतके प्रभावसे गर्भवती हुई है, यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है। इस विषयमें स्त्रियाँ ही इसे एकान्तमें ले जाकर सच्ची बात पूछें?'

इस निश्चयके अनुसार स्त्रियोंने उसे एकान्तमें ले जाकर इस विषयमें पूछा। शारदाने उन स्त्रियोंसे अपना अत्यन्त अद्भुत वृत्तान्त पूर्णरूपसे कह सुनाया। यथार्थ बातका पता लगनेपर सब लोग उस सतीका आदर करके प्रसन्नचित्त हो अपने-अपने घरको गये। तदनन्तर शुभ समय आनेपर शुद्ध अन्तःकरणवाली शारदाने बालसूर्यके समान तेजस्वी बालकको जन्म दिया। वह कुमार बाल्यावस्थामें ही बहुत अधिक विद्या प्राप्त करके परम बुद्धिमान् हो गया। तत्पश्चात् गुरुने समयपर उसका उपनयन-संस्कार किया। वह लोकमनोहर बालक लोकमें शारदेय नामसे विख्यात हुआ। उसने आठवें वर्षकी आयुमें ऋग्वेद, नवें वर्षमें यजुर्वेद और दसवें वर्षमें सामवेदको लीलापूर्वक पढ़ डाला। तदनन्तर त्रिलोकपूजित शिवपर्व प्राप्त होनेपर सब देशके निवासी मनुष्य गोकर्णतीर्थमें जाने लगे। सती शारदा भी अपने पुत्रके साथ गोकर्णतीर्थमें गयी। वहाँ उसने अपने पूर्वजन्मके पतिको, जिनका स्वप्नमें सदा ही दर्शन किया था, आया हुआ देखा। वे ब्राह्मण बन्धुओंसे घिरे हुए थे। उन्हें देखकर शारदा प्रेममग्न हो गयी और उन्हींकी ओर दृष्टि लगाये खड़ी रही। ब्राह्मण भी रूप और लक्षणोंसे पहचानी हुई तथा स्वप्नमें सदा भोगी जानेवाली उस स्त्रीको और स्वप्नमें ही अपनेसे उत्पन्न हुए उस कुमारको भी देखकर आश्चर्यचकित हो उसके समीप आये और इस प्रकार बोले—'कल्याणी! तुम कौन हो, किसकी स्त्री हो, कौन तुम्हारा देश है और किसकी पुत्री हो?'

उनके द्वारा इस प्रकार पूछी जानेपर उस स्त्रीने बाल्यावस्थामें अपने विधवा होनेका सब वृत्तान्त कहा। तब ब्राह्मणने पुनः प्रश्न किया—'देवि! यह किसका पुत्र है? चन्द्रमाके समान सुन्दर इस बालकको तुमने कैसे गर्भमें धारण किया है?'

**शारदा बोली**—स्वामी! यह सब विद्याओंमें विशारद मेरा ही पुत्र है। मेरे ही नामपर इसको लोग 'शारदेय' कहते हैं।

**उसकी यह बात सुनकर श्रेष्ठ ब्राह्मण हँसकर बोले**—देवि! तुम्हारा पति तो पाणिग्रहणमात्र करके मर गया। फिर इस पुत्रका जन्म कैसे हुआ, इसका कारण बताओ।

**शारदा बोली**—महामते! परिहाससे कोई लाभ नहीं! आप मुझे जानते हैं और मैं आपको जानती हूँ। इस विषयमें हम दोनोंके मन ही प्रमाण है।

ऐसा कहकर उसने देवीके दिये हुए वरदान आदिकी बातें बतायीं और अपने व्रतके आधे भाग व्रतधारी कुमार शारदेयको उन्हें सौंप दिया। वे ब्राह्मण देवता बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कुमारको हृदयसे लगा लिया और शारदाके माता-पिताकी आज्ञा लेकर शारदा तथा उस बालकको अपने घर बुला ले गये। ब्राह्मणके घरमें शारदाने कई मास व्यतीत किये। जब उनकी मृत्यु हो गयी, तब उन्हींके साथ चिताकी अग्निमें प्रवेश करके उसने उनका अनुसरण किया। फिर भी दोनों दिव्य दम्पति होकर दिव्य विमानपर बैठे और भगवान् शिवके लोकमें चले गये। इस प्रकार मैंने यह पवित्र उपाख्यान सुनाया, जो पढ़ने और सुननेवालोंको भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाला है।

प्रतिदिन भगवत्सम्बन्धी उत्तम कथाके श्रवणसे मनुष्य परम गतिको प्राप्त होता है। पुण्यक्षेत्रमें निवास करनेसे चित्त शुद्ध होता है। उत्तम कथाके सुननेसे मनुष्य जिस प्रकार उत्तम गतिको पाता है, उस प्रकार अन्य उत्तम व्रतोंसे नहीं। अन्य व्रतोंसे उसकी बुद्धि वैसी उत्तम नहीं होती। जैसे बार-बार शोधन करनेपर दर्पण निर्मल होता है, वैसे ही सत्कथाश्रवणसे चित्त अधिकाधिक शुद्ध होता है। चित्त शुद्ध होनेपर मनुष्योंके द्वारा शिवजीका ध्यान सिद्ध होता है। ध्यानसे पुण्यात्मा पुरुष मन, वाणी और शरीरद्वारा संचित समस्त पापराशिको धोकर भगवान् शिवके परम पदको प्राप्त होते हैं। अतः जिन्होंने अपना पुण्य भगवान् शिवके चरणोंमें समर्पित कर दिया है, उन लोगोंके लिये भगवान् शिवकी उत्तम कथाका श्रवण-कीर्तन ही सर्वोत्तम साधन है; क्योंकि कथासे ध्यान सिद्ध होता है और ध्यानसे कैवल्यकी प्राप्ति होती है।

मुनिवरो! आप सब लोग बड़े सौभाग्यशाली हैं। आपका ही जीवन सफल है; क्योंकि आपलोग सदा भगवान् शिवके उत्तम कथामृत-रसका सेवन करते हैं। इस जीव-जगत्में वस्तुतः उन्हींका जन्म सफल है, जिनका मन सदा भगवान् विश्वनाथका ध्यान करता है, वाणी उनके गुण गाती है और दोनों कान उन्हींकी कथा सुनते हैं। ऐसे ही लोग इस संसार-सागरको पार करते हैं। नाना प्रकारके गुणविभेद जिनके स्वरूपका कभी स्पर्श नहीं करते, जो अपनी महिमासे जगत्के बाहर और भीतर समान रूपसे व्याप्त हैं, जो अपने ही प्रकाशमें विहार करते हैं और जो मन-वाणीकी वृत्तियोंसे बहुत दूर हैं, मैं उन अनन्तानन्दघनस्वरूप परम शिवकी शरण लेता हूँ।

**ब्रह्मोत्तर-खण्ड सम्पूर्ण।**

**ब्राह्म-खण्ड समाप्त**

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीउमामहेश्वराभ्यां नमः

# संक्षिप्त श्रीस्कन्दमहापुराण

## काशीखण्ड पूर्वार्ध

### मेरुगिरिसे स्पर्धा करके विन्ध्याचलका सूर्यके मार्गको रोकना और ब्रह्माजीके आदेशसे देवताओंका काशीमें अगस्त्य मुनिके समीप जाना

**तं मन्महे महेशानं महेशानप्रियार्भकम्।**
**गणेशानं करिगणेशानाननमनामयम्॥**

'जिनका मुख गजराजके मुखके समान है, जो महादेवजीकी प्रिया पार्वतीजीके लाड़ले पुत्र हैं, सबके महान् शासक हैं तथा रोग-शोकसे सर्वथा रहित हैं, उन श्रीगणेशजीका हम चिन्तन करते हैं।'

**भूमिष्ठापि न यात्र भूस्त्रिदिवतोऽप्युच्चैरधःस्थापि या**
**या बद्धा भुवि मुक्तिदा स्युरमृतं यस्यां मृता जन्तवः।**
**या नित्यं त्रिजगत्पवित्रतटिनी तीरे सुरैः सेव्यते**
**सा काशी त्रिपुरारिराजनगरी पायादपायाज्जगत्॥**

'जो पृथ्वीपर स्थित होकर भी यहाँ पृथ्वीसे सम्बन्ध नहीं रखती, जो पदमें स्वर्गसे ऊँची होनेपर भी नीचेके लोकमें स्थापित की गयी है, जो इस पांचभौतिक जगत्में आबद्ध (प्रविष्ट) होनेपर भी सबको मोक्ष देनेवाली है, जिसमें मरे हुए सभी जीव अमृतमय ब्रह्म हो जाते हैं, जो सदा तीनों लोकोंमें पवित्र नदी श्रीगंगाजीके तटपर सुशोभित है और देवता भी जिसका सेवन करते हैं, वह त्रिपुरारि महादेवजीकी राजधानी काशीपुरी सम्पूर्ण जगत्को विनाशसे बचावे।'

**श्रीव्यासदेवजी कहते हैं**—एक समय देवर्षि नारद नर्मदाके जलमें स्नान और श्रीॐकारनाथजीका भलीभाँति पूजन करके जब आगे गये, तब उन्हें वह विन्ध्यपर्वत दिखायी दिया, जो संसार-तापका संहार करनेवाली नर्मदा नदीके जलसे सुशोभित होता है। आकाशको अपने तेजसे प्रकाशित करनेवाले नारदजीको दूरसे आते देख गिरिराज विन्ध्यने उनकी अगवानी की। ब्रह्मकुमारके तेजसे उसका आन्तरिक अन्धकार दूर हो गया था। वह ब्रह्मतेजसे प्रभावित हो नारदजीके प्रति आदरका भाव रखकर उनका उत्तम सत्कार करनेको उद्यत हुआ। ऊपरसे कठोर होनेपर भी विन्ध्यगिरिने कोमलता धारण की। स्थावर-जंगम दोनों रूपोंमें उसकी कोमलता देखकर नारदजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। अपने घरपर आते हुए बड़े या छोटेको देखकर जो छोटा बनकर नम्रता धारण करता है, वही बड़ा है। आयुमें बड़ा होनेसे कोई बड़ा नहीं होता। विन्ध्यगिरिने पृथ्वीपर मस्तक रखकर महामुनि नारदजीको प्रणाम किया और नारदजी दोनों हाथोंसे उसे उठाकर आशीर्वादसे प्रसन्न करके उसके दिये हुए आसनपर बैठे। विन्ध्यने दही, शहद, घी, जलसे भीगे अक्षत, दूर्वा, तिल, कुश और पुष्प—इन आठ अंगोंसे युक्त अर्घ्य देकर मुनिका पूजन किया। फिर पैर दबाने आदि सेवाके द्वारा उसने थके हुए मुनिकी थकावट दूर की। जब मुनि विश्राम कर चुके, तब विन्ध्यगिरिने विनीतभावसे कहा—'मुने! आज आपके चरणोंकी धूलि पड़नेसे मेरे भीतरका रजोगुण तत्काल दूर हो गया और आपके अंगोंके तेजसे मेरे भीतरका तमोगुण भी सहसा नष्ट हो गया। देवर्षे! आज ही मेरे लिये

सुदिन है; पूर्वजन्मोंके किये हुए मेरे चिरसंचित पुण्य आज ही फलीभूत हुए हैं।'

विन्ध्यगिरिकी यह बात सुनकर नारदजी कुछ लंबी साँस खींचकर रह गये। तब सब पर्वतोंमें श्रेष्ठ विन्ध्यने कहा—'सब अर्थोंके ज्ञाता विप्रवर! मुझे अपने उच्छ्वासका कारण बताइये।' नारदजीने मन-ही-मन सोचा—बढ़ते हुए अभिमानका संसर्ग किसीके लिये बड़प्पनका कारण नहीं है। अतः आज विन्ध्यगिरिका बल देखना चाहिये। यों सोचकर मुनि बोले—'पर्वतोंमें श्रेष्ठ मेरुगिरि तुम्हारा अपमान करता है, इसीलिये मैंने लंबी साँस खींची है और यह बात तुमसे बता दी है। तुम्हारा कल्याण हो।' ऐसा कहकर नारद मुनि आकाशमार्गसे चले गये। मुनिके जाते ही विन्ध्याचल अत्यन्त उद्विग्नचित्त हो बड़ी चिन्तामें पड़ गया और मन-ही-मन कहने लगा—'जिसने शास्त्रका एक अंश भी नहीं पढ़ा है, उसके जीवनको धिक्कार है। जो उद्योगहीन है, उसके जीनेको भी धिक्कार है और जिसका मनोरथ पूर्ण नहीं होता, उसके जीनेको भी धिक्कार है। पुरानी बातोंको जाननेवाले विद्वान् पुरुषोंने यह ठीक ही कहा है कि चिन्ताका स्वरूप बड़ा भयंकर है। चिन्ता न तो औषधोंसे शान्त होती है और न दूसरे किसी उपायसे। चिन्तारूपी ज्वर मनुष्योंकी भूख, नींद और बल हर लेता है। रूप, उत्साह, बुद्धि, सम्पत्ति और जीवनको भी नष्ट कर देता है। ज्वर छः दिन व्यतीत होनेपर जीर्णज्वर कहलाता है, किंतु तीव्र चिन्ताज्वर प्रतिदिन नूतनताको प्राप्त होता है *। इसे दूर करनेमें धन्वन्तरि भी धन्यवादके पात्र नहीं हो पाते। इसमें चरक भी विचरण नहीं कर सकते। इतना ही नहीं, नासत्य (दोनों अश्विनीकुमार) भी इसमें सत्य नहीं हो पाते। क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, कैसे मेरुपर्वतको परास्त करूँ। यहाँ उचित और अनुचितके विचारका कोई उपयोग नहीं है, अथवा इन व्यर्थकी चिन्ताओंसे क्या लाभ? मैं विश्वकी उत्पत्ति करनेवाले भगवान् विश्वनाथकी ही शरणमें चलूँ। वे ही मुझे बुद्धि प्रदान करेंगे। ग्रह, नक्षत्र और तारागणोंके साथ भगवान् सूर्य मेरुको अधिक बलवान् मानकर प्रतिदिन उसकी प्रदक्षिणा करते हैं।'

ये ही सब बातें सोचकर विन्ध्यगिरि ऊँचाईकी ओर बढ़ने लगा, मानो वह अपने शिखरोंसे अनन्त आकाशका अन्त कर देना चाहता हो। गिरिराज विन्ध्य सूर्यका मार्ग रोककर ही कुछ स्वस्थ-सा हुआ।

तदनन्तर अन्धकारका नाश करनेवाले भगवान् सूर्य उदयाचल पर्वतपर उदित हुए और क्रमशः दक्षिण दिशाकी ओर चले। किंतु जब उनके घोड़े आगे न बढ़ सके, तब अनूरु (अरुण) नामक सारथिने सूचित किया—'भानुदेव! अभिमानसे ऊँचे उठा हुआ यह विन्ध्यपर्वत आकाशका मार्ग रोककर खड़ा है। आप जो मेरुगिरिकी प्रदक्षिणा किया करते हैं, उसके कारण यह गिरिराज मेरुसे लाग-डाँट रखता है।' अनूरुकी बात सुनकर भगवान् सूर्यने मन-ही-मन सोचा—'अहो! आकाशका मार्ग भी रोका जाता है। यह बड़े विस्मयकी बात है।' जो आधे पलमें दो हजार दो सौ दो योजन चलते हैं, वे सूर्य भी दैववश एक ही जगह अधिक समयतक रुके रह गये। इस प्रकार दीर्घकालतक प्रचण्डरश्मि सूर्यके ठहर जानेसे पूर्व और उत्तर दिशामें रहनेवाले जीव उनकी किरणोंके तापसे सन्तप्त हो बहुत व्याकुल हो गये। दक्षिण और पश्चिमके लोग लेटे हुए ही ग्रह तथा नक्षत्रोंसहित आकाशको देखने लगे। वे सोचते थे 'सूर्यका दर्शन नहीं हुआ, इसलिये यह दिन नहीं है और रात भी नहीं है; क्योंकि चन्द्रमा अस्त हो गये। आकाशके तारे भी लुप्त होते जाते हैं। अतः यह कौन-सा समय है, इसका पता नहीं चलता।' पृथ्वीपर स्वाहा (देवयज्ञ), स्वधा (पितृयज्ञ) और

* चिन्ताज्वरो मनुष्याणां क्षुधां निद्रां बलं हरेत्। रूपमुत्साहबुद्धिं श्रीं जीवितं च न संशयः॥
ज्वरो व्यतीते षडहे जीर्णज्वर इहोच्यते। असौ चिन्ताज्वरस्तीव्रः प्रत्यहं नवतां व्रजेत्॥
(स्क० पु०, का० पू० १। ६९-७०)

वषट्कार (ब्रह्मयज्ञ आदि) का सर्वथा अभाव हो गया। पंचयज्ञ कर्मका लोप हो जानेसे तीनों लोक काँप उठे। चित्रगुप्त आदि सब लोग सूर्यसे ही कालका ज्ञान रखते हैं। एकमात्र भगवान् सूर्य ही जगत्के सृष्टि, पालन और संहारके हेतु हैं। सूर्यदेवकी गति रुक जानेसे तीनों लोक स्तब्ध हो उठे। जो जहाँ था, वहीं चित्रलिखित-सा रह गया। एक ओर तो रातके अन्धेरेसे और दूसरी ओर सूर्यकी गरमीसे बहुत-से जीवोंकी मृत्यु हो गयी। समस्त चेतन जगत् भयसे इधर-उधर भागने लगा। यह अवस्था देख सब देवता ब्रह्माजीकी शरणमें गये और नाना प्रकारकी स्तुतियोंद्वारा उनके गुणगान करने लगे।

**देवता बोले**—परब्रह्मस्वरूप हिरण्यगर्भ ब्रह्माजीको नमस्कार है। जिनका स्वरूप किसीको ज्ञात नहीं है, जो कैवल्य एवं अमृतरूप हैं, जिन्हें इन्द्रियाँ और उनके अधिष्ठाता देवता भी नहीं जानते, जहाँ मनकी भी पहुँच नहीं है और जहाँ वाणीका भी प्रस्तार नहीं हो पाता, उन सच्चिदानन्दमय परमात्माको नमस्कार है। योगीजन अविचलभावसे समाधिमें स्थित हो ध्यानके द्वारा अपने हृदयाकाशमें जिनके ज्योतिर्मय स्वरूपका साक्षात्कार करते हैं, उन श्रीब्रह्माजीको नमस्कार है। जो कालसे परे होकर भी कालस्वरूप हैं, स्वेच्छा (अथवा अपने भक्तोंकी इच्छा)से पुरुषरूप धारण करते हैं, सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण जिनके स्वरूप हैं तथा गुणोंकी साम्यावस्थारूप प्रकृति भी जिनका ही रूप है, उन ब्रह्मा, विष्णु, शिवरूप परमेश्वरको नमस्कार है। प्रभो! वेद आपके निःश्वास हैं, सम्पूर्ण विश्व आपके एक अंशमें स्थित है, द्युलोक आपके मस्तकसे प्रकट हुआ है, आपकी नाभिसे अन्तरिक्ष लोकका आविर्भाव हुआ है और वनस्पति आपके लोम हैं। भगवन्! चन्द्रमा आपके मनसे और सूर्य आपके नेत्रसे उत्पन्न हुए हैं। देव! आप ही सब कुछ हैं, आपमें ही सबकी स्थिति है, आप परमेश्वरसे यह सम्पूर्ण जगत् भलीभाँति व्याप्त है, आपको बारंबार नमस्कार है।

इस प्रकार ब्रह्माजीकी स्तुति करके सब देवता दण्डकी भाँति पृथ्वीपर पड़ गये। तब ब्रह्माजीने उनसे इस प्रकार कहा—'देवताओ! मैं तुम्हारी स्तुतिसे सन्तुष्ट हूँ, उठो और इच्छानुसार वर माँगो।' देवतालोग जब प्रणाम करके खड़े हुए, तब ब्रह्माजीने उनसे पुनः इस प्रकार कहा—'विन्ध्याचल मेरु पर्वतसे डाह करता है, इसीलिये उसने सूर्यका मार्ग रोक रखा है। इसी संकटको टालनेके लिये तुमलोग मेरे पास आये हो। अतः इसके लिये मैं तुम्हें एक उत्तम उपाय बतलाता हूँ। मित्रावरुणके पुत्र महर्षि अगस्त्य बड़े भारी तपस्वी हैं। सबको मुक्ति देनेवाले अविमुक्त नामक महाक्षेत्र (काशी) में, जहाँ तारकमन्त्रका उपदेश देनेके लिये साक्षात् विश्वनाथजी सदा विद्यमान रहते हैं, वे अगस्त्य मुनि भगवान् विश्वनाथमें मन लगाकर बड़ी भारी तपस्या कर रहे हैं। वहाँ जाकर उन्हींसे इस कार्यके लिये याचना करो। वे तुम्हारा कार्य अवश्य सिद्ध करेंगे।'

ऐसा कहकर ब्रह्माजी अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर सब देवता आपसमें कहने लगे—'अहो! हम परम धन्य हैं, क्योंकि इसी कार्यके प्रसंगसे हमें मंगलमयी काशी और कल्याणमय काशीपतिका भी दर्शन प्राप्त होगा। हमने ब्रह्माजीके मुखसे जो काशीकी चर्चा सुनी है, उसके श्रवणजनित पुण्यसे आज काशीमें पहुँचेंगे।' ऐसा कहते हुए सब देवता प्रसन्नमुख हो काशीपुरीमें आये।

महर्षियोंसहित देवताओंने काशीपुरीमें पहुँचकर पहले मणिकर्णिका तीर्थमें विधिपूर्वक वस्त्रसहित स्नान और सन्ध्योपासन आदि पुण्यकर्म किया। तत्पश्चात् विश्वनाथजीका दर्शन, नमस्कार और स्तवन करके वे परोपकारके लिये उस स्थानपर गये, जहाँ अगस्त्य मुनि रहते थे। वे मुनि अपने नामसे शिवलिंगकी स्थापना करके उसके सामने कुण्ड निर्माण कराकर वहाँ शतरुद्रिय सूक्तका स्थिरचित्तसे जप करते थे। उनको दूरसे ही देखकर देवता परस्पर इस प्रकार कहने लगे—'अहो! इस आश्रमके चारों ओर हिंसक जीव भी सात्त्विक

दिखायी देते हैं। अपने स्वाभाविक वैरको भी त्यागकर प्रेमपूर्वक रहते हैं।' किंतु जो मनुष्य पापसे मोहित होकर मांस पकाता है, वह उस पशुके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षोंतक नरकमें निवास करता है। जो दूषित बुद्धिवाले मनुष्य पराये प्राणोंसे अपने प्राणोंका पोषण करते हैं, वे एक कल्पतक नरक भोगकर इस संसारमें जन्म लेते और उन्हीं प्राणियोंके खाद्य बनते हैं। भूखसे प्राण निकलकर कण्ठतक आ गये हों तो भी मांस नहीं खाना चाहिये *। ये हिंसक जीव भी मनुष्योंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, जो अगस्त्यजीकी सेवासे ऐसी स्थितिको प्राप्त हो गये हैं कि हिंसाकी ओर इनका मन जाता ही नहीं। कहाँ मांस-भक्षण और कहाँ भगवान् शिवकी भक्ति। जो मद्य और मांसमें आसक्त हैं, उनसे भगवान् शंकर बहुत दूर रहते हैं। भगवान् शिवके प्रसादके बिना भ्रमका कहीं नाश नहीं होता। इस प्रकार आश्रमके पास विचरनेवाले पशु-पक्षियोंको भी मुनियोंके समान बर्ताव करते देख देवताओंने यह समझा कि यह इस पुण्यक्षेत्रका प्रभाव है; क्योंकि भगवान् विश्वनाथ इस क्षेत्रमें रहनेवाले पशु-पक्षियोंको भी मृत्युकालमें तारक मन्त्रका उपदेश देकर मुक्त करेंगे। इस तरह आश्चर्यमें पड़े हुए देवता ज्यों-ही मुनिके आश्रमपर पहुँचे त्यों-ही वहाँके पक्षिसमूहको देखकर अपने मनमें बहुत प्रसन्न हुए। पढ़ती हुई मैना तोतेको सार तत्त्वका उपदेश देती हुई कह रही थी—'हे शुक! इस अपार संसार-सागरसे पार उतारनेवाले केवल भगवान् शिव हैं।' कोयल कोमल वाणीमें अपनी कूक सुनाती हुई कहती थी—'काशी-निवासी प्राणियोंको कलियुग और यमराज अपना ग्रास नहीं बनाता।' वहाँके पशुओं और पक्षियोंकी ऐसी चेष्टा देखकर देवता आपसमें कहने लगे—ये काशी-निवासी पशु-पक्षी और मृग धन्य हैं, जिनकी इस संसारमें पुनरावृत्ति नहीं होगी। देवता ऐसे भाग्यशाली नहीं हैं; क्योंकि उनका पुनर्जन्मसे पिण्ड नहीं छूटता।

ऐसा कहते हुए देवताओंने मुनिकी पर्णकुटी देखी, जो होम एवं धूपकी सुगन्धसे सुवासित तथा बहुत-से ब्रह्मचारी विद्यार्थियोंसे सुशोभित थी। पतिव्रताशिरोमणि लोपामुद्राके चरण-चिह्नोंसे

चिह्नित पर्णकुटीके आँगनको देखकर सब देवताओंने नमस्कार किया। महर्षि अगस्त्य समाधिसे उठकर कुशासनपर बैठे थे। उनका दर्शन करके इन्द्रादि देवता प्रसन्नमुख हो उच्चस्वरसे बोले—'जय हो, जय हो।' मुनि उठकर खड़े हो गये और उन सबको यथायोग्य आसनपर बैठाया। आशीर्वादसे उनका अभिनन्दन किया और वहाँ आनेका कारण पूछा।

~~o~~

* यः स्वार्थं मांसपचनं कुरुते पापमोहितः। यावन्त्यस्य तु रोमाणि तावत्स नरके वसेत्॥
परप्राणैस्तु ये प्राणान् स्वान् पुष्णन्ति हि दुर्धियः। आकल्पं नरकान् भुक्त्वा ते भुज्यन्तेऽत्र तैः पुनः॥
जातु मांसं न भोक्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि॥

(स्क० पु०, का० पू० ३। ५१—५३)

# बृहस्पतिजीके मुखसे लोपामुद्राके पातिव्रतधर्मका वर्णन

अगस्त्यजीका वचन सुनकर सब देवता बृहस्पतिजीके मुखकी ओर देखने लगे। तब बृहस्पतिजीने कहा—'महाभाग अगस्त्यजी! आप धन्य हैं, कृतकृत्य हैं और महात्मा पुरुषोंके लिये भी माननीय हैं। आपमें तपस्याकी सम्पत्ति है, आपमें स्थिर ब्रह्मतेज है, आपमें पुण्यकी उत्कृष्ट शोभा है, आपमें उदारता है और आपमें विवेकशील मन है। आपकी सहधर्मिणी ये कल्याणमयी लोपामुद्रा बड़ी पतिव्रता हैं, आपके शरीरकी छायाके तुल्य हैं। इनकी चर्चा भी पुण्य देनेवाली है। मुने! ये आपके भोजन कर लेनेपर ही भोजन करतीं, आपके खड़े होनेपर स्वयं भी खड़ी रहतीं, आपके सो जानेपर सोतीं और आपसे पहले जाग उठती हैं। ये कभी अपने-आपको आपके सामने अलंकारहीन अवस्थामें नहीं उपस्थित करतीं। जब आप किसी कार्यसे कहीं परदेशमें जाते हैं, तब ये एक भी अलंकार नहीं धारण करतीं। आपकी आयु बढ़े—इस उद्देश्यसे ये कभी आपका नाम नहीं उच्चारण करती हैं। दूसरे पुरुषका नाम भी ये कभी अपनी जीभपर नहीं लातीं। ये कड़वी बात सह लेती हैं, किंतु स्वयं बदलेमें कोई कटु वचन मुँहसे नहीं निकालतीं। आपके द्वारा ताड़ना पाकर भी प्रसन्न ही होती हैं। जब आप इनसे कहते हैं—'प्रिये! अमुक कार्य करो' तब ये उत्तर देती हैं—'स्वामिन्! अभी किया। आप समझ लें वह काम पूरा हो गया।' आपके बुलानेपर ये घरके आवश्यक काम छोड़कर भी तुरंत चली आती हैं और कहती हैं—'प्राणनाथ! दासीको किसलिये बुलाया है। आज्ञा देकर मुझे अपने प्रसादकी भागिनी बनाइये।' ये दरवाजेपर देरतक नहीं खड़ी होतीं, द्वारपर बैठती और सोती भी नहीं हैं। आपकी आज्ञाके बिना कोई वस्तु किसीको नहीं देतीं, आप न कहें तब भी ये स्वयं ही आपके लिये पूजाका सब सामान जुटा देती हैं। नियमके लिये जल, कुशा, पत्र-पुष्प और अक्षत आदि प्रस्तुत करती हैं। सेवाके लिये अवसर देखती रहती हैं और जिस समय जो वस्तु आवश्यक अथवा उचित है, वह सब बिना किसी उद्वेगके अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक उपस्थित करती हैं। पतिके भोजन करनेके बाद बचा हुआ अन्न और फल आदि खाती और पतिकी दी हुई प्रत्येक वस्तुको महाप्रसाद कहकर शिरोधार्य करती हैं। देवता, पितर और अतिथियोंको तथा सेवकों, गौओं और याचकोंको भी उनका भाग अर्पण किये बिना ये कभी भोजन नहीं करतीं। वस्त्र, आभूषण आदि सामग्रियोंको स्वच्छ एवं सुरक्षित रखती हैं। ये गृहकार्यमें कुशल हैं, सदा प्रसन्न रहती हैं, फजूल खर्च नहीं करतीं, एवं आपकी आज्ञा लिये बिना ये कोई उपवास और व्रत आदि नहीं करती हैं। जनसमूहके द्वारा मनाये जानेवाले उत्सवोंका दर्शन दूरसे ही त्याग देती हैं। तीर्थयात्रा आदि तथा विवाहोत्सव-दर्शन आदि कार्योंके लिये भी ये कभी नहीं जातीं। पति सुखसे सोये हों, आरामसे बैठे हों अथवा अपनी मौजसे कहीं रम रहे हों, तो उस समय कोई अन्तरंग कार्य आ जानेपर भी उन्हें कभी नहीं उठातीं। रजस्वला होनेपर ये तीन राततक अपना मुँह पतिको नही दिखातीं। जबतक स्नान करके शुद्ध न हो जायँ, तबतक अपनी बात भी पतिके कानोंमें नहीं पड़ने देतीं। भलीभाँति स्नान कर लेनेपर पहले पतिका ही मुँह देखती हैं और किसीका नहीं। अथवा यदि पतिदेव उपस्थित न हों तो मन-ही-मन उनका ध्यान करके सूर्यदेवका दर्शन करती हैं। पतिकी आयुवृद्धि चाहती हुई पतिव्रता स्त्री अपने शरीरसे हल्दी, रोली, सिन्दूर, काजल, चोली, पान, शुभ मांगलिक आभूषण कभी दूर न करे। केशोंका सँवारना, वेणी गूँथना तथा हाथ और कान आदिके आभूषणोंको धारण करना कभी बंद न करे। अपने स्वामीसे द्वेष

रखनेवाली स्त्रीसे ये कभी बाततक नहीं करती हैं। ये कहीं भी अकेली नही रहतीं और न कभी नंगी होकर स्नान करती हैं। सती स्त्रीको ओखली, मूसल, झाड़ू, सिलौट, चक्की और चौकठपर कभी नहीं बैठना चाहिये। पतिव्रता स्त्री कभी धृष्टताका परिचय न दे। जहाँ-जहाँ पतिकी रुचि हो, वहीं सती स्त्री सदा प्रेम रखे। यही स्त्रियोंका उत्तम व्रत, यही उनका परम धर्म और यही एकमात्र देवपूजा है कि वे पतिकी आज्ञाका उल्लंघन न करें। पति नपुंसक, दुर्दशाग्रस्त, रोगी, बूढ़ा, अच्छी स्थितिवाला अथवा बुरी परिस्थितिमें पड़ा हुआ हो, तो भी पतिका कभी त्याग न करे। पतिके हर्षमें हर्ष माने और पतिके मुखपर विषादकी छाया देखकर स्वयं भी विषादग्रस्त हो। पुण्यात्मा सती सम्पत्ति और विपत्तिमें भी पतिके साथ एकरूप होकर रहे। पतिको चिन्ता और परिश्रममें न डाले। तीर्थस्नानकी इच्छा रखनेवाली स्त्री अपने पतिका चरणोदक पीये; क्योंकि उसके लिये केवल पति ही भगवान् शिव और विष्णुसे बढ़कर है। जो पतिकी आज्ञाका उल्लंघन करके व्रत और उपवास आदिके नियम पालती है, वह अपने पतिकी आयु हर लेती है और मरनेपर नरकमें गिरती है। जो स्वयं प्रसन्न रहकर पतिको प्रसन्न रखती है, उसने तीनों लोकोंको प्रसन्न कर लिया है। पिता थोड़ा सुख देता है, भाई थोड़ा सुख देता है और पुत्र भी थोड़ा ही सुख देता है, अपरिमित सुख देनेवाला तो पति ही है। अतः उसकी सदा पूजा करनी चाहिये। पति ही देवता है, पति ही गुरु है और पति ही धर्म, तीर्थ एवं व्रत है। इसलिये स्त्री सबको छोड़कर केवल पतिकी पूजा करे।

**इतना कहकर बृहस्पतिजी लोपामुद्रासे बोले**—पतिके चरणारविन्दोंपर दृष्टि रखनेवाली महामाता लोपामुद्रे! हमने काशीमें आकर जो गंगा-स्नान किया है, उसीका यह फल है कि हमें आपका दर्शन प्राप्त हुआ है। लोपामुद्राकी इस प्रकार स्तुति करके देवगुरुने अगस्त्य मुनिसे कहा—'महर्षे! आप प्रणव हैं और ये लोपामुद्रा श्रुति हैं। आप मूर्तिमान् तप हैं और ये क्षमा हैं। आप फल हैं और ये सत्क्रिया हैं। महामुने! इन्हें पाकर आप धन्य हैं। ये देवी पातिव्रतका मूर्तिमान् तेज हैं और आप साक्षात् सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मतेज हैं। इसपर भी आपमें यह तपस्याका तेज और बढ़ा हुआ है। भला आपके लिये कौन-सा कार्य असाध्य है। यद्यपि कुछ भी आपसे अविदित नहीं है तथापि देवतालोग जिस उद्देश्यसे यहाँ आये हैं, वह मैं बतलाता हूँ। मुने! ध्यान देकर सुनें। विन्ध्य नामसे प्रसिद्ध पर्वत मेरु गिरिसे डाह रखनेके कारण बढ़कर इतना ऊँचा हो गया है कि उसने सूर्यदेवका मार्ग रोक लिया है, उसकी इस वृद्धिको आप रोकिये।'

देवगुरुका यह वचन सुनकर महामुनि अगस्त्यने क्षणभरके लिये चित्तको एकाग्र किया और 'बहुत अच्छा, आपलोगोंका कार्य सिद्ध करूँगा।' ऐसा कहकर देवताओंको विदा किया। तत्पश्चात् वे पुनः कुछ चिन्तन करते हुए ध्यानमग्न हो गये।

## अगस्त्यजीका काशीपुरीसे प्रस्थान, विन्ध्यपर्वतको लघुरूपमें रहनेका आदेश और महालक्ष्मीकी स्तुति

**वेदव्यासजी कहते हैं**—सूत! तदनन्तर ध्यानद्वारा भगवान् विश्वनाथजीका दर्शन करके मुनीश्वर अगस्त्य पुण्यमयी लोपामुद्रासे इस प्रकार बोले—'प्रिये! काशीको लक्ष्य करके तत्त्वदर्शी मुनियोंने यह कहा है कि मोक्षकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको कभी अविमुक्त क्षेत्र (काशीतीर्थ) का त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह सदा सुलभ नहीं है। कहाँ विश्वाधार परमात्माको प्रकाशित करनेवाली काशीपुरी और कहाँ सब ओरसे अत्यन्त दुःख देनेवाला दूसरा कार्य। ऐसी

काशीको शीघ्र कालके गालमें जानेवाला मनुष्य क्यों छोड़े। जो पाप एवं अविद्याका नाश करती है, देवताओंके लिये भी जो दुर्लभ है, गंगाजीके स्वच्छ जलसे जिसकी शोभा हो रही है, जो भव-बन्धनका नाश करनेवाली है, भगवान् शिव और अन्नपूर्णा जिसे कभी नहीं छोड़ते तथा जो मोक्षरूप मोतीको प्रकट करनेके लिये एकमात्र सीपी है, ऐसी मुक्तिमयी काशीपुरीको जीवन्मुक्त पुरुष कदापि नहीं छोड़ते। जो लहरें लेती हुई गंगाजीके जलसे अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होती है, जो प्रलयकालमें भी महादेवजीके त्रिशूलके अग्रभागपर स्थापित रहती है, ऐसी काशीको छोड़कर लोग अपने मनको जो अन्यत्र ले जाते हैं, यह उनकी कैसी जड़ता है! ब्राह्मणोंके आशीर्वाद और भगवान् विश्वनाथकी कृपासे ही काशी सुलभ होती है। काशी अपनी शरणमें आये हुए जीवोंकी रक्षा करनेवाली है। यहाँ मृत्युकालमें भगवान् शंकर सब जीवोंके कानमें तारक मन्त्रका उपदेश देते हैं, जिससे वे सब ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। वेदवादी विद्वान् कहते हैं कि काशीपुरीमें भगवान् शिव तारक मन्त्रके उपदेशसे वहाँ रहनेवाले सब जीवोंको निश्चय ही मुक्त कर देते हैं।'

**तदनन्तर अगस्त्य मुनि कालभैरवजीके पास गये और प्रणाम करके बोले**—भगवन्! आप काशीपुरीके स्वामी हैं, अतः मैं आपसे आज्ञा लेने आया हूँ। कालराज! मुझ निरपराधपर किस कारण आपकी यह अपराधदृष्टि हो गयी? क्यों आप मुझे काशीसे अन्यत्र जानेका अवसर देते हैं? यक्षराज! आप क्यों मुझे काशीसे बाहर भेजते हैं?—इस प्रकार विरहीकी भाँति विलाप करके 'हा काशी! हा काशी' की रट लगाते हुए अगस्त्यमुनि अपनी धर्मपत्नी लोपामुद्राके साथ चले और आधे पलमें उस स्थानपर जा पहुँचे, जहाँ विन्ध्यपर्वत ऊँचे आकाशको रोककर खड़ा था। मुनिने अपने सामने ही खड़े हुए विन्ध्याचलपर दृष्टिपात किया। पर्वत भी पत्नीसहित अगस्त्य मुनिको अपने आगे खड़े देखकर काँप गया। वे तपस्या और क्रोधसे तथा काशीके विरहसे प्रकट हुई त्रिविध अग्नियोंसे प्रलयंकर अनलकी भाँति अत्यन्त प्रज्वलित-से जान पड़ते थे। उनपर दृष्टि पड़ते ही विन्ध्यपर्वत इतना छोटा हो गया मानो धरतीमें समा जाना चाहता हो। छोटा रूप धारण करके वह बोला—'भगवन्! मैं आपका सेवक हूँ, मेरे योग्य सेवाके लिये आज्ञा देकर मुझपर कृपा करें।'

**अगस्त्यजी बोले**—विन्ध्य! तुम साधुपुरुष हो, बुद्धिमान् हो और मुझे अच्छी तरह जानते हो। देखो, जबतक यहाँ पुनः लौटकर मेरा आना न हो, तबतक तुम अत्यन्त लघु रूपमें ही रहो। यों कहकर मुनिने अपने पदार्पणसे दक्षिण दिशाको सनाथ किया। मुनिवर अगस्त्यके चले जानेपर विन्ध्यपर्वतने मन-ही-मन विचार किया—आज अगस्त्य मुनिने जो मुझे शाप नहीं दिया है, इससे मैं समझता हूँ कि मेरा पुनः नया जन्म हुआ है। उस समय कालका ज्ञान रखनेवाले अरुण सारथिने अपने घोड़ोंको आगे बढ़ाया। पहलेकी भाँति सूर्यदेवके संचारणसे सम्पूर्ण जगत् पूर्णतः स्वस्थ हुआ। आज, कल अथवा परसोंतक मुनि अवश्य आवेंगे मानो इसी चिन्ताके महाभारसे दबा हुआ विन्ध्यगिरि ज्यों-का-त्यों स्थित है, परंतु आजतक न तो अगस्त्य मुनि आये और न पर्वत बढ़ा।

मुनिवर अगस्त्यजी गोदावरीके रमणीय तटपर विचरते हुए भी काशी-विरहजनित महान् सन्तापको नहीं छोड़ सके। वे पत्नीसहित विचरते हुए कोलापुरनिवासिनी महालक्ष्मीजीके समीप गये और उन्हें प्रणाम करके इस प्रकार स्तुति करने लगे—'कमलके समान विशाल नेत्रोंवाली मातः कमले! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आप भगवान् विष्णुके हृदयकमलमें निवास करनेवाली तथा सम्पूर्ण विश्वकी जननी हैं। कमलके कोमल गर्भके सदृश गौर वर्णवाली क्षीरसागरकी पुत्री

महालक्ष्मी! आप अपनी शरणमें आये हुए प्रणतजनोंका पालन करनेवाली हैं। आप सदा मुझपर प्रसन्न हों। मदनकी एकमात्र जननी रुक्मिणीरूपधारिणी लक्ष्मी! आप भगवान् विष्णुके वैकुण्ठधाममें 'श्री' नामसे प्रसिद्ध हैं। चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली देवि! आप ही चन्द्रमामें चाँदनी हैं, सूर्यमें प्रभा हैं और तीनों लोकोंमें आप ही प्रभासित होती हैं। प्रणतजनोंको आश्रय देनेवाली माता लक्ष्मी! आप सदा मुझपर प्रसन्न हों। आप ही अग्निमें दाहिका शक्ति हैं। ब्रह्माजी आपकी ही सहायतासे विविध प्रकारके जगत्की रचना करते हैं। सम्पूर्ण विश्वका भरण-पोषण करनेवाले भगवान् विष्णु भी आपके ही भरोसे सबका पालन करते हैं। शरणमें आकर चरणमें मस्तक झुकानेवाले पुरुषोंकी निरन्तर रक्षा करनेवाली माता महालक्ष्मी! आप मुझपर प्रसन्न हों। निर्मल स्वरूपवाली देवि! जिनको आपने त्याग दिया है, उन्हींका भगवान् रुद्र संहार करते हैं। वास्तवमें आप ही जगत्का पालन, संहार और सृष्टि करनेवाली हैं। आप ही कार्य-कारणरूप जगत् हैं। निर्मलस्वरूपा लक्ष्मी! आपको प्राप्त करके ही भगवान् श्रीहरि सबके पूज्य बन गये। माँ! आप प्रणतजनोंका सदैव पालन करनेवाली हैं, मुझपर प्रसन्न हों। शुभे! जिस पुरुषपर आपका करुणापूर्ण कटाक्षपात होता है, संसारमें एकमात्र वही शूरवीर, गुणवान्, विद्वान्, धन्य, मान्य, कुलीन, शीलवान्, अनेक कलाओंका ज्ञाता और परम पवित्र माना जाता है। देवि! आप जिस किसी पुरुष, हाथी, घोड़ा, नपुंसक, तिनका, सरोवर, देवमन्दिर, गृह, अन्न, रत्न, पशु-पक्षी, शय्या और भूमिमें क्षणभर भी निवास करती हैं, समस्त संसारमें केवल वही शोभासम्पन्न होता है, दूसरा नहीं। हे श्रीविष्णुपत्नि! हे कमले! हे कमलालये! हे माता लक्ष्मी! आपने जिसका स्पर्श किया है, वह पवित्र हो जाता है और आपने जिसे त्याग दिया है, वही सब इस जगत्में अपवित्र है। जहाँ आपका नाम है, वहीं उत्तम मंगल है। जो लक्ष्मी, श्री, कमला, कमलालया, पद्मा, रमा, नलिनयुग्मकरा (दोनों हाथोंमें कमल धारण करनेवाली), माँ, क्षीरोदजा, अमृतकुम्भकरा (हाथोंमें अमृतका कलश धारण करनेवाली), इरा और विष्णुप्रिया—इन नामोंका सदा जप करते हैं, उनके लिये कहाँ दुःख है।'*

इस प्रकार हरिप्रिया भगवती महालक्ष्मीकी

---

* अगस्तिरुवाच—

मातर्नमामि कमले कमलायताक्षि श्रीविष्णुहृत्कमलवासिनि विश्वमातः।
क्षीरोदजे कमलकोमलगर्भगौरि लक्ष्मि प्रसीद सततं नमतां शरण्ये॥
त्वं श्रीरुपेन्द्रसदने मदनैकमातर्ज्योत्स्नासि चन्द्रमसि चन्द्रमनोहरास्ये।
सूर्ये प्रभासि च जगत्त्रितये प्रभासि लक्ष्मि प्रसीद सततं नमतां शरण्ये॥
त्वं जातवेदसि सदा दहनात्मशक्तिर्वेधास्त्वया जगदिदं विविधं विदध्यात्।
विश्वम्भरोऽपि बिभृयादखिलं भवत्या लक्ष्मि प्रसीद सततं नमतां शरण्ये॥
त्वत्त्यक्तमेतदमले हरते हरोऽपि त्वं पासि हंसि विदधासि परावरासि।
ईड्यो बभूव हरिरप्यमले त्वदाप्त्या लक्ष्मि प्रसीद सततं नमतां शरण्ये॥
शूरः स एव स गुणी स बुधः स धन्यो मान्यः स एव कुलशीलकलाकलापैः।
एकः शुचिः स हि पुमान् सकलेऽपि लोके यत्रापतेत्तव शुभे करुणाकटाक्षः॥
यस्मिन्वसेः क्षणमहो पुरुषे गजेऽश्वे स्त्रैणे तृणे सरसि देवकुले गृहेऽन्ने।
रत्ने पतत्रिणि पशौ शयने धरायां सश्रीकमेव सकले तदिहास्ति नान्यत्॥
त्वत्स्पृष्टमेव सकलं शुचितां लभेत त्वत्त्यक्तमेव सकलं त्वशुचीह लक्ष्मि।
त्वन्नाम यत्र च सुमङ्गलमेव तत्र श्रीविष्णुपत्नि कमले कमलालयेऽपि॥
लक्ष्मीं श्रियं च कमलां कमलालयां च पद्मां रमां नलिनयुग्मकरां च मां च।
क्षीरोदजाममृतकुम्भकरामिरां च विष्णुप्रियामिति सदा जपतां क्व दुःखम्॥

(स्क० पु०, का० पू० ५।८०—८७)

स्तुति करके पत्नीसहित अगस्त्य मुनिने दण्डकी भाँति पृथ्वीपर गिरकर उन्हें साष्टांग प्रणाम किया।

**लक्ष्मीजीने कहा**—मित्रावरुणनन्दन अगस्त्य! उठो, उठो, तुम्हारा कल्याण हो। उत्तम व्रतका आचरण करनेवाली पतिव्रते लोपामुद्रे! तुम भी उठो। मैं इस स्तुतिसे बहुत प्रसन्न हूँ, तुम मनोवांछित वर माँगो।

यों कहकर विष्णुप्रिया श्रीलक्ष्मीजीने मुनिपत्नी लोपामुद्राको हृदयसे लगा लिया और प्रेमपूर्वक अनेक प्रकारके सौभाग्यसूचक आभूषणोंसे उन्हें विभूषित किया। तत्पश्चात् वे पुनः बोलीं—'मुने! मैं तुम्हारे आन्तरिक तापका कारण जानती हूँ।' यह सुनकर महाभाग मुनिवर अगस्त्यजीने लक्ष्मीदेवीको प्रणाम करके भक्तिसे भरा हुआ वचन कहा—'देवि! यदि मैं वर देनेयोग्य होऊँ तो आप मेरे लिये यही वर प्रदान करें कि मुझे पुनः काशीकी प्राप्ति हो। मेरे द्वारा की हुई आपकी इस स्तुतिका जो सदा भक्तिपूर्वक पाठ करें, उन्हें कभी सन्ताप और दरिद्रता न हो।'

**लक्ष्मीजीने कहा**—मुने! 'एवमस्तु'। तुमने जो कुछ कहा है, वह सब पूरा होगा। इस स्तोत्रका पाठ मेरे सामीप्यकी प्राप्ति करानेवाला होगा। मुनीश्वर! आनेवाले उनतीसवें द्वापरमें तुम व्यास होओगे। उस समय काशीमें आकर वेदों-पुराणोंका विस्तार करके सम्पूर्ण धर्मोंका उपदेश देकर तुम मनोवांछित सिद्धि प्राप्त करोगे। इस समय मैं तुम्हारे हितकी एक बात बतलाती हूँ, उसका पालन करो। यहाँसे कुछ ही दूरीपर जाकर अपने सामने खड़े हुए स्वामिकार्तिकेयका दर्शन करो। ब्रह्मन्! वे तुम्हें काशीका यथार्थ रहस्य बतलायेंगे।

इस प्रकार वरदान पाकर महालक्ष्मीको प्रणाम करके मुनिवर अगस्त्य उस स्थानपर गये, जहाँ श्रीकार्तिकेयजी विराजमान हैं।

## मुक्तिदायक तीर्थोंका वर्णन तथा मानसतीर्थ एवं काशीकी श्रेष्ठता

**श्रीव्यासजी कहते हैं**—सूत! जिन सत्पुरुषोंके हृदयमें परोपकारकी भावना जाग्रत् रहती है, उनकी विपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और उन्हें पग-पगपर सम्पत्ति प्राप्त होती है। उपकारके द्वारा जैसे पुण्य-फलकी प्राप्ति होती है, तीर्थोंमें स्नान करनेसे भी वैसी शुद्धि नहीं होती, बहुतेरे दान देनेसे भी वह फल नहीं मिलता और कठोर तपस्याओंसे भी उस पुण्यकी प्राप्ति नहीं होती। परोपकारसे जो धर्म होता है तथा दान आदि सत्कर्मोंसे जिस धर्मकी प्राप्ति होती है, उन दोनोंको ब्रह्माजीने तौला था। उस समय परोपकारजनित धर्मका ही पलड़ा भारी रहा। सम्पूर्ण वाङ्मय (शास्त्र)-का मन्थन करके यही निर्णय किया गया है कि उपकारसे बढ़कर कोई धर्म नहीं और अपकारसे बढ़कर कोई पाप नहीं है। परोपकारजनित पुण्यके प्रभावसे ही साक्षात् महालक्ष्मीका दर्शन करके मुनिवर अगस्त्य कृतार्थ हो गये। वहाँसे आगे बढ़नेपर मुनिने श्रीपर्वतको

देखा, जहाँ साक्षात् त्रिपुरारि महादेवजी निवास करते हैं। उसे देखकर मुनिके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने अपनी पत्नीसे कहा—'प्रिये! देखो। यह जो परम शोभायमान श्रीशैलका शिखर दिखायी देता है, इसके दर्शनसे मनुष्योंका इस संसारमें पुनर्जन्म कभी नहीं होता। इसका विस्तार चौरासी योजनका है। यह सम्पूर्ण पर्वत शिवमय है, अतः इसकी परिक्रमा करनी चाहिये।'

**लोपामुद्रा बोली**—यदि प्राणनाथकी आज्ञा हो तो मैं कुछ निवेदन करना चाहती हूँ; क्योंकि पतिकी आज्ञाके बिना जो स्त्री बोलती है, वह अपने धर्मसे गिर जाती है।

**अगस्त्यजीने कहा**—देवि! तुम क्या कहना चाहती हो, कहो। तुम्हारे-जैसी साध्वी स्त्रियोंका वचन पतिके लिये खेदजनक नहीं होता।

**तदनन्तर मुनिको प्रणाम करके देवी लोपामुद्राने विनयपूर्वक पूछा**—महर्षे! श्रीशैलका दर्शन करके मनुष्यका पुनर्जन्म नहीं होता है, यदि यह बात सत्य है, तो आप काशीकी अभिलाषा क्यों करते हैं।

**अगस्त्यजी बोले**—वरारोहे! सुनो। तत्त्वका विचार करनेवाले ज्ञानी मुनियोंने बार-बार यह निर्णय किया है कि मुक्तिके अनेक स्थान हैं। पहला तीर्थराज प्रयाग है, जो सर्वत्र विख्यात है। वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थोंको देनेवाला है। इसके सिवा नैमिषारण्य, कुरुक्षेत्र, गंगाद्वार (हरिद्वार), अवन्ती, अयोध्या, मथुरा, द्वारका, अमरावती, सरस्वती और समुद्रका संगम, गंगासागर-संगम, कांचीपुरी, त्र्यम्बक तीर्थ, सप्त गोदावरीतट, कालंजरतीर्थ, प्रभास क्षेत्र, बदरिकाश्रम, महालय, ॐकारक्षेत्र (अमरकण्टक), पुरुषोत्तमक्षेत्र (जगन्नाथपुरी), गोकर्णतीर्थ, भृगुकच्छ, भृगुतुंग, पुष्कर, श्रीपर्वत और धारातीर्थ आदि बहुत-से तीर्थ मुक्तिदायक हैं। सत्य, दया आदि जो मानसिक-तीर्थ हैं, वे भी मोक्ष देनेवाले हैं। गया क्षेत्र भी पितरोंके लिये मोक्षदायक बताया गया है। वहाँ श्राद्ध करनेसे मनुष्य अपने पितरों, पितामहोंके ऋणसे मुक्त होते हैं।

**लोपामुद्राने पूछा**—महामते! आपने जिन्हें मानसतीर्थ कहा है, वे कौन-कौनसे हैं? बतानेकी कृपा करें।

**अगस्त्यजीने कहा**—शुभे! सत्य तीर्थ है, क्षमा तीर्थ है, इन्द्रियोंको वशमें रखना भी तीर्थ है, सब प्राणियोंपर दया करना तीर्थ है और सरलता भी तीर्थ है। दान, दम (मनका संयम) तथा सन्तोष—ये भी तीर्थ कहे गये हैं। ब्रह्मचर्यका पालन उत्तम तीर्थ है। प्रिय वचन बोलना भी तीर्थ ही है। ज्ञान तीर्थ है, धैर्य तीर्थ है और तपस्याको भी तीर्थ कहा गया है। तीर्थोंमें भी सबसे बड़ा तीर्थ है अन्तःकरणकी आत्यन्तिक शुद्धि। पानीमें शरीरको डुबो लेना ही स्नान नहीं कहलाता। जिसने दम तीर्थमें स्नान किया है, मन और इन्द्रियोंको संयममें रखा है, उसीने वास्तविक स्नान किया है। जिसने मनकी मैल धो डाली है, वही शुद्ध है। जो लोभी, चुगलखोर, क्रूर, पाखण्डी और विषयासक्त है, वह सब तीर्थोंमें स्नान करके भी पापी और मलिन ही रह जाता है। केवल शरीरके मलका त्याग करनेसे ही मनुष्य निर्मल नहीं होता। मानसिक मलका परित्याग करनेपर ही वह भीतरसे अत्यन्त निर्मल होता है। जलमें निवास करनेवाले जीव जलमें ही जन्म लेते और मरते हैं। किंतु उनका मानसिक मल नहीं धुलता। इसलिये वे स्वर्गको नहीं जाते। विषयोंके प्रति अत्यन्त राग होना मानसिक मल कहलाता है और उन्हीं विषयोंमें विराग होना निर्मलता कही गयी है। यदि अपने भीतरका मन दूषित है तो मनुष्य तीर्थस्नानसे शुद्ध नहीं होता। जैसे मदिरासे भरे हुए घड़ेको ऊपरसे जलद्वारा सैकड़ों बार धोया जाय, तो भी वह पवित्र नहीं होता, उसी प्रकार दूषित अन्तःकरणवाला मनुष्य भी तीर्थस्नानसे शुद्ध नहीं होता। भीतरका

भाव शुद्ध न हो तो दान, यज्ञ, तप, शौच, तीर्थसेवन, शास्त्रोंका श्रवण एवं स्वाध्याय—ये सभी अतीर्थ हो जाते हैं। जिसने अपने इन्द्रियसमुदायको वशमें कर लिया है, वह मनुष्य जहाँ निवास करता है, वहीं उसके लिये कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य और पुष्कर आदि तीर्थ हैं। ध्यानसे पवित्र तथा ज्ञानरूपी जलसे भरे हुए राग-द्वेषमय मलको दूर करनेवाले मानसतीर्थमें जो पुरुष स्नान करता है, वह उत्तम गतिको प्राप्त होता है *। देवि! यह तुम्हें मानसतीर्थका लक्षण बताया गया। अब पृथ्वीपर जो तीर्थ हैं, उनकी पवित्रताका क्या हेतु है, यह सुनो। जैसे शरीरके कुछ अंग अत्यन्त पवित्र माने गये हैं, उसी प्रकार पृथ्वीके कुछ भाग अत्यन्त पुण्यमय हैं। पृथ्वीके अद्भुत प्रभाव, जलके विलक्षण तेज तथा मुनियोंके निवासस्थान होनेसे तीर्थ पुण्यस्वरूप माने जाते हैं। अतः जो प्रतिदिन भूमण्डलके तीर्थों और मानसतीर्थोंमें भी स्नान करता है, वह परम-गतिको प्राप्त होता है। जिसके हाथ, पैर, मन, विद्या, तप और कीर्ति सभी संयममें हैं, वह तीर्थके पूर्ण फलका भागी होता है। जो प्रतिग्रह नहीं लेता और जिस किसी भी वस्तुसे सन्तुष्ट रहता है तथा जिसमें अहंकारका सर्वथा अभाव है, वह तीर्थफलका भागी होता है। जो दम्भी नहीं है, नये-नये कार्योंका प्रारम्भ नहीं करता, थोड़ा खाता है, इन्द्रियोंको काबूमें रखता है और सब प्रकारकी आसक्तियोंसे दूर रहता है, वह तीर्थफलका भागी होता है। जो क्रोधी नहीं है, जिसकी बुद्धि निर्मल है, जो सत्य बोलनेवाला और दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाला है, जो सब प्राणियोंके प्रति अपने ही समान बर्ताव करता है, वह तीर्थफलका भागी होता है। जो तीर्थोंका सेवन करनेवाला, धीर, श्रद्धालु और एकाग्रचित्त है, वह पहलेका पापाचारी हो, तो भी शुद्ध हो जाता है। फिर जो पुण्यकर्म करनेवाला है, उसके लिये तो कहना ही क्या है। तीर्थसेवी मनुष्य कभी पशुयोनिमें जन्म नहीं लेता। कुदेशमें उसका जन्म नहीं होता और वह कभी दुःखका भागी नहीं होता। वह स्वर्ग भोगता और मोक्षका उपाय प्राप्त कर लेता है। अश्रद्धालु, पापात्मा, नास्तिक, संशयात्मा और केवल तर्कका सहारा लेनेवाला—ये पाँच प्रकारके मनुष्य तीर्थसेवनका फल नहीं पाते।

तीर्थयात्राकी इच्छा करनेवाला मनुष्य पहले अपने घरमें उपवास करके श्रीगणेशजीका यथाशक्ति पूजन करे। तत्पश्चात् पितरों, ब्राह्मणों और साधुपुरुषोंकी भी शक्तिके अनुसार पूजा करके व्रतका पारण करे। फिर प्रसन्नतापूर्वक संयम-नियमका पालन करते हुए तीर्थमें जाय। वहाँ पहुँचकर पितरोंका भलीभाँति पूजन करे। ऐसा करनेवाला पुरुष तीर्थके यथार्थ फलका भागी होता है। तीर्थमें ब्राह्मणके पूर्ण गोत्र और विद्याकी परीक्षा नहीं करनी चाहिये। यदि वह अन्नकी इच्छा रखनेवाला हो, तब तो उसे अवश्य भोजन कराना चाहिये। तीर्थोंमें सत्तू, चरु, खीर, पिण्याक (तिलके चूर्ण) और गुड़से पिण्डदान करना चाहिये। तीर्थमें अर्घ्य और आवाहनके बिना श्राद्ध करना चाहिये। श्राद्धके योग्य समय हो अथवा न हो, तीर्थमें पहुँचनेपर श्राद्ध और तर्पण अविलम्ब करना चाहिये। श्राद्धमें किसी प्रकार विघ्न नहीं आने देना चाहिये। अन्य कार्यके प्रसंगसे तीर्थमें जानेपर भी वहाँ अवश्य स्नान करे। ऐसा करनेसे वह स्नानजनित फलको पाता है, तीर्थयात्रासम्बन्धी फलको नहीं। पापचारी मनुष्योंके पापका तीर्थमें स्नान करनेसे नाश होता है। श्रद्धालु मनुष्योंको तीर्थ यथार्थ फल देनेवाला होता है। जो दूसरेके लिये तीर्थयात्रा करता है, वह तीर्थजनित पुण्यके सोलहवें अंशको पाता है। कुशका एक पुतला बनाकर उसे तीर्थके जलमें नहलावे। जिस पुरुषके

* ध्यानपूते ज्ञानजले रागद्वेषमलापहे। यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम्॥ (स्क० पु०, का० पू० ६।

उद्देश्यसे उस पुतलेको नहलाया जाता है, वह तीर्थ-स्नानजनित पुण्यके आठवें अंशको प्राप्त कर लेता है। तीर्थमें जाकर उपवास तथा सिरका मुण्डन कराना चाहिये; क्योंकि मुण्डन करानेसे सिरपर चढ़े हुए पाप दूर हो जाते हैं। जिस दिन तीर्थमें पहुँचना हो उसके पहले दिन उपवास करना चाहिये और तीर्थमें पहुँचनेके दिन पितरोंके लिये श्राद्ध एवं दान करना चाहिये। काशी, कांची, माया (लक्ष्मणझूलेसे कनखलतक), अयोध्या, द्वारका, मथुरा और अवन्ती—ये सात पुरियाँ मोक्ष देनेवाली हैं।* श्रीशैल नामक पर्वतका सम्पूर्ण प्रदेश मोक्ष देनेवाला है। केदारतीर्थका महत्त्व उससे भी अधिक है। श्रीशैल और केदारसे भी उत्तम मोक्षदायक तीर्थ प्रयाग है तथा तीर्थश्रेष्ठ प्रयागसे भी बढ़कर अविमुक्त क्षेत्र है। अविमुक्त क्षेत्र (काशी)-में जैसा मोक्ष प्राप्त होता है, वैसा कहीं नहीं।

## शिवशर्माका सात पुरियोंकी यात्रा करना और हरद्वारमें उसका परमधाम-गमन

**अगस्त्यजी कहते हैं**—मथुरामें एक श्रेष्ठ ब्राह्मण थे। उनके पुत्रका नाम शिवशर्मा था। शिवशर्मा बड़े तेजस्वी और सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता थे। जब जवानी बीत गयी और कानोंके समीप बाल सफेद हो गये तब बुढ़ापाको आया हुआ देख द्विजश्रेष्ठ शिवशर्माको बड़ी चिन्ता हुई। वे सोचने लगे—'मेरा सारा समय पढ़ने और धनोपार्जन करनेमें चला गया। मैंने कर्मोंकी जड़ उखाड़नेमें समर्थ भगवान् महेश्वरकी आराधना कभी नहीं की। सम्पूर्ण पापोंका हरण करनेवाले श्रीहरिको भी मैंने कभी सन्तुष्ट नहीं किया। ये वेद, शास्त्र, धन, स्त्री, पुत्र, खेत और महल आदि परलोकमें जाते समय मेरे साथ नहीं जायँगे।' इस प्रकार विचार करके शिवशर्माने यह निश्चय किया कि जबतक मेरा यह शरीर स्वस्थ है, जबतक मेरी इन्द्रियोंमें विकलता नहीं आयी है, तबतक मैं अपने कल्याणके लिये तीर्थयात्रा करूँगा। यह विचार कर शुभ तिथि, शुभ दिन और शुभ लग्नमें शिवशर्माने एक रात उपवास करके प्रातःकाल पितरोंका श्राद्ध किया और श्रीगणेशजी तथा ब्राह्मणोंको नमस्कार करके व्रतका पारण करनेके पश्चात् तीर्थयात्राके लिये प्रस्थान किया। मार्गमें ब्राह्मणने सोचा—'मैं पहले किस तीर्थमें जाऊँ। इस पृथ्वीपर अनेक तीर्थ हैं। आयु क्षणभंगुर है और मन चंचल है। अतः मैं सबसे पहले सप्तपुरियोंकी यात्रा करूँ; क्योंकि वहाँ सभी तीर्थ विद्यमान हैं।' इस निश्चयके अनुसार वे अयोध्यापुरीमें गये, सरयूमें स्नान किया और वहाँके भिन्न-भिन्न तीर्थोंमें पिण्डदान और तर्पण करके पितरोंको सन्तुष्ट किया। पाँच रात अयोध्यामें निवास करके वे प्रसन्नतापूर्वक तीर्थराज प्रयागको गये, जहाँ श्याम और श्वेत सलिलवाली सरिताओंमें श्रेष्ठ देवदुर्लभ यमुना तथा गंगाजी विराज रही हैं। जिनका शरीर प्रयागतीर्थके जलसे भीगता है, उन यज्ञकर्ताओंका इस संसारमें पुनरागमन नहीं होता। वहाँ शूलटंक महादेवजी निवास करते हैं; वहीं अक्षयवट है, जिसकी जड़ सात पाताललोकोंतक फैली हुई है। प्रलयकालमें उसीपर आरूढ़ होकर मार्कण्डेयजीने निवास किया था। अक्षयवटको वटवृक्षरूपधारी साक्षात् ब्रह्मा जानना चाहिये। उसके समीप ब्राह्मणोंको भक्तिपूर्वक भोजन कराकर मनुष्य अक्षय पुण्यका भागी होता है। वहाँ लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु वैकुण्ठधामसे आकर श्रीमाधवस्वरूपसे

* काशी काञ्ची च मायाख्या त्वयोध्या द्वारवत्यपि। मथुरावन्तिका चैताः सप्त पुर्योऽत्र मोक्षदाः॥ (स्क० पु०, का० पू० ६। ६८)

निवास करते हैं और मनुष्योंको अपने परम धाममें पहुँचाते हैं। श्याम और श्वेत जलवाली दो नदियाँ वैदिक मन्त्रोंद्वारा वर्णित हुई हैं। उन सितासित सरिताओं—यमुना और गंगामें गोता लगानेवाले पुरुष अमृतत्वको प्राप्त होते हैं। माघमासमें अरुणोदयके समय प्रयागतीर्थमें स्नान करनेके लिये शिवलोक, ब्रह्मलोक, पार्वतीलोक, कुमारलोक, वैकुण्ठलोक और सत्यलोकसे भी वहाँके निवासी आते हैं। तपोलोक, जनलोक, महर्लोक तथा स्वर्गलोकके निवासी भी आते हैं। भुवर्लोक, भूलोक तथा सम्पूर्ण नागलोकसे भी वहाँके रहनेवाले प्राणी पधारते हैं। हिमवान् आदि श्रेष्ठ पर्वत और कल्पवृक्ष आदि तरुवर भी माघमें प्रयाग-स्नान करनेके लिये आते हैं। प्रयाग निश्चय ही इच्छानुसार फल देनेवाला तथा मोक्ष प्रदान करनेवाला तीर्थ है। 'ज्ञानी पुरुष भगवान् विष्णुके उस सच्चिदानन्दमय पदको सदा देखते हैं, वेदकी श्रुतियोंद्वारा जिसके विषयमें बारंबार यह बात कही जाती है, वह प्रयागतीर्थ ही है। देवि! तीर्थराज प्रयाग सब तीर्थोंद्वारा सेवित है, उसके गुणोंका वर्णन करनेमें यहाँ कौन समर्थ है। उत्तम बुद्धिवाले शिवशर्मा प्रयागके गुणोंको जानकर माघभर वहीं रहे। उसके बाद वे काशीपुरीमें चले आये। वहाँ प्रवेश करते ही उन्हें पुरीकी द्वारदेहलीपर भगवान् गणेशजीका दर्शन हुआ। शिवशर्माने भक्तिपूर्वक गणेशजीके ऊपर घी मिलाये हुए सिन्दूरका लेप किया और उन्हें पाँच मोदकोंका नैवेद्य लगाकर क्षेत्रके भीतर प्रवेश किया। वहाँ मणिकर्णिकातीर्थमें जाकर उन्होंने देखा कि स्वर्गीय नदी गंगाजी दक्षिणसे उत्तरकी ओर प्रवाहित हो रही हैं। पापहीन पुण्यात्मा मनुष्य उन्हें तटपर घेरे हुए हैं। उत्तरवाहिनी गंगाका दर्शन करके शिवशर्माने वस्त्रसहित निर्मल जलमें गोता लगाया; इससे उनकी बुद्धि तत्काल शुद्ध हो गयी। वे कर्मकाण्डके ज्ञाता थे; अतः स्नान करके उन्होंने विधिपूर्वक देवताओं, ऋषियों, दिव्य मनुष्यों, दिव्य पितरों, (चतुर्दश यमों) तथा अपने पितरोंका तर्पण किया। फिर शीघ्र ही काशीके पंचतीर्थोंका सेवन करके अपने वैभवके अनुसार भगवान् विश्वनाथका पूजन किया। शिवशर्मा भगवान् शिवकी उस पुरीको बारंबार देखकर बहुत विस्मित हुए और सोचने लगे—इस काशीकी महिमाका वर्णन कोई नहीं कर सकता। काशीमें यह मणिकर्णिका तीर्थ संसारी जीवोंके लिये साक्षात् चिन्तामणिके समान है। यहाँ साधुपुरुषोंके कानोंमें मृत्युके समय भगवान् शिव तारक मन्त्रका उपदेश देते हैं। इसीलिये उसका नाम मणिकार्णिका है। यहाँ निवास करनेवाले जरायुज (मनुष्य आदि), अण्डज (पक्षी आदि), उद्भिज्ज (वृक्ष आदि) और स्वेदज (मक्खी आदि) सभी जीव मोक्षके भागी होते हैं। इस प्रकार विचार करते हुए शिवशर्मा बार-बार उस पवित्र एवं विचित्र क्षेत्रको नेत्रोंसे निहारते रहे; परंतु उन्हें तृप्ति नहीं होती थी। वे मन-ही-मन कहने लगे—'मैं उत्तम मोक्ष प्रदान करनेमें कुशल काशीपुरीको सातों पुरियोंमें श्रेष्ठ समझता हूँ। तथापि काशी और अयोध्याके अतिरिक्त अन्य पुरियोंका मैंने अभीतक दर्शन नहीं किया है; इसलिये उनका भी प्रभाव जानकर मैं पुनः यहाँ आऊँगा।'

**अगस्त्यजी कहते हैं**—प्रिये! अनेकानेक शास्त्रीय प्रमाणोंसे उस क्षेत्रके श्रेष्ठ गुणोंको जानकर भी तीर्थयात्रापरायण शिवशर्मा ब्राह्मण काशीपुरीसे बाहर निकले, यह कितने आश्चर्यकी बात है! वे एक देशसे दूसरे देशमें भ्रमण करते हुए महाकालपुरी (उज्जयिनी या अवन्ती)-में पहुँचे, जहाँ कभी कलिकालका प्रभाव नहीं पड़ता। वह पुरी पापसे अवन—रक्षा करती है, इसलिये उसे 'अवन्ती' कहते हैं। कलियुगमें उसका नाम 'उज्जयिनी' होता है। भगवान् शिवका एक ही स्वरूप पातालमें 'हाटकेश्वर', भूतलपर 'महाकाल' तथा स्वर्गलोकमें

'तारकेश्वर' नामसे तीन रूपोंमें अभिव्यक्त होकर तीनों लोकोंको व्याप्त करके स्थित है। जो 'महाकाल, महाकाल, महाकाल' इस प्रकार सदा स्मरण करता है, उसका स्मरण भगवान् श्रीहरि और महादेवजी निरन्तर करते रहते हैं।

भूतनाथ भगवान् महाकालकी आराधना करके शिवशर्मा कांचीपुरीमें गये, जो तीनों लोकोंसे भी अधिक कमनीय है, जहाँ साक्षात् भगवान् लक्ष्मीपति निवास करते हैं। कान्तिमान् पुरुषोंसे सेवित कान्तिमती कांचीनगरीका दर्शन कर, वहाँके आवश्यक तीर्थकृत्योंका पालन करके वे द्वारकापुरीकी ओर गये। वहाँ सब ओर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चतुर्विध पुरुषार्थोंके द्वार हैं; इसीलिये तत्त्वज्ञ विद्वानोंने उसे 'द्वारवती' कहा है। यमराज अपने दूतोंसे कहते हैं—'जिसके ललाटमें गोपीचन्दनका तिलक लगा हो, उसे प्रज्वलित अग्निकी भाँति समझकर प्रयत्नपूर्वक दूरसे ही त्याग देना उचित है। दूतो! जो तुलसीकी मालासे विभूषित, तुलसी नामका जप करनेवाले तथा तुलसीवनके रक्षक हैं, वे दूरसे ही त्याग देने योग्य हैं। द्वारकापुरीमें जो जीव कालसे प्रेरित हो मृत्युको प्राप्त होते हैं, वे वैकुण्ठधाममें पहुँचकर पीताम्बरधारी तथा चार भुजाओंसे विभूषित होते हैं।' वहाँ जाकर शिवशर्माने उस क्षेत्रके सभी तीर्थोंमें स्नान और देवता, ऋषि, मनुष्य एवं पितरोंका तर्पण किया। वहाँसे वे मायापुरी (कनखलसे हरद्वार, ऋषिकेश होते हुए लक्ष्मणझूला)-में गये, जो पापी मनुष्योंके लिये अत्यन्त दुर्लभ है और जहाँ वैष्णवी माया अपने मायापाशमें जीवोंको नही बाँधती है। कोई उसे 'हरिद्वार', कोई 'मोक्षद्वार', कोई 'गंगाद्वार' तथा कोई 'मायापुरी' कहते हैं। वहाँ पर्वतमालाओंसे बाहर निकली हुई गंगा इस भूतलपर भागीरथीके नामसे विख्यात होती है, जिसके नामोच्चारण करनेमात्रसे मनुष्योंकी पापराशिके सहस्रों टुकड़े हो जाते हैं। ज्ञानी पुरुष हरिद्वारको वैकुण्ठका एक सोपान कहते हैं। वहाँ स्नान करनेवाले पुरुष भगवान् विष्णुके परम पदको प्राप्त होते हैं। उस तीर्थमें उपवास करके उन्होंने प्रातःकाल गंगामें स्नान किया ओर जो-जो तर्पण करने योग्य हैं—उन देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंका तर्पण करके ज्यों-ही पारणा करनेका विचार किया, त्यों-ही वे शीतज्वरसे आक्रान्त हो थरथर काँपने लगे। एक तो वे परदेशमें थे, दूसरे अकेले ही वहाँ आये थे, कोई भी सहायक नहीं था। इस दशामें अत्यन्त ज्वरसे पीड़ित होनेपर उनके मनमें बड़ी भारी चिन्ता हुई। वे सोचने लगे—'यह कैसी विपत्ति आ गयी। किंतु अब अत्यन्त सन्ताप देनेवाली व्यर्थकी चिन्ताओंसे क्या लाभ। मैं परम कल्याणकारी भगवान् विष्णु और शिवका चिन्तन करूँ। मैंने मुक्तिके एक उपायका तो भली-भाँति साधन कर लिया। मुक्ति देनेवाली सातों पुरियोंका अपने नेत्रोंसे दर्शन किया है। संग्राममें अथवा तीर्थमें मृत्यु होना श्रेष्ठ है। यह शरीर हाड़ और चामका संग्रह है; इसके द्वारा यहाँ मृत्यु होनेसे मैं निश्चय ही कल्याणमयी मुक्ति प्राप्त करूँगा।'

इस प्रकार चिन्तन करते हुए शिवशर्माको अत्यन्त भयंकर पीड़ा हुई। करोड़ों बिच्छुओंके डंक मारनेसे मनुष्यकी जो दशा हो सकती है, वही शिवशर्माको भी प्राप्त हुई। 'मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ' इसकी सुध न रही। स्मरण करने योग्य सभी बातें भूल गयीं। दो सप्ताह रोगग्रस्त रहकर शिवशर्मा मृत्युको प्राप्त हुए। इतनेमें ही वहाँ वैकुण्ठधामसे विमान आया। उसपर सुन्दर मुख और चार भुजावाले पुण्यशील और सुशील नामक दो पार्षद विराजमान थे। शिवशर्मा ब्राह्मणने उस विमानपर बैठकर चतुर्भुज रूप धारण कर लिया और पीताम्बर एवं दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हो आकाश-मार्गकी शोभा बढ़ाते हुए वहाँसे प्रस्थान किया।

# शिवशर्मा और विष्णुपार्षदोंका संवाद तथा विभिन्न लोकोंका वर्णन

**शिवशर्माने कहा**—हे विष्णुपार्षदो! आप दोनों पुण्यात्मा हैं। आप दोनोंके नेत्र कमलदलके समान परम सुन्दर हैं। मैं आपके नामको नहीं जानता, परंतु आकृतिसे कुछ-कुछ समझता हूँ। आप दोनों पुण्यशील और सुशील नामवाले गण हैं, ऐसा मेरा अनुमान है।

**दोनों गण बोले**—ठीक है, तुमने जैसा कहा है वही हमारा नाम है।

**दिव्यरूपधारी ब्राह्मण शिवशर्माने पूछा**—यह कौन-सा लोक है?

**दोनों गण बोले**—यह पिशाचलोक है। इसमें मांसभक्षी जीव निवास करते हैं। जो दान देकर पछताते हैं, नहीं-नहीं करते हुए देते हैं, कभी प्रसंगवश एक बार शिवजीकी पूजा करके सदा प्रायः अपवित्र चित्त ही रहते हैं एवं जिनका पुण्य बहुत थोड़ा और धन-सम्पत्ति भी बहुत थोड़ी है, सखे! वे ही ये पिशाच हैं।

तदनन्तर आगे जानेपर शिवशर्माने देखा, हृष्ट-पुष्ट नर-नारियोंसे भरा हुआ एक सुन्दर लोक है। उसे देखकर उन्होंने पूछा—'पार्षदो! यह कौन-सा लोक है और किस पुण्यसे यहाँ आना होता है?'

**दोनों गण बोले**—ब्रह्मन्! यह गुह्यकलोक है। यहाँके निवासी गुह्यक माने गये हैं। जो न्यायपूर्वक धन कमाकर उसे धरतीमें गाड़कर छिपा देते हैं, अपने मार्गपर चलते और धनाढ्य होते हैं, जिनका व्यवहार प्रायः शूद्रोंके समान होता है, जो कुटुम्बके साथ रहकर और आपसमें बाँटकर खाते हैं, जिनमें क्रोध और असूया आदि दोष नहीं होते, वे ही ये गुह्यक हैं। ये सदा सुखमें मग्न होनेके कारण तिथि, वार, संक्रान्ति आदि पर्वका ज्ञान नहीं रखते। केवल एक बात जानते हैं। ये कुलपूज्य पुरोहित ब्राह्मणको गोदान देते और उसकी आज्ञाका पालन करते हैं। उसी पुण्यसे गुह्यकलोग समृद्धिशाली होते और यहाँ देवताओंकी भाँति निर्भय होकर स्वर्गीय सुख भोगते हैं।

**तदनन्तर आगेके लोकको देखकर शिवशर्माने पूछा**—ये कौन लोग हैं और इस लोकका क्या नाम है?

**दोनों गण बोले**—यह गन्धर्वलोक है, ये लोग उत्तम व्रतका पालन करनेवाले गन्धर्व हैं। ये देवताओंके गायक हैं। मनुष्योंमें जो स्तुति-पाठ करनेवाले चारण हैं, जो संगीतकी कलाको जानते हैं और अपने अति मनोहर गीतसे राजाओंको सन्तुष्ट करते हैं, वे राजाओंके प्रसादसे प्राप्त हुए उत्तम वस्त्र, धन, द्रव्य और सुगन्धित कर्पूर आदि अनेक पदार्थोंको जब ब्राह्मणोंके लिये दान देते हैं, तब उसी पुण्यसे उनको यह गन्धर्वलोक प्राप्त होता है। यह गुह्यकलोककी अपेक्षा श्रेष्ठ है। तुम्बुरु और नारद—ये दोनों गन्धर्व देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ हैं। नाद साक्षात् भगवान् शिवका स्वरूप है। वे दोनों उस नादतत्त्वके ज्ञाता हैं। यदि किसीने कहीं भगवान् विष्णु और शिवके समीप गीत गाया है, तो उसका फल मोक्ष है अथवा उन दोनोंके सामीप्यकी प्राप्तिको उसका फल बताया गया है। अतः संगीतमालाके द्वारा भगवान् विष्णुकी सदा पूजा करनी चाहिये।

**तत्पश्चात् शिवशर्मा क्षणभरमें दूसरे मनोहर लोकमें जा पहुँचे और उन्होंने पूछा**—इस नगरका क्या नाम है?'

**दोनों गणोंने कहा**—यह विद्याधरोंका लोक है। अनेक प्रकारकी विद्याओंमें विशारद ये विद्याधर लोग विद्यार्थियोंको अन्न और ओषधि दान करते रहे हैं। विद्याके गर्वसे रहित हो इन्होंने छात्रोंको नाना प्रकारकी कलाएँ सिखलायी हैं। शिष्यको पुत्रके समान देखा तथा भोजन और वस्त्र आदिसे उसका सत्कार किया है। ये धर्मपूर्वक अपनी सुन्दरी कन्याओंको वस्त्र और आभूषणोंसे विभूषित करके उनका विवाह

करते रहे हैं और प्रतिदिन फलकी इच्छासे इन्होंने इष्टदेवोंकी पूजा की है। उन्हीं पुण्योंसे ये विद्याधरलोग यहाँ निवास करते हैं।

**शिवशर्मा और विष्णुपार्षदोंमें इस प्रकार बातचीत हो रही थी कि धर्मराज वहाँ आ पहुँचे और इस प्रकार बोले**—शिवशर्मन्! तुम्हें साधुवाद है। तुमने वह कार्य किया, जो ब्राह्मणकुलके लिये सर्वथा उचित है। पहले वेदोंका अभ्यास किया, गुरुजनोंको अपनी सेवासे सन्तुष्ट किया, धर्मशास्त्र और पुराणोंमें प्रतिपादित धर्मको जाना और उसका आदर किया तथा इस क्षणभंगुर शरीरको मोक्षदायिनी सात पुरियोंके जलसे नहलाया। इसीलिये बुद्धिमान् पुरुष विद्वत्ताका आदर करते हैं; क्योंकि विद्वान् लोग दिनका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बीतने देते। आयु शीघ्र बीत जानेवाली है, लोक शोकमें डूबा हुआ है, अतः श्रेष्ठ धर्मात्मा पुरुषोंको तुम्हारी ही भाँति सदा धर्ममें मन लगाना चाहिये। देखो, यह सत्कर्मोंका ही फल है कि तुम्हारे और मेरे लिये भी वन्दनीय ये भगवान्‌के पार्षद आज तुम्हारे सखा हो गये हैं। आज मैं धन्य हूँ कि यहाँ मुझे भगवान्‌के युगल पार्षदोंका दर्शन हुआ।

तत्पश्चात् उन दोनों गणोंके कहनेपर यमराज अपनी पुरीको लौट गये। उसके बाद शिवशर्माने उन दोनों पार्षदोंसे कहा—'ये साक्षात् धर्मराज थे, इनकी आकृति तो बड़ी ही सौम्य है। यह संयमनी पुरी भी अतिशय शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न है, जिसका नाम सुनकर भी पापी जीव अत्यन्त भयभीत हो उठते हैं। मर्त्यलोकमें मनुष्य यमराजके स्वरूपका अन्य प्रकारसे वर्णन करते हैं, परंतु मैंने यहाँ इन्हें और ही प्रकारसे देखा है। इसका क्या कारण है, यह आपलोग बतलावें।'

**दोनों गण बोले**—सौम्य! सुनो, तुम-जैसे पुण्यात्मा पुरुषोंको ही ये अत्यन्त सौम्य दिखायी देते हैं; क्योंकि धर्मराज स्वभावसे ही धर्ममूर्ति हैं। ये ही पापियोंके लिये विकराल स्वरूप धारण कर लेते हैं। इनकी पीली-पीली आँखें क्रोधसे लाल हो उठती हैं, बड़ी-बड़ी दाढ़ोंसे इनका मुख विकराल हो उठता है तथा बिजलीकी-सी लपलपाती हुई जिह्वासे ये और भी भयंकर दिखायी देते हैं। इनके केश ऊपरकी ओर उठे होते हैं, शरीरका रंग अत्यन्त काला हो जाता है और इनकी आवाज प्रलयकालीन मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके समान होती है। हाथमें कालदण्ड उठाये टेढ़ी भौंहोंसे कुटिल मुख किये यमराज अपने दूतोंको आज्ञा देते हैं—'इस पापात्माको यहाँ लाओ, नीचे गिरा दो, अच्छी तरह बाँध दो और कठोर दण्ड दो। इस दुराचारीके मस्तकपर लोहेके मुद्गरोंसे जोर-जोरसे मारो। दोनों पैर पकड़कर इसे पत्थरकी चट्टानोंपर दे मारो। अपने पैरोंसे इसका गला दबाकर इसकी दोनों आँखें निकाल लो। परायी स्त्रीकी ओर फैलनेवाले इस पापात्माके हाथ काट डालो। परायी स्त्रीके शरीरमें नखक्षत करनेवाले इस दुरात्माके शरीरमें सब ओरसे रोम-रोममें सूई चुभो दो। पर-स्त्रीका मुख चूमने और सूँघनेवाले इस दुष्टके मुँहमें थूक दो। दूसरोंकी निन्दा करनेवाले इस पापीके मुँहमें तीखी कील ठोंक दो। इस कुलकलंकिनी कुलटाको तपाये हुए लोहेके बने उपपतिके शरीरसे सटा दो। जो अजितेन्द्रिय पुरुष अपने ही ग्रहण किये हुए नियमोंका त्याग करता है, उस दुष्टात्माको भ्रमरदंश नामक नरकमें बार-बार गिराओ।' इत्यादि बातें कहते हुए यमराजका शब्द दुराचारी पुरुषोंको दूरसे ही सुनायी देता है। पापात्माओंको यमराज अत्यन्त भयंकर दिखायी देते हैं।

जो राजा इस जगत्‌में अपने औरस पुत्रोंकी भाँति प्रजाका पालन करते और धर्मके अनुसार दण्ड देते हैं, वे यमराजकी सभाके सदस्य होते हैं। जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सदा अपने धर्ममें तत्पर रहते हैं तथा दूसरे भी जो संयमी जीवन व्यतीत करनेवाले हैं, वे सब लोग संयमनीपुरीमें धर्मसभाके सदस्य होकर निवास करते हैं। उशीनर (शिवि), सुधन्वा, वृषपर्वा,

जयद्रथ, रजि, सहस्रजित्, कुक्षि, दृढ़धन्वा, रिपुंजय, युवनाश्व, दन्तवक्र, शत्रुओंका भी मंगल चाहनेवाले नाभाग, करन्धम, धर्मसेन, परमर्द तथा परान्तक—ये और दूसरे भी बहुत-से नीतिज्ञ राजा, जो धर्म और अधर्मका विचार करनेमें कुशल हैं, धर्मराजकी सुधर्मा सभामें बैठते हैं।

**यमराज अपने दूतोंसे कहते हैं**—मेरे सेवको! जो मनुष्य गोविन्द, माधव, मुकुन्द, हरे, मुरारे, शम्भु, शिव, ईश, चन्द्रशेखर, शूलपाणि, दामोदर, अच्युत, जनार्दन और वासुदेव इत्यादि नामोंका सदा उच्चारण करते रहते हैं, उनको दूरसे ही त्याग देना। दूतो! जो लोग सदा गंगाधर, अन्धकरिपु, हर, नीलकण्ठ, वैकुण्ठ, कैटभरिपु, कमठ, पद्मपाणि, भूतेश, खण्डपरशु, मृड, चण्डिकेश आदि नामोंका जप करते हैं, वे तुम्हारे लिये सर्वथा त्याज्य हैं। मेरे दूतो! विष्णु, नृसिंह, मधुसूदन, चक्रपाणि, गौरीपति, गिरीश, शंकर, चन्द्रचूड, नारायण, असुरविनाशन, शार्ङ्गपाणि इत्यादि नामोंका सदा जो लोग कीर्तन करते रहते हैं, उन्हें भी दूरसे ही त्याग देना उचित है*।

**अगस्त्यजी कहते हैं**—प्रिये लोपामुद्रे! इस प्रकार पापरहित मनोरम कथाका श्रवण करते हुए शिवशर्माने प्रसन्नमुख होकर अपने सामने अप्सराओंकी पुरी देखी।

## शिवशर्माका सूर्यलोकमें पहुँचकर सूर्यदेवकी महिमा श्रवण करना

**अगस्त्यजी कहते हैं**—तदनन्तर विमानपर बैठे हुए शिवशर्मा सूर्यलोकमें जा पहुँचे। उन्होंने सूर्यदेवको हाथ जोड़कर प्रणाम किया। भगवान् सूर्य अपने भ्रूभंगमात्रसे उनके प्रणामको स्वीकार

करके क्षणभरमें आकाशमार्गमें बहुत दूर निकल गये। तब शिवशर्माने भगवत्पार्षदोंसे पूछा—'भगवान् सूर्यका लोक कैसे प्राप्त होता है?'

**भगवान् विष्णुके पार्षदोंने कहा**—ब्रह्मन्! सुनो। जो समस्त प्राणियोंके एकमात्र नियन्ता, परम कारण, नाम और गोत्रसे रहित तथा रूप आदिसे शून्य हैं, जिनकी भौंहोंके विलासमात्रसे जगत्की सृष्टि और प्रलय होते हैं, वे सर्वात्मा वेद-पुरुष ऐसा कहते हैं कि जो आदित्य-मण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष सूर्यदेव हैं, वही मैं हूँ। जो गायत्रीमन्त्रकी दीक्षा प्राप्त करके तीनों कालमें ठीक समयपर सन्ध्योपासना, सूर्योपस्थान तथा गायत्री-मन्त्रका जप नहीं करता, वह एक सप्ताहमें स्वधर्मसे भ्रष्ट हो जाता है, इसमें संशय नहीं। प्रातःकाल सन्ध्योपासना करके गायत्री-मन्त्रका जप करते हुए तबतक खड़ा रहे, जबतक कि सूर्यदेवका आधा उदय न हो जाय। सायंकालमें मौनभावसे आसनपर बैठे हुए ही तबतक जप करता रहे, जबतक ताराओंका उदय न हो जाय। मध्याह्न-सन्ध्यामें सूर्यकी ओर मुख करके जप

* गोविन्द माधव मुकुन्द हरे मुरारे शम्भो शिवेश शशिशेखर शूलपाणे।
दामोदराच्युत जनार्दन वासुदेव त्याज्या भटा य इति सन्ततमामनन्ति॥ (स्क० पु०, का० पू० ८।९९)

करना चाहिये। समयपर ही अन्न आदि ओषधियोंमें फल लगते हैं, समयपर ही वृक्षोंमें फूल खिलते हैं और समयपर ही मेघगण पानी बरसाते हैं। इसलिये सन्ध्याके लिये उचित कालका उल्लंघन न करे[१]। जिसने समयपर भगवान् सूर्यको गायत्रीमन्त्रसे अभिमन्त्रित जलकी तीन अंजलियाँ प्रदान कीं, उसने क्या तीनों लोकोंका दान नहीं कर दिया? ठीक समयसे उपासना करनेपर भगवान् सूर्य मनुष्यको आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, धन, पशु, मित्र, पुत्र, स्त्री, भाँति-भाँतिके क्षेत्र, आठ प्रकारके भोग, स्वर्ग तथा मोक्ष क्या-क्या नहीं देते। सब मन्त्रोंमें प्रणवसहित गायत्री दुर्लभ है। तीनों वेदोंमें गायत्रीसे बढ़कर कोई मन्त्र नहीं बताया गया है। गायत्रीके समान मन्त्र, काशीके सदृश पुरी तथा भगवान् विश्वनाथके तुल्य शिवमूर्ति कहीं नहीं है। गायत्री वेदोंकी माता और ब्राह्मणोंकी जननी है। वह अपना गान करनेवाले उपासकका त्राण करती है, इसलिये 'गायत्री' कहलाती है[२]। गायत्री-मन्त्र और भगवान् सूर्य इन दोनोंमें वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। साक्षात् भगवान् सूर्य वाच्य (अर्थरूप) हैं और मन्त्रोंमें श्रेष्ठ गायत्री वाचक है। गायत्रीके प्रभावसे ही जितेन्द्रिय विश्वामित्र क्षत्रिय होनेपर भी राजर्षिपदका परित्याग करके ब्रह्मर्षिपदको प्राप्त हुए। गायत्री ही परम विष्णु है, गायत्री ही परम शिव है, गायत्री ही परम ब्रह्मा है और गायत्री ही तीनों वेद है।[३] जो ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि आलस्य छोड़कर सूर्यदेवतासम्बन्धी वैदिक सूक्तोंद्वारा सदैव भगवान् सूर्यका उपस्थान करते और उन्हें मस्तक झुकाते हैं, वे साक्षात् सूर्यके ही समान हैं। सूर्यग्रहणके समय जो कुछ स्नान, दान, जप, होम तथा श्राद्ध आदि सत्कर्मोंका अनुष्ठान किया जाता है, वह सब भगवान् सूर्यके सामीप्यकी प्राप्तिमें सहायक होता है। १ हंस, २ भानु, ३ सहस्रांशु, ४ तपन, ५ तापन, ६ रवि, ७ विकर्तन, ८ विवस्वान्, ९ विश्वकर्मा, १० विभावसु, ११ विश्वरूप, १२ विश्वकर्ता, १३ मार्तण्ड, १४ मिहिर, १५ अंशुमान्, १६ आदित्य, १७ उष्णगु, १८ सूर्य, १९ अर्यमा, २० ब्रध्न, २१ दिवाकर, २२ द्वादशात्मा, २३ सप्तहय, २४ भास्कर, २५ अहस्कर, २६ खग, २७ सूर, २८ प्रभाकर, २९ श्रीमान्, ३० लोकचक्षु, ३१ ग्रहेश्वर, ३२ त्रिलोकेश, ३३ लोकसाक्षी, ३४ तमारि, ३५ शाश्वत, ३६ शुचि, ३७ गभस्तिहस्त, ३८ तीव्रांशु, ३९ तरणि, ४० सुमहोरणि, ४१ द्युमणि, ४२ हरिदश्व, ४३ अर्क, ४४ भानुमान्, ४५ भयनाशन, ४६ छन्दोश्व, ४७ वेदवेद्य,

---

गंगाधरान्धकरिपो हर नीलकण्ठ वैकुण्ठ कैटभरिपो कमठाब्जपाणे।
भूतेश खण्डपरशो मृड चण्डिकेश त्याज्या भटा य इति सन्ततमामनन्ति॥
विष्णो नृसिंह मधुसूदन चक्रपाणे गौरीपते गिरिश शङ्कर चन्द्रचूड।
नारायणासुरनिबर्हणशार्ङ्गपाणे त्याज्या भटा य इति सन्ततमामनन्ति॥
(स्क० पु०, का० पू० ८। १००-१०१)

१- उपलभ्य च सावित्रीं नोपतिष्ठेत यः पराम्। काले त्रिकालं सप्ताहात्स पतेन्नात्र संशयः॥
तावत्प्रातर्जपंस्तिष्ठेद्यावदर्धोदयो रवेः। आसनस्थो जपेन्मौनी प्रत्यगा तारकोदयात्॥
सादित्यां मध्यमां सन्ध्यां जपेदादित्यसम्मुखः। काललोपो न कर्तव्यस्ततः कालं प्रतीक्षयेत्॥
काले फलन्त्योषधयः काले पुष्पन्ति पादपाः। वर्षन्ति तोयदाः काले तस्मात्कालं न लङ्घयेत्॥
(स्क० पु०, का० पू० ९। ४१—४४)

२- दुर्लभा सर्वमन्त्रेषु गायत्री प्रणवान्विता। न गायत्र्याधिकं किञ्चित्त्रयीषु परिगीयते॥
न गायत्रीसमो मन्त्रो न काशीसदृशी पुरी। न विश्वेशसमं लिंगं सत्यं सत्यं पुनः पुनः॥
गायत्री वेदजननी गायत्री ब्राह्मणप्रसूः। गातारं त्रायते यस्माद्गायत्री तेन गीयते॥
(स्क० पु०, का० पू० ९। ५१—५३)

३- गायत्र्येव परो विष्णुर्गायत्र्येव परः शिवः। गायत्र्येव परो ब्रह्मा गायत्र्येव त्रयी ततः॥
(स्क० पु०, का० पू० ९। ५७)

४८ भास्वान्, ४९ पूषा, ५० वृषाकपि, ५१ एक-चक्ररथ, ५२ मित्र, ५३ मन्देहारि, ५४ तमिश्रहा, ५५ दैत्यहा, ५६ पापहर्ता, ५७ धर्म, ५८ धर्मप्रकाशक, ५९ हेलिक, ६० चित्रभानु, ६१ कलिघ्न, ६२ तार्क्ष्यवाहन, ६३ दिक्पति, ६४ पद्मिनीनाथ, ६५ कुशेशयकर, ६६ हरि, ६७ धर्मरश्मि, ६८ दुर्निरिक्ष्य, ६९ चण्डांशु और ७० कश्य-पात्मज *—सूर्यदेवके इन परम पवित्र नामोंके आदिमें प्रणव और अन्तमें 'नमः' शब्द जोड़कर प्रत्येक नामको चतुर्थ्यन्त करके उसका उच्चारण

* इन सत्तर नामोंका संक्षेपसे अर्थ-बोध कराया जाता है—

१. हन्ति गच्छति जानाति सर्वम् इति वा हंसः।

जो सर्वत्र जाता है अथवा सबको जानता है, वह हंस है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार सर्वव्यापी सर्वज्ञ परमात्माका नाम ही हंस है। 'हंस' या 'सोऽहम्' यह अजपा-मन्त्र भी है।

२. भातीति भानुः, भाः नुदति प्रेरयति इति वा भानुः।

जो विभासित हो अथवा अपनी प्रभाका प्रसार करे, वह भानु है। ३. सहस्र (असंख्य) किरणोंवाले। ४. तपनेवाले। ५. तपानेवाले। ६. लोकान् अवति रक्षति इति रविः; जो सम्पूर्ण लोकोंका अवन—रक्षण करे, वह रवि है। अवधातुके पूर्वमें 'रुट्' का आगम होता है, जिससे 'रवि' शब्दकी सिद्धि होती है। जैसा कि अन्यत्र बताया गया है—

'अवेति रक्षणे धातुः प्रत्ययेऽस्य रुडागमः।
अवति त्रीनिमाँल्लोकांस्तेनासौ रविरुच्यते॥' ॥ इति॥

७. विश्वकर्माके द्वारा भगवान् सूर्यके तेजका विशेषरूपसे कर्तन—संक्षिप्तीकरण किया गया है, इसलिये उनका नाम विकर्तन है। ८. जिनका वसु अर्थात् तेज सबसे विशिष्ट है, उन्हें विवस्वान् कहते हैं। ९. सम्पूर्ण विश्व जिनका कर्म है अथवा जिनसे सम्पूर्ण विश्वकी कर्ममें प्रवृत्ति होती है, उन भगवान् सूर्यका नाम विश्वकर्मा है। १०. अग्निस्वरूप होनेसे सूर्यदेवका नाम विभावसु है अथवा जिनके वसु—किरण अनेक प्रकारसे विभासित हैं, वे विभावसु कहलाते हैं। ११. सम्पूर्ण विश्वमें जिनका तेजोमय स्वरूप व्याप्त है अथवा यह विश्व जिनका ही स्वरूप है, वे भगवान् सूर्य विश्वरूप कहे गये हैं। १२. सम्पूर्ण विश्वको उत्पन्न करनेवाले। १३. मृत्तिकामय अर्थात् अचेतन अण्डमें वैराजरूपसे प्रविष्ट होनेके कारण सूर्यदेवका नाम मार्तण्ड हुआ। १४. मिहि राति गृह्णाति नाशयति इति वा मिहिरः। हिम अथवा कुहरेको ग्रहण करते या नष्ट करते हैं, इसलिये सूर्य मिहिर कहलाते हैं। १५. किरणोंसे युक्त। १६. अदितिके पुत्र। १७ उष्ण (गरम) किरणोंवाले। १८. सूते इति सूर्यः; जो सबका उत्पादन करे, वह सूर्य है। १९. अर्यमा त्रैमूर्तिः; वेदत्रयी जिनका स्वरूप है, वे सूर्यदेव अर्यमा कहलाते हैं। २०. जो सम्पूर्ण जगत्को बढ़ाता है, वह ब्रध्न है। २१. दिनको प्रकट करनेवाले। २२.बारह महीनोंमें बारह स्वरूपोंसे आदित्यमण्डलका संचालन करनेवाले। २३ सात घोड़ोंवाले। २४ प्रभाको फैलानेवाले। २५ दिन प्रकट करनेवाले। २६ आकाशमें चलनेवाले। २७ जगत् सूते इति सूरः; संसारको उत्पन्न करते हैं, इसलिये सूर हैं। २८ प्रभाका विस्तार करनेवाले। २९ कान्तिमान्। ३० सम्पूर्ण जगत्के नेत्रोंमें प्रकाश देनेवाले। ३१ ग्रहोंके स्वामी। ३२ तीनों लोकोंके स्वामी। ३३ अन्तर्यामीरूपसे सम्पूर्ण जगत्के साक्षी। ३४ अन्धकारके शत्रु। ३५ नित्य। ३६ पवित्र। ३७ किरणरूपी हाथोंवाले। ३८ तीक्ष्ण किरणवाले। ३९ संसार-समुद्रसे तारनेवाले नौकारूप। ४० अत्यन्त महान् तेजकी उत्पत्तिके स्थान। ४१ आकाशमें मणिके समान प्रकाशित होनेवाले। ४२ हरे रंगके घोड़ेवाले। ४३ अतिशयेन इयति गच्छति इत्यर्कः; जो अत्यन्त तीव्र वेगसे गमन करे, वह अर्क है। ४४ प्रकाशमान किरणोंवाले। ४५ भयका निवारण करनेवाले। ४६ गायत्री आदि सात छन्द ही सूर्यदेवके सात अश्व हैं, इसलिये उनका नाम छन्दोश्व है। ४७ वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य। ४८ प्रकाशवान्। ४९ वृष्टिः आदि द्वारेण सर्वं जगत् पुष्णाति इति पूषा; वर्षा आदिके द्वारा समस्त जगत्का पोषण करते हैं, इसलिये उनका नाम पूषा है। ५० वर्षति पुण्यफलम् आकम्पयति पापम् इति वृषाकपिः; पुण्यफलकी वर्षा करते और पापको आकम्पित (नष्ट) करते हैं, इसलिये सूर्यदेव वृषाकपि कहलाते हैं। ५१ सूर्यका रथ एक पहियेवाला है, इसलिये वे एक-चक्ररथ हैं। ५२ स्वभावतः सबके सुहृद् होनेसे उनका नाम मित्र है। ५३ आलस्यके प्रतीक मन्देह नामक राक्षसोंका शत्रु होनेके कारण भगवान् सूर्यको मन्देहारि कहते हैं। ५४ अन्धकारनाशक। ५५ दैत्योंके नाशक। ५६ पापोंका अपहरण करनेवाले। ५७ धारण करनेवाले अथवा धर्मस्वरूप। ५८ धर्मको प्रकाशित करनेवाले। ५९ हे आकाशे लिंकति गच्छति इति हेलिकः; 'ह' अर्थात् आकाशमें गमन करनेवाले होनेके कारण वे हेलिक हैं। ६० चित्र अर्थात् अनेक प्रकारकी किरणोंवाले। ६१ कलिके दोषोंका नाश करनेवाले। ६२ विष्णुरूपसे गरुड़की पीठपर चलनेवाले; अथवा तार्क्ष्य नाम है अरुणका, वह जिनका वाहन अर्थात् सारथि है, वे सूर्यदेव तार्क्ष्यवाहन कहे गये हैं। ६३ दिशाओंके स्वामी। ६४ कमलिनीके स्वामी अथवा उसे विकसित करनेवाले। ६५ हाथमें कमल धारण करनेवाले। ६६ अज्ञान एवं अन्धकारका अपहरण करनेवाले। ६७ उष्ण किरणवाले। ६८ जिनकी ओर देखना कठिन होता है। ६९ प्रचण्ड किरणवाले। ७० कश्यपजीके पुत्र।

करते हुए भगवान् सूर्यको अर्घ्य देना चाहिये। यथा—'**ॐ हंसाय नमः, ॐ भानवे नमः**' इत्यादि। अर्घ्यकी विधि इस प्रकार है—दोनों हाथोंमें निर्मल ताम्रपात्र लेकर उसे जलसे भर ले। उसमें कनेर आदिके पुष्प, रक्त चन्दन, दूर्वादल और अक्षत डाल दे। तत्पश्चात् पृथ्वीपर दोनों घुटने टेककर सूर्यकी ओर देख-देखकर एक-एक नामका पूर्वोक्त रूपसे उच्चारण करते हुए अर्घ्यपात्रको अपने मस्तकके पास लाकर परम पूजनीय सूर्यदेवको ध्यानपूर्वक अर्घ्य दे। सूर्योदय और सूर्यास्तके समय महामन्त्र-रहस्यरूप इन सत्तर नामोंके द्वारा प्रत्येक नाममय मन्त्रके साथ सूर्यदेवको नमस्कार करना चाहिये। ऐसा करनेवाला मनुष्य न कभी दरिद्र होता है और न कभी दुःखका ही भागी होता है। वह पूर्वजन्मोपार्जित भयंकर रोगोंसे भी मुक्त हो जाता है और समयपर मृत्युको प्राप्त होकर भगवान् सूर्यके लोकमें प्रतिष्ठित होता है।

इस पुण्यकथाको सुनते हुए शिवशर्माने क्षणभरमें देवराज इन्द्रके लोकमें पहुँचकर उनकी महापुरीका दर्शन किया।

## इन्द्रलोक तथा अग्निलोकका वर्णन, विश्वानर मुनिके द्वारा की हुई आराधनासे प्रसन्न होकर शिवजीका उन्हें वरदान देना

**शिवशर्माने पूछा**—यह उत्तम पुरी किसकी है?

**दोनों भगवत्पार्षदोंने कहा**—महाभाग! यह देवराज इन्द्रकी पुरी है। विश्वकर्माजीने बड़ी भारी तपस्याके बलसे इस पुरीका निर्माण किया है। इस अमरावतीमें कपड़ा बुननेवाले और आभूषण बनानेवाले नहीं रहते; क्योंकि यहाँ कल्पवृक्ष ही सबको रुचिके अनुसार वस्त्र और आभूषण देता है। यहाँ रसोई बनानेके कार्यमें कुशल रसोइये भी नहीं हैं, एकमात्र कामधेनु ही यहाँ सम्पूर्ण रसोंको प्रस्तुत करती है। यहीं सहस्र नेत्रोंवाले इन्द्र हैं। ये ही स्वर्गलोकके अधिपति हैं। इन्होंने सौ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया है, इसलिये ये इन्द्रदेव शतमन्यु कहलाते हैं। अग्नि आदि सात लोकपाल इनकी उपासना करते हैं। जो कोई भी जितेन्द्रिय पुरुष पृथ्वीपर निर्विघ्नतापूर्वक सौ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान पूरा कर लेता है, वह इन्द्रपुरीमें जाकर इन्द्र-पदवीको पाता है। जिन्होंने सौ यज्ञ पूरे नहीं किये हैं, वे यज्ञकर्ता राजा भी इस लोकमें निवास करते हैं। जो ब्राह्मण ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंद्वारा यजन करते हैं, वे भी इस लोकमें निवास करते है। जो तुलापुरुषदान आदि सोलह महादानोंका अनुष्ठान करते हैं, वे शुद्ध चित्तवाले पुण्यात्मा पुरुष अमरावतीपुरीको प्राप्त करते हैं। जो संग्राममें कभी पीठ नहीं दिखाते, कायरोंकी-सी बात नहीं करते, धीरतापूर्वक पराक्रम दिखाते हुए वीरशय्यापर वीरगतिको प्राप्त होते हैं, वे राजा भी यहाँ निवास करते हैं। यज्ञविद्यामें कुशल यज्ञकर्ता मनुष्य भी यहाँ निवास करते हैं। इस प्रकार देवराज इन्द्रके नगरकी स्थिति संक्षेपसे बतायी गयी है। अब तुम इस ज्योतिर्मयी अग्निपुरीकी ओर देखो। जो उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पुरुष अग्निदेवके उपासक हैं, वे इस लोकमें निवास करते हैं। अग्निहोत्रपरायण ब्राह्मण, अग्निसेवी ब्रह्मचारी तथा पंचाग्निव्रतका पालन करनेवाले तपस्वी अग्निलोकमें अग्निके समान तेजस्वी होकर रहते हैं। जो सर्दीके समय शीतका कष्ट दूर करनेके लिये सूखे काठ दान करते तथा मन्दाग्नि रोगवाले मनुष्यके जठराग्निकी वृद्धिके लिये वैश्वानर चूर्ण आदि औषध प्रदान करते हैं, वे चिरकालतक अग्निलोकमें निवास करते हैं। जो यज्ञके लिये

उपयोगी सामग्री अथवा धन अपनी शक्तिके अनुसार देते हैं, वे अर्चिष्मती पुरीमें स्थान पाते हैं। द्विजातियोंके लिये एकमात्र अग्निदेवता ही परम कल्याणकारी हैं—गुरु, देवता, व्रत और तीर्थ सब अग्नि ही हैं। सभी अपवित्र वस्तुएँ अग्निके संसर्गमें आनेपर क्षणभरमें पवित्र हो जाती हैं, अतएव उनका नाम पावक है। अग्निदेव त्रिभुवनके स्वामी परमेश्वरके नेत्र हैं। जब संसार घोर अन्धकारसे आच्छादित हो जाता है उस समय उनके सिवा दूसरा कौन प्रकाशक होता है।

पूर्वकालकी बात है, नर्मदा नदीके रमणीय तटपर नर्मपुरमें एक विश्वानर नामक मुनि थे, जो भगवान् शिवके भक्त और बड़े पुण्यात्मा थे। एक समय भगवान् शिवका ध्यान करके वे मन-ही-मन विचार करने लगे कि चारों आश्रमोंमें कौन-सा आश्रम सत्पुरुषोंके लिये विशेष कल्याणकारक है, जिसका भलीभाँति पालन करनेपर इहलोक और परलोकमें भी सुख होता है। यह साधन श्रेष्ठ है, यह उससे भी श्रेष्ठ है और यह सुगम है, इस प्रकार सबकी आलोचना करके उन्होंने गृहस्थ-आश्रमकी प्रशंसा की। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ अथवा संन्यासी—इन सबका आधार गृहस्थ-आश्रम ही है। देवता, मनुष्य, पितर तथा पशु-पक्षी आदि भी प्रतिदिन गृहस्थसे ही अपनी जीविका चलाते हैं, इसलिये गृहस्थाश्रमी पुरुष ही सर्वश्रेष्ठ है। जो गृहस्थ स्नान, होम अथवा दान किये बिना ही भोजन कर लेता है, वह देवता आदिका ऋणी होकर नरकमें पड़ता है। जो हठसे, लोकभयसे अथवा स्वार्थसे ब्रह्मचर्य-व्रतको धारण करता है, किंतु मन-ही-मन विषयभोगोंका चिन्तन करता रहता है, उसका धारण किया हुआ व्रत भी नहींके समान हो जाता है। परायी स्त्रीका परित्याग करने, अपनी ही स्त्रीसे सन्तुष्ट रहने तथा ऋतुकालके समय पत्नी-समागम करनेवाले गृहस्थको ब्रह्मचारी ही कहा गया है। जिसने राग-द्वेषको त्याग दिया है, जो काम-क्रोधसे दूर रहता है, वह अग्नि और स्त्रीके साथ रहनेवाला गृहस्थ वानप्रस्थसे भी बढ़कर है। जो वैराग्यसे घर छोड़कर निकले, किंतु हृदयमें घरका सदा चिन्तन करता रहे, वह दोनों ओरसे भ्रष्ट होता है। उसको न तो गृहस्थ कहा जा सकता है और न वानप्रस्थ ही। जो गृहस्थ ब्राह्मण बिना माँगे प्राप्त हुई जीविकासे जीवन-निर्वाह करता और जिस किसी वस्तुसे भी सन्तुष्ट रहता है, वह संन्यासीसे भी बढ़कर है। जो संन्यासी जहाँ कहीं भी कोई दुर्लभ वस्तु भी माँग बैठता है और भोजनसे सन्तुष्ट नहीं होता, वह संन्यास-धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है।

इस प्रकार गुण-अवगुणका विचार करके विश्वानर ब्राह्मणने अपने योग्य उत्तम कुलकी कन्याके साथ विधिपूर्वक विवाह किया। वे अग्निसेवामें तत्पर रहते, पंचयज्ञोंका अनुष्ठान करते, सदा यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन और दान-प्रतिग्रह—इन छः कर्मोंमें संलग्न रहते तथा देवता, पितर एवं अतिथियोंसे प्रेम रखते थे। मनको संयममें रखनेवाले विश्वानर मुनि धर्म, अर्थ और कामका तदनुकूल समयमें संग्रह करते थे। दोनों दम्पति एक-दूसरेके अनुकूल चलते थे; अतः उनमें परस्पर कोई संकोच नहीं था। वे ब्राह्मण कर्मकाण्डके ज्ञाता थे, अतः पूर्वाह्णकालमें देवयज्ञ, मध्याह्नमें मनुष्ययज्ञ (अतिथि-सेवा) तथा अपराह्णमें पितृयज्ञ करते थे। इस तरह बहुत समय बीत जानेपर उन ब्राह्मणदेवताकी पतिव्रता पत्नी शुचिष्मती एक दिन अपने पतिसे इस प्रकार बोली—'प्राणनाथ! स्त्रियोंके योग्य जितने भोग हैं, वे सब आपके प्रसादसे मेरे द्वारा पूर्णरूपसे भोगे गये हैं। अब आप मुझे भगवान् शंकरके सदृश पुत्र प्रदान करें।'

शुचिष्मतीका यह वचन सुनकर विश्वानर मुनिने क्षणभर समाधि लगाकर मन-ही-मन इस प्रकार विचार किया—'अहो! मेरी इस पत्नीने यह कैसा अत्यन्त दुर्लभ वर माँगा है। परंतु

इसके मुखमें वचनरूपसे स्थित होकर साक्षात् भगवान् शिवने ही यह बात कही है, अतः इसे टालने या बदलनेकी भी सामर्थ्य किसमें है।' यों सोच-विचारकर विश्वानर मुनिने पत्नीसे कहा—'प्रिये! ऐसा ही होगा।' उसे इस प्रकार आश्वासन देकर मुनि तपस्याके लिये चल दिये। उन्होंने काशीमें जाकर मणिकर्णिकाका दर्शन किया और सौ जन्मोंमें उपार्जित त्रिविध पाप-तापोंका परित्याग कर दिया। विश्वेश्वर आदि सम्पूर्ण शिवलिंगोंका दर्शन करके सभी कुण्डों, बावड़ियों, कुओं और तालाबोंमें स्नान किया। सम्पूर्ण गणेश-विग्रहोंको नमस्कार करके समस्त गौरी-विग्रहोंके चरणोंमें मस्तक झुकाया। तत्पश्चात् पापोंका भक्षण करनेवाले कालराज भैरवका भलीभाँति पूजन करके आदिकेशव, आदिश्रीविष्णु-विग्रहोंको सन्तुष्ट किया। फिर लोलार्क आदि सूर्य-विग्रहोंको बार-बार नमस्कार करके सब तीर्थोंमें पिण्डदान किया। सहस्रोंकी संख्यामें भोजन कराकर संन्यासियों और ब्राह्मणोंको तृप्त किया।

तदनन्तर वे बार-बार यह सोचने लगे कि कौन-सा शिवलिंग शीघ्र सिद्धि प्रदान करनेवाला है। क्षणभर सोच-विचार करनेके बाद वे इस निर्णयपर पहुँचे कि जहाँ सिद्धिरूपिणी विकटा देवी प्रकट हुई हैं और जहाँ सिद्धिविनायकजी सब विघ्नोंका निवारण करके समस्त सिद्धियाँ प्रदान करते हैं, वह सिद्धिक्षेत्र ही अविमुक्त क्षेत्रमें सबसे प्रधान स्थान है। वहाँ वीरेश्वर नामसे प्रसिद्ध शिवलिंग अत्यन्त गुह्यतम माना गया है। काशीमें ऐसी भूमि नहीं है, जहाँ कोई शिवलिंग न हो। परंतु वीरेश्वरलिंगके समान शीघ्र सिद्धि प्रदान करनेवाला तथा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष देनेवाला दूसरा लिंग नहीं है। शिवभक्तोंमें श्रेष्ठ चन्द्रमौलि तथा भरद्वाजजी पूर्वकालमें वीरेश्वरकी आराधना करके उनकी महिमाका गान करते हुए उन्हींमें लीन हो गये। नागराज शंखचूडने भी प्रतिदिन रातमें अपने फनोंकी मणियोंसे बार-बार आरती उतारते हुए छः महीनेमें सिद्धि प्राप्त कर ली। यहाँ वसुदत्त और रत्नदत्त नामक वैश्योंने एक वर्षतक श्रीवीरेश्वरकी आराधना करके सत्यवतीके समान पुत्री प्राप्त की थी। अतः मैं भी यहाँ तीनों काल वीरेश्वरकी आराधना करके अपनी स्त्रीकी रुचिके अनुसार शीघ्र ही पुत्र प्राप्त करूँगा।

धीर बुद्धिवाले विप्रवर विश्वानरने ऐसा निश्चय करके चन्द्रकूपके जलसे स्नान किया और व्रतकी दीक्षा ले नियम ग्रहण किया। वे एक मासतक प्रतिदिन केवल एक बार भोजन करके रहे। फिर दूसरे मासमें दिनभर उपवास करके केवल रातमें ही भोजन करते रहे। फिर एक मासतक बिना माँगे जो कुछ मिल जाय, उसीपर निर्वाह करते रहे। उसके बाद पूरे एक मासतक उन्होंने अखण्ड उपवास किया। तदनन्तर, एक मासतक दूध पीकर, एक मासतक साग और फल खाकर, एक महीनेतक मुट्ठीभर तिल चबाकर और एक महीनेतक केवल जल पीकर जीवन-निर्वाह किया। तत्पश्चात् एक मासतक वे केवल पंचगव्य पीकर रहे, एक मासतक चान्द्रायण व्रतमें लगे रहे, एक मासतक कुशाके अग्रभागपर जितना जल आता है, उतना ही पीकर तप करते रहे और एक मासतक उन्होंने केवल वायुका आहार किया। इसके बाद तेरहवें मासमें गंगाजीके जलमें स्नान करके वे प्रातःकाल ज्यों ही भगवान् वीरेश्वरके समीप गये, त्यों ही उस लिंगके मध्यभागमें उन्हें एक विभूति-भूषित अष्टवर्षीय सुन्दर बालक दिखायी दिया। उसके नेत्र कानोंके समीपतक फैले हुए थे। ओठ बहुत ही लाल थे। मस्तकपर पीले रंगकी जटाका मनोहर मुकुट शोभा पा रहा था। वह बालक नंगा था और उसके मुखपर हास्यकी छटा छा रही थी। उसने बालकोचित वेष-भूषा धारण कर रखी थी। वह मनोहर बालक वैदिक सूक्तोंका पाठ करता और खेल-खेलमें ही हँसता था।

उसे देखकर विश्वानरके शरीरमें आनन्दातिरेकसे रोमांच हो आया और वे गद्गदकण्ठसे बोल उठे—'नमस्कार है, नमस्कार है।' तत्पश्चात् उन्होंने इस प्रकार स्तवन किया—'यहाँ सब कुछ एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म ही है। यह बात सत्य है, सत्य है। इस विश्वमें भेद या नानात्व कुछ भी नहीं है। इसलिये एक अद्वितीयरूप आप महेश्वरकी मैं शरण लेता हूँ। शम्भो! आप रूपरहित अथवा एकरूप होकर भी जगत्के नाना स्वरूपोंमें अनेककी भाँति प्रतीत होते हैं। ठीक उसी तरह, जैसे जलके भिन्न-भिन्न पात्रोंमें एक ही सूर्य अनेकवत् दृष्टिगोचर होता है। अतः आपके सिवा और किसी स्वामीकी मैं शरण नहीं लेता। जैसे रज्जुका ज्ञान हो जानेपर सर्पका भ्रम मिट जाता है, सीपीका बोध होते ही चाँदीकी प्रतीति नष्ट हो जाती है तथा मृगमरीचिकाका निश्चय होनेपर उसमें प्रतीत होनेवाला जलप्रवाह असत्य सिद्ध हो जाता है, उसी प्रकार जिनका ज्ञान होनेपर सब ओर प्रतीत होनेवाला यह सम्पूर्ण प्रपंच उन्हींमें विलीन हो जाता है, उन महेश्वरकी मैं शरण लेता हूँ। शम्भो! जैसे जलमें शीतलता, अग्निमें दाहकता, सूर्यमें ताप, चन्द्रमामें आह्लाद, पुष्पमें सुगन्ध तथा दूधमें घी स्थित है, उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्वमें आप व्याप्त हैं, इसलिये मैं आपकी ही शरण लेता हूँ। आप बिना कानके ही शब्दको सुनते हैं, नासिकाके बिना ही सूँघते हैं, पैरोंके बिना ही दूरसे चले आते हैं, नेत्रोंके बिना ही देखते और रसनाके बिना ही रसका अनुभव करते हैं, आपको यथार्थरूपसे कौन जानता है? अतः मैं आपकी ही शरण लेता हूँ। ईश! वेद भी आपके साक्षात् स्वरूपको नहीं जानता, बड़े-बड़े योगीश्वर तथा इन्द्र आदि देवता भी आपको यथार्थरूपसे नहीं जानते, परंतु आपका भक्त आपकी ही कृपासे आपको जानता है, अतः मैं आपकी ही शरण लेता हूँ। आप ही वृद्ध हैं, आप ही तरुण हैं और आप ही बालक हैं। कौन-सा ऐसा तत्त्व है, जो आप नहीं हैं, सब कुछ आप ही हैं, अतः मैं आपके चरणोंमें मस्तक नवाता हूँ।'

इस प्रकार स्तुति करके विप्रवर विश्वानर अतिशय आनन्दमग्न हो दण्डकी भाँति पृथ्वीपर पड़ गये। इतनेमें ही बालकरूपधारी शिव बोल उठे—'भूदेव! तुम कोई वर माँगो। तुमने अपनी धर्मपत्नी शुचिष्मतीके विषयमें अपने मनमें जो अभिलाषा की है, वह थोड़े ही समयमें पूर्ण होगी। महामते! मैं स्वयं ही शुचिष्मतीके गर्भमें आकर तुम्हारा पुत्र होऊँगा। उस समय सब देवताओंका परम प्रिय मैं गृहपति (अग्नि)-के नामसे विख्यात होऊँगा। तुमने जो इस अभिलाषाष्टक नामक पवित्र स्तोत्रका पाठ किया है, इस स्तोत्रको तीनों समय मेरे समीप यदि पढ़ा जाय तो यह सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाला होगा। इस स्तोत्रका पाठ पुत्र, पौत्र और धन देनेवाला होगा, सब प्रकारकी शान्ति करनेवाला और सम्पूर्ण आपत्तियोंका नाशक होगा। इतना ही नहीं, यह स्वर्ग, मोक्ष तथा सम्पत्ति देनेवाला भी होगा। एक वर्षतक पाठ करनेपर यह स्तोत्र पुत्रदान करनेवाला होगा, इसमें संशय नहीं है।' ऐसा कहकर बालरूपधारी महादेवजी अन्तर्धान हो गये और विप्रवर विश्वानर भी अपने घर लौट गये।

## विश्वानरके पुत्र गृहपतिका भगवान् शिवकी आराधनासे अग्नि एवं दिक्पालका पद प्राप्त करना

**अगस्त्यजी कहते हैं**—तदनन्तर विश्वानरद्वारा विधिपूर्वक गर्भाधान-संस्कार सम्पन्न होनेपर उनकी स्त्री शुचिष्मती गर्भवती हुई। तत्पश्चात् विद्वान् विश्वानरने गृह्यसूत्रोक्त विधिसे बालककी पुरुषोचित शक्ति बढ़ानेके उद्देश्यसे गर्भिणीका पुंसवन-संस्कार किया। यह संस्कार गर्भस्थ बालकके

गर्भमें चलने-फिरनेसे पहले ही सम्पन्न किया गया। तदनन्तर आठवें मासमें सीमन्तोन्नयन संस्कार किया, जो गर्भस्थ बालकके अवयवोंको पुष्ट करनेवाला है। उसके बाद सुखपूर्वक पुत्रका जन्म हो जाय, इसके लिये भी विद्वान् ब्राह्मणने सोष्यन्ती नामक वैदिक कर्म सम्पन्न किया। यह सब होनेके पश्चात् शुभ ग्रह एवं नक्षत्रोंके योगमें शुचिष्मतीके गर्भसे एक चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखवाला पुत्र उत्पन्न हुआ, जो सब प्रकारके अरिष्टोंका नाश करनेवाला था। वह अपने अंगोंकी प्रभासे सूतिकागृहको प्रकाशित कर रहा था। स्वयं ब्रह्माजीने आकर उस बालकका जातकर्म-संस्कार किया और यह बताया कि इस बालकका नाम गृहपति होगा। विष्णु और महादेवजीके साथ बालकके लिये उचित रक्षा-विधान करके सबके प्रपितामह ब्रह्माजी हंसपर आरूढ़ हो चले गये। चौथे महीनेमें बालकका घरसे बाहर निष्क्रमण हुआ। छठे महीनेमें उसका अन्नप्राशन-संस्कार किया गया और वर्ष पूरा होनेपर चूड़ाकरण। तदनन्तर श्रवण नक्षत्रमें कर्णवेध संस्कार करके ब्रह्मतेजकी वृद्धिके लिये पाँचवें वर्षमें उपनयन-संस्कारपूर्वक उसे यज्ञोपवीत दे दिया गया। उसके बाद श्रावणीमें उपाकर्म करके विद्वान् विश्वानरने उसे वेद पढ़ाना प्रारम्भ किया। तीन ही वर्षमें उस बालकने अंग, पद और क्रमके साथ विधिपूर्वक सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन कर लिया। विनय आदि सद्गुणोंको प्रकट करनेवाले उस शक्तिमान् विप्रकुमारने गुरुमुखको साक्षीमात्र बनाकर समस्त विद्याएँ ग्रहण कर लीं।

तदनन्तर नवें वर्षमें विश्वानरकुमार गृहपति जब माता-पिताकी सेवामें संलग्न था, उस समय इच्छानुसार विचरनेवाले देवर्षि नारदजी विश्वानरकी पर्णशालामें आये और उस बालकको देखकर अर्घ्य और आसन ग्रहण करनेके पश्चात् उन्होंने वहाँका कुशल-समाचार पूछा—'महाभाग विश्वानर और उत्तम व्रतका पालन करनेवाली देवी शुचिष्मती! यह बालक गृहपति तुम दोनोंकी आज्ञाका पालन तो करता है न? क्योंकि पुत्रके लिये पिता-माताके आज्ञापालनको छोड़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है, दूसरा कोई तीर्थ नहीं है तथा दूसरा कोई देवता, गुरु और सत्कर्म नहीं है। त्रिलोकीमें पुत्रके लिये माता-पितासे बढ़कर कोई वस्तु नहीं है। गर्भमें धारण और बाल्यावस्थामें पोषण करनेके कारण माताका गौरव पितासे भी बढ़कर है। समस्त कर्मोंका संन्यास (त्याग) करनेवाले संन्यासीके द्वारा भी पिता वन्दनीय है। उस सर्ववन्द्य संन्यासीको भी प्रयत्नपूर्वक अपनी माताके चरणोंकी वन्दना करनी चाहिये। यही अत्यन्त उग्र तपस्या है, यही सबसे श्रेष्ठ व्रत है और यही सर्वोत्तम धर्म है कि पिता-माताको सन्तुष्ट किया जाय *। विश्वानरकुमार! मेरे पास आओ मेरी गोदमें बैठो और अपना दाहिना हाथ दिखाओ। तुम्हारे लक्षण कैसे हैं, यह मैं देखूँगा।'

देवर्षि नारदके ऐसा कहनेपर बालक गृहपति पिता-माताकी आज्ञा ले नारदजीको प्रणाम करके भक्तिसे विनीत हो उनके समीप आ बैठा। उसे अच्छी तरह देखनेके बाद नारदजीने कहा—'विप्रवर! तुम्हारा यह पुत्र समूची पृथ्वीका पालन करनेवाला होगा और दिक्पाल पदवी धारण करेगा। इसके पास महान् ऐश्वर्य होगा। इसमें राजा होनेके लक्षण हैं। यह अत्यन्त सुलक्षण बालक है; किंतु सर्वगुणसम्पन्न, समस्त शुभ लक्षणोंसे लक्षित तथा सम्पूर्ण निर्मल कलाओंसे युक्त होनेपर भी इसे दुर्दैव चन्द्रमाकी भाँति नीचे गिरा सकता है। अतः पूर्ण प्रयत्न करके तुम्हें अपने इस शिशुकी रक्षा करनी चाहिये। बारहवें वर्षकी अवस्थामें इसको बिजलीकी अग्निसे भय है।' ऐसा कहकर बुद्धिमान् नारदजी जैसे आये थे, वैसे

* संन्यस्ताखिलकर्मापि पितुर्वन्द्यो हि मस्करी। सर्ववन्द्येन यतिना प्रसूर्वन्द्या प्रयत्नतः॥
इदमेव तपोऽत्युग्रमिदमेव परं व्रतम्। अयमेव परो धर्मो यत्पित्रोः परितोषणम्॥
(स्क० पु०, का० पू० ११। ५०-५१)

ही लौट गये। नारदजीके चले जानेपर माता-पिताको शोकसे घिरा हुआ देख गृहपतिने मुसकराते हुए कहा—'माता और पिताजी! आपलोगोंको इतना भय क्यों हो रहा है? आप दोनोंके चरणोंकी धूलिसे मेरे शरीरकी रक्षा हो रही है। मुझे काल भी अपना ग्रास नहीं बना सकता, फिर बेचारी बिजली तो बहुत छोटी वस्तु है। आप दोनों मेरी प्रतिज्ञा सुनें। यदि मैं आप दोनोंका पुत्र हूँ तो ऐसा प्रयत्न करूँगा जिससे बिजली स्वयं मुझसे भयभीत होगी। जो साधु-महात्माओंको सब कुछ देनेवाले और सर्वज्ञ हैं, कालके भी काल, कालकूट विषका भक्षण करनेवाले महाकाल हैं, उन भगवान् मृत्युंजयकी आराधना करके मैं निर्भय हो जाऊँगा।' पुत्रकी यह बात सुनकर बूढ़े ब्राह्मण-दम्पति इस प्रकार बोले—'बेटा! तुम भगवान् शिवकी शरणमें जाओ। इससे बढ़कर हितकी दूसरी कोई बात नहीं हो सकती। भगवान् शिव आशातीत फलको देनेवाले और कालका भी संहार करनेवाले हैं। जिसने तीनों लोकोंकी सम्पत्तिका अपहरण कर लिया था, उस महाभिमानी जालन्धरको जिन्होंने अपने चरणोंके अंगुष्ठकी रेखासे प्रकट हुए चक्रके द्वारा मार डाला था, जो ब्रह्मा आदि देवताओंके एकमात्र उत्पादक हैं और अपनी महिमासे कभी च्युत नहीं होते, उन सम्पूर्ण विश्वकी रक्षाके लिये चिन्तामणिस्वरूप भगवान् शिवकी शरणमें जाओ।'

माता-पिताकी ऐसी आज्ञा पाकर बालक गृहपति उनके चरणोंमें प्रणाम करके काशीमें गया। वहाँ विधिपूर्वक स्नान करके उसने तीनों लोकोंके प्राणियोंकी रक्षा करनेवाले भगवान् विश्वनाथका दर्शन एवं उन्हें प्रणाम किया। विश्वनाथजीका दर्शन करके गृहपतिके हृदयमें बड़ा सन्तोष हुआ। उसने मन-ही-मन कहा—'यह दिव्य शिवस्वरूप वास्तवमें परमानन्दकन्द है। इस मोक्षदायक मूर्तिमें सम्पूर्ण विश्वका और विश्वके बीजभूत कर्मोंका लय होता है, इसलिये यह 'विश्वनाथ' है। मेरे भाग्यका उदय हुआ था, इसीलिये महर्षि नारदने उस दिन आकर वैसी बात कही थी। इसीसे आज मैं विश्वनाथजीका दर्शन करके कृतकृत्य हो रहा हूँ।' इस प्रकार आनन्द-सुधारससे पारण-सा करके गृहपतिने अत्यन्त कठोर नियम ग्रहण किये। वह प्रतिदिन गंगाके अमृतमय जलसे भरे हुए एक सौ आठ कलशोंके वस्त्रद्वारा छाने हुए जलसे भगवान् शिवको स्नान कराता और उन्हें नीलकमलकी माला समर्पित करता था। वह माला एक हजार आठ पुष्पोंकी बनी हुई होती थी। गृहपति पंद्रह-पंद्रह दिनपर कन्द-मूल-फल भोजन करता था। इस तरह उसने छः मास व्यतीत किये। फिर छः महीनोंतक उसने एक-एक पक्षपर सूखे पत्ते चबाये। छः महीनोंतक उसने जलकी एक-एक बूँदका ही आहार किया और छः महीनोंतक केवल वायुभक्षण किया। इस प्रकार तपस्या करते हुए उस बालकके दो वर्ष व्यतीत हो गये। जन्मसे बारहवें वर्षमें वज्रधारी इन्द्र उसके समीप आये और बोले—'तुम कोई मनोवांछित वर माँगो, मैं उसे दूँगा।'

**बालक बोला**—इन्द्र! मैं आपको जानता हूँ, किंतु आपसे वर नहीं माँगूँगा। मुझे वर देनेवाले तो भगवान् शंकर हैं।

**इन्द्रने कहा**—बालक! मैं देवताओंका भी देवता हूँ। मुझसे भिन्न दूसरा कोई कल्याणकारी शंकर नहीं है। तुम मूर्खता छोड़कर मुझसे वर माँगो।

**ब्राह्मणबालक बोला**—पाकशासन! मैं भगवान् शिवके अतिरिक्त दूसरे किसी देवतासे याचना नहीं कर सकता।

उसकी यह बात सुनकर इन्द्रके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। उन्होंने भयानक वज्र उठाकर उस बालकको भयभीत किया। विद्युत्की सैकड़ों ज्वालाओंसे व्याप्त वज्रको देखकर ब्राह्मणबालकको देवर्षि नारदके वचनका स्मरण हो आया और वह भयसे व्याकुल होकर मूर्छित हो गया। इसी समय अज्ञानान्धकारको दूर करनेवाले गौरीपति भगवान् शंकर वहाँ प्रकट हो गये और अपने स्पर्शसे उस बालकमें नवजीवनका संचार-सा करते हुए बोले—'वत्स! तुम्हारा कल्याण हो, उठो, उठो।' उसने रातमें सोये हुएकी भाँति बंद नेत्रकमलोंको

खोलकर और उठकर देखा, आगे भगवान् शिव विराजमान हैं। उनका तेज सैकड़ों सूर्योंसे भी अधिक प्रकाशमान है, मस्तकपर जटाजूट उनकी

शोभा बढ़ा रहा है, त्रिशूल और आजगव धनुष (पिनाक) ये दोनों आयुध उनके हाथोंमें सुशोभित हैं। कर्पूरके समान गौर अंग उद्भासित हो रहा है। गुरुजनों और शास्त्रके वचनसे उक्त लक्षणोंद्वारा महादेवजीको पहचानकर गृहपतिके नेत्रोंमें आनन्दके आँसू छलक आये। वह एक क्षणतक ठगा हुआ-सा खड़ा रहा। स्तुति, नमस्कार अथवा कुछ निवेदन करनेमें भी समर्थ न हुआ। तब भगवान् शंकर मुसकराते हुए बोले—'वत्स गृहपते! तुम भयभीत न होओ। इन्द्रवज्र अथवा काल भी मेरे भक्तका अनिष्ट करनेमें समर्थ नहीं है। मैंने ही इन्द्रका रूप धरकर तुम्हें डराया था। भद्र! मैं तुम्हें वर देता हूँ, तुम अग्निपदवीके भागी बनो। तुम सम्पूर्ण देवताओंके मुख होओगे। अग्ने! तुम समस्त प्राणियोंके भीतर विचरण करो। इन्द्र (पूर्व) और धर्मराज (दक्षिण)-के मध्यमें तुम दिक्पाल बनकर रहो और अपना राज्य ग्रहण करो। तुमने जो यह शिवजीकी मूर्ति स्थापित की है, तुम्हारे ही नामसे प्रसिद्ध होगी। अग्नीश्वर नामसे विख्यात यह सब तेजोंको बढ़ानेवाली होगी। सब समृद्धियोंको देनेवाले अग्नीश्वरकी पूजा करके दैववश काशीसे अन्यत्र मरनेवाला पुरुष भी अग्निलोकमें प्रतिष्ठित होगा।' ऐसा कहकर गृहपति अग्निको दिक्पाल पदपर अभिषिक्त करके भगवान् शंकर उसी शिवमूर्तिमें समा गये।

## नैर्ऋत्यलोक तथा वरुणलोकका वर्णन

**शिवशर्मा बोले**—नारायणस्वरूप भगवत्पार्षदो! अब आपलोग नैर्ऋत्य आदि लोकोंका क्रमशः वर्णन करें।

**दोनों भगवत्पार्षदोंने कहा**—महाभाग! संयमनीपुरीसे आगे जो निर्ऋति नामक दिक्पालकी पुण्यमयी पुरी है, उसका वर्णन सुनो। उसमें पुण्यजन निवास करते हैं। यद्यपि इसमें राक्षसोंका ही वास है, तथापि वे राक्षस कभी भी दूसरोंसे द्रोह नहीं रखते। वे जातिमात्रसे राक्षस हैं, आचार-व्यवहारसे तो ये पुण्यजन हैं—पुण्यात्मा पुरुष हैं। ये सदा तीर्थ-स्नानपरायण हो प्रतिदिन देवपूजामें तत्पर रहते हैं। अपने नाम-गोत्रका उच्चारण करके ब्राह्मणोंको प्रणाम करते हैं। दम (मनोनिग्रह), दान, दया, क्षमा, शौच, इन्द्रियनिग्रह, अस्तेय (चोरी न करना), सत्य और अहिंसा—ये सभी प्राणियोंके लिये धर्ममें सहायक हैं। जो मनुष्य जहाँ कहीं भी जन्म लेकर सदा आवश्यक कार्योंके लिये उद्यमशील बने रहते हैं, वे सब प्रकारकी भोग-सामग्रियोंसे सम्पन्न हो इस नैर्ऋत्यलोकमें निवास करते हैं। काशी छोड़कर अन्य उत्तम तीर्थोंमें मरे हुए म्लेच्छकोटिके लोग यदि आत्मघाती न हों तो वे इस लोकमें भोगसम्पन्न होकर निवास करते हैं। जो कोई अन्त्यज भी दयाधर्मका अनुसरण करनेवाले और परोपकारपरायण

होते हैं, वे इस लोकमें श्रेष्ठतम होकर निवास करते हैं।

पूर्वकालमें विन्ध्याचलके जंगलोंमें पिंगाक्ष नामसे प्रसिद्ध एक भील रहता था, जो भीलोंका सरदार था। निर्विन्ध्या नदीके तटपर उसका घर था। वह शूरवीर होनेके साथ ही क्रूरकर्मोंसे विमुख था। पथिकोंपर डाका डालनेवाले लुटेरोंको वह दूर रहकर भी मरवा डालता था और व्याघ्र आदि दुष्ट एवं हिंसक जीवोंको प्रयत्नपूर्वक मारता था। यद्यपि व्याधोंके आचार-व्यवहारसे ही उसकी जीविका चलती थी तथापि उस दशामें भी वह जीवोंके प्रति बड़ा दयालु था। वह थके-माँदे बटोहियोंको विश्राम देता, भूखोंको भोजन देकर उनकी भूख मिटाता और नंगे पाँववाले मनुष्योंको जूता देता था। जिनके पास वस्त्र नहीं होता, उन्हें कोमल मृगचर्म देता और दुर्गम मार्ग एवं निर्जन प्रान्तरमें वह पथिकोंके पीछे-पीछे जाकर उन्हें अभीष्ट स्थानपर पहुँचा आता था। उनके देनेपर भी उनसे कभी धन नहीं लेना चाहता और सबको अभयदान करता था। पिंगाक्षके रहनेसे विन्ध्याचलका वह भयानक वन नगर-सा हो गया था। उसके डरसे कोई भी राह चलनेवालोंकी रोक-टोक नहीं करता था।

पिंगाक्षके घरके समीप ही एक-दूसरे गाँवमें उसका चाचा निवास करता था। एक दिन उसने गेरुए वस्त्र धारण करनेवाले तीर्थयात्रियोंके समूहका बड़ा भारी कोलाहल सुना। उन यात्रियोंके पास बहुत धन था। वह नीच व्याध उस धनके लोभसे उन्हें मार डालनेको उद्यत हो गया और आगे जाकर बहुत छिपे हुए उसने उस मार्गको घेर लिया। उस समय पिंगाक्ष भी शिकार खेलनेके लिये उस जंगलमें गया था और रातमें उसी मार्गके समीप टिका हुआ था। यह सम्पूर्ण जगत् भगवान् विश्वनाथसे सुरक्षित होकर कुशलपूर्वक रहता है। अतः विद्वान् पुरुष कभी किसी भी जीवका अनिष्टचिन्तन न करे। होगा वही जो विधाताने रच रखा है। बुरा चाहनेवालोंको केवल पाप ही हाथ लगेगा। इसलिये आत्मसुखकी इच्छा रखनेवाला पुरुष किसीका बुरा न सोचे। यदि कुछ सोचना ही हो तो मोक्षके उपायका चिन्तन करे और किसी बात का नहीं *।

तदनन्तर जब रात बीतने लगी और प्रातःकाल निकट आ गया, उस समय बड़ा भारी कोलाहल मचा। एक ओरसे आवाज आयी—'योद्धाओ! सबको मार डालो, नीचे गिरा दो और नंगे करके तलाशी लो।' दूसरी ओरसे करुणाभरी पुकार सुनायी पड़ी—'सिपाहियो! मत मारो, रक्षा करो, हम तीर्थयात्री हैं। हमारे पास जो कुछ है, उसे बिना परिश्रमके लूट लो और ले जाओ। हम अनाथ बटोही हैं, भगवान् विश्वनाथके उपासक हैं और उन्हींसे सनाथ हैं। पिंगाक्षके विश्वाससे हम सदा इस मार्गपर निर्भय होकर आया-जाया करते हैं, किंतु आज वह भी यहाँसे बहुत दूर है।'

तीर्थयात्रियोंकी यह बात सुनकर पिंगाक्ष दूरसे ही 'मत डरो, मत डरो' की रट लगाता हुआ सहसा वहाँ आ पहुँचा और बोला—'यह कौन दुराचारी है, जो मुझ पिंगाक्षके जीते-जी मेरे प्राणोंके समान प्यारे पथिकोंको लूटना चाहता है।' उसका यह वचन सुनकर उसके पापी पितृव्य ताराक्षने क्रोधपूर्वक अपने सेवकोंको आज्ञा दी—'पहले इसीको मार डालो, उसके बाद इन साधु यात्रियोंको लूटना।' यह सुनकर वे सभी दुराचारी भील मिलकर अकेले पिंगाक्षके साथ युद्ध करने लगे। किसी-किसी तरह उन सबका सामना करता हुआ पिंगाक्ष यात्रियोंको अपने घरके समीपतक ले गया। इसी बीचमें विरोधियोंके बाणोंसे उसके धनुष-बाण और कवच सभी कट गये। वे यात्री भी निर्भय होकर उसकी बस्तीमें पहुँच गये और उसने दूसरोंकी रक्षाके लिये लड़ते-लड़ते प्राण त्याग दिये। मरते समय उसके मनमें यह अभिलाषा थी कि यदि

* तस्मादात्मसुखं प्रेप्सुरिष्टानिष्टं न चिन्तयेत्। चिन्तयेच्चेत्तदा चिन्त्यो मोक्षोपायो न चेतरः॥ (स्क० पु०, का० पू० १२। ३१)

मैं समर्थ होता तो इन सबको मार गिराता। अन्तकालमें जैसी मति होती है, उसके अनुरूप ही गति होती है। अतः वह नैर्ऋत्यलोकमें राक्षसोंका राजा एवं दिक्पाल हुआ। इस प्रकार हम दोनोंने तुम्हें निर्ऋतिके स्वरूपका परिचय दिया है।

नैर्ऋत्यपुरीसे उत्तर दिशामें वह वरुणदेवका अद्भुत लोक है। जो लोग न्यायोपार्जित धनसे कुआँ-बावली और तालाब बनवाते हैं, वे वरुणलोकमें वरुणके ही समान कान्तिमान् होकर सम्मानपूर्वक निवास करते हैं। जो निर्जल प्रदेशमें जल देते, दूसरोंके सन्ताप दूर करते और याचकोंको विचित्र छाता एवं कमण्डलु देते हैं, जो नाना प्रकारकी खान-पानकी सामग्रियोंसे युक्त पौंसला बनवाते, सुगन्धित जलसे भरे हुए धर्मघट दान करते, जो पीपलके वृक्षको सींचते और मार्गमें वृक्ष लगाते हैं, यात्रियोंके ठहरनेके लिये धर्मशालाएँ बनवाते, थके-माँदे पथिकोंका कष्ट दूर करते, गरमीमें मोरपंख आदिके बने हुए पंखे बाँटते और यात्रियोंका पसीना दूर करते हैं तथा जो पुण्यात्मा मानव दुराचारी मनुष्योंद्वारा गलेमें फाँसी लगाये हुए जीवोंको बन्धनसे मुक्त करते हैं, वे निर्भय होकर वरुण देवताके इस लोकमें निवास करते हैं। ये वरुणदेव ही सम्पूर्ण जलाशयों तथा जलजन्तुओंके एकमात्र स्वामी और सब कर्मोंके साक्षी हैं। इस प्रकार यह वरुणलोकका स्वरूप बताया गया है। इस प्रसंगको सुनकर मनुष्य कहीं भी दुर्मृत्युके कष्टसे पीड़ित नहीं होता है।

## वायु, कुबेर, ईशान और चन्द्रमाके लोकोंकी स्थितिका वर्णन

**भगवान्‌के दोनों पार्षद कहते हैं**—ब्रह्मन्! वरुणकी पुरीसे उत्तर भागमें इस पुण्यमयी पुरीको देखो। यह वायुदेवकी गन्धवती नामवाली नगरी है। इसमें सम्पूर्ण जगत्‌के प्राणस्वरूप प्रभंजन (वायु) नामक दिक्पाल निवास करते हैं। इन्होंने महादेवजीकी आराधना करके दिक्पालका पद प्राप्त किया है। पहलेकी बात है। कश्यपजीके पुत्र पूतात्माने महादेवजीकी राजधानी काशीपुरीमें दस लाख वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्या की। उन्होंने वहाँ पवनेश्वर नामक परम पवित्र महान् शिवजीके स्वरूपकी स्थापना की, जिसके दर्शनमात्रसे मनुष्यका अन्तःकरण परम पवित्र हो जाता है और वह पापकी केंचुल त्यागकर वायुदेवके पवित्र नगरमें निवास करता है। तदनन्तर पूतात्माकी घोर तपस्यासे प्रसन्न हो तपका फल देनेवाले ज्योतिस्वरूप भगवान् महेश्वर उस मूर्तिसे प्रकट हुए और बोले—'सुव्रत! उठो, उठो। मनोवांछित वर माँगो।'

**पूतात्मा बोला**—देवाधिदेव महादेव! आप देवताओंको अभयदान देनेवाले हैं। प्रभो! वेद भी नेति-नेति कहते हुए आपके सम्बन्धमें यह नहीं जानते कि आपका स्वरूप कैसा है? फिर मेरे-जैसा मनुष्य आपकी स्तुति करनेमें कैसे समर्थ हो सकता है? योगी भी आपके तत्त्वको वास्तवमें नहीं उपलब्ध कर पाते। आप एक होकर भी शिव और शक्तिके भेदसे दो स्वरूपोंमें अभिव्यक्त हुए हैं। आप ज्ञानस्वरूप भगवान् हैं और आपकी इच्छा ही शक्तिस्वरूपा है। शिव और शक्तिरूप आप दोनोंके द्वारा लीलापूर्वक क्रियाशक्ति उत्पन्न की गयी है, जिसके द्वारा इस सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि की गयी है। आप ज्ञानशक्ति महेश्वर हैं और उमादेवी इच्छाशक्ति मानी गयी हैं। यह सम्पूर्ण जगत् क्रियाशक्तिमय है और आप इसके कारण हैं। नाथ! आपको नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है।

पूतात्माके ऐसा कहनेपर सर्वशक्तिमान् देवेश्वर शिवने उन्हें अपना स्वरूप प्रदान किया और दिक्पालके पदपर प्रतिष्ठित किया। तत्पश्चात् इस प्रकार कहा—'तुम सब तत्त्वोंके ज्ञाता और सबकी आयुरूप होओगे। जो मनुष्य तुम्हारे द्वारा स्थापित की हुई मेरी इस दिव्य मूर्तिका यहाँ दर्शन करेंगे, वे तुम्हारे लोकमें सब भोगोंसे सम्पन्न हो सुखके भागी

होंगे।' इस प्रकार वरदान देकर महादेवजी उस मूर्तिमें विलीन हो गये।

ब्रह्मन्! गन्धवतीपुरीके स्वरूपका निरूपण किया गया। उसके पूर्वभागमें शोभामयी कुबेरकी अलकापुरी है। इसके स्वामी कुबेर अपने भक्तिभावके प्रभावसे भगवान् शिवके सखा हो गये हैं। शिवकी पूजाके बलसे वे पद्म आदि नवनिधियोंके दाता और भोक्ता हैं।

अलकापुरीके पूर्वभागमें भगवान् शंकरकी ईशानपुरी है, जो महान् अभ्युदयसे सदा सुशोभित है। उसके भीतर भगवान् शंकरके तपस्वी भक्त निवास करते हैं। जो भगवान् शिवके चिन्तनमें संलग्न रहते, शिवसम्बन्धी व्रतोंका पालन करते, अपने समस्त कर्म भगवान् शिवको अर्पित कर देते और सदा शिवकी पूजामें तत्पर रहते तथा जो स्वर्गभोगकी अभिलाषा लेकर भगवान् शिवकी प्रसन्नताके लिये तप करते हैं, वे सब मानव रुद्ररूप धारण करके इस परम रमणीय रुद्रपुरीमें निवास करते हैं। इस पुरीमें अजैकपात् और अहिर्बुध्न्य आदि ग्यारह रुद्र अधिपतिरूपसे हाथमें त्रिशूल लिये विराजमान रहते हैं। ये देवद्रोहियोंसे आठ पुरियोंकी रक्षा करते और शिवभक्तोंको सदैव वर देते हैं। इन्होंने भी काशीपुरीमें जाकर शुभदायक ईशानेश्वरकी स्थापना करके बड़ी भारी तपस्या की है और भगवान् ईशानेश्वरके प्रसादसे ईशानकोणमें ये दिक्पाल हुए हैं। ये ग्यारहों रुद्र जटाके मुकुटसे मण्डित हो एक साथ चलते हैं।

इस प्रकार स्वर्गमार्गमें विष्णुपार्षदोंकी कही हुई कथा सुनते हुए शिवशर्माने आगे जाकर दिनमें भी चन्द्रमाकी चटकीली चाँदनी देखी, जो सब इन्द्रियोंके साथ-साथ मनको परम आह्लाद प्रदान करती थी। उसे देखकर शिवशर्माने पूछा—'भगवत्पार्षदो! वह कौन-सा लोक है?'

**दोनों पार्षदोंने कहा**—महाभाग! यह चन्द्रमाका लोक है, जिसकी अमृतकी वर्षा करनेवाली किरणोंसे यह सम्पूर्ण जगत् परिपुष्ट होता है। चन्द्रमाके पिता महर्षि अत्रि हैं, जो पूर्वकालमें प्रजासर्गकी इच्छा रखनेवाले ब्रह्माजीके मनसे प्रकट हुए थे। हमने सुना है, मुनिवर अत्रिने प्राचीन कालमें तीन हजार दिव्य वर्षोंतक लोकोत्तर तपस्या की है। उन्हींके पुत्र चन्द्रमा हैं। स्वयं ब्रह्माजीने उनका पालन-पोषण किया है। तेज प्राप्त करके भगवान् चन्द्रमाने बहुत वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्या की। परम पावन अविमुक्त क्षेत्र (काशीधाम)-में जाकर अपने नामसे उन्होंने चन्द्रेश्वर नामक मूर्तिकी स्थापना की। इससे वे पिनाकधारी देवाधिदेव श्रीविश्वनाथजीकी कृपासे बीज, ओषधि, जल और ब्राह्मणोंके राजा हुए। वहाँ उन्होंने अमृतोद नामसे प्रसिद्ध कूपका निर्माण कराया, जिसके जलको पीने और जिसमें स्नान करनेसे मनुष्य अज्ञानसे मुक्त हो जाता है। देवदेव महादेवने प्रसन्न होकर जगत्को जीवन प्रदान करनेवाली चन्द्रमाकी एक उत्तम कलाको लेकर अपने मस्तकपर धारण किया। तत्पश्चात् दक्षके शापसे मासकी समाप्तिपर अमावास्या तिथिको क्षीण होनेपर भी केवल उसी कलाके द्वारा पुनः वे वृद्धि एवं पुष्टिको प्राप्त होते हैं।

जब सोमवारको अमावास्या तिथि हो, तब सज्जन पुरुषोंको आदरपूर्वक चतुर्दशी तिथिमें उपवास करना चाहिये। नित्यकर्म करके त्रयोदशी तिथिमें शनिप्रदोषयोगमें चन्द्रेश्वरलिंगका पूजन करके त्रयोदशीमें नक्त व्रत करे और उसीमें नियम ग्रहण करके चतुर्दशीको उपवास एवं रात्रि-जागरण करे। प्रातःकाल सोमवती अमावास्याके योगमें चन्द्रोदतीर्थके जलसे स्नान करे। तत्पश्चात् विधिपूर्वक सन्ध्योपासना करके तर्पण आदि कर्म करे। फिर चन्द्रोदतीर्थके समीप ही शास्त्रोक्त विधिके अनुसार श्राद्ध करे। आवाहन और अर्घ्यदान कर्मके बिना ही यत्नपूर्वक पिण्डदान दे। वसु, रुद्र और आदित्यस्वरूप पिता, पितामह और प्रपितामहको क्रमशः पिण्ड देकर मातामह, प्रमातामह तथा वृद्धप्रमातामहके उद्देश्यसे पिण्ड दे। तदनन्तर अपने गोत्रमें उत्पन्न हुए अन्य लोगोंको एवं गुरु, श्वशुर और बन्धुजनोंको भी उनके नाम लेकर पिण्ड देवे। जो श्रद्धापूर्वक चन्द्रोदतीर्थमें पिण्डदान करता है, वह अपने

सम्पूर्ण पितरोंका उद्धार कर देता है। जैसे गयामें पिण्ड देनेसे पितर तृप्त होते हैं, उसी प्रकार इस चन्द्रोदकुण्डके समीप श्राद्ध करनेसे भी उनकी तृप्ति होती है। काशीक्षेत्रमें निवास करनेवाले लोगोंको तारकमन्त्रके ज्ञानकी प्राप्तिके लिये चैत्रकी महापूर्णिमाको यहाँ यात्रा करनी चाहिये। यह यात्रा इस क्षेत्रके निवासमें आनेवाले विघ्नका निवारण करनेवाली है। काशीसे अन्यत्र निवास करनेवाला पुरुष भी यदि यहाँ आकर चन्द्रेश्वरकी भलीभाँति पूजा कर ले तो वह पापराशिका भेदन करके चन्द्रलोकको प्राप्त होगा। सोमवारका व्रत करनेवाले और सोमयागमें सोमरस पीनेवाले मनुष्य चन्द्रमाके समान प्रकाशमान विमानद्वारा जाकर सोमलोकमें ही निवास करते हैं।

**अगस्त्यजी कहते हैं**—प्रिये! भगवान्‌के दोनों दिव्य पार्षद उस दिव्य मार्गमें शिवशर्माको यह कल्याणकारिणी कथा सुनाते हुए परम उज्ज्वल नक्षत्रलोकमें जा पहुँचे।

## बुधलोक और शुक्रलोककी स्थिति, बुध और शुक्रके द्वारा भगवान् शिवकी स्तुति और वरदान-प्राप्ति

**अगस्त्यजी कहते हैं**—तदनन्तर शिवशर्माको बुधका लोक दृष्टिगोचर हुआ। तब उन्होंने पूछा—'भगवत्पार्षदो! यह अनुपम लोक किसका है?'

**भगवान्‌के पार्षदोंने कहा**—शिवशर्मन्! यह चन्द्रमाके पुत्र बुधका लोक है। बुध अपने पिता चन्द्रदेवकी आज्ञा लेकर काशीपुरीमें गये। वहाँ उन्होंने अपने नामसे बुधेश्वरको स्थापित किया और हृदयमें भगवान् शिवका ध्यान करते हुए दस हजार वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्या की। तब सम्पूर्ण जगत्‌के स्वामी विश्वभावन भगवान् विश्वनाथ बुधेश्वर नामसे प्रकट हुए। उनका स्वरूप ज्योतिर्मय था। वे प्रसन्नचित्त होकर बोले—'बुध! तुम वर माँगो।'

**बुध बोले**—पूतात्मा वायुरूप! आपको नमस्कार है (अथवा पवित्र अन्तःकरणवाले आप परमेश्वरको नमस्कार है)। ज्योतिःस्वरूप महेश्वर! आपको नमस्कार है। सम्पूर्ण विश्व आपका ही स्वरूप है, आपको नमस्कार है। आप रूपसे अतीत, निराकार हैं, आपको नमस्कार है। सबकी पीड़ाओंका नाश करनेवाले आपको नमस्कार है। शरणागतोंके लिये कल्याणरूप आपको नमस्कार है। आप सबके ज्ञाता और सर्वस्रष्टा हैं, आपको नमस्कार है। आप परम दयालु हैं, आपको नमस्कार है। भक्तिभावसे आप प्राप्त होने योग्य हैं, आपको नमस्कार है। आप तपस्याओंका फल देनेवाले और तपःस्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। शम्भो! शिव! शिवाकान्त! शान्त! श्रीकण्ठ! शूलपाणे! चन्द्रशेखर! सर्वेश! शंकर! ईश्वर! धूर्जटे! पिनाकपाणे! गिरीश! शितिकण्ठ! सदाशिव! महादेव! आपको नमस्कार है। देवदेव! आपको नमस्कार है। स्तुतिप्रिय महेश्वर! मैं स्तुति करना नहीं जानता। आपके युगल चरणारविन्दोंमें मेरी निश्चल भक्ति हो।

**उनकी स्तुतिसे प्रसन्न हो भगवान् महेश्वर बोले**—महाभाग! तुम्हारा स्थान नक्षत्रलोकसे ऊपर होगा और तुम समस्त ग्रहोंमें अधिक सम्मान प्राप्त करोगे। तुम्हारे द्वारा स्थापित की हुई यह मेरी मूर्ति सबको बुद्धि देनेवाली, दुर्बुद्धि हरनेवाली और तुम्हारे लोकमें निवास देनेवाली है। ऐसा कहकर भगवान् शंकर वहीं अन्तर्धान हो गये। महादेवजीका प्रसाद प्राप्त करके बुध पुनः स्वर्गलोकमें लौट आये।

काशीमें बुधेश्वरकी पूजासे उत्तम बुद्धि पाकर मनुष्य अगाध संसारसागरमें प्रवेश करते हुए डूब नहीं सकता और अन्तमें वह बुधलोकमें निवास करता है। चन्द्रेश्वरके पूर्वभागमें बुधेश्वरका दर्शन

करके मनुष्य मृत्युकालमें भी कभी बुद्धिसे हीन नहीं होता।

महामते शिवशर्मन्! बुधलोकसे ऊपर यह परम अद्भुत शुक्रलोक है। यहाँ दानवों और दैत्योंके गुरु शुक्राचार्य निवास करते हैं, जिन्होंने सहस्र वर्षोंतक तपस्या करके महादेवजीसे मृत्युसंजीवनी नामवाली महाविद्या प्राप्त की थी। इस दुर्लभ विद्याको देवगुरु बृहस्पति भी नहीं जानते। भृगुवंशी शुक्रने अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज और जरायुज—इन चार प्रकारके प्राणियोंको मुक्ति प्रदान करनेवाली काशीपुरीमें जाकर एक शिवमूर्तिको स्थापित किया और बिल्वपत्र आदि सहस्रों प्रकारके पत्तों और पुष्पोंसे उसका भलीभाँति पूजन किया। चन्दन और यक्षकर्दमसे लेपन किया। सुगन्धित उबटन लगाया, नृत्य और गीतसे भी भगवान्‌को रिझाया तथा भाँति-भाँतिकी भेंट-सामग्री समर्पित करके सहस्रनाम आदि स्तोत्रोंसे भगवान् शंकरका स्तवन किया। इस प्रकार पाँच हजार वर्षोंतक शुक्राचार्यने भगवान् शिवकी भलीभाँति आराधना की। तत्पश्चात् इन्द्रियोंसहित चित्तके चांचल्य (विक्षेप)-रूपी महान् मलको ध्यानरूपी जलसे धोकर अपने निर्मल किये हुए चित्तरत्नको उन्होंने पिनाकपाणि भगवान् शिवकी सेवामें समर्पित कर दिया। तब भगवान् शंकर प्रसन्न हो सहस्रों सूर्योंसे भी अधिक तेजस्वी रूप धारण कर उस मूर्तिसे प्रकट हुए और बोले—'भृगुनन्दन! मैं प्रसन्न हूँ, वर माँगो।'

भगवान् शंकरका वचन सुनकर शुक्राचार्यने दोनों हाथ जोड़ जय-जयकार करते हुए उनका इस प्रकार स्तवन किया। 'सूर्यस्वरूप जगदीश्वर! आप अपनी प्रभासे निशाचरोंको प्रिय लगनेवाले अन्धकारको तिरस्कृत करके उसे सर्वथा विलुप्त कर देते और तीनों लोकोंके हितके लिये आकाशमें देदीप्यमान होते हैं, अतः आपको नमस्कार है। हे चन्द्रस्वरूप शिव! आप अमृतमयी किरणोंसे परिपूर्ण हैं, समस्त अन्धकारको दूर भगानेवाले और परम सुन्दर हैं। आप संसारमें निरन्तर असीम एवं महान् प्रकाश फैलाकर कुमुद पुष्पोंको प्रमोद देते तथा संसारके प्राणियोंके लिये आनन्दका समुद्र उड़ेल देते हैं। इतना ही नहीं, आप समुद्रको भी आनन्दसे परिपूर्ण करते हैं, अतः आपको नमस्कार है। हे वायुरूप परमेश्वर! आप नम्रता एवं विनयसे रहित चराचर जगत्‌को भग्न करनेवाले हैं, सब जीवोंको अपनी प्राणशक्ति देकर बढ़ानेवाले हैं, वायुभक्षी सर्पोंको सन्तुष्ट करनेवाले हैं, सर्वव्यापी! आप सदा पावन पथपर

चलते हुए सबके उपास्य हैं। सम्पूर्ण जगत्‌को जीवन प्रदान करनेवाले देव! आपके बिना इस संसारमें कौन जीवित रह सकता है, आपको नमस्कार है। हे अग्निस्वरूप महेश्वर! आप सम्पूर्ण जगत्‌के एकमात्र पवित्र करनेवाले और प्रणतजनोंके रक्षक हैं, अमृतब्रह्मस्वरूप हैं। सम्पूर्ण विश्वके अन्तरात्मा पावक! क्या आपकी पावनशक्तिके बिना यह आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक जगत् कभी जीवित रह सकता है? कदापि नहीं। आपको किया हुआ नमस्कार प्रतिक्षण शान्ति देनेवाला होता है। जलस्वरूप परमेश्वर! आप सम्पूर्ण जगत्‌में परम पवित्र हैं,

आपका उत्तम चरित्र परम विचित्र है। हे विश्वनाथ! आप इस विचित्र जगत्‌को जलपान और स्नानकी सुविधा देकर निश्चय ही बाहर-भीतरसे पवित्र एवं निर्मल कर देते हैं, अतः आपको मैं नमस्कार करता हूँ। हे आकाशस्वरूप महादेव! हे ईश्वर! आपके द्वारा बाहर और भीतरसे अवकाश मिलनेके कारण यह सम्पूर्ण विश्व नित्य विकसित होता रहता है। सदा सबपर दया रखनेवाले प्रभो! आपसे ही यह जगत् जीवन धारण करता है और आपमें ही स्वभावतः इसका लय होता है, अतः मैं आपको प्रणाम करता हूँ। हे पृथ्वीरूप परमेश्वर! हे विभो! हे विश्वनाथ! हे अज्ञानान्धकारका नाश करनेवाले शिव! इस सम्पूर्ण विश्वको यहाँ आपके सिवा दूसरा कौन धारण करता है? गिरिराजनन्दिनी उमा और नागराज वासुकि आपके आभूषण हैं, आप परात्पर हैं। शान्ति, क्षमा आदि गुणोंसे विभूषित देवताओंमें आपसे बढ़कर दूसरा कोई स्तवन करने योग्य नहीं है। अथवा शम, दम आदि साधनोंसे सम्पन्न संत-महात्माओंके द्वारा स्तवन करने योग्य आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है, अतः मैं आपको नमस्कार करता हूँ। हे आत्मस्वरूप शिव! हे अज्ञानका अपहरण करनेवाले हर! सबके अन्तरात्मामें निवास करनेवाले परमात्मस्वरूप! अष्टमूर्ते! आपकी इन रूप-परम्पराओं—सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश और आत्मा—इन आठ मूर्तियोंसे यह समस्त चराचर जगत् व्याप्त है। आप प्रत्येक रूपमें व्यापक होनेके कारण तदनुरूप प्रतीत होते हैं, अतः मैं सदा आपको नमस्कार करता हूँ। प्रभो! प्रणतजनोंको प्राप्त होनेवाले सम्पूर्ण अर्थसमूहोंमें आप ही परमार्थस्वरूप हैं। भगवती उमा आपके चरणारविन्दोंकी वन्दना करती हैं। आप वन्दनीय पुरुषोंके द्वारा भी अतिशय वन्दनीय हैं। आप ही इस विश्वके उत्पादक हैं। आपकी मूर्ति सम्पूर्ण विश्वके प्राणियोंका हित साधन करनेवाली है। आपकी पूर्वोक्त आठ मूर्तियोंद्वारा यह विशाल जगत् व्याप्त है, अतः मैं आपको नमस्कार करता हूँ।'

भृगुनन्दन शुक्रने अष्टमूर्त्यष्टक स्तोत्रसे इस प्रकार अपने इष्टदेव शिवकी स्तुति करके धरतीपर मस्तक टेककर उन्हें बार-बार प्रणाम किया। तब महादेवजीने उन्हें अपने दोनों हाथोंसे पकड़कर उठाया और इस प्रकार कहा—'ब्रह्मन्! मेरे द्वारा तपोबलसे प्रकट की हुई जो मेरी मृतसंजीवनी नामक निर्मल विद्या है, उस मन्त्ररूपा विद्याका ज्ञान आज मैं तुम्हें कराऊँगा। उस विद्याके लिये तुम्हारी योग्यता है। तुम जिस-जिस व्यक्तिके लिये इस विद्याका जप करोगे, वह-वह निश्चय ही जीवित हो उठेगा। आकाशमें तुम्हारा तेज सब नक्षत्रोंसे भी अधिक प्रकाशित होगा। तुम ग्रहोंमें श्रेष्ठ माने जाओगे। तुम्हारे उदय होनेपर ही विवाह आदि शुभ एवं धार्मिक कार्य सफल होंगे। तुम्हारे द्वारा स्थापित किये हुए इस शुक्रेश्वरका जो मनुष्य पूजन करेंगे, उन्हें सिद्धि प्राप्त होगी। जो एक वर्षतक प्रति शुक्रवारको केवल रात्रिमें भोजन करनेका नियम लेंगे और तुम्हारे दिनमें शुक्रकूपमें स्नान करके तर्पण आदि कर्म करनेके पश्चात् शुक्रेश्वरकी पूजा करेंगे, वे मनुष्य अधिक वीर्यवान्, पुत्रवान्, सौभाग्यशाली एवं सुखी होंगे।' यह वरदान देकर महादेवजी वहीं अन्तर्धान हो गये।

जो शुक्रेश्वरके भक्त होते हैं, वे शुक्रलोकमें निवास करते हैं। शुक्रेश्वर विश्वनाथके दक्षिण भागमें है। उसके दर्शनमात्रसे मनुष्य शुक्रलोकमें प्रतिष्ठित होता है। महामते! इस प्रकार तुम्हें शुक्रलोककी स्थिति बतायी गयी।

**अगस्त्यजी कहते हैं**—प्रिये! इस प्रकार शुक्रलोककी कथा सुनते हुए शिवशर्माने अपने समीप मंगललोकको देखा।

# मंगल, बृहस्पति और शनिके लोकोंकी स्थिति

**शिवशर्माने पूछा**—यह किसका लोक है?

**भगवत्पार्षदोंने कहा**—शिवशर्मन्! यह मंगलग्रहका लोक है। मंगलकी उत्पत्ति पृथ्वीसे हुई है, पृथ्वीमाताने ही उनका स्नेहपूर्वक पालन-पोषण किया है। जहाँ जगत्का हित करनेवाली असी और वरणा नामक दो शोभायमान नदियाँ उत्तरवाहिनी गंगासे मिली हैं, जहाँ मृत्युको प्राप्त हुए देहधारी जीव भगवान् विश्वनाथका महान् अनुग्रह प्राप्त करके अमृतमय ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं, उस काशीपुरीमें जाकर मंगलने अपने नामसे अंगारकेश्वरको स्थापित किया और वहाँ वे तबतक तपस्या करते रहे जबतक कि उनके शरीरसे प्रज्वलित अंगारके समान तेज नहीं निकला। अंगारके समान तेज प्रकट होनेसे वे सब लोकोंमें अंगारक नामसे विख्यात हुए। तदनन्तर उनसे सन्तुष्ट हुए महादेवजीने उन्हें महान् ग्रहका पद प्रदान किया। जो मनुष्य अंगारकचतुर्थीको उत्तरवाहिनी गंगाके जलमें स्नान करके अंगारकेश्वरकी पूजा और उन्हें नमस्कार करेंगे, उन्हें कभी कहीं भी ग्रहजनित पीड़ा नहीं होगी।

**अगस्त्यजी कहते हैं**—इस प्रकार सुन्दर एवं पुण्यमयी कथा कहते हुए भगवत्पार्षदोंको देवगुरु बृहस्पतिकी पुरी दृष्टिगोचर हुई।

**शिवशर्माने पूछा**—यह किसकी पुरी है?

**भगवत्पार्षदोंने कहा**—सखे! प्रजापति अंगिराके पुत्र देवपूज्य बृहस्पति हुए। वे अपनी बुद्धिसे देवताओं और विद्वानोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं। शान्त और जितेन्द्रिय हैं, उन्होंने क्रोधको जीत लिया है। उनकी वाणी मधुर और अन्तःकरण निर्मल है। वे वेदों और वेदार्थोंके तत्त्वज्ञ, समस्त कलाओंमें कुशल, निर्मल, समस्त शास्त्रोंमें पारंगत तथा नीतिविद्याके विशेषज्ञ हैं। वे हितका उपदेश करनेवाले, हितकारक, रूपवान्, सुशील, गुणवान्, देश-कालको जाननेवाले, समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न और गुरुजनोंके प्रति भक्ति रखनेवाले हैं। उन्होंने काशीमें तपस्वीजनोंकी वृत्तिका आश्रय लेकर और शिवजीकी मूर्तिकी स्थापना करके बड़ी भारी तपस्या की। तब भगवान् शिव प्रसन्न होकर प्रकट हुए और बोले—'बृहस्पते! वर माँगो।' भगवान् शंकरको अपने सामने उपस्थित देख बृहस्पतिजी हर्षमें भर गये और इस प्रकार स्तुति करने लगे—'चन्द्रमाके समान गौर कान्तिवाले, शान्तस्वरूप शंकर! आपकी जय हो। आप रुचिके अनुकूल मनोहर पदार्थों एवं चारों पुरुषार्थोंको देनेवाले हैं। सर्वस्वरूप, सब कुछ देनेवाले तथा नित्य शुद्ध हैं। पवित्र भक्तोंद्वारा शुद्धभावसे दी हुई महती उपहार-सामग्रीको ग्रहण करते हैं। भक्तजनोंपर आयी हुई घोर सन्ताप-परम्पराका आप नाश करनेवाले हैं। आपने सबके हृदयाकाशको व्याप्त कर रखा है। प्रणतजनोंको आप मनोवांछित वर देनेवाले हैं। शरणागत भक्तोंके पापरूपी महान् वनको जलानेके लिये दावानलस्वरूप हैं। अपने शरीरसे भाँति-भाँतिकी लीलाएँ करते रहते हैं। आपका श्रीअंग परम सुन्दर है। आप कामदेवके बाणोंको सुखा देनेवाले हैं। धैर्यनिधे! आपकी जय हो। आप मृत्यु आदि विकारोंसे सर्वथा रहित हैं तथा अपने चरणोंमें प्रणाम करनेवाले भक्तजनोंको भी मृत्यु आदि विकारोंसे रहित कर देते हैं। पुण्यात्मा पुरुषोंका मनोरथ पूर्ण करते और सर्पोंको आभूषणरूपमें धारण करते हैं। आपका वामांग भाग गिरिराजनन्दिनी उमासे व्याप्त है। आपने अपने सर्वव्यापी स्वरूपसे सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रखा है। तीनों लोक आपके ही स्वरूप हैं, फिर भी आप इन सभी

रूपोंसे परे हैं। आपकी दृष्टि बड़ी सुन्दर है। आप अपने नेत्रोंके खोलने-मीचनेसे जगत्की सृष्टि और प्रलय करनेवाले हैं। आपने ही अग्निदेवको प्रकट किया है। जगत्को उत्पन्न करनेवाले भूतनाथ! एकमात्र आप ही प्रमथगणोंके पालक और स्वामी हैं। अपनी शरणमें आये हुए पतितजनोंपर भी आप अपना वरद हस्त फैलाते रहते हैं। आप सम्पूर्ण भूतलमें फैले हुए आवरणका निवारण करनेवाले तथा प्रणवनादरूपी सुधाधौलिगृहमें निवास करनेवाले हैं। आपने चन्द्रमाको अपने ललाटमें धारण कर रखा है। गिरिराजकुमारी पार्वतीके द्वारा सर्वथा सन्तुष्ट रहनेवाले शिव! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। शिव! देव! गिरीश! महेश! विभो! आप वैभव प्रदान करनेवाले और कैलास पर्वतपर सोनेवाले हैं। पार्वतीवल्लभ! आप सबको सुख देनेवाले हैं। चन्द्रधर! आप भक्तिका विघात करनेवाले दुष्टोंको कठोर दण्ड देनेवाले हैं। तीनों लोकोंको सुखी बनाइये। सबकी पीड़ा हरनेवाले महादेव! मैं कालसे भी नहीं डरता। अमोघमते! आप शीघ्र मेरी पापराशिका विनाश कीजिये। शिवके चरणारविन्दोंमें नमस्कार करनेके सिवा दूसरी किसी विचारधाराको मैं जीवोंके लिये कल्याणकारी नहीं मानता, अतः आपके चरणोंमें ही मस्तक झुकाता हूँ। इस सम्पूर्ण विशाल जगत्में भगवान् शिवको सन्तुष्ट करना ही सब पापोंका नाशक तथा परम गुणकारी है। हे ईश! आप त्रिगुणमय प्रपंचसे अतीत, नागराज वासुकिका महान् कंगन धारण करनेवाले तथा प्रलयकालमें सबका विनाश करनेवाले हैं, अतः मैं आपको नमस्कार करता हूँ।'

इस प्रकार महादेवजीकी स्तुति करके बृहस्पतिजी मौन हो गये। इस स्तुतिसे सन्तुष्ट होकर महादेवजीने कहा—'ब्रह्मन्! तुमने बृहत् तप किया है, इसलिये बृहत् अर्थात् बड़े-बड़े देवताओंके पति (पालक) बने रहो। तुम ग्रहोंमें बृहस्पति नामसे पूजित होओ। तीन वर्षोंतक तीनों समय इस स्तोत्रका पाठ करनेसे जिस पुरुषके प्रति सरस्वती उदित हों, उसकी वाणी संस्कृत होगी *। इस स्तोत्रके पाठसे किसीकी दुराचारमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। तुम्हारे द्वारा स्थापित की हुई इस मूर्तिकी पूजा करके इस स्तोत्रका पाठ करनेवाला पुरुष मनोवांछित फल प्राप्त करेगा। तुम्हारे द्वारा स्थापित यह मूर्ति काशीमें बृहस्पतीश्वरके नामसे विख्यात होगी। बृहस्पतिवार और पुष्य नक्षत्रके योगमें इसकी पूजा करके मनुष्य जो कार्य प्रारम्भ करेंगे, उसमें उन्हें सिद्धि प्राप्त होगी। चन्द्रेश्वरके दक्षिण और वीरेश्वरसे नैर्ऋत्यकोणमें स्थित बृहस्पतीश्वरका पूजन करके मनुष्य बृहस्पतिलोकमें सम्मानित होगा।'

**अगस्त्यजी कहते हैं**—लोपामुद्रे! बृहस्पति-लोकके ऊपर जाकर शिवशर्माने शनिका लोक देखा और उसके विषयमें प्रश्न किया। तब दोनों भगवत्पार्षदोंने कहा—'ब्रह्मन्! यह सूर्यके पुत्र शनिकी पुरी है। भगवान् सूर्यसे सवर्णाके गर्भसे शनैश्चरकी उत्पत्ति हुई। शनैश्चरने देववन्दित काशीपुरीमें जाकर शिवलिंग स्थापित किया और उसके समीप बड़ी भारी तपस्या करके शिवपूजनके प्रभावसे इस शनिलोकको तथा ग्रहकी पदवीको प्राप्त किया। काशीमें परम सुन्दर शनैश्चरेश्वरका दर्शन करके शनिवारको उनकी पूजा करनेसे शनैश्चरकी बाधा नहीं होती है। विश्वनाथजीसे दक्षिण और शुक्रेश्वरसे उत्तर भागमें शनैश्चरेश्वरकी पूजा करके मनुष्य इस शनिलोकमें आनन्दका भागी होता है।'

~~o~~

* अस्य स्तोत्रस्य पठनादपि वागुदियाच्च यम्। तस्य स्यात्संस्कृता वाणी त्रिभिर्वर्षैस्त्रिकालतः॥

(स्क० पु०, का० पू० १७ । ४६)

# सप्तर्षिलोक और ध्रुवलोककी स्थिति, ध्रुवकी तपस्या और वरदान-प्राप्ति

**अगस्त्यजी कहते हैं**—तदनन्तर शिवशर्माने सप्तर्षिमण्डलको अपने नेत्रोंसे देखा और पूछा—'यह अनुपम तेजोमय शुभ लोक किसका है?'

**दोनों भगवत्पार्षदोंने कहा**—ब्रह्मन्! इस लोकमें सदा निर्मल अन्तःकरणवाले सप्तर्षि निवास करते हैं। ब्रह्माजीके द्वारा सृष्टिकार्यमें नियुक्त होकर वे यहीं रहते हैं। मरीचि, अत्रि, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु, अंगिरा और महाभाग वसिष्ठ—ये ब्रह्माजीके मानसपुत्र हैं। पुराणोंमें ये सात ब्रह्मा निश्चित किये गये हैं। सम्भूति, अनसूया, क्षमा, प्रीति, सन्नति, स्मृति और अरुन्धती—ये क्रमशः इन सात ऋषियोंकी पत्नियाँ हैं, जो लोकमाता कही गयी हैं। इन सप्तर्षियोंने काशीक्षेत्रमें जाकर अपने-अपने नामसे एक-एक शिव-मूर्ति स्थापित की और शिवमें बड़ी भक्ति रखकर अत्यन्त कठोर तपस्या प्रारम्भ की। इनकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर भगवान् शंकरने इन्हें प्रजापतिका पद दिया। जो लोग प्रयत्नपूर्वक काशीमें अत्रीश्वर आदि शिव-मूर्तियोंका दर्शन करते हैं, वे उज्ज्वल तेजसे सम्पन्न हो इस प्राजापत्यलोकमें निवास करते हैं। अत्रीश्वर लिंग गोकर्णेश्वरकुण्डके पश्चिम तटपर प्रतिष्ठित है। कर्कोटककुण्डके ईशानकोणमें मरीचिकुण्ड है। वहीं मरीचीश्वर-संज्ञक शिवलिंग प्रतिष्ठित है। पुलहेश्वर और पुलस्त्येश्वर लिंग स्वर्गद्वारके पश्चिम भागमें हैं। आंगिरसेश्वर लिंग हरिकेश वनमें स्थित है। वसिष्ठेश्वर लिंग वरणा नदीके रमणीय तटपर है। क्रत्वीश्वर लिंग भी वहीं है। शुभकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंद्वारा काशीतीर्थमें सेवित होनेपर ये सातों लिंग इहलोक और परलोकमें मनोवांछित फल देते हैं। इस सप्तर्षिलोकमें महापुण्यमयी पतिव्रता एवं परम सुन्दरी वसिष्ठपत्नी अरुन्धती रहती हैं, जिनके स्मरण करनेमात्रसे मनुष्य गंगास्नानका फल पाता है। भगवान् नारायण अरुन्धतीके पातिव्रत्यसे सन्तुष्ट होकर लक्ष्मीजीके सामने प्रसन्नतापूर्वक उनकी चर्चा किया करते हैं और कहते हैं—'कमले! पतिव्रताओंमें अरुन्धतीका अन्तःकरण जैसा शुद्ध है, वैसा कहीं किसीका भी नहीं है। वैसा रूप, वैसा शील-स्वभाव, वैसी कुलीनता, वह कला-कौशल, वह पतिसेवापरायणता, वह माधुर्य, वह गम्भीरता और वह गुरुजनोंको सन्तुष्ट रखनेका भाव जैसा अरुन्धती देवीमें है, वैसा अन्य स्त्रियोंमें कहीं नहीं है। जो वार्तालापके प्रसंगमें अरुन्धतीका नाम भी लेती हैं, वे युवतियाँ संसारमें धन्य हैं, सौभाग्यवती हैं और शुद्ध चित्तवाली हैं।

तदनन्तर शिवशर्माके समक्ष ध्रुवलोक प्राप्त हुआ। उसे देखकर उन्होंने पूछा—'भगवत्पार्षदो! यह कौन लोक है?'

**भगवत्पार्षदोंने कहा**—ब्रह्मन्! स्वायम्भुव मनुके एक पुत्रका नाम उत्तानपाद था। राजा उत्तानपादके दो पुत्र हुए। रानी सुरुचिके गर्भसे उत्तमका जन्म हुआ था, जो ज्येष्ठ था और सुनीतिके गर्भसे ध्रुव नामक पुत्र हुआ था, जो कनिष्ठ था। एक दिन राजा उत्तानपाद जब राजसभामें बैठे हुए थे, उस समय सुनीतिने अपने पुत्रको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित करके राजाकी सेवामें भेजा। विनयशील ध्रुवने धायके बालकोंके साथ वहाँ जाकर महाराज उत्तानपादके चरणोंमें प्रणाम किया और ऊँचे सिंहासनपर बैठे हुए पिताकी गोदमें उत्तम भैयाको बैठा देख बालोचित चपलताके कारण उसने भी पिताकी गोदमें चढ़नेकी चेष्टा की। सुरुचिने ध्रुवको पिताकी गोदमें चढ़नेके लिये उत्सुक देख फटकारते हुए कहा—'ओ अभागिनीके पुत्र! क्या तू महाराजकी गोदमें बैठना चाहता है? इस सिंहासनपर बैठनेके योग्य पुण्य तूने नहीं किया है। यदि तेरा कुछ

पुण्य होता तो तू एक अभागिनी स्त्रीके पेटसे कैसे पैदा होता? मेरे परम सुन्दर उत्तमको देख ले। वह सौभाग्यवतीकी अच्छी कोखसे पैदा हुआ है। इसीलिये वह पृथ्वीपतिके अंकमें सम्मानपूर्वक बैठा हुआ है।'

राजसभाके बीचमें सुरुचिके द्वारा इस प्रकार अपमानित होनेपर ध्रुवने गिरते हुए आँसुओंको रोक लिया और धैर्य धारण करके कुछ भी उत्तर नहीं दिया। राजाने भी उचित-अनुचित कुछ नहीं कहा। वे रानी सुरुचिके वशीभूत थे। कुमार ध्रुव राजाको प्रणाम करके बालकोंके साथ अपने घर लौट गया। सुनीतिने बालकके मुखकी कान्ति देखकर ही ताड़ लिया कि ध्रुवका अपमान हुआ है। उन्होंने बार-बार अपने पुत्रका मस्तक सूँघा और सान्त्वना देकर हृदयसे लगा लिया। एकान्तमें माता सुनीतिको देखकर बालक ध्रुव फूट-फूटकर रोने लगा। माताके नेत्रोंसे भी आँसू बहने लगे।

सुनीतिने समझा-बुझाकर आँचलसे ध्रुवका मुँह पोंछा और कहा—'बेटा! तुम्हारे रोनेका क्या कारण है, बताओ। महाराजके रहते हुए किसने तुम्हारा अपमान किया है?' माताके आग्रहपूर्वक पूछनेपर ध्रुवने कहा—'माँ! मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ। तुम और सुरुचि दोनों ही महाराजकी पत्नी हो, तो भी राजाको केवल सुरुचि क्यों प्यारी है और क्यों तुमपर उनका प्रेम नहीं है? मैं और उत्तम दोनों समानरूपसे राजकुमार हैं, फिर सुरुचिका पुत्र उत्तम क्यों उत्तम है और क्यों मैं अधम हूँ? राजसिंहासन क्यों उत्तमके ही योग्य है और क्यों मेरे योग्य नहीं है?'

**ध्रुवका यह वचन सुनकर सुनीतिने लंबी साँस खींचकर कहा**—वत्स! सुरुचिने जो कुछ कहा है, सब सत्य है। वह महाराजकी पटरानी है, इसलिये सब रानियोंमें अधिक प्रिय है। तात! उसने दूसरे जन्ममें बड़ा भारी पुण्य किया है। उसी पुण्यकी वृद्धिसे सुरुचिके प्रति राजा अच्छी रुचि रखते हैं। जो मेरी-जैसी अभागिनी स्त्रियाँ हैं, उनमें राजाकी वैसी प्रीति नहीं है। उत्तमने भी महान् पुण्यराशिका उपार्जन किया है, इसीलिये उसने उस पुण्यात्मा स्त्रीकी उत्तम कोखमें निवास किया है और यही कारण है कि वह राजसिंहासनपर बैठनेका अधिकारी माना गया है। महामते! थोड़ी तपस्या करनेके कारण मैं और तुम राजाके समीप पहुँचकर भी राजलक्ष्मीके पात्र नहीं हो सके। बेटा! अपना पूर्वजन्मका कर्म ही मान और अपमानमें कारण होता है, अतः तुम इसके लिये शोक न करो।

**ध्रुव बोला**—माँ! यदि मैं मनुके कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ, राजा उत्तानपादका पुत्र हूँ और तुम्हारी कोखसे पैदा हुआ हूँ तो मेरी बात सुनो। यदि तपस्या ही सब सम्पत्तियोंका कारण है तो आजतक जो स्थान दूसरोंके लिये दुर्लभ रहा है, उसे भी मैंने प्राप्त कर लिया, ऐसा समझो। माँ! तुम केवल मुझे तपस्याके लिये जानेकी आज्ञा दे दो और अपने आशीर्वादसे मेरा उत्साह बढ़ाओ।

**तब सुनीतिने कहा**—राजकुमार! तुम्हारी आयु अभी कम है, अतः मैं तुम्हें वनमें जानेकी आज्ञा देनेमें असमर्थ हूँ। तथापि इस समय आज्ञा देती हूँ। तपस्याके लिये तुम्हारे जानेपर मेरे कठोर प्राण

किसी तरह कण्ठमें अटके रहेंगे।

इस प्रकार माताकी आज्ञा पाकर ध्रुवने उनके चरणकमलोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और वह वहाँसे चल दिया। माताने मार्गमें पुत्रकी रक्षाके लिये शतशः आशीर्वाद दिये। वह तरुणोंके समान पराक्रमी बालक अपने महलसे निकलकर वनमें गया। उस समय अनुकूल वायु चलकर उसे मार्ग दिखा रही थी। वनमें ध्रुवने सप्तर्षियोंको देखा। भोले-भाले असहाय जीवोंका भाग्य सहायक होता है। कहाँ राजकुमार और कहाँ वह घोर जंगल; परंतु जहाँ जिसकी शुभ या अशुभ भवितव्यता होती है, वहाँ उस मनुष्यको वह अपनी रस्सीमें बाँधकर खींच लेती है। मनुष्य अपने बुद्धिविभवसे कुछ और करनेकी चेष्टा करता है, किंतु भावीकी सहायतासे विधाता कुछ और ही कर डालता है। सप्तर्षियोंका दर्शन करके ध्रुव बहुत प्रसन्न हुआ और उनके पास जा हाथ जोड़े हुए प्रणाम करके ललित वाणीमें बोला—'मुनिवरो! आप मुझे राजा उत्तानपादका पुत्र ध्रुव जानें। मैं माता सुनीतिकी कोखसे पैदा हुआ हूँ।' वे सप्तर्षिगण स्वभावसे ही मधुर आकृतिवाले, अतिशय नीतिकुशल, मृदुल, गम्भीरभाषी उस तेजस्वी बालकको देखकर इस प्रकार बोले—'बालक! तू अपने खेदका कारण बता।' उनके सहज स्नेहसे सने हुए वचन सुनकर ध्रुवने कहा—'मुनीश्वरो! मेरी माताने मुझे महाराजकी सेवामें भेजा था। जब मैं वहाँ जाकर उनकी गोदीमें बैठनेको उत्सुक हुआ तब विमाता सुरुचिने मेरा बहुत तिरस्कार किया। उसने अपने पुत्र उत्तमको तो उत्तम बताया और मुझको तथा मेरी माताको धिक्कार देकर अपनी प्रशंसा की। यही मेरे खेदका कारण है।'

बालक ध्रुवकी यह बात सुनकर सप्तर्षि आपसमें एक-दूसरेकी ओर देखकर उसके क्षत्रियस्वभावकी चर्चा करने लगे—'अहो! देखो तो सही इस छोटे-से बालकमें भी अपमान सहन करनेकी शक्ति नहीं।'

**ऋषि बोले**—वत्स! हमसे तुम्हारा क्या काम है? तुम्हारा कौन-सा मनोरथ है?

**ध्रुवने कहा**—मुनियो! मेरे सर्वोत्तम बन्धु जो उत्तम हैं, वे पिताजीके दिये श्रेष्ठ राजसिंहासनपर बैठें। मैं आपके द्वारा इतनी ही सहायता चाहता हूँ कि मैं बालक होनेके कारण प्रायः कुछ साधन-भजन नहीं जानता, अतः मेरे लिये आप उसीका उपदेश करें। मैं पिताके दिये हुए सिंहासनको नहीं चाहता, मैं तो अपनी भुजाओंके बलसे उपार्जित उस उत्तम वस्तुको पाना चाहता हूँ, जो मेरे पिताके लिये भी आशातीत हो। जो पिताकी सम्पत्ति भोगनेवाले हैं, वे प्रायः यशके धनी नहीं होते। श्रेष्ठ मनुष्य तो उन्हें जानना चाहिये, जो पितासे भी अधिक उन्नति करके दिखा दें।

इस प्रकार उसके नीतिसे युक्त वचन सुनकर मरीचि आदि मुनियोंने उससे इस प्रकार कहा—

**मरीचि बोले**—प्रिय वत्स! मैं झूठ नहीं कहता, तुम जिस स्थानको पानेकी बात करते हो, उसे, जिसने भगवान् विष्णुके चरणारविन्दोंकी आराधना नहीं की है, वह पुरुष कैसे पा सकता है?

**अत्रिने कहा**—जिसने भगवान् गोविन्दके चरणकमलोंकी धूलिके रसका आस्वादन नहीं किया है, वह आशातीत समृद्धिशाली पदको नहीं पा सकता।

**अंगिरा बोले**—जो भगवान् लक्ष्मीपतिके कान्तिमान् चरणकमलोंका भलीभाँति चिन्तन करता है, उसके लिये सम्पूर्ण सम्पदाओंका स्थान दूर नहीं है।

**पुलस्त्यने कहा**—ध्रुव! जिनके स्मरणमात्रसे महापातकोंकी परम्पराका सर्वथा नाश हो जाता है, वे भगवान् विष्णु ही सब कुछ देनेवाले हैं।

**पुलह बोले**—जिनको प्रकृति और पुरुषसे परे परब्रह्म कहते हैं तथा जिनकी मायासे सम्पूर्ण जगत्का विस्तार किया गया है, वे भगवान् विष्णु ही सब कुछ देंगे।

**क्रतुने कहा**—जो यज्ञपुरुष हैं, सर्वत्र व्यापक

हैं, सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य तथा समस्त जगत्के अन्तरात्मा हैं, वे भगवान् जनार्दन यदि सन्तुष्ट हो जायँ तो क्या नहीं दे सकते हैं?

**वसिष्ठ बोले**—राजकुमार! जिनके भ्रूभंगमात्रसे अणिमा आदि आठों सिद्धियाँ आज्ञाके अनुसार कार्य करनेको प्रस्तुत रहती हैं, उन भगवान् हृषीकेशकी आराधना करनेपर मोक्ष भी दूर नहीं है।

**ध्रुवने कहा**—मुनीश्वरो! आपने भगवान् विष्णुकी आराधनाके विषयमें जो विचार व्यक्त किया है, वह सत्य है। परंतु भगवान् विष्णुकी आराधना कैसे की जाती है, उसकी विधि क्या है, इसका उपदेश करें।

**मुनि बोले**—खड़े होते, चलते, सोते, जागते, लेटे अथवा बैठे हुए सब समय भगवान् नारायणके नामका जप करना चाहिये। चार भुजाधारी भगवान् विष्णुका ध्यान करते हुए वासुदेवस्वरूप द्वादशाक्षर मन्त्र (**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**) द्वारा जप करके कौन सिद्धिको नहीं प्राप्त हुआ है *? अलसीके फूलकी भाँति श्याम कान्तिवाले पीतवस्त्रधारी सर्वात्मा अच्युतका एक क्षण भी ध्यान करनेवाला कौन ऐसा पुरुष है, जो इस भूतलपर सिद्धिको नहीं पाता? भगवान् वासुदेवका जप करनेवाला मनुष्य स्त्री, पुत्र, मित्र, राज्य, स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) सब कुछ निःसन्देह प्राप्त कर लेता है। वासुदेवके मन्त्र-जपमें लगे हुए पापी मनुष्योंको भी विघ्न तथा भयंकर यमदूत नहीं छू सकते। महा समृद्धिशाली और विष्णुभक्त तुम्हारे दादा मनुने भी राज्यकी कामनासे इस महामन्त्रका जप किया था। तुम भी इसी मन्त्रसे भगवान् वासुदेवकी आराधनामें लग जाओ। इससे तुम शीघ्र ही मनोवांछित सिद्धि प्राप्त कर लोगे।

ऐसा कहकर वे सब महात्मा मुनीश्वर वहीं अन्तर्धान हो गये। इधर ध्रुव भी भगवान् वासुदेवके चिन्तनमें मन लगाकर तपस्याके लिये चल दिये। जंगलसे निकलकर वे यमुनाके किनारे मनोहर मधुवनमें गये। वह भगवान् श्रीहरिका परम पवित्र आदिस्थान है, जहाँ पहुँचकर पापी जीव भी निष्पाप हो जाता है। वहाँ जाकर ध्रुवने वासुदेव नामक निरामय परब्रह्मका जप प्रारम्भ किया। उनके नेत्र ध्यानमें निश्चल रहते थे और वे सम्पूर्ण विश्वको वासुदेवमय देखते थे। सम्पूर्ण दिशाओंमें श्रीहरि हैं, वे ही पातालमें अनन्तरूपसे रहते हैं, आकाशमें भी वे ही अनन्तरूपसे व्याप्त हैं। यद्यपि वे एक हैं तथापि अनन्त रूपभेदके कारण अनन्तताको प्राप्त हुए हैं। जो सदा देवताओंमें वास करें अथवा देवताओंके वासस्थान हों या व्यापकशक्तिसे सर्वत्र देदीप्यमान हों, वे भगवान् वासुदेव कहलाते हैं। '**विष्लृ व्याप्तौ**' धातु है। इसका प्रयोग व्याप्ति अर्थमें होता है। (इसीसे 'विष्णु' शब्द बनता है) भगवान् विष्णुके सर्वव्यापी नाम एवं स्वरूपमें ही यह धातु पूर्णतः सार्थक होती है। जो परमेश्वर सम्पूर्ण हृषीक अर्थात् इन्द्रियोंके स्वामी होनेसे 'हृषीकेश' कहलाते हैं, वे ही सर्वत्र स्थित हैं। जिनके भक्त भी महाप्रलयमें अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होते, वे भगवान् सम्पूर्ण लोकोंमें 'अच्युत' कहलाते हैं। जो एकमात्र अविनाशी एवं सर्वत्र व्यापक हैं, जो पालन-पोषण करने और स्वरूपकी प्राप्ति करानेके द्वारा इस समस्त चराचर विश्वका लीलापूर्वक भरण करते हैं, वे भगवान् विश्वम्भर यहाँ विराजमान हैं। ध्रुवकी आँखें भगवान् विष्णुके स्वरूपके अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तुको नहीं देखती थीं। उन्होंने यह नियम बना लिया था कि केवल कमलनयन भगवान् विष्णु ही दर्शन करनेयोग्य हैं, दूसरा कोई नहीं। उनके कान गोविन्द, मुकुन्द, दामोदर, चतुर्भुज आदि शब्दोंके बिना दूसरा कोई शब्द नहीं ग्रहण करते थे। उनके दोनों हाथ गोविन्दके चरणारविन्दोंकी पूजा

---

* तिष्ठता गच्छता वापि स्वपता जाग्रता तथा। शयानेनोपविष्टेन जप्यो नारायणः सदा॥
द्वादशाक्षरमन्त्रेण वासुदेवात्मकेन च। ध्यायंश्चतुर्भुजं विष्णुं जप्त्वा सिद्धिं न को गतः॥
(स्क० पु०, का० पू० १९। १७-१८)

तथा उन्हें प्रिय लगनेवाले कर्मोंको छोड़कर और कोई कर्म नहीं करते थे। उनका मन अन्य सारी बातोंका मनन छोड़कर केवल भगवान्‌के द्वन्द्वरहित युगल चरणकमलोंका चिन्तन करता हुआ स्थिर हो गया था। तपस्या करते हुए ध्रुवके दोनों पैर भगवान् नारायणका आँगन छोड़कर अन्यत्र नहीं जाते थे। परम सारभूत तपस्या करते हुए राजकुमारने मौन धारण कर लिया था। केवल गोविन्दका गुणगान करनेमें वे अपनी वाणीको प्रमाणित करते थे। निरन्तर भगवान् कमलाकान्तके नामामृतरसका आस्वादन करती हुई ध्रुवकी रसना अन्य लौकिक रसोंकी स्पृहा त्याग चुकी थी। उनकी घ्राणेन्द्रिय श्रीमुकुन्दके युगल चरणारविन्दोंकी सुगन्धसे परमानन्दमें निमग्न रहती थी। इसलिये वह और किसी गन्धको नहीं सूँघती थी। राजकुमार ध्रुवके शरीरकी त्वचा-इन्द्रिय भगवान् मधुसूदनके युगल चरणोंका स्पर्श करती हुई सम्पूर्ण स्पर्शसुखको प्राप्त कर लेती थी। उनकी समस्त इन्द्रियाँ शब्दादि सभी विषयोंके आधार एवं सारभूत परात्पर भगवान् दामोदरकी सेवामें संलग्न हो कृतार्थ हो गयी थीं। ध्रुवकी तपस्यारूपी सूर्यका उदय होनेपर तीनों लोक सन्तप्त होने लगे। इन्द्र, सोम, अग्नि, वरुण, वायु, कुबेर, यम और निर्ऋति आदि समस्त दिक्पाल अपना-अपना पद खो जानेके भयसे शंकित हो उठे। ध्रुव पृथ्वीपर जहाँ-जहाँ पाँव रखते थे, वहाँ-वहाँ वह महान् भारसे दबने लगती थी। उनके अंगके स्पर्शमें आये हुए समस्त जल अपनी मलिनताका परित्याग करके सरस एवं स्वच्छ हो गये थे। राजकुमारने कौस्तुभमणिसे उद्भासित वक्षवाले पीताम्बरधारी भगवान् विष्णुका ध्यान करनेके कारण सम्पूर्ण विश्वको तेजोमय ही देखा। उनकी तपस्याके भयसे इन्द्रको बड़ी भारी चिन्ता हुई। वे सोचने लगे—'ध्रुव चाहे तो मेरा इन्द्रपद अवश्य हर लेगा। अप्सराओंका समूह उस बालकपर अपना कोई प्रभाव नहीं डाल सकता। काम और क्रोध उसे विचलित करनेमें समर्थ न होंगे। उसे डिगानेके लिये एक ही उपाय है, उसके पास भयंकर आकारवाले भूतोंकी सेना भेजें। बालक होनेके कारण वह भूतोंसे डरकर निश्चय ही अपनी तपस्या त्याग देगा।' ऐसा निश्चय करके इन्द्रने भूतोंकी सेना भेज दी। उन भूतोंमेंसे कोई यक्षिणी किसीके रोते हुए शिशुको उठा लायी और उसकी कोख फाड़कर उसका रक्त पीने लगी। फिर उसने उसकी हड्डियोंको चबा डाला और ध्रुवको सम्बोधित करके कहा—'अरे! इसी बालककी भाँति तेरी हड्डियोंको भी चबाकर मैं आज प्यास लगनेपर तेरा रक्त पीऊँगी।' किसी भूतनीने बवंडर (तूफान)-का रूप धारण करके कितने ही वृक्षों और गिरि-शिखरोंको तोड़-फोड़कर आकाशके मार्गको ढँक दिया और उस बालकको कम्पित करने लगी। परंतु उन भूत-भूतनियोंका भय त्यागकर ध्रुव केवल भगवान् नारायणके ध्यानमें तत्पर रहे। भय दिखानेवाली भूतावलियोंने देखा—ध्रुवके चारों ओर भगवान्‌का सुदर्शनचक्र प्रज्वलित हो उठा है। वह मण्डलाकार चक्र सूर्यकी परिधिके समान अत्यन्त प्रकाशित हो रहा था। भगवान्‌ने भूतावलियोंसे भक्तकी रक्षाके लिये उसे प्रकट किया था। उस चक्रको देख डरी हुई भूतोंकी सेना ध्रुवको नमस्कार करके जैसे आयी थी, वैसे ही लौट गयी।

ब्रह्मन्! तदनन्तर भयभीत हुए सम्पूर्ण देवता इन्द्रके साथ ब्रह्माजीकी शरणमें गये और उनको प्रणाम करके सबने उनका स्तवन किया। तत्पश्चात् बोलनेका अवसर देख इस प्रकार कहा—'पितामह! उत्तानपादके तेजस्वी पुत्रने तपस्या करके तीनों लोकोंके सम्पूर्ण निवासियोंको सन्तप्त कर दिया है। तात! ध्रुवका मनोरथ क्या है, यह हम अच्छी तरह नहीं जानते। पता नहीं, वह महातपस्वी बालक हमलोगोंमेंसे किसके पदको चाहता है।'

**देवताओंकी यह बात सुनकर चतुर्मुख ब्रह्माजी हँसकर बोले**—देवताओ! ध्रुव ध्रुवपद (अविनाशी स्थान) प्राप्त करना चाहता है। अतः

उससे तुम्हें भय नहीं मानना चाहिये। तुम सब लोग निश्चिन्त होकर जाओ। वह तुम्हारा पद नहीं लेना चाहता। ध्रुव भगवान्‌का भक्त है, उससे किसीको कहीं भी भय नहीं होना चाहिये। यह निश्चित है कि भगवान् विष्णुके भक्त दूसरोंको सन्ताप देनेवाले नहीं होते। देवेश्वर श्रीविष्णुकी आराधना करके उनसे अपनी मनोवांछित वस्तु प्राप्त करके ध्रुव तुम सब देवताओंके भी स्थानोंको स्थिर करेगा।

ब्रह्माजीकी कही हुई यह बात सुनकर देवता बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें प्रणाम करके अपने-अपने स्थानको चले गये। इधर भगवान् विष्णु उस अनन्यशरण बालकको स्थिरचित्त देखकर गरुड़पर आरूढ़ हो उसके पास गये और इस प्रकार बोले—'महाभाग! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, तुम कोई वर माँगो।' यह अमृतके समान वचन सुनकर ध्रुवने आँखें खोल दीं और देखा—इन्द्रनीलमणिके समान श्याम तेजका पुंज सामने प्रकाशित हो रहा है। पीताम्बरधारी, मेघके समान श्याम गरुड़वाहन भगवान् विष्णुको ध्रुवने देखा। देखते ही ध्रुव दण्डकी भाँति उनके चरणोंमें पड़ गये और सब ओर लोटने लगे। फिर जैसे दुःखी बालक दीर्घकालके बाद पिताको देखकर रोता है, उसी प्रकार वे फूट-फूटकर रोने लगे। उस समय भगवान्‌के कमल-समान नेत्रोंमें करुणापूर्ण अश्रुजल भर आया और उन्होंने अपने हाथसे ध्रुवको उठाया तथा उनके धूलिधूसरित अंगोंको प्रेमपूर्वक सहलाया। देवाधिदेव श्रीहरिके स्पर्शमात्रसे ध्रुवके मुखसे संस्कृतमयी शुभ वाणी प्रकट हुई और उन्होंने इस प्रकार स्तवन किया—

**ध्रुव बोले**—सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि करनेवाले हिरण्यगर्भस्वरूप आपको नमस्कार है। आप उत्तम ज्ञान प्रदान करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। समस्त भूतोंका संहार करनेवाले हरस्वरूप! आपको नमस्कार है। पंचमहाभूतस्वरूप तथा समस्त भूत-प्राणियोंके स्वामी आपको नमस्कार है। सर्वशक्तिमान् अथवा जगत्‌के उत्पादक, पालनकर्ता आप भगवान् विष्णुको नमस्कार है। विषयोंकी तृष्णा हर लेनेवाले सच्चिदानन्द श्रीकृष्णस्वरूप आपको नमस्कार है। कूर्म और वाराह आदि अवतारोंके रूप आप समस्त विश्वका महान् भार सहन करते हैं, आपको नमस्कार है। लक्ष्मीजीके स्वामी एवं सुदर्शनचक्र धारण करनेवाले आपको नमस्कार है। पृथ्वीको अपने दाढ़ोंपर उठानेवाले आप वाराहरूपधारी परमात्माको नमस्कार है। वेदान्तोंद्वारा आप ही जानने योग्य हैं, आपको नमस्कार है। आप अपने वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्न धारण करते हैं, आपको नमस्कार है। आप सत्त्वादि गुणस्वरूप तथा सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म हैं, आपको नमस्कार है। आपकी नाभिसे ब्रह्माण्डरूपी कमल प्रकट हुआ है, आपको नमस्कार है। आप पांचजन्य नामक शंख धारण करते हैं, आपको नमस्कार है। वासुदेव! आपको नमस्कार है। देवकीनन्दन! आपको नमस्कार है। दामोदर! हृषीकेश! गोविन्द! अच्युत! माधव! उपेन्द्र! मधुसूदन! और अधोक्षज! आपको नमस्कार है। आपका कहीं अन्त नहीं है, इसलिये अनन्त कहलाते हैं। आपको नमस्कार है। आप अनन्त नामक शेषनागकी शय्यापर शयन करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। रुक्मिणीके पति! आपको नमस्कार है। मुकुन्द! परमानन्द! नन्दगोपके प्रिय! आपको नमस्कार है। पुण्डरीकाक्ष! आपको नमस्कार है। गोपालरूप धारण करके वंशी बजानेवाले! आपको नमस्कार है। गोपीवल्लभ! गोवर्द्धनधारी! आपको नमस्कार है। आपमें योगीजन रमण करते हैं, इसलिये आप राम हैं, रघुकुलके स्वामी होनेसे रघुनाथ हैं तथा रघुवंशमें अवतार ग्रहण करनेके कारण आप राघव कहलाते हैं। आपको बार-बार नमस्कार है। विभीषणको आश्रय देनेवाले आपको नमस्कार है। आप अजन्मा एवं जयस्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। क्षण, निमेष आदि जितने कालभेद हैं, वे सब आपके ही स्वरूप हैं। आप अनेक रूप धारण करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। आप शार्ङ्ग

ध्रुवकी सफल साधना

नामक धनुष, कौमोदकी गदा और सुदर्शन चक्र धारण करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। आप गौओं और ब्राह्मणोंके हितकारी हैं, आपको नमस्कार है। धर्मस्वरूप आपको नमस्कार है। सत्त्वगुण धारण करनेवाले आपको नमस्कार है। आपके सहस्रों मस्तक हैं, आप परम पुरुष परमेश्वर हैं, आपको नमस्कार है। आपके सहस्रों नेत्र, सहस्रों चरण, सहस्रों किरणें और सहस्रों मूर्तियाँ हैं, आपको नमस्कार है। श्रीकान्त! यज्ञपुरुष! आपको नमस्कार है। आपका स्वरूप वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य है और वेद आपको बहुत प्रिय हैं, आपको नमस्कार है। वेदस्वरूप, वेदोंके वक्ता और सदाचारके पथपर चलनेवाले आपको नमस्कार है। आप वैकुण्ठधामस्वरूप तथा वैकुण्ठधामके निवासी हैं, आपको नमस्कार है। विस्तृत यशवाले आप भगवान् गरुड़वाहनको नमस्कार है। विष्वक्सेन! आपको नमस्कार है। जगन्मय जनार्दन! आपको नमस्कार है। आप अपने तीन पगोंसे त्रिलोकीको माप लेनेवाले, सत्यस्वरूप तथा सत्यप्रिय हैं, आपको नमस्कार है। केशव! आपको नमस्कार है। आप मायाशक्तिसे सम्पन्न हैं और वेदोंके गायक हैं अथवा ब्रह्म नामसे आपकी महिमाका गान किया जाता है, आपको नमस्कार है। आप तपःस्वरूप और तपस्याका फल देनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। आप ही स्तवन करनेयोग्य देवता हैं, स्तुति भी आपका ही स्वरूप है तथा आप अपने भक्तजनोंकी स्तुतिमें तत्पर रहते हैं, आपको नमस्कार है। आप श्रुतिरूप हैं और श्रुतियोंमें प्रतिपादित सदाचार आपको विशेष प्रिय है, आपको नमस्कार है। अण्डज, स्वेदज, जरायुज और उद्भिज्ज सभी जीव आपके स्वरूप हैं; उन सभी रूपोंमें आपको नमस्कार है। आप देवताओंमें इन्द्र, ग्रहोंमें सूर्य, लोकोंमें सत्यलोक, समुद्रोंमें क्षीरसागर, नदियोंमें गंगा, सरोवरोंमें मानस, पर्वतमें हिमवान्, धेनुओंमें कामधेनु, धातुओंमें सुवर्ण, पत्थरोंमें स्फटिक, फूलोंमें नीलकमल, वृक्षोंमें तुलसी, सम्पूर्ण पूजनीय शिलाओंमें शालग्राम शिला, मुक्तिदायक क्षेत्रोंमें काशी, तीर्थोंमें प्रयाग, रंगोंमें श्वेत रंग, मनुष्योंमें ब्राह्मण, पक्षियोंमें गरुड़, कर्मेन्द्रियोंमें वाणी, वेदोंमें उपनिषद्, मन्त्रोंमें प्रणव, अक्षरोंमें अकार, यज्ञकर्ताओंमें सोमरूपधारी, प्रतापियोंमें अग्नि, क्षमाशीलोंमें क्षमा (पृथ्वी), दाताओंमें मेघ, पवित्रोंमें परम पवित्र, सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंमें धनुष, वेगवानोंमें वायु, इन्द्रियोंमें मन, भयशून्य अंगोंमें हाथ, व्यापक वस्तुओंमें आकाश, आत्माओंमें परमात्मा, सम्पूर्ण नित्यकर्मोंमें सन्ध्योपासना, यज्ञोंमें अश्वमेध-यज्ञ, दानोंमें अभयदान, लाभोंमें पुत्रलाभ, ऋतुओंमें वसन्त, युगोंमें प्रथम (सत्ययुग), तिथियोंमें अमावास्या, नक्षत्रोंमें पुष्य, सब पर्वोंमें संक्रान्ति, योगोंमें व्यतीपात, तृणोंमें कुश और सब पुरुषार्थोंमें मोक्ष हैं। अजन्मा प्रभो! सम्पूर्ण बुद्धियोंमें आप धर्मबुद्धि हैं, सब वृक्षोंमें पीपल हैं, लताओंमें सोमलता हैं, समस्त पवित्र साधनोंमें प्राणायाम हैं तथा सम्पूर्ण शिवलिंगोंमें आप सब कुछ देनेवाले साक्षात् विश्वनाथ हैं। मित्रोंमें पत्नी और सब बन्धुओंमें धर्म आप ही हैं। नारायण! इस चराचर जगत्में आपसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। आप ही माता, आप ही पिता, आप ही सुहृद्, आप ही महान् वैभव, आप ही सौख्य-सम्पत्ति तथा आप ही आयु और जीवनके स्वामी हैं। वही कथा है, जहाँ आपके नामकी महिमा बतायी जाती है। वही मन है, जो आपको समर्पित होता है। वही कर्म है, जो आपकी प्रसन्नताके लिये किया जाता है और वही तपस्या है, जिससे आपकी स्मृति होती है। धनियोंका वही धन शुद्ध है, जो आपके लिये व्यय किया जाता हो। विष्णो! वही काल सफल है, जिसमें आपकी पूजा होती है। यह जीवन तभीतक कल्याणकारी है, जबतक हृदयमें आपका चिन्तन होता रहता है। आपका चरणोदक पीनेसे सब रोग शान्त हो जाते हैं। गोविन्द! आपके वासुदेव नामका कीर्तन करनेसे अनेक जन्मोंद्वारा उपार्जित महान् पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं। अहो! मनुष्योंमें कैसा अद्भुत महान् मोह

है, कैसा प्रमाद है कि वे भगवान् वासुदेवकी अवहेलना करके दूसरोंको रिझानेके लिये परिश्रम करते हैं। भगवान्‌के नामोंका जो कीर्तन किया जाता है, वही परम मंगल है, वही धनका उपार्जन है और वही जीवनका फल है। भगवान् अधोक्षज (विष्णु)-से भिन्न कोई धर्म नहीं है, नारायणसे परे कोई अर्थ नहीं है, केशवसे भिन्न कोई काम नहीं है और श्रीहरिके बिना मोक्ष नहीं है। भगवान् वासुदेवका स्मरण और ध्यान न हो तो यही सबसे बड़ी हानि है, यही महान् उपद्रव है और यही बड़ा भारी दुर्भाग्य है। अहो! भगवान् विष्णुकी आराधना मनुष्योंके लिये क्या-क्या नहीं करती। पुत्र, मित्र, स्त्री, धन, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष सब कुछ तो वही देती है। श्रीहरिकी आराधना पापको हर लेती है, रोगोंका नाश करती है और मानसिक चिन्ताओंको मिटा देती है। इतना ही नहीं, वह धर्मको बढ़ाती और शीघ्र ही मनोवांछित वस्तु प्रदान करती है। यदि पापी भी प्रसंगवश भी भगवान्‌के युगल चरणोंका निर्द्वन्द्व ध्यान करता है, तो वह उसके लिये परम हितकी बात है। पापियोंके जो महापाप और सामान्य पाप हैं, उन सबको भगवान्‌के ध्यानपूर्वक किया हुआ नामोच्चारण अविलम्ब हर लेता है। जैसे आगकी चिनगारी भूलसे भी छू जाय तो वह जला ही देती है, उसी प्रकार होठोंसे श्रीहरिनामका स्पर्श होते ही वह समस्त पापोंको हर लेता है *। जो अपने चित्तको शान्त करके उसे क्षणभर भी कमलाकान्तके चिन्तनमें लगाता है तो उसके यहाँ लक्ष्मी निश्चल होकर रहती है। भगवान् विष्णुका चरणामृत पान करना ही सबसे बड़ा धर्म है, यही सर्वोत्तम तप है और यही सर्वोत्कृष्ट तीर्थ है। यज्ञपुरुष! जो आपको भोग लगाये हुए नैवेद्यका प्रसाद भक्तिपूर्वक ग्रहण करता है, उस परम बुद्धिमान् मनुष्यने मानो निश्चय ही यज्ञका पुरोडाश प्राप्त कर लिया। जो मनुष्य भगवान् विष्णुका चरणोदक शंखमें रखकर उससे अपने सिर आदि अंगोंका अभिषेक करता है, वही अवभृथ-स्नान करता है और वही गंगाजीके जलमें गोता लगाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा इतर जातिका मनुष्य, कोई भी क्यों न हो, यदि वह भगवान् विष्णुकी भक्तिसे युक्त है तो उसे सर्वश्रेष्ठ जानना चाहिये। जो प्रतिदिन द्वारकाके गोमतीचक्रके साथ शालग्रामकी बारह शिलाओंका पूजन करता है, वह वैकुण्ठधाममें प्रतिष्ठित होता है। जिसके घरमें प्रतिदिन तुलसीकी पूजा होती है, उसके घरमें कभी यमराजके दूत नहीं जाते। जिसके मुखमें भगवन्नामके अक्षर हों, ललाटमें गोपीचन्दनका तिलक हो और जिसका वक्षःस्थल तुलसीकी मालासे सुशोभित हो, उसे यमराजके दूत छू नहीं सकते। गोपीचन्दन, तुलसी, शंख, शालग्राम शिला और गोमतीचक्र—ये पाँच वस्तुएँ जिसके घरमें विद्यमान हैं, उसे पापका भय कैसे हो सकता है। जो मुहूर्त, जो क्षण, जो काष्ठा और जो निमेष भगवान् विष्णुका स्मरण किये बिना बीत जाते हैं, उन्हींमें मनुष्य यमके द्वारा लूटा जाता है। कहाँ तो आगकी जलती हुई चिनगारियोंके समान हरि-नामके दो अक्षर और कहाँ रूईकी ढेरीके समान पातकोंकी बड़ी भारी राशि। मैं तो गोविन्द, परमानन्द, मुकुन्द एवं मधुसूदन आदि नामोंवाले भगवान् विष्णुको छोड़कर दूसरेको नहीं जानता, नहीं भजता और नहीं स्मरण करता हूँ। श्रीहरिके बिना मैं दूसरेको न तो नमस्कार करता हूँ, न उसकी स्तुति करता हूँ, न नेत्रोंसे उसे देखता हूँ, न शरीरसे उसका स्पर्श करता हूँ, न उसके पास जाता हूँ और न उसकी महिमाके गीत ही गाता हूँ। मैं जलमें, स्थलमें, पातालमें, अग्निमें, वायुमें, पर्वतमें, विद्याधरमें, असुर और देवताओंमें, किन्नरमें, वानरमें, नरमें, तिनकेमें, स्त्रियोंके समुदायमें, पत्थरमें, वृक्ष, झाड़ी और लताओंमें, सर्वत्र श्रीवत्सचिह्नसे विभूषित वक्षवाले श्यामसुन्दर श्रीहरिको ही देखता हूँ। प्रभो! आप सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे निवास करते हैं। आप ही सबके साक्षात् साक्षी हैं। अपने बाहर और भीतर आप सर्वव्यापी

* प्रमादादपि संस्पृष्टो यथानलकणो दहेत्। तथौष्ठपुटसंस्पृष्टं हरिनाम हरेदघम्॥ (स्क० पु०, का० पू० २१। ५७)

परमेश्वरको छोड़कर मैं दूसरेको नहीं जानता।

शिवशर्मन्! ऐसा कहकर भक्त ध्रुव चुप हो गये। तब भगवान् विष्णुने प्रसन्नतापूर्ण दृष्टिसे

देखते हुए कहा—'वत्स ध्रुव! मैंने तुम्हारे मनोरथको अच्छी तरह जान लिया है। देखो, सब प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्न वर्षासे उत्पन्न होता है, उस वर्षाके कारण हैं सूर्यदेव, परंतु तुम सूर्यके भी आधार हो जाओ। आकाशमें भ्रमण करनेवाले समस्त ग्रह-नक्षत्र आदिका जो ज्योतिर्मण्डल है, उसके तुम आधार होओगे। इस दिव्य पदपर तुम पूरे कल्पभर शासन करोगे। तुम्हारी माता सुनीति भी तुम्हारे समीप आ पहुँचेगी। जो मनुष्य एकाग्रचित्त हो तुम्हारे द्वारा किये हुए इस उत्तम स्तोत्रका तीनों समय पाठ करेगा, उसकी पापराशि नष्ट हो जायगी और लक्ष्मी उसका घर नहीं छोड़ेगी; उसका मातासे वियोग नहीं होगा और भाई-बन्धुओंके साथ कभी कलह नहीं होगा।'

**भगवान्‌के दोनों पार्षद कहते हैं**—ब्रह्मन्! ध्रुवसे ऐसा कहकर भगवान् गरुड़ध्वज वहाँसे चले गये।

## महर्लोक, जनलोक और तपोलोककी स्थिति; ब्रह्माजीके द्वारा सत्यलोकका महत्त्व-कथन और भारतवर्ष एवं वहाँके तीर्थोंकी महत्ता बताते हुए प्रयाग और काशीकी महिमाका प्रतिपादन

**अगस्त्यजी कहते हैं**—तदनन्तर वायुके समान वेगशाली वह विमान स्वर्गलोकसे ऊपर अत्यन्त अद्भुत महर्लोकमें जा पहुँचा। तब ब्राह्मणने पूछा—'यह मनोहर लोक कौन-सा है?'

**दोनों भगवत्पार्षदोंने कहा**—ब्रह्मन्! यह महर्लोक है, जो स्वर्गलोकसे भी अद्भुत है। जिन्होंने तपस्यासे अपनी पापराशि धो डाली है वे कल्पान्तजीवी तपस्वी यहाँ निवास करते हैं। भगवान् विष्णुका निरन्तर स्मरण करनेसे उनकी समस्त पापराशि नष्ट हो जाती है।

इस प्रकार वे दोनों पार्षद कह ही रहे थे कि आधे क्षणमें वह विमान उन सबको लेकर जनलोकमें जा पहुँचा। यहाँ ब्रह्माजीके मानसपुत्र निर्मल योगीश्वर एवं नैष्ठिक ब्रह्मचारी सनक, सनन्दन आदि निवास करते हैं। अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले अन्यान्य योगी भी सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे मुक्त हो अत्यन्त निर्मल होकर जनलोकमें निवास करते हैं। मनके समान वेगसे चलनेवाले उस विमानने जनलोकसे ऊपर जाकर शीघ्र ही तपोलोकको दृष्टिगोचर कराया, जहाँ वैराज नामवाले देवता निवास करते हैं। जिनका मन भगवान् वासुदेवमें लगा होता है, जो अपने समस्त कर्म वासुदेवको समर्पित कर देते हैं तथा तपस्याद्वारा भगवान् गोविन्दको सन्तुष्ट करके जो सब प्रकारकी इच्छाओंका त्याग कर चुके हैं, ऐसे जितेन्द्रिय महात्मा तपोलोकमें जाकर निवास करते हैं। जो तपस्याओंसे अपने शरीरको क्लेश देकर तपरूपी धनका संग्रह कर चुके हैं, वे ब्रह्माजीके समान आयुवाले होकर निर्भयतापूर्वक निवास करते हैं।

पुण्यात्मा शिवशर्मा जबतक भगवत्पार्षदोंके मुखसे इस प्रकार तपोलोककी महिमा सुनते रहे, तबतक उनके नेत्रोंके सामने परम प्रकाशमय सत्यलोक आ पहुँचा। वहाँ जाते ही वे दोनों पार्षद उनके साथ तुरंत ही विमानसे उतर पड़े और उन सबने समस्त लोकोंके स्रष्टा ब्रह्माजीके चरणोंमें प्रणाम किया।

**ब्रह्माजी बोले**—भगवत्पार्षदो! ये बुद्धिमान् ब्राह्मण शिवशर्मा वेद-वेदांगोंके पारंगत विद्वान् हैं। स्मृतियों और धर्मशास्त्रोंमें बताये हुए सदाचारके पालनमें परम प्रवीण हैं तथा पापकर्मोंसे सदा विमुख रहे हैं। परम बुद्धिमान् द्विज शिवशर्मन्! मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ। वत्स! तुमने उत्तम तीर्थमें प्राणत्याग करके बहुत ही अच्छा किया। तुमने यह जो कुछ देखा है, वह सब शीघ्र नष्ट होनेवाला है। मेरे प्रत्येक दिनके अन्तमें प्रलय होता है और मैं दिनके प्रारम्भमें बार-बार सृष्टि करता हूँ। जब स्वर्गादि लोकोंकी यह अवस्था है तब मरणशील मनुष्योंकी तो बात ही क्या है। परंतु चार प्रकारके जीव (स्वेदज, उद्भिज्ज, जरायुज तथा अण्डज) समुदायमेंसे मनुष्योंमें ही एक ऐसा गुण है कि वे कर्मभूमि भारतमें मनसहित चंचल इन्द्रियोंको जीतकर, गुणोंके शत्रु लोभका त्याग करके, धर्मकी परम्परा तथा धनराशिका नाश करनेवाले कामको विचारके द्वारा मनसे बाहर निकालकर, धैर्यसे क्रोधरूपी शत्रुको जीतकर और मदका परित्याग, अहंकारका निवारण तथा मोहका नाश करके, धर्मकी सीढ़ीपर चढ़कर, अनायास ही इस सत्यलोकमें आ जाते हैं। आर्यावर्तके समान देश, काशीके समान पुरी तथा विश्वनाथजीके समान लिंग इस ब्रह्माण्डमण्डलमें कहीं भी नहीं है। समुद्रके बीचमें अनेक द्वीप हैं, किंतु इस पृथ्वीपर जम्बूद्वीपके समान दूसरा कोई द्वीप नहीं है। जम्बूद्वीपमें भी नौ वर्ष हैं, जिनमें भारतवर्ष सबसे श्रेष्ठ है। इसे कर्मभूमि कहा गया है। यह देवताओंके लिये भी दुर्लभ है। किंपुरुष आदि जो आठ वर्ष हैं, वे देवभोग्य हैं; उनमें देवतालोग स्वर्गसे आकर रमण करते हैं। यह भारतवर्ष नौ हजार योजन विस्तृत है। इस भारतवर्षमें भी हिमवान् और विन्ध्यगिरिके बीचका भाग अत्यन्त पुण्यदायक है। इसमें भी गंगा और यमुनाके बीचका भाग पृथ्वीकी अन्तर्वेदी है। यहाँके क्षेत्रोंमें कुरुक्षेत्र सबसे बढ़कर है। उससे भी उत्तम नैमिषारण्यक्षेत्र है जो स्वर्गका श्रेष्ठ साधन है। इस समस्त भूमण्डलमें नैमिषारण्यसे तथा अन्य सब तीर्थोंसे भी बढ़कर तीर्थराज प्रयाग है। वह स्वर्ग, मोक्ष तथा सम्पूर्ण मनोवांछित फलोंको देनेवाला है। इसीलिये प्रयाग महान् क्षेत्र है और उसे सब तीर्थोंका राजा माना गया है। मैंने पूर्वकालमें सब यज्ञोंको एक ओर तराजूपर रखा और दूसरी ओर तीर्थोंमें श्रेष्ठ प्रयागको रखा, किंतु उसीका पलड़ा भारी रहा। दक्षिणा आदिसे पुष्ट समस्त यागोंकी अपेक्षा इस क्षेत्रको प्रधान देखकर विष्णु और शिव आदिने उसका नाम प्रयाग रख दिया। उसके नाममात्रका तीनों कालमें स्मरण करनेसे मनुष्यके शरीरमें कभी कहीं पाप नहीं ठहरता है। असंख्य जन्मान्तरोंमें जिस पापराशिका संग्रह किया गया है, व्रत, दान, जप और तपसे भी जिसको दूर करना अत्यन्त कठिन है, वह पापराशि भी जब कोई तीर्थराज प्रयागमें जानेके लिये उद्यत होता है, तब आँधीके मारे हुए वृक्षकी भाँति शरीरके भीतर थर-थर काँपने लगती है। तत्पश्चात् प्रयाग जानेका दृढ़ संकल्प लेकर जो आधा रास्ता तय कर लेता है, उस पुरुषके शरीरसे वह पापराशि पग-पगपर निकलनेकी इच्छा करती है। यदि भाग्यवश उस महात्माको तीर्थराज प्रयागका दर्शन हो जाता है, तब तो उसके पाप उसी प्रकार शीघ्र भाग जाते हैं, जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकार। सात धातुओंके बने हुए मानवशरीरमें जो-जो पाप हैं, वे केशोंमें आकर ठहरते हैं। अतः केशोंका मुण्डन करा देनेपर वे भी निकल जाते हैं। इस प्रकार निष्पाप होकर, गंगा-यमुनाके श्वेत-श्याम सलिलके संगममें स्नान करना चाहिये। उस स्नानसे मनुष्य महान् पुण्यराशि, मनोवांछित पुण्यमय भोग तथा स्वर्गको भी पाता है और जो निष्काम भावसे स्नान करता है, वह मोक्ष पाता है। ब्रह्मन्!

मैं सत्यलोक और प्रयागमें कोई अन्तर नहीं समझता, क्योंकि वहाँ रहकर जो शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, वे मेरे लोकके निवासी होते हैं। जिस भाग्यवान् मनुष्यकी हड्डियाँ भी प्रयागमें पड़ जाती हैं, उसे किसी जन्ममें लेशमात्र भी दुःख नहीं प्राप्त होता। ब्रह्महत्या आदि पापोंका प्रायश्चित्त करनेकी इच्छावाले पुरुषको ब्राह्मणकी आज्ञा लेकर विधिपूर्वक प्रयागतीर्थका सेवन करना चाहिये।

तीर्थराज प्रयागसे भी श्रेष्ठ तीर्थ है काशी। वह सम्पूर्ण भुवनोंमें सबसे उत्तम है। काशीमें देहावसान होनेसे अनायास मुक्ति होती है। इसमें संशय नहीं कि काशीक्षेत्र प्रयागसे भी अधिक रमणीय है, जहाँ साक्षात् भगवान् विश्वनाथ निवास करते हैं। विश्वनाथजीके निवासस्थान अविमुक्त नामक महाक्षेत्रसे अधिक रमणीय तीर्थ इस ब्रह्माण्डमें कहीं नहीं है। अविमुक्त क्षेत्र ब्रह्माण्डके भीतर रहकर भी ब्रह्माण्डमें नहीं है। इसकी लम्बाई पाँच कोस है। प्रलयकालमें एकार्णवका जल जैसे-जैसे बढ़ता है, वैसे-वैसे इस क्षेत्रको शिवजी ऊपर उठाते जाते हैं। काशीक्षेत्र महादेवजीके त्रिशूलकी नोकपर स्थित है। यह न तो आकाशमें स्थित है और न भूमिपर ही। किंतु मूढबुद्धि मनुष्य इसे इस रूपमें नहीं देख पाते। यहाँ सदा सत्ययुग रहता है, सदा महापर्व लगा रहता है। विश्वनाथजीके निवासस्थानमें ग्रहोंके अस्त-उदयजनित दोषकी प्राप्ति नहीं होती। वहाँ सदा उत्तरायण है, सदा महान् अभ्युदय है और सदैव मंगल है, जहाँ कि भगवान् विश्वनाथकी स्थिति है। विप्रवर! चौदहों भुवनोंकी सृष्टि मैंने ही की है, परंतु इस काशीपुरीके निर्माता साक्षात् भगवान् विश्वनाथ हैं, मैं नहीं। काशीमें देहत्याग करनेवालोंका नियन्त्रण स्वयं भगवान् विश्वनाथ करते हैं। जिन्होंने वहाँ रहकर भी पाप किये हैं, उनको दण्ड देनेवाले कालभैरव हैं। वहाँ कभी किसीको पाप नहीं करना चाहिये, क्योंकि वहाँ पाप करनेवालोंको दारुण रुद्रयातना भोगनी पड़ती है, जो नरकसे भी अधिक दुःसह है। जो मनुष्य दूसरोंकी निन्दा और परस्त्रीकी अभिलाषा करते हैं, उन्हें काशीका सेवन नहीं करना चाहिये; क्योंकि कहाँ काशी और कहाँ वह नरक। जो वहाँ सदा प्रतिग्रह लेकर धन संग्रह करनेकी अभिलाषा रखते हैं अथवा कपटपूर्वक दूसरोंका धन हड़प लेना चाहते हैं, ऐसे लोगोंको भी काशीका सेवन नहीं करना चाहिये। काशीमें रहनेवाले पुरुषको दूसरोंको पीड़ा देनेवाला कर्म सदाके लिये त्याग देना चहिये। यदि वहाँ भी वही करना हो तो दुष्ट चित्तवाले पुरुषोंका काशीमें निवास करना किस कामका है। जो दूसरोंसे द्रोहकी बात सोचते, दूसरोंसे डाह रखते और सदा दूसरोंको सताया करते हैं, उनके लिये काशीपुरी सिद्धिदायक नहीं। इस पृथ्वीपर ज्ञानके बिना कहीं मोक्ष नहीं होता। वह ज्ञान न तो चान्द्रायण आदि व्रतोंसे प्राप्त होता है और न उत्तम देश, कालमें सत्पात्रोंको विधि एवं श्रद्धापूर्वक दिये हुए तुलापुरुष आदि मुख्य-मुख्य दानोंसे ही मिलता है। अहिंसा-ब्रह्मचर्य आदि यमों, शौच-सन्तोषादि नियमों, पूजन आदि सत्कर्मों तथा शरीरको सुखानेवाली कठोर तपस्याओंसे भी उसकी प्राप्ति नहीं होती। गुरुओंद्वारा दिये हुए महामन्त्रोंके जपसे, स्वाध्यायसे, शास्त्रोक्त विधिसे, अग्निहोत्र करनेसे, गुरुओंकी सेवासे, श्राद्धसे, देवपूजासे तथा अनेकों तीर्थोंकी यात्रा करनेसे भी उस ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि योगके बिना ज्ञान नहीं होता। गुरुके उपदेश किये हुए मार्गसे निरन्तर अभ्यासपूर्वक तत्त्वार्थ विचार करना ही योग है। उस योगमें भी अनेक प्रकारके विघ्न आया करते हैं, अतः एक ही जन्ममें प्रायः ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती, परंतु इस काशीपुरीमें जप, तप और योगके बिना भी एक ही जन्ममें कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है। द्विजश्रेष्ठ! तुमने शुद्ध बुद्धिसे काशीतीर्थमें जो कल्याणकारी पुण्यका उपार्जन किया है, उसका भारी फल महान् है। भगवत्पार्षदोंके सामने ही इस प्रकार कहकर ब्रह्माजी मौन हो गये और महामना शिवशर्मा भी बहुत प्रसन्न हुए।

# वैकुण्ठ और कैलासकी स्थिति तथा शिव और विष्णुकी अभिन्नता एवं महत्ताका निरूपण

**अगस्त्यजी कहते हैं**—तदनन्तर भगवान्‌के पार्षद ब्रह्माजीको प्रणाम करके प्रसन्नतापूर्वक चले और अपने विमानपर बैठकर वैकुण्ठधामके समीप जा पहुँचे। सत्यलोकसे जाते समय शिवशर्माने पुनः पूछा—'भगवत्पार्षदो! अब हमलोग कितनी दूर आये हैं और अभी कितनी दूर और चलना है।'

**भगवत्पार्षद बोले**—ब्रह्मन्! सूर्य और चन्द्रमाकी किरणोंका प्रकाश जहाँतक जाता है, समुद्र, पर्वत और वनसहित उतनी ही पृथ्वी मानी गयी है। उसके ऊपर आकाश है। पृथ्वीसे एक लाख योजन ऊपर सूर्यकी स्थिति है। पृथ्वीपर समुद्र, द्वीप, पर्वत और वनसहित जो कोई भी वस्तु है, वह सब भूलोकके नामसे विख्यात है। भूलोकसे लेकर सूर्यलोकतक भुवर्लोक कहलाता है। सूर्यसे ध्रुवलोकतक स्वर्गलोक कहलाता है। पृथ्वीसे एक करोड़ योजनकी ऊँचाईपर महर्लोक है, दो करोड़ योजन ऊँचे जनलोक है, चार करोड़ योजनकी ऊँचाईपर तपोलोक और पृथ्वीसे आठ करोड़ योजन ऊँचे सत्यलोक बताया गया है। सत्यलोकसे भी ऊपर वैकुण्ठधाम है, जो पृथ्वीसे सोलह करोड़ योजन ऊपर स्थित है, जहाँ सबको अभयदान करनेवाले साक्षात् भगवान् लक्ष्मीपति निवास करते हैं*। वैकुण्ठकी अपेक्षा सोलहगुनी ऊँचाईपर शिवजीका निवासस्थान कैलासधाम अवस्थित है (अर्थात् वह पृथ्वीसे २ अरब ५६ करोड़ योजनकी दूरीपर स्थित है), जहाँ गिरिराजनन्दिनी उमा, गणेशजी, कार्तिकेयजी तथा नन्दी आदिके साथ कल्याणस्वरूप भगवान् विश्वनाथ विराजमान हैं। लीलास्वरूप धारण करनेवाले उन भगवान्‌का यह सब दृश्यप्रपंच खेलमात्र है। वे सम्पूर्ण विश्वके स्वामीरूपसे विख्यात हैं और यह समस्त जगत् उनकी आज्ञाका पालक है। श्रुतियोंमें साकार, निराकार, सर्वव्यापी, नित्य, सत्य एवं द्वैतरहित कहकर जिस परब्रह्मका प्रतिपादन किया गया है, वे ही भगवान् शिव हैं। वे समस्त कारणोंसे परे एवं परात्पर हैं। उन्हींके विषयमें श्रुतियाँ कहती हैं कि ब्रह्मका स्वरूप परमानन्दमय है। उन भगवान् शिवको वेद भी नहीं जानते, वाणी मनके साथ उनतक न पहुँचकर लौट आती है। वे अपने द्वारा आप ही जानने योग्य हैं, परम ज्योतिःस्वरूप हैं और सबके हृदयमें अन्तर्यामीस्वरूपसे स्थित हैं। योगी पुरुष समाधिमें उनका साक्षात्कार करते हैं। वे वाणीद्वारा अनिर्वचनीय हैं। मायासे अनेक रूप धारण करके वास्तवमें रूपरहित हैं। वे अनन्त हैं, अन्तकस्वरूप हैं। सर्वज्ञ एवं कर्मशून्य हैं। उनका ऐश्वर्यमय स्वरूप इस प्रकार है—वे अर्धचन्द्रका मुकुट धारण करते हैं। उनका कण्ठ तमालके समान श्यामवर्ण है। ललाटमें ज्योतिर्मय नेत्र प्रकाशित होता है। उनके शरीरका वामार्ध भाग नारीके रूपमें सुशोभित होता है। वे अपने हाथोंमें शेषनागका भुजबंद पहनते हैं। गंगाजीकी तरंगोंके संसर्गसे उनकी जटाका तटप्रान्त सदा धुलता रहता है। उनका अंग विभूतिसमूहसे उज्ज्वल प्रतीत होता है। भगवान् रुद्रके पर और अपर (सगुण-निर्गुण अथवा कार्य-कारण) दो रूप हैं, जो सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त करके स्थित हैं। वे निराकार होकर भी साकार हैं। भगवान् शिव ही भोग और

* दिव्य वैकुण्ठधाम ब्रह्माण्डके अन्तर्गत नहीं, वह सबसे परे शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप है। भगवान् और उनके परम धाममें कोई अन्तर नहीं है। वह सर्वत्र व्यापक होकर भी त्रिपाद्विभूति परमव्योममें अभिव्यक्त है। भागवतमें उसे मूर्तिमान् कैवल्य बताया गया है—'कैवल्यमिव मूर्तिमत्'। यहाँ जिस वैकुण्ठलोककी चर्चा की गयी है, वह ब्रह्मलोककी ही भाँति कोई अवान्तर लोक है।

मोक्षके कारण हैं। जैसे शिव हैं वैसे विष्णु हैं, जैसे विष्णु हैं वैसे शिव हैं। शिव और विष्णुमें तनिक भी अन्तर नहीं है*। भगवान् विष्णु शार्ङ्ग धनुष एवं कौमोदकी गदा धारण करके सम्पूर्ण त्रिलोकीका शासन करते हैं और साधुपुरुषोंकी रक्षाके लिये दानवोंका विनाश करते हैं। शिवशर्मन्! अब तुम भगवान् विष्णुके लोकमें निवास करो।

**अगस्त्यजी कहते हैं**—प्रिये लोपामुद्रे! इस प्रकार शिवशर्मा ब्राह्मण मोक्षपदको प्राप्त हुए। जो इस पुण्यमय उपाख्यानको सुनता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो उत्तम ज्ञानको प्राप्त होता है।

## अगस्त्यजीका श्रीशैलपर कार्तिकेयजीकी सेवामें जाना और उनके मुखसे काशीकी महिमा श्रवण करना

**व्यासजी कहते हैं**—सूत! इस प्रकार काशीकी महिमा सुनाते हुए अगस्त्यजीने अपनी पत्नीके साथ श्रीपर्वतकी परिक्रमा करनेके पश्चात् कार्तिकेयजीके सुन्दर एवं विशाल वनको देखा। वहाँ लोहित नामका पर्वत है। उस पर्वतके समीप मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यने अपनी पत्नीके साथ छः मुखोंवाले साक्षात् कार्तिकेयजीका दर्शन किया और पृथ्वीपर दण्डकी भाँति पड़कर उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। तत्पश्चात् हाथ जोड़कर वैदिक सूक्तों तथा अपने बनाये हुए स्तोत्रद्वारा उनकी स्तुति की। स्तुतिके पश्चात् '**नमो नमः**' कहते हुए कार्तिकेयजीकी दो-तीन बार परिक्रमा करके उनके द्वारा बैठनेकी आज्ञा मिलनेपर वे उनके सामने बैठे।

**तब कार्तिकेयजीने कहा**—देवताओंके मुख्य सहायक मुनिवर अगस्त्यजी! कुशल तो है न? आप यहाँ आये हैं, यह मुझे मालूम हो गया था। विन्ध्याचल पर्वत ऊँचा उठ गया था, इसका भी मुझे पता है। वास्तवमें कुशल तो अविमुक्त नामक महाक्षेत्रमें ही है, जो भगवान् त्रिलोचनद्वारा सुरक्षित है और जहाँ साक्षात् भगवान् शिव मरे हुए प्राणियोंको मोक्षदान करते हैं। भूलोक, भुवर्लोक तथा स्वर्लोकमें अथवा पातालमें या महर्लोक आदि ऊपरके लोकोंमें भी मैंने वैसा उत्तम क्षेत्र कहीं नहीं देखा है। मुने! यद्यपि मैं अकेला ही सर्वत्र विचरता रहता हूँ तथापि काशीक्षेत्रकी प्राप्तिके लिये यहाँ तपस्या करता हूँ। किंतु आजतक मेरा मनोरथ सफल नहीं हुआ। पुण्य, दान, जप, तप तथा नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा काशीक्षेत्र मिलनेवाला नहीं है। उसकी प्राप्ति तो केवल श्रीमहादेवजीके अनुग्रहसे होती है। अत्यन्त दुर्लभ काशीपुरीका निवास केवल ईश्वरके अनुग्रहसे ही सुलभ है। शरीर प्रतिदिन बूढ़ा होता जाता है, इन्द्रियाँ जराजर्जर हो रही हैं और आयुरूपी मृगको मृत्युरूपी शिकारी अपना निशाना बनाना ही चाहता है। ऐसी दशामें सम्पत्तिको विपत्ति जानकर और आयुको विद्युत्के समान चपल मानकर मनुष्य काशीपुरीका भलीभाँति सेवन करे। जबतक जीवनका अन्त न हो जाय, तबतक काशी न छोड़े। अहो! बुढ़ापा निकट आ गया है, रोग अत्यन्त पीड़ा दे रहे हैं तथापि नाना प्रकारकी चेष्टाओंमें लगा हुआ देहधारी जीव काशीका सेवन करना नहीं चाहता! अर्थोपार्जनका उपाय किये बिना भी धन प्राप्त हो सकता है, यह एक निश्चित बात है। अतः धनकी चिन्ता छोड़कर एकमात्र धर्मकी शरण ले। धर्मसे स्वर्ग भी सुलभ है, परंतु एक काशीपुरी अत्यन्त दुर्लभ है। पाशुपतयोग मोक्षका साधन है। प्रयागमें गंगा-यमुनाके संगमका सेवन भी मुक्तिप्रद है तथा उससे भी बढ़कर अविमुक्त क्षेत्र है, जो अनायास

* यथा शिवस्तथा विष्णुर्यथा विष्णुस्तथा शिवः। अन्तरं शिवविष्णोश्च मनागपि न विद्यते॥ (स्क० पु०, का० पू० २३। ४१)

मोक्ष देनेवाला है। प्रतिदिन अविच्छिन्नरूपसे वेदोंका पाठ, मन्त्रोंका जप, अग्निहोत्र, दान, अनेक प्रकारके यज्ञ, देवताओंकी उपासना, त्रिरात्र अथवा पंचरात्र आदि आगमोक्त विधिसे आराधना, सांख्य, योग और श्रीविष्णुकी आराधना—ये सभी श्रेष्ठ कर्म मोक्षके साधन बताये गये हैं। अयोध्या, मथुरा आदि पुरियाँ भी मरे हुए जीवोंको मोक्ष देनेवाली बतायी गयी हैं। ये सभी कैवल्य मोक्षके साधन हैं, इसमें सन्देह नहीं। अन्य तीर्थ काशीकी प्राप्ति कराते हैं और काशीको प्राप्त होकर मनुष्य मुक्त हो जाता है। इसीलिये वह पवित्र क्षेत्र इस ब्रह्माण्डमण्डलमें भगवान् विश्वनाथको सदा प्रिय है। सुव्रत! मैं तो काशीसे आनेवाली वायुका भी स्पर्श चाहता हूँ। तुम तो साक्षात् काशीमें रहकर आये हो। जो जितेन्द्रिय होकर तीन रात भी काशीमें निवास करते हैं, उनकी चरणधूलिका स्पर्श अवश्य ही पवित्र कर देता है। तुम तो वहाँके निवासी ही थे, अतः तुम्हारे लिये क्या कहना है।

यों कहकर कार्तिकेयजीने अगस्त्य मुनिके सब अंगोंका स्पर्श किया और ऐसा करके उन्होंने अमृतके सरोवरमें स्नान करनेका सुख पाया। तत्पश्चात् 'जय विश्वनाथ' ऐसा कहकर उन्होंने अपने दोनों नेत्र बंद कर लिये और एक क्षणतक भगवान् शिवके अनिर्वचनीय स्वरूपका ध्यान किया। ध्यानसे निवृत्त होनेपर उनसे अगस्त्यजीने पूछा—'स्वामिन्! आप मुझसे काशीकी महिमा कहिये। वह क्षेत्र मुझे बहुत प्रिय है।'

**स्कन्द बोले**—अगस्त्यजी! काशीक्षेत्र इस लोकमें अत्यन्त गोपनीय बताया गया है। वहाँ सब प्रकारकी सिद्धि सन्निकट है; क्योंकि उसमें साक्षात् परमेश्वर सदा निवास करते हैं। काशीक्षेत्र आकाशमें स्थित है। वह इस भूलोकसे संलग्न नहीं है, किंतु इस बातको केवल योगीजन देख पाते हैं, अयोगी नहीं। जो पलभर भी अविमुक्त क्षेत्रके प्रति अतिशय भक्ति-भाव धारण करता है, उसने मानो ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक बड़ी भारी तपस्या कर ली। उसके द्वारा शिवसम्बन्धी सम्पूर्ण दिव्य व्रतोंका पालन हो जाता है। जो एक वर्षतक काशीमें क्रोधको जीतकर इन्द्रियसंयमपूर्वक रहता है, दूसरेके धनसे अपने शरीरका पोषण न करके पराये अन्नका परित्याग करता है, परनिन्दासे बचता है और प्रतिदिन कुछ-न-कुछ दान करता रहता है, उसने पूर्वजन्ममें सहस्रों वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्या की है, ऐसा मानना चाहिये। जो काशीक्षेत्रके माहात्म्यको जाननेवाला मनुष्य जीवनभर काशीवास करता है, वह जन्म-मृत्युका भय छोड़कर परम गतिको प्राप्त होता है। जो मृत्युपर्यन्त काशीका परित्याग नहीं करता, उसकी केवल ब्रह्महत्या ही नहीं दूर होती, अविद्या भी दूर हो जाती है। जो अनन्यचित्त होकर काशीक्षेत्रको नहीं छोड़ता, वह जरा-मृत्यु तथा गर्भवासके अत्यन्त दुःसह दुःखको त्याग देता है। जो बुद्धिमान् मानव इस पृथ्वीपर फिर जन्म लेना नहीं चाहता, वह देवताओं तथा ऋषियोंद्वारा सेवित काशीक्षेत्रका कभी त्याग न करे। अन्तकालमें वातसे पीड़ित हुए मनुष्यके मर्मस्थान जब विदीर्ण होने लगते हैं, उस समय वह अपनी सुध-बुध खो बैठता है। इसी समय साक्षात् भगवान् विश्वनाथ प्राणत्यागकालमें उपस्थित हो उस मुमूर्षु जीवको तारक मन्त्रका उपदेश देते हैं, जिससे वह शिवस्वरूप हो जाता है। अतः अतिशय पापोंसे भरे हुए इस मानव-शरीरको अनित्य जानकर मनुष्य संसारभयका नाश करनेवाले काशीक्षेत्रका सेवन करे। जो विघ्नोंसे आहत होनेपर भी काशीक्षेत्रका त्याग नहीं करता, वह मोक्ष-सम्पत्तिको पाकर ऐसी स्थितिमें पहुँच जाता है, जहाँ दुःखका सर्वथा अभाव है। अतः कौन ऐसा बुद्धिमान् पुरुष है, जो बड़े-बड़े पापपुंजका नाश तथा पुण्योंकी वृद्धि करनेवाली और अन्तमें भोग एवं मोक्ष देनेवाली काशीपुरीका सेवन न करेगा? अविमुक्त क्षेत्रके माहात्म्यका मैं केवल छः मुखोंसे किस प्रकार वर्णन कर सकता हूँ, जब कि शेषनाग सहस्र मुखोंसे भी उसका वर्णन करनेमें असमर्थ हैं।

# काशीकी उत्पत्ति-कथा, काशी और मणिकर्णिकाका माहात्म्य

**अगस्त्यजीने पूछा**—भगवन्! यह अविमुक्त क्षेत्र इस भूतलपर कबसे प्रसिद्ध हुआ और किस प्रकार यह मोक्ष देनेवाला हुआ?

**स्कन्द बोले**—मुने! मेरे पिता महादेवजीने माता पार्वतीको इसी प्रश्नका उत्तर इस प्रकार दिया था—'महाप्रलयकालमें समस्त चराचर प्राणी नष्ट हो गये थे। सर्वत्र अन्धकार छा रहा था। सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, दिन, रात आदि कुछ भी नहीं था। केवल वह सत्स्वरूप ब्रह्म ही शेष था, जिसका श्रुति '**एकमेवाद्वितीयम्**' कहकर वर्णन करती है। वह मन और वाणीका विषय नहीं है। उसका न कोई नाम है, न रूप। वह सत्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्दस्वरूप एवं परम प्रकाशमय है। वहाँ किसी भी प्रमाणकी पहुँच नहीं है। वह आधाररहित, निर्विकार एवं निराकार है। निर्गुण, योगिगम्य, सर्वव्यापी, एकमात्र कारण, निर्विकल्प, कर्मोंके आरम्भोंसे रहित, मायासे परे और उपद्रवशून्य है। जिस परमात्माके लिये इस प्रकार विशेषण दिये जाते हैं, वह कल्पान्तमें अकेला ही था। कल्पके आदिमें उसके मनमें यह संकल्प हुआ कि 'मैं एकसे दो हो जाऊँ।' अतः यद्यपि वह निराकार है तो भी उसने अपनी लीलाशक्तिसे साकाररूप धारण किया। परमेश्वरके संकल्पसे प्रकट हुई वह द्वितीय मूर्ति सम्पूर्ण ऐश्वर्य-गुणोंसे युक्त, सर्वज्ञानमयी, शुभ, सर्वव्यापक, सर्वस्वरूप, सबकी साक्षी, सबको उत्पन्न करनेवाली और सबके लिये एकमात्र वन्दनीय थी। प्रिये! उस निराकार परब्रह्मकी वह मूर्ति मैं ही हूँ। प्राचीन और अर्वाचीन विद्वान् मुझे ईश्वर कहते हैं। तदनन्तर साकाररूपमें प्रकट होकर भी मैं अकेला ही स्वेच्छानुसार विहार करता रहा। फिर अपने शरीरसे कभी अलग न होनेवाली तुम प्रकृतिको मैंने अपने ही विग्रहसे प्रकट किया। तुम्हीं प्रधान, प्रकृति और गुणवती माया हो। तुम्हें बुद्धितत्त्वकी जननी तथा निर्विकार बताया जाता है। फिर एक ही समय मुझ कालस्वरूप आदिपुरुषने तुम शक्तिके साथ उस काशीक्षेत्रको भी प्रकट किया।

**स्कन्द कहते हैं**—मुने! वह शक्ति प्रकृति कही गयी है और ईश्वरको परम पुरुष कहा गया है। वे दोनों परमानन्दस्वरूपसे उस परमानन्दमय काशीक्षेत्रमें रमण करने लगे। उस क्षेत्रका परिमाण पाँच कोसका बताया गया है। मुने! प्रलयकालमें भी उन दोनों (शिव-पार्वती)-ने उस क्षेत्रका कभी त्याग नहीं किया है, इसलिये उसे 'अविमुक्त' क्षेत्र कहते हैं। जब यह भूमण्डल नहीं रहता और जब जलकी भी सत्ता नहीं रह जाती, उस समय अपने विहारके लिये जगदीश्वर शिवने इस क्षेत्रका निर्माण किया है। कुम्भज! काशीक्षेत्रके इस रहस्यको कोई नहीं जानता। यह काशीक्षेत्र भगवान् शिवके आनन्दका हेतु है, इसलिये उन्होंने पहले इसका नाम 'आनन्दवन' रखा था। उस आनन्दकाननमें इधर-उधर जो सम्पूर्ण शिवलिंग हैं, उन्हें आनन्दकन्दके बीजोंके अंकुरकी भाँति जानना चाहिये। तदनन्तर भगवान् शिवने सच्चिदानन्दरूपिणी जगदम्बाके साथ अपने बायें अंगमें अमृतकी वर्षा करनेवाली दृष्टि डाली। तब उससे एक त्रिभुवनसुन्दर पुरुष प्रकट हुआ, जो परम शान्त, सत्त्वगुणसे पूर्ण, समुद्रसे भी अधिक गम्भीर और क्षमावान् था। उसके अंगोंकी कान्ति इन्द्रनीलमणिके समान श्याम थी। नेत्र विकसित कमलदलके समान सुन्दर थे। उसने सुवर्णरंगके दो सुन्दर पीताम्बरोंसे अपने शरीरको आच्छादित कर रखा था। वह सुन्दर एवं प्रचण्ड युगल बाहुदण्डोंसे सुशोभित था। उसके नाभिकमलसे बड़ी उत्तम सुगन्ध फैल रही थी। वह अकेला ही सम्पूर्ण गुणोंका आश्रय और अकेला ही समस्त कलाओंकी निधि था। वह एक ही सब पुरुषोंसे उत्तम था, इसलिये 'पुरुषोत्तम' कहलाया। तत्पश्चात् महामहिमासे विभूषित उस महान् पुरुषको देखकर

महादेवजीने कहा—'अच्युत! तुम महाविष्णु हो, तुम्हारे निःश्वाससे वेद प्रकट होंगे और उनसे तुम सब कुछ जानोगे।' उनसे ऐसा कहकर भगवान् शिव शिवाके साथ पुनः आनन्दकाननमें प्रवेश कर गये।

तत्पश्चात् भगवान् विष्णुने क्षणभर ध्यानमें तत्पर हो तपस्यामें ही मन लगाया। उन्होंने अपने चक्रसे एक सुन्दर पुष्करिणी खोदकर उसे अपने शरीरके

पसीनेके जलसे भर दिया। फिर उसीके किनारे घोर तपस्या की। तब शिवजी पार्वतीजीके साथ वहाँ प्रकट हुए और बोले—'महाविष्णो! वर माँगो।'

**श्रीविष्णु बोले**—देवदेव महेश्वर! यदि आप प्रसन्न हैं तो मैं सदा भवानीसहित आपका दर्शन करना चाहता हूँ।

**भगवान् शिव बोले**—'एवमस्तु'। जनार्दन! इस स्थानपर मेरी मणिजटित कर्णिका (मणिमय कुण्डल) गिर पड़ी है, इसलिये इस तीर्थका नाम मणिकर्णिका हो।

**श्रीविष्णुने कहा**—प्रभो! यहाँ मुक्तामय कुण्डल गिरनेसे यह उत्तम तीर्थ मुक्तिका प्रधान क्षेत्र हो। यहाँ शिवस्वरूप अनिर्वचनीय ज्योति प्रकाशित होती है, इसलिये इसका दूसरा नाम 'काशी' प्रसिद्ध हो। चार प्रकारके जीवसमुदायमें ब्रह्मासे लेकर कीटतक जितने भी जीव हैं, वे सब काशीमें मरनेपर मोक्षको प्राप्त हों तथा इस मणिकर्णिका नामक श्रेष्ठ तीर्थमें स्नान, सन्ध्या, जप, होम, वेदाध्ययन, तर्पण, पिण्डदान, गौ, भूमि, तिल, सुवर्ण, अश्व, दीप, अन्न, वस्त्र, आभूषण और कन्या—इन सबका दान, अनेक यज्ञ, व्रतोद्यापन, वृषोत्सर्ग और शिवलिंग आदिकी स्थापना—इत्यादि शुभकर्मोंको जो बुद्धिमान् मनुष्य करे, उसके उस कर्मका फल मोक्ष हो। जो है, जो होगा और जो हो चुका है, उन सबसे यह क्षेत्र अधिक एवं शुभोदयकारी हो। काशीका नाम लेनेवाले लोगोंके भी पापका सदा ही क्षय हो।

**श्रीमहादेवजी बोले**—महाबाहु विष्णु! तुम नाना प्रकारकी यथायोग्य सृष्टि करो और जो पापके मार्गपर चलनेवाले दुष्टात्मा हैं, उनका संहार करनेमें कारण बनो। यह पाँच-पाँच कोसका लम्बा-चौड़ा क्षेत्र काशीधाम मुझे बहुत प्रिय है। यहाँ केवल मेरी आज्ञा चल सकती है, यमराज आदि दूसरोंकी नहीं। अविमुक्त क्षेत्रमें निवास करनेवाले पापी जीवोंका भी मैं ही शासक हूँ, दूसरा नहीं। काशीसे सौ योजन दूर रहकर भी जो इस क्षेत्रका मन-ही-मन स्मरण करता है, वह पापोंसे पीड़ित नहीं होता। काशीमें पहुँचकर मनुष्य उसके पुण्यसे मोक्षपदका भागी होता है। जो मन-इन्द्रियोंको वशमें रखकर काशीमें बहुत समयतक निवास करके भी दैवयोगसे अन्यत्र मृत्युको प्राप्त होता है, वह भी स्वर्गीय सुख भोगकर अन्तमें काशीको प्राप्त हो मोक्षसम्पत्तिको पा लेता है। जो भगवान् विश्वनाथकी प्रसन्नताके लिये काशीमें न्यायपूर्वक धन देता है, अथवा निधन (मृत्यु)-को प्राप्त होता है, वह धन्य है और वही धर्मका ज्ञाता है। पाँच कोसका लम्बा-चौड़ा सम्पूर्ण अविमुक्त क्षेत्र विश्वनाथ नामसे प्रसिद्ध एक ज्योतिर्लिंगस्वरूप है, ऐसा जानना चाहिये। जैसे आकाशके एक देशमें स्थित होनेपर भी सर्वगत सूर्यमण्डल सबको दिखायी देता

है, उसी प्रकार विश्वनाथ केवल काशीमें स्थित होकर भी सर्वव्यापी होनेके कारण सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। जो क्षेत्रकी महिमाको नहीं जानता, जिसमें श्रद्धाका सर्वथा अभाव है, वह भी यदि समयानुसार काशीमें प्रवेश कर गया, तो निष्पाप हो जाता है और यदि वहाँ उसकी मृत्यु हो गयी तो वह भी मोक्ष प्राप्त कर लेता है। काशीमें पाप करके भी मनुष्य यदि काशीमें ही मर जाय तो पहले रुद्रपिशाच होकर वह पुनः मुक्तिको प्राप्त कर लेगा। इस शरीरको नाशवान् जानकर और गर्भवासके समय होनेवाली वेदनाको याद करके धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भी त्यागकर निरन्तर काशीपुरीका सेवन करना चाहिये। अभी मैं नौजवान हूँ, अभी मेरी मृत्यु बहुत दूर है, ऐसी बात चित्तमें कभी नहीं लानी चाहिये। वृद्धावस्थाको प्राप्त होनेके पहले ही पुरानी झोंपड़ीकी तरह अपने तुच्छ गृहको त्यागकर शीघ्र शंकरजीकी पुरी काशीकी यात्रा करनी चाहिये।

## श्रीगंगाजीकी महिमा

**श्रीमहादेवजी कहते हैं**—विष्णो! सूर्यवंशके महातेजस्वी परम धार्मिक राजा भगीरथ अपने पितामहोंका उद्धार करनेकी इच्छासे तपस्याके लिये पर्वतश्रेष्ठ हिमवान्‌को गये। हरे! ब्राह्मणकी शापाग्निसे दग्ध होकर बड़ी भारी दुर्गतिमें पड़े हुए जीवोंको गंगाके सिवा दूसरा कौन स्वर्गलोकमें पहुँचा सकता है, क्योंकि वह शुद्ध, विद्यास्वरूपा, इच्छा, ज्ञान एवं क्रियारूप तीन शक्तियोंवाली, दयामयी, आनन्दामृतरूपा तथा शुद्ध धर्मस्वरूपिणी हैं। जगद्धात्री परब्रह्मस्वरूपिणी गंगाको मैं अखिल विश्वकी रक्षा करनेके लिये लीलापूर्वक अपने मस्तकपर धारण करता हूँ। विष्णो! जो गंगाजीका सेवन करता है, उसने सब तीर्थोंमें स्नान कर लिया, सब यज्ञोंकी दीक्षा ले ली और सम्पूर्ण व्रतोंका अनुष्ठान पूरा कर लिया। कलियुगमें कलुषित चित्तवाले, पराये धनका लोभ रखनेवाले तथा विधिहीन कर्म करनेवाले मनुष्योंके लिये गंगाजीके बिना दूसरी कोई गति नहीं है। जो दूर रहकर भी गंगाजीके माहात्म्यको जानता है और भगवान् गोविन्दमें भक्ति रखता है, वह अयोग्य हो तो भी गंगा उसपर प्रसन्न होती हैं। अज्ञान, राग और लोभ आदिसे मोहित चित्तवाले पुरुषोंकी धर्म और गंगामें विशेष श्रद्धा नहीं होती। गंगाके गर्भमें मेरा तेजस्वरूप अग्नि है, वह मेरे वीर्यसे सुरक्षित है। अतएव सब दोषोंको जलानेवाली तथा सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाली है। जैसे वज्रका मारा हुआ पर्वत सैकड़ों टुकड़ोंमें बिखर जाता है, उसी प्रकार पापोंका समूह गंगाके स्मरणमात्रसे शतधा नष्ट हो जाता है। जो चलते, खड़े होते, जप और ध्यान करते, खाते-पीते, जागते-सोते तथा बात करते समय भी सदा गंगाजीका स्मरण करता रहता है, वह संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता हैं[१]। जो पितरोंके उद्देश्यसे भक्तिपूर्वक गुड़, घी और तिलके साथ मधुयुक्त खीर गंगामें डालते हैं, उसके पितर सौ वर्षतक तृप्त बने रहते हैं और वे सन्तुष्ट होकर अपनी सन्तानोंको नाना प्रकारकी मनोवांछित वस्तुएँ प्रदान करते हैं। जैसे बिना इच्छाके भी स्पर्श करनेपर आग जला ही देती है, उसी प्रकार अनिच्छासे भी अपने जलमें स्नान करनेपर गंगा मनुष्यके पापोंको भस्म कर देती हैं[२]। जो गंगा-स्नानके लिये उद्यत होकर चलता है और मार्गमें ही मर जाता है, वह

१. गच्छंस्तिष्ठन् जपन् ध्यायन् भुञ्जन् जाग्रत् स्वपन् वदन्। यः स्मरेत् सततं गङ्गां स हि मुच्येत बन्धनात्॥
(स्क० पु०, का० पू० २७ । ३७)

२. अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहनो हि यथा दहेत्। अनिच्छयापि संस्नाता गङ्गा पापं तथा दहेत्॥
(स्क० पु०, का० पू० २७ । ४९)

भी निःसन्देह गंगा-स्नानका फल पाता है। जो लोग खोटी बुद्धिवाले, दुराचारी, कोरा तर्क करनेवाले और अधिक सन्देह रखनेवाले मोहित मनुष्य हैं, वे गंगाको अन्य साधारण नदियोंके समान ही देखते हैं। जैसे क्रोधसे तपका, कामसे बुद्धिका, अन्यायसे लक्ष्मीका, अभिमानसे विद्याका तथा पाखण्ड, कुटिलता और छल-कपटसे धर्मका नाश होता है, उसी प्रकार गंगाजीके दर्शनमात्रसे सब पाप नष्ट हो जाते हैं। जैसे मन्त्रोंमें ॐकार, धर्मोंमें अहिंसा और कमनीय वस्तुओंमें लक्ष्मी श्रेष्ठ हैं तथा जिस प्रकार विद्याओंमें आत्मविद्या और स्त्रियोंमें गौरीदेवी उत्तम हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण तीर्थोंमें गंगातीर्थ विशेष माना गया है। हरे! जो परम बुद्धिमान् मनुष्य तुममें और मुझमें भेद-भाव नहीं करता, वही शिवभक्त जानने योग्य है। अनेक रूपवाले पितर सदा यह गाथा गाते हैं कि 'क्या हमारे कुलमें भी कोई गंगा नहानेवाला होगा, जो विधि और श्रद्धाके साथ गंगा-स्नान कर देवताओं तथा ऋषियोंका भलीभाँति तर्पण करके दीनों, अनाथों और दुःखियोंको तृप्त करते हुए हमारे निमित्त जलांजलि देगा? हमारे कुलमें कोई ऐसा पुरुष उत्पन्न हो, जो भगवान् शिव और विष्णुमें समान दृष्टि रखते हुए उनके लिये मन्दिर बनवावे और भक्तिपूर्वक उस मन्दिरमें झाड़ू देने आदिका कार्य करे।' जो गंगाका सेवन करता है, वही मुनि है और वही पण्डित है। वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि करके कृतार्थ जानने योग्य है। गंगास्नान करनेके लिये तिथि, नक्षत्र और पूर्व आदि दिशाका विचार नहीं करना चाहिये; क्योंकि गंगामें स्नान करनेमात्रसे समस्त संचित पापका नाश हो जाता है। जो प्रतिदिन आदरसे गंगाजीका माहात्म्य सुनते हैं, उन्हें गंगा-स्नानका फल होता है। जो पितरोंके उद्देश्यसे गंगाजलके द्वारा शिवलिंगको स्नान कराते हैं, उनके पितर यदि बड़े भारी नरकमें पड़े हों तो भी तृप्त हो जाते हैं। जो एक बार भी ताँबेके पात्रमें रखे हुए अष्टद्रव्ययुक्त गंगाजलसे भगवान् सूर्यको अर्घ्य देते हैं, वे अपने पितरोंके साथ सूर्यलोकमें जाकर प्रतिष्ठित होते हैं। जल, दूध, कुशका अग्रभाग, घी, मधु, गायका दही, लाल कनेर तथा लाल चन्दन—इन आठ अंगोंसे युक्त अष्टांग अर्घ्य बताया गया है, जो सूर्यदेवको अधिक सन्तुष्ट करनेवाला है[१]। चन्द्रमा और सूर्यके ग्रहणमें, व्यतीपात योगमें, विषुवयोगमें[२] तथा दोनों अयनोंमें (मकर और कर्ककी संक्रान्तिके दिन) किया हुआ गंगा-स्नान लाखगुना पुण्य देनेवाला होता है। यदि सोमवारको चन्द्रग्रहण तथा रविवारको सूर्यग्रहण हो तो वह चूड़ामणि नामक पर्व कहलाता है। उसमें किया हुआ गंगा-स्नान असंख्य पुण्यदायक है। ज्येष्ठमासके शुक्ल पक्षमें हस्त नक्षत्रयुक्त दशमी तिथिको स्त्री हो या पुरुष भक्तिभावसे गंगाजीके तटपर रात्रिमें जागरण करे और दस प्रकारके दस-दस सुगन्धित पुष्प, फल, नैवेद्य, दस दीप और दशांग धूपके द्वारा बुद्धिमान् पुरुष श्रद्धा और विधिके साथ दस बार गंगाजीकी पूजा करे। गंगाजीके जलमें घृतसहित तिलोंकी दस अंजलि डाले। फिर गुड़ और सत्तूके दस पिण्ड बनाकर उन्हें भी गंगाजीमें डाले। यह सब कार्य मन्त्रद्वारा होना चाहिये। मन्त्र इस प्रकार है—'**ॐ नमः शिवायै नारायण्यै दशहरायै गंगायै स्वाहा।**' यह बीस अक्षरका मन्त्र है। गंगाजीके लिये पूजा, दान, जप, होम सब इसी मन्त्रसे करने योग्य है। इस प्रकार मन्त्रोच्चारणके साथ धूप, दीप आदि समर्पण करते हुए पूजा करके मुझ शिवका, तुम

१- आपः क्षीरं कुशाग्राणि घृतं मधु गवां दधि । रक्तानि करवीराणि रक्तचन्दनमित्यपि॥
अष्टाङ्गार्घ्योऽयमुद्दिष्टस्त्वतीव रवितोषणः॥
(स्क० पु०, का० पू० २७। ९८-९९)

२- ज्योतिषके अनुसार वह समय जब कि सूर्य विषुवरेखापर पहुँचता है और दिन-रात दोनों बराबर होते हैं, विषुवयोग कहलाता है। ऐसा समय वर्षमें दो बार आता है। एक तो सौर चैत्रमासकी नवमी तिथिको और दूसरा सौर आश्विनकी नवमी तिथिको।

विष्णुका, ब्रह्माका, सूर्यका, हिमवान् पर्वतका और राजा भगीरथका भलीभाँति पूजन करे। दस ब्राह्मणोंको आदरपूर्वक दस सेर तिल दे। इस प्रकार विधानसे पूजा सम्पन्न करके दिनभर उपवास करनेवाला पुरुष निम्नांकित दस पापोंसे मुक्त हो जाता है। बिना दी हुई वस्तुको लेना, निषिद्ध हिंसा, परस्त्री-संगम—यह तीन प्रकारका दैहिक पाप माना गया है। कठोर वचन मुँहसे निकालना, झूठ बोलना, सब ओर चुगली करना और अंट-संट बातें बकना—ये वाणीसे होनेवाले चार प्रकारके पाप हैं। दूसरेके धनको लेनेका विचार करना, मनसे दूसरोंका बुरा सोचना और असत्य वस्तुओंमें आग्रह रखना—ये तीन प्रकारके मानसिक पाप कहे गये हैं *। पूर्वोक्त प्रकारसे दान-पूजा और व्रत करनेवाला पुरुष दस जन्मोंमें उपार्जित इन दस प्रकारके पापोंसे निःसन्देह छूट जाता है।

तदनन्तर गंगाजीके सम्मुख श्रद्धापूर्वक इस स्तोत्रको पढ़े—'ॐ' शिवस्वरूपा श्रीगंगाजीको नमस्कार है। कल्याणदायिनी गंगाको नमस्कार है। देवि गंगे! आप विष्णुरूपिणी हैं, आपको नमस्कार है। ब्रह्मस्वरूपा! आपको नमस्कार है, रुद्ररूपिणी! आपको नमस्कार है। शंकरप्रिया! आपको नमस्कार है, नमस्कार है। देवस्वरूपिणी! आपको नमस्कार है। ओषधिरूपा! आपको नमस्कार है। आप सबके सम्पूर्ण रोगोंकी श्रेष्ठ वैद्या हैं, आपको नमस्कार है। स्थावर और जंगम प्राणियोंसे प्रकट होनेवाले विषका आप नाश करनेवाली हैं। आपको नमस्कार है। संसाररूपी विषका नाश करनेवाली जीवनरूपा आपको नमस्कार है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—तीनों प्रकारके क्लेशोंका संहार करनेवाली आपको नमस्कार है। प्राणोंकी स्वामिनी आपको नमस्कार है, नमस्कार है। शान्तिका विस्तार करनेवाली शुद्धस्वरूपा आपको नमस्कार है। सबको शुद्ध करनेवाली तथा पापोंकी शत्रुस्वरूपा आपको नमस्कार है। भोग, मोक्ष तथा कल्याण प्रदान करनेवाली आपको बार-बार नमस्कार है। भोग और उपभोग देनेवाली भोगवती नामसे प्रसिद्ध आप पातालगंगाको नमस्कार है। मन्दाकिनी नामसे प्रसिद्ध तथा स्वर्ग प्रदान करनेवाली आप आकाशगंगाको बार-बार नमस्कार है। आप भूतल, आकाश और पाताल—तीन मार्गोंसे जानेवाली और तीनों लोकोंकी आभूषणस्वरूपा हैं, आपको बार-बार नमस्कार है। गंगाद्वार, प्रयाग और गंगासागर-संगम—इन तीन विशुद्ध तीर्थस्थानोंमें विराजमान आपको नमस्कार है। क्षमावती आपको नमस्कार है। गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्निरूप त्रिविध अग्नियोंमें स्थित रहनेवाली तेजोमयी आपको बार-बार नमस्कार है। आप ही अलकनन्दा हैं, आपको नमस्कार है। शिवलिंग धारण करनेवाली आपको नमस्कार है। सुधाधारामयी आपको नमस्कार है। जगत्में मुख्य सरितारूप आपको नमस्कार है। रेवती-नक्षत्ररूपा आपको नमस्कार है। बृहती नामसे प्रसिद्ध आपको नमस्कार है। लोकोंको धारण करनेवाली आपको नमस्कार है। सम्पूर्ण विश्वके लिये मित्ररूपा आपको नमस्कार है। सबको समृद्धि देकर आनन्दित करनेवाली आपको बारंबार नमस्कार है। आप पृथ्वीरूपा हैं, आपको नमस्कार है। आपका जल कल्याणमय है और आप उत्तम धर्मस्वरूपा हैं, आपको नमस्कार है, नमस्कार है। बड़े-छोटे सैकड़ों प्राणियोंसे सेवित आपको नमस्कार है। सबको तारनेवाली आपको नमस्कार है, नमस्कार है। संसार-बन्धनका उच्छेद करनेवाली अद्वैतरूपा आपको नमस्कार है। आप परम शान्त, सर्वश्रेष्ठ

---

* अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः। परदारोपसेवा च कायिकं त्रिविधं स्मृतम्॥
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चैव सर्वशः। असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥
परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्। वितथाभिनिवेशश्च मानसं त्रिविधं स्मृतम्॥
(स्क० पु०, का० पू० २७। १५२—१५४)

तथा मनोवांछित वर देनेवाली हैं, आपको बारंबार नमस्कार है। आप प्रलयकालमें उग्ररूपा हैं, अन्य समयमें सदा सुखका भोग करानेवाली हैं तथा उत्तम जीवन प्रदान करनेवाली हैं, आपको नमस्कार है। आप ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मज्ञान देनेवाली तथा पापोंका नाश करनेवाली हैं, आपको बार-बार नमस्कार है। प्रणतजनोंकी पीड़ाका नाश करनेवाली जगन्माता आपको नमस्कार है। आप समस्त विपत्तियोंकी शत्रुभूता तथा सबके लिये मंगलस्वरूपा हैं, आपके लिये बार-बार नमस्कार है। शरणागतों, दीनों तथा पीड़ितोंकी रक्षामें संलग्न रहनेवाली और सबकी पीड़ा दूर करनेवाली देवि नारायणि! आपको नमस्कार है। आप पाप-ताप अथवा अविद्यारूपी मलसे निर्लिप्त, दुर्गम दुःखका नाश करनेवाली तथा दक्ष हैं, आपको बारंबार नमस्कार है। आप पर और अपर सबसे परे हैं। मोक्षदायिनी गंगे! आपको नमस्कार है। गंगे! आप मेरे आगे हों, गंगे! आप मेरे पीछे रहें, गंगे! आप मेरे उभयपार्श्वमें स्थित हों तथा गंगे! मेरी आपमें ही स्थिति हो। आकाशगामिनी कल्याणमयी गंगे! आदि, मध्य और अन्तमें सर्वत्र आप हैं। गंगे! आप ही मूल-प्रकृति हैं, आप ही परम पुरुष हैं तथा आप ही परमात्मा शिव हैं; शिवे! आपको नमस्कार है*। जो श्रद्धापूर्वक इस स्तोत्रको पढ़ता और सुनता है, वह मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले पूर्वोक्त दस प्रकारके पापोंसे मुक्त हो जाता है। यह स्तोत्र जिसके घरमें लिखकर रखा हुआ हो, उसे कभी अग्नि, चोर और सर्प आदिका भय नहीं होता। ज्येष्ठमासके शुक्ल पक्षमें हस्त नक्षत्रसहित दशमी तिथिका यदि बुधवारसे योग हो, तो उस दिन गंगाजीके जलमें खड़ा होकर जो दस बार इस स्तोत्रका पाठ करता है, वह दरिद्र हो या असमर्थ, वह भी उसी फलको प्राप्त होता है, जो पूर्वोक्त विधिसे यत्नपूर्वक गंगाजीकी पूजा करनेपर उपलब्ध होनेवाला बताया गया है। विष्णो! जैसे मैं हूँ, वैसे तुम हो, जैसे तुम हो, वैसी उमादेवी हैं और जैसी उमादेवी हैं, वैसी गंगा हैं। इन चारों रूपोंमें भेद नहीं है।

---

* ॐ नमः शिवायै गंगायै शिवदायै नमो नमः। नमस्ते विष्णुरूपिण्यै ब्रह्ममूर्त्यै नमोऽस्तु ते॥
नमस्ते रुद्ररूपिण्यै शाङ्कर्यै ते नमो नमः। सर्वदेवस्वरूपिण्यै नमो भेषजमूर्तये॥
सर्वस्य सर्वव्याधीनां भिषक्छ्रेष्ठ्यै नमोऽस्तु ते। स्थास्नुजङ्गमसंभूतविषहन्त्र्यै नमोऽस्तु ते॥
संसारविषनाशिन्यै जीवनायै नमोऽस्तु ते। तापत्रितयसंहन्त्र्यै प्राणेश्यै ते नमो नमः॥
शान्तिसन्तानकारिण्यै नमस्ते शुद्धमूर्तये। सर्वसंशुद्धिकारिण्यै नमः पापारिमूर्तये॥
भुक्तिमुक्तिप्रदायिन्यै भद्रदायै नमो नमः। भोगोपभोगदायिन्यै भोगवत्यै नमोऽस्तु ते॥
मन्दाकिन्यै नमस्तेऽस्तु स्वर्गदायै नमो नमः। नमस्त्रैलोक्यभूषायै त्रिपथायै नमो नमः॥
नमस्त्रिशुक्लसंस्थायै क्षमावत्यै नमो नमः। त्रिहुताशनसंस्थायै तेजोवत्यै नमो नमः॥
नन्दायै लिङ्गधारिण्यै सुधाधारात्मने नमः। नमस्ते विश्वमुख्यायै रेवत्यै ते नमो नमः॥
बृहत्यै ते नमस्तेऽस्तु लोकधात्र्यै नमोऽस्तु ते। नमस्ते विश्वमित्रायै नन्दिन्यै ते नमो नमः॥
पृथ्व्यै शिवामृतायै च सुवृषायै नमो नमः। परापरशताढ्यायै तारायै ते नमो नमः॥
पाशजालनिकृन्तिन्यै अभिन्नायै नमोऽस्तु ते। शान्तायै च वरिष्ठायै वरदायै नमो नमः॥
उग्रायै सुखजग्ध्यै च सञ्जीवन्यै नमोऽस्तु ते। ब्रह्मिष्ठायै ब्रह्मदायै दुरितघ्न्यै नमो नमः॥
प्रणतार्तिप्रभञ्जिन्यै जगन्मात्रे नमोऽस्तु ते। सर्वापत्प्रतिपक्षायै मङ्गलायै नमो नमः॥
शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणे। सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते॥
निर्लेपायै दुर्गहन्त्र्यै दक्षायै ते नमो नमः। परापरपरायै च गङ्गे निर्वाणदायिनि॥
गङ्गे ममाग्रतो भूया गङ्गे मे तिष्ठ पृष्ठतः। गङ्गे मे पार्श्वयोरेधि गङ्गे त्वय्यस्तु मे स्थितिः॥
आदौ त्वमन्ते मध्ये च सर्वं त्वं गाङ्गते शिवे।
त्वमेव मूलप्रकृतिस्त्वं पुमान् पर एव हि। गङ्गे त्वं परमात्मा च शिवस्तुभ्यं नमः शिवे॥
(स्क० पु०, का० पू० २७। १५७—१७४)

# गंगाजीकी महिमा

**भगवान् शिव कहते हैं**—जो तीनों लोकोंमें प्रवाहित होनेवाली गंगाजीके तटपर जाकर एक बार भी पिण्डदान करता है, वह तिलमिश्रित जलके द्वारा अपने पितरोंका भवसागरसे उद्धार कर देता है। सम्पूर्ण देवता और पितर गंगाजीमें सदा वर्तमान रहते हैं इसलिये वहाँ उनका आवाहन और विसर्जन नहीं होता। पिताके कुलमें अथवा माताके कुलमें तथा गुरु, श्वशुर और भाई-बन्धुओंके कुलमें जो अपने सम्बन्धी मरे हों; अथवा जो अन्य बन्धु-बान्धव मृत्युको प्राप्त हुए हों; जो दाँत निकलनेके पहले अथवा गर्भमें ही पीड़ित होकर मरे हों; जो अग्नि, बिजली और चोरके द्वारा मरे हों; जो व्याघ्र अथवा अन्य दाढ़ोंवाले हिंसक जीवोंसे मारे गये हों; जो फाँसी लगाकर या ऊपरसे नीचे गिरकर मरे हों; जिन्होंने आत्मघात किया हो अथवा जो अपना शरीर बेचनेवाले, चोर, यज्ञके अनधिकारियोंसे यज्ञ करानेवाले, रस-विक्रयी, पापरोगी, घरोंमें आग लगानेवाले, जहर देनेवाले अथवा गोहत्यारे रहे हों और अपने कुलमें ही उनका जन्म हुआ रहा हो; उनको भी यदि एक बार मनुष्य विधिपूर्वक गंगाजलसे तर्पण करे तो वे भी स्वर्गलोकमें पहुँच जाते हैं और यदि पहलेसे स्वर्गमें हों तो मोक्षको प्राप्त होते हैं। तीनों लोकोंमें जो कोई भी मनोवांछित फल देनेवाले हैं, वे सब काशीमें उत्तरवाहिनी गंगाका सेवन करते हैं। केवल गंगा भी मुक्ति देनेमें समर्थ हैं, ऐसा निर्णय हो चुका है। किंतु अविमुक्त क्षेत्रमें मेरे निवासस्थानके गौरवसे वे विशेषरूपसे मुक्तिदायिनी होती हैं। पापोंसे चंचल चित्तवाले तथा संसाररूपी रोगसे ग्रस्त रहनेवाले मन्दबुद्धि मनुष्योंके लिये गंगाजी ही सर्वश्रेष्ठ हैं। जो गंगाजीके तटपर टूटे-फूटे घाटोंका संस्कार करते हैं अथवा वहाँके गिरे-पड़े देवमन्दिरोंका जीर्णोद्धार करते हैं, वे मेरे लोकमें चिरकालतक अक्षय सुख भोगते हैं। मनुष्योंकी हड्डी जबतक गंगाजीके जलमें स्थित रहती है, उतने हजार वर्षोंतक वे स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होते हैं।

**स्कन्दजी कहते हैं**—मुनिवर अगस्त्य! वस्तुशक्तिका यह विचार अद्भुत एवं अनिर्वचनीय है। गंगाजी द्रवके रूपमें भगवान् सदाशिवकी कोई परा शक्ति हैं। करुणारूपी अमृतरससे भरे हुए देवाधिदेव भगवान् शंकरने समस्त संसारका उद्धार करनेके लिये ही गंगाजीको प्रवृत्त किया है। मुने! गंगाधर शिवने दयावश श्रुतियोंके अक्षरोंको निचोड़कर उस ब्रह्मद्रवसे ही गंगाका निर्माण किया है। जो गंगाजीके तटकी मिट्टीको अपने मस्तकपर लगाता है उसका अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है। गंगा अपने नामका कीर्तन करनेसे पुण्यकी वृद्धि और पापका नाश करती है। दर्शन, स्पर्श, जलपान तथा उसमें स्नान करनेसे क्रमशः दसगुना फल होता है, ऐसा जानना चाहिये। ऋषियोंद्वारा सेवित, भगवान् विष्णुके चरणोंसे उत्पन्न, अति प्राचीन तथा परम पुण्यमयी धारासे युक्त भगवती गंगाकी जो लोग मनसे शरण लेते हैं वे ब्रह्मधामको प्राप्त होते हैं। जो माताकी भाँति इस संसारके जीवोंको पुत्र मानकर सदा उन्हें स्वर्गलोकको पहुँचाती है और सम्पूर्ण उत्तम गुणोंसे सम्पन्न है, उत्तम ब्रह्मलोककी इच्छा रखनेवाले जितेन्द्रिय पुरुषोंको सदा ही उस गंगाकी उपासना करनी चाहिये। जैसे ब्रह्मलोक सब लोकोंमें उत्तम है, उसी प्रकार गंगा समस्त सरिताओं और सरोवरोंसे श्रेष्ठ है। गंगाके जलमें स्नान करनेवाले पुरुषका समस्त पातक तत्काल नष्ट हो जाता है और उसे उसी क्षण महान् श्रेयकी प्राप्ति हो जाती है। गंगामें पुत्र-पौत्र आदि यदि अपने पितरोंके लिये श्रद्धापूर्वक जल देते हैं तो उस जलसे वे पितर तीन वर्षोंतक पूर्णतया तृप्त रहते हैं।

# गंगासहस्रनामस्तोत्र[1]

**अगस्त्यजी बोले**—गंगामें स्नान किये बिना मनुष्योंका जन्म व्यर्थ ही बीतता है। क्या कोई दूसरा उपाय भी है, जिससे गंगास्नानका फल प्राप्त हो सके?

**स्कन्दने कहा**—अगस्त्यजी! जान पड़ता है, यही सोचकर देवाधिदेव भगवान् शंकरने अपने मस्तकपर गंगाजीको धारण कर रखा है। एक परम गोपनीय उपाय है, जिससे देवनदी गंगामें स्नान करनेका पूरा फल प्राप्त होता है। वह उपाय उसीको बतलाना चाहिये, जो भगवान् शिव और विष्णुका भक्त, शान्त, श्रद्धालु, आस्तिक तथा गर्भवाससे छूटनेकी इच्छा रखनेवाला हो। दूसरे किसीके सामने कहीं भी उसकी चर्चा नहीं करनी चाहिये। वह परम रहस्यमय साधन महापातकोंका नाश करनेवाला है। वह उपाय है—भगवती गंगाका सहस्रनामस्तोत्र। वह सम्पूर्ण उत्तम स्तोत्रोंमें श्रेष्ठ है, जपनेयोग्य मन्त्रोंमें सर्वोत्तम है और वेदोंके उपनिषद्-भागके समान मनन करनेयोग्य है। साधकको मौन होकर प्रयत्नपूर्वक इसका जप करना चाहिये। यदि पवित्र स्थान हो तो वहाँ स्वयं भी पवित्रभावसे बैठकर सुस्पष्ट अक्षरोंमें इसका पाठ करना चाहिये।

**स्कन्दजी कहते हैं—ॐ नमो गङ्गादेव्यै।** **१ ॐकाररूपिणी**—प्रणवरूपा, सच्चिदानन्दस्वरूपा अथवा ब्रह्मा-विष्णु-शिवरूपिणी, **२ अजरा**—वृद्धावस्थासे रहित, **३ अतुला**—तुलनारहित, **४ अनन्ता**—जिसका कभी कहीं भी अन्त न हो, ऐसी, **५ अमृतस्रवा**—अमृतमय जलका स्रोत बहानेवाली, **६ अत्युदारा**—अतिशय उदार, किसीको भी शरणमें लेने अथवा सद्गति देनेमें संकोच न करनेवाली, **७ अभया**—भयरहित, जिसका आश्रय लेनेसे संसार-भयका निवारण हो जाता है, ऐसी, **८ अशोका**—शोकसे रहित अथवा जिससे शोकका निवारण होता है, ऐसी, **९ अलकनन्दा**—अलकावासियोंको आनन्द देनेवाली अथवा केशोंमें जिसके जलका स्पर्श होनेसे आनन्द प्राप्त होता है, ऐसी, **१० अमृता**—सुधारूपिणी अथवा मुक्ति देनेके कारण अमृतस्वरूपा, **११ अमला**—निर्मल जलवाली अथवा संसाररूपी मलका निवारण करनेवाली।[2]

**१२ अनाथवत्सला**—अनाथोंपर दया करनेवाली, **१३ अमोघा**—जिनकी सेवा कभी व्यर्थ नहीं जाती, ऐसी, **१४ अपांयोनिः**—जलकी उत्पत्तिका स्थान, **१५ अमृतप्रदा**—मोक्ष प्रदान करनेवाली, **१६ अव्यक्तलक्षणा**—अव्यक्तब्रह्मस्वरूपा अथवा अव्याकृत प्रकृतिरूपा, **१७ अक्षोभ्या**—किसीके द्वारा भी क्षुब्ध न की जा सकनेवाली, **१८ अनवच्छिन्ना**—अपने दिव्य एवं व्यापक स्वरूपके कारण त्रिविध परिच्छेदसे शून्य, **१९ अपरा**—जिसके लिये कोई भी पराया नहीं है अथवा जिससे श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं है, ऐसी, **२० अजिता**—किसीसे भी परास्त न होनेवाली।[3]

**२१ अनाथनाथा**—अनाथोंको भी शरण देनेवाली, **२२ अभीष्टार्थसिद्धिदा**—भक्तजनोंके अभीष्ट अर्थकी सिद्धि करनेवाली, **२३ अनङ्गवर्द्धिनी**—कामनाकी पूर्ति या मनोवांछित भोगोंकी वृद्धि करनेवाली अथवा कामभावका नाश या निराकार ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाली, **२४ अणिमादि-गुणा**—अणिमा आदि आठ प्रकारके ऐश्वर्य प्रदान करना जिसका स्वाभाविक गुण है, ऐसी, **२५ आधारा**—'अ' अर्थात् विष्णु आधार हैं जिसके, ऐसी, **२६ अग्रगण्या**—श्रेष्ठता और पवित्रतामें सबसे प्रथम गणना करने योग्य, **२७ अलीकहारिणी**—अलीक अर्थात् अज्ञानका हरण करनेवाली।[4]

**२८ अचिन्त्यशक्तिः**—जिनकी शक्ति चिन्तनका

१. स्कन्दपुराण, काशीखण्ड पूर्वार्ध, अध्याय २९, श्लोक १७ से ६८ तक।
२. ॐकाररूपिण्यजरातुलानन्तामृतस्रवा । अत्युदाराभयाशोकालकनन्दामृतामला ॥
३. अनाथवत्सलामोघापांयोनिरमृतप्रदा । अव्यक्तलक्षणाक्षोभ्यानवच्छिन्नापराजिता ॥
४. अनाथनाथाभीष्टार्थसिद्धिदानङ्गवर्द्धिनी । अणिमादिगुणाऽऽधाराग्रगण्यालीकहारिणी ॥

विषय नहीं है, ऐसी, २९ **अनघा**—निष्पाप, ३० **अद्भुतरूपा**—आश्चर्यमय स्वरूपवाली, ३१ **अघहारिणी**—अपने कीर्तन, दर्शन, स्पर्श और जलस्नानसे सबके पापोंको हर लेनेवाली, ३२ **अद्रिराजसुता**—गिरिराज हिमालयकी पुत्री, ३३ **अष्टाङ्गयोगसिद्धिप्रदा**—अष्टांगयोगसे प्राप्त होनेवाली सिद्धि (मुक्ति)-को देनेवाली, ३४ **अच्युता**—अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाली अथवा विष्णुस्वरूपा।[१]

३५ **अक्षुण्णशक्तिः**—जिसकी शक्ति कभी खण्डित या कुण्ठित नहीं होती, वह, ३६ **असुदा**—अपने जीवनरूपी जलसे प्राणदान करनेवाली, ३७ **अनन्ततीर्था**—सर्वतीर्थमयी होनेके कारण असंख्य तीर्थोंसे युक्त, ३८ **अमृतोदका**—अमृतके समान मधुर अथवा मोक्षदायक जलवाली, ३९ **अनन्तमहिमा**—जिसकी महिमाका कहीं अन्त नहीं है, ऐसी, ४० **अपारा**—सीमारहित, ४१ **अनन्तसौख्यप्रदा**—मोक्ष या भगवत्प्राप्तिका अक्षय सुख प्रदान करनेवाली, ४२ **अन्नदा**—भोग प्रदान करनेवाली।[२]

४३ **अशेषदेवतामूर्तिः**—सम्पूर्ण देवस्वरूपा, ४४ **अघोरा**—शान्तस्वरूपा, ४५ **अमृतरूपिणी**—मोक्षस्वरूपा, ४६ **अविद्याजालशमनी**—अविद्यारूपी आवरणका नाश करनेवाली, ४७ **अप्रतर्क्यगतिप्रदा**—जहाँ मन और वाणीकी पहुँच नहीं है, ऐसी मोक्षरूप गति प्रदान करनेवाली।[३]

४८ **अशेषविघ्नसंहर्त्री**—समस्त विघ्नोंका संहार करनेवाली, ४९ **अशेषगुणगुम्फिता**—सम्पूर्ण सद्गुणोंसे ग्रथित, ५० **अज्ञानतिमिरज्योतिः**—अज्ञानमय अन्धकारका नाश करनेवाली ज्योतिः-स्वरूपा, ५१ **अनुग्रहपरायणा**—भक्तोंपर अनुग्रह करनेमें तत्पर।[४]

५२ **अभिरामा**—सब ओरसे मनोरम, ५३ **अनवद्याङ्गी**—निर्दोष स्वरूपवाली, ५४ **अनन्तसारा**—जिसके सार अर्थात् शक्तिका अन्त नहीं है, ऐसी, ५५ **अकलङ्किनी**—कलंकसे रहित, ५६ **आरोग्यदा**—अपने अमृतमय जलसे आरोग्य प्रदान करनेवाली, ५७ **आनन्दवल्ली**—दिव्य आनन्दकी प्राप्ति करानेवाली कल्पलताके समान, ५८ **आपन्नार्तिविनाशिनी**—शरणमें आये हुए जीवोंकी पीड़ा (संसार-बन्धन)-का नाश करनेवाली।[५]

५९ **आश्चर्यमूर्तिः**—आश्चर्यमय स्वरूपवाली, ६० **आयुष्या**—आयु प्रदान करनेवाली, ६१ **आढ्या**—दिव्य वैभवसे सम्पन्न, ६२ **आद्या**—सबकी कारणभूता आदिशक्ति, ६३ **आप्रा**—सब ओरसे परिपूर्ण, ६४ **आर्यसेविता**—श्रेष्ठ पुरुषों (देवता और ऋषि आदि)-के द्वारा सेवित, ६५ **आप्यायिनी**—सबको तृप्त करनेवाली, ६६ **आप्तविद्या**—ब्रह्मविद्यास्वरूपा अथवा सम्पूर्ण विद्याओंको जाननेवाली, ६७ **आख्या**—सदा और सर्वत्र प्रसिद्ध, ६८ **आनन्दा**—सुखस्वरूपा, ६९ **आश्वासदायिनी**—नरक आदिके भयसे डरे हुए प्राणियोंको सान्त्वना प्रदान करनेवाली।[६]

७० **आलस्यघ्नी**—आलस्यका नाश करनेवाली, ७१ **आपदां हन्त्री**—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक आपत्तियोंका नाश करनेवाली, ७२ **आनन्दामृतवर्षिणी**—ब्रह्मानन्दमय अमृतकी वर्षा करनेवाली, ७३ **इरावती**—इरावती नामवाली नदी अथवा इरा अर्थात् लक्ष्मीसे युक्त, ७४ **इष्टदात्री**—भक्तोंको अभीष्ट वस्तु देनेवाली, ७५ **इष्टा**—आराध्यदेवी अथवा सबके द्वारा पूजित, ७६ **इष्टापूर्तफलप्रदा**—इष्ट—यज्ञ, होम आदि और आपूर्त—कूप, तड़ाग, वापीनिर्माण आदि, इन सबके पुण्यफलको देनेवाली।[७]

७७ **इतिहासश्रुतीड्यार्था**—इतिहास और वेद दोनोंके द्वारा जिसके पुरुषार्थकी स्तुति की जाती

---

१. अचिन्त्यशक्तिरनघाद्भुतरूपाघहारिणी । अद्रिराजसुताष्टाङ्गयोगसिद्धिप्रदाच्युता ॥
२. अक्षुण्णशक्तिरसुदानन्ततीर्थामृतोदका । अनन्तमहिमापारानन्तसौख्यप्रदान्नदा ॥
३. अशेषदेवतामूर्तिरघोरामृतरूपिणी । अविद्याजालशमनी ह्यप्रतर्क्यगतिप्रदा ॥
४. अशेषविघ्नसंहर्त्री त्वशेषगुणगुम्फिता । अज्ञानतिमिरज्योतिरनुग्रहपरायणा ॥
५. अभिरामानवद्याङ्ग्यनन्तसाराकलङ्किनी । आरोग्यदाऽऽनन्दवल्ली त्वापन्नार्तिविनाशिनी ॥
६. आश्चर्यमूर्तिरायुष्या ह्याढ्याऽऽद्याऽऽप्राऽऽर्यसेविता । आप्यायिन्याप्तविद्याऽऽख्या त्वानन्दाऽऽश्वासदायिनी ॥
७. आलस्यघ्न्यापदां हन्त्री ह्यानन्दामृतवर्षिणी । इरावतीष्टदात्रीष्टा त्विष्टापूर्तफलप्रदा ॥

है, ऐसी, **७८ इहामुत्र शुभप्रदा**—इहलोक और परलोकमें कल्याण प्रदान करनेवाली, **७९ इज्याशीलसमिज्येष्ठा**—यज्ञ आदि करनेवाले कर्मनिष्ठ तथा समस्वरूप ब्रह्मका विचार करनेवाले ज्ञानी, दोनोंमें श्रेष्ठ अथवा इन दोनोंके लिये श्रेष्ठ मानकर पूजनीय, **८० इन्द्रादिपरिवन्दिता**—इन्द्र आदि देवताओंद्वारा वन्दित।[१]

**८१ इलालङ्कारमाला**—पृथ्वीको विभूषित करनेवाली पुष्पमालाके सदृश, **८२ इद्धा**—दीप्तिमती अथवा प्रकाशस्वरूपा, **८३ इन्दिरा**—लक्ष्मीस्वरूपा, **८४ रम्यमन्दिरा**—भगवच्चरणारविन्द, ब्रह्मकमण्डलु तथा भगवान् शंकरका मस्तक—ये सब रमणीय आश्रय हैं जिसके, ऐसी, **८५ इदिन्दिरादिसंसेव्या**—निरन्तर लक्ष्मी आदि देवियोंके सेवन करने योग्य, **८६ ईश्वरी**—ऐश्वर्यसम्पन्न, **८७ ईश्वरवल्लभा**—शंकरप्रिया।[२]

**८८ ईतिभीतिहरा**—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी पड़ना, चूहे लगना, तोते आदि पक्षियोंकी अधिकता और दूसरे राजाकी चढ़ाई—इन छः प्रकारके उपद्रवोंका भय दूर करनेवाली, **८९ ईड्या**—स्तवन करने योग्य, **९० ईडनीयचरित्रभृत्**—स्तुत्य चरित्र धारण करनेवाली, **९१ उत्कृष्टशक्तिः**—उत्तम शक्तिसे युक्त, **९२ उत्कृष्टा**—श्रेष्ठ, **९३ उडुपमण्डलचारिणी**—चन्द्रमण्डलमें विचरनेवाली।[३]

**९४ उदिताम्बरमार्गा**—जिसके द्वारा आकाशमें मार्गका उदय होता है अथवा जो ऊर्ध्वलोकमें जानेके लिये प्रकाशित मार्गके समान है, ऐसी, **९५ उस्रा**—उज्ज्वल किरणके समान प्रकाशमान, **९६ उरगलोकविहारिणी**—पाताललोकमें प्रवाहित होनेवाली, **९७ उक्षा**—भूतलको सींचनेवाली, **९८ उर्वरा**—भूमिको उर्वरा (उपजाऊ) बनानेमें हेतु, **९९ उत्पला**—कमलस्वरूपा, **१०० उत्कुम्भा**—जिसमें भरे जानेवाले कलश उत्कृष्ट हो जाते हैं, वह, **१०१ उपेन्द्रचरणद्रवा**—भगवान् वामनके चरण पखारनेसे प्रकट चरणोदकस्वरूपा।[४]

**१०२ उदन्वत्पूर्तिहेतुः**—समुद्रको पूर्ण करनेमें कारणभूत, **१०३ उदारा**—उत्तम गति प्रदान करनेमें उदार, **१०४ उत्साहप्रवर्द्धिनी**—अपने आश्रितोंका उत्साह बढ़ानेवाली, **१०५ उद्वेगघ्नी**—घबराहट अथवा भयको मिटानेवाली, **१०६ उष्णशमनी**—गर्मीको शान्त करनेवाली, **१०७ उष्णरश्मिसुताप्रिया**—सूर्यकन्या यमुनाकी प्रिय सखी।[५]

**१०८ उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी**—ब्रह्मशक्ति, विष्णुशक्ति तथा रुद्रशक्तिके रूपमें उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाली, **१०९ उपरिचारिणी**—पृथ्वी अथवा स्वर्गलोकके ऊपर विचरनेवाली, **११० ऊर्जवहन्ती**—बलवर्द्धक जलको प्रवाहित करनेवाली, **१११ ऊर्जधरा**—बल अथवा प्राणशक्तिको धारण करनेवाली, **११२ ऊर्जावती**—बल अथवा प्राणशक्तिका आश्रय, **११३ ऊर्मिमालिनी**—तरंग-मालाओंसे युक्त।[६]

**११४ ऊर्ध्वरेतःप्रिया**—ऊर्ध्वरेता महात्माओंको प्रिय लगनेवाली, **११५ ऊर्ध्वाध्वा**—जिसका मार्ग ऊपर विष्णुलोककी ओर गया है, ऐसी, **११६ ऊर्मिला**—लहरोंको धारण करनेवाली अथवा भक्तोंके शोक, मोह, जरा, मृत्यु, क्षुधा, पिपासा—इन छः ऊर्मियोंको ग्रहण करनेवाली, **११७ ऊर्ध्वगतिप्रदा**—अपने सम्पर्कमें आये हुए मुमूर्षुओंको ऊर्ध्वगति (स्वर्ग एवं मोक्ष) प्रदान करनेवाली, **११८ ऋषिवृन्दस्तुता**—महर्षियोंके समुदायसे प्रशंसित, **११९ ऋद्धिः**—समृद्धिस्वरूपा, **१२० ऋणत्रयविनाशिनी**—देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋणका नाश करनेवाली।[७]

**१२१ ऋतम्भरा**—ऋत अर्थात् सत्य एवं ब्रह्मका

१. इतिहासश्रुतीड्यार्था त्विहामुत्रशुभप्रदा । इज्याशीलसमिज्येष्ठा त्विन्द्रादिपरिवन्दिता ॥
२. इलालङ्कारमालेद्धा त्विन्दिरा रम्यमन्दिरा । इदिन्दिरादिसंसेव्या त्वीश्वरीश्वरवल्लभा ॥
३. ईतिभीतिहरेड्या च त्वीडनीयचरित्रभृत् । उत्कृष्टशक्तिरुत्कृष्टोडुपमण्डलचारिणी ॥
४. उदिताम्बरमार्गोस्रोरगलोकविहारिणी । उक्षोर्वरोत्पलोत्कुम्भा उपेन्द्रचरणद्रवा ॥
५. उदन्वत्पूर्तिहेतुश्चोदारोत्साहप्रवर्द्धिनी । उद्वेगघ्न्युष्णशमनी ह्युष्णरश्मिसुताप्रिया ॥
६. उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिण्युपरिचारिणी । ऊर्जवहन्त्यूर्जधरोर्जावती चोर्मिमालिनी ॥
७. ऊर्ध्वरेतःप्रियोर्ध्वाध्वा ह्यूर्मिलोर्ध्वगतिप्रदा । ऋषिवृन्दस्तुतर्द्धिश्च ऋणत्रयविनाशिनी ॥

आश्रय लेनेवाली बुद्धिस्वरूपा, **१२२ ऋद्धिदात्री**—समृद्धि देनेवाली, **१२३ ऋक्स्वरूपा**—ऋग्वेदरूपिणी, **१२४ ऋजुप्रिया**—सरल स्वभाववाले साधु महात्माओंको प्रिय लगनेवाली, **१२५ ऋक्षमार्गवहा**—नक्षत्रलोकके मार्गसे बहनेवाली, **१२६ ऋक्षार्चिः**—ताराओंके सदृश उज्ज्वल कान्तिवाली, **१२७ ऋजुमार्गप्रदर्शिनी**—धर्म एवं मोक्षका सरल मार्ग दिखानेवाली।[१]

**१२८ एधिताखिलधर्मार्था**—सम्पूर्ण धर्म और अर्थको बढ़ानेवाली, **१२९ एका**—अपने ढंगकी अकेली, **१३० एकामृतदायिनी**—एकमात्र अमृतस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाली, **१३१ एधनीयस्वभावा**—जिसके दया, उदारता आदि स्वाभाविक गुण निरन्तर बढ़ने योग्य हों, ऐसी **१३२ एज्या**—पूजनीया, **१३३ एजिताशेषपातका**—सम्पूर्ण पातकोंको कम्पित करनेवाली।[२]

**१३४ ऐश्वर्यदा**—अणिमा, महिमा आदि ऐश्वर्य प्रदान करनेवाली, **१३५ ऐश्वर्यरूपा**—भगवद्विभूतिस्वरूपा, **१३६ ऐतिह्यम्**—इतिहासस्वरूपा, **१३७ ऐन्दवीद्युतिः**—चन्द्रमाकी कान्तिरूपा, **१३८ ओजस्विनी**—शक्तिमती, **१३९ ओषधीक्षेत्रम्**—अन्न पैदा करनेका क्षेत्र, **१४० ओजोदा**—बल एवं तेज प्रदान करनेवाली, **१४१ ओदनदायिनी**—धानकी पैदावार बढ़ाकर भात देनेवाली, अथवा अन्नदायिनी अन्नपूर्णारूपा।[३]

**१४२ ओष्ठामृता**—जिसका जल ओष्ठके भीतर आनेपर अमृतके समान प्रतीत होता है अथवा जिसके ओष्ठमें अमृत हो, वह, **१४३ औन्नत्यदात्री**—आध्यात्मिक, लौकिक एवं पारलौकिक उन्नति प्रदान करनेवाली, **१४४ भवरोगिणाम् औषधम्**—संसार-रोगसे ग्रस्त प्राणियोंके लिये ओषधिरूपा, **१४५ औदार्यचञ्चुरा**—उदारतामें कुशल, **१४६ औपेन्द्री**—उपेन्द्र अर्थात् वामनरूपधारी विष्णुकी पत्नी लक्ष्मीस्वरूपा अथवा विष्णुकी चरणोदकस्वरूपा, **१४७ औग्री**—रुद्रकी शक्ति, **१४८ औमेयरूपिणी**—उमाके सदृश रूपवाली।[४]

**१४९ अम्बराध्ववहा**—आकाशमार्गपर बहनेवाली, **१५० अम्बष्ठा**—अ अर्थात् विष्णुकी शरण लेनेवाले वैष्णवोंको अम्ब कहते हैं; उनमें स्थित होनेवाली, **१५१ अम्बरमाला**— आकाशमें पुष्पहारके समान शोभा पानेवाली, **१५२ अम्बुजेक्षणा**—कमलरूप अथवा कमल-सदृश नेत्रोंवाली, **१५३ अम्बिका**—जगदम्बास्वरूपा, **१५४ अम्बुमहायोनिः**—जलकी उत्पत्तिका मूल कारण, **१५५ अन्धोदा**—अन्न देनेवाली, **१५६ अन्धकहारिणी**—अन्धकासुरका नाश करनेवाले शिवकी शक्ति अथवा अज्ञानान्धकारका नाश करनेवाली।[५]

**१५७ अंशुमाला**—तेजका समुदाय, **१५८ अंशुमती**—तेजोमयी, **१५९ अङ्गीकृतषडानना**—छः मुखोंवाले स्कन्दको पुत्ररूपमें स्वीकार करनेवाली, **१६० अन्धतामिस्रहन्त्री**—अन्धतामिस्र आदि नरकोंका निवारण करनेवाली, **१६१ अन्धुः**—कूपमात्रमें स्वयं प्रकट होनेवाली, **१६२ अञ्जना**—आध्यात्मिक दृष्टिको शुद्ध करनेके लिये दिव्य अंजनरूपा अथवा हनुमान्‌जीको जन्म देनेवाली अंजनास्वरूपा, **१६३ अञ्जनावती**—ईशानकोणकी रक्षा करनेवाली हस्तिनी, अंजनावतीसे अभिन्न।[६]

**१६४ कल्याणकारिणी**—सबका कल्याण करनेवाली, **१६५ काम्या**—कमनीया, **१६६ कमलोत्पलगन्धिनी**—कमल और उत्पलकी सुगन्धसे सुवासित, **१६७ कुमुद्वती**—कुमुद पुष्पोंसे युक्त, **१६८ कमलिनी**—कमल पुष्पोंसे अलंकृत, **१६९ कान्तिः**—दीप्तिमयी, **१७० कल्पितदायिनी**—मनोवांछित वस्तु देनेवाली।[७]

---

१. ऋतम्भरर्द्धिदात्री च ऋक्स्वरूपा ऋजुप्रिया । ऋक्षमार्गवहर्क्षार्चिर्ऋजुमार्गप्रदर्शिनी ॥
२. एधिताखिलधर्मार्था त्वेकैकामृतदायिनी । एधनीयस्वभावैज्या त्वेजिताशेषपातका ॥
३. ऐश्वर्यदैश्वर्यरूपा ह्यैतिह्यं ह्यैन्दवीद्युतिः । ओजस्विन्योषधीक्षेत्रमोजोदौदनदायिनी ॥
४. ओष्ठामृतौन्नत्यदात्री त्वौषधं भवरोगिणाम् । औदार्यचञ्चुरौपेन्द्री त्वौग्री ह्यौमेयरूपिणी ॥
५. अम्बराध्ववहाम्बष्ठाम्बरमालाम्बुजेक्षणा । अम्बिकाम्बुमहायोनिरन्धोदान्धकहारिणी ॥
६. अंशुमाला ह्यंशुमती त्वङ्गीकृतषडानना । अन्धतामिस्रहन्त्यन्धुरञ्जना ह्यञ्जनावती ॥
७. कल्याणकारिणी काम्या कमलोत्पलगन्धिनी । कुमुद्वती कमलिनी कान्तिः कल्पितदायिनी ॥

**१७१ काञ्चनाक्षी**—सुवर्णके समान उद्दीप्त नेत्रोंवाली, **१७२ कामधेनुः**—भक्तोंकी मनोवांछा पूर्ण करनेमें कामधेनुके समान अथवा कामधेनुस्वरूपा, **१७३ कीर्तिकृत्**—अपने सुयशका विस्तार करनेवाली, **१७४ क्लेशनाशिनी**—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशरूप पाँच क्लेशोंका नाश करनेवाली, **१७५ क्रतुश्रेष्ठा**—यज्ञोंसे श्रेष्ठ—अश्वमेध आदि यज्ञोंसे अधिक फल देनेवाली, **१७६ क्रतुफला**—जिसमें स्नान करनेसे यज्ञोंका फल प्राप्त होता है, ऐसी, **१७७ कर्मबन्धविभेदिनी**—शुभाशुभकर्मजनित बन्धनका नाश करनेवाली।[१]

**१७८ कमलाक्षी**—कमलके समान या कमलरूप नेत्रोंवाली, **१७९ क्लमहरा**—सांसारिक क्लेशको हर लेनेवाली, **१८० कृशानुतपनद्युतिः**—आधिदैविक स्वरूपमें अग्नि और सूर्यके समान कान्तिवाली, **१८१ करुणार्द्रा**—करुणारससे भीगी हुई, **१८२ कल्याणी**—मंगलस्वरूपा, **१८३ कलिकल्मषनाशिनी**—कलिकालमें होनेवाले पापोंका नाश करनेवाली।[२]

**१८४ कामरूपा**—इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली, **१८५ क्रियाशक्तिः**—क्रियाशक्ति, **१८६ कमलोत्पलमालिनी**—कमल और उत्पलोंकी माला धारण करनेवाली, **१८७ कूटस्था**—ब्रह्मस्वरूपा, **१८८ करुणा**—दयामयी, **१८९ कान्ता**—कान्तिमती, **१९० कूर्मयाना**—कच्छपरूप वाहनवाली, **१९१ कलावती**—चौंसठ कलाओंको जाननेवाली।[३]

**१९२ कमला**—लक्ष्मीस्वरूपा, **१९३ कल्पलतिका**—कल्पलताके समान सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाली, **१९४ काली**—कालिकास्वरूपा, **१९५ कलुषवैरिणी**—पापोंका नाश करनेवाली, **१९६ कमनीयजला**—कमनीय अर्थात् स्वच्छ जलवाली, **१९७ कम्रा**—मनोहर स्वरूपवाली, **१९८ कपर्दिसुकपर्दगा**—भगवान् शंकरके सुन्दर जटाजूटमें वास करनेवाली।[४]

**१९९ कालकूटप्रशमनी**—भगवान् शंकरके पीये हुए कालकूट नामक विषकी ज्वालाको शान्त करनेवाली, **२०० कदम्बकुसुमप्रिया**—कदम्बके पुष्पोंमें रुचि रखनेवाली, **२०१ कालिन्दी**—कलिन्दकन्या यमुनास्वरूपा, **२०२ केलिललिता**—क्रीडासे मनोहर प्रतीत होनेवाली, **२०३ कलकल्लोलमालिका**—मनोहर लहरोंकी श्रेणियोंसे सुशोभित।[५]

**२०४ क्रान्तलोकत्रया**—स्वर्ग, भूतल और पाताल तीनों लोकोंको अपनी धारासे आक्रान्त करनेवाली, **२०५ कण्डूः**—अविद्या और उसके कार्यको खण्डित करनेवाली, **२०६ कण्डूतनयवत्सला**—कण्डू शब्द मृकण्डुका वाचक है, उनके पुत्र मार्कण्डेयजीपर वात्सल्य स्नेह रखनेवाली, **२०७ खड्गिनी**—देवी-रूपसे खड्ग धारण करनेवाली, **२०८ खड्गधाराभा**—तलवारकी धारके समान उज्ज्वल कान्तिवाली, **२०९ खगा**—आकाशमें प्रवाहित होनेवाली, **२१० खण्डेन्दुधारिणी**—अर्धचन्द्र धारण करनेवाली।[६]

**२११ खेखेलगामिनी**—आकाशमें लीलापूर्वक चलनेवाली, **२१२ खस्था**—आकाश अथवा ब्रह्ममें स्थित, **२१३ खण्डेन्दुतिलकप्रिया**—चन्द्रभाल शिवकी प्रिया अथवा अर्धचन्द्राकार तिलकसे प्रसन्न होनेवाली, **२१४ खेचरी**—आकाशमें विचरण करनेवाली, **२१५ खेचरीवन्द्या**—आकाशमें विहार करनेवाली सिद्धांगनाओंकी वन्दनीया, **२१६ ख्यातिः**—प्रतिष्ठास्वरूपा, **२१७ ख्यातिप्रदायिनी**—प्रतिष्ठा देनेवाली।[७]

---

१. काञ्चनाक्षी कामधेनुः कीर्तिकृत्क्लेशनाशिनी। क्रतुश्रेष्ठा क्रतुफला कर्मबन्धविभेदिनी॥
२. कमलाक्षी क्लमहरा कृशानुतपनद्युतिः। करुणार्द्रा च कल्याणी कलिकल्मषनाशिनी॥
३. कामरूपा क्रियाशक्तिः कमलोत्पलमालिनी। कूटस्था करुणा कान्ता कूर्मयाना कलावती॥
४. कमला कल्पलतिका काली कलुषवैरिणी। कमनीयजला कम्रा कपर्दिसुकपर्दगा॥
५. कालकूटप्रशमनी कदम्बकुसुमप्रिया। कालिन्दी केलिललिता कलकल्लोलमालिका॥
६. क्रान्तलोकत्रया कण्डूः कण्डूतनयवत्सला। खड्गिनी खड्गधाराभा खगा खण्डेन्दुधारिणी॥
७. खेखेलगामिनी खस्था खण्डेन्दुतिलकप्रिया। खेचरी खेचरीवन्द्या ख्यातिः ख्यातिप्रदायिनी॥

**२१८ खण्डितप्रणताघौघा**—शरणागतोंकी पापराशिका खण्डन करनेवाली, **२१९ खलबुद्धिविनाशिनी**—खलोंकी बुद्धि अथवा खलतापूर्ण बुद्धिका विनाश करनेवाली, **२२० खातैनःकन्दसन्दोहा**—पापरूपी कन्दसमुदायको उखाड़ फेंकनेवाली, **२२१ खड्गखट्वाङ्गखेटिनी**—खड्ग (तलवार), खट्वांग (खाटके पायेके आकारवाले शस्त्र) और खेट धारण करनेवाली।[१]

**२२२ खरसन्तापशमनी**—तीखे तापको शान्त करनेवाली, **२२३ पीयूषपाथसां खनिः**—अमृतके समान मधुर जलकी खान, **२२४ गंगा—'स्वर्गाद् गां गतवतीति गंगा'**—स्वर्गसे भूतलपर गमन करनेके कारण गंगा नामसे प्रसिद्ध, अथवा कलकल गान करनेवाली या ब्रह्मद्रवरूपा सच्चिदानन्दमयी देवी, **२२५ गन्धवती**—पृथ्वीस्वरूपा अथवा उत्तम गन्धसे युक्त, **२२६ गौरी**—गौर वर्णवाली अथवा पार्वतीस्वरूपा, **२२७ गन्धर्वनगरप्रिया**—गन्धर्वनगरके निवासियोंको प्रिय लगनेवाली।[२]

**२२८ गम्भीराङ्गी**—गहराईसे युक्त अथवा गहनस्वरूपवाली, **२२९ गुणमयी**—त्रिगुणात्मिका प्रकृतिरूपा अथवा सर्वज्ञता आदि गुणोंसे युक्त, **२३० गतातङ्का**—भयरहित अथवा अपने पास आनेवालोंके संसार-भयको निवृत्त करनेवाली, **२३१ गतिप्रिया**—निरन्तर गमन जिसे प्रिय है अथवा जो गति अर्थात् ज्ञानको प्रिय मानती है, ऐसी, **२३२ गणनाथाम्बिका**—गणेशजीकी माता, **२३३ गीता**—भगवद्गीतास्वरूपा, **२३४ गद्यपद्यपरिष्टुता**—गद्य-पद्यमय स्तोत्रोंसे जिसकी स्तुति की जाती है, वह।[३]

**२३५ गान्धारी**—पृथ्वीको धारण करनेवाली वाराहशक्तिस्वरूपा, अथवा धृतराष्ट्रपत्नीस्वरूपा, **२३६ गर्भशमनी**—मुक्ति प्रदान करके गर्भवासके कष्टको दूर करनेवाली, **२३७ गतिभ्रष्टगतिप्रदा**—गतिभ्रष्टों—पतितोंको भी सद्गति प्रदान करनेवाली, **२३८ गोमती**—द्वारका अथवा नैमिषारण्यमें स्थित गोमतीनदीस्वरूपा, **२३९ गुह्यविद्या**—ब्रह्मविद्या, **२४० गौः**—पृथ्वीस्वरूपा अथवा कामधेनुरूपिणी, **२४१ गोप्त्री**—सद्गति प्रदान करके सबकी रक्षा करनेवाली, **२४२ गगनगामिनी**—आकाशगामिनी।[४]

**२४३ गोत्रप्रवर्द्धिनी**—पर्वतोंसे निर्झर आदिका जल पाकर बढ़नेवाली अथवा अपने भक्तोंका गोत्र (वंश) बढ़ानेवाली, **२४४ गुण्या**—उत्तम गुणोंसे युक्त, **२४५ गुणातीता**—तीनों गुणोंसे परे, **२४६ गुणाग्रणीः**—सद्गुणोंके कारण अग्रगण्य, **२४७ गुहाम्बिका**—स्कन्दकी माता, **२४८ गिरिसुता**—हिमवान्‌की पुत्री, **२४९ गोविन्दाङ्घ्रिसमुद्भवा**—श्रीविष्णुके चरणोंसे प्रकट हुई।[५]

**२५० गुणनीयचरित्रा**—गुणन—प्रशंसा या गणना करनेयोग्य उत्तम चरित्रवाली, **२५१ गायत्री**—अपना गुणगान करनेवालेकी रक्षा करनेवाली अथवा गायत्रीदेवीस्वरूपा, **२५२ गिरिशप्रिया**—भगवान् शिवकी वल्लभा, **२५३ गूढरूपा**—छिपे हुए दिव्य स्वरूपवाली, **२५४ गुणवती**—शान्ति आदि उत्तम गुणोंसे युक्त, **२५५ गुर्वी**—गौरवमयी, **२५६ गौरववर्द्धिनी**—महत्त्व बढ़ानेवाली अथवा स्वयं ही गौरवसे बढ़नेवाली।[६]

**२५७ ग्रहपीडाहरा**—अनिष्ट स्थानोंमें स्थित ग्रहोंकी पीड़ा दूर करनेवाली, **२५८ गुन्द्रा**—'गु' अर्थात् अविद्याका द्रावण—नाश करनेवाली, **२५९ गरघ्नी**—विषका प्रभाव दूर करनेवाली,

---

१. खण्डितप्रणताघौघा खलबुद्धिविनाशिनी । खातैनःकन्दसन्दोहा खड्गखट्वाङ्गखेटिनी ॥
२. खरसन्तापशमनी खनिः पीयूषपाथसाम् । गंगा गन्धवती गौरी गन्धर्वनगरप्रिया ॥
३. गम्भीराङ्गी गुणमयी गतातङ्का गतिप्रिया । गणनाथाम्बिका गीता गद्यपद्यपरिष्टुता ॥
४. गान्धारी गर्भशमनी गतिभ्रष्टगतिप्रदा । गोमती गुह्यविद्या गौर्गोप्त्री गगनगामिनी ॥
५. गोत्रप्रवर्द्धिनी गुण्या गुणातीता गुणाग्रणीः । गुहाम्बिका गिरिसुता गोविन्दाङ्घ्रिसमुद्भवा ॥
६. गुणनीयचरित्रा च गायत्री गिरिशप्रिया । गूढरूपा गुणवती गुर्वी गौरववर्द्धिनी ॥

**२६० गानवत्सला**—संगीतप्रिया, **२६१ घर्महन्त्री**—घामका कष्ट निवारण करनेवाली, **२६२ घृतवती**—घीके समान गुणकारक जलवाली, **२६३ घृततुष्टिप्रदायिनी**—अपने जलसे ही घीके समान सन्तोष देनेवाली।[१]

**२६४ घण्टारवप्रिया**—घण्टानादसे प्रसन्न होनेवाली, **२६५ घोराघौघविध्वंसकारिणी**—भयंकर पापराशिका विनाश करनेवाली, **२६६ घ्राणतुष्टिकरी**—घ्राणेन्द्रियको सन्तुष्ट करनेवाली, **२६७ घोषा**—अपने प्रवाह और तरंगोंसे कलकल शब्द करनेवाली, **२६८ घनानन्दा**—घनीभूत आनन्दकी राशि अथवा आकाशगंगामें स्थित जलसे मेघोंको आनन्द देनेवाली, **२६९ घनप्रिया**—आकाशगंगारूपसे मेघोंको प्रिय लगनेवाली।[२]

**२७० घातुका**—पाप एवं अज्ञानका नाश करनेवाली, **२७१ घूर्णितजला**—भँवरयुक्त जलवाली, **२७२ घृष्टपातक सन्ततिः**—पातक-परम्पराको नष्ट कर देनेवाली, **२७३ घटकोटिप्रपीतापा**—जिसके करोड़ों घड़े जल नित्य पीये जाते हैं, वह, **२७४ घटिताशेषमङ्गला**—पूर्ण मंगलकारिणी।[३]

**२७५ घृणावती**—दयालु, **२७६ घृणनिधिः**—दयासागर, **२७७ घस्मरा**—सब कुछ भक्षण करनेवाली, **२७८ घूकनादिनी**—तटपर उलूक और वक आदि पक्षियोंके शब्दसे युक्त, **२७९ घुसृणापिञ्जरतनुः**—कुंकुम, केशर आदिसे चर्चित होनेके कारण किंचित् पीले अंगोंवाली, **२८० घर्घरा**—घाघरानदीस्वरूपा, **२८१ घर्घरस्वना**—घर्घर ध्वनिसे युक्त।[४]

**२८२ चन्द्रिका**—चन्द्रप्रभास्वरूपा, **२८३ चन्द्रकान्ताम्बुः**—चन्द्रमाके समान श्वेत जलवाली अथवा चन्द्रकान्तमणिके समान निर्मल जलवाली, **२८४ चञ्चदापा**—चंचल जलवाली, **२८५ चलद्युतिः**—विद्युत्स्वरूपा, **२८६ चिन्मयी**—ज्ञानस्वरूपा, **२८७ चितिरूपा**—चैतन्यस्वभावा, **२८८ चन्द्रायुतशतानना**—दस सहस्र चन्द्रमाओंके समान मनोरम मुखवाली।[५]

**२८९ चाम्पेयलोचना**—चम्पाके फूलोंके समान सुन्दर नेत्रोंवाली, **२९० चारुः**—मनोहारिणी, **२९१ चार्वङ्गी**—परम सुन्दर अंगोंवाली, **२९२ चारुगामिनी**—मनोहर चालसे चलनेवाली, **२९३ चार्या**—शरण लेनेयोग्य, **२९४ चारित्रनिलया**—सदाचारका आश्रय, **२९५ चित्रकृत्**—अद्भुत कार्य करनेवाली, **२९६ चित्ररूपिणी**—विचित्र रूपवाली।[६]

**२९७ चम्पूः**—गद्य-पद्यमय काव्यस्वरूपा अथवा चम्पापुष्पके समान रंगवाली, **२९८ चन्दनशुच्यम्बुः**—चन्दनके समान पवित्र एवं सुगन्धित जलवाली, **२९९ चर्चनीया**—पूजन अथवा कीर्तन करने योग्य, **३०० चिरस्थिरा**—चिरन्तन कालतक स्थिर रहनेवाली, **३०१ चारुचम्पकमालाढ्या**—मनोहर चम्पा पुष्पोंकी मालासे सुशोभित, **३०२ चमिताशेषदुष्कृता**—समस्त पापोंको पी जानेवाली।[७]

**३०३ चिदाकाशवहा**—चिदाकाशरूप ब्रह्मको प्राप्त होनेवाली, **३०४ चिन्त्या**—चिन्तन करने योग्य, **३०५ चञ्चत्**—देदीप्यमान, **३०६ चामरवीजिता**—डुलाये जाते हुए चँवरसे सेवित, **३०७ चोरिताशेषवृजिना**—समस्त पापोंको हर लेनेवाली **चरिताशेषमण्डला**—ब्रह्मलोक आदि सब मण्डलों (स्थानों)-में विचरनेवाली।[८]

---

१. ग्रहपीडाहरा गुन्द्रा गरघ्नी गानवत्सला । घर्महन्त्री घृतवती घृततुष्टिप्रदायिनी ॥
२. घण्टारवप्रिया घोराघौघविध्वंसकारिणी । घ्राणतुष्टिकरी घोषा घनानन्दा घनप्रिया ॥
३. घातुका घूर्णितजला घृष्टपातकसन्ततिः । घटकोटिप्रपीतापा घटिताशेषमङ्गला ॥
४. घृणावती घृणनिधिर्घस्मरा घूकनादिनी । घुसृणापिञ्जरतनुर्घर्घरा घर्घरस्वना ॥
५. चन्द्रिका चन्द्रकान्ताम्बुश्चञ्चदापा चलद्युतिः । चिन्मयी चितिरूपा च चन्द्रायुतशतानना ॥
६. चाम्पेयलोचना चारुश्चार्वङ्गी चारुगामिनी । चार्या चारित्रनिलया चित्रकृच्चित्ररूपिणी ॥
७. चम्पूश्चन्दनशुच्यम्बुश्चर्चनीया चिरस्थिरा । चारुचम्पकमालाढ्या चमिताशेषदुष्कृता ॥
८. चिदाकाशवहा चिन्त्या चञ्चच्चामरवीजिता । चोरिताशेषवृजिना चरिताशेषमण्डला ॥

**३०९ छेदिताखिलपापौघा**—समस्त पापराशिका उच्छेद करनेवाली, **३१० छद्मघ्नी**—कपट, अज्ञान अथवा छद्म नामक विशेष रोगका नाश करनेवाली, **३११ छलहारिणी**—छलको हर लेनेवाली, **३१२ छन्नत्रिविष्टपतला**—स्वर्गलोकको व्याप्त करनेवाली, **३१३ छोटिताशेषबन्धना**—समस्त बन्धनोंको दूर करनेवाली।[१]

**३१४ छुरितामृतधारौघा**—अमृतमय जलकी धारा बहानेवाली, **३१५ छिन्नैनाः**—पापोंका उच्छेद करनेवाली, **३१६ छन्दगामिनी**—स्वच्छन्द चलनेवाली, **३१७ छत्रीकृतमरालौघा**—हंसोंके समूहको श्वेतछत्रके समान धारण करनेवाली, **३१८ छटीकृतनिजामृता**—अपने स्वरूपभूत जलको विशेष शोभाके रूपमें धारण करनेवाली।[२]

**३१९ जाह्नवी**—जह्नुकी पुत्री, **३२० ज्या**—पापरूपी मृगको भयभीत करनेके लिये धनुषकी प्रत्यंचाके समान, **३२१ जगन्माता**—विश्वजननी, **३२२ जप्या**—जप करने योग्य नामवाली, **३२३ जङ्घालवीचिका**—उत्ताल तरंगोंवाली, **३२४ जया**—विजयिनी अथवा पार्वतीकी सखी जया, **३२५ जनार्दनप्रीता**—भगवान् विष्णुसे प्रीति करनेवाली, **३२६ जुष्णीया**—देवता, ऋषि और मनुष्योंके द्वारा सेवन करनेयोग्य, **३२७ जगद्धिता**—जगत्का कल्याण करनेवाली।[३]

**३२८ जीवनम्**—जीवनहेतु, **३२९ जीवनप्राणा**—जीवनरूप जलसे जगत्को प्राणशक्तिसे युक्त करनेवाली अथवा जीवनप्राणस्वरूपा, **३३० जगत्**—विश्वरूपा अथवा सर्वत्र व्यापक, **३३१ ज्येष्ठा**—आद्याशक्ति, **३३२ जगन्मयी**—जगत्स्वरूपा, **३३३ जीवजीवातुलतिका**—प्राणियोंके लिये संजीवन औषधरूपा, **३३४ जन्मिजन्मनिबर्हिणी**—जन्मधारी प्राणियोंके जन्म-मरणका क्लेश दूर करनेवाली।[४]

**३३५ जाड्यविध्वंसनकरी**—जड़ता—अज्ञानका विनाश करनेवाली, **३३६ जगद्योनिः**—जगत्की कारणभूता प्रकृतिस्वरूपा, **३३७ जलाविला**—वर्षाके जलसे कुछ मलिन-सी, **३३८ जगदानन्दजननी**—जगत्के लिये आनन्ददायिनी। **३३९ जलजा**—कमलका उत्पति-स्थान, **३४० जलजेक्षणा**—कमलसदृश अथवा कमलस्वरूप नेत्रोंवाली।[५]

**३४१ जनलोचनपीयूषा**—जीवमात्रके नेत्रोंमें अमृतके समान सुखद प्रतीत होनेवाली, **३४२ जटातटविहारिणी**—भगवान् शंकरके जटा-प्रदेशमें विहार करनेवाली, **३४३ जयन्ती**—विजयशीला, **३४४ जञ्जपूकघ्नी**—पापोंका नाश करनेवाली, **३४५ जनितज्ञानविग्रहा**—जिसने अपने ज्ञानमय शरीरको प्रकट किया है, वह।[६]

**३४६ झल्लरीवाद्यकुशला**—अपने जलप्रवाहके द्वारा झल्लरीनामक वाद्यविशेषकी ध्वनि प्रकट करनेमें कुशल अथवा झल्लरी बजानेमें निपुण, **३४७ झलञ्झालजलावृता**—झल-झल ध्वनि करनेवाले जलसे आच्छादित, **३४८ झिण्टीशवन्द्या**—भगवान् शिवके द्वारा वन्दनीया, **३४९ झाङ्कारकारिणी**—झंकार शब्द करनेवाली, **३५० झर्झरावती**—झर-झर शब्दसे युक्त।[७]

**३५१ टीकिताशेषपाताला**—भोगावती गंगाके रूपमें समस्त पाताललोकमें प्रवाहित होनेवाली, **३५२ टङ्किकैनोऽद्रिपाटने**—पापरूपी पर्वतको विदीर्ण करनेमें टंक (शस्त्रविशेष)-के समान, **३५३ टङ्कारनृत्यत्कल्लोला**—जिसकी चंचल लहरें टंकार शब्दके

---

१. छेदिताखिलपापौघा छद्मघ्नी छलहारिणी । छन्नत्रिविष्टपतला छोटिताशेषबन्धना ॥
२. छुरितामृतधारौघा छिन्नैनाश्छन्दगामिनी । छत्रीकृतमरालौघा छटीकृतनिजामृता ॥
३. जाह्नवी ज्या जगन्माता जप्या जङ्घालवीचिका । जया जनार्दनप्रीता जुष्णीया जगद्धिता ॥
४. जीवनं जीवनप्राणा जगज्ज्येष्ठा जगन्मयी । जीवजीवातुलतिका जन्मिजन्मनिबर्हिणी ॥
५. जाड्यविध्वंसनकरी जगद्योनिर्जलाविला । जगदानन्दजननी जलजा जलजेक्षणा ॥
६. जनलोचनपीयूषा जटातटविहारिणी । जयन्ती जञ्जपूकघ्नी जनितज्ञानविग्रहा ॥
७. झल्लरीवाद्यकुशला झलञ्झालजलावृता । झिण्टीशवन्द्या झाङ्कारकारिणी झर्झरावती ॥

साथ नृत्य-सी करती हैं, वह, **३५४ टीकनीयमहातटा**—जिसका विशाल तटप्रान्त सबके सेवन करने योग्य है, वह।[१]

**३५५ डम्बरप्रवहा**—बड़े वेगसे बहनेवाली, **३५६ डीनराजहंसकुलाकुला**—उड़ते हुए राजहंसोंके समुदायसे व्याप्त, **३५७ डमड्डुमरुहस्ता**—हाथमें डिमडिम शब्द करनेवाला डमरू लिये रहनेवाली, **३५८ डामरोक्तमहाण्डका**—डामरकल्पमें प्रतिपादित विराट् स्वरूपवाली।[२]

**३५९ ढौकिताशेषनिर्वाणा**—अपने भक्तोंको सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सार्ष्टि तथा सायुज्य-रूप सभी प्रकारके मोक्षकी प्राप्ति करानेवाली, **३६० ढक्कानादचलज्जला**—डंकेकी आवाजके समान ध्वनि-सी करनेवाले प्रवाहशील चंचल जलवाली, **३६१ ढुण्ढिविघ्नेशजननी**—ढुण्ढिराज गणेशकी माता, **३६२ ढणड्ढुणितपातका**—ढन्-ढन् शब्दके साथ पातकोंको धक्के देकर ढकेलनेवाली।[३]

**३६३ तर्पणी**—सबको तृप्त करनेवाली अथवा जिसके जलसे सभी तर्पण करते हैं, वह, **३६४ तीर्थतीर्था**—तीर्थोंके लिये भी तीर्थरूपा, **३६५ त्रिपथा**—स्वर्ग, भूतल और पाताल—तीन मार्गोंसे बहनेवाली, **३६६ त्रिदशेश्वरी**—देवताओंकी स्वामिनी, **३६७ त्रिलोकगोप्त्री**—तीनों लोकोंकी रक्षा करनेवाली, **३६८ तोयेशी**—जल अथवा उसकी अधिष्ठात्री देवियोंकी भी स्वामिनी, **३६९ त्रैलोक्यपरिवन्दिता**—त्रिभुवनविशेषवन्दिता।[४]

**३७० तापत्रितयसंहर्त्री**—आध्यात्मिक आदि तीनों तापोंका संहार करनेवाली, **३७१ तेजोबलविवर्धिनी**—तेज और बल बढ़ानेवाली, **३७२ त्रिलक्ष्या**—जिसका स्वरूप तीनों लोकोंमें लक्षित होता है, वह, **३७३ तारणी**—सबको तारनेवाली, **३७४ तारा**—तारनेवाली, प्रणवरूपा अथवा नक्षत्ररूपा, **३७५ तारापतिकरार्चिता**—चन्द्रमाकी किरणोंद्वारा पूजित अथवा चन्द्रमाद्वारा अपने हाथों पूजित।[५]

**३७६ त्रैलोक्यपावनी पुण्या**—तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाली नदियोंमें सबसे अधिक पुण्यमयी, **३७७ तुष्टिदा**—सुख एवं सन्तोष देनेवाली, **३७८ तुष्टिरूपिणी**—सन्तोषवृत्तिरूपा, **३७९ तृष्णाच्छेत्री**— तृष्णाका उच्छेद करनेवाली, **३८० तीर्थमाता**—तीर्थोंकी माता, **३८१ त्रिविक्रमपदोद्भवा**—भगवान् वामनके चरण पखारनेसे प्रकट हुई।[६]

**३८२ तपोमयी**—इन्द्रिय और मनकी एकाग्रता-रूपा, **३८३ तपोरूपा**—कृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रत एवं तपस्यास्वरूपा, **३८४ तपःस्तोमफलप्रदा**—तपःसमुदायका फल देनेवाली, **३८५ त्रैलोक्यव्यापिनी**—तीनों लोकोंमें व्यापक, **३८६ तृप्तिः**—तृप्तिस्वरूपा, **३८७ तृप्तिकृत्**—सन्तुष्ट करनेवाली, **३८८ तत्त्वरूपिणी**—चौबीस तत्त्वरूपा अथवा परमार्थरूपिणी।[७]

**३८९ त्रैलोक्यसुन्दरी**—तीनों लोकोंमें सर्वाधिक सौन्दर्यवाली, **३९० तुर्या**—जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओंसे परे, **३९१ तुर्यातीतफलप्रदा**—तुरीयातीत ब्रह्मपदको देनेवाली, **३९२ त्रैलोक्यलक्ष्मीः**—त्रिभुवनकी सम्पत्ति, **३९३ त्रिपदी**—तीनों लोकोंमें जिसका स्थान है, वह, **३९४ तथ्या**—तीनों कालोंसे अबाधित, परमार्थरूपा, **३९५ तिमिरचन्द्रिका**—अज्ञानरूपी अन्धकारको चाँदनीकी भाँति दूर करनेवाली।[८]

---

१. टीकिताशेषपाताला टङ्किकैनोऽद्रिपाटने। टङ्कारनृत्यत्कल्लोला टीकनीयमहातटा॥
२. डम्बरप्रवहा डीनराजहंसकुलाकुला। डमड्डुमरुहस्ता च डामरोक्तमहाण्डका॥
३. ढौकिताशेषनिर्वाणा ढक्कानादचलज्जला। ढुण्ढिविघ्नेशजननी ढणड्ढुणितपातका॥
४. तर्पणी तीर्थतीर्था च त्रिपथा त्रिदशेश्वरी। त्रिलोकगोप्त्री तोयेशी त्रैलोक्यपरिवन्दिता॥
५. तापत्रितयसंहर्त्री तेजोबलविवर्धिनी। त्रिलक्ष्या तारणी तारा तारापतिकरार्चिता॥
६. त्रैलोक्यपावनी पुण्या तुष्टिदा तुष्टिरूपिणी। तृष्णाच्छेत्री तीर्थमाता त्रिविक्रमपदोद्भवा॥
७. तपोमयी तपोरूपा तपःस्तोमफलप्रदा। त्रैलोक्यव्यापिनी तृप्तिस्तृप्तिकृत्तत्त्वरूपिणी॥
८. त्रैलोक्यसुन्दरी तुर्या तुर्यातीतफलप्रदा। त्रैलोक्यलक्ष्मीस्त्रिपदी तथ्या तिमिरचन्द्रिका॥

**३९६ तेजोगर्भा**—भगवान् शंकरका तेजोमय वीर्य जिसके गर्भमें स्थित था, वह, **३९७ तपःसारा**—तपस्याकी सारभूता, **३९८ त्रिपुरारिशिरोगृहा**—भगवान् शंकरके मस्तकरूपी गृहमें निवास करनेवाली, **३९९ त्रयीस्वरूपिणी**—तीनों वेद जिसके स्वरूप हैं, वह, **४०० तन्वी**—प्रपंचका विस्तार करनेवाली अथवा सुन्दरी, कृशांगी, **४०१ तपनाङ्गजभीतिनुत्**—सूर्यपुत्र यमका भय दूर करनेवाली।[१]

**४०२ तरिः**—संसार-सागरसे पार होनेके लिये नौका, **४०३ तरणिजामित्रम्**—सूर्यपुत्र यमके अधिकारमें बाधा डालनेके कारण उनके लिये अमित्ररूपा अथवा सूर्यकन्या यमुनाकी सखी, **४०४ तर्पिताशेषपूर्वजा**—राजा भगीरथके अथवा समस्त जनसमुदायके सम्पूर्ण पूर्वजोंको तृप्त करनेवाली, **४०५ तुलाविरहिता**—तुलनारहित, **४०६ तीव्रपापतूलतनूनपात्**—भयंकर पापरूपी रूईके ढेरको जलानेके लिये अग्निके समान।[२]

**४०७ दारिद्र्यदमनी**—दुर्गति एवं दरिद्रताका दमन करनेवाली, **४०८ दक्षा**—जगत्का उद्धार करनेमें कुशल, **४०९ दुष्प्रेक्षा**—भक्तिभावके बिना जिसका दर्शन पाना अत्यन्त कठिन है, वह **४१० दिव्यमण्डना**—अलौकिक आभूषणोंसे विभूषित, **४११ दीक्षावती**—लोकहित एवं जीवोंके उद्धारकी दीक्षासे युक्त, **४१२ दुरावाप्या**—दुर्लभा, **४१३ द्राक्षामधुरवारिभृत्**—मुनक्काके समान मधुर जल धारण करनेवाली।[३]

**४१४ दर्शितानेककुतुका**—अपने जल-कल्लोलोंके द्वारा अनेक प्रकारके कौतुक दिखानेवाली, **४१५ दुष्टदुर्जयदुःखहृत्**—दोषयुक्त दुर्जय दुःखोंको हर लेनेवाली, **४१६ दैन्यहृत्**—दीनताको दूर करनेवाली, **४१७ दुरितघ्नी**—पापोंका नाश करनेवाली, **४१८ दानवारिपदाब्जजा**—श्रीविष्णुके चरणारविन्दोंसे प्रकट हुई।[४]

**४१९ दन्दशूकविषघ्नी**—सर्पोंके विषका नाश करनेवाली, **४२० दारिताघौघसन्ततिः**—पापराशिकी परम्पराको विदीर्ण करनेवाली, **४२१ द्रुता**—वेगसे बहनेवाली, **४२२ देवद्रुमच्छन्ना**—सन्तान, कल्पवृक्ष, मन्दार, पारिजात तथा हरिचन्दन—इन पाँच देववृक्षोंसे आच्छादित, **४२३ दुर्वाराघविघातिनी**—जिन्हें दूर करना कठिन है, ऐसे पातकोंका भी नाश करनेवाली।[५]

**४२४ दमग्राह्या**—मन और इन्द्रियोंके संयमसे प्राप्त होनेवाली, **४२५ देवमाता**—अदितिस्वरूपा, **४२६ देवलोकप्रदर्शिनी**—अपने उपासकोंको ब्रह्मलोक आदि दिव्यलोकोंकी प्राप्ति करानेवाली, **४२७ देवदेवप्रिया**—देवाधिदेव शिवकी प्रिया, **४२८ देवी**—द्युतिमती, प्रकाशस्वरूपा, **४२९ दिक्पालपददायिनी**—इन्द्र आदि दिक्पालोंके पदकी प्राप्ति करानेवाली।[६]

**४३० दीर्घायुःकारिणी**—आयु बड़ी करनेवाली, **४३१ दीर्घा**—विशाल, अनन्त, **४३२ दोग्ध्री**—धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको देनेवाली, **४३३ दूषणवर्जिता**—दोषरहित, **४३४ दुग्धाम्बुवाहिनी**—दूधके समान स्वच्छ, स्वादिष्ट एवं गुणकारी जल बहानेवाली, **४३५ दोह्या**—इच्छानुसार दोहन करनेयोग्य—कामधेनुरूपा, **४३६ दिव्या**—अलौकिक स्वरूपवाली, **४३७ दिव्यगतिप्रदा**—दिव्य गति प्रदान करनेवाली।[७]

**४३८ द्युनदी**—स्वर्गलोककी गंगा, **४३९ दीन-**

---

१. तेजोगर्भा तपःसारा त्रिपुरारिशिरोगृहा। त्रयीस्वरूपिणी तन्वी तपनाङ्गजभीतिनुत्॥
२. तरिस्तरणिजामित्रं तर्पिताशेषपूर्वजा। तुलाविरहिता तीव्रपापतूलतनूनपात्॥
३. दारिद्र्यदमनी दक्षा दुष्प्रेक्षा दिव्यमण्डना। दीक्षावती दुरावाप्या द्राक्षामधुरवारिभृत्॥
४. दर्शितानेककुतुका दुष्टदुर्जयदुःखहृत्। दैन्यहृद् दुरितघ्नी च दानवारिपदाब्जजा॥
५. दन्दशूकविषघ्नी च दारिताघौघसन्ततिः। द्रुता देवद्रुमच्छन्ना दुर्वाराघविघातिनी॥
६. दमग्राह्या देवमाता देवलोकप्रदर्शिनी। देवदेवप्रिया देवी दिक्पालपददायिनी॥
७. दीर्घायुःकारिणी दीर्घा दोग्ध्री दूषणवर्जिता। दुग्धाम्बुवाहिनी दोह्या दिव्या दिव्यगतिप्रदा॥

**शरणम्**—दीनों—महापातकियोंको भी शरण देकर उनका उद्धार करनेवाली, **४४० देहिदेहनिवारिणी**—देहधारियोंके देहका निवारण करनेवाली (उन्हें मुक्ति देकर जन्म-मृत्युसे रहित करनेवाली), **४४१ द्राघीयसी**—अतिशय विशाल, **४४२ दाघहन्त्री**—दाहकी शान्ति करनेवाली, **४४३ दितपातकसन्ततिः**—पाप-परम्पराका खण्डन करनेवाली।[१]

**४४४ दूरदेशान्तरचरी**—दूर देशमें विचरनेवाली, **४४५ दुर्गमा**—दुर्लभा, **४४६ देववल्लभा**—देवताओंकी इष्टदेवी अथवा देव अर्थात् विष्णु एवं शिवकी प्रिया, **४४७ दुर्वृत्तघ्नी**—दुष्टों अथवा पापोंका नाश करनेवाली, **४४८ दुर्विगाह्या**—जिसमें स्नान करनेका अवसर बहुत दुर्लभ है, ऐसी, **४४९ दयाधारा**—करुणाकी भण्डार, **४५० दयावती**—दयालु-स्वभावा।[२]

**४५१ दुरासदा**—दुर्लभ अथवा दुर्बोध, **४५२ दानशीला**—स्वभावतः चारों पुरुषार्थोंको देनेवाली, **४५३ द्राविणी**—बड़े वेगसे प्रवाहित होनेवाली अथवा पाप-पुंजको भगानेवाली, **४५४ द्रुहिणस्तुता**—ब्रह्माजीके द्वारा प्रशंसित, **४५५ दैत्यदानवसंशुद्धिकर्त्री**—दैत्यों और दानवोंको भी भलीभाँति शुद्ध करनेवाली, **४५६ दुर्बुद्धिहारिणी**—खोटी बुद्धिका निवारण करनेवाली।[३]

**४५७ दानसारा**—दान जिसका सार तत्त्व है, वह, **४५८ दयासारा**—जिसमें स्वभावतः दया भरी है, वह, **४५९ द्यावाभूमिविगाहिनी**—आकाश और भूमिमें समान रूपसे विचरण करनेवाली, **४६० दृष्टादृष्टफलप्राप्तिः**—लौकिक और पारलौकिक फलकी प्राप्तिमें हेतु, **४६१ देवतावृन्दवन्दिता**—देवसमुदायके द्वारा नमस्कृत।[४]

**४६२ दीर्घव्रता**—लोकोपकारका महान् व्रत धारण करनेवाली, **४६३ दीर्घदृष्टिः**—जिसकी दृष्टि अर्थात् बुद्धि दीर्घ—दूरतककी बात सोच लेनेवाली हो, वह अथवा अपरिच्छिन्न ज्ञानस्वरूपा, **४६४ दीप्ततोया**—प्रकाशमान जलवाली, **४६५ दुरालभा**—दुर्लभा, **४६६ दण्डयित्री**—पापोंको दण्ड देनेवाली, **४६७ दण्डनीतिः**—दण्डनीति नामवाली विद्यास्वरूपा, **४६८ दुष्टदण्डधरार्चिता**—दुष्टोंको दण्ड देनेवाले यमराजके द्वारा पूजित।[५]

**४६९ दुरोदरघ्नी**—जूआ आदि बुरे आचरणोंको नाश करनेवाली, **४७० दावार्चिः**—पापरूपी वनके लिये दावानलकी ज्वालाके समान, **४७१ द्रवत्**—सर्वव्यापक तत्त्व, **४७२ द्रव्यैकशेवधिः**—सम्पूर्ण द्रव्योंकी एकमात्र निधि, **४७३ दीनसन्तापशमनी**—दीनों—संसारदुःखसे दुःखी जीवोंके आध्यात्मिक आदि तापोंका निवारण करनेवाली, **४७४ दात्री**—चारों पुरुषार्थोंको देनेवाली, **४७५ दवथुवैरिणी**—संसार-भयसे होनेवाले सन्तापको दूर करनेवाली।[६]

**४७६ दरीविदारणपरा**—पर्वतोंकी गुफाओंको विदीर्ण करनेवाली, **४७७ दान्ता**—इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाली, **४७८ दान्तजनप्रिया**—जितेन्द्रिय पुरुष जिसे प्रिय हों, ऐसी, **४७९ दारिताद्रितटा**—पर्वतोंके पार्श्वभागको विदीर्ण करके बहनेवाली, **४८० दुर्गा**—दुर्ग दैत्यका वध करनेवाली देवी, **४८१ दुर्गारण्यप्रचारिणी**—दुर्गम वनमें विचरनेवाली।[७]

**४८२ धर्मद्रवा**—धर्मस्वरूप है द्रव (जल)

---

१. द्युनदी दीनशरणं देहिदेहनिवारिणी। द्राघीयसी दाघहन्त्री दितपातकसन्ततिः॥
२. दूरदेशान्तरचरी दुर्गमा देववल्लभा। दुर्वृत्तघ्नी दुर्विगाह्या दयाधारा दयावती॥
३. दुरासदा दानशीला द्राविणी द्रुहिणस्तुता। दैत्यदानवसंशुद्धिकर्त्री दुर्बुद्धिहारिणी॥
४. दानसारा दयासारा द्यावाभूमिविगाहिनी। दृष्टादृष्टफलप्राप्तिर्देवतावृन्दवन्दिता॥
५. दीर्घव्रता दीर्घदृष्टिर्दीप्ततोया दुरालभा। दण्डयित्री दण्डनीतिर्दुष्टदण्डधरार्चिता॥
६. दुरोदरघ्नी दावार्चिर्द्रवद्द्रव्यैकशेवधिः। दीनसन्तापशमनी दात्री दवथुवैरिणी॥
७. दरीविदारणपरा दान्ता दान्तजनप्रिया। दारिताद्रितटा दुर्गा दुर्गारण्यप्रचारिणी॥

जिसका, ऐसी, **४८३ धर्मधुरा**—धर्मका आधार अथवा उत्कृष्ट धर्मस्वरूपा, **४८४ धेनुः**—कामधेनुस्वरूपा, **४८५ धीरा**—धैर्यशालिनी अथवा विदुषी, **४८६ धृतिः**—धारणाशक्ति, **४८७ ध्रुवा**—नित्या, **४८८ धेनुदानफलस्पर्शा**—जिसके जलका स्पर्श गोदानका फल देनेवाला है, वह, **४८९ धर्मकामार्थ मोक्षदा**—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंको देनेवाली।[१]

**४९० धर्मोर्मिवाहिनी**—धर्मरूपी लहरोंको धारण करनेवाली, **४९१ धुर्या**—श्रेष्ठा, **४९२ धात्री**—धारण-पोषण करनेवाली अथवा माता, **४९३ धात्रीविभूषणम्**—पृथ्वीका अलंकार, **४९४ धर्मिणी**—पुण्यवती, **४९५ धर्मशीला**—स्वभावतः धर्मका आचरण करनेवाली, **४९६ धन्विकोटिकृतावना**—कोटि-कोटि धनुर्धर वीरोंने जिसका रक्षण किया है, वह।[२]

**४९७ ध्यातृपापहरा**—ध्यान करनेवाले पुरुषके सब पापोंको हर लेनेवाली, **४९८ ध्येया**—ध्यान करनेयोग्य, **४९९ धावनी**—धोनेवाली, पवित्र करनेवाली, **५०० धूतकल्मषा**—पापोंको धो डालनेवाली, **५०१ धर्मधारा**—धर्मको धारण करनेवाली, **५०२ धर्मसारा**—सब धर्मोंकी सारभूता, **५०३ धनदा**—धन देनेवाली, **५०४ धनवर्द्धिनी**—धन बढ़ानेवाली।[३]

**५०५ धर्माधर्मगुणच्छेत्री**—धर्माधर्मके बन्धनको काटनेवाली ब्रह्मविद्यास्वरूपा, **५०६ धत्तूरकुसुमप्रिया**—धतूरके फूलमें रुचि रखनेवाली, **५०७ धर्मेशी**—धर्मकी स्वामिनी, **५०८ धर्मशास्त्रज्ञा**—धर्मशास्त्रको जाननेवाली, **५०९ धनधान्यसमृद्धिकृत्**—धन और धान्यको बढ़ानेवाली।[४]

**५१० धर्मलभ्या**—धर्मसे प्राप्त होने योग्य, **५११ धर्मजला**—धर्मस्वरूप जलवाली, **५१२ धर्मप्रसवधर्मिणी**—धर्मकी जननी तथा धर्मनिष्ठ, **५१३ ध्यानगम्यस्वरूपा**—जिसका स्वरूप ध्यानके द्वारा चिन्तन करने योग्य है, वह, **५१४ धरणी**—धारण करनेवाली, पृथ्वीरूपा, **५१५ धातृपूजिता**—ब्रह्माजीके द्वारा पूजित।[५]

**५१६ धूः**—पापोंको कम्पित करनेवाली, **५१७ धूर्जटिजटासंस्था**—भगवान् शंकरकी जटामें वास करनेवाली, **५१८ धन्या**—कृतार्थस्वरूपा, **५१९ धीः**—बुद्धिस्वरूपा, **५२० धारणावती**—धारणाशक्तिसे सम्पन्न, मेधास्वरूपा, **५२१ नन्दा**—नन्दा नामवाली गंगा अथवा जगत्को आनन्द देनेवाली, **५२२ निर्वाणजननी**—परम शान्ति अथवा मोक्ष देनेवाली, **२३ नन्दिनी**—दूसरोंको प्रसन्न करनेवाली अथवा वसिष्ठकी धेनु, **५२४ नुन्नपातका**—पातकोंको दूर करनेवाली।[६]

**५२५ निषिद्धविघ्ननिचया**—विघ्नसमुदायका निवारण करनेवाली, **५२६ निजानन्दप्रकाशिनी**—अपने स्वरूपभूत आनन्दको प्रकाशित करनेवाली, **५२७ नभोऽङ्गणचरी**—आकाशके आँगनमें विचरनेवाली, **५२८ नूतिः**—स्तुतिस्वरूपा, **५२९ नम्या**—वन्दनीया, **५३० नारायणी**—नारायणशक्तिस्वरूपा अथवा नारायणी (गण्डकी) नदीस्वरूपा, **५३१ नुता**—ब्रह्मा और इन्द्र आदि देवताओंके द्वारा अभिनन्दिता।[७]

**५३२ निर्मला**—संसाररूपी मलसे रहित, **५३३ निर्मलाख्याना**—जिसकी माहात्म्यकथा अत्यन्त निर्मल है, ऐसी, **५३४ नाशिनी तापसम्पदाम्**—सन्तापकी परम्पराका नाश करनेवाली,

---

१. धर्मद्रवा धर्मधुरा धेनुर्धीरा धृतिर्ध्रुवा । धेनुदानफलस्पर्शा धर्मकामार्थमोक्षदा ॥
२. धर्मोर्मिवाहिनी धुर्या धात्री धात्रीविभूषणम् । धर्मिणी धर्मशीला च धन्विकोटिकृतावना ॥
३. ध्यातृपापहरा ध्येया धावनी धूतकल्मषा । धर्मधारा धर्मसारा धनदा धनवर्द्धिनी ॥
४. धर्माधर्मगुणच्छेत्री धत्तूरकुसुमप्रिया । धर्मेशी धर्मशास्त्रज्ञा धनधान्यसमृद्धिकृत् ॥
५. धर्मलभ्या धर्मजला धर्मप्रसवधर्मिणी । ध्यानगम्यस्वरूपा च धरणी धातृपूजिता ॥
६. धूर्धूर्जटिजटासंस्था धन्या धीर्धारणावती । नन्दा निर्वाणजननी नन्दिनी नुन्नपातका ॥
७. निषिद्धविघ्ननिचया निजानन्दप्रकाशिनी । नभोऽङ्गणचरी नूतिर्नम्या नारायणी नुता ॥

५३५ **नियता**—निमयपूर्वक रहनेवाली अथवा एकरूपा, ५३६ **नित्यसुखदा**—सदा सुख देनेवाली, ५३७ **नानाश्चर्यमहानिधिः**—अनेक प्रकारके आश्चर्योंका भण्डार।[१]

५३८ **नदी**—अव्यक्त शब्द करनेवाली सरिता, ५३९ **नदसरोमाता**—नदों और सरोवरोंकी जननी, ५४० **नायिका**—जीवोंको संसार-समुद्रसे पार ले जानेवाली अथवा सब नदियोंकी स्वामिनी, ५४१ **नाकदीर्घिका**—स्वर्गलोककी बावली, ५४२ **नष्टोद्धरणधीरा**—संसार-सागरमें गिरकर नष्ट होनेवाले जीवोंका उद्धार करनेमें दक्ष, ५४३ **नन्दना**—समृद्धि देनेवाली, ५४४ **नन्ददायिनी**—आनन्द देनेवाली।[२]

५४५ **निर्णिक्ताशेषभुवना**—समस्त लोकोंको पवित्र करनेवाली, ५४६ **निःसङ्गा**—आसक्तिरहित, ५४७ **निरुपद्रवा**—विघ्नरहित, ५४८ **निरालम्बा**—आधाररहित, अपनी ही महिमामें प्रतिष्ठित, ५४९ **निष्प्रपञ्चा**—प्रपंचसे परे स्थित, ५५० **निर्णाशितमहामला**—अज्ञानरूपी महामलका पूर्णतया नाश करनेवाली।[३]

५५१ **निर्मलज्ञानजननी**—विशुद्ध ज्ञानको प्रकट करनेवाली, ५५२ **निःशेषप्राणितापहृत्**—समस्त प्राणियोंका सन्ताप हर लेनेवाली, ५५३ **नित्योत्सवा**—नित्य उत्सवयुक्त, ५५४ **नित्यतृप्ता**—अपने स्वरूपभूत आनन्दसे सदा सन्तुष्ट, ५५५ **नमस्कार्या**—नमस्कार करनेयोग्य, ५५६ **निरञ्जना**—अज्ञानरहित।[४]

५५७ **निष्ठावती**—श्रद्धा एवं नियम-निष्ठासे युक्त, ५५८ **निरातङ्का**—भयरहित, ५५९ **निर्लेपा**—पाप आदिसे अलिप्त, शुद्धस्वरूपा, ५६० **निश्चलात्मिका**—स्थिर बुद्धिवाली, ५६१ **निरवद्या**—निर्दोष, ५६२ **निरीहा**—चेष्टारहित, ५६३ **नीललोहितमूर्द्धगा**—भगवान् शिवके मस्तकपर विराजमान।[५]

५६४ **नन्दिभृङ्गिगणस्तुत्या**—नन्दी, भृंगी आदि शिवगणोंसे स्तुति की जाने योग्य, ५६५ **नागा**—नागस्वरूपा, ५६६ **नन्दा**—समृद्धिदायिनी, ५६७ **नगात्मजा**—गिरिराज हिमवान्‌की पुत्री, ५६८ **निष्प्रत्यूहा**—विघ्न-बाधाओंसे रहित, ५६९ **नाकनदी**—स्वर्गलोककी नदी, ५७० **निरयार्णवदीर्घनौः**—नरक-समुद्रसे पार होनेके लिये विशाल नौकास्वरूप।[६]

५७१ **पुण्यप्रदा**—पुण्य देनेवाली, ५७२ **पुण्यगर्भा**—अपने भीतर पुण्य धारण करनेवाली, ५७३ **पुण्या**—पुण्यस्वरूपा, ५७४ **पुण्यतरङ्गिणी**—पवित्र लहरोंवाली, ५७५ **पृथुः**—विशाल एवं परिपूर्ण, ५७६ **पृथुफला**—महान् फलवाली, ५७७ **पूर्णा**—सर्वत्र व्यापक, अविच्छिन्न धारासे युक्त, ५७८ **प्रणतार्तिप्रभञ्जनी**—शरणागतोंकी पीड़ाका नाश करनेवाली।[७]

५७९ **प्राणदा**—प्राणदान करनेवाली, ५८० **प्राणिजननी**—जीवोंको जन्म देनेवाली, ५८१ **प्राणेशी**—प्राणोंकी अधीश्वरी, ५८२ **प्राणरूपिणी**—प्राणस्वरूपा, ५८३ **पद्मालया**—कमलोंमें वास करनेवाली लक्ष्मीस्वरूपा, ५८४ **पराशक्तिः**—सर्वोत्कृष्ट शक्ति, ५८५ **पुरजित्परमप्रिया**—त्रिपुरारि शिवकी अतिशय वल्लभा।[८]

५८६ **परा**—सर्वश्रेष्ठ, ५८७ **परफलप्राप्तिः**—

१. निर्मला निर्मलाख्याना नाशिनी तापसम्पदाम् । नियता नित्यसुखदा नानाश्चर्यमहानिधिः॥
२. नदी नदसरोमाता नायिका नाकदीर्घिका । नष्टोद्धरणधीरा च नन्दना नन्ददायिनी॥
३. निर्णिक्ताशेषभुवना निःसङ्गा निरुपद्रवा । निरालम्बा निष्प्रपञ्चा निर्णाशितमहामला॥
४. निर्मलज्ञानजननी निःशेषप्राणितापहृत् । नित्योत्सवा नित्यतृप्ता नमस्कार्या निरञ्जना॥
५. निष्ठावती निरातङ्का निर्लेपा निश्चलात्मिका । निरवद्या निरीहा च नीललोहितमूर्द्धगा॥
६. नन्दिभृङ्गिगणस्तुत्या नागा नन्दा नगात्मजा । निष्प्रत्यूहा नाकनदी निरयार्णवदीर्घनौः॥
७. पुण्यप्रदा पुण्यगर्भा पुण्या पुण्यतरङ्गिणी । पृथुः पृथुफला पूर्णा प्रणतार्तिप्रभञ्जनी॥
८. प्राणदा प्राणिजननी प्राणेशी प्राणरूपिणी । पद्मालया पराशक्तिः पुरजित्परमप्रिया॥

सर्वोत्तम फल—मोक्षकी प्राप्ति करानेवाली, **५८८ पावनी**—सबको पवित्र करनेवाली, **५८९ पयस्विनी**—उत्तम जलवाली, **५९० परानन्दा**—परमानन्दस्वरूपा, **५९१ प्रकृष्टार्था**—श्रेष्ठ पुरुषार्थ-स्वरूपा, **५९२ प्रतिष्ठा**—सबकी आधारभूता, **५९३ पालिनी**—पालन करनेवाली, **५९४ परा**—परमात्मस्वरूपा।[१]

**५९५ पुराणपठिता**—पुराणोंमें जिसकी महिमाका प्रतिपादन किया गया है, वह, **५९६ प्रीता**—सबको प्रिय लगनेवाली, **५९७ प्रणवाक्षररूपिणी**—ॐकारस्वरूपा, **५९८ पार्वती**—पर्वतराजकन्या, **५९९ प्रेमसम्पन्ना**—प्रेमसे परिपूर्ण, **६०० पशुपाश-विमोचनी**—जीवोंके अज्ञानमय बन्धनको दूर करनेवाली।[२]

**६०१ परमात्मस्वरूपा**—परब्रह्मरूपिणी, **६०२ परब्रह्मप्रकाशिनी**—परब्रह्मको प्रकाशित करनेवाली, **६०३ परमानन्दनिष्यन्दा**—अपने स्वरूपभूत परमानन्दमें निमग्न होनेके कारण निश्चल, **६०४ प्रायश्चित्तस्वरूपिणी**—समस्त पापोंके लिये एकमात्र प्रायश्चित्तस्वरूपा।[३]

**६०५ पानीयरूपनिर्वाणा**—जिसमें जलरूपसे मोक्षका ही निवास है, वह, **६०६ परित्राणपरायणा**—शरणागतोंकी रक्षामें तत्पर, **६०७ पापेन्धन-दवज्वाला**—पापरूपी ईन्धनको जलानेके लिये दावाग्निकी लपट, **६०८ पापारिः**—पापोंकी शत्रु, **६०९ पापनामनुत्**—पापोंका नामतक मिटा देनेवाली।[४]

**६१० परमैश्वर्यजननी**—अणिमा आदि महान् ऐश्वर्योंको जन्म देनेवाली, **६११ प्रज्ञा**—उत्तम ज्ञानस्वरूपा, **६१२ प्राज्ञा**—विदुषी, **६१३ परापरा**—कारणकार्यस्वरूपा, **६१४ प्रत्यक्षलक्ष्मीः**—साक्षात् लक्ष्मीस्वरूपा, **६१५ पद्माक्षी**—कमलके समान अथवा कमलस्वरूप नेत्रोंवाली, **६१६ परव्योमामृतस्रवा**—परब्रह्मस्वरूप अमृतमय जलको बहानेवाली।[५]

**६१७ प्रसन्नरूपा**—आनन्दमय स्वरूपवाली, **६१८ प्रणिधिः**—सर्वाधार, **६१९ पूता**—परम पवित्र, **६२० प्रत्यक्षदेवता**—सबके नेत्रोंके समक्ष प्रकट हुई सच्चिदानन्दमयी देवी, **६२१ पिनाकि-परमप्रीता**—पिनाकधारी भगवान् शिवकी परम प्रियतमा, **६२२ परमेष्ठिकमण्डलुः**—ब्रह्माजीके कमण्डलुमें वास करनेवाली।[६]

**६२३ पद्मनाभपदार्घ्येण प्रसूता**—भगवान् विष्णुके चरण पखारनेसे प्रकट हुई, **६२४ पद्म-मालिनी**—कमल पुष्पोंकी माला धारण करनेवाली, **६२५ परर्द्धिदा**—उत्तम समृद्धि देनेवाली, **६२६ पुष्टिकरी**—पोषण करनेवाली, **६२७ पथ्या**—संसाररूपी रोगकी निवृत्तिके लिये हितकर आहार-स्वरूपा, **६२८ पूर्तिः**—पूर्णता, **६२९ प्रभावती**—प्रकाशवती।[७]

**६३० पुनाना**—पवित्र करनेवाली, **६३१ पीत-गर्भघ्नी**—पीतगर्भ अर्थात् राक्षसोंका नाश करनेवाली, **६३२ पापपर्वतनाशिनी**—पापरूपी पर्वतका नाश करनेवाली, **६३३ फलिनी**—देने योग्य फलसे युक्त, **६३४ फलहस्ता**—भक्तोंको देनेके लिये सब प्रकारके फल हाथमें धारण करनेवाली, **६३५ फुल्लाम्बुजविलोचना**—विकसित कमलके समान नेत्रोंवाली।[८]

---

१. परा परफलप्राप्तिः पावनी च पयस्विनी। परानन्दा प्रकृष्टार्था प्रतिष्ठा पालिनी परा॥
२. पुराणपठिता प्रीता प्रणवाक्षररूपिणी। पार्वती प्रेमसम्पन्ना पशुपाशविमोचनी॥
३. परमात्मस्वरूपा च परब्रह्मप्रकाशिनी। परमानन्दनिष्यन्दा प्रायश्चित्तस्वरूपिणी॥
४. पानीयरूपनिर्वाणा परित्राणपरायणा। पापेन्धनदवज्वाला पापारिः पापनामनुत्॥
५. परमैश्वर्यजननी प्रज्ञा प्राज्ञा परापरा। प्रत्यक्षलक्ष्मीः पद्माक्षी परव्योमामृतस्रवा॥
६. प्रसन्नरूपा प्रणिधिः पूता प्रत्यक्षदेवता। पिनाकिपरमप्रीता परमेष्ठिकमण्डलुः॥
७. पद्मनाभपदार्घ्येण प्रसूता पद्ममालिनी। परर्द्धिदा पुष्टिकरी पथ्या पूर्तिः प्रभावती॥
८. पुनाना पीतगर्भघ्नी पापपर्वतनाशिनी। फलिनी फलहस्ता च फुल्लाम्बुजविलोचना॥

६३६ **फालितैनोमहाक्षेत्रा**—पापोंके महाक्षेत्रको नष्ट करनेवाली, ६३७ **फणिलोकविभूषणम्**—भोगवती गंगाके रूपमें नागलोकको विभूषित करनेवाली, ६३८ **फेनच्छलप्रणुन्नैनाः**—फेन छाँटनेके व्याजसे पापराशिको नाश करनेवाली, ६३९ **फुल्लकैरवगन्धिनी**—खिले हुए कुमुदपुष्पोंकी गन्धसे युक्त।[१]

६४० **फेनिलाच्छाम्बुधाराभा**—फेनयुक्त स्वच्छ जलकी धारासे उद्भासित होनेवाली, ६४१ **फुडुच्चाटितपातका**—'फुट्' इस शब्दके साथ पातकोंको उखाड़ फेंकनेवाली, ६४२ **फाणितस्वादुसलिला**—सीराके समान स्वादिष्ट जलवाली, ६४३ **फाण्टपथ्यजलाविला**—मट्ठाके समान पथ्य (हितकर) जलसे भरी हुई।[२]

६४४ **विश्वमाता**—समस्त संसारकी माता, ६४५ **विश्वेशी**—जगदीश्वरी, ६४६ **विश्वा**—सर्वस्वरूपा, ६४७ **विश्वेश्वरप्रिया**—विश्वनाथ-वल्लभा, ६४८ **ब्रह्मण्या**—ब्राह्मणहितकारिणी, ६४९ **ब्रह्मकृत्**—ब्रह्मा आदि देवताओंको उत्पन्न करनेवाली जगदीश्वरी, ६५० **ब्राह्मी**—ब्रह्मशक्ति, ६५१ **ब्रह्मिष्ठा**—ब्रह्मनिष्ठ, ६५२ **विमलोदका**—निर्मल जलवाली।[३]

६५३ **विभावरी**—रात्रिस्वरूपा, ६५४ **विरजा**—रजोगुणरहिता, ६५५ **विक्रान्तानेकविष्टपा**—अनेक भुवनोंमें व्याप्त, ६५६ **विश्वमित्रम्**—सम्पूर्ण जगत्की सुहृद्, ६५७ **विष्णुपदी**—भगवान् विष्णुके चरणोंसे प्रकट हुई, ६५८ **वैष्णवी**—विष्णुशक्ति, ६५९ **वैष्णवप्रिया**—विष्णुभक्तोंको प्रिय।[४]

६६० **विरूपाक्षप्रियकरी**—भगवान् शंकरका प्रियकार्य करनेवाली, ६६१ **विभूतिः**—अणिमा आदि अष्टविध ऐश्वर्यरूपा, ६६२ **विश्वतोमुखी**—सब ओर मुखवाली, ६६३ **विपाशा**—बन्धनरहित, अथवा विपाशा (व्यास) नामक नदी, ६६४ **वैबुधी**—देवाधिदेव विष्णुकी शक्ति अथवा देवलोकमें प्रकट, ६६५ **वेद्या**—जानने योग्य, ६६६ **वेदाक्षररसस्रवा**—वेदके अक्षरोंसे प्रतिपादित ब्रह्मानन्दरसका स्रोत बहानेवाली, ब्रह्मद्रवरूपा।[५]

६६७ **विद्या**—ब्रह्मविद्यास्वरूपा, ६६८ **वेगवती**—बड़े वेगसे बहनेवाली, ६६९ **वन्द्या**—वन्दनीया, ६७० **बृंहणी**—बृहत्स्वरूपा अथवा विस्तार करनेवाली, ६७१ **ब्रह्मवादिनी**—ब्रह्मका उपदेश करनेवाली, ६७२ **वरदा**—वर देनेवाली, ६७३ **विप्रकृष्टा**—सर्वोत्तम, ६७४ **वरिष्ठा**—श्रेष्ठा, ६७५ **विशोधनी**—विशेषरूपसे शुद्ध (पवित्र) करनेवाली।[६]

६७६ **विद्याधरी**—सम्पूर्ण विद्याओंको धारण करनेवाली, ६७७ **विशोका**—शोकरहित, ६७८ **वयोवृन्दनिषेविता**—पक्षियोंके समुदायसे निषेवित, ६७९ **बहूदका**—बहुत जलवाली, ६८० **बलवती**—बलसे युक्त, ६८१ **व्योमस्था**—स्वर्गगंगारूपसे आकाशमें स्थित, ६८२ **विबुधप्रिया**—देवताओंकी प्रियनदी।[७]

६८३ **वाणी**—सरस्वतीस्वरूपा, ६८४ **वेदवती**—वैदिक ज्ञानसे सम्पन्न अथवा वेदवती नामवाली सती साध्वी स्वरूपा, ६८५ **वित्ता**—ज्ञानस्वरूपा, ६८६ **ब्रह्मविद्यातरङ्गिणी**—ब्रह्मविद्यारूपी तरंगोंसे युक्त, ६८७ **ब्रह्माण्डकोटिव्याप्ताम्बुः**—करोड़ों ब्रह्माण्डोंमें व्याप्त जलवाली, ६८८ **ब्रह्महत्यापहारिणी**—ब्रह्महत्याका अपहरण करनेवाली।[८]

---

१. फालितैनोमहाक्षेत्रा फणिलोकविभूषणम्। फेनच्छलप्रणुन्नैनाः फुल्लकैरवगन्धिनी॥
२. फेनिलाच्छाम्बुधाराभा फुडुच्चाटितपातका। फाणितस्वादुसलिला फाण्टपथ्यजलाविला॥
३. विश्वमाता च विश्वेशी विश्वा विश्वेश्वरप्रिया। ब्रह्मण्या ब्रह्मकृद्ब्राह्मी ब्रह्मिष्ठा विमलोदका॥
४. विभावरी च विरजा विक्रान्तानेकविष्टपा। विश्वमित्रं विष्णुपदी वैष्णवी वैष्णवप्रिया॥
५. विरूपाक्षप्रियकरी विभूतिर्विश्वतोमुखी। विपाशा वैबुधी वेद्या वेदाक्षररसस्रवा॥
६. विद्या वेगवती वन्द्या बृंहणी ब्रह्मवादिनी। वरदा विप्रकृष्टा च वरिष्ठा च विशोधनी॥
७. विद्याधरी विशोका च वयोवृन्दनिषेविता। बहूदका बलवती व्योमस्था विबुधप्रिया॥
८. वाणी वेदवती वित्ता ब्रह्मविद्यातरङ्गिणी। ब्रह्माण्डकोटिव्याप्ताम्बुर्ब्रह्महत्यापहारिणी॥

**६८९ ब्रह्मेशविष्णुरूपा**—ब्रह्मा, शिव और विष्णुस्वरूपा, **६९० बुद्धिः**—बुद्धिस्वरूपा, **६९१ विभववर्द्धिनी**—धन बढ़ानेवाली, **६९२ विलासिसुखदा**—विलासियोंको सुख देनेवाली, **६९३ वश्या**—भगवदिच्छाके अधीन रहनेवाली, **६९४ व्यापिनी**—सर्वत्र व्यापक, **६९५ वृषारणिः**—धर्मोत्पत्तिकी कारणरूपा।[१]

**६९६ वृषाङ्कमौलिनिलया**—भगवान् शंकरके मस्तकपर निवास करनेवाली, **६९७ विपन्नार्तिप्रभञ्जनी**—विपत्तिमें पड़े हुए भक्तजनोंकी पीड़ा अथवा अपने जलमें मृत्युको प्राप्त हुए पुरुषोंकी दुर्गति एवं कष्टका निवारण करनेवाली, **६९८ विनीता**—विनयशीला, **६९९ विनता**—विशेषतः नम्र, **७०० ब्रध्नतनया**—सूर्यपुत्री यमुनास्वरूपा, **७०१ विनयान्विता**—विनययुक्त।[२]

**७०२ विपञ्ची**—वीणास्वरूपा अथवा वीणाकी-सी मधुर ध्वनि करनेवाली, **७०३ वाद्यकुशला**—सभी प्रकारके वाद्योंको बजानेमें चतुर, **७०४ वेणुश्रुतिविचक्षणा**—वेणुगीत सुनने और समझनेमें कुशल, **७०५ वर्चस्करी**—तेज उत्पन्न करनेवाली, **७०६ बलकरी**—सामर्थ्य प्रदान करनेवाली, **७०७ बलोन्मूलितकल्मषा**—बलपूर्वक पापोंका उच्छेद करनेवाली।[३]

**७०८ विपाप्मा**—पापरहित, **७०९ विगतातङ्का**—भयरहित, **७१० विकल्पपरिवर्जिता**—भेददृष्टिसे रहित, **७११ वृष्टिकर्त्री**—सूर्यरूपसे वर्षा करनेवाली, **७१२ वृष्टिजला**—वर्षाके कारणभूत जलवाली, **७१३ विधिः**—ब्रह्मारूपसे सृष्टि करनेवाली, **७१४ विच्छिन्नबन्धना**—अपने आश्रितोंके संसार-बन्धनका नाश करनेवाली।[४]

**७१५ व्रतरूपा**—कृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रत-स्वरूपा अथवा भक्तोंके व्रत (संकल्प)-के अनुसार स्वरूप धारण करनेवाली, **७१६ वित्तरूपा**—वैभवरूपिणी, **७१७ बहुविघ्नविनाशकृत्**—बहुतसे विघ्नोंका विनाश करनेवाली, **७१८ वसुधारा**—वसु (धन) धारण करनेवाली, आठ वसुओंको मातारूपसे गर्भमें धारण करनेवाली अथवा 'वसुधारा' स्वरूपा, **७१९ वसुमती**—रत्नगर्भा वसुधारूपा, **७२० विचित्राङ्गी**—अद्भुत शरीरवाली, **७२१ विभावसुः**—अग्नि अथवा सूर्यकी भाँति प्रकाशित होनेवाली।[५]

**७२२ विजया**—विजयशालिनी, **७२३ विश्वबीजम्**—जगत्की कारणस्वरूपा, **७२४ वामदेवी**—वामदेव शिवकी शक्ति, मनोहारिणी देवी, **७२५ वरप्रदा**—वर देनेवाली, **७२६ वृषाश्रिता**—धर्मके आश्रित, **७२७ विषघ्नी**—विषका प्रभाव नष्ट करनेवाली, **७२८ विज्ञानोर्म्यंशुमालिनी**—विज्ञानमयी तरंगों और किरणोंसे युक्त।[६]

**७२९ भव्या**—कल्याणमयी, **७३० भोगवती**—भोगवती नामसे प्रसिद्ध पातालगंगा, **७३१ भद्रा**—मंगलमयी, **७३२ भवानी**—शिवपत्नी, **७३३ भूतभाविनी**—समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और पालन करनेवाली, **७३४ भूतधात्री**—चार प्रकारके जीवोंका धारण-पोषण करनेवाली, **७३५ भयहरा**—संसार-भयका निवारण करनेवाली, **७३६ भक्तदारिद्र्यघातिनी**—भक्तोंकी दरिद्रताका नाश करनेवाली।[७]

**७३७ भुक्तिमुक्तिप्रदा**—भोग और मोक्ष देनेवाली, **७३८ भेशी**—नक्षत्रोंकी अधीश्वरी, **७३९ भक्तस्वर्गापवर्गदा**—भक्तोंको स्वर्ग और मोक्ष देनेवाली, **७४० भागीरथी**—राजा भगीरथके द्वारा लायी

---

१. ब्रह्मेशविष्णुरूपा च बुद्धिर्विभववर्द्धिनी। विलासिसुखदा वश्या व्यापिनी च वृषारणिः॥
२. वृषाङ्कमौलिनिलया विपन्नार्तिप्रभञ्जनी। विनीता विनता ब्रध्नतनया विनयान्विता॥
३. विपञ्ची वाद्यकुशला वेणुश्रुतिविचक्षणा। वर्चस्करी बलकरी बलोन्मूलितकल्मषा॥
४. विपाप्मा विगतातङ्का विकल्पपरिवर्जिता। वृष्टिकर्त्री वृष्टिजला विधिर्विच्छिन्नबन्धना॥
५. व्रतरूपा वित्तरूपा बहुविघ्नविनाशकृत्। वसुधारा वसुमती विचित्राङ्गी विभावसुः॥
६. विजया विश्वबीजं च वामदेवी वरप्रदा। वृषाश्रिता विषघ्नी च विज्ञानोर्म्यंशुमालिनी॥
७. भव्या भोगवती भद्रा भवानी भूतभाविनी। भूतधात्री भयहरा भक्तदारिद्र्यघातिनी॥

हुई, **७४१ भानुमती**—प्रकाशवती, **७४२ भाग्यम्**—नियतिरूपा, **७४३ भोगवती**—विविध प्रकारके भोगोंसे सम्पन्न, **७४४ भृतिः**—भरण-पोषणका साधन।[१]

**७४५ भवप्रिया**—भगवान् शंकरकी प्रिया, **७४६ भवद्वेष्ट्री**—संसार-बन्धनका नाश करनेवाली, **७४७ भूतिदा**—ऐश्वर्य देनेवाली, **७४८ भूतिभूषणा**—विभूतिसे विभूषित, **७४९ भाललोचनभावज्ञा**—भगवान् शिवके भावको जाननेवाली, **७५० भूतभव्यभवत्प्रभुः**—भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालकी स्वामिनी।[२]

**७५१ भ्रान्तिज्ञानप्रशमनी**—भ्रमात्मक ज्ञानका निवारण करनेवाली, **७५२ भिन्नब्रह्माण्डमण्डपा**—ब्रह्माण्डरूपी मण्डपका भेदन करनेवाली, **७५३ भूरिदा**—बहुत देनेवाली, **७५४ भक्तसुलभा**—भक्तोंको सुगमतापूर्वक प्राप्त होनेवाली, **७५५ भाग्यवद्दृष्टिगोचरी**—भाग्यवानोंको प्रत्यक्ष दर्शन देनेवाली।[३]

**७५६ भञ्जितोपप्लवकुला**—भक्तजनोंके उपद्रवोंका नाश करनेवाली, **७५७ भक्ष्यभोज्यसुखप्रदा**—भक्ष्य-भोज्यका सुख देनेवाली, **७५८ भिक्षणीया**—अभ्युदय और निःश्रेयसकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा याचना करने योग्य, **७५९ भिक्षुमाता**—भिक्षुओं—परमहंसजनोंको माताके समान सुख देनेवाली, **७६० भावी**—सबको उत्पन्न करनेवाली, **७६१ भावस्वरूपिणी**—पदार्थरूपा।[४]

**७६२ मन्दाकिनी**—स्वर्गंगा, **७६३ महानन्दा**—परमानन्दस्वरूपा, **७६४ माता**—सम्पूर्ण विश्वके पापरूपी मलको पुत्रवत्सला माताकी भाँति दूर करनेवाली, **७६५ मुक्तितरङ्गिणी**—मोक्षरूप तरंगोंसे सुशोभित, **७६६ महोदया**—महान् अभ्युदयरूप, **७६७ मधुमती**—अमृतमय जलसे युक्त, **७६८ महापुण्या**—महापुण्यस्वरूपा, **७६९ मुदाकरी**—हर्षोल्लासकी निधि।[५]

**७७० मुनिस्तुता**—मुनियोंके द्वारा प्रशंसित एवं पूजित, **७७१ मोहहन्त्री**—अज्ञानका नाश करनेवाली, **७७२ महातीर्था**—महान् तीर्थस्वरूपा, **७७३ मधुस्रवा**—मीठे जलका स्रोत बहानेवाली, **७७४ माधवी**—विष्णुप्रिया, **७७५ मानिनी**—सबके द्वारा सम्मान प्राप्त करनेवाली, **७७६ मान्या**—माननीया, पूजनीया, **७७७ मनोरथपथातिगा**—मनकी पहुँचसे परे विराजमान।[६]

**७७८ मोक्षदा**—मोक्ष देनेवाली, **७७९ मतिदा**—उत्तम बुद्धि देनेवाली, **७८० मुख्या**—श्रेष्ठा, **७८१ महाभाग्यजनाश्रिता**—बड़भागी मनुष्योंद्वारा सेवित, **७८२ महावेगवती**—बड़े वेगसे बहनेवाली, **७८३ मेध्या**—पवित्रा, **७८४ महा**—उत्सवरूपा, **७८५ महिमभूषणा**—अपनी महिमासे विभूषित।[७]

**७८६ महाप्रभावा**—महान् प्रभावसे युक्त, **७८७ महती**—विशाल, **७८८ मीनचञ्चललोचना**—मीनके समान अथवा मीनस्वरूप चंचल नेत्रोंवाली, **७८९ महाकारुण्यसम्पूर्णा**—अत्यन्त कृपासे भरी हुई, **७९० महर्द्धिः**—बड़ी भारी समृद्धि देनेवाली अथवा महती समृद्धिरूपा, **७९१ महोत्पला**—बड़े-बड़े कमलोंको उत्पन्न करनेवाली।[८]

**७९२ मूर्तिमत्**—मूर्तिमान् तेज, **७९३ मुक्ति-**

---

१. भुक्तिमुक्तिप्रदा भेशी भक्तस्वर्गापवर्गदा। भागीरथी भानुमती भाग्यं भोगवती भृतिः॥
२. भवप्रिया भवद्वेष्ट्री भूतिदा भूतिभूषणा। भाललोचनभावज्ञा भूतभव्यभवत्प्रभुः॥
३. भ्रान्तिज्ञानप्रशमनी भिन्नब्रह्माण्डमण्डपा। भूरिदा भक्तसुलभा भाग्यवद्दृष्टिगोचरी॥
४. भञ्जितोपप्लवकुला भक्ष्यभोज्यसुखप्रदा। भिक्षणीया भिक्षुमाता भावी भावस्वरूपिणी॥
५. मन्दाकिनी महानन्दा माता मुक्तितरङ्गिणी। महोदया मधुमती महापुण्या मुदाकरी॥
६. मुनिस्तुता मोहहन्त्री महातीर्था मधुस्रवा। माधवी मानिनी मान्या मनोरथपथातिगा॥
७. मोक्षदा मतिदा मुख्या महाभाग्यजनाश्रिता। महावेगवती मेध्या महा महिमभूषणा॥
८. महाप्रभावा महती मीनचञ्चललोचना। महाकारुण्यसम्पूर्णा महर्द्धिश्च महोत्पला॥

**रमणी**—मुक्तिरूपा, रमण करने योग्य, **७९४ मणि-माणिक्यभूषणा**—मणि-माणिक्यमय आभूषणोंवाली **७९५ मुक्ताकलापनेपथ्या**—मोतियोंकी मालासे शृंगार करनेवाली, **७९६ मनोनयननन्दिनी**—मन और नेत्रोंको आनन्द देनेवाली।[१]

**७९७ महापातकराशिघ्नी**—महापातकोंकी राशिका नाश करनेवाली, **७९८ महादेवार्धहारिणी**—महादेवजीके आधे शरीरपर अधिकार करनेवाली गौरीस्वरूपा, **७९९ महोर्मिमालिनी**—ऊँची तरंग-मालाओंसे युक्त, **८०० मुक्ता**—मुक्तस्वरूपा, **८०१ महादेवी**—महादेवी, **८०२ मनोन्मनी**—मनको उन्मन (उत्तम ज्ञानसे युक्त) करनेवाली।[२]

**८०३ महापुण्योदयप्राप्या**—महान् पुण्यका उदय होनेपर प्राप्त होनेवाली, **८०४ मायातिमिरचन्द्रिका**—मायामय अन्धकारका नाश करनेके लिये चन्द्रप्रभारूप, **८०५ महाविद्या**—ब्रह्मविद्यास्वरूपा, **८०६ महा-माया**—महामाया, **८०७ महामेधा**—महान् बुद्धिमती, **८०८ महौषधम्**—उत्तम ओषधिरूपा।[३]

**८०९ मालाधरी**—माला धारण करनेवाली, **८१० महोपाया**—मुक्तिकी प्राप्तिका महासाधन, **८११ महोरगविभूषणा**—महान् सर्प जिसके आभूषण हैं, वह, **८१२ महामोहप्रशमनी**—महान् मोहको शान्त करनेवाली, **८१३ महामङ्गलमङ्गलम्**—महान् मंगलोंके लिये भी मंगलरूप।[४]

**८१४ मार्तण्डमण्डलचरी**—आकाशगंगारूपसे सूर्यलोकमें विचरनेवाली, **८१५ महालक्ष्मीः**—महालक्ष्मीस्वरूपा, **८१६ मदोज्झिता**—मदसे रहित, **८१७ यशस्विनी**—उत्तम यशसे युक्त, **८१८ यशोदा**—सुयश देनेवाली, **८१९ योग्या**—सब प्रकारसे सुयोग्य, **८२० युक्तात्मसेविता**—जितात्मा पुरुषोंद्वारा सेवित।[५]

**८२१ योगसिद्धिप्रदा**—योगसिद्धि देनेवाली, **८२२ याच्या**—प्रार्थनीया, **८२३ यज्ञेशपरिपूरिता**—यज्ञेश्वर विष्णुसे व्याप्त, **८२४ यज्ञेशी**—यज्ञकी अधिष्ठात्री देवी, **८२५ यज्ञफलदा**—स्मरण करनेपर यज्ञोंका फल देनेवाली, **८२६ यजनीया**—पूजनीया, **८२७ यशस्करी**—यश देनेवाली।[६]

**८२८ यमिसेव्या**—संयमी पुरुषोंद्वारा सेवन करनेयोग्य, **८२९ योगयोनिः**—योगकी उत्पत्तिका स्थान, **८३० योगिनी**—योगको जाननेवाली, **८३१ युक्तबुद्धिदा**—योगयुक्त बुद्धि देनेवाली, **८३२ योगज्ञानप्रदा**—योग और ज्ञान देनेवाली, **८३३ युक्ता**—मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाली, **८३४ यमाद्यष्टाङ्गयोगयुक्**—यम, नियम आदि आठ अंगोंवाले योगसे युक्त।[७]

**८३५ यन्त्रिताघौघसंचारा**—पापराशियोंके संचारको नियन्त्रित करनेवाली, **८३६ यमलोक-निवारिणी**—यमलोकका निवारण करनेवाली, **८३७ यातायातप्रशमनी**—आवागमन अथवा जन्म-मृत्युका कष्ट दूर करनेवाली, **८३८ यातनानाम-कृन्तनी**—यातनाका नाम-निशान मिटानेवाली।[८]

**८३९ यामिनीशहिमाच्छोदा**—चन्द्रमा और बर्फके समान स्वच्छ एवं शीतल जलवाली, **८४० युगधर्मविवर्जिता**—कलियुगधर्म—हिंसा और असत्य आदिसे सर्वथा रहित, **८४१ रेवती**—रेवती नामक नक्षत्रस्वरूपा, **८४२ रतिकृत्**—भगवान्के

---

१. मूर्तिमन्मुक्तिरमणी मणिमाणिक्यभूषणा । मुक्ताकलापनेपथ्या मनोनयननन्दिनी ॥
२. महापातकराशिघ्नी महादेवार्धहारिणी । महोर्मिमालिनी मुक्ता महादेवी मनोन्मनी ॥
३. महापुण्योदयप्राप्या मायातिमिरचन्द्रिका । महाविद्या महामाया महामेधा महौषधम् ।
४. मालाधरी महोपाया महोरगविभूषणा । महामोहप्रशमनी महामङ्गलमङ्गलम् ॥
५. मार्तण्डमण्डलचरी महालक्ष्मीर्मदोज्झिता । यशस्विनी यशोदा च योग्या युक्तात्मसेविता ॥
६. योगसिद्धिप्रदा याच्या यज्ञेशपरिपूरिता । यज्ञेशी यज्ञफलदा यजनीया यशस्करी ॥
७. यमिसेव्या योगयोनिर्योगिनी युक्तबुद्धिदा । योगज्ञानप्रदा युक्ता यमाद्यष्टाङ्गयोगयुक् ।
८. यन्त्रिताघौघसंचारा यमलोकनिवारिणी । यातायातप्रशमनी यातनानामकृन्तनी ॥

प्रति अनुराग रखनेवाली, **८४३ रम्या**—रमणीया, **८४४ रत्नगर्भा**—अपने भीतर रत्न धारण करनेवाली **८४५ रमा**—लक्ष्मीरूपा, **८४६ रतिः**—अनुरागरूपा।[१]

**८४७ रत्नाकरप्रेमपात्रम्**—रत्नाकर—समुद्रकी प्रीतिपात्र, **८४८ रसज्ञा**—रसको जाननेवाली, **८४९ रसरूपिणी**—रसस्वरूपा, **८५० रत्नप्रासादगर्भा**—जिसके भीतर रत्नमय देवालय शोभा पा रहे हैं, ऐसी, **८५१ रमणीयतरङ्गिणी**—रमणीय लहरोंसे युक्त।[२]

**८५२ रत्नार्चिः**—रत्नोंके समान कान्तिमती, **८५३ रुद्ररमणी**—भगवान् रुद्रकी जटामें रमण करनेवाली, **८५४ रागद्वेषविनाशिनी**—राग और द्वेषका नाश करनेवाली, **८५५ रमा**—नेत्र और मनको रमानेवाली, **८५६ रामा**—मनोहर स्त्री अथवा योगियोंके मनको रमानेवाली, **८५७ रम्यरूपा**—रमणीय रूपवाली, **८५८ रोगिजीवानुरूपिणी**—संसार-रोगसे ग्रस्त पुरुषोंके लिये संजीवन ओषधिरूपा।[३]

**८५९ रुचिकृत्**—प्रकाश करनेवाली, **८६० रोचनी**—अपने दर्शनकी रुचि उत्पन्न करनेवाली, **८६१ रम्या**—रमाकी हितकारिणी, **८६२ रुचिरा**—मनोहर रूपवाली, **८६३ रोगहारिणी**—संसाररूपी रोगका नाश करनेवाली, **८६४ राजहंसा**—शोभायमान हंसोंसे युक्त, **८६५ रत्नवती**—अनेक प्रकारके रत्नोंसे संयुक्त, **८६६ राजत्कल्लोलराजिका**—शोभाशाली तरंग-मालाओंसे युक्त।[४]

**८६७ रामणीयकरेखा**—जिसकी जलधारा रमणीयताकी रेखा है, वह, **८६८ रुजारिः**—रोगोंकी शत्रुभूता, **८६९ रोगरोषिणी**—रोगोंपर रोष प्रकट करनेवाली, **८७० राका**—पूर्णमासीस्वरूपा, **८७१ रङ्कार्तिशमनी**—दीन-दुःखियोंकी दैन्य वेदना शान्त करनेवाली, **८७२ रम्या**—रमणीया, **८७३ रोलम्बराविणी**—भ्रमरोंके गुंजारके समान जलकी कलकल ध्वनि करनेवाली।[५]

**८७४ रागिणी**—भगवान्‌के प्रति अनुराग रखनेवाली, **८७५ रञ्जितशिवा**—अपनी सन्निधिसे भगवान् शिवको प्रसन्न करनेवाली, **८७६ रूपलावण्यशेवधिः**—सौन्दर्य और कान्तिकी निधि, **८७७ लोकप्रसूः**—लोकमाता, **८७८ लोकवन्द्या**—सम्पूर्ण विश्वके लिये वन्दनीया, **८७९ लोलत्कल्लोलमालिनी**—चंचल लहरोंकी श्रेणियोंसे सुशोभित।[६]

**८८० लीलावती**—सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहारकी लीला करनेवाली, **८८१ लोकभूमिः**—सम्पूर्ण भुवनोंकी आधार, **८८२ लोकलोचनचन्द्रिका**—लोगोंके नेत्रोंमें चाँदनीकी भाँति आह्लाद उत्पन्न करनेवाली, **८८३ लेखस्रवन्ती**—देवनदी, **८८४ लटभा**—भगवत्प्रेमके लिये लोलुप-सी प्रतीत होनेवाली, **८८५ लघुवेगा**—शीतकालमें लघुवेगवाली, **८८६ लघुत्वहृत्**—भक्तोंकी लघुता दूर करनेवाली।[७]

**८८७ लास्यतरङ्गहस्ता**—नृत्य-सा करती हुई चंचल लहरें जिसके लिये मानो हाथ हैं, वह, **८८८ ललिता**—मनोहर रूपवाली, **८८९ लयभङ्गिमा**—लय—नृत्य, गति और वाद्यकी समताकी भंगी (अंदाज)-से चलनेवाली, **८९० लोकबन्धुः**—सम्पूर्ण जगत्‌का बन्धुकी भाँति हित चाहनेवाली, **८९१ लोकधात्री**—माताकी भाँति विश्वका पालन-पोषण करनेवाली, **८९२ लोकोत्तरगुणोर्जिता**—अलौकिक गुणोंसे बढ़ी-चढ़ी।[८]

---

१. यामिनीशहिमाच्छोदा युगधर्मविवर्जिता। रेवती रतिकृद् रम्या रत्नगर्भा रमा रतिः॥
२. रत्नाकरप्रेमपात्रं रसज्ञा रसरूपिणी। रत्नप्रासादगर्भा च रमणीयतरङ्गिणी॥
३. रत्नार्ची रुद्ररमणी रागद्वेषविनाशिनी। रमा रामा रम्यरूपा रोगिजीवानुरूपिणी॥
४. रुचिकृद् रोचनी रम्या रुचिरा रोगहारिणी। राजहंसा रत्नवती राजत्कल्लोलराजिका॥
५. रामणीयकरेखा च रुजारी रोगरोषिणी। राका रङ्कार्तिशमनी रम्या रोलम्बराविणी॥
६. रागिणी रञ्जितशिवा रूपलावण्यशेवधिः। लोकप्रसूर्लोकवन्द्या लोलत्कल्लोलमालिनी॥
७. लीलावती लोकभूमिर्लोकलोचनचन्द्रिका। लेखस्रवन्ती लटभा लघुवेगा लघुत्वहृत्॥
८. लास्यतरङ्गहस्ता च ललिता लयभङ्गिगा। लोकबन्धुर्लोकधात्री लोकोत्तरगुणोर्जिता॥

**८९३ लोकत्रयहिता**—तीनों लोकोंका हित करनेवाली, **८९४ लोका**—लोकस्वरूपा, **८९५ लक्ष्मीः**—लक्ष्मीस्वरूपा, **८९६ लक्षणलक्षिता**—शुभ लक्षणोंसे उपलक्षिता, **८९७ लीला**—भगवत्क्रीडास्वरूपा, **८९८ लक्षितनिर्वाणा**—मोक्षका साक्षात्कार करानेवाली, **८९९ लावण्यामृतवर्षिणी**—लावण्यमय अमृतकी वर्षा करनेवाली।[१]

**९०० वैश्वानरी**—वैश्वानर-अग्निस्वरूपा, **९०१ वासवेड्या**—इन्द्रके द्वारा स्तवन करनेयोग्य, **९०२ वन्ध्यत्वपरिहारिणी**—वन्ध्यापनका निवारण करनेवाली, **९०३ वासुदेवाङ्घ्रिरेणुघ्नी**—भगवान् विष्णुके चरणोंकी धूलिको धो लेनेवाली, **९०४ वज्रिवज्रनिवारिणी**—इन्द्रके वज्रका निवारण करनेवाली।[२]

**९०५ शुभावती**—मंगलमयी, **९०६ शुभफला**—शुभ फल देनेवाली, **९०७ शान्तिः**—शान्तिस्वरूपा, **९०८ शान्तनुवल्लभा**—राजा शान्तनुकी प्रिय पत्नी, **९०९ शूलिनी**—त्रिशूल धारण करनेवाली, **९१० शैशववया**—बाल्यावस्थासे युक्त, **९११ शीतलामृतवाहिनी**—शीतल जलकी धारा बहानेवाली।[३]

**९१२ शोभावती**—शोभायमान, **९१३ शीलवती**—सुशीला, **९१४ शोषिताशेषकिल्बिषा**—सम्पूर्ण पापोंका शोषण (नाश) करनेवाली, **९१५ शरण्या**—शरण लेने योग्य, **९१६ शिवदा**—कल्याणदायिनी, **९१७ शिष्टा**—श्रेष्ठा, **९१८ शरजन्मप्रसूः**—कार्तिकेयकी जननी, **९१९ शिवा**—कल्याणस्वरूपा।[४]

**९२० शक्तिः**—आह्लादिनी शक्तिस्वरूपा, **९२१ शशाङ्कविमला**—चन्द्रमाके समान उज्ज्वल वर्णवाली, **९२२ शमनस्वसृसम्मता**—यमराजकी बहिन यमुनाकी प्रिय सखी, **९२३ शमा**—अज्ञानका नाश करनेवाली अथवा शमस्वरूपा, **९२४ शमनमार्गघ्नी**—यमलोकके मार्गका निवारण करनेवाली, **९२५ शितिकण्ठमहाप्रिया**—नीलकण्ठ महादेवजीकी अत्यन्त वल्लभा।[५]

**९२६ शुचिः**—पवित्रा, **९२७ शुचिकरी**—पवित्र करनेवाली, **९२८ शेषा**—प्रलयके समय भी शेष रहनेवाली—सच्चिदानन्द ब्रह्मरूपा, **९२९ शेषशायिपदोद्भवा**—शेषनागकी शय्यापर शयन करनेवाले भगवान् विष्णुके चरणारविन्दोंसे प्रकट हुई, **९३० श्रीनिवासश्रुतिः**—भगवान् विष्णुसे जिनका प्रादुर्भाव सुना जाता है, वह, **९३१ श्रद्धा**—आस्तिक्य बुद्धिरूपा, **९३२ श्रीमती**—शोभायुक्त, **९३३ श्रीः**—लक्ष्मीस्वरूपा, **९३४ शुभव्रता**—शुभव्रतवाली।[६]

**९३५ शुद्धविद्या**—ब्रह्मविद्यास्वरूपा, **९३६ शुभावर्ता**—उत्तम भँवरवाली, **९३७ श्रुतानन्दा**—श्रवणमात्रसे आनन्द देनेवाली, **९३८ श्रुतिस्तुतिः**—श्रुतियों (वैदिक मन्त्रों) द्वारा जिसकी स्तुति की जाती है, वह, **९३९ शिवेतरघ्नी**—अमंगलकारी पापोंका नाश करनेवाली, **९४० शबरी**—किरातरूपधारी भगवान् महेश्वरकी प्रिया, **९४१ शाम्बरीरूपधारणी**—मायामय रूप धारण करनेवाली।[७]

**९४२ श्मशानशोधनी**—काशीकी महाश्मशानभूमिको शुद्ध करनेवाली, **९४३ शान्ता**—शान्तस्वरूपा, **९४४ शश्वत्**—सनातनी, **९४५ शतधृतिस्तुता**—ब्रह्माजीके द्वारा अभिवन्दित, **९४६ शालिनी**—शोभायमान, **९४७ शालिशोभाढ्या**—धानके हरे-भरे पौधोंकी शोभासे सम्पन्न, **९४८ शिखिवाहन-**

---

१. लोकत्रयहिता लोका लक्ष्मीर्लक्षणलक्षिता। लीला लक्षितनिर्वाणा लावण्यामृतवर्षिणी॥
२. वैश्वानरी वासवेड्या वन्ध्यत्वपरिहारिणी। वासुदेवाङ्घ्रिरेणुघ्नी वज्रिवज्रनिवारिणी॥
३. शुभावती शुभफला शान्तिः शान्तनुवल्लभा। शूलिनी शैशववया शीतलामृतवाहिनी॥
४. शोभावती शीलवती शोषिताशेषकिल्बिषा। शरण्या शिवदा शिष्टा शरजन्मप्रसूः शिवा॥
५. शक्तिः शशाङ्कविमला शमनस्वसृसम्मता। शमा शमनमार्गघ्नी शितिकण्ठमहाप्रिया॥
६. शुचिः शुचिकरी शेषा शेषशायिपदोद्भवा। श्रीनिवासश्रुतिः श्रद्धा श्रीमती श्रीः शुभव्रता॥
७. शुद्धविद्या शुभावर्ता श्रुतानन्दा श्रुतिस्तुतिः। शिवेतरघ्नी शबरी शाम्बरीरूपधारिणी॥

**गर्भभृत्**—कार्तिकेयको गर्भमें धारण करनेवाली।[१]

**९४९ शंसनीयचरित्रा**—स्तवन करनेयोग्य दिव्य चरित्रोंवाली, **९५० शातिताशेषपातका**—समस्त पातकोंका नाश करनेवाली, **९५१ षड्गुणैश्वर्यसम्पन्ना**—ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य—इन छः प्रकारके ऐश्वर्योंसे सम्पन्न, **९५२ षडङ्गश्रुतिरूपिणी**—शिक्षा, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्यौतिष तथा कल्प—ये वेदके छः अंग तथा वेद जिसके स्वरूप हैं, वह।[२]

**९५३ षण्ढताहारिसलिला**—नपुंसकता एवं निर्वीर्यता आदि दोष दूर करनेमें समर्थ जलवाली, **९५४ स्त्यायन्नदनदीशता**—जिसमें सैकड़ों नद और नदियाँ कल-कल नादके साथ आकर मिलती हैं, वह, **९५५ सरिद्वरा**—नदियोंमें श्रेष्ठ, **९५६ सुरसा**—उत्तम रससे युक्त, **९५७ सुप्रभा**—सुन्दर प्रभावाली, **९५८ सुरदीर्घिका**—देवताओंकी बावली।[३]

**९५९ स्वःसिन्धुः**—स्वर्गलोककी नदी, **९६० सर्वदुःखघ्नी**—सबके दुःखोंका नाश करनेवाली, **९६१ सर्वव्याधिमहौषधम्**—समस्त रोगोंकी एकमात्र महौषधि, **९६२ सेव्या**—सेवन करने योग्य, **९६३ सिद्धिः**—अणिमा आदि अष्टसिद्धिस्वरूपा, **९६४ सती**—पतिव्रता, **९६५ सूक्तिः**—शुभ उक्तिरूप अथवा वैदिक-सूक्तस्वरूपा, **९६६ स्कन्दसूः**—कार्तिकेयजननी, **९६७ सरस्वती**—वाणीकी अधिष्ठात्री देवी।[४]

**९६८ सम्पत्तरङ्गिणी**—सम्पत्तिरूप लहरोंवाली, **९६९ स्तुत्या**—स्तवन करने योग्य, **९७० स्थाणुमौलिकृतालया**—भगवान् शंकरके मस्तकको अपना निवासस्थान बनानेवाली, **९७१ स्थैर्यदा**—स्थिरता प्रदान करनेवाली, **९७२ सुभगा**—उत्तम ऐश्वर्यसे युक्त, **९७३ सौख्या**—सुख देनेवाली, **९७४ स्त्रीषु सौभाग्यदायिनी**—स्त्रियोंको सौभाग्य प्रदान करनेवाली।[५]

**९७५ स्वर्गनिःश्रेणिका**—स्वर्गलोकमें जानेके लिये सीढ़ी, **९७६ सूक्ष्मा**—इन्द्रियोंकी पहुँचसे परे स्थित, सूक्ष्मस्वरूपा, **९७७ स्वधा**—पितृतृप्तिस्वरूपा, **९७८ स्वाहा**—हव्यस्वरूपा, **९७९ सुधाजला**—अमृतके समान मधुर जलवाली, **९८० समुद्ररूपिणी**—समुद्ररूपा, **९८१ स्वर्ग्या**—स्वर्गलोककी प्राप्तिमें सहायक, **९८२ सर्वपातकवैरिणी**—समस्त पापोंकी शत्रु।[६]

**९८३ स्मृताघहारिणी**—स्मरण करनेपर समस्त पापोंका संहार करनेवाली, **९८४ सीता**—सीता नामवाली गंगा, जनकनन्दिनीस्वरूपा, **९८५ संसाराब्धितरण्डिका**—संसारसागरसे पार उतारनेके लिये नौकारूप, **९८६ सौभाग्यसुन्दरी**—अतिशय सौभाग्यसे परम सुन्दर प्रतीत होनेवाली, **९८७ सन्ध्या**—सन्ध्याकालमें उपास्य गायत्रीरूपा, **९८८ सर्वसारसमन्विता**—समस्त शक्तियोंसे संयुक्त।[७]

**९८९ हरप्रिया**—भगवान् शिवकी वल्लभा, **९९० हृषीकेशी**—इन्द्रियोंकी स्वामिनी अथवा हृषीकेश भगवान् विष्णुकी पत्नी, **९९१ हंसरूपा**—शुद्धस्वरूपा, हंसरूपधारिणी, **९९२ हिरण्मयी**—स्वर्णमयी, ज्ञानस्वरूपा, **९९३ हृताघसंघा**—पापराशियोंका विनाश करनेवाली, **९९४ हितकृत्**—हित-साधन करनेवाली, **९९५ हेला**—एक प्रकारकी शृंगारजनित चेष्टा, **९९६ हेलाघगर्वहृत्**—लीलापूर्वक पापका घमण्ड चूर करनेवाली।[८]

---

१. श्मशानशोधनी शान्ता शश्वच्छतधृतिस्तुता । शालिनी शालिशोभाढ्या शिखिवाहनगर्भभृत् ॥
२. शंसनीयचरित्रा च शातिताशेषपातका । षड्गुणैश्वर्यसम्पन्ना षडङ्गश्रुतिरूपिणी ॥
३. षण्ढताहारिसलिला स्त्यायन्नदनदीशता । सरिद्वरा च सुरसा सुप्रभा सुरदीर्घिका ॥
४. स्वःसिन्धुः सर्वदुःखघ्नी सर्वव्याधिमहौषधम् । सेव्या सिद्धिः सती सूक्तिः स्कन्दसूश्च सरस्वती ॥
५. सम्पत्तरङ्गिणी स्तुत्या स्थाणुमौलिकृतालया । स्थैर्यदा सुभगा सौख्या स्त्रीषु सौभाग्यदायिनी ॥
६. स्वर्गनिःश्रेणिका सूक्ष्मा स्वधा स्वाहा सुधाजला । समुद्ररूपिणी स्वर्ग्या सर्वपातकवैरिणी ॥
७. स्मृताघहारिणी सीता संसाराब्धितरण्डिका । सौभाग्यसुन्दरी सन्ध्या सर्वसारसमन्विता ॥
८. हरप्रिया हृषीकेशी हंसरूपा हिरण्मयी । हृताघसंघा हितकृद्धेला हेलाघगर्वहृत् ॥

**९९७ क्षेमदा**—कल्याणदायिनी, **९९८ क्षालिताघौघा**—पापराशिको धो डालनेवाली, **९९९ क्षुद्रविद्राविणी**—दुष्टोंको मार भगानेवाली, **१००० क्षमा**—सहनशीला, पृथ्वीस्वरूपा। अगस्त्यजी! इस प्रकार गंगाजीके सहस्र नामोंका कीर्तन करके मनुष्य गंगास्नानका उत्तम फल पा लेता है।*

यह गंगासहस्रनाम सब पापोंका नाश और सम्पूर्ण विघ्नोंका निवारण करनेवाला है। समस्त स्तोत्रोंके जपसे इसका जप श्रेष्ठ है। यह सबको पवित्र करनेवाली वस्तुओंको भी पवित्र करनेवाला है। श्रद्धापूर्वक इसका पाठ करनेपर यह मनोवांछित फल देनेवाला है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति करानेवाला है। मुने! इसका एक बार पाठ करनेसे भी एक यज्ञका फल प्राप्त होता है। गंगासहस्रनाम आयु तथा आरोग्य देनेवाला और सम्पूर्ण उपद्रवोंका नाश करनेवाला है। यह मनुष्योंको सब प्रकारकी सिद्धि देनेवाला है। जो इस स्तुतिका पाठ करता है, उसे सदाचारी जानना चाहिये। वह सदा पवित्र है तथा उसने सम्पूर्ण देवताओंकी पूजा सम्पन्न कर ली है। उसके तृप्त होनेसे साक्षात् गंगाजी तृप्त हो जाती हैं। अतः सर्वथा प्रयत्न करके गंगाजीके भक्तका पूजन करे। जो गंगाजीके इस स्तोत्रराजका श्रवण और पाठ करता है या दम्भ और लोभसे रहित होकर उनके भक्तोंको सुनाता है, वह मानसिक, वाचिक और शारीरिक तीनों प्रकारके पापोंसे मुक्त हो जाता है तथा पितरोंका प्रिय होता है। जिसके घरमें गंगाजीका यह स्तोत्र लिखकर इसकी पूजा की जाती है, वहाँ पापका कोई भय नहीं है। वह घर सदा पवित्र है।

## शिवकी कृपाके बिना काशीवासकी दुर्लभता तथा काशीकी महिमा

**स्कन्दजी कहते हैं**—महाभाग अगस्त्यजी! सुनिये। सुप्रसिद्ध राजा भगीरथ श्रीमहादेवजीकी आराधना करके गंगाजीको बड़ी तपस्यासे भूमिपर ले आये। फिर वहाँसे तीनों लोकोंके हितके लिये गंगाको उस स्थानपर लाये जहाँ मणिकर्णिका तीर्थ है, भगवान् शंकरका आनन्दवन है और श्रीहरिका चक्रपुष्करिणी नामक तीर्थ है। वह परब्रह्म परमात्माका सर्वोत्तम क्षेत्र है, जो लीलासे ही समस्त जीवोंको मोक्ष अर्पण करता है। दिलीपनन्दन भगीरथ स्वयं आगे-आगे चलते हुए गंगाजीको उस पुरीमें ले आये, जो मोक्षको प्रकाशित करनेसे 'काशीपुरी' के नामसे विख्यात है। उस महाक्षेत्रको भगवान् शंकरने कभी नहीं छोड़ा है, इसलिये वह 'अविमुक्त' कहलाता है। मुने! काशीका महत्त्व पहलेसे ही अधिक था, फिर गंगाजीके जलके समागमसे जो उसकी महिमा बढ़ी, उसके विषयमें क्या कहना है। वहाँका चक्र-पुष्करिणी तीर्थ पहलेसे ही कल्याणका निकेतन था, फिर भगवान् शंकरके मणिमय कर्णभूषणके गिरनेसे वह और भी श्रेष्ठ हो गया। भगवान् शिवके निवासस्थान अविमुक्तक्षेत्र अथवा आनन्द-काननमें पहलेसे ही मुक्ति सिद्ध है, फिर गंगाजीका सम्पर्क होनेसे उस तीर्थकी महिमामें और उत्कर्ष आ गया। जबसे मणिकर्णिकामें गंगाजी आकर मिल गयीं, तबसे वह क्षेत्र देवताओंके लिये भी दुर्लभ हो गया। काशीमें निवास करनेवाला तथा वहीं मृत्युको प्राप्त हुआ पुरुष मुक्त हो जाता है। वेदान्तद्वारा जाननेयोग्य परब्रह्म परमात्माके निदिध्यासन, सांख्य और योगके बिना ही काशीमें मरा हुआ पुरुष मुक्त हो जाता है। कालसे काशीमें शरीरका परित्याग करके मरा हुआ पुरुष तारकमन्त्रका उपदेश पाकर अमर हो जाता है। काशीमें शरीरका त्याग करना ही दान है, वही तपस्या है और वही मोक्षका सुख देनेवाला योग है। देवताओंने वहाँ पापियोंकी खोटी बुद्धिका खण्डन करनेवाली महान्

* क्षेमदा क्षालिताघौघा क्षुद्रविद्राविणी क्षमा। इति नाम सहस्रं हि गंगायाः कलशोद्भव॥
कीर्तयित्वा नरः सम्यग्गंगास्नानफलं लभेत्।

असि (खड्ग)-रूपा 'असी', दुष्टोंके प्रवेशका अवधूनन (नाश) करनेवाली 'धुनी' (नदी) तथा विघ्ननिवारण करनेवाली 'वरणा' (नदी)-का निर्माण किया है। काशीके दक्षिण भागमें 'असी' और उत्तरभागमें 'वरणा' को उस क्षेत्रके मोक्षरूपी गड़े हुए धनकी रक्षाके लिये स्थापित करके देवतालोग बहुत सन्तुष्ट हुए। तत्पश्चात् स्वयं भगवान् शंकरने काशीके पश्चिम क्षेत्रकी रक्षाके लिये 'देहली-विनायक' को नियुक्त किया।

इस विषयमें मैं एक प्राचीन इतिहास बतलाता हूँ। दक्षिण समुद्रके तटपर सेतुबन्धतीर्थके समीप कोई धनंजय नामवाला वैश्य रहता था। वह अपनी माताका बड़ा भक्त था। पुण्यके मार्गसे ही वह धन पैदा करता और उससे याचकोंको सन्तुष्ट करता था। धनंजय यशोदानन्दन श्रीकृष्णका उपासक था। वह समस्त सद्गुणोंका भण्डार था, तो भी गुणियोंकी मण्डलीमें अपने गुणी स्वरूपको छिपाये रखनेकी चेष्टा करता था। यद्यपि व्यापारसे ही उसकी जीविका चलती थी, तो भी वह सत्यप्रिय था। ब्राह्मण आदि उच्च वर्णोंके लोग उसके गुणोंका बखान करते थे। इस प्रकार उत्तम वृत्ति और बर्तावसे रहते हुए उस वैश्यकी माता, जो वृद्धावस्थासे अत्यन्त आतुर तथा रोगग्रस्त हो रही थी, मृत्युको प्राप्त हो गयी।

पूर्वकालमें जब वह जवान थी तो उसने अपने पतिको धोखा देकर परपुरुषसमागम किया था। जो स्त्री चार दिनोंकी जवानी पाकर मोहवश अपने स्वामीको धोखा देती है, वह अक्षय नरकमें पड़ती है। स्त्रियोंके सतीत्वका नाश होनेसे उसका धर्मपरायण पति भी बड़े दुःखसे प्राप्त किये हुए स्वर्गलोकसे गिर जाता है। इसलिये स्त्रीको शीलकी रक्षा करनी चाहिये। खोटी बुद्धिवाली व्यभिचारिणी स्त्री एक कल्पतक नरकके विष्ठाकुण्डमें पड़ी रहती है। इसके बाद गाँवमें सूकरी होती है। इसलिये स्त्रीको उचित है कि वह पुण्यके एकमात्र साधन अपने शरीरको विशेष यत्न करके सुखतुल्य प्रतीत होनेवाले परपुरुषके दुःखद स्पर्शसे बचावे। सती नारीने अपने स्वामीके अधीन किये हुए इसी शरीरके द्वारा आदेश देकर क्या उगते हुए सूर्यको नहीं रोक दिया था? अत्रिमुनिकी पत्नी पतिव्रता अनसूयाने पतिभक्तिके ही प्रभावसे क्या ब्रह्मा, विष्णु और शिवको अपने गर्भमें नहीं धारण किया था? नारी अपने पातिव्रत्यके प्रभावसे इस लोकमें महान् सुयश, वैकुण्ठधाममें अक्षय निवास तथा भगवती लक्ष्मीजीकी सखीका पद प्राप्त कर लेती है।

धनंजयकी माता अपने पति और सनातन धर्मका परित्याग करके दुराचारका आश्रय ले स्वेच्छाचारिणी हो गयी थी। इसलिये मृत्युके बाद वह नरकमें गयी। उसका पुत्र धनंजय पूर्वजन्मकी तपस्याका उदय होनेसे किसी शिवयोगीका साथ पाकर धर्माचरणमें तत्पर हुआ। वह माताका भक्त तो था ही, उसकी हड्डियाँ लेकर उन्हें पंचगव्य और पंचामृतसे स्नान कराया और यक्षकर्दमका लेप करके फूलोंसे उनका पूजन किया। तत्पश्चात् उन्हें नैनसुख वस्त्रसे लपेट कर ऊपरसे रेशमी वस्त्र लपेटा। फिर चिकने सूती वस्त्रसे आवृत करके मजीठ (गेरुवा)-के रंगमें रँगे हुए गेरुवे वस्त्रद्वारा उस पोटलीको आच्छादित किया। तदनन्तर नेपाली कम्बलसे ढककर उसपर शुद्ध मिट्टीका लेप कर दिया। तत्पश्चात् उसे ताँबेके सम्पुटमें रखकर वह गंगाजीके मार्गपर प्रस्थित हुआ। धनंजय नीच जातिका स्पर्श न करके पवित्रतापूर्वक रहता और वेदी या पवित्र भूमिपर सोता था। इस प्रकार उस गठरीको लाता हुआ वह रास्तेमें ज्वरसे ग्रस्त हो गया। तब उसने उचित मजदूरी देकर कोई कहार निश्चित किया और किसी तरह काशीपुरीमें आ पहुँचा। वहाँ वह कहारको रक्षाके लिये बिठाकर कुछ खाने-पीनेकी वस्तु लेनेको बाजारमें गया। कहार अवसर पाकर उस भारमेंसे ताँबेका सम्पुट लेकर अपने घरकी ओर चल दिया। धनंजयने विश्रामस्थानपर लौटकर देखा तो सब सामग्रियोंमें

वह ताँबेका सम्पुट नहीं दिखायी दिया। तब वह 'हाय-हाय' करता हुआ उसे ढूँढ़नेको चला और धीरे-धीरे उस कहारके घर जा पहुँचा। इधर वह कहार भी किसी वनमें पहुँचकर जब ताँबेके सम्पुटमें देखता है, तब उसे हड्डियाँ दिखायी देती हैं। यह देख उन्हें वहीं छोड़कर वह उदासभावसे घरको लौट गया। इसके बाद धनंजय उस कहारके घर पहुँचा और उसकी स्त्रीसे पूछने लगा—'सच बताओ, तुम्हारा पति कहाँ गया है? उसने मेरी माताकी हड्डियाँ ले ली हैं, उन्हें दिला दो। हड्डियोंको शीघ्र दिखाओ, मैं तुम्हें अधिक धन दूँगा।' तब उसकी स्त्रीने पतिसे सब बातें कहीं। कहार लज्जासे मस्तक झुकाये सब वृत्तान्त बताकर धनंजयको अपने साथ वनमें ले गया। परंतु दैवयोगसे वह उस स्थानको भूल गया और दिशा भूल जानेके कारण वनमें इधर-उधर भटकने लगा। एक वनसे दूसरे वनमें घूमते-घूमते वह थक गया और धनंजयको वहीं छोड़कर अपने घर लौट गया। दो-तीन दिन वहाँ घूम-घामकर धनंजय भी काशीपुरीमें लौट आया। उसका मुख बहुत उदास हो गया था। धनंजय गया और प्रयागतीर्थका सेवन करके पुनः अपने देशको लौट गया। अगस्त्यजी! भगवान् विश्वनाथकी आज्ञाके बिना उस स्त्रीकी हड्डियाँ काशीमें प्रवेश पाकर भी तत्काल बाहर हो गयीं। इसी प्रकार किसी पुण्यसे काशीमें पहुँचकर भी पापी मनुष्य उस क्षेत्रका फल नहीं पाता। वह तत्काल वहाँसे बाहर हो जाता है। अतः भगवान् विश्वनाथकी आज्ञा ही काशीमें रहनेका कारण होती है। महामुने! असी और वरणा—ये दो नदियाँ उस क्षेत्रकी रक्षाके लिये नियुक्त की गयी हैं। इसीलिये वह पुरी 'वाराणसी' के नामसे प्रसिद्ध हुई। काशीपुरी कहती है 'अरे जीव! तू बहुतेरे श्रेष्ठ तीर्थोंमें गोता लगा चुका, किंतु अबतक तुझे कभी शान्ति नहीं मिली। अब यहाँ मृत्युको प्राप्त होकर तू मेरे बलसे अमरत्व धारण करके शिवरूप हो जा।' अहा हा! क्या जीवको गर्भवासका कष्ट भूल गया? यमराजके दूतोंके हाथसे बाँधा जाना और पीड़ित होना क्या याद नहीं रहा? क्या कारण है कि भगवान् शंकरकी कृपासे मिलने योग्य काशीपुरीको पाकर भी मूर्ख मनुष्य हाथमें आयी हुई मुक्तिको त्यागकर अन्यत्र जाता है।

अगस्त्यजी! अविमुक्त क्षेत्रको भगवान् रुद्रका निवासस्थान बताया गया है। यहाँके सभी जीव रुद्रस्वरूप हैं। इसलिये काशीमें रहनेवाले चारों वर्णों तथा वर्णेतर मनुष्योंका भी ईश्वरबुद्धिसे श्रद्धापूर्वक सत्कार करके मनुष्य भगवान् शिवकी पूजाके फलका भागी होता है। प्रलयकालमें पृथ्वी जलमें विलीन हो जाती है, जल अग्निके मुखरूपी भयानक कन्दरामें समा जाता है। अग्नि वायुमें और वायु आकाशमें लीन हो जाती है। आकाश अहंकारमें लयको प्राप्त होता है। षोडश विकारोंके साथ अहंकार भी समष्टि बुद्धि नामक महत्तत्त्वमें लीन होता है। फिर महत्तत्त्व भी प्रकृतिके भीतर विलीन हो जाता है। वह त्रिगुणमयी प्रकृति उस निर्गुण पुरुषका आलिंगन करके स्थित होती है। वह परम पुरुष ही देह और गेहका स्वामी तथा सबको जीवन देनेवाला है। यह प्राकृत प्रलय कहलाता है। इसमें ब्रह्मा, विष्णु और शिव बने रहते हैं। कालस्वरूप परमात्मा उस प्रकृतिस्थ पुरुषको लीलापूर्वक अपनेसे अभिन्न कर लेते हैं। वे परम पुरुष परमेश्वर ही महाविष्णु कहलाते हैं। उन्हींको महादेव कहते हैं। वे ही आदि, मध्य और अन्तसे रहित शिव हैं। वे ही लक्ष्मीपति तथा वे ही पार्वतीपति हैं। प्रलयकालमें भगवान् शंकर काशीपुरीको अपने त्रिशूलके अग्रभागपर रखकर स्वयं इसकी रक्षा करते हैं। अतः काशी कलि और कालसे वर्जित है। इसीको वाराणसी, रुद्रावास, महाश्मशान तथा आनन्दवन कहा गया है। अगस्त्यजी! देवाधिदेव भगवान् शंकरने माता पार्वतीदेवीके आगे जो कुछ कहा था उसे ज्यों-का-त्यों मैंने सुना और वह सब तुमसे कहा। जो महापातकोंका नाश करनेवाले इस पुण्यमय प्रसंगको पढ़ता और सुनता है। वह शिवलोकमें प्रतिष्ठित होता है।

# काशीपुरीकी श्रेष्ठता, हरिकेश यक्षको शिवाराधनाके द्वारा दण्ड-पाणि-पदकी प्राप्ति और दण्डपाण्यष्टकस्तोत्र

**स्कन्दजी कहते हैं**—काशीमें भिक्षुकोंको आँवलेके फलके बराबर भी दी हुई भिक्षा सुमेरु पर्वतके समान भारी पुण्य देनेवाली होती है। जो काशीमें भूखे कुटुम्बीको वर्षभर खानेके लिये अन्न देता है और इस प्रकार वह जितने वर्षोंके लिये देता है, उतने ही युगोंतक स्वर्गमें पूजित होता है। जो काशीमें जीविकाके साधनसे रहित ब्राह्मणको एक वर्षतक भोजन देता है वह श्रेष्ठ पुरुष कभी भूख-प्यासका कष्ट नहीं भोगता। काशीमें निवास करनेवाले पुरुषोंको जिस पुण्यकी प्राप्ति होती है, वही पूरा-का-पूरा फल काशीवास करानेवालेको भी प्राप्त होता है। जिसका नाम लेनेसे भी ब्रह्महत्या आदि पाप मनुष्यको त्याग देते हैं, उस काशीपुरीकी यहाँ किससे उपमा दी जा सकती है। इस पुरीकी पूजा और प्रदक्षिणा करनी चाहिये। जो दूर देशमें होनेपर भी अविमुक्त नामक महाक्षेत्र (काशी)-का स्मरण करते हुए प्राणत्याग करता है उसका भी संसारमें पुनर्जन्म नहीं होता। जैसे योगी अपने योगबलसे मुक्त होते हैं, उसी प्रकार जीव यहाँ मृत्यु होनेमात्रसे मुक्त हो जाते हैं। यह काशीपुरी परम पद है, यह परम आनन्द है और यही परम ज्ञान है। अतः मोक्षकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको इसका सेवन करना चाहिये। यहाँ भगवान् भैरव कपालमोचनतीर्थको आगे करके भक्तजनोंकी पाप-परम्पराका भक्षण करते हुए वहीं निवास करते हैं। भैरवजी काशीवासियोंके कलि और कालको अपना ग्रास बना लेते हैं। इसीलिये उनकी 'कालभैरव' संज्ञा हुई है।

**अगस्त्यजीने कहा**—कार्तिकेयजी! अब आप मुझे हरिकेशकी उत्पत्तिका वृत्तान्त सुनाइये।

**कार्तिकेयजी बोले**—मुने! प्राचीन कालमें गन्धमादनपर्वतपर 'रत्नभद्र' नामसे विख्यात एक परम धर्मात्मा यक्ष रहता था, जो लाखों पुण्यकर्मोंसे सुशोभित था। उसके 'पूर्णभद्र' नामक एक पुत्र हुआ। तदनन्तर अन्तिम अवस्थामें शरीर त्याग करके रत्नभद्र परम शान्त भगवान् शिवके धाममें जा पहुँचा। पिताकी मृत्यु हो जानेके बाद पूर्णभद्रने वैभव तथा भोगसामग्रीका अधिकारी होकर समस्त लौकिक मनोरथोंको प्राप्त किया। केवल एक ही वस्तु उसे नहीं मिली, जिसको 'पुत्र' कहते हैं, जो गृहस्थाश्रमका शृंगार, पितरोंका महान् हितकारी और सांसारिक तापसे सन्तप्त अंगोंको अमृतके फुहारोंकी तरह शीतल एवं सुखद प्रतीत होनेवाला है। पूर्णभद्र अपने सुन्दर गृहको सन्तान-सुखसे शून्य देखकर बहुत दुःखी हुआ। अगस्त्यजी! एक दिन उस यक्षने अपनी धर्मपत्नी श्रेष्ठ यक्षिणी कनककुण्डलाको समीप बुलाकर कहा—'प्रिये! यह महल पुत्रके बिना सूना दिखायी देता है। अतः सुखद नहीं जान पड़ता। क्या करूँ, किस उपायसे पुत्रका मुँह देखूँ? यदि इसका कोई उपाय हो तो बताओ।' अपने प्रियतम पतिको इस प्रकार विलाप करते देख पतिव्रता कनककुण्डला मन-ही-मन लंबी साँस खींचकर बोली—'प्राणनाथ! आप तो ज्ञानी हैं, आप इतना खेद क्यों करते हैं। उद्योगी पुरुषोंको इस चराचर जगत्में कौन-सी वस्तु दुर्लभ है। जो अत्यन्त कायर हैं, वे ही लोग प्रारब्ध (भाग्य)-को कारण बताया करते हैं। पूर्वजन्ममें अपना किया हुआ कर्म ही तो प्रारब्ध है। अतः वह पुरुषार्थसे भिन्न नहीं है। इसलिये पुरुषार्थका सहारा लेकर प्रतिकूल प्रारब्धको शान्त करनेके लिये समस्त कारणोंके भी कारणरूप भगवान् महेश्वरकी शरणमें जाना चाहिये। उन्होंने ही ब्रह्माजीको सृष्टि-रचनाका अधिकार दिया है। उन्हींकी कृपासे इन्द्र आदि देवता लोकपालके

पदपर प्रतिष्ठित हुए हैं। महर्षि शिलाद भी सन्तानहीन थे; किंतु भगवान् शिवकी कृपासे उन्होंने मृत्युपर विजय पानेवाला पुत्र प्राप्त कर लिया। श्वेतकेतु कालपाशसे मुक्त हुए तथा अन्धकासुर भी शिवकी कृपासे उनके गणोंका अधिनायक होकर भृंगी नामसे विख्यात हुआ। जिस वस्तुको हम मनसे सोच भी नहीं सकते, जिसका वाणीके द्वारा वर्णन भी नहीं हो सकता, उस मोक्षपदको भी सेवासे प्रत्यक्ष किये हुए भगवान् शिव क्षणभरमें दे सकते हैं। आर्यपुत्र! यदि आप सबका हित चाहनेवाले प्रिय पुत्रको प्राप्त करना चाहते हैं तो भगवान् शिवकी शरणमें जाइये।'

धर्मपत्नीका यह वचन सुनकर पूर्णभद्रने महादेवजीकी आराधना की। वह संगीत-कलाका ज्ञाता था। उसने अपनी संगीत-विद्यासे कुछ ही दिनोंमें भगवान् शंकरको रिझा लिया और उनकी कृपासे उसका मनोरथ पूर्ण हो गया। पूर्णभद्रने अपनी पत्नीके गर्भसे एक श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त किया और उसका नाम हरिकेश रखा। बालकका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर था। वह शुक्ल पक्षके शशीकी भाँति प्रतिक्षण वृद्धिको प्राप्त होने लगा। बालक हरिकेश जब आठ वर्षका हुआ तभीसे प्रतिदिन एकमात्र भगवान् शिवमें उसकी मान्यता बढ़ने लगी। वह धूलसे खेलनेमें संलग्न होकर भी धूलकी ही शिवमूर्ति बनाता और कोमल घाससे कौतूहलपूर्वक उनकी पूजा करता था। हरिकेश अपने सभी मित्रोंको भगवान् शिवके नामसे ही पुकारता था। चन्द्रशेखर, मृत्युंजय, त्रिलोचन, शम्भो, पिनाकिन्, शंकर, श्रीकण्ठ, नीलकण्ठ, ईश, पार्वतीपते, भाललोचन, शूलपाणे, महेश्वर, गंगाजीके जलसे भीगे जटाजूटवाले शिव आदि नामोंकी मालाका जप किया करता था और अपनी आयुके मित्र बालकोंको बड़े लाड़-प्यारसे इन्हीं नामोंद्वारा सम्बोधित करता था। उसके दोनों कान भगवान् शिवके नामोंके अतिरिक्त और कोई नाम सुनते ही नहीं थे। भगवान् भूतनाथके मन्दिरके आँगनके अतिरिक्त दूसरे किसी स्थानमें उसके पैर जाते ही नहीं थे। शिवके श्रीविग्रहके अतिरिक्त दूसरे किसी रूपका दर्शन करनेमें उसके नेत्र तत्पर नहीं होते थे। उसकी रसना सदा भगवान् शिवके नामाक्षरमय अमृतका पान करती रहती थी। उसकी नासिका महादेवजीके चरणारविन्दोंकी सुगन्धके अतिरिक्त दूसरी कोई गन्ध नहीं ग्रहण करना चाहती थी। उसके हाथ केवल शिवजीकी सेवा करनेको ही उत्सुक रहते थे और वह मनसे उनके सिवा दूसरी किसी वस्तुका चिन्तन नहीं करता था। पीने योग्य पदार्थोंको हरिकेश शुद्धभावसे भगवान् शंकरको निवेदन करके ही पीता था। भोजन भी वही करता था, जो भगवान् शिवको निवेदित होकर प्रसाद बन जाता था। सर्वत्र सब अवस्थाओंमें उसे भगवान् शिवके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं दिखायी देती थी। चलते, गाते, सोते, खड़े होते, लेटते, खाते और पीते हुए भी वह सब ओर भगवान् शंकरको ही देखता था। दूसरे किसी भावका चिन्तन नहीं करता था। रातमें सो जानेपर भी वह स्वप्नमें बार-बार यही कहता था कि 'हे भगवान् महेश्वर! आप कहाँ चले जा रहे हैं? क्षणभर और ठहरिये।' इतना कहते-कहते वह सोतेसे जाग उठता था। हरिकेशकी ऐसी दशा देखकर उसके पिता पूर्णभद्र उसे शिक्षा देते थे—'वत्स! अब तुम घरके काम-काजमें लगो। यह सब धन-दौलत तुम्हारी ही है। पहले सब प्रकारकी विद्याओंका अभ्यास करो, फिर उत्तम-उत्तम भोग भोगो। तत्पश्चात् वृद्धावस्थामें पहुँचकर भक्तियोगका अनुष्ठान करना।' जब पिता बार-बार ऐसी शिक्षा देने लगे तब हरिकेश उसे स्वीकार न करके एक दिन चुपचाप घरसे बाहर निकल गया। बाहर जानेपर उसे दिग्भ्रम हो गया। तब वह भगवान् शंकरको पुकारते

हुए मन-ही-मन कहने लगा—'शम्भो! अब मैं कहाँ जाऊँ? कहाँ रहनेसे मेरा कल्याण होगा। मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं है, मैंने पहलेसे सुन रखा है कि जिनकी कहीं भी गति नहीं है उनकी गति काशीपुरी ही है।'

ऐसा विचार करके हरिकेश काशीपुरीको चला गया। उस आनन्दवनमें पहुँचकर उसने तपस्याकी शरण ली। एक दिन उस वनमें विचरते हुए भगवान् शंकर पार्वतीदेवीसे इस प्रकार बोले—'देवि! जैसे तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो, उसी प्रकार यह आनन्दवन भी मुझे अत्यन्त प्रिय लगता है। यहाँ मेरे अनुग्रहसे मृत्युको प्राप्त हुए जीव अमृतरूपको प्राप्त हो गये हैं। संसारमें उनका पुनर्जन्म नहीं होता। जो संसारी जीव काशीमें प्राणत्याग करते हैं उनके कर्मोंके संस्कार मेरी आज्ञासे चिताकी आगमें ही भस्म हो जाते हैं। जीव ब्रह्मज्ञानसे मुक्त होते हैं अथवा ब्रह्मज्ञानमय क्षेत्र प्रयागमें शरीर त्याग करनेसे मुक्त होते हैं। उसी ब्रह्मज्ञानका तारकमन्त्रके रूपमें मैं काशीमें मरनेवाले प्राणियोंके लिये उपदेश करता हूँ, जिससे वे तत्काल मुक्त हो जाते हैं। कलियुगमें जिनका अन्तःकरण मलिन हो गया है तथा जिनकी इन्द्रियाँ स्वभावसे ही चंचल हैं, उन्हें ब्रह्मज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है? अतः उनके लिये मैं काशीपुरीमें तारक ब्रह्मका उपदेश देता हूँ। कलियुगमें मुझ विश्वनाथ देवका, काशीपुरीका, भागीरथी गंगाका और दानका विशेष महत्त्व है। काशीमें उत्तरवाहिनी गंगा और मेरा विश्वेश्वर नामक लिंग—ये दोनों मनुष्योंको मुक्ति देनेवाले हैं। कलिमें दानजनित पुण्यके बलसे इनकी प्राप्ति हो सकती है। योगियोंके हृदयाकाशमें, कैलासमें तथा मन्दराचल पर्वतपर भी निवास करनेकी मेरी वैसी रुचि नहीं है जैसी कि काशीपुरीमें निवास करनेकी मेरी रुचि रहती है।'

इस प्रकार बातचीत करते हुए महादेवजीने हरिकेशको देखा जो आनन्दवनके मध्यभागमें अशोक वृक्षके नीचे उसकी जड़के समीप बैठकर तपस्या कर रहा था। उसका शरीर तनिक भी हिलता-डुलता नहीं था। वह ऐसा जान पड़ता था मानो सूखी नस-नाड़ियोंसे बँधा हुआ कोई हड्डियोंका ढेर हो। उसे इस रूपमें देखकर पार्वतीदेवीने महादेवजीसे निवेदन किया—'नाथ! यह आपका तपस्वी भक्त है, इसे वरदान देकर प्रसन्न कीजिये।

इसका चित्त एकमात्र आपमें ही लगा हुआ है, इसका जीवन भी आपके ही अधीन है। यह आपकी ही प्रसन्नताके लिये सब कर्म करता और आपहीकी शरणमें रहता है। कठोर तपस्यासे इसका सारा अंग सूख गया है। अतः इस यक्षको वरदान देकर आप इसपर अनुग्रह करें। तब भगवान् शिवने दयार्द्रचित्त होकर समाधिमें आँख बंद करके बैठे हुए हरिकेशका अपने हाथसे स्पर्श किया। स्पर्श पाकर यक्षने आँखें खोल दीं और भगवान् त्रिलोचनको सामने देखकर हर्षगद्गद वाणीमें कहा—ईश! आपकी जय हो। शम्भो! गिरिजापते! शंकर! त्रिशूलपाणे! चन्द्रार्धशेखर! कृपालो! आपके कर-कमलोंका स्पर्श पाकर मेरा यह शरीर अमृतस्वरूप हो गया।' भगवान् महेश्वरने उस भक्तकी कही हुई यह कोमल वाणी सुनकर

प्रसन्नतापूर्वक उसे अनेकानेक वरदान दिये और इस प्रकार कहा—'यक्ष! अब तुम मेरे इस प्रिय क्षेत्र काशीधामके दण्डनायक होओ। इस समय तुम्हारा नाम दण्डपाणि होगा। तुम मेरी आज्ञासे मेरे समस्त उत्कट गणोंका शासन करो। ये दो सम्भ्रम और उद्भ्रम नामवाले गण सदा तुम्हारे अनुगामी होकर रहेंगे। तुम काशीनिवासी प्राणियोंके एकमात्र अन्नदाता, प्राणदाता, ज्ञानदाता और मेरे मुखसे निकले हुए तारकमन्त्रके उपदेशसे मोक्षदाता होकर यहाँ अविचल निवास प्राप्त करोगे। पापी मनुष्योंको नाना प्रकारके विघ्नसमूहोंसे पीड़ा देकर उनके मनमें उद्वेग पैदा करके उन्हें काशीपुरीसे बाहर निकाल दोगे और भक्तजनोंको दूरसे भी क्षणभरमें यहाँ ले आकर उन्हें उत्तम मोक्ष दिलानेवाले होओगे। यक्षराज! यह उत्तम क्षेत्र आजसे तुम्हारे अधीन कर दिया गया। अब यहाँ तुम्हारी आराधना किये बिना कौन पुरुष मोक्षका भागी हो सकता है। मेरा भक्त यहाँ आकर पहले तुम्हारी पूजा करेगा, तब मेरी करेगा। जो ज्ञानोद तीर्थमें स्नान, तर्पण आदि करके तुझ दण्डपाणि गणेशका पूजन करेगा, वही यहाँ पुण्यवान् होकर लोकमें मेरी असीम दयासे कृतार्थताका अनुभव करेगा। दण्डपाणे! तुम यहाँ दक्षिण दिशामें मेरे नेत्रोंके समक्ष निवास करो और पापी मनुष्योंको दण्ड तथा अपने भक्तोंको अभय दान देते रहो।'

**स्कन्दजी कहते हैं**—मुने! इस प्रकार दण्डपाणिको वरदान देकर भगवान् शिव वृषभराज नन्दीपर आरूढ़ हो आनन्दवनके भीतर अपने निवासस्थानको चले गये। तभीसे यक्षराज हरिकेश दण्डनायकके पदपर अभिषिक्त हो काशीपुरीका भलीभाँति शासन करते हैं। मैं भी उनके प्रति दोषदृष्टि रखनेके कारण ही यहाँ (काशीसे बाहर) रहनेको विवश हुआ हूँ, क्योंकि मैंने काशीमें रहकर भी कभी उनका आदर नहीं किया। मुने! ऐसे जितेन्द्रिय होकर भी तुमने जो उस क्षेत्रका त्याग किया है, इसमें भी दण्डपाणिकी ही अप्रसन्नता कारण है, ऐसा मुझे सन्देह होता है। यक्ष हरिकेश! कल्याणमय मोक्षकी प्राप्तिके लिये मुझे निर्विघ्न काशीवास प्रदान करो। महामते दण्डपाणे! यक्ष पूर्णभद्र धन्य है, माता कनककुण्डला भी धन्य है, जिनके उदरसे तुम्हारा प्रादुर्भाव हुआ है। यक्षपते! तुम्हारी जय हो। पीले नेत्रोंवाले धीरशिरोमणे! तुम्हारी जय हो, पीले रंगकी जटा धारण करनेवाले देव! तुम्हारी जय हो। दण्डरूप महान् आयुध धारण करनेवाले वीर! तुम्हारी जय हो। अविमुक्त नामक महाक्षेत्रके सूत्रधार तीव्र तपस्वी दण्डनायक भयंकरमुख! विश्वनाथप्रिय! तुम्हारी जय हो। सौम्य स्वभाववाले संतोंके लिये तुम सौम्य मुख हो और दूसरोंको भय पहुँचानेवाले पापियोंके लिये भयंकर हो। काशी क्षेत्रमें पापपूर्ण विचार रखनेवाले मनुष्योंके लिये काल हो। भगवान् महाकालके परम प्रिय सबके प्राणदाता यक्षराज! तुम्हारी जय हो। तुम्हीं काशीवास, काशीनिवासियोंको आनन्द तथा मोक्ष प्रदान करनेवाले हो, तुम्हारी जय हो। तुम्हारा शरीर बड़े-बड़े रत्नोंकी जगमगाती हुई ज्योतिसे प्रकाशमान है। तुम अभक्तोंको महान् सम्भ्रम और उद्भ्रम देनेवाले हो और भक्तोंके सम्भ्रम तथा उद्भ्रमका निवारण करनेवाले हो। प्राणियोंके अन्तकालीन शृंगार करनेमें परम चतुर तथा ज्ञानकी निधि प्रदान करनेवाले दण्डपाणे! तुम्हारी जय हो। गौरीचरणारविन्दोंके भ्रमर तथा मोक्षका साक्षात्कार करानेमें कुशल यक्षराज! तुम्हारी जय हो।' मुने! इस परम पुण्यमय यक्षराजाष्टक नामक स्तोत्रका मैं प्रतिदिन तीनों समय जप करता हूँ। यह काशीकी प्राप्ति करानेवाला है। जो बुद्धिमान् श्रद्धापूर्वक दण्डपाण्यष्टकका पाठ करता है वह कभी विघ्नोंसे तिरस्कृत नहीं होता और काशीनिवासका फल पाता है।

# ईशानके द्वारा ज्ञानोद (ज्ञानवापी) तीर्थका प्राकट्य, ज्ञानवापीकी महिमाके प्रसंगमें सुशीला (कलावती)-की कथा, काशीके विविध तीर्थोंका वर्णन

**अगस्त्यजी बोले**—स्कन्द! अब आप ज्ञानोद तीर्थका माहात्म्य बतलाइये, क्योंकि स्वर्गवासी भी इस ज्ञानवापीकी प्रशंसा करते हैं।

**कार्तिकेयजीने कहा**—अगस्त्य! यह काशी तीर्थ महानिद्रामें सोये (मृत्युको प्राप्त) हुए जीवोंको ज्ञान एवं मोक्ष देनेवाला है, संसारसागरके भँवरमें गिरे हुए प्राणियोंके लिये नौकास्वरूप है, आवागमनसे खिन्न जीवोंके लिये विश्रामस्थान है तथा अनेक जन्मोंके बँटे हुए कर्मसूत्रको काटनेवाला छुरा है। इतना ही नहीं, यह क्षेत्र सच्चिदानन्दमय परमेश्वरका धाम और परब्रह्म रसकी प्राप्ति करानेवाला है। यह सुखका विस्तार करनेवाला तथा मोक्षके साधनमें सिद्धि देनेवाला है। एक समय इस तीर्थमें ईशानकोणके अधिपति ईशान नामक रुद्र स्वेच्छासे विचरते हुए आये। यहाँ आकर उन्होंने भगवान् शिवके विशाल ज्योतिर्मय लिंगका दर्शन किया, जो सब ओरसे प्रकाशपुंजद्वारा व्याप्त था। देवता, ऋषि, सिद्ध और योगियोंके समुदाय निरन्तर उसकी आराधनामें संलग्न रहते थे। उसे देखकर ईशानके मनमें यह इच्छा हुई कि 'मैं शीतल जलसे भरे हुए कलशोंद्वारा इस महालिंगको स्नान कराऊँ।' तब उन्होंने विश्वेश्वर लिंगसे दक्षिण थोड़ी ही दूरपर त्रिशूलसे वेगपूर्वक एक कुण्ड खोदा। उस समय उस कुण्डसे पृथ्वीका आवरणरूप जल जो पृथ्वीमें ढका हुआ था, प्रकट हो गया। ईशानने उस जलसे उस ज्योतिर्मय लिंगको स्नान कराया। वह जल अत्यन्त शीतल, ज्ञानस्वरूप एवं पापपुंजका नाश करनेवाला था, संत-महात्माओंके हृदयकी भाँति स्वच्छ, भगवान् शिवके नामकी भाँति पवित्र, अमृतके समान स्वादिष्ट, पापहीन और अगाध था। ईशानने अज्ञानतापसे सन्तप्त प्राणियोंके प्राणोंकी एकमात्र रक्षा करनेवाले उस जलसे सहस्र धारावाले कलशोंद्वारा सहस्र बार विश्वनाथजीको स्नान कराया। तदनन्तर विश्वात्मा भगवान् शिव प्रसन्न होकर इस प्रकार बोले—'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ईशान! मैं तुम्हारे इस महान् कर्मसे बहुत प्रसन्न हूँ। अतः तुम कोई वर माँगो।'

**ईशान बोले**—देवेश! यदि आप प्रसन्न हैं और यदि मैं वर पानेके योग्य हूँ, तो यह अनुपम तीर्थ आपके नामसे प्रसिद्ध हो।

**विश्वनाथजी बोले**—त्रिलोकीमें जितने तीर्थ हैं, उन सबसे यह शिवतीर्थ परम श्रेष्ठ होगा। शिव ज्ञानको कहते हैं, वही ज्ञान मेरी महिमाके उदयसे इस कुण्डमें द्रवीभूत होकर प्रकट हुआ है। अतः यह तीर्थ तीनों लोकोंमें ज्ञानोद (ज्ञानवापी)-के नामसे प्रसिद्ध होगा। इसके जलके स्पर्शमात्रसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। ज्ञानोद तीर्थके स्पर्शसे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है। इसके जलके स्पर्श और आचमनसे राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंका फल मिलता है। फल्गुतीर्थ (गया)-में स्नान और पितरोंका तर्पण करके मनुष्य जिस फलको पाता है उसे यहाँ ज्ञानवापीके समीप श्राद्ध करनेसे प्राप्त कर लेता है। जिस दिन गुरुवार, पुष्य नक्षत्र, कृष्णपक्षकी अष्टमी और व्यतीपातका योग हो, उस समय यहाँ श्राद्ध करनेसे गयाकी अपेक्षा कोटिगुना अधिक फल होता है। पुष्करतीर्थमें पितरोंका तर्पण करके मनुष्य जिस फलको पाता है, ज्ञानवापीतीर्थमें तिल और जलके द्वारा तर्पण करनेसे उससे कोटिगुना अधिक फल मिलता है। विशेषतः सोमवारको ईशानतीर्थमें स्नान करके जो देवताओं, ऋषियों और पितरोंका तर्पण कर अपनी शक्तिके अनुसार दान देता है; फिर विशेष पूजन-सामग्री जुटाकर मेरे श्रीलिंगकी विस्तारपूर्वक पूजा करके वहाँ भी यथाशक्ति दान

करता है वह मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। ज्ञानवापी तीर्थके समीप सन्ध्योपासना करके द्विज काल-लोकजनित पापका क्षणभरमें नाश कर देता है और ज्ञानवान् हो जाता है। यही शिवतीर्थ कहा गया है और इसीको मंगलमय ज्ञानतीर्थ, तारकतीर्थ और मोक्षतीर्थ भी कहते हैं। ज्ञानोदतीर्थके स्मरण करनेमात्रसे भी पापराशिका निश्चय ही नाश हो जाता है और उसके दर्शन, स्पर्श, स्नान और जलपानसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति होती है। जो उत्तम बुद्धिवाला पुरुष ज्ञानवापीके जलसे मेरे श्रीलिंगको स्नान कराता है, उसे सब तीर्थोंके जलसे स्नान करानेका फल प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है।

इस प्रकार वरदान देकर भगवान् शंकर वहीं अन्तर्धान हो गये और उन त्रिशूलधारी ईशानने अपनेको कृतार्थ माना। अगस्त्यजी! प्राचीन कालकी बात है। काशीमें हरिस्वामीके नामसे विख्यात एक ब्राह्मण रहते थे। उनके एक कन्या थी, जो इस पृथ्वीपर अनुपम सुन्दरी थी। शील और सदाचारमें भी वह इस भूतलपर सबसे श्रेष्ठ थी। सम्पूर्ण कलाओंमें उस कन्याने निपुणता प्राप्त कर ली थी। ज्ञानोदतीर्थकी सेवासे वह सुशीला कुमारी सम्पूर्ण जगत्को बाहर और भीतरसे शिवमय देखती थी। एक दिन जब वह अपने घरके आँगनमें सोयी हुई थी, उसके रूप-वैभवसे मोहित होकर किसी विद्याधरने उसे हर लिया। वह रातमें आकाशमार्गसे उस कन्याको लेकर मलय पर्वतपर जाना चाहता था। इतनेमें ही भयानक आकारवाला विद्युन्माली राक्षस वहाँ आ गया और इस प्रकार बोला—'विद्याधरकुमार! अब तू मेरी दृष्टिके समक्ष आ गया। आज इस मानवकन्याके साथ तुझे यमलोक भेजे देता हूँ।' ऐसा कहकर राक्षसने विद्याधरको त्रिशूलसे मारा। विद्याधरकुमार भी बड़ा बलवान् था। उसने वज्रपातके समान मुक्केसे उस राक्षसको मारा। उसके मुष्टिकाघातसे चूर-चूर होकर वह राक्षस पृथ्वीपर गिर पड़ा। इधर त्रिशूलसे घायल हुआ विद्याधर भी उस संग्राममें प्राण त्यागकर वीरगतिको प्राप्त हुआ। सुशीलाने उस विद्याधरको ही पति मानकर शोकाग्निसे सन्तप्त हो अपने शरीरको भस्म कर दिया। विद्याधरकुमारने मृत्युकालमें अपनी प्रियतमाका स्मरण करते हुए ही प्राणोंका त्याग किया था, अतः राजा मलयकेतुके यहाँ उसने नूतन जन्म ग्रहण किया। उधर सुशीला भी विद्याधरकुमारका स्मरण करती हुई प्राण त्यागकर 'कर्नाटक' में उत्पन्न हुई। उसके पिताने अपनी उस कन्या कलावतीको समयानुसार मलयकेतुके पुत्रके साथ ब्याह दिया। पूर्वजन्मकी वासनासे वह सती इस जन्ममें भी शिवमूर्तिकी पूजामें तत्पर हुई। मलयकेतुके पुत्रका नाम माल्यकेतु था। उसे पतिरूपमें पाकर पतिव्रता कलावती दिव्य भोग एवं वैभवकी अधिकारिणी हुई। उसने तीन सन्तानोंको जन्म दिया। एक दिन कोई उत्तरभारतका चित्रकार राजा माल्यकेतुके यहाँ गया। उसने राजाको एक विचित्र चित्रपट दिखाया। वह चित्रपट लेकर राजाने उसे कलावतीको दे दिया। उस चित्रपटको देखते ही कलावतीके शरीरमें रोमांच हो आया। वह एकान्त स्थानमें बैठकर अपने प्राणाराध्य देवता भगवान् विश्वनाथको बार-बार देखती हुई अपनी सुध-बुध भूल गयी। थोड़ी देरमें सावधान होकर उसने देखा कि इस चित्रपटमें लोलार्ककुण्डके समीप उससे और आगे परम सुन्दर असी और गंगाका संगम है और उत्तरमें भगवान् केशवके चरणोंके समीप यह 'वरणा' नामवाली श्रेष्ठ नदी बहती है। इधर ये उत्तरवाहिनी गंगा हैं, जिनमें स्नान करनेके लिये स्वर्गवासी देवता भी सदा लालायित रहते हैं। यह परम शोभायमान मणिकर्णिका तीर्थ है जो साधुपुरुषोंके मोक्षका साधन है। जहाँ मृत्यु होना मंगल माना गया है, जहाँ जीना सफल होता है और जहाँ स्वर्ग तिनकेके समान समझा जाता है, वही यह श्रीमणिकर्णिका तीर्थ है। यही वह कुलस्तम्भ है जहाँ भगवान् श्रीकालभैरव इस तीर्थमें पाप करनेवाले प्राणियोंको तीव्र यातनाका अनुभव कराते हुए दण्ड देते हैं। यह पवित्र कपालमोचन तीर्थ है जहाँ भैरवके हाथसे कपाल गिरा था। यह

तीनों ऋणोंसे छुड़ानेवाला विशुद्धिकारक ऋणमोचन तीर्थ है। यह अद्भुत ॐकारेश्वरका स्थान है, जहाँ 'ॐकार' नामसे प्रसिद्ध परब्रह्म परमात्मा नित्य प्रकाशमान हैं। अ, उ, म्, नाद और विन्दु—इन पाँच स्वरूपोंवाले प्रणवरूप परब्रह्म जहाँ सदैव प्रकाशित होते हैं। यह परम सुन्दर 'मत्स्योदरी 'तीर्थ तथा ये परम दयालु भगवान् त्रिलोचनदेव हैं। इधर ये कामेश्वरदेव हैं। यहाँ भक्तोंके मनोरथकी सिद्धिके लिये स्वयं भगवान् शंकर लीन हुए हैं। इस कारण उनकी 'स्वर्लीन' संज्ञा हो गयी है। काशीमें इस क्षेत्रके अभिमानी देवता जो महादेवजी हैं, इन्हें पुराणोंमें भगवान् विश्वनाथ कहा जाता है। यह उन्हींका अद्भुत मन्दिर है और वे स्कन्देश्वर महादेव हैं, इनका श्रद्धापूर्वक दर्शन करनेसे मनुष्य आजन्म ब्रह्मचर्यका फल प्राप्त करता है। इधर ये सब सिद्धियोंके देनेवाले विनायकेश्वर हैं, जिनकी सेवासे मनुष्योंके सम्पूर्ण विघ्न नष्ट हो जाते हैं। यह साक्षात् काशीदेवी हैं, जिनके दर्शनमात्रसे मनुष्योंका पुनर्गर्भवास नहीं होता। यह पार्वतीश्वरका महान् मन्दिर है, जहाँ मोक्षदाता भगवान् महेश्वर गौरीदेवीके साथ नित्य निवास करते हैं। ये महापातकोंका नाश करनेवाले भृंगीश्वर हैं तथा ये चार वेदोंको धारण करनेवाले चतुर्वेदेश्वर हैं, जिनके दर्शनसे ब्राह्मण वेदाध्ययनका फल पाता है। इधर यज्ञोंद्वारा स्थापित यज्ञेश्वर नामक शिवलिंग है, जिसकी पूजासे मनुष्य सम्पूर्ण यज्ञोंका महान् फल पाता है। यह पुराणेश्वरलिंग है, जिसके दर्शनसे मनुष्य अठारह विद्याओंका ज्ञाता होता है। यह धर्मशास्त्रेश्वर महादेव हैं, जिनके दर्शनसे धर्म शास्त्रोंके अध्ययनका पुण्य प्राप्त होता है। यह सब प्रकारकी जड़ताका विनाश करनेवाला सारस्वतलिंग है और इधर यह सप्ततीर्थेश्वरलिंग है जो सबको तत्काल शुद्धि देनेवाला है। यह शैलेश्वरलिंगका परम अद्भुत मण्डप है। इधर यह सप्तसागरेश्वर नामक मनोहर लिंग है, जिसके दर्शनसे मनुष्य सात समुद्रोंमें स्नान करनेका फल पाता है। वे भगवान् मन्त्रेश्वर हैं तथा यह त्रिपुरेश्वर शिवके आगेवाला महान् कुण्ड है। इसे पूर्वकालमें त्रिपुरवासियोंने खोदा था। यह सहस्रबाहुसे पूजित बाणेश्वरलिंग है। यह प्रह्लादकेशवके सम्मुख पूर्व दिशामें वैरोचनेश्वरलिंग है। उधर बलिकेशव, नारदकेशव और आदिकेशव हैं। आदिकेशवके पूर्वमें आदित्यकेशव हैं। तत्पश्चात् वे भीष्मकेशव हैं। इधर ये दत्तात्रेयेश्वर हैं। दत्तात्रेयेश्वरके पूर्व आदि गदाधर हैं। फिर भृगुकेशव और ये वामनकेशव हैं। ये दोनों नर-नारायण हैं। उधर यज्ञवाराहकेशव हैं। फिर विदार नारसिंह और गोपीगोविन्द हैं। इधर यह लक्ष्मीनृसिंहका रत्नमय प्रासाद है। ये खर्वविनायक हैं, जो मनुष्योंको महासिद्धि देनेवाले हैं। फिर शेषमाधव हैं, जिनके भक्त प्रलयकालकी आगमें नहीं जलते। ये शंखमाधव हैं, जो शंखासुरको मारकर यहाँ विराजमान हैं। यह सारस्वत स्रोत है, जहाँ महानदी गंगाके साथ सरस्वतीका संगम हुआ है। यहाँ गोता लगानेवाले मनुष्य पुनः इस पृथ्वीपर जन्म नहीं लेते। ये साक्षात् लक्ष्मीपति विन्दुमाधव हैं, जिन्हें श्रद्धापूर्वक नमस्कार करनेवाला मनुष्य पुनः गर्भगृहमें निवास नहीं करता, दरिद्रताको नहीं प्राप्त होता तथा रोगोंसे भी पीड़ित नहीं होता। जो नाद-विन्दु-स्वरूपधारी एकमात्र प्रणवरूप परमात्मा है, जिसे निराकार परब्रह्म कहते हैं, वही ये भगवान् विन्दुमाधव हैं। यह पंचब्रह्मात्मक पंचनद (पंचगंगा) तीर्थ है, इधर ये मंगला गौरी हैं। अज्ञानान्धकारका नाश करनेवाले मयूखादित्य नामक सूर्य हैं, उधर वे दिव्य ज्योति प्रदान करनेवाले गभस्तीश्वर नामक महाशिव हैं। ये तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध किरणेश्वर हैं। इधर यह पातकोंको धो डालनेवाला 'धौतपापेश्वर' नामक शिवलिंग है। ये निर्वाणनृसिंह हैं, उधर ये मणिप्रदीप नाग हैं, यह कपिलेश्वरलिंग है; इनके दर्शनसे नरोंकी तो बात ही क्या है, वानर भी मुक्त हो जाते हैं। यह प्रियव्रतेश्वर नामक लिंग प्रकाशित हो रहा है। इधर यह कलिकालकी पीड़ा दूर करनेवाले श्रीकालराजका श्रेष्ठ मन्दिर है। यह परम सुन्दर मन्दाकिनी है जो तपस्या करनेके लिये यहाँ आयी है। यह काशीवासका सुख पाकर अब भी स्वर्गलोकमें

नहीं जाना चाहती है। यहाँ विधिपूर्वक पितरोंका श्राद्ध और तर्पण करके पापी मनुष्य भी नरकका दर्शन नहीं करता। यह रत्नेश्वर नामक शिवलिंग है। रत्नेश्वरके प्रसादसे किसने मोक्षरूपी रत्न नहीं पाया है। भगवान् कृत्तिवासेश्वर सब लिंगोंमें प्रधान हैं। ये भगवती दुर्गा हैं और यह उत्तम पितृलिंग है। यह चित्रघण्टेश्वरीदेवी हैं और यह घण्टाकर्ण सरोवर है। यह ललिता गौरी और यह अद्भुत रूपवाली विशालाक्षी हैं। ये आशाविनायक हैं और यह परम अद्भुत धर्मकूप है जहाँ पिण्डदान करके मनुष्य अपने पितरोंको ब्रह्मलोकमें पहुँचा सकता है। ये विश्वभुजादेवी हैं और वे वन्दी देवी हैं। यह त्रिलोकवन्दित दशाश्वमेधतीर्थ है। यह सब तीर्थोंमें उत्तम है और इसे प्रयागतीर्थ बताया गया है। यह अशोकतीर्थ है और ये गंगाकेशव हैं। यह श्रेष्ठ मोक्ष-द्वारतीर्थ है और इसको स्वर्गद्वारतीर्थ भी कहते हैं।

## ज्ञानवापीकी महिमा और उसके सेवनसे माल्यकेतु और कलावतीको तारक ब्रह्मकी प्राप्ति

**स्कन्दजी कहते हैं**—मुने! कलावतीने पुनः उस चित्रपटमें स्वर्गद्वारके आगे श्रीमणिकर्णिकातीर्थको देखा जहाँ संसाररूपी सर्पसे डसे हुए जीवोंके दाहिने कानमें भगवान् शिव अपने दाहिने हाथसे स्पर्श करते हुए तारक ब्रह्मका उपदेश देते हैं। बार-बार चित्रपटको निहारती हुई उसने भगवान् विश्वनाथके दक्षिण भागमें ज्ञानवापीको देखा। पुराणमें महादेवजीको जिन आठ मूर्तियोंसे युक्त बताया जाता है, उनमेंसे उनकी जलमयी मूर्ति यह ज्ञानवापी ही है, जो ज्ञान प्रदान करनेवाली है। ज्ञानवापीका दर्शन करके कलावतीके शरीरमें रोमांच हो आया। शरीर कुछ कम्पित होने लगा और माथेमें पसीना आ गया। उसके दोनों नेत्र आनन्दके आँसुओंसे भर आये। देह जडवत् हो गयी। मुँहका रंग फीका हो गया और वह चित्रपट उसके हाथसे छूटकर गिर पड़ा। वह क्षणभरके लिये अपने-आपको भूल गयी। तदनन्तर कलावतीकी दासियाँ इधर-उधरसे दौड़ती हुई आयीं और आपसमें पूछने लगीं—'क्या हुआ? क्या हुआ? यह क्या हो गया?' फिर वे शान्तिदायक उपचारोंसे धैर्यपूर्वक उसकी सेवामें जुट गयीं। उसे इस अवस्थामें देखकर बुद्धिशरीरिणी नामवाली एक सखी बोली—'मैं इसके सन्तापको शान्त करनेके लिये एक उत्तम ओषधि जानती हूँ। यह इस चित्रपटको देखकर तत्काल विकलताको प्राप्त हुई है, अतः फिर उसीका स्पर्श करनेसे सन्तापरहित होगी।' बुद्धिशरीरिणीके कहनेसे दासियोंने कलावतीके आगे उस चित्रपटको रखकर कहा—'रानीजी! इस चित्रपटको देखिये, जिसमें आपको आनन्द देनेवाले कोई इष्टदेव विराज रहे हैं।' चित्रपटका स्पर्श प्राप्त होते ही कलावती मूर्छा त्यागकर सहसा उठ बैठी। फिर उसने ज्ञानदायिनी ज्ञानवापीको देखा। चित्रपटमें अंकित उस ज्ञानवापीका स्पर्श करके ही उसने जन्मान्तरका वैसा ही ज्ञान प्राप्त कर लिया जैसा कि पूर्वजन्ममें था। तब उसने प्रसन्न होकर अपनी दासियोंसे पूर्वजन्मका वृत्तान्त कह सुनाया।

**कलावती बोली**—पूर्वजन्ममें मैं ब्राह्मणकी कन्या थी और काशीमें विश्वनाथ-मन्दिरके समीप ज्ञानवापीके तटपर प्रसन्नतापूर्वक खेला करती थी। मेरे पिताका नाम हरिस्वामी, माताका नाम प्रियंवदा और मेरा नाम सुशीला था। इस समय ज्ञानवापीको देखनेसे क्षणभरमें मुझे यह पूर्वजन्मका ज्ञान हो आया है।

**कलावतीकी यह बात सुनकर बुद्धिशरीरिणी तथा वे सब दासियाँ हर्षमें भरकर बोलीं**—अहो! जिस तीर्थका ऐसा प्रभाव है, उसका दर्शन हमें कैसे प्राप्त हो सकता है। कलावती रानी! आपको

नमस्कार है। आप हमारी मनोकामना पूर्ण करें। राजासे प्रार्थना करके हमको भी वहाँ ले चलें। जो चित्रपटमें प्राप्त होनेपर भी आपको ज्ञान देनेवाली हुई है, वह अवश्य ही नामसे 'ज्ञानवापी' कहलाने योग्य है।' कलावतीने उन सबकी प्रार्थना स्वीकार करके महाराजसे कहा—'प्राणनाथ! आप-जैसे

पतिको पाकर मेरे सब मनोरथ पूर्ण हो गये। आर्यपुत्र! अब एक ही मनोरथ शेष है, जिसके लिये मैं प्रार्थना करती हूँ।

**राजाने कहा**—प्रिये! मैं ऐसी कोई वस्तु नहीं देखता जो तुम्हारे लिये देने योग्य न हो। अतः शीघ्र कहो। तुम किससे माँगती हो, किस वस्तुको माँगती हो और कौन माँगनेवाला है? हम दोनोंका आपसका बर्ताव दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंकी भाँति नहीं है। राज्य, कोष, सेना और दुर्ग तथा अन्य भी जितनी वस्तुएँ हैं, वे सब तुम्हारी हैं, मेरा कुछ भी नहीं है। मैं नाममात्रके लिये ही इनका स्वामी हूँ।

**कलावती बोली**—नाथ! मुझे शीघ्र काशीपुरीमें पहुँचाइये।

**राजा माल्यकेतुने कहा**—प्रिये! यदि तुमने काशी जानेका ही निश्चय कर लिया तो अब मुझे भी यहाँ रहनेकी क्या आवश्यकता। अतः हम-तुम दोनोंको काशी चलना चाहिये।

इस प्रकार अपनी प्यारी पत्नी कलावतीको आश्वासन देकर राजा माल्यकेतुने पुरवासियोंको बुलाकर सत्कार किया और पुत्रको राजसिंहासनपर बिठाकर कुछ रत्न-धन साथ ले काशीपुरीको प्रस्थान किया। विश्वनाथजीकी नगरीका दर्शन करके राजाने अपनेको कृतार्थ माना और संसार-सागरसे पार गया हुआ समझा। पहले जन्मकी वासनासे रानी कलावतीने उस पुरीकी समस्त गलियों और मार्गोंको स्वयं पहचान लिया। उन्होंने मणिकर्णिकामें स्नान करके बहुत धन दान किया और विश्वनाथजीकी पूजा करके परिक्रमा करनेके पश्चात् मुक्तिमण्डपमें प्रवेश किया। वहाँ धर्मकथा सुनकर धन-दान किया। फिर राजाने सायंकालकी महापूजा की और रातमें जागरण किया। तदनन्तर प्रातःकाल उठकर शौच और स्नानसे निवृत्त हो रानीके बताये हुए मार्गसे वे ज्ञानवापीपर गये। वहाँ हर्षमें भरे हुए राजाने कलावतीके साथ स्नान किया और श्रद्धापूर्वक पिण्डदान देकर पितरोंको तृप्त किया। वहाँ सुपात्र ब्राह्मणोंको सुवर्ण और रजत दान किये। फिर दीनों, अन्धों, दरिद्रों और अनाथोंको धनसे सन्तुष्ट करके नरेशने पारणा की तथा रत्नमयी सीढ़ियाँ लगवाकर ज्ञानवापीका संस्कार कराया। रानी कलावतीने अपने पतिके साथ ज्ञानवापीतीर्थके प्रति भक्ति-भाव बढ़ाया और आयुके शेष दिन तपस्यापूर्वक व्यतीत किये।

एक दिन प्रातःकाल वे दोनों दम्पति ज्ञानवापीमें स्नान करके बैठे हुए थे। इसी समय किसी जटाधारी व्यक्तिने आकर उनके हाथमें विभूति दी और इस प्रकार कहा—'उठो, आज एक ही क्षणमें तुम दोनोंको यहाँ तारक मन्त्रका उपदेश प्राप्त होगा।' उस जटाधारी तपस्वीके इतना कहते ही आकाशसे एक तेजस्वी विमान उतर आया और सब लोगोंके देखते-देखते भगवान् शिव उस

विमानसे उतरे। उतरकर उन्होंने उन दोनों पति-पत्नीके कानोंमें स्वयं ही ज्ञानका उपदेश किया। उपदेशके अनन्तर अनिर्वचनीय परम ज्योति:स्वरूप वह श्रेष्ठ विमान आकाशमार्गको प्रकाशित करता हुआ तत्काल ऊपरको चला गया और महादेवजी भी अपने परम धाममें चले गये।

**स्कन्दजी कहते हैं**—तभीसे ज्ञानवापीतीर्थका महत्त्व इस संसारमें सबसे अधिक हो गया। ज्ञानवापी भगवान् शिवकी प्रत्यक्ष मूर्ति एवं ज्ञान उत्पन्न करनेवाली है।

## संक्षेपसे सदाचार और उसके महत्त्वका वर्णन

**अगस्त्यजी बोले**—भगवन्! अविमुक्त नामक महाक्षेत्र परमुक्तिका कारण है। वह सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें सबसे श्रेष्ठ और मंगलोंमें भी परम मंगलरूप है। जहाँ गंगा, विश्वनाथ और काशी—ये तीनों जागरूक हैं, वहाँ मोक्षरूपी सम्पत्ति मिलती है। इसमें कौन-सी आश्चर्यकी बात है। स्कन्दजी! किस-किस धर्मका आचरण करनेवाले पुरुषको काशीधामकी प्राप्ति होती है, यह बताइये। मैं तो ऐसा मानता हूँ कि सदाचारके बिना किसीके भी मनोरथ सिद्ध नहीं हो सकते। आचार परम धर्म है, आचार उत्तम तप है, आचारसे आयु बढ़ती है और आचारसे समस्त पापोंका क्षय हो जाता है*। इसलिये आप पहले आचारका ही वर्णन करें।

**स्कन्द बोले**—मुने! मैं सत्पुरुषोंके लिये हितकर सदाचारका वर्णन करता हूँ, सुनो। इस लोकमें सब प्रकारके प्राणियोंमें सबसे बढ़कर मनुष्य हैं। मनुष्योंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं और ब्राह्मणोंसे भी श्रेष्ठ विद्वान् हैं। विद्वानोंमें भी वे सबसे श्रेष्ठ हैं, जिनकी बुद्धि परम पवित्र एवं वशमें की हुई है। उनसे भी श्रेष्ठ वे लोग हैं जो पवित्र बुद्धिद्वारा किये हुए निश्चयके अनुसार कर्म करते हैं। उनसे भी श्रेष्ठ वे हैं जो सदा ब्रह्मचिन्तनमें तत्पर रहते हैं।

ब्रह्माजीने ब्राह्मणको सम्पूर्ण जीवोंका स्वामी बनाया है। इसलिये इस जगत्में जो कुछ भी स्थित है, उस सब वस्तुको प्राप्त करनेका योग्य अधिकारी ब्राह्मण ही है। उनमें भी जो सदाचारी है, वही सब कर्मोंके योग्य है, आचारभ्रष्ट नहीं। इसलिये ब्राह्मणको सदा आचारवान् होना चाहिये। मुने! राग-द्वेषसे रहित विद्वान् ब्राह्मण जिस आचारका पालन करते हैं, उसीको ज्ञानी पुरुष धर्ममूलक सदाचार मानते हैं। जो उत्तम लक्षणोंसे हीन होनेपर भी उत्तम आचारके पालनमें तत्पर, श्रद्धालु और दूसरोंके दोष न देखनेवाला है, वह मनुष्य सौ वर्षोंतक जीवित रहता है। अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंके विषयमें श्रुतियों और स्मृतियोंद्वारा जो धर्ममूलक सदाचार बतलाया गया है, उसका आलस्य छोड़कर पालन करना चाहिये। दुराचारी पुरुष इस संसारमें निन्दनीय होता है, उसे नाना प्रकारके रोग सताते हैं और वह सदा अत्यन्त दु:खका भागी एवं अल्पायु होता है। जिस कर्मको करते समय अन्तरात्मा प्रसन्न होता हो (जिसमें भय, आशंका एवं लज्जा आदिका अनुभव न होता हो), उसी कर्मको करना चाहिये, उससे विपरीत कर्मको नहीं। सत्य, क्षमा, आर्जव (सरलता एवं कोमलता), ध्यान, क्रूरताका अभाव, अहिंसा, दम (मन और इन्द्रियोंका संयम), प्रसन्नता, मधुरता और मृदुता—ये दस प्रकारके यम बताये गये हैं। शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), स्नान, तप, दान, मौन, यज्ञ, स्वाध्याय, व्रत, उपवास और उपस्थइन्द्रियको वशमें रखना—ये दस नियम कहे गये हैं। काम, क्रोध, मद, मोह, मात्सर्य और लोभ—इन छ: शत्रुओंको जीत लेनेपर मनुष्य सर्वत्र विजयी होता है। दूसरेको कष्ट न देते हुए धीरे-धीरे धर्मका संग्रह करना चाहिये। क्योंकि

* आचार: परमो धर्म आचार: परमं तप:। आचाराद्वर्धते ह्यायुराचारात् पापसंक्षय:॥ (स्क० पु०, का० पू० ३५। १५)

वही परलोकमें सहायक होता है। परलोकमें केवल धर्म ही सहायक होता है। पिता, माता, पुत्र, भाई, पत्नी, बन्धु-बान्धव और घरका साज-सामान—ये सब वहाँ सहायता नहीं करते। जीव अकेला जन्म लेता और अकेला ही मरता है। पुण्य और पापका भोग भी वह अकेला ही करता है। मृत्युको प्राप्त हुए शरीरको लकड़ी और ढेलेकी भाँति पृथ्वीपर फेंककर भाई-बन्धु मुँह फेर चल देते हैं। परलोकमें जाते हुए जीवके साथ तो केवल उसका धर्म जाता है। अतः पुण्यात्मा पुरुष परलोकमें सहायता करनेवाले धर्मका संग्रह अवश्य करे। धर्मको सहायक पाकर जीव नरकके दुस्तर अन्धकारसे भलीभाँति पार हो जाता है। उत्तम बुद्धिवाला पुरुष सदा श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ सम्बन्ध स्थापित करे और नीच पुरुषोंका संग त्यागकर अपने कुलको उन्नतिकी ओर ले जाय। जो स्वाध्याय नहीं करता, सदाचारका उल्लंघन करता है तथा आलसी एवं दूषित अन्न खानेवाला है, ऐसे ब्राह्मणको यमराज पीड़ा देते हैं। इसलिये द्विज सदा यत्नपूर्वक सदाचारका पालन करे। व्याहृति और प्रणवके साथ प्रतिदिन किये जानेवाले सोलह प्राणायाम एक ही मासमें भ्रूणहत्यारेको भी पवित्र कर देते हैं। जैसे सोने, चाँदी आदि धातुओंके मल आगमें तपानेसे जल जाते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियोंद्वारा किये हुए दोष प्राणायामसे नष्ट हो जाते हैं। प्रणव, सातों व्याहृतियाँ और त्रिपदा गायत्री—ये सब मिलकर एक प्राणायाम-मन्त्र हैं, जो इनके जपमें संलग्न है, उसको कहीं भी भय नहीं है। ॐकार परब्रह्म हैं, प्राणायाम परम तपस्या है और गायत्री-मन्त्रसे बढ़कर परम पावन वस्तु दूसरी कोई नहीं है। केवल गायत्री-मन्त्रका जप करनेवाला जितेन्द्रिय ब्राह्मण भी श्रेष्ठ है।

इस लोकमें जिसका चित्त निर्मल (शुद्ध) है, वह सब तीर्थोंमें स्नान कर चुका। वही सब प्रकारके मलसे रहित है और उसीने सैकड़ों यज्ञोंद्वारा देवाराधन किया है। मुने! वह चित्त जिस प्रकार निर्मल होता है, वह उपाय सुनो। जब भगवान् विश्वनाथ प्रसन्न हों तभी चित्त शुद्ध होता है। अतः चित्तशुद्धिके लिये भगवान् काशीनाथकी शरण लेनी चाहिये। उनकी शरण लेनेसे निश्चय ही मनके मल नष्ट हो जाते हैं और मानसिक मलका नाश होनेपर भगवान् विश्वनाथकी कृपासे इस शरीरका त्याग करके मनुष्य परब्रह्मको प्राप्त होता है। मनुष्योंको भगवान् विश्वनाथकी कृपा होनेमें वेदों और स्मृतियोंद्वारा बताये हुए सदाचारको ही प्रधान हेतु माना गया है। इसलिये उसका पालन अवश्य करे। विधिपूर्वक सन्ध्योपासन और तर्पण करनेके पश्चात् नित्यहोम करके वेदोंका स्वाध्याय करे।

प्रतिदिन प्रातःकाल दो घड़ी रात रहते उठकर मलोत्सर्ग आदि आवश्यक कार्य करनेके पश्चात् अंगोंकी शुद्धि तथा आचमन (कुल्ला) करे। फिर दन्तधावन करे। स्नानके द्वारा समस्त शरीरको शुद्ध करके प्रातःकालकी सन्ध्या करे। वेदोंके अर्थका विचार तथा अनेक प्रकारके शास्त्रोंका अनुशीलन करे। पवित्र, हितकारी तथा बुद्धिमान् शिष्योंको पढ़ावे और योग-क्षेम आदिकी सिद्धिके लिये परमेश्वरकी शरण ले। तदनन्तर मध्याह्नकालके नित्यकर्मका अनुष्ठान करनेके लिये पूर्वोक्त रूपसे पुनः स्नान करे। स्नानके पश्चात् मध्याह्नकालकी सन्ध्या करे। तत्पश्चात् चूल्हेकी आगको प्रज्वलित करके बलिवैश्वदेव करे। निष्पाव, कोदो, उड़द, केराव, चना, तेलमें पकायी हुई वस्तुएँ तथा सब प्रकारके नमकीन भोजन वैश्वदेवमें त्याज्य हैं। अरहर, मसूर, मटर, वरट, भोजनसे बची हुई वस्तु अथवा बासी अन्न—इन सबको वैश्वदेवकर्ममें त्याग देना चाहिये। राही, जीविकाहीन, विद्यार्थी, गुरुका पोषण करनेवाला, संन्यासी और ब्रह्मचारी—ये छः धर्मभिक्षुक कहे गये हैं। राहीको 'अतिथि' जानना चाहिये और वेदोंके पारंगत विद्वान्को 'अनूचान' कहते हैं। ये दोनों ब्रह्मलोकप्राप्तिकी इच्छावाले सद्गृहस्थोंके लिये

सदैव सम्माननीय हैं। सायंकालकी सन्ध्योपासना एवं गायत्री-जप करके घरपर आये हुए अतिथिका मधुर वचन, रहनेके लिये स्थान, आसन और अन्न-जल आदिके द्वारा भलीभाँति सत्कार करे। इस प्रकार रात्रिका प्रथम प्रहर व्यतीत करके शयन करे। रातमें अधिक तृप्तिपूर्वक भोजन नहीं करना चाहिये (भूखसे कुछ कम ही खाना चाहिये)।

## संस्कारोंका संक्षिप्त परिचय, ब्रह्मचारी एवं ब्रह्मचर्य-आश्रमके धर्म

**स्कन्दजी कहते हैं**—कुम्भज! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीनों वर्ण द्विज माने गये हैं। जिसका दो बार जन्म हो, उसको 'द्विज' कहते हैं। ये ब्राह्मण आदि वर्ण पहले तो मातासे उत्पन्न हुए हैं और फिर उपनयन-संस्कारसे इनका द्वितीय जन्म सम्पन्न हुआ है। इन सबकी गर्भाधान आदिसे लेकर अन्त्येष्टि कर्मतक समस्त क्रियाएँ वैदिक मन्त्रोंसे सम्पन्न होती हैं। बुद्धिमान् पुरुष ऋतुकालमें रजस्वला स्त्रीके स्नान आदिसे शुद्ध हो जानेपर उसके भीतर गर्भका आधान करे। गर्भाधानकर्ममें मूल और मघा नक्षत्रको त्याग दे। गर्भका बालक जब उदरमें चलने-फिरने लगता है, उसके पहले ही उसका पुंसवन-संस्कार होना चाहिये। तत्पश्चात् छठे या आठवें महीनेमें सीमन्तोन्नयन-संस्कार करे। जब बालक उत्पन्न हो जाय तब तुरंत जातकर्म-संस्कार करे। ग्यारहवें दिन नामकरण और चौथे महीनेमें बालकके घरसे बाहर निकलनेका मुहूर्त करे। छठे मासमें अन्नप्राशन और एक वर्षमें चूड़ाकर्म करे अथवा अपने कुलमें जैसा आचार हो, वैसा करे। इन सब संस्कारोंको करनेसे बीज अथवा गर्भजनित दोष नष्ट हो जाते हैं। कन्याओंके लिये ये सब संस्कार बिना मन्त्रके करने चाहिये। केवल विवाह-संस्कार मन्त्रयुक्त करनेका विधान है। ब्राह्मण सातवें या आठवें वर्षमें गायत्री-मन्त्रकी दीक्षा लेनेके योग्य हो जाता है, क्षत्रिय ग्यारहवें वर्षमें और वैश्य बारहवें वर्षमें इसके योग्य होता है अथवा जैसा अपने कुलका आचार हो वैसा करना चाहिये। ब्राह्मण ब्रह्मतेजकी वृद्धिके लिये पाँचवें वर्षमें, बलकी इच्छा रखनेवाला क्षत्रिय छठे वर्षमें और वैश्य आठवें वर्षमें मौंजी (मेखला) धारण करे। गुरुको चाहिये कि वह शिष्यका उपनयन-संस्कार करके उसे उसी समय महाव्याहृतिपूर्वक गायत्री-मन्त्रका उपदेश दें एवं वेदोंका स्वाध्याय करावें। साथ ही शिष्यको शौचाचारके पालनमें नियुक्त करें। ब्रह्मचारी बालक पूर्वोक्त विधिसे शौच और आचमन करे। दाँत और जिह्वाकी अच्छी तरह शुद्धि करके शरीरको खूब मल-मलकर स्नान करे। स्नानके समय जल-देवता-सम्बन्धी मन्त्रोंका भी उच्चारण करे। तत्पश्चात् यत्नपूर्वक प्राणायाम करके दोनों सन्ध्याओंके समय सूर्यका उपस्थान करे। फिर गायत्रीजपसे निवृत्त होकर अग्निहोत्र करके ब्राह्मणोंको प्रणाम करे। प्रणामके समय इस प्रकार कहे—'**अमुक गोत्रः अमुक शर्माहं भो ब्राह्मणा! भवतोऽभिवादये**' (मैं अमुक गोत्र और अमुक नामवाला हूँ, विप्रवरो! आपको मैं प्रणाम करता हूँ)। जो सदा गुरुजनोंको प्रणाम करता है और बड़े-बूढ़ोंकी सेवामें तत्पर रहता है, उसकी आयु, यश, बल और बुद्धि प्रतिदिन अधिक बढ़ती है*। शिष्यको चाहिये कि वह गुरुके बुलानेपर उनके समीप बैठकर पढ़े। भिक्षामें जो अन्न प्राप्त हो, वह गुरुकी सेवामें निवेदन करे। मन, वाणी और क्रियाद्वारा सदा गुरुके हितका कार्य करे। जो छात्र साधु, विश्वासपात्र, ज्ञानवान्, धन देनेमें समर्थ, शक्तिशाली, कृतज्ञ, पवित्र, द्रोहरहित और

* अभिवादनशीलस्य वृद्धसेवारतस्य च। आयुर्यशो बलं बुद्धिर्वर्द्धतेऽहरहोऽधिकम्॥ (स्क० पु०, का० पू० ३६।१३)

दोषदृष्टि न रखनेवाले हों, उन सबको धर्मकी दृष्टिसे पढ़ाना गुरुका कर्तव्य है, अर्थके लोभसे नहीं। ब्रह्मचारी शिष्य मेखला, दण्ड, यज्ञोपवीत और मृगचर्म धारण करे। उत्तम ब्राह्मणोंके यहाँसे अपने निर्वाहके लिये भिक्षा ग्रहण करे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य क्रमशः आदि, मध्य और अन्तमें 'भवत्' शब्दका प्रयोग करके भैक्षचर्या करे। यथा '**भवति भिक्षां मे देहि मातः!**' यह ब्राह्मण-बालक कहे; क्षत्रिय '**भिक्षां भवति मे देहि**' ऐसा कहे और वैश्य ब्रह्मचारी '**भिक्षां मे देहि भवति**' ऐसा बोले। गुरुकी आज्ञा लेकर मौनभावसे अन्नकी निन्दा न करते हुए भोजन करे। ब्रह्मचारी किसी एक व्यक्तिके घरका अन्न न खाय, परंतु श्राद्धमें अथवा आपत्तिकालमें वह एक व्यक्तिका अन्न भी खा सकता है। अधिक भोजन करना आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्यका नाश करनेवाला है। यह लोकविरुद्ध कार्य भी है। इसलिये अति भोजनका सर्वथा त्याग करे। मधु, मांस, प्राणियोंकी हिंसा, उगते हुए सूर्यकी ओर देखना, अंजन लगाना, स्त्रीकी ओर देखना, बासी और उच्छिष्ट अन्न खाना और दूसरोंकी निन्दा करना—ब्रह्मचारी यह सब सर्वथा त्याग दे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके उपनयनका अन्तिम समय क्रमशः सोलह वर्ष, बाईस वर्ष और चौबीस वर्षतक है। जिनकी आयु इससे ऊपरकी हो गयी है, उनका संस्कार नहीं करना चाहिये। वे पतित (व्रात्य) तथा धर्मसे भ्रष्ट होते हैं। व्रात्यस्तोम नामक यज्ञसे उनका पतितपन दूर होता है। जो गायत्री-मन्त्रसे भ्रष्ट हैं, ऐसे लोगोंके साथ विवाहादि सम्बन्ध नहीं करना चाहिये। ब्राह्मण आदि वर्णोंके लोग क्रमशः सन, रेशम और ऊनके वस्त्र धारण करें। ब्राह्मणकी मेखला मूँजकी, क्षत्रियकी मेखला मुर नामक तृणकी तथा वैश्यकी मेखला सनके तन्तुओंकी बनानी चाहिये। प्रत्येक मेखला तीन तारकी एवं चिकनी होनी चाहिये। ब्राह्मणादिके यज्ञोपवीत क्रमशः कपास, सन और ऊनके होने चाहिये। ब्राह्मणका दण्ड बेल और पलासका, क्षत्रियका दण्ड बरगद और खैरका तथा वैश्यका दण्ड पीलू और गूलरका होना चाहिये। पहले-पहल माता, मौसी, बहन और बुआ आदिसे भिक्षा माँगनी चाहिये तथा जो याचना करनेपर अस्वीकार न करें, ऐसी स्त्रियोंसे भी वह भिक्षा माँग सकता है। जबतक वेद पढ़े और वैदिक व्रतोंका पालन करता रहे, तबतक ब्रह्मचारी ही रहे। अध्ययन पूरा होनेके पश्चात् स्नातक होकर गृहस्थ होवे। जो गृहस्थ-आश्रमको स्वीकार करके पुनः ब्रह्मचर्याश्रमके नियमोंको ग्रहण करता है, वह सब आश्रमोंसे वर्जित हो जाता है। वह न तो वानप्रस्थ हो सकता है, न तो संन्यासी ही। आश्रमभ्रष्ट पुरुष जो जप, होम, व्रत, दान, स्वाध्याय और पितृतर्पण आदि कर्म करता है, वह उसका फल नहीं पाता। वेदपाठके आरम्भमें और अन्तमें सदा ॐकारका उच्चारण करे। ॐकारसे हीन वेदपाठ न तो सफल होता है और न सिद्धिदायक ही होता है। जो वेदोंका ज्ञाता ब्राह्मण दोनों सन्ध्याओंके समय ॐकार और व्याहृतियोंसहित गायत्रीमन्त्रका जप करता है, वह वेदपाठके पुण्यसे युक्त होता है।

विधिपूर्वक किये हुए यज्ञसे जपयज्ञ दसगुना उत्तम बताया गया है। उपांशु जप (सूक्ष्म स्वरसे उच्चारण किया हुआ जप) उससे सौगुना फल देनेवाला है। उपांशु जपकी अपेक्षा भी सहस्रगुना महत्त्व मानस-जपका माना गया है*। द्विजको अपनी शक्तिके अनुसार तीन, दो या एक वेदका अध्ययन करके सदा उसके अभ्यासमें लगे रहना चाहिये। वेदाभ्यास ब्राह्मणके लिये सर्वश्रेष्ठ तपस्या है। जो ब्राह्मण शिष्यका उपनयन-संस्कार करके उसे कल्प और रहस्यसहित वेद पढ़ाता है, उसे विद्वान् पुरुष आचार्य मानते हैं। जो जीविकाके

* विधिक्रतोर्दशगुणो जपक्रतुरुदीरितः। उपांशुस्तच्छतगुणः सहस्रो मानसस्ततः॥ (स्क० पु०, का० पू० ३६।४९)

लिये वेदके किसी एक भागको अथवा वेदांगोंका ही अध्ययन कराता है, उसे विद्वान् पुरुष उपाध्याय कहते हैं। जो विधिपूर्वक गर्भाधान आदि संस्कार कराता है तथा अन्नसे पालन करता है, वह गुरु कहा गया है। जो जिसके द्वारा वरण किये जानेपर उसके यहाँ अग्न्याधानपूर्वक किये जानेवाले आहवनीय आदि कर्म, पाकयज्ञ तथा अग्निष्टोम आदि याग सम्पन्न करता है, वह उस यजमानका ऋत्विज कहलाता है। उपाध्यायकी अपेक्षा दसगुना गौरव आचार्यका है, आचार्यसे सौगुना महत्त्व पिताका है और पितासे भी सहस्रगुना गौरव धारण करनेके कारण माता बड़ी है[१]। ब्राह्मणोंमें वही बड़ा माना जाता है, जो ज्ञानमें बड़ा हो, क्षत्रियोंमें बलसे, वैश्योंमें धन-धान्यसे और शूद्रोंमें जन्मसे ज्येष्ठताका व्यवहार होता है। जैसे काठका हाथी और चमड़ेका मृग है, वैसे ही बिना पढ़ा हुआ ब्राह्मण है। ये तीनों केवल नाम धारण करनेवाले हैं। जहाँ गुरुकी निन्दा हो और जहाँ गुरुपर झूठे लांछन लगाये जाते हों, वहाँ अपने कानोंको मूँद लेना चाहिये अथवा उठकर अन्यत्र चले जाना चाहिये। गुरुकी सती एवं युवती पत्नीके दोनों चरणोंका स्पर्श करके कभी प्रणाम न करे, दूरसे ही नमस्कार करे। माता, पुत्री अथवा बहिनके साथ भी एकान्तमें नहीं रहना चाहिये, क्योंकि इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल होती हैं। वे विद्वानोंको भी मोहमें डाल देती हैं[२]। जैसे प्रयत्नपूर्वक कुआँ खोदनेवाला पुरुष पृथ्वीसे जल प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार गुरुकी पूर्णतः सेवा करनेसे शिष्य विद्याको पा लेता है। पुत्रके जन्म और लालन-पालनमें पिता-माता जो क्लेश सहन करते हैं, उसका बदला सौ वर्षोंमें भी नहीं चुकाया जा सकता। इसलिये माता-पिता और गुरुका भी सदैव प्रिय करे। इन तीनोंके सन्तुष्ट हो जानेपर पूर्ण तपस्याका फल प्राप्त होता है। इन तीनोंकी सेवा श्रेष्ठ तपस्या कहलाती है। माताकी सेवासे भूलोक, पिताकी सेवासे भुवर्लोक और गुरुकी सेवासे पुण्यात्मा पुरुष स्वर्गलोकको जीत लेता है। भगवान् विश्वनाथकी कृपासे मनुष्य अखण्ड ब्रह्मचर्यसे युक्त होता है। विश्वनाथजीकी उत्तम दया ही काशीकी प्राप्ति करानेवाली है। काशीकी प्राप्तिसे ज्ञान होता है और ज्ञानसे मनुष्य निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है। अतः मोक्षके उद्देश्यसे ही बुद्धिमानोंका सदाचारके लिये प्रयत्न होता है।

गृहस्थ-आश्रममें जिस प्रकार सदाचारका पालन होता है, वैसा दूसरे आश्रममें नहीं। इसलिये विद्याध्ययन पूर्ण करके अन्तमें गृहस्थ-आश्रमकी शरण लेनी चाहिये। यदि पत्नी अपने अधीन रहनेवाली हो तो गृहस्थ-आश्रमसे बढ़कर दूसरा कोई आश्रम नहीं है। पति और पत्नीकी अनुकूलता धर्म, अर्थ तथा कामकी प्राप्ति करानेवाली होती है। यदि स्त्री अपने अनुकूल रहनेवाली हो तो स्वर्गको लेकर भी क्या करना है और यदि पत्नी अपनेसे विपरीत चलनेवाली हो तब तो उसके सामने नरक भी किस गिनतीमें है? कार्यकुशल, पुत्रवती, पतिव्रता, मीठे वचन बोलनेवाली और अपने अधीन रहनेवाली—इन गुणोंसे युक्त पत्नी वस्तुतः स्त्रीके रूपमें साक्षात् लक्ष्मी है[३]। विद्याध्ययन समाप्त होनेपर ब्रह्मचारी गुरुकी आज्ञासे ब्रह्मचर्यव्रतका उद्यापन करके स्नातक होकर अपने ही वर्णकी शुभलक्षणा स्त्रीके साथ विवाह कर ले। वह स्त्री अपने पिताके गोत्रकी न हो और माताकी सपिण्ड न हो। विवाह-सम्बन्धमें ऐसे कुलका परित्याग कर दे, जिसमें मृगीरोग, राजयक्ष्मारोग और कोढ़का रोग होता हो। जिस कुलमें किसी प्रकारका कलंक लगा हो, उसको भी त्याग दे। जिससे केवल कन्या

१- उपाध्यायाद्दशाचार्य आचार्याच्तु शतं पिता। सहस्रं तु पितुर्माता गौरवेणातिरिच्यते॥ (स्क० पु०, का० पू० ३६। ५७)

२- न मात्रा न दुहित्रा वा न स्वस्रैकान्तशीलता। बलवतीन्द्रियाण्यत्र मोहयन्त्यपि कोविदान्॥ (स्क० पु०, का० पू० ३६। ६९)

३- दक्षा प्रजावती साध्वी प्रियवाक् च वशंवदा। गुणैरमीभिः संयुक्ता सा श्रीः स्त्रीरूपधारिणी॥ (स्क० पु०, का० पू० ३६। ८७)

ही होनेकी सम्भावना हो, ऐसी स्त्रीसे विवाह न करे। जिसके कोई रोग न हो, जिसके भाई हों, जो अपनेसे कुछ छोटी हो, जिसका मुख सौम्य हो और जो मीठे वचन बोलनेवाली हो, ऐसी स्त्रीके साथ द्विजको विवाह करना चाहिये। पर्वत, भालू, वृक्ष, नदी, सर्प, पक्षी, नाग और दास आदिका बोध करानेवाले नामोंसे युक्त स्त्रीके साथ विवाह न करे। जिसका नाम सौम्य हो, उसीसे विवाह करे। जिसके कोई अंग अधिक या कम हों, जो बहुत बड़ी अथवा अत्यन्त दुबली हो, बिना रोमकी अथवा अधिक रोमवाली हो तथा जिसके केश रूखे एवं मोटे (चिपके हुए) हों, ऐसी स्त्रीके साथ भी विवाह न करे। मोहवश नीच कुलकी कन्यासे तो कभी विवाह न करे; क्योंकि हीन कुलकी कन्याके साथ विवाह करनेसे अपनी सन्तान भी हीनताको प्राप्त होती है। पहले कन्याके लक्षणोंकी परीक्षा करके तदनन्तर उसके साथ विवाह करे। उत्तम लक्षणोंवाली तथा सदाचारका पालन करनेवाली पत्नी पतिकी आयु बढ़ाती है। अगस्त्यजी! इस प्रकार मैंने आपसे ब्रह्मचारियोंके सदाचारका वर्णन किया है।

## गृहस्थ-आश्रमके धर्म, पंचयज्ञकी महिमा, काशीवासकी महत्ता तथा राजा दिवोदासको पृथ्वीके राज्यकी प्राप्ति

**स्कन्दजी कहते हैं**—यदि स्त्री शुभलक्षणा हो तो गृहस्थ पुरुष सदा सुख भोगता है। अतः सुखकी वृद्धिके लिये पहले स्त्रीके लक्षणोंकी ही परीक्षा करे। शरीर, आवर्त, गन्ध, छाया (कान्ति), सत्त्व, स्वर, गति और वर्ण—विद्वानोंद्वारा स्त्रीके लक्षणोंकी परीक्षाके लिये यह आठ प्रकारका आधार बताया गया है। (सामुद्रिक शास्त्रीय) उत्तम लक्षणोंसे युक्त होनेपर भी जिसने अपना शील (सतीत्व) दूषित कर लिया हो, वह कुलक्षणा स्त्रियोंकी शिरोमणि है तथा जो बाह्य शुभ लक्षणोंसे युक्त न होनेपर भी सती-साध्वी है, उसे समस्त शुभ लक्षणोंका आधार मानना चाहिये। भगवान् विश्वनाथकी कृपासे ही गृहस्थके घरमें शुभलक्षणा, सदाचारिणी, पतिके अधीन रहनेवाली और पतिव्रता स्त्री प्राप्त होती है। जिन्होंने पूर्वजन्ममें उत्तम तीर्थोंमें अपने शरीरको क्षीण किया अथवा छोड़ा है, वे ही इस जगत्में शुभलक्षणा स्त्री होती हैं। जिन स्त्रियोंने जगन्माता पार्वतीजीका पूजन किया है, वे ही सदाचारिणी होती हैं। जिनका पति उनके गुणोंसे रीझकर उनके अनुकूल बना रहता है तथा जो उत्तम शील-स्वभाववाली हैं, ऐसी मृगनयनी स्त्रियोंके लिये यहीं स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) सुलभ है। वह उनके उत्तम लक्षणोंका ही फल है। स्त्रियाँ अपने अच्छे लक्षणों और विशुद्ध आचरणोंसे अल्पायु पतिको भी दीर्घायु एवं आनन्दका भागी बना देती हैं। अतः सुलक्षणा स्त्रीसे विवाह करना चाहिये।

गृहस्थ-आश्रममें रहनेवाले पुरुषके द्वारा प्रतिदिन पाँच प्रकारकी हिंसाएँ होती हैं। ओखली, चक्की, चूल्हा, जलका घड़ा और झाड़ू—ये पाँचों हिंसाके स्थान हैं। ऐसी हिंसाओंका निराकरण करनेके लिये पाँच यज्ञ बताये गये हैं, जो गृहस्थके कल्याणकी वृद्धि करनेवाले हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और मनुष्ययज्ञ। वेद और शास्त्रोंके पठन-पाठनका नाम ब्रह्मयज्ञ है। तर्पणको पितृयज्ञ कहते हैं। होम देवयज्ञ, बलिवैश्वदेव भूतयज्ञ और अतिथि-सत्कार मनुष्ययज्ञ है। जिसके घरसे आदर न पाकर अतिथि निराश लौट जाता है,

वह जन्मभरके संचित पुण्यसे तत्काल हाथ धो बैठता है[१]। अतः आये हुए अतिथिकी प्रसन्नताके लिये सान्त्वनापूर्ण मधुर वचन, सोनेके लिये स्थान, आसन और जल आदि वस्तुएँ तो सदा देनी ही चाहिये। सायंकालमें सूर्यास्तके समय आये हुए अतिथिका यत्नपूर्वक सत्कार करना चाहिये। सत्कार न पाकर यदि वह अन्यत्र चला जाता है तो अधिक पाप प्रदान करता है। जो अतिथिको भोजन करानेसे बचे हुए अन्नको स्वयं ग्रहण करता है, वह इस लोकमें दीर्घायु और धनवान् होता है। अतिथिको हटाकर स्वयं भोजन करनेवाला गृहस्थ पापका भागी होता है। वैश्वदेवकर्मके अन्तमें और सूर्यास्तके समय जो आता है वही अतिथि है। जो पहलेका आया हो अथवा कहींका देखा हुआ (परिचित) हो वह अतिथि नहीं है। छोटे बालक, (वृद्ध,) स्ववासिनी (पिताके घरमें रहनेवाली स्त्री), गर्भवती और अत्यन्त रोगी स्त्री-पुरुषोंको अतिथिसे पहले भी भोजन कराया जा सकता है। इसमें विचार नहीं करना चाहिये। देवता, पितर और मनुष्योंको देकर खानेवाला गृहस्थ अमृतभोजन करता है। जो केवल अपना पेट पालनेवाला है और अपने ही लिये रसोई बनाता है, वह मनुष्य पापमय भोजन करता है[२]। शूद्रको कभी वैदिक मन्त्रका श्रवण नहीं कराना चाहिये। उसे वेद-मन्त्रका श्रवण करानेपर ब्राह्मण ब्राह्मणत्वसे और शूद्र अपने धर्मसे गिर जाता है। ब्राह्मण आदि वर्णोंकी सेवा ही शूद्रोंका परम धर्म माना गया है। सदा मंगलमय वचन ही बोले, सबके मंगलका ही चिन्तन करे, कल्याणमय महापुरुषोंका ही संग करे, अमंगलकारी दुष्टोंका साथ कभी न करे[३]। बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि वह रूप, धन और कुलसे हीन मनुष्योंपर कभी आक्षेप न करे। मन, वाणी और जिह्वाके वेगको रोके। घूस, जुआ, दूतीपन और पीड़ित मनुष्यके धनको दूरसे ही त्याग दे। इस प्रकार देवता, ऋषि और पितरोंके ऋणसे उऋण होकर घरका सारा कार्यभार पुत्रको सौंप दे और स्वयं घरपर तटस्थ होकर रहे। घरमें रहकर भी ज्ञानका अभ्यास करे अथवा काशीकी शरण ले। क्योंकि सम्यग्ज्ञानसे मुक्ति प्राप्त होती है अथवा विश्वनाथपुरी काशीमें मुक्ति मिलती है। आज, कल, परसों अथवा सौ वर्ष बाद मृत्यु निश्चित है, शरीर शीघ्र जानेवाला है, अतः यदि वह काशीमें मृत्युको प्राप्त हो तो मनुष्य अमृत (मुक्त) हो जाता है। सदाचारी पुरुषको ही सदाके लिये काशी सुलभ होती है। अतः विद्वान् पुरुष मनसे भी सदाचारका उल्लंघन न करे। बड़ा भारी उपद्रव आनेपर भी जो काशीसे विलग न होने दे, वही महायोग है। अन्य जितने योग हैं, वे सब उपयोग हैं। भगवान् विश्वनाथको जो नियमपूर्वक शुद्ध हृदयसे पत्र, पुष्प, फल और जल अर्पण किया जाता है, वह यहाँ महादान ही है। भगवान् विश्वनाथके दक्षिण भागमें बैठकर हृदयमें उनका चिन्तन करते हुए जो क्षणभरके लिये नेत्र बंद किया जाता है, यही उत्तम महायोग है।

एक समयकी बात है। प्रजापति ब्रह्माजीने राजर्षियोंमें श्रेष्ठ राजा रिपुंजयको प्रत्यक्ष दर्शन दिया। रिपुंजय अविमुक्त नामक महाक्षेत्रमें मन, इन्द्रियोंको वशमें करके तपस्या कर रहे थे। उनका जन्म राजा मनुके वंशमें हुआ था। वे वीर तो थे ही, मूर्तिमान् क्षत्रियधर्मकी भाँति

---

१- अनर्चितोऽतिथिर्गेहाद् भग्नाशो यस्य गच्छति । आजन्मसञ्चितात्पुण्यात् क्षणात् स हि बहिर्भवेत्॥
(स्क० पु०, का० पू० ३८। २९)

२- कुमाराश्च स्ववासिन्यो गर्भिण्योऽतिरुजान्विताः । अतिथेरादितोऽप्येते भोज्या नात्र विचारणा॥
पितृदेवमनुष्येभ्यो दत्त्वाश्नात्यमृतं गृही । स्वार्थं पचन्नघं भुङ्क्ते केवलं स्वोदरंभरिः॥
(स्क० पु०, का० पू० ३८। ३६-३७)

३- भद्रमेव वदेन्नित्यं भद्रमेव विचिन्तयेत् । भद्रैरेवेह संसर्गो नाभद्रैश्च कदाचन॥ (स्क० पु०, का० पू० ३८। ८४)

प्रकट हुए थे। उनके समीप जाकर ब्रह्माजीने कहा—'महामते! तुम समुद्र, पर्वत और वनोंसहित

समूची पृथ्वीका पालन करो। नागराज वासुकि तुम्हें पत्नी बनानेके लिये नागकन्या अनंगमोहिनीको देंगे। देवता भी प्रतिक्षण तुम्हारे प्रजापालनसे सन्तुष्ट होकर तुम्हें स्वर्गीय रत्न और पुष्प प्रदान करते रहेंगे। इसलिये **'दिवो दास्यन्ति'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार तुम्हारा नाम 'दिवोदास' होगा। राजन्! मेरे प्रभावसे तुम्हें दिव्य सामर्थ्यकी प्राप्ति होगी।'

**ब्रह्माजीकी बात सुनकर राजाओंमें श्रेष्ठ रिपुंजयने उनकी अनेक प्रकारसे स्तुति की और इस प्रकार कहा**—पितामह! मनुष्योंसे भरे हुए इस भूतलपर क्या दूसरे राजालोग नहीं हैं? मुझे ही ऐसी आज्ञा क्यों मिल रही है?

**ब्रह्माजीने कहा**—राजन्! तुम राज करोगे तो इन्द्रदेव इस पृथ्वीपर वर्षा करेंगे। दूसरा कोई पापनिष्ठ राजा राज्य करेगा तो देव वर्षा नहीं करेंगे।

**राजा बोले**—महामान्य पितामह! आप स्वयं ही तीनों लोकोंकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं, तो भी आप मुझे जो यह यश दे रहे हैं, यह आपका मेरे ऊपर महान् प्रसाद है। अतः मैं आपकी आज्ञा शिरोधार्य करता हूँ। परन्तु मुझे भी कुछ आपसे निवेदन करना है। यदि मेरे लिये मेरी इस प्रार्थनाको आप स्वीकार कर लेंगे तो मैं भूतलका अकण्टक राज्य करूँगा।

**ब्रह्माजीने कहा**—राजन्! तुम्हारे मनमें जो बात है, उसे शीघ्र कहो।

**राजा बोले**—पितामह! यदि मैं पृथ्वीका अधिपति होऊँ तो देवलोकके निवासी देवगण अपने ही लोकमें ठहरें, भूलोकमें न आवें। जब देवता देवलोकमें रहेंगे और मैं इस पृथ्वीपर निवास करूँगा तब यहाँ अकण्टक राज्य होनेसे प्रजावर्गको सुखकी प्राप्ति होगी।

**'तथास्तु'** कहकर ब्रह्माजीने जब उनकी प्रार्थना स्वीकार की, तब राजा दिवोदासने डंका बजाकर राज्यमें यह घोषणा करवा दी कि 'देवतालोग स्वर्गको चले जायँ और नागगण भी यहाँ कभी न आयें, जिससे मनुष्य स्वस्थ एवं सुखी रहें। पृथ्वीपर मेरे राज्य-शासनकालमें देवता स्वर्गमें सुखी रहें और मनुष्य पृथ्वीपर स्वस्थ रहें।'

## गृहस्थोचित शिष्टाचार और धर्म

**स्कन्दजी कहते हैं**—महामते कुम्भज! अपनेको कल्याण प्रदान करनेवाले इस अविमुक्त क्षेत्र (काशी)-की प्राप्ति जिस प्रकार सम्भव है, उसे मैं बतलाता हूँ। पुण्यराशिसे मनोवांछित वस्तुकी प्राप्ति होती है और वह पुण्य वैदिक मार्गके सेवनसे उपलब्ध होता है। जो वैदिक मार्गका सेवन करता है उसके स्पर्शमात्रसे अवसर पाकर मनुष्यपर घात करनेकी इच्छा रखनेवाले कलि और काल दोनों नष्ट हो जाते हैं। निषिद्ध कर्मोंके सेवन और विहित कर्मोंके त्यागसे छिद्र देखकर

कलि और काल ब्राह्मणको नष्ट कर देते हैं। प्याज, लहसुन, लसोड़ेका फल (लहेसुवा), गाजर, दस दिनके भीतर ब्यायी हुई गौका दूध और धरतीका फूल—इन सबको त्याग देना चाहिये। वृक्ष काटनेसे निकलनेवाले गोंद, देवता-पितरोंको निवेदन किये बिना खीर, पूआ और पूड़ी तथा बिना बछड़ेकी गायका दूध—ये सब त्याग देने चाहिये। एक खुरके पशुका दूध त्याज्य है। ऊँटनी और भेड़का दूध भी नहीं ग्रहण करना चाहिये। रातमें दही नहीं खाना चाहिये। मछलीका सर्वथा त्याग करना चाहिये। आयु तथा स्वर्गकी इच्छा रखनेवालेको यत्नपूर्वक मांसका त्याग करना चाहिये। बासी अन्न सभी त्याग देनेयोग्य है, परंतु घीका बना हुआ बासी अन्न भी ग्राह्य है। जो अज्ञानी अपने शरीरकी पुष्टिके लिये दूसरे जीवोंकी हत्या करता है, उस दुराचारीको न तो इस लोकमें सुख मिलता है और न परलोकमें ही। जो मांस खाता है, जो जीवोंको मारनेकी अनुमति देता है, जो मांस पकाता है, जो उसको खरीदता और जो बेचता है, जो अपने हाथसे मारता है, जो बाँटता-परोसता है तथा जो आज्ञा देकर जीवहिंसा कराता है—ये आठ प्रकारके मनुष्य हिंसक माने गये हैं।[१] जो सौ वर्षोंतक प्रत्येक वर्षमें अश्वमेध यज्ञद्वारा यजन करता है तथा जो मांस-भक्षण नहीं करता है, इन दोनोंकी परस्पर तुलना की जाय तो मांसका त्याग करनेवाला ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है[२]। सुखकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह जैसे अपने-आपको सुखी देखना चाहता है उसी प्रकार दूसरेको भी देखे। अपने और दूसरेमें बराबर ही सुख-दुःख होते हैं। दूसरे किसी जीवको जो सुख या दुःख दिया जाता है वह सब पीछे चलकर अपनेपर ही संघटित होता है। क्लेश उठाये बिना धन नहीं मिलता और धनके बिना कार्य कैसे हो सकते हैं। जो कर्म नहीं कर सकता, उसके द्वारा धर्मका अनुष्ठान कैसे सम्भव होगा और जो धर्महीन है उसे सुख कहाँसे मिलेगा। सुखकी अभिलाषा सभी रखते हैं। परंतु सुख धर्मसे ही प्राप्त होता है। अतः चारों वर्णोंके मनुष्योंको प्रयत्नपूर्वक अपने-अपने धर्मका पालन करना चाहिये। न्यायोपार्जित द्रव्यसे पारलौकिक कर्म करना चाहिये और उसीसे उत्तम देश, काल और पात्रमें विधि एवं श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिये। जो अपने धनद्वारा माता-पितासे हीन बालकोंका यज्ञोपवीत और ब्याह आदि संस्कार करवाता है, उसे अक्षय कल्याणकी प्राप्ति होती है। गायको पेन्हानेमें बछड़ेका मुख पवित्र है और फल गिरानेमें पक्षीकी चोंच पवित्र मानी गयी है। बकरे और घोड़ेका मुख पवित्र है। गौएँ पीठकी ओरसे शुद्ध मानी गयी हैं तथा ब्राह्मणोंके चरण पवित्र हैं। यदि किसीने स्त्रीसे बलात् भोग कर लिया हो अथवा वह चोरके हाथमें पड़ गयी हो तो भी अपनी प्रिय पत्नीका परित्याग नहीं करना चाहिये। उसके त्यागका विधान नहीं है[३]। खटाईसे ताँबेके पात्रकी शुद्धि होती है, राखसे काँसेका बर्तन शुद्ध होता है, पत्नी रजोधर्मसे शुद्ध होती है और नदी प्रवाहसे पवित्र होती है। जो मनसे भी यहाँ पर-पुरुषका चिन्तन नहीं करती वह स्वर्गलोकमें पार्वतीजीके साथ सुख भोगती है और इस लोकमें भी सुयशकी भागिनी होती है।[४]

पिता, पितामह, भ्राता, कुलका कोई भी पुरुष

---

१- यो जन्तूनात्मपुष्ट्यर्थं हिनस्ति ज्ञानदुर्बलः। दुराचारस्य तस्येह नामुत्रापि सुखं क्वचित्॥
भोक्तानुमन्ता संस्कर्ता क्रयिविक्रयिहिंसकाः। उपहर्ता घातयिता हिंसकाश्चाष्टधा स्मृताः॥
(स्क० पु०, का० पू० ४०। २१-२२)

२- प्रत्यब्दमश्वमेधेन शतं वर्षाणि यो यजेत्। अमांसभक्षको यश्च तयोरन्त्यो विशिष्यते॥
(स्क० पु०, का० पू० ४०। २३)

३- बलात्कारोपभुक्ता वा चौरहस्तगतापि वा। न त्याज्या दयिता नारी नास्यास्त्यागो विधीयते॥
(स्क० पु०, का० पू० ४०। ४७)

४- मनसापि हि या नेह चिन्तयेत् पुरुषान्तरम्। सोमया सह सौख्यानि भुङ्क्ते चात्रापि कीर्तिभाक्॥
(स्क० पु०, का० पू० ४०। ४०)

तथा माता—ये क्रमशः कन्यादानके अधिकारी हैं। इनमें पहले-पहलेके न रहनेपर दूसरा-दूसरा कन्यादान कर सकते हैं। कुलमें कोई भी कन्यादाता न हो तो कन्या स्वयं ही किसी योग्य पतिको वरण कर सकती है। अनिच्छापूर्वक बलात्कार हो जानेसे ऋतुकालमें स्त्रीकी शुद्धि हो जाती है। स्त्रियोंके सत्कारका अवसर आनेपर तथा उत्सवोंमें उन्हें वस्त्र-आभूषण और उत्तम अन्न आदि देकर सदा सम्मानित करना चाहिये। जहाँ भूषण, वस्त्र और अन्न आदिसे पूजित होकर स्त्रियाँ प्रसन्न रहती हैं वहाँ सब देवता सुखपूर्वक निवास करते हैं और वहाँ किये हुए समस्त सत्कर्म सफल होते हैं। जिस घरमें पतिसे पत्नी और पत्नीसे पति सन्तुष्ट रहते हैं वहाँ पग-पगपर कल्याणकी प्राप्ति होती है[१]। अहुत, हुत, प्रहुत, प्राशित तथा ब्राह्महुत—ये पाँच यज्ञ शुभ बताये गये हैं। इनमें जपको अहुत यज्ञ कहते हैं, होमका नाम हुत यज्ञ है, बलिवैश्वदेवको प्रहुत यज्ञ कहते हैं, पितरोंकी तृप्तिके लिये श्राद्ध आदि करना प्राशित यज्ञ है और ब्राह्मणोंका सत्कार करके उनको भोजन कराना ब्राह्महुत यज्ञ कहलाता है। इन पाँचों यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाला ब्राह्मण कभी दुखी नहीं होता और इनके न करनेसे वह पाँच प्रकारकी हिंसाओंका भागी होता है।

ब्राह्मणके साथ समागम होनेपर उससे कुशल पूछे, क्षत्रियसे अनामय (स्वास्थ्य) पूछे, वैश्यसे सुख और शूद्रसे सन्तोष पूछे। जो अपने द्वारा पोषण करनेयोग्य कुटुम्बीजन और सेवक आदि हैं उनका पालन-पोषण लौकिक और पारलौकिक दोनों फलोंका देनेवाला है और यदि उनका पालन नहीं किया जाय तो पाप होता है। अतः प्रयत्नपूर्वक उनके भरण-पोषणमें तत्पर रहना चाहिये। माता, पिता, गुरु, पत्नी, सन्तान, शरणागत व्यक्ति, अभ्यागत, अतिथि और अग्नि—ये नौ पोष्यवर्गके अन्तर्गत हैं। जो पुरुष इस लोकमें अनेक व्यक्तियोंकी जीविका चलाता है, उसीका जीवन सफल है। जो केवल अपना ही पेट भरता है, वह जीते-जी मृतकके तुल्य जाननेयोग्य है। जो देवता, पितर आदि सबको उनका यथायोग्य भाग अर्पण करता है, दयावान्, सुशील, क्षमाशील और देवता एवं अतिथियोंका भक्त है वह गृहस्थ धार्मिक माना गया है। रातके मध्यमें जो दूसरे और तीसरे प्रहर हैं, उनमें ही जो सोता और यज्ञशेष अन्नका भोजन करता है वह ब्राह्मण कभी दुखी नहीं होता। अभ्यागतके आनेपर गृहस्थको सदा ये नौ बातें करनी चाहिये, जो अमृतके समान मंगलकारक हैं—सौम्य वचन, सौम्य दृष्टि, सौम्य मन, सौम्य मुख, उठकर स्वागत करना, 'आइये-बैठिये' ऐसा कहना, स्नेहपूर्वक वार्तालाप करना, अतिथिके समीप बैठकर उसकी सेवा करना और जब वह जाने लगे तो उसके पीछे-पीछे पहुँचानेके लिये कुछ दूरतक जाना। ये नौ बातें गृहस्थकी उन्नति करनेवाली हैं। इसके सिवा जिनके करनेमें बहुत कम खर्च हैं, ऐसी नौ बातें और हैं, जो अवश्य करने योग्य हैं—अभ्यागतको आसन देना, उसके पैर धोना, उसे यथाशक्ति भोजन कराना, सोने-बैठनेके लिये भूमि, शय्या, तृण, जल, अभ्यंग (तैल-उबटन देना) और दीपक—ये नौ कार्य गृहस्थको सिद्धि देनेवाले हैं। चुगली, परस्त्रीसेवन, द्रोह, क्रोध, असत्यभाषण, अप्रिय वचन बोलना, द्वेष, दम्भ (पाखण्ड) और माया (छल-कपट)—ये नौ दुर्गुण स्वर्गका मार्ग रोकनेके लिये साँकलके समान हैं। अब नौ आवश्यक कर्म बतलाये जाते हैं, जो द्विजोंके द्वारा प्रतिदिन करने योग्य हैं—स्नान, सन्ध्या, जप, होम, स्वाध्याय, देवपूजा, बलिवैश्वदेव, अतिथि-सत्कार और पितृतर्पण[२]।

---

१- यत्र तुष्यति भर्त्रा स्त्री स्त्रिया भर्ता च तुष्यति। तत्र वेश्मनि कल्याणं सम्पद्येत पदे पदे॥
(स्क० पु०, का० पू० ४०। ६०)

२- नवावश्यककर्माणि कार्याणि प्रतिवासरम्। स्नानं सन्ध्या जपो होमः स्वाध्यायो देवतार्चनम्॥
वैश्वदेवं तथाऽऽतिथ्यं नवमं पितृतर्पणम्।
(स्क० पु०, का० पू० ४०। ७७)

मुने! नौ बातें परम गोपनीय हैं, उनको सुनिये—अपने जन्मका नक्षत्र, मैथुनकर्म, मन्त्र, अपने घरका कोई कलंक, छलना अथवा छला जाना, अपनी आयु, धन, अपमान और पत्नी—ये कभी किसी प्रकार भी प्रकाशमें लानेयोग्य नहीं हैं। सुपात्र, मित्र, विनययुक्त, दीन, अनाथ, उपकारी, माता-पिता और गुरु—इन नौ प्रकारके मनुष्योंको जो कुछ दिया जाता है वह अक्षय होता है। चिकनी-चुपड़ी बातें करनेवाले, चारण (प्रशंसाके गीत गानेवाले), चोर, अयोग्य वैद्य, धूर्त, छली, शठ, पहलवान और वन्दी—इन नौ व्यक्तियोंको जो कुछ दिया जाता है वह निष्फल होता है। अपनी स्त्री, शरणागत पुरुष, दूसरेकी धरोहर, बन्धक, कुलकी जीविका, अधिक समयतकके लिये घरमें रखी हुई दूसरेकी वस्तु, स्त्रीका धन, पुत्र तथा पुत्र रहते हुए सर्वस्व—ये नौ वस्तुएँ आपत्तिकालमें भी किसी दूसरेको नहीं देनी चाहिये। जो मूढात्मा इन वस्तुओंको देता है, वह अनेकों प्रायश्चित्त करनेपर ही शुद्ध होता है। सत्य, शौच, अहिंसा, क्षमा, दान, दया, दम (मन-इन्द्रियोंका संयम), अस्तेय (चोरीसे दूर रहना) तथा इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटाकर अपने भीतर स्थापित करना (प्रत्याहार)—ये नौ सबके लिये धर्मके साधन हैं[१]। जिसकी जिह्वा, स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र, सेवक और आश्रित मनुष्य—ये सभी विनयशील हों उसका सर्वत्र गौरव है। मदिरापान, दुष्टोंका संग, पतिसे अलग रहना, स्वच्छन्द घूमना, अधिक सोना, दूसरेके घरमें निवास करना—ये छः बातें स्त्रियोंको दूषित करनेवाली हैं[२]।

जबतक तैयार किया हुआ अन्न गरम रहता है, जबतक उसे मौनपूर्वक भोजन किया जाता है और जबतक उस अन्न या हविष्यके गुणोंका वर्णन नहीं किया जाता, तबतक ही पितरलोग जीमनेवाले ब्राह्मणोंके साथ उस अन्नको भोजन करते हैं। विद्वान् और विनयशील वेदज्ञ ब्राह्मण जब घरपर आता है, तब घरके सब अन्न हर्षसे उछलने लगते हैं कि 'अब हम उत्तम गतिको प्राप्त होंगे।' शौच, व्रत और आचारसे रहित वैदिक ज्ञानसे शून्य मूर्ख ब्राह्मणको जब कोई अन्न दिया जाता है, तब वह अव्यक्त स्वरमें रोता है कि 'मैंने कौन-सा पाप किया था जो ऐसे व्यक्तिके उपयोगमें आया।' जिस ब्राह्मणके पेटमें गया हुआ अन्न वेद-वेदांगोंके अभ्यासद्वारा पचता है वह दाताको और उसकी पिछली दस-दस पीढ़ियोंको भी तार देता है। जो ज्येष्ठ भ्राताके अविवाहित रहते हुए स्वयं विवाह करता और अग्निहोत्रकी दीक्षा लेता है उसे परिवेत्ता जानना चाहिये। उसका बड़ा भाई 'परिवित्ति' कहलाता है। परिवित्ति, परिवेत्ता तथा जिस कन्यासे विवाह करनेके कारण यह 'परिवेत्ता' संज्ञा प्राप्त होती है, वह कन्या, उसका दान करनेवाला पिता तथा वह विवाह करानेवाला पुरोहित—ये पाँचों नरकमें पड़ते हैं। यदि बड़ा भाई नपुंसक हो, परदेश (भारतेतर विलायत आदि)-में रहने लग जाय, गूँगा हो, संन्यास ले या जड़ (अत्यन्त मूर्ख), कुब्ज (कुबड़ा), खर्व (नाटा) अथवा पतित हो जाय तो छोटे भाईके विवाह कर लेनेमें कोई दोष नहीं है। जो संन्यासी हो जानेके बाद पुनः मैथुनका सेवन करता है, वह साठ हजार वर्षोंतक विष्ठाका कीड़ा होता है। जो ब्राह्मण गोरक्षा और वाणिज्य-वृत्तिको अपना ले, कारीगर अथवा शिल्पी हो जाय, किसीकी दासता स्वीकार कर ले अथवा सूदपर रुपया लगावे तो वह शूद्रवत् बर्ताव करनेयोग्य होता है। देवताके धनको बाँटकर लेने, ब्राह्मणके धनका अपहरण करने तथा ब्राह्मणका तिरस्कार करनेसे समूचे कुलका शीघ्र विनाश हो जाता है। जो वाणीसे प्रतिज्ञा करके क्रियाद्वारा पूर्ण नहीं किया गया वह धर्मयुक्त ऋण इहलोक और परलोकमें भी बढ़ता

१- सत्यं शौचमहिंसा च क्षान्तिर्दानं दया दमः। अस्तेयमिन्द्रियाकोचः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥ (स्क० पु०, का० पू० ४०। ८६)
२- पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्। स्वप्नोऽन्यगृहवासश्च नारीणां दूषणानि षट्॥ (स्क० पु०, का० पू० ४०। ८९)

है। श्रेष्ठ द्विज स्नान करके जलद्वारा जो पितरोंका तर्पण करता है, उसीसे पितृयज्ञका सारा फल पा लेता है। जो यज्ञकर्ममें संलग्न हैं, किसी यज्ञ या मन्त्रकी दीक्षा ले चुके हैं अथवा जो संन्यासी, ब्रह्मचारी तथा कर्म करनेवाले ऋत्विज हैं, उनको सूतक नहीं लगता। श्मशान वृक्ष, चिता, यूप और शिवनिर्माल्य भोजन करनेवाले तथा वेद बेचनेवालेका स्पर्श कर लेनेपर वस्त्रसहित जलमें प्रवेश करके स्नान करे। अग्निशाला, गोशाला, देवता और ब्राह्मणके समीप तथा स्वाध्याय, भोजन और जलपानके समय खड़ाऊँ और जूते उतार देने चाहिये। धर्मशास्त्ररूपी रथपर चढ़े हुए और वेदरूपी खड्ग धारण करनेवाले ब्राह्मण खिलवाड़में भी जो कुछ कह दें, वह सब परम धर्म माना गया है। नीलमें रँगा हुआ वस्त्र दूरसे ही त्याग देना चाहिये। नीलके पालन, विक्रय और उसकी वृत्तिसे जीविका चलानेमात्रसे ब्राह्मण अपवित्र हो जाता है और तीन कृच्छ्र व्रत करनेपर उसकी शुद्धि होती है। जो नीलका रँगा हुआ वस्त्र पहनता है, उसके स्नान, दान, तप, होम, स्वाध्याय, पितृतर्पण और पंच महायज्ञ—ये सभी व्यर्थ हो जाते हैं। ब्राह्मण जब अपने अंगोंपर नीलका रँगा वस्त्र धारण कर लेता है, तब वह उस वस्त्रके ताने-बानेमें जितने सूत लगे हैं, उतने नरकोंमें निश्चय ही निवास करता है[१]। एक दिन-रात उपवास करके पंचगव्य पीनेसे उसकी शुद्धि होती है। नीलके रँगे वस्त्र धारण करके जो रसोई बनायी जाती है, उस अन्नको जो खाता है, वह मानो विष्ठा भोजन करता है। वह अन्न देनेवाला यजमान नरकमें जाता है।[२]

बलिवैश्वदेव, होम, देवपूजा, जप तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके मन्त्रोंद्वारा संस्कृत होनेसे ब्राह्मणका अन्न अमृत कहा गया है। व्यवहारके अनुरूप, न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए जिस अन्नका उपार्जन किया जाता है, वह क्षत्रियका अन्न दूधके समान है। यदि वैश्य सीता-यज्ञकी विधिके अनुसार एक पहरतक जोते जानेवाले बैलोंसे अन्न उत्पन्न करके देता है तो उसके द्वारा संस्कृत अन्न वास्तवमें अन्न कहा गया है। श्रेष्ठ मनुष्य छोटी-छोटी बातके लिये शपथ न करे। व्यर्थ शपथ करनेवाला मनुष्य इहलोक और परलोकमें भी नष्ट होता है। विद्वान् पुरुष यमराजको यमराज नहीं कहते, अपना मन ही यमराज कहलाता है। जिसने अपने मनको वशमें कर लिया है, उसका यमराज क्या कर लेगा? क्षमावाले पुरुषोंके लिये एक ही दोष है कि संसारके लोग उस क्षमाशील मनुष्यको असमर्थ (दुर्बल) मानते हैं। जो सदा एकान्तमें रहनेवाला, देवताकी आराधनामें तत्पर, सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी प्रीतिसे दूर रहनेवाला तथा स्वाध्याय-योगमें मनको लगाये रखनेवाला है और जो कभी भी किसी जीवकी हिंसा नहीं करता, ऐसे पुरुषको निश्चय ही मोक्षकी प्राप्ति होती है[३]। परंतु काशीमें इन गुणोंके बिना भी सहज ही मुक्ति हो जाती है। वहाँ भगवान् विश्वनाथकी सेवा ही योग है, काशीवास ही तपस्या है, उत्तरवाहिनी गंगामें स्नान ही व्रत, दान, यम और नियमका पालन है।

जो न्यायसे धनका उपार्जन करता है, तत्त्वज्ञानमें स्थित है, अतिथियोंको प्यार करनेवाला है तथा श्राद्धकर्ता और सत्यवादी है, वह गृहस्थ

---

१. स्नानं दानं तपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम्। वृथा तस्य महायज्ञा नीलीवासो बिभर्ति यः॥
नीलीरक्तं यदा वस्त्रं विप्रः स्वाङ्गेषु धारयेत्। तन्तुसन्ततिसंख्याके नरके स वसेद् ध्रुवम्॥
(स्क० पु०, का० पू० ४०। १४४-१४५)

२. नीलीरक्तेन वस्त्रेण यदन्नमुपकल्पयेत्। भोक्ता विष्ठासमं भुङ्क्ते दाता च नरकं व्रजेत्॥
(स्क० पु०, का० पू० ४०। १४७)

३. एकान्तशीलस्य सदैव तस्य सर्वेन्द्रियप्रीतिनिवर्तकस्य। स्वाध्याययोगे गतमानसस्य मोक्षो ध्रुवं नित्यमहिंसकस्य॥
(स्क० पु०, का० पू० ४०। १६१)

होकर भी इस जगत्‌में मुक्त हो जाता है। गृहस्थ पुरुष दीनों, अन्धों, दरिद्रों एवं याचकोंको विशेषरूपसे अन्नदान करके गृह-कर्मोंका अनुष्ठान करता रहे तो वह कल्याणका भागी होता है। इस प्रकार सदाचारका पालन करनेवाले पुरुषोंपर काशीनाथ भगवान् विश्वनाथ प्रसन्न होते हैं और उनके प्रसादसे मोक्षदायिनी काशीपुरीकी प्राप्ति होती है।

## वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमके धर्मका वर्णन, योगमार्गका निरूपण

**स्कन्दजी कहते हैं**—मुने! इस प्रकार गृहस्थ आश्रममें धर्मपालनपूर्वक निवास करके जब सिरके बाल पक जायँ और मुँहपर झुर्रियाँ पड़ जायँ तब दूसरे आश्रमसे तीसरे आश्रम (वानप्रस्थ)-में प्रवेश करे एवं ग्रामीण विषय-भोगोंका त्याग करके पत्नीको पुत्रोंके संरक्षणमें सौंपकर या पत्नीको भी साथ ही लेकर वनमें जाय। मृगचर्म एवं पुराने वस्त्र धारण करे, मुनियोंके अन्नसे निर्वाह करते हुए प्रतिदिन अग्निमें आहुति दे, सिरपर जटा धारण करे। मूँछ-दाढ़ी न कटावे, नख और लोम धारण किये रहे तथा नित्य सायंकाल और प्रातःकाल स्नान करे। शाक और मूल-फल आदिसे जीवननिर्वाह करते हुए भी कभी पंचयज्ञोंका त्याग न करे। जल, मूल और फलकी भिक्षासे भिक्षुकों एवं अतिथियोंका सत्कार करे। किसीसे दान न ले। स्वयं ही दूसरोंको दान दे एवं मन और इन्द्रियोंको संयममें रखे। सद्ग्रन्थोंके स्वाध्यायमें तत्पर रहे। वैतानिक अग्निहोत्रका विधिपूर्वक हवन करे। स्वयं लाये हुए मुनिजनोचित अन्नद्वारा देवताओंके लिये यज्ञभाग अर्पित करे। लसौड़ा, लसौहा, सहजन, धरतीका फूल, मांस और मधु—इन सबको कभी काममें न ले। आश्विन मासमें पहलेके संचित किये हुए मुनिअन्न (तिन्नीके चावल)-को भी त्याग दे। गाँवोंमें पैदा होनेवाले फल-मूल तथा हलसे जोतकर पैदा किये गये अन्नका कभी भोजन न करे। दाँतसे ही ओखलीका काम ले। दाँतोंसे ही चबाकर खाय अथवा पत्थरपर कूट ले। संग्रह उतना ही करे जो तत्काल खा-पीकर साफ हो जाय अथवा एक मासके लिये भोजनका संग्रह कर सकता है, अथवा तीन मास, छः मास या अधिक-से-अधिक बारह मासतकके लिये अन्न और फल-मूल आदिका संग्रह करे। प्रतिदिन एक बार केवल रातमें ही भोजन करे अथवा एक दिनका अन्तर देकर भोजन करे अथवा दो दिनका अन्तर देकर तीसरे दिनकी सन्ध्याको भोजन करे या चान्द्रायणव्रत करता रहे अथवा पंद्रह दिन या एक मासपर भोजन किया करे अथवा वानप्रस्थ पुरुष सदा फल-मूलका ही भोजन करते हुए तपस्यासे अपने शरीरको सुखावे और प्रतिदिन देवताओं तथा पितरोंको तृप्त करे। ऐसा सम्भव न हो तो अग्निदेवको अपने आत्मामें ही भावनाद्वारा स्थापित करके अपने लिये कोई भी आश्रम न बनाकर विचरता रहे और प्राणयात्राके लिये वनवासी तपस्वियोंसे भिक्षा माँग ले अथवा गाँवमेंसे ही भिक्षा माँगकर लावे और वनमें ही रहकर प्रतिदिन आठ ग्रास भोजन करे। इस प्रकार वानप्रस्थ-आश्रममें स्थित हुआ ब्राह्मण ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित होता है। आयुका तीसरा भाग वानप्रस्थ-आश्रममें व्यतीत करके आयुके चौथे भागमें सब प्रकारकी आसक्तियोंका त्याग करके संन्यास ले ले। यज्ञके द्वारा देवऋण, अध्ययनके द्वारा ऋषिऋण और तर्पण आदिके द्वारा पितृऋणको उतारे बिना पुत्रकी उत्पत्ति किये बिना तथा यज्ञोंका अनुष्ठान किये बिना संन्यास नहीं लेना चाहिये। इस लोकमें किसी भी प्राणीको जिससे थोड़ा भी भय न होता हो, उसे सब प्राणी यहाँ सदा

अभय प्रदान करते हैं। अग्नि और गृहसे रहित हो सदा अकेला ही विचरता रहे। मोक्षकी सिद्धिके लिये दूसरेकी सहायतासे रहित अकेला रहे। केवल अन्नकी भिक्षाके लिये गाँवमें जाना चाहिये। संन्यासी न तो जीनेकी इच्छा करे न तो मरनेकी ही। जैसे सेवक अपने स्वामीके आदेशकी प्रतीक्षा करता है वैसे ही संन्यासी मृत्युकालकी प्रतीक्षा करता है। जो कहीं भी ममता नहीं रखता और सर्वत्र समताके भावसे युक्त रहता है, वृक्षके नीचे ही जो सो लेता है, वही मुमुक्षु इस लोकमें प्रशंसित होता है। प्रतिदिन ध्यान लगाना, बाहर और भीतरसे पवित्र रहना, भिक्षा लाना और नित्य एकान्तमें रहना—ये ही चार कर्म संन्यासीके हैं। इनसे भिन्न कोई पाँचवाँ कर्म नहीं है[१]। वर्षाके चार महीनोंमें संन्यासी कहीं विचरण न करे; क्योंकि उस समय यात्रा करनेसे नूतन बीजके अंकुरों और जीव-जन्तुओंकी हिंसा होती है। संन्यासी जीव-जन्तुओंको बचाते हुए चले, वस्त्रसे छानकर जल पीये, उद्वेगरहित वचन बोले, कभी किसीके साथ क्रोधपूर्ण बर्ताव न करे, अपने आत्माके साथ विचरे, किसीसे कोई अपेक्षा न रखे, अपने लिये कोई घर अथवा आश्रय न बनावे, सदा अध्यात्म-चिन्तनमें तत्पर रहे, केश और नख आदिका संस्कार न करे, मन और इन्द्रियोंको वशमें रखे, भगवाँ रंगका वस्त्र पहने, दण्ड धारण करे, भिक्षाके अन्नका भोजन करे और अपनी प्रसिद्धि न होने दे। तुम्बी, काष्ठ, मिट्टी अथवा बाँसका पात्र संन्यासीके लिये उत्तम है। इनसे भिन्न किसी पाँचवीं वस्तुका पात्र नहीं होना चाहिये। संन्यासीको कभी तैजसपात्र (पीतल, काँसी आदिका बर्तन) नहीं ग्रहण करना चाहिये। 'यति यदि प्रतिदिन कौड़ी-कौड़ीभर भी जहाँ-तहाँसे धन संग्रह करे तो उसे एक सहस्र गौओंके वधका पाप लगता है' यह सनातन श्रुति है। यदि एक दिन भी वह हृदयमें स्नेहभावसे (आसक्तिपूर्वक) किसी स्त्रीको देख ले तो उसे दो करोड़ ब्रह्मकल्पोंतक कुम्भीपाक नरकमें निवास करना पड़ता है, इसमें संशय नहीं[२]। वह केवल एक समय भिक्षाके लिये विचरण करे, उसमें भी विस्तार न करे। जब रसोईघरसे धुँआ निकलना बंद हो जाय, मूसलसे कूटनेकी आवाज न होती हो, चूल्हेकी आग बुझ गयी हो और घरके सब लोग खा-पी चुके हों तब संन्यासी गृहस्थके घर भिक्षाके लिये जाय। भिक्षाके विषयमें उसे सदा इसी नियमका पालन करना चाहिये। जो थोड़ा खाता, एकान्तमें रहता, विषयोंके लिये लोलुप नहीं रहता तथा राग-द्वेषसे मुक्त होता है वही संन्यासी मोक्ष प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। जिसके घर अथवा आश्रममें कोई संन्यासी दो घड़ी भी विश्राम कर ले वह कृतार्थ हो जाता है। गृहस्थने मृत्युपर्यन्त जो पापसंचय किया है वह सब पाप संन्यासी एक रात उसके घरमें विश्राम करके ही भस्म कर डालता है।

बुढ़ापा सबको दबा लेता है, जिससे असह्य दुःख होता है। रोगकी पीड़ा भी सहनी पड़ती है। एक दिन इस शरीरको त्याग देना पड़ता है। पुनः गर्भमें आकर जीव अत्यन्त भयंकर क्लेश भोगता है। अनेक प्रकारकी योनियोंमें वह निवास करनेको विवश होता है। उसे कभी प्रियजनोंके वियोगका और कभी अप्रिय जनोंके संयोगका कष्ट प्राप्त होता है। अधर्मसे दुःखकी

१- ध्यानं शौचं तथा भिक्षा नित्यमेकान्तशीलता। यतेश्चत्वारि कर्माणि पञ्चमं नोपपद्यते॥ (स्क० पु०, का० पू० ४१। २०)

२- वराटके संगृहीते यत्र तत्र दिने दिने। गोसहस्रवधं पापं श्रुतिरेषा सनातनी॥
हृदि सस्नेहभावेन चेद्रक्ष्येत्स्त्रियमेकदा[१]। कोटिद्वयं ब्रह्मकल्पं कुम्भीपाकी न संशयः॥
(स्क० पु०, का० पू० ४१। २५, २७)

१- 'चेत् रक्षेत्' ऐसा पदच्छेद करनेपर ऐसा अर्थ होगा कि यदि संन्यासी कामभावसे एक बार भी अपने हृदयमें किसी स्त्रीको रखे—उसका चिन्तन करे तो दो करोड़ ब्रह्मकल्पतक उसे कुम्भीपाकमें रहना पड़ता है।

उत्पत्ति होती है, फिर नरकमें निवास होता है और नाना प्रकारकी नारकीय यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। कर्मदोषके कारण मनुष्योंकी अनेक प्रकारकी गति होती है। यह शरीर अनित्य है और परमात्मा नित्य हैं। इन सब बातोंको देखकर और इसपर भलीभाँति विचार करके, मनुष्य जहाँ कहीं भी जिस आश्रममें भी रहे, मोक्षके लिये प्रयत्न करता रहे। जो बिना पात्रके केवल हाथोंमें ही भिक्षा लेते हैं, वे करपात्री कहलाते हैं। उन्हें अन्य यतियोंकी अपेक्षा प्रतिदिन सौगुना पुण्य होता है। इस प्रकार विद्वान् पुरुष क्रमशः चारों आश्रमोंका सेवन करके द्वन्द्वोंसे रहित एवं असंग होकर ब्रह्मभावको प्राप्त होनेका अधिकारी हो जाता है। खोटी बुद्धिवाले मनुष्योंका वशमें नहीं किया हुआ मन उन्हें बन्धनमें डालनेका कारण होता है और उत्तम बुद्धिवाले पुरुषोंद्वारा वशमें किया हुआ वही मन रोग-शोकसे रहित मोक्षपद दे सकता है। श्रुति, स्मृति, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, भाष्य तथा अन्य जो कुछ भी वाङ्मय है, उसका तथा वेदोंके अनुवचनका ज्ञान प्राप्त करना और ब्रह्मचर्य, तपस्या, दम (इन्द्रियसंयम), श्रद्धा, उपवास तथा स्वाधीनता आदि साधन—ये सभी आत्मज्ञानके हेतु हैं। समस्त आश्रमवर्तियोंके द्वारा एकमात्र आत्मा ही जाननेयोग्य, श्रवण करनेयोग्य, मनन करनेयोग्य तथा यत्नपूर्वक साक्षात्कार करनेयोग्य है। आत्मज्ञानसे मुक्ति होती है, किंतु वह आत्मज्ञान योगके बिना नहीं होता और योग दीर्घकालतक अभ्यास करनेसे ही सिद्ध होता है। न केवल वनकी शरण लेनेसे, न नाना प्रकारके ग्रन्थोंका चिन्तन करनेसे, न दानसे, न व्रतसे, न तपस्यासे, न यज्ञोंसे, न पद्मासन लगानेसे, न नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाये रखनेसे, न शौचसे, न मौनसे और न मन्त्राराधनसे ही योग सिद्ध होता है। उत्साहपूर्वक लगे रहनेसे, निरन्तर अभ्यास करनेसे, दृढ़ निश्चयसे तथा बार-बार उसकी ओरसे अरुचि न होनेसे योगकी सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं। जो सदा अपने आत्मामें ही क्रीडा करता है, आत्मामें ही रत रहता और आत्मामें ही पूर्णतः तृप्तिका अनुभव करता है, उसके लिये योगसिद्धि दूर नहीं है। जो इस जगत्में आत्माके सिवा दूसरी किसी वस्तुको नहीं देखता, वह आत्माराम योगीश्वर यहीं परब्रह्मस्वरूप हो जाता है*। आत्मा और मनके संयोगको ही विद्वान् पुरुष 'योग' कहते हैं। किन्हीं-किन्हींके मतमें प्राण और अपान वायुका सम्यक् मिलन ही 'योग' है। अज्ञानियोंकी दृष्टिमें विषय और इन्द्रियोंका संयोग ही योग है। परंतु जिनका चित्त विषयोंमें आसक्त है, उनसे ज्ञान और मोक्ष बहुत दूर हैं; क्योंकि जिसका रोकना अत्यन्त कठिन है, वह मनकी वृत्ति जबतक निवृत्त नहीं होती, तबतक योगकी चर्चा कैसे निकटवर्तिनी हो सकती है। जो अपने मनको वृत्तियोंसे शून्य करके उसे क्षेत्रज्ञ परमात्मामें लगाकर एकीभूत कर देता है और स्वयं मनकी आसक्तिसे मुक्त हो जाता है, वह योगयुक्त कहलाता है। समस्त बहिर्मुख इन्द्रियोंको अन्तर्मुख करके उन्हें मनमें स्थापित करे। फिर इन्द्रियसमुदायसहित मनको क्षेत्रज्ञ आत्मामें लगावे। सब भावविकारोंसे रहित क्षेत्रज्ञको परमानन्दस्वरूप ब्रह्ममें एकीभूत करे। यही ध्यान है और यही योग है। शेष जितनी बातें हैं, सब ग्रन्थकी विस्तारमात्र हैं। जो नित्य योगके अभ्यासमें लगा हुआ है, उसके लिये परब्रह्म परमात्मा स्वसंवेद्य (स्वानुभवैकगम्य) होता है। वह सनातन परब्रह्म सूक्ष्म होनेके कारण वाणीद्वारा अथवा किसी संकेतके द्वारा भी नहीं बताया जा सकता।

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान

* अत्रात्मव्यतिरेकेण द्वितीयं यो न पश्यति। आत्मारामः स योगीन्द्रो ब्रह्मीभूतो भवेदिह॥ (स्क० पु०, का० पू० ४१। ४७)

और समाधि—ये योगके छः अंग हैं[१]। साधनके लिये जिससे स्थिरता एवं सुखपूर्वक बैठा जाय, वह आसन है। योगीके लिये सिद्धासन[२] शीघ्र योगसिद्धि देनेवाला है। इसके अभ्याससे शरीर प्रतिदिन दृढतर होता जाता है। योगवेत्ता पुरुष अपने दाहिने पैरको बायीं जाँघपर रखकर बायें पैरको दाहिनी जाँघपर रखे तो उसे पद्मासन कहते हैं। इसे दृढ़तापूर्वक बाँधनेकी कलाको जाननेवाला पुरुष अपने दोनों हाथोंको पीठके पीछेसे लाकर दोनों पैरोंके अँगूठोंको पकड़ ले। इस पद्मासनके अभ्याससे मनुष्यका शरीर सुदृढ़ होता है। अथवा जिस स्वस्तिक आसनसे बैठनेमें साधकको सुख मालूम होता हो, उसीसे बैठकर योगवेत्ता पुरुष योगका अभ्यास करे। जो स्थान सब प्रकारकी बाधाओंसे रहित, सम्पूर्ण इन्द्रियोंको सुख देनेवाला तथा मनको प्रसन्नता देनेवाला हो, जहाँ पुष्पहार एवं धूप आदिकी सुगन्ध छा रही हो, ऐसे स्थानमें बैठकर योगाभ्यास करे। साधक न तो अधिक भोजन करके, न भूखसे पीड़ित रहकर, न मल-मूत्रके वेगको रोककर कष्ट सहते हुए, न राहके थके होनेपर और न चिन्तासे व्याकुल होनेपर ही योगका अभ्यास करे। जितने समयमें एक ह्रस्व अक्षरका उच्चारण होता है, उतने समयको 'एक मात्रा' कहते हैं, ऐसी बारह मात्राओंका प्राणायाम निकृष्ट श्रेणीका माना गया है। इससे दूनी चौबीस मात्राओंका प्राणायाम मध्यम कहा गया है और पहलेसे तीन गुनी अर्थात् छत्तीस मात्राओंका प्राणायाम उत्तम बताया गया है। ये तीनों क्रमशः स्वेद, कम्प और विषाद उत्पन्न करनेवाले हैं। इनमेंसे प्रथम अर्थात् बारह मात्रावाले प्राणायामके द्वारा स्वेद (पसीने)-को जीते, द्वितीय अर्थात् चौबीस मात्रावाले प्राणायामके द्वारा कम्पको जीते और तृतीय—छत्तीस मात्रावाले प्राणायामके द्वारा विषादपर विजय पावे। इससे योगीका प्राणायाम सिद्ध हो जाता है। क्रमशः सेवन करनेसे सिद्ध हुआ प्राण जहाँ योगीकी इच्छा होती है, वहाँ उसे ले जाता है। प्राणवायुको यदि हठपूर्वक रोका जाता है तो वह रोमकूपोंके मार्गसे निकल जाती है, देहको विदीर्ण करती है और कोढ़ आदि रोग पैदा कर देती है। अतः जैसे जंगलके हाथीको क्रमशः विश्वास दिलाकर उसे वशमें किया जाता है, उसी प्रकार प्राणवायुको धीरे-धीरे रोकनेका प्रयत्न करना चाहिये। योगीके द्वारा क्रमयोगसे हृदयमें स्थापित किया हुआ यह प्राण धीरे-धीरे अनुकूल हो जाता है। छत्तीस अंगुलका हंस (प्राणवायु) दक्षिण—वाममार्ग (इडा-पिंगला नामवाली दो नाड़ियों)-से बाहर निकलता है। प्रयाण करनेके कारण उसे 'प्राण' कहते हैं। जब समस्त नाड़ी-चक्र शान्त होकर शुद्ध हो जाता है, तभी योगी पुरुष अपने प्राणोंको रोकनेमें समर्थ होता है। दृढ़तापूर्वक आसनपर बैठकर योगी यथाशक्ति चन्द्रनाड़ी—इडाके मार्गसे (नासिकाके वाम छिद्रद्वारा) प्राणवायुको भीतर भरे। तत्पश्चात् सूर्यमार्ग—पिंगला नाड़ी (नासिकाके दाहिने छिद्र)-से उसे बाहर निकाले। यह पूरक और रेचक नामवाला प्राणायाम कहलाता है। योगी पुरुष कुम्भक नामक प्राणायामके द्वारा चन्द्रबीजसे युक्त झरती हुई सुधाधाराके प्रवाहका ध्यान करते हुए तत्काल सुखका अनुभव करता है। तदनन्तर योगी सूर्यनाड़ी अर्थात् नासिकाके दक्षिण छिद्रके द्वारा प्राणवायुको खींचकर उदरगुफाको भरे और कुछ देरतक प्राणवायुको रोकनेके पश्चात् चन्द्रनाड़ी अर्थात् नासिकाके वाम छिद्रसे वायुको धीरे-धीरे बाहर निकाल दे। उस समय प्रज्वलित अग्निपुंजके समान भगवान् सूर्यका हृदयमें ध्यान करता रहे। इस दक्षिण प्राणायामके द्वारा योगिराज परम कल्याणका भागी होता है। इस प्रकार तीन

१- आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा। ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट्॥ (स्क० पु०, का० पू० ४१। ५९)

२- मलेन्द्रिय और मूत्रेन्द्रियके बीचमें बायें पैरका तलुआ तथा शिश्नके ऊपर दाहिना पैर और छातीके ऊपर चिबुक (ठोढ़ी) रखकर दोनों भौंहोंके मध्यभागको देखना सिद्धासन कहलाता है।

महीनेके अभ्याससे वाम, दक्षिण दोनों प्रकारके प्राणायामका सेवन करके जब समस्त नाड़ियोंको सिद्ध कर लिया जाता है, तब उस योगीको 'सिद्धप्राण' कहते हैं। नाड़ीकी शुद्धि होनेसे योगी अपनी इच्छाके अनुसार वायुको धारण करता है। पेटकी अग्निको उद्दीप्त करता है। उसे अनाहत नाद सुनायी पड़ने लगता है अथवा नादतत्त्वका साक्षात्कार होने लगता है और उसका शरीर नीरोग बना रहता है। शरीरमें स्थित वायुका नाम प्राण है। उसे रोकनेको ही आयाम कहते हैं। जब प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्रमें पहुँचती है, तब घण्टा आदि वाद्योंका महानाद सुन पड़ता है। फिर योगसिद्धि दूर नहीं रहती। नियमित प्राणायामसे समस्त रोगोंका नाश हो जाता है और उसके अनियमित अभ्याससे सब रोगोंकी उत्पत्ति होती है। प्राणवायुके व्यतिक्रमसे हिचकी, श्वास (दमा), कास (खाँसी), सिरदर्द, कर्णशूल तथा नेत्रपीड़ा आदि बहुतसे दोष प्रकट होते है। अतः थोड़ी-थोड़ी वायुका त्याग करे और थोड़ी-ही-थोड़ी वायुको खींचकर अपने भीतर भरे तथा नियमित वायुको ही रोकनेका प्रयत्न करे। ऐसा करनेसे योगवेत्ता पुरुषको सिद्धि प्राप्त होती है। सब ओर विषयोंमें स्वच्छन्द विचरती हुई इन्द्रियोंको किसी-न-किसी युक्तिसे विषयोंकी ओरसे समेटना 'प्रत्याहार' कहलाता है। जैसे कछुआ अपने अंगोंको सब ओरसे समेट लेता है, उसी प्रकार जो प्रत्याहारकी विधिसे अपनी सब इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे समेट लेता है, वह पापरहित हो जाता है। नाभिप्रदेशमें सूर्य और तालुस्थानमें चन्द्रमा निवास करते हैं। चन्द्रमा नीचेको मुख करके अमृतकी वर्षा करते हैं और सूर्य ऊपरकी ओर मुँह करके उस अमृतरसको अपना ग्रास बना लेते हैं। अतः ऐसा उपाय करना चाहिये, जिससे वह अमृत प्राप्त हो सके। ऊपर नाभि हो और नीचे तालु हो जाय; ऊपर सूर्य हों और नीचे चन्द्रमा हो जायँ। ऐसे साधनको 'विपरीतकरणी मुद्रा' कहते हैं। यह अभ्याससे ही सिद्ध होती है। प्राणायामकी विधिको जाननेवाला योगी कौवेकी चोंचके समान किये हुए अपने मुखसे शीतल-शीतल प्राणधारक वायुका पान करे तो वह जरा-मृत्युसे रहित हो जाता है। जो अपनी जिह्वाको तालुके छिद्रमें रखकर ऊर्ध्वमुख हो अमृतपान करता है, वह छः मासके भीतर ही जरा-मृत्युसे रहित देवभावको प्राप्त हो जाता है। इसमें तनिक भी संशय नहीं है। जो योगी ऊपरकी ओर जिह्वा किये स्थिरतापूर्वक अमृतपान करता है, वह पंद्रह दिनमें मृत्युको जीत लेता है। जिह्वाके अग्रभागसे उसके मूलभागमें स्थित प्रकाशमान छिद्रको दबाकर जो अमृतमयी देवीका ध्यान करता है, वह छः महीनेमें कवि हो जाता है। जिस योगीका शरीर अमृतसे परिपूर्ण हो जाता है, वह दो ही तीन वर्षोंमें ऊर्ध्वरेता हो जाता है—उसके वीर्यकी गति ऊपरकी ओर हो जाती है, जो अणिमा आदि आठों सिद्धियोंके उदयकी सूचक है। जिस योगीका शरीर सदा अमृतकलासे परिपूर्ण रहता है, उसे यदि तक्षकनाग भी डँस ले तो उसपर उसके विषका प्रभाव नहीं पड़ता। आसन, प्राणायाम और प्रत्याहारसे सम्पन्न होकर धारणाका अभ्यास करे। मनको स्थिर करके अपने हृदयमें पृथक्-पृथक् पंचमहाभूतोंको जो धारण करना है, उसीको 'धारणा' कहते हैं।

'**ध्यै चिन्तायाम्**' इस धातुसूत्रके अनुसार '**ध्यै**' धातुका प्रयोग चिन्ता अर्थमें होता है। तत्त्वोंमें चित्तकी एकाग्रताको ही 'चिन्ता' कहते हैं। यह चिन्ता ही ध्यान है। ध्यान दो प्रकारका बताया गया है—सगुण और निर्गुण। रूप-रंग आदिके भेदसहित जो चिन्तन किया जाता है, वह सगुण ध्यान है और केवल तत्त्वका विचार निर्गुण ध्यान माना गया है। मन्त्रसहित ध्यानको सगुण और मन्त्ररहित ध्यानको निर्गुण समझना चाहिये। सुखद आसनपर बैठकर भीतर चित्तको और बाहर नेत्रको स्थिर करके शरीरको समभावसे रखना—यह ध्यानकी मुद्रा है, जो अत्यन्त सिद्धि

देनेवाली है। अश्वमेध और राजसूय यज्ञसे भी वह पुण्य नहीं मिलता, जिसे स्थिर आसनवाला योगी पुरुष एक बार ध्यान करके पा लेता है। जबतक श्रवण आदि इन्द्रियोंमें शब्द आदि तन्मात्राओंकी स्थिति बनी रहती है—उनकी स्फूर्ति होती रहती है, तभीतक ध्यानकी अवस्था मानी गयी है। इससे आगे समाधि है। पाँच दण्डतक चित्तका एकाग्र होना धारणा है, साठ दण्डतक चित्त एकाग्र हो तो उसे ध्यान कहते हैं और यदि बारह दिनोंतक मन ध्येय वस्तुमें एकाग्र रहा तो उसे समाधि कहते हैं। जैसे जल और नमकका मेल होनेपर उनमें एकता हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा और मनकी एकता समाधि कहलाती है। जब प्राणजनित चंचलता क्षीण हो जाती है और मन ध्येय वस्तुमें विलीन हो जाता है, उस समय जो समरसताका अनुभव होता है, उसीको यहाँ समाधि कहते हैं। जीवात्मा और परमात्माकी जो समता होती है और जहाँ सब प्रकारके संकल्प-विकल्प नष्ट हो जाते हैं उस स्थितिका नाम समाधि है। समाधिमें स्थित हुआ योगीश्वर न अपनेको जानता है न दूसरेको, उसे न सर्दीका अनुभव होता है, न गरमीका तथा उसे न तो सांसारिक सुखका बोध होता है और न दुःखका ही। समाधियुक्त योगीको न तो काल अपना ग्रास बना सकता है, न वह कर्मोंसे लिप्त होता है और न अस्त्र-शस्त्रोंसे उसके शरीरको खण्डित ही किया जा सकता है। जिसका आहार-विहार नियमित है, जिसकी कर्मविषयक चेष्टा भी नियमित है और जिसका सोना-जागना भी नियमित रूपसे ही होता है, वह योगी तत्त्वका साक्षात्कार करता है*। ब्रह्मवेत्ता पुरुष विज्ञानमय आनन्दस्वरूप ब्रह्मको ही तत्त्व मानते हैं। जिसका कोई दृष्टान्त नहीं है तथा जो मन और वाणीका अगोचर है उस आलम्बशून्य, निर्भय एवं नीरोग परब्रह्म परमात्मामें योगी पुरुष षडंगयोगकी विधिसे लीन होता है। जैसे घीमें छोड़ा हुआ घी घृत ही होता है और दूधमें मिलाया हुआ दूध दूध ही होता है, उसी प्रकार योगी ब्रह्ममें तन्मयताको प्राप्त होता है। योगी विभूति आदि जलहीन वस्तुओंसे शरीर-मर्दन करे। गरम जल और नमकको त्याग दे और सदा दूधका ही आहार करे। ब्रह्मचर्यका पालन करे, क्रोध और लोभको जीते तथा किसीसे भी द्वेष न करे। इस प्रकार एक वर्षतक निरन्तर अभ्यास करनेसे मनुष्य योगी कहलाता है। जो महामुद्रा, खेचरी मुद्रा, उड्डीयान बन्ध, जलन्धर बन्ध और मूल बन्धको जानता है, वह योगी योगसिद्धिका भागी होता है। पूरक, कुम्भक और रेचक नामक प्राणायामसे नाड़ीसमूहको शुद्ध करना और चन्द्र तथा सूर्य नाड़ी—इडा और पिंगलाको जोड़ना तथा विकारके हेतुभूत रसोंको भलीभाँति सुखाना—इसको 'महामुद्रा' कहते हैं। बायें पैरसे जननेन्द्रियको दबाकर अपनी ठोढ़ीको वक्षःस्थलपर रखे और दोनों हाथोंसे फैले हुए दाहिने पैरको देरतक पकड़े रहे। फिर प्राणवायुसे अपने उदरको पूर्ण करके धीरे-धीरे उसे देरतक बाहर निकाले। यह महामुद्रा बतायी गयी है जो बड़े-बड़े पापोंकी राशिका विनाश करनेवाली है। इस प्रकार इडा नाड़ीद्वारा प्राणायामका अभ्यास करके फिर पिंगला नाड़ीमें उसका अभ्यास करे। जब पूरक आदिकी संख्या समान हो जाय तब मुद्राका विसर्जन करे। इसका अभ्यास हो जानेपर योगीके लिये पथ्य और अपथ्यका विचार नहीं रह जाता है। उसके लिये सभी विकारोत्पादक रस नीरस हो जाते हैं। भयानक विष भी पीये हुए अमृतकी भाँति पच जाता है। जो महामुद्राका अभ्यास कर लेता है, उसके क्षय, कोढ़, बवासीर, वायुगोला और अजीर्ण आदि रोग नष्ट हो जाते हैं। यदि उलटकर गयी हुई जिह्वा कपालके छिद्रमें प्रविष्ट हो और दृष्टि दोनों भौंहोंके बीचमें स्थिर रहे तो खेचरी मुद्रा होती है। जो खेचरी मुद्राको

* युक्ताहारविहारश्च युक्तचेष्टो हि कर्मसु। युक्तनिद्रावबोधश्च योगी तत्त्वं प्रपश्यति॥ (स्क० पु०, का० पू० ४१। १३०)

जानता है, वह बाणसमूहसे पीड़ित नहीं होता और न कर्मोंसे ही लिप्त होता है। उसको काल भी बाधा नहीं दे सकता। इसमें चित्त आकाशमें विचरता है और जिह्वा भी आकाशगत होकर चरती है। इससे इस मुद्राका नाम खेचरी है। सिद्ध पुरुषोंने इसका सेवन किया है। शरीरमें जबतक विन्दु स्थित है, तबतक मृत्युका भय कहाँसे होगा और जबतक खेचरी मुद्रा बँधी हुई है, तबतक विन्दु बाहर नहीं जाता।

महापक्षी (महाप्राण) दिन-रात उड़ता रहता है। उसीको इस मुद्राद्वारा बाँधा जाता है। इसलिये इसका नाम उड्डीयान बन्ध है। नाभिके ऊपर और उदरमें पश्चिमतान* धारण करे। यह उड्डीयान बन्ध कहलाता है। इसके सिद्ध हो जानेपर मनुष्य मृत्युका भी भय त्याग देता है। जो नाड़ियोंके समूहको, जिसके द्वारा कि शरीरान्तर्गत छिद्रोंका जल नीचेकी ओर प्रवाहित होता है, बाँधता है, वह जालन्धर बन्ध कहलाता है, जो कण्ठमें होनेवाले दुःखसमुदायका नाश करनेवाला है। कण्ठको संकुचित करके किये जानेवाले इस जालन्धर बन्धके सिद्ध होनेपर ललाट और तालुवर्ती चन्द्रमण्डलमें स्थित अमृत उदरकी अग्निमें नहीं गिरता और वायुका भी प्रकोप नहीं होता। दोनों एड़ियोंसे लिंगको दबाकर और अपानवायुको ऊपरकी ओर खींचकर गुदाको संकुचित करे। इसे मूल बन्ध कहते हैं। मूल बन्धका सतत अभ्यास करनेसे अपान और प्राणवायुकी एकता होती है, मल-मूत्रका नाश होता है और वृद्ध पुरुष भी तरुण हो जाता है। प्राण और अपानवायुके वशमें होकर चंचल हुआ जीव इडा और पिंगला नाड़ीके द्वारा नीचे-ऊपर दौड़ता रहता है। वह कहीं स्थिर नहीं हो पाता। जैसे रस्सीमें बँधा हुआ पक्षी कहीं उड़कर जाय तो भी उसे पुनः अपने समीप खींच लिया जाता है, उसी प्रकार तीनों गुणोंमें बँधा हुआ जीव प्राणायामके द्वारा खींचा जाता है। अपान प्राणको और प्राण अपानको अपनी ओर खींचता है। ये दोनों ऊपर स्थित हैं। योगवेत्ता पुरुष इन्हें परस्पर संयुक्त कर देता है। श्वास हकारकी ध्वनिके साथ बाहर निकलता है और सकारकी ध्वनिके साथ पुनः भीतर प्रवेश करता है। इस प्रकार जीव सदा 'हंस-हंस' इस मन्त्रका जप करता रहता है। दिन-रातमें इक्कीस हजार छः सौ बार श्वासका आना-जाना होता है। अतः जीव उतनी ही बार 'हंस' मन्त्रका जप नित्यप्रति किया करता है। यह अजपा नामवाली गायत्री है जो योगियोंको मोक्ष देनेवाली है। इसके संकल्पमात्रसे मनुष्य समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है।

योगीके योगमार्गमें अनेक प्रकारके विघ्न आते हैं जो उसकी साधनामें हानि पहुँचानेवाले हैं। उसे दूरकी बातें सुनायी देती हैं, दूरका दृश्य अपने आगे प्रत्यक्ष दिखायी देता है, आधे पलमें सैकड़ों योजन जानेकी शक्ति आ जाती है, बिना पढ़े ही अथवा बिना स्मरण किये ही सब शास्त्र कण्ठस्थ हो जाते हैं, धारणाशक्ति बहुत बढ़ जाती है और महान् भार भी हलका प्रतीत होता है। वह क्षणमें दुबला, क्षणमें मोटा, क्षणमें छोटा और क्षणमें बड़ा हो जाता है। वह योगी दूसरेके शरीरमें प्रवेश कर जाता है, पशु-पक्षियोंकी बातें समझ लेता है, अपने शरीरमें दिव्य गन्ध धारण करता है और मुखसे दिव्य वचन बोलने लगता है। दिव्यलोककी कन्याएँ उससे प्रार्थना करती हैं और वह दिव्य देह धारण कर लेता है। ये सब विघ्न निकटवर्तिनी योगसिद्धिके सूचक हैं। यदि इन विघ्नोंसे योगीका मन चंचल नहीं हुआ तो उससे आगेकी भूमिकामें पहुँचकर वह ब्रह्मादि देवताओंके लिये भी दुर्लभ परम पदको प्राप्त कर लेता है। अगस्त्यजी!

* दोनों हाथोंके अग्रभागसे जुड़े हुए दोनों पैरोंके तलुओंको पकड़कर पैरोंको आगेकी ओर फैलावे। उस समय उन दोनों पैरोंका मध्यभाग (घुटनेके समीप) जैसा दिखायी देता है, वैसी ही आकृति पेटमें भी बन जाय तो उसे पश्चिमतान धारण करना कहते हैं। इस क्रियामें प्राण सुषुम्ना नाड़ीमें बद्ध हो जाता है और पेट भीतरकी ओर दबकर पीठमें सटता है।

जिसे पाकर मनुष्य पुनः इस संसारमें नहीं लौटता और जिसकी प्राप्ति होनेपर शोकसे सदाके लिये छुटकारा मिल जाता है, उस पदको योगी षडंगयोगकी साधनासे पा लेता है, परंतु इन्द्रियोंकी वृत्ति चंचल होनेसे और कलियुगमें पापके बढ़नेसे थोड़ी आयुवाले मनुष्योंको यहाँ योगका महान् अभ्युदय कहाँ प्राप्त हो सकता है? इसीलिये करुणासागर भगवान् विश्वनाथ जीवोंको महोदय पद प्रदान करनेके लिये काशीपुरीमें विराजमान हैं। जीव काशीमें जिस प्रकार सुखसे कैवल्य प्राप्त कर लेते हैं, उस प्रकार अन्य किसी स्थानमें योग, युक्ति आदि उपायोंके द्वारा भी नहीं पा सकते हैं, क्योंकि काशीपुरीसे अपने शरीरका संयोग करा देना ही उत्तम योग बताया गया है। इस संसारमें दूसरे किसी योगके द्वारा मनुष्यकी शीघ्र मुक्ति नहीं होती है।

## मृत्युसूचक चिह्नोंका वर्णन

**अगस्त्यजीने पूछा**—स्कन्दजी! मृत्यु निकट आ गयी है, यह बात कैसे जानी जाय?

**कार्तिकेयजीने कहा**—मुने! मृत्यु निकट आनेपर जो चिह्न प्रकट होते हैं, उन्हें सुनो। जिसकी दाहिनी नासिकामें एक दिन-रात अखण्डरूपसे वायु चलती रहती है, उसकी आयु तीन वर्षमें समाप्त हो जाती है और जिसका दक्षिण श्वास लगातार दो दिन या तीन दिनतक निरन्तर चलता रहता है, उसके जीवनकी अवधि इस संसारमें केवल एक वर्षकी बतायी जाती है। यदि दोनों नासिकाछिद्र दस दिनतक निरन्तर ऊर्ध्व श्वासके साथ चलते रहें तो मनुष्य तीन दिनतक जीवित रह सकता है। यदि श्वासवायु नासिकाके दोनों छिद्रोंको छोड़कर मुखसे बहने लगे तो दो दिनके पहले ही उसका यमलोकके मार्गपर प्रस्थान हो जायगा, यह सूचित कर देना चाहिये। जिस कालमें मृत्यु अकस्मात् निकट आ जाती है, मृत्युके भयसे डरनेवाले पुरुषको उस कालका प्रयत्नपूर्वक विचार करना चाहिये। जब सूर्य सप्तम राशिपर हों और चन्द्रमा जन्मनक्षत्रपर आ गये हों, तब यदि दाहिनी नासिकासे श्वास चलने लगे तो उस समय सूर्यदेवतासे अधिष्ठित काल प्राप्त होता है। उसपर विशेष लक्ष्य रखना चाहिये। जो अकस्मात् किसी काले-पीले पुरुषको देखता है, फिर उसी क्षण उसके रूपको अदृश्य पाता है, वह केवल दो वर्ष और जीवित रह सकता है। जिसके मल-मूत्र और वीर्य अथवा मल-मूत्र एवं छींक एक साथ ही गिरते हैं, उसकी आयु केवल एक वर्ष और शेष है, ऐसा मानना चाहिये। जो इन्द्रनीलमणिके समान रंगवाले नागोंके झुंडको आकाशमें इधर-उधर फैला हुआ देखता है, वह छः महीने भी जीवित नहीं रहता। जिसकी मृत्यु निकट है, वह अरुन्धती और ध्रुवको भी नहीं देख पाता। जो अकस्मात् नीले-पीले आदि रंगोंको तथा कड़ुवे, खट्टे आदि रसोंको विपरीतरूपमें देखने और अनुभव करने लगता है, वह छः महीनेमें मृत्युका भागी होता है। वीर्य, नख और नेत्रोंका कोना—ये सब यदि नीले या काले रंगके हो जायँ तो मनुष्य छठे मासमें यमपुरीकी यात्रा करता है। भलीभाँति स्नान करनेके बाद भी जिनका हृदय शीघ्र ही सूख जाता है तथा हाथ और पैर भी जल्दी ही सूख जाते हैं, उसका जीवन केवल तीन मासतक चलता है। जो मनुष्य जल, घी और दर्पण आदिमें अपने प्रतिबिम्बका मस्तक नहीं देखता, वह एक मासतक जीवित रहता है। बुद्धि भ्रष्ट हो जाय, वाणी स्पष्ट न निकले, रातमें इन्द्रधनुषका दर्शन हो, दो चन्द्रमा और दो सूर्य दिखायी दें तो ये सब मृत्युसूचक चिह्न हैं। इन सब चिह्नोंमेंसे यदि एक चिह्नको भी मनुष्य देखता है तो मृत्यु केवल एक मासतक उसकी प्रतीक्षा करती है। हाथसे कान बंद कर लेनेपर जब किसी प्रकारकी आवाज न सुनायी

दे तथा मोटा शरीर थोड़े ही दिनोंमें दुबला-पतला और दुबला-पतला शरीर मोटा हो जाय तो एक मासमें मृत्यु हो जाती है। जिसे स्वप्नमें भूत, प्रेत, पिशाच, असुर, कौए, कुत्ते, गीध, सियार, गधे और सूअर इधर-उधर ले जाते और खाते हैं, वह वर्षके अन्तमें प्राण त्यागकर यमराजका दर्शन करता है। जो स्वप्नकालमें गन्ध, पुष्प और लाल वस्त्रोंसे अपने शरीरको विभूषित देखता है, वह उस दिनसे केवल आठ मासतक जीवित रहता है। जो सपनेमें धूलकी राशि, विमौट (दीमकका घर) अथवा यूपदण्डपर चढ़ता है, वह छठे महीनेमें मृत्युको प्राप्त होता है। जो स्वप्नमें अपनेको तेल लगाये, मूड़ मुड़ाये और गदहेपर चढ़े दक्षिण दिशाकी ओर ले जाये जाते हुए देखता है अथवा अपने पूर्वजोंको इस रूपमें देखता है, उसकी मृत्यु छः महीनेमें हो जाती है। जो मनुष्य स्वप्नमें अपने मस्तक या शरीरपर तृण और सूखे काठ देखता है, वह छठे मासमें जीवित नहीं रहता। जो स्वप्नमें लोहेका डंडा और काला वस्त्र धारण करनेवाले किसी काले रंगके पुरुषको अपने आगे खड़ा देखता है, वह तीन माससे अधिक नहीं जीवित रहता। स्वप्नमें काले रंगकी कुमारी कन्या जिस पुरुषको अपने बाहुपाशमें कस ले, वह एक ही महीनेमें यमपुरीका दर्शन करेगा। जो मनुष्य स्वप्नमें वानरकी सवारीपर चढ़कर पूर्व दिशाकी ओर जाता है, वह पाँच ही दिनमें संयमनीपुरीको देखता है। यदि कृपण मनुष्य सहसा उदार हो जाय या उदार मनुष्य सहसा कृपण हो जाय, इस प्रकार यदि प्रकृतिमें सहसा विकार आ जाय तो वह मनुष्य शीघ्र मृत्युको प्राप्त होता है। ये तथा और भी बहुतसे मृत्युसूचक चिह्न हैं, जिन्हें जानकर मनुष्य योगका अभ्यास करे अथवा काशीपुरीकी शरण ले।

मुने! मैं गर्भवासको रोकनेवाले भगवान् काशीपति शिवकी शरण लेनेके सिवा दूसरा कोई ऐसा उपाय नहीं जानता जो कालको भी वंचित करनेमें समर्थ हो। जिसने भगवान् विश्वनाथके निवासस्थान काशीपुरीको प्राप्त किया, उत्तरवाहिनी गंगाका जल पी लिया और श्रीविश्वेश्वर लिंगका स्पर्श कर लिया, ऐसा कौन पुरुष वन्दनीय नहीं होता। काल कुपित होकर काशीनिवासी मनुष्योंका क्या बिगाड़ लेगा। जबतक बुढ़ापेका आक्रमण नहीं होता और जबतक इन्द्रियाँ शिथिल नहीं हो जातीं, तभीतक बुद्धिमान् पुरुष समस्त तुच्छ प्रपंचका त्याग करके काशीपुरीकी शरण ले। अगस्त्यजी! मृत्युसूचक दूसरे चिह्न तो दूर रहे, सबसे पहला लक्षण तो बुढ़ापा ही है, परंतु आश्चर्य है कि उसके आनेपर भी लोगोंको भय नहीं होता। वृद्धावस्थाने जिसका आलिंगन कर लिया है, उस मनुष्यको भाई-बन्धु नहीं मानते। उसके पुत्र भी उसकी आज्ञाका पालन नहीं करते और पत्नी भी उससे प्रेम करना छोड़ देती है। काशीमें निवास करनेसे जिस प्रकार कालको शीघ्रतापूर्वक जीत लिया जाता है, उस प्रकार उस कालको तपस्या और योगकी युक्तियोंद्वारा नहीं जीता जा सकता।

## महाराज दिवोदासके धर्मपूर्ण राज्यका वर्णन

**अगस्त्यजीने पूछा**—भगवन्! भगवान् शंकरने राजा दिवोदाससे किस प्रकार काशीपुरीका परित्याग करवाया?

**कार्तिकेयजी बोले**—गिरिराज मन्दरकी तपस्यासे सन्तुष्ट हुए भगवान् शिव ब्रह्माजीके वचनोंके गौरवसे मन्दराचलको चले गये। उनके चले जानेपर उन्हींके साथ सम्पूर्ण देवता भी वहीं चले गये। भगवान् विष्णु भी भूमण्डलके वैष्णव तीर्थोंका परित्याग करके जहाँ देवाधिदेव उमानाथ भगवान् शिव विराजमान थे उसी मन्दराचलपर चले गये। पृथ्वीसे देवसमुदायके चले जानेपर प्रतापी राजा दिवोदासने यहाँ निर्द्वन्द्व राज्य किया।

उन्होंने काशीपुरीमें सुदृढ़ राजधानी बनाकर धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए सबको उन्नतिशील बनाया। हाथियोंसे भी अधिक बलवान् महाराज दिवोदासका अपराध कभी नागलोग भी नहीं करते थे। दानव भी मानवकी आकृति धारण करके उनकी सेवा करते थे। गुह्यक लोग सब ओर मनुष्योंमें राजाके गुप्तचर बनकर रहते थे। उनके सभाभवनके आँगनमें बैठे हुए विद्वानों एवं मन्त्रियोंको किसीने कभी शास्त्रोंद्वारा पराजित नहीं किया तथा रणांगणमें डटे हुए उनके योद्धाओंको कभी किसीने अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा परास्त नहीं किया। उनके राज्यमें कभी ऐसे लोग नहीं देखे गये, जो पदभ्रष्ट तथा दूसरोंके द्वेषभाजन हों। उस समय सब प्रजा अपने-अपने पदपर प्रतिष्ठित एवं सुखी थी। राजा दिवोदासके राज्यमें सभी गाँव ईति[१]-भीतिसे रहित थे। कोई गाँव ऐसा नहीं था, जिसकी रक्षाके लिये राजकर्मचारी उपस्थित न हों। घर-घरमें लोग कुबेरके समान धन दान करनेवाले थे।

इस प्रकार काशीमें राज्य करते हुए दिवोदासके अस्सी हजार वर्ष एक दिनके समान व्यतीत हो गये। अपने औरस पुत्रोंकी भाँति प्रजाका पालन करते रहनेवाले राजा रिपुंजय (दिवोदास)-के द्वारा थोड़ेसे भी अधर्मका संग्रह नहीं हुआ। वे राजनीति-सम्बन्धी छः गुणोंके[२] ज्ञाता थे। उनका चित्त अपनी त्रिविध[३] शक्तियोंसे सदा उत्साहित रहता था। वे नीतिनिपुण पुरुषोंके समस्त उपायोंका ज्ञान रखनेवाले थे। इसलिये उनके छिद्रों (दोषों)-को देवता भी नहीं जानते थे। दिवोदासके राष्ट्रमण्डलमें सभी पुरुष एकपत्नी-व्रती थे। स्त्रियोंमें कोई भी ऐसी नहीं थी जो पतिव्रता न हो। एक भी ब्राह्मण ऐसा नहीं था जिसने वेद-शास्त्रोंका अध्ययन न किया हो। कोई भी क्षत्रिय ऐसा न था जो शूरवीर न हो। एक भी वैश्य ऐसा नहीं दिखायी देता था जो अर्थोपार्जनके कर्ममें कुशल न हो। शूद्र अनन्य भावसे द्विजातियोंकी सेवामें लगे रहते थे। उनके राज्यमें अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले ब्रह्मचारी थे, जो सदा गुरुकुलके अधीन रहकर वेदविद्याके अध्ययनमें तत्पर थे। गृहस्थ लोग अतिथिसत्काररूपी धर्ममें कुशल, धर्मशास्त्रोंके मर्मज्ञ तथा सर्वदा शुभ आचरणोंमें संलग्न रहनेवाले थे। तीसरे आश्रमको स्वीकार करनेवाले वानप्रस्थी वनमें उपलब्ध होनेवाली जीविकाके प्रति ही आदर रखते थे। ग्रामीण वार्ताओंके प्रति उनके मनमें कोई उत्सुकता न थी और वे वैदिकमार्गमें चलनेवाले थे। उनके राज्यमें रहनेवाले संन्यासी सब प्रकारकी आसक्तियोंसे रहित, जीवन्मुक्त, संग्रहशून्य, मन, वाणी और कर्मरूपी दण्डसे युक्त तथा सर्वथा निःस्पृह थे। दूसरे अनुलोम[४] और विलोम[५]कर्मसे उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंने भी अपनी पूर्वपरम्परासे प्रचलित धर्ममार्गका किंचिन्मात्र भी परित्याग नहीं किया था। राजा दिवोदासके राज्यमें कोई भी सन्तानहीन, निर्धन, वृद्धोंकी सेवा न करनेवाला तथा अकाल

---

१. अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चूहोंका उपद्रव, टिड्डी गिरना, तोते आदि पक्षियोंद्वारा खेतीको हानि पहुँचना और अपने देशपर किसी शत्रु राजाका आक्रमण होना—ये छः प्रकारकी ईतियाँ हैं।

२. सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय—ये छः गुण हैं। इनमें अवसर और आवश्यकताके अनुसार शत्रुसे मेल करना या रखना सन्धि, उससे लड़ाई छेड़ना विग्रह, स्वयं आक्रमण करना यान, योग्य समयकी प्रतीक्षामें बैठे रहना आसन, दुरंगी नीति बर्तना द्वैधीभाव और अपनेसे बलवान् राजाकी शरण लेना समाश्रय कहलाता है।

३. प्रभुशक्ति, उत्साहशक्ति और मन्त्रशक्ति—ये तीन प्रकारकी शक्तियाँ हैं। कोष और दण्ड आदिके सम्बन्धकी शक्ति प्रभु-शक्ति, सन्धि-विग्रह आदिके सम्बन्धकी शक्ति मन्त्रशक्ति और पराक्रम प्रकट करने तथा विजय प्राप्त करनेकी शक्ति उत्साह-शक्ति कहलाती है।

४. उच्च वर्णके पुरुष तथा नीच वर्णकी स्त्रीसे उत्पन्न हुआ मनुष्य अनुलोम कहा जाता है।

५. नीच वर्णके पुरुष और उच्च वर्णकी स्त्रीसे उत्पन्न हुआ मनुष्य विलोम कहा जाता है।

मृत्युसे मरनेवाला नहीं था। चंचल, वाचाल, वंचक, हिंसक, पाखण्डी, भाँड़, रँडुवे और मदिरा बेचनेवाले भी नहीं थे। सर्वत्र मन्त्रोंका घोष सुनायी देता था। पद-पदपर शास्त्रचर्चा सुनायी देती थी। सब ओर शुभ वार्तालाप होते और आनन्दसे मंगलगीत गाये जाते थे। मांसभक्षी, ऋण लेनेवाले और चोर भी उनके राज्यमें नहीं थे। पुत्र पिताके चरणोंकी पूजा, देवाराधना, उपवास, व्रत, तीर्थ और देवोपासनाको परम धर्म समझकर करते थे। नारियाँ अपने पतिके चरणोंकी पूजा, उनके वचनोंको सुनना और स्वामीकी आज्ञाका पालन करना अपना श्रेष्ठ धर्म समझती थीं। सब लोग अपने बड़े भाईकी सदा पूजा करते थे। सेवक प्रसन्नतापूर्वक अपने स्वामीके चरणकमलोंकी पूजा करते थे। छोटी जातिके लोग ऊँची जातिके लोगोंके गुण और गौरवकी प्रशंसा करते थे। काशीपुरीके रहनेवाले सब मनुष्य तीनों समय वहाँके देवताओंकी बार-बार सेवा-पूजा करते थे। सब विद्वान् सब स्थानोंपर अपनी मनोवांछित वस्तु पाकर सम्मानित होते थे। विद्वान् लोग तपस्वी महात्माओंकी, तपस्वी महात्मा जितेन्द्रिय पुरुषोंकी, जितेन्द्रिय महापुरुष ज्ञानियोंकी और ज्ञानीलोग शिवयोगियोंकी पूजा करते थे। ब्राह्मणोंके मुखरूपी अग्निमें दिन-रात विधिपूर्वक उत्तम रूपसे तैयार की हुई मन्त्रपूत एवं बहुमूल्य हविका हवन किया जाता था। दिवोदासके राज्यमें जहाँ-तहाँ सब ओर पग-पगपर शुद्ध द्रव्यराशिके द्वारा बावली, कुआँ और पोखरा खुदवानेवाले तथा बगीचे लगानेवाले धर्मात्मा पुरुष बहुत बड़ी संख्यामें थे। वहाँ सब जातिके लोग अनिन्द्य (उत्तम) सेवाकार्यसे सम्पन्न हो हृष्ट-पुष्ट दिखायी देते थे। इस प्रकार सर्वत्र शुद्ध एवं पवित्र बर्ताव करनेवाले उस भूपालके छिद्र ढूँढ़नेके लिये देवताओंने बहुत चेष्टा की, किंतु उन्हें थोड़ा-सा भी छिद्र नहीं प्राप्त हो सका।

## भगवान् शिवके आदेशसे सूर्यका काशीमें गमन और निवास तथा लोलार्कतीर्थका माहात्म्य

**स्कन्दजी कहते हैं**—अगस्त्य! इन्द्रादि देवताओंने दिवोदासके राज्य-शासनको असफल बनानेके लिये अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित किये, किंतु धर्मात्मा राजा दिवोदासने अपने तपोबलसे उन सब विघ्नोंपर विजय पायी। तदनन्तर मन्दराचलसे महादेवजीने चौंसठ योगिनियोंको राजाका छिद्र देखनेके लिये काशीमें भेजा। वे योगिनियाँ बारह महीनोंतक काशीमें रहकर निरन्तर चेष्टा करते रहनेपर भी राजाका कोई छिद्र (दोष) न पा सकीं। अतएव उनके ऊपर अपना कोई प्रभाव न डाल सकीं। जब वे लौटकर वापस नहीं गयीं, तब भगवान् शिवने सूर्यदेवको बुलाकर कहा—'सप्ताश्ववाहन! तुम उस मंगलमयी काशीपुरीको शीघ्रतापूर्वक जाओ जहाँ धर्मात्मा राजा दिवोदास विद्यमान हैं। राजाके धर्मविरोधसे जिस प्रकार वह क्षेत्र उजाड़ हो जाय, वैसा करो। परंतु उस राजाका अनादर न करना, क्योंकि धर्मके मार्गमें लगे हुए सत्पुरुषका जो अपमान किया जाता है वह अपने ही ऊपर पड़ता है और वैसा करनेसे महान् पाप भी होता है। यदि तुम्हारे बुद्धिविकाससे राजा धर्मसे च्युत हो जायँ, तब अपनी दुःसह किरणोंसे तुम्हें उस नगरको उजाड़ देना चाहिये। राजा दिवोदासमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या और अहंकारका सर्वथा अभाव है, इसलिये उन्हें काल भी नहीं जीत सकता। सूर्य! जबतक धर्ममें स्थिर बुद्धि है और धर्ममें मन स्थिरतापूर्वक लगा हुआ है, तबतक विपत्तिमें भी मनुष्योंके मार्गमें विघ्नका उदय कैसे हो सकता है। दिवाकर! इस संसारमें जितने जीव हैं उन सबकी चेष्टाओंको तुम जानते

हो, इसीलिये लोकचक्षु कहलाते हो। मेरे बताये हुए कार्यकी सिद्धिके लिये जाओ।'

भगवान् शिवकी आज्ञा शिरोधार्य करके सूर्यदेव काशीपुरीमें गये। वहाँ बाहर-भीतर विचरते हुए उन्होंने राजामें थोड़ा-सा भी धर्मका व्यतिक्रम नहीं देखा। वे अनेक रूप धारण करके एक वर्षतक काशीमें रहे। वे कभी अतिथि बनकर राजाके पास जाते और उनसे कुछ दुर्लभ वस्तु माँग बैठते थे, परंतु राजा दिवोदासके राज्यमें उन्हें कोई वस्तु दुर्लभ नहीं दिखायी दी। सूर्य कभी याचक बनते, कभी बहुत बड़े दानी होकर जाते, कभी दीनताको प्राप्त होते और कभी ज्योतिषी बन जाते थे। कभी प्रत्यक्षवादी बनकर इस लोकमें प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाली वस्तुओंकी ही सत्यताका प्रतिपादन करते थे। कभी जटाधारी बनते, कभी दिगम्बर हो जाते और कभी विष उतारनेकी विद्यामें प्रवीण सँपेरा बन जाते थे। कभी-कभी उन्होंने नाना प्रकारके दृष्टान्तों और कथानकोंद्वारा अनेक प्रकारके व्रतका उपदेश करके वहाँकी पतिव्रता स्त्रियोंको बहकानेकी भी चेष्टा की। कभी तो वे ब्राह्मण बनते, कभी ब्रह्मज्ञानी, कहीं वेदाभ्यासी, कहीं क्षत्रिय, कहीं वैश्य और अन्त्यज, कहीं ब्रह्मचारी, कहीं गृहस्थ, कहीं वानप्रस्थ, कहीं संन्यासी—इस प्रकार अनेकानेक रूप धारण करके वे लोगोंको भ्रममें डालते थे। कहीं-कहीं तो वे सम्पूर्ण विद्याओंमें पारंगत एवं सर्वज्ञ बनकर उपस्थित होते थे। इस प्रकार काशीमें विचरते हुए सूर्यने कभी किसी मनुष्यमें भी कोई छिद्र नहीं पाया।

इस क्षणभंगुर शरीरके रहते हुए जिसने धर्मकी रक्षा की है, उसने तीनों लोकोंकी रक्षा कर ली। उसे अर्थ और कामकी भलीभाँति रक्षा करनेसे क्या प्रयोजन है? यदि बहुत-से मनुष्योंको सुखकारी प्रतीत होनेवाला काम भी रक्षा करनेके योग्य होता तो कामवैरी भगवान् शिव उसे क्षणभरमें भस्म करके अनंग (अंगहीन) क्यों बना देते? शिवि आदि राजाओं तथा दधीचि आदि समस्त ब्राह्मणोंने अपने शरीरका त्याग करके भी धर्मकी रक्षा की है।

दुर्लभ काशीपुरीको पाकर कौन सचेत पुरुष उसे छोड़ सकता है। इस संसारमें प्रत्येक जन्ममें पुत्र, मित्र, स्त्री, खेत और धन मिल सकते हैं, केवल काशीपुरी नहीं मिलती। जबतक काशीसेवनसे उत्पन्न पुण्यमय तेजका उदय नहीं होता, तभीतक जुगुनूके समान अन्यान्य तेज प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार काशीके प्रभावको जाननेवाले तथा अन्धकारको दूर करनेवाले लोकचक्षु सूर्यदेव अपनेको बारह स्वरूपोंमें व्यक्त करके काशीपुरीमें स्थित हो गये। इनमें पहले लोलार्क है, दूसरे उत्तरार्क, तीसरे साम्बादित्य, चौथे द्रौपदादित्य, पाँचवें मयूखादित्य, छठे खखोल्कादित्य, सातवें अरुणादित्य, आठवें वृद्धादित्य, नवें केशवादित्य, दसवें विमलादित्य, ग्यारहवें गंगादित्य तथा बारहवें यमादित्य—ये बारहों काशीपुरीमें स्थित हैं। अगस्त्य! जिनका तमोगुण अधिक बढ़ा हुआ है, ऐसे दुष्टोंसे ये सदा इस क्षेत्रकी रक्षा करते हैं। अर्क अर्थात् भगवान् सूर्यका मन काशीके दर्शनके लिये लोल (चंचल) हो उठा था, इसलिये काशीमें उनकी लोलार्क नामसे ख्याति हुई। दक्षिण दिशामें असीसंगमके समीप लोलार्ककी स्थिति है, वे सदा काशीवासी मनुष्योंके योग-क्षेमकी सिद्धि करते हैं। मार्गशीर्षमासकी सप्तमी या षष्ठी तिथिको रविवारका योग होनेपर वहाँकी वार्षिक यात्रा करके मनुष्य समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है। मनुष्य असीसंगममें स्नान करके देवताओं और पितरोंका तर्पण एवं विधिपूर्वक श्राद्ध करे तो वह पितरोंके ऋणसे छूट जाता है। जो मनुष्य रविवारको लोलार्कका दर्शन करके उनका चरणामृत लेता है, उसे कोई दुःख नहीं होता और खुजली, दाद तथा फोड़ा-फुंसीका कष्ट भी नहीं भोगना पड़ता। जो श्रेष्ठ मनुष्य लोलार्कके इस माहात्म्यको सुनता है, वह इस दुःखसागर संसारमें कहीं भी दुःखी नहीं होता।

# उत्तरार्क सूर्यकी महिमा, सुलक्षणाकी तपस्या और उसपर शिव-पार्वतीकी कृपा

**स्कन्दजी कहते हैं**—काशीपुरीकी उत्तर दिशामें उत्तम अर्ककुण्ड है, जहाँ भगवान् सूर्य उत्तरार्क नामसे निवास करते हैं। मुने! वहाँ जो इतिहास घटित हो चुका है, उसको सुनो। काशीपुरीमें प्रियव्रत नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण थे जो आत्रेयकुलमें उत्पन्न, सदाचारी तथा अतिथिजनोंके प्रेमी थे। उनकी पत्नी अत्यन्त सुन्दरी तथा उत्तम व्रतका पालन करनेवाली थी। वह घरके काम-काजमें बड़ी चतुर तथा पतिकी सेवामें तत्पर रहनेवाली थी। ब्राह्मणने अपनी पत्नीसे एक उत्तम लक्षणोंवाली कन्याको जन्म दिया। वह कन्या मूल नक्षत्रके प्रथम चरणमें उत्पन्न हुई थी। उस समय बृहस्पति केन्द्रमें थे। ब्राह्मणकी वह कन्या पिता-माताके घरमें दिन-दिन बढ़ने लगी। वह बड़ी रूपवती, विनयशील, सदाचारपरायणा तथा माता-पिताका प्रिय करनेवाली थी। घरकी सामग्रियोंको माँज-धोकर साफ-सुथरा रखनेमें अत्यन्त निपुण थी। वह अपने पिताके घरमें जैसे-जैसे बढ़ने लगी, वैसे-ही-वैसे उसके पिताके मनमें यह चिन्ता भी बढ़ने लगी कि—'मेरी यह परम सुन्दरी उत्तम लक्षणोंवाली श्रेष्ठ कन्या किसको देनेयोग्य है। इसके योग्य उत्तम वर मुझे कहाँ मिलेगा जो कुल, अवस्था, शील, स्वभाव, शास्त्राध्ययन, रूप और धनसे भी सम्पन्न हो। किसके साथ ब्याह होनेपर इसे सुख मिलेगा।' इस प्रकार चिन्ता नामक ज्वरसे ग्रस्त हो प्रियव्रत ब्राह्मण गृह आदि सब वस्तुओंका त्याग करके मृत्युको प्राप्त हो गये। पिताके मरनेपर उस कन्याकी पतिव्रता माता भी कन्याको अकेली छोड़कर पतिके पीछे चली गयी। पतिव्रतका पालन करनेवाली सहधर्मिणीका यह धर्म ही है कि वह पतिके जीते-जी तथा मरनेपर भी पतिके ही साथ रहे। पुत्र, पिता, माता और बन्धु-बान्धव इनमेंसे कोई भी (पतिके सदृश) स्त्रीकी रक्षा नहीं करते। स्त्री अपने पतिके चरणोंकी जो सेवा करती है वह सेवा ही सर्वत्र उसकी रक्षा करती है। माता-पिताके मरनेपर वह सुलक्षणा नामवाली कन्या दुःखसे व्याकुल हो उठी। उसने उनके और्ध्वदैहिक संस्कार करके दशाह आदि क्रियाएँ सम्पन्न कीं और अनाथ एवं दीन होकर वह बड़ी भारी चिन्ता करने लगी—'अहो! मैं पिता-मातासे हीन असहाय अबला इस संसारसागरके उस पार, जहाँ पहुँचना अत्यन्त कठिन है, कैसे जा सकूँगी; क्योंकि स्त्रीभाव सबके द्वारा तिरस्कृत होनेवाला है। मेरे माता-पिताने मुझे किसी वरको अर्पण नहीं किया। ऐसी दशामें मैं स्वेच्छासे दूसरे किसी वरका वरण कैसे करूँ। यदि मैंने किसीका वरण कर भी लिया तो भी यदि वह कुलीन, गुणवान्, सुशील और अपने अनुकूल रहनेवाला न मिला तो उसका वरण करनेसे भी क्या लाभ होगा।'

इस प्रकार चिन्ता करती हुई रूप, उदारता और गुणोंसे युक्त उस ब्राह्मणकन्याने अनेकों युवकोंद्वारा प्रतिदिन बार-बार प्रार्थना की जानेपर भी किसीको अपने हृदयमें स्थान नहीं दिया। पिता-माताकी मृत्यु और उनके अद्भुत वात्सल्यका विचार करके वह बार-बार अपनी और इस नश्वर संसारकी निन्दा करने लगी—'अहो! जिन्होंने मुझे जन्म दिया और बड़े लाड़-प्यारसे पाला, वे मेरे माता-पिता कहाँ चले गये? देहधारी जीवकी इस अनित्यताको धिक्कार है। जैसे मेरे ही आगे मेरे माता-पिताका शरीर चला गया, उसी प्रकार मेरा भी शरीर चला जायगा।' ऐसा विचार करके उस बालिकाने अपने मन और इन्द्रियोंको काबूमें किया और स्थिरचित्त हो दृढ़तापूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करती हुई वह उत्तरार्कदेवके समीप कठोर तपस्या करने लगी। उसकी तपस्याके समय प्रतिदिन एक छोटी-सी बकरी उसके आगे आकर अविचल भावसे खड़ी हो जाती। फिर सन्ध्याके समय वह कुछ घास तथा पत्ते आदि चरकर और उत्तरार्क

कुण्डका जल पीकर अपने स्वामीके घरको लौट जाती थी। इस प्रकार पाँच-छः वर्ष व्यतीत होनेपर एक दिन भगवान् शिव पार्वतीदेवीके साथ लीलापूर्वक विचरते हुए वहाँ आये। उत्तरार्कदेवके समीप तपस्या करती हुई सुलक्षणाको उन्होंने ठूँठ पेड़की भाँति अविचल और तपस्यासे अत्यन्त दुर्बल देखा। तब दयामयी पार्वतीदेवीने भगवान् शंकरसे निवेदन किया—'देव! यह सुन्दरी कन्या बन्धु-बान्धवोंसे हीन है, इसे वर देकर अनुगृहीत कीजिये।' पार्वतीजीका यह वचन सुनकर दयासागर भगवान् शिवने नेत्र बंदकर समाधिमें स्थित हुई उस कन्यासे वर देनेके लिये उद्यत होकर बोले—'उत्तम व्रतका पालन करनेवाली सुलक्षणे! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, तुम कोई वर माँगो।'

महादेवजीकी यह अमृतवर्षिणी वाणी सुनकर सुलक्षणाने जब नेत्र खोले, तब देखा, सामने वरदान देनेके लिये उद्यत भगवान् त्रिलोचन खड़े हैं और उनके वामांग भागमें देवी उमा विराजमान हैं। उन दोनोंका दर्शन करके सुलक्षणाने हाथ जोड़कर प्रणाम किया। इतनेमें ही उसे अपने आगे खड़ी हुई वह बकरी दिखायी दी। तब वह सोचने लगी—'इस जीवलोकमें अपना स्वार्थ सिद्ध

करनेके लिये कौन मनुष्य जीवन नहीं धारण करता है? परंतु जो परोपकारके लिये जीवन धारण करता है, उसीका जीवनधारण सफल है।' मन-ही-मन ऐसा विचारकर उसने भगवान् शिवसे कहा—'कृपानिधान! यदि आप मुझे वर देना उचित समझते हैं तो पहले इस बेचारी बकरीपर अनुग्रह कीजिये।' सुलक्षणाकी यह परोपकारसे सुशोभित वाणी सुनकर शरणागतोंकी पीड़ा दूर करनेवाले भगवान् शंकर बहुत प्रसन्न हुए और पार्वतीदेवीसे इस प्रकार बोले—'गिरिराजनन्दिनी! देखो, साधु पुरुषोंकी ऐसी ही परोपकारयुक्त बुद्धि होती है। सम्पूर्ण लोकोंमें वे ही धन्य हैं और वे ही सम्पूर्ण धर्मोंके आश्रय हैं जो सर्वथा परोपकारके लिये यत्न करते हैं। सब वस्तुओंका संग्रह भी कहीं दीर्घकालतक नहीं ठहरता। एकमात्र परोपकार ही चिरस्थायी होता है। यह सुलक्षणा परम धन्य और अनुग्रह करनेयोग्य है। देवि! तुम्हीं बताओ, इस सुलक्षणाको और इस बकरीको भी कौन-सा वरदान देना चाहिये?'

**पार्वतीदेवीने कहा**—भगवन्! यह शुभ आचरणोंवाली सुलक्षणा कल्याणके लिये उद्योग करनेवाली है; यह मेरी सखी होकर रहे। यह बालब्रह्मचारिणी है, इससे मुझे अत्यन्त प्रिय होगी। मेरी इच्छा है कि यह दिव्य शरीर धारण करके सदैव मेरे समीप निवास करे। यह बकरी भी यहीं काशीनरेशकी कन्या होवे और काशीमें उत्तम भोगोंका उपभोग करके अन्तमें परम मोक्षको प्राप्त हो। इसने शीतसे भयभीत न होकर पौष मासके रविवारको सूर्योदयसे पहले इस कुण्डमें स्नान किया है, इसलिये इस अर्क कुण्डका नाम आजसे 'बर्करी कुण्ड' हो जाय। यहाँ सब मनुष्योंके द्वारा इस बकरीकी प्रतिमा पूजनीय होगी। काशीतीर्थके फलकी इच्छा रखनेवाले मनुष्योंको पौष मासके रविवारके दिन उत्तरार्कदेवकी वार्षिक यात्रा करनी चाहिये।

इस प्रकार पार्वतीजीके कहे हुए सब वचनको सिद्ध करके सर्वव्यापी भगवान् विश्वनाथने अपने मन्दिरमें प्रवेश किया।

# साम्बादित्य, द्रौपदादित्य और मयूखादित्यकी माहात्म्य-कथा

**स्कन्दजी कहते हैं**—मुने! द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णके एक लाख अस्सी पुत्र थे। वे सभी सूर्यके समान तेजस्वी, अत्यन्त सुन्दर, महाबलवान्, शस्त्र-विद्या और शास्त्रोंके अतिशय ज्ञाता तथा अत्यन्त सुलक्षण थे। उन सबमें साम्ब सबसे अधिक गुणवान् थे। उन्होंने काशीमें आकर सूर्यदेवकी आराधना की और एक कुण्ड बनवाया। जो मनुष्य रविवारको साम्ब कुण्डमें स्नान करके साम्बादित्यकी पूजा करता है, वह रोगोंसे पीडित नहीं होता है। माघके शुक्ल पक्षकी सप्तमीको यदि रविवार हो तो वह सूर्यग्रहणके समान कल्याणकारी महापर्व बताया गया है। उस दिन अरुणोदय कालमें साम्ब कुण्डमें स्नान करके जो साम्बादित्यकी पूजा करता है, वह बड़े-बड़े रोगोंसे मुक्त हो अक्षय धर्मको प्राप्त होता है। चैत्रमासके रविवारको साम्बादित्यकी वार्षिक यात्रा होती है। उस दिन साम्ब कुण्डमें विधिपूर्वक स्नान करके जो अशोक पुष्पोंसे साम्बादित्यकी पूजा करता है, वह कभी शोकग्रस्त नहीं होता। भगवान् विश्वनाथसे पश्चिम दिशामें महात्मा साम्बने यहाँ शुभ देनेवाली सूर्यमूर्तिकी भलीभाँति आराधना की थी। महामते! साम्बादित्यका पूजन और नमस्कार करके जो आठ बार उनकी परिक्रमा करता है, वह पापरहित हो काशीवासका फल पाता है।

अब मैं द्रौपदादित्यका परिचय दूँगा। द्रौपदादित्य भक्तोंको सिद्धि प्रदान करनेवाले हैं। अतः उनका भलीभाँति सेवन करना चाहिये। एक समयकी बात है, पाँचों पाण्डव अपने शत्रुओंद्वारा उपस्थित की हुई बड़ी भारी विपत्तिमें पड़कर वनवासी हो गये। पांचाल देशके राजा द्रुपदकी कन्या द्रौपदी उनकी धर्मपत्नी थी। उसने अपने पतियोंके दुःखसे सन्तप्त होकर भगवान् सूर्यकी आराधना की। इससे प्रसन्न होकर भगवान् सूर्यने द्रौपदीको करछुल और ढक्कनके साथ एक अक्षय स्थालीपात्र (बटलोई) दिया और इस प्रकार कहा—'महाभागे! इस स्थालीसे जितने भी अन्नकी इच्छा रखनेवाले लोग आयेंगे, वे सभी तृप्तिको प्राप्त होंगे। ऐसा तभीतक होगा, जबतक तुम भोजन नहीं कर लोगी। तुम्हारे भोजन कर लेनेपर यह खाली हो जायगी। यह रसीले व्यंजनोंकी निधि है और इच्छानुसार भोजन देनेवाली है। जो मनुष्य भगवान् विश्वनाथके दक्षिण भागमें तुम्हारे सम्मुख स्थित हुए मुझ द्रौपदादित्यकी आराधना करेगा, उसकी भूखकी पीड़ा नष्ट हो जायगी। धर्मप्रिय द्रौपदी! काशीमें तुम्हारे दर्शनसे रोग और भूख-प्यासका भय नहीं रहेगा।' इस प्रकार वर देकर सूर्यदेव भगवान् शंकरकी आराधनामें लग गये। जो मनुष्य द्रौपदीके द्वारा आराधित भगवान् सूर्यकी कथाको भक्तिपूर्वक सुनेगा, उसका पाप नष्ट हो जायगा।

**स्कन्दजी कहते हैं**—मुने! मैंने द्रौपदादित्यकी महिमा संक्षेपसे कही। अब मयूखादित्यका माहात्म्य सुनो। पूर्वकालमें त्रिभुवनविख्यात पंचगंगा तीर्थमें भगवान् सूर्यने अत्यन्त उग्र तपस्या की। गभस्तीश्वर नामक महालिंग और भक्तोंको मंगल प्रदान करनेवाली मंगला नामक गौरीदेवीकी स्थापना करके उनकी आराधना करते हुए भगवान् सूर्य तीव्र तपके तेजसे अत्यन्त जाज्वल्यमान हो उठे। उस समय पृथ्वी और आकाशके बीचका समस्त प्रदेश त्रिलोकीको दग्ध करनेमें समर्थ सूर्यकिरणोंद्वारा अत्यन्त सन्तप्त हो उठा। जैसे कदम्बफलके ऊपर सब ओरसे पुष्प ही दिखायी देते हैं, फल नहीं। उसी प्रकार ऊपर, नीचे और अगल-बगलमें सब ओर केवल सूर्यकी किरणें ही दिखायी देती थीं, सूर्यदेव नहीं। तेज और तपस्याकी राशिभूत सूर्यकी तपोमयी ज्वालाओंके तीव्र भयसे तीनों लोकोंके समस्त चराचर प्राणी काँप उठे। सब मन-ही-मन सोचने लगे—अहो! सूर्यदेव सम्पूर्ण जगत्के आत्मा

हैं। यदि वही हमें जलाने लगे तो कौन हमारा रक्षक होगा। सूर्य समस्त संसारके नेत्र हैं। ये ही सब ओर प्रकाश फैलाते हैं और प्रतिदिन प्रातःकाल मृतप्राय जगत्को नूतन जीवन देकर जाग्रत् करते हैं। ये ही अन्धकारमय अन्धकूपमें पड़े हुए समस्त प्राणियोंका चारों ओर अपने किरणरूप हाथ फैलाकर उद्धार करते हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण विश्वको व्याकुल देख विश्वरक्षक भगवान् विश्वनाथ सूर्यदेवको वर देनेके लिये गये। वे समाधिमें स्थित होकर अपने-आपको भी भूल गये थे। अत्यन्त निश्चलभावसे बैठे हुए अंशुमाली सूर्यको देखकर भगवान् शंकरने कहा—'आकाशमें प्रकाशित होनेवाले सूर्य! अब तपस्याकी आवश्यकता नहीं है, वह पूरी हो गयी। अब कोई वर माँगो।' सूर्यदेव ध्यान एवं समाधिके द्वारा अपनी इन्द्रियवृत्तियोंको रोककर स्थिर बैठे थे। अतः उन्होंने भगवान् शंकरकी बात नहीं सुनी। तब शिवजीने अपने हाथसे उनका स्पर्श किया। उनका स्पर्श पाते ही विश्वलोचन सूर्यने अपनी आँखें खोलीं और अपने आराध्यदेव भगवान् शिवको प्रत्यक्ष देखकर साष्टांग प्रणाम किया। तदनन्तर उन्होंने इस प्रकार स्तुति की—

**सूर्य बोले**—देवाधिदेव! जगत्पते! सर्वव्यापी! भर्ग! भीम! भव! चन्द्रभूषण! भूतनाथ तथा भवभयहारी देव! आप प्रणत जनोंको मनोवांछित वस्तु देनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। चन्द्रचूड! मृड! धूर्जटे! हर! त्र्यक्ष! दक्षके सैकड़ों यज्ञोंका नाश करनेवाले शान्त! शाश्वत! शिवापते! शिव! आप प्रणत जनोंको मनोवांछित वस्तु देनेवाले हैं, आपको मैं नमस्कार करता हूँ। नीललोहित! अभीष्ट वस्तु देनेवाले त्रिलोचन! विरूपाक्ष! व्योमकेश! जीवोंके अज्ञानमय बन्धनका नाश करनेवाले। आप प्रणत जनोंकी मनोवांछा पूर्ण करनेवाले हैं, आपको मेरा नमस्कार है। वामदेव! शितिकण्ठ! शूलपाणे! चन्द्रशेखर! नागेन्द्रभूषण! कामनाशन! पशुपते! महेश्वर! आप शरणागतोंकी इच्छा पूर्ण करनेवाले हैं, आपको मैं नमस्कार करता हूँ। त्र्यम्बक! त्रिपुरारे! ईश्वर! सबकी रक्षा करनेवाले त्रिनयन! तीनों वेदस्वरूप! कालकूटके विषका दलन करनेवाले! कालके भी काल! आप प्रणत जनोंकी मनोवांछित वस्तुओंको देनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। आप जहाँ हैं वहाँ रात्रिका अभाव है। शर्व! आप सर्वव्यापी हैं। स्वर्गमार्गका सुख देनेवाले तथा अपवर्ग (मोक्ष)-की प्राप्ति करानेवाले हैं। अन्धकासुरके शत्रु तथा जटाजूटधारी हैं। प्रभो! आप प्रणत जनोंकी इच्छा पूर्ण करनेवाले हैं, आपको मेरा नमस्कार है। आप भक्तोंके लिये कल्याणकारी और दुष्टोंके लिये उग्र हैं। गिरिराजनन्दिनीके प्राणवल्लभ! आप ही सबके वास्तविक पति हैं। विश्वनाथ! ब्रह्मा और विष्णु भी आपकी स्तुति करते हैं। आप ही वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य परमात्मा हैं, आपको सबकी चेष्टाओंका ज्ञान है। नाथ! आप अपने चरणोंमें मस्तक झुकानेवाले भक्तोंको उनकी अभीष्ट वस्तुएँ देते हैं, आपको नमस्कार है। यह विश्व आपका ही स्वरूप है, तथापि आप सबसे परे हैं, आप ही निराकार ब्रह्म हैं, आपमें कुटिलताका सर्वथा अभाव है, आप अमृत

(मोक्ष) देनेवाले हैं, मन और वाणीकी पहुँचसे सर्वथा दूर हैं। दूरतक पहुँचे हुए सर्वव्यापी परमेश्वर! आप प्रणत जनोंको मनोवांछित वस्तुएँ प्रदान करनेवाले हैं, आपको मेरा नमस्कार है।[१]

इस प्रकार स्तुति करके सूर्यने महादेवजी और पार्वतीजीकी परिक्रमा की। तदनन्तर प्रसन्नचित्त होकर उन्होंने शिवके वामांग भागमें विराजमान गौरीदेवीका इस प्रकार स्तवन किया[२]।

**सूर्य बोले**—देवि! आपको प्रणाम करनेमें प्रवीण जो भक्त पुरुष अपने ललाटको आपके चरणारविन्दोंकी धूलिसे उज्ज्वल करता है, जन्मान्तरमें भी चन्द्रमाकी मनोहर लेखा उसके भाल-प्रदेशको अत्यन्त उज्ज्वल बना देती है। अर्थात् वह पुरुष भगवान् शंकरका सारूप्य प्राप्त कर लेता है। श्रीमती मंगलागौरी! आप सम्पूर्ण मंगलोंकी जन्मभूमि हैं। श्रीमंगले! आप सम्पूर्ण पापराशिरूपी रूईको दग्ध करनेके लिये प्रज्वलित अग्नि हैं। श्रीमंगले! आप सम्पूर्ण दानवोंके दर्पका दलन करनेवाली हैं। श्रीमंगले! आप इस सम्पूर्ण विश्वकी रक्षा करें। विश्वेश्वरी! आप ही समस्त जगत्के जीवोंकी सृष्टि, पालन तथा प्रलयकालमें उनका संहार करनेवाली हैं। आपके नामकीर्तनसे प्रकट हुई पुण्यमयी निर्मल नदी पातकरूपी तटवर्ती वृक्षोंको बहा ले जाती है। मातः! आप भगवान् शिवकी प्रिया हैं, आप ही संसारके दुःसह दुःखभारका निवारण करनेवाली हैं। इस जगत्में आपके सिवा दूसरी कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो शरणागतोंकी रक्षा करनेमें समर्थ हो। जिनके ऊपर आपका कल्याणकारी कृपाकटाक्ष हो जाता है, वे ही समस्त भुवनोंमें धन्य हैं और वे ही माननीय हैं। देवि! आप सहज प्रकाशस्वरूपा हैं। काशीपुरीमें आप सदा निवास करती हैं और प्रणत जनोंके लिये मोक्ष-लक्ष्मीरूपा हैं। जो लोग निरन्तर आपका स्मरण करते हैं, वे मोक्षरूपी धनकी रक्षा करनेमें कुशल एवं उसे पानेके सुयोग्य पात्र हैं। उनकी बुद्धि परम शुद्ध है। आपके उन बड़भागी भक्तोंको कामारि भगवान् शिव भी सदा स्मरण करते

---

रविरुवाच

१- देवदेव जगताम्पते विभो भर्ग भीम भव चन्द्रभूषण।
भूतनाथ भवभीतिहारक त्वां नतोऽस्मि नतवांछितप्रद॥
चन्द्रचूड मृड धूर्जटे हर त्र्यक्ष दक्षशततन्तुशातन।
शान्त शाश्वत शिवापते शिव त्वां नतोऽस्मि नतवांछितप्रद॥
नीललोहित समीहितार्थद द्व्येकलोचन विरूपलोचन।
व्योमकेश पशुपाशनाशन त्वां नतोऽस्मि नतवांछितप्रद॥
वामदेव शितिकण्ठ शूलभृच्चन्द्रशेखर फणीन्द्रभूषण।
कामकृत्पशुपते महेश्वर त्वां नतोऽस्मि नतवांछितप्रद॥
त्र्यम्बक त्रिपुरसूदनेश्वर त्राणकृत्त्रिनयन त्रयीमय।
कालकूटदलनान्तकान्तक त्वां नतोऽस्मि नतवांछितप्रद॥
शर्वरीरहित शर्व सर्वग स्वर्गमार्गसुखदापवर्गद।
अन्धकासुररिपो कपर्दभृत् त्वां नतोऽस्मि नतवांछितप्रद॥
शङ्करोग्र गिरिजापते पते विश्वनाथ विधिविष्णुसंस्तुत।
वेदवेद्य विदिताखिलेङ्गित त्वां नतोऽस्मि नतवांछितप्रद॥
विश्वरूप पररूपवर्जित ब्रह्म जिह्मरहितामृतप्रद।
वाङ्मनोविषयदूर दूरग त्वां नतोऽस्मि नतवांछितप्रद॥

(स्क० पु०, का० पू० ४९। ४६—५३)

२- इत्थं परीत्य मार्तण्डो मृडं देवं मृडानिकाम्। अथ तुष्टाव प्रीतात्मा शिववामार्द्धहारिणीम्॥

(स्क० पु०, का० पू० ४९। ५४)

हैं। मातः! जिसके हृदयमें आपके अत्यन्त निर्मल युगलचरणारविन्द सतत विराजमान हैं, यह सम्पूर्ण विश्व उसके हाथमें ही है। मंगलगौरि! जो प्रतिदिन आपके नामका जप करता है, उसके घरको अणिमा आदि आठों सिद्धियाँ कभी नहीं छोड़ती हैं। देवि! आप ही प्रणवस्वरूपा वेदमाता गायत्री हैं। आप ही द्विजोंके लिये कामधेनु हैं। आप ही तीनों व्याहृतियाँ (**भूः, भुवः, स्वः**) हैं और आप ही सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके लिये देवताओं और पितरोंकी तृप्तिमें कारणभूत स्वाहा और स्वधा हैं। माता मंगलागौरी! आप ही भगवान् चन्द्रशेखरके समीप गौरीरूपसे विराजमान हैं। आप ही ब्रह्माजीके निकट सावित्री होकर रहती हैं। आप ही चक्रपाणि भगवान् विष्णुके यहाँ मनोहर लक्ष्मी रूपसे निवास करती हैं तथा आप ही काशीमें मोक्षलक्ष्मी हैं। निर्मल स्वरूप धारण करनेवाली देवि! आप ही इस जगत्में मुझ शरणागतकी रक्षा करनेवाली हैं*।

इस प्रकार भगवान् शिवके आधे शरीरकी शोभास्वरूपा मंगलादेवीका इस मंगलाष्टक नामक महास्तोत्रसे स्तवन करके सूर्यदेवने महादेवजी तथा मंगलागौरीको बारंबार प्रणाम किया और उन दोनोंके सामने चुपचाप पड़े रहे।

**तब महादेवजीने कहा**—सूर्यदेव! उठो, उठो, तुम्हारा कल्याण हो। महामते! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। मित्र! तुम तो सदा मेरे नेत्रमें ही स्थित हो, जिससे मैं समस्त चराचर जगत्को देखता हूँ। तुम मेरी आठ मूर्तियोंमेंसे एक हो। आजसे तुम सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सम्पूर्ण तेजोंका समुदाय तथा सबके सम्पूर्ण कर्मोंके ज्ञाता होओ। अपने सब भक्तोंके समस्त दुःखोंको दूर करो। तुमने मेरे चौंसठ नामोंके द्वारा जो यह अष्टकस्तोत्र सुनाया है, इसके द्वारा मेरी स्तुति करके मनुष्य मेरी भक्ति प्राप्त कर लेगा। यह मंगलागौरीका अष्टकस्तोत्र मंगलाष्टक नामसे विख्यात होगा। इसके द्वारा मंगलागौरीकी स्तुति करके मनुष्य मंगल प्राप्त करेगा। ये नामचतुःषष्ठ्यष्टक तथा मंगलाष्टक नामक दोनों स्तोत्र श्रेष्ठ, पुण्यमय तथा सब पातकोंके नाशक हैं। जो काशीसे दूरदेशमें रहता है, वह भी यदि प्रतिदिन तीनों समय इन दोनों स्तोत्रोंका जप करे तो वह श्रेष्ठ एवं शुद्धचित्त होकर दुर्लभ काशीको प्राप्त

---

रविरुवाच

* देवि त्वदीयचरणाम्बुजरेणुगौरीं भालस्थलीं वहति यः प्रणतिप्रवीणः।
जन्मान्तरेऽपि रजनीकरचारुलेखा तां गौरयत्यतितरां किल तस्य पुंसः॥
श्रीमङ्गले सकलमङ्गलजन्मभूमे श्रीमङ्गले सकलकल्मषतूलवस्त्रे।
श्रीमङ्गले सकलदानवदर्पहन्त्रि श्रीमङ्गलेऽखिलमिदं परिपाहि विश्वम्॥
विश्वेश्वरि त्वमसि विश्वजनस्य कर्त्री त्वं पालयिष्यसि तथा प्रलयेऽपि हन्त्री।
त्वन्नामकीर्तनसमुल्लसदच्छपुण्या स्रोतस्विनी हरति पातककूलवृक्षान्॥
मातर्भवानि भवती भवतीव्रदुःखसंभारहारिणि शरण्यमिहास्ति नान्या।
धन्यास्त एव भुवनेषु त एव मान्या येषु स्फुरेत्तव शुभः करुणाकटाक्षः॥
ये त्वां स्मरन्ति सततं सहजप्रकाशां काशीपुरीस्थितिमतीं नतमोक्षलक्ष्मीम्।
तान् संस्मरेत्स्मरहरो धृतशुद्धबुद्धीन् निर्वाणरक्षणविचक्षणपात्रभूतान्॥
मातस्तवाङ्घ्रियुगलं विमलं हृदिस्थं यस्यास्ति तस्य भुवनं सकलं करस्थम्।
यो नाम ते जपति मङ्गलगौरि नित्यं सिद्ध्यष्टकं न परिमुञ्चति तस्य गेहम्॥
त्वं देवि वेदजननी प्रणवस्वरूपा गायत्र्यसि त्वमसि वै द्विजकामधेनुः।
त्वं व्याहृतित्रयमिहाखिलकर्मसिद्ध्यै स्वाहा स्वधासि सुमनःपितृतृप्तिहेतुः॥
गौरि त्वमेव शशिमौलिनि वेधसि त्वं सावित्र्यसि त्वमसि चक्रिणि चारुलक्ष्मीः।
काश्यां त्वमस्यमलरूपिणि मोक्षलक्ष्मीस्त्वं मे शरण्यमिह मङ्गलगौरि मातः॥

(स्क० पु०, का० पू० ४९। ५५—६२)

करेगा। ये दोनों स्तोत्र काशीमें मोक्षसम्पत्ति प्रदान करते हैं। अतः मोक्षकी इच्छा रखनेवाले मनुष्योंको प्रयत्नपूर्वक अनेक स्तोत्रोंका परित्याग करके भी इन दोनों स्तोत्रोंका पाठ एवं जप करना चाहिये। तुम्हारे द्वारा स्थापित यह गभस्तीश्वरलिंग भक्तिभावसे सेवित होनेपर सब सिद्धियोंका दाता होगा। तुमने भक्तिभावसे चम्पा और कमलके समान कान्तिवाली गभस्तिमालाओं (किरणों)-से जो इस ईश्वरलिंगका पूजन किया है, उससे इसका नाम गभस्तीश्वर लिंग होगा। पंचगंगामें स्नान करके गभस्तीश्वरका पूजन करनेवाला मनुष्य सब पापोंसे रहित होकर कभी भी माताके गर्भमें जन्म धारण नहीं करेगा। जो स्त्री या पुरुष चैत्र शुक्ला तृतीयाको उपवास करके वस्त्र, आभूषण आदि महान् उपचारोंसे इन महादेवी मङ्गलागौरीकी पूजा करेगा और प्रातःकाल व्रत पूर्ण करके पारण करेगा, वह कभी दुर्भाग्य एवं दरिद्रताको नहीं प्राप्त होगा। उसके सारे पाप नष्ट हो जायँगे और वह पुण्यकी राशि प्राप्त करेगा। वन्ध्या भी इस मंगलागौरीव्रतको करके बालकको जन्म देती है। यहाँ तपस्या करते हुए तुम्हारे मयूखसमूह (किरणपुंज) ही देखे गये हैं, शरीर नहीं दिखायी दिया है। अतः अदितिनन्दन! तुम्हारा नाम मयूखादित्य होगा। तुम्हारी पूजा करनेसे मनुष्योंको कोई रोग-व्याधि नहीं होगी। रविवारको तुम्हारे दर्शनसे दरिद्रताका नाश होगा।

इस प्रकार मयूखादित्यको बहुत-से वर देकर भगवान् शिव अन्तर्धान हो गये और सूर्यदेवने वहीं निवास किया।

## गरुडेश्वर लिंग तथा खखोल्कादित्यकी प्रादुर्भाव-कथा, काशीमें गरुड और विनताकी तपस्या और वरदान-प्राप्ति

**स्कन्दजी कहते हैं**—अगस्त्य! त्रिलोचन स्थानके उत्तरभागमें खखोल्क नामक आदित्यकी स्थिति बतायी गयी है। वे सब रोगोंका नाश करनेवाले हैं। पूर्वकालमें कद्रू और विनता—ये दोनों बहनें परस्पर खेल रही थीं। ये दक्ष प्रजापतिकी कन्याएँ और मरीचिनन्दन कश्यपकी धर्मपत्नियाँ थीं। उस खेलमें कद्रूने अपनी बहनसे कहा—'विनते! सूर्यके रथमें जो उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा सुना जाता है, उसका रूप कैसा है, जानती हो तो कहो। हम दोनों शर्त रखकर इसका निर्णय करें, जो जिससे पराजित हो, वह उसकी दासी हो। हमारी इस प्रतिज्ञामें ये सब सखियाँ साक्षी हैं।' इस प्रकार आपसमें शर्त बदकर कद्रूने सूर्यके घोड़ेको चितकबरा बताया और विनताने श्वेत कहा। विनताके चले जानेपर कद्रूने अपने पुत्रोंको बुलाकर कहा—'तुम मेरे वचनसे शीघ्र ही उच्चैःश्रवा घोड़ेके समीप जाओ और उसे श्याम रंगसे युक्त चितकबरा कर दो।' कद्रूके बुद्धिमान् पुत्रोंने उच्चैःश्रवाके पास जाकर उसके शरीरको जगह-जगहसे काले केशके समान चितकबरा कर दिया। कद्रू और विनता दोनोंने सूर्यके रथमें घोड़ेको कुछ-कुछ काले रंगसे युक्त अर्थात् चितकबरा देखा। तब विनताने कहा—'बहन! तुम्हारी ही बात सत्य निकली, अतः तुमने मुझे जीत लिया।' तबसे विनता कद्रूकी दासी हो गयी। तदनन्तर विनताके पुत्र गरुड़ने नागोंको अमृत देकर अपनी माताको दासीभावसे मुक्त किया। दासीपनसे छुटकारा मिलनेपर विनताने गरुड़से कहा—बेटा! मैं दास्यजनित दुष्कृतको दूर करनेके लिये काशीपुरी जाऊँगी, वहाँ साक्षात्

भगवान् विश्वनाथ चन्द्रमाका आभूषण धारण किये तारकमन्त्ररूपी नौकाके द्वारा दुस्तर संसारसागरसे सबको पार लगा देते हैं। जिनपर भगवान् विश्वनाथकी कृपा होती है और जिनके समस्त कर्मबन्धन टूट जाते हैं, उन्हीं मनुष्योंकी बुद्धि काशीपुरीमें निवास करनेकी होती है। समस्त पाप धुल जानेके कारण जिनका मन काशीपुरीमें निवास करनेके लिये उत्सुक होता है, वे ही इस संसारमें वस्तुतः मनुष्य हैं। दूसरे लोग तो मनुष्यके रूपमें पशु ही हैं।'

**माताकी यह बात सुनकर गरुड़ने नमस्कार करके कहा**—मैं भी भगवान् शिवसे सम्मानित काशीपुरीका दर्शन करनेके लिये चलूँगा। तत्पश्चात् माताकी आज्ञा पाकर पक्षिराज गरुड़ उन्हींके साथ क्षणभरमें मोक्षभूमि वाराणसीपुरीमें आ पहुँचे। वहाँ इन दोनोंने बड़ी भारी तपस्या की। अविचल इन्द्रियोंवाले पक्षिराज गरुड़ने शिवलिंगकी स्थापना की और विनताने खखोल्क* नामक 'आदित्य' को स्थापित किया। थोड़े ही दिनोंमें उन दोनोंकी तीव्र तपस्यासे काशीमें भगवान् शंकर और सूर्यदेव दोनों प्रसन्न हो गये। गरुड़द्वारा स्थापित शिवलिंगसे उमानाथ भगवान् शिव प्रकट हुए और उन्होंने गरुड़को बहुत-से अत्यन्त दुर्लभ वरदान दिये—'पक्षिराज! मेरे यथार्थ रहस्यको, जिसे देवता भी नहीं जान सके हैं, तुम जान लोगे। तुम्हारे द्वारा स्थापित यह लिंग गरुडेश्वरके नामसे विख्यात होगा। इसका दर्शन, स्पर्श और पूजन मनुष्योंको परम ज्ञान देनेवाला होगा। हम ही वह विष्णु हैं और वह विष्णु ही हम हैं, हम दोनोंमें तुम्हारी भेददृष्टि नहीं होनी चाहिये। तुम भगवान् विष्णुके श्रेष्ठ वाहन होकर स्वयं भी पूजनीय हो जाओगे।' अपने भक्त गरुड़को इस प्रकार वरदान देकर भगवान् शंकर वहीं अन्तर्धान हो गये और गरुड़जी भी भगवान् विष्णुके वाहन होकर भूमण्डलमें सबके लिये पूजनीय हो गये।

तदनन्तर एक दिन तपस्यामें संलग्न हुई विनताको देखकर शिवके ही दूसरे स्वरूप 'खखोल्कादित्य' नामक सूर्यदेव प्रकट हुए और उन्होंने विनताको शिवज्ञानसे युक्त पापनाशक वरदान दिया। वरदान देकर वे काशीमें ही रह गये और विनतादित्यके नामसे प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार काशीके विघ्नस्वरूप अन्धकारका नाश करनेवाले खखोल्क नामक आदित्य वहाँ निवास करते हैं। उनके दर्शनमात्रसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। काशीमें पैशंगिल (पिलपिला) तीर्थमें भगवान् खखोल्कादित्यका दर्शन करनेसे मनुष्य क्षणभरमें नीरोग हो जाता है और मनोवांछित वस्तुको प्राप्त करता है।

**काशीखण्ड पूर्वार्ध सम्पूर्ण।**

* एक बार गरुड़की माता विनता सर्पोंकी माता कद्रूको पीठपर चढ़ाकर सूर्य-मण्डलके समीप ले गयी। कद्रू सूर्यका ताप सहन न कर सकनेके कारण मूर्छित-सी होने लगी और घबराहटमें बोल उठी—'खखोल्का निपतेत्।' वह कहना चाहती थी, 'सखी उल्का निपतेत्'—'सखी! उल्का गिरेगी' परंतु निकल गया—'खखोल्का' तबसे सूर्यकी 'खखोल्क' संज्ञा हो गयी।

# काशीखण्ड ( उत्तरार्ध )

## अरुणादित्य, वृद्धादित्य, केशवादित्य, विमलादित्य, गंगादित्य तथा यमादित्यकी महिमाका वर्णन

**स्कन्दजी कहते हैं**—महामते! विनतानन्दन अरुणने काशीमें तपस्या करके भगवान् सूर्यकी आराधना की। इससे प्रसन्न होकर आदित्यने अरुणको अनेक वर दिये और उन्हींके नामपर अरुणादित्य नामसे विख्यात हुए।

**सूर्यदेव बोले**—विनतानन्दन! तुम जगत्के हितके लिये घोर अन्धकारका नाश करते हुए सदा मेरे रथपर आगे सारथिके स्थानपर बैठा करो। जो यहाँ अरुणादित्य नामसे प्रसिद्ध मेरा निरन्तर पूजन करेंगे, उन्हें दुःख, दरिद्रता और पापकी प्राप्ति नहीं होगी। वे न तो रोगोंसे पीड़ित होंगे और न उन्हें कोई उपद्रव ही सतावेंगे।

ऐसा कहकर भगवान् सूर्य उन्हें रथपर बिठाकर अपने साथ ले गये। तबसे लेकर आज भी प्रातःकाल सूर्यके रथपर अरुणका उदय होता है। जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर प्रतिदिन सूर्यसहित अरुणको नमस्कार करता है, उसे दुःखका भय कहाँसे हो सकता है। जो श्रेष्ठ मनुष्य अरुणादित्यका माहात्म्य सुनेगा, उसे किसी प्रकारके पापकी प्राप्ति नहीं होगी।

अगस्त्य! अब वृद्धादित्यका माहात्म्य सुनो। प्राचीन कालमें काशीपुरीमें महातपस्वी वृद्ध हारीतने भगवान् सूर्यकी आराधना की। विशालाक्षी-देवीके दक्षिण भागमें सूर्यदेवकी शुभ लक्षणोंसे युक्त शुभदायिनी मूर्ति स्थापित करके दृढ़भक्तिके साथ उन्होंने सूर्यदेवका आराधन किया। इससे प्रसन्न होकर भगवान् सूर्यने वृद्धतपस्वी हारीतसे कहा—'माँगो, तुम्हें कौन-सा वर अभीष्ट है, जो दिया जाय?'

**मुनिने कहा**—मुझको पुनः युवावस्था प्रदान कीजिये। युवावस्था प्राप्त होनेपर मैं उत्तम तपस्या करूँगा; क्योंकि तपस्या ही श्रेष्ठ धर्म है, तपस्या ही श्रेष्ठ धन है, तपस्या ही श्रेष्ठ काम है और तपस्या ही श्रेष्ठ मोक्ष है। जितेन्द्रिय पुरुष दीर्घकालतक तपस्या करनेके लिये ही चिरस्थायी आयु चाहते हैं। दान करनेके लिये ही धन चाहते हैं, पुत्र प्राप्त करनेके लिये ही स्त्री चाहते हैं और मोक्षके लिये ही उत्तम ज्ञान चाहते हैं। तब सूर्यदेवने तत्काल ही वृद्धहारीतका बुढ़ापा दूर करके उन्हें रमणीयताकी हेतु और पुण्यकी साधनभूता युवावस्था प्रदान की। इस प्रकार महामुनि वृद्धहारीतने काशीमें सूर्यदेवसे युवावस्था प्राप्त करके उग्र तपस्या की। वृद्धसे पूजित होनेके कारण वहाँ भगवान् सूर्य वृद्धादित्यके नामसे प्रसिद्ध हैं। कुम्भज! बुढ़ापा, दुर्गति तथा रोगका नाश करनेवाले वृद्धादित्यकी काशीमें आराधना करके बहुतोंने सिद्धि प्राप्त की है। काशीमें रविवारके दिन वृद्धादित्यको नमस्कार करके मनुष्य मनोवांछित सिद्धि प्राप्त कर लेता है, उसकी कभी भी दुर्गति नहीं होती।

मुने! इसके बाद मैं तुम्हें केशवादित्यका उत्तम माहात्म्य सुनाता हूँ, सुनो। जिस प्रकार भगवान् केशवके समीप पहुँचकर सूर्यदेवने ज्ञान प्राप्त किया था, वह प्रसंग इस प्रकार है। एक दिन आकाशमें विचरण करते हुए सूर्यदेवने काशीमें भगवान् केशवको विश्वनाथजीकी पूजा करते देखा। तब वे कौतूहलवश दूसरे रूपसे आकाशसे उतर आये और भगवान् केशवके समीप बैठे। उस समय वे मौन होकर अविचल भावसे स्थित हो महान् आश्चर्यमें डूबे हुए अवसरकी प्रतीक्षा करते रहे। जब भगवान् विष्णुने पूजा समाप्त की, तब सूर्यदेवने हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया। श्रीहरिने

सूर्यदेवको अपने समीप बैठा लिया। तत्पश्चात् नमस्कार करके सूर्यदेवने कहा—'जगत्पते! आप सम्पूर्ण विश्वके पालक तथा समस्त जगत्के अन्तरात्मा हैं। जगत्पूज्य माधव! क्या इस काशीपुरीमें आपके लिये भी कोई पूजनीय है? यह समस्त संसार आपसे ही प्रकट होता और आपमें ही लयको प्राप्त होता है। आप ही सम्पूर्ण विश्वके पालक हैं। नाथ! समस्त संसारका सन्ताप दूर करनेवाले आप यह किसकी पूजा कर रहे हैं? आपके इस आश्चर्ययुक्त कार्यको देखकर ही मैं आपके समीप आया हूँ।'

सहस्रों किरणोंसे सुशोभित श्रीसूर्यदेवका यह वचन सुनकर भगवान् विष्णुने हाथके संकेतसे उन्हें मना किया कि 'जोरसे न बोलो।' तत्पश्चात् श्रीसूर्यको समझाते हुए कहा—'इस काशीपुरीमें समस्त कारणोंके कारणभूत एकमात्र देवदेव, नीलकण्ठ, उमानाथ महादेवजी ही पूजनीय हैं। जन्म-मृत्यु और जराका नाश करनेवाले एकमात्र मृत्युंजय ही पूज्य देवता हैं। राजा श्वेत भगवान् मृत्युंजयकी पूजा करके स्वयं भी मृत्युंजय हो गये थे। कालके भी काल महाकालकी आराधना करके भृंगीने भी कालपर विजय पायी। मृत्युंजयकी पूजा करनेवाले शिलादपुत्र नन्दीको भी मृत्युने छोड़ दिया है। जिन्होंने लीलापूर्वक एक ही बाणके प्रहारसे त्रिपुरासुरपर विजय पायी, उन भगवान् भूतनाथकी आराधना करके कौन पुरुष पूजनीय नहीं हो सकता। वे भगवान् शिव तीनों लोकोंपर विजय पानेवाले सबके सार तत्त्व हैं; उनकी उत्तम आराधना कौन नहीं करेगा। जिनके नेत्रोंकी पलकके संकोचमात्रसे सम्पूर्ण जगत्का संकोच (प्रलय) हो जाता है और जिनके नेत्रोंके खुलनेसे ही समस्त संसारकी सृष्टि होती है, वे भगवान् शिव किसके परम पूजनीय नहीं हैं। यहाँ भगवान् शिवके शिवविग्रहकी पूजा करके मनुष्य शीघ्र ही चारों पुरुषार्थोंको प्राप्त कर लेता है। काशीमें शिवलिंगकी आराधना करके मनुष्य क्षणभरमें सौ जन्मोंके संचित पाप-समूहको भी त्याग देता है। सूर्य! तुम भी अपने महान् तेजको बढ़ानेवाली परम शोभा-सम्पत्तिकी प्राप्तिके लिये भगवान् महेश्वरके श्रीविग्रहकी पूजा करो।'

भगवान् विष्णुका यह वचन सुनकर श्रीसूर्यदेव स्फटिक मणिका शिवलिंग बनाकर आज भी इसकी पूजा करते हैं। वे भगवान् केशवको गुरु मानकर उनके उत्तर भागमें आज भी स्थित हैं। इसीलिये वे केशवादित्यके नामसे विख्यात हैं। वे काशीमें अपने भक्तोंके अज्ञानमय अन्धकारको दूर करते हैं और पूजित होनेसे मनोवांछित फल देते हैं। श्रेष्ठ मनुष्य काशीमें केशवादित्यकी आराधना करके उस परम ज्ञानको पा लेता है, जिससे मोक्षकी प्राप्ति होती है। वहाँ पादोदकतीर्थमें स्नान, सन्ध्या और तर्पण आदि करके जो केशवादित्यका दर्शन करता है, वह जन्मभरके पातकोंसे छूट जाता है। अगस्त्य! यदि माघमासकी रथसप्तमी (अचला सप्तमी)-को रविवारका योग प्राप्त हो तो आदि-केशवके समीप पादोदकतीर्थमें प्रातःकाल स्नान करके केशवादित्यकी पूजा करनेसे मनुष्य सात जन्मोंके पातकोंसे तत्काल मुक्त हो जाता है। सप्तमीकी अधिष्ठात्री देवीसे यह प्रार्थना करे—'मैंने पहलेके सात जन्मोंमें जन्मभर जो-जो पातक किये हैं, उन सबको तथा मेरे रोग और शोकको भी माघमासकी सप्तमी नष्ट कर दे। हे माघकी सप्तमी! इस जन्मके किये हुए, दूसरे जन्मोंके किये हुए, मनसे, वाणीसे और शरीरसे किये हुए, जानकर या अनजानमें किये हुए—इन सात प्रकारके पापोंको, जो सात रोगोंसे युक्त हैं, तुम आजके स्नानसे हर लो।' इस प्रकार तीन मन्त्रोंका जप (मन्त्रार्थकी भावना) करके मनुष्य पादोदकतीर्थमें स्नान करे। तत्पश्चात् श्रीकेशवादित्यका दर्शन करके वह क्षणभरमें पापमुक्त हो जाता है। केशवादित्यके माहात्म्यका श्रद्धापूर्वक श्रवण करनेवाला मनुष्य पापसे लिप्त नहीं होता और भगवान् शिवकी भक्ति पा लेता है।

मुने! इसके पश्चात् अब विमलादित्यका उत्तम माहात्म्य सुनो। काशीके परम सुन्दर हरिकेश-

वनमें भगवान् विमलादित्य विराजमान हैं। प्राचीन कालकी बात है, उच्च देशमें कोई विमल नामक क्षत्रिय था। यद्यपि वह निर्मल मार्ग (सदाचार)-में ही स्थित था, तो भी पूर्वजन्मके किसी कर्मके योगसे उसको कोढ़का रोग हो गया। उसने स्त्री, गृह और धन सबका परित्याग करके काशीमें आकर सूर्यदेवकी आराधना की। वह विधिपूर्वक अर्घ्य देता और सूर्यदेवता-सम्बन्धी स्तोत्रोंका जप करता था। इस प्रकार आराधना करनेवाले विमलपर प्रसन्न हो भगवान् सूर्य उसे वर देनेको उद्यत हुए

और बोले—'विमल! तुम्हारा यह कुष्ठरोग दूर हो जाय, इसके सिवा तुम कोई और भी वर माँगो।' तब विमलने प्रणाम करके कहा—'भगवन्! आप सम्पूर्ण जगत्के नेत्र हैं। जो लोग आपमें भक्ति रखते हों, उनके कुलमें कभी कोई कोढ़ी न हो। इतना ही नहीं, उन्हें अन्य प्रकारके रोग भी न हों और उनके घरमें कभी दरिद्रता न रहे। आपके भक्तजनोंके मनमें कभी किसी प्रकारका सन्ताप न हो।'

**भगवान् सूर्यने कहा**—महाप्राज्ञ! ऐसा ही होगा, इसके सिवा दूसरा भी उत्तम वर तुम्हें दिया जाता है, सुनो। तुमने काशीमें मेरी जिस मूर्तिका पूजन किया है, उसका सान्निध्य मैं कभी नहीं छोड़ूँगा, यह प्रतिमा तुम्हारे ही नामसे विख्यात होगी। इसका नाम विमलादित्य होगा। यह प्रतिमा सदा भक्तोंको वर देनेवाली तथा सब रोगोंका नाश और समस्त पापोंका संहार करनेवाली होगी।

ऐसा वरदान दे भगवान् सूर्य वहीं अन्तर्धान हो गये। विमल भी निर्मल-शरीर होकर अपने घर चला गया। इस प्रकार काशीमें विमलादित्य सबका कल्याण प्रदान करनेवाले हैं। उनके दर्शनमात्रसे कोढ़का रोग नष्ट हो जाता है। जो मनुष्य विमलादित्यकी इस माहात्म्य-कथाको सुनता है, वह निर्मल शुद्धिको प्राप्त होता है और उसके मनकी मैल धुल जाती है।

भगवान् विश्वनाथके दक्षिण भागमें गंगादित्य हैं, उनके दर्शनमात्रसे मनुष्य यहाँ शुद्धिको प्राप्त होता है। जब राजा भगीरथको आगे करके गंगाजी काशीपुरीमें आयीं, उस समय भगवान् सूर्य गंगाजीकी स्तुति करनेके लिये वहीं स्थित हुए। इस समय भी वे गंगाजीको अपने सम्मुख करके दिन-रात उनकी स्तुति करते रहते हैं और प्रसन्नचित्त हो गंगाजीके भक्तोंको वरदान देते हैं। श्रेष्ठ मनुष्य काशीमें गंगादित्यकी आराधना करके कभी दुर्गतिको नहीं पाता और न रोगका ही भागी होता है।

महाभाग! अब यमादित्यके प्रकट होनेकी कथा सुनो। यमेशसे पश्चिम और वीरेशसे पूर्वकी दिशामें यमादित्यकी स्थिति है, उनका दर्शन कर लेनेपर मनुष्य कभी यमलोकको नहीं देखता। पूर्वकालमें यमने यमतीर्थमें बड़ी भारी निर्मल तपस्या करके भक्तोंके सिद्धिदाता यमेश और यमादित्यको स्थापित किया है। कुम्भज! वहाँ साक्षात् यमने आदित्यकी स्थापना की है, इसलिये वे 'यमादित्य' कहलाते हैं। यमादित्य जीवोंकी यमयातनाको हर लेते हैं। जो यमतीर्थमें स्नान करके यमके द्वारा स्थापित यमेश्वर और यमादित्यको नमस्कार करता है, वह कभी यमलोकको नहीं

देखता। चतुर्दशी तिथि, भरणी नक्षत्र और मंगलवारका योग होनेपर यमतीर्थमें स्नान, तर्पण और पिण्डदान करके मनुष्य पितरोंके ऋणसे मुक्त हो जाता है। नरकनिवासी पितर सदा यह अभिलाषा करते हैं कि 'मंगल, भरणी और चतुर्दशीका उत्तम योग आनेपर क्या कोई हमारे कुलका परम बुद्धिमान् मनुष्य ऐसा होगा जो काशीपुरीके भीतर यमतीर्थमें स्नान करके हमारी मुक्तिके लिये तिलसहित तर्पण करेगा।' यमतीर्थमें पितरोंका श्राद्ध, यमेश्वरका दर्शन-पूजन तथा यमादित्यको नमस्कार करके मनुष्य पितरोंके ऋणसे मुक्त हो जाता है।

मुने! इस प्रकार तुम्हें काशीके बारह आदित्योंका परिचय दिया गया जो पापोंका नाश करनेवाले हैं। इन सबकी उत्पत्ति या प्राकट्यकी कथा सुनकर मनुष्य कभी नरकमें नहीं पड़ता।

## ब्रह्माजीका दिवोदासकी सहायतासे काशीमें यज्ञ करना और दशाश्वमेधतीर्थकी महिमा

**स्कन्दजी कहते हैं**—मुने! जब अंशुमाली सूर्य त्रिभुवनमोहिनी काशीपुरीको चले गये, तब मन्दराचल पर्वतपर विराजमान भगवान् शिव पुनः इस प्रकार विचार करने लगे—'अहो! अभीतक वहाँसे लौटकर न तो योगिनियाँ आयीं और न अबतक सूर्यदेव ही आये। काशीका समाचार भी मेरे लिये अत्यन्त दुर्लभ हो गया, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। अब काशीकी वार्ता जाननेके लिये किसको यहाँसे भेजूँ? वहाँकी बातोंको ठीक-ठीक जाननेमें ब्रह्माजी ही समर्थ हैं।' यह विचारकर ब्रह्माजीको बुलाकर महादेवजीने कहा—'कमलोद्भव! मैंने काशीका समाचार जाननेके लिये पहले तो योगिनियोंको भेजा था, फिर सूर्यदेवको भी प्रस्थापित किया था, किंतु अभीतक वे वहाँसे लौट नहीं रहे हैं। अतः अब आप जाइये, आपका मार्ग कल्याणमय एवं उसका भविष्य मंगलमय हो।'

भगवान् शिवकी यह आज्ञा शिरोधार्य करके ब्रह्माजी काशीपुरीको गये। काशीका दर्शन करके ब्रह्माजीका मन हर्षोल्लाससे भर गया। वे वृद्ध ब्राह्मणका रूप धारण करके राजा दिवोदाससे मिले और हाथमें जल और अक्षत लेकर राजाके लिये स्वस्तिवाचन किया। राजाने उनके चरणोंमें प्रणाम किया। राजा दिवोदासने अभ्युत्थान और आसन आदिके द्वारा मुनिका यथावत् सत्कार किया और उनके शुभागमनका कारण पूछा।

**तब ब्राह्मणने कहा**—राजन्! मैं बहुत समय पहलेका पुराना हूँ, दीर्घकालसे यहाँ रहता हूँ। तुम मुझे नहीं जानते, परंतु मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ। तुम्हारा पहला नाम रिपुंजय है। मैंने सैकड़ों ऐसे राजा देखे हैं जो छहों* शत्रुओंको जीत चुके थे। सुशील, सत्त्वसम्पन्न, वेद-शास्त्रोंके पारंगत विद्वान्, राजनीतिकुशल, दया और उदारतामें निपुण, सत्यव्रतपरायण, पृथ्वीके समान क्षमाशील तथा समुद्रसे भी अधिक गम्भीर थे। परंतु राजर्षे! तुम्हारे भीतर जो परम पवित्र दो-तीन सद्गुण हैं, वे उन राजाओंमें प्रायः मुझे देखनेको नहीं मिले हैं। तुम प्रजाजनोंको अपने कुटुम्बके लोगोंकी भाँति मानते हो। ब्राह्मण तुम्हारे देवता हैं और तुम बड़े-बड़े तपस्वी लोगोंके तपमें सहायक होते हो। ये बातें जैसी तुम्हारे भीतर हैं, वैसी औरोंमें नहीं देखी जातीं। अतः अन्य राजा तुम्हारे समान नहीं हैं। दिवोदास! तुम अपने सद्गुणोंके कारण धन्य हो, मान्य हो तथा सत्पुरुषोंके द्वारा भी आदरणीय हो। तुम्हारे डरसे देवता भी कुमार्गमें

* काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—ये छः शत्रु हैं। बिना जीते हुए पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसहित मनको भी छः शत्रुओंके समान माना गया है।

जानेका साहस नहीं करते। हम धन आदिकी कामनाओंसे रहित ब्राह्मण हैं, हमें किसीकी स्तुति-प्रशंसासे क्या प्रयोजन है। किंतु क्या करें, तुम्हारे सद्गुण ही हम-जैसे लोगोंको भी स्तुतिमें लगा देते हैं। राजन्! मैं इस समय यहाँ यज्ञ करना चाहता हूँ और इस कार्यमें तुम्हें सहायक बनाना चाहता हूँ। तुम्हारी यह राजधानी कर्मभूमिमें सबसे अधिक उत्तम है। न्याय और सन्मार्गपर चलनेवाले पुरुषोंद्वारा जो धन संचय किया गया हो, उसका काशीमें सद्धर्मके कार्यमें उपयोग करना चाहिये; अन्यथा वह धन क्लेशका ही कारण होता है। भूपाल! सबको ज्ञान प्रदान करनेवाले त्रिनेत्रधारी शिवको छोड़कर दूसरा कोई भी काशीकी उत्तम महिमाको यथार्थ रूपसे नहीं जानता। मैं समझता हूँ, तुम परम धन्य हो जो कि सैकड़ों जन्मोंके पुण्यसे काशीपुरीका पालन कर रहे हो। 'काशी तीनों लोकोंका सार है, काशी तीनों वेदोंका सार है, काशी त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और कामसे परे सब पुरुषार्थोंका सारभूत मोक्ष है।' ऐसा महर्षियोंने निर्णय किया है। भगवान् विश्वनाथके अनुग्रहसे ही तुम्हारे द्वारा इस पुरीका पालन हो रहा है।

**इतना कहकर जब ब्राह्मण देवता चुप हो गये, तब राजाने इस प्रकार उत्तर दिया**—विप्रवर! मैंने आपकी कही हुई सब बातें हृदयमें धारण कर ली है। आप यज्ञ करनेके इच्छुक हैं, अतः आपकी सहायताके कार्यमें मैं आपका दास हूँ। आप मेरे कोषागारसे समस्त यज्ञ-सामग्रियोंको ले जायँ और एकाग्रचित्त होकर यज्ञ करें। ब्रह्मन्! मैं जो राज्य करता हूँ, उसमें थोड़ा-सा भी मेरा स्वार्थ नहीं है। मैं तो अपने पुत्र, कलत्र तथा शरीरद्वारा भी परोपकारके लिये ही यत्न करता हूँ। मनीषी महर्षियोंने राजाओंके लिये प्रजावर्गका यथावत् पालन ही एकमात्र महान् धर्म बताया है। द्विजोत्तम! मैं ब्राह्मणोंके मुखमें जो हवन करता हूँ, उसे यज्ञकर्मोंसे भी बढ़कर मानता हूँ। यह मेरे लिये बड़े आनन्दकी बात है कि आप मेरे घर कुछ माँगनेके लिये आये हैं।

धर्मात्मा राजा दिवोदासका यह वचन सुनकर ब्रह्माजी अपने मनमें बहुत सन्तुष्ट हुए। उन्होंने यज्ञ-सामग्रियोंका संग्रह किया और राजर्षि दिवोदासकी सहायता पाकर काशीमें दस अश्वमेध नामक महायज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन किया। तभीसे वहाँ वाराणसीपुरीमें मंगलदायक दशाश्वमेध नामक तीर्थ प्रकट हुआ, जो सम्पूर्ण जगत्‌में विख्यात है। कुम्भज! पहले उस तीर्थका नाम 'रुद्रसरोवर' था, पीछेसे वह दशाश्वमेधके नामसे प्रसिद्ध हुआ। उसके बाद भगीरथके साथ स्वर्गलोककी नदी भागीरथी गंगाका वहाँ आगमन हुआ, इससे वह तीर्थ अत्यन्त पुण्यजनक हो गया। ब्रह्माजी वहाँ दशाश्वमेधेश्वर लिंगकी स्थापना करके स्थित हो गये। धर्मानुरागी राजा दिवोदासमें कोई भी छिद्र उन्हें नहीं मिला, अतः वे महादेवजीके सम्मुख जाकर क्या कहते। उस क्षेत्रके प्रभावको जानकर भगवान् विश्वनाथका ध्यान करते हुए ब्रह्मेश्वरकी स्थापना करके ब्रह्माजी भी काशीपुरीमें ही रह गये।

अगस्त्य! सब तीर्थोंमें उत्तम दशाश्वमेध है। वहाँ जाकर जो कुछ भी पुण्यकर्म किया जाता है, वह अक्षय कहा गया है। स्नान, दान, जप, होम, स्वाध्याय, देवपूजा, सन्ध्योपासन, तर्पण, श्राद्ध तथा पितरोंकी पूजा आदि सभी सत्कर्म वहाँ सफल एवं अक्षय होते हैं। जो श्रेष्ठ मनुष्य दशाश्वमेधतीर्थमें एक बार स्नान करके दशाश्वमेधेश्वरका दर्शन करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। ज्येष्ठ मासके शुक्ल पक्षकी प्रतिपदा तिथिको दशाश्वमेधतीर्थमें स्नान करके मनुष्य जन्मभरके पातकोंसे मुक्त हो जाता है। ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीयाको रुद्रसरोवरमें स्नान करनेसे मनुष्यके दो जन्मोंके पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार शुक्ल पक्षकी दशमीतक प्रत्येक तिथिमें क्रमशः स्नान करनेवाला मनुष्य प्रत्येक जन्मके पापको त्याग देता है। दस जन्मोंका पाप हर लेनेवाली गंगादशहरा तिथिको

दशाश्वमेधतीर्थमें स्नान करनेवाला पुरुष यम-यातनाको कभी नहीं देखता। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक गंगादशहराके दिन दशाश्वमेधतीर्थमें स्नान करके दशाश्वमेधेश्वर नामक उत्तम लिंगका पूजन करता है, उसको गर्भदशा छू भी नहीं सकती। ज्येष्ठमासके शुक्ल पक्षमें वहाँकी वार्षिक यात्रा करके पंद्रह दिनोंतक रुद्रसरोवरमें स्नान करनेवाला पुरुष कभी विघ्नोंसे तिरस्कृत नहीं होता।

महाराज दिवोदासने यज्ञ पूर्ण करनेवाले वृद्ध ब्राह्मणरूपधारी ब्रह्माजीके लिये वहाँ एक ब्रह्मशाला बनवा दी। उसीमें वेद-मन्त्रोंके उच्चारणकी ध्वनिसे आकाशको गुँजाते हुए ब्रह्माजीने निवास किया।

## पिशाचमोचनतीर्थकी महिमा

**स्कन्दजी कहते हैं**—अगस्त्य! भगवान् शिवके अत्यन्त प्रिय कपर्दी नामक गणाधीशने पित्रीश्वरलिंगके उत्तरभागमें एक शिवलिंग स्थापित किया और उसके आगे 'विमलोदक' नामसे प्रसिद्ध एक कुण्ड भी खुदवाया, जिसके जलका स्पर्श करनेमात्रसे मनुष्य निर्मल हो जाता है। प्राचीन त्रेतायुगकी बात है। शिवभक्तोंमें श्रेष्ठ वाल्मीकि नामक एक मुनि थे जो काशीमें प्रतिदिन कपर्दीश्वरकी पूजा करते हुए तपस्या करते थे। एक दिन हेमन्तके मार्गशीर्ष मासमें तपस्वी वाल्मीकिने मध्याह्नके समय विमलोदक नामवाले महातीर्थमें स्नान करके सिरसे लेकर पैरतक भस्म लगाया। फिर कपर्दीश्वरके दक्षिणभागमें बैठकर मध्याह्नकालोचित नित्य-कर्म प्रारम्भ किया। मस्तकपर भस्म रमाये हुए उन्होंने आध्यात्मिक सन्ध्याका चिन्तन किया और पंचाक्षर मन्त्र-(**नमः शिवाय**) का जप करते हुए जटाजूटधारी भगवान् शिवका ध्यान किया। तत्पश्चात् संहार-क्रम (वामावर्त)-से परिक्रमा करके तीन बार उच्चस्वरसे **'हुडुम्' 'हुडुम्' 'हुडुम्'** का उच्चारण किया। तदनन्तर प्रणवको ही सामने रखकर उसका षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद—इन स्वरोंके भेदसे गान किया। गान करके आनन्दपूर्वक हस्तसंचालन करते हुए नृत्य भी किया। अंग-संचालनद्वारा मनोहर ढंगसे मण्डलयुक्त नृत्य करके

वे महातपस्वी कुछ क्षणोंतक उस सरोवरके ही तटपर बैठे रहे। इसी समय उन्होंने अत्यन्त विकराल आकृतिवाले एक भयानक पिशाचको देखा। उसकी आँखें कुछ-कुछ पीली थीं। उस प्रेतको देखकर बूढ़े तपस्वीने धैर्यपूर्वक पूछा—'तू कौन है?' तपस्वीका यह प्रेमपूर्वक वचन सुनकर पिशाचने हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! गोदावरी नदीके तटपर प्रतिष्ठान नामक एक देश है। वहाँ मैं तीर्थोंमें दान लेनेकी रुचि रखनेवाला एक ब्राह्मण था। उसी कर्मके फलस्वरूप मैं ऐसी दुर्गतिको प्राप्त हुआ हूँ। जल और वृक्षसे रहित महाभयंकर मरुस्थलमें निवास करते हुए मुझे बहुत समय

बीत गया है। वहाँ मैं भूख-प्याससे पीड़ित होकर सर्दी और गरमीका कष्ट भोगता रहा हूँ। मरुभूमिमें दीर्घकाल व्यतीत होनेके पश्चात् एक दिन मैंने किसी ब्राह्मणके पुत्रको देखा। उसने धोतीकी लाँग नहीं बाँध रखी थी। वह अपवित्र और सन्ध्याकर्मसे हीन था। उसे देखकर उसीके द्वारा कुछ भोग मिलनेकी आशासे मैं उसके शरीरमें समा गया। मुने! वह ब्राह्मण धनके लोभसे किसी वणिक्के साथ इस पुण्यमयी पुरीमें आ गया। मुनिश्रेष्ठ! इस पुरीके भीतर उसके प्रवेश करते ही मैं और उसके पाप क्षणभरमें एक ही साथ शरीरसे बाहर निकल गये। दयालो! इस समय सहसा शिव नामकी ध्वनि कानमें पड़नेसे मेरा पाप कुछ क्षीण हो गया है, इसलिये मैं काशीके अन्तर्गृहकी सीमामें प्रवेश कर पाया हूँ। अब आपका दर्शन हो जानेसे मैं अपनेको बड़ा भाग्यवान् समझता हूँ। आप कृपा करके मुझे इस भयंकर योनिसे निकालिये। मेरा उद्धार कीजिये।'

प्रेतका यह वचन सुनकर उन दयालु तपस्वीने इस प्रकार विचार किया—'अपना पेट तो पशु, पक्षी, मृग आदि सभी जीव भर लेते हैं। संसारमें वही धन्य है, जो सदा दूसरोंका उपकार करनेके लिये उद्यत रहता है। अतः आज मैं अपनी तपस्यासे मेरी शरणमें आये हुए इस पापातुर प्रेतका अवश्य उद्धार करूँगा।' इस प्रकार मन-ही-मन निश्चय करके उन साधुशिरोमणि तपस्वीने पिशाचसे कहा—'अरे ओ पिशाच! तू इस विमलोद नामक सरोवरमें स्नान कर ले। इस तीर्थके प्रभावसे तथा भगवान् कपर्दीश्वरके दर्शनसे तेरी पिशाचता आज क्षणभरमें नष्ट हो जायगी।'

**यह सुनकर प्रेतने नमस्कारपूर्वक कहा—** मुनिश्रेष्ठ! पानी तो मैं पीनेके लिये भी नहीं पाता, स्नान करनेकी तो बात ही क्या है? मेरे लिये तो यहाँके जलका स्पर्श भी दुर्लभ है।

**तपस्वीने कहा—**तू यह विभूति ले और अपने ललाटमें धारण कर, फिर तुझे कहीं कोई भी बाधा नहीं है। पापीका भी विभूतिसे उज्ज्वल ललाट देखकर यमराजके दूत पाशुपतास्त्रसे भयभीत होकर भाग जाते हैं।

ऐसा कहकर मुनिने भस्म ले प्रेतके हाथमें दे दिया और उसने भी आदरपूर्वक लेकर उसे ललाटमें लगा लिया। पिशाचको विभूति धारण किये देख जलके देवताओंने उसे जलमें स्नान करनेसे नहीं रोका। स्नान और जलपान करके वह ज्यों ही जलाशयसे बाहर निकला त्यों ही उसकी पिशाचता दूर हो गयी और उसने दिव्य शरीर धारण कर लिया। उसी समय दिव्य विमानपर बैठकर वह आकाशमार्गको प्राप्त हुआ। जाते समय उसने तपस्वीको नमस्कार करके उच्चस्वरसे कहा—'भगवन्! आपने मुझे इस अत्यन्त निन्दित पिशाच-योनिसे मुक्त किया है, इसलिये आजसे इस तीर्थका नाम पिशाचमोचन तीर्थ होगा। यहाँ स्नान करनेसे यह तीर्थ दूसरोंके भी पिशाचभावको हर लेगा। जो मनुष्य इस परम पुण्यमय तीर्थमें स्नान और सन्ध्या-तर्पण करके यहाँ पिण्डदान करेंगे, उनके पिता-पितामह यदि दैववश पिशाच-योनिको प्राप्त हुए हों तो उस योनिका परित्याग करके परम गतिको प्राप्त होंगे। आज मार्गशीर्ष मासके शुक्ल पक्षकी चतुर्दशी तिथि है, आजके दिन यहाँ स्नान आदि करना चाहिये। आजका स्नान पिशाच-योनिसे सर्वथा मुक्त करनेवाला है। जो लोग इस तिथिपर यहाँकी वार्षिक यात्रा करेंगे, वे तीर्थमें दान लेनेके पापसे मुक्त हो जायँगे।'

यों कहकर उस दिव्य पुरुषने बार-बार तपोधनको नमस्कार किया और दिव्य गति प्राप्त कर ली। तपस्वी वाल्मीकि भी उस महान् आश्चर्यको देखकर कपर्दीश्वरकी आराधनामें लगे रहे और समयानुसार मोक्ष प्राप्त कर लिया। महामुने! तबसे लेकर यह सब पापोंका अपहरण करनेवाला पिशाचमोचन तीर्थ काशीमें अत्यन्त प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ।

## गणेशजीका काशीमें जाना और लोकप्रिय होना, गणेशजीका स्तवन

**स्कन्दजी कहते हैं**—मुने! तदनन्तर भगवान् शिवकी आज्ञा लेकर उनके काशीमें आनेके उपायका विचार करते हुए गणेशजी मन्दराचल पर्वतसे चले और ब्राह्मणका स्वरूप धारण करके काशीपुरीमें जा पहुँचे। वे बूढ़े ज्योतिषी बनकर प्रत्येक घरके भीतर जाते और नगरनिवासियोंको प्रसन्न करते थे। रनिवासमें प्रवेश करके अपनी दिव्य दृष्टिसे देखी हुई वस्तुको बता-बताकर स्त्रियोंके विश्वासपात्र हो गये। एक दिन अवसर पाकर महाराज दिवोदासकी रानी लीलावतीने महाराजसे उनके सम्बन्धमें निवेदन किया—'राजन्! एक बड़े विद्वान् एवं सुवक्ता वृद्ध ब्राह्मण आये हैं, जो अपने गुणोंके कारण बहुत बढ़े-चढ़े हैं। वे वेदोंकी मूर्तिमान् निधि हैं, आपको भी उनका दर्शन करना चाहिये।' राजाने प्रातःकाल उन वृद्ध ब्राह्मणको बुलवाया और भक्तिपूर्वक उत्तम वस्त्र आदि देकर उनका यथावत् सत्कार किया। तदनन्तर एकान्तमें राजाने अपने हृदयमें स्थित प्रश्नको उनसे इस प्रकार पूछा—'ब्रह्मन्! निश्चय ही आप एक श्रेष्ठ द्विज प्रतीत होते हैं। आपकी बुद्धि जिस प्रकार तत्त्वज्ञानसे सम्पन्न है, वैसी दूसरेकी नहीं है, ऐसी मेरी समझ है। इस समय मेरा मन सब कर्मोंसे विरक्त-सा हो रहा है; अतः आप भलीभाँति विचार करके मेरे शुभ भविष्यका वर्णन करें।'

**ब्राह्मणने कहा**—राजन्! आजके अठारहवें दिन कोई उत्तर दिशाका ब्राह्मण आकर निश्चय ही तुम्हें उपदेश करेगा। तुम्हें बिना विचारे उसके वचनको मानना और उसका पालन करना चाहिये। महामते! ऐसा करनेसे तुम्हारा सब मनोरथ सिद्ध होगा।

ऐसा कहकर राजाकी अनुमति ले वे श्रेष्ठ ब्राह्मण अपने आश्रमको चले गये। इस प्रकार विघ्नविजयी गणेशजीने समस्त काशीपुरीको अपने वशमें कर लिया और ऐसा करके उन्होंने अपनेको कृतकृत्य-सा माना। जब दिवोदास काशीके राजा नहीं थे, उस समय गणेशजीके जो-जो स्थान थे, उन-उन स्थानोंको गणेशजीने अनेक रूप धारण करके पुनः सुशोभित किया।

(गणेशजीकी पूजाके पश्चात् इस प्रकार उनकी स्तुति करे— ) भक्तोंके विघ्नका निवारण करनेवाले! आपकी जय हो। विघ्नरहित! विघ्नशमन! आपकी जय हो। सम्पूर्ण गणोंके अधीश्वर! आपकी जय हो। समस्त गणोंके अग्रगण्य! आपकी जय हो। गणोंसे अभिवन्दित चरणारविन्दवाले देव! आपकी जय हो। असंख्य सद्गुणोंसे विभूषित गणेश! आपकी जय हो। सर्वव्यापी सर्वेश्वर तथा समस्त बुद्धियोंके एकमात्र निधान! आपकी जय हो। सम्पूर्ण मायाप्रपंचके ज्ञाता तथा सब कर्मोंमें सबसे प्रथम पूजित देव! आपकी जय हो। सब मंगलोंके लिये भी मंगलस्वरूप तथा सर्व-मंगलकारी गणाधीश! आपकी जय हो। अमंगलकी शान्ति करनेवाले तथा मंगलके हेतुभूत देव! आपकी जय हो। सृष्टिकर्ताओंके वन्दनीय! आपकी जय हो। सिद्धिदायक! आपकी जय हो। सम्पूर्ण सिद्धियोंके एकमात्र निवास-स्थान! आपकी जय हो। महाऋद्धि-सिद्धिके सूचक! आपकी जय हो। समस्त गुणोंका निर्माण करनेवाले, गुणोंसे परे तथा गुणोंद्वारा अग्रगण्य गणेश! आपकी जय हो। गुणवर्णित! सर्वबलाधीश्वर तथा इन्द्रको बल प्रदान करनेवाले गणाध्यक्ष! आपकी जय हो। अनन्त महिमाके आधार तथा पर्वतोंको विदीर्ण करनेवाले गणेश! आपकी जय हो। करुणामय! दिव्यमूर्ते! जो आपको नमस्कार करते हैं, वे भूमण्डलमें सम्पूर्ण पापोंके भाजन होकर भी अन्तमें मोक्षके भागी होते हैं। आप सदैव उनके बड़े-बड़े विघ्नों और उपद्रवोंका निवारण करते हैं तथा उन्हें उनकी रुचिके अनुसार स्वर्ग एवं मोक्ष भी देते हैं। विघ्नराज! जो लोग इस पृथ्वीपर क्षणभर भी आपके कृपाकटाक्षके द्वारा देखे जाते हैं उनके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और उन श्रेष्ठ पुरुषोंपर भगवती लक्ष्मी अपनी

कृपादृष्टि करती हैं। प्रणतजनोंके विघ्नका विनाश करनेमें चतुर तथा पार्वतीजीके हृदयकमलको विकसित करनेमें सूर्यस्वरूप गणेश! जो लोग आपकी स्तुति करते हैं, वे इस संसारमें प्रसिद्ध होते हैं। यह कोई अद्भुत बात नहीं है। जो सदा आपके युगल चरणोंकी सेवा करते हैं, वे पुत्र, पौत्र, धन, धान्य और समृद्धिके भागी होते हैं। बहुत-से भृत्य (दास-दासी आदि) उनके चरण-कमलोंकी सेवामें रहते हैं तथा वे राजाओंके उपभोगमें आनेयोग्य निर्मल लक्ष्मीकी प्राप्ति करते हैं। हे परमकारण! आप कारणोंके भी कारण हैं, वेदके विद्वानोंद्वारा सदा एकमात्र आप ही जाननेयोग्य हैं। आप ही वेदवाणीमें अनुसन्धान करनेयोग्य अनिर्वचनीय तत्त्व हैं, यह सम्पूर्ण चराचर जगत् आपके दिव्य स्वरूपका एक अंश है तथा आप वाणीके अविषय हैं। ढुण्ढिराज विनायक! आप समस्त पुरुषार्थोंको ढूँढ़ चुके हैं, इसलिये आपका नाम 'ढुण्ढि' है। आपको सन्तुष्ट किये बिना कौन देहधारी प्राणी इस काशीमें प्रवेश पा सकता है?

## भगवान् विष्णुका काशी-गमन, केशव एवं पादोदकतीर्थकी महिमा, धर्मक्षेत्रमें पुण्य-कीर्तिका उपदेश तथा राजा दिवोदासकी निर्वाणप्राप्ति

**स्कन्दजी कहते हैं**—मुने! जब गणेशजी भी काशीमें आकर विलम्ब करने लगे तब भगवान् शिवने श्रीविष्णुजीकी ओर देखा और बड़े आदरके साथ कहा—'माधव! आप भी वैसा ही न कीजियेगा, जैसा कि पहलेके गये हुए लोगोंने किया है।'

**भगवान् विष्णु बोले**—गिरीश! इस लोकमें मनुष्य जो कुछ भी थोड़ा या अधिक कर्म करता है वह आपके चरणारविन्दोंके चिन्तनसे ही सिद्ध होता है। आपकी भक्तिरूपी सम्पदासे सम्पन्न हुए हमलोगोंका उद्योग प्रायः सफल ही होता है। शिव! अपनी बुद्धि, बल और पुरुषार्थसे जो कार्य अत्यन्त असाध्य होता है वह भी आपके निरन्तर स्मरणसे भलीभाँति सिद्ध हो जाता है। अतः आप अपनेद्वारा निश्चित किये हुए इस कार्यको सिद्ध हुआ ही जानें।

यों कहकर भगवान् विष्णुने शिवजीकी परिक्रमा की और बार-बार उन्हें प्रणाम करके लक्ष्मीजीके साथ मन्दराचलसे प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचकर उन्होंने गंगा तथा वरणा नदीके संगममें हाथ-पाँव धोकर स्नान किया। पीताम्बरधारी श्रीहरिने पहले कल्याण प्रदान करनेवाले अपने दोनों चरण वहाँ धोये थे, इसलिये तभीसे उस तीर्थका नाम 'पादोदक' तीर्थ हो गया। जो मानव उस पादोदकतीर्थमें स्नान करते हैं, उनके सात जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं। जो मनुष्य वहाँ तिल और जलसे तर्पण करके पितरोंका श्राद्ध करेगा वह अपने वंशकी इक्कीस पीढ़ियोंको तार देगा। जिसने पादोदकतीर्थमें स्नान किया है, पादोदकतीर्थके जलको पी लिया है तथा पादोदकतीर्थके जलसे पितरोंका तर्पण किया है, ऐसे मनुष्यको कभी नरक छू भी नहीं सकता। जो पादोदकतीर्थके जलको शंखमें रखकर उसके द्वारा नहलाये हुए गोमतीचक्रसहित श्रीशालग्रामके चरणामृतको पान करता है, वह अमृतपदको प्राप्त होता है।

वहाँ लक्ष्मी और गरुड़के साथ नित्यकर्म करके केशवने अपने हाथसे अपनी ही प्रस्तरमय मूर्ति बनायी और समस्त सिद्धियों तथा समृद्धियोंको देनेवाली उस मूर्तिका स्वयं ही पूजन किया। जो मनुष्य केशव नामसे प्रसिद्ध उस परमेश्वरमूर्तिका भलीभाँति पूजन करता है वह वैकुण्ठधामको अपने घरके आँगनमें ही उतरा हुआ समझे। काशीकी सीमामें वह स्थान श्वेतद्वीप कहलाता है। उस केशवमूर्तिकी सेवा करनेवाले मनुष्य श्वेतद्वीपमें ही निवास करते हैं। केशवके आगे क्षीरसागर नामसे प्रसिद्ध दूसरा तीर्थ है, उसमें स्नान और तर्पण आदि कार्य करनेवाला मनुष्य

क्षीरसमुद्रके तटपर निवास करता है। वहीं त्रिभुवनवन्दित महालक्ष्मीकी मूर्ति है, उसे भक्तिपूर्वक प्रणाम करनेवाला मनुष्य कभी रोगी नहीं होता। भगवान् केशव उस मूर्तिमें अपने ही व्यापक स्वरूपको समाविष्ट करके पुनः भगवान् शंकरका कार्य सिद्ध करनेके लिये अंशांशसे बाहर निकले और काशीसे कुछ उत्तर जाकर उन चक्रधारी विष्णुने अपने रहनेके लिये एक स्थान निश्चित किया, जो 'धर्मक्षेत्र' (धर्मचक्र स्थान—सारनाथ)-के नामसे प्रसिद्ध है।

तदनन्तर भगवान् लक्ष्मीपतिने परम सुन्दर त्रिभुवन-मोहन रूप धारण किया और गरुड़जी भी अलौकिक रूप धारण करके उनके शिष्य हो गये। वे बड़ी अद्भुत मेधाशक्तिसे सम्पन्न, सब वस्तुओंकी ओरसे निःस्पृह तथा गुरुकी सेवामें तत्पर रहनेवाले थे। उन्होंने अपने हाथके अग्रभागमें एक पुस्तक रख ली थी। भगवान्ने अपना नाम

पुण्यकीर्ति और गरुड़का नाम विनयकीर्ति रखा। पुण्यकीर्तिने विनयकीर्तिको इस प्रकार उपदेश दिया।

**पुण्यकीर्ति बोले**—महामते विनयकीर्ते! तुमने जो सनातन धर्मके विषयमें प्रश्न किया है वह सब पूर्णरूपसे बतलाता हूँ, तुम ध्यान देकर सुनो। इहलोक और परलोकमें कल्याणकी प्राप्तिके लिये नाना प्रकारके शास्त्रोंका विचार करके महर्षियोंने चार प्रकारके दानोंका उपदेश दिया है। भयभीत पुरुषोंको अभयदान, रोगियोंको औषधदान, विद्यार्थियोंको विद्यादान तथा भूखसे व्याकुल मनुष्योंको अन्नदान देना चाहिये। वासनासहित क्लेशका उच्छेद हो जानेपर विज्ञानकी उपरति (अविद्याकी निवृत्ति) ही मोक्ष है, यह तत्त्वका विचार करनेवाले पुरुषोंको जानना चाहिये। वेदवादियोंके द्वारा यह प्रामाणिक श्रुति पढ़ी जाती है कि **'मा हिंस्यात्सर्वाभूतानि'**—किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करनी चाहिये।

इस प्रकार पुण्यकीर्तिके धर्मोपदेश करनेपर क्रमशः पुरवासी एक-दूसरेसे सुनकर वहाँ भगवान्के निकट आने लगे। उपदेशका क्रम चालू था—'जबतक यह शरीर स्वस्थ है, जबतक इन्द्रियोंमें शिथिलता नहीं आती और जबतक बुढ़ापा दूर है, तबतक ही परम आनन्द (मोक्ष)-के लिये साधन कर लेना चाहिये। अस्वस्थता, इन्द्रियोंकी विकलता और वृद्धावस्थामें कैसे सुख हो सकता है। अतः परम सुखकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको याचकोंके लिये अपना शरीर भी दे डालना चाहिये *। शरीर शीघ्र जानेवाला है, सभी संग्रह नष्ट हो जानेवाले हैं, ऐसा समझकर विज्ञ पुरुष इस शरीरके रहते हुए नित्यसुखके लिये साधन करे। अन्तमें यह शरीर कुत्तों और कौओंका भोजन बन जाता है। वेदमें यह सत्य ही कहा गया है कि शरीर अन्तमें भस्म हो जानेवाला है।'

मुने! इधर, विघ्नराज गणेशने दूर रहकर भी शत्रुविजयी राजा दिवोदासके चित्तको राज्यकी ओरसे विरक्त कर दिया। वे अठारह दिनोंकी

* यावत्स्वस्थमिदं वर्ष्म यावन्नेन्द्रियविक्लवः। यावज्जरा च दूरेऽस्ति तावत्सौख्यं प्रसाधयेत्॥
अस्वास्थ्येन्द्रियवैकल्ये वार्धके तु कुतः सुखम्। शरीरमपि दातव्यमर्थिभ्योऽतः सुखेप्सुभिः॥
(स्क० पु०, का० उ० ५८। १५-१६)

अवधिको गिनने लगे और मन-ही-मन सोचने लगे कि 'ब्राह्मण देवता कब आयेंगे जो मुझे उपदेश करेंगे।' इस प्रकार अठारहवाँ दिन प्राप्त होनेपर दोपहरके समय वे पुण्यकीर्ति नामवाले श्रेष्ठ ब्राह्मण ही धर्मक्षेत्रसे राजाके द्वारपर आये। उन्हें दूरसे आते देख उत्कण्ठित हुए नरेशने अपने मनमें मान लिया कि ये मुझे उपदेश देने योग्य गुरु हैं। फिर वे उनके समीप गये और उन्हें बार-बार प्रणाम करके आशीर्वाद ले उन्हें अपने अन्तःपुरमें लिवा ले गये। वहाँ राजाने शास्त्रोक्त विधानसे भलीभाँति उनका पूजन किया और जब वे मार्गकी थकावटसे रहित, स्वस्थ एवं प्रसन्नमुख हो गये तब उन्हें भोजनके लिये नाना प्रकारकी वस्तुएँ भेंट कीं। उन्हें ग्रहण करके जब पुण्यकीर्ति पूर्णतः तृप्त हो गये और सुखपूर्वक आसनपर जा बैठे, तब राजाने कहा—'विप्रवर! मैं राज्यका भार ढोते-ढोते बहुत खिन्न हो गया हूँ, अब उसकी ओरसे वैराग्य-सा हो रहा है। मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, कैसे मुझे शान्ति प्राप्त होगी। यह सब सोचते-विचारते मेरा एक मास व्यतीत हो गया। मैंने अपने सगे पुत्रोंकी भाँति प्रजाजनोंका भलीभाँति पालन किया है और प्रतिदिन नाना प्रकारके धन देकर ब्राह्मणोंको तृप्त किया है। राज्यशासन करते समय मेरे द्वारा एक ही अपराध हुआ है, वह यह कि मैंने अपने तपोबलके अभिमानसे सम्पूर्ण देवताओंको तिनकेके समान समझा है। यद्यपि प्रजाके उपकारके लिये ही ऐसा किया है, स्वार्थसिद्धिके लिये नहीं। यह मैं आपसे शपथ खाकर कहता हूँ, मेरे शासनकालमें कोई भी पापवृत्तिका सेवन नहीं करता, सभी लोग धर्मपरायण और सुखी हैं। सबमें उत्तम विद्याका व्यसन है और सब लोग सन्मार्गपर चलनेवाले हैं, तथापि मुझे संसारके सभी भोग ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे एक बारके चबाये हुए अन्नको फिरसे चबाना। यह राज्य भी क्या है? पीसे हुएको पीसना। इसे लेकर क्या करना है। विप्रवर! आप ज्ञानी पुरुष हैं, मुझे कोई ऐसा उपदेश दीजिये, जिससे पुनः गर्भवासका कष्ट न भोगना पड़े। आप जो कुछ कहेंगे, निःसन्देह मैं वही करूँगा। इस समय आपके दर्शनसे मेरी सब इन्द्रियाँ विषयोंकी ओरसे निवृत्त हो गयी हैं और उपरतिका यह उत्तम सुख मुझे प्राप्त हुआ है। इस समय मुझे कोई ऐसा उपाय बताइये जो कर्मबन्धनका नाश करनेमें समर्थ हो।'

**स्कन्दजी कहते हैं**—राजाका ऐसा कथन सुनकर ब्राह्मणवेषधारी श्रीविष्णु बोले—'महाप्राज्ञ! राज-शिरोमणे! मुझे जो कुछ उपदेश करना है वह सब तो तुम्हींने कह दिया। तुम तो पहलेसे ही कृतार्थ हो, मुझसे उपदेश लेकर मुझे सम्मान दे रहे हो। तुमने अपनी उत्तम तपस्याके निर्मल जलसे सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी मलिनताको धो डाला है। भूपाल! तुमने जो कुछ कहा है वह सब सत्य है। तुम्हारे समान राजा इस पृथ्वीपर न हुआ है और न होगा। तुममें जो मुमुक्षा (मुक्तिकी इच्छा) जाग्रत् हुई है वह उचित ही है। तुम्हारे इस राज्यमें अधर्मका प्रवेश भी नहीं हुआ है। धर्मज्ञ! तुम्हारे द्वारा धर्ममें लगायी गयी प्रजाने जो धर्मका अनुष्ठान किया है उससे सम्पूर्ण देवता तृप्त हुए हैं। मेरे हृदयमें तुम्हारा एक ही दोष प्रतीत होता है कि तुमने भगवान् विश्वनाथको काशीसे दूर कर दिया है। मेरी समझमें तुम्हारा सबसे महान् अपराध यही है। इस पापकी शान्तिके लिये मैं तुम्हें बहुत उत्तम उपाय बतलाता हूँ। जिसने भगवान् शिवमें भक्ति रखकर यहाँ काशीमें एक शिवलिंगकी भी स्थापना की है, उसने अपनेसहित सम्पूर्ण जगत्की प्रतिष्ठाका पुण्य प्राप्त किया है। इसलिये तुम सर्वथा प्रयत्नपूर्वक शिवलिंगकी स्थापना करो, इससे कृतार्थ हो जाओगे। दिवोदास! तुम्हारे समीप होनेसे हमलोग भी धन्य-धन्य हो गये हैं। इस मर्त्यलोकमें जो तुम्हारा नाम लेते हैं वे भी परम धन्य हैं। राजन्! तुम्हारा मनोरथरूप महान् वृक्ष आज फलित हुआ है, तुम इसी शरीरसे परम पदको प्राप्त होओगे। भगवान् शिवके लिंगमय विग्रहकी स्थापना कर लेनेपर आजसे सातवें दिन

एक दिव्य विमान तुम्हें शिवधाममें ले जानेके लिये आयेगा। यह काशीपुरीके भलीभाँति सेवनका फल है।'

यह सब सुनकर प्रतापी राजा दिवोदास बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने ब्राह्मणके चरणोंमें बारंबार प्रणाम किया और प्रसन्न होकर कहा—'भगवन्! आपने मुझे संसार-सागरसे पार उतार दिया।' तत्पश्चात् ब्राह्मणवेषधारी विष्णुने भी राजासे पूछकर काशीपुरीका भलीभाँति निरीक्षण करके परम पवित्र पंचनद कुण्ड (पंचगंगा)-को देखा और वहाँ विधिपूर्वक स्नान करके वहीं निवास किया। फिर भगवान् शंकरके शुभागमनकी शीघ्र प्रतीक्षा करते हुए माधवने राजा दिवोदासके वृत्तान्तको जाननेवाले गरुड़जीको वहाँ भेजा।

उधर राजा दिवोदासने भी अपने गुरु विप्रवर पुण्यकीर्तिकी महिमाका बखान करते हुए समस्त प्रजाओं, मन्त्रियों तथा मण्डलेश्वरोंको बुलाया। खजाना, घोड़े और हाथी आदिकी देख-रेखके लिये नियुक्त सब अध्यक्षोंको, अपने पाँच सौ पुत्रोंको, ज्येष्ठ पुत्र समरंजयको, पुरोहित, प्रतीहार, ऋत्विज्, ज्योतिषी, ब्राह्मण, सामन्त, राजकुमार, रसोइये, चिकित्सक तथा नाना कार्योंके लिये आये हुए विदेशी मनुष्योंको भी एकत्र किया। इन सबको हाथ जोड़कर प्रसन्नचित्त राजाने ब्राह्मणकी कही हुई सब बातें कह सुनायीं और यह भी बताया कि 'सात दिनतक और मुझे इस लोकमें रहना है।' सब लोग विषादवश मुर्झाये हुए मुखसे यह आश्चर्यजनक वृत्तान्त सुन रहे थे। राजाने स्वयं ही कुमार समरंजयको राजमहलमें ले जाकर उन्हें राजाके पदपर अभिषिक्त किया। फिर नगर और राज्यके लोगोंको भी दान आदिसे प्रसन्न करके पुण्यात्मा राजाने गंगाके पश्चिम तटपर एक विशाल मन्दिर बनवाया। संग्राममें शत्रुओंको जीतकर उन्होंने जितनी सम्पत्ति संग्रह की थी वह सब लगाकर राजाने शिवमन्दिरका निर्माण कराया। राजाकी सम्पूर्ण सम्पत्ति वहाँ लगा दी गयी थी, इसलिये वह शुभ भूमि 'भूपालश्री' नामसे विख्यात हुई। राजा रिपुंजयने दिवोदासेश्वर लिंगकी स्थापना करके अपने-आपको कृतार्थ माना। तदनन्तर एक दिन विधिपूर्वक उस शिवलिंगकी पूजा और वन्दना करके ज्यों ही स्तुति करना प्रारम्भ किया त्यों ही आकाशसे एक दिव्य विमान उतरा जो हाथमें शूल और खट्वांग धारण करनेवाले शिव-पार्षदोंसे घिरा

हुआ था। तत्पश्चात् उन पार्षदोंने राजाको दिव्य माला, दिव्य गन्ध, दिव्य वस्त्र और दिव्य आभूषणोंसे अलंकृत किया और उन्हें शिवधाममें पहुँचा दिया। तबसे वह तीर्थ 'भूपालश्री' के नामसे प्रसिद्ध हुआ। वहाँ श्राद्ध आदि करके अपनी शक्तिके अनुसार दान देकर जो दिवोदासेश्वरका दर्शन और भक्तिपूर्वक पूजन करता है तथा राजाकी इस कथाको भी सुनता है वह फिर गर्भमें नहीं आता। जहाँ सब पातकोंका नाश करनेवाली दिवोदासकी कथा होती है वहाँ अनावृष्टि और अकालमृत्युका भय नहीं होता। इस माहात्म्य कथाके पाठसे सबके मनोरथ पूर्ण होंगे।

# धर्मनदतीर्थके पंचनद नाम पड़नेका कारण, अग्निविन्दुके द्वारा भगवान् विष्णुकी स्तुति, भगवान्के मुखसे पंचनद एवं विन्दुमाधवतीर्थकी महिमाका निरूपण

**अगस्त्यजी बोले**—पार्वतीनन्दन! आपने यह कहा है कि काशी परम पावन है, उसमें भी भगवान् विष्णुने पंचनद (पंचगंगा) तीर्थको बहुत उत्तम जाना। अतः हम जानना चाहते हैं कि उसका नाम पंचनदतीर्थ क्यों हुआ और वह सब तीर्थोंसे बढ़कर परम पावन क्योंकर हुआ? जो निराकार होकर भी साकर हैं, रूपहीन होते हुए भी रूपवान् हैं, अव्यक्त होकर भी व्यक्त हैं, प्रपंचसे परे होकर भी प्रपंचसेवी हैं, अजन्मा होकर भी जिन्होंने अनेक जन्म धारण किये हैं, नामरहित होकर भी स्पष्ट नाम धारण करनेवाले हैं, आलम्बशून्य होकर भी सबके परम आलम्ब हैं, निर्गुण होकर भी सगुणरूपसे प्रकट हैं और इन्द्रियरहित होकर भी इन्द्रियोंके स्वामी हैं तथा बिना पैरके भी सर्वत्र गमन करनेवाले हैं, उन सर्वव्यापी भगवान् जनार्दनके सर्वात्मभावसे परम उत्तम पंचनदतीर्थमें निवास करनेका क्या कारण है?

**स्कन्दजीने कहा**—एक समय काशीमें सूर्यदेवने बड़ी भारी तपस्या की। उस तीर्थमें तपस्या करते हुए मयूखादित्य नामक सूर्यकी किरणोंसे बहुत पसीना प्रकट हुआ। वह महास्वेदकी धारा किरणा नामसे प्रसिद्ध पुण्यमयी नदी बन गयी। फिर वह धूतपापा नदीसे मिली। धूतपापासे मिली हुई किरणा स्नानमात्रसे महापापरूपी घोर अन्धकारका नाश कर देती है। तदनन्तर दिलीपनन्दन भगीरथके साथ भागीरथी गंगा यमुना और सरस्वतीके साथ वहाँ आयीं। इस प्रकार उस तीर्थमें किरणा, धूतपापा, पुण्यसलिला सरस्वती, गंगा और यमुना—ये पाँच नदियाँ मिली हुई बतायी गयी हैं। इसीलिये वह त्रिभुवनविख्यात तीर्थ पंचनद (पंचगंगा)-के नामसे प्रसिद्ध है। उसमें डुबकी लगानेवाला मनुष्य पांचभौतिक शरीर नहीं ग्रहण करता। पाँच नदियोंका यह संगम समस्त पापराशिको विदीर्ण करनेवाला है। इसमें स्नान करनेमात्रसे मनुष्य ब्रह्माण्डमण्डलका भेदन करके ऊर्ध्वलोकको चला जाता है। काशीमें पग-पगपर अनेक बड़े-बड़े तीर्थ हैं, किंतु वे पंचनदतीर्थके करोड़वें अंशके समान भी नहीं हैं। पूरे माघभर प्रयाग तीर्थमें भलीभाँति स्नान करनेसे जो फल मिलता है, वह काशीके पंचनदतीर्थमें एक ही दिनके स्नानसे निश्चय ही प्राप्त हो जाता है। पंचनदतीर्थमें स्नान और पितरोंका तर्पण करके भगवान् विन्दुमाधवकी पूजा करनेसे मनुष्य फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेता। जिन्होंने पंचनद नामक शुभ तीर्थमें श्राद्ध किया है, उनके पितर अनेक योनियोंमें गये हों तो भी मुक्त हो जाते हैं। वस्त्रसे छाने हुए पंचगंगाके पुण्यजलसे जो अपने इष्टदेवको स्नान कराता है वह महान् फलका भागी होता है। संतोंको महान् सुख देनेवाले पंचनद तीर्थके जलसे अभिषेक जितना प्रिय है उतना स्वर्गके राज्यपर यदि उनका अभिषेक किया जाय तो वह भी प्रिय नहीं है। सत्ययुगमें इस तीर्थका नाम धर्मनद, त्रेतामें धूतपाप, द्वापरमें विन्दुतीर्थ और कलियुगमें पंचनद कहा गया है। पुण्यमय धर्मनदतीर्थमें विधिपूर्वक अग्निको प्रज्वलित करके यदि उसमें एक भी आहुति दी जाय तो कोटि बार होमका फल मिलता है।

पंचनदतीर्थमें स्थित हुए भगवान् लक्ष्मीपतिने गरुड़को शिवजीके आगे सब वृत्तान्त निवेदन करनेके लिये भेजकर वहाँ एक दुर्बल शरीरवाले तपस्वीको देखा। उस तपस्वी मुनिने निकट आकर भगवान्का दर्शन किया। भगवान् लक्ष्मीपति गलेमें धारण की हुई वनमालासे सुशोभित थे। उनके पास ही भगवती लक्ष्मी विराजित थीं। चारों हाथोंमें क्रमशः शंख, पद्म, गदा और चक्र चमक रहे थे। वक्षःस्थल कौस्तुभमणिकी प्रभासे उद्भासित हो रहा था। उन्होंने

अपने श्रीअंगमें दिव्य रेशमी पीताम्बर धारण कर रखा था। उनकी अंगकान्ति सुन्दर नील कमलके समान श्याम थी। आकृति अत्यन्त स्निग्ध एवं मधुर प्रतीत होती थी। नाभिकुण्डमें कमल शोभा पा रहा था। ओठ बड़े ही सुन्दर और लाल थे, दाँत अनारके दानोंके समान सुन्दर एवं स्वच्छ थे। उनके किरीटकी द्युतिसे आकाश प्रकाशित हो रहा था, देवराज इन्द्र जिनके चरणोंमें मस्तक झुकाते हैं, सनक आदि महात्मा जिनकी स्तुति करते हैं, नारद आदि देवर्षियोंने जिनके महान् अभ्युदयका गीत गाया है तथा प्रह्लाद आदि भगवद्भक्त जिनके मनको सदा आनन्दित करते रहते हैं, जिन्होंने शार्ङ्ग नामक धनुषका दण्ड हाथमें ले रखा है, जो इन्द्रियोंके अविषय, निराकार और कैवल्यस्वरूप परब्रह्म हैं, वे ही प्रभु भक्तोंकी भक्तिके कारण यहाँ पुरुषरूपमें प्रकट हुए थे। जिनके उपनिषद्वर्णित स्वरूपको वेद भी नहीं जानते, ब्रह्मा आदि देवता भी नहीं समझ पाते, उन्हीं भगवान् विष्णुका उन तपस्वी मुनिने अपने नेत्रोंसे प्रत्यक्ष दर्शन किया और आनन्दमें भरकर पृथ्वीपर मस्तक रखकर उन्हें प्रणाम किया। उन महर्षिका नाम अग्निविन्दु था। महातपस्वी अग्निविन्दुने मस्तकके समीप अंजलि बाँधकर भगवान् विष्णुका भलीभाँति स्तवन किया।

**अग्निविन्दु बोले**—ॐ कमलके समान नेत्रोंवाले भगवान् नारायण! आप बाहर और भीतरको पवित्र करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। आपके सहस्रों मस्तक, सहस्रों नेत्र और सहस्रों पैर हैं। आप अन्तर्यामी पुरुष हैं, आपके दोनों चरण सब प्रकारके द्वन्द्वोंका निवारण करनेवाले हैं। इन्द्रादि देवताओंसे वन्दित विष्णो! आपके उन चरणोंको मैं द्वन्द्व-रहित शान्त बुद्धिसे प्रणाम करता हूँ। बृहस्पतिकी वाणी भी जिनकी स्तुति करनेमें समर्थ नहीं हो पाती, उन भगवान्‌की स्तुति करनेके लिये इस लोकमें कौन समर्थ हो सकता है। परंतु यहाँ भक्ति ही प्रबल है (भगवान् केवल भक्तिसे ही प्रसन्न हो जाते हैं)। जो भगवान् विष्णु पुरातन ब्रह्मा आदिके भी मन-वाणीके अगोचर हैं, उनकी स्तुति मेरे-जैसे अल्पबुद्धि पुरुष कैसे कर सकते हैं। जहाँ वाणीका प्रवेश नहीं है, मन जिनका मनन नहीं कर सकता, जो मन और वाणीसे सर्वथा परे हैं, उन परमेश्वरकी स्तुति करनेमें कौन समर्थ होगा। छः अंग, पद और क्रमसहित वेद जिनके निःश्वाससे प्रकट हुए हैं, उन भगवान् विष्णुकी महान् महिमाका यथावत् ज्ञान किनको हो सकता है? जिनकी मन-बुद्धि सदा जाग्रत् रहती हैं, वे सनकादि महर्षि अपने हृदयाकाशमें जिनका निरन्तर ध्यान करते रहनेपर भी उन्हें यथार्थरूपसे उपलब्ध नहीं कर पाते, आबालब्रह्मचारी नारद आदि मुनीश्वर जिनके चरित्रको सदा गाते रहते हैं, तो भी सम्यक्‌रूपसे जिनके तत्त्वका ज्ञान नहीं हो पाता, जो चराचरस्वरूप होकर भी चराचर जगत्‌से सर्वथा भिन्न हैं, जिनका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है, जो अजन्मा, अविकारी, एक, आदिकारण, ब्रह्मा आदिके अगोचर, अजेय, अनन्तशक्ति, निरामय, नित्य, निराकार एवं अचिन्त्यस्वरूप हैं, उन आप परमेश्वरको पूर्णरूपसे कौन जान सकता है? भगवन्, मुरारे, मुकुन्द, मधुसूदन, माधव इत्यादि रूपसे आपके एक-एक नामका भी यदि जप किया जाय तो वह पापियोंके जन्मभरके उपार्जित पापपुंजको उनकी महाविपत्तियोंके साथ हर लेता है और बड़े-बड़े यज्ञोंका महत्त्वपूर्ण फल प्रदान करता है। नारायण, नरकार्णवतारण, दामोदर, मधुसूदन, चतुर्भुज, विश्वम्भर, विरज और जनार्दन इत्यादि नामोंका जप करनेवाले पुरुषोंका इस संसारमें कहाँ जन्म हो सकता है तथा उन्हें कालका भय भी कहाँ प्राप्त हो सकता है *। त्रिविक्रम! आपकी कान्ति

* एकैकमेव तव नाम हरेन्मुरारे जन्मार्जिताघमघिनां च महापदाढ्यम्।
दद्यात्फलं च महितं महतो मखस्य जप्तं मुकुन्द मधुसूदन माधवेति॥
नारायणेति नरकार्णवतारणेति दामोदरेति मधुहेति चतुर्भुजेति।
विश्वम्भरेति विरजेति जनार्दनेति कास्तीह जन्म जपतां क्व कृतान्तभीतिः॥ (स्क० पु०, का० उ० ६०। ३४-३५)

मेघमालाके समान सुन्दर एवं श्याम है। आपका श्रीअंग विद्युत्की भाँति प्रकाशमान पीताम्बरसे आवृत है और आपके नेत्र कमलदलके समान परम सुन्दर हैं। जो लोग आपकी इस छबिका अपने हृदयमें सदा चिन्तन करते हैं, वे भी आपकी अचिन्त्य कान्तिको प्राप्त कर लेते हैं। श्रीवत्सचिह्नसे सुशोभित श्रीहरे! अच्युत! कैटभारे! गोविन्द! गरुड़वाहन! केशव! चक्रपाणे! लक्ष्मीपते! दैत्यसूदन! शार्ङ्गपाणे! आपके प्रति भक्ति रखनेवाले पुरुषोंको कहीं भी भय नहीं प्राप्त होता। कमलनयन! जिनकी जिह्वापर आपका मनोवांछित फल देनेवाला नाम शोभा पाता है, जिनके कानोंमें आपकी कथाके सुमधुर अक्षर पड़ते हैं तथा जिनके हृदयरूपी भित्तिपर आपका स्वरूप अंकित होता है, उनके लिये राजाका पद दुर्लभ नहीं है। प्रभो! ब्रह्माजी आपके युगल चरणारविन्दोंकी वन्दना करते हैं। आप लीलासे ही अनेक प्रकारके लीलामय स्वरूप धारण करते हैं। आप ही क्षणभरमें जगत्की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं। आप ही विश्व हैं, आप ही विश्वसे परे विश्वनाथ हैं तथा आप ही इस विश्वके बीज (आदिकारण) हैं, मैं आपको नित्य प्रणाम करता हूँ। भगवन्! आप ही स्तुति करनेवाले हैं, आप ही स्तुति हैं और आप ही स्तवन करनेयोग्य देवता हैं। इस जगत्में जो कुछ है, वह सब एकमात्र आप ही हैं। विष्णो! आपसे भिन्न किसी भी वस्तुको मैं नहीं जानता, आप संसारबन्धनका नाश करनेवाले हैं, सांसारिक विषयोंके प्रति होनेवाली मेरी तृष्णाका सदाके लिये नाश कीजिये।

इस प्रकार भगवान् विष्णुकी स्तुति करके महातपस्वी अग्निविन्दु चुप हो गये। तब वर देनेवाले भगवान् विष्णुने मुनिसे इस प्रकार कहा—'अग्निविन्दो! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, तुम कोई वर माँगो।'

**अग्निविन्दु बोले**—भगवन्! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मैं यही माँगता हूँ कि आप

सर्वव्यापी होकर भी समस्त जन्तुओं, विशेषतः मुमुक्षु जीवोंके हितके लिये यहाँ पंचनदतीर्थमें निवास करें। साथ ही मुझे आपके चरणारविन्दोंमें भक्ति प्राप्त हो। इसके सिवा मैं दूसरा कोई वर नहीं माँगता हूँ।

**इस प्रकार दूसरोंके उपकारके लिये माँगे हुए अग्निविन्दुके वरको सुनकर भगवान् मधुसूदन बड़े प्रसन्न हुए और बोले**—मुनिश्रेष्ठ! तथास्तु, तुम जैसा चाहते हो वैसा ही होगा। मैं काशीपुरीके प्रति भक्ति रखनेवाले मनुष्योंको मुक्तिमार्गका उपदेश करता हुआ इस तीर्थमें निश्चय ही निवास करूँगा। मुझमें तुम्हारी अविचल भक्ति हो। मुने! यह काशीपुरी जबतक यहाँ विद्यमान है, तबतक मैं यहीं रहूँगा।

**भगवान् विष्णुका यह वचन सुनकर महामुनि अग्निविन्दु फिर बोले**—माधव! इस कल्याणमय पंचनदतीर्थमें मेरे नामसे स्थित होकर आप भक्त और अभक्त सभी जीवोंको सदा मुक्ति प्रदान करें। जो इस पंचनदतीर्थमें स्नान करके यहाँसे जाकर देशान्तरमें भी मृत्युको प्राप्त हों उनको भी आप निश्चय ही मुक्ति दें।

**भगवान् विष्णु बोले**—मुने! तुमने जो वर

माँगा है वह पूर्ण होगा। तुम्हारे नामके आधे भागके साथ और लक्ष्मीजीके नामके साथ मेरा नाम प्रसिद्ध होगा अर्थात् तीनों लोकोंमें विन्दुमाधवके नामसे मेरी ख्याति होगी। मेरा यह नाम काशीमें महान् पापोंका नाश करनेवाला होगा। जो पुण्यात्मा पुरुष इस पुण्यमय पंचनद कुण्डमें सदा मेरी पूजा करेंगे उन्हें संसारका भय कहाँ है। जिनके हृदयमें मुझ पंचनदतीर्थवासी विन्दुमाधवका निवास है, उनके पास सदा धनस्वरूपा लक्ष्मी और मोक्ष-लक्ष्मीका भी वास होता है। अग्निविन्दो! सब पातकोंका नाश करनेवाला यह श्रेष्ठ तीर्थ तुम्हारे नामसे विन्दुतीर्थ कहलायेगा। जो कार्तिक मासमें ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए सूर्योदयसे पहले ही विन्दुतीर्थमें स्नान करेगा उसे यमराजसे कहाँ भय है। मनुष्य मोहवश सहस्रों पाप करके भी यदि कार्तिकमें धर्मनदतीर्थमें स्नान कर लेता है तो क्षणभरमें पापहीन हो जाता है। यह शरीर अपवित्र मल-मूत्र आदिका भण्डार है। इसका एकभक्तव्रत, नक्तव्रत, अयाचितव्रत तथा उपवासव्रतके द्वारा भलीभाँति शोधन करना चाहिये। जो मनुष्य मेरे आगे उज्ज्वल बत्तीके साथ दीप जलाता है वह चराचर जीवोंसहित समस्त त्रिलोकीको अपने लिये प्रकाशमय देखता है। जो कार्तिकमें पंचामृतके कलशोंसे मुझको स्नान कराता है वह पुण्यात्मा एक कल्पतक क्षीरसागरके तटपर निवास करता है। जो मेरी भक्ति करते हुए भी भगवान् विश्वनाथसे द्वेष करते हैं उन्हें मेरा ही द्वेषी जानना चाहिये। वे पिशाचपदको प्राप्त होते हैं। कालभैरवके शासनसे पिशाचयोनिको प्राप्त होकर वे तीस हजार वर्षोंतक दुःखके सागरमें डूबे रहते हैं। तदनन्तर विश्वनाथजीकी कृपासे ही उन्हें मोक्षकी प्राप्ति होती है। जो अधम मनुष्य मनसे भी भगवान् विश्वनाथसे द्वेष रखते हैं, वे काशीसे अन्यत्र मृत्युको प्राप्त होकर सदा अन्धतामिस्र नरकमें निवास करते हैं। मुने! यह काशीपुरी भगवान् पशुपति (शिव) अथवा शिवभक्तोंकी निवासस्थली है। अतः यहाँ परम कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको सदा भगवान् शिवकी सेवा करनी चाहिये। महामुने! प्रथम तो यह आनन्दकानन ही परम पवित्र है, उसमें भी पंचनदतीर्थ अन्य तीर्थोंकी अपेक्षा अधिक पवित्र है और वहाँ भी मेरा सान्निध्य होना उससे भी अधिक पुण्यमय है। इसी अनुमानसे तुम पंचनद-तीर्थकी महिमा सब तीर्थोंसे अधिक उत्तम जानो। पंचनदके इस माहात्म्यको सुनकर बुद्धिमान् मनुष्य बड़े-बड़े पापोंसे मुक्त हो जाता है।

भगवान् विष्णुके मुखसे यह वचन सुनकर महामुनि अग्निविन्दुने श्रीविन्दुमाधवके चरणोंमें प्रणाम करके पुनः पूछा—'भगवन्! काशीमें आपके जितने स्वरूप हैं, उनका वर्णन कीजिये।'

## भगवान् विष्णुद्वारा अपने आदिकेशव प्रभृति स्वरूपोंका वर्णन तथा अग्निविन्दुकी मुक्ति

**श्रीविन्दुमाधवजी बोले**—अग्निविन्दो! पहले तो पादोदकतीर्थमें मैं आदिकेशवके नामसे निवास करता हूँ, ऐसा जानो। पादोदकतीर्थसे दक्षिणमें जो श्वेतद्वीप नामक परम महान् तीर्थ है वहाँ मैं ज्ञानकेशवके नामसे रहकर मनुष्योंको ज्ञान प्रदान करता हूँ। तार्क्ष्यतीर्थमें मैं ही तार्क्ष्यकेशवके नामसे प्रसिद्ध हूँ। वहीं नारदतीर्थमें मैं नारदकेशव कहलाता हूँ। वहीं प्रह्लादतीर्थ भी है, जहाँ मैं प्रह्लादकेशवके नामसे प्रसिद्ध हूँ। भक्त पुरुषोंको वहाँ मेरे स्वरूपकी भलीभाँति आराधना करनी चाहिये। अम्बरीषतीर्थमें मेरा नाम आदित्यकेशव है। दत्तात्रेयेश्वरसे दक्षिण मेरा नाम आदिगदाधर है। वहीं भार्गवतीर्थमें मैं भृगुकेशवके नामसे विख्यात हूँ। वामन नामक मंगलकारी महातीर्थमें मैं वामनकेशव हूँ। नरनारायणतीर्थमें मैं नर-नारायणस्वरूप हूँ। यज्ञवाराह नामक तीर्थमें मेरा

नाम यज्ञवाराह है। विदारनारसिंह नामवाले तीर्थमें मैं विदारनारसिंह नामसे ही सेवन करने योग्य हूँ। गोपीगोविन्द नामक तीर्थमें मैं गोपीगोविन्द नामसे ही प्रसिद्ध हूँ। लक्ष्मीनृसिंह नामवाले पावन तीर्थमें मैं लक्ष्मीनृसिंह हूँ। पापहारी शेषतीर्थमें मैं शेषमाधव हूँ। शंखमाधवतीर्थमें मेरा नाम शंखमाधव है। हयग्रीव महातीर्थमें हयग्रीवकेशव नामसे मेरी प्रसिद्धि है। वृद्धिकालेश्वरसे पश्चिम मैं भीष्मकेशव नामसे प्रसिद्ध हूँ। लोलार्कसे उत्तर भागमें मेरा नाम निर्वाणकेशव है। त्रिपुरसुन्दरी देवीसे दक्षिण भागमें जो त्रिभुवनकेशव नामसे मेरी पूजा करेगा वह फिर कभी गर्भमें नहीं आवेगा। ज्ञानवापीके पूर्वभागमें मैं ज्ञानमाधवके नामसे प्रसिद्ध हूँ। विशालाक्षी देवीके समीप मैं श्वेतमाधवके नामसे स्थित हूँ। दशाश्वमेधसे उत्तरमें स्थित मुझ प्रयागमाधवका दर्शन करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार जब भगवान् विन्दुमाधव अग्निविन्दु मुनिको काशीमें स्थित अपने विभिन्न स्वरूपोंका परिचय देते हुए माहात्म्य-कथा सुना रहे थे, उसी समय उन्हें गरुड़जी दिखायी दिये। गरुड़ने भगवान्‌को प्रणाम करके प्रसन्नतापूर्वक महादेवजीके शुभागमनकी सूचना दी।

**भगवान्‌ने पूछा**—महादेवजी कहाँ हैं?

**गरुड़ बोले**—जिसकी ध्वजापर महान् वृषभका चिह्न शोभा पाता है तथा जिसके रत्नमय ध्वजकी प्रभा इस पृथ्वी और आकाशको परिपूर्ण किये दे रही है, वह यह महादेवजीका रथ आ रहा है। उसका प्रत्यक्ष दर्शन कीजिये। तब श्रीहरिने भगवान् त्रिलोचनके वृषभ-ध्वजका दर्शन करके उसे दूरसे ही प्रणाम किया और अग्निविन्दु मुनिसे कहा—'मुने! तुम अपने दाहिने हाथसे इस सुदर्शनचक्रका स्पर्श कर लो।' भगवान्‌की ऐसी आज्ञा होनेपर उन्होंने ज्यों ही सुदर्शनका स्पर्श किया त्यों ही श्रीहरिके महान् अनुग्रहसे वे 'सुदर्शन' हो गये।

**स्कन्दजी कहते हैं**—अगस्त्य! फिर अग्निविन्दु मुनि ज्योतिःस्वरूप होकर भगवान् विन्दुमाधवकी सेवाके प्रभावसे उनकी दिव्य चिन्मय ज्योतिस्स्वरूपा कौस्तुभमणिमें मिलकर एकीभूत हो गये। जिन्होंने विन्दुमाधवके चरणारविन्दोंमें अपने चित्तको चंचरीककी भाँति लगा रखा है, वे भी अग्निविन्दुकी भाँति निश्चय ही भगवत्स्वरूपको प्राप्त होते हैं। इसलिये सदा काशीमें निवास, श्रीविन्दुमाधवका दर्शन और इस माहात्म्य-कथाका श्रवण करना चाहिये तथा ऐसा करके लौकिक गतिपर विजय पानी चाहिये। पंचनदकी उत्पत्ति-कथा पुण्यमयी है। भगवान् विन्दुमाधवकी कथा भी परम पवित्र है और काशीका निवास भी अतिशय पुण्यजनक है—ये तीनों बातें पुण्यात्माओंको ही सुलभ हैं।

## भगवान् शिवका स्वागत या वृषभध्वजतीर्थकी महिमा तथा शिवका काशीपुरीमें प्रवेश

**स्कन्दजी कहते हैं**—तदनन्तर श्रीहरि ब्रह्माजीको आगे करके भगवान् शंकरकी अगवानीके लिये आगे बढ़े। देवाधिदेव भगवान् वृषभध्वजको देखकर श्रीविष्णुने उन्हें प्रणाम किया। तत्पश्चात् फलसहित भीगे अक्षतोंको दिखाते हुए ब्रह्माजीने स्वस्तिवाचनके लिये हाथ ऊँचे करके रुद्रसूक्तोंसे भगवान् शिवका स्तवन किया। श्रीगणेशजीने उनके चरणारविन्दोंमें मस्तक रखकर शीघ्रतापूर्वक नमस्कार किया। तब महादेवजीने हर्षमें भरकर गणेशजीका मस्तक सूँघा और उन्हें हृदयसे लगाकर अपने आसनपर बिठा लिया। सोम और नन्दी आदि गणोंने साष्टांग प्रणाम किया। योगिनियोंने भी महेश्वरको प्रणाम करके मंगलगान किया। तत्पश्चात् सूर्यदेवने शिवजीको नमस्कार किया। चन्द्रार्धशेखर भगवान् शिवने श्रीहरिको अपने सिंहासनके समीप ही वामभागमें बड़े आदरके साथ बिठाया और ब्रह्माजीको

अपने दक्षिण भागमें आसन दिया। प्रणाम करनेवाले अन्य सब गणोंको भी दृष्टिपात करके सम्मानित किया। मस्तक हिलाकर योगिनियोंको भी प्रसन्न किया और हाथके इशारेसे सूर्यदेवको सन्तुष्ट किया। तत्पश्चात् ब्रह्माजीने दोनों हाथ जोड़कर कहा—'देवदेवेश्वर! गिरिजापते! मैं काशी आनेके बाद जो पुनः आपकी सेवामें नहीं पहुँचा, मेरे इस अपराधको आप क्षमा करेंगे। आलस्य छोड़कर पुण्यके पथपर चलनेवाले धर्मात्मा राजा दिवोदासके प्रति कौन किंचिन्मात्र भी विरुद्धभाव धारण कर सकता है।'

**ब्रह्माजीकी यह बात सुनकर शिवजीने हँसते हुए कहा**—ब्रह्मन्! मैं सब कुछ जानता हूँ। आप यहाँ आकर पहले ब्राह्मण बने। आप ब्राह्मण तो हैं ही, अतः यहाँ भी ब्राह्मण बनना आपके लिये दोषकी बात नहीं है। ब्राह्मण बनकर भी आपने जो दस अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया, यह और भी उत्तम है। इसके सिवा आपने मेरे स्वरूपकी स्थापना करके अपना परम हित किया है।

देवेश्वर भगवान् शिवके ऐसा कहनेपर योगिनियोंने भी परस्पर एक-दूसरेका मुँह देखकर भीतर-ही-भीतर सन्तोषकी साँस ली। तत्पश्चात् चराचर जगत्को देखनेवाले सूर्यदेवने भी अवसर जानकर भगवान् शिवसे कहा—'नाथ! आपके समीपसे काशी आकर मैंने यथाशक्ति उपाय किया, किंतु कुछ भी करनेमें सफल न हो सका। राजा दिवोदास स्वधर्मका पालन करनेवाले थे। उनके होते हुए भी आपका यहाँ आगमन निश्चित है, ऐसा जानकर मैं यहीं ठहरा हुआ हूँ। आज श्रीचरणोंके दर्शनसे मेरा मनोरथरूपी वृक्ष फलित हुआ है।' सूर्यका यह वचन सुनकर महादेवजीने कहा—'भास्कर! राजा दिवोदासके शासनकालमें यहाँ देवताओंका प्रवेश नहीं होता था, तो भी तुम इस पुरीमें आकर जो ठहर गये, इससे मेरा ही कार्य सिद्ध हुआ है।' इस प्रकार सूर्यको आश्वासन देकर कृपानिधान महादेवजीने योगिनियोंको भी उत्तम दृष्टिसे देखकर प्रसन्न किया। इसके बाद उन्होंने चक्रधारी भगवान् विष्णुकी ओर देखा। महामना श्रीहरिने सर्वज्ञ शिवजीके आगे स्वयं कुछ भी नहीं कहा। भगवान् शिव गरुड़के मुखसे गणेशजी और श्रीविष्णुका वृत्तान्त सुन चुके थे। अतः वे मन-ही-मन इनपर बहुत प्रसन्न हुए, वाणीसे कुछ भी नहीं कहा।

इसी समय गोलोकसे पाँच गौएँ आयीं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—सुनन्दा, सुमना, सुशीला, सुरभि और कपिला। ये सब पापोंका नाश करनेवाली थीं। भगवान् शिवजीके प्रति वात्सल्यस्नेहके कारण उनके स्तनोंसे दूध चूने लगे। उनके स्तनरूपी मेघ दूधकी धारा बरसाने लगे और तबतक बरसाते रहे जबतक कि एक सरोवर भर नहीं गया। पार्श्ववर्ती लोगोंने देखा एक कुण्ड भर गया। भगवान् शंकरके अधिष्ठानसे वह एक उत्तम तीर्थ हो गया। महेश्वरने उसका नाम कपिला कुण्ड रखा। तदनन्तर महादेवजीकी आज्ञासे सब देवताओंने उसमें स्नान किया। तत्पश्चात् उस तीर्थसे दिव्य पितर प्रकट हुए, उन्हें देखकर सब देवताओंने प्रसन्नतापूर्वक उनका तर्पण किया। अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, आज्यप और सोमप आदि दिव्य पितरोंने तृप्त होकर शंकरजीसे निवेदन किया—'देवदेव जगन्नाथ! आप भक्तोंको अभय देनेवाले हैं। आपके समीप होनेसे इस तीर्थमें हमें अक्षय तृप्ति प्राप्त हुई है, इसलिये आप प्रसन्नचित्तसे वरदान दीजिये।' दिव्य पितरोंका यह वचन सुनकर शिवजीने कहा—'कपिला गौके दूधसे भरे हुए इस कापिलेयतीर्थमें जो श्रद्धापूर्वक पिण्डदान एवं श्राद्ध करेंगे उनके पितरोंको मेरी आज्ञासे पूर्ण तृप्ति होगी। अमावास्या और सोमवारके योगमें यहाँ दिया हुआ श्राद्धका दान अक्षय होगा। प्रलयकाल आनेपर समुद्र और उसके जल नष्ट हो जाते हैं, परंतु अमावास्या तथा सोमवारके योगमें किया हुआ यहाँका श्राद्ध कभी क्षीण नहीं होगा। गदाधर और ब्रह्माजी! आपलोग जहाँ विराजमान हैं तथा जहाँ मेरी भी स्थिति है वहाँ फल्गु नदी निःसन्देह विद्यमान है। पितरो! इस तीर्थके जो जो नाम आपलोगोंको तृप्ति देनेवाले हैं उनका परिचय देता हूँ। इसका प्रथम नाम मधुस्रवा है, दूसरा नाम कृतकृत्या

है, तीसरा नाम क्षीरसागर है। इसके सिवा वृषध्वजतीर्थ, पितामहतीर्थ, गदाधरतीर्थ और पितृतीर्थ आदि नाम हैं। इतना ही नहीं—कपिलधारा, सुधाखनि और शिवगया नामसे भी इस शुभ तीर्थको जानना चाहिये। पितरो! इस तीर्थके ये दस नाम बिना श्राद्ध और तर्पणके भी आपलोगोंको तृप्ति देनेवाले हैं। जो लोग पितरोंको तृप्त करनेकी इच्छा लेकर सूर्य-चन्द्रमाके संगम (अमावस्या)-के अवसरपर यहाँ ब्राह्मणोंको भोजन करावेंगे उनके द्वारा किया हुआ वह श्राद्ध अक्षय होगा। जो पितरोंकी तृप्तिके लिये यहाँ श्राद्धमें कपिला गौका दान करेंगे उनके पितर क्षीरसागरके तटपर निवास करेंगे। जिन्होंने इस वृषभध्वजतीर्थमें वृषोत्सर्ग किया है उन्होंने अपने पितरोंको अश्वमेध यज्ञके पुरोडाशसे तृप्त कर दिया। पिताके गोत्रमें और माताके पक्षमें जो लोग मरे हैं उनको यहाँ किया हुआ पिण्डदान अक्षय तृप्ति देनेवाला होता है। पत्नीवर्ग अथवा मित्रवर्गमें जो लोग मृत्युको प्राप्त हुए हैं वे भी वृषभध्वजतीर्थमें तर्पण करनेपर तृप्तिको प्राप्त होते हैं। जिनका वृषभध्वजतीर्थमें तर्पण किया गया है वे सब पितर ब्रह्मलोकको चले जाते हैं। यह तीर्थ सत्ययुगमें दूधसे भरा रहता है, त्रेतामें मधुसे पूर्ण होता है, द्वापरमें घीसे भरा होता है और कलियुगमें जलसे परिपूर्ण रहता है। यद्यपि यह शुभ तीर्थ काशीकी सीमासे बाहर है, तो भी यहाँ मेरा सामीप्य होनेके कारण इसे काशीपुरीके भीतर ही जानना चाहिये। काशीनिवासियोंने यहाँ मेरे वृषचिह्नयुक्त ध्वजका दर्शन किया है, इसलिये मैं इस तीर्थमें 'वृषध्वज' नामसे निवास करूँगा। पितरो! मैं तुम्हारे सन्तोषके लिये यहाँ ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य तथा अपने पार्षदोंके साथ निवास करूँगा।'

**इस प्रकार शिवजी पितरोंको वरदान दे रहे थे, इतनेहीमें नन्दिकेश्वरने निवेदन किया—** प्रभो! रथ सुसज्जित होकर तैयार है, अतः अब श्रीचरणोंकी विजययात्रा प्रारम्भ हो। तब आठ मातृकाओंने भगवान् शिवकी आरती उतारी और भगवान् विश्वनाथ श्रीहरिसे हाथ मिलाये हुए उठकर खड़े हुए। उस समय दिव्य वाद्योंकी गम्भीर ध्वनिसे पृथ्वीसे लेकर आकाशतक गूँज उठा। देवियोंके मंगलगीत और चारणोंद्वारा की हुई स्तुतिके शब्दोंसे वह तुमुलनाद और भी बढ़ गया था। तैंतीस करोड़ देवता, बीस करोड़ शिवगण, नौ करोड़ चामुण्डा, एक करोड़ भैरवी तथा आठ करोड़ मेरे (स्कन्दके) महाबली अनुचर, जो छः मुखोंसे सुशोभित और मयूरके वाहनपर आरूढ़ थे, आये। चमकता हुआ फरसा हाथमें लिये सात करोड़ गणेशके गण उपस्थित हुए जो महावेगवान्, तोंदवाले, हाथीके-से मुखवाले तथा विघ्नविनाशक थे। छियासी हजार ब्रह्मवादी मुनि और इतने ही गृहस्थ भी वहाँ आये। तीन करोड़ पातालनिवासी नाग, दो-दो करोड़ शिवभक्त दानव और दैत्य, आठ लाख गन्धर्व, पचास लाख यक्ष और राक्षस, दो लाख दस हजार विद्याधर, साठ हजार सुन्दरी दिव्य अप्सराएँ, आठ लाख गोमाताएँ, साठ हजार गरुड़, नाना प्रकारके रत्नोंकी भेंट देनेवाले सात समुद्र, तिरपन हजार नदियाँ, आठ हजार पर्वत, तीन सौ वनस्पतियाँ और आठों दिग्गज—ये सब लोग उस स्थानपर उपस्थित हुए जहाँ पिनाकपाणि महादेवजी विराजमान थे। इन सबके साथ परम सन्तुष्ट भगवान् शिवने इधर-उधरसे अपनी स्तुति सुनते हुए रथपर आरूढ़ हो उत्तम काशीपुरीमें प्रवेश किया। उनके साथ गिरिराजनन्दिनी उमा भी थीं।

**स्कन्दजी कहते हैं—**यह परम उत्तम उपाख्यान कोटि जन्मोंका पाप नष्ट करनेवाला है। इसका पाठ करके अथवा ब्राह्मणद्वारा कराकर मनुष्य भगवान् शिवका सायुज्य प्राप्त कर लेता है। जो इस आख्यानका प्रसन्नतापूर्वक पाठ करके नूतन गृहमें प्रवेश करता है वह सब प्रकारके सुखका निकेतन बन जाता है। यह उत्तम उपाख्यान तीनों लोकोंके लिये आनन्दजनक है। इसके श्रवणमात्रसे भगवान् विश्वनाथ प्रसन्न होते हैं।

# जैगीषव्यपर भगवान् शिवकी कृपा और उनके द्वारा शिवकी स्तुति

**अगस्त्यजी कहते हैं**—भगवन्! काशीपुरीका दर्शन करके त्रिपुरारि भगवान् शिवने क्या किया?

**स्कन्दजी बोले**—अगस्त्य! सर्वज्ञ नाथ भक्त-वत्सल भगवान् शिवने काशीपुरीको देखनेके पश्चात् सबसे प्रथम किसी गुहामें बैठे हुए जैगीषव्य-मुनिको दर्शन दिया। जिस दिन भगवान् शिव काशी छोड़कर मन्दराचल गये उसी दिनसे जैगीषव्य-मुनिने यह दृढ़ नियम कर लिया था कि 'जब मैं पुनः यहाँ भगवान् शिवके चरणारविन्दोंका दर्शन करूँगा तभी एक बूँद जल भी मुँहमें डालूँगा।' किसी अद्भुत धारणाशक्तिसे अथवा भगवान् शंकरके अनुग्रहसे अन्न-जल त्याग देनेपर भी जैगीषव्य-मुनि वहाँ जीवित रहे। इस बातको केवल भगवान् शंकर जानते थे, दूसरा कोई नहीं। इसीलिये भगवान् विश्वनाथ सबसे पहले वहीं गये और नन्दीश्वरको सम्बोधित करके सब देवताओंके सुनते हुए इस प्रकार बोले—'शिलादपुत्र! यहाँ बड़ी मनोहर गुफा है, तुम शीघ्र इसके भीतर प्रवेश करो। इसके भीतर मेरे भक्त तपोधन जैगीषव्यमुनि रहते हैं, जिन्होंने मेरे दर्शनके लिये दृढ़तापूर्वक कठोर व्रत धारण किया है। उनको गुफासे बाहर ले आओ। जब मैं मन्दराचल पर्वतपर गया था तबसे लेकर आजतक उन्होंने आहार त्यागकर बड़े भारी नियमका पालन किया है। यह लीलाकमल ले लो, यह अमृतके समान पोषण करनेवाला है, इससे उनके अंगोंका स्पर्श करा दो।' तब नन्दी देवदेवेश्वर महादेवजीको प्रणाम करके वह लीलाकमल हाथमें ले गुफाके भीतर गये और वहाँ धारणामें दृढ़तापूर्वक चित्तको लगाये हुए तपस्याकी अग्निसे सूखे अंगोंवाले मुनिको देखकर उन्होंने उनके शरीरसे कमलका स्पर्श करा दिया। उस कमलका स्पर्श होते ही

योगीश्वर जैगीषव्य उल्लसित हो उठे। तदनन्तर नन्दी उन मुनीश्वरको लेकर शीघ्र आये और देवाधिदेव महादेवके चरणोंके आगे नमस्कारपूर्वक डाल दिया। अपने आगे भगवान् शंकरको देखकर वे हर्षसे फूल उठे। शंकरजीके वामांगमें गिरिराज-नन्दिनी पार्वती भी थीं। जैगीषव्यने भगवान्के आगे भूमिपर सब ओर लोटकर साष्टांग प्रणाम किया और अतिशय भक्ति पूर्वक उनकी स्तुति प्रारम्भ की।

**जैगीषव्य बोले**—शान्त, सर्वज्ञ एवं शुभस्वरूप भगवान् शिवको नमस्कार है। जगत्के आनन्दका मूलस्थान तथा परमानन्दकी प्राप्तिके हेतुभूत महादेवजीको नमस्कार है। प्रभो! आप ही स्थावर और जंगमरूप हैं, आपको बार-बार नमस्कार है। सर्वात्मन्! आपको नमस्कार है। परमात्मन्! आपको नमस्कार है। आप शेषनागका भुजबन्द धारण करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। आपके आधे शरीरमें शक्तिस्वरूपा पार्वतीका निवास है, आपको नमस्कार है। आप शरीररहित तथा सुन्दर शरीरसे

सम्पन्न हैं, आपको नमस्कार है। एक बार प्रणाम करनेमात्रसे देहधारी जीवोंके देहरूपी बन्धनका निवारण करनेवाले आपको नमस्कार है। खण्डपरशो! अर्धचन्द्रको धारण करनेवाले आपको नमस्कार है। स्कन्दकी उत्पत्तिके स्थान आप गौरीपति गिरीशको नमस्कार है। चन्द्रार्धरूप शुद्ध आभूषणवाले तथा सूर्य-चन्द्र एवं अग्निरूप नेत्रोंवाले आपको नमस्कार है। सम्पूर्ण दिशाएँ आपके लिये वस्त्ररूप हैं, आपको नमस्कार है। आप सम्पूर्ण जगत्के स्वामी, जीर्ण (पुरातन) जरा और जन्मका कष्ट हर लेनेवाले, जीवोंको जीवन देनेवाले तथा पाप आदिका अपहरण करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। आपके एक हाथमें डमरू और दूसरे हाथमें धनुष है, आपको नमस्कार है। समस्त जगत्के लोचनरूप आप भगवान् त्रिलोचनको नमस्कार है। गंगाधर! आपको नमस्कार है। आप तीन वेदस्वरूप, सदा सन्तुष्ट रहनेवाले और भक्तोंको सन्तोष देनेवाले हैं। आप जगत्के उद्धारकी दीक्षासे युक्त हैं, आप देवाधिदेव महादेवको नमस्कार है। सम्पूर्ण पापोंको विदीर्ण करनेवाले, दीर्घदर्शी, प्रपंचसे दूर रहनेवाले तथा सम्पूर्ण दोषोंका दलन करनेवाले आप परम दुर्लभ देवको नमस्कार है। आप चन्द्रमाकी कलाको धारण करनेवाले तथा दोषोंके संग्रहका सर्वथा त्याग करनेवाले हैं। धतूरका फूल आपको अधिक प्रिय है, प्रभो! मस्तकपर जटाभार धारण करनेवाले आपको नमस्कार है। आप धीर, धर्मस्वरूप तथा धर्मके रक्षक हैं। नीलग्रीव! आपको नमस्कार है। जो आपके नामोंका स्मरणमात्र करते हैं, उनके लिये आप तीनों लोकोंका ऐश्वर्य भर देते हैं। आप प्रमथगणोंके अधिपति तथा अपने एक हाथमें सदा पिनाक उठाये रहनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। संसारी जीवोंके अज्ञानमय बन्धनको खोलनेवाले आप भगवान् पशुपतिको नमस्कार है। अपने नामका उच्चारण करनेमात्रसे बड़े-बड़े पातकोंको हर लेनेवाले आपको नमस्कार है। आप परसे भी परे, सबको पार उतारनेवाले, कार्य और कारणसे भी परे, अनन्त चरित्रवाले तथा परम पवित्र कथावाले हैं, आपको नमस्कार है। आप वामदेव हैं, अपने आधे अंगमें नारीस्वरूपको धारण करते हैं तथा धर्मस्वरूप वृषभपर यात्रा करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। प्रणतजनोंके भयका निवारण करनेवाले आपको नमस्कार है। आप जगत्की उत्पत्तिके कारण तथा संसार-बन्धनका नाश करनेवाले हैं, आप ही सम्पूर्ण भूतोंका पालन करनेवाले पति हैं, आपको नमस्कार है। महादेव! आपको नमस्कार है। महेश्वर! तेजोंके स्वामी! आपको नमस्कार है। आप पार्वतीके पति और मृत्युंजय हैं, आपको नमस्कार है। आप दक्षके यज्ञका नाश करनेवाले और यक्षराज कुबेरके प्रिय हैं, आपको नमस्कार है। आप बड़े-बड़े यज्ञ करनेवाले, यज्ञस्वरूप तथा यज्ञोंके फल देनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। आप रुद्रस्वरूप, रुद्रपति तथा कुत्सित रोदनकारी कष्टको दूर करनेवाले हैं। आप भक्तोंके हृदयमें रमण करते हैं, आपको नमस्कार है। आप त्रिशूलधारी, सनातन ईश्वर, श्मशानभूमिमें विहार करनेवाले, सर्वस्वरूप तथा सर्वज्ञ हैं, भगवती पार्वतीके प्रियतम! आपको नमस्कार है। आप सबका कष्ट हरनेवाले क्षमास्वरूप और क्षेत्रज्ञ हैं। क्षमाशील महेश्वर! आप सब कुछ करनेमें समर्थ, पृथ्वीका संहार करनेवाले तथा दूधके समान गौर हैं, आपको नमस्कार है। अन्धकासुरके शत्रु आपको नमस्कार है। आदि-अन्तसे रहित आप परमेश्वरको नमस्कार है। आप पृथ्वीके आधार, ईश्वर तथा इन्द्र और उपेन्द्र आदि देवताओं-द्वारा प्रशंसित हैं, आप उमाकान्त, उग्र और ऊर्ध्वरेताको नमस्कार है। आप एक रूप, अद्वितीय तथा महान् ऐश्वर्य-स्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। आप अनन्तकर्ता तथा पार्वतीके पति हैं, आपको नमस्कार है। आप ही ॐकार, वषट्कार, भूलोक, भुवर्लोक तथा स्वर्लोक हैं। उमापते! इस जगत्में दृश्य और अदृश्य जो कुछ भी है, वह सब आप ही हैं। देव! मैं स्तुति करना नहीं जानता। महेश्वर! आप

ही शब्द हैं, आप ही अर्थ हैं और आप ही वाणी हैं, मैं आपको प्रणाम करता हूँ। महादेव! मैं आपसे भिन्न और किसी ईश्वरको नहीं जानता। दूसरेका नाम लेनेमें गूँगा हूँ, दूसरेकी कथा सुननेमें बहरा हूँ, दूसरेके समीप जानेमें पंगु हूँ और अन्य किसी देवताका दर्शन करनेमें अन्धा हूँ। एकमात्र आप ही ईश्वर हैं, आप ही कर्ता हैं तथा आप ही पालन और संहार करनेवाले हैं। सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले भिन्न-भिन्न देवता हैं, यह भेद-भाव मूर्खोंकी कल्पनामात्र है। अतः एकमात्र आप ही बार-बार मेरे लिये शरण हैं। महेश्वर! मैं संसार-समुद्रमें डूबा हूँ, मेरा उद्धार कीजिये।

इस प्रकार महेश्वरकी स्तुति करके महामुनि जैगीषव्य उनके सामने ठूँठकी तरह अविचल और मौन हो गये। मुनिद्वारा की हुई इस स्तुतिको सुनकर चन्द्रमौलि भगवान् शिवने प्रसन्न होकर कहा—'मुने! तुम कोई वर माँगो।'

**जैगीषव्य बोले**—देवेश! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो यही वर दीजिये कि मैं आपके चरणारविन्दोंसे कभी दूर न होऊँ और दूसरा वर मुझे यह देनेकी कृपा करें कि मैंने जो शिवलिंगकी स्थापना की है, उसमें आप सदा ही स्थित रहें।

**महादेवजीने कहा**—महाभाग जैगीषव्य! तुमने जो कुछ कहा है, वह सब तुम्हारी इच्छाके अनुसार पूर्ण हो। इसके सिवा मैं तुम्हें दूसरा वर और देता हूँ—मोक्षके साधनभूत योगशास्त्र मैं तुम्हें अर्पण करता हूँ। तुम सब योगियोंके मध्य योगाचार्यरूपसे प्रसिद्ध होओ। तपोधन! तुम मेरी कृपासे योगविद्याका यथावत् रहस्य जान लोगे, जिसके द्वारा तुम्हें मोक्षकी प्राप्ति होगी। जिस प्रकार नन्दी, भृंगी और सोमनन्दी मेरे भक्त हैं, उसी प्रकार तुम भी मेरे जरा-मृत्युसे रहित भक्त होओगे। तुम सदा मेरे चरणोंके समीप निवास करोगे और वहीं तुम्हें मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्ति होगी। काशीमें जैगीषव्येश्वर नामक शिवलिंग परम दुर्लभ होगा। तीन वर्षोंतक उसका सेवन करके मनुष्य योगकी प्राप्ति कर सकता है, इसमें संशय नहीं। जैगीषव्य-गुहामें जाकर योगाभ्यास करनेवाला मनुष्य मेरी कृपासे छः महीनेमें मनोवांछित सिद्धि प्राप्त कर सकता है। तुम्हारे द्वारा स्थापित किया हुआ यह शिवलिंग ज्येष्ठेश्वर क्षेत्रमें सब प्रकारकी सिद्धियोंको देनेवाला होगा तथा दर्शन, स्पर्श और पूजन करनेपर सम्पूर्ण पापराशिका विनाश करेगा। जैगीषव्य! तुमने जो यह स्तवन किया है, यह बहुत उत्तम और योगसिद्धिमें सहायक है। यह बड़े-बड़े पापोंका नाशक, महान् पुण्यकी वृद्धि करनेवाला, महान् भयकी शान्ति और महाभक्तिकी वृद्धि करनेवाला है। इस स्तोत्रका जप करनेसे मनुष्योंके लिये कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है। अतः उत्तम साधकोंको सर्वथा प्रयत्न करके इस स्तोत्रका जप करना चाहिये।

इस प्रकार जैगीषव्यको वर देकर महादेवजीने उस क्षेत्रमें निवास करनेवाले ब्राह्मणोंको देखा।

## काशीके ब्राह्मणोंको भगवान् शिवका वरदान तथा काशी क्षेत्रकी महिमा

**अगस्त्यजीने पूछा**—षडानन! ब्राह्मणोंको देखकर भगवान् शंकरने उनसे क्या कहा?

**स्कन्दजी बोले**—अगस्त्य! जब ब्रह्माजीके गौरवकी रक्षाके लिये महादेवजी मन्दराचलको चले गये, तब वहाँके क्षेत्रसंन्यासी पापहीन ब्राह्मण निराश्रय हो गये। उन्होंने उस महाक्षेत्रमें प्रतिग्रह लेना सदाके लिये बंद कर दिया और अपने दण्डोंके अग्रभागसे भूमि खोद-खोदकर कन्द-मूल आदिसे वे जीवननिर्वाह करने लगे। इस प्रकार धरती खोद-खोदकर उन्होंने एक बड़ी सुन्दर पुष्करिणी तैयार कर दी। उसका नाम हुआ 'दण्डखात' तीर्थ। उस तीर्थके चारों ओर

उन्होंने अनेक बड़े-बड़े शिवलिंग स्थापित किये और भगवान् महेश्वरकी आराधनामें तत्पर हो प्रयत्नपूर्वक तपस्या की। वे नित्य ही विभूति धारण करते और रुद्राक्षकी माला पहनते थे। प्रतिदिन शिवलिंगका पूजन और शतरुद्रियका जप करते थे। मुने! उन ब्राह्मणोंने जब पुनः देवाधिदेव महादेवजीके शुभागमनका समाचार सुना, तब वे दण्डखात नामक महातीर्थसे उनका दर्शन करनेके लिये आये। उनकी संख्या पाँच हजार थी। वे अपने हाथोंमें नूतन दूर्वादल, आर्द्र अक्षत, फूल, फल और सुगन्धित माला लिये हुए थे और मुखसे भगवान् शिवकी जय-जयकार बोलते थे। उन्होंने बारंबार प्रणाम करके मंगलमय वैदिक सूत्रोंद्वारा महादेवजीका स्तवन किया। तब भगवान् शंकरने उन सबको अभय दान देकर प्रसन्नतापूर्वक उनका कुशल-मंगल पूछा।

**वे ब्राह्मण बोले**—नाथ! इस क्षेत्रमें निवास करनेवाले हमलोगोंके लिये सदा ही कुशल है। विशेषतः इस समय, जब कि हमने इन नेत्रोंसे आपके स्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन किया है, हमारी कुशलके लिये क्या कहना है। आप वही हैं, जिनके स्वरूपको श्रुतियाँ भी यथार्थरूपसे नहीं जानतीं। जो आपके क्षेत्रसे विमुख हैं, वे ही सदाके लिये कुशलसे वंचित हैं। सर्पोंका भुजबन्द धारण करनेवाले महादेव! जिनके हृदयमें सदैव काशीका चिन्तन होता है उनके ऊपर संसाररूपी सर्पके विषका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। 'काशी' यह दो अक्षरोंका मन्त्र गर्भकी रक्षा करनेवाली (अथवा गर्भवाससे बचानेवाली) मणि है। यह जिसके कण्ठमें स्थित है, उसका अमंगल कैसे हो सकता है? जो प्रतिदिन 'काशी' इस दो अक्षरमयी सुधाका पान करता है, वह जरा आदि छः भावविकारोंसे रहित देवरूपताकी भी उपेक्षा करके साक्षात् अमृत (मोक्ष)-रूप हो जाता है। जिसने कानोंमें अमृतके समान प्रतीत होनेवाले 'काशी' इन दो अक्षरोंको सुना है, वह फिर कभी गर्भवासकी कथा नहीं सुनता। काशीसे अन्यत्र रहकर भी जो 'काशी-काशी-काशी' इस प्रकार जप करते हुए जीवन-यापन करता है, उसके आगे मुक्ति सदैव प्रकाशित होती है। भगवन्! यह काशीपुरी कल्याणस्वरूपा है, आप कल्याणस्वरूप हैं तथा गंगाजी भी कल्याणस्वरूपा हैं। दूसरा कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है, जहाँ तीन-तीन कल्याणमूर्तियाँ रहती हों।

**काशी क्षेत्रकी भक्तिसे परिपूर्ण यह ब्राह्मणोंका वचन सुनकर भगवान् शिव बहुत सन्तुष्ट हुए और प्रसन्नचित्त होकर बोले**—द्विजवरो! तुम सब धन्य हो, मैं जानता हूँ, इस क्षेत्रका सेवन करनेसे तुम विशुद्ध सत्त्वमय हो गये हो, तुममें रजोगुण और तमोगुणका सर्वथा अभाव है। अतएव तुमलोग संसारसमुद्रसे पार हो गये हो। जो काशीपुरीके भक्त हैं, वे निश्चय ही मेरे भक्त हैं और जीवन्मुक्त हैं। जो पापहीन मानव इस आनन्दवनमें निवास करते हैं, वे निश्चय ही मेरे अन्तःकरणमें स्थित होते हैं। जो मेरे क्षेत्रमें रहकर मेरी भक्ति करते और मेरे चिह्नोंको धारण करते हैं, उन्हींको मैं उपदेश देता हूँ। काशीवासी ब्राह्मणो! मेरी भक्ति और चिह्न धारण करनेवाले तुम सब लोग धन्य हो। तुम्हारे हृदयसे न तो मैं दूर हूँ और न यह काशीपुरी ही दूर है। तुम सब लोग मुझसे अपनी रुचिसे वर माँगो।

**ब्राह्मण बोले**—उमापते! महेश्वर! सर्वज्ञ! हमारे लिये यह वर है कि आप भवताप हरनेवाली काशीपुरीका कदापि परित्याग न करें। यहाँ काशीमें ब्राह्मणोंके वचनसे कभी किसीके ऊपर भी ऐसा कोई शाप न लागू हो जो मोक्षमें विघ्न डालनेवाला हो। आपके युगल चरणारविन्दोंमें हमारी निर्द्वन्द्व भक्ति बनी रहे। इस शरीरके अन्ततक हमारा निरन्तर काशीमें ही निवास बना रहे। और किसी वरसे हमें क्या काम है, हमें

तो बस यही वर देना चाहिये। आपकी भक्तिसे प्रभावित होकर हमलोगोंने आपके प्रतिनिधिस्वरूप जिन लिंगोंकी स्थापना की है, उन सबमें आपका निरन्तर वास हो।

**ब्राह्मणोंके ये वचन सुनकर शिवजीने कहा—'तथास्तु'** ऐसा ही हो। इसके सिवा तुम्हें दूसरा वर यह देता हूँ कि तुम सब ब्राह्मणोंको यथार्थ ज्ञान प्राप्त होगा। मुक्तिकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको उत्तरवाहिनी गंगाके सेवन, शिवलिंगका यत्नपूर्वक पूजन, दम (इन्द्रियसंयम), दान और दया—ये सदा ही करने चाहिये। इस क्षेत्रमें निवास करनेवाले लोगोंके लिये यही रहस्यकी बात बतायी गयी है। अपनी बुद्धिको दूसरोंके हित-चिन्तनमें लगाना चाहिये और किसीसे भी उद्वेगमें डालनेवाला वचन नहीं बोलना चाहिये। यहाँ विजयकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको मनसे भी कभी पाप नहीं करना चाहिये, क्योंकि यहाँका किया हुआ पुण्य और पाप अक्षय होता है। अन्यत्रका किया हुआ पाप काशीमें नष्ट होता है, काशीमें किया हुआ पाप अन्तर्गृहमें नष्ट होता है, किंतु अन्तर्गृहमें किया हुआ पाप पैशाच्यनरककी प्राप्ति करानेवाला है। अन्तर्गृहमें पाप करनेवाला पुरुष यदि काशीसे बाहर चला जाता है तो उसे पिशाचनरककी प्राप्ति होती ही है, क्योंकि काशीमें किया हुआ पापकर्म करोड़ों कल्पोंमें भी शुद्ध नहीं होता। परंतु यदि यहीं उसकी मृत्यु हो तो उसे तीस हजार वर्षोंतक रुद्रपिशाच होकर रहना पड़ता है। जो काशीमें रहकर सदा पातकोंमें ही तत्पर रहता है, वह तीस हजार वर्षोंतक पिशाचयोनिमें रहेगा। उसके बाद फिर यहीं रहते हुए उसे उत्तम ज्ञानकी प्राप्ति होगी और उसी ज्ञानसे उसे परम उत्तम मोक्ष प्राप्त हो जायगा। इस संसारमें सब कुछ अनित्य है और मनुष्य-जन्म अनेक प्रकारके पापोंसे भरा हुआ है, ऐसा जानकर संसारभयसे छुड़ानेवाले अविमुक्त क्षेत्र (काशीधाम)-का सदैव सेवन करना चाहिये। ब्राह्मणो! मेरी भक्तिमें तत्पर जो पतिव्रता स्त्रियाँ अविमुक्त क्षेत्रमें मृत्युको प्राप्त होती हैं, वे परम गतिको पाती हैं। द्विजवरो! यहाँ प्राण निकलते समय मैं स्वयं ही जीवको तारक ब्रह्मका उपदेश देता हूँ जिससे वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। मुझमें मन लगाये रखनेवाला तथा अपने सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें ही समर्पित करनेवाला मेरा भक्त इस काशीमें जिस प्रकार मोक्षको प्राप्त होता है वैसा अन्य किसी पुण्य क्षेत्रमें नहीं। देहधारी जीवकी मृत्यु निश्चित है, कर्मोंसे प्राप्त होनेवाली गति भी दुःखरूप ही है तथा प्रत्येक आगन्तुक वस्तु एक-न-एक दिन चली जानेवाली है। ऐसा समझकर काशीकी शरण लेनी चाहिये। जो अपने न्यायोपार्जित धनसे एक भी काशीवासी पुरुषको तृप्त करता है, उसने मेरे साथ सम्पूर्ण त्रिलोकीको तृप्त कर दिया। धर्मसे काशीकी रक्षा करनेवाले राजर्षि दिवोदास सशरीर मेरे उस लोकको प्राप्त हुए हैं जहाँसे पुनः इस संसारमें आना नहीं होता। जो पृथ्वीके अन्तमें रहकर भी मेरे अविमुक्त नामक लिंगका स्मरण करते हैं वे निश्चय ही बड़े-बड़े पापोंसे भी मुक्त हो जाते हैं। इस क्षेत्रमें जिसने भी मेरा दर्शन, स्पर्श और पूजन किया है वह तारक-ज्ञान प्राप्त करके पुनः इस संसारमें जन्म नहीं लेता। जो इस तीर्थमें मेरी पूजा करके अन्यत्र कहीं मृत्युको प्राप्त होता है वह दूसरे जन्ममें भी मुझे प्राप्त होकर मुक्त हो जायगा। इस प्रकार ब्राह्मणोंके आगे काशीक्षेत्रकी महिमाका वर्णन करके महादेवजी उन सब ब्राह्मणोंके देखते-देखते वहीं अन्तर्धान हो गये। वे ब्राह्मण भी भगवान् शंकरका प्रत्यक्ष दर्शन पाकर प्रसन्नचित्त हो अपने-अपने आश्रमको चले गये।

# परापरेश्वर और व्याघ्रेश्वर लिंगकी महिमा, भगवान् शिवद्वारा व्याघ्ररूपधारी दैत्यका वध

**स्कन्दजी कहते हैं**—कुम्भज! ज्येष्ठेश्वर क्षेत्रके सब ओर जो मुनियोंद्वारा स्थापित पाँच हजार शिवलिंग हैं, वे पूर्ण सिद्धि देनेवाले हैं। ज्येष्ठेश्वरसे उत्तरमें परम पूजनीय परापरेश्वर लिंग है, जिसके दर्शनमात्रसे निर्मल ज्ञानकी प्राप्ति होती है। दण्डखात नामक महातीर्थके समीप जब ब्राह्मणलोग परम उत्तम निष्काम तप कर रहे थे, उस समय प्रह्लादके मामा 'दुन्दुभिनिह्राद' नामक दुष्ट दैत्यने मन-ही-मन यह विचार किया कि देवताओंको किस प्रकार सुगमतापूर्वक जीता जा सकता है। इसका उपाय सोचते-सोचते उसने निश्चय किया कि 'ब्राह्मण ही देवताओंके सबल होनेमें कारण हैं, क्योंकि देवता यज्ञमें दिये हुए भागका ही आहार करते हैं। यज्ञ वेदोंसे सम्पन्न होते हैं और वे वेद ब्राह्मणोंके अधीन हैं। अतः ब्राह्मण ही देवताओंके बल हैं। यदि ब्राह्मण नष्ट हो जायँ तो वेद स्वयं नष्ट हो जायँगे और जब वेद नष्ट हो जायँगे तब यज्ञ तो नष्ट ही हैं। यज्ञोंका नाश होते ही देवताओंका आहार छिन जायगा। इस प्रकार निर्बल हुए देवतालोग सुगमतापूर्वक जीते जा सकते हैं। देवताओंके परास्त होनेपर मैं ही तीनों लोकोंका सम्माननीय सम्राट होऊँगा।' यह सोचकर उसने ब्राह्मणोंको ही मार डालनेका बार-बार उद्योग किया। काशीमें आकर उस मायावी दैत्यने कितने ही ब्राह्मणोंका वध किया। श्रेष्ठ द्विज जिस किसी ओर भी समिधा और कुशा लानेके लिये जाते, उधर ही वनमें उन सबको पकड़कर वह दुर्बुद्धि दैत्य अपना आहार बना लेता था। उसका रूप किसीको दिखायी नहीं देता था। देवता लोग भी उस मायावीको देख नहीं पाते थे। वह दिनभर मुनियोंके ही बीचमें बैठकर उन्हींकी भाँति ध्यान लगाये रहता था। पर्णशालामें किधरसे प्रवेश करने और किस ओरसे निकल भागनेका मार्ग है, यह सब वह दिनमें ही देख लेता था तथा रातमें व्याघ्रका रूप धारण करके वहाँ बहुतसे ब्राह्मणोंको खा डालता था। इस प्रकार उस दुष्ट दैत्यने बहुतसे ब्राह्मणोंको मार दिया।

एक दिन शिवरात्रिके समय एक शिवभक्त ब्राह्मण महादेवजीकी पूजा करके उनके ध्यानमें बैठा था। उसी समय अपने बलके घमंडमें भरे हुए दैत्यराज दुन्दुभिने व्याघ्रका रूप धारण करके उस भक्तको पकड़ लेनेका विचार किया। वह शिवभक्त अपने चित्तको दृढ़तापूर्वक स्थिर करके ध्यानमें स्थित हो भगवान् शिवके दर्शनमें तल्लीन था। उसने विधिपूर्वक मन्त्रके अंगन्यास, करन्यास, कवच और ध्यान आदिका प्रयोग कर लिया था। अतः वह दैत्य उस भक्तपर सहसा आक्रमण करनेमें समर्थ न हुआ। इसी समय सर्वव्यापी भगवान् शिवने उस दुष्ट दैत्यके मनोभावको समझकर उसका वध करनेका विचार किया। वे उस भक्तद्वारा पूजित शिवलिंगसे सहसा प्रकट हो गये। उन्हें आते देख वह दैत्य उसी रूपमें बढ़कर पर्वतके समान विशालकाय हो गया और उनकी ओर झपटा। इतनेमें ही उसे पकड़कर भगवान्ने अपनी काँखमें दबा लिया और उसीमें पीस डाला। इस

प्रकार काँखमें कुचला जाता हुआ वह दैत्य आकाश और पृथ्वीको गुँजाता हुआ आर्तनाद करने लगा। उसका चीत्कार सुनकर बहुत-से तपस्वी रात्रिमें उसी शब्दका लक्ष्य करके उस पर्णशालामें आ पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा—भगवान् शंकर अपनी काँखमें एक व्याघ्रको दबाये हुए खड़े हैं। यह देख सबने जय-जयकार करते हुए उनके चरणोंमें प्रणाम और स्तवन किया। 'जगद्गुरो! ईश! आप हमपर अनुग्रह कीजिये और इसी रूपमें व्याघ्रेश नाम धारण करके यहाँ निवास कीजिये। महादेव! इस श्रेष्ठ स्थानकी आप सदैव रक्षा करें।'

उन तपोधनोंका ऐसा वचन सुनकर चन्द्रभूषण भगवान् शिवने कहा—'ब्राह्मणो! ऐसा ही हो। जो श्रद्धापूर्वक यहाँ इस रूपमें मेरा दर्शन करेगा, उसके समस्त उपद्रवोंका मैं निश्चय ही नाश करूँगा।' ऐसा कहकर महादेवजी उस शिवलिंगमें लयको प्राप्त हो गये। तबसे वह शिवलिंग व्याघ्रेश्वरके नामसे प्रसिद्ध हुआ। ज्येष्ठेश्वरके उत्तरभागमें उसका दर्शन और स्पर्श करनेपर वह सम्पूर्ण भयोंका नाश करनेवाला है।

## हिमवान्‌के द्वारा काशीमें शैलेश्वर लिंगकी प्रतिष्ठा

**कार्तिकेयजी कहते हैं**—एक समय पर्वतराज हिमवान्‌से उनकी पतिव्रता पत्नी मेनाने कहा—'आर्यपुत्र! मैं विवाहके बादसे अपनी बेटी गौरीका समाचार न पा सकी। इस समय महादेवजी कहाँ हैं? प्रभो! वे एक और अद्वितीय हैं। उन त्रिशूलधारी भगवान् शिवका समाचार जाननेके लिये कोई उद्योग कीजिये।'

**गिरिराज हिमवान् बोले**—देवि! मैं अपनी प्यारी पुत्रीकी खोज करनेके लिये स्वयं ही जाऊँगा। मैं तो ऐसा समझता हूँ कि जबसे गौरी मेरे घरसे गयी है तबसे इस घरकी लक्ष्मी ही चली गयी। ऐसा कहकर भाँति-भाँतिके रत्न और वस्त्र साथ ले गिरिराज हिमवान् शुभ लग्नमें घरसे चले। बहुत दूर आगे जानेपर उन्होंने दूरसे ही काशीपुरीको देखा जो कि मणियोंकी ज्योतिसे जगमगा रही थी और अपने प्रकाशसे सम्पूर्ण आकाशको व्याप्त करनेवाली थी। सब ओर वैजयन्ती पताकाओंके समुदायसे सुशोभित वह पुरी स्वर्गलोककी अमरावती-सी जान पड़ती थी। इसी समय वहाँ उन्हें कोई तीर्थयात्री दिखायी दिया। पर्वतराजने उसे बुलाकर आदरपूर्वक पूछा—'भाई कार्पटिक! यहाँका वृत्तान्त कहो, यह कौन-सा अपूर्व नगर है? इस समय यहाँका अधिष्ठाता कौन है और उसका कर्म क्या है?'

**कार्पटिक बोला**—मानद! अभी तो पाँच-छः दिन ही बीते हैं, गिरिराजनन्दिनी गौरीके पति भगवान् विश्वनाथ यहाँ काशीपुरीमें मन्दराचलसे पधारे हैं। यहाँके राजा दिवोदास परम धामको चले गये। जो सम्पूर्ण जगत्‌के अधिष्ठाता हैं, वे ही भगवान् शंकर इस काशीपुरीके भी स्वामी हैं। वे ही सब कुछ देनेवाले हैं। पर्वतराज हिमवान् भी श्रेष्ठ हैं, जिन्होंने प्राणोंसे भी अधिक प्यारी पुत्री देकर भगवान् विश्वनाथको सन्तुष्ट किया है। वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य परमेश्वर शिवजीकी चेष्टाओंको कौन जानता है। मैं तो बहुत थोड़ा और इतना ही जानता हूँ कि यह सब जगत् उन्हींकी रचना है। इस समय भगवान् शिव गिरिराजकुमारी पार्वतीजीके साथ काशीके ज्येष्ठेश्वर नामक स्थानमें ठहरे हुए हैं। भगवान् विश्वनाथके लिये विश्वकर्माद्वारा जिस विशाल प्रासाद (मन्दिर)-का निर्माण किया जा रहा है, वह अपूर्व है। वैसा तो मैंने अपने कानोंसे कभी सुना भी नहीं है। जहाँ मणियों और रत्नोंकी शलाकाओंसे मन्दिरकी दीवारें बनायी गयी हैं, उस मन्दिरमें एक सौ बारह खम्भे हैं जो सूर्यके समान तेजस्वी प्रतीत होते हैं। ऐसा अपूर्व वैभव जिनके समीप सदा प्रकट होता है, उन भगवान् उमाकान्तको आप कैसे नहीं जानते?

अगस्त्य! अपने जामाताकी उस अद्भुत समृद्धिका वर्णन सुनकर पर्वतराज लज्जासे दब गये। उन्होंने

उस कार्पटिक (तीर्थयात्री)-को पारितोषिक देकर विदा किया और स्वयं इस प्रकार चिन्ता करने लगे—'अहो! इस जगत्में जितनी वैभवराशि सुनी जाती है, वह सब मेरे जामाताके भवनमें विद्यमान है। मैं कन्या और जामाताके संतोषके लिये भेंट देनेको जो कुछ लाया हूँ, वह सब उनके अगाध वैभवको देखते हुए मुझे अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होता है। यह सम्पूर्ण जगत् जिनका ही पसारा है, जिन्हें उनसे पहले रहकर कोई भी नहीं जान सका है, वे वेदवेद्य सर्वज्ञ परमेश्वर ये ही हैं। जिन्हें मैंने सदा अनभिज्ञ (भोला) समझा था, वे ही सर्वज्ञ ईश्वर हैं। सबके समस्त नाम जिनके ही नाम हैं, वे सर्वदेश-व्यापी और सबको सब प्रकारकी सिद्धि देनेवाले परमात्मा ये ही हैं। जिनका कोई एक देश नहीं ज्ञात होता है, जिनको पहले मेरे-जैसा पाषाणबुद्धिका पुरुष आचारहीनके समान देखता था, वे ही ये साक्षात् ईश्वर हैं। जिनसे श्रुतियाँ और स्मृतियाँ भी आचारका ज्ञान प्राप्त करती हैं, अबतक मैं जिन्हें नाममात्रसे ईश्वर जानता था, वे साक्षात् ईश्वर हैं। ये दूसरोंको भी ऐश्वर्यकी प्राप्ति करानेवाले हैं। गुणातीत होकर भी समस्त गुणोंके आधार हैं। कार्य और कारण सब इन्हींके स्वरूप हैं। यद्यपि यहाँ ये अर्वाचीन (नवीन)-से प्रतीत होते हैं तथापि ये परम प्राचीन और परात्पर हैं। मैं केवल पर्वतोंका स्वामी हूँ और मेरे जामाता उमाकान्त सम्पूर्ण विश्वके स्वामी हैं। मेरी सम्पत्ति परिमित (बहुत थोड़ी) है, परंतु इनके दिव्य वैभवका कोई माप नहीं है। अतः मेरी लायी हुई यह उपहारकी सामग्री बहुत थोड़ी है। इससे इस समय मैं इन महेश्वरका दर्शन नहीं करूँगा।'

मन-ही-मन ऐसा निश्चय करके गिरिराज हिमवान्ने सायंकाल समस्त पर्वतीय अनुचरोंको बुलाकर आज्ञा दी, 'सेवको! तुम सब लोग शीघ्र ही सूर्योदयसे पहले यहाँ एक शिवालय निर्माण करो।' हिमवान्की यह आज्ञा पाकर अनुगामी सेवकोंने रात बीतनेके पहले ही सुन्दर शिवालय बनाकर तैयार कर दिया। फिर गिरिराज हिमवान्ने उसमें शैलेश्वर नामक शिवलिंगकी प्रतिष्ठा की जो चन्द्रकान्तमणिका बना हुआ था। जिसकी जगमगाती हुई प्रभासे सारा मण्डप उज्ज्वल आलोकमय हो रहा था। तदनन्तर प्रातःकाल होते ही गिरिराजने पंचनद कुण्डमें स्नान किया और कालराज (भैरव)-को नमस्कार एवं पूजन करके वहीं अपनी लायी हुई रत्नराशि छोड़कर वे अपने सब पर्वतीय सेवकोंके साथ तुरंत लौट गये। उसके बाद प्रातःकाल 'हुण्डन', 'मुण्डन' नामवाले दो शिवगणोंने वरणाके सुन्दर तटपर बने हुए उस सुन्दर देवालयको देखा। उसे देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए। वे शिवजीके समीप गये और उन्हें साष्टांग प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले—'देवाधिदेव! हम नहीं जानते, किस सुदृढ़ भक्तने वरणाके तटपर परम मनोहर मन्दिरका निर्माण कराया है। कल शामतक तो हमने वहाँ कोई मन्दिर नहीं देखा था। आज ही प्रातःकाल वह देखा गया है।' अपने गणोंका यह कथन सुनकर भगवान् शिवने पार्वतीजीसे कहा—'गिरिराजकुमारी! वह मन्दिर देखनेके लिये हम और तुम दोनों चलें।' ऐसा कहकर पार्वती और गणोंसहित भगवान् शिव वहाँ गये और वहाँ उन्होंने वरणाके तटपर रातभरमें बनाये हुए उस परम सुन्दर देवमन्दिरको देखा। फिर मण्डपमें प्रवेश करके चन्द्रकान्तमणिमय शिवलिंगका भी दर्शन किया। 'किसने इस शिवलिंगकी स्थापना की है?' यह जिज्ञासा मनमें उठते ही महादेवजीने अपने आगे अंकित की हुई वह प्रशस्ति देखी जो मन्दिरका निर्माण और प्रतिष्ठा करनेवालेको सूचित कर रही थी। उसे मन-ही-मन बाँचकर भगवान् शिवने देवीसे कहा—'प्रिये! सौभाग्यवश यह तुम्हारे पिताकी ही कृति है, इसको अच्छी तरह देख लो।' यह सुनकर पार्वतीजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने महादेवजीके चरणोंमें प्रणाम करके प्रार्थना की—'नाथ! इस श्रेष्ठ लिंग-विग्रहमें आपको दिन-रात स्थित रहना चाहिये।' 'एवमस्तु—ऐसा ही होगा' यों कहकर महादेवजीने पुनः पार्वतीसे कहा—'वरणा नदीके जलमें स्नान करके जिनके द्वारा शैलेश्वर शिवकी पूजा होगी तथा जो पितरोंका

तर्पण करके प्रसन्नतापूर्वक अपनी शक्तिके अनुसार दान देंगे, उनकी इस संसारमें पुनरावृत्ति नहीं होगी। शुभे! शैलेश्वर नामवाले इस महालिंगमें मैं सदा निवास करूँगा तथा जो इस लिंगका पूजन करेगा उस मनुष्यको मैं परम मोक्ष प्रदान करूँगा। जो वरणाके सुन्दर तटपर शैलेश्वरका दर्शन करेंगे, काशीमें निवास करनेवाले उन लोगोंको कभी दुःख नहीं दबा सकेगा।'

## रत्नेश्वर लिंगकी महिमा

**स्कन्दजी कहते हैं**—मुने! शैलेश्वरका दर्शन करके पार्वतीसहित भगवान् शिव उस स्थानपर आये, जहाँ रत्नमय लिंग प्रकट हुआ था। सब प्रकारके रत्नोंसे प्रकट हुए उस शुभ लिंगका दर्शन करके भवानीने शंकरजीसे पूछा—'देवदेव! जगन्नाथ!

आप सब भक्तोंको अभय देनेवाले हैं, यह लिंग कहाँसे प्रकट हुआ है? इसका मूल तो सातों पातालतक चला गया है! इसका क्या नाम है, क्या स्वरूप है और क्या प्रभाव है?'

**महादेवजी बोले**—देवि! तुम्हारे पिता गिरिराज हिमवान् तुम्हें देनेके लिये बहुतसे रत्नोंका भार यहाँ ला रहे थे, उन्हीं रत्नोंको यहाँ जमा करके वे पुनः अपने घर लौट गये। तुम्हारे या मेरे लिये काशीमें जो कुछ श्रद्धापूर्वक समर्पित किया जाता है, उसका फल ऐसा ही होता है। यहाँ जितने भी शिवलिंग हैं, उन सबमें यह श्रेष्ठ रत्नरूप है तथा मोक्षरत्नको देनेवाला है। इसलिये इसका नाम रत्नेश्वर है। काशीमें इसका प्रभाव बहुत बड़ा है। तुम्हारे पिताने जो यहाँ स्वर्णराशि जमा की है, उसीसे तुम यहाँ इस शिवलिंगके लिये मन्दिर बनवा दो। शिवमन्दिर बनानेसे या टूटे-फूटे मन्दिरकी मरम्मत करनेसे शिवलिंग-स्थापनका पुण्य अनायास ही प्राप्त हो जाता है।

'बहुत अच्छा' कहकर देवी पार्वतीने शिवमन्दिर बनवानेके लिये शिवनन्दी आदि असंख्य पार्षदोंको नियुक्त किया। उन पार्षदोंने एक ही पहरमें सुमेरुशिखरके समान सुन्दर सुवर्णमय मन्दिरका निर्माण कर दिया। तदनन्तर देवी पार्वतीने महादेव-जीको प्रणाम करके उस शिवलिंगकी महिमा पूछी।

**श्रीमहादेवजीने कहा**—देवि! यह कल्याणदायक शिवलिंग अनादिसिद्ध है। इस समय तुम्हारे पिताके पुण्य-गौरवसे प्रकट हुआ है। यह गोपनीय वस्तुओंमें परम गोपनीय है और इस क्षेत्रमें समस्त मनोवांछित वस्तुओंको देनेवाला है। कलियुगमें जो पापबुद्धिवाले मनुष्य हैं उनसे यह रहस्य प्रयत्नपूर्वक छिपाये रखनेयोग्य है। देवि! कोटि-कोटि रुद्रसूक्तोंके जपसे जो फल बताया गया है वह रत्नेश्वरकी पूजा करनेसे प्राप्त हो जाता है। सबको सब कुछ देनेवाले मेरे इस रत्नेश्वर लिंगका प्रभाव अनुपम है। इस लिंगकी आराधना करके सहस्रों सिद्धोंने सिद्धि प्राप्त की है। सुन्दरी! अबतक यह लिंग गुप्त रहा है, अब मेरे भक्त एवं तुम्हारे पिता हिमवान्ने अपने पुण्यसे उपार्जित महारत्नोंद्वारा रत्नेश्वरको प्रकट किया है। गिरिराजनन्दिनी! इस शिवलिंगमें मेरी निरन्तर प्रीति बनी रहती है। काशीमें इस शिवलिंगका यत्नपूर्वक पूजन करना चाहिये।

# कृत्तिवासेश्वर लिंगका प्राकट्य और उसकी महिमा

**स्कन्दजी कहते हैं**—कुम्भज! इस प्रकार भगवान् शंकर जब रत्नेश्वर लिंगकी महिमाका वर्णन कर रहे थे इसी समय सब ओरसे 'रक्षा करो, रक्षा करो' का महान् कोलाहल सुनायी दिया। लोग कह रहे थे 'यह वीर्यके मदसे उन्मत्त गजासुर आ रहा है जो महिषासुरका पुत्र है। वह जहाँ-जहाँ पृथ्वीपर पैर रखता है वहाँ-वहाँ उसके भारसे पृथ्वी डगमगाने लगती है। वह ब्रह्माजीके द्वारा कामदेवसे हारे हुए स्त्री-पुरुषोंसे अवध्य होनेका वरदान पाकर तीनों लोकोंको तृणके समान समझता है।'

तब त्रिशूलधारी भगवान् शिवने अपनी ओर आते हुए उस दैत्यको दूसरेसे अवध्य जानकर उसके ऊपर त्रिशूलका प्रहार किया। गजासुर उस त्रिशूलमें गुँथ गया और अपनेको भगवान्के सिरपर छत्र बना हुआ-सा मानकर उनसे इस प्रकार बोला—'शूलपाणे! देवेश्वर! मैं जानता हूँ, आपने कामदेवको परास्त किया है। अतः आपके हाथसे मेरा वध होना श्रेष्ठ ही है। मृत्युंजय! मेरी एक बात सुनिये। एकमात्र आप ही सम्पूर्ण विश्वके लिये वन्दनीय हैं और सबके ऊपर विराजमान हैं। फिर भी आज मैं आपके भी ऊपर स्थित हूँ। अतः मेरी ही विजय हुई है। आपके त्रिशूलके अग्रभागपर स्थित होकर आज मैं धन्य और अनुगृहीत हूँ। एक दिन सभीको कालके द्वारा मरना है, परंतु ऐसी मृत्यु परम कल्याणके लिये होती है।'

**उसका ऐसा वचन सुनकर कृपानिधान भगवान् शिव हँसते हुए बोले**—गजासुर! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, तुम अपने अनुकूल कोई वर माँगो।

**गजासुर बोला**—दिगम्बर! यदि आप प्रसन्न हों तो मेरे इस चमड़ेको वस्त्रके स्थानमें धारण करें। इससे सदैव उत्तम गन्ध निकले और यह सदा अत्यन्त कोमल बना रहे। इसमें कभी किसी प्रकारकी मैल न बैठे और यह आपके अंगमें महान आभूषणकी भाँति सुशोभित हो। तपोधनोंकी महातपस्याजनित अग्निज्वालाको पाकर भी मेरा यह चर्म दग्ध नहीं हुआ है, अतः यह पुण्य और सुगन्धकी निधि है। इसे धारण करके आजसे आपका नाम 'कृत्तिवासा' हो जायगा।

**तब 'एवमस्तु' कहकर भगवान् शंकर बोले**—दैत्य! इस मुक्तिक्षेत्रमें तुम्हारा यह शरीर सबको मोक्ष देनेवाला मेरा लिंगविग्रह हो जाय। इसका नाम कृत्तिवासेश्वर होगा और यह बड़े-बड़े पातकोंका नाश करनेवाला होकर समस्त शिवलिंगोंका शिरोमणि होगा। रुद्र, पाशुपत, सिद्ध, ऋषि, तत्त्वचिन्तक, शान्त (मनको वशमें रखनेवाले), दान्त (जितेन्द्रिय), क्रोधको काबूमें रखनेवाले, द्वन्द्वरहित, परिग्रहशून्य तथा मुक्तिकी इच्छा रखनेवाले जो मेरे भक्त काशीपुरीमें रहकर मान और अपमानमें समभाव रखते तथा ढेला, पत्थर और सुवर्णको समान समझते हैं, उन सबपर अनुग्रह करनेके लिये मैं कृत्तिवासेश्वर लिंगमें सदा निवास करूँगा। द्वापर और कलियुगमें उत्पन्न होनेवाले पाप-बुद्धि मनुष्य भी कृत्तिवासेश्वरकी शरण लेकर सब पापोंसे मुक्त हो सुखसे मोक्ष प्राप्त कर लेंगे, ठीक उसी तरह, जैसे पुण्यात्मा पुरुष प्राप्त करते हैं। जो माघ (फाल्गुन) कृष्णा चतुर्दशी (शिवरात्रि)-को उपवासपूर्वक कृत्तिवासेश्वरका पूजन करते हुए रातमें जागरण करता है वह परम गतिको प्राप्त होता है।

ऐसा कहकर देवेश्वर शिवने गजासुरके उस महान् चर्मको लेकर अपने ऊपर ओढ़ लिया। कुम्भज! जिस दिन दिगम्बर-देवने कृत्तिवासा नाम धारण किया उस दिन बड़ा भारी उत्सव हुआ। जहाँ पृथ्वीपर त्रिशूल गाड़कर उस दैत्यको छत्रके समान धारण किया गया था, वहाँ उस शूलको उखाड़नेसे एक बड़ा भारी कुण्ड बन गया। उस कुण्डमें स्नान और पितरोंका तर्पण करके कृत्तिवासेश्वरका दर्शन करनेवाला मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। अगस्त्य! कृत्तिवासेश्वरके

समीप वह कुण्ड लोकमें हंसतीर्थके नामसे प्रसिद्ध है। इस तीर्थके सब ओर मुनियोंद्वारा स्थापित दस हजार दो सौ शिवलिंग हैं जिनमें कात्यायनेश्वर प्रथम और च्यवनेश्वर अन्तिम हैं। इनमेंसे एक-एक शिवलिंग भी अपनी पूजा की जानेपर समस्त काशीवासी मनुष्योंको सिद्धि देनेवाला है।

## विभिन्न तीर्थोंके देवविग्रहोंका काशीमें आगमन और उनका स्थान

**स्कन्दजी कहते हैं**—जहाँ महादेवजीने लीलापूर्वक गजासुरके चर्मको ओढ़ा था, वह स्थान रुद्रावासके नामसे विख्यात हुआ। तदनन्तर महादेवजी पार्वतीजीके साथ स्वेच्छानुसार कृत्तिवास तीर्थमें निवास करने लगे। वहीं नन्दीने आकर उन्हें प्रणामपूर्वक यह सूचना दी—'भगवन्! तीनों लोकोंमें जो शुभ एवं मुक्तिदायक तीर्थ और देवता हैं, उन सबको मैं यहाँ ले आया हूँ। कुरुक्षेत्रसे उस तीर्थके साथ स्थाणु लिंगका आगमन हुआ है। कुरुक्षेत्रस्थली लोलार्कसे पश्चिम भागमें स्थित है। वह सब सिद्धियोंको देनेवाली है। ढुण्ढिराजसे उत्तर भागमें साधकको सिद्धि प्रदान करनेवाला देवदेवेश्वर नामसे प्रसिद्ध लिंग है। यहाँ गोकर्णस्थानसे स्वयं ही प्रकट हुआ महाबल नामक शिवलिंग साम्बादित्यके समीप स्थित है। ऋणमोचनसे पूर्वभागमें शशिभूषण नामक लिंग प्रतिष्ठित है। ॐकारेश्वर महालिंगसे पूर्व महाकाल नामक शिवलिंग है जो दर्शनमात्रसे मोक्ष देनेवाला है। श्रेष्ठ तीर्थ पुष्करसे आकर अयोगन्धेश्वर नामक शिवलिंग यहाँ स्वतः प्रकट हुआ है। मत्स्योदरीके उत्तर भागमें उसकी स्थिति है। महोत्कटेश्वर लिंग मरुत्कोटिसे आकर यहाँ प्रकट हुआ है। वह कामेश्वरके उत्तर भागमें है। विमलेश्वर लिंग भी विश्वस्थानसे यहाँ आया है। स्वर्नीलेश्वरसे पश्चिम भागमें उसका दर्शन होता है। जो मनुष्य इस अविमुक्त क्षेत्रमें महादेवजीका दर्शन करेगा, वह कहीं भी क्यों न मृत्युको प्राप्त हो, निश्चय ही भगवान् शिवके लोकमें जायगा। जिस लिंगस्वरूप महादेवने कल्पान्तरमें भी काशीपुरीका कभी त्याग नहीं किया, वह हिरण्यगर्भतीर्थसे पश्चिममें हैं। गयातीर्थसे यहाँ पितामहेश्वर लिंगका आगमन हुआ है, जो यहाँ फल्गु आदि साढ़े आठ करोड़ तीर्थोंके साथ वर्तमान है। प्रयागतीर्थके साथ शूलटंकेश्वर नामक महादेव वहाँसे स्वयं यहाँ आकर स्थित हुए हैं। परम सुन्दर मुक्तिमण्डपसे दक्षिण दिशामें उनका स्थान है। शंकुकर्ण नामक महाक्षेत्रसे यहाँ आकर महातेज नामक लिंग प्रकट हुआ है। उसका स्थान विनायकेश्वरसे पूर्वभागमें है। रुद्रकोटि नामक परम पावन तीर्थसे यहाँ स्वयं आकर महायोगीश्वर लिंग प्रकट हुआ है। वह पार्वतीश्वर लिंगके समीप स्थित है। उसके मन्दिरके सब ओर करोड़ों रुद्र-मन्दिर हैं, जो रुद्रमूर्तियोंद्वारा बड़े सुन्दर बनाये गये हैं। काशीमें वेदवादी विद्वान् उसे रुद्रस्थली कहते हैं। रुद्रस्थलीमें जिनकी मृत्यु हुई है वे कृमि, कीट, पतंग, पशु, पक्षी, मृग, मनुष्य, यज्ञदीक्षित यजमान अथवा म्लेच्छ ही क्यों न हों—साक्षात् रुद्रस्वरूप हो जाते हैं और उनका इस संसारमें पुनरागमन नहीं होता। कोई सकाम हो या निष्काम अथवा पशु-पक्षीकी योनिमें ही क्यों न हो, यदि वह रुद्रस्थलीमें प्राण त्याग करता है तो उत्तम मोक्षको प्राप्त होता है। एकाम्बर क्षेत्रसे स्वयं भगवान् कृत्तिवासा यहाँ पधारे हैं। वे यहाँके कृत्तिवासेश्वर लिंगमें प्रतिष्ठित हैं। इस स्थानमें पार्वती और ऋषियोंके साथ भगवान् शिव स्वयं ही अपने भक्तोंके कानमें वेदोंद्वारा प्रशंसित तारक ब्रह्मका उपदेश करते हैं। साक्षात् भगवान् चण्डीश्वर मरु-जांगल क्षेत्रसे आकर इस सिद्धिदायक क्षेत्रमें विराज रहे हैं। कालंजरसे भगवान् नीलकण्ठ स्वयं ही इस तीर्थमें पधारे हैं और दन्तकूट नामक गणेशजीके समीप उनका स्थान है। काश्मीरसे बीजेश्वर लिंग

यहाँ प्राप्त हुआ है। इसकी स्थिति शालकटंकटसे पूर्व भागमें है। त्रिदण्डापुरीसे यहाँ आये हुए भगवान् ऊर्ध्वरेता कूष्माण्ड गणेशजीको आगे करके स्थित हैं। मण्डलेश्वर क्षेत्रसे प्राप्त हुआ श्रीकण्ठ नामक लिंग मण्डविनायकसे उत्तर दिशामें स्थित है। महातीर्थ छागलाण्डसे पधारे हुए कपर्दीश्वर नामक शिव यहाँके पिशाचमोचन तीर्थमें स्वयं प्रकट हुए हैं। सूक्ष्मेश्वर लिंगका शुभागमन आम्रातकेश्वर क्षेत्रसे हुआ है। विकटदन्त नामक गणेशके समीप उनकी स्थिति है। मधुकेश्वर क्षेत्रसे पधारे हुए भगवान् जयन्तेश्वर यहाँ लम्बोदर गणेशके पूर्वमें स्थित हैं। श्रीशैलसे आकर त्रिपुरान्तक नामवाले देवेश्वर यहाँ प्रकट हुए हैं। श्रीविश्वनाथजीके पश्चिम भागमें स्थित भगवान् कुक्कुटेश्वर सौम्यस्थानसे यहाँ आये हैं। वे वक्रतुण्ड गणेशके समीप स्थित हैं। जालेश्वर तीर्थसे त्रिशूलीश्वरने पदार्पण किया है। वे कूटदन्त गणेशके पूर्व भागमें स्थित हैं। महाक्षेत्र रामेश्वरसे जटाधारी देव पधारे हैं जो एकदन्त गणेशके उत्तर भागमें पूजित होते हैं। त्रिसन्ध्य क्षेत्रसे भगवान् त्र्यम्बकका शुभागमन हुआ है जो त्रिमुखसे पूर्व भागमें स्थित हैं। हरिश्चन्द्र क्षेत्रसे यहाँ भगवान् हरेश्वर पधारे हैं। ये हरिश्चन्द्रेश्वरके पूर्व भागमें पूजित होते हैं। मध्यमकेश्वर स्थानसे भगवान् शर्वका आगमन हुआ है। वे चतुर्वेदेश्वर लिंगको आगे करके स्थित हैं। स्थलेश्वर तीर्थसे यहाँ यज्ञेश्वर नामक महालिंग प्रकट हुआ है। सुवर्ण क्षेत्रसे सहस्राक्ष नामक शिवलिंगका शुभागमन हुआ है जो शैलेश्वरसे दक्षिणमें स्थित है। हर्षित क्षेत्रसे प्राप्त हुए हर्षितेश्वर शिव मन्त्रेश्वरके समीप हैं। रुद्रमहालय क्षेत्रसे यहाँ रुद्रका आगमन हुआ है। भगवान् रुद्रेश्वर त्रिपुरेश्वरके समीप स्थित हैं। वृषेश्वर नामक महादेवजी वृषभध्वजतीर्थसे आकर बाणेश्वर लिंगके समीप स्थित हैं। ईशानेश्वर महादेव केदार क्षेत्रसे यहाँ आये हैं। प्रह्लादकेशवसे पश्चिम भागमें उनका दर्शन करना चाहिये। उत्तरवाहिनी गंगाके जलमें स्नान करके ईशानेश्वरकी पूजा करनेवाला मनुष्य ईशानके ही समान कान्तिमान् होकर उनके धाममें निवास करता है। भैरव क्षेत्रसे यहाँ परम मनोहर भैरव-मूर्ति प्राप्त हुई है जो खर्वविनायकसे पूर्वमें स्थित है। सिद्धिदायक भगवान् उग्र कनखलतीर्थसे यहाँ प्रकट हुए हैं। अर्कविनायकसे पूर्वमें स्थित उग्र लिंगकी पूजा करनेसे अत्यन्त उग्र उपद्रव भी शान्त हो जाते हैं। वस्त्रापथ नामक महान् क्षेत्रसे भगवान् भव स्वयं यहाँ आकर भीमचण्डीके समीप प्रकट हुए हैं। पातकोंको दण्ड देनेवाले भगवान् दण्डी देवदारु वनसे काशीमें आकर लिंगरूपसे यहाँ निवास करते हैं। देहलीविनायकसे पूर्व-दिशामें दण्डीश्वरकी पूजा करनी चाहिये। उनकी पूजासे मनुष्योंका पुनर्जन्म नहीं देखा जाता है। भद्रकर्ण कुण्डसे साक्षात् भद्रकर्णेश्वर शिव यहाँ आये हैं, उद्दण्ड गणेशसे पूर्वदिशामें उनका उत्तम तीर्थ है। यमलिंग नामक महातीर्थसे आकर काललिंग यहाँ स्थित हुआ है। जो मनुष्य मंगलवार तथा चतुर्दशी तिथिके योगमें यहाँकी यात्रा करेगा वह अतिपातकयुक्त होनेपर भी यमलोकमें नहीं जायगा। नेपाल नामक महाक्षेत्रसे साक्षात् भगवान् पशुपति यहाँ पधारे हैं। यहाँ पिनाकपाणि भगवान् शिवने पाशुपत योगका उपदेश किया है। करवीरकतीर्थसे कपालीश्वरने यहाँ पदार्पण किया है। कपालमोचनतीर्थमें उनका प्रयत्नपूर्वक दर्शन करना चाहिये। महेश्वर क्षेत्रसे आकर दीप्तेश्वर नामक लिंग भगवान् उमापतिके समीप स्थित है। गंगासागरतीर्थसे अमरेशलिंगका शुभागमन हुआ है। सप्तगोदावरीतीर्थसे भगवान् भीमेश्वर पधारे हैं और लिंगरूपी होकर यहाँ निवास करते हैं। भूतेश्वर क्षेत्रसे आकर भस्मगात्र नामक लिंग यहाँ स्थित हुआ है जो भीमेश्वरसे दक्षिण भागमें है। नकुलीश्वरतीर्थसे भक्तभयहारी भगवान् स्वयम्भू नामक शिव पधारकर काशीमें स्वयं प्रकट हुए हैं। प्रयागतीर्थके समीप धरणीवराह नामक देवका मन्दिर है जो विन्ध्याचलसे यहाँ प्राप्त हुआ है। कर्णिकार क्षेत्रसे आये हुए कर्णिकार नामक

गणेशजी पूज्य हैं। हिमकूट पर्वतसे विरूपाक्ष नामक शिवलिंग यहाँ आकर प्रकट हुआ है, जो कि महेश्वरसे दक्षिणमें स्थित हुआ है। हरिद्वारसे हिमके समान कान्तिमान् हिमस्थेश नामक लिंगका आगमन हुआ है जो ब्रह्मनालसे पश्चिममें दर्शन करनेयोग्य है। कैलाशसे गणेशजी तथा अन्य महाबली सात करोड़ पार्षद यहाँ पधारे हैं। उन सबने सात स्वर्गके समान दुर्ग बनाये हैं। फिर काशीके चारों ओर उन्होंने पर्वतके समान ऊँचा परकोटा तैयार किया है। साथ ही गहरी खाई भी तैयार की है जो मत्स्योदरीके जलसे भरी हुई है। बाहर और भीतरके भेदसे मत्स्योदरी दो भागोंमें विभक्त है। उसका जल गंगाके जलसे मिला हुआ है। अतः वह महातीर्थके रूपमें प्रसिद्ध है। जब संहारमार्गसे अर्थात् उलटा बहकर गंगाजीका जल इस मत्स्योदरीमें फैलता है तब मत्स्योदरीतीर्थका जल भारी पुण्यसे ही प्राप्त होता है। उस समय सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण होनेपर पर्व शतकोटिगुना होकर प्राप्त होता है। मत्स्योदरीमें जहाँ-कहीं भी स्नान करके जो मनुष्य पितरोंको पिण्डदान करते हैं, वे फिर कभी माताके गर्भमें शयन नहीं करते। जब गंगाका जल चारों ओर फैल जाता है, तब यह अविमुक्त क्षेत्र मत्स्यके आकारका दिखायी देता है।

गन्धमादन पर्वतसे आकर भूर्भुवः नामक लिंग यहाँ स्वयं प्रकट हुआ है जो गणेशजीसे पूर्व भागमें स्थित है। पातालगंगासहित हाटकेश्वर महालिंग स्वयं सात पाताल-तलसे यहाँ आकर प्रकट हुआ है। वह लिंग ईशानेश्वरसे पूर्वमें है। आकाशके नक्षत्र-लोकसे यहाँ ज्योतिर्मय लिंग आकर प्रकट हुआ है। यह तारकेश्वर लिंग ज्ञानवापीसे पूर्व भागमें स्थित है। पूर्वकालमें महादेवजीने जहाँ किरातरूप धारण किया था, उस किराततीर्थसे किरातेश्वर लिंग यहाँ आकर प्रकट हुआ है। लंकापुरीसे मरुकेश्वर नामक लिंगका आगमन हुआ है, वह नैर्ऋत्य भागमें स्थित होनेके कारण नैर्ऋत्येश्वर नामसे भी प्रसिद्ध है और पौलस्त्यराघवसे पश्चिम-दिशामें पूजित होता है। स्थलतीर्थसे आया हुआ परम पुण्यमय जलप्रिय लिंग यहाँ गंगाजीके जलमें स्थित है। कोटीश्वरतीर्थसे आया हुआ श्रेष्ठ लिंग ज्येष्ठेश्वरके पश्चिम भागमें विराजमान है। बड़वानलके मुखसे प्रकट हुआ अनलेश्वर नामक लिंग यहाँ नलेश्वरके अग्रभागमें स्थित है। देवोंके देव त्रिलोचन महादेव वीरजतीर्थसे यहाँ आकर अनादिसिद्ध त्रिविष्टप लिंगमें स्थित हैं। अमर-कण्टकसे आकर ओंकारेश्वर महादेव यहाँके पुण्यमय पिलपिलातीर्थमें प्रकट हुए हैं। जब यहाँ गंगा नहीं आयी थी और जिस समय त्रिलोकीका उद्धार करनेके लिये यहाँ काशीपुरीका आविर्भाव हुआ था, तभीसे वह आदिलिंग प्रकट हुआ है। भगवन्! इस प्रकार मैं इन सब स्थानोंके श्रीविग्रहोंको काशीपुरीमें ले आया हूँ। अपने-अपने स्थानमें तो उन्हें अंश मात्रसे ही रख छोड़ा है। उन सब देवताओंके यहाँ गगनचुम्बी सुन्दर मन्दिर भी बन गये हैं। महेश्वर! अब इस समय मेरे लिये क्या आज्ञा है, जिसका पालन करूँ? यदि कोई कार्य हो तो उसे कृपापूर्वक बतावें।'

**स्कन्दजी कहते हैं**—नन्दीकी यह बात सुनकर

देव-देवेश्वर शिवजीने कहा—'यह तुमने बहुत अच्छा किया। अब चण्डिकाओंको उपयुक्त कार्योंमें नियुक्त करो। यहाँ नौ करोड़ चामुण्डाएँ रहती हैं। उनके देवता, भूत, बेताल और भैरव भी उनके साथ ही हैं। उनको पुरीकी रक्षाके कार्यमें लगाओ और प्रत्येक दुर्गमें उनको बसाओ।' इस प्रकार आज्ञा देकर महादेवजी पार्वतीके साथ त्रैविष्टप क्षेत्रमें चले गये। नन्दीने परमेश्वर शिवकी आज्ञाको शिरोधार्य करके सब दुर्गाओंको बुलाया और उन्हें प्रत्येक दुर्गमें यथास्थानपर बसाया।

## दैत्योंसहित दुर्गमासुरका देवी और उनकी शक्तियोंके साथ युद्ध

**स्कन्दजी कहते हैं**—अगस्त्य! पूर्वकालमें दुर्ग नामक एक महान् दैत्य हुआ था, जो तीव्र तपस्या करके पुरुषमात्रसे अवध्य होनेका वरदान प्राप्त कर चुका था। वह रुरु दैत्यका पुत्र था। उसने भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक आदि समस्त लोकोंको बाहुबलसे जीतकर अपने अधीन कर लिया था। उसके भयसे पीड़ित होकर ब्राह्मण वेदाध्ययन नहीं कर पाते थे। उसके दुर्धर्ष सैनिकोंने यज्ञशालाओंका विध्वंस कर दिया था।

संसारमें वे ही लोग धन्य हैं जो विपत्तिमें पड़ जानेपर भी दीनतासे प्रेरित होकर धनसे मलिन चित्तवाले पुरुषोंके आँगनमें कभी नहीं जाते। किसीके सामने छोटा न बनकर शानसे मर जाना भी अच्छा है, परंतु संसारमें लघुता (अपमान)-से युक्त अमरत्व भी प्राप्त हो तो वह अच्छा नहीं है। लोकमें उन्हींका जीवन सफल है और वे ही पुण्यात्मा हैं, जिनका चित्तरूपी समुद्र विपत्तिमें भी गम्भीरताका त्याग नहीं करता।[१] जगत्में कभी सम्पत्ति प्राप्त होती है और कभी विपत्ति। भाग्यवश इन दोनोंको प्राप्त करके भी धीर पुरुष अपनी धीरता न छोड़े। जो आपत्तिमें पड़नेपर दीनताग्रस्त होकर मरता है, उसके इहलोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं। इसलिये दीनताको त्याग देना चाहिये। जो आपत्तिमें भी धैर्य नहीं छोड़ते उनकी धीरतासे तिरस्कृत होकर इहलोक या परलोकमें कहीं भी विपत्ति फिर उनके पास नहीं आती[२]। स्वर्गका राज्य छिन जानेपर देवतालोग भगवान् महेश्वरकी शरणमें गये। तब सर्वज्ञ शिवजीने उस असुरका नाश करनेके लिये देवीको आदेश दिया। भगवान् महेश्वरकी आज्ञा पाकर भवानीने देवसमूहको अभयदान देकर युद्धके लिये उद्योग किया। उन्होंने कमनीय कान्तिसे तीनों लोकोंमें सर्वाधिक सुन्दरी रुद्रशक्ति कालरात्रिको बुलाकर उस देवद्रोही दैत्यको युद्धके लिये ललकारनेके निमित्त भेजा। कालरात्रिने उस दैत्यके पास जाकर कहा—'दैत्यराज! तू त्रिभुवनकी सम्पत्तिका त्याग कर दे। त्रिलोकीका राज्य इन्द्रको प्राप्त हो और तू रसातलको चला जा, जिससे वेद-वादियोंकी सम्पूर्ण वैदिक क्रियाएँ बेरोक-टोक चलती रहें। यदि तुझे अपने बलका थोड़ा भी घमण्ड हो तो युद्धके लिये आ जा। अन्यथा, इन्द्रकी शरण ले। इन दोनोंमेंसे जो उचित जान पड़े, वही कर।'

**महाकालीका यह वचन सुनकर दैत्यराज दुर्ग क्रोधसे जल उठा और सेवकोंसे बोला**—पकड़ो,

---

१- विपद्यपि हि ते धन्या न ये दैन्यप्रणोदिताः। धनैर्मलिनचित्तानामालभन्तेऽङ्गनं क्वचित्॥
पञ्चत्वमेव हि वरं लोके लाघववर्जितम्। नामरत्वमपि श्रेयो लाघवेन समन्वितम्॥
त एव लोके जीवन्ति पुण्यभाजस्तु एव वै। विपद्यपि न गाम्भीर्यं यच्चेतोऽब्धिः परित्यजेत्॥
(स्क० पु०, का० उ० ७१। १६—१८)

२- आपद्यपि हि ये धीरा इहलोके परत्र च। न तान् पुनः स्पृशेदापत्तद्धैर्येणावधीरिता॥
(स्क० पु०, का० उ० ७१। २२)

पकड़ लो इसे। इसीको प्राप्त करनेके लिये मैंने देवर्षियों तथा राजाओंको बन्दी बनाया है। आज मेरे सौभाग्यका उदय होनेसे यह अनायास ही प्राप्त हो गयी। अन्तःपुरके रक्षको! इसे मेरे अन्तःपुरमें ले जाओ।

**दैत्यराजके ऐसा कहनेपर जब रनिवासके रक्षक उस देवीको लेनेके लिये आये, तब उसने दैत्यराजसे कहा**—दैत्यराज! हमलोग तो दूतियाँ हैं। दूतियाँ सदैव परवश होती हैं। कोई क्षुद्र पुरुष भी दूतको कभी पीड़ा नहीं देते, फिर जो तुझ-जैसे महाबली हैं, राजा हैं, वे ऐसा कैसे कर सकते हैं? हमलोगोंकी जो स्वामिनी हैं उनको संग्राममें जीतकर तू हम-जैसी सहस्रों स्त्रियोंका यथेष्ट उपभोग कर सकता है।

कालरात्रिका यह वचन सुनकर काम और क्रोधसे मोहित हुए असुरने मृत्युकी दूतीके तुल्य उस एक ही दूतीको अपने लिये बहुत माना और अन्तःपुरके रक्षकोंको आदेश दिया कि 'इसे शीघ्र रनिवासमें पहुँचाओ।' दैत्यकी यह आज्ञा पाकर अन्तःपुरकी रक्षा करनेवाले सब खोजे उसे पकड़नेका उद्योग करने लगे, किंतु देवीने उन्हें पास आते ही हुंकारजनित अग्निसे शीघ्र भस्म कर दिया। यह देख दैत्यराज दुर्गने तीस हजार दैत्योंको भेजा और कहा—'दानवो! इस दुष्टाको पाशोंसे बाँधकर शीघ्र ले आओ।' दैत्यराजका यह आदेश पाकर बड़े-बड़े दैत्योंने उसे पकड़नेका प्रयास किया, परंतु देवीके निःश्वासवायुसे आहत होकर सब दूर चले गये। तदनन्तर देवी कालरात्रि वहाँसे उड़कर आकाशमार्गसे गमन करने लगीं। तब सहस्रों महादैत्य उनके पीछे लग गये। दैत्यराज दुर्गने भी दैत्योंकी असंख्य सेनाके साथ प्रस्थान किया। उस समय महादेवी विन्ध्याचलमें निवास करती थीं। कालरात्रिने वहाँ आकर देवीका दर्शन किया और दुर्गके अपराध भी कह सुनाये। दैत्यराज दुर्गने भी महादेवीको देखकर अपने सेनापतियोंको आदेश दिया—'वीरो! तुममेंसे जो कोई भी धैर्य, बुद्धि, बल अथवा छलसे भी इस विन्ध्यवासिनीको मेरे समीप ले आयेगा, उसे मैं अवश्य इन्द्रका पद दे दूँगा।'

**दानवराजका यह वचन सुनकर दैत्य दोनों हाथ जोड़े हुए उच्चस्वरसे बोले**—महाराज! यह कौन-सा कठिन कार्य है। एक तो वह अनाथ, दूसरे अबला। भला, उसको पकड़ लानेमें महान् प्रयत्नकी क्या आवश्यकता है। राजन्! आप हमारा पुरुषार्थ तो देखिये। हम केवल अपने बल-पराक्रमसे ही उस स्त्रीको आपके पास पकड़ लाते हैं।

ऐसा कहकर वे सब दैत्य एक ही साथ चल पड़े, सब ओरसे रणभेरियाँ बज उठीं। दैत्योंका यह आक्रमण देखकर देवता भी भयसे त्रस्त हो उठे, धरती काँपने लगी। तब महादेवीने अपने श्रीअंगोंसे सहस्रों शक्तियोंको प्रकट किया। उन शक्तियोंने इन महाबली दैत्योंकी सेनाके प्रत्येक सैनिकको आगे बढ़नेसे रोक दिया। मानो सीमाका उल्लंघन करके उमड़ता हुआ समुद्र ही रोक दिया गया हो। महादैत्योंने उस युद्धमें जिन-जिन भयंकर अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार किया, उन सबको शक्तियोंने तृणके समान समझकर हाथमें ले-लेकर फेंक दिया। तब दैत्योंने मेघोंके समान अनेक प्रकारके अस्त्रों, वृक्षों तथा पत्थरोंकी बड़ी भारी वर्षा की। यह देख विन्ध्यपर्वतपर निवास करनेवाली महामायाने प्रचण्ड धनुष लेकर उसपर वायव्यास्त्रका अनुसन्धान किया और उसके द्वारा शस्त्रास्त्रसमूहोंको लीलापूर्वक दूर फेंक दिया। तब महासुर दुर्गने अपनी सेनाको शस्त्रहीन देख एक जलती हुई शक्ति हाथमें ली और उसे देवीके ऊपर दे मारा, परंतु देवीने अपनी ओर आती हुई उस महावेगवती शक्तिको अपने धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा चूर्ण कर डाला। शक्तिको टूटी हुई देख उस महादैत्यने चक्र चलाया, किंतु देवीके सैकड़ों बाणोंसे वह बीचमें ही कटकर टूक-टूक हो गया। तब दैत्यने सींगका बना हुआ धनुष लेकर देवीकी छातीमें ताककर बाण मारा, परन्तु देवीने कालदण्डके समान उस बाणको अपने

शीघ्रगामी बाणसे मारकर रोक दिया। यह देख दुर्गमासुरने प्रलयाग्निके समान प्रज्वलित शूल लेकर बड़े वेगसे देवीके ऊपर चलाया, किंतु चण्डिकाने अपने शूलद्वारा उसे बीचमें ही काट दिया। शूलके असफल होनेपर दैत्यराज दुर्ग गदा हाथमें लेकर सहसा कूद पड़ा और देवीकी भुजामें आघात किया। देवीकी भुजासे टकराते ही उस गदाके टूट-फूटकर सहस्रों टुकड़े हो गये। तदनन्तर देवीने अपने बायें पैरसे दैत्यराजकी छातीमें मारा। इससे दैत्यराज घायल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा और उसके हृदयमें बड़ी पीड़ा हुई। गिरनेके बाद पुनः उसी क्षण वह उठकर खड़ा हुआ और सहसा अदृश्य हो गया। उस समय जगदम्बाकी प्रेरणासे उनकी शक्तियाँ दैत्योंकी सेनामें इस प्रकार विचरण करने लगीं, जैसे प्रलयकालमें मृत्युकी सेना संसारमें विचरण करती है।

## दुर्गदैत्यका वध, देवताओंद्वारा देवीकी स्तुति और दुर्गा नामकी प्रसिद्धि

**स्कन्दजी कहते हैं**—मुने! देवीकी शक्तियोंने दैत्योंकी विशाल सेनाको उसी प्रकार नष्ट कर दिया, जैसे प्रलयाग्निकी लपटें समस्त संसारको दग्ध कर देती हैं। इतनेमें ही दैत्यराज दुर्ग बादलोंकी आड़में खड़ा हो प्रचण्ड आँधी और बवण्डरके साथ कंकड़-पत्थरोंकी वर्षा करने लगा। तब महादेवीने शोषणास्त्रका प्रयोग करके पानी और पत्थरोंकी वर्षाको क्षणभरमें रोक दिया। यह देख दैत्यराजने क्रोधमें पर्वतके शिखरको उखाड़कर आकाशसे ही देवीके ऊपर गिराया। अपने ऊपर गिरते हुए उस पर्वतशिखरको देखकर महादेवीने वज्रके प्रहारसे उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। तब वह दैत्य हाथीका स्वरूप धारण करके अपने कुण्डलमण्डित मस्तकको डुलाता हुआ शीघ्रतापूर्वक देवीके सम्मुख दौड़ा। उस पर्वताकार हाथीको आते देख भगवतीने शीघ्रतापूर्वक पाशसे बाँधकर उसकी सूँड़को तलवारसे काट डाला। तदनन्तर उसने भैंसेका स्वरूप धारण किया और अपने सींगोंसे पर्वतोंको उखाड़कर देवीके ऊपर फेंका। उसके उपद्रवसे समस्त ब्रह्माण्डको व्याकुल देखकर भगवतीने दानवपर त्रिशूलसे आघात किया। तब वह भैंसेका रूप छोड़कर सहस्र भुजाधारी पुरुष बन गया और देवीका हाथ पकड़कर उन्हें आकाशमें खींच ले गया। वहाँ ऊँचेसे उसने जगदम्बिकाको छोड़ दिया और क्षणभरमें बाणोंके जालसे उन्हें आच्छादित कर दिया। तब महादेवीने अपने बाणोंसे शरसमूहको काटकर एक महाबाणके द्वारा उस दैत्यको बींध डाला। देवीका वह बाण दैत्यकी छातीमें घुस गया, उसकी आँखें नाचने लगीं और वह अत्यन्त व्याकुल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। महापराक्रमी दुर्गके गिरते ही देवताओंकी दुन्दुभियाँ बजने लगीं। समस्त संसारमें उल्लास छा गया। सूर्य, चन्द्रमा और अग्निदेवको अपने खोये हुए तेजकी प्राप्ति हुई। तदनन्तर सब देवता फूलोंकी वर्षा करते हुए महर्षियोंके साथ वहाँ आये और महादेवीकी स्तुति करने लगे।

**देवता बोले**—सम्पूर्ण जगत्‌का धारण-पोषण करनेवाली महादेवि! तुम्हें नमस्कार है। तीनों लोकोंकी उत्पत्तिकी आधारभूता महामहेश्वरकी शक्ति! तुम दैत्यरूपी वृक्षोंको काटनेके लिये कुठार हो, तुम्हें नमस्कार है। त्रैलोक्यव्यापिनी कल्याणमयी शिवे! तुम्हें नमस्कार है। शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाली तथा अपने व्यग्र हाथोंमें शार्ङ्ग-धनुषको उठानेवाली विष्णुस्वरूपे देवि! तुम्हें नमस्कार है। सबकी सृष्टि करनेवाली, प्राचीनोंकी भाषा, संस्कृतिकी जन्मभूमि तथा हंसकी सवारीसे यात्रा करनेवाली चतुराननस्वरूपे देवि! तुम्हें नमस्कार है। तुम्हीं इन्द्र, कुबेर, वायु, वरुण, यम, निर्ऋति, ईशान और अग्निकी शक्ति हो, तुम्हीं चन्द्रमाकी चाँदनी और सूर्यकी शक्ति प्रभा हो। तुम्हीं सर्वदेवमयी

शक्ति और तुम्हीं परमेश्वरी हो। तुम्हीं गौरी हो, तुम्हीं सावित्री हो और तुम्हीं गायत्री एवं सरस्वती हो। तुम्हीं प्रकृति, तुम्हीं मति और तुम्हीं अहंकारस्वरूपा हो। तुम्हीं चित्त और समस्त इन्द्रियरूप हो, पंचतन्मात्राएँ भी तुम्हारा ही स्वरूप हैं। पंचमहाभूत-स्वरूपा जगदम्बिके! तुम्हें नमस्कार है। तुम्हीं शब्दादि विषयरूपिणी हो, तुम्हीं इन्द्रियोंकी अधिष्ठातृ देवता हो, देवि! तुम्हीं ब्रह्माण्डकी सृष्टि करनेवाली हो तथा इस ब्रह्माण्डके भीतर भी तुम्हीं व्याप्त हो। महादेवि! तुम्हीं पराशक्ति और तुम्हीं परापर (कार्य-कारण)-स्वरूपा तथा तुम्हीं पर और अपरसे भी परे रहनेवाली परमात्मस्वरूपिणी हो। ईशानि! तुम्हीं सर्वरूपा हो और तुम्हीं सर्वव्यापिनी निराकारस्वरूपा हो। महामाये! तुम्हीं चित्-शक्ति, तुम्हीं स्वाहा और तुम्हीं स्वधा हो। अकृतस्वरूपे! वषट् और वौषट् भी तुम्हारे ही स्वरूप हैं। तुम्हीं प्रणव हो तथा अन्य सब मन्त्र भी तुम्हारे ही स्वरूप हैं। ब्रह्मा आदि सब देवता तुमसे ही उत्पन्न हुए हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चारों वर्ग तुम्हारे ही स्वरूप हैं। चारों पुरुषार्थरूपी फलका उदय तुम्हींसे होता है। यह सम्पूर्ण विश्व तुम्हींसे उत्पन्न हुआ है, तुम्हींमें स्थित है और तुम्हींमें इसका लय होता है। तुम्हीं जगत्की आधारशक्ति हो। दृश्य, अदृश्य, स्थूल और सूक्ष्मरूपसे जो कुछ उपलब्ध होता है, सबमें तुम्हीं शक्तिरूपसे विद्यमान हो। तुम्हारे बिना कहीं किसी भी वस्तुकी स्थिति नहीं है। प्रणतजनोंको सदा शरण देनेवाली देवि! मातः! आज तुमने महादैत्यपति दुर्गको, जो स्वभावसे ही देवताओंके विरुद्ध दैत्यसेनाको प्रेरित करता रहता था, मारकर हमारी रक्षा की है। तुम्हारे सिवा दूसरा कौन है, जिसकी शरणमें हम जायँ? तुम्हीं हमें शरण देनेवाली हो। अहो! इस युद्धमें वह दुर्ग नामक दैत्य तुम्हारे अमृतमय दृष्टिपातको पाकर जो मृत्युके अधीन हुआ है, यह बड़ी ही अद्भुत बात है। भवानी! आज हमलोगोंने यह जान लिया कि तुम्हारी दृष्टिमें पड़कर कोई दुष्ट भी दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता। देवि! आपकी शस्त्राग्निमें पतंगोंकी भाँति जलकर भी दैत्यलोग सूर्यकी-सी कान्ति प्राप्त करके दिव्य धामको जा रहे हैं। सच है, संतपुरुष दुष्टोंके प्रति भी दुष्टबुद्धि नहीं करते, अपितु साधुओंके प्रति जैसा स्नेह रखते हैं वैसा ही स्नेह उन दुष्टोंके प्रति भी रखकर उन्हें अपना मार्ग प्रदान करते हैं। मृडानी! हम तुम्हारे चरणोंमें नतमस्तक हैं, तुम सदा अब ओरसे हमारी रक्षा करो। भवानी! तुम प्रतिक्षण पग-पगपर विपत्तियोंसे हम सबकी रक्षा करो।

इस प्रकार जगदम्बाकी स्तुति करके ऋषि, गन्धर्व और चारणोंसहित इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओंने जगदम्बाके चरणोंमें बारंबार प्रणाम किया। तब सन्तुष्ट हुई जगन्माता महादेवीने उन श्रेष्ठ देवताओंसे कहा—'आजसे सब देवता पहलेकी भाँति अपने-अपने अधिकारोंका पालन करें। तुमलोगोंने जो यह मेरी यथार्थ स्तुति की है, इससे मैं बहुत सन्तुष्ट हूँ, अतः तुम्हें दूसरा वरदान देती हूँ। जो मनुष्य पवित्रभावसे भक्तिपूर्वक इस स्तुतिद्वारा मेरा स्तवन करेगा उसकी विपत्तिका मैं पग-पगपर नाश करूँगी। संग्राममें अत्यन्त दुर्गम दुर्ग नामक दैत्यको मार गिरानेके कारण आजसे मेरा 'दुर्गा' नाम प्रसिद्ध होगा *। जो मुझ दुर्गाकी शरणमें आयेंगे, उनकी कभी दुर्गति नहीं होगी। यह वज्रपिंजर नामवाली दुर्गास्तुति पुण्यकी वृद्धि करनेवाली है।'

देवताओंको इस प्रकार वरदान देकर महादेवी उसी समय अन्तर्धान हो गयीं और स्वर्गवासी देवता भी अपने-अपने स्थानको चले गये। कुम्भज! इस प्रकार महादेवीका नाम दुर्गा हुआ। काशीमें अष्टमी, चतुर्दशी एवं विशेषतः मंगलवारको दुर्गतिनाशिनी दुर्गादेवीका सदैव पूजन करना चाहिये। नवरात्रमें प्रयत्नपूर्वक प्रतिदिन पूजित हुई दुर्गादेवी

* अद्यप्रभृति मे नाम दुर्गेति ख्यातिमेष्यति। दुर्गदैत्यस्य समरे पातनादतिदुर्गमात्॥ (स्क० पु०, का० उ० ७२। ७१)

समस्त विघ्नसमूहोंका नाश और सद्बुद्धि प्रदान करेंगी। काशीमें दुर्गाकुण्डके भीतर स्नान करके समस्त दुर्गम पीड़ाओंका नाश करनेवाली दुर्गादेवीकी विधिवत् पूजा करनेवाला मनुष्य नौ जन्मोंके पापको त्याग देता है। दुर्गादेवी अपनी शक्तियोंके साथ सब ओरसे काशीकी रक्षा करती हैं। महादेवीकी उन कालरात्रि आदि शक्तियोंका प्रयत्नपूर्वक पूजन करना चाहिये। जो मनुष्य नाना शक्तियोंसे युक्त इस दुर्गविजय नामक पुण्यमय अध्यायको श्रवण करता है वह दुर्गम संकटसे शीघ्र ही पार हो जायगा।

## काशीके अट्ठाईस प्रमुख लिंगोंका संक्षिप्त वर्णन तथा ॐकारेश्वरके प्राकट्यकी कथा, ब्रह्माजीके द्वारा ॐकारेश्वरका स्तवन और उनकी महिमा

**अगस्त्यजीने पूछा**—षडानन! जगदम्बा पार्वती-जीके साथ त्रिलोचन महादेवके समीप जाकर भगवान् शिवने क्या किया?

**स्कन्दजी बोले**—अगस्त्यजी! त्रिलोचन (या त्रिविष्टप) लिंगके समीप जानेपर माता पार्वतीदेवीने भगवान् शिवसे कहा—'देवदेव! विश्वनाथ! आप सर्वव्यापी तथा सब कुछ देनेवाले हैं। आप ही सबके साक्षी तथा जनक हैं। आपका परम प्रिय यह क्षेत्र कर्मजनित रोगकी ओषधि है, मोक्षलक्ष्मीका लीला निकेतन है। मुझे भी यह क्षेत्र अत्यन्त प्रिय है। इस क्षेत्रके एक-एक धूलि-कणके समक्ष सम्पूर्ण त्रिलोकी भी तिनकेके समान है। फिर इस सम्पूर्ण तीर्थकी महिमाको कौन जान सकता है? प्रभो! मैं यह जानना चाहती हूँ कि इस काशीधाममें कौन-कौनसे शिवलिंग अनादिसिद्ध हैं, जिनका जन्मभरमें एक बार भी पूजन करनेसे काशीमें स्थित सम्पूर्ण लिंग पूजित हो जाते हैं? मुझे उन सबका परिचय दीजिये।'

**देवीका यह वचन सुनकर महेश्वरने कहा**—प्रिये! जिनके नामोंका उच्चारण करनेमात्रसे समस्त पाप क्षीण हो जाते हैं और पुण्यराशिकी प्राप्ति होती है, ऐसे स्थूल, सूक्ष्म एवं रत्ननिर्मित शिवलिंग काशीमें असंख्य हैं। अनेकों धातुमय लिंग हैं और बहुतसे प्रस्तरमय लिंग भी हैं। इनमें बहुतेरे तो स्वयम्भू हैं—स्वतः प्रकट हुए हैं और बहुतसे देवताओं एवं ऋषियोंद्वारा स्थापित किये हुए हैं। सुन्दरि! तुमने जिन शिवलिंगोंका परिचय पूछा है, उनका वर्णन करता हूँ। वे लिंग कलियुगमें अत्यन्त गोप्य होंगे, परंतु उनका प्रभाव अपने-अपने स्थानका परित्याग नहीं करेगा। जो कलियुगके पापसे पुष्ट हो रहे हैं तथा जो दुष्ट, नास्तिक और शठ हैं, वे इन सिद्ध लिंगोंके नाम भी नहीं जान सकेंगे। उनमेंसे प्रथम ॐकार लिंग है, दूसरा त्रिलोचन, तीसरा महादेव, चौथा कृत्तिवासा, पाँचवाँ रत्नेश्वर, छठा चन्द्रेश्वर, सातवाँ केदारेश्वर, आठवाँ धर्मेश्वर, नवाँ वीरेश्वर, दसवाँ कामेश्वर, ग्यारहवाँ विश्वकर्मेश्वर, बारहवाँ मणिकर्णीश्वर, तेरहवाँ अविमुक्तेश्वर और चौदहवाँ विश्वेश्वर महालिंग है। प्रिये! ये चौदहों लिंग कल्याणके हेतु हैं, इनका समुदाय ही मुक्तिक्षेत्र कहा गया है। ये सब इस क्षेत्रके अधिष्ठाता देवता हैं और आराधना करनेपर मोक्षलक्ष्मी प्रदान करते हैं। प्रिये! इस आनन्दकाननमें देहधारियोंकी मुक्तिके लिये ये ही चौदह महालिंग परम पूजनीय माने गये हैं। प्रत्येक मासकी मंगलमयी प्रतिपदासे लेकर चतुर्दशीतक इन प्रधान-प्रधान लिंगोंकी यत्नपूर्वक यात्रा करनी चाहिये। जो इन चौदह महालिंगोंकी आराधना करता है, उसकी इस संसारमार्गमें कभी पुनरावृत्ति नहीं होती। यह काशीतीर्थका अनुपम कोष है, इसको जहाँ-तहाँ सब ओर प्रकाशित नहीं करना चाहिये। देवि! बहुत बड़ी विपत्तिमें भी इन लिंगोंके नामोंका उच्चारण किया जाय तो ये सब दुःख हर लेते हैं। यह इस क्षेत्रका परम गोपनीय रहस्य है। गिरिराजकुमारी! ये चौदह लिंग मेरे सामीप्यकी

प्राप्ति करानेवाले तथा अविमुक्त धामके हृदय हैं। प्रिये! इस क्षेत्रमें निश्चय ही सबकी मुक्ति होती है, ऐसी जो प्रसिद्धि है, उसमें ये मेरे चौदह महालिंग ही कारण हैं। जिन भक्तोंने आनन्द-वनमें इन लिंगोंका चिन्तन किया है, वे ही व्रतधारी और तपस्वी हैं। जिन्होंने दूरसे भी इन लिंगोंका दर्शन कर लिया है, वे ही उत्तम योगाभ्यासी और महादानी हैं।

**तदनन्तर भगवान् शंकरने अपने भक्तोंके हितके लिये पार्वतीदेवीसे अन्य लिंगोंका भी इस प्रकार परिचय दिया**—शैलेश्वर, संगमेश्वर, स्वर्लीनेश्वर, मध्यमेश्वर, हिरण्यगर्भेश्वर, ईशानेश्वर, गोप्रेक्षेश्वर, वृषभध्वजेश्वर, उपशान्तेश्वर, ज्येष्ठेश्वर, निवासेश्वर, शुक्रेश्वर, व्याघ्रेश्वर और जम्बुकेश्वर—ये चौदह लिंग भी काशीके महत्त्वपूर्ण आयतन हैं। इनकी सेवासे भी मनुष्य मोक्षको प्राप्त होता है। वैशाख कृष्ण प्रतिपदासे लेकर चतुर्दशीतक श्रेष्ठ पुरुषोंको इन लिंगोंकी पूजा करनी चाहिये। देवि! इनमेंसे एक-एक लिंगकी महिमाका भी कहीं आदि-अन्त नहीं है।

**पार्वतीजी बोलीं**—समस्त कारणोंके ईश्वर महादेव! आपने जो यह कहा है कि पूर्वोक्त लिंगोंमेंसे एक-एक लिंग भी काशीमें परम मोक्षका कारण है, इससे मेरी उत्सुकता बहुत बढ़ गयी है। जिनके नामश्रवणसे भी समस्त पापोंका अपहरण हो जाता है, उन चौदह लिंगोंमेंसे प्रत्येककी महिमाका वर्णन कीजिये। ॐकारेश्वर लिंगका स्वरूप क्या है, उनकी क्या महिमा है, पूर्वकालमें किसने इनकी आराधना की थी और आराधित होनेपर इन्होंने उसे कौन-सा फल प्रदान किया था?

**महादेवजीने कहा**—महादेवी! पूर्वकालकी बात है। जगत्स्रष्टा ब्रह्माजीने आनन्दवनमें समाधि लगाकर बड़ी भारी तपस्या की। तपस्या करते-करते जब एक सहस्र युग बीत गया तब सातों पातालोंका भेदन करके उनके आगे एक दिव्य ज्योति प्रकट हुई। उसके प्रकाशसे सम्पूर्ण दिशाएँ प्रकाशित हो उठी थीं। उनकी निर्व्याज समाधिसे जो परम ज्योति अन्तःकरणमें प्रकट हुई थी, वही बाहर व्यक्त हो गयी। ब्रह्माजीने समाधि त्याग करके जब आँखें खोलीं तब सामने आदि अक्षर ॐकारको प्रकट देखा। उसीमें अकारका दर्शन हुआ जो सत्त्वगुणसम्पन्न, ऋग्वेदका अधिष्ठान, सृष्टिपालक, साक्षात् नारायणस्वरूप तथा अज्ञानमय अन्धकारसे परे प्रतिष्ठित है। उसके बाद उकार दृष्टिगोचर हुआ जो रजोगुणस्वरूप, यजुर्वेदकी उत्पत्तिका स्थान तथा उन्हींके प्रतिबिम्बित स्वरूपकी भाँति ब्रह्ममय प्रतीत होता था। उसके बाद ब्रह्माजीने मकारको प्रत्यक्ष किया जो किसी प्रकारकी ध्वनिसे रहित, अन्धकारके संकेतस्थानके सदृश तथा तमोगुणस्वरूप ज्ञात हुआ। वह साक्षात् रुद्रस्वरूप मकार भी सामवेदकी उत्पत्तिका स्थान है। उसके बाद ब्रह्माजीने परमानन्दस्वरूप परा वाणीके आश्रयभूत नादतत्त्वका साक्षात्कार किया, जिसकी आकृति विश्वरूपमय है तथा जो सगुण और निर्गुणस्वरूप है। उसीको शब्दब्रह्म कहते हैं तथा वही समस्त वाङ्मयका कारण है। तत्पश्चात् विधाताने तपस्यासे प्रत्यक्ष हुए विन्दुतत्त्वका अवलोकन किया, जो समस्त कारणोंका भी कारण, समस्त जगत्की उत्पत्तिका स्थान तथा परम शिवरूप है। अपने प्रभावसे सबका अवन—(रक्षण) करनेके कारण प्रणवको ॐ कहते हैं अथवा भक्तमुन्नयति—भक्तको ऊर्ध्वलोकमें ले जाता है, इसलिये जिसे ॐ कहते हैं वह प्रणव निराकार होकर भी साकाररूपसे ब्रह्माजीको दृष्टिगोचर हुआ। जो अपने जपमें मन लगानेवाले भक्तको भवसागरसे तार देता है, इसीलिये जिसे 'तार' कहते हैं, उसी प्रणवका ब्रह्माजीने साक्षात्कार किया। समस्त मोक्षकामी पुरुषोंद्वारा यह प्रणुत (स्तुत अथवा प्रशंसित) होता है, इसलिये इसका नाम प्रणव है अथवा यह अपनी उपासना करनेवाले पुरुषोंको परम पदमें पहुँचाता है, इस कारण इसे प्रणव कहते हैं। वेदत्रयी जिसका स्वरूप है, जो तुरीय, तुरीयातीत और सर्वात्मक है उसी नादविन्दुस्वरूप

ॐकारका ब्रह्माजीको प्रत्यक्ष दर्शन हुआ। जिससे अंगोंसहित सम्पूर्ण वेद प्रकट होते हैं, जो वृषभरूप यज्ञमय परमेश्वर मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प—तीनोंसे सम्बद्ध होकर बार-बार शब्द करता है अर्थात् वैदिक मन्त्रोंसे ध्वनित होता है, जो तेजोमय तथा सबसे श्रेष्ठ है। जिसमें ब्रह्मासे लेकर कीटपर्यन्त सम्पूर्ण जगत्का लय होता है, इसीलिये जो साधुपुरुषोंद्वारा लिंग-नामसे पूजित होता है उसी ॐकार लिंगका ब्रह्माजीने प्रत्यक्ष दर्शन किया। तदनन्तर अ, उ, म, नाद, विन्दु—इन पाँच अक्षरोंसे युक्त प्रपंचसे भिन्न लिंगरूपधारी ॐकारेश्वरका ब्रह्माजीने इस प्रकार स्तवन किया।

**ब्रह्माजी बोले**—सदाशिव! अक्षरस्वरूप धारण करनेवाले आप ॐकाररूप परमेश्वरको नमस्कार है। आप ही अकार आदि अक्षरोंके उत्पत्तिस्थान हैं, आपको नमस्कार है। निराकार परमात्मन्! आप अकार, उकार और मकार हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद आपके ही स्वरूप हैं, आप रूपातीत परमेश्वरको नमस्कार है। आप ही नाद, विन्दु और कलास्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। लिंगरहित होते हुए भी लिंगरूपसे प्रकट होनेवाले आप सर्वस्वरूप महेश्वरको नमस्कार है। आप आदि-अन्तसे रहित एवं तेजकी निधि हैं, आपको नमस्कार है। आप भव (जगत्को उत्पन्न करनेवाले), रुद्र (दुःख दूर करनेवाले) और शर्व (संहारकारी) हैं, आपको नमस्कार है। आप पापियोंके लिये उग्र और भीमरूप हैं, आपको नमस्कार है। पशुओं (अज्ञानी जीवों)-का पालन करनेवाले आपको नमस्कार है। आप तारक प्रणवरूप हैं, आपसे ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति होती है, आपको नमस्कार है। आप मायासे परे परम कल्याणस्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ—ये सब स्वर आपके ही स्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। 'क'से लेकर 'ह'तक सम्पूर्ण व्यंजन भी आपके ही स्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। उदात्त, अनुदात्त और स्वरितरूप आपको बार-बार नमस्कार है। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुतके नियन्ता तथा विसर्गसहित वर्णस्वरूप आपको नमस्कार है। अनुस्वाररूप आपको नमस्कार है। अनुनासिकमय आपको नमस्कार है। निरनुनासिक अक्षर तथा दन्त और तालुसे उच्चारित होनेवाले वर्ण आपके ही स्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। ओष्ठ और हृदयसे निकलनेवाले अक्षर भी आपसे भिन्न नहीं हैं, ऊष्मा और अन्तःस्थवर्ण आपके ही स्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। आप ही प्रत्येक वर्गके पंचम वर्ण हैं, आपको नमस्कार है। आप पिनाक धारण करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। आप ही निषाद (किरात) और निषादोंके स्वामी हैं, आपको नमस्कार है। वीणा, वेणु और मृदंग आदि वाद्य भी आपके ही स्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। उच्च और गम्भीर ध्वनि-स्वरूप आपको नमस्कार है। आप पापियोंके लिये घोर (भयंकर) और भक्तोंके लिये अघोर (सौम्य)-रूप धारण करते हैं, आपको नमस्कार है। आप ही तानस्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। आप ही इक्कीस मूर्छनाओंके पति हैं, आपको नमस्कार है। स्थायी और संचारीके भेदसे द्विविध भावरूप आपको नमस्कार है। आप तालप्रिय, तालस्वरूप तथा लास्य और ताण्डव नृत्यको प्रकट करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। तौर्यत्रिक (नृत्य, गान और वाद्य) आपका स्वरूप है। आप नृत्य, गान और वाद्यके बड़े प्रेमी हैं तथा भक्तिपूर्वक नृत्य, गान एवं वाद्यके द्वारा आपकी आराधना करनेवाले भक्तोंको आप मोक्षलक्ष्मी प्रदान करते हैं, आपको नमस्कार है। स्थूल और सूक्ष्म आपके ही स्वरूप हैं। दृश्य और अदृश्य रूप धारण करनेवाले आपको नमस्कार है। अर्वाचीन (नवीन) और प्राचीन सब आपके ही स्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। वाणीका विस्तार भी आपका ही रूप है। आप समस्त वाङ्मय-प्रपंचसे परे हैं, आपको नमस्कार है। एक, अनेक रूप तथा सत्-असत्के स्वामी आपको नमस्कार है। शब्दब्रह्म (प्रणवरूप) आपको नमस्कार है। परब्रह्म! आपको नमस्कार है। वेदान्तके द्वारा जाननेयोग्य आपको नमस्कार है। वेदोंका पालन करनेवाले आपको नमस्कार है। आप वेदस्वरूप हैं, आपका रूप

वेदगम्य है, आपको नमस्कार है। पार्वतीपते! आपको नमस्कार है। जगदीश्वर! आपको नमस्कार है। देवदेवेश्वर! दिव्य पद प्रदान करनेवाले देव! आपको नमस्कार है। महेश्वर! परम कल्याणकारी आपको बारंबार नमस्कार है। जगदानन्द! चन्द्रशेखर! मृत्युंजय! आप त्रिनेत्रधारी शिवको नमस्कार है। पिनाक एवं त्रिशूल धारण करनेवाले आपको नमस्कार है। आप भक्तोंका विषाद दूर करते हैं। आप ही ज्ञान हैं, ज्ञान ही आपका स्वरूप है, आप सर्वज्ञ शिवको नमस्कार है। योगसत्तम! आप ही योगियोंको योगसिद्धि प्रदान करनेवाले हैं। तपोधन! आप ही तपस्वी लोगोंको तपस्याका फल देते हैं। आप ही मन्त्ररूप हैं और आप ही मन्त्रोंके फलदाता हैं। आप ही महादान देनेवाले और आप ही महादानके फल हैं। आप ही महायज्ञ और उसके फलदाता हैं। आप ही सर्व, सर्वगत, सब कुछ देनेवाले और सबके साक्षी हैं। सर्वभोक्ता, सर्वकर्ता और सर्व-संहारकारी भी आप ही हैं। योगियोंके हृदयाकाशमें निवास करनेवाले शिव! आपको नमस्कार है। आप ही विष्णुरूपसे शंख, चक्र और गदा धारण करके तीनों लोकोंका पालन करते हैं। जगत्पालक! सत्त्वस्वरूप! आपको नमस्कार है। आप ही सृष्टिरचनाके ज्ञाता ब्रह्मा होकर इस विश्वकी सृष्टि करते हैं। रजोगुणप्रधान रूप धारण करके भी आप रजोहीन मोक्षपद प्रदान करनेवाले हैं। आप ही कल्पके अन्तमें कालाग्निरुद्र होकर महाप्रलय आरम्भ करते हैं। कल्पके आदिमें आप ही अपने दृष्टिपातमात्रसे पुरुष और प्रकृतिरूपसे महत्तत्त्व आदि सम्पूर्ण जगत्को पुनः प्रकट कर देते हैं। आपकी पलकोंका खुलना और बंद होना—ये ही दोनों सृष्टि और संहारके कारण हैं। स्वेच्छानुसार विचरण करनेवाले आप परमेश्वरका यह सब खेल है। शम्भो! आपसे ही यह सब कुछ उत्पन्न हुआ है और आपमें ही सम्पूर्ण चराचर जगत् स्थित है। आप वेदवाणीके भी अगोचर हैं। आपकी यथावत् स्तुति कौन जानता है? आप ही स्तुति करनेवाले हैं, आप ही स्तुति हैं और आप ही स्तवनीय देवता हैं। मैं तो '**ॐ नमः शिवाय**' (प्रणवस्वरूप कल्याणमय शिवको नमस्कार है) इतना ही जानता हूँ, इसके सिवा और कुछ भी नहीं जानता। आप ही मुझे शरण देनेवाले हैं और आप ही परम गति हैं। ईश! मैं आपको ही प्रणाम करता हूँ, आपको नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है।

इस प्रकार बार-बार कहकर ब्रह्माजीने ॐकारनामक महालिंगरूपधारी महेश्वरको पृथ्वीपर दण्डकी भाँति गिरकर साष्टांग प्रणाम किया।

**महादेवजी कहते हैं**—पार्वती! ब्रह्माजीद्वारा की हुई उस उत्तम एवं अद्भुत स्तुतिको सुनकर मैं बहुत सन्तुष्ट हुआ और मैंने ब्रह्माजीसे कहा—'चतुरानन! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, वर माँगो।'

**ब्रह्माजी बोले**—देवेश्वर! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं और मुझे वरदानका अधिकारी मानते हैं तो इस महालिंगमें आपका सदैव निवास बना रहे और यह ॐकारेश्वर नामक शिवलिंग भक्तोंको एकमात्र मोक्ष प्रदान करनेवाला हो।

**स्कन्दजी कहते हैं**—ब्रह्मर्षे! ब्रह्माजीका यह वचन सुनकर भगवान् शिवने कहा—'**तथास्तु**' ऐसा ही होगा। सुरश्रेष्ठ! तुम तपस्याके कारण सर्वश्रेष्ठ हो और सम्पूर्ण वेदोंकी निधि हो। जब गंगा ॐकारेश्वरके समीपमें आवेगी तब देवताओं, ऋषियों और पितरोंको प्रिय लगनेवाला पुण्यकाल उपस्थित होगा। उस समय ॐकारेश्वरके समीप मत्स्योदरीके जलमें किया हुआ स्नान, जप, दान, होम और देवपूजन सब अक्षय होता है। ॐकारेश्वरके दर्शनसे ही मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल पाता है। अतः काशीमें प्रयत्नपूर्वक ॐकारेश्वरका दर्शन करना चाहिये। इस प्रकार कमलोद्भव ब्रह्माजीको वर देकर भगवान् शंकर पुनः उसी महालिंगमें लीन हो गये। अगस्त्य! ब्रह्माजी द्वारा की हुई स्तुतिका जप करनेवाला मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। महान् पुण्योंसे परिपूर्ण होता है और श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

# त्रिलोचन लिंगकी महिमा

**स्कन्दजी कहते हैं**—मुने! महादेवजीने त्रिविष्टप लिंगकी उत्पत्तिके विषयमें जो श्रमहारिणी कथा कही है, उसे सुनाता हूँ, सुनो।

**महादेवजी बोले**—पार्वती! पृथ्वीपर यह आनन्दवन सबसे श्रेष्ठ है। इसमें भी सब तीर्थ श्रेष्ठ हैं। तीर्थोंमें भी ॐकारेश्वरकी भूमि श्रेष्ठ है। मुक्तिका मार्ग प्रकाशित करनेवाले ॐकारेश्वर लिंगसे भी अत्यन्त श्रेष्ठ कल्याणस्वरूप त्रिलोचन लिंग है। जैसे तेजस्वियोंमें सूर्य और दर्शनीय वस्तुओंमें चन्द्रमा श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार समस्त लिंगोंमें त्रिलोचन लिंग श्रेष्ठ है। जो महाबुद्धिमान् मनुष्य काशीमें त्रिलोचन लिंगकी पूजा करते हैं वे मेरी प्रीति चाहनेवाले त्रिलोकनिवासियोंके द्वारा पूजनीय हैं। गिरिराजनन्दिनी! यद्यपि ॐकार आदि सभी मुख्य लिंग समस्त पापोंका नाश करनेवाले हैं, परन्तु भगवान् त्रिलोचनकी शक्ति कुछ और ही है। प्रिये! पूर्वकालमें जब मैं योगयुक्त होकर बैठा था, उस समय यह महान् लिंग सात पातालोंका भेदन करके भूतलसे मेरे सामने प्रकट हुआ था। यह त्रिलोचन लिंग ज्ञानदृष्टि देनेवाला बताया गया है। जो भगवान् त्रिलोचनके भक्त हैं वे सभी त्रिलोचनस्वरूप हैं, मेरे पार्षद हैं और जीवन्मुक्त हैं। वैशाख शुक्ला तृतीयाको पिलपिला कुण्डमें स्नान करके जो भक्तिपूर्वक उपवास करके रात्रिमें जागरण और त्रिलोचनकी पूजा करते हैं, फिर प्रातःकाल वहीं स्नान करके त्रिलोचन लिंगकी पूजा करके पितरोंके उद्देश्यसे अन्न और दक्षिणासहित धर्मघट दान करते हैं, तत्पश्चात् शिवभक्तोंके साथ बैठकर पारणा करते हैं वे इस पार्थिव शरीरका त्याग करके पुण्यसे प्रेरित हो निश्चय ही मेरे आगे चलनेवाले पार्षद होते हैं।

**स्कन्दजी कहते हैं**—मुने! प्राचीन रथन्तर कल्पकी बात है। भगवान् त्रिलोचनके मणि-माणिक्यनिर्मित मन्दिरमें कभी कबूतरोंका एक जोड़ा निवास करता था। वे दोनों कबूतर प्रतिदिन प्रातः, मध्याह्न और सायंकालमें मन्दिरकी परिक्रमा करते हुए सब ओर उड़ते और अपने पंखोंकी हवासे मन्दिरमें लगी हुई धूलको दूर किया करते थे। भक्तलोग जो सदा त्रिलोचन और त्रिविष्टप आदि नामोंका उच्चारण करते वह सब उनके कानोंमें पड़ा करता था। उन दोनों पक्षियोंके नेत्रोंमें मंगल आरतीकी दिव्य ज्योति पड़कर उन्हें भक्तजनोंकी चेष्टाएँ दिखाती थी। कभी-कभी तो वे युगल पक्षी वहाँका कौतुक देखते हुए चारा चुगनेकी भी चिन्ता छोड़ देते और स्थिर चित्तसे वहीं ठहरकर दर्शन करते थे, वहाँसे उड़कर किसी अभीष्ट स्थानको नहीं जा पाते थे। भक्तजनोंसे भरे हुए उस मन्दिरके चारों ओर बिखरे चावलके दानोंको चुगते-चुगते वे परिक्रमा किया करते थे। भगवान् त्रिलोचनके दक्षिण भागमें चतुःस्रोतस्विनीका सुन्दर जल था। तृषासे आतुर होनेपर वे उसीका जल पीते और कभी-कभी उसमें स्नान भी कर लेते थे। इस प्रकार त्रिलोचनके समीप उत्तम चेष्टाके साथ विचरते हुए उन पक्षियोंके बहुत वर्ष बीत गये।

तदनन्तर देवमन्दिरके स्कन्धभागमें गवाक्षके भीतर सुखपूर्वक बैठे हुए उन दोनों पक्षियोंको एक बाजने बड़ी क्रूर दृष्टिसे देखा। एक दिन वह बाज फिर आया। तब डरी हुई कबूतरीने कहा—'प्रियतम! यह स्थान दुष्टकी दृष्टिसे दूषित हो गया है। अतः इसको त्याग देना चाहिये।' यह सुनकर कबूतरने अवहेलनापूर्वक कहा—'प्रिये! वह मेरा क्या कर लेगा।'

**कबूतरी बोली**—जो उपद्रव आनेपर भी अपने स्थानको छोड़कर अन्यत्र नहीं चला जाता वह पंगु नदीके किनारेके वृक्षकी भाँति नाशको प्राप्त होता है। नाथ! जबतक यह कालरूपी बाज हमलोगोंसे बहुत दूर है, तभीतक तुम मुझे त्यागकर

भी दूर चले जाओ, क्योंकि तुम्हारे जीवित रहनेपर इस भूतलमें कुछ भी दुर्लभ नहीं होगा। तुम्हें पुनः स्त्री, मित्र, धन और गृह प्राप्त हो जायगा। यदि पुरुषने स्त्री और धनके द्वारा भी अपने आपकी रक्षा कर ली तो राजा हरिश्चन्द्रकी भाँति उसे इस लोकमें सब कुछ मिल जाता है। यह आत्मा ही प्रिय बन्धु है और यह आत्मा ही महान् धन है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका उपार्जन करनेवाला भी यह आत्मा ही है। जबतक आत्मामें क्षेम है, तभीतक त्रिलोकीमें क्षेम है किंतु उत्तम बुद्धिसे युक्त पुरुष उस क्षेमको भी यशके साथ प्राप्त करना चाहते हैं। जिस क्षेममें सुयशका अभाव है उससे तो मृत्यु ही अच्छी है। पुरुष जब नीतिके मार्गपर चलता है तभी उसे यशकी प्राप्ति होती है। अतः नाथ! इस नीतिके मार्गका श्रवण करके इस स्थानसे अन्यत्र चले जाइये।

उत्तम बुद्धिवाली अपनी स्त्री कपोतीके ऐसा कहनेपर भी कबूतर उस स्थानसे नहीं निकला। तब प्रातःकाल आकर उस बलवान् बाजने कपोतके निकलनेके मार्गको रोक लिया और उससे कहा—'कपोत! तुझे धिक्कार है, तुझमें तो जरा भी पौरुष नहीं है। अरे! दुर्बुद्धि! या तो युद्ध कर या मेरी बात मानकर यहाँसे निकल भाग। यदि भूखसे क्षीण होकर तू यहाँ प्राण देगा तो तुझे पीछे निश्चय ही नरकमें जाना पड़ेगा। उत्तम बुद्धिवाले मनुष्य पुरुषार्थका आश्रय लेकर संकटसे मुक्त होनेके लिये प्रयत्न करते हैं।' इस प्रकार बाजके फटकारने और पत्नीके उत्साह दिलानेपर कबूतर अपने दुर्गके द्वारपर आकर उस बाजसे युद्ध करने लगा। बेचारा भूख-प्याससे पीड़ित था, अतः बलवान् बाजने उसे पंजोंसे पकड़ लिया और कबूतरीको भी चोंचमें दबा लिया। इस प्रकार उन दोनोंको पकड़कर बाज शीघ्र ही आकाशमें उड़ गया। तब कबूतरीने कहा—'नाथ! यह स्त्री है, ऐसा समझकर तुमने मेरी बातोंकी उपेक्षा की। इसीसे आज इस अवस्थाको प्राप्त हुए हो। क्या करूँ, मैं अबला हूँ, परंतु अब भी मैं तुम्हारे हितकी बात कहती हूँ। तुम बिना विचारे ही उसका पालन करो। जबतक मैं इसकी चोंचमें पड़ी हूँ और जबतक यह पृथ्वीपर पहुँचकर स्वस्थ नहीं हो जाता है तबतक ही तुम अपनेको इसके चंगुलसे छुड़ानेके लिये इस शत्रुके पंजेमें चोंच मारो।' पत्नीकी यह बात सुनकर कबूतरने वैसा ही किया। फिर तो पैरमें पीड़ा होनेसे बाज बहुत देरतक चीं-चीं करता रहा। इतनेमें ही कपोती उसके मुखसे छूटकर उड़ गयी। इधर पाँवकी अंगुलियोंके शिथिल होनेसे कबूतर भी छूटकर गिर पड़ा। अतः बुद्धिमान् पुरुषोंको विपत्तिमें भी कभी उद्योग नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि उद्यमी पुरुष दुर्बल हों तो भी सफलताके भागी होते हैं। अतः मनीषी पुरुष विपत्तिकालमें भी उद्यमकी प्रशंसा करते हैं। तदनन्तर वे दोनों पक्षी कालयोगसे मुक्तिपुरी अयोध्यामें सरयूके किनारे मृत्युको प्राप्त हुए। उनमेंसे एक कबूतर तो विद्याधर हुआ। वह मन्दारदामाका पुत्र था और उसका नाम परिमलालय रखा गया था। वह कुमारावस्थासे ही शिवजीकी भक्तिमें तत्पर हुआ। उसने अपने मन और इन्द्रियोंको पूर्णतः जीत लिया था। भगवान् त्रिलोचनकी शरण लेनेसे पूर्वजन्मके अभ्यासवश उसने यह नियम कर लिया कि 'जबतक शरीर स्वस्थ है, जबतक इन्द्रियोंमें शिथिलता नहीं आ जाती तबतक काशीमें भगवान् त्रिलोचनकी पूजा किये बिना मैं थोड़ा भी भोजन नहीं करूँगा।' ऐसी प्रतिज्ञा लेकर वह परिमलालय प्रतिदिन काशीमें त्रिलोचनका दर्शन करनेके लिये आता था।

उधर वह कपोती भी पातालमें नागराज रत्नद्वीपके घरमें कन्यारूपसे उत्पन्न हुई। उसका नाम रत्नावली रखा गया। उसकी दो सखियाँ थीं, जिनमेंसे एकका नाम प्रभावती और दूसरीका नाम कलावती था। ये दोनों सदा रत्नावलीके साथ रहती थीं। उस कन्याने अपने पिताको शिवभक्तिमें तत्पर देख यह नियम लिया—'मैं प्रतिदिन अपनी दोनों सखियोंके साथ काशीमें त्रिलोचनकी पूजा करके ही मौन व्रतका त्याग करूँगी, अन्यथा नहीं।' इस

प्रकार वह नागकन्या अपनी दोनों सखियोंके साथ प्रतिदिन काशीमें आती और त्रिलोचनकी पूजा करके लौट जाती थी।

एक समय वैशाख मासकी तृतीयाको उपवास-पूर्वक रात्रिमें नृत्य, गीत और कथा आदिके द्वारा जागरण करके रत्नावलीने प्रातःकाल चतुर्थीको शुभ 'पिलपिला' तीर्थमें स्नान किया और त्रिलोचनदेवकी पूजा करके उन्हींके रंगमण्डपमें सो गयी। उस समय शुद्ध कर्पूरके समान गोरे अंगोंवाले जटा-मुकुटमण्डित शशिभूषण भगवान् त्रिलोचन उस लिंगसे निकलकर बोले—'कन्याओ! तुम सब लोग उठो।' तब उन्होंने उठकर, जिनके आगमनकी कोई सम्भावना नहीं थी उन, भगवान् त्रिलोचनको प्रत्यक्ष देखा और उन्हें लक्षणोंसे ईश्वर जानकर उनके चरणोंमें वन्दना की। भगवद्दर्शनसे उन कुमारियोंके मुखपर प्रसन्नता छा गयी और वे गद्गद कण्ठसे भगवान् शिवकी स्तुति करने लगीं—'शम्भो! आपकी जय हो, ईशान! आपकी जय हो, सर्वव्यापी और सब कुछ देनेवाले प्रभो! आपकी जय हो। त्रिभुवनको उत्पन्न करनेवाले तथा भक्तजनोंके अधीन रहनेवाले प्रमथनायक! आपकी जय हो। प्रणतजनोंको सब कुछ देनेवाले प्रभो! आपकी जय हो। सब विधियोंके ज्ञाता, विधाता भी आपकी स्तुति करनेमें कुशल नहीं हैं। नाथ! आपकी स्तुति करनेमें बृहस्पतिकी भी वाणी कुण्ठित हो जाती है। सर्वज्ञ! स्वामिन्! वेद भी आपको यथार्थरूपसे नहीं जानते, आप अनादि और अनन्त हैं, मन आपको मनन नहीं कर सकता। आपको नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है। त्रिलोचन! आपको नमस्कार है। त्रिविष्टिप! आपको नमस्कार है।'

यों कहकर उन कुमारियोंने दण्डकी भाँति पृथ्वीपर गिरकर प्रणाम किया। तब उन्हें उठाकर भगवान् चन्द्रभूषणने कहा—'मन्दारदामाका पुत्र परिमलालय समस्त विद्याधरोंमें श्रेष्ठ है, वही तुमलोगोंका पति होगा। तुम तीनों मेरी भक्त हो और वह तरुण विद्याधर भी मुझमें भक्ति रखता है। तुम चारों इस जीवनका अन्त होनेपर मोक्ष प्राप्त करोगे। जन्मान्तरमें तुम सबने मेरी सेवा की है, इससे तुमलोगोंको भक्तिभावित निर्मल जन्म प्राप्त हुआ है।'

**भगवान् शंकरके ऐसा कहनेपर उन कन्याओंने प्रसन्नचित्त होकर हाथ जोड़ प्रणाम करके पूछा**—नाथ! हम चारोंने पूर्वजन्ममें किस प्रकारसे आपकी सेवा की है?

**भगवान् शिव बोले**—नागकन्याओ! सुनो, यह रत्नावली पूर्वजन्ममें कपोती थी और श्रेष्ठ विद्याधर इसका पति कपोत था। यहीं मेरे मन्दिरमें इन दोनोंने दीर्घकालतक सुखपूर्वक निवास किया है। इन्होंने अपने पंखोंकी हवासे मेरे मन्दिरमें लगी हुई धूलको उड़ाकर साफ किया है। ऊपरसे लेकर नीचेतक प्रतिदिन अनेक बार मेरी परिक्रमाएँ की हैं। आकाशमें उड़ते और मेरे आँगनमें विचरते समय भी इन्होंने मेरी प्रदक्षिणा की है। यहाँके चतुर्नदतीर्थमें स्नान किया और बार-बार उसीका जल पीया है। मेरे भक्तोंने यहाँ जो-जो उत्सव और कौतुक किये हैं, उन सबको इन्होंने देखा है। अनेकों बार मेरी मंगल आरतीका दर्शन किया है और कानोंसे मेरे नामामृतका पान (श्रवण) किया है। यद्यपि इनकी मृत्यु मेरे समीप नहीं हुई तो भी इन्होंने काशीकी प्राप्ति करानेवाली अयोध्यामें प्राणत्याग किया है। अयोध्यामें मरनेसे ही यह रत्नद्वीप नागकी कन्या हुई है और इसका पति कबूतर विद्याधरका पुत्र हुआ है। तुमलोगोंमें जो ये प्रभावती और कलावती हैं, ये इससे तीसरे जन्म पहले महर्षि चारण्यकी पुत्रियाँ थीं। दोनोंमें परस्पर बड़ा अनुराग था और दोनों ही शील एवं सदाचारसे सम्पन्न थीं। इनके पिता चारण्यने आमुष्यायणके पुत्र नारायणसे इनका विवाह कर दिया। नारायण अभी किशोरावस्थाके थे। एक

दिन वे वनमें समिधा लानेके लिये गये, इतनेहीमें भाग्यवश किसी सर्पने उनको काट लिया। चारण्यकी दोनों कन्याएँ भवानी और गौतमी वैधव्य दुःखसे अत्यन्त दुःखी हो बड़ी दीनताको प्राप्त हो गयीं। इसीलिये ब्याह करनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह देवता और नदी नामवाली कन्यासे विवाह न करे। तदनन्तर किसी ऋषिके अद्भुत आश्रममें जाकर इन कन्याओंने मोहवश ऋषिके दिये बिना ही कुछ केलेके फल तोड़ लिये। फलकी चोरीका परिणाम यह हुआ कि ये दोनों दूसरे जन्ममें वानरी हो गयीं, परंतु इन्होंने शील और सदाचारकी रक्षा की थी, अतः उस धर्मके प्रभावसे इनका जन्म काशीमें हुआ। वे नारायण ब्राह्मण सर्पसे डसे जानेपर भी अपने पिताकी सेवारूप व्रतके प्रभावसे काशीमें कबूतर हुए। इस प्रकार यह विद्याधर युवक जन्मान्तरमें इन दोनोंका भी पति रह चुका है और इस समय भी तुम तीनोंका पति होगा। इस मन्दिरके पार्श्वभागमें जो बहुत बड़ा बरगदका वृक्ष है, उसीपर वे दोनों वानरियाँ रहती थीं। वे चतुःस्रोतस्विनीतीर्थमें जलक्रीड़ापूर्वक स्नान करतीं और प्यास लगनेपर उसीका जल पीती थीं। वानरजातिके स्वभावसे इनमें चपलता तो थी ही, सब ओर क्रीड़ा करती हुई मन्दिरकी परिक्रमा करतीं और अनेक बार बहुतसे शिवलिंगोंका दर्शन करती थीं। एक दिन इस वटवृक्षके समीप स्वेच्छापूर्वक विचरती हुई दोनों वानरियोंको किसीने फँसाकर रस्सीमें बाँध लिया। तदनन्तर किसी समय कालवश उनकी मृत्यु हो गयी। काशीनिवासजनित पुण्य और भगवान् त्रिलोचनकी सेवा एवं प्रदक्षिणा आदिके पुण्यसे वे दोनों नागकुमारियाँ हुई हैं। अब तुम तीनों ही विद्याधरकुमार परिमलालयको पतिरूपमें प्राप्त करके स्वर्गीय भोगोंका उपभोग करोगी और अन्तमें काशीमें आकर यहीं मृत्युको प्राप्त हो मुक्तिको प्राप्त होओगी। काशीमें आकर यदि थोड़ा भी शुभ कर्म किया गया हो तो मेरे अनुग्रहसे उसका फल निश्चय ही मोक्ष होता है। तीनों लोकोंमें काशीपुरी सबसे श्रेष्ठ है, काशीमें भी ॐकारेश्वर लिंग सबसे श्रेष्ठ है, ॐकारेश्वरसे भी श्रेष्ठ त्रिलोचन लिंग है। इसमें सदा ही स्थित होकर मैं अपने भक्तोंको मोक्ष प्रदान करता हूँ। अतः काशीमें सर्वथा प्रयत्न करके भगवान् त्रिलोचनकी पूजा करनी चाहिये। ऐसा कहकर देवदेवेश्वर भगवान् शिव मन्दिरके भीतर चले गये। वे कन्याएँ भी अपने-अपने घर गयीं और वहाँ माताके आगे सब बातें बताकर कृतकृत्य-सी हो गयीं।

तदनन्तर एक दिन वैशाख मासमें महायात्राका समय आया। उसमें विद्याधर और नाग त्रिलोचन महादेवके समीप विरज महाक्षेत्रमें एकत्र हुए। फिर भगवान्‌के वरदानसे परस्पर कुलका परिचय पूछकर उन नागोंने अपनी तीनों कन्याओंको विद्याधरकुमार परिमलालयके साथ ब्याह दिया। इस विवाहसे तीनों पुत्रवधुओंको पाकर विद्याधरराज मन्दारदामा बहुत प्रसन्न हुए। इधर नागराज रत्नद्वीप, भुजंगराज पद्मी और फणीन्द्र त्रिशिख भी परिमलालयको जामाताके रूपमें पाकर परम सन्तुष्ट हुए। इस विवाहोत्सवको सम्पन्न करके सभी स्वजन भगवान् त्रिलोचन लिंगके गौरवका वर्णन करते हुए अपने-अपने लोकको चले गये। श्रीमान् विद्याधर परिमलालय उन नागकन्याओंके साथ पर्याप्त सुख भोगनेके पश्चात् काशीमें आकर भगवान् त्रिलोचनकी सेवामें संलग्न हुए और वहाँ मधुर गीत गाते हुए पत्नियोंसहित त्रिलोचन लिंगमें लयको प्राप्त हो गये।

**स्कन्दजी कहते हैं**—कलियुगमें भगवान् त्रिलोचनकी महिमा महादेवजीने गुप्त रखी है। इसलिये जिनमें सात्त्विक भावकी कमी है, ऐसे मनुष्य उस शिवलिंगकी उपासना नहीं करते हैं।

# केदारेश्वर लिंगकी माहात्म्य-कथा

**पार्वतीजी बोलीं**—करुणानिधान! अब अपने भक्तोंपर कृपा करके केदारका माहात्म्य कहिये।

**श्रीमहादेवजीने कहा**—पार्वती! प्राचीन कालकी बात है। उज्जयिनीपुरीसे एक ब्राह्मण यहाँ आया था। पिताने उसका उपनयन-संस्कार कर दिया था और वह ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करता था। काशीपुरीका सब ओरसे अवलोकन करके उसके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने हिरण्यगर्भ नामक आचार्यसे पाशुपत नामक उत्तम व्रतकी दीक्षा ली। उसका नाम वशिष्ठ था। हिरण्यगर्भका वह शिष्य सब पाशुपतोंमें श्रेष्ठ हुआ। प्रतिदिन हरपाप नामक कुण्डमें प्रातःकाल स्नान करके तीनों कालमें वह शिवलिंगकी पूजा करता और नित्यप्रति विभूतिसे स्नान करता (सर्वांगमें विभूति लगाता) था। वह शिवलिंग तथा गुरुमें भेद नहीं मानता था। वशिष्ठकी अवस्था बारह वर्षकी थी, उसी समय वह अपने गुरुके साथ केदारतीर्थकी यात्रा करनेके लिये हिमालय पर्वतको गया। असिधार पर्वतपर पहुँचकर तपस्वी वशिष्ठके गुरु हिरण्यगर्भकी मृत्यु हो गयी। उस समय भगवान् शंकरके पार्षद आये और अन्य तपस्वियोंके देखते-देखते हिरण्यगर्भको विमानपर बिठाकर प्रसन्नतापूर्वक कैलासधामको ले गये। यह देखकर तपस्वी वशिष्ठने सब लिंगोंमें केदारलिंगको ही श्रेष्ठ माना। तदनन्तर केदार क्षेत्रकी यात्रा पूरी करके वह काशीपुरीमें लौट आया। यहाँ आकर उसने यह प्रतिज्ञा की कि 'मैं जबतक जीवित रहूँगा, तबतक काशीपुरीमें निवास करता हुआ प्रत्येक चैत्र मासकी पूर्णिमाको भगवान् केदारका अवश्य दर्शन करूँगा।' इस निश्चयके अनुसार उसने बड़े आनन्दके साथ सदा ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक काशीमें निवास करते हुए हिमालयवर्ती केदार क्षेत्रकी इकसठ यात्राएँ पूरी कीं। तदनन्तर चैत्रमास निकट आनेपर उसने पुनः बड़े उत्साहके साथ यात्रा प्रारम्भ की। यद्यपि उसके सिरके बाल सफेद हो गये थे और शरीरपर वृद्धावस्थाका पूरा प्रभाव पड़ चुका था तथा उसके संगी-साथी तपस्वी जनोंने उसे करुणापूर्ण हृदयसे रोका भी, तो भी स्थिर चित्तवाले वशिष्ठका उत्साह भंग नहीं हुआ। उसने सोच लिया था कि 'यदि बीच रास्तेमें मृत्यु हो गयी तो गुरुजीकी तरह मेरी भी गति होगी।' देवि! तपस्वी वशिष्ठके चित्तकी यह दृढ़ता देख मैं उसपर बहुत सन्तुष्ट हुआ और स्वप्नमें उसे दर्शन देकर कहा—'दृढ़व्रत! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, मुझको ही केदार समझो और मुझसे मनोवांछित वर माँगो। किसी प्रकारका अन्यथा विचार मनमें न लाओ।'

**मेरे इस प्रकार कहनेपर वशिष्ठने कहा**—देवेश्वर! यदि आप प्रसन्न हैं तो यहाँ मेरे साथ रहनेवाले जितने लोग हैं इन सबपर अनुग्रह करें। उस परोपकारीका यह वचन सुनकर मेरी प्रसन्नता और भी बढ़ गयी और मैंने कहा 'तथास्तु' ऐसा ही होगा। फिर उसके परोपकारजनित पुण्यसे उसकी तपस्याको मैंने द्विगुणित कर दिया और पुनः उससे वर माँगनेके लिये कहा। तब वशिष्ठने यह प्रार्थना की कि 'आप हिमालयसे यहीं आकर रहें।' उसकी तपस्यासे आकृष्ट होकर मैं कलामात्रसे हिमालयपर रहकर सर्वतोभावेन यहाँ काशीमें आकर बस गया। वशिष्ठको उसके साथियोंसहित आगे करके मैं यहाँ आया और उसपर अनुग्रह करके हरपापकुण्ड-तीर्थके समीप स्थित हुआ। मेरे निवाससे सब लोग हरपापकुण्डमें स्नान, सन्ध्या, तर्पण आदि करके इसी शरीरसे सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं। तभीसे मैं साधकोंकी सिद्धिके लिये परम उत्तम अविमुक्त क्षेत्रमें इस केदार लिंगमें स्थित हुआ हूँ। हिमालयपर चढ़कर केदार-शिवका दर्शन करनेसे जो फल प्राप्त होता है, वही काशीमें केदारका दर्शन करनेपर सातगुना होकर मिलता है। हरपापतीर्थ सात जन्मोंके पापोंका नाश करनेवाला

है। और पीछेसे गंगामें मिल जानेसे तो वह करोड़ों जन्मोंकी अघराशिका नाश करनेवाला बन गया है। यहाँ जडताका नाश करनेवाली अमृतस्रवा गंगा है। आगे चलकर मानसरोवरने यहाँ तपस्या की थी। इसलिये यह हरपापतीर्थ मनुष्योंमें मानसतीर्थके नामसे विख्यात हुआ। जो केदारतीर्थमें स्नान करके बिना उतावलीके पितरोंके लिये पिण्डदान करता है, उसकी अनेक पीढ़ियाँ भवसागरसे पार हो जाती हैं। जब मंगलवारको अमावास्या तिथि हो, उस समय केदारतीर्थमें आकर जो श्राद्ध करता है, उसे गयामें श्राद्ध करनेकी क्या आवश्यकता। एक बार भी केदारेश्वरका दर्शन करके मनुष्य मेरा पार्षद हो सकता है। अतः काशीमें प्रयत्नपूर्वक केदारेश्वरका दर्शन करे। केदारसे उत्तरमें चित्रांगदेश्वर लिंग है। उसकी नित्य पूजा करनेसे मनुष्य स्वर्गीय भोग प्राप्त करता है। केदारके दक्षिण भागमें नीलकण्ठका दर्शन करनेपर मनुष्यको संसाररूपी सर्पके डँस लेनेपर भी उसके विषसे भय नहीं होता। केदारसे वायव्य कोणमें अम्बरीषेश्वर लिंग है। उसका दर्शन करनेसे मनुष्य दुःखसे भरे हुए इस संसारमें गर्भवासका कष्ट नहीं भोगता। उसीके समीप इन्द्रद्युम्नेश्वर लिंग है, जिसकी भलीभाँति पूजा करके भक्त पुरुष तेजोमय विमानपर आरूढ़ हो स्वर्गलोककी भूमिमें आनन्दका अनुभव करता है। उसके दक्षिण भागमें कालंजरेश्वर लिंग है, उसका दर्शन करके मनुष्य वृद्धावस्था और कालपर विजय पाकर चिरकालतक मेरे लोकमें निवास करता है। चित्रांगदेश्वरसे उत्तर क्षेमेश्वर लिंगका दर्शन करनेपर इहलोक और परलोकमें सर्वत्र कल्याणकी प्राप्ति होती है।

**स्कन्दजी कहते हैं**—अगस्त्य! केदारेश्वर लिंगके प्रकट होनेकी यह कथा सुनकर पुण्यात्मा पुरुष क्षणभरमें निष्पाप हो जाता है और अन्तमें शिवलोकको प्राप्त होता है।

## श्रीधर्मेश्वर लिंगका माहात्म्य, धर्मपीठका गौरव तथा मनोरथतृतीया व्रतकी विधि और महिमा

**श्रीमहादेवजी बोले**—देवि! जहाँ 'विश्वभुजा' नामसे तुम स्वयं स्थित रहती हो, जहाँ क्षेत्रके विघ्नका नाश करनेवाला तुम्हारा प्रिय पुत्र गणेश 'आशा-विनायक' नामसे प्रसिद्ध होकर रहता है, जिसका दर्शन करके राजा दुर्दम क्षणभरमें धर्मबुद्धि हो गया था उस लिंगका माहात्म्य और उसके आविर्भावका वृत्तान्त मैं तुमसे कहूँगा। पूर्वकालमें विवस्वान्‌के पुत्र परम संयमी यमने तुम्हारे आगे बड़ी भारी तपस्या की थी। मेरे दर्शनकी तीव्र इच्छासे उन्होंने तपस्या करते हुए एक दिव्य चतुर्युगी व्यतीत कर दी। उनके तपसे सन्तुष्ट होकर मैं उन्हें वरदान देनेके लिये गया और मैंने कहा—'सूर्यनन्दन! वर माँगो।' तब यमराज मुझे प्रणाम करके मेरी स्तुति करने लगे।

**यमराज बोले**—कारणोंके भी कारण शिव! आपको नमस्कार है। आपका रूप कारणसे रहित और कार्यसे भिन्न है, आपको नमस्कार है। आपका स्वरूप निराकार है, तो भी समस्त रूप आपके ही हैं। आप परमाणुस्वरूप तथा पर (कारण) और अपर (कार्य) हैं, कोई भी आपका पार नहीं पा सकता। संसाररूपी महासागरसे आप ही सबको पार उतारनेवाले हैं, आप भगवान् चन्द्रशेखरको नमस्कार है। आपका दूसरा कोई ईश्वर नहीं है, आप ही सम्पूर्ण जगत्‌के ईश्वर हैं। आप गुणोंसे रहित हैं, तो भी समस्त गुण आपके ही स्वरूप हैं। आप काल और प्रकृतिसे परे हैं, तो भी आप ही काल और प्रकृतिरूप हैं, आपको नमस्कार है। अनन्तशक्ते! आप ही मोक्षपद प्रदान करनेवाले

तथा आप ही मोक्षरूप हैं। आप ही आत्मा, परमात्मा और चराचर जगत्के अन्तरात्मा हैं। आपसे ही जगत्की उत्पत्ति हुई है। आप साक्षात् जगत्स्वरूप ही हैं। यह जगत् आपका ही है। आप ही इसके एकमात्र बन्धु हैं। आप ही ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूप होकर इस विश्वकी सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले हैं। आपको नमस्कार है। वैदिक मार्गपर चलनेवाले पुरुषोंके लिये आप ही मृड (सुख)-रूप हैं और वेदविरुद्ध पथपर चलनेवाले लोगोंके लिये आप भीम (अत्यन्त भयंकर) हैं। साम्बशिव! आप भक्तोंके लिये कल्याणकारी शंकर हैं। जिनके मन और वचनमें नम्रता है, ऐसे पुरुषोंके लिये आप शिवस्वरूप हैं। जो आपके चरणारविन्दोंकी शरण लेते हैं, ऐसे भक्तोंके लिये आप श्रीकण्ठ हैं—उनपर आयी हुई विपत्तिरूपी हालाहल विषको पी जानेवाले हैं। शान्त! शम्भो! शंकर! चन्द्रकलाविभूषण। पिनाकपाणे! सर्पोंको आभूषणके रूपमें धारण करनेवाले, आपको नमस्कार है। प्रभो! वही धन्य है जो आपमें भक्ति रखता है। वही पुण्यात्मा है जो आपकी पूजा करनेवाला है। अनन्तशक्ते! मेरे-जैसा अल्प बुद्धि-वैभवसे युक्त कौन मनुष्य यहाँ आपकी स्तुति कर सकता है। प्राचीन वेदवाणीके लिये भी जो अगम्य हैं, ऐसे आपकी स्तुति केवल नमस्कारमात्र ही है।

**स्कन्दजी कहते हैं**—ऐसा कहकर यमराजने '**ॐ नमः शिवाय**' इस मन्त्रका उच्चारण करते हुए भगवान् शंकरको सहस्रों बार प्रणाम किया। तदनन्तर परमेश्वर शिवने यमराजको नमस्कारसे रोककर इस प्रकार वरदान दिया—'सूर्यनन्दन! तुम (कर्म और स्वरूपसे तो धर्म हो ही,) नामसे भी 'धर्मराज' हो जाओ। आजसे तुम समस्त चराचर प्राणियोंके धर्माधर्मके निर्णयमें मेरे द्वारा नियुक्त होकर मेरी आज्ञासे सबका शासन करो। तुम दक्षिण दिशाके अधिपति और समस्त जीवोंके कर्मके साक्षी होओ। उत्तम और अधम मनुष्य तुम्हारे दिखाये हुए मार्गसे ही कर्मानुसार गति प्राप्त करें। धर्म! मुझमें भक्ति रखते हुए तुमने जो यहाँ मेरे लिंगविग्रहकी आराधना की है उसके दर्शन, स्पर्श और पूजनसे मनुष्योंको शीघ्र सिद्धि प्राप्त होगी। जो विशुद्ध बुद्धिवाला पुरुष तुम्हारे आगे इस धर्म-तीर्थमें स्नान करके एक बार भी धर्मेश्वरका दर्शन करेगा उसके समस्त पुरुषार्थोंकी सिद्धि उससे दूर नहीं है। जो मनुष्य कार्तिक मासके शुक्ल पक्षकी अष्टमी तिथिको उपवासपूर्वक धर्मेश्वर तीर्थकी यात्रा करेंगे तथा रात्रिकालमें महान् उत्सवके साथ जागरण करेंगे, वे फिर इस पृथ्वीपर जन्म नहीं लेंगे।'

ऐसा कहकर परम सुखदायक भगवान् शिवने अपने हाथोंसे धर्मराजका स्पर्श किया। उनके करस्पर्शजनित सुखसे आनन्दमग्न हो धर्मराजने महादेवजीसे कहा—'सर्वज्ञ! करुणानिधान! ईश्वर! जब आपका प्रत्यक्ष दर्शन मिल गया तब मुझे दूसरे किसी वरकी क्या आवश्यकता है? नाथ! जिनको वेद भी भलीभाँति नहीं जानते तथा वेद-पुरुष ब्रह्मा और विष्णु भी नहीं जानते, उनसे भी यदि मैं वर पानेयोग्य हूँ, तो यही प्रार्थना करता हूँ कि ये जो पक्षियोंके मधुर बोली बोलनेवाले बच्चे हैं, जिनका कि मेरे सामने जन्म हुआ है, इनकी उत्पत्तिके समय रोगसे पीड़ित हो इनकी माता शुकी मृत्युको प्राप्त हुई और इनके पिता शुकको बाजने खा डाला है। अनाथनाथ! मेरे द्वारा रक्षित इन असहाय बच्चोंको आप वरदान दीजिये।' अगस्त्य! इस प्रकार धर्मराजका परोपकारयुक्त निर्मल वचन सुनकर शंकरजीने उन पक्षियोंको बुलाया और कहा—'पक्षियो! तुम बोलो, तुम्हारे लिये कौन-सा वरदान देना चाहिये।'

**पक्षी बोले**—संसारबन्धनका नाश करनेवाले परमेश्वर! आपको नमस्कार है। अनाथनाथ! सर्वज्ञ! त्रिनेत्र! हम पक्षीकी योनिमें जन्म लेकर भी जो आपका प्रत्यक्ष दर्शन कर सके हैं तथा आपकी कृपादृष्टिके भाजन हो सके हैं, इससे बढ़कर मनोवांछित वर और क्या हो सकता

है? गिरीश! लोकमें उद्यम करनेवाले लोगोंको सदा सैकड़ों लाभ मिला करें, परंतु सबसे महान् लाभ यही है कि आपका प्रत्यक्ष दर्शन हो। नाथ! यह जो कुछ दिखायी देता है, सब क्षणभंगुर है। एकमात्र आप ही अविनाशी हैं और आपकी आराधना भी अक्षय है। इन तपस्वीद्वारा की हुई आपके श्रीलिंगकी पूजा देखनेसे इस समय हमें अपने विचित्र-विचित्र करोड़ों जन्मोंका स्मरण हो आया है। महेश्वर! हमने दीर्घकालतक देवयोनिका सुख भी प्राप्त किया है। लीलापूर्वक सहस्रों दिव्यांगनाओंका उपभोग किया है। असुर, दानव, नाग, राक्षस, किन्नर, विद्याधर और गन्धर्वोंकी योनि भी हमने प्राप्त की है। मनुष्ययोनिमें जन्म लेकर राज्यका भी उपभोग किया है। जलमें जलचर और स्थलमें स्थलचर भी हमें होना पड़ा है। परंतु शम्भो! इस योनिसे उस योनिमें और उस योनिसे किसी तीसरी योनिमें भटकते हुए हमने कहीं भी किंचिन्मात्र भी सुख नहीं पाया है। इस समय धर्मेश्वरके दर्शनसे और सूर्यनन्दन यमकी तपस्यारूपी अग्निकी ज्वालासे हमारे सारे पाप जल गये हैं और हम आपका प्रत्यक्ष दर्शन करके कृतकृत्य हो गये हैं। भगवन्! अब आप हमें वह ज्ञान प्रदान करें जिससे मायामय बन्धनमें बँधे हुए हम सब लोग उससे मुक्त हो जायँ। हमें इन्द्र, चन्द्र तथा अन्य किसी देवताका लोक नहीं चाहिये। आपका सामीप्य प्राप्त होनेसे हम सब लोकोंकी स्थितिको अच्छी तरह जान गये हैं। समयानुसार आपके आनन्दवन—काशीमें शरीरका त्याग करना संसारबन्धनके विनाशका कारण तथा परम उत्तम ज्ञान है। प्रभो! तिर्यग्योनिमें पड़े हुए हम पक्षी भी धर्मराजकी तपस्यासे विकल्पहीन ज्ञानके पात्र हो गये हैं।

**उन पक्षियोंकी यह बात सुनकर महादेवजीने धर्मपीठके गौरवका वर्णन करते हुए कहा—** इस त्रिलोकनगरमें काशी ही मेरा राजभवन है और उसमें भी मोक्षलक्ष्मीविलास नामक मन्दिर (धर्मेश्वरका स्थान) मेरे लिये अत्यन्त सुखप्रद स्थान है। इस शिवालयके व्याजसे आनन्दकन्दका कोई अंकुर ही भूमि फोड़कर प्रकट हुआ है। उपनिषद्की वाणीद्वारा जिस निराकार परब्रह्मका वर्णन किया गया है, वही मैं हूँ। अपने भक्तोंपर कृपा करके साकाररूपसे प्रकट हो गया हूँ। उससे दक्षिण दिशामें मोक्षलक्ष्मीका धामस्वरूप मेरा मण्डप है, उसमें मैं सदा स्थित रहता हूँ। वह मेरा सभामण्डप (दरबार) है। पृथ्वीपर वह स्थान निर्वाणमण्डपके नामसे प्रसिद्ध है। वहाँ एक ऋचाका भी भलीभाँति जप करनेवाला मनुष्य सम्पूर्ण वेदोंके पाठका फल पाता है। जो मुक्तिमण्डपमें षडक्षर मन्त्रका एक बार भी उच्चारण कर लेता है, वह रुद्राध्यायके कोटि बार जप करनेका फल पा लेता है। जो वहाँ निष्कामभावसे मेरे मन्दिरमें धर्मशास्त्र, पुराण और इतिहासका पाठ करता है, वह मेरे लोकमें निवास करता है। मेरे मन्दिरसे पूर्वभागमें जो ज्ञानमण्डप है वहाँ सदा मेरा ध्यान करनेवाले सत्पुरुषोंको मैं ज्ञानका उपदेश देता हूँ। यहाँ काशीमें पग-पगपर अनेक सिद्धपीठ हैं, परंतु धर्मेशपीठकी कोई और ही शक्ति है, जो सबसे श्रेष्ठ है। जहाँ ये छोटे शुकशावक त्रात, त्रात (रक्षा करो, रक्षा करो)-का उच्चारण करते हुए मेरे सदुपदेशसे निर्मल ज्ञानके भाजन हो गये। सूर्यनन्दन धर्म! आजसे मैं तुम्हारे इस उत्तम तपोवन—धर्मेश्वरपीठका कभी त्याग नहीं करूँगा। देखो, मेरी कृपासे ये शुकपक्षी दिव्य विमानपर बैठकर मेरे परम धामको जा रहे हैं।

देवेश्वर भगवान् शंकरके ऐसा कहते ही कैलासशिखरके समान एक विशाल दिव्य विमान आ पहुँचा। वे निर्मल पक्षी दिव्य रूप धारण करके उसी विमानपर बैठे और धर्मराजसे पूछकर कैलासपर्वतपर चले गये।

**अगस्त्य! उस आश्चर्यजनक वृत्तान्तको देखकर**

**जगदम्बा पार्वतीने कहा**—महादेव! महेश्वर! इस धर्मपीठका यह माहात्म्य जानकर मैं आजसे धर्मेश्वरके समीपमें ही निवास करूँगी। जो स्त्री अथवा पुरुष इस धर्मेश्वर लिंगमें भक्ति रखनेवाले होंगे, उन सबकी मनोवांछित कामनाओंको मैं सदा सिद्ध करूँगी।

**महादेवजी बोले**—देवि यह तुमने बहुत अच्छा निश्चय किया। यहाँ तुम विश्वभुजाके नामसे विख्यात होओगी। जो यहाँ तुम्हारी पूजा करेंगे वे समस्त भोगोंसे सम्पन्न एवं सर्वमान्य होंगे। मनोरथतृतीयाको (चैत्र शुक्ला तृतीयाको) जो तुम्हारी भक्तिपूर्वक आराधना करेगा, मेरे अनुग्रहसे उसके सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धि होगी। पूर्वकालमें पुलोमकन्या इन्द्राणीने किसी मनोरथकी प्राप्तिके लिये बड़ी भारी तपस्या की, किंतु उन्हें तपस्याका फल नहीं मिला। तब उन्होंने बड़ी भक्ति और प्रसन्नताके साथ कोकिलाके समान मधुरस्वरसे रहस्ययुक्त गीत गाकर मेरी आराधना की। मृदु, मधुर, ताल-स्वरयुक्त तान, मात्रा और कलासे विशिष्ट उस गानके द्वारा मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने उसके पास जाकर कहा—'पुलोमनन्दिनि! मैं तुम्हारे इस सुमधुर गीत और मेरे श्रीविग्रहके पूजनसे प्रसन्न हूँ, तुम कोई वर माँगो।'

**शची बोली**—देवेश! यदि आप प्रसन्न हैं तो जो सब देवताओंमें माननीय, सुन्दर और यज्ञकर्ताओंमें श्रेष्ठ हों, वे ही मेरे पति हों। आप मुझे मेरी इच्छाके अनुसार रूप, सुख और आयु प्रदान करें। आपके अर्चाविग्रहकी पूजामें मेरी उत्तम भक्ति सदा बनी रहे और मेरा पातिव्रत्य कभी नष्ट न हो।

**पुलोमपुत्री शचीके मनोरथको सुनकर महादेवजीने कहा**—तुम व्रतका अनुष्ठान करनेसे पूर्वोक्त मनोरथोंको प्राप्त करोगी। मनोरथतृतीया नामका जो व्रत है, उसके पालनसे मनोरथकी सिद्धि होगी। बीस भुजाओंसे सुशोभित विश्वभुजा नामक गौरीदेवी उस व्रतकी अधिष्ठात्री देवी हैं। उन्हींकी पूजा करनी चाहिये। देवीके आगे वरदायक आशा-विनायकका भी पूजन करना चाहिये। चैत्र शुक्ला द्वितीयाको दन्त-धावन आदि करके सायंकालिक नियमोंका पालन करनेके पश्चात् अधिक तृप्तिपूर्वक भोजन न करके थोड़ा-सा आहार करे। तदनन्तर इस प्रकार नियम ग्रहण करे—'माता विश्वभुजा देवी! तुम्हारी प्रसन्नताके लिये कल प्रातःकाल मैं क्रोधको जीतकर, इन्द्रियोंको संयममें रखकर, अस्पृश्य वस्तुओंके स्पर्शसे दूर रहकर, व्रतमें ही मन लगाये हुए पवित्रतापूर्वक 'मनोरथतृतीया' नामक व्रतका अनुष्ठान करूँगा, इसमें मेरे मनोरथकी सिद्धिके लिये तुम सदा मेरे समीप रहो।'

बुद्धिमान् पुरुष प्रातःकाल उठकर आवश्यक कर्म करके शौच एवं आचमनसे निवृत्त हो अशोक वृक्षका उत्तम दन्तधावन ग्रहण करे। फिर नित्यकी स्नान आदि क्रिया पूरी करके दिनभर उपवास करे। तत्पश्चात् सायंकालमें स्नान करके शुद्ध वस्त्र धारणकर गौरीजीकी पूजा प्रारम्भ करे। सबसे पहले गणेशजीकी पूजा करके उन्हें घृतपक्व (पूरी, पूआ, घेवर आदि)-का भोग लगावे। तदनन्तर अशोकके सुन्दर फूलोंसे विश्वभुजा देवीकी पूजा करे। पहले कुंकुमसे अनुलेपन करके अशोकवर्ति, नैवेद्य, धूप, अगर आदिसे देवीकी पूजा करनेके पश्चात् एक बार देवीका प्रसाद भोजन करे। इस प्रकार चैत्रकी तृतीया बीत जानेपर वैशाखसे फाल्गुनतक प्रत्येक मासकी शुक्ला तृतीयाको इस उत्तम व्रतका पालन करे। जम्बू, अपामार्ग, खदिर, जाती, आम्र, कदम्ब, प्लक्ष, उदुम्बर, खर्जूर, बीजपूर और दाड़िम (अनार)—इन ग्यारह प्रकारके काष्ठोंका क्रमशः वैशाखसे लेकर फाल्गुनतक व्रतके दिन दातन करे। सिन्दूर, अगर, कस्तूरी, चन्दन, रक्तचन्दन, गोरोचन, देवदारु, पद्माक्ष और दो प्रकारकी हल्दी

(हल्दी और दारुहल्दी) तथा यक्षकर्दम—इनके द्वारा क्रमशः वैशाख आदि मासोंके व्रतमें देवीको अनुलेपन लगाना चाहिये। यदि पूर्वोक्त सब वस्तुओंकी प्राप्ति न हो तो प्रत्येक मासमें यक्षकर्दम ही उत्तम है। दो भाग कस्तूरी, दो भाग कुंकुम, तीन भाग चन्दन और एक भाग कपूर—इन सबको मिलाकर जो अनुलेपन तैयार किया जाता है उसका नाम यक्षकर्दम है। यह समस्त देवताओंको प्रिय है। गुलाब, बेला, कमल, केतकी, कनेर, उत्पल, राजचम्पा, तगर, चमेली, कुमारी और कर्णिकार—इन पुष्पोंद्वारा वैशाख आदि मासोंमें पूजन करना उचित है। फूल न मिले तो उनके पत्तोंसे ही पूजा करे। फूल और पत्ते दोनों न मिलें तो किन्हीं भी सुगन्धित पुष्पोंसे पूजा की जा सकती है। करम्भ (दधिमिश्रित सत्तू), दही-भात, आमके रससे युक्त मण्डक (मैदेकी एक प्रकारकी रोटी), फेणिक (पानीमें पकाया हुआ चावलका चूर्ण), बटक (बड़ा), शक्कर मिलाया हुआ पायस (खीर), इनका क्रमशः वैशाखसे आश्विनतक भोग लगावे। कार्तिकमें मूँग और घीके साथ भात निवेदन करे। अगहनमें इण्डेरिका (ईड़हर), पौषमें लड्डू, माघमें लम्पसिका (लपसी) और फाल्गुनमें चीनी भरकर घीमें पकायी हुई पूरियाँ श्रीगणेशजी तथा विश्वभुजा देवीको निवेदन करे। इस प्रकार एक वर्षतक प्रत्येक मासकी शुक्ला तृतीयाको विश्वभुजा देवीकी आराधना करके व्रतकी पूर्तिके लिये वेदीपर अग्निकी स्थापना करे। तत्पश्चात् अग्निदेवतासम्बन्धी मन्त्रद्वारा तिल और घी आदि द्रव्यसे एक सौ आठ बार होम करे। इस व्रतके लिये सदा रातमें ही पूजा बतायी गयी है। रातमें ही भोजनका नियम है, रातमें ही यह होम होता है तथा रातमें ही देवीसे क्षमा-प्रार्थना की जाती है। प्रार्थनाके लिये मन्त्र इस प्रकार हैं—

**गृहाण पूजां मे भक्त्या मातर्विघ्नजिता सह।**
**नमोऽस्तु ते विश्वभुजे पूरयाशु मनोरथम्॥**
**नमो विघ्नकृते तुभ्यं नम आशाविनायक।**
**त्वं विश्वभुजया सार्धं मम देहि मनोरथम्॥**

'मातः! आप विघ्नविजयी गणेशजीके साथ मेरी भक्तिपूर्वक की हुई यह पूजा स्वीकार करें। विश्वभुजे! आपको नमस्कार है। आप मेरे मनोरथको शीघ्र पूर्ण करें। आशाविनायक! आप विघ्नोंके स्रष्टा हैं (अथवा विघ्नोंको उच्छेद करनेवाले हैं), आपको नमस्कार है, नमस्कार है। आप विश्वभुजा देवीके साथ कृपा करके मेरा मनोरथ पूर्ण करें।'

इन दोनों मन्त्रोंका उच्चारण करके गौरी-गणेशकी पूजा करनी चाहिये। व्रतके लिये क्षमा-प्रार्थना करते समय पलंग, गद्दा, तकिया, दीवट, दीप और दर्पण देना चाहिये। आचार्यसे प्रार्थना करे—'भगवन्! मैंने मनोरथतृतीयाका व्रत किया है, इसमें जो न्यूनता या अधिकताका दोष आ गया हो वह दूर होकर आपके वचनसे मेरा यह व्रत पूर्ण हो जाय।' इस प्रकार आचार्यसे आज्ञा और आशीर्वाद लेकर गाँवकी सीमातक उन्हें पहुँचा आवे। यथाशक्ति दूसरोंको भी दान दे। फिर अपने परिवारके साथ रात्रिमें प्रसन्नतापूर्वक भोजन करे। प्रातःकाल चतुर्थीको चार कुमारों और बारह कुमारियोंको भोजन कराकर गन्ध, पुष्प, माला आदिसे उनकी पूजा करे। इस प्रकार यह निर्मल व्रत पूर्णताको प्राप्त होता है। मनोरथतृतीयाका यह व्रत करनेसे जिसका जो मनोरथ हो वह पूर्ण होता है।

इस उत्तम व्रतको सुनकर पुलोमकुमारी शचीने उसका पालन किया। इससे उनकी मनोवांछित कामना सिद्ध हुई। जो बुद्धिमान् पुरुष मन लगाकर इस पुण्यमयी कथाको सुनता है, वह शुभ बुद्धिको प्राप्त होता और सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

# वीरेश्वर लिंगकी महिमाके प्रसंगमें राजा अमित्रजित और मलयगन्धिनीका चरित्र

**पार्वतीजीने कहा**—महेश्वर! सुनती हूँ, वीरेश्वर लिंगकी बड़ी भारी महिमा है। काशीमें उस श्रेष्ठ लिंगका आविर्भाव किस प्रकार हुआ, यह मुझसे कहिये।

**महादेवजी बोले**—महादेवि! पूर्वकालमें अमित्रजित नामसे प्रसिद्ध एक राजा थे। वे बड़े धर्मात्मा, सत्त्वगुणसम्पन्न, प्रजाको प्रसन्न रखनेवाले, यशके धनी, उदार, उत्तम बुद्धिसे युक्त तथा ब्राह्मणोंको देवताके समान माननेवाले थे। सदा यज्ञान्त-स्नान करनेके कारण उनके केश गीले रहते थे। वे विनयशील, नीतिज्ञ, सम्पूर्ण कर्मोंमें कुशल, समस्त विद्याओंमें पारंगत, गुणवान्, गुणी जनोंपर स्नेह रखनेवाले, कृतज्ञ, मृदुभाषी, पाप कर्मोंसे विमुख, सत्यवादी, पवित्रताके स्थान, कम बोलनेवाले और जितेन्द्रिय थे। उन्होंने भगवान् वासुदेवके युगल चरणोंमें अपनी चित्तवृत्ति लगाकर ईति-भीतिसे रहित निर्द्वन्द्व राज्य किया। शिवे! उस परम सौभाग्यवान् नरेशके राज्यमें प्रत्येक महलके भीतर पग-पगपर भगवान्के ऊँचे-ऊँचे मन्दिर थे। वहाँके प्रत्येक मन्दिरमें गोविन्द, गोप, गोपाल, गोपीजनमनोहर, गदापाणे, गुणातीत, गुणाढ्य, गरुड़ध्वज, कमलापते, कृष्ण, केशव, कमलाक्ष, कालभयनाशन, पुरुषोत्तम, पापारि, पुण्डरीकलोचन, पीताम्बरधारी, पद्मनाभ, परात्पर, जनार्दन, जगन्नाथ, जाह्नवी-जलकी जन्मभूमि, जीवजन्महर, जंजपूकाघनाशन (नाम-जप करनेवालोंकी अघराशिका नाश करनेवाले), श्रीवत्सवक्ष, श्रीकान्त, श्रीकर, श्रेयोनिधे, श्रीरंग, शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले, शौरे, शीतांशुलोचन, दामोदर, देवकीहृदयानन्द, नागराजकी शय्यापर सोनेवाले, विष्णु, वैकुण्ठनिलय, विष्टरश्रवा, विष्वक्सेन, वनमालिन्, त्रिविक्रम, त्रिलोकीश, चक्रपाणे और चतुर्भुज इत्यादि पवित्र नामोंका कीर्तन होता था। स्त्री, वृद्ध, बाल और गोपाल सभीके मुखसे भगवन्नामका उच्चारण होता था। जहाँ-तहाँ सब ओर भगवान् विष्णुकी मनोहर लीला-कथा सुनायी पड़ती थी। घर-घरमें तुलसीके बगीचे देखे जाते थे। भगवान् लक्ष्मीपतिके पवित्र एवं विचित्र चरित्रोंकी चर्चा होती थी। महलकी दीवारोंपर श्रीहरिके विचित्र चरित्र ही चित्रकारोंद्वारा अंकित किये गये थे। भगवत्कथाके सिवा दूसरी कोई वार्ता वहाँ नहीं सुनायी देती थी। उस राजाके भयसे व्याधलोग हरिणोंपर बाण नहीं चलाते थे, क्योंकि वे हरिण श्रीहरिके नामका एक अंश धारण करते हैं। इसीलिये वे वनमें सुखपूर्वक विचरते थे। कोई मछली और मांस खानेवाला मनुष्य भी उस राजाके डरसे कभी मछली, कछुवा और वराह आदिका वध नहीं करता था। एकादशी तिथि आनेपर उस अमित्रजितके राज्यमें उत्तान सोनेवाले शिशु भी स्तनपान नहीं करते थे। पशु भी एकादशीको घास चरना छोड़कर उपवास करते थे, फिर औरोंकी तो बात ही क्या है। उस हरिभक्त राजाके शासनकालमें एकादशी प्राप्त होनेपर समस्त पुरवासी मिलकर बड़ा भारी उत्सव मनाते थे। वहाँके लोग प्रतिदिन जो शुभकर्म करते थे उन्हें निष्कामभावसे भगवान् वासुदेवको समर्पित कर देते थे। महाराज अमित्रजितके लिये श्रीकृष्ण ही परम देवता, श्रीकृष्ण ही परम गति और श्रीकृष्ण ही परम बन्धु थे।

इस प्रकार उस राजाके राज्य करते समय एक दिन श्रीमान् देवर्षि नारद उनसे मिलनेके लिये आये। राजाने मधुपर्ककी विधिसे उनका यथावत् स्वागत-सत्कार किया। तब नारदजीने उनसे कहा—'राजन्! तुम धन्य हो, कृतार्थ हो तथा सम्पूर्ण देवताओंके लिये भी माननीय हो; क्योंकि समस्त प्राणियोंमें तुम्हें भगवान् गोविन्दका ही दर्शन होता है। जो भगवान् विष्णु वेदपुरुष हैं,

यज्ञपुरुष हैं, इस जगत्के अन्तरात्मा हैं तथा इसकी सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले भी हैं, इस सम्पूर्ण विश्वको उन्हीं भगवान्का स्वरूप समझनेवाले भूपालशिरोमणे! आज तुम्हारा कल्याणकारी दर्शन पाकर मैं परम पवित्र हो गया। इस क्षणभंगुर संसारमें एक ही सार वस्तु है, वह यह कि भगवान् लक्ष्मीकान्तके चरणारविन्दोंमें भक्ति-भाव बढ़ाया जाय; क्योंकि वह समस्त पुरुषार्थोंको देनेवाला है। जो सब कुछ छोड़कर सदा एकमात्र भगवान् विष्णुका भजन करता है, उस उत्तम बुद्धिवाले पुरुषकी सेवामें सब पदार्थ स्वयं ही उपस्थित होते हैं। जिसकी इन्द्रियाँ भगवान् हृषीकेशके चिन्तनमें स्थिर हो गयी हैं, वही इस अत्यन्त चंचल (क्षणभंगुर) ब्रह्माण्डमें स्थिरताको प्राप्त होता है। यौवन, धन और आयुको कमलके पत्तेपर पड़े हुए जलविन्दुके समान अत्यन्त चपल जानकर एकमात्र भगवान् अच्युतकी शरण लेनी चाहिये *। जिसकी वाणीमें, चित्तमें सर्वत्र भगवान् जनार्दन विद्यमान रहते हैं, वह नररूपमें साक्षात् नारायण है। सदा उसीकी वन्दना करनी चाहिये। भगवान् लक्ष्मीपतिका निष्कपटभावसे ध्यान और पूजन करके इस पृथ्वीपर कौन श्रेष्ठपुरुष नहीं हो गया है। भूपाल! तुम्हारी इस विष्णुभक्तिसे सन्तुष्ट होकर मैं तुम्हारा कुछ उपकार करना चाहता हूँ और इसीलिये जो कुछ कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो। विद्याधर-राजकुमारी मलयगन्धिनी अपने पिताके उद्यानमें अपनी सखियोंके साथ खेल रही थी। उसी समय कपालकेतुके पुत्र कंकालकेतु नामक महाबली दानवने आकर उसे हर लिया। आगामी तृतीयाको उसका पाणिग्रहण निश्चित हुआ है। वह कुमारी इस समय पाताललोककी चम्पकावती नगरीमें है। हाटकेश्वर शिवके स्थानसे मैं आ रहा था, तो उसने मुझे देखा और प्रणाम करके आँसू बहाते हुए कहा—"भगवन्! राजा अमित्रजितसे आप मेरा यह संदेश कह दें—'महाराज! मैं गन्धमादन पर्वतपर अपने पिताके उद्यानमें बालोचित खेल-कूदमें लगी हुई थी। उसी समय दुराचारी कंकालकेतु मुझे मूर्छित करके वहाँसे हर लाया। उसको दूसरे किसी अस्त्रके आघातसे जीतना कठिन है। वह अपने ही त्रिशूलसे मर सकता है। अन्यथा युद्धमें उसे परास्त करना असम्भव है। यदि कोई कृतज्ञ वीर मेरे दिये हुए त्रिशूलसे इस दुष्ट दानवको मारकर मुझे यहाँसे ले जाता, तो मेरा बड़ा उपकार होता। यदि यहाँ आकर आप मेरा उपकार करना चाहें, तो अवश्य आवें और उस दुष्ट दानवके हाथसे मेरा उद्धार करें। मुझे भी भगवती जगदम्बाने यह वर दिया है कि बेटी! परम बुद्धिमान् विष्णुभक्त पुरुष तुमसे विवाह करेगा। तृतीया तिथितक देवीका यह वरदान जिस प्रकार सत्य हो सके वैसा प्रयत्न करें। आप केवल निमित्तमात्र हो जायँ।' राजन्! इस प्रकार मलयगन्धिनीके वचनसे मैं तुम्हारे पास आया हूँ। तुम विष्णुभक्तिपरायण, तरुण और बुद्धिमान् हो। अतः कार्यकी सिद्धिके लिये जाओ और उस दुष्ट दानवको मारकर मलयगन्धिनीको शीघ्र ले आओ। नरेश्वर! वह विद्याधरकुमारी तुम्हारी राह देखकर ही जीवित है।"

नारदजीका यह वचन सुनकर राजा अमित्रजितने चम्पकावती नगरीमें जानेका उपाय पूछा। तब नारदजीने पुनः कहा—'राजन्! तुम पूर्णिमाके दिन शीघ्र ही समुद्रके तटपर पहुँचकर वहाँ एक नावपर बैठ जाओ। वहाँ तुम्हें एक रथपर कल्पवृक्ष दिखायी देगा। वहीं एक दिव्य पलंगपर कोई दिव्यांगना वीणा लेकर यह गाथा गान करती होगी—

**यत्कर्म विहितं येन शुभं वाथ शुभेतरम्।**
**स एव भुङ्क्ते तत्तथ्यं विधिसूत्रनियन्त्रितः॥**

'जिस मनुष्यके द्वारा जो शुभ या अशुभ किया गया है, वही भाग्यसूत्रमें बँधकर उस कर्मका फल भोगता है। यह सर्वथा सत्य है।'

इस गाथाका भलीभाँति गान करके वह बाला रथ, कल्पवृक्ष और पलंगके साथ क्षणभरमें समुद्रके भीतर प्रवेश कर जायगी। उस समय तुम भी

* यौवनं धनमायुष्यं पद्मिनीजलविन्दुवत्। अतीव चपलं ज्ञात्वाच्युतमेकं समाश्रयेत्॥ (स्क० पु०, का० उ० ८२।४३)

निःशंक होकर नावसे उतरकर यज्ञवाराहकी स्तुति करते हुए शीघ्र उसके पीछे-पीछे चले जाना। ऐसा करनेपर तुम पाताललोकमें चम्पकावती नगरीको देखोगे।

यों कहकर ब्रह्मकुमार नारदजी अन्तर्धान हो गये। राजाने भी समुद्रतटपर पहुँचकर पूर्वोक्त सब बातोंका अवलोकन करके नारदजीके कहे अनुसार समुद्रके भीतर प्रवेश किया और वे चम्पकावती नगरीमें जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने उस विद्याधरकुमारीको देखा, मानो तीनों लोकोंकी सौन्दर्यलक्ष्मी एकत्र मूर्तिमान् हो गयी है। राजा उसके समीप गये। वह भी झूलेपरसे उतरकर लज्जाके भारसे नीचे मुख किये उनसे बोली—'मनोहर रूपवाले पुरुष! आप कौन हैं, जो मुझ अभागिनीके चित्तको अपनी ओर खींचते हुए इस कालके घरमें चले आये हैं? वह क्रूर आकृतिवाला कंकालकेतु जबतक आ नहीं जाता, उसके पहले ही आप इस शस्त्रागारमें छिपकर बैठ जाइये। श्रीपार्वतीजीके वरदानसे वह मेरे कन्या-व्रतको भंग करनेमें समर्थ नहीं है, किंतु परसों आनेवाली तृतीया तिथिको वह मेरा पाणिग्रहण करना अवश्य चाहता है।'

विद्याधरीके ऐसा कहनेपर महाबाहु अमित्रजित शस्त्रागारमें छिपे हुए-से बैठ गये। तदनन्तर सायंकालमें मृत्युको भी भयभीत करनेवाला वह भयंकर आकारवाला दानव आकर विद्याधरीसे बोला—'सुन्दरी! इन दिव्य रत्नोंको ग्रहण करो। परसों पाणिग्रहण होनेसे तुम्हारा कन्याभाव निवृत्त हो जायगा। कल प्रातःकाल तुम्हारी सेवाके लिये सहस्रों दासियाँ दूँगा। दिक्पालोंके घरमें जितना भी वैभव है, उस सबकी तुम स्वामिनी होओगी। मेरी पत्नी बननेसे तुम मेरे साथ दिव्य भोगोंका उपभोग कर सकोगी।' इस प्रकार प्रलाप करके वह दानव अपनी गोदमें त्रिशूल रखकर उन्मत्त एवं निडर होकर सो गया। तब उसको सोया हुआ जानकर पार्वतीजीके वरदानको याद करती हुई विद्याधरकुमारीने मनुष्योंमें श्रेष्ठ सर्वांगसुन्दर तथा विष्णुभक्तिसे सुरक्षित राजाको बुलाया और दैत्यके अंगसे त्रिशूल लेकर कहा—'इसे ग्रहण कीजिये तथा इस दानवको शीघ्र मार डालिये।'

कन्याके हाथसे त्रिशूल लेकर बालसूर्यके समान कान्तिमान् राजा अमित्रजितने हर्षका अनुभव किया और उस विद्याधरकुमारीको अभयदान दिया। फिर जगत्की रक्षा करनेवाले मणिरत्नस्वरूप चक्रसुदर्शनधारी श्रीहरिका मन-ही-मन स्मरण करके निर्भय हो, बायीं लातसे उस दानवको मारा और कहा—'अरे ओ दुष्ट! उठकर खड़ा हो। कन्याओंपर बलात्कार करनेवाले लम्पट! आ, मेरे साथ युद्ध कर। मैं सोते हुए शत्रुको नहीं मारता।'

**यह सुनकर वह दानव बड़े वेगसे उठा और बार-बार कहने लगा**—प्रिये! मेरा त्रिशूल तो दो। यह कौन है, जो मौतके घरमें आ गया है? मैंने इसे देख लिया है, अतः आज इसकी आयु पूरी हो चुकी है। ऐसा कहकर उस दानवने राजाकी छातीमें बड़े जोरसे मुक्का मारा। राजाके रक्षक भगवान् थे। अतः उन्होंने उस आघातसे थोड़ी-सी भी वेदनाका अनुभव नहीं किया। प्रत्युत उनकी कठोर छातीसे टकराकर दानवका हाथ ही टूटने-सा लगा। तब राजाने उसके मुखमें एक तमाचा मारा। इससे दानवका सिर घूम गया और वह एक बार धरतीपर गिरकर पुनः उठ खड़ा हुआ। किसी प्रकार धैर्य धारण करके उसने राजासे कहा—'मैंने जान लिया तुम मनुष्य नहीं, मनुष्यरूपमें साक्षात् विष्णु हो। मधुसूदन! यदि तुम बलवान् हो तो एक बात करो। इस बड़े भारी त्रिशूलको त्यागकर अपने आयुधोंसे मेरे साथ युद्ध करो। तुमने वामनरूप धारण करके बलिको पातालमें भेजा है। तुम्हींने नृसिंहरूप धारण करके हिरण्यकशिपुका वध किया था। तुमने ही जटाधारी रामरूपसे लंकापति रावणको मारा था और तुम्हींने गोपवेष ग्रहण करके कंस आदि असुरोंका संहार किया है। मत्स्यरूपसे तुम्हारे द्वारा शंख आदि बहुतसे दानव मारे गये हैं। मायावियोंमें अग्रगण्य मैं तुमसे डरता नहीं हूँ।

आज या कल प्रत्येक शरीरधारीको अवश्य मरना है। बल अथवा छलसे भी यदि तुम्हारे हाथसे मृत्यु हो, तो वही श्रेष्ठ है। यह विद्याधरी कन्या सती-साध्वी है। मैंने इसे कलंकित नहीं किया है, अपितु तुम्हारे लिये इसकी रक्षा की है।'

ऐसा कहकर दानवने पर्वतको भी हिला देनेवाले अपने बायें हाथके प्रहारसे राजाकी छातीपर आघात किया। राजाने उस प्रहारको सह लिया और हाथमें त्रिशूलको तौलते हुए उसकी छातीको निशाना बनाया। त्रिशूलकी मार खाकर दानवने उसी क्षण प्राण त्याग दिया। इस प्रकार देवताओंको कम्पित करनेवाले कंकालकेतुको मारकर राजाने विद्याधरीसे कहा—'सुन्दरि! देवर्षि नारदके मुखसे तुम्हारा सन्देश पाकर मैंने तुम्हारी इच्छाके अनुसार यह कार्य किया है। अब बताओ और क्या करूँ?'

**मलयगन्धिनी बोली**—वीर! तुम्हीं मेरे जीवन हो, मैं प्राणपणसे तुम्हारी हो चुकी हूँ, फिर मुझसे क्या पूछते हो।

विद्याधर-कन्याके ऐसा कहते ही देवलोकसे देवर्षि नारद मुनि आ पहुँचे। उनका दर्शन करके उन दोनोंको बड़ा सन्तोष हुआ। दोनोंने एक साथ मुनिको प्रणाम किया और मुनिने भी दोनोंको आशीर्वाद दिया। तत्पश्चात् नारदजीने पाणिग्रहणकी विधिसे दोनोंका मंगल अभिषेक किया और वे दोनों उन्हींके बताये हुए मार्गसे भूलोकमें आये। मलयगन्धिनीके साथ अमित्रजित काशीपुरीमें आये। वह पुरी पुरवासियोंद्वारा खूब सजायी गयी थी। विद्याधरीने दूरसे ही काशीका वैभव देखकर स्वर्गलोक और पातालनगरीको भी छोटा माना। राजा अमित्रजितने मलयगन्धिनीको धर्मपत्नीके रूपमें प्राप्त करके काशीमें धर्मप्रधान पीठका भलीभाँति सेवन किया और मनोवांछित उत्तम सुखको प्राप्त किया। एक समय उस पतिव्रता रानीने मनमें पुत्रकी कामना लेकर अपने विष्णुभक्त पतिसे एकान्तमें निवेदन किया—'राजन्! प्राणनाथ! यदि आपकी आज्ञा हो, तो मैं पुत्रकी कामनासे अभीष्ट तृतीयाका महान् व्रत करूँगी। वह व्रत मनोवांछित फलको देनेवाला है।'

**राजाने पूछा**—देवि! अभीष्ट तृतीयाको कैसे व्रत किया जाता है, उसमें किस देवताकी पूजा होती है तथा उसका विधान और फल क्या है? जो नारी अपने पतिकी आज्ञा लिये बिना ही व्रत आदिका अनुष्ठान करती है, वह जीते-जी दुःख उठाती है और मरनेके बाद नरकमें जाती है।*

## वीरेश्वरका जन्म, तपस्या, वीरेश्वरगलिंगका प्राकट्य और उसकी महिमा

**रानी बोली**—पृथ्वीनाथ! पूर्वकालमें पुत्रकी इच्छा रखनेवाली कुबेरपत्नी श्रीमुखीके आगे ब्रह्मपुत्र नारदजीने इस व्रतका वर्णन किया था। देवी श्रीमुखीने इस व्रतका पालन किया और उन्हें नलकूबर नामक पुत्रकी प्राप्ति हुई। मार्गशीर्षमासके शुक्ल पक्षकी तृतीया तिथिको कलशके ऊपर एक ताम्रपत्र रखकर उसे चावलसे भर दे। उसके ऊपर एक वस्त्र बिछावे, जो फटा-पुराना न हो, नवीन हो और उसे हल्दीके रंगमें रँग दे। उस वस्त्रके ऊपर सूर्यकी किरणोंसे विकसित हुए सुन्दर कमलपुष्पको रखकर उसकी कर्णिकापर स्वर्णनिर्मित ब्रह्माणीजीकी प्रतिमाकी स्थापना करके रत्न और रेशमी वस्त्र आदिके द्वारा उसकी भक्तिपूर्वक पूजा करे। पूजामें नाना प्रकारके सुन्दर पुष्प, नारंगी आदि फल, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थ, कपूर, कस्तूरी, उत्तम अन्न आदिके नैवेद्य, अनेक प्रकारके पकवान तथा अगर आदि धूप—इन सब वस्तुओंका यथावत् उपयोग करना चाहिये। फूलोंसे सजाये हुए सुन्दर मण्डपमें बैठकर निद्रारहित हो उत्तम उत्सव मनाते हुए रात्रिको जागरण करे।

* नारी पत्यननुज्ञाता या व्रतादि समाचरेत्। जीवन्ती दुःखिनी सा स्यान्मृता निरयमृच्छति॥ (स्क० पु०, का० उ० ८२। १३९)

मन्त्रवेत्ता द्विज एक हाथसे कुण्डमें अग्निकी स्थापना करके '**जातवेदसे.....**' इत्यादि ऋचाद्वारा घृत और मधु आदिमें डुबोये हुए स्वत:विकसित एक सहस्र कमल-पुष्पोंकी आहुति दे। तत्पश्चात् नयी ब्यायी हुई सीधी-सादी सुलक्षणा कपिला गाय आचार्यको दान करे। पति-पत्नी नूतन वस्त्र और आभूषणोंसे विभूषित हो भक्तिपूर्वक उपवास करके दूसरे दिन चतुर्थीको प्रात:काल स्नानके अनन्तर आचार्यकी आदरपूर्वक पूजा करें। उन्हें प्रसन्नतापूर्वक वस्त्र, आभूषण, माला एवं दक्षिणा दें। फिर निम्नांकित मन्त्रका उच्चारण करके सब सामग्रियोंसहित स्वर्णप्रतिमा आचार्यको निवेदन करे—

**नमो विश्वविधानज्ञे विधे विविधकारिणि।**
**सुतं वंशकरं देहि तुष्टामुष्माद्व्रताच्छुभात्॥**

'सम्पूर्ण विश्वके विधानको जानने तथा नाना प्रकारकी सृष्टि करनेवाली देवी ब्रह्माणी! आपको नमस्कार है। इस शुभ व्रतके अनुष्ठानसे प्रसन्न होकर आप मुझे वंश चलानेवाला पुत्र दीजिये।'

तदनन्तर भक्तिपूर्वक ब्राह्मणभोजन कराकर शेष अन्नसे स्वयं पारण करना चाहिये। राजन्! इस प्रकार यह व्रत मैं आपके साथ करना चाहती हूँ। आप मेरा यह प्रिय कार्य सम्पन्न करें।

**स्कन्दजी कहते हैं**—मुने! यह सुनकर श्रेष्ठ राजा अमित्रजितने प्रसन्नतापूर्वक पत्नीके साथ उस व्रतका अनुष्ठान किया। रानी गर्भवती हुई। गर्भावस्थामें उसने देवी पार्वतीसे यह प्रार्थना की—'महामाये! मुझे साक्षात् भगवान् विष्णुके अंशसे उत्पन्न पुत्र प्रदान कीजिये, जो जन्म लेते ही स्वर्गलोकमें चला जाय और फिर लौट आवे। सम्पूर्ण भूमण्डलमें भगवान् शिवका वह सुप्रसिद्ध भक्त हो। मेरे स्तनोंका दूध पीये बिना ही वह क्षणभरमें सोलह वर्षकी-सी अवस्थावाले किशोरके समान हो जाय।'

रानीकी भक्तिसे अत्यन्त सन्तुष्ट होकर गौरीदेवीने भी 'तथास्तु' कह दिया। तत्पश्चात् समय आनेपर रानीने मूलनक्षत्रमें एक पुत्रको जन्म दिया। उस समय हितैषी मन्त्रियोंने प्रसूतिगृहमें स्थित हुई रानीसे निवेदन किया—'देवि! आपका यह पुत्र दुष्ट नक्षत्रमें उत्पन्न हुआ है। यदि आप राजाके जीवनकी रक्षा चाहती हैं, तो इस पुत्रको त्याग दें।' यह सुनकर पतिव्रता रानीने उस पुत्रको त्याग दिया। उन्होंने धाईको बुलाकर कहा—'धाय! पंचमुद्र नामक महापीठमें विकटा नामवाली एक मातृका रहती हैं। उनके आगे इस बालकको रखकर तू इस प्रकार कहना—'देवि! इस पुत्रको पार्वतीदेवीने दिया है। अब इसे मैं आपकी सेवामें सौंपती हूँ। पतिके हितकी इच्छा रखनेवाली महारानीने यह बालक आपको समर्पित किया है।'

रानीकी इस आज्ञाके अनुसार धाय उस सुन्दर बालकको विकटादेवीके आगे रखकर अपने घर लौट आयी। तब विकटादेवीने योगिनियोंको बुलाकर कहा—'इस बालकको तुम मातृकागणके आगे ले जाओ और उनकी जैसी आज्ञा हो, वह करो। इसकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा करना।' विकटाके कहनेसे आकाशगामिनी योगिनियोंने उस बालकको क्षणभरमें वहाँ पहुँचा दिया, जहाँ ब्राह्मी आदि मातृकाएँ विद्यमान हैं। ब्रह्माणी, वैष्णवी, रौद्री, वाराही, नारसिंही, कौमारी, माहेन्द्री, चामुण्डा और चण्डिका—इन नौ मातृकाओंने विकटाके भेजे हुए उस सुन्दर बालकको देखकर उससे एक साथ पूछा—'बेटा! तेरे पिता और माता कौन हैं?' जब वह कुछ न बोल सका, तब मातृकागणने योगिनियोंसे कहा—'इसमें बड़े उत्तम लक्षण दिखायी देते हैं, यह बालक राजा होनेके योग्य है। अत: योगिनियो! तुम इसे पुन: उसी पीठमें ले जाओ, जहाँ महादेवी पंचमुद्रा (विकटा) रहती हैं। उस पीठकी सेवा और विश्वनाथजीकी कृपासे सोलह वर्षकी-सी आकृतिवाले इस बालकको उत्तम सिद्धि प्राप्त होगी।' इस प्रकार मातृकागणोंका आशीर्वाद मिलनेपर योगिनियोंने पुन: क्षणभरमें उस बालकको उसी पंचमुद्रांकित पीठमें पहुँचा दिया। स्वर्गलोकसे इस लोकमें आया हुआ वह बालक काशीमें बड़ी भारी दिव्य तपस्या करने लगा। उसकी तीव्र तपस्यासे प्रसन्न हो भगवान् शिव लिंगरूपसे उसके आगे प्रकट हुए और बोले—'राजकुमार! तुम वर

माँगो, मैं तुमसे बहुत सन्तुष्ट हूँ।'

अत्यन्त कृपापूर्वक सात पाताल फोड़कर अपने आगे स्थित हुए ज्योतिर्मय लिंगको देखकर बालकने दण्डके समान पृथ्वीपर गिरकर प्रणाम किया और रुद्रदेवतासम्बन्धी सूक्तोंसे उनकी स्तुति करके बोला—'महादेव! आप सांसारिक ताप हरनेवाले हैं। कृपया सदा इस शिवलिंगमें स्थित रहें और अपने भक्तोंका मनोरथ पूर्ण किया करें। जो लोग यहाँ आकर आपका दर्शन, स्पर्श और नमस्कार करें, उन्हें आप परम उत्तम सिद्धि प्रदान करते रहें।' इस प्रकार उसके माँगे हुए वरको सुनकर भगवान् शिवने कहा—'वीर! तुमने जो कुछ माँगा है, वह सब कुछ पूर्ण हो। विष्णुभक्त राजा अमित्रजित तुम्हारे पिता हैं, तुम उन्हींसे उत्पन्न हुए हो और साक्षात् भगवान् विष्णुके अंश हो। हे वीर! यह शिवलिंग तुम्हारे ही नामपर 'वीरेश्वर' कहलायेगा। यह काशीमें अपने भक्तोंका मनोरथ सिद्ध करेगा। वीर! आजसे मैं सदा इस लिंगमें स्थित रहूँगा और शरणागतोंको परम उत्तम सिद्धि दूँगा। कलियुगमें प्राय: कोई भी मेरी महिमाको नहीं जानेगा। जो भाग्यसे जानेगा, वह उत्तम सिद्धिको प्राप्त होगा। यहाँ किया हुआ जप, होम, दान, पूजन एवं जीर्णोद्धार आदि पुण्यकार्य अक्षय फलका साधक होगा। तुम सब राजाओंके लिये दुर्लभ, श्रेष्ठ राज्य प्राप्त करके अन्तमें सिद्धि पाओगे। वीर! वीरेश्वर-तीर्थमें स्नान और वीरेश्वरकी पूजा करके मनुष्य सब तीर्थोंमें स्नान करनेका फल पा लेगा। चतुर्दशी तिथिमें वीरेश्वरकी पूजा करके यत्नपूर्वक एक रात्रिमें भी जागरण कर लेनेपर मनुष्य फिर पांचभौतिक शरीरको नहीं ग्रहण करता है। जो वीरेश्वरके समीप एक महारुद्रियका जप करे अथवा करावेगा, उसे कोटि रुद्रियका फल प्राप्त होगा। वीरेश्वरके निकट व्रती मनुष्य जो व्रत और उद्यापन आदि करते हैं, उनका वह पुण्यकर्म कोटिगुना हो जाता है। जिसने भगवान् वीरेश्वरके सम्मुख आठ बार नमस्कार कर लिये, उसे आठ करोड़ नमस्कारका फल मिलता है। वीर! यह वीरेश्वर-लिंग मेरे वरदानसे सब प्रकारकी सम्पत्तियोंका स्थान होगा। वीरेश्वर-लिंगकी सेवा करनेवाले पुरुषोंको मेरी आज्ञासे जीते-जी ही तारक ज्ञानकी प्राप्ति हो जायगी। इसलिये शुभकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको इस वीरेश्वर-लिंगका सेवन अवश्य करना चाहिये।'

## दुर्वासेश्वर (कामेश्वर)-लिंगकी महिमा

**स्कन्दजी कहते हैं**—एक समय महातपस्वी दुर्वासा ऋषि भगवान् शंकरके आनन्दवनमें आये। यहाँ अनेक प्रकारके मन्दिरोंसे सुशोभित भगवान् शंकरका क्रीडास्थान, बहुत-से कुण्ड और पोखरे देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। बहुत-से श्रेष्ठ शिवभक्त सब अंगोंमें विभूति लगाये, मस्तकपर जटा बढ़ाये, कौपीनमात्र पहने महादेवजीके ध्यानमें तत्पर थे। उनका दर्शन करके दुर्वासा मुनिको बड़ा हर्ष हुआ। कहीं-कहीं असंग, अपरिग्रह, कालसे भी भय न रखनेवाले तथा विश्वनाथजीके शरणागत त्रिदण्डी संन्यासी दिखायी देते थे। उन सबके दर्शनसे दुर्वासाजी बड़े आनन्दित हुए और मन-ही-मन कहने लगे 'यह परम कल्याणका स्थान है, ऐसा स्थान स्वर्गलोकमें भी कहाँ है। यह काशीपुरी तो पशु-पक्षियोंके भी परमानन्दको बढ़ानेवाली है। यह विश्वनाथपुरी मेरे चित्तको जिस प्रकार आकृष्ट कर रही है, वैसा आकर्षण न तो सम्पूर्ण भूमण्डलमें है, न स्वर्गलोकमें है और न पातालमें ही है।' इस प्रकार उस पुरीकी प्रशंसा करके दुर्वासाजीकी चित्तवृत्ति शान्त हुई। फिर वे वहाँ दीर्घकालतक भारी तपस्यामें लगे रहे, परंतु जब उसका कोई फल नहीं दिखायी दिया, तब उनके क्रोधकी सीमा नहीं रही। वे कहने लगे 'मुझको धिक्कार है, मेरे कठोर तपको

भी धिक्कार है और सबको ठगनेवाले इस शिवक्षेत्रको भी धिक्कार है। अब मैं ऐसा करूँ जिससे यहाँ किसीकी मुक्ति न हो।' ऐसा विचारकर जब वे काशीको शाप देनेके लिये उद्यत हुए, तब भगवान् शिव जोर-जोरसे हँसने लगे। तत्काल ही वहाँ एक शिवलिंग प्रकट हो गया, जो 'प्रहसितेश्वर' नामसे विख्यात हुआ। उससे साक्षात् भगवान् शंकर दुर्वासाके शापसे पुरीकी रक्षा करनेके लिये प्रकट हुए और इस प्रकार बोले—'महाक्रोधी तापस! मैं प्रसन्न हूँ, वर माँगो।'

**शाप देनेके लिये जिनका हाथ उठ चुका था, वे दुर्वासा मुनि भगवान् शंकरका करुणामय वचन सुनकर लज्जित हो गये और बोले**—तीनों लोकोंको अभय देनेवाली इस काशीपुरीको शाप देनेके लिये उद्यत होनेवाले मुझको धिक्कार है। जो बुद्धिमान् काशीपुरीकी स्तुति करता है, जो काशीको हृदयमें धारण करता है, उसने बड़ी भारी तपस्या की है और उसीने करोड़ों यज्ञोंका अनुष्ठान किया है। 'काशी' यह दो अक्षरोंका नाम जिसकी जिह्वाके अग्रभागपर स्थित है, उस उत्तम बुद्धिवाले पुरुषको कभी गर्भमें नहीं आना पड़ता। जो 'काशी' इस दो अक्षरके मन्त्रका प्रतिदिन प्रातःकाल जप करता है, वह इहलोक और परलोक—दोनोंको जीतकर लोकातीत पदको प्राप्त होता है।

**भगवान् शिव बोले**—अनसूयानन्दन! इस समय काशीकी स्तुतिके पुण्यसे तुम्हें जैसा उत्तम ज्ञान प्राप्त हुआ है, वैसा पहले तपस्यासे भी नहीं प्राप्त हुआ था। मुने! काशीकी स्तुतिकी लालसा रखनेवाला मनुष्य मुझे जैसा अतिशय प्रिय प्रतीत होता है, वैसा प्रिय यज्ञकी दीक्षा लेकर निरन्तर मेरा यजन करनेवाला पुरुष भी नहीं लगता।

**यह सुनकर दुर्वासाजीने भगवान् शिवका स्तवन किया और प्रसन्न होकर वर माँगते हुए कहा**—देवदेव! जगन्नाथ! करुणाकर! शंकर! मृत्युंजय! उग्र! भूतनाथ! पार्वतीपते! त्रिलोचन! नाथ! धूर्जटे! यहाँ प्रकट हुआ यह लिंग 'कामद' नामसे प्रसिद्ध होवे और यह तड़ाग 'कामकुण्ड' कहलाये।

**देवदेवने कहा**—महातेजस्वी मुने! 'एवमस्तु'। तुमने जो दुर्वासेश्वर-लिंगकी स्थापना की है, वही मनुष्योंकी कामना पूर्ण करनेके कारण कामेश्वर नामसे विख्यात होगा। जो शनिवारयुक्त त्रयोदशीको प्रातःकाल तुम्हारे स्थानपर स्थित कामकुण्डमें स्नान और तुम्हारे द्वारा स्थापित कामेश्वर-लिंगका दर्शन करेगा, वह कामजनित दोषसे यमयातनाको नहीं प्राप्त होगा। अनेक जन्मोंके उपार्जित नाना प्रकारके पाप काम-तीर्थके जलमें स्नान करनेसे क्षण भरमें नष्ट हो जायँगे। कामेश्वरकी सेवासे समस्त कामनाएँ पूर्ण होंगी।

ऐसा वरदान देकर भगवान् शिव उसी लिंगमें विलीन हो गये। उस शिवलिंगकी आराधनासे दुर्वासा ऋषिने सम्पूर्ण कामनाएँ प्राप्त कर लीं। इसलिये बड़ी-बड़ी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषोंको सदा प्रयत्नपूर्वक काशीमें कामेश्वरकी पूजा करनी चाहिये। महापातकोंकी शान्तिके लिये कामकुण्डमें स्नान करके कामेश्वरका दर्शन-पूजन करना चाहिये।

## श्रीविश्वकर्मेश्वर-लिंगकी महिमा

**पार्वतीजी बोलीं**—भगवन्! काशीमें परम विख्यात जो विश्वकर्मेश्वर-लिंग है, उसकी उत्पत्तिका वृत्तान्त कहिये।

**महादेवजीने कहा**—देवि! पूर्वकालमें त्वष्टा प्रजापतिके पुत्र विश्वकर्मा हुए, जो ब्रह्माजीके द्वितीय स्वरूप हैं। उपनयन-संस्कार हो जानेपर वे गुरुकुलमें रहकर भिक्षान्न-भोजन एवं गुरुशुश्रूषा करने लगे। एक दिन वर्षाकाल आनेपर गुरुने उन्हें आज्ञा दी—'वत्स! तुम मेरे लिये एक पर्णशाला बना दो, जहाँ वर्षाका कष्ट न हो, जो कभी नष्ट

और पुरानी न हो।' तत्पश्चात् गुरुपत्नीने आज्ञा दी—'तुम मेरे लिये चोली बना दो, जो मेरे शरीरके अनुरूप हो, न कसी हुई हो और न ढीली ही हो। वह कपड़ेके बिना केवल वल्कलसे बनी हो, बहुत सुन्दर हो और सदा स्वच्छ रहनेवाली हो।' इसके बाद गुरुके पुत्रने आदेश दिया—'मेरे लिये दो खड़ाऊँ तैयार करो, जिनपर चढ़कर मेरे पैरोंको कभी कीचड़का स्पर्श न हो, उनमें चमड़े आदिका बन्धन न लगा हो, जो दौड़ते समय भी मुझे आराम देनेवाली हों तथा जिनके द्वारा मैं स्थल—भूमिकी भाँति जलके ऊपर भी अच्छी तरह चल सकूँ।' अन्तमें गुरुपुत्री बोली—'मेरे लिये अपने ही हाथसे दो सोनेके कर्णफूल बना दो। साथ ही लड़कियोंके खेलनेयोग्य खिलौने भी दो, जो हाथीदाँतके बने हुए और तुम्हारे ही हाथसे तैयार किये गये हों।'

पार्वती! तब विश्वकर्माने सबके आगे 'बहुत अच्छा, ऐसा ही होगा' इस प्रकार प्रतिज्ञा की और वनके भीतर प्रवेश करके वे चिन्ता करने लगे। कुछ करना तो जानते नहीं थे, परंतु 'मैं सब करूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा सबके सामने कर चुके थे। अतः मन-ही-मन इस विचारमें पड़े कि 'क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, कौन मुझे बुद्धिकी भी सहायता देगा, मैं किसकी शरणमें जाऊँ। जो मूढ़ मानव गुरु, गुरुपत्नी और गुरु-पुत्रकी आज्ञा स्वीकार करके उसे पूर्ण नहीं करता, वह नरकगामी होता है। ब्रह्मचारियोंका प्रधान धर्म गुरुशुश्रूषा ही है। गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन न करनेपर जो दोष लगेगा, उससे मेरा उद्धार कैसे होगा। मैं इस वनमें रहकर उनकी बात कैसे पूरी कर सकूँगा। गुरुजनोंकी तो बात दूर रही, दूसरे छोटे मनुष्योंके भी कार्यको 'हाँ' कहकर स्वीकार कर लेनेपर जो उसे पूरा नहीं करता, वह नरकगामी होता है। मैं अज्ञानी हूँ, असहाय हूँ। इन सब कार्योंको मैं कैसे पूर्ण कर सकूँगा। इन्हें स्वीकार तो मैंने भयके कारण कर लिया है।'

वनके मध्यभागमें बैठे हुए विश्वकर्मा जब इस प्रकार चिन्तामें लगे थे, उसी समय उन्हें अकस्मात् एक तपस्वी महात्मा दिखायी दिये। उनको नमस्कार करके विश्वकर्माने पूछा—'आप कौन हैं, जो मेरे मनको बहुत सुखी कर रहे हैं? आप तापसरूपमें मेरे प्रारब्ध हैं अथवा साक्षात् करुणावरुणालय भगवान् शिव ही प्रकट हो गये हैं। आप जो हों, सो हों, आपको नमस्कार है। मुझे उपदेश दें, मैं गुरुकी, गुरुपत्नीकी तथा गुरुपुत्रोंकी आज्ञाका पालन कैसे कर सकता हूँ, इसके लिये कोई उपाय बताइये।' वनमें उस ब्रह्मचारी बालकके ऐसा कहनेपर तपस्वी बोले—'त्वाष्ट्र! यह कौन-सी अद्भुत बात है? ब्रह्माजी भी भगवान् विश्वनाथकी कृपासे ही सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि करनेमें प्रवीण हुए हैं। यदि तुम काशीमें जाकर सर्वज्ञ विश्वनाथजीकी आराधना करोगे तो तुम्हारा विश्वकर्मा नाम सार्थक होगा। श्रीकाशीपुरीमें विश्वनाथजीकी कृपासे कोई भी मनोरथ दुर्लभ नहीं है। बालक! यदि तुम अपने मनोरथोंको प्राप्त करना चाहते हो तो विश्वनाथजीके स्थान काशीपुरीमें जाओ।'

**इस प्रकार तपस्वीका वचन सुनकर विश्वकर्माने पूछा**—महात्मन्! भगवान् शिवका वह आनन्दवन—काशी कहाँ है?

**तपस्वी बोले**—मैं भी वहाँ जानेकी इच्छा रखता हूँ, मेरे साथ चलो, मैं तुम्हें पहुँचा देता हूँ।

तब उन अतिशय कृपालु महर्षिके साथ विश्वकर्मा विश्वनाथजीकी पुरीमें गये। वहाँ जानेसे उनका मन स्वस्थ हो गया। विश्वकर्माको काशीमें पहुँचाकर वे तपस्वी कहीं असम्भावित गतिसे चले गये। विश्वकर्मा सोचने लगे, 'कहाँ तो उस वनमें व्याकुल चित्तवाला मैं और कहाँ वे तापस मुनि, जो मुझे उत्तम उपदेश देकर यहाँ ले आये। यह सब उन्हीं त्रिनेत्रधारी भगवान् शिवकी लीला है, जिनके भक्तको कहीं कुछ भी दुर्लभ नहीं है। मेरी गुरुभक्ति ही भगवान् शिवको प्रसन्न करनेमें कारण हुई है। उसीसे सन्तुष्ट होकर परम दयालु भगवान् विश्वनाथने मुझपर अनुग्रह किया है। यदि मुझपर उनकी कृपा न होती तो तपस्वीका संग कैसे प्राप्त

होता। मनुष्य जब साधु पुरुषोंद्वारा सेवित वेदोक्त मार्गका त्याग नहीं करता, तभी उसपर भगवान् विश्वनाथ अपनी उत्तम दयाका विस्तार करते हैं।'

इस प्रकार अपने ऊपर भगवान् विश्वेश्वरकी कृपाका समर्थन करके विश्वकर्माने पवित्र भावसे एक शिवलिंगको स्थापित किया और स्वस्थचित्त होकर भगवान् विश्वनाथकी आराधना की। वे वनसे ऋतुके अनुकूल बहुत-से पुष्प लाकर स्नान करके नित्य भगवान् शिवकी पूजा करते तथा कन्द, मूल और फलसे जीविका चलाते थे। इस प्रकार शिवलिंगकी आराधनामें मन लगाये हुए विश्वकर्माके जब तीन वर्ष व्यतीत हो गये, तब करुणानिधान भगवान् शिव उनके ऊपर प्रसन्न हो उसी लिंगसे प्रकट होकर बोले—'त्वाष्ट्र! मैं तुम्हारी दृढ़ भक्तिसे बहुत सन्तुष्ट हूँ, तुम कोई वर माँगो। बालक! गुरु-गुरुपत्नी तथा गुरुपुत्रोंने तुमसे जो कुछ माँगा है, वह सब पूर्ण करनेकी शक्ति तुम्हें प्राप्त होगी। धातु, लकड़ी, पत्थर, मणि, रत्न, फूल, वस्त्र, कर्पूर आदि सुगन्धित पदार्थ, जल, कन्दमूल, फल, द्रव्य और वल्कल—इन सब वस्तुओंका काम बनानेकी विद्या तुम्हें प्राप्त होगी। जिस-जिस पुरुषकी, जैसे-जैसे घर या मन्दिर बनवानेकी रुचि होगी, उस-उसके सन्तोषके लिये तुम सब कुछ उसी प्रकार करनेकी कलामें प्रवीण होओगे। सब प्रकारके शृंगार और आभूषणोंकी रचना, सब प्रकारकी रसोईके संस्कार, सभी तरहके शिल्पकर्म, नृत्य, गीत और वाद्यसम्बन्धी सब वस्तुओंको बनानेकी विधि तुम्हें ज्ञात होगी। शिल्पनिर्माणकी कलामें तुम दूसरे ब्रह्मा समझे जाओगे। अनेक प्रकारके यन्त्र (मशीन), भाँति-भाँतिके अस्त्रोंका निर्माण, जलाशय (कूप, तड़ाग, बावली आदि) तथा उत्तम दुर्गकी रचनाका भी तुम्हें ज्ञान होगा। तुम मेरे वरदानसे सम्पूर्ण कलाओंके ज्ञाता हो जाओगे। सारी इन्द्रजाल-विद्या भी तुम्हारे अधीन होगी। सब कर्मोंमें कुशलता, सब बुद्धियोंकी श्रेष्ठता और सबकी मनोवृत्तियोंका ज्ञान तुम्हें स्वतः प्राप्त होगा। सम्पूर्ण विश्वमें अखिल कर्मोंका ज्ञाता होनेके कारण तुम्हारा यह विश्वकर्मा नाम यथार्थ होगा।'

**विश्वकर्मा बोले**—भगवन्! मैंने अज्ञ होते हुए भी यह जो शिवलिंग स्थापित किया है, इसकी आराधना करके मेरी ही भाँति दूसरे लोग भी सद्बुद्धिके पात्र हों।

**महादेवजीने कहा**—'एवमस्तु'। तुम्हारे द्वारा स्थापित लिंगकी आराधना करनेवाले सब लोग सद्बुद्धिके पात्र हों और सभी युक्तिकी दीक्षाके अधिकारी बनें। तात! ब्रह्माजीके वरदानसे जब दिवोदास यहाँके राजा होंगे, तब तुम मेरे आदेशसे मेरा मन्दिर निर्माण करोगे। विश्वकर्मन्! अब तुम जाओ और गुरुजीकी आज्ञाके पालनका यत्न करो, क्योंकि जो गुरुके भक्त हैं, वे निःसन्देह मेरे ही भक्त हैं। भक्तोंका अभीष्ट पूर्ण करनेवाला मैं तुम्हारे द्वारा स्थापित उस अर्चाविग्रहमें निरन्तर निवास करूँगा। अंगारेश्वरसे उत्तर भागमें जो तुम्हारे स्थापित किये हुए इस लिंगकी आराधना करेंगे, उन्हें पग-पगपर अभीष्ट मनोरथोंकी प्राप्ति होगी।'

ऐसा कहकर महादेवजी अन्तर्धान हो गये और विश्वकर्मा अपने गुरुके पास आये। गुरुकी अभिलाषा पूर्ण करके वे अपने घर चले गये। घरपर भी अपने सत्कर्मसे उन्होंने माता-पिताको सन्तुष्ट किया और सदा उनकी आज्ञाका पालन किया। तत्पश्चात् वे काशी चले आये और अपने द्वारा स्थापित शिवलिंगकी आराधनामें संलग्न हो गये।

**श्रीमहादेवजी कहते हैं**—पार्वती! तुमने काशीपुरीमें मुक्ति देनेकी शक्ति रखनेवाले जिन शिवलिंगोंका परिचय पूछा था, उन सबका वर्णन मैंने किया। ॐकारेश्वर, त्रिविष्टपेश्वर, महादेवेश्वर, कृत्तिवासेश्वर, रत्नेश्वर, चन्द्रेश्वर, केदारेश्वर, धर्मेश्वर, वीरेश्वर, कामेश्वर, विश्वकर्मेश्वर तथा मणिकर्णीश्वर, अविमुक्तेश्वर और सम्पूर्ण विश्वको सुख देनेवाले विश्वनाथ नामसे प्रसिद्ध विश्वेश्वर—ये सभी मुक्तिदायक लिंग हैं। अविमुक्तक्षेत्रमें आकर जिसने भगवान् विश्वेश्वरका पूजन कर लिया, उसका

सैकड़ों कल्पोंमें भी जन्म नहीं होता। जितेन्द्रिय संन्यासियोंको आठ महीने घूमनेका विधान है और वर्षाके चौमासेमें एक स्थानपर रहनेके लिये शास्त्रकी आज्ञा है। उन्हें किसी एक स्थानपर लगातार एक वर्षतक नहीं रहना चाहिये। परंतु अविमुक्त क्षेत्रमें जिनका प्रवेश हो गया है, ऐसे संन्यासियोंके लिये भ्रमण करनेका आदेश लागू नहीं होता और उन्हें यहाँ मोक्ष भी निःसन्देह प्राप्त हो जाता है। इसलिये कभी काशीपुरीका परित्याग नहीं करना चाहिये। इन चौदह लिंगोंकी माहात्म्य-कथा सुनकर श्रेष्ठ पुरुष चौदहों भुवनोंमें उत्तम सम्मान प्राप्त करेगा।

## दक्षेश्वर तथा पार्वतीश्वर लिंगका माहात्म्य

**स्कन्दजी कहते हैं**—मुने! भगवान् शंकरके गणोंने जब दक्षयज्ञका विध्वंस कर दिया, उस समय ब्रह्माजीने दक्षको यह उपदेश दिया कि 'प्रजापते! भगवान् शंकरकी निन्दासे जो दुस्त्यज पापपंक उत्पन्न हो गया है, उसको धो डालनेकी इच्छा हो तो तुम काशीपुरीमें जाओ। बड़े-बड़े पापोंका नाश करनेवाली पुण्यमयी काशीपुरीमें जाकर तुम वहाँ शिवलिंगकी प्रतिष्ठा करो। इससे भगवान् शंकर सन्तुष्ट होते हैं और उनके सन्तुष्ट होनेपर यह सम्पूर्ण चराचर जगत् सन्तुष्ट हो जाता है। मनीषी महर्षियोंने ब्रह्महत्या आदि पापोंका प्रायश्चित्त तो कहा है, परंतु शिवनिन्दाजनित पापका प्रायश्चित्त नहीं बताया है। उसका प्रायश्चित्त तो केवल काशी ही है। जिन पुण्यात्माओंने काशीमें शिवलिंगकी प्रतिष्ठा की है, उनके द्वारा सब धर्मोंका अनुष्ठान हो गया। इस संसारमें वे ही पुरुषार्थी हैं।'

ब्रह्माजीका यह वचन सुनकर दक्ष प्रजापति शीघ्र ही काशीपुरीमें आये और वहाँ बड़ी भारी तपस्यामें संलग्न हो गये। उन्होंने विधिपूर्वक शिवलिंगकी स्थापना करके उसकी आराधना प्रारम्भ कर दी। उस लिंगसे भिन्न दूसरी किसी वस्तुको इस भूतलपर वे नहीं जानते थे। प्रजापति दक्ष दिन-रात भगवान् महेश्वरकी स्तुति, पूजा, नमस्कार, ध्यान और दर्शन करते थे। एकचित्त होकर उस ईश्वरलिंगकी आराधना करते हुए दक्षके बारह हजार वर्ष व्यतीत हो गये। दक्षकन्या सती अपना शरीर त्यागकर जब हिमाचलकी पतिव्रता पत्नी मेनाके गर्भसे प्रकट हुईं और उमारूपसे अत्यन्त तपस्या करके जब उन्होंने पिनाकपाणि भगवान् शिवको पतिरूपमें प्राप्त कर लिया, तबतक तपस्यामें निश्चलभावसे बैठे हुए दक्ष शिवलिंगकी आराधना करते रहे। तदनन्तर गिरिराजकिशोरी उमा जब अपने पतिके साथ काशी आयीं और दक्षको निश्चलचित्तसे शिवलिंगकी आराधनामें तत्पर देखा, तब देवीने महादेवजीसे निवेदन किया—'प्रभो! ये तपस्या करते-करते अत्यन्त दुर्बल हो गये हैं। कृपासिन्धो! अब तो इन प्रजापतिको वरदान देकर प्रसन्न कीजिये।'

**देवी अपर्णाके ऐसा कहनेपर महेश्वरने दक्षसे कहा**—महाभाग! वर माँगो।

भगवान् शंकरका ऐसा वचन सुनकर प्रजापतिने उन्हें अनेक बार प्रणाम किया और नाना प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा उनकी स्तुति की। तत्पश्चात् उन्हें प्रसन्न देखकर इस प्रकार कहा—'देव! आपके युगल चरणारविन्दोंमें मेरी निर्द्वन्द्व भक्ति बनी रहे और मैंने जो आपके महालिंगकी यहाँ स्थापना की है, इसमें आप सदा निवास करें। कृपानिधे! मैंने जो आपका अपराध किया है, उसे क्षमा कर दें।'

**यह सुनकर महादेवजी बहुत प्रसन्न हुए और बोले**—तुमने जैसा कहा है, वह सब उसी प्रकार होगा। प्रजापते! तुमने जो दक्षेश्वर नामक शिवलिंगकी स्थापना की है, इसके सेवनसे मैं पुरुषोंके सहस्रों अपराध क्षमा कर दूँगा, इसमें सन्देह नहीं है।

अतः मनुष्योंको इस दक्षेश्वर लिंगकी पूजा अवश्य करनी चाहिये और तुम इस लिंगार्चनके पुण्यसे सर्वमान्य होओगे। दो परार्ध व्यतीत होनेपर तुम मोक्षको प्राप्त हो जाओगे। ऐसा कहकर महादेवजी उसी लिंगमें अन्तर्धान हो गये। प्रजापति दक्ष भी पूर्णमनोरथ होकर अपने घरको लौट गये।

अगस्त्य! इस प्रकार दक्षेश्वरकी उत्पत्ति बतायी गयी।

**अगस्त्यजी बोले**—पार्वतीनन्दन! अब पार्वतीश्वर लिंगकी उत्पत्तिका वर्णन कीजिये।

**स्कन्दजीने कहा**—मुने! एक दिन हिमाचलकी पतिव्रता पत्नी मेनाने अपनी पुत्री पार्वतीसे पूछा—'बेटी! तुम्हारा और भगवान् महेश्वरका कौन-सा स्थान है, कौन घर है और कौन बन्धु है? तुम कुछ जानती हो तो बताओ।'

**माताका यह प्रश्न सुनकर पार्वतीजीको बड़ी लज्जा हुई और उन्होंने अवसर पाकर भगवान् शिवको नमस्कार करके कहा**—प्राणवल्लभ! अब मुझे निश्चितरूपसे ससुराल चलना चाहिये। यहाँ रहना उचित नहीं है, अतः मुझे अपने घर ले चलें। पार्वतीकी यह बात सुनकर यथार्थ रहस्यको जाननेवाले महादेवजीने हिमालयको छोड़ दिया और अपने परमधाम आनन्दवनमें चले आये। परमानन्दके हेतुभूत आनन्दवनमें आकर आनन्दस्वरूपा पार्वतीदेवी अपने पिताके घरको भूल गयीं।

**तदनन्तर एक दिन गौरीदेवीने महेश्वरसे पूछा**—भगवन्! इस क्षेत्रमें अविच्छिन्न आनन्दका समुद्र क्यों उमड़ रहा है, यह बतानेकी कृपा करें। गौरीका यह वचन सुनकर पिनाकधारी शिवने कहा—'यह पाँच कोसका क्षेत्र मुक्तिधाम है। यहाँ तिलके बराबर भी कोई कहीं ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ कोई शिवलिंग न हो। यहाँ बहुत-से परमानन्द-स्वरूप लिंग हैं। चौदहों भुवनोंमें जो पुण्यात्मा निवास करते हैं, उन सबने अपने-अपने नामसे यहाँ लिंग-स्थापना की है और इससे कृतार्थताका अनुभव किया है। पार्वती! यही कारण है कि यह क्षेत्र असीम आनन्दका प्रधान हेतु बन गया है।'

**महादेवी बोलीं**—नाथ! तब मुझे भी यहाँ शिवलिंग स्थापित करनेकी आज्ञा दीजिये। पतिकी आज्ञा लेकर पतिव्रता नारी जो-जो कल्याणमय कार्य करती है, उसके श्रेयकी हानि कभी प्रलयकालमें भी नहीं होती। इस प्रकार देवेश्वरको प्रसन्न करके उनकी आज्ञा ले गौरीजीने महादेवेश्वरके समीप एक शिवलिंग स्थापित किया, जिसके दर्शनसे मनुष्योंके ब्रह्महत्या आदि पातक नष्ट हो जाते हैं और उन्हें फिर कभी देहबन्धन नहीं प्राप्त होता। मुने! महादेवजीने उस लिंगको जो वरदान दिया है, उसको श्रवण करो। 'जो कोई काशीमें पार्वतीश्वर नामक लिंगका भलीभाँति पूजन करेगा, वह देहावसान होनेपर मुझमें ही प्रवेश करेगा। चैत्र शुक्ला तृतीयाको पार्वतीश्वरकी पूजा करनेसे मनुष्य इस लोकमें सौभाग्य और परलोकमें सद्गति प्राप्त करता है। जो श्रेष्ठ पुरुष पार्वतीश्वरका माहात्म्य सुनेगा, वह परम बुद्धिमान् होकर इहलोक और परलोककी सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त करेगा।'

## नर्मदेश्वर तथा सतीश्वर लिंगका माहात्म्य

**स्कन्दजी कहते हैं**—मुने! अब मैं आपसे नर्मदेश्वरका माहात्म्य कहता हूँ, जिसके स्मरण-मात्रसे बड़े-बड़े पातकोंका नाश हो जाता है। इस वाराहकल्पके प्रारम्भमें बड़े-बड़े महर्षियोंने मार्कण्डेयजीसे पूछा—'मृकण्डनन्दन! सब नदियोंमें श्रेष्ठ नदी कौन-सी है?'

**मार्कण्डेयजी बोले**—मुनियो! आप सब लोग सुनें। भारतवर्षमें सैकड़ों नदियाँ हैं। वे सभी पापोंका नाश करनेवाली और पुण्य देनेवाली हैं। उन सबमें श्रेष्ठ वे नदियाँ हैं, जो समुद्रमें मिली हैं। उनमें भी गंगा, यमुना, नर्मदा और सरस्वती—ये चार नदियाँ सर्वश्रेष्ठ हैं। गंगा ऋग्वेदमूर्ति,

यमुना यजुर्वेदमूर्ति, नर्मदा सामवेदमूर्ति और सरस्वती अथर्ववेदस्वरूपा हैं। इनमें भी गंगा ही सब नदियोंकी उत्पत्तिकी कारणभूता हैं, वे ही समुद्रको भी भरती हैं। इस भूमण्डलमें गंगाजीकी समता करनेवाली दूसरी कोई श्रेष्ठ नदी नहीं है। परंतु पूर्वकालमें नर्मदा नदीने बहुत वर्षोंतक तपस्या करके ब्रह्माजीको प्रसन्न किया। जब ब्रह्माजी वर देनेको उद्यत हुए, तब नर्मदाने इस प्रकार प्रार्थना की—'भगवन्! यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझे गंगाजीके समान कर दीजिये।' तब ब्रह्माजीने मुसकराते हुए कहा—'यदि दूसरा कोई देवता भगवान् त्रिलोचनकी समता प्राप्त कर ले, दूसरा कोई पुरुष पुरुषोत्तम श्रीविष्णुके समान हो जाय, दूसरी कोई नारी भगवती पार्वतीकी समानता कर ले तथा दूसरी कोई नगरी काशीपुरीकी बराबरी कर सके तो दूसरी नदी भी गंगाके समान हो सकती है।'

ब्रह्माजीका यह वचन सुनकर नर्मदा उनके वरदानका त्याग करके काशीपुरीमें चली गयी। वहाँ भगवान् त्रिलोचनके समीप पिलपिलातीर्थमें उसने विधिपूर्वक शिवलिंग स्थापित किया। तब उस पुण्यात्मा नदीके ऊपर भगवान् शंकर बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'सौभाग्यशालिनि! तुम अपनी रुचिके अनुसार वर माँगो।' यह सुनकर सरिताओंमें श्रेष्ठ नर्मदा बोली—'देवेश्वर! तुच्छ वर माँगनेसे क्या लाभ? आपके युगलचरणोंमें मेरी निर्द्वन्द्व भक्ति बनी रहे।' नर्मदाकी यह बात सुनकर भगवान् शंकर अत्यन्त प्रसन्न हो बोले—'नर्मदे! तुम्हारे तटपर जितने भी प्रस्तरखण्ड हैं, वे सब मेरे वरसे शिवलिंगस्वरूप हो जायँगे। गंगामें स्नान करनेपर शीघ्र ही पापका नाश होता है, यमुना सात दिनके स्नानसे और सरस्वती तीन दिनके स्नानसे सब पापोंका नाश करती है, परंतु तुम दर्शनमात्रसे सम्पूर्ण पापोंका निवारण करनेवाली होओगी। तुमने जो यहाँ नर्मदेश्वर नामक शिवलिंगकी स्थापना की है, वह लिंग परम पुण्यमय तथा शाश्वत मोक्ष देनेवाला होगा।'

ऐसा कहकर देवदेवेश्वर भगवान् शिव उसी लिंगमें लीन हो गये। अद्भुत पवित्रता पाकर नर्मदा भी बहुत सन्तुष्ट हुई। वह दर्शनमात्रसे पापहारिणी बनकर अपने देशको चली गयी।

इस प्रकार मार्कण्डेय मुनिका वचन सुनकर वे सब मुनीश्वर प्रसन्नचित्त हो गये और उन्होंने अपने-अपने हितका कार्य किया। नर्मदेश्वरके इस माहात्म्यको सुनकर भक्तियुक्त मनुष्य पापरूपी केंचुलका त्याग करके उत्तम ज्ञान प्राप्त करेगा।

**स्कन्दजी कहते हैं**—महादेवजी जब रुद्र-भावको प्राप्त हुए, तब महादेवी जगदम्बा दक्षकन्या सतीके रूपमें प्रकट हुईं। उन्होंने भी काशीमें तीव्र तपस्या की। उनकी तपस्याका उद्देश्य था, अपने अनुरूप श्रेष्ठ वरको प्राप्त करना। तपस्या करते-करते उन्होंने देखा, सामने भगवान् शंकर लिंगरूपमें प्रकट हुए हैं और स्पष्ट बोल रहे हैं—'महादेवि! अब तपस्याकी आवश्यकता नहीं, यह सतीश्वर लिंग तुम्हारे नामसे विख्यात होगा। दक्षकुमारी! यहाँ आकर जैसे तुम्हारा मनोरथ सफल हुआ है, उसी प्रकार इस लिंगकी आराधना करके दूसरोंका मनोरथ भी सफल होगा। कुमारी कन्या इस शिवलिंगकी पूजासे उत्तम पति प्राप्त करेगी और कुवाँरा पुरुष इसकी आराधनासे सुन्दर स्त्री प्राप्त करेगा। सतीश्वरकी भलीभाँति पूजा करके जो जिस फलको चाहेगा, उसे वह मनोवांछित फल शीघ्र ही प्राप्त होगा। आजसे आठवें दिन तुम्हारे पिता दक्ष प्रजापति तुम्हारा विवाह मेरे साथ करेंगे। तुम्हारा मनोरथ सफल हुआ।'

ऐसा कहकर देवदेवेश्वर शिव वहीं (उस लिंगमें) अन्तर्धान हो गये। दाक्षायणी भी प्रसन्नतापूर्वक अपने घरको लौट गयीं। फिर आठवें दिन उनके पिताने भगवान् शंकरके साथ उनका विवाह कर दिया।

**स्कन्दजी कहते हैं**—इस प्रकार काशीमें सतीश्वर लिंग प्रकट हुआ। रत्नेश्वरके पूर्वभागमें सतीश्वरका दर्शन करके मनुष्य तत्काल सब पापोंसे मुक्त होता और क्रमशः ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

# अमृतेश्वर लिंगकी महिमा तथा व्यासोक्त व्रत एवं धर्मोंका निरूपण

**स्कन्दजी कहते हैं**—मुने! पूर्वकालकी बात है। यहाँ काशीपुरीमें सनारु नामवाले एक मुनि थे, जो गृहस्थ-आश्रमके धर्मका पालन करनेवाले, ब्रह्मयज्ञपरायण, अतिथिपूजक, शिवलिंग-पूजनमें तत्पर रहनेवाले और तीर्थमें दान नहीं लेनेवाले थे। उन सनारु मुनिके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम उपजंघनि था। वह किसी दिन वनमें गया और वहाँ उसको एक साँपने डस लिया। तदनन्तर उसके समवयस्क मित्र उसे उठाकर आश्रममें ले आये। सनारुने लंबी साँस खींचकर उपजंघनिको स्वर्गद्वारके समीप महाश्मशानभूमिमें पहुँचाया। वहाँ श्रीफलके समान आकारवाला एक अत्यन्त गुप्त शिवलिंग था। वहीं उस शवको रखकर वे विचार करने लगे कि सर्पसे डसे हुए मनुष्यका दाह-संस्कार कैसे किया जाता है। इतनेमें ही उपजंघनि सोकर उठे हुएके समान जी उठा। उसे जीवित देख सनारु मुनिको बड़ा आश्चर्य हुआ। इसी समय एक चींटी कहीं मरे हुए एक चींटेको खींचकर वहाँ ले आयी। उस स्थानपर आते ही वह चींटा भी जी उठा और रेंगता हुआ अन्यत्र चला गया। यह देखकर मुनिने सोचा 'यहाँ कोई ऐसा तत्त्व अवश्य है, जिसमें मरे हुएको जीवित कर देनेकी शक्ति विद्यमान है।' ऐसा अनुमान करके मुनि अपने कोमल हाथसे धीरे-धीरे वहाँकी जमीन खोदने लगे। इतनेमें ही उन्हें श्रीफलके बराबर एक शिवलिंग दिखायी दिया। तब सनारुने वहाँ उसका पूजन किया और उस प्राचीन लिंगका नाम अमृतेश्वर रखा, जो अत्यन्त सार्थक था। वे बोले—'आनन्दवनमें यह अमृतेश्वर लिंग है। इसके स्पर्शसे निश्चय ही अमृतत्वकी प्राप्ति हो सकती है।' जिनका मरा हुआ पुत्र जी उठा था, वे सनारु मुनि अमृतेश्वरकी पूजा करके अपने घरको गये। तभीसे अमृतेश्वर लिंग काशीमें प्रसिद्ध हुआ, जो मनुष्योंको सिद्धि देनेवाला है। कलियुगमें वह पुनः गुप्त हो जायगा। अमृतेश्वरके संस्पर्शसे मरे हुए व्यक्ति तत्काल जी उठते हैं और जीवित मानव उसके स्पर्शसे जीवन्मुक्त हो जाते हैं। अमृतेश्वरके समान शिवलिंग इस भूतलमें कहीं भी नहीं है। भगवान् शिवने इसे यत्नपूर्वक गुप्त कर रखा है।

**अगस्त्यजी बोले**—स्कन्दजी! श्रीवेदव्यास इन्द्रिय-शुद्धिके लिये जिन कृच्छ्र-चान्द्रायण व्रतोंका निरूपण करेंगे, उनके स्वरूपका आप मुझसे वर्णन कीजिये।

**स्कन्दजी बोले**—महाबुद्धे! दिनमें एक बार भोजन करना, दूसरे दिन केवल रातमें एक बार भोजन करना, तीसरे दिन बिना माँगे जो कुछ मिल जाय उसीका एक बार आहार करना और चौथे दिन अखण्ड उपवास करना—इस प्रकार किया जानेवाला व्रत 'पादकृच्छ्र' कहलाता है। बरगद, गूलर, कमल, बिल्वपत्र और कुश—इनके पत्तोंसे क्रमशः एक-एक दिन जल पीकर रहना 'पर्णकृच्छ्र' कहा गया है। तिलकी खली, घी, मट्ठा, जल और सत्तू—इनको क्रमशः एक-एक दिन एक-एक बार खाकर रहना और अन्तमें एक दिन उपवास करना यह 'सौम्यकृच्छ्र' कहा गया है। तीन दिन प्रातःकाल हविष्य भोजन करना, तीन दिन सायंकाल भी हविष्य ग्रहण करना, फिर तीन दिन बिना माँगे प्राप्त होनेवाले हविष्यका आहार करना और अन्तमें तीन दिन अखण्ड उपवास करना—यह 'कृच्छ्र' व्रत है। 'अतिकृच्छ्र' व्रतका पालन करनेवाला द्विज प्रतिदिन एक-एक ग्रास करके तीन दिन प्रातःकाल, फिर तीन दिनतक सायंकाल भोजन करे और तीन दिन अयाचित आहार ग्रहण करके अन्तमें तीन दिनतक उपवास करे। केवल दूधसे इक्कीस दिनतक निर्वाह करना 'कृच्छ्रातिकृच्छ्र' व्रत है। बारह दिन अखण्ड उपवास करनेसे 'पराकव्रत' होता है। 'प्राजापत्य' व्रतका अनुष्ठान करनेवाला द्विज तीन दिन प्रातःकाल, तीन दिन सायंकाल

और तीन दिन अयाचित अन्न ग्रहण करे, फिर अन्तमें तीन दिनतक उपवास करे। एक दिन गोमूत्र, गोबर, दही, दूध, घी और कुशोदक—इन सबको मिलाकर पी ले और दूसरे दिन पूरे एक दिन-रातका उपवास करे तो यह 'कृच्छ्रसान्तपन' माना गया है। सान्तपनके छः द्रव्योंका पृथक्-पृथक् छः दिनमें उपयोग करके एक दिन उपवास करे अर्थात् एक दिन गोमूत्र पीकर, दूसरे दिन गोबर खाकर, तीसरे दिन दूध पीकर, चौथे दिन दही खाकर, पाँचवें दिन घृत पीकर, छठे दिन कुशका जल पीकर और सातवें दिन एक रातका उपवास करके एक सप्ताहमें किया हुआ यह कृच्छ्रव्रत 'महासान्तपन' कहा गया है। 'तप्तकृच्छ्र' व्रतका आचरण करनेवाला ब्राह्मण प्रतिदिन एक बार स्नान करके एकाग्रचित्त हो गरम जल, दूध, घी और वायु—इन चारोंको तीन-तीन दिनतक पान करे अर्थात् तीन दिन गरम जल पीये, तीन दिन गरम दूध पीये, तीन दिन गरम घी खाय और तीन दिन केवल वायु पीकर रहे। एक भर दूध, दो भर घी और एक भर जल ग्रहण करना—इसीको 'तप्तकृच्छ्र' कहा गया है। जो गोमूत्रके साथ यवान्न भोजन करता है, उसके शरीरकी शुद्धि करनेवाला यह व्रत 'एकाह्निक कृच्छ्र' कहा गया है। दोनों हाथोंको उत्तान करके दिनमें वायुका पान करे तथा रातमें तबतक पानीमें खड़ा रहे जबतक कि प्रातःकाल न हो जाय। यह प्राजापत्य व्रतके समान माना गया है। कृष्णपक्षमें एक-एक ग्रास भोजन घटावे और शुक्लपक्षमें एक-एक ग्रास बढ़ावे और प्रतिदिन तीनों समय स्नान करे, यह 'चान्द्रायण व्रत' कहा गया है। अथवा पहले शुक्लपक्षमें प्रतिदिन एक-एक ग्रास बढ़ावे और कृष्णपक्षमें नित्य एक-एक ग्रास घटावे। अमावास्याको बिलकुल भोजन न करे, यह चान्द्रायणकी विधि है। ब्राह्मण एकाग्रचित्त हो चार ग्रास अन्न सबेरे और चार ग्रास अन्न सूर्यास्त होनेके बाद ग्रहण करे। प्रतिदिन इसी प्रकार आठ ग्रास अन्न लेते हुए एक मासतक जो व्रत किया जाता है, उसे 'शिशु-चान्द्रायण' कहते हैं। प्रतिदिन मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए मध्याह्नकालमें केवल हविष्यके आठ ग्रास अन्न भोजन करे और एक मासतक इसी नियमसे रहे, तो इसे 'यति चान्द्रायण' कहते हैं। मनुष्य एकाग्रचित्त हो जिस किसी तरह भी एक मासमें हविष्यके दो सौ चालीस ग्रास ग्रहण करे, तो वह चन्द्रलोकको प्राप्त होता है। शरीरकी शुद्धि जलसे होती है, मनकी शुद्धि सत्यसे होती है, जीवात्माकी शुद्धि विद्या और तपसे होती है। और बुद्धि ज्ञानसे शुद्ध होती है। वह ज्ञान मनुष्योंको काशीसेवनसे प्राप्त होता है। काशीसेवनसे भगवान् विश्वनाथकी करुणाका उदय होता है, और उससे महान् अभ्युदयकी प्राप्ति होती है, जो कर्मबन्धनका उन्मूलन करनेमें समर्थ है। अतः काशीमें प्रयत्नपूर्वक स्नान, दान, तप, जप, व्रत, पुराण-श्रवण तथा धर्मशास्त्रोक्त मार्गका सेवन करना चाहिये। प्रतिदिन और प्रतिक्षण विश्वनाथजीके चरणोंका चिन्तन, तीनों समय शिवलिंगका पूजन, शिवलिंगकी स्थापना साधुपुरुषोंके साथ वार्तालाप, सम्भाषण, 'शिव'-'शिव' इस मन्त्रका जप, अतिथिसत्कार, तीर्थनिवासियोंसे मैत्री, आस्तिक्य बुद्धि, विनय, मान-अपमानमें समान बुद्धि, किसी वस्तुकी इच्छाका न होना, उद्दण्डताका अभाव, राग-द्वेषशून्यता, अहिंसा, अप्रतिग्रह और दयापूर्ण बुद्धि, दम्भ और ईर्ष्याका अभाव, बिना माँगे प्राप्त हुए धनका अंगीकार करना, लोभ और आलस्यका अभाव, कठोरताका त्याग तथा कभी दैन्यभावका आश्रय न लेना इत्यादि उत्तम प्रवृत्तियोंको काशीक्षेत्रमें रहनेवाले लोग अपनावें और उनका पालन करें। इस प्रकार वेदव्यास अपने शिष्योंको प्रतिदिन धर्मका उपदेश करते थे।

# काशीके तीर्थोंका संक्षिप्त वर्णन

**पार्वतीजी बोलीं**—प्रभो! काशीमें जहाँ-जहाँ जो-जो तीर्थ हैं, उन-उनको बतानेकी कृपा करें।

**महादेवजी बोले**—देवि! काशीमें महादेवेश्वर प्रथम तीर्थ कहे जाते हैं। उसके उत्तरमें सारस्वत महाकूप है, जो सरस्वतीकी प्राप्ति करानेवाला है। क्षेत्रके पूर्वोत्तर भागमें जीवोंके अज्ञानका नाश करनेवाला यह तीर्थ है। उसके पश्चिम भागमें मूर्तिमती काशीपुरी है, जो मनुष्योंके द्वारा पूजनीय है। महादेवके स्थानसे पूर्वभागमें गोप्रेक्षेश्वर नामक उत्तम लिंग है। वहाँ पूर्वकालमें स्वयं भगवान् शंकरने गोलोकसे गौओंको भेजा था। गोप्रेक्षेश्वरसे दक्षिण भागमें दधीचीश्वर और दधीचीश्वरसे पूर्वमें अत्रीश्वर हैं। अत्रीश्वर लिंगका यत्नपूर्वक दर्शन करनेवाला मनुष्य विष्णुलोकको जाता है। गोप्रेक्षेश्वरसे पूर्वभागमें विज्वर नामक लिंग भी है। विज्वरके पूर्वभागमें वेदेश्वर लिंग है, वेदेश्वरसे उत्तरमें क्षेत्रज्ञ आदिकेशव हैं। उससे पूर्वमें संगमेश्वर, संगमेश्वरसे पूर्वमें ब्रह्माजीद्वारा स्थापित चतुर्मुख लिंग है। उसीका दूसरा नाम प्रयाग लिंग भी है, जो पूजित होनेपर ब्रह्मलोक देनेवाला है। वहीं शान्तिकरी गौरीका स्थान है, जो आराधित होनेपर शान्तिकारक होती हैं। वरणाके पूर्वतटपर कुन्तीश्वर लिंग है। उससे उत्तरमें कपिल कुण्ड है। गोप्रेक्षेश्वरसे उत्तर भागमें आनुसूयेश्वर लिंग है। उससे पूर्वमें सिद्धिविनायक हैं और उसके पश्चिममें हिरण्यकशिपुद्वारा स्थापित शिवलिंग है। उससे पश्चिम मुण्डासुरेश्वर लिंग है। गोप्रेक्षेश्वरसे नैर्ऋत्य कोणमें वृषभेश्वर लिंग है। महादेवेश्वरके पश्चिममें स्कन्देश्वर लिंग है। उसके पास ही शाखेश्वर और विशाखेश्वर लिंग हैं। वहीं नैगमेयेश्वर लिंग और नन्दी आदि गणोंद्वारा स्थापित सहस्रों लिंग हैं। नन्दीश्वरसे पश्चिम शिलादेश्वर हैं और वहीं हिरण्याक्षेश्वर भी हैं। उससे दक्षिण अट्टहास लिंग है। उसके उत्तरमें प्रसन्नवदनेश्वर हैं। उनसे उत्तर भागमें प्रसन्नोद कुण्ड है। अट्टहासेश्वरसे पश्चिम भागमें मित्रेश्वर और वरुणेश्वर हैं। अट्टहासेश्वरसे नैर्ऋत्य कोणमें वृद्धवासिष्ठ लिंग है। वसिष्ठेश्वरके समीप कृष्णेश्वर हैं। उनसे दक्षिणमें याज्ञवल्क्येश्वर हैं। उनसे पश्चिम प्रह्लादेश्वर हैं। जहाँ भक्तोंपर दया करनेके लिये साक्षात् भगवान् शिव लीन हुए हैं, वह स्वलीनेश्वर नामक लिंग प्रह्लादेश्वरसे पूर्वभागमें है। स्वलीनेश्वरके समीपमें शरीर त्याग करनेवालोंकी मुक्ति होती है। स्वलीनेश्वरसे पूर्व वैरोचनेश्वर लिंग है। उससे उत्तरमें वलीश्वर और वहीं बाणेश्वर लिंग है। चन्द्रेश्वरसे पूर्व विद्येश्वर नामक लिंग है। उसके दक्षिण भागमें वीरेश्वर हैं। वहीं सब दुःखोंसे मुक्त करनेवाली विकटादेवी विद्यमान हैं। वहाँ जपे हुए महामन्त्र शीघ्र सिद्ध होते हैं। उस पीठके वायव्य कोणमें सगरेश्वर हैं। उनसे ईशान कोणमें वालीश्वर हैं और वालीश्वरसे उत्तर सुग्रीवेश्वरजी विद्यमान हैं। वहीं जाम्बवदीश्वर हैं। गंगाके पश्चिम तटपर आश्विनेयेश्वर नामक दो लिंग हैं। उनसे उत्तरमें गोदुग्धसे भरा हुआ भद्रकुण्ड है। सहस्रों कपिलाओंका दान करनेसे जो फल प्राप्त होता है, वही भद्रकुण्डमें स्नान करनेसे प्राप्त होता है। भद्रकुण्डके पश्चिम किनारे भद्रेश्वरके दर्शनजनित पुण्यसे मनुष्य गोलोकको प्राप्त होता है। भद्रेश्वरसे नैर्ऋत्य कोणमें उपशान्त्येश्वर शिव हैं, उनसे उत्तरमें चक्रेश्वर हैं। चक्रेश्वरके उत्तरमें चक्रकुण्ड है, उसके नैर्ऋत्य कोणमें शूलेश्वर हैं। शूलेश्वरसे पूर्वमें नारदजीने बड़ी भारी तपस्या की, शिवलिंग स्थापित किया और एक श्रेष्ठ कुण्डका भी निर्माण कराया है। नारदेश्वरके पूर्वभागमें अवभ्रातकेश्वर हैं। उसके आगे ताम्रकुण्ड है। उसके वायव्य कोणमें विघ्नहर्ता गणेश हैं, वहीं विघ्नहर कुण्ड भी है। उससे उत्तर उत्तम अनारकेश्वर लिंग है। उसके उत्तरमें वरणा नदीके मनोहर तटपर वरणेश्वर हैं। वरणेश्वरसे पश्चिममें शैलेश्वर हैं। शैलेश्वरसे दक्षिण कोटीश्वर लिंग है। कोटीश्वरसे अग्निकोणमें स्तम्भ है, जो कि कुलस्तम्भ नामसे

प्रसिद्ध है। वहीं कपालेश्वरके समीप कपालमोचन तीर्थ है। उससे उत्तर दिशामें ऋणमोचन तीर्थ है। वहीं अंगारक-कुण्ड है। उससे उत्तरमें ज्ञानदाता विश्वकर्मेश्वर लिंग है। उसके दक्षिणमें महामुण्डेश्वर हैं। वहीं शुभोदक नामक कूप भी है। वहाँ खट्वांग धारण करनेसे खट्वांगेश्वर लिंगका प्रादुर्भाव हुआ है। उससे दक्षिणमें भुवनेश्वर लिंग और भुवनेश्वर कुण्ड हैं। उनके दक्षिण भागमें विमलेश्वर लिंग और विमलोदक कुण्ड हैं। उनके पश्चिममें भृगुका मन्दिर है और उससे दक्षिणमें शुभेश्वर तीर्थ है।

अगस्त्य! इस प्रकार संक्षेपसे कुछ शिवलिंगोंका वर्णन किया गया है। कुछ लिंग ऐसे हैं, जो भक्तिपूर्वक दो-तीन बार स्थापित किये गये हैं। अतः उनको पुनरुक्त न मानकर श्रद्धापूर्वक उनकी पूजा करनी चाहिये। ये जो शिवलिंग, कुण्ड, कूप और वापी आदि बताये गये हैं, इन सबपर मनीषी पुरुषोंको श्रद्धा करनी चाहिये। इन सबके दर्शन और स्नानसे अधिकाधिक फल होता है। यहाँके शिवलिंग, कूप, सरोवर, बावड़ी तथा मूर्तियोंकी गणना करनेमें कौन समर्थ हो सकता है? क्योंकि आनन्दवनमें स्थित तृण भी बहुत श्रेष्ठ हैं। काशीपुरी दर्शन करनेपर तथा देहावसानतक सेवित होनेपर स्वर्ग और अपवर्गको देनेवाली है।

**महादेवजी कहते हैं**—देवी! तुम तो तपोबलसे मेरी प्रियतमा हुई हो, परंतु काशीपुरी स्वभावसे ही मेरे लिये सुख और विश्रामकी भूमि है। जो काशीका नाम लेते हैं और जो उसे सुनकर प्रसन्न होते हैं, वे मेरे लिये शाख, विशाख, स्कन्द, नन्दी और गणेशके समान प्रिय हैं। वे ही मेरे भक्त, वे ही मेरे सेवक और वे ही मुमुक्षु हैं, जो आनन्दवनमें निवास करते हैं। जो काशीमें निवास करते हैं, उन्होंने ही भारी तपस्या की है, बड़े-बड़े व्रत किये हैं और महादान किये हैं। वे ही सब तीर्थोंमें स्नानके पुण्यसे युक्त हैं और उन्होंने ही हिंसारहित यज्ञोंकी दीक्षा ली है। जिन्हें काशीका निवास प्राप्त है, उन्हींके द्वारा सब धर्मोंका अनुष्ठान हुआ है। जो विद्वान् पुरुष इस सर्वलिंगमय अध्यायका जप करता है, उसे यम और यमदूतोंकी बाधा नहीं होती। जो पवित्र और तद्गत चित्त होकर इस अध्यायका पाठ करता है, उस पुण्यात्माको ब्रह्मयज्ञका फल प्राप्त होता है। जो मेरे द्रोही, नास्तिक और वेदोंकी निन्दामें तत्पर हैं, ऐसे लोगोंको इसका उपदेश नहीं देना चाहिये।

**इस प्रकार महादेवजी पार्वतीदेवीके आगे यह सब कथा सुना रहे थे, इतनेमें ही नन्दीने आकर प्रणामपूर्वक सूचित किया**—भगवन्! विशाल-मन्दिर-निर्माणका कार्य अब पूरा हो गया। रथ सुसज्जित होकर तैयार है और ब्रह्मा आदि देवता भी एकत्र हो गये हैं। भगवान् विष्णु गरुड़पर आरूढ़ होकर अपने पार्षदोंसहित द्वारपर खड़े हैं और महामुनीश्वरोंको आगे करके अवसरकी प्रतीक्षा करते हैं। चौदहों भुवनोंमें जो-जो उत्तम व्रतवाले पुरुष हैं, वे आज मन्दिरप्रवेशके महोत्सवका समाचार सुनकर यहाँ एकत्र हो गये हैं।

**स्कन्दजी कहते हैं**—नन्दीका यह वचन सुनकर महादेवजी पार्वतीजीके साथ दिव्य रथपर बैठकर त्रिविष्टिप क्षेत्रसे निकले।

## भगवान् शिवके मुखसे विश्वेश्वर लिंगकी महिमाका वर्णन

**स्कन्दजी कहते हैं**—मुने! मोक्षलक्ष्मीविलास नामक प्रासाद बन जानेपर महादेवजीने विरजपीठसे चलकर अन्तर्गृहमें प्रवेश किया। कार्तिक शुक्ला प्रतिपदाको अनुराधानक्षत्रसे युक्त बुधवारके दिन जब चन्द्रमा सप्तम राशिपर थे और शेष ग्रह भी उच्च स्थानोंमें स्थित थे, उस समय भगवान् शंकरने नूतन प्रासादमें प्रवेश किया। प्रवेशकालमें नाना प्रकारके बाजे बज रहे थे, सम्पूर्ण दिशाएँ प्रसन्न थीं, ब्राह्मणोंके वेदमन्त्रोच्चारणकी ध्वनिसे अन्य प्रकारके शब्द दब गये थे। भूलोकसे लेकर भुवर्लोकके बीचका मार्ग उसकी प्रतिध्वनिसे गूँज रहा था। भगवान् शिवके उस प्रवेशकालिक महोत्सवमें

सम्पूर्ण जगत् आनन्दमग्न हो रहा था। गन्धर्व गाते थे, अप्सराएँ नृत्य करती थीं, चारण स्तुति करते थे और देवता हर्ष मना रहे थे। सुगन्धित वायु चल रही थी और बादल फूलोंकी वर्षा करते थे। सब लोग मांगलिक वेष-भूषासे विभूषित थे, सभी मांगलिक वचन बोलते थे, स्थावर और जंगम सभी प्रकारके जीव आनन्दमें मग्न थे।

तदनन्तर ब्रह्माजीने महर्षियोंके साथ आकर पार्वतीके साथ शुभ सिंहासनपर बैठे हुए तथा कुमारवृन्दसे घिरे हुए देवाधिदेव महादेवजीका अभिषेक किया। देवताओं और बड़े-बड़े नागराजोंने असंख्य रत्नों, नाना प्रकारके दुकूलों तथा विचित्र-विचित्र सुगन्धित पुष्पहारोंसे महेश्वरका पूजन किया। मातृगणोंने आरती उतारी। तत्पश्चात् अखिल देववृन्दके द्वारा वन्दनीय भगवान् शिवने सबसे पहले मुनीश्वरोंको चिरवांछित मनोरथ देकर सन्तुष्ट किया। फिर ब्रह्माजीसे बातचीत करके भगवान् विष्णुसे कहा—'देव! तुम यहाँ आकर बैठो, मेरी समस्त प्रभुताके एकमात्र हेतु तुम्हीं हो। तुम दूर रहकर भी मेरे निकट हो, तुमसे बढ़कर मेरा कार्य करनेवाला कोई नहीं है। तुम्हींने अपने सदुपदेशोंसे राजाओंमें श्रेष्ठ दिवोदासको ऐसी शिक्षा दी, जिससे वे परम सिद्धिको प्राप्त हुए और मेरा भी मनोवांछित कार्य सिद्ध हो गया। आज मुझको जो यह आनन्दवन प्राप्त हुआ है, इसमें तुम और गणेश ये ही दो कारण हैं। जहाँ मरे हुए जन्तुओंका फिर जन्म नहीं होता, वह ब्रह्मरसायनकी खान काशीपुरी मेरे लिये जैसी उत्तम सुखकी भूमि है, वैसी प्रिय तीनों लोकोंमें कोई भी वस्तु नहीं है।'

**विष्णुजी बोले**—पिनाकपाणे! मैं आपके चरणारविन्दोंसे दूर न होऊँ।

**मधुसूदनका यह वचन सुनकर महादेवजी बहुत प्रसन्न और सन्तुष्ट होकर बोले**—मुरारे! मोक्षलक्ष्मीके आश्रयभूत इस स्थानपर तुम सदा मेरे समीप रहो। भक्तियुक्त होकर भी जो पहले तुम्हारी आराधना किये बिना मेरी सेवा-पूजा करेगा, उसकी मनोवांछा कदापि सिद्ध न होगी। अच्युत! इस मुक्तिमण्डपमें रहकर जो मुझे सब ओरसे सुख प्राप्त होता है, वह अत्यन्त निर्मल कैलास पर्वतपर भी नहीं मिलता और निश्चल शोभावाले भक्त-हृदयमें भी वैसे सुखकी प्राप्ति नहीं होती। जिनकी चित्तवृत्तियाँ स्थिर हैं, जो मेरे अनन्य भक्त तथा दृढ़ हृदयवाले हैं, वे यदि इस दक्षिण मण्डपमें पलभर भी स्थित होते हैं तो उन्हें पुनः गर्भावस्थामें नहीं आना पड़ता।

वहाँ पूर्वाभिमुख बैठे हुए महेश्वरके दक्षिण भागमें ब्रह्माजी और वामपार्श्वमें विष्णु स्थित हुए। देवराज इन्द्र उन्हें चवँर डुलाते थे, ऋषि उनको सब ओरसे घेरकर खड़े थे, पार्षदगण भगवान्के पृष्ठ भागमें चुपचाप आदरपूर्वक खड़े हुए थे और बहुत सम्मानवाले तथा हाथोंमें आयुध उठाये रहनेवाले अनेक सेवक उनकी सेवामें उपस्थित थे। उस समय महादेवजीने अपना दाहिना हाथ उठाकर भगवान् ब्रह्मा और विष्णुको एक शिवलिंग दिखलाया और कहा—'सब लोग देखो, यही परम ज्योति है, यही परात्पर ब्रह्म है और यही अत्यन्त सिद्धिदायक मेरा स्थावर रूप है। यहाँ जो ये मेरे भक्त रहते हैं, ये सिद्ध हैं, आबाल ब्रह्मचारी हैं, जितेन्द्रिय, तपस्वी, पंचाक्षर मन्त्रके ज्ञानसे निर्मल, भस्मसमूहपर शयन करनेवाले, इन्द्रियसंयमी, सुशील, ऊर्ध्वरेता, लिंगार्चनपरायण, मन और इन्द्रियोंको मेरे सिवा अन्यत्र न ले जानेवाले, जल और भस्मद्वारा स्नान करके अत्यन्त पवित्र, कन्द, मूल और फल भोजन करनेवाले, परम-तत्त्व सदाशिवकी ओर सदैव दृष्टि रखनेवाले, क्रोधको जीतनेवाले, मोहरहित, परिग्रहशून्य, निष्काम, निष्प्रपंच, निर्भय, नीरोग, धन-ऐश्वर्यसे रहित, निःसंग, निर्मल अन्तःकरणवाले, भयंकर संसारसागरके पार पहुँचे हुए, निर्विकल्प, निष्पाप, निर्द्वन्द्व, सिद्धान्तभूत अर्थको ग्रहण करनेवाले, अहंकारकी वृत्तियोंसे रहित, सदा ही मेरे परम प्रिय, मेरे पुत्रतुल्य तथा मेरे ही स्वरूप हैं। मेरी सेवामें संलग्न रहनेवाले मनुष्योंको चाहिये कि वे मेरे इन भक्तोंको सदा ही मेरा स्वरूप समझकर

इनका पूजन और नमस्कार करें। इनका पूजन करनेपर मैं बहुत प्रसन्न होऊँगा। मैं कभी किसीको प्रत्यक्ष दर्शन देता हूँ और कभी अदृश्य होता हूँ। देवताओ! सर्वदा सब भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये मैं इस आनन्दवनमें सदा स्वेच्छासे निवास करता हूँ और भक्तोंको मनोवांछित फल देनेवाला मैं यहाँ लिंगरूपसे सदैव निवास करता रहूँगा। इस तीर्थमें स्वयम्भू और अस्वयम्भू जितने भी लिंग हैं, वे सब सदा इस लिंगका दर्शन करनेके लिये आते हैं, इसमें सन्देह नहीं कि मैं सम्पूर्ण लिंगोंमें समान रूपसे स्थित हूँ तथापि यह तो लिंगस्वरूपा मेरी परा मूर्ति है। जिसने श्रद्धा और शुद्धदृष्टिसे मेरे इस लिंगका दर्शन किया है, उसने मानो मेरा प्रत्यक्ष दर्शन कर लिया है। ऋषियोंके साथ सम्पूर्ण देवता सुन लें—इस श्रेष्ठ लिंगका नाम श्रवण करनेसे भी जन्मभरका पातक क्षणभरमें नष्ट हो जाता है और इसके स्मरणसे दो जन्मोंका पाप दूर होता है। इस उत्तम लिंगके दर्शनके उद्देश्यसे अपने घरसे निकलते समय ही तीन जन्मोंका संचित किया हुआ महापाप भी लीन हो जाता है। देवताओ! मुझ विश्वेश्वरके इस स्वयम्भू लिंगका स्पर्श करनेमात्रसे सहस्रों राजसूय-यज्ञोंका फल प्राप्त होता है। इस लिंगराजकी भक्तिपूर्वक पूजामात्र करनेसे सहस्रों सुवर्णकमलोंद्वारा पूजन करनेका फल प्राप्त होता है। जो पंचामृत आदिके साथ इस शिवलिंगकी महापूजा करता है, उसे चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति होती है। देवताओ! वस्त्रसे छाने हुए जलके द्वारा इस लिंगको स्नान कराकर श्रेष्ठ पुरुष एक लाख अश्वमेध-यज्ञोंका फल प्राप्त करता है। जो इस विश्वेश्वर लिंगका दर्शन करके अन्यत्र भी मृत्युको प्राप्त होता है, उसकी भी जन्मान्तरमें मुक्ति हो जाती है। जिसकी जिह्वाके अग्रभागमें 'विश्वनाथ' यह नाम विराज रहा है, कानोंमें विश्वनाथकी कथा सुनायी पड़ती है और चित्तमें भगवान् विश्वनाथका चिन्तन हो रहा है, उसका इस संसारमें जन्म कैसे हो सकता है। जो मुझ विश्वनाथके लिंगमय विग्रहका दर्शन करके मन-ही-मन प्रसन्न होता है, वह अपने महान् पुण्यके बलसे मेरे गणोंमें गिना जाता है। जो प्रतिदिन तीनों सन्ध्याओंके समय 'विश्वनाथ, विश्वनाथ, विश्वनाथ' का जप करता है, उस पुण्यात्माका नाम मैं भी निश्चय ही जपता रहता हूँ। देवताओ! यह महालिंग मेरे द्वारा भी सदैव पूजन करने योग्य है। इसलिये देवताओं, ऋषियों तथा मनुष्योंको तो सर्वथा प्रयत्न करके इसकी पूजा करनी चाहिये। जिन्होंने इस लिंगको प्रणाम किया है, वे देवताओं और दैत्योंसे भी वन्दित होते हैं। 'मैं अपनी भुजा उठाकर बारंबार इस बातको दुहराता हूँ कि इस त्रिगुणमय जगत्में तीन ही सार वस्तु हैं—विश्वनाथ लिंग, मणिकर्णिकाका जल और काशीपुरी।'

तदनन्तर महादेवजीने पार्वतीजीके साथ उठकर उस शुभ लिंगका स्वयं सुन्दर पूजन किया और फिर उसीमें लीन हो गये। तब उन देवताओंने जय-जयकारपूर्वक महेश्वरका स्तवन किया। अगस्त्य! इस प्रकार इस अविमुक्त क्षेत्रके प्रभावका एक अंशमात्र बताया गया, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है। तुम थोड़े ही समयमें पुनः उत्तम काशीपुरीको प्राप्त होओगे। देखो, ये भगवान् सूर्य अस्ताचलके शिखरपर जा चुके हैं। इसलिये अब तुम्हारे और मेरे लिये भी मौन धारण करनेका समय आया है।

**व्यासजी कहते हैं**—सूत! इस प्रकार काशीकी महिमा सुनकर लोपामुद्रासहित मुनिवर अगस्त्य पार्वतीजीके पुत्र स्कन्दको बार-बार प्रणाम करके सन्ध्योपासनाके लिये चले गये। चन्द्रशेखर भगवान् शिवके क्षेत्र काशीधामका रहस्य जानकर अगस्त्यजी स्थिरचित्त हो शिवके ध्यानमें तत्पर हो गये। सूत! इस आनन्दवनकी बड़ी भारी महिमा है। कौन ऐसा मनुष्य है, जो सैकड़ों वर्षोंमें भी इसकी महिमाका वर्णन कर सकता है? परमात्मा शिवने पार्वतीजीसे काशीका जैसा माहात्म्य कहा था, वैसा ही स्कन्दने भी महर्षि अगस्त्यको सुनाया था। फिर उसी प्रसंगको मैंने तुम्हारे और शुकदेव आदिके आगे भलीभाँति कहा है।

# पंचतीर्थी, चतुर्दश आयतन, अष्ट आयतन, शैलेशादि और एकादश आयतनोंकी यात्रा, गौरीयात्रा, गणेशयात्रा, अन्तर्गृहयात्रा तथा विश्वनाथयात्राका वर्णन

**सूतजी बोले**—सत्यवतीनन्दन! सिद्धिकी इच्छा रखनेवाले मनुष्योंके हितके लिये आप काशी-यात्राके क्रमका वर्णन कीजिये।

**व्यासजीने कहा**—महाप्राज्ञ सूत! ध्यान देकर सुनो। यात्रियोंको सबसे पहले (१) चक्रपुष्करिणी (मणिकर्णिका)-के जलमें वस्त्रसहित स्नान करना चाहिये। फिर देवताओं, ऋषियों, पितरों तथा ब्राह्मणों एवं याचकोंको तृप्त करके (२) आदित्य, द्रौपदी, विष्णु, दण्डपाणि और महेश्वरको नमस्कार करे। तत्पश्चात् (३) ढुण्ढिराज गणेशका दर्शन करनेके लिये जाय। (४) उसके बाद ज्ञानवापीमें आचमन करके नन्दिकेश्वरका पूजन करे, साथ ही तारकेश्वरकी पूजा करके महाकालेश्वरका भी पूजन करे। (५) तदनन्तर पुनः दण्डपाणिका दर्शन, पूजन करे। यह पंचतीर्थी यात्रा कहलाती है। महान् फलकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको प्रतिदिन यह यात्रा करनी चाहिये। इसके बाद विश्वनाथकी यात्रा करे, जो समस्त प्रयोजनोंकी सिद्धि करनेवाली है। कृष्णपक्षकी प्रतिपदासे लेकर चतुर्दशीपर्यन्त विधिपूर्वक चौदह आयतनोंकी भी प्रयत्नपूर्वक यात्रा करनी चाहिये। अथवा क्षेत्रसिद्धिकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको प्रत्येक चतुर्दशीमें यात्रा करनी चाहिये। भिन्न-भिन्न तीर्थोंमें स्नान और वहाँके शिवलिंगोंकी पूजा करके मौनपूर्वक यात्रा करनेवाला यात्री मनोवांछित फलको पाता है। पहले मत्स्योदरीमें स्नान और तर्पण आदि करके ॐकारेश्वरका दर्शन करे। तत्पश्चात् क्रमशः त्रिविष्टप, महादेव, कृत्तिवासा, रत्नेश्वर, चन्द्रेश्वर, केदार, धर्मेश्वर, वीरेश्वर, कामेश्वर, विश्वकर्मेश्वर, मणिकर्णीश्वर और अविमुक्तेश्वरका दर्शन करके अन्तमें विश्वनाथजीका दर्शन-पूजन करना चाहिये। काशीक्षेत्रमें निवास करनेवाले पुरुषको यह यात्रा प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिये। जो काशी-क्षेत्रमें रहकर इस यात्राको नहीं करता, उसे उस क्षेत्रसे मनको उचाट देनेवाले विघ्न प्राप्त होते हैं। इन विघ्नोंकी शान्तिके लिये अन्य आठ स्थानोंकी यात्रा करनी चाहिये। जिनके नाम इस प्रकार हैं—दक्षेश्वर, पार्वतीश्वर, पशुपतीश्वर, गंगेश्वर, नर्मदेश्वर, गभस्तीश्वर, सतीश्वर और आठवें तारकेश्वर। प्रत्येक अष्टमीको विशेषरूपसे इन लिंगोंका दर्शन करना चाहिये। यह दर्शन बड़े-बड़े पापोंकी शान्ति करनेवाला होता है। एक दूसरी भी शुभ यात्रा है, जो सदा योग और क्षेमकी सिद्धि करनेवाली है। वह सम्पूर्ण विघ्नोंका निवारण करनेवाली भी है। काशीक्षेत्रके निवासियोंको वह यात्रा अवश्य करनी चाहिये। प्रथम वरणामें स्नान करके शैलेश्वरका दर्शन करे, फिर संगममें स्नान करके संगमेश्वरका दर्शन-पूजन करे। तत्पश्चात् स्वलीनतीर्थमें भलीभाँति स्नान करके स्वलीनेश्वरका दर्शन करे। उसके बाद मन्दाकिनी-तीर्थमें स्नान करके मध्यमेश्वरका दर्शन करे। हिरण्यगर्भ-तीर्थमें स्नान-तर्पणादि जलक्रिया करके हिरण्यगर्भेश्वरका दर्शन करे। तदनन्तर मणिकर्णिकामें स्नान करके ईशानेश्वरका, कूपमें स्पर्श एवं आचमन करके गोप्रेक्षेश्वरका, कापिलेय-कुण्डमें स्नान करके वृषभध्वजका, उपशान्तकूपमें जलक्रिया करके उपशान्त्येश्वरका तथा पंचचूडाकुण्डमें स्नान करके ज्येष्ठ स्थानका दर्शन एवं पूजन करे। फिर चतुःसमुद्रमें स्नान करके महादेवका पूजन करे, महादेवके आगे जो बावड़ी है, उसमें स्नान करके फिर शुक्रेश्वरका दर्शन करना चाहिये और वहीं कूपमें स्नान और तर्पण आदि कार्य भी पूरा करना चाहिये। तदनन्तर दण्डखात-तीर्थमें स्नान करके व्याघ्रेश्वरका पूजन करे। फिर शौनकेश्वर कुण्डमें स्नान करके जम्बुकेश्वर

महालिंगकी आराधना करे। इस यात्राको पूर्ण करके मनुष्य संसाररूपी दुःखसागरमें फिर कभी जन्म नहीं लेता। यह यात्रा कृष्णाप्रतिपदासे आरम्भ करके चतुर्दशीतक क्रमसे करनी चाहिये। इसे कर लेनेपर पुनः संसारमें जन्म नहीं होता।

इसके सिवा ग्यारह मन्दिरोंकी एक यात्रा और है, जो करने ही योग्य है। आग्नीध्रकुण्डमें भलीभाँति स्नान करके आग्नीध्रेश्वरका दर्शन करे। उसके बाद उर्वशीश्वरतीर्थमें जाय। फिर वहाँसे नकुलीश्वरका दर्शन करके आषाढ़ीश्वरका दर्शन करे। तत्पश्चात् भारभूतेश्वर, लांगलीश्वर तथा त्रिपुरान्तकका दर्शन करके मनःप्रकामेश्वर और प्रीतिकेश्वर-तीर्थमें जाय। वहाँसे क्रमशः मदालसेश्वर तथा तिलपर्णेश्वरकी यात्रा करे। इस प्रकार इन ग्यारह लिंगोंकी प्रयत्नपूर्वक यात्रा करनी चाहिये। इस यात्राको करनेवाला पुरुष रुद्रत्वको प्राप्त होता है।

इसके बाद मैं परम उत्तम गौरीयात्राका वर्णन करता हूँ। शुक्लपक्षकी तृतीयाको की हुई यह यात्रा सब ओरसे समृद्धि देनेवाली होती है। गोप्रेक्षतीर्थमें स्नान करके मुखनिर्मालिका गौरीके समीप जाय। फिर ज्येष्ठवापीमें स्नान करके मनुष्य ज्येष्ठा गौरीकी आराधना करे। तत्पश्चात् ज्ञानवापीमें स्नान और तर्पण आदि करके सौभाग्यगौरीकी पूजा करे, फिर वहीं जलसम्बन्धी कार्य करके श्रृंगारगौरीकी अर्चना करे। उसके बाद विशालगंगामें स्नान करके विशालाक्षीदेवीका दर्शन करनेके लिये जाय। तदनन्तर ललितातीर्थमें भलीभाँति स्नान करके ललितादेवीकी पूजा करे। तत्पश्चात् भवानीतीर्थमें स्नान करके भवानीका पूजन करे। फिर विन्दु-तीर्थमें स्नान आदि करके मंगलागौरीकी पूजा करनी चाहिये। वहाँसे स्थिर लक्ष्मीकी वृद्धिके लिये महालक्ष्मीके समीप जाय। इस मुक्तिदायक क्षेत्रमें यह गौरीयात्रा करके मनुष्य इहलोक या परलोकमें कहीं भी दुःखोंसे पीड़ित नहीं होता।

काशीमें प्रत्येक चतुर्थीको विघ्नराज गणेशके समीप यात्रा करे और गणेशजीकी प्रीतिके उद्देश्यसे ब्राह्मणोंको मोदक दान करे। मंगलवारको कालभैरवके दर्शनकी यात्रा करे। यह यात्रा सब पातकोंका नाश करनेवाली है। रविवारको अथवा रविवारयुक्त षष्ठी एवं सप्तमीको सूर्यदेवके दर्शनकी यात्रा करनी चाहिये। यह यात्रा सब विघ्नोंकी शान्ति करनेवाली है। नवमी अथवा अष्टमी तिथिको चण्डी देवीकी यात्रा शुभ मानी गयी है।

काशीके अन्तर्गृहकी यात्रा प्रतिदिन करनी चाहिये। पहले प्रातःकाल स्नान करके पाँचों विनायकोंको नमस्कार करे। फिर विश्वनाथजीको नमस्कार करके मुक्तिमण्डपमें स्थित हो 'मैं अपनी पापराशिके निवारणके लिये अन्तर्गृहकी यात्रा करूँगा'—इस प्रकार नियम लेकर पहले मणिकर्णिका तीर्थमें जाय। वहाँ स्नान करके मौनभावसे आकर मणिकर्णिकेश्वरकी पूजा करे। फिर कम्बल और अश्वतरको नमस्कार करके वासुकीश्वरको प्रणाम करे। तत्पश्चात् पर्वतेश्वरका दर्शन करके गंगाकेशवका दर्शन करे। फिर ललितादेवीका दर्शन करके जरासन्धेश्वरको नमस्कार करे। वहाँसे सोमनाथ और वाराहेश्वरका दर्शन करनेके लिये जाय। तत्पश्चात् क्रमशः ब्रह्मेश्वर, अगस्तीश्वर, कश्यपेश्वर और हरिकेशवको नमस्कार करके वैद्यनाथका दर्शन करे। तत्पश्चात् ध्रुवेश्वरका दर्शन करके गोकर्णेश्वरका पूजन करते हुए हाटकेश्वरके समीप जाय। वहाँसे अस्थिक्षेप तड़ागपर जाकर कीकशेश्वरका दर्शन करे। वहाँसे आगे जाकर क्रमशः भारभूतेश्वर, चित्रगुप्तेश्वर, चित्रघण्टादेवी तथा पशुपतीश्वरको नमस्कार करके पितामहेश्वरके समीप जाय। तत्पश्चात् कलशेश्वरका दर्शन करके क्रमशः चन्द्रेश्वर, वीरेश्वर, विद्येश्वर, अग्नीश्वर, नागेश्वर, हरिश्चन्द्रेश्वर, चिन्तामणि विनायक और सब विघ्नोंको हरनेवाले सेनाविनायकका दर्शन करे। तदनन्तर वसिष्ठ और वामदेव दोनों मूर्तिमान् महर्षियोंका काशीमें यत्नपूर्वक दर्शन करना चाहिये। ये दोनों बड़े-बड़े विघ्नोंका नाश करनेवाले हैं। तदनन्तर सीमाविनायक, करुणेश्वर, त्रिसन्ध्येश्वर, विशालाक्षी, धर्मेश्वर, विश्वभुजा, आशाविनायक, वृद्धादित्य, चतुर्वक्त्रेश्वर, ब्राह्मीश्वर, मनःप्रकामेश्वर,

ईशानेश्वर, चण्डी, चण्डीश्वर, भवानी, शंकर तथा ढुण्ढिराज गणेशका दर्शन एवं उन्हें प्रणाम करे। तदनन्तर राजराजेश्वरकी पूजा करे। उसके बाद लांगलीश्वर, नकुलीश्वर, पटान्नेश्वर, परद्रव्येश्वर, प्रतिग्रहेश्वर, निष्कलंकेश्वर और मार्कण्डेयेश्वरकी पूजा करके, अप्सरसेश्वर तथा गंगेश्वरका पूजन करे। तदनन्तर ज्ञानवापीमें स्नान करना चाहिये। स्नानके पश्चात् नन्दिकेश्वर, तारकेश्वर, महाकालेश्वर, दण्डपाणि, महेश्वर, मोक्षेश्वर, वीरभद्रेश्वर, अविमुक्तेश्वर तथा पाँचों विनायकोंको नमस्कार करके विश्वनाथजीका दर्शन करनेके लिये जाय। उसके बाद मौनव्रतका त्याग करके इस मन्त्रका उच्चारण करे—

**अन्तर्गृहस्य यात्रेयं यथावद् या मया कृता।**
**न्यूनातिरिक्तया शम्भुः प्रीयतामनया विभुः॥**

'मैंने जो यह अन्तर्गृहकी यथावत् यात्रा की है, इसमें न्यूनातिरिक्तताका दोष आ गया हो तो भी इसके द्वारा भगवान् विश्वनाथजी प्रसन्न हों।'

इस मन्त्रका उच्चारण करके क्षणभर मुक्तिमण्डपमें विश्राम करे। तत्पश्चात् निष्पाप एवं पुण्यवान् हुआ मनुष्य अपने घरको जाय। एकादशी तिथि आनेपर महान् पुण्यकी वृद्धिके लिये प्रयत्नपूर्वक काशीके सभी वैष्णव तीर्थोंकी यात्रा करे। भाद्रपदकी पूर्णिमाको कुलस्तम्भका पूजन करना चाहिये। उसकी पूजासे दुःख एवं रुद्रपिशाचताकी प्राप्ति नहीं होती। काशीक्षेत्रमें निवास करनेवाले मनुष्योंको चाहिये कि वे श्रद्धापूर्वक इन सभी यात्राओंको करें। पर्वके दिन भी ये सभी यात्राएँ करनेयोग्य हैं। पुण्यात्मा एवं विद्वान् पुरुष यात्राके बिना कोई भी दिन व्यर्थ न बीतने दे। प्रतिदिन प्रयत्नपूर्वक दो यात्राएँ तो अवश्य करनी चाहिये। पहली गंगाकी, दूसरी विश्वनाथजीकी। काशीमें निवास करते हुए भी जिसका दिन यात्राके बिना व्यर्थ बीत जाता है, उसी दिन उसके पितर निराश हो जाते हैं। जिसने काशीमें रहकर भी जिस दिन विश्वनाथजीका दर्शन नहीं किया, उस दिन उस मनुष्यको मानो कालसर्पने डस लिया, मृत्युने देख लिया अथवा किसीने उसका सर्वस्व लूट लिया। जिसने मणिकर्णिकामें स्नान करके विश्वनाथजीका दर्शन कर लिया, उसने सब तीर्थोंमें नहा लिया और सब यात्राएँ पूरी कर लीं। यह सत्य है, सत्य है, सत्य है और बार-बार सत्य है। प्रतिदिन मणिकर्णिकामें स्नान और विश्वनाथजीका दर्शन अवश्य करना चाहिये।

**व्यासजी कहते हैं**—सूत! सहस्रों पाप किये होनेपर भी मनुष्य स्कन्दपुराणके इस उत्तम काशी-माहात्म्यका श्रवण करके नरकमें नहीं जाता। सब तीर्थोंमें स्नान करके मनुष्य जिस श्रेयका उपार्जन करता है, वह सब काशीखण्डके श्रवणसे अवश्य प्राप्त होता है। सम्पूर्ण काशीखण्डका श्रद्धापूर्वक पाठ अथवा श्रवण करे—यही सबसे बड़ी देवाराधना बतायी गयी है। जो काशीखण्डकी एक कथा भी सुन लेता है, उसने सम्पूर्ण धर्मशास्त्रोंका श्रवण कर लिया। इसमें संशय नहीं है। यह काशीखण्ड महान् धर्मका उत्पादक, महान् अर्थकी प्राप्ति करानेवाला तथा सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्तिका हेतु बताया गया है। इसके श्रवणसे मनुष्योंके लिये मोक्षकी प्राप्ति दूर नहीं रह जाती। इस उत्तम खण्डको सुनकर सब पितर तृप्त होते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि सब देवता प्रसन्न होते हैं, मुनि आनन्दमग्न होते हैं और सनकादि मुनीश्वर भी अत्यन्त सन्तुष्ट होते हैं। जो विद्वान् इस काशीखण्डको पूरा, आधा, एक चौथाई अथवा एक अष्टमांश भी सुनाता है, वह यत्नपूर्वक प्रणाम करनेयोग्य तथा इष्टदेवकी भाँति पूजनीय है। भगवान् विश्वनाथकी प्रीतिके लिये उसको सदा अन्न, धन आदिका दान करना चाहिये, क्योंकि वाचकके सन्तुष्ट होनेपर निःसन्देह भगवान् विश्वनाथ ही सन्तुष्ट होते हैं। जहाँ परमानन्दके आश्रयभूत इस काशीखण्डका पाठ किया जाता है, वहाँ कोई अमंगलजनक विघ्न अपना प्रभाव नहीं डालता है।

**काशीखण्ड ( उत्तरार्ध ) समाप्त।**

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीउमामहेश्वराभ्यां नमः

# संक्षिप्त श्रीस्कन्दमहापुराण

## आवन्त्यखण्ड

## अवन्तीक्षेत्र-माहात्म्य

### सनत्कुमारजीके द्वारा महाकालतीर्थकी श्रेष्ठताका निरूपण

**स्रष्टारोऽपि प्रजानां प्रबलभवभयाद्यं नमस्यन्ति देवा**
**यश्चित्ते सम्प्रविष्टोऽप्यवहितमनसां ध्यानयुक्तात्मनां च।**
**लोकानामादिदेवः स जयतु भगवाञ्छ्रीमहाकालनामा**
**बिभ्राणः सोमलेखामहिवलययुतं व्यक्तलिङ्गं कपालम्॥**

'प्रजाकी सृष्टि करनेवाले प्रजापति देव भी प्रबल संसार-भयसे मुक्त होनेके लिये जिन्हें नमस्कार करते हैं, जो सावधान चित्तवाले ध्यानपरायण महात्माओंके हृदय-मन्दिरमें सुखपूर्वक विराजमान होते हैं और चन्द्रमाकी कला, सर्पोंके कंकण तथा व्यक्त चिह्नवाले कपालको धारण करते हैं, सम्पूर्ण लोकोंके आदिदेव उन भगवान् श्रीमहाकालकी जय हो।'

**पार्वतीजी बोलीं**—भगवन्! पृथ्वीपर जो-जो पुण्यतीर्थ और पवित्र नदियाँ हैं, जिनमें श्राद्ध किया जाता है, उन सबका यत्नपूर्वक वर्णन कीजिये।

**महादेवजीने कहा**—देवि! त्रिपथगा गंगा सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात हैं। समस्त जगत्को पवित्र करनेवाली सूर्यपुत्री यमुना भी बड़े-बड़े पातकोंका नाश करनेवाली हैं। चन्द्रभागा (चनाब), वितस्ता (झेलम), नर्मदा, अमरकण्टक, कुरुक्षेत्र, गया, प्रभास क्षेत्र, नैमिषारण्य, केदार, पुष्कर, कायावरोहण तथा उत्तम महाकालवन अत्यन्त पवित्र तीर्थ हैं। पापोंको जलानेके लिये अग्निके समान श्रीमहाकाल यहाँ विराज रहे हैं, वह चार कोसतक फैला हुआ क्षेत्र ब्रह्महत्या आदि पातकोंका नाश करनेवाला है।

**पार्वतीजी बोलीं**—महेश्वर! आप इस महाकालक्षेत्रका माहात्म्य कहिये।

**महादेवजीने कहा**—देवि! महाकालक्षेत्र समस्त पातकोंका नाश करनेवाला आदिक्षेत्र है। श्रीमेरु पर्वतके समीप जो परमात्मा ब्रह्माजीका वैराज नामक भवन है, वहाँ कान्तिमती नामवाली सभा देवताओंको हर्ष प्रदान करनेवाली है। एक समय ब्रह्माजीके मानसपुत्र वागीश्वर सनत्कुमारजी उस सभामें बैठकर भगवान् शंकरकी आराधनामें लगे हुए थे। उसी समय पराशरनन्दन श्रीकृष्णद्वैपायन (व्यास) उन्हें प्रणाम करके उनसे महाकालका माहात्म्य पूछते हुए बोले—'भगवन्! महाकालवन सबसे श्रेष्ठ क्यों कहा जाता है और उसे गुह्यवन, पीठस्थान तथा ऊसर भूमि क्यों कहा गया है?'

**सनत्कुमारजी बोले**—यहाँ सब पातक क्षीण हो जाता है, इसलिये इसे क्षेत्र कहा जाता है। यह मातृकाओंका निवासस्थान होनेके कारण पीठ कहलाता है। इस भूमिमें मरे हुए जीव फिर जन्म नहीं लेते, इसीलिये इसे ऊसर नाम दिया गया है। अतः यह परमात्मा शंकरका गुह्य, प्रिय एवं नित्य क्षेत्र है और इसीलिये सम्पूर्ण भूतोंको बहुत प्रिय है। भगवान् शिवके इस अतिशय प्रिय क्षेत्रको श्मशान, महाकाल वन और विमुक्ति क्षेत्र भी कहते हैं। एकाम्रक, भद्रकाल, करवीर वन, कोलागिरि, काशी, प्रयाग, अमरेश्वर, भरत, केदार, दिव्यरुद्रमहालय—ये सब तीर्थ दिव्य श्मशान हैं, जो शिवजीको सदा ही अत्यन्त प्रिय हैं। इन सिद्ध क्षेत्रोंमें सर्वदा भगवान् शिव क्रीड़ा करते हैं। पृथ्वीपर नैमिषारण्य और पुष्करतीर्थ उत्तम हैं। कुरुक्षेत्र तीनों लोकोंमें उत्तम कहा जाता है। कुरुक्षेत्रसे दसगुनी पुण्यमयी काशीपुरी मानी गयी है और काशीसे भी दसगुना महाकाल वन है।

# महाकाल वनमें भगवान् शिवका प्रवेश, कपाल-मोचन, देवताओंद्वारा स्तवन तथा महापाशुपत व्रतकी महिमा

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—व्यास! प्राचीन कालकी बात है। ब्रह्माजीने उत्तम कुशों और समिधाओंद्वारा अग्निहोत्र किया। अतः उस पुण्य स्थानका नाम 'कुशस्थली' हुआ। भगवान् विष्णुने नर-नारायण ऋषिके रूपसे बदरिकाश्रममें रहकर सम्पूर्ण जीवोंके लिये बड़ी भारी तपस्या की। (अतः उस पुण्यक्षेत्रको नर-नारायणाश्रम कहते हैं।) देवेश्वर भगवान् शिव हाथमें कपाल लेकर इस सम्पूर्ण पृथ्वीपर विचरण कर रहे थे। घूमते-घूमते वे कुशस्थलीमें जा पहुँचे और वहाँके उत्तम वनमें उन्होंने प्रवेश किया। वह वन अनेक प्रकारके वृक्षों और लताओंसे हरा-भरा और भाँति-भाँतिके पुष्पोंसे सुशोभित था। नाना भाँतिके पक्षी उसमें सब ओर कलरव करते थे तथा बहुत-से मृग वहाँ सब ओर फैले हुए थे। वह वन नन्दनकाननके समान मनोहर था। भगवान् शिवने उसकी ओर सौम्यदृष्टिसे देखा। भगवान् रुद्रको वहाँ पधारे हुए देख सब वृक्षोंने बड़ी भक्तिके साथ अपनी पुष्पसम्पदा उन्हें समर्पित करके उनके चरणोंमें फूलोंकी वर्षा की। वृक्षोंका वह पुष्पोपहार ग्रहण करके महेश्वरने उनसे कहा—'तुम्हारा कल्याण हो, तुम सब मुझसे वर माँगो।'

**भगवान् शिवके ऐसा कहनेपर सब वृक्ष हाथ जोड़ उन्हें नमस्कार करके बोले**—देवेश्वर! शरणागतवत्सल! आप यहीं इस वनमें सदा निवास करें।

**महादेवजी बोले**—बहुत अच्छा, इस उत्तम वनमें मेरा सदा मनसे निवास होगा। तुम्हें मैं दूसरा वरदान यह देता हूँ कि अग्नि, वायु, जल, सूर्य-किरणोंका ताप, बिजली, वज्रपात और सर्दी—इनमेंसे कुछ भी तुम्हारे लिये रोग नहीं उत्पन्न कर सकेगा।

इस प्रकार भगवान् शिवने वहाँके वृक्षोंको अनुगृहीत किया और एक वर्षतक वहीं रहकर कपालको पृथ्वीपर फेंक दिया। यह जानकर भगवान् ब्रह्माजी देवता और दैत्योंके साथ उस वनस्थलीको गये, जहाँ भगवान् वृषध्वज शिव विराजमान थे। उस वनकी अन्तिम सीमातक महादेवजीको ढूँढ़ते हुए देवताओंने कहीं भी उनको नहीं देखा। तब ब्रह्माजी देवताओंसे बोले—'भगवान् शिवके दर्शनके लिये सदा तीन उपाय हैं—श्रद्धापूर्वक ज्ञान, तपस्या और योग। इन्हीं तीनोंसे उनकी प्राप्ति बतायी जाती है। योगी महादेवजीके कलासहित और कलारहित दोनों स्वरूपोंका दर्शन करते हैं। तपस्वी केवल कलायुक्त रूपका और ज्ञानी केवल निष्कल रूपका दर्शन पाते हैं। ज्ञान प्रकट होनेपर भी जिसकी श्रद्धा मन्द है, वह भगवान्का दर्शन नहीं पाता। पराभक्तिसे युक्त योगी पुरुष उन परमात्माका साक्षात्कार करते हैं। अतः मन, वाणी और क्रियाद्वारा भगवान् महेश्वरकी आराधनामें निरन्तर संलग्न हो तुम सब लोग तपस्या करो।'

**देवता बोले**—ब्रह्मन्! आप हम सब लोगोंको ऐसी दीक्षा दीजिये, जो भगवान् शिवको सन्तुष्ट करनेवाली हो।

**ब्रह्माजीने कहा**—देवताओ! तुम शिवयज्ञके लिये यहाँ पर्याप्त सामग्री ले आओ और इस स्थानपर यज्ञकी वेदी बनाओ। उसीपर अष्टमूर्ति शिवका यजन (पूजन) किया जायगा।

ब्रह्माजीका यह वचन सुनकर देवताओंने सब कुछ उनके कथनानुसार किया। उन्होंने विनययुक्त वेषमें आकर ब्रह्माजीके चरणोंमें प्रणाम किया और वे निष्पाप देवता उनका अनुसरण—उनकी आज्ञाका पालन करने लगे। भगवान् शिवका प्रसाद प्राप्त करनेके लिये ब्रह्माजीने विधिपूर्वक चन्द्रार्धशेखर शिवका यजन किया। फिर अनुग्रहपूर्वक सम्पूर्ण देवताओंको व्रतोंमें श्रेष्ठ दिव्य पाशुपत व्रतका उपदेश किया। विरोधभावको भुला देनेवाले भगवान् ब्रह्माजीने स्वयं ही देवताओंको वह दीक्षा दी।

महापाशुपत व्रतका वर्णन शिवशाखामें जैसा किया गया है, शास्त्रोंमें उसकी जैसी विधि बतायी गयी है और जैसे आचार-व्यवहारकी शिक्षा दी गयी है, उसके सहित वह शैव-व्रत देवताओंको बताया। वह व्रत पापों और दुःखोंका नाश करनेवाला, पुष्टि और बलको बढ़ानेवाला, सिद्धिदायक, सुयश बढ़ानेवाला, मनको प्रिय लगनेवाला तथा कलियुगके समस्त पापोंसे छुटकारा दिलानेवाला है। इस व्रतको धारण करनेवाले मनुष्योंको भस्म-स्नान करते हुए एकाग्रचित्त, जितेन्द्रिय, शान्त और दान्त (दमनशील) भावसे रहना चाहिये। तथा कमण्डलु धारण करना, रुद्राक्ष पहनना तथा अशुभदर्शन, असत् आलाप और आसक्ति आदिसे रहित होकर रहना चाहिये। ब्रह्माजीकी आज्ञासे सब देवताओंने इसी प्रकार व्रत धारण करके उस वनमें उमापति महादेवजीकी आराधना की। वे सभी पराभक्तिसे युक्त हो उत्तम विधिका पालन करते हुए दीर्घकालतक भगवान्‌का ध्यान करते रहे। रुद्रके ध्यानकी अग्निसे उनके समस्त पाप दग्ध हो गये और वे अपूर्व शोभा एवं दीप्तिसे सम्पन्न हो गये। तब भगवान् शंकरने देवताओंके पास जाकर उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया। भगवान् सदाशिवको प्रत्यक्ष देखकर देवताओंने सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले उन महेश्वरका इस प्रकार स्तवन किया।

**देवता बोले**—गणों तथा नन्दीसहित शान्तस्वरूप भगवान् शिवको नमस्कार है। जो धर्मस्वरूप वृषकी पीठपर आरूढ़ होनेवाले, सौम्यस्वरूप तथा शक्ति एवं शूल धारण करनेवाले हैं, उन्हें नमस्कार है। दिशाएँ तथा व्याघ्रचर्म आदि ही जिनके वस्त्र हैं, जिनका चित्त परम विशुद्ध और तेज अत्यन्त दुःसह है, जो ब्रह्मस्वरूप हैं, ब्रह्मा जिनका शरीर हैं तथा जो ब्रह्माजीके द्वारा भक्तानुग्रहके कार्यमें लगाये जाते हैं, उन भगवान् शिवको नमस्कार है। अन्धकासुरका नाश करनेवाले रुद्रको नमस्कार है। सम्पूर्ण देवताओंके स्वामी भगवान् शिवको बार-बार नमस्कार है। सब प्रकारके रोगोंका अपहरण करनेवाले पंचमुख रुद्रको नमस्कार है। कैलास पर्वतपर शयन करनेवाले देवताओंके स्वामी ईशानदेवको बारम्बार नमस्कार है। भीम, उग्रस्वरूप तथा विजयरूप शंकरको नमस्कार है, नमस्कार है। देवताओं, दैत्यों तथा यतियोंके भी अधिपति भगवान् शंकरको प्रणाम है। जो चण्ड (दैत्योंपर अत्यन्त क्रोध करनेवाले), चण्ड-दण्ड (भयंकर दण्ड देनेवाले) तथा श्रेष्ठ खट्वांग धारण करनेवाले हैं, उन रुद्रदेवको नमस्कार है। विरूपाक्ष (भयंकर नेत्रवाले), शुभाख्य (कल्याणकारी नामवाले) तथा विश्वरूपको बार-बार नमस्कार है। शान्त एवं ज्ञानस्वरूप त्रिनेत्रधारी शिवको बार-बार नमस्कार है। वेधा (ब्रह्मा), विश्वरूप (विष्णु) तथा विश्वसंहारकारी (रुद्र) को नमस्कार है। भक्तोंपर अत्यन्त कृपा करनेवाले तथा रुद्रज्ञानपरायण शिवको नमस्कार है। कुरूप, सुरूप तथा सैकड़ों रूप धारण करनेवाले भगवान् शंकरको नमस्कार है। पंचमुख, शुभमुख तथा चन्द्रमुख धारण करनेवाले शिवको नमस्कार है। वर देनेवाले, वरण करनेयोग्य तथा उत्तम कर्म करनेवाले शिवको नमस्कार है। त्रिपुरासुरका नाश करनेवाले त्रिलोचन! महेश्वर! हम मन, वाणी, शरीर और भावोंसे आपकी शरणमें आये हैं। आप हमारी रक्षा कीजिये।

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—ब्रह्मा आदि देवताओंके द्वारा इस प्रकार स्तवन किये जानेपर महादेवजीने कहा—'महाभागगण! तुम सबने मेरे दर्शनकी इच्छासे बहुत ही श्रद्धापूर्वक मेरा आराधन किया है; अतः मैं तुम्हें उत्तम वरदान दूँगा। देवताओ! तुम्हारे हितके लिये उज्जयिनीपुरीमें आकर मैंने कपालको फेंक दिया है। अब तुम और क्या चाहते हो?'

**देवताओंने पूछा**—देव! आपने यहाँ कपाल फेंककर हमारा कौन-सा हित किया है, आपका यह कार्य निरर्थक नहीं हो सकता। अतः इस विषयमें जो यथार्थ कारण हो, उसे बताइये।

**महादेवजीने कहा**—तुमलोगोंके हितके लिये मैंने तुम्हारे ऊपर आनेवाले एक महान् भयको टाला है। हय नामक दैत्य, जो बहुत ही बलवान्,

योगमायाका जाननेवाला तथा असुरोंका स्वामी था, बलके घमण्डमें आकर रसातल लोकको अपने वशमें करके वहीं रहता था। उस दैत्यके बलवान् सेवक तुम सब लोगोंको तपस्यामें स्थित जानकर यहाँ मारनेके लिये आये थे। उन्होंने मायासे अपने शरीरको छिपा रखा था। यहाँ कपालके गिरानेसे जो अत्यन्त भयानक शब्द हुआ है, उससे और पृथ्वी काँपनेसे उन सब दैत्योंके प्राण निकल गये हैं। उन दैत्योंने सम्पूर्ण लोकोंकी सत्ताका विनाश करनेके लिये उद्योग किया था। वे राज्य और ऐश्वर्यके दर्पसे उन्मत्त हो उठे थे। इसीलिये मैंने उनका वध किया है।

**देवता बोले**—प्रभो! आप देवताओंके ऊपर बड़ी भारी कृपा करनेवाले हैं।

**महादेवजी बोले**—देवताओ! तुम्हारे इस तपसे तथा दुःसह कष्टसे तुम्हारा तेज सब ओरसे बढ़े और अधिक उत्कर्षको प्राप्त हो।

**देवाधिदेव महादेवजीके ऐसा कहनेपर ब्रह्मा आदि देवता पृथ्वीपर घुटने टेककर, ऊपरकी ओर मुँह करके बोले**—देवेश्वर! आप हमारे प्राणदाता हैं, कारण हैं। देव! तपस्यासे ही आपका दर्शन होता है। आपके ध्यानमें लगे हुए हम भक्तोंकी रक्षा कीजिये।

**महादेवजी बोले**—देवताओ! मैंने यत्नपूर्वक तुम्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया है। अब तुम वर माँगो, मैं तुम्हें बहुतसे वर दूँगा।

**भगवान् शिवके ऐसा कहनेपर ब्रह्माजीने कहा**—भगवन्! हमें उत्तम ऐश्वर्य और उन राक्षसोंको अक्षय धाम दीजिये।

**भगवान् शिव बोले**—देवताओ! इस लोकमें जो मेरे भक्त हैं अथवा जो मेरे हाथसे मारे गये हैं, वे दुर्गतिको नहीं प्राप्त होते। उन्हें परम उत्तम गतिकी प्राप्ति होती है। वे देवद्रोही असुर जटाजूटधारी एवं शूलपाणि होकर मेरे वाम पार्श्वमें विराजमान होते हैं। इन दैत्योंके निग्रह और आप लोगोंके बोधके लिये मैंने इस भूतलपर कपालको फेंका है। मेरी भक्तिकी इच्छा रखनेवाले भक्तोंपर इस प्रकार मैंने अनुग्रह किया है। वृक्षोंके प्रार्थना करनेपर मैंने इस वनमें नित्य निवास स्वीकार किया है। देवताओ! इस वनमें आये हुए मेरे और यहाँ तपस्या करनेवाले तुम्हारे सामीप्यसे यह महाकाल वन दो नामोंसे लोकमें विख्यात होगा—गुह्य वन और श्मशान। यह तीर्थ सब क्षेत्रोंमें श्रेष्ठ एवं महान् है।

मैंने कपाल-व्रतचर्याका वर्णन इस प्रकार किया है—कपालपात्रमें भोजन करे, कपाल-व्रतको ही आभूषणकी भाँति धारण करे, हाथमें कपाल लिये रहे, सदा सन्तोषपूर्वक रहे और नियमपूर्वक भिक्षान्नका आहार करे। श्मशानमें निवास करे, समस्त प्राणियोंके प्रति प्रसन्न रहे, प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें समभाव रखे, सब अंगोंको भस्मसे विभूषित करे, विशेषतः ज्ञानवान् और जितेन्द्रिय हो, सब प्रकारकी आसक्तियोंको त्याग दे, मिट्टी, भस्म और जलमात्रका संग्रह करे, सदा योगयुक्त रहे, नित्य-निरन्तर जप करे। श्रेष्ठ आसनको जीते, पवित्र तीर्थमें आश्रम बनाकर रहे, धीरे-धीरे इष्टदेवमें चित्तको एकाग्र करे। यही लोकातीत उत्तम ज्ञान एवं महापाशुपत-व्रत है। पूर्वकालमें कपाल-व्रतका आश्रय लेकर मैंने स्वयं इसका पालन किया है। कपाल-व्रत परम गोपनीय, पवित्र एवं पापनाशक है। कपाल-व्रत कठिनतासे धारण करनेयोग्य और परम अद्भुत है। महापाशुपत-व्रत धारण करनेवाले एक महात्माको जो श्रद्धापूर्वक भोजन कराता है, उसे करोड़ों वेदवेत्ता ब्राह्मणोंको भोजन करानेका फल प्राप्त होता है। जो यतियोंको कपालपूरणी (नारियलके खप्परको भरकर) भिक्षा देता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर कभी दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता है। यह लोक और वेदमें वन्दित तथा देवताओं और दानवोंद्वारा पूजित व्रत है। सम्पूर्ण भूतोंको मोहनेवाले इस कपाल-व्रतको जो धारण करते हैं, वे मेरे समान होकर इस पृथ्वीपर विचरते हैं तथा इस दीक्षा और योगसे समस्त प्राणियोंको तारते हैं। पितामह! जैसे मैं सम्पूर्ण देवताओंका पूजनीय हूँ, उसी प्रकार यह महाव्रत सम्पूर्ण योगोंसे

पूजनीय है। संसारके बन्धनसे छुटकारा दिलानेके लिये यह कल्याणमय व्रत परम पवित्र है, क्योंकि यह सम्पूर्ण धर्मके द्वारा मोक्षका कारण है। जो अजितेन्द्रिय पुरुष इस कपालव्रत (संन्यास)-को ग्रहण करके फिर छोड़ देता है, वह यमदूतोंद्वारा शीघ्र ही रौरव नरकमें डाला जाता है। जो भावसे इस व्रतकी बात तो करता है, किंतु तदनुकूल कर्म नहीं करता है, वह रागयुक्त चित्तवाला शृंगारी (शृंगाररसमें डूबा हुआ) पुरुष धर्मका प्रिय नहीं है। जो इस व्रतको लेकर भी किसी एक स्थानपर ही भोजन करता है, मिठाइयाँ उड़ाता है, निष्कपट बातें जिसे अच्छी नहीं लगतीं, जो बुरे गाँव और नगरोंमें रहता है, खेती और वाणिज्य-व्यवसायका सेवन करता है—इत्यादि दोषोंसे दूषित उस मिथ्याचारीके साथ वार्तालाप करनेसे भी मनुष्य नरकगामी होता है, क्योंकि वह मेरे व्रतको कलंकित करनेवाला है।

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—ऐसा कहकर भगवान् सदाशिवने ब्रह्मा आदि देवताओंके साथ उस क्षेत्रको बसाया। श्रेष्ठ मुनिगण इस आदिक्षेत्रको श्मशान कहते हैं। जहाँ भगवान् शिवका निवास है, वह स्थान महाकाल वन कहलाता है। वह भूभाग भगवान् शंकरके अनुग्रहका घर है, इसमें संशय नहीं है। मरणशील प्राणियोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही इस क्षेत्रका प्रादुर्भाव हुआ है। वहाँ सुवर्ण और मणिसे निर्मित वेदिका बनायी गयी, जो सब ओरसे परम सुन्दर थी। चौंतीस सुन्दर कलश स्थापित किये गये, जो भरे हुए थे। वहाँ वेदीके चारों ओर चार दरवाजे थे, जो होमाग्निसे तप रहे थे। उस स्थानपर रखे हुए घट नवोदित सूर्यकी भाँति दिखायी देते थे। ऐसे उत्तम महाकाल वनमें भगवान् शिव क्रीड़ा करते हैं। यह सब कुछ सत्ययुगमें सबको प्रत्यक्ष दिखायी देता है, त्रेतामें धर्मपरायण तपस्वी ब्रह्मचारी ही भगवान्‌को प्रत्यक्ष देखते हैं, द्वापरमें धर्मात्मा और वैदिक ज्ञानसे सम्पन्न पुरुष ही उन्हें देख पाते हैं, परंतु कलियुगमें विशुद्ध विज्ञानसे सुशोभित अधिक तपस्यावाले पुरुष ही महाकाल वनमें शूलपट्टिशधारी उन देवाधिदेव भगवान् महेश्वरका दर्शन करते हैं, जो सम्पूर्ण लोकोंपर अनुग्रह करनेवाले हैं। व्यास! मैंने तुम्हें यह सब यथार्थ वृत्तान्त बतलाया है। भगवान् शिवका यह स्थान विश्वविख्यात गुणगणोंसे पूजित है और सब दोषोंका नाश करनेवाला है। जो कल्याणमयी बुद्धिसे युक्त मानव इहलोकमें एकाग्रचित्त होकर इस स्थानके माहात्म्यको पढ़ता अथवा सुनता है, वह देवताओंसे अभिषिक्त एवं पूजित होकर भगवान् शंकरके धामको जाता है।

## रुद्रभक्तिका निरूपण तथा महाकाल क्षेत्रमें निवास करनेवाले मनुष्योंके नियम

**व्यासजीने पूछा**—भगवन्! महाकाल वनमें रुद्रलोककी इच्छा रखनेवाले उस क्षेत्रके निवासियोंको किस विधिसे रहना चाहिये?

**सनत्कुमारजीने कहा**—व्यास! भगवान् शंकरकी भक्ति तीन प्रकारकी बतायी गयी है—मानसिक, वाचिक और कायिक। लौकिकी, वैदिकी और आध्यात्मिकी—ये तीन भेद और भी हैं। ध्यान, धारणा एवं बुद्धिके द्वारा जो भगवान् रुद्रके स्वरूपोंका स्मरण किया जाता है, वह रुद्रके प्रति भक्ति-भावको बढ़ानेवाली मानसी भक्ति कहलाती है। स्तुति और कीर्तन आदि वाचिकी भक्तिके अन्तर्गत हैं। इन्द्रियोंको रोककर संयममें रखनेवाले पुरुषोंद्वारा जो व्रत, उपवास और नियम आदिका पालन किया जाता है—ज्ञान और ध्यानमें स्थित धर्मात्मा पुरुषोंकी वह भक्ति कायिक कही गयी है। गोघृत, गोदुग्ध, गोदधि, चन्दन, कुंकुम, कुशोदक, गन्ध,

विविध माल्य, अनेक प्रकारके धातु, घी, गुग्गुल, धूप, कालागुरु, सुगन्धित पदार्थ, सुवर्ण और रत्नोंके आभूषण, विचित्र माला, वस्त्र, स्तोत्र, पताका, व्यजन, नृत्य, वाद्य, गीत, सब प्रकारके उपहार, भक्ष्य, भोज्य, अनुपान तथा अक्षतोंके द्वारा जो पूजा की जाती है, वह लौकिकी भक्ति मानी गयी है। वेदमन्त्रोंके द्वारा हविष्यकी आहुति आदिके योगसे जो यजनक्रिया की जाती है, वह वैदिकी भक्ति कहलाती है। मुने! आध्यात्मिकी शिव-भक्ति दो प्रकारकी है—एक सांख्या भक्ति और दूसरी यौगिकी भक्ति। अब इनका विभागपूर्वक वर्णन सुनो। संख्यासे प्रधान (प्रकृति) आदि तत्त्व चौबीस* हैं। वे सभी अचेतन तथा चेतनके उपयोगमें आने योग्य भोग्य हैं। इनसे भिन्न पुरुष पचीसवाँ तत्त्व है, वह चेतन एवं भोक्ता है। भगवान् रुद्र छब्बीसवें तत्त्व हैं। वे कर्ता, सर्वज्ञ, चेतन और सबके स्वामी हैं। अव्यक्त प्रकृति नित्य (अनादि) एवं अजन्मा है तथा पुरुष उसका अधिष्ठाता और प्रेरक है। वह व्यक्त और नित्य है। महेश्वर इन सबके कारण हैं। पहले चौबीस तत्त्वोंकी सृष्टि हुई; फिर उन्हीं तत्त्वोंसे पंचभूतोंकी सृष्टि हुई है। प्रधान या प्रकृति त्रिगुणात्मक है। भगवान् रुद्रका पुरुषके साथ साधर्म्य है—चैतन्यरूप धर्म दोनोंमें समान रूपसे है; परंतु प्रधान तत्त्व जड होनेके कारण उनसे विपरीत धर्मवाला है। वह रुद्रकी इच्छा (संकल्पशक्ति)-के अनुसार भौतिक जगत्का कारण होता है। सर्वत्र रुद्रमें ही कर्तृत्व है, पुरुषमें कर्तृत्वका अभाव है और प्रधान (प्रकृति)-में अचेतनता है। इन तीनोंका विवेक तत्त्वज्ञान कहा गया है। कार्य और कारण दोनों तत्त्वान्तरसे मुक्त होते हैं। प्रेरक-तत्त्वमें जो विलक्षणता है, उसको जानकर रुद्रतत्त्वार्थका विचार करनेवाले पुरुष तत्त्वोंकी संख्या निश्चित करते हैं। इस प्रकार रुद्रके यथार्थस्वरूपका विवेचन तथा तत्त्वोंकी तात्त्विक संख्या बतायी गयी है। सांख्यमतमें रुद्रके स्वरूपका यह चिन्तन ही विद्वानोंद्वारा आध्यात्मिक सांख्या भक्ति बतायी गयी है।

ब्रह्मन्! अब मुझसे यौगिकी भक्तिका वर्णन सुनो। जो पुरुष अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखकर सदा प्राणायाम-परायण होकर ध्यान करता है, अथवा जो हृदयमें धारणाको स्थिर करके महेश्वरका इस प्रकार ध्यान करता है कि 'हृदयकमलकी कर्णिकाके आसनपर भगवान् शिव विराजमान हैं, उनके पाँच मुख हैं, प्रत्येक मुखमें तीन नेत्र हैं, चन्द्रमाकी कलासे उनकी जटा जगमगा रही है और कटिभागमें सर्पकी करधनी शोभा पाती है। उनका श्रीअंग श्वेत है, वे दस भुजाओंसे सुशोभित हैं, उनका स्वरूप सबके लिये मंगलमय है, उनके हाथोंमें वरद और अभयकी मुद्रा है।' उस योगीके द्वारा किये जानेवाले इस ध्यानको भगवान् रुद्रकी 'पराभक्ति' कहते हैं। जो इस प्रकार भगवान् शिवके प्रति भक्ति रखता है, वह रुद्रभक्त कहलाता है।

व्यास! अब महाकाल क्षेत्रमें निवास करनेवाले मनुष्योंके लिये जो विधि बतायी गयी है, उसको सुनो। जो ब्राह्मण ममता, अहंकार, आसक्ति तथा परिग्रहसे रहित हैं, बन्धुजनोंके प्रति अनासक्त रहकर मिट्टी, पत्थर और सुवर्णको समान समझते हुए महाकाल वनमें निवास करते हैं, मन, वाणी और शरीरद्वारा किये जानेवाले त्रिविध कर्मोंद्वारा सदा सब प्राणियोंको अभय दान देते हैं, सांख्य और योगकी विधिको जानते हैं, धर्मके स्वरूपको समझते हैं और संशयरहित हो नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा भगवान् शंकरका यजन करते हैं, वहाँ मृत्यु होनेके पश्चात् वे सभी अत्यन्त दुर्लभ एवं अक्षय ब्रह्म-सायुज्यको प्राप्त होते हैं। इस संसारमें पुनर्जन्म न पाकर अक्षय मुक्ति लाभ करते हैं। क्षेत्रनिवासी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र सबको अपने-अपने धर्ममें तत्पर होना तथा अपनी ही वृत्ति एवं आचार-व्यवहारसे जीवन

* प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन और पंचमहाभूत—ये चौबीस तत्त्व हैं।

निर्वाह करना चाहिये। भगवान् शिवके भक्त सर्वतोभावसे जीवोंपर अनुग्रह करनेवाले होते हैं। जो मुमुक्षु मानव महाकाल वन नामक क्षेत्रमें निवास करते हैं, वे मृत्युके पश्चात् सुन्दर विमानोंद्वारा रुद्रलोकमें जाते हैं। अथवा जो उपलब्ध हुई ज्ञानाग्निमें अपने शरीर आदि अनात्मपदार्थोंका हवन करता है, नित्य रुद्राध्यायका पाठ करता है और महान् सत्त्व (सत्त्वगुण एवं धैर्य) से सम्पन्न है, वह भगवान् शंकरके धाममें निवास करता है।

## हालाहल दैत्यका वध, रुद्रसरोवरकी महिमा तथा कुशस्थलीमें चार समुद्रोंका आगमन और उसका माहात्म्य

**व्यासजी बोले**—भगवन्! आचार सब धर्मोंमें मुख्य है। वही सब धर्मोंका आश्रय है। जो स्वधर्ममें तत्पर, क्रोधको जीतनेवाले तथा इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले हैं, वे तो भगवान् शिवके लोकमें जाते ही हैं, उनके लिये मेरे मनमें कोई चिन्ता नहीं है। वैसे लोग तो किसी उत्तम क्षेत्रमें निवास किये बिना भी पूर्वोक्त नियमोंके पालनसे ही चन्द्रमाके समान कान्तिमान् विमानोंद्वारा निश्चय ही रुद्रलोकमें चले जाते हैं। परंतु जो स्त्रियाँ, शूद्र, म्लेच्छ, पशु-पक्षी, मृग, मूक, जड़, अन्ध और बधिर हैं, जिनमें तप और नियमका अभाव है, वे यदि महाकालक्षेत्रमें मृत्युको प्राप्त हों, तो उनकी क्या गति होती है?

**सनत्कुमारजीने कहा**—ब्रह्मन्! यदि स्त्री, म्लेच्छ, शूद्र, पशु-पक्षी और मृग भी अपनी स्वाभाविक वृत्तिसे ही उस क्षेत्रमें मरें तो वे दिव्य शरीर धारण करके रुद्रलोकमें जाते हैं और वहाँ सब प्रकारके सुखभोगसे सम्पन्न होते हैं।

एक समय देवताओंके लिये कण्टकरूप हालाहल नामक दानव महाकाल वनकी ओर दौड़ा हुआ आया। वह दुरात्मा क्रोधसे जल रहा था। ब्रह्माजीका वरदान पाकर देवताओंके लिये दुर्जय हो गया था। उसने भैंसेका स्वरूप धारण कर रखा था। उस देवशत्रुको आते देख पिनाकधारी भगवान् शिव अपने गणोंसे बोले—'पार्षदो! यह मायावी दैत्य तीनों लोकोंके लिये कण्टक है और बड़े वेगसे इधर आ रहा है, अतः तुम सब लोग मिलकर इसे मारो।' तब वहाँ आते हुए उस महादैत्यको शिवगणोंने त्रिशूलसमूहों, तलवारों, मूसलों तथा बाणसमुदायसे मूर्छित करके पृथ्वीपर मार गिराया। उसके मारे जानेपर महादेवजीने कहा—'अहो! इस मूढ़को बड़ा घमण्ड हो गया था, उसीसे यह मृत्युको प्राप्त हुआ है।' इसी समय पूर्वोक्त कपालसे बड़ी भयानक और प्रज्वलित मुखवाली प्रचण्ड मातृकाएँ प्रकट हुईं, जो बड़ी बलवती और भयानक अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित थीं। वे उस स्थानपर दौड़ी हुई आयीं और महादेवजीको निवेदन करके उस महाबली दैत्यको काट-काटकर खाने लगीं। इससे वे इस क्षेत्रमें कपालमातृकाके नामसे विख्यात हुईं।

पूर्वकालमें वहाँ स्थापित हुए कपालको भेदकर एक कुण्ड प्रकट हुआ, जो शिवतड़ागके नामसे प्रसिद्ध है। वह सब पापोंका नाश करनेवाला है। आज भी वह महादिव्य रुद्रसरोवर वहाँ प्रकाशित होता है। गन्धर्वगण उसका सेवन करते हैं। रुद्रसरोवरका जल किसी पात्रमें रखा हो अथवा हाथमें निकाला गया हो, ठंडा हो, गरम हो या उसका क्वाथ बनाया गया हो, किसी प्रकार भी उपयोगमें लाये जानेपर वह अश्वमेध-यज्ञके अवभृथ-स्नानकी भाँति पवित्र करता है। सैकड़ों देवताओंसे घिरे हुए ब्रह्माजी भी उस रुद्रसरोवरपर गये हैं तथा उन्होंने उसे स्वर्गलोककी सीढ़ी कहा है। जो यहाँ प्राण त्याग करते हैं, वे रुद्रलोकमें जाते हैं। व्यासजी! जो लोग महाकाल वनमें निवास करते हैं, वे मनुष्य धन्य हैं। जो रुद्रसरोवरमें स्नान करते अथवा उसका जल पीते हैं, वे स्वधर्म तथा

सदाचारमें तत्पर रहनेवाले पुरुष सबके स्वामी महादेवजीका प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं।

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—प्राचीनकालमें सुद्युम्न नामक एक धर्मात्मा राजा थे। उनकी पत्नीका नाम सुदर्शना था। उसने दाल्भ्य मुनिका दर्शन करके पुत्रकी कामनासे पूछा—'भगवन्! किस दान, स्नान और विधिसे मुझे समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न पुत्र प्राप्त हो सकता है?'

**दाल्भ्यजी बोले**—बेटी! लोकस्रष्टा ब्रह्माजीने तुम्हारे लिये पहलेसे ही श्रेष्ठ पुत्र रच रखा है। तुम्हारे पतिदेव भगवान् शंकरकी आराधना करके उनके प्रसादसे अवन्तीपुरीमें जब चारों समुद्रोंको स्वरूपतः ले आवेंगे, तब उनमें राजाके स्नान करनेपर तुम्हें पुत्र प्राप्त होगा। अतः तुम अपने पतिको शंकरकी आराधनाके लिये प्रेरित करो।

दाल्भ्यके वचनसे रानी सुदर्शनाने अपने पतिको भगवान् शंकरकी आराधनाके लिये भेजा। उन्होंने गन्धमादन पर्वतपर जाकर आराधनाद्वारा भगवान् शिवको सन्तुष्ट किया। सन्तुष्ट होनेपर शंकरजी बोले—'राजेन्द्र! तुम अवन्तीपुरीको जाओ। वहाँ तुम्हें सुन्दर पुत्रकी प्राप्ति होगी। मेरे आदेशसे बादल उस मरुप्राय प्रदेशमें कुशस्थलीके निकट जायँगे और वहीं तुम्हें चारों समुद्र एकत्र दिखायी देंगे। नरश्रेष्ठ! तुम्हारे प्रार्थना करनेपर वे सभी समुद्र अंशकलाद्वारा वहाँ सदा निवास करेंगे।' ऐसा कहकर महादेवजी अन्तर्धान हो गये। तब राजा सुद्युम्न अपनी पत्नीके साथ कुशस्थलीमें गये और वहाँ उन्होंने राजस्थलके समीप चारों समुद्रोंको आया हुआ देखा। देखकर उन सबको नमस्कार किया। सुद्युम्नको नमस्कार करते देख वे समुद्र बोले—'सुव्रत! कोई उत्तम वरदान माँगो।' तब उन्होंने समस्त शुभ लक्षणोंसे युक्त पुत्र माँगा और इस प्रकार कहा—'जबतक यह पृथ्वी स्थित है, तबतक इस राजस्थलके समीप आप सब लोग निवास करें।'

**समुद्रोंने कहा**—राजन्! जबतक इस कल्पका अन्त न हो जायगा, तबतक हम सब लोग यहीं स्थित रहेंगे और हमारे जलमें स्नान करनेमात्रसे तुम्हें समस्त शुभ लक्षणोंसे युक्त पुत्रकी प्राप्ति होगी। इसलिये यहाँ स्नान करो।

व्यासजी! इस प्रकार राजा सुद्युम्नने अवन्तीपुरीमें चारो समुद्रोंको उतारा है। जो वहाँकी यात्रा करता है, उसके पुण्यफलका वर्णन सुनो। मनुष्यको चाहिये कि वह महापुण्यमय क्षार-समुद्रमें स्नान करके भक्तिपूर्वक पितरोंका श्राद्ध करे। फिर स्थलभागमें विद्यमान पार्वतीवल्लभ महादेवजीकी पूजा करे। तत्पश्चात् ताँबेका एक पात्र लेकर उसे नमकसे भर दे और उसमें कुछ सुवर्ण रखकर वेदवेत्ता ब्राह्मणको दान कर दे। उसके बाद सप्तधान्यसे युक्त और वस्त्रसे वेष्टित बाँसके पात्रमें फल और दक्षिणा रखकर यत्नपूर्वक अर्घ्य प्रदान करे। तदनन्तर क्षीरसागरमें जाकर पूर्ववत् स्नान करे और ताम्रके पात्रमें दूध भरकर दान करे। फिर दधिसमुद्रमें स्नान करके शुभ दही-भात दान करे। पुनः इक्षुसमुद्रमें स्नान करके ब्राह्मणको गुड़ समर्पित करे। इस प्रकार यात्रा करके दूध देनेवाली गौका दान करे। जो इस विधिसे राजस्थलके समीप यात्रा करता है, वह कल्याणमयी लक्ष्मी और सुन्दर पुत्र पाता है तथा मरनेपर स्वर्गलोकमें जाता है।

## शंकरवापी, शंकरादित्य, गन्धवती नदी, हरसिद्धि देवी, वटयक्षिणी, पिशाचतीर्थ, शिप्रागुप्तेश्वर आदि तथा हनुमत्केश्वरकी महिमा

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—व्यासजी! क्रीड़ा करते हुए भगवान् शंकरने 'शंकरवापी' नामक एक शुभ महातीर्थका निर्माण किया है। जो मनुष्य रविवारयुक्त अष्टमीको उक्त शंकरवापीमें पूर्व आदि दिशाओंके क्रमसे सभी दिशाओं और कोणोंमें एवं वापीके मध्यभागमें भी स्नान करके ब्राह्मणोंको

हविष्यान्नयुक्त नूतन कमण्डलु देता है और उन्हें शाक एवं मूल-फल अर्पण करता है, वह इहलोक और परलोकमें जो सम्पूर्ण भोगोंसे सम्पन्न स्थान है, वहाँ जाता और उत्तम ऐश्वर्य भोगता है।

तदनन्तर देवदेवेश्वर पिनाकपाणि भगवान् शिवने पवित्र भावसे देवाधिदेव दिवाकरका स्तवन किया। इससे सन्तुष्ट होकर दिवानाथ सूर्य वहाँ आये और इस प्रकार बोले—'भूतनाथ! आप मुझसे वर माँगिये।' भगवान् शिव बोले—'देव! आप समस्त देहधारियोंके हितके लिये यहाँ एक अंशसे स्थित होइये।' भगवान् शंकरका यह वचन सुनकर सूर्यदेवने वहाँ अवतार लिया। सम्पूर्ण लोकोंको शान्ति प्रदान करनेवाले देवेश्वर सूर्य वहाँ शंकरादित्यके नामसे प्रसिद्ध हैं। उस समय देवगण विस्मित होकर कहने लगे—'अहो! यह स्थान धन्य है, जहाँ साक्षात् भगवान् शिव विराजमान हैं और सूर्यदेव भी इस तीर्थका माहात्म्य बढ़ानेके लिये यहीं आकर बस गये हैं।' तदनन्तर ब्रह्मा आदि देवता शंकरादित्यकी स्थापना और पूजा आदि करके बोले—'प्रभो! जो मनुष्य आपकी स्तुति करेंगे, उन्हें जरा और मृत्युका कष्ट नहीं भोगना पड़ेगा। शंकरादित्यके दर्शन करनेवालेको कभी आधि-व्याधि और दारिद्र्य, रोग और बन्धु-वियोग आदि नहीं होते।'

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—एक समय भगवान् महेश्वरने कपाल धोनेके लिये शुद्ध जल लेकर उससे कपालको अच्छी तरह धोकर उस जलको पृथ्वीपर फेंक दिया। वहीं त्रिभुवन-विख्यात गन्धवती नामवाली पुण्य नदी प्रकट हुई। उसमें स्नान करना सदा ही उत्तम है, ऐसा साक्षात् महादेवजीने कहा है। वहाँ किया हुआ श्राद्ध और तर्पण सब अक्षय होता है। जो मनुष्य वहाँ चन्द्रग्रहणमें स्नान करके पिण्डदान देता है, उसके पितर बारह वर्षोंतक तृप्त रहते हैं। काशी और गया आदि तीर्थोंमें जो एक मासमें तृप्ति होती है, वह यहाँ तत्काल हो जायगी और सन्तुष्ट हुए पितर उन मनुष्योंको मनोवांछित सिद्धिका वरदान देंगे। वहाँ दशाश्वमेध तीर्थमें स्नान करके शिवजीका दर्शन करनेपर मनुष्य दस अश्वमेध-यज्ञोंका फल पाता है।

अब मैं हरसिद्धि देवीका माहात्म्य बतलाऊँगा, जो उत्तम सिद्धि देनेवाली हैं। पूर्वकालमें चण्ड और प्रचण्ड नामवाले दो महाबली दानव स्वर्गलोकको उजाड़कर कैलास पर्वतपर आये। वहाँ उन्होंने दाहिने हाथमें पिनाक और खट्वांग लिये हुए और दूसरे हाथमें 'पाँसा' उठाये हुए भगवान् सदाशिवको देखा। तब वे दैत्य शिवजीके पार्षदोंको पीड़ा देने लगे। यह देख नन्दीने उन्हें रोका। उनके मना करनेपर उन दानवोंने अपने-अपने त्रिशूलोंसे एक ही साथ नन्दीके दायें और बायें पार्श्वमें आघात किया। नन्दी दोनों ओरसे विदीर्ण हो गये और उनके अंगोंसे रक्तकी बड़ी भारी धारा बह चली। उन्हें घायल हुआ देख भगवान् शिवने देवीसे कहा—'इन दोनों महादैत्योंको मार डालना चाहिये।' देवीने कहा—'अभी मारती हूँ।' इतना कहते-कहते वे दोनों बलाभिमानी दानव देवीके हाथसे मरे हुए दिखायी दिये। तब भगवान् हरने कहा—'चण्डि! तुमने दोनों दुष्ट दानवोंका तत्काल संहार किया है, इसलिये लोकमें तुम 'हरसिद्धि' के नामसे विख्यात होओगी। जो मनुष्य हरसिद्धि देवीका परम भक्तिपूर्वक दर्शन करता है, वह अक्षय भोग पाता और मृत्युके पश्चात् शिवधामको जाता है।'

जो मनुष्य भक्तिपूर्वक एक महीनेतक प्रतिदिन भगवती वटयक्षिणीका दर्शन करता है और धतूरके फूलोंसे उनकी पूजा करता है, उसकी सिद्धि कभी क्षीण नहीं होती।

जो मनुष्य पिशाचतीर्थमें विशेषतः चतुर्दशीको स्नान करके भक्तिपूर्वक तिलदान देता है, वह कभी पिशाच नहीं होता। इतना ही नहीं, उसका कुल भी पिशाचतासे मुक्त हो जाता है। जिसका नाम लेकर मनुष्य वहाँ स्नान करता है, वह भी पिशाचतासे छुटकारा पा जाता है। शिवभक्त एवं जितेन्द्रिय मनुष्य 'शिप्रागुप्तेश्वर' का दर्शन करके सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। जो मनुष्य

स्नान करके भक्तिपूर्वक अगस्त्येश्वरका दर्शन करता है, वह यमराजके घरमें न जाकर रुद्रलोकको जाता है। जो मनुष्य शिप्रामें स्नान करके ढुण्ढेश्वर शिवका दर्शन करता है, वह अश्वमेध-यज्ञका फल पाता है। पूर्वकालमें महादेवजीने यहाँ डमरू बजाया था, इसलिये वे डमरुकेश्वरके नामसे प्रसिद्ध हुए। जो भक्तिपूर्वक डमरुकेश्वर महादेवका दर्शन करता है, उसे रोगका भय नहीं होता और वह मरनेपर शिवलोकको जाता है। जो मानव भक्तिके साथ अनादिकल्पेश्वरका दर्शन करता है, वह स्वर्गलोकका राज्य पाता है। जो सिद्धेश्वर, वीरभद्र और चण्डिकाका दर्शन करता है, वह सिद्धि और सर्वत्र विजय पाता है। त्रिविष्टपतीर्थमें स्नान करके स्वर्णजालेश्वरका दर्शन करनेके पश्चात् जो स्वर्ण (धतूर) से उनका पूजन करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। जो स्नानके पश्चात् भक्तिपूर्वक कर्कटेश्वर शिवका दर्शन करता है, उसे कभी सर्पसे भय और दरिद्रता नहीं होती। जो पराभक्तिपूर्वक सनातनी महामायाका दर्शन करता है, वह विष्णुमायासे मुक्त होकर परम पदको प्राप्त होता है। स्वर्गद्वारमें स्नान करके भैरव-देवका दर्शन करनेसे मनुष्य सौ यज्ञोंका फल पाता है।

जो शिव-सरोवरमें स्नान करके हनुमत्केश्वरका दर्शन करता है, वह कोटि सहस्र कल्पोंतक वायुलोकमें आनन्द भोगता है।

**व्यासजी बोले**—भगवन्! आपने जिस हनुमत्-केश्वरकी चर्चा की है, उनकी सनातन कथा कहिये।

**सनत्कुमारजीने कहा**—ब्रह्मन्! पूर्वकालमें रावण नामक सुप्रसिद्ध राक्षस हो चुका है, जो तीनों लोकोंके लिये कण्टक था। भगवान् विष्णुने श्रीरामचन्द्रजीका अवतार धारण करके उसे लंकामें मार गिराया। दुष्ट रावणका वध करके जनकनन्दिनी सीताको साथ ले वे वानर और भालुओंसहित अपनी नगरी अयोध्याको लौटे। वहाँ राज्य पाकर श्रीरामचन्द्रजी ऋषियोंसे घिरे हुए बैठते और कथा सुनते थे। एक दिन कथाके अन्तमें श्रीरामने मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यसे पूछा—'मुने! भगवान् शंकर और हनुमान्‌जीमें कौन अधिक बलवान् है।' तब मुनिवर अगस्त्यने दशरथनन्दन श्रीरामसे कहा—'प्रभो! युद्ध और शौर्यमें जैसे भगवान् महेश्वरकी कहीं उपमा नहीं है, उसी प्रकार वायुनन्दन हनुमान्‌जीको भी समझना चाहिये।'

यह सुनकर हनुमान्‌जीने मन-ही-मन सोचा—'मुनिवर अगस्त्यजीने श्रीरघुनाथजीके सामने मेरी उपमा शिवजीके साथ दी है, अतः अब मैं लंकापुरीमें राक्षसराज विभीषणसे एक शिवलिंग माँग लानेके लिये जाऊँगा।' इस निश्चयके अनुसार वे लंकामें जाकर विभीषणसे बोले—'महाभाग! तुम मुझे एक उत्तम शिवलिंग प्रदान करो।' राक्षसराज विभीषण बोले—'सुव्रत! रावणके द्वारा स्थापित किये हुए ये छः लिंग हैं। इनमेंसे जो तुम्हें प्रिय हो उसे बताओ, वही मैं तुम्हें दे दूँगा।'

तदनन्तर हनुमान्‌जीने मोतीके समान स्वच्छ एक शिवलिंगका हाथसे स्पर्श किया। विभीषण बोले—'महावीर! तुमने जिस शिवलिंगको ग्रहण किया है, वह मैंने तुम्हें दे दिया।' तत्पश्चात् उस महालिंगको लेकर हनुमान्‌जी निर्मल आकाशमार्गसे चले और सातवें दिन अवन्तीपुरीमें आ पहुँचे। वहाँ रुद्रसरोवरके तटपर उसे स्थापित करके उन्होंने सरोवरमें स्नान किया और महाकालजीकी पूजाके लिये जानेका विचार किया। उस समय हनुमान्‌जीने उस लिंगको उठा लेनेकी चेष्टा की, किंतु उठानेमें समर्थ न हुए। तब वहाँ स्थित हुए महादेवजीने प्रत्यक्ष दर्शन दे वायुनन्दन हनुमान्‌से कहा—'हनुमन्! तुम इस क्षेत्रमें अपने नामसे मेरी स्थापना करके पूजन करो। यह शिवलिंग संसारमें हनुमत्केश्वरके नामसे प्रसिद्ध होगा।' तब हनुमान्‌जीने पर्वतके समान ऊँचे उस शिवलिंगको वहीं स्थापित कर दिया। जो मनुष्य शनिवारको हनुमत्केश्वर शिवका दर्शन करता है, उसे शत्रुका भय नहीं होता और वह संग्राममें विजय पाता है।

# महाकालकी परिक्रमा, यात्रा और विभिन्न देवताओंके दर्शनका माहात्म्य

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—व्यासजी! जो मनुष्य यमेश्वरका दर्शन करता और तिलमिश्रित जलसे उन्हें स्नान कराकर कुंकुमका अनुलेप दे कमल-पुष्पोंसे उनकी पूजा करता है, उसकी जहाँ कहीं भी मृत्यु क्यों न हुई हो, यमराज उसके लिये पिताके समान बर्ताव करनेवाले हो जाते हैं।

रुद्रसरोवर नामक तीर्थ तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है। जो उस तीर्थमें स्नान करके कोटीश्वर शिवका दर्शन करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होता और भगवान् शिवके लोकमें जाता है। कोटि तीर्थमें पितरोंके उद्देश्यसे जो कुछ दिया जाता है, वह सब कोटिगुना होकर उन्हें मिलता है। कोटि तीर्थमें नहाकर जो अविनाशी परब्रह्मका चिन्तन करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। कार्तिक अथवा वैशाखकी पूर्णिमाको सामयिक पुष्पों तथा सुन्दर वस्त्र एवं गन्ध आदिसे महादेवजीकी पूजा करे। कर्पूर, पुष्प, चन्दन तथा अगरु—इन सबको बराबर-बराबर लेकर सिलपर पीस ले और उसीका महाकालजीके श्रीअंगोंमें अनुलेपन करे। जो इस प्रकार उनकी आराधना करता है, वह उन्हींका पार्षद होता है।

रुद्रसरोवरमें स्नान करके कोटीश्वर शिवका दर्शन तथा वन्दन करनेके पश्चात् मनुष्य सनातन महाकालजीका दर्शन करनेके लिये जाय। गन्ध, पुष्प, नमस्कार आदि उपचारोंके द्वारा उन देवेश्वर शिवकी भलीभाँति आराधना करके प्रणाम करे। तत्पश्चात् कपालमोचन तीर्थको जाय। यह वही स्थान है, जहाँ देवेश्वर शिवने पृथ्वीपर कपाल रखा था। वहाँ कपाल रखते ही एक उत्तम शिवलिंग प्रकट हुआ, जो कपालमोचन कहलाया। वह सब पापोंका नाश करनेवाला है। वहाँ कृपणता छोड़कर सौ पल घीसे कपालमोचनको स्नान करावे। इतना सम्भव न हो तो पचास, पचीस अथवा साढ़े बारह पल घीसे भी स्नान करावे। जो ऐसा करता है, वह आयु पूर्ण होनेपर शिवलोकमें प्रतिष्ठित होता है। तत्पश्चात् नमस्कार करके उत्तम कपिलेश्वर तीर्थमें जाय। कपिलेश्वरजीके दर्शनसे ब्रह्महत्यारा भी मुक्त हो जाता है। वहाँसे हनुमत्केश्वर देवका दर्शन करनेके लिये एकाग्रचित्तसे जाय। व्यासजी! हनुमत्केश्वरके दर्शनसे अतुल ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है। तदनन्तर सनातन पिप्पलाद महादेवजीके समीप जाय, जिनके दर्शनमात्रसे मुक्ति हो जाती है। तदनन्तर भक्ति और श्रद्धाके साथ स्वप्नेश्वरका दर्शन करनेके लिये जाय। स्वप्नेश्वरदेवके दर्शनसे दुःस्वप्नका नाश होता है। वहाँसे सब ओर मुखवाले विश्वतोमुख ईशान महादेवजीके पास जाय, जिनके दर्शनमात्रसे मनुष्य सम्पूर्ण विश्वका स्वामी होता है। तत्पश्चात् क्रोधको जीतकर इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए सोमेश्वरका दर्शन करनेके लिये जाय। उनके दर्शनसे मनुष्य कुष्ठ रोग आदि दोषोंसे मुक्त हो जाता है। व्यासजी! वहाँसे एकाग्रचित्त होकर मनुष्य वैश्वानरेश्वरके समीप जाय। उनके दर्शनसे इहलोकमें मनुष्यका सदा अभ्युदय होता है। इसके बाद हाथमें बीजपूरक (बिजौरा नीबू) धारण करनेवाले लकुलीशके समीप जाय। उनके दर्शनसे रुद्रत्व प्राप्त होता है। तत्पश्चात् गणपेश्वर महादेवकी सेवामें जाय, जिनके दर्शनमात्रसे सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। वहाँसे वयोवृद्ध सनातन महाकालका दर्शन करनेके लिये जाय, जिनके दर्शनसे रोग, जरा और व्याधिका सर्वथा अभाव हो जाता है। तदनन्तर विघ्नोंका नाश करनेवाले प्राणीशदेवके समीप जाय और भक्तिपूर्वक एकाग्रचित्त हो सौ घड़ा जलसे उनको स्नान करावे। उनको स्नान करानेसे सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और उनके दर्शनसे स्वर्ग मिलता है। तत्पश्चात् उसी मार्गमें प्राप्त होनेवाले दण्डपाणिजीके समीप जाय, जिनके दर्शनमात्रसे यमलोक नहीं देखना पड़ता। तदनन्तर भक्ति और

श्रद्धाके साथ पुष्पदन्तका दर्शन करनेके लिये जाय। उनके दर्शनमात्रसे मनुष्य सब पातकोंसे छूट जाता है। तत्पश्चात् एकाग्रचित्त हो गुह्यमहाकालके समीप जाय, जिनके दर्शनमात्रसे मनुष्यको गुप्त पापोंसे छुटकारा मिल जाता है। वहाँसे उत्तम दुर्वासेश्वरके समीप जाय, जिनके दर्शनमात्रसे मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। दुर्वासेश्वरके समीप श्वास रोककर चले और महादुर्गा गौरीके पास जाकर श्वास छोड़े। इसके बाद एकाग्रचित्त होकर देवीकी पूजा करे। इसके अनन्तर कायेश्वर नामसे प्रसिद्ध देवाधिदेव महेश्वरके समीप जाय, जिनके दर्शनमात्रसे यमलोकको देखनेका अवसर नहीं आता। वहाँसे वधिरेश्वरका दर्शन करनेके लिये जाय, जिनके दर्शनमात्रसे बहरापन दूर हो जाता है। तत्पश्चात् यात्रेश्वरके समीप जाय, जो यात्राके पूर्ण फलको देनेवाले हैं। वहाँ अपने नाम, स्थान और गोत्रका उच्चारण करना चाहिये। यदि नामका उच्चारण न करे तो उसकी यात्रा निष्फल होती है। यात्रेश्वरदेवके आगे एकाग्रचित्त होकर बैठे और भक्तियुक्त होकर बार-बार नमस्कार करके स्तुति बोले। स्तुतिके पश्चात् इस प्रकार कहे—

**मया समर्पिता यात्रा त्वत्प्रसादान्महेश्वर।**
**संसारसागराद् घोरान्मामुद्धर जगत्पते॥**

'महेश्वर! मैंने आपकी ही कृपासे यह यात्रा पूरी करके आपके चरणोंमें समर्पित की है। जगत्पते! इस घोर संसार-सागरसे मेरा उद्धार कीजिये।'

जो इस विधिसे भगवान् महाकालकी प्रदक्षिणा करता है, उसके द्वारा सातों द्वीपोंसे युक्त समस्त पृथ्वीकी परिक्रमा हो जाती है। श्रेष्ठ ब्राह्मणको दो लाख गोदान करनेसे जो फल होता है, वही देवाधिदेव महाकालकी एक बार प्रदक्षिणा करनेसे मिल जाता है। महाकालकी प्रदक्षिणा बड़ी भक्तिके साथ करनी चाहिये। इससे पग-पगपर अश्वमेध-यज्ञका फल मिलता है। यह मुझसे साक्षात् भगवान् शंकरने कहा है। जो इस प्रकार भगवान् शिवका चिन्तन करते हुए यात्रा पूरी करता है और वस्त्रसहित दक्षिणा देता है, वह सात जन्मोंमें किये हुए समस्त पापोंसे छूट जाता है। इस तरह यात्रा समाप्त करके मनुष्य अपने घर जाय और यात्रामें जो मुख्य-मुख्य देवता आते हैं, उनकी संख्याके अनुसार छब्बीस श्रेष्ठ ब्राह्मणों तथा शिवध्यानपरायण शिवभक्तोंको भोजन करावे। फिर वस्त्रसहित दक्षिणा देकर उनसे आशीर्वाद ले उन्हें विदा करे। तदनन्तर सब भृत्यवर्गके साथ स्वयं भोजन करे। दीनों, अनाथों, दरिद्रों, अन्धों और अंगविकल मनुष्योंको भी भोजन करावे। यह सब करनेसे एकाग्रचित्तवाला मनुष्य माता-पिताकी सौ पीढ़ियोंका उद्धार करके शिवलोकमें आनन्दका अनुभव करता है।

## वाल्मीकिकी तपस्या और वाल्मीकेश्वरकी महिमा

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—व्यासजी! जो मौन और ध्यानपरायण होकर भक्तिपूर्वक वाल्मीकेश्वर देवका पूजन करता है, वह उत्तम कवित्व-शक्तिको प्राप्त होता है।

**व्यासजीने पूछा**—भगवन्! भगवान् वाल्मीकेश्वर कौन हैं और वे यहाँ किस प्रकार प्रकट हुए हैं?

**सनत्कुमारजीने कहा**—विप्रवर! प्राचीन कालमें सुमति नामक एक भृगुवंशी ब्राह्मण थे। उनकी पत्नी कौशिकवंशकी कन्या थीं। सुमतिके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम अग्निशर्मा रखा गया। वह पिताके बार-बार कहनेपर भी वेदाभ्यासमें मन नहीं लगाता था। एक बार उसके देशमें बहुत दिनोंतक वर्षा नहीं हुई। उस समय बहुत लोग दक्षिण दिशामें चले गये। विप्रवर सुमति भी अपने पुत्र और स्त्रीके साथ विदिशाके वनमें चले गये और वहाँ आश्रम बनाकर रहने लगे। वहाँ अग्निशर्माका लुटेरोंसे साथ हो गया; अतः जो भी उस मार्गसे आता, उसे वह पापात्मा मारता और लूट लेता था। उसको अपने ब्राह्मणत्वकी स्मृति नहीं रही। वेदका अध्ययन जाता रहा, गोत्रका

ध्यान चला गया और वेद-शास्त्रोंकी सुधि भी जाती रही। किसी समय तीर्थयात्राके प्रसंगसे उत्तम व्रतका पालन करनेवाले सप्तर्षि उस मार्गपर आ निकले। अग्निशर्माने उन्हें देखकर मारनेकी इच्छासे कहा—'ये सब वस्त्र उतार दो, छाता और जूता भी रख दो।' उसकी यह बात सुनकर अत्रि बोले—'तुम्हारे हृदयमें हमें पीड़ा देनेका विचार कैसे उत्पन्न हो रहा है? हम तपस्वी हैं और तीर्थयात्राके लिये जा रहे हैं।'

**अग्निशर्माने कहा**—मेरे माता-पिता, पुत्र और पत्नी हैं। उन सबका पालन-पोषण मैं ही करता हूँ। इसलिये मेरे हृदयमें यह विचार प्रकट हुआ है।

**अत्रि बोले**—तुम अपने पितासे जाकर पूछो तो सही कि मैं आपलोगोंके लिये पाप करता हूँ, यह पाप किसको लगेगा। यदि वे यह पाप करनेकी आज्ञा न दें, तब तुम व्यर्थ प्राणियोंका वध न करो।

**अग्निशर्मा बोला**—अबतक तो कभी मैंने उन लोगोंसे ऐसी बात नहीं पूछी थी। आज आपलोगोंके कहनेसे मेरी समझमें यह बात आयी है। अब मैं उन सबसे जाकर पूछता हूँ। देखूँ किसका कैसा भाव है? जबतक मैं लौटकर नहीं आता, तबतक आपलोग यहीं रहें।

ऐसा कहकर अग्निशर्मा तुरंत अपने पिताके समीप गया और बोला—'पिताजी! धर्मका नाश करने और जीवोंको पीड़ा देनेसे बड़ा भारी पाप देखा जाता है (और मुझे जीविकाके लिये यही सब पाप करना पड़ता है)। बताइये, यह पाप किसको लगेगा?' पिता और माताने उत्तर दिया—'तुम्हारे पापसे हम दोनोंका कोई सम्बन्ध नहीं है। तुम करते हो, अतः तुम जानो। जो कुछ तुमने किया है, उसे फिर तुम्हें ही भोगना पड़ेगा।' उनका यह वचन सुनकर अग्निशर्माने अपनी पत्नीसे भी पूर्वोक्त बात पूछी। पत्नीने भी यही उत्तर दिया—'पापसे मेरा सम्बन्ध नहीं है, सब पाप तुम्हें ही लगेगा।' फिर उसने अपने पुत्रसे पूछा। पुत्र बोला—'मैं तो अभी बालक हूँ (मेरा आपके पापसे क्या सम्बन्ध?)।' उनकी बातचीत और व्यवहारको ठीक-ठीक समझकर अग्निशर्मा मन-ही-मन बोला—'हाय! मैं तो नष्ट हो गया। अब वे तपस्वी महात्मा ही मुझे शरण देनेवाले हैं।' फिर तो उसने उस डंडेको दूर फेंक दिया, जिससे कितने ही प्राणियोंका वध किया था और सिरके बाल बिखराये हुए वह तपस्वी महात्माओंके आगे जाकर खड़ा हुआ। वहाँ उनके चरणोंमें दण्डवत्-प्रणाम करके बोला—'तपोधनो! मेरे माता, पिता, पत्नी और पुत्र कोई नहीं हैं। सबने मुझे त्याग दिया है, अतः मैं आपलोगोंकी शरणमें आया हूँ। अब उत्तम उपदेश देकर आप नरकसे मेरा उद्धार करें।'

**उसके इस प्रकार कहनेपर ऋषियोंने अत्रिजीसे कहा**—मुने! आपके कथनसे ही इसको बोध प्राप्त हुआ है, अतः आप ही इसे अनुगृहीत करें। यह आपका शिष्य हो जाय। 'तथास्तु' कहकर अत्रिजी अग्निशर्मासे बोले—'तुम इस वृक्षके नीचे बैठकर इस प्रकार ध्यान करो। इस ध्यानयोगसे और महामन्त्र (रामनाम)-के जपसे तुम्हें परम सिद्धि प्राप्त होगी।' ऐसा कहकर वे सब ऋषि यथेष्ट स्थानको चले गये। अग्निशर्मा तेरह वर्षोंतक मुनिके बताये अनुसार ध्यानयोगमें संलग्न रहा। वह अविचल भावसे बैठा रहा और उसके ऊपर बाँबी जम गयी। तेरह वर्षोंके बाद जब वे सप्तर्षि पुनः उसी मार्गसे लौटे, तब उन्हें वल्मीकमेंसे उच्चारित होनेवाली रामनामकी ध्वनि सुनायी पड़ी। इससे उनको बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने काठकी कीलोंसे वह बाँबी खोदकर अग्निशर्माको देखा और उसे उठाया। उठकर उसने उन सभी श्रेष्ठ मुनियोंको, जो तपस्याके तेजसे उद्भासित हो रहे थे, प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'मुनिवरो! आपके ही प्रसादसे आज मैंने शुभ ज्ञान प्राप्त किया है। मैं पाप-पंकमें डूब रहा था, आपने मुझ दीनका उद्धार कर दिया है।'

**उसकी यह बात सुनकर परम धर्मात्मा सप्तर्षि बोले**—वत्स! तुम एकचित्त होकर दीर्घकालतक

वल्मीक (बाँबी) में बैठे रहे हो, अतः इस पृथ्वीपर तुम्हारा नाम 'वाल्मीकि' होगा। यों कहकर वे तपस्वी मुनि अपनी गन्तव्य दिशाकी ओर चल दिये। उनके चले जानेपर तपस्वीजनोंमें श्रेष्ठ वाल्मीकिने कुशस्थलीमें आकर महादेवजीकी आराधना की और उनसे कवित्वशक्ति पाकर एक मनोरम काव्यकी रचना की, जिसे 'रामायण' कहते हैं और जो कथा-साहित्यमें सबसे प्रथम माना गया है।

व्यासजी! तभीसे अवन्तीमें वाल्मीकेश्वर शिवकी ख्याति हुई, जो मनुष्योंको कवित्वशक्ति देनेवाले हैं।

## शुक्रेश्वर आदिके पूजनकी महिमा, पंचेशानी यात्राका माहात्म्य तथा पद्मावती आदिके दर्शनका फल

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—श्वेत पुष्प और चन्दनसे शुक्रेश्वरकी पूजा करके उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम करनेसे मनुष्य रुद्रलोकमें प्रतिष्ठित होता है। व्यासजी! भीमेश्वरका दर्शन और भक्तिसे उनका पूजन करके मनुष्य युद्धमें, रात्रिमें, जलमें और अग्निमें कहीं भी भयको प्राप्त नहीं होता। जो मनुष्य तिलके तेलसे गर्गेश्वरको स्नान कराकर बिल्वपत्रसे उनका पूजन करता है, उसके धर्मकी वृद्धि होती है। जो चतुर्दशीको उपवास करके एक प्रस्थ तिलके जलसे गर्गेश्वरको नहलाकर तिलोंसे ही उनकी पूजा करता है, वह सदा सौख्यका भागी होता है। कामेश्वरका कुंकुम, चन्दन आदिसे भलीभाँति पूजन करके मनुष्य इच्छानुसार चलनेवाले विमानके द्वारा निःसन्देह स्वर्गलोकको जाता है। कार्तिक शुक्लपक्षकी नवमी तिथिमें चूडामणि देवको नमस्कार करके मनुष्य कभी विपरीत योनिमें नहीं जाता और उसकी बुद्धि सदा धर्ममें लगी रहती है। कृष्णपक्षकी अष्टमीको उपवास करके जो मनुष्य चण्डेश्वरजीकी पूजा करता है, वह निर्माल्य-लंघनजनित पाप-तापसे कभी लिप्त नहीं होता। महादेवजीके इन सब पवित्र तीर्थोंकी यात्रा करके विशुद्ध चित्तवाला मनुष्य सदाशिवके मनोहर धामको प्राप्त होता है।

जो मानव इस महाकाल-क्षेत्रमें निवास करते हैं, वे मृत्युके पश्चात् समस्त कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले विमानोंद्वारा रुद्रलोकको जाते हैं। कृष्णपक्षकी चतुर्दशी अथवा अमावास्याको एक दिन उपवास करके जो मनुष्य महेश्वरके ध्यानपूर्वक प्रतिलोम और अनुलोम-क्रमसे पंचेशानी यात्रा करते हुए पाँचों ईशान-विग्रहोंको नमस्कार करता है, वह बहुत जन्मोंके किये हुए समस्त पापोंसे छुटकारा पा जाता है और वह इसी शरीरसे रुद्रलोकको जाता है।

पंचेशानी यात्रा इस प्रकार की जाती है—एकादशीको प्रातःकाल एकाग्रचित्त हो रुद्रसरोवरमें स्नान करे। तत्पश्चात् श्राद्ध करके महाकालेश्वरको प्रणाम करे। फिर पिंगलेश्वरके समीप जाकर वहाँ स्नान और श्राद्ध करे। तदनन्तर पिंगलेश्वर गणेशजीके समीप जाकर गन्ध, पुष्प और धूप आदिसे उनका पूजन करे। वहाँसे लौटकर फिर महाकालेश्वरके समीप आकर स्नान करे। स्नानके पश्चात् जितेन्द्रिय पुरुष स्वयं प्रकट हुए सनातन देवदेवेश्वर महाकालका पूजन करे। वहीं ईशानके समीप रात्रिमें भोजन करके महेश्वरका ध्यान करते हुए भूमिपर शयन करे। इस प्रकार रात्रि बितानेके अनन्तर द्वादशीको प्रातःकाल उठकर स्नानके पश्चात् पूर्ववत् सब कुछ करे। कायावरोहणतीर्थमें जाकर पिंगलेश्वरकी ही भाँति पूजा करे। इसी प्रकार त्रयोदशीको भी यात्रा करके पश्चिममें बिल्वेश्वरका पूजन करे। चतुर्दशीको उत्तर दिशामें उत्तरेश्वरका पूजन करे। फिर अमावास्यामें स्नान करके पवित्र हो महाकालेश्वरके समीप जाकर गन्ध, पुष्प, धूप और भाँति-भाँतिके नैवेद्योंद्वारा उनका पूजन करे। गीत, नृत्य

आदि एवं प्रणाम करके उनसे क्षमा-प्रार्थना करे। इस प्रकार यात्रा करके अपने घर जाय और वहाँ शिवभक्तिपरायण पाँच ब्राह्मणोंको भोजन करावे। व्यासजी! जो मनुष्य ऐसा करता है, वह स्वर्गलोकमें आनन्दका भागी होता है।

जो नियमपूर्वक कुशस्थलीकी परिक्रमा करता है, उसके द्वारा सात द्वीपोंवाली वसुन्धराकी परिक्रमा हो जाती है। जो मनुष्य पद्मावतीजीका दर्शन और कमलके पुष्पोंद्वारा उनका पूजन करता तथा धूप और नैवेद्य चढ़ाता है, वह मृत्युके पश्चात् ब्रह्मलोकमें जाता है। जो सुवर्णके समान पीले रंगवाले पुष्पोंसे महाभक्तिपूर्वक स्वर्णशृंगाटिका देवीकी पूजा करता है, वह शिवलोकको जाता है। जो त्रिभुवन-विख्यात अवन्ती देवीका दर्शन करता है, वह इच्छानुसार चलनेवाले विमानद्वारा इन्द्रलोकको जाता है। जो भक्तिपूर्वक कमलके फूलोंसे अमरावती देवीका पूजन करता है, वह स्वर्गमें देवताओंके साथ सदा आनन्द भोगता है। जो एकाग्रचित्त हो भक्तिपूर्वक उज्जयिनी देवीका दर्शन करता है, वह रुद्रलोकमें सम्पूर्ण ऐश्वर्योंसे सम्पन्न हो प्रतिष्ठित होता है। जो भगवान् शिवमें भक्ति रखते हुए विशाला देवीका दर्शन करता है, वह कायिक, वाचिक और मानसिक त्रिविध पापोंसे मुक्त हो जाता है।

कृष्ण पक्षकी अष्टमी तिथिको उपवास करके जितेन्द्रिय, पवित्र एवं जितात्मा होकर किसीके साथ भी वार्तालाप न करे—मौन रहे। इस प्रकार रहकर जो अक्रूरेश्वर देवका दर्शन और पूजन करता है, वह रुद्रलोकको प्राप्त होता है। जो स्नान करके पवित्र हो, इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए ब्रह्माजीका दर्शन करता है, वह घोर पातकसे मुक्त हो ब्रह्मलोकको जाता है।

## अंकपादतीर्थकी महिमा, श्रीकृष्णके द्वारा मरे हुए गुरुपुत्रके लाये जानेकी कथा

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—जहाँ भगवान् महाकाल हैं, शिप्रा नदी है, अत्यन्त निर्मल गति प्राप्त होती है और जिस उज्जयिनीमें विशालाक्षी देवीका दर्शन प्राप्त होता है, वहाँका निवास किसको नहीं भाता है। जो मनुष्य महानदी शिप्रामें स्नान करके भगवान् महाकालको नमस्कार करता है, वह मृत्युका शोक नहीं करता। महाकाल क्षेत्रमें मरा हुआ कीट और पतंग भी भगवान् शिवका सेवक होता है। अवन्तीमें अंकपाद नामक तीर्थके भीतर श्रीबलराम और श्रीकृष्णका दर्शन करे। उन दोनोंके दर्शनमात्रसे मनुष्य यमलोकको नहीं देखता।

**व्यासजीने पूछा**—महामुने! वे दोनों बलराम और श्रीकृष्ण अंकपाद नामक तीर्थमें कैसे गये?

**सनत्कुमारजीने कहा**—मुने! बलराम और श्रीकृष्ण—ये दोनों भाई भगवान्के अवतार थे और इस पृथ्वीका भार उतारनेके लिये यदुकुलमें प्रकट हुए थे। उन दोनोंका रूप दिव्य था। दोनों ही बड़े तेजस्वी पुरुष थे। यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णने कंस और चाणूरको मारकर उग्रसेनको यदुकुलके राजपर अभिषिक्त किया और पूछा—'राजन्! अब मेरे लिये क्या आज्ञा है?' उनके ऐसा कहनेपर राजा उग्रसेन बोले—'कृष्ण! मेरा सब कार्य सिद्ध है, तुम्हारे रहते मेरे लिये कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है। अब तुम दोनों उज्जयिनी पुरीमें जाकर विद्या पढ़ो।' राजाका यह आदेश पाकर बलराम और श्रीकृष्ण आचार्य सान्दीपनि मुनिके घर गये। वहाँ जाकर उन्होंने चारों वेदोंको कण्ठस्थ किया, सम्पूर्ण आचार-विचारका ज्ञान प्राप्त किया और रहस्य तथा संहारसहित धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की। यह सारा ज्ञान उन्होंने चौंसठ दिन-रातमें ही प्राप्त कर लिया। सान्दीपनि मुनिने उन दोनोंका यह असम्भव एवं अलौकिक कर्म देखकर सोचा,

जान पड़ता है इन दोनोंके रूपमें साक्षात् सूर्य और चन्द्रमा आ गये हैं। तदनन्तर वे अपने शिष्योंके साथ स्नान करनेके लिये महाकाल तीर्थमें गये। उन शिष्योंके साथ बलराम और श्रीकृष्ण भी थे। वहाँ उन दोनों भाइयोंने जब भगवान् महाकालको प्रणाम किया, तब वे साक्षात् प्रकट होकर उनसे बोले—'प्रभो! तुम सम्पूर्ण देवताओंके स्वामी हो। मनुष्यरूपमें अवतीर्ण हुए तुम्हारे द्वारा साधु पुरुषों और अज्ञानी जीवोंको भी सदा सुख ही प्राप्त हुआ है तथा मनुष्योंको पीड़ा देनेवाले राजा कंस आदि बलाभिमानी दैत्योंको तुम दोनोंने मार गिराया है। अब तुम्हें मुनियों, सिद्धों और देवताओंका पालन करना चाहिये।'

'बहुत अच्छा, ऐसा ही करूँगा'—ऐसा कहकर विश्ववन्द्य भगवान् श्रीकृष्ण वहाँसे चले गये। अपना अध्ययन पूरा करके कृतकृत्य हुए श्रीकृष्ण और बलरामने सान्दीपनि मुनिसे हर्षमें भरकर कहा—'आचार्य! श्रीचरणोंकी सेवामें गुरुदक्षिणाके रूपमें हम क्या दें।' उनका यह प्रिय वचन सुनकर गुरुने प्रसन्न होकर कहा—'मेरे एक पुत्र पैदा हुआ था। उसे तीर्थयात्रामें प्रभासक्षेत्रके भीतर समुद्रके जलमें एक जल-जन्तुने मार डाला। मेरे उसी पुत्रको तुम ले आओ।'

'बहुत अच्छा' कहकर श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ चले गये। प्रभासक्षेत्रमें समुद्रने उनसे कहा—'भगवन्! मेरे जलमें पंचजन नामक एक महादैत्य रहता है। उसीने तिमिका रूप धारण करके उस बालकको खा लिया है।' तब ग्राहरूपी उस महाबली पंचजनको मारकर श्रीकृष्णने उसके उदरमें स्थित शंखको ग्रहण किया। उसके पेटमें जब बालक नहीं दिखायी दिया, तब वे वरुणलोकमें गये और वरुणदेवसे बोले—'भगवन्! मुझे एक महान् रथ दीजिये, जिसपर आरूढ़ होकर मैं प्रेतराज यमका दर्शन करूँ।' यह सुनकर वरुणजीने प्रसन्नचित्त होकर श्रीकृष्णको रथ प्रदान किया। उस रथको देखकर श्रीकृष्ण और बलराम बड़े प्रसन्न हुए और उसकी परिक्रमा करके बड़े भाईके साथ श्रीकृष्णचन्द्र उसपर आरूढ़ हुए। तदनन्तर वे यमलोकको लक्ष्य करके दक्षिण दिशाकी ओर गये। सहस्रों किरणोंसे आवृत यमपुरीको देखकर भगवान् श्रीकृष्णने शंख हाथमें लिया और उसे खूब जोरसे बजाया। उसकी ध्वनिसे समस्त यमलोकवासी भयभीत हो गये। श्रीकृष्णके दर्शनसे नरक-यातना भोगनेवाले पापियोंको भी सुख प्राप्त हुआ और उन नरकोंमें जलती हुई आग स्वतः बुझ गयी। जगदीश्वर श्रीकृष्णके नरकोंके समीप पदार्पण करनेपर सबके पापोंका नाश हो गया। सभी पापी नरकसे छूट गये और अक्षय धामको प्राप्त हो गये। उस समय सब नरक सूने हो गये। यह देख यमराजके दूतोंने नरकोंकी ओर जानेसे उनको रोका।

**दूत बोले**—वीरवर! इस मार्गसे अपना रथ न लाइये; क्योंकि यहाँ परस्त्रीहरण, परधनहरण करनेवाले पापी अपने पापके फलसे यमराजकी आज्ञाके अनुसार अधोगतिको प्राप्त हुए हैं। जिन्हें करोड़ों वर्षोंमें नरकसे छूटना चाहिये, वे आपका दर्शन करके तत्काल ही स्वर्गलोकको जा पहुँचे हैं।

**यमदूतोंकी यह बात सुनकर श्रीकृष्णने दयासे आर्द्र होकर कहा**—यमदूतो! मैं इन पापी जीवोंका उद्धार करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ। मैं सबके लिये यमलोकका निवारक और स्वर्गलोकका दाता हूँ। तुम मेरी बातें यमराजसे जाकर कहो। श्रीकृष्णका यह कथन सुनकर यमदूत बड़ी उतावलीके साथ यमराजके समीप गये और उनसे नारकी जीवोंके मुक्त हो जानेका सब समाचार कह सुनाया। दूतोंकी बात सुनकर यमराजको बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने श्रीकृष्ण-बलरामके साथ घोर युद्ध किया; परंतु पग-पगपर उन्हें पराजित ही होना पड़ा। अन्ततोगत्वा यमने अमोघ अस्त्र कालदण्डका प्रहार किया। उस जलते हुए कालदण्डको आते देख बलरामजीने लीलापूर्वक पकड़ लिया और पुनः उसे यमराजपर ही चलानेका विचार किया। इतनेमें ही ब्रह्माजी उन दोनोंके बीचमें आ गये और उन्होंने श्रीकृष्णको युद्धसे रोका। तत्पश्चात् बलरामजीसे कहा—'चराचर

जगत्‌को धारण करनेवाले वीरवर बलभद्रजी! आप इस कालास्त्रको यमराजके ऊपर न छोड़िये। इस संसारमें आपकी समानता करनेवाला कोई नहीं है। सम्पूर्ण विश्वका पालन करनेवाले भगवान् विष्णुको भी आप सदा अपनी गोदमें धारण करते हैं। भला आपके समान दूसरा कौन है, जो सम्पूर्ण जगत्‌का भार वहन करनेमें समर्थ हो। जो जगत्‌की सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले जगदीश्वर हैं, उन एकमात्र विश्वनायक विष्णुको भी आप गोदमें लेकर लाड़-प्यार करते हैं। जगत्‌में आपकी स्तुति कर सकनेवाला कौन है? कौन आपके गुणोंको जान सकता है? हम तो भगवान् विष्णुकी नाभिसे प्रकट हुए एक कमलके निवासी हैं, अतः सदा आपके अंकमें ही रहते हैं। हमें आपकी महान् महिमाका ज्ञान कैसे हो सकता है?'

**बलरामजीसे इस प्रकार कहकर चतुर्मुख ब्रह्माने पुनः भगवान् वासुदेवसे कहा**—कृष्ण! कृष्ण! आप इस विकराल काल (यमराज)-पर कृपा कीजिये। आप सम्पूर्ण विश्वके एकमात्र अधीश्वर साक्षात् विष्णु हैं और नरक-समुद्रसे सबका उद्धार करनेवाले हैं। जगन्नाथ! यह आपको नहीं जानता। भगवन्! आपने ही पूर्वकालमें इसे यमके पदपर स्थापित किया था। प्रभो! पापी पुरुषोंको नरकमें ले जानेके लिये ही यमराजकी नियुक्ति हुई है। अतः जगदीश्वर! पुरुषोत्तम! आप इसके अपराधको क्षमा करें। भगवन्! यमराज आपका अपराधी है। इससे आप जो कुछ कहना चाहते हैं, वह कहिये।

**ब्रह्माजीकी यह बात सुनकर श्रीकृष्णने कहा**—पितामह! सुनिये। मेरे गुरु सान्दीपनि मुनिका पुत्र यहाँ लाया गया है। हम उसीके लिये यहाँ आये हैं। हमें अपने श्रेष्ठ गुरुको गुरु-दक्षिणा देनेके लिये वह बालक सौंप दीजिये। प्रभो! हम दोनोंने जो प्रतिज्ञा कर ली है, उसका पालन करवाइये।

**यह सुनकर ब्रह्माजीने युद्धमें हारे हुए यमराजको बुलाकर कहा**—ये विष्णुस्वरूप श्रीकृष्ण जो आज्ञा देते हैं उसका पालन करो। यह सुनकर धर्मराजने सान्दीपनि मुनिके पुत्रको श्रीकृष्णकी सेवामें अर्पित कर दिया। गुरुपुत्रको पाकर प्रसन्न हुए श्रीकृष्णने ब्रह्माजीसे कहा—'ब्रह्मन्! आजसे लेकर उज्जयिनीमें मेरे चरणोंसे चिह्नित जो अंकपाद नामक स्थान है, वहाँ मरे हुए मनुष्य यमराजका दर्शन नहीं करेंगे। महाकालके उत्तर भागमें पुरुषोत्तम, विश्वरूप, गोविन्द, शंखोद्धार तथा केशव—इन पाँचों विग्रहोंका जो कुशस्थलीमें दर्शन करेंगे, वे कभी नरकमें नहीं जायँगे। इसी प्रकार मेरे और बलरामजीके यहाँ आनेसे नरकोंमें पड़े हुए जीव घोर नरकसे मुक्त होकर सब-के-सब दिव्यलोकको प्राप्त होंगे।'

**भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर ब्रह्माजीने प्रसन्न होकर कहा**—श्रीकृष्ण! आपने जो कुछ कहा है, वह सब पूरा हो। इस प्रकार बलभद्रसहित श्रीकृष्ण गुरुपुत्रको साथ लेकर श्रीब्रह्माजीसे पूछकर अपने रथपर सवार हुए और नरकमें पड़े हुए प्राणियोंके उद्धारके लिये उन्होंने पुनः शंखध्वनि की। उस शंखनादको सुनकर और श्रीकृष्णके स्मरणजनित पुण्यसे समस्त नारकी जीव दिव्य विमानोंपर चढ़कर स्वर्गलोकमें चले गये। यमराजने भी पुनः बलदेवजीसे अपना दण्ड लेकर नगरमें प्रवेश किया और ब्रह्माजी वहीं अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर बलभद्रसहित श्रीकृष्ण शीघ्रगामी रथके द्वारा उज्जयिनीपुरीमें आये। वहाँ उन्होंने गुरुको उनका पुत्र समर्पित किया।

इस प्रकार वहाँ आये हुए सान्दीपनि मुनिके पुत्रको देखकर समस्त नगर-निवासियों तथा वहाँके राजाको बड़ा विस्मय हुआ और उन्होंने श्रीकृष्ण-बलरामको कोई श्रेष्ठ देवता मानकर उनका पूजन किया। वहाँ शंखी, विश्वरूप, माधव और चक्री—ये चार भगवान् विष्णुके क्षेत्र हैं और पाँचवाँ अंकपाद नामक क्षेत्र है। अब मैं इनकी यात्राका क्रम बतलाऊँगा। मन्दाकिनीमें स्नान करके बलराम और श्रीकृष्णका दर्शन करे। तत्पश्चात् शंखोद्धारतीर्थमें

स्नान करके पुनः उन्हीं दोनोंका दर्शन करे। उसके बाद कुण्डमें स्नान करके गोविन्दकी पूजा करे। फिर चक्री और शंखीभगवान्‌का दर्शन करके युगल अंकपादों (चरणचिह्नों)-का दर्शन करके विश्वरूपका दर्शन करे। विश्वरूपके आगे करीकुण्डमें विधिपूर्वक स्नान करनेके पश्चात् पूर्ववत् बलराम और श्रीकृष्णका दर्शन करे। तदनन्तर पुनः कुण्डमें स्नान करके गोविन्दजीकी पूजा करे। उसके बाद चक्रधारी श्रीकृष्ण और बलरामका दर्शन करके केशवके समीप जाय। शिप्राके जलमें स्नान करके मनुष्य भक्तिपूर्वक केशवकी पूजा करे। फिर वहाँसे अंकपादमें लौटकर वहीं रात्रि व्यतीत करे। प्रातःकाल स्नान आदिसे पवित्र हो वहाँ उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पाँच ब्राह्मणोंको भोजन करावे। जो पुरुष द्वादशीको उपवास करके चन्दन, पुष्प, धूप तथा भाँति-भाँतिके नैवेद्योंद्वारा अंकपादजीकी पूजा करता है तथा जो वहाँ श्राद्ध करता है, वह सदैव वैकुण्ठधाममें निवास करता है।

## लड्डुकप्रिय गणेश, कुसुमेश्वर, मार्कण्डेयेश्वर, ब्रह्माणी देवी, ब्रह्मेश्वर, यज्ञवापी, रूपकुण्ड, अनंगेश्वर तथा सोमेश्वरका माहात्म्य

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—देवताओंने लड्डुओंसे विघ्नराज गणेशजीकी पूजा की थी, तबसे यहाँ गणेशजी लड्डुकप्रियके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो भक्तिपूर्वक विघ्नराज गणेशजीकी पूजा करता है, उसे कभी विघ्नका सामना नहीं करना पड़ता। गणेशजी सन्तुष्ट होकर उस पुरुषकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूरी कर देते हैं। चतुर्थीको केवल रातमें भोजन करनेका व्रत लेकर विशेषतः शिप्रा नदीमें स्नान करके रक्त वस्त्र धारण करे और लाल चन्दनके जलसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक गणेशजीको स्नान करावे। फिर लाल चन्दनका अनुलेपन करके लाल फूलोंसे उनकी पूजा करे। धूप और उत्तम गन्ध निवेदन करे। नैवेद्यमें लड्डुओंका भोग लगावे। जो ऐसा करता है, वह मृत्युके पश्चात् शिवधामको जाता है।

जो सुरद्वारमें देवदानववन्दित कुसुमेश्वर शिवकी श्रद्धासे पूजा करता है, वह शिवलोकमें आनन्दका अनुभव करता है। जो देवाधिदेव जयेश्वर महादेवका दर्शन करता है, वह सब कार्योंमें विजयी होता है और अन्तमें शिवलोकको जाता है। यदि मनुष्य शिवद्वारमें शिवलिंगका अर्चन करे तो विमानद्वारा दिव्यलोकको जाता है और गणपतिका पद प्राप्त करता है। पूर्वकालमें महामुनि मार्कण्डेयजीने जहाँ बड़ी भारी तपस्या की थी, वहाँ भगवान् शंकरका दर्शन करके मनुष्य वाजपेय यज्ञका फल पाता है और वह सब पापोंसे शुद्ध होकर दीर्घायु होता है। जहाँ हंसवाहिनी ब्रह्माणी देवी स्थित हैं, वह महास्थान अवन्ती पुरीमें बहुत उत्तम माना गया है। वे भक्तोंकी आशा पूर्ण करती तथा जैसे माता अपने पुत्रका पालन करती है, उसी प्रकार भक्तोंका पालन करती हैं। सब प्रकारकी सिद्धि देनेवाली उन हंसवाहिनी देवीका गन्ध, पुष्प और नैवेद्योंद्वारा पूजन करे। जो ब्रह्मसरोवरमें स्नान करके ब्रह्मेश्वर शिवका दर्शन करता है, वह संसार-बन्धनसे मुक्त हो ब्रह्मलोकमें आनन्दका अनुभव करता है। जहाँ ब्रह्माजीने यज्ञ किया था, उस स्थानपर यज्ञके लिये जो कुण्ड बनाया गया था, उसका नाम यज्ञवापी है। उसमें स्नान करके पवित्र हो जो पशुपतिका दर्शन करता है, वह पशुयोनिमें पड़े हुए पितरोंका भी उद्धार कर देता है और स्वयं शिवलोकमें जाता है, जहाँ साक्षात् महेश्वर निवास करते हैं। रूपकुण्डमें स्नान करके मनुष्य रूपवान् होता है। जो अनंगकुण्डमें स्नान करके अनंग (कामदेव) द्वारा पूजित अनंगेश्वर महादेवकी पूजा करता है, वह मनोवांछित कामना प्राप्त करता है और मरनेके बाद शिवधामको जाता है। जो करीकुण्डमें नहाकर भगवान् विश्वरूपका पूजन

करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो विष्णुलोकको जाता है। जो मनुष्य अजागन्धमें स्नान करके ब्रह्मेश्वर शिवका दर्शन करता है, वह ब्रह्महत्याके समान पापोंको तत्काल नष्ट कर देता है। जो चक्रतीर्थमें स्नान करके चक्रस्वामीकी पूजा करता है, वह इस पृथ्वीपर चक्रवर्ती राजा होता है। जो विधिपूर्वक स्नान करके सिद्धेश्वरका दर्शन करता है, वह इच्छानुसार चलनेवाले विमानके द्वारा रुद्रलोकमें जाता है। जो मनुष्य सोमवतीमें स्नान करके सोमेश्वर शिवका पूजन करता है, वह चन्द्रमाके समान निर्मल होकर चन्द्रलोकमें आनन्द भोगता है।

**व्यासजीने पूछा**—भगवन्! सोमवतीतीर्थ और सोमेश्वर लिंगका प्राकट्य किस प्रकार हुआ, इसको मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ।

**सनत्कुमारजीने कहा**—व्यास! सुनो, सम्पूर्ण लोकोंको तृप्ति प्रदान करनेवाले जो भगवान् सोम हैं, उनके पिता महाभाग अत्रिमुनि पूर्वकालमें उज्जयिनीपुरीमें रहकर तीन हजार दिव्य वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्यामें लगे रहे। वे दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर ब्रह्मध्यानमें तत्पर हो तपस्या करते थे। उन महात्माका ब्रह्मतेज उनके नेत्रोंसे प्रकट हुआ और सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ ऊर्ध्वलोकतक फैल गया। जब कोई भी उसे धारण करनेमें समर्थ न हुआ, तब वह असह्य तेज सम्पूर्ण लोकोंको उद्भासित करता हुआ पृथ्वीपर गिर पड़ा। उसीसे शीतकिरणोंवाले सोम प्रकट हुए, जो सब लोगोंको प्रिय हैं। उसी तेजसे सोमा नामकी एक नदी भी उत्पन्न हुई, जो अमृतमय जलसे पूरित हो शिप्रा नदीमें जाकर मिल गयी। तबसे वह तीर्थ सोमवती-शिप्राके नामसे विख्यात है। सोमवती-शिप्रा अत्यन्त पुण्यदायिनी है। उसका दर्शन करके मनुष्य सब पापोंको त्याग देता है। मुने! सोमवती अमावास्याका योग आनेपर जो बुद्धिमान् मनुष्य सोमवती-शिप्रामें स्नान-दान, जप तथा होम करता है, उसका किया हुआ वह सब पुण्य अक्षय होता है। यहाँपर तिल और जलद्वारा तर्पण तथा पिण्डदान करनेसे पितरोंकी यथावत् तृप्ति होती है। शिप्रा नदी एवं सोमवतीके संगमका जल कोटि तीर्थोंका फल देनेवाला है। यदि अमावास्या और सोमवारका योग मिल जाय तब तो वह साक्षात् पितृतीर्थ (गया)-के समान हो जाता है। अमावास्या, सोमवार और व्यतीपात तीनोंका योग होनेपर सोमवतीतीर्थमें गयासे सौ गुना अधिक पुण्य कहा गया है।

चन्द्रमाको पृथ्वीपर गिरा हुआ देख जगद्गुरु ब्रह्माजीने उन्हें सम्पूर्ण लोकोंके हितकी इच्छासे रथपर बिठाया। उस रथपर ब्रह्माजीके साथ चन्द्रमाको देखकर सब देवताओंने प्रसन्नतापूर्वक स्तवन किया। उस समय चन्द्रमाका प्रकाशमान तेज पृथ्वीपर सब ओर गिरा। ब्रह्माजीने उस रथसे इक्कीस बार पृथ्वीकी परिक्रमा की। इससे चन्द्रमाका शीतल तेज सर्वत्र गिरा। वह तेज ही पृथ्वीसे अत्यन्त निर्मल ओषधियों (अन्न आदि)-के रूपमें उत्पन्न हुआ। उन्हीं ओषधियोंके द्वारा यह सम्पूर्ण विश्व तथा यहाँ रहनेवाली चार प्रकारकी प्रजा जीवन धारण करती है। तदनन्तर भगवान् सोमने प्रसन्न होकर दस हजार वर्षोंतक अत्यन्त दुःसह तप किया। उस तपस्यासे सन्तुष्ट हुए लोकपितामह ब्रह्माजीने सोमको आधिपत्य प्रदान किया। वे बीज, ओषधि और ब्राह्मणोंके राजा हुए। प्रचेताओंके पुत्र प्रजापति दक्षने अपनी सत्ताईस कन्याओंको, जो महान् व्रतका पालन करनेवाली तथा नक्षत्र नामसे प्रसिद्ध थीं, राजा सोमके साथ ब्याह दिया।

एक समय सोमवारके दिन सोमवती अमावास्याके योगमें राजा सोम महादेवजीके दर्शनकी इच्छासे अवन्ती पुरीमें आये। उन्होंने अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके सोमवतीमें स्नान किया और सोमेश्वरकी पूजा की। उनकी भक्तिसे सन्तुष्ट होकर महादेवजीने कहा—'सोम! मेरी कृपासे तुम्हारा शरीर बहुत सुन्दर एवं कमनीय हो जायगा और आजसे यह मेरा विग्रह सोमेश्वर नामसे विख्यात होकर भोग

और मोक्ष देनेवाला होगा।' व्यासजी! इस प्रकार वह शिवलिंग और तीर्थ अत्यन्त दुर्लभ बताया गया है। जो श्रावणमासमें इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए प्रतिदिन भगवान् सोमेश्वरका दर्शन करता है, वह प्रतिदिन सौराष्ट्रप्रदेशके ज्योतिर्मय लिंग सोमनाथकी पूजाका फल पाता है।

## नरकोंका संक्षिप्त वर्णन, केदारेश्वर, जटेश्वर, इन्द्रेश्वर, कुण्डेश्वर, गोपेश्वर, आनन्देश्वर तथा रामेश्वरके दर्शन-पूजनका माहात्म्य

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—नरकतीर्थमें स्नान करके भगवान् महेश्वरका दर्शन करनेसे मनुष्यको कभी नरक नहीं देखना पड़ता।

**व्यासजीने पूछा**—प्रभो! नरक कितने हैं? और किस स्थानपर उनकी स्थिति है? यह बतानेकी कृपा करें।

**सनत्कुमारजीने कहा**—व्यास! समस्त नरक पाताललोकमें स्थित हैं, जो सदैव दुःख देनेवाले हैं। सब जीव अपने-अपने पुण्योंका नाश होनेसे अपने-अपने कर्मोंके अनुसार अधोगतिको प्राप्त होते हैं। रौरव, शूकर, रौद्र, ताल, विनशक, तप्तकुम्भ, तप्तायस, महाज्वाल, कुम्भीपाक, क्रकचन, अतिदारुण, कृमिभुक्ति, रक्त, लालाभक्ष, गण्डक, अधोमुख, अस्थिभंग, यन्त्र-पीड़नक, सन्दंश, रुधिरांग, असिपत्र और कुभोजन इत्यादि सभी नरक अत्यन्त भयंकर हैं। यमराजके राज्यमें उन सबकी स्थिति है। उनका नाम सुन लेनेमात्रसे अत्यन्त भय हो जाता है। पापकर्मोंमें संलग्न रहनेवाले मनुष्य उनमें गिरते हैं और गिरे हुए जीव अपने कर्मोंके अनुसार उनमें पकाये जाते हैं। भाँति-भाँतिकी यातनाओंद्वारा उनके भयानक पापकर्मोंका क्षय होता है। तपायी हुई लोहेकी साँकलसे मनुष्योंके दोनों हाथ खूब कसकर बाँध दिये जाते हैं और बड़े-बड़े वृक्षोंके शिखरोंपर यमदूत उन्हें लटका देते हैं। वे अपने-अपने कर्मोंके लिये शोक करते हुए चुपचाप लटके रहते हैं और भयंकर यमदूत अग्निके समान कीलों, काँटों और लोह-दण्डोंसे उन पापात्माओंको मारते-पीटते रहते हैं। कभी क्षणभरमें वे आगसे तपाये जाते हैं और कभी काटकर सारे शरीरको जर्जर करके उन्हें सब ओर फेंक दिया जाता है। इस प्रकार उन नरकोंमें यातना दे-देकर पापी पुरुषोंको पकाया जाता है। यह यातना उन्हीं पापियोंको भोगनी पड़ती है, जो बहुत पाप करके उनके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं करते। जिस पुरुषको पाप करनेके बाद उसके लिये बहुत पश्चात्ताप होता है, उसकी पापशुद्धिके लिये एकमात्र भगवान् शिवका स्मरण ही सर्वोत्तम प्रायश्चित्त है। इसलिये दिन-रात पुरुषोत्तम शिवका स्मरण करनेवाला मनुष्य अपने समस्त पापोंका नाश करके शुद्ध हो जाता है, फिर उसे नरकमें नहीं जाना पड़ता।

जो मनुष्य यहाँ समस्त लोकोंमें विख्यात केदारतीर्थमें स्नान करके शुद्ध हो केदारेश्वर महादेवका दर्शन करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो शिवलोकमें परमानन्दका अनुभव करता है। जटाशृंगतीर्थमें स्नानसे पवित्र हो जितेन्द्रिय पुरुष यदि जटेश्वर शिवका दर्शन करे, तो वह सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है। इन्द्रतीर्थमें स्नान करके इन्द्रेश्वर शिवका दर्शन करनेवाला मनुष्य भी सम्पूर्ण पापोंसे छूटकर इन्द्रलोकमें प्रतिष्ठित होता है। जो शिवजीके ध्यानमें तत्पर हो कुण्डेश्वरका दर्शन करता है, वह शिवदीक्षाका शुभ फल प्राप्त करता है। गोपतीर्थमें स्नान करके गोपेश्वरका दर्शन करनेवाला मनुष्य शिवलोकको जाता है। चिपिटातीर्थमें स्नान करके जो भगवान् शिवको प्रणाम करता है, वह पशु-पक्षियोंकी योनिमें जन्म नहीं लेता। विजयतीर्थमें नहाकर आनन्देश्वरकी पूजा करनेसे समस्त पापोंसे छूटा हुआ मानव स्वर्गलोकमें विजयी होता है।

पूर्वकालमें श्रीरामचन्द्रजी सीता और लक्ष्मणके साथ चित्रकूटसे इस उज्जयिनी पुरीमें आये। यहाँ मुनिश्रेष्ठ परशुरामजीसे मिलकर उन्होंने पूछा—'महामुने! यहाँ कौन-कौनसे पुण्यतीर्थ हैं और कौन-सा क्षेत्र है?' श्रीरामचन्द्रजीका यह वचन सुनकर विप्रवर परशुरामजीने कहा—'रघुवंशकी वृद्धि करनेवाले वीर श्रीराम! प्राचीन कालमें अवन्ति देशके अन्तर्गत जो कुशस्थली नामकी भूमि थी, वही इस समय उज्जयिनीके नामसे प्रसिद्ध है। वहाँ जाकर तुम अपने पिता दशरथजीको पिण्डदानसे तृप्त करो। उस पुरीमें देवताओं और दानवोंके गुरु भगवान् महाकाल निवास करते हैं। वहाँ जो ब्राह्मण और महाबली क्षत्रिय जाते हैं, उन्हें उस परम पदकी प्राप्ति होती है, जहाँ साक्षात् भगवान् महेश्वर विराजमान हैं।'

यह सुनकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी, जहाँ पुण्यदायिनी शिप्रा नदी बहती है, उस अवन्ती पुरीमें आये। वहाँ स्नान करके उन्होंने अपने पितरोंका तर्पण किया। तत्पश्चात् वे महाकालजीका दर्शन करनेके लिये चले। इसी समय आकाशवाणीके द्वारा देवाधिदेव महादेवजीने कहा—'रघुनन्दन! तुम्हारा कल्याण हो, तुम अपने नामसे यहाँ मेरी स्थापना करो।' यह आकाशवाणी सुनकर श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'सुमित्रानन्दन! भगवान् शिवने मुझपर अनुग्रह किया है, अतः इस तीर्थमें तुम रामेश्वर नामक शुभ शिवलिंगकी प्रतिष्ठा करो।' यह आज्ञा पाकर लक्ष्मणने वहाँ भगवान् शंकरको स्थापित किया। फिर शिवजीका पूजन करके श्रीराम, लक्ष्मण तथा जानकीजीने वहाँसे यात्रा की। जो मनुष्य रामतीर्थमें स्नान करके रामेश्वर शिवका दर्शन करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो विष्णुलोकको जाता है।

## सौभाग्य आदि तीर्थोंकी महिमा, अर्जुनको इन्द्रसे सूर्यप्रतिमाकी प्राप्ति तथा अवन्तीमें उसकी स्थापना और उनके दर्शनका माहात्म्य

**सनत्कुमारजी बोले**—सौभाग्यतीर्थमें स्नान करके सौभाग्येश्वरका दर्शन करनेपर मनुष्य सब पापोंसे छूटकर परम सौभाग्य पाता है। घृततीर्थमें स्नान करके भगवान् शिवको घृतसे नहलावे और अग्निमें घृतकी आहुति दे। ऐसा करनेवाला मनुष्य रुद्रलोकमें प्रतिष्ठित होता है। देवताओं और दैत्योंसे वन्दित योगीश्वरी देवीका पूजन करके मनुष्य सब पापोंसे शुद्ध हो जाता है और परम उत्तम योगको प्राप्त होता है। शृंखावर्त तीर्थमें स्नान करके सब पापोंसे छूटा हुआ पुरुष धन-धान्यसे सम्पन्न हो निर्मल कुलमें जन्म लेता है। शुद्धोदकतीर्थमें चतुर्दशीको मुक्तिके लिये स्नान करनेवाला मनुष्य सुरेश्वर शिवका दर्शन करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है। अवन्तीमें पत्तनेश्वर नामसे प्रसिद्ध भगवान् महेश्वर दर्शनीय हैं। जो मनुष्य गन्ध, पुष्प, धूप और दीप आदि मनोरम उपचारोंसे भाव-भक्तिके साथ उनकी विधिवत् पूजा करता है, उसके वंशका नाश नहीं होता है और अन्तमें वह शिवलोकको जाता है। पूर्वकालमें भगवान् सूर्यदेवने शिप्रा नदीके तटपर दुर्धर्ष नामसे प्रसिद्ध तीर्थका निर्माण किया है। जो मनुष्य सप्तमी, अष्टमी, रविवार और संक्रान्तिके दिन उसमें स्नान करके पवित्र हो तीन रात वहाँ उपवास करता है और शिप्रा नदीके तटपर स्थित भगवान् शिवका दर्शन एवं भक्ति-भावसे पूजन करता है, वह पिता-माताके वंशका भलीभाँति उद्धार करके भगवान् शिवके समीप जाता है। गोपीन्द्र नामसे प्रसिद्ध जो तीर्थ है, उसमें स्नान करके मनुष्य इन्द्रके तुल्य पराक्रमी होता और स्वर्गलोक प्राप्त करता है। जो उस तीर्थमें मृत्युको प्राप्त होते हैं, वे पुनः इस भूतलपर जन्म नहीं

लेते। गंगातीर्थमें ज्येष्ठ शुक्ला दशमीको स्नान करनेका विशेष फल बताया जाता है। जो मनुष्य गंगातीर्थमें स्नान करके पुष्करण्डकका दर्शन करता है, वह स्वर्गलोकमें सुखी होता है। उत्तरेश्वरतीर्थमें स्नान करके मानव शीघ्र ही अपने पितरोंका नरकसे उद्धार कर देता है और स्वयं भी स्वर्गलोकमें जाता है। भूतेश्वरमें स्नान करके मनुष्य भूतेश्वरजीका गन्ध, पुष्प और नैवेद्य आदिसे पूजन करे। इससे मृत्युके पश्चात् वह स्वर्गलोकको जाता है। जो मनुष्य मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर एकाग्रचित्त हो अम्बालिका देवीका दर्शन करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। जो गन्ध और पुष्पद्वारा देवेश्वर शिवका अर्चन करता है, उसे शिवलोकमें निवास प्राप्त होता है। जो मनुष्य पवित्र हो भगवान् पुण्येश्वरका दर्शन करता है, वह गणपतिपदको प्राप्त होता है। जो लुम्पेश्वरतीर्थमें स्नान करके भगवान् महेश्वरकी भलीभाँति पूजा करता है, वह नरकमें नहीं जाता, स्वर्गलोकमें पूजित होता है। जो स्थविरविनायक तीर्थमें स्नान करके गन्ध, पुष्प, धूप और भक्ष्य, भोज्य आदि सामग्रियोंसे गणेशजीकी पूजा करता है, वह मृत्युके पश्चात् शिवलोकमें जाता है। जो विद्वान् मानव नवनदीके समीप गन्ध, पुष्प, धूप आदिके द्वारा पार्वतीजीका पूजन करता है, वह अनुपम सौभाग्यका भागी होता है। प्रयागतीर्थमें स्नान करके जो प्रयागेश्वरका दर्शन करता है, वह सब लोकोंको लाँघकर भगवान् शिवके लोकमें प्रतिष्ठित होता है।

पूर्वकालमें भगवान् नर और नारायणने इस पृथ्वीपर श्रीकृष्ण और अर्जुनके रूपमें अवतार लिया था। श्रीकृष्णके अवतारका उद्देश्य कुछ और था और अर्जुन किसी अन्य हेतुसे ही प्रकट हुए थे। श्रीकृष्णने कंस आदि समस्त दानवोंका युद्धमें संहार कर डाला। तदनन्तर कुन्तीपुत्र अर्जुन इन्द्रसे अस्त्रविद्याकी प्राप्तिके लिये स्वर्गलोकमें गये। वहाँ अस्त्रविद्या प्राप्त कर लेनेपर वीरवर अर्जुनने देवराज इन्द्रसे गुरुदक्षिणा माँगनेके लिये कहा। तब देवराज इन्द्रने कहा—'अर्जुन! हिरण्यपुरमें निवास करनेवाले जो निवातकवच नामक उग्र दानव हैं, उनका शीघ्र वध करो, यही मेरे लिये गुरुदक्षिणा होगी।' तब अर्जुनने उन दुष्ट दानवोंके वधकी प्रतिज्ञा की और एक भयंकर रथपर आरूढ़ हो धनुष-बाण लेकर युद्धके लिये प्रस्थान किया। उन समस्त दानवोंका संहार करके पार्थने अत्यन्त दुष्कर पराक्रम दिखाया और सम्पूर्ण देवताओंको प्रसन्न किया। उस समय कृतकार्य हुए अर्जुनसे इन्द्रने कहा—'वीर! तुम कोई उत्तम वर माँगो।' तब अर्जुनने उन दो प्रतिमाओंको माँगा, जिनकी पूजा साक्षात् ब्रह्माजीने की थी।

**यह सुनकर इन्द्र बोले**—अर्जुन! इन दोनों प्रतिमाओंका महात्मा शंकरने लाल कमलके फूलोंद्वारा ब्रह्माके एक दिनतक पूजन किया है। इसी प्रकार पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने तीनों लोकोंका पालन करनेके लिये सुगन्धित नीलकमलके फूलोंसे सहस्रों वर्षोंतक इनकी पूजा की है। प्रजापति ब्रह्माजीने भी सृष्टि-रचनाकी कामना लेकर एकाग्रचित्त हो लाल कमलके फूलोंसे इन युगल प्रतिमाओंका पूजन किया है। कुन्तीनन्दन! तुम इन्हें मृत्युलोकमें कैसे ले जाओगे। इन प्रतिमाओंके बिना तो यह स्वर्गलोक तिनकेके तुल्य हो जायगा।

**अर्जुनने कहा**—प्रभो! मैं तो इसी वरदानका अभिलाषी हूँ, मुझे दूसरी कोई वस्तु नहीं चाहिये।

**तब इन्द्रने कहा**—वीर! तुम इन प्रतिमाओंको लेकर कुशस्थली (उज्जयिनी पुरी)-में स्थापित करो। शिप्राके उत्तर तटपर भगवान् केशव समस्त पापोंका नाश करनेवाले केशवार्ककी स्थापना करेंगे। सदा आषाढ़ और कार्तिकमासमें वहाँकी यात्रा होगी, मैं भी उस समय दर्शन करनेके लिये आऊँगा। मेरे साथ पवन, मेघ और बिजलियाँ भी होंगी। इन्हीं लक्षणोंसे मनुष्य कहेंगे कि 'देवराज इन्द्र आ गये।' मैं ब्रह्मा आदि देवताओंद्वारा पूजित भगवान् सूर्यको नमस्कार करके पुनः लौट आऊँगा।

ऐसा कहकर इन्द्रने अर्जुनको वे दोनों प्रतिमाएँ

दे दीं और उन्हें अपने पुत्रके साथ मर्त्यलोकको भेज दिया। देवर्षि नारदजी भगवान् श्रीकृष्णको बुलानेके लिये द्वारकामें गये और वहाँ इन्द्रका रहस्ययुक्त वचन सुनाकर कहा—'श्रीकृष्ण! आप कुशस्थलीको चलिये और विश्वकर्माद्वारा बनायी हुई पारिजात-निर्मित युगल प्रतिमाओंका पूजन कीजिये। इन्द्रने वे दोनों प्रतिमाएँ आप तथा अर्जुनके लिये भेंट की हैं।'

नारदजीका यह वचन सुनकर श्रीकृष्ण उज्जयिनी पुरीको गये और वहाँ पाण्डुनन्दन अर्जुनको हृदयसे लगाकर वे बहुत प्रसन्न हुए। तत्पश्चात् उन्होंने अर्जुनसे कहा—'पार्थ! आज मुझे अनुपम प्रसन्नता प्राप्त हुई है, तुम पूर्व दिशाकी ओर जाकर एक प्रतिमाकी स्थापना करो। दिनके पूर्वाह्णकालमें ही अति मनोरम शुभलग्नका उदय होगा। तब मैं भी प्रतिमा-स्थापनके लिये नदीके उत्तर तटको जाऊँगा। जब मेरा शंख बजे, उसी समय तुम सूर्यदेवकी स्थापना करो।'

यह आदेश पाकर अर्जुनने पूर्वदिशाकी ओर जा प्रतिमा-स्थापनाके योग्य शुभ स्थानका निरीक्षण किया। वे मन-ही-मन यह विचार करने लगे कि 'इस देवप्रतिमाका स्थापन कहाँ करूँ।' इतनेमें ही उस प्रतिमाने स्वयं ही कारणसहित उत्तम स्थान बता दिया और अपने तेजसे वह स्थान पार्थको दिखला भी दिया।

**अर्जुन बोले**—देव! यहाँ अनेक स्थान हैं, बताइये, कौन आपको अधिक पसंद है। गोपते! आप प्रजाजनोंके लिये सौम्य रूप और उत्तम दर्शनीय हो जाइये।

**तब सूर्यदेवने अर्जुनसे कहा**—पार्थ! तुम मेरे दर्शनसे भय न करो। ऐसा कहकर दाहिने हाथसे अभय प्रदान करते हुए उन्होंने आश्वासन दिया और सौम्य रूप धारण कर लिया। भगवान् प्रभाकरने उस समय अर्जुनको अपने तेजोमय स्वरूपका दर्शन कराया और कहा—'यही मेरा अविचल स्थान है।' इतनेमें ही लग्न आ गया और भगवान् श्रीकृष्णने अपने महान् शंखको बजाया। वह शंखनाद सुनकर नरावतार अर्जुनने देववन्दित सूर्यविग्रहको स्थापित कर दिया और इस प्रकार स्तवन किया।

**अर्जुन बोले**—किरणोंकी मालासे मण्डित, अत्यन्त प्रकाशमान एवं सात घोड़ोंके रथपर चलनेवाले उन भगवान् सूर्यकी जय हो, जिनका तेज समस्त भुवनोंमें व्याप्त है, जो पूर्व दिशाके अट्टहासकी-सी छवि धारण करते हैं तथा जिनके नामोंका कीर्तन करनेमात्रसे प्रचुर पाप-तापमय दोषोंसे ग्रस्त हुए मनुष्योंके अंग निष्पाप हो जाते हैं। उत्तम बुद्धिवाले प्रभो! ब्रह्मा आदि देवता और मुनि जिनकी स्तुति करते हैं, उन्हीं भगवान् पतंग (सूर्य)-की मैं अपनी बुद्धिद्वारा भलीभाँति विचार करके स्पष्ट अर्थ एवं मधुर अक्षरोंके योगसे युक्त विचित्र पद्योंद्वारा स्तुति करूँगा। नाथ! लाल कमलके समान निर्मल मण्डलवाले आप जबतक अपनी किरणोंसे अन्धकारका नाश करते हुए उदय नहीं होते, तबतक सम्पूर्ण जगत् निश्चल-सा ही (जड़वत्) प्रतीत होता है तथा तबतक नाना प्रकारकी क्रियाएँ भी सिद्ध नहीं होतीं। भगवन्! जबतक आप अपनी परम उत्तम प्रभासे वृक्षोंके सोये हुए पुष्प-गुच्छोंको विकसित (जाग्रत्) नहीं कर देते, तबतक उनके नेत्र बंद होनेके कारण वृक्षोंकी शाखाएँ शोभा नहीं पातीं और न उनपर भ्रमर ही मड़राते हैं। जिस समय आप आकाशमें उदित होते हैं, उस समय समस्त देवताओं और सिद्धोंके समुदाय, ब्रह्मा आदि देवेश्वर, दैत्य, मुनि, किन्नर, नाग, यक्ष तथा ज्ञानी देवगण अपने झुके हुए मस्तकोंद्वारा तथा चमकती हुई मुकुटमणियोंकी उत्तम प्रभाओंसे आपकी अर्चना करते हैं। सदा सबको वर देनेवाले भगवन्! आपके अस्त होनेपर सम्पूर्ण जगत् सो जाता है और आपके तपनेपर पुनः जाग्रत् हो उठता है, इस प्रकार एकमात्र आप ही समस्त विश्वका हित करनेके लिये अन्धकारका नाश करनेवाले हैं। नाथ! उत्साह, शक्ति, नीति और शौर्य आदिसे सम्पन्न तथा सेवा-प्रयोग एवं निर्माणक्रियामें तत्पर पुरुषोंके

भी कार्य जो फलद नहीं होते, उसमें निश्चय ही आपके प्रति उनकी भक्तिका न होना ही कारण है। शरणागतवत्सल! युद्धभूमिमें मनुष्य रथ, हाथी, भाला, शक्ति, नाराच, चक्र, बाण, तोमर तथा भयंकर खड्गोंद्वारा जो शीघ्र ही शत्रुओंको परास्त करके विजयी होकर लौटते हैं, वह सब आपकी ही दी हुई शक्तिका प्रभाव है। भयानक स्थानों, दुर्गम और ऊँची-नीची भूमियोंमें तथा रीछ, हाथी, सिंह, बहुत-से कण्टक तथा चोरोंके बीचमें पड़े हुए संकटग्रस्त एवं अतिशय शोकसे मोहित चित्तवाले मानव भी आपके नामोंका कीर्तन करनेमात्रसे मृत्युके भयसे छूट जाते हैं। तेजोराशे! सूर्य! इस संसारमें जो सब ओरसे दुःखी हैं, उन्हें आप ही शरण देनेवाले हैं। सम्पूर्ण जगत्में आपके समान दयालु दूसरा कोई नहीं है। एकमात्र आपमें ही की हुई भक्ति पूर्णतः सफल होती है। आपकी शरणमें आ जानेपर मनुष्योंको रोग, व्याधिका कष्ट कैसे हो सकता है? देव! आप देखा करते हैं कि कौन कुष्ठरोगसे पीड़ित है, किसे शत्रु और रोग आदि सता रहे हैं, कौन पंगु, अन्ध और जड़ है, किनके पैर गल गये हैं और कौन निर्धन तथा निष्क्रिय हो गया है। इस प्रकार निरीक्षण करके आप कृपापूर्वक प्राणियोंकी उन-उन दोषोंसे रक्षा करते हैं। आपकी जैसी परोपकारपूर्ण चेष्टा देखी जाती है, वैसी और किसमें है? धर्म सेवित होनेपर परलोकमें फल देनेके लिये उपस्थित होता है। देवता उपासना करनेपर कालान्तरमें वरदान देते हैं। परंतु प्रणतवत्सल! आप कल्याणकामी पुरुषोंद्वारा सेवित होनेपर तत्काल ही उन्हें अभीष्ट फल प्रदान करते हैं। यदि मनुष्योंने एक बार भी किसी प्रकार आपको मस्तक झुकाया है अथवा भुवनेश्वर! अन्तकालमें भी जिसने आपका चिन्तन किया है, वे संसारमें पापी होनेपर भी निष्पाप हो गये हैं और उन्होंने शुद्धचित्त होकर पुण्यात्माओंकी गति प्राप्त कर ली है। सुरश्रेष्ठ! जब आप उदय लेने लगते हैं, उस समय देवनदी गंगाके खिले हुए स्वर्णकमलोंसे निकले हुए झुंड-के-झुंड भ्रमर उनकी स्वर्णमयी धूलिसे अनुरंजित होकर उड़ते हैं। भगवन्! आप अपने किरणसमूहरूपी चरणोंके द्वारा समुद्रके मध्यमें स्थित होकर समस्त जीवोंके जीवनकी रक्षाके उद्देश्यसे तात्त्विक उपायका चिन्तन करनेके लिये मानो तपस्या करते हैं। तीनों लोकोंमें आपके समान दूसरा कौन है? सदा वेदके मार्गमें तत्पर रहनेवाले उदारबुद्धि ऋषि-मुनियोंद्वारा भी आपके गुणोंकी स्तुति नहीं की जा सकती। आप ही विष्णु हैं, आप ही चन्द्रमा हैं, आप ही दैत्योंका मान मर्दन करनेवाले स्वामिकार्तिकेय हैं। आप ही धनाध्यक्ष कुबेर हैं, आप ही काल हैं। आप ही ब्रह्मा हैं और आप ही पर्वत, मिट्टी, जलके आश्रय तथा अग्नि हैं। आप ही ब्राह्मणोंके जपनेयोग्य ॐकार हैं। आप ही वहाँ समुद्र हैं। आप ही यम, रुद्र, इन्द्र और मेघ हैं। आप ही व्रत, यम तथा नियम हैं और आप ही यह सम्पूर्ण जगत् हैं। त्रिपुरमथन! गोपते! सुराधीश! भगवन्! आपका मुख कमलके समान सुन्दर है। आप सम्पूर्ण देवताओंके गुरु हैं, तीनों लोकोंमें आपके समान गुणवान् कौन है? आदित्य! भास्कर! दिवाकर! सप्ताश्ववाहन! मार्तण्ड! सूर्य! हरिदश्व! पतंग! भानो! अश्रान्तवाहन! आकाशस्वरूप! अंशुमालिन्! लोकनाथ! यह दास आपकी शरणमें आया है। जगत्प्रदीप! आपको नमस्कार है, नमस्कार है। ब्रह्मण्य! सत्य! शुभ! मंगल! लोकनाथ! आकाशकमल! ईश! मुनिसंस्तुत! विश्वमूर्ते! आर्तजनोंका शोक नाश करनेवाले! सेवकोंका पालन करनेवाले! भगवन्! आप अपनी शरणमें आये हुए मुझपर प्रसन्न होइये। देव! आज मैंने मस्तकपर अंजलि बाँधे हुए दोनों हाथोंसे नमस्कारपूर्वक बड़े भक्ति-भावसे आपका स्तवन किया है, इसलिये प्रभो! आप मेरे ऊपर सौम्य रूप हो जाइये और मेरी बुद्धिको धर्ममें लगाइये। जो सम्पूर्ण जगत्के एकमात्र नेत्र हैं, वेदत्रयीमय हैं अथवा त्रिभुवनस्वरूप हैं, त्रिगुणात्मक शरीर धारण करनेवाले हैं और समस्त विश्वकी उत्पत्ति, पालन तथा संहारके

हेतु हैं, उन ब्रह्मा, विष्णु, शिवरूप भगवान् सूर्यको नमस्कार है।

**सूर्यदेव बोले**—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले अर्जुन! मैं तुम्हारे इस स्तोत्रसे इस समय सन्तुष्ट हूँ, अतः तुम्हारे मनमें जो भी इच्छा हो, उसकी पूर्तिके लिये यत्नपूर्वक वर दूँगा।

**अर्जुनने कहा**—प्रभो! मेरे लिये यही सबसे उत्तम वर है कि आप इस विग्रहमें सदा स्थित रहें। जो मनुष्य आपको प्रणाम करके भक्तिपूर्वक आपकी स्तुति करें, उनको आप मनोवांछित वस्तु प्रदान करें।

**सूर्यदेवने कहा**—अर्जुन! जो भक्तिपूर्वक मेरी पूजा करके इस स्तोत्रद्वारा मेरी स्तुति करेंगे, उनके पास कभी धन-सम्पत्तिकी कमी नहीं होगी।

## भगवान् सूर्यकी अष्टोत्तरशतनामोंद्वारा स्तुति तथा अन्यान्य तीर्थोंकी महिमा

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—भगवान् श्रीकृष्णने भी शंख बजाकर सूर्यदेवकी भलीभाँति स्थापना करके एकाग्रचित्त हो इस प्रकार स्तवन किया—(१) आदित्य, (२) भास्कर, (३) भानु, (४) रवि, (५) सूर्य, (६) दिवाकर, (७) प्रभाकर, (८) दिवानाथ, (९) तपन, (१०) तपनेवालोंमें श्रेष्ठ, (११) वरेण्य, (१२) वरद, (१३) विष्णु, (१४) अनघ, (१५) वासवानुज (इन्द्रके छोटे भाई), (१६) बल, (१७) वीर्य, (१८) सहस्रांशु, (१९) सहस्रकिरणद्युति, (२०) मयूखमाली, (२१) विश्व, (२२) मार्तण्ड, (२३) चण्डकिरण, (२४) सदागति, (२५) भास्वान्, (२६) सप्ताश्व, (२७) सुखोदय, (२८) देवदेव, (२९) अहिर्बुध्नय, (३०) घामनिधि, (३१) अनुत्तम, (३२) तप, (३३) ब्रह्ममयालोक, (३४) लोकपाल, (३५) अपाम्पति, (३६) जगत्प्रबोधक, (३७) देव, (३८) जगद्दीप, (३९) जगत्प्रभु, (४०) अर्क, (४१) निःश्रेयसपर, (४२) कारण, (४३) श्रेयसापर, (४४) इन, (४५) प्रभावी, (४६) पुण्य, (४७) पतंग, (४८) पतगेश्वर, (४९) मनोवांछितदाता, (५०) दृष्टफलप्रद, (५१) अदृष्टफलप्रद, (५२) ग्रह, (५३) ग्रहकर, (५४) हंस, (५५) हरिदश्व, (५६) हुताशन, (५७) मंगल्य, (५८) मंगल, (५९) मेध्य, (६०) ध्रुव, (६१) धर्मप्रबोधन, (६२) भव, (६३) सम्भावित, (६४) भाव, (६५) भूतभव्य, (६६) भवात्मक, (६७) दुर्गम, (६८) दुर्गतिहर, (६९) हरनेत्र, (७०) त्रयीमय, (७१) त्रैलोक्य-तिलक, (७२) तीर्थ, (७३) तरणि, (७४) सर्वतो-मुख, (७५) तेजोराशि, (७६) सुनिर्वाण, (७७) विश्वेश, (७८) शाश्वत, (७९) घाम, (८०) कल्प, (८१) कल्पानल, (८२) काल, (८३) कालचक्र, (८४) क्रतुप्रिय, (८५) भूषण, (८६) मरुत, (८७) सूर्य, (८८) मणिरत्न, (८९) सुलोचन, (९०) त्वष्टा, (९१) विष्टर, (९२) विश्व, (९३) सत्कर्मसाक्षी, (९४) असत्कर्म-साक्षी, (९५) सविता, (९६) सहस्राक्ष, (९७) प्रजापाल, (९८) अधोक्षज, (९९) ब्रह्मा, (१००) वासरारम्भ, (१०१) रक्तवर्ण, (१०२) महाद्युति, (१०३) शुक्ल, (१०४) मध्यन्दिन, (१०५) रुद्र, (१०६) श्याम, (१०७) विष्णु और (१०८) दिनान्त नामसे प्रसिद्ध भगवान् सूर्यको प्रणाम करता हूँ।

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा कहे हुए इन एक सौ आठ दिव्य नामोंको जो मनुष्य पवित्र एवं एकाग्रचित्त हो भक्तिपूर्वक पढ़ता है, उसे कभी विपत्तियाँ नहीं प्राप्त होतीं तथा सर्वत्र शुभकी प्राप्ति होती है। इतना ही नहीं; उसे धन, धान्य, सुख, पुत्र, तेज, प्रज्ञा, परम ज्ञान, विशुद्ध बुद्धि एवं परम पदकी प्राप्ति भी होती है।

इस प्रकार स्तुति सुनकर जगदीश्वर सूर्यदेव अन्तर्धान हो गये। केशवादित्यके मुखारविन्दका

दर्शन करके सब पापोंसे मुक्त हुआ मनुष्य सूर्यलोकमें प्रतिष्ठित होता है।

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—असुरोंके स्वामी तारकका वध करके महाबलवान् स्वामिकार्तिकेयजीने अपनी शक्तिको शिप्रा नदीके जलमें फेंक दिया। उस शक्तिने पातालतककी भूमिको विदीर्ण कर डाला। उसी मार्गसे भगवती गंगा ऊपर निकल आयीं, जो समस्त तपस्वी मुनियों और देवताओंके द्वारा वन्दनीय हैं। कोटितीर्थ तीनों लोकोंमें पवित्र कहा गया है, वहाँ ब्रह्माजीने कोटितीर्थेश्वर शिवकी स्थापना की है। कोटितीर्थमें स्नान करनेके पश्चात् कोटिश्वर शिवका दर्शन करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। मुने! जो वहाँ श्राद्ध करता है, उसे दस अश्वमेध यज्ञोंका फल प्राप्त होता है। जो पूर्णिमा तथा अमावास्याको शस्त्रधारी कार्तिकेयका दर्शन करता है, वह सात जन्मोंतक पुत्रहीन, निर्धन तथा रोगी नहीं होता। जो मनुष्य उस तीर्थके उत्तम जलमें प्रवेश करता है, वह दिव्य लोकमें तबतक अक्षय सुखका उपभोग करता है, जबतक कि सूर्य और चन्द्रमाकी सत्ता बनी रहती है।

## स्वर्णक्षुर आदिकी महिमा, अन्धकासुरका युद्ध, नरदीप एवं शंखोद्धार आदिका माहात्म्य

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—जो मनुष्य स्वर्णक्षुर नामक तीर्थमें स्नान करके भगवान् महेश्वरका दर्शन करता है, उसे सौ कपिलादानसे भी अधिक फल प्राप्त होता है। जो जितेन्द्रिय पुरुष ब्रह्माजीकी वापी (बावली या कुण्ड)-में स्नान करता है, वह हंसयुक्त विमानद्वारा ब्रह्मलोकको जाता है। जो मनुष्य चैत्र या फाल्गुनमासमें विष्णुवापीमें स्नान करके जितेन्द्रिय हो उपवासपूर्वक रात्रिमें जागरण करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होता और भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है। जो मनको संयममें रखकर भक्तिपूर्वक अभयेश्वर देवके पट्टबन्धका दर्शन करता है, वह रुद्रलोकको जाता है। मुने! जो मनुष्य एकचित्त होकर अगस्त्येश्वरके समीप जाता है और अगस्त्योदयके समय उनका दर्शन करता है, वह सम्पूर्ण पातकोंसे मुक्त हो जाता है।

**काशपुष्पप्रतीकाश वह्निमारुतसंभव।**
**मित्रावरुणयोः पुत्र कुम्भयोने नमोऽस्तु ते॥**

'काश-पुष्पके समान गौरवर्ण, अग्नि और वायु (अग्नीषोम)-से प्रकट मित्रावरुण-पुत्र कुम्भयोने! आपको नमस्कार है।'

इस मन्त्रसे अगस्त्यजीको अर्घ्य देनेवाला मानव पुत्रवान् और धनवान् होता है। मृत्युके पश्चात् वह स्वर्गलोकमें जाता है और स्वर्गभोगके अनन्तर पुनः इस मर्त्यलोकमें आकर पवित्र धनवानोंके घरमें जन्म लेता है अथवा महान् योगीश्वर होता है।

व्यास! उत्तम पुण्य प्रदान करनेवाली दिव्य पुरी उज्जयिनी प्रथम कल्पमें स्वर्णशृंगा कहलाती है, दूसरेमें इसका नाम कुशस्थली होता है। तीसरेमें इसे अवन्तिका कहते हैं। चतुर्थ कल्पमें इसका नाम अमरावती होता है। पंचम कल्पमें चूडामणि, छठेमें पद्मावती और सातवेंमें इसका नाम उज्जयिनी जानना चाहिये।

जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर इन नामोंका पाठ करता है, वह निःसन्देह सात जन्मोंके पापसे मुक्त हो जाता है। प्राचीन कालकी बात है। उज्जयिनीपुरीमें अन्धक नामसे प्रसिद्ध दैत्य राज्य करता था। उसके महापराक्रमी पुत्रका नाम कनकदानव था। एक बार उस महाशक्तिशाली वीरने युद्धके लिये इन्द्रको ललकारा, तब इन्द्रने क्रोधपूर्वक उसके साथ युद्ध करके उसे मार गिराया। उस दानवको मारकर वे अन्धकासुरके भयसे भगवान् शंकरको ढूँढ़ते हुए कैलास पर्वतपर चले गये। वहाँ देवताओंके स्वामी इन्द्रने भगवान् चन्द्रशेखरका दर्शन करके अपनी अवस्था उन्हें

बतायी और प्रार्थना की—'भगवन्! मुझे अन्धकासुरसे अभय दीजिये।'

इन्द्रका ऐसा वचन सुनकर शरणागतवत्सल शिवने अभय देते हुए कहा—'इन्द्र! तुम अन्धकासुरसे भय न करो।' इस प्रकार सान्त्वना देकर भगवान् शिवने महाभयानक रौद्र रूप धारण किया और वे एक चरणसे पृथ्वीपर उतरे। जहाँ उनका पैर पड़ा, उसी स्थानपर सर्वदेववन्दित एक कुण्ड प्रकट हो गया। भगवान् शिवने वहाँ पैर रखा था, इसलिये उस कुण्डका नाम 'शिवपद' प्रसिद्ध हो गया। सर्वप्रथम श्रीशंकरके चरणांगुष्ठकी कोटि (कोना) वहाँ पड़ी थी, इसलिये वह तीर्थ सर्वपापनाशक कोटितीर्थके नामसे भी विख्यात हुआ। वहीं भगवान् अगस्त्यने करोड़ों तीर्थोंका स्थापन किया था, इस कारणसे भी लोकमें उसका 'कोटितीर्थ' नाम पड़ गया। उस तीर्थका दर्शन करके सब देवताओंने अपने हितकी इच्छासे उसमें स्नान किया। महाकालमय स्वरूप धारण करके भगवान् शिवका वहाँ आगमन हुआ था, इसीलिये वे उस तीर्थमें महाकालके नामसे प्रसिद्ध हुए हैं।

दानव अन्धकासुरने जब इन्द्रके द्वारा अपने पुत्रके मारे जानेका समाचार सुना, तब महान् क्रोधमें भरकर उसने रणके बाजे बजवाये और सेनासहित उस स्थानपर आया, जहाँ सब देवता मौजूद थे। रथ, हाथी आदिसे युक्त विशाल सेनाके साथ महायुद्धके लिये उद्यत हुए दानवोंको आते देख देवतालोग भगवान् शिवकी शरणमें गये। तब वे त्रिनेत्रधारी भगवान् महाकाल 'देवताओ! निर्भय रहो।' ऐसा कहकर हाथमें त्रिशूल लिये खड़े हो गये। दैत्योंपर भगवान् रुद्रका कोप होते ही सारा आकाश-मण्डल प्रज्वलित अग्निकी ज्वालाओंसे व्याप्त हो गया। अन्धकासुरने क्रोधमें भरकर देवताओंके विनाशके लिये करोड़ों दुःसह बाणोंकी झड़ी लगा दी। पिनाकधारी महाकालने आगकी चिनगारियों और ज्वालाओंको छोड़ते हुए उस दानवके अस्त्र-शस्त्रोंके सैकड़ों टुकड़े कर दिये। साथ ही अन्धकासुरको भी अनेक बाणोंसे घायल किया। जैसे भ्रमर कमलके फूलपर छा जाते हैं, उसी प्रकार भगवान् शंकरके बाणोंने अन्धकको सब ओरसे आच्छादित कर दिया। अन्धकासुर युद्धमें स्थित होनेपर भी अत्यन्त शिथिल हो गया, उसके अस्त्र-शस्त्र भी शिथिल हो गये। भगवान् शिवके गण भी बड़े भारी योद्धा थे, साथ ही उन्हें भगवान् शंकरका सामीप्य भी प्राप्त था; इसलिये उन्होंने युद्धमें उत्साहपूर्वक लड़कर अन्धकासुरकी सेनाको मार डाला।

अपनी सेनाको देवताओंद्वारा छिन्न-भिन्न की हुई देख और अपनेको भी महेश्वरके बाणोंसे क्षत-विक्षत हुआ पाकर अन्धकासुर विकल शरीरसे भयभीत हो उठा। तब उसने तामसी माया फैलायी। उस मायासे उसका शरीर अदृश्य हो गया और वह उत्तर दिशाकी ओर चल दिया। अन्धकासुर जिस-जिस मार्गसे गया, उसी-उसीसे शंकरजीने भी उसका पीछा किया। एक स्थानपर पहुँचकर अन्धकासुर बोला। फिर भगवान् शिव भी उसी प्रकार बोले। तबसे वहाँ वागन्धक नामसे विख्यात तीर्थ प्रकट हो गया। अगहन सुदी नवमीको वहाँ स्नान करके पवित्र हो जो श्रद्धापूर्वक शक्करसहित अन्नदान करता है, उसका वह सब पुण्य अक्षय होता है तथा दाता शिवलोकमें जाता है।

इसी समय अपने तेजसे दिशाओंके अन्धकारको दूर करते हुए (अर्जुनद्वारा स्थापित) भगवान् नरादित्य मनुष्यका रूप धारण करके उठे। उनके द्वारा अन्धकार नष्ट होनेपर प्रकाशमें जब वह दैत्य स्पष्ट दिखायी देने लगा, तब देवताओंको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने नाना प्रकारकी स्तुतियोंद्वारा नररूपधारी सूर्यनारायणका स्तवन किया और उनका नाम 'नरदीप' रख दिया। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक नरदीप नामसे प्रसिद्ध भगवान् सूर्यका दर्शन करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। जो मनुष्य षष्ठी या सप्तमी तिथिको रविवारके दिन उपवास करके दिनक्षय, संक्रान्ति, ग्रहण तथा विषुवयोगपर कुण्डमें स्नान करके पवित्र हो मनको संयममें रखता और जप करते हुए स्तुति,

वाद्य और मंगलगीतके साथ भगवान् नरदीपका दर्शन करता है तथा पूजन और साष्टांग प्रणाम करके प्रातःकाल, मध्याह्न एवं अपराह्णमें सूर्यदेवकी परिक्रमा करता है, वह सात जन्मोंमें किये हुए समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है और अन्तमें सूर्यलोकको जाता है। पूर्वकालमें नरावतार अर्जुनने इन्द्रसे सूर्य-प्रतिमाको प्राप्त करके उसे प्रसन्नतापूर्वक इस तीर्थमें स्थापित किया है, इस कारणसे ये भगवान् सूर्य नरदीप कहे गये हैं।

ज्येष्ठ व्यतीत होनेपर भगवान् सूर्यको रथपर विराजमान करके श्रेष्ठ द्विज अपनी भुजाएँ लगाकर उस रथको कुशस्थलीमें पहुँचाते हैं। उस समय उत्तर दिशाको आते हुए भगवान् सूर्यका जो दर्शन करता है, उसे अग्निष्टोम यज्ञका पूरा फल प्राप्त होता है। जो केशवादित्यके स्थानसे लौटे हुए रथका दर्शन करता है अथवा रस्सी पकड़कर स्वयं भी उस रथको खींचता है, वह अपने कुलका एवं पिता-पितामह आदि पितरोंका उद्धार कर देता है। जो दक्षिण दिशामें नरदीप देवका संयमपूर्वक दर्शन करते हैं, वे स्वर्गलोकमें जाते हैं। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक श्रीसूर्यदेवकी परिक्रमा करते हैं, उनके द्वारा सात द्वीपोंवाली पृथ्वीकी प्रदक्षिणा हो जाती है। प्रातःकाल उठकर मौन हो भक्तिभावसे भगवान् सूर्यके समीप जाय; पूर्वद्वारसे दर्शन और नमस्कार कर, दक्षिणद्वारसे प्रवेश करके रथचक्रकी पूजा करे। तदनन्तर उसी द्वारसे निकलकर प्रणामपूर्वक आगे जाय और पश्चिम द्वारका आश्रय ले रथमें स्थित हुए सूर्यदेवका अर्चन करे। जो मनुष्य इस प्रकार नरदीपजीकी रथ-यात्रा करता है, वह अपनी रुचिके अनुसार इन्द्रलोक, सूर्यलोक, शिवलोक तथा गोलोकका सुख पाता है। जो मनुष्य भगवान् सूर्यनारायणके अग्रभागमें स्थित वापीमें एक मासतक प्रतिदिन अवगाहन करके नरदीपजीका दर्शन करता है, उसके दुःस्वप्नका नाश हो जाता है।

अन्धकार नष्ट होनेपर जब सब ओर उत्तम प्रकाश छा गया, तब भगवान् महेश्वरने तीन शिखाओंवाले त्रिशूलसे अन्धकासुरको विदीर्ण कर डाला। इससे ब्रह्मा और इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता बहुत प्रसन्न हुए। उस समय भगवान् विष्णुने देवताओंके हितकी इच्छासे शंखनाद किया। जहाँ उन्होंने शंख बजाया, वहाँ शंखोद्धारण नामसे प्रसिद्ध तीर्थ हो गया। वहाँ भगवान् विष्णु सदा निवास करते हैं। वहीं अनादि चतुर्मुख लिंग भी है। उस लिंगके समीप ही विष्णुदेवके दक्षिण भागमें त्रिशूलसे लक्षित होनेवाले भगवान् शिव विराजमान हैं। जो जितेन्द्रिय पुरुष चतुर्दशी और अष्टमीको इन सबका दर्शन करते हैं, वे समस्त पापराशिके क्षीण हो जानेसे परम गतिको प्राप्त होते हैं। जो वहाँ स्नान और एकादशीका व्रत करके शंखधारी भगवान् जनार्दनका दर्शन करता है, वह अच्युतपद (वैकुण्ठधाम)-को प्राप्त होता है।

## ॐकारेश्वर आदिका महत्त्व तथा अन्धकासुरको शिवगणोंमें श्रेष्ठ स्थानकी प्राप्ति

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—भगवान् रुद्रके त्रिशूलसे अन्धकासुरके विदीर्ण होनेपर वहाँ एक विशेष प्रकारकी ध्वनि प्रकट हुई। उसी स्थानपर ॐकारेश्वर महादेवका अविर्भाव हुआ। उस तीर्थमें स्नान करके पवित्र हो समाधि तथा नियमसे जो ॐकारस्वरूप महादेवका दर्शन करता है, वह सब पातकोंसे मुक्त हो जाता है। अन्धकासुरको घायल करके वह त्रिशूल पातालगंगाके जलमें चला गया। पातालनिवासी भगवान् हाटकेश्वर उसी शूलके मार्गसे ऊपर निकले। इसीलिये उन्हें शूलेश्वर कहा गया है। उनके उत्तर भागमें धूतपाप नामक तीर्थ है। वहीं वह पापात्मा एवं पराक्रमी दैत्यराज त्रिशूलसे गिराया गया था।

इसीलिये उस तीर्थको धूतपाप कहते हैं। जो जितेन्द्रिय शिवभक्त अष्टमी, पूर्णिमा, चतुर्दशी तथा शनिवारको एक रात उपवास करके धूतपाप नामक महेश्वरका दर्शन करता है, वह सात जन्मोंमें किये हुए समस्त पापोंसे छूट जाता है और अन्तमें शिवलोकको प्राप्त होता है। जो मनुष्य पौषके महीनेमें वहाँ स्नान करके शिवजीका दर्शन करता है, वह शूलेश्वरके प्रभावसे ब्रह्महत्यासे मुक्त हो जाता है और मृत्युके पश्चात् परम पदको प्राप्त होता है।

इस प्रकार अन्धकासुरको विदीर्ण करके भगवान् शिवका त्रिशूल ज्यों-ही पातालगंगाको गया, त्यों-ही अन्धकासुरके रक्तसे उत्पन्न सहस्रों भयंकर दैत्य वहाँ युद्धके लिये खड़े हो गये। तब महादेवजीने बड़े जोरसे सिंहनाद किया। उस भयंकर गर्जनासे मूर्छित होकर वे पापी दैत्य पृथ्वीपर गिर पड़े। उस महावनमें जहाँ भगवान् शंकरने सिंहनाद किया था, वहाँ समस्त पापोंका नाश करनेवाले सिंहेश्वरदेव विराजमान हैं। उनका दर्शन करनेसे मनुष्य सिंहके समान बलवान् होता है। सिंहनाद करनेपर जहाँ भगवान्का श्री-विग्रह रौद्ररससे कण्टकित (रोमांचित) हो गया था, वहाँ वे कण्टकेश्वरदेवके नामसे विद्यमान हैं, जो भक्तोंको सदा सब कुछ देनेवाले हैं। जो मानव उस तीर्थमें स्नान करके कण्टकेश्वर शिवका दर्शन करता है, वह कहीं भयको नहीं प्राप्त होता। जहाँ शंकरजीने इन्द्रको अभयदान दिया था, वहाँ अभयेश्वर नामक उत्तम लिंग प्रकट हुआ। वहाँ स्नानसे पवित्र हो उपवास करके जो जितेन्द्रिय पुरुष देवदेवेश्वर शिवका पूजन करता है, वह अश्वमेध यज्ञके फलको प्राप्त होता है। उस समय भगवान् शिवके मस्तकसे पृथ्वीपर जो पसीनेकी बूँद गिरी, उससे अंगारके समान लाल अंगवाले भूमिपुत्र मंगल उत्पन्न हुए। अंगारक, रक्ताक्ष तथा महादेव-पुत्र इन नामोंसे स्तुति करके ब्राह्मणोंने उन्हें ग्रहोंके मध्यमें प्रतिष्ठित किया। तत्पश्चात् उसी स्थानपर ब्रह्माजीने अंगारकेश्वर नामक उत्तम शिवलिंगकी स्थापना की। जो पवित्रात्मा मनुष्य मंगलवारको उस तीर्थमें स्नान तथा अंगारकेश्वरका दर्शन करता है, वह समस्त पातकोंसे छूट जाता है। मंगलवारको चतुर्थी तिथिमें रात्रिके समय अर्घ्य देना चाहिये। जबतक चार चतुर्थी पूरी न हो जाय, तबतक प्रयत्नपूर्वक यह अर्घ्यदानका नियम चलाते रहना चाहिये।

इस प्रकार त्रिशूलसे आहत होनेके बाद अन्धकासुरको बड़ा भय हुआ। वह अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये प्रयत्न करने लगा। संसारमें जीवन-रक्षाका दूसरा कोई उपाय न देखकर उसने भगवान् शंकरका ही स्तवन प्रारम्भ किया। वह बोला—'जो इस सम्पूर्ण चराचर जगत्के कर्ता और इसे अपने किये हुए कर्मोंके अनुसार सुख-दुःख देनेवाले हैं, जो संसारकी उत्पत्तिके हेतु तथा उसका अन्तकाल भी स्वयं ही हैं, सबको शरण देनेवाले उन्हीं भगवान् शंकरकी मैं शरण लेता हूँ। जिनके मोह, तमोगुण और रजोगुण दूर हो गये हैं, वे योगीजन, भक्तिसे मनको एकाग्र रखनेवाले निष्काम भक्त तथा अपरिच्छिन्न बुद्धिवाले ज्ञानी भी जिनका निरन्तर ध्यान करते हैं, उन अनन्त दिव्यस्वरूप शरणदाता भगवान् शंकरकी मैं शरण लेता हूँ। जो सुशोभित किरणोंवाले निर्मल अर्धचन्द्रका मुकुट बाँध सदा अपने मस्तकपर गंगाजीको धारण करते हैं और जिन्होंने अपने वामांग भागमें गिरिराजकिशोरी उमाको धारण कर रखा है, उन शरणदाता भगवान् शंकरकी मैं शरण लेता हूँ। सिद्ध और चारण जिनके चरणारविन्दोंकी सेवा करते रहते हैं और जिन्होंने आकाशसे ऊँची-ऊँची उत्ताल तरंगोंके साथ विषम वेगसे गिरती हुई त्रिभुवनपावनी गंगाको अपने मस्तकपर पुष्पमालाकी भाँति धारण कर लिया था, उन शरणदाता भगवान् शंकरकी मैं शरण लेता हूँ। जिसके भारसे कैलासपर्वतका शिखर हिलने लगता था, उस कैलास शृंगके सदृश विशालकाय दशाननने भी जिनके युगलचरणारविन्दोंकी सेवा की है, उन शरणदाता भगवान् शंकरकी मैं शरण लेता हूँ। महेश्वर! जो मूढ़ पुरुष चराचर जगत्के गुरु

आपको नहीं जानते हैं, वे ऐश्वर्यका अहंकार नष्ट होनेपर मेरी ही भाँति पश्चात्ताप करते और दुस्सह यातना भोगते हैं।'

**इस प्रकार स्तुति करते हुए अन्धकासुरसे सबका कल्याण करनेवाले शूलपाणि भगवान् शिव प्रसन्न होकर बोले**—वत्स! मैं प्रसन्न हूँ, अब तुम शुद्ध—निर्मल हो गये हो। अतः तुम्हें दिव्य नेत्र देता हूँ, निश्चिन्त होकर मेरी ओर देखो। दानवश्रेष्ठ! तुम्हारे मनमें जो कोई भी आकांक्षा हो, उसे माँगो; मैं तुम्हें सब कुछ दूँगा।

**अन्धकासुर बोला**—देवेश्वर! मुझे गणपतिपद प्रदान कीजिये, क्योंकि वह सदा अक्षय है।

**भगवान् शिव बोले**—वत्स! तुम मेरे गणोंके अध्यक्ष होकर रहो। तुम्हें अणिमा आदि समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होंगी और सदैव तुम मेरे प्रिय बने रहोगे।

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—इस प्रकार दुर्लभ वरदान पाकर वह अन्धक महादेवजीका मुख्य गण होकर वहीं अन्तर्धान हो गया। तदनन्तर भगवान् शिव कैलासपर्वतपर चले गये।

## उज्जयिनीपुरीके कनकशृंगा आदि नाम पड़नेका कारण

**व्यासजीने पूछा**—भगवन्! इस महाकाल वनमें कितने तीर्थ और शिवलिंग हैं, यह बतानेकी कृपा करें।

**सनत्कुमारजीने कहा**—व्यास! महाकाल वनमें साठ कोटि सहस्र और साठ कोटि शत तीर्थ हैं तथा शिवलिंगोंकी तो कोई संख्या ही नहीं है। सकाम या निष्कामभाव रखनेवाला जो मनुष्य इस सुन्दर महाकाल वनमें जन्म लेता है, वह भगवान् शिवके धाममें प्रतिष्ठित होता है। ब्रह्मन्! सभी तीर्थ और सभी सिद्ध क्षेत्र सब ओरसे पवित्र एवं पुण्यजनक हैं। उन सबमें इस महाकालतीर्थ और क्षेत्रको मुख्य जानो।

**व्यासजीने पूछा**—मुने! उज्जयिनीपुरीका नाम पहले कनकशृंगा क्यों हुआ? फिर उसका कुशस्थली नाम कैसे हुआ? आगे चलकर अवन्ती नाम कैसे पड़ा? पद्मावती और उज्जयिनी नामोंका भी हेतु क्या है? यह सब बतावें।

**सनत्कुमारजीने कहा**—एक समय महादेवजी तथा ब्रह्माजी सुवर्णमय शिखरोंसे युक्त अद्भुत पुरीका दर्शन करनेके लिये भूतलपर आये। यहाँ आकर उन्होंने सम्पूर्ण विश्वके स्वामी भगवान् विष्णुरूपको नमस्कार किया। विष्णुरूपने भी विधि और आदरके साथ सेवकोंसहित उन दोनोंका स्वागत-सत्कार किया और पूछा—'महेश्वर! तथा ब्रह्माजी! आप दोनों अपने अनुगामियोंसहित देवलोकसे पृथ्वीपर कैसे पधारे हैं!' यह सुनकर ब्रह्मा और महादेवजी बोले—'प्रभो! जहाँ आप विराजमान हैं, वहीं हम दोनोंका भी स्नेह है। आपके बिना हमें स्वर्ग, पृथ्वी अथवा पातालमें भी सुख नहीं है। भगवन्! आपने यह सुवर्णमय शिखरवाली विचित्र पुरी कब बसायी है? जगदीश्वर! आप यहाँ हमें भी स्थान दें।'

**यह सुनकर विश्वरूपमय विष्णुने प्रसन्नचित्त होकर कहा**—मैं आप दोनोंको अभीष्ट स्थान देता हूँ। प्रजापते! इस पुरीके उत्तर भागमें आपका स्थान है और महेश्वर! आपके लिये दक्षिण भागमें स्थान दिया गया है। अतः आप वहीं पधारें। आप दोनोंने इस पुरीको सुवर्णमय शिखरवाली बताया है, इसलिये यह संसारमें 'कनकशृंगा' नामसे विख्यात होगी।

इस प्रकार इस पुरीका प्रथम नाम कनकशृंगा बताया जाता है। वहाँ ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजी तीनों रहकर प्रसन्नताका अनुभव करते हैं और अपने भक्तोंको समस्त मनोवांछित फल देते हैं।

व्यास! अब इस पुरीके कुशस्थली नाम होनेका कारण बताया जाता है, उसे सुनो। एक समय सृष्टिकी रचना करके ब्रह्माजीने भगवान् विष्णुका ध्यान किया। उनके ध्यान करनेपर विश्वरूपधारी भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीसे कहा—'ब्रह्मन्! आपने मेरा उत्तम रीतिसे ध्यान किया है, इसलिये मैं आपके पास आया हूँ। समस्त प्राणियोंकी रक्षाके लिये उद्यत हुए मुझको देखिये।' भगवान्का यह वचन सुनकर ब्रह्माजी सहसा उठकर खड़े हो गये और अनन्यचित्तसे सामने खड़े हुए श्रीहरिका पूजन करते हुए उन्हें नमस्कार किया। तत्पश्चात् ब्रह्माजीने इस प्रकार कहा—'देवदेव! जगन्नाथ! इस जगत्की सृष्टि तो मैंने कर दी है, परंतु आपके कृपापूर्ण सहयोगके बिना इसका स्थिर रहना असम्भव है। आप ही इस संसारके शास्ता एवं पालक हैं। अतः आप ही इसको अपने अनुशासनमें रखें। यक्ष, नाग, राक्षस, देवता, दानव, गन्धर्व—ये परस्पर एक-दूसरेको मारते हैं। इन सबकी रक्षा करनेमें केवल आप ही समर्थ हैं। आप सबमें प्रवेश करनेवाले और सर्वत्र व्यापक हैं, इसीलिये मुनीश्वरोंने आपको 'विष्णु' कहा है। आपने ही अपनेमें इस सम्पूर्ण विश्वको बसाया है, इसलिये आप 'वासुदेव' कहलाते हैं। समस्त संसार आपका अनुगामी है, आप विभु हैं, सम्पूर्ण जगत्के राजा हैं। अखिल विश्व आपके लिये सेनाके सदृश है, इसीलिये आप 'विश्वसेन' कहे गये हैं। इस चराचर जगत्को अपनी ओर आकृष्ट करनेके कारण आपको लोग 'श्रीकृष्ण' कहते हैं। देव! आपने तीनों लोकोंको जीत लिया है, अतः आप 'जिष्णु' हैं। आप ही इस सम्पूर्ण जगत्के आदि राजा हों, आपका सिंहासन अद्वितीय हो। आपके हाथमें दक्षिणावर्त शंख है, इस कारण आप पुरुषोत्तम हैं। आपके पास सदा सुदर्शन नामक चक्र विद्यमान रहता है, अतः आप ही चक्री हैं। आपकी ध्वजा गरुड़से सेवित है तथा सुवर्णकी-सी पाँखवाले गरुड़जी आपके वाहन हैं। किरीट, पदक, भुजबन्द, कर्णपुष्प, केयूर, हार, उत्तम सुवर्णसूत्र, विचित्र वस्त्र, उत्तरीय तथा लाल रंगकी मालाओंसे आप विभूषित होइये। लक्ष्मी कभी आपका साथ नहीं छोड़तीं। आपका ऐश्वर्य अनन्त है। मुकुन्द! इस जगत्में साधुपुरुषोंकी आपमें भक्ति हो। आप भक्तके ऊपर प्रसन्न होइये।

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—ब्रह्माजीके इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान् विष्णु प्रसन्न हो देवताओंके बीचमें इस प्रकार बोले—'विरंचि! मुझे कोई शुद्ध मण्डल दिखाइये, जो आपसे पृथक् न हो और जहाँ स्थिरतापूर्वक स्थित होकर मैं जगत्की रक्षा कर सकूँ।' तदनन्तर ब्रह्माजीने कुशकी एक मूठी ली और एक अत्यन्त उन्नत स्थल भूमिपर बिछाकर भगवान् विष्णुसे कहा—'देव! आपके लिये यही पवित्र मण्डल है, देवताओंसे पूजित होकर आप सदा यहीं विराजमान होइये। इन कुशोंपर बैठनेके कारण आप विष्टरश्रवा एवं कुशेश्वर होंगे।' ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर भगवान् लक्ष्मीपति वहाँ कुशके आसनपर आसीन हुए। तदनन्तर विश्वविधाता ब्रह्मा और भगवान् पुराण-पुरुषोत्तम दोनोंने उस पुरीका नाम कुशस्थली रख दिया। उस पुरीमें रहकर सम्पूर्ण विश्वके पालक, सर्वत्र व्यापक, विश्वेश्वर, विश्वस्रष्टा, विश्वात्मा एवं सर्वविश्वनियन्ता श्रीमान् विष्णुने समस्त संसारका पालन किया। इस प्रकार पहले जिसका नाम कनकशृंगा था, वही पुरी कुशस्थलीके नामसे प्रसिद्ध हुई।

प्राचीन कालकी बात है। दैत्योंसे पराजित होकर सम्पूर्ण देवताओंने मेरु पर्वतके शिखरपर जाकर वहाँके वन, कुंज और गुफा आदिकी शरण ली। वहाँ पहुँचकर उन्होंने परस्पर सलाह की और उस स्थानपर गये, जहाँ प्रजापति ब्रह्माजी विराजमान थे। देवताओंने अपने आगमनका सब कारण उनसे निवेदन किया। तब ब्रह्माजी देवताओंके साथ देवाधिदेव भगवान् महेश्वरके समीप गये। फिर महादेवजी भी उन सबके साथ वैकुण्ठधाममें भगवान् विष्णुके समीप गये और उन देवदेव जगदीश्वरकी स्तुति करने लगे।

**देवता बोले**—सर्वत्र व्याप्त रहनेवाले भगवान् अनन्तको नमस्कार है। कूर्मरूपधारी श्रीहरिको बार-बार नमस्कार है। भयंकर नृसिंह और वाराह रूप धारण करनेवाले भगवान्‌को नमस्कार है। रघुनन्दन रामको एवं अनन्त शक्तिसम्पन्न ब्रह्मको नमस्कार है। परम शान्त वासुदेवको नमस्कार है। अज्ञानी जीवोंका भी पालन करनेवाले पशुपति, शुद्ध-बुद्धस्वरूप एवं म्लेच्छान्तकारी कल्किदेवको नमस्कार है।

**इस प्रकार स्तुतिमें लगे हुए देवताओंको सम्बोधित करके आकाशवाणी हुई**—देवगण! तुम सब लोग एकाग्रचित्त होकर सुनो। ब्रह्मर्षियोंद्वारा सेवित परम सुन्दर जो महाकाल वन है, वहाँ समस्त कामनाओं और फलोंको देनेवाली एक पवित्र पुरी है, जो बड़ी ही मनोरम और कुशस्थली नामसे प्रसिद्ध है। वहाँ सिद्ध और गन्धर्व निवास करते हैं, वहीं महादेवजी सदा निवास करते हैं। कल्पान्तकालमें जब समस्त चराचर प्राणी नष्ट हो जाते हैं, सब तीर्थ, समस्त पुण्य मन्दिर, नदी, समुद्र, सरोवर, उपवन, ओषधि, वृक्ष, लता, यन्त्र, मन्त्र, शुभ, अशुभ, नक्षत्र और सूर्य, चन्द्र आदि जगत्‌का अभाव हो जाता है, उस समय सबके बीज, पुण्य, जीव, कर्म तथा आशय (कर्मोंके संस्कार) सबको लेकर भगवान् शिव उस पुरीमें स्थित होते हैं। अतः कुशस्थलीपुरी सबके लिये परम हितकारिणी है। वहाँ मनुष्योंद्वारा किया हुआ थोड़ा-सा भी दान अनन्तानन्तगुना हो जाता है। तुम सब लोग यत्नपूर्वक वहीं जाओ। उस तीर्थमें जाकर तुम सब लोग उत्तम विधिसे स्नान, दान आदि शुभकर्म करो। उस पुण्यके बलसे तुम्हें पुनः स्वर्गलोककी प्राप्ति होगी।

वह आकाशवाणी सुनकर ब्रह्मा और शिव आदि सब देवता मस्तक झुकाकर भगवान्‌को प्रणाम करके उसी स्थानपर गये। वहाँ उस पुरीको देखकर देवता बहुत प्रसन्न हुए। कुशस्थलीमें पैशाचमोचन नामसे प्रसिद्ध एक तीर्थ है। उसमें स्नान, जप, होम और दान करनेसे देवताओंको अक्षय पुण्य प्राप्त हुआ। उसके बलसे वे दानवोंको जीतकर पुनः स्वर्गलोकमें अपने-अपने पदपर प्रतिष्ठित हो गये। जहाँ प्रत्येक कल्पमें देवता, तीर्थ, ओषधि, बीज तथा सम्पूर्ण प्राणियोंका पालन होता है, वह पुरी सबका अवन (रक्षण) करनेके कारण 'अवन्ती' है। आजसे इस कुशस्थलीका नाम अवन्तीपुरी होगा। ऐसा कहकर सब देवता अपने-अपने धामको चले गये। द्विजश्रेष्ठ! तभीसे भूतलपर वह पुरी अवन्तीके नामसे विख्यात हुई है।

व्यासजी! अब मैं यह बतलाऊँगा कि अवन्तीपुरीका नाम उज्जयिनी कैसे हुआ। एक समय सब दैत्योंके राजा महादैत्य त्रिपुरने ब्रह्माजीके सन्तोषके लिये बड़ी घोर तपस्या की। एक सहस्र वर्ष पूर्ण होनेपर ब्रह्माजी अत्यन्त प्रसन्न होकर उससे बोले—'असुरश्रेष्ठ! तुम मुझसे अपना मनोवांछित वर माँगो।' ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर त्रिपुर दैत्य बोला—'ब्रह्मन्! मैं देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, नाग तथा राक्षस सबके द्वारा अवध्य हो जाऊँ।'

**ब्रह्माजी बोले**—वत्स! ऐसा ही होगा। तुम निर्भय होकर विचरो।

ऐसा कहकर ब्रह्माजी वहीं अन्तर्धान हो गये। तबसे लेकर उस दैत्यने पहलेके वैरका स्मरण करके देवताओंका महान् विनाश आरम्भ किया। उससे परास्त हुए देवता आपसमें सलाह करके ब्रह्माजीके पास गये और उनसे अपनी विपत्तिका सब समाचार कह सुनाया। यह सुनकर ब्रह्माजी सहसा उठे और देवताओंके साथ महाकाल वनमें जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने समस्त देवताओंके साथ रुद्रसरोवरमें स्नान, दान, जप और होम किया। तत्पश्चात् महाकालजीकी पूजा करके श्रीब्रह्माजी बोले—'भक्तोंको अभय दान देनेवाले देवदेव महादेव! दैत्यराज त्रिपुर देवताओंका बड़ा भारी संहार कर रहा है। उसने कितने ही द्वीप, ग्राम और नगर उजाड़ दिये। ऋषियों और संन्यासियोंके आश्रम

फूँक दिये। अतः आप यत्नपूर्वक उसके वधका कोई उपाय सोचिये।'

**ब्रह्माजीका यह वचन सुनकर महादेवजीने कुछ सोच-विचारकर कहा**—देवताओ! उस दुरात्मा दैत्यको जीतनेका कोई उपाय करूँगा। तबतक तुमलोग तपस्या करो। अवन्तीपुरीमें जो होम, दान आदि पुण्य कर्म किया जाता है, वह सब अक्षय होता है। सब देवताओंसे ऐसा कहकर भगवान् शिव वहीं अन्तर्धान हो गये।

तदनन्तर उस दैत्यका विनाश करनेके लिये भगवान् शंकरने महापाशुपत नामक शस्त्र अपने हाथमें लिया। उस समय वे महान् आडम्बर धारण करके समस्त प्राणियोंके लिये भयंकर प्रतीत होने लगे। देवता उनकी स्तुति और जय-जयकार करते हुए उनके पीछे-पीछे चले। महादेवजीने एक ही बाणसे उस महामायावी असुरको मार डाला और मायायुद्धसे उसके तीन टुकड़े कर डाले। तत्पश्चात् वे देवसेवित अवन्तीपुरीमें लौट आये। उस समय ऋषि, सिद्ध और चारण अत्यन्त प्रसन्न हो जय-जयकारके साथ भगवान् सदाशिवकी स्तुति करने लगे। देवताओंको पुनः अपना स्थान प्राप्त हुआ। वहाँ त्रिपुर नामक दानवको उत्कर्षपूर्वक जीता गया था। इसलिये सब ऋषि-महर्षियोंने उसका नाम 'उज्जयिनी' रख दिया। तभीसे अवन्तीपुरीका नाम उज्जयिनी-पुरी हुआ। जो मानव उस पुरीमें स्नान, दान आदि करते हैं, उनके शरीरमें कोई पाप नहीं ठहर पाता। उज्जयिनीपुरीमें विद्याकी इच्छा रखनेवाला महादेवजीकी, धनार्थी पुरुष धनाध्यक्ष कुबेरकी, पुत्रार्थी सुरेश्वर इन्द्रकी, सुखार्थी मानव दिनेश्वर सूर्यकी, उत्तम बुद्धि चाहनेवाला गणेशकी तथा प्रिय वस्तुकी इच्छा रखनेवाला भगवान् शेषकी स्तोत्रमयी वाणीद्वारा आराधना करते हुए निवास करे। जो सौभाग्यशाली मानव सदा उज्जयिनीपुरीमें निवास करता है, वह मनोवांछित कामनाओंका उपभोग करके मृत्युके पश्चात् भगवान् शिवके धाममें जाता है।

अब उज्जयिनीपुरीका पद्मावती नाम पड़नेका कारण बतलाऊँगा। एक समय दुष्टात्मा दानवोंके द्वारा धर्मको बड़ी भारी हानि पहुँची। तब समस्त देवताओंने दैत्योंसे मिलकर समुद्रका मन्थन किया। उस समय समुद्रसे महालक्ष्मी प्रकट हुईं। वे उज्जयिनीके महाकाल वनमें रहने लगीं। तदनन्तर कौस्तुभ मणि, पारिजात वृक्ष, वारुणी मदिरा, धन्वन्तरि वैद्य, चन्द्रमा, कामधेनु, ऐरावत हाथी, उच्चैःश्रवा घोड़ा, अमृत-कलश, रम्भा अप्सरा, शार्ङ्ग धनुष, पांचजन्य शंख, महापद्म निधि और हालाहल विष—ये नाना प्रकारके चौदह रत्न प्राप्त हुए। इन सबको लेकर देवता और दैत्य माहेश्वर वनमें आये और वहाँ बैठकर अमृत पीनेके विषयमें विचार करने लगे। वे सभी 'पहले मैं, पहले मैं' ऐसा कहते हुए विवाद करने लगे। इसके कारण वहाँ बड़ा भारी कोलाहल मच गया। इसी समय वहाँ देवर्षि नारद आये। उन्होंने दोनों दलोंका वह कलह देखकर भगवान् विष्णुकी आराधना की। तब भगवान् श्रीहरि सबके मनको मोहनेवाली नारीका रूप धारण करके वहाँ आये। उस सुन्दरीको देखकर वे महादैत्य कामदेवके वशीभूत हो गये। इसी समय श्रीहरिने अपने हाथका कौशल दिखाते हुए दैत्योंको मदिरा और देवताओंको अमृतका कलश दे दिया। राहु नामक दैत्य देवताओंका-सा रूप धारण करके उन्हींके बीचमें बैठकर वह उत्तम अमृत पीने लगा। यह जानकर भगवान् विष्णुने तुरंत ही चक्रसे उसका मस्तक काट डाला। परंतु अमृतका स्पर्श हो जानेके कारण उस असुरकी मृत्यु नहीं हुई। वही इस महाकाल क्षेत्रमें राहु और केतुके नामसे विख्यात हुआ। तत्पश्चात् महाकाल वनमें देवताओंने उन रत्नोंको परस्पर बाँट लिया, जिससे वे रत्नभोगी हुए। मोहिनी देवीने कौस्तुभ मणि, लक्ष्मी, शार्ङ्ग-धनुष तथा पांचजन्य शंख—ये चार वस्तुएँ भगवान् विष्णुको दीं। उच्चैःश्रवा घोड़ा सूर्यको दिया, गजश्रेष्ठ ऐरावत इन्द्रको समर्पित किया। देवताओंको अमृत और शिवजीको चन्द्रमा प्रदान किया। वृक्षोंमें

श्रेष्ठ पारिजात तथा रम्भा अप्सराको इन्द्रके क्रीड़ा-कानन नन्दनवनमें भेज दिया। देवताओंको अपना खोया हुआ स्थान पुनः प्राप्त हो गया। कामधेनु गौको यज्ञकी सिद्धिके लिये ऋषियोंके अधीन किया। महापद्म नामकी निधि कुबेरके भवनमें गयी; परंतु उस हालाहल विषका किसीने भी आदर नहीं किया। भगवान् शंकरने जगत्के हितकी इच्छासे स्वयं ही उस विषको पीकर कण्ठमें धारण कर लिया। तभीसे महादेवजीका नाम नीलकण्ठ हुआ। जहाँ रत्नोंका बँटवारा हुआ, उस रत्नकुण्डमें स्नान करके जो मनुष्य भगवान् नीलकण्ठका दर्शन करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर सब रत्नोंका भोगी होता है तथा अन्तमें शिवलोकको जाता है। उस समय हर्षमें भरे हुए ब्रह्मा, विष्णु आदि सब देवता कहने लगे—'इस उज्जयिनी-पुरीमें आकर हम सब लोग रत्नोंके भोगी हुए हैं तथा यहाँ सब समय भगवती पद्मा (लक्ष्मी) निश्चलरूपसे निवास करती हैं, अतः आजसे इस पुरीका नाम 'पद्मावती' होगा। जो महाभाग मानव इस पुरीमें स्नान, दान, पूजन तथा देवताओं, पितरोंका तर्पण करता है, उसके शरीरमें किंचिन्मात्र भी पाप नहीं रह जाता तथा उसे दरिद्रता और दुर्गतिकी भी प्राप्ति नहीं होती।

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—व्यासजी! एक समय महर्षि लोमशने अपना अनुभव इस प्रकार सुनाया था।'

**लोमशजी बोले**—एक बार मैं तीर्थयात्राके प्रसंगसे कुशस्थलीपुरीमें गया था। वहाँ भगवान् महेश्वरके दर्शनमात्रसे मेरे सारे रोग, सारी चिन्ताएँ मिट गयीं और मैं निर्मल हो गया। वहीं दीर्घकालतक तपस्या करके मैं जरा और रोगसे रहित दीर्घायु हुआ। मैंने वहाँके सब तीर्थोंमें स्नान किया और पवित्र एवं एकाग्रचित्त हो समस्त पापोंसे रहित हो गया। उस तीर्थमें पार्वतीजीके साथ भगवान् शंकर सदा निवास करते हैं। उनका श्रीअंग चन्द्रमाके मुकुटसे सुशोभित है। उनके अंगोंमें चिताका भस्म लगा रहता है। वे सब ओर चन्द्रकलाकी चटकीली चाँदनी छिटकाते हुए शोभा पाते हैं और इसीलिये वहाँपर कृष्णपक्ष, अमावास्या तिथि और अन्धकार कभी नहीं हुआ। वहाँकी नदियाँ, सरोवर, बावली तथा पल्वल आदि सभी जलाशय कुमुदिनीसे व्याप्त होते हैं और उनसे आच्छादित हुई पृथ्वी चाँदनीमें डूबी हुई-सी प्रतीत होती है। वहाँ सब समय कुमुद्वती (कुमुदिनी) खिली रहती है। इसलिये उस पद्मावतीपुरीका नाम कुमुद्वती हो गया। जो मनुष्य एकाग्रचित्त हो कुमुद्वतीपुरीमें श्राद्ध करते हैं, उनके पितर कभी स्वर्गसे नीचे नहीं गिरते। वहाँका श्राद्ध अक्षय होता है।

व्यास! यह कुशस्थलीपुरी किस प्रकार अमरावती नामसे प्रसिद्ध हुई, वह प्रसंग सुनो। एक समय मुनिश्रेष्ठ मरीचिनन्दन कश्यपजीने अपनी पत्नीके साथ परम सुन्दर महाकाल वनमें बड़ी कठोर तपस्या की। तपस्या करते-करते जब एक सहस्र वर्ष पूरे हो गये, तब आकाशवाणी हुई—'द्विजश्रेष्ठ! तुमने फलकी इच्छासे यह तीव्र तपस्या की है, इसलिये जबतक सूर्य और चन्द्रमा रहेंगे तबतक इस पृथ्वीपर तुम्हारी सन्तति बनी रहेगी। तुम्हारी पतिव्रता पत्नी अदितिने भी तुम्हारे साथ रहकर तप किया है, इसलिये यह यशस्विनी देवी सदा छायाकी भाँति तुम्हारे साथ रहेगी। श्रीविष्णु (वामन) और चन्द्रमा आदि सब देवता जो तुम्हारे पुत्र हैं, देवलोकमें अजर-अमररूपमें विख्यात होंगे। ऋषिश्रेष्ठ! तुम भी मेरे वचनसे पापरहित प्रजापति होओगे।'

तभीसे महर्षि कश्यप अदिति और अग्निके साथ कुशस्थलीपुरीमें सदा निवास करते हैं। इसीलिये देवता, असुर और मानवरूप उनकी समस्त प्रजा सदा वृद्धिको प्राप्त होती है। व्यास! देवताओंने महाकाल वनमें ही अमृत-पान किया था, इसलिये वे अमर हो गये। उत्तम महाकाल वनमें ही जो नन्दनवन है, वहीं सब मनोरथों एवं वरोंको देनेवाली कामधेनुका निवास बताया गया है। समस्त ब्रह्माण्डमें जो दिव्य वस्तुएँ हैं, वे सब उत्तम महाकाल वनमें स्थित हैं। यहाँ अमरोंकी स्थिति है, इस कारण

इस पुरीका नाम अमरावती हुआ। जो इस पुरीमें स्नान, दान आदि करके भगवान् महेश्वरका दर्शन करता है, उसके लिये पुत्र या धन आदि कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है। वह समस्त भोगोंको पाता है और मृत्युके पश्चात् भगवान् शिवके धाममें जाता है।

महाभाग व्यास! यह अमरावतीपुरी जिस प्रकार विशाला नामसे विख्यात हुई, वह प्रसंग भी सुनो। एक समय भगवती उमाने शिवजीसे कहा—'समस्त जगत्को धारण करनेवाले देवदेव जगदीश्वर! आप मेरे निवासके लिये समस्त कामनाओंको देनेवाली पुरीका निर्माण कीजिये।' पार्वतीजीका यह वचन सुनकर भगवान् शिवने सबके मनको प्रिय लगनेवाली सुन्दर पुरीका निर्माण किया, जो बहुत ही विशाल, विस्तृत, पुण्यमयी तथा पुण्यात्माओंका आश्रय थी। विशाल होनेके कारण ही उस सदा रहनेवाली पुरीका नाम 'विशाला' हुआ। जहाँ कहीं किसी भी अवस्थामें रहकर भी जो नित्य विशाला नामका उच्चारण करता है, वह मनुष्य भगवान् शिवके धाममें प्रतिष्ठित होता है। व्यास! इस समस्त पृथ्वीपर या सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें विशालाके समान भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाली दूसरी कोई पुरी नहीं है। जो मनुष्य श्राद्धकालमें पितरोंके उद्देश्यसे यहाँ दान करते हैं, उनका वह सब दान अक्षय होता है। जिन्होंने कभी दूसरे कार्यके प्रसंगसे भी विशालापुरीमें आकर स्नान, दान आदि पुण्यकार्य किया है, वे जहाँ कहीं भी मृत्युको प्राप्त होनेपर भगवान् शिवके ही धाममें जाते हैं। व्यासजी! इस प्रकार इस कुशस्थली-पुरीका नाम विशाला हुआ है।

## काष्ठा, कला आदि कालमान, युग और कल्पभेद तथा प्रतिकल्पपुरीका माहात्म्य

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—व्यास! पंद्रह निमेषोंकी एक काष्ठा होती है, तीस काष्ठाओंकी एक कला होती है, तीस कलाओंका एक मुहूर्त होता है और तीस मुहूर्तोंका एक दिन-रात होता है, ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है। चन्द्रमा और सूर्यकी गति भी बतायी जाती है। सूर्यकी गतिविशेषसे मनुष्योंका दिन तथा रात्रि होती है। पंद्रह दिन-रातका एक पक्ष होता है। दो पक्षोंका मास और दो मासकी ऋतु कही जाती है। तीन ऋतुओंका एक अयन होता है। दो अयन मिलाकर एक वर्ष होता है। दक्षिणायन और उत्तरायण यही दो अयन हैं। इस मानके अनुसार जो दो पक्षोंका मास होता है, वही पितरोंका दिन-रात है। शुक्ल पक्ष उनका दिन और कृष्ण पक्ष उनकी रात्रि है। इसीसे पितरोंका श्राद्ध कृष्ण पक्षमें किया जाता है। मनुष्योंके कालमानके अनुसार जो एक वर्ष होता है, वही देवताओंका दिन-रात है। उत्तरायण उनका दिन है और दक्षिणायन रात्रि। देवताओंके चार हजार वर्षका एक सत्ययुग होता है। उतने ही सौ वर्षोंकी उसकी सन्ध्या और सन्ध्यांश है। देवताओंके तीन हजार वर्षका त्रेता और तीन-तीन सौ वर्षके उसके सन्ध्या-सन्ध्यांश होते हैं। दो हजार वर्षोंका द्वापर बताया गया है और दो-दो सौ वर्षोंके उसके सन्ध्या-सन्ध्यांश हैं। एक सहस्र दिव्य वर्षोंका कलियुग होता है और सौ-सौ वर्षके उसके सन्ध्या-सन्ध्यांश कहे गये हैं। इस प्रकार चारों युगोंकी वर्ष-संख्या दिव्यमानसे बारह हजार बतायी गयी है। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—इन चारोंको एक चतुर्युग कहते हैं। इकहत्तर चतुर्युगका एक मन्वन्तर बताया गया है। एक सहस्र युगका ब्रह्माजीका एक दिन बताया गया है। उसीको कल्प कहते हैं। उतने ही युगोंकी ब्रह्माजीकी रात्रि भी बतायी जाती है। ब्रह्माकी उस रात्रिमें पर्वत, वन और काननोंसहित समस्त पृथ्वी जलमें डूब जाती है।

रात्रिके सहस्र युग पूर्ण हो जानेपर पुनः ब्रह्माजीका दिन आरम्भ होता है। उनके पूरे एक दिनके समयको पूर्णतः एक कल्प कहते हैं। पूर्वोक्त इकहत्तर चतुर्युगसे कुछ अधिक समय बीतनेपर एक मन्वन्तर पूरा होता है। इन मनुओंकी संख्या चौदह बतायी गयी है। ये मनु अपने कुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले हैं। समस्त वेदों और पुराणोंमें ये प्रभावशाली तथा समस्त प्रजाओंके पालक बताये गये हैं। इन सबका कीर्तन धन्य है। एक सहस्र चतुर्युग पूर्ण हो जानेपर एक कल्पका समय समाप्त हो जाता है। उसमें सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंसे सम्पूर्ण प्राणी दग्ध हो जाते हैं। ब्रह्मर्षिगण द्वादश आदित्योंके साथ ब्रह्माजीको आगे करके सुरश्रेष्ठ भगवान् नारायणमें प्रवेश कर जाते हैं। वे अव्यक्त सनातनदेव श्रीहरि ही ब्रह्मा आदिके रूपमें प्रत्येक कल्पमें बार-बार समस्त प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् उन्हींका है। वे ही परमेश्वर परम सुन्दर महाकाल वनमें ब्रह्मा और महादेवजीके साथ निवास करते हैं। उत्तम महाकाल वनमें प्रलयकाल भी बाधा नहीं पहुँचाता। यह कुशस्थली-पुरी कल्प-कल्पमें अत्यन्त मनोहर होती जाती है। युग-युगमें पाप-तापसे रहित निर्भय और निर्विकार होती है।

व्यास! पूर्वकालसे ही इसी प्रकार प्रत्येक कल्पमें सृष्टिका आरम्भ होता है। वाराह, वामन, विष्णु और पितरोंके जो भिन्न-भिन्न कल्प बताये गये हैं, वे सभी इस कल्पान्तमें महाकाल वनमें ही प्रारम्भ हुए हैं। इस वनमें चौरासी कल्प व्यतीत हो गये। अतः उतने ही ज्योतिर्लिंग इस वनमें विराजमान हैं। पृथ्वी, समुद्र और पर्वत बार-बार उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं। भविष्यमें भी वे इसी प्रकार उत्पन्न और नष्ट होंगे। परंतु यह पुरी अचल मानी गयी है। इसीलिये सब समय और सब लोकोंमें इसकी महिमाका गान किया जाता है। यह प्रतिकल्पमें अचल रहती है। इसलिये इस पृथ्वीपर यह 'प्रतिकल्पा' नामसे विख्यात होगी।

वैशाखकी पूर्णिमाको प्रतिकल्पापुरीमें जाकर भगवान् महेश्वरका दर्शन करे और एक दिन उन्हें स्नान करावे। जो मानव किसी दूसरे प्रसंगसे भी शिप्रा नदीके जलमें स्नान करता है, उसके भीतर किंचिन्मात्र भी पाप शेष नहीं रहता और वह विष्णुलोकको जाता है। प्रत्येक कल्प और कल्पान्तमें यह पुरी अपने पूर्वरूपमें ही बनी रहती है। इसीलिये सब लोगोंमें यह 'प्रतिकल्पा' के नामसे विख्यात है। जो मनुष्य इस पुरीके प्रति प्रेम रखते हैं, उनके लिये यह कल्पभेद नहीं होता।

## शिप्राका माहात्म्य, उसके 'ज्वरघ्नी' और 'अमृतोद्भवा' आदि नाम पड़नेका कारण

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—महाभाग व्यास! इस पृथ्वीपर शिप्रा नदीके समान दूसरी कोई नदी नहीं है। जिसके तटका दर्शन करनेमात्रसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है, फिर दीर्घकालतक सेवन करनेसे तो कहना ही क्या है। वैकुण्ठमें इसका नाम 'शिप्रा' है, देवलोकमें यह 'ज्वरघ्नी' कहलाती है, यमद्वारमें 'पापघ्नी' के नामसे प्रसिद्ध है, पातालमें इसे 'अमृत-सम्भवा' कहते हैं और वाराहकल्पमें इसका नाम 'विष्णुदेहा' कहा गया है। अवन्तीपुरीमें भी 'शिप्रा' के नामसे ही इसकी ख्याति है। यह नदी साक्षात् कामधेनुसे प्रकट हुई है। वैकुण्ठलोकसे उत्पन्न होकर शिप्रा नदी तीनों लोकोंमें विख्यात हुई है। व्यास! शिप्राका नाम ज्वरघ्नी क्यों हुआ, यह बताता हूँ, सुनो। अनिरुद्धसे अपमानित होकर दैत्यराज बाणासुरने जब भगवान् श्रीकृष्णके साथ अपनी सहस्रों भुजाओंमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर युद्ध किया, तब वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने क्षुरप्र नामक शीघ्रगामी बाणके द्वारा शीघ्रतापूर्वक

उसकी सहस्र भुजाओंको काट डाला (केवल दो भुजाएँ शेष छोड़ दीं)। भुजाएँ कट जानेसे बाणासुरका उत्साह भंग हो गया। वह उस युद्धसे पीड़ित हो भगवान् शंकरकी शरणमें गया। अपने समीप आये हुए भयविह्वल बाणासुरको देखकर भगवान् शिवको बड़ी दया आयी। वे, युद्धमें जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण अविचलभावसे खड़े थे, वहाँ गये और बाणोंकी वर्षा करते हुए उन्होंने श्रीकृष्णको आगे बढ़नेसे रोका। फिर तो दोनोंमें बड़ा भयंकर संग्राम छिड़ गया। भगवान् शिवने माहेश्वर ज्वरको प्रकट किया। यह देख श्रीकृष्णने भी वैष्णव ज्वरकी सृष्टि की। फिर वे दोनों ज्वर एक-दूसरेसे भयंकर युद्ध करने लगे। अन्तमें माहेश्वर ज्वर भाग खड़ा हुआ। वह सब लोकोंमें घूमता फिरा, पर कहीं भी उसे शान्ति नहीं मिली। अन्तमें वह महाकाल वनमें आया और वैष्णव ज्वरसे पीड़ित हो शिप्रा नदीके जलमें कूद पड़ा। इससे उसको बड़ी शान्ति मिली। माहेश्वर ज्वरको शान्त हुआ देख वैष्णव ज्वरने भी वहाँ पहुँचकर शिप्राके जलमें स्नान किया। उस जलके प्रभावसे विष्णु और शिव दोनोंके ही ज्वर शान्त एवं विनष्ट हो गये। इसलिये शिप्रा नदी सब समयमें ज्वरका तत्क्षण नाश करनेवाली मानी गयी है। ज्वरसे पीड़ित एवं परम दुःखित हुए जो मानव एकाग्रचित्त हो शिप्रामें गोता लगाते और उसके तटपर निवास करते हैं, उन्हें ज्वरजनित पीड़ा कभी कष्ट नहीं देती है।

महामते व्यास! एक समयकी बात है। भगवान् शिव हाथमें कपाल लेकर नागलोककी भोगवती-पुरीमें भिक्षाके लिये गये और घर-घर घूमकर उन्होंने '**भिक्षां देहि**' (भिक्षा दो) की रट लगायी। किंतु उन भूखे भगवान् शिवको किसीने भी भिक्षा नहीं दी। तब वे पुरीसे बाहर निकले और उस स्थानपर गये, जहाँ नागलोकके संरक्षणमें अमृतके इक्कीस कुण्ड भरे हुए थे। वहाँ पहुँचकर सर्वान्तर्यामी भगवान् शंकरने अपने तृतीय नेत्रके मार्गसे अमृतके समस्त कुण्डोंको पी लिया और फिर वहाँसे उठकर चल दिये। यह सब देख-सुनकर समस्त नागलोक काँप उठा और सब एक-दूसरेसे पूछने लगे, 'यह किसका कर्म है? किसने क्या कर दिया है, जिससे इन कुण्डोंका अमृत यहाँसे चला गया?'

परस्पर ऐसा कहकर वासुकि आदि सभी नाग किसी महात्माका अपराध हो जानेकी आशंकासे नगर छोड़कर बाहर निकले और 'क्या करें, कहाँ जायँ? अब हमारा जीवन-निर्वाह कैसे होगा?' इत्यादि रूपसे चिन्ता प्रकट करते हुए स्त्री-बालकोंके साथ वे मन-ही-मन भगवान् श्रीहरिकी शरणमें गये। तब उनपर अनुग्रह करनेके लिये आकाशवाणी हुई—'नागगण! तुमलोगोंने घरपर आये हुए देवताका अपमान किया, अतिथिसत्कारका समय जानकर हाथमें कपाल लिये भिक्षुके वेषमें भिक्षा लेनेके लिये साक्षात् भगवान् शंकर तुम्हारे द्वारपर आये थे। परंतु भोगवतीपुरीमें किसीने भी उनको भिक्षा नहीं दी, तब वे बाहर चले गये हैं। इसी व्यतिक्रमके कारण तुम्हारे कुण्डोंका सम्पूर्ण अमृत नष्ट हो गया है। अब तुमलोग पातालसे निकलकर उत्तम महाकाल वनमें जाओ। वहाँ तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाली श्रेष्ठ नदी शिप्रा बहती है, जो समस्त कामनाओं और फलोंको देनेवाली है। वहाँ जाकर तुम सब लोग विधिपूर्वक स्नान और देवाधिदेव भगवान् शिवका भजन करो। ऐसा करनेपर नागलोकमें तुम्हारी नष्ट हुई अमृतराशि पुनः प्राप्त हो जायगी।'

इस आकाशवाणीको सुनकर सब नाग स्त्री-बालक और वृद्धोंके साथ महाकाल वनमें गये। उन्होंने उस त्रिभुवनवन्दिता शिप्रा नदीका दर्शन किया। इससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और वहाँ स्नान-दानादि करके उन्होंने महादेवजीकी आराधना की। कभी मलिन न होनेवाली कमलपुष्पोंकी माला, नाना प्रकारके फूल, अक्षत, वस्त्र, पुष्पहार, अनुलेपन, चन्दन, गन्ध, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, दक्षिणा और कपूरकी आरती आदि पूजनसामग्री लेकर वे सब-के-सब महादेवजीकी सेवामें उपस्थित

हुए। उस समय अमृतकी इच्छा रखनेवाले नागोंने भगवान् शिवकी पूजा करके इस प्रकार उनका स्तवन किया।

**नाग बोले**—जिनका कहीं अन्त नहीं है, ऐसे ब्रह्मस्वरूप शिवको नमस्कार है। सर्वदेवमय शिव! आपको बार-बार नमस्कार है। चन्द्रचूड! जटाका मुकुट धारण करनेवाले! आपको नमस्कार है। शंकरात्मन्! आपको नमस्कार है। सबके साक्षी शंकर! आपको नमस्कार है। समस्त बीजोंकी उत्पत्तिके कारणभूत महादेव! आपको नमस्कार है। अमृतका स्रोत बहानेवाले ईश्वर! आपको नमस्कार है। कमनीय कामस्वरूप आपको नमस्कार है। सर्वकामवरप्रद! आपको नमस्कार है। शान्तस्वरूप शिवको नमस्कार है। पशुओं (अज्ञानी जीवों)-का पालन करनेवाले भगवान् पशुपतिको नमस्कार है। मृड (सुखस्वरूप), दान्त (मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले) और शान्तरूप आपको नमस्कार है।

**नागोंके द्वारा इस प्रकार स्तुतिसे प्रसन्न किये हुए भगवान् शंकर प्रत्यक्ष दर्शन देकर बोले**—नागगण! किसी पूर्वपुण्यके प्रभावसे तुम सब लोग नागलोक छोड़कर इस उत्तम महाकाल वनमें आये हो और बालकों, वृद्धों तथा स्त्रियोंके साथ तुमने सरिताओंमें श्रेष्ठ शिप्राका दर्शन किया है। तुम सब श्रेष्ठ नागोंने शिप्रामें स्नान किया है। अतः उसके पुण्यप्रभावसे तुम्हारे घर-घरमें अमृत प्राप्त होगा। तुम शिप्राका जल ले जाकर अपने अमृत-कुण्डोंमें छिड़क दो। उससे वे इक्कीसों कुण्ड अमृतसे भर जायँगे और स्थिर रहेंगे।

तब उन नागोंने 'बहुत अच्छा' कहकर भगवान् महेश्वरको प्रणाम किया और अपने हाथोंमें शिप्रा नदीका जल लेकर वे नागलोकमें लौट गये। तबसे नागलोकमें शिप्राका नाम अमृतोद्भवा (या अमृतसम्भवा) प्रसिद्ध हुआ। जो मनुष्य इसमें स्नान-दानादि पुण्यकर्म करते हैं, उनका पाप शेष नहीं रहता तथा उन्हें कभी आपत्ति और दुर्गति नहीं देखनी पड़ती।

## जय-विजयको सनकादिका शाप, भगवान्‌का वाराहावतार, वाराहके हृदयसे शिप्राकी उत्पत्ति तथा उसका माहात्म्य

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—महाभाग! शिप्रा नदी सर्वत्र पुण्यदायिनी, अतिशय पवित्र तथा पापहारिणी है। परंतु अवन्तीपुरीमें उसका यह महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। पूर्वकालमें अनुपम तेजस्वी भगवान् विष्णुके मनोहर वैकुण्ठधाममें जय और विजय नामवाले दो द्वारपाल थे। दोनों ही बड़े पराक्रमी थे और सदा हाथमें डंडा लिये वैकुण्ठके द्वारपर खड़े रहते थे। मुनिश्रेष्ठ! एक समय ब्रह्माजीके मानसपुत्र सनकादि स्वेच्छासे सब लोकोंमें भ्रमण करते हुए भगवान् विष्णुके परम धाममें आये। उनके मनमें श्रीविष्णुके दर्शनकी बड़ी लालसा थी। द्वारपर आते ही द्वारपालोंने उन्हें सहसा रोक दिया। उनके धक्के खाकर वे चारों कुमार वहाँकी भूमिपर गिर पड़े और मूर्छित हो गये। द्वारपालोंके इस बर्तावसे उन्हें बड़ा दुःख हुआ। इतनेमें ही कमलके समान नेत्रवाले महाबाहु भगवान् विष्णु भी वहाँ आ गये। उन्होंने पृथ्वीपर दुःखित होकर पड़े हुए उन कुमारोंको ज्यों ही देखा, सहसा आगे बढ़कर उन्हें अपनी गोदमें उठा लिया। मधुसूदनने उन कुमारोंका मस्तक सूँघा और भुजाओंमें कसकर छातीसे चिपका लिया। तदनन्तर पूछा—'महात्माओ! आपको यह मूर्छा कैसे आ गयी। किसने आपलोगोंको इस भारी दुःखमें डाला है?'

**कुमार बोले**—महाराज! हम आपके दर्शनकी अभिलाषासे वैकुण्ठधामके भीतर आ रहे थे कि सहसा इन बलोन्मत्त द्वारपालोंने हमें रोक दिया, इसीसे हमें यह दशा प्राप्त हुई है। अतः आजसे इस स्थानपर इनकी सनातन स्थिति न हो, ये दोनों असुरयोनिको प्राप्त हो जायँ।

सनकादि कुमारोंके इतना कहते ही वे दोनों जय और विजय तत्काल आसुरी योनिमें चले गये। वे दोनों प्रथम जन्ममें 'हिरण्यकशिपु' और 'हिरण्याक्ष', दूसरे जन्ममें 'कुम्भकर्ण' तथा 'रावण' और तीसरे जन्ममें 'दन्तवक्र' एवं 'शिशुपाल' कहलाये। हिरण्याक्ष नामक दैत्य बड़ा बलवान् था। वह सब देवताओंको जीतकर स्वयं ही उनके लोकोंका अधिकारी बन बैठा। राज्यभ्रष्ट देवता पराजित होकर स्वर्गसे निकाल दिये गये। उस समय सब लोग पाखण्डी, पराक्रमशून्य तथा धर्मविमुख हो गये। 'सब कुछ ब्रह्म ही है' ऐसा कहते हुए दम्भी दैत्य पशुओंके समान आचरणवाले हो गये थे।

संसारकी ऐसी दुरवस्था देख भगवान् महाविष्णुने विचार किया कि जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मका उत्थान होता है, तब-तब मैं अपने-आपको संसारमें प्रकट करता हूँ।* अतः अब मुझे अवतार ग्रहण करना चाहिये। ऐसा सोचकर उन्होंने लीलासे ही श्वेतद्वीपके समान परम उज्ज्वल मंगलमय दिव्य वाराहशरीर धारण किया, जो पूर्णतः यज्ञमय था। यूप (यज्ञस्तम्भ) ही उनकी दाढ़ें थीं, हविष्यकी गन्ध ही उनके शरीरकी दिव्य गन्ध थी, बीज और ओषधियाँ ही उनकी रोमावलि थीं और चारों वेद ही उनके चार चरण थे। साक्षात् आदिपुरुष परमेश्वर ही, जिनके अनेकों नाम हैं और वेदोंमें जिनकी अनेक प्रकारसे स्तुति की गयी है, वाराहरूपसे प्रकट हुए थे। उन्होंने बड़ा भारी संग्राम करके उस दुर्धर्ष दैत्य हिरण्याक्षको मार डाला। उससे पीड़ित हुई यह पृथ्वी रसातलको चली गयी थी। उसे भगवान् वाराह अपनी दाढ़से उठाकर ऊपर ले आये। हिरण्याक्षके अनुगामी बहुतसे दैत्य मारे गये। शेष सभी भागकर पातालमें चले आये। उस समय पवित्र वायु चलने लगी। सूर्य उत्तम प्रभासे परिपूर्ण हो गये। अग्निकुण्डोंकी बुझी हुई अग्नियाँ पुनः प्रज्वलित हो उठीं और दिशाओंमें जो कोलाहल होते रहते थे, वे सब शान्त हो गये।

भगवान् वाराहमूर्ति सम्पूर्ण कामनाओं और फलोंको देनेवाले हैं। वे आनन्दसे परिपूर्ण दैव, दैत्योंका संहार करनेवाले तथा भक्तोंको वर देनेवाले हैं। उन्हींके हृदयसे यह सनातन नदी शिप्रा प्रकट हुई है, जो आनन्दमय जलसे परिपूर्ण तथा आनन्ददायक वर देनेवाली है। रमणीय महाकाल वनमें परम सुन्दर पद्मावतीपुरी है। उस पुरीमें सुन्दर कुण्ड परम रम्य प्राचीन और शुभ है। उसमें स्नान करके सब मनुष्य सनातन शिवलोकको जाते हैं। व्यास! उसी सुन्दर वनमें लोकपावनी शिप्रा लीन हुई है। भगवान् वाराहने समस्त दुष्ट दैत्योंका संहार करके देवताओंको निर्भय कर दिया। तदनन्तर इन्द्र आदि सब देवताओंने हाथ जोड़कर उन महाविष्णुको नमस्कार किया और सामने खड़े होकर इस प्रकार पूछा।

**देवता बोले**—देवदेव! जगन्नाथ! आपके गुणोंका श्रवण और कीर्तन परम पुण्यमय है। कृपया यह बताइये कि किस पुण्यके प्रभावसे हमें स्वर्गलोक प्राप्त हो सकता है?

**भगवान् वाराह बोले**—देवताओ! महाकाल वनमें तुम्हारी मनोरथसिद्धिका कारणभूत गुह्यसे भी गुह्य पुण्य-स्थान है। जहाँ मेरे शरीरसे उत्पन्न हुई शिप्रा नदी लीन हुई है, वह स्थान लीनगंगाके नामसे विख्यात है। जहाँ सरिताओंमें श्रेष्ठ लीनगंगा, प्राची, सरस्वती, पुष्कर, गयातीर्थ तथा शुभ पुरुषोत्तम सरोवर है, उस शिप्रा नदीको जाओ।

देवाधिदेव जगद्गुरु भगवान् वाराहका यह वचन सुनकर ब्रह्मा, इन्द्रादि सब देवता परम सुन्दर महाकाल वनमें, जहाँ सरिताओंमें श्रेष्ठ शिप्रा बहती हैं, गये। वहाँ स्नान-दानादि शुभकर्म करके उस पुण्यके प्रभावसे वे अपने-अपने लोकको प्राप्त हुए। व्यासजी! इस प्रकार शिप्रा नदी सम्पूर्ण लोकोंको पवित्र करनेवाली बतायी गयी है।

* यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥ (स्क० पु०, आ० अव० मा० ६३। ४०)

# क्षातासंगम तथा उसके निकटवर्ती तीर्थोंकी महिमा, राजा युगादिदेवके धर्ममय राज्यकी प्रशंसा

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—व्यास! अब क्षाता नदीके संगमसे प्रकट हुए एक अन्य तीर्थका माहात्म्य बताया जाता है, जिसमें स्नान करनेमात्रसे मनुष्य महान् पातकोंसे मुक्त हो जाता है। जब अमावास्या और शनिवारका योग हो, तब मनुष्य एकाग्रचित्त होकर पितरोंके उद्देश्यसे श्राद्ध तथा तिल और जलसे तर्पण करे। तत्पश्चात् स्थावर लिंगके रूपमें प्रतिष्ठित उत्तम शनैश्चर देवका दर्शन करे। जो ऐसा करता है, उसे कभी शनैश्चर ग्रहसे पीड़ा नहीं होती। नर्मदा, चर्मण्वती और क्षाता—ये तीन नदियाँ पूर्वकालमें अमरकण्टक पर्वतसे पृथ्वीपर प्रकट हुईं। ये तीनों ही तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाली हैं। क्षाता नर्मदा नदीका साथ छोड़कर उत्तम विन्ध्यगिरिका भेदन करती हुई परम सुन्दर महाकाल वनमें चली आयी, जहाँ सरिताओंमें श्रेष्ठ शिप्रा तथा परम पुण्यमयी यह अमरावतीपुरी है। यहाँ आकर क्षाता नदी पूर्वकालमें जहाँ शिप्राके साथ मिली थी, वहाँ 'क्षातासंगम' नामक उत्तम तीर्थ प्रकट हो गया।

यज्ञकुण्डसे उत्तर भागमें, जहाँ पवनपुत्र हनुमान्‌जी विराजमान हैं, 'धर्मसरोवर' नामसे विख्यात एक उत्तम तीर्थ है। पवनकुमार हनुमान्‌जीने वहीं तपस्याके द्वारा उत्तम सिद्धि प्राप्त की थी। जो मनुष्य उस तीर्थमें स्नान करके काँसेका पात्र दान करता है, वह ब्रह्मलोकमें पूजित होता है। जो श्रावणमासके शुक्ल पक्षकी एकादशी तिथिको उत्तम आचारका पालन करते हुए धर्मतीर्थमें स्नान और दानादि सत्कर्म करता है, उसे सनातन विष्णुलोककी प्राप्ति होती है। च्यवनजीके आश्रममें स्नान करके मनुष्य च्यवनेश्वर शिवका दर्शन करे, जहाँ वैद्योंमें श्रेष्ठ दोनों अश्विनीकुमार सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। च्यवन मुनिकी कृपासे ही अश्विनीकुमारोंने देवताओंकी पंक्तिमें स्थान प्राप्त किया था और च्यवनने भी वहीं अश्विनीकुमारोंकी चिकित्सासे खोयी हुई दृष्टि प्राप्त की थी। द्विजश्रेष्ठ! उस तीर्थमें मनुष्य दिव्य दृष्टि प्राप्त करता है। वहीं भगवान् सूर्यने अग्निहोत्रसहित उत्तम आसन प्राप्त किया है। उसी तीर्थके प्रभावसे महाभागा संज्ञा और विश्वविख्यात सावित्रीने सूर्यलोकमें जाकर विपुल ऐश्वर्यका उपभोग किया है। अतः क्षातासंगमतीर्थ बहुत उत्तम, सब पापोंको हर लेनेवाला, पुण्यवर्धक तथा समस्त कामनाओं एवं वरोंको देनेवाला है।

व्यासजी! प्राचीन कालकी बात है। पुण्यमय सत्ययुगमें युगादिदेव नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। वे बड़े धर्मात्मा थे। उनके गुणोंका श्रवण और कीर्तन भी पुण्यजनक माना गया है। वे प्रजाको अपने सगे पुत्रोंकी भाँति मानकर उसका भलीभाँति पालन करते थे। उनकी प्रजा सब साधनोंसे सम्पन्न तथा सब ओरसे सदैव उन्नतिशील थी। उनके शासनकालमें धर्म अपने चारों चरणोंसे युक्त था। सदा समयपर वर्षा होती और सब ऋतुएँ अपने अंगोंसे सम्पन्न होकर आती थीं। पृथ्वीपर अनाज और फल अधिक पैदा होता था। उस राजाके राज्यमें कोई भी मनुष्य आधि-व्याधिसे पीड़ित नहीं दिखायी देते थे। स्त्रियाँ भी दुःशीला, दुर्भगा और विधवा नहीं देखी जाती थीं। उनमें बहुत पुत्रोंवाली, थोड़े पुत्रोंवाली, मरे पुत्रोंवाली अथवा वन्ध्या भी कोई दृष्टिगोचर नहीं होती थीं। सभी रूपवती, सुशीला, गुणवती तथा पातिव्रतधर्मका पालन करनेवाली थीं। राह-बाटमें शत्रुओंका आक्रमण नहीं होता था। चोर-डाकुओंका भी भय नहीं रहता था। घर-घरमें सदा यही शब्द सुनायी पड़ता था कि होम करो, भोजन कराओ और सदा दान देते रहो। जप, दान, तप, होम, स्तुति और यज्ञकर्मोंमें लगे हुए मनुष्य ही सर्वत्र दिखायी देते थे। वे सब धर्मोंका पालन करते थे। धर्म अपने चारों पैरोंसे चलता था, परंतु अधर्मका एक ही पाद था। राजा युगादिदेव ऐसे धर्मात्मा थे। उन्होंने धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन किया और अपनी प्रजाको बढ़ाया। व्यासजी! अवन्तीपुरीमें भी राजा युगादिदेवने करोड़ों यज्ञोंका अनुष्ठान किया था।

# गयातीर्थकी महिमा, पुरुषोत्तममास और पुरुषोत्तमतीर्थकी महत्ता तथा गोमती कुण्डका माहात्म्य

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—व्यास! 'कुमुद्वती पुरी' (उज्जयिनी) में गया नामक तीर्थ भी है। गयामें जो-जो तीर्थ और पुण्यस्थान हैं, वे सब इस तीर्थमें भी निश्चित रूपसे वर्तमान हैं। इस गयातीर्थमें स्नान करके मनुष्य मुख्य गयातीर्थके विभिन्न फलोंको प्राप्त करता है। यहाँका गयाक्षेत्र गयाश्राद्धका भी फल देनेवाला है। प्रधान गयाकी भाँति इस तीर्थमें भी श्रेष्ठ नदी 'फल्गू' है, जो वैसा ही फल देनेवाली है। यहाँ भी आदिगया, बुद्धगया और विष्णुपदतीर्थ है। कोष्ठक भगवान् गदाधरके चरणचिह्न, सोलह वेदियाँ, अक्षयवट, प्रेतोंको मुक्त करनेवाली शिला, अच्छोदा नामवाली नदी तथा पितरोंका उत्तम आश्रम भी है। इन सब स्थानोंमें स्नान-दानादि क्रिया करनी चाहिये और विधिपूर्वक श्राद्धका दान भी देना चाहिये। जो ऐसा करता है, उसे उस तीर्थका फल प्राप्त होता है। गयामें जो पितरोंका लोक है, वहाँ साक्षात् भगवान् विष्णु विराजमान हैं। उन कमल-नयन श्रीहरिका ध्यान करके मनुष्य तीनों ऋणोंसे मुक्त हो जाता है। वर्षभरमें एक पक्ष गयाश्राद्धके लिये प्रतिष्ठित है। भगवान् सूर्य जब हस्त नक्षत्र एवं कन्याराशिपर स्थित हो, तब आश्विन कृष्णपक्षमें महालय काल बताया गया है। उस समय पितरोंके लिये जो कुछ दिया जाता है, वह सब अक्षय होता है। व्यासजी! स्नान-दानादि कर्मोंके लिये परम मनोहर अवन्ती पुरी बहुत उत्तम है।

**व्यासजीने कहा**—प्रभो! आपने पहले 'पुरुषोत्तम' तीर्थकी भी चर्चा की है। अतः उस तीर्थकी भी महिमा विस्तारपूर्वक बताइये।

**सनत्कुमारजी बोले**—द्विजश्रेष्ठ! पूर्वकालकी बात है। भगवान् लक्ष्मीपति शुभ एवं निर्मल वैकुण्ठधाममें अपने पार्षदों, सनकादि महर्षियों तथा ब्रह्मा आदि देवेश्वरोंसे घिरे हुए बैठे थे। इन सबके बीचमें भगवती महालक्ष्मीने पूछा—'प्राणनाथ! पुण्यकी विधि क्या है? इसको मैं सुनना चाहती हूँ।'

**भगवान् विष्णु बोले**—कल्याणी! स्नान, दान और तपस्या सदा ही उत्तम है तथापि यदि वह विधिसे प्राप्त हो तो सब अक्षय होता है। पूर्णिमा, अमावास्या, संक्रान्ति, ग्रहण, वैधृति तथा व्यतीपात योगमें किया हुआ दान परम समृद्धिदायक माना गया है। गंगा, भास्करक्षेत्र, अरुणक्षेत्र, पुष्कर, गोदावरी नदी और गयातीर्थमें तथा अमरकण्टक पर्वत एवं अवन्ती पुरीमें किया हुआ होम और दानादि सब कर्म अक्षय होता है। अतः सर्वथा प्रयत्न करके पर्वोंपर तीर्थसेवन करना चाहिये।

**लक्ष्मीजीने पूछा**—भगवन्! कौन-कौनसे योग हैं और उनमें करने योग्य कर्म भी कौन हैं? यह सब विशेषरूपसे बतानेकी कृपा करें।

**श्रीभगवान् बोले**—प्रिये! तीन वर्षपर मलमास पर्व आता है। इसमें सूर्यकी संक्रान्ति नहीं होती, इसलिये इसको अधिकमास कहा गया है। मैं पुरुषोत्तम ही इस अधिकमासका अधिपति हूँ, इसीलिये इसे पुरुषोत्तम मास भी कहते हैं। महाकाल वनमें मेरे नामका उत्तम तीर्थ है। वहाँ मेरा पुरुषोत्तमधाम सदैव विद्यमान है। पुरुषोत्तम मास आनेपर मनुष्य मेरी प्रसन्नताके लिये उत्तम व्रतका पालन करे। जो श्रेष्ठ मानव पुरुषोत्तम मासमें मध्याह्नके समय स्नान-दान, जप-होम, स्वाध्याय, पितृतर्पण तथा देवार्चन करते हैं, उनका वह सब कर्म अवश्य ही अक्षय होता है। जो मनुष्य अवन्ती पुरीमें मलमास व्रत करनेवाले हैं, उन्हें मैं प्रसन्नतापूर्वक धन देता हूँ। मलमासमें जो कुछ थोड़ा भी दान बन सके वह इस तीर्थमें करना चाहिये। वह मेरी प्रसन्नतासे अनन्तगुना हो जाता है। प्रिये! जब संक्रान्तिशून्य मास (मलमास) मनुष्योंको प्राप्त हो, तब अपना हित चाहनेवाले लोगोंको उस समय बड़ा भारी

उत्सव करना चाहिये। देवेश्वरी! कृष्णपक्षकी चतुर्दशी, नवमी अथवा अष्टमीको शोकनाशक व्रत करना चाहिये। पुण्य दिवसमें प्रातःकाल उठकर पहले पूर्वाह्नमें किये जानेवाले नित्य-कर्मोंका अनुष्ठान करे। तत्पश्चात् मुझ वासुदेवका मन-ही-मन स्मरण करते हुए नियम ग्रहण करे। उपवास, नक्त-व्रत (केवल रात्रिमें भोजन करना) तथा एकभुक्तव्रत (केवल दिनमें एक बार अन्न-ग्रहण)—इन तीनोंमेंसे किसी एक व्रतके पालनका निश्चय करके ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करे। वे ब्राह्मण सपत्नीक, सदाचारी, कुलीन एवं कुटुम्बी हों। तदनन्तर मध्याह्नकालमें नूतन एवं छिद्ररहित कलशके ऊपर लक्ष्मीसहित सनातन देव श्रीविष्णुकी स्थापना करे और ब्राह्मणोंद्वारा वेदमन्त्रोंका उच्चारण कराते हुए अपने भाई-बन्धुओंके साथ बैठकर उत्तम भक्तिके साथ ब्रह्माजीसहित भगवान् लक्ष्मीनारायणकी पूजा करे। पहले चन्दनयुक्त जलसे स्नान कराकर फिर पंचामृतसे स्नान करावे। तत्पश्चात् शुद्ध जलसे स्नान कराकर आच्छादनके लिये रेशमी वस्त्र भेट करे। फिर गन्ध, चन्दन, पुष्प, तुलसीदल, धूप, दीप तथा भाँति-भाँतिके मिष्टान्नयुक्त नैवेद्य अर्पण करे। अन्तमें घण्टा, मृदंग, शंखध्वनि एवं दिव्य घोषके साथ कपूर, अगर और चन्दनके द्वारा व्रती पुरुष भगवान्‌की आरती उतारे। कर्पूरादि न मिले तो घीमें डुबोयी हुई रूईकी बत्तियोंसे भी आरती कर सकते हैं। उसके बाद ताँबेके अर्घ्यपात्रमें रखे हुए जल, चन्दन, अक्षत और फूलसे प्रसन्नतापूर्वक भगवान्‌को विशेषार्घ्य दे। पूजन एवं अर्घ्यदानके समय अपनी पत्नीको भी साथ रखे। अर्घ्यपात्रमें जल-चन्दनादिके साथ पंचरत्न भी रखना चाहिये। अर्घ्य देनेकी विधि इस प्रकार है—दोनों घुटनोंको जमीनपर टेककर दोनों हाथोंसे अर्घ्यपात्र उठाकर भक्तिपूर्वक भगवान्‌के आगे वह जल गिरावे। अर्घ्यका मन्त्र इस प्रकार है—

**कृपावान् सर्वभूतेषु जगदानन्दकारकः।**
**गृहाणार्घ्यमिदं देव सम्पूर्णफलदो भव॥**

'देव! आप सम्पूर्ण जीवोंपर कृपा रखनेवाले हैं। जगत्‌को आनन्द देनेवाले हैं; इस अर्घ्यको ग्रहण कीजिये और मुझे व्रतका पूर्णफल प्रदान कीजिये।'

इसके बाद निम्नांकित मन्त्र पढ़कर प्रार्थना करे—

**स्वयम्भुवे नमस्तुभ्यं ब्रह्मणेऽमिततेजसे।**
**नमोऽस्तु ते श्रियानन्द ब्रह्मानन्द कृपाकर॥**

'अमित तेजस्वी स्वयम्भू ब्रह्माजीको नमस्कार है। लक्ष्मीजी तथा ब्रह्माजीको आनन्द प्रदान करनेवाले कृपानिधान पुरुषोत्तम! आपको सादर नमस्कार है।'

इस प्रकार भगवान् गोविन्दकी प्रार्थना करके लक्ष्मीनारायणका स्मरण करते हुए स्वयं ही सपत्नीक ब्राह्मणोंका पूजन करे। विधिपूर्वक पूजा सम्पन्न करके उन्हें घृतपक्व एवं खीर आदिका भोजन करावे। विद्या-विनयसे सम्पन्न सपत्नीक ब्राह्मणको विधिवत् भोजन कराकर यथाशक्ति वस्त्र, अलंकार और कुंकुम आदिके द्वारा उनका सत्कार करे। घीमें तैयार किये हुए गेहूँके आटेकी पूरी, कचौरी आदि उत्तम-उत्तम मिष्टान्न, भाँति-भाँतिके फल, शर्करा और घृतसे तैयार किये हुए भोज्यपदार्थ, मूली, अदरक, अनेक प्रकारके साग और गोरस आदि पदार्थोंको मीठे वचन बोल-बोलकर परोसना चाहिये। 'प्रभो! इसका रस बड़ा स्वादिष्ट है; यह भोजन करनेयोग्य बहुत उत्तम है, इसे तो आपके लिये खास तौरपर तैयार किया गया है, आपको जो रुचता हो वह और माँग लीजिये' इत्यादि बातें कह-कहकर प्रेमपूर्वक ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिये। भोजनके पश्चात् ताम्बूल और दक्षिणा देकर उन्हें विदा करना चाहिये। ब्राह्मण-भोजनके अनन्तर व्रती पुरुष भाई-बन्धुओंके साथ स्वयं भोजन करे। प्रिये! जो नारी इस संसारमें मलमास व्रतका पालन करती है, उसे दरिद्रता, पुत्रशोक एवं विधवापन कभी प्राप्त नहीं होता। स्त्री हो या पुरुष, जो भी मलमासमें पूर्वोक्त व्रतका पालन करता है, वह उत्तम फलका भागी होता है।

भगवती लक्ष्मी जिनके चरणोंकी बड़े लाड़-

प्यारसे सेवा करती हैं, उन भगवान् पुरुषोत्तमकी लक्ष्मीसहित पूजा करके शंकरके साथ पार्वतीदेवीका भी पूजन करे। जो ऐसा करता है, वह सैकड़ों मनोवांछित फलोंको पाकर भगवान् विष्णुके लोकमें पूजित होता है। भाद्रपद शुक्ल पक्षकी एकादशी तिथिको एकाग्रचित्त होकर जो पुरुष पुरुषोत्तम-सरोवरमें स्नान करता है, उसे स्त्री, पुत्र, धन, आयु, आरोग्य और सम्पदा प्राप्त होती है। पुरुषोत्तम-सरोवरके ईशान कोणमें भृगुश्रेष्ठ परशुरामजीने आत्मशुद्धिके लिये तपस्या की है। वहींपर सब तीर्थोंका श्रेष्ठ फल प्रदान करनेवाली सरिताओंमें श्रेष्ठ 'कौशिकी' नदी भी है। उसमें स्नान करके मनुष्य जातिहत्याके दोषसे मुक्त होता है। वहीं भगवान् रामेश्वरका दर्शन करके मानव अपने सब पाप धो डालता है।

एक समय नैमिषारण्य क्षेत्रमें बैठे हुए शौनकादि मुनि आपसमें सब तीर्थोंके विषयकी पुण्यदायिनी शुभ कथा कह रहे थे। उस पुण्यमय अवसरपर देवर्षि नारदजीने काशीका उत्तम माहात्म्य वर्णन किया। तत्पश्चात् स्वयम्भू भगवान् ब्रह्माने सब देवताओं तथा ऋषियोंके समक्ष इस प्रकार कहा—'समस्त पाताल और भूलोकमें गोमतीके समान दूसरी कोई नदी नहीं है, श्रीकृष्णके तुल्य कोई देवता नहीं हैं और द्वारकाके समान दूसरी कोई पुरी नहीं है।'

इस बातको निश्चितरूपसे जानकर वहाँ यत्र-तत्र बैठे हुए शौनकादि सभी ऋषियोंने वहीं गोमतीके तटपर प्रातःकाल सन्ध्योपासना की। महर्षि सान्दीपनि भी वहीं थे। उन्होंने भी गोमती-तटपर सन्ध्योपासना की। इस प्रकार दीर्घकालतक व्रतका पालन करनेवाले अवन्तीनिवासी सान्दीपनि मुनिके पास उन्हींकी कामना पूर्ण करनेके लिये सुकुमार अंगवाले ब्रह्मचारी बलराम और श्रीकृष्ण आये। उन्होंने गुरुजीसे कहा—'ब्रह्मन्! नदियोंमें श्रेष्ठ गोमती अब यहीं अवन्तीपुरीमें आ गयी है। यज्ञकुण्डमें गोमती और सरस्वती दोनोंका समागम हुआ है। गोमतीकुण्ड सब पापोंका नाश करनेवाला बताया गया है। भाद्रपदमासके कृष्ण पक्षकी अष्टमी तिथिको कृष्णजन्मके दिन उस कुण्डमें स्नान करके मनुष्य रात्रिमें जागरण करे और विधिपूर्वक उपवास करके शिष्यसहित व्यासजीकी पूजा करे। जो लोग एकाग्रचित्त होकर उस दिन गौ-ब्राह्मणोंकी पूजा करते हैं, उनके लिये सब लोकोंमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है। उन्हें गोमती-स्नानका पुण्य, भगवान् वासुदेवका समागम तथा सब मनोरथोंकी सिद्धि प्राप्त होती है। चैत्र शुक्ला एकादशीके दिन मनुष्य गोमतीकुण्डमें विशेषरूपसे स्नान करके रात्रिमें जागरण और भगवान् विष्णुका पूजन करे। तत्पश्चात् आमलकी यात्रा करे तो उसे पग-पगपर सहस्रों गोदानका फल प्राप्त होता है।

## गंगेश्वर और विश्वेश्वरतीर्थका माहात्म्य, बलिके द्वारा देवताओंकी पराजय, ब्रह्माजीका देवताओंको विष्णुसहस्रनामस्तोत्रका उपदेश देना

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—ब्रह्मन्! गंगेश्वरके समीप जहाँ आकाशगंगाका संगम है, वहाँ सब पापोंको हरनेवाला एक श्रेष्ठ तीर्थ है। इस भूतलपर वह तीर्थ धन्य है और महान् पुण्यफल देनेवाला है। वहीं भगवान् शंकरने आकाशसे गिरती हुई गंगाको अपने मस्तकपर धारण किया था। उस तीर्थमें स्नान करके यदि मनुष्य गंगेश्वरका दर्शन करे तो वह गंगास्नानका फल पाकर विष्णुलोकमें पूजित होता है। विश्वनाथजीके पास पहुँचकर विश्वेश्वरतीर्थमें जो निवास करता है, वह सब पापोंसे शुद्धचित्त होकर विष्णुलोकको पाता है।

प्राचीन कालमें भगवान् विष्णुकी भक्तिमें तत्पर रहनेवाले एक दैत्यराज हो गये हैं, जो प्रह्लादके नामसे विख्यात थे। प्रह्लादजी समस्त धर्मात्माओंमें

श्रेष्ठ थे। उन्होंने आचरणके द्वारा धर्मपर विजय पायी, सत्यके द्वारा लक्ष्मीजीको जीता, धैर्यसे सम्पूर्ण लोक धारण किये, क्षमासे पृथ्वीको जीता, गम्भीरतासे दिव्य समुद्रको पराजित किया तथा शौर्यसे शत्रुगणोंको परास्त किया था। महात्मा प्रह्लादने विनयसे अतिथियोंको, दक्षिणासे यज्ञको और हविष्यसे अग्निदेवको जीत लिया था। बाहर-भीतरकी पवित्रता और सदाचारके पालनसे उनका अन्तःकरण पूर्णतः शुद्ध हो गया था। तपस्यासे उनका अशुभ नष्ट हो चुका था। दान, मान और भोजन-आच्छादनादिसे उन्होंने ब्राह्मणोंके हृदयको जीत लिया था। उन्होंने संस्कारसे जन्मको, दम (इन्द्रियसंयम) से सनातन आत्माको, प्राणायामसे वायुको और योगध्यानसे श्रीहरिको अपने वशमें कर लिया था। प्रह्लादजीके समान धीर कोई नहीं हुआ।

प्रह्लादजीके सदाचारी पौत्र बलिके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनके शासनकालमें प्रजाकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती थी। पृथ्वीपर कोई अल्पायु, जड़-मूर्ख, रोगी, ईर्ष्यालु, पुत्रहीन और धनहीन नहीं था। राजा बलि सम्राट् थे। वे प्रचुर दक्षिणाओंसे सम्पन्न अनेकानेक यज्ञ करते रहते थे। उन्होंने सात द्वीपोंवाली पृथ्वीका सदैव पालन किया है। एक समय राजा बलि सभाके बीच श्रेष्ठ सिंहासनपर बैठे थे। सब ओर उनकी जय-जयकार हो रही थी तथा पुराणों और स्मृतियोंकी दिव्य कथा-वार्ता चल रही थी। इसी समय वहाँ बहुत-से ऋषि पधारे। बड़े-बड़े दैत्य और दानव राजा बलिकी सेवामें उपस्थित हुए। सिद्ध, नाग, यक्ष, किन्नर और किंपुरुष आदि भी राजाके दरबारमें आये थे। इन सबके समागमसे दैत्यसम्राट् बलिकी वह परम दिव्य सभा बड़ी शोभा पा रही थी। तदनन्तर उस सभामें देवदर्शन नारदजी कहींसे आ गये। उन्हें देखकर सब दैत्य उठकर खड़े हो गये और सबने मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। राजा बलिने नारदजीका स्वागत-सत्कार करके आसन दिया और उनका कुशल-समाचार पूछा।

**तब आनन्दपूर्वक बैठकर देवर्षि नारदजीने कहा**—दैत्यराज! भूतलपर सदा तुम्हारे पितरों और पितामहोंका अधिकार होता आया है। दानवश्रेष्ठ! अपने पितरोंकी परम्परासे चली आती हुई पृथ्वीको जीतकर तुम चक्रवर्ती सम्राट् हो जाओ। यह सुनकर बलिने इन्द्रसहित सब देवताओंको जीतकर अपने वशमें कर लिया और वे सब लोकोंके स्वामी हो गये। उस समय सब देवगण ब्रह्माजीकी शरणमें गये और इस प्रकार बोले—'ब्रह्मन्! बलिने हमें देवलोकसे अलग कर दिया, क्या करें? कहाँ जायँ?'

**ब्रह्माजी बोले**—देवताओ! तुमलोग परम मनोहर पद्मावतीपुरीको जाओ। वहाँ सब तीर्थोंमें श्रेष्ठ उत्तरमानस नामक तीर्थ है, जहाँ मनुष्योंको महासिद्धि देनेवाली अष्टसिद्धिदायिनी देवी विख्यात हैं। उसीसे दक्षिण भागमें परम उत्तम विष्णुतीर्थ है। वहाँ जाकर अमित तेजस्वी भगवान् विष्णुकी आराधना करो। वे तुम्हारी सब दुःखोंसे रक्षा करेंगे।

**ब्रह्माजीकी यह बात सुनकर उन श्रेष्ठ देवताओंने पूछा**—ब्रह्मन्! किस विधिसे भगवान् विष्णुकी आराधनामें तत्पर होना चाहिये?

**शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम्।**
**प्रसन्नवदनं ध्यायेत् सर्वविघ्नोपशान्तये॥**
**लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः।**
**येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः॥**

**ब्रह्माजी बोले**—देवताओ! भगवान् विष्णु श्वेत वस्त्र धारण किये चार भुजाओंसे सुशोभित हैं। उनके श्रीअंगोंकी कान्ति चन्द्रमाके समान गौर है, उनके मुखपर सदैव प्रसन्नता छायी रहती है। ऐसे श्रीहरिका सब विघ्नोंकी शान्तिके लिये ध्यान करे। नील कमलके समान श्यामसुन्दर श्रीविष्णु जिनके हृदयमें विराजमान हैं, उन्हींको लाभ होता है, उन्हींकी विजय होती है, उनकी पराजय कैसे हो सकती है? भगवान् विष्णुका जो सहस्रनामस्तोत्र है, वह अत्यन्त शुभ और विष्णुभक्ति प्रदान करनेवाला है।

**विनियोगः**

**ॐ अस्य श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रमन्त्रस्य ब्रह्मा**

**ऋषिर्विष्णुर्देवता अनुष्टुप्छन्दः सर्वकामावाप्त्यर्थं जपे विनियोगः।**

इस श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रका मैं ब्रह्मा ऋषि हूँ, भगवान् विष्णु देवता हैं, अनुष्टुप् छन्द है और सब कामनाओंकी प्राप्तिके लिये जप अथवा पाठ करनेमें इसका विनियोग किया जाता है।

**ध्यानम्**

**सजलजलदनीलं दर्शितोदारशीलं**
**करतलधृतशैलं वेणुवाद्ये रसालम्।**
**व्रजजनकुलपालं कामिनीकेलिलोलं**
**तरुणतुलसिमालं नौमि गोपालबालम्॥**

इस प्रकार विनियोग करके ध्यान करना चाहिये। वह इस प्रकार है—जिनके श्रीअंगोंकी कान्ति नूतन जलधरके समान श्याम है, जिन्होंने सदा उदारस्वभावका परिचय दिया है, अपने हाथपर गिरिराज गोवर्द्धनको उठाया है, जो बड़ी रसीली बाँसुरी बजाते हैं, व्रजवासियोंके समूहका पालन करते हैं, व्रजांगनाओंकी प्रसन्नताके लिये भाँति-भाँतिकी बाल-लीलाएँ करते डोलते हैं तथा जिनके गलेमें नूतन तुलसीकी माला शोभा पा रही है, उन गोपालबालक भगवान् श्रीकृष्णको मैं नमस्कार करता हूँ।

**अथ विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्***

**ॐ विष्णुर्जिष्णुर्हृषीकेशः सर्वात्मा सर्वभावनः।**
**सर्वगः शर्वरीनाथो भूतग्रामाशयाशयः॥**
**अनादिनिधनो देवः सर्वज्ञः सर्वसम्भवः।**
**सर्वव्यापी जगद्धाता सर्वशक्तिधरोऽनघः॥**

ॐ विष्णु, जिष्णु, हृषीकेश, सर्वात्मा, सर्वभावन, सर्वग, शर्वरीनाथ, भूतग्रामाशयाशय, अनादिनिधन, देव, सर्वज्ञ, सर्वसम्भव, सर्वव्यापी, जगद्धाता, सर्वशक्तिधर, अनघ।

**जगद्बीजं जगत्स्रष्टा जगदीशो जगत्पतिः।**
**जगद्गुरुर्जगन्नाथो जगद्धाता जगन्मयः॥**
**सर्वाकृतिधरः सर्वो विश्वरूपी जनार्दनः।**
**अजन्मा शाश्वतो नित्यो विश्वाधारो विभुः प्रभुः॥**

जगद्बीज, जगत्स्रष्टा, जगदीश, जगत्पति, जगद्गुरु, जगन्नाथ, जगद्धाता, जगन्मय, सर्वाकृतिधर, सर्व, विश्वरूपी, जनार्दन, अजन्मा, शाश्वत, नित्य, विश्वाधार, विभु, प्रभु।

**बहुरूपैकरूपश्च सर्वरूपधरो हरः।**
**कालाग्निप्रभवो वायुः प्रलयान्तकरोऽक्षयः॥**
**महार्णवो महामेघो जलबुद्बुदसम्भवः।**
**संस्कृतोऽविकृतो मत्स्यो महामत्स्यस्तिमिङ्गिलः॥**

बहुरूप, एकरूप, सर्वरूपधर, हर, कालाग्निप्रभव, वायु, प्रलयान्तकर, अक्षय, महार्णव, महामेघ, जलबुद्बुदसम्भव, संस्कृत, अविकृत, मत्स्य, महामत्स्य, तिमिंगिल।

**अनन्तो वासुकिः शेषो वराहो धरणीधरः।**
**पयःक्षीरविवेकाढ्यो हंसो हैमगिरिस्थितः॥**
**हयग्रीवो विशालाक्षो हयकर्णो हयाकृतिः।**
**मन्थनो रत्नहारी च कूर्मोऽधरधराधरः॥**

अनन्त, वासुकि, शेष, वराह, धरणीधर, पयःक्षीर-विवेकाढ्य, हंस, हैमगिरिस्थित, हयग्रीव, विशालाक्ष, हयकर्ण, हयाकृति, मन्थन, रत्नहारी, कूर्म, अधरधराधर।

**विनिद्रो निद्रितो नन्दी सुनन्दो नन्दनप्रियः।**
**नाभिनालमृणाली च स्वयम्भूश्चतुराननः॥**
**प्रजापतिपरो दक्षः सृष्टिकर्ता प्रजाकरः।**
**मरीचिः कश्यपो वत्सः सुरासुरगुरुः कविः॥**

विनिद्र, निद्रित, नन्दी, सुनन्द, नन्दनप्रिय, नाभिनालमृणाली, स्वयम्भू, चतुरानन, प्रजापतिपर, दक्ष, सृष्टिकर्ता, प्रजाकर, मरीचि, कश्यप, वत्स, सुरासुरगुरु, कवि।

**वामनो वामभागी च वामकर्मा बृहद्वपुः।**
**त्रैलोक्यक्रमणो दीपो बलियज्ञविनाशनः॥**
**यज्ञहर्ता यज्ञकर्ता यज्ञेशो यज्ञभुग् विभुः।**
**सहस्रांशुर्भगो भानुर्विवस्वान् रविरंशुमान्॥**

* नवलकिशोरप्रेसकी छपी हुई प्रतिके अनुसार यह स्तोत्र स्कन्दपुराण आवन्त्यखण्ड-अवन्तीक्षेत्र-माहात्म्यके ७४ वें अध्यायमें श्लोकांक ७४ से लेकर २०३ तकमें है। इसका पाठ विशेषतः वेंकटेश्वरप्रेसकी छपी पुस्तकके अनुसार लिया गया है, उसमें अध्याय ६३ में यह स्तोत्र आया है।

वामन, वामभागी, वामकर्मा, बृहद्वपु, त्रैलोक्यक्रमण, दीप, बलियज्ञविनाशन, यज्ञहर्ता, यज्ञकर्ता, यज्ञेश, यज्ञभुक्, विभु, सहस्रांशु, भग, भानु, विवस्वान्, रवि, अंशुमान्।

**तिग्मतेजाश्चाल्पतेजाः कर्मसाक्षी मनुर्यमः।**
**देवराजः सुरपतिर्दानवारिः शचीपतिः॥**
**अग्निर्वायुसखो वह्निर्वरुणो यादसांपतिः।**
**नैर्ऋतो नादनोऽनादी रक्षोयक्षधनाधिपः॥**

तिग्मतेजा, अल्पतेजा, कर्मसाक्षी, मनु, यम, देवराज, सुरपति, दानवारि, शचीपति, अग्नि, वायुसखा, वह्नि, वरुण, यादसाम्पति, नैर्ऋत, नादन, अनादि, रक्षोयक्षधनाधिप।

**कुबेरो वित्तवान् वेगो वसुपालो विलासकृत्।**
**अमृतस्रवणः सोमः सोमपानकरः सुधीः॥**
**सर्वौषधिकरः श्रीमान्निशाकारो दिवाकरः।**
**विषारिर्विषहर्ता च विषकण्ठधरो गिरिः॥**

कुबेर, वित्तवान्, वेग, वसुपाल, विलासकृत्, अमृतस्रवण, सोम, सोमपानकर, सुधी, सर्वौषधिकर, श्रीमान्, निशाकार, दिवाकर, विषारि, विषहर्ता, विषकण्ठधर, गिरि।

**नीलकण्ठो वृषी रुद्रो भालचन्द्रो ह्युमापतिः।**
**शिवः शान्तो वशी वीरो ध्यानी मानी च मानदः॥**
**कृमिकीटो मृगव्याधो मृगहा मृगवत्सलः।**
**वटुको भैरवो बालः कपाली दण्डविग्रहः॥**

नीलकण्ठ, वृषी, रुद्र, भालचन्द्र, उमापति, शिव, शान्त, वशी, वीर, ध्यानी, मानी, मानद, कृमिकीट, मृगव्याध, मृगहा, मृगवत्सल, वटुक, भैरव, बाल, कपाली, दण्डविग्रह।

**श्मशानवासी मांसाशी दुष्टनाशी स्मरान्तकृत्।**
**योगिनीत्रासको योगी ध्यानस्थो ध्यानवासनः॥**
**सेनानीः सैन्यदः स्कन्दो महाकालो गणाधिपः।**
**आदिदेवो गणपतिर्विघ्नहा विघ्ननाशनः॥**

श्मशानवासी, मांसाशी, दुष्टनाशी, स्मरान्तकृत्, योगिनीत्रासक, योगी, ध्यानस्थ, ध्यानवासन, सेनानी, सैन्यद, स्कन्द, महाकाल, गणाधिप, आदिदेव, गणपति, विघ्नहा, विघ्ननाशन।

**ऋद्धिसिद्धिप्रदो दन्ती भालचन्द्रो गजाननः।**
**नृसिंह उग्रदंष्ट्रश्च नखी दानवनाशकृत्॥**
**प्रह्लादपोषकर्ता च सर्वदैत्यजनेश्वरः।**
**शलभः सागरः साक्षी कल्पद्रुमविकल्पकः॥**

ऋद्धिसिद्धिप्रद, दन्ती, भालचन्द्र, गजानन, नृसिंह, उग्रदंष्ट्र, नखी, दानवनाशकृत्, प्रह्लादपोषकर्ता, सर्वदैत्य-जनेश्वर, शलभ, सागर, साक्षी, कल्पद्रुमविकल्पक।

**हेमदो हेमभागी च हिमकर्ता हिमाचलः।**
**भूधरो भूमिदो मेरुः कैलासशिखरो गिरिः॥**
**लोकालोकान्तरो लोकी विलोकी भुवनेश्वरः।**
**दिक्पालो दिक्पतिर्दिव्यो दिव्यकायो जितेन्द्रियः॥**

हेमद, हेमभागी, हिमकर्ता, हिमाचल, भूधर, भूमिद, मेरु, कैलासशिखर, गिरि, लोकालोकान्तर, लोकी, विलोकी, भुवनेश्वर, दिक्पाल, दिक्पति, दिव्य, दिव्यकाय, जितेन्द्रिय।

**विरूपो रूपवान् रागी नृत्यगीतविशारदः।**
**हाहा हूहूश्चित्ररथो देवर्षिर्नारदः सखा॥**
**विश्वेदेवाः साध्यदेवा धृताशीश्च चलोऽचलः।**
**कपिलो जल्पको वादी दत्तो हैहयसंघराट्॥**

विरूप, रूपवान्, रागी, नृत्यगीतविशारद, हाहा, हूहू, चित्ररथ, देवर्षि, नारद, सखा, विश्वेदेव, साध्यदेव, धृताशी, चल, अचल, कपिल, जल्पक, वादी, दत्त, हैहयसंघराट्।

**वसिष्ठो वामदेवश्च सप्तर्षिप्रवरो भृगुः।**
**जामदग्न्यो महावीरः क्षत्रियान्तकरो ह्यृषिः॥**
**हिरण्यकशिपुश्चैव हिरण्याक्षो हरप्रियः।**
**अगस्तिः पुलहो रक्षः पौलस्त्यो रावणो घटः॥**

वसिष्ठ, वामदेव, सप्तर्षिप्रवर, भृगु, जामदग्न्य, महावीर, क्षत्रियान्तकर, ऋषि, हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, हरप्रिय, अगस्ति, पुलह, रक्ष, पौलस्त्य, रावण, घट।

**देवारिस्तापसस्तापी विभीषणहरिप्रियः।**
**तेजस्वी तेजदस्तेजी ईशो राजपतिः प्रभुः॥**
**दाशरथी राघवो रामो रघुवंशविवर्धनः।**
**सीतापतिः पतिः श्रीमान् ब्रह्मण्यो भक्तवत्सलः॥**

देवारि, तापस, तापी, विभीषणहरिप्रिय, तेजस्वी, तेजद, तेजी, ईश, राजपति, प्रभु, दाशरथि, राघव,

राम, रघुवंशविवर्धन, सीतापति, पति, श्रीमान्, ब्रह्मण्य, भक्तवत्सल।

**सन्नद्धः कवची खड्गी, चीरवासा दिगम्बरः।**
**किरीटी कुण्डली चापी शङ्खचक्री गदाधरः॥**
**कौसल्यानन्दनोदारो भूमिशायी गुहप्रियः।**
**सौमित्रो भरतो बालः शत्रुघ्नो भरताग्रजः॥**

सन्नद्ध, कवची, खड्गी, चीरवासा, दिगम्बर, किरीटी, कुण्डली, चापी, शंखचक्री, गदाधर, कौसल्यानन्दन, उदार, भूमिशायी, गुहप्रिय, सौमित्र, भरत, बाल, शत्रुघ्न, भरताग्रज।

**लक्ष्मणः परवीरघ्नः स्त्रीसहायः कपीश्वरः।**
**हनुमान् ऋक्षराजश्च सुग्रीवो वालिनाशनः॥**
**दूतप्रियो दूतकारी ह्यङ्गदो गदतां वरः।**
**वनध्वंसी वनी वेगी वानरो वानरध्वजः॥**

लक्ष्मण, परवीरघ्न, स्त्रीसहाय, कपीश्वर, हनुमान्, ऋक्षराज, सुग्रीव, वालिनाशन, दूतप्रिय, दूतकारी, अंगद, गदतां वर, वनध्वंसी, वनी, वेगी, वानर, वानरध्वज।

**लाङ्गूली च नखी दंष्ट्री लङ्काहाहाकरो वरः।**
**भवसेतुर्महासेतुर्बद्धसेतू रमेश्वरः॥**
**जानकीवल्लभः कामी किरीटी कुण्डली खगी।**
**पुण्डरीकविशालाक्षो महाबाहुर्घनाकृतिः॥**

लांगूली, नखी, दंष्ट्री, लंकाहाहाकर, वर, भवसेतु, महासेतु, बद्धसेतु, रमेश्वर, जानकीवल्लभ, कामी, किरीटी, कुण्डली, खगी, पुण्डरीकविशालाक्ष, महाबाहु, घनाकृति।

**चञ्चलश्चपलः कामी वामी वामाङ्गवत्सलः।**
**स्त्रीप्रियः स्त्रीपरः स्त्रैणः स्त्रियो वामाङ्गवासकः॥**
**जितवैरी जितकामो जितक्रोधो जितेन्द्रियः।**
**शान्तो दान्तो दयाऽऽरामो ह्येकस्त्रीव्रतधारकः॥**

चंचल, चपल, कामी, वामी, वामांगवत्सल, स्त्रीप्रिय, स्त्रीपर, स्त्रैण, स्त्रियो-वामांगवासक, जितवैरी, जितकाम, जितक्रोध, जितेन्द्रिय, शान्त, दान्त, दयाराम, एकस्त्रीव्रतधारक।

**सात्त्विकः सत्त्वसंस्थानो मदहा क्रोधहा खरः।**
**बहुराक्षससंवीतः सर्वराक्षसनाशकृत्॥**
**रावणारी रणक्षुद्रदशमस्तकछेदकः।**
**राज्यकारी यज्ञकारी दाता भोक्ता तपोधनः॥**

सात्त्विक, सत्त्वसंस्थान, मदहा, क्रोधहा, खर, बहुराक्षससंवीत, सर्वराक्षसनाशकृत्, रावणारि, रणक्षुद्रदशमस्तकछेदक, राज्यकारी, यज्ञकारी, दाता, भोक्ता, तपोधन।

**अयोध्याधिपतिः कान्तो वैकुण्ठोऽकुण्ठविग्रहः।**
**सत्यव्रतो व्रती शूरस्तपी सत्यफलप्रदः॥**
**सर्वसाक्षी सर्वगश्च सर्वप्राणहरोऽव्ययः।**
**प्राणश्चाथाप्यपानश्च व्यानोदानः समानकः॥**

अयोध्याधिपति, कान्त, वैकुण्ठ, अकुण्ठविग्रह, सत्यव्रत, व्रती, शूर, तपी, सत्यफलप्रद, सर्वसाक्षी, सर्वग, सर्वप्राणहर, अव्यय, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समानक।

**नागः कृकलः कूर्मश्च देवदत्तो धनञ्जयः।**
**सर्वप्राणविदो व्यापी योगधारकधारकः॥**
**तत्त्ववित्तत्त्वदस्तत्त्वी सर्वतत्त्वविशारदः।**
**ध्यानस्थो ध्यानशाली च मनस्वी योगवित्तमः॥**

नाग, कृकल, कूर्म, देवदत्त, धनंजय, सर्वप्राणविद, व्यापी, योगधारकधारक, तत्त्ववित्, तत्त्वद, तत्त्वी, सर्वतत्त्वविशारद, ध्यानस्थ, ध्यानशाली, मनस्वी, योगवित्तम।

**ब्रह्मज्ञो ब्रह्मदो ब्रह्मज्ञाता च ब्रह्मसम्भवः।**
**अध्यात्मविद् विदो दीपो ज्योतीरूपो निरञ्जनः॥**
**ज्ञानदोऽज्ञानहा ज्ञानी गुरुः शिष्योपदेशकः।**
**सुशिष्यः शिक्षितः शाली शिष्यशिक्षाविशारदः॥**

ब्रह्मज्ञ, ब्रह्मद, ब्रह्मज्ञाता, ब्रह्मसम्भव, अध्यात्मवित्, विद, दीप, ज्योतीरूप, निरंजन, ज्ञानद, अज्ञानहा, ज्ञानी, गुरु, शिष्योपदेशक, सुशिष्य, शिक्षित, शाली, शिष्यशिक्षाविशारद।

**मन्त्रदो मन्त्रहा मन्त्री तन्त्री तन्त्रजनप्रियः।**
**सन्मन्त्रो मन्त्रविन्मन्त्री यन्त्रमन्त्रैकभञ्जनः॥**
**मारणो मोहनो मोही स्तम्भोच्चाटनकृत् खलः।**
**बहुमायो विमायश्च महामायाविमोहकः॥**

मन्त्रद, मन्त्रहा, मन्त्री, तन्त्री, तन्त्रजनप्रिय, सन्मन्त्र, मन्त्रवित्, मन्त्री, यन्त्रमन्त्रैकभंजन, मारण,

मोहन, मोही, स्तम्भोच्चाटनकृत्, खल, बहुमाय, विमाय, महामायाविमोहक।

**मोक्षदो बन्धको वन्दी ह्याकर्षणविकर्षणः।**
**ह्रीङ्कारो बीजरूपी च क्लीङ्कारः कीलकाधिपः॥**
**सौङ्कारः शक्तिमाञ्छक्तिः सर्वशक्तिधरो धरः।**
**अकारोकार ओङ्कारश्छन्दो गायत्रसम्भवः॥**

मोक्षद, बन्धक, वन्दी, आकर्षण, विकर्षण, ह्रींकार, बीजरूपी, क्लींकार, कीलकाधिप, सौंकार, शक्तिमान्, शक्ति, सर्वशक्तिधर, धर, अकार, उकार, ॐकार, छन्द, गायत्रसम्भव।

**वेदो वेदविदो वेदी वेदाध्यायी सदाशिवः।**
**ऋग्यजुःसामाथर्वेशः सामगानकरोऽकरी॥**
**त्रिपदो बहुपादी च सत्पथः सर्वतोमुखः।**
**प्राकृतः संस्कृतो योगी गीतग्रन्थप्रहेलिकः॥**

वेद, वेदविद, वेदी, वेदाध्यायी, सदाशिव, ऋग्यजुःसामाथर्वेश, सामगानकर, अकरी, त्रिपद, बहुपादी, सत्पथ, सर्वतोमुख, प्राकृत, संस्कृत, योगी, गीतग्रन्थप्रहेलिक।

**सगुणो विगुणश्छन्दो निःसंगो विगुणो गुणी।**
**निर्गुणो गुणवान् संगी कर्मी धर्मी च कर्मदः॥**
**निष्कर्मा कामकामी च निःसंगः संगवर्जितः।**
**निर्लोभो निरहङ्कारी निष्किञ्चनजनप्रियः॥**

सगुण, विगुण, छन्द, निःसंग, विगुण, गुणी, निर्गुण, गुणवान्, संगी, कर्मी, धर्मी, कर्मद, निष्कर्मा, कामकामी, निःसंग, संगवर्जित, निर्लोभ, निरहंकारी, निष्किंचनजनप्रिय।

**सर्वसंगकरो रागी सर्वत्यागी बहिश्चरः।**
**एकपादो द्विपादश्च बहुपादोऽल्पपादकः॥**
**द्विपदस्त्रिपदः पादी विपादी पदसंग्रहः।**
**खेचरो भूचरो भ्रामी भृङ्गकीटमधुप्रियः॥**

सर्वसंगकर, रागी, सर्वत्यागी, बहिश्चर, एकपाद, द्विपाद, बहुपाद, अल्पपादक, द्विपद, त्रिपद, पादी, विपादी, पदसंग्रह, खेचर, भूचर, भ्रामी, भृंगकीटमधुप्रिय।

**ऋतुः संवत्सरो मासोऽयनः पक्षो ह्यहर्निशः।**
**कृतं त्रेता कलिश्चैव द्वापरश्चतुराकृतिः॥**
**देशकालकरः कालः कुलधर्मः सनातनः।**
**कला काष्ठा पला नाड्यो यामः पक्षः सितासितः॥**

ऋतु, संवत्सर, मास, अयन, पक्ष, अहर्निश, कृत, त्रेता, कलि, द्वापर, चतुराकृति, देशकालकर, काल, सनातन कुलधर्म, कला, काष्ठा, पला, नाडी, याम, सितासित, पक्ष।

**युगो युगन्धरो योग्यो युगधर्मप्रवर्तकः।**
**कुलाचारः कुलकरः कुलदैवकरः कुली॥**
**चतुराश्रमचारी च गृहस्थो ह्यतिथिप्रियः।**
**वनस्थो वनचारी च वानप्रस्थाश्रमाश्रमी॥**

युग, युगन्धर, योग्य, युगधर्मप्रवर्तक, कुलाचार, कुलकर, कुलदैवकर, कुली, चतुराश्रमचारी, गृहस्थ, अतिथिप्रिय, वनस्थ, वनचारी, वानप्रस्थाश्रम, आश्रमी।

**वटुको ब्रह्मचारी च शिखासूत्री कमण्डली।**
**त्रिजटी ध्यानवान् ध्यानी बद्रिकाश्रमवासकृत्॥**
**हेमाद्रिप्रभवो हैमो हेमराशिर्हिमाकरः।**
**महाप्रस्थानको विप्रो विरागी रागवान् गृही॥**

वटुक, ब्रह्मचारी, शिखासूत्री, कमण्डली, त्रिजटी, ध्यानवान्, ध्यानी, बद्रिकाश्रमवासकृत्, हेमाद्रिप्रभव, हैम, हेमराशि, हिमाकर, महाप्रस्थानक, विप्र, विरागी, रागवान्, गृही।

**नरनारायणो नागी केदारोदारविग्रहः।**
**गंगाद्वारतपःसारस्तपोवनतपोनिधिः॥**
**निधिरेष महापद्मः पद्माकरश्रियालयः।**
**पद्मनाभः परीतात्मा परिव्राट् पुरुषोत्तमः॥**

नरनारायण, नागी, केदारोदारविग्रह, गंगाद्वार-तपःसार, तपोवनतपोनिधि, निधि, महापद्म, पद्माकर-श्रियालय, पद्मनाभ, परीतात्मा, परिव्राट्, पुरुषोत्तम।

**परानन्दः पुराणश्च सम्राड् राजविराजकः।**
**चक्रस्थश्चक्रपालस्थश्चक्रवर्ती नराधिपः॥**
**आयुर्वेदविदो वैद्यो धन्वन्तरिश्च रोगहा।**
**ओषधीबीजसम्भूतो रोगिरोगविनाशकृत्॥**

परानन्द, पुराण, सम्राट्, राजविराजक, चक्रस्थ, चक्रपालस्थ, चक्रवर्ती, नराधिप, आयुर्वेदवित्, वैद्य, धन्वन्तरि, रोगहा, ओषधीबीजसम्भूत, रोगिरोगविनाशकृत्।

**चेतनश्चेतकोऽचिन्त्यश्चित्तचिन्ताविनाशकृत् ।**
**अतीन्द्रियः सुखस्पर्शश्चरचारी विहङ्गमः ॥**
**गरुडः पक्षिराजश्च चाक्षुषो विनतात्मजः ।**
**विष्णुयानविमानस्थो मनोमयतुरङ्गमः ॥**

चेतन, चेतक, अचिन्त्य, चित्तचिन्ताविनाशकृत्, अतीन्द्रिय, सुखस्पर्श, चरचारी, विहंगम, गरुड, पक्षिराज, चाक्षुष, विनतात्मज, विष्णुयानविमानस्थ, मनोमयतुरंगम।

**बहुवृष्टिकरो वर्षी ऐरावणविरावणः ।**
**उच्चैःश्रवा हयो गामी हरिदश्वो हरिप्रियः ॥**
**प्रावृषो मेघमाली च गजरत्नं पुरन्दरः ।**
**वसुदो वसुधारश्च निद्रालुः पन्नगासनः ॥**

बहुवृष्टिकर, वर्षी, ऐरावणविरावण, उच्चैःश्रवा हय, गामी, हरिदश्व, हरिप्रिय, प्रावृष, मेघमाली, गजरत्न, पुरन्दर, वसुद, वसुधार, निद्रालु, पन्नगासन।

**शेषशायी जलेशायी व्यासः सत्यवतीसुतः ।**
**वेदव्यासकरो वाग्मी बहुशाखाविकल्पकः ॥**
**स्मृतिः पुराणधर्मार्थी परावरविचक्षणः ।**
**सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः सहस्रवदनोज्ज्वलः ॥**

शेषशायी, जलेशायी, व्यास, सत्यवतीसुत, वेदव्यासकर, वाग्मी, बहुशाखाविकल्पक, स्मृति, पुराणधर्मार्थी, परावरविचक्षण, सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष, सहस्रवदनोज्ज्वल।

**सहस्रबाहुः सहस्रांशुः सहस्रकिरणोन्नतः ।**
**बहुशीर्षैकशीर्षश्च त्रिशिरा विशिराः शिखी ॥**
**जटिलो भस्मरागी च दिव्याम्बरधरः शुचिः ।**
**अणुरूपो बृहद्रूपो विरूपो विकराकृतिः ॥**

सहस्रबाहु, सहस्रांशु, सहस्रकिरणोन्नत, बहुशीर्षा, एकशीर्ष, त्रिशिरा, विशिरा, शिखी, जटिल, भस्मरागी, दिव्याम्बरधर, शुचि, अणुरूप, बृहद्रूप, विरूप, विकराकृति।

**समुद्रमाथको माथी सर्वरत्नहरो हरिः ।**
**वज्रवैडूर्यको वज्री चिन्तामणिमहामणिः ॥**
**अनिर्मूल्यो महामूल्यो निर्मूल्यः सुरभिः सुखी ।**
**पिता माता शिशुर्बन्धुर्धाता त्वष्टार्यमा यमः ॥**

समुद्रमाथक, माथी, सर्वरत्नहर, हरि, वज्रवैडूर्यक, वज्री, चिन्तामणिमहामणि, अनिर्मूल्य, महामूल्य, निर्मूल्य, सुरभि, सुखी, पिता, माता, शिशु, बन्धु, धाता, त्वष्टा, अर्यमा, यम।

**अन्तःस्थो बाह्यकारी च बहिःस्थो वै बहिश्चरः ।**
**पावनः पावकः पाकी सर्वभक्षी हुताशनः ॥**
**भगवान् भगहा भागी भवभञ्जो भयंकरः ।**
**कायस्थः कार्यकारी च कार्यकर्ता करप्रदः ॥**

अन्तःस्थ, बाह्यकारी, बहिःस्थ, बहिश्चर, पावन, पावक, पाकी, सर्वभक्षी, हुताशन, भगवान्, भगहा, भागी, भवभंज, भयंकर, कायस्थ, कार्यकारी, कार्यकर्ता, करप्रद।

**एकधर्मा द्विधर्मा च सुखी दूत्योपजीवकः ।**
**पालकस्तारकस्त्राता कालो मूषकभक्षकः ॥**
**सञ्जीवनो जीवकर्ता सजीवो जीवसम्भवः ।**
**षड्विंशको महाविष्णुः सर्वव्यापी महेश्वरः ॥**

एकधर्मा, द्विधर्मा, सुखी, दूत्योपजीवक, पालक, तारक, त्राता, काल, मूषकभक्षक, संजीवन, जीव-कर्ता, सजीव, जीवसम्भव, षड्विंशक, महाविष्णु, सर्वव्यापी, महेश्वर।

**दिव्याङ्गदो मुक्तमाली श्रीवत्सो मकरध्वजः ।**
**श्याममूर्तिर्घनश्यामः पीतवासाः शुभाननः ॥**
**चीरवासा बिवासाश्च भूतदानववल्लभः ।**
**अमृतोऽमृतभागी च मोहिनीरूपधारकः ॥**

दिव्यांगद, मुक्तमाली, श्रीवत्स, मकरध्वज, श्याममूर्ति, घनश्याम, पीतवासा, शुभानन, चीरवासा, विवासा, भूत-दानववल्लभ, अमृत, अमृतभागी, मोहिनीरूपधारक।

**दिव्यदृष्टिः समदृष्टिर्देवदानववञ्चकः ।**
**कबन्धः केतुकारी च स्वर्भानुश्चन्द्रतापनः ॥**
**ग्रहराजो ग्रही ग्राहः सर्वग्रहविमोचकः ।**
**दानमानजपो होमः सानुकूलः शुभग्रहः ॥**

दिव्यदृष्टि, समदृष्टि, देवदानववंचक, कबन्ध, केतुकारी, स्वर्भानु, चन्द्रतापन, ग्रहराज, ग्रही, ग्राह, सर्वग्रहविमोचक, दानमानजप, होम, सानुकूल, शुभग्रह।

**विघ्नकर्तापहर्ता च विघ्ननाशो विनायकः ।**
**अपकारोपकारी च सर्वसिद्धिफलप्रदः ॥**

**सेवकः सामदानी च भेदी दण्डी च मत्सरी।**
**दयावान् दानशीलश्च दानी यज्वा प्रतिग्रही॥**

विघ्नकर्ता, अपहर्ता, विघ्ननाश, विनायक, अपकारोपकारी, सर्वसिद्धिफलप्रद, सेवक, सामदानी, भेदी, दण्डी, मत्सरी, दयावान्, दानशील, दानी, यज्वा प्रतिग्रही।

**हविरग्निश्चरुस्थाली समिधश्च तिलो यवः।**
**होतोद्गाता शुचिः कुण्डः सामगो वैकृतिः सवः॥**
**द्रव्यं पात्राणि सङ्कल्पो मुसलो ह्यरणिः कुशः।**
**दीक्षितो मण्डपो वेदिर्यजमानः पशुः क्रतुः॥**

हवि, अग्नि, चरुस्थाली, समिध, तिल, यव, होता, उद्गाता, शुचि, कुण्ड, सामग, वैकृति, सव, द्रव्य, पात्र, संकल्प, मुसल, अरणि, कुश, दीक्षित, मण्डप, वेदि, यजमान, पशु, क्रतु।

**दक्षिणा स्वस्तिमान् स्वस्ति ह्याशीर्वादः शुभप्रदः।**
**आदिवृक्षो महावृक्षो देववृक्षो वनस्पतिः॥**
**प्रयागो वेणिमान् वेणी न्यग्रोधश्चाक्षयो वटः।**
**सुतीर्थस्तीर्थकारी च तीर्थराजो व्रती व्रतः॥**

दक्षिणा, स्वस्तिमान्, स्वस्ति, आशीर्वाद, शुभप्रद, आदिवृक्ष, महावृक्ष, देववृक्ष, वनस्पति, प्रयाग, वेणिमान्, वेणी, न्यग्रोध, अक्षयवट, सुतीर्थ, तीर्थकारी, तीर्थराज, व्रती, व्रत।

**वृत्तिदाता पृथुः पात्रो दोग्धा गौर्वत्स एव च।**
**क्षीरं क्षीरवहः क्षीरी क्षीरभागविभागवित्॥**
**राज्यभागविदो भागी सर्वभागविकल्पकः।**
**वाहनो वाहको वेगी पादचारी तपश्चरः॥**

वृत्तिदाता, पृथु, पात्र, दोग्धा, गौ, वत्स, क्षीर, क्षीरवह, क्षीरी, क्षीरभागविभागवित्, राज्यभागवित्, भागी, सर्वभागविकल्पक, वाहन, वाहक, वेगी, पादचारी, तपश्चर।

**गोपनो गोपको गोपी गोपकन्याविहारकृत्।**
**वासुदेवो विशालाक्षः कृष्णो गोपीजनप्रियः॥**
**देवकीनन्दनो नन्दी नन्दगोपगृहाश्रयी।**
**यशोदानन्दनो दामी दामोदर उलूखली॥**

गोपन, गोपक, गोपी, गोपकन्याविहारकृत्, वासुदेव, विशालाक्ष, कृष्ण, गोपीजनप्रिय, देवकी-नन्दन, नन्दी, नन्दगोपगृहाश्रयी, यशोदानन्दन, दामी, दामोदर, उलूखली।

**पूतनारिस्तृणावर्तहारी शकटभञ्जकः।**
**नवनीतप्रियो वाग्मी वत्सपालकबालकः॥**
**वत्सरूपधरो वत्सी वत्सहा धेनुकान्तकृत्।**
**वकारिर्वनवासी च वनक्रीडाविशारदः॥**

पूतनारि, तृणावर्तहारी, शकटभंजक, नवनीतप्रिय, वाग्मी, वत्सपालकबालक, वत्सरूपधर, वत्सी, वत्सहा, धेनुकान्तकृत्, वकारि, वनवासी, वनक्रीडाविशारद।

**कृष्णवर्णाकृतिः कान्तो वेणुवेत्रविधारकः।**
**गोपमोक्षकरो मोक्षो यमुनापुलिनेचरः॥**
**मायावत्सकरो मायी ब्रह्ममायापमोहकः।**
**आत्मसारविहारज्ञो गोपदारकदारकः॥**

कृष्णवर्णाकृति, कान्त, वेणुवेत्रविधारक, गोपमोक्षकर, मोक्ष, यमुनापुलिनेचर, मायावत्सकर, मायी, ब्रह्ममायापमोहक, आत्मसारविहारज्ञ, गोपदारकदारक।

**गोचारी गोपतिर्गोपो गोवर्धनधरो बली।**
**इन्द्रद्युम्नमखध्वंसी वृष्टिहा गोपरक्षकः॥**
**सुरभित्राणकर्ता च दावपानकरः कली।**
**कालीयमर्दनः काली यमुनाह्रदविहारकः॥**

गोचारी, गोपति, गोप, गोवर्धनधर, बली, इन्द्रद्युम्न-मखध्वंसी, वृष्टिहा, गोपरक्षक, सुरभि-त्राणकर्ता, दावपानकर, कली, कालीयमर्दन, काली, यमुनाह्रदविहारक।

**संकर्षणो बलश्लाघ्यो बलदेवो हलायुधः।**
**लांगली मुसली चक्री रामो रोहिणिनन्दनः॥**
**यमुनाकर्षणोद्धारो नीलवासा हली तथा।**
**रेवतीरमणो लोलो बहुमानकरः परः॥**

संकर्षण, बलश्लाघ्य, बलदेव, हलायुध, लांगली, मुसली, चक्री, राम, रोहिणिनन्दन, यमुनाकर्षणोद्धार, नीलवासा, हली, रेवतीरमण, लोल, बहुमानकर, पर।

**धेनुकारिर्महावीरो गोपकन्याविदूषकः।**
**काममानहरः कामी गोपीवासोऽपतस्करः॥**

**वेणुवादी च नादी च नृत्यगीतविशारदः।**
**गोपीमोहकरो गानी रासको रजनीचरः॥**

धेनुकारि, महावीर, गोपकन्याविदूषक, काममानहर, कामी, गोपीवासोऽपतस्कर, वेणुवादी, नादी, नृत्यगीत-विशारद, गोपीमोहकर, गानी, रासक, रजनीचर।

**दिव्यमाली विमाली च वनमालाविभूषितः।**
**कैटभारिश्च कंसारिर्मधुहा मधुसूदनः॥**
**चाणूरमर्दनो मल्लो मुष्टिमुष्टिकनाशकृत्।**
**मुरहा मोदको मोदी मदघ्नो नरकान्तकृत्॥**

दिव्यमाली, विमाली, वनमालाविभूषित, कैटभारि, कंसारि, मधुहा, मधुसूदन, चाणूरमर्दन, मल्ल, मुष्टिमुष्टिकनाशकृत्, मुरहा, मोदक, मोदी, मदघ्न, नरकान्तकृत्।

**विद्याध्यायी भूमिशायी सुदाम्नश्च सखा सुखी।**
**सकलोऽविकलो वैद्यः कलितो वै कलानिधिः॥**
**विद्याशाली विशाली च पितृमातृविमोक्षकः।**
**रुक्मिणीरमणो रम्यः कालिन्दीपति शङ्खहा॥**

विद्याध्यायी, भूमिशायी, सुदामसखा, सुखी, सकल, अविकल, वैद्य, कलित, कलानिधि, विद्याशाली, विशाली, पितृमातृविमोक्षक, रुक्मिणी-रमण, रम्य, कालिन्दीपति, शंखहा।

**पाञ्चजन्यो महापद्मो बहुनायकनायकः।**
**धुन्धुमारो निकुम्भघ्नः शम्बरान्तो रतिप्रियः॥**
**प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च सात्वतां पतिरर्जुनः।**
**फाल्गुनश्च गुडाकेशः सव्यसाची धनञ्जयः॥**

पांचजन्य, महापद्म, बहुनायकनायक, धुन्धुमार, निकुम्भघ्न, शम्बरान्त, रतिप्रिय, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, सात्वतांपति, अर्जुन, फाल्गुन, गुडाकेश, सव्यसाची, धनंजय।

**किरीटी च धनुष्पाणिर्धनुर्वेदविशारदः।**
**शिखण्डी सात्यकिः शैव्यो भीमो भीमपराक्रमः॥**
**पाञ्चालश्चाभिमन्युश्च सौभद्रो द्रौपदीपतिः।**
**युधिष्ठिरो धर्मराजः सत्यवादी शुचिव्रतः॥**

किरीटी, धनुष्पाणि, धनुर्वेदविशारद, शिखण्डी, सात्यकि, शैव्य, भीम, भीमपराक्रम, पांचाल, अभिमन्यु, सौभद्र, द्रौपदीपति, युधिष्ठिर, धर्मराज, सत्यवादी, शुचिव्रत।

**नकुलः सहदेवश्च कर्णो दुर्योधनो घृणी।**
**गाङ्गेयोऽथ गदापाणिर्भीष्मो भागीरथीसुतः॥**
**प्रज्ञाचक्षुर्धृतराष्ट्रो भारद्वाजोऽथ गौतमः।**
**अश्वत्थामा विकर्णश्च जह्नुर्युद्धविशारदः॥**

नकुल, सहदेव, कर्ण, दुर्योधन, घृणी, गांगेय, गदापाणि, भीष्म, भागीरथीसुत, प्रज्ञाचक्षु, धृतराष्ट्र, भारद्वाज, गौतम, अश्वत्थामा, विकर्ण, जह्नु, युद्धविशारद।

**सीमन्तिको गदी गाल्वो विश्वामित्रो दुरासदः।**
**दुर्वासा दुर्विनीतश्च मार्कण्डेयो महामुनिः॥**
**लोमशो निर्मलोऽलोमी दीर्घायुश्च चिरोऽचिरी।**
**पुनर्जीव्यमृतो भावी भूतो भव्यो भविष्यकः॥**

सीमन्तिक, गदी, गाल्व, विश्वामित्र, दुरासद, दुर्वासा, दुर्विनीत, महामुनि मार्कण्डेय, लोमश, निर्मल, अलोमी, दीर्घायु, चिर, अचिरी, पुनर्जीवी, अमृत, भावी, भूत, भव्य, भविष्यक।

**त्रिकालोऽथ त्रिलिंगश्च त्रिनेत्रस्त्रिपदीपतिः।**
**यादवो याज्ञवल्क्यश्च यदुवंशविवर्धनः॥**
**शल्यक्रीडी विक्रीडश्च यादवान्तकरः कलिः।**
**सदयो हृदयो दायो दायदो दायभाग् दयी॥**

त्रिकाल, त्रिलिंग, त्रिनेत्र, त्रिपदीपति, यादव, याज्ञवल्क्य, यदुवंशविवर्धन, शल्यक्रीडी, विक्रीड, यादवान्तकर, कलि, सदयहृदय, दाय, दायद, दायभाक्, दयी।

**महोदधिर्महीपृष्ठो नीलपर्वतवासकृत्।**
**एकवर्णो विवर्णश्च सर्ववर्णबहिश्चरः॥**
**यज्ञनिन्दी वेदनिन्दी वेदबाह्यो बलो बलिः।**
**बौद्धारिर्बाधको बाधो जगन्नाथो जगत्पतिः॥**

महोदधि, महीपृष्ठ, नीलपर्वतवासकृत्, एकवर्ण, विवर्ण, सर्ववर्णबहिश्चर, यज्ञनिन्दी, वेदनिन्दी, वेदबाह्य, बल, बलि, बौद्धारि, बाधक, बाध, जगन्नाथ, जगत्पति।

**भक्तिर्भागवतो भागी विभक्तो भगवत्प्रियः।**
**त्रिग्रामोऽथ नवारण्यो गुह्योपनिषदासनः॥**
**शालग्रामशिलायुक्तो विशालो गण्डकाश्रयः।**
**श्रुतदेवः श्रुतः श्रावी श्रुतबोधः श्रुतश्रवाः॥**

भक्ति, भागवत, भागी, विभक्त, भगवत्प्रिय, त्रिग्राम, नवारण्य, गुह्योपनिषदासन, शालग्राम-शिलायुक्त, विशाल, गण्डकाश्रय, श्रुतदेव, श्रुत, श्रावी, श्रुतबोध, श्रुतश्रवा।

**कल्किः कालकलः कल्को दुष्टम्लेच्छविनाशकृत्।**
**कुङ्कुमी धवलो धीरः क्षमाकरो वृषाकपिः॥**
**किङ्करः किन्नरः कण्वः केकी किम्पुरुषाधिपः।**
**एकरोमा विरोमा च बहुरोमा बृहत्कविः॥**

कल्कि, कालकल, कल्क, दुष्टम्लेच्छविनाशकृत्, कुंकुमी, धवल, धीर, क्षमाकर, वृषाकपि, किंकर, किन्नर, कण्व, केकी, किम्पुरुषाधिप, एकरोमा, विरोमा, बहुरोमा, बृहत्कवि।

**वज्रप्रहरणो वज्री वृत्रघ्नो वासवानुजः।**
**बहुतीर्थकरस्तीर्थः सर्वतीर्थजनेश्वरः॥**
**व्यतीपातोपरागश्च दानवृद्धिकरः शुभः।**
**असंख्येयोऽप्रमेयश्च संख्याकारो विसंख्यकः॥**

वज्रप्रहरण, वज्री, वृत्रघ्न, वासवानुज, बहुतीर्थकर, तीर्थ, सर्वतीर्थजनेश्वर, व्यतीपातोपराग, दानवृद्धिकर, शुभ, असंख्येय, अप्रमेय, संख्याकार, विसंख्यक।

**मिहिकोत्तारकस्तारो बालचन्द्रः सुधाकरः।**
**किंवर्णः कीदृशः किञ्चित्किंस्वभावः किमाश्रयः॥**
**निर्लोकश्च निराकारी बह्वाकारैककारकः।**
**दौहित्रः पुत्रकः पौत्रो नप्ता वंशधरो धरः॥**

मिहिकोत्तारक, तार, बालचन्द्र, सुधाकर, किंवर्ण, कीदृश, किंचित्, किंस्वभाव, किमाश्रय, निर्लोक, निराकारी, बह्वाकारैककारक, दौहित्र, पुत्रक, पौत्र, नप्ता, वंशधर, धर।

**द्रवीभूतो दयालुश्च सर्वसिद्धिप्रदो मणिः।**
**आधारोऽपि विधारश्च धरासूनुः सुमंगलः॥**
**मंगलो मंगलाकारो माङ्गल्यः सर्वमंगलः॥**

द्रवीभूत, दयालु, सर्वसिद्धिप्रद, मणि, आधार, विधार, धरासूनु, सुमंगल, मंगल, मंगलाकार, मांगल्य, सर्वमंगल।

**नाम्नां सहस्रं नामेदं विष्णोरतुलतेजसः।**
**सर्वसिद्धिकरं काम्यं पुण्यं हरिहरात्मकम्॥**
**यः पठेत्प्रातरुत्थाय शुचिर्भूत्वा समाहितः।**
**यश्चेदं शृणुयान्नित्यं नरो निश्चलमानसः।**
**त्रिसन्ध्यं श्रद्धया युक्तः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥**

अतुल तेजस्वी भगवान् विष्णुका यह सहस्रनामस्तोत्र पुण्यमय तथा हरिहरस्वरूप है। यह सब सिद्धियोंका दाता तथा मनोवांछित कामनाकी पूर्ति करनेवाला है। जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर एकाग्र एवं स्थिरचित्त हो इस स्तोत्रका पाठ करता है तथा जो तीनों समय श्रद्धापूर्वक इसका श्रवण करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

जो भक्तिमान् एवं जितेन्द्रिय पुरुष तुलसीके बगीचेमें या तुलसीवृक्षके समीप, सरोवरके तटपर, देवमन्दिरमें, बदरिकाश्रम तीर्थके शुभ प्रदेशमें, हरिद्वारमें, तपोवनमें, मधुवन, प्रयाग, द्वारका एवं महाकाल वनमें एकाग्रचित हो, नियमपूर्वक इस विष्णुसहस्रनामस्तोत्रका सौ बार पाठ करते हैं, वे समस्त कामनाओंके इच्छुक होकर भी सिद्धिलाभ करते हैं तथा लोकमें दूसरोंके लिये भी सिद्धिदायक बनकर सब ओर विचरते रहते हैं। परस्परकी फूटसे जो अलग-अलग हो गये हैं, उनमें मैत्री करानेका यह सर्वोत्तम साधन है। मोहनेवाली शक्तियोंको भी यह मोहनेवाला है। साथ ही परम पवित्र और समस्त पापोंका नाश करनेवाला है। बालग्रहोंका विनाशक तथा शान्तिका उत्तम उपाय है। जो मनुष्य आहार, क्रोध और इन्द्रियोंको जीतकर पवित्र भावसे एकान्तमें बैठकर भगवान् विष्णुके समीप इस स्तोत्रका पाठ करता है, वह पीताम्बरधारी चतुर्भुजरूप धारण करके गरुड़की पीठपर बैठकर भगवान् विष्णुके धाममें जाता है।

पाठके पश्चात् निम्नांकित श्लोक पढ़कर भगवान् विष्णुको प्रणाम करना चाहिये—

**सहस्राक्षः सहस्राङ्घ्रिः सहस्रवदनोज्ज्वलः।**
**सहस्रनामानन्ताक्षः सहस्रभुज ते नमः॥**

'हे सहस्रभुजाधारी नारायण! आपके सहस्रों नेत्र और सहस्रों चरण हैं। आप सहस्रों तेजस्वी

मुखोंसे परम उज्ज्वल प्रतीत होते हैं। आपके सहस्रों नाम और असंख्य इन्द्रियाँ हैं, आपको नमस्कार है।'

भगवान् विष्णुका यह सहस्रनाम परम प्राचीन और वेदोंके तुल्य मान्य है। यह समस्त मंगलोंका भी मंगल है। इसका सदा भक्तिपूर्वक पाठ करना चाहिये।

## भगवान्‌का वामनरूपसे प्रकट हो बलिसे तीन पग भूमि माँगना और वामनकुण्डकी महिमा

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—ब्रह्मन्! ब्रह्माजीके उपदेशके अनुसार इस स्तोत्रके द्वारा भगवान्‌की स्तुतिमें संलग्न हुए देवताओंपर प्रसन्न होकर वरदायक भगवान् विष्णुने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन देकर कहा—'देवताओ! मुझसे मनोवांछित वर माँगो।'

**देवता बोले**—विष्णो! हमारी प्रार्थना है कि आप अदितिके गर्भसे उत्पन्न होकर इन्द्रके छोटे भाई हों।

देवताओंके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर 'तथास्तु' कहकर भगवान् विष्णु वहीं अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर कुछ कालके पश्चात् भगवान् विष्णु अदितिके पुत्र होकर प्रकट हुए। वे देखनेमें वामन (अत्यन्त लघु) होनेके कारण 'वामन' कहलाये। व्यास! बलिने सौ अश्वमेध यज्ञोंद्वारा भगवान् यज्ञपुरुषका पूजन आरम्भ किया। कश्यपको ऋत्विग् और शुक्राचार्यजीको होता बनाकर उस यज्ञमें ब्रह्माजी स्वयं ही ब्रह्माके आसनपर आसीन हुए। महर्षि अत्रि अध्वर्यु और नारदजी उद्गाता हुए। वसिष्ठजीने सभासदका आसन ग्रहण किया। इस प्रकार ऋत्विजोंका वरण करके राजाओंमें श्रेष्ठ बलिने यज्ञकी दीक्षा ग्रहण की। जब यज्ञ प्रारम्भ हुआ, तब पवित्र मुसकानवाले वामनजी वहाँ आये। वे वेदोंके पारंगत विद्वान् थे और अपने मुखके अग्रभागसे चारों वेदोंके मन्त्रोंका उच्चारण कर रहे थे।

उस समय द्वारपालने राजा बलिसे यह निवेदन किया कि 'महाराज! एक श्रेष्ठ ब्राह्मण जो बहुत ही छोटे कदके हैं, दरवाजेपर खड़े हैं।' यह सुनकर महाराज बलि सहसा उठे और अर्घ्य लेकर सभासदोंके साथ उस स्थानपर गये। वहाँ समस्त लोकोंको उत्पन्न करनेवाले भगवान् वामनकी यथायोग्य पूजा करके वे उन्हें सभामण्डपमें ले आये और बैठनेके लिये आसन देकर राजाने पूछा—'ब्रह्मन्! कहाँसे आपका आगमन हुआ है, मैं आपको कौन-सी अभीष्ट वस्तु दूँ।'

**वामनजी बोले**—राजाधिराज! यह सारी सृष्टि ब्रह्माजीकी बनायी हुई है, मैं उन्हींके लोकसे तुम्हारा यह यज्ञ देखने और तुमसे कुछ माँगनेके लिये यहाँ आया हूँ।

**राजा बलिने पूछा**—द्विजश्रेष्ठ! आपकी अभीष्ट वस्तु क्या है, बताइये मैं उसे अभी देता हूँ।

**वामनजी बोले**—महाराज! यदि आपको जँचे तो मेरे रहनेके लिये तीन पग भूमि दीजिये।

**राजा बलिने कहा**—ब्रह्मन्! आपने यह क्या माँगा! यह तो बहुत थोड़ा है। नाना प्रकारके रत्न, हाथी, घोड़े, रथ, भूमि, दास-दासी, स्त्री और धनादि वस्तुएँ भी जितनी चाहिये, माँग लीजिये।

**वामनजी बोले**—राजन्! मुझे दूसरी किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है। यदि आपकी श्रद्धा हो तो मुझे केवल तीन पग पृथ्वी ही दीजिये।

'मानद! आप अपने निवासके लिये यह तीन पग भूमि लीजिये।' ऐसा कहकर राजर्षि बलिने उन्हें भूमि संकल्प करके दे दी। व्यास! यद्यपि आचार्य शुक्रने उस समय बलिको रोका था, तो भी दैवसे प्रेरित होकर बलिने भूमिका दान कर ही दिया। संकल्पका जल हाथमें देते ही श्रीहरिने तत्काल विराट् रूप धारण करके समूचे ब्रह्माण्डको

नाप लिया। पर्वत, वन और काननोंसहित यह पृथ्वी तथा अन्य लोक सब भगवान्‌के ढाई पगमें ही आ गये। उस समय शेष आधे पगकी पूर्तिके लिये बलिने अपना शरीर भी भगवान्‌को समर्पित कर दिया।

इस प्रकार समस्त असुरोंको जीतकर और इन्द्रको राज्य देकर वामनजी कुमुद्वतीपुरीमें गये। वहाँ ऋद्धि-सिद्धि देनेवाले पुण्यमय प्रदेशमें अपने लिये एक तीर्थका निर्माण करके उन्होंने वहीं निवास किया। वामनजीने जो तीर्थ निर्माण किया, उसे वामनकुण्ड कहते हैं। भाद्रपद शुक्ल पक्षमें श्रवण नक्षत्रयुक्त द्वादशी तिथि वामनद्वादशी कहलाती है। वह करोड़ों हत्याओंका पाप नष्ट करनेवाली है। जो मनुष्य एकादशी तिथिको यहाँ उपवास करके रात्रिमें जागरण करते और द्वादशीको बड़े-बड़े दान देते हैं, वे ब्रह्मभावको प्राप्त होते हैं। उनके लिये तीनों लोकोंमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है।

## भैरवतीर्थ और नागतीर्थकी महिमा

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—मुनिवर! पूर्वकालमें कालचक्रके द्वारा कुछ कृत्याएँ प्रकट की गयी थीं, जो योगिनीगणके नामसे प्रसिद्ध थीं। उन्हीं योगिनियोंमें काली नामसे प्रसिद्ध एक योगिनी थी, जो बहुत उत्तम स्वभावकी थी। उसने भैरवजीको सदा अपने पुत्रकी भाँति पाला था। भैरवने उस क्षेत्रके समस्त दोष और उत्पात नष्ट कर दिये थे। महामारी, पूतना, कृत्या, शकुनि, रेवती, खला, कोटरी, तामसी और माया—ये नौ मातृकाएँ मानी गयी हैं। ये सब-की-सब दुष्ट दोषकी प्राप्ति करानेवाली दुष्ट स्वभावकी तथा समस्त प्राणियोंके लिये भयंकर हैं। समस्त कामनाओं तथा वरोंको देनेवाले धर्मात्मा भैरवने इन सबको वशमें किया। वे भैरवजी शिप्रा नदीके उत्तर तटपर सदा स्थित रहते हैं। आषाढ़मासके शुक्ल पक्षमें रविवारके दिन अष्टमी, नवमी अथवा विशेषतः चतुर्दशी तिथिका योग पाकर जो मनुष्य एकाग्र एवं स्थिरचित्त होकर उनकी पूजा करते हैं, वे परम कल्याणके भागी होते हैं। जिनके नेत्र निर्मल कमलके समान सुन्दर हैं, जिन्होंने मस्तकपर चन्द्रमाका मनोहर मुकुट धारण कर रखा है, जो सब गुणोंसे श्रेष्ठ हैं, सबके सन्तापका निवारण करते हैं तथा डाकिनियोंके नाशके हेतु हैं, हे मन! मनुष्योंके लिये कल्याणस्वरूप उन भगवान् भूतनाथ भैरवका भजन कर। जो संसारभयका निवारण करनेवाले, दुष्ट योगिनियोंके लिये भयंकर और समस्त देवताओंके स्वामी हैं, सुन्दर चन्द्रमा और सूर्य जिनके नेत्र हैं, जिन्होंने अपने मस्तकपर मुकुट और गलेमें मोतियोंकी माला धारण कर रखी है तथा जो मनुष्यमात्रके लिये कल्याणस्वरूप हैं, उन विशालकाय भगवान् भूतनाथ भैरवका हे मन! तू भजन कर। जो देखनेमें सुन्दर, बोलनेमें मनोहर, प्रियजनोंमें सर्वाधिक सुन्दर और यश, कीर्ति तथा तपस्याके द्वारा भी अत्यन्त मनोहर हैं, उन भगवान् भूतनाथ भैरवकी मैं शरण लेता हूँ। जो आदिदेव सनातन ब्रह्म पवित्रतामें तत्पर सिद्धिदाता मनोरथपूरक भक्तिसे सेवन करनेयोग्य, देवताओंमें श्रेष्ठ, भक्तियुक्त, सर्वथा योग्य, योग-विचारमें तत्पर, युगको धारण करनेवाले, दर्शनयोग्य मुखवाले, योगी, कलायुक्त, कलंकरहित तथा सत्पुरुषोंद्वारा सेवित हैं, उन भगवान् भैरवको मैं प्रणाम करता हूँ।

जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर इस पवित्र भैरव-स्तोत्रका पाठ करता है, उसके दुःस्वप्नोंका नाश तथा मनोवांछित फलकी सिद्धि होती है। इस तीर्थमें मनुष्योंको स्नान-दानादि करने चाहिये। संसारके भयसे डरे हुए मानवोंको भगवान् भैरवका अवश्य पूजन करना चाहिये।

पूर्वकालमें नागगण अपनी माताके शापसे

परिभ्रष्ट होनेके कारण राजा जनमेजयके द्वारा अग्निकुण्डमें जलाये जा रहे थे। उस समय महात्मा आस्तीकने आकर उन सब नागोंको संकटसे मुक्त किया। तब नागोंने जरत्कारुपुत्र आस्तीकसे पूछा—'ब्रह्मन्! आपकी कृपासे हमलोग जनमेजयके यज्ञकी आगमें जलनेसे बचे हैं। अब आप हमें रहनेके लिये ऐसा कोई स्थान बतलाइये, जहाँ हमें किसी प्रकारका भय न हो।'

**आस्तीकने कहा**—श्रेष्ठ मातुलगण! मनोहर महाकाल वनमें जो कुशस्थली नामक पुरी है, उसके दक्षिण भागमें एक सनातनतीर्थ है। वहीं नागोंका स्थान बताया गया है। वहाँ भगवान् शंकरका नित्य निवास है। एक समय बकदाल्भ्य नामक ऋषिने उत्तम व्रतका पालन करते हुए वहाँ तपस्या की थी। महातेजस्वी लोमश मुनि भी वहीं रहते हैं। भगवान् कपिलदेव मुनि भी उसी श्रेष्ठ तीर्थमें सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। अतः आप सब लोग वहीं चलकर विश्राम करें।

आस्तीकका यह वचन सुनकर उस समय सब श्रेष्ठ नाग वहाँ निवास करनेके लिये आये। एलापत्र, कम्बल, कर्कोटक, धनंजय, वासुकि, तक्षक, नील, पद्मक तथा अर्बुद नामवाले सभी प्रधान-प्रधान नागोंने वहाँ आकर अपने-अपने लिये स्थान बनाये। इन सबके नामपर वहाँ नौ परम सुन्दर कुण्ड निर्मित हुए, जो उत्तम तीर्थस्वरूप हैं। इन सब कुण्डोंको महान् पुण्यप्रद तथा बड़े-बड़े पापोंका नाशक बताया गया है। उस तीर्थमें स्नान करके मनुष्य परम कल्याणमय वैकुण्ठ-धामको जाता है और इस लोकमें सदा श्रीसम्पन्न रहता है। व्यासजी इस प्रकार वह नागतीर्थ सब पापोंको हरनेवाला उत्तम स्थान है। वहाँ राजा बलिका अद्भुत आश्रम है, जहाँ भगवान् विष्णु सदा स्थित रहते हैं। वहाँ स्नान आदि अवश्य करना चाहिये। उसमें स्नान करनेसे मनुष्य तत्काल सब पापोंसे विशुद्धचित्त हो जाता है।

## नृसिंहतीर्थकी महिमा

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—व्यास! अब नृसिंहतीर्थका माहात्म्य श्रवण करो। प्राचीन कालकी बात है। दैत्यराज हिरण्यकशिपुने इस सम्पूर्ण पृथ्वीपर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। उसके दुष्ट दैत्योंकी सेनासे सारी पृथ्वी छा गयी थी। अतः वह शोकसे पीड़ित हो गौका रूप धारणकर नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई ब्रह्माजीकी शरणमें गयी। वसुधाको भारसे पीड़ित देख लोकपितामह ब्रह्माजीने उसके कष्टका निवारण करते हुए स्नेहयुक्त वाणीमें कहा—'वसुधे! इस दैत्यने पूर्वकालमें ऐसी दुष्कर तपस्या की थी, जो दूसरे किसी प्राणीके द्वारा असम्भव थी। अतः मैंने प्रसन्न होकर इसे वरदान दिया। इस दैत्यने यह माँगा था कि 'न दिनमें, न रातमें, न आकाशमें, न पृथ्वीपर, न सूखेसे, न गीलेसे, न अस्त्र-शस्त्रोंके आघातसे, न मनुष्यसे और न पक्षियोंसे मेरी मृत्यु हो। जो केवल एक थप्पड़ मारकर मन्त्री, सेना और वाहनसमेत मुझे मार डालनेमें समर्थ हो, वही वीर मेरी मृत्युका कारण बने।'

तब मैं 'तथास्तु' कहकर वहाँसे अपने लोकको चला आया। तबसे वह अतुलित बलशाली दैत्य समस्त लोकोंका शासक हुआ है।' पृथ्वीसे ऐसा कहकर ब्रह्माजी सब देवताओंसे बोले—'देवगण! अब तुमलोग महाकाल वनमें जाओ। वहाँ सब तीर्थोंमें उत्तम एक महान् तीर्थ है, जो कर्कराजसे उत्तर और संगमेश्वरके दक्षिण भागमें स्थित है। वैकुण्ठतीर्थके समीप वहाँसे पूर्व भागमें शिप्राके मंगलमय तटपर वह उत्तम तीर्थ प्रतिष्ठित है। उसका नाम है नृसिंहतीर्थ। देवताओ! उसी तीर्थमें जाकर तुम स्नान-दानादि शुभ कर्मोंका अनुष्ठान

करो। इससे तुम्हें शीघ्र ही पुनः अपने लोकोंकी प्राप्ति होगी।'

ब्रह्माजीका यह वचन सुनकर इन्द्र आदि देवता महाकाल वनमें, जहाँ शिप्रा नदी बहती है, गये। वहाँ उन्होंने नृसिंहतीर्थके समीपवर्ती तटपर दीर्घकालतक निवास किया और स्नान-दान आदि करके भगवान् नृसिंहकी आराधना की। इस प्रकार विधिवत् धर्मानुष्ठान करके सब देवता परम सिद्धिको प्राप्त हुए। दुष्टोंका संहार करनेवाले श्रीहरिने नृसिंहरूप धारण करके उसके सभामण्डपमें प्रकट होकर हाथके एक ही तमाचेसे हिरण्यकशिपुका काम तमाम कर दिया। तदनन्तर सब देवताओंने अपना-अपना अधिकार प्राप्त किया। तबसे लेकर प्रतिदिन सब देवता जहाँ भगवान् नृसिंह विराजमान हैं, उस उत्तम तीर्थमें मध्याह्नकालिक उपासना किया करते हैं। जो पवित्रात्मा पुरुष उस तीर्थमें स्नान-दानादि शुभकर्म करते हैं, वे परम गतिको प्राप्त होते हैं। वह श्रेष्ठ तीर्थ सदा पुण्यदायक माना गया है। जो कभी नृसिंह चतुर्दशीका शुभ पर्व प्राप्त करके उस तीर्थमें स्नान करनेके अनन्तर देवेश्वर नृसिंहजीका एकाग्रचित्तसे दर्शन और पूजन करता है, लक्ष्मी उसके हाथमें आ जाती है।

उसी तीर्थमें पवनकुमार हनुमान्‌जी परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। वे साधकोंके सब अर्थकी सिद्धि करनेके लिये नित्य वहाँ निवास करते हैं। पूर्वकालमें जहाँ अगस्त्यजीने बड़ी कठोर तपस्या की थी, वह वटवृक्ष न्यग्रोधके नामसे विख्यात है। जो स्त्री या पुरुष वहाँ सावित्री व्रतका आचरण करते हैं, वे परम सौभाग्यको प्राप्त होते हैं। सावित्री व्रतका पालन करनेवाली स्त्री अपने पतिको बहुत प्रिय होती है। वह पतिव्रता और परम सौभाग्यवती होकर कभी वैधव्यका दुःख नहीं भोगती।

## कुटुम्बेश्वर, देवप्रयाग तथा कर्कराजतीर्थकी महिमा

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—व्यास! प्राचीन कालकी बात है। नारदजीने प्रजापति दक्षके साठ पुत्रोंको वैराग्यका उपदेश देकर गृहत्यागी बना दिया, तब दक्ष प्रजापतिने इस उज्जयिनीपुरीमें आकर कुटुम्बवृद्धिके लिये तपस्या की थी। तभीसे वह तीर्थ कुटुम्बेश्वरके नामसे प्रसिद्ध हुआ। उस तीर्थमें स्नान करके पवित्र हो सनातन ब्रह्मका जप और ध्यान करते हुए प्रजापति दक्षने दस हजार वर्षोंतक बड़ी कठोर तपस्या की। उस तीर्थके प्रसादसे उन्होंने बहुत-सी सन्तानें प्राप्त कीं। उन प्रजाओंको पाकर ही प्रतापी दक्ष प्रजापतिके नामसे विख्यात हुए। ब्रह्माजीने भी वहाँ दुष्कर तपस्या की है। आज भी वहाँ चतुर्मुख शिवलिंगका दर्शन होता है। वहीं भद्रपीठपर विराजमान एक देवी हैं, जो भद्रकालीके नामसे विख्यात हैं। वे सदा वहीं क्रीड़ा करती और नियमपूर्वक रहती हैं। उन्हींके द्वारपर क्षेत्रपाल भैरवकी स्थिति है। वे भद्रकाली देवीके द्वारा पुत्रवत् पालित होकर सदा चौतरेपर स्थित रहते हैं। जो मनुष्य सदाचारका पालन करते हुए इस तीर्थमें स्नान करते हैं, उन्हें जन्मभर कोई वस्तु दुर्लभ नहीं होती।

फाल्गुन कृष्ण पक्षमें जो त्रयोदशीयुक्त चतुर्दशी होती है, उसे 'शिवरात्रि' कहते हैं। उस दिन मनुष्य स्नान करके रातभर जागरण करे। साथ ही बिल्वपत्र, जल, उत्तम गन्ध, बहुत-से पुष्प, फल, धूप, दीप, नैवेद्य, वस्त्र तथा आभूषण आदिके द्वारा गणोंसहित नित्य अविनाशी शिवकी पूजा करे। जो ऐसा करता है, उसका सब पाप नष्ट हो जाता है और वह मनुष्य भगवान् शिवके लोकमें प्रतिष्ठित होता है।

व्यासजी! 'देवप्रयाग' नामक तीर्थ सब पापोंका नाश करनेवाला है, वह शिप्रा नदीके पूर्वभागमें प्रतिष्ठित है। उस तीर्थमें स्नान करके जो सुरेश्वर देवमाधवका दर्शन करता है, उसे देवमाधवजी

मनोवांछित फल प्रदान करते हैं। ज्येष्ठमासके शुक्ल पक्षमें दशमीको बुधवार और हस्त नक्षत्रका योग होनेपर गंगाजीके जलका परम पवित्र पर्व दशहरा होता है*। उस दिन गंगाजी (शिप्रा) में स्नान करके मनुष्य सब तीर्थोंका फल पा लेता है।

**ब्रह्माजी मार्कण्डेयजीसे कहते हैं**—वत्स! भूतलपर जो अनुपम शिप्रा नदी है, उसके तटपर कर्कराज नामक विख्यात श्रेष्ठ तीर्थ है, जिसके दर्शनमात्रसे बड़े-बड़े पापोंका क्षय हो जाता है और मनके सब विकार दूर होते हैं। कर्कके स्थानमें जब सूर्य आते हैं, तबसे तीन ऋतुतक उनकी गति दक्षिणायनकी ओर रहती है। वह धूम्रमार्ग कहलाता है। ऐसे समयमें मृत्यु होनेपर योगी भी इस संसारमें लौट आते हैं (उनकी मुक्ति नहीं होती)। परंतु जो लोग चातुर्मास्य अथवा दक्षिणायनमें मृत्युको प्राप्त होते हैं, उनके उद्धार एवं सद्गतिके लिये यह कर्कराजतीर्थ निर्मित हुआ है। सब लोकोंमें इसकी महिमाका गान किया जाता है। भगवान् विष्णु सबको मुक्ति देनेवाले हैं। उनके स्मरणमात्रसे सब पापोंका क्षय हो जाता है। संसारमें मनुष्य-जन्म दुर्लभ है, उसमें भी उत्तम कुलमें जन्म पाना और भी दुर्लभ है, वहाँ भी संयमका होना अत्यन्त दुर्लभ है। संयम होनेपर भी सदा कल्याणमय सत्संग प्राप्त होता रहे यह तो नितान्त दुर्लभ है। जहाँ सत्संग नहीं मिलता, भगवान् विष्णुकी भक्ति और वैष्णव-व्रतके पालनका अवसर नहीं प्राप्त होता, ऐसे स्थानोंमें विशेषतः चातुर्मास्यके समय भगवान् विष्णुके व्रतका पालन करनेवाला पुरुष उत्तम होता है। चातुर्मास्य आनेपर भगवान् विष्णु सदैव कर्कराजतीर्थमें स्थित होते हैं। हृष्ट-पुष्ट शरीरसे युक्त होकर जीवित रहना उसीके लिये शुभ होता है, जिसने चातुर्मास्य आनेपर श्रीहरिका निरन्तर पूजन किया है। भगवान् विष्णुकी भक्ति दुर्लभ है। द्विजश्रेष्ठ! चौमासेमें कर्कराजतीर्थमें स्नान करके मनुष्य सब यज्ञोंका फल पाते और स्वर्गलोकमें देवताओंकी भाँति सुख भोगते हैं।

भगवान् विष्णुके चरणके अंगुष्ठसे प्रवाहित होनेवाली गंगाजी भी सदा सब पापोंका नाश करनेवाली बतायी गयी हैं। विशेषतः चातुर्मास्यमें उनकी यह शक्ति और भी बढ़ जाती है। चौमासेमें भगवान् नारायण जलमें शयन करते हैं, इसलिये जलमात्र उस समय भगवान् विष्णुके तेजके अंशसे व्याप्त रहता है। अतः चौमासेमें जलका स्नान सब तीर्थोंसे अधिक महत्त्व रखता है। भगवान् विष्णुके शयन करनेपर उनके नामोंका कीर्तन करते हुए दस प्रकारका स्नान करना चाहिये, जो महान् फल देनेवाला है। ऐसा करनेवाला मनुष्य देवत्वको प्राप्त होता है। स्नानसे मनुष्य सत्यको और सत्यसे सनातन धर्मको पाता है। फिर धर्मसे मोक्षको पाकर वह कभी दुःख नहीं भोगता। भगवान् विष्णु स्नान किये हुए मनुष्यके शरीरका आश्रय लेकर स्थित रहते हैं और समस्त कार्य-कलापोंमें पूर्ण फल देनेवाले होते हैं। सब कर्मोंमें सूर्यनारायणके दर्शनसे शुद्धिका विधान किया गया है परंतु चौमासेमें विशेषतः जलसे शुद्धि होती है। जो शरीरसे अशक्त है, वह भस्मद्वारा स्नान करनेसे शुद्ध हो जाता है। मन्त्र-स्नानसे अथवा भगवान् विष्णुके चरणोदकके स्पर्शरूप स्नानसे भी मनुष्यकी शुद्धि होती है। भगवान् विष्णुके आगे स्नान करना उत्तम है। समस्त क्षेत्रों, तीर्थों और नदियोंमें विशेषतः शिप्रा नदीके जलमें और वहाँ भी सर्वश्रेष्ठ कर्कराजतीर्थमें जो मनुष्य स्नान करता है, वह विष्णुधामको जाता है। चातुर्मास्यमें भगवान् विष्णुके शयन करनेपर जबतक हरिबोधिनी एकादशी नहीं आ जाती, तबतक कर्कराजतीर्थमें ही मुक्ति होती है। चौमासेमें भगवान् विष्णुके शयनकालमें भी यदि मनुष्य वहाँ शरीर छोड़ता है तो उसका यमलोकमें निवास नहीं होता।

~~o~~

* ज्येष्ठे मासे सिते पक्षे दशम्यां बुधहस्तयोः। दशहरा जायते व्यास गंगाजन्म परं शुचि॥ (स्क० पु०, आव० अव० मा० ७८।७)

# अवन्तीक्षेत्रके महत्त्वपूर्ण तीर्थ, देवता, वहाँकी यात्राके क्रम एवं माहात्म्यका वर्णन

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—एक समय पार्वतीजीने भगवान् शिवसे कहा—'महेश्वर! इस क्षेत्रके प्रभावका वर्णन कीजिये।'

**महादेवजी बोले**—देवि! अवन्ती क्षेत्रमें परम पुण्यमयी शिप्रा नदी, दिव्य नवनदी, नीलगंगा तथा गन्धवती—ये चारों मेरी प्रिय नदियाँ हैं। यहाँ चौरासी लिंगोंके रूपमें उतने ही शिव निवास करते हैं; आठ भैरव रहते हैं; ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य और छः गणेश हैं तथा देवियोंकी संख्या चौबीस है। भद्रे! यहीं विष्णु और ब्रह्मा आदि सब देवता निवास करते हैं। यह एक योजनका क्षेत्र देव-मण्डलसे व्याप्त है। यहाँ दस विष्णु प्रसिद्ध हैं। उनके नाम सुनो—वासुदेव, अनन्त, बलराम, जनार्दन, नारायण, हृषीकेश, वाराह, धरणीधर, वामनरूपधारी विष्णु तथा लक्ष्मीजीके आश्रयभूत भगवान् शेषशायी। ये दस विष्णु सब पापोंका अपहरण करनेवाले बताये गये हैं। ऋद्धि-सिद्धिदाता, कामदाता, गणपति, विघ्ननाशक, प्रमोदी तथा चतुर्थी-व्रत-प्रिय—ये छः विनायक इस तीर्थमें निवास करनेवाले कहे गये हैं, जो समस्त विघ्नोंका नाश करनेवाले हैं। उमा, चण्डी, ईश्वरी, गौरी, ऋद्धिदा, सिद्धिदा, वरयक्षिणी और वीरभद्रा—ये आठ मातृकाएँ कही गयी हैं। महामाया सती, जो कपालमातृका नामसे विख्यात हैं, उनके साथ अम्बिका, शीतला, सिद्धिदायिनी, एकानंशा, ब्रह्माणी, पार्वती, योगशालिनी—योगिनी, भगवती कौमारी, षट्कृत्तिका, चर्पटमातृका, वरमातृका, सरस्वती, महालक्ष्मी, योगिनी मातृका, चतुष्षष्ठियोगिनी, कालिका, महाकाली, चामुण्डा, ब्रह्मचारिणी, वैष्णवी, वाराही, विन्ध्यवासिनी, अम्बा तथा अम्बालिका—ये चौबीस पराशक्तियाँ हैं। हनुमान्, ब्रह्मचारी, कुमारेश और महाबली—ये चार पवनपुत्र हनुमान्के स्वरूप बताये गये हैं। दण्डपाणि, विक्रान्त, महाभैरव, बटुक, बालक, बन्दी, षट्पंचाशतक तथा अपरकालभैरव—ये आठ भैरव महापापहारक हैं। कपर्दी, कपाली, कलानाथ, वृषासन, त्र्यम्बक, शूलपाणि, चीरवासा, दिगम्बर, गिरीश, कामचारी तथा सर्पांगभूषण शर्व—ये ग्यारह रुद्र बताये गये हैं, जो सब शत्रुओंका नाश करनेवाले हैं। अरुण, सूर्य, वेदांग, भानु, इन्द्र, रवि, अंशुमान्, सुवर्णरेता, अहःकर्ता, मित्र, विष्णु और सनातन—ये बारह आदित्य सब रोगोंका नाश करनेवाले हैं। इस पुरीके चार द्वारपाल हैं, जो महात्मा पुरुषोंको विदित हैं। पूर्व द्वारपर पिंगलेश्वर, दक्षिण द्वारपर कायावरोहणेश्वर, पश्चिम द्वारपर बिल्वकेश्वर तथा उत्तर द्वारपर उत्तरेश्वर विद्यमान हैं। इन सबके अतिरिक्त अन्यान्य बहुतसे शिवलिंग मनोहर महाकाल वनमें बताये गये हैं, जो सबको पवित्र करनेवाले कहे गये हैं। व्यास! यद्यपि महाकाल वनमें शिवलिंगोंकी कोई संख्या नहीं है—वहाँ असंख्य शिवलिंग हैं—तथापि मैंने यहाँ प्रधान-प्रधान लिंगोंका दिग्दर्शनमात्र कराया है। जिस देवताका जो तीर्थ है, वह उसीके नामसे प्रसिद्ध बताया गया है। उनमें स्नान और दान करके मनुष्य उस तीर्थके फलका भागी होता है। जो मनुष्य इन तीर्थोंमें स्नान करते हैं, उनके लिये तीनों लोकोंमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है। पुत्रहीनको पुत्र और निर्धनको धन प्राप्त होता है। ब्राह्मण विद्वान् और क्षत्रिय विजयी होता है। इतना ही नहीं, उसकी सन्तान-परम्परा कभी क्षीण नहीं होती और अन्तमें वह भगवान् शिवके लोकमें पूजित होता है।

**व्यासजी बोले**—भगवन्! मैं आपसे पुनः यह सुनना चाहता हूँ कि सुन्दर महाकाल वनमें अवन्ती क्षेत्रके भीतर कितने तीर्थ विद्यमान हैं?

**सनत्कुमारजीने कहा**—द्विजश्रेष्ठ! इस विषयमें

परम बुद्धिमान् नारदजी तथा भगवान् उमा-महेश्वरका जो संवाद हुआ है, उसे सुनाता हूँ। नारदजीने भगवान् शंकरजीसे पूछा—'प्रभो! महाकाल वनमें कौन-कौन तीर्थ हैं?'

**तब उमासहित महादेवजी बोले**—मुनिश्रेष्ठ! उत्तम महाकाल वनमें जो तीर्थ हैं, उनका वर्णन करता हूँ, सुनो। भूतलपर पुष्करादि जो कोई भी तीर्थ हैं, वे सब उत्तम महाकाल वनमें वर्तमान हैं। केवल रुद्रसरोवरमें असंख्य सहस्र कोटि-कोटि तीर्थ आकर स्नान करते हैं, इसलिये उसका नाम कोटितीर्थ है। हेमन्त ऋतुमें जब हिमालयगिरि हिमकी वर्षा करने लगता है, उस समय किन्नरगण पिशाचमोचन तीर्थमें दृष्टिगोचर होते हैं। मुनिवर! मैं तीर्थोंकी नियत संख्याको तो नहीं जानता कि कितने तीर्थ और कितने लिंग हैं तथापि जो प्रधान-प्रधान तीर्थ हैं, उनकी चर्चा करूँगा। द्विजश्रेष्ठ! एक वर्षमें जितने दिन होते हैं, उतने दिनतक प्रतिदिन यहाँ मनुष्य नये-नये प्रसिद्ध तीर्थोंका स्नान प्राप्त करता है। एक वर्ष पूरा होनेपर अवन्तीपुरीकी यात्रा सम्पन्न होती है। जो विधिपूर्वक अवन्ती-यात्रा पूर्ण कर लेता है, वह देवताओंमें श्रेष्ठ होता है। इसलिये मोक्ष चाहनेवाले पुरुषको बड़े यत्नसे अवन्तीपुरीकी यात्रा करनी चाहिये। विशेषतः वैशाख मासमें अवन्तीपुरीमें स्नान करना चाहिये। जो वैशाख मास आनेपर अवन्तीपुरीमें जाता और एक वर्षतक वहाँ रहकर प्रतिदिन विधिपूर्वक एक-एक तीर्थमें स्नान करता है और सब प्रकारकी वस्तुएँ दान देता है, वह तीर्थसेवनके पूर्ण फलको पाता है। इहलोकमें अतिशय सुखका उपभोग करके अन्तमें शिवलोकमें प्रतिष्ठित होता है।

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—व्यासजी! इस प्रकार पूर्वकालमें भगवान् शंकरने परम बुद्धिमान् नारदजीसे अवन्तीपुरीके माहात्म्यका वर्णन किया था।

**व्यासजी बोले**—ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ सनत्कुमारजी! अब आप मुझे ऐसा कोई उपाय बताइये, जिससे मनुष्य थोड़े ही समयमें अवन्तीतीर्थके सेवनका पूरा फल प्राप्त कर ले तथा सिद्ध होकर शिवलोकको जाय।

**सनत्कुमारजीने कहा**—अनघ! मनुष्य एकाग्रचित्त होकर महाकाल वनमें जाय और कोटितीर्थमें स्नान करे। ऐसा करनेवाले मनुष्यका फिर इस संसारमें जन्म नहीं होता। वत्स! इस भूतलपर शिप्राके समान दूसरी कोई नदी नहीं है, जिसके दर्शनमात्रसे मुक्ति हो जाती है। जो वैशाख मासमें भगवान् पुरुषोत्तमका प्रतिदिन पूजन करता है, वह मोचनतीर्थमें एक बार तर्पण करनेमात्रसे मुक्त हो जाता है। जो अवन्तीपुरीमें अंगपात नामक भगवान् विष्णुका दर्शन करते हैं, उनका इस संसारमें पुनरागमन नहीं होता।

जो सम्पूर्ण तीर्थोंके फलकी इच्छा रखनेवाला हो, वह पवित्र होकर मन-इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए तीर्थ-स्नानका व्रत ग्रहण करे और अट्ठाईस तीर्थोंमें गोता लगावे। कार्तिक, माघ, आषाढ़ और विशेषतः वैशाख मासमें जब कभी भी इस पुरीमें आकर तीर्थ-स्नान करना चाहिये। ऐसा करनेवाला मनुष्य सब तीर्थोंका फल पाकर शिवलोकमें प्रतिष्ठित होता है।

शिप्रा नदीके तटपर जो प्रधान-प्रधान पुण्य तीर्थ हैं, उनका वर्णन करता हूँ, सुनो—पापपीड़ित मनुष्य 'विष्णु-विष्णु' का स्मरण करता हुआ स्नातक ब्रह्मचारियोंके पालन करनेयोग्य सभी नियमोंको ग्रहण करे। फिर रुद्र-सरोवरमें स्नान करके श्राद्ध-तर्पण आदि करे। तदनन्तर कर्कराज नामक तीर्थस्वरूप तडागको जाय और उसमें स्नान आदि करके घृत-पात्र दान करे। उसके बाद जो परम उत्तम नृसिंहतीर्थ है, उसमें स्नान करे और काला मृगचर्म दान दे। वहाँसे शिप्रा

और नीलगंगाके संगमपर जाय। उसमें स्नान करके पवित्र हो संगमेश्वर शिवका दर्शन करके ब्राह्मणोंको विविध वस्तुएँ दान दे। वहाँसे व्रती पुरुष पिशाचमोचन तीर्थकी यात्रा करे। उसमें विधिपूर्वक स्नान करके दैनिक कृत्य करे। उसके बाद विद्वान् ब्राह्मणको सवत्सा गौ दान दे। उस तीर्थमें सभी महादान करने चाहिये। तदनन्तर पिशाचेश्वर शिवका दर्शन करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। तत्पश्चात् व्रतपालक, नियमपरायण पुरुष गन्धर्वतीर्थकी यात्रा करे और उसमें स्नान करके पवित्र हो एकाग्रचित्तसे पितरोंका श्राद्ध करे। फिर षष्टिजलपेश्वर देवकी विधिवत् पूजा करनेके अनन्तर ब्राह्मणोंको गृहदान आदि करे। वहाँसे केदार नामक उत्तम तीर्थको जाय और उसमें स्नान करके ब्राह्मणोंको दान दे। उस तीर्थमें कम्बल, मृगचर्म और वस्त्र भी देने चाहिये। ऐसा करनेसे मनुष्य सब पापोंसे शुद्ध होकर शिवलोकमें प्रतिष्ठित होता है। चक्रतीर्थमें स्नान करके मनुष्य भगवान् चक्रपाणिकी भलीभाँति पूजा करे। ऐसा करनेसे वह विष्णुलोकमें पूजित होता है। सोमतीर्थमें स्नान करके सोमेश्वर शिवका दर्शन करनेसे मनुष्यका शरीर निर्मल हो जाता है। उसे कोढ़ आदिका रोग नहीं सताता। वहाँ ब्राह्मणके लिये ईख और गौ आदि दान देना चाहिये। तदनन्तर मनुष्य स्नानके लिये देवप्रयागतीर्थमें जाय और वहाँ स्नान करके पवित्र हो देवमाधवजीकी पूजा करे। फिर विधिपूर्वक ब्राह्मणको गुड़की बनी हुई गौ दान करनी चाहिये। जो ऐसा करता है, वह सब पापोंसे शुद्धचित्त होकर देवलोकमें प्रतिष्ठित होता है। व्यासजी! प्रयागमें अति उत्तम वेणी तीर्थ है। वहाँ तिल और आँवलेके साथ स्नान करना चाहिये। स्नानके पश्चात् प्रयागेश्वरका पूजन करके मनुष्य तीर्थसेवनके सम्पूर्ण फलका भागी होता है। वहाँ ब्राह्मणको विधिपूर्वक तिलकी गौ देनी चाहिये। जो ऐसा करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंकी सिद्धिका वरदान पाकर भगवान् विष्णुके लोकमें आनन्द भोगता है। वहाँसे व्रतका पालन करनेवाला पुरुष परम उत्तम योगतीर्थमें जाय और स्नान करके पवित्र हो योगिनीश्वरका पूजन करे। पूजाके पश्चात् वह जलमयी (बर्फकी बनी हुई) गौ दान करे। इससे मनुष्य दीर्घायु और सुखी होता है। तत्पश्चात् कपिलाश्रमतीर्थमें जाय और स्नान-दानादि करके कपिलेश्वरका पूजन करे। ऐसा करनेसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त होकर तपोलोकको जाता है। तदनन्तर शिप्राके पश्चिम तटपर जो घृतकुल्या नामक उत्तम तीर्थ है, वहाँ स्नान करके मनुष्य प्रतिदिन घृतधारयेश्वर शिवका पूजन करे और ब्राह्मणको घृतमयी धेनुका दान करे। ऐसा करके वह पुण्यात्माओंके लोकमें जाता और सब पापोंसे मुक्त होता है। तत्पश्चात् मधुकुल्यातीर्थमें स्नान करके मधुकुल्येश्वर शिवका पूजन करे और मधु एवं इक्षुधेनुका दान करे। उससे आगे सब तीर्थोंका फल प्रदान करनेवाला ऊसर नामक उत्तम तीर्थ है। उसमें स्नान करके मनुष्य ऊसरेश्वर महादेवका दर्शन करे। उस तीर्थमें फल, मूल आदिका दान करना चाहिये। इससे उत्तम मोक्षकी प्राप्ति होती है। जहाँ नरादित्य स्थित हैं, वहाँ भी उत्तम तीर्थ बताया गया है। वहाँ स्नान करनेके पश्चात् मनुष्य क्षेत्रादित्येश्वरका दर्शन करे। दर्शनके पश्चात् रथका दान करे तो भगवान् नरके लोकमें जाता है। भगवान् केशवार्क वहाँके प्रधान देवता हैं। उनका तीर्थ भी बहुत उत्तम बताया गया है। वहाँ स्नान और केशवादित्यका पूजन करना चाहिये। उस तीर्थमें नाना प्रकारके अन्नदानका विधान है। वहाँ स्नान करके पवित्र हो मनुष्य एकाग्रचित्तसे पापनाशिनी भगवती एकानंशाका पूजन करे। तदनन्तर दशाश्वमेधेश्वर शिवकी आराधना करे। ऐसा करनेवाला मनुष्य

सब पापोंसे शुद्धचित्त होकर स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है। वे जो पृथ्वीके पुत्र अंगारक देव (मंगल) हैं, उनका उत्तम तीर्थ सब तीर्थोंका फल प्रदान करनेवाला है। उस तीर्थमें स्नान करके मनुष्य मंगलेश्वरका पूजन करे। जहाँ गंगा और आकाशगंगाका संगम है, उस तीर्थमें स्नान करके गंगेश्वरका दर्शन करे। इससे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त होता और विष्णुलोकमें प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। ऋणमोचनतीर्थ सब पापोंका अपहरण करनेवाला है। उसमें स्नान करके मनुष्य ऋणर्तेश्वरका पूजन करे। फिर अपनी शक्तिके अनुसार दान करके घृत-श्राद्ध करे। इससे मनुष्य तीनों ऋणोंसे मुक्त होकर स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है। ऋणमोचन तीर्थसे चलकर पापरहित शक्तिभेद नामक तीर्थमें जाय। वह सब तीर्थोंमें उत्तम और समस्त पापोंका नाश करनेवाला है। वहाँ स्नान करके पवित्र एवं शुद्धचित्त होकर विद्वान् पुरुष समस्त मातृकाओंका दर्शन करे। फिर वहाँ विधिपूर्वक श्राद्ध करके शय्या आदि दान करे। ऐसा करनेवाला पुरुष माताके ऋणसे छूटकर सायुज्य मोक्ष पाता है। पापमोचन नामक जो श्रेष्ठ तीर्थ है, वहाँ श्राद्ध करके मनुष्योंको छायादान करना चाहिये। ऐसा करनेसे वे शुद्धचित्त हो जाते हैं। तत्पश्चात् विश्वविख्यात प्रेतशिला नामक तीर्थमें जाय, जो प्रेतोंको मोक्ष देनेवाला है। उसमें स्नान करके मनुष्य श्राद्धका दान करे, क्योंकि वहाँ तिलसहित जलद्वारा तर्पण करनेसे पितर उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं। वहाँ रस और नमकके साथ अन्नका दान करना चाहिये। यमेश्वरकी पूजा करके मनुष्य कभी नरकमें नहीं पड़ता और उसके पितर प्रसन्न होकर सनातन ब्रह्मपदको प्राप्त होते हैं। जहाँ नवनदीका संगम है, वहाँ त्रिभुवन-वन्दित उत्तम तीर्थ है। वहीं पार्वती माता निवास करती हैं। उसमें स्नान करके पवित्र हो एकाग्रचित्तसे कल्याणमयी भगवती पार्वतीकी विधिपूर्वक पूजा करे, महादान दे। ऐसा करनेसे शुद्धचित्त मानव साक्षात् शिव होता है। नवनदी-संगमसे चलकर मन्दाकिनी तीर्थमें जाय। वहाँ स्नान करके पवित्र हो जो मनुष्य भगवान् सदाशिवका पूजन करता है और अन्न आदि देकर एक दोन तिलका दान करता है, वह सब पापोंसे शुद्ध होकर कुबेरके समान हो जाता है। तदनन्तर व्रतका पालन करनेवाला पुरुष ब्रह्माजीके उत्तम तीर्थमें जाय। विधिपूर्वक स्नान करे और सब प्रकारके दान दे। तत्पश्चात् यात्रेश्वर शिवका तुलसी, बिल्वपत्र तथा नाना प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंद्वारा पूजन करके उन्हें धूप, दीप, नैवेद्य, मुखशुद्धि तथा उत्तरीय आदि अर्पण करे और व्रतकी पूर्तिके लिये उनसे इस प्रकार प्रार्थना करे—

**यात्रेश्वर नमस्तुभ्यमुमानाथ जगत्पते।**
**त्वत्प्रसादात्कृतां यात्रां सफलां कुरु मे प्रभो॥**

'यात्रेश्वर! उमानाथ! जगत्पते! आपको नमस्कार है। प्रभो! आपके प्रसादसे मैंने यह यात्रा की है। कृपया इसे सफल बनाइये।'

**सनत्कुमारजी कहते हैं**—द्विजश्रेष्ठ! इस प्रकार जो अवन्तीकी यात्रा करता है, उसे अवन्तीतीर्थमें निवास करनेका पुण्य प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है। वह इस लोकमें नाना प्रकारके भोग, धन, स्त्री तथा सम्पत्ति आदिका सुख भोगकर सब पापोंसे शुद्धचित्त हो मृत्युके पश्चात् भगवान् शिवके लोकमें जाता है। जो मनुष्य इस पवित्र एवं पापहारिणी कथाको सुनते हैं, उनके लिये इस लोक और परलोकमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं रहती।

**अवन्तीक्षेत्र-माहात्म्य सम्पूर्ण।**

# रेवाखण्ड

## राजा युधिष्ठिरके पूछनेपर मार्कण्डेयजीके द्वारा पुरूरवाकी तपस्यासे नर्मदाजीके मर्त्यलोकमें आगमनका वर्णन

**सूतजी बोले**—तपोधनो! एक समय महातेजस्वी मार्कण्डेयमुनि तीर्थयात्राका फल पाकर नर्मदाके तटपर बैठे हुए थे। वहीं उनका दर्शन करनेके लिये बहुत-से ऋषि-महर्षि आये। पुलस्त्य, वसिष्ठ, पुलह, क्रतु, भृगु, अत्रि, मरीचि, भारद्वाज, काश्यप, मनु, यम, अङ्गिरा, शातातप, पराशर, आपस्तम्ब, शम्बकाव्य (शुक्राचार्य), कात्यायन मुनि, गौतम, शंख, लिखित, दक्ष, कात्यायन, जामदग्न्य, याज्ञवल्क्य, ऋष्यशृंग, विभाण्डक, गर्ग, शौनक, दाल्भ्य, व्यास, उद्दालक, शुक, नारद, पर्वत, दुर्वासा, उग्रतापस, शाकल्य, गालव, जाबालि, मुद्गल और कौशिक-कुलोत्पन्न विश्वामित्र आदि देवसम्मानित महर्षि तथा धर्म, शतानन्द, वैशम्पायन, वैष्णव, शाकलायन, वार्धक्य, जुहुति, आवसु, भूमण्डल-निवासी महात्मा बालखिल्य आदि भी वहाँ उपस्थित हुए।

उसी समय तीर्थयात्राका फल सुनकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर वेदवेत्ता एवं ज्ञानी ब्राह्मणों तथा अपनी प्रिया द्रौपदीके साथ नर्मदातटपर मार्कण्डेय मुनिके आश्रमपर आये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने भाइयोंसहित तीन बार मुनिकी परिक्रमा की और उन्हें साष्टांग प्रणाम करके बैठ गये। राजाको बैठा देख महामुनि मार्कण्डेय बोले—'नृपश्रेष्ठ! भाइयों और ब्राह्मणोंके साथ कुशलसे तो हो न?' युधिष्ठिरने हँसकर कहा-'मुने! आज आपके चरणारविन्दोंका दर्शन पाकर मैं कृतकृत्य हो गया। मेरे अन्तःकरणका मल नष्ट हो गया। तीनों लोकोंमें प्रवाहित होनेवाली गंगा, यमुना और सरस्वती, गंगाद्वार, हिमालय, कुब्जार्क, ब्रह्मयोनि, उग्रतीर्थ, कनखल, केदार, भैरवक्षेत्र, नैमिषारण्य, गया, कुरुक्षेत्र, पुष्कर इत्यादि पवित्र तीर्थोंको छोड़कर आप किस प्रयोजनसे केवल महानदी नर्मदाका ही सेवन करते हैं, इस बातको हम सब लोग सुनना चाहते हैं। आप कृपा करके इस रहस्यको बतावें।'

**मार्कण्डेयजी बोले**—राजन्! पूर्वकालकी बात है, चन्द्रवंशमें पुरूरवा नामसे विख्यात एक चक्रवर्ती राजा हुए थे। वे स्वर्गलोकका शासन करनेवाले इन्द्रकी भाँति समूची पृथ्वीका पालन करते थे। एक समय राजसभामें उन नृपश्रेष्ठने बड़े-बूढ़े ब्राह्मणोंसे पूछा—'विप्रवरो! पापमोहित मनुष्य किस उपायसे यज्ञ आदि कर्मोंके बिना ही स्वर्गलोकको प्राप्त हुए हैं और हो सकते हैं, यह बताइये।'

**ब्राह्मणोंने कहा**—महाराज! नर्मदा नदी सम्पूर्ण लोकोंको पवित्र करनेवाली हैं। वे सम्पूर्ण विश्वका पापहरण करनेमें समर्थ हैं। उन्हें स्वर्गलोकसे आप इस पृथ्वीपर उतारें। अपने मनको वशमें रखनेवाले उन ब्राह्मणोंका यह वचन सुनकर राजा पुरूरवाने कन्द, मूल, फल, शाक और जलका आहार करके निर्मल अन्तःकरणसे महादेवजीकी आराधना की। तब महादेवजीने प्रसन्न होकर कहा—'बेटा! वर माँगो। मैं तुम्हें तुम्हारी इच्छाके अनुसार वस्तु प्रदान करूँगा।'

**पुरूरवा बोले**—महादेव! आप समस्त लोकोंके हितके लिये नर्मदा नदीको पृथ्वीपर उतारिये। आज लाख योजनका विशाल जम्बूद्वीप निराधार हो रहा है। न देवता तृप्त होते हैं, न पितर और न मनुष्योंको ही तृप्ति हो रही है।

**महादेवजीने कहा**—राजन्! तुम तो अयाच्य वस्तुकी याचना करते हो। ऐसा वर तो देवताओंके लिये भी दुर्लभ है। नर्मदाको छोड़कर दूसरा जो कुछ भी वर माँगो, मैं दूँगा।

पुरूरवा बोले—महादेव! मैं प्राण जानेपर भी दूसरा वर नहीं माँगूँगा।

**राजाका यह निश्चय जानकर तथा उग्र तपस्या-द्वारा उनके किये हुए साधनको देखकर महादेवजीने नर्मदाको आज्ञा दी**—सुरेश्वरि! तुम पृथ्वीपर उतरो और पुरूरवाकी तपस्याके फलसे मृत्युलोकके हितका साधन करो।

**नर्मदाने कहा**—महेश्वर! मैं बिना किसी आधारके स्वर्गलोकसे पृथ्वीपर कैसे जाऊँगी?

नर्मदाकी यह बात सुनकर देवाधिदेव महादेवजीने आठ पर्वतोंको बुलाया और उन सबसे पूछा—'तुममेंसे नर्मदा नदीको धारण करनेमें कौन समर्थ है?' तब विन्ध्यगिरिने कहा—'सुरेश्वर! आपके प्रसादसे मेरा पुत्र नर्मदाको धारण करनेमें समर्थ है। उसका नाम पर्यंक है।' तत्पश्चात् महादेवजीकी आज्ञा मिलनेपर पर्यंकने कहा—'महेश्वर! आपके प्रसादसे मैं नर्मदा नदीको धारण करूँगा।' तदनन्तर नर्मदादेवी पर्यंकगिरिके शिखरपर स्थित होकर उतरीं। उनकी जलराशिके वेगपूर्वक भ्रमणसे पर्वत, वन और काननोंसहित समस्त पृथ्वी जलसे आप्लावित हो उठी। सम्पूर्ण जगत् अकालमें ही प्रलयकालसे ग्रस्त हो गया। तब सम्पूर्ण देवताओंने मेकलकन्या नर्मदाकी स्तुति की और कहा—'कल्याणि! तुम मर्यादा धारण करो। किसी नियत सीमामें स्थित रहो और इस प्रकार विश्वके लिये हितकारिणी बनो।' देवताओंके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर महादेवजीकी आज्ञासे नर्मदादेवीने पुनः अपने रूपको संकुचित कर लिया। अब वे संवृतरूपसे बहने लगीं। उस समय नर्मदाजीने पुरूरवासे कहा—'वत्स! तुम अपने हाथसे मेरे जलका स्पर्श करो।' उनकी आज्ञा पाकर पुरूरवाने उनके जलका स्पर्श एवं आचमन करके पितरोंका तिल और नर्मदा-जलसे तर्पण किया। उस जलसे तर्पण करनेपर राजाके समस्त पितर उस परम पदको प्राप्त हो गये, जो देवताओंके लिये भी दुर्लभ है। समस्त चराचर जगत् सब ओरसे पवित्र हो गया। वे देश, पर्वत, ग्राम और आश्रम भी पवित्र हैं, जहाँ नर्मदाजी विद्यमान हैं। सरस्वतीका जल तीन दिनमें पवित्र करता है। यमुना-जल सात दिनमें पावन बनाता है, गंगा-जल स्नान करनेपर तत्काल पवित्र करता है, परंतु नर्मदा नदी दर्शनमात्रसे ही मनुष्योंको पवित्र कर देती है। नर्मदाके संगममें जहाँ-कहीं भी स्नान, दान, जप, होम, वेदपाठ, पितृपूजन, देवाराधन, मन्त्रोपदेश, संन्यास और देहत्याग आदि जो कुछ भी किया जाता है, उसके फलका अन्त नहीं है। वैशाख, माघ अथवा कार्तिककी पूर्णिमाको, विषुवयोगमें, संक्रान्तिके समय, व्यतीपात और वैधृतियोगमें, अमावास्यामें, तिथिकी हानि और वृद्धिके दिन, मन्वादि युगादि और कल्पादि तिथियोंमें, माता-पिताके क्षयाहमें नर्मदा-तटवर्ती ॐकार भृगुक्षेत्र तथा विशेषतः संगममें जो सहस्र, शत अथवा एक गोदान एवं सम्पूर्ण महादान करता है तथा जो श्रेष्ठ मनुष्य नर्मदामें स्नान, दान, जप, होम और पूजन आदि करता है, वह अश्वमेध यज्ञका फल पाता है। युधिष्ठिर! मनुष्य नर्मदामें जहाँ-जहाँ स्नान करता है, वहीं-वहीं उसे अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त हो जाता है। जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर नर्मदाका कीर्तन करता है, उसका सात जन्मोंका किया हुआ पाप उसी क्षण नष्ट हो जाता है तथा जहाँ संगम और बाणलिंगसे युक्त नर्मदा नदी स्थित है, वहाँ स्नान करके मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल पाता और अन्तमें शिवधामको जाता है।

# राजा हिरण्यतेजाके तपसे नर्मदाका अवतरण

**युधिष्ठिरने पूछा**—भगवन्! राजा पुरूरवासे पहले महाराज हिरण्यतेजाने नर्मदादेवीको किस प्रकार इस पृथ्वीपर उतारा था, यह बतानेकी कृपा करें।

**मार्कण्डेयजी बोले**—राजन्! चन्द्रवंशमें हिरण्यतेजा नामसे प्रसिद्ध एक राजर्षि हो गये हैं, जो समस्त धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तथा प्रजापतिके समान थे। वे पर्वत, वन और काननोंसहित समूची पृथ्वीका एकछत्र शासन करते थे। उनकी राजधानी चन्द्रपुरी थी, जो इन्द्रकी अमरावतीके समान शोभा पाती थी। एक समय अमावास्याको सूर्यग्रहण लगनेपर इस जम्बूद्वीपमें बावली, कुआँ और सरोवर होनेपर भी कोई नदी नहीं उपलब्ध हो सकी, जहाँ देवताओं और पितरोंका विशेष सत्कार हो सके। उस समयतक जम्बूद्वीपमें कोई नदी थी ही नहीं। राजाने लाखों गौएँ, सुवर्ण, मणि, रत्न, खजाना, घोड़े और अगणित मतवाले हाथी ब्राह्मणोंको दानमें दिये। हव्य और कव्यसे पितरोंको भी तृप्त किया। उस समय उन्होंने देखा, पितरोंको जलपानका बड़ा कष्ट है। वे पितरोंसे बोले—'आपलोग कौन हैं और किस कर्मसे पवित्र हो सकते हैं?'

**पितर बोले**—महाभाग! यह द्वीप नदियोंसे रहित होनेके कारण यहाँका सब धर्म-कर्म नष्ट हो चुका है। नदीके अभावमें न तो देवता तृप्त होते हैं, न पितर। यदि इस द्वीपमें नर्मदा उतर आवे तो हम सब लोगोंकी मुक्ति हो जायगी। महाराज! यह यथार्थ बात हमने आपसे बता दी है। अब आपकी जैसी रुचि हो, वैसा करें।

**हिरण्यतेजाने कहा**—अब मुझे पितरोंका उद्धार करना ही उचित प्रतीत होता है। अन्यथा इस राज्यसे क्या काम? यदि मैं पितरोंको तृप्त न कर सका तो मेरा जीवन भी व्यर्थ है।

ऐसा कहकर राजा हिरण्यतेजा उदयाचल पर्वतपर गये और कन्द, मूल एवं फलका भोजन करते हुए भगवान् शिवकी उपासना करने लगे। उन्होंने बड़ी कठोर तपस्या की। उनकी उत्तम भक्ति जानकर त्रिनेत्रधारी भगवान् शंकरने प्रत्यक्ष दर्शन दिया। राजाने देवाधिदेव महादेवके दिव्य रूपका दर्शन पाकर उनकी तीन बार परिक्रमा की और साष्टांग प्रणाम करके उनका स्तवन किया।

**राजा बोले**—सुरेश्वर! आपको नमस्कार है। शूलपाणे! आपको नमस्कार है। प्रभो! आप ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, बुद्धि, मन, अहंकार, प्रकृति और उसके तीनों गुण हैं। आप ही सम्पूर्ण इन्द्रियोंके प्रेरक, सर्वत्र व्यापक, समस्त कलाओंसे युक्त तथा कलारहित अविनाशी परमेश्वर हैं। ब्रह्मा और विष्णु आदि देवताओंको भी आपके आदि-अन्तका पता नहीं लगता। महातेजाका किया हुआ यह स्तोत्र सुनकर देवदेव जगदीश्वर शिवने कहा—'महाभाग! तुम अपने इच्छानुसार वर माँगो।' तब राजाने कहा—'देवेश्वर! सात कल्पोंतक प्रवाहित होनेवाली नर्मदादेवीको आप मर्त्यलोकमें उतारें। पितर घोर नरकमें डूब रहे हैं। उनका उद्धार हो और वे तृप्त होकर मुक्ति एवं परम गतिको प्राप्त हों, इसके लिये नर्मदादेवीका अवतरण आवश्यक है।'

**महादेवजी बोले**—तात! नर्मदाजी तो ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं, दैत्यों तथा अन्य अल्पजीवी प्राणियोंद्वारा पृथ्वीपर नहीं उतारी जा सकतीं। अतः तुम कोई दूसरा वर माँगो। उसे अभी दे दूँगा।

**तब महाभाग राजा हिरण्यतेजाने कहा**—प्रभो! आपके प्रसन्न होनेपर तीनों लोकोंमें कुछ भी असाध्य नहीं। मैं तो सहस्रों जन्म धारण करनेपर भी दूसरा वर नहीं माँगूँगा। देवेश्वर! मैं आपके सेवकोंका भी सेवक हूँ। मुझे नर्मदाजीको ही दीजिये।

राजाका यह निश्चय जानकर भगवान् शंकरने लोकपावनी नर्मदादेवीका आवाहन किया। वे मगरके आसनपर आरूढ़ हो दिव्यरूपसे आकर शिवजीके आगे खड़ी हुईं और उमा-महेश्वर दोनोंके चरणोंका

स्पर्श करके नतमस्तक हो बोलीं—'देवेश! किसलिये मेरा स्मरण किया गया?'

**महादेवजीने कहा**—नर्मदे! राजा हिरण्यतेजाने अपना राज्य छोड़कर यहाँ चौदह हजार दिव्य वर्षोंतक घोर तपस्या की है; अतः तुम इनकी इच्छाके अनुसार पृथ्वीपर उतरो। शीघ्र जाओ और नरकमें पड़े हुए सब पितरोंका उद्धार करो।

**नर्मदा बोलीं**—देव! मैं बिना किसी आधारके जम्बूद्वीपमें कैसे जाऊँगी।

**यह सुनकर महादेवजीने पर्वतोंसे कहा**—तुम सब लोग क्षणभर स्थिर हो जाओ, जिससे सरिताओंमें श्रेष्ठ नर्मदा पृथ्वीपर जाय।

**तब पर्वतोंने कहा**—देव! हम नर्मदादेवीको धारण करनेमें असमर्थ हैं। उसी समय उदयाचलने खड़े होकर कहा—'महादेवजीकी कृपासे मैं नर्मदाको धारण करनेमें समर्थ हूँ।'

तदनन्तर उदयाचलकी चोटीपर चरण देकर नर्मदादेवी आकाशसे पृथ्वीपर आयीं और वायुके समान वेगसे पश्चिम दिशाको बह चलीं। उस समय तीनों लोकोंमें बड़ा हाहाकार मचा। नर्मदाके जलका वह भयंकर कल-कल नाद सुनकर पाताललोकसे एक तेजोमय प्रज्वलित लिंग प्रकट हुआ और हुंकारपूर्वक बोला—'सब पापोंको हरनेवाली तथा उत्तम व्रतका पालन करनेवाली नर्मदे! मर्यादा धारण करो। तुम्हें धारण करनेके लिये महादेवजीने तीन पर्वतोंकी सृष्टि की है—मेरु, हिमवान् और कैलाश तथा चौथा पर्वतश्रेष्ठ विन्ध्य भी तुम्हें धारण करनेमें समर्थ है। इन पर्वतोंकी लंबाई पूर्वसे पश्चिम दिशाकी ओर बत्तीस हजार योजन है और दक्षिणसे उत्तरकी ओर चौड़ाई पाँच सौ योजनकी है।'

**तत्पश्चात् राजर्षि हिरण्यतेजाने नर्मदासे कहा**—देवि! आपने हमारे पितरोंका उद्धार करनेके लिये बड़ा अनुग्रह किया है। नर्मदाने उत्तर दिया—'राजन्! तुमने मेरे लिये महादेवजीकी आराधना एवं तपस्या की है, इसलिये जो तुम्हारे माता-पिताके वंशके लोग हैं, वे और तुम्हारी रनिवासमें रहनेवाली स्त्रियोंके भी जो सगे-सम्बन्धी हैं, वे सब मेरे प्रभावसे उमा-महेश्वरके लोकमें चले जायँगे।'

तब राजाने नर्मदामें विधिपूर्वक स्नान करके देवताओं और पितरोंका तर्पण तथा श्राद्ध और पिण्डदान किया। इससे उनके सब पितर नरकसे निकलकर देवयानमार्गपर स्थित हुए। यह नर्मदाका पहला अवतरण आदिकल्पके सत्ययुगमें हुआ था। दूसरा अवतार दक्षसावर्णि मन्वन्तरमें हुआ और तीसरा अवतार राजा पुरूरवाके द्वारा वैष्णव मन्वन्तरमें सम्पन्न हुआ है। राजन्! यह प्राचीन वृत्तान्त जैसा मैंने अपनी आँखों देखा है, वैसा बतलाया। नर्मदामें स्नान करने, गोता लगाने, उसका जल पीने तथा स्मरण और कीर्तन करनेसे अनेक जन्मोंका घोर पाप तत्काल नष्ट हो जाता है।

## नर्मदाका मर्त्यलोकमें आकर पुरुकुत्सुको अपना पति बनाना तथा नर्मदास्नानकी महिमा

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—राजन्! क्षत्रियकुलमें उत्पन्न पुरुकुत्सु नामक राजा महान् यशस्वी हो गये हैं। उन्होंने पहले एक सहस्र वर्षोंतक महादेवजीकी आराधना की। उनकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर महादेवजीने पूछा—'राजन्! तुम कौन-सा वर चाहते हो?' राजाने कहा—'देव! नर्मदा नामसे प्रसिद्ध परम सौभाग्यशालिनी नदी है, उसे आप इस भूतलपर उतारें।' महादेवजी बोले—'राजन्! इसे न माँगकर कोई दूसरा वरदान माँगो।' इतना सुनते ही वे महाभाग क्षत्रिय पुरुकुत्सु मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। यह देख शिवजीने कहा—'राजन्! तुम स्वस्थ हो जाओ। मैं सरिताओंमें

श्रेष्ठ नर्मदाको मर्त्यलोकमें उतारता हूँ।' तदनन्तर महादेवजीके कहनेपर पर्यंक नामक पर्वतने महानदी नर्मदाके वेगको धारण करना स्वीकार किया। राजा और देवताओंके साथ देवी नर्मदा बड़े वेगसे चली और पर्यंक-पर्वतकी चोटीपर होती हुई उस स्थानपर पहुँची, जहाँ पूर्वकालमें राजा पृथुने अश्वमेध यज्ञ किया था। वहीं एक बाँसके मूलभागसे महानदी नर्मदा निकली। उस समय सब देवता, गन्धर्व, यक्ष, मरुत्, अश्विनीकुमार, पिशाच, राक्षस, नाग और तपोधन ऋषि—सब लोग अर्घ्य और पाद्यसे पूजन करके नर्मदाजीकी शरणमें प्राप्त हुए और बोले—'आज हमलोगोंका जन्म सफल हुआ। हमारी तपस्या भी सफल हो गयी। देवि! यहाँ तुम्हारा दर्शन करके हम सब देवता कृतार्थ हो गये। हम उसीको पुरुष मानते हैं, जिसने नर्मदाजीको यहाँ उतारा है। नर्मदे! तुम अपने हाथसे देवताओंका स्पर्श करो, जिससे हम सब लोग पवित्र हो जायँ।'

**यह सुनकर नर्मदा बोलीं**—मैं अबतक कुमारी हूँ, मेरा पति नहीं है। अतः मैं देवगणोंका स्पर्श नहीं कर सकती। नर्मदाका यह उत्तर पाकर देवता चिन्तासे व्याकुल हो उठे और बोले—'देवि! तुम्हारे समान रूप-गुणसे सम्पन्न उत्तम वर कहाँसे प्राप्त हो सकता है। जिसने तुम्हें इस लोकमें प्रकट किया है, वही तुम्हारा पति हो। पूर्वकालमें ब्रह्माजीके शापसे समुद्र मर्त्यलोकमें जाकर राजा पुरुकुत्सुके रूपमें उत्पन्न हुआ है। वह इक्ष्वाकुकुलके आनन्दको बढ़ानेवाला है। वह देवतुल्य क्षत्रिय पुरुकुत्सु तुम्हारे लिये श्रेष्ठ वर हो।'

**नर्मदा बोलीं**—जिनमें इस प्रकार देवत्व है, जिनकी समस्त प्रजा धर्ममें स्थित है, उन महात्मा पुरुकुत्सुके लिये और क्या कहा जा सकता है। स्वयम्भू ब्रह्माजीके मानसपुत्र जिस प्रकार धर्मनिष्ठ बताये गये हैं, उसी प्रकार ये पुरुकुत्सु भी सब धर्मोंके पालनमें तत्पर हैं। अतः मैं इनको पतिरूपमें स्वीकार करती हूँ।

**राजा पुरुकुत्सु बोले**—नर्मदे! तुम देवकन्या हो। मुझपर कृपा करो, जिससे मेरे पितर स्वर्गको जायँ और मेरा भी महान् यश हो।

**नर्मदाने कहा**—राजेन्द्र! ऐसा ही हो। आप मुझसे जो-जो चाहते हैं, वह सब मेरे प्रसादसे आपको प्राप्त हो।

ऐसा कहकर देवी नर्मदा पर्यंकपर्वतसे निकलकर पश्चिम दिशाकी ओर चली गयीं। वे धनुषसे छूटे हुए बाणकी भाँति पृथ्वीको विदीर्ण करती और पर्वत-शिखरोंको तोड़ती-फोड़ती हुई बड़े वेगसे चली जा रही थीं। उस समय विन्ध्य पर्वतके प्रदेशमें वे जहाँ-जहाँ गयीं, वहाँ-वहाँ स्नान किया जाता है। वहाँ तीर्थवर्जित स्थानमें भी स्नान करनेपर सहस्रों गंगास्नानका फल होता है। तदनन्तर वेदज्ञ महर्षियोंने सुखका विस्तार करनेवाली लोकपावनी महादेवी नर्मदाका स्तवन किया। वेद धर्मके मूल हैं, स्मृतियाँ फूल और फल हैं, अग्निहोत्रपरायण पुण्यात्मा द्विज उस फलका उपभोग करते हैं। परंतु वे भी नर्मदाको स्वर्गकी सीढ़ी समझकर उसका सेवन करते हैं। जहाँ-जहाँ भगवान् शिवके शुभ मन्दिरके समीप पुण्यमयी नर्मदा विद्यमान हैं, वहाँ-वहाँ नर्मदा नदीका स्नान एक लाख गंगास्नानके समान होता है। अग्निहोत्रसे जो पुण्य होता है और पितरोंके श्राद्धसे जो फल प्राप्त होता है, वह सब नर्मदाके जलसे उपलब्ध हो जाता है। नर्मदाके नामका कीर्तन करना और उसके संगमतीर्थमें दान देना, इसके समान दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जो बुद्धिमान् प्रातःकाल उठकर नर्मदा नदीका स्नान करते हैं, उनका पहले जन्मका और इस जन्मका किया हुआ पाप नष्ट हो जाता है। कोई भी मनुष्य यदि नर्मदामें जहाँ-कहीं भी स्नान कर लेता है, उसका किया हुआ सौ जन्मोंका पाप तत्काल नष्ट हो जाता है। जो नर्मदाके तटपर मृत्युको प्राप्त होता है, वह भगवान् शंकरके स्वरूपको प्राप्त होता है। जहाँ नर्मदा नहीं हैं,

वहाँ पापोंका प्रायश्चित्त करनेकी प्रेरणा की जाती है; परंतु नर्मदाजल प्राप्त होनेपर तो प्रायश्चित्तकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती है।

विन्ध्यगिरिके आठ मानसपुत्र बताये गये हैं, जिनमें पर्यंक प्रथम है। उसे सब पर्वतोंमें श्रेष्ठ जानना चाहिये। नर्मदाके डेढ़ सौ स्रोत कहे गये हैं। आधे कोसके तृतीय भाग (पाँच सौ सत्तासी गज)-की चौड़ाईमें उसकी धारा बहती है, ऐसा विज्ञ पुरुषोंने बताया है। युधिष्ठिर! परमेश्वरी नर्मदाने देवताओं और मनुष्योंके हितके लिये स्वयं ही अपने-आपको धारण किया है। वे समस्त सरिताओंमें श्रेष्ठ हैं और सम्पूर्ण जगत्को तारनेके लिये ही यहाँ अवतीर्ण हुई हैं। उनके तटपर स्वर्ग और मोक्ष दोनों ही स्थित हैं।

## नर्मदा-तटवर्ती अनन्तपुर एवं व्यासतीर्थकी महिमा

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—नर्मदाके उत्तर 'अनन्तपुर' नामक एक स्थान है, जहाँ सब पापोंका हरण करनेवाला अनन्तसिद्धि नामक लिंग है। उस अनन्तपुरमें ही वैश्रवण तीर्थ, कौबेरतीर्थ, घनदतीर्थ, मणिभद्रतीर्थ और यज्ञतीर्थ हैं, जो परम पवित्र, सर्वलोकप्रसिद्ध, मनोवांछित फल देनेवाले तथा मोक्षदायक हैं। वहीं ऋषियोंके पवित्र आश्रम भी हैं, जो सर्वदेवमय एवं शुभ हैं। वहाँ सावर्णि, कौशिक, अघमर्षण, शाकल्य, कुशाकर्ण्य, शरभंग, अग्निगर्भ—ये तथा और भी बहुत-से उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षि रहे थे, जो तपस्या करके इस नर्मदा तीर्थके माहात्म्यसे स्वर्गलोकको प्राप्त हुए हैं। ऋषियोंमें श्रेष्ठ वाल्मीकिजीने भी इसी तीर्थके प्रभावसे ब्रह्मतेजसे सम्पन्न शरीर प्राप्त किया था। इक्ष्वाकु, कुवलयाश्व, दिलीप, नहुष, वेणु, राजा ययाति, अजपाल और हैहय—ये तथा अन्य भी बहुत-से राजाओंने अनन्तपुरमें निवास किया है। इस अनन्तपुरके क्षेत्रमें ही नर्मदाके तटपर जो भगवान् महेश्वर निवास करते हैं, उनका विधिपूर्वक पूजन करके वे सभी नरेश स्वर्गलोकको प्राप्त हुए हैं। अनन्तपुरमें सप्तर्षितीर्थ, सप्तसारस्वत-तीर्थ, अमर्त्यसम्भव लिंग, अरण्यकेश्वर लिंग, अघौघनाशन तीर्थ, कल्मषापहतीर्थ, पंचब्रह्ममयतीर्थ, सहस्रशीर्षा महादेव, वाराहतीर्थ, वामनतीर्थ, यमतीर्थ, सौरभंगतीर्थ, सहस्राश्वमेधतीर्थ, हिरण्यगर्भतीर्थ, सावित्रतीर्थ और चातुर्वेदतीर्थ—ये सभी तीर्थ सम्पूर्ण लोकोंको पवित्र करनेवाले और श्रेष्ठ हैं। पर्यंक पर्वतसे पश्चिम जहाँतक अनन्तपुरका क्षेत्र है, वह परम शुभ है। इसके भीतर जिनकी मृत्यु होती है, वे दान-धर्मसे रहित हों तो भी चौदह इन्द्रोंके समयतक स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होते हैं। तदनन्तर द्वीपेश्वर नामक उत्तम तीर्थ है, जो व्यासतीर्थ कहलाता है। वहाँ स्नान करके मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल पाता है। वह इच्छानुसार उत्तम फल देनेवाला श्रेष्ठ तीर्थ है। द्वीपेश्वरमें स्नान करके जो वृषभ-दान करता है, वह सुवर्णमय विमानसे स्वर्गलोकमें जाता है। जो मनुष्य कार्तिकके कृष्ण पक्षकी चतुर्दशी तिथिको उपवास करके इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए वहाँ भगवान् शिवको स्नान कराता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर रुद्रलोकमें सम्मानित होता है। ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण देवता और तपोधन ऋषि, व्यासतीर्थमें जाकर भावितात्मा भगवान् शंकरकी स्तुति करते हैं। दूसरे भी जो सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर और नाग आदि हैं, वे नाना प्रकारके स्तोत्रोंसे भगवान् शंकरका स्तवन करते हुए कहते हैं कि 'जिनके हाथमें शक्ति है, जिनके समान शक्तिशाली वीर दूसरा कोई नहीं है, वे समस्त देवताओंद्वारा आराधित और पूजित सुरश्रेष्ठ भगवान् भूतनाथ जिसको चाहें ऊँचा उठा सकते हैं और जिसे चाहें अवनतिमें डाल सकते हैं। जिनके एक बाणसे त्रिपुर भस्म कर दिया गया, जिनके ललाटवर्ती नेत्रद्वारा देखनेमात्रसे कामदेव

भस्म हो गया और जिन्होंने अपने श्रेष्ठ त्रिशूलसे अन्धकासुरको चीर डाला, उनके साथ कौन विरोध कर सकता है? जिन्होंने अपनी जटाके अग्र भागमें जलराशिकी उत्ताल तरंगोंसे संयुक्त गंगाजीको धारण कर रखा है, जिनके चरणारविन्दके अंगुष्ठका तनिक-सा दबाव पाकर लंकापति रावण मूर्छित होकर गिर पड़ा था, जिन्होंने समस्त देवताओं और असुरोंके समक्ष दक्षके यज्ञका क्षणभरमें विध्वंस कर डाला था, जिनके लिंगमय विग्रहके पूजनसे मनुष्य मनोवांछित फल प्राप्त करता है, उन भगवान् शंकरके समान या उनसे बढ़कर दूसरा कौन देवता है?' जो विधिपूर्वक महादेवजीकी आराधना करके '**यस्यास्ति शक्ति**' इत्यादि स्तोत्रका प्रातःकाल प्रयत्नपूर्वक पाठ या स्मरण करता है, वह भगवान् शंकरका पार्षद होता है। जो इस स्तोत्रका महादेवजीके समीप पाठ करता है, उसके ऊपर व्यासेश्वर शिव तथा नर्मदा दोनों ही प्रसन्न होते हैं।

तदनन्तर उत्तम व्रतका पालन करनेवाले मुनियों तथा व्यासजीने नर्मदातटपर पितरोंका श्राद्ध किया। यहाँ श्राद्ध करनेसे पितृगण बारह वर्षोंतक तृप्त रहते हैं।

## वरांगना-नर्मदा-संगम तथा कपिलातीर्थका माहात्म्य, महाराज मनुकी त्रिपुरीयात्रा और नर्मदासे वरदान पाना

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—राजन्! व्यासतीर्थके अतिरिक्त एक दूसरा परम पुण्यमय तीर्थ है जो सब पापोंका नाश करनेवाला है। वहाँ अश्वमेध यज्ञसे प्रकट हुई 'वरांगना' नदी बहती है। वहाँ नर्मदा और वरांगनाके संगममें स्नान करनेसे अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है। स्त्री हो या पुरुष—सभी वहाँ स्नान करनेसे रोगमुक्त हो जाते हैं। त्रिपुरीके पूर्वभागमें दक्षिण-दिशाकी ओर सब लोकोंपर अनुग्रह करनेके लिये भगवान् शंकर विराजमान हैं। अतः विद्वान् पुरुष उसे 'शिवक्षेत्र' कहते हैं। सूर्य-ग्रहणके समय इस शिवक्षेत्रको कुरुक्षेत्रके समान बताया गया है। कुरुक्षेत्रमें पचासी तीर्थ हैं और यहाँ भी उतने ही हैं। इस क्षेत्रमें देवेश्वर भगवान् मधुसूदन भी उत्पलावर्त नामसे निवास करते हैं, जिनके सहस्रों मस्तक हैं। भगवान् श्रीहरि, महादेवजी और तीसरी नर्मदा नदी—ये तीनों इस क्षेत्रके परम आराध्य देवता हैं। राजन्! इन्द्र आदि देवता भी नर्मदा नदीकी महिमाका क्या वर्णन कर सकते हैं? वहाँ स्नान करनेसे मनुष्यका फिर इस संसारमें जन्म नहीं होता। उक्त स्थानमें देवदेव महादेवके पूजनसे मनुष्य गणपति-पदको प्राप्त होता है। उस तीर्थमें प्रकट हुए शंख-चक्र-गदाधारी भगवान् विष्णुकी ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवताओंद्वारा उपासना की जाती है। श्रीविष्णुके क्षेत्रमें मृत्युको प्राप्त हुए कीट-पतंग आदि भी हरिधामको चले जाते हैं। मनुष्य अपने वशमें हो या परवश, जो संगम-तीर्थमें प्राण-त्याग करता है, वह दस हजार वर्षोंतक विद्याधरलोकमें राजा होता है। युधिष्ठिर! जो यहाँ तिल और जलसे पितरोंका तर्पण और उन्हें पिण्डदान करता है, उसके पितर तृप्त होकर परम गतिको प्राप्त होते हैं। एकादशीको निराहार रहकर गन्ध और पुष्पोंसे भगवान् विष्णुका पूजन करे, रातमें जागकर दीप जलावे; फिर द्वादशीको पंचगव्य लेकर हविष्यान्नसे पारण करे। पारणके पूर्व ब्राह्मणोंको भोजन कराकर दक्षिणा दे। जो मनुष्य पवित्र एवं एकाग्रचित्त होकर उस क्षेत्रमें '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' इस द्वादशाक्षर मन्त्रका जप करता है, वह फिर गर्भमें नहीं आता और न उसका कभी जन्म ही होता है। वह अपने अनेक जन्मोंके भयंकर पापोंको उसी प्रकार तत्काल भस्म कर देता है, जैसे आग रूईके ढेर और सूखे काठको जला देती है।

पूर्वकालमें महादेवजीने सम्पूर्ण लोकोंपर अनुग्रह तथा समस्त देवताओंका हित करनेके लिये पवित्र जलके भवँरमें अवतार लिया था। उस स्थानमें भगवान् शिवके अट्ठाईस स्वयंभू लिंग हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—१ स्थानेश्वर, २ महादेव, ३ शूलपाणि, ४ सप्तेश्वर, ५ कल्पेश्वर, ६ हिरण्य, ७ जातवेदः, ८ प्राजापत्य, ९ सिद्धनाथ, १० शशांकनायक, ११ अनुकेश, १२ स्कन्द, १३ आश्विन, १४ तैजस, १५ ब्रह्मेश्वर, १६ अग्नि-गर्भ, १७ श्रीकण्ठ, १८ उमापति, १९ नीलकण्ठ, २० खट्वांग, २१ महाकाल, २२ घटेश्वर, २३ त्रिलोचन, २४ त्र्यम्बक, २५ देवदेव, २६ महेश्वर, २७ अनंग और २८ कामदेव—ये तथा और भी बहुत-से सिद्ध लिंग वहाँ हैं।

महाभाग युधिष्ठिर! तदनन्तर नर्मदाके उत्तर तटपर परम उत्तम कपिलातीर्थ है जो सब पापोंको हरनेवाला है। पुरुष हों या स्त्रियाँ-यदि वे जितेन्द्रिय होकर उस तीर्थमें स्नान करनेके पश्चात् देवताओं और पितरोंका तर्पण करते हैं, तो तीनों ऋणोंसे मुक्त हो जाते हैं। उस तीर्थमें ब्राह्मणोंको भोजन कराकर मनुष्य परम गतिको प्राप्त होता है।

उसके बाद नर्मदाके उत्तर तटपर त्रिपुरी नामक विख्यात एक उत्तम तीर्थ है, जो तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है। भारत! वहाँ सवा लाख तीर्थोंका निवास है। उस तीर्थमें एक सौ आठ स्वयंभू शिवलिंग विद्यमान हैं। यह वही स्थान है, जहाँ त्रिशूलधारी देवाधिदेव महादेवने त्रिपुरको मार गिराया था। यहाँ देवदेव महादेवके नाम-कीर्तनसे तथा नर्मदाजीके जलद्वारा उनका स्नान और पूजन करनेसे ब्रह्महत्या नष्ट हो जाती है। गन्ध, पुष्प, धूप, दीप तथा वैभव-विस्तारसे पूजन करनेपर जो पुण्य होता है, उसकी गणना सहस्रों वर्षोंमें भी नहीं की जा सकती। भगवान् शिवके उद्देश्यसे जब दान किया जाता है, तब उस दानका पुण्य असंख्य हो जाता है। राजन्! वे मनुष्य धन्य हैं जो त्रिपुरीमें स्नान करके महादेवजीका दर्शन करते हैं। जो मानव त्रिपुरीमें निवास करता है, वह साक्षात् कैलाशमें निवास पाता है। जो इच्छा या अनिच्छासे भी त्रिपुरीमें प्राण-त्याग करता है, वह विमानद्वारा महादेवजीके परम धाममें जाकर वहाँके दिव्य विभवका उपभोग करता है। वहाँ देवेश्वर त्रिपुरारि शिव तैंतीस कोटि प्रसिद्ध देवताओंके साथ निवास करते हैं। इसलिये त्रिपुरी क्षेत्रको शिवक्षेत्र कहा गया है। उसकी लम्बाई-चौड़ाई दो कोसकी है। इस बीचमें जिनकी मृत्यु होती है, वे शुभ गतिको प्राप्त होते हैं।

यहीं सब सिद्धियोंको देनेवाले गोकर्ण, महादेव, वटेश्वर, सिद्धलिंग, सुरेश्वर, ईश्वर, कामेश्वर, अश्विनीकुमारेश्वर, अनंगेश्वर, वामदेव, कपोतेश्वर, सर्वेश्वर, सोमनाथ, ऋणमोचन, कपालमोचन, पापनाशन, इन्द्रेश्वर, ब्रह्मेश्वर, शिव, नारायण, भव, विश्वेदेव, सिद्धनाथ, अमरेश्वर, चान्द्रलिंग, सिद्धेश्वर, विद्याधरेश्वर, यज्ञेश्वर, तुलनारहित वासवेश्वर, ईशान, अग्निगर्भ, कुबेर, गायत्रलिंग, सावित्रलिंग तथा रोहिणीतीर्थ हैं। विष्णु, मरीचि, मैत्रेय, विभाण्डपुत्र ऋष्यशृंग, तपस्वी शौनक तथा उग्र तपस्वी दुर्वासा आदि पचास हजार सिद्ध त्रिपुरीमें निवास करते हैं। इस पुरीकी स्तुति सहस्रों वर्षोंमें भी नहीं की जा सकती।

जिसमें कपिल मुनिका अवतार हुआ था, वह कालसंज्ञक स्वयंभू मन्वन्तर प्राप्त होनेपर अयोध्यापुरीमें महायशस्वी मनु नामक एक चक्रवर्ती राजा हुए थे। उनका जन्म सूर्यवंशमें हुआ था। उन्होंने भगवान् शंकर और विष्णुकी आराधना करके अयोध्यापुरी प्राप्त की थी। जैसे कुबेरकी अलकापुरी विख्यात है तथा जिस प्रकार इन्द्रकी अमरावतीपुरी बड़ी मनोहर है, अयोध्या भी वैसी ही शोभासम्पन्न थी। वहाँ रहकर महाराज मनु सात द्वीप, नौ खण्ड तथा पर्वत, वन और काननोंसहित समस्त पृथ्वीका पालन करते थे। एक दिन पूर्णिमाको एक पहर रात व्यतीत होनेके पश्चात् राजाके कानोंमें आकाशमें विचरनेवाले विमानोंकी क्षुद्रघण्टिकाका शब्द सुनायी पड़ा।

उनमें संगीत और वाद्यकी भी ध्वनि हो रही थी। वह सब देख-सुनकर राजाको बड़ा विस्मय हुआ। वे सोचने लगे 'ये विमान किसके हैं, जो मेरे ही भवनके ऊपर खड़े हैं। यह कितना साहसपूर्ण कार्य है?' इस प्रकार सोच-विचारमें पड़े हुए राजाकी वह रात्रि व्यतीत हो गयी। सूर्योदय होनेपर नैत्यिक धर्म-कर्मका अनुष्ठान पूरा करके राजर्षि मनुने वसिष्ठ मुनिसे कहा—'महामुने! यह मेरे महलके ऊपर किसके विमान हैं तथा ये किस कर्मके फलसे या किस-किस दान और नियमके पालनसे प्राप्त होते हैं? क्षत्रियवंशमें उत्पन्न होकर जो पृथ्वीका शासन करता है, वह यज्ञोंका अनुष्ठान करके माता और पिताके कुलको स्वर्गलोकमें पहुँचाता है। वास्तवमें उसी राजाका जन्म लेना सार्थक है, जिसके शासनमें इस भूमण्डलपर किसी प्रकारका पापकर्म नहीं हो पाता। दूसरे लोग तो केवल माता-पिताको क्लेश देनेके लिये ही उनके पुत्ररूपसे जन्मग्रहण करते हैं।'

**राजा मनुके ऐसा कहनेपर वसिष्ठजी बोले**—महाभाग! पुराण और वेदोंसे बाहर जो कर्म किया जाता है, उसकी साधुपुरुष प्रशंसा नहीं करते; क्योंकि उसके द्वारा धर्मकी हानि होती है। नर्मदाके तटपर त्रिपुरी नामसे विख्यात एक तीर्थ है। वहाँ जिन लोगोंने यज्ञ, दान और होम आदि सत्कर्म किये हैं, उन्हींके विमान महलोंके ऊपर खड़े थे। महाराज! एकमात्र नर्मदादेवी ही ऐसी हैं, जिन्होंने समस्त पापियों और दुराचारियोंको स्वर्गलोकमें पहुँचाया है। संसार-समुद्रमें डूबे हुए पापसे दूषित चित्तवाले जीवोंको भी स्वर्गलोकमें पहुँचानेके लिये यह नर्मदा नदी दिव्य विमानस्वरूप है। महाभाग! ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजीको छोड़कर दूसरा कोई एक मुखवाला पुरुष नर्मदा नदीके पुण्योंका वर्णन नहीं कर सकता। नर्मदातटपर किये हुए तप, दान और सत्कर्मोंके पुण्यकी कोई भी गणना नहीं कर सकता। जम्बूद्वीपमें जो-जो तीर्थ और समुद्र हैं, उनमेंसे कोई भी नर्मदा नदीकी समता नहीं कर सकते। पुण्यक्षेत्रमें किया हुआ पाप वज्रलेप हो जाता है। यही बात धर्मके लिये भी है। वहाँ किया हुआ धर्म भी अक्षय होता है। यह जीवन चंचल है—क्षणभंगुर है। इसलिये मनुष्य कभी पाप न करे।

**राजा मनुने नर्मदाके सुयशका वर्णन सुनकर अपने मन्त्रियों, सदस्यों तथा सेवकोंको आज्ञा दी**—तुम सब लोग राजकीय सामग्री लेकर शीघ्र ही नर्मदाकी यात्रा करो, विलम्ब नहीं होना चाहिये।

तदनन्तर राजा वेदवेत्ता ब्राह्मणोंके साथ देव दानववन्दित त्रिपुरी पुरीको गये। वहाँ रानियों तथा समस्त परिवारके साथ नर्मदाजीके जलका दर्शन करके वे जन्मभरके पापोंसे मुक्त हो गये। उस तीर्थमें विधिपूर्वक स्नान करके देवताओं और पितरोंका तर्पण करनेके पश्चात् राजाने चन्दन और पुष्प आदिसे महादेवजीकी पूजा की और नर्मदाके तटपर दस योजनका विशाल यज्ञमण्डप निर्माण कराया। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले, यज्ञकर्ममें कुशल, चारों विद्याओंके ज्ञाता तथा वेदज्ञ महर्षि एवं ब्राह्मण उस यज्ञके लिये निमन्त्रित किये गये। जैसे पुष्करतीर्थ ब्रह्मा, विष्णु और शिव—तीनों देवताओंका स्वरूप है, उसी प्रकार यह त्रिपुरीतीर्थ भी है। वहाँ राजाने परमोत्तम अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ किया। उस यज्ञमें सम्पूर्ण देवताओंका आवाहन किया गया। देवराज इन्द्र भी पधारे थे। मनुने अर्घ्य, पाद्य, मधुपर्क और विष्टर आदि देकर सबको सन्तुष्ट किया। वेदोक्त विधिके अनुसार यज्ञका कार्य पूर्ण हुआ। ब्राह्मणोंको वैभवके अनुसार दक्षिणा देकर प्रसन्न किया गया। देवता, पितर और मनुष्य सभी तृप्त होकर परम गतिको प्राप्त हो गये। ब्रह्मा, विष्णु और शिव राजाको वरदान देकर अपने-अपने लोकमें गये। इस तीर्थमें किया हुआ तप और दान सब कुछ अक्षय होता है।

**इस प्रकार महातेजस्वी महाराज मनुका यज्ञ जब पूरा हो गया तब उन्होंने हाथ जोड़कर नर्मदासे कहा**—देवि! केवल सहस्रों चान्द्रायण और सैकड़ों

सोमयागका जो फल है, वह तुम्हारे जलका पान करनेमात्रसे होनेवाले पुण्यकी समता नहीं कर सकता। तुमने सम्पूर्ण जगत्को तथा समस्त चराचर जीवोंको व्याप्त कर रखा है। जैसे आग रूईके ढेरको जला देती है, उसी प्रकार तुम्हारा जल स्नान, अवगाहन, पान, स्मरण और कीर्तन करनेसे मनुष्यके अनेक जन्मोंकी पापराशिको भस्म कर देता है। देवि! तुम पितरोंके हितकी कामनासे स्वर्गकी सीढ़ी बनकर आयी हो। चारों प्रकारके जीवोंको स्वर्गलोकमें पहुँचाओ। नर्मदे! लोकमें जो कोई भी नदियाँ और नाना प्रकारके तीर्थ हैं, उन सबकी जननी तुम्हीं हो। तुम पितरोंका उद्धार करनेवाली पराशक्ति हो। जैसे सूर्य और चन्द्रमाका प्रभाव सब जीवोंपर समानरूपसे पड़ता है, जैसे बादल अन्नके पौधों और घासोंपर समानरूपसे जलकी वर्षा करते हैं, उसी प्रकार तुम सम्पूर्ण विश्वपर समानरूपसे स्नेह रखनेवाली गौरवमयी माता हो। शुभे! ब्रह्मा और बृहस्पतिजी सहस्रों वर्षोंतक लगे रहनेपर भी तुम्हारे गुणोंका पूर्णतया वर्णन करनेमें समर्थ नहीं हैं।

**अमिततेजस्वी मनुके द्वारा किये हुए इस स्तवनको सुनकर परम सौभाग्यशालिनी नर्मदादेवी बोलीं**—महाभाग! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। तुम कोई मनोवांछित वर माँगो। तब महादेवी नर्मदाको नमस्कार करके राजाने कहा—'देवि! तुम सम्पूर्ण जगत्को पवित्र करो और अयोध्या प्रदेशमें अनेक नदियाँ प्रकट हो जायँ। देवलोकमें गंगा आदि अनेकों सरिताएँ बहती हैं, ऐसा सुना जाता है। वे सब इस भूलोकमें भी जिस प्रकार उतर आवें, वैसा उपाय करो।'

**नर्मदा बोलीं**—नृपश्रेष्ठ! त्रेताके प्रथम भागमें तुम्हारे कुलमें भगीरथ नामसे विख्यात एक राजा होंगे। वे इस लोकमें गंगाजीको लावेंगे। त्रेताके द्वितीय भागमें इस भारतवर्षके भीतर कालिन्दी, सरस्वती, सरयू तथा महाभागा गण्डकी आदि नदियाँ भी प्रकट हो जायँगी। तुम्हारे वंशमें उत्पन्न भगीरथके ही नामपर सरिताओंमें श्रेष्ठ गंगाजी 'भागीरथी' कहलायेंगी। भागीरथीके ही समान उनका दूसरा नाम 'जाह्नवी' भी होगा। उक्त सभी नदियाँ कन्या-द्वीपमें प्रसिद्धिको प्राप्त होंगी।

## भृगुतीर्थ और भास्करतीर्थका माहात्म्य

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—राजन्! त्रिपुरी क्षेत्रमें ही मर्कटीतीर्थ है और मर्कटीतीर्थके पूर्वभागमें परम उत्तम भृगुतीर्थ स्थित है। कार्तिककी पूर्णिमाको इस तीर्थमें स्नान करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। वहीं नरकेश्वर नामसे प्रसिद्ध भगवान् शिव हैं, जो स्वर्ग और मोक्ष देनेवाले हैं। उनके आगे बाँसका वृक्ष दिखायी देता है। उसके पूर्वभागमें त्रिलोचन नामक महादेवजी विराजमान हैं। उनके ललाटमें स्थित तृतीय नेत्रका दर्शन करके मुनिश्रेष्ठ भृगुने पृथ्वीपर दण्डवत् प्रणाम किया और इस प्रकार उनकी स्तुति की।

**भृगु बोले**—जो सब जीवोंके भीतर उनके आत्मारूपसे विराजमान हैं, समस्त भूतोंके ईश्वर हैं, कल्याण एवं ऐश्वर्य प्रदान करनेवाले हैं, सबका पाप हर लेनेके कारण जिन्हें हर कहते हैं, जो कल्याणस्वरूप, तेजस्वरूप, पशुपति एवं अखिल विश्वके स्वामी हैं, जिनमें दोषमात्रका सर्वथा अभाव है तथा जो नित्य विज्ञानानन्दस्वरूप हैं, उन भगवान् शिवको मैं प्रणाम करता हूँ। प्रभो! मैं दूसरोंका तिरस्कार करनेके पापसे पराजित हूँ। मेरी उस पापसे रक्षा कीजिये। परमेश्वर! इस क्षणभंगुर शरीरके प्रति मेरे मनमें आत्माभिमानका उदय हो गया है—मैं देहको ही आत्मा मानने लगा हूँ। अतएव कुमार्गकी ओर दृष्टि रखनेवाले मुझ दीनकी आप रक्षा करें। प्रभो! मुझ दीन ब्राह्मणको ज्ञान देनेके लिये उद्यत होइये। आप तो

सदा सबका कल्याण करनेवाले हैं, फिर मुझे मूढ़ देखकर भी (ज्ञानदानमें) विलम्ब क्यों करते हैं? हर! आप मेरी बढ़ी हुई तृष्णाको हर लें और मुझे स्थिर रहनेवाली लक्ष्मी प्रदान करें। महेश्वर! आपके तीर्थोंमें जानेमात्रसे जो पुण्य होता है, वह सदा ही मोहका उच्छेद, पापोंका विनाश और संसार-सागरसे उद्धार करता है, परंतु मुझ भाग्यहीनने उस पुण्यका संचय भी नहीं किया है।

महर्षि भृगुके द्वारा कहे हुए इस 'करुणाहृदय' नामक स्तोत्रका जो प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर पाठ करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है। इस स्तोत्रसे सन्तुष्ट होकर भगवान् शिवने भृगुसे कहा—'विप्रवर! तुम्हारे मनमें जिस-जिस वरकी अभिलाषा है, वह सब मैं तुझे दूँगा। साथ ही तुम्हें देवदुर्लभ उत्तम सिद्धि भी प्रदान करूँगा।'

**भृगुने कहा**—देवेश्वर! यदि आप सन्तुष्ट हैं और मुझे वर देना चाहते हैं, तो पृथ्वीपर मेरे ही नामसे इस तीर्थकी प्रसिद्धि हो। महेश्वर! मेरी दूसरी प्रार्थना यह है कि आप अपनेको उस भृगुक्षेत्रमें अवतरित करें, यहाँ सदा ही आपकी स्थिति बनी रहे।

**भगवान् शंकर बोले**—विप्रवर! ऐसा ही हो। तुम्हारे ही नामसे इस क्षेत्रकी ख्याति होगी।

युधिष्ठिर! इस भृगुक्षेत्रमें आठ रुद्र बताये गये हैं—भृगु, शूली, वेद, चन्द्र, मुख, अट्टहास, काल तथा कराली। इन सबके कारण भृगुक्षेत्र बहुत ही मनोरम और धन्य-धन्य हो गया है। अयन, विषुव, संक्रान्ति, ग्रहण, व्यतीपात, दिनक्षय और गजच्छाया आदि योगोंमें इस तीर्थके भीतर जो स्नान, दान, होम, तर्पण और देवपूजन आदि सत्कर्म किये जाते हैं, वे सब अक्षय होते हैं। जो भृगुक्षेत्रमें स्नान करके वहाँ एक रात्रि निवास करता है, उसे जो पुण्य प्राप्त होता है, वह सैकड़ों यज्ञोंद्वारा भी उपलब्ध होनेवाला नहीं है। संयमी मनुष्य भृगुतीर्थकी प्रदक्षिणा करके तत्काल विशुद्ध होकर शिवलोकमें प्रतिष्ठित होता है। इस तीर्थके माहात्म्यसे मनुष्य सब पातकोंसे मुक्त हो जाता है।

प्राचीन कालमें मोहन नामसे प्रसिद्ध एक गन्धर्वराज था। वह ब्रह्माजीकी सभामें स्थित होकर सदा उनकी आराधनामें तत्पर रहता था। एक दिन महर्षि दुर्वासाको वहाँ उपस्थित देख उसने उनकी हँसी उड़ायी। यह देख मुनिने शाप दिया, 'अरे! तुझे अपने सुन्दर रूपका बड़ा अभिमान है, तू जा चित्रकुष्ठ (चितकबरी कोढ़)-से पीड़ित रह।' उस शापसे भयभीत होकर गन्धर्वराजने मुनिसे कहा—'विप्रवर! मुझ अज्ञानीपर प्रसन्न होकर आप अपने शापका अन्त कीजिये।'

**दुर्वासा बोले**—गन्धर्वराज! तू त्रिपुरीमें नर्मदाके तटपर जा। वहाँ समस्त भयोंका नाश करनेवाले साक्षात् भगवान् सूर्य निवास करते हैं। नर्मदाके उत्तर तटपर उनका स्थान भास्करतीर्थके नामसे प्रसिद्ध है। उसमें स्नान करनेसे तुमपर लगा हुआ शाप निवृत्त हो जायगा।

तब वह गन्धर्वराज दुर्वासामुनिको प्रणाम करके नर्मदातटपर गया। वहाँ विधिपूर्वक स्नान करके उसने भगवान् भास्करकी आराधना की। तीन राततक आराधना होनेपर चौथे दिन प्रातःकाल भगवान् सूर्यने कहा—'महाभाग! तुम कोई मनोवांछित वर माँगो।' गन्धर्वने कहा—'देवेश्वर! आपके प्रसादसे मेरा यह चित्रकुष्ठ निवृत्त हो जाय।' भगवान् सूर्य बोले—'एवमस्तु।' तदनन्तर वह शापसे मुक्त होकर अपने लोकको चला गया।

युधिष्ठिर! भास्करतीर्थमें पुत्रकी कामनासे सावित्री-देवीकी आराधना की जाती है। यहाँ स्नान करके सूर्यदेवका पूजन करनेसे मनुष्य पुत्रवान् एवं रोगमुक्त होता है। वहीं दक्षिणभागमें कोटीश्वर महादेव हैं। उनका विधिपूर्वक पूजन करनेसे मनुष्य कोटि लिंगोंकी पूजाका फल पा लेता है। जो स्वाधीन अथवा पराधीन होकर भी वहाँ प्राणोंका त्याग करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो शिवलोकमें प्रतिष्ठित होता है।

# सोमतीर्थ, ब्रह्मकुण्ड, ब्रह्मेश्वर लिंग, सिद्धेश्वर लिंग तथा संगमतीर्थकी महिमा

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—राजन्! कोटितीर्थके दक्षिण भागमें नर्मदाके तटपर ही सोमतीर्थ है, जो भगवान् सोम (चन्द्रमा)-द्वारा आराधित है। वहाँ स्नान करके मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं और जिनकी वहाँ मृत्यु होती है, वे फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेते हैं। सोमदेवके दक्षिण भागमें शक्रेश्वर महादेव विराजमान हैं। पूर्वकालमें इन्द्रने वहाँ सम्पूर्ण कामनाओंकी सिद्धिके लिये भगवान् शिवकी आराधना की थी। वहीं ब्रह्मकुण्ड नामसे प्रसिद्ध एक दूसरा तीर्थ है जहाँ नर्मदा नदीकी धारा उत्तरकी ओर बहती है और जहाँ साक्षात् भगवान् विष्णु निवास करते हैं। महाराज! वहाँ स्नान करके मनुष्य विष्णुलोकमें जाता है। अमावास्या तथा व्यतिपात योगमें वहाँ तिल और जलकी अंजलि देने तथा श्राद्ध करनेसे पितरोंको अक्षय तृप्ति होती है। नृपश्रेष्ठ! जहाँ उत्तरवाहिनी नर्मदा, पश्चिमवाहिनी गंगा और पूर्ववाहिनी सरस्वती प्राप्त हों, उस क्षेत्रकी अवश्य यात्रा करो। ब्रह्मकुण्डके उत्तर भागमें सनातनदेव लक्ष्मीपति भगवान् मधुसूदन अम्बरीषके नामसे विख्यात हैं। राजन्! जो एकादशीको वहाँ स्नान करके भगवान्‌की पूजा करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होता और भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है। उसीके पश्चिम भागमें हंसतीर्थ है। वहाँ भी स्नान करके जो श्राद्ध और दान करता है, वह हंसतीर्थके प्रभावसे तिर्यग्योनि (पशु-पक्षियोंकी योनि)-में नहीं जन्म लेता। उसके पश्चिम भागमें महाकाल नामसे प्रसिद्ध शिवलिंग है, जिसकी विधिपूर्वक पूजा करके मनुष्य भगवान् शिवके लोकमें जाता है। वहीं मातृतीर्थ नामसे प्रसिद्ध जो पुण्यस्थान है, उसमें मातृकेश्वर लिंग प्रतिष्ठित है। वहाँ स्नान करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है। सप्तविंशोद्भवतीर्थमें स्नान करके पितरोंको जल और पिण्ड देनेसे मनुष्य समस्त मनोवांछित कामनाओंसे सम्पन्न होकर भगवान् शिवके लोकमें सम्मानित होता है। वहाँसे पश्चिम ब्रह्मेश्वर लिंग है, जिसकी आराधना साक्षात् ब्रह्माजीने की है। वह शीघ्र ही समस्त कामनाओंके अनुसार फल देनेवाला है। ब्रह्मेश्वरदेवके दर्शनसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। मंगल और चतुर्दशीको विधिपूर्वक उनकी पूजा करके शिवभक्तिमें तत्पर रहनेवाला मानव शिवलोकमें प्रतिष्ठित होता है। उससे पश्चिम भागमें सिद्धेश्वर नामक प्रसिद्ध शिवलिंग है। उसीके समीप सब पापोंका नाश करनेवाला सिद्धेश्वर तीर्थ है। वहाँ स्नान करनेसे स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है और जो वहाँ मृत्युको प्राप्त होते हैं, उनका फिर संसारमें जन्म नहीं होता। पौषमासके शुक्ल पक्षकी अष्टमी तिथिको विधिपूर्वक उनकी पूजा करके मनुष्य स्वर्गलोकमें आदर पाता है।

उससे उत्तर भागमें विश्वविख्यात संगमतीर्थ है। वहाँ गंगा, यमुना और नर्मदाका नित्य संगम जानना चाहिये। महाराज! उसमें स्नान करनेवालेको अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है। उस तीर्थमें पितरोंका श्राद्ध अवश्य करना चाहिये। वह उनकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाला होता है।

**राजाने पूछा**—मुनिश्रेष्ठ! इस तीर्थमें गंगा और यमुना कैसे आयीं, यह प्रसंग विस्तारपूर्वक बतलाइये।

**मार्कण्डेयजी बोले**—राजन्! त्रिपुरीमें मतंग नामसे प्रसिद्ध एक धर्मपरायण राजर्षि रहते थे। वे भगवान् शिवके भक्त, महान् योगी और वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ थे। एक दिन तपस्वी मतंग मुनिके समीप उसी मार्गसे जाते हुए सप्तर्षिगण आये। उन्होंने उन ऋषियोंको नमस्कार करके अर्घ्य और पाद्य आदिके द्वारा उन सबकी पूजा की। जब वे सब लोग कुशासनपर विराजमान हो गये, तब मतंग मुनि विनयपूर्वक बोले—'महर्षियो! आज मैं धन्य हो गया; क्योंकि आज मेरे यहाँ श्राद्धके दिन आप-जैसे महात्मा ब्राह्मण पधारे हैं।'

**महामुनि मतंगका यह वचन सुनकर वसिष्ठजी बोले**—महर्षे! हमलोग तो गंगा-यमुनाके संगममें स्नान करके ही भोजन करेंगे। तब मतंगजीने हँसकर कहा-'अच्छा, आज यहीं गंगा-यमुनाके संगममें आपलोगोंका स्नान होगा।' ऐसा कहकर मुनिने ध्यानमें स्थित होकर गंगा-यमुनाका आवाहन किया। उनके आवाहनसे गंगा और यमुना दोनों नदियाँ तत्काल वहाँ चली आयीं। तब मतंगजीने कहा—'मुनिवरो! अब आपलोग गंगा-यमुनाके संगममें स्नान करें।' सप्तर्षि महात्मा मतंगका यह अद्भुत कर्म देखकर मन-ही-मन बड़े विस्मित हुए। तदनन्तर उन मुनीश्वरोंने विधिपूर्वक स्नान किया और मतंग मुनिका पितृ-यज्ञ सम्पन्न कराकर स्वर्गलोकको प्रस्थान किया। गंगा और यमुना दोनों ही नर्मदामें समा गयीं। इस प्रकार वहाँ सब पापोंका नाश करनेवाला श्रेष्ठ संगमतीर्थ प्रकट हुआ। जो मनुष्य सब धर्मोंसे सम्पन्न और शिवभक्तिमें तत्पर होकर सोमवती अमावास्याके दिन संगमतीर्थमें स्नान करता है, वह पहले और पीछेकी सात-सात पीढ़ियोंका उद्धार करके तत्काल विशुद्ध होकर स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है। उसे सब पापोंसे छुटकारा मिल जाता है। जो क्रोध और इन्द्रियोंको जीतकर लगातार छः महीनेतक प्रतिदिन वहाँ स्नान और महेश्वरकी पूजा करता है, वह किसी कारणसे यदि कभी म्लेच्छदेशमें या जहाँ कहीं भी मृत्युको प्राप्त हो जाय, अन्तमें भगवान् शिवके समीप ही जाता है।

## ध्रुवेश्वर, वाराह, चान्द्रायण, द्वादशादित्य तथा गांजालतीर्थकी महिमा, राजा हरिकेशकी शुद्धि

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—राजन्! जो मानव ध्रुवतीर्थमें स्नान करके ध्रुवेश्वर महादेवजीका भक्तिपूर्वक पूजन करता है, वह शुभ विद्याधरलोकमें एक लाख वर्षोंतक राजाके पदपर प्रतिष्ठित होता है। नर्मदातटपर एक नाक्षत्र नामक तीर्थ है, जहाँ सब पापोंका नाश करनेवाले ऋक्षेश्वर महादेव प्रतिष्ठित हैं। वहाँ सत्ताईस नक्षत्र सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। उस तीर्थमें स्नान करके लोग स्वर्गमें जाते हैं और जिनकी वहाँ मृत्यु होती है, वे फिर जन्म न लेकर मुक्त हो जाते हैं।

तदनन्तर 'वाराह' नामसे विख्यात एक श्रेष्ठ तीर्थ है, जहाँ कल्याणदायिनी नर्मदा 'शूकरा' कहलाती हैं। वहाँ एकादशी तिथिको स्नान करके शास्त्रोक्त दानादि सत्कर्म करनेके पश्चात् जो विष्णुपरायण व्रती पुरुष द्वादशीको शुद्ध भावसे गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य आदिके द्वारा भगवान् वाराहकी पूजा करता है, वह भगवान् विष्णुके वैकुण्ठधाममें सदा आनन्द भोगता है। जो ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए क्रोधको जीतकर वैष्णवधर्ममें तत्पर हो भक्तिपूर्वक वैष्णव ब्राह्मणोंको भोजन कराता है तथा विष्णुधर्म लिखवाकर श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको निवेदन करता है, उसे ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों देवता वर देते हैं। विद्यादानसे बड़ा और कोई दान नहीं है। उसके प्रभावसे दाताको सब फल प्राप्त हो जाता है।

तदनन्तर चान्द्रायण नामक एक उत्तम तीर्थ है। पूर्णिमा तिथिको जब चन्द्रमाका रोहिणी नक्षत्रसे योग हो, तब उस महोत्सवकी वेलामें सब सिद्धियोंको देनेवाले भगवान् चन्द्रभूषणकी पूजा करके मानव स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है। जो परम धर्मात्मा पुत्र पूर्णिमा तथा सूर्यग्रहणके अवसरपर पितरोंके लिये तिल और जलकी अंजलि अथवा पिण्डदान देता है, उसके पापात्मा पितर भी तृप्त हो जाते हैं।

वहीं द्वादशादित्यतीर्थ है। वह उत्तरायण कालमें पुण्यकी वृद्धि करनेवाला है। राजन्! वहाँ संक्रान्तिकाल और विषुवयोगमें स्नान एवं सूर्यदेवका

पूजन करके मनुष्य सूर्यलोकमें सम्मानित होता है। उत्तर दिशामें शंकर नामक शिवलिंग बताया गया है। जो अमावास्यामें भगवान् शंकरका पूजन करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित होता है। उसके बाद विश्वविख्यात संगमतीर्थ है, जहाँ नर्मदाके साथ दत्तात्रेया नदी मिली हुई है। वह उत्तरकी ओरसे आकर मिलती है। देवता और दैत्य सभी दत्तात्रेया नदीको मस्तक झुकाते हैं। वहाँ संगममें स्नान, दान और भगवान् विष्णुका पूजन करके मनुष्य श्रीहरिके लोकमें जाते हैं। मेधातिथि, कर, स्कन्द, सावर्णि, कौशिक, मनु, काश्यप, गालव तथा तपोनिधि मैत्रेय—ये और दूसरे भी उत्तम व्रतका पालन करनेवाले बहुत-से महर्षि इस तीर्थके प्रभावसे उत्तम सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं।

चन्द्रवंशमें सत्यधर्मपरायण देवानीक नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। उनके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम हरिकेश रखा गया। वह समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न महान् बलवान् चक्रवर्ती राजा हुआ। महात्मा हरिकेशने अनेक यज्ञ किये। उनकी राजधानी कन्यापुरमें थी, जो कुबेरकी अलकाके समान शोभा पाती थी। कन्यापुरकी समस्त प्रजा दीर्घायु और धन-धान्यसे सम्पन्न थी। श्रीशैल नामक पर्वतपर त्रिपुराके समीप तुंगभद्रा नामवाली एक नदी है जो मल्लिकार्जुनके दर्शनसे पाताल-गंगा कही गयी है। उस पुण्यतीर्थमें प्रतापी हरिकेशने सूर्यग्रहणके समय एक लाख गौ और एक सहस्र स्वर्णमुद्राकी व्यवस्था की। फिर सूर्यग्रहणसे पाँच दिन पूर्व उन्होंने वेदोंके विद्वान् एवं बहुश्रुत ब्राह्मणोंको बुलवाया। वे ग्रहणके समय इन सब गौओंका दान करना चाहते थे। ग्रहणसे पूर्व उन्होंने आग्नेयी इष्टि प्रारम्भ कर दी। दैवयोगसे उनके आहवनीय अग्निमें अत्यन्त तेजस्वी रुद्र देवतासम्बन्धी मन्त्रोंद्वारा आहुति डाली गयी। उस समय पातालसे प्रलयकालके समान प्रज्वलित अग्नि प्रकट हुई, जिसने वहाँके दस हजार ब्रह्मचारियों और एक लाख गौओंको जलाकर भस्म कर दिया। वहाँका यज्ञमण्डप और नगर भी भस्मसात् हो गया। यह सब देखकर हरिकेशके मनमें बड़ा विषाद हुआ। वे अग्निमें समा जानेके लिये अपनी रानियों और समस्त मन्त्रियोंके साथ आसनसे उठकर खड़े हो गये। उस समय सब ओर बड़ा हाहाकार मचा। तब एक ब्राह्मणने कहा—'महाभाग! तुम श्रेष्ठ नगर कल्पग्राममें चले जाओ।'

राजा हरिकेश वहाँ जाकर मुनियोंकी आज्ञा पाकर तत्पश्चात् सोमयज्ञ करनेके लिये कुरुक्षेत्रको गये और वहाँ सरस्वती नदीकी शरण ली। वहाँ पहुँचकर उन्होंने शिव, विष्णु और सरस्वतीका स्तोत्र एवं जप किया। वे बोले—'मैं कुरुक्षेत्रको जाऊँगा और कुरुक्षेत्रमें ही निवास करूँगा। कुरुक्षेत्रका नाम लेनेसे भी मनुष्य पापमुक्त हो जाता है। सम्पूर्ण शब्दरूपी महौषधोंसे जिन्होंने समस्त जीवोंके कलंकको धो डाला है, जिनके तीर्थोंका मुनिगण सेवन करते हैं, वे सरस्वती-देवी मेरे पापोंका नाश करें।'

**राजाका यह वचन सुनकर पापोंका अपहरण करनेवाली सरस्वतीने कहा**—राजन्! विषाद छोड़ो और मेरा श्रेष्ठ वचन सुनो। तुम्हारे यज्ञमें दस हजार ब्रह्महत्या तथा एक लाख गो-हत्या हुई है। इतने महान् पापसे छुटकारा दिलानेमें इस चराचर जगत्के भीतर एकमात्र नर्मदा नदी ही समर्थ है। नर्मदा समस्त पापोंका नाश करनेवाली है। मैं सूर्यग्रहणके अवसरपर बारहवें या चौबीसवें वर्ष सदैव नर्मदाके कोटितीर्थमें स्नान करनेके लिये जाया करती थी। इससे मैं भी परम शुद्ध हो गयी हूँ। नृपश्रेष्ठ! नर्मदामें स्नान और शिवका पूजन करके एक श्रेष्ठ यज्ञ करो और उसमें बहुत-से सुवर्णकी दक्षिणा दो। उससे तुम्हारा उद्धार हो जायगा। जो ब्राह्मण और गौएँ वहाँ मृत्युको प्राप्त हुई हैं, उनकी हड्डियोंको ले जाकर नर्मदाजीके जलमें बहा दो। उस जलका स्पर्श होनेसे उन सबको देवलोककी प्राप्ति हो जायगी और नर्मदाके

जल एवं तिलकी अंजलि देनेसे उन सबकी उत्तम मुक्ति हो जायगी।

सरस्वतीका यह वचन सुनकर राजाने उनको प्रणाम किया और रानियों तथा परिवारके साथ प्रसन्नतापूर्वक कन्यापुरमें लौट आये। वहाँ जाकर राजाने सेवकोंको आज्ञा दी कि 'तुम सब लोग सब आवश्यक सामान एकत्र करके यज्ञकी सामग्री भी साथ लेकर नर्मदा नदीके तटपर चलो।' यह आदेश पाकर सेवकोंने अन्य सामानोंके साथ-साथ उचित रीतिसे उन ब्राह्मणों और गौओंका अस्थिभस्म भी वहाँ पहुँचा दिया। तदनन्तर वह अस्थिभस्म आदि नर्मदाके जलमें मन्त्रोच्चारणपूर्वक बहा दिया गया और उत्तम विधिसे पूजन करके हाथ जोड़े हुए राजाने देवताओं और ब्राह्मणोंको तृप्त किया। उस स्थानपर एक स्रोत प्रकट होकर नर्मदाके जलमें जा मिला। वह नर्मदासंगम 'गांजाल' के नामसे प्रसिद्ध हुआ। जहाँ गांजाल है, वहीं एक सिद्ध लिंग भी है। जो ब्राह्मण और गौ उस प्रलयाग्निद्वारा दग्ध हुए थे, वे दिव्य विमानपर आरूढ़ हो आशीर्वाद देते हुए हरिकेशकी प्रशंसा करने लगे—'महाभाग! तुम्हारे प्रसादसे हम सब लोग दिव्यलोकमें देवभावको प्राप्त हो गये।' ऐसा कहकर वे सभी विष्णुधाममें चले गये।

**राजाओंमें श्रेष्ठ हरिकेश भी अत्यन्त प्रसन्नताके साथ लोकपावनी नर्मदादेवीको नमस्कार करके एकाग्रचित्त हो उनकी स्तुति करने लगे**—सरिताओंमें श्रेष्ठ नर्मदे! आपको नमस्कार है। आपके जलमें जहाँ कहीं भी स्नान करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है, इस घोर संसार-सागरमें फिर उसका जन्म नहीं होता। कोई भी बलवान् सहस्रों जन्मोंमें भी आपके वेगको रोक नहीं सकता। आपने सम्पूर्ण चराचर विश्वको अपने जलसे व्याप्त कर रखा है। महादेवि! आपके ही प्रसादसे मनुष्यकी इस भवसागरसे मुक्ति होती है।

**राजाका यह स्तोत्र सुनकर नर्मदादेवीने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया और इस प्रकार कहा**—महाभाग! तुम अपनी इच्छाके अनुसार वर माँगो। हरिकेशने कहा—'देवि! आप मुझे पवित्र कर दें। आपके जलमें स्नान, अवगाहन, पान तथा आपके नामका स्मरण एवं कीर्तन करनेसे तत्काल ही सात जन्मोंके किये हुए पाप नष्ट हो जायँ।' नर्मदा बोलीं—'नृपश्रेष्ठ! 'एवमस्तु'।' ऐसा कहकर नर्मदा देवी वहीं अन्तर्धान हो गयीं।

तदनन्तर चक्रवर्ती राजा हरिकेशने साष्टांग प्रणाम करके इच्छानुसार चलनेवाले रथपर आरूढ़ हो अपने नगरमें प्रवेश किया। वहाँ अन्तःपुर एवं परिवारके साथ उन्होंने प्रचुर भोगोंका उपभोग किया और अन्तकाल आनेपर वे देवलोकको प्राप्त हुए।

## नर्मदा और मत्स्याके संगमका माहात्म्य, महर्षि आपस्तम्बके द्वारा गौओंकी महत्ताका प्रतिपादन तथा तीर्थके प्रभावसे निषादोंका मछलियोंसहित उद्धार

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—राजन्! पूर्वकालमें आपस्तम्ब नामसे प्रसिद्ध एक महर्षि हो गये हैं, जो ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ एवं उपवासव्रतमें तत्पर रहनेवाले थे। उन्होंने काम, क्रोध, लोभ और मोहको सदाके लिये त्यागकर नर्मदा और मत्स्याके संगमके जलमें प्रवेश किया था। जलके भवँरमें बैठे हुए महातपस्वी आपस्तम्बको मल्लाहोंने मछलियोंसहित जाल उठाते समय जलके बाहर खींच लिया। उन्हें इस दशामें देखकर वे निषाद भयसे व्याकुल हो उठे और मुनिके चरणोंमें प्रणाम करके इस प्रकार बोले—'ब्रह्मन्! हमने अनजानमें बड़े भारी अपराध कर डाले हैं, आप उन्हें क्षमा करें। इसके सिवा इस समय आपका प्रिय कार्य क्या है, उसके लिये आज्ञा दें।'

मुनिने देखा कि इन मल्लाहोंद्वारा यहाँकी मछलियोंका बड़ा भारी संहार हो रहा है। यह

देखकर उनका हृदय करुणासे भर आया। वे दुःखी होकर बोले—'भेददृष्टि रखनेवाले जीवोंके द्वारा दुःखमें डाले हुए प्राणियोंकी ओर जो अपने सुखकी इच्छासे ध्यान नहीं देता, उससे बढ़कर क्रूर इस संसारमें दूसरा कौन है। अहो, स्वस्थ प्राणियोंके प्रति यह निर्दयतापूर्ण अत्याचार तथा स्वार्थके लिये उनका व्यर्थ बलिदान—कैसे आश्चर्यकी बात है? ज्ञानियोंमें भी जो केवल अपने ही हितमें तत्पर है, वह श्रेष्ठ नहीं है; क्योंकि यदि ज्ञानी पुरुष भी अपने स्वार्थका आश्रय लेकर ध्यानमें स्थित होते हैं तो इस जगत्के दुःखातुर प्राणी किसकी शरणमें जायँगे। जो मनुष्य स्वयं अकेला ही सुख भोगना चाहता है, उसे मुमुक्षु पुरुष पापीसे भी महापापी बताते हैं। मेरे लिये वह कौन-सा उपाय है, जिससे मैं दुःखित चित्तवाले सम्पूर्ण जीवोंके भीतर प्रवेश करके अकेला ही सबके दुःखोंको भोगता रहूँ। मेरे पास जो कुछ भी पुण्य है, वह सभी दीन-दुःखियोंके पास चला जाय और उन्होंने जो कुछ पाप किया हो, वह सब मेरे पास आ जाय। इन दरिद्र, विकलांग तथा रोगी प्राणियोंको देखकर जिसके हृदयमें दया नहीं उत्पन्न होती, वह मेरे विचारसे मनुष्य नहीं, राक्षस है। जो समर्थ होकर भी प्राण-संकटमें पड़े हुए भयविह्वल प्राणियोंकी रक्षा नहीं करता, वह उसके पापको भोगता है। अतः मैं इन दीन-दुःखी मछलियोंको दुःखसे मुक्त करनेका कार्य छोड़कर मुक्तिको भी वरण करना नहीं चाहता, फिर स्वर्गलोककी तो बात ही क्या है?'

मुनिका यह वचन सुनकर मल्लाहलोग बहुत घबराये। उन्होंने महाराज नाभागके पास जाकर सब बातें यथार्थरूपसे बतलायीं। नाभाग भी वह वृत्तान्त सुनकर अपने मन्त्रियों तथा पुरोहितोंके साथ मुनिका दर्शन करनेके लिये तुरंत ही वहाँ आये। राजाने उन देवकल्प महर्षिका भलीभाँति पूजन करके कहा—'भगवन्! आज्ञा दीजिये, मैं आपकी कौन-सी सेवा करूँ?'

**आपस्तम्ब बोले**—राजन्! ये मल्लाह बड़े दुःखसे जीविका निर्वाह करते हैं। इन्होंने मुझे जलसे बाहर निकालकर बड़ा भारी परिश्रम किया है। अतः तुम मेरा जो उचित मूल्य समझो, वह इन्हें दे दो।

**नाभाग बोले**—भगवन्! मैं इन निषादोंको आपके बदलेमें एक लाख स्वर्णमुद्रा देता हूँ।

**आपस्तम्बने कहा**—राजन्! मेरा मूल्य एक लाख ही नियत करना उचित नहीं है। मेरे योग्य जो मूल्य हो, वह इन्हें अर्पण करो। इस सम्बन्धमें अपने मन्त्रियोंके साथ विचार कर लो।

**नाभाग बोले**—द्विजश्रेष्ठ! यदि पूर्वोक्त मूल्य उचित नहीं है तो इन निषादोंको एक करोड़ दे दिया जाय और यदि यह भी आपके योग्य न हो तो आज्ञा होनेपर और अधिक भी दिया जा सकता है।

**आपस्तम्ब बोले**—राजन्! मैं एक करोड़ या इससे अधिक मूल्यके योग्य नहीं हूँ। मेरे योग्य मूल्य चुकाओ। ब्राह्मणोंसे सलाह ले लो।

**राजाने कहा**—यदि ऐसी बात है तो मेरा आधा या पूरा राज्य इन निषादोंको दे दिया जाय। मेरे मतमें यह मूल्य आपके योग्य होगा। किंतु आप किस मूल्यको पर्याप्त मानते हैं, यह स्वयं बतानेकी कृपा करें।

**आपस्तम्ब बोले**—राजन्! तुम्हारा आधा या पूरा राज्य भी मेरे लिये उचित मूल्य नहीं है। मूल्य वह दो, जो मेरे योग्य हो। (समझमें न आता हो तो) ऋषियोंके साथ विचार कर लो।

महर्षिका यह वचन सुनकर मन्त्रियों और पुरोहितोंके साथ विचार-विमर्श करते हुए धर्मात्मा राजा नाभाग बड़ी चिन्तामें पड़ गये। इसी समय महातपस्वी लोमश ऋषि वहाँ आ गये। उन्होंने नाभागसे कहा—'राजन्! भय न करो। मैं मुनिको सन्तुष्ट कर लूँगा।'

**राजा बोले**—महाभाग! आप ही इनका मूल्य बता दें। अन्यथा ये महर्षि क्रोधमें आकर मेरे कुटुम्ब, कुल, बन्धु-बान्धव तथा समस्त चराचर त्रिलोकीको भस्म कर सकते हैं, फिर मुझ-जैसे

अत्यन्त तुच्छ, दीन एवं विषयी मनुष्यकी तो बात ही क्या है?

**लोमशने कहा**—महाराज! तुम उनका मूल्य देनेमें समर्थ हो। श्रेष्ठ द्विज जगत्के लिये पूजनीय हैं और गौएँ भी दिव्य एवं पूजनीय मानी गयी हैं। अतः तुम उनके लिये मूल्यके रूपमें 'गौ' ही दो।

**लोमशजीका यह वचन सुनकर राजा नाभाग मन्त्री और पुरोहितोंके साथ बहुत प्रसन्न हुए और हर्षमें भरकर बोले**—भगवन्! उठिये-उठिये। मुनिश्रेष्ठ! यह आपके लिये योग्यतम मूल्य प्रस्तुत कर दिया गया है।

**आपस्तम्बने कहा**—अब मैं प्रसन्नतापूर्वक उठता हूँ। राजन्! तुमने उचित मूल्य देकर मुझे खरीदा है। मैं गौओंसे बढ़कर दूसरा मूल्य कोई ऐसा नहीं देखता जो परम पवित्र एवं पापोंका नाश करनेवाला हो। गौओंकी परिक्रमा करनी चाहिये। वे सदा सबके लिये वन्दनीय हैं। गौएँ मंगलका स्थान हैं, दिव्य हैं। स्वयं ब्रह्माजीने इन्हें दिव्य गुणोंसे विभूषित बनाया है। जिनके गोबरसे ब्राह्मणोंके घर और देवताओंके मन्दिर भी शुद्ध होते हैं, उन गौओंसे बढ़कर अन्य किसको बतावें। गौओंके मूत्र, गोबर, दूध, दही और घी—ये पाँचों वस्तुएँ पवित्र हैं और सम्पूर्ण जगत्को पवित्र करती हैं। गायें मेरे आगे रहें, गायें मेरे पीछे रहें, गायें मेरे हृदयमें रहें और मैं गौओंके मध्यमें निवास करूँ।*

जो प्रतिदिन तीनों सन्ध्याओंके समय नियमपरायण एवं पवित्र होकर '**गावो मे चाग्रतो नित्यम्**' इत्यादि श्लोकका पाठ करता है। वह सब पापोंसे मुक्त होता और स्वर्गलोकमें जाता है। प्रतिदिन भक्तिभावसे गौओंको गोग्रास देनेमें श्रद्धा रखनी चाहिये। जो प्रतिदिन गोग्रास अर्पण करता है, उसने अग्निहोत्र कर लिया, पितरोंको तृप्त कर दिया और देवताओंकी पूजा भी सम्पन्न कर ली। गोग्रास देते समय प्रतिदिन इस मन्त्रार्थका चिन्तन करे। सुरभिकी पुत्री गोजाति सम्पूर्ण जगत्के लिये पूज्य है, वह सदा विष्णुपदमें स्थित है और सर्वदेवमयी है। मेरे दिये हुए इस ग्रासको गौमाता देखें और ग्रहण करें।†

ब्राह्मणोंकी रक्षा करने, गौओंको खुजलाने और सहलाने तथा दीन-दुर्बल-दुःखी प्राणियोंका पालन करनेसे मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है। यज्ञका आदि, अन्त और मध्य गौओंको ही बताया गया है। वे दूध, घी और अमृत सब कुछ देती हैं। इसलिये गौओंका दान करना चाहिये और उनकी प्रतिदिन पूजा करनी चाहिये। ये गौएँ स्वर्गलोकमें जानेके लिये सीढ़ी बनायी गयी हैं।

**गौओंके इस उत्तम माहात्म्यको सुनकर निषादोंने महाभाग आपस्तम्बजीको प्रणाम करके कहा**—प्रभो! हमने सुना है कि साधुपुरुषोंके सम्भाषण, दर्शन, स्पर्श, श्रवण और कीर्तन सभी पवित्र करनेवाले हैं। हमने यहाँ आप-जैसे महात्माके साथ वार्तालाप किया और आपका दर्शन भी कर लिया। अब हम आपकी शरणमें आये हैं, आप हमारे ऊपर अनुग्रह कीजिये।

**आपस्तम्बजी बोले**—इस गौको तुमलोग ग्रहण करो। इससे तुम सब लोग पापमुक्त हो जाओगे।

---

* गावः प्रदक्षिणी कार्या वन्दनीया हि नित्यशः। मङ्गलायतनं दिव्याः सृष्टास्त्वेताः स्वयम्भुवा॥
अप्यागाराणि विप्राणां देवतायतनानि च। यद्गोमयेन शुद्ध्यन्ति किं ब्रूमो ह्यधिकं ततः॥
गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिस्तथैव च। गवां पञ्च पवित्राणि पुनन्ति सकलं जगत्॥
गावो मे चाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च। गावो मे हृदये चैव गवां मध्ये वसाम्यहम्॥
(स्क० पु०, आव० रे० १३।६२—६५)

† तेनाग्नयो हुताः सम्यक् पितरश्चापि तर्पिताः। देवाश्च पूजितास्तेन यो ददाति गवाह्निकम्॥
गोग्रास-समर्पणमन्त्रः—
सौरभेयी जगत्पूज्या नित्यं विष्णुपदे स्थिता। सर्वदेवमयी ग्रासं मया दत्तं प्रतीक्षताम्॥
(स्क० पु०, आव० रे० १३। ६८-६९)

निषाद निन्दित कर्मसे युक्त होनेपर भी प्राणियोंके मनमें प्रीति उत्पन्न करके इन जलचारी मत्स्योंके साथ स्वर्गलोकमें जायँ। मैं नरकको देखूँ या स्वर्गमें निवास करूँ, किंतु मेरे द्वारा मन, वाणी, शरीर और क्रियासे जो कुछ भी पुण्यकर्म बना हो, उससे ये सभी दुःखार्त प्राणी शुभ गतिको प्राप्त हों।

तदनन्तर शुद्धचित्तवाले महर्षि आपस्तम्बकी सत्यवाणीके प्रभावसे वे सभी मल्लाह मछलियोंके साथ स्वर्गलोकमें चले गये। मछलियोंसहित उन मत्स्यजीवी निषादोंको स्वर्गमें गया हुआ देख मन्त्रियों और सेवकोंके साथ राजा नाभागको बड़ा विस्मय हुआ। वे इस प्रकार बोले—'कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको सदा संतों एवं पवित्र जलवाले तीर्थोंका सेवन करना चाहिये। इस जगत्में एक क्षणके लिये भी उनका संग किया जाय तो वह कभी निष्फल नहीं होता। अतः साधु-महात्माओंके पास बैठे और उन्हींके साथ उत्तम कथा वार्ता करे।'

तदनन्तर आपस्तम्ब मुनि एवं महातपस्वी लोमशने नाना प्रकारके उत्तम पद सुनाकर राजाको बोध प्राप्त कराया। तब राजाने परम दुर्लभ धर्ममयी बुद्धि धारण की। तत्पश्चात् वे दोनों महर्षि राजा नाभागकी प्रशंसा करते हुए बोले—'अहो! राजेन्द्र! तुम धन्य हो, क्योंकि तुम्हारी बुद्धि धर्ममें तत्पर हुई है। मनुष्योंके लिये धर्म परम दुर्लभ है, विशेषतः राजाओंके लिये तो वह और भी दुर्लभ है। यदि राजा राज्यमदसे उन्मत्त होकर स्वधर्मका परित्याग न करे तो उससे बढ़कर दूसरा कौन हो सकता है? धर्म ही ध्रुव है—वह सदा अटल रहनेवाला है। राज्य तो मोहरूप अथवा मोहका आश्रय है। वह स्थिर रहनेवाला नहीं। परंतु राज्यविषयक मोह होनेपर नरककी प्राप्ति अत्यन्त ध्रुव है। अतः विद्वान् पुरुष राज्यकी निन्दा करते हैं। विषयलोलुप अविवेकी मनुष्य ही राज्यको मान्यता देते हैं। मनीषी पुरुष तो उसे सदा नरकके तुल्य देखते हैं। अतः महाराज! यदि तुम अपने लिये सनातन गति चाहते हो तो तुम्हें अपने मनमें शोक, मोह और मदको कभी स्थान नहीं देना चाहिये।'

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—राजन्! ऐसा कहकर वे दोनों महात्मा आपस्तम्ब और लोमश अपने-अपने आश्रमको चले गये। राजा नाभागने भी वरदान पाकर प्रसन्नतापूर्वक अपने नगरमें प्रवेश किया। महाराज! इस तीर्थमें स्नान करके मत्स्येश्वरकी पूजा करो। इसी तीर्थके प्रभावसे महाभाग आपस्तम्ब और मत्स्यजीवी निषाद मछलियोंके साथ दिव्य-लोकको प्राप्त हुए। वे सब आज भी दिव्य कान्ति धारण करके वैष्णवधाममें विहार करते हैं।

## कलहंसेश्वर तीर्थका प्रादुर्भाव और उसका माहात्म्य

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—राजन्! अब मैं पापोंका नाश करनेवाले दूसरे तीर्थका माहात्म्य बताऊँगा। नर्मदाके तटपर कलहंस नामसे विख्यात एक देवर्षि ध्यान लगाया करते थे। उनके मनोहर आश्रममें बहुत-से ब्रह्मर्षि निवास करते थे। वे शाक और मूल-फल खाकर जप और ध्यानमें तत्पर रहते थे। युधिष्ठिर! समस्त प्राणियोंके हितमें संलग्न रहनेवाले कलहंसजी भगवान् शिवके ध्यानमें स्थित हो पंद्रह हजार वर्षोंतक एक पैरसे खड़े रहे। उनकी तपस्या और ध्याननिष्ठासे इन्द्रको बड़ा भय हुआ और वे कुबड़े तथा नाटे ब्राह्मणका रूप धारण करके कलहंसके आश्रमपर गये। वहाँ पहुँचकर उन वृद्ध ब्राह्मणने पूछा—'तपोधन! आप किस उद्देश्यसे तपस्या करते हैं?'

**कलहंसने हँसते हुए कहा**—महाभाग! मैं आपको जानता हूँ। आप देवताओंके स्वामी इन्द्र हैं। मैं इन्द्रपद नहीं चाहता। आप इच्छानुसार राज्य कीजिये। मैं महादेवजीकी आराधना करता हूँ और किसी देवताकी नहीं।

**महर्षिका यह वचन सुनकर इन्द्र बोले**—महाभाग! आप मुझसे वर माँगिये, जिससे आपको शंकरजीका दर्शन होगा।

**कलहंसने कहा**—देवराज! मैं भगवान् शंकरको छोड़कर और किसी देवतासे वरदानकी याचना नहीं करूँगा।

उनके ऐसा कहनेपर इन्द्र सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न हो लौट गये। कलहंसकी पराभक्तिको जानकर देवाधिदेव महेश्वरने उन्हें अपने नीलकण्ठ त्रिलोचन स्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन कराया। महादेवजीका वह स्वरूप देखकर मुनिश्रेष्ठ कलहंसने साष्टांग प्रणाम किया और इस प्रकार उनकी स्तुति की—'महादेव! आपको नमस्कार है। नीलकण्ठ! त्रिलोचन! आपको नमस्कार है। आप कल्याणस्वरूप और परम शान्त हैं, आपको नमस्कार है। हाथमें त्रिशूल धारण करनेवाले महादेव! आपको नमस्कार है। सबको जन्म देनेवाले भगवान् शिवको नमस्कार है। जिनका दूसरा कोई स्वामी नहीं है, उन महेश्वरको बार-बार नमस्कार है। महादेव इत्यादि नामोंसे जिनकी स्तुतिकी जाती है, उन भगवान् त्रिलोचनको नमस्कार है। ॐ कल्याणकी प्राप्ति करानेवाले देवता शिवको नमस्कार है। भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, चन्द्रमा, रुद्र, अन्धकार और प्रकाशमय सूर्य जिनके स्वरूप हैं, जो भयंकर प्रलयंकर अग्नि हैं, उन भगवान् महेश्वरको नमस्कार है। पंचमुख शम्भो! आपको नमस्कार है। महाशिव! आपको नमस्कार है। ब्रह्माजीका लोक, वन और पाताल जिनका स्वरूप है तथा जिनके कण्ठमें नील चिह्न शोभा पा रहा है, उन भगवान् शिवको नमस्कार है। ब्रह्म, शर्व, सुरेशान, हरि तथा हर आदि नामोंसे जिनके ही स्वरूपका बोध होता है, उन भगवान् शिवको बारंबार नमस्कार है। ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और चराचर जगत्स्वरूप आपको नमस्कार है। प्रभो! आप ही पातालनिवासी हाटकेश्वर अथवा स्वर्णरूप हैं, आपको नमस्कार है। उमानाथ! आपको नमस्कार है। ब्रह्मा, विष्णु, महादेव एवं सर्वज्ञ परमात्मा आप ही हैं, आपको नमस्कार है, नमस्कार है। आप ही सद्योजात, अघोर एवं तत्पुरुष कहलाते हैं, आपको बार-बार नमस्कार है। आपके द्वारा यह सम्पूर्ण चराचर त्रिलोकी व्याप्त है। आप आदि, मध्य तथा अन्तस्वरूप हैं। कलि और कालस्वरूप! आपको नमस्कार है। श्रीकण्ठ! नागेन्द्रभूषण! आपका आधा शरीर उमास्वरूप और आधा उमावल्लभरूप है, आपको नमस्कार है। आपके गुण तथा रूप अनन्त हैं। आप सर्पोंका यज्ञोपवीत धारण करते हैं, आपको नमस्कार है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, बुद्धि, मन और अहंकार—ये आठ तत्त्व आपकी आठ मूर्तियाँ हैं। अष्टमूर्ते! आपको नमस्कार है। आप ही सूर्य, अर्यमा, भग, त्वष्टा, पूषा, अर्क, सविता, रवि, गभस्तिमान्, काल, मृत्यु और प्रकाश करनेवाले धाता—ये बारह आदित्यरूप हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश भी आप ही हैं। चन्द्रमा, बृहस्पति, शुक्र, बुध और मंगल भी आपके ही स्वरूप हैं। इन्द्र, विवस्वान्, दीप्तांशु (सूर्य), शुचि (अग्नि), शौर्य (विष्णु) तथा जनेश्वर (राजा) भी आप ही हैं। विष्णु और ब्रह्मा आदि देवता आप की ही कला हैं। चारों वेद, कुबेर, यमराज भी आपके ही स्वरूप हैं। कला, काष्ठा, मुहूर्त, पक्ष, मास, ऋतु और संवत्सर आदि कालचक्र भी आप ही हैं। विभावसु (अग्नि), पुरुष (अन्तर्यामी), शाश्वत योग, व्यक्त, अव्यक्त, सनातन, परमेश्वर, लोकाध्यक्ष, सुराध्यक्ष, विश्वकर्मा, अन्धकारनिवारक, जलके अधिष्ठाता वरुण, शीतराशि, मेघ, जीवनरूप जल, शत्रुनाशक, भूत, यज्ञ और भूतनाथ भी आप ही हैं। समस्त लोकपाल आपकी सेवा करते हैं। आप ही मनु, सुपर्ण (बुद्धि) तथा भूतादि (अहंकार) हैं। सदाशिव! आपको नमस्कार है। प्रभो! मैंने स्तुतिके बहाने अपनी जिह्वाकी चपलताका परिचय देकर आपको कष्ट ही पहुँचाया। ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओंको भी जिनका अन्त नहीं मिलता, उन्हीं आप शिवकी स्तुति संसार-समुद्रमें डूबे हुए प्राणियोंमेंसे कोई भी प्राणी कैसे कर सकता है। शूलपाणे! मैंने अज्ञान अथवा ज्ञानसे जो कुछ भी अनुचित बात कह दी है, उसके लिये क्षमा करें।'

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—युधिष्ठिर! कलहंसद्वारा की हुई इस स्तुतिको सुनकर महादेवजी बोले—'महामते! मैं तुम्हारे इस स्तोत्रसे बहुत प्रसन्न हूँ। तुम कोई वर माँगो।'

**कलहंसने कहा**—देव! इस स्थानपर कलहंसेश्वर नामक तीर्थ एवं शिवलिंग प्रकट हो और यहाँ किये हुए होम-दान आदि सत्कर्म अक्षय बने रहें। जो मनुष्य स्वाधीन या पराधीन होकर यहाँ मृत्युको प्राप्त हो, वह आपकी आज्ञासे स्वर्गलोकमें जाय। कल्याणकारी महादेव! जो इस स्तोत्रके द्वारा आपकी स्तुति करें, वे बड़े-से-बड़े पापी क्यों न हों, इस तीर्थके प्रभावसे सभी शिवलोकको चले जायँ।

**महादेवजी बोले**—मुने! इस चराचर त्रिलोकीमें जो जिस-जिस वस्तुकी कामना करेगा, उसे इस तीर्थमें वह सब कुछ निःसन्देह प्राप्त होगी।

ऐसा कहकर भगवान् शिव कैलासपर्वतपर चले गये। तदनन्तर जितेन्द्रिय मुनि कलहंस भी ब्रह्मनिष्ठ मुनियोंके साथ भगवान् शिवके धाममें जाकर दिव्य भोगोंका उपभोग करने लगे। युधिष्ठिर! यह मैंने जिन कलहंसका यश तुम्हें सुनाया है, वे स्वारोचिष मन्वन्तरके आदि कल्पमें हुए थे। कलहंसके इस उपाख्यानका श्रवण और कीर्तन करनेसे कलियुगमें मनुष्य कष्ट नहीं पाते। वे पुत्र और स्त्रियोंसे संयुक्त होते हैं और पाप, माया तथा मोहसे उनका पिण्ड छूट जाता है; क्योंकि इस उपाख्यानके द्वारा वे मन, वाणी और क्रियासे महादेवजीका चिन्तन और स्मरण करते हैं।

## नर्मदापुरका माहात्म्य, जमदग्निको कामधेनुकी प्राप्ति, कार्तवीर्यद्वारा मुनिका वध और धेनुका अपहरण तथा परशुरामद्वारा कार्तवीर्यका वध

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—राजेन्द्र! नर्मदाके उत्तर तटपर कपिलासंगमके बाद वैदूर्यके पश्चिम भागमें नर्मदापुर नामक स्थान विख्यात है। वहाँ बहुत-से देवर्षि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि, तपस्वी तथा व्यवसायी लोग भी निवास करते थे। नर्मदापुरके निवासियोंमेंसे एक जमदग्नि नामक मुनि भी थे, जो सदा शिवभक्तिमें तत्पर रहते थे। वे प्रतिदिन नर्मदासंगममें स्नान करके नाना प्रकारके गन्ध-पुष्प तथा अगुरु आदि मनोहर उपचारोंद्वारा भगवान् महेश्वरकी पूजा करते और दक्षिणामूर्तिकी शरण लेकर शिवमन्त्रके जपमें संलग्न रहते थे। एक मासतक इस प्रकार जपमें लगे हुए मुनिको सिद्धेश्वर लिंगस्वरूप देवदेव महेश्वरने प्रत्यक्ष दर्शन देकर कहा—'ब्रह्मन्! मैं तुम्हारी भक्ति तथा रुद्र-जपसे सन्तुष्ट हूँ।'

**जमदग्नि बोले**—परमेश्वर! मुझे होम और यज्ञ-क्रियाके लिये कामधेनु प्रदान कीजिये। क्योंकि धर्म-कर्म और शुभ अनुष्ठानके लिये, शिवपूजा और तर्पणके लिये तथा देवकार्य और पितृकार्यकी सिद्धिके लिये गौओंको ही अत्यन्त पवित्र माना गया है।

**महादेवजीने कहा**—महाभाग! तुम्हें समस्त कामनाओंकी सिद्धिके लिये यह कामधेनु दी जा रही है।

ऐसा कहकर महादेवजी वहीं अन्तर्धान हो गये। जमदग्निमुनि जिन-जिन कामनाओंके लिये कामधेनुसे याचना करते, वे सब उन्हें प्राप्त हो जाती थीं। अब वे सोनेके पात्रमें भाँति-भाँतिके मनोवांछित भोज्य-पदार्थ परोसकर सहस्रों ऋषियोंको प्रतिदिन इच्छानुसार भोजन कराने लगे। माननीय ब्रह्मर्षि और देवतालोग भी मुनिवर जमदग्निके आश्रमपर आकर उनकी कीर्ति बढ़ाने लगे।

इस प्रकार कुछ समय व्यतीत होनेपर एक दिन राजा कार्तवीर्य अपनी माहिष्मतीपुरी छोड़कर

शिकार खेलनेके लिये विन्ध्यपर्वतपर आया और नर्मदाके तटपर उसने अपना पड़ाव डाल दिया। शिकार खेलते-खेलते वह जमदग्निके आश्रमपर गया और इस प्रकार बोला—'मुने! यह गौ तुम्हारे योग्य नहीं है। इसे मुझे दे दो।' कार्तवीर्यकी यह बात सुनकर मुनिवर जमदग्नि बहुत देरतक सोच-विचारमें पड़े रहे। उन्हें कुछ भी उत्तर न देते देख राजाने मुनिको मरवा दिया और स्वयं उनकी कामधेनुको बलपूर्वक हरकर ले जाने लगा। जब वह आश्रमसे बाहर निकला तब उस होमधेनुपर कोड़ोंकी मार पड़ने लगी। बार-बार ताड़ित होनेपर गौने शाप देते हुए कहा—'अरे ओ नृपाधम! रेणुकानन्दन परशुराम तेरे समस्त कुलका संहार कर डालेंगे।' इस प्रकार शाप देकर कामधेनु पुनः स्वर्गको चली गयी। उस समय लोगोंमें महान् हाहाकार मच गया। सब कहने लगे—'यह कौन दुराचारी आ गया, जिसने ब्राह्मणोंके कोपको बढ़ाया है।' तदनन्तर महावीर परशुरामने पिताके मारे जानेका समाचार सुना। सुनते ही वे प्रज्वलित अग्निकी भाँति क्रोधसे जल उठे और सहसा आश्रमपर आये। पिताको मारा गया देख क्रोधसे उनका पराक्रम दूना हो गया। वे सहसा उठकर माहिष्मतीपुरीकी ओर चल दिये। वहाँ कार्तवीर्य अर्जुनको देखकर परशुरामने क्रोधपूर्वक कहा—'अरे ओ नराधम! खड़ा रह। मेरे पिताकी हत्या करके अब तू कहाँ जा सकता है?' ऐसा कहकर उन्होंने अपनी कुल्हाड़ी हाथमें ली और कार्तवीर्यकी भुजारूपी वनको उसके मस्तकसहित काट डाला। उस समय मुनिवर परशुराम क्षत्रियजातिके लिये प्रलयंकर बन गये थे। महापराक्रमी दुरात्मा कार्तवीर्यके मारे जानेपर देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं और आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी। उसीके प्रति क्रोध होनेसे परशुरामजीने समूची पृथ्वीको क्षत्रियोंसे रहित कर दिया और इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा पूरी करके वे पिताके आश्रमपर लौट आये। माता तथा अन्यान्य मुनीश्वरोंको नमस्कार करके उन्होंने विधिपूर्वक परशुरामेश्वर महादेवकी स्थापना की। उसके समीप ही विशोका, एरण्डिका और पावनी नामवाली तीन शिलाएँ हैं। उन्हींपर परशुरामजीने पिताकी मरणोत्तरकालीन श्राद्ध आदि क्रियाएँ सम्पन्न कीं। उस स्थानपर एक कपिल वर्णकी शिला है, जो देवद्रोणीके नामसे विख्यात है। वहाँ पिण्डदान करनेसे पितर स्वर्गमें जाते हैं। राजन्! इस प्रकार मैंने तुम्हें नर्मदापुरका माहात्म्य बतलाया है। इसके श्रवण और कीर्तनसे देवलोकमें देवत्वकी प्राप्ति होती है।

## शिवनेत्र कुण्ड तथा जनकतीर्थका माहात्म्य

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—राजन्! जहाँ बृहती और नर्मदाका संगम हुआ है, वहाँ एक निषाद प्रतिदिन भगवान् त्रिलोचनका पूजन करता था। एक दिन व्यतिपात और संक्रान्तिका योग आनेपर उसने फूल लेकर शिवमन्दिरमें प्रवेश किया। वहाँ जाकर उसने देखा कि भगवान्‌का तीसरा नेत्र ही नहीं है। उसके चित्तमें बड़ा विस्मय हुआ और वह सोचने लगा, किस पापात्माने भगवान्‌के नेत्रका अपहरण किया है। ऐसा कहकर उसने तीखे बाणसे अपना नेत्र उखाड़ लिया और उसे ही देवदेव महादेवके ललाटमें लगा दिया। ऐसा करते समय उसके मनमें तनिक भी भय, कम्पन और दीनता नहीं आने पायी। उसके हृदयका भाव भी नहीं बदला। इससे देवेश्वर महादेवजी उस निषादके ऊपर बहुत प्रसन्न हुए और हँसकर बोले—'वत्स! तू मनोवांछित वरदान माँग ले।' भगवान् शिवके प्रसादसे उसकी बुद्धि और प्रकारकी (निर्मल) हो गयी और वह उन्हें साष्टांग प्रणाम करके बोला—'देवेश्वर! ये सभी निषाद अपने मृग, पक्षी,

पशु, अपने पुत्र और स्त्री आदि परिवारके साथ आपके प्रसादसे आपके ही लोकमें जायँ तथा अन्य जितने पापयोनि हों, उनकी भी ऐसी ही गति हो।'

**महादेवजी बोले**—मेरे प्रसादसे तुम सब कामनाओंको प्राप्त करोगे।

ऐसा कहकर भगवान् शिव वहीं अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर सेवकोंसहित वह निषाद इस तीर्थके प्रभावसे शिवजीके धाममें चला गया। राजन्! यह तुमको शिवनेत्र कुण्डका माहात्म्य बताया गया है। सैकड़ों पापयोनि मनुष्य नर्मदा और शिवके संयोगरूप उस तीर्थमें परम सिद्धिको प्राप्त हो गये हैं। जो वहाँ स्वतन्त्र या परतन्त्र होकर प्राण त्याग करता है, वह सहस्रों वर्षोंतक उमा-महेश्वरके धाममें निवास करता है। इस प्रसंगको सुनने और कहनेसे भी मनुष्य भव-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

नर्मदाके उत्तर तटपर एक परम उत्तम तीर्थ है, जो सब सिद्धियोंको देनेवाला है। उसे जनकतीर्थ कहते हैं। स्वारोचिष मन्वन्तर आनेपर त्रेतायुगमें राजा जनक अपने उपरोहित ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्यको साथ लेकर अनेक मुनिवृन्दोंसे सेवित कश्यपजीके पवित्र आश्रमपर गये। उनके साथ यज्ञ करानेवाले ऋत्विज तथा यज्ञका सामान भी था। तदनन्तर वहाँ यज्ञोंमें उत्तम लक्षमेध यज्ञ आरम्भ हुआ। इन्द्र आदि श्रेष्ठ देवताओंने स्वयं आकर यज्ञभाग ग्रहण किया। तत्पश्चात् यज्ञ पूरा हुआ। राजा नर्मदामें यज्ञान्तस्नान करके पुत्र और पत्नीके साथ सुशोभित हुए। फिर शिव और विष्णुका पूजन करके उनके वरदानके प्रभावसे वे दिव्य विमानपर आरूढ़ हो दिव्य लोकमें जाते हुए देखे गये। मार्गमें उन्हें देखकर धर्मराज उठकर खड़े हो गये और अर्घ्य, पाद्य आदि लेकर पैदल ही उनके विमानके आगे आये। निकट आनेपर उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—'महाराज! आपने तपस्या, ध्यानयोग, दान और देवपूजन आदिके द्वारा शिव और नर्मदाजीके प्रसादसे सम्पूर्ण दिव्य लोकोंपर विजय पायी है।' यह सुनकर राजा जनकने यशस्वी धर्मराजसे कहा—'प्रभो! सर्वत्र अपनी प्रभा फैलानेवाले भगवान् सूर्य जिस प्रकार जीवोंके आराध्य देव हैं, वैसे ही आपकी भी मूर्ति है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव—ये जीवोंके समस्त कर्मोंके साक्षी हैं।'

इस प्रकार जनक और धर्मराजमें धर्माधर्म-विचारपूर्वक संवाद चल रहा था, इतनेमें ही देवराज इन्द्र, देवर्षि नारद, पर्वत तथा अन्य श्रेष्ठ मुनि राजा जनकका आगमन सुनकर धर्मराजके नगरमें आये। धर्मराजने उन सबका यथायोग्य पृथक्-पृथक् पूजन किया और वे सब लोग यथायोग्य आसनपर बैठे। तदनन्तर नारदजीने पूछा—'धर्मराज! पृथ्वीपर कौन-से देश, पर्वत, पवित्र नदियाँ, आश्रम और तीर्थ ऐसे हैं, जहाँ किये हुए मनुष्योंके दान, होम, जप, तप आदि कभी क्षीण नहीं होते। यह सब यथार्थरूपसे बताइये।'

**धर्म बोले**—मुने! नर्मदाके उत्तर तटपर लक्षमेध नामक तीर्थ है और वहीं लक्षमेधेश्वर नामक एक शिवलिंग भी है, जो परम पवित्र है। भगवान् शिवसे बढ़कर कोई देवता नहीं है। नर्मदासे बड़ी कोई नदी नहीं है। सत्यसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है और सब प्राणियोंपर दया करना—यह सबके लिये परम धर्म है।* जो मनुष्य शिवजीके चिन्तनमें तत्पर हो नर्मदा नदीके तटपर निवास करता है, उसपर यमराजका शासन नहीं चलता और वह कभी यमलोकका दर्शन नहीं करता। ब्रह्मा, विष्णु और शिव ही उसके स्वामी होते हैं।

धर्मराजके कहे हुए इस धर्माख्यानको सुनकर नारद आदि महर्षि बड़े प्रसन्न हुए।

~~०~~

* न शंकरात्परो देवो न रेवायाः परा नदी। न सत्यादपरो धर्मः कारुण्यं सर्वजन्तुषु॥ (स्क० पु०, आव० रे० १८।३६)

# सप्तसारस्वततीर्थकी उत्पत्ति, शाण्डिल्या और नर्मदाके संगमकी महिमा तथा नर्मदा-कुब्जाके संगमपर रन्तिदेवका यज्ञ

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—युधिष्ठिर! सप्तसारस्वत नामसे प्रसिद्ध एक गन्धर्व था जो भगवान् शिवके सुयशका गान किया करता था। वह गाने-बजानेकी विद्यामें बड़ा निपुण था, परंतु कुछ कालके बाद उसे मदिरा पीनेकी लत पड़ गयी और वह उसीमें अचेत रहा करता था। कामपीड़ित एवं काममोहित होकर उसने भगवान् शंकरकी उपासना त्याग दी और वह भक्ष्य-भोज्यके सेवनमें ही आसक्त रहने लगा। इस प्रकार कुछ काल व्यतीत होनेपर गन्धर्व उमापति महादेवजीका दर्शन करनेके लिये कैलास पर्वतपर गया। उसे शिव-भक्तिसे विमुख हुआ देख नन्दीने शाप दिया—'अरे! तू अपने पापके प्रभावसे चाण्डाल-योनिमें जन्म ले।' तब गन्धर्वने कहा—'महाभाग! मुझे मिले हुए इस शापका अन्त कब होगा, इसका निश्चय भी आपको कर देना चाहिये।'

**नन्दी बोले**—व्यतिपात योग आनेपर जब नर्मदा नदीमें स्नान करके महेश्वरका पूजन करोगे, तब शापका अन्त होगा और तुम पुनः यहाँ आ सकोगे।

यह सुनकर वह गन्धर्व वहाँसे चला गया और चाण्डालयोनिमें उत्पन्न हुआ। उस योनिमें भी उसे अपने पूर्वजन्मका स्मरण बना रहा और वह तीर्थयात्राके प्रसंगसे पर्वत, वन और काननोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वीपर विचरण करने लगा। दैवयोगसे नर्मदाके तटपर आया। वहाँ उसने शंकरस्थण्डिल (शिववेदी)-में जाकर भाँति-भाँतिके पुष्प आदि उपचारोंसे भगवान् शिवका पूजन किया। गन्धर्वकी भक्ति जानकर भगवान् शिव उसके सामने प्रत्यक्ष प्रकट हुए। उसी स्थण्डिल (वेदी)-से जलमें परम पावन शिवलिंगके रूपमें उनका प्रादुर्भाव हुआ।

**महादेवजी बोले**—महाभाग! तुम्हारे मनमें जो इच्छा हो, उसके अनुसार वर माँगो।

**गन्धर्वने कहा**—महेश्वर! आपके प्रसादसे भूमण्डलमें यह स्थान मेरे नामपर सप्तसारस्वततीर्थके रूपमें विख्यात हो और यह शिवलिंग भी सारस्वत लिंग कहलाये। जो पापी, चाण्डाल एवं नराधम पशु-पक्षियोंकी योनिमें पड़े हों, वे भी इस तीर्थके प्रभावसे पापमुक्त हो स्वर्गलोकमें चले जायँ।

'एवमस्तु' कहकर भगवान् महेश्वर अन्तर्धान हो गये तथा वह गन्धर्व भी शापमुक्त हो शिवलोकको प्राप्त हुआ। जो मनुष्य सप्तसारस्वततीर्थमें स्नान करके भगवान् वृषभध्वजकी पूजा करता है, वह अपनी इक्कीस पीढ़ियोंका उद्धार करके स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है। जो वहाँ स्नान करते हैं, वे स्वर्गमें जाते हैं और जिनकी वहाँ मृत्यु हो जाती है, वे पुनर्जन्मसे मुक्त होते हैं।

शाण्डिल्या और नर्मदाका संगम सब पापोंको हरनेवाला और श्रेष्ठ तीर्थ है। वहीं शाण्डिल्येश्वर लिंग भी है। उस तीर्थमें स्नान करके महादेवजीकी पूजा करनेसे मनुष्य फिर कभी कर्मभूमिमें जन्म नहीं लेता। वहाँ तिल और जलकी अंजलि देने तथा हविष्यका पिण्डदान करनेसे पितर चौदह इन्द्रोंके समयतक तृप्त रहते हैं। उस तीर्थमें शाण्डिल्य, कौण्डिन्य, भाण्डव्य, कौशिक, कश्यप और भृगु—ये तथा अन्य भी बहुत-से महर्षिगण जप और ध्यानमें तत्पर रहते हैं। वहाँ साठ हजार मुनियोंने उग्र तपस्याका अनुष्ठान किया है। शाण्डिल्या और नर्मदाके संगममें शाण्डिल्यजीका आश्रम बहुत मनोहर है। लोकमें वह शाण्डिल्यपुरके नामसे प्रसिद्ध है। अनेक ब्रह्मर्षि वहाँ निवास करते हैं। नर्मदाके दक्षिण तटपर द्वादशादित्यतीर्थ, देवदारुतीर्थ और देववनतीर्थ हैं। द्वादशादित्यतीर्थ सब पापोंका नाश करनेवाला है, वहीं ज्ञानस्वरूप सिद्धलिंगमय महादेवजी स्थित हैं। उसी तीर्थमें कनकाको मोक्ष देनेवाला कल्याणमय कनकेश्वरलिंग

है। वहीं ज्वरेश्वरलिंग है, जहाँ ज्वरका अभाव है। उसके पास ही पंचब्रह्मेश्वरलिंग है, जो सब पापोंसे मुक्त करनेवाला है। पंचब्रह्मेश्वर, पुष्पेश्वर तथा स्थण्डिलेश्वर—ये तीन लिंग वहाँ प्रधान हैं। नित्य-नैमित्तिक कार्यमें, चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहणके समय श्रद्धापूर्वक संगममें स्नान करके तीनों लिंगोंका पूजन करनेसे पितर स्वर्गलोकमें जाते हैं। नर्मदाके दक्षिण भागमें गोप्य लिंग है। उसके पूजनसे ब्रह्महत्या आदि पाप सात रातमें नष्ट हो जाते हैं।

राजन्! पितर, पितामह तथा मातामह आदि सभी आपसमें यह गाथा गाते रहते हैं कि 'क्या हमारे कुलमें भी कोई ऐसा परम धार्मिक पुत्र उत्पन्न होगा जो हमें नर्मदाके जलसे पूजित तिलयुक्त हविष्यका पिण्ड देगा, जिससे कि लाखों वर्षोंतक तृप्त रहकर हम परम गतिको प्राप्त होंगे?'

नर्मदा और कुब्जाके संगममें स्नान करनेके लिये सोमवती अमावास्या प्रसिद्ध पर्व है। एरण्डी और चण्डवेगाका जहाँ नर्मदा नदीसे संगम हुआ है, वहाँ स्नान करनेके लिये सोमवती अमावास्या, व्यतिपात, संक्रान्ति, वैधृतियोग, विषुवयोग, दक्षिणायन और उत्तरायणके प्रारम्भिक दिन—ये पर्व उत्तम माने गये हैं। अमावास्याको स्नान करनेसे बीस गुना पुण्य होता है, व्यतिपात योगमें सौगुना, संक्रान्तिकाल तथा वैधृतियोगमें पचासगुना और सोमवती अमावास्या एवं चन्द्रग्रहणके समय कुरुक्षेत्रसे सौगुना पुण्य होता है। यह साक्षात् महादेवजीका कथन है। वहाँ बिल्वाम्रक नामसे प्रसिद्ध एक सिद्धलिंग है, जो ब्रह्महत्याका नाश करनेवाला है। उसके दर्शन और स्पर्शसे मनुष्य शिवलोकमें प्रतिष्ठित होता है। जो सोमवती अमावास्याके दिन वहाँ प्राण-त्याग करता है, वह महादेवजीके कल्याणमय धाममें निवास करता है।

राजन्! अयोध्याके चक्रवर्ती नरेश श्रीमान् रन्तिदेव इन्द्रके तुल्य महापराक्रमी राजा थे। वे समस्त धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ माने जाते थे। उनके राज्यमें मनुष्योंको शोक, मात्सर्य, रोग और दारिद्र्यका दुःख नहीं होता था। सब प्रजा दीर्घायु तथा धन-धान्यसे सम्पन्न थी, गौएँ स्वयं ही इच्छाके अनुसार दूध देती थीं और पृथ्वी सदा हरी-भरी खेतीसे सुशोभित रहती थी। इस प्रकार पृथ्वीका पालन करते हुए राजा रन्तिदेवने अपने पुरोहित मुनिवर वसिष्ठजीसे पूछा—'महामुने! किस तीर्थमें निर्विघ्नतापूर्वक यज्ञकी सिद्धि होती है?'

**मुनिवर वसिष्ठने कहा**—राजन्! पुराणमें सब तीर्थोंसे बढ़कर उत्तम तीर्थ उसीको बताया गया है, जहाँ नर्मदा नदी बहती हैं।

**तब राजाने सेवक, मन्त्री और पुरोहितको आज्ञा देते हुए कहा**—यज्ञका सामान शीघ्र ही तैयार किया जाय। तत्पश्चात् दूतोंको भिन्न-भिन्न देशोंमें शीघ्र जानेकी आज्ञा देते हुए कहा—'समस्त राष्ट्रमें यह घोषणा करा दी जाय कि 'सब राजा मेरे यज्ञमें पधारें।' रन्तिदेवकी आज्ञासे सभी सामन्त नरेश उस यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये आये। महाराज रन्तिदेव भी अपनी रानी और यज्ञसामग्रियोंके साथ दिव्य रथपर आरूढ़ हो नर्मदाके तटपर गये। वहाँ यज्ञमण्डप, यज्ञकुण्ड और यज्ञके यूप सभी सुवर्णमय बनाये गये थे। नाना प्रकारके भक्ष्य-भोज्य पदार्थ और पकवान तैयार किये गये थे। महाराजने अपनी धर्मपत्नीके साथ यज्ञकी दीक्षा ली। तदनन्तर नर्मदाके सुन्दर तटपर उनका यज्ञ प्रारम्भ हुआ। उसमें धूमरहित अग्निदेव प्रत्यक्ष प्रकट होकर प्रज्वलित हो रहे थे। ब्रह्मा और इन्द्र आदि देवता, लोकपाल, मरुद्गण, विश्वेदेव, साध्य, वसु, चन्द्रमा, सूर्य, नदियाँ, समुद्र, पर्वत, सब तीर्थ, मातृगण, सिद्ध, गन्धर्व, यक्ष, नाग, राक्षस, उमासहित शिव तथा देवेश्वर विष्णु—इन सबके लिये राजाने पृथक्-पृथक् यज्ञभाग दिये।

# कुब्जा और नर्मदाके संगमकी महिमा, हरिकेश ब्राह्मणका परिवारसहित ब्रह्मराक्षसयोनिसे उद्धार

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—शालग्रामक्षेत्रमें हरिकेश नामसे विख्यात एक श्रेष्ठ ब्राह्मण रहते थे। वे शिल और उञ्छवृत्तिसे* जीवन-निर्वाह करते थे। बड़े ही धर्मात्मा और सत्यपरायण थे। उनकी धर्मपत्नी ब्राह्मणी भी उत्तम व्रतका पालन करनेवाली, यशस्विनी, पतिव्रता, परम सौभाग्यवती और पतिसेवामें संलग्न रहनेवाली थी। वह स्त्री समयपर रजस्वला हुई और ब्राह्मणने ऋतुकालमें उसके साथ सहवास किया। ब्राह्मणीके गर्भसे सौ पुत्र उत्पन्न हुए। वे सभी कपिलापुरमें रहते थे। ब्राह्मणदेवता शिलोञ्छवृत्तिके प्रयोगसे एक प्रस्थ अन्न प्रतिदिन उपार्जन करते थे। इससे उनके बच्चे भूखसे दुर्बल होकर बड़े करुण स्वरमें रोते रहते थे। बालकोंको भूखा देख माता शोक और पीड़ासे व्याकुल रहती थी। एक दिन वह अत्यन्त दुःखसे कातर हो पतिसे बोली, 'आर्यपुत्र! बूढ़े माता-पिता, साध्वी पत्नी और छोटी अवस्थावाले बालक—इन सबका प्रयत्नपूर्वक भरण-पोषण करना चाहिये, यही सनातन धर्म है। यों तो सभी पोष्यवर्गका भरण-पोषण आवश्यक है, परंतु पुत्रोंके पालन-पोषणपर तो विशेष ध्यान देना चाहिये।'

युधिष्ठिर! ब्राह्मणीका यह वचन सुनकर हरिकेशजी शोकसे विह्वल हो उठे और इस प्रकार बोले—'देवि! मैं गाँव-गाँवमें भीख माँगकर सबके लिये पृथक्-पृथक् बाँटकर उत्तम अन्न देता ही हूँ। दूसरी कोई वृत्ति करता नहीं, फिर अधिक अन्न मैं कहाँसे लाऊँ?।'

**ब्राह्मणी बोली**—यदि बालक और वृद्ध भूखसे पीड़ित हों, तो बालहत्याके समान पाप लगता है। अतः दान ग्रहण करके भी अपने बालकोंका पालन-पोषण करना चाहिये। कहते हैं, कुरुक्षेत्रमें अयोध्यानरेश महाराज अम्बरीषका कोई महान् यज्ञ हो रहा है। वहाँ दान लेनेके लिये बहुत-से शालग्राम-निवासी ब्राह्मण गये थे। वहाँसे गौएँ, सुवर्ण और धन पाकर वे सब लोग लौटे हैं। जहाँ सब शालग्रामनिवासी ब्राह्मण गये थे, वहाँ आप भी जाइये।

तब पुत्रोंके भरण-पोषणकी इच्छासे हरिकेशजी भी ब्राह्मणी और बालकोंको साथ ले राजा अम्बरीषके महायज्ञमें गये और जहाँ ऋत्विग् लोग बैठे थे, वहाँ उन्होंने यज्ञमण्डपमें प्रवेश किया। महाराज अम्बरीषने उन श्रेष्ठ ब्राह्मणको देखकर मस्तक झुकाया और अर्घ्य-पाद्यके द्वारा उन सबका पूजन किया। तत्पश्चात् उन्होंने पूछा—'विप्रवर! आप पत्नी और पुत्रोंके साथ यहाँ किसलिये आये हैं? आपने आतिथ्यके समय यहाँ पदार्पण किया है। अतः जो उचित एवं आवश्यक वस्तु हो उसे माँगिये।'

**ब्राह्मणने कहा**—राजन्! आप मेरे एक-एक पुत्रको सौ-सौ वर्षोंकी जीविकाके लिये पर्याप्त धन दीजिये। साथ ही यज्ञ और होमके लिये उत्तम धेनु तथा सुवर्णके भारसे विभूषित दस हजार गौएँ प्रदान कीजिये। इसके अतिरिक्त एक करोड़ स्वर्णमुद्राएँ तथा उत्तम-उत्तम वस्त्र और आभूषण अर्पण कीजिये।

ब्राह्मणकी यह बात सुनकर महाराज अम्बरीषने बड़ी श्रद्धाके साथ वह सब कुछ उन्हें समर्पित किया और अपनी सवारियोंसे उन्हें शालग्राम स्थानतक पहुँचा दिया। इस प्रकार उस महान् यज्ञको परिपूर्ण करके वे राजर्षि दीर्घकालतक देवताओंकी भाँति आनन्द भोगते रहे। इधर हरिकेश ब्राह्मण अपनी पत्नी और पुत्रोंके साथ अनेक

* 'उञ्छः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलम्' इस कोष-वाक्यके अनुसार बाजार या खलिहानका अन्न उठ जानेपर वहाँ बिखरे हुए एक-एक दानेको चुनना 'उञ्छ' कहलाता है और खेत कट जानेपर वहाँ गिरी हुई धान या गेहूँकी मंजरी (बाल) बीनना 'शिल' कहा गया है।

प्रकारके भोग भोगकर कालान्तरमें मृत्युको प्राप्त हुए। मरनेके पश्चात् उन्हें निर्जल मरुप्रदेशमें ब्रह्मराक्षस होना पड़ा। राजाका प्रतिग्रह दोषयुक्त होता है। उसे लेनेसे फिर मानव-जन्म दुर्लभ हो जाता है। जो द्रव्यके लोभसे मोहित और विषयलोलुप होकर राजाका दान ग्रहण करता है, उसका रौरव-नरकमें गिरना अवश्यम्भावी है।

वह ब्रह्मराक्षस अपनी स्त्री और पुत्रोंके साथ कुरुक्षेत्रको गया और बारह वर्षोंतक भूखा रहकर इस चिन्तामें पड़ा कि 'क्या करूँ, मेरा यह शरीर किसी प्रकार छूट नहीं पाता। अब मैं अपने पापकी शुद्धिके लिये अग्निमें प्रवेश करूँगा।' तब उत्तम व्रतका पालन करनेवाली उसकी पुत्रवती पत्नीने अपने ब्रह्मराक्षस पतिसे कहा—'प्रभो! ब्राह्मणका यह सब धर्म अग्निसे ही सिद्ध होता है। अतः लकड़ी इकट्ठी करके आप उसमें आग जला दीजिये और मैं सौभाग्यवती रहकर पहले स्वयं ही अग्निमें प्रवेश करूँगी। अपनेसे पहले पतिको भयंकर आगमें गिरते नहीं देख सकूँगी।'

उसके ऐसा निश्चय करनेपर आकाशवाणीने उससे कहा—'शुभे! तुम्हें मृत्युका भय नहीं है, कुब्जा और नर्मदाके संगममें स्नान करनेसे ब्रह्मराक्षसयोनि छूट जाती है। उसमें स्नान करके बिल्वाम्रकेश्वरकी पूजासे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाता है, ब्रह्मराक्षसयोनिसे मुक्त होता है और ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है।' ऐसा कहकर आकाशवाणी मौन हो गयी। तब हरिकेशने अपनी स्त्री और पुत्रोंके साथ वहाँ जाकर महादेवजीको प्रणाम किया और कुब्जा एवं नर्मदाके संगममें विधिपूर्वक स्नान करके महादेवजीका पूजन किया। तत्पश्चात् वे सब-के-सब काम और क्रोधसे रहित हो भगवान् विष्णु और शिवका स्मरण करते हुए अपने घरकी भाँति प्रज्वलित अग्निमें बिना क्लेशके ही प्रवेश कर गये। फिर तो उन्हें तत्क्षण दिव्य देहकी प्राप्ति हुई और वे ब्रह्मतेजोमय शरीर धारण करके दिव्य विमानपर बैठकर ब्रह्मलोकको चले गये।

उस पवित्र संगममें एक सौ आठ शिवलिंग हैं।

## माहेश्वरतीर्थकी महिमा, राजा सालंकायनका यज्ञ

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—राजन्! माहेश्वरपुरमें बहुत-से तीर्थ हैं, वहाँसे रौद्रवारुणतीर्थतक जो एक कोसकी भूमि है, उसके भीतरका स्थान शिवक्षेत्र कहा गया है। जो वहाँ मृत्युको प्राप्त होता है, वह शिवलोकमें आनन्दका भागी होता है। वहाँ पितरोंको तिल और जलकी अंजलि देनेसे माता और पिता दोनों कुलोंके पितर महाप्रलय-कालतक तृप्त रहते हैं। प्राचीन कालमें ब्रह्माजीके द्वारा वहाँ असंख्य उत्तम यज्ञ किये गये हैं। इन्द्रने भी वहीं यज्ञानुष्ठान करके देवराज-पदको प्राप्त किया है। कार्तवीर्य अर्जुनने भी वहीं पूर्वकालमें सौ यज्ञ किये थे। राजन्! पहलेकी बात है। अयोध्यापुरीमें सूर्यवंशी राजा वैवस्वत मनु, जो साक्षात् भगवान् सूर्यके ही पुत्र थे, चक्रवर्ती नरेशके पदपर प्रतिष्ठित थे। वे सदा यज्ञ और दानमें तत्पर रहते थे। उनके शासनकालमें उत्तम पुरी अयोध्याके भीतर मृत्यु, रोग और वृद्धावस्थाका कष्ट किसीको भी नहीं होता था। तदनन्तर उन्हींके वंशमें परम धर्मात्मा राजर्षि सालंकायन हुए, जिनके राज्यकालमें समूची पृथ्वी सस्य-श्यामला एवं धन-धान्यसे सम्पन्न थी। गौएँ स्वयं ही इच्छानुसार दूध देती थीं। एक समय अयोध्याके राज्यमें बारह वर्षोंतक वर्षा नहीं हुई। सम्पूर्ण देशवासी मनुष्य और पशु मरने लगे। घास, फूस, तृण, लता, बेलें तथा चार प्रकारके जीवसमुदाय भी नष्टप्राय हो गये। उस समय देवता, असुर तथा मनुष्योंमें बड़ा भारी हाहाकार मचा। युधिष्ठिर! अपने देशपर आयी हुई इस आपत्तिको देखकर राजर्षि सालंकायनको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने सोचा 'जन्मसे लेकर अबतक मेरे द्वारा कोई पाप

नहीं हुआ, मैं सदा संसार-सागरसे पार उतारनेवाले भगवान् श्रीहरिका पूजन करता हूँ। ब्राह्मण और ऋषि-मुनियोंको भी मैंने इच्छानुसार तृप्त किया है, तो भी मेरे राष्ट्रमें यह विपत्ति क्यों आयी।'

**इस प्रकार विचार करते हुए राजाने बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् ब्रह्मवादी वसिष्ठ मुनिको भक्तिभावसे साष्टांग प्रणाम करके पूछा—**ब्रह्मन्! यह बारह वर्षोंकी अनावृष्टि क्यों हुई है?

**वसिष्ठजी बोले—**महाबाहो! जनसमुदायमें महर्षियोंके वचन सुनकर उसीके अनुसार कोई उपाय करना चाहिये।

तब राजाने जनसभामें आसनपर बैठे हुए महर्षियोंके पास जाकर अनावृष्टिका कारण पूछा। उनके पूछनेपर महर्षिलोग इस प्रकार बोले—'राजन्! भूत और भविष्य-कालके तत्त्वको जाननेवाले गुरु एवं महात्मा मार्कण्डेय मुनिके आश्रमपर जाकर ब्राह्मणोंके साथ इस प्रश्नपर विचार करो। वे मुनि जो-जो धर्म बतावें, वह-वह तुम्हें पालन करना चाहिये।'

तदनन्तर राजा सालंकायन ब्राह्मणोंके साथ दिव्य रथपर आरूढ़ हो नर्मदाके तटपर गये और वहाँ मुनियोंके साथ बैठे हुए मुझ मार्कण्डेयको प्रणाम करके बैठ गये। तब मैंने उनसे कुशल-मंगल पूछा।

**राजा बोले—**ब्रह्मन्! आज आपके चरणारविन्दोंका दर्शन करनेसे मैं सकुशल हूँ। परंतु मेरे राष्ट्रका भविष्य क्या होगा, यह चिन्ता मुझे सदा पीड़ित किये रहती है।

**मैंने कहा—**प्रजाके कुमार्गगामी होनेसे, देवताओं और ब्राह्मणोंको कष्ट पहुँचानेसे तथा वर्णाश्रमधर्मका लोप करनेसे जो महान् अधर्म होता है, वह धर्मको हानि पहुँचाता है। अतः इस संकटसे मुक्ति पानेके लिये तुम नर्मदाके तटपर आकर रुद्रयज्ञ करो और महादेवजीकी विधिपूर्वक आराधना करो। इससे वर्तमान उपद्रवकी शान्ति होगी, बादल इच्छाके अनुसार वर्षा करेंगे और पुनः सृष्टिका सारा कार्य पूर्ववत् चलने लगेगा। तुम भी पापदोषसे छूट जाओगे तथा राज्य और स्वर्ग पाओगे।

**मुनिका यह वचन सुनकर राजाने मुनियोंसहित मुझे नमस्कार किया और कहा—**महामुने! आपने कृपापूर्वक जो कुछ बताया है उसे मैं अपने ऊपर आपका बहुत बड़ा अनुग्रह मानता हूँ। यह कहकर राजाने अयोध्यापुरीको सन्देश भेजकर अपनी रानियों और राजकुमारोंको यज्ञसामग्रीके साथ वहीं बुलवाया। उनके बुलानेपर महाराजकी एक हजार आठ रानियाँ, राजकुमार तथा घरका काम-काज करनेवाले अन्य सब लोग भी यज्ञसामग्रीसहित वहाँ उपस्थित हुए। तब राजा सालंकायन मुझे प्रणाम करके इस प्रकार बोले—'मुने! आज्ञा दीजिये कहाँ यज्ञ आरम्भ किया जाय?'

**मैंने कहा—**वैदूर्यपर्वतके पश्चिम भागमें यज्ञयूप और यज्ञमण्डप निर्माण कराओ तथा यज्ञकी अन्य सब सामग्रियोंका भी वहीं संग्रह कराओ।

तब राजाने यज्ञके लिये वसिष्ठ, वामदेव आदि बहुत-से ऋषियोंका वरण किया। यज्ञमण्डपमें सोनेके बड़े-बड़े खंभे लगाये गये, जिनसे वहाँ बड़ी शोभा हो रही थी। कुण्ड, वेदी और स्रुवा आदि सब सुवर्णमय थे। नाना प्रकारके भक्ष्य-भोज्य पदार्थ तथा भाँति-भाँतिके रस तैयार किये गये थे। वेदपाठी ब्राह्मणोंद्वारा देवताओंका आवाहन और पूजन किया गया। होमकुण्डमें अग्निका आधान हुआ। धूमरहित अग्नि प्रज्वलित हो उठी। वेदमन्त्रोंके उच्चारणसे आकाश गूँज उठा। आहुतियाँ दी जाने लगीं। इस प्रकार विधिपूर्वक यज्ञ पूर्ण होनेपर जब सब लोग अवभृथ-स्नानके लिये नर्मदामें गये तब उसका जल सूखा दिखायी दिया। यह देख राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने मुनिवर दुर्वासाजीसे पूछा—'यह क्या हुआ? वर्षा भी कहीं नहीं हुई और नर्मदाका जो पुराना जल था वह भी सूख गया। इसका क्या कारण है?'

**राजाका प्रश्न सुनकर दुर्वासा बोले—**राजन्! जल तो सभी लोकोंको अभीष्ट है। तप, होम और वेदमन्त्र ब्राह्मणोंके अधीन हैं और यज्ञरक्षा

एवं दक्षिणा यजमानके अधीन। सो सब कुछ विधिवत् सम्पन्न हुआ है। नर्मदा जलरहित हो गयी और मेघ अभीतक पानी नहीं बरसाते। इससे हताश होनेकी आवश्यकता नहीं है। जो चली गयी है, उस नर्मदा नदीके आनेकी बाट देखो।

**तब राजाने नर्मदाकी स्तुति प्रारम्भ की—** सुरेश्वरि! तुम्हें नमस्कार है। शंकरात्मजे! तुम्हें नमस्कार है। इडा, पिंगला, उमा, गंगा, सरस्वती, वेदमाता गायत्री, सावित्री, सरस्वती, ब्राह्मी, वैष्णवी और गौरी सब कुछ तुम्हीं हो। तुम्हीं परम यशस्विनी लोकमाता लक्ष्मी हो। पृथ्वीपर जितने भी तीर्थ बताये गये हैं, वे सब तुमसे व्याप्त हैं। समस्त चराचर जगत् तुम्हारे जलसे व्याप्त है। जगत्में ऐसा कोई स्थान नहीं दिखायी देता जो तुम्हारे जलसे आवृत न हो। तुम्हारे जलमें स्नान करनेमात्रसे तृप्त होकर सब जीव परम गतिको प्राप्त होते हैं।

**अमिततेजस्वी राजाके मुखसे यह स्तवन सुनकर नर्मदादेवीने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया और कहा—** राजन्! तुम्हारे मनमें जो अभिलाषा हो, उसके अनुसार वर माँगो।

**राजाने कहा—**देवि! तुम सात पूर्वके और सात दूसरे प्रवाहोंको अक्षय करो।

**नर्मदा बोली—**राजन्! लो, यह वरदान मैंने तुम्हें यथार्थरूपसे दे दिया।

ऐसा कहकर सरिताओंमें श्रेष्ठ नर्मदा जलराशिसे परिपूर्ण हो विस्तृत प्रवाहोंसे बहने लगी। राजा सालंकायनका यह अद्भुत कर्म देखकर सत्यधर्म-परायण सभी महर्षि उनकी प्रशंसा करने लगे। तदनन्तर उन सबने नर्मदामें स्नान, अवगाहन, जलपान और पितृतर्पण किया। तत्पश्चात् सर्वस्व दक्षिणा पाये हुए ब्राह्मणोंने वह यज्ञ समाप्त किया। जो जिस वस्तुकी कामना करता, उसे वही वस्तु दी जाती थी। तदनन्तर शिवालयमें जाकर समस्त मनोवांछित फलोंको देनेवाले देवपूजित माहेश्वरलिंगमें स्थित भोग-मोक्ष-प्रदाता उमा-महेश्वरका राजाने विधिपूर्वक पूजन किया। पूजामें प्रत्येक उपचार **'ॐ महेश्वराय देवाय शम्भवाय नमो नमः'—** इस मन्त्रसे चढ़ाया गया। पूजा समाप्त होनेपर राजा वहीं हाथ जोड़कर खड़े हो गये। तत्पश्चात् नर्मदादेवी भगवान् शंकरके चरणके नीचेसे प्रकट हुईं। उनका वह प्रवाह सम्पूर्ण देवताओंद्वारा पूजित हुआ। तदनन्तर सन्तुष्ट हुए महादेव आदि सब देवता बोले—'राजन्! तुम मनोवांछित वर माँगो।'

**उनके ऐसा कहनेपर राजा सालंकायनने कहा—** देवताओ! आपलोग कभी इस स्थानका परित्याग न करें। हमारे राष्ट्रमें अनावृष्टि आदि दोषोंसे पीड़ित प्रजाका कष्ट दूर हो और वह सदा फले-फूले। इसके सिवा इस स्थानपर आहवनीय अग्नि स्वयं ही सदा विद्यमान रहे।

**देवताओंने कहा—**राजन् तुमने जो कुछ कहा है, वह सब पूरा होगा।

ऐसा कहकर सब देवता वहाँसे अन्तर्धान हो गये। राजाका राज्य पुनः वृद्धिको प्राप्त हुआ और इन्द्र इच्छानुसार वर्षा करने लगे। वह यज्ञ पूरा करके राजा सालंकायन अपने मन्त्रियों तथा अन्तःपुरकी रानियोंके साथ देवनिर्मित अयोध्यापुरीमें लौट आये। युधिष्ठिर! इस प्रकार मैंने तुम्हें उमामहेश्वरतीर्थका माहात्म्य सुनाया है।

## श्वेतकिंशुक आदि तीर्थोंकी महिमा

**मार्कण्डेयजी कहते हैं—**युधिष्ठिर! अमरेश्वरके पूर्वभागमें स्थित श्वेतकिंशुक नामक पापनाशन तीर्थका माहात्म्य सुनो, जिसमें स्नान करनेवाले मनुष्य स्वर्गलोकको प्राप्त होते हैं। वहाँ उत्तम सिद्धि प्रदान करनेवाला श्वेतकिंशुक नामक लिंग है तथा स्वर्गरूपी फल प्रदान करनेवाले ताटकेश्वर महादेव भी वहीं विराजमान हैं। उसके बाद वर्ण नामसे प्रसिद्ध एक दूसरा पापनाशक तीर्थ है,

जहाँ लोकमें वर देनेवाले त्र्यम्बक महादेव विद्यमान हैं। उस तीर्थके माहात्म्यसे गण्डेशको स्वर्गलोककी प्राप्ति हुई थी। वहाँ गण्डकेश्वर और शुक्लेश्वर लिंग प्रसिद्ध हैं। नर्मदा और दन्तिवनिकाका संगम सर्वत्र विख्यात है। वहीं सब सिद्धियोंको देनेवाला लिंगेश्वर लिंग है। बालकेश्वर और पूर्णकेश्वर लिंग भी वहीं हैं। नर्मदाके उत्तर तटपर उत्तम नर्मदापुर है। कपिशिला नामसे प्रसिद्ध एक तीर्थ है, जो सब अनर्थोंका निवारण करनेवाला है। वहीं सिद्धेश्वर तथा नाडकेश्वर लिंग हैं।

नृपश्रेष्ठ! तदनन्तर वैदूर्य पर्वतसे पश्चिम दिशाकी ओर जाय। वहाँ शशभी और नर्मदाका संगम है, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है। वहीं भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाला शशभेश्वर लिंग है, जो तीनों लोकोंमें विख्यात है। वह गर्दभीकी योनिसे छुटकारा दिलानेवाला है। यहीं मण्डलेश्वर नामक तीर्थ और लिंग है, जहाँ माण्डलिक नरेश अजापाल और मनु सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। वहाँ यज्ञ करके मनुष्य फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेता। वहाँ तिल और जल देने तथा पिण्डदान करनेसे जबतक चन्द्रमा और सूर्यकी सत्ता है, तबतक पितरोंको तृप्ति बनी रहती है। वहाँ जो दान दिया जाता है, उसके पुण्यकी कोई संख्या नहीं है। वहाँसे कान्तारकतीर्थमें जाय, जो सब तीर्थोंमें श्रेष्ठ और शुभ है। वहाँ स्नान करनेवाले स्वर्गमें जाते हैं और मरनेवाले मोक्ष पाते हैं।

त्रेतायुगमें रघुवंशी राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण मिथिलेशकुमारी सीताके साथ यहाँ आकर नर्मदाके पार हुए थे। वे दोनों राजकुमार भगवान् विष्णुके अवतार थे और पिताकी आज्ञाका पालन करते हुए इस मार्गसे वनमें गये थे। उन्होंने इस श्रेष्ठ तीर्थमें स्नान करके भक्तिपूर्वक महादेवजीका पूजन किया था। जहाँ उनका स्नान हुआ, वह स्थान 'राजतीर्थ' के नामसे प्रसिद्ध है। वहाँ लक्ष्मणेश्वर तथा सीतेश्वर लिंग हैं, जो देवताओं और दानवोंद्वारा वन्दित हैं। उस तीर्थमें शूलपाणि महेश्वरका पूजन करके मनुष्य गणपतिपदको प्राप्त होता है।

नृपश्रेष्ठ! वहाँसे पुण्यतीर्थ शिवालयको जाय। वहीं परम मनोहर माहिष्मती पुरी है, जिसका दर्शन करके कोई भी नीचे नहीं गिरता। वहाँ अपनी ज्वालाओंसे प्रज्वलित कालाग्निरुद्रका निवास है। तदनन्तर कोटितीर्थ है, जहाँ कोटीश्वर लिंग विराजमान है। उसकी पूजासे कोटि यज्ञोंका फल प्राप्त होता है। वहाँ दिये हुए दानका पुण्य कोटि-गुना बढ़ जाता है। उसके बाद दशाश्वमेधतीर्थ है, जो भोग और मोक्ष देनेवाला है। वहाँ तिल और जलसे तर्पण करनेपर पितरोंकी उत्तम गति होती है। वहाँ स्नान करनेमात्रसे मनुष्य तेजस्वी हो जाता है। तत्पश्चात् वन्ध्या और नर्मदाका संगम है, जो देवताओं और असुरोंसे भी नमस्कृत है। राजेन्द्र! उस संगममें मुनकेश्वर लिंग है, जिसका दर्शन केवल योगियोंको होता है। साधारण मनुष्य उसे नहीं देख पाते। नर्मदाके दक्षिण तटपर चण्डीश्वर, उडुगणेश्वर और वकेश्वर लिंग हैं, जहाँ बगले स्वर्गको प्राप्त हुए हैं। गंगावह नामवाला एक तीर्थ है, जहाँ सब सिद्धियोंको देनेवाला एक शिवलिंग है। उस निर्मल शिवलिंगका नाम अंगारेश्वर जानना चाहिये। इसके बाद सोमतीर्थ और शुक्लतीर्थ हैं। फिर निरसतीर्थ और ध्रुवतीर्थ हैं। युधिष्ठिर! इन सबके सिवा वहाँ और भी अनेक सहस्र तीर्थ हैं। पिपीलिकातीर्थ भोग और मोक्ष देनेवाला है। वहाँ पूर्वसे पश्चिम एक कोसतककी भूमिमें पंद्रह हजार तीर्थ हैं, जो ऋषियों और देवताओंके द्वारा सेवित हैं। वहाँ जो दान और होम आदि किया जाता है, उसके पुण्यकी कोई संख्या नहीं है। जो वहाँ मृत्युको प्राप्त होता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो उमा-महेश्वरलोकमें आनन्द भोगता है। अतः मनुष्यको उचित है कि वह शान्तचित्त होकर महादेवजीका पूजन करे और सदा सबके प्रति मैत्री एवं करुणाका भाव बनाये रखे। राजन्! पुण्यवान् पुरुषोंमें ही मैत्री और मुदिता होती है। सब प्राणियोंमें पुण्यवानोंको ही सुख होता है, यह विचारकर पुण्यके लिये यत्न करे। जो पुण्यक्षेत्र नहीं हैं, ऐसे स्थानपर किया हुआ पुण्य सम होता

है (जितना किया जाता है, उतना ही रहता है)। परंतु जहाँ नर्मदाका संगम हो, वहाँका थोड़ा-सा भी पुण्य असंख्य होता है। अन्य स्थानोंपर किया हुआ पाप पुण्यक्षेत्रमें नष्ट हो जाता है, किंतु यदि पुण्यक्षेत्रमें पाप किया जाय तो वह वज्रलेप हो जायगा। महाबली कार्तिकेयजीने जहाँ नर्मदा पार की थी, वहाँ कार्तिकेश्वर नामक सिद्धिदायक लिंग प्रतिष्ठित है, यह जानना चाहिये। इसके सिवा वहाँ चन्द्रेश्वर, शिखीश्वर तथा सब पापोंका नाश करनेवाला शक्तीश्वर लिंग है। इन सब लिंगोंका भक्तिभावसे पूजन करके मनुष्य ब्रह्महत्या आदि पापोंसे मुक्त हो जाता है। इतना ही नहीं, अन्तमें वह शिवलोकको प्राप्त होता है और उसके पितरोंको स्वर्गलोकमें स्थान मिलता है।

## मान्धाताका चरित्र

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—राजन्! तदनन्तर सर्वदेववन्दित गौरीखण्डकी यात्रा करे। वहाँ स्नान करके मनुष्य सब तीर्थोंका फल पाता है तथा उसमें तिल और जलसे तर्पण करनेपर पितरोंको अक्षय तृप्ति प्राप्त होती है। गौरीखण्डेश्वर नामक मणिमय लिंग जलके मध्यभागमें स्थित है। मनुष्य उसका दर्शन नहीं कर पाते। वह देवताओंद्वारा पूजित होता है। वहीं कुमारेश्वर नामक शिवलिंग प्रतिष्ठित है। साथ ही भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाला मयूरेश्वर लिंग भी है, जिसके माहात्म्यसे मयूरगण स्वर्गलोकको प्राप्त हुए हैं। उनके पूजनसे तिर्यग्योनिकी प्राप्ति नहीं होती।

तत्पश्चात् करमर्दा संगममें स्नान करनेके लिये जाय। युधिष्ठिर! उस तीर्थमें जिसने स्नान कर लिया, वह फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेता। करमर्दामें स्नान करके करमर्देश्वर लिंगका पूजन करना चाहिये। वहाँ पितरोंका तर्पण करनेसे मनुष्य स्वर्गलोकको प्राप्त होता है।

**युधिष्ठिर बोले**—मुने! राजाओंमें श्रेष्ठ मान्धाता तीनों लोकोंमें विख्यात हैं। मैं उन बुद्धिमान् राजाका चरित्र सुनना चाहता हूँ।

**मार्कण्डेयजीने कहा**—महाभाग! इक्ष्वाकुवंशमें एक युवनाश्व नामक राजा हो गये हैं। वे राजर्षि बहुत समयतक सन्तानहीन ही रहे। तब उन्होंने अपना राज्य मन्त्रियोंके अधीन करके वनमें प्रवेश किया और शास्त्रोक्त विधिसे अपने मनका संयम करके फल-मूलका भक्षण करते हुए बड़ी भारी तपस्या की। एक दिनकी बात है। वे राजा प्याससे विकल हो गये। उनका गला सूखने लगा। तब वे पानीके लिये आश्रमके भीतर गये। रात्रिका समय था। सब लोग सो गये थे। अतः उनके माँगनेपर भी किसीने उनकी बात नहीं सुनी। किसी शक्तिशाली ऋषिने उन्हीं राजा युवनाश्वको पुत्रकी प्राप्तिके लिये मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित करके एक जलपूर्ण कलश स्थापित कर रखा था। प्यासे हुए राजा बड़े वेगसे दौड़े और उसी जलको पीकर सो रहे। प्याससे व्याकुल राजा उस शीतल जलको पीकर बहुत सुखी हुए।

तदनन्तर मुनियोंको यह बात मालूम हुई। उन्होंने कुपित होकर पूछा—'किसने कलशका जल पी लिया है।' युवनाश्वने कहा—'महात्माओ! यह काम तो मैंने ही किया है।' तब महर्षि भार्गवने कहा—'राजन्! यह जल तुम्हारे पुत्र होनेके उद्देश्यसे तपस्यासे संचित एवं अभिमन्त्रित करके रखा गया था। इससे महाबलवान् एवं तपोबलसे युक्त सर्वधर्मपरायण पुत्रका जन्म हो, इस संकल्पसे मन्त्रयुक्त विधिके द्वारा इस जलका संस्कार किया गया था। यह तुम्हारे लिये पीने योग्य नहीं था। आज तुम्हारे द्वारा जो कार्य हुआ है, वह अवश्य ही प्रारब्धसे प्रेरित है। महाराज! इस जलको पीनेसे तुम गर्भवान् होओगे।'

तदनन्तर सौ वर्षोंके पश्चात् राजा युवनाश्वकी

बायीं कुक्षि फाड़कर सूर्यके समान तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ। तो भी राजाकी मृत्यु नहीं हुई। उस समय महातेजस्वी इन्द्र उस बालकको देखनेके लिये आये। देवता पूछने लगे—'देवराज! यह किसका दूध पीयेगा?' इन्द्र बोले—'**एष मां धाता**—यह मुझे ही पान करेगा।' ऐसा कहकर उन्होंने बालकके मुँहमें अपनी तर्जनी अँगुली डाल दी। बालक बड़े हर्षके साथ उस अँगुलीका अमृतरस पीने लगा। तत्पश्चात् इन्द्रने उसका 'मान्धाता' यह सार्थक नाम रख दिया।

इस प्रकार बालक मान्धाता सोलह वर्षोंतक इन्द्रकी तर्जनी पी-पीकर बढ़ता रहा। उसे आयुर्वेद आदि दिव्य शास्त्रोंका ज्ञान केवल उनके चिन्तनसे हो गया। आजगव नामक धनुष, सींगके बाण और अभेद्य कवच—ये तत्काल उनके पास स्वतः उपस्थित हो गये। इन्द्रने समस्त देवताओंके साथ मान्धाताका राज्याभिषेक किया। महाराज मान्धाताने धर्मसे सम्पूर्ण लोकोंको उसी प्रकार व्याप्त कर लिया, जैसे भगवान् विष्णुने अपने तीन पगोंसे त्रिलोकीको नाप लिया था। उन महात्माका शासनचक्र अप्रतिहत गतिसे चलता था। सैकड़ों राजा स्वयं उनकी सेवामें उपस्थित हुए। इस प्रकार उनका समूची पृथ्वीपर एकच्छत्र अधिकार था। उन्होंने प्रचुर दक्षिणावाले अनेक यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन किया। उन प्रसन्नचित्त, परम बुद्धिमान् और अमित तेजस्वी नरेशने अतिशय धर्मका अनुष्ठान करके इन्द्रके आधे सिंहासनको प्राप्त किया था। उन्होंने धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन किया। उन महात्माका राज्य दस करोड़ वर्षोंतक चलता रहा। एक समय बारह वर्षोंतक वृष्टि नहीं हुई। उस समय मान्धाताने वज्रपाणि इन्द्रके देखते-देखते अपने राज्यकी खेतीको बढ़ानेके लिये बलपूर्वक वर्षा करवा ली। वहीं महाराज मान्धाताका यह देवस्थान है। उन्हींके पुण्यतम देशमें अमरकण्टक पर्वत देखा जाता है। उन्होंने अमरकण्टकपर ॐकारेश्वर शिवके आगे सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करके इस प्रकार स्तवन किया—'जगत्‌की उत्पत्ति करनेवाले परमेश्वर! आप ही कालगतिके प्रवर्तक हैं, आप ही संसारस्वरूप और संसारका संहार करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। ॐ महादेवजीको नमस्कार है। भगवान् शम्भु और भवको नमस्कार है। तीन नेत्र और तीन मूर्ति धारण करनेवाले तीनों लोकोंके स्वामी आपको नमस्कार है। कालरहित, जरारहित और मृत्युरहित आपको बारंबार नमस्कार है। जो लोग प्रतिदिन आदिदेव भगवान् ॐकारेश्वरका ध्यान करते हैं, उनकी इस संसारसमुद्रमें पुनरावृत्ति नहीं होती।'

**कालरूपधारी ॐकारस्वरूप उमानाथ महादेवजीने यह स्तुति सुनकर राजा मान्धातासे कहा**—सुव्रत! तुम कोई वर माँगो।

**मान्धाताने कहा**—देवेश्वर! वैदूर्य नामसे प्रसिद्ध यह शैलराज मान्धाता नाम धारण करे और आपके प्रसादसे देवस्थान बन जाय। यहाँ जो मनुष्य दान, तप, पूजा तथा प्राणविसर्जन करें, वे शिवधामके निवासी हों।

**मान्धाताका यह वचन सुनकर महादेवजी बोले**—नृपश्रेष्ठ! मेरे प्रसादसे यह सब कुछ होगा। इस प्रकार वरदान पाकर महाराज मान्धाता अपनी पुरीको लौट गये। युधिष्ठिर! यह सब मान्धाताका उत्तम चरित्र तुम्हें बताया गया। इस तीर्थके माहात्म्यसे मान्धाता आदि नरेश सम्पूर्ण मनोवांछित कामनाएँ प्राप्त करके भगवान् विष्णुके धाममें विहार करते हैं।

# बाणासुरके तीन पुरोंका भगवान् शंकरके द्वारा संहार, जालेश्वरनामक बाणलिंगकी उत्पत्ति और बाणासुरको शिवलोक-प्राप्ति

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—सत्ययुगमें बलि नामसे प्रसिद्ध एक श्रेष्ठ दैत्य हुए। उनके महापराक्रमी पुत्रका नाम बाणासुर था। वह अपनी सहस्र भुजाओंके कारण विख्यात था। उसने एक सहस्र दिव्य वर्षोंतक महादेवजीकी आराधना की। इससे सन्तुष्ट होकर महादेवजीने कहा—'वत्स! तू कोई श्रेष्ठ वर माँग ले।'

**बाणासुर बोला**—प्रभो! मेरा नगर दिव्य एवं सम्पूर्ण देवताओंके लिये अजेय हो। आपको छोड़कर दूसरे किसी देवताके लिये यहाँ प्रवेश पाना अत्यन्त कठिन हो। मेरा यह नगर मेरे स्थिर होनेपर स्थिर रहे और मेरे चलनेपर वह साथ-साथ चले—सर्वथा मेरे मनके अनुकूल बना रहे।

**महादेवजीने कहा**—'एवमस्तु'। तदनन्तर भगवान् विष्णुने भी बाणासुरसे कहा—'यदि महादेवजीने तुम्हें एक पुर तुम्हारे मनके अनुरूप दिया है तो मैं भी तुम्हें वैसा ही दूसरा पुर देता हूँ।' तत्पश्चात् दोनों देवता श्रीविष्णु और शिवने एकत्र होकर कहा—'बाणासुर! अब तुम शीघ्र ही ब्रह्माजीके पास जाओ।' तब बलिका पुत्र ब्रह्माजीके पास गया। ब्रह्माजीने उसे हृदयसे लगाया और कहा—'वत्स! भगवान् शिव और विष्णु दोनोंने तुम्हें एक-एक पुर प्रदान किया है। अतः मैं भी वैसा ही एक पुर और तुम्हें देता हूँ। इन तीनों पुरोंको प्राप्त करके बाणासुर त्रिपुरके नामसे विख्यात हुआ। युधिष्ठिर! इस प्रकार वरदान पाकर सहस्र भुजाओंके विस्तारसे शक्तिशाली बना हुआ बाणासुर समस्त देवताओंके लिये अवध्य हो गया। उसने यक्ष, विद्याधर, देव, दानव, गन्धर्व और राक्षसोंके समस्त निवासस्थानोंको नष्ट कर दिया। वहाँकी वेदिकाएँ तोड़-फोड़ डालीं। इन्द्रकी अमरावतीपुरीको उजाड़ दिया। उसके अत्याचारसे उद्विग्न होकर सब देवता महादेवजीके पास गये और इस प्रकार बोले—'भगवन्! आपने, श्रीविष्णुने तथा श्रीब्रह्माजीने भी बाणासुरको वरदान देकर अजेय बना दिया है। उसके साथ युद्ध करनेकी शक्ति किसीमें भी नहीं है। जो भी उसके सामने खड़ा होगा, उसे वह भस्म कर सकता है।'

**महादेवजी बोले**—देवताओ! तुम सब लोग तीस करोड़की संख्यामें हो और बड़े बलवान् हो। सब लोग संगठित होकर जाओ और यत्नपूर्वक त्रिपुरका विनाश करो।

यह सुनकर सब देवता तीखे अस्त्र-शस्त्र लेकर बाणासुरके—त्रिपुरके समीप गये। किंतु उस दैत्यने समस्त देवताओंको क्षणभरमें परास्त कर दिया। उन सबके अस्त्र-शस्त्र भी छीन लिये। देवताओंके पाँव उखड़ गये। वे हतोत्साह होकर पुनः महादेवजीके समीप आये। महादेवजीने पूछा—'तुम सब लोगोंने वहाँ जाकर क्या किया?' देवताओंने कहा—'भगवन्! क्या कहें, हम उसका पराक्रम वर्णन करनेमें असमर्थ हैं।

**देवताओंकी वह बात सुनकर भगवान् शिवने कहा**—अच्छा तो इस महादुष्ट त्रिपुरका संहार मैं स्वयं करूँगा। यह कहकर वे कैलाससे चले और जहाँ त्रिपुरासुर था वहाँ जा पहुँचे। उनके साथ देवी पार्वती भी थीं। चण्डेश्वर, नन्दी, महाकाल, महेश्वर, वृष, भृंगिरिटि, विघ्नेश (गणेश), स्कन्द, महावीर पुष्पदन्त, घण्टाकर्ण, महोदर, गोमुख, हस्तिकर्ण, स्थूलजंघ और वृकोदर—ये पंद्रह पार्षद भी भगवान् शिवके साथ गये। वे सब-के-सब महादेवजीके तुल्य पराक्रमी थे। जहाँ महान् क्षेत्रस्वरूप श्रीशैल नामका सिद्ध पर्वत है, वहीं ठहरकर महादेवजीने देवीसे कहा—'प्रिये! यहीं त्रिपुरासुरको मारना उचित होगा।' ऐसा कहकर भगवान् शंकरने उस पर्वतको अपना प्रधान निवास स्थान बनाया और व्यापक विराट्रूप धारण करके पिनाक नामक धनुष हाथमें लिया। फिर एक पैरसे पातालको

और दूसरेसे ब्रह्माण्डको दबाया तथा त्रिपुरासुरकी ओर लक्ष्य बाँधकर अघोर नामक बाणका प्रहार किया। उस अस्त्रसे दग्ध होकर त्रिपुरके तीन खण्ड हो गये। उसे जर्जर करके शिवजीने नर्मदाके जलमें गिरा दिया। वहाँ गिरनेपर वह सात पातालोंका भेदन करके रसातलको चला गया। इससे वहाँ जालेश्वर नामक तीर्थ प्रकट हुआ, जो तीनों लोकोंमें विख्यात है। जालेश्वरदेवका पूजन करनेसे मनुष्य ब्रह्महत्यासे छुटकारा पा जाता है और कोटि सहस्र कल्पोंतक भगवान् शिवके धाममें सुखपूर्वक निवास करता है। जो वहाँ स्नान करते हैं, वे तो स्वर्गमें जाते हैं और जो मृत्युको प्राप्त होते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता। युधिष्ठिर! वहाँ तिल और जलसे तर्पण करने तथा पिण्डदान देनेसे जबतक भगवान् शंकर और नर्मदाजी स्थित हैं, तबतक पितर तृप्त रहते हैं। कालाग्निरुद्रके समान प्रज्वलित त्रिपुरनाशक अघोरास्त्रको नर्मदाके सिवा दूसरा कौन धारण कर सकता है? इस प्रकार अघोरास्त्रसे छूटा हुआ बाणजाल ही 'जालेश्वर' (नामक बाणलिंग) कहलाया।

**अपने तीनों पुरोंके दग्ध होनेपर बाणासुर भयभीत हो भगवान् शिवकी इस प्रकार स्तुति करने लगा**—अनादिदेव! ईश! आपको नमस्कार है। विघ्नेश्वर! आपको नमस्कार है। महेश्वर! आपको नमस्कार है। सर्वज्ञ! अज्ञानहारी हर! ज्ञानदाता शिव! आपको नमस्कार है। अनन्तगुणमय रत्नोंसे विभूषित आप परमेश्वरको नमस्कार है। परात्पर! परातीत! उत्पत्ति और पालन करनेवाले शिव! आपको नमस्कार है। सब प्रयोजनोंकी सिद्धिके साधनभूत विश्वनाथ! आपको नमस्कार है। धनंजय! निराधार! स्वभावसे ही उपद्रवरहित आपको नमस्कार है। सदा प्रसन्न रहनेवाले परमेश्वर! आप सम्पूर्ण योगोंके स्वामी हैं। आपको नमस्कार है। भूतनाथ! जगन्नाथ! सर्वाधार! आपको नमस्कार है। सृष्टि, संहार, मोक्ष और सात पातालोंके आश्रय! आपको नमस्कार है। त्रिनेत्र और त्रिशूल धारण करनेवाले त्रिलोकस्वरूप आपको नमस्कार है। चन्द्रशेखर! देवता और असुर दोनों आपके चरणोंमें नतमस्तक होते हैं, आपको नमस्कार है। महाप्रभो! मैंने अपनी जिह्वाकी चपलताके कारण आपके विषयमें कुछ कहनेकी धृष्टता की है, आप उसे क्षमा करें। आपके गुणोंका वर्णन करनेमें कौन समर्थ है।

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—बाणासुरद्वारा की हुई इस स्तुतिको सुनकर भगवान् शिव उसपर प्रसन्न हो गये और इस प्रकार बोले—'दैत्यराज! सेवापराधजनित तुम्हारा यह दोष क्षमा किया गया। तुम कोई वर माँगो।'

**बाणासुर बोला**—देव! मैं अपने परिवारसहित इसी शरीरसे आपके उस परम धामको जाऊँ, जहाँ पुनर्जन्मका भय नहीं है।

**बाणासुरका यह वचन सुनकर महादेवजीने कहा**—दैत्यराज! तुम मेरी भक्तिके प्रसादसे मेरे समीप निवास करोगे। तत्पश्चात् वह दिव्य विमानपर आरूढ़ हो महादेवजीके प्रसादसे उन्हींके लोकमें चला गया।

## अमरकण्टक और यज्ञपर्वतके श्रेष्ठ तीर्थ एवं लिंग, राजा इन्द्रद्युम्नका यज्ञ और उन्हें देवोंका वरदान

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—युधिष्ठिर! अमरकण्टक पर्वतपर सब ओर अत्यन्त गुप्त पुण्यका निवास है। उस गिरिश्रेष्ठसे लेकर नर्मदा नदीतक सब तीर्थ अत्यन्त पवित्र माने गये हैं। अमरकण्टकसे उत्तरभागमें यज्ञ पर्वत है, जो विन्ध्याचलका कनिष्ठ पुत्र और पर्यंक पर्वतका भाई है। पूर्वकालमें ब्रह्माजीने वहीं सौत्रामणि नामक यज्ञ किया था और इन्द्रने भी उसी पर्वतपर अश्वमेध-यज्ञका अनुष्ठान किया था।

महर्षि दधीचि तथा अन्य देवताओंने वहीं बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान किया है। उसी यज्ञ पर्वतसे चतु नामकी एक महानदी निकली है, जो नर्मदामें जाकर मिली है। वह संगम विश्वविख्यात तीर्थ है। उसके तटपर पीले रंगके कुश पृथ्वीपर फैले हैं। उनसे श्राद्ध करनेपर वे पितरोंको मोक्ष देनेवाले होते हैं। जहाँ चतु और नर्मदाका संगम है और जहाँ यज्ञ पर्वत है, इन दोनोंके बीचकी भूमिमें जो श्राद्धका अनुष्ठान करता है, उसके पितर पूर्ण तृप्त होते हैं। जो वहाँ स्नान और सिद्धेश्वर एवं चतुष्केश्वर लिंगकी परिक्रमा करता है, उस मनुष्यकी लोकमें पुनः गणना नहीं होती— वह मुक्त हो जाता है। युधिष्ठिर! वहाँ महादेवजी संगममें स्थित हैं। मनुष्य उनका दर्शन नहीं कर पाते। देवता, असुर और नागकन्याओंद्वारा उनका पूजन किया जाता है।

सुपर्ण नामसे प्रसिद्ध एक जितेन्द्रिय ब्रह्मर्षि थे। उनकी पतिव्रता धर्मपत्नीका नाम पुरुहूता था। वे दोनों दम्पति नैमिषारण्यमें निवास करते थे। एक दिन पर्वकालमें ऋतुस्नाता होनेपर पुरुहूताने अपने पतिको प्रसन्न करके कहा— 'महामुने! आज मेरे साथ सहवास कीजिये, जिससे मुझे सम्पूर्ण वंशको पवित्र करनेवाला पुत्र प्राप्त हो। पुत्रके द्वारा मनुष्य पुण्यलोकोंपर विजय पाता है। पुत्रसे देवता और पितर तृप्त होते हैं। अतः आप पुत्र उत्पन्न करें।'

**ब्राह्मणने कहा**—प्रिये! आज अमावास्या है। इसमें मैथुनका निषेध किया गया है। अतः आज यह नहीं करना चाहिये। पितरोंके लिये तो आजके दिन मैथुन विशेषरूपसे वर्जित है। जो अमावास्याके दिन ऋतुकालमें भी पत्नीसंगम करता है, पितर उसका मांस भोजन करते हैं। उनके इस कथनसे पत्नीको सन्तोष हो गया और दोनों शिवाराधनमें तत्पर हो गये।

नील गंगाके पश्चिम और नर्मदाके उत्तर व्यतीपातेश्वर नामक शिवलिंग है, जो परम सिद्धि देनेवाला है। उसे साक्षात् जगदीश्वर सोमनाथका ही स्वरूप समझो। वहाँ सावित्री और सप्तर्षियोंने तपस्या की थी। नर्मदाके तटपर सावित्रीकुण्ड एक विख्यात तीर्थ है। वहाँ स्नान करनेमात्रसे मनुष्यको कन्यादानका फल प्राप्त होता है। वहाँ तिलसहित जल देने और अन्नदान करनेसे पितर सावित्रीलोकमें रहकर तृप्तिलाभ करते हैं।

पातालेश्वर नामसे प्रसिद्ध देवताओंके स्वामी जगदीश्वर सोमनाथका पूजन करके सब लोग शिवधामको प्राप्त होते हैं। सावित्रीकुण्डमें स्नान करके उसीके जलसे भगवान् सोमनाथका पूजन करे, इससे उस मनुष्यका पुनः इस संसारमें जन्म नहीं होता।

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—युधिष्ठिर! सूर्यवंशमें इन्द्रद्युम्न नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं, जो अयोध्याके अधिपति थे। उन्होंने पर्वत, वन और काननोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वीका पालन किया था। उनके राज्यकालमें चारों वर्णोंके लोग स्वधर्म-पालनमें तत्पर थे। प्रत्येक धेनु इच्छानुसार दूध देनेवाली कामधेनु थी और पृथ्वी हरी-भरी खेतीसे सुशोभित होती थी। एक दिन राजर्षि इन्द्रद्युम्नने महर्षि वसिष्ठसे पूछा—'महामुने! मैं अश्वमेध-यज्ञ करना चाहता हूँ, सो किस तीर्थमें उसका अनुष्ठान करूँ?'

**वसिष्ठजी बोले**—राजन्! वेदवेत्ता ब्रह्मर्षिगण! आपको जैसी सम्मति दें, उस प्रकार ब्राह्मण ऋत्विजोंके द्वारा आपको यज्ञका अनुष्ठान करना चाहिये। उस समय राजसभामें मरीचि, कश्यप, अंगिरा, गौतम, दुर्वासा, च्यवन, धूम्र, महामुनि कण्व तथा और भी बहुत-से उत्तम व्रतका पालन करनेवाले मुनीश्वर बैठे थे। महाराज इन्द्रद्युम्नने उन सबसे पूछा—'किस तीर्थमें किया हुआ यज्ञ मनोवांछित फल देनेवाला होता है?'

**ऋषि बोले**—राजन्! इस कार्यके लिये ऋषियोंने अनेक भिन्न-भिन्न तीर्थोंको श्रेष्ठ बताया है।

**यह सुनकर दुर्वासाने हँसते हुए कहा**—राजन्! ब्राह्मण ज्ञानकी अधिकतासे ज्येष्ठ माने जाते हैं, क्षत्रियोंमें जिसका बल और पराक्रम अधिक हो, वही ज्येष्ठ माना गया है, वैश्योंका ज्येष्ठत्व धन

और धान्यकी अधिकतापर निर्भर है तथा शूद्र जन्म एवं आयुके अनुसार ही ज्येष्ठ माने जाते हैं।* सात कल्पोंतक जीवित रहनेवाले तीनों वेदोंके ज्ञाता त्रिकालज्ञ महर्षि मार्कण्डेयजीके रहते हुए धर्मका निरूपण एवं निश्चय करनेकी शक्ति किसमें है? महाराज! आप नर्मदाके तटपर विद्यमान धर्मारण्यमें जाइये। वहाँ मार्कण्डेयजी जहाँ बतावें, उसी स्थानपर अपना यज्ञ प्रारम्भ करें।

'देवर्षे! आप जैसा कहते हैं, वैसा ही करूँगा'—यों कहकर राजा इन्द्रद्युम्नने अपने मन्त्री देवगर्भको यज्ञकी सब सामग्री ले चलनेका आदेश दिया और स्वयं वहाँके ब्राह्मणों एवं मुनियोंके साथ दिव्य वाहनपर बैठकर बड़ी प्रसन्नताके साथ यात्रा की। उनके साथ अन्तःपुरकी रानियाँ भी थीं। सबके साथ राजा इन्द्रद्युम्न धर्मारण्यमें पहुँचे, जहाँ मार्कण्डेयजी विद्यमान थे। वहाँ जाकर उन्होंने मार्कण्डेयजीको साष्टांग प्रणाम और उनका यथावत् पूजन किया। राजा इन्द्रद्युम्नको आया देख महामुनि मार्कण्डेयजीने पूछा—'नृपश्रेष्ठ! कुशल तो है न? बहुत दिनोंके बाद दिखायी दिये हो। इन ब्रह्मर्षियोंके साथ यहाँ किस प्रयोजनसे तुम्हारा आगमन हुआ है?'

**इन्द्रद्युम्न बोले**—द्विजश्रेष्ठ! मैं यज्ञ करनेके लिये आया हूँ, सो किस तीर्थमें उसका अनुष्ठान करूँ?

**मार्कण्डेयजीने कहा**—राजन्! समुद्रपर्यन्त पृथ्वीपर जितने तीर्थ हैं, वे सब नर्मदा नदीमें स्नान करनेके लिये आते हैं। उत्तरमें जितने शिवलिंग हैं और दक्षिणमें जो-जो तीर्थ हैं, वे सब कोटितीर्थमें लीन होते हैं, इसीलिये उसका नाम कोटितीर्थ हुआ है। भगवान् शंकरने पूर्वकालमें पार्वतीदेवी, कार्तिकेयजी, ब्रह्मा, विष्णु तथा इन्द्र आदि देवताओंके सम्मुख इस तीर्थके माहात्म्यका इस प्रकार वर्णन किया है—'ॐकारेश्वरके समीप नर्मदामें कोटितीर्थ बताया गया है। वहाँ जो दान, होम, यज्ञ तथा दुष्कर तप आदि पुण्यकर्म किया जाता है, उसके पुण्यका अन्त नहीं है। ग्रहणकालमें कुरुक्षेत्रकी प्रशंसा की जाती है। परंतु नर्मदा सदा सब कार्योंके लिये पुण्यदायिनी कही गयी है। अतः तुम कोटितीर्थमें यज्ञ करो।

**यह सुनकर परम धर्मात्मा राजा इन्द्रद्युम्नने अमित तेजस्वी मार्कण्डेय मुनिके चरण पकड़े और कहा**—मुने! आपने जो कुछ कहा है, उसके लिये मैं अपने ऊपर आपका बहुत बड़ा अनुग्रह मानता हूँ। इसी समय सुन्दर यज्ञयूप, विभिन्न देशोंके क्षत्रियवृन्द, गौ, अश्व, हाथी तथा अन्यान्य आवश्यक सामग्री साथ लेकर मन्त्री देवगर्भ वहाँ आ पहुँचे। तब राजाने तीस योजनका एक विशाल यज्ञ-मण्डप बनवाया। उसमें बहुत-से यूप लगाये और अपने प्रमाणके अनुसार नाना प्रकारके कुण्ड निर्माण कराये। यज्ञ प्रारम्भ हुआ और वेदमन्त्रोंकी उच्चारण-ध्वनिसे भूमि और आकाशका मध्यभाग गूँज उठा। सूर्यके सदृश तेजस्वी अग्निदेव अपने धूमरहित स्वरूपसे प्रज्वलित हो रहे थे। महाराज इन्द्रद्युम्नने उस यज्ञमें ब्रह्मा, विष्णु तथा शिवका भी आवाहन किया। इनके साथ सम्पूर्ण देवता भी पधारे। राजाके यज्ञमें घी और दूधकी नदियाँ बहती थीं, जहाँ दही और खीरकी कीच जमी हुई थी। अनेक प्रकारके भक्ष्य-भोज्य पदार्थ सदा सबके लिये प्रस्तुत रहते थे। देवता, मुनि तथा चार प्रकारके प्राणिसमुदाय भलीभाँति तृप्त हुए। अन्तमें ब्राह्मणोंको प्रचुर दक्षिणा दी गयी। इस प्रकार वह यज्ञ सम्पूर्ण हुआ।

तदनन्तर ध्रुव तथा ब्रह्मपुत्र महर्षियोंको विदा करके ॐकारेश्वरके स्वरूपको जानकर राजाने उनका पूजन किया। मणि-माणिक्य आदि रत्नोंसे पहले ॐकारलिंगको विभूषित किया। फिर गन्ध, नाना प्रकारके धूप, कपूर, अगर, चन्दन, ध्वज, छत्र, वितान, व्यजन और दिव्य चामरोंसे पूजा सम्पन्न करके इस प्रकार स्तुति की—'जिस विन्दुयुक्त ॐकारका योगीजन सदा ध्यान करते हैं तथा जो ॐकारस्वरूप काम और मोक्ष

* विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः। वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणां चैव जन्मतः॥ (स्क० पु०, आव० रे० ३४। १९-२०)

देनेवाले हैं, उनको बार-बार नमस्कार है। ब्रह्मा, विष्णु तथा इन्द्रको भी वर देनेवाले सर्वदेवमय शिव! आपको नमस्कार है। रुद्र! पुण्यसे सुशोभित होनेवाली जो आपकी कल्याणमयी अघोर (सौम्य) मूर्ति है, उसके द्वारा आप मुझपर कृपा कीजिये। आपके सब ओर हाथ और पैर हैं। सब ओर नेत्र, सिर और मुख हैं। लोकमें सब ओर आपके कान हैं तथा आप सबको व्याप्त करके स्थित हैं। आपको नमस्कार है।' इस प्रकार स्तुति करनेपर ॐकारलिंगके मध्यभागमें एक दूसरा लिंग दिखायी दिया, जो प्रज्वलित कालाग्निके समान कान्तिमान् था। उसने इन्द्रद्युम्नसे कहा—राजन्! तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारे मनमें जो कामना हो, उसके लिये वर माँगो।'

**इन्द्रद्युम्न बोले**—देव! वहाँ यज्ञ पर्वतपर देवद्रोणीमें भगवती पार्वतीके साथ पूजित होकर आप सदा निवास करें। देवदेवेश्वर! इस तीर्थमें जो प्राणत्याग करे, वह शिवलोकमें जाय।

**ॐकारेश्वर बोले**—नृपश्रेष्ठ! तुम्हारी यह सब कामना पूर्ण हो।

इतना कहकर वे वहीं अन्तर्धान हो गये। उन्हींके साथ अन्यान्य देवता भी अपने-अपने स्थानको चले गये। भगवान् शंकर कैलासधामको गये। राजा इन्द्रद्युम्नने वहाँ चार प्रकारके प्राणियोंको सुनाकर कहा—'तुम सब लोग मेरे यज्ञके प्रभावसे नीरोग हो जाओ और सभी तृप्त रहो।' तत्पश्चात् राजा इन्द्रद्युम्नने साष्टांग प्रणाम करके भगवान् विष्णुकी स्तुति की।

**राजाने कहा**—मैं केशव (जलमें शयन करनेवाले), माधव (लक्ष्मीपति), विष्णु (सर्वव्यापी), गोविन्द, मधुसूदन (मधु दैत्यको मारनेवाले), पद्मनाभ (नाभिसे कमल उत्पन्न करनेवाले), हृषीकेश (इन्द्रियोंके स्वामी), श्रीधर, त्रिविक्रम (तीन विशाल डगवाले विराट्रूपधारी वामन), दामोदर (माता यशोदाके द्वारा रस्सीसे कटिभागमें बँधनेवाले), वासुदेव (वसुदेवपुत्र) तथा श्रीहरि (पाप हरण करनेवाले)को प्रणाम करता हूँ। जो शंख, चक्र, गदा, शार्ङ्गधनुष और वनमालासे विभूषित हैं, सम्पूर्ण लोकोंके रक्षक, जगत्के स्वामी, लक्ष्मीजीके पति तथा सर्वज्ञोंमें श्रेष्ठ हैं, उन भगवान् श्रीकान्त, श्रीधर, श्रीश एवं श्रीनिवासको मैं नमस्कार करता हूँ। अच्युत! अनन्त! यज्ञेश! यज्ञाधिप! आपको नमस्कार है। ऋक्, साम, अथर्व और यज्ञ (यजुर्वेद)-स्वरूप आपको नमस्कार है। नृसिंह, मत्स्य, वाराह और कूर्मरूप धारण करनेवाले आपको नमस्कार है। पवित्र वाहनपर आरूढ़ होनेवाले गरुड़ध्वज! आपको नमस्कार है। जो सहस्र मस्तकोंवाले, सकल-निष्कल, जाननेयोग्य, पुरुष (अन्तर्यामी), अध्यक्ष (साक्षी) तथा सबके आदिकारण हैं, उन भगवान् नारायणदेवको मैं नमस्कार करता हूँ। दैत्योंका अन्त करनेवाले देवता श्रीहरिको मैं प्रणाम करता हूँ। हिरण्य, पृथ्वी तथा यज्ञको अपने गर्भमें धारण करनेवाले, अमृतकी उत्पत्तिके हेतुभूत श्रीविष्णुको मैं नमस्कार करता हूँ। वासुदेव! श्रीगर्भ एवं ज्ञानगर्भस्वरूप आपको नमस्कार है। प्रभो! आपने ही इस सम्पूर्ण चराचर जगत्की सृष्टि की है। आप ही प्रत्येक युगमें सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले हैं। आपके सब ओर नेत्र हैं, सब ओर मुख हैं। आप अव्यक्त एवं जाननेयोग्य हैं। सम्पूर्ण विश्वके आत्मा, प्रकाशक और सबके भीतर निवास करनेवाले आपको नमस्कार है। आप सूर्य, वायु, अग्नि और चन्द्रमा हैं। देवदेवेश्वर! आप ही धाता, इन्द्र और प्रजापति हैं। सुरश्रेष्ठ! आपके ही प्रसादसे मेरे यज्ञकी सिद्धि हुई है।

**राजाके द्वारा की हुई यह स्तुति सुनकर शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् विष्णुने कहा**—राजन्! तुम कोई वर माँगो।

**राजा बोले**—ॐकारलिंगके उत्तर भागमें वैदूर्य पर्वतकी चोटीपर आप जनार्दन लिंगके रूपमें निवास करें। यहाँ विधिपूर्वक आपकी पूजा करके मनुष्य श्रीविष्णुधामको प्राप्त हों, पशु-पक्षियोंकी योनिमें न जायँ तथा यमलोकमें भी प्रवेश न करें। यहाँ प्राणत्याग करनेपर मनुष्योंको

आपके परम धामकी प्राप्ति हो और इस तीर्थमें पितरोंके निमित्त अन्नदान करनेपर वे पितर आपके प्रसादसे विष्णुधामको प्राप्त करें।

**भगवान् विष्णुने कहा**—नृपश्रेष्ठ! मैं यहीं अवतार धारण करूँगा और तुमने जो कुछ माँगा है, वह सब मेरे प्रसादसे पूर्ण होगा।

ऐसा कहकर शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् विष्णु अपने धामको चले गये। युधिष्ठिर! इस प्रकार राजा इन्द्रद्युम्नके महान् यज्ञका वर्णन किया गया। उस यज्ञसे ही वह पर्वत समस्त संसारमें पुण्यतीर्थके रूपमें विख्यात हुआ। सिद्धेश्वरलिंगको ब्रह्माका और नारायणेश्वरको श्रीहरिका स्वरूप समझो। इसके श्रवण और कीर्तनसे मनुष्य विष्णुलोकमें सम्मानित होता है।

**तत्पश्चात् सत्यव्रतपरायण राजाने तीर्थोंका स्तवन किया**—पितरोंका उद्धार करनेके लिये समस्त तीर्थोंको मेरा बार-बार नमस्कार है।

**तीर्थ बोले**—महाभाग! तुम हमसे मनोवांछित वर माँगो।

**इन्द्रद्युम्नने कहा**—तीर्थगण! आप सब लोग मुझपर अनुग्रह करके ॐकारके समीपवर्ती तीर्थमें निवास करें।

**'एवमस्तु' कहकर तीर्थोंने नर्मदा नदीका इस प्रकार स्तवन किया**—अनेक कल्पपर्यन्त स्थित रहनेवाली तथा महादेवजीकी सर्वोत्कृष्ट कलास्वरूपा नर्मदादेवीको हम नमस्कार करते हैं। सब लोकोंमें अत्यन्त प्रसिद्ध एवं नदियोंमें श्रेष्ठ नर्मदाको हम मस्तक नवाते हैं। देवि! आप हम तीर्थोंके प्रभावसे नहीं, किंतु स्वभावसे ही परम पवित्र हैं, ठीक उसी तरह जैसे भगवान् सूर्यकी प्रभा और अग्निदेवकी कान्ति पवित्र होती है।

**नर्मदाकी स्तुति करके तीर्थोंने इन्द्रद्युम्नसे कहा**—राजेन्द्र! जैसे चन्द्रमाकी कला पवित्र होती है, उसी प्रकारसे महानदी नर्मदा भी हैं। यों कहकर सब तीर्थ अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर नृपश्रेष्ठ इन्द्रद्युम्नने अर्घ्य देकर गंगाजीकी स्तुति की—'गंगा, भागीरथी, देवि, भोगवती, शुभा, जाह्नवी, मोक्षदा, भद्रा, तारिणी और पापनाशिनी इत्यादि नामोंसे प्रसिद्ध गंगादेवीको मैं नमस्कार करता हूँ। मातः! आप ही स्वर्गमें देवाधिदेवोंसे वन्दित मन्दाकिनी कहलाती हैं। आप ही वेदमाता गायत्री, उमा और कात्यायनी हैं। देवि! आपको साक्षात् महादेवजीने अपने सिरपर धारण किया है। इससे अधिक आपके विषयमें और क्या कहा जा सकता है। भगवान् चन्द्रार्धशेखरको छोड़कर दूसरा कौन आपकी स्तुति करनेमें समर्थ है?'

**गंगाजीने कहा**—महाराज! मैं प्रसन्न हूँ। तुम कोई वर माँगो।

**राजाने कहा**—देवेश्वरि! आप सदा यहीं निवास करें।

**गंगा बोली**—राजेन्द्र! ऐसा ही होगा। मैं अपने एक अंशसे सदा यहीं प्रवाहित होऊँगी।

ऐसा कहकर गंगा अपने स्थानको चली गयीं। इसके बाद राजा इन्द्रद्युम्नने नर्मदादेवीकी स्तुति की—'देवि! तुम्हारे जलके प्रभावसे मैंने देवताओं और पितरोंको सन्तुष्ट किया है। तुमने चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकीको पवित्र किया है। तुम सम्पूर्ण प्राणियोंकी माता और मनुष्योंको संसार-सागरसे पार उतारनेवाली हो। महादेवि! मेकला, कल्पगा, नर्मदा और जलपूर्णा इत्यादि नामोंसे विख्यात होकर तुम विन्ध्यपर्वतकी शोभा बढ़ाती हो। शुभे! सहस्रों वर्षतक तुम्हारी स्तुतिमें संलग्न रहनेपर भी कौन तुम्हारा भलीभाँति स्तवन कर सकता है।'

इस स्तोत्रसे सन्तुष्ट होकर नर्मदाने कहा—'राजन्! तुम क्या चाहते हो, कहो। मैं तुम्हें वर दूँगी, जिससे सिद्धिको प्राप्त होओगे।' नर्मदाका यह वचन सुनकर ब्राह्मणोंसहित शिवभक्तिपरायण राजाने हँसते हुए कहा—'देवि!

यदि मुझे वर देना चाहती हो तो अपने दक्षिण तटसे लेकर उत्तर तटतक सात धाराएँ कर लो।'

**नर्मदा बोलीं**—राजन्! मेरे प्रभाव और प्रसादसे यह सब हो जायगा। इस बीचमें जो कुछ दान दिया जायगा, उसका पुण्य असंख्य होगा। यहाँ दान देनेवालोंका पुनः इस संसारमें जन्म नहीं होगा। शूद्र, चाण्डाल, मृग, पशु और सर्प आदि भी नीलगंगा-संगममें स्नान करने अथवा प्राण त्यागनेपर स्वर्गधामको जायँगे।

तत्पश्चात् नर्मदाको नमस्कार करके राजा इन्द्रद्युम्न अपने वाहनपर आरूढ़ हुए और सहस्रों राजाओंके साथ अपनी राजधानी देवनिर्मित पुरी अयोध्याको चले गये। वहाँ दीर्घकालतक राज्य करनेके पश्चात् वे स्वर्गलोगमें गये।

युधिष्ठिर! यह प्राचीन इतिहास तुमको सुनाया गया है। जो इसे कहते और सुनते हैं, वे यमलोक नहीं देखते और पापयोनिमें नहीं जाते हैं।

## पुराणलक्षण, कलिकालका प्रभाव तथा राजर्षि वसुदानके यज्ञमें प्रकट हुई कपिला और नर्मदाके संगमका माहात्म्य

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—राजन्! सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित—ये पुराणके पाँच लक्षण हैं*। कलियुगमें मनुष्य प्रायः असमर्थ और अल्पजीवी होंगे। बुद्धिहीन तथा दुराचारपरायण होंगे। स्वाध्याय, वषट्कार, तप और यज्ञ आदि कोई भी सत्कर्म उनके द्वारा न होगा। वे स्त्रियोंकी कामना रखनेवाले और विषयलोलुप होंगे। ब्राह्मण सकामभावसे ही कर्म करनेवाले और याचक होंगे। सदा दान लेंगे और परिवारके भरण-पोषणमें ही आसक्त रहेंगे। स्त्रियोंके प्रति आसक्ति होनेके कारण वे आत्माको नहीं जानेंगे। धर्मिष्ठ और तपस्वी भी कुकर्म करेंगे। कलिकाल आनेपर अधिकांश लोग वाममार्गी और दिगम्बर हो जायँगे। सब प्रजा एक वर्णकी हो जायगी। राजा म्लेच्छ होगा। हीनयुग आनेपर जब भगवान् विष्णुका बौद्धावतार होगा, तब मनुष्य अल्पायु, अल्पवीर्य तथा अल्पपराक्रमी होंगे। नाना प्रकारके देशव्यापी उपद्रव होते रहेंगे। चाण्डालोंके वंशमें उत्पन्न ब्राह्मण वेदोंको पढ़ावेंगे। दूसरोंको वेदका उपदेश करेंगे और अपने वेद बेचेंगे। धन पानेके लोभसे राजाओंके दरबारमें जायँगे। अग्निहोत्र और कन्याओंका विक्रय करेंगे। कलियुगके वेदपाठी ब्रह्मचर्यव्रतसे रहित होंगे। दस-बारह वर्षोंकी बालिका भी गर्भ धारण करेगी। स्त्री अपने पतिका और पुत्र अपने माता-पिताका आदर नहीं करेंगे। बहू सासकी और पुत्री माताकी बात नहीं मानेगी। ये सब बातें यहाँ संक्षेपसे बतायी गयी हैं।

युधिष्ठिर! एक दिव्य कथा श्रवण करो, जो सब पापोंका नाश करनेवाली है।

पूर्वकालमें वसुदान नामवाले एक चक्रवर्ती राजर्षि थे। उनकी राजधानी अयोध्या थी। उनके राज्यमें कोई दीन, दुःखी अथवा दरिद्र नहीं होता था। प्रत्येक गाय स्वयं ही इच्छानुसार दुग्ध देनेवाली और पृथ्वी हरी-भरी खेतीसे सुशोभित थी। एक समय राजर्षि वसुदान वेदके पारंगत ब्राह्मण ऋत्विजोंके साथ यज्ञकी सब सामग्रीका संग्रह करके अमरेश्वरतीर्थमें गये। वहाँ उनका यज्ञ प्रारम्भ हुआ और निर्विघ्न समाप्त भी हो गया। अवभृथके जलसे वहाँकी स्वर्णनिर्मित समूची पृथ्वी भीग गयी। उस यज्ञमें ब्रह्मा, विष्णु और शिवका एक साथ ही पूजन किया गया और वहाँ होमसे दूध और घीकी पृथक्-पृथक् धाराएँ बह निकलीं। गोमूत्रकी भी एक धारा बहने लगी और वेदोंके पारंगत विद्वान् ऋषि-मुनियोंने देवताओंको जो स्नान कराया था, उस जलकी भी एक धारा बह

* सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्॥ (स्क० पु०, आव० रे० ३५। १५)

चली। इन सब धाराओंके आपसमें मिल जानेपर ब्रह्मर्षियों और देवताओंने देखा, एक नदी बह रही है। वह नदी कपिला नामसे प्रसिद्ध हुई। कपिला और नर्मदाका जहाँ संगम है, वहाँ रुद्रावर्ततीर्थ बताया गया है।

तदनन्तर दक्षिणाओंद्वारा सब ब्राह्मणोंका भलीभाँति सत्कार किया गया। उन्हें नाना प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे विभूषित करके हाथी, घोड़े और रथपर बिठाया गया। देवताओंको भी ऐसा ही सत्कार प्राप्त हुआ। सब देवता सन्तुष्ट होकर राजर्षि वसुदानसे बोले—'महाभाग! इस यज्ञसे हम बहुत प्रसन्न हैं, तुम कोई वर माँगो।'

**वसुदान बोले**—देवताओ! नर्मदा और कपिलाके संगममें स्नान करके जो मनुष्य महादेवजीकी पूजा करते हैं, वे दिव्य विमानोंद्वारा स्वर्गलोकमें जायँ और जिनकी यहाँ मृत्यु हो, वे पुनः संसारमें जन्म न लेकर मुक्त हो जायँ।

**देवताओंने कहा**—राजन्! तुम्हारे सभी अभीष्ट मनोरथ यथेष्ट सफल होंगे।

ऐसा कहकर सब देवता अपने-अपने विमानपर आरूढ़ हो प्रसन्नतापूर्वक स्वर्गलोकको चले गये। राजर्षि वसुदान भी वेदवेत्ता ब्राह्मणोंके साथ परम आनन्दसे युक्त हो अयोध्यापुरीमें लौट आये। उस तीर्थके प्रभावसे अन्तःपुर एवं परिवारसहित उन्होंने प्रचुर भोगोंका उपभोग किया और अन्तमें वे भगवान् शिवके परम धाममें गये। युधिष्ठिर! इस प्रकार नर्मदा और कपिलाके संगमका वृत्तान्त बताया गया। इसके श्रवण और कीर्तनसे मनुष्यको संसार-बन्धनसे छुटकारा मिल जाता है।

## अमरावतीमें भगवान्‌का दैत्यसूदनरूपसे निवास तथा वहाँके अन्यान्य तीर्थों और शिवलिंगोंका माहात्म्य

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—महाराज! नर्मदाके दक्षिण और कपिलाके पश्चिम तटपर भगवान् विष्णुकी मनोहर पुरी अमरावती है, जिसमें भगवान् लक्ष्मीपति कोटि कल्प और युगोंतक निवास करते हैं। प्राचीन कालमें देवताओं और असुरोंके युद्धमें देवकण्टक दानवोंद्वारा सब देवता परास्त हो गये। उस समय दानवोंके अत्याचारसे पीड़ित होकर पृथ्वीदेवी और ब्रह्मा आदि देवता क्षीरसागरमें शयन करनेवाले भगवान् विष्णुकी शरणमें गये और उन्हें प्रणाम करके इस प्रकार उनकी स्तुति करने लगे—'दैत्योंका अन्त करनेवाले जनार्दन! देव! जगन्नाथ! आपकी जय हो। वेदोंके मूलस्थान जगदीश्वर! हम आपकी शरणमें आये हैं, आप हमारी रक्षा करें।'

**इस स्तोत्रको सुनकर भगवान् विष्णुने कहा**—ब्रह्मन्! भूलोकमें जो-जो दुर्धर्ष दानव हैं, उन सबका मैं शीघ्र ही नाश करूँगा। ऐसा कहकर भगवान् विष्णु देवताओंके साथ आये और सम्पूर्ण लोकोंके हितके लिये अपने सुदर्शनचक्रसे दैत्योंके मस्तक काटने लगे। तब समस्त दानव भगवान् विष्णुके भयसे थर्रा उठे और पृथ्वी छोड़कर रसातलमें भाग गये। तदनन्तर पुनः ब्राह्मण, देवता और तपस्वीजनोंके यज्ञ पूर्ववत् होने लगे। युधिष्ठिर! उस पुरी (अमरावती)-में भगवान् विष्णु दैत्यसूदनके नामसे प्रतिष्ठित हुए। जो मनुष्य वहाँ प्राणत्याग करता है, वह विमानके द्वारा विष्णुलोकमें सम्मानित होता है। कपिलाके पश्चिममें नीलगंगाका आगमन हुआ है। उसमें स्नान करके मनुष्य कोटितीर्थके सेवनका फल पाता है। सुदर्शन, दैत्यसूदन, विष्ण्वावर्त, शिवावर्त और लक्ष्म्यावर्त—इन तीर्थोंमें जो दान दिया जाता है, उसका पुण्य असंख्य होता है। वहाँ श्रीविष्णुको प्रसन्न करके मनुष्य अनन्त फलका भागी होता है। श्रीविष्णुक्षेत्रका

प्रमाण एक कोसका बताया गया है। उसके भीतर ब्रह्महत्याका प्रवेश नहीं होता। जो वहाँ एक मासतक उपवास तथा अग्निहोत्र करता है, जो स्त्री वहाँ पातिव्रत्यधर्मका पालन करती है तथा जो मनुष्य स्वाध्याय, यज्ञ, चान्द्रायण, पराक तथा पितरोंका तिल और जलसे तर्पण करते हैं, उनके पितर तृप्त होकर भगवान् विष्णुके धाममें विहार करते हैं और उन मनुष्योंको भी अपने सत्कर्मोंका उत्तम फल प्राप्त होता है। जो एकरात्र, त्रिरात्र, कृच्छ्र, सान्तपन, अतिकृच्छ्र, पर्णकृच्छ्र तथा अन्यान्य वैष्णवव्रत करता है और जो दोनों पक्षोंकी एकादशीको भोजन नहीं करता है, वह इन व्रतोंके द्वारा भगवान् विष्णुके लोकमें पूजित होता है। चाण्डाल, श्वपच अथवा पशु-पक्षीकी योनिमें पड़ा हुआ प्राणी भी यदि इस तीर्थमें अपने प्राणोंका त्याग करता है, तो वह भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है। इस तीर्थमें मासोपवासव्रत करनेवाले पुरुषों तथा पतिव्रता स्त्रियोंको देखकर धर्मराज स्वयं ही वहाँ जा उनके लिये अर्घ्य समर्पण करते हैं और उन महात्माओंको वैष्णवलोकका दर्शन कराकर लौट आते हैं। ब्रह्माजीके मानसपुत्र सप्तर्षियोंने एक समय धर्मराजसे पूछा—'धर्म! क्या कारण है कि आप यहाँ स्वयं पैदल विचर रहे हैं? इससे हमें बड़ा विस्मय हुआ है। महाभाग! इसका कारण बताइये?'

**यह सुनकर धर्मराजने हँसते हुए कहा**—मुनिवरो! मेरे भयंकर दूत पतिव्रता स्त्रियों, मासोपवासी पुरुषों तथा इन सबके विमानोंकी उज्ज्वल दीप्तिकी ओर दृष्टिपात करनेमें असमर्थ हो रहे हैं। इसलिये वे लौट गये हैं। इसीलिये मैं पैदल गया था।

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—राजन्! अमरावतीमें अमिततेजस्वी भगवान् विष्णुका निवास है। वहाँ किया हुआ श्रीहरिका पूजन कलियुगके दोषोंका नाश करनेवाला है। नर्मदाके उत्तर तटपर एक अन्य श्रेष्ठ देवता हैं, जो ब्रह्मेश्वरके नामसे विख्यात हैं। वे सब पापोंका नाश करनेवाले हैं। उनके पूजनसे पापराशि नष्ट होती है और पितर तृप्त होकर ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं। लंकेश्वरसे दक्षिण सिद्धलिंग बताया गया है। उसके पूजन और स्पर्शसे गणपतिपदकी प्राप्ति होती है। विश्वेश्वर नामक महालिंग सर्वदेवमय और शुभ है। वैशाख शुक्ला अष्टमीको उसके पूजनसे मनुष्य दस हजार शिवलिंगोंकी पूजाका फल पाता है और भगवान् शिवका अनुचर होता है। महाराज! तत्पश्चात् नर्मदा नदीके उत्तर तटकी यात्रा करे। वहाँ परम सिद्धिदायक पापनाशन लिंग है। वहाँ स्नान, तर्पण और पूजन करनेसे ब्रह्महत्याका नाश होता है। उसके बाद सब पापोंका नाश करनेवाला ऋणमोचन लिंग है। उसके पूजनसे अनेक जन्मोंका ऋण नष्ट हो जाता है। ऋणमोचनके दर्शनपूर्वक तिल और जलकी अंजलि देनेसे पितर तबतक तृप्त रहते हैं, जबतक कि सूर्य, चन्द्रमा और ताराओंकी स्थिति बनी रहती है। नर्मदा और चरुके संगममें शास्त्रोक्त रीतिसे स्नान करके संगमके जल और बिल्वपत्रसे जो महादेवजीको स्नान कराता और उनकी पूजा करता है, उसकी उमा-महेश्वरधामसे कभी पुनरावृत्ति नहीं होती। चतुष्केश्वर नामक एक सिद्धलिंग है, जो आँवलेके फलके बराबर है। देवता और दैत्य उसका पूजन करते हैं। मनुष्य उसे नहीं देख पाते। जो परम धार्मिक पुत्र उस तीर्थमें श्राद्ध करता है, उसके पितर महाप्रलय कालतक तृप्त रहते हैं। चरु नामवाली नदी यज्ञ पर्वतसे निकली है। पूर्वकालमें अपने पुरोहित बृहस्पतिजीके साथ देवराज इन्द्रने यहाँ यज्ञ किया था। तबसे लोकमें समस्त देवताओंद्वारा इसकी परम पवित्र महिमाका गान किया जाता है। वहाँ दारुवन नामसे विख्यात एक तीर्थ है, जो पृथ्वीपर सबके द्वारा सेवित होता है। त्रेतामें साठ हजार तपस्वी मुनियोंने उस तीर्थमें निवास किया था। वे सभी कन्द-मूल-फलका आहार करनेवाले और अग्निहोत्रपरायण थे। इस तीर्थके प्रभावसे उन्हें ब्रह्मलोककी प्राप्ति हुई है। दारुवनमें सब पापोंका नाश करनेवाला एक शिवलिंग है,

जिसके पूजनसे मनुष्य गणपति होता है। वहीं सर्वदेवमय शुभ विमलेश्वर लिंग है। वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं और जो मरते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता। उस तीर्थमें देवता और असुर सबको निर्मल करके पिनाकधारी महादेव अपने धाममें ले जाते हैं। जो वहाँ तिल, जल और पिण्डदान देकर पितरोंको तृप्त करता है, वह भगवान् महेश्वरके परम धामको जाता है। युधिष्ठिर! विमलेश्वर लिंगको तुम साक्षात् महेश्वर ही समझो। वहीं एक व्याघ्रेश्वर लिंग भी है, जहाँ व्याघ्रीको स्वर्गलोककी प्राप्ति हुई थी। उस तीर्थमें तिल, जल और हविष्यका पिण्डदान देनेसे पुत्र अपने पहले और पीछेकी सौ-सौ पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है और स्वयं जबतक चौदह इन्द्र व्यतीत होते हैं तबतक वरुणलोकमें निवास करता है। व्याघ्रेश्वरदेवके पूजन, कीर्तन और श्रवणसे मनुष्य इन्द्रलोकको प्राप्त होता है।

## अमरकण्टकपर सूत्रयागका माहात्म्य, कावेरी-संगम और पयोष्णी-संगमकी महिमा तथा वहाँके अन्य तीर्थोंके सेवनकी महत्ता

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—युधिष्ठिर! चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, षडशीतिमुख, युगादि, विषुव, व्यतिपात, संक्रान्ति, कार्तिक, माघ तथा वैशाखकी पूर्णिमा,कपिलषष्ठी, वैशाख शुक्ला तृतीया, कार्तिक शुक्ला नवमी, माघकी अमावास्या तथा भाद्रपद कृष्णा त्रयोदशी—ये युगादि तिथियाँ हैं। इन पर्वोंमें सूत्रयाग करना चाहिये। भगवान् शंकरके तुल्य जो पर्वत है, उसे उमासहित महादेवजी तथा गणेशजीका स्वरूप समझकर जो सूतसे लपेटता है, वह सहस्रों युगोंतक स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है। जो स्त्री उस पर्वतको सूतसे आवेष्टित करती है, वह पतिसे संयुक्त एवं पुत्रवती होती है। राजन्! रेशमी सूत अथवा कपासका सूत लेकर उसे नौ तागोंका या दस, बारह, अठारह अथवा चौबीस तागोंका कर ले। फिर उसे कोटितीर्थमें धोवे और गन्ध एवं धूपसे सुवासित करे। तत्पश्चात् उसमें फूलकी माला बाँधे और रातमें दीपावली जलावे। ॐकारतीर्थमें विधिपूर्वक रातमें जागरण करते हुए भगवान् शिवके ध्यानमें तत्पर रहे और निराहार रहकर रात्रि व्यतीत करे। फिर प्रातःकाल ॐकारेश्वरका पूजन एवं उत्सव करे। एकाग्रचित्त होकर अक्षयवटमें सूत बाँधे और सर्वतीर्थमय शुभस्वरूप कोटितीर्थकी यात्रा करे। वहाँसे ऋणमोचन, पापनाशन, नरकेश्वर, गन्धर्वेश्वर और अंगारेश्वरतीर्थमें होते हुए सर्वतीर्थमय ब्रह्मावर्तमें जाय। वहाँ स्नान करके मनुष्य शिवलोकको पाता है। उस तीर्थमें तिल और जल देनेसे पितरोंकी सद्गति होती है। सर्वपापनाशक दारुकेश्वर लिंगके पूजनसे मनुष्य विद्याधर होता है। दारुकेश्वरसे भृगुलिंगके समीप जाय। वहाँ जानेमात्रसे मनुष्य ब्रह्महत्यासे मुक्त हो जाता है। वहाँसे जालेश्वरतीर्थको जाय, जो सब तीर्थोंमें उत्तम है। वहाँ स्नानमात्र करनेवाला मनुष्य फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेता। जालेश्वरमें तिल और जलकी अंजलि देनेसे पितरोंको अक्षय गति प्राप्त होती है। जालेश्वरसे पुनः कोटितीर्थमें आवे और विधिपूर्वक स्नान करके ॐकारेश्वर महादेवके श्रीअंगोंमें श्वेत सूत बाँधे। फिर ॐकारेश्वरकी पूजा करके दीपमाला जलावे। तत्पश्चात् इस प्रकार प्रार्थना करे—'महेश्वर! आपके प्रसादसे मेरा यह सूत्रयाग सफल हो।' तदनन्तर यतियोंको भोजन करावे और ब्राह्मणोंको यथाशक्ति दक्षिणा दे। उसके बाद भाई-बन्धु और भृत्यवर्गके साथ पारण करे। जो शारीरिक कष्ट उठाकर शिवपर्वतकी परिक्रमा करता है, उसे पग-पगपर यज्ञका फल प्राप्त होता है।

उत्तर और दक्षिणमें जो तीर्थ हैं, वे भगवान् शिवके साक्षात् स्थान कोटितीर्थमें विलीन होते हैं। समुद्रपर्यन्त पृथ्वीमें जो तीर्थ हैं, वे परम-

पदस्वरूप कोटितीर्थमें लयको प्राप्त होते हैं। नृपश्रेष्ठ! नर्मदा और अमरावती तथा नर्मदा और ॐकारेश्वरके मध्यभागमें कोटितीर्थ विद्यमान है, जिसमें पातालके एक लाख तीर्थ निवास करते हैं। साक्षात् महादेवजीने कपिला और नर्मदाके बीचमें उन सब तीर्थोंकी स्थापना की है। महाराज! इसके बीच रुद्रावर्तके जलमें जो मनुष्य विधिपूर्वक स्नान करते हैं, वे शिवलोकमें जाते हैं तथा जो नर्मदाके उत्तर तटमें निवास करते हैं, वे रुद्रलोकके निवासी होते हैं। जो वाम भाग (दक्षिण तट)-पर निवास करते हैं, वे विष्णुलोकमें जाते हैं। जो अमरकण्टक पर्वतपर पूर्व और पश्चिम भागमें निवास करते हैं, वे रुद्र, ब्रह्मा और विष्णुके लोकमें जाते हैं। सूर्यग्रहणके समय न्यायोपार्जित धनका कोटितीर्थमें दान करनेसे अनेक प्रकारके पुण्य होते हैं। कावेरीके पूर्वभागमें जहाँतक पर्यंक पर्वत है, उसके बीचमें तीर्थोंकी संख्या दस लाख बतायी गयी है। नर्मदासे लेकर जमदग्नि आश्रमके बीचमें श्रीकण्ठ और नीलकण्ठ नामक शिवलिंग स्थित हैं। नर्मदाके उभय तटोंपर एक कोसके भीतर जितने भी स्वयम्भू देवता हैं, उन सबको सिद्धिदायक जानना चाहिये। वे सभी इच्छानुसार काम, भोग और फल देनेवाले हैं। भारत! यह अमरकण्टक पर्वत जिस प्रकार सब ओरसे पवित्र है, वैसा पवित्र मुझे तीनों लोकोंमें दूसरा कोई पर्वत नहीं दिखायी देता। कोटितीर्थ और अमरकण्टक दोनों ही परम पवित्र हैं। इन्हें स्वर्ग, मोक्ष तथा सम्पूर्ण सिद्धियोंका दाता समझो। चतुर्दशी मंगलवारको जब व्यतिपात योग हो, तब कावेरीसंगममें स्नान करनेसे सहस्रगुना पुण्य होता है। जो शस्त्रद्वारा मारे गये हैं, ऐसे लोगोंके निमित्त वहाँ तिलमिश्रित जलकी अंजलि देनेसे और एकोद्दिष्ट श्राद्ध करनेसे वे स्वर्गलोक पाते हैं। नर्मदा और कावेरीके जल और जंगली तिलसे तृप्त किये हुए पितर परम गतिको प्राप्त होते हैं। सहस्रों धाराओंसे कावेरी नदी इस भूतलपर प्रसिद्ध है। कावेरीके जलसे समस्त पृथ्वी व्याप्त है। नर्मदाके दक्षिण तटपर वाराह और विन्ध्याचलमें सम्पूर्ण देवताओंको प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाली पयोष्णी नदी प्रकट हुई है। पूर्वकालमें महादेवजीके आराधना करनेपर साक्षात् पार्वतीस्वरूपा पयोष्णी नदीका प्रादुर्भाव हुआ है। वह यशस्वी वाराह पर्वतके शरीरसे निकली है। उसमें स्नान करनेपर मनुष्य निश्चय ही इस संसारमें जन्म नहीं लेता। युधिष्ठिर! वहाँ तिलोदक देनेसे पितर लाखों वर्षोंतक भगवान् शिवके लोकमें क्रीडा करते हैं। चन्द्रग्रहणके समय वाराह और विन्ध्याचल पर्वतपर कुरुक्षेत्रके समान पुण्य होता है। यह साक्षात् भगवान् शंकरका कथन है। वाराह पर्वतसे लेकर पयोष्णी नदीके संगमतक एक करोड़ तीर्थ बताये गये हैं। पयोष्णीसंगममें सोमावर्त नामक तीर्थकी स्थिति कही जाती है। वह स्थान सब ओरसे पवित्र है। जहाँ चार भुजाधारी पुरुषोत्तम भगवान् श्रीपति निवास करते हैं, उस एक कोसके क्षेत्रको विष्णुक्षेत्र जानना चाहिये। आश्विनमासके कृष्ण पक्षकी चतुर्दशी और अमावास्या तथा शुक्ल पक्षकी प्रतिपदा—ये क्रमशः उस तीर्थके पर्व हैं। चतुर्दशीको चारका योग होनेपर अर्थात् मास, पक्ष, तिथि और विष्णुक्षेत्रका संयोग होनेपर वहाँ अमृतकी धारा बहती है। उस दिन वहाँ तर्पण करनेसे पितर अवश्य ही तृप्त होते हैं। सूर्यग्रहणके समय कुरुक्षेत्रमें जो फल बताया गया है, वह तापी और पयोष्णीके संगममें भी प्राप्त होता है। नर्मदाके दक्षिण पातालसे एक तीर्थ प्रकट हुआ है, जो तीनों लोकोंमें कावेरीकुण्डके नामसे विख्यात हुआ है। उसमें स्नानमात्र करनेसे मनुष्य गणाध्यक्ष पदको प्राप्त करता है। वहाँ कुण्डेश्वर नामक एक सिद्धलिंग है, जो देवताओं और सिद्धोंसे सुसेवित है। उस पवित्र लिंगका जो भूलसे भी पूजन कर लेता है, उसके पुण्यकी कोई संख्या नहीं है। स्वयं प्रकट हुए जो स्वयम्भू लिंग हैं, वे स्वर्ग और मोक्ष देनेवाले हैं। कावेरीमें मनुष्य जहाँ-कहीं भी स्नान करता है, वह अश्वमेधके फलको पाकर विष्णुलोकमें प्रतिष्ठित होता है।

# भद्ररुद्रेश्वरकी महिमा, दुर्वासाजीके द्वारा अमरकण्टकका गयातीर्थके तुल्य होना तथा राजा भरतका यज्ञ

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—राजन्! एक भद्र-रुद्रेश्वर नामक लिंग है, जो उत्तम सिद्धियोंको देनेवाला है। पूर्वकल्पमें भद्र और रुद्र नामवाले दो गन्धर्व थे। वे दोनों भाई थे। उन्होंने विधिपूर्वक इस शिवलिंगकी अर्चना करके विद्याधरलोक प्राप्त किया।

आदिकल्पके चाक्षुष मन्वन्तरमें सत्ययुग आनेपर निमि नामसे प्रसिद्ध एक चक्रवर्ती राजा हुए। वे ब्राह्मणके क्रोधसे पक्षी-योनिमें पड़ गये थे। उन्होंने सोमवती अमावास्यामें यहाँ स्नान करके इस तीर्थके माहात्म्यसे पक्षी-योनि त्यागकर स्वर्गलोक प्राप्त किया।

एक समय उग्र तपस्वी दुर्वासा मुनि सब तीर्थोंमें घूम रहे थे। घूमते-घूमते वे पितरोंके हितकी कामनासे पितृतीर्थ गयाजीमें गये। वहाँ स्नान करके महादेवजी तथा ब्रह्माजीकी पूजा करनेके पश्चात् उन्होंने कुश और तिलयुक्त जलांजलि तथा पिण्ड पितरोंके लिये अर्पण किये। पिण्डदान करके दुर्वासाजीने मुनियोंसे कहा—'मुनिश्वरो! मैंने सुना था कि इस तीर्थमें पितरलोग उपस्थित होकर अपने हाथसे पिण्ड ग्रहण करते हैं, वह बात आज मैं नहीं देखता। अतः मेरी तो तीर्थयात्रा व्यर्थ हो गयी।'

**मुनि बोले**—अमावास्याको यहाँ दिया हुआ पिण्डदान पितरलोग अपने हाथमें लेते हैं, अतः आप अमावास्यातक प्रतीक्षा कीजिये।

**दुर्वासाने कहा**—अब न तो यहाँ पिण्ड दूँगा और न स्नान एवं दान ही करूँगा।

**इसके बाद उन्होंने मुनिवर एरण्डसे कहा**—आप क्यों अपने शरीरको क्लेश दे रहे हैं? कमण्डलु हाथमें लेकर ॐकारतीर्थ और नर्मदा नदीकी यात्रा कीजिये। ऐसा कहकर दुर्वासा मुनि ऋषियोंके साथ अमरकण्टक पर्वतपर आये और ॐकारेश्वरकी पूजा करके उनका इस प्रकार स्तवन किया।

**दुर्वासा बोले**—कालस्वरूप महादेवजीको नमस्कार है। त्रिमूर्तिधारी शिवको नमस्कार है। अव्यक्त और व्यक्तस्वरूप अनन्तानन्तगामी भगवान् शंकरको नमस्कार है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद जिनके स्वरूप हैं, उन सर्वज्ञ शिवको नमस्कार है। भवोद्भव! जगन्नाथ! उमाकान्त! आपको नमस्कार है। कल्याणकारी सुखदाता भवको नमस्कार है। मंगलकारी शंकरको नमस्कार है। तीन नेत्रोंवाले आपको नमस्कार है। अर्धचन्द्रधारी, श्रीकण्ठ और नीलकण्ठको नमस्कार है। सर्पोंका आभूषण धारण करनेवाले त्रिशूलधारी रुद्रको नमस्कार है। पिनाक धनुष धारण करनेवाले महादेवको नमस्कार है। प्रभो! आप शर्व, सर्वरूप और चराचर जगत्स्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। सुरेश्वर! इस लोक और परलोकमें मेरे अपराधको आप क्षमा करें। देवेश! उमापते! आपके समान दूसरा कोई नहीं है।

**यह दिव्य स्तुति सुनकर ॐकारस्वरूपधारी भगवान् शिव बोले**—महाभाग! तुम वर माँगो।

**दुर्वासाने कहा**—देव! यह तीर्थ गयाके समान हो जाय।

**भगवान् ॐकार बोले**—तपोधन! मेरे प्रसादसे यह तीर्थ आजसे ही गयातुल्य हो जायगा।

इस प्रकार वरदान पाकर ब्रह्मर्षि दुर्वासा अमरकण्टकके पूर्वभागमें मुनियोंके साथ रहने लगे।

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—महाभाग! तदनन्तर नर्मदातटपर विद्यमान शल्या और विशल्या तीर्थमें जाय। वहाँ स्नान करके मनुष्य स्वर्गलोकको जाता है। उस तीर्थमें अतिशय उत्तम यज्ञेश्वर तथा धूपेश्वर लिंग हैं। उनको सिद्धिदाता और मोक्षदाता जानो। उस तीर्थमें तिल और जलसे तर्पण करनेपर पितर सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्रोंके स्थिति-कालतक तृप्त रहते हैं।

राजन्! सूर्यवंशमें भरत नामसे प्रसिद्ध एक

राजा हो गये हैं, जो सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन करते थे। एक समय राजा भरतने यज्ञकर्ममें तत्पर हो भृगुपर्वतके दक्षिण भागमें दस योजन विस्तृत यज्ञभूमि निर्माण करायी, जो कुण्ड और यज्ञमण्डपसे सुशोभित थी। यज्ञकी सब सामग्रियोंसे सम्पन्न हो वेदमन्त्रोंके उच्चारणकी ध्वनिसे आकाश और पृथ्वीको गुँजाते हुए महाराज भरतने यज्ञ प्रारम्भ किया। उन्होंने होमसे सप्तलोकवासी देवताओंको तृप्त किया। इस प्रकार अमित तेजस्वी राजाका यज्ञ अभी चल ही रहा था कि उसका विध्वंस करनेके लिये भयानक रूपवाले राक्षस माल्यवान्, सुमाली, सुकेशी, शंख और दूषण आदि सहस्रोंकी संख्यामें आ धमके। उन्होंने यज्ञकी समस्त वस्तुएँ नष्ट-भ्रष्ट कर डालीं। सब देवता भाग चले, ऋत्विज मार गिराये गये। इस प्रकार राक्षसोंद्वारा उस यज्ञके नष्ट किये जानेपर राजा भरत आहुतिसे प्रज्वलित हुए अग्निकी भाँति क्रोधसे जल उठे और समस्त राक्षसोंका उन्होंने संहार कर डाला। तत्पश्चात् अपने ब्राह्मण ऋत्विजोंको राक्षसोंद्वारा भयभीत, धराशायी तथा मारे गये देख उन्हें बड़ा शोक हुआ। वे देवमन्त्री बृहस्पतिजीसे बोले—'ब्रह्मन्! आप सब देवताओंके गुरु, तीनों कालकी बातें जाननेवाले तथा त्रिवेदवेत्ता हैं। देवकण्टक राक्षसोंने मेरे लिये आये हुए इन ब्राह्मणोंकी हत्या कर डाली है। इसका प्रायश्चित्त मुझे क्या करना चाहिये।'

**बृहस्पतिजी बोले**—नृपश्रेष्ठ! मैं तुम्हें संजीवनी विद्या देता हूँ।

उस विद्याके प्रभावसे राजाने सब ब्राह्मणोंको जीवित किया। नूतन जीवन पाकर ब्राह्मणोंने देवगुरु बृहस्पतिकी बड़ी प्रशंसा की। तदनन्तर पूर्ण तथा उत्तम दक्षिणासे युक्त वह यज्ञ समाप्त हुआ। यज्ञमें जो यूप गड़े थे, उन्हींके मूलसे वहाँ शल्या और विशल्या नामवाली दो नदियाँ प्रकट हुईं। वे दोनों लोकपावनी नर्मदामें मिल गयीं। इसके बाद देवतालोग अपने-अपने विमानपर आरूढ़ हो स्वर्गको चले गये। राजा भरतने भी ब्राह्मणोंके साथ अपनी पुरीमें प्रवेश किया। भरतेश्वरलिंग ब्रह्मयोनिमें स्थित है।

## ब्रह्माजीके द्वारा सौम्या इष्टिसे दानवोंका निवारण तथा रुद्रके एक सौ एक नामोंद्वारा शिवजीका स्तवन

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—राजन्! जो 'ॐ' इस एक अक्षरका जप और उसके अर्थभूत परब्रह्म परमात्माका चिन्तन करते हुए शरीरका त्याग करता है वह परम गतिको प्राप्त होता है।* वेदमाता गायत्री ॐकारसे ही प्रकट हुई हैं। 'ॐ' इस एक अक्षरवाले तत्त्वमें ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों प्रतिष्ठित हैं। ॐकार ही वेदका मूल है। उसीसे श्रुतिरूपा शाखाएँ फैली हुई हैं। स्मृति और आगम ये फल, फूल एवं पत्ते हैं। जैसे ॐकार सब विद्याओंका आदि है, उसी प्रकार भगवान् महेश्वर सम्पूर्ण देवताओंके आदि हैं। तीनों सन्ध्याएँ, तीनों काल, त्रिविध अग्नि, तीनों लोक तथा धर्म, अर्थ और काम—ये तीन वर्ग—सभी ॐकारमें ही स्थित हैं।

युधिष्ठिर! स्वायम्भुव मन्वन्तरके आदिकल्पके सत्ययुगमें नर्मदाके तटपर रहनेवाले देवताओंको कंकोल, कालिकेय और कालक नामवाले दानवोंने परास्त करके वहाँसे मार भगाया। वे देवता ब्रह्माजीके साथ महादेवजीकी शरणमें गये। तब सात पातालोंको भेदकर '**ॐ भूर्भुवः स्वः**' का उच्चारण करते हुए पर्वतसे एक लिंग प्रकट हुआ, जो प्रज्वलित कालाग्निके समान कान्तिमान् था। उन लिंगरूपी

* ओमित्येकाक्षरं राजन् व्याहरन् समनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥
(स्क० पु०, आव० रे० ४७। १९-२०)

भगवान् शिवने कहा—'ब्रह्मन्! तुम लोकोंमें शान्ति स्थापित करनेवाली सौम्या इष्टिको अपने रुचिके अनुसार करो। इसके लिये मैंने तुम्हें वेद समर्पित किये हैं।' तब ब्रह्माजीने दैत्योंका विनाश करनेवाली रौद्री इष्टि तथा लोकोंमें शान्ति स्थापित करनेवाली सौम्या इष्टिका अनुष्ठान किया। उस भयंकर इष्टिको देखकर ब्रह्माजीके शापके भयसे उद्विग्न हो सब दानव दसों दिशाओंमें भाग गये। भगवान् ॐकारके प्रभावसे देवता निर्भय हो गये। उस समय सुरेश्वर शिवका पूजन करके देवताओंने स्वर्गलोकको प्रस्थान किया। मार्कण्डेयलिंग, अविमुक्तलिंग, केदारलिंग, अमरेश्वर ओंकारलिंग तथा महाकाललिंग—इन पाँच पवित्र शिवलिंगोंका जो प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर कीर्तन करता है, वह सब तीर्थोंके सेवनका फल पाकर शिवलोकमें प्रतिष्ठित होता है। जिसके चार कोसके अंदर ब्रह्महत्या नहीं प्रवेश करती, उस कावेरीके तटपर आग्नेयलिंग और सिद्धलिंग विद्यमान हैं। वहीं शिवखात नामक तीर्थ है, जिसमें स्नानमात्र करनेवाला मनुष्य फिर संसारमें जन्म नहीं लेता। जो कोई वहाँ पितरोंके लिये श्राद्ध एवं तिलोदक देता है, उसने मानो कोटिसहस्र युगोंतकके लिये पितरोंको तृप्त कर दिया है।

युधिष्ठिर! तदनन्तर भगवान् ॐकारने ब्रह्माजीको मन्त्रोपदेश किया। ब्रह्माजीने उनका उपदेश सुनकर इस प्रकार उनकी स्तुति की—'जो आकाशके तुल्य सर्वत्र व्यापक तथा आकाशका भी संहार करनेवाले हैं, जिनका कहीं अन्त नहीं है, कोई स्वामी नहीं है, जो अमृत एवं ध्रुवस्वरूप हैं, उन भगवान् शिवको नमस्कार है। जो कल्याणकी उत्पत्तिके स्थान, सनातन, योगासनपर विराजमान, योगाभ्यासपरायण तथा आकाशको हर लेनेवाले हैं, उन भगवान् शंकरको नमस्कार है। ॐकारस्वरूप एवं सबकी उत्पत्तिके कारण शिवको नमस्कार है। सर्वेश्वर शिवको नमस्कार है। सबकी उत्पत्तिके कारण शिवको नमस्कार है। सर्वेश्वर शिवको नमस्कार है। मूर्द्धारूप तत्पुरुषको, मुखस्वरूप अघोरको, हृदयस्वरूप वामदेवको, गुह्यस्वरूप सद्योजातको और सर्वमूर्ति ॐकारको बार-बार नमस्कार है। (यहाँतक भगवान् रुद्रके सोलह नाम पूरे होते है*।) (१७) कलातीत, (१८) अव्यय, (१९) बुद्ध, (२०) वज्रदेहोपमर्दन, (२१) अध्यक्ष, (२२) विधु, (२३) शास्ता, (२४) पिनाकी, (२५) त्रिदशाधिप, (२६) अग्नि, (२७) रुद्र, (२८) हुताश, (२९) पिंगल, (३०) पावन, (३१) हर, (३२) ज्वलन, (३३) दहन, (३४) वस्तु, (३५) भस्मान्त, (३६) क्षमन्तक, (३७) अपमृत्युहर, (३८) धाता, (३९) विधाता, (४०) कर्त्ता, (४१) काल, (४२) धर्मपति, (४३) शास्ता, (४४) वियोक्ता, (४५) अनवम (न्यूनतारहित), (४६) प्रिय, (४७) निमित्त, (४८) वारुण, (४९) हन्ता, (५०) क्रूरदृष्टि, (५१) भयावह, (५२) ऊर्ध्वदृष्टि, (५३) विरूपाक्ष, (५४) दंष्ट्रावान्, (५५) धूम्रलोचन, (५६) बाल, (५७) अतिबल, (५८) पाशहस्त, (५९) महाबल, (६०) श्वेत, (६१) विरूप, (६२) रुद्र, (६३) दीर्घबाहु, (६४) जडान्तक, (६५) शीघ्र, (६६) लघु, (६७) वायुवेग, (६८) भीम, (६९) वडवामुख, (७०) पंचशीर्षा, (७१) कपर्दी, (७२) सूक्ष्म, (७३) तीक्ष्ण, (७४) क्षपान्तक, (७५) निधीश, (७६) रौद्रवान्, (७७) धन्वी, (७८) सौम्यदेह, (७९) प्रमर्दन, (८०) अनन्त-पालक, (८१) धार, (८२) पातालेश, (८३) सधूम्र, (८४) शाश्वत, (८५) शर्व, (८६) सर्वपिंग, (८७) करालवान्, (८८) विष्णु, (८९) ईश, (९०) महात्मा, (९१) सुख, (९२) मृत्युविवर्जित,

* (१) व्योमसंख्यायी, (२)सर्वव्यापी व्योमहर, (३) अनन्त, (४) अनाथ, (५) अमृत, (६) ध्रुव, (७) शाश्वतशम्भव, (८) योगपीठसंस्थित, (९) नित्ययोगयोगी, (१०) शिव, (११) सर्वप्रभव, (१२) ईशान, (१३) तत्पुरुष, (१४) अघोर, (१५) वामदेव, (१६) सद्योजात।

(९३) शम्भु, (९४) विभु, (९५) गणाध्यक्ष, (९६) त्र्यक्ष, (९७) दिवस्पति, (९८) समवाद, (९९) विवाद, (१००) प्रभविष्णु, (१०१) बिवर्धन। ये एक सौ एक रुद्रोंके नाम बताये गये हैं। ये सभी ॐकारमें प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार स्तुति करके ब्रह्माजीने भूमिपर लोटकर देवाधिदेव महेश्वरको साष्टांग प्रणाम किया और उनकी परिक्रमा करके मन-ही-मन उनके स्वरूपका चिन्तन करते हुए वे खड़े हो गये।'

**ब्रह्माजीद्वारा किया हुआ यह स्तवन सुनकर महादेवजीने कहा**—ब्रह्मन्! मैं तुम्हारे इस दिव्य स्तोत्रसे बहुत प्रसन्न हूँ, तुम कोई वर माँगो।

**ब्रह्माजी बोले**—देवेश्वर! जो ब्राह्मण,क्षत्रिय और वैश्य आपमें मन लगाकर ॐकारस्वरूप आपके आगे इस रुद्रस्तोत्रका पाठ करेंगे, वे इहलोक और परलोकमें समस्त कामनाओंको प्राप्त करेंगे। एकोत्तरशत नामका नित्य पाठ करके मनुष्य स्वर्गमें जाता है और जिस-जिस वस्तुकी कामना करता है, उस-उसको अवश्य प्राप्त कर लेता है।

ऐसा कहकर ब्रह्माजी भगवान् महेश्वरको नमस्कार करके दिव्य विमानपर आरूढ़ हो प्रसन्नतापूर्वक अपने लोकको चले गये।

## कपिला-नर्मदा-संगम और ईशान आदि तीर्थोंकी महिमा, यमलोकके मार्गके कष्टों तथा अट्ठाईस नरककोटियोंका वर्णन

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—महाभाग! जहाँ कपिला और नर्मदाका संगम हुआ है, वहाँ चार हाथके भीतर सप्तपातालवासिनी पिप्पला नदी आकर मिली है। वहीं दो आवर्त बताये गये हैं—कपिलावर्त और पिप्पलावर्त। उस तृप्तिदायक तीर्थको प्राप्त करनेकी पितरलोग भी इच्छा करते हैं। अतः पुत्रको चाहिये कि उस तीर्थमें जाकर पितरोंके लिये यत्नपूर्वक जलांजलि और पिण्डदान दे। जो कोई इस तीर्थमें अमरनाथका दर्शन करता है, उसे अश्वमेध-यज्ञका फल प्राप्त होता है। चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण आदि पर्वके अवसरपर उसका विशेष फल होता है। एक दूसरा ईशानतीर्थ है, जिसके विषयमें पहले सामान्यरूपसे चर्चा की गयी है। वह कपिलाके पूर्व भागमें थोड़ी ही दूरपर स्थित है। उस ईशान-लिंगकी अर्चनासे मनुष्य गणाध्यक्ष पदको प्राप्त होता है। भगवती पार्वतीजीने स्त्रियोंके लिये प्रसन्नतापूर्वक यह वरदान दिया है कि 'कपिलामें चतुर्दशी और अष्टमीको स्नान करनेसे नारी सौभाग्यवती होती है और उसका पुत्र चिरंजीवी होता है। शिवजीने भी इस वरदानका अनुमोदन किया है। कपिला नदी जहाँसे निकली है और जहाँ नर्मदामें जाकर मिली है, वहाँतक आठ हजार तीर्थ हैं, जो इच्छानुसार फल देनेवाले हैं। उन तीर्थोंमें कपिला गौका दान करे और यथाशक्ति ब्राह्मणोंको भोजन करावे। वहाँ सदा उपवास करके देवताओं और पितरोंका तर्पण करे। वहीं हेमजालेश्वर नामक सिद्धिदायक लिंग है, हेमजालेश्वर देवकी अर्चना करनेसे मनुष्य यमलोकको नहीं देखता। पूर्वकालमें वसुदान नामवाले एक राजर्षि हो गये हैं, जिन्होंने धुन्धु दैत्यको मारकर धुन्धुमार नाम धारण किया था। वे इस तीर्थके माहात्म्यसे स्वर्गलोकमें देवभावको प्राप्त हुए। नृपश्रेष्ठ! वहाँ जम्बुकेश्वर नामसे प्रसिद्ध एक शिवलिंग है जो पशु-पक्षियोंकी योनिसे छुटकारा दिलानेवाला है। इस पृथ्वीपर नैमिषारण्यतीर्थ, काशीतीर्थ और प्रयागतीर्थ हैं, परंतु अमरेश्वरतीर्थ तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है, जिसे तैंतीस कोटि देवता तथा असुर भी मस्तक नवाते हैं। महाराज! वहाँ स्नान करनेवाला मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल पाता है। सारस्वतलिंग ब्रह्महत्याका नाश करनेवाला है।

**युधिष्ठिरने पूछा**—विप्रवर! कौन मनुष्य

यमराजके लोकमें जाते हैं और यमलोकके नरक कैसे हैं? ये सब मुझे बताइये।

**मार्कण्डेयजीने कहा**—सब दानोंमें अन्नदानको उत्तम माना गया है। वह सबको प्रसन्न करनेवाला, पुण्यजनक तथा बल और पुष्टिको बढ़ानेवाला है। तीनों लोकोंमें अन्नदानके समान दूसरा कोई दान नहीं है। अन्नसे ही प्राणी उत्पन्न होते और अन्नका अभाव होनेपर मर जाते हैं। शरीरमें रक्त, मांस, मज्जा और वीर्य—ये सब अन्नसे ही क्रमशः बनते हैं। वीर्यसे ही प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है। इसलिये सम्पूर्ण जगत् अन्नमय है। सुवर्ण, रत्न, अश्व, हाथी, स्त्री, माला और चन्दन आदि भोगसामग्रियोंसे भी अन्नभोजनके समान सुख नहीं मिलता। युधिष्ठिर! इस कारण अन्नदान महान् पुण्यदायक है। अन्नदाताको प्राणदाता कहा गया है। अतः सदा ही अन्नदान करना चाहिये। इस लोक और परलोकमें अन्नपान आदि जो कुछ भी ऐश्वर्य है, वह सब अन्नदानका ही फल बताया गया है। जो पापी मनुष्य कुकर्म करते और ऐसे दानसे मुँह मोड़ते हैं, वे अत्यन्त भयानक दक्षिण मार्गसे यमलोकको जाते हैं। यमलोक सब ओरसे छियासी हजार योजन विस्तृत है। वहाँ नाना प्रकारके भयानक रूप धारण करनेवाले यमदूत रहते हैं और उन्हींके कारण वह पुरी बड़ी भयंकर प्रतीत होती है। दुष्टात्मा, क्रूर एवं पापी पुरुषोंके लिये यमपुरी दूर होनेपर भी निकट-सी ही प्रतीत होती है। वे तीखे काँटोंसे युक्त, कंकड़-पत्थरोंसे विभूषित, छुरेकी धारोंसे आच्छादित और तीक्ष्ण पत्थरोंसे निर्मित मार्गसे यात्रा करते हैं। कहीं लकड़ी चीरनेवाले घातक आरोंसे और कहीं लोहेकी भयंकर सूइयोंसे वे मार्ग भरे होते हैं। कहीं फैली हुई लताओंके कारण दुर्गम एवं वृक्षश्रेणियोंसे व्याप्त पर्वत उन मार्गोंको रोके रहते हैं। यमपुरीके मार्गमें कहीं भयंकर गड्ढे तथा तपे हुए ढेले और ईंटें रहती हैं, कहीं तपायी हुई बालू बिछी होती है, कहीं तीखी नोकवाली कीलें गड़ी होती हैं और अनेक टूटी हुई गलियोंसे मार्ग आच्छादित रहता है। ऐसे भयंकर अन्धकारसे ढके हुए कष्टदायक मार्गसे पापियोंको यमलोकमें जाना पड़ता है। उन मार्गोंमें तपे हुए अंगारे बिछे होते हैं और दहकते हुए दावानलका सामना करना पड़ता है। कहीं तपायी हुई शिलाएँ रखी रहती हैं और कहीं इतनी कीचड़ होती है कि चलनेवाले जीवका शरीर कटि (कमर)-तक उसमें डूब जाता है। कहीं दूषित जल और कहीं कण्डियोंकी सुलगती हुई आगसे वह मार्ग व्याप्त रहता है। कहीं गीध, वक, व्याघ्र, दुष्ट कीट, बिच्छू, अजगर, भयानक मच्छर और जहरीले साँप, मतवाले हाथी, सिंह और भैंसे आदि जीवोंसे यमपुरीका मार्ग भरा रहता है। भयंकर डाकिनी, शाकिनी, विकराल राक्षस, महाघोर व्याधि, दुर्धर्ष अग्नि, प्रचण्ड आँधी, बड़े-बड़े पत्थरोंकी भारी वर्षा आदिका कष्ट सहन करते हुए पापी जीव यमलोककी यात्रा करते हैं। कहीं-कहीं उनपर चारों ओरसे बाणवर्षा की जाती है और कहीं बिजलियाँ गिरती हैं। कहीं दारुण उल्कापात होता है और कहीं दहकते हुए अंगारोंकी वृष्टि होती है तथा इन सबका आघात सहते हुए उन्हें आगे बढ़ना पड़ता है। कहीं बड़ी भयानक आवाज होती है, जिससे वे बार-बार थर्रा उठते हैं। कहीं सब ओरसे पैने अस्त्र-शस्त्रोंकी बौछारसे भरे हुए मार्गके बीचसे निकलना पड़ता है। कहीं अत्यन्त खारे जलकी धारासे वे बार-बार नहा उठते हैं। अत्यन्त सर्दी और छुरेकी धार आदिका कष्ट भोगते हैं। अनेक प्रकारके सहस्रों क्लेशोंका सामना करते हैं। इस प्रकार यमलोकका मार्ग सन्तापपूर्ण, भयंकर, दुर्गम तथा विश्रामरहित होता है। वह सब दुःखोंका आश्रय एवं कष्टप्रद होता है। यमकी आज्ञाका पालन करनेवाले महाघोर यमदूत उसी मार्गसे बलपूर्वक पापियोंको ले जाते हैं। वे सभी जीव अकेले, पराधीन तथा मित्र और बन्धु-बान्धवोंसे रहित होते हैं। अपने कुकर्मोंके लिये बार-बार शोक करते और दग्ध होते रहते हैं। वे प्रेतों

और भूतोंके साथ होते हैं। उनके कण्ठ, तालू और ओठ सूखे रहते हैं। शरीर दुर्बल और मन अत्यन्त भयभीत होता है। उन्हें बार-बार आगसे जलाया जाता है। कोई सींकचोंमें बँधे होते हैं, कुछ पापी गंदगीमें डूबे रहते हैं और कुछ प्रचण्ड बलवान् यमदूतोंद्वारा जलाये और खींचे जाते हैं। किसीकी छातीमें, किसीके मुँहके नीचेके भागमें और किसीके केशोंमें रस्सी बाँधकर घसीटा जाता है। कितने ही जीवोंके ललाटमें बाण धँसाकर उन्हें खींचा जाता है। कितनोंको उत्तान लिटाकर उस दुर्गम मार्गपर घसीटते हुए ले जाया जाता है। कोई पसलीमें बँधे होते हैं, कोई भुजाओंमें, कोई पेट या कमरमें बाँधे जाते हैं; किन्हींके गलेमें फंदा डालकर घसीटा जाता है और वे अत्यन्त दुःखी होते हैं। किन्हींकी जीभमें कील धँसायी जाती है। किन्हींको अर्धचन्द्राकार हाथसे गलेमें पकड़कर (गरमेंचा देकर) इधर-उधर धक्का दिया जाता है। किन्हींके लिंग और अण्डकोषमें रस्सी बाँधकर उन्हें खींचा जाता है। कितने ही पापियोंके हाथ, पैर, कान, ओठ, नासिका, शिश्न, अण्डकोष, मस्तक तथा अन्यान्य अंग काट लिये जाते हैं। कोई अंकुशोंसे छेदे जाते हैं। किन्हींको साँप और बिच्छू काट खाते हैं तथा वे पापी जीव अनाथ, निराश्रय होकर इधर-उधर भागते और चिल्लाते रहते हैं। मुद्गरों और लोहेके डंडोंसे उनपर बार-बार मार पड़ती है। उन्हें भयंकर कोड़ोंसे भी पीटा जाता और भिन्दिपालोंद्वारा पीड़ित किया जाता है। उनके मुँहसे रक्त निकलता रहता है। वे कभी पानीमें गिरा दिये जाते हैं और कभी धूपसे सन्तप्त होकर छायाके लिये प्रार्थना करते हैं।

दानहीन मनुष्योंको इसी प्रकार दुर्दशा भोगते हुए यमलोकमें जाना पड़ता है। जिन्होंने अपने पापोंका प्रायश्चित्त कर लिया है, वे यमलोकमें सुखपूर्वक जाते हैं। इस तरह उस निकृष्ट मार्गसे यमराजके नगरमें गये हुए पापी जीव आज्ञा मिलनेपर दूतोंद्वारा यमराजके सम्मुख पहुँचाये जाते हैं। वहाँ चित्रगुप्त उन पापियोंको धर्मोपदेश करते हुए उनके पापोंका स्मरण कराते हैं और इस प्रकार कहते हैं—'अरे ओ पापाचारियो! ओ पराये धनको हड़प लेनेवाले लुटेरो! तुमलोगोंने अपने रूप और बलके घमण्डमें आकर परायी स्त्रियोंका सतीत्व नष्ट किया है। तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि जो जिस कर्मको करता है, उसीको उस कर्मका फल भोगना पड़ता है। फिर तुमने अपना ही सत्यानाश करनेके लिये पाप क्यों किया? और अब अपने उन्हीं कर्मोंके कारण जब क्लेश भोगना पड़ता है, तब दुखी क्यों होते हो? सबको अपने-अपने कर्म ही भोगने पड़ते हैं, इसमें किसीका कोई दोष नहीं है।'

तदनन्तर चित्रगुप्तजी यमराजसे कहते हैं—'स्वामिन्! ये भूलोकसे राजालोग आये हैं। इन्हें अपनी बुद्धि और बलपर बड़ा घमण्ड था; ये सभी नरेश अपने भयंकर दुष्कर्मोंसे प्रेरित होकर यहाँ आये हैं।' यमराजसे ऐसा कहकर वे उन राजाओंको सम्बोधित करके कहते हैं—'दुराचारी नरपालो! तुम सब लोग प्रजाका सर्वनाश करनेवाले रहे हो। तुमने थोड़े समयके लिये राज्य पाकर ऐसा पापकर्म क्यों किया? राज्यके लोभसे, मोहवश, अन्यायपूर्ण वृत्तियोंको अपनाकर तुमने जिन पापोंका संग्रह किया है, उनके यथार्थ फलका उपभोग करो। अरे! जिनके लिये तुमने अशुभ कर्म किये हैं, वह राज्य और वे स्त्रियाँ अब कहाँ हैं? वह सब कुछ छोड़कर तुम अकेले यहाँ आये हो। जिनके लिये तुमने प्रजाको सताया और नष्ट किया है, वे तुम्हारे भाई-बन्धु अब तुम्हारी यह यातना नहीं देख पा रहे हैं। इस समय यमदूत जब तुम्हें ऊँचेसे नीचे गिराते हैं, तब उन कर्मोंका कैसा मजा मिल रहा है।'

युधिष्ठिर! इस प्रकार चित्रगुप्तके अनेक तरहके कठोर वचनोंद्वारा उपालम्भ देनेपर वे राजालोग अपने-अपने कर्मोंको सोचते हैं और मौन रह जाते हैं। तदनन्तर धर्मराज यम उनके पापकी शुद्धिके लिये दूतोंको आज्ञा देते हैं—'चण्ड! महाचण्ड! तुम लोग इन राजाओंको पकड़कर

नरकोंकी आगमें तपाओ और इन्हें पापोंसे शुद्ध करो।' तब वे दूत शीघ्र उठकर उन राजाओंके पाँव पकड़ लेते हैं और वेगपूर्वक घुमाते हुए उन्हें खूब तपी हुई भूमिपर फेंक देते हैं और लोहेके वृक्षोंपर भी पटक देते हैं। उन प्रहारोंसे जर्जर होकर वे राजा अचेत और निश्चेष्ट हो जाते हैं। फिर वायुका स्पर्श होनेपर वे धीरे-धीरे सचेत होते हैं। तब उन्हें पापसे शुद्ध करनेके लिये यमदूत नरकके समुद्रमें डाल देते हैं। नरकोंकी अट्ठाईस श्रेणियाँ हैं, जो सातवें पातालके अन्तमें घोर अन्धकारके भीतर स्थित हैं। (१) अतिघोरा, (२) रौद्रा, (३) घोरतमा, (४) अत्यन्त दुःखजननी, (५) घोररूपा, (६) तरणतारा, (७) भयानका, (८) कालरात्रि, (९) घटोत्कटा, (१०) चण्डा, (११) महाचण्डा, (१२) चण्डकोलाहला, (१३) प्रचण्डा, (१४) वराग्निका, (१५) जघन्या, (१६) अवरालोमा, (१७) भीषणी, (१८) नायिका, (१९) कराला, (२०) विकराला, (२१) वज्रविंशति, (२२) अस्ता, (२३) पंचकोणा, (२४) सुदीर्घा, (२५) परिवर्तुला, (२६) सप्तभौमा, (२७) अष्टभौमा और (२८) दीर्घमाया—ये ही नरकोंकी अट्ठाईस कोटियाँ हैं। इन सबके क्रमशः पाँच-पाँच नायक होते हैं। इनमें पहला रौरव है, क्योंकि उसमें पड़े हुए प्राणी रोते रहते हैं। दूसरा महारौरव है, जिसकी दुःसह पीड़ाओंसे महान् साहसी भी रो देते हैं। तीसरा तम, चौथा शीत और पाँचवाँ उष्ण है—इस प्रकार पहली कोटिके ये पाँच नायक माने गये हैं। दूसरी कोटिके १ अघोर, २ तीक्ष्ण, ३ पद्म, ४ संजीवन और ५ शठ—ये पाँच नायक हैं। तीसरी कोटिके नायक हैं—१ महामाय, २ विलोम, ३ कण्टक, ४ कटक और ५ तीव्र। चौथी कोटिके नायक १ वाम, २ कराल, ३ किंकराल, ४ प्रकम्पन और ५ महाचक्र हैं। पाँचवी कोटिके नायक १ सुपद्म, २ कालसूत्र, ३ प्रगर्जन, ४ सूचीमुख और ५ सुनेमि हैं। छठी कोटिके नायक १ खादक, २ सुप्रपीडित, ३ कुम्भीपाक, ४ सुपाक और ५ क्रकच हैं। सातवीं कोटिके नायक १ सुदारुण, २ अंगाररात्रि, ३ पचन, ४ असृक्पूयभव तथा ५ सुतीक्ष्ण हैं। आठवीं कोटिके १ शुण्ड, २ शकुनि, ३ महासंवर्तक, ४ क्रतु और ५ तप्तजन्तु—ये पाँच नायक हैं। नवीं कोटिके नायक १ पंकलेप, २ पूतिमान्, ३ ह्रद, ४ त्रपु और ५ उच्छ्वास हैं। दसवीं कोटिके नायक १ निरुच्छ्वास, २ सुदीर्घ, ३ क्रूर, ४ शाल्मलि और ५ उष्ट्रित हैं। ग्यारहवीं कोटिके नायक १ महानाद, २ प्रवाह, ३ सुप्रवाहन, ४ वृषाश्रय तथा ५ वृषश्व हैं। बारहवीं कोटिके १ सिंहानन, २ व्याघ्रानन, ३ गजानन, ४ श्वानन और ५ सूकरानन—ये पाँच नायक हैं। तेरहवीं कोटिके नायक १ अजानन, २ महिषानन, ३ मेषानन, ४ मूषकानन तथा ५ खरानन हैं। चौदहवीं कोटिके १ ग्राहानन, २ कुम्भीरानन, ३ नक्रानन, ४ महाघोर और ५ भयानक—ये पाँच नायक हैं। पंद्रहवीं कोटिके नायक १ सर्वभक्ष, २ स्वभक्ष, ३ सर्वकर्मा, ४ अश्व तथा ५ वायस हैं। सोलहवीं कोटिके नायक १ गृध्रोलूक, २ उलूक, ३ शार्दूल, ४ कपि और ५ कच्छुर हैं। सत्रहवीं कोटिके १ गण्डक, २ पूतिवक्त्र्य, ३ रक्तास्य, ४ पूतिमूत्रिक और ५ कणधूम्र—ये पाँच नायक हैं। अठारहवीं कोटिके नायक १ तुषाराग्नि, २ कृत्रिमान्, ३ निरय, ४ आतोद्य और ५ प्रतोद्य हैं। उन्नीसवीं कोटिके नायक १ रुधिरोद्य, २ भोजन, ३ कालात्मग, ४ अनुभक्ष और ५ सर्वभक्ष हैं। बीसवीं कोटिके १ सुदारुण, २ कर्कट, ३ विशाल, ४ विकट और ५ कटपूतन—ये पाँच नायक हैं। इक्कीसवीं कोटिके नायक १ अम्बरीष, २ कटाह, ३ कष्टदायिनी वैतरणी, ४ सुतप्त तथा ५ लोहशंकु हैं। बाईसवीं कोटिके नायक १ एकपाद, २ अश्रुपूरण, ३ घोर असिपत्रवन, ४ प्रतिष्ठित अस्थिलिंग और ५ तिलयन्त्र हैं। तेईसवीं कोटिके १ अतसीयन्त्र, २ इक्षुयन्त्र, ३ कूट, ४ पाप तथा ५ प्रमर्दन—ये पाँच नायक हैं। चौबीसवीं कोटिके नायक १ महाचुल्ली, २ विचुल्ली, ३ तप्त लोहमयी शिला, ४ क्षुरधार

पर्वत तथा ५ मय हैं। पचीसवीं कोटिके नायक १ यमल पर्वत, २ सूचीकूप, ३ विष्ठाकूप, ४ अन्धकूप और ५ पतन हैं। छब्बीसवीं कोटिके १ पातन, २ मुसली, ३ वृषली, ४ अशिवा तथा ५ संकटला—ये पाँच नायक हैं। सत्ताईसवीं कोटिके नायक १ तालपत्र वन, २ असिगहन, ३ महामोहक, ४ सम्मोहन तथा ५ अस्थिभंग हैं। अट्ठाईसवीं कोटिके नायक १ तप्ताचलमय, २ अगुण, ३ बहुदुःख, ४ महादुःख तथा ५ कश्मल हैं। इनके सीवा यमल, हालाहल, विरूप, श्वरूप, च्युतमानस, एकपाद, त्रिपाद और तीव्र आदि नरक हैं। इस प्रकार यहाँ नरकोंके अट्ठाईस पंचक बताये गये हैं।

## पापियोंकी नरक-यातनाका वर्णन

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—युधिष्ठिर! मनुष्य अपने कर्मोंके अनुसार क्रमशः एक-एक नरकका उपभोग करते हैं। अपनी कुत्सित कामनाओंके कारण जो कुकर्मोंका संग्रह किया गया है, उसीके फलस्वरूप तपायी हुई लोहेकी साँकलसे बाँधकर अँधेरेमें बड़े-बड़े वृक्षोंकी शाखाओंमें पापी मनुष्य लटका दिये जाते हैं। फिर यमदूत उन सबको बड़े जोर-जोरसे झुलाते हैं। वेगपूर्वक झुलाये हुए वे सभी पापी अचेत हो जाते हैं। फिर आकाशमें लटकते हुए उनके पैरोंमें सौ भार लोहा बाँध देते हैं। उस महान् भारसे वे सब लोग अत्यन्त सन्तप्त होते हैं और अपने-अपने कर्मोंका स्मरण करते हुए निश्चल भावसे मौन रह जाते हैं। तत्पश्चात् क्रमशः आगमें तपाकर खूब लाल किये हुए लोहेके कँटीले दण्डोंसे यमदूत उनके मस्तकपर मारते हैं। इसके बाद उन्हें विष्ठा और कीटोंसे भरे हुए कुएँमें डाल देते हैं। घोर यमदूत सब ओरसे घेरकर पापियोंको आगमें पकाते हैं। उसके बाद उनके शरीरपर नमकीन पानी डाल देते हैं। कितने ही पापियोंको लोहेके कड़ाहेमें बैंगनकी तरह भूनते हैं, फिर गंदे कूएँमें डाल देते हैं। मेदा, रक्त और पीबसे भरी हुई बावलीमें भी पापियोंको फेंक दिया जाता है और वहाँ उन्हें कीड़े तथा कौए लोहेके समान तीखी चोंचोंसे नोच-नोचकर खाते हैं। कितने ही पापी मनुष्योंको तीखे त्रिशूलोंमें गुम्फित करके उन्हें धधकते हुए अंगारोंपर मांसकी भाँति पकाया जाता है। इसी प्रकार यमदूत पापियोंको खूब तपे हुए तेलसे भरे कड़ाहोंमें अनेक बार पकाते हैं। जो असत्य और अप्रिय बोलनेवाले हैं, उनकी छातीपर चढ़कर और पाँवसे दबाकर तपाये हुए मजबूत सँड़सेसे उनकी जीभ उखाड़ ली जाती है। दम्भपूर्ण झूठे शास्त्रसे प्रेरित होकर जो ब्राह्मण यज्ञके नामपर अधिक धनका संग्रह करता है, उसकी जिह्वा भी तीखे भालेसे छेदी जाती है। जो मूढ़ मानव माता-पिता और गुरुको फटकारते हैं, उनके मुँहमें बार-बार बालू भरकर पानीसे सींचा जाता है। तदनन्तर खारा और गरम जल भरा जाता है। फिर खौलते हुए तेलको उड़ेल दिया जाता है। यमदूत उन पापियोंके पैर पकड़कर कीड़ोंसे भरी हुई विष्ठापर घसीटते हैं। फिर सींगसे दबाकर उन्हें लोहेके शाल्मलि वृक्षमें बाँध दिया जाता है। उसके बाद वे महाबली भयानक दूत उन्हें पीछेकी ओरसे मारते हैं। अत्यन्त प्रबल दाँतीदार आरेसे मस्तककी ओरसे चीरते हैं। अपने भयानक कर्मोंके परिणामसे वे पापी जीव भूख लगनेपर अपना ही मांस खाते और प्यास लगनेपर अपना ही रक्त पीते हैं। जिन मूढ़ पुरुषोंने कभी अन्न और जलका दान नहीं किया है और न किसीके दानका अनुमोदन ही किया है, वे मुद्गरोंसे जर्जर करके ईखकी तरह पेरे जाते हैं। घोर असिताल वनमें खण्ड-खण्ड करके काटे जाते हैं। उनके सब अंगोंमें सूई चुभोयी जाती है। तत्पश्चात् उन्हें शूलीपर चढ़ा दिया जाता है। शूलीपर चढ़ाकर उन्हें बार-बार हिलाया और खींचा जाता है। फिर भी उनकी मृत्यु नहीं होती।

उनके शरीरसे मांस नोच लिया जाता है। लोहेके मुद्गरोंसे मारकर उनकी हड्डियाँ चूर-चूर कर दी जाती हैं। बलोन्मत्त यमदूत उस दशामें भी उन्हें अनेक बार जल्दी-जल्दी घसीटते हैं और वे पापी जीव दीर्घकालतक नरकमें रहकर दारुण यातनाएँ भोगते हैं। उनका मुँह बालूसे भरा होता है, इसलिये वे स्वाँसतक नहीं ले पाते। इन सब यातनाओंके बाद अनेक प्रकारके यमदूत रौरव आदि नरकोंमें उन्हें पीड़ा देते हैं। महारौरवकी पीड़ाओंसे महान् धीर पुरुष भी रो देते हैं। मुख, लिंग, गुदा पार्श्व, पैर, छाती और मस्तकमें तपाये हुए लोहेके तीखे मुद्गरोंसे यमदूत मारते हैं। जो स्त्रियाँ पराये पतियोंका आलिंगन करती हैं और अपने पतिकी सेवामें नहीं रहतीं, ऐसी स्त्रियोंसे यमदूत कहते हैं—'अरी! अब तू क्यों जल्दीसे भागी जा रही है? स्मरण है या नहीं, तूने अपने पतिको धोखा दिया था और एक पापान्ध परपुरुषको सुखपूर्वक गलेसे लगाया था?' ऐसा कहकर वे उन्हें लोहकुम्भ नामक नरकमें फेंक देते हैं और धीरे-धीरे पकाते हैं। कभी उन्हें प्रज्वलित अग्निमें राँधते हैं, तप्तशिलाओंपर बिठाते हैं, अँधेरे कुएँमें डालते हैं और अजगर सर्पोंद्वारा डँसाते हैं। जो धर्मका उपदेश देनेवाले महात्मा आचार्यकी निन्दा करते हैं, शिवभक्त, ब्राह्मण तथा सनातन शिवधर्मपर दोषारोपण करते हैं, उनकी छाती, कण्ठ, जिह्वा, शरीरकी सन्धियों तथा दोनों ओठोंमें काँटी ठोंककर यमदूत उन्हें कील देते हैं।

इस प्रकार पापाचारी पुरुषोंको यमलोकमें बड़ी भयानक यातनाएँ दी जाती हैं। एक-एक नरकमें सैकड़ों और सहस्रों प्रकारकी ऐसी यातनाएँ जाननी चाहिये, जो समस्त पापकर्मियोंको प्राप्त होती हैं। सम्पूर्ण नरकोंमें ऐसी-ऐसी अनन्त पीड़ाएँ भोगनी पड़ती हैं। अपने-अपने कर्मोंसे नरकोंमें गिराये हुए पापी जीव क्रमशः सभी नरकोंमें पकाये जाते हैं। महापातकी मनुष्य सब नरकोंमें चन्द्रमा और नक्षत्रोंकी स्थितिकालतक अनेकानेक यमदूतोंद्वारा पीड़ा भोगते रहते हैं। यही दशा पातकियोंकी भी होती है। उपपातकियोंको इनसे आधी यातना प्राप्त होती है। तात युधिष्ठिर! कब किसकी मृत्यु हो जायगी, यह ज्ञात नहीं होता और अकस्मात् यदि मृत्यु आ गयी तो कौन मनुष्य यहाँ वर्ष या दिन पा सकता है। फिर तो सब कुछ छोड़कर अकेले ही परलोककी यात्रा करनी पड़ेगी। इसलिये पूर्ण प्रयत्न करके सत्यधर्मपरायण होओ। यह सब नरकोंका लक्षण तुमसे बताया गया।

## दान, पुण्य, शिवध्यान और नर्मदासेवनसे नरकसे उद्धार होनेका तथा संसारसे वैराग्यका उपदेश

**युधिष्ठिरने पूछा**—मुने! किस धर्मके द्वारा इस परम दुस्तर संसार-सागरको पार किया जा सकता है?

**मार्कण्डेयजी बोले**—मनुष्य अनेक प्रकारके राग और लोभके वशीभूत होकर संसारमें नाना प्रकारके क्लेश उठाता है। गर्भमें पड़ जानेसे मनुष्य कहे हुए शास्त्रको नहीं समझता और स्वर्ग तथा मोक्षसाधक कर्मोंकी चर्चा नहीं सुनता। सम्पूर्ण कामनाओं और प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाले भगवान् शंकरके ध्यानमें वह अज्ञानवश कष्ट मानने लगता है। वास्तवमें भगवान् शिवका चिन्तन ही नरकसे छुड़ाकर अपना परम अद्भुत कल्याण करनेवाला है। जो जम्बूद्वीपमें आकर मनुष्य-योनिमें जन्म लेता है, तथापि नर्मदादेवीकी शरणमें नहीं जाता, वह भाग्यहीन है। इस संसारमें पापसे दूषित चित्तवाले मनुष्योंको उत्तम गति देनेवाली नर्मदासे बढ़कर दूसरी कौन नदी है? जो पापहारिणी महादेवी नर्मदाका ध्यान करते हैं, उनकी पापराशि नष्ट हो जाती है। जो नर्मदाका मनसे स्मरण और वाणीद्वारा कीर्तन करता है, वह परलोकमें जानेपर

यमदूतोंद्वारा पीड़ित नहीं होता। नरकमें स्थित होनेपर भी जो नर्मदा नदी एवं भगवान् शिव और विष्णुका स्मरण करता है, उसे यमराजके दूत तत्काल त्याग देते हैं। यदि वैदूर्य पर्वत एवं अमरकण्टकपर भोग और मोक्ष फल देनेवाले परमेश्वर 'ॐकारजी' विद्यमान हैं, तो पापी मनुष्य यहाँ क्यों शोक करते हैं? वहीं सम्पूर्ण लोकोंपर अनुग्रह करनेवाले सिद्धलिंग सिद्धेश्वर, यज्ञेश्वर और शशिभूषण हैं। नर्मदाके दक्षिण भागमें महेश्वर एवं कपिलेश्वरलिंग हैं। उस स्थानको विद्वान् पुरुष शिवक्षेत्र कहते हैं। जो मनुष्य सदा पुष्प, धूप, आरती और तर्पण आदिके द्वारा भक्तिपूर्वक इन लिंगोंकी अर्चना करते हैं, वे नरकसे छूटकर शिवलोकको जाते हैं। अनघ! तुमने जो कुछ पूछा था, वह सब मैंने तुम्हें बताया। पापी पुरुषोंको यमराजने यह बताया है कि 'जो लोग गोदान, स्वर्णदान, तिलदान, अन्नदान, जलदान, सब सामग्रियोंका दान तथा महल और बगीचेका दान करते हैं, वे घोर नरकस्वरूप यमलोकमें नहीं जाते। भगवान् शिवके वचनानुसार वे सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं।'

सम्मानको अपमानने, प्रियजनोंके संयोगको वियोगने और जवानीको बुढ़ापेने ग्रस लिया है। सारा सुख दुःखके उपद्रवसे युक्त है। जब बाल पक जाते हैं, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, तब वृद्धावस्थामें जर्जरशरीर होकर विद्वान् मनुष्य क्या कर सकता है? स्त्री और पुरुषोंका यौवन तथा रूप, जो एक-दूसरेको बहुत ही प्रिय लगता है, जराग्रस्त हो जानेपर दोनोंके लिये अप्रिय हो जाता है। जो अपने-आपको अपूर्व शिथिलतासे युक्त देखकर भी संसारसे विरक्त नहीं होता, उससे बढ़कर मूर्ख दूसरा कौन हो सकता है? जराग्रस्त मनुष्य अशक्त होनेके कारण पत्नी-पुत्र आदि बान्धवों तथा दुराचारी सेवकोंद्वारा भी अपमानित होता है। वृद्ध मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष किसी भी पुरुषार्थका साधन करनेमें समर्थ नहीं होता। इसलिये बुढ़ापा आनेसे पहले ही धर्माचरण करे। युधिष्ठिर! शरीरमें वात, पित्त और कफ आदिकी विषमता होती रहती है तथा वात, पित्त, कफका समूह शरीरसे ही उत्पन्न बताया गया है। इसलिये अपना यह शरीर सदा रोगोंका ही आश्रय है, ऐसा जानना चाहिये। जब वातका प्रकोप होता है और मनुष्य ज्वरसे पीड़ित होता है, तब अनेक प्रकारसे होनेवाले रोगोंके कारण उसे बहुत दुःख सहन करने पड़ते हैं। इस शरीरमें मृत्युके साधन सौसे भी अधिक हैं। इनमेंसे एक मृत्यु तो कालरूप है और शेष मृत्युएँ आगन्तुक मानी गयी हैं। जो आगन्तुक होती हैं वे ओषधिसेवन तथा जप, होम और दान आदिसे शान्त हो जाती हैं; परंतु कालरूप मृत्यु किसी उपायसे भी शान्त नहीं होती। विष और मद्य आदिसे मनुष्यकी अपमृत्यु होती है। अतः इन सब वस्तुओंका सेवन कदापि न करे। अनेक प्रकारके रोग, कष्ट, सर्प आदि जीव, विष और मारण आदिके प्रयोग—ये सब देहधारियोंके लिये मृत्युके द्वार हैं। यदि मनुष्यका मृत्युकाल आ पहुँचा है, उस समय रोग, सर्प आदिसे पीड़ित हो तो साक्षात् धन्वन्तरि भी उसे नहीं बचा सकते। कालपीड़ित मनुष्यकी रक्षा करनेमें ओषधि, तप, दान, मित्र और बान्धव—कोई भी समर्थ नहीं हैं। मृत्युके समान कोई दुःख नहीं है, मृत्युके समान कोई शत्रु नहीं है तथा समस्त देहधारियोंके लिये मृत्युके समान दूसरा कोई काल नहीं है। युधिष्ठिर! श्रेष्ठ और सुन्दर स्त्री, पुत्र, मित्र, राज्य तथा ऐश्वर्य आदि नाना प्रकारके सम्पूर्ण सुखोंको मृत्यु सहसा छीन लेती है। राजन्! भाई-बन्धु आदिके रूपमें जो यह दुस्तर संसार है, इसका तुम्हें यत्किंचित् परिचय दिया गया है। यह सब परिणामी—नाशवान् है, कालका भोजन है। ऐसा जानकर प्रयत्नपूर्वक नर्मदाका सेवन करना चाहिये। नर्मदा सब दुःखोंका निवारण और सम्पूर्ण शोकोंका नाश करनेवाली है। जो जिन कामनाओंको पाना चाहता है, नर्मदादेवी उसे वे सभी वस्तुएँ देती हैं।

# मातंग, मृगवन और वाराहतीर्थकी महिमा

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—माहिष्मतीपुरीके पश्चिम अशोकवनिका नामक एक पापहारी तीर्थ है, जो सब प्रकारके शोकोंका विनाश करनेवाला है। वहाँ स्नान करके अपने वैभवके अनुसार गौरीदेवीका पूजन करे। वहीं मातंगमुनिका आश्रम है। जो स्त्री शुक्ल और कृष्ण पक्षकी तृतीयाको गन्ध, धूप, चन्दन, नाना प्रकारके उपहार तथा दीपावली जलाने आदिके द्वारा वहाँ भक्तिपूर्वक गौरीदेवीका पूजन करती है, वह रूप और सौभाग्यसे सम्पन्न पति प्राप्त करती है।

युधिष्ठिर! पूर्व कल्पकी बात है—मातंग नामसे प्रसिद्ध देवर्षिने नर्मदा नदीके तटपर रहकर बड़ी दुष्कर तपस्या की थी। महर्षियोंके सत्संग और नर्मदाके दर्शनसे उन्होंने पाप-बुद्धिका परित्याग करके धर्म-बुद्धिका आश्रय लिया था। 'मैं विरक्त और भिक्षु हूँ' ऐसा विचारकर वे अशोकवनिकामें गये और जटा, वल्कल धारण करके कन्द, मूल, फलका आहार करते हुए एक सहस्र दिव्य वर्षोंतक भगवान् शिवकी आराधनामें तत्पर रहे। सब मन्त्रोंमें उत्तम '**ॐ नमः शिवाय**' इस षडक्षर मन्त्रका वे दिन-रात अपने हृदयमें चिन्तन करते थे। उनकी उस पराभक्तिको जानकर देवाधिदेव महादेवजीने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया और कहा—'सुव्रत! इस ध्यानसे तुम्हारा कल्याण हो, तुम वर माँगो।'

**मातंग बोले**—देवेश्वर! यह तीर्थ मातंगके नामसे विख्यात हो। इसमें चाण्डाल, श्वपच आदि पापयोनिके जीव तथा जप आदिसे रहित पुरुष भी पापमुक्त होते रहें। जो यहाँ स्नान करके नर्मदातटवर्ती मातंगेश्वरलिंगका पूजन करे, उसका संसार-बन्धन छूट जाय।

**मातंग मुनिका यह वचन सुनकर महादेवजी बोले**—मुने! मेरे प्रसादसे यह सब कुछ तुम्हारे इच्छानुसार होगा। ऐसा कहकर भगवान् शिव पर्वतश्रेष्ठ कैलासको चले गये और मातंग मुनि वरदान पाकर दिव्य विमानपर आरूढ़ हो उमा-महेश्वर-धामको चले गये। चैत्रके कृष्ण पक्षमें जो चतुर्दशी और अमावास्या तिथि आती है, उसमें वहाँ जो कुछ दान, होम आदि किया जाता है, वह अक्षय फल देनेवाला होता है। उस तीर्थमें तिल और जलद्वारा तर्पण करनेसे और गुड़-सत्तूका पिण्डदान देनेसे चौदह इन्द्रोंके स्थित कालतक पितर तृप्त रहते हैं। अशोकवनिका नामसे प्रसिद्ध स्थान मातंग-तीर्थ कहलाता है, वह नर्मदाके उत्तर तटपर विद्यमान है।

युधिष्ठिर! अब मैं नर्मदाके दक्षिण तटपर विद्यमान मृगवन नामक तीर्थका वर्णन करूँगा। महाराज! वहाँ एकादशीको स्नान करके शंख-चक्र-गदाधारी भगवान् विष्णुका अर्चन करे और निराहार रहकर रात बितावे। प्रातःकाल होनेपर फिर गन्ध और पुष्पोंद्वारा मृगवनमें श्रीहरिकी पूजा करे। वहाँ एक ब्राह्मणको भोजन करानेपर लाख ब्राह्मणोंको भोजन करानेका पुण्य होता है। तिल और जलकी अंजलि देनेसे पितरोंको वैष्णव पदकी प्राप्ति होती है। वहीं उत्तम वाराहतीर्थ है, जहाँ वाराहरूप धारण करके भगवान्ने इस पृथ्वीका उद्धार किया था और वहीं अमित तेजस्वी श्रीहरिने विश्वरूपको भी धारण किया था। जो पतिव्रता नारी मासोपवास व्रत करके वहाँ विधिपूर्वक स्नान करती है, वह विष्णुधामको जाती है।

~~o~~

# संसारसे मुक्त होनेके लिये पाप और पाखण्डी जनोंके त्याग तथा शिव एवं नर्मदाके आश्रय लेनेका उपदेश

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—राजन्! नर्मदातटपर उत्तम सिद्धि देनेवाला मनोरथ नामक एक तीर्थ है, जो तीनों लोकोंमें विख्यात है। वहाँ स्नान करके मनुष्य जिस-जिस मनोरथको चाहता है, उस तीर्थके प्रभावसे वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है। वहीं संगमपर अंगारेश्वरदेव स्थित हैं, जहाँ स्नान-मात्र करनेवाला मनुष्य गणपति-पदपर प्रतिष्ठित होता है।

पाप बड़े ही कड़वे और अत्यन्त दुःख देनेवाले होते हैं। इसलिये पाप कभी नहीं करना चाहिये। जिस देश-कालमें और जैसी आयुके द्वारा मनुष्य शुभाशुभ कर्म करता है, वह उसी प्रकार उसे भोगना पड़ता है। अतः अपनी शक्तिके अनुसार याचकको निरन्तर दान देना चाहिये। विद्वान् पुरुष शास्त्र और युक्तियोंद्वारा सदा आत्माके कल्याणका विचार करे। केवल अनुमानके ही द्वारा उसपर विचार नहीं करना चाहिये। कर्मोंके हीन और उत्तम नाना प्रकारके फल बताये गये हैं; अतः मनुष्य कोई कर्म करनेके पहले उसकी परीक्षा कर ले। जिसका श्रेष्ठ और महान् फल हो, वही पुण्यकर्म है। बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह पाखण्डी, शास्त्रविपरीत कर्म करनेवाले, वैडालव्रती (दम्भी), शठ, युक्तिवादी, तीर्थनिन्दक, दिगम्बर तथा अन्यान्य पाखण्डी जनोंको दूरसे ही त्याग दे। नंगे, मथमुण्डे और विष्ठाभोजी अघोरी—कलियुगमें धर्मके विपरीत आचार उपस्थित करते हैं। अतः उनके चलाये हुए पाखण्डका परित्याग करके तीनों वेदोंद्वारा प्रतिपादित धर्मका आचरण करे। सब धर्मोंमें ब्रह्मा, विष्णु और शिवजीके वचन ही प्रमाण हैं। जो उनके विपरीत बर्ताव करता है वह निश्चय ही नरकमें गिरता है। पितरोंका तर्पण करे, भिखारीको भीख दे, सब प्राणियोंपर दया करे तथा नर्मदाजीकी माहात्म्य-कथाका चिन्तन करे। यही सब कर्मोंको शुद्ध करनेवाला सम्पूर्ण ज्ञान है। जो आदि, मध्य और अन्तसे रहित, स्वभावसे सबके स्वामी, सर्वज्ञ और परिपूर्ण हैं, वे भगवान् शिव शैवशास्त्रोंद्वारा जाननेयोग्य हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित जो ज्ञान है, वह संशयरहित एवं सम्पूर्ण प्रयोजनोंकी सिद्धि करनेवाला है। जो सर्वज्ञ हैं, सम्पूर्ण हैं, स्वभावतः निर्मल तथा सम्पूर्ण दोषोंसे रहित हैं, वे कल्याणमय शिव कोई विपरीत बात कैसे कह सकते हैं? भगवान् शिवकी आज्ञाके बिना संसारकी सृष्टि कैसे हो सकती है? यदि कहें कि प्रकृतिसे सृष्टि होती है, तो ठीक नहीं, क्योंकि वह जड है। यदि कहा जाय कि जीवात्मा ही सृष्टि करता है, तो यह भी उचित नहीं है; क्योंकि वह सर्वज्ञ नहीं, अज्ञ है। परमाणु आदि जो प्राकृत तत्त्व हैं, वे सब अचेतन हैं; अतः वे किसी बुद्धिमान् सहायकके बिना न तो स्वयं रचना कर सकते हैं, न देख ही सकते हैं। जैसे कुम्भकारके बिना मिट्टी स्वयं घड़ेके रूपमें नहीं परिणत होती, उसी प्रकार जड प्रकृति बुद्धिमान् चेतनके बिना स्वयं कुछ नहीं कर सकती। जैसे यह घोर संसार-समुद्र अनादिकालसे चला आ रहा है, उसी प्रकार इस संसारसे छुड़ानेवाले भगवान् शिव भी अनादि हैं। जैसे ओषधि स्वभावसे ही रोगोंका निवारण करनेवाली है, उसी प्रकार भगवान् शिव भी स्वभावसे ही घोर संसार-बन्धनका नाश करनेवाले माने गये हैं। जैसे वैद्यके बिना रोगी क्लेश उठाते हैं, उसी प्रकार भगवान् शिवके बिना सम्पूर्ण जगत् दुःख उठाता है। अतः अनादि, सर्वज्ञ, परिपूर्ण, परम शिव ही सबके त्राता हैं। उनके सिवा दूसरा कोई पुरुष इस संसार-समुद्रसे रक्षा करनेवाला नहीं है। जो अपने हृदयमें भगवान् शिवका चिन्तन करते हुए शिवज्ञानका अभ्यास करते हैं, उन्हें अवश्य ज्ञान होता है। नरश्रेष्ठ! ऐसा जानकर शिवस्वरूपा नर्मदादेवीका आश्रय

लेकर उसके तटपर धन-धान्यसे सम्पन्न दिव्य गृह तथा अच्छे-अच्छे अन्य आवश्यक सामान ब्राह्मणोंको आदरपूर्वक देने चाहिये। अनाथ, अत्यन्त वृद्ध, विकल एवं कुटुम्बी ब्राह्मणको विशेषरूपसे देना चाहिये। जो ब्राह्मणको काठ और मिट्टीसे बना हुआ गृह दान करता है अथवा उसके लिये अमरकण्टकपर सब ओर सुन्दर-सुन्दर दिव्य भवन निर्माण कराता है, वह सर्वोत्तम दानका फल प्राप्त करता है। केवल यही दान उसके समस्त कामनाओं और प्रयोजनोंका साधक होता है। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक इस प्रसंगको सुनता है, वह सब पापोंसे मुक्त होता है।

## शिवलोककी उत्कृष्टता, गोसेवाका महत्त्व, दानकी महिमा तथा नर्मदातटपर दान एवं शिवध्यानका माहात्म्य

**युधिष्ठिरजी बोले**—भगवन्! गोलोक कैसा बताया गया है, किस कर्मसे उसकी प्राप्ति होती है और कौन-कौन वहाँ निरन्तर रहते हैं?

**मार्कण्डेयजीने कहा**—सब लोकोंसे ऊपर महादेवजीका लोक है, वह परम दिव्य और सर्वश्रेष्ठ है। वहीं वृषभरूपसे धर्म भी विद्यमान हैं। जहाँ उनके पति वृषभरूप धर्म हैं, वहीं गोमाताएँ भी निवास करती हैं और उसी लोकमें देवताओं और असुरोंसे पूजित नर्मदादेवी भी विद्यमान हैं। उन्हींके जलसे गौएँ, बछड़े तथा सब देवता तृप्त होते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, उमासहित महेश्वर, देवता, ऋषि, पितृगण, मातृगण तथा अन्यान्य लोकोंसहित शिवलोक और नर्मदालोक भी इस गोलोकके अन्तर्गत हैं। रुद्रलोकके जो गुण हैं, वही गोलोकके हैं। नन्दा, भद्रा, सुभद्रा, सुशीला तथा सुरभि—ये पाँच गोमाताएँ शिवलोकसे प्रकट हुई हैं। छठी नर्मदादेवी भी वहींसे सम्पूर्ण लोकोंपर अनुग्रह करनेकी इच्छासे प्रकट हुई हैं। महाराज! ये सब लोकमाताएँ अपने गुणोंद्वारा इस सम्पूर्ण जगत्को सदा तृप्त करती रहती हैं।

शिवलोकसे प्रकट हुई गौएँ यहाँ आकर घास खाती हैं, वनमें चरती हैं, निर्मल जल पीती हैं, शरीरको पवित्र करती हैं और मधुर दूध देती हैं, जिससे सम्पूर्ण जीव-जगत् जीवन धारण करता है। जैसे छोटे बच्चेवाली स्त्रियोंसे घरकी शोभा होती है, उसी प्रकार छोटे बछड़ेवाली गौओंसे जिनका घर सुशोभित है, उनके शरीरमें पाप कहाँसे रह सकते हैं। जो लोग ॐकार और नर्मदाका सदैव शिवरूपसे स्मरण करते हैं, उनका पुनः इस संसार-सागरमें जन्म नहीं होता। जो घास और जल देकर गौओंके प्रति परम भक्तिभाव रखते हैं, वे उन गौओंके प्रसादसे शिवलोकमें जाते हैं। ये गोमाताएँ सदा अनुकूल रहनेपर समस्त कामनाओंको देनेवाली हैं। जो इन कल्याणमयी गौओंकी रक्षा करते हैं, वे शिवलोकमें जाते हैं। जो उत्तम विधिके साथ एकाग्रचित्त हो भक्तिपूर्वक भगवान् शिवका पूजन करते हैं, वे निश्चय ही शिवके धामको जाते हैं। भगवान् शिवके निवासस्थानरूप तीर्थोंमें जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक जाते हैं, विशेषतः जो नर्मदा और अमरकण्टककी यात्रा करते हैं, वे ब्रह्मा, विष्णु और शिवके लोकोंमें विहार करते हैं। राजन्! इस प्रकार तुम्हें नर्मदाका मंगलमय अवतार बताया गया है।

**युधिष्ठिरजी बोले**—मुने! अब मैं दान-धर्मका विधान सुनना चाहता हूँ। जो लोग दरिद्र और भिक्षुक हैं, उन्हें शिवधामकी प्राप्ति कैसे होती है?

**मार्कण्डेयजीने कहा**—राजन्! कमल, बिल्वपत्र, कुश और नर्मदाका जल—इन सबको भगवान् ब्रह्माजीने सामान्यतः धर्मका हेतु बताया है (ये सर्वसुलभ हैं)। सभी धर्म, पुराण और श्रुतियाँ—ये श्रद्धा और विश्वाससे ही पावन होते हैं।

पुराणों और श्रुतियोंके उपदेश किये हुए धर्मका आचरण करनेसे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं। जो शिवजीका ध्यान करनेवाले ब्राह्मणको श्रद्धापूर्वक रूई भरा हुआ बिस्तर, कटिसूत्रसहित लाल वस्त्र, नवीन वस्त्रमें लपेटा हुआ तथा पवित्र धूपसे सुवासित किया हुआ यज्ञोपवीत देता है, वह रूईके उन वस्त्रोंमें जितने तन्तु होते हैं और उन तन्तुओंमें जितने रोम होते हैं, उतने सहस्र वर्षोंतक शिवलोकमें प्रतिष्ठित होता है। जो भगवान् शिवके उद्देश्यसे शिवभक्तको नैवेद्य देता है अथवा शाक, मूल, फल आदि अर्पण करता है, वह तण्डुल, फल और दल आदिकी जितनी संख्या होती है, उतने सहस्र वर्षोंतक शिवलोकमें सम्मानित होता है। जो शिवभक्तको दही-भातसे भरा हुआ सुन्दर भिक्षापात्र अर्पण करता है, वह शिवधाममें निवास करता है। जो अपनी शक्तिके अनुसार शैवव्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणको भोजन कराता है, वह भगवान् शिवके लोकमें प्रतिष्ठित होता है। जो भक्तिपूर्वक शिवकी पूजा करते हैं, वे शिवलोकमें जाते हैं।

इस प्रकार प्रसंगवश शिवलोक, गोलोक* और नर्मदालोकका वर्णन किया गया है, जहाँ शिवभक्त पुरुषोंका निवास है। जो ज्ञानयोगसे शान्तचित्त हो परम शिवका जप करते हैं, वे सब दुःखोंसे मुक्त हो सदा सुखी बने रहते हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार, सत्त्वगुण और प्रकृति—इन आठ आवरणोंसे युक्त शिवलोक है। वह दस हजार सूर्योंके समान कान्तिमान् परम स्थान है। ज्ञान और ध्यानमें संलग्न, शान्त, भिक्षान्नभोजी, जितेन्द्रिय, भगवान् शिवकी प्रसन्नताके लिये सत्कर्म करनेवाले और जिनके पाप दग्ध हो गये हैं, ऐसे श्रेष्ठ ब्राह्मण ही उस परम धाम शिवलोकको पानेके अधिकारी हैं। जिस सत्यस्वरूप लोकमें शुद्धचित्त एवं अविद्या आदिके क्लेशोंसे रहित महात्मा पुरुष निवास करते हैं, उसी उत्तम पदको नर्मदाजीका सेवन करनेवाले मनुष्य भी पा लेते हैं।

जो नर्मदाके तटपर मेरे बताये अनुसार दान करते हैं, वे सब कुछ जाननेवाले, सर्वत्र जानेकी शक्ति रखनेवाले शुद्ध एवं परिपूर्ण हो जाते हैं। जो शुद्धकर्मोंमें तत्पर रहते हैं, वे परम ऐश्वर्यसे सम्पन्न हो अपनी इच्छाके अनुसार साकार या निराकार रूपमें स्थित होते हैं। सम्पूर्ण जगत्के स्वामी पार्वतीवल्लभ भगवान् नीलकण्ठका यह दिव्य स्थान नित्य, विशुद्ध, अविनाशी एवं सदा एकरस रहनेवाला है। जो लोग नर्मदाके तटपर रहकर शिवजीके ज्ञानका अभ्यास करते हैं, वे काम-तृष्णासे मुक्त होकर शिवलोकमें जाते हैं। जो एक दिन भी शिवधर्मका पालन करते हुए भगवान् शिवके ध्यानमें तत्पर होता है, उसके धर्मका अन्त नहीं है।

## अमरावतीके दक्षिण विष्णु-मन्दिरकी महिमा, मेघवनका महत्त्व तथा विभिन्न तीर्थोंकी महाशक्तियोंके नाम

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—गौएँ बड़ी पवित्र वस्तु हैं; वे सब प्रयोजनोंकी सिद्धि करनेवाली हैं। अतः गोदान और शिवभक्तिसे मनुष्य पापमुक्त हो जाता है। वैवस्वत मन्वन्तरमें राजर्षि वीरणके पुरोहित मैत्रेयजी हुए थे, जिन्होंने नर्मदाके तटपर भगवान् विष्णुका मन्दिर बनवाया है। वह मन्दिर अमरावती पुरीके दक्षिण दिशामें नर्मदा-तटपर विद्यमान है। उसके माहात्म्यसे और नर्मदाके प्रभावसे वे द्विजश्रेष्ठ भगवान् विष्णुके लोकमें आनन्द भोगते हैं।

युधिष्ठिर! नर्मदाके पश्चिम और उत्तर तटपर जो-जो उत्तम तीर्थ हैं, उनका वर्णन सुनो। यज्ञ पर्वतपर मेघवन नामसे प्रसिद्ध एक वन है, जहाँ

* यह गोलोक शिवलोकका ही एक अंग है।

पूर्वकालमें चक्रवर्ती राजा रन्तिदेवने देवता, असुर और मनुष्योंसहित अपने कुलको गोलोकमें पहुँचाया है।

विभिन्न तीर्थोंकी महाशक्तियोंके नाम इस प्रकार हैं—(१) काशीमें विशालाक्षी, (२) नैमिषारण्यमें लिंगधारिणी, (३) प्रयागमें ललिता देवी, (४) गन्धमादनमें कामुका देवी, (५) मानसमें कुमुदा, (६) अम्बरमें विश्वयोनि, (७) गोमन्त पर्वतपर गोमती, (८) मन्दराचलपर कामचारिणी, (९) चित्ररथ वनमें मदोत्कटा, (१०) हस्तिनापुरमें तपन्ती, (११) कान्यकुब्जमें गौरी, (१२) कमल पर्वतपर प्रभा, (१३) एकाग्रक्षेत्रमें कीर्तिमती, (१४) विश्वेश्वरक्षेत्रमें विश्वा, (१५) पुष्करमें पुरुहूता (१६) केदारमें मार्गदायिनी, (१७) हिमालय-पर नन्दा, (१८) गोकर्णक्षेत्रमें भद्रकणिका, (१९) स्थानेश्वरमें भवानी, (२०) विल्वकमें विल्व-पत्रिका, (२१) श्रीशैलपर माधवी, (२२) भद्रेश्वरमें भद्रा, (२३) वाराह पर्वतपर जया, (२४) कमलालयमें कमला, (२५) रुद्रकोटिमें रुद्राणी, (२६) कालंजरमें कोटि, (२७) महालिंगमें कपिला, (२८) माकोटमें मुकुटेश्वरी, (२९) शालग्राममें महादेवी, (३०) शिवलिंगमें जलप्रिया, (३१) मायापुरीमें कुमारी, (३२) सन्तानमें ललिता, (३३) उत्पलक्षेत्रमें सहस्राक्षी, (३४) हिरण्याक्षमें महोत्पला, (३५) तीर्थामें मंगला, (३६) पुरुषोत्तमक्षेत्रमें विमला, (३७) विपाशामें अमोघाक्षी, (३८) पुण्ड्रवर्धनमें पाटला, (३९) सुपार्श्वमें नारायणी, (४०) त्रिकूटमें भद्रसुन्दरी, (४१) विपुलमें विपुला, (४२) प्रलयाचलमें कल्याणी, (४३) विकोटितीर्थमें कोटी, (४४) यमुनामें मृगावती, (४५) करवीरमें महालक्ष्मी, (४६) विनायकमें उमादेवी, (४७) वैद्यनाथमें आरोग्या, (४८) महाकालमें महेश्वरी, (४९) कृष्णतीर्थमें अभया, (५०) विन्ध्य-गिरिकी कन्दरामें अमृता, (५१) माण्डव्यतीर्थमें माण्डुका, (५२) माहेश्वरपुरमें स्वाहा, (५३) प्रचण्डतीर्थमें छागलम्बा, (५४) अमरकण्टकमें चण्डिका, (५५) सोमेश्वरमें वाराही, (५६) प्रभासमें पुष्करावती, (५७) सरस्वतीमें देवमाता, (५८) पारावतमें पारा, (५९) महालयमें महाभागा, (६०) पयोष्णीमें पिंगलेश्वरी, (६१) कृतशौतीर्थमें संहिता, (६२) कार्तिकेयमें शांकरी, (६३) उत्पलावर्षकमें लोला, (६४) शोणसंगममें सुभद्रा, (६५) मालासिद्धतलमें लक्ष्मी, (६६) भारताश्रममें अनन्ता, (६७) जालन्धरमें सिद्धमुखी, (६८) किष्किन्धा पर्वतपर तारा, (६९) देवदारुवनमें पुष्टि, (७०) काश्मीरमण्डलमें मेधा, (७१) हिमालयमें भीमा देवी, (७२) वस्त्रेश्वरतीर्थमें तुष्टि, (७३) कपालमोचनमें सिद्धि, (७४) कायावरोहणमें माता, (७५) शंखोद्धारमें धृति, (७६) पिण्डारकमें ध्वनि, (७७) चन्द्रभागामें कला, (७८) अक्षोदमें शिवधारिणी, (७९) वैजयन्तीमें ऋता, (८०) बदरीमें ओषधि, (८१) उत्तरकुरुमें भी ओषधि, (८२) कुशद्वीपमें कुशोदका, (८३) हिमकूटमें मन्मथा, (८४) प्रमतमें सत्यवादिनी, (८५) अश्वत्थमें वन्दिनी, (८६) वैश्रवण (कुबेरतीर्थ)-में निधि, (८७) वेदवदनमें गायत्री, (८८) शिवके समीप पार्वती, (८९) देवलोकमें इन्द्राणी, (९०) ब्राह्मणके मुखमें सरस्वती, (९१) सूर्यबिम्बमें प्रभा, (९२) मातृकातीर्थमें मातृका, (९३) वैष्णवीतीर्थमें वैष्णवी, (९४) सतियोंमें अरुन्धती, (९५) अप्सराओंमें तिलोत्तमा, (९६) सब देहधारियोंमें चिति, (९७) ब्रह्मकला तथा (९८) शक्ति। ये नाम और तीर्थ संक्षेपसे बताये गये हैं। जो प्रातःकाल उठकर इनका पाठ करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है। इन तीर्थोंमें स्नान करके जो मनुष्य इन शक्तियोंका दर्शन करते हैं, वे सब पापोंसे मुक्त हो परम गतिको प्राप्त होते हैं। जो इन देवियोंके तीर्थस्थानोंमें अपने शरीरका त्याग करता है, वह ब्रह्मलोकको भेदकर शिवजीके परम धामको प्राप्त करता है। गोदानके समय, श्राद्धमें, विवाह आदि मंगलकार्योंमें तथा देवार्चनके समय भी जो इन नामोंका पाठ करता है, वह ब्रह्मपदको प्राप्त होता है।

# अशोकवनिकातीर्थमें महाराज रविश्चन्द्रके द्वारा यज्ञ, दान तथा मुनियोंका उद्धार

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—नर्मदाके दक्षिण भागमें माण्डव्यमुनिका आश्रम है। उसमें विभाण्डक, गार्ग्य तथा ऋष्यशृंग आदि उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षि सहस्रोंकी संख्यामें निवास करते हैं। राजन्! अशोकवनिका नामसे प्रसिद्ध उत्तम तीर्थकी महिमा सुनो। वहाँ भगवान् शंकर पार्वतीदेवीके साथ निवास करते हैं। वहाँ विशोका नदी और नर्मदाका संगम हुआ है। वहाँ स्नान करनेवाले मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं और जिनकी वहाँ मृत्यु हो जाती है, वे मुक्त हो जाते हैं। वहीं अशोकेश्वरलिंग है, जो प्रत्यक्ष ही सिद्धि एवं कल्याण प्रदान करनेवाला है। उसी तीर्थमें देवर्षि नारदने शापभ्रष्ट ब्राह्मणोंको शापसे मुक्त किया था और अब वे ब्राह्मण उस तीर्थके माहात्म्यसे देवता होकर देवलोकमें आनन्द भोगते हैं।

स्वायम्भुव मन्वन्तरके आदिकल्पके सत्ययुगकी बात है। चन्द्रवंशमें रविश्चन्द्र नामसे प्रसिद्ध एक महायशस्वी चक्रवर्ती राजा हो गये हैं, जो कांची नगरीके नरेश थे। उन्होंने समस्त पृथ्वीका धर्मपूर्वक पालन किया था। एक समय वे अगस्त्येश्वरतीर्थमें गये जहाँ भगवान् शंकरका सुन्दर मन्दिर विद्यमान है। अगस्त्य आदि सभी तपस्वी मुनि उस तीर्थका सेवन करते हैं। वहाँ नर्मदा बहती हैं और अमरकण्टक पर्वत भी सुशोभित होता है। सूर्यग्रहणके समय राजा रविश्चन्द्र उस स्थानपर गये जहाँ मुनिमण्डलीसे घिरे हुए महर्षि अगस्त्य तपस्या करते थे। उस समय महातपस्वी शाण्डिल्यजीने महर्षि अगस्त्यको प्रणाम करके पूछा—'तपोनिधे! महातेजस्वी राजा रविश्चन्द्र आपके आश्रमपर पधारे हैं। मैं उनका पुरोहित हूँ। यदि आप कृपापूर्वक स्वीकार करें तो राजा आपके चरणारविन्दोंका अर्चन करना चाहते हैं।'

**अगस्त्यजी बोले**—नृपश्रेष्ठ रविश्चन्द्र यहाँ शीघ्र आवें और सिंहासनपर विराजमान हों।

उनकी आज्ञा पाकर राजा वहाँ आये और उन्होंने मुनिके चरणोंका स्पर्श किया। मुनिने अर्घ्य और पाद्य आदिके द्वारा राजाका सत्कार किया और कुशल-समाचार पूछते हुए कहा—'महाभाग! आप अन्तःपुर और परिवारके साथ सकुशल तो हैं न?'

**राजा बोले**—मुनीश्वर! आज मेरा जन्म और जीवन सफल हुआ, जो आपके चरणारविन्दोंका दर्शन पाकर मैं सब पापोंसे मुक्त हो गया। मुनिश्रेष्ठ! सर्वतीर्थमयी नर्मदा नदी तो सर्वत्र शुभ और पावन हैं। मैं किस स्थानपर यज्ञ करूँ?

**अगस्त्यजीने कहा**—राजन्! एकमात्र नर्मदादेवी ही पुण्यमयी और शुभ हैं। जम्बूद्वीप एक लाख योजनका बताया गया है, उसमें जितने भी चराचर प्राणी हैं, उनमेंसे जो तपस्यासे हीन हैं वे भी नर्मदाका जलपान करनेसे भगवान् शिवके लोकमें जाते हैं। ॐकार आदि शिवलिंग और वैदूर्य आदि पर्वत, द्वापर और कलियुगमें परम पावन होते हैं। नर्मदाके दक्षिण और उत्तर भागमें जो यह देव-दानववन्दित भूमि है इसे यज्ञभूमि कहते हैं। इसीमें अशोकवनिका है, जहाँ साक्षात् भगवान् महेश्वर निवास करते हैं। यहाँ किया हुआ यज्ञ बिना किसी विघ्न-बाधाके परिपूर्ण होता है। ऐसा भगवान् शंकरका कथन है।

**राजा बोले**—महामुने! आपका कल्याण हो, मैं आपके साथ वहीं चलूँगा।

ऐसा कहकर मुनियोंसे घिरे हुए राजा रविश्चन्द्र नर्मदाके दक्षिण तटपर वर्तमान सुन्दर पुण्यतीर्थ अशोकवनिकामें आये। वहाँ दस योजन विस्तृत भूमिमें यज्ञमण्डप बनाया गया और यूप गाड़े गये। उस मण्डपके सभी द्वार और स्तम्भ मणि-माणिक्य तथा रत्नोंकी राशिसे शोभा पा रहे थे। विश्वामित्र, भरद्वाज, कश्यप, भार्गव, ब्रह्मदृश्य, लोमश था दूसरे-दूसरे श्रेष्ठ महर्षि उस यज्ञमें

सम्मिलित हुए। प्रचुर दक्षिणा पानेवाले ब्राह्मणोंने यज्ञ प्रारम्भ किया। सब देवता बड़े प्रसन्न और तृप्त हुए। इसी समय महान् क्रोधी दुर्वासाजी, यमराज, चित्रगुप्त, काल और मृत्यु भी आये। उस यज्ञमें इनके लिये कोई भाग नहीं दिया गया था। यह देखकर ये सभी कुपित हो उठे। उन सबको रुष्ट देखकर राजा रविश्चन्द्रने कहा—'यज्ञके समयमें कोई मनुष्य भी आ जाय तो वह चार भुजाधारी भगवान् विष्णुके समान पूजनीय होता है। आपलोगोंको भी मैं अभीष्ट वस्तु दूँगा। अतः प्रसन्न हों।' इस प्रकार राजाके द्वारा अर्घ्य, पाद्य आदि देकर प्रसन्न कराये जानेपर वे सब मुनि सन्तुष्ट हुए।

**उस समय दुर्वासाजीने कहा**—राजन्! पूर्वकालमें जटा और वल्कल धारण करनेवाले तपस्वीलोग नेपालमें देवताओंके देवता भगवान् पशुपतिकी भक्तिभावसे पूजा करते थे, परंतु उनके साथ उन्होंने पार्वतीजीकी पूजा नहीं की। इसलिये पार्वतीजीने उन ब्राह्मणोंको शाप दिया—'तुमलोग एक सहस्र वर्षोंतक कुत्तेकी योनिमें रहोगे।' तबसे वे मुनीश्वर लोग कुत्तेकी योनिमें पड़े हुए हैं। राजन्! हमारा प्रिय करनेकी इच्छासे तुम उन सबको शापसे मुक्त कर दो।

**राजा बोले**—मैं उन ब्राह्मणोंको उस शापसे मुक्त करूँगा।

ऐसा कहकर राजाने अपने दूतोंको वनमें भेजा। दूतोंने उन वनवासी मुनियोंको नमस्कार करके उनके पूर्वजन्मका स्मरण कराया। तब वे सब लोग अशोकवनिकामें आये। उन सबको देखकर चक्रवर्ती राजा रविश्चन्द्रने बड़ी प्रसन्नताके साथ कहा—'भगवान् अशोकेश्वर एवं नर्मदादेवीकी महिमासे, मेरे दानके प्रभावसे तथा महर्षियोंके प्रसादसे ये सब मुनि कुत्तेकी योनि त्याग कर शिवलोकमें चले जायँ और इनका सब पाप मुझमें आ जाय।'

**राजाके ऐसा कहते ही वे सब मुनि तत्क्षण शापसे मुक्त हो गये और राजासे इस प्रकार बोले**—आप ही हमारे माता-पिता और मोक्षदाता गुरु हैं। ऐसा कहकर वे सब महर्षि उमामहेश्वर-धामको चले गये।

तब सम्पूर्ण देवताओंने राजाको धन्यवाद दिया। देवताओंकी दुन्दुभियाँ बजने लगीं और आकाशसे फूलोंकी वर्षा हुई।

**उस समय दुर्वासाजीने कहा**—महाराज! क्षत्रियोंमें मैंने तुम्हारे समान दूसरे किसीको न तो देखा है और न सुना ही है। मनुष्योंके लिये अपने प्राणोंको त्याग देना तो सुकर है, परंतु अपने संचित धर्मका त्याग करना बहुत ही कठिन है। तुम्हारा कल्याण हो, तुम कोई वर माँगो।

**तब राजा हँसते हुए बोले**—मुने! हमारे दानके प्रभावसे पापबुद्धिवाले मनुष्य भी उत्तम पदको प्राप्त हों, यही मेरा प्रिय वर है।

**'एवमस्तु'**—ऐसा ही होगा—यह कहकर मुनिवर दुर्वासा वहीं अन्तर्धान हो गये। अमित तेजस्वी राजाके उस अद्भुत कर्मको देखकर धर्मराजने कहा—'राजन्! मैं तुम्हें वर देता हूँ, जिसने अपना उत्तम पुण्य दे दिया, उसने यमलोक और देवलोकको भी जीत लिया। राजेन्द्र! तुम अवश्य वर पानेके योग्य हो।'

**रविश्चन्द्र बोले**—सूर्यनन्दन! मेरे सौ यज्ञ, दान और तपस्याके प्रभावसे वे सभी पापी जीव शिवधामको प्राप्त हो जायँ, जो इस समय पापयोनिमें पड़े हुए हैं। मैं इसी वरको प्राप्त करना चाहता हूँ, आप मुझपर कृपा करें।

**यमराजने कहा**—सत्यधर्मका पालन करनेवाले राजेन्द्र! तुम्हारी यह इच्छा पूर्ण हो। सुव्रत! इस सत्यके प्रभावसे तुम उत्तम लोकको जाओ। राजन्! तुमने जिन सैकड़ों क्षत्रियों और सहस्रों अन्यान्य जीवोंका पापसे उद्धार किया है, उन सबकी कोई गणना नहीं है।

ऐसा कहकर धर्मराज देव-दानववन्दित कामिक विमानपर आरूढ़ हो अपने लोकको चले गये।

# वागीश्वरतीर्थमें राजा ब्रह्मदत्तके यज्ञमें प्रेतोंका उद्धार तथा सहस्रावर्त आदि तीर्थोंकी महिमा

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—नर्मदाके उत्तर तटपर वागीश्वर नामका एक पुर है, वहाँ वागु नामवाली नदी नर्मदाके साथ मिली है। उस संगममें जो स्नान करते हैं वे स्वर्गको जाते हैं और जो मरते हैं वे मुक्त हो जाते हैं। वहाँ दानवोंका विनाश करनेवाली वागीशा चामुण्डा रहती हैं। मणिभद्र और वीरभद्र आदि सैकड़ों राजा उस तीर्थके प्रभावसे शापमुक्त हुए हैं। वहाँ तिलसहित पिण्डदान करनेसे पितरोंको उत्तम गति प्राप्त होती है। सूर्यवंशमें अयोध्याके चक्रवर्ती राजा ब्रह्मदत्त प्रसिद्ध हैं। वे धन-धान्यसे सम्पन्न तथा भय और दरिद्रतासे रहित थे। उनके शासनकालमें समस्त प्रजा बड़े आनन्दसे रहती थी। उन्होंने नर्मदा और वागुके संगममें एक श्रेष्ठ यज्ञ किया था, जिसमें ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, गणेश तथा महादेवजी आदिने प्रत्यक्ष प्रकट होकर अपना भाग ग्रहण किया। राजा ब्रह्मदत्तकी यज्ञभूमि दस योजनतक फैली हुई थी। उनका यह यज्ञ स्वारोचिष मन्वन्तरके आदि-कल्पवाले सत्ययुगमें हुआ था। उस समय ब्रह्मदत्तके यज्ञसे तथा वागीश्वर और नर्मदाके प्रसादसे प्रेतोंको भी बड़ी तृप्ति हुई। वे प्रेत पहलेके वानप्रस्थ ऋषि थे। उन्होंने स्त्रियोंके आग्रहसे सूर्यग्रहणके अवसरपर कुरुक्षेत्रमें बहुत-सा दान लिया था। इसीसे वे प्रेतभावको प्राप्त हुए थे। प्रेत होनेपर भी उन्हें पूर्वजन्मका स्मरण बना रहा। अतः एकान्तमें बैठकर वे अपने विषयमें इस प्रकार शोक करने लगे—'अहो! जिनके लिये हमने प्रतिग्रह स्वीकार किया, वे हमारे पुत्र, पत्नी, भृत्य और भाई-बन्धु तो ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं; वे उस प्रतिग्रहकी आगमें दग्ध नहीं हुए हैं। हमें अकेले ही उस आगमें जलना पड़ा है। यमदूतोंसे पकड़े हुए प्राणियोंके साथ उनके माता-पिता, भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र और धन आदि भी नहीं जाते, एकमात्र धर्म ही उनका साथ देता है।'

इस प्रकार दीर्घकालतक शोक करके स्त्री-पुत्रसे रहित हुए वे प्रेतगण सारी पृथ्वीपर घूम-घामकर नारदजीके उपदेशसे उमापति शिवका ध्यान करते हुए उसी वागीशपुरमें चले आये। वहाँ स्नान करके उन्होंने भगवान् शिव, विष्णु और सूर्यदेवका पूजन किया। ब्रह्मदत्तके उस यज्ञमें आकर वे सभी पापमुक्त हो गये और ब्रह्माजीके लोकमें गये। तदनन्तर राजा ब्रह्मदत्तके ऊपर फूलोंकी वर्षा होने लगी।

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—युधिष्ठिर! प्रतिग्रह एक भारी ग्रह है। जो लोभ और मोहसे मोहित हो उस ग्रहसे ग्रस्त हो गये हैं, वे घोर नरकमें डूबते हैं। यद्यपि वेदोक्त यज्ञ और तीर्थयात्रा आदि सत्कर्म भी सफल होते हैं, उनके द्वारा सद्गतिमें सहायता मिलती है, तथापि प्रतिग्रह (दान) लेनेवाले मनुष्य अपने आत्माको क्लेश देते हैं। दाता और याचककी क्या गति होती है, इसकी सूचना उनके हाथोंसे ही मिल जाती है। देनेवाला ऊपरको जाता है और लेनेवाला नीचेको।

सहस्रावर्तक नामसे प्रसिद्ध एक तीर्थ है। वहाँ विधिपूर्वक स्नान करनेवाले पुरुषको वृषोत्सर्गका फल प्राप्त होता है और वह अपनी सात पीढ़ीतकको पवित्र कर देता है। नर्मदाके उत्तर तटपर यह तीर्थ सहस्र धनुषतक फैला हुआ है। उसके अन्तमें काराका उत्तम वन है। वहाँ स्नान करनेसे अग्निष्टोम यज्ञका फल मिलता है और मनुष्य स्वर्गलोकको जाता है। नर्मदाके उत्तर भागमें सौगन्धिक नामक परम सुन्दर वन है, जिसमें प्रवेश करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। तदनन्तर नदियोंमें उत्तम सरस्वती नदी हैं। उनके जलमें स्नान करना चाहिये। वहाँ देवताओं और पितरोंका तर्पण करके मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल पाता है। वहीं ईशानाध्युषित नामक परम दुर्लभ तीर्थ है। नरश्रेष्ठ! व्यतिपात योग, संक्रान्ति और ग्रहणके समय उस

तीर्थमें स्नान करके मनुष्य सहस्र कपिला गौओं, सुगन्धित पदार्थों और सुवर्णोंके दानका तथा पंच-यज्ञोंके अनुष्ठानका फल पाकर स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है। भारत! वहीं त्रिशूल नामक तीर्थ है। वहाँ जाकर जो स्नान और देवता-पितरोंका पूजन करता है, वह देहत्यागके पश्चात् गणपति-पदको प्राप्त होता है। युधिष्ठिर! नर्मदाके उत्तर तटपर ब्रह्मोद नामसे विख्यात एक तीर्थ है जो इच्छानुसार भोग एवं फल देनेवाला है। यहाँपर श्राद्धका दान देनेसे पितर ब्रह्मलोकमें जाते हैं। नर्मदाके उत्तर भागमें अत्यन्त उत्तम सोमतीर्थ है। वहाँ स्नान करके मनुष्य स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है।

## देवपथतीर्थ, शुक्लतीर्थ, दीप्तिकेश्वरकी महिमा, देवासुरोंके द्वारा महादेवजीकी स्तुति तथा वैष्णव तीर्थकी महिमा

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—तदनन्तर देवपथ नामक सर्वदेवमय शुभ तीर्थ है। उसमें विधिपूर्वक स्नान करनेवाला पुरुष सब यज्ञोंका फल पाता है। वहीं देवपथ नामसे प्रसिद्ध शिवलिंग भी है, जिसका श्रद्धापूर्वक दर्शन करनेसे पितरोंकी उत्तम गति होती है। वहीं सहस्रयज्ञ नामका उत्तम तीर्थ है, जहाँ मार्गशीर्ष मासमें एकादशी तिथिको भगवान् विष्णुकी पूजा करके मनुष्य सहस्र यज्ञोंके अनुष्ठानका फल पाता है। उस तीर्थके प्रभावसे वह पापरहित हो जाता है। वह यमलोकको नहीं देखता और पशु-पक्षियोंकी योनिमें भी नहीं जाता। तदनन्तर शुक्लतीर्थमें जाय। उसमें स्नान करनेवाला मनुष्य दस गोदानका फल पाता है। शुक्लतीर्थ आठ हाथका है। वहाँ कालाग्निरुद्र तथा श्रीकण्ठदेव हैं। पूर्वकालमें इन्द्रने भी देवदेव उमापतिको नर्मदाके जलसे नहलाकर बिल्वपत्रोंद्वारा उनका पूजन किया था। शुक्लतीर्थके प्रभावसे ही देवता उद्दीप्त हो रहे हैं। वहीं कश्यपजीका देवताओं और सिद्धोंसे सेवित पुण्य आश्रम है। वहाँ दस हजार मुनि शुक्लेश्वरकी उपासना करते हैं। कुबेरने सूर्यग्रहणके अवसरपर शुक्लतीर्थमें चन्दन, अगर, कपूर, फूल-माला, चँदोवा, ध्वज तथा दीपमाला आदि उपचारोंसे महेश्वरका पूजन किया था। अतः उस तीर्थके प्रभावसे ही वे यक्षोंके राजा और धनके स्वामी हुए हैं। उसी तीर्थके प्रभावसे देवताओंने देवलोकमें नाना प्रकारके भोग प्राप्त किये हैं। वह तीर्थ सर्वतीर्थमय और सर्वदेवमय है। वहाँ स्नान और महादेवजीका पूजन करके मनुष्य सब देवताओं और दैत्योंके गणोंसे पूजित होता है।

राजन्! ययाति नामसे प्रसिद्ध एक चक्रवर्ती राजा हो गये हैं। उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञोंद्वारा भगवान् यज्ञपुरुषका पूजन किया है। जहाँ पुण्यसलिला मधुमती नदी नर्मदाके साथ मिली है, वहाँ उन्होंने ब्राह्मण-ऋत्विजोंके साथ यज्ञ प्रारम्भ किया था। वहीं मध्येश्वरलिंग है जहाँ साक्षात् भगवान् महेश्वर निवास करते हैं। वहाँ स्नान करनेवाले स्वर्गमें जाते हैं और जो वहाँ मरते हैं वे मुक्त हो जाते हैं। उसी स्थानपर भगवान् विष्णुने मधु और कैटभ नामक दैत्योंका वध किया था। वहाँ श्रीविष्णुदेवके पूजनसे सहस्र गोदानका फल मिलता है। उस तीर्थमें तिलोंके साथ जलदान और पिण्डदान करनेसे पितर चौदह इन्द्रोंकी स्थिति-कालतक तृप्त रहते हैं। ययातिका यज्ञ पूर्ण होनेके पश्चात् वहाँ पातालसे कालाग्निके समान कान्तिमान् एक शिवलिंग प्रकट हुआ। भारत! उस लिंगकी प्रभासे सम्पूर्ण जगत् उज्ज्वल हो गया। तब लिंगरूपधारी भगवान् वृषध्वजने राजा ययातिसे कहा—'राजन्! तुम्हारा कल्याण हो, तुम कोई वर माँगो।'

**ययाति बोले**—देव! आप भगवती पार्वतीके साथ यहाँ रहें और इस स्थानका कभी त्याग न करें। यहाँ किये हुए यज्ञ, दान आदि सब

कार्य सदा अक्षय हों। तपस्या और दानसे रहित पापी मनुष्य भी यहाँ स्नान करके शुक्लतीर्थके प्रभावसे आपके लोकमें चले जायँ।

**महादेवजीने कहा**—राजन्! तुमने जो कुछ कहा है, वह सब सत्य होगा।

तत्पश्चात् सब देवता अपने-अपने विमानपर आरूढ़ हो स्वर्गलोकको चले गये। राजर्षि ययाति भी दीर्घकालतक राज्यका पालन करके अन्तमें स्वर्गलोकको गये।

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—दीप्तिकेश्वर नामसे प्रसिद्ध एक सिद्धलिंग कहा गया है, जिससे श्रेष्ठ तीनों लोकोंमें दूसरा कोई भी प्रसिद्ध नहीं है। दीप्तिकेश्वर देवका दर्शन, स्पर्श और पूजन करनेसे अनेक जन्मोंका घोर पाप क्षणभरमें नष्ट हो जाता है। जो मानव एक दिन या दो घड़ी भी उनकी पूजा करता है वह इस भयानक संसार-समुद्रमें फिर जन्म नहीं लेता।

देवताओंके स्वामी विष्णु, ब्रह्मा तथा अन्यान्य देवताओंके द्वारा विभिन्न नामोंसे उन उमावल्लभ महादेवजीकी स्तुति इस प्रकार की गयी—भगवान् शिव सदा रहनेवाले, अचल, प्रभा, प्रकाशरूप, दीप्तिमान्, श्रेष्ठ वर देनेवाले, अभीष्ट मनोरथ, पापहारी, श्वेतवर्ण, सब प्राणियोंका संहार करनेवाले, सर्वसमर्थ, संसारके कारण, वैराग्य एवं मोक्षके कारण, संयमरूप, सनातन, अटल, श्मशानवासी, भगवान्, आकाशमें विचरनेवाले, इन्द्रियोंमें व्याप्त, वन्दना करनेयोग्य, महान् कर्म करनेवाले, तपस्वी, समस्त प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाले, मतवाले वेषमें अपने स्वरूपको छिपाये रखनेवाले, सम्पूर्ण लोकोंकी प्रजाके पालक और स्वामी, विराट्स्वरूप, विशाल शरीरवाले, समस्त लोकोंकी सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा, समस्त प्राणियोंके परमात्मा, विविध रूपोंवाले, छोटे रूपवाले, मनन करनेवाले, सम्पूर्ण विश्वके पालक, छिपे रूपवाले, सदाप्रसन्न, संसार-बन्धनका नाश करनेवाले, प्रवृत्तिमार्गमें स्थित, महान् अंगोंवाले, समष्टिरूप, सबके सुनिश्चित आधार, सब कामनाओंसे सम्पन्न, स्वतः प्रकट होनेवाले, आदि और अन्त अर्थात् सृष्टि और संहार करनेवाले, जीवोंके आश्रय, सहस्रों नेत्रोंवाले, भयंकर नेत्रोंवाले, चन्द्रस्वरूप अथवा उमासहित, नक्षत्रोंको सिद्ध करनेवाले, चन्द्र, सूर्य, शनि, केतु, ग्रह, ग्रहपति, श्रेष्ठ, तपस्याके साक्षी, बलस्वरूप, खड़े रहनेवाले, यज्ञरूपी मृगपर बाण चलानेवाले, पापरहित, महान् तपस्वी, दीर्घकालतक तपस्या करनेवाले, सबकी उत्पत्तिके आदिकारण, दीनोंपर दया करनेवाले, सूर्यरूपसे वर्ष पूरा करनेवाले, मन्त्र, प्रमाण, परम तपःस्वरूप, योगी, योगकी महान् शक्तिसे सम्पन्न, महान् वीर्यवाले, हर, महाचेता, सर्वज्ञ, कारणसहित, संहारकारी, हरण करनेवाले, कमण्डलुधारी, धनुष धारण करनेवाले, सबके प्राणोंको अपने हाथपर रखनेवाले, प्रतापवान्, जीवात्मारूप, अपनेसे भिन्न अन्य किसी ईश्वरसे रहित, शूलधारी, खट्वांगधारी, पट्टिशधारी, पवित्र, पवित्रस्वरूप, तेजःस्वरूप, तेज प्रकट करनेवाले, आश्रयस्वरूप, मुकुट धारण करनेवाले, सुमुख, जलमें रहनेवाले, विस्तार करनेवाले, सूर्यरूप, सूर्य और चन्द्रमारूपी नेत्रवाले, सुन्दर तीर्थरूप, अपनी ओर आकृष्ट करनेवाले, शृगालेश्वररूपसे प्रकट, सर्वप्रयोजनरूप, सूँड़ धारण करनेवाले गणेशरूप, निर्मल, जलके आधारभूत कमण्डलुकी भाँति सम्पूर्ण संसारके आश्रय, अजन्मा, सुगन्धित माला धारण करनेवाले, हरिणरूपधारी, कपाल धारण करनेवाले, जिनके वीर्यकी गति ऊपरकी ओर है ऐसे, ऊपरके लोकोंके साक्षी, ऊँची उठी हुई भुजाओंवाले, नभ, अष्टमूर्तियोंमेंसे आकाशरूप, तीन जटा धारण करनेवाले, सब जीवोंके आवासस्थान, रुद्र, कार्तिकेयरूपसे देवताओंके सेनानायक, सर्वव्यापक, दिनमें चलने-फिरनेवाले, रातमें विचरनेवाले, जिनके श्रीअंगोंसे उत्तम सुगन्ध निकल रही है ऐसे, सम्पूर्ण दिशाओंके स्वामी राजाओंको मारनेवाले परशुरामरूप, त्रिपुरासुर-अन्धकासुर आदि दैत्योंको मारनेवाले, धारण-पोषण करनेवाले, रूपगुणस्वरूप, सिंह और

शार्दूलरूपसे प्रकट—व्याघ्रेश्वर, गजासुरका गीला चमड़ा धारण करनेवाले, पीड़ा हरनेवाले, समयसे योगसाधनामें तत्पर, महानादस्वरूप, सबके निवासस्थान, चारों ओर जानेवाले मार्गस्वरूप, दुर्धर्ष प्रेतोंमें विचरनेवाले, समस्त प्राणियोंमें रहनेवाले, महान् ईश्वर, अनेक रूपोंमें प्रकट, बहुत धनवाले, समस्त पुरुषार्थस्वरूप, उत्तम गतिस्वरूप, ताण्डव-नृत्यको पसंद करनेवाले, ताण्डव-नृत्य करनेवाले, नाचनेवाले, मेघस्वरूप, भयंकर, बड़ी भारी तपस्या करनेवाले, सबमें वास करनेवाले, अविनाशी, पर्वतोंको धारण करनेवाले आकाशरूप, सहस्रों रूपोंमें प्रकट, जाननेयोग्य, उद्योग एवं निश्चयरूप, निर्णय एवं सिद्धान्तरूप, अन्याय न सहनेवाले, क्षमाशील, चतुर, दक्ष-यज्ञका विध्वंस करनेवाले, दक्षयज्ञका अपहरण करनेवाले, उत्तम उत्सवरूप, मध्यस्थ, विरोधियोंके तेजका अपहरण करनेवाले, दक्ष-यज्ञमें देवताओंके यज्ञभागका हनन करनेवाले, प्रसन्न, पूजित, सबके उत्पादक, गम्भीर गर्जना करनेवाले, गाम्भीर्ययुक्त, गम्भीर, हविष्य पहुँचानेवाले अग्निस्वरूप, वटवृक्षरूप, बरगद या अक्षयवटरूप, नक्षत्रोंकी भाँति चमकनेवाले, समर्थ, विभु, तीखे बाणवाले, सूर्य और चन्द्ररूप नेत्रोंवाले, महादेव, कर्म और कालके ज्ञाता, यज्ञ एवं व्रतकी दीक्षा देनेवाले, भक्तोंद्वारा प्रसन्न किये जानेवाले, यज्ञस्वरूप, समुद्ररूप, समुद्रान्तर्वर्ती बडवानल नामक अग्नि, यज्ञमें आहुतिरूपसे प्राप्त हविष्यके भोक्ता, अग्निमुख, प्रसन्नात्मा, अग्निरूप, महान् तेजस्वी, उत्तम तेजस्वी, विजय, जय, ज्योतिर्मण्डलके आश्रय, सिद्धिरूप, शत्रुओंसे मेल रखनेकी नीतिरूप, अवसर देखकर शत्रुके साथ युद्ध करनेकी नीतिरूप, शिखाधारी, दण्डधारी, जटा धारण करनेवाले, लपटवाले, मूर्तिमान् जलरूप, बलहीन, बाह्यस्वरूप, बाँसका डंडा धारण करनेवाले, पापियोंको वेतालकी भाँति भय देनेवाले, कालाग्नि, कालको भी दण्ड देनेवाले, तारास्वरूप अथवा अविनाशी शरीरवाले, अभ्युदयरूप, ब्रह्मारूप, सुगन्ध वहन करनेवाले वायुरूप, सबसे ज्येष्ठ, प्रजाजनोंके रक्षक, विष्णुस्वरूप, भुजाकी भाँति सबके सहायक, यज्ञमें विशिष्ट भाग ग्रहण करनेवाले, सब ओर मुखवाले, संसार-बन्धनसे मुक्त करनेवाले, देवसमुदायरूप, सुवर्णमय कवच धारण करनेवाले, जगत्स्वरूप रजोगुणरहित, भस्म लगानेवाले, बड़े आचारवान्, विख्यात यशवाले, आदिरहित, सब प्राणियोंके आदिकारण, सबके आदिपुरुष, सबके जन्मदाता, सबके ज्ञानदाता, सर्पस्वरूप, महान् आवाससे युक्त, तुच्छ वस्तु (धतूरों)-की माला धारण करनेवाले, मस्तकपर उठती हुई गंगाकी लहरोंको जाननेवाले, तीन वेद और तीनों लोक जिनके पद अर्थात् स्थान हैं, वे भगवान् शिव त्रिनेत्रधारी, अव्यक्त, सब बन्धनोंसे मुक्त करनेवाले, ज्ञानसे प्रसन्न होनेवाले, असुन्दर वस्त्र धारण करनेवाले, समस्त साधनोंसे सेवित, अपने मस्तकसे गंगाजीका स्रोत बहानेवाले, विभागरहित, सदा एकरस, यज्ञविभागके ज्ञाता, सबमें सदा रहनेवाले, सर्वत्र विचरनेवाले, दुर्वासामुनिस्वरूप, भैरव, यमराजस्वरूप, शीतल, चन्द्रस्वरूप, यज्ञस्वरूप, सबका धारण-पोषण करनेवाले, विद्वानोंमें सर्वश्रेष्ठ, लाल-लाल आँखोंवाले, बड़े-बड़े नेत्रोंवाले, विजयस्वरूप, विशिष्ट विद्वान्, संग्रह, विग्रह, कर्म, नागेन्द्र-हारसे विभूषित, सबमें प्रमुख, विमुक्तदेह, शरीरमें रहनेवाले प्राणस्वरूप, कर्दमरूप, सर्वाचारस्वरूप, प्रसन्नतारूप, खेचरस्वरूप, बल और रूप धारण करनेवाले, आकाशवृत्तिरूप, निपात, सर्परूप, खलरूप, रौद्ररूप, देवताओंमें सूर्यरूप, रत्नस्वरूप किरणोंसे युक्त, उत्तम तेजवाले, वायुके समान वेगवाले, महान् वेगवाले, मनके समान वेगवाले, रात्रिचारी, सर्वावास, लक्ष्मीके निवासस्थान, व्यापक, लोकेश जिनकी कलाएँ हैं वे, हर, मुनि, आत्मगति, लोक, सहस्रमुख, विभुस्वरूप, यक्षोंसे युक्त, कुबेररूप, बाज पक्षीके समान वेगवाले, प्रकाशरूप, प्रजाओंके स्वामी, मतवाले, कामदेवके तुल्य रूपवाले, अर्थ और अनर्थकी प्राप्तिमें कारण, महान् सिद्धयोगस्वरूप, भक्तोंके क्लेशोंका अपहरण

करनेवाले, सिद्ध, सर्वार्थसाधक, भिक्षु, भिक्षुरूप, छः प्रकारके ऐश्वर्योंके स्वामी, कोमल चमड़ीवाले, विशाल सेनावाले कार्तिकेयरूप, विशाख—स्कन्द, जिनका भाग लाठीमें बाँधा जाता है वे, गौओंके पालक, हाथमें वज्र धारण करनेवाले, रोकनेवाले, विशेष रूपसे स्थित, स्तब्ध करनेवाले, नक्षत्ररूप, शत्रुको भी सहारा देनेवाले, काल, वसन्तरूप, महुआके समान नेत्रोंवाले, बृहस्पतिरूप, अन्न ही जिनकी सेना है ऐसे, निष्ठावान् आश्रमसूचक, ब्रह्मचारी, लोकचारी, सर्वचारी, उत्तम रत्नोंके ज्ञाता, ईशान, ईश्वर, काल, निशाचारी, एकमात्र सबके धारण करनेवाले, अमित प्रमाणातीत, नदों और नदियोंको उत्पन्न करनेवाले, अव्यय, नन्दीश्वर, सुनन्दी, नन्दन, नन्दवर्धन, नागहारी, विहारी, काल, ब्रह्मवेत्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ, चतुर्मुख, महालिंग, चतुर्लिंग, लिंगाध्यक्ष, सुराध्यक्ष, कालाध्यक्ष, युगोंको धारण करनेवाले, उमापति, उमाकान्त, गंगाधर, वर, सर्वार्थ, सब प्राणियोंका अर्थ सिद्ध करनेवाले, नित्य, सब व्रतोंके पालक तथा शुचि (पवित्र) हैं। नाथ! ब्रह्मा आदि देवताओं और महर्षियोंको भी जिनका ज्ञान नहीं होता, उन्हीं आप परात्पर परमात्माकी स्तुति कैसे की जा सकती है?

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—इस स्तोत्रको सुनकर श्रीमान् द्वीपेश्वर शिव प्रसन्नतापूर्वक मुसकराते हुए बोले—'देवताओ! तुमलोग वर माँगो।'

**देवता बोले**—महेश्वर! आप दैत्योंके विनाश और हमारी रक्षाके लिये उद्यत रहें। जो पापपरायण अधम मनुष्य भी यहाँके पाँच लिंगोंका अर्चन करे उसे वह उत्तम गति प्राप्त हो, जो बड़े-बड़े यज्ञोंद्वारा भी दुर्लभ है।

पूर्वकालमें उसी तीर्थमें इन्द्रने देव-दानववन्दित देवाधिदेव उमापतिका सहस्र नामोंद्वारा स्तवन किया था। इससे भगवान् शंकरका प्रसाद प्राप्त करके वे देवराजके पदपर प्रतिष्ठित हुए। इसी प्रकार कुबेरने लक्षेश्वर देवका स्तवन किया था। युधिष्ठिर! उस तीर्थमें जो मोक्षदा नामवाली देवी हैं, उन्हींको पार्वती जानो। मोक्षेश्वर सिद्धलिंग है, वहाँ देवता और असुर भी मस्तक नवाते हैं।

तदनन्तर परम उत्तम वैष्णवतीर्थको जाय। वह तीर्थ कोकिला नामसे विख्यात है और सब पापोंका नाश करनेवाला है। देवाधिदेव भगवान् जनार्दन उसे वैष्णवक्षेत्र कहते हैं। जो मनुष्य वहाँ परम पवित्र एकादशी व्रत करके दीपमालाको जगाता है, उसकी इस दुःखद मर्त्यलोकमें पुनः आवृत्ति नहीं होती। वहाँपर श्राद्ध आदि करनेसे पितरोंको अनन्त कालतक तृप्ति बनी रहती है। इसी तीर्थमें किये हुए पुण्यसे ध्रुव नक्षत्रोंके तेजसे परम उज्ज्वल होकर ध्रुवपदको प्राप्त हुए हैं। नर्मदा सर्वतीर्थमयी है, महादेवजी भी सर्वदेवमय हैं, बुद्धि सर्वधर्ममयी है तथा तपस्या क्षमा और सत्यमय है। पाँचों इन्द्रियोंको वशमें करना ब्रह्मचर्य है और यह ब्रह्मचर्य ही तपस्याका मूल है। क्षमा, सत्य, जप, स्वाध्याय और तप—इन्हींका नाम संयम है। राजन्! जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर द्वीपेश्वर, कपिलेश्वर और नरकेश्वर—इन सबका नाम लेता है, वह सब तीर्थोंका फल पाकर शिवलोकमें प्रतिष्ठित होता है।

## नर्मदाजीकी तथा भगवान् विष्णुकी स्तुति

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—पूर्वकालमें जब नर्मदा इस लोकमें आ रही थीं, उस समय देवताओं और ब्रह्मर्षियोंने उन्हें नमस्कार करके उनका स्तवन किया—'देवि! आपने चराचर प्राणियोंसहित मर्त्यलोकको पवित्र एवं पुण्यमय कर दिया है। जलके रूपमें प्राप्त हुई नर्मदाजी महादेवजीकी उत्तम कला हैं। आप ही उमा, कात्यायनी, गंगा, यमुना, सरस्वती, चामुण्डा, चर्चिकादेवी तथा रेवा हैं। देवि! आपका प्रादुर्भाव भगवान् शंकरसे हुआ है। आप पुण्यमय प्रवाहस्वरूपा हैं। मेकल नामक

पर्वतसे प्रकट होनेके कारण आपको उसकी कन्या कहते हैं। सबने आपका स्तवन किया है। आपके तट यज्ञयूपसे सुशोभित हैं। आप समस्त तीर्थोंकी मुकुटमणि हैं और स्वर्ग तथा मोक्ष प्रदान करनेवाली हैं। आप ही सम्पूर्ण प्राणियोंको तारनेवाली और उनके पापोंका नाश करनेवाली हैं। लक्ष्मी, स्वाहा, स्वधा और यशस्विनी पुरुहूता भी आप ही हैं। सुव्रते! आपने जलरूपसे सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रखा है। आपके संगम और सिद्धलिंगको देवता तथा असुर भी नमस्कार करते हैं।

**युधिष्ठिरने पूछा**—मुनिश्रेष्ठ! जिस मनुष्यके कर्मरूप बन्धन नहीं टूटे हैं, उसे किस प्रकार परमपदकी प्राप्ति हो सकती है?

**मार्कण्डेयजी बोले**—राजन्! पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने महात्मा ब्रह्माजीको परमपद-प्राप्तिका उपाय बताया था। वह उपाय है—भगवान् विष्णुका स्तवन, जो इस प्रकार है—

'मैं कमलके समान नेत्रोंवाले पापहारी हरि श्रीनारायणदेवकी शरण लेता हूँ। जो सम्पूर्ण लोकोंके रक्षक, सहस्रों नेत्रोंसे विभूषित, अविनाशी एवं परम पदस्वरूप हैं तथा भूत, भविष्य और वर्तमानके स्वामी हैं, उन भगवान् विष्णुकी मैं शरण लेता हूँ। जो सब भूतोंकी सृष्टि करनेवाले तथा अनन्त बल-पराक्रमसे सम्पन्न हैं, जिनकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ है, जो इन्द्रियोंके स्वामी, सत्यस्वरूप तथा विकाररहित हैं, उन श्रीविष्णुकी मैं शरण लेता हूँ। जो हिरण्यगर्भस्वरूप, पृथ्वीको अपने गर्भमें रखनेवाले, अमृत (अविनाशी), सब ओर मुखवाले, नाशहीन तथा अपने सिवा किसी अन्य स्वामीसे रहित हैं, उन सूर्यके सदृश कान्तिमान् श्रीहरिकी मैं शरण लेता हूँ। जिनके सहस्रों मस्तक हैं, जो द्युतिमान् देव, वैकुण्ठधामके अधिपति, सूक्ष्म, अचल, वरेण्य और अभयदाता हैं, उन भगवान् गरुड़वाहनकी मैं शरण लेता हूँ। जिन्हें नारायण और हरि कहा गया है, जो योगात्मा, सनातन पुरुष तथा सब लोकोंको शरण देनेवाले हैं, उन अविनाशी ईश्वरकी मैं शरण लेता हूँ। जो सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी हैं, जिनसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है तथा जो संहारकारी देवता हैं, वे भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हों। पूर्वकालमें जिनसे कमलयोनि प्रजापति ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ है, वे पितामह ब्रह्मासे भी परे विराजमान भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हों। प्राचीन कालमें जब महाप्रलय हो गया था, सम्पूर्ण चराचर जगत् नष्ट हो चुका था, उस समय जो योगस्वरूप परमात्मा अकेले ही शेष थे, वे श्रीविष्णु मुझपर प्रसन्न हों। जो पृथुरूपसे इस पृथ्वीको जीत लेते हैं, अथवा वाराहरूप धारण करके पृथ्वीको अपने अधिकारमें करते हैं, जो सत्य, काल, धर्म, क्रिया, फल और गुणस्वरूप हैं, सत्पुरुषोंकी वाणीरूप वे भगवान् वासुदेव मुझपर प्रसन्न हों।'

'योगावास! आपको नमस्कार है। सबके आवासस्थान! वरदायक! यज्ञभोगी और पंचभोगी नारायण! आपको नमस्कार है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार रूपोंवाले जगद्धाम! लक्ष्मीनिवास! वरप्रद! विश्वावास! साक्षीभूत! जगत्पते! आपको नमस्कार है। ज्ञानसागर! आप अजेय हैं। छः प्रकारकी ऊर्मियोंसे जिसका विभाग किया जाता है, वह सम्पूर्ण विश्व एकमात्र आपका ही स्वरूप है। आप वृषाकपि (शिव और विष्णु), मृगाधिप (नृसिंह) और काल हैं, आपको नमस्कार है। अव्यक्त प्रकृतिसे इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति हुई है और प्रभु श्रीविष्णु अव्यक्तसे परे हैं। जिनसे परे कोई वस्तु नहीं है, उन भगवान् श्रीहरिकी मैं शरण लेता हूँ। ब्रह्मा और शिव आदि जिन शक्तिशाली श्रीहरिका नित्य चिन्तन करते हैं, जो व्यापक परमात्मा अपने एक अंशसे सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित हैं, जिनका किसी भी इन्द्रियसे ग्रहण नहीं होता, जो निर्गुण होकर भी सम्पूर्ण जगत्के शासक हैं, उन श्रीहरिकी मैं शरण लेता हूँ। जो सूर्यनाड़ी पिंगला और चन्द्रनाड़ी इडाके मध्यभाग—सुषुम्णामें ज्योतिर्मय स्वरूपसे विराजमान हैं, जिन्हें क्षेत्रज्ञ कहते हैं, वे महात्मा श्रीविष्णु मुझपर प्रसन्न हों। जो कोई सिद्ध और महर्षि

ज्ञानयोगके द्वारा जिनके तत्त्वको जानकर संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं, वे महात्मा मुझपर प्रसन्न हों। सब ओरसे कल्याणमय परमेश्वर! आपको नमस्कार है। आपके नेत्र, सिर और मुख सब ओर हैं। निर्विकार! आदिकल्प! हृदयस्थित परमेश्वर! आपको नमस्कार है। इन्द्रियातीत! आपको नमस्कार है। परमात्मन्! आपको नमस्कार है। जो राग-द्वेषसे मुक्त और लोभ-मोह आदिसे रहित पुरुष आपको जानते हैं, वे संसारमें आसक्त नहीं होते। आप शरीरसे रहित और अव्यक्त होते हुए भी सम्पूर्ण शरीरोंमें तदाकार हुए-से रहते हैं। अव्यक्त प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, पंचमहाभूत और इन्द्रियाँ—ये सब आपमें स्थित हैं, आप उनमें नहीं हैं। वे आपके आश्रयके बिना स्वयं नहीं टिक सकतीं। आप अव्यक्त पुरुष हैं, अति कूटस्थ हैं, गुणोंके स्वामी और ईश्वर हैं, हेतुरहित आवर्त, प्रभु तथा अपने-आपमें स्थित हैं। पुण्डरीकाक्ष! आपको नमस्कार है। वासुदेव! आपको नमस्कार है। जगन्नाथ! आप ईश्वर हैं; इससे परे और क्या कहा जा सकता है। आप भक्तोंको मुक्ति देनेवाले, गुरु और देवताओंके स्वामी हैं। समस्त प्राणियोंका पालन करनेवाले वे ही आप श्रीहरि जन्म-जन्ममें मेरे स्वामी हों। मैं अहंकार तथा सत्त्व आदि तीनों गुणोंसे बँधा हूँ। मेरी नासिका अपने कारणभूत पृथ्वीतत्त्वमें मिल जाय, मेरी जिह्वा जलतत्त्वमें विलीन हो जाय, मेरे नेत्र तेजस्-तत्त्वमें समा जायँ, स्पर्शेन्द्रिय वायुमें विलीन हो जाय, श्रोत्रेन्द्रिय आकाशमें लीन हो जाय, मन अपने कारणतत्त्व अहंकारमें लीन हो जाय और मेरा अहंकार मेरी बुद्धिमें प्रवेश कर जाय तथा मेरी बुद्धि आपमें तल्लीन हो जाय। समस्त इन्द्रियों, शब्दादि विषयों और पंचभूतोंसे मेरा वियोग हो जाय। मेरे सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण अपनी आश्रयभूता प्रकृतिमें समा जायँ। मैं तो प्रभुओंके भी प्रभु, दोषरहित श्रीहरिकी शरण लेता हूँ। जिनके सहस्रों मस्तक हैं, जो महान् ऋषि तथा सम्पूर्ण भूतोंको उत्पन्न करनेवाले हैं, उन भगवान् विष्णुकी मैं शरण लेता हूँ। जो ब्रह्मस्वरूप और सम्पूर्ण विश्वके उत्पत्तिस्थान हैं, वे श्रीविष्णु मुझपर प्रसन्न हों। महाप्रलयकालमें जब स्थावर-जंगम नष्ट हो जाते हैं और सम्पूर्ण भूत ब्रह्मपत्नी—मायामें विलीन हो जाते हैं और महत्तत्त्व प्रकृतिमें लीन हो जाता है तथा वह प्रकृति जिनके आश्रित रहती है और वैदिक मन्त्रोंद्वारा जिनके लिये आहुति दी जाती है, वे श्रीविष्णु मुझपर प्रसन्न हों। अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, देवता, ब्रह्म, रुद्र, इन्द्र तथा योगियोंके तेजोंको जो सदा बढ़ाते हैं, वे भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हों। प्रभो! आप अजन्मा हैं, जगत्के लिये वास्तविक मार्ग आप ही हैं। आपकी कोई मूर्ति नहीं है तो भी विश्वकी सब मूर्तियोंपर आपका अधिकार है। आप नित्य नूतन हैं। प्रकृति, महत्तत्त्व और चेतन पुरुष रूपसे आप ही सुशोभित होते हैं। जो आत्मारूपसे अगोप्य (अपरोक्ष अनुभवके योग्य) और सबसे श्रेष्ठ हैं, उन श्रीहरिकी मैं शरणमें आया हूँ। चन्द्रमा और सूर्यके सदृश जो अपने तेजको स्वयं ही इस धराधामपर उतारते हैं, जिनसे सम्पूर्ण दिशाएँ प्रकट हुई हैं, वे महात्मा श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों। जो सगुण, निर्गुण, चेतन, अचेतन, स्थूल, सूक्ष्म, सर्वगत और देहरहित हैं, वे महात्मा श्रीविष्णु मुझपर प्रसन्न हों। सूर्यके समीपमें चन्द्रमाकी स्थिति है अर्थात् पिंगला नाड़ीके निकट जो इड़ा नाड़ी है—इन दोनोंके मध्यभाग अर्थात् सुषुम्णा नाड़ीमें जिनका चिन्तन किया जाता है, जो वहाँ अविचल, तेजोमय स्वरूपसे प्रकाशित होते हैं, वे महात्मा श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों। प्रभो! जो नानात्वमें भी आपके एकत्वका दर्शन करते हैं, वे परमगतिको प्राप्त होते हैं। जो सब प्राणियोंमें सम, शत्रु, मित्र और उदासीन जनोंको प्रिय हैं, सबको समभावसे ग्रहण करते हैं, किसीसे कोई इच्छा नहीं रखते तथापि अपने भक्तोंको विशेषरूपसे अपनाते हैं, जो सब प्रकारसे जाननेयोग्य हैं, वे भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हों। यह समस्त चराचर जगत् और अण्डज, पिण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज—इन चार भेदोंवाला

प्राणिसमुदाय आपमें उसी प्रकार गुँथा हुआ है, जैसे डोरेमें मनके पिरोये होते हैं। आपके लिये धर्म और अधर्म नहीं है, आपका गर्भवास और जन्म भी नहीं होता। मैं जरा-जन्म और मृत्युके संकटोंसे मुक्ति पानेके लिये आप श्रीहरिकी शरणमें आया हूँ। श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ, शब्द आदि विषय तथा श्वास-प्रश्वास आदि चेष्टाएँ सभी योनियोंमें सुलभ हैं। यह शरीर काष्ठकी भाँति एक दिन नष्ट हो जानेवाला है। आत्माके लिये तो यह बड़ी भारी विपत्तिरूप है। अपने-आपका अकेला होना तो स्वयंसिद्ध है। केवल शरीरके जन्मसे ही इसमें पुनर्जन्मकी प्रतीति होती है। भगवन्! मैं अपने मन, बुद्धि और प्राणोंको आपमें ही लगाकर, आपके भजनमें तत्पर और आपकी ही शरण प्राप्त होकर मृत्युकालमें भी आपका ही स्मरण करूँगा। प्रभो! मेरे द्वारा पूर्वजन्ममें जो अशुभ कर्म किये गये हों वे वातादिजनित रोगोंके रूपमें मेरे शरीरमें प्रवेश करें, जिससे उन सबका ऋण उतर जाय।'

अन्यान्य यशस्वी पुरुषोंके लिये भी कल्याणका सबसे श्रेष्ठ उपाय यही है कि वे इस स्तोत्रका पाठ करें। यह सब पापोंकी शुद्धि करनेवाला, पुण्यस्वरूप तथा परमपदरूप है। सदा प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकालमें उठकर सब पापोंकी शान्ति करनेवाले इस जपनीय स्तोत्रका निरन्तर जप करना चाहिये—'मैं हरि, कृष्ण, हृषीकेश, वासुदेव, जनार्दन तथा जगन्नाथको प्रणाम करता हूँ। वे मेरे पापोंका निवारण करें। शंख, चक्र तथा शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले, मधुसूदन, लक्ष्मीपति श्रीविष्णुको प्रणाम करता हूँ। वे मेरे पापोंका नाश करें। जो जगत्का पालन करनेके लिये उद्यत रहनेवाले हैं, यशोदा माताके द्वारा कटिमें रस्सीसे बँधनेके कारण जो दामोदर नाम धारण करते हैं, सदा प्रसन्न रहते हैं तथा कमलके समान जिनके नेत्र हैं, उन अविनाशी विष्णुको मैं प्रणाम करता हूँ—वे मेरे पापोंका नाश करें। जो सब भूतोंके ईश्वर, अक्षर और अनिर्देश्य हैं और इसी रूपमें महात्मा पुरुष जिनका सदैव ध्यान करते हैं, उन भगवान् वासुदेवकी मैं शरणमें आया हूँ। सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हुआ पुरुष जिनमें प्रवेश करके पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता, उन श्रीहरिकी मैं शरणमें आया हूँ। जो ब्रह्माजीका शरीर धारण करके देवता, असुर और मनुष्यसहित सम्पूर्ण जगत्की बार-बार सृष्टि करते हैं, उन भगवान् श्रीहरिकी मैं शरणमें आया हूँ। सम्पूर्ण जगत्की योनिरूप जो भगवान् जनार्दन ब्रह्माजीका शरीर धारण करके सदा सृष्टिकर्ममें संलग्न रहते हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूँ। जिनसे परे दूसरी कोई वस्तु नहीं है, जिनमें यह सम्पूर्ण जगत् स्थित है, जो सबके भीतर अन्तर्यामीरूपसे विराजमान एवं अनन्त हैं, उन सर्वव्यापी श्रीहरिको मैं प्रणाम करता हूँ। जो सम्पूर्ण चराचर भूतोंमें व्याप्त हैं, वे श्रीविष्णु ही मेरे समस्त पापोंका नाश करें। मेरे द्वारा जो निवृत्तिप्रधान कर्म अथवा भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये कर्म किया गया है, उससे मेरे अनेक जन्मोंके कर्मोंद्वारा संचित पाप अभी नष्ट हो जायँ। रात्रि, प्रातःकाल, मध्याह्न तथा अपराह्णकालमें अज्ञानवश मन, वाणी और क्रियाद्वारा जो कोई अशुभ कर्म किया गया हो, वह अभी क्षणभरमें नष्ट हो जाय। जैसे पानीमें नमक घुल-मिल जाता है, उसी प्रकार वह पापराशि भी विलीन हो जाय। दूसरोंको पीड़ा देना और परायी निन्दा करना आदि दोष जो मैंने जन्मभर किये हैं, उनसे तथा दूसरोंके धन, खेत आदिके प्रति लोभ होनेके कारण क्रोध होनेसे जो मेरे द्वारा पापराशिका संग्रह किया गया है, वह पानीमें पिघलनेवाले नमककी भाँति विलीन हो जाय। विष्णु, वासुदेव, हरि, केशव, जनार्दन तथा श्रीकृष्णको नमस्कार है, बार-बार नमस्कार है।'

युधिष्ठिर! इस स्तोत्रको ब्रह्माजीसे अंगिराने और अंगिरासे इन्द्रने प्राप्त किया। इधर, वसिष्ठजीने इस स्तोत्रको राजाओंमें श्रेष्ठ नाभागको सुनाया था। प्रजापालक राजर्षि नाभागने अतुल प्रभावशाली

इस विष्णुस्तोत्रका सदैव पाठ किया। तत्पश्चात् नर्मदाके जलमें स्नान और अनेक प्रकारके दान करके राजा नाभाग अपनी पुरीको गये।

जो इस स्तोत्रद्वारा भगवान् जनार्दनकी स्तुति करता है, उसका इस घोर संसार-सागरमें पुनरागमन नहीं होता।

## मेघनादतीर्थका प्राकट्य और उसकी महिमा

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—युधिष्ठिर! प्राचीन त्रेतायुगकी बात है। पुलस्त्यपौत्र त्रिलोकविजयी रावण देवताओंके लिये कण्टक हो गया था। वह वरदान पाकर देवता, दानव, यक्ष, गन्धर्व, नाग तथा राक्षस सबके लिये अवध्य हो गया था और पृथ्वीपर सब ओर इच्छानुसार विचरण करता था। उन दिनों परम सुन्दर देवगिरिपर मय नामसे विख्यात एक बलोन्मत्त दानव रहता था। रावण वहाँ मयको उपस्थित जान उसके समीप जाकर विनीतभावसे खड़ा हो गया। मयने दान और सम्मानपूर्वक रावणका स्वागत-सत्कार किया। तब रावणने मयसे पूछा—'प्रभो! यह किसकी कन्या है, इसका नाम क्या है और यह किसलिये उग्र तपस्या कर रही है?'

**मय बोला**—राक्षसराज! मैं दानवोंका राजा मय हूँ, मेरी पत्नीका नाम तेजवती है। यह सुन्दरी कन्या भी मेरी ही है। इसका नाम मन्दोदरी है। यह पतिके लिये तपस्या कर रही है।

**मयका यह वचन सुनकर मदोन्मत्त रावण मयसे विनीत होकर बोला**—महाभाग! मैं देवताओं और दानवोंका दर्प दलन करनेवाला पुलस्त्यपौत्र राजा रावण हूँ और आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप अपनी कन्या मुझे दे दें। उसे पितामह ब्रह्माजीके कुलमें उत्पन्न जान महात्मा मयने भी विधि-विधानसे उसके साथ अपनी पुत्रीका ब्याह कर दिया। मन्दोदरीको लेकर दुरात्माद्वारा पूजित राक्षस दिव्य विमानोंपर बैठकर उसके साथ क्रीड़ा करने लगा। कुछ कालमें पुत्रवानोंमें श्रेष्ठ रावणने एक पुत्रको जन्म दिया। उस पुत्रने जन्म लेते ही संवर्तक मेघके समान बड़ी भारी गर्जना की, इसलिये ब्रह्माजीने उसका नाम मेघनाद रख दिया। मेघनादने बड़े होनेपर उत्तम व्रतका आश्रय लिया और उमासहित देवेश्वर भगवान् शंकरकी आराधना प्रारम्भ की। वह विधिपूर्वक व्रत, नियम, दान, होम, जप एवं दिव्य कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि व्रतोंद्वारा अपने शरीरको कष्ट देने लगा। एक दिन मेघनाद कैलास पर्वतपर गया और वहाँसे एक शिवलिंग लेकर दक्षिण दिशाकी ओर लौट पड़ा। नर्मदाके किनारे पहुँचनेपर उसने उस लिंगको एक स्थानपर रख दिया और स्नान करके महादेवजीका पूजन किया। फिर अपना जप पूरा करके जब वह लंकामें जानेको उद्यत हुआ तब उसने वहाँ पड़े हुए एक अन्य शिवलिंगको बायें हाथसे उठाया। इस प्रकार जब वह पहलेवाले और दूसरे शिवलिंगको भी भक्तिपूर्वक ले जाने लगा, तब महादेवजीका वह महालिंग नर्मदाके जलमें गिर पड़ा और दूसरा भी नर्मदाके उत्तर तटपर गिर गया। जो नर्मदाके उत्तर तटपर गिरा, वह शोभायमान लिंग वहाँ मेघनादेश्वरके नामसे विख्यात हुआ और जो जलके भीतर गिर पड़ा, उसका नाम मध्यमेश्वर हुआ। मेघनाद उस लिंगको उठाना चाहता था, पर सफल न हुआ। उन दोनों विग्रहोंका अभिप्राय जानकर वह राक्षस आकाशमार्गसे लौट गया। तभीसे वह तीर्थ मेघनाद तथा मेघारव नामसे विख्यात हुआ। उत्तर तटपर खेटक नामक उत्तम तीर्थ हुआ। उसके पूर्वभागमें सब पापोंका नाश करनेवाला गर्जन नामक तीर्थ है। राजेन्द्र! जो उस तीर्थमें स्नान और एक दिन-रातका उपवास करता है, वह सनातन कल्याणका भागी होता है। जो उस तीर्थमें पिण्डदान करता है, उससे देवलोकमें पितृगण बारह वर्षोंतक तृप्त रहते हैं। जो वहाँ ब्राह्मणोंको भोजन कराता है, वह योगीजनोंको मिलनेवाले उत्तम फलको पाता है।

# करंजेश्वर तथा कुण्डलेश्वरतीर्थका प्रादुर्भाव और माहात्म्य

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—राजन्! पहले सत्ययुगमें ब्रह्माजीके मानसपुत्र मरीचि हुए, जो वेद-वेदांगोंके तत्त्वज्ञ थे। मरीचिसे दीर्घकालके बाद महर्षि कश्यपका जन्म हुआ, जो द्वितीय ब्रह्माके समान थे। उनमें अपने पिताके क्षमा, दम, दया, दान, सत्य, शौच तथा सरलता आदि सभी सद्गुण शोभा पाते थे। महर्षि कश्यपके इन गुणोंको जानकर प्रजापति दक्षने अपनी तेरह कन्याओंका विवाह उनके साथ कर दिया। उनके नाम अदिति और दनु आदि थे। भैया युधिष्ठिर! इन दक्ष-कन्याओंके पुत्रों और पौत्रोंकी संख्या बहुत अधिक है। अदितिने इन्द्र आदि पुत्रोंको जन्म दिया। इसी प्रकार अन्य कन्याओंने नाग, प्रेत, पिशाच, पक्षी, यक्ष, राक्षस, सिंह, व्याघ्र, वराह आदिको उत्पन्न किया। महाबाहो! प्रजापति कश्यपके पुत्रोंसे चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकी व्याप्त हो गयी।

युधिष्ठिर! दक्षकन्या दनुके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम करंज था। दानव करंजमें राजा बलिकी भाँति सभी प्रकारके उत्तम गुण विद्यमान थे। उसने बड़ी भारी तपस्या की, तब महादेवजीने उसे दर्शन देकर कहा—'करंज! तुम्हारे मनमें जो इच्छा हो, उसके अनुसार वर माँगो।'

**करंज बोला**—प्रभो! मुझे पुत्र और पौत्रोंके साथ धन दीजिये।

'तथास्तु' कहकर पार्वतीसहित शिव वृषभपर आरूढ़ हो वहाँसे अन्तर्धान हो गये। तब वह दैत्य भी प्रसन्नतापूर्वक अपने नामसे महादेवजीकी स्थापना करके घरको लौट गया। तभीसे उस स्थानकी करंजेश्वर तीर्थके नामसे प्रसिद्धि हुई। राजन्! वहाँ स्नानमात्र करनेवाला मनुष्य ब्रह्महत्या-जैसे पापोंसे भी मुक्त हो जाता है। जो उस तीर्थमें देवताओं और पितरोंका तर्पण करता है, वह निश्चय ही अश्वमेध-यज्ञका पुण्यफल प्राप्त करता है। जो वहाँ प्राणत्याग करता है, वह बीस हजार वर्षोंतक स्वर्गलोकमें निवास करता है और अन्तमें उत्तम कुलमें जन्म लेकर धनवान्, वेद-वेदांगोंका तत्त्वज्ञ, सर्वशास्त्रविशारद, राजा अथवा राजाके तुल्य होता है।

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—युधिष्ठिर! प्राचीन त्रेतायुगमें पुलस्त्यपुत्र विश्रवाने भरद्वाज मुनिकी पुत्रीसे विवाह किया। उससे धनंजय नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो पुत्रोचित गुणोंसे सम्पन्न था। उसके जन्मका समाचार सुनकर लोकपितामह ब्रह्माजीने ऋषियों और देवताओंके साथ बड़ी प्रसन्नतापूर्वक उस बालकका नामकरण-संस्कार किया और इस प्रकार कहा—'हे अनघ! यह बालक तुझ विश्रवासे प्रकट होकर मेरा पौत्र हुआ है। इसलिये मैंने तुम्हारे इस पुत्रको वैश्रवण नाम दिया है। यह सब देवताओंके धनका रक्षक होगा। लोकपालोंमें यह चौथा होगा। अविनाशी और यक्षोंका स्वामी होगा।'

आगे वही यक्षश्रेष्ठ कुण्डधार हुआ। उसने उत्तम स्वरूप और अवस्था पाकर माता-पिताकी आज्ञासे नर्मदाके तटपर बैठकर बड़ी भारी तपस्या की। तब दीर्घकालके पश्चात् महादेवजी उसपर प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले—'वत्स! तुम अपनी इच्छाके अनुसार वर माँगो।'

**कुण्डधार बोला**—देव! यह तीर्थ और लिंग मेरे नामसे प्रसिद्ध हो।

तब **'एवमस्तु'** कहकर पार्वतीसहित भगवान् शिव अन्तर्धान हो आकाशमार्गसे कैलास पर्वतको चले गये। तदनन्तर उस यक्षने भी आनन्दयुक्त हो वहाँ कुण्डलेश्वर महादेवको स्थापित किया। विविध उपचारोंके साथ शिवलिंगका पूजन और अन्न-पानादि तथा वस्त्राभूषणादिके द्वारा ब्राह्मणोंको तृप्त करके महादेवजीको सन्तुष्ट करनेके अनन्तर वह अपने घरको लौट गया। तबसे वह तीर्थ तीनों लोकोंमें कुण्डलेश्वरके नामसे विख्यात

हुआ। युधिष्ठिर! जो कोई भी उस तीर्थमें उपवासपूर्वक ईशान देवका पूजन करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। उस तीर्थमें स्नान करके जो ब्राह्मण ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदकी एक-एक ऋचाका भी पाठ करता है, उसे चारों वेदोंके पाठका फल प्राप्त होता है। जो मनुष्य वहाँ ब्राह्मणोंके लिये गोदान अथवा अन्नदान करता है, उस गौ तथा उसकी सन्तानोंके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने हजार वर्षोंतक वह दाता स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है।

## पिप्पलेश्वर, विमलेश्वर, विश्वरूपा-नर्मदासंगम तथा एक दिनमें मेघनादेश्वर आदि पाँच लिंगोंकी यात्राका माहात्म्य, राजा धर्मसेनकी कथा

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—नर्मदाके तटपर पिप्पलाद नामक एक मुनि थे। वे माता-पितासे रहित थे। उन्होंने सोलह वर्षोंतक निराहार रहकर एकचित्त हो पार्वतीसहित भगवान् शंकरको प्रसन्न किया।

**तब महादेवजी बोले**—ब्रह्मन्! मैं तुम्हारी इस तपस्यासे सन्तुष्ट हूँ। तुम मनोवांछित वर माँगो।

**पिप्पलाद बोले**—देव! आप इस तीर्थमें सदा मेरे नामसे प्रसिद्ध होकर निवास करें।

पिप्पलादके ऐसा कहनेपर 'तथास्तु' कहकर महादेवजी वहीं अन्तर्धान हो गये। उनके चले जानेपर पिप्पलादने नर्मदाकी महाजलराशिमें स्नान किया और भगवान् शिवकी स्थापना करके वे उत्तर पर्वतपर चले गये। जो मनुष्य उस तीर्थमें भक्तिपूर्वक स्नान करके देवताओं और पितरोंका तर्पण एवं महेश्वरका पूजन करता है, वह अश्वमेध यज्ञका उत्तम फल पाता है। पिप्पलेश्वरके समीप जिसकी मृत्यु होती है, वह भगवान् शिवके धाममें जाता है। पिप्पलेश्वर तीर्थमें भक्तिपूर्वक पितरोंकी तृप्तिके उद्देश्यसे जो ब्राह्मणोंको भोजन कराता है, उसके पितर बारह हजार वर्षोंतक तृप्त रहकर उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं।

राजेन्द्र! तदनन्तर उत्तम विमलेश्वरतीर्थको जाय। जहाँ एक मनोहर देवशिला है, जहाँ गर्जन और खेटक नामसे प्रसिद्ध तीर्थ है। वहीं उत्तम देवशिला भी है। जो मनुष्य वहाँ भक्तिपूर्वक स्नान करके देवताओं और पितरोंका तर्पण करता है, उसके पितर बारह वर्षोंतक परम तृप्त हो देवलोकमें आनन्द भोगते हैं। जो देवशिलातीर्थमें भक्तिभावसे थोड़े-से दानके द्वारा भी ब्राह्मणोंका सत्कार करता है, उसके पुण्यफलका अन्त नहीं है।

युधिष्ठिर! तदनन्तर नर्मदाके उत्तर तटकी यात्रा करे। मेघनादतीर्थके समीप सरिताओंमें श्रेष्ठ विश्वरूपा नदी बहती है। एक समय नर्मदाके तटपर विराजमान होकर भगवान् शंकर तपस्या करते-करते विश्वरूप हो गये। तब उन्हींके शरीरसे सरिताओंमें श्रेष्ठ विश्वरूपा प्रकट हुई और नर्मदाके जलमें जाकर मिल गयी। दोनोंका संगम बड़ा ही गुणवान् है। जो मनुष्य उस तीर्थमें जाकर स्नान करता है, वह फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेता। वहाँ जो कर्म किया जाता है वह सब अक्षय होता है। उस तीर्थमें किया हुआ श्राद्ध, यज्ञ और शिवपूजन कोटिगुना फल देनेवाला होता है। वहाँ पाँच शिवलिंग प्रसिद्ध हैं—मेघनादेश्वर, गोष्ठेश्वर, वागीश्वर, काकडेश्वर और लक्षेश्वर। जो इन पाँचों लिंगोंका एक दिनमें पूजन करता है, वह इसी शरीरसे भगवान् शिवको पा लेता है और मोक्षका भागी होता है।

पूर्वकालमें अयोध्यापुरीमें धर्मसेन नामक बलवान् राजा राज्य करते थे। उन्होंने धर्मपूर्वक राज्यका पालन तथा बहुत-सी दक्षिणावाले अनेकानेक यज्ञोंका अनुष्ठान किया। एक समय धर्मशास्त्र सुनते हुए राजाने नर्मदा नदीका चरित्र सुना। सुनकर वे नर्मदाके उत्तर तटपर गये और नर्मदामें स्नान करके उन्होंने मेघनादेश्वरका पूजन किया। तत्पश्चात् सूर्योदय होते-होते घोड़ेपर सवार हो

वे उत्तर दिशामें गोष्ठेश्वर शिवके समीप पहुँचे। गोष्ठेश्वरकी विधिपूर्वक पूजा करके राजा धर्मसेन वागीश्वर तीर्थमें गये। वहाँ विधिपूर्वक स्नान करके चन्दन, अगर, कपूर और धूप-दीप आदि विधानोंसे शिवकी पूजा सम्पन्न करके पुनः घोड़ेपर सवार हो वे श्रेष्ठ राजा काकडेश्वरमें आये। काकडेश्वरकी पूजा करके वे लक्षेश्वर तीर्थमें गये और वहाँ नर्मदाके जलमें स्थित लक्षेश्वरका विधिपूर्वक पूजन करके मेघनादतीर्थमें लौट आये। इतनेमें सूर्य अस्त हो गये। उस समय कालरूपधारी भगवान् शिवका ध्यान करते हुए राजा धर्मसेन ज्यों ही घोड़ेसे उतरकर खड़े हुए, त्यों ही वह दिव्य शरीर धारण करके इन्द्रके विमानमें जा बैठा और इन्द्रलोकको चला गया। राजाके पीछे-पीछे एक कुतिया भी तीर्थयात्रा कर रही थी। उसने भी दिव्य देह धारण करके स्वर्गलोकको प्रस्थान किया। यह सब देखकर धर्मसेनके मनमें बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने दिव्यदेहधारी अश्वसे पूछा—'यह सब क्या है?' तब उसने आकाशसे ही उत्तर दिया, 'राजन्! आप अपने मनमें खेद क्यों मानते हैं? शारीरिक कष्ट सहन करनेसे और तपस्यासे दिव्य विभूतियोंकी प्राप्ति होती है। अभीतक तो आपने दूसरेके पैरोंसे यात्रा की है, अब पैदल जाइये। जब पुनः अपने पैरोंसे यात्रा करेंगे तब आपको अवश्य सिद्धि प्राप्त होगी।'

यह सुनकर राजाने दूसरे दिन पुनः लिंग-पूजनके लिये प्रस्थान किया। उन पाँचों लिंगोंका पूजन करके नर्मदा-तटपर आकर जब उन्होंने मेघनादेश्वरका दर्शन किया तब द्वारपर ही उन्हें भगवान् शिवका दर्शन हुआ। उनके पाँच मुख, दस भुजाएँ और प्रत्येक मुखपर तीन-तीन नेत्र थे। हाथमें त्रिशूल शोभा पा रहा था। संसारको अपने गर्भमें धारण करनेवाले भगवान् शिव वृषभपर आरूढ़ थे और उनके मस्तकपर अर्धचन्द्रका मुकुट अपनी चाँदनी छिटका रहा था। उन देवदेवेश्वर परमेश्वरका दर्शन करके राजाने इस प्रकार स्तुति की—'देव! महादेव!! आपकी जय हो। महा-पातकोंका नाश करनेवाले शिव! मैं संसार-समुद्रमें डूबा हुआ हूँ, आप इस समय मेरा उद्धार कीजिये।'

**महादेवजी बोले**—महाभाग! तुम मेरे भक्त हो। अतः तुम्हारे मनमें जो इच्छा हो, उसके अनुसार वर माँगो। उसे मैं तुम्हें दूँगा।

**राजाने कहा**—देव! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मुझे अपने साथ रहनेवाला सेवक बना लीजिये और जो लोग एक दिनमें इन पाँचों लिंगोंका पूजन करें, वे सभी आपके अनुचर हों। यही मेरे लिये वर है।

धर्मसेनकी बात सुनकर महादेवजीने 'एवमस्तु' कहा तथा उन्हें साथ लेकर वे कैलास पर्वतपर चले गये। युधिष्ठिर! भगवान् शिवने राजा धर्मसेनको अपने-आपमें लीन कर लिया।

## मृकण्ड-आश्रममें दो गन्धर्वोंका उद्धार तथा चन्द्रमती-नर्मदासंगम आदि अन्य तीर्थोंकी महिमा

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—युधिष्ठिर! नर्मदाके दक्षिण तटपर मृकण्ड मुनिका पवित्र आश्रम है। उसमें परम धर्मात्मा मेरे पिता मृकण्डजीने दीर्घकालतक तपस्या की है। उनके आश्रममें उत्तम व्रतका पालन करनेवाले बहुत-से अन्य महर्षि भी निवास करते थे। इसी समय हेति और प्रहेति नामवाले दो गन्धर्व इन्द्रकी सभामें गये। वहाँ उन्होंने एक श्रेष्ठ अप्सराको देखा। देखते ही वे दोनों कामबाणसे पीड़ित हो गये। तब हेतिने मुर्गेकी और प्रहेतिने मोरकी बोली बोलकर मधुर स्वरसे उसे रिझानेकी चेष्टा की। उनका यह अभिप्राय जानकर देवराज इन्द्रने उन्हें शाप

दिया—'अरे! तुम दोनों वास्तवमें मुर्गा और मोर हो जाओगे। देवताओंके सौ वर्ष पूरे होनेपर फिर यहाँ आ सकोगे।'

युधिष्ठिर! इन्द्रके इस शापसे दोनों दुराचारी गन्धर्व पक्षीकी योनिमें आ गये। उस समय भी वे बड़े सुन्दर थे। उन्हें देखना सबको प्रिय लगता था। वे अपने पूर्वजन्मके वृत्तान्तको स्मरण करके सब तीर्थोंमें भ्रमण करने लगे। एक दिन उन्होंने देवर्षि नारदको देखा और इस प्रकार पूछा, 'शुभाचार ब्रह्मपुत्र! हम दोनों किस कर्मसे इस योनिसे मुक्ति पा सकेंगे।'

**नारदजीने कहा**—नर्मदाजीके दक्षिण तटपर मृकण्ड मुनिका शुभाश्रम है। वह पशु-पक्षियोंकी योनिसे मुक्ति देनेवाला उत्तम तीर्थ है। तुम दोनों वहाँ नर्मदाजीके जलमें गोता लगाओ, इससे तुम्हारा सब कार्य सिद्ध होगा।

तदनन्तर हेति और प्रहेति—दोनों उस तीर्थमें स्नान करके पूर्ववत् दिव्यरूपधारी हो गये। फिर विधिपूर्वक स्नान करके उन्होंने सदाशिव देवका ध्यान किया और कुछ कालतक ध्यानमें ही स्थित रहे। इसी समय पातालसे सैकड़ों सूर्योंके समान प्रकाशमान दो शिवलिंग वहाँ प्रकट हुए। एकका कुक्कुटेश्वर और दूसरेका मयूरेश्वर नाम हुआ। वे दोनों गन्धर्व विमानपर बैठकर इन्द्रलोकको चले गये। उस तीर्थमें स्नान करके मनुष्य फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेता। स्नानके पश्चात् वहाँ तिल और जलसे तर्पण करनेपर पितरोंकी उत्तम गति होती है। जो वहाँ मृत्युको प्राप्त होता है, वह फिर इस घोर संसार-सागरमें लौटकर नहीं आता।

तत्पश्चात् चन्द्रमती और नर्मदाके संगममें जो उत्तम तीर्थ हैं, उनकी यात्रा करे। वहाँ चन्द्रेश्वर, सिद्धेश्वर, घण्टेश्वर तथा महिषेश्वर—ये चार सिद्धलिंग हैं। तदनन्तर अश्वतीर्थ, वृषसेनतीर्थ, हयग्रीवतीर्थ और शुकतीर्थ हैं। उनसे आगे रमेश्वरतीर्थकी यात्रा करे, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है। राजन्! नर्मदाके तटपर रमेश्वरतीर्थ महापातकोंका भी नाश कर देता है। वहाँ स्नान करनेवाला मनुष्य फिर संसारमें जन्म नहीं लेता। पितरोंके लिये वहाँ विधिपूर्वक तिलोदक और पिण्डदान देना चाहिये। इससे पितरोंकी परम गति होती है। इससे आगे उत्तम हारिणतीर्थ है। वहाँ सिद्धलिंग हरिणेश्वर, धनुरीश्वर, बाणेश्वर तथा लुब्धकेश्वर—इन सबकी पूजा करके मनुष्य शिवलोकमें जाता है।

## भानुमतीका तीर्थसेवन, शूलभेदतीर्थमें शबर-दम्पतिका उद्धार और सती भानुमतीको कैलासधामकी प्राप्ति

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—युधिष्ठिर! भगवान् शंकरकी पूजा करनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह शास्त्रोक्त आठ मानस मन्त्रोंद्वारा आठ फूल निवेदन करे। उन फूलोंके नाम इस प्रकार हैं—वारिज, सौम्य, आग्नेय, वायव्य, पार्थिव, वानस्पत्य, प्राजापत्य और शिवपुष्प। अब इनके स्वरूपका निर्णय सुनो—जलको ही वारिज समझना चाहिये, मधुयुक्त दूध सौम्य कहलाता है, धूप और दीप आग्नेय पुष्पके अन्तर्गत हैं, चन्दन आदि वायव्य पुष्प हैं, कन्द-मूल आदि पार्थिव पुष्प और फल वानस्पत्य पुष्प है। अन्न आदि भोज्य पदार्थ प्राजापत्य पुष्प कहलाते हैं तथा उपासनाका ही नाम शिवपुष्प है। इनके सिवा अहिंसा प्रथम पुष्प है, इन्द्रियनिग्रह द्वितीय पुष्प और दया तृतीय पुष्प है। इन आध्यात्मिक पुष्पोंसे सब देवता सन्तुष्ट होते हैं। राजन्! इस हारिणतीर्थमें तपस्या और भक्तिके द्वारा भगवान् शिवकी पूजा करनी चाहिये। जो ब्राह्मण रुद्रसूक्त, पुरुषसूक्त और अपनी-अपनी शाखाके अनुसार गृह्यसूत्र—'इषे त्वा' इत्यादि मन्त्र, ज्योतिर्ब्राह्मण, गायत्रीमन्त्र, मधुब्राह्मण, मण्डल ब्राह्मण

तथा देवव्रत नामसे प्रसिद्ध दैव्यसूक्त आदि यजुर्वेदोक्त सूक्तोंका भक्तिपूर्वक जाप करते हैं, वे भगवान् शिवके लोकमें जाते हैं।

पूर्वकालमें वीरसेन नामसे विख्यात एक महापराक्रमी राजा हो गये हैं, वे चेदिदेशके स्वामी थे। बड़े-बड़े मण्डलाधीश्वर भी उनकी अधीनता स्वीकार कर चुके थे। राजा वीरसेनके राज्यमें कोई किसीका शत्रु नहीं था, किसीको रोग नहीं होता था और चोर आदिका उपद्रव भी नहीं था। उस राज्यमें कहीं भी अधर्म नहीं होता था, सदा सर्वत्र धर्मका ही पालन किया जाता था। राजा अपनी पत्नी और अनेक पुत्रोंके साथ सदा आनन्दसे रहते थे। उनके एक पुत्री थी, जो गिरिराजनन्दिनी उमाकी भाँति सुन्दरी थी। उसपर माता-पिता, भाई-बन्धु सभीकी स्नेहदृष्टि बनी रहती थी। समय आनेपर बारहवें वर्षमें चेदिराजने विधिपूर्वक अपनी पुत्रीका वैवाहिक कार्य सम्पन्न किया। विवाहके बाद उस कन्याका पति मृत्युको प्राप्त हो गया। बेटीको विधवा हुई देख राजा शोकमें डूब गये। उन्होंने दुःखसे पीड़ित होकर रानीसे कहा—'कल्याणी! यह तो जीवनभरके लिये अत्यन्त दुःसह दुःख आ पड़ा है। मेरी पुत्री रूप और यौवनसे सम्पन्न है, इसकी रक्षा कैसे की जा सकती है। भानुमतीके शीलकी रक्षाका अब कोई उपाय दिखायी नहीं देता।'

**माता-पिता जब आपसमें इस प्रकार वार्तालाप कर रहे थे, उस समय उनकी बात सुनकर राजकुमारी भानुमती उनके समीप जाकर बोली**—पिताजी! मैं शोकाग्निसे जल रही हूँ, इसलिये आज आपके सामने संकोच छोड़कर बोलती हूँ। मेरे कारण कोई दोषकी बात नहीं होने पायेगी, यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ। आजसे मैं कभी शृंगार नहीं धारण करूँगी, मोटे वस्त्रोंसे अपना शरीर ढक लूँगी, संयमपूर्वक रहकर पुराणोक्त सभी व्रतोंका आचरण करूँगी और श्रीहरिके सन्तोषके लिये तपस्या करती हुई अपनी कायाको सुखा डालूँगी। तात! यदि आपकी सम्मति हो तो मैं ऐसा ही जीवन व्यतीत करना चाहती हूँ।

भानुमतीका यह वचन सुनकर राजा वीरसेन स्नेहसे कातर हो गये। उन्होंने कन्याकी तीर्थयात्राके उद्देश्यसे बहुत अधिक धन देकर उसे विदा किया। कुछ विश्वासपात्र वृद्ध पुरुषोंको पुत्रीकी रक्षामें नियुक्त किया और एक हथियारबंद सिपाही तथा पुरोहित ब्राह्मणको भी साथमें लगा दिया। भानुमती गंगाके तटपर गयी और वहाँ स्नान करके भगवान्‌के ध्यानमें तत्पर हुई। स्नान, ध्यान और पूजन यह उसका प्रतिदिनका नियम हो गया। उसकी रक्षा करनेमें समर्थ जो दास-दासियाँ आदि थे, वे भी उसके पिता राजा वीरसेनकी आज्ञासे वहीं गंगाके किनारे टिके रहे। इस प्रकार वह राजकुमारी बारह वर्षोंतक गंगाजीके तटपर रही। तदनन्तर किसी समय गंगाको छोड़कर अपने सहायक मन्त्रियोंके साथ दक्षिण दिशामें गयी, जहाँ महानदी नर्मदा बहती थीं। वहाँ अमरकण्टक पर्वत एवं ॐकारतीर्थमें वह छः महीनेतक रही। फिर एक तीर्थसे दूसरे तीर्थमें होती हुई अनेकानेक तीर्थोंमें भ्रमण करने लगी। प्रत्येक तीर्थमें स्नान करके भक्ति-भावसे पूजन करती हुई वह निवास करती थी। तत्पश्चात् वह पश्चिम दिशामें देवनदी और नर्मदाके संगमपर गयी। वहाँ ऋषियोंके समुदायसे सेवित एक पुण्य आश्रम दिखायी दिया। ऋषिवृन्दका दर्शन करके भानुमतीने सबको प्रणाम किया और पूछा—'महात्माओ! इस तीर्थका नाम और माहात्म्य क्या है? यह बतानेकी कृपा करें।'

**तब एक ऋषिने कहा**—तपस्विनि! यह स्थान चक्रतीर्थके नामसे विख्यात है। पूर्वकालमें त्रिशूलधारी देवाधिदेव महादेवने सन्तुष्ट होकर यहीं श्रीहरिको चक्र प्रदान किया था। जो इस तीर्थमें स्नान करके देवताओं और पितरोंका तर्पण करता है, उसे पुनरावृत्तिरहित उत्तम गति प्राप्त होती है। दूसरे दिन यहाँसे शूलभेदतीर्थमें जाना चाहिये। वहाँ रात्रिमें जागरण करके पुराणकी कथा पढ़े और सुने। पुष्प, धूप, दीप आदि निवेदन करके

भगवान् विष्णुकी पूजा करे। तीसरे दिन प्रातःकाल होनेपर ब्राह्मणोंको भोजन करावे और अपनी शक्तिके अनुसार उन्हें भक्तिपूर्वक दान दे। फिर चौथे दिन जहाँ प्राची सरस्वती हैं, वहाँ जाना चाहिये। वे सरस्वती सम्पूर्ण जगत्को पावन करनेके लिये साक्षात् ब्रह्माजीसे प्रकट हुई हैं। पाँचवें दिन मार्कण्डेयेश्वर लिंगके समीप जाय और वहाँ स्नान करे। वह परम उत्तम स्थान सर्वदेवमय और सर्वतीर्थमय है। जो पवित्र एवं जितेन्द्रिय होकर वहाँ एक वर्ष या छः मास या पंद्रह दिन अथवा तीन रात्रि भी निवास करता है, उसका फिर मर्त्यलोकमें निवास नहीं होता। वह सदा स्वर्गलोकमें अक्षय निवास पाता है। जो नियमपूर्वक वहाँ निवास करता है, वह तीन जन्मोंके पापोंसे मुक्त हो जाता है तथा जो विधवा नारी उत्तम व्रतका पालन करती हुई बारह वर्षोंतक वहाँ निवास करती है, वह अनन्त कालतक रुद्रलोकमें प्रतिष्ठित होती है।

मुनिका यह वचन सुनकर भानुमतीको बड़ी प्रसन्नता हुई। वह आलस्य छोड़कर अहर्निश तीर्थसेवन एवं स्नान करने लगी। उस तीर्थका प्रभाव देखकर राजकुमारीने पुरोहितजी और ब्राह्मणोंसे कहा—'आपलोग मेरी यह बात सुनें। मैं जबतक जीऊँगी, यहीं रहूँगी। ऐसे उत्तम स्थानका त्याग नहीं करूँगी। आपलोग जाकर मेरे माता-पिता तथा भाईसे यह बात कह दें कि 'भानुमती नियमपूर्वक व्रतका पालन करती हुई इस समय शूलभेदतीर्थमें रहती है और एक-एक दिनका अन्तर देकर उपवास करती हुई धीरे-धीरे एक मासतक उपवास करनेकी चेष्टा कर रही है। वह देवशिलापर रहकर प्रतिदिन भगवान् विष्णुका ध्यान करती और भूमिपर ही सोती है।'

यह सन्देश लेकर जब ब्राह्मणलोग चले गये, तब एक दिन दो शबर (भील) वहाँ आये। वे दोनों पति-पत्नी थे। शबरने अपनी स्त्रीसे कहा—'प्रिये! यहाँ जितने कमलपुष्प मिलें, उन्हें राजकुमारीको देकर तुम शीघ्र भोजन कर लो। मैंने आज यहाँ देवपूजनका विचार किया है, इसलिये मुझे आज भोजन नहीं करना चाहिये। मैंने कभी किसी विधि-निषेधका पालन नहीं किया है। सदा पाप बढ़ाया और अशुभ कर्म किया है। अतः आज मैं धर्मका पालन करना चाहता हूँ।'

**शबरी बोली**—प्राणनाथ! मैंने किसी भी दिन आपसे पहले भोजन नहीं किया है। जहाँतक मुझे स्मरण है, आपके भोजनसे बचा हुआ अन्न ही मैंने भोजन किया है।

पत्नीका यह निश्चय जानकर शबर स्नान करनेके लिये गया। उसने आधे उत्तरीय वस्त्रसे स्नान करके सब देवताओंको भक्तिपूर्वक स्नान कराया और देवशिलाके पास डरते-डरते जाकर खड़ा हुआ। वह मन-ही-मन भगवान् विष्णुका चिन्तन करता था। शबरीने कुमुदके दो फूल राजकुमारीकी दासीके हाथमें दिये। रानीने उन फूलोंको देखकर दासीसे पूछा—'तुमने ये दोनों फूल कहाँ पाये हैं, बताओ। शीघ्र जाओ और पता लगाओ। यदि और फूल मिलें तो ले आओ। धन देकर कमलके फूल खरीद लाना।'

**भानुमतीकी यह बात सुनकर दासी शबरके पास गयी और बोली**—बहुत-से श्रीफल तथा फूल मुझे ला दो।

**शबरी बोली**—मैं श्रीफल और विशेषतः फूल दूँगी, परंतु मुझे मूल्य लेनेकी इच्छा नहीं है।

**तब दासी लौट गयी और रानीसे सब बात बता दी। तब रानी स्वयं आयीं और शबरसे बोलीं**—तुम मूल्य लेकर मुझे फूल दो।

**शबर बोला**—देवि! मैं फल और फूलका मूल्य नहीं लेना चाहता। आपको जितनी आवश्यकता हो, मुझसे श्रीफल और फूल ले लें तथा विधिपूर्वक जगत्पति भगवान् वासुदेवकी पूजा करें।

**रानी बोलीं**—मैं मूल्य दिये बिना तुम्हारे कमलके फूल नहीं लूँगी। इन फूलोंके बदलेमें तुम धान्यका यह ढेर ले जाओ।

**शबर बोला**—भद्रे! आज मैं भगवान्‌का चिन्तन छोड़कर आहारका चिन्तन नहीं करूँगा। देवपूजन किये बिना अन्य किसी कार्यमें मेरी बुद्धि नहीं लगती।

**रानी बोलीं**—तुम्हें अन्नका त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि सब कुछ अन्नमें ही प्रतिष्ठित है। अतः प्रयत्न करके मेरे अन्नको ग्रहण करो।

**शबर बोला**—मैं पहलेसे आज अन्न न लेनेका निश्चय कर चुका हूँ। यह सत्य है। सत्य ही सम्पूर्ण जगत्‌का मूल्य है और सत्यमें ही सब कुछ प्रतिष्ठित है। सत्यसे ही सूर्य तपते हैं, सत्यसे ही चन्द्रमा प्रकाशित होते हैं, सत्यसे ही वायु चलती है तथा सत्यके ही आधारपर यह पृथ्वी टिकी हुई है। अतः पूरा प्रयत्न करके मनुष्य सत्यकी रक्षा करे। सत्यका लोप कदापि न करे।

**रानी बोलीं**—फूल चार प्रकारके बताये गये हैं—एक तो बगीचेसे चुनकर लाया हुआ, दूसरा जंगलसे तोड़ा हुआ, तीसरा मूल्य देकर खरीदा हुआ और चौथा दानके रूपमें प्राप्त हुआ। इनमें उत्तम फल तो उसका माना गया है, जो स्वयं ही जंगलसे तोड़कर लाया गया हो। बगीचेके फूलका मध्यम फल बताया गया है। खरीदे हुए फूलको निकृष्ट श्रेणीमें रखा गया है तथा जो प्रतिग्रहसे प्राप्त हुआ फूल है, उसे विद्वानोंने निष्फल बताया है।

**तब पुरोहितजीने कहा**—रानी! फूल ले लो और भगवान्‌की पूजा करो।

पुरोहितकी आज्ञासे रानीने शबरका उपकार करते हुए वे फूल ले लिये और उनके द्वारा भगवान् विष्णुका विधिवत् पूजन किया। रातको जागरण करके उन्होंने पुराणकी कथा भी सुनी। तदनन्तर शबरने भी धूप-दीप आदि निवेदन करके श्रीहरिका पूजन किया और भगवान् केशवका ध्यान करते हुए वह रातभर जागता रहा। फिर प्रातःकाल होनेपर उसने स्नानके लिये उत्सुक मनुष्योंकी भीड़पर दृष्टिपात किया। कोई शूलभेदमें नहाते हैं तो कोई देवनदीमें। कोई प्राची सरस्वतीमें स्नान करते हैं, कोई मार्कण्डेय ह्रदमें गोता लगाते हैं और कितने ही मनुष्य भक्तिभावसे चक्रतीर्थमें स्नान कर रहे हैं तथा स्नानसे पवित्र हुए सब लोग देवशिलापर यत्नपूर्वक श्राद्ध करते हैं। यह सब देखकर शबरने भी बेलका पिण्डदान किया और भानुमतीने भी सत्तूके पिण्ड बनाकर पितरोंके लिये अर्पण किये। फिर दम्भ-दोषरहित उत्तम ब्राह्मणको खीर, दही, शक्कर, मधु, घी, पायस और कृसर (खिचड़ी) आदि पदार्थ भोजन कराये। तदनन्तर भानुमतीके साथ सब ब्राह्मण शूलभेदतीर्थमें गये। वहाँ सबने देखा, शबर अपनी स्त्रीके साथ कुण्डमें खड़ा है। तत्पश्चात् शबर भृगु पर्वतके शिखरपर जाकर स्त्रीके साथ कूदकर प्राण देनेको उद्यत हुआ। यह देख राजकुमारीने कहा—'महासत्त्व! ठहरो-ठहरो, मेरी बात सुनो—तुम तो अभी जवान हो, किसलिये प्राणोंका त्याग करते हो? तुम्हें कौन-सा सन्ताप या उद्वेग हुआ है, कौन-सा दुःख अथवा रोग हुआ है?'

**शबर बोला**—मेरे प्राणत्याग करनेका कोई कारण नहीं है और न मुझे कोई दुःख ही है, परंतु संसारमें कुछ सार तत्त्व है, यह बात मेरी बुद्धिमें नहीं आती। मनुष्यका जन्म बड़े दुःखसे प्राप्त होता है। इस मनुष्य-जन्मको पाकर जो धर्माचरण नहीं करता, वह इस थोड़ेसे दोषके कारण घोर नरकमें पड़ता है। अतः तपस्विनि! मैं इस तीर्थमें गिरकर प्राण देना चाहता हूँ।

**राजपुत्री बोली**—शबर! अब भी समय है। तुम स्वधर्म पालन करते हुए नाना प्रकारके सत्कर्म कर सकते हो। मैं तुम्हें अन्न, वस्त्र और धन दूँगी। तुम भगवान्‌का ध्यान करते हुए सदैव धर्मका आचरण करो।

**शबर बोला**—देवि! मुझे अन्न और वस्त्र नहीं चाहिये; क्योंकि जो दूसरेका अन्न खाता है, वह पाप ही खाता है।

**राजपुत्री बोली**—कन्द, मूल, फलका आहार

करते हुए उत्तम भिक्षान्न भोजन करके तीर्थोंमें स्नान करो तो सब पापोंसे मुक्त हो जाओगे।

**शबर बोला**—देवि! मैंने अपना हित देखकर इस तीर्थमें प्राण त्यागनेका विचार कर लिया है। अब मैं सत्यका लोप नहीं कर सकता, यह मेरा निश्चित मत है। आप सब लोग मुझे क्षमा करें।

इतना कहकर उसने उत्तरीय वस्त्रसे अपनेको प्रयत्नपूर्वक बाँधा और स्त्रीके साथ भगवान्‌का ध्यान करके वह नीचे गिर पड़ा। लुढ़कता हुआ जब आधे पर्वतपर आ गया, तब उसके प्राण निकल गये। कुन्दके ऊपर जाकर उसका शरीर निश्चेष्ट हो गया। इसी समय शबर अपनी स्त्रीके साथ दिव्य विमानपर चढ़कर उत्तम गतिको प्राप्त हुआ।

तीर्थका यह माहात्म्य देखकर रानी भानुमती हर्षमें भर गयीं और मन-ही-मन कुछ सोच-विचारकर कुण्डके समीप पहुँचीं। फिर बहुत-से ब्राह्मणोंको बुलाकर उन्होंने पूजन किया और उन सबको नाना प्रकारके दान दिये। उसके बाद रानी पर्वतके ऊपर चढ़ गयी। उस दिन चैत्र मासकी अमावास्या तिथि थी। पर्वतके शिखरपर आरूढ़ होकर उसने दोनों हाथ जोड़ लिये और सब ब्राह्मणोंसे इस प्रकार कहा—'आप सब लोग मेरे माता-पिता, भाई तथा अन्य बन्धु-बान्धवोंसे यह कहियेगा कि सब लोग मेरी त्रुटियोंको क्षमा करेंगे और उन्हें यह सूचित कीजियेगा कि भानुमती शूलभेदतीर्थमें कठोर तपस्या करके शरीर त्यागकर स्वर्गको चली गयी।'

ऐसा सन्देश देकर रानीने सब लोगोंको विदा कर दिया और स्वयं पर्वतके शिखरपर खड़ी हुई। उसने अपने आधे उत्तरीय वस्त्रको खूब कसकर बाँध लिया और एकचित्त होकर पर्वतपरसे अपने शरीरको छोड़ दिया। वह आधे पर्वततक गिरकर आयी थी, इतनेमें ही देवताओं और दैत्योंने देखा—भानुमती दिव्य विमानपर आरूढ़ हो कैलास धामको चली गयीं।

## आदित्येश्वरतीर्थकी महिमा, मुनियोंद्वारा नर्मदाका स्तवन और उस तीर्थमें गोदानकी महिमा

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—युधिष्ठिर! अब मैं आदित्येश्वरतीर्थका माहात्म्य बतलाता हूँ। एक समय दुर्भिक्षके मारे हुए ब्राह्मणलोग नर्मदाजीके तटपर आये और फल तथा फूलोंसे भरे हुए एक उत्तम वनमें घुसे। वहाँसे पुनः नर्मदाजीके समीप जाकर उन्होंने दर्शन किया। दर्शन करके कुछ लोग नतमस्तक हुए और कुछ लोग 'देवि! तुम्हारी जय हो, तुम्हें नमस्कार है' ऐसा कहते हुए उनकी स्तुति करने लगे।

**ऋषि बोले**—सिद्धगणोंसे सेवित नर्मदादेवी! आपको नमस्कार है। सबको पवित्र करनेवाली मंगलमयी देवि! तुम्हें नमस्कार है। सहस्रों ब्राह्मणोंद्वारा पूजित तथा भगवान् शंकरसे प्रकट हुई पराशक्ति नर्मदे! तुम्हें नमस्कार है। देवि! तुम स्वयं पवित्र होकर सबको पवित्र करनेवाली हो, श्रेष्ठ हो, तुम्हें नमस्कार है। हमपर प्रसन्न होओ। शीतल जलसे सुशोभित सुखदायिनी नर्मदे! तुम सरिताओंमें श्रेष्ठ, पापहारिणी और दयावती हो, तुम्हें नमस्कार है। अनेक प्राणियोंके शरीरसे तुम्हारे अंगोंकी शोभा हो रही है। तुम्हारा एक-एक अंग गन्धर्वों, यक्षों तथा नागगणोंको पवित्र करनेवाला है। तुम उत्तम वर और सुख प्रदान करनेवाली हो, हम सब लोग तुम्हें नमस्कार करते हैं। तुम दुःखसे व्याकुल प्राणियोंको अभयदान देती हो। अनेक देवताओंने तुम्हारा पूजन किया है। मर्त्यलोकके मानव विष्ठा और मूत्रके समुद्ररूप इस शरीरमें डूबे रहकर तभीतक नरकोंमें निवास करते हैं, जबतक कि वेगसे

चलनेवाली वायुके झोंकेसे उठती हुई उत्ताल तरंगोंसे सुशोभित तुम्हारे जलका स्पर्श नहीं करते। देवि! म्लेच्छ, पुलिन्द और राक्षस भी यदि तुम्हारे पवित्र जलको पीते हैं तो पापके घोर भयसे मुक्त हो जाते हैं, फिर भय और पापसे डरे हुए हम-जैसे ब्राह्मणोंको मुक्त करना तुम्हारे लिये कौन बड़ी बात है। इस घोर एवं अपवित्र कलियुगमें तुम्हीं निर्मल जलराशिसे परिपूर्ण होकर शोभा पाती हो। देवि! तुम्हारे ही प्रसादसे आकाशमें आकाशगंगाकी स्थिति है। इस समय तुम हमारी यथेष्ट रक्षा करो, जिससे तुम्हारे कृपाप्रसादसे हम सब लोग तुम्हारे लोकमें जा सकें। हमारे ऊपर अनुग्रह करो। हम तुम्हारे आश्रित हैं, तुम्हारी शरणमें आये हुए हैं, तुम्हीं हमारी गति हो। देवि! तुम आदिदेव महादेवजीसे प्रकट हुई हो, तुम्हारी शक्ति अद्भुत है।

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—युधिष्ठिर! ऋषियोंके इस प्रकार स्तवन करनेपर सरिताओंमें श्रेष्ठ महानदी नर्मदा प्रत्यक्ष होकर बोलीं—'विप्रगण! मैं तुमपर सन्तुष्ट हूँ और तुम्हें मनोवांछित वर देती हूँ।'

तदनन्तर मेघोंकी बड़ी भारी घटा घिर आयी और खूब वर्षा हुई। देशमें सब ओर बहुत अन्न हुआ तथा सर्वत्र कन्द, मूल, फल और शाक आदि सूखपूर्वक मिलने लगे।

युधिष्ठिर! जो मनुष्य जितेन्द्रिय भावसे भक्तिपूर्वक ग्रहणके अवसरपर सूर्यतीर्थकी यात्रा करते हैं तथा काम, क्रोध, राग और द्वेषसे मुक्त हो भगवान् विष्णुकी कथा सुनते हुए वेदोंका पाठ करते हैं, अथवा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेदकी एक-एक ऋचाका ही पाठ करते हैं वे सम्पूर्ण वेदोंके पाठका पूरा-पूरा फल पा लेते हैं। वहाँ गायत्रीमन्त्रके जपसे मनुष्य चारों वेदोंका फल पाता है। प्रातःकाल वहाँ अन्नदान और सुवर्णदान आदिके द्वारा भगवान्‌का पूजन करे। जो उस तीर्थमें स्नान करके योग्य ब्राह्मणोंको कपिला गौ प्रदान करता है उसके द्वारा पर्वत, वन और काननों-सहित मानो समूची पृथ्वी दे दी जाती है। जिसने वहाँ गोदान किया उसके द्वारा भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक एवं इक्कीस पातालोंका भी दान सम्पन्न हो जाता है। जो प्रातःकाल उठकर भक्तिपूर्वक प्रतिदिन कपिला गौकी प्रदक्षिणा करता है उसके द्वारा सात द्वीपोंवाली पृथ्वीकी परिक्रमा हो जाती है। जो कपिला गौके पंचगव्यसे भगवान् शंकरको स्नान कराता अथवा जगदाधार विष्णु, सूर्य या अन्य किसी देवताको नहलाता है और जो एक वर्षतक प्रतिदिन श्रोत्रिय ब्राह्मणको कपिला गौका दान देता है, इन दोनोंका फल एक बताया गया है। जो कोई भी मनको वशमें करके सूर्यतीर्थमें कपिला, कृष्णा, श्वेत रंग या लाल रंगकी दूध देनेवाली नयी गौको बछड़ेसहित ब्राह्मणके लिये देता है तथा ब्राह्मणको विष्णु, अपने-आपको भी विष्णु और गौको सूर्यस्वरूप समझते हुए गोदान करता है वह स्वर्गलोकमें निवास करता है और ब्रह्महत्या आदि पापोंसे भी मुक्त हो जाता है। युधिष्ठिर! धेनुदानसे सब पापोंका नाश हो जाता है। जो पापनाशक सुरभिसंगम नामक पुण्यतीर्थमें भक्तिपूर्वक प्रेतके लिये श्राद्ध करता है, उसके ऊपर भगवान् सूर्य और महादेवजी प्रसन्न रहते हैं।

# धनदतीर्थका माहात्म्य, पूज्य और अपूज्य ब्राह्मण, वृषोत्सर्गकी महत्ता तथा गौतमेश्वरतीर्थकी महिमा

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—राजेन्द्र! तदनन्तर सब पापोंका नाश करनेवाले परम उत्तम धनदतीर्थमें जाय, जो नर्मदाके दक्षिण तटपर स्थित है। वहाँ स्नान करनेसे सब तीर्थोंका फल प्राप्त होता है। चैत्र मासके शुक्ल पक्षमें त्रयोदशी तिथिको उपवास करके रातमें जागरण करे और परम भक्तिपूर्वक वरदायक भगवान् शिवको स्नान करावे। तत्पश्चात् भक्तिपूर्वक पूजा करके गीत और वाद्यके द्वारा आराधना करे। प्रातःकाल अपने कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको ब्राह्मणोंका पूजन करना चाहिये। जो ब्राह्मण दान नहीं लेते, विद्याके सिद्धान्तका प्रतिपादन करते और निन्दासे दूर रहते हैं, उनका भक्तिभावसे भरण-पोषण करना चाहिये। धनदतीर्थके प्रभावसे तीन जन्मोंका पाप नष्ट हो जाता है। यह तीर्थ दुष्टोंको स्वर्ग देनेवाला है और साधु पुरुषोंको मोक्ष प्रदान करनेवाला है।

जो ब्राह्मण संस्कारहीन, आचारभ्रष्ट, नपुंसक, सूदखोर, खेती करनेवाले और भेददृष्टि रखनेवाले हों, उनका कोई पूजन न करे। जिसके घरमें शूद्र जातिकी स्त्री हो, जो भैंसेसे हल चलवाते या भैंसेपर भार लादते हों, ऐसे ब्राह्मणोंको श्राद्ध और व्रतमें दूरसे ही त्याग देना चाहिये। जो काने, कुण्ड (जो पिताके जीते-जी किसी जार पुरुषसे उत्पन्न हुए हों), गोलक (जो पिताकी मृत्युके बाद दूसरेसे उत्पन्न हुए हों) और वैद्यवृत्तिसे जीविका चलानेवाले हैं—वे भी व्रत और श्राद्धमें वर्जित हैं। यदि अपने पितरोंको ऊर्ध्वलोकमें भेजनेकी इच्छा हो तो सदा सर्वांगसुन्दर धर्मिष्ठ ब्राह्मणोंका पूजन करना चाहिये।

जो सदा धर्मचर्चामें तत्पर रहनेवाले, देवता, ब्राह्मण और गुरुजनोंके भक्त, तीर्थसेवापरायण, मातृभक्त, पितृभक्त, स्वामिभक्त, क्रोध-द्रोह आदि दुर्गुणोंसे रहित और सब प्रकारके सद्गुणोंसे युक्त हैं, वे ही मनुष्य स्वर्गलोकके अधिकारी हैं।

कार्तिक और वैशाखकी पूर्णिमाको स्नान करके पवित्र एवं जितेन्द्रिय होकर भगवान् शिवके समीप उन्हींकी प्रीतिके लिये वृषोत्सर्ग करे और यह कहे कि 'इस उत्सर्गसे ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेवजी प्रसन्न हों'—ऐसा करनेवाला मनुष्य भगवान् विष्णुके लोकमें पूजित होता है।

नर्मदाके उत्तर तटपर गौतमेश्वर नामक उत्तम तीर्थ है। महर्षि गौतमने सब लोगोंके हितकी इच्छासे स्वर्गकी सीढ़ीके रूपमें उस तीर्थकी स्थापना की है। युधिष्ठिर! वहाँ सब पातकोंका नाश करने और स्वर्गलोककी प्राप्ति करानेके लिये जगद्गुरु महादेवजी निवास करते हैं।

नर्मदाके दक्षिण तटपर शंखचूडेश्वर नामसे प्रसिद्ध तीर्थ है। उस तीर्थमें स्नान करके पवित्र और एकाग्रचित्त हो भक्तिपूर्वक मधु, दही और घीसे भगवान् शंखचूडको स्नान करावे। रातमें उनके आगे जागरण करे और उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणोंका दही-भातसे सत्कार करे। जो उस तीर्थमें साँपके डसनेसे भी मृत्युको प्राप्त होता है वह भी भगवान् शंखचूडकी आज्ञासे उत्तम लोकमें जाता है।

# पराशराश्रमकी महिमा, पराशर मुनिकी तपस्या, वरदान-प्राप्ति, भीमेश्वरमें गायत्री-जपका महत्त्व और नारदेश्वरतीर्थका माहात्म्य

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—राजन्! नर्मदाके उत्तर तटपर महर्षि पराशरने पुत्रके लिये बड़ी भारी तपस्या की। उन्होंने हिमाचलकन्या गौरी तथा नारायणसहित लक्ष्मीको अपनी पराभक्तिसे सन्तुष्ट किया। तब देवी पार्वतीने प्रत्यक्ष दर्शन देकर कहा—'मुनिश्रेष्ठ! मैं तुम्हारी भक्तिसे प्रसन्न हूँ। विप्रवर! तुम कोई वर माँगो।'

**पराशरजी बोले**—देवि! मुझे सब शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण एक पुत्र शीघ्र दीजिये और यह स्थान तीर्थ हो जाय तथा आप भी लोकोपकारके लिये सदा यहाँ निवास करें।

**देवीने कहा**—'एवमस्तु'—ऐसा ही होगा।

इतना कहकर पार्वतीदेवी अन्तर्धान हो गयीं। तब महात्मा पराशरजीने पार्वतीदेवी तथा भगवान् शंकरको वहाँ स्थापित किया जो देव-दानववन्दित तथा सब देवताओंद्वारा पूजित हैं। यह सब करके पराशर मुनि कृतकृत्य हो निश्चिन्त हो गये। राजन्! उस तीर्थमें भक्तिपूर्वक स्नान करके शुद्धचित्त हो चैत्र, श्रावण और मार्गशीर्ष मासके शुक्ल पक्षमें अष्टमी, चतुर्दशी एवं सूर्यग्रहणके पर्वमें सदा भगवान् शंकर और पार्वतीदेवीका पूजन करे। स्त्रियाँ हों या पुरुष—सभी काम-क्रोधसे रहित हो उपवास करके भक्ति-भावसे व्रतका पालन करें। फिर हाथभरके कुश और उत्तम तिल लेकर ब्राह्मणको उत्तराभिमुख बिठावे और स्वयं दक्षिण दिशाकी ओर मुँह करके बैठे। फिर कुशोंपर कच्चा अन्न रखकर ब्राह्मणके आगे इस प्रकार कहे—'इस उत्तम तीर्थके प्रभावसे अमुक प्रेतको श्रेष्ठ लोककी प्राप्ति हो। मेरा पाप नष्ट हो जाय, शुभ कर्मकी सदा वृद्धि हो, मेरे कुल और कुटुम्बका भी सर्वदा अभ्युदय हो।' ऐसा कहकर पराशर-आश्रममें ब्राह्मणको दान दे। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक इस प्रसंगको सुनता है वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

तदनन्तर सब पापोंका नाश करनेवाले भीमेश्वरतीर्थको जाय, जो भयानक व्रत धारण करनेवाले ऋषियोंके समुदायसे सेवित है। जो उस तीर्थमें स्नान और उपवास करके इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए सूर्यकी ओर दोनों हाथ उठाकर एकाक्षर मन्त्र प्रणवका जप करता है उसका जन्मभरका पाप उसी क्षण नष्ट हो जाता है और गायत्री-मन्त्रका जप करनेसे सात जन्मोंका संचित पाप निश्चय ही नाशको प्राप्त होता है। दस बार गायत्री जपनेसे एक जन्मका, सौ बार जपनेसे पूर्वजन्मका और सहस्र बार जपनेसे तीन जन्मोंके पापोंका गायत्री देवी नाश करती हैं। राजन्! वहाँ जप किया हुआ वैदिक या लौकिक मन्त्र सब पापोंको तत्काल जला देता है। परंतु यदि कोई इसीके भरोसे पाप करे तो उसको वह फल कभी नहीं मिलता।

वहाँसे उत्तम नारदेश्वरतीर्थको जाय, जिसकी स्थापना स्वयं देवर्षि नारदजीने की है। पूर्वकालमें ब्रह्माजीके पुत्र देवर्षि नारदजीने नर्मदाके उत्तर तटपर तपस्या की। वे नवों इन्द्रियछिद्रोंको रोककर काष्ठकी-सी दशाको प्राप्त हो गये। ऐसा कठोर तप करके उन्होंने महादेवजीको सन्तुष्ट किया। तब महादेवजी प्रत्यक्ष होकर बोले—'देवर्षे! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम्हारे मनमें जो इच्छा हो, उसके अनुसार वर माँगो।'

**नारदजीने कहा**—देव! आपके प्रसादसे मेरा योग सिद्ध हो जाय।

**महादेवजीने कहा**—तुम्हारा योग सिद्ध हो और मुझमें सदा तुम्हारी भक्ति बनी रहे। तुम स्वर्ग, पाताल अथवा मर्त्यलोकमें अपनी इच्छाके अनुसार भ्रमण करो। कभी कोई तुम्हें रोक नहीं सकता। सात स्वर, तीन ग्राम और इक्कीस मूर्छनाओंके साथ दिव्य नृत्य एवं संगीतकलाका तुम्हें ज्ञान होगा, जो मुझे

बहुत ही प्रिय है। तुम्हारा यह तीर्थ भूतलपर मेरे प्रसादसे परम पवित्र माना जायगा।

ऐसा कहकर भगवान् शिव अन्तर्धान हो गये और देवर्षि नारदने सब प्राणियोंके उपकारके लिये वहाँ एक शिवलिंग स्थापित किया। नारदजीका वह तीर्थ इस पृथ्वीपर बहुत ही उत्तम है। मनुष्य जितेन्द्रिय होकर उस तीर्थमें जाय। जो लोग अस्त्र-शस्त्रद्वारा मारे गये हैं, उनकी सद्गतिके लिये वहाँ श्राद्ध करे। उस तीर्थमें किये हुए पिण्डदानके प्रभावसे वे मृतक पुरुष उत्तम लोकको जाते हैं। पूर्वकालमें नर्मदाजीके सामने नन्दीने भगवान् महेश्वरकी प्रसन्नताके लिये तप किया। तब महादेवजी प्रसन्न होकर बोले—'नन्दीश्वर! मैं सन्तुष्ट हूँ, तुम मनोवांछित वर माँगो।'

**नन्दीने कहा**—देवेश्वर! मैं धन नहीं चाहता, कुल और सन्तान नहीं चाहता, मोक्ष या और कोई वस्तु भी नहीं चाहता। मुझे तो केवल आपके चरणारविन्दोंकी सेवा चाहिये। जन्म-जन्ममें आपके प्रति अविचल भक्ति प्राप्त हो।

'तथास्तु' कहकर महादेवजी नन्दीका हाथ अपने हाथमें लेकर शीघ्र ही उनके साथ कैलासधाममें चले गये। जो मनुष्य उस तीर्थमें स्नान करके भक्तिभावसे भगवान् त्रिलोचनकी पूजा करता है वह अग्निष्टोम यज्ञके पुण्य और फलको पाता है।

## नर्मदा-नागेशके संगममें कण्ठकी ब्रह्महत्यासे मुक्ति और सद्गति

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—राजन्! पूर्वकालमें शम्बर नामके एक राजा थे। शम्बरके पुत्र त्रिलोचन और त्रिलोचनका पुत्र कण्ठ हुआ। यह कण्ठ बड़ा नीच था। सदा पापोंमें ही लगा रहता था। एक दिन वह वनमें घूम रहा था। उसी समय उसे मृगोंका झुंड दिखायी दिया। कण्ठने उस पूरे झुंडको अपने बाणोंका निशाना बना दिया। उसी झुंडमें एक ब्राह्मण भी थे जो मृगका रूप धारण करके निर्जन वनमें विचर रहे थे। वे भी उस समय कण्ठके शस्त्रसे मारे गये। कण्ठको ब्रह्महत्या लगी और वह तेजोहीन होकर पृथ्वीपर विचरने लगा। घूमता-घूमता वह नर्मदा और नागेशके संगमपर जा पहुँचा तथा अधिक थका होनेके कारण एक वृक्षकी छायामें सो गया। तत्पश्चात् उठा और संगममें नहाकर बड़ी भक्तिके साथ उसने भगवान् सोमनाथका पूजन किया। इसके बाद कण्ठने कण्ठतक नर्मदाका पापनाशक जल पीया। इसी समय एक ब्राह्मण संगमतीर्थमें स्नान करनेके लिये आ रहे थे। रास्तेमें उन्हें वृक्षपर बैठी हुई एक भयानक स्त्री दिखायी दी। वह स्त्री उनसे बोली—'विप्रवर! यदि तुम संगममें स्नान करनेके लिये जाते हो तो वहाँ मेरा पति ठहरा हुआ है, उसे शीघ्र भेज देना।' यह सुनकर ब्राह्मणदेवता संगमपर गये और वहाँ वृक्षकी छायामें बैठे हुए कण्ठको देखकर बोले—'मैंने वनमें एक स्त्री देखी है। उसने मुझसे कहा है कि संगमपर मेरा पति है, उसको मेरे पास भेज दो।' तब कण्ठने अपने एक सेवकसे कहा—'तुम जाओ और उससे पूछो कि तुम कौन हो और कहाँसे आयी हो?' सेवक जहाँ वह स्त्री बैठी थी, वहाँ गया और इस प्रकार बोला—'बाले! राजा कण्ठ पूछते हैं कि तुम कौन हो?'

**स्त्री बोली**—जितात्मा पुरुषोंको शिक्षा देनेवाले गुरु हैं, दुष्टोंका शासन करनेवाले राजा हैं और इस लोकमें जो छिपे हुए पाप करते हैं, उन सबके शासक विवस्वान्के पुत्र यमराज हैं। इस कण्ठने मृगरूपधारी ब्राह्मणका वध किया है, अतः इसे ब्रह्महत्या लगी है। ब्रह्महत्या मैं ही हूँ। यद्यपि मैंने उसे पकड़ रखा था, तथापि इस तीर्थके प्रभावसे वह मुझसे छूट गया है। यहाँ नर्मदासे आधे कोसके अंदर ब्रह्महत्याका प्रवेश नहीं होता। अतः तुम जाओ, कण्ठको शीघ्र ही यहाँ भेज देना।

सेवकने लौटकर राजासे सब वृत्तान्त कह सुनाया। उसकी बात सुनकर राजा कण्ठ पृथ्वीपर गिर पड़ा। तब सेवकने कहा—'नाथ! आप पहलेके शुभाशुभके विषयमें इतना शोक क्यों करते हैं।' उसने उत्तर दिया—'मैं यहीं भगवान् सोमनाथके समीप प्राणत्याग करूँगा। तदनन्तर राजाने संगमके पापनाशक जलमें स्नान किया, भक्तिपूर्वक भगवान् सोमनाथकी पूजा की और तीन बार उनकी परिक्रमा करके प्रज्वलित अग्निमें प्रवेश किया। उस समय वह मन-ही-मन पीताम्बर और महान् मुकुट धारण करनेवाले भगवान् विष्णुका ध्यान कर रहा था तथा यह प्रार्थना करता था कि 'श्रीहरिके ध्यानसे मेरी उत्तम गति हो।'

उस समय उसके ऊपर आकाशसे फूलोंकी वर्षा हुई। यह अनुपम आश्चर्य देखकर कण्ठके सेवकोंने भी एक-दूसरेकी ओर दृष्टिपात किया और भगवान् गदाधरका ध्यान करते हुए उन्होंने उसी अग्निमें अपने शरीरकी भी आहुति दे दी। तब वे सब-के-सब दिव्य विमानपर आरूढ़ हो स्वर्गलोकको चले गये।

युधिष्ठिर! भगवान् सोमनाथका ऐसा ही प्रभाव है। अष्टमी और चतुर्दशीको शुभ दिनमें सब समय और विशेषतः शुक्ल पक्षमें सप्तमी तथा रविवारका योग होनेपर मनुष्य उपवास करके भक्तिभावसे रात्रिमें जागरण करे। भगवान् शिवको स्नान कराकर उनके श्रीविग्रहमें चन्दनका लेप करे और पुष्प, धूप आदि देकर घीसे दीपक जलावे। फिर दूसरे दिन अष्टमीयुक्त सोमवारको प्रातःकाल क्रोधको जीतनेवाले, निन्दासे दूर रहनेवाले, सर्वांगसुन्दर, शान्त, अपनी पत्नीका पालन करनेवाले, गायत्रीजपपरायण तथा कुकर्म-रहित ब्राह्मणका पूजन करे। ऐसा करनेसे वह भगवान् शिवके लोकमें जाता है।

## पूतकेश्वर तथा जलशायी (चक्र) तीर्थका माहात्म्य, श्रीविष्णुके द्वारा नलमेघ दानवके वधकी कथा

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—राजेन्द्र! तदनन्तर नर्मदाके दक्षिण तटपर पूतकेश्वर नामक उत्तम तीर्थमें जाय, वह सब पापोंका नाश करनेवाला है। वहाँ लोगोंके हितकी कामनासे भगवान् शिवकी स्थापना की गयी है। युधिष्ठिर! जो मनुष्य वहाँ भगवान् शिवकी पूजा करता है, वह सब मनोरथोंको प्राप्त होता है। कृष्ण पक्षकी अष्टमी और चतुर्दशीको जो मनुष्य महाकालका पूजन करते हैं, वे कभी यमलोकमें नहीं जाते। नर्मदाके उत्तर तटपर उत्तम वैष्णवतीर्थ है, जो जलशायीके नामसे इस भूतलपर विख्यात है।

पूर्वकालमें नलमेघ नामसे प्रसिद्ध एक बड़ा भारी दैत्य था। उसने सब देवताओंको जीतकर उनका राज्य छीन लिया। नलमेघके भयसे इन्द्र आदि सब देवता सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मलोकमें गये और भाँति-भाँतिके स्तोत्रोंद्वारा ब्रह्माजीकी स्तुति करने लगे। तब ब्रह्माजीने देवताओंसे कहा—'भगवान् विष्णुके बिना वह दैत्य दूसरेसे नहीं जीता जा सकता।' यह सुनकर सम्पूर्ण देवताओंने श्रीविष्णुका स्तवन किया—'शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण करनेवाले प्रभो! आपकी जय हो।' देवताओंकी यह स्तुति सुनकर भगवान् जलशायी जाग उठे और मेघगर्जनाके समान, गम्भीर वाणीमें बोले—'ब्रह्मन्! आपने समस्त देवताओंके साथ आकर मुझे किसलिये जगाया है?'

**ब्रह्माजी बोले**—भगवन्! हमलोग नलमेघके भयसे आपके धाममें आये हैं। पापी नलमेघ दूसरे किसीके हाथसे नहीं मारा जा सकता। केवल आपके ही हाथसे उस दुष्टात्माकी मृत्यु होगी।

**भगवान् विष्णु बोले**—देवताओ! अपने-अपने स्थानको जाओ, मैं उस महाबली दैत्यका वध कर दूँगा।

तदनन्तर भगवान् जनार्दनने अपने हाथमें शंख, चक्र, गदा और शार्ङ्ग धनुष लेकर गरुड़पर सवार हो उस दानवका वध करनेके लिये प्रस्थान किया। जगत्के स्वामी श्रीहरि गिरिराज हिमालयपर गये और उसके नगरके निकट पहुँचकर उन्होंने अपना पांचजन्य शंख बजाया। उसकी ध्वनि सुनकर नलमेघको बड़ा क्रोध हुआ और वह अपने रथपर आरूढ़ हो नगरसे बाहर निकला। इतनेमें ही शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् विष्णुपर उसकी दृष्टि पड़ी।

**तब नलमेघ बोला**—दानवो! यह वही विष्णु है, जिसने दानव धुन्धुमारका वध किया है, इसे मार डालो।

ऐसा कहकर दानव नलमेघ अपने बाणोंसे भगवान् विष्णुपर आघात करने लगा। किंतु श्रीहरिने उसके सभी बाण काट डाले और उस दानवपर दुगुने बाणोंकी बौछार की। तब दानवने भी दूने-से-दूना करके विष्णुपर बाणोंकी वर्षा की। तब भगवान्ने नारसिंह बाण चलाया। उसे देखकर नलमेघ शीघ्रतापूर्वक रथसे उतर गया और हाथमें तलवार लेकर भगवान्को मारनेके लिये दौड़ा। यह देख श्रीहरिने अपना अमोघ चक्र लेकर उस दानवका मस्तक काट गिराया। तदनन्तर देवताओंने भगवान् विष्णुपर फूलोंकी वर्षा की। नलमेघके मारे जानेपर देवगण अपने-अपने स्थानको चले गये और भगवान् विष्णु नर्मदाके जलमें लीन हो गये। तबसे इस लोकमें वह स्थान जलशायी तीर्थ कहलाता है। वह अनेक पापोंका नाश करनेवाला है। कुछ लोग उसे चक्रतीर्थ भी कहते हैं। युधिष्ठिर! भारतवर्षमें नर्मदाके तटपर यह तीर्थ प्रसिद्ध है। मार्गशीर्ष मासमें शुक्ल पक्षकी एकादशी तिथिको शुभ दिनमें वहाँ जाकर जो मनुष्य काम और क्रोधसे रहित हो शेषशय्यापर शयन करनेवाले भगवान् लक्ष्मीपतिको स्नान कराते हैं, तथा जो लोग मधु, दूध, घी और गुड़ मिले हुए जलसे नहलाये जाते हुए श्रीविष्णुका भक्तिभावसे दर्शन करते हैं, वे पापरहित हो भगवान्के देव-दानववन्दित परम धामको जाते हैं। जो श्रेष्ठ मानव वहाँ भक्तिपूर्वक भगवान् विष्णुकी कथा सुनते हैं, वे ब्रह्महत्या आदि पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। जो जलशायी भगवान् जगद्गुरु विष्णुकी प्रदक्षिणा करते हैं, उनके द्वारा सम्पूर्ण जम्बूद्वीपकी परिक्रमा हो जाती है। तदनन्तर निर्मल प्रातःकाल होनेपर यत्नपूर्वक पितरोंका तर्पण करके पूज्य ब्राह्मणोंके द्वारा श्राद्ध करावे। जो ब्राह्मण वेदका विद्वान् नहीं है, मादक वस्तुओंके सेवनसे उन्मत्त रहता है, मित्रद्रोही, कृतघ्न और व्रतहीन है, उसे दान नहीं देना चाहिये। जो वेदान्तको पढ़कर उसके तत्त्वको जानता हो, उसे गोदान देना चाहिये। जो सर्वांगसुन्दर, पवित्र और प्रिय वचन बोलनेवाला हो, ऐसे ही ब्राह्मणको गौ देनी चाहिये।

## प्रभासेश्वर, मार्कण्डेयेश्वर, संकर्षण, मन्मथेश्वर तथा एरण्डीसंगममें पुत्रप्राप्तिपदतीर्थकी महिमा, अनसूयाजीके पुत्ररूपसे ब्रह्मा, शिव और विष्णुका अवतार

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—राजन्! सूर्यदेवकी स्त्री प्रभाने पूर्वकालमें उग्र तपस्याके द्वारा भगवान् शिवकी आराधना की। वह उन्हींके ध्यानमें तत्पर हो एक वर्षतक केवल वायु पीकर रही। इससे सन्तुष्ट होकर महादेवजीने प्रभासे कहा—'बाले! तू क्यों कष्ट उठा रही है? अपना मनोरथ प्रकट कर।'

**प्रभा बोली**—शम्भो! स्त्रीके लिये पतिके सिवा दूसरा कोई देवता नहीं है। भले ही पति कभी पत्नीका पोषण न करता हो, गुणवान् हो या गुणहीन, धनवान् हो या निर्धन, प्रेमी हो या द्वेषपात्र, किंतु स्त्रीके लिये तो पति ही उसका देवता है। महेश्वर! मैं पतिसे सुख नहीं पा रही हूँ। इसीलिये क्लेश उठाती हूँ।

**महादेवजीने कहा**—देवि! तू मेरे प्रभावसे सूर्यदेवकी प्रियतमा होगी।

**महादेवजीका वरदान पाकर प्रभाने वहाँ उनकी स्थापना की और इस प्रकार बोली**—भगवन्! आप अपने अंशसे यहाँ निवास करें और इस तीर्थको प्रकाशमें लावें।

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—युधिष्ठिर! प्रभाद्वारा स्थापित शिवलिंग ही प्रभासेश्वर नामसे प्रसिद्ध हुआ। वह सम्पूर्ण लोकमें दुर्लभ है। माघमासकी सप्तमीको यह विशेष फलद होता है। जो उस तीर्थमें भक्तिसे कन्यादान देता है अथवा कन्याके समान अवस्थावाले धनी एवं कुलीन ब्राह्मणको विवाहके लिये कन्या दिलाता है, उसका पाप नष्ट हो जाता है। वहाँ कन्यादान करनेवाला पुरुष सूर्यलोकका भेदन करके कल्याणमय शिवलोकमें जाता है। युधिष्ठिर! मनुष्य तभीतक भटकता है, जबतक प्रभातीर्थमें नहीं जाता। वहाँ जानेपर अश्वमेधयज्ञका फल पाकर वह उत्तम गतिको पाता है।

तदनन्तर नर्मदाके दक्षिण तटपर उत्तम मार्कण्डेयेश्वर तीर्थमें जाय, जो देवताओंद्वारा वन्दित, कल्याणमय तथा गोपनीयसे भी गोपनीय है। उसकी स्थापना मैंने स्वयं ही की है। वह परम पवित्र तथा भोग एवं मोक्ष देनेवाला है। उसी तीर्थमें भगवान् शंकरके प्रसादसे मुझे ज्ञानकी प्राप्ति हुई है। पाण्डुनन्दन! जो वहाँ अन्यान्य सूक्तोंका चिन्तन तथा वहाँके जलमें '**द्रुपदादिव०**' इत्यादि मन्त्रोंका जप करता है, वह घोर पापराशिसे मुक्त हो जाता है। जो अपनी पाँचों इन्द्रियोंको वशमें करके नर्मदाके दक्षिण तटपर बैठकर जलमें भक्तिपूर्वक पूर्वोक्त सूक्तोंका जप करता है, वह मन, वाणी और क्रियाद्वारा होनेवाले सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है, ऐसा भगवान् शंकरका कथन है। जो मार्कण्डेयेश्वरतीर्थमें भक्तिपूर्वक पितरोंका श्राद्ध करता है, उसके पितर प्रलयकालतक तृप्त रहते हैं। जो वहाँ आँवला, बेर, बेल आदि फल, अक्षत और जलसे प्रेतोंका तर्पण करते हैं, उनके द्वारा तृप्त किये हुए वे प्रेत शुभ गतिको प्राप्त होते हैं।

राजेन्द्र! उसके बाद नर्मदाके उत्तर तटपर यज्ञवाट्के मध्यमें स्थित संकर्षण नामक तीर्थमें जाय, जो सब पापोंका नाश करनेवाला और भूतलमें प्रसिद्ध है। वहाँ पूर्वकालमें बलभद्रजीने नर्मदातटपर सब प्राणियोंके उपकारके लिये तपस्या की थी। वहीं समीपमें ही देवताओं तथा भगवती उमाके साथ भगवान् शिव निवास करते हैं। जो मनुष्य वहाँ क्रोध और इन्द्रियोंको वशमें रखकर शुक्ल पक्षकी एकादशी तिथिको भक्तिभावसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक भगवान् शिवको स्नान कराता है तथा श्रद्धा-भक्तिके साथ प्रेतोंके लिये श्राद्ध एवं दान करता है, वह परम पदको प्राप्त होता है।

तत्पश्चात् मन्मथेश्वरतीर्थको जाय। वहाँ स्नान करनेमात्रसे मनुष्य कभी यमलोकको नहीं देखता। वहाँ स्नान करके पवित्रचित्त हो मुनिभावसे रहनेवाला जो मनुष्य उत्तम भक्तिपूर्वक उपवास करता है, उसे सहस्र गोदानका फल प्राप्त होता है।

इसके बाद एरण्डीश्वरतीर्थमे जाना चाहिये। ब्रह्माजीके मानसपुत्रोंमें एक महर्षि अत्रिके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनकी पत्नीका नाम अनसूया है। उनमें पत्नीके सभी सद्गुण मौजूद हैं। वे पतिव्रता, पतिप्राणा और पतिके हित करनेमें सदा संलग्न रहनेवाली हैं। एक दिन वे दोनों श्रेष्ठ दम्पति अपराह्णकालमें कहीं सुखपूर्वक बैठे थे। उस समय मुनिवर अत्रिने कहा—"प्रिये! चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंमें तुम-जैसी पतिव्रता स्त्री दूसरी नहीं है। जो नारी अपने पति और पुत्र दोनोंको प्रिय हो तथा सुहृद्जनोंके हितमें संलग्न रहनेवाली हो, वह धन्य है। शास्त्रोंका कथन है—'पुत्रसे मनुष्य पुण्यलोकोंपर विजय पाता है, पुत्रसे उसकी परम गति होती है।' पृथ्वीपर पुत्रके सदृश कोई बन्धु नहीं देखा जाता है, जो कि घोर असिपत्रवनमें गिरते हुए पिताकी रक्षा करता है। अकालमें, दीनता आदिमें तथा बुढ़ापेमें भी पुत्र पिताका पालन करता है।"

**अनसूया बोली**—ब्रह्मन्! पतिदेव! जो नारी पतिव्रता है, वह पति और पुत्र दोनोंकी वृद्धि करनेवाली है तथा धर्म, अर्थ और काम तीनोंकी साधिका है। अतः वह सबके द्वारा पालन करने योग्य है। जप, तप, तीर्थयात्रा, पुत्रेष्टि तथा मन्त्र-साधना आदि साधन पुत्रकी प्राप्ति करानेवाले होते हैं, ऐसा सभी गुरुजन कहते हैं। यदि आपकी आज्ञा हो, तो मैं पुत्रके लिये दुष्कर तपस्या करूँ।

**अत्रिने कहा**—महाप्राज्ञे! तुम्हें साधुवाद है। मैं आज्ञा देता हूँ, तुम पुत्रके लिये तपस्या करो।

**तब अनसूयाने अपने पतिको साष्टांग प्रणाम करके कहा**—विप्रवर! आपके प्रसादसे मैं सिद्धि प्राप्त करूँगी। ऐसा कहकर अनसूया नर्मदा नदीके तटपर गयी, जो सोमनाथके तुल्य महत्त्व रखनेवाला था। नर्मदाके समीप दो योजनतक वहाँ दोनों तटकी भूमि बड़ी उत्तम है। नर्मदाके उत्तर तटपर पहुँचकर अनसूया नियमपालनमें संलग्न हुई। वह पत्ते चबाकर अथवा साग खाकर रहती और उत्तम स्तोत्रोंद्वारा देवताओंकी स्तुति करती थी। तब भगवान् विष्णु, महादेवजी और ब्रह्माजी एरण्डीसंगममें आये तथा ब्राह्मणका रूप धारण करके अनसूयाके आगे खड़े होकर मन्त्रोंका उच्चारण करने लगे। अनसूयाजी अर्घ्य देकर उठीं और कहने लगीं—'आज मेरा जन्म सफल हुआ और आज मेरी तपस्या सफल हो गयी।' ऐसा कहकर उन्होंने परिक्रमा की और प्रणाम करके कहा—'विप्रवरो! आज मैं दिव्य कन्द, मूल और फल भोजन कराकर आपलोगोंको तृप्त करूँगी।'

**ब्राह्मण बोले**—सुव्रते! तुम्हारे दर्शनसे ही हम तृप्त हैं। बताओ, तुम किसलिये तप कर रही हो?

**अनसूयाने कहा**—ब्राह्मणो! तपस्यासे स्वर्गकी सिद्धि होती है, तपस्यासे उत्तम गति मिलती है और तपस्यासे ही मनुष्य सम्पूर्ण मनोरथोंको पूर्ण करता है।

**ब्राह्मण बोले**—उत्तम व्रतका पालन करनेवाली देवि! वर माँगो। हम तीनों ब्रह्मा, विष्णु और महादेव हैं। लोककी दृष्टिमें हमने अपने स्वरूपको छिपा रखा है।

इतना कहकर उन्होंने अपने-अपने स्वरूपका दर्शन कराया। वे कोटि-कोटि सूर्योंके समान कान्तिमान् दिखायी देने लगे।

**अनसूयाने कहा**—यदि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र कृपा करके मुझपर प्रसन्न हुए हैं, तो इस समय मुझे यही वरदान दें कि मेरे पुत्र होकर उत्पन्न हों।

**तब भगवान् विष्णुने कहा**—कल्याणी! मैं तुम्हें देवतुल्य पराक्रमी, पिताके समान गुणवान्, सोमयाजी और बहुश्रुत पुत्र देता हूँ।

**अनसूयाने कहा**—भगवन्! मैंने जैसी प्रार्थना की है, उसके अनुकूल, मनोवांछित वस्तु मुझे देनी चाहिये। उसके विपरीत नहीं करना चाहिये।

**तब तीनों देवता बोले**—कल्याणी! हम तुम्हारे अयोनिज पुत्र होंगे, क्योंकि देवता गर्भमें निवास नहीं करते।

इतना कहकर वे तीनों देवता चले गये। नर्मदातटपर यह श्रेष्ठ वरदान पाकर अनसूया देवी महेन्द्रपर्वतपर अपने पतिके समीप गयीं। उन्हें देखकर अत्रि मुनिने कहा—'महाप्राज्ञे! धन्यवाद। तुमने वह दुर्लभ वरदान पाया है, जो सम्पूर्ण स्त्रियोंके लिये असाध्य है।'

**अनसूयाने कहा**—महर्षे! आपके प्रसादसे ही मुझे दुर्लभ वरकी प्राप्ति हुई है।

ऐसा कहकर हर्षमें भरी हुई महादेवी अनसूयाने अपने प्राणवल्लभ मुनिकी ओर देखा और मुनिने भी उस शुभदर्शना पत्नीकी ओर दृष्टिपात किया। परस्पर दर्शनसे ही अत्रिके ललाटमें एक शुभ्र ज्योतिर्मण्डल प्रकट हुआ। जिसकी किरणें नौ सहस्र योजनतक फैली हुई थीं। कदम्बपुष्पके समान गोल आकारवाला ब्रह्ममण्डल त्रिविध परिधिमण्डलसे घिरा हुआ था। मण्डलके मध्यभागमें दिव्य पुरुषरूपधारी देवेश्वर ब्रह्माजी प्रकट हुए, जो सुवर्णके समान कान्तिमान् और कोटि-कोटि

सूर्योंके समान प्रभापुंजसे व्याप्त थे। ये ही अनसूयाके प्रथम पुत्र साक्षात् ब्रह्माजीके अवतार चन्द्रमा नामसे विख्यात हुए। इन्हींको सोम भी कहते हैं। ये सोलह कलाओंसे संयुक्त हो माता-पिताके श्रेष्ठ एवं प्रिय पुत्र हुए। इनकी कलाओंके नाम इस प्रकार हैं—प्रतिपत्, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी तथा पंद्रहवी पूर्णमासी कही गयी है। सोलहवीं कलाका नाम अमावास्या है। ये चन्द्रमा सूक्ष्म होकर चार प्रकारके जीवोंसे युक्त सम्पूर्ण चराचर जगत्को तृप्त करते हैं। आहुतिमें दिया हुआ द्रव्य चन्द्रमामें ही स्थित होता है। अमावास्याके ये चन्द्रमा जब वनस्पतियोंमें व्याप्त रहते हैं, उस समय जो मूढ़ मानव किसी वनस्पतिको काटता है वह दुःख भोगता है और अपने किये हुए एक वर्षके पुण्यको भस्म कर देता है। इन दिव्य गुणोंसे विशिष्ट सोमरूपी ब्रह्माजी अनसूयाको आनन्द प्रदान करनेवाले प्रथम पुत्र हुए। उनके दूसरे पुत्र महाभाग दुर्वासा मुनि हैं, जो सृष्टिसंहारकारी साक्षात् महेश्वरके अवतार हैं। अनसूयाजीके तीसरे पुत्र दत्तात्रेयके नामसे विख्यात हुए, जो जगद्व्यापी जगन्नाथ साक्षात् भगवान् विष्णुके अवतार हैं। इस प्रकार ब्रह्मा और महादेवजीके साथ भगवान् विष्णुने अवतार ग्रहण किया। तभीसे नर्मदाके उत्तर तटपर अनसूयाजीके द्वारा प्रसिद्ध किया हुआ पुत्र-प्राप्तिपद नामक तीर्थ है, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है।

## सौवर्णतीर्थ, करण्डेश्वरतीर्थ, भाण्डारतीर्थ, रोहिणीतीर्थ, चक्रतीर्थ तथा धूमपाततीर्थका माहात्म्य और माहात्म्य-श्रवणका फल

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—युधिष्ठिर! तदनन्तर सौवर्ण नामक उत्तम तीर्थ है, जो तीनों लोकोंमें विख्यात और सब पापोंका नाश करनेवाला है। वहाँ संगमके समीप नर्मदास्नानका अवसर दुर्लभ है। उस पुण्यक्षेत्रमें वह पावन तीर्थ एक हाथ भूमिमें ही स्थित है। उस सुवर्णशिलकमें स्नान करके मनुष्य कल्याणमयी परम शान्तिको प्राप्त होता है। जो मनुष्य उपवास करके जितेन्द्रिय भावसे वहाँ शुक्ल पक्षकी अष्टमी तिथिको श्राद्ध करता है, वह अपने कुलकी दस पूर्व पीढ़ियोंका और दस आनेवाली पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है।

इसीके समीप करण्डेश्वर नामक उत्तम तीर्थ है, जो नर्मदाके उत्तर तटपर स्थित है। वह सब पापोंको हरनेवाला तथा सब प्रकारके दुःखोंका नाश करनेवाला है। वहाँसे परम सुन्दर सौभाग्यकरण नामक तीर्थको जाय, जो मनुष्योंके सब पापोंका नाश करनेवाला है। युधिष्ठिर! जो भाग्यहीन स्त्री या पुरुष वहाँ स्नान करके उमा-महेश्वरका पूजन करते हैं, उन्हें सौभाग्यकी प्राप्ति होती है। तृतीया तिथिको दिन-रात उपवास करके जितेन्द्रिय पुरुष सुरूपवान् सपत्नीक ब्राह्मणको निमन्त्रित करे। आनेपर पाद्य-अर्घ्य आदि देनेके पश्चात् उन्हें सुगन्धित पुष्पोंकी मालाओंसे अलंकृत करे। फिर पुष्प देकर धूपकी सुगन्धसे सुवासित करे। तत्पश्चात् भक्तिभावसे खीर अथवा खिचड़ी भोजन करावे। विधिपूर्वक भोजन कराकर ब्राह्मण-दम्पतिकी परिक्रमा करे। फिर नर्मदाके जलमें स्नान और दान करे। ऐसा करनेवाली सौभाग्यवती स्त्री कभी पतिवियोगको नहीं प्राप्त होती।

तदनन्तर भाण्डारतीर्थकी यात्रा करे। वहाँ पूर्वकालमें कुबेरने तपस्या की थी, जिससे ब्रह्माजी प्रसन्न हुए थे।

उसके बाद परम उत्तम रोहिणीतीर्थ है। महाप्रलयके समय जब भयंकर एकार्णवके जलमें समस्त चराचर जगत्का नाश हो गया, तब जलके भीतर शयन करनेवाले देवाधिदेव भगवान्

विष्णुकी नाभिसे कर्णिका, केसर और दलोंसे युक्त एक महाकमल प्रकट हुआ, जो सूर्यमण्डलके समान देदीप्यमान था। उस कमलमें चार मुखारविन्दोंसे सुशोभित ब्रह्माजी उत्पन्न हुए और सोचने लगे कि 'मैं क्या करूँ?' इसी समय उनके शरीरसे भगवान् मरीचि प्रकट हुए। कुछ कालके बाद मरीचिसे कश्यप उत्पन्न हुए। उन्हीं दिनों दक्ष प्रजापतिके पचास कन्याएँ हुईं, जिनमेंसे दस धर्मको और तेरह कश्यपको ब्याह दी गयीं। सत्ताईस कन्याएँ उन्होंने चन्द्रमाको दे दीं। उन कन्याओंमें रोहिणी सबसे सुन्दरी एवं चन्द्रमाके समान मुखवाली थी। रोहिणी सभी स्त्रियोंको प्रिय लगती थी और पतिको तो वह विशेष प्रिय लगती थी। उसने तपस्या करनेका निश्चय करके नर्मदाजीके तटको प्रस्थान किया और वहाँ बड़ी कठोर तपस्या की। वह दीर्घकालतक निरन्तर महिषासुरमर्दिनी दुर्गादेवीकी आराधनामें लगी रही। प्रतिदिन नर्मदाके जलमें स्नान करके उसने व्रत और नियमोंका पालन किया। इससे प्रसन्न होकर भगवती नारायणीने उसे प्रत्यक्ष दर्शन दिया और इस प्रकार कहा—'महाभागे! तुम मनोवांछित वर माँगो।' रोहिणीने कहा—'देवि! मैं अपनी सपत्नियोंके बीचमें सबसे अधिक पतिकी प्यारी होऊँ। मेरी यह इच्छा शीघ्र पूर्ण हो, ऐसी कृपा करें।'

तब 'एवमस्तु' कहकर भगवती महालक्ष्मी भक्तिपरायण देवताओंकी स्तुति सुनती हुई वहाँसे अन्तर्धान हो गयीं। तबसे रोहिणी देवी चन्द्रमाको अधिक प्रिय हुई और सम्पूर्ण लोकोंको भी वह प्यारी लगने लगी। उस तीर्थमें जो स्त्री और पुरुष भक्तिपूर्वक स्नान करते हैं, उनमेंसे स्त्री अपने पतिको तथा पति अपनी स्त्रीको अधिक प्रिय होते हैं।

तदनन्तर सब पापोंका नाश करनेवाले परम उत्तम चक्रतीर्थमें जाय, जो सेनापुरके नामसे विख्यात है। यहीं देवाधिदेव चक्रधारी भगवान् विष्णुने स्वामिकार्तिकेयका सेनापतिके पदपर अभिषेक किया था। जो क्रोधको जीतकर भगवान् विष्णुके प्रिय चक्रतीर्थमें जाता है, वह पापोंसे मुक्त होता और भयंकर यमराजको नहीं देखता है। वहाँ रात्रिमें जागरण करके भगवान् विष्णुके लिये दीपदान करे और एकाग्रचित्त हो उन्हींकी कथा-वार्ता सुने। जो उस तीर्थमें भीमव्रत, पराक, कृच्छ्र, चान्द्रायण, त्रिरात्र आदिका अनुष्ठान करता है, वह अन्तमें वैतरणीनदीको तर जाता है और दिन-रात चलते हुए भीमचक्र, कूटशाल्मलि आदि नरकोंकी यातना कभी नहीं देखता है।

महाबाहो! इस प्रकार लोकपावनी नर्मदा तीनों लोकोंके लिये पूजनीय हैं। उनका अनुपम माहात्म्य मैंने तुम्हें सुनाया है। महाभाग! इसे भक्तिपूर्वक सुनकर मनुष्य रुद्रलोकमें प्रतिष्ठित होता है।

इस खण्डके आदि, मध्य और अन्तमें नर्मदा नदीका उत्तम माहात्म्य बताया गया है। जो कोई भक्तिपूर्वक इसका श्रवण करता है, उसे मनोवांछित फलकी प्राप्ति होती है। जो मनुष्य जितेन्द्रियभावसे इस अनुपम माहात्म्यको सुनकर दान करता है, उसके सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धि होती है। धूप, दीप और चन्दन आदिसे पुस्तककी पूजा करके इसका दान करना चाहिये। ब्राह्मणोंकी भी पूजा करनी चाहिये। इस माहात्म्यके श्रवण और दानसे नर्मदा देवी अत्यन्त प्रसन्न होती हैं। प्रत्येक तीर्थमें पवित्र माहात्म्य सुनकर दान करना चाहिये, तभी तीर्थसेवन सफल होता है।

इस प्रकार नर्मदाजीका माहात्म्य सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने नर्मदातटवर्ती तीर्थोंकी यात्रा की।

# श्रीसत्यनारायण-व्रतकी विधि, ब्राह्मण और लकड़हारेकी कथा

**ऋषियोंने सूतजीसे पूछा**—महामुने! किस व्रत या तपसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है? हम सुनना चाहते हैं, कृपया बताइये।

**सूतजी बोले**—देवर्षि नारदने यही बात भगवान् कमलाकान्तसे पूछी थी, उन्होंने जो उसका उत्तर दिया था, उसीको आप सुनिये। एक दिन दूसरोंपर अनुग्रह करनेवाले योगी नारदजी विविध लोकोंमें घूमते हुए मर्त्यलोकमें आये। उन्होंने देखा, यहाँके सभी मनुष्य भाँति-भाँतिके दुःखोंसे पीड़ित हैं और अपने-अपने कर्मके फलस्वरूप विविध योनियोंमें जन्म लेकर क्लेश पा रहे हैं। वे सोचने लगे—'किस उपायसे इनका दुःख निश्चितरूपसे दूर हो सकता है।' मन-ही-मन इस प्रकार सोचकर वे विष्णुलोकमें गये और वहाँ जाकर उन्होंने शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी, वनमालासे विभूषित, शुक्लवर्ण चतुर्भुज देवदेवेश्वर भगवान् नारायणको देखकर कुछ कहना चाहा।

**नारदजी बोले**—आप मन और वाणीसे अतीत अनन्तशक्ति हैं। आदि, मध्य और अन्तसे रहित हैं, निर्गुण हैं, गुणात्मा हैं, सबके आदिभूत हैं और भक्तोंके दुःखका नाश करनेवाले हैं। आपको नमस्कार है।

भगवान् विष्णुने नारदका स्तवन सुनकर उत्तर दिया—

**श्रीभगवान् बोले**—महाभाग! तुम किस लिये यहाँ आये हो और तुम्हारे मनमें क्या अभिलाषा है? बताओ, मैं तुम्हारी सब बातोंका उत्तर दूँगा।

**नारदजी बोले**—मर्त्यलोकमें मनुष्य पापकर्मवश विविध योनियोंमें जन्म लेकर नाना प्रकारसे क्लेश पा रहे हैं और अपने-अपने पापोंका फल भोग रहे हैं। हे नाथ! उनके वे सारे क्लेश सहजमें ही कैसे दूर हो सकते हैं? यदि मुझपर आपकी कृपा है तो वह उपाय बताइये। उसीको सुननेकी मेरी इच्छा है।

**श्रीभगवान्ने कहा**—वत्स! लोगोंके प्रति अनुग्रहकामी होकर तुमने बड़ी अच्छी बात पूछी। जिसके करनेसे मनुष्य मोहसे मुक्त होता है, वह मैं तुमसे कह रहा हूँ, सुनो।

एक अत्यन्त पवित्र व्रत है, जो स्वर्ग या पृथ्वीपर अति दुर्लभ है। मैं स्नेहवश, हे विप्र! आज उसीको प्रकट कर रहा हूँ। इस व्रतका नाम सत्यनारायण-व्रत है। इसको भलीभाँति विधानपूर्वक बतलाता हूँ। इस व्रतका सम्यक्-रूपसे अनुष्ठान किये जानेपर इस लोकमें सुख भोगकर मनुष्य परलोकमें मोक्षको प्राप्त करता है।

**भगवान्की इस बातको सुनकर नारदजीने फिर कहा**—इस व्रतका क्या फल है, इसकी क्या विधि है और किसने यह व्रत किया था तथा कब किया था? यह सब विस्तारपूर्वक बतलाइये।

**श्रीभगवान् बोले**—इस व्रतसे दुःख-शोकादिका नाश होता है, धन-धान्यकी वृद्धि होती है और यह व्रत सौभाग्य, सन्तति तथा सर्वत्र विजय प्रदान करता है। मनुष्य भक्ति-श्रद्धाके साथ जिस किसी दिन यह व्रत कर सकता है। परंतु सत्यनारायणदेव निशामुख अर्थात् सन्ध्याके समय पूजे जानेपर सन्तुष्ट होते हैं। धर्मपरायण मनुष्य ब्राह्मण और बन्धु-बान्धवोंके साथ यह व्रत करे। भक्तिके द्वारा भोग लगावे। भोग उत्तम पदार्थोंका होना चाहिये। भोग सवाके हिसाबसे (जैसे सवा छटाक, सवा पाव, सवा सेर आदि) होना चाहिये। केला, घी, दूध, गेहूँ, गेहूँका आटा, गेहूँका आटा न मिलनेपर चावलका आटा और चीनी अथवा गुड़का भोग लगाना चाहिये। ये सभी चीजें परिमाणमें सवाके हिसाबसे होनी

चाहिये और सबको एकत्रकर निवेदन करना चाहिये। तदनन्तर घरके लोगोंके साथ कथा सुनकर ब्राह्मणको दक्षिणा देनी चाहिये। इसके बाद ब्राह्मणोंको प्रसाद खिलाकर अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ भक्तिपूर्वक स्वयं प्रसाद ग्रहण करना चाहिये और भगवान्‌के सामने (प्रेमपरवश होकर) नाचना और गाना चाहिये। इसके बाद स्तुति करके सत्यनारायण भगवान्‌का स्मरण करते हुए घर जाना चाहिये। इस प्रकार करनेपर मनुष्योंको निश्चय ही मनोवांछित फल प्राप्त होगा। विशेषकर इस कलियुगमें तो सत्यनारायण-व्रतके अतिरिक्त पृथ्वीपर अभीष्टसिद्धिका और कोई उपाय ही नहीं है।

पूर्वकालमें एक ब्राह्मण इस व्रतको करके कृतकृत्य हो गये थे। अब उनकी कथा कहता हूँ। काशीपुर ग्राममें एक निर्धन ब्राह्मण रहते थे। वे भूख-प्याससे व्याकुल होकर सदा पृथ्वीपर भटका करते। ब्राह्मणको दुःखी देखकर ब्राह्मणप्रिय भगवान् वृद्ध ब्राह्मणका रूप बनाकर उनके पास आये और उन्होंने आदरके साथ पूछा—'ब्राह्मण देवता! आप किसलिये अत्यन्त दुःखित होकर सारी पृथ्वीपर भटक रहे हैं। यदि आपकी अभिरुचि हो तो सारी बात मुझसे कहिये। मैं सुनना चाहता हूँ।'

**ब्राह्मणने कहा**—मैं बड़ा गरीब हूँ और भीख माँगनेके लिये ही इस प्रकार भटकता रहता हूँ। आप कोई उपाय जानते हों, तो हे प्रभो! कृपापूर्वक मुझे बताइये।

**वृद्ध ब्राह्मणने कहा**—सत्यनारायण विष्णु-भगवान् मनचाहा फल देते हैं। द्विजश्रेष्ठ! आप सत्यनारायणका उत्तम व्रत करें। मनुष्य इस व्रतको करके सब दुःखोंसे मुक्त हो जाता है।

**श्रीभगवान् बोले**—वृद्ध बने हुए सत्यनारायण ब्राह्मणको आदरपूर्वक व्रतकी पूरी विधि बताकर वहाँसे अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर वे ब्राह्मण मन-ही-मन भगवान्‌का चिन्तन करते हुए घर लौटे। उन्होंने समझा कि 'नारायणने ही मुझको यह व्रत बतलाया है, अतएव मैं इस व्रतको करूँगा' ब्राह्मण इसी सोच-विचारमें रहे। उनको रात्रिमें नींद नहीं आयी। प्रातःकाल उठते ही 'मैं सत्यनारायण-व्रत करूँगा' यह संकल्प करके ब्राह्मण भिक्षाके लिये चले। उस दिन ब्राह्मणको भिक्षामें प्रचुर द्रव्यकी प्राप्ति हुई। उसके द्वारा उन्होंने बन्धु-बान्धवोंके साथ सत्यनारायणका व्रत किया और उस व्रतके प्रभावसे वे श्रेष्ठ ब्राह्मण समस्त दुःखोंसे छूटकर सम्पूर्ण सम्पत्तिसे सम्पन्न हो गये। तबसे वे प्रतिमास सत्यनारायण-व्रत करने लगे।

**श्रीभगवान्‌ने कहा**—वे उत्तम ब्राह्मण वृद्धरूपधारी नारायणके द्वारा व्रतको जानकर सारे पापोंसे मुक्त हो गये और उन्होंने दुर्लभ मोक्षकी प्राप्ति की। नारद! जिस समय इस व्रतका पृथ्वीमें प्रचार होगा, उसी समय मनुष्योंके समस्त दुःख नष्ट हो जायँगे।

**सूतजी बोले**—ब्राह्मणो! नारायणने महात्मा नारदको जैसा कहा था, ठीक वैसा ही मैंने आपलोगोंसे कह दिया। अब और क्या कहूँ।

**ऋषियोंने पूछा**—इसके बाद पृथ्वीपर इस व्रतका अनुष्ठान किस मनुष्यने किया था? हे मुने! यह सब हम सुनना चाहते हैं। इस विषयमें हमारे मनमें बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हो गयी।

**सूतजी बोले**—मुनियो! उसके बाद पृथ्वीपर किसने यह व्रत किया था, सो सुनो। एक दिन वे श्रेष्ठ ब्राह्मण अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ अपने वैभवके अनुरूप व्रत कर रहे थे। इसी समय वहाँ एक लकड़हारा आया। लकड़हारेने लकड़ी बाहर रख दी और वह ब्राह्मणके घरके अंदर चला गया। उस समय वह प्याससे पीड़ित था। उन ब्राह्मणको कार्यमें लगे देखकर प्रणाम करके उसने पूछा—'महाराज! आप यह क्या कर रहे हैं?'

**ब्राह्मणने कहा**—यह सत्यनारायण-व्रत है।

यह व्रत दुःख-दारिद्र्यका नाश करता है, सब प्रकारकी इच्छित वस्तुओंको देता है और पुत्र-पौत्रादिकी वृद्धि करता है। इस व्रतके प्रभावसे ही धन-धान्यादि महान् समृद्धिसे मेरा घर भर गया है। ब्राह्मणकी इस बातको सुनकर लकड़हारेको बड़ा हर्ष हुआ। वह जल पीकर और प्रसाद लेकर स्थिर मनसे सत्यनारायणदेवका चिन्तन करता हुआ नगरमें गया। उसने मन-ही-मन कहा कि 'आज लकड़ियोंके बेचनेपर जो कुछ मिलेगा, उसीके द्वारा मैं सत्यदेवका उत्तम व्रत करूँगा।' इस प्रकार मनमें विचारकर वह लकड़ियोंके बोझेको सिरपर उठा नगरमें धनियोंके रमणीय स्थानमें पहुँचा। आज लकड़हारेको लकड़ियोंका दूना मूल्य मिला। उसका हृदय प्रसन्न हो गया। वह पके हुए केले, चीनी, घी, दूध और गेहूँका आटा—सब वस्तुएँ सवाये हिसाबसे लेकर घर पहुँचा। तदनन्तर बन्धु-बान्धवोंको निमन्त्रण देकर उसने विधिपूर्वक व्रत किया। उस व्रतके प्रभावसे वह लकड़हारा धन और पुत्रसे सम्पन्न हो गया तथा इहलोकमें सुख भोगकर अन्तमें सत्यपुरको प्राप्त हुआ।

## सत्यनारायण-व्रतकी महिमा, राजा उल्कामुख, साधु वणिक् और राजा वंशध्वजकी कथा

**सूतजीने कहा**—एक घटना और कहता हूँ, सुनो। पूर्वकालमें उल्कामुख नामक एक जितेन्द्रिय, सत्यवादी, प्रबल पराक्रमी राजा थे। वे बुद्धिमान् राजा प्रतिदिन भगवान्‌के मन्दिरमें जाते और धन देकर ब्राह्मणोंको सन्तुष्ट करते। उनकी पत्नीका नाम था भद्रशीला। वह सरोजवदना, प्रमुग्धा और पतिपरायणा सती थी। राजा रानीके साथ समुद्रके तीरपर जाकर सत्यनारायणका व्रत किया करते थे। एक दिन जब राजा व्रत कर रहे थे, एक साधु नामक वणिक् वहाँ आया। वह व्यापारके लिये नाना प्रकारके रत्नादि पदार्थोंको नौकामें भरकर लाया था। वणिक् समुद्रके किनारे नावको खड़ी करके तटके ऊपर आया और व्रत करते हुए राजाको देखकर उसने विनयपूर्वक पूछा।

**साधुने कहा**—राजन्! भक्तियुक्त चित्तसे आप यह क्या अनुष्ठान कर रहे हैं? इस समय मेरी इसे जाननेकी इच्छा है। अतएव आप समझाकर कहें।

**राजा बोले**—साधो! मैं अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ अतुलनीय तेजयुक्त भगवान् विष्णुकी पूजा कर रहा हूँ। मेरा यह व्रत पुत्रादिकी प्राप्तिके लिये है।

**तदनन्तर साधुने राजाको आदरपूर्वक प्रणामकर कहा**—राजन्! इस व्रतकी सांगोपांग विधि आप मुझे बतलावें; क्योंकि मैं भी यह व्रत करूँगा। मेरे भी सन्तान नहीं है। इस व्रतसे मुझे निश्चय ही सन्तानकी प्राप्ति होगी।

इतना कहकर वणिक्‌ने उन राजासे व्रतकी विधि अच्छी तरह पूछकर वहाँसे प्रस्थान किया और अपने वाणिज्यका काम पूरा करके वह आनन्दके साथ घर लौट आया। कुछ ही दिनोंके बाद उसकी पतिव्रता पत्नी गर्भवती हुई और समयपर उसने एक अति सुन्दरी कन्याको जन्म दिया। कन्या शुक्ल पक्षके चन्द्रमाकी भाँति दिनोंदिन बढ़ने लगी। वणिक्‌ने उसका जातकर्मादि संस्कार करवाकर उसका नाम रखा कलावती। तदनन्तर वणिक्‌पत्नी लीलावतीने मधुर वचनोंमें पतिसे कहा—'स्वामी! आपने पूर्वमें जो (सत्यनारायण-व्रत करनेकी) प्रतिज्ञा की थी, उसे अब पूरी क्यों नहीं कर रहे हैं?'

**साधुने उत्तर दिया**—प्रिये! मैं कलावतीके विवाहके समय सत्यनारायणका व्रत करूँगा।

पत्नीको इस प्रकार आश्वासन देकर साधु-वणिक् समुद्रके तटकी ओर चला गया। इधर पिताके घरमें कलावती बढ़ने लगी। इसके बाद धर्मके जाननेवाले पिताने जब अपनी पुत्रीको विवाहके योग्य देखा, तब अपने बन्धु-बान्धवोंसे परामर्श करके साधुने वर ढूँढ़नेके लिये दूतको भेजा। दूत साधुका आदेश पाकर कांचननगर गया और वहाँ कलावतीके योग्य एक उत्तम वरकी खोज करके वहाँसे उस वणिक्-पुत्रको साथ लेकर लौट आया।

साधु वणिक् उस सुन्दर और सद्गुणी वणिक् कुमारको देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और अपने जाति-बन्धुओंके साथ मिलकर प्रसन्नतापूर्वक यथाविधि अपनी कन्याको उसके अर्पण कर दिया।

दुर्भाग्यवश कलावतीके विवाहके समय भी वणिक् उस उत्तम व्रतकी बात भूल गया। इससे भगवान् उसपर रुष्ट हो गये। कुछ दिनोंके बाद वह व्यापारमें निपुण वणिक् अपने श्रीमान् जामाताको साथ लेकर व्यापारके लिये बाहर गया और राजा चन्द्रकेतुके राज्यमें समुद्रके समीप रमणीय रत्नसार नगरमें जा पहुँचा। वहाँ एक पुरी बनाकर वह अपना व्यापार करने लगा। उसी समय प्रभु सत्यनारायणने साधुको मिथ्यावादी जानकर उसे शाप देते हुए कहा—'आजसे कुछ ही दिनोंमें यहीं तुम दुःखको प्राप्त होओगे।' इधर उसी दिन एक चोरने राजमहलमें धन चुराया। चोर धनको लेकर साधुके मकानके बगलके रास्तेसे जा रहा था। उसने घूमकर पीछेकी ओर देखा, राजाके दूत उसके पीछे-पीछे दौड़े आ रहे थे। वह डर गया और चुराये हुए धनको वहीं छोड़कर जल्दीसे भाग निकला। दूतोंने आकर देखा, साधु वणिक्के घरके पास राजाका धन पड़ा है। तब उन्होंने जामाताके साथ साधुको पकड़ लिया और उन्हें बाँधकर प्रसन्न मनसे तुरंत राजाके समीप ले जाकर कहा—'प्रभो! दोनों चोर पकड़कर आ गये हैं। इनको देखिये और आज्ञा दीजिये कि क्या किया जाय?' तत्पश्चात् राजाकी आज्ञासे दूतोंने दोनों वणिकोंको अच्छी तरह बाँधकर बड़े कठिन कारागारमें डाल दिया।

उस समय उनके सम्बन्धमें कोई भी विचार नहीं किया गया। उन दोनोंने बहुत कुछ कहा; परंतु सत्यनारायणदेवकी मायासे किसीने उनकी एक भी नहीं सुनी। इसके बाद राजा चन्द्रकेतुने उनकी सारी धन-सम्पत्ति छीन ली। इधर सत्यदेवके शापसे घरमें लीलावती और कलावतीपर भी दुःख आ पड़ा। घरमें जो कुछ भी धन-सम्पत्ति थी, चोरोंने सारी अपहरण कर ली। लीलावती मानसिक और शारीरिक व्याधिसे तथा भूख-प्याससे पीड़ित हो दाने-दानेकी चिन्तामें नगरमें घर-घर भटकने लगी। इस प्रकार कलावती भी प्रतिदिन अन्नके लिये भटकने लगी। एक दिन भूखसे व्याकुल कलावती घरसे निकलकर किसी ब्राह्मणके घर पहुँची। उसने देखा, वहाँ सत्यनारायणका व्रत हो रहा है। वह वहाँ बैठ गयी और कथा सुनकर उसने भगवान्से मनोरथपूर्तिके लिये प्रार्थना की। इसके बाद प्रसाद लेकर उसी रातको वह अपने घर लौट आयी।

**लीलावतीने कन्याको बहुत डाँटकर कहा**—बेटी! तू इतनी राततक कहाँ थी? तेरे मनमें क्या है?

**कलावतीने उत्तर दिया**—माता! ब्राह्मणके घर सत्यनारायण भगवान्का व्रत था। मैं उसीको देख रही थी। सत्यनारायणका व्रत मनोरथ पूर्ण करनेवाला है।

कन्याकी यह बात सुनकर लीलावती व्रत करनेको तैयार हुई और उस साध्वी साधुपत्नीने अपने सुहृद्-बन्धुओंके साथ सत्यनारायण-व्रत किया। 'मेरे स्वामी और जामाता शीघ्र घर लौट आवें'—सत्यनारायणदेवसे उसने बार-बार इस वरके लिये प्रार्थना की और कहा, 'प्रभो! मेरे

पति और दामादका अपराध क्षमा कीजिये।' वणिक्पत्नीके व्रतसे प्रभु सत्यनारायण प्रसन्न हो गये और उन्होंने श्रेष्ठ राजा चन्द्रकेतुको स्वप्नमें दर्शन देकर कहा, 'राजन्! सबेरा होते ही दोनों वणिकोंको छोड़ देना और उनका जो धन छीना है, उससे दुगुना उन्हें दे देना। नहीं तो मैं राज्य, धन और पुत्रके साथ तुम्हारा विनाश कर दूँगा।' राजाको इतना कहकर प्रभु अन्तर्धान हो गये। प्रातःकाल होते ही राजा सभामें गये और स्वजनोंके साथ वहाँ बैठकर उन्होंने दूतोंको आज्ञा दी कि 'अभी जाकर दोनों बन्दी महाजनोंको तुरंत कैदसे छोड़ दो।'

राजाकी आज्ञा पाकर दूतोंने दोनों महाजनोंको मुक्त कर दिया और उन्हें साथ लेकर विनयपूर्वक राजासे कहा, 'दोनों वणिकोंकी हथकड़ी-बेड़ी खोलकर हम उन्हें यहाँ ले आये हैं।' इसी समय उन दोनोंके मनमें पुरानी बातका स्मरण हुआ और भगवान् सत्यनारायणकी महिमाको याद करके वे विस्मय और भयसे विह्वल हो गये। उन्होंने राजा चन्द्रकेतुको प्रणाम किया। राजाने भी उनको देखकर आदरपूर्वक कहा, 'दैवात् तुम्हें यह महान् कष्ट भोगना पड़ा। अब तुम्हें कोई भय नहीं है। तुम मुक्त हो, जाओ, क्षौर करा लो।' तदनन्तर श्रीमान् राजा चन्द्रकेतुने सोने और रत्नोंसे बने हुए गहनोंके द्वारा दोनों वणिकोंको अलंकृत किया। बड़ी मीठी वाणीसे उनको अति सुख पहुँचाया और छीने हुए धनसे दूना धन देकर उनसे कहा, 'साधो! अपने घर जाओ।'

**साधुने राजाको प्रणाम करके कहा**—आपकी कृपासे ही मैं घर जानेमें समर्थ हो सका हूँ। उस समय साधुने मंगलाचार करते हुए यात्रा की। ब्राह्मणोंको धनका दान किया और अपने नगरकी ओर दोनों चले।

**कुछ ही दूर आगे बढ़नेपर प्रभु सत्यनारायणने दण्डीके वेशमें आकर उनसे पूछा**—बताओ तो तुम्हारी नावमें क्या है? तब महाजनने प्रमत्त-से होकर बड़ी अवहेलनाके साथ हँसी उड़ाते हुए कहा, 'दण्डी! क्यों पूछ रहे हो? तुम्हें रुपये चाहिये क्या? मेरी नावमें तो लता-पत्र भरे हैं।'

दण्डीके वेशमें आये हुए सत्यनारायण भगवान्ने साधुके निष्ठुर वचन सुनकर कहा, 'तुम्हारे वचन सत्य हों।' और यह कहकर वे तुरंत वहाँसे चल दिये। दण्डीके कुछ दूर चले जानेपर साधु भी समुद्रके किनारे पहुँचा और नित्य-क्रियादि करके नावपर गया तो देखा, नावमें लता-पत्र भरे पड़े हैं। यह देखकर उसे बड़ा विस्मय हुआ और वह मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। थोड़ी देरके बाद चेत होनेपर वह बड़ी चिन्तामें डूब गया। श्वशुरकी यह दशा देखकर जामाताने उनसे कहा, 'आप किसलिये शोक कर रहे हैं? यह सब दण्डीके शापका फल है। वे सब कुछ करनेमें समर्थ हैं। वे ही हर्ता-कर्ता हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। हमलोग उन्हींकी शरण लें, तो हमारा मनोरथ पूर्ण हो जायगा।'

**जामाताकी यह बात सुनकर साधु दौड़कर दण्डीके पास पहुँचा और उनके दर्शन करके भक्तिपूर्वक नमस्कार कर उनसे बोला**—मैं बड़ा दुरात्मा हूँ। आपकी मायासे मुग्ध होकर मैंने जो कुछ कह दिया है, उसके लिये क्षमा करें। मैंने आपके सामने दुष्ट वाक्योंका प्रयोग किया है। हे नाथ! मुझे इसके लिये क्षमा करें। क्षमा ही साधुओंका धन है। साधु तो दूसरेका उपकार करनेमें ही लगे रहते हैं। यों कहकर शोक-विकल वणिक् बार-बार प्रणाम करने लगा और रोने लगा।

**साधु वणिक्को विलाप करते देखकर दण्डीने कहा**—रोओ मत, मेरी बात सुनो। दुर्मते! तुम मेरा अपमान करके मेरी पूजासे विमुख हो गये थे। उसीके फलस्वरूप बार-बार दुःखको प्राप्त होते हो।

**भगवान्के इस प्रकारके वचनोंको सुनकर साधुने भगवान्की स्तुति की। साधु बोला**—

प्रभो! ब्रह्मादि स्वर्गवासी देवता आपकी मायासे मोहित होकर आपके आश्चर्यमय रूप और गुणोंको नहीं जान पाते। मैं भी आपकी मायासे मुग्ध हूँ, अतएव आपको कैसे जान सकूँगा। आप प्रसन्न हों। मैं अपने वैभवके अनुसार आपकी पूजा करूँगा। मैं आपके शरणागत हूँ। मुझे पुत्र और वित्त दीजिये। मेरी रक्षा कीजिये।

साधुके इस प्रकारके भक्तियुक्त वचनोंको सुनकर भगवान् जनार्दन परितुष्ट हो गये और साधुको मनचाहा वर देकर वहीं अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर साधुने नावपर चढ़कर देखा, नाव रत्नादिसे भरी है। 'सत्यदेवकी दयासे मुझे वांछित फल मिल गया।' यों कहकर साधुने अपने मित्रोंके साथ विधिवत् सत्यनारायणकी पूजा की और बड़े हर्षके साथ यात्रा आरम्भ की। नौका बड़े वेगसे चलने लगी। दोनों अपने देशमें आ पहुँचे। साधुने जामातासे कहा—'वत्स! वह देखो, मेरी पुरी दिखायी दे रही है।' तत्पश्चात् साधुने अपने धनके रखवाले दूतको नगरमें भेजा। दूतने साधुकी पत्नी लीलावतीके समीप जाकर हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए कहा, 'आपके पतिदेव नाना प्रकारके धन-रत्नोंके साथ अपने जामाता और सुहृद्-मित्रोंसे घिरे हुए आ रहे हैं।' साध्वी वणिक्-पत्नी दूतके मुखसे स्वामी और जामाताके आनेका समाचार सुनकर बड़ी हर्षित हुई और सत्यदेवकी पूजा करके उसने अपनी लड़कीसे कहा, 'मैं पतिकी अगवानीके लिये जाऊँगी, तुम भी तुरंत मेरे साथ चलो।' माताकी बात सुनकर कलावतीने सत्यनारायणका व्रत किया; परंतु प्रसाद लिये बिना ही वह पतिके सामने चल पड़ी। इससे सत्यनारायणदेव रुष्ट हो गये। धन-रत्न और जँवाईको लेकर नौका जलमें अदृश्य हो गयी। कलावतीने जब पतिको नहीं देखा, तब वह शोकसे अत्यन्त व्याकुल होकर रोती हुई जमीनपर गिर पड़ी। वह अपने पति और नावके न दीखनेसे अत्यन्त शोकातुर थी। कन्याकी इस दशाको देखकर साधु बहुत डर गया। उसने सोचा, यह क्या आश्चर्य हो गया! नाव खेनेवाले भी बड़ी चिन्ता करने लगे। यह सब देखकर पतिव्रता लीलावती अत्यन्त दुःखसे विह्वल होकर विलाप करती हुई स्वामीसे बोली, 'मैंने अभी-अभी जँवाईको देखा था। क्षणमात्रमें ही नौकाके साथ जामाता अदृश्य हो गये। अब वे कहीं नहीं दीख रहे हैं। पता नहीं, किस देवताने उन्हें इस प्रकार हरण कर लिया। आप क्या भगवान् सत्यदेवके प्रभावको नहीं जानते?' लीलावती इस प्रकार कहकर विलाप करने लगी। उसीके साथ सारे बन्धु-बान्धव भी रोने लगे। लीलावती अपनी कन्याको गोदमें लेकर रुदन करने लगी। कन्या कलावतीने स्वामीको डूबा हुआ जानकर दुःखित हृदयसे पतिकी पादुकाको लेकर सती होनेका निश्चय किया। धर्मको जाननेवाला साधु वणिक् कन्याकी यह स्थिति देखकर अपनी पत्नीके साथ शोकसे अत्यन्त व्याकुल हो उठा और उसने मन-ही-मन सोचा—'निश्चय ही सत्यदेवकी मायाके द्वारा ही मेरे जामाता हरे गये हैं। मैं अपने वैभवके अनुसार भगवान् सत्यनारायणकी पूजा करूँगा।'

साधुने वहाँ सब लोगोंको बुलाकर यह बात कही और अपना मनोरथ व्यक्त करते हुए पृथ्वीपर दण्डकी भाँति पड़कर वह बार-बार भगवान् सत्यदेवको प्रणाम करने लगा। इससे सत्यदेव प्रसन्न हो गये। उन्होंने आकाशसे ही साधुके प्रति कहा—'साधो! तुम्हारी कन्या मेरे भोगका तिरस्कार करके पतिको देखनेके लिये आ गयी। इसीलिये उसका पति अदृश्य हो गया। अब वह घर जाय। प्रसाद लेकर लौटकर आवे, तब अवश्य ही उसे स्वामीका सुख प्राप्त होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।'

वणिक्-नन्दिनी कलावतीने गगनमण्डलसे यह प्राणदान करनेवाली वाणी सुनी और सुनकर

तुरंत ही वह घर चली गयी। वहाँ जाकर उसने प्रसाद लिया। तदनन्तर जब वह लौटकर आयी, तब अपने पतिको, नावको और समस्त बन्धुओंको देखकर अत्यन्त सुखी हुई। उसने पितासे कहा—'पिताजी! आइये, हमलोग घर चलें। अब देर क्यों कर रहे हैं।' कन्याकी इस बातको सुनकर वणिक् प्रसन्न हो गया और विधि-विधानके साथ भगवान् सत्यनारायणकी पूजा करके धन-रत्न और बन्धुओंके साथ वह अपने घर पहुँचा। तदनन्तर प्रत्येक संक्रान्ति और पूर्णिमाको यथाविधि सत्यनारायणकी पूजा करता हुआ वह इस लोकमें सुखी होकर अन्तमें सत्यपुरको प्राप्त हो गया।

**सूतजी बोले**—श्रेष्ठ मुनियो! एक उपाख्यान और सुनिये। पूर्वकालमें वंशध्वज नामक एक प्रजापालनमें तत्पर राजा थे। उन्होंने सत्यदेवके प्रसादका परित्याग किया था। इसलिये वे दुःखको प्राप्त हुए। एक दिन राजाने वनमें जाकर विविध प्रकारके मृगोंका शिकार किया। फिर जब विश्रामके लिये वे बरगदके वृक्षके नीचे आये, तब उन्होंने देखा, ग्वाले लोग बड़े सन्तुष्ट-मनसे मित्रोंको साथ लेकर भक्तिपूर्वक सत्यनारायणदेवकी पूजा कर रहे हैं। राजाने सत्यनारायणकी पूजा होती देखी, पर घमण्डके कारण न तो वे वहाँ गये और न प्रणाम ही किया। ग्वाले राजाके पास प्रसाद रख आये और पूजाकी जगह आकर प्रसाद लेकर अपने घरोंको चले गये। राजाने प्रसाद नहीं लिया। इसीलिये वे बड़े दुःखमें पड़े। उनके सौ पुत्र मर गये। धन-धान्यादि समस्त सम्पत्ति नष्ट हो गयी। तब उन्होंने सोचा, 'सत्यदेवने ही मेरा सब कुछ नष्ट कर दिया है, इसलिये जिस स्थानपर ग्वाले पूजा कर रहे थे, मैं वहाँ जाऊँगा।' राजाने मन-ही-मन ऐसा निश्चय किया और ग्वालोंके पास जाकर उनके साथ भक्ति-श्रद्धापूर्वक यथाविधि सत्यदेवकी पूजा की। तब सत्यदेवकी कृपासे वे धन-पुत्रादिसे सम्पन्न हो गये और इस लोकमें सुख भोगकर अन्तमें विष्णुपुरमें जा पहुँचे।

जो मनुष्य इस परम दुर्लभ सत्यनारायण-व्रतका आचरण करता है, भुक्ति-मुक्तिदायिनी इस पवित्र कथाका श्रवण करता है, वह भगवान् सत्यदेवके प्रसादसे धन-धान्यादि समृद्धिको प्राप्त होता है। इससे दरिद्र धन पाता है, बन्दी बन्धनसे छूटता है, भयभीत भयसे छुटकारा पाता है और मनुष्य इस लोकमें मनोवांछित फलको पाकर अन्तमें सत्यपुरमें गमन करता है। यह सत्य है, इसमें सन्देह नहीं।

**सूतजी कहते हैं**—ब्राह्मणो! आपलोगोंको मैंने श्रीसत्यनारायण-व्रत सुनाया। इस व्रतका आचरण करके मनुष्य सारे दुःखोंसे छूट जाता है। विशेषतः कलिकालमें सत्यपूजा महान् फल देनेवाली है। इन देवको कोई 'सत्यनारायण' कहते हैं और कोई-कोई 'सत्यदेव' कहते हैं। ये नाना रूप धारण करके सबके मनोरथको प्रदान करते हैं। ये सनातन सत्यदेव कलियुगमें सत्यव्रतके रूपमें अवतीर्ण होंगे।

श्रेष्ठ मुनियो! जो मनुष्य नित्य इसका पठन या श्रवण करता है, सत्यदेवके प्रसादसे उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं*।

**रेवा-खण्ड सम्पूर्ण**

**आवन्त्यखण्ड समाप्त**

* यह सत्यनारायण-व्रत-कथा बंगवासी प्रेस, कलकत्तासे प्रकाशित बंगला संस्करणके रेवाखण्डसे अनुवादित है।

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीउमामहेश्वराभ्यां नमः

# संक्षिप्त श्रीस्कन्दमहापुराण

## नागरखण्ड ( पूर्वार्ध )

### राजा त्रिशंकुका वसिष्ठपुत्रोंके शापसे चाण्डाल होकर विश्वामित्र-मुनिकी शरणमें जाना, तीर्थसेवनसे राजाका उद्धार और विश्वामित्रजीके द्वारा उनसे यज्ञ करानेका उद्योग

**स धूर्जटिजटाजूटो जायतां विजयाय वः।**
**यत्रैकपलितभ्रान्तिं करोत्यद्यापि जाह्नवी॥***

**सूतजी बोले**—पूर्वकालमें त्रिशंकु नामसे प्रसिद्ध एक सूर्यवंशी राजा थे। वे महर्षि वसिष्ठके शिष्य थे और सदा यज्ञ-याग आदि किया करते थे। उन्होंने प्रजाका पुत्रकी भाँति पालन किया था। एक दिन राजसभामें बैठे हुए मुनिवर वसिष्ठजीसे राजाने विनयपूर्वक कहा—'भगवन्! अब मैं ऐसे यज्ञके द्वारा भगवान्‌की आराधना करना चाहता हूँ, जिससे इस शरीरके साथ ही स्वर्गलोकमें शीघ्र जाना सम्भव हो सके।'

**वसिष्ठजीने कहा**—राजन्! ऐसा कोई यज्ञ नहीं है जिसके द्वारा इसी शरीरसे मनुष्य स्वर्गमें जा सके। स्वयम्भू ब्रह्माजीने जिन अग्निष्टोम आदि यज्ञोंका प्रतिपादन किया है, उनके करनेपर भी दूसरे ही शरीरसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है।

**त्रिशंकु बोले**—प्रभो! यदि इसी शरीरसे स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला यज्ञ आप मुझसे नहीं करा सकते तो मैं किसी दूसरे ब्राह्मणको आचार्य बनाकर उस यज्ञका अनुष्ठान करूँगा।

**सूतजी कहते हैं**—त्रिशंकुका यह वचन सुनकर महर्षि वसिष्ठने हँसते हुए कहा—'पृथ्वीनाथ! आज ही वैसा यज्ञ कीजिये (मुझे कोई आपत्ति नहीं है)।' तब राजा वसिष्ठ मुनिको प्रणाम करके उस स्थानपर गये जहाँ उनके सौ पुत्र रहते थे। उनके सामने भी राजाने अपना वही प्रयोजन रखा। तब उन्होंने भी वही उत्तर दिया जो वसिष्ठजीने कहा था। यह सुनकर राजाने पुनः उनसे कहा—'गुरुपुत्रो! आपके पिताजी इस समय मुझे सशरीर स्वर्ग भेजनेमें असमर्थ हो गये हैं, अतः मैंने उनको छोड़ दिया है। अब मेरे पुरोहित वे नहीं रहे। यदि आपलोग भी मुझसे वैसा यज्ञ नहीं करवायेंगे तो आपको भी छोड़कर मैं शीघ्र दूसरे पुरोहितका वरण करूँगा।' यह सुनकर वे सभी गुरुपुत्र कुपित हो उठे और कठोर वाणीमें बोले—'पापी! तूने हितैषी गुरुका त्याग किया है, इसलिये तू सब लोगोंके द्वारा निन्दित चाण्डाल हो जा।' उनका यह वाक्य पूरा होते ही राजा त्रिशंकु उसी क्षण विकृत एवं विकराल शरीरधारी चाण्डाल हो गये। अपनेको विकृत चाण्डालके रूपमें देखकर राजाको बड़ी लज्जा हुई। वे बहुत दुःखी होकर इधर-उधर घूमने लगे। सोचने लगे—'क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किस प्रकार मुझे शान्ति मिलेगी? मैं जलती हुई आगमें समा जाऊँ अथवा विष खा लूँ? किस उपायसे आज मेरी मृत्यु हो जाय। ऐसे घृणित शरीरके द्वारा उन स्त्रियोंको मैं कैसे देखूँगा, जिनके साथ वैसे दिव्य शरीरसे क्रीड़ा की है।'

इस प्रकार शोक करते हुए राजाने रात्रिके

---

* भगवान् शंकरका वह जटा-जूट आपलोगोंको विजय देनेवाला हो, जिसके एक भागमें आज भी श्रीगंगाजी उसके पके होनेका भ्रम उत्पन्न करती है।

समय अपने नगरमें प्रवेश किया तथा राजद्वारपर ठहरकर मन्त्रियोंसहित पुत्रको बुलाकर शापसम्बन्धी सब बातें बतायीं। दूर खड़े हुए राजाका यह वचन सुनकर वे मन्त्री और पुत्र भी शोकमग्न हो रोने लगे। तब राजाने मन्त्रियोंसे कहा—'यदि मेरे प्रति तुम्हारे हृदयमें अविचल भक्तिभाव हो तो अब मेरे पुत्रका मन्त्रित्व स्वीकार करो। मेरा ज्येष्ठ पुत्र हरिश्चन्द्र मुझे बहुत ही प्रिय है, अतः शान्तचित्त होकर इसीको मेरे स्थानपर यथासम्भव शीघ्र राजा बनाओ। मैं तो अब अपने संकल्पको पूरा करूँगा। या तो इसी प्रयत्नमें प्राण दे दूँगा या सदेह स्वर्गलोकमें जाऊँगा।' ऐसा कहकर त्रिशंकु वनमें चले गये और मन्त्रियोंने उनके पुत्रको राजसिंहासनपर बिठा दिया।

**सूतजी कहते हैं**—तदनन्तर त्रिशंकुने यह निश्चय किया कि इस समय त्रिलोकीमें विश्वामित्र मुनिको छोड़कर दूसरा कोई ऐसा नहीं है जो मुझे इस भयंकर दुःखसे बचावे। ऐसा विचारकर उन्होंने कुरुक्षेत्रको प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचकर वे विश्वामित्रका आश्रम ढूँढ़ने लगे। इतनेमें ही दूरसे उन्हें काले धूएँका पुंज दिखायी दिया और जलका स्पर्श करके आती हुई शीतल वायुने उनकी सारी थकावट दूर कर दी। इससे जलाशय और आश्रमका अनुमान करके वे जल्दी-जल्दी चलने लगे। थोड़ी ही देरमें नदीके तटपर एक मनोहर आश्रम दृष्टिगोचर हुआ, जो सब ओरसे फूले-फले वृक्षोंद्वारा घिरा था। वहाँ नेवले सर्पोंके, उल्लू कौवोंके, बिलाव चूहोंके और व्याघ्र नाना प्रकारके मृगोंके साथ खेल रहे थे। उस आश्रमपर पहुँचकर त्रिशंकुने तपस्याके निधान विश्वामित्र मुनिको देखा। उनका दर्शन करके दूर खड़े हो अपने नामका परिचय देते हुए उन्होंने मुनिको साष्टांग प्रणाम किया और कहा—'विप्रवर! मैं शापसे छूटनेके लिये सम्पूर्ण जगत्के मित्र महर्षि विश्वामित्रकी शरणमें आया हूँ।'

**विश्वामित्रजी बोले**—नृपश्रेष्ठ! तुम तो वसिष्ठजीके यजमान हो, वसिष्ठ अथवा उनके पुत्रोंको ही तुम्हारा यज्ञ कराना चाहिये; फिर उन्होंने तुम्हें शाप क्यों दिया? तुमने उनका क्या अपराध किया था?

**त्रिशंकुने कहा**—मुने! मैंने वसिष्ठजीसे ऐसा यज्ञ करानेके लिये प्रार्थना की थी, जिसके द्वारा मेरा इसी शरीरसे स्वर्गलोकमें जाना हो सके। मेरी प्रार्थना सुनकर उन्होंने उत्तर दिया—'राजन्! ऐसा कोई यज्ञ नहीं है, जिससे देहान्तर ग्रहण किये बिना इसी शरीरसे स्वर्गलोकमें जाया जा सके।' इसपर मैंने उनसे कहा—'यदि आप किसी उत्तम यज्ञके प्रभावसे मुझे इस शरीरके साथ ही स्वर्गलोकमें नहीं पहुँचायँगे तो मैं आज ही अपने इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये किसी दूसरे ब्राह्मणको अपना पुरोहित बनाऊँगा।' मेरा यह विचार जानकर वे बोले—'जिससे तुम्हारा भला हो, वह करो।' तब मैंने उनके पुत्रोंके पास जाकर वसिष्ठजीके साथ की हुई सारी बातें कह सुनायीं। इसपर उन सबने मुझे शाप देकर चाण्डालकी दशामें पहुँचा दिया। मुनीश्वर! तब मैंने मन-ही-मन आपका स्मरण किया और बहुत दूरसे बड़ी भारी आशा लगाकर आपके पास यहाँ कुरुक्षेत्रमें आया हूँ। मुने! आपके लिये त्रिलोकीमें कुछ भी असाध्य नहीं है। अतः आप मुझ दुखियाके दुःख-निवारणका कोई उपाय करें।'

**त्रिशंकुकी यह बात सुनकर विश्वामित्रजीने कहा**—राजन्! मैं तुमसे वैसा यज्ञ कराऊँगा जिससे क्षणभरमें तुम स्वर्गलोकमें चले जाओगे। आओ, मेरे साथ तीर्थयात्राके लिये चलो, जिससे चाण्डालतासे मुक्त होकर यज्ञ करनेके योग्य हो जाओ। यों कहकर विश्वामित्रजी त्रिशंकुको अपने पीछे-पीछे आनेका आदेश दे तीर्थयात्राके लिये चल दिये। उन महात्माके साथ तीर्थोंमें विचरते हुए त्रिशंकुका बहुत समय बीत गया, किंतु वे पाप और चाण्डालत्वसे छुटकारा न पा सके। क्रमशः यात्रा करते हुए वे दोनों अर्बुदाचल (आबू)-

के समीप आये। उस पर्वतपर चढ़कर उन्होंने पापनाशक अचलेश्वरका दर्शन किया। मन्दिरसे निकलनेपर वहीं मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेयजीसे भेंट हो गयी। विश्वामित्रजीको देखकर मार्कण्डेयजीने पूछा—'मुनीश्वर! इस समय आप कहाँसे आ रहे हैं और आपके पीछे यह कौन दिखायी देता है?'

**विश्वामित्रजी बोले**—मुने! ये राजाओंमें श्रेष्ठ त्रिशंकु हैं। वसिष्ठके पुत्रोंने क्रोध करके इन्हें चाण्डालकी दशाको पहुँचा दिया है। मैंने इनसे प्रतिज्ञा की है कि जबतक तुम पवित्र नहीं हो जाओगे तबतक मैं तुम्हारे साथ सब तीर्थोंमें भ्रमण करूँगा। मैंने पृथ्वीके सभी तीर्थों और मन्दिरोंमें भ्रमण कर लिया। परंतु ये अभीतक पवित्र न हो सके। अतः अब मैं इस पृथ्वीको त्यागकर कहीं अन्यत्र चला जाऊँगा।

**मार्कण्डेयजीने कहा**—मुने! यदि ऐसा है तो आप इस पृथ्वीको त्यागकर कहीं न जाइये। इस पर्वतसे नैर्ऋत्यकोणमें आनर्त देशके भीतर एक स्थान है, जहाँ श्रेष्ठ देवताओंने पहले सुवर्णमय शिवलिंगकी स्थापना की थी। पातालमें जो हाटकेश्वर लिंग प्रसिद्ध है उसीके नामपर इस शिवलिंगको भी लोकमें हाटकेश्वर कहते हैं। द्विज श्रेष्ठ! वहीं पातालगंगाका जल है जो रसातलसे प्रकट हुआ है। उसीके द्वारा यत्नपूर्वक पातालमें प्रवेश करके श्रद्धापूर्वक आपलोग पातालगंगाके जलमें स्नान करें। तत्पश्चात् ये त्रिशंकु हाटकेश्वरका दर्शन करके चाण्डालत्वसे मुक्त एवं शुद्ध हो जायँगे।

मार्कण्डेयजीका यह वचन सुनकर विश्वामित्र मुनि त्रिशंकुको साथ लेकर वहाँ गये और पातालमें प्रवेश करके राजाको पातालगंगाके जलमें नहलाया। स्नानके पश्चात् हाटकेश्वरका दर्शन करके वे चाण्डालत्वसे मुक्त होकर सूर्यके समान तेजस्वी हो गये। निष्पाप होकर त्रिशंकुने मुनिवर विश्वामित्रको प्रणाम किया। मुनि बोले—'राजेन्द्र! सौभाग्यकी बात है, जो तुम इस समय चाण्डालत्वसे छुटकारा पा गये। मित्र! तुम्हारे लिये मैं स्वयं ब्रह्माजीके पास जाकर प्रार्थना करूँगा कि वे तुम्हारे यज्ञमें यज्ञभाग ग्रहण करें। अतः जबतक मैं ब्रह्मलोकसे आता हूँ, तबतक तुम यज्ञके सब सामान यहीं मँगाओ।' राजाने 'बहुत अच्छा' कहकर मुनिकी आज्ञा स्वीकार की। तब वे ब्रह्माजीके समीप जा उन्हें प्रणाम करके बोले—'प्रपितामह! मैं राजा त्रिशंकुके द्वारा इस संकल्पसे यज्ञ कराऊँगा कि वे मनुष्य-शरीरसे ही आपके लोकमें जा सकें। अतः आप शिव, विष्णु आदि सब देवताओंके साथ यज्ञमण्डपमें पधारें।'

**ब्रह्माजीने कहा**—ब्रह्मन्! देहान्तर ग्रहण किये बिना केवल यज्ञकर्मसे स्वर्गकी प्राप्ति नहीं हो सकती। हम सब देवताओंके मुख अग्नि हैं। वेदोक्त विधिसे भलीभाँति आहुति देनेपर हम सब लोग यज्ञमें अपना भाग ग्रहण करेंगे। अतः राजा अग्निमुखमें ही आहुति दें। फिर उस यज्ञके प्रसादसे देहत्यागके पश्चात् वे अवश्य स्वर्ग प्राप्त करेंगे।

## विश्वामित्रजीके द्वारा त्रिशंकुका यज्ञ पूरा करके नूतन सृष्टि-रचनाका उद्योग, त्रिशंकुका ब्रह्माजीके साथ स्वर्गगमन

**सूतजी कहते हैं**—ब्रह्माजीका वचन सुनकर विश्वामित्रजी बोले—'अच्छा तो आप मेरी तपस्याका बल देखिये। मैं त्रिशंकुसे विधिवत् दक्षिणायुक्त यज्ञ कराकर उसीके द्वारा उन्हें यहाँ ले आऊँगा।' ऐसा कहकर विश्वामित्रजी पृथ्वीपर लौट गये और महात्मा त्रिशंकुके यज्ञको सम्पन्न करनेकी चेष्टामें संलग्न हो गये। यज्ञ-प्रारम्भके लिये योग्य शुभ समय आनेपर उसी श्रेष्ठ वनमें उन्होंने वेदोंके पारंगत ब्राह्मणोंको बुलाकर राजाको यज्ञकी दीक्षा दी। उस यज्ञमें वे स्वयं ही अध्वर्यु

(यजुर्वेदपाठी) हुए। शाण्डिल्य मुनि होता (ऋग्वेदी)-के पदपर प्रतिष्ठित हुए, महर्षि गौतमको ब्रह्माका पद प्राप्त हुआ, मित्रावरुण कर्ममें महर्षि च्यवन आग्नीध्र बनाये गये। याज्ञवल्क्य उद्गाता (सामवेदी), जैमिनि प्रतिहर्ता, शंकुकर्ण प्रस्तोता, गालव उन्नेता, पुलस्त्यजी उच्छंसी तथा मुनीश्वर गर्ग होता हुए। अत्रि नेष्टा तथा भृगुजी अच्छावाक बनाये गये। श्रद्धालु त्रिशंकुने इन सबको ऋत्विज बनाया और स्वयं बाल कटवाकर मृगचर्म धारण किया। हाथमें हरिणका सींग लिया और दूध पीकर रहने लगे। उपर्युक्त सब महर्षियोंको वरण करके उन्हें यज्ञकर्ममें लगाया। इस प्रकार दीर्घकालतक चालू रहनेवाले उस यज्ञके आरम्भ होनेपर सब दिशाओंसे वेद-वेदांगोंके पारगामी ब्राह्मण वहाँ आने लगे। बहुत-से दीन, अन्ध, कृपण (कंगाल) गृहस्थ आये। वहाँ सब ओर अन्नमय पर्वत खड़े किये गये थे और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको दान देनेके लिये अनेक प्रकारकी असंख्य वस्तुएँ संग्रह की गयी थीं। देवता अग्निमुखसे राजाके हविष्यको ग्रहण करते रहे। इस प्रकार यज्ञ करते हुए राजाके बारह वर्ष व्यतीत हो गये, किंतु उन्हें अभीष्ट फलकी प्राप्ति नहीं हुई। तत्पश्चात् उन्होंने यज्ञान्त-स्नान किया तथा ऋत्विजोंको यथायोग्य दक्षिणाएँ देकर तृप्त किया। ब्राह्मणोंको विदा करनेके पश्चात् राजा त्रिशंकुने वहाँ आये हुए अन्य सम्बन्धियों और मित्रोंको भी विदा किया। तदनन्तर वे विश्वामित्रजीसे बोले—'ब्रह्मन्! आपके प्रसादसे मुझे दुर्लभ फलकी प्राप्ति हुई। चाण्डालता भी नष्ट हो गयी, परंतु इसी शरीरसे स्वर्गलोक नहीं मिला। केवल यही एक दुःख मेरे हृदयमें काँटेकी तरह चुभ रहा है। मुने! अब वसिष्ठके पुत्र यह सब बात सुनकर मेरा उपहास करेंगे। अतः अब मैं वनमें रहकर तपस्या करूँगा। राज्य नहीं करूँगा।'

**त्रिशंकुकी यह बात सुनकर विश्वामित्रजी बोले**—राजन्! खेद न करो, मैं तुम्हें इसी शरीरसे स्वर्गलोकमें भेजूँगा। इतना कहकर विश्वामित्रने चन्द्रशेखर भगवान् शंकरका दर्शन किया और इस प्रकार उनकी स्तुति की—

**विश्वामित्रजी बोले**—अचिन्त्य महादेव! आपकी जय हो। पार्वतीवल्लभ! आपकी जय हो। कृष्ण! जगन्नाथ! कृष्ण! जगद्गुरो! आपकी जय हो। अचिन्त्य! अमेय! अनन्त! अच्युत! आपकी जय हो। अमर! अजेय! अव्यय! सुरेश्वर! आपकी जय हो। सर्वव्यापक! सर्वेश्वर! सर्वदेवाश्रय! सबके ध्यान करनेयोग्य शिव! आपकी जय हो। सर्वपापनाशन! आप ही धाता, विधाता, कर्ता और रक्षक हैं। देवेश! चार प्रकारके प्राणियोंका कल्याण करनेवाले भी आप ही हैं। जैसे तिलमें तेल और दहीमें घी व्याप्त रहता है, उसी प्रकार समस्त संसार आपसे व्याप्त है। आप ही ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र और अग्नि हैं। आप ही वषट्कार, यज्ञ तथा सूर्य हैं। अथवा बहुत कहने या स्तुति करनेकी क्या आवश्यकता है, प्रभो! मैं आपकी वेदवर्णित विभूतिको बहुत संक्षेपमें बतला रहा हूँ। भगवन्! तीनों लोकोंमें चर और अचर जो कुछ दिखायी देता है, सबमें आप व्याप्त हैं। ठीक उसी तरह, जैसे काष्ठमें अग्नि व्याप्त रहती है।

**श्रीभगवान् बोले**—मुने! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, तुम कोई वर माँगो।

**विश्वामित्रजीने कहा**—महेश्वर! आपकी कृपासे मुझमें संसारकी सृष्टि करनेका सामर्थ्य हो जाय।

**'एवमस्तु'** कहकर भगवान् शिव अन्तर्धान हो गये और विश्वामित्रजी वहीं स्थित हो ध्यानपूर्वक चार प्रकारकी सृष्टि रचने लगे। इस प्रकार जलमें प्रवेश करके सृष्टिचिन्तन करनेवाले विश्वामित्रने जिन-जिन वस्तुओंकी सृष्टि की, वे सब आज भी दृष्टिगोचर होती हैं। उन्होंने समस्त देवगण, नक्षत्र, ग्रह, मनुष्य, नाग, राक्षस, वृक्षयुक्त लता, सप्तर्षि और ध्रुव आदि सबकी रचना की तथा उन सबको अपने-अपने कर्तव्यकर्मोंमें नियुक्त किया। तब आकाशमें एक ही साथ दो सूर्य और दो चन्द्रमा उदित हुए तथा अन्यान्य ग्रह भी दुगुने उत्पन्न हो गये। सप्तर्षियोंसहित सम्पूर्ण नक्षत्र भी

दुगुने भासित होने लगे। इस प्रकार आकाशमें सभी ग्रह, नक्षत्र द्विगुण हो एक-दूसरेसे स्पर्धा रखकर लोगोंके मनमें भ्रम उत्पन्न करने लगे। यह देख इन्द्र सब देवताओंके साथ ब्रह्माजीके पास गये और प्रणाम करके बोले—'सुरश्रेष्ठ! इस समय विश्वामित्रजीने सृष्टिरचना प्रारम्भ की है। अतः जबतक उनकी सृष्टिसे यह सम्पूर्ण विश्व व्याप्त न हो जाय, तबतक ही आप स्वयं जाकर उन्हें रोकिये।' तब ब्रह्माजी मुनिवर विश्वामित्रके पास गये और इस प्रकार बोले—'ब्रह्मर्षे! तुम मेरे कहनेसे सृष्टि-रचनाका कार्य बंद करो।'

**विश्वामित्रजी बोले**—यदि नृपश्रेष्ठ त्रिशंकु इसी शरीरसे आपके लोकमें चले जायँ, तो मैं नयी सृष्टि नहीं करूँगा।

**ब्रह्माजीने कहा**—मुनीश्वर! मुझे स्वीकार है, ये राजा त्रिशंकु इसी शरीरसे मेरे साथ स्वर्गलोकमें चलें। तुम सृष्टिरचनासे मुक्त हो जाओ।

ऐसा कहकर ब्रह्माजी त्रिशंकुको साथ लेकर चले गये और महर्षि विश्वामित्र हर्षमें भरकर वहीं टिके रहे।

## नागबिलका महत्त्व, इन्द्रकी ब्रह्महत्यासे मुक्ति, रक्तशृंग-पर्वतके द्वारा नागबिलका भरा जाना और मृगीके शापसे राजा चमत्कारका कोढ़ी होना

**सूतजी कहते हैं**—तबसे लेकर स्थान तीनों लोकोंमें उत्तम तीर्थके रूपमें विख्यात हुआ, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पदार्थोंके देनेवाला है। जो मनुष्य श्रद्धायुक्त चित्तसे वहाँ रहकर मृत्युको प्राप्त होता है, वह पापाचारी हो तो भी मोक्षको प्राप्त होता है। कीट, पक्षी, पतंग, पशु और मृग आदि जितने जन्तु हैं, वे भी वहाँ मरनेपर निश्चय ही भगवान् शिवके लोकमें जाते हैं। जो श्रद्धासे पवित्र किये हुए मनके द्वारा वहाँ स्नान करते हैं वे स्वर्गलोकमें जाते हैं। तदनन्तर विश्वामित्र मुनिने उस तीर्थका उत्तम माहात्म्य देखकर कुरुक्षेत्र छोड़कर वहीं निवास किया तथा अन्यान्य शान्त स्वभाववाले मुनि भी दूसरे तीर्थोंको त्यागकर बहुत दूर-दूरसे वहाँ आ गये और वहीं आश्रम बनाकर रहने लगे। इस प्रकार उस तीर्थके प्रभावसे सब मनुष्य स्वर्गको जाने लगे। तब कोई भी न यज्ञ करता था, न व्रत; न दान देता और न दूसरे किसी तीर्थका सेवन ही करता था। केवल उसी तीर्थमें एकाग्रचित्त होकर लोग स्नान करते और उत्तम विमानपर चढ़कर स्वर्गलोकमें चले जाते थे। उस समय स्वर्गलोक मनुष्योंसे भर गया। श्रेष्ठ देवताओंसे स्पर्धा करनेवाले मनुष्योंद्वारा स्वर्गको भरपूर हुआ देख संवर्तक वायुने इन्द्रकी आज्ञा पाकर पृथ्वीतलपर स्थित उस हाटकेश्वर-क्षेत्रको चारों ओरसे धूलसे आच्छादित कर दिया। इस प्रकार वह तीर्थभूमि केवल स्थलमात्र रह गयी। उसके बाद सर्वत्र यज्ञादि सत्कर्म होने लगे।

तदनन्तर पातालसे नागलोग बिलके मार्गसे मर्त्यलोकमें आते, पृथ्वीपर सब ओर घूमते और यहाँके भोगोंका इच्छानुसार उपभोग करके फिर उसी मार्गसे अपने निवासस्थानको लौट जाते थे। इससे वह स्थान इस पृथ्वीपर नागबिलके नामसे विख्यात हुआ।

एक समय वज्रके द्वारा वृत्रासुरका वध करनेसे इन्द्रको ब्रह्महत्या लग गयी थी, तब उनको इसका बड़ा दुःख हुआ। इस प्रकार दुःखको प्राप्त हुए इन्द्र एक पर्वतपर चढ़कर मृत्युका निश्चय करके वहाँसे अपने शरीरको नीचे गिराना ही चाहते थे कि आकाशवाणी सुनायी दी—'इन्द्र! ऐसा दुःसाहस न करो, इस पातकसे शुद्ध होनेके लिये सावधान होकर उपाय सुनो। हाटकेश्वरक्षेत्रमें, जहाँ भगवान् शिव स्वयं विराजमान हैं, जाओ

और वहाँ जिस बिलके मार्गसे नागलोग इस पृथ्वीपर आते-जाते हैं उसी मार्गसे तुम भी पातालमें प्रवेश करो और वहाँ पातालगंगामें स्नान करके हाटकेश्वर महादेवकी पूजा करो। इससे तुम अवश्य ही पापसे मुक्त हो जाओगे।'

यह आकाशवाणी सुनकर इन्द्र शीघ्र ही उस क्षेत्रमें गये और नागबिलके मार्गसे पातालमें प्रवेश करके वहाँकी गंगामें स्नान किया। स्नानके पश्चात् हाटकेश्वर लिंगका पूजन किया। इससे क्षणमात्रमें उनका शरीर निर्मल हो गया और तेज बढ़ गया। इसी समय ब्रह्मा-विष्णु आदि सब देवता वहाँ आये और अत्यन्त प्रसन्न हो पापमुक्त इन्द्रसे इस प्रकार बोले—'देवराज! तुम ब्रह्महत्यासे मुक्त होकर परम पवित्र हो गये हो। अतः आओ, हम साथ ही स्वर्गलोकको चलें।' तदनन्तर सब देवता स्वर्गलोकको चले गये। इन्द्रको पुनः देवताओंका राज्य प्राप्त हुआ और स्वर्गमें वृत्रासुरके मारे जानेसे बड़ा भारी उत्सव मनाया गया।

जो कोई मनुष्य एकाग्रचित्त हो भक्तिपूर्वक इस प्रसंगका कीर्तन और श्रवण करता है वह जरा-मृत्युसे रहित परमधामको प्राप्त होता है।

**सूतजी कहते हैं**—तदनन्तर देवगुरु बृहस्पतिजीने इन्द्रसे कहा—'देवराज! पृथ्वीपर हिमालय नामसे विख्यात एक पर्वत है। उसके तीन पुत्र हैं—मैनाक, नन्दिवर्धन और रक्तशृंग। उनमेंसे तीसरे पुत्र रक्तशृंगको ले आओ और उसीके द्वारा नागलोकके इस बिलको भर दो।'

बृहस्पतिजीका यह वचन सुनकर इन्द्र हिमालय पर्वतपर गये। वहाँ उन्होंने हिमाचलसे उनके पुत्रको माँगा। हिमाचलने उनकी आज्ञा शिरोधार्य की और पुत्रको उनके साथ जानेकी आज्ञा दे दी। तब रक्तशृंग बोला—'पिताजी! मेरे दोनों पंख इन्हीं इन्द्रने काट डाले हैं। अतः अब मुझमें यहाँसे जानेकी शक्ति नहीं है। ये मुझे ले जानेका विचार छोड़कर कोई दूसरा उपाय सोचें।'

**इन्द्र बोले**—रक्तशृंग! मैं तुम्हें अपने हाथपर रखकर ले चलूँगा। वहाँ भी तुम्हारे ऊपर हरे-भरे शोभासम्पन्न वृक्ष उत्पन्न होंगे। तुम्हारे सब ओर पुण्यतीर्थ एवं देवमन्दिर बनेंगे। मुनियोंके आश्रम बनेंगे। उस भूमिमें पापी पुरुष भी तुम्हारा दर्शन पाकर तृप्त हो जायँगे। इसलिये तुम मेरे साथ शीघ्र चले चलो। यदि आनाकानी करोगे तो इस वज्रसे तुम्हारे सैकड़ों टुकड़े कर दूँगा।

इन्द्रकी यह बात सुनकर रक्तशृंग डर गया और सहसा वहाँ जाकर उस नागबिलमें घुस गया। इस प्रकार हिमवान्‌कुमार रक्तशृंगको उस बिलपर बिठाकर इन्द्रने कहा—'तुम मुझसे कोई वर ग्रहण करो।'

**पर्वत बोला**—देवेश! मेरे लिये यही वरदान है कि मुझपर आप सन्तुष्ट हैं। मैं आपके प्रसादसे सुखी हूँ।

**इन्द्र बोले**—स्वप्नावस्थामें भी मेरा दर्शन व्यर्थ नहीं जाता, फिर साक्षात् दर्शन होनेपर कैसे निरर्थक होगा।

**रक्तशृंगने कहा**—देवराज! यदि आप मुझे वर देना ही चाहते हैं तो यही वर दें कि मेरा सम्पूर्ण ऐश्वर्य सदा ब्राह्मणोंके ही काम आये।

**इन्द्र बोले**—चमत्कार नामसे विख्यात एक राजा होंगे, जो तुम्हारे शिखरपर ब्राह्मणोंके रहनेके लिये एक नगर स्थापित करेंगे। उस नगरमें वेद-वेदांगोंके पारगामी विद्वान् (नागर) ब्राह्मण प्रसन्नतापूर्वक रहकर तुम्हारे सम्पूर्ण ऐश्वर्यका उपभोग करेंगे तथा चैत्र कृष्णा चतुर्दशीको मैं स्वयं तुम्हारे शिखरपर आकर हाटकेश्वर नामसे प्रसिद्ध भगवान् शिवकी पूजा करूँगा। इससे त्रिलोकमें तुम्हारे प्रभावका विस्तार होगा। अच्छा, अब मैं स्वर्गको जाऊँगा। तुम्हारा कल्याण हो।

ऐसा कहकर देवराज इन्द्र स्वर्गमें चले आये तथा रक्तशृंग उस नागबिलको ढककर स्थित हुआ। उसके शिखरपर मुख्य-मुख्य तीर्थ और मन्दिर स्थापित हो गये और मुनियोंके भी बहुत-से आश्रम बन गये।

इसी समय आनर्तदेशके राजा चमत्कार वहाँ वनमें दुष्ट मृगोंका शिकार खेलनेके लिये आये। उन्होंने देखा, कुछ दूरपर एक वृक्षके नीचे एक मृगी स्थिर होकर खड़ी है और निर्भय होकर अपने बच्चेको दूध पिला रही है। उसे देखकर राजाने कानतक धनुषको खींचा और उसके मर्मस्थानपर बाणका प्रहार किया। उस बाणसे घायल होकर वह मृगी व्यथासे पीड़ित हो चारों ओर देखने लगी। इतनेमें ही थोड़ी दूरपर धनुष धारण किये राजाको देखकर उसने कहा—'राजन्! यह तुमने बड़ा अनुचित कार्य किया, जो कि छोटे बच्चेकी माता मुझ दीन हरिणीका वध किया। मैं अपनी मृत्युके लिये उतना शोक नहीं करती, जैसा कि इस दूध पीते दीन मृगछौनेके लिये मुझे दुःख हो रहा है। तुमने बड़ा निर्दय कर्म किया है, इसलिये तुम इसी समय कोढ़ी हो जाओ।'

**राजा बोले**—शिकार खेलना तो राजाओंका धर्म है, अतः अपने धर्ममें तत्पर हुए मुझ निर्दोषको तुझे शाप नहीं देना चाहिये।

**मृगी बोली**—भूपाल! तुम्हारा कहना ठीक है, परंतु शिकारमें भी क्षत्रियोंके लिये यह विधान है कि जो सोया हो, मैथुनमें आसक्त हो, बच्चेको दूध पिला रहा हो या स्वयं जल पीता हो—ऐसे हिंसक पशुका वध न करे उसका वध करनेपर मनुष्य पापसे लिप्त होता है। इसीलिये मैंने तुझे शाप दिया है।

ऐसा कहकर व्यथासे पीड़ित हुई मृगीने अपने प्राणोंको त्याग दिया और राजा चमत्कार भी कोढ़ी हो गये। अपने शरीरको कोढ़युक्त देखकर दुःखी हुए राजाने सेवकोंको बुलाकर कहा—'अब मैं तबतक तपस्या और भगवान् शिवकी पूजा करूँगा जबतक कि मेरे इस कुष्ठरोगका सर्वथा नाश न हो जाय।' ऐसा कहकर उन्होंने अपने सभी सेवकोंको विदा कर दिया।

## शंखतीर्थकी उत्पत्ति, उसमें स्नानसे राजा चमत्कारके कुष्ठरोगकी निवृत्ति और राजाका ब्राह्मणोंके लिये श्रेष्ठ नगर निर्माण कराकर दान देना

**सूतजी कहते हैं**—तदनन्तर राजा चमत्कार तपस्यामें तत्पर हो भिक्षान्नका नियमित आहार करते हुए प्रभास आदि सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें भ्रमण करने लगे, परंतु उन्हें कहीं कोई ऐसा मन्त्र, ओषधि या तीर्थ नहीं प्राप्त हुआ जिससे उनके रोगका भलीभाँति निवारण हो जाय। इससे राजाके मनमें बड़ा वैराग्य हुआ और वे अपने मन और बुद्धिको वशमें करके उस पुण्यक्षेत्रमें अकेले रहने लगे। वे अपने-आप गिरे हुए सूखे पत्ते चबाते और रातमें भूमिपर सोते थे। मद और अहंकार तो उन्हें छू भी नहीं गये थे। तदनन्तर कुछ कालके बाद उन्होंने तीर्थयात्राके लिये जानेवाले बहुत-से श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको देखा और उन सबको विनीत भावसे प्रणाम करके कहा—'विप्रवरो! मैं आनर्तदेशका सूर्यवंशी राजा हूँ। मेरा नाम चमत्कार है। इस समय मेरे सारे शरीरमें कोढ़ फैल गयी है। क्या यहाँ ऐसा कोई दैव या मानवी उपाय है जिससे मेरा कुष्ठरोग शान्त हो जाय? यदि है तो आपलोग मुझपर कृपा करके बतावें।'

**तब उन दयालु ब्राह्मणोंने कहा**—नृपश्रेष्ठ! यहाँसे थोड़ी ही दूरपर सुप्रसिद्ध शंखतीर्थ है, जो सब रोगोंका नाश करनेवाला है। जो मनुष्य रोगग्रस्त, काने, अन्धे, मूर्ख, किसी अंगसे हीन या अधिक अंगवाले कुरूप और विकृत मुखवाले हैं, वे भी चैत्रमासके कृष्णपक्षकी* आदितिथि (चैत्रपूर्णिमा)-को चित्रा नक्षत्रके योगमें वहाँ स्नान करके उपवास

* यहाँ शुक्लपक्षसे मासका आरम्भ और अमावास्याको मासकी समाप्ति समझनी चाहिये। अतः जहाँ कृष्ण पक्षसे मासका आरम्भ माना जाता है, उनकी दृष्टिसे यह चैत्रका कृष्णपक्ष वास्तवमें वैशाखका कृष्णपक्ष है।

करनेपर उसी क्षण रोगसे रहित हो जाते हैं।

**राजाने पूछा**—विप्रवरो! शंखतीर्थका ज्ञान मुझे जैसे हो और उसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई है। यह सब आपलोग विस्तारपूर्वक बतावें।

**ब्राह्मण बोले**—राजन्! पूर्वकालमें इस पृथ्वीपर लिखित नामसे प्रसिद्ध एक श्रेष्ठ मुनि रहते थे। वे शिण्डिलमुनिके पुत्र थे। उनके छोटे भाईका नाम शंख था। शंख भी अपने बड़े भाईकी भाँति धर्मशास्त्रके ज्ञाता थे और कन्द, मूल, फलका आहार करते हुए सदैव तपस्यामें संलग्न रहते थे। एक दिन शंख भूखसे अत्यन्त पीड़ित होकर लिखितके आश्रमपर गये। महात्मा लिखितका आश्रम सूना था तो भी 'ये फल अपने ही हैं' ऐसा मानकर शंखने बहुत-से फल तोड़ लिये और उन्हें खा लिया। इसी समय लिखित अपने शिष्यके साथ वहाँ आये और शंखको फल लिये हुए देखकर क्रोधपूर्वक बोले—'तुमने मेरे दिये बिना ही ये फल कैसे ले लिये? क्या तुम यह नहीं समझते कि इस प्रकार बिना पूछे लेनेसे चोरीरूप दोषसे बँध जाना पड़ता है?'

**शंख बोले**—द्विजश्रेष्ठ! आपने जो कुछ कहा है, वह सत्य है। मैंने आपके सूने आश्रममें ये फल लिये हैं, अतः मेरे लिये चोरीका उचित दण्ड दीजिये जिससे मेरा इहलोक और परलोक दोनों सुखद हो।

तब लिखितने उसी क्षण अपने भाई शंखके दोनों हाथ कटवा दिये। हाथ कट जानेपर शंख अपने आश्रममें लौट आये। वहाँ उन्होंने पुनः बड़ी घोर तपस्या की। इससे सन्तुष्ट होकर महादेवजीने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया और कहा—'ब्रह्मन्! तुम मनोवांछित वर माँगो।'

**शंख बोले**—देव! मेरे दोनों हाथ पुनः पूर्ववत् हो जायँ और यह तीर्थ मेरे नामसे प्रसिद्ध हो। जो कोई अंगहीन, अधिकांग अथवा रोगग्रस्त यहाँ स्नान करे वह शीघ्र ही फिरसे नवीन हो जाय—नूतन निर्दोष शरीर प्राप्त कर ले।

**भगवान् शिवने कहा**—विप्रेन्द्र! आजसे यह तीर्थ तुम्हारे नामसे विख्यात होगा। चैत्रमासके शुक्लपक्षमें जब चन्द्रमा चित्रा नक्षत्रपर स्थित हों, उस समय जो कोई न्यूनांग या अधिकांग मनुष्य भी यहाँ स्नान करेगा, वह सुवर्णके समान गौर और सर्वांगसुन्दर हो जायगा। उस दिन वहाँ श्राद्ध करनेसे पितरलोग उत्तम तृप्तिको प्राप्त होंगे। विप्रवर! आज चैत्रमासका शुक्लपक्ष है। आज तीसरे पहर चन्द्रमाका चित्रा नक्षत्रसे योग हो जायगा। उस समय उपवासपूर्वक भलीभाँति स्नान करनेपर तुम्हारे दोनों हाथ तत्काल पूर्ववत् सुन्दररूपसे युक्त हो जायँगे।

ऐसा कहकर भगवान् शिव अन्तर्धान हो गये और शंखमुनिने कुतप काल (दिनके तीसरे पहर)-में स्नान किया। स्नान करते ही उनके दोनों हाथ पूर्ववत् हो गये।

नृपश्रेष्ठ! इसलिये तुम भी चैत्र शुक्लपक्षमें, जब चन्द्रमा चित्रा नक्षत्रपर स्थित हों, उस तीर्थमें स्नान करो। इससे तुम सब रोगोंसे मुक्त हो जाओगे, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। इस तीर्थके लिये जो समय और योग बताया गया है, उसके प्राप्त होनेपर हम साथ चलकर तुमको उस तीर्थका दर्शन करायेंगे।

**सूतजी कहते हैं**—तदनन्तर कुछ दिनोंके बाद चैत्र शुक्लपक्ष आया और चित्रानक्षत्रमें चन्द्रमाके योगसे युक्त चतुर्दशी तिथि प्राप्त हुई तब वे राजाके हितैषी ब्राह्मण उन्हें साथ लेकर उसी समय शंखतीर्थमें गये। वहाँ राजाने अपने मनमें कुष्ठरोगके नाशका संकल्प लेकर बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे विधिपूर्वक स्नान किया। स्नान करते ही वे कुष्ठरोगसे मुक्त एवं तेजस्वी हो गये और बड़े हर्षके साथ तीर्थके जलसे बाहर निकले, फिर उन ब्राह्मणोंको प्रणाम करके राजाने हाथ जोड़कर कहा—'विप्रवरो! आपलोगोंके प्रसादसे ही मैं इस कुष्ठरोगसे मुक्त हुआ हूँ। अब मैं राज्य नहीं करूँगा। इसी तीर्थमें रहकर सदा उत्तम तप करूँगा।

यह राज्य, देश, हाथी, घोड़ा तथा और जो भी कुछ वैभव मेरे अधीन है, वह सब मुझपर अनुग्रह करनेके लिये ही कृपापूर्वक आपलोग ग्रहण करें।'

**ब्राह्मण बोले**—नृपश्रेष्ठ! हमलोग राज्यकी रक्षा करनेमें असमर्थ हैं। फिर उसे लेनेसे क्या लाभ हुआ, जिससे राज्यमें बड़ा भारी विप्लव मच जाय। पूर्वकालमें जमदग्निनन्दन परशुरामने इक्कीस बार इस पृथ्वीको क्षत्रियोंसे हीन करके हम ब्राह्मणोंको सौंप दिया था, परंतु बलवान् क्षत्रियोंने फिर समस्त ब्राह्मणोंका तिरस्कार करके अनायास ही बार-बार इसे छीन लिया था।

**राजाने कहा**—विप्रवरो! मैं तपस्यामें स्थित होकर भी आपलोगोंकी रक्षा करता रहूँगा, अतः इस कार्यमें आप लोगोंको किसी प्रकार भय नहीं मानना चाहिये।

**ब्राह्मण बोले**—यदि आपके मनमें हमें कुछ देनेकी दृढ़ श्रद्धा है, तो इस महापुण्यमय क्षेत्रमें एक श्रेष्ठ नगरका निर्माण कराके उसे दे दें। वह श्रेष्ठ नगर चहारदीवारी और खाईंसे घिरा हुआ हो, जिससे हम वहाँ सुखपूर्वक रहें और तीर्थस्नान किया करें। हम सब लोग सदा वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर और गृहस्थधर्मका पालन करनेवाले हैं, अतः हमें गृहकी आवश्यकता है।

यह सुनकर राजाने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार की और उस स्थानमें एक बहुत बड़े नगरका निर्माण कराया। नगरके चारों ओर ऊँची-ऊँची चहारदीवारी और गहरी खाईं तैयार करायी गयी। उस मनोहर नगरकी लंबाई और चौड़ाई एक कोसकी थी। इस प्रकार उत्तम नगरका निर्माण हो जानेपर उन राजाने ब्राह्मणोंके पैर धोये और जो जैसी-जैसी योग्यतावाले थे, उन्हें वैसे ही गृह शास्त्रोक्तविधिसे दान किये।

## राजा चमत्कारकी तपस्यासे सन्तुष्ट हुए शिवका अचलेश्वररूपसे निवास और रक्तशृंग पर्वतकी परिक्रमा आदिका माहात्म्य

**सूतजी कहते हैं**—उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको वह उत्तम नगर दान करके राजा चमत्कार कृतकृत्य हो गये। तत्पश्चात् उन्होंने अपने पुत्र-पौत्र तथा सेवकोंको बुलाकर कहा—'मैंने यह नगर बनवाकर ब्राह्मणोंको निवेदन किया है। अतः तुमलोगोंको मेरी आज्ञासे इस नगरकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये, जिससे सब ब्राह्मण यहाँ सन्तुष्टचित्त एवं सुखी रह सकें। जो राजा भक्तियुक्त होकर इन सब ब्राह्मणोंका पालन करेगा, वह इस भूतलपर महान् तेज प्राप्त करेगा। ब्राह्मणोंके प्रसादसे और मेरे वचनसे वह दीर्घायु एवं नीरोग रहेगा। इसके विपरीत जो कोई इनके प्रति द्वेष रखकर इन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको कष्ट पहुँचायेगा, वह निश्चय ही नरकमें पड़ेगा।' ऐसा कहकर राजा चमत्कार तपस्यामें तत्पर हो गये। उनके पुत्र-पौत्र आदिने भी उनकी दी हुई शिक्षाके अनुसार ही बर्ताव किया।

पुत्रोंको राज्य और ब्राह्मणोंको नगर देकर राजाने अपने लिये शंखतीर्थमें आश्रम बनाया और वहीं रहकर बड़ी श्रद्धाके साथ देवाधिदेव महेश्वरकी आराधना की। उनकी आराधनासे प्रसन्न होकर महादेवजीने प्रत्यक्ष दर्शन दिया और कहा—'राजन्! मुझसे मनोवांछित वर माँगो।'

**राजा बोले**—प्रभो! अनेक तीर्थोंका आश्रयभूत यह पुण्यतम क्षेत्र आप भगवान् हाटकेश्वरके माहात्म्यसे सब पापोंको नाश करनेवाला है। सम्पूर्ण देवताओंके अधीश्वर! मैंने श्रद्धायुक्त पवित्रचित्तसे इस उत्तम नगरका निर्माण कराके इसे ब्राह्मणोंकी सेवामें समर्पित किया है। इस नगरमें आप अपने समस्त पार्षदगणोंके साथ सदा अचलरूपसे निवास करें।

**भगवान् शिवने कहा**—राजन्! मैं इस नगरमें अचल होकर निवास करूँगा, अतएव तीनों लोकोंमें अचलेश्वर नामसे मेरी ख्याति होगी। जो मनुष्य यहाँ स्थित हुए मेरे स्वरूपका भक्तिपूर्वक दर्शन करेगा, उसके यहाँ सम्पूर्ण देवताओंकी विभूतियाँ अविचलरूपसे निवास करेंगी। जो माघमासके

शुक्लपक्षकी चतुर्दशीमें श्रद्धापूर्वक मेरे लिंगमय विग्रहको घृतसे स्नान करायेगा उसका समस्त पाप सूर्योदयसे अन्धकारकी भाँति नष्ट हो जायगा। अतः भूपाल! तुम यहीं मेरे लिंगमय स्वरूपकी स्थापना करो, मैं यहाँ अचलरूपसे निवास करूँगा।

ऐसा कहकर देवेश्वर शिव अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर राजाने शीघ्रतापूर्वक एक परम मनोहर मन्दिर तैयार कराया और उसमें शिवलिंगको स्थापित किया। उसके दर्शन, स्पर्श, ध्यान और पूजनसे मनुष्य जन्मसे लेकर मृत्युतकके पापोंसे मुक्त हो जाता है। शिवलिंगकी स्थापना हो जानेपर आकाशवाणी हुई, 'नृपश्रेष्ठ! मैं इस लिंगमें नित्य, निरन्तर निवास करूँगा। मेरे इस विग्रहकी छाया सदा अचल होगी। वह केवल पृष्ठभागकी ओर रहेगी, दूसरी किसी दिशामें स्थित न होगी।'

तत्पश्चात् राजाने सब दिशाओंमें सूर्यके स्थित होनेपर उस शिवलिंगकी छायाको सदा एक ही रूपसे अविचल देखा। इससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने भूमिमें मस्तक रखकर उस शिवलिंगको प्रणाम करके अपने-आपको कृतार्थ माना।

**सूतजी कहते हैं**—'महर्षियो! आज भी उस शिवलिंगकी छाया वैसी ही दिखायी देती है जो सबको विस्मयमें डालनेवाली है। जिसकी मृत्यु छः महीनेके भीतर ही होनेवाली है। वह उस छायाको नहीं देख पाता। उस क्षेत्रमें रहनेवाले सब मनुष्य भगवान् अचलेश्वरके माहात्म्यसे सम्पूर्ण मनोवांछित फलको पाते हैं।'

महर्षियो! उस तीर्थमें चैत्र कृष्ण चतुर्दशीको ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि सब देवता, सम्पूर्ण तीर्थ, सभी मन्दिर, नदी और समुद्र आदि जो भी पवित्र करनेवाली शक्तियाँ हैं वे सब उपस्थित होती हैं। जिस समय इन्द्र रक्तशृंग पर्वतको उस प्रदेशमें ले आये थे उसी समय उन्होंने यह कह दिया था कि तुम्हारे समीप सब देवता आवेंगे; इसलिये उस समय एक बार उस पर्वतकी प्रदक्षिणा कर लेनेपर उत्तम कल्याणकी प्राप्ति होती है। उस दिन वहाँ जो कुछ भी आदरपूर्वक दान किया जाता है, वह सूर्य और चन्द्रमाके स्थिति-कालतक अक्षय पुण्य देनेवाला होता है। जो कोई मनुष्य वहाँ भक्तिपूर्वक उत्तम अन्नसे ब्राह्मणोंको भोजन कराता है उसे गयातीर्थका फल प्राप्त होता है। जो जिस कामनाका चिन्तन करते हुए उस पर्वतकी परिक्रमा करता है वह उसी कामनाको पाता है और जो निष्कामभावसे परिक्रमा करता है वह मोक्षका भागी होता है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुषोंको चाहिये कि वे सब कार्य छोड़कर प्रयत्नपूर्वक रक्तशृंग पर्वतके समीपकी भूमिका सेवन करें। ब्राह्मणो! भगवान् हाटकेश्वरका वह क्षेत्र स्मरण करनेसे भी मनुष्यको पवित्र कर देता है; फिर दर्शन और स्पर्शसे पवित्र कर दे इसके लिये तो कहना ही क्या है?

## चमत्कारपुरमें गयाशीर्षतीर्थकी महिमा—राजा विदूरथके द्वारा तीन प्रेतोंका उद्धार

**सूतजी कहते हैं**—विप्रवरो! उस क्षेत्रकी लंबाई-चौड़ाई पाँच कोसकी है। उसके पूर्वमें गयाशीर्ष, पश्चिममें नृसिंहजीका स्थान और दक्षिण तथा उत्तरमें गोकर्णेश्वर शिव हैं। पहले वह हाटकेश्वरक्षेत्र कहलाता था। आगे चलकर वही संसारमें सर्वपातकनाशक उत्तम तीर्थके रूपमें विख्यात हुआ। राजा चमत्कारने जबसे वह स्थान ब्राह्मणोंको दे दिया, तबसे उन्हींके नामसे उसकी प्रसिद्धि हुई—लोग उसे चमत्कारपुर कहने लगे।

पूर्वकालमें विदूरथ नामसे प्रसिद्ध एक हैहयवंशी राजा हो गये हैं, जो बड़े-बड़े यज्ञ करनेवाले, दानपति तथा प्रत्येक कार्यमें दक्ष थे। एक समय

राजा विदूरथ अपनी सेनाके साथ हिंसक पशुओंसे भरे हुए वनमें शिकार खेलनेके लिये गये। वहाँ उन्होंने सर्पोंके समान विषैले बाणोंसे कितने ही चीता, शम्बर तथा व्याघ्र और सिंह आदि पशुओंको मारा। उन वन-जन्तुओंमेंसे एक पशु उनके बाणसे घायल होकर भी धरतीपर नहीं गिरा। बाण लिये जोरसे भागा। राजाने भी कौतूहलवश उसके पीछे अपना घोड़ा दौड़ाया। इस प्रकार वे अपनी सेनाको छोड़कर दूसरे घोर वनमें जा पहुँचे जो मनमें भय उत्पन्न करनेवाला था। उसमें प्रायः काँटेदार वृक्ष भरे हुए थे। वहाँकी सारी भूमि रूखी, पथरीली तथा जलसे हीन थी। उस वनमें जाकर राजा विदूरथ भूख और प्याससे व्याकुल हो गये और उस दुर्गम वनका अन्त ढूँढ़ते हुए अपने घोड़ेको कोड़ेसे पीट-पीटकर हाँकने लगे। घोड़ा हवासे बाते करने लगा और उसने राजाको सब जन्तुओंसे रहित दूरस्थ दुर्गम मार्गमें पहुँचा दिया। अन्तमें वह अश्व भी भूमिपर गिर पड़ा।

तदनन्तर भूख-प्याससे व्याकुल राजा उस वनके भीतर पैदल ही चलने लगे और एक जगह लड़खड़ाकर गिर पड़े। इतनेमें ही उन्होंने आकाशमें अत्यन्त भयंकर तीन प्रेत देखे। उन्हें देखकर वे भयसे थर्रा उठे और जीवनसे निराश होकर बड़े क्लेशसे बोले—'तुमलोग कौन हो। मैं भूख-प्याससे पीड़ित राजा विदूरथ हूँ। शिकारके पीछे जीव-जन्तुओंसे रहित इस वनमें आ पहुँचा हूँ।'

**तब उन तीनों प्रेतोंमें जो सबसे ज्येष्ठ था, उसने विनयपूर्वक हाथ जोड़कर कहा**—महाराज! हम तीनों प्रेत हैं और इसी वनमें रहते हैं। अपने कर्मजनित दोषसे हमलोग महान् दुःख उठा रहे हैं। मेरा नाम मांसाद है, यह दूसरा मेरा साथी विदैवत है और तीसरा कृतघ्न है, जो हम सबमें बढ़कर पापात्मा है। हमें जिस-जिस कर्मके द्वारा यहाँ एक ही साथ प्रेतयोनिकी प्राप्ति हुई है, वह सुनो। राजन्! हम तीनों वैदेशपुरमें देवरात नामक महात्मा ब्राह्मणके घरमें उत्पन्न हुए थे। हमने नास्तिक होकर धर्म-मर्यादाका उल्लंघन किया और हमलोग सदा परायी स्त्रियोंके मोहमें फँसे रहे। मैंने जिह्वाकी लोलुपताके कारण सदा मांस ही भोजन किया है, अतः मुझे अपने कर्मके अनुसार ही मांसाद नाम प्राप्त हुआ है। महाराज! यह दूसरा जो तुम्हारे सामने खड़ा है, इसने देवताओंका पूजन किये बिना ही सदा अन्न ग्रहण किया है, उसी कर्मके फलसे इसे प्रेत-योनिमें आना पड़ा है और देवताओंके विपरीत चलनेके कारण इसका नाम विदैवत हुआ है और जिस पापीने सदा दूसरोंके साथ कृतघ्नता—विश्वासघात किया है वही अपने कर्मके अनुसार कृतघ्न कहलाता है।

**राजाने पूछा**—इस मनुष्यलोकमें सब प्राणी आहारसे ही जीवन धारण करते हैं। यहाँ तुमलोगोंको कौन-सा आहार प्राप्त होता है, सो मुझे बताओ।

**मांसाद बोला**—जिस घरमें भोजनके समय स्त्रियोंमें युद्ध होता है, वहाँ प्रेत भोजन करते हैं। राजन्! जहाँ बलिवैश्वदेव किये बिना और भोजनमेंसे पहले अग्राशन—गोग्रास आदि दिये बिना भोजन किया जाता है, उस घरमें भी प्रेत भोजन करते हैं। जिस घरमें कभी झाड़ू नहीं लगता, जो कभी गोबर आदिसे लीपा नहीं जाता है तथा जहाँ मांगलिक कार्य और अतिथि आदिके सत्कार नहीं होते, उसमें भी प्रेत भोजन करते हैं। जिस घरमें फूटे बर्तनका त्याग नहीं किया जाता तथा वेदमन्त्रोंकी ध्वनि नहीं होती, वहाँ प्रेत आहार करते हैं। जो श्राद्ध दक्षिणासे रहित और शास्त्रोक्त विधिसे हीन होता है तथा जिसपर रजस्वला स्त्रीकी दृष्टि पड़ जाती है, वह श्राद्ध एवं भोजन हमारे अधिकारमें आ जाता है। जो अन्न केश, मूत्र, हड्डी और कफ आदिसे संयुक्त हो गया है और जिसे हीनजातिके मनुष्योंने छू दिया है, उसपर भी हमारा अधिकार हो जाता है। जो मनुष्य असहिष्णु, चुगली खानेवाला, दूसरोंका कष्ट देखकर प्रसन्न होनेवाला, कृतघ्न तथा गुरुकी

शय्यापर सोनेवाला है और जो वेदों एवं ब्राह्मणोंकी निन्दा करता है, ब्राह्मणकुलमें पैदा होकर मांस खाता है और सदा प्राणियोंकी हिंसा करता है, वह प्रेत होता है। जो परायी स्त्रीमें आसक्त, दूसरेका धन हड़प लेनेवाला तथा परायी निन्दासे सन्तुष्ट होनेवाला है और जो धनकी इच्छासे नीच एवं वृद्ध पुरुषके साथ अपनी कन्याका व्याह कर देता है, वह प्रेत होता है। जो मनुष्य उत्तम कुलमें उत्पन्न, विनयशील और दोषरहित धर्मपत्नीका त्याग करता है, जो देवता, स्त्री और गुरुका धन लेकर उसे लौटा नहीं देता है तथा जो ब्राह्मणोंके लिये धनका दान होता देख उसमें विघ्न डालता है, वह प्रेत होता है।

**राजाने पूछा**—मांसाद! अब यह बताओ कि कौन-सा कर्म करनेसे मनुष्य प्रेत नहीं होता है?

**मांसाद बोला**—जो परायी स्त्रियोंको माताके समान, दूसरोंके धनको मिट्टीके ढेलेके समान तथा सब प्राणियोंको अपने समान देखता है, वह प्रेत नहीं होता। जो सदा अन्नदानमें तत्पर, विशेषतः अतिथि-सत्कारमें प्रेम रखनेवाला, स्वाध्यायशील और व्रतपरायण होता है, वह प्रेत नहीं होता। जो शत्रु और मित्रमें समभाव रखनेवाला और मान तथा अपमानमें भी समताका त्याग न करनेवाला है, वह प्रेत नहीं होता। जो धर्ममें लगे हुए तथा धर्ममार्गपर चलनेवाले मनुष्योंका उत्साह बढ़ाता है, वह भी प्रेत नहीं होता। जो सदा यज्ञकर्ममें तत्पर, सदैव तीर्थयात्रापरायण तथा सर्वदा शास्त्र-श्रवण करनेवाला है, वह मनुष्य प्रेत नहीं होता। जो बावली, कुआँ और पोखरा बनवाता, बगीचे लगाता और पौंसले (प्याऊ) चलाता है, वह प्रेत नहीं होता। राजन्! हम इस प्रेतयोनिसे बहुत कष्ट पा रहे हैं। तुम हमारा उद्धार करनेवाले हो जाओ। गयाशीर्ष नामक पवित्र तीर्थमें जाकर तुम हम तीनोंके लिये पृथक्-पृथक् श्राद्ध करो, जिससे हमारी यह प्रेतयोनि निवृत्त हो जाय।

**राजा बोले**—जिस योनिमें इस प्रकार पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण होता है, आकाशमें भी चलनेकी शक्ति प्राप्त है और धर्म तथा अधर्मका सम्यक् ज्ञान है, उसकी तुम निन्दा क्यों करते हो?

**मांसादने कहा**—राजन्! यह प्रेतयोनि अधम देवयोनि कहलाती है। इसमें केवल तीन ही गुण हैं—पूर्वजन्मका स्मरण, आकाशगमनकी शक्ति तथा धर्म और अधर्मका निश्चय। इसके सिवा इसमें सब दोष-ही-दोष भरे हैं। यदि हमलोग इस वनकी सीमासे बाहर जाते हैं तो हमारे ऊपर बिना देखे हुए मुद्गरोंकी मार पड़ती है। इसके सिवा समस्त धार्मिक क्रियाओंका अनुष्ठान केवल मनुष्यके लिये विहित है, प्रेतयोनि अथवा देवयोनिमें गये हुए जीवोंके लिये नहीं। राजन्! जब सूर्य वृष राशिपर स्थित होते हैं तब ज्येष्ठकी चिलचिलाती हुई धूपमें हम प्याससे व्याकुल होकर दूरसे ही जलसे भरे हुए जलाशयोंको देखते हैं। यदि उनके समीप चले जायँ तो हमारे ऊपर अदृष्ट मुद्गरोंकी मार पड़ती है। इसी प्रकार हम दूरसे देखते हैं, गृहस्थोंके घरोंमें नाना प्रकारकी रसोई तैयार करके रखी हुई है। हम भूखसे व्याकुल रहते हैं किंतु उस रसोईको ले नहीं सकते। अच्छे फलवाले वृक्षोंको हम देखते हैं, किंतु उन्हें सेवनका अवसर नहीं पाते। अधिक क्या कहूँ, जो-जो घृणित एवं क्लेशदायक कर्म हैं, सब हमारे पास स्वतः उपस्थित हो जाते हैं। बिना किसी दोषके हमारी प्राणयात्रा नहीं चलती। जल, छाया, अन्न और सवारी—ये सब हमारे लिये नहीं हैं। इसीलिये प्रदोषकाल आनेपर हम सदा छिद्र ढूँढ़ते हुए घूमते रहते हैं। हमारे आकाशगमनकी शक्तिकी बात जो तुमने कही है, वह भी व्यर्थ है। उस आकाशगमनकी शक्तिसे, धर्माधर्म-विवेकसे और पूर्वजन्मकी स्मृतिसे भी क्या लाभ है, जिसके द्वारा मोक्षकी सिद्धि नहीं हो सकती?* अतः राजन्! यद्यपि ये आकाशगमन आदि प्रेतोंके गुण बताये जाते हैं

* क्रियते खेचरत्वेन किं किं धर्मविनिश्चयैः। यया न सिद्ध्यते मोक्षो याति स्मृत्या हि किं तया॥ (स्क० पु०, ना० १८। ६७)

तथापि इनके द्वारा कोई सिद्धि नहीं मिलती। उलटे इन गुणोंके कारण खेद ही अधिक होता है, क्योंकि प्रेतयोनियाँ किसी भी शुभ कर्मके करनेमें समर्थ नहीं हैं।

**राजा बोले**—यदि मैं इस महान् वनसे घरको लौट जाऊँगा तो निश्चय ही तुम सब लोगोंके लिये गयाश्राद्ध करूँगा और यत्नपूर्वक सब उपायोंसे तुम्हारा उद्धार करूँगा। इस समय तुम मुझे मनुष्योंसे सेवित कोई जलाशय बतलाओ जिससे जल प्राप्त करके मैं तुम्हारा उपकार करूँ।

**मांसादने कहा**—महाराज! इस स्थानसे थोड़ी ही दूरपर एक जलाशय है, जो नाना प्रकारके वृक्षोंसे घिरा हुआ और चित्तको आह्लाद प्रदान करनेवाला है। तुम यहाँसे सीधे उत्तरकी ओर चले जाओ।

**सूतजी कहते हैं**—तदनन्तर राजा विदूरथ धीरे-धीरे उत्तर दिशाकी ओर चले। थोड़ी ही दूरपर हरे-भरे वृक्षोंका समुदाय दिखायी दिया। वहाँ हंस, बक तथा सारस आदि पक्षी उड़ रहे थे। वहाँ पहुँचकर राजाने सौम्य प्राणियोंसे सुसेवित एक मनोहर आश्रम देखा। वहाँ एक वृक्षके नीचे तपस्वीजनोंसे सेवित मुनिश्रेष्ठ जैमिनि विराजमान थे। उनके समीप जाकर महाराजने उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया और भूमिपर बैठे हुए मुनिके शिष्योंको भी प्रणाम किया। उन सबने राजाको देखकर पूछा—'महाराज! इन निर्जन वनमें तुम कहाँसे आये हो?'

**राजाने कहा**—इस समय मुझे प्यास सता रही है, अतः पहले पानी पीकर पीछे मैं अपना सब हाल बताऊँगा।

तब उन्होंने राजाको जल दिखा दिया। राजाने उसमें प्रवेश करके जल पीकर प्यास बुझायी और नीचे गिरे हुए वृक्षोंके फल लेकर इच्छापूर्वक भोजन किया। पूर्णतः तृप्त होनेपर वे पुनः महर्षि जैमिनिके समीप आये और प्रणाम करके बैठ गये। तदनन्तर अपना वृत्तान्त कहना प्रारम्भ किया—'मुनिवरो! मैं विदूरथ नामसे प्रसिद्ध राजा हूँ। माहिष्मती पुरीमें मेरा निवासस्थान है। मैंने अपनी सेना साथ लेकर इस भयंकर वनमें प्रवेश किया था। मेरे सब सैनिक लताओं और झाड़ियोंकी आड़में छिपकर मुझसे अदृश्य हो गये। पता नहीं उन सैनिकोंका क्या हाल है। मेरा घोड़ा भी एक स्थानपर गिर गया। मेरी आयु शेष थी कि मैं घूमता हुआ यहाँ आ पहुँचा। मुनिवरो! अब सन्ध्याका समय आ गया है। अतः हम सब लोगोंको यथायोग्य सन्ध्योपासन आदि विधि करनी चाहिये।'

तत्पश्चात् मुनियों तथा राजाने सन्ध्योपासना की। धीरे-धीरे रात्रि हो गयी। इसी समय राजाकी सेनाके कुछ मनुष्य उन्हें ढूँढ़ते हुए वहाँ आ पहुँचे और उन्हें देखकर बड़े आदरसे बोले—'अहोभाग्य! जो महाराज मिल गये।' यों कहकर वे राजाके चरणोंमें गिर गये। फिर उठकर उन्होंने राजासे सैनिकोंके कष्ट, जो देखे और सुने थे, बतलाये। तदनन्तर उन सब सेवकोंके साथ राजा वृक्षके नीचे पत्ते बिछाकर सो रहे। प्रातःकाल उठकर उन्होंने पूर्वाह्णकृत्य—स्नान, सन्ध्योपासन आदि पूरा किया। तत्पश्चात् मुनिवर जैमिनिको प्रणाम करके उनकी आज्ञा ले अपने सेवकोंके साथ माहिष्मती पुरीकी ओर प्रस्थान किया। मार्ग पूछते हुए धीरे-धीरे चलकर राजा कुछ कालमें अपने निवासस्थानपर जा पहुँचे और कुछ समय विश्राम करके उन्होंने शीघ्र ही गयाशीर्षकी यात्रा कर दी। समयानुसार वहाँ पहुँचकर राजाने स्नान किया और धुले हुए वस्त्र पहनकर पवित्र हो श्रद्धायुक्त हृदयसे पहले मांसादका श्राद्ध किया। तदनन्तर रातमें सोते समय स्वप्नमें उन्होंने देखा, मांसाद दिव्य माला और वस्त्र धारण किये दिव्य विमानपर आरूढ़ है। उस समय मांसादने राजासे कहा—'भूपाल! तुम्हारे प्रसादसे मैं प्रेतयोनिसे मुक्त हो गया हूँ, तुम्हारा कल्याण हो, मैं स्वर्गलोकको जाऊँगा।'

तब प्रातःकाल उठकर हर्षमें भरे हुए राजा

विदूरथने विदैवतके लिये यथायोग्य श्राद्ध किया। फिर वह भी उसी प्रकार राजाको स्वप्नमें दिखायी दिया और मांसादकी ही भाँति कृतज्ञता प्रकट करके स्वर्गलोकमें चला गया। फिर तीसरे दिन राजाने पूर्ववत् श्रद्धापूर्ण हृदयसे कृतघ्नके लिये श्राद्ध किया। रातको उसने भी स्वप्नमें दर्शन दिया, किंतु वह उसी प्रेतरूपमें आया था और बड़े दुःखसे घिरा हुआ था।

**कृतघ्न बोला**—महाराज! तड़ागके लिये नियत धनकी जिसने चोरी की है और जो सदा कृतघ्न रहा है—ऐसे मुझ पापात्माकी अभीतक मुक्ति नहीं हुई। अतः जिस प्रकार मुझे भी इस दुःखसे छुटकारा मिल जाय, वैसा कोई उपाय करो और अपनी की हुई सत्यप्रतिज्ञा पूरी करो। सत्य ही परब्रह्म है, सत्य ही परम तप है, सत्य ही परम ज्ञान है और सत्य ही परम शास्त्र है। सत्यके बलसे वायु चलती है। सत्यसे सूर्य तप रहा है और सत्य वचनसे ही समुद्र अपनी मर्यादाका लंघन नहीं करता। सत्यहीन मनुष्यके द्वारा किये हुए तीर्थ-सेवन, तप, दान, स्वाध्याय और गुरुसेवा—ये सब धर्म व्यर्थ हो जाते हैं। एक समय देवताओंने कौतूहलवश अपनी तुलापर एक ओर तो सम्पूर्ण धर्मोंको रखा और दूसरी ओर केवल सत्यको, परंतु सत्यका ही पलड़ा भारी रहा।* इसलिये महामते! तुम भी सत्यको ही आगे रखकर मेरा उद्धार करो। यह पुण्य तुम्हारे लिये तपस्यासे भी बढ़कर कल्याणका साधक होगा।

**राजा विदूरथने पूछा**—प्रेत! तुम्हारी मुक्ति किस उपायसे हो सकती है, शीघ्र बताओ। दुष्कर होनेपर भी मैं उसे अवश्य करूँगा।

**प्रेतने कहा**—राजन्! चमत्कारपुरमें जो हाटकेश्वरक्षेत्र है, वहीं कलियुगसे डरा हुआ गयाशीर्षतीर्थ प्लक्ष (पाकड़) नामक वृक्षके नीचे धूलमें छिपा हुआ है। उसके चारों ओर समयोचित शाक, कुशा और जंगली तिलके पौधे हैं। वहीं जाकर तुम तिल, अन्न, शाक और कुश आदि सामग्रियोंके द्वारा मेरे लिये श्राद्ध करो। ऐसा करनेपर शीघ्र मेरी मुक्ति हो जायगी।

प्रेतकी यह बात सुनकर दयालु राजा वहाँ गये और उसके बताये अनुसार उन्होंने सब कुछ किया। पहले जलके लिये वहाँ एक छोटा-सा कुआँ खोदा। फिर वेदोंके पारंगत श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको बुलाकर कृतघ्नके उद्देश्यसे शास्त्रोक्तविधिके अनुसार श्राद्ध किया। उस श्राद्धके पूर्ण होते ही कृतघ्न दिव्यरूपधारी पुरुष होकर श्रेष्ठ विमानपर आरूढ़ हुआ और विदूरथसे बोला—'प्रभो! तुम्हारे प्रसादसे मैं इस भयंकर प्रेतशरीरसे मुक्त हो गया। अब मैं स्वर्गको जा रहा हूँ।'

**सूतजी कहते हैं**—तबसे लेकर गयाशीर्षक्षेत्रमें वह 'लघुकूप' प्रसिद्ध हो गया। वह उस क्षेत्रमें पितरोंको पुष्टि देनेवाला है। जो आश्विनमासमें पितृपक्षकी अमावास्याको वहाँ कालशाक, जंगली तिल, तैयार किये हुए अन्न तथा कुशा आदिके द्वारा श्रद्धापूर्वक पितरोंका श्राद्ध करता है वह उत्तम फलका भागी होता है। अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, आज्यप और सोमप—ये पितृगण वहाँ सदा निवास करते हैं; अतः उस तीर्थमें जाकर समय या असमयमें सदा ही प्रयत्नपूर्वक श्राद्ध करना चाहिये।

---

* सत्यमेव परं ब्रह्म सत्यमेव परं तपः। सत्यमेव परं ज्ञानं सत्यमेव परं श्रुतम्॥
सत्येन वायुर्वहति सत्येन तपते रविः। सागरः सत्यवाक्येन मर्यादां न विलङ्घयेत्॥
तीर्थसेवा तपो दानं स्वाध्यायो गुरुसेवनम्। सर्वं सत्यविहीनस्य व्यर्थं सञ्जायते यतः॥
सर्वे धर्मा धृताः पूर्वमेकतोऽन्यत्र वै ऋतम्। तुलाया कौतुकाद्देवैर्जातं तत्र ऋतं गुरु॥
(स्क० पु०, ना० १९। २०—२३)

# मार्कण्डेय मुनिको अमरत्वकी प्राप्ति, ब्रह्माजीकी स्थापना, बालसख्यतीर्थकी महिमा

**सूतजी कहते हैं**—चमत्कारपुरके समीप मृकण्ड नामसे प्रसिद्ध एक श्रेष्ठ द्विज थे, जो वेदवेत्ता विद्वानोंमें अग्रगण्य माने जाते थे। वे वानप्रस्थ-आश्रममें स्थित थे। वहाँ उन्होंने बड़ी भारी तपस्या की थी। जिस समय वे गृहस्थ थे, तभी ढलती अवस्थामें उनके एक सर्वशुभ-लक्षणसम्पन्न पुत्र हुआ था। पिताने उसका नाम 'मार्कण्ड' रखा था। वानप्रस्थी पिताके आश्रममें ही बालकका लालन-पालन हुआ और वह जल्दी बढ़ गया। धीरे-धीरे उसकी अवस्था पाँच वर्षकी हो गयी। एक दिन जब वह पिताकी गोदमें बैठकर खेल रहा था, उसी समय वहाँ कोई सामुद्रिक शास्त्रका विद्वान् आया। उसने नखसे लेकर शिखातक उस बालककी ओर देखा। देखकर उसके नेत्र आश्चर्यसे चकित हो गये। फिर वह किंचित् मुसकराया।

मृकण्ड मुनिने उसे हँसते देख विनीतभावसे पूछा—'विप्रवर! मेरे इस पुत्रकी ओर देखकर आप चकित क्यों हो गये थे और फिर हँसे क्यों?' उनके बारंबार इस प्रकार पूछनेपर उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने कहा—'मुने! इस शिशुके जो लक्षण देखे जाते हैं, वे यदि किसी मनुष्यके शरीरमें हों तो वह अजर-अमर होता है। परंतु इसमें जो एक विशेष लक्षण है उससे सूचित होता है कि आजके दिनसे छः महीने पूरे होते ही इसकी मृत्यु हो जायगी। ऐसा जानकर आप आजसे इसके लिये लोक-परलोकमें हितकर कार्य कीजिये।'

यों कहकर वह उत्तम ब्राह्मण अपनी अभीष्ट दिशाको चला गया। तब मृकण्ड मुनिने मन-ही-मन कुछ सोच-विचारकर उचित समयसे पहले ही बालकका यज्ञोपवीत संस्कार कर दिया। फिर उसे कर्तव्यका उपदेश देते हुए कहा—'बेटा! तुम जिस किसी भी ब्राह्मणको देखना उसे अवश्य विनयपूर्वक प्रणाम करना।' इस प्रकार व्रतमें स्थित हुए उस बालकके छः महीने पूर्ण होनेमें केवल तीन दिन शेष रह गये। वह सदा प्रत्येक ब्राह्मणको प्रणाम करता रहा। इसी बीचमें तीर्थयात्रापरायण सप्तर्षिगण उधर आ निकले, जहाँ वह मेखलाधारी मार्कण्ड खड़ा था। उसने उन सब मुनियोंको बारी-बारीसे प्रणाम किया और सबने पृथक्-पृथक् उसे 'दीर्घायु' होनेका आशीर्वाद दिया। तदनन्तर मुनिवर वसिष्ठने उस बालब्रह्मचारीकी ओर देखते हुए कहा—'हम सबने इस शिशुको दीर्घायु होनेका आशीर्वाद दिया है, परंतु यह तो आजके तीसरे ही दिन प्राण त्याग देगा; अतः हमलोगोंके वचनका इस प्रकार असत्य होना कदापि उचित नहीं है। इसलिये ऐसा कोई उपाय किया जाय जिससे यह बालक चिरंजीवी हो जाय।'

तदनन्तर वे सब महर्षि परस्पर विचार करके इस निश्चय पर पहुँचे कि 'ब्रह्माजीको छोड़कर दूसरा कोई इसके जीवनका उपाय नहीं है। अतः इस बालकको उनके आगे ले जाकर उन्हींकी आज्ञासे इसे चिरंजीवी बनाना चाहिये।' ऐसा निर्णय करके तीर्थभ्रमणका कार्य रोककर उस ब्रह्मचारीको साथ ले वे शीघ्र ही ब्रह्मलोकमें जा पहुँचे। वहाँ ब्रह्माजीको प्रणाम करके वेदोक्त स्तोत्रोंद्वारा उनकी स्तुति करनेके पश्चात् सब मुनि बैठे। इसके बाद उस बालकने भी ब्रह्माजीको प्रणाम किया और ब्रह्माजीने भी उसे दीर्घायु होनेका आशीर्वाद दिया। तत्पश्चात् ब्रह्माजीने सप्तर्षियोंसे पूछा—'तुमलोग कहाँसे और किसलिये इस समय यहाँ आये हो और यह उत्तम व्रत धारण करनेवाला बालक कौन है?'

**सप्तर्षि बोले**—पितामह! हमलोग तीर्थयात्राके प्रसंगसे पृथ्वीपर सब ओर घूमते हुए चमत्कारपुरके समीपतक गये थे। वहाँ इस बालकने हम सबको प्रणाम किया और क्रमशः हम सबने इसे दीर्घायु

होनेका आशीर्वाद दिया। परंतु इसकी आयु तो तीन दिन ही शेष रह गयी है, इसीलिये हम बहुत लज्जित हैं और इसे लेकर आपके पास आये हैं। यहाँ आनेपर आपने भी इस बालकको दीर्घायु होनेका आशीर्वाद दिया है। अतः आप और हम सब लोग सत्यवादी बने रहें, इसके लिये कोई उपाय आप करें।

**मुनियोंका यह वचन सुनकर ब्रह्माजीने हँसते हुए कहा**—यह बालक मेरे प्रसादसे वेद-विद्यामें प्रवीण तथा जरामृत्युसे रहित होगा। इसमें सन्देह नहीं है। अतः अब इसे शीघ्र भूतलपर ले जाकर इसके घर पहुँचा दो। यह सुनकर सप्तर्षि उस बालकको लेकर उसके पिताके आश्रमके समीप आये और अग्नितीर्थमें छोड़कर स्वयं तीर्थस्नानके लिये चले गये। इधर पुत्र-स्नेही मृकण्ड मुनि अपने पुत्रको न देख दुःखी हो विलाप करते थे, इतनेमें ही बालक मार्कण्डेय पिता-माताके निकट आ गया। उसे आते देख ब्राह्मण और ब्राह्मणी दोनों उसकी ओर दौड़े और बार-बार हृदयसे लगाकर पूछने लगे—'बेटा! अपनी मातासहित मुझको शोकके समुद्रमें डालकर तुम आश्रमसे कहाँ चले गये थे और अब कहाँसे आये हो? फिर कभी ऐसा न करना।'

**मार्कण्डेयजी बोले**—पिताजी! आज यहाँ मुनिलोग पधारे थे। मैंने आपकी आज्ञाका स्मरण रखते हुए बारी-बारीसे उन सबको विनयपूर्वक प्रणाम किया और उन्होंने मुझे दीर्घायु होनेका आशीर्वाद दिया। तब उनमेंसे वसिष्ठजीने हँसकर कहा—'मुनियो! आपने जिस बालकको 'दीर्घायु' कहा है, वह आजसे तीसरे ही दिन मृत्युको प्राप्त होनेवाला है।' तब असत्यसे डरे हुए उन महर्षियोंने तत्क्षण मुझे ब्रह्मलोकमें पहुँचा दिया। वहाँ जानेपर मैंने ब्रह्माजीको प्रणाम किया तब उन्होंने भी 'दीर्घायु' होनेका आशीर्वाद दिया। तब उन मुनियोंने मुझे आशीर्वाद देनेका सब वृत्तान्त कहा और यह अनुरोध किया कि 'पितामह! आपके प्रसादसे यह बालक जिस प्रकार दीर्घायु हो सके वैसा यत्न कीजिये।' तब ब्रह्माजीने मुझे अजर-अमर बना दिया और तुरंत उन सप्तर्षियोंके साथ घरको भेज दिया। वे मुनि मुझे आश्रमके समीप छोड़कर कुण्डमें स्नान करनेके लिये चले गये हैं।

मार्कण्डेयकी यह बात सुनकर मृकण्ड मुनिको बड़ा हर्ष हुआ। वे तुरंत उस स्थानपर गये जहाँ मुनिलोग स्थित थे। उन सबको प्रणाम करके वे हाथ जोड़कर खड़े हो गये और बोले—'मुनिवरो! आपलोगोंके प्रसादसे आज मेरे कुलकी वृद्धि हुई। किन्हीं आचार्योंने यह बहुत उत्तम बात कही है कि साधुपुरुषोंकी सेवा करके मनुष्य तीनों लोकोंमें ख्याति लाभ करता है। साधुजनोंका दर्शन पवित्र है, क्योंकि साधुपुरुष तीर्थस्वरूप है। तीर्थ तो कुछ समयके बाद ही फलता है; परंतु साधुपुरुषोंका समागम तत्काल फल देता है*। अतः आज आप सब लोग मेरे घर अतिथिरूपसे आये हैं; बताइये मैं किस प्रकार आपका आतिथ्य करूँ।'

**ऋषि बोले**—मुने! हमारे लिये तो यही करोड़ों आतिथ्यके तुल्य है कि आपका अल्पायु बालक भी अमर हो गया।

**मृकण्डने कहा**—मुनीश्वरो! जिसे मृत्युने गलेसे लगा लिया था, मेरे उस बालककी रक्षा करके आपने समस्त कुलका उद्धार कर दिया है। ब्रह्मघाती, शराबी, चोर तथा व्रतको भंग करनेवाले पापीके लिये सत्पुरुषोंने प्रायश्चित्त बताया है; परंतु कृतघ्नके उद्धारका कोई उपाय नहीं है। अतः मुनीश्वरो! मुझपर कृतघ्नताका दोष न आवे, ऐसा उपाय आपको करना चाहिये।

**ऋषि बोले**—द्विजश्रेष्ठ! यदि आप कोई प्रत्युपकार करना ही चाहते हैं तो हमारे कहनेसे यहाँ ब्रह्माजीके लिये, जिन्होंने आपके पुत्रको अमर बनाया है, एक मन्दिर बनवाइये और इस तीर्थमें ब्रह्माजीकी स्थापना कीजिये। तत्पश्चात् स्वयं भी

* साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः। तीर्थं फलति कालेन सद्यः साधुसमागमः॥ (स्क० पु०, ना० २१। ६८)

आप पुत्रके साथ यहाँ रहकर दिन-रात उनकी आराधना करें। हम और दूसरे ब्राह्मण भी आपके साथ रहकर नित्यप्रति पितामहका पूजन करेंगे। यहाँ आपके बालकके साथ हमारा सख्यसम्बन्ध स्थापित हुआ है, इसलिये यह तीर्थ 'बालसख्य' के नामसे प्रसिद्ध होगा। हमारे वचनसे यह तीर्थ सदा रोगी और भयभीत पुरुषोंको रोग एवं भयसे मुक्त करेगा। जो लोग इस तीर्थमें अपने रोगार्त, भयार्त अथवा ग्रहपीड़ित बालकोंको स्नान करायेंगे, उनके वे बालक सब दोषोंसे रहित हो जायँगे। जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक निष्कामभावसे इस तीर्थमें स्नान करेंगे वे उत्तम गतिको प्राप्त होंगे।

ऐसा कहकर वे सभी मुनीश्वर मृकण्ड मुनिकी अनुमति ले अन्य तीर्थोंमें चले गये। तत्पश्चात् पुत्रसहित मृकण्ड मुनिने ज्येष्ठमासकी पूर्णिमाको ज्येष्ठा नक्षत्रमें चन्द्रमाके स्थित होनेपर ब्रह्माजीकी स्थापना की और आलस्य छोड़कर वे दिन-रात श्रद्धापूर्वक उनकी आराधनामें लगे रहे। इससे उन्हें उत्तम गतिकी प्राप्ति हुई। ब्राह्मणो! जो बालक ज्येष्ठमासके ज्येष्ठा नक्षत्रमें वहाँ स्नान करता है, वह एक वर्षतक ग्रहादिजनित पीड़ाका अनुभव नहीं करता है।

## मृगपदतीर्थ और विष्णुपदतीर्थका प्रादुर्भाव तथा माहात्म्य, विष्णुपदीमें स्नान और विष्णुपदके स्पर्श आदिका महत्त्व

**सूतजी कहते हैं**—उसी तीर्थके पश्चिम भागमें परम उत्तम एवं अतिशय पवित्र मृगतीर्थ है, जो समस्त भूतलमें विख्यात है। जो मानव उस तीर्थमें पूर्ण श्रद्धाके साथ चैत्र शुक्ला चतुर्दशीको मध्याह्नकालमें स्नान करते हैं वे समस्त दोषों और पापोंसे युक्त होनेपर भी किसी प्रकार पशु-पक्षियोंकी योनिमें नहीं जाते। जो कृतघ्न, नास्तिक, चोर तथा राजनिन्दक हैं वे भी वहाँ स्नान करके परम गतिको प्राप्त होते हैं।

**ऋषियोंने पूछा**—सूतनन्दन! उस क्षेत्रमें मृगतीर्थका आविर्भाव कैसे हुआ?

**सूतजीने कहा**—महर्षियो! पूर्वकालमें उस विशाल वनके भीतर एक दिन बहुत-से महाभयंकर व्याध अपने हाथोंमें धनुष लिये आ पहुँचे। उस समय एक वृक्षके नीचे मृगोंका झुंड विश्वस्त होकर बैठा था। व्याधोंकी दृष्टि उनके ऊपर पड़ी। मृग भी उन व्याधोंको दूरसे ही देखकर भयसे व्याकुल हो भाग चले और पास ही गहरे जलाशयको देख उसीमें समा गये। जलके भीतर प्रवेश करते ही वे सब मृग उसी तीर्थके प्रभावसे मानव-शरीरको प्राप्त हो गये। तब उनसे व्याधोंने पूछा—'भद्रपुरुषो! इस मार्गसे अभी-अभी मृगोंका झुंड आया है, बताइये वह किस मार्गसे निकला है?'

**वे मनुष्य बोले**—हमलोग ही वे मृग हैं। इस तीर्थके प्रभावसे हमने दुर्लभ मानव-शरीर प्राप्त कर लिया है।

यह सुनकर सब व्याध बड़े विस्मयमें पड़े और उन्होंने भी धनुष-बाण फेंककर उस तीर्थमें स्नान किया। स्नान करते ही वे दिव्य शरीरसे युक्त श्रेष्ठ राजा हो गये। प्राचीन कालमें जहाँ स्नान करके राजा त्रिशंकु उत्तम शरीरको प्राप्त हुए थे, उसी जलाशयमें स्नान करनेके कारण वे वधिक सब पापोंसे मुक्त होकर उत्तम शरीरको प्राप्त हुए।

उस शुभ तीर्थमें विष्णुपद नामसे प्रसिद्ध एक अन्य तीर्थ भी है जो समस्त पातकोंका नाश करनेवाला है। दक्षिणायन आरम्भ होनेपर मनुष्य एकाग्रचित्त हो वहाँ विष्णुपदका पूजन करे और श्रद्धापूर्वक भगवान्‌को आत्मनिवेदन करे। ऐसा करनेवाला पुरुष दक्षिणायनमें मरनेपर भी भगवान् विष्णुके परम पदको प्राप्त होता है, इसमें सन्देह

नहीं है। इसी प्रकार उत्तरायण आरम्भ होनेपर भी विधिपूर्वक विष्णुपदका पूजन करके एकाग्रचित्त हो भक्तिभावसे आत्मनिवेदन करे। ऐसा करनेवाला पुरुष भी भगवान् विष्णुके पुण्यधामको प्राप्त होकर सुखी होता है।

**ऋषियोंने पूछा**—भगवान् विष्णुका चरण उस तीर्थमें कैसे प्राप्त हुआ और वहाँ किस प्रकार आत्मनिवेदन किया जाता है?

**सूतजीने कहा**—सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णुने जिस समय बलिको बाँधा था, उस समय अपने तीन पगोंसे चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंको नाप लिया था। भगवान्के उन तीन पगोंमेंसे पहला पग इसी हाटकेश्वरक्षेत्रमें पड़ा था। दूसरा पग उन्होंने महर्लोकमें रखा। फिर भगवान् चक्रपाणिने जब तीसरा पग रखनेका उद्योग कियां तब उनके अंगुष्ठके अग्रभागसे ब्रह्माण्ड फूट गया और अत्यन्त लघुताको प्राप्त हो गया। फूटे ब्रह्माण्डके उस छिद्रसे निकला हुआ वह जल भगवान्के अंगुष्ठाग्रसे होता हुआ क्रमशः पृथ्वीतलपर आया। चन्द्रमाके समान उज्ज्वल जलसे विभूषित उस तीर्थको लोकमें विष्णुपदी गंगा कहते हैं। इस प्रकार उस क्षेत्रमें जब भगवान् विष्णुका चरण प्राप्त हुआ तब प्राणियोंके सब पापोंका नाश करनेवाली विष्णुपदी नामक एक नदी प्रकट हुई। जो उसमें श्रद्धापूर्वक स्नान करके भगवान् विष्णुके चरणका स्पर्श करता है, वह परमपदको प्राप्त होता है। जो उत्तम श्रद्धासे युक्त हो विष्णुपदीके तटपर श्राद्ध करता है, वह गयामें श्राद्ध करनेका फल पाता है। जो मनुष्य सदा माघमासमें प्रातःकाल उठकर स्नान करता है, वह प्रयागमें स्नानका फल पाता है। जो एक वर्षतक वहाँ निवास करके भक्तिपूर्वक उसमें स्नान करता है, वह मनुष्य मोक्षका भागी होता है। जिसकी हड्डियाँ उस तीर्थके जलमें डाल दी जाती हैं, वह परम गतिको प्राप्त होता है। जो प्याससे पीड़ित होकर बिना भक्तिके भी उस तीर्थके जलमें प्रवेश करते हैं, वे भी पापमुक्त हो शरीरका अन्त होनेके पश्चात् भगवान् विष्णुके जरा-मृत्यु-रहित परम धाममें जाते हैं। फिर जो पर्वकाल उपस्थित होनेपर श्रद्धापूर्वक स्नान करके वेदके ज्ञाता श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको दान देते हैं, उनके लिये क्या कहना है! इसलिये जो मनुष्य अपने कल्याणकी इच्छा रखता है, वह प्रयत्न-पूर्वक विष्णुपदीके जलमें स्नान तथा विष्णुपदका स्पर्श करे।

दक्षिणायन अथवा उत्तरायण प्राप्त होनेपर श्रीविष्णुपदका पूजन करके इस मन्त्रका उच्चारण करे—

**षण्मासाभ्यन्तरे मृत्युर्यद्यकस्माद् भवेन्मम।**
**तत्ते पदं गतिर्मे स्यात् स्यामहं भृत्यतां गतः॥**

'भगवन्! यदि छः महीनेके भीतर मेरी अकस्मात् मृत्यु हो जाय तो आपके चरणोंमें ही मुझे आश्रय मिले और मैं आपका सेवक (पार्षद) होऊँ।'

श्रीहरिसे ऐसा कहकर तत्पश्चात् ब्राह्मणोंका पूजन करे और उन्हींके साथ भोजन करे। ऐसा करनेवाला पुरुष उत्तम गतिको प्राप्त होता है।

## विष्णुपदीकी अद्भुत महिमा, चण्डशर्माकी शुद्धि

**सूतजी कहते हैं**—विप्रवरो! पूर्वकालकी बात है। चमत्कारपुरमें उत्तम व्रतका पालन करनेवाले चण्डशर्मा नामसे विख्यात एक ब्राह्मण हो गये हैं, जो रूप और उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न थे। वे जब युवावस्थामें पहुँचे तब किसी वेश्यामें आसक्त हो गये। एक समय आधी रातमें वे प्याससे व्याकुल होकर उठे तो उस वेश्यासे बोले—'प्रिये! मैं पानी पीना चाहता हूँ।' तब उस वैश्याने पानीके भ्रमसे उन निद्राकुल ब्राह्मणको मदिरासे भरा हुआ पुरवा लाकर दे दिया। मुखमें मदिरा जाते ही ब्राह्मण कुपित हो उठे और उस वेश्याको बार-बार धिक्कारते हुए कड़ी फटकार

सुनाने लगे—'अरी पापिनी! तूने यह क्या किया। आज मदिरा पीनेसे मेरी ब्राह्मणता निश्चय ही नष्ट हो गयी; अतः मैं आत्मशुद्धिके लिये प्रायश्चित्त करूँगा।' ऐसा कहकर वे दुःखपूर्वक घरसे बाहर निकले और निर्जन वनमें जाकर करुणस्वरमें विलाप करने लगे। तत्पश्चात् प्रातःकाल होनेपर उन्होंने अपने शरीरके सब बाल बनवाकर वस्त्रसहित स्नान किया। तदनन्तर वे श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी सभामें गये और उन्हें प्रणाम करके बोले—'ब्राह्मणो! मैंने जलके धोखेसे मदिरा पी ली है, मुझे दण्ड दीजिये।' तब उन ब्राह्मणोंने बार-बार धर्मशास्त्रका विचार करके कहा—'ब्राह्मण यदि ज्ञान अथवा अज्ञानसे भी मदिरा पी ले तो मदिराके बराबर ही खौलता हुआ घी पी लेनेपर उसकी शुद्धि होती है; अतः यदि तुम आत्मशुद्धि चाहते हो तो यही प्रायश्चित्त करो।' 'बहुत अच्छा, ऐसा ही करूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके ब्राह्मणने तत्काल घी लेकर उसे पीनेके लिये आगपर तपाया। इतनेमें ही यह समाचार सुनकर उनके पिता-माता भी आ पहुँचे और बोले—'यह क्या, यह क्या बेटा! तुम यह क्या करते हो?'

तब पुत्रने नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए रातकी सब घटना कह सुनायी। यह सब सुनकर ब्राह्मण-दम्पतिने उन सब श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे प्रार्थना की, 'मेरे इस पुत्रको धर्मशास्त्रका विचार करके कोई दूसरा प्रायश्चित्त बताइये।' तब उन ब्राह्मणोंने पुनः आदरपूर्वक धर्मशास्त्रका विचार किया और इस प्रकार कहा—'ब्रह्मन्! धर्मशास्त्रमें तो कोई दूसरा उपाय नहीं है। तुम्हें जो उचित प्रतीत हो सो करो।' तब ब्राह्मणने पुत्रसे कहा—'बेटा! तीर्थयात्रा करो, फिर क्रमशः अनेक प्रकारका व्रत करनेसे पवित्रताको प्राप्त होओगे।'

**पुत्र बोला**—महाभाग! क्या ब्राह्मणोंका बताया हुआ प्रायश्चित्त पवित्रताके लिये पर्याप्त नहीं है, जो आप व्रत आदिका उपदेश करते हैं?

पुत्रका यह निश्चय जानकर पुत्रवत्सला पिता तथा उनकी सती पत्नीने भी मृत्युका निश्चय करके प्रसन्नतापूर्वक अपना सब कुछ ब्राह्मणोंको दान कर दिया। तब माताने कहा—'बेटा! जब हम दोनों अग्निमें प्रवेश कर जायँ उसके बाद तुम मोंजीहोम (मरणान्त प्रायश्चित्त) करना।' ऐसा कहकर वे दम्पति प्रसन्नतापूर्वक मृत्युके लिये अग्निके समीप गये। उनके साथ ही उनका पुत्र भी था। इतनेमें ही वेदोंके पारंगत विद्वान् शाण्डिल्य मुनि तीर्थ-यात्राके प्रसंगसे उस स्थानपर आ पहुँचे और सारी बात सुनकर उन सब ब्राह्मणोंको फटकारते हुए बोले—'अहो! तुम सब लोग अत्यन्त मूढ़ हो; क्योंकि तुम्हारे कारण सुगम प्रायश्चित्तके होते हुए भी आज ये तीन ब्राह्मण व्यर्थ ही मृत्युको प्राप्त हो रहे हैं। कृच्छ्र और चान्द्रायण आदि प्रायश्चित वहाँ दिये जाते हैं, जहाँ श्रीगंगाजी उपलब्ध न हों। यहाँ तो साक्षात् विष्णुपदी गंगा विद्यमान हैं; उसीमें यह स्नान करे तो पापसे शुद्ध हो जायगा।'

तब सब ब्राह्मणोंने शाण्डिल्य मुनिको साधुवाद देते हुए कहा—'मुने! आपका कथन सत्य है।' इसके बाद वे सब लोग ब्राह्मणको समझा-बुझाकर विष्णुपदी गंगाके तटपर ले गये। वहाँ ब्राह्मणने ज्यों-ही मुखमें गंगाजल डालकर कुल्ला किया, त्यों-ही वह शुद्ध हो गया। फिर जब वे उस शोभायमान जलमें स्नान करने लगे, उस समय स्पष्ट स्वरमें आकाशवाणी हुई—'विष्णुपदीका सम्पर्क होनेसे तथा उसके जलमें स्नान और आचमन करनेसे ब्राह्मणदेवता शुद्ध हो गये हैं; अतः अब वे अपने घर लौट जायँ।' यह सुनकर सब लोग हर्ष प्रकट करते हुए अपने-अपने घर चले गये।

**सूतजी कहते हैं**—ब्राह्मणो! ऐसे प्रभावशाली विष्णुपदी गंगा उस क्षेत्रकी पश्चिम सीमापर विद्यमान हैं, जो सब पापोंका नाश करनेवाली हैं।

# हाटकेश्वर-क्षेत्रकी दक्षिणोत्तर सीमाके गोकर्णोंका परिचय, गोकर्ण और यमका संवाद, नरकवर्णन, क्षेत्रसेवनका माहात्म्य

**सूतजी कहते हैं**—महर्षियो! भूतलपर यमुना नदीके किनारे मथुरा नामसे विख्यात एक महापुरी है, जो अनेक ब्राह्मणोंसे भरी हुई है। वहीं पूर्वकालमें गोकर्ण नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण रहते थे, जो वेदाध्ययनसे सम्पन्न और सब शास्त्रोंके पण्डित थे। वहीं उसी नामका और उसी अवस्थाका एक दूसरा ब्राह्मण भी रहता था, जो सब विद्याओंमें पारंगत था। एक दिन यमराजने अपने दूतसे कहा—'दूत!' तुम शीघ्र मथुरा जाओ और वहाँके गोकर्ण नामक श्रेष्ठ ब्राह्मणको यहाँ ले आओ। आज दोपहरके समय उनकी आयु समाप्त हो जायगी। देखना, उसी पुरीमें उस नामके एक दूसरे ब्राह्मण भी हैं, जो दीर्घजीवी हैं; कहीं भूलसे उनको न ले आना।'

यमराजकी आज्ञासे दूत बड़े वेगसे मथुरापुरीमें पहुँचा; परंतु भ्रम हो जानेसे वह दीर्घजीवी गोकर्णको ही पकड़ लाया। तब यमराजने कुपित होकर अपने सेवकसे कहा—'पापी! तुझे धिक्कार है। तू इन दीर्घायु महात्माको ले आया! तूने यह क्या किया। इन्हें शीघ्र ही ले जाकर वहाँ पहुँचा दे; अन्यथा भय है कि बन्धु-बान्धव इनकी देहका दाह-संस्कार न कर दें।'

**ब्राह्मण बोले**—मैं सौभाग्यवश आपके समीप आ गया हूँ। अब वहाँ लौटकर नहीं जाऊँगा। मैं तो दरिद्रतासे कष्ट पाकर स्वयं ही सदा मृत्युकी इच्छा रखता था।

**यमराजने कहा**—विप्रवर! यदि पलभर भी आयु शेष हो तो मैं किसी मनुष्यको पृथ्वीसे यहाँ नहीं बुलाता, इसीलिये लोग मुझे धर्मराज कहते हैं। मैं सब प्राणियोंपर पक्षपात छोड़कर समान भाव रखता हूँ। तुम मुझसे कोई वर माँगो। किसी भी देहधारीको मेरा दर्शन व्यर्थ नहीं होता।

**ब्राह्मण बोले**—देव! यदि मुझे अवश्य ही घर लौटकर जाना है तो मैं पूछता हूँ, उसको बताइये। वही मेरे लिये श्रेष्ठ वर होगा। पापकर्मी मनुष्य, जो इन भयंकर नरकोंका सेवन कर रहे हैं, इनमेंसे किस कर्मसे किसको कौन-सा नरक प्राप्त होता है?

**यमराजने कहा**—विप्रवर! नरक असंख्य हैं पर उनमेंसे जो मुख्य हैं, केवल उन्हींका परिचय मैं तुम्हें कराऊँगा। यहाँ मुख्य इक्कीस नरक हैं। उनमेंसे पहला रौरव नरक है, जिसमें अत्यन्त तप्त तेलसे भरे हुए कुण्डोंमें प्राणी पकाये जा रहे हैं। इसमें दूसरोंका धन हड़पनेवाले क्षुद्र मनुष्य यातना भोगते हैं। दूसरेका नाम है महारौरव, जिसमें कृतघ्न और गुरुशय्यागामी पापात्मा दाहसे पीड़ित होकर तथा तीखी धारवाले शस्त्रोंसे छिन्न-भिन्न होकर आर्तनाद करते हैं। तीसरे भयदायक नरकका नाम अन्धतम है। जिन नराधमोंने परायी स्त्रियोंको दूषित दृष्टि देखा है, वे जब यहाँ आते हैं तब लोहेके समान मुखवाले पक्षी उनकी दोनों आँखें निकाल लेते हैं। चौथा नरक प्रतप्त नामसे विख्यात है। यहाँ भी पापी जीव यातना भोगकर शुद्ध होते हैं। जिन्होंने गुरुजनों, देवताओं तथा तपस्वियोंकी सदैव निन्दा की है, उन लोगोंकी जिह्वा यहाँ उखाड़ ली जाती है। पाँचवाँ सुप्रसिद्ध नरक विदारक नामवाला है। यहाँ मित्रद्रोही मनुष्य आरेसे चीरे जाते हैं। छठा निकुम्भ नामक नरक है, जो तपायी हुई बालूसे भरा हुआ है और स्वयं भी अग्नि-से तप रहा है। जिन मनुष्योंने पहले बिना किसी अपराधके दूसरे ब्राह्मणोंको प्राणान्तकारी कष्ट पहुँचाया है, वे यहाँ तपी हुई बालूमें भूने जाते हैं। सातवाँ नरक बीभत्सु कहलाता है। वह अत्यन्त गर्हित है। उसमें सब ओरसे मल-मूत्र आदि गंदी वस्तुएँ भरी हुई हैं। जिन दुरात्माओंने राजाके पास जाकर लोगोंकी चुगली खायी है, उनके मुँहमें ये गंदी वस्तुएँ भरकर उन्हें इसी नरकमें डाल दिया जाता है। आठवाँ अधम नरक

कुत्सित नामसे प्रसिद्ध है। वह कफ और मूत्र आदि एवं दुर्गन्धयुक्त वस्तुओंसे भरा हुआ है। जिन्होंने गुरु, देवता, अतिथि और विशेषतः अपने कुटुम्बीजनों और सेवकोंको भोजन दिये बिना ही स्वयं भोजन किया है, वे लोग इसमें डाले जाते हैं। द्विजश्रेष्ठ! यह दुर्गम नामका नवाँ नरक है। यह तीखे काँटोंसे भरा हुआ है। इसके भीतर साँप और बिच्छू भी रहते हैं। जिन्होंने एक साथ यात्रा करनेवाले अपने भूखे-प्यासे कष्ट पाते हुए साथीको न देकर अकेले भोजन किया है, उन्हें इस नरकमें रखा जाता है। दसवें नरकका नाम दुस्सह है, जो सब ओरसे तप्त लोहमय खम्भोंसे घिरा हुआ है। जो पापी परायी स्त्रियोंमें तथा मांस-भोजनमें अनुरक्त होते हैं, उन मनुष्योंको यहाँ तप्त लोहमय खम्भोंका आलिंगन करना पड़ता है। ग्यारहवाँ नरक आकर्ष नामसे प्रसिद्ध है। यहाँ तपाये हुए सँड़से रखे रहते हैं। जो मनुष्य स्त्री, ब्राह्मण, गुरु और देवताका धन खाते हैं, उन्हें तपाये हुए सँड़सोंसे पकड़कर सब ओर खींचा जाता है। बारहवें नरकको सन्दंश कहते हैं। इसमें अभक्ष्य भक्षण करनेवाले नराधमोंको लोहेके समान दाँत और मुखवाले गीध नोच-नोचकर खाते हैं। तेरहवें नरकका नाम नियन्त्रक है। उसकी बड़ी ख्याति है। वह सब ओरसे कीटों तथा सुदृढ़ बन्धनोंसे व्याप्त है। जो पापी दूसरोंकी धरोहरको हड़प लेते हैं, वे यहाँ बन्धनोंसे कसकर बाँध दिये जाते हैं और कृमि, बिच्छू तथा कीट आदि उन्हें काटते और खाते हैं। चौदहवाँ नरक अधोमुख कहा गया है। इसका स्वरूप सब नरकोंसे अधिक भयंकर है। जो मनुष्य ब्राह्मणकी हत्या करते हैं, वे यहाँ एक वृक्षकी डालमें बाँधकर नीचे मुँह करके लटका दिये जाते हैं और नीचेसे आग प्रज्वलित करके उन्हें पकाया जाता है। पंद्रहवाँ भीषण नामवाला नरक है, जो जूँ और खटमल आदिसे भरा हुआ है। जो लोग झूठी गवाही देते या झूठ बोलते हैं, उनको तथा अन्य कुकर्मियोंको भी मैंने यहीं स्थान दे रखा है। यह सोलहवाँ नरक क्षुद्धद कहा गया है, जो चारों ओर क्षुधातुर मनुष्योंसे व्याप्त है। जिन द्विजोंने मांस भोजन किये हैं, वे यहाँ भूखसे पीड़ित होकर अपने ही शरीरको काट-काटकर खाते हैं। सत्रहवाँ क्षार नरक है, जो नमकसे भरा हुआ है। यह सब प्राणियोंके लिये बड़ा भयंकर है। जो मनुष्य व्रत भंग करनेवाले तथा पाखण्डी हैं, वे यहाँ आनेपर तीखे शस्त्रोंसे पीस डाले जाते हैं और ऊपरसे उनपर नमक छिड़का जाता है। यह अठारहवाँ नरक निदाघ नामसे प्रसिद्ध है, जो प्रज्वलित अंगारोंसे भरा है। जो मनुष्य शास्त्र, काव्य तथा ब्राह्मण-कन्याको कलंकित करते हैं, वे यहीं अंगारोंके भीतर रखे जाते हैं। उन्नीसवाँ नरक कूटशाल्मलि कहलाता है, जो सब ओरसे तीखे काँटोंसे भरा हुआ है। जो नास्तिक, मर्यादा भंग करनेवाले तथा ब्राह्मणघाती हैं, वे सब मनुष्य यहाँ सदैव चढ़ते और गिरते रहते हैं। बीसवें नरकका नाम असिपत्र वन है। जो दूसरोंके छिद्र देखते, झूठ-कपटसे भरे हुए कार्योंमें संलग्न रहते और शास्त्र बेचते हैं, वे ही इसमें आते हैं। इक्कीसवाँ नरक वैतरणी नामवाली नदी है, जिसे धर्मात्मा और पापी सभीको पार करना पड़ता है। जो मृत्युकालके समय गायकी पूँछ हाथमें लेकर उसका दान करते हैं, वे सुखपूर्वक उस नदीको पार कर जाते हैं। जो मानव गोदान किये बिना ही मर जाते हैं, उन्हें इस दुर्गम नदीको हाथोंसे ही तैरकर पार करना पड़ता है। द्विजश्रेष्ठ! तुमने जो कुछ पूछा है, वह सब वृत्तान्त मैंने तुमसे कह दिया। अब इच्छानुसार धन लेकर घर जाओ।

**ब्राह्मण बोले**—देव! अब यह बताइये कि कौन-सा कर्म करनेसे मनुष्य नरकमें नहीं जाता।

**यमराजने कहा**—जो सदा तीर्थयात्रामें तत्पर रहता, देवता और अतिथियोंकी पूजा करता, ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति रखता तथा शरणमें आये हुएका पालन करता है, वह कभी भी नरकमें नहीं जाता। जो सर्वदा दूसरोंकी भलाईमें संलग्न रहता, हेमन्त

(सर्दी)-में आग तपाता, गरमीमें जल पिलाता और वर्षामें ठहरनेके लिये स्थान देता है, वह कभी नरकका दर्शन नहीं करता है। जो व्रत और उपवासमें तत्पर, शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, ब्रह्मचारी तथा सदैव भगवान्‌का ध्यान करनेवाला है, वह मनुष्य भी नरकमें नहीं जाता है। जो अन्न और तिलका दान करता, किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करता, वेदाध्ययन करके शास्त्रके आज्ञा-पालनमें तत्पर होता, मीठे वचन बोलता तथा सदा धार्मिक चर्चा किया करता है, वह कभी नरकको नहीं देखता।

**ब्राह्मण बोले**—धर्मराज! यह तो एक मूर्ख भी जानता है कि शुभ कर्ममें तत्पर रहनेवाला पुरुष नरकमें नहीं जाता और पापपरायण मनुष्य स्वर्गमें नहीं जा सकता। मुझे तो सब लोकोंको सुख पहुँचानेवाला वह श्रेष्ठ व्रत, नियम, तीर्थ, जप अथवा होम आदि उपाय बताइये, जिसको स्वल्प मात्रामें करनेपर भी पापी पुरुष भी अपने पापका नाश करके शीघ्र स्वर्गलोकमें जा सके।

**यमराजने कहा**—द्विजश्रेष्ठ! आनर्त देशमें परम मनोहर एवं सर्वतीर्थमय शुभ हाटकेश्वरक्षेत्र है जो महापातकोंका भी नाश करनेवाला है। जो उस क्षेत्रमें पंद्रह दिन भी भक्तिपूर्वक भगवान् शंकरकी पूजा करता है, वह सब पापोंसे युक्त होनेपर भी भगवान् शिवके लोकमें प्रतिष्ठित होता है। अतः तुम वहीं जाकर भक्तिभावसे भगवान् शंकरकी आराधना करो। इससे अपनी दस पीढ़ियोंके साथ तुम मोक्ष प्राप्त करोगे।

**सूतजी कहते हैं**—यह उपदेश सुनकर गोकर्णजी ज्योंही अपने घरकी ओर प्रस्थित हुए त्यों ही यमदूत दूसरे गोकर्णको भी साथ लेकर वहाँ आ पहुँचा और शीघ्र ही उसने धर्मराजके सामने उसे उपस्थित किया। तब धर्मराजने प्रसन्न होकर दूतसे कहा—'तुम समय बिताकर इन ब्राह्मण देवताको यहाँ लाये हो, अतः द्वितीय गोकर्णके साथ ही इन्हें भी जल्दी छोड़ दो।' तदनन्तर वे दोनों गोकर्ण ब्राह्मण उसी क्षण एक ही साथ छोड़ दिये गये। फिर दोनोंने सहसा अपने-अपने शरीरमें प्रवेश किया। स्वस्थ होनेपर दोनोंने हाटकेश्वरतीर्थमें यथावत् तपस्या करके भगवान् शंकरकी आराधना की और उसके प्रभावसे सशरीर स्वर्गलोकमें चले गये। जो मनुष्य निष्कामभावसे वहाँ भगवान् शिवकी आराधना करता है वह मोक्षको प्राप्त होता है।

विप्रवरो! इस प्रकार मैंने तुम्हें हाटकेश्वरक्षेत्रका प्रमाण और सीमा आदिका सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। यहाँ खेती करनेवाले किसान भी परमगतिको प्राप्त होते हैं। फिर जो अपने मनको वशमें रखनेवाले शान्त, दान्त और जितेन्द्रिय साधक हैं उनके लिये क्या कहना है। मनुष्योंकी तो बात ही क्या है, उस क्षेत्रमें मृत्युको प्राप्त हुए कीट, पतंग, पशु-पक्षी और मृग भी निःसन्देह स्वर्गलोकमें जाते हैं। जो भगवान् जनार्दनको अपने हृदयमें स्थापित करके श्रद्धापूर्वक वहाँ रहते हैं, उनकी सद्गतिमें सन्देह ही क्या हो सकता है; अतः पूरा प्रयत्न करके सबको उस क्षेत्रका सेवन करना चाहिये।

## सिद्धेश्वर लिंगकी महिमा तथा वत्स मुनिके द्वारा षडक्षर-मन्त्रके माहात्म्य एवं मांसाहारकी निन्दा तथा अहिंसाकी महत्ताका वर्णन

**सूतजी कहते हैं**—विप्रवरो! हाटकेश्वरक्षेत्रमें सिद्धेश्वर नामक लिंग है। उस लिंगके रूपमें वहाँ साक्षात् भगवान् शंकर स्वयं ही प्रकट हैं। वे स्मरण और दर्शन करनेसे सदा सब प्रकारकी सिद्धि देनेवाले हैं। जो मनुष्य पवित्र भावसे भक्तिपूर्वक उन सिद्धेश्वरका दर्शन या स्पर्श करता है, वह दुर्लभ मनोरथको भी शीघ्र प्राप्त कर लेता है। उस क्षेत्रमें पहले स्पर्श और दर्शन करनेसे सैकड़ों पुरुष सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं और कितने ही मनुष्य केवल प्रणाम करनेसे

सिद्धिके भागी हुए हैं। पूर्वकालमें जब मैं पिताके घरमें रहता था, मेरे सामने ही एक दिन वहाँ महातेजस्वी वत्स मुनि पधारे। उस समय उनका दर्शन करके मेरे पिताजीने भक्तिभावसे उन्हें प्रणाम किया और अर्घ्य देकर विनयपूर्वक पूछा—'विप्रवर! आपका स्वागत है। आप कहाँसे आये हैं, मेरे लिये यथोचित सेवाके निमित्त आज्ञा कीजिये।'

**वत्सजी बोले**—सूत! मैं तुम्हारे आश्रमपर चातुर्मास्य व्रत करना चाहता हूँ। यदि तुम मेरी सेवा-शुश्रूषा करो तो यहीं चौमासा करूँ।

**लोमहर्षणजीने कहा**—ब्रह्मन्! मैं निःसन्देह आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।

**ऐसा कहकर मेरे पिताजी मुझसे बोले**—वत्स! तुम्हें प्रतिदिन इन महर्षिकी सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये। तब मैं विनीतभावसे उनकी सेवा-टहलके सब कार्य करने लगा। वे रातमें मुझे विचित्र-विचित्र कथाएँ सुनाया करते थे। एक समय कथाके अन्तमें मैंने पूछा—भगवन्! समुद्रसहित सम्पूर्ण धरातलको आपने थोड़ी ही अवस्थामें कैसे देखा? जिन द्वीप, समुद्र तथा पर्वतोंकी चर्चा आपने की है, वहाँतक तो मनुष्य मनके द्वारा भी किसी प्रकार नहीं जा सकते। मुनीश्वर! यह किसी तपस्याका प्रभाव है अथवा मन्त्रका पराक्रम है, जिससे आपने सम्पूर्ण भूतलको देख लिया है?

**वत्स मुनिने हँसकर कहा**—यह तुमने ठीक समझा है। मेरे मन्त्रका ही ऐसा पराक्रम है। मैं प्रतिदिन भगवान् शिवके समीप षडक्षर मन्त्र (**ॐ नमः शिवाय**) का आठ हजार जप करता हूँ, इससे तीनों कालमें मेरी युवावस्था सदा स्थिर रहती है। मुझे भूत और भविष्यका ज्ञान है और मेरा जीवन सदा सुखमय बना रहता है। मेरी आयु लाखों वर्षोंकी हो गयी है, तथापि अभी प्रथम अवस्था (किशोरावस्था) ही दिखायी देती है।

एक समय मेरी स्त्रीकी मृत्यु हो जानेपर जब मैं उसके लिये शोक कर रहा था, तब मेरे सुहृदोंने मुझसे कहा—'अरे भैया! तुम शोक क्यों करते हो? एक दिन हम सभीकी मृत्यु होनेवाली है। इसके लिये रोना क्या है। तुमने अपनी प्रियाको पहलेसे नहीं देखा था, वह अदर्शनसे ही तुम्हें प्राप्त हुई थी और अब पुनः अदर्शनावस्थाको ही चली गयी है। न वह तुम्हारी थी, न तुम उसके। फिर व्यर्थ शोक क्यों करते हो? किसीका किसीके साथ सदा एक स्थानपर निवास नहीं होता। अपने शरीरके साथ भी मनुष्य सदा नहीं रह सकता। फिर इस शरीरसे भिन्न जो दूसरे लोग हैं, उनके साथ सदा संयोग कैसे रह सकता है। जो मरे हुए सम्बन्धी, खोयी हुई वस्तु और बीती हुई बातके लिये शोक करता है, वह दुःखसे दुःख उठाता है।' इस प्रकार वे सब सुहृद् मुझे समझा-बुझाकर घर ले आये। घर आनेपर मैंने यह प्रण किया कि 'जहाँ कहीं भी सर्पको देखूँगा, वहीं उसे डंडेसे मार डालूँगा; क्योंकि मेरी स्त्रीको सर्पने ही काट खाया है।' ऐसा निश्चय करके एक समय मैं घूमता हुआ चमत्कारपुरमें पहुँचा। वहाँ एक कुण्डसे निकलकर पड़े हुए विशाल जल-सर्पको देखा। देखते ही उसे मारनेके लिये मैंने डंडा उठाया, तब उस सर्पने कहा—'पहले मेरी बात सुन लो। फिर तुम्हें जो उचित प्रतीत हो, वह करना। ब्रह्मन्! वे सर्प दूसरे ही होते हैं, जो मनुष्योंको काटते हैं। हम तो पानीके साँप हैं, हमारा केवल रूप ही साँपका होता है, हममें विष नहीं होता।' उसके इस प्रकार कहनेपर भी मैंने डंडेका प्रहार कर ही दिया। उस डंडेका स्पर्श होते ही वह एक तेजस्वी महापुरुषके रूपमें परिणत हो गया। इस आश्चर्यको देखकर मैंने उन महापुरुषसे प्रणाम करके कहा—'प्रभो! मेरा अपराध क्षमा करें, आप कौन हैं?'

**तब वे प्रसन्न होकर मुझसे बोले**—मेरा वृत्तान्त सुनो। मैं पहले राजा चमत्कारके बनवाये हुए उत्तम नगरमें एक ब्राह्मण था। वहाँ भगवान् सिद्धेश्वरजीका एक उत्तम शिवालय है। किसी समय वहाँ यात्राका महोत्सव था। उस अवसरपर

बहुतसे ऋषि-मुनि आये और देवाधिदेव महेश्वरको प्रणाम करके उनके सम्मुख बैठ गये। फिर आपसमें कथा-वार्ता करने लगे। वे सभी दया और धर्मसे युक्त थे और उनमेंसे कितने ही महात्मा उस देवालयमें भक्तिपूर्वक नृत्य करते थे। इस प्रकार जब वहाँ महान् उत्सव हो रहा था, उस समय मैं बहुत-से समवयस्क युवकोंके साथ उस स्थानपर गया। मेरे दुष्ट साथियोंने उस उत्सवमें विघ्न डालनेके लिये मुझे बार-बार प्रेरित किया। तब मैं एक भयंकर आकारवाले विशाल जल सर्पको लेकर आगे बढ़ा और उस महान् जनसमुदायमें उसे फेंक दिया। सर्पको देखकर मृत्युके भयसे व्याकुल हो सब लोग भाग छूटे। वहीं सुमन नामवाले एक तपस्वी भी थे, जो अपने उत्तम शिष्योंके साथ वहाँ आकर समाधिमें स्थित थे। हृदयके भीतर कमलके आसनपर विराजमान उन्हीं वेदाधीश्वर महेश्वरका वे साक्षात्कार कर रहे थे, जो सर्वव्यापी, अविनाशी, सर्वज्ञ, अनिन्द्य, अभेद्य और जरा-मृत्युसे रहित बताये जाते हैं। तपस्वीके सब अंगोंमें रोमांच हो रहा था। उनके नेत्रोंसे आनन्दाश्रुओंकी अजस्र धारा प्रवाहित होकर उन्हें भिगो रही थी। इस प्रकार समाधिस्थ होकर अविचल भावसे बैठे हुए उन महात्माके शरीरको उस सर्पने अपने देहसे लपेट लिया। इसी समय उनका एक शिष्य वहाँ आ गया, जो बड़ा तपस्वी था। उसका नाम श्रीवर्धन था। उसने सर्पके शरीरसे लिपटे हुए गुरुको और पास ही खड़े हुए मुझको देखकर यह जान लिया कि 'इसीने यह दुष्टता की है।' तब उसने कुपित होकर कहा—'यदि मैंने निर्विकल्प चित्तसे महादेवजीका ध्यान किया है, तो उस सत्यसे यह दुष्टात्मा ब्राह्मण ऐसे ही सर्पकी आकृतिवाला हो जाय।' उसके इतना कहते ही मैं तत्क्षण भयंकर सर्पशरीरको प्राप्त हो गया। तदनन्तर समाधिसे विरत होनेपर मुनिने अपने शरीरपर भयंकर आकारवाले सर्पको देखा। फिर सर्पकी ही आकृतिमें स्थित मुझे महान् दुःख उठाते हुए देखा और समीप खड़ी हुई सब जनताको तटस्थ एवं भयसे संत्रस्त पाया, तब उन्होंने ज्ञानदृष्टिसे सब कुछ जान लिया और मेरे प्रति दयाभावसे युक्त हो अपने शिष्यसे कहा—'श्रीवर्धन! तुमने यह सब कर्म करके मेरा प्रिय नहीं किया है। इस दीन ब्राह्मणको शाप दिया। यह तपस्वियोंका धर्म नहीं है। जो मान और अपमानमें समान रहे, ढेला-पत्थर और सोनेको एक-सा समझे तथा शत्रु और मित्रके साथ एक-सा स्नेहपूर्ण बर्ताव करे, वही तपस्वी सिद्धिको प्राप्त होता है। तुमने अज्ञानवश इस ब्राह्मणको शाप दे दिया है, यह तुम्हारा बालचापल्य ही है। मेरी आज्ञासे इसके प्रति पुनः तुम्हें अपना प्रमाद प्रकट करना चाहिये।' यह सुनकर शिष्य श्रीवर्धनने हाथ जोड़ गुरुको प्रणाम करके कहा—'मैंने ज्ञान अथवा अज्ञानसे जो बात कह दी है, वह निःसन्देह वैसी ही होगी।' गुरु बोले—'वत्स! मैं जानता हूँ, तुम्हारी वाणी कभी झूठी नहीं हो सकती, तथापि मैं यह बार-बार कहता हूँ कि तपस्या और धर्मसे हीन पुरुषोंकी जो चाल होती है, वही तपस्वी मुनियोंकी नहीं होती। उन यतियोंके लिये तो एकमात्र क्षमा ही सिद्धि देनेवाली बतायी गयी है। अतः तपस्वीजनोंको सदा क्षमाका आदर्श सामने रखकर ही बर्ताव करना चाहिये। पापीके प्रति स्वयं भी पापी न बने, यही सनातन बुद्धि है। जो पापात्मा पाप करता है, वह स्वयं ही नष्ट हो जाता है। जो पापीके प्रति स्वयं भी पापपूर्ण बर्ताव करता है, वह उत्तम ज्ञानसे रहित है; क्योंकि वह जलेको ही जलाता है और मरे हुएको ही मारता है। जो अपना उपकार करनेवाले पुरुषोंके प्रति ही साधुतापूर्ण बर्ताव करता है, उसकी उस साधुतामें क्या विशेषता है। जो अपनी बुराई करनेवालोंके प्रति भी साधुभाव रखता है, वही जनताद्वारा साधु कहा जाता है *।' अपने

* उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः। अपकारिषु यः साधुः स साधुः कीर्त्यते जनैः॥
(स्क० पु०, ना० २९। १८२-१८३)

शिष्यसे ऐसा कहकर गुरुजीने परम दयासे युक्त हो मुझसे कहा—'सर्प! मेरे शिष्यकी बात झूठी नहीं हो सकती; अतः अब तुम कुछ कालतक सर्पके शरीरमें ही स्थित रहकर अपने उद्धारकी प्रतीक्षा करो।' तब मैंने पूछा—'मुनिश्रेष्ठ! मेरा शाप कब निवृत्त होगा।' उन्होंने उत्तर दिया—'जो शिवालयमें एक क्षण भी संगीत आदिका आयोजन करता है, उसके धर्मकी संख्या नहीं बतायी जा सकती, इसी प्रकार जो उस महोत्सवमें विघ्न डालता है, उसके पापकी भी कोई गणना नहीं कर सकता। इसलिये तुम भी पापी ब्राह्मण हो, अतः तुम्हारी मुक्ति इस समय नहीं होगी; तथापि मेरी एक बात सुनो। जो श्रद्धापूर्वक भगवान् शिवके षडक्षर मन्त्रका जप करता है, उसका ब्रह्महत्याजनित पाप भी नष्ट हो जाता है। दस बार षडक्षर मन्त्रके जपसे एक दिनका और बीस बारके जपसे मनुष्य एक वर्षका पाप धो डालता है, इसलिये अब तुम जलमें रहकर आदरपूर्वक इस मन्त्रका जप करो, जिससे जन्मान्तरमें किया हुआ तुम्हारा पाप भी क्षीण हो जाय। जब वत्स नामवाले एक ब्राह्मण तुम्हें रोषपूर्वक डंडेसे मारेंगे, उस समय तुम्हारा उद्धार हो जायगा।' इतना कहकर वे मुनि चुप हो गये और मैं इस जलाशयमें रहकर षडक्षर मन्त्रका जप करता रहा। द्विजश्रेष्ठ! आज तुम्हारे प्रसादसे मैं सर्पयोनिसे मुक्त हो गया। अतः शीघ्र बताओ मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?

तब मैंने उस दिव्यरूपधारी सर्पसे कहा—'भगवन्! मुझे कुछ कल्याणकारी उपदेश दीजिये, जिससे मुझे अपनी प्रिय पत्नीके विनाशका दुःख न हो तथा निर्धनता, रोग और शत्रुसे पराजयका कष्ट भी न हो।' यह प्रश्न सुनकर उस श्रेष्ठ पुरुषने कहा—द्विजवर! भगवान् शिवका षडक्षर मन्त्र मनुष्योंका सब पाप और अमंगल हर लेनेवाला है। ब्रह्मन्! तुम रात-दिन उस मन्त्रका यथाशक्ति जप करते रहो। उसके जपसे सब पापोंसे मुक्त होकर तुम निःसन्देह अभीष्ट वस्तु प्राप्त करोगे। मैंने भी सदैव बड़े-बड़े पाप किये हैं, तथापि उस मन्त्रके माहात्म्यसे मुझे परम ऐश्वर्ययुक्त लोक प्राप्त हुए हैं। विप्रवर! यह परम गोपनीय मन्त्र मैंने तुमको बताया है, किसी नास्तिकको इसका उपदेश नहीं करना चाहिये। सब वेदोंमें अहिंसाको परम धर्म बताया गया है। विशेषतः ब्राह्मणके लिये तो हिंसा सर्वथा त्याज्य है। इसलिये तुम सर्पका वध त्याग दो। जो समस्त चराचर प्राणियोंको अभय देता है, वह इहलोक और परलोकमें सदा सब प्रकारके सुखसे सम्पन्न होता है। भगवान् शंकरके समान कोई देवता नहीं है, गंगाके समान दूसरी नदी नहीं है, हिंसाके समान पाप नहीं है और दयासे बढ़कर कोई धर्म नहीं है*।

तदनन्तर वह अहिंसारूप धर्म सुनकर मैंने परलोकके भयसे दुःखित होकर उस ब्राह्मणसे पूछा—'भगवन्! मैंने बड़े-बूढ़ोंके मुखसे यह बात सुनी है कि राजा यदि वनमें मृगोंका वध करे, तो उसे दोष नहीं लगता है तथा चिकित्सा-शास्त्रके विद्वान् कहते हैं कि मांस खानेवाले लोग विशेष पुष्ट तथा दीर्घजीवी होते हैं। अतः इस विषयमें मुझे परम हितकारक बात बताइये। आपके मुँहसे जो कोई बात निकलेगी, उसका मैं सन्देह-रहित होकर पालन करूँगा।' मेरी बात सुनकर वे पुनः इस प्रकार बोले—'द्विजश्रेष्ठ! ऐसी बात न कहो। यह सब तो मांसलोभी दुष्ट पापात्माओंका मत है। अहो! संसारमें वे निर्दयी, पापात्मा एवं दुष्ट पुरुष अत्यन्त शोचनीय हैं, जो सब दोषोंकी खानरूप मांसका आस्वादन

* चराचराणां भूतानामभयं यः प्रयच्छति। सर्वदा सर्वसौख्याढ्यो जायते दिवि चेह च॥
नास्ति भर्गसमो देवो नास्ति गंगासमा नदी। नास्ति हिंसासमं पापं नास्ति धर्मो दयापरः॥
(स्क० पु०, ना० २९। २२०-२२१)

करते हैं। मांस न तो आयु बढ़ानेका साधन है और न आरोग्य तथा बलका ही हेतु है। उसे जो गुणकारक बताया जाता है, वह सब झूठ है। इसका दृष्टान्त मुझसे सुनो—मांसभोजी मनुष्य भी रोगसे पीड़ित, दुर्बल और स्वल्पायु देखे जाते हैं तथा जो मांस नहीं खाते, वे भी पृथ्वीपर नीरोग, दीर्घायु और हृष्ट-पुष्ट अंगोंवाले देखे जाते हैं। इसलिये मांसको सर्वथा त्याग देना चाहिये। जो जीवनकी इच्छा रखनेवाले जीवोंके मांस खाता है, वह घोर नरकमें जाता है और वहाँ उन्हीं प्राणियोंद्वारा वह स्वयं भक्षण किया जाता है। मांसकी उत्पत्ति घास, काठ या पत्थरसे नहीं होती, किसी जीवकी हिंसा करनेपर ही मांस मिलता है, अतः उसे सर्वथा त्याग देना चाहिये *। विद्वान् पुरुषोंको उचित है कि वे सब जीवोंको अपने ही समान देखें और पूरी शक्ति लगाकर उनकी रक्षा करें। जो जीवोंको मारता है, जो मारनेकी अनुमति देता है, जो उसे काट-काटकर अलग करता है, जो खरीदता और बेचता है, जो उसे पकाकर तैयार करता है, जो उसे परोसता है तथा जो खानेवाला है—ये आठ प्रकारके व्यक्ति घातक (हिंसक) माने गये हैं। खरीदनेवाला धनसे मारता है, खानेवाला भक्षणके द्वारा हत्या करता है तथा घातक वध और बन्धनके द्वारा मारता है। इस प्रकार जीवोंका तीन तरहसे वध होता है। जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसी भी जीवकी हिंसा नहीं करता, वह जरा-मृत्युसे रहित परम धामको प्राप्त होता है †। शाक, मूल और फलका भोजन करनेवाला ब्रह्मचर्यपरायण पुरुष भी यदि हिंसा-कर्ममें तत्पर है, तो उसे अपने नियम और व्रतका कोई फल नहीं मिलता। एक मनुष्य सौसे भी अधिक वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्या करता है और दूसरा दयासे प्रेरित होकर केवल अहिंसा-व्रतका पालन करता है तो इन दोनोंमें जो दयालु पुरुष है, वही श्रेष्ठ है। जो मानव-दया-धर्मसे युक्त है, वह जिस-जिस वस्तुकी कामना करता है, दुर्लभ होनेपर भी उसे अवश्य प्राप्त कर लेता है।' ऐसा कहकर वे महात्मा पुरुष मेरे देखते-देखते उत्तम विमानपर आरूढ़ होकर स्वर्गलोकको चले गये। महामते! षडक्षर मन्त्रके माहात्म्यसे गन्धर्वलोग उनका यशोगान और किन्नर स्तुति करते थे।

उन महात्माके चले जानेपर मैंने भक्तिपूर्वक शिवमन्त्रकी दीक्षा ग्रहण की और तीनों सन्ध्याओंमें श्रद्धायुक्त हो भगवान् सिद्धेश्वरके समीप बैठकर मैं प्रतिदिन दस हजार मन्त्रका जप करने लगा। इसीसे मेरी युवावस्था स्थिर हो गयी है और मुझे लोकान्तरोंका ज्ञान एवं आकाशगमनकी शक्ति प्राप्त हो गयी है। द्वापरका अन्त होनेपर मैं सिद्धेश्वरजीका दर्शन करूँगा और सदा शिवलोकको प्राप्त होऊँगा। यह मैंने सत्य बात बतलायी है। सूतनन्दन! मैंने यह मोक्षदायक षडक्षरमन्त्रका माहात्म्य तुम्हें सुनाया है। जो मनुष्य उत्तम श्रद्धासे युक्त हो इसका सदा श्रवण करेगा, वह जन्मसे लेकर मृत्युतकके समस्त पापोंसे मुक्त हो जायगा। महाभाग! तुम भी इस मन्त्रका सदा जप किया करो।

**सूतजी कहते हैं**—महर्षियों! इस प्रकार पहले सद्गुरुके मुखसे सुना हुआ यह षडक्षर-माहात्म्य मैंने तुम्हारे समक्ष कहा है।

---

* न हि मांसं तृणात् काष्ठादुत्पलादपि जायते। हते जन्तौ भवेन्मांसं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥

(स्क० पु०, ना० २९। २३२)

† हन्ता चैवानुमन्ता च विशस्ता क्रयविक्रयी। संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चाष्टघातकाः॥
धनेन क्रयकृद्धन्ति भक्षणेन च खादकः। घातको वधबन्धाभ्यामित्येवं त्रिविधो वधः॥
कर्मणा मनसा वाचा यो हिनस्ति न किञ्चन। स प्राप्नोति परं स्थानं जरामरणवर्जितम्॥

(स्क० पु०, ना० २९। २३५—२३७)

## सप्तर्षि-आश्रमकी महिमा, सप्तर्षियोंका हाटकेश्वरक्षेत्रमें आगमन

**सूतजी कहते हैं**—द्विजवरो! हाटकेश्वरक्षेत्रमें सप्तर्षियोंका आश्रम है, जो समस्त कामनाओंको देनेवाला है। जो मनुष्य श्रावणमासकी पूर्णिमाको वहाँ स्नान करता है, वह मनोवांछित फलको पाता है। जो कन्द, मूल, फल और शाकद्वारा वहाँ श्राद्ध करता है, वह राजसूय तथा अश्वमेध दोनों यज्ञोंका फल पाता है। भाद्रपदमासके शुक्ल पक्षकी पंचमी तिथिमें वहाँ स्नान करके पुष्प, धूप और चन्दन आदिके द्वारा ऋषियोंका भक्तिपूर्वक पूजन करना चाहिये। पूजनका मन्त्र इस प्रकार है—

**ॐ अत्रये नमः, ॐ वसिष्ठाय नमः, ॐ कश्यपाय नमः, ॐ भरद्वाजाय नमः, ॐ गौतमाय नमः, ॐ कौशिकाय नमः, ॐ जमदग्नये नमः, ॐ अरुन्धत्यै नमः।**

इस प्रकार उच्चारण करके पूजन करना चाहिये।

ब्रह्मर्षियो! पूर्वकालकी बात है। एक समय संसारमें बारह वर्षोंतक वर्षा नहीं हुई। जीविकाकी साधनभूत समस्त ओषधियों (अन्न और फल आदि)-का नाश हो गया। इससे सब लोग भूखकी पीड़ासे व्याकुल हो गये। इस प्रकार अन्नका विनाश हो जानेसे जब सारा भूमण्डल भूखसे पीड़ित हो गया, तब सप्तर्षि लोग भी क्षुधासे व्याकुल होकर इधर-उधर भ्रमण करने लगे। घूमते-घूमते वे सब लोग वर्षादर्भि नामक राजाके राज्यमें गये। उनका आगमन सुनकर राजा वहाँ आये और इस प्रकार बोले—'मैं आपलोगोंको अन्न, ग्राम और धान-जौ आदि दूँगा।'

**ऋषि बोले**—राजन्! राजाका प्रतिग्रह बड़ा भयंकर होता है। वह स्वादमें मधुके समान है, किंतु परिणाममें विषके तुल्य होता है। अतः पुण्यात्मा ब्राह्मणोंको उसे दूरसे ही त्याग देना चाहिये। इसलिये तुम्हारा कल्याण हो, तुम घर लौट जाओ, हम तुम्हारा धन कदापि नहीं लेंगे।

ऐसा कहकर ऋषिलोग चमत्कारपुरकी ओर चल दिये। तब राजाने गूलरके फलोंमें सोना भरकर उन फलोंको सप्तर्षियोंके मार्गमें बहुत आगे रखवा दिया। तब वे मुनि पृथ्वीपर गिरे हुए गूलरके फलोंको देखकर बड़े प्रसन्न हुए और भूखसे पीड़ित होनेके कारण उन सबको उठाने लगे। उन्हें भारी देख अत्रिने एक फल तोड़कर देखा और उसमें सुवर्ण देखकर कहा—'हमलोगोंकी ज्ञानशक्ति मन्द नहीं हुई है, हमारी बुद्धि मूढ़ नहीं है, जो कि इन फलोंको सुवर्णसे भरे हुए जानकर भी हम ग्रहण कर लें। अतः इन सुवर्णपूरित फलोंको दूरसे ही त्यागकर चल देंगे। एक मनुष्य सम्पूर्ण पृथ्वीका स्वामी है और दूसरा केवल निष्कामभावसे रहनेवाला अकिंचन है। इन दोनोंमें जो निष्काम पुरुष है, वही सौभाग्यशाली एवं श्रेष्ठ है।'

**जमदग्नि बोले**—जो अधम ब्राह्मण धन पाकर शोक करनेकी जगह प्रसन्न होता है, वह मन्दबुद्धि उससे होनेवाले नरकको नहीं देखता। दान लेनेमें समर्थ होकर भी जो उससे निवृत्त हैं, उन्हें वही लोक मिलता है, जो दाताओंको मिलता है।

**कश्यपने कहा**—मुने! यह जो धनका संग्रह प्राप्त हुआ है, सो महान् अनर्थरूप है; क्योंकि ऐश्वर्यसे मोहित चित्तवाला मानव आत्मकल्याणसे वंचित हो जाता है। अर्थसम्पत्ति मोहमें डालनेवाली है और मोह नरकमें गिरानेवाला है। अतः कल्याणकी इच्छा रखनेवाला पुरुष धनको प्रयत्नपूर्वक त्याग दे। धनके द्वारा जिस धर्मका साधन किया जाता है, वह नाशवान् बताया गया है और तपस्याद्वारा जिस धर्मका साधन किया जाता है, वह मोक्ष देनेवाला होता है, ऐसा मेरा विचार है।

**भरद्वाजजी बोले**—बुढ़ापेसे जीर्ण होनेवाले पुरुषके दाँत और केश जीर्ण हो जाते हैं, आँख और कान भी जीर्ण हो जाते हैं, परंतु उसकी

तृष्णा तरुण होती जाती है। जैसे पूरे शरीरके बढ़नेके साथ-साथ प्रत्येक अंग भी वृद्धिको प्राप्त होता है, उसी प्रकार तृष्णा भी धनके बढ़नेके साथ-साथ बढ़ती रहती है। तृष्णाका कहीं अन्त नहीं है। उसे पूर्ण करना भी बहुत कठिन है, वह अपने साथ सैकड़ों दुःख लिये चलती है और उसके द्वारा प्रायः अधर्म ही होता है। अतः तृष्णाको सर्वथा त्याग देना चाहिये।[१]

**गौतमने कहा**—जिसका मन सन्तुष्ट है, उसके लिये सर्वत्र सम्पत्तियाँ हैं। जिसने अपने पैरोंमें जूता पहन रखा है, उसके लिये सारी पृथ्वी ही चमड़ेसे आच्छादित है। सन्तोषरूपी अमृतसे तृप्त हुए शान्त चित्तवाले मनुष्योंको जो सुख प्राप्त होता है, वह धनके लोभमें पड़कर इधर-उधर दौड़ लगानेवाले लोगोंको कहाँसे मिल सकता है। असन्तोष सबसे महान् दुःख है और सन्तोष ही महान् सुख है। अतः सुखकी इच्छा रखनेवाले पुरुष सदैव सन्तुष्ट रहे।[२]

**विश्वामित्र बोले**—किसी वस्तुकी इच्छा रखनेवाले पुरुषकी जब एक कामना पूरी हो जाती है, तब दूसरी वस्तुकी तृष्णा उसे बाणके समान बींधने लगती है।

**वसिष्ठजीने कहा**—कामना रखनेवाला पुरुष सहस्रों कामनाएँ पाकर भी कभी सन्तुष्ट नहीं होता। जैसे घीकी आहुति देनेसे अग्नि प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार उसकी इच्छा रखनेवाला पुरुष मोहग्रस्त होनेके कारण कभी सुख नहीं पाता।

**अरुन्धती बोलीं**—जैसे अनन्त मृणालतन्तुएँ कमलनालमें जाकर स्थित हैं, उसी प्रकार देहधारियोंकी देहमें विद्यमान तृष्णा अनेक अनर्थोंका आश्रय है, खोटी बुद्धिवालोंके लिये जिसका त्याग करना अत्यन्त कठिन है, जो वृद्ध होनेपर भी स्वयं बूढ़ी नहीं होती तथा जो प्राणान्तकारी रोगके समान है, उस तृष्णाका त्याग कर देनेवाले पुरुषको ही सुख मिलता है।[३]

**चण्डा बोली**—मेरे ये स्वामीलोग जब इस धनसे सर्पकी भाँति डरते हैं, तो मुझे भी उस धनसे क्यों नहीं भय होगा।

**पशुमुखने कहा**—सदा धर्मपरायण विद्वान् पुरुष जैसा आचरण करते हैं, अपने हितकी इच्छा रखनेवाले विज्ञपुरुषको भी वैसा ही आचरण करना चाहिये।

**सूतजी कहते हैं**—ऐसा कहकर वे सप्तर्षिगण उन सुवर्णगर्भित फलोंको वहीं छोड़कर अन्यत्र चले गये। तत्पश्चात् उन्होंने चमत्कारपुरके क्षेत्रमें प्रवेश किया। वहाँ पहुँचते ही उन्हें सहसा अपने सामने आया हुआ शुनोमुख नामक संन्यासी दिखायी दिया। तब उसीके साथ वे किसी वनके भीतर गये। वहाँ जानेपर उन सबने कमलोंसे सुशोभित एक सुन्दर सरोवर देखा। तब भूखसे पीड़ित होनेके कारण उन्होंने उस पोखरेसे बहुतेरे मृणाल निकाले और किनारेपर रखकर सन्ध्या-तर्पण आदि पुण्यकर्मोंमें लग गये। तदनन्तर वे सब लोग जलसे निकलकर एक-दूसरेसे मिले। तब वहाँ उन मृणालोंको देखकर इस प्रकार कहने लगे।

**ऋषि बोले**—अहो! हम भूखसे पीड़ित हैं। इस दशामें भी किस निर्दयीने हमारे समस्त मृणाल इस स्थानसे चुरा लिये हैं।

---

१- अनन्तपारा दुष्पूरा तृष्णा दुःखशतावहा। अधर्मबहुला चैव तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥
(स्क० पु०, ना० ३२। ४५)

२- सर्वत्र सम्पदस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम्। उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतैव भूः॥
सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्। कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥
असन्तोषं परं दुःखं सन्तोषं परमं सुखम्। सुखार्थी पुरुषस्तस्मात् सन्तुष्टः सततं भवेत्॥
(स्क० पु०, ना० ३२। ४७—४९)

३- या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः। याऽसौ प्राणान्तको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥
(स्क० पु०, ना० ३२। ५७)

**शुनोमुखने कहा**—जिसने इन मृणालोंको चुराया है, वह साम आदि वेदोंको पढ़े, अतिथिप्रेमी गृहस्थ हो तथा निरन्तर सत्य बोले।

**ऋषि बोले**—वाह! आपने जो शपथ किये हैं, वे तो द्विजातियोंको अभीष्ट ही हैं। अतः यह निश्चय हो गया कि इन मृणालोंकी चोरी श्रीमान्‌ने ही की है।

**शुनोमुखने कहा**—निश्चय मैंने ही आपलोगोंके मृणाल चुराये हैं। आप मुझे इन्द्र जानें। द्विजवरो! आपमें लोभका अभाव देखकर मैं बहुत सन्तुष्ट हूँ। अतः आप मेरे साथ शीघ्र स्वर्गलोकमें पधारें।

**ऋषि बोले**—देवराज! हम तो मोक्षमार्गके पथिक हैं। हमारे मनमें स्वर्गकी लिप्सा नहीं है। अतः इस तीर्थमें मोक्षके लिये हम तपस्या करेंगे।

**जमदग्निने कहा**—सुरेश्वर! हमने मृणालोंसे ही जीवन निर्वाह करते हुए समुद्रपर्यन्त समूची पृथ्वीकी परिक्रमा की है। अब हमारे साथ आपका जो समागम हुआ है, इससे आपका ही कल्याण हो। आप यहाँसे स्वर्गलोकको पधारें।

**इन्द्र बोले**—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले मुनीश्वरो! मेरा दर्शन कभी व्यर्थ नहीं जाता। इसलिये आपलोग अपनी कोई अभीष्ट वस्तु मुझसे ग्रहण करें।

**ऋषियोंने कहा**—इन्द्र! इस पृथ्वीपर हमारे नामसे यह आश्रम विख्यात हो और यहाँ आनेवाले मनुष्योंके सब पातकोंका नाश करनेवाला हो। हम सदा यहीं तपस्याके लिये तबतक निवास करेंगे, जबतक कि हमें सनातन-मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो जाती।

**इन्द्र बोले**—सप्तर्षियो! आपलोगोंका यह आश्रम तीनों लोकोंमें विख्यात होगा। जो जिस कामनाको मनमें लेकर श्रावणकी पूर्णिमाको यहाँ श्राद्ध करेगा, वह उस मनोरथको अवश्य प्राप्त करेगा। जो मनुष्य निष्कामभावसे यहाँ श्राद्ध अथवा दान करेगा, वह निस्सन्देह मोक्ष प्राप्त कर लेगा। जो आपलोगोंके शुभ आश्रमपर देहत्याग करेंगे, वे पापी होनेपर भी परम गतिको प्राप्त होंगे। जो मनुष्य एकाग्रचित्त हो यहाँ इंगुदी, बेर अथवा बेल आदिसे भी पितरोंके लिये श्राद्ध करेगा, वह सब पापोंसे मुक्त हो किन्नरगणोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनता हुआ देवदुर्लभ परम सिद्धिको प्राप्त करेगा।

ऐसा कहकर इन्द्रदेव सब ऋषियोंसे प्रशंसित हो वहाँसे अन्तर्धान हो गये तथा वे सप्तर्षि वहीं रहने लगे। तदनन्तर दीर्घकाल व्यतीत होनेपर उन्होंने भी भारी तपस्या करके जरा-मृत्युरहित परमपद प्राप्त कर लिया। सप्तर्षियोंने अपने आश्रमपर त्रिशूलधारी भगवान् शिवके लिंगमय स्वरूपकी जो स्थापना की है, उसके दर्शनमात्रसे मनुष्य पापमुक्त हो जाता है। जो भक्तिपूर्वक पुष्प, धूप और चन्दन आदिसे उसका पूजन करता है, वह अवश्य मोक्षको प्राप्त होता है।

## अगस्त्य-आश्रममें शिव-पूजा आदिका माहात्म्य

**सूतजी कहते हैं**—ब्राह्मणो! हाटकेश्वरक्षेत्रमें एक दूसरा आश्रम महर्षि अगस्त्यका है। वहाँ साक्षात् विश्वात्मा भगवान् महेश्वर निवास करते हैं। वहाँ चैत्रमासके शुक्ल पक्षकी चतुर्दशी तिथिको स्वयं भगवान् सूर्य आकर देवताओंके स्वामी महादेवजीकी पूजा करते हैं। जो कोई भी मनुष्य वहाँ भक्तिपूर्वक भगवान् शिवकी पूजा करता है, वह उत्तम लोकोंमें जाता है और जो वहाँ श्रद्धापूर्वक श्राद्ध करता है, उसके पितर उसी प्रकार तृप्त होते हैं, जैसे पितृमेध यज्ञसे उन्हें तृप्ति होती है। जिस समय विन्ध्याचल पर्वतने बढ़कर सूर्यदेवका मार्ग रोक लिया, उस समय वे सूर्यदेव ब्राह्मणका रूप धारण करके चमत्कार नामक नगरके क्षेत्रमें महर्षि अगस्त्यके आश्रमपर गये और बोले—'मुनिश्रेष्ठ! आज मैं आपके यहाँ अतिथिके रूपमें आया हूँ।'

**अगस्त्यजीने प्रसन्नतापूर्वक कहा**—मुने! स्वागत

है, स्वागत है। आपको जो अभीष्ट हो, वह वस्तु बतावें; मैं उसे दूँगा।

**सूर्यदेव बोले**—ब्रह्मन्! मैं सूर्य हूँ, ब्राह्मणके रूपसे आपके सामने आया हूँ। पर्वतोंमें श्रेष्ठ सुमेरुगिरिके प्रति ईर्ष्या होनेके कारण विन्ध्यपर्वत मेरा मार्ग रोककर खड़ा है; इसलिये आप साम आदि उपायोंसे उस पर्वतको रोकें। जिससे मेरी गति भंग होनेके कारण अतिकाल न होने पावे।

**अगस्त्यजीने कहा**—दिवाकर! मैं उस बढ़ते हुए कुल पर्वतको रोक दूँगा। आप अपने स्थानको पधारिये।

उनकी आज्ञा पाकर सूर्यदेव अपने लोकको चले गये। इधर अगस्त्य मुनि शीघ्र ही जाकर विन्ध्याचल पर्वतसे आदरपूर्वक बोले—'पर्वतश्रेष्ठ! तुम मेरी आज्ञासे शीघ्र ही लघु रूप धारण करो। इस समय मेरा विचार दक्षिणके तीर्थोंमें स्नान करनेको हुआ है। किंतु यह कार्य तुम्हारे ही अधीन है, इसलिये जैसा उचित जान पड़े वैसा करो।' महर्षि अगस्त्यका यह वचन सुनकर विन्ध्यपर्वत तत्काल विनीतभावसे नीचा हो गया। तब उस पर्वतको पार करके दक्षिण किनारे पहुँचकर अगस्त्यजीने कहा—'गिरिश्रेष्ठ! जबतक मैं पुनः लौट न आऊँ, तबतक तुम्हें सदा इसी स्थितिमें रहना चाहिये।' अगस्त्य मुनिके शापसे डरा हुआ वह श्रेष्ठ पर्वत पुनः लौट आनेकी प्रतीक्षामें बढ़ नहीं सका। विप्रवरो! अगस्त्य मुनि तभीके गये हुए आजतक उस मार्गसे नहीं लौटे। वे अब भी दक्षिण दिशामें ही स्थित हैं। उन्होंने लोपामुद्राको भी वहीं बुला लिया और सूर्यदेवका आवाहन करके आदरपूर्वक कहा—'उष्णरश्मे! आपके कहनेसे मैंने अपना आश्रम छोड़ दिया है परंतु वहाँ मैंने जो शिवलिंग स्थापित किया है, उसकी नित्यपूजा आपको करनी चाहिये।'

**सूर्यदेव बोले**—मुने! मुझे स्वीकार है, मैं तुम्हारे द्वारा स्थापित शिवलिंगका पूजन करूँगा और दूसरा कोई भी जो पुरुष उस दिन उस शिवलिंगकी पूजा करेगा, वह मेरे लोकमें आकर पुण्यका भागी होगा।

**सूतजी कहते हैं**—इसी कारण भगवान् सूर्य चैत्रमासके शुक्लपक्षकी चतुर्दशी तिथिको उस स्थानपर सदैव उपस्थित होते हैं।

## दुर्वासा-लोमहर्षण-संवाद, मन्त्रसिद्धिकी विधि

**ऋषियोंने पूछा**—सूतनन्दन! मन्त्रका जप किस प्रकार सिद्ध होता है?

**सूतजी बोले**—महर्षियो! पूर्वकालमें दुर्वासा मुनिके सम्मुख इस विषयका वर्णन करते हुए पिताजीके मुखसे जो कुछ मैंने सुना है, वह बतलाता हूँ।

**दुर्वासाजीने पूछा**—सूतजी! मैं किसी अभीष्ट मन्त्रको सिद्ध करना चाहता हूँ, उसकी सिद्धिके लिये जो शास्त्रोक्त विधान हो, वह बताइये।

**लोमहर्षण बोले**—मुने! मन्त्रोंका साधन सबके लिये कष्टदायक, दोषयुक्त तथा अनेक प्रकारके विघ्नोंसे व्याप्त रहता है। अतः यदि आप मन्त्रके लिये सिद्धि चाहते हैं तो चमत्कारपुरके क्षेत्रमें चले जाइये। वहाँ महर्षि अगस्त्यजीके द्वारा निर्मित चित्रेश्वरी पीठ है। वह हृदयस्थित मन्त्रोंकी तत्काल सिद्धि करनेवाला पीठ बताया गया है। वहाँ न तो कोई विघ्न आता है और न किसी प्रकारका दोष ही प्राप्त होता है। देवताओंके वरदानसे वहाँ कोई भी मन्त्र सिद्ध हुए बिना नहीं रहता। वह सिद्धपीठ चारों युगोंके लिये हितकर है और जो वहाँ रहते हैं, उन्हें युगके अनुसार शीघ्र सिद्धिकी प्राप्ति कराता है। द्विजश्रेष्ठ! जो जिस मन्त्रकी सिद्धि करना चाहता है, वह उसको पहले ही एक लाख जप ले। ऐसा करनेसे वह मनुष्य पवित्र, सिद्ध एवं मन्त्रसाधनका अधिकारी बन जाता है। तत्पश्चात् पुनः उसका चार लाख जप करे और प्रज्वलित अग्निमें दशांश आहुति

दे। इससे अवश्य ही मन्त्रकी सिद्धि होती है। सौम्य कार्योंमें पीली सरसों और चमेलीके फूलोंसे हवन होता है। हवनके पश्चात् ब्राह्मणभोजन कराना चाहिये तथा रौद्र कार्योंमें लाल फूल एवं गुग्गुलसे होम कराना फलप्रद माना गया है। हवनके बाद कुमारी कन्याओंको भोजनादिसे तृप्त करना चाहिये। यह सत्ययुगके लिये उत्तम मन्त्रसाधन बताया गया है। त्रेतायुगमें एक चतुर्थांश कम किया जाता है, द्वापरमें आधा और कलियुगमें चतुर्थांश साधन आवश्यक है। इस प्रकार मन्त्र-सिद्धि प्राप्त करके उस पीठमें अपनी इच्छाके अनुसार सत्य साधन करे। ऐसा करनेसे मनुष्य शापानुग्रहमें समर्थ, तेजस्वी, सब प्राणियोंके लिये अजेय और साधुसम्मानित हो जाता है।

**सूतजी कहते हैं**—मेरे पिताजी वह सब बात सुनकर दुर्वासा मुनि चित्रेश्वर पीठमें चले गये और वहाँ उन्होंने सब मन्त्रोंका क्रमशः साधन किया।

## धुन्धुमारेश्वरकी स्थापना और महिमा, जलशायी विष्णु तथा अशून्यशयन-व्रतका महत्त्व, वाष्कलि दैत्यका वध

**सूतजी कहते हैं**—वहीं राजा धुन्धुमारके द्वारा स्थापित किया हुआ शिवलिंग है, जिसे उन्होंने अति मनोहर सर्वरत्नमय मन्दिर बनवाकर प्रतिष्ठित किया है। उस तीर्थमें आश्रम बनाकर राजाने बड़ी भारी तपस्या की। जिसके प्रभावसे भगवान् शिव उनके द्वारा स्थापित शिवलिंगमें विराजमान हुए। उस मन्दिरके समीप उन महात्मा राजाने एक बावली बनवायी, जो अत्यन्त निर्मल जलसे परिपूर्ण, सब तीर्थोंके समान महत्त्व रखनेवाली और मंगलकारक थी। राजा धुन्धुमार सूर्यवंशमें उत्पन्न हुए थे। वे बृहदश्वके पुत्र थे। उन्होंने मरुप्रदेशके जंगलमें निवास करनेवाले धुन्धु नामक महादैत्यको मारा था। इसलिये वे तीनों लोकोंमें धुन्धुमारके नामसे विख्यात हुए। उनका दूसरा नाम कुवलयाश्व भी था। चमत्कारपुरका क्षेत्र परम पावन है, ऐसा जानकर उन्होंने उसी क्षेत्रमें भगवान् शंकरका चिन्तन करते हुए भारी तपस्या की। रत्ननिर्मित प्रासादमें उत्तम महालिंगकी स्थापना करके भेंट, पूजा और उपहार आदिके द्वारा तथा पुष्प, धूप और चन्दन आदि सामग्रियोंसे भगवान् शिवका पूजन किया। इससे प्रसन्न होकर महादेवजीने वृषभपर आरूढ़ होकर गौरीदेवी तथा गणोंके साथ राजाको प्रत्यक्ष दर्शन दिया और कहा—'तुम मनोवांछित वर माँगो।'

**धुन्धमारने कहा**—सम्पूर्ण देवताओंके स्वामी शिव! आप कृपापूर्वक अपने इस लिंगमय विग्रहमें सदैव निवास करें।

**श्रीभगवान् बोले**—नृपश्रेष्ठ! चैत्रमासके शुक्ल पक्षकी चतुर्दशी तिथिको मैं गौरीदेवीके साथ सदैव यहाँ निवास करूँगा। उस समय इस बावलीमें स्नान करके जो मेरा दर्शन करेगा, वह मेरे लोकमें जायगा।

**सूतजी कहते हैं**—ऐसा कहकर भगवान् शिव वहीं अन्तर्धान हो गये तथा राजा प्रसन्नचित्त हो वहीं निवास करने लगे। अन्तमें वे मुक्तिके भागी हुए।

वहीं चित्रशिला तीर्थके उत्तर भागमें जलशायी भगवान् विष्णुका सुविख्यात स्थान है, जो महापातकोंका नाश करनेवाला है। जो हरिशयनी तथा हरिबोधिनी एकादशीको उपवास करके उस तीर्थमें श्रीहरिकी पूजा करता है, वह वैकुण्ठधामको जाता है। भगवान् श्रीहरिके शयन करनेपर जो कृष्ण पक्षकी द्वितीया तिथि (श्रावण आदि मासोंकी कृष्णा द्वितीया) आती है, उसका नाम 'अशून्य-शयना' है। यह तिथि भगवान् विष्णुको बहुत प्रिय है। उस दिन जो वहाँ शास्त्रोक्त विधिसे भगवान् जलशायी (विष्णु)-का पूजन करता है, वह श्रीहरिके धामको जाता है।

**ऋषियोंने पूछा**—सूतनन्दन! भगवान् जलशायी

वहाँ कैसे प्राप्त हुए हैं और किस विधिसे उनकी पूजा की जाती है?

**सूतजीने कहा**—पूर्वकालमें वाष्कलि नामसे प्रसिद्ध दानवोंका राजा था। वह बड़ा बलवान् तथा सम्पूर्ण देवता, गन्धर्व, नाग एवं राक्षसोंके लिये भी अजेय था। उस महाबली दानवने सम्पूर्ण भूमण्डलको अपने वशमें करके दैत्योंकी सेना साथ ले देवलोकपर भी चढ़ाई की। वहाँ देवताओं और असुरोंमें एक-दूसरेका संहार करनेवाला बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। अन्तमें दानवराज वाष्कलिने सेना तथा सामग्रीसहित देवराज इन्द्रपर विजय पायी। तब इन्द्रने देवताओंके साथ स्वर्गका सिंहासन छोड़कर श्वेतद्वीपनिवासी भगवान् विष्णुकी शरण ली, जहाँ शेषनागकी शय्यापर श्रीहरि योगनिद्राको स्वीकार करके शयन करते हैं और देवी लक्ष्मी उनके युगल चरणारविन्दोंकी सेवामें संलग्न रहती हैं। वहाँ पहुँचकर देवताओंने सब ओरसे वैदिक सूक्तोंद्वारा भगवान् विष्णुका भक्तिपूर्वक स्तवन किया। तदनन्तर जगदीश्वर भगवान् श्रीहरि शय्यासे उठकर इन्द्रसे बोले—'सहस्राक्ष! इस समय तीनों लोकोंमें कुशल तो है न? तुम सम्पूर्ण देवताओंको साथ लेकर यहाँ कैसे आये हो?'

**इन्द्रने कहा**—भगवन्! दैत्यराज वाष्कलि भगवान् शंकरसे वरदान पाकर बड़ा बलवान् हो गया है। वह देवताओंद्वारा युद्धमें अजेय है। उसने युद्धभूमिमें मुझे परास्त कर दिया है। मधुसूदन! इस समय वह स्वर्गलोकमें निवास करता है। इसी कष्टसे मैं सम्पूर्ण देवताओंके साथ आपकी शरणमें आया हूँ। प्रभो! पूर्वकालमें हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुके भयसे तथा अन्यान्य दुरात्मा दैत्योंके आतंकसे भी आपने हम सब देवताओंकी रक्षा की है; अतः इस महाबली दानव वाष्कलिसे भी आज हमारी रक्षा कीजिये। देवेश! आपको छोड़कर हम देवताओंके लिये दूसरा कोई उत्तम आश्रय नहीं है।

**श्रीभगवान् बोले**—इन्द्र! समय आनेपर मैं स्वयं उस दानवको दण्ड दूँगा। अतः जबतक वह समय नहीं आता, तबतक तुम कहीं तीर्थभूमिमें रहकर बड़ी भारी तपस्या करो।

**इन्द्रने कहा**—जगदीश्वर! मैं उस दैत्यका नाश करनेके लिये किस क्षेत्रमें तपस्या करूँ, यह आप ही बतावें।

**भगवान् विष्णु बोले**—इन्द्र! चमत्कारपुरका क्षेत्र सिद्धिदायक है, अतः तुम वहीं जाकर उसके वधके लिये तपस्या करो।

**इन्द्रने कहा**—केशव! हम दानवराज वाष्कलिसे डरे हुए हैं, अतः आपके बिना वहाँ नहीं जायँगे। इसलिये आप स्वयं भी वहाँ चलिये। आपसे सुरक्षित होकर ही मैं वहाँ भारी तपस्या कर सकूँगा।

भगवान् विष्णुने 'एवमस्तु' कहकर देवताओं और लक्ष्मीजीके साथ चमत्कारपुरके क्षेत्रमें पदार्पण किया। उस समय सब देवताओंने अपने लिये पृथक्-पृथक् आश्रम बनाया। भगवान् विष्णुने वहाँके प्राचीन एवं सुविस्तृत कुण्डमें क्षीरसागरका आवाहन किया और श्वेतद्वीपकी भाँति वहाँ भी वे शयन करने लगे। उस समय सब देवता उनके चारों ओर विनीतभावसे खड़े हो उनकी स्तुति करते थे। तदनन्तर आषाढ़ कृष्णा द्वितीया (पूर्णिमान्त मासकी गणनाके अनुसार श्रावण कृष्णा द्वितीया)-का शुभ दिवस आनेपर बृहस्पतिजीने इन्द्रसे कहा—'पुरन्दर! आज अशून्यशयना नामवाली द्वितीया है। यह भगवान् विष्णुकी अत्यन्त प्रिय तिथि है।'

यह सुनकर देवराज इन्द्रने शास्त्रोक्त विधिसे व्रत करके उस दिन जलशायी विष्णुका पूजन किया और इसी प्रकार चार महीनोंतक प्रत्येक द्वितीयाके दिन वे श्रीहरिका पूजन करते रहे। इससे वे दिव्य तेजसे सम्पन्न हो गये। उन्हें तेजस्वरूपमें देखकर भगवान् विष्णु बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'इन्द्र! अब तुम सम्पूर्ण देवताओंके साथ वाष्कलिका वध करनेके लिये जाओ, तुम्हारी विजय होगी। देवशत्रुओंको मारनेके लिये मेरा यह सुदर्शन चक्र भी तुम्हारे साथ

जायगा।' ऐसा कहकर श्रीहरिने दानवेन्द्रका वध करनेके लिये इन्द्रके साथ अपने सुदर्शन चक्रको भी भेजा। इन्द्रने उस चक्रके साथ जाकर युद्धमें सम्पूर्ण दानवोंका संहार कर डाला। दानवराज वाष्कलि भी चक्रसे मस्तक कट जानेके कारण वज्रके मारे हुए पर्वतकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा। और भी बहुत-से शूरवीर बलोन्मत्त दानव युद्धमें मारे गये। इस प्रकार दैत्यसेनाका संहार करके सुदर्शन चक्र पुनः भगवान् विष्णुके हाथमें आ गया। वे इन्द्र आदि देवता भी निर्भय होकर पुनः भगवान् विष्णुके समीप आये और उन्हें प्रणाम करके बोले—'देवेश! आपके प्रभावसे हमारे सब शत्रु मारे गये और त्रिलोकीका अकण्टक राज्य फिर हमें प्राप्त हो गया। अब हमारे लिये सदैव कल्याण करनेवाला तथा हमारे शत्रुओंको भय पहुँचानेवाला जो कर्तव्य हो, उसका उपदेश किजिये।'

**श्रीभगवान्‌ने कहा**—मुझे तो सम्पूर्ण लोकोंका हित करनेके लिये पवित्र जलसे भरे हुए इस कुण्डमें अब सदैव निवास करना है। अतः तुम्हें प्रतिवर्ष यहाँ आकर प्रयत्नपूर्वक चातुर्मास्यमें होनेवाले 'अशून्यशयन' व्रतका पालन करना चाहिये, जिससे तुम्हारे शत्रु होंगे ही नहीं। दूसरा भी जो मनुष्य भक्तिपूर्वक यहाँ आकर मेरी पूजा करेगा, वह साधुपुरुषोंके लोकको प्राप्त होगा। इन्द्र! अब तुम स्वर्गमें जाकर राज्य करो। जब फिर आवश्यकता हो, तब यहीं आकर मुझसे मिलना।

**सूतजी कहते हैं**—तदनन्तर इन्द्र भगवान् विष्णुको प्रणाम करके चले गये और भगवान् लोकहितके लिये वहीं रहने लगे। द्विजवरो! जो मनुष्य अत्यन्त श्रद्धापूर्वक भक्तिभावसे उन जलशायी विष्णुकी पूजा करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है। सब देवताओंने मिलकर वहाँ द्वारका निर्माण की है। वहाँ चौमासेमें भगवान् विष्णुका पूजन करके मनुष्य मनोवांछित कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। अतः सर्वथा प्रयत्न करके सब मनुष्योंको उस द्वारकाकी पूजा करनी चाहिये।

## विश्वामित्रका मेनकासे वार्तालाप, सती स्त्रियोंके पालन करनेयोग्य धर्मका वर्णन, विश्वामित्रका वैराग्य, दोनोंका परस्पर शाप और तीर्थजलमें स्नानसे उद्धार

**सूतजी कहते हैं**—विप्रवरो! उस क्षेत्रमें एक दूसरा कुण्ड भी है, जो विश्वामित्र ऋषिके द्वारा प्रकट किया गया है। वह समस्त कामनाओंको देनेवाला है।

**ऋषियोंने पूछा**—सूतनन्दन! विश्वामित्र मुनिका वह निर्मल तीर्थ किस समय वहाँ प्रतिष्ठित हुआ है?

**सूतजी बोले**—द्विजवरो! वहाँ पहलेसे ही एक साधारण झरना था, जो पृथ्वीपर माहात्म्यसे युक्त होकर बहता था। फिर उसीमें देवनदी गंगा वहाँ स्वयं आकर स्थित हुई, जिसमें स्नान करनेवाला पुरुष तत्काल सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। जो मनुष्य वहाँ पितरोंके उद्देश्यसे श्रद्धापूर्वक श्राद्ध करता है, उसका वह श्राद्ध पितरोंको अक्षय तृप्ति प्रदान करनेवाला होता है। उस उत्तम तीर्थमें जो कुछ दान, होम और जप आदि सत्कर्म किया जाता है, उसका अनन्त फल होता है।

एक समयकी बात है। व्याधके बाणसे घायल हुई एक मृगी उस देवनदीके जलमें घुसी और वहीं उसकी मृत्यु हो गयी। उस पुण्यजलके प्रभावसे वही मृगी स्वर्गलोकमें मेनका नामक अप्सरा हुई। वह अप्सरा उस तीर्थके प्रभावका स्मरण करती हुई चैत्र शुक्ला तृतीयाको रविवार और भरणी नक्षत्रका योग होनेपर सदा वहाँ

आकर स्नान किया करती थी। किसी समय वैसा ही योग आनेपर मुनीश्वर विश्वामित्र भी कहींसे घूमते हुए उस तीर्थमें आ गये। इधर मेनका भी देवदर्शनके लिये स्वर्गलोकसे आयी और भगवान्‌की पूजा करके स्वर्गमें जाने लगी। तबतक उसकी दृष्टि वहाँ इधर-उधर घूमते हुए मुनिवर विश्वामित्रपर पड़ी। उन्हें देखते ही मेनका कामके अधीन हो गयी और शीघ्रतापूर्वक उनके समीप गयी। उस अदृष्टपूर्व सुन्दरीको देखकर मुनिने पूछा—'कल्याणी! तुम्हारा शुभ हो। मन, वाणी और क्रियाद्वारा भगवान् विष्णुके चरणोंमें तुम्हारी अविचल भक्ति हो। बाले! क्या तुम सदाचार और विनयसे युक्त होकर सदा प्रिय वचन बोलती हुई अपने पतिके चरणारविन्दोंकी सेवामें संलग्न रहती हो? क्या तुम्हें सदा अपने पतिकी प्रियतमा होनेका सौभाग्य प्राप्त है? क्या पतिके सामने अथवा परोक्षमें भी तुम दान आदिसे अपने बन्धु-बान्धवों तथा सुहृदोंका सत्कार करती हो? क्या तुम पतिके सो जानेपर सोती और उनके जागनेसे पहले ही उठ जाती हो? क्या प्रातःकाल उठकर तुम प्रतिदिन अपने घरमें स्वयं ही झाड़ू लगाती हो? क्या देवताओंको नमस्कार करके घरके गुरुजनोंको प्रतिदिन प्रणाम करती हो और उन सबको अपनी शक्तिके अनुसार अन्न और जल देकर स्वयं सबसे पीछे भोजन करती हो? क्या जलजन्तुओंकी रक्षा करती हुई अपने सघन वस्त्रसे पानीको सात बार छानकर पीती हो? कभी सूर्यास्तके समय तो तुम भोजन नहीं करतीं? अपने सेवकों, कुटुम्बीजनों तथा विशेषतः साधु-संतोंको दिये बिना तो तुम भोजन नहीं करतीं? क्या तुम दयाभावसे युक्त होकर शरीरको क्लेश देनेवाले जूँ, खटमल और मच्छर आदिका भी पुत्रकी भाँति पालन करती हो? क्या साधु-पुरुषोंके मुखसे प्रतिदिन भक्तिपूर्वक कल्याणमय धर्मका उपदेश सुनती हो और सुनकर आदरके साथ उसका पालन भी करती हो? क्या पवित्र शास्त्र-कथा सुनकर तुम शास्त्रका, वाचकका तथा उसकी विशेष व्याख्या करनेवाले विद्वान्‌का भी पूजन करती हो? क्या तुम मुनीश्वरोंद्वारा प्रतिपादित पुराण और शास्त्र-ग्रन्थोंको अच्छे पत्रपर सुन्दर अक्षरोंमें लिखाकर उन्हें साधु-पुरुषोंको अर्पण करती हो? क्या प्रतिदिन शिवमन्दिरमें अपनी शक्तिके अनुसार तुम संगीत, वाद्य आदिकी व्यवस्था करती और भेंट-पूजा उपहार चढ़ाती हो? क्या तुम साधु-पुरुषोंको उनका पूरा शरीर ढँकनेके उपयुक्त वस्त्र अर्पण करती हो? तुम दूसरोंके घरमें विशेषतः रातके समय व्यर्थ घूमनेके लिये तो नहीं जातीं? कहीं पतिके भूखे होते हुए भी तुम स्वयं तो भोजन नहीं कर लेतीं? क्या तुम प्रयत्नपूर्वक पतिकी आज्ञाका उल्लंघन करनेके दोषसे अपनेको बचाती हो? कभी पतिके कुपित होनेपर तुम उनकी बातोंका उत्तर तो नहीं देती? उनके क्रोधरूपी पापका निवारण करनेके लिये उनसे मीठे और प्रिय वचन तो बोलती हो न? तुम पतिके परदेश जानेपर मैले वस्त्र धारण करती और दीन, दुर्बल तथा म्लानवदन रहती हो न? कभी मन्दिरके पृष्ठभागमें तुम जूठा और फूटा बर्तन तो नहीं रखतीं? रात्रिमें जागरणकालमें तुम कथाके स्थान, झरना, एकान्त प्रदेश, नदीतट और वनमें कभी अकेली तो नहीं जातीं? शुभे! तुम कुलटा स्त्रियोंसे तथा दाइयों, मालिनों और धोबिनोंसे तो कभी मैत्री नहीं रखतीं? अपने मुखमण्डलमें तुम कुंकुमकी बेंदी तो लगाती हो न?

**मेनका बोली**—मुने! आपने जिनके धर्मोंका वर्णन किया है, वे दूसरी स्त्रियाँ हैं। हम तो स्वेच्छाचार विहार करनेवाली देवलोककी अप्सराएँ हैं। महाभाग! आप किस देशसे आये हैं? आपके दर्शनसे मेरा मन विचलित हो रहा है, मुझ अनुरागिणीको आप स्वीकार करें। अन्यथा मेरे प्राण नहीं रहेंगे। यदि ऐसा हुआ तो आपको स्त्रीवधका पाप लगेगा।

**विश्वामित्रने कहा**—भद्रे! हम तो शिव-शास्त्रोंकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले ब्रह्मचारी

हैं। समस्त व्रतधारियों और विशेषतः शिवभक्तोंका मूलधर्म हैं—ब्रह्मचर्यव्रतका पालन। अतः हम-जैसे लोगोंसे तुम फिर कभी ऐसी बात न कहना। व्रतधारी और शिवभक्त पुरुष सौ वर्षोंसे अधिक कालतक जो तपस्या करता है, वह एक बारके स्त्रीप्रसंगसे नष्ट हो जाती है। जो पापात्मा स्त्रीको स्वीकार करता है, उसका शिवोपासना-सम्बन्धी व्रत व्यर्थ हो जाता है। भगवान् शिवके भक्तोंको स्त्रियोंके साथ बातचीत करनेसे भी पाप लगता है, इसलिये तुम शीघ्र ही इस स्थानसे चली जाओ। तुम जीवित रहो या मर जाओ, परंतु मैं तुम्हारी इस बातको नहीं मानूँगा। व्रती पुरुषोंको स्त्रीवधकी अपेक्षा स्त्री-संगमसे ही अधिक पाप लगता है। स्त्रीवध करनेपर तो व्रती पुरुषोंके लिये विद्वानोंने प्रायश्चित बतलाया है, परंतु उनके संगमसे जो दोष होता है, उसका कोई प्रायश्चित ही नहीं कहा है। इसलिये तुमको यहाँसे चले जाना चाहिये। केवल व्रती पुरुषोंको ही स्त्रीसंगमसे पाप लगता है—ऐसी बात नहीं है। जो व्रतसे बाह्य हैं, ऐसे मनुष्य भी स्त्रियोंमें आसक्त होनेपर नीचे गिर जाते हैं। अतः समागमकी बात तो दूर रहे, जो बुद्धिमान् अपना कल्याण चाहे, वह स्त्रियोंके साथ वार्तालाप भी न करे।

**सूतजी कहते हैं**—विश्वामित्रजीकी यह बात सुनकर क्रोधमें भरी हुई मेनकाने उन्हें शाप दिया—'ओ दुर्मते! मैं तुम्हारे प्रति अनुरक्त थी, फिर भी तुमने मेरा त्याग किया है; इसलिये आज ही तुम वृद्धावस्थासे जर्जर शरीरवाले हो जाओ। तुम्हारे बाल सफेद हो जायँ और शरीरमें झुर्रियाँ पड़ जायँ।' उसके ऐसा कहनेपर मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र उसी क्षण वैसे ही हो गये। तब वे भी कमण्डलुसे जल लेकर उसे शाप देनेको उद्यत हुए और इस प्रकार बोले—'ओ नीच! तुमने निर्दोष होनेपर भी मुझे शाप दिया है, इसलिये तुम भी शीघ्र ही जरावस्थासे जर्जर अंगवाली हो जाओ।' ऋषिके वचनसे वह भी तत्काल वैसी ही हो गयी। उस वृद्ध शरीरसे मेनकाने पुनः जाकर वहाँके जलाशयमें स्नान किया। स्नान करते ही वह पुनः पूर्ववत् रूप-लावण्यसे सम्पन्न हो गयी। यह महान् आश्चर्यकी बात देखकर ऋषि विश्वामित्रने भी तुरंत जाकर वहाँ स्नान किया और वे भी पूर्ववत् हो गये। उस तीर्थके माहात्म्यसे मेनका और विश्वामित्र दोनों रूप तथा उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न हो गये और प्रसन्नतापूर्वक एक-दूसरेसे विदा लेकर अपने अभीष्ट स्थानको चले गये। उस तीर्थका ऐसा माहात्म्य जानकर महर्षि विश्वामित्रने वहाँ देवाधिदेव महादेवजीका लिंग स्थापित किया और उस उत्तम तीर्थमें बड़ी भारी तपस्या की। उन्होंने उस सरोवरको और विस्तृत किया। वहाँ स्नान करके जो पुरुष उस उत्तम विश्वामित्रेश्वर लिंगका पूजन करता है, वह भगवान् शिवके लोकमें जाता है। आज भी उस तीर्थमें गंगाजलके समान पवित्रजल दिखायी देता है, जो सब पापोंको हर लेनेवाला है। जो श्रद्धायुक्त पवित्र हृदयसे वहाँ स्नान करता है, वह सर्वदेवपूजित विष्णुलोकको जाता है।

## सरस्वतीतीर्थकी महिमा, राजा अम्बुवीचिकी मूकताका निवारण तथा राजाके द्वारा सरस्वतीदेवीका स्तवन

**सूतजी कहते हैं**—महर्षियो! हाटकेश्वरक्षेत्रमें एक-दूसरा परम सुन्दर सारस्वततीर्थ है। वहाँ स्नान करनेवाला गूँगा मनुष्य भी बोलनेमें पटु हो जाता है तथा वह ब्रह्मलोकतकके सभी लोकोंमें अपनी रुचिके अनुसार जाता है। प्राचीनकालमें बलवर्द्धन नामसे विख्यात एक राजा थे, जो समुद्रपर्यन्त सम्पूर्ण पृथ्वीको अपनी भुजाओंके बलसे जीतकर उसका उपभोग करते थे। उनके एक सर्वलक्षणसम्पन्न पुत्र हुआ। पिताने बारहवें दिन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको बुलाकर उसका नाम अम्बुवीचि

रखा। तदनन्तर राजाका लाड़-प्यार पाकर वह बालक प्रतिदिन बढ़ने लगा, परंतु जन्मसे ही मूक होनेके कारण वह कुछ बोल नहीं सकता था। तत्पश्चात् उस बालकका सातवाँ वर्ष आनेपर राजा बलवर्द्धन मृत्युको प्राप्त हो गये। तब मन्त्रियोंने राजाके उसी पुत्रको राज्यसिंहासनपर बिठाया, क्योंकि उनके दूसरा कोई पुत्र नहीं था। इस प्रकार राज्यसिंहासनपर बैठे हुए बाल्यावस्थासे युक्त उस गूँगे राजाके राज्यमें सब ओर विप्लव होने लगा। जल-जन्तुओंकी भाँति बलवान् लोग सर्वत्र दुर्बलोंको सताने लगे। तब मन्त्रियोंने अपने पुरोहित वसिष्ठजीसे कहा—'महामुने! इस राजाके बोलनेके लिये कोई उपाय कीजिये। इसकी जड़तासे ही सारी पृथ्वी उजड़ती जा रही। अतः कोई उचित उपाय कीजिये।' तब दीर्घकालतक विचार करके वसिष्ठजीने मन्त्रियोंसे कहा—'हाटकेश्वरक्षेत्रमें सब कामनाओंको देनेवाला सारस्वत नामक तीर्थ है, वहीं यह राजा स्नान करे।'

महर्षि वसिष्ठके कहनेसे राजा अम्बुवीचिने तत्काल जाकर उस तीर्थमें स्नान किया और उसी क्षण वे मधुर स्वरसे बोलनेवाले वक्ता हो गये। राजाने सरस्वतीदेवीका ऐसा प्रभाव जानकर बड़ी श्रद्धाके साथ उनका चिन्तन किया और नदीतटसे मिट्टी लेकर स्वयं ही सरस्वतीदेवीकी चतुर्भुजा मूर्तिका निर्माण किया। वे दाहिने हाथमें मनोहर कमल और नक्षत्रोंके तेजको तिरस्कृत करनेवाली अक्षमाला लिये हुए थीं तथा बायें हाथमें उन्होंने दिव्य जलसे भरा हुआ कमण्डलु और सब विद्याओंकी उत्पत्तिकी स्थानभूत पुस्तक ले रखी थी। ऐसी मूर्तिका निर्माण करके राजाने यत्नपूर्वक उसे शिलापृष्ठपर स्थापित किया और धूप, माला तथा चन्दनसे भक्तिपूर्वक उसकी पूजा की। तत्पश्चात् श्रद्धा-भावसे पवित्र हृदयके द्वारा उनके आगे शुद्ध एवं विनीत होकर नरेशने उच्च स्वरसे देवीकी स्तुति की—'देवि! सत्-असत् (कारण और कार्य) रूप तथा बन्ध-मोक्षस्वरूप जो कोई भी वस्तु है, वह सब गुप्तरूपसे स्थित रहनेवाली तुम्हारे द्वारा व्याप्त है, ठीक उसी तरह जैसे अग्निके द्वारा ईंधन व्याप्त होता है। तुम्हीं सिद्धिरूपमें सब लोगोंके हृदयमें निवास करती हो। देवेश्वरि! तुम्हीं जिह्वापर वाणीरूपसे और नेत्रमें ज्योतिःस्वरूपसे विराजमान हो। तीनों लोकोंमें एकमात्र तुम्हीं भक्तिभावसे ग्रहण करनेयोग्य हो। शरणमें आये हुए दीनों और पीड़ितोंकी रक्षामें तुम सदा तत्पर रहती हो। तुम्हीं कीर्ति, तुम्हीं धृति, तुम्हीं मेधा, तुम्हीं भक्ति और तुम्हीं प्रभा कही गयी हो। समस्त प्राणियोंमें निवास करनेवाली कान्ति, क्षुधा और निद्रा भी तुम्हीं हो। तुष्टि, पुष्टि, श्री, प्रीति, स्वधा, स्वाहा, रात्रि, रति, पृथ्वी, गंगा, सत्य, धर्म, मनस्विनी, लज्जा, शान्ति, स्मृति, दक्षा, क्षमा, गौरी, रोहिणी, सिनीवाली (जिसमें चन्द्रमाका दर्शन हो, ऐसी अमावास्या), कुहू (जिसमें चन्द्रमाका दर्शन न हो, ऐसी अमावास्या), राका, (पूर्णिमा), देवमाता अदिति, ब्रह्माणी, विनता, लक्ष्मी, कद्रू, दाक्षायणी, सती, शिवा, गायत्री, सावित्री, कृषि, वृष्टि, श्रुति, कला, वेला, नाडी, त्रुटि, काष्ठा (दिशा), रसना और सरस्वती सब कुछ तुम्हीं हो। इसके सिवा तीनों लोकोंमें और भी जो कुछ है, जो अधिक होनेके कारण मेरे द्वारा नहीं कहा गया हो, वह सब चेष्टायुक्त और चेष्टारहित वस्तुएँ तुम्हारा ही स्वरूप है। गन्धर्व, किन्नर, देवता, सिद्ध, विद्याधर, नाग, यक्ष, गुह्यक, भूत, दैत्य तथा विनायकगण आदि सब तुम्हारे ही प्रसादसे परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। अन्य देवता कष्टपूर्वक आराधना और पूजा करनेपर ही मनुष्यके पाप हरते हैं परंतु तुम केवल नाम लेनेसे सबका उद्धार करती हो।'

**राजा अम्बुवीचिके द्वारा इस प्रकार स्तुति की जानेपर देवेश्वरी सरस्वतीदेवीने अत्यन्त हर्षित होकर कहा**—भूपाल! मैं तुम्हारी सुस्थिर भक्ति और इस स्तुतिसे बहुत सन्तुष्ट हूँ। अतः तुम शीघ्र ही मनोवांछित वर माँगो।

**राजाने कहा**—देवि! आजसे मेरी प्रार्थना स्वीकार करके आप सदा इस तीर्थमें निवास करें और

आपकी यह पूजनीय प्रतिमा त्रिभुवनविख्यात होकर इस तीर्थमें मेरी सुस्थिर कीर्तिके रूपमें विद्यमान रहे। जो यहाँ स्थित रहनेवाली आपकी आराधना जिस निमित्तसे भी करे, उसकी भक्तिके अनुसार उस कामनाको आप शीघ्र ही पूर्ण करती रहें।

**सरस्वती बोलीं**—राजन्! जो इस शुभ सलिलमें स्नान करके अष्टमी और चतुर्दशी तिथिको यहाँ मेरी पूजा करेगा, उसकी मनोवांछित कामनाओंको मैं पूर्ण करूँगी।

**सूतजी कहते हैं**—इस प्रकार परमेश्वरी सरस्वतीदेवी सब लोगोंके हितके लिये तभीसे वहाँ निवास करने लगीं। जो मनुष्य अष्टमी और चतुर्दशीको उपवास करके श्वेतपुष्प और चन्दन आदिके द्वारा वहाँ उनका पूजन करता है, वह जन्म-जन्ममें उत्तम वक्ता एवं मेधा (धारणाशक्ति)-से सम्पन्न होता है। सरस्वतीके प्रसादसे उसके वंशमें भी कोई मूर्ख नहीं पैदा होता। जो सरस्वतीदेवीके आगे धर्मकथा श्रवण करता है, वह उनके प्रभावसे तीन युगोंतक स्वर्गलोकमें निवास करता है। जो सरस्वतीदेवीके मन्दिरमें सदा श्रद्धापूर्वक विद्यादान करता है, वह अश्वमेधयज्ञका फल पाता है। जो वहाँ श्रेष्ठ ब्राह्मणको धर्मशास्त्रकी पुस्तक दान करता है, वह भी अश्वमेधयज्ञका फल पाता है। जो सरस्वतीदेवीके आगे खड़ा होकर वेदपाठ करता है, वह सम्पूर्ण अग्निष्टोम यज्ञका फल पाता है।

## महाकालके समीप जागरणकी महिमा, राजा रुद्रसेनका पूर्ववृत्तान्त

**सूतजी कहते हैं**—पूर्वकालमें इक्ष्वाकु-कुलको आनन्दित करनेवाले रुद्रसेन नामसे प्रसिद्ध एक राजा थे। सब गुणोंसे सम्पन्न कान्तिपुरी उनकी राजधानी थी और उनकी परम प्रिय धर्मपत्नीका नाम पद्मावती था। राजा रुद्रसेन वैशाखमासकी पूर्णिमाको सदैव रानी पद्मावतीके साथ थोड़ी-सी सेना लेकर चमत्कारपुरके क्षेत्रमें भगवान् महाकालका दर्शन करनेके लिये जाते और भगवान् महादेवके आगे स्त्रीसहित श्रद्धापूर्वक बैठकर रात्रिमें जागरण करते थे। उपवास करके महादेवजीका चिन्तन करते हुए रात बिताते थे। फिर प्रातःकाल उठकर स्नान करके धुले हुए वस्त्र पहन पवित्र हो ब्राह्मणों एवं तपस्वी जनोंको दान देते थे। साथ ही अन्य सहस्रों दीनों, अन्धों और कंगालोंको अन्न-वस्त्र बाँटते थे। इस प्रकार प्रतिवर्ष वे वैशाख पूर्णिमाको वहाँकी यात्रा करते और महाकाल देवके सामने रातभर जागते थे। इससे उनका सदा अभ्युदय होने लगा और शत्रु अपने-आप नष्ट होने लगे। एक समय उसी अवसरपर जब राजा हाटकेश्वरक्षेत्रमें आये तब उन्होंने देखा, महाकाल देवके समक्ष अनेकानेक देशों और दिशाओंसे श्रेष्ठ ब्राह्मण वहाँ आये हुए हैं। वे सब वेदपाठमें तत्पर हैं और परस्पर देवों, ऋषि-मुनियों एवं प्राचीन राजर्षियोंकी कथा-वार्ता कर रहे हैं। राजाने क्रमशः उन सबको प्रणाम किया और स्वयं भी उनसे अभिनन्दित होकर एक ओर बैठ गये। कथा समाप्त होनेपर मुनीश्वरोंने पूछा—'राजन्! तुम प्रतिवर्ष वैशाखी पूर्णिमाको दूर देशसे यहाँ आकर केवल रातमें महादेवजीके सामने जागरण करते हो। तीर्थोंमे जो स्नान, दान आदि अन्य क्रियाएँ बतायी गयी हैं, उन सबको छोड़कर पहले तुम इस जागरण-कार्यकी ओर ही ध्यान देते हो, अतः इसका फल क्या है, सो हम-लोगोंसे बताओ।'

**राजाने कहा**—विप्रवरो! आपलोगोंने जो कुछ पूछा है, वह यद्यपि गोपनीय रहस्यकी बात है, तथापि मैं आपसे कहूँगा। प्राचीन कालकी बात है, मैं वैदिश नगरके वैश्यकुलमें उत्पन्न हुआ था। मेरे पास धनका सर्वथा अभाव था। मेरे भाई-बन्धु पग-पगपर मेरा निरादर करते थे और

अन्तमें उन्होंने मुझे त्याग दिया। तब मैं अपनी पत्नीको साथ लेकर परदेशको चल दिया। स्वराष्ट्रदेशको धन-धान्यसे सम्पन्न सुनकर मनमें उसीका चिन्तन करते हुए चला और मार्गमें भिक्षाका अन्न भोजन करता हुआ मैं क्रमशः आगे बढ़ते-बढ़ते आनर्त देशमें चमत्कारपुरके समीप आ पहुँचा। वहाँ मैंने स्वच्छ जलसे भरा हुआ एक सरोवर देखा, जो कमलवनसे सुशोभित था। भूख-प्यास और थकावटसे बहुत कष्ट तो पा ही रहा था, वहाँ पहुँचकर मैंने उस सरोवरके शीतल जलसे स्नान किया। तत्पश्चात् मेरी स्त्रीने मुझसे कहा—'नाथ! इस जलाशयसे कुछ कमल संग्रह कर लीजिये, जिससे आजका भोजन चले। यह पास ही इन्द्रपुरीके समान मनोहर नगर दिखायी देता है, वहाँ चलकर इन कमलोंको बेच लेना चाहिये।' तब मैंने बेचनेके लिये बहुत-से कमल संग्रह कर लिये और चमत्कारपुरमें आकर सब ओर भ्रमण किया। किंतु कोई भी मनुष्य उन कमलोंको खरीदता न था। भूखके मारे मैं दुर्बल हो रहा था। मेरा गला सूख गया था। उस समय सूर्यास्त हो गया। तब मैं वैराग्यभावको प्राप्त होकर स्त्रीके साथ एक टूटे-फूटे मन्दिरमें गया और उन कमलोंको पृथ्वीपर रखकर लेट गया। तदनन्तर आधी रात बीतनेपर मैंने गानेकी ध्वनि सुनी। तब मेरे चित्तमें विचार हुआ कि निस्सन्देह आज यहाँ जागरणका पर्व है। अतः चलूँ, यदि कोई मेरे इन कमलोंको मूल्य देकर ले लेगा तो भोजनकी व्यवस्था हो जायगी। ऐसा निश्चय करके कमल लेकर मैं अपनी पत्नीके साथ जहाँसे गीतकी ध्वनि आ रही थी, उसी ओर चल दिया। वहाँ जानेपर मैंने देवताओंके स्वामी भगवान् महाकालको श्रेष्ठ द्विजोंद्वारा पूजित होते देखा। वे द्विज भगवान्के आगे बैठकर जप और गीतमें लगे थे। कोई नृत्य करते, कोई गीत गाते, कोई होम करते और कोई धार्मिक उपाख्यान करते थे। तब मैंने एक व्यक्तिसे पूछा—'यहाँ क्यों जागरण किया जाता है?' उसने बताया कि—'आज भगवान् महाकालकी प्रसन्नताके लिये उपवासपरायण ब्राह्मणोंद्वारा भक्तिभावसे जागरण किया जाता है। आज वैशाखमासकी पुण्यमयी तिथि पूर्णिमा है। इस समय जो मनुष्य भगवान् महाकालके आगे भक्तिपूर्वक जागरण करता है, वह निश्चय ही स्वर्गलोकको प्राप्त होता है।' तब मैंने कहा—'भद्र पुरुष! मेरे पास कमलके फूल हैं। इनको ले लीजिये और बदलेमें मूल्य दीजिये, जिससे मेरा भोजन चले। तब उसने तीन पल सुवर्ण देना चाहा। यह देखकर मैंने सोचा, स्वयं ही क्यों न इन कमलोंसे देवेश्वर महादेवजीकी पूजा करूँ। जान पड़ता है, पूर्वजन्ममें मेरे शरीरसे कोई भी पुण्य नहीं हुआ था, इसीलिये इस जन्ममें मुझे ऐसी दुर्गति भोगनी पड़ती है; किंतु क्या करूँ, मेरी प्रियवादिनी पत्नीका गला भूखके मारे सूखा जा रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि अन्न उपलब्ध नहीं हुआ, तो यह कल जीवित नहीं रह सकेगी। इस प्रकार चिन्तामें पड़े हुए मुझसे मेरी विनयशीला पत्नीने मधुर वाणीमें कहा—'नाथ! धनके लोभसे इन कमलोंका विक्रय न कीजिये। आज अपने पास अन्न न होनेसे स्वतः उपवासव्रतका योग लग गया है। भूखके कष्टसे हम अबतक तो जागते ही रहे हैं, शेष रात्रिमें और भी जागरण कर लेंगे। हमने सरोवरमें दिनके समय स्नान करके देवपूजन किया ही था। इस समय भी इन कमलोंसे हम भगवान् महाकालका पूजन करें।' इससे हम दोनोंका परम कल्याण होगा।'

पत्नीके ऐसा कहनेपर हम दोनोंने बड़ी प्रसन्नताके साथ कमलपुष्पोंसे महादेवजीका पूजन किया। भूखकी पीड़ासे नींद तो हमारे पास आयी नहीं। प्रातःकाल जब सूर्योदय हुआ, उस समय भूखसे पीड़ित होकर उसी स्थानपर मेरी मृत्यु हो गयी। तब मेरी पत्नीने मेरे शरीरको लेकर बड़े हर्षके साथ चिताकी अग्निमें प्रवेश किया। उसी पुण्यके प्रभावसे मैं कान्तिपुरका राजा हुआ और मेरी पत्नी दशार्ण देशके राजाकी

पुत्री हुई, जिसे अपने पूर्वजन्मकी बातोंका भी स्मरण था। दशार्णराजने इसका स्वयंवर रचाया और उसमें इसने मुझे पहचानकर मुझको ही वरण किया और मैंने भी इसे अपने पूर्वजन्मकी पत्नी समझकर अपनाया। इसी कारणसे मैं प्रति वर्ष वैशाख पूर्णिमाको यहाँ आकर अपनी धर्मपत्नीके साथ महाकालदेवके सामने जागरण और पुष्प, धूप तथा चन्दन आदिके द्वारा उनका पूजन करता हूँ। ब्राह्मणो! उस समय तो मैंने बिना श्रद्धाके ही जागरण किया था तथापि महादेवजीकी कृपासे मुझे ऐसा फल प्राप्त हुआ। अब मैं जो श्रद्धापूर्वक शास्त्रोक्त विधिसे जागरण कर रहा हूँ, इसका फल भगवान् मुझे कितना उत्तम देंगे, यह मैं नहीं जानता।

यह सुनकर वहाँ आये हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने राजाको अनेक बार साधुवाद दिया और इस प्रकार कहा—'भूपाल! आपने ठीक कहा है, भगवान् महाकालके प्रसादसे इस भूतलपर कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है। इसीलिये हमलोग भी प्रतिवर्ष श्रद्धासे यहाँ रात्रिजागरण करेंगे।' तदनन्तर राजा और उन ब्राह्मणोंने बड़े हर्षके साथ गीत, वाद्य, नृत्य, धर्मकथा आदि कार्योंको करते हुए महाकालजीके समीप रातभर जागरण किया। प्रातःकाल उठकर राजाने महाकालका पूजन किया और उन सब ब्राह्मणोंसे आज्ञा लेकर सेनासहित अपनी पुरीको प्रस्थान किया। तत्पश्चात् समयानुसार शरीरका अन्त होनेपर उन्होंने जरा और मृत्युसे रहित परम पदको प्राप्त कर लिया।

**सूतजी कहते हैं**—महर्षियों! इस प्रकार मैंने आप लोगोंके समक्ष भगवान् महाकालके उत्तम माहात्म्यका वर्णन किया है, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है।

## कलशेश्वरका माहात्म्य, नन्दिनी धेनुके द्वारा व्याघ्रयोनिको प्राप्त हुए राजा कलशका शापसे उद्धार

**सूतजी कहते हैं**—महर्षियो! उसी क्षेत्रमें एक महापुण्यदायक कुण्ड है, जिसके तटपर कलशेश्वर-देवका निवास है। उनका दर्शन करनेसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। प्राचीन कालमें कलश नामसे प्रसिद्ध एक यदुवंशी राजा थे। वे विधिपूर्वक यज्ञ करनेवाले और सब लोगोंके हितमें तत्पर थे। एक समय महर्षि दुर्वासाके शापसे उन्हें व्याघ्र होना पड़ा था। व्याघ्ररूपमें वनमें रहते हुए वे बहुतसे ब्राह्मणोंको मारकर खा जाते थे। इस प्रकार उनका बहुत समय व्यतीत हो गया। कुछ कालके पश्चात् उस देशमें गौओंका एक मनोरम झुंड आ निकला, जिसके साथ बहुत-से गोप-गोपी थे। उस झुंडमें एक नन्दिनी नामक धेनु थी, जिसके थन बहुत मोटे थे और जो घड़ों दूध देती थी। वह धेनु घासके लोभसे आगे बढ़ती हुई एक कुंजके भीतर गयी तो वहाँ उसने भगवान् शंकरका लिंगमय स्वरूप देखा, जो बारह सूर्योंके समान तेजस्वी प्रतीत होता था। गौने बड़ी श्रद्धाके साथ वहाँ खड़ी होकर उस शिवलिंगको स्नान करानेके लिये उसपर बहुत दूधकी धारा बहायी। उसका यह नियम प्रतिदिन चालू रहा, किंतु इस बातको कोई नहीं जानता था। एक दिन उस स्थानपर तीखी दाढ़वाला वह व्याघ्र आया और दैवयोगसे नन्दिनी गायपर उसकी दृष्टि पड़ गयी। तब गौओंके समुदायमें बँधे हुए अपने छोटे बछड़ेकी याद करके वह गाय करुणस्वरमें विलाप करने लगी। फिर उसने मन-ही-मन कहा—'जिस सत्य एवं शिवभक्तिसे प्रेरित होकर मैं भगवान् शिवको स्नान करानेके लिये यहाँ आयी थी, उसीके प्रभावसे मुझे अपने बछड़ेसे मिलनेका अवसर प्राप्त हो।' इस प्रकार नन्दिनी जब करुण विलाप कर रही थी उस समय व्याघ्रने हँसकर कहा—'अरी! अब तो तू पूर्णतः मेरे वशमें है, क्यों व्यर्थ प्रलाप करती है?'

**धेनु बोली**—मैं अपने लिये विलाप नहीं करती, भगवान् शिवकी पूजाके लिये आनेपर यदि मेरी मृत्यु भी हो गयी तो यह मेरे लिये शुभदायक ही होगी। किंतु मेरा बछड़ा, जो गोकुल (गौओंके झुंड)-में बँधा हुआ है, मेरे लौटनेकी राह देखता होगा। वह अभी दूध पीकर ही जीता है। सोचती हूँ, वह मेरे बिना कैसे जीवित रहेगा। महाव्याघ्र! बेटेके लिये मेरे हृदयमें स्नेह उमड़ आया है, अतः आज तुम मुझे छोड़ दो। मैं उसे अपनी सखियोंको सौंपकर फिर तुम्हारे पास लौट आऊँगी।

**व्याघ्र बोला**—तुम मृत्युके मुखमें आ गयी हो, अब यदि किसी प्रकार निकल जाओगी तो फिर उसी मृत्युके समीप कैसे लौट आओगी?

**नन्दिनीने कहा**—व्याघ्र! मैं शपथ खाकर कहती हूँ कि तुम्हारे पास लौट आऊँगी। ब्राह्मणकी हत्या करने और माता-पिताको छलनेसे जो पाप होता है, उसी पापसे मैं लिप्त होऊँ यदि पुनः लौटकर न आऊँ। रजस्वला स्त्रीसे सम्पर्क करनेवाले तथा नंगे सोनेवाले पुरुषोंको जो पाप लगता है, मैं उसी पापसे लिप्त होऊँ यदि मैं लौटकर न आऊँ। गौ, कन्या और ब्राह्मणोंको कलंकित करनेवाले लोगोंको जो पाप लगता है, उस पापसे मैं भी लिप्त होऊँ यदि पुनः लौटकर न आऊँ।

**इन शपथोंको सुनकर व्याघ्रने कहा**—यदि ऐसी बात है तो घरको जाओ और अपने पुत्रको जी भरकर देख लो। फिर उसे सखियोंको सौंपकर लौट आना। तदनन्तर नन्दिनी जहाँ उसका बछड़ा था उस स्थानपर गयी।

**माताको रँभाती हुई देखकर बछड़ा बोला**—माँ! आज तुम्हारा मन उद्विग्न क्यों हो रहा है?

**नन्दिनी बोली**—बेटा! पहले दूध पी लो, जिससे तृप्त होनेपर मैं तुमसे सब बात बताऊँ। उसकी बात सुनकर बछड़ेने यथोचित दूध पी लिया।

**तत्पश्चात् बछड़ेने इस प्रकार कहा**—माँ! आज जंगलमें जो कुछ घटना हुई है वह सब बताओ, जिसे सुनकर मेरा चित्त शान्त हो।

**नन्दिनी बोली**—वत्स! आज मैं घोर वनमें अपनी इच्छाके अनुसार घूमती चली गयी थी। वहाँ एक व्याघ्रने मुझे घेर लिया। वह मुझे खा लेना चाहता था, किंतु मैंने शपथके द्वारा उसे यह विश्वास दिलाया कि मैं गौओंके झुंडमें अपने बच्चेको देखकर फिर लौट आऊँगी। अनेक शपथ करनेपर उसने मुझे छोड़ा है। अतः अब फिर मैं वहीं जाऊँगी।

**बछड़ेने कहा**—माँ! आज तुम जहाँ जाओगी, वहीं मैं भी चलूँगा। यदि तुम्हारे साथ व्याघ्र मुझे भी मार डालेगा तो मातृभक्त पुरुषोंकी जो गति होती है, वही निश्चयपूर्वक मुझे भी मिलेगी। बालकोंके लिये माताके समान दूसरा कोई बन्धु नहीं है, माताके समान कोई रक्षक नहीं है और माताके सदृश दूसरी कोई गति नहीं है। माताके समान कोई पूज्य गुरु नहीं, माताके समान स्नेही सखा नहीं और माताके समान इहलोक या परलोकमें कोई देवता नहीं है *। ऐसा मानकर श्रेष्ठ पुरुषोंको सदा अपनी माताके प्रति भक्ति रखनी चाहिये। जो पुत्र मातृभक्तिको ही प्रजापतिनिर्मित परम भक्ति मानकर सदा उसका आचरण करते हैं, वे परम गतिको प्राप्त होते हैं। अतः तुम इस गोकुलमें रहो, मैं ही व्याघ्रके समीप जाऊँगा और मैं अपने प्राण देकर तुम्हारे प्राणोंकी रक्षा करूँगा।

**नन्दिनीने कहा**—बेटा! आजके दिन मेरी ही मृत्यु नियत है, तुम्हारी नहीं; फिर तुम अपने प्राणोंसे मेरे प्राणोंकी रक्षा कैसे कर सकते हो? वत्स! तुम्हें तो अपनी माँके उपदेशका ही पालन करना चाहिये। वनमें भ्रमण करते समय कभी तुम प्रमाद न कर बैठना। अधिक लोभ होनेसे इहलोक और परलोकमें भी देहधारीका नाश हो जाता है। लोभसे मोहित पुरुष समुद्रमें, घोर

* नास्ति मातृसमः पूज्यो नास्ति मातृसमः सखा। नास्ति मातृसमो देव इहलोके परत्र च॥ (स्क० पु०, ना० ५१। १७)

जंगलमें और भयानक रणभूमिमें भी प्रवेश कर जाता है। लोभ, प्रमाद और सबपर विश्वास—इन्हीं तीन दोषोंसे प्रत्येक प्राणी बँधता और मारा जाता है; इसलिये लोभ न करे, प्रमादमें न पड़े तथा हर एकपर विश्वास न करे[1]। पुत्र! तुम्हें सदा प्रयत्न करके गहन वनमें भ्रमण करते समय सम्पूर्ण हिंसक जीवोंसे अपने शरीरकी रक्षा करनी चाहिये। दुर्गम स्थानमें यदि तृण और घास आदि हो तो किसी प्रकार भी उसे चरना नहीं चाहिये। अपना यूथ छोड़कर कभी अकेले नहीं जाना चाहिये।

**इस प्रकार अपने बछड़ेसे कहकर और उसे बार-बार चाटकर नन्दिनीने अपनी सखियोंके पास वनमें जाकर कहा**—बहनो! मेरी बात सुनो। आज मैं अपने झुंडसे थोड़ी दूरपर घूमती हुई एक घने एवं निर्जन वनमें चली गयी, वहाँ मुझे एक व्याघ्रने पकड़ लिया; परंतु अनेक प्रकारकी शपथोंद्वारा उसे विश्वास दिलाकर मैं तुम लोगोंसे मिलने और बच्चेको देखनेके लिये यहाँ आयी हूँ। इस समय बच्चेको देखा, बातचीत की और इसे कर्तव्यका उपदेश भी दिया। अब इसे तुम्हारे अधीन सौंपती हूँ, इसको अपना ही बच्चा समझना। जानकर या अनजानमें मैंने तुम लोगोंका जो कुछ भी अपराध किया हो वह सब कृपापूर्वक क्षमा करना। मेरा यह दूधपीता बच्चा आजसे अनाथ हो रहा है। इस दीन, दुःखी, दुर्बल और मातृशोकसे सन्तप्त बालकका तुम सब लोग मिलकर पालन करना। यदि यह विषम स्थानमें घूमता हो, दूसरे किसी झुंडमें जाता हो या न करने योग्य कार्योंमें संलग्न होता हो तो तुम सदा इसे रोकती रहना। अब मैं, जहाँ वह व्याघ्र मेरी प्रतीक्षामें खड़ा है, वहाँ जाऊँगी।

**दूसरी गौएँ बोली**—नन्दिनी! तुम किसी प्रकार भी वहाँ न जाओ। हँसीमें या स्त्रियोंके बीचमें, विवाहकालमें, प्राणसंकटके समय तथा सर्वस्वका अपहरण होते समय—इन पाँच समयोंमें कही हुई असत्य बातें पाप नहीं मानी गयी हैं। इसलिये तुम्हें वहाँ नहीं जाना चाहिये।

**नन्दिनीने कहा**—सखियो! दूसरोंके प्राण बचानेके लिये वैसा असत्य ठीक हो सकता है, परंतु अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये साधुपुरुष असत्यभाषणकी प्रशंसा नहीं करते। यह सम्पूर्ण लोक सत्यपर प्रतिष्ठित है, धर्म भी सत्यके ही आधारपर स्थित है, समुद्र सत्यवचनसे ही कभी अपनी सीमाका उल्लंघन नहीं करता[2]। दैत्यराज बलि भगवान् विष्णुको भूमिदान करके स्वयं पातालमें चले गये हैं। अपने उस सत्य वचनपर स्थित होनेके कारण ही वे पुनः वहाँसे बाहर नहीं निकलते। जो किसी बातकी प्रतिज्ञा करके उसका ठीक-ठीक पालन नहीं करता, उस चोर और अपवित्र बुद्धिवाले पुरुषने कौन-सा पाप नहीं किया है।

**सखियोंने कहा**—नन्दिनी! तुम समस्त देवताओं और दैत्योंके लिये भी वन्दनीय हो, जो कि सत्यकी रक्षाके लिये दुस्त्यज प्राणोंका त्याग कर रही हो। कल्याणी! तुम तो स्वयं ही धर्मार्थ वचन बोलनेवाली हो, समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हो और सदा सत्यमें स्थित रहती हो। हमलोग तुम्हें क्या शिक्षा देंगी। महाभागे! जाओ, बच्चेके लिये शोक न करो। तुमने हमारे लिये जो आज्ञा दी है, उसका हम सब पालन करेंगी; परंतु हम इस बातको जानती हैं कि सदा सत्यमें स्थित रहनेवाले प्राणियोंका आरम्भ किया हुआ कोई भी कार्य निष्फल नहीं होता।

---

१- लोभात्प्रमादाद्विश्रम्भात् पुरुषो बध्यते त्रिभिः। तस्माल्लोभो न कर्तव्यो न प्रमादो न विश्वसेत्॥
(स्क० पु०, ना० ५१। २५)

२- परेषां प्राणयात्रार्थं तत्कर्तुर्युज्यते शुभाः। आत्मप्राणहितार्थाय न साधूनां प्रशस्यते॥
सत्ये प्रतिष्ठितो लोको धर्मः सत्ये प्रतिष्ठति। उदधिः सत्यवाक्येन मर्यादां न विलंघयेत्॥
(स्क० पु०, ना० ५१। ४४-४५)

**सूतजी कहते हैं**—महर्षियो! नन्दिनी अपनी सखियोंसे इस प्रकार बातचीत करके उस व्याघ्रके पास चल दी और जहाँ वह व्याघ्र खड़ा था, वहाँ जा पहुँची।

**वहाँ पहुँचकर नन्दिनी बोली**—महाव्याघ्र! मैं अपने सत्य और शपथपर स्थित रहकर तुम्हारे पास आ गयी हूँ। अब तुम मेरे मांससे यथेष्ट तृप्तिलाभ करो। सत्यका आश्रय ले प्राणोंका भय छोड़कर पुनः अपने पास आयी हुई नन्दिनीको देखकर वह दुष्टात्मा व्याघ्र भी बड़े भारी वैराग्यको प्राप्त हो गया।

**व्याघ्र बोला**—सत्यवादिनि! तुम्हारा स्वागत है। सत्यपर स्थित रहनेवाले प्राणियोंका कभी अमंगल नहीं होता। भद्रे! तुमने शपथ खाकर कहा था, मैं आऊँगी, इससे मेरे मनमें यह कौतूहल हो रहा था कि क्या यह सचमुच ऐसा करेगी? परंतु तुमने अपने सत्यकी रक्षा की। महाभागे! मुझ दुरात्मा पापीको उपदेश देकर अनुगृहीत करो, जिससे इहलोक और परलोकमें मेरा कल्याण हो। मेरा ऐसा विश्वास है कि तुम्हें अपने सत्याचरणके प्रभावसे कुछ भी अज्ञात नहीं है। अतः संक्षेपसे धर्मका सारसर्वस्व मुझे बताओ, जिससे मुझे सत्संगका पूरा-पूरा फल प्राप्त हो।'

**नन्दिनी बोली**—सत्ययुगमें तपकी, त्रेतामें ध्यानकी, द्वापरमें यज्ञकी और दानकी तथा कलियुगमें एकमात्र दानकी प्रशंसा करते हैं। जो सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंको अभय दान देते हैं, उनका वह दान सब दानोंमें श्रेष्ठ है। उससे बढ़कर दूसरा कोई दान नहीं है।*

**व्याघ्र बोला**—शुभे! यह अभय दान तो उन प्राणियोंके लिये उपयुक्त हो सकता है, जिनकी जीविका अहिंसासे—अन्न आदिका आहार करके चलती है। हम-जैसे जीवोंका जीवननिर्वाह तो हिंसाके बिना हो ही नहीं सकता। अतः जीवोंकी हिंसा करनेवाले मुझ अधमके लिये भी जो सुखदायक और उत्तम धर्माचरणमें सहायक हो, वैसा उपदेश दो।

**नन्दिनीने कहा**—यहाँ वनमें एक महान् शिवलिंग है, जिसे पूर्वकालमें बाणासुरने स्थापित किया था। उसीके प्रभावसे आज मैं तुम्हारे संकटसे मुक्त हुई हूँ। तुम प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर उसीकी परिक्रमा और उसीको प्रणाम किया करो। इससे तुम्हें मनोवांछित सिद्धि प्राप्त होगी।

ऐसा कहकर नन्दिनीने व्याघ्रको वनके भीतर ले जाकर उस शिवलिंगका दर्शन कराया। वह उसका दर्शन करके तत्काल ही व्याघ्रकी योनिसे मुक्त हो पूर्ववत् राजा कलशके रूपमें परिणत हो गया। पूर्वकालमें दुर्वासाके दिये हुए शापका और अपने वैभवसम्पन्न राज्यका उन्हें स्मरण हो आया। तब उन श्रेष्ठ राजाने नन्दिनीसे कहा—'भद्रे! मैं हैहयवंशमें उत्पन्न कलश नामक राजा हूँ। पूर्वकालमें मुनिवर दुर्वासाने कुछ कारणवश मुझे शाप दे दिया। जब पुनः मैंने उन्हें प्रसन्न किया तब वे बोले—'नन्दिनी धेनु जब तुम्हें वनमें शिवलिंगका दर्शन करायेगी, तब तुम्हारी मुक्ति हो जायगी। निश्चय तुम नन्दिनी हो, यह बात मुझे अपने शापका अन्त देखकर ज्ञात हुई है। श्रेष्ठ धेनु! यह तो बताओ, यह कौन-सा देश है, जिससे मैं अपने घरका मार्ग ढूँढ़कर पुनः वहाँ जाऊँ।'

**नन्दिनी बोली**—राजन्! यह सब पापोंका नाश करनेवाला चमत्कारपुर नामक क्षेत्र है, जो सर्वतीर्थमय है और सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाला है।

**राजाने कहा**—नन्दिनि! तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम जाओ और अपने बालकसे मिलो। गौओंके झुंडमें जाकर अपनी सखियों तथा सुहृदोंका दर्शन करो। मैंने पूर्वकालमें ब्राह्मणोंके मुखसे इस क्षेत्रकी महिमा सुनी थी और इसे सदा देखनेकी

---

* तपः कृते प्रशंसन्ति त्रेतायां ध्यानमेव च। द्वापरे यज्ञदाने च दानमेकं कलौ युगे॥
सर्वेषामेव दानानां नास्ति दानमतः परम्। चराचराणां भूतानामभयं यः प्रयच्छति॥
(स्क० पु०, ना० ५१। ६७-६८)

अभिलाषा भी की; परंतु राजकाज तथा भोगमें आसक्त होनेके कारण मैं इसका दर्शन नहीं कर सका। आज जब यह तीर्थ स्वयं ही मुझे प्राप्त हो गया है तो अब मैं इसे छोड़कर नहीं जा सकता। सौभाग्यकी बात है, जो महात्मा दुर्वासाने मुझे वैसा शाप दिया। अन्यथा इस उत्तम क्षेत्रकी प्राप्ति मुझे कैसे होती?

ऐसा कहकर राजाने नन्दिनीको विदा कर दिया और स्वयं दिन-रात उस शिवलिंगका ध्यान करते हुए वे वहीं रहने लगे। उन्होंने भगवान् शिवके लिये कैलासशिखरके समान गगनचुम्बी मन्दिर बनवाया और उन्हींके आगे बैठकर बड़ी भारी तपस्या की। तदनन्तर शंकरजीके प्रभावसे थोड़े ही दिनोंमें परम दुर्लभ सिद्धि प्राप्त कर ली, जो याज्ञिकजनोंके लिये भी दुर्लभ है। जो मनुष्य मार्गशीर्ष मासमें वहाँ भक्तिपूर्वक गीत और नृत्य आदिका आयोजन करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है। द्विजवरो! इस प्रकार मैंने तुम्हें कलशेश्वरजीके माहात्म्यका वर्णन सुनाया, जो सब पातकोंका नाश करनेवाला है।

## अगस्त्यकुण्ड, कपिलानदी, वैष्णवीशिला, सिद्धक्षेत्र आदिकी महिमा, नलद्वारा चर्ममुण्डाकी स्तुति तथा नलेश्वरकी महिमा

**सूतजी बोले**—महर्षियो! उसीके समीप पूर्वभागमें अगस्त्यकुण्ड है, जहाँ परम पुण्यदायिनी और सब पातकोंका नाश करनेवाली बावली है। जो मनुष्य वहाँ फाल्गुनमासके शुक्ल पक्षकी अष्टमी तिथिको उपवासपूर्वक स्नान करता है, उसे अपनी इच्छाके अनुकूल वस्तुकी प्राप्ति होती है। अगस्त्यवापीके दक्षिण भागमें कपिला नदी है, जहाँ कपिलमुनिने सांख्यशास्त्रकी सिद्धि प्राप्त की थी। कपिलाके पूर्व भागमें सिद्धक्षेत्र बताया गया है, जहाँ पूर्वकालमें लाखों मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। जो मनुष्य जिस कामनाको लेकर वहाँ तपस्या करता है, वह छः महीनेके भीतर अवश्य ही उसे प्राप्त कर लेता है। ब्राह्मणो! सिद्धक्षेत्रके निम्नभागमें एक शुभकारक वैष्णवीशिला है, जो घूमती रहती है। उसकी आकृति चौकोर है और वह सब पातकोंका नाश करनेवाली है। वह महानदीके जलसे धुली हुई और मनुष्योंको मोक्ष देनेवाली है। उस शिलाके आगे गंगा-यमुना-सरस्वती-संगमरूपा त्रिवेणी बहती हैं, जो भोग और मोक्ष देनेवाली हैं। उसके उत्तरभागमें रुद्रकोटितीर्थ है, जो दाक्षिणात्य महात्माओंद्वारा पूजित है। उसे रुद्रावर्त भी कहते हैं। जो पुरुष रुद्रावर्त क्षेत्रमें श्राद्ध करता है, वह सौ यज्ञोंका फल पाता है। जो वहाँ उपवासपूर्वक रात्रिमें जागरण करता है, वह इच्छानुसार चलनेवाले विमानके द्वारा स्वर्गमें जाता है।

वहीं पूर्वकालमें महात्मा राजा नलने चर्ममुण्डा देवीकी स्थापना की थी। जो मनुष्य महानवमीके दिन भक्तिपूर्वक चर्ममुण्डा देवीका पूजन करता है, वह मनोवांछित पदार्थोंको प्राप्त करके सनातन पद पा लेता है। पहलेकी बात है। वीरसेनके पुत्र नल इस भूमण्डलके राजा थे, जो समस्त सद्गुणोंसे युक्त थे। विदर्भदेशकी राजकुमारी दमयन्ती उनकी पतिव्रता पत्नी थी। एक समय राजा नलने कलियुगसे आविष्ट होकर अपने भाई पुष्करके साथ जूआ खेला। उसमें वे अपना सारा राज्य हार गये। तदनन्तर नल अपनी स्त्रीको साथ लेकर गहन वनके भीतर चले गये। वहाँ उन्होंने यह सोचा 'यदि दमयन्ती राजा भीमके घर चली जाय तो वनवासके कष्टसे मुक्त हो सकती है। इसलिये रातमें इसको सोती छोड़कर मैं दूर चला जाऊँगा जिससे यह साध्वी दमयन्ती मुझसे विलग होकर कुण्डिनपुरको चली जायगी।'

ऐसा निश्चय करके राजा नल सुखसे सोयी हुई दमयन्तीको छोड़कर घोर वनमें चले गये। प्रातःकाल उठकर दमयन्ती जब इधर-उधर देखने लगी तो उसने अपने पास नलको नहीं पाया। तब वह दुःखसे आतुर हो वनमें करुणस्वरसे विलाप करने लगी और धीरे-धीरे कुण्डिनपुरकी राह लेकर अपने पिताके राजमहलमें जा पहुँची। नल भी उस वनको छोड़कर दूसरे बड़े भारी वनमें चले गये और घूमते-घूमते हाटकेश्वरक्षेत्रमें जा पहुँचे। इसी बीचमें महानवमीका दिन आ गया। तदनन्तर नलने वहाँ चर्ममुण्डधारिणी दुर्गाकी मृन्मयी मूर्ति बनाकर उसका पूजन किया और फल-मूलोंका भोग लगाकर देवीको तृप्त किया। तत्पश्चात् वे देवीके आगे हाथ जोड़कर खड़े हो गये तथा बड़ी श्रद्धाके साथ स्तुति करने लगे—

**नल बोले**—चर्ममुण्ड धारण करनेवाली श्रेष्ठ देवि! तुम सर्वत्र व्यापक हो, तुम्हारी जय हो। सर्वेश्वर तथा सम्पूर्ण राजाओंके द्वारा वन्दित दक्षकुमारी! तुम प्रत्येक कार्यमें दक्ष हो, शुभे! तुम्हारी जय हो। कालरात्रि! अचिन्त्ये! नवमी और अष्टमीको प्रिय माननेवाली देवि! तुम्हारी जय हो। त्रिलोचने! त्रिलोचनप्रिये! देवपूजिते! देवि! तुम्हारी जय हो। भयंकर रूप धारण करनेवाली तथा सुन्दर रूपवाली महाविद्ये! महाबले! तुम्हारी जय हो। महोदये! महाकाये! महाव्रते! देवि! तुम्हारी जय हो। नित्यरूपे! जगद्धात्रि! तुम्हारी जय हो। विकराली महाकालिके! तुम्हारी जय हो। सुन्दरि! देवेश्वरि! पाशहस्ते! महाहस्ते! तुम्हें नमस्कार है। मनोहर देहलतासे युक्त तथा प्रिय गीतवाद्यसे प्रसन्न होनेवाली देवि! तुम्हारी जय हो। अनन्ता, चिन्तनीया तथा भगवान् शिवके आधे शरीरमें निवास करनेवाली देवि! तुम्हारी जय हो। तुम्हीं रति, तुम्हीं धृति, तुम्हीं तुष्टि, तुम्हीं गौरी तथा तुम्हीं देवताओंकी स्वामिनी शची हो। तुम्हीं लक्ष्मी, सावित्री और गायत्री हो। देवि! तीनों लोकोंमें स्त्रीरूपमें जो कुछ भी दिखायी देता है, वह सब तुम्हारे ही अंशसे प्रकट हुआ है। इस विषयमें मुझे कोई सन्देह नहीं है। इस सत्यके प्रभावसे तुम इस मूर्तिमें निवास करो। देव-दानववन्दिते! इस भक्तिसे सन्तुष्ट होकर तुम अपना सांनिध्य यहाँ स्थापित करो।

**सूतजी कहते हैं**—राजा नलके इस प्रकार स्तुति करनेपर भक्तवत्सला चतुर्भुजा देवीने प्रत्यक्ष दर्शन दिया और इस प्रकार कहा—'वत्स! मैं तुम्हारे इस स्तोत्रसे सन्तुष्ट हूँ। अतः तुम मुझसे मनोवांछित वर माँगो।'

**राजा नल बोले**—देवि! मैंने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय अपनी पत्नी दमयन्तीको हिंसक जन्तुओंसे भरे निर्जन वनमें त्याग दिया था। वह आपकी कृपासे अखण्ड शीलसे युक्त और निर्दोष रूपमें मुझे फिर प्राप्त हो, ऐसा यत्न कीजिये। जो आपके आगे इस स्तोत्रद्वारा स्तुति करे, उसे उसी दिन आप मनोवांछित वस्तु प्रदान करें।

**सूतजी कहते हैं**—तब दुर्गादेवी 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गयीं तथा राजाओंमें श्रेष्ठ नलने उन सभी कामनाओंको प्राप्त कर लिया। चर्ममुण्डाके समीप ही राजा नलके द्वारा स्थापित देवाधिदेव भगवान् महेश्वर विराजमान हैं, जिनका दर्शन करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। माघमासके शुक्लपक्षकी षष्ठीको जो मानव भक्तिपूर्वक नलेश्वरका दर्शन करता है, वह सब रोगोंसे मुक्त हो परम पदको प्राप्त होता है। उन्हीं भगवान् शिवके आगे एक निर्मल जलसे भरा हुआ कुण्ड है। जो रविवारके प्रातःकाल उस कुण्डमें स्नान करता है, वह कुष्ठरोगसे छूटकर पुनः नूतन शरीर प्राप्त कर लेता है।

# गालवको सूर्यदेवकी आराधनासे पुत्रकी प्राप्ति, अर्जुनके द्वारा विभिन्न देवोंकी स्थापना तथा विषकन्या शर्मिष्ठाद्वारा स्थापित शर्मिष्ठा-तीर्थका माहात्म्य

**सूतजी कहते हैं**—नलेश्वरसे थोड़ी ही दूरपर देवताओंके स्वामी सूर्य साम्बादित्यके नामसे प्रसिद्ध हैं, जिनका दर्शन करके मनुष्य सम्पूर्ण हृदयस्थित कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। जो माघ शुक्ला सप्तमी तथा रविवारके योगमें भक्तिपूर्वक उनका दर्शन करता है वह नरकोंको नहीं देखता। प्राचीन कालमें गालव नामवाले एक ब्राह्मण हो गये हैं, जो सदा ही वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर तथा उत्तम स्वभाव और सदाचारसे युक्त थे। उनकी अवस्था ढल गयी तो भी उनके कोई पुत्र नहीं हुआ। इसका उनके मनमें बड़ा दुःख था। तब उन्होंने घरका सारा काम-काज छोड़कर इसी क्षेत्रमें एकाग्रतापूर्वक निवास करते हुए भक्तिभावके साथ सूर्यदेवकी आराधना की। जितेन्द्रिय होकर निराहार रहते हुए उन्होंने पंचरात्रोक्त विधिसे सूर्यदेवको अर्घ्य प्रदान किया और इसी नियमसे प्रतिदिन उनकी आराधना करते रहे। पंद्रहवाँ वर्ष आनेपर भगवान् सूर्य गालवको दर्शन देते हुए बोले—'विप्रवर! तुम्हारा कल्याण हो, तुम कोई वर माँगो।'

**गालव बोले**—सुरश्रेष्ठ! मेरे कोई पुत्र नहीं है। अतः मुझे मेरे वंशकी वृद्धि करनेवाला पुत्र दीजिये।

**भगवान् सूर्यने कहा**—विप्रवर! तुम्हें वंशकी वृद्धि करनेवाला पुत्र प्राप्त होगा और वह तेजस्वी, यशस्वी, शास्त्रज्ञ तथा वेदोंका पारंगत पण्डित होगा। तुमने साम्बादित्यके समीप जहाँ मुझे अर्घ्य देकर पूजन किया है, यहाँ दूसरा कोई भी जो पुरुष रविवार और सप्तमीके योगमें श्रद्धापूर्वक मेरे इस विग्रहकी पूजा करेगा, उसे वंशवर्द्धक पुत्रकी प्राप्ति होगी। ऐसा कहकर भगवान् सूर्य मौन एवं अन्तर्धान हो गये और गालवजी भी प्रसन्नचित्त हो अपने घरको चले गये। थोड़े ही दिनोंमें उनके यहाँ भगवान् सूर्यके कथनानुसार एक सर्वशुभलक्षणसम्पन्न पुत्र उत्पन्न हुआ। भगवान् सूर्यने वटवृक्षका आश्रय लेकर दर्शन एवं वरदान दिया था। इसलिये गालवने अपने पुत्रका नाम वटेश्वर रखा। वटेश्वरके पुत्रों तथा पौत्रोंको देख लेनेपर महर्षि गालव भारी तपस्या करके सूर्यदेवको प्राप्त हुए। वटेश्वरने भी अपने पिताके द्वारा स्थापित भगवान् सूर्यनारायणके लिये एक परम मनोहर मन्दिर बनवाया।

द्विजवरो! पूर्वकालमें महात्मा विदुरने भी उस क्षेत्रमें भगवान् श्रीसूर्यनारायण, सदाशिव तथा श्रीविष्णुका स्थापन किया है। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक इन तीनों देवताओंका पूजन करेगा, वह उस परम धामको प्राप्त होगा, जो बड़े-बड़े यज्ञोंद्वारा भी अत्यन्त दुर्लभ है।

वहींपर अर्जुनके द्वारा स्थापित किये हुए सर्वमनोरथदायक भगवान् विनायक विराजमान हैं, जो समस्त विघ्नोंका नाश करते हैं। जो मनुष्य चतुर्थीको नक्तव्रत (केवल रातमें भोजन करनेका संकल्प) करके भक्तिभावसे गणेशजीकी पूजा करता है, वह समस्त विघ्नोंसे मुक्त हो मनोवांछित फलको पाता है। वहींपर उत्तम प्रभावसे युक्त भगवान् नर और नारायण भी हैं। जो उन दोनोंका भक्तिपूर्वक द्वादशी तिथिको दर्शन और पूजन करता है, वह जरा-मरणसे रहित परम पदको प्राप्त होता है।

एक समय कुन्तीनन्दन अर्जुन तीर्थयात्रा प्रारम्भ करके हाटकेश्वरक्षेत्रमें आये। वहाँ तीर्थसमुदायसे भरे हुए उस पावन क्षेत्रका दर्शन करके उन्होंने मनोहर मन्दिरमें भगवान् सूर्यको स्थापित किया और उन्हींके आगे नर और नारायणकी भी स्थापना की। फिर उत्तम श्रद्धासे युक्त हो वहाँ गोवर्द्धनको

स्थापित किया और वहीं देवाधिदेव नृसिंहदेवकी स्थापना की। इस प्रकार पाँच देवताओंकी स्थापना करके उन्होंने चमत्कारपुरके सब ब्राह्मणोंको बुलवाया और उन्हें बहुत धन दिया। फिर भक्तिपूर्वक प्रणाम करके कहा—'मैंने सब रोगोंका नाश करनेवाले भगवान् सूर्यको यहाँ स्थापित किया है और इनकी सेवा आपलोगोंको सौंपी है। अतः आपको सदैव इनका चिन्तन करना चाहिये।

**ब्राह्मण बोले**—पाण्डुनन्दन! आप यह सब छोड़कर अपने घरको पधारिये। हम सब लोग आपके श्रेयको बढ़ानेवाला पूजनकर्म करते रहेंगे।

तब अर्जुनने प्रसन्नचित्त हो उन्हें पुनः बहुत धन दिया और उनसे पूछकर विदा ले प्रणामपूर्वक अपने नगरको प्रस्थान किया।

**सूतजी कहते हैं**—ब्राह्मणो! इस प्रकार मैंने तुमसे नरादित्यके प्रादुर्भावकी कथा सुनायी। यह सुननेवालोंके पापोंका नाश करनेवाली है।

पूर्वकालमें 'वृक' नामसे प्रसिद्ध एक चन्द्रवंशी राजा हुए थे। वे बड़े ही ब्राह्मणभक्त, शरणागतवत्सल और सर्वलोकहितकारी थे। उनकी पत्नी भी बड़ी पतिव्रता और समस्त सद्गुणोंसे सुशोभित थीं। उन दोनोंको चौथेपनमें एक कन्या हुई। राजाने विद्वान ज्योतिषियोंको बुलाकर पूछा—'मेरी यह कन्या कैसी होगी?'

**ज्योतिषी ब्राह्मण बोले**—राजन्! सूर्यके चित्रा नक्षत्रपर रहते समय सोमवार और चतुर्दशीके योगमें जो जन्म ग्रहण करती है, वह विषकन्या होती है। ऐसी कन्याका जो पाणिग्रहण करता है, वह पुरुष छः महीनेके भीतर अवश्य मृत्युको प्राप्त होता है। वह जिस घरमें जन्म लेती है, वह कुबेरका ही महल क्यों न हो, उसे छः महीनेके भीतर धनसे रहित कर देती है। अतः आपकी यह पुत्री वास्तवमें विषकन्या है। यह पितृकुल और श्वशुरकुल दोनोंका नाश कर देगी। इस कारण आप इसे त्यागकर सुखी हो जाइये। यदि हमारे कहे हुए हितकर वचनपर आपको श्रद्धा हो तो आप ऐसा ही कीजिये।

**राजाने कहा**—ब्राह्मणो! मैं इस कन्याको त्याग दूँ या घरमें रखूँ, दोनों ही दशाओंमें मेरे पूर्वशरीरसे किया हुआ कर्म ही फलीभूत होगा। पहलेका शुभ कर्म हो या अशुभ कर्म उसे मिटाया नहीं जा सकता। अतः मैं अपने कर्मको ही आगे रखकर इस कन्याका त्याग नहीं करूँगा। जो जिस-जिस शरीरसे जैसा-जैसा कर्म करता है वह उसी-उसी शरीरसे पुनः सबके फलको भोगता है। अपनी इन्द्रियोंसे पूर्वजन्ममें जो कर्म किया गया है, वह मिट नहीं सकता। उसका फल भोगना ही पड़ेगा और बिना किये हुए किसी कर्मका फल अपने सामने आ नहीं सकता। अतः मेरे सामने जो भी परिणाम आवे, मुझे कोई भय नहीं है। देहधारी जीवके लिये गर्भमें ही आयु, कर्म, धन, विद्या और मृत्यु—इन पाँच वस्तुओंकी सृष्टि कर दी जाती है। जैसे वृक्षों और लताओंमें फल और फूल अपने समयपर आते ही हैं—समयका उल्लंघन नहीं करते, उसी प्रकार पूर्वजन्मका किया हुआ कर्म भी अपने समयका उल्लंघन नहीं करता। नियत समयपर उसका भोग करना ही पड़ता है। कोई भी पुरुष पूर्वशरीरद्वारा किये हुए कर्मको अपने बल और बुद्धिसे पलट देनेमें समर्थ नहीं है। जो शीघ्रतापूर्वक दौड़ता है, उसके पीछे उसका कर्म भी दौड़ता है। कर्म साथ ही सोता और खड़े होनेपर साथ ही खड़ा होता है। जिसको जहाँ भी सुख या दुःख भोगना है, वह रस्सीसे बँधा हुआ-सा बलपूर्वक वहाँ खिंचकर पहुँच जाता है। जैसे तेल समाप्त हो जानेपर दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार कर्मोंका नाश हो जानेपर जीव मोक्षको प्राप्त हो जाता है। ऋतुकालमें पुरुषके द्वारा गर्भमें स्थापित किये हुए अचेतन वीर्यके एक बिन्दुका आश्रय लेकर जीव अपने कर्मके साथ वृद्धिको प्राप्त होता है। जिस उदरमें कितने ही अन्न-पान डाले जायँ, नष्ट हो जाते हैं, भक्ष्य पदार्थ पच जाता है; वहीं पड़ा हुआ वह गर्भ क्यों नहीं नष्ट हो जाता। इसलिये लोकमें देहधारियोंका

किया हुआ शुभाशुभ कर्म ही सुख-दुःखके रूपमें प्राप्त होता है, ऐसा मेरा निश्चय है। अरक्षित वस्तु भी दैव (प्रारब्धकर्म)-से सुरक्षित होकर बच जाती है और सुरक्षित भी दैवसे हत होकर नष्ट हो जाती है। वनमें त्यागा हुआ अनाथ बालक भी जीवित रहता है और घरमें बड़े प्रयत्नसे पाला-पोसा जानेवाला शिशु भी मृत्युको प्राप्त हो जाता है।

ऐसा निश्चय करके राजाने ज्योतिषियोंके सलाह देनेपर भी उस विषकन्याका परित्याग नहीं किया। पिताने उसका नाम शर्मिष्ठा रख दिया। इसी समय क्रोधमें भरे हुए राजाके शत्रुओंने उनके राज्यको सब ओरसे सताना आरम्भ किया। तब राजा भी चतुरंगिणी सेनाके साथ बाहर निकले और उन्होंने शत्रुओंके साथ घोर युद्ध किया जो यमराजके लोककी जनसंख्या बढ़ानेवाला था। दसवें दिन राजा वृकको शत्रुओंने सब ओरसे घेरकर मार डाला। इनके मारे जानेपर शेष सैनिक भयसे पीड़ित हो अपने नगरको भाग गये।

**इसी समय समस्त पुरवासियोंने शोकपरायण हो उस दुष्टा विषकन्याको लक्ष्य करके कठोर वचनोंमें कहा**—इसी पापिनके दोषसे राजाकी मृत्यु हुई है। अतः इसे शीघ्र ही बाँध लिया जाय और जबतक इस नगरका क्षय न हो जाय तबतक ही इसे यहाँसे बाहर निकाल दिया जाय।

पुरवासियोंकी ये नाना प्रकारकी बातें सुनकर विषकन्याको बड़ा वैराग्य हुआ। उसने अपनी निन्दा की और भय तथा शोकमें डूबी हुई वह रातमें निकलकर वनमें चली गयी। वहाँ प्राणत्याग करनेका निश्चय करके वह आगे बढ़ती जा रही थी कि हाटकेश्वरक्षेत्रमें जा पहुँची। उस महान् क्षेत्रमें विषकन्याने देखा, वह बहुतेरे तपस्वीजनोंसे भरा हुआ है, चित्तमें अत्यन्त आह्लाद उत्पन्न करता है। इतनेमें ही उसे अपने पूर्वजन्मकी बातका स्मरण हो आया—'अहो! पूर्वकालमें जब मैं चाण्डाल-जातिकी स्त्री थी, यहीं मैंने एक गायकी प्यास बुझायी थी। उसीके प्रभावसे मैं राजाके पवित्र भवनमें उत्पन्न हुई। अतः अब मुझे यहीं रहना चाहिये। पूर्वजन्ममें गौके लिये किये हुए जलदानके माहात्म्यका विचार करके उसने निर्मल जलसे भरे हुए एक सरोवरका निर्माण किया, जो कि समुद्रके समान विस्तृत और मनोहर कमल-वनसे सुशोभित था। वहाँ बहुतसे हंस, वक और चक्रवाक आदि पक्षी सब ओर रहने लगे। तत्पश्चात् राजकन्याने उस सरोवरके समीप कैलासशिखरके समान ऊँचा एक सुन्दर मन्दिर बनवाया जो देखनेमें बड़ा ही मनोहर था। उसीमें भक्तिभावसे भगवती पार्वतीकी स्थापना करके शास्त्रोक्त व्रतका आश्रय ले राजकुमारी शर्मिष्ठाने देवीके आगे बड़ी भारी तपस्या की। केवल वायु पीकर पार्वतीके नामका जप करती हुई उसने अपने चित्तको निरन्तर उन्हींके चिन्तनमें लगा दिया था। इस प्रकार देवीकी आराधनामें उसका दीर्घकाल व्यतीत हो गया। किंतु उसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति नहीं हुई। उसका सिर सफेद बालोंसे भर गया, मुखपर झुर्रियाँ पड़ गयीं, तो भी शिववल्लभा पार्वतीदेवी सन्तुष्ट नहीं हुईं। यह देखकर जब वह अत्यन्त व्याकुल हो गयी, तब एक ही क्षणमें दुग्ध, कुन्द और चन्द्रमाके समान उज्ज्वल एक वृषभ प्रकट हुआ। उसकी पीठपर भगवान् शंकरके साथ पार्वतीदेवी विराजमान थीं। उनकी चार भुजाएँ थीं, मुखपर प्रसन्नता छा रही थी और उनका दिव्य रूप अलौकिक था। उनके वस्त्र और आभूषण सभी श्वेतवर्णके थे, मस्तकपर अर्धचन्द्राकार मुकुट शोभा पा रहा था। इन चिह्नोंसे गिरिराजकुमारी पार्वतीदेवीको पहचानकर विषकन्याने बारंबार प्रणाम करके इस प्रकार उनकी स्तुति की।

**विषकन्या बोली**—देवदेवेश्वरि! आपको नमस्कार है। सबमें निवास करनेवाली देवि! आपको नमस्कार है। समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली, जरा-मरणसे रहित तथा सत्यस्वरूपा पार्वती! आपको नमस्कार है। देवि! इन्द्र आदि देवता भी आपके स्वरूपका यथार्थतः वर्णन करना

नहीं जानते। फिर मुझ-जैसी मनुष्यकन्या आपके विषयमें क्या कह सकती है? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाशस्वरूप सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, देवता, असुर और मनुष्य आदि प्राणियोंसहित जिनके श्रीअंगोंसे प्रकट हुआ है, जिनका जन्म देनेमें ब्रह्मा, नाश करनेमें महेश्वर और पालन करनेमें विष्णु भी समर्थ नहीं हैं, उन सर्वेश्वरीदेवीकी मैं कैसे स्तुति कर सकूँगी। जिनमें अणिमा आदि आठ गुणोंवाला ऐश्वर्य स्वभावतः विद्यमान है तथा जिनका ऐश्वर्य लोकमें सबसे बढ़कर और सबके लिये अत्यन्त स्पृहणीय है। जिनके अनेक स्वरूपोंका ध्यानपरायण मुनिगण निरन्तर भक्तिपूर्वक ध्यान करते और उस ध्यानके प्रभावसे सम्पूर्ण मनोरथोंको प्राप्त होते हैं। मोक्षप्राप्तिके लिये दृढ़ निश्चय रखनेवाले योगी पुरुष अपने हृदयमें जिनके स्वरूपका चिन्तन करके भावरूप पुष्पोंके द्वारा उसकी अर्चना करते हैं, उन महामहेश्वरीदेवीका स्तवन मैं मानवी होकर कैसे कर सकती हूँ?

**पार्वतीदेवीने कहा**—पुत्रि! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, तुम मनोवांछित वर माँगो।

**विषकन्या बोली**—देवि! मैंने पतिकी प्राप्तिके लिये तपस्याका यह उद्योग किया था, किंतु अब तो मैं बूढ़ी हो गयी। अतः पति लेकर क्या करूँगी। अब तो इतनी ही प्रार्थना है कि आप संसारकी समस्त नारी-जातिके हितके लिये इस आश्रममें सदा निवास करें।

**देवीने कहा**—भद्रे! आजसे मैं तुम्हारे इस श्रेष्ठ एवं शुभ आश्रममें निवास करूँगी। इससे तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा। माघशुक्ला तृतीयाको जो स्त्री अथवा पुरुष यहाँ स्नान करेंगे, उन्हें मेरे प्रसादसे मनोवांछित फलकी प्राप्ति होगी। स्त्री हो या पुरुष, इस सरोवरमें स्नान करके सब पापोंसे मुक्त हो जायँगे। भद्रे! जो कन्या यहाँ भक्तिपूर्वक स्नान करेगी, उसे निःसन्देह श्रेष्ठ पतिकी प्राप्ति होगी। जो मनुष्य यहाँपर फलोंका दान करेंगे, उनके सभी मनोरथ सफल होंगे।

ऐसा कहकर पार्वतीदेवीने उस विषकन्याका अपने हाथसे स्पर्श किया। उसी क्षण वह वृद्धावस्थासे मुक्त होकर दिव्यरूपसे सुशोभित हो गयी। तदनन्तर उस विषकन्याको अपनी सेविका बनाकर पार्वतीदेवी उसे कैलासपर्वतपर ले गयीं। तभीसे उस तीर्थको शर्मिष्ठातीर्थ कहते हैं, जो सब पातकोंका नाश करनेके लिये तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है। माघमासके शुक्ल पक्षकी तृतीयाको सब उपाय करके मनुष्य उस तडागमें स्नान करे। यह परम पवित्र,आयुवर्द्धक,सर्वपापनाशक तथा मनुष्योंको मोक्ष देनेवाला स्त्रीतीर्थ है, जिसका वर्णन मैंने आपलोगोंसे किया है।

## चमत्कारीदेवीकी महिमा, कार्तिकेयजीके द्वारा शक्तिस्थापना तथा भानुमती-दुर्योधनके विवाहमें सम्मिलित कौरव, पाण्डव एवं यादवोंद्वारा शिवलिंगस्थापन

**सूतजी कहते हैं**—द्विजवरो! पूर्वकालमें महाराज चमत्कारके द्वारा जिनकी श्रद्धापूर्वक स्थापना की गयी थी, वे चमत्कारीदेवी वहीं विद्यमान हैं। कौमारव्रत धारण करनेवाली उन्हीं देवीने लाखों मायामय रूप धारण करनेवाले महिषासुरका वध किया था। महात्मा राजा चमत्कारने जब चमत्कारपुरका निर्माण किया, उस समय नगरकी तथा उस नगरमें निवास करनेवाले समस्त ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये भक्तिभावित चित्तसे चमत्कारीदेवीको स्थापित किया था। जो महानवमीके दिन चमत्कारीदेवीका विधिपूर्वक पूजन करता है, उसे एक वर्षतक कहीं भूत, प्रेत, पिशाच, शत्रुगण, रोग, चोर तथा दुष्टोंसे भय नहीं होता। शुक्ल पक्षकी अष्टमीमें पवित्र होकर जो मनुष्य जिस-जिस

कामनाका चिन्तन करते हुए उनकी भक्तिपूर्वक पूजा करता है, वह उस कामनाको निःसन्देह प्राप्त कर लेता है और जो पुरुष निष्कामभावसे चमत्कारीदेवीका पूजन करता है, वह निश्चय ही देवीके प्रसादसे सुखस्वरूप मोक्ष प्राप्त कर लेता है। उन परमेश्वरीकी आराधना करके पूर्वकालमें बहुतसे राजा, ब्राह्मण तथा योगीजन सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं। जो एक वर्षतक प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक चमत्कारीदेवीकी परिक्रमा करता है, वह पशु-पक्षियोंकी योनिमें नहीं जाता है।

स्वामिकार्तिकेयने तारकासुरका वध करके अपनी शक्तिको उसी चमत्कार नामक श्रेष्ठ नगरमें स्थापित किया, जिससे रक्तशृङ्ग पर्वत अत्यन्त दृढ़ हो जाय। उसके बाद उन्होंने प्रसन्न होकर अम्बावृद्धा, आम्रा, माहित्था और चमत्कारी—इन चार देवियोंसे कहा—'आप सब लोग मिलकर इस श्रेष्ठ पर्वतको सुस्थिर बनाये रखें जिससे यह प्रलयकालमें भी अपने स्थानसे विचलित न हो। यह उत्तम नगर सदा मेरे नामसे प्रसिद्ध हो और यहाँके सब ब्राह्मण सदा आप चारों देवियोंको पूजा देंगे।' स्वामिकार्तिकेयजीकी इस बातसे प्रसन्न होकर उन देवियोंने 'बहुत अच्छा' कहकर अपने त्रिशूलका अग्रभाग लगाकर उस पर्वतको सब ओरसे सुदृढ़ कर दिया। जो मनुष्य चैत्र मासके शुक्ल पक्षकी षष्ठी तिथिमें भक्तिभावसे स्वामिकार्तिकेयजीका पूजन करता है, उसे मयूरवाहन स्कन्दजी सन्तोष प्रदान करते हैं। इस प्रकार परम बुद्धिमान् स्कन्दने रक्तशृंग तथा चमत्कार नगरकी रक्षाके लिये वहाँ अपनी शक्ति स्थापित की है।

पूर्वकालमें बलभद्रजीके भानुमती नामसे प्रसिद्ध एक पुत्री थी, जो समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न तथा रूप और उदारता आदि गुणोंसे विभूषित थी। बलभद्रजीने श्रीकृष्णसे सलाह लेकर उस कन्याका विवाह परम बुद्धिमान् राजा दुर्योधनके साथ निश्चित किया। तदनन्तर हस्तिनापुरसे भीष्म, द्रोण आदि कौरवदलके लोग बारात लेकर शीघ्रतापूर्वक द्वारकापुरीकी ओर प्रस्थित हुए। पाँचों पाण्डव भी परिवारसहित दुर्योधनके साथ द्वारकापुरीको चले। क्रमशः यात्रा करते हुए वे समस्त कौरव तथा पाण्डव धन-धान्यसे सम्पन्न आनर्त देशमें आ पहुँचे, जहाँ सब पापोंका नाश करनेवाला त्रिभुवनविख्यात हाटकेश्वरक्षेत्र है। वहाँ कौरवोंके पितामह भीष्मजीने राजा धृतराष्ट्रसे कहा—'वत्स! यह भगवान् हाटकेश्वरका उत्तम क्षेत्र है जो सब पापोंका नाश करनेवाला है। बहुत दिन हुए मैंने इसका दर्शन किया था। अतः हमलोग आजसे पाँच दिनोंतक यहाँ निवास करें और शुद्ध चित्तवाले मुनियोंके जो-जो पुण्यदायक मन्दिर और तीर्थ यहाँ हैं, उन सबका दर्शन करें।'

भीष्मजीके ऐसा कहनेपर राजा धृतराष्ट्रने अपने सौ पुत्रोंके साथ शीघ्रतापूर्वक उस उत्तम क्षेत्रमें गये। वहाँ कोई उपद्रव न होने पाये, इस विचारसे राजाने अपनी सेनाको तो वहाँ जानेसे रोक दिया और स्वयं पाँचों पाण्डवों तथा सौ पुत्रोंसहित भीष्म, सोमदत्त, बाह्लीक, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, शकुनि, कर्ण तथा अन्य राजाओंके साथ उस क्षेत्रमें भ्रमण किया। उन सभी क्षत्रियोंने वहाँ रहकर श्रद्धापूत हृदयसे सम्पूर्ण धर्मकार्योंका अनुष्ठान किया। तदनन्तर वे सब लोग वहाँके देवस्थानों, तीर्थों, ब्राह्मणों तथा उत्तम व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी जनोंकी प्रशंसा करते हुए धृतराष्ट्रके साथ अपनी छावनीपर लौट आये। वहाँसे कौरव तथा पाण्डव द्वारकापुरीको गये। वहाँ पहुँचकर हर्षमें भरे हुए उन सब लोगोंने राजकुमारी भानुमतीके साथ महाराज दुर्योधनका विवाह कराया। उस समय नाना प्रकारके बाजे बजे, वेदमन्त्रोंका उच्चारण हुआ, मनोहर गीत गाये गये तथा सहस्रों वन्दीजनोंने स्तुतिपाठ किया। इस प्रकार आठ दिनोंतक यदुवंशियों और कौरवोंने मिलकर बड़ा भारी उत्सव मनाया। नवें दिन भीष्म आदि कौरवों तथा पाण्डवोंने स्नेहपूर्वक कमलनयन श्रीकृष्णसे कहा—'पुण्डरीकाक्ष! हमलोग आपके और बलरामजीके स्नेहपाशमें इतने बँधे हुए हैं

कि आपलोगोंका आश्रय किसी प्रकार छोड़ना नहीं चाहते तथापि अब हमें अपने नगरको जाना चाहिये। अतः आप और बलभद्रजी हमें विदा दें।'

**भगवान् श्रीकृष्णने कहा**—आपलोगोंको यहाँ रहते हुए न तो वर्ष बीता है, न मास बीता है और न पक्ष ही व्यतीत हुआ है। फिर इतने ही दिनोंमें घर जानेकी उत्कण्ठा कैसे उदित हो गयी? हमारी तो यही इच्छा है कि कौरव, पाण्डव तथा हम सब लोग मिलकर विविध प्रकारसे मनोरंजन करते हुए सदा यहीं टिके रहें। यदि आपका हमलोगोंपर स्नेह हो, तो ऐसा ही करें।

**भीष्मजी बोले**—श्रीकृष्ण! आपने जो बात कही है वह सर्वथा योग्य है, परंतु आपके निकट आते हुए हमलोगोंने आनर्त देशमें अत्यन्त अद्भुत हाटकेश्वरक्षेत्रका दर्शन किया था। वहाँ सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी महात्मा राजाओंके द्वारा स्थापित किये हुए अनेकानेक शिवलिंगोंको देखा था। अतः हमारे मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ है कि हमलोग भी वहाँ जाकर अपने-अपने नामसे पृथक्-पृथक् शिवलिंगकी स्थापना करें। इसलिये प्रभो! आप अपने चित्तको दृढ़ करके आज्ञा दीजिये कि हमलोग जायँ। आपके दर्शनकी लालसासे हम फिर यहाँ आते-जाते रहेंगे।

**श्रीभगवान्ने कहा**—मैं उस परम पवित्र पापनाशक क्षेत्रको जानता हूँ। मेरे सामने अनेकों तापसों तथा दूसरे-दूसरे तीर्थयात्रियोंने भी उसके माहात्म्यकी सदा ही चर्चा की है। अतः आपके साथ हमलोग भी उस क्षेत्रको देखनेकी अभिलाषासे वहाँ शिवलिंगस्थापनाके लिये चलेंगे।

**सूतजी बोले**—इस बातको सुनकर कौरव और पाण्डव बड़े हर्षको प्राप्त हुए। फिर सब लोगोंने एक ही साथ हाटकेश्वरक्षेत्रको प्रस्थान किये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने क्षेत्रसे कुछ दूर ही सेनाका पड़ाव डाला और मुख्य-मुख्य कौरव, पाण्डव तथा यादव चमत्कारपुरमें गये। वहाँ जा उस क्षेत्रके समस्त ब्राह्मणोंको बुलाकर उन्हें भाँति-भाँतिके भूषण और वस्त्र देते हुए उन सबने कहा—'द्विजवरो! हम सब लोग यहाँ अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार पृथक्-पृथक् शिवलिंगस्थापना और मन्दिरनिर्माणका कार्य करना चाहते हैं। इसलिये आप लोग शीघ्र आज्ञा दें, जिससे कार्य प्रारम्भ किया जाय। आप ही लोग सब कर्मोंमें होता होंगे। बाहरका दूसरा कोई ब्राह्मण नहीं रहेगा।'

उनका यह वचन सुनकर उन ब्राह्मणोंने आपसमें विचार करके यह निश्चय किया कि 'इनको हम अवश्य भूमि देंगे, जिससे हमें धनकी भी प्राप्ति होगी और इस स्थानकी भी शोभा बढ़ जायगी।' ऐसा विचार करके कौरवों, यादवों तथा पाण्डवोंसे वे इस प्रकार बोले—'यह क्षेत्र अत्यन्त छोटा है और अन्य राजाओंके मन्दिरोंसे भरा हुआ है; इसलिये हमें कुछ कहते नहीं बनता। आपलोगोंमें जो प्रधान-प्रधान व्यक्ति हों, वे ही यहाँ पृथक्-पृथक् अत्यन्त मनोहर मन्दिरोंका निर्माण करें।' उनका यह कथन सुनकर धृतराष्ट्र आदि प्रधान-प्रधान व्यक्तियोंने वहाँ सुन्दर मन्दिरोंका निर्माण किया।

राजा धृतराष्ट्रने अपने सौ पुत्रोंके साथ एक सौ एक शिवलिंग स्थापित किये। समस्त पाण्डवोंने अपने-अपने नामसे पाँच शिवलिंगोंकी स्थापना की। तत्पश्चात् गान्धारी, कुन्ती, द्रौपदी तथा भानुमतीने चार पार्वतीमूर्तियोंकी स्थापना की। तदनन्तर विदुर, शल्य, युयुत्सु, कलिंग, बाह्लीक, कर्ण, वृषसेन, शकुनि, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामाने भी पृथक्-पृथक् सुन्दर मन्दिर बनवाकर बड़ी भक्तिसे एक-एक उत्तम शिवलिंगकी स्थापना की। सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णने एक ऊँचे शिखरवाले मनोहर मन्दिरका निर्माण कराकर उसमें उत्तम शिवलिंगको स्थापित किया। तत्पश्चात् सात्वत, साम्ब, बलभद्र, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध आदि मुख्य-मुख्य यादवोंने भी शिवलिंग स्थापित किये। रुक्मिणीके दस पुत्र चारुदेष्ण आदिने भी श्रद्धापूर्वक दस शिवलिंगोंकी स्थापना की। इस प्रकार वे

सब कौरव, पाण्डव और यादव प्रसन्नतापूर्वक शिवलिंगोंकी स्थापना करके कृतकृत्य हो गये। उन्होंने चिरकालतक उस तीर्थमें रहकर चमत्कारपुरके ब्राह्मणोंको अनेक प्रकारके दान देकर धनाढ्य बना दिया। इसके बाद वे सब लोग अपने-अपने स्थानको चले गये। जो पुरुष भक्तिभावसे उन शिवलिंगोंकी पूजा करता है, वह सम्पूर्ण मनोवांछित कामनाओंको प्राप्त कर लेता है।

## स्कन्दस्वामी और देवयजनकी महिमा तथा तीनों सूर्य-विग्रहोंके दर्शनका माहात्म्य

**सूतजी कहते हैं**—प्राचीन कल्पमें जब देवताओंने हाटकेश्वर नामक शिवलिंगकी स्थापना की, तब भगवान् शिवने ब्रह्माजीके लिये यह क्षेत्र प्रदान किया था। उस समय वहाँके ब्राह्मणोंकी कलिकाल आदि दोषोंसे रक्षा करनेके लिये महादेवजीने अपने पुत्र कार्तिकेयको ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे वहाँ रहनेकी आज्ञा दी। पिताकी आज्ञासे कार्तिकेयजीने वहाँ निवास किया। जो कार्तिककी पूर्णिमाको कृत्तिका नक्षत्रके योगमें स्वामिकार्तिकेयजीका दर्शन करता है, वह सात जन्मोंतक धनाढ्य एवं वेदवेत्ता ब्राह्मण होता है। उस तीर्थमें कार्तिकेयजीका मन्दिर बहुत ही ऊँचा और मनोहर है; उस मन्दिरकी चर्चा सुनकर स्वर्गके देवता भी कौतूहलवश वहाँ उतर आये और उन्होंने बड़ी प्रसन्नताके साथ उस पवित्रतम नगर एवं मन्दिरका दर्शन किया तथा उस मन्दिरके उत्तर एवं पूर्व दिशामें विधिपूर्वक यज्ञकर्मका अनुष्ठान किया। यज्ञ-होम करके सब देवताओंने वहाँके ब्राह्मणोंको दक्षिणा दी और उस स्थानका उत्तम फल पाकर स्वर्गलोकको प्रस्थान किया। तबसे उस स्थानका नाम देवयजन हुआ। अन्य स्थानोंपर सौ यज्ञ करके मनुष्य जिस फलको पाता है, उसीको वहाँ दक्षिणासहित एक ही यज्ञ करके पा लेता है।

उस तीर्थमें तीन सूर्यविग्रह हैं—प्रथमका नाम मुण्डीर, दूसरेका कालप्रिय तथा तीसरेका मूलस्थान है, जो सब रोगोंका नाश करनेवाले हैं। भगवान् सूर्य प्रातःकाल मुण्डीरमें, मध्याह्नके समय कालप्रियमें तथा सन्ध्याके समय मूलस्थानमें जाते हैं। उस समय जो मनुष्य इन तीनों सूर्यविग्रहोंमेंसे एकका भी भक्तिपूर्वक दर्शन करता है, वह निःसन्देह मोक्षको प्राप्त होता है।

समुद्रके निकट विटंकपुर नामक एक उत्तम स्थान है, जो समुद्रकी उत्ताल तरंगोंसे आवृत होनेके कारण ऊँची चहारदीवारीसे सुशोभित प्रतीत होता है। उस नगरमें एक ब्राह्मण था, जो पूर्वकर्मके फलसे युवावस्थामें ही कोढ़ी हो गया था। उसकी पत्नी अच्छे कुलमें उत्पन्न, सती-साध्वी एवं सुशीला थी। वह अपने कोढ़ी पतिको ही कामदेवके समान सुन्दर देखती थी। पतिके अच्छे होनेके लिये ब्राह्मणी भाँति-भाँतिकी बहुमूल्य एवं हितकर ओषधियाँ ले आती और उसके घावोंपर लेप करती थी। एक समय उस श्रेष्ठ ब्राह्मणके घरमें कोई उत्तम अतिथि आया, जो कि बहुत थका-माँदा था। घरपर आये हुए उस ब्राह्मणको देखकर उसकी सती स्त्रीने भक्तिपूर्वक अनेक उपचारोंसे उसे सन्तुष्ट किया। जब वह स्नान, भोजन और आचमन करके शय्यापर विश्राम करने लगा, तब उससे गृहस्थ ब्राह्मणने पूछा—'विप्रवर! आप कहाँसे आये हैं और इस समय कहाँ जाते हैं?'

**पथिक बोला**—द्विजश्रेष्ठ! मैं कान्तिपुरका रहनेवाला हूँ, मुझे भी तुम्हारी ही भाँति कुष्ठरोगने दबा लिया था। तब मैंने सुना कि इस पृथ्वीपर समस्त रोगोंका नाश करनेवाले तीन सूर्यविग्रह हैं। सुनकर उन्हींका दर्शन करनेके लिये मैं हाटकेश्वरक्षेत्रमें गया और मुण्डीर स्वामीके पास पहुँचकर वहीं ठहर गया। उस स्थानपर सूर्यदेवका विधिपूर्वक पूजन करनेसे मेरा सब रोग जाता रहा और शरीर परम सुन्दर

हो गया। इस समय मैं वहींसे लौटकर आ रहा हूँ। द्विजश्रेष्ठ! तुम भी उस तीर्थमें जाकर वहाँके तीनों सूर्यविग्रहोंके दर्शन करो, जिससे कुष्ठरोगका नाश हो जाय। आज मुझे तुम्हारे घरमें अपने ही घरका-सा आराम मिला है। अब मैं अपने नगरको जाऊँगा।

पथिककी यह बात सुनकर गृहस्थ ब्राह्मणने अपनी पत्नीके मुखकी ओर देखा। वह बोली—'प्राणनाथ! इन्होंने बहुत अच्छी सलाह दी है, अतः जहाँ वे तीनों सूर्यविग्रह हैं, उस स्थानपर शीघ्र ही चलिये। प्रभो! मैं भी आपके साथ सेवामें संलग्न रहकर चलूँगी।' तदनन्तर उस ब्राह्मणने अपनी स्त्रीके साथ मुण्डीर स्वामीके निकट प्रस्थान किया और बड़े क्लेशसे किसी तरह वह हाटकेश्वरक्षेत्रमें पहुँचा तथा अपनी पत्नीसे बोला—'प्रिये! मैं रोग और भूखसे बहुत कष्ट पा रहा हूँ, अतः मुण्डीर स्वामीके समीपतक चलनेमें असमर्थ हूँ। इसलिये यहींपर अपना शरीर त्याग दूँगा। तुम कोई अच्छा साथ ढूँढ़कर घर लौट जाओ।'

**स्त्री बोली**—प्राणवल्लभ! आपके भोजन किये बिना मैंने कभी भोजन नहीं किया है। एकान्तमें भी जबतक आप जगे हैं, मैंने कभी नींद नहीं ली है। अतः आज इस महाक्षेत्रमें आकर जब आप परलोक जानेके लिये उद्यत हैं, तब आपको त्यागकर मैं घर कैसे लौट सकती हूँ? आपके बिना बन्धु-बान्धवों, गुरुजनों तथा अन्य सुहृदोंको कैसे मुँह दिखाऊँगी? इसलिये नाथ! मैं आपके साथ ही अग्निमें प्रवेश करूँगी। यह बात मैं शपथ खाकर कहती हूँ। महामते! जितने उपवास आपने किये हैं, उतने ही मुझे भी हुए हैं। इस दशामें आपको छोड़कर मैं घर कैसे जा सकती हूँ।

अपनी पत्नीका ऐसा निश्चय जानकर ब्राह्मणने चिता तैयार करवायी और अपनेको जला डालनेके लिये वह पत्नीके साथ ही चितापर बैठा। फिर मन-ही-मन भगवान् सूर्यका ध्यान करके उसने ज्यों ही आग अपने हाथमें ली, त्यों ही तीन महातेजस्वी पुरुष उसके सामने उपस्थित हो गये। वे ही भगवान् सूर्यके तीनों विग्रह थे। उनका दर्शन करके ब्राह्मण उसी क्षण कोढ़के रोगसे मुक्त तथा सुन्दर कान्तिसे सुशोभित तरुण हो गया। इस प्रकार उस क्षेत्रके तीनों सूर्य बहुत प्रसिद्ध हैं। उनके दर्शनसे भी सबको अभीष्ट फलकी प्राप्ति हो जाती है।

## चन्द्रदेवके मन्दिरके निर्माणका महत्त्व, अम्बावृद्धाके दर्शनकी महत्ता, शन्तनुके राज्यमें अवर्षण, अग्नितीर्थका प्राकट्य और अग्निको ब्रह्माका वरदान

**सूतजी कहते हैं**—विप्रवरो! उस क्षेत्रमें परम शुभदायक चन्द्रमाका भी मन्दिर है, जिसके दर्शनसे ही मनुष्य पापमुक्त हो जाता है। चन्द्रग्रहणके समय अथवा सोमवारके दिन जो वहाँ चन्द्रदेवका दर्शन करता है, वह पापी हो तो भी नरकको नहीं देखता। यह समस्त संसार सोममय है, अतः सोमके प्रतिष्ठित होनेसे सम्पूर्ण त्रिलोकी ही प्रतिष्ठित हो जाती है। ये अन्न आदि सब ओषधियाँ, ये खेतोंमें लहरानेवाले सस्य, जिनके आश्रयसे समस्त जीव जीवन धारण करते हैं, सब सोममय ही हैं। ब्रह्मा आदि देवता क्रमशः सोमको पाकर परम तृप्तिको प्राप्त होते हैं, अतः सोम श्रेष्ठ माने गये हैं। अग्निष्टोम आदि यज्ञ भी सोममें ही प्रतिष्ठित हैं। इस कारण सोम सम्पूर्ण देवताओंमें श्रेष्ठ माने गये हैं। वे देवता और दैत्य दोनोंके पूज्य हैं। जिस प्रकार पृथ्वीपर अन्य देवेश्वरोंके मन्दिर बनाये जाते हैं, वैसे ही निशानाथ चन्द्रमाका भी मन्दिर बनवाना चाहिये। जिन मनुष्योंने भूतलपर निशानाथ चन्द्रदेवका मन्दिर बनाया है, वे पुण्यराशिका संचय करके मोक्षपदको प्राप्त हो चुके हैं।

हाटकेश्वरक्षेत्रमें जो निशानाथ चन्द्रमाका मन्दिर है, उसे महाराज अम्बरीषने बनवाया था। उसीके उत्तर भागमें चन्द्रमाका एक दूसरा मन्दिर भी है, जो महाराज धुन्धुमारके द्वारा स्थापित किया गया है। उसके प्रभावसे वे दोनों राजा जन्म-मृत्युरहित परम सिद्धिको प्राप्त हुए। इसी प्रकार प्रभासक्षेत्रमें महाराज इक्ष्वाकुने श्रद्धापूर्वक चन्द्रमाके तीसरे मन्दिरकी प्रतिष्ठा की है। पृथ्वीपर इन तीन मन्दिरोंको छोड़कर दूसरा कोई चन्द्रमाका मन्दिर नहीं है। चन्द्रमाका यह उत्तम माहात्म्य बताया गया, जो पढ़ने और सुननेवालोंके समस्त पापोंका नाश करनेवाला है।

जिस समय महाराज चमत्कारने इस चमत्कारपुरका निर्माण किया था। उसी समय उस नगरकी रक्षाके लिये ब्राह्मणोंकी सम्मतिसे उन्होंने देवियोंकी भी स्थापना की थी। उन दिनों राजा चमत्कारके दो कन्याएँ थीं। जिनमें एकका नाम था—अम्बा और दूसरीका वृद्धा। उन दोनोंका पाणिग्रहण काशिराजने गृह्यसूत्रमें बतायी हुई विधिके अनुसार देवता, ब्राह्मण और अग्निके समीप किया। एक समय काशीनरेशका यवनोंके साथ घोर युद्ध हुआ। जिसमें भयानक यवनोंके द्वारा प्रतापी काशिराज भृत्य, सेना तथा वाहनोंसहित मारे गये। अम्बा और वृद्धा यह दुःखद वैधव्य पाकर मनोवांछित फल देनेवाले हाटकेश्वरक्षेत्रमें गयीं और देवीके आराधनमें संलग्न हो शुभदायक तप करने लगीं। इसी समय प्रतापी नरेश चमत्कारने उनके लिये कैलास-शिखरके समान ऊँचा मन्दिर बनवाया। तबसे लेकर उस महान् अभ्युदयशाली क्षेत्रमें वे दोनों अम्बा-वृद्धाके नामसे प्रसिद्ध हुईं। वे दोनों देवियाँ सदा नगररक्षाके कार्यमें तत्पर रहती हैं। जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर उन दोनोंका मुख देखता है, उसको एक वर्षतक किसी प्रकारका दोष नहीं प्राप्त होता। जो वर्षके आदि अथवा अन्तमें उन दोनोंकी प्रसन्नताके लिये पूजा करता है, उसे भूतलपर किसी प्रकारका छिद्र नहीं प्राप्त होता। जो पुरुष यात्राके समय उन दोनोंके लिये पूजन करता है, वह मनोवांछित फल पाकर शीघ्र अपने घर लौटता है। जो महानवमीके दिन श्रद्धापूर्वक अम्बा-वृद्धाकी प्रसन्नताके लिये पूजा करता है, वह अकण्टक होकर रहता है।

पूर्वकालमें प्रतीप नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। वे बड़े ही शूरवीर तथा ब्रह्मज्ञानी थे। उनका जन्म चन्द्रवंशमें हुआ था। राजा प्रतीपके दो पुत्र हुए, जो समस्त शुभलक्षणोंसे सुशोभित थे। उनमें पहलेका नाम देवापि और दूसरेका शन्तनु था। कुछ कालके बाद नृपश्रेष्ठ प्रतीप जब ब्रह्मलीन हो गये, तब देवापिने राज्यका त्याग करके तपस्याके लिये वनको प्रस्थान किया। तब उनके छोटे भाई शन्तनुको सब मन्त्रियोंने पिता-पितामहोंके राज्यपर बिठाया। राजा शन्तनुके राज्य करते समय इन्द्रने बारह वर्षोंतक वृष्टि रोक दी। इससे सब लोग बड़ी कठिनाईमें पड़ गये और भूखसे पीड़ित रहने लगे। यदि दैवयोगसे किसीके पास कहीं थोड़ा भी कच्चा या पका अन्न दिखायी देता तो उसे दूसरे बलवान् लोग बलपूर्वक छीन लेते थे। सारे वृक्ष और जलाशय सूख गये। गंगा आदि नदियोंमें भी बहुत थोड़ा जल रह गया। इस प्रकार वर्षा बंद होनेपर धर्मका मार्ग नष्ट हो गया। सम्पूर्ण जगत् हड्डियोंसे भर गया। कोई भी यज्ञ, स्वाध्याय तथा व्रतका पालन नहीं करता था। तब अग्निदेव इन्द्रपर क्रोध करके भूमण्डलवासियोंके लिये अदृश्य हो गये। इसी समय ब्रह्मा और विष्णुको आगे करके सब देवता अग्निकी खोज करनेके लिये पृथ्वीपर घूमने लगे। इधर अग्निदेव हाटकेश्वरक्षेत्रमें ब्रह्माजीके स्थानसे ईशानकोणमें स्थित गम्भीर जलाशयके भीतर प्रवेश कर गये। देवता उन्हें खोजते हुए वहाँ आ पहुँचे। देवताओंको आया देख अग्निदेव उस स्थानसे निकले। तब महात्मा ब्रह्माजीने पूछा—'अग्ने! तुम देवताओंको देखकर क्यों अन्यत्र चले जाते हो? तुम्हीं सबके आदि हो और तुम्हीं इन सबके मुखरूपसे जगत्में प्रतिष्ठित हो। तुममें विधिपूर्वक दी हुई आहुति सूर्यको प्राप्त होती है, सूर्यसे वृष्टि होती है और वृष्टिसे अन्न उत्पन्न होता

है। फिर अन्नसे प्रजाका जीवन चलता है, इसलिये तुम्हीं जगत्के धाता और विधाता हो। तुम्हारे सन्तुष्ट रहनेपर सम्पूर्ण जगत् सुरक्षित रहता है और तुम्हारे कुपित होनेपर इसका नाश हो जायगा। अग्निष्टोम आदि सम्पूर्ण यज्ञ तुममें ही प्रतिष्ठित हैं और सम्पूर्ण भूत-प्राणी तुम्हारे ही आश्रयसे जीवित रहते हैं। अग्निदेव! तुम समस्त भूतोंके भीतर सदा विचरते हो, क्योंकि उदरस्थित अन्न और जलका पाचन तुम्हीं करते हो। अतः सम्पूर्ण देवताओंपर कृपा करो और अपने क्रोधका कारण बताओ। तुम क्यों सबको त्यागकर चले गये थे?'

**सूतजी कहते हैं**—ब्रह्माजीका यह वचन सुनकर अग्निदेवने क्रोध त्याग दिया और प्रेमसे कहा—'कमलोद्भव! इन्द्रने वृष्टि रोक दी, जिससे अन्न आदि ओषधियोंका सर्वनाश हो गया। अतः उन्हींपर क्रोध करके मैं संसारको छोड़कर अदृश्य हो गया था।' यह सुनकर ब्रह्माजीने कहा—'इन्द्र! अग्निदेव ठीक ही कहते हैं, तुम संसारमें वर्षा क्यों नहीं करते?'

**इन्द्रने कहा**—पितामह! अपने बड़े भाईका उल्लंघन करके शन्तनु समूची पृथ्वीका राजा बन बैठा है। इसीलिये मैंने उसके राज्यमें वर्षा रोक दी है। अब आप ही प्रमाण हैं, कहिये मैं क्या करूँ?

**ब्रह्माजी बोले**—इस उल्लंघनका फल तो उस राजाने पा लिया। अब मेरे कहनेसे तुम शीघ्र ही वर्षा करो, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् अकाल और क्षुधाद्वारा नष्ट होनेसे बच जाय।

तब इन्द्रने शीघ्रतापूर्वक पृथ्वीपर वर्षा करनेके लिये पुष्करावर्तक नामवाले मेघोंको आज्ञा दी। आज्ञा पाते ही उन्होंने बिजली चमकाते और गर्जते हुए क्षणभरमें पृथ्वीको जलसे परिपूर्ण कर दिया। तत्पश्चात् देवताओंसहित ब्रह्माजीने अग्निसे कहा—'पावक! तुम अग्निहोत्रमें ब्राह्मणोंके सामने प्रत्यक्ष प्रकट हो जाओ और मुझसे मनोवांछित वर माँगो।'

**अग्नि बोले**—यह पवित्र जलाशय भूतलपर अग्नितीर्थ कहलाये। जो प्रातःकाल उठकर श्रद्धापूर्वक इसमें स्नान करनेके पश्चात् अग्निसूक्तका जप करके आदरके साथ आपका दर्शन करे, उसको आप मेरे अनुरोधसे पूर्णतः सन्तुष्ट करें।

**ब्रह्माजीने कहा**—अग्ने! जो वेदवेत्ता द्विज प्रातःकाल उठकर यहाँ स्नान और अग्निसूक्तका जप करनेके पश्चात् मेरा दर्शन करेगा, उसे अग्निष्टोम यज्ञका सम्पूर्ण फल प्राप्त होगा।

**अग्निदेव बोले**—लोकेश्वर! बारह वर्षोंतक मुझे कभी तृप्ति नहीं प्राप्त हुई। मर्त्यलोक भूखसे पीड़ित था; अतः मुझे कहीं कुछ नहीं मिला। इसलिये पुनः यहाँ अन्नमय यज्ञ हो।

**ब्रह्माजी बोले**—हुताशन! यहाँ जो कोई ब्राह्मण निवास करते हैं, वे वसुधाराकी आहुतिसे तुम्हें रात-दिन भक्तिपूर्वक तृप्त करते रहेंगे। इससे तुम पूर्णतः पुष्ट हो जाओगे और उनके भी मनोवांछित मनोरथ पूर्ण होंगे। संक्रान्तिके समय जो वसुधारा प्रदान करनेवाले ब्राह्मण तुम्हारे मुखमें आहुति डालेंगे, उनके जीवभरके अज्ञानजनित पाप नष्ट हो जायँगे। तुम्हारे सन्तुष्ट होनेपर आगे चलकर उशीनर देशमें शिवि नामसे सुविख्यात राजा होंगे, जो श्रद्धापूर्वक द्वादशवार्षिक (बारह वर्षोंतक चालू रहनेवाला) यज्ञ करके वसुधारा देकर तुम्हें वर्षों तृप्त करते रहेंगे। इससे तुम्हें उत्तम पुष्टि प्राप्त होगी। भूतलपर वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ सब मनुष्य तुम्हारी पूजा करेंगे। आजसे लेकर शान्तिक या पौष्टिक जो भी कर्म होगा, वसुधारासे युक्त होगा और तुम्हें परम तृप्ति प्रदान करनेवाला होगा।

अग्निदेवसे ऐसा कहकर लोकपितामह ब्रह्माजी इन्द्र, विष्णु और शिव आदि देवताओंके साथ ब्रह्मलोकको गये। वहाँसे सब देवता अपने-अपने धामको चले गये। अग्निदेव ब्राह्मणोंके अग्निहोत्र गृहमें प्रकट हुए और विधिपूर्वक प्राप्त वसुधारा होम ग्रहण करने लगे। इस प्रकार हाटकेश्वरक्षेत्रमें परम उत्तम अग्नितीर्थ प्रसिद्ध हुआ, जहाँ प्रातः स्नान करके मनुष्य दिनभरके पापसे मुक्त हो जाता है।

# ब्रह्मकुण्ड तथा गोमुखतीर्थकी उत्पत्तिकथा एवं महिमा

**सूतजी कहते हैं**—महात्मा मार्कण्डेयजीने जिस समय ब्रह्माजीका स्थापन किया था, उसी समय वहाँ पवित्र जलसे युक्त एक कुण्डका भी निर्माण किया और उसके माहात्म्यके विषयमें इस प्रकार कहा—'कार्तिक मासमें चान्द्रनक्षत्र कृत्तिकाके योगमें जो यहाँ भलीभाँति भीष्मव्रतका पालन करेगा, वह उत्तम ब्रह्मलोकमें जायगा।' ऐसा कहते हुए मार्कण्डेयजीके उस वचनको किसी पशुपाल (चरवाहे)-ने सुना और श्रद्धासे प्रेरित होकर उसने कार्तिक मासमें भीष्मपंचक-व्रतका विधिपूर्वक पालन किया। जब कृत्तिका नक्षत्रसे युक्त पूर्णिमा आयी तब उसमें स्नान करके ब्रह्माजीकी पूजा की। उसके बाद पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुका भी विधिपूर्वक पूजन किया। तदनन्तर काल आनेपर उसकी मृत्यु हो गयी और वह इसी नगरमें ब्राह्मणके घरमें उत्पन्न हुआ। उस समय उसे अपने पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण बना हुआ था। एक दिन उसने लोगोंके पूछनेपर बताया कि किसी समय महामुनि मार्कण्डेयके मुखसे मैंने ब्रह्मकुण्डका माहात्म्य सुना और कार्तिक मासमें उस शुभदायक कुण्डके जलमें विधिपूर्वक स्नान किया था। उसीके प्रभावसे इस जन्ममें मैं ब्रह्मर्षि चन्द्रात्रेयके वंशमें उत्पन्न हुआ हूँ और पूर्वजन्मकी सब बातोंको भी स्मरण करता हूँ। कार्तिक पूर्णिमाको कृत्तिकानक्षत्रका योग होनेपर यहाँका महत्त्व बढ़ जाता है, इस बातको मैं अनुभव कर चुका हूँ। इसीलिये सदा उत्तम भीष्मपंचक-व्रतका पालन करता हूँ।

इस प्रकार उसकी बात सुनकर अन्य सब श्रेष्ठ ब्राह्मण भी श्रद्धापूर्वक भीष्मपंचक-व्रतका पालन करने लगे। तभीसे उत्तर दिशामें वह कुण्ड इस पृथ्वीपर ब्रह्मकुण्डके नामसे विख्यात हुआ। जो ब्राह्मण सदा उसमें स्नान करता है, वह प्रत्येक जन्ममें श्रेष्ठ ब्राह्मण ही होता है।

वहीं एक गोमुख नामसे प्रसिद्ध अतिशय शोभायमान तीर्थ है, जो सब पातकोंका नाश करनेवाला है। पूर्वकालमें चमत्कारपुरके भीतर गौओंका पालन करनेवाला एक ब्राह्मण था, जो कुष्ठरोगसे पीड़ित हो अत्यन्त दुर्बल हो गया था। किसी समय उसी मार्गसे उसकी गौओंका झुंड आ निकला। वे सभी गौएँ प्याससे कष्ट पा रही थीं। उस दिन ज्येष्ठ मासकी एकादशी तिथिमें चित्रा नक्षत्रका योग था और मध्याह्नकाल हो गया था। यद्यपि वहाँ घास बहुत उगी थी, फिर भी गरमी और प्यासके कष्टसे किसी भी धेनुने उस घासकी ओर देखातक नहीं। उनमेंसे एक गौने दूरसे ही घासके उस पुंजको देखा और अत्यन्त हर्षमें भरकर तुरंत ही वहाँ जा दाँतोंसे उखाड़कर खींचा। इतनेमें ही उस घासके नीचेसे जलकी धारा निकल आयी। उस प्याससे कष्ट पाती हुई गायने घासको खा धीरे-धीरे दुग्धके समान स्वच्छ एवं मधुर प्रतीत होनेवाले उस जलको जी भरकर पीया। जब वह वेगपूर्वक जल पी रही थी, उसी समय पृथ्वीपर वहाँ जलसे भरे हुए अनेक लंबे-चौड़े गड्ढे प्रकट हो गये। तदनन्तर दूसरी सैकड़ों गौओंने भी उस अत्यन्त निर्मल अमृतरसके समान मधुर जलका पान किया। जैसे-जैसे गौएँ आकर जल पीती थीं, वैसे-ही-वैसे उनके मुखके स्पर्शसे वे गड्ढे बढ़ते जाते थे। इस प्रकार जब सभी गौओंने पानी पीकर प्यासको बुझा लिया, तब वह प्यासा गोपालक ब्राह्मण जलमें घुसा। अपने अंगोंको धोकर और जल पीकर ज्यों ही वह जलसे बाहर निकला त्यों ही अपने शरीरको उसने सूर्यके समान तेजस्वी देखा। इससे उसको बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने घर जाकर सब लोगोंके सामने वहाँका सब वृत्तान्त कह सुनाया। तब वहाँके सब लोग, विशेषतः रोगी मनुष्य, उस दिव्य जलके पास गये और सबने एकाग्रचित्त होकर वहाँ स्नान किया। स्नान करते ही सब लोग तत्काल

रोगों और पापोंसे मुक्त हो गये। तबसे वह जल गोमुख तीर्थके नामसे विख्यात हुआ; क्योंकि वह गौओंके मुखसे प्रकट हुआ था।

**ऋषि बोले**—सूतनन्दन! उस स्थानसे जो वैसा माहात्म्यपूर्ण जल प्रकट हुआ, इसका क्या कारण है?

**सूतजीने कहा**—महर्षियो! यहाँ पूर्वकालमें महाराज अम्बरीषने तप किया था। तपस्याका कारण यह था कि राजाको वृद्धावस्थामें एक पुत्र हुआ। उसका नाम सुवर्चा था। पूर्वजन्मके कर्मके फलसे बाल्यावस्थामें ही राजकुमार सुवर्चा कोढ़ी हो गये। इससे राजाको बड़ा दुःख हुआ। तब वे सब मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले हाटकेश्वरक्षेत्रमें गये और पुत्रके रोगका निवारण करनेके लिये उन्होंने बड़ी भारी तपस्या की। इससे सन्तुष्ट होकर भगवान् विष्णुने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया और आदरपूर्वक कहा—'वत्स! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, तुम्हारे मनमें जो इच्छा हो, उसे माँगो।'

**राजाने कहा**—केशव! मेरा पुत्र बाल्यावस्थामें ही कुष्ठरोगसे पीड़ित हो गया है। आप इसके रोगका निवारण करें।

उनके ऐसा कहनेपर भगवान् विष्णुने एकाग्रमनसे पातालगंगाका स्मरण किया। भगवान्के स्मरण करनेपर पातालगंगा एक छोटा-सा विवर बनाकर तत्काल ऊपर आ गयीं। तब श्रीहरिने राजासे कहा—'तुम्हारा पुत्र इस उत्तम गंगाजलमें स्नान करे।' यह आज्ञा पाकर अम्बरीषने अपने पुत्रको श्रीहरिके सामने ही पातालगंगाके जलमें नहलाया। वहाँ स्नान करनेमात्रसे ही वह बालक उसी क्षण कुष्ठरोगसे मुक्त हो बालसूर्यके समान तेजस्वी हो गया। तब उसने भगवान्को नमस्कार किया। इस बातको कोई जानता नहीं था, इसलिये वह सर्वपापहारी जल वहाँ गुप्त ही रहा। वही पुनः गोमुखद्वारा पृथ्वीपर प्रकट हुआ। आज भी उस जलके स्पर्शसे वहाँका धरातल अत्यन्त पवित्र है। जो पुरुष रविवारको सूर्योदयके समय वहाँ स्नान करता है, उसके गलगण्ड (घेघा) आदि सब रोग तत्काल नष्ट हो जाते हैं। पापजनित बड़ी भयंकर व्याधियाँ भी निवृत्त हो जाती हैं। फोड़े और चेचक आदिके उपद्रव भी शान्त हो जाते हैं। जो मनुष्य निष्कामभावसे भक्तिपूर्वक इस तीर्थमें स्नान करता है, वह देवदेव चक्रपाणि श्रीहरिके लोकमें जाता है। जिस दिन भगवान् विष्णुने वहाँ गंगाको प्रकट किया था, उस दिन सूर्य वृषराशिपर स्थित थे और चन्द्रमा चित्रानक्षत्रकी शोभा बढ़ा रहे थे तथा भगवान् विष्णुकी एकादशी तिथि भी विद्यमान थी। फिर गायके मुखसे जिस दिन घासोंका समूह उखाड़ा गया और गंगा भूतलपर प्रकट हुईं, उस दिन भी पूर्वोक्त योग ही था। अतः वही वहाँके लिये उत्तम पर्व है।

## परशुरामद्वारा लोहयष्टिकी स्थापना और उसकी महिमा, देवीकुण्डका माहात्म्य, देवीकी कृपासे अजको दिव्यास्त्रोंकी प्राप्ति तथा पातालगमन

**सूतजी कहते हैं**—महर्षियो! जिस समय परशुरामजीने रामकुण्डमें जाकर अपने पितरोंका तर्पण किया और यज्ञमें सारी पृथ्वी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको देकर वे क्रोधरहित हो गये, उस समय समुद्र-स्नानके लिये हर्षपूर्वक प्रस्थित हुए। उस यात्राके समय भी उन्होंने अपने हाथमें सूर्यके समान तेजस्वी कुठार ले रखा था। तब समस्त ऋषि-मुनियोंने परशुरामजीसे कहा—'महाभाग राम! आप पुण्यकार्य करनेके लिये जाते समय भी जो हाथमें शस्त्र धारण करते हैं, यह उचित नहीं जान पड़ता। जबतक आपके हाथमें कुठार रहेगा, तबतक आपका क्रोध शान्त नहीं होगा। इसलिये इसे त्याग दीजिये।'

**मुनियोंकी यह बात सुनकर परशुरामजीने हाथ जोड़कर विनीतभावसे कहा**—विप्रवरो!

यह कुठार अक्षय है और भगवान् शंकरके तेजसे प्रकट हुए लोहका बना हुआ है। साक्षात् विश्वकर्माने इसका निर्माण किया है। ऐसे दिव्य शस्त्रको त्यागकर मैं क्षात्रधर्ममें तत्पर होकर भी कैसे दिग्दिगन्तमें जा सकता हूँ? मेरे छोड़े हुए इस कुठारको यदि दूसरा कोई ग्रहण कर लेगा, तो वह मेरेद्वारा वध्य होगा। अतः यदि इसे छोड़ भी दूँ, तो मेरे मनमें शान्ति नहीं रहेगी। मैं इसे तभी छोड़ सकता हूँ, जब आपलोग इसकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा करें।

**ब्राह्मणोंने कहा**—महाभाग! यदि तुम इस कुठारको हमें रक्षाके लिये सौंपते हो, तो इसका खण्ड-खण्ड करके दो। तभी हम यत्नपूर्वक इसकी रक्षा करेंगे। उस दशामें कोई इसे लेगा भी नहीं।

मुनियोंकी यह बात सुनकर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ परशुरामजीने उस कुठारको तोड़कर लोहेकी छड़ी बनवा दी और उसे उन ब्राह्मणोंको आदरपूर्वक सौंप दिया।

**ब्राह्मण बोले**—राम! आपके कुठारकी बनी हुई इस लोहेकी छड़ीको हमलोग बड़े यत्नसे रखेंगे। जैसे कुमार कार्तिकेयकी शक्तिमयी कीर्ति यहाँ प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार आपकी लोहयष्टिमयी कीर्ति भी यहाँ प्रतिष्ठित हो गयी। जो राज्यभ्रष्ट राजा इस लोहदण्डकी आराधना करेगा, वह शीघ्र ही अपने राज्यको पाकर प्रतापी होगा। जो द्विज सदा विद्याके लिये इस लोहयष्टिकी पूजा करेगा, वह उत्तम विद्या पाकर सवर्ज्ञताको प्राप्त होगा। जो पुत्रहीन पुरुष अथवा स्त्री आपके इस लोहदण्डकी पूजा करेंगे, वे पुत्रवान् होंगे। जो आश्विन मासके कृष्ण पक्षकी चतुर्दशी तिथिको उपवास करके इसकी पूजा करेगा, वह समस्त मनोवांछित कामनाओंको प्राप्त करेगा।

ऐसा सुनकर परशुरामजीने उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको प्रणाम करके तुरंत ही समुद्रकी ओर प्रस्थान किया और वे ब्राह्मण भी उस लोहयष्टिके लिये उत्तम मन्दिर बनवाकर उसमें उसकी स्थापना करके एकाग्रचित्त हो उसकी पूजा करने लगे। इससे उन्होंने अपने देवदुर्लभ मनोरथोंको भी प्राप्त कर लिया।

**सूतजी कहते हैं**—प्राचीनकालमें अज नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। उनका सत्पुरुषोंमें भी बड़ा सम्मान था। वे माता-पिताकी भाँति सब लोगोंका हित करनेवाले थे। उन्होंने पिता-पितामहका राज्य पाकर मन-ही-मन यह विचार किया कि 'मुझे ऐसा कर्म करना चाहिये, जिसे संसारके दूसरे राजाओंने अबतक न किया हो और जो भविष्यमें होनेवाले हैं, वे भी जिसे न कर सकें। राजाओंके लिये सर्वोत्तम धर्म यही है कि प्रजाका भलीभाँति पालन करे, जिससे प्रजावर्गके लोग सुखपूर्वक रह सकें। राजालोग लोभमें आकर जैसे-जैसे प्रजासे अधिक कर लेने लगते हैं, वैसे-वैसे प्रजाके हृदयमें क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। राजा कर लिये बिना हाथी, घोड़े और पैदल आदि सेनाकी रक्षा नहीं कर सकते और यदि सेना न रहे तो नीच-से-नीच भी मनुष्य उन्हें दबा लेंगे। इसीलिये सब राजा प्रजाजनोंसे कर लेते हैं। अतः मुझे हाथी, घोड़े और पैदल आदिके बिना ही केवल तपस्याकी शक्तिसे अपने राज्यको निष्कण्टक बनाये रखना चाहिये।'

ऐसा सोचकर वे कर न लेकर सदा प्रजाको प्रसन्न रखने लगे। दूसरे राजाओंसे भी कर लेना उन्होंने बंद कर दिया और अपने पुरोहित मुनिवर वसिष्ठको आदरपूर्वक बुलाकर पूछा—'ब्रह्मन्! इस भूतलपर सबसे उत्तम तीर्थ कौन है, जहाँ थोड़े ही समयमें भगवान् शिव, ब्रह्मा तथा विष्णु प्रसन्न हो जाते हैं। उसे शीघ्र बताइये। जिससे मैं वहाँ जाकर सम्पूर्ण लोकोंके हितके लिये तपस्या करूँ।'

**वसिष्ठजी बोले**—नृपश्रेष्ठ! हाटकेश्वरक्षेत्र मनीषियोंको शीघ्र ही उत्तम सिद्धि प्रदान करनेवाला तथा सब पातकोंका नाशक है। वही सब तीर्थोंमें श्रेष्ठ है। इसी प्रकार देवताओंमें भी भगवती चण्डिका ही ऐसी हैं, जो श्रद्धालु मनुष्योंद्वारा

आराधना करनेपर शीघ्र सन्तुष्ट होती हैं। इसलिये उसी क्षेत्रमें जाकर तुम श्रद्धापूर्वक देवीकी आराधना करो। ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए पवित्र व्रतमें तत्पर रहो। नियमपूर्वक रहते हुए नियमित भोजन एवं त्रिकाल स्नान करो।

वसिष्ठजीके बताये अनुसार राजा अजने हाटकेश्वरक्षेत्रमें देवीकी आराधना की। गन्ध, पुष्प और अनुलेपन आदि उपचारोंके द्वारा निरन्तर पूजामें तत्पर हुए राजापर देवी चण्डिका प्रसन्न हुईं और बोलीं—'वत्स! मैं तुम्हारे इस व्रत और पूजाविधानसे बहुत सन्तुष्ट हूँ। तुम्हारे मनमें जो इच्छा हो, उसे माँगो। मैं उसे शीघ्र पूर्ण करूँगी।'

**राजाने कहा**—देवि! मैंने सम्पूर्ण लोकोंके हितकी इच्छासे इस व्रत और तपस्याका आश्रय लिया है। जिससे सब लोगोंको सुख मिले, ऐसी कृपा कीजिये। मुझे बहुत-से ऐसे ज्ञानयुक्त विचित्र-विचित्र अस्त्र दीजिये, जो स्वेच्छानुसार सर्वत्र विचर सकें। जो इस भूतलपर स्थित और मेरे पासकी भी सब वस्तुओंको भी स्वतः जान लें। लोकमें परस्त्रीसंगम आदि जो अपराध हों, उन सबको स्वयं जानकर अपराधके अनुसार जो स्वतः दण्ड दे दें, जिससे लोकमें संकरता न फैलने पावे। इसके सिवा मुझे भाँति-भाँतिके मन्त्र दीजिये, जिनसे मैं सबकी रोग-व्याधियोंको शीघ्र निवारण कर सकूँ। जिससे मेरे राज्यमें रहनेवाले सब मनुष्य सुखी, नीरोग, पुष्ट, निर्भय तथा शोकरहित हो जायँ।

**देवी बोलीं**—राजन्! तुमने यह एक ऐसा बड़ा अद्भुत कर्म प्रारम्भ किया है, जिसे अबतक न तो किसीने किया है और न आगे कोई करेगा। तथापि मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूँगी। मैं तुम्हें समस्त ज्ञानयुक्त शस्त्र देती हूँ और वैसे ही प्रभावशाली मन्त्र देती हूँ। इन मन्त्रोंसे बड़े-बड़े भयंकर रोग भी तुम्हारे द्वारा रोक दिये जायँगे, परंतु मेरे मन्त्रोंसहित उन सब अस्त्र-शस्त्रोंको तुम सदा सुरक्षित रखना। यदि वे तुम्हारी दृष्टिसे कहीं दूर निकल जायँगे तो मनुष्योंको बहुत अधिक पीड़ा देंगे। राजन्! तुम जब स्वर्गलोकको जाओ तब इन समस्त मन्त्रों और अस्त्र-शस्त्रोंको यहाँ मेरे सम्मुख जलमें स्थापित कर देना, जिससे सब व्यवहार पूर्ववत् नीतिके अनुकूल चल सके।

'बहुत अच्छा' कहकर राजाने देवीकी आज्ञा शिरोधार्य की। फिर तो उनके सामने वे ज्ञान-वैभवसे युक्त नाना प्रकारके दिव्य अस्त्र प्रकट हुए, जिनके लिये उन्होंने देवीसे प्रार्थना की थी। साथ ही, व्याधिनाशक मन्त्र भी उनके ज्ञानमें आ गये, जिनके द्वारा सब रोग स्वेच्छानुसार ग्रहण किये और छोड़े जाते हैं तथा जिनके द्वारा दृष्टिमें आये हुए सब मनुष्योंका सुखपूर्वक पालन होता है।

तत्पश्चात् राजाने देवीके प्रसादको ग्रहण करके अपनी पत्नी इन्दुमति और पुत्र दशरथको छोड़कर शेष समस्त पदार्थों और हाथी-घोड़े आदि उपकरणोंको ब्राह्मणोंकी सेवामें दान कर दिया। रोग-व्याधियोंको मन्त्रोंके द्वारा दूर करके वे डंडा लेकर अजापालनकी तरह स्वयं प्रजापालन करने लगे। उनके राज्यमें कोई छिपकर भी अपराध नहीं कर पाता था। यदि कोई प्रमादवश पृथ्वीपर पाप करता तो उसे तत्काल ही तदनुकूल दण्ड मिल जाता था। राजाके वे दिव्यास्त्र किसीके दृष्टिमें न आकर भी वध अथवा बन्धन आदि दण्ड तत्काल देते थे। अन्य राजाओंके राज्यमें तो जो मनुष्य गुप्त पाप करते थे, उन्हींके पापोंका यमराज दण्ड देते थे; परंतु राजा अजके राज्यमें उन दिव्यास्त्रोंके भयसे डरा हुआ कोई भी मनुष्य पाप नहीं करता था। अतः वे सभी पापमुक्त एवं पवित्र शरीरवाले हो गये। रोगोंका नियन्त्रण हो जानेके कारण सब मनुष्योंको उत्तम सुख प्राप्त होता था। इस प्रकार संसारसे जब पापका भय निवृत्त हो गया, तब यमलोकके सभी नरक सूने हो गये। कोई भी पुरुष नरकमें नहीं

जाता था। सत्ययुगमें लोगोंका जैसा व्यवहार था, वैसा ही त्रेतामें भी हुआ।

एक समय भगवान् शंकर व्याघ्रका शरीर धारण करके बार-बार गर्जना करते हुए जहाँ राजा अज थे, वहीं उपस्थित हो गये। विकराल शरीर धारण करनेवाले उस व्याघ्रको देखकर राजाने भगवतीके दिये हुए सूर्यके समान तेजस्वी अस्त्रका प्रहार किया। क्रमशः देवीसे प्राप्त हुए अन्यान्य अस्त्रोंका भी प्रयोग किया, परंतु उन सभी अस्त्रोंको भगवान् शंकरने धीरे-धीरे अपने मुखमें ग्रहण कर लिया। तब अस्त्रोंके अभावसे राजाने व्याघ्ररूपधारी भगवान् शिवसे द्वन्द्वयुद्ध किया। उनके शरीरका स्पर्श होते ही भगवान् शिवने व्याघ्रशरीर त्याग दिया और भस्मांगराग-विभूषित, चन्द्रार्धमुकुटमण्डित दिव्यरूप धारण कर लिया। उनके गलेमें मुण्डमाला शोभा पा रही थी। उन्होंने खट्वांग तथा सर्पमय आभूषण धारण कर रखे थे। भगवान् शिवको इस रूपमें प्रत्यक्ष देखकर रानीसहित राजा अजने उनके चरणोंमें प्रणाम किया। तत्पश्चात् उनकी स्तुति करके वे विनीतभावसे हाथ जोड़कर खड़े हो गये और आनन्दाश्रु बहाते हुए हर्षगद्गद वाणीमें बोले—'प्रभो! मैंने अज्ञानवश जो आपका तिरस्कार किया और आपके ऊपर अस्त्र चलाया, वह सब अपराध कृपया क्षमा करें।'

**भगवान् शिव बोले**—बेटा! तुम्हारा अलौकिक कर्म देखकर मैं बहुत सन्तुष्ट हूँ, अतएव उस तिरस्कारको मैंने अपनी स्वाभाविक क्षमासे ही क्षमा कर दिया है। राजन्! तुमने जैसा राज्य किया, जिस प्रकार प्रजाकी रक्षा की, वैसी राज्यव्यवस्था अबतक न तो किसीने की थी और न कोई आगे करेगा ही। अतः तुम अभी अपनी इन रानीके साथ इसी शरीरसे पाताललोकमें चलो।

**राजाने कहा**—भगवन्! मैं अयोध्या नामक महापुरीमें अपने पुत्र दशरथको राजसिंहासनपर बिठाकर उसे मन्त्रियोंके अधीन सौंपकर आपकी आज्ञाका पालन करूँगा। जिन्होंने सन्तुष्ट होकर मुझे अस्त्र-शस्त्र तथा यन्त्रसमुदाय दिये थे, उन महादेवीने यह आज्ञा की थी कि 'जब तुम दुस्त्यज मर्त्यलोकका त्याग करने लगो, तब मेरे कुण्डमें इन सबको डाल देना।' अतः आप उन सब अस्त्र-शस्त्रोंको मुझे पुनः लौटा दें, जिससे मैं देवीके ऋणसे उऋण हो जाऊँ।

**उनके ऐसा कहनेपर भगवान् त्रिपुरारिने राजाको वे दिव्य अस्त्र-शस्त्र लौटा दिये और आज्ञा देते हुए कहा**—राजन्! तुम्हारा पुत्र स्वयं ही राजा हो जायगा। वह वीरता, उदारता और शम आदि गुणोंसे सम्पन्न हो तुम्हारे वंशको धारण करनेमें समर्थ होगा। तुम आज ही मेरे साथ इस देवीकुण्डके पवित्र जलमें प्रवेश करके मेरे धामको चलो। आज माघ शुक्ला चतुर्दशीका दिन है। दूसरा कोई भी जो पुरुष इस तिथिको देवीकी भक्तिपूर्वक पूजा करके इस जलमें गोता लगाकर प्राण त्याग करेगा, वह पाताललोकमें, जहाँ हाटकेश्वर नामसे प्रसिद्ध मेरा दिव्य विग्रह है, वहाँ पहुँच जायगा। नृपश्रेष्ठ! जो इस तीर्थमें केवल स्नानमात्र करेगा, उसके एक सौ आठ रोगोंमेंसे एक भी न होगा।

ऐसा कहकर भगवान् शिवने रानी तथा उन अस्त्र-शस्त्रोंके सहित राजाको साथ लेकर उस देवीकुण्डके जलमें प्रवेश किया और वहाँसे उन्हें अपने धाममें पहुँचा दिया। उसी मानवशरीरसे राजा अज अपनी रानीके साथ आज भी अजर-अमर होकर वहाँ पातालमें रहते हैं और हाटकेश्वर भगवान्की श्रद्धापूर्वक आराधना करते हैं।

इस प्रकार हाटकेश्वरक्षेत्रमें माहेश्वरी देवीका प्रादुर्भाव हुआ है, जिसे राजा अजने श्रद्धापूर्ण हृदयसे स्थापित किया था।

# राजवापीके प्रसंगमें राजा दशरथका प्रभाव, शनैश्चरग्रहकी पराजय, इन्द्रके साथ राजाकी मैत्री और उनके यहाँ श्रीराम आदिके प्राकट्यकी कथा

**सूतजी कहते हैं**—राजा अजके पाताललोकमें गमन करनेके पश्चात् उनके पुत्र दशरथ राजा हुए। मन्त्रियोंने उनको आगे रखा और सदा सम्मान दिया। ये वे ही राजा दशरथ थे, जो प्रतिदिन इन्द्रलोकमें जाते और इन्द्रके साथ क्रीडा करते थे। इन्होंने रोहिणीका भेदन करनेवाले शनैश्चरग्रहको परास्त किया था तथा इनके घरमें साक्षात् भगवान् विष्णुने प्रसन्न होकर रावणका विनाश करनेके लिये अवतार लिया था। राजा दशरथने भी हाटकेश्वरक्षेत्रमें जाकर आराधनाद्वारा भगवान् विष्णुको सन्तुष्ट किया और सुन्दर मन्दिर निर्माण करके वहीं उनको स्थापित किया। वहाँ राजा दशरथकी वापी प्रसिद्ध है, जिसे उन्होंने स्वयं तैयार कराया था। उसे लोकमें 'राजवापी' कहते हैं। जो लोग पंचमीको तथा विशेषतः पितृपक्षमें वहाँ श्राद्ध करते हैं वे सत्पुरुषोंके प्रिय होते हैं।

किसी समय ज्योतिषके विद्वानोंने राजासे यह कहा कि 'शनैश्चर ग्रह रोहिणीका भेदन करेगा और यदि ऐसा हुआ तो संसारमें बारह वर्षोंतक घोर अनावृष्टि होगी, सर्वत्र अकाल पड़ जायगा। उस समय सम्पूर्ण भूमण्डल मनुष्योंसे शून्य हो जायगा।' उनकी यह बात सुनकर राजा दशरथके मनमें शनैश्चरके प्रति बड़ा क्रोध हुआ। राजाको इन्द्रने एक कामग विमान दे रखा था। उसीपर बैठकर दशरथने शनैश्चरपर आक्रमण किया और अपने महान् धनुषको खींचकर उसपर तीखे बाणका सन्धान किया तथा नीचे मुख किये स्थित हुए शनैश्चरके सामने खड़े होकर कहा—'शनैश्चर! मेरे कहनेसे तुम रोहिणीका मार्ग त्याग दो, अन्यथा इस मन्त्रप्रेरित दिव्यास्त्रसे मारकर मैं तुम्हें यमलोक पहुँचा दूँगा।'

**उनकी यह भयङ्कर बात सुनकर शनैश्चर देवको बड़ा विस्मय हुआ और वे बोले**—महाभाग! तुम कौन हो जो मेरा मार्ग रोकते हो? यह मार्ग तो किसीके द्वारा गम्य नहीं है, देवता और असुर भी यहाँ नहीं आ सकते, फिर तुम कैसे चले आये?

**राजाने कहा**—मैं सूर्यवंशमें उत्पन्न महाराज अजका पुत्र दशरथ नामक राजा हूँ और क्रोधपूर्वक तुम्हें रोहिणीके मार्गसे हटानेके लिये आया हूँ।

**शनैश्चर बोले**—राजन्! तुम्हारे साथ तो मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर क्यों तुम अतिशय क्रोधमें आकर मेरा मार्ग रोकना चाहते हो?

**राजाने कहा**—अभी-अभी ज्योतिषियोंने मुझे बताया है कि तुम (शनैश्चर) रोहिणीचक्रका भेदन करनेवाले हो और यदि तुमने उसका भेदन कर दिया तो इन्द्र वर्षा रोक देंगे। वृष्टि रुक जानेसे पृथ्वीपर अन्न नहीं पैदा होगा और अन्नके अभावसे भूतलके समस्त प्राणी नाशको प्राप्त हो जायँगे। जब सब प्राणियोंका नाश हो जायगा, तब यज्ञ कौन करेगा? फलतः अग्निष्टोम आदि सम्पूर्ण क्रियाएँ पृथ्वीसे उठ जायँगी और ऐसा होनेपर प्रलय मच जायगा। सूर्यनन्दन! इसीलिये मैंने तुम्हारी राह रोकी है।

**शनिदेव बोले**—बेटा! अपने घरको लौट जाओ। इच्छा हो तो मुझसे भी तुम कोई वर माँगो; मैं तुम्हारे पराक्रमसे सन्तुष्ट हूँ। मैं अपनी दृष्टिसे जिसे देख लूँ, वह भस्म हो जाता है। इसीलिये अपनी दृष्टि सदा नीची किये रहता हूँ। तुमने प्रजावर्गके हितके लिये मेरे भयको त्याग दिया है, अतः तुम्हारे लिये मैं रोहिणीका भेदन नहीं करूँगा।

**राजाने कहा**—शनिदेव! आपका दिन प्राप्त होनेपर जो मनुष्य अपनी शरीरमें तेल लगाता है, उसको अपना दूसरा दिन आनेतक आप कभी

पीड़ा न दें। जो आपके सन्तोषके लिये यथाशक्ति लोहा और तिल आदि दान करता है, उसकी एक वर्षतक आप प्रत्येक कष्ट और संकटसे रक्षा करें। सूर्यनन्दन! जब आप कुण्डलीमें पीडाकारक स्थानमें स्थित हों, उस समय जो भक्तिपूर्वक आपके दिवसमें तिल, लोह आदि दान करके विधिवत् शान्तिकर्म और पूजा करे, उसकी साढ़े सात वर्षोंतक आप सदा रक्षा करते रहें, यही मेरे लिये आप वरदान दें।

**सूतजी कहते हैं**—तब शनैश्चरदेवने 'तथास्तु' कहकर राजाकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और वे मौन हो गये। तभीसे राजा दशरथकी बात मानकर शनैश्चरदेव कभी रोहिणीमण्डलका भेदन नहीं करते हैं। इस समाचारको सुनकर इन्द्रदेव बहुत प्रसन्न हुए और राजा दशरथसे मिलकर आदरपूर्वक बोले—'राजन्! तुमने यह बड़ा अद्भुत पराक्रम किया है, दूसरा कोई तो इस बातकी कल्पना भी अपने मनमें नहीं ला सकता। अतः इस पुरुषार्थसे मैं तुमपर बहुत सन्तुष्ट हूँ। तुम्हारे मनमें जो कोई अभिलाषा हो उसके अनुसार मुझसे वर माँगो।'

**राजा बोले**—सुरश्रेष्ठ! आपके साथ सदा मेरी मैत्री बनी रहे। यही प्रार्थना करता हूँ।

**इन्द्रने कहा**—राजेन्द्र! ऐसा ही होगा। तुम्हारे साथ मेरी सदैव शाश्वत मैत्री बनी रहेगी। ठीक वैसी ही, जैसी वसु देवताकी मैत्री है। तुम सदैव सन्ध्याके समय मेरे पास आते रहना, जिससे सदैव आपसका मैत्रीभाव बढ़ता रहे।

ऐसा कहकर देवराज इन्द्र स्वर्गलोकमें चले गये। राजा दशरथ भी शनैश्चरके भयसे सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करके हर्षपूर्वक अयोध्यापुरीके भीतर अपने भवनमें लौट आये। तबसे प्रायः नित्य ही सायंकालकी उपासना करके राजा दशरथ इन्द्रलोकको चले जाते थे। वहाँपर देवर्षियोंके मुखसे विचित्र अर्थवाली कथाएँ सुनकर और स्वयं भी कहकर अपने घर लौट आते थे। एक समय इन्द्रसे प्रेरित होकर महाराज दशरथने महर्षि वसिष्ठके द्वारा पुत्रके लिये पुत्रेष्टि नामक यज्ञ कराया। तदनन्तर बड़ी रानी कौशल्याने परम धर्मात्मा पुत्र श्रीरामचन्द्रजीको जन्म दिया। राजाकी सबसे छोटी रानी कैकेयीने भरत नामक पुत्र उत्पन्न किया और मझली रानी सुमित्राने दो महाबली पुत्रोंको जन्म दिया। जिनके नाम लक्ष्मण और शत्रुघ्न थे। इनके सिवा सुमित्रासे एक सुन्दरी कन्या भी उत्पन्न हुई, जिसे पुत्रहीन राजा लोमपादको दत्तक पुत्रीके रूपमें दे दिया गया। इस प्रकार पितरोंसे उऋण होकर कृतकृत्य हो राजा दशरथने स्वर्गलोककी यात्रा की। उनके बाद श्रीरामचन्द्रजी चक्रवर्ती राजा हुए, जिन्होंने देवताओंके लिये कण्टकरूप दुर्धर्ष रावणका वध किया और हाटकेश्वरक्षेत्रमें रामेश्वर एवं लक्ष्मणेश्वरकी स्थापना करके मूर्तिमती सीतादेवीको भी प्रतिष्ठित किया था।

## श्रीरामके द्वारा लक्ष्मणका त्याग, लक्ष्मणका परमधाम-गमन, श्रीरामका किष्किन्धा, लंका एवं हाटकेश्वरतीर्थमें जाना और रामेश्वर, लक्ष्मणेश्वर एवं सीता आदिकी प्रतिमा स्थापित करना

**सूतजी कहते हैं**—महर्षियो! कमलनयन भगवान् श्रीरामचन्द्रजी लोकापवादके कारण सीताजीका परित्याग करके अयोध्याका राज्य करने लगे। उन्होंने दूसरी किसी स्त्रीको पत्नीरूपमें किसी तरह भी स्वीकार नहीं किया। यज्ञकार्यकी सिद्धिके लिये भी पत्नीके स्थानपर सीतादेवीकी स्वर्णमयी प्रतिमाको ही बिठाया। श्रीरामने ग्यारह हजार वर्षोंतक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए निष्कण्टक राज्य किया। तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीके भवनमें एक देवदूत आया और बोला—'भगवन्!

मुझे इन्द्रने भेजा है, अतः आप मुझसे एकान्तमें मिलिये।' तब भगवान् श्रीरामने एकान्तमें जाकर लक्ष्मणजीसे कहा—'लक्ष्मण! मैं जबतक इस देवदूतके साथ बैठकर वार्तालाप करूँ, तबतक कोई यहाँ न आवे। यदि कोई आवेगा तो उसे मृत्यु-दण्ड दिया जायगा। अतः तुम राजद्वारपर उपस्थित रहकर इस बातकी ओर दृष्टि रखो कि कोई आ न जाय और किसीके लिये वधका प्रसंग न उपस्थित हो जाय।'

लक्ष्मणने 'बहुत अच्छा' कहकर आज्ञा स्वीकार की और वे स्वयं राजद्वारपर खड़े होकर पहरा देने लगे। उधर देवदूतने श्रीरामके साथ वार्तालाप प्रारम्भ किया। इन्द्र तथा अन्य स्वर्गवासियोंका सन्देश सुनाते हुए उसने इस प्रकार कहा—'महाभाग! आपने रावणका विनाश करनेके लिये ही भूतलपर अवतार धारण किया था। वह दुष्ट मारा गया, त्रिभुवनका कण्टक दूर हुआ। आपने इस समय देवताओंका सब कार्य पूर्ण कर दिया। अब यदि आपकी रुचि हो तो मर्त्यलोक त्यागकर दिव्यलोकमें पधारिये।'

इसी समय मुनिश्रेष्ठ दुर्वासा वहाँ आये और लक्ष्मणजीसे पूछने लगे—'श्रीरघुनाथजी कहाँ हैं?' लक्ष्मण बोले—'विप्रवर! मुझपर दया करके थोड़ी देर यहीं ठहर जाइये। महाराज किसी देवकार्यसे एकान्तमें बातचीतमें लगे हुए हैं।'

**दुर्वासा बोले**—यदि अभी मुझे राजा श्रीरामचन्द्रजी दर्शन नहीं देंगे तो मैं समस्त रघुकुलको शाप देकर भस्म कर डालूँगा।

यह सुनकर लक्ष्मणजीने मन-ही-मन दुःखी होकर कुछ विचार किया और स्वयं श्रीरामचन्द्रजीके समीप जाकर हाथ जोड़ साष्टांग प्रणाम करके कहा—'देव! मुनिश्रेष्ठ दुर्वासा दर्शनके लिये राजद्वारपर खड़े हैं। उनके लिये क्या आज्ञा है?' लक्ष्मणजीका वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने देवदूतसे कहा—'तुम देवराजके पास जाकर यह कह देना कि मैं एक वर्षके अंदर ही आपके समीप आ जाऊँगा।' दूतसे ऐसा कहकर भगवान्ने लक्ष्मणसे कहा—'वत्स! दुर्वासा मुनिको शीघ्र भीतर ले आओ।' तत्पश्चात् मुनिके आते ही श्रीरामने मुनिको अर्घ्य दे प्रणाम किया और हर्षयुक्त वाणीमें कहा—'मुनिश्रेष्ठ! आपका स्वागत है, मैं धन्य और अनुगृहीत हूँ, जो कि आप मेरे घर पधारे हैं।'

**दुर्वासाने कहा**—रघुनन्दन! मैं उपवास-पूर्वक चातुर्मास्य व्रत करके आज भोजन करनेके लिये आपके घर आया हूँ, अतः मुझे शीघ्र भोजन दीजिये।

तब श्रीरामचन्द्रजीने मिष्ठान्न आदिसे मुनिको यथेष्ट भोजन कराकर तृप्त किया। इस प्रकार भोजन करके आशीर्वाद दे दुर्वासा मुनि चले गये। तब लक्ष्मणने भगवान् श्रीरामसे कहा—'प्रभो! अब मुझे मृत्युदण्ड मिलना चाहिये।' यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजी अपनी प्रतिज्ञाका स्मरण करके दुःखी हो गये। तब लक्ष्मणने कहा—'प्रभो! अपने वचनको बिना किसी हिचकके सत्य कर दिखाना, यही राजाओंका परम धर्म है।' लक्ष्मणकी बात सुनकर श्रीरामके नेत्रोंमें आँसू भर आये। उन्होंने धर्मशास्त्रके जाननेवाले मन्त्रियोंसे बहुत देरतक सलाह ली और अन्तमें लक्ष्मणजीसे कहा—'सुमित्रानन्दन! आज मैंने तुम्हें त्याग दिया। तुम शीघ्र दूसरे देशको चले जाओ। साधुपुरुषोंका त्याग अथवा वध दोनों बराबर है।'

तत्पश्चात् लक्ष्मणजी अपने घरमें माता, पत्नी, पुत्र या सुहृद् किसीके साथ सम्मति न करके सरयूके तटपर चले गये। वहाँ सरयूजलमें स्नान करके तटपर एकान्त स्थानमें बैठ गये और पद्मासन लगाकर उन्होंने अपने आत्माको परमात्मामें लीन करके ब्रह्मरन्ध्रसे अपने तेजोमय प्राणका परित्याग कर दिया। श्रीरामचन्द्रजीने जब यह समाचार सुना, तब वे अत्यन्त दुःखी होकर विलाप करने लगे। वे मन्त्रियों और सुहृज्जनोंको साथ लेकर स्वयं उस स्थानपर गये और करुणस्वरमें 'हा वत्स!' कहकर फूट-फूटकर रोने लगे।

उस समय लक्ष्मणजीका कलेवर अदृश्य हो गया और फूलोंकी वर्षाके साथ आकाशवाणी हुई—'महाभाग राम! आप शोक न करें। ब्रह्मज्ञानसे संयुक्त लक्ष्मणजी सर्वसंन्यास करके परम धामको पधार गये हैं।'

**आकाशवाणीकी यह बात सुनकर मन्त्रियोंने कहा**—महाराज! ये लक्ष्मण परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। अतः अब अपने घरको लौटिये। राजकार्यकी चिन्ता कीजिये और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे पूछकर अपने स्नेहके अनुरूप उनका पारलौकिक कृत्य (श्राद्ध-पिण्डदान आदि) कीजिये।

**श्रीरामचन्द्रजी बोले**—मैं लक्ष्मणके बिना अब घरको नहीं लौटूँगा। यदि आपलोगोंकी रुचि हो तो मेरे प्रिय पुत्र कुशको राजसिंहासनपर बिठाइये।

ऐसा कहकर श्रीरघुनाथजीने परम धाम पधारनेका विचार किया। उस समय उन्हें अपने मित्र विभीषणका स्मरण हो आया। वे सोचने लगे—'मैंने विभीषणको, जबतक सूर्य और चन्द्रमाकी सत्ता रहेगी तबतकके लिये लंकाका अक्षय राज्य दिया है। परंतु इस पृथ्वीपर पुनः वरदानसे पुष्ट हुए अतिशय क्रूर राक्षसोंका संयोग हो सकता है। अतः मैं विभीषणके समीप जाकर उसे शिक्षा दूँगा, जिससे वे देवताओंसे द्वेष न करें। इसी प्रकार महाभाग सुग्रीव नामक वानर भी मेरे परम मित्र हैं। जाम्बवान्, बालिपुत्र अंगद, पवनसुत हनुमान्, कुमुद तथा तार आदि अन्य वानर भी मेरे परम सुहृद् हैं। इन सब लोगोंसे बातचीत करके विदा लेकर मैं परम धामको जाऊँगा।' ऐसा निश्चय करके भगवान् श्रीरामने पुष्पक विमानको बुलाया और उसपर चढ़कर किष्किन्धापुरीको प्रस्थान किया। किष्किन्धानिवासी वानर पुष्पक विमानका प्रकाश देखकर श्रीरामचन्द्रजीका आगमन जान शीघ्र उनके सामने गये और दूरसे ही धरतीपर घुटने टेककर प्रणाम करके इधर-उधर बार-बार जय-जयकार करने लगे। तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीको साथ लेकर सबने सुन्दर ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित महापुरी किष्किन्धामें प्रवेश किया। इसके बाद विमानसे उतरकर श्रीरामचन्द्रजी शीघ्र ही सुग्रीवके भवनमें गये। वहाँ वानरोंने अर्घ्य आदिसे श्रीरघुनाथजीका पूजन किया और उनसे पूछा—'रघुनन्दन! घरपर कुशल तो है न? सदा आपके साथ रहनेवाले छोटे भैया लक्ष्मणजी कहाँ हैं? प्राणोंके समान प्रिया सीतादेवीजी कहाँ हैं?'

वानरोंका यह वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने जिस प्रकार सीता और लक्ष्मणजीका परित्याग हुआ था, वह सब समाचार कह सुनाया। यह सुनकर सुग्रीव आदि सब वानर अत्यन्त दुःखसे आतुर होकर फूट-फूटकर रोने लगे और श्रीरामचन्द्रजीसे इस प्रकार बोले—'राजन्! हमलोगोंसे आपका जो कार्य यहाँ सिद्ध होनेवाला हो, उसके लिये आज्ञा दीजिये। इस भूतलपर हम सभी वानर धन्य हैं, जिनके प्रति ऐसा स्नेह रखकर आप स्वयं हमारे घर पधारे हैं।'

**श्रीराम बोले**—सुग्रीव! तुम्हारे यहाँ एक रात रहकर मैं जहाँ लंकामें विभीषण हैं, वहाँ जाऊँगा। अपने प्रधान मन्त्रीसहित तुम्हें भी मेरे साथ विभीषणके घरतक चलना चाहिये।

**सूतजी कहते हैं**—इस प्रकार समस्त श्रेष्ठ वानरोंसे भक्तिपूर्वक सेवित हो श्रीरघुनाथजीने किष्किन्धापुरीमें रातभर निवास किया। फिर प्रातःकाल सूर्योदय होनेपर आवश्यक कृत्योंसे निवृत्त हो रघुनाथजी पुष्पक विमानको बुलाकर दस वानरोंके साथ उसपर आरूढ़ हुए। उन दसों वानरोंके नाम इस प्रकार हैं—सुग्रीव, सुषेण, तार, कुमुद, अंगद, कुन्दु, हनुमान्, गवाक्ष, नल तथा जाम्बवान्। तदनन्तर उस उत्तम विमानके द्वारा वे लंकापुरीकी ओर प्रस्थित हुए और जहाँ पहले राक्षसोंसे युद्ध हुआ था, उन प्रदेशोंको दिखाते हुए तत्काल ही महापुरी लंकामें जा पहुँचे। पुष्पकका प्रकाश देखते ही विभीषणजीको यह ज्ञात हो गया कि श्रीरामचन्द्रजी पधारे हैं। अतः वे प्रसन्नतापूर्वक अपने समस्त मन्त्रियों, सेवकों

और पुत्रोंके साथ उनके सामने आये और दूरसे ही जय-जयकार करते हुए उन्होंने धरतीपर लेटकर साष्टांग प्रणाम किया। विमानसे उतरकर श्रीरघुनाथजीने विभीषणको आदरपूर्वक हृदयसे लगाया और उन्हींके साथ लंकापुरीमें प्रवेश किया। फिर विभीषणके महलमें पहुँचकर वानरों-द्वारा सब ओरसे घिरे हुए श्रीरामचन्द्रजी शुभ सिंहासनपर विराजमान हुए। तत्पश्चात् विभीषणने अपना राज्य, पुत्र, कलत्र आदि समस्त वैभव श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें समर्पित कर दिया और सामने हाथ जोड़ खड़े हो इस प्रकार कहा—'प्रभो! आज्ञा दीजिये, मैं कौन-सी सेवा करूँ। भगवन्! आप अकस्मात् कैसे आ गये? आपके साथ लक्ष्मण और जानकीजी क्यों नहीं आयीं?'

**तब श्रीरामचन्द्रजीने विभीषणसे सब समाचार बताया और उनके हितके लिये इस प्रकार कहा**—राक्षसराज! इस समय मैं राज्य त्यागकर अपने परम धामको, जहाँ लक्ष्मणजी गये हैं, शीघ्र जाऊँगा। उनके बिना अब इस मर्त्यलोकमें दो घड़ी भी ठहरनेका मेरे मनमें उत्साह नहीं है। इस समय मैं तुम्हें शिक्षा देनेके लिये यहाँ उपस्थित हुआ हूँ। तुम शान्तचित्त होकर मेरी बात सुनो। यह राज्यलक्ष्मी स्वल्पबुद्धिवाले पुरुषोंके मनमें मदिराकी भाँति मद उत्पन्न कर देती है। अतः तुम्हें अपने हृदयमें इस मदको स्थान नहीं देना चाहिये। इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओंका तुम्हें आदर और पूजन करना चाहिये, जिससे तुम्हारा राज्य सदा सुस्थिर रहे और मेरा वचन भी सत्य हो। इसीलिये मैं यहाँ आया हूँ। यदि कोई मनुष्य किसी प्रकार यहाँ आ जाय तो समस्त निशाचरोंको प्रसन्न होकर उसका सत्कार ही करना चाहिये। विभीषण! तुम्हें अपने समस्त निशाचरोंको मना कर देना चाहिये कि वे मेरे सेतुका उल्लंघन करके भारतवर्षकी भूमिमें न जायँ।

**विभीषणने कहा**—प्रभो! ऐसा ही करूँगा, निःसन्देह आपकी आज्ञाका पालन किया जायगा। परंतु जब आप मर्त्यलोकको छोड़कर पधार जाते हैं, तब मैं भी यहाँ जीवित न रहूँगा। अतः मुझे भी वहीं अपने साथ ले चलिये।

**श्रीरामने कहा**—राक्षसराज! मैंने तुम्हें अविनाशी राज्य दिया है। अतः किसी प्रकार मुझे मिथ्यावादी न करो। मैं यहाँ सेतुमें कीर्तिके लिये तीन शिवलिंगोंकी स्थापना करूँगा। उन तीनोंकी तुम्हें सदैव पूजा करनी चाहिये।

विभीषणसे इस प्रकार कहकर वानरोंसहित श्रीराम दस रात्रिपर्यन्त वहीं लंकामें टिके रहे। ग्यारहवें दिन विमानपर बैठकर उन्होंने अपनी पुरीको प्रस्थान किया और विभीषण एवं वानरोंके साथ मार्गमें उतरकर आपने सेतुके आदि, मध्य और अन्तमें श्रद्धापूर्वक तीन रामेश्वरोंकी स्थापना की। तत्पश्चात् जब वे अपने घरकी ओर चले, उस समय विभीषणने बार-बार प्रणाम करके कहा—'भगवन्! इस सेतुमार्गसे कौतुकवश तथा श्रद्धासे बहुतेरे मनुष्य रामेश्वरजीका दर्शन करनेके लिये आवेंगे, राक्षसोंकी जाति अत्यन्त क्रूर मानी गयी है, मनुष्यको आते देखकर उनके मनमें उसे खा जानेकी इच्छा पैदा हो जाती है। अतः यदि कोई राक्षस किसी मनुष्यको खा लेगा तो निश्चय ही मेरे द्वारा आपकी आज्ञाका उल्लंघन हो जायगा। इसलिये आप कोई ऐसा उपाय सोचें, जिससे मुझे आज्ञाभंगका दोष न लगे।'

विभीषणका यह वचन सुनकर भगवान् श्रीरामने कहा—'बहुत अच्छा।' तत्पश्चात् उन्होंने अपना धनुष चढ़ाया और अपने तीखे बाणोंसे सेतुके दस योजन विस्तृत मध्यभागको खण्डित कर दिया। इस प्रकार सेतुमार्गसे लंकामें जाना असम्भव करके उन्होंने वानरों और राक्षसोंके साथ अयोध्यापुरीको प्रस्थान किया।

इस प्रकार अपने नगरको प्रस्थान करते समय मार्गमें आकाशके पथसे जाता हुआ पुष्पक विमान सहसा अचल हो गया। यह देख श्रीरामचन्द्रजीने हनुमान्‌जीसे कहा—'वायुनन्दन! तुम भूमिपर जाकर पता लगाओ कि क्या कारण है, जिससे पुष्पक विमान आकाशमें रुक गया?' हनुमान्‌जी

'बहुत अच्छा' कहकर शीघ्र ही धरतीपर उतरे और पुनः लौटकर भगवान्‌को प्रणाम करके बोले—'भगवन्! यहाँ नीचे परम कल्याणमय हाटकेश्वरक्षेत्र है। वहाँ संसारकी सृष्टि करनेवाले साक्षात् ब्रह्माजी विराजमान हैं। यही कारण है कि पुष्पक विमान उन्हें लाँघकर आगे नहीं बढ़ता है।' हनुमान्‌जीकी यह बात सुनकर श्रीरघुनाथजीने विमानको उस क्षेत्रमें उतरनेकी आज्ञा दी। तदनन्तर वे स्वयं विमानसे उतरे और समस्त वानरों तथा राक्षसोंके साथ उस क्षेत्रमें सब ओर घूम-घूमकर तीर्थोंका दर्शन करने लगे। वहाँपर उन्होंने अपने पितामह राजा अजके द्वारा स्थापित की हुई चामुण्डादेवीके दर्शन किये और समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले कुण्डमें स्नान करके अपने पिता राजा दशरथद्वारा स्थापित अपने स्वरूपभूत चार भुजाधारी श्रीविष्णु भगवान्‌का दर्शन किया। वहाँ राजवापीमें स्नान करके शुद्ध हो देवताओं और पितरोंका तर्पण कर उन्होंने मन-ही-मन यह विचार किया कि 'इस परम पुण्यदायक क्षेत्रमें मैं भी शिवलिंगकी स्थापना करूँ, जैसे कि पिताजीने श्रीविष्णु भगवान्‌की स्थापना की है। इसके सिवा मेरे प्रिय भाई लक्ष्मण दिव्य लोकमें चले गये हैं, अतः उनके नामसे भी एक शिवलिंगकी स्थापना करूँ। साथ ही अपनी सीतादेवीकी तथा लक्ष्मणकी भी प्रस्तरमयी प्रतिमा इस पवित्र क्षेत्रमें स्थापित करूँ।'

ऐसा विचार करके श्रीरामचन्द्रजीने पाँच मन्दिर बनवाये और उन सबमें पूर्वोक्त विग्रहोंको स्थापित किया। तत्पश्चात् सब वानरों तथा राक्षसोंने भी अपने-अपने नामसे पृथक्-पृथक् शिवलिंगोंको स्थापित किया। उसके बाद श्रेष्ठ पुष्पकविमानपर बैठकर सब-के-सब अयोध्यापुरीको गये।

**सूतजी कहते हैं**—महर्षियो! श्रीरामचन्द्रजीने जिस प्रकार उस कल्याणमय तीर्थमें रामेश्वर और लक्ष्मणेश्वर आदिकी स्थापना की, वह सब प्रसंग मैंने आपलोगोंसे कह सुनाया। जो प्रातःकाल उठकर रामेश्वर और लक्ष्मणेश्वरका दर्शन करता है, वह इस तीर्थमें सम्पूर्ण रामायणके श्रवणसे होनेवाले फलको पाता है। जो अष्टमी और चतुर्दशीको रामेश्वरजीके आगे रामचरितका पाठ करता है, वह अश्वमेध यज्ञका सम्पूर्ण फल प्राप्त करता है।

## चित्रशर्मा तथा अन्यान्य ब्राह्मणोंके द्वारा भगवान् शंकरको सन्तुष्ट करके हाटकेश्वर आदि सभी क्षेत्रोंके देवताओंकी चमत्कारपुरमें स्थापना

**सूतजी कहते हैं**—महर्षियो! पूर्वकालमें चमत्कारपुरके भीतर एक श्रेष्ठ ब्राह्मण थे, जिनका जन्म वत्सकुलमें हुआ था। उनका नाम चित्रशर्मा था। चित्रशर्मा बड़े यशस्वी थे। एक दिन उनके मनमें यह बात पैदा हुई कि 'मैं पातालसे हाटकेश्वरजीको यहाँ लाकर भक्तिपूर्वक दिन-रात उनका पूजन करूँ।' ऐसा निश्चय करके वे नियमपूर्वक रहते और नियमित भोजन करते हुए बड़ी निष्ठाके साथ तपस्या करने लगे। दीर्घकालतक तपस्या करनेके पश्चात् भगवान् शंकर प्रसन्न हुए और आदरपूर्वक बोले—'विप्रवर! तुम्हारा जो मनोरथ हो, उसके अनुसार वर माँगो।'

**चित्रशर्मा बोले**—देव! आप पातालसे हाटकेश्वरलिंगके रूपमें यहाँ पधारें।

**भगवान् शिव बोले**—द्विजश्रेष्ठ! मेरा लिंगमय विग्रह सर्वत्र अचल होता है, तुम हाटक (सुवर्ण)-के द्वारा निर्मित दूसरे शिवलिंगकी स्थापना करो। वही संसारमें हाटकेश्वरके नामसे विख्यात होगा। जो शुक्ल पक्षकी चतुर्दशीको सोमवारके दिन श्रद्धापूर्वक भक्तियुक्त चित्तसे उस लिंगकी पूजा करेगा, उसे आदिहाटकेश्वरकी पूजासे होनेवाले कल्याणमय फलकी प्राप्ति होगी। ऐसा कहकर

भगवान् शिव अन्तर्धान हो गये। चित्रशर्माने भी मनोहर मन्दिरका निर्माण करके भक्तिभावसे शास्त्रोक्त विधिके अनुसार उसमें स्वर्णमय लिंग स्थापित किया और उसीकी पूजा प्रारम्भ की। वहाँ उस लिंगकी तीनों लोकोंमें ख्याति फैल गयी। दूर-दूरसे लोग आकर उस उत्तम लिंगकी पूजा करने लगे। यह देखकर दूसरे ब्राह्मणोंने यह विचार किया कि 'हमलोग भी भगवान् सदाशिवको आराधनाद्वारा सन्तुष्ट करें। शूलपाणि शिवके अड़सठ क्षेत्र बताये गये हैं, जहाँ ये परमेश्वर तीनों कालमें निवास करते हैं। हम सब लोग प्रयत्न करें तो उन सभी क्षेत्रोंका समूह यहाँ आ जायगा।' तदनन्तर जितने श्रेष्ठ ब्राह्मण थे, उन सबने दुष्कर तपस्या प्रारम्भ की। सहस्रों वर्ष आराधना करनेपर भी जब उन्हें कोई फल नहीं प्राप्त हुआ तब वे सभी ब्राह्मण क्षुब्ध हो उठे और बोले—'हम बाल्यावस्थासे ही भगवान् शंकरजीकी आराधना करते हुए वृद्ध हो गये, परंतु हमें अबतक परमेश्वर शिवका दर्शन नहीं हुआ, इसलिये अब हम सब लोगोंको अग्निमें प्रवेश कर जाना चाहिये।' ऐसा निश्चय करके उन सबने अग्नि प्रज्वलित की और एकाग्रचित्त होकर वे पुत्रोंके साथ ज्यों ही उसमें प्रवेश करने लगे त्यों ही भगवान् शंकरने प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिया और हँसकर कहा—'द्विजवरो! ऐसा दुःसाहस न करो। तुम्हारे मनमें जो इच्छा हो उसे माँगो।'

**ब्राह्मण बोले**—सुरश्रेष्ठ! आपके जो अड़सठ क्षेत्र परम धन्य कहे जाते हैं और आदिशिवलिंगोंकी स्थितिके कारण जिन्हें परम पूजनीय माना जाता है, वे सभी क्षेत्र यहाँ प्रतिष्ठित हों।

यह सुनकर भगवान् शंकरने सोचा 'मेरे मनमें भी सदा यह कार्य करनेका विचार होता है कि मैं अपने सभी क्षेत्रोंको किसी एक स्थानपर एकत्र करूँ, क्योंकि कलिकाल बड़ा भयंकर होगा। उस समय पृथ्वीपर प्रायः जितने तीर्थ और क्षेत्र हैं, सब नष्ट हो जायँगे।' ऐसा विचारकर भगवान् शंकरने उन सभी ब्राह्मणोंसे कहा—'विप्रवरो! तुमलोग मन्दिर बनवाओ और उसमें अपने-अपने गोत्रको आगे रखकर उत्तम शिवलिंग स्थापित करो, जिससे उन शिवलिंगोंमें मैं संक्रमण कर सकूँ।' तब उन सभी ब्राह्मणोंने हर्षमें भरकर मनोहर भूमिभागोंको देखकर वहाँ कैलासशिखरके समान उच्च और दिव्य अड़सठ मन्दिर बनवाये तथा उन मन्दिरोंमें भाँति-भाँतिके उत्तम शिवलिंगोंकी स्थापना की और विभिन्न क्षेत्रोंमें जो-जो नाम प्रसिद्ध हैं उनके वही-वही नाम रखे।

इस प्रकार समस्त क्षेत्र और शिवमन्दिर वहाँ सदैव निवास करते हैं।

## अड़सठ क्षेत्रों और उनमें भी प्रधान आठ क्षेत्रोंके नाम तथा उनके कीर्तनका महत्त्व

**पार्वतीजीने भगवान् शंकरसे पूछा**—प्रभो! आप किन-किन तीर्थोंमें किन-किन नामोंसे कीर्तन करनेयोग्य हैं? यह सब पूर्णरूपसे बतावें।

**भगवान् शिवने कहा**—देवि! १ काशीमें महादेव (विश्वनाथ), २ प्रयागमें महेश्वर, ३ नैमिषारण्यमें देवदेव, ४ गयामें प्रपितामह (ब्रह्मा), ५ कुरुक्षेत्रमें स्थाणु, ६ प्रभासमें शशिशेखर, ७ पुष्करमें अजागन्धि, ८ विश्वेश्वरमें विश्व, ९ अट्टहासमें महानाद, १० महेन्द्रमें महाव्रत, ११ उज्जयिनीमें महाकाल, १२ मरुकोटमें महोत्कट, १३ शंकुकर्णमें महातेज, १४ गोकर्णमें महाबल, १५ रुद्रकोटिमें महायोग, १६ स्थलेश्वरमें महालिंग, १७ हर्षितमें हर्ष, १८ वृषभध्वजमें वृषभ, १९ केदारमें ईशान, २० मध्यमकेश्वरमें शर्व, २१ सुपर्णमें सहस्रांशु, २२ कार्तिकेश्वरमें सुसूक्ष्म, २३ वस्त्रापथमें भव, २४ कनखलमें उग्र, २५ भद्रकर्णमें शिव, २६ दण्डकमें दण्डिन्, २७ त्रिदण्डामें ऊर्ध्वरेत, २८ कृमिजांगलमें चण्डीश,

२९ एकाम्रमें कृत्तिवास, ३० छागलेयमें कपर्दी, ३१ कालिंजरमें नीलकण्ठ, ३२ मण्डलेश्वरमें श्रीकण्ठ, ३३ काश्मीरमें विजय, ३४ मरुकेश्वरमें जयन्त, ३५ हरिश्चन्द्रमें हर, ३६ पुरश्चन्द्रमें शंकर, ३७ वामेश्वरमें जटि, ३८ कुक्कुटेश्वरमें सौम्य, ३९ भस्मगात्रमें भूतेश्वर, ४० अमरकण्टकमें ॐकार, ४१ त्रिसन्ध्यामें त्र्यम्बक, ४२ विरजामें त्रिलोचन, ४३ अर्केश्वरमें दीप्त, ४४ नेपालमें पशुपति, ४५ दुष्कर्णमें यमलिंग, ४६ करवीरमें कपाली, ४७ जलेश्वरमें त्रिशूली, ४८ श्रीशैलमें त्रिपुरान्तक, ४९ अयोध्यामें नागेश्वर, ५० पातालमें हाटकेश्वर, ५१ कारोहणमें नकुलीश, ५२ देविकामें उमापति, ५३ भैरवमें भैरवाकार, ५४ पूर्वसागरमें अमर, ५५ सप्तगोदावरीतीर्थमें भीम, ५६ निर्मलेश्वरमें स्वयम्भू, ५७ कर्णिकारमें गणाध्यक्ष, ५८ कैलाशमें गणाधिप, ५९ गंगाद्वारमें हिमस्थान, ६० जललिंगमें जलप्रिय, ६१ वडवाग्निमें अनल, ६२ बदरिकाश्रममें भीम, ६३ श्रेष्ठस्थानमें कोटीश्वर, ६४ विन्ध्याचलमें वाराह, ६५ हेमकूटमें विरूपाक्ष, ६६ गन्धमादनमें भूर्भुव, ६७ लिंगेश्वरमें वरद तथा ६८ लंकामें नरान्तकका कीर्तन करना चाहिये।

देवि! इस प्रकार यहाँ अड़सठ क्षेत्रोंमें प्रसिद्ध नामोंका मैंने तुमसे वर्णन किया है। ये पढ़ने और सुननेवालोंके सब पातकोंका नाश करनेवाले हैं। अतः बुद्धिमान् पुरुषोंको विशेषतः शिवकी दीक्षा लेनेवाले पवित्रजनोंको तीनों कालोंमें इन सब नामोंका प्रयत्नपूर्वक कीर्तन करना चाहिये। जिस घरमें ये अड़सठ नाम लिखे हुए रखे रहते हैं, वहाँ भूत, प्रेत, रोग, व्याधि, सर्प, चोर तथा राजा आदिकी कभी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है।

देवि! इन सब तीर्थोंमें आठ बहुत उत्तम हैं। जिनमें स्नान करनेवाला मनुष्य सब तीर्थोंमें स्नानका फल प्राप्त करता है। नैमिषारण्य, केदार, पुष्कर, कुरुजांगल, काशी, कुरुक्षेत्र, प्रभास तथा हाटकेश्वर—इन आठ तीर्थोंमें जिसने श्रद्धापूर्वक स्नान किया है, उसने सब तीर्थोंमें स्नान कर लिया।

**पार्वतीजीने पूछा**—महादेव! कलिकालमें मनुष्य किसी प्रकार इन सब क्षेत्रोंमें स्नान करनेमें समर्थ न हो सकेंगे। अतः इन आठों तीर्थोंका भी जो सारभूत तीर्थ हो, उसका वर्णन कीजिये।

**महादेवजी बोले**—देवेश्वरि! इन आठोंमें भी सबसे उत्तम हाटकेश्वरक्षेत्र है, जहाँ मेरी आज्ञासे सब क्षेत्र निवास करते हैं। अन्य जितने तीर्थ हैं, वे भी कलिकाल आनेपर यहीं स्थित होते हैं। अतः मोक्षकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको सब प्रकारसे यत्न करके इसी क्षेत्रका सेवन करना चाहिये।

**सूतजी कहते हैं**—द्विजवरो! इस प्रकार मैंने आप लोगोंसे अड़सठ क्षेत्रोंका उनके नाम और देवताओंसहित वर्णन किया है, जैसा कि महादेवजीने पार्वतीजीसे किया था। जो श्रद्धापूर्वक इन सबके नामोंका पठन और कीर्तन करता है, वह उनमें स्नान करनेका पुण्य प्राप्त कर लेता है।

## भगवान् शिवके दिये हुए मन्त्रद्वारा नागरब्राह्मणोंपर आये हुए सर्पोंके उपद्रवका निवारण

**सूतजी कहते हैं**—कुछ कालके अनन्तर चमत्कारपुरमें मौद्गल्यवंशमें देवरात नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण हुए। उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम क्रथ रखा गया। क्रथ युवावस्थामें पहुँचनेपर बड़ा उद्दण्ड निकला, उसे अपने पुरुषार्थका सदैव बड़ा गर्व रहता था। एक समय वह वनमें घूमता हुआ श्रावण शुक्ला पंचमीको नागतीर्थमें गया। वहाँ उसने नागराजके अत्यन्त तेजस्वी पुत्र रुद्रमालको देखा, जो अपनी माताके साथ वहाँ आया था। क्रथने सर्पके उस छोटे-से

बच्चेको साधारण जलसर्प समझा और उसे डंडेसे मार डाला। मारे जाते समय उस सर्पबालकने बड़ा आर्तनाद किया—'हा माता! हा तात! मैं निरपराध मारा गया।' साँपके मुखसे मनुष्योंका-सा यह शब्द सुनकर क्रथ भयसे थर्रा उठा और शीघ्र ही घर भाग गया। तदनन्तर नागमाता जब जलाशयसे बाहर निकली, तब उसने तीरपर अपने पुत्रको मरा हुआ देखा। लाठीके प्रहारसे उसके सारे अंग फटकर लहूलुहान हो रहे थे। पुत्रकी ऐसी दशा देखकर माता मूर्च्छित हो गयी। फिर सचेत होनेपर शोकके कारण उसने बहुत देरतक विलाप किया। तदनन्तर नागिन उस मरे हुए पुत्रको लेकर नागराजके समीप गयी। वे भी अपने पुत्रको मरा हुआ देखकर शोकसे व्याकुल हो गये। उस समय नागराजके दुःखसे दुःखी हो समस्त नाग वहाँ एकत्र हो गये। सबने प्राचीन कथाओं और दृष्टान्तोंद्वारा नागराजको समझा-बुझाकर शान्त किया। तत्पश्चात् उन्होंने पुत्रका दाह-संस्कार किया, किंतु जलदानके समय समस्त नागों और सर्पोंसे कहा—'जबतक मेरे पुत्रका विनाश करनेवाले उस दुष्ट पुरुषको स्त्री, पुत्र एवं भृत्योंसहित नष्ट नहीं कर दिया जायगा, तबतक मैं अपने पुत्रको जलांजलि नहीं दूँगा।'

ऐसा कहकर नागराजने उस पापात्मा द्विजकी खोज करायी, जिसने डंडेसे उनके पुत्रका वध किया था। उसके बाद उन्होंने पार्श्ववर्ती नागोंसे कहा—'मेरे हितैषियो! तुम हाटकेश्वरक्षेत्रमें जाओ और मेरे पुत्रका नाश करनेवाले क्रथको स्त्री-पुत्र और कुटुम्बसहित शीघ्र नष्ट करके समस्त चमत्कारपुरको खा जाओ।' नागराजकी यह आज्ञा पाकर सर्पोंने पहले तो सोते समय देवरातके पुत्रको डँसा। फिर उसके समस्त परिवारको काट खाया। तदनन्तर अन्यान्य बाल, वृद्ध और कुमारोंको भी उन्होंने डँस लिया। चमत्कारपुरमें साँपोंके काटनेसे ब्राह्मणोंके घर-घर दारुण हाहाकार मच गया था। कितने ही मनुष्य घर-द्वार छोड़कर दूरस्थ जंगलोंमें भाग गये। इस प्रकार चमत्कारपुरको सर्पोंने मनुष्योंसे सूना कर दिया। तब नागराज शेषने पुत्रके मारे जानेका दुःख छोड़कर अपने पुत्रको जलदान दिया!

सर्पोंका ऐसा उत्पात होनेपर उनसे डरे हुए बहुत-से ब्राह्मण जो सब दिशाओंमें भाग गये थे, परस्पर मिलकर उस वनमें गये, जहाँ त्रिजात नामक ब्राह्मण तपस्या करता था। वह भगवान् शंकरसे वर पाकर भी बड़ी भारी तपस्यामें संलग्न था। उसने अपनी जन्मभूमिके लोगोंको रोते देख स्वयं भी दुःखका अनुभव किया और उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—'ब्राह्मणो! आज मैं भगवान् शिवसे ऐसी प्रार्थना करूँगा, जिससे उन दुष्टचित्तवाले नागोंका संहार हो जाय।' ऐसा कहकर त्रिजातने परमेश्वर शिवसे प्रार्थना की—'देव! इस समय मुझे वर दीजिये।' शिवजीने कहा—'शीघ्र माँगो।'

**तब त्रिजातने कहा**—भगवन्! नागोंने हमारे समस्त नगरको निर्जन कर दिया है। अतः उन सबका विनाश हो।

**भगवान् शिव बोले**—ब्रह्मन्! मैं तुम्हें एक सिद्ध मन्त्र बताऊँगा, जिसके उच्चारणमात्रसे सर्पोंका विष नष्ट हो जाता है। महाभाग! तुम इन सम्पूर्ण ब्राह्मणोंके साथ वहाँ जाकर उच्च स्वरसे सब ओर इस मन्त्रको सुनाओ। इस मन्त्रको सुनकर जो नीच नाग पाताललोकमें नहीं चले जायँगे, वे विषरहित हो जायँगे। विप्रवर! गर कहते हैं विषको, जहाँ गर नहीं है, वह नगर है। तुम मेरे प्रसादसे वहाँ 'नगर'-'नगर' का उच्चारण करो। इस शब्दको सुनकर भी जो अधम नाग वहाँ ठहरेंगे, वे सुखपूर्वक मारनेयोग्य हो जायँगे। आजसे वह स्थान इस पृथ्वीपर नगरके नामसे विख्यात होगा और तुम्हारी कीर्तिका विस्तार करेगा। दूसरा कोई भी शुद्ध वंशमें उत्पन्न हुआ जो नागर ब्राह्मण नगरनामक मन्त्रसे तीन बार जलको अभिमन्त्रित करके कालसर्पसे डसे हुए तथा मृत्युके वशमें पड़े हुए

मनुष्यके मुखमें स्वयं डाल देगा, वह उसे जीवित कर देगा। अन्यत्र रहनेवाला भी जो कोई मनुष्य सोते समय इस तीन अक्षरवाले मन्त्रका सदा स्मरण करेगा, वह सर्पके विषसे मुक्त होगा। अजीर्ण और ज्वरसम्बन्धी रोग भी इस मन्त्रके प्रभावसे तुरंत नष्ट हो जायँगे।

ऐसा कहकर भगवान् शिव अन्तर्धान हो गये। तत्पश्चात् त्रिजात भी मरनेसे बचे हुए ब्राह्मणोंके साथ चमत्कारपुरमें गया। वहाँ सबने 'नगरम्' 'नगरम्' का उच्चारण करते हुए उस क्षेत्रमें प्रवेश किया, जो घोर एवं क्रूर सर्पोंसे व्याप्त हो रहा था। भगवान् शिवसे प्राप्त हुए उस सिद्ध मन्त्रको सुनकर सब सर्प विष और तेजसे रहित होकर भाग चले। कुछ तो बिमौटमें छिप गये और कितने ही पाताललोकमें भाग गये। बचे-खुचे सर्पोंको वहाँके ब्राह्मणोंने डंडोंसे मार डाला। इस प्रकार सब सर्पोंको उजाड़कर पीडारहित हुए ब्राह्मणोंने त्रिजातको आगे रखकर स्थानीय सब आवश्यक कृत्योंको पूर्ण किया। ब्रह्मर्षियो! इस तरह देवाधिदेव भगवान् शिवकी दयासे कालान्तरमें वह नगर पुनः बसा और 'नगर' नामसे प्रसिद्ध हुआ।

## चमत्कारपुरमें पुनर्वास करनेवाले ब्राह्मणोंकी संख्या

**सूतजी कहते हैं**—ब्रह्मर्षियो! इस प्रकार उस स्थानका उद्धार करके त्रिजातने वहाँ देवाधिदेव भगवान् शिवके लिये एक मन्दिर बनवाया और उसमें त्रिजातेश्वर नामसे उनकी प्रतिष्ठा की। तत्पश्चात् वह श्रद्धापूर्वक दिन-रात भगवान् शिवकी आराधनामें संलग्न रहकर कुछ कालके अनन्तर शरीरसहित शिवलोकको चला गया। उपमन्यु, क्रौंच, कैशोर्य तथा त्रैवण—इन चार गोत्रोंके ब्राह्मण उस नगरमें फिर लौटकर नहीं गये। उन्हींके साथ शुक आदि गोत्र भी सर्पभयसे भाग गया था। वह भी वहाँ नहीं आया। शेष गोत्रोंके ब्राह्मण जो वहाँ रह गये थे, उनका परिचय देता हूँ। कौशिक गोत्रके छब्बीस, कश्यप गोत्रके सत्तासी, लक्ष्मण गोत्रके इक्कीस, भरद्वाज गोत्रके तीन, कुण्डन गोत्रके चौदह, रैतिक गोत्रवाले बीस, पराशर गोत्रके आठ, गर्ग गोत्रके बाईस, हारीत गोत्रके तेईस, और्वभार्गव गोत्रके पच्चीस, गौतम गोत्रके छब्बीस, दाल्भ्य गोत्रके बीस, माण्डव्य गोत्रके तेईस, बहवृच गोत्रवाले भी तेईस, सांकत्य गोत्रके दस, आंगिरस गोत्रके पाँच, अत्रि तथा शुक्लात्रेय कुलके ब्राह्मण दस-दस, वत्स गोत्रके पाँच, कुत्सगोत्रके सोलह, शाण्डिल्यभार्गवके पाँच, मुद्गल गोत्रके बीस तथा बौधायन और कौशल गोत्रके तीस-तीस ब्राह्मण वहाँ आकर बसे थे। अथर्वकुलके पचपन, मौनसके सतहत्तर, यजुर्वेदी तीस, च्यवन गोत्रके सत्ताईस, अगस्त्य गोत्रके तैंतीस, जैमिनि कुलके दस, नैवृत पचपन, पाठीन सत्तर, गोभिल और काक्व पाँच-पाँच, औशनस और दाशार्ह तीन-तीन, लोकाख्य साठ, ऐणिश, बहत्तर, कापिष्ठल, शार्कर और दत्त—ये सतहत्तर, शार्कव सौ, दार्ज्य सतहत्तर, कात्यायन, अधिष्ठ और वैदिश—ये तीन-तीन, कृष्णात्रेय पाँच, दत्तात्रेय पाँच, नारायण, शौनकेय तथा जाबाल—ये सौ-सौ, गोपाल, जामदग्न्य, शालिहोत्र, कर्णिक, भागुरायण, मातृक तथा त्रैणव आदि—ये भी सौ-सौकी संख्यामें ही क्रमशः वहाँ लौट आये। इन्हीं ब्राह्मणोंके अड़तालीस[1] संस्कार होते हैं, जो पूर्वकालमें ब्रह्माजीके द्वारा बताये गये हैं।

१. अड़तालीस संस्कारोंके नाम इस प्रकार बताये जाते हैं—१ गर्भाधान, २ पुंसवन, ३ सीमन्तोन्नयन, ४ विष्णुबलि, ५ जातकर्म, ६ नामकरण, ७ उपनिष्क्रामण, ८ अन्नप्राशन, ९ कर्णवेध, १० चौल, ११ अक्षरारम्भ, १२ उपनयन, १३ व्रत,

इस प्रकार चौंसठ गोत्रोंके श्रेष्ठ ब्राह्मण महात्मा त्रिजातद्वारा वहाँ लाये गये। वे सब मिलकर लगभग पंद्रह सौ ब्राह्मण एकत्र हुए थे। सभी वहाँ समान भागके उपभोक्ता हुए। सबकी समान स्थिति मानी गयी। क्रमशः सबका वंश बढ़ने लगा और उनके सहस्रों पुत्र, पौत्र, नप्ता, दौहित्र तथा भागिनेयोंसे पुनः सारा नगर भर गया। जो मनुष्य सदा भक्तिभावसे इस चरित्रका पाठ करता है, इस पृथ्वीपर उसकी सन्तानका कभी नाश नहीं होता।

## रैवत और क्षेमंकरीद्वारा रैवतेश्वर तथा कात्यायनीकी स्थापना

**सूतजी कहते हैं**—महर्षियो! पूर्वकालमें तक्षक नाग सौराष्ट्र देशके राजाके यहाँ पुत्ररूपमें उत्पन्न हुआ। वहाँ उसका नाम रैवत था। उन्हीं दिनों आनर्तदेशमें राजा प्रभंजन राज्य करते थे। उनका बहुत-से राजाओंके साथ वैर बँध गया था। इसलिये शत्रु उनका देश उजाड़ते और पशुओंको बलपूर्वक हर ले जाते थे। अतः उन शत्रुओंके साथ उनका सदैव युद्ध होता रहता था। उसी समय उनकी धर्मपत्नी प्रियंवदाने ऋतुस्नाता होकर गर्भधारण किया। समयानुसार कमलके समान नेत्रोंवाली एक सुन्दरी कन्या उत्पन्न हुई, जिसने रातके अन्धकारमें भी अपनी अंगकान्तिसे सूतिकागृहको प्रकाशित कर दिया था। राजा प्रभंजनने पुत्रकी ही भाँति उस कन्याके जन्मका उत्सव मनाया। सब ओर गीत और वाद्योंकी मधुर ध्वनि छा रही थी। तेरहवें दिन भूपालने ब्राह्मणोंके आगे कन्याका नामकरण-संस्कार किया। उसका नाम क्षेमंकरी हुआ। वह 'यथा नाम तथा गुण' थी। धीरे-धीरे जब कन्या बड़ी हुई, तब वैवाहिक शुभ लग्नमें राजाने सौराष्ट्रनाथ रैवतके साथ उसका विवाह कर दिया। उन दोनों नवदम्पतिसे रेवती नामवाली एक कन्या उत्पन्न हुई, जिसका विवाह बलरामरूपमें अवतीर्ण हुए नागराज शेषके साथ हुआ था। राजा रैवत और क्षेमंकरीसे प्रौढ़ा अवस्था आ जानेपर भी कोई वंशप्रवर्तक पुत्र नहीं हुआ। इसके कारण उन दोनोंके मनमें बड़ा दुःख था। वे अपना सारा राज्य मन्त्रियोंको सौंपकर पुत्रके लिये तप करनेके उद्देश्यसे तपोभूमिमें चले गये। वहाँ विन्ध्याचल पर्वतपर अपने लिये आश्रम बनाकर दोनों एकाग्रचित्तसे रहने लगे और कात्यायनी देवीकी स्थापना करके उनकी आराधनामें संलग्न हो गये। कात्यायनी देवी वही हैं, जिन्होंने कौमार-व्रत धारण करके महिषासुरका वध किया था। देवीने उन दोनोंकी आराधनासे सन्तुष्ट होकर उन्हें एक वंशवर्द्धक पुत्र प्रदान किया, जो क्षेमजितके नामसे प्रसिद्ध हुआ। पुत्र पाकर सौराष्ट्रराज रैवत अपनी राजधानीको लौट आये और उन्होंने बड़े हर्षके साथ उसका लालन-पालन किया। क्षेमजित जब युवावस्थाको प्राप्त हुआ, तब राजाने उसे अपने स्थानपर अभिषिक्त किया और स्वयं वे सब कुछ त्यागकर पत्नीके साथ हाटकेश्वरक्षेत्रमें चले आये। वहाँ उन्होंने भगवान् शंकरका मनोहर मन्दिर बनवाया और एकाग्रचित्त होकर रैवतेश्वर नामवाले शिवलिंगकी स्थापना की, जो दर्शनमात्रसे समस्त देहधारियोंके पापोंको नाश करनेवाला है। पूर्वकालमें राजा रैवतने जिन दुर्गादेवीका स्थापन किया था, उन्हींका

१४ समावर्तन, १५ विवाह, १६ उपाकर्म, १७ उत्सर्जन, १८ से २४ तक सात प्रकारके पाकयज्ञ—१ हुत, २ प्रहुत, ३ आहुत, ४ शूलगव, ५ बलिहरण, ६ प्रत्यवरोहण, ७ अष्टका होम, २५ से ३१ तक सात हविर्यज्ञसंस्था—१ अग्न्याधान, २ अग्निहोत्र, ३ दर्शपौर्णमास, ४ चातुर्मास्य, ५ आग्रयणेष्टि, ६ निरूढ पशुबन्ध, ७ सौत्रामणि, ३२ से ३८ तक सात सोमयज्ञसंस्था—१ अग्निष्टोम, २ अत्यग्निष्टोम, ३ उक्थ्य, ४ षोडशी, ५ वाजपेय, ६ अतिरात्र, ७ आप्तोर्याम, ३९ वानप्रस्थ, ४० संन्यास, ४१ दया, ४२ अनसूया, ४३ शौच, ४४ अनायास, ४५ मंगल्य, ४६ अकार्पण्य, ४७ अस्पृहा, ४८ अन्त्येष्टि।

हाटकेश्वरक्षेत्रमें उनकी धर्मपत्नी क्षेमंकरीने श्रद्धापूर्वक मन्दिर बनवाया और उसमें कात्यायनी देवीकी प्रतिष्ठा की। तबसे महिषासुरमर्दिनी कात्यायनी वहाँ क्षेमंकरीके नामसे पुकारी जाती हैं। जो मनुष्य चैत्र शुक्ला अष्टमीको उनका दर्शन करता है, उसके सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धि होती है।

## दुर्वासाके शापसे चित्रसम दैत्यका महिष होना, महिषकी तपस्या, वरदान-प्राप्ति तथा स्वर्ग-विजय, कात्यायनीके द्वारा महिषका वध

**ऋषियोंने पूछा**—सूतनन्दन! कात्यायनीदेवीने महिषासुरका अन्त किस प्रकार किया था, यह बताइये।

**सूतजी बोले**—पूर्वकालमें हिरण्याक्षका पुत्र महिष नामक दैत्य हुआ था, जिसने भैंसेका रूप धारण करके ही समस्त त्रिलोकीका शासन किया था। पहले वह बड़ा ही सुन्दर तथा तेज और वीर्यसे सम्पन्न था। उस समय लोग उसे चित्रसम कहते थे। चित्रसमको बाल्यावस्थासे ही भैंसेकी सवारीका शौक हो गया था। वह घोड़े आदि सवारियोंको छोड़कर भैंसेपर ही चढ़कर चलता था। एक दिनकी बात है दानव चित्रसम भैंसेपर आरूढ़ होकर चला और गंगाजीके तटपर जाकर जल-पक्षियोंका शिकार करने लगा। वहाँ मुनिश्रेष्ठ दुर्वासा उत्तम पद्मासन लगाकर गंगाके किनारे समाधि लगाये बैठे थे। दैत्यका चित्त जलपक्षियोंकी ओर लगा था। उसने मुनिको नहीं देखा और भैंसेको आगे बढ़ा दिया। मुनि उसके खुरोंके वेगसे कुचल गये, उनका सारा शरीर लहूलुहान हो गया। उन्होंने आँख खोलकर देखा, तो सामने एक दानव प्रणाम आदिसे रहित उद्दण्डभावसे खड़ा था। तब दुर्वासाने कुपित होकर कहा—'पापी! तुमने भैंसेके खुरोंसे मेरे शरीरको कुचल डाला और मेरी समाधि भंग कर दी, इसलिये तुम भी भैंसा हो जाओ और जबतक जिओ, प्रधानतः भैंसा बने रहो।' मुनिके इतना कहते ही वह बड़ा भारी भैंसा हो गया। तब उसने विनीत भावसे मुनिको प्रसन्न करते हुए कहा—'विप्रवर! मैं बालक हूँ, अनजानमें मुझसे आपका अपराध हो गया; उसे क्षमा करके मेरे शापका अन्त कर दीजिये।'

**मुनिने कहा**—मेरा वचन व्यर्थ नहीं हो सकता। दुर्मते! जबतक तुम्हारे प्राण रहेंगे, तबतक तो तुम इसी रूपमें रहोगे।

ऐसा कहकर दुर्वासा मुनि गंगाका किनारा छोड़कर अन्यत्र चल दिये। तब वह दैत्य भी शुक्राचार्यके पास जाकर बोला—'गुरुदेव! मुझे दुर्वासाने शाप देकर महिष बना दिया है। अब आप ही मुझे शरण दीजिये। मैं आपके प्रसादसे अपने पूर्वशरीरको पा जाऊँ और मेरी यह पशुयोनि नष्ट हो जाय। ऐसा उपाय कीजिये।'

**शुक्राचार्यने कहा**—एकमात्र भगवान् महेश्वरको छोड़कर दूसरा कोई भी ऐसा नहीं है, जो दुर्वासाके शापको पलट सके। इसलिये तुम शीघ्र ही हाटकेश्वरक्षेत्रमें जाकर वहाँके परम उत्तम शिवलिंगकी आराधना करो।

शुक्राचार्यके ऐसा कहनेपर वह दानव शीघ्र ही हाटकेश्वरक्षेत्रमें गया। वहाँ उसने भक्तिभावसे महान् शिवलिंगकी स्थापना करके कैलासशिखरके समान ऊँचा मन्दिर बनवाया और कठिन तपस्यामें तत्पर हो महादेवजीकी आराधना करने लगा। इस प्रकार उसका दीर्घकाल व्यतीत हुआ। तब महादेवजीने सन्तुष्ट होकर उसे प्रत्यक्ष दर्शन दिया और कहा—'दानव! मैं प्रसन्न हूँ, वर माँगो।'

**महिष बोला**—मुझे दुर्वासाजीने शाप देकर भैंसा बना दिया है, आपके प्रसादसे मेरी यह पशुयोनि निवृत्त हो जाय। यही प्रार्थना है।

**भगवान् शिव बोले**—दुर्वासाके वचनको अन्यथा नहीं किया जा सकता, परंतु तुम्हारे सुखका एक उपाय मैं कर दूँगा, वह यह कि जितने भी दैव, मानव तथा आसुर भोग हैं, वे सब तुम्हें इस शरीरमें प्राप्त होंगे। भोगके लिये ही देवता और असुर मानव-शरीरकी इच्छा करते हैं। तुम्हारा यही शरीर उन सब भोगोंको प्राप्त करेगा।

**महिष बोला**—देवदेवेश्वर! यदि इस प्रकार सब भोगोंकी प्राप्ति मुझे हो सकती है, तब तो मेरा यही शरीर अवध्य हो जाय। एक स्त्रीके सिवा अन्य कोई भी प्राणी मुझे मार न सके। जो कोई भी मनुष्य मेरे इस तीर्थमें स्नान करे, उसे आपका दर्शन प्राप्त हो तथा उसके सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध हो जायँ।

**भगवान् शिवने कहा**—अगहनके शुक्ल पक्षकी चतुर्दशी तिथिको तुम्हारे इस तीर्थमें स्नान करके जो मेरे उत्तम अर्चा-विग्रहका दर्शन करेगा, उसके भूत, प्रेत और पिशाच आदिसे प्राप्त होनेवाले सब प्रकारके दोष नष्ट हो जायँगे और क्षय आदि रोगोंकी भी निवृत्ति हो जायगी।

इतना कहकर देवेश्वर भगवान् शिव अन्तर्धान हो गये। तब महिष भी अपने स्थानको लौट गया और सब दानवोंको बुलाकर उनकी सभामें अमर्षयुक्त होकर बोला—'दानवो! देवताओंने श्रीविष्णुको आगे रखकर मेरे पिता, पितृव्य तथा अन्य पूर्वजोंका वध किया है। अतः मैं महायुद्धमें उन देवताओंका नाश करूँगा और उनके हाथसे त्रिलोकीका राज्य छीन लूँगा।'

**तब उन दानवोंने कहा**—आपने ठीक कहा है, हम आज ही चलकर युद्धमें देवताओंको मार भगावेंगे और स्वर्गमें दिव्य भोगोंका उपभोग करते हुए सुखसे रहेंगे।

ऐसा निश्चय करके दैत्योंने सेवक, सेना और सवारियोंके साथ मेरुशिखरपर प्रस्थान किया। इन्द्र आदि देवताओंने देखा, दैत्योंकी सेना शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित होकर सहसा युद्धके लिये आ पहुँची है। तब वे भी उसका सामना करनेके लिये नगरद्वारके बाहर निकल आये। दोनों दलोंमें गर्जन-तर्जनके साथ तीन वर्षोंतक घोर युद्ध हुआ। अन्तमें अपनी पराजय होती देख देवताओंने आपसमें यह विचार किया कि 'इस समय हम अमरावतीपुरी छोड़कर ब्रह्मलोकमें चले चलें, जहाँ दैत्योंका कोई भय नहीं है।' ऐसा निश्चय करके देवतालोग इन्द्रपुरी खाली करके रातमें ही अन्यत्र चले गये। प्रातःकाल उस पुरीको जनशून्य देखकर दैत्योंने हर्षपूर्वक उसके भीतर प्रवेश किया। तदनन्तर उन्होंने इन्द्रके स्थानपर महिषासुरको बिठाया और उसे प्रणाम करके अपनी विजयका बड़ा भारी उत्सव मनाया। महिषासुर तीनों लोकोंका राज्य करने लगा। वह त्रिलोकीमें जो कोई भी अति उत्तम सारभूत वस्तु—हाथी, घोड़े, रथ, अस्त्र-शस्त्र आदि देखता, सब स्वयं ले लेता था। इस प्रकार स्वेच्छाचारपूर्ण बर्ताव करनेवाले उस दैत्यका वध करनेके लिये सब देवता आपसमें मिलकर विचार करने लगे। इसी समय मुनिश्रेष्ठ नारदजी भी वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने महिषासुरके द्वारा जो त्रिलोकीका उत्पीडन हो रहा था, उसका तथा उस दैत्यके उग्र अनाचारपूर्ण कठोर बर्तावका देवताओंसे विस्तारपूर्वक वर्णन किया। यह सब सुनकर देवताओंका कोप बहुत बढ़ गया। उसी अवसरपर कार्तिकेयजी भी वहाँ आये और उन्होंने पूछा—'मुने! देवताओंके कोपका क्या कारण है?' इसके उत्तरमें नारदजीने महिषासुरके अत्याचारका भयंकर चित्र उपस्थित किया। इससे कार्तिकेयजीको बड़ा क्रोध हुआ। उस क्रोधकी अवस्थामें प्रत्येक देवताके मुखसे तेज प्रकट हुआ और सब मिलकर वह एक कुमारी कन्याके रूपमें परिणत हो गया। वह दिव्यतेजोमयी सर्वलक्षणसम्पन्ना कन्या देवताओंके क्रोधमें कार्तिकेयका कोप मिलनेसे प्रकट हुई थी, इसलिये उसका नाम 'कात्यायनी' हुआ। तत्पश्चात् देवराज इन्द्रने उस कन्याको वज्र प्रदान किया,

स्कन्दने अपनी तीखी एवं भयंकर शक्ति दी, भगवान् विष्णुने धनुष, महादेवजीने त्रिशूल, सूर्यने तीखे बाण, चन्द्रमाने उत्तम ढाल, निर्ऋतिने खड्ग, अग्निने उल्मुक, वायुने तीखी छुरी, कुबेरने परिघ तथा प्रेतराज यमने असुरोंके वधके लिये अपना भयंकर दण्ड प्रदान किया। इन सब अस्त्रोंको देखकर कात्यायनी देवीने अपने बारह हाथ बना लिये और उन हाथोंमें देवताओंके वे सभी उत्तम अस्त्र-शस्त्र ग्रहण कर लिये। तत्पश्चात् कात्यायनीने कहा—'देववरो! तुमने मेरी सृष्टि किसलिये की है, शीघ्र बताओ। मैं तुम्हारे सब कार्य सिद्ध करूँगी।

**देवता बोले**—इस संसारमें इस समय बड़ा भयंकर महिष नामक दानव उत्पन्न हुआ है, जो समस्त प्राणियों तथा विशेषतः मनुष्योंके लिये अवध्य है। एकमात्र स्त्रीको छोड़कर दूसरा कोई उसे मार नहीं सकता। इसीलिये हमने तुम्हें उत्पन्न किया है। अब तुम श्रेष्ठ पर्वत विन्ध्याचलपर जाओ और वहाँ उग्र तपस्या करो, जिससे तुम्हारे तेजकी वृद्धि हो। जब हम तुम्हें तेजसे सम्पन्न जान लेंगे, तब तुम्हींको आगे करके उस दुष्टात्माके साथ युद्ध करेंगे। तदनन्तर तुम्हारे बाणसे दग्ध होकर वह मृत्युको प्राप्त होगा।

**देवताओंकी यह बात सुनकर परमेश्वरी कात्यायनीने कहा**—देवताओ! आपलोग शीघ्र मुझे कोई वाहन प्रदान करें। तब भगवती पार्वतीने कात्यायनीकी सवारीके लिये सिंह दिया। देवी कात्यायनी उसी सिंहपर आरूढ़ हो विन्ध्याचल पर्वतकी ओर प्रस्थित हुईं और उसके मनोहर शिखरपर पहुँचकर व्रत-उपवासमें संलग्न हो महादेवजीका ध्यान करती हुई इन्द्रियसंयमपूर्वक तपस्यामें संलग्न हो गयीं। ज्यों-ज्यों उनके तपकी वृद्धि होती, त्यों-ही-त्यों शरीरमें रूप और कान्ति भी बढ़ती जाती थी। उस समय दैत्येश्वर महिषके सेवक वहाँ आये और अद्भुत रूप धारण करनेवाली उस व्रतपरायणा देवीको देखकर लौट गये। वहाँ उन्होंने दुष्टात्मा महिषासुरसे इस प्रकार कहा—'देव! हमने पृथ्वीपर भ्रमण करके एक अपूर्व कुमारी कन्या देखी है, जो विन्ध्याचल पर्वतपर तपस्या करती है। उसके बारह हाथ हैं और उन हाथोंमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र शोभा पा रहे हैं, उसका सौन्दर्य अद्भुत है।'

सेवकोंका यह वचन सुनकर महिषासुर तत्काल कामदेवके वशमें हो गया और बड़ी भारी सेना साथ लेकर वह उस स्थानपर गया, जहाँ वह कन्या बैठी थी। उसे देखते ही वह दानव कामबाणसे आहत हो गया और अपनी सेनाको दूर रखकर अकेला ही देवीके सामने उपस्थित हुआ। निकट पहुँचकर वह इस प्रकार बोला—'सुन्दरी! यह व्रत और तपस्या तो तुम्हारी युवावस्थाके विपरीत है। अतः यह सब छोड़कर तुम त्रिलोकके राज्यकी महारानी बनो। तुमने मेरा नाम सुना होगा—मैं दानवराज महिष हूँ, जिसने द्वन्द्वयुद्धमें इन्द्रको परास्त किया है। इस समय त्रिभुवनका राज्य मेरे अधीन है। अतः तुम मेरी प्राणवल्लभा पत्नी हो जाओ। मेरी सहस्रों भार्याएँ हैं। वे सब तुम्हारी दासियाँ हो जायँगी!'

**उसकी यह बात सुनकर परमेश्वरी कात्यायनीकी आँखें कोपसे लाल हो गयीं। उन्होंने उस दानवसे फटकारकर कहा**—पापाचारी! तुझे धिक्कार है, धिक्कार है। तू मुझ कुमारव्रत धारण करनेवाली कन्यासे इस प्रकार काम-कलुषितचित्त होकर क्यों ऐसी बात कर रहा है? मैं तेरा नाश कर डालूँगी।

**महिषासुर बोला**—सुन्दरी! तुम गान्धर्वविवाहसे मुझे आत्मदान करो।

उसकी यह बात सुनकर देवीने उसके मुँहमें एक बाण मारा। वह बाण बाँबीमें घुसनेवाले सर्पकी भाँति उसके मुँहमें समा गया। महिषासुर चीख उठा, उसके मुँहसे खूनकी धारा बहने लगी। वह देवीके पाससे लौट गया और अपने सैनिकोंसे बोला—'इस दष्टा स्त्रीको जीती-

जागती पकड़ लाओ, इसे मेरी पत्नी बनना ही होगा।' महिषासुरकी आज्ञा पाकर सब दानव बाणोंकी बौछार करते हुए देवीकी ओर दौड़े। उन्हें निकट आया देख देवीने खिलवाड़में ही महाबाणोंका प्रहार करके उन सबके मर्मस्थानोंको छेद डाला। कितने ही मृत्युको प्राप्त हो गये और बहुत-से दैत्य घायल होकर सब दिशाओंमें भाग गये। अपनी सेनाको तितर-बितर हुई देख महिषासुर क्रोधमें भरा हुआ स्वयं ही देवीकी ओर दौड़ा और उसने भयानक गर्जना की। उसे देखकर कात्यायनीने बड़े जोरसे अट्टहास किया। उस शब्दसे तीनों लोक गूँज उठे। देवीके अट्टहासयुक्त मुखसे सैकड़ों पुलिन्द, शबर, म्लेच्छ, शक और यवन आदि प्रकट हुए। तब देवीने उन्हें आज्ञा दी—'तुम सब लोग इस दुष्टात्मा महिषासुरकी सेनाके इन बलोन्मत्त दैत्योंका शीघ्र वध करो।' उनका यह आदेश सुनकर वे बलवान् और दुर्द्धर्ष वीर दैत्योंकी सेनाकी ओर दौड़े। फिर तो उनमें बड़ा भयंकर युद्ध प्रारम्भ हो गया। उस समय किसीको अपने-परायेका भान न रहा। देवीके उत्पन्न किये हुए योद्धाओंने सब दानवोंका उत्साह भंग कर दिया। कितने ही दैत्य उनके द्वारा मौतके घाट उतार दिये गये तथा कितने ही उनके भीषण प्रहारोंसे जर्जर हो गये। अपनी सेनाका पाँव उखड़ता देख महिषासुर क्रोधसे उन्मत्त हो उठा और देवीसे कठोर वाणीमें बोला—'ओ पापिनि! अबतक तुझे स्त्री समझकर मैंने युद्धमें नहीं मारा, अब तू मेरा प्रभाव देख।'

ऐसा कहकर महिषासुरने सींगोंके प्रहारसे देवीके ऊपर शिलाखण्ड फेंके और उन्हें बार-बार फटकारा। उस दैत्यको अपने पास आया देख देवी क्रोधपूर्वक आगे बढ़ीं और बड़े वेगसे उसकी पीठपर चढ़ गयीं। चढ़कर उन्होंने लातसे इतना मारा कि वह लहूलुहान हो गया और आकाशमें उछलकर जोर-जोरसे चीत्कार करने लगा। इसी बीचमें देवीकी ही ज्योतिसे प्रकट हुए सिंहने आकर तीखी दाढ़ोंके अग्रभागसे क्रोधपूर्वक उस दैत्यके पिछले अंगोंको पकड़ लिया। फिर तो देवीके पैरोंसे दबा हुआ वह दानव स्थिर हो गया, एक पग भी हिल-डुल नहीं सका। उस विवशताकी दशामें वह केवल भयंकर चीत्कार करता रहा।

इसी समय इन्द्र आदि सब देवता वहाँ आ पहुँचे और आकाशमें स्थित होकर बोले—'देवेश्वरि! इस तीखी तलवारसे शीघ्र ही इसका मस्तक काट डालो।' देवताओंका यह वचन सुनकर देवीने महिषासुरकी मोटी ग्रीवापर खड्गका प्रहार किया। उस खड्गके आघातसे दैत्यकी ग्रीवाके दो टूक हो गये। इससे देवताओंको बड़ी प्रसन्नता हुई। उस समय वह महिषरूप त्यागकर ढाल और तलवारको लिये एक तेजस्वी पुरुषके रूपमें प्रकट हो गया और देवीपर खड्गका प्रहार करना ही चाहता था कि देवीने उसकी चोटी पकड़ ली और उसके शरीरका नाश करनेके लिये तलवार उठायी। यह देख वह दुर्गादेवीकी स्तुति करने लगा।

**दानव बोला**—देवि! आपकी जय हो। अचिन्त्यशक्ते! आपकी जय हो। सब देवताओंकी स्वामिनी! आपकी जय हो। सर्वव्यापिनी देवि! आपकी जय हो। सर्वजनप्रिये! आपकी जय हो। सबका मनोरथ पूर्ण करनेवाली देवि! आपकी जय हो। त्रिभुवनसुन्दरि! आपकी जय हो। भक्तजनोंको आनन्द देनेवाली देवि! आपकी जय हो। दैत्योंका विनाश करनेवाली! आपकी जय हो। देवि! आपको कहींसे भी भय नहीं है। आप तीनों लोकोंकी रक्षाके लिये उद्यत हैं, अतः मुझपर कृपाप्रसाद कीजिये। प्राणोंकी रक्षा और दयाकी भिक्षा दीजिये। मैं आपके चरणोंकी शरणमें पड़ा हुआ अत्यन्त दीन और विनीत हूँ, मुझपर अनुग्रह कीजिये। देवि! मैं हिरण्याक्षका पुत्र चित्रसम हूँ। महर्षि दुर्वासाने शाप देकर मुझे महिष बना दिया था। आज आपने मेरा उद्धार कर दिया। साथ ही मेरा वीर्यदर्प भी गल गया। सुरेश्वरि! अब मैं आपके चरणोंका किंकर होकर

रहूँगा। सब दुष्टोंका विनाश करनेवाली सर्वव्यापिनी देवि! आपकी जय हो।

महिषासुरका यह दीन वचन सुनकर देवीको दया आ गयी। वे आकाशमें खड़े हुए देवताओंसे बोलीं—'देवगण! अब मैं क्या करूँ?' देवता बोले—'देवेश्वरि! यदि इस अधम दानवका वध नहीं करोगी, तब तो यह समस्त चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंका विनाश कर डालेगा; फिर तो तुम्हारे प्रादुर्भावके निमित्त किया हुआ हमारा सारा परिश्रम व्यर्थ होगा और तुमने भी जो यह युद्ध करनेका सारा कष्ट सहन किया है, इसका भी कोई अच्छा परिणाम नहीं निकलेगा।'

**देवीने कहा**—देवताओ! न तो मैं इसे मारूँगी और न छोड़ूँगी। सदा इसकी चोटी पकड़कर इसे अपने हाथमें ही रखूँगी।

**देवता बोले**—महाभागे! तुम्हारा कथन ठीक है, इस समय ऐसा ही करना उचित होगा। जो मनुष्य इस रूपमें स्थित हुई तुम्हारी पूजा करेगा, उसे तुम्हारा दुर्लभ दर्शन प्राप्त होगा। आजसे 'विन्ध्यवासिनीदेवी' के नामसे तुम्हारी ख्याति होगी। आश्विनमासके शुक्ल पक्षमें अष्टमी-नवमी तिथिको जो मनुष्य तुम्हारी भक्तिपूर्वक पूजा करेगा, उसे एक वर्षतक कोई रोग, भय और तिरस्कार आदिकी प्राप्ति नहीं होगी। उसके लिये अकालमृत्यु तथा चोर आदिका उपद्रव भी नहीं रहेगा।

**सूतजी कहते हैं**—देवतालोग ऐसा कहकर अपने-अपने स्थानको चले गये। इन्द्रने दीर्घकालके बाद त्रिलोकीका अकण्टक राज्य प्राप्त किया। तदनन्तर सब लोग सुखी हो गये। देवता पुनः तीनों लोकोंमें यज्ञभागके भोक्ता हुए। आनर्तदेशमें सुरथ नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। उन्होंने उत्तम भक्तिपूर्वक हाटकेश्वरक्षेत्रमें देवीकी स्थापना की है। चैत्रमासके शुक्ल पक्षकी अष्टमी तिथिको जो पुरुष उत्तम भक्तिभावसे यहाँ देवीका दर्शन करता है, वह एक वर्षतक कृतार्थ (पूर्णमनोरथ) होता है।

## केदारक्षेत्रका प्रादुर्भाव तथा वहाँ भगवान् शिवकी आराधनाका माहात्म्य

**ऋषियोंने पूछा**—सूतजी! हिमालय-प्रदेशवर्ती गंगाद्वारक्षेत्रमें 'केदार' भगवान्‌की स्थिति सुनी जाती है, सो वे वहाँ किस प्रकार प्राप्त हुए?

**सूतजीने कहा**—महर्षियो! जबतक गरमी और वर्षा रहती है, तबतक तो भगवान् शिव वहीं (हिमालय-प्रदेशके केदारक्षेत्रमें) रहते हैं; किंतु शीतकालमें हाटकेश्वरक्षेत्रमें चले आते हैं। प्राचीन कालमें स्वायम्भुव मन्वन्तरके प्रारम्भसमयकी बात है, हिरण्याक्ष नामसे प्रसिद्ध एक महातेजस्वी दैत्य था। महाबली होनेके साथ ही वह तप और पराक्रमसे भी सम्पन्न था। हिरण्याक्ष आदि दैत्योंने इन्द्रको स्वर्गसे निकाल दिया और स्वयं ही समस्त त्रिलोकीपर अधिकार जमा लिया। राज्यरहित इन्द्रने देवताओंसहित गंगाद्वारमें आकर तपस्या प्रारम्भ की। एक दिन भगवान् शिव महिषका रूप धारणकर तीव्र तपस्या करते हुए इन्द्रके सम्मुख पृथ्वीतलसे निकले और बोले—'सुरश्रेष्ठ! शीघ्र बोलो, मैं इस रूपमें सम्पूर्ण दैत्योंमेंसे किन-किनको जलमें विदीर्ण कर डालूँ (**के दारयामि**)?'

**इन्द्र बोले**—प्रभो! हिरण्याक्ष, सुबाहु, वक्त्र-कन्धर, त्रिशृंग तथा लोहिताक्ष—इन पाँचोंका वध कीजिये। इनके मरनेपर निश्चय ही सब दैत्य मरे हुएके ही तुल्य हो जायँगे; अतः अन्यान्य दीन-हीन दैत्योंका नाश करनेसे क्या लाभ है?

इन्द्रके ऐसा कहनेपर भगवान् शिव तुरंत उस स्थानपर गये, जहाँ दानव हिरण्याक्ष विद्यमान था। उस भयानक भैंसेको देखकर सब दानव सब ओरसे उसपर पत्थरों और डंडोंकी बौछार करने लगे। दैत्यों और उनके प्रहारोंकी तनिक भी

परवा न करके भगवान् शिवने चार मन्त्रियोंसहित हिरण्याक्षको खिलवाड़में ही एक गहरा धक्का दिया। तब दैत्य हथियार लेकर ज्यों ही उनके सामने दौड़ा, त्यों ही सींगसे उसको विदीर्ण करके महादेवजीने यमलोक भेज दिया। हिरण्याक्षको मारनेके बाद उन्होंने सुबाहु आदि सचिवोंको भी मृत्युके घाट उतार दिया। निशाना साधकर प्रहार करनेवाले उन दैत्योंद्वारा यत्नपूर्वक चलाया हुआ भी कोई अस्त्र-शस्त्र महादेवजीके शरीरपर नहीं लगता था। इस प्रकार उन पाँचों प्रधान दैत्योंका वध करके भगवान् शिव पुनः उसी स्थानपर लौट आये, जहाँ इन्द्र तपस्या करते थे। वहाँ आकर वे इन्द्रसे बोले—'देवराज! तुमने जिन पाँच दानवोंके वधके लिये कहा था, उन सबको मैंने मार डाला है; अब तुम पुनः त्रिलोकीका राज्य करो। देवेश! मुझसे दूसरा कोई भी मनोवांछित वर माँगना चाहो तो माँगो।'

**इन्द्र बोले**—भगवन्! आप त्रिलोकीकी रक्षा, धर्मस्थापना तथा कल्याणके लिये इसी रूपसे यहाँ निवास कीजिये।

**भगवान् शिवने कहा**—शक्र! यह रूप तो मैंने उस दैत्यका वध करनेके लिये ही धारण किया था। अब तुम्हारे अनुरोधपूर्ण वचनसे मैं त्रिभुवनकी रक्षा, धर्मकी स्थापना तथा लोक-कल्याणके लिये यहीं निवास करूँगा।

ऐसा कहकर भगवान् शिवने वहाँ एक सुन्दर कुण्ड प्रकट किया, जो शुद्ध स्फटिकमणिके समान स्वच्छ तथा दूधके सदृश सुस्वादु जलसे भरा हुआ था। तत्पश्चात् इन्द्रसे कहा—'जो कोई भी मेरा दर्शन करके पवित्र हो इस कुण्डका दर्शन करेगा तथा दायें-बायें दोनों हाथोंकी अंजलिसे तीन बार इस कुण्डका जल पीयेगा, वह तीन कुलके पितरोंको तार देगा। बायें हाथसे जल पीकर मातृपक्षका, दायें हाथसे जल ग्रहण करनेपर पिता-पितामह आदिका तथा दोनों हाथोंसे जल पीकर अपने-आपका उद्धार करेगा।'

**इन्द्र बोले**—वृषभवाहन! मैं प्रतिदिन स्वर्गसे आकर यहाँ आपकी पूजा करूँगा और इस कुण्डका जल भी पीऊँगा। आपने महिषरूपमें यहाँ आकर '**के दारयामि**—जलमें किनको विदीर्ण करूँ' ऐसा कहा था, इसलिये आप 'केदार' नामसे प्रसिद्ध होंगे।

**भगवान् शिवने कहा**—इन्द्र! यदि ऐसा करोगे तब तुम्हें दैत्योंसे भय नहीं प्राप्त होगा। तुम्हें अपने शरीरमें उत्कृष्ट तेज दिखायी देगा।

तदनन्तर इन्द्रने भगवान्के लिये सुन्दर मन्दिरका निर्माण किया, जो देखनेमें बड़ा ही सुन्दर और मनोरम था। तत्पश्चात् उन्हें प्रणाम करके उनकी अनुमति ले वे मेरुगिरिके शिखरपर विराजमान स्वर्गलोकमें चले गये। तबसे प्रतिदिन नियमपूर्वक आकर वे देवेश्वर शिवकी पूजा करते हैं और उस कुण्डका तीन बार जल पीकर स्वर्गलोकको लौट जाते हैं। एक दिनकी बात है। जब इन्द्र पूजाके लिये आये तब देखते हैं, सारा गिरिशिखर बर्फसे ढक गया है। साथ ही भगवान् केदारका अर्चा-विग्रह, उनका मन्दिर तथा वह कुण्ड—सभी हिमाच्छादित हो गये हैं। तब वे दुःखी हो भक्तिपूर्वक उस दिशाको प्रणाम करके इन्द्रलोक चले गये। इस प्रकार चार महीनेतक वे प्रतिदिन आते और शिवजीको न देखकर उस दिशाको प्रणाम करके लौट जाते रहे। फिर जब गरमीका समय आया, तब उन्हें भगवान् शिवके उस विग्रहका प्रत्यक्ष दर्शन हुआ। फिर तो उन्होंने बड़े समारोहसे चौमासेकी पूजा सम्पन्न की और उनके आगे गीत-वाद्य आदिका आयोजन किया। तब भगवान् शिवने इन्द्रको प्रत्यक्ष दर्शन देकर कहा—'देवेश! मैं तुम्हारी अनन्य भक्तिसे सन्तुष्ट हूँ, इसलिये तुम्हारे हृदयमें जो अभिलाषा हो, उसके अनुसार वर माँगो।'

**इन्द्रने कहा**—भगवन्! आपके प्रसादसे मुझे उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त है, अतः अब वैसी कोई कामना नहीं है। सुरेश्वर! यह पर्वत मीनगत सूर्य

(चैत्रमास)-से लेकर आठ मासतक बड़ा मनोरम रहता है। फिर वृश्चिककी संक्रान्तिसे लेकर कुम्भकी संक्रान्तितक यह मेरे लिये भी अगम्य हो जाता है, तब मनुष्य आदि साधारण जीवोंकी तो बात ही क्या है। अतः इन चार महीनोंतक आप इसी रूपमें कहीं अन्यत्र मर्त्यलोक या पातालमें निवास करें, जिससे मेरे द्वारा नित्यपूजनकी प्रतिज्ञामें कोई बाधा न हो।

**तब भगवान् शिव बोले**—इन्द्र! आनर्तदेशमें हमारा हाटकेश्वरक्षेत्र विद्यमान है। वहाँ मैं वृश्चिककी संक्रान्तिसे लेकर कुम्भराशिमें सूर्यके रहते समयतक सदा निवास किया करूँगा। अतः वहाँ मेरा मन्दिर बनाकर उसमें मेरे स्वरूपकी प्रतिष्ठा करके मेरी यथोचित पूजा करते रहो। तुम्हारे लिये मैं अपना तेज उस शिवलिंगमें स्थापित कर दूँगा।

**सूतजी कहते हैं**—देवाधिदेव शिवका यह वचन सुनकर इन्द्रने हाटकेश्वरक्षेत्रमें मन्दिर बनाया और उसमें शिवजीके केदारस्वरूपको स्थापित करके निर्मल जलसे भरे हुए एक कुण्डका भी निर्माण किया। फिर उस कुण्डमें स्नान करके तीन बार जल पीया। इस प्रकार इन्द्रसे आराधित होकर भगवान् केदार इस क्षेत्रमें पधारे हैं। जो मनुष्य प्रतिदिन सर्दीके चार महीनोंमें उनकी वहाँ आराधना करता है, वह उनके कल्याणमय स्वरूपको प्राप्त होता है। अन्य समयोंमें भी जो भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करता है, वह जन्मसे लेकर मृत्युतकके समस्त पापोंको धो डालता है। केदारक्षेत्रमें जल पीकर, गयातीर्थमें पितरोंको पिण्ड देकर तथा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके मनुष्यका फिर जन्म नहीं होता। ब्रह्मर्षियो! जो भगवान् केदारका यह माहात्म्य पढ़ता या सुनता है, उसके समस्त पापोंका नाश तथा पुत्र-पौत्रकी वृद्धि होती है।

## शुक्लतीर्थकी महिमा

**सूतजी कहते हैं**—ब्रह्मर्षियो! प्राचीन कालकी बात है। चमत्कारपुरमें कोई शुद्धक नामवाला धोबी रहता था। वह कपड़े धोने तथा रँगनेकी कलामें विशेष निपुण था। नगरके प्रधान-प्रधान जो ब्राह्मण थे, उनके कपड़े वही धोता था। एक समय भूलसे शुद्धकने ब्राह्मणोंके कपड़ोंको नीलके रंगसे भरे हुए पात्रमें डाल दिया। बहुत देरके बाद जब उसे इस बातका पता लगा, तब उसने अपनी स्त्री और पुत्रोंको एकान्तमें बुलाकर कहा—'मैंने महात्मा ब्राह्मणोंके बहुत-से बहुमूल्य वस्त्र अज्ञानवश नीलके रंगमें डाल दिये हैं, इस कारण वे ब्राह्मणलोग मुझे भीषण दण्ड देंगे अथवा मुझे बन्धन (कैद)-में डाल देंगे। इसलिये हम सब लोग अन्यत्र भाग चलें।'

ऐसा निश्चय करके वह घरकी सारभूत वस्तुएँ लेकर पत्नीसहित किसी अज्ञात दिशामें जानेको उद्यत हुआ। इसी समय उसकी पुत्री अपनी एक सहेली दासकन्यासे मिलने गयी और वहाँ जाकर बोली—'भद्रे! मेरे द्वारा जाने-अनजाने जो तुम्हारा अपराध हुआ हो, तुम्हारे साथ खेलकूद करते समय प्रेमसे, बचपनसे, क्रोध अथवा ईर्ष्यासे मैंने जो कभी कुछ प्रतिकूल बर्ताव किया हो, वह सब क्षमा करना।'

यह सुनकर सहसा उसके नेत्र भर आये और वह आकुल होकर पूछने लगी—'सखी! आज तुम मुझसे ऐसी बात क्यों कर रही हो?' धोबीकी कन्याने कहा—'सुनयनी! मेरे पिताने ब्राह्मणोंके बहुमूल्य वस्त्र नीलकी नादमें डाल दिये हैं, प्रातःकाल इस बातका जब उन ब्राह्मणोंको पता लगेगा, तब वे उन्हें बड़ा कठोर दण्ड देंगे। मनमें यही भय लेकर पिताजी अब यहाँसे अन्यत्र जा रहे हैं, अतः मैं तुमसे अन्तिम बार मिलने चली आयी हूँ। तुमसे आज्ञा लेकर जाऊँगी।'

**दास-कन्या बोली**—सरोजाक्षी! यदि ऐसी बात है तो तुम कहीं न जाओ। यहाँसे शीघ्र जाकर अपने पिताको रोक दो। यहाँसे पूर्व-

उत्तरके कोनेमें एक जलाशय है, उसमें किसी समय मेरे पिताने जाल डाला था। वह जाल काले केशोंका बना हुआ था, जलाशयमें डालते ही सफेद हो गया। तब कौतूहलवश मेरे पिता भी जलमें खड़े हुए। उनका शरीर काले रंगका था, जो उसी समय सफेद हो गया। केवल शरीर ही नहीं, उनके काले बाल भी सफेद हो गये। तबसे वहाँ कोई नहीं जाता है, अतः उसीमें तुम अपने कपड़े धुलवाओ। इससे सब काले कपड़े सफेद हो जायँगे। उन वस्त्रोंकी अच्छी तरह शुद्धि हो जायगी।

तदनन्तर वह रजक-कन्या शीघ्र अपने पिताके समीप गयी और इस प्रकार बोली—'पिताजी! मेरी सखीने बताया है, इधर समीप ही कोई जलाशय है, उसमें डाली हुई प्रत्येक काली वस्तु सफेद हो जाती है। अतः प्रातःकाल जलाशयमें जाकर अपने कपड़े धोइये, वे सब निश्चय ही सफेद हो जायँगे।'

**धोबीने कहा**—बेटी! प्राचीन पुरुषोंने कहा है कि वज्रके लेप, मूर्ख, स्त्री, केंकड़ा, मछली, नीलके रंग तथा मदिरा पीनेवाले मनुष्यका एक ही ग्रह (पकड़ या आग्रह) होता है। अतः नीलका रंग मिट नहीं सकता।

**कन्या बोली**—एक बार सब वस्त्रोंको लेकर चलिये तो सही, जब ये शुद्ध होंगे—कालेसे सफेद हो जायँगे, तभी हम घरको लौटेंगे, अन्यथा दूसरी दिशाको चल देंगे।

कन्याका यह वचन सुनकर उसके भाई-बन्धुओं तथा सेवकोंने एक स्वरसे कहा—'ठीक है, ठीक है।' फिर सब लोग रातमें ही जलाशयके पास गये। दास-कन्या सबके आगे होकर राह दिखाती जा रही थी। वह जलाशय नाना प्रकारकी फैली हुई लताओंसे छिपा हुआ था। मल्लाहकी पुत्रीने उसे दिखाया। तब धोबीने जलमें घुसकर उन वस्त्रोंको धोया। धोते ही वे सभी काले वस्त्र तत्क्षण स्फटिकमणिके समान स्वच्छ एवं श्वेत हो गये। इससे प्रसन्न होकर धोबीने अपनी कन्या तथा मल्लाहकी पुत्रीको साधुवाद देते हुए आदरपूर्वक कहा—'अब हम ये सभी वस्त्र उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको समर्पित कर सकते हैं।' तदनन्तर घर जाकर धोबीने बड़े हर्षके साथ वे वस्त्र ब्राह्मणोंको दिये। ब्राह्मणोंने वस्त्रके साथ ही धोबीके शरीर और केशोंको भी श्वेत हुआ देखकर पूछा—'यह क्या अद्भुत बात दिखायी देती है?'

तब धोबीने सब हाल कह सुनाया। सुनकर ब्राह्मणलोग भी उत्सुकतापूर्वक वहाँ गये। उन्होंने परीक्षाके लिये बहुत-सी काली वस्तुएँ डालीं, पर वे सभी श्वेतरूपमें परिणत हो गयीं। तब तरुण धर्मात्मा पुरुषोंने भी उस जलाशयमें स्नान किया। स्नान करते ही वे सब श्वेतवर्णके तथा तेज और वीर्यसे सम्पन्न हो गये। हाँ, उनके केश भी सफेद हुए बिना न रह सके। वहाँ स्नान करनेके प्रभावसे सब लोग परम गतिको प्राप्त होने लगे। तब इन्द्रने उस मोक्षदायक शुक्लतीर्थको देखकर उसे धूलसे पटवा दिया। आज भी वहाँ जो तृण आदि उत्पन्न होते हैं, वे शुक्लतीर्थके प्रभावसे श्वेत होते हैं। जो मनुष्य वहाँ उत्पन्न हुए कुशोंसे श्राद्ध करता है, वह समस्त पितरोंको तार देता है। जो मानव शुक्लतीर्थकी मृत्तिकाको अपने शरीरमें लगाकर स्नान करता है, वह सब तीर्थोंका फल पाता है।

# कर्णोत्पलातीर्थकी उत्पत्ति, राजा सत्यसन्ध और कर्णोत्पलाकी अद्भुत कथा

**सूतजी कहते हैं**—प्राचीन कालमें इक्ष्वाकुकुलमें सत्यसन्ध नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। उनके एक कन्या उत्पन्न हुई। बारहवें दिन राजाने मन्त्रियों और ब्राह्मणोंसे परामर्श करके उसका नामकरण किया—'मेरी इस कन्याके कान उत्पल (कमलदल)-के समान हैं, इसलिये इसका नाम 'कर्णोत्पला' रहे।' नामकरण हो जानेपर वह कन्या दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी। धीरे-धीरे वह तरुणावस्थाको प्राप्त हुई। उसे देखकर राजा यह विचार करने लगे कि 'मैं अपनी इस कन्याका विवाह किसके साथ करूँ? इसके योग्य वर तो इस पृथ्वीपर कोई है ही नहीं। इस समय मुझे क्या करना चाहिये?' इस प्रकार सोचते-विचारते हुए अन्तमें वे इस निश्चयपर पहुँचे कि 'चलकर ब्रह्माजीसे ही पूछ लेना चाहिये। वे जिसको कहेंगे, उसीके साथ कन्याका विवाह कर दूँगा।' ऐसा विचार करके कन्याको साथ ले राजा ब्रह्मलोकमें गये। जिस समय वे वहाँ पहुँचे, उस समय ब्रह्माजीके लिये सन्ध्याकाल आ पहुँचा था; अतः ब्रह्माजी सन्ध्योपासनाके लिये उत्सुक हो समाधि लगाकर बैठ गये और अपने अन्तःकरणमें अष्टदलकमलकी कर्णिकापर स्थित ज्योतिःस्वरूप ब्रह्मका साक्षात्कार करने लगे। उस समय उनके नयनोंसे अश्रु झर रहे थे और अंगोंमें रोमांच हो आया था।

सन्ध्योपासना पूर्ण करके ब्रह्माजीने आचमन किया और हाथ-पैर धोकर सब दिशाओंकी ओर दृष्टिपात किया। इसी समय राजा सत्यसन्धने पुत्रीके साथ चरणोंमें प्रणाम किया और कहा—'भगवन्! मैं मर्त्यलोकमें स्थित आनर्तदेशका राजा सत्यसन्ध हूँ और यह मेरी सुन्दरी कन्या कर्णोत्पला है। मुझे भूतलपर इसके योग्य पति कहीं नहीं मिला, अतः आपकी सेवामें आया हूँ। आप ही इसके योग्य पति बताइये, जिसके साथ मैं इसका ब्याह कर दूँ।'

**राजाकी यह बात सुनकर ब्रह्माजी मुसकराये और इस प्रकार बोले**—राजन्! तुम्हें यहाँ आये तीन युग बीत गये। तुमने पहले पृथ्वीपर जिन-जिन लोगोंको देखा था, वे सब कालके गालमें चले गये। अब पृथ्वीपर दूसरी ही सृष्टि है। अब तो तुम अपनी कन्याके साथ यहीं रहो। भूलोकमें तुम्हारे जो पुत्र, पौत्र, भाई, बन्धु, सेवक आदि थे, उन सबकी मृत्यु हो चुकी है।

'जो आज्ञा' कहकर राजा वहीं ठहर गये। यह देख उनकी पुत्रीने रोते हुए कहा—'पिताजी! मैं तो वहीं जाऊँगी, जहाँ मेरी माता हैं, सखियाँ हैं, अतः शीघ्र वहीं चलिये।' पुत्रीकी यह बात सुनकर नृपश्रेष्ठ सत्यसन्ध स्नेहार्द्रचित्त हो उसे साथ लेकर अपने देशको लौटे। वहाँ देखते हैं तो जहाँ पहले स्थल था, वहीं अब जलाशय लहराते हैं और जहाँ जल था, उस स्थानमें दुर्गम स्थल प्रदेश दिखायी देते हैं। उस देशमें और ही लोग थे तथा और ही प्रकारके धर्म प्रचलित हो गये थे। वे पूछनेपर भी किसीके साथ सम्बन्धका अनुभव नहीं कर पाते थे। मर्त्यलोककी वायुका स्पर्श होते ही वे दोनों वृद्धावस्थासे ग्रस्त हो गये। उस समय भूपालने पूछा—'यहाँका राजा कौन है, यह देश कौन है और यह नगर कौन-सा है?' तब वहाँके लोगोंने बताया—'इस देशका नाम तो 'आनर्त' है। धर्मज्ञ बृहद्बल इस देशके राजा हैं, यह प्राप्तिपुर नगर है तथा यह साभ्रमती (साबरमती) नदी बहती है। इसीका यह 'गर्ता' नामसे प्रसिद्ध तीर्थ है, जहाँ शान्त, दान्त (जितेन्द्रिय), श्रेष्ठ गुणोंमें तत्पर, तपस्यामें संलग्न, महान् सौभाग्यशाली तथा स्नान एवं जपमें लगे हुए ये मुनिलोग निवास करते हैं।'

यह सुनकर राजा सत्यसन्ध अपनी कन्याके साथ दुःख-शोकसे आतुर हो फूट-फूटकर रोने लगे। उन दोनों वृद्धोंको रोते देख दयावश वहाँ आसपासके सभी लोग एकत्र हो गये और पूछने

लगे—'बूढ़े बाबा! तुम इस वृद्धाके साथ क्यों दुःखसे पीड़ित होकर रोते हो? क्या तुम्हारी कोई प्रिय वस्तु नष्ट हो गयी है?'

**सत्यसन्धने कहा**—मैं ही पहले इस आनर्त देशका राजा था। मेरा नाम सत्यसन्ध है। यह मेरी पुत्री कर्णोत्पला है। मैं इसके विवाहके निमित्त वरका निश्चय करनेके लिये ब्रह्माजीसे पूछनेके उद्देश्यसे यहाँसे ब्रह्मलोकको गया था। वहाँ दो घड़ी मुझे ठहर जाना पड़ा था; उसके बाद लौटकर आया हूँ तो इस पृथ्वीपर सब कुछ बदला हुआ देखता हूँ।

यह सुनकर वहाँके लोगोंने राजा बृहद्बलके पास जाकर सब वृत्तान्त कहा। सुनकर राजा बृहद्बल वहाँ पैदल ही आये और उन्हें प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए बोले—'महाराज! आपका स्वागत है। मुझ सेवकके साथ अपना यह राज्य पुनः सादर ग्रहण कीजिये।'

**तब राजा सत्यसन्धने भूपाल बृहद्बलको हृदयसे लगाया और उनका मस्तक सूँघकर कहा**—वत्स! मैंने बहुत समयतक राज्य किया, नाना प्रकारके दान दिये तथा पूर्ण दक्षिणावाले अश्वमेध आदि यज्ञोंसे यज्ञपुरुषकी आराधना भी की है। अब इस पुत्रीके साथ तपस्या करूँगा, जिससे इसको पुनः पूर्ववत् तरुणावस्था प्राप्त हो जाय।

**बृहद्बल बोले**—प्रभो! मैंने परम्परासे ये सारी बातें इस प्रकार सुनी हैं—राजा सत्यसन्ध अपनी कन्याको साथ लेकर कहीं चले गये और फिर लौटकर नहीं आये। उनके मन्त्रियोंने बहुत दिनोंतक उस राज्यका पालन किया, उसके बाद उन्हींके पुत्र सुहयका उन्होंने राज्याभिषेक कर दिया। उसी महाराज सुहयकी वंशपरम्परामें मेरा जन्म हुआ है। मैं उनसे सतहत्तरवीं पीढ़ीमें हूँ। आप इसी गर्ता तीर्थमें रहकर तपस्या करें, जिससे मैं तीनों समय आपकी चरण-वन्दना करके कल्याणका भागी हो सकूँ।

**सत्यसन्धने कहा**—वत्स! पहले हाटकेश्वर-क्षेत्रमें मैंने वृषभेश्वर भगवान् शिवकी प्रतिष्ठा की थी। वह स्थान आज भी है ही। वहीं चलकर दिन-रात भगवान् शंकरकी आराधना करूँगा। तुम इस कन्याके साथ मुझे वहीं भेज दो।

तदनन्तर पुत्रीके साथ हाटकेश्वरक्षेत्रमें जाकर राजा सत्यसन्ध बहुत प्रसन्न हुए और वहाँ अद्भुत तपस्यामें संलग्न हो गये। कर्णोत्पला भी किसी पवित्र जलाशयके तटपर श्रद्धापूर्वक पार्वतीजीकी स्थापना करके वहीं तपस्या करने लगी। उसकी तपस्यासे सन्तुष्ट हो पार्वतीदेवीने प्रत्यक्ष दर्शन दिया और कहा—'बेटी! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। मनोवांछित वर माँगो।'

**कर्णोत्पला बोली**—देवि! मेरे पिताजी मेरा विवाह करनेके लिये बहुत दुःखी हैं। वे इसीके लिये राज्य, सुख और कुटुम्ब सबसे वंचित हुए और अब वैराग्यको प्राप्त हो तप करते हैं। मैं कुमारीसे सहसा वृद्ध हो गयी। अतः अब यही प्रार्थना है कि मेरा वह तारुण्य और सौन्दर्य पुनः लौट आवे तथा मुझे कोई श्रेष्ठ पति प्राप्त हो।

**देवीने कहा**—शुभे! माघमासकी तृतीयाको जब शनैश्चर दिन और धनिष्ठा नक्षत्रका योग हो, तब तुम यौवन तथा रूपका चिन्तन करती हुई इस पुण्य जलाशयमें स्नान कर लेना। इससे तुम्हारा शरीर युवावस्थासे सम्पन्न और दिव्य रूपसे सुशोभित हो जायगा। दूसरी कोई स्त्री भी, जो उस दिन इसी उद्देश्यसे यहाँ स्नान करेगी, ऐसे ही दिव्य रूपसे सुशोभित होगी।

ऐसा कहकर पार्वती देवी अन्तर्धान हो गयीं। वह योग आनेपर कर्णोत्पलाने रूप, सौभाग्य, यौवन तथा अन्य मनोरथोंका चिन्तन करके आधी रातको जलमें प्रवेश किया। स्नान करके वह दिव्य रूप और यौवनसे सम्पन्न हो जलाशयसे बाहर निकली। इसी समय उसके समीप साक्षात् कामदेव आये और बोले—'महाभागे! मैं पार्वतीजीकी आज्ञासे तुम्हारे पास आया हुआ कामदेव हूँ। तुम मेरी पत्नी बनो।'

**कर्णोत्पलाने कहा**—यदि ऐसी बात है तो आप मेरे पिताजीके पास जाकर स्वयं मेरे लिये प्रार्थना कीजिये, क्योंकि कन्याको कभी स्वच्छन्द नहीं होना चाहिये।

कामदेवने 'तथास्तु' कहकर उसकी बात मान ली। तब वह अपने पिताके पास जा उन्हें प्रणाम करके बोली—'पिताजी! मैंने पार्वतीजीकी आराधना करके सुन्दर रूप और युवावस्था प्राप्त की है, अतः अब आप मेरा विवाह करके अन्तःसुख लाभ कीजिये। देवी पार्वतीने कामदेवको मेरा पति नियत करके भेजा है।' कन्याको पूर्ववत् युवावस्थासे युक्त देख राजाने कहा—'बेटी! आज मेरी तपस्या सफल हो गयी। मैंने जीवनका फल पा लिया।' इतनेमें ही कामदेवने आकर प्रार्थना की—'राजन्! आप अपनी कन्या मुझे प्रदान करें, इसके लिये पार्वतीदेवीने स्वयं मुझे भेजा है।'

तब राजाने ब्राह्मणोंके वचनसे अग्निको साक्षी बनाकर अपनी कन्याका विवाह कामदेवके साथ कर दिया। वह रतिके बाद कामदेवकी प्रीतिका पात्र हुई, इसलिये प्रीति नामसे विख्यात हुई। जिस जलाशयपर उसने तपस्या की, वह कर्णोत्पलातीर्थके रूपमें प्रसिद्ध हुआ। जो स्त्री और पुरुष माघभर उसमें स्नान करते हैं, उन्हें प्रयागस्नानका फल मिलता है और कभी बन्धुओंके वियोगका कष्ट नहीं भोगना पड़ता।

## शाण्डिलीके उपदेशसे कात्यायनीके द्वारा पंचपिण्डा गौरीकी उपासना और पति-प्रेमकी प्राप्ति

**सूतजी कहते हैं**—याज्ञवल्क्यजीके दो स्त्रियाँ थीं, दोनों ही सब प्रकारके सद्गुणोंसे सम्पन्न थीं। उनमेंसे जो बड़ी स्त्री थी, उसका नाम मैत्रेयी था और छोटीका नाम कात्यायनी था। उन दोनोंके द्वारा निर्मित दो सुन्दर कुण्ड हाटकेश्वरक्षेत्रमें विद्यमान हैं। वहाँ स्नान करनेवाले मनुष्य महान् अभ्युदयकारी उत्तम लोकोंको जाते हैं। कात्यायनी और पतिव्रता शाण्डिलीके दो उत्तम तीर्थ और हैं, जहाँ परम वैराग्यको प्राप्त होकर आयी हुई कात्यायनीको शाण्डिली देवीने बोध कराया था। जो नारी मार्गशीर्ष शुक्ल पक्षकी तृतीयाको वहाँ एकाग्रचित्त हो स्नान करती है, वह अखण्ड सौभाग्यवती होती है। जो स्त्री दुर्भाग्ययुक्त कानी, बूढ़ी और नाटी है, वह भी उस तीर्थमें स्नान करनेके प्रभावसे अपना अभीष्ट मनोरथ प्राप्त कर लेती है।

एक दिन कात्यायनी फल लेनेके लिये अपने आश्रमसे बाहर निकली, उस समय उसने शाण्डिलीको देखा। वह पतिके पास हाथ जोड़कर विनीत भावसे झुकी हुई-सी खड़ी थी और उसके पति भी अनुरागयुक्त हृदय तथा प्रसन्नतापूर्ण दृष्टिसे उसीका मुँह निहारते हुए गुण-दोषका विवेचन कर रहे थे। उन दोनों पति-पत्नीको एक-दूसरेसे अत्यन्त प्रसन्न देखकर कात्यायनी अपने चित्तमें यह विचार करने लगी कि 'यह तपस्विनी धन्य है, जिसका पति इसके मुखकी ओर प्रेमसे देखते हुए गुण-दोषोंका विवेचन कर रहा है। पत्नीके प्रति इसके हृदयमें अत्यन्त अनुराग और स्नेह है।' यही सब सोचती हुई पतिव्रता कात्यायनी अपने आश्रममें चली गयी।

तदनन्तर एक समय जब शाण्डिलीके पति किसी कार्यसे बाहर चले गये, तब एकान्तमें बैठी हुई शाण्डिलीके पास कात्यायनी गयी और आदरपूर्वक बोली—'कल्याणी! मुझे कोई ऐसा उपदेश दो, जिससे पति स्त्रीके प्रति विशेष प्रेम रखनेवाला हो। कभी कटुवचनोंद्वारा पत्नीका अपमान न करे।'

**शाण्डिली बोली**—साध्वी! सुनो, मैं तुमसे एक रहस्यकी बात बताती हूँ। मेरे पिता मुनिवर शाण्डिल्य जब नयी अवस्थाके थे, तब कुरुक्षेत्रमें

आश्रम बनाकर रहते थे। वहीं मैं उनकी इकलौती कन्या उत्पन्न हुई। उस तपोवनमें ही मैं क्रमशः बड़ी हुई और होमके समय पिताजीकी यथायोग्य सेवा करती रही। प्रतिदिन उनके लिये नीवार आदि धान्य लाया करती थी। एक समय मेरे पिताके आश्रममें मुनिश्रेष्ठ नारदजी आये। मैंने पिताजीकी आज्ञासे उनके पैर धोकर स्नान आदि कराया और उनकी थकावट दूर की। भोजनके अन्तमें जब मुनि सुखसे विराजमान हुए, तब मेरी माताने उनसे विनयपूर्वक पूछा—'मुनिश्रेष्ठ! यह हमें एक कन्या पैदा हुई है, जो प्राणोंसे भी अधिक प्रिय है। अतः इसके लिये कोई सुखदायक पति प्राप्त हो, ऐसा उपाय बताइये। कोई व्रत, नियम, होम, मन्त्र आदि ऐसा बताइये, जिसके करनेसे इसको कोमल स्वभाववाला सद्गुणी पति प्राप्त हो, जो प्रिय बोलनेवाला तथा परस्त्रीसे विमुख रहनेवाला हो।'

**मेरी माताका यह वचन सुनकर नारदजीने कहा**—हाटकेश्वरक्षेत्रमें पंचपिण्डा गौरी हैं, जिनकी स्थापना स्वयं पार्वतीदेवीने की है। उन्हीं पंचपिण्डा गौरीकी यह एक वर्षतक प्रत्येक तृतीयाको अत्यन्त श्रद्धाके साथ पूजा-आराधना करे। इस प्रकार वर्ष समाप्त होनेपर यह यथायोग्य पति प्राप्त करेगी। ऐसा कहकर मातासे विदा ले मुनिश्रेष्ठ नारदजी प्रसन्नतापूर्वक तीर्थयात्राको चले गये। कात्यायनी! कुमारी होते हुए भी मैंने नारदजीकी आज्ञासे उत्तम पतिकी इच्छा रखकर मार्गशीर्षमाससे आरम्भ करके एक वर्षतक प्रत्येक तृतीयाको भक्तिपूर्वक पंचपिण्डा गौरीकी आराधना की और गन्ध, माल्य, अनुलेपन, भाँति-भाँतिके दान और नैवेद्य आदिके द्वारा उनका पूजन किया। उसीके प्रभावसे मुझे ये जैमिनि नामवाले श्रेष्ठ द्विज पतिरूपमें प्राप्त हुए हैं। अतः कल्याणी! तुम भी इन पंचपिण्डा गौरीकी पूजा करो। इससे तुम्हें उत्तम सौभाग्यकी प्राप्ति होगी।

शाण्डिलीका कथन सुनकर कात्यायनीने उसे प्रणाम किया और प्रसन्नतापूर्वक अपने घर लौट आयी। मार्गशीर्षमास आनेपर तृतीया तिथिको शुभ दिनमें कात्यायनीने गौरीदेवीका पूजन किया और एक वर्षतक वह इस नियमका पालन करती रही। उसने मिष्टान्न आदि सरस भोजनोंसे गौरी देवीको तृप्त किया। तदनन्तर वर्ष पूरा होनेपर उसके पति याज्ञवल्क्य स्वयं उसके पास आये और प्रेमपूर्वक बोले—'शुभे! चलो, चलो, अपने घर चलें।' ऐसा कहकर वे कात्यायनीका दाहिना हाथ पकड़कर उसे अपने घर लिवा ले गये और मैत्रेयीके साथ जैसा उनका बर्ताव था, वैसा ही बर्ताव वे कात्यायनीके साथ भी करने लगे। तत्पश्चात् कात्यायनीसे उन्होंने एक गुणवान् पुत्र उत्पन्न किया, जिसका नाम कात्यायन था। वह यज्ञविद्यामें परम निपुण था। उस कात्यायनके पुत्र वररुचि हुए, जो समस्त गुणोंके समुद्र, सर्वज्ञ एवं वेदोंके पारंगत विद्वान् हुए। उन्होंने हाटकेश्वरक्षेत्रमें विद्यार्थियोंके लाभके लिये गणेशजीकी स्थापना की है। चतुर्थी और शुक्रवारके योगमें उन गणेशजीकी विशेषरूपसे आराधना करके द्विज वेद-वेदांगोंका पारंगत विद्वान् होता है।

## वास्तुपदतीर्थ तथा अजागृहा देवीकी महिमा और एक ब्राह्मणका रोगोंसे उद्धार

**सूतजी कहते हैं**—कात्यायनने हाटकेश्वरक्षेत्रमें वास्तुपद नामक उत्तम तीर्थका निर्माण किया, जो मनुष्योंकी समस्त कामनाओंको देनेवाला है। वहाँपर अड़तालीस देवताओंकी पूजा होती है, जो पूजित होनेपर तत्क्षण सिद्धि प्रदान करते हैं। याज्ञवल्क्यके पुत्र कात्यायन तथा विश्वकर्माने वहाँ संसारके हितके लिये शालाकर्म आदि करके वास्तुपूजा की थी; इसीलिये उस क्षेत्रमें

वास्तुपद नामक तीर्थ प्रसिद्ध हुआ। उसके दर्शन करनेपर मनुष्य पापसे तथा कर्मनाशके दोषसे छूट जाता है। घरमें जो शिला, कुत्सित पद और कुवास्तुजनित दोष होते हैं, वे उस तीर्थके दर्शनसे मिट जाते हैं। वैशाख शुक्ल तृतीयाको रोहिणी नक्षत्रमें महात्मा कात्यायनने उस वास्तुपदकी प्रतिष्ठा की थी; अतः वैसा समय आनेपर जो मनुष्य उसी विधिसे वास्तुपदकी पूजा करता है, वह राजा होता है। शिल्प आदिकी दृष्टिसे दोषयुक्त और उपद्रवपूर्ण घरको पाकर भी मनुष्य यदि उस तीर्थका संयोग प्राप्त कर ले, तो उसी दिनसे उसके घरमें अभ्युदय होने लगता है।

ब्रह्मर्षियो! जिस समय सर्वलोकहितकारी राजा अजापाल राज्य करते थे, उस समय सम्पूर्ण व्याधियाँ उनके यहाँ अजा (बकरी)-के रूपमें रहती थीं। उनको अपने अधीन सुरक्षित रखनेके कारण ही वे अजापाल कहलाते थे। वे उन सब बकरियोंको रातमें ले आकर एक स्थानपर रख देते थे। अतः उन अजाओंका आश्रयस्थान अजागृहके नामसे प्रसिद्ध हुआ। हाटकेश्वरक्षेत्रमें अजागृह नामक जो तीर्थ है, वह दर्शन करनेपर भूतलके समस्त मनुष्योंके पापोंका नाश करनेवाला है। विप्रवरो! उस क्षेत्रमें एक समय कोई तपस्वी-रूपधारी ब्राह्मण आया और तीर्थयात्राके प्रसंगसे रातमें वहाँ ठहरा। उसने उस अजावृन्दको निर्भय बैठा देख यह अनुमान किया 'यहाँ निश्चय ही कोई मनुष्य रहता होगा। अन्यथा रातको इस वनमें रक्षकसे रहित पशु कैसे टिक सकते हैं। वह रक्षक कहींसे आता ही होगा, अतः मैं निर्भय होकर यहीं रहूँगा।' इस प्रकार विचारते हुए तपस्वी ब्राह्मण वहीं सो गया। सोते हुए ही उसकी सारी रात बीत गयी। सोकर उठनेपर वह बहुत थका हुआ-सा हो गया। सबेरा होनेपर जब उसने अपने शरीरकी ओर दृष्टिपात किया तो अपनेको कोढ़ आदि रोगोंसे घिरा पाया। उस स्थानसे एक पग भी कहीं अन्यत्र जानेकी शक्ति उसमें नहीं रह गयी थी। उन भयंकर रोगोंसे युक्त होकर वह सोचने लगा—'क्या कारण है कि मेरा शरीर अकस्मात् ऐसा हो गया?' इतनेमें ही वहाँ एक तेजस्वी पुरुष आये, उन्होंने उस अजायूथको भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारा और बायें हाथमें डंडा लेकर सबको चरानेके लिये ले चला। इसी समय उनकी दृष्टि भय और रोगोंसे घिरे हुए उस ब्राह्मणपर पड़ी, जो कहीं भी जानेमें असमर्थ था। तब राजाने आदरपूर्वक पूछा—'द्विजश्रेष्ठ! तुम कौन हो, जो इस दशामें इस स्थानपर आये हो। मेरे राज्यमें तो कहीं किसीके भी कोई रोग नहीं है? तुमने भी मेरा नाम सुना होगा। मैं ही राजा अज हूँ। लोगोंके हितके लिये मैं समस्त रोगोंको अजाके रूपमें एकत्र करके उनकी रखवाली करता हूँ। तुम्हारे शरीरमें जो रोग है, उसे बताओ। जिससे मैं उस रोगको भी बाँध लूँ।

**ब्राह्मणने कहा**—राजन्! मैं तीर्थयात्रामें तत्पर होकर समस्त भूमण्डलका भ्रमण करता हूँ। क्रमशः घूमता हुआ इस हाटकेश्वरक्षेत्रमें आया हूँ। इन पशुओंको देखकर यहाँ किसी मनुष्यके भी स्थित होनेकी सम्भावना करके रातमें यहीं इनके समीप सो गया था। सबेरा होनेपर जब अपने शरीरकी ओर देखता हूँ, तब यह कोढ़ आदि रोगोंसे घिरा हुआ है। नृपश्रेष्ठ! ऐसा होनेका क्या कारण है? इसे मैं ठीक-ठीक नहीं समझ सका। अब जिस प्रकार मेरा शरीर नीरोग हो, वह उपाय करो।

**तब राजा अजापालने उन रोगोंसे कहा**—किसने मेरी आज्ञा भंग की है?

**रोग बोले**—राजन्! इस कार्यमें आप हमलोगोंपर कोप न करें। इस ब्राह्मणके शरीरमें राजयक्ष्मा, कोढ़ और खुजली—इन तीन रोगोंका आवेश हुआ है। ये तीनों ही संसर्गज रोग हैं, इनमेंसे प्रथम दो रोग तो अमिट हैं। इन दोनोंके लिये ब्रह्माजीका शाप है, जिससे इनकी निवृत्ति नहीं होती। अतः इस विषयमें जो आपको उचित प्रतीत हो सो करो। इस ब्राह्मणने स्वयं ही इन तीनों अजाओं (रोगों)-का स्पर्श कर लिया था। अतः जबतक इसका शरीर रहेगा, वे दो रोग तो अवश्य बने रहेंगे।

**यह सुनकर राजा अजापाल भी वहीं ठहर**

**गये और उस ब्राह्मणसे बोले**—विप्रवर! तुम्हें भय नहीं करना चाहिये। इस भयंकर रोगसे तुम्हारी रक्षा मैं करूँगा। ऐसा कहकर राजाने बड़ी भारी तपस्या की। वे भक्तिपूर्वक दिन-रात उस क्षेत्रकी देवीकी आराधना करने लगे। मुण्ड, अथर्वशीर्ष, क्षेत्रपाल-सूक्त तथा वास्तुसूक्तके मन्त्रोंद्वारा देवीकी स्तुति करते हुए सरसों, लाल फूल, गुग्गुल और धूपकी आहुति देते थे। तत्पश्चात् नीलरुद्रका विशेषरूपसे जप करते थे। एक समय जब रात्रि व्यतीत हो रही थी, उनके होमकुण्डसे मन्त्रोंद्वारा आकृष्ट हुई उस क्षेत्रकी देवी धरती फोड़कर प्रकट हुई और बोली—'राजन्! मैं इस क्षेत्रकी अधिष्ठात्री देवी हूँ। इस होमके प्रभावसे तुमपर प्रसन्न हो पृथ्वीसे निकली हूँ। महाभाग! तुम्हारा जो कार्य हो उसे बताओ, मैं पूर्ण करूँगी।'

**राजाने कहा**—देवि! तुम सदा इसी स्थानपर निवास करो, जिससे रोगोंके संसर्गजनित दोष इस भूमिसे विदा हो जायँ तथा ये ब्राह्मणदेवता जैसे भी रोगमुक्त हों, वैसा उपाय करो।

**क्षेत्रदेवी बोली**—राजन्! इस स्थानको मैंने सब व्याधियोंके दोषोंसे रहित कर दिया। आजसे मैं सदा यहीं निवास करूँगी। इस समयसे जो भी व्याधिग्रस्त पुरुष इस स्थानपर आवेगा और भक्तिपूर्वक मेरी पूजा करेगा, वह पूर्णतः नीरोग हो जायगा। अतः आज ये द्विजश्रेष्ठ आदर और भक्तिके साथ पवित्र एवं एकाग्रचित्त होकर मेरी पूजा करें। इस क्षेत्रमें एक दूसरा प्रसिद्ध तीर्थ है—चन्द्रकूपिका। उसमें ये ब्राह्मणदेवता प्रतिदिन स्नान करें। पूर्वकालमें दक्षके शापसे क्षयरोगसे ग्रस्त हुए महात्मा चन्द्रदेवने अपने स्नानके लिये उस कूपका निर्माण किया था। इसके सिवा यहाँ 'खण्डशिला' नामसे प्रसिद्ध एक देवी रहती हैं, वहीं सौभाग्यकूपिका नामक तीर्थ है। उस कूपमें स्नान करके ये खण्डशिला देवीका दर्शन करें। पूर्वकालमें कुष्ठरोगसे पीड़ित कामदेवने अपने स्नान तथा कुष्ठरोगके निवारणके लिये उस सौभाग्यकूपिकाका निर्माण किया था। इसी प्रकार यहाँ आप्सरसकुण्ड है, जिसमें रविवारके दिन स्नान करनेसे खुजली मिट जाती है।

तदनन्तर ब्राह्मणदेवताने परम पवित्र चन्द्रकूपिकामें स्नान करके भक्तिभावसे देवीका पूजन किया। एक मासतक पूजा करनेके बाद वे राजयक्ष्मासे मुक्त हो गये। तत्पश्चात् कामदेवनिर्मित सौभाग्य-कूपिकाका दर्शन और उसमें स्नान करके वे खण्डशिला देवीका दर्शन प्रतिदिन करने लगे। एक मासतक ऐसा करनेसे उन्हें कुष्ठरोगसे भी छुटकारा मिल गया। उसके बाद रविवारको अप्सराओंके कुण्डमें स्नान करनेसे उनकी खुजली भी जाती रही। रोगमुक्त होकर ब्राह्मण अत्यन्त तेजस्वी दिखायी देने लगे। उन्होंने अत्यन्त प्रसन्न होकर राजाको आशीर्वाद दिया और उनसे विदा लेकर वे अभीष्ट स्थानको चले गये। इसके बाद राजा अज पुनः अपनी स्त्रीके साथ पाताललोकमें हाटकेश्वरजीके समीप चले गये। अजागृहमें स्थित होनेके कारण उस क्षेत्रकी देवी सब ओर अजागृहाके नामसे विख्यात हुईं। आज भी राजयक्ष्मासे ग्रस्त हुआ जो मनुष्य उसी विधिसे देवीका पूजन करता है, वह शीघ्र ही नीरोग हो जाता है।

## पतिव्रताकी शक्तिसे उसके मरे हुए पतिको पुनः नवजीवनकी प्राप्ति

**सूतजी कहते हैं**—पूर्वकालमें श्रेष्ठ नगर वर्धमानपुरमें वीरशान्त नामसे विख्यात एक ब्राह्मण रहते थे, वे वेद-विद्यामें प्रवीण थे। उनके एक कन्या उत्पन्न हुई, जो प्रमाणसे बहुत बड़ी थी। वह कुमारी धीरे-धीरे युवावस्थाको प्राप्त हुई; परंतु किसी भी पुरुषने उसका वरण नहीं किया, क्योंकि जो काममोहित पुरुष अत्यन्त थोड़े केशवाली, अत्यन्त बड़ी तथा अधिक नाटी कन्याओंसे विवाह करता है, वह छः महीनेके भीतर मृत्युको प्राप्त होता है। इसी कारण सब लोग उस कुमारीको बहुत बड़ी बताकर त्याग देते थे। इससे वैराग्यको प्राप्त होकर उस

कुमारीने घोर तपस्या की। इस प्रकार तपमें लगी हुई उस कन्याके समीप राजसम्पदा उपस्थित हुई। उस समय इन्द्रने उसे प्रत्यक्ष दर्शन देकर कहा—'शुभे! तुम कन्यावस्थामें ऋतुकालको प्राप्त हुई हो, इस कारण सदोष हो गयी हो। अतः किसी पतिका वरण करो, जिससे पवित्रताको प्राप्त होओगी।' यह सुनकर उस कन्याको बड़ी लज्जा हुई। उसने वर्धमानपुरमें जाकर हाथ उठाकर कहा—'यदि कोई कुलीन ब्राह्मण मेरा पाणिग्रहण करे, तो मेरी आधी तपस्या उसकी हो जायगी और मैं उसका कल्याण करूँगी।'

**यह सुनकर किसी कोढ़ी ब्राह्मणने उसे बुलाकर कहा**—यदि तू सदा मेरे कहे अनुसार चले, तो मैं तेरा पाणिग्रहण करके तेरे साथ विवाह करूँगा।

**कुमारी बोली**—द्विजश्रेष्ठ! तुम शास्त्रोक्त विधिसे मेरा पाणिग्रहण करो, मैं तुम्हारी प्रत्येक आज्ञाका पालन करूँगी। तदनन्तर ब्राह्मणने गृह्यसूत्रोक्त विधानसे देवता, अग्नि तथा गुरुके समीप उस कुमारीका पाणिग्रहण किया। विवाहके पश्चात् दीर्घिका ब्राह्मणी पतिसे बोली—'नाथ! आज्ञा दीजिये मैं इस समय आपकी क्या सेवा करूँ?'

**पति बोले**—सुन्दरि! मैं तुम्हारी सहायतासे अड़सठ तीर्थोंमें स्नान करना चाहता हूँ। यदि यह कार्य कर सको तो करो।

तब उस पतिव्रताने 'बहुत अच्छा' कहकर पतिकी आज्ञा शिरोधार्य की और पतिके बराबर बाँसकी एक मजबूत खाट बनाकर उसपर कोमल रूई भरा हुआ बिछावन डाल दिया और हाथ जोड़कर कहा—'प्राणनाथ! इसपर बैठिये; जिससे आपको मस्तकपर लेकर समस्त शुभ तीर्थोंकी यात्रा करा सकूँ।' तब कोढ़ी ब्राह्मण प्रसन्न हो पृथ्वीसे शनैः-शनैः उठकर बाँसके उस खटोलेपर बैठा और वह उसे माथेपर लेकर सब तीर्थोंमें घूम-घूमकर अपने पतिको तीर्थस्नान कराने लगी। क्रमशः समूची पृथ्वीपर घूमती हुई एक दिन सन्ध्या होते-होते वह हाटकेश्वरक्षेत्रमें पहुँची। उस समय वह थक गयी थी, पैर लड़खड़ा रहे थे। उसी प्रदेशमें उस दिन मुनिवर माण्डव्यको शूलीपर चढ़ाया गया था। वे अत्यन्त दुःख सहन करते हुए शूलीपर बैठे हुए थे। पतिव्रता दीर्घिका माथेपर भार लेकर उसी मार्गसे निकली। उसके धक्केसे वह शूल हिल गया और मुनिवर माण्डव्यका शरीर भी विचलित हो गया। इससे उन्हें बड़ी भारी पीड़ा हुई और वे दुःखी होकर बोले—'किस पापीने मेरे इस शूलको हिला दिया, जिससे मुझ दुःखीका दुःख और भी बढ़ गया।'

**दीर्घिका बोली**—महाभाग! मैंने आपको देखा नहीं, भूलसे आपका स्पर्श हो गया।

**माण्डव्य बोले**—निष्ठुरे! तुमने मुझे प्राणान्तकारिणी पीड़ा दी है, इसलिये तुम्हारा अभीष्ट पति सूर्यकी किरणोंका स्पर्श होते ही मेरे शापसे निश्चय ही अपने प्राणोंको त्याग देगा।

**दीर्घिका बोली**—यदि प्रातःकाल मेरे पतिकी मृत्यु होगी तो अब प्रातःकाल या सूर्योदय होगा ही नहीं।

ऐसा कहकर दीर्घिका धरतीपर बैठ गयी और बाँसके खटोलेमें बैठे पतिको उसने माथेपरसे उतार दिया। उस समय कोढ़ीने कहा—'प्रिये! मुझे प्यास लग रही है; अतः पीनेके योग्य शीतल जल ले आओ।' इतना सुनते ही वह पतिकी आज्ञाका पालन करनेके लिये उत्सुक हो पानी लानेके लिये इधर-उधर घूमने लगी, किंतु अन्धकारमें उसे कहीं भी जल नहीं दिखायी दिया। तब उसने पृथ्वीपर आघात किया और माण्डव्य मुनिके देखते-देखते निर्मल एवं स्वादिष्ट जल निकल आया। फिर परिश्रमसे कष्ट पाते हुए अपने पतिको उस जलसे स्नान कराया और उन्हें जल पिलाकर स्वयं भी पीया। उस समय पतिव्रताके भयसे सूर्यदेव उदित नहीं हुए। इससे प्रातःकाल आनेमें बहुत विलम्ब हुआ। रात्रिको बहुत बड़ी होती देख यज्ञकर्म करनेवाले शान्तचित्त ब्राह्मण बहुत दुःखी हो गये। देवता यज्ञभागसे वंचित होकर बड़े कष्टमें पड़ गये और सूर्यनारायणके

निकट जाकर बोले—'दिवाकर! आपका उदय क्यों नहीं होता? देखिये आपके बिना सम्पूर्ण जगत् व्याकुल हो रहा है।'

**सूर्यदेवने कहा**—देवताओ! मैंने पतिव्रताके आदेशसे अपना उदय रोक रखा है। अतः आप सब लोग उसके पास जाकर मेरे उदयके लिये अनुरोध करें। उसकी आज्ञा होनेपर मैं सुख-पूर्वक उदय हो जाऊँगा। एक लक्ष अश्वमेध यज्ञोंके अनुष्ठानसे जो फल प्राप्त होता है, उसीको स्त्री केवल पातिव्रत्यधर्मके पालनसे प्राप्त कर लेती है।

**यह सुनकर सब देवता उस उत्तम क्षेत्रको गये और दीर्घिकाके सम्मुख खड़े हो कोमल वचनोंमें बोले**—पतिव्रते! तुमने जो सूर्यका उदय रोक दिया, सो अच्छा नहीं किया। क्योंकि इससे पृथ्वीपर शुभ कर्मोंका अनुष्ठान रुक गया है। अतः शुभे! तुम आज्ञा दे दो, जिससे सूर्यदेव उदित हों।

**दीर्घिका बोली**—माण्डव्य मुनिने अकारण मेरे पतिको शाप दिया है। जब मेरे पति ही नहीं रहेंगे, तब मुझे सूर्योदयसे, यज्ञसे, श्राद्धसे और दान आदिसे क्या प्रयोजन है।

**तब सब देवता एक-दूसरेकी ओर देखकर दीर्घिकासे बोले**—'भद्रे! सूर्यका उदय होने दो, तुम्हारे प्रिय पतिकी भी मृत्यु हो जाय और ये मुनीश्वर माण्डव्य भी सत्यवादी हो जायँ। इसके बाद हम शीघ्र ही मृत्युके मार्गमें गये हुए तुम्हारे पतिको पुनः जीवित कर देंगे। उस समय तुम्हारे पतिकी अवस्था पच्चीस वर्षकी-सी हो जायगी और तुम बड़े सुन्दररूपमें अपने पतिका दर्शन करोगी तथा तुम भी पंद्रह वर्षकी-सी अवस्थासे युक्त एवं कमलके समान नेत्रोंवाली होकर स्वेच्छानुसार मर्त्यलोकमें सुखका उपभोग करोगी और ये पापरहित मुनिवर माण्डव्य भी शूलभेदकी पीड़ासे मुक्त होकर सुखके भागी होंगे।'

तब दीर्घिकाने 'बहुत अच्छा' कहकर देवताओंकी बात मान ली। उसके 'हाँ' कहते ही भगवान् सूर्य बड़े वेगसे उदित हुए। सूर्यकी किरणोंका स्पर्श होते ही कोढ़ी ब्राह्मणकी मृत्यु हो गयी; किंतु देवताओंके हाथोंका स्पर्श पाकर पुनः वह उठ खड़ा हुआ। उसकी अवस्था पच्चीस वर्षकी-सी दिखायी दे रही थी। जान पड़ता था, दूसरे कामदेव ही आ गये हैं। उसे अपने पूर्वजन्मकी सब बातोंका स्मरण था, अतः इस नूतन जन्मसे उसे बड़ा हर्ष हो रहा था। दीर्घिका भी भगवान् शंकरका स्पर्श पाकर दिव्य लक्षणोंसे लक्षित युवती हो गयी। उसके नेत्र कमलदलके समान शोभा पा रहे थे और मुख चन्द्रमाके समान मनोहर प्रतीत होता था। तदनन्तर देवताओंने माण्डव्य मुनिको शूलीसे उतारकर कहा—'मुने! आपने जो शाप दिया था, वह आपका वचन सत्य किया गया। सूर्यकी किरणोंके स्पर्शसे वह कोढ़ी ब्राह्मण मर गया। तत्पश्चात् पुनः हमने इस स्त्रीके साथ उसे तरुण जीवन प्रदान किया है; अतः अब आप अपने आश्रमको पधारें और हमसे वर माँगें।'

## शूलीतीर्थ और दीर्घिकातीर्थका प्राकट्य, माण्डव्य मुनिका धर्मराजको शाप देना और उनके शूलीपर चढ़नेका कारण

**माण्डव्यजीने कहा**—सुरश्रेष्ठगण! मैं आपलोगोंसे वर ग्रहण करूँगा; परंतु ये धर्मराज मेरे एक प्रश्नका निर्णय करें। संसारमें समस्त प्राणियोंके लिये सुख और दुःखके रूपमें उनके पूर्वजन्मका शुभाशुभ कर्म ही उपस्थित होता है। यह सर्वथा सत्य सिद्धान्त है। मैंने इस लोक या परलोकमें कौन-सा पातक किया है, जिससे मुझे ऐसी वेदना प्राप्त हुई और किसी प्रकार भी मृत्यु नहीं हुई।

**धर्मराजने कहा**—विप्रवर! तुमने दूसरे शरीरमें

बचपनके समय तीखे शूलके अग्रभागसे पृथ्वीके एक जीवको बींधा था। यही एक पाप तुमसे हुआ है, इसके सिवा दूसरा कोई थोड़ा-सा भी पाप नहीं दिखायी देता। इसीलिये तुम्हें इस दशामें डाला गया है।

**सूतजी कहते हैं**—धर्मराजकी यह बात सुनकर माण्डव्य मुनिको बड़ा रोष हुआ। तब माण्डव्यने अपने सामने खड़े हुए धर्मराजसे कहा—'धर्म! तुमने मेरे थोड़ेसे अपराधके लिये महान् दण्ड दिया है। अतः मेरा शाप ग्रहण करो। तुम मानव-शरीर पाकर शूद्रयोनिमें स्थित हो जाति-संहारजनित महान् दुःखका उपभोग करोगे तथा आजसे मैंने समस्त देहधारियोंके लिये व्यवस्था कर दी कि आठ वर्षसे ऊपरका मनुष्य ही अपने निन्दित कर्मके कारण दण्डका भागी होगा।' ऐसा कहकर माण्डव्य मुनि शूलीकी पीड़ासे मुक्त हो अभीष्ट दिशाकी ओर चल दिये। उन्हें जाते देख सब देवताओंने कहा—'भगवन्! धर्मराज तो केवल न्याय करते हैं, अतः आप उन्हें शापके द्वारा शूद्र न बनावें। आप इनके ऊपर कृपा-प्रसाद करें।'

**माण्डव्यने कहा**—मैंने जो बात कह दी, वह मिथ्या नहीं हो सकती। निश्चय ही ये धर्मराज शूद्रयोनिमें पड़ेंगे तथापि शूद्रयोनिमें रहते हुए भी इन्हें उत्तम ज्ञानकी प्राप्ति होगी और ये पुनः परम उत्तम धर्मराज-पदको प्राप्त कर लेंगे। इन्हें इसी क्षेत्रमें रहकर शान्तभावसे भगवान् शंकरकी आराधना करनी चाहिये। महादेवजीके प्रसादसे इन्हें शीघ्र मोक्ष प्राप्त होगा और यदि आपलोग मुझे वर देना ही चाहते हैं, तो यह शूली आज मेरे स्पर्शसे धर्मदायक तीर्थ बन जाय।

**देवता बोले**—जो प्रातःकाल उठकर इस शूलीका स्पर्श करेगा, वह इस लोकमें पातकसे मुक्त हो जायगा।

**माण्डव्य मुनिसे ऐसा कहकर इन्द्र आदि देवता पतिसहित उस पतिव्रतासे आदरपूर्वक बोले**—पतिव्रते! तुम्हारे मनमें जो इच्छा हो, उसके अनुसार वर माँगो।

**पतिव्रता बोली**—देवेश्वरो! इस स्थानमें मेरे द्वारा जो गड्ढा बनाया गया है, वह तीनों लोकोंमें दीर्घिकातीर्थके नामसे विख्यात हो।

**देवताओंने कहा**—आजसे लेकर तुम्हारे कथनानुसार यह गड्ढा तीनों लोकोंमें दीर्घिकातीर्थके नामसे विख्यात होगा। जो मनुष्य इसमें श्रद्धापूर्वक स्नान करेंगे, वे यदि अपुत्र होंगे तो पुत्रवान् हो जायँगे और अपने वंशकी वृद्धि करेंगे।

पतिव्रतासे ऐसा कहकर सब देवता स्वर्गलोकको चले गये। सुन्दरी पतिव्रता भी अपने उसी प्रियतम पतिके साथ रहकर सुख भोगने लगी। अन्तिम अवस्था आनेपर उसने हाटकेश्वरक्षेत्रमें अपने दीर्घिकातीर्थका सेवन किया। तदनन्तर कालवश अपने पतिकी मृत्यु हुई देख उसने भी शरीर त्याग दिया और पतिके साथ वह भी ब्रह्मलोकको चली गयी। इस प्रकार मैंने यह दीर्घिकातीर्थका वर्णन किया है।

**ऋषियोंने पूछा**—सूतजी! परमतपस्वी मुनिश्रेष्ठ माण्डव्यको किसने और किस कारणसे शूलीपर चढ़ाया था?

**सूतजीने कहा**—महर्षियो! पूर्वकालमें माण्डव्य मुनि बड़ी श्रद्धाके साथ तीर्थयात्रा करते हुए इस क्षेत्रमें आये थे। यहाँ विश्वामित्रसम्बन्धी पावन तीर्थमें जाकर उन्होंने पितरोंका तर्पण किया और सूर्योपस्थान करते हुए विभ्राडित्यादि सूर्यदेवतासम्बन्धी सूक्तका पाठ करने लगे। इसी समय कोई चोर किसीका धन चुराकर भागा और उसी ओर आ निकला। उस चोरका पीछा करते हुए कोई दूसरा मनुष्य भी उसके पीछे ही लगा हुआ वहाँ आया। तब चोरने मुनीश्वरको मौन देखकर वह धन उनके आगे रख दिया और स्वयं किसी गुफाके भीतर जा छिपा। इतनेमें ही उस धनको वापस लेनेके लिये बहुत-से मनुष्य वहाँ एकत्र हो गये। उन्होंने मुनिके आगे धनका वह गट्ठर देखकर पूछा—'महाभाग! इस मार्गसे कोई चोर यह धन लेकर आया है, बताइये वह किस मार्गसे निकला है?' माण्डव्यजी यह जानते हुए भी कि चोर

गुफामें छिपा है, कुछ भी नहीं बोले। मौनव्रतमें ही तत्पर रहे। बार-बार पूछे जानेपर भी जब मुनि कुछ नहीं बोले, तब सबने आपसमें सलाह करके यह निश्चय किया कि अवश्य यही चोर है। हमलोगोंको अपने पीछे लगा देखकर अब साधु बनकर बैठ गया है। वे सब-के-सब दुरात्मा आभीर थे, उन्होंने पूर्वोक्त निश्चय करनेके बाद फिर कुछ विचार नहीं किया। मुनिको तत्काल ले जाकर वनके भीतर शूलीपर चढ़ा दिया। इस प्रकार माण्डव्य मुनिको निर्दोष होते हुए भी अपने पूर्वकर्मके परिणामसे शूली प्राप्त हुई।

## अन्न और जलके दानकी महत्ता, अन्नदानके बिना वसुषेणको स्वर्गमें भी कष्ट होना तथा सत्यसेनद्वारा स्थापित मिष्टान्नद देवकी महिमा

**सूतजी कहते हैं**—महर्षियो! प्राचीन कालमें आनर्तदेशमें वसुषेण नामवाले एक राजा राज्य करते थे। वे दीर्घकालतक राज्य कर पुत्र-पौत्रका सुख देख करके समय आनेपर मृत्युको प्राप्त हुए। तदनन्तर मन्त्रियोंने उनके पुत्र सत्यसेनको राजपदपर अभिषिक्त किया। सत्यसेन शौर्य तथा उदारतासे सम्पन्न थे। राजा वसुषेणने जीवनकालमें बहुत-से दान किये थे। उस दानके ही प्रभावसे वे दिव्य वस्त्रधारी एवं दिव्यरत्नोंसे विभूषित हो श्रेष्ठ विमानपर बैठकर स्वर्गलोकमें गये। पर वहाँ जानेपर भी वे भूखकी पीड़ासे घिरे रहे। उनका चित्त प्यासके दुःखसे व्याकुल रहता था, मुँह सूखा जाता था। उन्होंने इन्द्रके निकट जाकर कहा—'सुरश्रेष्ठ! मुझे भूख-प्यास कष्ट दे रही है, इसका क्या कारण है? बताइये। शचीपते! भूखसे अत्यन्त पीड़ित रहनेवाले पुरुषको इन दिव्य आभूषणों, वस्त्रों और विमान आदिसे क्या सुख मिलता है।'

**इन्द्र बोले**—राजन्! तुमने असंख्य दान दिये हैं, परंतु कभी किसीको अन्न अथवा जल नहीं दिया है। इस कारण तुम स्वर्गमें भूखे-प्यासे रहते हो। जो इस लोक और परलोकमें सनातन तृप्तिकी इच्छा रखता हो, उसे सदा दक्षिणासहित अन्न और जलका दान करना चाहिये। अन्न और जलका दान न करनेके कारण ही तुम स्वर्गमें दिव्य आभूषणोंसे विभूषित और श्रेष्ठ विमानपर आरूढ़ होकर भी भूखसे पीड़ित हो।

**राजाने कहा**—देवराज! क्या ऐसा कोई उपाय है, जिससे ये मेरी तीव्रतम क्षुधा-पिपासा शान्त हो?

**इन्द्र बोले**—उपाय तो है, यदि तुम्हारा कोई पुत्र सदा ब्राह्मणोंके लिये अन्न और जल दे, तो तुम्हें तृप्ति प्राप्त हो सकती है; परंतु तुम्हारा पुत्र भी तुम्हारे लिये संकल्प करके ब्राह्मणोंको अन्न और जल नहीं देता है।

इन्द्र और वसुषेणमें यह बात हो ही रही थी कि वहाँ ब्रह्मलोकसे नारद मुनि आ पहुँचे। तब इन्द्रने नारदजीको विधिपूर्वक अर्घ्य प्रदान करके आदरके साथ पूछा—'विप्रवर! आप कहाँसे आये हैं और कहाँ जानेके लिये प्रस्थित हुए हैं।'

**नारदजीने कहा**—मैं ब्रह्मलोकसे आया हूँ और तीर्थयात्राके लिये भूतलपर जा रहा हूँ।

**तब राजा बोले**—मुनिश्रेष्ठ! मुझ दीनपर कृपा कीजिये। पृथ्वीपर मेरा पुत्र सत्यसेन आनर्त देशका स्वामी है। उससे कहियेगा, 'मैंने तुम्हारे पिताको इन्द्रके लोकमें देखा है, उनका शरीर भूख-प्याससे पीड़ित है और देवताओंमें रहकर भी उनका चित्त अत्यन्त दीन एवं दुःखी है। इसलिये यदि तुम मेरे पुत्र हो और सत्यकी रक्षा करते हो, तो प्रतिदिन ब्राह्मणोंको मिष्टान्न, धान और जलदान करते रहो।'

'तथास्तु' कहकर मुनिश्रेष्ठ नारदजीने राजाका सन्देश सुनानेकी प्रतिज्ञा की और इन्द्रसे विदा लेकर वे भूलोककी ओर चल पड़े। वहाँ क्रमशः अनेक तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए आनर्तदेशमें गये

और सत्यसेनसे मिले। राजा सत्यसेनने नारदजीका पूजन किया। तत्पश्चात् मुनिने एकान्तमें आदरपूर्वक उनको पिताका सन्देश सुनाया। यह बात सुनकर सत्यसेनने विधिपूर्वक नारदजीकी पूजा करके उन्हें विदा किया और पिताके उद्देश्यसे प्रतिदिन सहस्रों ब्राह्मणोंको भक्तिपूर्वक मिष्टान्न भोजन कराया। धर्मसम्बन्धी अन्य समस्त कार्योंको छोड़कर ग्रीष्मकालमें विशेषरूपसे पौंसला (प्याऊ) चलानेकी व्यवस्था की। इस प्रकार अन्न और जलके दानमें लगे हुए राजा सत्यसेनके राज्यमें भयंकर अनावृष्टि हुई, जो समस्त अन्न एवं खेती आदिको नष्ट कर देनेवाली थी। इन्द्रने बारह वर्षोंतक पृथ्वीपर जल नहीं बरसाया। इससे सब लोग क्षुधाके कष्टसे व्याकुल हो गये। उस समय राजा सत्यसेन पहलेकी भाँति ब्राह्मणोंको अन्नदान न कर सके। तब उनके पिता स्वप्नमें दर्शन देकर बोले—'तुम पुत्रके रहते हुए मैं स्वर्गमें स्थित होकर भी भूख-प्याससे व्याकुल हूँ, अतः तुम अन्न दो, मिष्टान्न और जलका दान करो।'

यह स्वप्न देखनेसे राजाको बड़ा शोक हुआ। अन्नके अभावके सम्बन्धमें उन्होंने मन्त्रियोंके साथ बैठकर सलाह की और कहा—'मैं अनाजके लिये भगवान् शंकरकी आराधना करूँगा। आपलोग सदा राज्यकी रक्षा करते रहें।' तब उन्होंने हाटकेश्वरक्षेत्रमें आकर भगवान् शंकरकी स्थापना की और यम-नियमसे रहते हुए वे उनकी भलीभाँति आराधना करने लगे। एक वर्ष पूर्ण होनेपर भगवान् शिव सन्तुष्ट हुए और राजासे इस प्रकार बोले—'तुम इच्छानुसार वर माँगो।'

**राजाने कहा**—देवदेवेश्वर! मैंने अन्नकी प्राप्तिके लिये आपकी आराधना की है, अतः आप मुझे शीघ्र ही असंख्य अन्न प्रदान करें। पृथ्वीपर वर्षा हो, जिससे अनाज उत्पन्न हो और जल भी प्रचुर मात्रामें मिल सके। स्वर्गमें रहनेवाले मेरे महात्मा पिताको भी आपके प्रसादसे तृप्ति प्राप्त हो।

**श्रीभगवान् बोले**—राजेन्द्र! समस्त पृथ्वीपर शीघ्र ही वृष्टि होगी और पृथ्वीपर सब प्रकारके अन्न होंगे। इस समय तुम अपने घर जाओ। राजन्! तुमने यहाँ जो मेरे लिंगकी प्रतिष्ठा की है, इसका जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर दर्शन करेगा, उसे मनोवांछित वस्तुकी प्राप्ति होगी।

ऐसा कहकर भगवान् शिव अन्तर्धान हो गये। तत्पश्चात् राजा सत्यसेन बड़े हर्षसे अपने निवासस्थानपर आये और पृथ्वीका अकण्टक राज्य करने लगे।

**सूतजी कहते हैं**—आज भी भयंकर कलिकाल प्राप्त होनेपर जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर भक्तिपूर्वक मिष्टान्नद शिवका दर्शन करता है, वह यदि चाहे तो उसे मिष्टान्नकी प्राप्ति होती है और जो निष्कामभावसे उनका दर्शन करता है, वह देवाधिदेव शूलपाणि महादेवजीके लोकको प्राप्त होता है।

## अदितिदेवीद्वारा आराधित अमरेश्वर लिंगकी महिमा

**ऋषियोंने पूछा**—सूतजी! अमरत्व प्रदान करनेवाले जो अमरेश्वर महादेव बताये गये हैं, उनकी स्थापना किसने की है और उनका प्रभाव क्या है?

**सूतजी बोले**—पूर्वकालमें प्रजापति दक्षकी दो कन्याएँ दिति और अदिति महात्मा कश्यपजीके साथ ब्याही गयी थीं। अदितिसे देवताओंकी उत्पत्ति हुई और दितिसे दैत्योंकी। उनमें बड़ा भारी वैर उपस्थित हुआ। दैत्योंने देवताओंको पदभ्रष्ट कर दिया और वे सब सम्पूर्ण दिशाओंमें इधर-उधर भाग गये। तब देवमाता अदिति भगवान् शंकरके ध्यानमें तत्पर हो दिन-रात तपस्या करने लगीं। इस प्रकार व्रतमें स्थित हुई अदिति देवीके आगे धरती फोड़कर एक शिवलिंग प्रकट हुआ। इससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और अनेक प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा उसकी स्तुति करके

उन्होंने साष्टांग प्रणाम किया। इसी समय आकाशवाणी हुई—'कल्याणी! तुम मनोवांछित वर माँगो।'

**अदिति बोलीं**—सुरश्रेष्ठ! मेरे पुत्र देवता युद्धमें दैत्योंद्वारा मारे जाते हैं। अतः आप उन्हें अमर बना दें। युद्धमें दानवोंके द्वारा उन्हें अवध्य कर दें।

**श्रीभगवान् बोले**—शुभे! जो मेरे इस लिंगमय विग्रहका स्पर्श करके युद्धमें जायँगे, वे एक वर्षतक शत्रुओंके द्वारा अवध्य रहेंगे। दूसरे भी जो मनुष्य माघकृष्णा चतुर्दशी (फाल्गुनकी शिवरात्रि)-को एकाग्रचित्त हो यहाँ जागरण करेंगे, वे भी एक वर्षतक नीरोग रहेंगे। जो इस शुभ देवस्थानमें आयगा, उसे मृत्यु दूरसे ही छोड़ देगी।

यह सुनकर अदितिने मरनेसे बचे हुए अपने पुत्रोंको लाकर इस शिवलिंगका दर्शन कराया और उसके माहात्म्यका भी वर्णन किया। तब देवता उस शिवलिंगको प्रणाम करके प्रसन्न हो अस्त्र-शस्त्र ले-लेकर दैत्योंपर चढ़ आये। देवताओंको सहसा युद्धके लिये आया देख दैत्य भी गर्जना करते हुए उनके सामने गये। उस समय देवताओंका दानवोंके साथ भयंकर युद्ध हुआ। उस संग्राममें अनेक प्रकारके तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा देवताओंने असंख्य दैत्योंको यमलोक पहुँचाया। जो मारनेसे बच गये, वे स्वर्ग छोड़कर समुद्रमें जा छिपे। तदनन्तर इन्द्रने अपना राज्य प्राप्त किया। शेष दानवोंने उस शिवलिंगकी महिमाका पता पाकर शुक्रजीसे पूछा। तब शुक्राचार्यने उन्हें सब माहात्म्य बताया—'फाल्गुनकी शिवरात्रिको पवित्र होकर जो पुरुष उस शिवलिंगकी पूजा करता है, वह काल आ जानेपर भी प्राण-त्याग नहीं करता। दानवो! तुमलोग उस दिन रातमें जाकर उस शिवलिंगकी पूजा करो, जिससे तुम एक वर्षतक मृत्युके भयसे रहित हो जाओगे।'

इन्द्रको नारदजीसे दैत्योंकी यह मन्त्रणा ज्ञात हो गयी। तब उन्होंने सब देवताओंके साथ विचार किया कि 'जैसे भी हो सके, हमें महादेवजीकी रक्षाके लिये उत्तम-से-उत्तम उद्योग करना चाहिये।' ऐसा निश्चय करके तैंतीस कोटि देवता अस्त्र-शस्त्रोंके साथ उस शिवलिंगकी रक्षाके लिये हाटकेश्वरक्षेत्रमें आकर स्थित हुए। उन्हें देखकर दानव भयभीत होकर सब दिशाओंमें भाग गये। शिवरात्रिके दूसरे दिन पुनः सब देवताओंने आपसमें विचार किया कि 'यदि हमलोग इस क्षेत्रको छोड़कर जायँगे, तो दैत्य यहाँ आकर इस शिवलिंगकी पूजा करेंगे और वे भी हमारी ही भाँति अवध्य हो जायँगे। इसलिये हम तैंतीस देवता इस शिवलिंगकी रक्षाके लिये यहीं टिके रहें और शेष देवता इन्द्रके साथ स्वर्गमें जायँ।' ऐसा निश्चय करके आठ वसु, बारह सूर्य, ग्यारह रुद्र तथा दो अश्विनीकुमार—ये तैंतीस देवता उस शिव-लिंगकी रक्षाके लिये हाटकेश्वरक्षेत्रमें निवास करने लगे। शेष सब लोग इन्द्रसहित स्वर्गमें चले गये।

**सूतजी कहते हैं**—इस प्रकार प्रभावशाली अमरेश्वरलिंग पूर्वकालमें अदितिदेवीके द्वारा स्थापित हुआ था। जिसके दर्शनमात्रसे देहधारियोंकी (एक वर्षतक) मृत्यु नहीं होती है। मृत्युका निवारण करनेके कारण ही वह अमरलिंगके नामसे तीनों लोकोंमें विख्यात है। उस शिवलिंगके आगे स्वच्छ जलसे भरा हुआ एक उत्तम कुण्ड है, जिसे अदितिदेवीने अपने स्नानके लिये निर्माण कराया था। जो मनुष्य उसमें स्नान करके उस शिवलिंगका दर्शन करता है तथा उसी दिन रातमें वहाँ जागरण करता है, वह एक वर्षतक अपमृत्युको नहीं प्राप्त होता।

# शुकदेवजीका जन्म, वैराग्य, व्यासजीके साथ उनका संवाद और वनगमन

**सूतजी कहते हैं**—वहींपर चटकेश्वर नामक महादेवजी हैं, जो मनुष्योंको पुत्र प्रदान करनेवाले हैं। पूर्वकालमें चेटिकाने वहाँ तप किया था, उसने व्याससे कपिंजल नामक पुत्र पाया था। एक समयकी बात है, शान्तचित्त महात्मा व्यासजीके मनमें पत्नीके लिये अभिलाषा हुई। तब उन्होंने जाबालि मुनिसे उनकी सुन्दरी कन्या माँगी। जाबालिने चेटिका नामकी कन्या व्यासजीके साथ ब्याह दी। तब व्यासजी उसके साथ वनमें रहते हुए मैथुनमें प्रवृत्त हुए। ऋतुकालमें सत्यवतीनन्दन व्याससे मैथुन प्राप्त करके चेटिका गर्भवती हुई। उसका दूसरा नाम पिंगला भी था। उसके उदरमें वह गर्भ दिन-दिन पुष्ट होने लगा। बारह वर्ष बीत गये, किंतु वह गर्भ उत्पन्न नहीं हुआ। वह भीतर ही रहकर जो कुछ सुनता उसे याद कर लेता था, उसकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी। उसने गर्भमें रहते हुए ही अंगोंसहित सम्पूर्ण वेद पढ़ लिये। स्मृति, पुराण तथा मोक्षशास्त्रका वह दिन-रात पूर्णरूपेण पाठ करता था। वह गर्भमें ज्यों-ज्यों वृद्धिको प्राप्त होता त्यों-ही-त्यों उसकी माता अत्यन्त पीड़ाको प्राप्त होकर व्याकुल होती जाती थी। तब विस्मयमें पड़े हुए व्यासजीने उस गर्भस्थ बालकसे पूछा—'तुम कौन हो, गर्भका रूप धारण करके मेरी धर्मपत्नीकी कुक्षिमें आ बैठे हो? बाहर क्यों नहीं निकलते?'

**गर्भ बोला**—जो चौरासी लाख योनियाँ बतायी गयी हैं, उन सबमें मैंने भ्रमण किया है। अतः मैं क्या बताऊँ कि कौन हूँ। भयंकर संसारमें भ्रमण करते-करते मुझे बड़ा निर्वेद (वैराग्य) हुआ है। इस समय मनुष्य होकर इस उदरमें आया हूँ। अब मेरा विचार किसी प्रकार मनुष्यलोकमें निकलनेका नहीं है। यहीं रहकर योगाभ्यासमें तत्पर हो मोक्षमार्गको प्राप्त होऊँगा।

**व्यासजीने कहा**—वत्स! यदि तुम्हारी ऐसी अभिलाषा है, तो तुम्हें पाप नहीं लगेगा। इस गर्भवासरूपी घृणित एवं घोर नरकसे निकल आओ और योगका आश्रय लेकर कल्याणको प्राप्त होओ।

**गर्भ बोला**—विप्रवर! जबतक जीव गर्भमें रहता है, तभीतक उसे ज्ञान, वैराग्य तथा पूर्वजन्मका स्मरण बना रहता है। जब वह गर्भसे निकलता है और भगवान् विष्णुकी माया उसे स्पर्श करती है, तब सारा ज्ञान भूल जाता है। इसलिये मैं इस गर्भसे किसी तरह बाहर नहीं निकलूँगा।

**व्यासजीने कहा**—वैष्णवी माया तुमपर किसी प्रकार भी प्रभाव नहीं डालेगी। अतः तुम मुझे अपना मुख दिखाओ।

तदनन्तर बारह वर्षके कुमार शुक जो यौवनके समीप पहुँच चुके थे, गर्भसे बाहर निकले और व्यास तथा माताको प्रणाम करके उसी क्षण वनवासके लिये प्रस्थित हुए। तब मुनिवर व्यासने कहा—'बेटा! मेरे घरमें ठहरो; जिससे तुम्हारे जातकर्म आदि संस्कार तो कर दूँ।'

**शुकदेव बोले**—मेरे जन्म-जन्ममें सैकड़ों संस्कार हो चुके हैं। उन्हीं बन्धनात्मक संस्कारोंने मुझे भवसागरमें डाल रखा है।

**व्यासजीने कहा**—द्विजके बालकको पहले ब्रह्मचारी, फिर गृहस्थ, तत्पश्चात् वानप्रस्थी और अन्तमें संन्यासी होना चाहिये। इसके बाद वह मोक्षको प्राप्त होता है।

**शुकदेवजी बोले**—यदि ब्रह्मचर्यसे ही मोक्ष होता है, तब तो नपुंसकोंको वह सदा ही प्राप्त होना चाहिये। यदि गृहस्थाश्रमियोंकी मुक्ति होती है, तब तो सम्पूर्ण जगत्को ही मुक्त हो जाना चाहिये। यदि कहें, वनवासमें अनुरक्त रहनेवालोंकी मुक्ति होती है तब तो मृगोंकी मुक्ति अवश्य हो जानी चाहिये। यदि आपका यह विचार हो कि संन्यास-धर्मका पालन करनेवाले मनुष्योंका मोक्ष होता है तब तो जितने दरिद्र मनुष्य हैं, उन सबकी मुक्ति पहले हो जानी चाहिये।

**व्यासजीने कहा**—मनुजीका कथन है कि गृहस्थधर्ममें अनुरक्त हो सन्मार्गपर चलनेवाले

मानवोंके लिये यह लोक और परलोक दोनों सुखद होते हैं। गृहस्थाश्रमी पुरुषोंके द्वारा गृहस्थ-धर्मका पालन करनेके लिये जो संग्रह किया जाता है, वह इहलोक और परलोकमें भी सनातन सुख प्रदान करता है।

**शुकदेवजी बोले**—दैवयोगसे कभी अग्निसे भी शीतलता प्राप्त हो सकती है, चन्द्रमासे भी ताप हो सकता है; परंतु इस मर्त्यलोकमें परिग्रहसे भी सुखकी उत्पत्ति हो, ऐसा न तो कभी हुआ है, न होता है और न आगे कभी होगा ही।

**व्यासजीने कहा**—बहुत पुण्य होनेसे किसी प्रकार इस पृथ्वीपर अत्यन्त दुर्लभ मानवजन्मकी प्राप्ति होती है। उसे पाकर यदि मनुष्य गृहस्थधर्मका तत्त्व जाननेवाला हो तो उसे क्या नहीं मिल जाता?

**शुकदेवजी बोले**—यदि मनुष्य जन्मकालमें अपनी अवस्थाको देखकर ज्ञानयुक्त होता है तो जन्म लेनेके पश्चात् वह सारा ज्ञान भूल जाता है।

**व्यासजीने कहा**—मनुष्यका पुत्र हो अथवा गदहेका बच्चा, जब वह शरीरमें धूल लपेटे, चंचल गतिसे चलता और तोतली वाणी बोलता है, तब उसका वह शब्द भी लोगोंके लिये बड़ा आनन्ददायक होता है।

**शुकदेवजी बोले**—मुने! धूलमें रेंगते और लोटते हुए अपवित्र शिशुसे जो यहाँ सन्तुष्ट होते या सुखका अनुभव करते हैं, वे अज्ञानी हैं।

**व्यासजीने कहा**—यमलोकमें पुं नामक महाभयंकर नरक है, पुत्रहीन मनुष्य ही उसमें जाता है। इसलिये पुत्रकी प्रशंसा की जाती है।

**शुकदेवजी बोले**—महामुने! यदि पुत्रसे ही सब लोगोंको स्वर्गकी प्राप्ति होती, तब तो सूअरों, कुत्तों और टिड्डियोंको विशेषरूपसे उसकी प्राप्ति होनी चाहिये?

**व्यासजीने कहा**—पुत्रके दर्शनसे मनुष्य पितृ-ऋणसे मुक्त होता है, पौत्रके दर्शनसे वह देव-ऋणसे मुक्त होता है और प्रपौत्रको भी देख ले, तब तो वह स्वर्गका निवासी होता है।

**शुकदेवजी बोले**—गीध दीर्घजीवी होता है, वह सदा अपनी कई पीढ़ीकी सन्तानोंको क्रमशः देखता है; किंतु क्या वह मोक्षको प्राप्त हो जाता है?

**सूतजी कहते हैं**—इस प्रकार कहकर शुकदेवजी वनमें चले गये।

**अपने पुत्र शुकको गृहस्थीकी ओरसे निःस्पृह देख चेटिकाने दुःखी होकर व्यासजीसे कहा**—द्विजश्रेष्ठ! मुझे आज्ञा दीजिये, जिससे मैं पुत्रके लिये तपस्या करूँ और उसके द्वारा महादेवजीको सन्तुष्ट करूँ, जिससे मुझे वंशकी वृद्धि करनेवाला श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त हो। ऐसा निश्चय करके व्यासजीकी आज्ञा पाकर पतिव्रता चेटिकाने हाटकेश्वरक्षेत्रमें जा तपस्या प्रारम्भ की। उसने भगवान् शंकरकी स्थापना करके उनके आगे निर्मल जलसे भरी हुई एक विशाल वापी निर्माण करायी, जो स्नान करनेमात्रसे समस्त पातकोंका नाश करनेवाली है। तदनन्तर उसकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर त्रिपुरारि महादेवजीने प्रत्यक्ष दर्शन दिया और कहा—'सुव्रते! वरदान माँगो।'

**चेटिका बोली**—सुरश्रेष्ठ! मुझे ऐसा पुत्र दीजिये, जो मेरे वंशकी वृद्धि करनेवाला, सदा ही मित्रोंको आनन्द देनेवाला, सुशील तथा विनयी हो।

**श्रीमहादेवजीने कहा**—शोभने! तुमने जैसे पुत्रके लिये प्रार्थना की है, वैसा ही पुत्र तुम्हें प्राप्त होगा, इसमें सन्देह नहीं है। दूसरी कोई भी जो स्त्री यहाँ वापीमें स्नान करके एकाग्रचित्त हो एक वर्षतक प्रत्येक शुक्ला पंचमीको तुम्हारे द्वारा स्थापित मेरे इस लिंगका पूजन करेगी, वह वर्षके अन्तमें सौभाग्यसे सम्पन्न होगी। इसी प्रकार जो पुरुष यहाँ स्नान करके सकाम भावसे मेरी पूजा करेगा, वह मनोवांछित कामना प्राप्त कर लेगा और जो निष्काम भावसे मेरा पूजन करेगा, वह मोक्षको प्राप्त होगा।

ऐसा कहकर महादेवजी अन्तर्धान हो गये और चेटिकाने व्यासजीसे कपिंजल नामक पुत्र प्राप्त किया। (चेटिकाद्वारा स्थापित होनेसे वह शिवलिंग 'चटकेश्वर' नामसे विख्यात हुआ।)

~~o~~

# राजा सुरथके द्वारा भैरवजीकी स्थापना और आराधना तथा शंखतीर्थ, शिव, गणेश, गौरी और चक्रपाणि वासुदेव आदि देवविग्रहोंके दर्शनका माहात्म्य

**सूतजी कहते हैं**—किसी समय सूर्यवंशमें उत्पन्न सुप्रसिद्ध राजा सुरथ अपने राज्यसे भ्रष्ट होकर पुरोहित वसिष्ठजीके आश्रमपर गये और प्रणाम करके बोले—'ब्रह्मन्! इस समय शत्रुओंने मुझ मन्दभागीके राज्यका बलपूर्वक अपहरण कर लिया है। अतः मुझपर कृपाप्रसाद कीजिये। मेरी दूसरी कोई गति नहीं है।'

**वसिष्ठजीने कहा**—महाराज! यदि ऐसी बात है, तो तुम शीघ्र ही समस्त सिद्धियोंको देनेवाले हाटकेश्वरक्षेत्रमें जाओ। वहाँ भैरवरूपसे महादेवजीकी स्थापना करो, जिनके हाथमें उठे हुए त्रिशूलके अग्रभागपर अन्धकासुरका शरीर गुँथा हुआ स्थित हो। इस प्रकार भैरवरूपी शिवकी स्थापना करके नारसिंहमन्त्रसे लाल फूल, लाल चन्दन तथा धूप आदिके द्वारा उनकी पूजा करो। इससे भैरवजीकी शक्ति प्राप्त करके तुम तेज और वीर्यसे सम्पन्न हो जाओगे और उन्हींकी कृपासे सम्पूर्ण शत्रुओंका संहार कर डालोगे; परंतु बड़ी पवित्रताके साथ तुम्हें भगवान् भैरवकी पूजा करनी चाहिये, अन्यथा विघ्नकी प्राप्ति होगी।

महर्षि वसिष्ठका यह वचन सुनकर राजा सुरथ तत्काल हाटकेश्वरक्षेत्रमें गये। वहाँ उन्होंने भैरवरूपधारी महादेवजीकी स्थापना की और भक्तिपूर्वक नारसिंह-मन्त्रद्वारा उनका पूजन किया। उपासनाके समय राजा बड़े ही पवित्र, संयमशील एवं ब्रह्मचर्यपरायण रहते थे। नारसिंह-मन्त्रका दस सहस्र जप करनेके पश्चात् राजाके ऊपर भगवान् भैरव सन्तुष्ट हुए और इस प्रकार बोले—'राजन्! इस मन्त्रसे पूजित होकर मैं तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ। इसलिये तुम मनोऽभिलषित वर माँगो।'

**सुरथ बोले**—सुरेश्वर! शत्रुओंने मेरा राज्य छीन लिया है, वह आपके प्रसादसे पुनः शत्रुरहित होकर मुझे प्राप्त हो। दूसरा कोई भी जो पुरुष यहाँ आकर इसी प्रकार पूजन करे, उसे भी सहस्र मन्त्रोंका जप पूरा होनेपर आप मेरी ही भाँति सिद्धि प्रदान करें।

'तथास्तु' कहकर भगवान् शंकर अन्तर्धान हो गये। राजा सुरथने भी संग्राममें शत्रुओंका वध करके अपना राज्य प्राप्त कर लिया।

**सूतजी कहते हैं**—महर्षियो! जो मनुष्य शंख-तीर्थमें विशेषतः एकादशी तिथिको स्नान करता है, वह सब तीर्थोंमें स्नान करनेका फल प्राप्त कर लेता है। जो वहाँ सिद्धेश्वरसहित ग्यारह रुद्रोंका भक्तिपूर्वक दर्शन करता है, उसके द्वारा माहेश्वरतीर्थोंके समस्त शिवविग्रहोंका दर्शन सम्पन्न हो जाता है। जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक ग्रहोत्थादेवीका दर्शन करता है, उसके द्वारा सम्पूर्ण दुर्गा-मूर्तियोंका दर्शन हो जाता है। जो मनुष्योंको स्वर्गद्वार प्रदान करनेवाले गणेशजीको देखता है, उसके द्वारा सम्पूर्ण गणेश-विग्रहोंका दर्शनकार्य सम्पन्न हो जाता है। जो वहाँ बरगदके नीचे शर्मिष्ठाद्वारा स्थापित गौरीजीका दर्शन करता है, उसके द्वारा सम्पूर्ण गौरीविग्रहोंका दर्शन हो जाता है। जो मानव प्रातःकाल उठकर चक्रपाणि वासुदेवका दर्शन करता है, उसने समस्त वासुदेव-विग्रहोंका दर्शन कर लिया। जो मनुष्य सोते और जागते समय तथा प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर स्नान करनेके पश्चात् भक्तिपूर्वक भगवान् चक्रपाणिका दर्शन करता है, उसके ब्रह्महत्या आदि पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं।

# गौरी, जया और विजयाकुण्डका माहात्म्य, सिद्धिके उपाय तथा नागर-खण्डके पूर्वार्ध भागके श्रवणका फल

**सूतजी कहते हैं**—ब्रह्मर्षियो! वहीं पार्वतीजीकी सेविका जया निवास करती है और उसने वहाँ गौरीकुण्डके समीप जयाकुण्डका निर्माण किया है। जो नारी तृतीयाके दिन जयाकुण्डमें स्नान करती है वह पुत्र और सौभाग्यसे सम्पन्न तथा पतिकी प्यारी होती है। जयाकुण्डके पास ही परम उत्तम विजयाकुण्ड है। वहाँ स्नान करके वन्ध्या स्त्री भी पुत्रवती हो जाती है। इतना ही नहीं, वह कभी स्वप्नमें भी पुत्रोंके नाश या वियोगका दुःख नहीं देखती। जो काक-वन्ध्या स्त्री भी वहाँ स्नान करती है वह अनेक पुत्र प्राप्त करके स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होती है।

हाटकेश्वरक्षेत्रमें जो सत्ताईस लिंग हैं, उनमें सत्त्वगुण और वीर्यसे युक्त एक शिवलिंगकी भी आश्विन कृष्ण चतुर्दशीको आधी रातके समय जो पूजा करता है तथा जो श्रेष्ठ साधक पूर्वोक्त रूपसे अंगन्यास करके यजन-पूजन एवं छुरिका सूक्तका पाठ करता है और उन शिवलिंगोंके सामने स्थित होकर समस्त चराचरकी मानसिक पूजा करके दिक्पालोंमेंसे प्रत्येककी भक्तिपूर्वक अर्चना करता है, वह उसी शरीरसे उस दिव्य धामको पहुँच जाता है, जहाँ कभी भी जरा-मृत्यु तथा रोग-शोक आदि नहीं होते। इसी प्रकार चित्रेश्वरी पीठमें भी एक सिद्धि बतायी गयी है। जो माघ कृष्णा चतुर्दशीको वहाँ श्रद्धापूर्वक आगमोक्त विधिसे पीठकी पूजा करता है तथा चित्रशर्माद्वारा स्थापित हाटकेश्वर लिंगका शिवरात्रिको निशीथ कालमें एक लाख फूलोंसे भक्तिपूर्वक पूजन करता है वह उसी शरीरसे तत्काल सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

**ऋषि बोले**—महामते! शुद्ध चित्तवाले ब्राह्मणोंको जिस प्रकार मोक्ष प्राप्त होता है, ऐसे उपायोंको आप बतावें।

**सूतजीने कहा**—दस रुद्रोंके साथ जो आनन्देश्वर लिंग है, उसके अग्रभागमें स्थित जो कुण्ड है उसमें शास्त्रीय विधिसे स्नान करके मनुष्य देवदुर्लभ सिद्धि प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य माघमासमें प्रातःकाल विश्वामित्रकुण्डमें स्नान करता है और ब्राह्मणको तिलसे भरा हुआ पात्र देता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित होता है। द्विजोत्तमो! इस प्रकार ब्राह्मणोंके लिये हितकारक और देवताओंद्वारा प्रशंसित सिद्धिका उपाय बताया गया। उस तीर्थमें अन्य जो तीर्थ और मन्दिर हैं, उन्हें भी मुनियोंने स्वर्गदायक कहा है। हाटकेश्वर महादेवजीके क्षेत्रका यह उत्तम माहात्म्य मैंने आपलोगोंसे भलीभाँति कहा है, जो सब पातकोंका नाश करनेवाला है। जो मनुष्य यहाँके सब तीर्थोंमें स्नान करके भक्तिपूर्वक सब देवस्थानोंका दर्शन करता है, वह पापी भी हो तो मुक्त हो जाता है। यह स्वामिकार्तिकेयजीके द्वारा कहे हुए स्कन्दपुराणके प्रथम खण्डका वर्णन किया गया, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक एकाग्रचित्तसे इसका पाठ या श्रवण करता है, वह इस लोकमें प्रचुर भोगोंका उपभोग करके स्वर्गलोकमें जाता है। सब तीर्थोंमें और सब प्रकारके दानोंसे जो पुण्यफल प्राप्त होता है, उसीको श्रद्धापूर्वक इस माहात्म्यका श्रवण करनेसे भी मनुष्य पा लेता है। ब्राह्मणो! पृथ्वीपर इस पुराणको सुनकर मनुष्य कोटि जन्मोंके पापसे मुक्त होता और अपने कुलका उद्धार कर देता है।

**नागरखण्ड (पूर्वार्ध) सम्पूर्ण।**

# नागरखण्ड ( उत्तरार्ध )

## सब पापोंकी शुद्धिके लिये पुरश्चरणसप्तमी व्रतकी विधि एवं महिमा

**ऋषियोंने पूछा**—सूतनन्दन! किस समय और किस विधिसे पुरश्चरण करना चाहिये?

**सूतजीने कहा**—पूर्वकालमें महामुनि मार्कण्डेयजीने हरिश्चन्द्र-पुत्र राजा रोहिताश्वके पूछनेपर जो कुछ कहा है, वही प्रसंग मैं सुनाता हूँ।

**रोहिताश्व बोले**—मुने! मनुष्य ज्ञानसे अथवा अज्ञानसे जो पाप करता है, उसके नाशका कोई उपाय मुझे बताइये।

**मार्कण्डेयजी बोले**—संसारमें मनुष्योंको मानसिक, वाचिक और शारीरिक तीन प्रकारका पाप लगता है। इनमेंसे मनुष्योंको जो मानस पाप लगता है, वह पश्चात्ताप करनेसे तत्क्षण नष्ट हो जाता है; परंतु जो वाचिक और कायिक पाप हैं, वे बिना भोगे नष्ट नहीं होते अथवा पुरश्चरणद्वारा उन्हें दूर किया जा सकता है। श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे अपना पाप निवेदन करके उनके बताये अनुसार शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त करे। इससे मनुष्य शुद्ध होता है अथवा राजा जब उस पापको जानकर तदनुकूल दण्ड देता है, तब वह मनुष्य उस पापसे शुद्ध हो जाता है। जो लज्जावश श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे अपना पाप नहीं कहता तथा राजा भी जिसके पापको नहीं जान पाता, जो शरीरमें ही उस पापको लिये जाता है, उसको दण्ड देनेवाले साक्षात् वैवस्वत यम हैं। इसलिये विज्ञपुरुषको पूर्ण प्रयत्न करके ब्राह्मणोंके बताये अनुसार प्रायश्चित्त करना चाहिये।

**रोहिताश्व बोले**—मुनीश्वर! मनुष्य नित्य ही सब ओर सूक्ष्म पाप करता है, उन सबके लिये प्रायश्चित्त करनेकी शक्ति कैसे हो सकती है?

**मार्कण्डेयजीने कहा**—राजन्! एक पुरश्चरण-सप्तमी नामक पुण्यदायक व्रत है, जिसका अनुष्ठान करनेसे यमराजके पिता भगवान् सूर्य जन्मभरके संचित पापोंका नाश कर देते हैं। महाराज! तुम भी उसी व्रतको करो, जिससे समस्त शारीरिक पापोंसे मुक्त हो जाओगे।

**रोहिताश्व बोले**—मुनिश्रेष्ठ! पुरश्चरण-सप्तमी व्रतका अनुष्ठान किस समय किस विधिसे करना चाहिये?

**मार्कण्डेयजी बोले**—माघ मासके शुक्ल पक्षमें जब सूर्य मकर राशिपर स्थित हों, तब रविवार-युक्त सप्तमीको इस व्रतका आचरण करना चाहिये। उस दिन पाखण्डी और पतित मनुष्योंसे बात नहीं करनी चाहिये। प्रातःकाल दातुन करके निम्नांकित मन्त्रसे व्रतका नियम ग्रहण करना चाहिये—

**पुरश्चरणकृत्यायां सप्तम्यां दिवसाधिप।**
**उपवासं करिष्यामि अद्य त्वं शरणं मम॥**

'दिनेश! आज पुरश्चरणसप्तमीको मैं उपवास करूँगा, आप मुझे शरण दें, सहायक हों।'

तदनन्तर अपराह्णकालमें स्नान करके धुला हुआ वस्त्र पहनकर पवित्र हो भगवान् सूर्यकी प्रतिमाका लाल रंगके फूलोंसे भक्तिपूर्वक पूजन करे। उसके बाद पादार्घ्यपूजन करे, फिर '**पतङ्गाय नमः**' इस मन्त्रसे पैरोंकी, '**मार्तण्डाय नमः**' से दोनों घुटनोंकी, '**दिवसनाथाय नमः**' से गुह्यभागकी, '**द्वादशमूर्तये नमः**' से नाभिकी, '**पद्महस्ताय नमः**' से दोनों बाहुओंकी, '**तीक्ष्णदीधितये नमः**' से हृदयकी, '**पद्मदलाभाय नमः**' से कण्ठकी तथा '**तेजोमयाय नमः**' से मस्तककी विधिवत् पूजा सम्पन्न करके कपूरका धूप निवेदन करे। तत्पश्चात् गुड़-भातका नैवेद्य अर्पण करे। उस नैवेद्यको लाल वस्त्रसे ढका हुआ रखे। इसी प्रकार लालरंगके सूत्रसे आवेष्टित दीप और आरती निवेदन करे। तदनन्तर शंखमें रक्तचन्दन-मिश्रित जल और फल लेकर अर्घ्य दे—

**यत्कृतं तु मया किञ्चिज्ज्ञानादज्ञानतोऽपि वा।**
**प्रायश्चित्तकृते देव ममार्घ्यश्च प्रगृह्यताम्॥**

'देव! मैंने जानकर या अनजानमें जो कुछ भी पापकर्म किया है, उसके प्रायश्चित्तके लिये मेरा अर्घ्य ग्रहण करें।'

इसके बाद गन्ध, पुष्प और अनुलेपन आदिके द्वारा ब्राह्मणका भलीभाँति पूजन करे। उसे भोजन देकर शक्तिके अनुसार दक्षिणा दे। फिर शरीरशुद्धिके लिये पंचगव्य पान करे और हाथ जोड़कर सूर्यदेवका दर्शन करे। दर्शनके पश्चात् नमस्कार करके निम्नांकित मन्त्रका उच्चारण करे—

**इदं व्रतं मया देव गृहीतं पुरतस्तव।**
**अविघ्नं सिद्धिमायातु प्रसादात्तव भास्कर॥**

'देव! भास्कर! मैंने यह व्रत आपके सामने ग्रहण किया है, आपके प्रसादसे इसकी निर्विघ्नतापूर्वक सिद्धि प्राप्त हो।'

तत्पश्चात् फाल्गुन मास आनेपर उक्त विधिसे ही कुन्द पुष्पके द्वारा सूर्यदेवकी पूजा करे। गुग्गुलका धूप दे और भातका नैवेद्य निवेदन करे। उस दिन सब पापोंकी शुद्धिके लिये गोमयका भोजन बताया गया है। चैत्रमास आनेपर सुरभि (सुगन्धित पुष्प अथवा चम्पा, मौलसिरी या चमेली)-से सूर्यदेवकी पूजा करे। उस समय नैवेद्यके लिये गुड़ बताया गया है। सरजरस (राल)-का धूप निवेदन करे तथा कुशोदकका पान करे; इससे मनुष्य शारीरिक शुद्धिको प्राप्त होता है। वैशाखमासमें घृताहारी होकर पलाशके फूलोंसे सूर्यदेवकी पूजा करे और आमका नैवेद्य तथा जटामासीका धूप देवे। इस महीनेमें शरीरकी शुद्धिके लिये दहीका भोजन करना चाहिये। ज्येष्ठमें पाड़रके फूलसे सूर्यकी पूजा करनी चाहिये। नैवेद्यके लिये सत्तू बताया गया है और समस्त पापोंकी शुद्धिके लिये कपिला गायके घीका भोजन करना चाहिये। आषाढ़में अगस्तके फूलोंसे सूर्यकी पूजा करे। नैवेद्यके लिये खीरका विधान है और शरीरशुद्धिके लिये घीके साथ मधु पीना चाहिये। उस समय श्रद्धापूर्वक अगरुका धूप निवेदन करे। श्रावणमें कदम्बके फूलसे सूर्यदेवका पूजन करे, लड्डूका नैवेद्य भोग लगावे और तगरका धूप दे। तत्पश्चात् गोशृंगका जल ग्रहण करके मनुष्य सब पापोंसे तत्काल मुक्त हो जाता है। भाद्रपदमासमें जातिपुष्प (चमेली)-से भगवान् सूर्यकी पूजा करे, दूधका नैवेद्य भोग लगावे, रालका धूप दे और शरीरशुद्धिके लिये दूध पीये। आश्विनमासमें कमलके फूलोंसे पूजा करे, घीकी पूड़ीका नैवेद्य निवेदन करे, कुंकुमका धूप दे और शरीरशुद्धिके लिये कपूर खाय। कार्तिकमासमें तुलसीसे सूर्यदेवकी पूजा बतायी गयी है, खाँड़का नैवेद्य और कुसुमका धूप देना चाहिये। उस समय लवंगका भोजन सब पापोंका शोधक बताया गया है। अगहनमें भृंगराजपत्र (भँगरैया)-से पूजा करे, पूवाका नैवेद्य और गुड़का धूप निवेदन करे, उस समय सूर्यकी प्रसन्नताके लिये कंकोल (शीतलचीनी)-का भोजन करना चाहिये। पौषमें शतपत्री (गुलाब)-से सूर्यकी पूजा बतायी गयी है, नैवेद्यके लिये पूड़ी और धूपके लिये घीका विधान है। उस समय शरीर-शुद्धिके लिये पूर्वोक्त सभी वस्तुओंका भोजन करे। व्रतकी समाप्ति होनेपर सब पापोंकी शुद्धिके लिये घरकी वस्तुओंका छठा भाग ब्राह्मणको दान कर दे। तदनन्तर अपनी शक्तिके अनुसार प्रिय पदार्थोंका ब्राह्मणवर्गको भोजन करावे। इस प्रकार जो सूर्यसप्तमीका व्रत करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो निर्मल हो जाता है।

# चण्डशर्माके द्वारा सत्ताईस शिवलिंगोंका पूजन, शिवकृपाप्राप्ति, ऋचीक मुनिका गाधिपुत्रीके साथ विवाह और जमदग्निका जन्म

**सूतजी कहते हैं**—चण्डशर्मा नामक एक ब्राह्मण था, जिसे नागर ब्राह्मणोंने किसी कारणसे जातिच्युत घोषित करके चमत्कारपुरसे बाहर कर दिया था। चण्डशर्मा नगरसे बाहर सरस्वती नदीके तटपर कुटिया बनाकर रहने लगा। वह सरस्वतीमें स्नान करके पवित्र और एकाग्रचित्त हो षडक्षरमन्त्रका जप करता और सत्ताईस लिंगोंके पृथक्-पृथक् नामका नमस्कारान्त उच्चारण करके जपता था। पंककी मिट्टी लेकर पाँच अँगुलके सत्ताईस शिवलिंग बनाकर उनकी स्थापना करता और पुष्प-धूप एवं चन्दन आदिके द्वारा भक्तिपूर्वक उन सबकी पूजा करता था। फिर परम श्रद्धापूर्वक प्राणरुद्रसम्बन्धी मन्त्रोंको जपता था। 'शिवलिंग अच्छी स्थितिमें हो या बुरी स्थितिमें, किसी भी दशामें उसको अपने स्थानसे विचलित न करे।' ऐसा मानकर द्विजश्रेष्ठ चण्डशर्मा उन शिवलिंगोंका कभी विसर्जन नहीं करता था। उनके ऊपर-ऊपर वह प्रतिदिन पंकमय सत्ताईस शिवलिंगोंको स्थापित करता जाता था। इस प्रकार दीर्घकालमें वहाँ पंकका पर्वत-सा खड़ा हो गया। तब उसकी भक्तिकी अधिकता देखकर महादेवजी बहुत सन्तुष्ट हुए और धरतीको भेदकर उसे अपने दिव्यलिंगका दर्शन कराया। तत्पश्चात् इस प्रकार कहा—'चण्डशर्मन्! मैं तुमपर बहुत सन्तुष्ट हूँ। तुम्हारे सिवा और दूसरा भी जो कोई इन सत्ताईस लिंगोंका इस प्रकार पूजन करेगा, वह भी कल्याणका भागी होगा।'

ऐसा कहकर भगवान् शिव अन्तर्धान हो गये। चण्डशर्माने भी उनके प्रत्यक्ष प्रकट हुए दिव्य लिंगमय स्वरूपका यथावत् पूजन किया और उसके लिये उत्तम मन्दिरका निर्माण कराया। उसीसे वह शिवलिंग नगरेश्वरके नामसे विख्यात हुआ। इस प्रकार शिवलिंगकी स्थापना करके विप्रवर चण्डशर्माने पुष्प, धूप और चन्दन आदिके द्वारा भगवान् शिवकी पूजा की। तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् नगरेश्वरके प्रसादसे वह साक्षात् शिवधाममें चला गया। चण्डशर्माकी पत्नी शाकम्भरीने सरस्वती नदीके तटपर श्रीदुर्गादेवीको स्थापित किया तथा उत्तम भक्ति से दिन-रात उनकी आराधना की। तब उसपर प्रसन्न होकर दुर्गादेवीने कहा—'बेटी शाकम्भरी! मैं तुमपर बहुत सन्तुष्ट हूँ। तुम कोई मनोवांछित वर माँगो।'

**शाकम्भरी बोली**—देवि! चमत्कारपुरमें जो प्रसिद्ध चौंसठ मातृकागण हैं, वे सब सन्तुष्ट हों।

**देवीने कहा**—जो आश्विन शुक्ला महानवमीके दिन मेरे आगे आकर भक्तिपूर्वक मेरी पूजा करेगा, उसे पूर्ण फलकी प्राप्ति होगी। विशेषतः नागर ब्राह्मणकी की हुई पूजा अवश्य सफल होगी। यह सब मैंने सत्य कहा है।

ऐसा कहकर देवी दुर्गा अदृश्य हो गयीं। शाकम्भरीद्वारा स्थापित देवी दुर्गा उसीके नामसे प्रसिद्ध हुईं।

तबसे लेकर सरस्वतीके पुण्यतटपर बाह्य नागर ब्राह्मणोंका एक महान् स्थान बन गया। पुत्र-पौत्र तथा दौहित्र आदिसे युक्त होकर उन सबकी संख्या बहुत बढ़ गयी और विद्या तथा महान् वैभवकी दृष्टिसे वह स्थान चमत्कारपुरसे भी अधिक विख्यात हुआ। तदनन्तर किसी समय विश्वामित्रजीने क्रोध करके सरस्वतीको शाप दे रक्त बहानेवाली कर दिया। तब वे बाह्य नागर सरस्वती नदीको छोड़कर वहाँसे दूर चले गये और नर्मदाके पावन तटपर मार्कण्डेय मुनिके आश्रमके समीप निवास करने लगे।

**ऋषियोंने पूछा**—बुद्धिमान् विश्वामित्रजीने सरस्वतीको किस कारण शाप दिया?

**सूतजीने कहा**—महर्षियो! प्राचीन कालमें भृगुके पुत्र महामुनि ऋचीक प्रसिद्ध महात्मा थे। वे व्रत-स्वाध्यायमें तत्पर, तपस्वी और महायशस्वी थे। एक समय मुनीश्वर ऋचीकजी तीर्थयात्राके प्रसंगसे घूमते हुए भोजकट नामक स्थानमें गये। वहाँ राजा गाधि राज्य करते थे। त्रिभुवनविख्यात कौशिकी नदी वहीं बहती है। ऋचीकजी वहाँ कौशिकी नदीमें स्नान करके देवताओं और पितरोंका तर्पण कर तटपर बैठे तथा ध्यानस्थ होकर जप करने लगे। इतनेमें ही वहाँ सर्वगुणसम्पन्ना राजकन्या आयी। उसे देखकर मुनिने निकटवर्ती मनुष्योंसे पूछा—'यह साध्वी कन्या किसकी पुत्री है और किसलिये यहाँ आयी है?'

**लोगोंने कहा**—यह महाराज गाधिकी त्रिभुवनसुन्दरी कन्या है, जो सर्वगुणसम्पन्न उत्तम पतिकी इच्छा रखती हुई यहाँ गौरीजीकी पूजाके लिये अन्तःपुरसे आयी है। इस नदीके तटपर यह जो बहुत बड़ा मन्दिर सुशोभित है, इसमें सम्पूर्ण देवताओंसे पूजित उमादेवी निवास करती हैं। यह राजकन्या मन्त्रोच्चारणपूर्वक क्रमशः पूजन करके भाँति-भाँतिके नैवेद्य भोग लगावेगी और वीणा बजाकर कानोंको सुख देनेवाला मधुर संगीत सुनावेगी। तत्पश्चात् जब सूर्यका ताप कुछ कम होगा, तब यह अपने महलमें पधारेगी।

उन मनुष्योंका यह वचन सुनकर ऋचीक मुनि राजा गाधिके घर गये। उन्हें सहसा अपने घरपर आया देख नृपश्रेष्ठ गाधि शीघ्र उनके सम्मुख गये और शास्त्रोक्त विधिसे उनका पूजन करके बोले—'विप्रवर! यद्यपि आप स्वभावसे ही निःस्पृह हैं, तथापि अपने आगमनका कारण बताइये।'

**ऋचीकजीने कहा**—राजेन्द्र! आपके एक सुन्दरी कन्या है, जो अब वरके योग्य हो गयी है। आप ब्राह्म-विवाहकी विधिसे वह कन्या मुझे दीजिये। पार्वतीजीके पूजनके निमित्त गयी हुई उस कन्याको मैंने देखा है।

यह सुनकर नृपश्रेष्ठ गाधि भयभीत हो गये। 'एक तो मुनि अपने समान वर्णके नहीं थे, दूसरे दरिद्र और बूढ़े थे, फिर भी कन्या न देनेपर उनसे शाप मिलनेका डर था।' यह सब सोचकर राजाने कहा—'विप्रवर! हमने कन्यादानके लिये शुल्क नियत कर रखा है। यदि वह आप दे सकेंगे तब निश्चय ही आपको अपनी कन्या दूँगा।'

**ऋचीकजीने पूछा**—नृपश्रेष्ठ! कन्याका शुल्क क्या है, यह आप मुझे बताइये।

**गाधि बोले**—द्विजेन्द्र! वायुके समान वेगवाले श्वेत रंगके सात सौ घोड़े, जिनका एक-एक कान श्याम रंगका हो, मेरी कन्याके शुल्करूपमें प्राप्त होने चाहिये।

'बहुत अच्छा' कहकर मुनिश्रेष्ठ ऋचीक कान्यकुब्ज देशमें गये और गंगाके किनारे बैठकर राजा गाधिके बताये अनुसार श्यामकर्ण घोड़ोंकी प्राप्तिके लिये विनियोगपूर्वक ऋषि, छन्द और देवताका स्मरण करके '**अश्वो वोलहा**' इत्यादि चौंसठ ऋचाओंवाले सूक्तका जप करने लगे। तब वे अश्व गंगाजीके जलसे प्रकट हो गये। उन सबका रंग श्वेत और एक-एक कान श्याम था। वे सभी बड़े वेगशाली अश्व थे, उनके साथ उतने ही सवार भी थे। तबसे गंगाके शुभ पुण्यतटपर वह स्थान भूतलमें अश्वतीर्थके नामसे विख्यात हुआ।

उन विश्वासपात्र पुरुषोंके साथ सात सौ घोड़ोंको पाकर ऋचीक मुनि उस स्थानपर गये, जहाँ राजा गाधि रहते थे। वहाँ पहुँचकर मुनिने कन्याके लिये वे उत्तम अश्व राजाको समर्पित किये। तब राजा गाधिने उन घोड़ोंको ग्रहण करके गृह्यसूत्रोक्त विधिसे ब्राह्मण और अग्निकी साक्षितामें वह त्रिभुवनसुन्दरी कन्या ऋचीक मुनिको ब्याह दी। विवाह हो जानेपर ऋचीक मुनि अपनी स्त्रीकी ओरसे निष्काम हो गये और बोले—'सुन्दरी! मैं तपस्याके लिये वनमें जाऊँगा, तुम कोई वर माँगो!'

उनका वह वचन सुनकर राजकुमारी दुःखी होकर अपनी माताके पास गयी और मुनिने जो कुछ कहा था, वह सब कह सुनाया। उसे सुनकर माताने कहा—'बेटी! यदि तुम्हारे पति तुम्हें

मनोवांछित वर देते हैं तो उनसे अपने लिये ब्राह्मणोचित गुणोंसे सम्पन्न एक पुत्र माँगो और मेरे लिये क्षत्रियोचित गुणोंसे युक्त एक पुत्रके लिये प्रार्थना करो।' माताकी बात सुनकर उत्तम व्रतका पालन करनेवाली राजकुमारी ऋचीक मुनिके पास गयी और माताने जैसा कहा था, वह सब उनसे कहा। पत्नीका वह वचन सुनकर ऋचीक मुनिने विधिपूर्वक पुत्रेष्टि यज्ञ करके दो चरु तैयार किये। एकमें तो उन्होंने ब्राह्मणोचित तेज एवं सम्पूर्ण यशका आधान किया और दूसरेमें सम्पूर्ण क्षात्रतेज स्थापित कर दिया। तदनन्तर उन्होंने पहले अपनी पत्नीको उत्तम ब्राह्मतेजसे युक्त चरु प्रदान किया और कहा—'तुम इसे खा लो और खानेके बाद पीपलके वृक्षका आलिंगन करो। इससे तुम्हें ब्रह्मतेजसे सम्पन्न उत्तम पुत्र प्राप्त होगा तथा यह जो दूसरा चरु है, इसे अपनी माताको दे दो। साथ ही उन्हें समझा दो कि वे इस चरुको खाकर बरगदके वृक्षका आलिंगन करें। ऐसा करनेसे उन्हें क्षत्रियतेजसे युक्त श्रेष्ठ पुत्रकी प्राप्ति होगी।' घरमें जाकर दोनों माँ-बेटी प्रसन्नचित्त होकर आपसमें बात करने लगीं कि मुनिका वचन अवश्य सत्य होगा।

**तदनन्तर माताने पुत्रीसे कहा**—संसारमें सब लोग अपने लिये उत्तम वस्तु चाहते हैं, अतः तुम्हारे लिये जो चरु है, उसमें अवश्य कोई-न-कोई विशेषता होगी, अतः अपना चरु मुझे दे दो और मेरा तुम ले लो।' माताके ऐसा कहनेपर पुत्रीने चरु और वृक्षमें अदला-बदली कर ली। तत्पश्चात् ऋतुस्नाता होनेपर दोनों स्त्रियोंने गर्भ धारण किया। त्रिभुवनसुन्दरी राजकन्या उस गर्भको प्राप्त होकर क्षत्रियतेजसे युक्त हो गयी। वह मन-ही-मन हाथी, घोड़ेपर चढ़ने तथा राज्य करनेकी बात सोचने लगी। देवताओं और असुरोंकी युद्धकथा बड़े रुचिके साथ सुनने लगी।

**उसके क्षत्रियोचित कर्म देखकर मुनिने कुपित होकर पूछा**—पापिनि! तुमने यह क्या किया? अवश्य ही चरु और वृक्षमें तुमने परिवर्तन कर लिया है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि तुम्हारा पुत्र क्षत्रिय होगा और भाई ब्राह्मण। गर्भके चिह्नोंसे ऐसा ही प्रतीत होता है। शास्त्रचिन्तकोंने यह बात कही है कि गर्भिणी स्त्रीके मनमें जैसी अभिलाषा उत्पन्न होती है, वैसे ही गुणोंसे युक्त पुत्र उसके गर्भसे उत्पन्न होता है।

**तब राजकुमारीने हाथ जोड़कर कहा**—प्रभो! आपने जो कहा है, वह सत्य है। हमारे द्वारा चरु-परिवर्तनका अपराध हो गया है तथापि मुझपर ऐसी कृपा कीजिये, जिससे मेरा पुत्र ब्राह्मणोचित गुणोंसे सम्पन्न हो।

**ऋचीक बोले**—जो कुछ भी ब्राह्मणोचित तेज और गुण है, वह सब मैंने तुम्हारे चरुमें स्थापित कर दिया था और तुम्हारी माताके चरुमें क्षत्रियोचित क्षत्रियतेजका आधान किया था। अतः मैं शास्त्रके विरुद्ध उसमें उलट-फेर कैसे कर सकता हूँ। तुम्हारी प्रार्थनासे इतना ही कर सकता हूँ कि तुम्हारा पुत्र क्षत्रियोचित गुणसे युक्त न होकर पौत्र वैसे गुणोंसे विभूषित होगा। वह अपने क्षात्र-तेजके कारण युद्धमें शत्रुओंके लिये दुर्धर्ष होगा।

तत्पश्चात् मुनिके इस सत्य वरदानको पाकर सती साध्वी राजकुमारीका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा और उसने अपनी मातासे पतिकी कही हुई सब बातें बतायीं। इसके बाद दसवें महीनेमें पुष्य नक्षत्र आनेपर राजकुमारीने बालसूर्यके समान तेजस्वी ब्रह्मतेजसे सुशोभित तपस्याके निधान और परम पवित्र पुत्रको जन्म दिया, जो तीनों लोकोंमें जमदग्निके नामसे विख्यात हुए। जमदग्निके ही पुत्र महायशस्वी परशुराम हुए, जिन्होंने पितामह ऋचीक मुनिके दिये हुए क्षात्रतेजके प्रभावसे इक्कीस बार इस पृथ्वीको क्षत्रियोंसे शून्य किया था।

# विश्वामित्रकी उत्पत्ति, राज्य-प्राप्ति, वसिष्ठ मुनिके आश्रमपर नन्दिनीद्वारा सेनासहित विश्वामित्रका सत्कार, नन्दिनीके कोपसे उनका पराभव तथा राज्य त्यागकर तप करनेका निश्चय

**सूतजी कहते हैं**—गाधिकी महारानीने भी मन्त्रसे सिद्ध किये हुए चरुका भक्षण करके उसी वर्षमें गर्भ धारण किया। गर्भवती होनेपर साध्वी रानी तीर्थयात्रामें तत्पर हुई और अनेक प्रकारके व्रतोंका पालन करने लगी। जहाँ वेदमन्त्रोंकी ध्वनि हो, वहाँ वे बड़े हर्षसे जातीं और सुनतीं। दसवाँ मास पूर्ण होनेपर उन्होंने भी उत्तम कान्तिसे युक्त पुत्र उत्पन्न किया, जो चराचर जगत्में विश्वामित्रके नामसे प्रसिद्ध हुआ। जैसे शुक्ल पक्षका चन्द्रमा आकाशमें प्रतिदिन वृद्धिको प्राप्त होता है, उसी प्रकार महाभाग विश्वामित्र भी नित्यप्रति बढ़ने लगे। जब वे युवावस्थासे सम्पन्न एवं राज्य करनेमें समर्थ हुए, तब उनके पिता गाधिने उन्हें राज्यपर अभिषिक्त कर दिया। इसके बाद राजा गाधि अपनी पत्नीके साथ वनमें चले गये।

राज्य-संचालनमें नियुक्त होकर भी विश्वामित्रजी प्रायः ब्राह्मणोंके स्वागत-सत्कार एवं सत्संगमें ही संलग्न रहते थे। एक समय उन्होंने वनमें प्रवेश किया और बहुत-से हिंसक पशुओंको मारा। फिर जेठकी तपती हुई दोपहरीमें भूख-प्याससे पीड़ित हो वे महात्मा वसिष्ठके आश्रमपर गये। वसिष्ठजीने भी नृपश्रेष्ठ विश्वामित्रको आया देख प्रसन्नतापूर्वक उनकी अगवानी की तथा उनके लिये अर्घ्य और मधुपर्क निवेदन करके कहा—'महीपाल! आपका स्वागत है! कहिये, मेरे आश्रमपर पधारे हुए आपका मैं कौन-सा अभीष्ट कार्य पूर्ण करूँ?'

**विश्वामित्रजी बोले**—मुनीश्वर! मेरी इन्द्रियाँ प्याससे व्याकुल हो रही थीं। मैं जल पीनेके लिये आपके आश्रमपर आया था सो यहाँ शीतल जल पी लिया। मेरी प्यास बुझ गयी है। अब आज्ञा दीजिये, जिससे अपने घरको जाऊँ।

**वसिष्ठजीने कहा**—राजन्! मध्याह्नकालमें सूर्य अत्यन्त तापदायक है। अतः इस समय मेरे आश्रममें ही भोजन करके अपराह्णकालमें जाइयेगा।

**विश्वामित्रजी बोले**—मुने! मैं चतुरंगिणी सेनाके साथ यहाँ आया था। आपके आश्रमके द्वारपर मेरी सेना भी स्थित है। जो स्वामी अपने सेवकोंके भूखे रहनेपर भी भोजन कर लेता है, वह भयंकर नरकमें जाता है। इसलिये मुझे घर लौटनेकी आज्ञा दीजिये।

**वसिष्ठजीने कहा**—यदि आपके सेवक मेरे द्वारपर भूखे हैं, तो उन सबको बुलाइये; मैं सभीको भोजनसे तृप्त करूँगा।

यह सुनकर राजा विश्वामित्रने सम्पूर्ण सेनाको वहीं बुला लिया और स्नान, सन्ध्या, तर्पण तथा जप करके ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर वे सिंहासनपर विराजमान हुए। इसी समय वसिष्ठजीने नन्दिनी नामक धेनुका आवाहन किया और वह विश्वामित्रके आगे जाकर खड़ी हो गयी। तब वसिष्ठजीने कहा—'तुम अनेक प्रकारके भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य तथा पेय आदि विविध खाद्य पदार्थोंके द्वारा सेनासहित महाराज विश्वामित्रको तृप्त करो। साथ ही इनके घोड़े और हाथी आदिके लिये भी चारे-दाने आदिकी व्यवस्था करो।'

'बहुत अच्छा' कहकर नन्दिनीने क्षणभरमें दस हजार सेवकोंको उत्पन्न किया। उन सबने सब प्रकारके भोज्य पदार्थोंको लेकर विश्वामित्रकी सेनाके प्रत्येक व्यक्तिको पृथक्-पृथक् भोजन परोसा। सेना, परिवार, हाथी, ऊँट, घोड़े और बैल आदिसहित महाराज विश्वामित्र पूर्णतः तृप्त हो गये। यह कौतुक देखकर मन्त्रियोंसहित विश्वामित्रने विचार किया कि 'इस उत्तम धेनुको अपने घर ले चलना चाहिये। ये ब्राह्मणदेवता इसे

रखकर क्या करेंगे।' ऐसा विचार करके विश्वामित्रने कहा—'मुनिश्रेष्ठ! यह गौ मुझे दे दीजिये। इसके मूल्यके रूपमें मैं आपको उत्तम रथ, हाथी, घोड़े तथा अन्य मनोवांछित पदार्थ दूँगा।'

**वसिष्ठजीने कहा**—राजन्! यह समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली हमारी होमधेनु है। ब्राह्मणोंके लिये साधारण गौका विक्रय भी अनुचित है, फिर समस्त कामनाओंको देनेवाली नन्दिनीकी तो बात ही क्या है। महाराज! जो श्रेष्ठ ब्राह्मण गाय बेचकर उसका धन लेता है, उसे माताको बेचनेवाला चाण्डाल समझना चाहिये। इसलिये महामते! यह नन्दिनी मैं आपको नहीं दूँगा।

**विश्वामित्र बोले**—मुने! इस पृथ्वीपर जो कुछ भी रत्नभूत पदार्थ है; वह सब राजाका धन है, ऐसा नीतिज्ञ विद्वान् कहते हैं। अतः यह रत्नभूता नन्दिनी गाय मेरे द्वारा बलपूर्वक ले ली जा सकती है।

इतना कहकर उन्होंने नन्दिनीको बलपूर्वक ले जानेकी आज्ञा अपने सेवकोंको दे दी। उनके अनुचर नन्दिनीको डंडोंसे पीटते हुए ले जाने लगे। तब नन्दिनीने वसिष्ठजीसे पूछा—'मुने! क्या आपने मुझे इनको दे दिया है, जो ये मालिककी भाँति मुझे बलपूर्वक ले जाते हैं?' वसिष्ठजीने उत्तर दिया—'नहीं, मैं अपने प्राणोंपर संकट आ जाय तो भी तुम्हें त्याग नहीं सकता। ये लोग अन्यायपूर्वक तुम्हें ले जाते हैं। तुम स्वयं ही इनसे आत्मरक्षा करो।' इतना सुनकर नन्दिनीने क्रोधपूर्वक हुंकार किया; हुंकार करते ही उसके शरीरसे असंख्य म्लेच्छ-सेना प्रकट हुई। इस सेनाने विश्वामित्रके समस्त सैनिकोंको यमलोक पहुँचा दिया। तब विश्वामित्रने स्वयं ही धनुष लेकर उस सेनाका सामना किया। नन्दिनीके इन सैनिकोंने विश्वामित्रके हाथी, घोड़े आदि सबका सफाया कर डाला और उन्हें भी मारनेके लिये सब ओरसे घेर लिया। उनके प्राणोंपर संकट देख वसिष्ठजीने कहा—नन्दिनी! राजा अवध्य होता है; इन्हें बचाओ। राजाके होनेसे ही सब लोक सुरक्षित रहकर सन्मार्गमें प्रवृत्त होते हैं और कुमार्गसे दूर रहते हैं।' यह सुनकर नन्दिनी ज्यों-ही अपने म्लेच्छ-सैनिकोंको मना करनेके लिये आयी त्यों-ही विश्वामित्रने तलवार उठाकर उसपर घातक प्रहार करनेका विचार किया। यह देख वसिष्ठजीने तलवारसहित उनकी बाँहको स्तम्भित कर दिया—उनकी वह बाँह हिल-डुल नहीं सकी।

राजा विश्वामित्र बड़ी बुरी दशामें पड़ गये। उन्होंने लज्जित होकर वसिष्ठजीसे कहा—'मुनिश्रेष्ठ! इन भयंकर म्लेच्छोंके हाथसे मारे जाते हुए मुझ असहायकी अब आप ही रक्षा करें तथा मेरी इस बाँहको स्तम्भरहित (हिलने-डुलने लायक) कर दें। अब मैं घरको लौट जाऊँगा। युद्धसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। उद्दण्ड पुरुष विद्या, ऐश्वर्य तथा लक्ष्मीको पाकर मदोन्मत्त हो वैसे ही चिरकालतक उस स्थितिमें नहीं रह पाता, जैसे मैं राजमदसे उन्मत्त हो युद्धमें नहीं टिक सका।' उनके ऐसा कहनेपर वसिष्ठजीने उनकी उस भुजाको स्तम्भदोषसे मुक्त कर दिया और हँसते हुए कहा—"राजन्! जाओ, मैंने तुम्हारी बाँह ठीक कर दी। अब कभी ब्राह्मणोंके साथ वैर न करना।'

वसिष्ठजीकी यह आज्ञा पाकर विश्वामित्रजी पैदल ही अपने महलको गये। सन्ध्याके समय नगरद्वारपर पहुँचकर वे अपने-आप ही कहने लगे—'क्षत्रियोंके बल, पराक्रम और जीवनको धिक्कार है! केवल ब्राह्मण-बल और ब्राह्मण-तेज ही प्रशंसाके योग्य है। अब मुझे ऐसा कर्म करना चाहिये, जिससे ब्राह्मण-बल प्राप्त हो। आजसे मैं अपना राज्य त्यागकर बड़ी भारी तपस्या करूँगा।' ऐसा निश्चय करके उन्होंने अपने पुत्र विश्वसहको राजपदपर स्थापित कर दिया और स्वयं तपस्याके लिये तपोवनको प्रस्थान किया।

# विश्वामित्रकी तपस्या, ब्राह्मणपदकी प्राप्ति, विश्वामित्रकी भेजी हुई शक्तिका वसिष्ठजीके द्वारा स्तम्भन और सरस्वतीके जलकी शुद्धि

**सूतजी कहते हैं**—द्विजवरो! इस प्रकार अपना राज्य छोड़कर विश्वामित्रजीने हिमालयपर्वतपर जा अत्यन्त भयंकर तपस्या प्रारम्भ की। फल-मूलका भोजन करते हुए वे तीन सौ वर्षोंतक केवल परब्रह्म परमात्माके चिन्तनमें संलग्न रहे। फिर उतने ही समयतक केवल वृक्षके सूखे पत्ते चबाकर रहे। उसके बाद एक हजार वर्षोंतक पानीमात्र पीकर रह गये। फिर सौ वर्षोंतक केवल वायु पीकर सन्तोष किया। विश्वामित्रजीकी उस तपःशक्तिको देखकर देवर्षियोंसहित साक्षात् ब्रह्माजी वहाँ आये और इस प्रकार बोले—'विश्वामित्र! मैं तुम्हारी इस तपस्यासे सन्तुष्ट हूँ, वर माँगो!'

**विश्वामित्रजीने कहा**—देव! मुझे ब्राह्मणत्व प्रदान कीजिये।

**ब्रह्माजी बोले**—तुम तो क्षत्रियकी सन्तान हो, फिर तुममें ब्राह्मणत्व कैसे आ सकता है!

**विश्वामित्रजीने कहा**—देवदेवेश्वर! आप परम उत्तम ब्रह्मलोकमें पधारिये। मैं या तो शरीर त्याग दूँगा अथवा ब्राह्मणकी ब्राह्मणता प्राप्त करूँगा।

**तदनन्तर देवर्षियोंके मध्यमें खड़े हुए ऋचीक मुनि बोले**—देव! मैंने विश्वामित्रजीके जन्मके लिये जो चरु तैयार किया था, उसमें ब्राह्म-मन्त्रोंद्वारा अपरिमित ब्रह्मतेजकी स्थापना की थी। इस कारण ये क्षत्रिय-पुत्र होनेपर भी वास्तवमें ब्राह्मण हैं; इसलिये आप इन्हें 'ब्रह्मर्षि' कहिये, जिससे हमलोग भी इन्हें श्रेष्ठ द्विज कहें।

तब ब्रह्माजीने दीर्घकालतक विचार करके कहा—'विश्वामित्र! तुम निःसन्देह ब्रह्मर्षि हो।' तत्पश्चात् ऋचीक आदि सब देवर्षियोंने भी उन्हें 'ब्रह्मर्षि' स्वीकार किया। इसके बाद उन सबके मध्यमें खड़े हुए मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजीने कहा—'पितामह! विश्वामित्र क्षत्रियसे उत्पन्न हुए हैं, यह जानते हुए भी मैं इन्हें कदापि ब्राह्मण नहीं कहूँगा।' ऐसा कहकर वसिष्ठजी हाटकेश्वरक्षेत्रमें शंखतीर्थके समीप चले आये, जहाँ श्वेतद्वीपयुक्त पुण्यमयी ब्रह्मशिला विराजमान है। वहींपर सब पापोंको हरनेवाली शुभ सरस्वती नदी स्थित हैं। उसी सरस्वतीके तटपर आश्रम बनाकर वसिष्ठजी बड़ी भारी तपस्यामें संलग्न हो गये। विश्वामित्र भी उनका वध करनेके लिये वहीं आ पहुँचे और उनके आश्रमसे दूर दक्षिण दिशामें आश्रम बनाकर रहने लगे। वे प्रतिदिन उनके छिद्र ढूँढ़ा करते थे। बहुत दिनोंतक टिके रहनेपर भी उन्हें उनका कोई दोष नहीं दिखायी दिया। तब उन्होंने वसिष्ठजीके ऊपर आभिचारिक प्रयोग (मारण आदि) प्रारम्भ किया। इससे एक भयंकर शक्ति प्रकट हुई और बोली—'विप्रवर! आज्ञा दीजिये, मैं आपका कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ।'

**विश्वामित्र बोले**—मेरे महान् शत्रु वसिष्ठका वध करो।

विश्वामित्रजीके इस प्रकार आदेश देनेपर वह वसिष्ठजीके आश्रमपर जानेके लिये उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थित हुई। इसी समय वहाँ होनेवाले बड़े भारी उत्पातोंको देख महर्षि वसिष्ठने दिव्य दृष्टिसे सब कुछ जान लिया और अथर्ववेदके मन्त्रोंद्वारा उस कृत्याकी गतिको रोक दिया। तब वह शक्ति वसिष्ठजीसे इस प्रकार बोली—'मुने! सामवेद सब वेदोंमें प्रधान है। विश्वामित्रने सामवेदके मन्त्रोंद्वारा मेरी सृष्टि की है; अतः इसे अप्रामाणिक न होने दीजिये; मेरे प्रहारको सह लीजिये।'

**वसिष्ठजीने कहा**—शोभने! यदि ऐसी बात है तो तुम केवल मेरा स्पर्शमात्र कर लो; परंतु मर्मस्थानको न छूना।

तब विश्वामित्रजीकी छोड़ी हुई वह भयंकर शक्ति वसिष्ठजीके अंगोंका स्पर्शमात्र करके गिर पड़ी। इससे सन्तुष्ट होकर वसिष्ठजीने कहा—'महाभागे! जो मनुष्य परम श्रद्धासे युक्त होकर

चैत्रमासके शुक्ल पक्षकी अष्टमी तिथिको तुम्हारा पूजन करेंगे, वे वर्षभर नीरोग रहेंगे। अतः तुम्हें मेरे वचनसे सदा यहीं निवास करना चाहिये।' उनके इस प्रकार आदेश देनेपर वह शक्ति देवीके रूपमें वहीं स्थित हो नागर ब्राह्मणोंद्वारा पूजित होने लगी। उसका नाम धारा है, वह भक्तजनोंको सुख देनेवाली है।

जिस समय वसिष्ठजीने विश्वामित्रकी भेजी हुई शक्तिको स्तम्भित कर दिया, उस समय उसके अंगोंसे पसीना छूटने लगा। वह पसीना उसके पैरोंके मार्गसे प्रवाहित होकर शीतल जलके रूपमें परिणत हो गया और वहाँ उस जलसे भरा हुआ एक कुण्ड बन गया। वह जल परम पावन, स्वच्छ और निर्मल था। उसमें सब तीर्थोंसे सम्पन्न गंगाजी प्रत्यक्ष प्रकट हुईं। उनके जलसे भरे हुए शीतल कुण्डमें विधिपूर्वक स्नान करके जो पुरुष धारादेवीका दर्शन करता है, उसे धन, धान्य, पुत्र तथा राज्यका समस्त सुख प्राप्त होता है। धारादेवी नागर ब्राह्मणोंके साढ़े साठ गोत्रोंकी कुलदेवी हैं। इसीलिये नागरोंको साथ रखनेसे ही वहाँकी यात्रा सफल होती है। नागरोंके बिना की हुई जो यात्रा है, उससे परमेश्वरी धारा सन्तुष्ट नहीं होतीं।

सरस्वती नदी वसिष्ठजीकी प्राण-रक्षामें सहायक हुई थी, इसलिये विश्वामित्रजीने कुपित होकर शाप दे दिया कि 'तुम्हारा जल रक्तमय हो जायगा।' तबसे उसका जल रक्तमय हो गया। चण्डशर्मा आदि जितने भी तपस्वी वहाँ ठहरे थे, वे सब-के-सब बहुत दूर चले गये। मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठ भी अर्बुदाचलपर चले गये। ब्रह्मर्षि विश्वामित्र चमत्कारपुरमें गये और हाटकेश्वरक्षेत्रमें आश्रम बनाकर उन्होंने भयंकर तपस्या की। उस तपस्यासे उनमें सृष्टिरचनाकी शक्ति आ गयी, जिससे वे ब्रह्माजीके साथ होड़ करने लगे।

तदनन्तर किसी समय सरस्वती नदी अर्बुदाचलपर जाकर अत्यन्त दीन-दुःखी हो मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठसे बोली—'मुने! आपके ही लिये विश्वामित्रने क्रोधपूर्वक मुझे शाप दिया है, जिसके कारण मैं रक्त बहानेवाली नदी हो गयी और तपस्वीजनोंने मेरे तटपर रहना छोड़ दिया। अब मुझपर ऐसी कृपा कीजिये, जिससे मेरे प्रवाहमें फिर जल हो और रक्तराशिका नाश हो जाय।'

**वसिष्ठजी बोले**—भद्रे! मैं ऐसा यत्न करूँगा, जिससे तुम्हारे प्रवाहमें पुनः जल हो जाय तथा रक्तका निवारण हो।

ऐसा कहकर वसिष्ठजी उस पाकरके वृक्षकी जड़के समीप गये, जहाँसे सरस्वती नदी निकली थीं। वहाँ समाधि लगाकर धरतीपर बैठ गये और ब्राह्ममन्त्रका उच्चारण करते हुए वहाँकी भूमिको देखने लगे। तब धरतीको छेदकर दो छिद्रोंसे जलकी धाराएँ बह निकलीं। जलका एक स्रोत तो वहींसे प्रकट हुआ, जहाँ सरस्वतीका उद्गम हुआ था। वृक्षकी जड़से निकले हुए उस जलप्रवाहने सम्पूर्ण रक्तको बहा दिया, जिससे महानदी सरस्वती परम निर्मल हो गयीं। दूसरा प्रवाह जो संभ्रमवश उत्पन्न हुआ था, उससे भ्रमती नामसे विख्यात नदी हुई। इस प्रकार सरस्वती नदी पुनः अपने पूर्वस्वरूपको प्राप्त हुई थी।

## पंचपिण्डिका गौरी-पूजासे अमाकी सौभाग्यवृद्धि, अमाके पूर्वजन्मका चरित्र

**सूतजी कहते हैं**—पूर्वकालमें जयसेन नामसे विख्यात एक राजा हो गये हैं, जो काशी प्रदेशके शासक थे। उनके एक सहस्र स्त्रियाँ थीं। इनके अतिरिक्त उन्हें मद्रराज विष्वक्सेनकी सुन्दरी कन्या अमा भी पत्नीरूपमें प्राप्त हुई। अमा उन्हें बहुत प्रिय थी। वह प्रातःकाल उठकर गंगाजीके शुभ तटपर जाती और वहाँकी भीगी मिट्टी लेकर उसीकी पंचपिण्डात्मिका गौरी-मूर्ति बनाकर पाँच मन्त्रोंसे पूजा करती थी। प्रतिदिन इसी प्रकार विधिवत् पूजा सम्पन्न करके वह राजमहलमें लौट आती

थी। अमा जैसे-जैसे गौरीकी पूजा करती, वैसे-ही-वैसे उसके सौभाग्यकी वृद्धि होती जाती थी। प्रतिदिन उसीके सौभाग्यकी वृद्धि होती देख उसकी सौतोंको बड़ा दुःख होता था। वे कहती थीं—'इसने पूर्वजन्ममें पुण्य किये हैं। उन्हींका यह फल है।' इस प्रकार दुःखमें पड़ी हुई उसकी सौतोंका बहुत समय व्यतीत हो गया।

एक दिन सब सौतें आपसमें सलाह करके गंगातटपर उसके समीप गयीं, जहाँ वह पंचपिण्डिका गौरीकी पूजा करती थी। उन सबको वहाँ आयी देख अमा गौरीजीकी पूजा छोड़कर उनके सम्मुख गयी और हाथ जोड़कर बोली—'महाभाग्यवती देवियो! आपका बारंबार स्वागत है। आज्ञा दीजिये, मै आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ?'

**सौतें बोलीं**—हम सब लोग तुम्हारे सौभाग्यकी आगसे जली हुई हैं, इसलिये कौतूहलवश यहाँ आयी हैं। महाभागे! तुम प्रतिदिन जो पाँच पिण्डोंकी पूजा करती हो, उसीसे तुम्हारे सौभाग्यकी वृद्धि हो रही है या इसका कोई दूसरा कारण है?

**अमाने कहा**—आप सब लोग मेरी बड़ी बहिनें हैं, आपके प्रति मेरे मनमें तनिक भी ईर्ष्या नहीं है। अतः गोपनीय बात भी आपके सामने प्रकट करती हूँ। पूर्वजन्ममें मैं कुसुमपुरके वैश्य-पुत्र वीरसेनकी पुत्री थी। उन्होंने विवाहके समय धर्मपूर्वक मेरा दान किया। साथ ही प्रेमपूर्वक कहा कि 'पुत्री! जबतक तुम गौरीजीकी पूजा न कर लेना तबतक जल भी न पीना। इससे तुम्हें अभीष्ट मनोरथकी प्राप्ति होगी।' तब मैंने बहुत अच्छा कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार की। ससुराल आनेपर मैं गौरीजीकी पूजामें तत्पर हुई। प्रतिदिन पंचपिण्ड बनाकर उनकी पूजा करती और उन पिण्डोंका जलमें विसर्जन कर देती थी। कुछ कालके अनन्तर मेरे पति वाणिज्यके लिये देशान्तरमें जाने लगे। उस समय स्नेहवश उन्होंने मुझे भी साथ ले लिया। जेठके सूर्य तप रहे थे। भयंकर गरमी पड़ रही थी। ऐसे समयमें वैश्योंका वह समूह निर्जल मरुप्रदेशमें जा पहुँचा। वहाँ एक वृक्षके नीचे सबने विश्राम किया। मैंने देखा सब ओर जल लहरा रहा है। सोचा, पास ही इतना अधिक जल है, स्नान करके गौरीजीकी पूजा कर लूँ, फिर स्वादिष्ट जल पीऊँगी। यह विचार कर मैं क्रमशः एक-एक पग आगे बढ़ती गयी। वहाँ जल कहाँ, मृगतृष्णा थी। जितना ही दूर जाती, उतना ही दूर वह मृगतृष्णा दिखायी देती थी। अन्तमें प्याससे पीड़ित होकर मैं उस बालूमें गिर पड़ी और मेरे सब अंगोंमें फफोले पड़ गये। इसी समय महाभारतका एक प्रसंग मुझे याद आ गया। मुनिवर त्रितने जैसे पूजा की थी, उसी प्रकार मैं भी क्यों न गौरीकी पूजा कर लूँ। ऐसा सोचकर बालूकी पाँच मूठी लेकर मैंने पाँच मन्त्रोंसे देवीका पूजन किया; उसके बाद मेरी मृत्यु हो गयी। उसी पुण्यके प्रभावसे मैं दशार्ण देशके राजाके घर उत्पन्न हुई। इस जन्ममें भी मुझे पूर्वजन्मकी स्मृति बनी हुई है। गौरीदेवीके प्रसादसे ही मैं आपलोगोंसे छोटी होकर भी सौभाग्यमें बड़ी हूँ। इसीलिये पंककी पंचपिण्डा गौरी बनाकर प्रतिदिन पूजा करती हूँ। यह गुप्त रहस्य है, जो मैंने आपलोगोंपर प्रकट किया है। इस सत्यके प्रभावसे गौरीदेवी मेरा अभीष्ट सिद्ध करें।

**यह सुनकर सब सौतोंने हाथ जोड़कर विनयपूर्वक प्रणाम करके कहा**—बहिन! हमपर भी कृपा करो और उन पाँचों मन्त्रोंको हमें भी बताओ, जिससे परमेश्वरी गौरी प्रसन्न होती हैं।

**अमा बोली**—मैं सब बताती हूँ, सुनिये और सुनकर उसीके अनुसार आपलोग भी कीजिये।

उसके ऐसा कहनेपर सब सौतें मन, वाणी और क्रियाद्वारा उसकी शिष्या हो गयीं। तब उसने उन पाँच मन्त्रोंका उपदेश किया—

(१) **नमः पृथिव्यै क्षान्तीशि।** (२) **नमः आपोमये शुभे।** (३) **तेजस्विनि नमस्तुभ्यम्।** (४) **नमस्ते वायुरूपिणि।** (५) **आकाशरूप-सम्पन्ने पञ्चरूपे नमो नमः।**

(१) क्षमाकी अधीश्वरी देवि! पृथिवीरूपमें आपको नमस्कार है। (२) शुभे! आप ही जलरूपा हैं, आपको नमस्कार है। (३) तेजस्-तत्त्वकी स्वामिनि! आपको नमस्कार है। (४) वायुस्वरूपा देवि! आपको नमस्कार है। (५) आकाशरूपसे सम्पन्न पंचरूपा देवि! आपको बार-बार नमस्कार है।

इस प्रकार इन मन्त्रोंका उपदेश देकर अमाने पूजा पूरी की। तत्पश्चात् उसने गौरीदेवीकी रत्नमयी प्रतिमा निर्माण की और उसे हाटकेश्वरक्षेत्रमें स्थापित किया। जो नारी उस गौरी-प्रतिमाका पूजन करती है, वह सब पापोंसे मुक्त हो शीघ्र ही अपने पतिकी प्रिया होती है—उसे पूर्णतः पतिप्रेम उपलब्ध होता है।

## पूर्वजन्ममें अमारूपा लक्ष्मीदेवीके द्वारा पंचपिण्डिका गौरीकी उत्पत्ति एवं स्थापनाका वर्णन

**लक्ष्मीजी ( भगवान् विष्णुसे ) कहती हैं**—प्रभो! इस प्रकार पूर्वजन्ममें 'अमा' होकर मैंने गौरी-पूजाके प्रभावसे राज्य तथा उस परम सौभाग्यको प्राप्त किया, जो सम्पूर्ण युवतियोंके लिये दुर्लभ वस्तु है। तथापि मुझे कोई सन्तान नहीं प्राप्त हुई। एक समय मुनिवर दुर्वासाजी चातुर्मास्य व्रत करनेके लिये आनर्त-नरेशके भवनमें आये। राजाने उनका पूजन किया और कहा—'मुनिश्रेष्ठ! संसारमें मेरे समान धन्य दूसरा कोई नहीं है, क्योंकि आपके युगल चरणारविन्दोंको मस्तकद्वारा स्पर्श करनेका सौभाग्य आज मुझे प्राप्त हुआ है। बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?

**दुर्वासा बोले**—राजन् ! मैं तुम्हारे यहाँ रहकर विधिपूर्वक चातुर्मास्य व्रत सम्पन्न करूँगा। आप मेरी सेवा-शुश्रूषाकी व्यवस्था कर दें।

'बहुत अच्छा' कहकर महाराजने उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। सेवाका सारा भार मुझपर ही था। जैसे पुत्री पिताकी सेवा करती है, उसी प्रकार मुनिकी सेवाके योग्य जो कार्य था, वह सब मैंने स्वयं ही किया। चौमासा बीतनेपर जब मुनि जाने लगे, तब उन्होंने सन्तुष्ट होकर कहा—'बेटी! बताओ, मैं तुम्हारा कौन-सा अभीष्ट कार्य सिद्ध करूँ?' तब मैंने उनके चरणोंमें बारम्बार प्रणाम करके कहा—'ब्रह्मन्! मुझे कोई सन्तान नहीं है, जिस व्रत-नियम, दान अथवा होमसे मुझे सन्तान प्राप्त हो, वह बतानेकी कृपा करें।' मेरी बात सुनकर मुनिने बहुत देरतक ध्यान किया, इसके बाद मुसकराते हुए कहा—बेटी! पूर्वजन्ममें तपी हुई बालूसे तुमने पार्वतीजीका पूजन किया है। अतः भक्ति-भावसे राज्य पाकर भी तुम्हारे मनमें कुछ सन्ताप रह गया है। देवता न तो काठमें रहते हैं, न पत्थरमें और न मिट्टीमें ही रहते हैं, भावमें ही देवताका वास है। भावयुक्त मन्त्रके संयोगसे सर्वत्र देवताका सान्निध्य हो जाता है।* तुमने भक्तिपूर्वक मन्त्र-प्रयोग किया इससे गौरीदेवी वहाँ आ गयीं। फिर तपी हुई बालूसे तुमने उनका पूजन किया, इससे वे तापयुक्त हुईं; यही कारण है कि तुम्हें सर्वदा सन्ताप रहता है। अतः अब हाटकेश्वरमें जाकर ब्रह्म-रुद्रमयी गौरीदेवीकी पंचपिण्डी मूर्ति स्थापित करो। तत्पश्चात् जब सूर्यदेव वृषराशिपर स्थित हों, उस समय ग्रीष्मकालमें गौरीजीके ऊपर दिन-रात जलधारा गिरनेकी व्यवस्था करो। इससे ज्यों-ज्यों गौरीजीको ठण्डक लगेगी और ताप कम होगा, त्यों-ही-त्यों तुम्हारा मानसिक सन्ताप भी कम होता जायगा। इसके बाद तुम्हें गर्भ रहेगा और तुम पुत्र प्राप्त करोगी। तुम्हारा वह पुत्र राज्यका भार वहन करनेमें समर्थ, शूरवीर तथा तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध होगा। दूसरी कोई भी जो स्त्री इस प्रकार ज्येष्ठमासमें

* न देवो विद्यते काष्ठे पाषाणे मृत्तिकासु च। भावेषु विद्यते देवो मन्त्रसंयोगसंयुतः॥ (स्क० पु०, ना० खं १६८। १६-१७)

गौरीदेवीकी पूजा करेगी, वह भी तुम्हारी ही भाँति उत्तम फलकी भागिनी होगी।'

**लक्ष्मीदेवी कहती हैं**—तदनन्तर मैंने मुनीश्वर दुर्वासाजीसे पुनः कहा—'ब्रह्मन्! ऐसा कोई व्रत बताइये, जिसके सम्यक् पालनसे भविष्यमें मनुष्य-योनिमें जन्म न होकर देवभावकी प्राप्ति हो।' तब वे बहुत देरतक ध्यान करके बोले—'बेटी! गौरीजीको सन्तुष्ट करनेवाला एक उत्तम व्रत है, जिसका भलीभाँति अनुष्ठान करनेसे स्त्री देवीस्वरूपा हो जाती है। तुम उसी व्रतका अनुष्ठान करो, इससे देवभावको प्राप्त हो जाओगी।' मैंने पूछा—'मुने! किस-किस समय और किस-किस विधिसे उस व्रतका पालन करना चाहिये?'

**दुर्वासा बोले**—भाद्रपदमासके कृष्ण पक्षकी तृतीया तिथिको प्रातःकाल उठकर दाँतून करो। फिर स्नान आदिसे शुद्ध हो श्रद्धापूर्ण हृदयसे गौरीजीका नाम लेकर उन्हींकी प्रसन्नताके लिये उपवास व्रत करनेका नियम ग्रहण करे। तदनन्तर रात्रि प्रारम्भ होनेपर मिट्टीकी चार गौरीकी मूर्तियाँ बनावे और एक-एक पहरमें एक-एक मूर्तिकी पूजा करे। पहली गौरी पूर्वोक्त प्रकारसे पंचपिण्डीमयी ही बनानी चाहिये और प्रथम प्रहरमें उनकी इस प्रकार पूजा करनी चाहिये—

**आवाहन और नमस्कार**

**हिमाचलगृहे जाता देवि त्वं शंकरप्रिये।**
**मेनागर्भसमुद्भूता पूजां गृह्ण नमोऽस्तु ते॥**

'शिवप्रिया देवी गौरी! तुम गिरिराज हिमालयके घरमें मेनाके गर्भसे उत्पन्न हुई हो, यह पूजा स्वीकार करो, तुम्हें नमस्कार है।'

इस प्रकार प्रार्थना करके श्रद्धापूर्वक कर्पूरयुक्त धूप निवेदन करे। लाल सूतकी बत्ती बनाकर उसे घीमें डुबो दे और उसीका दीपक अर्पण करे। तत्पश्चात् चमेलीके फूलोंसे पूजा करके लड्डूका नैवेद्य निवेदन करे। नैवेद्यको लाल वस्त्रसे ढककर रखे। उसके बाद देवीको अर्घ्य दे। अर्घ्यमें उसी वृक्षका फूल डाले, जिसका दन्तधावन किया गया हो। फूल, जल, अक्षत और गन्ध आदिसे युक्त मातुलिंग (बिजौरा नीबू) लेकर निम्नांकित मन्त्रका उच्चारण करते हुए भक्तिपूर्वक अर्घ्य देना चाहिये—

**शंकरस्य प्रिये देवि हिमाचलसुते शुभे।**
**अर्घ्यमेनं मया दत्तं प्रतिगृह्ण नमोऽस्तु ते॥**

'भगवान् शंकरकी प्रियतमा तथा गिरिराज हिमवान्‌की पुत्री कल्याणमयी गौरीदेवी! मेरे द्वारा निवेदन किये हुए इस अर्घ्यको ग्रहण करो। तुम्हें सादर नमस्कार है।'

तदनन्तर शरीरशुद्धिके लिये मातुलिंग (बिजौरा नीबू)-का ही प्राशन (भोजन) करे। फिर दूसरे पहरके अन्तमें गौरीदेवीकी परम सुन्दर अर्धनारीश्वरकी मूर्तिकी निम्नांकित मन्त्रसे भक्तिपूर्वक पूजा करे—

**वामाङ्गार्धे शरीरस्य या हरस्य व्यवस्थिता।**
**सा मे पूजां प्रगृह्णातु तस्यै देव्यै नमोऽस्तु ते॥**

'जो भगवान् शंकरके श्रीअंगमें वामार्ध भागमें विराज रही हैं, वे गौरीदेवी मेरी पूजा ग्रहण करें, उनको नमस्कार है।'

इस प्रकार अभ्यर्थना करके अगुरुसहित धूप निवेदन करे। फिर भलीभाँति पूजा करके गुड़का नैवेद्य भोग लगावे। तत्पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रको पढ़कर नारियलके फलसे अर्घ्य देना चाहिये तथा शरीरशुद्धिके लिये नारियल ही खाना चाहिये।

**अर्घ्य-मन्त्र**

**अर्धनारीश्वरौ यौ च संस्थितौ परमेश्वरौ।**
**अर्घ्यो मे गृह्यतां देवौ स्यातां सर्वसुखप्रदौ॥**

'अर्धनारीश्वररूपसे स्थित परमेश्वर शिव और पार्वती देवी! आप दोनों मेरे इस अर्घ्यको ग्रहण करें और सब प्रकारका सुख देनेवाले हों।'

तदनन्तर तीसरा पहर आनेपर शतपत्रीसे शिव-पार्वतीका पूजन करके प्रार्थना करे—

**उमामहेश्वरौ देवौ यौ तौ सृष्टिलयान्वितौ।**
**तौ गृह्णीतामिमां पूजां मया दत्तां प्रभक्तितः॥**

'सृष्टि और संहारकी शक्तिसे युक्त जो पार्वतीदेवी और महादेवजी हैं, वे भक्तिपूर्वक दी हुई मेरी इस पूजाको स्वीकार करें।'

इसके बाद गुग्गुलका धूप दे। नैवेद्य समर्पित

करे। चमेली और जलका अर्घ्य देकर उसीका प्राशन करे। अथवा नागरमोथाके चूर्णसे धूप और मैनफलसे अर्घ्य देना चाहिये और शरीर-शुद्धिके लिये उसीका आहार करना चाहिये।

**अर्घ्य-मन्त्र**

**उमामहेश्वरौ देवौ सर्वकामसुखप्रदौ।**
**गृह्णीतामर्घ्यदानं मे दयां कृत्वा महत्तमाम्॥**

'सम्पूर्ण कामनाओं और सुखोंको देनेवाले भगवान् शिव और पार्वतीदेवी मुझपर बड़ी भारी दया करके अर्घ्यदानको ग्रहण करें।'

चौथा पहर आनेपर निम्नांकित मन्त्रद्वारा भृंगराज-पुष्प (भँगरैयाके फूल)-से पंचपिण्डिका गौरीकी भक्तिपूर्वक पूजा करके इस प्रकार अभ्यर्थना करे—

**पृथिव्यादीनि भूतानि यानि प्रोक्तानि पञ्च च।**
**यस्या रूपाणि देवेशि पूजां गृह्ण नमोऽस्तु ते॥**

'देवेश्वरि! पृथ्वी आदि जो पाँच भूत बताये गये हैं, वे सब तुम्हारे स्वरूप हैं, तुम्हें नमस्कार है। इस पूजाको ग्रहण करो।'

इसके बाद निम्नांकित मन्त्रसे अर्घ्य दे—

**पञ्चभूतमयी देवी पञ्चधा च व्यवस्थिता।**
**अर्घ्यमेनं मया दत्तं सा गृह्णातु सुरेश्वरी॥**

'पंचभूतस्वरूपा गौरीदेवी पाँच मूर्तियोंमें स्थित हैं, वे देवेश्वरी मेरे दिये हुए इस अर्घ्यको ग्रहण करें।'

इस प्रकार अर्घ्य देकर गीत-वाद्य और कीर्तन आदिकी ध्वनिके साथ सम्पूर्ण रात्रि व्यतीत करे। नींद न ले। फिर निर्मल प्रभातकालमें सूर्योदय होनेपर स्नान करके ब्राह्मणदम्पतिका भक्तिपूर्वक पूजन करे। राजकुमारी! इसके बाद हथिनी या घोड़ी मँगाकर उसीपर चारों गौरी-विग्रहोंकी सवारी निकाले। साथ-साथ गीत, वाद्य, मंगल-ध्वनि तथा वेदमन्त्रोंका उच्चारण होता रहे। किसी नदी या तालाबके समीप ले जाकर उसीमें उन विग्रहोंका विसर्जन करे।

**विसर्जन-मन्त्र**

**आहूतासि मया देवि पूजितासि मया शुभे।**
**मम सौभाग्यदानाय यथेष्टं गम्यतामिति॥**

'कल्याणमयी देवि! मैंने आपका आवाहन और पूजन किया है, अब आप मुझे सौभाग्य प्रदान करनेके लिये इच्छानुसार पधारें।'

**लक्ष्मीदेवी कहती हैं**—प्रभो! इस प्रकार पूर्वजन्ममें मैंने भाद्रपद मासकी उस तृतीयको भक्तिपूर्वक गौरीदेवीका व्रत किया और द्वितीय तथा तृतीय प्रहरमें जब मैंने उनके श्रीविग्रहकी ओर देखा, तब वे रत्नमयी हो गयी थीं। उनका श्रीविग्रह सब ओरसे प्रकाशपुंजसे परिपूर्ण हो रहा था। जब विसर्जन करनेके उद्देश्यसे मैं नदी-तटपर गयी, तब मेरे मनमें संकल्प-विकल्प होने लगा, विसर्जन करूँ या न करूँ?' इतनेमें सुरेश्वरी गौरीने प्रकट होकर कहा—'बेटी! तुम इस जलमें मेरी भावनामात्र कर लो, फिर इस विग्रहको ले चलकर हाटकेश्वरक्षेत्रमें स्थापित करो। इस समय तुम्हारे मनमें जो-जो इच्छा हो, उसके अनुसार वर माँगो।' मैंने कहा—'देवि! मैं मनुष्ययोनिमें किसी प्रकार जन्म न लूँ, भगवान् विष्णु मेरे पति हों।' तब 'तथास्तु' कहकर पार्वती देवी अन्तर्धान हो गयीं। इसके बाद मैंने हाटकेश्वर क्षेत्रमें चारों गौरी-विग्रहोंका स्थापन किया। उसीके प्रभावसे मुझे आप साक्षात् भगवान् ही पतिरूपमें प्राप्त हुए हैं, जो कि सनातन, अविनाशी एवं सदा मेरे ऊपर स्नेहदृष्टि रखनेवाले हैं।

**सूतजी कहते हैं**—भगवती लक्ष्मीजीके मुखसे उनके पूर्वजन्मका यह वृत्तान्त सुनकर शंख, चक्र, गदा धारण करनेवाले भगवान् विष्णु बहुत प्रसन्न हुए। द्विजवरो! जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर इस चरित्रको भक्ति-भावसे पढ़ता है, उसका कभी लक्ष्मीसे वियोग नहीं होता तथा कभी उसे दुर्भाग्यका दिन नहीं देखना पड़ता।

# हाटकेश्वरक्षेत्रमें तीनों पुष्करतीर्थोंके आगमनका वृत्तान्त

**ऋषियोंने पूछा**—सूतजी! सुना जाता है, त्रिभुवनविख्यात पुष्कर नामक तीर्थ साक्षात् ब्रह्माजीके द्वारा निर्मित हुआ है। उसका प्रमाण एक योजन है। हम जानना चाहते हैं, हाटकेश्वरक्षेत्रमें उस तीर्थका प्रादुर्भाव कैसे हुआ?

**सूतजीने कहा**—महर्षियो! स्वयम्भू ब्रह्माजीको नमस्कार करके मैं पुष्करके प्रादुर्भावका वृत्तान्त सुनाता हूँ। एक समयकी बात है, देवर्षि नारदजी तीनों लोकोंमें भ्रमण करके ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीके समीप गये और उन्हें प्रणाम करके उनके आगे विनीतभावसे बैठे।

**तब ब्रह्माजीने पूछा**—वत्स! इस समय तुम कहाँसे आये हो?

**नारदजीने कहा**—प्रभो! इस समय मर्त्यलोकसे आया हूँ।

**ब्रह्माजीने पूछा**—मर्त्यलोकका क्या समाचार है? वहाँके लोग क्या बातें करते हैं?

**नारदजीने कहा**—सुरश्रेष्ठ! इस समय मर्त्यलोकमें कलिका राज्य है। वहाँके राजा सन्मार्ग त्यागकर लोभके वशीभूत हो गये हैं और धनके लिये अत्यन्त निर्दयतापूर्वक प्रजाको पीड़ा देते हैं। उनमें शूरता-वीरताका तो नाम नहीं है। सब परायी स्त्रियोंका सतीत्व नष्ट करते हैं। वे ब्राह्मण, गुरु, देवता तथा पितरोंका भी पूजन नहीं करते। ब्राह्मण भी शौचाचारसे रहित हो वेद बेचते, दूसरोंसे दान लेनेमें आसक्त रहते, सन्ध्या नहीं करते, दयाहीन बर्ताव करते तथा वैश्योंकी भाँति सदा कृषिकर्म और पशुपालनमें संलग्न रहते हैं। भूतलपर सब वैश्योंका उच्छेद हो गया है। शूद्र सदा धर्मानुष्ठानकी कामना रखते और तपस्यामें तत्पर रहते हैं। जिसके घरमें धन है, युवती स्त्रियाँ हैं, उसीके साथ सब लोग मित्रता करते हैं। समस्त तीर्थ और आश्रम कलियुगके भयसे दसों दिशाओंमें भागते हैं। स्त्रियाँ अपने पतिके साथ विवाद करती हैं, पतिकी सेवा आदि छोड़कर मनमाने व्रत करती हैं। इस समय मर्त्यलोकमें मैंने सास-पतोहू, पिता-पुत्र, भाई-भाई, स्वामी-सेवक, चोर-राजा तथा पति-पत्नीमें कलह होते देखे हैं। मेघ थोड़ा जल बरसाते हैं। पृथ्वीपर खेतीकी उपज बहुत कम हो गयी है। गौएँ बहुत थोड़ा दूध देने लगी हैं और उनके दूधमें घीका सर्वथा अभाव हो गया है। इस प्रकार वहाँका कलह देखते-देखते मेरा चित्त उद्भ्रान्त-सा हो उठा था, इसलिये मैं यहाँ आया; अब फिर वहीं जानेका विचार हो रहा है।

नारदजीकी यह बात सुनकर ब्रह्माजी यह विचार करने लगे कि—'मर्त्यलोकमें मेरा पुष्कर नामक तीर्थ भी है, जो कलिकालसे व्याप्त होकर नष्ट हो जायगा, अतः मैं उसे किसी दूसरे तीर्थमें ले जाऊँगा, जहाँ कलियुगका प्रवेश नहीं होता।' ऐसा निश्चय करके पितामहने कमल हाथमें लेकर कहा—'हे पद्म! तुम पृथ्वीपर उस स्थानमें गिरो जहाँ कलियुग न हो।' ब्रह्माजीसे प्रेरित हुआ कमल समूची पृथ्वीपर घूमकर हाटकेश्वरक्षेत्रमें गिरा। जहाँ पहले गिरा, वहाँसे उछलकर वह दूसरे स्थानपर गिरा और फिर वहाँसे भी उछलकर तीसरे स्थानपर जा गिरा। अतः उन तीनों स्थानोंपर तीन कुण्ड हो गये। उन तीनों कुण्डोंमें स्फटिक-मणिके समान स्वच्छ जल भर गया। इसी समय साक्षात् पितामह ब्रह्माजी भी वहाँ आ पहुँचे। हाटकेश्वरक्षेत्रका दर्शन करके वे भूतलपर बैठे और बहुत समयतक ध्यान करके ज्येष्ठ, मध्य तथा कनिष्ठ तीनों पुष्करोंको वहाँ ले आये। तत्पश्चात् वे प्रसन्नचित्त होकर बोले—'मैं कलिकालके भयसे इन तीनों पुष्करोंको यहाँ लाया हूँ। जो मनुष्य परम श्रद्धापूर्वक यहाँ स्नान करेंगे, वे अविनाशिनी उत्तम सिद्धिको प्राप्त होंगे। जो लोग एकाग्रचित्त हो यहाँ कार्तिककी पूर्णिमाको स्नान और गयाशीर्षमें श्राद्ध करेंगे, उनको बड़ा भारी पुण्य प्राप्त होगा।'

# अतिथि-सत्कारका माहात्म्य

**ऋषि बोले**—महाभाग सूतजी! आप हमें अतिथिसत्कारका उत्तम माहात्म्य विस्तारपूर्वक बताइये।

**सूतजीने कहा**—मुनीश्वरो! आप सब लोग इस उत्तम माहात्म्यको श्रवण करें। गृहस्थोंके लिये अतिथि-सत्कारसे बढ़कर दूसरा कोई महान् धर्म नहीं है। अतिथिसे महान् कोई देवता नहीं है; अतिथिके उल्लंघनसे बड़ा भारी पाप होता है। जिसके घरसे अतिथि निराश होकर लौट जाता है, उसे वह अपना पाप देकर और उसका पुण्य लेकर चल देता है। जो अतिथिका आदर नहीं करता, उसके सौ वर्षोंके सत्य, तप, स्वाध्याय, दान और यज्ञ आदि सभी सत्कर्म नष्ट हो जाते हैं। जिसके घरपर दूरसे प्रसन्नतापूर्वक अतिथि आते हैं, वही गृहस्थ कहा गया है; शेष सब लोग तो गृहके रक्षकमात्र हैं*। जिन्होंने पूर्वजन्ममें पुण्य किये हैं, उन्हीं मनुष्योंके यहाँ इस पृथ्वीपर श्राद्ध, दान और अतिथिके लिये मधुर वचन—ये तीन प्रकारके सत्कर्म होते हैं। अतिथिको सन्तुष्ट करनेसे गृहस्थके ऊपर सब देवता सन्तुष्ट रहते हैं और अतिथिके विमुख होनेपर सम्पूर्ण देवता भी विमुख हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है। इसलिये गृहस्थको चाहिये कि वह सदा अतिथिको सन्तुष्ट करे। यदि वह अपने लिये पुण्य चाहता है तो आत्मदान करके भी अतिथिको प्रसन्न रखे। द्विजवरो! गृहस्थके लिये तीन प्रकारके अतिथि बताये गये हैं—श्राद्धीय, वैश्वदेवीय तथा सूर्योद। पितरोंके लिये श्राद्ध और ब्राह्मण-भोजनका संकल्प हो जानेपर जो श्राद्धकालमें स्वतः आ जाता है, उसे श्राद्धीय अतिथि कहते हैं। जो दूरका रास्ता तै करके थका-माँदा बलिवैश्वदेवकर्मके समय (मध्याह्नकालमें) आता है, उस अभ्यागतको वैश्वदेवीय अतिथि जानना चाहिये। पहलेका आया हुआ 'वैश्वदेवीय' अतिथि नहीं कहलाता। प्रिय हो या द्वेषपात्र, मूर्ख हो या पण्डित, यदि वैश्वदेवकालमें आया है, तो वह स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला अतिथि है। उसके गोत्र, चरण (शाखा), स्थान और वेद आदिके विषयमें न पूछे। केवल यज्ञोपवीत देखकर भक्तिपूर्वक भोजन करावे। तीसरा अतिथि सूर्योद वह है, जो दिनमें या रातमें भोजनके बाद घरपर आता है। उसके लिये भी गृहस्थको यथाशक्ति अन्नदान करना चाहिये। जिसके घरपर आया हुआ सूर्योद अतिथि सत्कार प्राप्त किये बिना निराश लौट जाता है, वह उसे अपना पातक देकर चला जाता है। तृण, भूमि, जल और चौथा मीठा वचन—ये सब वस्तुएँ सत्पुरुषोंके घरमें कभी समाप्त नहीं होतीं। अतिथिका स्वागत करनेसे गृहस्थको सदा तृप्ति बनी रहती है। उसे आसन देनेसे स्वयम्भू ब्रह्माजी प्रसन्न होते हैं। अर्घ्य प्रदान करनेसे शिवजी सन्तुष्ट होते हैं। पाद्य देनेसे इन्द्र आदि देवता प्रसन्न रहते हैं तथा उसे भोजन देनेसे भगवान् विष्णु सन्तुष्ट होते हैं। अतिथि सम्पूर्ण देवताओंका स्वरूप होता है; अतः सदा उसका पूजन करना और विशेषतः उसे भोजन देना चाहिये। अतिथि न मिले तो अतिथिके नामसे किसी दूसरे ब्राह्मणको ही गृहस्थ पुरुष भोजन करावे।

---

* अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते। स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति॥
सत्यं तथा तपोऽधीतं दत्तमिष्टं शतं समाः। तस्य सर्वमिदं नष्टमतिथिं यो न पूजयेत्॥
दूरादतिथयो यस्य गृहमायान्ति निर्वृताः। स गृहस्थ इति प्रोक्तः शेषाश्च गृहरक्षिणः॥
(स्क० पु०, ना० उ० १७६। ४—७)

# हाटकेश्वरक्षेत्रमें पुष्करके प्राकट्यका वार्षिक समय, उसकी महिमा तथा ब्रह्मज्ञानसाधक दो तीर्थोंका माहात्म्य

**ब्रह्माजी बोले**—ब्राह्मणो! पृथ्वीपर नैमिषारण्य, अन्तरिक्षमें पुष्कर और तीनों लोकोंमें कुरुक्षेत्रकी विशेष स्थिति मानी गयी है। मेरे आदेशसे पाँच रातके लिये पुष्कर क्षेत्र इस पृथ्वीपर अवश्य आवेगा। कार्तिक शुक्ल पक्षमें एकादशीसे लेकर पूर्णिमातक पाँच राततक यहाँ पुष्करतीर्थका वास होगा। इन पाँच रात्रियोंमें जो स्नान करेगा अथवा श्रद्धापूर्वक श्राद्धका अनुष्ठान करेगा, उसका वह पुण्यकर्म अक्षय होगा। मैं भी उस समय ब्रह्मलोकसे आकर पाँच राततक इस तीर्थमें निवास करूँगा।

**ब्राह्मणोंने कहा**—प्रपितामह! हम इस स्थानमें आपकी मूर्ति स्थापित करेंगे। अतः प्रभो! आपको सदा यहाँ शुभागमन करना चाहिये। साथ ही आपका पुष्करतीर्थ भी सदाके लिये यहाँ आकाशसे उतर आवे। समस्त लोकोंके पापोंका नाश करनेके लिये उस स्वयंनिर्मित तीर्थको आप अवश्य यहाँ ले आवें।

**ब्रह्माजी बोले**—मन्त्रोच्चारणपूर्वक आवाहन करनेपर वह श्रेष्ठ पुष्करतीर्थ आकाशमार्गसे हाटकेश्वरक्षेत्रमें उतर आवेगा। जो द्विज इस तीर्थमें आकर स्नानपूर्वक मेरी मूर्तिके आगे बैठकर पैल और मैत्रेयका स्मरण करके चारों समय अघमर्षण मन्त्रका जप करेगा, उसके उस जप और मन्त्र-पाठको मैं ब्रह्मलोकसे आकर सुनूँगा।

**ऋषियोंने पूछा**—सूतनन्दन! मरणधर्मा मनुष्योंको ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति कैसे होगी?'

**सूतजीने कहा**—ब्रह्मर्षियो! मुझमें ऐसी क्या शक्ति है, जो इस विषयका वर्णन कर सकूँ। परंतु हाटकेश्वरक्षेत्रमें दो शुभ तीर्थ हैं, जो मनुष्योंको ब्रह्मज्ञान प्रदान करनेवाले हैं। शूद्री और ब्राह्मणी दो कुमारियोंने उन दोनों तीर्थोंको प्रकट किया है। जो मनुष्य अष्टमी और चतुर्दशीको उन दोनों तीर्थोंमें स्नान करता है, फिर भक्तिपूर्वक कुमारीद्वारा पूजित और कुण्डके भीतर स्थित युगल पादुकाओंका पूजन करता है, उसे एक वर्ष बीतनेपर ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। वे पादुकाएँ मोक्षकी इच्छा रखनेवाले लोगोंको ब्रह्मज्ञानका सुख देनेवाली हैं और आत्मज्ञानकी पुष्टिके लिये शक्तिसे स्थापित की गयी हैं। मेरे पिताजी उस तीर्थमें गये और ज्ञानवान् हो गये। उन्हींकी आज्ञासे मैंने भी वहाँ जाकर एक वर्षतक निवास और पादुकाओंका पूजन किया, इससे मुझे ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी। लोकमें पुराणसम्बन्धी जितना भी साहित्य है, सबका मुझे ज्ञान है। यदि आपलोगोंको भी मोक्ष पानेकी इच्छा हो, तो वहीं जाइये। पुनरागमनके चक्रमें डालनेवाले इन स्वर्गसाधक यज्ञोंसे क्या लेना है? आपलोग वहीं जाकर मनुष्योंको सिद्धि प्रदान करनेवाली उन पादुकाओंकी आराधना करें, जिससे वर्षके अन्तमें ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाय।

**ऋषि बोले**—महाभाग सूतजी! आपको धन्यवाद। आपने आज बहुत अच्छा उपदेश दिया; इसके द्वारा हमें संसार-सागरसे तार दिया। हमारा यह यज्ञ बारह वर्षोंतक चलनेवाला है, इसके समाप्त होते ही हम सब लोग वहाँ जायँगे, इस बातका हमने भलीभाँति निश्चय कर लिया है।

# ब्राह्मणकन्या और राजकन्याका अनुपम प्रेम, राजकुमारीका दशार्णराजके साथ विवाहका निश्चय

**ऋषियोंने पूछा**—सूतजी! आपने हाटकेश्वरक्षेत्रमें जिन दो शूद्रीतीर्थ और ब्राह्मणीतीर्थकी चर्चा की है, उनका निर्माण किसके द्वारा हुआ?

**सूतजीने कहा**—छान्दोग्य नामसे प्रसिद्ध एक श्रेष्ठ ब्राह्मण थे। जो सामवेदके ज्ञाता होनेके साथ ही गृहस्थाश्रम-धर्मके पालनमें तत्पर रहते थे। उनके बुढ़ापेमें एक कन्या उत्पन्न हुई, जो विशाल नेत्रोंवाली और मनुष्योंका मन मोहनेवाली थी। जिस दिन महात्मा छान्दोग्यके कन्या हुई, उसी दिन आनर्त देशके शूद्र जातीय नरेशके घरमें भी एक कन्याका जन्म हुआ। वह भी ब्राह्मण-कन्याकी ही भाँति परम सुन्दरी थी। यद्यपि उसका जन्म रातमें हुआ, तथापि उसने अपनी अंगकान्तिसे सम्पूर्ण सूतिकागृहको प्रकाशित कर दिया, मानो रत्नराशिकी प्रभासे सारा घर उद्भासित हो उठा हो। इसीलिये राजकुमारीके पिताने उसका नाम रत्नवती रखा। उस राजकन्या और ब्राह्मणकुमारीमें सखीका सम्बन्ध हुआ। वे निरन्तर साथ-साथ रहती थीं, कभी उनमें वियोग नहीं होता था। एक आसन, एक शय्या और एक-से अन्नका भोजन उन दोनोंको साथ-साथ प्राप्त होता था।

ब्राह्मण-कन्याकी आयु जब आठ वर्षकी हुई, तब उनके पिताने उसके विवाहके लिये वर ढूँढ़ना प्रारम्भ किया। पिताका यह प्रयत्न देखकर कन्याको दुःख हुआ। सखीसे वियोग न हो जाय, इस डरसे उसने सब बात रत्नवतीसे कही—'सखी! अब पिताजी मेरा विवाह करेंगे। विवाह हो जानेपर मेरा-तुम्हारा साथ कभी नहीं होगा।' राजकुमारी यह वज्रपातके समान दुःसह वचन सुनकर सखीके गलेसे लिपट गयी और स्नेहसे विकल होकर रोने लगी।

**पुत्रीका रुदन सुनकर उसकी माता मृगावती सहसा वहाँ आयी और बोली**—बेटी! क्यों रोती हो। किसने तुम्हारा दिल दुखाया है?

**रत्नवती बोली**—मा! यह ब्राह्मण-कन्या मुझे प्राणोंके समान अत्यन्त प्रिय है। अतः इसका विवाह होगा और यह कल्याणी अपने पतिके घर चली जायगी। इससे अलग होकर मैं किसी प्रकार जीवित नहीं रह सकती। देवि! इसी कारणसे मैं दुःखी होकर रोती हूँ।

**मृगावतीने कहा**—बेटी! यदि ऐसी बात है तो मैं तुम्हारी इस प्रिय सखीका विवाह वहीं करूँगी, जिससे इसके साथ तुम्हारा मिलना-जुलना हो सके।

ऐसा कहकर रानी मृगावतीने द्विजश्रेष्ठ छान्दोग्यको बुलवाकर विनयपूर्वक प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'ब्रह्मन्! आपकी पुत्री मेरी राजकुमारी रत्नवतीको अत्यन्त प्यारी है, इसलिये मेरी कन्या जब किसी राजाके साथ ब्याही जाय, उस समय उसके पुरोहितसे आप अपनी कन्याका विवाह कर दें, जिससे ये दोनों एक-दूसरीसे विलग न हों; एक स्थानपर प्रसन्नतापूर्वक रह सकें।'

**छान्दोग्य बोले**—देवि! नागर ब्राह्मणोंने यह मर्यादा बाँध रखी है कि जो नागर, नागर ब्राह्मणके सिवा दूसरे किसी ब्राह्मणको कन्या देता है अथवा नागरके अतिरिक्त अन्य किसी ब्राह्मणकी कन्या ग्रहण करता है, वह पंक्तिदूषक है। इस पापके कारण उसे यहाँ निवास करनेका अधिकार नहीं है। अतः मैं अपनी कन्या नागरको छोड़कर किसी दूसरे ब्राह्मणको नहीं दूँगा।

**यह सुनकर ब्राह्मणकन्याने कहा**—पिताजी! यदि ऐसी बात है तो मैं कुमारी एवं ब्रह्मचारिणी रहूँगी। विवाहके लिये घर नहीं चलूँगी। जहाँ मेरी प्यारी सखी ब्याही जायगी, वहीं इसके साथ जाऊँगी। यदि आप बलपूर्वक हठसे मेरा विवाह करेंगे तो विष खा लूँगी अथवा आगमें जल मरूँगी। मेरे इस निश्चयको जानकर आपको जो उचित प्रतीत हो, वह कीजिये।

कन्याका यह निश्चय जानकर ब्राह्मण दुःखी हो उसे वहीं छोड़कर घर लौट गये। वह पिताका स्नेह त्यागकर राजकुमारीके साथ प्रसन्नतापूर्वक रहने और क्रीडा करने लगी। इधर आनर्तनरेशने भी अपनी पुत्रीको विवाहके योग्य हुई जानकर मन-ही-मन कहा—अब मैं अपनी पुत्रीका योग्य वरके साथ विवाह करूँगा। जो किसी कार्य-कारणसे या लोभवश अयोग्य वरके साथ अपनी कन्याका विवाह कर देता है, वह नरकमें जाता है*। इस प्रकार योग्य वरका अनुसन्धान करते हुए उनका बहुत समय व्यतीत हो गया, तथापि उन्हें अपनी कन्याके योग्य उत्तम वर नहीं दिखायी दिया। तब राजाने विश्वविख्यात चित्रकारोंको बुलवाया और उन्हें भेजते हुए कहा—'तुमलोग मेरे आदेशसे जाओ और भूतलके समस्त राजाओंका चित्रपट तैयार करके ले आओ। वे सब चित्र मेरी पुत्रीको दिखाओ, जिससे वह उन्हींमेंसे किसी अभीष्ट पतिका चुनाव स्वयं कर ले, इससे मुझे दोष नहीं लगेगा।'

राजाका यह वचन सुनकर सब चित्रकार पृथ्वीपर रहनेवाले सम्पूर्ण राजाओंके घर गये। जो राजा तरुण, रूप, उदारता आदि गुणोंसे युक्त एवं योग्य थे, उन सबका चित्र बनाकर ले आये। उन सब चित्रोंको क्रमशः उन्होंने रत्नवतीके आगे रखकर दिखाया। रत्नवतीने उन सब चित्रोंमेंसे राजा बृहद्बलको पसंद किया और कहा—'मैंने दशार्णराज बृहद्बलको पति बनानेके लिये वरण किया।' यह सुनकर आनर्तनरेश बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने दशार्णराजके यहाँ दूतोंको भेजा और उनसे कहा—तुम सब लोग राजा बृहद्बलसे विनयपूर्वक कहना—राजन्! आप विवाहके लिये आनर्तनरेशके यहाँ चलें, वे आपके साथ अपनी त्रिभुवनसुन्दरी कन्या रत्नवतीका विवाह करेंगे।'

राजाका यह आदेश पाकर दूत शीघ्र ही दशार्णराजके यहाँ गये और आनर्तनरेशका सन्देश कह सुनाया। सुनकर राजा बृहद्बलको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने अपनी विशाल सेना साथ ले आनर्त-राजधानीकी ओर प्रयाण किया।

## परावसुके द्वारा मद्यपानका प्रायश्चित्त, राजकन्या रत्नवती और परावसुका सुदृढ़ आत्मसंयम

**सूतजी कहते हैं**—उन्हीं दिनों चमत्कारपुरमें विश्वावसु नामसे प्रसिद्ध एक नागर थे, जो वेद-वेदांगोंके पारंगत विद्वान् थे। उन्हें प्रौढ़ावस्थामें एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो प्राणोंके समान प्रिय था। उसका नाम परावसु था। वह युवावस्था प्राप्त होनेपर इष्ट-मित्रोंके साथ वेदोंका स्वाध्याय करने लगा। किसी समय माघमास आनेपर परावसु अपने अध्यापकके घर अध्ययन करता था। वह रातको भी वहीं रहता था। एक दिन आधी रातको वह चुपकेसे उठा और अपने सहपाठियोंसे छिपकर वेश्याके घरमें जा उसीके साथ सो गया। जब थोड़ी-सी रात बाकी रही, तब उसे बड़े जोरकी प्यास लगी। नींदके आलस्यमें ही उठकर उसने चारपाईके नीचे रखे हुए वेश्याके मदिरापात्रको उठा लिया और पानीके भ्रमसे मदिराको ही पी लिया। मुँहमें पड़ते ही उसे मद्यका ज्ञान हो गया और उस पात्रको फेंककर वह बहुत दुःखी हुआ। उसके मनमें बड़ी घृणा उत्पन्न हुई और वह इस प्रकार पश्चात्ताप करने लगा—अहो! मैंने नींदके आलस्यमें यह कैसा अपकर्म कर डाला; जलके धोखेमें अत्यन्त निन्दित मद्यको ही मुँहमें डाल लिया। क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? कैसे मेरी शुद्धि होगी? अब मैं इसके लिये अत्यन्त दुष्कर प्रायश्चित्त भी करूँगा।'

* अनर्हाय च यो दद्याद्वरय निजकन्यकाम्। कार्यकारणलोभेन नरकं स प्रगच्छति॥ (स्क० पु०, ना० उ० १८६। २-३)

मन-ही-मन ऐसा निश्चय करके प्रातःकाल उसने शंखतीर्थमें जाकर शिखासहित मुण्डन कराया और स्नान किया। इसके बाद शीघ्र ही उस स्थानपर गया, जहाँ वेद-विद्यालयमें शिष्यों-सहित उपाध्याय वेदमन्त्रोंका पाठ कर रहे थे। वहाँ पहुँचकर परावसु दूर ही बैठा। उसके सहपाठियोंने जब उसे दाढ़ी-मूछसे रहित देखा, तब वे हँसी करते हुए हाथोंसे बार-बार उसके मस्तकपर ठोंकने लगे। उपाध्यायने उसे इस दशामें देखकर आदरपूर्वक पूछा—'वत्स! तुम ऐसे क्यों हो रहे हो? आओ मेरे निकट बैठो, बताओ, किसने तुम्हारा अपमान किया है।'

**परावसु बोला**—गुरुदेव! अब मैं आपकी सेवाके योग्य नहीं रहा। वेश्याके घरमें गया था। वहाँ अपना कमण्डलु समझकर उसके मदिरापात्रको मुँहमें लगा लिया। अतः मेरी शुद्धिके लिये मद्य-पानका प्रायश्चित्त बताइये।

तब गुरुके समीप बैठे हुए धृष्ट छात्रोंने उसकी हँसी उड़ाते हुए कहा—'राजकन्या रत्नवतीके स्तन पकड़कर जब उसके अधर पान करोगे, तब शुद्धि होगी, अन्यथा नहीं।'

**परावसु बोला**—मित्रो! मैं संकटमें पड़ा हूँ। यह मेरे साथ परिहासका समय नहीं है। यदि तुम्हारा मुझपर स्नेह हो तो अन्य ब्राह्मणोंको बुलाकर मेरे लिये कोई प्रायश्चित्त बताओ।

तब वे मित्र परिहास छोड़कर उसके दुःखसे दुःखी हुए और विश्वावसुके समीप जाकर उन्होंने सब बातें बतायीं। यह सुनकर विश्वावसु अपनी पत्नीके साथ वहाँ आये और शोकसे व्याकुल होकर बोले—'हाय! बेटा! तुमने यह क्या किया? परावसुने अपना सब वृत्तान्त कह सुनाया और अपना विचार प्रकट किया—'मैं अपनी शुद्धिके लिये प्रायश्चित्त करूँगा।' तब विश्वावसुने वेदों तथा धर्मशास्त्रोंके विद्वान् ब्राह्मणोंको बुलवाया। परावसुने हाथ जोड़कर खड़े हो आदिसे ही अपना सब वृत्तान्त उनको बताया—'मैंने रातमें अपना कमण्डलु समझकर वेश्याके मदिरापात्रको मुँहसे लगा लिया; अतः मुझे यथायोग्य प्रायश्चित्त दें, जिससे मेरी शुद्धि हो।' यह सुनकर स्मृतिके ज्ञाता विद्वानोंने धर्मशास्त्र देखकर कहा—जो ब्राह्मण जान-बूझकर मदिरापान करता है, वह उस मदिराके बराबर सुवर्णको आगमें तपाकर पी जाय, तब शुद्ध होता है और यदि अनजानमें वह मदिरा पी लेता है, तब उतना ही घी आगमें खूब तपाकर पी ले तभी उसकी शुद्धि होती है। यही प्रायश्चित्त है। यदि तुम कर सको तो करो।'

**परावसु बोला**—मैंने एक कुल्ला मदिरा पी लिया है, अतः उतना ही घृत आगमें अच्छी तरह तपाकर पी लूँगा।

**यह सुनकर विश्वावसु अत्यन्त दुःखित हो ब्राह्मणोंसे बोले**—ब्राह्मणो! मैं इस पुत्रकी शुद्धिके लिये सर्वस्व दे दूँगा, परंतु ऐसा प्रायश्चित्त किसी प्रकार भी करने न दूँगा।

**पिताका यह वचन सुनकर पुत्रने कहा**—पिताजी! स्नेह छोड़िये, मेरे प्रायश्चित्तमें विघ्न न डालिये। मैंने निश्चय कर लिया है कि प्रायश्चित्त करूँगा।

**तब परावसुकी माता बोली**—बेटा! यदि तुम्हें अपनी शुद्धिके लिये प्रायश्चित्त करना ही है तो मैं ही पहले पतिदेवके साथ तुम्हारे सामने अग्निमें प्रवेश करूँगी। तुम्हें अग्निके समान खौलते हुए घी पीकर मरते नहीं देख सकूँगी।

**पिताने भी कहा**—बेटा! तुम्हारी माताने जो कुछ कहा है, वही मैं भी चाहता हूँ।

**सूतजी कहते हैं**—यह सब वृत्तान्त सुनकर उनके हितैषी लोग आये और परावसुको प्रायश्चित्तसे निवृत्त होनेके लिये समझाने लगे। जब वे पिता-पुत्रोंमेंसे किसीको भी प्राण त्यागके निश्चयसे न डिगा सके तब वास्तुपदतीर्थमें सर्वज्ञ भर्तृयज्ञके समीप गये और परावसुका सारा हाल सुनाकर बोले—'महाभाग! यदि इस ब्राह्मणकी शुद्धिके लिये मद्यपानका कोई दूसरा प्रायश्चित्त हो तो वही बताइये; क्योंकि आपसे कुछ भी अज्ञात नहीं है।'

**भर्तृयज्ञ बोले**—ब्राह्मण और उनमें भी विशेषतः

नागर ब्राह्मण जो वचन कहते हैं, वह वैसा ही होता है; अन्यथा नहीं होता। वेद-विद्यालयमें बैठे हुए नागर ब्राह्मणोंने (परिहासमें) जो कुछ कहा है, वह किसी प्रकार अन्यथा नहीं किया जा सकता। परावसुके मित्रोंने हँसीमें उससे कहा था कि 'रत्नवतीके स्तनोंको हाथमें लेकर जब तुम उसके अधरका आस्वादन करोगे तभी मद्यपानसम्बन्धी अशुद्धि दूर होकर तुम्हें शुद्धि प्राप्त होगी।' वही उपाय इस ब्राह्मणके लिये सुखद होगा। महर्षि पराशरके मतसे ब्राह्मणवचनको आदर देकर यदि उक्त प्रायश्चित्त वह करेगा, तो उसकी शुद्धि हो जायगी।

**ब्राह्मण बोले**—यदि यह बात राजाके कानोंमें पड़ जाय तो वे क्रोधमें आकर समस्त ब्राह्मणोंका वध कर डालेंगे।

**भर्तृयज्ञने कहा**—आनर्तनरेश बड़े नीतिमान्, विज्ञ, धर्मात्मा, सर्वशास्त्रनिपुण तथा देव-ब्राह्मणोंके भक्त हैं। अतः सब नागर मेरे साथ उनके घर चलें। किसी मध्यवर्ती पुरुषको आगे रखकर उसीके मुखसे परावसुके मद्यपानका वृत्तान्त, उसके मित्रोंकी हास्यमिश्रित वार्ता तथा पराशर-स्मृतिका वचन आदि कहलावें। यह सब सुनकर यदि राजा ईर्ष्या और रोषके वशीभूत हो जायँगे, तब उनको मैं राहपर लाऊँगा।

भर्तृयज्ञकी यह बात सुनकर सब नागर बड़े सन्तुष्ट हुए और उनकी प्रशंसा करके परम सुहृद् हरिभद्र और भर्तृयज्ञको आगे रखकर माता-पितासहित परावसुको साथ ले राजद्वारके समीप आये। द्वारपालने जाकर राजाको उन सबके आगमनकी सूचना दी। राजद्वारपर ब्राह्मणोंका शुभागमन सुनकर आनर्तनरेशने पुरोहितके साथ आगे आ उनकी अगवानी की। तत्पश्चात् भर्तृयज्ञ, हरिभद्र तथा अन्य चार हजार ब्राह्मणोंके लिये क्रमशः अर्घ्य, पाद्य, मधुपर्क और विष्टर आदि निवेदन किये। फिर उन सबके शुभाशीर्वाद प्राप्तकर सभामण्डपमें आये तथा सबको क्रमशः सोनेके सिंहासनोंपर बिठाया। सबके बैठ जानेपर राजा स्वयं भूमिपर बैठे और हाथ जोड़कर बोले—'मैं धन्य हूँ, मुझपर आपलोगोंकी बड़ी कृपा है, जिससे आज मेरे घरपर समस्त नागर ब्राह्मणोंका समुदाय उपस्थित हुआ है। आपलोग इस सेवकको आज्ञा दें, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?'

तब हरिभद्रने जिस प्रकार उसने मदिरापान किया, जैसा उसके मित्रोंने परिहासमें कहा, जिस प्रकार तपाये हुए घृत पीनेको प्रायश्चित्त बताया गया और जिस तरह सान्त्वना देकर भर्तृयज्ञ सबको राजाके पास ले आये, इत्यादि परावसुका सब वृत्तान्त राजासे आदरपूर्वक कह सुनाया। सब बातें सुनकर राजा बड़े प्रसन्न हुए और हाथ जोड़कर बोले—'मैं धन्य हूँ, कृतकृत्य हूँ, जिसके ऊपर तीन ब्राह्मणोंकी प्राणरक्षाका भार रखकर नागर ब्राह्मणोंने महान् अनुग्रह किया है। धन्य है मेरी पुत्री, जो मरणका निश्चय किये हुए तीन ब्राह्मणोंके प्राणोंकी रक्षा करेगी।'

यह कहकर राजाने उसी समय कन्याको बुलाया और कहा—'विप्रवरो! आपके आदेशसे मैंने अपनी इस कन्याको बुला दिया है, अब परावसु भर्तृयज्ञके बताये अनुसार कार्य करें।' तब भर्तृयज्ञने परावसुको बुलाकर उस कन्याके सामने कहा—'यदि तुम इस कन्याके अधरका स्पर्श करते हुए अपने मनमें इसे माता मानोगे तो अवश्य तुम्हारी शुद्धि हो जायगी। यदि आसक्त होकर अधरपान करोगे, तो तुम्हारे मुँहमें खून भर जायगा और यदि तुम्हारा भाव शुद्ध होगा तो मुँहमें दूध आ जायगा। इसमें सन्देह नहीं है। यदि तुम्हारे पीनेपर इसके स्तनोंमें दूध उतर आये तो तुम्हारी शुद्धि मानी जायगी। यदि रक्त निकला तो शुद्धि नहीं मानी जायगी।'

**परावसुसे ऐसा कहकर भर्तृयज्ञने राजकुमारीसे कहा**—बेटी! तुम इसे पुत्रकी भाँति देखो, जिससे तुम्हारे ओष्ठका स्पर्श करके यह शुद्ध हो जाय। तुम्हारे स्तनोंके स्पर्शसे इसके सखाओंने शुद्धि बतायी है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो इसकी मृत्यु हो जायगी।

**'बहुत अच्छा' कहकर राजकन्याने लजाते**

**हुए परावसुसे कहा**—बेटा! आओ और मातृत्वका आश्रय लेकर आत्म-शुद्धिके लिये प्रायश्चित्त करो। मैंने तुम्हें अपना पुत्र मान लिया।

परावसुने भी रत्नवतीको अपनी माता मानकर उसके समीप आ सबके देखते-देखते उसके स्तनोंका स्पर्श किया। स्पर्श करते ही उन स्तनोंसे दूधकी दो धाराएँ बह निकलीं। फिर ज्यों ही उसके ओष्ठका स्पर्श किया त्यों ही वहाँसे भी दूध प्रकट हो गया। यह देख सब ब्राह्मण प्रसन्न होकर बोले—'अब यह ब्राह्मण शुद्ध हो गया।' परावसुने भी रत्नवतीकी परिक्रमा करके कहा—'मा! तुम पुत्रवत्सला माता हो।' यह महान् आश्चर्यकी बात देखकर आनर्तनरेशको बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने प्रायश्चित्त देनेवाले भर्तृयज्ञकी प्रशंसा करते हुए कहा—'अहो! मैं बड़ा सौभाग्यशाली हूँ, जिसके घरपर ऐसे महान् नागर ब्राह्मण पधारे हुए हैं तथा मेरी आज्ञाके अधीन रहनेवाली यह मेरी पुत्री भी महासती, परम सौभाग्यशालिनी एवं सत्य तथा सदाचारसे सम्पन्न है। ये परावसु भी साधारण ब्राह्मण नहीं हैं, जो ऐसी कन्याका स्पर्श करके भी विकारको नहीं प्राप्त हुए।'

ऐसा कहकर राजाने सब ब्राह्मणोंको विदा कर दिया और स्वयं अपनी पुत्रीके साथ राजमहलमें पदार्पण किया।

## ब्राह्मणकन्या और शूद्रराजकन्याकी तपस्या, भगवान् शिवका वरदान तथा उनके नामसे दो प्रसिद्ध तीर्थोंका प्रादुर्भाव

**सूतजी कहते हैं**—इसी समय दशार्णराज बृहद्बल रत्नवतीसे विवाह करनेके लिये उस नगरमें आये। यहाँ आनेपर जब उन्होंने रत्नवती और परावसुका वृत्तान्त सुना तो उनके मनमें बड़ी विरक्ति हुई और वे अपनी राजधानीकी ओर लौट गये। यह सुनकर आनर्तनरेश उन्हें वापस लानेके लिये उनके पीछे-पीछे गये और निकट जाकर बोले—'राजन्! मेरी कन्याका पाणिग्रहण किये बिना ही तुम क्यों लौटे जाते हो?'

**दशार्णनरेशने कहा**—'महाराज! आपके जीते-जी ही आपकी कन्याके अधरों और स्तनोंका स्पर्श पराये पुरुषने कर लिया है, अतः यह पुनर्भू (द्वितीय पतिवाली) हो चुकी है। पुनर्भू स्त्री यदि किसी प्रकार किसी पुत्रको उत्पन्न करे तो वह पुत्र दस पीढ़ी पहलेतकके पूर्वजोंको, दस पीढ़ी बादतककी सन्तानपरम्पराको तथा इक्कीसवें अपने-आपको भी निस्सन्देह नरकमें डाल देता है। इस कारण मैं आपकी कन्याका पाणिग्रहण नहीं करूँगा।

ऐसा कहकर राजा बृहद्बल अपने नगरको चले गये। आनर्तनरेश भी दुःखसे व्याकुल हो घर आये और अपनी पत्नी मृगावती तथा पुत्री रत्नवतीसे सब हाल कह सुनाया। यह सब बात सुनकर मन्त्रियोंको भी बड़ा दुःख हुआ और वे राजाको आश्वासन देते हुए बोले—'महाराज! पृथ्वीपर असंख्य राजा हैं, उन्हींमेंसे किसीको अपनी कन्या ब्याह दीजिये।' तब आनर्तनरेशने वहाँ बैठी हुई अपनी कन्यासे कहा—'बेटी! तुमने चित्रपटमें सब राजाओंको देखा है, उन्हींमेंसे किसीका वरण करो!'

**रत्नवती बोली**—पिताजी! मैं दशार्णराजको छोड़कर दूसरे किसीको किसी तरह भी पति नहीं बनाऊँगी; क्योंकि राजा एक बार कोई बात कहते हैं, ब्राह्मण भी एक ही बार कहते हैं और कन्या भी एक ही बार किसीको दी जाती है। ये तीन बातें एक-एक बार ही होती हैं। इन्हें बदला नहीं जाता*। तात! ऐसा जानकर आप मुझे दूसरे किसी राजाको न दें; क्योंकि यह कार्य शास्त्रदृष्टिसे धर्म नहीं माना जा सकता।

* सकृज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति च द्विजाः। सकृत् कन्या प्रदीयेत त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्॥
(स्क० पु०, ना० उ० १८८। १७-१८)

**आनर्तनरेशने कहा**—बेटी! अभी तो वचन-मात्रसे मैंने तुम्हें दशार्णराजको देनेकी प्रतिज्ञा की थी। परंतु उन्होंने ब्राह्मण, अग्नि तथा गुरुजनोंके समक्ष तुम्हारा पाणिग्रहण नहीं किया है। ऐसी दशामें वे तुम्हारे पति कैसे हो गये?

**रत्नवती बोली**—पिताजी! किसी भी कार्यका पहले मनमें निश्चय किया जाता है, फिर उसे वाणीद्वारा प्रकट किया जाता है, तत्पश्चात् कार्यरूपमें परिणत किया जाता है। प्रभो! मैंने अपने-आपको मनद्वारा दशार्णराजके चरणोंमें समर्पित कर दिया है, आपने भी मनसे निश्चय करके वाणीद्वारा मेरा दान किया है; फिर वे मेरे पति कैसे नहीं हुए? अतः अब मैं कौमारव्रत धारण करके तपस्या करूँगी, दूसरेको पति नहीं बनाऊँगी।

**पुत्रीकी यह बात सुनकर माता मृगावतीने कहा**—बेटी! तुम्हें तपस्याके लिये साहस नहीं करना चाहिये। तुम अभी बालिका हो, तुम्हारे अंग सुकुमार हैं तथा तुम सदैव सुखमें पली हो। भला कन्द, मूल, फल खाकर और चीर एवं वल्कल पहनकर तुम तपस्या कैसे कर सकोगी? मैं तुम्हें किसी श्रेष्ठ राजाके साथ ब्याह दूँगी।

**रत्नवती बोली**—माँ! यदि तुम मुझे जीवित रहने देना चाहती हो, तो फिर कभी ऐसी बात मुँहसे न निकालना। यदि हठ करके मेरी तपस्यामें विघ्न डालोगी तो मैं शरीर त्याग दूँगी।

**मातासे ऐसा कहकर रत्नवती ब्राह्मण-कन्यासे बोली**—कल्याणी! अब मेरे भेजनेसे तुम अपने पिताके घर जाओ, जिससे तुम्हारे पिता किसी महात्मा नागरके साथ तुम्हारा विवाह कर दें। मैंने तुम्हारे प्रति जो असत्य या अनुचित वचन कहा हो, उसे क्षमा करना। तुमने भी मुझसे जो कुछ कहा हो, वह सब मैंने क्षमा कर दिया।

**ब्राह्मण-कन्याने कहा**—शुभे! तुम्हारे सम्पर्कमें रहकर मैंने अपनी कौमारावस्था व्यतीत कर दी। अब मेरा सोलहवाँ वर्ष भी बीत गया। मैं अब रजस्वला होने लगी हूँ। अतः स्मृति-वाक्यका अर्थ जाननेवाला कोई भी नागर ब्राह्मण यहाँ मेरा पाणिग्रहण नहीं करेगा।

अतः शुभे! मैं भी तुम्हारे साथ तपस्या करूँगी, मुझे पिता-मातासे कोई प्रयोजन नहीं है।

ऐसा निश्चय करके वे दोनों कन्याएँ वहाँ गयीं, जहाँ महामुनि भर्तृयज्ञजी रहते थे। उनकी तपस्याके प्रभावसे वहाँ मनुष्य एवं पशु-पक्षीकी योनिमें पड़े हुए जीवोंके मनमें भी क्रोधका भाव नहीं देखा जाता था। नेवले सर्पोंके साथ और बिलाव चूहोंके साथ क्रीडा करते थे। मृग सिंहोंके साथ और कौए उल्लुओंके साथ खेलते थे। उस स्थानमें भर्तृयज्ञ मुनि एक आसनपर सुखपूर्वक बैठे थे। दोनों कन्याओंने उनके समीप जा हाथ जोड़ विनयपूर्वक प्रणाम किया। उसके बाद ब्राह्मण-कन्याने कहा—'भगवन्! अपनी सखी राजकन्याके साथ मैं तपस्याके लिये आयी हूँ, अतः आप कृपा करके तपस्याकी विधि बतावें।'

**भर्तृयज्ञ बोले**—मैं तपस्याकी विधि बताता हूँ, सुनो—उससे मोक्षतककी प्राप्ति होती है, फिर स्वर्गकी तो बात ही क्या है? राग-द्वेषरहित पुरुषोंद्वारा पालित कृच्छ्र, चान्द्रायण एवं त्रिरात्र आदि व्रत तपस्याके द्वार हैं; तपस्यासे ही सबके मनोवांछित पदार्थोंकी सिद्धि होती है। जब मनमें शत्रु-मित्र तथा पत्थर एवं रत्नके प्रति समान बुद्धि हो जाय, तब मोक्षकी प्राप्ति होती है। जो तपस्वीका वेष धारण करके भी क्रोध-परायण होता है, उसका सब कुछ राखमें दी हुई आहुतिके समान व्यर्थ है।

तब 'ऐसा ही होगा' यह प्रतिज्ञा करके ब्राह्मण-कन्या राजकुमारी रत्नवतीको साथ ले स्वच्छ जलसे भरे हुए, कमलवनसे सुशोभित किसी जलाशयके तटपर गयी। उसने तपस्याके पहले चान्द्रायण किया, फिर कृच्छ्र एवं सान्तपन व्रतका पालन किया। इसके बाद उसने तीन वर्षोंतक छः-छः दिनोंके बाद भोजन किया। उसी समय शूद्रराजकन्याने भी बड़ी प्रसन्नताके साथ दूसरे जलाशयके तटपर जाकर उसी प्रकार कठोर तपस्या की। उसने ज्यों-ज्यों तपस्या की,

त्यों-ही-त्यों उसके अति उत्तम तेजकी वृद्धि हुई। तदनन्तर भगवान् चन्द्रशेखरने गौरीदेवीके साथ प्रसन्न होकर ब्राह्मण-कन्याको प्रत्यक्ष दर्शन दिया और कहा—'वत्से! मेरी आज्ञासे अब तपस्या छोड़ो और अभीष्ट वर माँगो।'

**ब्राह्मण-कन्या बोली**—देवेश्वर! आपका दर्शन हुआ, इतनेसे ही मेरा सब अभीष्ट पूर्ण हो गया, क्योंकि मनुष्योंको स्वप्नमें भी आपका दर्शन दुर्लभ है।

**भगवान् बोले**—तपस्विनि! मेरा दर्शन व्यर्थ नहीं होता, अतः कोई वर अवश्य माँगो।

**ब्राह्मण-कन्या बोली**—मेरी यशस्विनी एवं साध्वी सखी रत्नवती मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय है। शूद्रयोनिमें स्थित होनेपर भी इसने मेरे समान ही तप किया है। जगन्नाथ! यदि यह तपस्यासे निवृत्त हो जाय तो मैं अनायास ही तपसे अलग हो जाऊँगी। इसके प्रति स्नेह होनेके कारण ही मैंने विवाह नहीं किया, अतः इसीके अभीष्ट मनोरथकी सिद्धि कीजिये।

**ब्राह्मण-कन्याका यह वचन सुनकर भगवान् चन्द्रशेखरने राजकुमारीके पास जाकर कहा**—सुन्दरी! अब तुम तपस्या छोड़ो और तुम्हारा जो मनोरथ हो, उसकी सिद्धिके लिये वर माँगो।

**रत्नवतीने कहा**—जहाँ परम साध्वी ब्राह्मण-कन्याने सदा तपस्या की है, वह तीर्थ उसके नामसे प्रसिद्ध हो और मेरी तपस्याका स्थूलभूत यह जलाशय मेरे नामसे प्रसिद्धि लाभ करे। देवदेव! जो यहाँ रहकर श्रद्धापूर्वक स्नान करे उसका सदा स्वर्गलोकमें निवास हो। हम दोनों सखियाँ कुमारी ही सदा महान् तपमें संलग्न रहें और मन, वाणी एवं क्रियाद्वारा सदैव आपकी आराधना करती रहें।

इसी समय धरती फोड़कर सूर्यके समान तेजस्वी शिवलिंग प्रकट हुआ। तब भक्तवत्सल भगवान् शिवने उन दोनों कन्याओंकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर कहा—'ये दोनों शूद्रीतीर्थ और ब्राह्मणीतीर्थ तीनों लोकोंमें विख्यात होंगे। जो चैत्र शुक्ला चतुर्दशी सोमवारके दिन श्रद्धापूर्वक इन दोनों तीर्थोंमें नहाकर कमल संग्रह करके इन तीर्थोंके जलसे मेरे इस लिंगमय विग्रहको नहलायेगा और कमलपुष्पोंसे पूजन करेगा, वह समस्त पापोंसे मुक्त होगा।'

ऐसा कहकर भगवान् शिव अन्तर्धान हो गये। वे दोनों सखियाँ वृद्धता और मृत्युसे रहित हो सौ कल्पोंकी आयु प्राप्त करके नित्य तपस्यामें संलग्न हुईं। तभीसे वे दोनों तीर्थ भूमण्डलमें प्रसिद्ध हुए। वहाँ स्नान और शिवपूजन करके उस तीर्थके प्रभावसे मनुष्य निःसन्देह स्वर्गलोकको प्राप्त होता है।

आगे चलकर इन्द्रने उन दोनों तीर्थोंको धूलसे भर दिया। आज भी उन दोनों तीर्थोंकी उत्तम मिट्टी लेकर स्नानके पश्चात् उससे तिलक करना चाहिये, इससे सब पापोंकी शुद्धि होती है। सोमवार और चतुर्दशीके योगमें जो पुरुष उन दोनों तीर्थोंके समीप श्राद्ध करता है, उसे गया-श्राद्धकी क्या आवश्यकता है।

## त्रिविध क्षेत्र, अरण्य और पुरी आदिका वर्णन, हाटकेश्वरक्षेत्रके चार प्रसिद्ध तीर्थोंकी महिमा

**ऋषियोंने पूछा**—महाभाग! इस लोकमें तीन क्षेत्र, तीन अरण्य, तीन पुरियाँ, तीन वन, तीन ग्राम, तीन पर्वत और तीन नदियाँ कौन-कौन हैं?

**सूतजीने कहा**—प्रथम उत्तम क्षेत्र कुरुक्षेत्रके नामसे विख्यात है। दूसरा हाटकेश्वरक्षेत्र है और तीसरा प्राभासिकक्षेत्र। ये तीनों क्षेत्र सब पातकोंका नाश करनेवाले हैं। इन तीनों क्षेत्रोंका विधिवत् दर्शन करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। जो जिस कामनाका चिन्तन करके इन क्षेत्रोंमें भक्तिपूर्वक स्नान करता है, उसकी वह अभीष्ट

कामना पूर्ण होती है। अब तीन अरण्य बताते हैं—पहला पुष्करारण्य, दूसरा नैमिषारण्य तथा तीसरा धर्मारण्य है। जो इन तीनों तीर्थोंमें स्नान करता है, वह चौबीस तीर्थोंमें स्नानके फलका भागी होता है। तीन पुरियोंके नाम ये हैं—प्रथम वाराणसीपुरी, दूसरी द्वारकापुरी और तीसरी अवन्तीपुरी। ये तीनों लोकोंमें विख्यात हैं। जो इन तीनोंमें स्नान करता है, वह चौबीस तीर्थोंमें स्नानके फलका भागी होता है। तीन वन ये हैं—पहला वृन्दावन, दूसरा खाण्डववन और तीसरा द्वैतवन। ये तीनों भूतलपर विख्यात हैं। इन तीनोंमें जो स्नान करता है, वह चौबीस तीर्थोंमें स्नानके फलका भागी होता है। तीन ग्रामोंके नाम इस प्रकार हैं—पहला कालग्राम, दूसरा शालग्राम और तीसरा नन्दिग्राम। जो इन तीनोंमें स्नान करता है, वह चौबीस तीर्थोंमें स्नानके फलका भागी होता है। तीन तीर्थ हैं—पहला अग्नितीर्थ, दूसरा शुक्लतीर्थ और तीसरा पितृतीर्थ—इन तीनोंमें जो स्नान करता है वह चौबीस तीर्थोंके सेवनका फल पाता है। तीन पर्वत ये हैं—श्रीपर्वत, अर्बुदपर्वत और तीसरा रैवतपर्वत। इन तीनोंमें जो स्नान करता है, वह चौबीस तीर्थोंके फलका भागी होता है। तीन नदियोंके नाम इस प्रकार हैं—प्रथम गंगा नदी, दूसरी नर्मदा नदी और तीसरी सरस्वती नदी है। जो इन सब तीर्थोंमें स्नान करता है वह चौबीस तीर्थोंमें स्नानका फल पाता है। जो इन सब तीर्थोंमें स्नान करता है वह यहाँके साढ़े तीन करोड़ तीर्थोंमें स्नानका फल पाता है।

**ऋषियोंने पूछा**—सूतनन्दन! हाटकेश्वरक्षेत्रमें जो तीर्थ हैं, उन सबमें स्नान करनेके लिये मनुष्य सौ वर्षोंमें भी समर्थ नहीं हो सकता, अतः निर्धन मनुष्य उन सब तीर्थोंमें स्नानका फल कैसे प्राप्त कर सकते हैं?

**सूतजीने कहा**—पूर्वकालमें आनर्तनरेशने विश्वामित्रजीसे प्रश्न किया—'भगवन्! इस क्षेत्रमें असंख्य तीर्थ हैं। उन सबमें पृथक्-पृथक् स्नानकी विधि बतायी गयी है। कोई भी मनुष्य सौ वर्षोंमें भी यहाँके सब तीर्थोंका फल नहीं पा सकता। अतः ऐसा कोई सुखद उपाय बताइये, जिससे एक ही तीर्थमें स्नान करके भी मनुष्य सब तीर्थोंमें स्नानका फल प्राप्त कर सके।'

**विश्वामित्रजी बोले**—राजेन्द्र! सुनो, इस क्षेत्रमें चार प्रमुख तीर्थ हैं, जिनमें स्नान और श्राद्ध करनेपर मनुष्य सब तीर्थोंमें स्नानका फल पा लेता है। यहीं सिद्धेश्वर आदि सत्ताईस लिंग हैं, जो सब पापोंका नाश करनेवाले हैं। श्रद्धापूर्ण हृदयसे उन सबका दर्शन कर लेनेपर मनुष्य सब देवताओंके दर्शनका फल पाता है। इनमेंसे एक लिंगका भी पूजन करनेपर सब लिंगोंकी पूजा हो जाती है।

**राजाने पूछा**—मुने! वहाँ चार प्रसिद्ध तीर्थ कौन हैं?

**विश्वामित्रजी बोले**—महाराज! यहाँ एक पुण्यमयी कूपिका है जहाँ कन्याराशिके सूर्यमें कृष्ण पक्षकी चतुर्दशी तथा अमावास्याके दिन गयातीर्थ आश्रय लेता है। जो मनुष्य उस दिन श्रद्धापूर्वक उस तीर्थमें श्राद्ध करता है वह सौ पीढ़ीके पितरोंको तार देता है। दूसरा शंखतीर्थ है जो मानव माघके प्रथम दिन वहाँ स्नान करके भगवान् शंखेश्वरका दर्शन करता है वह सब तीर्थोंका फल पाता है। तीसरा मेरे नामका (विश्वामित्र) तीर्थ है, जो प्रधान है, उसमें भाद्रपद कृष्णा अष्टमीको स्नान करके जो मेरे द्वारा स्थापित विश्वामित्रेश्वर शिवका दर्शन करता है; वह सब तीर्थोंका फल पाता है। चौथा बालमण्डनमें शक्रतीर्थ है। जो आश्विन शुक्ला अष्टमीको उस तीर्थमें स्नान और पूजन करके शक्रेश्वरका दर्शन करता है वह भी सब तीर्थोंका फल पाता है।

# अहल्याका शापोद्धार तथा हाटकेश्वरक्षेत्रमें अहल्या, शतानन्द और गौतमजीकी तपस्या एवं पातालवासी हाटकेश्वरका दर्शन

**विश्वामित्रजी कहते हैं**—पूर्वकालमें जब महर्षि गौतमके शापसे उनकी धर्मपत्नी अहल्या देवी शिलारूपा हो गयीं, तब उनके पुत्र शतानन्दजीने विनयपूर्वक प्रार्थना करते हुए कहा—'पिताजी! इतिहास, पुराण तथा समस्त उपनिषदोंका चिन्तन करके मेरी माताकी शुद्धिका कोई उपाय बताइये, मैं उसका अनुष्ठान करूँगा, अन्यथा अपने प्राणोंका त्याग कर दूँगा।' यह सुनकर गौतमजीने दीर्घकालतक ध्यान करनेके पश्चात् अपने पुत्रसे कहा—'वत्स! आत्मघात बहुत बड़ा पाप है, उसे करनेका दुःसाहस न करना। मैंने तुम्हारी माताकी शुद्धिका निमित्त जान लिया। जिस समय भगवान् विष्णु रावणका वध करनेके लिये सूर्यवंशमें मनुष्यरूपमें अवतार लेंगे, उस समय उन्हींके चरणोंका स्पर्श होनेसे तुम्हारी माताकी शुद्धि होगी। अतः बेटा! तुम उस शुभ समयकी प्रतीक्षा करो। यह सब मैंने दिव्य दृष्टिसे देखा है।'

यह सुनकर मातृवत्सल शतानन्द बड़े प्रसन्न हुए और 'बहुत अच्छा' कहकर उस शुभ अवसरकी प्रतीक्षा करने लगे। तदनन्तर दीर्घकालके बाद जब श्रीरामचन्द्रजीके रूपमें भगवान् विष्णुका दशरथजीके यहाँ अवतार हुआ, तब मैं अपने यज्ञकी रक्षाके लिये तथा यज्ञकर्मका विनाश करनेवाले राक्षसोंका संहार करानेके लिये उन भगवान् श्रीरामको अपने आश्रमपर ले आया। मेरे यज्ञमें वे सभी भयंकर राक्षस मारे गये। तत्पश्चात् सीताजीके स्वयंवर तथा उसमें राजाओंके शुभागमनका समाचार सुनकर मैं लक्ष्मणसहित श्रीरामको जनकपुर ले गया। मार्गमें गौतमजीका आश्रम मिला। वहाँ महती शिलारूपा अहल्याको देखकर मैंने श्रीरामसे कहा—'वत्स! इस शिलाका स्पर्श करो। ये महर्षि गौतमकी पत्नी अहल्या हैं, जो शापके कारण शिला हो गयी हैं, तुम्हारे स्पर्शसे शुद्ध होकर पुनः मानवस्वरूपको प्राप्त होंगी।' मेरे कहनेसे श्रीरामने कौतूहलवश उस शिलाका स्पर्श किया। उनके स्पर्श करते ही वह शिला दिव्य रूपधारिणी नारी हो गयी। तब उन्होंने अपने पूर्वकर्मको स्मरण करके लज्जित हो गौतमजीको प्रणाम किया और कहा—'प्राणनाथ! मुझे कोई प्रायश्चित्त बताइये, दुष्कर होनेपर भी मैं उसका अनुष्ठान करूँगी।' तब बहुत देरतक सोच-विचारकर गौतमजीने कहा—'सौ चान्द्रायण तथा एक हजार कृच्छ्रव्रत करो। फिर तीर्थयात्रामें तत्पर अड़सठ तीर्थोंमें भ्रमण करके वहाँके देवताओंका दर्शन करो। उन सबके दर्शनसे तुम पूर्णतः शुद्ध हो जाओगी।' 'बहुत अच्छा' कहकर अहल्याने मुनिकी आज्ञा शिरोधार्य की और काशी आदि अड़सठ तीर्थोंमें क्रमशः घूमती हुई वहाँके शिवलिंगोंका भक्तिपूर्वक पूजन किया। अन्तमें वह हाटकेश्वरतीर्थको गयी। वहाँ पातालवासी भगवान् हाटकेश्वरका दर्शन करनेके लिये दुष्कर तपस्या करने लगी। अपने नामसे शिवलिंगकी स्थापना करके चन्दन, फूल और अनुलेपनसे उसका त्रिकाल पूजन करती हुई अहल्याका बहुत समय व्यतीत हो गया। परंतु हाटकेश्वरका दर्शन नहीं हुआ। किसी समय अहल्यानन्दन शतानन्दजी अपनी माताको खोजते हुए हाटकेश्वरक्षेत्रमें आये। वहाँ उन्हें बड़ी भारी तपस्यामें संलग्न देख प्रणाम करके दुःखी होकर बोले—'माँ! कठोर तपस्यासे क्यों शरीरको कष्ट देती हो? अड़सठ तीर्थोंमें जो शिवलिंग हैं उनका दर्शन तो तुमने कर ही लिया है, यहाँ कोई भी मनुष्य पातालवासी हाटकेश्वरका दर्शन नहीं कर पाता। पिताजीने जो शुद्धि बतायी थी वह तो हो ही गयी। अतः अपने शुभ आश्रमको लौट चलो।'

**अहल्या बोलीं**—वत्स! जबतक हाटकेश्वर शिवका दर्शन नहीं कर लूँगी, तबतक घर नहीं चलूँगी, ऐसा निश्चय कर लिया है।

**यह सुनकर शतानन्दने कहा**—यदि ऐसी बात है तो मुझे पिताके पास लौटकर नहीं जाना है। ऐसा कहकर उन्होंने भी शिवलिंगकी स्थापना की और छः-छः दिनोंपर भोजन करते हुए व्रतचर्यामें लग गये। उनका भी बहुत समय बीत गया। परंतु उन दोनोंपर भगवान् शिव सन्तुष्ट नहीं हुए। तदनन्तर दीर्घकालके बाद महामुनि गौतमजी भी पुत्रको देखनेकी इच्छासे वहाँ आ गये। पत्नी और पुत्रको तपस्या करते देख पहले तो वे बड़े प्रसन्न हुए। फिर दुःखी होकर बोले—'अहो! मेरा बेटा बहुत दुर्बल हो गया, अब इसे तपस्यासे निवृत्त करके ले चलूँ।' उनकी बात सुनकर शतानन्दजीने कहा—'तात! मैंने माताजीको तपस्या छोड़कर घर लौटनेके लिये कहा; परंतु ये हाटकेश्वरका दर्शन किये बिना घर लौटनेको राजी नहीं हुईं। अतः मैं भी माताके बिना नहीं लौटूँगा, यह मेरा निश्चय है।'

**गौतमजीने कहा**—बेटा! यदि तुम्हारा और तुम्हारी माताका यही निश्चय है तो मैं भी तपस्या करता हूँ। मैं अपने तपसे तुम्हारी माँको हाटकेश्वरका दर्शन कराऊँगा।

ऐसा कहकर वे भी तपस्यामें लग गये। सौ वर्षोंतक एक दिनका अन्तर देकर भोजन करते रहे, तदनन्तर छः-छः दिनपर भोजन करने लगे। फिर उतने-उतने ही समयतक क्रमशः फल और जलपर रहे। इसके बाद सौ वर्षोंतक वे केवल वायु पीकर रहे। तब पृथ्वी फोड़कर बारह सूर्योंके समान तेजस्वी शिवलिंग प्रकट हुआ। इसी समय भगवान् चन्द्रशेखरने मुनि गौतमको प्रत्यक्ष दर्शन देकर कहा—'सुव्रत! मैं तुम्हारी तपस्यासे सन्तुष्ट हूँ। महामुने! यही मेरा हाटकेश्वर लिंग है, जो तुम्हारी भक्ति देखकर पातालसे प्रकट हुआ है। इसीके दर्शनके लिये तुमने पुत्र और पत्नीसहित यहाँ तप किया है। तुम सब लोगोंका मनोरथ सफल हुआ। अब तुम्हारी देवरूपिणी पत्नी इस हाटकेश्वरलिंगका दर्शन करें; जिससे इन्हें अड़सठ क्षेत्रोंकी यात्राका फल प्राप्त हो। तुम भी कोई अभीष्ट वर माँगो।'

**गौतमजीने कहा**—पातालवासी हाटकेश्वर शिवका एक बार दर्शन करनेसे जो फल प्राप्त होता है, वही पुण्य इस शिवलिंगके दर्शनसे भी प्राप्त हो। जो मनुष्य भक्तिभावसे चैत्र शुक्ला चतुर्दशीमें इसका पूजन करें, वे सब स्वर्गलोकको जायँ। इस लिंगके प्रभाव तथा अहल्येश्वरजीके दर्शनसे सबके परस्त्रीसंसर्गजनित पाप दूर हो जायँ। शतानन्देश्वरके दर्शनसे भी सब मनुष्य शुद्ध हों।

## शंखतीर्थकी महिमा, राजा दम्भका चरित्र तथा ताम्बूलके दोष, सुर्ती खानेका निषेध

**आनर्तनरेश बोले**—मुनिश्रेष्ठ! इस समय मुझे शंखतीर्थका माहात्म्य बताइये। उसे सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी श्रद्धा है।

**विश्वामित्रजीने कहा**—राजन्! जैसे आजकल तुम आनर्त देशके स्वामी हो, इसी प्रकार पूर्वकालमें 'दम्भ' नामसे प्रसिद्ध राजा इस देशके शासक थे। उनके कोई पुत्र नहीं था। एक दिन ऐसा आया, जब वे सहसा कुष्ठरोगसे ग्रस्त हो गये। इसी समय अनेक शत्रुओंने भी उनपर धावा कर दिया। उनका राज्य छिन गया और वे रैवतक पर्वतपर चले गये। वहाँ जानेपर भी चोर और बटमार उन्हें सदा सब ओरसे पीड़ा देने लगे। जब हाथी, घोड़े, रथ और खजाने सभी लुट गये, तब वे मन-ही-मन इस चिन्तामें पड़े कि 'अब मैं क्या करूँ?' यही सब सोचते-विचारते हुए वे देवर्षि नारदजीका दर्शन करनेके लिये गये। उस दिन एकादशी तिथि थी। नारदजी तीर्थयात्राके प्रसंगसे भगवान् दामोदरका दर्शन करनेके निमित्त वहाँ आये थे। राजा दम्भने उनके समीप जा चरणोंपर मस्तक रखकर प्रणाम किया

और हाथ जोड़ दीन भावसे उनके आगे बैठकर कहा—'मुनिश्रेष्ठ! मैं सब ओरसे शत्रुओंद्वारा सताया गया, अतः राज्य छोड़कर रैवतक पर्वतपर चला आया। वनमें आनेपर भी मुझे शान्ति नहीं मिली। पापी लुटेरोंने सब ओरसे मुझे पीड़ा दी और मेरे पास जो कुछ भी हाथी, घोड़े, रथ, खजाना आदि वस्तुएँ तथा स्त्रियाँ थीं, उन सबको लूट लिया। इन सब कष्टोंके कारण मेरे मनमें इस जीवनसे वैराग्य हो गया है। मुने! दूसरे जन्मोंमें मैंने कौन-सा ऐसा भयंकर पाप किया है, जिससे सहसा मुझे इस दुर्दशाकी प्राप्ति हुई है?'

**उसका वह वचन सुनकर मुनिवर नारदजीने दिव्य दृष्टिसे सब वृत्तान्त जान लिया और इस प्रकार कहा**—महाराज! पूर्व शरीरमें तुमने कोई कुकर्म नहीं किया है। मैंने दिव्य दृष्टिसे तुम्हारे पूर्व-जन्मका सब हाल जान लिया है।

**दम्भ बोले**—प्रभो! यदि पूर्वजन्ममें मैंने पाप नहीं किया है, तो इस जन्ममें कोई पाप किया हो, यह याद नहीं आता। फिर क्या कारण है कि सहसा मेरा राज्य छिन गया। इस समय मुझे इस बातका भलीभाँति अनुभव हो गया है कि संसारमें धन-वैभवसे रहित मनुष्यका जीवन व्यर्थ हो जाता है। जिसकी लक्ष्मी चली गयी, वह मनुष्य मानो मर गया। जहाँ कोई राजा नहीं है, वह राज्य भी मरे हुएके ही समान है। जो दान वेदके विद्वान्‌को नहीं दिया गया है, वह नष्टप्राय है तथा जिसमें दक्षिणा नहीं दी गयी हो, वह यज्ञ भी नष्ट ही है। जब मनुष्यका धन नष्ट हो जाता है, तब उसके भाई-बन्धु भी पराये हो जाते हैं। 'कहीं यह मुझसे द्रव्य न माँगने लगें' इस भयसे उसे देखकर दूसरी ओर मुड़ जाते हैं। जैसे इस समय लोग मुझे देखकर मुँह मोड़ लेते हैं। ब्रह्मन्! जिन्हें मैंने भलीभाँति धन देकर तृप्त किया है, वे भी मुझे देखकर बहुत दूर खिसक जाते हैं कि यह मुझसे कुछ माँग न बैठे। जैसे पक्षी सूखे वृक्षको छोड़कर चल देते हैं, उसी प्रकार निर्धन अवस्थामें उत्तम प्रकृतिके कुलीन एवं उत्तम मनुष्यको भी देखकर स्वजन भी दूसरी ओर चले जाते हैं। दरिद्र मनुष्य उस धनीका ही कार्य करनेके लिये उसके घर आता हो तो भी धनीलोग उसे फटकार देते हैं और उसके पास नहीं जाते। परंतु दूसरा धनाढ्य मनुष्य उसके समीप कुछ माँगनेके लिये आता हो, तो भी मनुष्यके चित्तमें यही भाव पैदा होता है कि 'यह मुझे कुछ देगा।' इस संसारमें धनियोंके आगे खड़े होकर लोग प्रायः यह कहते हैं कि 'हम और आप तो पहलेसे ही एक कुलके हैं, आपके पिताजी मेरे पितापर सदा ही बड़ा स्नेह रखते थे।' कुलीन मनुष्य भी धनके लोभसे पापियोंके यहाँ उपस्थित देखे जाते हैं। ये काम और क्रोध दो प्रकारके मनुष्योंके लिये अत्यन्त कड़वे और तीक्ष्ण दोष हैं, तथा शरीरके शत्रु हैं—एक तो उस मनुष्यके लिये जो निर्धन होकर भी कामना करता है और दूसरे उसके लिये जो असमर्थ होकर भी क्रोध करता है। धनके लोभी मनुष्य रातमें श्मशानका भी सेवन करते हैं और पिताको भी छोड़कर बहुत दूर चले जाते हैं। जिसके घरमें धन है, वह अत्यन्त मूर्ख हो तो भी विद्वान् माना जाता है, कुलीन न हो तो भी उत्तम कुलमें उत्पन्न कहा जाता है। इसके विपरीत धन न रहनेपर कुलीन भी अकुलीन और विद्वान् भी मूर्ख माना जाता है। इसलिये मुनिश्रेष्ठ! मुझे इस जीवनसे वैराग्य हो गया है। मैं दरिद्र हूँ, कोढ़ी हूँ और शत्रुओंसे अपमानित भी हो चुका हूँ, यदि कोई पूर्वपाप नहीं है, तो यह सब कष्ट मुझे किस कारणसे प्राप्त हुआ है? यह बताइये।

**राजाका यह वचन सुनकर नारदजीने बहुत देरतक सोच-विचारकर कहा**—राजन्! मैं तुम्हें पुनः राज्यकी प्राप्ति एवं आरोग्यका उपाय बताता हूँ। तुम्हारे राज्यमें अति सुन्दर हाटकेश्वर नामक पुण्यमय तीर्थ है, जहाँ सब पातकोंका नाशक शंखतीर्थ बहुत प्रसिद्ध है। जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक वैशाखमासके शुक्ल पक्षकी अष्टमी तिथिको रविवारके दिन सूर्योदयके समय उसमें स्नान

करता है, वह सब प्रकारके कुष्ठरोगोंसे मुक्त हो सूर्यके समान तेजस्वी हो जाता है। जो जिस-जिस कामनाका चिन्तन करके उस तीर्थमें स्नान और शंखेश्वरका दर्शन करता है, वह अत्यन्त दुर्लभ मनोरथको भी प्राप्त कर लेता है। क्या स्वदेशमें निवास करते समय तुमने उस तीर्थका माहात्म्य नहीं सुना था, जो यहाँ आये हो? नृपश्रेष्ठ! वहीं जाकर विधिपूर्वक स्नान करके भगवान् सूर्यनारायणका पूजन करो।

**विश्वामित्रजी कहते हैं**—देवर्षि नारदजीकी बात सुनकर राजा सिद्धसेन (दम्भ) वैशाख शुक्ला अष्टमी एवं रविवारका उत्तम योग आनेपर शंखतीर्थमें गये और सूर्योदयके समय उसमें स्नान करके ज्यों ही सूर्यदेवका पूजन करने लगे, उसी समय कुष्ठरोगसे मुक्त हो गये। तब दिव्य शरीर पाकर उनके मनमें बड़ा सन्तोष हुआ। तदनन्तर उनसे पूर्वकालमें जो एक भूल हुई थी उसका प्रायश्चित्त किया। भूल यह हुई थी कि उन्होंने किसी समय चूर्णपत्र (सूर्ती)-के साथ ताम्बूल पान भक्षण कर लिया था, उसीका यह फल था कि उनपर कष्टपूर्ण दशा आयी थी। प्रायश्चित्त करनेपर वे उत्तम लक्ष्मीको प्राप्त हुए और पहलेकी ही भाँति पिता-पितामहोंके राज्यका शासन करने लगे।

यह सुनकर आनर्तनरेशको बड़ा आश्चर्य हुआ। तब विश्वामित्रजीने उनसे कहा—तुम्हारे मनमें यह जाननेकी उत्सुकता है कि चूर्णपत्र (सुर्ती) खानेसे दोष क्यों होता है, सो मैं तुम्हें बताता हूँ। प्राचीन कालकी बात है, देवताओंने समुद्रसे मन्थनद्वारा अमृत प्राप्त करके उसे नन्दनवनमें रखा। वहीं ऐरावत हाथीके बाँधनेका खम्भा भी था। नागराज ऐरावत रात-दिन उस अमृतकी दिव्य सुगन्ध लेता रहता था। एक समय उस अमृत-कलशसे एक लता प्रकट हुई और वह फैलती हुई नागराज ऐरावतके आलान (बाँधनेके खम्भे) पर चढ़ गयी। देवता लोग उस अपूर्व सुगन्धित लताके पत्र तोड़कर मुखशुद्धिके लिये खाते थे और खाकर बड़े प्रसन्न होते थे। तदनन्तर धन्वन्तरि वैद्यने उसे देखकर कहा—'यह नाग (हाथी)-के आलानपर फैली है, इसलिये नागवल्लीके नामसे प्रसिद्ध होगी और मेरे वचनसे यह सदा कामदेवका स्थान (उद्दीपन करनेवाली) होगी।' तत्पश्चात् उन्होंने उसके साथ सुपारी, चूना और कत्थेका संयोग करके उसके द्वारा इन्द्रदेवताको तृप्त किया।

**तब इन्द्रने कहा**—राजन्! वर माँगो।

**धन्वन्तरिने कहा**—यह नागवल्ली कृपा करके मुझे भी दीजिये, मर्त्यलोकमें इसका प्रचार हो।

'**तथास्तु**' कहकर इन्द्रने नागवल्ली (पानकी बेल) उन्हें दे दी। राजाने अपने नगरमें जाकर उसे उद्यानमें आरोपित किया। तदनन्तर शीघ्र ही उसका सब ओर प्रचार हो गया। उसे खा-खाकर मनुष्य काम-भोगमें आसक्त हो गये। कोई भी यज्ञ आदि सत्कर्म न तो करता था और न कराता ही था। समस्त धार्मिक क्रियाएँ लुप्त हो गयीं। देववृन्द यज्ञभागसे वंचित हो गये और क्षुधासे पीड़ित हो ब्रह्माजीके समीप जाकर बोले—'सुरश्रेष्ठ! मर्त्यलोकमें समस्त धर्मकार्य बंद हो गये। सारा जगत् ताम्बूल भक्षण करके कामासक्त होता जा रहा है। अतः हमलोगोंपर कृपा कीजिये, जिससे हमारा यज्ञकार्य नष्ट न होने पावे।'

इसी समय ब्रह्माजी यज्ञके लिये पुष्करतीर्थमें आये। उस समय दारिद्र्यने उनके पास जा प्रणाम करके विनयपूर्वक कहा—'देव! मैं तो ब्राह्मणोंके घरमें रहकर उपवास करते-करते ऊब गया हूँ, अब कोई धनवानोंका अच्छा-सा घर मेरे रहनेके लिये बताइये, जहाँ खूब पेट भरकर भोजन मिले और सदा तृप्ति बनी रहे।'

**उसका वचन सुनकर ब्रह्माजीने देरतक सोच-विचारकर कहा**—'दारिद्र्य! तुम्हें चूर्णपत्र (सुर्ती)-में सदा निवास करना चाहिये। ताम्बूलके पत्तेके अग्रभागमें पत्नीके साथ रहो तथा वृन्तमें पुत्रके साथ निवास करो। रात होनेपर तुम तीनों

कत्थेमें निवास करना।' इस प्रकार धनवानोंके यहाँ छिद्र उत्पन्न करनेके लिये दरिद्रताको ये चार स्थान दिये गये हैं *। राजन्! राजा दम्भने न जाननेके कारण उन सब दोषोंसे युक्त पान खा लिये थे, इसीलिये उन्हें सहसा ऐश्वर्यसे हाथ धोना पड़ा था।

## विश्वामित्रतीर्थ एवं रत्नादित्यकी महिमा, धन्वन्तरि आदिकी कुष्ठरोगसे मुक्ति

**ऋषि बोले**—हाटकेश्वरक्षेत्रमें जो तीन पुण्य-दायक क्षेत्र हैं, उनका वर्णन हमने सुना, अब हम विश्वामित्रजीके तीर्थका माहात्म्य सुनना चाहते हैं।

**सूतजीने कहा**—विप्रवरो! विश्वामित्रजीके गुणोंका पार नहीं है। वे क्षत्रियकुलमें उत्पन्न होकर भी अपनी तपस्याके प्रभावसे ब्राह्मणत्वको प्राप्त हो गये। राजा त्रिशंकु अन्त्यजभावको प्राप्त थे, तो भी उनके यज्ञमें उन्होंने प्रत्यक्ष यज्ञभागभोगी देवताओंका निर्माण किया। पूर्वकालमें ब्रह्माजीके साथ स्पर्धा करके विश्वामित्रजीने नूतन सृष्टि रचना प्रारम्भ की थी। उस समय देवताओंने उनके चरणोंपर गिरकर उन्हें इस कार्यसे विरत किया था। श्रेष्ठ ब्राह्मणो! महात्मा विश्वामित्रने हाटकेश्वरक्षेत्रमें बिना किसी शस्त्रके केवल अपने हाथसे कुण्ड-निर्माण किया था, जो सब पातकोंका नाश करनेवाला है। उसके भीतर ध्यान करके उन्होंने पातालगंगाको बुलाया, उनका निर्मल जल पातालसे मर्त्यलोकमें प्रकट हुआ है, जो परम स्वादिष्ट तथा स्नान करनेसे सब पातकोंका नाश करनेवाला है। उन्होंने वहाँ भगवान् सूर्यदेवको भी स्थापित किया है। जो मनुष्य सप्तमी एवं रविवारके संयोगमें माघमासके शुक्ल पक्षमें सूर्योदयके समय उस शुभ कुण्डमें स्नान करता है, वह समस्त कुष्ठ रोगों और पापोंसे मुक्त होता है। उस कुण्डके पश्चिम और उत्तर कोणमें धन्वन्तरिद्वारा निर्मित एक वापी है, जो महान् जलराशिसे परिपूर्ण है। वह सब रोगोंका नाश करनेवाली है। पूर्वकालमें वहाँ उदारबुद्धि धन्वन्तरिजीने एकाग्रतापूर्वक सूर्यदेवका ध्यान करते हुए तपस्या की। दीर्घकालके पश्चात् भगवान् सूर्य उनपर सन्तुष्ट हुए और बोले—'वर माँगो।'

**धन्वन्तरिने कहा**—प्रभो! जो मनुष्य भक्तिपूर्वक इस कुण्डमें स्नान करे, उसके सब रोगोंका नाश हो जाय।

**श्रीभगवान् बोले**—आजके उत्तम दिन रविवार एवं सप्तमीके शुभ योगमें जो मनुष्य एकाग्रचित्त हो सूर्योदय कालमें स्नान करेगा, उसके सब रोग नष्ट हो जायँगे।

ऐसा कहकर सुरश्रेष्ठ सूर्यदेव अन्तर्धान हो गये। ब्राह्मणो! एक समय पूर्वकर्मोंके फलस्वरूप राजा धन्वन्तरिको कोढ़का रोग हुआ, जिसकी चिकित्सा तीनों लोकोंमें असम्भव हो गयी। संसारमें कोई ऐसी दवा नहीं थी, जो उन्होंने न की हो। कोई दान नहीं, जो उन्होंने न दिया हो। वे ज्यों-ज्यों दवा करते और दान देते थे, त्यों-त्यों रोग बढ़ता ही जाता था और उससे उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल होता जाता था। तब उन्हें इस जीवनसे वैराग्य हो गया और उन्होंने पुत्रको राज्यपर बिठाकर अग्निमें प्रवेश कर जानेकी इच्छा की। ब्राह्मणोंको दान देकर देवताओंका पूजन किया, फिर मित्रों एवं हितैषियोंसे मिल-

* इस प्रसंगसे जान पड़ता है, पान न खाना सर्वोत्तम है। दोषसे बचकर खाना हो तो, पानमें सुर्ती तो कभी डाले ही नहीं, क्योंकि उसमें सदा दारिद्र्यका वास है। देखा भी जाता है गरीब लोग ही अधिक सुर्ती खानेवाले हैं। रातमें भी पान न खाये, क्योंकि कत्थेमें उस समय दरिद्रताका वास है। पानके पत्तेका अग्रभाग और डंठल तोड़कर केवल दिनमें बिना सुर्तीका पान देवताको अर्पण करके खानेमें दोष नहीं है। शायद इसीसे पानका डंठल और अगला भाग तोड़नेकी प्रथा है।

जुलकर वार्तालाप करके पुत्रको कर्तव्यका उपदेश दिया। इसके बाद वे अग्निमें प्रवेश करनेको तैयार हुए। इतनेमें ही स्वेच्छानुसार घूमता हुआ कोई दिव्यरूपधारी तीर्थयात्री वहाँ आ पहुँचा। उसने राजाके सम्पूर्ण नगरको व्याकुल देखकर किसीसे पूछा—'यह समस्त नगर व्याकुल क्यों है?' उसने कहा—'यहाँके राजा कुष्ठरोगसे पीड़ित हैं, अतः स्त्रीसहित अग्निमें प्रवेश कर जायँगे। इसीसे सम्पूर्ण नगरमें व्याकुलता छा रही है।'

**यह सुनकर वह तीर्थयात्री शीघ्र ही राजाके समीप गया और सबको जीवनदान देता हुआ बोला**—राजन्! एक तीर्थ है, जहाँ सब रोगों और व्याधियोंका नाश हो जाता है। उसके रहते हुए आप अग्निमें प्रवेश न करें। भूपाल! जैसा आज आपका शरीर है, ऐसा ही पहले मेरा भी था। रविवार और सप्तमीका योग आनेपर जो रोगी मनुष्य सूर्योदयके समय उस तीर्थमें स्नान करता है, वह क्षणभरमें सब रोगों और पापोंसे मुक्त हो दिव्य शरीर पा लेता है—उसका काया-कल्प हो जाता है।

**राजाने पूछा**—ऐसा तीर्थ किस देशमें है? शीघ्र बतलाओ।

**कार्पटिक (तीर्थयात्री) बोला**—इस भूतलपर नगर नामसे प्रसिद्ध उत्तम क्षेत्र है। वहाँ भगवान् जलशायीके पश्चिम और उत्तर दिशामें विश्वामित्रजीका परम पुण्यमय तीर्थ है। वहाँ जाकर तुम भी रविवार और सप्तमीके योगमें स्नान करो, जिससे तुम्हारा रोग और पातक नष्ट हो जाय।

यह सुनकर राजा धन्वन्तरि उस तीर्थयात्रीके साथ शीघ्र उक्त तीर्थमें गये और वहाँ माघ मासकी सप्तमी एवं रविवारके योगमें स्नान किया। स्नान करते ही वे तत्काल कुष्ठरोगसे मुक्त हो गये और उनका शरीर दिव्य हो गया। तत्पश्चात् उन्होंने उस तीर्थयात्रीसे कहा—'भैया! तुम्हारे ही प्रसादसे मैं इस भयंकर रोगसे छुटकारा पा सका हूँ; अब तुम अपने घर जाओ, मैं यहीं झरनेके समीप स्त्रीसहित रहकर तपस्या करूँगा। राज्यसिंहासनपर अपने पुत्रको बिठा दिया है। वह राज्य शासन करनेमें पूर्णतः समर्थ है।' ऐसा कहकर राजाने उस तीर्थयात्रीको तथा अन्यान्य सेवकोंको अपने-अपने घर भेज दिया और स्वयं अपनी स्त्रियोंसहित सुन्दर आश्रम बनाकर रहने लगे। समयानुसार तपस्यासे उन्हें उत्तम सिद्धि प्राप्त हुई। तत्पश्चात् वह तीर्थ उन्हींके नामसे तीनों लोकोंमें विख्यात हुआ। वह सब रोगोंका नाश करनेवाला, सुन्दर तथा समस्त पापोंका नाशक है। महात्मा राजाने वहाँ देवाधिदेव भगवान् सूर्यकी भी स्थापना की थी, जो रत्नादित्यके नामसे विख्यात हुए। जो मनुष्य रविवार और सप्तमीके योगमें वहाँ स्नान करके रत्नादित्यका दर्शन करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो सूर्यलोकमें जाता है।

विप्रवरो! हाटकेश्वरक्षेत्रके समीप किसी गाँवमें कोई पुरुष रहता था, जो बूढ़ा और कोढ़ी था। फिर भी वह सदा दूसरोंके पशुओंको चराता और उनका पालन किया करता था। एक समयकी बात है, एक पशु घासके लोभसे रास्ता छोड़कर पर्वतके नीचे चला गया और उस तीर्थके जलमें गिर पड़ा। उस दिन रविवार और सप्तमी तिथिका योग था। उस बूढ़ेने जाते हुए पशुको नहीं देखा। जब वह भोजन करनेके लिये अपने घर गया, तब उस पशुका स्वामी उसे फटकारता हुआ आया और बोला—'आज मेरा वह पशु घर क्यों नहीं आया? शीघ्र जाकर उसे ले आ नहीं तो तेरे प्राण ले लूँगा।'

यह सुनकर वह कोढ़ी भयसे थर-थर काँपता हुआ शीघ्र उस स्थानपर गया। रातकी अँधेरी छायी हुई थी। उसने दूरसे महाकुण्डमें गिरे हुए पशुका आर्तनाद सुना। तब उस गर्तमें पहुँचकर उसने बड़े कष्टसे उस पशुको खींचकर कीचसे बाहर निकाला। फिर उसे साथ ले धीरे-धीरे घरको लौटा और उसके स्वामीको पशु सौंपकर

अपनी झोंपड़ीमें गया। रातको तो वह सो गया। सबेरे उठनेपर उस बड़भागी पुरुषने जब अपने शरीरपर दृष्टिपात किया, तब उसे कुष्ठरोगसे रहित तथा उत्तम शोभासे सम्पन्न देखा। फिर उसने आश्चर्यमें पड़कर सोचा, यह क्या है, रोगका नाश कैसे हो गया? निस्सन्देह, यह उसी तीर्थके जलका प्रभाव है, जिसमें मैंने पशुको निकालनेके लिये प्रवेश किया था। तब वह उस उत्तम तीर्थमें जाकर भगवान् सूर्यका ध्यान करता हुआ तपस्या करने लगा। अन्तमें उसने देवदुर्लभ सिद्धि प्राप्त कर ली। इसलिये पूर्णतः प्रयत्न करके वहाँ स्नान और भगवान् सूर्यदेवकी पूजा करे। आजके कलिकालमें भी जो मनुष्य रविवार और सप्तमीका योग आनेपर उस पुण्य जलाशयमें स्नान करता है और भक्तिपूर्वक भगवान् सूर्यको पूजता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। जो वहाँ सूर्यदेवके सम्मुख आठ हजार गायत्रीका जप करता है, वह समस्त रोगों और पापोंसे छूट जाता है। जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक भगवान् सूर्यकी प्रसन्नताके लिये वहाँ गोदान करता है, उसकी तो बात ही क्या है। उसके वंशमें भी कोई रोग-व्याधिसे ग्रस्त नहीं होता।

## श्राद्धकल्प

**सूतजी कहते हैं**—उस तीर्थमें विश्वामित्रजीके द्वारा स्थापित गणेशजी भी हैं, जो मनुष्योंको सब प्रकारकी सिद्धि देनेवाले हैं। जो माघमासके शुक्ल पक्षकी चतुर्थी तिथिको उनकी पूजा करता है, वह एक वर्षतक सब प्रकारके विघ्नोंसे छुटकारा पा जाता है।

एक समय महामुनि मार्कण्डेयजी राजा रोहिताश्वके यहाँ पधारे और यथायोग्य सत्कार ग्रहण करनेके बाद उन्हें कथा सुनाने लगे। कथाके अन्तमें राजा रोहिताश्वने कहा—'भगवन्! मैं श्राद्धकल्पका यथार्थरूपसे श्रवण करना चाहता हूँ।'

**मार्कण्डेयजी बोले**—राजन्! यही बात आनर्तनरेशने भर्तृयज्ञसे पूछी थी। वही प्रसंग सुनाता हूँ।

**आनर्तने पूछा**—ब्रह्मन्! श्राद्धके लिये कौन-सा समय विहित है? श्राद्धोपयोगी द्रव्य कौन हैं? श्राद्धके लिये कौन-कौन-सी वस्तुएँ पवित्र मानी गयी हैं? कैसे ब्राह्मण श्राद्धकर्ममें सम्मिलित करने योग्य हैं और कैसे ब्राह्मण त्याज्य माने गये हैं?

**भर्तृयज्ञने कहा**—राजन्! विद्वान् पुरुषको अमावास्याके दिन अवश्य श्राद्ध करना चाहिये। क्षुधासे क्षीण हुए पितर श्राद्धान्नकी आशासे अमावास्या तिथिके आनेकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। जो अमावास्या तिथिको जल या शाकसे भी श्राद्ध करता है, उसके पितर तृप्त होते हैं और उसके समस्त पातकोंका नाश हो जाता है।

**आनर्तने पूछा**—ब्रह्मन्! विशेषतः अमावास्याको श्राद्ध करनेका विधान क्यों है? मरे हुए जीव तो अपने कर्मानुसार शुभाशुभ गतिको प्राप्त होते हैं; फिर श्राद्धकालमें वे अपने पुत्रके घर कैसे पहुँच पाते हैं?

**भर्तृयज्ञने कहा**—महाराज! जो लोग यहाँ मरते हैं, उनमेंसे कितने ही इस लोकमें जन्म ग्रहण करते हैं, कितने ही पुण्यात्मा स्वर्गलोकमें स्थित होते हैं और कितने ही पापात्मा जीव यमलोकके निवासी हो जाते हैं। कुछ जीव भोगानुकूल शरीर धारण करके अपने किये हुए शुभ या अशुभ कर्मका उपभोग करते हैं। राजन्! यमलोक या स्वर्गलोकमें रहनेवाले पितरोंको भी तबतक भूख-प्यास अधिक होती है, जबतक कि वे माता या पितासे तीन पीढ़ीके अन्तर्गत रहते हैं—जबतक वे श्राद्धकर्ता पुरुषके—मातामह, प्रमातामह या वृद्धप्रमातामह एवं पिता, पितामह या प्रपितामह पदपर रहते हैं, तबतक श्राद्धभाग ग्रहण करनेके लिये उनमें भूख-प्यासकी अधिकता

होती है। पितृलोक या देवलोकके पितर तो श्राद्धकालमें सूक्ष्म शरीरसे आकर श्राद्धीय ब्राह्मणोंके शरीरमें स्थित होकर श्राद्धभाग ग्रहण करते हैं; परंतु जो पितर कहीं शुभाशुभ भोगमें स्थित हैं या जन्म ले चुके हैं, उनका भाग दिव्य पितर आकर ग्रहण करते हैं और जीव जहाँ जिस शरीरमें होता है—वहाँ तदनुकूल भोगकी प्राप्ति कराकर उसे तृप्ति पहुँचाते हैं। ये दिव्य पितर नित्य एवं सर्वज्ञ होते हैं। पितरोंके उद्देश्यसे सदा ही अन्न और जलका दान करते रहना चाहिये। जो नीच मानव पितरोंके लिये अन्न और जल न देकर आप ही भोजन करता या जल पीता है, वह पितरोंका द्रोही है। उसके पितर स्वर्गमें अन्न और जल नहीं पाते हैं। इसलिये शक्तिके अनुसार अन्न और जल उनके लिये अवश्य देने चाहिये। श्राद्धद्वारा तृप्त किये हुए पितर मनुष्यको मनोवांछित भोग प्रदान करते हैं।

## श्राद्धकी आवश्यकता तथा समय

**आनर्तनरेशने पूछा**—ब्रह्मन्! श्राद्धके लिये और भी तो नाना प्रकारके पवित्रतम काल हैं; फिर अमावास्याको ही विशेषरूपसे श्राद्ध करनेकी बात क्यों कही गयी है?

**भर्तृयज्ञने कहा**—महाराज! यह सत्य है कि श्राद्धके योग्य और भी बहुत-से समय हैं। मन्वादि तिथि, युगादि तिथि, संक्रान्तिकाल, व्यतीपात, गजच्छाया, चन्द्रग्रहण तथा सूर्यग्रहण—इन सभी समयोंमें पितरोंकी तृप्तिके लिये श्राद्ध करना चाहिये। पुण्यतीर्थ, पुण्यमन्दिर, श्राद्धयोग्य ब्राह्मण तथा श्राद्धके योग्य उत्तम पदार्थ प्राप्त होनेपर बुद्धिमान् पुरुषोंको बिना पर्वके भी श्राद्ध करना चाहिये। अमावास्याको जो विशेषरूपसे श्राद्ध करनेका आदेश दिया गया है, इसका कारण बताता हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो। सूर्यकी सहस्रों किरणोंमें जो सबसे प्रमुख है, उसीका नाम 'अमा' है; उस 'अमा' नामक प्रधान किरणके ही तेजसे सूर्यदेव तीनों लोकोंको प्रकाशित करते हैं। उसी अमामें तिथिविशेषको चन्द्रदेव निवास करते हैं, इसलिये उसका नाम 'अमावास्या' है। यही कारण है कि अमावास्या प्रत्येक धर्मकार्यके लिये अक्षय फल देनेवाली बतायी गयी है। श्राद्धकर्ममें तो इसका विशेष महत्त्व है ही। अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, आज्यप, सोमप, रश्मिप, उपहूत, आयन्तुन, श्राद्धभुक् तथा नान्दीमुख—ये नौ दिव्य पितर बताये गये हैं। आदित्य, वसु, रुद्र तथा दोनों अश्विनीकुमार भी केवल नान्दीमुख पितरोंको छोड़कर शेष सभीको तृप्त करते हैं। ये पितृगण ब्रह्माजीके समान बताये गये हैं; अतः पद्मयोनि ब्रह्माजी उन्हें तृप्त करनेके पश्चात् सृष्टिकार्य प्रारम्भ करते हैं।

इनके सिवा, दूसरे भी ऐसे मर्त्य-पितर होते हैं, जो स्वर्गलोकमें निवास करते हैं। वे दो प्रकारके देखे जाते हैं; एक तो सुखी हैं और दूसरे दुःखी। मर्त्यलोकमें रहनेवाले वंशज जिनके लिये श्राद्ध करते और दान देते हैं, वे सभी वहाँ हर्षमें भरकर देवताओंके समान प्रसन्न होते हैं। जिनके लिये उनके वंशज कुछ भी दान नहीं करते, वे भूख-प्याससे व्याकुल और दुःखी देखे जाते हैं। एक समयकी बात है, अग्निष्वात्त आदि सभी पितर देवराज इन्द्रके पास गये। महाराज! इन्द्रने उन्हें आया देख सम्पूर्ण देवताओंके साथ भक्तिपूर्वक उनका पूजन किया। इसके बाद जब वे देवदुर्लभ पितृलोकको जाने लगे, तब क्षुधा-पिपासासे पीड़ित रहनेवाले मर्त्य पितरोंने दिव्य स्तोत्रोंसे, पितृसूक्तके मन्त्रोंसे तथा पितरोंको सन्तुष्ट करनेवाले अन्यान्य वैदिक स्तोत्रोंसे उन सबकी स्तुति करके दीनतापूर्ण वचनोंद्वारा उन्हें प्रसन्न किया। तब वे दिव्य पितर प्रसन्न होकर उनसे बोले—'सुव्रतो! हम सब तुम लोगोंपर प्रसन्न हैं, बोलो तुम क्या चाहते हो?'

**मर्त्य पितर बोले**—दिव्य पितृगण! हम मनुष्योंके पितर हैं। अपने कर्मोंद्वारा मर्त्यलोकसे स्वर्गमें आकर देवताओंके साथ निवास करते हैं। परंतु यहाँ हमें अत्यन्त भयंकर भूख और प्यासका कष्ट होता है। जान पड़ता है, हम आगमें जल रहे हैं। यहाँके नन्दन आदि वनोंमें बड़े सुन्दर-सुन्दर वृक्ष हैं। सबमें फल लगे हुए हैं, परंतु उन फलोंको जब हम हाथमें लेते हैं और यत्नपूर्वक जोर-जोरसे खींचते हैं तो भी वे डालीसे टूटकर अलग नहीं होते। प्याससे पीड़ित होकर यदि हम देवनदी गंगाका जल हाथमें उठाते हैं और पीते हैं, तब हमारे हाथमें उस जलका स्पर्श ही नहीं होता। इस स्वर्गलोकमें कोई खाता-पीता नहीं दिखायी देता। अतः यहाँका निवास हमारे लिये अत्यन्त भयंकर हो गया है। यहाँ जो देवता और गुह्यक आदि हैं, वे सब विमानमें बैठे हुए प्रसन्नचित्त दिखायी देते हैं। इन्हें भूख-प्यासका कष्ट नहीं है। ये अनेक प्रकारके भोगोंसे सम्पन्न हैं। क्या हम सब लोग भी कभी ऐसे हो सकेंगे? भूख-प्यासके कष्टसे रहित हो परम सन्तोष पा सकेंगे?

**दिव्य पितरोंने कहा**—इन्द्र आदि केवल दूसरे-दूसरे कार्योंमें व्यग्र होकर जब हमारे लिये श्राद्ध नहीं करते, दान नहीं देते, तब हमलोगोंकी भी ऐसी ही कष्टपूर्ण दशा हो जाती है। उस समय हम वहाँसे आकर देवताओंसे कहते हैं, प्रार्थना करते हैं। उसके बाद जब ये लोग श्राद्ध-तर्पणद्वारा हमें तृप्त करते हैं, तब हमें तृप्ति प्राप्त होती है। इसी प्रकार तुम लोगोंके जो वंशज एकाग्रचित्त हो तुम्हारे लिये श्राद्धका दान देते हैं, उससे तुमलोग भी क्यों नहीं तृप्त होओगे? अब प्रमादी वंशज पितरोंका तर्पण नहीं करते, तब उनके पितर स्वर्गमें रहनेपर भी भूख-प्याससे व्याकुल हो जाते हैं; फिर जो यम लोकमें पड़े हैं, उनके कष्टका तो कहना ही क्या है?

इतना कहकर दिव्य पितरोंने मर्त्य पितरोंको साथ ले ब्रह्माजीके समीप गमन किया और उनकी तथा अपनी शाश्वत तृप्तिके लिये उपाय पूछा। तब ब्रह्माजीने कहा—'पितरो! यदि मनुष्य पिता, पितामह और प्रपितामहके उद्देश्यसे तथा मातामह, प्रमातामह और वृद्धप्रमातामहके उद्देश्यसे श्राद्ध-तर्पण करेंगे तो उतनेसे ही उनके पिता और मातामहसे लेकर मुझतक सभी पितर तृप्त हो जायँगे। जिस अन्नसे मनुष्य अपने पितरोंकी तुष्टिके लिये श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको तृप्त करेगा और उसीसे भक्तिपूर्वक पितरोंके निमित्त पिण्डदान भी देगा, उससे तुम्हें सनातन तृप्ति प्राप्त होगी। अमावस्याके दिन वंशजोंद्वारा श्राद्ध और पिण्ड पाकर पितरोंको एक मासतक तृप्ति बनी रहेगी। सूर्यदेवके कन्याराशिपर स्थित रहते समय आश्विन कृष्णपक्ष (पितृपक्ष या महालय)-में जो मनुष्य मृत्यु-तिथिपर पितरोंके लिये श्राद्ध करेंगे, उनके उस श्राद्धसे पितरोंको एक वर्षतक तृप्ति बनी रहेगी। उस समय शाकके द्वारा भी जो तुम्हारा श्राद्ध नहीं करेगा, वह धनहीन चाण्डाल होगा। जो मनुष्य उसके साथ बैठना, सोना, खाना, पीना, छूना-छुलाना अथवा वार्तालाप आदि व्यवहार करेंगे, वे भी महापापी माने जायँगे। उनके सन्तानकी वृद्धि नहीं होगी। किसी प्रकार भी उन्हें सुख और धन-धान्यकी प्राप्ति नहीं होगी। यदि मनुष्य गयाशीर्षमें जाकर एक बार भी श्राद्ध कर देंगे तो उसके प्रभावसे तुम सभी पितर सदाके लिये तृप्त हो जाओगे।'

**भर्तृयज्ञ कहते हैं**—राजन् ! ऐसा जानकर विज्ञ पुरुषको चाहिये कि पितरोंको तृप्त करनेकी इच्छा रखकर वह उक्त समयोंमें श्राद्ध अवश्य करे। इहलोक और परलोकमें उसकी उन्नति चाहनेवाले पुरुषको विशेषतः गयाशीर्षमें जाकर श्राद्ध करना चाहिये। जो मनुष्य अमावस्याके दिन श्राद्ध नहीं करता, उसके पितर भूख-प्याससे पीड़ित हो बहुत दुःखी होते हैं। मन-ही-मन तृप्तिकी अभिलाषा रखकर वे प्रेतपक्षकी प्रतीक्षा करते

रहते हैं, ठीक उसी तरह जैसे किसानलोग रात-दिन वर्षाकी राह देखते हैं। पितृपक्ष बीत जानेपर भी जब उन्हें श्राद्धका अन्न नहीं मिलता, तब वे जबतक कन्या राशिपर सूर्य रहते हैं, तबतक अपनी सन्तानोंद्वारा किये हुए श्राद्धकी प्रतीक्षा करते हैं। उसके भी बीत जानेपर कुछ पितर तुलाराशिके सूर्यतक पूरे कार्तिकमासमें अपने वंशजोंद्वारा किये जानेवाले श्राद्धकी राह देखते हैं। जब सूर्यदेव वृश्चिक राशिपर चले जाते हैं, तब वे पितर दीन एवं निराश होकर अपने स्थानपर लौट जाते हैं। राजन्! इस प्रकार पूरे दो मासतक भूख-प्याससे व्याकुल पितर वायुरूपमें आकर घरके दरवाजोंपर खड़े रहते हैं। अतः जबतक कन्या और तुलापर सूर्य रहते हैं, तबतक तथा अमावस्याके दिन सदा पितरोंके लिये श्राद्ध करना चाहिये। विशेषतः तिल और जलकी अंजलि देनी चाहिये। कन्या और तुलामें श्राद्ध न हो तो अमावास्याको अवश्य करे। वह भी न हो तो एक बार गयाजीमें आकर श्राद्ध कर दे, जिससे नित्य श्राद्धका फल प्राप्त होता है।

## श्राद्धकी विधि, विहित और निषिद्ध ब्राह्मण तथा मन्वादि एवं युगादि पुण्यतिथियोंका वर्णन

**आनर्तने पूछा**—मुनीश्वर! सब मनुष्योंको किस विधिसे श्राद्ध करना चाहिये?

**भर्तृयज्ञने कहा**—उत्तम कर्मोंद्वारा उपार्जित धनसे पितरोंका श्राद्ध करना उचित है। छल, कपट, चोरी और ठगीसे कमाये हुए धनसे कदापि श्राद्ध न करे। अपनी वर्णोचित वृत्तिके द्वारा उपार्जित धनसे श्राद्धके लिये सामग्री एकत्र करे। पहले सन्ध्याकाल आनेपर काम-क्रोधसे रहित एवं पवित्र हो श्राद्धकर्मके योग्य श्रेष्ठ ब्रह्मचर्यपरायण ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करे। उनके अभावमें ब्रह्मज्ञानपरायण, अग्निहोत्री, वेदविद्यामें निपुण गृहस्थ ब्राह्मणोंको निमन्त्रण दे। जिनका कोई अंग विकल न हो, जो नीरोग, आहारपर संयम रखनेवाले तथा पवित्र हों, ऐसे ब्राह्मण श्राद्धके योग्य बताये गये हैं।

जो किसी अंगसे हीन हों या जिनका कोई अंग अधिक हो, जो सर्वभक्षी हों, निकाले गये हों, जिनके दाँत काले हों अथवा जिनके दाँत गिर गये हों, जो वेद बेचनेवाले और यज्ञवेदीको नष्ट करनेवाले हों, जिनमें वेद-शास्त्रोंका ज्ञान न हो, जिनके नख खराब हो गये हों, जो रोगी, निर्धन, दूसरोंकी हिंसा करनेवाले, दूसरे लोगोंपर लांछन लगानेवाले, नास्तिक, नाचनेवाले, सूदखोर, बुरे कर्मोंमें संलग्न, शौचाचारसे शून्य, अत्यन्त लंबे, अति दुर्बल, बहुत मोटे, अधिक रोमवाले तथा रोमरहित हों, ऐसे ब्राह्मणोंको श्राद्धमें त्याग दे। जो पितरोंका गौरव रखना चाहे, उसे ऐसा अवश्य करना चाहिये। जो परायी स्त्रीमें आसक्त, शूद्रजातीय स्त्रीसे सम्पर्क रखनेवाले, नपुंसक, मलिन, चोर, क्षत्रिय तथा वैश्यकी वृत्तिवाले, माता-पिताका त्याग करनेवाले, गुरुस्त्रीगामी, निर्दोष पत्नीको छोड़नेवाले, कृतघ्न, खेती करनेवाले, शिल्पसे जीविका चलानेवाले, भाला बेचकर या भाला चलाकर जीनेवाले, चमड़ेके व्यापारसे जीवन-निर्वाह करनेवाले तथा अज्ञात कुलवाले हों, ऐसे ब्राह्मणोंको भी श्राद्धमें त्याग देना चाहिये।

अब उन ब्राह्मणोंका परिचय देता हूँ, जो श्राद्धकार्यमें प्रशस्त माने गये हैं। त्रिणाचिकेत (नाचिकेत नामक विविध अग्निका सेवन करनेवाले), 'मधुवाता' आदि तीन ऋचाओंका जप करनेवाले, छहों अंगोंके ज्ञाता, त्रिसुपर्ण नामक ऋचाओंका पाठ करनेवाले, विद्या एवं व्रतको पूर्ण करके जो स्नातक हो चुके हों वे, धर्मद्रोण (धर्मशास्त्र)-के पाठक, पुराणवेत्ता, ज्ञानी, ज्येष्ठसामके ज्ञाता, अथर्वशीर्षके विद्वान्, ऋतुकालमें

अपनी पत्नीके साथ सहवास करनेवाले, उत्तम कर्मपरायण, सद्यःप्रक्षालक (तत्काल पात्र धो डालनेवाले अर्थात् एक ही समयके लिये अन्न संग्रह करनेवाले), शुक्ल (गौर वर्ण अथवा शुक्ल जातीय), पुत्रीके पुत्र, दामाद, भानजे, परोपकारी, मिष्टान्न खाने और पचानेमें समर्थ, मीठे वचन बोलनेवाले, एवं सदा जपमें तत्पर रहनेवाले—ये सभी ब्राह्मण पंक्तिपावन (पंगतको पवित्र करनेवाले) जानने चाहिये। ये पितरोंकी तृप्ति करते हैं। इसलिये थोड़ी विद्यावाले होनेपर भी कुल और आचारमें जो श्रेष्ठ हों, उन्हींको श्राद्धमें नियुक्त करना चाहिये।

इस प्रकार ब्राह्मणोंका ज्ञान करके सव्यभावसे उनके चरणोंका स्पर्श करते हुए प्रणाम करे और विश्वेदेव श्राद्धके लिये दो ब्राह्मणोंको निमन्त्रण दे। दाहिना घुटना पृथ्वीपर टेककर इस मन्त्रका उच्चारण करे—

**आगच्छन्तु महाभागा विश्वेदेवा महाबलाः।**
**भक्त्याहूता मया चैव त्वं चापि व्रतभाग्भव॥**

'मेरे द्वारा भक्तिपूर्वक बुलाये हुए परम सौभाग्यशाली महाबली विश्वेदेवगण इस श्राद्धकर्ममें पधारें और हे ब्राह्मणदेव! आप भी व्रतके भागी, क्रोधरहित, शौचपरायण तथा ब्रह्मचर्यपालक हों।'

तत्पश्चात् अपसव्यभावसे पितरोंके लिये तथा मातामह आदिके लिये भी ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करे। फिर पितृभक्त पुरुष श्रद्धासे ब्राह्मणका चरण-स्पर्श करके कहे—'विप्रवर! इस श्राद्धकर्ममें मेरे पिता, पितामह तथा प्रपितामह आपमें स्थित होकर पधारें और आप भी ब्रह्मचर्य आदि व्रतका पालन करें।'

इस प्रकार पितरों और मातामह आदिका भी आवाहन करके घर आवे। निमन्त्रित ब्राह्मणोंको उस दिन विशेष संयमसे रहना चाहिये। यजमान भी शान्तचित्त एवं ब्रह्मचर्यसे युक्त रहे। वह रात बीत जानेपर प्रातःकाल शयनसे उठकर मनुष्य दिनभर किसीपर क्रोध न करे। उस दिन स्वाध्याय बंद रखे और कोई कुत्सित कर्म अपने द्वारा न होने दे। तेल लगाना, परिश्रम करना, सवारी या वाहन आदिको दूरसे ही त्याग दे।

तदनन्तर जब दोपहर बीतनेपर 'कुतप' संज्ञक मुहूर्त आवे, उस समय स्नान करके श्वेत वस्त्र धारणकर देवताओं और पितरोंका तर्पण करनेके पश्चात् निमन्त्रित ब्राह्मणोंको भी संतुष्ट करे। उसके बाद उन्हें बुलाकर श्राद्ध प्रारम्भ करे। पवित्र, सुन्दर, एकान्त गृहमें, जिसमें दक्षिण दिशाकी भूमि कुछ नीची हो, जहाँ पापी क्रूरकर्मी मनुष्योंकी दृष्टि न पड़े, श्राद्ध करना चाहिये। जिस श्राद्धको रजस्वला स्त्री देख लेती है अथवा जिसपर किसी पतित मनुष्य या सूअरकी दृष्टि पड़ जाती है, वह व्यर्थ हो जाता है। जिसमें बासी अन्न, तेलका बना हुआ पदार्थ अथवा केश आदिसे दूषित भोजन परोसा जाय, वह श्राद्ध भी व्यर्थ हो जाता है। जिस श्राद्धमें अन्नका बलिवैश्वदेवके अनुसार यथायोग्य विभाग न किया गया हो, मौनव्रतका पालन न हुआ हो अथवा दक्षिणा न दी गयी हो, वह श्राद्ध भी व्यर्थ हो जाता है। जहाँ घरघराहटकी ध्वनि, ओखलीके कूटनेका शब्द अथवा सूपके फटकनेकी आवाज होती हो, वह श्राद्ध भी व्यर्थ हो जाता है। जिस श्राद्धमें रसोई तैयार करते समय कलह होता है, विशेषतः पंक्तिभेद किया जाता है, जहाँ ब्राह्मण और यजमान ब्रह्मचर्यका पालन किये बिना ही भोजन करता तथा दान देता है, वह श्राद्ध भी सफल नहीं होता।

जिन तिथियोंमें श्रद्धापूर्ण हृदयसे स्नान करके पितरोंके लिये दिया हुआ तिलमिश्रित जल भी उनके लिये अक्षय तृप्तिका साधक होता है, उनका वर्णन करता हूँ—आश्विन शुक्ला नवमी, कार्तिककी द्वादशी, माघ तथा भादोंकी तृतीया, फाल्गुनकी अमावास्या, पौषकी एकादशी, आषाढ़की दशमी, माघकी सप्तमी, श्रावण कृष्णा अष्टमी, आषाढ़, कार्तिक, फाल्गुन, चैत्र और ज्येष्ठ मासकी पूर्णिमाएँ—ये मन्वादि तिथियाँ कही गयी हैं।

इनमें स्नान करके जो मनुष्य पितरोंके उद्देश्यसे तिल और कुशमिश्रित जल भी देता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है। कार्तिक शुक्ला नवमी तथा वैशाख शुक्ला तृतीया, माघकी अमावास्या और श्रावणकी तृतीया—ये क्रमशः सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुगकी आदि तिथियाँ हैं। ये स्नान, दान, जप, होम और पितृतर्पण आदि करनेपर अक्षय पुण्य उत्पन्न करनेवाली और महान् फल देनेवाली होती हैं। जब सूर्य मेषराशि अथवा तुलाराशिपर जाते हैं, उस समय अक्षय पुण्यदायक 'विषुव' नामक योग होता है *। जिस समय सूर्य मकर और कर्क राशिपर जाते हैं, उस समय 'अयन' नामक काल होता है। सूर्यका एक राशिसे दूसरीपर जाना 'संक्रान्ति' कहलाता है। ये सब स्नान, दान, जप और होम आदिका महान् फल देनेवाले हैं। इस प्रकार संक्रान्ति और युगादि तिथियोंका वर्णन किया गया। इनमें दी हुई वस्तुका पुण्य अक्षय होता है।

## श्राद्धकर्ता और श्राद्धभोक्ताके लिये नियम, एकोद्दिष्ट और सपिण्डीकरणके विषयमें कुछ ज्ञातव्य बातोंका निर्देश

**भर्तृयज्ञ कहते हैं**—राजन्! ब्राह्मणके चरणका जल जो भूमिपर गिरता है, उससे उन सगोत्र पुरुषोंकी तृप्ति होती है, जो पुत्रहीन रहकर मृत्युको प्राप्त हुए हैं। जबतक घरकी भूमि ब्राह्मणके चरणोदकसे भीगी रहती है, तबतक पितृगण पुष्कर-पात्रोंमें जल पीते हैं। श्राद्ध करते समय पृथ्वीपर जो कुछ भी पुष्प, गन्ध, जल और अन्न गिरता है, उससे पशु, पक्षी, सर्प, कृमि और कीट-योनिमें पड़े हुए पूर्वज परम तृप्तिको प्राप्त होते हैं। अपने कुलमें उत्पन्न हुए जो पुरुष अपमृत्युसे मरे हैं अथवा जो प्रेतभावको प्राप्त हुए पूर्वज हैं, वे ब्राह्मणोंके उच्छिष्ट पात्र धोनेसे गिरी हुई जूठनसे तृप्त होते हैं। जो संस्कारहीन होकर मरे हैं अथवा जो कुलवती स्त्रियोंका त्याग करनेवाले हैं, उन उच्छिष्टभागी पुरुषोंके लिये वह अन्न है, जो कुशोंपर बिखेरा जाता है। उसे विकरान्न कहते हैं। विकरान्न देनेसे वे सब-के-सब तृप्त होते हैं। श्राद्धकर्ममें जो मन्त्र, काल और विधि आदिकी त्रुटि रह जाती है, उसकी पूर्ति पर्याप्त दक्षिणा देनेसे होती है। अतः विद्वान् पुरुषको दक्षिणारहित श्राद्ध कदापि नहीं करना चाहिये। श्राद्धसम्बन्धी दान देकर श्राद्धकर्ताको और श्राद्धान्न भोजन करके ब्राह्मणको न तो स्वाध्याय करना चाहिये और न दूसरे ग्राममें ही जाना चाहिये। जो श्राद्धान्न भोजन करनेवाला तथा श्राद्धकर्ता मनुष्य मैथुनका सेवन करता है, उसके पितर एक वर्षतक वीर्य भोजन करते हैं। इसमें संदेह नहीं है। जो अधम मनुष्य श्राद्ध करके अथवा श्राद्धान्न भोजन करके दूसरे ग्राममें जाता है, उसका वह श्राद्ध व्यर्थ हो जाता है। श्राद्धका निमन्त्रण आनेपर ब्राह्मणको अपने घर भोजन नहीं करना चाहिये। जो मोहवश भोजन कर लेता है, वह अधोगतिको प्राप्त होता है। यजमानको भी श्राद्ध करके दुबारा भोजन नहीं करना चाहिये। जो दुबारा भोजन कर लेते हैं, वे निश्चय ही नरकमें जाते हैं। जो श्राद्ध-भोजन अथवा श्राद्ध-दान करके युद्ध या कलह करता है, वह उस सम्पूर्ण श्राद्धको व्यर्थ कर देता है।

कमलयोनि ब्रह्माजीने श्राद्धके योग्य ब्राह्मणोंको निश्चय करते समय दौहित्रों (धेवतों)-को प्रथम स्थान दिया है। अतः दौहित्र यदि पवित्रतासे रहित, हीनांग अथवा अधिकांग भी हो तो पितरोंके संतोषके लिये उसे श्राद्धमें अवश्य सम्मिलित करे। ब्रह्माजीने पशुओंकी सृष्टि करते समय सबसे पहले गौओंको रचा है; अतः श्राद्धमें

* यदा स्यान्मेषगो भानुस्तुलां वाथ यदा व्रजेत्। तदा स्याद् विषुवाख्यस्तु कालः पुण्यप्रदायकः॥
(स्क० पु०, ना० उ० २०७)

उन्हींका दूध और घी उत्तम माना गया है। विधाताने मानवप्रजाकी सृष्टि करते समय सबसे पहले श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको उत्पन्न किया था, इसलिये वे श्राद्धमें उत्तम एवं पितरोंकी तृप्ति करनेवाले माने गये हैं। देवताओंकी सृष्टि करते समय ब्रह्माजीने सबसे पहले विश्वेदेवोंको बनाया है। अतः श्राद्धकर्म आरम्भ होनेपर पहले उन्हींकी पूजा की जाती है। वे विधिपूर्वक तृप्त किये जाने और प्रथम पूजित होनेपर श्राद्धमें जो छिद्र (दोष) उत्पन्न होते हैं, उनका नाश कर देते हैं। जो मनुष्य इन सब वस्तुओंसे सांगोपांग श्राद्धका अनुष्ठान करता है, उसका वह श्राद्ध घरमें ही गयाश्राद्धके समान फल देता है। शास्त्रोक्त विधिसे श्राद्ध सम्पन्न हो जानेपर ब्राह्मणोंको भोजन कराकर श्राद्धकर्ता पुरुष स्वयं भी सबके अन्तमें मौन भावसे भोजन करे। श्राद्धान्नका भोजन दिनमें ही हो जाना चाहिये। जो श्राद्धकर्ता पुरुष सूर्यास्त होनेपर भोजन करता है, उसका वह श्राद्ध व्यर्थ हो जाता है। अतः रातमें भोजन नहीं करना चाहिये।

**आनर्तने कहा**—महामते! अब आप एकोद्दिष्ट श्राद्धकी विधि बताइये और पार्वणका भी जैसा विधान कहा गया है, उसका वर्णन कीजिये।

**भर्तृयज्ञ बोले**—अस्थिसंचयनके पहले तीन श्राद्ध बताये गये हैं। जिस स्थानपर मृत्यु हुई हो, वहाँ एक श्राद्ध करे। फिर मार्गमें जहाँ विश्राम कराया गया हो, वहाँ एक श्राद्ध करना चाहिये। तत्पश्चात् अस्थिसंचयनके स्थानपर तृतीय श्राद्ध करना उचित है। इसके सिवा, मृत्युके प्रथम, तृतीय, पंचम, सप्तम, नवम तथा ग्यारहवें दिन भी एक-एक श्राद्ध किया जाता है। इस प्रकार सब मिलकर नौ श्राद्ध होते हैं। वैतरणी-दानकी प्राप्ति होनेपर प्रेत तृप्त होता है। एकोद्दिष्ट श्राद्ध विश्वेदेवसे रहित होता है। उसमें अग्निकरणकी क्रिया भी नहीं की जाती। एकोद्दिष्ट बिना आवाहनके ही करना चाहिये। एक बार '**तृप्तोऽसि? स्वदितम्?**' 'क्या आप तृप्त हो गये? भोजन स्वादिष्ट लगा है न?' इत्यादि रूपसे तृप्तिविषयक प्रश्न करना चाहिये। फिर '**अभिरम्यताम्**' कहकर ब्राह्मणका विसर्जन करना चाहिये। जिसका अग्रभाग कटा या फटा न हो, ऐसे कुश-पत्रको बीचसे काटकर दो तृणके रूपमें कर ले और उसीको पवित्री बनावे। एकोद्दिष्टमें ऐसी ही पवित्री बनानेका विधान है। आसन आदिके अर्पण करते समय सर्वत्र '**पितः**' इस प्रकार संबोधनान्त उच्चारण करना चाहिये। तर्पणमें '**पिता**' (**तृप्यताम्**)-का (पितृ शब्दके प्रथमान्तरूपका) प्रयोग करना चाहिये। संकल्प-वाक्यमें '**पित्रे**' (इस प्रकार चतुर्थ्यन्त रूप)-का उच्चारण करना चाहिये और अक्षय्योदक दिलाते समय '**पितुः**' इस षष्ठ्यन्त रूपका प्रयोग करना उचित है। इसी प्रकार जहाँ '**पितः**' का प्रयोग होता है, ऐसे स्थलोंमें सर्वत्र '**अमुक गोत्र**' इस प्रकार स्वरान्त (संबोधनान्त) उच्चारण करना चाहिये। तर्पणमें '**गोत्रः**' का, संकल्पवाक्यमें '**गोत्राय**' का और अक्षय्य-वाक्यमें '**गोत्रस्य**' का उच्चारण उचित है। ऐसे ही अर्घ्य आदि देते समय '**अमुक गोत्र**' के साथ '**अमुक शर्मन्**' का प्रयोग करना चाहिये। तर्पणमें शर्मा, संकल्पवाक्यमें '**शर्मणे**' और अक्षय्योदक त्यागके समय '**शर्मणः**' का प्रयोग उचित है। इसी प्रकार माताके लिये क्रमशः आसन, तर्पण, संकल्प एवं अक्षय्य वाक्यमें '**मातः**' '**माता**' '**मात्रे**' और '**मातुः**' का प्रयोग आवश्यक है। उसके साथ गोत्रका विशेषण लगानेपर '**अमुक गोत्रे**' '**....गोत्रा**' ' **...गोत्रायै**' तथा '**...गोत्रायाः**' का प्रयोग करना चाहिये। माताओंके नामके साथ देवीका प्रयोग करना हो तो उक्त स्थलोंमें क्रमशः '**देवि**' '**देवी**' '**देव्यै**' और '**देव्याः**' का प्रयोग करना चाहिये। इस तरह यथास्थान प्रथमा आदि विभक्तियोंका प्रयोग होता है। प्रथमा, चतुर्थी और षष्ठी विभक्तिका यथावत् प्रयोग श्राद्धकी सिद्धिके लिये आवश्यक है। जो श्राद्ध विभक्तिका ठीक

प्रयोग किये बिना ही किया जाता है, वह नहीं किये हुएके समान है; पितरोंको उसकी प्राप्ति नहीं होती। अतः विज्ञ ब्राह्मणको प्रयत्नपूर्वक यथोक्त विभक्तियोंके प्रयोगके साथ श्राद्धविधिका अनुष्ठान करना चाहिये।

तदनन्तर वर्षके पश्चात् सपिण्डीकरण श्राद्धका अनुष्ठान होना चाहिये। यदि वर्षके भीतर कोई विवाह आदि आभ्युदयिक कार्य आनेवाला हो तो वर्ष पूर्ण होनेके पहले भी सपिण्डीकरण किया जा सकता है। सपिण्डीकरण श्राद्ध पार्वणोक्त विधिसे किया जाता है। किंतु इसमें विश्वेदेवोंका आवाहन आदि नहीं होता। प्रेतके पिता, पितामह और प्रपितामह—ये तीन उसके प्रधान देवता हैं। राजन्! उसमें प्रेतके उद्देश्यसे एकोद्दिष्ट करना चाहिये। प्रेतके लिये जो अर्घ्यपात्र निश्चित किया गया हो, उसे लेकर उसके पिता आदिके तीनों अर्घ्यपात्रोंमें विधिपूर्वक उसका जल आदि डाले। इसी प्रकार प्रेत-पिण्डके तीन भाग करके तीनों पितृ-पिण्डोंमें एक-एक भाग मिलावे। उस समय **'ये समानाः'** इत्यादि दो मन्त्रोंका उच्चारण करता रहे। तत्पश्चात् पितासे लेकर प्रपितामहपर्यन्त सबके लिये क्रमशः अवनेजन देकर पुनः गन्ध, पुष्प आदि सब कुछ निवेदन करे। चौथा अवनेजन पात्र न दे। कोई-कोई प्रेतको लक्ष्यमें रखकर चौथा अवनेजन भी देते हैं; परंतु यह मेरा मत नहीं है। सपिण्डीकरणके बाद क्षयाह तिथि और शस्त्राहतके लिये चतुर्दशी तिथिको छोड़ और कभी एकोद्दिष्ट श्राद्ध नहीं करना चाहिये। जो सपिण्डीकृत प्रेतके लिये पृथक् पिण्डदान करता है, उसका वह श्राद्ध नहीं किये हुएके तुल्य है। यह वैसा करके पितृहत्याके पापका भागी होता है। जिसके पिता मर गये हों और पितामह जीवित हों, वह पहले पिताका नाम लेकर फिर पितामहका उच्चारण करे। उस समय पितामह प्रत्यक्ष भोजन करके पिण्डग्रहण करें। पितामहकी क्षयाह तिथिपर पार्वण श्राद्ध करना चाहिये (एकोद्दिष्ट नहीं), अपने पिताको छोड़कर किसी प्रकार पितामहको पिण्ड देना उचित नहीं है। उस दशामें पितामहका एकोद्दिष्ट श्राद्ध न करनेसे पितरोंकी ओरसे तनिक भी भय नहीं मानना चाहिये। पिताकी मृत्यु हो गयी हो तो प्रत्येक अमावास्याको पार्वण श्राद्ध करना चाहिये। पिताकी मृत्यु हो जानेपर जबतक उसका सपिण्डन (वार्षिक श्राद्ध) न हो जाय, तबतक बीचमें पिता आदि पितरोंका पार्वण श्राद्ध नहीं करना चाहिये। इस बीचमें श्राद्धपक्ष (महालय) आवे तो उसमें पितामह आदिका ही श्राद्ध करना चाहिये (पिताको साथ रखकर नहीं)। क्योंकि पिताका सपिण्डीकरण न होनेसे पितरोंकी श्रेणीमें उनका प्रवेश नहीं हुआ है।

## सपिण्डनकी आवश्यकता, तीन गति, भीष्मद्वारा मृत्युके बादकी स्थितिका निरूपण

**भर्तृयज्ञ कहते हैं**—पितृपिण्डोंके साथ प्रेतके पिण्डका मेलन करनेसे प्रेतको सपिण्ड (पितरोंके साथ बैठकर पिण्डग्रहणका अधिकारी) बनाया जाता है; इस कारण जबतक सपिण्डता नहीं होती, तबतक उसके प्रेतभावकी निवृत्ति भी नहीं होती। इसीलिये मुनियोंने सपिण्डीकरण श्राद्धको आवश्यक बताया है। जीव अन्यत्र जाकर जिस-जिस योनिमें जन्म लेता है, वहीं रहकर अपने पूर्व वंशजोंद्वारा दी हुई प्रत्येक वस्तुको अपने वर्तमान शरीरके अनुकूल पदार्थके रूपमें प्राप्त करता है।

**आनर्तने पूछा**—जिस मनुष्यका यहाँ कोई पुत्र नहीं है, उसका सपिण्डीकरण कैसे करना चाहिये?

**भर्तृयज्ञने कहा**—जिसका यहाँ कोई औरस पुत्र नहीं है, वह चारों पितरोंमेंसे चौथा कैसे हो सकता है? वह दूसरोंद्वारा खींच-तानमें पड़कर इधर-उधर ले जाया जाता है, इसलिये प्रेत

कहलाता है। पुत्र, भाई अथवा उसकी पत्नीको ही उसका सपिण्डीकरण श्राद्ध करना चाहिये। अन्यथा वह किसी तरह पितरोंमें मिलकर चतुर्थ स्थान नहीं प्राप्त करता। मनीषी पुरुष कर्मलोपकी अपेक्षा क्षेत्रज आदि ग्यारह प्रकारके पुत्रोंको पुत्रका प्रतिनिधि बताते हैं। अतः उन्हींके द्वारा क्रिया करानी चाहिये। राजेन्द्र! यदि समयपर प्रेतकी उत्तरक्रिया सविधि न हो सके तो प्रेतत्वविनाशक नारायणबलिका अनुष्ठान करना चाहिये। जैसे अपमृत्युको प्राप्त हुए अथवा आत्मघात करनेवाले मनुष्योंके लिये ब्राह्मणद्वारा नारायणबलिका अनुष्ठान कराना आवश्यक होता है, उसी प्रकार उसका भी करना चाहिये।

**आनर्तने पूछा**—महामते! मनुष्य यहाँ कैसे मृत्युको प्राप्त होता है? किस कर्मसे वह स्वर्ग या नरकमें जाता है? अथवा महाभाग! कैसे उसकी मुक्ति होती है? यह सब मुझे विस्तारपूर्वक बताइये।

**भर्तृयज्ञने कहा**—राजन्! इस जगत्में तीन प्रकारके मनुष्य होते हैं—धर्मी, पापी तथा ज्ञानी। इन तीनोंकी पृथक्-पृथक् तीन गतियाँ मानी गयी हैं। धर्मसे स्वर्ग, पापसे नरक और ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। श्रीकृष्णसहित धर्मपुत्र महाराज युधिष्ठिरने शान्तनुनन्दन पितामह भीष्मसे इसी विषयको इस प्रकार पूछा था।

**युधिष्ठिरने पूछा**—पितामह! यमलोकमें कितने नरक बताये गये हैं। उन सबमें जीव किस पापसे जाते हैं?

**भीष्मजी बोले**—वत्स! यमलोकमें प्रधानतः इक्कीस नरक बताये गये हैं, जिनमें जीव अपने-अपने कर्मके अनुसार जाते हैं। वहाँ चित्र और विचित्र नामक दो लेखक हैं। चित्र सब प्राणियोंका धर्म लिखते हैं और विचित्र यत्नपूर्वक सब पातकोंका उल्लेख करते हैं। धर्मराजके आठ दूत हैं, जो सदा अपने वशमें आये हुए मनुष्योंको मर्त्यलोकसे यमलोकमें ले जाते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—कराल, विकराल, वक्रनास, महोदर, सौम्य, शान्त, नन्द और सुवाक्य। इनमें पहलेके चार दूत बड़े भयंकर बताये गये हैं। ये सब पापियोंको यमलोकमें ले जाते हैं। शेष चार सौम्य रूप और सौम्य शरीर धारण करनेवाले हैं। वे धर्मात्मा मनुष्यको विमानद्वारा धर्मराजके नगरमें ले जाते हैं। इन सबके असंख्य किंकर हैं। इनकी सहायताके लिये यमने ज्वरसे लेकर यक्ष्मातक एक सौ आठ रोग बनाये हैं। वे रोग ही पहले जाकर मनुष्यको अपने वशमें करते हैं। तत्पश्चात् यमदूत सब लोगोंसे अलक्षित रहकर वहाँ जाते हैं और नाभिके मूलभागमें स्थित हुए वायुरूपधारी सूक्ष्म शरीराभिमानी जीवको लेकर यमलोकके मार्गसे जाते हैं। वहाँ पापी जीवको वे भूमिपर खड़ा करके पैदल चलाते हैं। यमलोकमें जानेके छियासी हजार मार्ग हैं, उन सबमें पहले सब ओरसे बहती हुई वैतरणी नदी प्राप्त होती है। जिसके एक स्रोतमें रक्त और तीखे अस्त्र-शस्त्र बहते हैं। जो मनुष्य मृत्युकालमें ब्राह्मणको धेनु-दान करते हैं, वे उसीकी पूँछ पकड़कर उस नदीके पार हो जाते हैं। दूसरे लोगोंको वह सौ योजन विस्तृत नदी हाथोंसे ही तैरकर पार करनी पड़ती है। वैतरणीका दूसरा स्रोत जलमय है। उस मार्गसे धर्मात्मा पुरुष ही यात्रा करते हैं। जो लोग मृत्युकालमें गोदान करते हैं, वे उसकी पूँछ पकड़कर वैतरणीके पार होते हैं। दूसरे गोदानरहित पुरुष अपनी बाँहोंसे ही तैरकर उसके पार होते हैं।

वैतरणी पार होनेपर पापी और धर्मात्मा पुरुषोंके मार्ग अलग हो जाते हैं। पापी पाप-मार्गसे पैदल जाते हैं और धर्मात्मा धर्ममार्गसे श्रेष्ठ विमानपर बैठकर यात्रा करते हैं। वैतरणीके उस पार पाँच योजन विस्तृत असिपत्र नामक वन है, जो पापियोंको महान् दुःख देनेवाला है। वहाँ एक-एक वृक्षकी एक-एक टहनीमें लोहेके ही सौ-सौ पत्ते हैं, जो तलवारकी तरह सब ओरसे मनुष्योंके शरीरको छिन्न-भिन्न कर देते हैं। जिन

दुरात्माओंने दूसरोंका धन और परायी स्त्रियोंका अपहरण किया है, उनको असिपत्रवनकी यातना सहनी पड़ती है। नौ श्राद्धोंसे उससे छुटकारा मिलता है। उसके आगे बहुत ऊँचा सुविख्यात कूटशाल्मलि है, जो सब ओरसे काँटोंसे भरा हुआ है। सदा निर्दयतापूर्ण बर्ताव करनेवाले विश्वासघाती मनुष्य उस वृक्षकी डालमें नीचे मुँह करके लटका दिये जाते हैं और नीचे आग जलाकर उन्हें दिन-रात संताप दिया जाता है। एकादशाह श्राद्ध करनेपर उस कष्टसे छुटकारा मिलता है। वहाँसे आगे भयानक आकारवाला नरक है, जो तैलयन्त्रके समान है। उसमें ब्रह्महत्यारे तथा अन्यान्य पापकर्मी जीव पेरे जाते हैं। द्वादशाह श्राद्ध एवं दान करनेपर जीवको उस संकटसे छुटकारा मिलता है। उसके बाद बहुत-से लोहेके तपे-तपाये खम्भे खड़े किये गये हैं; परायी स्त्रियोंमें अनुरक्त होनेवाले मनुष्योंको उन खम्भोंका आलिंगन करना पड़ता है। मासिक श्राद्ध करनेसे जीव उस कष्टसे छुटकारा पाते हैं। उससे आगे लोहेके समान दाढ़ोंवाले भयंकर कुत्ते खड़े रहते हैं, जो मांसभक्षी मनुष्योंको खाते हैं। त्रैपाक्षिक श्राद्ध करनेपर उन्हें इस कष्टसे मुक्ति मिलती है। तदनन्तर लोहेकी-सी चोंचवाले कौवे उपस्थित रहते हैं, जो उन मनुष्योंकी आँखें नोंच लेते या फोड़ देते हैं, जिन्होंने आसक्तिपूर्वक परायी स्त्रियोंकी ओर दृष्टिपात किया है। द्वितीय मासिक श्राद्धके द्वारा उस कष्टसे रक्षा होती है। तदनन्तर शाल्मलिकूट और अन्य लोहकण्टक हैं; चुगली करनेवाले मनुष्य उनके बीचसे ले जाये जाते हैं। त्रैमासिक श्राद्धद्वारा उस यातनासे बचाव होता है। उसके बाद रौरव नामसे प्रसिद्ध महाभयंकर नरक है, उसमें बड़ी भारी पीड़ा होती है। ब्रह्महत्या करनेवाले पापियोंको उसी नरकमें डालनेका आदेश दिया जाता है। कृतघ्न पुरुष भी उसीमें ऊपर पैर और नीचे मुँह करके लटकाये जाते हैं। चातुर्मासिक श्राद्धके दानसे उस संकटसे छुटकारा मिलता है। तदनन्तर कुम्भीपाक नामक भयंकर आकारवाला नरक है; जो लोग यहाँ दम्भ और पाखण्डमें संलग्न एवं नरहत्या करते देखे जाते हैं, वे कुम्भीपाकके खौलते हुए तैलमें डाल दिये जाते हैं। ऊनषाण्मासिक श्राद्धके द्वारा उससे मुक्ति प्राप्त होती है। विश्वासघाती मानव रौद्र नरकमें गिरते हैं और षाण्मासिक श्राद्धके दानद्वारा उस संकटसे छुटकारा पाते हैं। दूसरा नरक साँपों और बिच्छुओंसे भरा हुआ है। जो इस संसारमें पाखण्ड फैलाते हैं, वे नीच मनुष्य उसीमें गिराये जाते हैं। सप्तम मासिक श्राद्धमें दिये हुए दानके द्वारा उस संकटसे मुक्ति मिलती है। उससे भिन्न संवर्तक नामक नरक बताया गया है। जो वेदोंको नष्ट करनेवाले, साधु पुरुषोंके निन्दक और दुरात्मा हैं, उनकी जीभको आगमें तपाये हुए सँड़सोंद्वारा उखाड़ लिया जाता है। जो लोग अपना काम बनानेके लिये और दूसरेके लिये भी झूठ बोलते हैं, उनके सब अंगोंको वहाँ कुत्ते नोंच-नोंचकर खाते हैं। अष्टम मासिक श्राद्धके दान द्वारा उनकी उस संकटसे मुक्ति होती है। इसके बाद महातप्त अग्निकूप नामक अत्यन्त भयंकर नरक है, जिसमें झूठी गवाही देनेवाले मूढ़ मानव गिराये जाते हैं। वे अत्यन्त दुःखी होकर वहाँकी भयंकर यातना सहन करते हैं। नवम मासिकश्राद्ध उनको परम आह्लाद प्रदान करनेवाला होता है। उस नरकके आगे दूसरा भयानक नरक है, जो सब ओर लोहेकी कीलोंसे भरा हुआ है। वहाँ आग लगाने और स्त्री-हत्या करनेवाले पापात्मा यमदूतोंकी मार खाते और दुःखसे आतुर होकर चारों ओर भागते हैं। दशम मासिक श्राद्धके द्वारा उन्हें उस संकटसे छुटकारा मिलता है। तत्पश्चात् अंगारराशिसे व्याप्त भयंकर नरक है; उसमें स्वामीसे द्रोह करनेवाले मनुष्य सब ओर घुमाये जाते हैं। एकादश मासिक श्राद्धका दान उन्हें उस संकटसे बचाता है। उसके बाद तपी हुई बालूसे भरा हुआ एक भयंकर नरक है। जो मनुष्य स्वामीको आया हुआ देख उनकी यथायोग्य सेवा न करके भाग

खड़े होते हैं, वे वहाँ दुःखी होकर यातना भोगते हैं। उनके पास द्वादश मासिक श्राद्ध पहुँचता और उन्हें संकटसे बचाता है। मरे हुए पुरुषके लिये उसके भाई-बन्धुओंद्वारा वर्षके भीतर जो कुछ भी अन्न और जल दिया जाता है, उसे वे यमलोकके मार्गमें भोगते हैं।

तत्पश्चात् वर्ष पूरा होनेपर वे धर्मराजके समीप पहुँचकर अपने शुभाशुभ कर्मका फल पाते हैं। इस प्रकार पंद्रह नरकोंका सेवन करके मनुष्य पुनः मर्त्यलोकमें जन्म ग्रहण करते हैं। जो लोग हेतुवादी (कोरे तर्कका सहारा लेनेवाले) हैं, उनका जन्म विदेशमें (भारतवर्षसे भिन्न देशमें) होता है। नित्य तर्पण करनेसे उनकी तृप्ति होती है। जो स्वामीसे द्रोह रखनेवाले हैं, वे कुराज्यमें जन्म पाते हैं। एकोद्दिष्ट श्राद्धसे उनकी तृप्ति होती है। जो मनुष्य देवता, पितर और ब्राह्मणोंको दिये बिना ही भोजन करते हैं, उन्हें उस पापके कारण ऐसे देशमें जन्म लेना पड़ता है जो दुर्भिक्षसे पीड़ित रहता हो। ऐसे लोगोंको उनकी क्षयाह तिथिमें श्राद्ध होनेपर तृप्ति प्राप्त होती है। जो लोग परस्पर अनुरागपूर्वक रहनेवाले पति-पत्नीमें एक-दूसरेसे झूठी बातें कहकर भेद (कलह एवं फूट) पैदा करते हैं, उनको दुष्टा स्त्री प्राप्त होती है, जो कि एक बात कहनेपर क्रोधपूर्वक दस बात सुनाती है। ऐसे लोगोंको कन्यादानके फलसे सुख प्राप्त होता है। जो मनुष्य कन्यादानमें विघ्न डालते हैं, अथवा कन्याका विक्रय करते हैं, वे केवल कन्याओंको जन्म देते हैं, पुत्रको नहीं। उनकी वे कन्याएँ पुंश्चली, विधवा और दुर्भाग्यवती होती हैं। उन्हें भी कन्यादानका फल प्राप्त होनेसे ही सुख मिलता है। जिन्होंने रत्नों और शास्त्रोंकी चोरी की है, वे निर्धन, गूँगे, लँगड़े और अन्धे होते हैं। शास्त्रदानके पुण्यसे उन्हें सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार ये मर्त्यलोकमें स्पष्ट दिखायी देनेवाले नरक बताये गये हैं।

## नरकों और पापोंसे मुक्त होनेका उपाय तथा भगवान् जलशायीकी महिमा

**युधिष्ठिरने पूछा**—पितामह! नरकोंके स्वरूपका वर्णन तो मुझे बड़ा भयानक प्रतीत हुआ है। उन पापी जीवोंको भी कैसे नरक-यातनासे छुटकारा मिल सकता है? किन व्रतों, नियमों, हवनादि कर्मों तथा तीर्थोंके सेवनसे उनकी सद्गति हो सकती है?

**भीष्मजीने कहा**—वत्स! इस लोकमें जिनकी हड्डियाँ गंगाजीमें डाली जाती हैं, वे नरकमें हों तो भी वहाँकी आग उनपर कोई प्रभाव नहीं डालती। जिनके नामसे उनके पुत्र गंगातटपर श्राद्ध करते हैं, वे विमानपर चढ़कर नरकसे ऊपर चले जाते हैं। जो पापोंका शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त करते हैं तथा जो स्वर्ण आदि दान देते हैं, उनको भी नरककी प्राप्ति नहीं होती। शेष मनुष्य अपने कर्मका यथोचित फल भोगते हैं। जो अपने स्वामीके आगे खड़े हो धारातीर्थ (रणभूमि)-में प्राणत्याग करते हैं, वे नरकोंसे बहुत दूर उत्तम स्थानको प्राप्त होते हैं। जो मनुष्य काशी, कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य, नागरपुर (हाटकेश्वरक्षेत्र या चमत्कारपुर), प्रयाग अथवा प्रभासक्षेत्रमें शरीर छोड़ते हैं, वे नरकको नहीं देखते। जिसके वंशज उसकी मृत्युतिथिको नील वृषका उत्सर्ग करते (साँड़ छोड़ते) हैं, वह नरकको नहीं देखता। जो मनुष्य भगवान् विष्णुका हृदयमें ध्यान करते हुए मनुष्योंको यथायोग्य भोजन देता है, वह भी नरकको नहीं देखता। जो सूर्यके वृषराशिपर रहते समय ज्येष्ठमासमें जलका और मकरसंक्रान्ति होनेपर माघमें तिलकी गायका दान करता है, उसे नरकका दर्शन नहीं होता। सोमवारके दिन या चन्द्रग्रहणके समय समुद्र और सरस्वती नदीके संगममें स्नान करके जो सोमनाथका दर्शन करता है, वह नरकमें नहीं जाता। रविवारको एवं सूर्यग्रहणके समय जो कुरुक्षेत्रमें स्नान करता

है वह नरकको नहीं देखता। जो कार्तिककी पूर्णिमाको कृत्तिका नक्षत्रके योगमें मौन भावसे तीनों पुष्कर तीर्थोंकी परिक्रमा करता है, वह नरक नहीं देखता। मकरसंक्रान्ति होनेपर रविवारको जो चण्डीश्वरका दर्शन करते हैं, वे मनुष्य नरकमें नहीं जाते हैं। जो गायको कीचड़से, ब्राह्मणको जीविका न होनेके कारण दासता करनेसे और द्विजको वध-स्थानसे छुड़ा देता है, वह जन्मसे लेकर मृत्युतकके सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। गौ तथा ब्राह्मणको वधसे और साधु ब्राह्मणको चोरोंके भयसे जो मुक्त करता है, वह जन्मसे लेकर मृत्युतकके सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है।

जो विलद्वारपर शयनके लिये स्थित हुए जलशायी भगवान् विष्णुका दर्शन करता है, वह पापी हो तो भी पापसे मुक्त हो जाता है। सम्पूर्ण लोकोंके आश्रयभूत परम पवित्र विलद्वारमें स्नान करके जो शेषशय्यापर शयन करनेवाले श्रीहरिका भक्तिपूर्वक पूजन करता है, वह जीवनभरके पापोंसे मुक्त हो जाता है। जो मानव वर्षाके चार महीनेतक जलमें शयन करनेवाले देवेश्वर विष्णुका भक्तिपूर्वक पूजन करता है, वह इस लोकमें फिर जन्म नहीं लेता। वहाँ विलद्वारमें या जलमात्रमें पहलेके महाभाग मुनिने भगवान् शेषशायीकी आराधना की और उनके शुभ निवासस्थानसे मृत्तिका ग्रहण की। इससे वे भगवान् विष्णुके परम पदको प्राप्त हुए। सब तीर्थों और सम्पूर्ण यज्ञोंमें जो फल प्राप्त होता है, वही फल चौमासेमें भगवान् शेषशायीकी पूजासे भी प्राप्त होता है। गोशालामें मृत्युको प्राप्त हुए मनुष्य जिस फलको पाते हैं, वही चौमासेमें जलशायीकी पूजासे भी पा लेते हैं। उन देवाधिदेव, निर्गुण, गुणस्वरूप, अव्यक्त, अप्रमेय, सर्वदेवमय, सर्वेश्वर, सबके एकमात्र आवासस्थान तथा सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा श्रीहरिको नमस्कार है। उन भगवान् विष्णुके शयन और बोधनके दिन एकादशी तिथिमें जो कुछ भी उत्तम कर्म किया जाता है, वह अविनाशी होता है। उस दिन जो अन्न खाता है, वह मनुष्य पापात्मा है। अतः विज्ञ पुरुषको अन्य एकादशी तिथियोंके आनेपर भी प्रयत्नपूर्वक अन्नसे बचना चाहिये।

## चातुर्मास्य व्रतके पालनीय नियम और उनकी महिमा

**ऋषि बोले**—सूतजी! शंख, चक्र, गदा धारण करनेवाले देवदेवेश्वर भगवान् विष्णुके शयन करनेपर जो कोई भी पालन करने योग्य नियम, व्रत आदि हो, वह हमें बताइये।

**सूतजीने कहा**—ब्राह्मणो! भगवान् विष्णुके शयन करनेपर चातुर्मास्यमें जो कोई नियम पालित होता है, वह अनन्त फल देनेवाला होता है—ऐसा ब्रह्माजीका कथन है। अतः विज्ञ पुरुषको सर्वथा प्रयत्न करके कोई नियम ग्रहण करना चाहिये। विप्रवरो! भगवान् विष्णुके संतोषके लिये नियम, जप, होम, स्वाध्याय अथवा व्रतका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये। जो मानव भगवान् वासुदेवके उद्देश्यसे केवल शाकाहार करके वर्षाके चार महीने व्यतीत करता है, वह धनी होता है। जो भगवान् विष्णुके शयनकालमें प्रतिदिन नक्षत्रोंका दर्शन करके ही एक बार भोजन करता है, वह धनवान्, रूपवान् और माननीय होता है। द्विजवरो! जो एक दिनका अन्तर देकर भोजन करते हुए चौमासा व्यतीत करता है, वह सदा वैकुण्ठधाममें निवास करता है। जो जनार्दनके शयन करनेपर छठे दिन भोजन करता है, वह राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञोंका सम्पूर्ण फल पाता है। जो सदा तीन रात उपवास करके चौथे दिन भोजन करते हुए चौमासा बिताता है, वह इस संसारमें फिर किसी प्रकार जन्म नहीं लेता। जो श्रीहरिके शयनकालमें

व्रतपरायण होकर चौमासा व्यतीत करता है, वह अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता है। जो भगवान् मधुसूदनके शयन करनेपर अयाचित अन्नका भोजन करता है, उसको अपने भाई-बन्धुओंसे कभी वियोग नहीं होता। जो वर्षाके चार महीनेतक तैल और घी लगाना छोड़ देता है, वह स्वर्गीय भोगका भागी होता है। जो मानव ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक चौमासा व्यतीत करता है, वह श्रेष्ठ विमानपर बैठकर स्वेच्छासे स्वर्गलोकमें जाता है। द्विजवरो! जो चौमासेभर नमकीन वस्तुओं एवं नमकको छोड़ देता है, उसके सभी पूर्तकर्म सफल होते हैं। जो चौमासेमें प्रतिदिन स्वाहान्त विष्णुसूक्तके मन्त्रोंद्वारा तिल और चावलकी आहुति देता है, वह कभी रोगी नहीं होता। जो चातुर्मास्यमें प्रतिदिन स्नान करके भगवान् विष्णुके आगे खड़ा हो पुरुषसूक्तका जप करता है, उसकी बुद्धि बढ़ती है। जो अपने हाथमें फल लेकर मौनभावसे भगवान् विष्णुकी एक सौ आठ परिक्रमा करता है, वह पापसे लिप्त नहीं होता। जो अपनी शक्तिके अनुसार चौमासेमें—विशेषतः कार्तिकमासमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको मिष्ठान्न भोजन कराता है, वह अग्निष्टोम यज्ञका फल पाता है। जो वर्षाके चार महीनोंतक नित्यप्रति वेदोंके स्वाध्यायसे भगवान् विष्णुकी आराधना करता है, वह सर्वदा विद्वान् होता है। जो चौमासेभर भगवान्के मन्दिरमें रात-दिन नृत्य-गीत आदिका आयोजन करता है, वह गन्धर्व भावको प्राप्त होता है। यदि चार महीनोंतक नियम पालन करना सम्भव न हो तो, एक कार्तिकमासमें ही सब नियमोंका पालन करना चाहिये। जो ब्राह्मण सम्पूर्ण कार्तिकमासमें कांस, मांस, क्षौरकर्म, मधु, दुबारा भोजन और मैथुन छोड़ देता है, वह पूर्वोक्त सभी नियमोंका फल पाता है *। जिसने कुछ उपयोगी वस्तुओंको चौमासेभर त्याग देनेका नियम लिया हो, उसे वे वस्तुएँ ब्राह्मणको दान करनी चाहिये। ऐसा करनेसे ही वह त्याग सफल होता है। जो मनुष्य नियम, व्रत अथवा जपके बिना ही चौमासा बिताता है, वह मूर्ख है।

श्रावणमें कृष्ण पक्षकी द्वितीयाको श्रवण नक्षत्रमें प्रातःकाल उठे। पापी, पतित और म्लेच्छ आदिसे वार्तालाप न करे। फिर दोपहरमें स्नान करके धुले वस्त्र पहनकर पवित्र हो जलशायी श्रीहरिके समीप जा इस मन्त्रसे पूजन करे—

**श्रीवत्सधारिञ्छ्रीकान्त श्रीधाम श्रीपतेऽव्यय।**
**गार्हस्थ्यं मा प्रणाशं मे यातु धर्मार्थकामदम्॥**
**पितरौ मा प्रणश्येतां मा प्रणश्यन्तु चाग्नयः।**
**तथा कलत्रसम्बन्धो देव मा मे प्रणश्यतु॥**
**लक्ष्म्या त्वशून्यशयनं यथा ते देव सर्वदा।**
**शय्या ममाप्यशून्यास्तु तथा जन्मनि जन्मनि॥**

'श्रीवत्सचिह्न धारण करनेवाले लक्ष्मीकान्त! श्रीधाम! श्रीपते! अविनाशी परमेश्वर! धर्म, अर्थ एवं काम देनेवाला मेरा गार्हस्थ्य आश्रम नष्ट न हो। मेरे माता-पिता नष्ट न हों, मेरे अग्निहोत्र गृहकी अग्नि कभी न बुझे। मेरी स्त्रीसे सम्बन्धविच्छेद न हो। देव! जैसे आपका शयनगृह लक्ष्मीजीसे कभी शून्य नहीं होता, उसी प्रकार प्रत्येक जन्ममें मेरी भी शय्या धर्मपत्नीसे शून्य न रहे।'

द्विजवरो! ऐसा कहकर अर्घ्य दे अपनी शक्तिके अनुसार ब्राह्मणकी पूजा करे। इसी प्रकार भाद्रपद, आश्विन और कार्तिकमासमें भी जलशायी जगदीश्वरका पूजन करे। खारी वस्तु और नमकसे रहित अन्न भोजन करे। व्रत समाप्त होनेपर श्रेष्ठ ब्राह्मणको भक्तिपूर्वक दान दे। जौ, धान्य, शय्या, वस्त्र तथा सुवर्ण दक्षिणामें दे। जो मनुष्य एकाग्रचित्त हो इस प्रकार भलीभाँति व्रतका पालन करता है, उसके ऊपर जलशायी जगद्गुरु भगवान् विष्णु बहुत सन्तुष्ट होते हैं। किसी भी जन्ममें उसकी शय्या धर्मपत्नीसे शून्य नहीं होती। जानकर या अनजानमें आठ मासतक किये हुए सब पापको वह व्रत तत्काल नष्ट

* कांसं मांसं क्षुरं क्षौद्रं पुनर्भोजनमैथुने। कार्तिके वर्जयेद् यस्तु सम्पूर्णे ब्राह्मणः सदा॥
पूर्वोक्तानां च सर्वेषां नियमानां फलं लभेत्॥ (स्क० पु०, ना० उ० २१९। ३०,३१)

कर देता है। जो पुत्रहीना, काकवन्ध्या अथवा विधवा स्त्री भी एकाग्रचित्त हो इस व्रतका पालन करती है, उसके ऊपर प्रसन्न हो जगन्नाथ सदा शुद्धि प्रदान करते हैं। उसकी बुद्धि कभी पापमें नहीं लगती, कभी कामभावनासे कलंकित नहीं होती। कुमारी कन्या भी यदि इस व्रतका पालन करे तो उसे कुलीन एवं रूपवान् पतिकी प्राप्ति होती है। जो मनुष्य इस व्रतका निष्क्रय देता (मूल्य चुकाता) है, वह भी चातुर्मास्यके नियमोंका फल पाता है।

## शिवरात्रिकी महिमा

**ऋषि बोले**—महाभाग! हाटकेश्वरक्षेत्रमें जो पुण्यमय लिंग हैं, जिनके दर्शनसे सब लिंगोंके दर्शनका कल्याणमय फल प्राप्त होता है, उनका विस्तारपूर्वक वर्णन करें।

**सूतजीने कहा**—वहाँ मंकणकेश्वर नामक शोभायमान शिवलिंग है। वहीं शुद्धेश्वर, गौतमेश्वर और चौथे कपालेश्वर भी हैं। इनमेंसे एक-एक शिवलिंग वहाँके सब शिवविग्रहोंके दर्शनका फल प्रदान करता है, इसमें सन्देह नहीं है। शिवरात्रि आनेपर जो मनुष्य मंकणकेश्वरके सामने उपवास एवं पवित्रतापूर्वक रातभर जागरण करता है, उसे सम्पूर्ण शिवलिंगोंके दर्शनका शुभ फल प्राप्त होता है।

**ऋषियोंने पूछा**—महाभाग! शिवरात्रि किस समय होती है, उसका विधान और माहात्म्य क्या है? यह हमें विस्तारपूर्वक बताइये।

**सूतजीने कहा**—माघमासके कृष्णपक्षमें जो चतुर्दशी तिथि आती है, उसकी रात्रि ही शिवरात्रि है।[१] उस समय सर्वव्यापी भगवान् शिव सम्पूर्ण शिवलिंगोंमें विशेषरूपसे संक्रमण करते हैं। पूर्वकालमें अश्वसेन नामसे विख्यात एक आनर्तदेशके राजा हो गये हैं जो सदा धर्ममें तत्पर रहते थे। उन्होंने वेद-वेदांगोंके पारंगत विद्वान् भर्तृयज्ञ मुनिसे इस प्रकार पूछा—'मुने! कलिकालमें पालन करने योग्य कोई ऐसा व्रत है, जो थोड़े ही परिश्रमसे साध्य होनेपर भी महान् पुण्यप्रद तथा सब पापोंका नाश करनेवाला हो? यदि हो तो उसे बताइये। मनुष्यको चाहिये कि वह कलका काम आज ही कर ले; जो कार्य अपराह्णमें किया जानेवाला हो, उसे पूर्वाह्णमें ही कर ले। क्योंकि मृत्यु इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करती है कि इस मनुष्यका कार्य पूरा हो गया है या नहीं?'[२]

राजाका यह वचन सुनकर उदार बुद्धिवाले भर्तृयज्ञने चिरकालतक ध्यान करके दिव्य दृष्टिसे सब बात जानकर कहा—राजन्! शिवरात्रि नामसे विख्यात एक पुण्यदायक व्रत है। जो-जो कामना मनमें लेकर मनुष्य इस व्रतका अनुष्ठान करता है, उसे अवश्य प्राप्त कर लेता है और जो निष्कामभावसे इसका पालन करता है, वह मोक्षको प्राप्त होता है तथा वर्षभरके किये हुए पापोंसे छुटकारा पा जाता है। इस लोकमें जो-जो चल अथवा अचल शिवलिंग हैं, उन सबमें उस रात्रिको भगवान् शिवका संक्रमण होता है। इसीलिये उसे शिवरात्रि कहा गया है। वह भगवान् शंकरको बहुत प्रिय है। सम्पूर्ण देवताओंने एक समय सब लोकोंपर अनुग्रह करनेकी इच्छासे भगवान् शंकरसे प्रार्थना की—'भगवन्! समस्त

१- यहाँ अमावास्यान्त मासकी दृष्टिसे माघ कहा गया है। जहाँ कृष्ण पक्षमें मासका आरम्भ और पूर्णिमापर उसकी समाप्ति होती है, उसके अनुसार फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशीमें यह शिवरात्रिका व्रत होता है।

२- श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्। न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वास्य न वा कृतम्॥
(स्क० पु०, ना० उ० २२१। १८)

पापोंसे भरे हुए इस कलिकालमें कोई एक दिन ऐसा बताइये, जो वर्षभरके पापोंकी शुद्धि कर सके। जिस दिन आपकी पूजा करके मनुष्य सब पापोंसे शुद्ध हो सकें। जिससे उनका किया हुआ होम, दान आदि हमलोगोंको प्राप्त हो सके; क्योंकि कलिकालमें अशुद्ध मनुष्योंके द्वारा दी हुई कोई भी वस्तु हमें नहीं मिल पाती है।'

**भगवान् शिवने कहा**—देवेश्वरो! माघमासके कृष्ण पक्षकी चतुर्दशीको रातके समय मनुष्योंके वर्षभरके पापको शुद्ध करनेके लिये भूतलके समस्त चल-अचल शिवलिंगोंमें संक्रमण करूँगा। जो मनुष्य उस रातमें निम्नांकित मन्त्रोंद्वारा मेरी पूजा करेगा, वह पापरहित हो जायगा। **ॐ सद्योजाताय नमः। ॐ वामदेवाय नमः। ॐ अघोराय नमः। ॐ ईशानाय नमः। ॐ तत्पुरुषाय नमः।** इस प्रकार गन्ध, पुष्प, चन्दन, धूप, दीप और नैवेद्यद्वारा इन पाँच मन्त्रोंसे मेरे पाँच मुखोंका पूजन करके निम्नलिखित मन्त्रको पढ़ते हुए मन-ही-मन मेरा ध्यान करे और अर्घ्य प्रदान करे—

**अर्घ्य-मन्त्र**

**गौरीवल्लभ देवेश सर्पाढ्य शशिशेखर।**
**वर्षपापविशुद्ध्यर्थमर्घ्यो मे गृह्यतां ततः॥**

'पार्वती देवीके प्रियतम, सम्पूर्ण देवताओंके स्वामी तथा सर्पोंकी मालासे विभूषित भगवान् चन्द्रशेखर! आप वर्षभरके पापोंकी शुद्धिके लिये मेरा अर्घ्य ग्रहण कीजिये।'

अर्घ्यदानके पश्चात् भोजन-वस्त्र आदिके द्वारा ब्राह्मणका पूजन करे। उसे दक्षिणा दे। मन्दिरमें बैठकर धार्मिक उपाख्यान, कथा और शिवमहिमा सुने। देवेश्वरो! जो इस प्रकार शिवरात्रिव्रत करेगा, उसके सब पापोंकी शुद्धिके लिये यह सर्वोत्तम प्रायश्चित्तका कार्य करेगा।

**भर्तृयज्ञ कहते हैं**—नरश्रेष्ठ! यह सुनकर सब देवता भगवान् चन्द्रशेखरको प्रणाम करके अपने-अपने उत्तम स्थानोंको चले गये। वहाँसे उन्होंने शिवरात्रिव्रतका पालन करनेके लिये लोगोंको समझाने और उपदेश देनेके निमित्त मुनिश्रेष्ठ देवर्षि नारदजीको भेजा। नारदजीने भूतलपर पधारकर सब ओर सब लोगोंको शिवरात्रिकी महिमा सुनायी। जो अपने लिये ऐश्वर्य एवं कल्याणकी इच्छा करे, उसे प्रयत्नपूर्वक शिवरात्रिव्रत करना चाहिये। शिवि, नल, नहुष, मान्धाता, धुन्धुमार, सगर, युयुत्सु तथा अन्य महापुरुषोंने भी श्रद्धापूर्वक शिवरात्रिव्रतका पालन किया है और अपने मनोवांछित पदार्थोंको पाया है। स्त्रियोंमें सावित्री, लक्ष्मीदेवी, सीता, अरुन्धती, सरस्वती, पार्वती, मेना, इन्द्राणी, दृषद्वती, स्वधा, स्वाहा, रति, प्रीति, गायत्री तथा अन्य देवियोंने भी शिवरात्रि-व्रत किया है और अत्यन्त सौभाग्यके साथ सम्पूर्ण अभीष्ट मनोरथोंको पाया है। जो भक्तिपूर्वक भगवान् शिवके समीप इस शिवरात्रिव्रतकी महिमाको सुनता है, वह दिनभरके समस्त पापसे मुक्त हो जाता है। गंगाजीके समान कोई तीर्थ नहीं है। महादेवजीके समान दूसरा देवता नहीं है तथा शिवरात्रिसे बढ़कर दूसरा कोई तप नहीं है। यह मैंने सत्य कहा है*। मेरु सब रत्नोंसे भरा है। आकाश सब आश्चर्योंसे परिपूर्ण है। इसी प्रकार शिवरात्रि सर्वधर्ममयी बतायी गयी है। जैसे पक्षियोंमें गरुड़ और जलाशयोंमें समुद्र श्रेष्ठ है, वैसे ही सब धर्मोंमें शिवरात्रि उत्तम है।

---

* नास्ति गंगासमं तीर्थं नास्ति देवो हरोपमः। शिवरात्रेः परं नास्ति तपः सत्यं मयोदितम्॥
(स्कं० पु०, ना० उ० २२१। ८४, ८५)

# सिद्धेश्वरकी महिमा और तुलादानका महत्त्व

**भर्तृयज्ञ कहते हैं**—राजन्! सिद्धेश्वर नामसे विख्यात जो महादेवजी हैं, उनके प्रादुर्भावकी कथा तो तुम मुझसे पहले ही सुन चुके हो। राजन्! जो सम्पूर्ण भूतलका चक्रवर्ती राजा होना चाहे, उसके लिये तुलापुरुषका दान उत्तम बताया गया है। सिद्धेश्वरके दर्शनसे तुलापुरुषदानका फल चक्रवर्ती राज्य प्राप्त होता है।

**आनर्तनरेशने पूछा**—महामुने! तुलापुरुषदानकी विधि क्या है? यह बताइये।

**भर्तृयज्ञने कहा**—चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, अयन, विषुवयोग अथवा किसी तीर्थमें तुलापुरुषका दान उत्तम बताया गया है। सदा अनुष्ठानमें लगे हुए जितेन्द्रिय, सदाचारी, वेदाध्ययनशील तथा निर्दोष ब्राह्मणोंको बाँटकर ही वह दान देना चाहिये। किसी एक ब्राह्मणको ही किसी प्रकार भी नहीं देना चाहिये।

किसी पवित्र समतल स्थानमें, जो पूर्व-उत्तरकी ओर कुछ नीचा हो, एक सोलह हाथका मण्डप बनावे। उसके बीचमें यजमानके हाथसे चार हाथकी वेदीका निर्माण करे। उसकी ऊँचाई एक हाथकी हो। चारों दिशाओंमें भी चार-चार हाथके चार कुण्ड बनावे। इसके सिवा एक हाथ लंबी और एक ही हाथ ऊँची सुन्दर वेदी बनाकर उसीके ऊपर नवग्रहोंकी स्थापना करे। प्रत्येक दिशामें दो-दो ऋत्विजोंको वरण करके होमकार्यमें नियुक्त करे। वे ऋत्विज् क्रमशः बह्वृच (ऋग्वेदी), अध्वर्यु (यजुर्वेदी), छन्दोग (सामवेदी) और आथर्वण होने चाहिये। उन सबको चाहिये कि एकाग्रचित्त होकर देवताओंके लिये अग्निमें आहुति दें। साथ ही उन-उन देवताओंके नामोंसे अंकित मन्त्रोंका जप भी करें। एक हाथ मोटे, चार हाथ ऊँचे दो खंभे वेदीके उत्तर और दक्षिण भागमें खड़ा करे। उन खंभोंके ऊपर एक शुभ एवं सुदृढ़ काष्ठ स्थापित करे। खंभा बनानेके लिये चन्दन, खैर, बेल, पीपल, निम्ब, देवदारु, श्रीपर्णी अथवा वट—ये आठ प्रकारके वृक्ष शुभ बताये गये हैं। उन दोनों खंभोंके बीचमें दो छींकोंसे युक्त तराजू रखे। इसके बाद स्नान करके श्वेत वस्त्र, श्वेत माला और श्वेत चन्दन धारण करके सब ओर लोकपालोंकी क्रमशः पूजा करे। तत्पश्चात् गन्ध, माला और चन्दनके द्वारा खंभों तथा तराजूका पूजन करे। पुण्याहवाचन करे। तदनन्तर यजमान तुलाके पश्चिम जाकर पूर्वाभिमुख खड़ा हो और दोनों हाथ जोड़ श्रद्धापूर्वक इस मन्त्रका उच्चारण करे—

**ब्रह्मणो दुहिता नित्यं सत्यं परममाश्रिता।**
**काश्यपी गोत्रतश्चैव नामतो विश्रुता तुला॥**
**त्वं तुले सत्यनामासि स्वभीष्टं चात्मनः शुभम्।**
**करिष्यामि प्रसादं मे सान्निध्यं कुरु साम्प्रतम्॥**

'हे तुले! तू ब्रह्माजीकी पुत्री है, सदा उत्तम सत्यका आश्रय लेकर रहती है। तेरा गोत्र काश्यप है और नाम सर्वत्र विख्यात तुला है। तुले! तेरा एक नाम सत्य भी है; मैं अपने शुभ अभीष्टकी सिद्धि करूँगा। तू इस समय मेरे समीप आ और अपना कृपाप्रसाद मेरे ऊपर कर।'

इसके बाद उस तुलाके एक छींके (पलड़े)-पर आरूढ़ होकर अपनी शक्तिके अनुसार दानमें देनेके लिये जो वस्तु पहलेसे एकत्र करके रखी गयी हो, उसे दूसरे छींकेपर स्थापित करे। सोना, चाँदी, रत्न, वस्त्र आदि जो-जो अभीष्ट वस्तु हो, वह सब चढ़ावे। जबतक दोनों ओरका पलड़ा बराबर न हो जाय, तबतक चढ़ावे। अधिक या कम नहीं। तत्पश्चात् इष्टदेवकी शरण लेकर छींकेपरसे ही उस देवताके लिये जलमें जल, तिल, सुवर्ण और अक्षत छोड़े। इसके बाद उसपरसे उतरकर वह सब सामग्री ब्राह्मणोंको बाँट दे। इस दानके प्रभावसे मनुष्य जानकर या अनजानमें किये हुए समस्त पापोंका नाश कर

देता है। जो शारीरिक क्लेशसे डरनेवाले हैं, ऐसे धनियोंके लिये यह तुलादान पुरश्चरणके समान है। राजन्! राजा दिलीप, कार्तवीर्य अर्जुन, पृथु, पुरुकुत्स तथा अन्यान्य राजाओंने भी यह तुलादान किया है। तुलापुरुषका दान पुण्यजनक, परम उत्तम, मनुष्योंकी समस्त कामनाओंको देनेवाला तथा सम्पूर्ण उपद्रवोंका नाश करनेवाला है। जो भगवान् सिद्धेश्वरके आगे तुलापुरुषका दान देता है, उसे सहस्रगुने फलकी प्राप्ति होती है। अतः सब प्रकारसे प्रयत्न करके भगवान् सिद्धेश्वरके पास पहुँचकर विवेकी पुरुषको तुलापुरुषका दान करना चाहिये। भगवान् सिद्धेश्वरका दर्शन, स्पर्श और पूजन करनेपर मानव सब शिवलिंगोंके दर्शनका फल पा लेता है।

## पृथ्वीदानकी महिमा

**भर्तृयज्ञ कहते हैं**—जो राजा श्रद्धापूर्वक भगवान् गौतमेश्वरके आगे सुवर्णमयी पृथ्वीका दान करता है, वह निश्चय ही चक्रवर्ती राजा होता है—ऐसा ब्रह्माजीका कथन है। मान्धाता, धुन्धुमार, हरिश्चन्द्र, पुरूरवा, भरत और कार्तवीर्य—ये छः चक्रवर्ती राजा हुए हैं। पूर्वकालमें भगवान् गौतमेश्वरके समीप स्वर्णमयी पृथ्वीका दान करनेसे ही इन्हें सार्वभौम राज्य प्राप्त हुआ था।

**आनर्तने पूछा**—भगवन्! किस विधिसे स्वर्णमयी भूमिका दान करना चाहिये? मैं उसका दान करूँगा। इसके लिये मेरी बड़ी श्रद्धा है।

**भर्तृयज्ञने कहा**—नृपश्रेष्ठ! सौ भर सोनेकी पृथ्वी बनानी चाहिये। अथवा शक्तिके अनुसार पचास भर या पचीस भर सोनेकी ही पृथ्वीका निर्माण करावे। अधिक न हो तो किसी प्रकार भी पाँच भरसे कमकी पृथ्वी तो देनी ही नहीं चाहिये। उसमें लवण, इक्षु, सुरा, घृत, दही, दूध तथा जलके सात समुद्र और जम्बू, प्लक्ष, कुश, क्रौंच, शाक, शाल्मलि एवं पुष्कर—ये सात द्वीप क्रमशः एकसे दूसरे दूने बड़े बनाने चाहिये। महेन्द्र, मलय, सह्य, हिमवान्, गन्धमादन, विन्ध्य तथा शृंगी—इन सातों कुलपर्वतोंको भी अंकित करे। मध्यभागमें मेरुको और उसके चारों ओर विष्कुम्भ पर्वतोंका भी उल्लेख करावे। जम्बू, न्यग्रोध (वट), नीप (कदम्ब) तथा प्लक्ष (पाकड़) आदि वृक्षों तथा गंगा आदि नदियोंका भी उस स्वर्णमयी भूमिमें मुख्यतः अंकन करे। इस प्रकार सुवर्णमयी पृथ्वीका पूर्णतः निर्माण कराकर फिर पहले बताये अनुसार मण्डप, कुण्ड और तोरण आदि बनावे। ब्राह्मणोंका पूजन करे। पूर्ववत् सब कुछ करके मध्यभागमें वेदीका निर्माण करे। उस वेदीपर हेममयी पृथ्वीको स्थापित करे और यथोक्त मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए उसे पंचगव्यसे नहलावे। इसके बाद '**इमं मे गङ्गे यमुने०**,' '**पञ्चनद्यः सरस्वती०**' '**त्रिपुष्करम्०**' श्रीसूक्त, पावमानी ऋचा, स्वर्णघर्मानुवाक तथा स्नान-कर्मोपयोगी अन्यान्य मन्त्रोंके पाठपूर्वक उस स्वर्णप्रतिमाका अभिषेक करे। इस प्रकार विधिपूर्वक स्नान कराकर '**युवा सुवासा**' इत्यादि मन्त्रसे नाना प्रकारके सूक्ष्म वस्त्र पहनावे। '**ये भूतानामधी०**' इत्यादि मन्त्रोंका उच्च स्वरसे उच्चारण करके पूजन करे। फिर '**धूरसि**' इत्यादि मन्त्रसे धूप निवेदन करके '**अग्निर्ज्योतिः**' इत्यादि मन्त्रद्वारा आरती उतारे। '**अन्नमस्मि**' इस मन्त्रसे सप्तधान्य निवेदन करे। इस प्रकार उस हेममयी पृथ्वीका सब पूजन विधिपूर्वक सम्पन्न करके सामने खड़ा हो जाय और हाथ जोड़कर निम्नांकित मन्त्रोंका उच्चारण करे—

**त्वया सन्धार्यते देवि जगदेतच्चराचरम्।**
**तव दानं करिष्यामि सान्निध्यं कुरु मेदिनि॥**
**शरीरेष्वपि भूतानां त्वं देवि प्रथमं स्थिता।**
**ततश्चान्यानि भूतानि जलादीनि वसुन्धरे॥**

**ये त्वां वाञ्छन्ति ते भूयस्त्वां लभन्ते न संशयः।**
**इह लोके परे चैव पार्थिवं रूपमाश्रिता॥**

'पृथ्वी देवि! आप इस सम्पूर्ण चराचर जगत्को धारण करती हैं। मैं आपका दान करूँगा, आप मेरे समीप पधारें। देवि वसुन्धरे! समस्त प्राणियोंके शरीरोंमें भी प्रधानतया आपकी स्थिति है। उसके बाद जल आदि दूसरे भूत स्थित हैं। जो आपको चाहते हैं, वे पाते हैं, इसमें संशय नहीं है। इहलोक और परलोकमें सर्वत्र आप पार्थिव रूप धारण करके स्थित हैं।'

इस प्रकार सुवर्णमयी धरादेवीका स्तवन करके उसे जलसहित हाथमें ले और भगवान् वासुदेवका मन-ही-मन ध्यान करते हुए इस मन्त्रद्वारा संकल्प करे—

**पातालादुद्धृता येन पृथ्वी सा लोककारिणा।**
**अस्या दानेन च सदा प्रीयतां मे जनार्दनः॥**

'जिन लोकस्रष्टा भगवान्ने वाराहरूप धारणकर पातालसे इस पृथ्वीका उद्धार किया था, वे ही जनार्दन इस स्वर्णमयी भूमिके दानसे मुझपर सदा सन्तुष्ट रहें।'

ऐसा कहकर उस जलको जलमें ही गिरावे। न तो भूमिपर उसे गिराना चाहिये और न ब्राह्मणके हाथमें ही देना चाहिये। तदनन्तर पृथ्वीदेवीका इस प्रकार विसर्जन करे—

**आगता च यथान्यायं पूजिता च यथाविधि।**
**अस्माकं त्वं हितार्थाय यत्रेष्टं तत्र गम्यताम्॥**

'देवि! तुम हमारे हितके लिये यहाँ आयीं, न्यायोचित ढंगसे विधिपूर्वक तुम्हारी पूजा की गयी। अब हमारे हितके लिये ही तुम अभीष्ट स्थानको पधारो।'

'**उस्रा वेद**' इत्यादि मन्त्रका उच्चारण करके उस स्वर्णमयी भू-प्रतिमाको वेदीपरसे उतारे और ब्राह्मणको बाँट दे। जो राजा इस विधिसे भूमिदान करता है, उसके वंशमें भी कभी किसीका राज्य भ्रष्ट नहीं होता है। यह पृथ्वीदान सब दानोंसे उत्तम, पुण्यजनक एवं प्रशंसनीय है। जो इसकी महिमा सुनते हैं, उनकी भी समस्त जडताका यह विनाश करनेवाला है। इस प्रकार भूमिदान करनेवाले लोग अकण्टक राज्यका उपभोग करके प्रसन्नचित्त हो भगवान् विष्णुके अविनाशी सनातन पदको प्राप्त होते हैं। अन्यत्र किया हुआ भूमिदान भी एक जन्मतक अवश्य चक्रवर्ती बनाता है, परंतु जो भगवान् गौतमेश्वरके आगे भूमिदान किया जाता है, वह सात जन्मोंतक मनुष्यको चक्रवर्ती राजा बनाता है, इसमें संदेह नहीं है। अतः सब प्रकारसे प्रयत्नपूर्वक वहाँ भूमिदान करना चाहिये।

## चार प्रकारके कालमानका वर्णन, दुःशील नामक ब्राह्मणका चरित्र तथा दुःशीलेश्वरकी महिमा

**सूतजी कहते हैं**—ब्राह्मणो! भूमण्डलमें सबका समय सौर, सावन, चान्द्र तथा नाक्षत्र—इन चार प्रकारके मानोंसे व्यतीत होता है। सौरमानसे तीन सौ पैंसठ दिनोंका एक वर्ष होता है। सावनमानसे तीन सौ साठ दिनोंका, चान्द्रमानसे तीन सौ चौवन दिनोंका और नाक्षत्रमानसे तीन सौ पैंतीस दिनोंका वर्ष होता है। सर्दी, गरमी और वर्षा सौरमानसे होती है। अग्निष्टोम आदि यज्ञ, उत्सव और विवाह—ये सावनमानसे किये जाते हैं। व्याज आदि व्यवहार मलमासयुक्त चान्द्रमानसे होता है। नाक्षत्रमानसे ग्रहोंकी चाल होती है। पृथ्वीपर इन चारोंके सिवा दूसरा कोई मान नहीं है। इसी मानसे देवता, दैत्य और मनुष्य सबका व्यवहार चलता है। जो मनुष्य हाटकेश्वरक्षेत्रके सप्त शिवलिंगोंके आगे इस प्रसंगका भक्तिपूर्वक पाठ करते हैं, उनकी किसी प्रकार भी अपमृत्यु नहीं होती है।

हाटकेश्वरक्षेत्रमें महर्षि दुर्वासाद्वारा स्थापित

देवाधिदेव भगवान् शंकरका एक लिंगमय विग्रह है। जो मनुष्य चैत्रमासमें तीनों समय अथवा एक क्षण भी नृत्य, गीत और वाद्यके द्वारा भगवान् शिवकी आराधना करता है, वह अवश्य ही उनकी कृपासे गन्धर्वोंका अधिपति होता है।

प्राचीन कालमें वैदिश नामक उत्तम नगरमें निम्बशुच नामवाले एक ब्राह्मण रहते थे। वे किसी मठके अध्यक्ष थे और प्रतिदिन शिवलिंगका पूजन किया करते थे। शिवभक्तोंसे उन्हें जो कुछ भी वस्त्र आदि वस्तुएँ प्राप्त होती थीं, उन सबको वे बेच डालते और उनके मूल्यसे सोना खरीद लेते थे। उसमेंसे थोड़ा भी खर्च नहीं करते थे। केवल संग्रह ही करते रहते थे। इससे दीर्घकालके पश्चात् उनकी छोटी-सी पेटी सुवर्णसे भर गयी। निम्बशुच बड़े कृपण थे। घड़ीभरके लिये भी उस सुवर्णकी पेटीको अलग नहीं रखते। सदा अपनी काँखमें ही दबाये रहते थे। देवताकी पूजा करते समय भी उसे नहीं छोड़ते; कभी किसीपर उन्हें विश्वास नहीं होता था।

एक समय दूसरोंका धन हड़प लेनेमें कुशल दुःशील नामक एक खोटी बुद्धिवाले ब्राह्मणने पुजारीजीकी गतिविधिको ताड़ लिया और मन-ही-मन सोचा—'इस दुरात्माको विश्वास दिलानेके लिये मैं इसका शिष्य बनूँगा। चिकनी-चुपड़ी बातें बनाकर दिन-रात इसकी सेवा-टहलमें लगा रहूँगा और कभी मौका पाकर निःसन्देह अपना काम बना लूँगा।' ऐसा निश्चय करके दूसरे दिन वह उनके समीप गया। वे बहुत लोगोंके बीचमें बैठे हुए थे। उसने विनयपूर्वक प्रणाम करके हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! मैंने आपकी तपस्याका अद्भुत प्रभाव सुना है। इस पृथ्वीपर आपके समान दूसरा कोई महात्मा नहीं है। इसीलिये मैं बहुत दूरसे आपके पास आया हूँ। संसारकी असारता जानकर मेरे मनमें बड़ा वैराग्य हुआ है। इस लोकमें मनुष्योंका यौवन बिजलीकी चमकके समान सहसा विलुप्त हो जानेवाला है। जैसे पर्वतसे निकली हुई नदी क्षणभंगुर होती है, उसी प्रकार स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव आदि सब अनित्य हैं। नदी प्रवाहरूपसे ही सत्य प्रतीत होती है, वास्तवमें उसका जल क्षण-क्षणमें परिवर्तित होता रहता है। उसी प्रकार समस्त संसार परिवर्तनशील है। भाई-बन्धु आदि सगे-सम्बन्धियोंका संयोग भी पाप-समागमके ही तुल्य जानने योग्य है। अतः सुव्रत! इस संसार-समुद्रसे पार होनेके लिये मुझे ऐसे किसी उपायका उपदेश दीजिये, जो मेरे लिये नौकाके समान पार लगानेवाला हो। जिसका आश्रय लेकर मैं आपकी कृपासे इस भवसागरसे पार हो जाऊँ।'

उसकी यह बात सुनकर पुजारीजीके शरीरमें हर्षके मारे रोमांच हो आया। सोचने लगे—'यह कौन शिवभक्त पुरुष परदेशसे यहाँ आया है?' फिर बोले—'तुम धन्य हो, जिसकी बुद्धि तरुणावस्थामें भी ऐसी वैराग्यपूर्ण है। जो पहली अवस्था (तरुणाई)-में शान्त है (मन और इन्द्रियोंको जीत चुका है), वही शान्त है—ऐसा मेरा विचार है। शरीरके सब धातुओंके क्षीण हो जानेपर कौन शान्त नहीं होता? यदि तुम्हारे मनमें संसारकी ओरसे इतनी विरक्ति है, तो देवताओंके स्वामी और परम कल्याणकारी भगवान् चन्द्रशेखरकी आराधना करो। अन्यथा घोर जपसे भी भवसागरको पार करना असम्भव है। यह बात मैंने शास्त्रोंका भलीभाँति मनन करके जानी है। शूद्र हो या ब्राह्मण, म्लेच्छ हो या और कोई पापात्मा; जो मनुष्य शिवकी दीक्षा लेकर षडक्षरमन्त्रसे भक्तिपूर्वक एक फूल भी शिवलिंगपर चढ़ा देता है, वह उसी गतिको प्राप्त होता है, जिसे बड़े-बड़े यज्ञकर्ता पाते हैं। जो शिवदीक्षा लिये हुए पुरुषोंको भक्तिभावसे वस्त्र, उपानह और जलपात्र आदि समर्पण करता है, उसे बहुतेरे यज्ञोंसे क्या काम है?'

यह सुनकर दुःशीलने निम्बशुचके चरण पकड़ लिये और उनपर अपना मस्तक रखकर

बड़े आदरसे कहा—'प्रभो! आप मुझे शिवदीक्षा देकर अनुगृहीत कीजिये, जिससे मैं एकाग्रचित्त होकर नित्य आपकी सेवा कर सकूँ।' तब उस तापस ब्राह्मणने मनमें विचार किया—'यह कोई चतुर मनुष्य दिखायी देता है, दूसरा कोई ऐसा शिष्य नहीं आवेगा। इसलिये मैं इसे शिष्य बनाये लेता हूँ।' ऐसा निश्चय करके निम्बशुचने उसका हाथ पकड़कर कहा—'वत्स! यदि ऐसी बात है तो मेरे साथ कुछ प्रतिज्ञा या शपथ करो, जिससे मैं तुम्हें आज ही दीक्षा दे दूँ। तुम्हें इस मठसे बहुत दूर अपनी कुटी बनानी होगी। सूर्यास्त हो जानेपर तुम्हें कदापि इस मठमें प्रवेश नहीं करना चाहिये।'

**दुःशीलने कहा**—गुरुदेव! मेरे लिये तो आपका आदेश ही प्रमाण है। जो शिष्य गुरुकी आज्ञाका पालन नहीं करता, उसका वह व्रत व्यर्थ हो जाता है और फिर उसे नरककी प्राप्ति होती है।

दुःशीलका यह वचन सुनकर निम्बशुचको सन्तोष हो गया। तब उन्होंने उसे शिवमन्त्रकी दीक्षा दी—पंचाक्षर मन्त्रका उपदेश किया। तबसे दुःशील उनकी सेवामें अत्यन्त तत्पर रहने लगा। अपनी सेवाओंसे उसने तापसके चित्तको प्रसन्न कर लिया था। वह प्रतिदिन मन-ही-मन सुवर्णकी वह पेटी हथिया लेनेकी बात सोचता था, किंतु किसी दिन मौका नहीं पाता था। तब उसने विचार किया—'क्या इसे विष दे दूँ, अथवा हथियारसे मार डालूँ या गला दबाकर इसके प्राण ले लूँ?' ऐसी ही बातें वह प्रतिदिन सोचता रहा। इतनेमें ही वर्षाका समय उपस्थित हुआ। श्रावणके कृष्णपक्षमें जब सूर्यदेव कर्कराशिपर स्थित थे, कोई धनी शिवभक्त वहाँ आया और उसने प्रणाम करके कहा—'स्वामिन्! आपकी आज्ञा हो तो मैं आगामी चतुर्दशीके दिन आपका सत्कार करना चाहता हूँ। यदि आप मेरे गाँवमें पधारनेका कष्ट करें, तो बड़ी कृपा हो।'

यह सुनकर निम्बशुच मुनि बहुत सन्तुष्ट हुए और बोले—'बहुत अच्छा, मैं नियत समयपर अपने शिष्यके साथ तुम्हारे यहाँ आऊँगा।' ऐसा कहकर उसे विदा कर दिया। जब वह समय आया, तब सबेरे ही निम्बशुच मुनि दुःशीलके साथ प्रस्थित हुए। मार्गमें मुरला नामवाली सागरगामिनी नदी मिली। उसे देखकर उन्होंने दुःशीलसे कहा—'वत्स! मैं मुरलामें तुम्हारे साथ देवपूजा करूँगा। थोड़ी देर यहीं ठहरो।' 'जो आज्ञा' कहकर दुःशील नदीके शुभ तटपर खड़ा रहा। निम्बशुच दुःशीलके गुणोंसे सर्वदा सन्तुष्ट रहते थे। उसे एक अच्छा शिष्य जानकर उनके मनमें उसके प्रति विश्वास हो गया था। उन्होंने छिपायी हुई सोनेकी पेटी और यागेश्वरकी मूर्तिके साथ अपनी गुदड़ी उतारकर धरतीपर रख दी और स्वयं थोड़ी दूरपर मलत्याग करनेके लिये चले गये। वे ज्यों ही बेतके वृक्षोंकी ओटमें पहुँचे, त्यों ही दुःशील उनकी सोनेकी पेटी लेकर प्रसन्नचित्त हो शीघ्रतापूर्वक उत्तर दिशाकी ओर चल दिया। निम्बशुच जब मैदान होकर लौटे, तब दुःशील नहीं दिखायी दिया। केवल यागेश्वरसहित गुदड़ी वहीं पड़ी हुई थी। ब्राह्मणका मन खिन्न हो गया। वे जल्दी-जल्दी हाथ-पैर धोकर कुल्ला किये बिना ही उस स्थानपर आये, जहाँ गुदड़ी रखी थी। देखा, तो वहाँ सोनेकी पेटी नहीं थी। फिर यह जानकर कि वही शिष्य उसे चुरा ले गया, वे मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। चेत होनेपर वहाँसे वे बड़े कष्टसे उठे और पत्थरपर अपना सिर पटकने लगे। फिर विलाप करते हुए बोले—'हाय! हाय! उस दुष्ट दुरात्माने मुझे मार डाला। मैं नष्ट हो गया। उसने मुझे लूट लिया। क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? कैसे उसे देख पाऊँ?' तदनन्तर उसके पैरोंकी निशानी देखते हुए निम्बशुच मुनि उसका पीछा करने लगे। किंतु एक तो वे बूढ़े थे, दूसरे, रोगोंने भी उन्हें और थका दिया था; इसलिये निराश होकर अपने मठपर लौट गये।

दुःशील भी सोनेकी पेटी लेकर दूसरे स्थानपर चला गया। उस सुवर्णसे वह व्यापार करने लगा। विवाह करके उसने गृहस्थी बसा ली। बुढ़ापा आ गया, परंतु उसे कोई सन्तान नहीं हुई। एक समय वह अपनी स्त्रीके साथ तीर्थयात्रा करता हुआ चमत्कारपुरमें गया। सब तीर्थोंमें स्नान और सम्पूर्ण मन्दिरोंमें घूम-घूमकर देवदर्शन करते हुए उसने एक स्थानपर दुर्वासा मुनिको देखा। वे अपने इष्टदेवके सामने भक्तिपूर्वक नृत्य और गान कर रहे थे। दुःशीलने उनको प्रणाम करके पूछा—'महर्षे! इस निर्मल शिवलिंगकी स्थापना किसने की है? आप क्यों इसके सम्मुख नृत्य और गान करते हैं? आपका यह व्यवहार मुनियोंको शोभा नहीं देता।'

**दुर्वासा बोले**—देवताओंके भी आराध्यदेव शूलपाणि भगवान् शंकरके इस लिंगमय विग्रहकी स्थापना मैंने ही की है। देवदेव महेश्वरको नृत्य और गान विशेष प्रिय है। अतः मैं यही करता हूँ।

दुर्वासाका वचन सुनकर दुःशीलके मनमें महादेवजीके प्रति भक्तिभावका उदय हुआ। उसने मुनिको पुनः प्रणाम करके कहा—'भगवन्! मैं केवल जातिसे ब्राह्मण हूँ, कर्मसे नहीं। मैंने आजतक किसीको भोजन नहीं दिया। केवल ठग-ठगकर देवताओं और ब्राह्मणोंके धनका अपहरण किया है। मैं सदा जुआ खेलने और वेश्यागमनके दुर्व्यसनमें ही फँसा रहा हूँ। जातिसे ब्राह्मण होकर भी मैंने एक शैवको गुरु बनाया। फिर अनेक प्रकारकी चिकनी-चुपड़ी बातें कहकर उन्हें धोखा दिया और उनका सारा धन चुरा लिया। मेरे वे गुरु परलोकवासी हो गये हैं। मैं पश्चात्तापकी आगमें रात-दिन जलता रहता हूँ। आप मुझे कोई प्रायश्चित्त बताकर मुझे अनुगृहीत कीजिये। मुनीश्वर! मेरे पास धन बहुत है, परंतु सन्तान एक भी नहीं है। अतः ऐसा कोई उपाय बताइये, जिससे उस धनका सदुपयोग हो, इहलोक और परलोकमें भी वह हितकारक हो सके। आप जो बतावेंगे, वह सब मैं करूँगा।'

**दुर्वासाने कहा**—जो पुरुष सहस्रों पाप करके पीछे धर्मपरायण होता है, वह बड़ी कठिनाईसे संसार-सागरके पार होता है। तूने कुमार्गपर चलकर महापाप किया है।

**दुःशील बोला**—महाभाग! मेरे पास धन बहुत है, यदि उससे कोई धर्मकार्य सिद्ध हो सके तो बताइये, मैं सब करूँगा।

**दुर्वासाने कहा**—तुम्हारे पापनाशका एक ही उपाय है। सत्ययुगमें तपकी, त्रेतामें ज्ञानकी, द्वापरमें तीर्थयात्राकी और कलियुगमें दानकी ही मुनिलोग प्रशंसा करते हैं *। इस समय भयंकर कलिकाल उपस्थित है। अतः समस्त पापोंकी शुद्धिके लिये दान करो। तुम्हारे मनमें गुरुके यहाँसे धनका अपहरण करनेके कारण उस धनकी ओरसे घृणा भी है ही, अतः तुम गुरुके ही नामसे भगवान् शंकरका एक मन्दिर बनवा दो। इससे गुरुके ऋणसे भी उऋण हो जाओगे। अन्यत्र भी यदि कहीं उनका धन प्राप्त हो तो प्रतिदिन एकाग्रचित्त हो श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको उस धनका दान किया करो। स्वयं अपने लिये भी तिलपात्र और सुवर्णका दान करो, जिससे तुम्हारे शरीरसे सब पाप दूर हो जायँ। दूसरी बात यह है कि मैं सुदूरवर्ती कल्पग्रामसे सदा चैत्रमासमें यहाँ अपने बनवाये हुए शिवमन्दिरके दर्शन-पूजनके लिये आया करता हूँ; फिर वहीं चला जाऊँगा। यह मेरा सदाका नियम है। अतः मेरे चले जानेपर तुम्हें मेरे बनवाये हुए इस मन्दिरमें भगवान् शिवके स्नान-पूजन आदिका ध्यान रखना चाहिये।

**दुःशील बोला**—मुनिश्रेष्ठ! मैं आपकी सब आज्ञाका पालन करूँगा, परंतु मुझे निर्वाण-दीक्षा दीजिये।

* तपः कृते प्रशंसन्ति त्रेतायां ज्ञानमेव च। द्वापरे तीर्थयात्रां च दानमेव कलौ युगे॥ (स्क० पु०, ना० उ० २२९। ९१)

मुनि दुर्वासाके आज्ञानुसार तिलपात्रादिके दानसे जब उसके पाप दूर हो गये, तब दुर्वासाजीने उसे निर्वाणदीक्षा दी। दीक्षा देनेके बाद मधुर वाणीमें कहा—'अब मुझे गुरुदक्षिणा दो।'

**दुःशील बोला**—प्रभो! आप दक्षिणामें क्या लेना चाहते हैं? शीघ्र बताइये।

**दुर्वासाने कहा**—देखो, इस समय कलियुग आ गया है। अब मैं कल्पग्रामको चला जाऊँगा और चैत्रमासमें जो मेरी यात्रा यहाँ होती थी, वह अब नहीं होगी। जबतक सत्ययुग नहीं आ जायगा, तबतक मैं यहाँ नहीं आऊँगा। यह मन्दिर जो मैंने बनवाना प्रारम्भ किया था, अबतक आधा ही बन पाया है, अब तुम इसे पूरा कर देना, यही मेरी गुरुदक्षिणा है। अपनी शक्तिके अनुसार यहाँ नृत्य-गीत आदि करते रहना। फूल आदि भी चढ़ाना चाहिये।

ऐसा कहकर मुनीश्वर दुर्वासा कल्पग्रामको चले गये। दुःशीलने भी जैसा दुर्वासाजीने कहा था, सब कुछ उसी प्रकार किया। इसी प्रकार भक्तिभावसे पूजन आदि करते हुए दुःशीलके ही नामपर उस शिवलिंगकी प्रसिद्धि हुई; उसकी संज्ञा 'दुःशीलेश्वर' हो गयी। जो चैत्रमासमें प्रतिदिन दुःशीलेश्वर देवका दर्शन करता है, वह क्षणभरमें वर्षभरके पापोंसे मुक्त हो जाता है। जो उनको नहलाता है, उसके शरीरसे तीस वर्षका पाप नष्ट हो जाता है। जो उनके आगे नृत्य-गीत आदिका आयोजन करता है, उसके शरीरसे तीस वर्षका पाप नष्ट हो जाता है। जो उनके आगे नृत्य-गीत आदि करता है, वह जन्मसे लेकर मृत्युतकके सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

## निम्बेश्वरकी स्थापना तथा ग्यारह रुद्रोंका प्राकट्य एवं उनके दर्शन-पूजनकी महिमा

**सूतजी कहते हैं**—दुःशीलने दक्षिण दिशामें अपने गुरुके नामसे भी शिवालय बनवाया, जो निम्बेश्वरके नामसे विख्यात हुआ। वह बड़े भक्तिभावसे उनके चरणारविन्दोंका चिन्तन करने लगा। उसकी स्त्रीका नाम शाकम्भरी था। उसने अपने नामवाली श्रीदुर्गादेवीकी वहाँ स्थापना की। उनके पास जो शेष धन था, उसे उन दोनों पति-पत्नीने देव-पूजनके लिये ब्राह्मणोंको अर्पित कर दिया और स्वयं भिक्षान्न भोजन करने लगे। कुछ कालके अनन्तर दुःशीलकी मृत्यु हो गयी। उस समय शाकम्भरीने दृढचित्त होकर पतिके साथ चिताकी आगमें प्रवेश किया। फिर वे दोनों पति-पत्नी विमानमें बैठकर स्वर्गको चले गये। जो दुःशीलका यह उत्तम उपाख्यान पढ़ेगा, वह अज्ञानजनित सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जायगा।

पूर्वकालकी बात है, उत्तम व्रतका पालन करनेवाले काशीनिवासी मुनि हाटकेश्वरदेवके दर्शनके लिये उत्सुक होकर चले। उनमें परस्पर होड़ लग गयी थी कि 'पहले मैं, पहले मैं, भगवान् हाटकेश्वरका दर्शन करूँगा। जो सबके आगे वहाँ जाकर भी पहले हाटकेश्वर शिवका दर्शन नहीं कर लेगा, वह अकेला सबको कष्ट देनेके पापका भागी होगा।' ऐसा कहकर वे सब काशीपुरीसे अत्यन्त वेगपूर्वक दौड़ते हुए चले। इसी समय भगवान् हाटकेश्वर उन सब मुनियोंका स्पर्धाजनित अभिप्राय जानकर उन सबको दर्शन देनेके लिये पातालसे नागच्छिद्रके द्वारा निकले और ग्यारह स्वरूपोंमें स्थित हो गये। त्रिशूल, तीन नेत्र, जटाजूट, अर्धचन्द्र तथा मुण्डमालासे विभूषित हो, वे एक ही साथ सबकी दृष्टिमें आये। उन मुनियोंने अपने समक्ष खड़े हुए भगवान् वृषभध्वजका दर्शन करके धरतीपर घुटने टेक उन्हें प्रणाम किया और पृथक्-पृथक् उनकी स्तुति की। उनमेंसे एक जानता था,

भक्तवत्सल देवदेव महादेवजी पहले मेरी दृष्टिमें आये हैं। दूसरा समझता था, पहले मुझे ही भगवान्‌का दर्शन हुआ है। ऐसा जानते हुए उन श्रेष्ठ तापसोंने भगवान्‌का इस प्रकार स्तवन किया—

**तापस बोले**—जो देवताओंके भी अधिदेवता तथा सर्वदेवस्वरूप हैं, उन भगवान् शिवको नमस्कार है। शान्त, सूक्ष्म तथा अन्धकासुरका नाश करनेवाले शिवको नमस्कार है। जो सदा द्युलोकके आश्रित रहकर विभिन्न वायुओंके द्वारा सम्पूर्ण जगत्‌को जीवन प्रदान करते हैं, उन सम्पूर्ण रुद्रोंको नमस्कार है। जो पूर्व दिशामें रहकर सब लोकोंकी भूतोंके महान् भयसे रक्षा करते हैं, उन सम्पूर्ण रुद्रोंको नमस्कार है। जो पश्चिम दिशामें रहकर दुरात्मा पिशाचोंके भयसे समस्त जगत्‌की रक्षा करते हैं, उन सम्पूर्ण रुद्रोंको नमस्कार है। जो ऊपरके लोकोंमें रहकर जम्भके महान् भयसे सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा करते हैं, उन सब रुद्रोंको नमस्कार है। जो नीचे-ऊपर दोनों जगह रहकर सम्पूर्ण लोकोंकी कूष्माण्डोंके भयसे रक्षा करते हैं, उन सब रुद्रोंको नमस्कार है। जो सहस्रोंकी संख्यावाले अथवा असंख्य रुद्र, पृथ्वीपर रहकर रोगोंसे जगत्‌को बचाते हैं, उन सबको भी नमस्कार है।

इस प्रकार ग्यारह तपस्वियोंद्वारा स्तुति की जानेपर वे ग्यारहों रुद्र भक्तिसे नतमस्तक हुए उन तपस्वी मुनियोंसे बोले।

**रुद्र बोले**—श्रेष्ठ तापसो! मैं तुम्हारी बड़ी भारी भक्ति देखकर सन्तुष्ट हूँ और ग्यारह स्वरूपोंमें प्रकट हुआ हूँ, तुम सब लोग मनोवांछित वर माँगो।

**तापसोंने कहा**—देव! यदि आप हमपर सन्तुष्ट हैं, तो कृपा करके इन ग्यारह स्वरूपोंमें सदा यहीं रहें, जिससे हम आपकी आराधना करते हुए हाटकेश्वरक्षेत्रमें सदैव निवास करें।

**भगवान् श्रीशिव बोले**—मैंने इस क्षेत्रमें जिन ग्यारह मूर्तियोंको प्रकट किया है, इन सबके साथ यहाँ सदैव निवास करूँगा। मेरी जो आद्या मूर्ति है, वह तो कैलासपर रहती है। इस क्षेत्रमें भी जो उत्तम कैलासपर्वत है, वहाँ सदा उसकी स्थिति बनी हुई है। ये मेरी ग्यारह मूर्तियाँ सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षाके लिये यहाँ सदा उपस्थित रहेंगी। तुम्हारे ही नामोंसे इन सबकी प्रसिद्धि होगी। जो मनुष्य विश्वामित्र-कुण्डमें स्नान करके मेरी इन मूर्तियोंकी पूजा करेंगे, वे परम गतिको प्राप्त होंगे। मेरे वचनसे उन्हें ग्यारहगुने पुण्यफलकी प्राप्ति होगी; इसमें संशय नहीं है।

ऐसा कहकर भगवान् त्रिलोचन वहीं अन्तर्धान हो गये। वे मुनि भी वहाँ आश्रम बनाकर बड़ी श्रद्धासे उन मूर्तियोंकी आराधना करते हुए परम पदको प्राप्त हो गये। दूसरा कोई मनुष्य भी यदि इन ग्यारह विग्रहोंका दर्शन और पूजन करेगा, वह उस परमधाममें जायगा, जहाँ साक्षात् भगवान् महेश्वर विराजमान हैं। जो मानव चैत्रमासके शुक्ल पक्षकी चतुर्दशीके दिन उन सबका भक्तिपूर्वक पूजन करेगा, वह परम गतिको प्राप्त होगा। षडक्षर मन्त्रके द्वारा भगवान् शिवको एक फूल चढ़ानेसे जो फल मिलता है, उससे सौ गुना फल उस मनुष्यको प्राप्त होता है, जिसने शिवकी दीक्षा ली है। उसकी अपेक्षा भी सौगुना फल उसे मिलता है, जिसने भगवान् शिवकी शरण ले रखी है। जो लोग भक्ति एवं विनयपूर्वक उन विग्रहोंका पूजन करते हैं, वे पूर्वोक्त सभी लोगोंसे सौगुना पुण्यफल प्राप्त करते हैं।

**ऋषियोंने पूछा**—सूतजी ! काशीसे आये हुए उन मुनियोंके नाम क्या थे, जिनकी भक्तिके कारण भगवान् शिव ग्यारह स्वरूपोंमें अभिव्यक्त हुए?

**सूतजीने कहा**—उनमेंसे प्रथमका नाम त्रिभुवन-प्रसिद्ध मृगव्याध था, दूसरेका शर्व, तीसरेका निन्दित, चौथेका महायशा, पाँचवेंका अजैकपाद, छठेका अहिर्बुध्न्य, सातवेंका पिनाकी, आठवेंका परन्तप, नवेंका दहन, दसवेंका ईश्वर तथा

ग्यारहवेंका नाम कपाली था। ये ही नाम भगवान् शिवने उन ग्यारह रुद्र-मूर्तियोंके भी रखे।

मृगव्याधके लिये प्रत्यक्ष गौ तथा गुड़की बनी हुई गौ भी दान करनी चाहिये। कपालीके लिये मक्खनकी, अजैकपादके लिये घीकी, अहिर्बुध्न्यके लिये सुवर्णकी, पिनाकीके लिये नमककी, परन्तपके लिये रसकी, दहनके लिये अन्नकी, ईश्वरके लिये जलकी तथा अन्य मूर्तियोंके लिये प्रत्यक्ष गौ दान करनी चाहिये। जो इन रुद्रोंकी प्रीतिके लिये इन सब प्रकारकी गौओंका दान करता है, वह निश्चय ही चक्रवर्ती राजा होता है, ऐसा पितामह ब्रह्माजीका कथन है।

## नागरखण्डका उपसंहार, श्रवण तथा व्यासपूजनका माहात्म्य

**सूतजी कहते हैं**—पूर्वकालमें स्कन्दजीने यह समस्त पुराण ब्रह्मपुत्र महर्षि भृगुको सुनाया था। उनसे अंगिराने प्राप्त किया। अंगिरासे च्यवनको और च्यवनसे ऋचीकको इसकी प्राप्ति हुई। इस परम्परासे यह स्कन्द-कथित पुराण सब लोकोंमें प्रचलित हुआ। जो मनुष्य सत्पुरुषोंके मध्यमें बैठकर इस पुराणको सुनता है, वह पापसे मुक्त हो जाता है। यह पुराण आयुकी वृद्धि करनेवाला और सब वर्णोंको सुख देनेवाला है। इसे महात्मा षडानन (स्कन्दजी)-ने प्रकट किया है। जो मनुष्य हाटकेश्वरक्षेत्रका माहात्म्य सुनता है, उसके पुण्यकी गणना कोई नहीं कर सकता। जो मानव भक्तिपूर्वक इस कथाको कुछ दिन सुनता और पढ़ता है, उसके समस्त मनोरथोंकी सिद्धि होती है। जो गुरु अपने शिष्यको एक अक्षर भी उपदेश करता है, उस गुरुको देनेके लिये पृथ्वीपर ऐसा कोई धन नहीं है, जिसे देकर मनुष्य उसके ऋणसे उऋण हो सके। अतः शास्त्र-पुराणका उपदेश करनेवाले व्यासको गौ, भूमि, सुवर्ण, अन्न और वस्त्र आदि देकर उसका पूर्णतः सत्कार करना चाहिये। जो मनुष्य भक्तियुक्त होकर इस परम उत्तम शास्त्रका पाठ एवं श्रवण करता है तथा उपदेश करनेवाले व्यासका पूजन करता है, वह भगवान् शिवके धामको प्राप्त होता है।

**नागरखण्ड ( उत्तरार्ध ) सम्पूर्ण।**

**नागरखण्ड समाप्त।**

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीउमामहेश्वराभ्यां नमः

# संक्षिप्त श्रीस्कन्दमहापुराण

## प्रभासखण्ड

### सूतजीके द्वारा प्रभास-खण्डका उपक्रम तथा पुराणों और उपपुराणोंका वर्णन

**नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।**
**देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥**

भगवान् नारायण, नरश्रेष्ठ नर, सरस्वती देवी तथा व्यासजीको नमस्कार करके जय (इतिहास-पुराण)-का पाठ करे।

**नैमिषारण्यके निवासी महर्षियोंने लोमहर्षण सूतजीसे पूछा**—महाबुद्धिमान् सूतजी! प्रभासक्षेत्रका क्या माहात्म्य है? यह हमें बतानेकी कृपा करें।

मुनियोंका यह वचन सुनकर सूतजी अपने गुरुदेव सत्यवतीनन्दन व्यासको प्रणाम करके बोले।

**लोमहर्षणजीने कहा**—जिनका वक्षःस्थल श्रीवत्सचिह्नसे सुशोभित है, जो सम्पूर्ण जगत्के उत्पत्ति-स्थान,सबको मोहनेवाले, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, अप्रमेय, गुरु, देव, निर्भय, निर्भय-आश्रय, हंस (शुद्ध-स्वरूप), शुचिषद् (पवित्र अन्तःकरणमें निवास करनेवाले), आकाशकी भाँति सर्वव्यापी, सर्वगत, शिव (कल्याणमय), उदासीन (राग-द्वेषरहित), आयासशून्य, प्रपंचसे परे, निरंजन, विन्दुस्वरूप, ध्येय तथा ध्यानरहित हैं, ज्ञानीजन जिन्हें अस्ति-नास्ति (भावाभावस्वरूप) कहते हैं, जो दूरसे दूर और निकटसे निकट हैं, मनसे जिनका ग्रहण नहीं हो सकता, जो परम धाम, पुरुष नामसे प्रसिद्ध, जगन्मय, हृदय-कमलके आसनपर विराजमान, तेजोरूप तथा इन्द्रियरहित हैं, ऐसे परमात्माको नमस्कार करके मैं पापनाशिनी कथा आरम्भ करता हूँ। आपलोग सावधान होकर सुनें। यह कथा श्रद्धालु एवं शान्त द्विजको सुनाने योग्य है। जैसे सब देवताओंमें देवदेव महेश्वर श्रेष्ठ हैं, जिस प्रकार नदियोंमें गंगा, वर्णोंमें ब्राह्मण, अक्षरोंमें ॐकार, पूजनीयोंमें माता तथा गुरुजनोंमें पिता सबसे श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार सब शास्त्रोंमें स्कन्दपुराण उत्तम है। पूर्वकालमें कैलास पर्वतके शिखरपर ब्रह्मा आदि देवताओंके समीप पिनाकपाणि भगवान् शिवने पार्वतीजीके सम्मुख स्कन्दपुराण सुनाया था। फिर पार्वतीजीने अपने पुत्र स्कन्दको, स्कन्दने नन्दीगणको, नन्दीने कुमार (सनकादि)-को और कुमारने परम बुद्धिमान् व्यासको सुनाया था। व्यासजीके मुखसे कही हुई उसी कथाको मैं आपलोगोंके सामने कहता हूँ। आप सब महर्षि सद्भावसे युक्त हैं, अतः मुझे आपको स्कन्दपुराण-संहिता सुनानेके लिये उत्साह होता है।

प्राचीन कालमें ब्रह्माजीने उग्र तप किया, तब छहों अंग, पद और क्रमके सहित वेद प्रकट हुए। तदनन्तर सर्वशास्त्रमय सम्पूर्ण पुराणका प्रादुर्भाव हुआ। जो नित्य शब्दमय, पुण्यजनक तथा सौ करोड़ श्लोकोंसे विस्तारको प्राप्त हुआ है। ब्रह्माजीके मुखसे क्रमशः १ ब्रह्मपुराण, २ विष्णुपुराण, ३ शिवपुराण,

४ भागवतपुराण, ५ भविष्यपुराण, ६ नारदीयपुराण, ७ मार्कण्डेयपुराण, ८ आग्नेय पुराण, ९ ब्रह्मवैवर्तपुराण, १० लिंगपुराण, ११पद्मपुराण, १२ वाराहपुराण, १३ स्कन्दपुराण, १४ वामनपुराण, १५ कूर्मपुराण, १६ मत्स्यपुराण, १७ गरुड़पुराण तथा १८ वायुपुराणका प्राकट्य हुआ। इन अठारह पुराणोंका नामोच्चारण सब पातकोंका नाश करनेवाला है।

इसके सिवा मुनियोंने अठारह उपपुराण भी बताये हैं— १ सनत्कुमार, २ नरसिंह, ३ स्कन्द, ४ नन्दीश्वरकथित शिवधर्म, ५ दुर्वासा, ६ नारद, ७ कपिल, ८ मनु, ९ उशना, १० ब्रह्माण्ड, ११ वरुण, १२ कालिका, १३ माहेश्वर, १४ साम्ब, १५ सौर, १६ पाराशर, १७ मारीच तथा १८ भार्गव। विप्रवरो! ये उपपुराणोंके नाम बताये गये हैं।

**ऋषि बोले**—सूतजी! अब क्रमशः पुराणोंकी श्लोक संख्या बताइये।

**सूतजीने कहा**—पहले एक ही पुराण था, जो शतकोटि श्लोकोंद्वारा विस्तृत तथा धर्म, अर्थ और कामका साधन करनेवाला था। प्रलयकालमें जब संकर्षणरूपधारी परमात्मा श्रीहरिने सम्पूर्ण लोकोंको दग्ध कर दिया, तब अंगोंसहित चारों वेद, पुराण, न्याय, मीमांसा तथा धर्मशास्त्र सबको लेकर उन्होंने अपने अधीन कर लिया। तत्पश्चात् दूसरे कल्पके प्रारम्भमें एकार्णवके जलमें मत्स्यरूपसे विचरनेवाले भगवान्ने दिव्यदृष्टिसम्पन्न ब्रह्माजीको समस्त वेदादि शास्त्रोंका उपदेश किया। फिर ब्रह्माजीने त्रिकालदर्शी मुनियोंको उपदेश दिया। इस प्रकार सब शास्त्रों और पुराणोंकी प्रवृत्ति हुई। तदनन्तर कालक्रमसे व्यासरूपधारी श्रीहरि प्रत्येक द्वापरयुगमें अठारह पुराणोंको संक्षिप्त करते हैं। सौ कोटि श्लोकोंको संक्षिप्त करके चार लाख श्लोकोंके रूपमें स्थापित करते हैं। इन्हीं चार लाख श्लोकोंको अठारह भागोंमें विभक्त करके इस भूलोकमें अठारह पुराणोंका उपदेश करते हैं। अब भी देवलोकमें सौ कोटि श्लोकोंके विस्तारसे युक्त पुराणका संस्करण विद्यमान है। उसीका सारभूत अर्थ यहाँ चार लाख श्लोकोंमें नियोजित हुआ है। इस लोकमें अठारह पुराण हैं। अब उन पुराणोंके नामोल्लेखपूर्वक उनकी श्लोकसंख्या बतलाता हूँ। ब्रह्माजीने मरीचिसे जितने श्लोकोंका उपदेश किया है, उसका नाम 'ब्रह्मपुराण' है। उसकी श्लोकसंख्या दस हजार है। जो मनुष्य ब्रह्मपुराणको लिखकर वैशाखकी पूर्णिमाके दिन जलधेनुसहित उसका दान करता है, वह ब्रह्मलोकमें जाता है। जिस समय सुवर्णमय ब्रह्माण्ड भगवान्की नाभिसे कमलरूपमें प्रकट हुआ था, उस कथाका आश्रय लेकर जो पुराण प्रकाशमें आया है, उसे विद्वानोंने 'पद्मपुराण' नाम दिया है। उसकी श्लोकसंख्या यहाँ पचपन हजार बतायी जाती है। जो मनुष्य सुवर्णमय कमलयुक्त पद्मपुराण ज्येष्ठमासमें तिलसहित दान करता है, वह अश्वमेध यज्ञका फल पाता है। वाराहकल्पकी कथाको लेकर जो भगवान् विष्णुका चरित्र निर्मित हुआ है, उसे लोकमें 'विष्णुपुराण' कहते हैं। वह तेईस हजार श्लोकोंका बताया गया है। जो शुद्धचित्त मानव आषाढमासकी पूर्णिमाको घृत-धेनु के साथ विष्णुपुराणका दान करता है, वह भगवान् विष्णुके धाममें जाता है।

श्वेतकल्पके प्रसंगको लेकर जिसमें वायुदेवने धर्मका उपदेश किया है, वह 'वायुपुराण' कहलाता है। उसमें भगवान् शिवकी महिमाका भी वर्णन है। वायुपुराण चौबीस हजार श्लोकोंका बताया जाता है। श्रावणमासकी पूर्णिमाको गुड़मयी धेनुके साथ उक्त पुराणका जो कुटुम्बी ब्राह्मणके लिये दान करता है, वह शुद्धचित्त हो एक कल्पतक शिवलोकमें निवास करता है। जिसमें गायत्री-मन्त्रका आश्रय लेकर धर्मका विस्तृतरूपसे वर्णन किया गया है तथा जिसमें वृत्रासुरके वधका भी प्रसंग है,उसे 'भागवतपुराण' कहते हैं। जो उसे लिखकर भाद्रपदकी पूर्णिमाको स्वर्णमय सिंहासनके

साथ दान करता है, वह परमपदको प्राप्त होता है। भागवतपुराण अठारह हजार श्लोकोंका बताया गया है। जिसमें बृहत्कल्पकी कथाका आश्रय लेकर नारदजीने धर्मोंका वर्णन किया है, वह 'नारदीयपुराण' है। उसकी श्लोकसंख्या पचीस हजार है। जो आश्विनकी पूर्णिमाको धेनुसहित उस पुराणका दान करता है, वह पुनरावृत्तिरहित उत्तम सिद्धिको प्राप्त होता है। जिसमें पक्षियोंके प्रसंगको लेकर धर्माधर्मका विचार किया गया है, वह 'मार्कण्डेयपुराण' कहलाता है। उसकी श्लोकसंख्या नौ हजार है। जो उसे लिखकर सुवर्णमय हाथीके साथ कार्तिककी पूर्णिमाको दान देता है, वह पुण्डरीक यज्ञके फलका भागी होता है। जहाँ ईशानकल्पके वृत्तान्तका आश्रय लेकर अग्निदेवने वसिष्ठको उपदेश दिया है, उसे 'आग्नेयपुराण' कहते हैं। उसकी श्लोकसंख्या सोलह हजार है। जो उसे लिखकर मार्गशीर्षमासमें स्वर्णमय कमलके साथ तिलधेनुसहित दान करता है, उसे सब यज्ञोंका फल मिलता है। जिसमें लोकनाथ ब्रह्माजीने अघोरकल्पके वृत्तान्तके प्रसंगसे सूर्यकी महिमाका आश्रय ले मनुसे जीवसमुदायका लक्षण बताया है; प्राय: भविष्य चरित्रके वर्णनसे युक्त वह पुराण 'भविष्यपुराण' कहलाता है। उसकी श्लोकसंख्या साढ़े चौदह हजार है। जो पौषमासकी पूर्णिमाको द्वेषरहित हो गुड़ और घटसहित उक्त पुराणका दान करता है, उसे अग्निष्टोम यज्ञका फल मिलता है। जिसमें रथन्तरकल्पके वृत्तान्तको लेकर नारदजीसे श्रीकृष्ण-माहात्म्यसहित ब्रह्मवाराह-चरित्रका वर्णन किया जाता है, वह अठारह हजार श्लोकोंका पुराण 'ब्रह्मवैवर्त' कहा गया है। जो मनुष्य माघमासकी पूर्णिमाको परम पवित्र ब्रह्मवैवर्तका दान करता है, वह ब्रह्मलोकमें जाता है। जिसमें अग्निकल्पके वृत्तान्तको लेकर लिंगमें स्थित देवदेव महेश्वरने अग्निसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंका वर्णन किया है, वह 'लिंगपुराण' कहा गया है। उसकी श्लोकसंख्या ग्यारह हजार है। जो फाल्गुनकी पूर्णिमाको तिलधेनुके साथ ब्राह्मणको उस पुराणका दान करता है, वह भगवान् शिवके सारूप्यको प्राप्त होता है।

जिसमें महावाराहके माहात्म्यको लेकर भगवान् विष्णुने पृथ्वीसे कथा कही है, वह चौबीस हजार श्लोकोंका पुराण 'वाराहपुराण' कहलाता है। जो चैत्रकी पूर्णिमाको सोनेके गरुड और तिलकी धेनुसहित वह पुराण कुटुम्बी ब्राह्मणको देता है, वह भगवान् वाराहके प्रसादसे वैष्णवपदको प्राप्त होता है। जिसमें माहेश्वर धर्मोंका आश्रय लेकर तत्पुरुष कल्पके वृत्तान्त एवं चरित्रोंके साथ कथावस्तुका वर्णन स्कन्दजीके प्रति (अथवा स्कन्दजीके द्वारा) किया गया है, वह 'स्कन्दपुराण' कहा गया है। उसमें इक्यासी हजार एक सौ श्लोक हैं। जो उक्त पुराण लिखकर सूर्यके मकर राशिपर स्थित रहते समय उसे स्वर्णमय त्रिशूलके साथ दान करता है, वह भगवान् शिवके धाममें जाता है। जिसमें ब्रह्माजीने त्रिविक्रमकी महिमाको लेकर धर्म, अर्थ और कामका वर्णन किया है, वह 'वामनपुराण' कहा गया है। उसकी श्लोकसंख्या दस हजार है और उसमें कूर्मकल्पकी कथा है। जो शरत्कालीन विषुवयोगमें धेनु-सुवर्ण तथा रेशमीवस्त्रसहित उक्त पुराणका दान करता है, वह विष्णुधामको प्राप्त होता है। जिसमें कच्छपरूपधारी श्रीहरिने रसातलमें ऋषियों तथा इन्द्रके समीप इन्द्रद्युम्नके प्रसंगसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका माहात्म्य कहा है, वह लक्ष्मीकल्पके वृत्तान्तसे युक्त सत्रह हजार श्लोकोंका पुराण 'कूर्मपुराण' कहलाता है। जो मनुष्य अयनारम्भके दिन स्वर्णमय कूर्मके साथ कूर्मपुराणका दान करता है, वह एक सहस्र गोदानका फल पाता है। जहाँ कल्पके आदिमें श्रुतियोंकी प्रवृत्तिके लिये मत्स्यरूपधारी भगवान्ने मनुसे नरसिंहकल्पसे लेकर सात कल्पतककी सब बातोंका वर्णन किया है, उसे चौदह हजार श्लोकोंका 'मत्स्यपुराण'

समझना चाहिये। जो विषुवयोगमें सुवर्णमय मत्स्य, धेनु तथा दो रेशमी पीताम्बरसे युक्त मत्स्यपुराण दान करता है, उसके द्वारा मानो सम्पूर्ण पृथ्वीका दान कर दिया गया। जब गारुडकल्प बीत रहा था,उस समयकी ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिकथाका आश्रय लेकर भगवान् विष्णुने गरुडसे जो कुछ कहा है, वह 'गरुडपुराण' कहलाता है। उसकी श्लोक-संख्या भी अठारह हजार है। जो उत्तरायणमें स्वर्णमय हंससहित गरुडपुराण दान करता है, वह मुख्य सिद्धि तथा शिवलोकमें निवास पाता है। ब्रह्माण्डकी महिमाको लेकर ब्रह्माजीने जिस पुराणका वर्णन किया है, जिसमें भविष्य कल्पोंका भी विस्तृत वर्णन सुना जाता है, वह 'ब्रह्माण्डपुराण' है। उसकी श्लोक संख्या बारह हजार दो सौ है। जो मानव व्यतीपात योगमें उस पुराणका दान करता है, वह सहस्र राजसूय यज्ञोंका फल पाता है। ब्राह्मणो! अद्भुत कर्म करनेवाले व्यासजीने इहलोकमें सबका हित करनेके लिये द्वापरमें बृहत्पुराणका संक्षेप करके चार लाख श्लोकोंका पुराण प्रकट किया है।

पद्मपुराणमें जो भगवान् नरसिंहके अवतारका वर्णन हुआ है, उसी प्रसंगको लेकर जो उपपुराण कहा गया है, उसे 'नरसिंहपुराण' कहते हैं। मुनीश्वरो! जहाँ कार्तिकेयजी नन्दीके माहात्म्यका वर्णन करते हैं, वह उपपुराण लोकमें 'नन्दिपुराण' के नामसे विख्यात है। जिसमें साम्बके चरित्रको प्रधानता देकर कथा कही गयी है; वह लोकमें 'साम्बपुराण' कहलाता है। वही आदित्यपुराण भी कहा गया है। अठारह पुराणोंसे पृथक् जो पुराण देखा जाता है, वह उन महापुराणोंसे ही निकला है। मुनीश्वरोंने पुराणोंके पाँच अंग बताये हैं—सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित। जहाँ ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य तथा रुद्रका माहात्म्य और समस्त विश्वके सृष्टि-संहारका वर्णन देखा जाता है, वह इन पाँच लक्षणोंसे युक्त पुराण है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका भी वर्णन पुराणोंमें किया गया है।

पुराणोंके तीन विभाग हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। सात्त्विक पुराणोंमें श्रीहरिके ही माहात्म्य और उनकी आराधनाके फलका अधिक वर्णन है। राजस पुराणोंमें ब्रह्माका ही अधिक माहात्म्य है। इसी प्रकार तामस पुराणोंमें अग्निदेव और रुद्रका विशेष माहात्म्य कहा गया है। जो सात्त्विक, राजस और तामस सभी भावोंसे संकीर्ण (व्याप्त) हैं, उन पुराणोंमें सरस्वती देवी एवं पितरोंकी महिमाका वर्णन है। पुराणोंमेंसे चारके द्वारा भगवान् विष्णुका, दो-दोके द्वारा ब्रह्मा और सूर्यदेवका तथा शेष सभी पुराणोंद्वारा विशेषतः भगवान् शिवका माहात्म्य कहा गया है। पुराणोंमें सब वेद प्रतिष्ठित हैं, इसमें सन्देह नहीं है। जो अंग और उपनिषदोंसहित चारों वेदोंको तो जानता है, किंतु पुराणको नहीं जानता, वह विशिष्ट विद्वान् नहीं है। सत्यवतीनन्दन व्यासने द्वापरके अन्तमें अठारह पुराणोंका निर्माण करके वेदार्थोंसे परिपूर्ण महाभारत उपाख्यानकी रचना की है। उसकी श्लोकसंख्या एक लाख है। वाल्मीकिने जो परम उत्तम श्रीरामोपाख्यानका वर्णन किया है, वह भी बहुत उत्तम है। ब्रह्माजीने जो शतकोटि श्लोकोंद्वारा विस्तृत रामचरितका वर्णन किया है, उसीका यह सार है। पहले ब्रह्माजीने नारदजीको बुलाकर वह चरित्र कहा था, फिर नारदजीने वाल्मीकिजीसे कहा। इस प्रकार चार लाख पुराणके, एक लाख महाभारतके और चौबीस हजार वाल्मीकीय रामायणके—ये सवा पाँच लाख श्लोक अतिशय पुण्यजनक कहे गये हैं।

परम बुद्धिमान् वेदव्यासजीने स्कन्दपुराणके सात खण्ड किये हैं और इक्यासी हजार उसके श्लोक हैं। स्कन्दपुराणका प्रथम खण्ड स्कन्दके माहात्म्यसे परिपूर्ण है। उसका नाम माहेश्वरखण्ड है। दूसरा वैष्णवखण्ड और तीसरा ब्राह्मखण्ड है। यह ब्रह्माजीके द्वारा कहा गया है और सृष्टिकथाको

संक्षेपसे सूचित करनेवाला है। चौथे खण्डका नाम काशीखण्ड है। पाँचवाँ खण्ड अवन्ती-माहात्म्यसहित रेवाखण्ड है। छठा खण्ड नागरखण्ड है, जो तीर्थोंकी महिमाको सूचित करनेवाला है। सातवाँ खण्ड यही है, जो प्राभासिक खण्ड माना गया है। स्कन्दपुराणके सभी खण्ड किंचित् न्यूनाधिकताके साथ बारह-बारह हजार हैं।

## शिव-पार्वती-संवाद, तीर्थोंका संक्षिप्त वर्णन तथा प्रभासक्षेत्रकी विशेष महिमा

**ऋषि बोले**—सूतजी! अब हम तीर्थोंका विस्तृत वर्णन सुनना चाहते हैं।

**सूतजीने कहा**—प्राचीन कालमें पर्वतश्रेष्ठ कैलासपर देवी पार्वतीने यही बात पूछी थी, वह प्रसंग सुनाता हूँ। एक समयकी बात है, गिरिराजकुमारी उमाने अत्यन्त विस्मित होकर महादेवजीके मुखकी ओर देखा और हाथ जोड़कर मधुर वाणीमें कहा—'जगन्नाथ! महेश्वर! मैंने आपको प्रसन्न करनेकी इच्छासे अनेक जन्मोंतक आपके स्वरूपका अनुसन्धान किया; परंतु आपका कहीं अन्त नहीं मिला। देवदेव! आपका रूप अनन्त है, आपको नमस्कार है। आप वेदके रहस्य तथा वेदवाणीद्वारा प्रशंसित हैं, आपको नमस्कार है। आप सदा श्मशानभूमिमें रमते रहते हैं तथा आकाशमें भी विचरण करते हैं, आपको नमस्कार है।'

**भगवान् शिव बोले**—देवेश्वरि! मैं तुम्हारा स्रष्टा हूँ और तुम सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि करती हो; तुम्हारे तथा मेरे द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् ओतप्रोत है। मैं और तुम दोनों सम्पूर्ण ऐश्वर्यशक्तिसे युक्त होकर सब प्राणियोंके भीतर स्थित हैं। सब ओर प्रतिष्ठित हैं। मैं तुम्हारे साथ खेल करता हूँ। तुम्हीं धृति और धारणाशक्ति हो। तुम्हीं प्रकृति हो। सदा मेरे अंगोंमें निवास करनेवाली हो। अधिक क्या कहूँ, तुम मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हो; तुम्हारे मनमें जो भी इच्छा हो, उसके अनुसार वर माँगो।

**देवी बोलीं**—जगन्नाथ! मैं धन्य हूँ, पुण्यात्मा हूँ और मैंने उत्तम तपका अनुष्ठान किया है, जिससे आपने मेरी ओर हर्षभरी दृष्टिसे देखा है। देव! इस समय मुझसे सब तीर्थोंका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये।

**भगवान् शिवने कहा**—देवेश्वरि! तीर्थोंका दर्शन और उनमें स्नान परम कल्याणकारी है। श्रेष्ठ मुनिगण तीर्थोंके श्रवणकी भी प्रशंसा करते हैं। पृथ्वीपर नैमिष और आकाशमें पुष्करतीर्थ प्रसिद्ध हैं। इनके सिवा केदार, प्रयाग, विपाशा (व्यास), उर्मिला, कृष्णा, वेणा, महादेवी, चन्द्रभागा (चनाव), सरस्वती, गंगासागरसंगम, शुभदायिनी काशीपुरी, महाभागा शतभद्रा, महानदी सिन्धु, गोदावरी, कपिला, महानद शोण, पयोधि, कौशिकी, देवखात, गया, द्वारावती तथा महातीर्थ प्रभास—ये सब पातकोंका नाश करनेवाले हैं। ये सब तीर्थ जो इस पृथ्वीपर मौजूद हैं, उनका दर्शन करके मनुष्यका फिर इस संसारमें जन्म नहीं होता। वायुदेवने कहा है कि 'पृथ्वीपर साढ़े तीन करोड़ तीर्थ हैं, वे सभी महापापोंका नाश करनेवाले और परम पवित्र हैं।' महादेवि! स्वधर्मकी वृद्धिके लिये इन सभी तीर्थोंकी यात्रा करनी चाहिये। जहाँ शरीरसे जाना सम्भव न हो, वहाँ मनसे ही जाना चाहिये।

**देवी बोलीं**—भगवन्! सभी प्राणी सब प्रकारके उपद्रवोंसे ग्रस्त हैं। उनकी आयु थोड़ी है। वे अनेक प्रकारके व्यामोहसे बँधे हुए हैं। त्रेता और द्वापरमें भी ऐसी स्थिति रहती है, फिर भयंकर कलिकालकी

तो बात ही क्या है? अतः उन सबके हितके लिये आप ऐसे किसी तीर्थका वर्णन कीजिये, जिसके दर्शनसे सब तीर्थोंका फल प्राप्त हो ।

**भगवान् शिवने कहा**—देवि! तुम मेरे बाहर विचरनेवाले प्राण हो, तुम्हीं सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिस्थान हो। तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैं सब बातोंका यथावत् वर्णन करूँगा। यह रहस्यका भी रहस्य है। इसको प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखना चाहिये। नास्तिकों तथा पापाचारियोंको इसका उपदेश नहीं देना चाहिये। जिसके भीतर भक्ति हो, ऐसे उत्तम शिष्य एवं श्रद्धालु पुत्रको ही इस रहस्यका उपदेश करना चाहिये। सुव्रते! चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें साढ़े तीन करोड़ तीर्थ हैं, यह बात पहले बतायी गयी है। उन सबमें छिपा हुआ श्रेष्ठ तीर्थ प्रभास है। इसे देखकर कलियुगके पापसे मोहित संस्काररहित मनुष्य बड़े उद्वेगको प्राप्त होते हैं। जहाँ-तहाँ कुपित हो उठते हैं। अपने-आपमें बड़प्पनका अभिमान रखनेवाले तथा मिथ्या ज्ञानसे मोहित जो अधम मानव भेद और कपट रखकर तीर्थयात्रा करते हैं, वे तीर्थमें मृत्युको प्राप्त होकर भी सिद्धि नहीं पाते हैं। इसलिये मैंने अनेक तीर्थों और शिवलिंगोंको गुप्त कर रखा है। वे कलियुगमें पापाचारियोंके लिये सिद्धिप्रद नहीं होते। जो क्रोध, लोभ और इन्द्रियोंको जीत चुके हैं, ऐसे दम्भ और मात्सर्यसे रहित, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कोई भी क्यों न हों, यदि सद्भावसे भावित हो उत्तम व्रतका पालन करते हुए तीर्थका सेवन करते हैं, तो उनके हितके लिये मैं त्रिभुवनविख्यात सर्वोत्तम प्रभासक्षेत्रका ही नाम लेता हूँ। जो लोग यम-नियमसे युक्त और अहंकारसे रहित हैं, उनके लिये कहता हूँ—पृथ्वीपर सब तीर्थोंमें उत्तम एकमात्र प्रभासक्षेत्र मुझे विशेष प्रिय है। महादेवि! उस तीर्थमें मैं निरन्तर स्थित रहता हूँ। वहाँ मेरा दिव्य लिंग प्रकट हुआ है, जो दिव्य तेजसे युक्त और अग्निमण्डलसे मण्डित है। संसारकी सृष्टिमें हेतुभूता जो इच्छा, ज्ञान और क्रिया—ये तीन शक्तियाँ हैं, वे मेरे इसी दिव्य लिंगसे प्रकट हुई हैं। यह चराचर जगत् उसीमें लीन होता और उसीसे प्रकट होता है। उस उत्तम क्षेत्रको कोई नहीं जानता है। वरानने! प्रभास क्षेत्रमें जो मेरा स्वरूप है, यह क्षेत्रज्ञ कहा गया है। मैं वहाँ 'सोमनाथ' नामसे प्रसिद्ध हूँ। जो मनुष्य इस क्षेत्रमें मेरे अंशसे प्रकट हुए हैं, उन्हींको मेरे उस लिंगके तत्त्वका ज्ञान है। वह लिंग प्राचीन कालके भैरव-कल्पमें प्रकट हुआ था। दूसरे लोग देवता ही क्यों न हों,उनके लिये उस लिंगका रहस्य दुर्लभ है।

कलियुगमें जो मनुष्य केवल तर्कवादी, महापापी और पाखण्डी होंगे,वे कहेंगे—'यह सब मिथ्या है, मूर्खोंकी कल्पना है, कहाँ तीर्थ है? कहाँ प्रभास है और कहाँ देवता रहते हैं? सब झूठ है, मूर्खोंका मिथ्या प्रलाप है।' इस प्रकार वे नास्तिक, नरकगामी तथा पापदूषित चित्तवाले मूर्ख मानव बातें करेंगे और तीर्थ आदिकी हँसी उड़ायेंगे। अतः उन्हें कभी सिद्धि नहीं प्राप्त होगी। जो मनुष्य शिवजीकी निन्दामें तत्पर रहते हैं, वे तीर्थमें मरें तो भी वे पशु-पक्षियोंकी योनिमें जन्म लेते देखे जाते हैं। क्षेत्रोंको गुप्त रखनेका यही कारण है। देवेश्वरि! युग-युगमें जितने तीर्थ कहे गये हैं, उन सबमें प्रभासक्षेत्र ही मुझे विशेष प्रिय है।

# प्रभासतीर्थकी सीमा, क्षेत्रविभाग, महिमा तथा रक्षकगणोंका वर्णन

**पार्वतीदेवी बोलीं**—महेश्वर! यदि प्रभासक्षेत्र सब तीर्थोंमें श्रेष्ठ है तो अन्य बहुत तीर्थोंके विस्तारसे क्या लेना है। प्रभासक्षेत्रका ही माहात्म्य बताइये। प्रभासक्षेत्र कौन है? उसकी सीमा क्या है तथा उसका सारतत्त्व क्या है? यह सब आप बतानेकी कृपा करें।

**भगवान् शिवने कहा**—देवि! समस्त क्षेत्रोंमें प्रभास मुझे अधिक प्रिय है, प्रभासमें उत्तम सिद्धि और परम गति प्राप्त होती है। उसके पूर्वभागमें अन्धकारका नाश करनेवाले स्वामी सूर्यनारायणजी हैं। पश्चिममें माधवजीका स्थान है। दक्षिणमें समुद्र तथा उत्तरमें भवानी हैं। इस प्रकारकी सीमासे युक्त वह क्षेत्र बारह योजनका है। इसीका नाम प्रभासक्षेत्र है, जो सब पातकोंका नाश करनेवाला है। उसके मध्यमें पाँच योजन विस्तृत पीठिका है, जो न्यंकुमतीसे पश्चिम, वज्रिणीसे पूर्व, माहेश्वरीसे दक्षिण तथा समुद्रसे उत्तरमें स्थित है। उसकी लम्बाई और चौड़ाई मिलाकर पाँच योजनका विस्तार है। यह पीठ कहा गया है। अब इसके गर्भगृहका वर्णन सुनो—दक्षिणसे उत्तरकी ओर वह समुद्रसे कौरवेश्वरीदेवीतक फैला है और पूर्व-पश्चिममें गोमुखसे आश्वमेधिक तीर्थतक उसका विस्तार है। यह गर्भगृह मुझे कैलाससे भी अधिक प्रिय है। इस गर्भगृहकी सीमामें पृथ्वीपर जितने भी तीर्थ, बावलियाँ, कूप, तडाग, देवमन्दिर, सरोवर, सरिताएँ, गड्ढे और कुण्ड हैं, वे सभी परम पवित्र तथा सब पापोंका नाश करनेवाले हैं। इनमें जहाँ कहीं भी स्नान करके मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है।

इस क्षेत्रका प्रथम भाग माहेश्वर कहा गया है, जो परम पवित्र है। दूसरा वैष्णवभाग और तीसरा ब्रह्मभाग है, ब्रह्मभागमें एक करोड़ तीर्थ हैं। वैष्णवभागमें भी एक कोटि तीर्थ हैं। इन दोनोंके मध्यमें रुद्रभाग (या माहेश्वरभाग) है। इसमें डेढ़ करोड़ तीर्थ हैं। इस प्रकार यह क्षेत्र तीन देवताओंका बताया गया है। यह गोपनीयसे भी गोपनीय तथा मुझे विशेष प्रिय है। सब विभागोंको मिलाकर इस क्षेत्रमें साढ़े तीन करोड़ तीर्थ हैं। इसकी यात्रा भी तीन प्रकारकी है—पहली रौद्री यात्रा, दूसरी वैष्णवी यात्रा और तीसरी ब्राह्मी यात्रा कही गयी है, जो सब पातकोंका नाश करनेवाली है। ब्राह्म-विभागमें इच्छाशक्ति कही गयी, वैष्णवभागमें क्रियाशक्ति और तीसरे रुद्रभागमें ज्ञानशक्ति बतायी गयी है। पापी, शठ अथवा दूसरोंको हानि पहुँचानेवाला मनुष्य ही क्यों न हो, यदि वह प्रभासक्षेत्रके मध्यभागमें निवास करता है तो सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। हिमवान्, गन्धमादन, कैलास, निषध, परम प्रकाशमय मेरुगिरि, मनोहर त्रिकूट, महागिरि मानसोत्तर, रमणीय देवोद्यान, नन्दनवन तथा स्वर्गलोकके रमणीय तीर्थ और मन्दिर—इन सबको छोड़कर प्रभासमें मेरा मन लगता है। देवि! जो एकाग्रचित्त होकर प्रभासमें संयमपूर्वक निवास करता है, वह तीनों समय भोजन करके भी वायु पीकर रहनेवाले तपस्वीके समान पुण्यफलका भागी होता है। जो विघ्नोंसे आक्रान्त होकर भी प्रभासतीर्थका सेवन नहीं छोड़ता, वह जरा और मृत्युको त्याग देता तथा जन्मके अशाश्वत चक्रसे मुक्त हो जाता है। जो मनुष्य प्रभासक्षेत्रमें निश्चयपूर्वक निवास करते हैं, उनको एक ही जन्ममें मोक्ष प्राप्त हो जाता है। जो उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण प्रभासक्षेत्रमें स्थित हैं, जो मृत्युंजय-मन्त्रके साथ शतरुद्रियका जप करते हैं, उन्हें छः महीनेके भीतर ज्ञान प्राप्त हो जाता है। नामका पर्याय बतानेवाले विद्वान् पुरुष शिव कहते हैं वेदको। शतरुद्र मन्त्र शिवस्वरूप वेदका आत्मा है। जो प्रभासक्षेत्रमें आकर '**ईड्यम्**' इत्यादि मन्त्रसे मेरा पूजन करते हैं, वे निःसन्देह मुक्त हो जाते हैं। जो मनुष्य वहाँ समन्त्र या अमन्त्रभावसे रहते हैं, अर्थात् मन्त्र जपें

या न जपें, केवल वहाँ सदा निवास करते हैं, वे भी जिस गतिको पाते हैं, वह बड़े-बड़े दानों और यज्ञोंसे भी नहीं मिलती। इस क्षेत्रमें स्वयम्भू लिंगके रूपमें साक्षात् हम महेश्वर ही निवास करते हैं। प्रभासमें भगवान् सोमनाथके दक्षिणमें करोड़ों रुद्र स्थित हैं। ब्रह्माण्डमें जितने तीर्थ हैं, वे सभी वैशाखकी चतुर्दशीको सोमनाथके समीप जाते हैं। प्रभासक्षेत्रमें निवास करनेवाले पुरुषोंके लिये जो सद्गति बतायी गयी है, वह न तो कुरुक्षेत्रमें है न हरिद्वारमें और न पुष्करमें ही है। देवदेव महादेवजीका वह गुप्त क्षेत्र सात योजन है। वहाँ ब्रह्मा और विष्णु आदि देवता तथा असंख्य योगी सनातन भगवान् मुझ सदाशिवकी उपासना करते हैं। वे सभी मेरे भक्त हैं और मेरी उपासनामें तत्पर रहते हैं। संयमशील संन्यासी आठ मासतक भ्रमण करते हैं और चार मासतक एक जगह प्रभासतीर्थमें नियम ग्रहण करके उन्हें निवास करना चाहिये। एक मनुष्य सोमेश्वर शिवका पूजन करता है और दूसरा तप करता है; उन दोनोंमें वही श्रेष्ठ है, जो सोमनाथकी पूजामें संलग्न है। जो योग, सांख्य, पांचरात्र तथा अन्य शास्त्रोंद्वारा जाननेयोग्य हैं, वे ही शिव प्रभासक्षेत्रमें स्थित हैं। सोमनाथ लिंगमें यह सम्पूर्ण चराचर जगत् स्थित है, इसलिये उस लिंगमें सदा महादेवका यत्नपूर्वक पूजन करना चाहिये। मनुष्य मानव-बुद्धिके अनुसार जो कुछ भी अशुभ कर्म कर बैठता है, वह श्रीसोमनाथके पूजनसे विलीन हो जाता है। वेदवादी पुरुष जिन्हें कालाग्निरुद्र कहते हैं, वे ही भैरव नामसे प्रभासतीर्थमें स्थित हैं। मैं ही भैरवरूप धारण करके सब पापोंका नाश करता हूँ। '**अग्निमीळे**' इस मन्त्रके द्वारा जिसके प्रभावका वर्णन हुआ है, वही मैं प्रभासक्षेत्रमें '**अग्निमीळ**' नाम धारण करता हूँ। इसके सिवा सब देवताओंने वहाँ मेरा नाम 'कालाग्निरुद्र' भी रखा है। मेरा एक नाम 'अग्नीशान' भी है। इस प्रकार तीन नाम बताये जाते हैं। प्रत्येक कल्पमें जो मेरे नाम होते हैं, उनकी गणना नहीं की जा सकती। क्योंकि कल्प और ब्रह्मा असंख्य हैं। इस प्रकार यह सोमेश्वर देवका रहस्य परम गोपनीय है। देवि! तुम्हारे प्रति स्नेह होनेसे और तुम्हारी भक्तिके कारण यह सब मैंने तुमसे कहा है।

पुरुष, स्त्री, बालक, वृद्ध, नपुंसक, चाण्डाल, पुक्कस, शूद्र, म्लेच्छ, मूर्ख तथा अन्य जो निन्दित मनुष्य इस पृथ्वीपर निवास करते हैं, वे सब यदि प्रभासतीर्थमें मृत्युको प्राप्त हों तो मुक्त हो जाते हैं। यहाँ मैंने दक्षिण भागमें विश्वनाथकी और उत्तरमें दण्डपाणिकी स्थापना की है। वे दोनों इस क्षेत्रकी रक्षा करते हैं। अन्यान्य गणाध्यक्ष भी मेरी आज्ञाके अधीन होकर इस क्षेत्रकी रक्षा करते रहते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—महारुद्र, चण्डीश, घण्टाकर्ण, गोमुख, विनायक, महानाद, काकवक्त्र, शुभेक्षण, एकाक्ष, दुन्दुभि, चण्ड, तालजंघ, भूमिदण्ड, दण्ड, शंकुकर्ण, वैधृति, तालदण्ड, महातेजा, चिपिटाक्ष, हयानन, हस्तिवक्त्र, श्ववक्त्र, विडालवदन, सिंहमुख, व्याघ्रमुख तथा वीरभद्र। ये सब गणेशजीको आगे रखकर देवदेव शिव तथा इस क्षेत्रकी रक्षा करते हैं। प्रभासक्षेत्रमें कुल एक अरब, ग्यारह करोड़, तेरह लाख गण निवास करते हैं। वे सभी प्रभासक्षेत्रकी रक्षामें तत्पर रहते हैं। अट्टहास नामक गणाध्यक्ष सौ करोड़ गणोंके साथ पूर्वद्वारमें रहकर इस क्षेत्रकी रक्षा करते हैं। घण्टाकर्ण नामक गण अन्य अठारह करोड़ गणोंके साथ दक्षिण द्वारपर रहते हैं। विस्वर नामक गण पश्चिम द्वारके रक्षक हैं तथा दण्डपाणि देवदेव सोमेश्वरके उत्तर द्वारपर रहते हैं। ईशानकोणमें भीषणस्य, अग्निकोणमें छागवक्त्र, नैर्ऋत्यकोणमें चण्ड तथा वायव्यकोणमें भैरवानन रक्षा करते हैं। नन्दी, महाकाल, दण्डपाणि और विनायक—ये मध्यभागमें सौ कोटि गणोंके साथ सोमनाथके अंगरक्षक हैं। इस प्रकार असंख्य गणाध्यक्ष उस क्षेत्रकी रक्षामें रहते हैं। कलियुगके पातकोंसे जिनका चित्त दूषित है, उनके लिये मेरा वह

स्थान अगम्य है। मेरे लोकमें जो पातालवासी सिद्ध हैं, वे कालभैरव सोमनाथकी प्रदक्षिणा करते हैं। पृथ्वीमें जो पुण्यतीर्थ, मन्दिर और देवता हैं, वे सभी सोमेश्वर देवकी परिक्रमा करते हैं।

शाकुनि, भारभूति, आषाढि, दण्ड, पुष्कर, नैमिष, अमरेश्वर, भैरव, मध्यम, काल, केदार, कणवीरक, अट्टहास, महेन्द्र, श्रीशैल तथा गया आदि सभी तीर्थ भगवान् सोमनाथकी प्रदक्षिणा तथा उनके लिंगकी स्तुति करते हैं। जहाँ प्राची सरस्वती है, वहाँ दस सहस्र अरब तथा तीन करोड़ ऋषि निवास करते हैं। जो मनुष्य यहाँ अपने पापनाशके लिये स्नान करेंगे, उन्हें दस गोदानका पुण्य प्राप्त होगा। वहाँपर शूलभेद आदि लिंग पूजन करने योग्य हैं। महापापाचारी मनुष्य भी प्राची सरस्वतीमें प्राणत्याग करके साक्षात् शिवको प्राप्त होता है। विप्रवरो! वहाँ दही और कम्बल दान करने चाहिये। यह दान सब पापोंका नाश करनेवाला तथा सारसे भी सार पुण्य है। ब्राह्मस्थानमें एक ब्राह्मणको भोजन करानेसे कोटिगुना फल मिलता है। यह जानकर मैं वहाँ प्रसन्नतापूर्वक स्थित रहता हूँ। कलियुगमें वहाँ सभी तीर्थ अदृश्य होकर रहते हैं। मनोहर प्रभासक्षेत्रमें जहाँ सोमनाथजी स्थित हैं, वहाँ मेरे दो गण उद्भ्रम और संभ्रम रहते हैं। वे वहाँ रहनेवाले दुष्ट लोगोंके मनमें भ्रम एवं विभ्रम उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रकार वे दुष्ट चित्तवाले प्राणियोंसे उस क्षेत्रकी रक्षा करते हैं।

जो श्रेष्ठ मानव इस तीर्थमें भक्तिपूर्वक दण्डपाणिका दर्शन करते हैं, उन्हें किसी प्रकारका विघ्न नहीं प्राप्त होता। जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा वर्णसंकर इच्छा या अनिच्छासे उस शुभ क्षेत्रके भीतर मृत्युको प्राप्त होते हैं, वे सभी मेरा सारूप्य प्राप्त करके मेरे दिव्यधाममें चले जाते हैं। मेरु, सातों द्वीप तथा सातों समुद्रोंके गुणोंका वर्णन किया जा सकता है; परंतु आदिदेव सोमेश्वर शिवके गुणोंका वर्णन सौ कोटि वर्षोंमें भी नहीं किया जा सकता है।

## सोमनाथके दिव्य स्वरूपका दिग्दर्शन

**महादेवजी कहते हैं**—देवि! जो निर्भय, निर्मल, नित्य, निरपेक्ष, निराश्रय, निरंजन, निष्प्रपंच, निःसंग तथा निरुपद्रव तत्त्व है, वही प्रभासतीर्थमें सोमेश्वर लिंगके रूपमें स्थित है—यह समझो। जो मोक्षदायक, अज्ञेय, अनुपम, अनामय, नित्य, कारणरूप, दिव्य, निर्लेप, विश्वतोमुख, शिव, सर्वात्मक, सूक्ष्म, अनादि, दैवतरूप, आत्मस्वरूपसे जाननेयोग्य, चित्तके चिन्तनसे परे, गमनागमनसे मुक्त, बाहर-भीतर व्याप्त, केवल (अद्वितीय), निष्कल, निर्मल एवं ज्ञानका प्रकाशक है, वही प्रभासतीर्थमें प्रणवमय सोमेश्वर लिंगके रूपमें स्थित है—यह जानो। स्पन्दरहित, महात्मा, भावातीत, लक्षणरहित, वाक्प्रपंच आदिसे शून्य, निष्प्रपंच, शिव, ज्ञान और ज्ञेयकी दृष्टिमें स्थित, हेत्वाभासशून्य, अनाहत, शब्दगत तथा शब्दादि गुणोंको प्रकट करनेवाले—ऐसे विशेषणोंसे युक्त मुझ शिवको ही प्रभासक्षेत्रमें सोमनाथ लिंगके रूपमें प्रकट मानो।

प्रभासक्षेत्रमें शिवलिंगरूपी सोमनाथको शब्द-ब्रह्ममय, शान्त, अशान्त, निरास्पद, सबसे दूर, सबके ध्यानमें स्थित, अनादि, अच्युत, दिव्य, प्रमाणातीत, प्रमाणगोचर, अधोगत, ऊर्ध्वगत, नित्य, देहस्थित जीवरूप, हृदय आदि बारह अंगोंमें स्थित, प्राण और अपानके उदय-अस्तमें व्याप्त, अग्राह्य, इन्द्रियरूप, निष्कलंक, सूक्ष्म, स्वरका आदि, व्यंजनसे अतीत, वर्ण आदिसे रहित, निःशब्द, निष्कल, सौम्य, देहातीत, परात्पर, समस्त भूतोंके लिये अगम्य, भावाभावसे रहित,

भावभक्तिसे जानने योग्य, परम सूक्ष्म, पचीस तत्त्वोंकी उत्पत्तिका कारण, अप्रमेय, अनन्त, अक्षय, इच्छानुसार रूपधारी, सब प्राणियोंकी उत्पत्तिका कारण, बीज और अंकुरको भी प्रकट करनेवाला, व्यापक, सर्वकाम, अक्षर (नाशरहित), परमपद, स्थूल और सूक्ष्म सभी विभागोंमें स्थित, व्यक्ताव्यक्तस्वरूप, सनातन, कल्प-कल्पान्तरहित, अनादि, अनन्त, महाभूत, महाकाम, शिव तथा निर्वाणभैरव समझो। इतना ही नहीं, उन्हें योगक्रियासे मुक्त, मृत्युंजय, अनादिमान्, समस्त उपसर्गोंसे रहित, सर्वव्यापी, शिव, परम अकल, द्वैतवर्जित, अन्य तेजसे रहित, प्रभासक्षेत्रनिवासी, सूर्यके समान अधिक कान्तिमान्, सम्पूर्ण तेजोंसे अधिक बढ़े हुए, शरणागतवत्सल, ईशान, देव, ॐकार, शिवरूपी, देवदेव, महादेव, पंचमुख, वृषध्वज, निर्मल, मनके अगोचर, भावग्राह्य, उपमारहित, सदा शान्त, विरूपाक्ष, शूलहस्त, जटाधर, हृदयकमलके मध्यकोषमें विराजमान, शून्यरूप तथा निरंजन जानो। जो परात्पर देव 'हंस' और 'नाद' कहे गये हैं, वे ही इस प्रभास-स्थानमें स्वयं विराजमान हैं।

देवि! अपने इस आदिस्वरूपको मैंने योगबलसे जाना है और स्वयं ही इसका निरूपण किया है। ये सोमनाथ पूर्वाह्णकालमें ऋग्वेदमें स्थित होते हैं, मध्याह्नमें यजुर्वेदके भीतर इनकी स्थिति होती है, अपराह्णकालमें सामवेदमें और सन्ध्याके समय अथर्ववेदमें ये विराजमान होते हैं। मैं अन्धकारसे परे, सूर्यके समान प्रकाशमान इस अन्तर्यामी महापुरुष सोमेश्वरको जानता हूँ। इनको ही जानकर मनुष्य कभी मृत्युको नहीं प्राप्त होता (मुक्त हो जाता है)। मनुष्योंकी मुक्तिके लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है। पार्वती! इस प्रकार महामहिमाशाली सोमनाथके माहात्म्यका दिग्दर्शन-मात्र कराया गया है।

## सोमनाथके आठ नाम और पार्वतीके अठारह नामोंका वर्णन, सोमनाथ नामका हेतु तथा सोमेश्वरकी महिमा

**सूतजी कहते हैं**—महर्षियो! महादेवी पार्वतीने इस प्रकार प्रभासकी महिमा सुनकर पुनःभगवान् शंकरसे पूछा—'देवदेव! जगन्नाथ! भक्तोंपर अनुग्रह करनेवाले! सम्पूर्ण ज्ञानसे सम्पन्न! सुरेश्वर! आपको नमस्कार है। प्रभो! इस दिव्य लिंगका 'सोमेश्वर' नाम किस समय हुआ?'

**महादेवजीने कहा**—पूर्वकालमें मैं ही स्पर्शलिंग-स्वरूपसे विद्यमान था। उस समय कोई भी मनुष्य यहाँ मुझे नहीं जानता था। जब प्रलयके बाद महाकल्पका प्रारम्भ होता है और ब्रह्माका भी लय होकर नूतन ब्रह्माकी सृष्टि होती है। उस समय मेरे इस दिव्य लिंगका नाम भी बदलकर दूसरा हो जाता है। अबतक छः ब्रह्मा बदल गये हैं और अब ये सातवें ब्रह्मा चल रहे हैं। इस समय जो प्रजापति ब्रह्मा हैं, इनका नाम 'शतानन्द' है। देवेश्वरि! ये ब्रह्मा जब आठ वर्षके हुए, तबसे लेकर मेरे इस लिंगका नाम सोमनाथ प्रसिद्ध हुआ है। बीते हुए कल्पोंमें जो पहले ब्रह्मा थे, उनका नाम 'विरिंचि' था। उनके समयमें इन सोमनाथका नाम 'मृत्युंजय' था। तत्पश्चात् दूसरे कल्पमें जो दूसरे ब्रह्मा हुए, वे 'पद्मभू' नामसे विख्यात हुए। देवि! उनके समयमें मेरे इस लिंगका नाम 'कालाग्निरुद्र' हुआ। तीसरे ब्रह्माकी प्रसिद्धि 'स्वयम्भू' नामसे हुई है। उस समय सोमनाथका नाम 'अमृतेश' था। चौथे ब्रह्मा 'परमेष्ठी' नामसे विख्यात हुए; उस समय उनका नाम 'अनामय' था। पाँचवें ब्रह्मा 'सुरज्येष्ठ' नामसे विख्यात हुए। उस समय

सोमेश्वरदेवका नाम 'कृत्तिवास' था। छठे ब्रह्माका नाम 'हेमगर्भ' था। उनके समयमें सोमनाथका नाम 'भैरवनाथ' रखा गया था। ये जो सातवें ब्रह्मा हैं, 'शतानन्द' कहलाते हैं; इस समय मेरे इस लिंगका नाम 'सोमनाथ' प्रसिद्ध हुआ है। इसके बाद आगामी कल्पमें आठवें ब्रह्मा 'चतुर्मुख' नामसे विख्यात होंगे। उस समय सोमेश्वरदेवका नाम 'प्राणनाथ' होगा। इस तरह जो-जो ब्रह्मा बीत जाते हैं और प्रलयके पश्चात् पुनः जो नये ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, उनकी आठ वर्षकी आयु होनेतक 'सोमेश्वरदेवका' एक नाम रहता है। उसके बाद वह बदल जाता है। इस प्रकार संक्षेपमें मैंने तुम्हें 'सोमनाथ'के नाम बताये हैं।

**पार्वतीदेवी बोलीं**—देवदेवेश्वर! मनुष्योंके ऊपर दया करनेके लिये मैं भी आपके साथ बार-बार प्रकट हुई हूँ। उस समय मेरे कौन-कौन-से नाम हुए हैं, यह भी बताइये।

**महादेवजीने कहा**—आदिकल्पमें तुम्हारा नाम 'जगन्माता' था। दूसरेमें 'जगद्योनि', तीसरेमें 'शाम्भवी', चौथेमें 'विश्वरूपिणी', पाँचवेंमें 'नन्दिनी', छठेमें 'गणाम्बिका', तथा सातवेंमें तुम्हारा नाम 'विभूति' हुआ है। इसी प्रकार आठवेंमें 'सुभ्रू' नवेंमें 'आनन्दा', दसवेंमें 'वामलोचना', ग्यारहवेंमें 'वरारोहा', बारहवेंमें 'सुमंगला', तेरहवेंमें 'महामाया', चौदहवेंमें 'अनन्ता', पंद्रहवेंमें 'भूतमाता', सोलहवेंमें 'उत्तमा' तथा सत्रहवें कल्पमें तुम्हारा नाम 'पितृकल्पा' प्रसिद्ध हुआ है। तत्पश्चात् तुम दक्षकन्या सतीके नामसे प्रसिद्ध हुई। उस समय दक्षद्वारा अपमानित होनेसे तुमने अपना शरीर त्याग दिया। तदनन्तर वाराहकल्प आनेपर पुनः हिमवान्ने तुम्हारी आराधना करके तुम्हें पुत्रीरूपमें प्राप्त किया। उसके बाद अत्यन्त दुष्कर एवं अद्भुत तपस्या करके तुमने मुझे पतिरूपमें पाया और 'पार्वती' नामसे प्रसिद्ध हुईं। सुमुखि! जबतक इस कल्पका अन्त होगा, तबतक मैं तुम्हारे साथ कैलास पर्वतपर क्रीडा करूँगा। द्वापरमें महिषासुरका वध करनेके लिये तुम भगवान् विष्णुके साथ 'कृष्णपिंगला' नामसे प्रकट हुईं। तबसे 'कात्यायनी' और 'दुर्गा' आदि विविध नामोंसे तुम नवकोटि भेदके साथ वसुधातलपर प्रकट हुईं। सुन्दरि! पूर्वकालमें जो तुम्हारे कल्पानुसार नाम थे तथा जो भूत, भविष्य एवं वर्तमानमें तुम्हारे नाम थे, होंगे और हैं, वे सब नाम मैंने बता दिये। उन्हें इसी प्रकार जानना चाहिये।

शतानन्द नामसे विख्यात जो ये ब्रह्माजी हैं, उनके आठवें वर्षमें जो पहले मनु हुए थे और उस मन्वन्तरमें जो प्रथम चन्द्रमा थे, वे लक्ष्मी और कौस्तुभमणि आदिके साथ समुद्रसे प्रकट हुए। उन्होंने कालभैरव नामसे इस सोमेश्वर लिंगकी आराधना की और बड़ी भारी तपस्यामें संलग्न हो चौदह युग व्यतीत किये। सुन्दरि! उनकी वह अद्भुत तपस्या देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ और बोला—'चन्द्रदेव! वर माँगो।' शुभे! तब उन्होंने अपने भक्तिभावसे मुझे संतुष्ट करके कहा—'प्रभो! ये ब्रह्माजी जबतक रहें, तबतक आपका नाम 'सोमनाथ' के रूपमें प्रसिद्ध हो।' मन्वन्तर समाप्त होनेपर जो कोई भी दूसरे-दूसरे चन्द्रमा हों, उन सबके ये सोमनाथजी कुलदेवता हों। तब मैं 'तथास्तु' कहकर पुनः उस शिवलिंगमें ही लीन हो गया। यह मैंने सोमनाथके गुणोंको संक्षेपसे सूचित किया है। समुद्रके रत्नोंकी भाँति सोमेश्वरके गुणोंका विस्तार अचिन्त्य है। उनकी महिमाका चिन्तन भक्तोंकी बुद्धिको बढ़ानेवाला है। मदमोहित मूढ़ मानव उनके स्वरूपको नहीं देख पाते।

**पार्वतीदेवीने पूछा**—भगवन्! जिस तेजोमय लिंगका ऐसा माहात्म्य है, उसकी इस प्रभास-क्षेत्रमें कहाँ स्थिति है?

**महादेवजीने कहा**—देवि! सुनो—वज्रिणी नदीके पूर्व न्यंकुमती नदीतक चार योजन चौड़ा और पाँच योजन लम्बा मेरा गर्भगृह है; इसको मैं कभी नहीं छोड़ता। पश्चिम दिशामें समुद्रके

समीप कृतस्मरके आगे सौ धनुषकी दूरीपर मेरा महाप्रभावशाली स्वयम्भू लिंग स्थित है; उसमें साक्षात् परमेश्वर भगवान् शंकररूप मैं निवास करता हूँ। इसीके बीचमें सोमेश्वरके समीप चारों ओर चौदह भागोंमें दो-दो सौ धनुषकी गोलाकार कर्णिका है, जो मुझे बहुत प्रिय है। उसमें जो प्राणी निवास करते हैं, वे सब पातकोंसे शुद्ध हो मेरे लोकमें जाते हैं। जो मनुष्य सैकड़ों विघ्नोंसे घिरकर या बँधकर भी प्रतिज्ञापूर्वक जीवनभर इस क्षेत्रमें निवास करता है, वह उस परमधाममें जाता है, जहाँ जाकर कोई भी शोक नहीं करता। जो प्रभासक्षेत्रमें मरता है, वह यमलोकमें नहीं जाता है। भयंकर कलिकालका आगमन जानकर मैंने यहाँ रक्षाके लिये विघ्नराज गणेशजीको स्थापित किया है। ब्रह्मघाती, पातकी, ब्राह्मणद्वेषी, शिवभक्तोंकी निन्दा करनेवाले, कृतघ्न, शठ, लोकशत्रु, गुरुद्रोही, तीर्थों और मन्दिरोंके लिये कण्टकरूप तथा पापपरायण निन्दित मनुष्य यदि इस क्षेत्रमें प्राणत्याग करते हैं, तो वे दस हजार दिव्य वर्षोंतक दासीपुत्र होते हैं। उसके बाद ब्रह्मराक्षस होते हैं। तदनन्तर हीन योनि (अथवा पक्षियोंकी योनि)-में जन्म लेते हैं। अतः पूर्ण प्रयत्न करके वहाँ कभी पाप न करे। अन्य-अन्य स्थानोंका पाप इस क्षेत्रमें नष्ट होता है, परंतु यहाँका किया हुआ पाप पिशाचयोनि एवं नरकमें डालनेवाला होता है। जो मनुष्य अपने चित्तको एकाग्र एवं संयत रखकर इन्द्रियोंको वशमें करके मेरा ध्यान करते हुए यहाँ शतरुद्रियका जप करते हैं, वे निःसन्देह सिद्ध होते हैं। यदि कोई मनुष्य उत्तम प्रभासक्षेत्रको जाय तो उसे ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिससे वह फिर वहाँसे बाहर न जाय। भूलोकमें जो लिंग हैं, उन सबमें सोमनाथ मुझे विशेष प्रिय है। देवि! इस दिव्य लिंगमें जो गुण हैं, वे मुझे ही ज्ञात हैं; उन्हें मैं ही जानता हूँ। दूसरा कोई किसी प्रकार भी नहीं जानता।

जिस समय न ब्रह्मा थे न भूमि थी, न सूर्य थे और न यह सम्पूर्ण जगत् ही था, उस समय ब्रह्माजीके प्रलयकालमें यह दिव्य लिंग भाविनीवृत्तिका आश्रय ले (अर्थात् भविष्यमें मुझे यहाँ प्रकट होना है, ऐसी भावना रखकर) इस स्थानकी रक्षा करता रहा। प्रभासमें निवास करनेवाले वे मानव धन्य हैं, जो संसारका भय दूर करनेवाले भगवान् सोमनाथका दर्शन करते हैं। देवि! जो मनुष्य शुद्धचित्त होकर सोमनाथका स्मरण करेंगे, उनके सम्पूर्ण पापोंका नाश हो जायगा। यह पवित्र क्षेत्र मुझे सदैव अत्यन्त प्रिय है। पार्वती! देव, मनुष्य आदि सब लोग तभीतक संसारमें भ्रमण करते हैं जबतक कि मेरे स्वरूपभूत सोमनाथको नहीं प्राप्त होते। यह प्रभासक्षेत्र मोक्षधाम कहा गया है। इस प्रकार मैंने तुम्हारी जानकारीके लिये सोमनाथके महान् भावका वर्णन किया है। जो मनुष्य सदा इसका पाठ करेंगे, वे मुझ चन्द्रमौलि शिवके धाममें जायँगे। देवि! जो भक्त जन सोमेश्वरदेवकी शरणमें जाते हैं, वे इस भयंकर संसार-चक्रमें फिर नहीं भटकते।

## सोमनाथकी महिमा

**महादेवजी कहते हैं**—देवि! जितने भी ग्रहदोष और भूतदोष हैं तथा जो भी डाकिनियाँ, प्रेत, वेताल, राक्षस, ग्रह, पूतनाएँ, पिशाच, यातुधान, मातृकाएँ, नवजात शिशुओंका अपहरण करनेवाली राक्षसियाँ, बालग्रह, वृद्धग्रह, ज्वररूपी ग्रह, अतिसार, भगन्दर, पथरी रोग, मूत्रकृच्छ्र, अन्य सहस्रों रोग, दुर्नामिका (बवासीर), कोढ़ तथा अन्यान्य रोग-व्याधियाँ हैं, वे सभी सोमनाथके समीप जाकर उनका दर्शन करनेसे उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जैसे जलती आगमें डाला हुआ ईंधन तत्काल जलकर भस्म हो जाता है। देवेश्वरि! सोमेश्वर नामसे प्रसिद्ध ये जो पश्चिम

भैरव हैं, 'कालाग्निरुद्रनाथ' जिनका नामान्तर सुना गया है, उनमें मैं स्वयं ही भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये निवास करता हूँ। उस सोमेश्वर लिंगमें स्थित हो मैं मनुष्योंके सब पापोंको भक्षण कर लेता हूँ। देहधारियोंके देहमें विचरण करनेवाला जो प्राण है, उसीके समान जो सबका प्राण है, यह ब्रह्माण्ड जिसके भीतर स्थित है तथा जो एक होकर भी अनेक रूपोंमें व्यक्त है, वही शिवस्वरूप मैं भक्तोंपर कृपा करनेके लिये सोमनाथ लिंगमें निवास करता हूँ। सम्पूर्ण वेद और महर्षिगण जिनकी प्रशंसा करते हैं तथा जिनके द्वारा परब्रह्मके स्वरूपकी प्राप्ति होती है, वे ही ये सोमनाथ महादेव प्रभासतीर्थमें विराजमान हैं। जैसे घरमें छिपे हुए रत्नको कोई नहीं पाता, उसी प्रकार मेरे प्रभासरूपी घरमें रत्नके समान स्थित इस सोमेश्वरलिंगके यथार्थ स्वरूपको कोई नहीं जानता। पूर्वकल्पमें यह शिवलिंग सप्त पातालका भेदन करनेवाला था, तथा कोटि-कोटि सूर्यों तथा प्रलयाग्निके समान तेजस्वी था। इसीलिये पूर्वकालमें सोमनाथको 'कालाग्निरुद्र' कहा जाता था। देवि! इस प्रकार संक्षेपसे मैंने तुम्हें सोमेश्वरदेवका माहात्म्य बताया है, जो सब पातकोंका नाश करनेवाला है।

## प्रभासमें भगवान् शिवका स्वरूप, पार्वतीद्वारा उनकी स्तुति तथा प्रभासक्षेत्रमें भगवान् विष्णुकी स्थितिका कारण

**महादेवजी कहते हैं**—देवि! मैं प्रभासक्षेत्रमें रुद्राक्षकी माला धारण किये शान्त भावसे स्थित हूँ। मेरा आदि, मध्य और अन्त कहीं नहीं है। मैं कमलके आसनपर बैठा हुआ सबको वर देनेके लिये उद्यत हूँ। हिम, कुन्द और चन्द्रमाके सदृश मेरा गौर वर्ण है। मेरे वाम भागमें विष्णु तथा दक्षिण भागमें ब्रह्माजी विराज रहे हैं। मेरे उदरमें चारों वेद और हृदयमें सनातन ब्रह्म स्थित हैं। नेत्रोंमें अग्नि, चन्द्रमा और सूर्यका निवास है। महादेवि! ऐसे स्वरूपसे मैं प्रभासक्षेत्रमें रहता हूँ।

**यह सुनकर पार्वती देवीने हर्षगद्गद वाणीमें देवदेवेश्वर शिवका भक्तिपूर्वक स्तवन किया**—देव! महादेव! सर्वभावन! ईश्वर! आपको नमस्कार है। आप समस्त देवताओंके स्वामी हैं, आपको नमस्कार है। आप परमेश्वरको नमस्कार है। आप अनादि हैं, सम्पूर्ण सृष्टिके विधाता हैं; आपको नमस्कार है। आप सर्वत्र व्यापक ईश्वर हैं, आपको नमस्कार है। आप सबमें स्थित हैं, आपको नमस्कार है। आप धाम (तेज)-के भी धाम (प्रकाशक या आश्रय) हैं, आपको नमस्कार है। आप सृष्टिदाताको नमस्कार है। मोक्षदाता परमेश्वर! आपको नमस्कार है।

**पार्वतीके इस प्रकार स्तवन करनेपर भगवान् शिवने सन्तुष्ट होकर कहा**—महाप्राज्ञे! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, तुम अभीष्ट वरदान माँगो।

**पार्वतीने कहा**—देवेश्वर! प्रभासक्षेत्रका माहात्म्य फिरसे कहिये। भगवान् विष्णु द्वारकापुरी छोड़कर किस कारण प्रभासक्षेत्रमें निवास करते हैं? जिन्होंने पूर्वकालमें वाराहरूप धारण करके पर्वत, वन और काननोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वीका उद्धार किया तथा नरसिंहरूप धारण करके हिरण्यकशिपुका संहार किया; वेद जिन्हें प्रत्येक युगमें सहस्रों चरण, सहस्रों नेत्र तथा सहस्रों मस्तकवाले कहकर उनकी स्तुति करते हैं; ब्रह्माजीका निवासभूत पद्म जिनकी नाभिसे प्रकट हुआ है, जो क्षीरसमुद्रके उत्तर भागमें शाश्वत योगका आश्रय लेकर शयन करते हैं, जो युगान्तका भी अन्त करनेवाले तथा लोकान्तकारी अन्तकके भी अन्तक हैं, लोक-मर्यादाओंकी रक्षा करनेवाले सेतु हैं, वेदवेत्ताओंके भी ज्ञाता हैं और उत्पन्न

होनेवाले सभी प्राणियोंके स्वामी हैं, जो मनुष्योंके आदिप्रवर्तक मनु तथा तपस्वीजनोंके तप हैं, तेजस्वी पुरुषोंके तेज और गतिमानोंकी गति हैं, वे श्रीहरि द्वारका छोड़कर प्रभासतीर्थमें कैसे चले आये?

**महादेवजीने कहा**—देवि! पृथ्वीपर अनेक क्षेत्र हैं, करोड़ों तीर्थ हैं और उन सबमें असंख्य प्रभाव हैं; परंतु प्रभासतीर्थका प्रभाव उन सबसे बढ़कर है। ब्रह्मतत्त्व, विष्णुतत्त्व तथा रुद्रतत्त्व—इन तीनोंकी प्रभासमें ही एकत्र उपलब्धि होती है। अन्यत्र ऐसा सुयोग दुर्लभ है। प्रभासमें लोकपितामह ब्रह्माजी चौबीस तत्त्वोंके साथ रहते हैं। दैत्योंके संहारक देवाग्रगण्य भगवान् विष्णु पचीस तत्त्वोंके अधिपति होकर इस तीर्थमें स्थित हैं और मैं छत्तीस तत्त्वोंसे संयुक्त होकर तुम्हारे साथ प्रभासमें निवास करता हूँ। शुभे! इस प्रकार तुम केवल प्रभासतीर्थको ही तत्त्वमय एवं सर्वतीर्थमय समझो। स्त्री, म्लेच्छ, शूद्र, पशु, पक्षी और मृग—जो भी प्रभासक्षेत्रमें मरते हैं, सभी शिवके लोकमें जाते हैं।

प्रभासके पार्थिवभागमें ब्रह्मा, जलभागमें विष्णु, तैजसभागमें रुद्र, वायुभागमें कुबेर तथा आकाशभागमें साक्षात् सदाशिवरूप हम स्थित हैं। अमरेश, प्रभास, नैमिष, पुष्कर, आषाढि, दण्ड, भारभूति और लांगलि—ये आठ आदिगुह्य हैं, जो जलके आवरणमें स्थित हैं। हरिश्चन्द्र, श्रीशैल, जालेश्वर, प्रीतिकेश्वर, महाकाल, मध्यम, केदार तथा भैरव—ये आठ अति गुह्य क्षेत्र हैं, जो तेजस्तत्त्वमें प्रतिष्ठित हैं। गया, काशी, कुरुक्षेत्र, कनखलतीर्थ, विमलतीर्थ, अट्टहास, महेन्द्र और भीम—ये आठ गुह्यगुह्यतर क्षेत्र हैं, जो वायु तत्त्वमें स्थित हैं। वस्त्रापथ, रुद्रकोटि, ज्येष्ठेश्वर, महालय, गोकर्ण, रुद्रकर्ण, कर्णाक्ष और स्थाप—ये आठ पवित्राष्टक कहलाते हैं; इनकी स्थिति आकाशतत्त्वमें है। छागल, वुडसुड, माकोट्ट, अचलेश्वर, कालंजरवन, शंकुकर्ण, स्थलेश्वर तथा शूलेश्वर—ये आठ पृथ्वीतत्त्वमें स्थित हैं। जो देवता जिस तत्त्वमें स्थित है, वह उसीके माहात्म्यको सूचित करता है। जलीय महातत्त्व भगवान् महाविष्णुको अत्यन्त प्रिय है। इसी कारण भगवान् नारायणको जलशायी कहते हैं। जलतत्त्वमें जितने तीर्थ मैंने बताये हैं, वे निश्चय ही भगवान् नारायणको प्रिय हैं। जलतत्त्वमें भी जो सारभूत तत्त्व है, उसमें ही प्रभासतीर्थकी स्थिति है; अतः श्रीहरि प्रत्येक अवतारके समय जलतत्त्वरूपी प्रभासमें ही लय (अन्तर्धान)-को प्राप्त होते हैं। वे भगवान् वासुदेव सूक्ष्म स्वरूप तथा परात्पर पदमें प्रतिष्ठित हैं। वे ही पर-व्योमस्वरूप, शिव आदि अन्तसे रहित एवं व्यापक हैं। सम्पूर्ण शास्त्रों, सिद्धान्तभूत आगमों तथा विशेषतः दर्शनोंमें भी उनसे भिन्न या बढ़कर कोई वस्तु नहीं बतायी गयी है। पार्वती! उन्हीं शास्त्रोंमें यह भी कहा गया है कि 'वे मुझसे भिन्न नहीं हैं।' प्रभासतीर्थमें चार शिवलिंगोंसे संयुक्त श्रीहरि प्रत्यक्ष रूपसे विराजमान हैं, किंतु यह बात किसीको ज्ञात नहीं है। प्रत्येक मासकी अष्टमी और चतुर्दशीको सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहणके समय तथा कार्तिककी पूर्णिमाको मैं स्वयं प्रभासतीर्थमें स्थित शिवलिंगोंका पूजन करता हूँ। प्रत्येक माघमासकी पूर्णिमाको सभी तीर्थ सरस्वती और समुद्रके संगममें स्नान करनेके लिये प्रभासतीर्थमें आते हैं। उस तीर्थके नामका स्मरण करने, कीर्तन करने अथवा मृत्युकालमें वहाँ उपस्थित होनेसे भी मनुष्य अपने पूर्वकृत सभी पापोंको त्याग देता है। आनर्तसार, सौम्य, भुवनभूषण, दिव्य, पांचनद, आदिगुह्य, महोदय, सिद्धरत्नाकर, समुद्रावरण धर्माधार, कलाधार, शिवगर्भगृह, सर्वदेवनिवास तथा सर्वपातकनाशन—ये इस क्षेत्रके नाम हैं। जो एक-एक कल्पमें पृथक्-पृथक् प्रसिद्ध हुए हैं। अब गर्भगृहके नाम सुनो। आदिकल्पमें उसका नाम प्रमोदन था, उसके बाद क्रमशः नन्दन, शिव, उग्र, भद्रक, समिन्धन, कामद, सिद्धिद, धर्मज्ञ, वैश्वरूप, मुक्तिद, पद्मनाभ, श्रीवत्स,

महाप्रभ, पापसंहार, सर्वकामदप्रद, मोक्षमार्ग, सुदर्शन, धर्मगर्भ तथा पापनाशन प्रभास। इसके बाद इसका नाम 'उत्पलावर्तिका' होगा। इस प्रकार ये क्षेत्रके मध्यवर्ती गर्भगृहके क्रमशः नाम बताये गये। इन सभी नामों तथा क्षेत्रकी महिमाको सुनकर मनुष्यको मनोवांछित सिद्धि प्राप्त होती है। जो तीनों समय इन नामोंका कीर्तन करता है, उसे महान् ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है तथा दिन, रात एवं सन्ध्याकालमें किये हुए पापोंका नाश हो जाता है। देवि! केदार क्षेत्रमें तथा महालयतीर्थमें जो लिंग है, वह और मध्यमेश्वर, पाशुपतेश्वर, शंकुकर्णेश्वर, भद्रेश्वर, सोमेश्वर, एकाम्रेश्वर, कालेश्वर, अजेश्वर, भैरवेश्वर, ईशानेश्वर, कायावरोहणेश्वर, चापटेश्वर, बदरिकाश्रम, रुद्रकोटि, महाकोटि, श्रीपर्वत, कपाली, देवदेवेश्वर, करवीरेश्वर, ॐकारेश्वर, वसिष्ठाश्रम तथा भूतलपर दूसरे-दूसरे जो मेरे पुण्यदायक स्थान हैं, वे सभी प्रयागतीर्थके साथ प्रभासक्षेत्रमें आकर निवास करते हैं। इस तीर्थके उत्तरमें सूर्यपुत्री और दक्षिणमें समुद्र है, यही इसके उत्तर-दक्षिणकी सीमाएँ हैं। इसी सीमाके भीतर पातालसे लेकर ब्रह्माण्डकटाहपर्यन्त जितने तीर्थ हैं, सभी निवास करते हैं।

## प्रभासमें सूर्यदेव, सिद्धेश्वरलिंग तथा सिद्धलिंगकी महिमा

**महादेवजी कहते हैं**—देवि! दक्षिणमें समुद्रसे लेकर उत्तरमें (सूर्यपुत्री) कौरवेश्वरी नदीतकका जो क्षेत्र है, उसके भीतर मैं ही क्षेत्रज्ञरूपसे निवास करता हूँ। मेरा गृहरूप यह तीर्थ सूर्यनारायणकी किरणोंसे प्रभासित होता है, इसलिये इस कल्पमें प्रभास नामसे विख्यात हुआ है। जो श्रेष्ठ मनुष्य वहाँ अर्क (पूज्य)-रूप सूर्यका दर्शन करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो सूर्यलोकमें प्रतिष्ठित होता है। उसने मानो सब तीर्थोंमें स्नान कर लिया, समस्त बड़े-बड़े यज्ञोंद्वारा यजन किया, सभी दान दे दिये और सम्पूर्ण गुरुजनोंको सन्तुष्ट कर लिया। उसी सूर्यदेवके समीप अग्निकोणमें थोड़ी ही दूरीपर सिद्धेश्वर शिव विराजमान हैं। उनका त्रैलोक्यपूजित लिंग सब प्रकारकी सिद्धियोंका दाता है। प्राचीन सत्ययुगमें उसका नाम जैगीषव्येश्वर था। वही कलियुगमें सिद्धेश्वर नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ। देवि! उसका दर्शन करके मनुष्य सब सिद्धियोंको प्राप्त कर लेता है। सूर्यके दक्षिण एवं नैर्ऋत्य कोणमें थोड़ी ही दूरपर एक पातालविवर है। वहींपर पूर्वकालमें मन्देह तथा शालकटंकट नामक राक्षस सूर्यनारायणके तेजसे दग्ध हो पातालमें भाग गये थे। वहाँपर योगिनियाँ तथा ब्राह्मी आदि मातृकाएँ रक्षा करती हैं।

पूर्वकल्पमें महोदय नामसे प्रसिद्ध एक शिवलिंग स्वतः प्रकट हुआ। महात्मा जैगीषव्य उसका पूजन करने लगे। वे अपने सब अंगोंमें भस्म लगाते और भस्मपर ही सोते थे। उन्होंने जप, तप, वृषके समान नाद तथा नृत्य और गीतोंके द्वारा महोदय शिवको सन्तुष्ट कर लिया। तब वे प्रसन्न होकर जैगीषव्यमुनिके समीप आये और बोले—'महामते! तुम दिव्य दृष्टिसे मेरी ओर देखो, तुम्हारे मनमें जो इच्छा हो, उसे कहो।' जैगीषव्यने त्रिनेत्रधारी शिवको अपने सामने उपस्थित देख उनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'देवदेवेश्वर! मुझे संसारबन्धनका नाश करनेवाला ज्ञान प्रदान कीजिये। आपमें, देवी पार्वतीमें, स्कन्दजीमें तथा गणेशजीमें सदा मेरी भक्ति बनी रहे तथा मुझमें निरहंकारता, क्षमा, शम और दम आदिकी वृद्धि हो।'

**तब उन महादेवीजीने कहा**—तुम अजर, अमर, सब शोकोंसे रहित, महान् योगी, अत्यन्त शक्तिशाली तथा योगके ऐश्वर्यसे युक्त होओगे।

योगाचार्यके रूपमें तुम्हारी प्रसिद्धि होगी। जो तुम्हारे द्वारा पूजित इस शिवलिंगका पूजन करेगा, वह सब पापोंसे मुक्त हो दिव्य योगको प्राप्त होगा। जो द्विज योगके लिये जैगीषव्यगुहाका आश्रय लेगा, वह सात रातमें योगयुक्त हो संसारसे तर जायगा। एक मासके बाद उसे पूर्वजन्मका ज्ञान हो जायगा। एक रातमें उसे शुद्ध गति प्राप्त होगी। दूसरी रातमें वह पितरोंको तार देगा और तीन रातमें वह समस्त पितरोंको तारनेकी शक्ति प्राप्त कर लेगा।

इस प्रकार वरदान दे भगवान् शिव वहीं अन्तर्धान हो गये। देवि! इस युगमें द्वापर आनेपर जब कलियुगका प्रवेश हुआ, उस समय बालखिल्य नामवाले महर्षियोंने प्रभासक्षेत्रमें सूर्यस्थलके समीप आकर जैगीषव्यगुहामें निवास करनेवाले देवेश्वर शिवकी आराधना की। वे अठासी हजार ऊर्ध्वरेता ऋषि दस हजार वर्षोंतक तपस्या करके प्रमोदमयी सिद्धिको प्राप्त हुए। तबसे वह जैगीषव्येश्वर लिंग 'सिद्धेश्वर' नामसे विख्यात हुआ। जब सोमवारके साथ कृष्णपक्षकी शिवचतुर्दशी आती है, उस समय सिद्धेश्वरदेवका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है।

देवेश्वरि! सिद्धेश्वर लिंगके आगे तीन धनुषकी दूरीपर सूर्यसारथि अरुणके द्वारा स्थापित एक सिद्धलिंग है, जो कलियुगके समस्त पापोंका नाश करनेवाला है। चैत्रमासकी शुक्लपक्षीया त्रयोदशीको जो भक्तिभावसे विधिपूर्वक उस लिंगका पूजन करता है, उसे पुण्डरीक-यज्ञका फल प्राप्त होता है।

## अर्कस्थलका माहात्म्य, आदित्यकी महिमा, दन्तधावनकी विधि तथा सूर्यदेवकी आराधनापूजाका विधान

**महादेवजी कहते हैं**—देवि! कृतस्मरसे लेकर अर्कस्थलतक दोनों देवताओंके मध्यभागमें सूर्यक्षेत्र कहा गया है, इसीमें आठ सिद्धियाँ निवास करती हैं। वह सूर्यदेवके तेजका मध्यभाग है, जो सब-का-सब सुवर्णमय है। यह क्षेत्र भगवान् सूर्यको सदैव प्रिय है। सूर्यग्रहणका पर्व आनेपर यह कुरुक्षेत्रसे भी अधिक पुण्यदायक होता है। ब्राह्मी (सरस्वती), हिरण्या तथा समुद्र—इन तीनोंका संगम कोटि तीर्थोंका फल देनेवाला है। वहीं देवमाता हैं, वहीं भंगीश्वर विराजमान हैं तथा नागस्थान भी वहीं हैं। इस प्रकार संक्षेपसे ही यहाँ अर्कस्थलका माहात्म्य बताया गया है। वहाँ एक विवर आज भी प्रत्यक्ष प्रकट देखा जाता है। उसका नाम श्रीमुखद्वार है। प्रिये! मातृकाएँ उस द्वारकी रक्षा करती हैं। जो एक वर्षतक नियमसे वहाँ मातृकागणों तथा सुनन्द आदि देवोंकी विधिपूर्वक पूजा करता है उसे सिद्धि प्राप्त होती है। इसलिये सर्वथा प्रयत्न करके वहाँ अर्कस्थलके समीप समस्त मातृकाओंका पूजन करे। ये मातृकाएँ प्रभास क्षेत्रमें सुनन्दागणके नामसे विख्यात हैं।

भगवान् आदित्य (सूर्य) सब देवताओंके आदि कहे गये हैं। वे आदिकर्ता हैं, इसलिये 'आदित्य' कहलाते हैं। सूर्यके बिना न तो दिन होता है, न रात्रि होती है, न तर्पण होता है, न धर्मानुष्ठान होता है और न सम्पूर्ण चराचर जगत्की सत्ता ही रह सकती है। आदित्य ही सदा सबकी सृष्टि, पालन और संहार करते हैं। इस कारण ये त्रयीमय हैं—तीनों लोक इनके स्वरूप हैं। अब मैं मन्त्रोंद्वारा महात्मा भास्करके पूजनका विधान बताता हूँ। पहले मुखकी शुद्धि करके विशेषरूपसे स्नान करे; फिर वस्त्रशुद्धिके पश्चात् सन्ध्योपासनाद्वारा मनकी शुद्धि करे। उसके बाद श्रीसूर्यदेवकी मूर्ति अथवा किरणका स्पर्श करे। मुखकी शुद्धि दातुनसे होती है; इसलिये पहले उसीकी विधि कहता हूँ। महुआकी

दातुनसे पुत्रलाभ होता है। मदारकी दातुनसे नेत्रोंको सुख मिलता है। बेरकी दातुनसे प्रवचनकी शक्ति प्राप्त होती है। बृहती (भटकटैया)-की दातुन करनेसे मनुष्य दुष्टोंपर विजय पाता है। बेल और खैरकी दातुनसे निश्चय ही ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है। कदम्बसे रोगोंका नाश होता है। अतिमुक्तक (कुन्दका एक भेद)-से धन लाभ होता है। आटरूषक (अड़ूसा)-की दातुनसे सर्वत्र गौरवकी प्राप्ति होती है। जाती (चमेली)-की दातुनसे जातिमें प्रधानता होती है। पीपल यश देता है। शिरीशकी दातुनका सेवन करनेसे सब प्रकारकी सम्पत्ति प्राप्त होती है। चीरी हुई दातुन नहीं करनी चाहिये। जिसमें कीड़े लगे हों, जो आधी सूखी या टेढ़ी हो तथा जिसमें छिलका न हो—ऐसी दातुन कभी न करे। एक बित्तेकी दातुन काममें लेनी चाहिये। इससे बड़ी या छोटी हो तो त्याग दे। पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके मौनभावसे सुखपूर्वक बैठ जाय और मनोवांछित कामना मनमें रखकर निम्नांकित मन्त्रसे दातुनको अभिमन्त्रित करे—

**वरदं त्वाभिजानामि कामं यच्छ वनस्पते।**
**सिद्धिं प्रयच्छ मे नित्यं दन्तकाष्ठ नमोऽस्तु ते॥**

'वनस्पते! मैं तुम्हें जानता हूँ; तुम वर देनेवाले हो। मेरा मनोरथ पूर्ण करो। मुझे प्रतिदिन सिद्धि प्रदान करो। दन्तकाष्ठ! तुम्हें नमस्कार है।'

इस प्रकार तीन बार जप करके दातुन करे। इसके बाद उस दातुनको धोकर किसी पवित्र स्थानमें फेंक दे। पार्वती! बिना चीरी हुई दातुनसे जीभको न साफ करे। यदि उससे जीभ साफ करनी हो तो उसे चीरकर अलग-अलग कर लेना चाहिये। प्रतिदिन सबेरे बासी हो जानेके कारण मुख अशुद्ध रहता है। अतः उसकी शुद्धिके लिये सूखी या गीली दातुन अवश्य करे। जिस दिन दातुनका निषेध हो, उस दिन सोलह कुल्ला कर ले अथवा उन-उन वृक्षोंके पत्तों या सुगन्धित मंजन आदिके द्वारा मुखकी शुद्धि करनी चाहिये।

तदनन्तर शास्त्रोक्त विधिसे स्नान करके स्नानांगतर्पण एवं सन्ध्यावन्दन करे। उसके बाद विद्वान् पुरुष सूर्यदेवको जलकी अंजलि दे और पूर्वाभिमुख होकर त्र्यक्षर मन्त्रका जप करे। इस प्रकार पवित्र एवं एकाग्रचित्त होकर ताँबेके पात्रमें कनेरके फूल रखे, फिर उसमें तिल, चावल, कुशा, गन्धयुक्त जल, लाल चन्दन तथा धूप डाले। इस प्रकार अर्घ्य तैयार करके उस पात्रको अपने मस्तकपर रखे और धरतीपर दोनों घुटने टेककर मूलमन्त्रका उच्चारण करते हुए सूर्यदेवको अर्घ्य दे। जो इस प्रकार अर्घ्य निवेदन करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। दीक्षा और मन्त्रसे रहित पुरुष भी यदि भक्तिपूर्वक एक वर्षतक इस प्रकार अर्घ्य दे—तो उसके फलको अवश्य प्राप्त करता है। इस जन्ममें वह स्त्रीसहित सुखका भागी होता है और अन्तमें भगवान् सूर्यनारायणमें लीन हो जाता है।

'**आप्यायस्व०**' इस मन्त्रसे चन्द्रमाकी पूजा करे। '**अग्निर्मूर्धा०**' इस मन्त्रसे मंगलकी, '**उद्बुध्यस्व०**' इत्यादि मन्त्रसे बुधकी अर्चना करे। '**बृहस्पते०**' इस मन्त्रसे बृहस्पतिकी, '**शुक्रः०**' इत्यादि मन्त्रसे शुक्रकी, '**शन्नोदेवी०**' इस मन्त्रसे शनैश्चरकी, '**कयानश्चित्र०**' इत्यादि मन्त्रसे राहुकी तथा '**केतुं कृण्वन्नकेतवे०**' इत्यादि मन्त्रसे केतुकी पूजा करे। मण्डलसे बाहर पूर्व दिशामें इन्द्रका, दक्षिणमें यमका, पश्चिममें वरुणका, उत्तरमें कुबेरका, ईशान कोणमें शिवका, आग्नेय कोणमें अग्निका, नैर्ऋत्य कोणमें विरूपाक्षका तथा वायव्य कोणमें वायुदेवका पूजन करे। '**तमुष्टवाम०**' इत्यादि मन्त्रसे इन्द्रकी, '**उदीरतामवर०**' इत्यादि मन्त्रसे यमकी, '**तत्त्वायामि०**' इस मन्त्रसे वरुणकी, '**इन्द्रासोमावत०**' इत्यादि मन्त्रसे कुबेरकी, '**अग्निमीळे पुरोहितम्०**' इत्यादि मन्त्रसे अग्निकी, '**रक्षोहणं वाजिन०**' इत्यादि मन्त्रसे विरूपाक्षकी तथा '**वायवायाहि०**' इत्यादि मन्त्रसे वायुदेवकी पूजा करे। देवि! इन सब देवताओंका क्रमशः पूजन करना चाहिये।

मण्डलके मध्यभागमें वेदीके ऊपर विराजमान सूर्यदेवका ध्यान करके नित्य उनकी पूजा करनी चाहिये। उनके शरीरका रंग लाल है। वे महातेजस्वी हैं। श्वेत कमलके ऊपर बैठे हैं। समस्त शुभ लक्षणोंसे सुशोभित तथा सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित हैं। उनके दो भुजाएँ और एक मुख है। उन्होंने अपने हाथमें सुन्दर कमल धारण कर रखा है। उनका मण्डल गोल है। वे तेजके केन्द्र हैं तथा उन्होंने लाल रंगका वस्त्र धारण कर रखा है। यही भगवान् आदित्यका सर्वलोकपूजित रूप है।

भगवान् सूर्यकी प्रतिमाका इस प्रकार पूजन करे—'**ईशे त्वा०**' इत्यादि मन्त्रसे उनके मस्तककी पूजा करे। '**अग्निमीळे०**' इस मन्त्रके द्वारा उनके दाहिने हाथका पूजन करे। '**अग्न आयाहि०**' इस मन्त्रसे सूर्यदेवके दोनों चरणोंकी पूजा करे। '**आजिघ्र०**' इत्यादि मन्त्रसे पुष्पमाला पहनाये तथा '**योगे योग०**' इस मन्त्रसे पुष्पांजलि छोड़े। इस तरह सामान्य पूजा करके उनकी विशेष पूजा प्रारम्भ करे। '**समुद्रागच्छ०**' अथवा '**इमं मे गङ्गे**' इत्यादि मन्त्रसे भगवान् सूर्यको स्नान करावे। '**समुद्रज्या०**' इस मन्त्रसे विधिपूर्वक सूर्यदेवके अंगोंका प्रक्षालन करे। '**शिनीवाली०**' इस मन्त्रद्वारा शंखके जलसे स्नान करावे। '**यज्ञं यज्ञ०**' इस मन्त्रसे आँवला आदिके द्वारा उबटन लगावे। '**आप्यायस्व०**' इस मन्त्रको पढ़कर दूधसे स्नान करावे। '**दधिक्राव्णो०**' इस मन्त्रद्वारा दहीसे नहलावे। '**समुद्रज्या०**' अथवा '**इमं मे गङ्गे यमुने०**' इस मन्त्रसे ओषधियोंद्वारा स्नान करावे। फिर '**द्विपदाभिः०**' मन्त्रोंद्वारा सूर्यदेवका उद्वर्तन करके '**मानस्तोके०**' इत्यादि मन्त्रोंसे एक बार स्नान करावे। उसके बाद '**विष्णुरराटमसि०**' इस मन्त्रसे गन्धयुक्त जलद्वारा स्नान करावे। तत्पश्चात् सौवर्णमन्त्रसे पाद्य निवेदन करे। '**इदं विष्णुविचक्रमे०**' इस मन्त्रसे अर्घ्य दे। '**वेदोसि०**' इस मन्त्रसे यज्ञोपवीत पहनावे। '**बृहस्पते०**' इस मन्त्रसे वस्त्र दे। '**येन श्रियं प्रकुर्वाण०**' इस मन्त्रसे फूलकी माला धारण करावे। '**धूरसि०**' इस मन्त्रसे गुग्गुलसहित धूप दे। '**समिद्धोऽञ्जन०**' इत्यादि मन्त्रसे अंजन दे। '**युञ्जान०**' इत्यादि मन्त्रसे सूर्यदेवको गोरोचनका तिलक लगावे। तत्पश्चात् '**दीर्घायुत्वाय०**' इत्यादि मन्त्रसे आरती करे। '**सहस्रशीर्षा पुरुषः**' इत्यादि मन्त्रसे सूर्यदेवके मस्तकपर पूजा करे। '**नमः शम्भवाय०**' इत्यादि मन्त्रसे भगवान् सूर्यके नेत्रोंका स्पर्श करे। '**विश्वतश्चक्षुः**' इस मन्त्रको पढ़कर सूर्यदेवके समस्त विग्रहका स्पर्श करे। तदनन्तर '**श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च०**' इत्यादि मन्त्रसे सूर्य-प्रतिमाके सब अंगोंमें पूजन करे।

इस प्रकार तीनों समय आदरपूर्वक भगवान् सूर्यका पूजन करे। उनकी पूजा समस्त कामनाओं तथा फलोंको देनेवाली है। सूर्यकी पूजाके लिये सब प्रकारके विलेपनोंमें रोली और लाल चन्दन उत्तम है। फूलोंमें कनेरके फूल श्रेष्ठ माने गये हैं। कुंकुम, चमेली, कमल तथा अगुरुसे बढ़कर सूर्यदेवको तृप्त करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जो इन सभी वस्तुओंसे भगवान् सूर्यकी पूजा करता है, उसका संसारमें कौन-सा मनोरथ सिद्ध नहीं होता? इस विधिसे सूर्यदेवका पूजन करके परिक्रमा करे और अर्कस्थलको मस्तकसे प्रणाम करके सूर्यके सम्मुख सुखपूर्वक स्थित होकर उनका दर्शन करे। ऐसा करनेवाला पुरुष कोटि यात्राका फल पाता है। ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, अग्नि और कुबेर आदि सब देवता भगवान् सूर्यके आश्रित रहकर द्युलोकमें आनन्दित होते हैं। इसलिये मैं सूर्यके समान दूसरे किसी देवताको नहीं देखता। महादेवि! सूर्यकी स्तुति करके मन्त्रोच्चारणपूर्वक उनकी सात बार परिक्रमा करनी चाहिये। '**तमुष्टवाम**' यह ऋग्वेदीय मन्त्र पहली परिक्रमाके लिये बताया गया है। '**एतोन्विन्द्रस्तवाम**' इस मन्त्रसे दूसरी परिक्रमा कही गयी है। '**इन्द्र शुद्धो न आगहि**' इस मन्त्रसे तीसरी परिक्रमा करनी चाहिये। '**इन्द्रं शुद्धोमि नो रयिं।**' इत्यादि मन्त्रसे चौथी परिक्रमा बतायी गयी है। '**अस्य**

**वामस्य०**' इत्यादि मन्त्रसे पाँचवीं परिक्रमा करनी चाहिये। '**त्रिभिष्टवं देव०**' इस मन्त्रसे छठी परिक्रमाका विधान है। तथा सामगान करनेवाले मनीषी पुरुषोंने जो दस प्रकारके सामगान किये हैं, उनके द्वारा सातवीं परिक्रमा करनी चाहिये। हिंकार, प्रणव, उद्गीथ, प्रस्ताव, प्रहर, आरण्यक और निधन—ये सात प्रकारके साम कहे गये हैं। हिंकार और प्रणव न रहनेपर पाँच प्रकारका साम बताया गया है। पूर्वोक्त सात प्रकारके सामके अतिरिक्त साध्य नामक आठवाँ साम है। नवाँ वामदेव साम है और दसवाँ ज्येष्ठ साम कहा गया है, जो ब्रह्माजीको परम प्रिय एवं उत्तम प्रतीत होता है। इन सब सामोंका विधिपूर्वक जप करना चाहिये। जो निष्कामभावसे भगवान् सूर्यकी पूजा करता है, वह इस क्षेत्रके माहात्म्यसे तथा अर्क—सूर्यके प्रभावसे निश्चय ही मोक्षको प्राप्त होता है। दूसरे स्थानोंमें एक करोड़ ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे जो फल होता है, वही अर्कस्थलमें एक ब्राह्मणको भोजन करानेसे प्राप्त होता है। सूर्यग्रहणमें जो स्नान, दान, जप और होम किया जाता है, वह सब यहाँ अर्कस्थलके प्रभावसे कोटिगुना हो जाता है। जो मनुष्य माघमासके कृष्ण पक्षमें रविवारयुक्त सप्तमीको अर्कस्थलके समीप जागरण करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है। उस क्षेत्रमें निवास करनेवाले सभी मनुष्योंके लिये अर्कस्थल पूजनीय हैं। कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि वह भगवान् सूर्यपर जलमें पैदा हुआ या मुरझाया हुआ अथवा किसी दोषसे दूषित या बासी फूल न चढ़ावे।

**पार्वतीजीने पूछा**—भगवन्! सूर्यदेवको राहु कैसे ग्रस लेता है?

**महादेवजीने कहा**—देवि! मैं ग्रहणका कारण बतलाता हूँ, सुनो। विशेष समय आनेपर सूर्यदेव अपनी किरणोंसे अमृतकी धारा बहाते हैं। उस समय अमृतकी इच्छा रखनेवाला राहु अपने विमानपर बैठकर सूर्यबिम्बके नीचे आ जाता है। उसके बिम्बसे सूर्यका बिम्ब छिप जाता है। इसीको सूर्यग्रहण कहते हैं। वास्तवमें कोई भी सूर्यदेवको ग्रस नहीं सकता। वे निश्चय ही ग्रसनेवालेको जलाकर भस्म कर देंगे।

पूर्वकालमें उस क्षेत्रके भीतर लोकपाल, महर्षि, सिद्ध, विद्याधर, यक्ष, गन्धर्व तथा मुनिलोग सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। कुबेर, भीष्म, ययाति, गालव तथा साम्बने भी यहाँ उत्तम सिद्धि प्राप्त की है। यह माहात्म्यकथा नास्तिक, श्रद्धाहीन, क्रूर, दोषदर्शी एवं शठ मनुष्यसे न कहे। अपने पुत्र, शिष्य, धर्मिष्ठ, ज्ञानी तथा भगवान् सूर्यके भक्तको ही यह प्रसंग सुनाना चाहिये। जो तेजका सनातन आश्रय, जलकी गति, दिशाओंका अविनाशी दीपक, सिद्धिका खुला हुआ द्वार, जगत्का सामान्य नेत्र, आकाशरूपी सरोवरका सुवर्णमय कमल, दिगंगनाओंका देदीप्यमान कुण्डल तथा काल-गणनाका एकमात्र मापक यन्त्र है, वह भगवान् सूर्यका बिम्ब आप सब लोगोंकी रक्षा करे।

## चन्द्रमाकी उत्पत्ति तथा उनके द्वारा ओषधि आदिका पोषण

**सूतजी कहते हैं**—विप्रवरो! भगवान् शिवके इस प्रकार कहनेपर यशस्विनी देवी पार्वतीने इस प्रकार पूछा—'देव! आपके मस्तकपर जो ये चन्द्रमा विराजमान हैं, किसके पुत्र हैं? कब और किस प्रकार इनकी उत्पत्ति हुई है?'

**महादेवजीने कहा**—देवि! देवताओं और दानवोंने मिलकर जब क्षीरसागरका मन्थन किया, तब उसमेंसे चौदह रत्न निकले। उन्हीं रत्नोंमें ये महातेजस्वी चन्द्रमा भी थे। इनकी उत्पत्ति अमृतसे हुई है। इसीलिये विषपान करनेके पश्चात् इन्हें मैं आजतक सिरपर धारण करता हूँ। पूर्वकालमें मैंने चन्द्रमाको अपना शिरोभूषण बनाया है, इसीलिये लोग मुझे चन्द्रभूषण कहते हैं।

पार्वती! मैं ही सृष्टि, पालन और संहारका कर्ता हूँ। सृष्टिकालमें मैं रजोगुणसे संयुक्त होता हूँ। पालनके समय सत्त्वगुणमें स्थित रहता हूँ और संहारकालमें तमोगुणसे युक्त हो जाता हूँ। मैं ही तीन रूपोंमें स्थित हूँ। अतः ब्रह्मा भी मुझ महेश्वरके ही अंश हैं। ब्रह्माका स्वामी मैं ही हूँ। विष्णु और ब्रह्मा दोनों ही मुझ सदाशिवसे अभिन्न हैं; क्योंकि मैं सर्वात्मक हूँ। शिव ही सम्पूर्ण जगत्का पालन करनेवाले विष्णु हैं। मेरे द्वारा निर्मित ब्रह्माण्डमें ये लोक हैं। इसीके भीतर सम्पूर्ण चराचर जगत् है। इस ब्रह्माण्डमें अबतक कितने चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण बीत गये और कितने अभी होंगे, इसकी गणना असम्भव है।

चन्द्रमाका जो तेज पृथ्वीपर प्राप्त हुआ, उससे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करनेवाली ओषधियाँ उत्पन्न हुईं। उन्हीं ओषधियोंके द्वारा सम्पूर्ण लोक तथा चार प्रकारके प्रजा वर्ग जीवन धारण करते हैं। फल लगनेपर जिनका अन्त हो जाता है, ऐसी ओषधियाँ शण कहलाती हैं। वे सोलह प्रकारकी हैं—धान, जौ, गेहूँ, अणु, तिल, मोठ, कँगनी, कोदो, चीना, उड़द, मूँग, मसूर, निष्पाव, कुलथी, अरहर और चना—ये सोलह प्रकारके शण हैं। ये ग्रामीण ओषधियोंकी जातियाँ बतायी गयी हैं। ग्राम और वनमें उत्पन्न होनेवाली चौदह प्रकारकी ओषधियाँ यज्ञके काममें आती हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—धान, जौ, गेहूँ, अणु, तिल, कँगनी, कुलथी, साँवा, तिल्ली, बनतिल, गवेधु, उड़द, मकई और वेणुयव (बाँसधान)। तृण, गुल्म, लता, वीरुध तथा गुच्छ आदि करोड़ों प्रकारके औषध और तृणोंके स्वामी चन्द्रमा हैं। वे ही सम्पूर्ण जगत्को धारण करते हैं। भगवान् सोम जगत्का हित करनेकी इच्छासे सबको धारण करते हैं, इसलिये ब्रह्माजीने उन्हें बीज, ओषधि, ब्राह्मण तथा मन्त्रोंका राज्य प्रदान किया है। राजाके पदपर अभिषिक्त हो महातेजस्वी सोमने अपने प्रकाशसे तीनों लोकोंको पुष्ट किया है।

## सृष्टि-कथा—दक्षकन्याओं तथा धर्म एवं कश्यपजीकी सन्ततिका संक्षिप्त वर्णन

**महादेवजी कहते हैं**—देवि! प्राचीन कालमें ब्रह्माजीसे दक्ष नामक पुत्र हुआ। ब्रह्माजीने दक्षको सृष्टि करनेकी आज्ञा दी। तब दक्षने अपनी पत्नी वीरिणीके गर्भसे साठ कन्याएँ उत्पन्न कीं। उनमेंसे दसको तो उन्होंने धर्मके साथ ब्याह दिया। तेरह कश्यपजीको दीं। सत्ताईस कन्याओंका विवाह चन्द्रमाके साथ किया। चार कन्याएँ अरिष्टनेमिको, दो भृगुपुत्रको, दो बुद्धिमान् कृशाश्वको तथा दो अंगिरा मुनिको ब्याह दी। मरुत्वती, वसु, जामी, लंबा, भानु, अरुन्धती, संकल्पा, मुहूर्ता, साध्या, विश्वा—ये धर्मराजकी स्त्रियोंके नाम हैं। अदिति, दिति, दनु, अरिष्टा, सुरसा, सुरभि, विनता, ताम्रा, क्रोधवशा, इरा, कद्रू, त्विषा और वसु—ये कश्यपजीकी स्त्रियाँ हैं। अब इनके पुत्रोंके नाम सुनो—विश्वाके विश्वेदेव हुए। साध्याने साध्य देवताओंको जन्म दिया। भानुके भानु और मुहूर्ताके मुहूर्त नामक पुत्र हुए। लम्बाके पुत्रोंकी घोष नामसे प्रसिद्धि हुई। जामीसे नागवीथी नामकी कन्या हुई। संकल्पासे संकल्प नामक पुत्रका जन्म हुआ। मरुत्वतीसे मरुत्वान् नामवाले देवताओंकी उत्पत्ति हुई। अरुन्धतीके गर्भसे पृथ्वीपर होनेवाले समस्त प्राणी उत्पन्न हुए। वसुसे आठों वसुओंका जन्म हुआ। आप, ध्रुव, सोम, वर, अनल, अनिल, प्रत्यूष और प्रभास—ये आठ वसु कहे गये हैं। आपके पुत्र—देव, भ्रम, शान्त और ध्वनि हुए।

लोकोंको अपना ग्रास बनानेवाले भगवान् काल ध्रुवके पुत्र हैं। सोमके पुत्रोंके नाम वर्चा और बुध हैं। घरके हुत, हव्यवह और द्रविण—ये तीन पुत्र हुए। अनलके कई पुत्र हुए, जो अग्निके समान गुणवाले ही हैं। अनिलके दो पुत्र हुए—मनोजव और अविज्ञातगति। प्रत्यूषके पुत्र योगी देवल हुए। बृहस्पतिजीकी बहिन ब्रह्मवादिनी आठवें वसु प्रभासकी पत्नी हुई। उसीके पुत्र शिल्पकर्म करनेवाले प्रजापति विश्वकर्मा हुए। मन, अनुमन्ता, प्राण, नर, पान, नेमि, यम, नृप, हंस, नारायण, विभु तथा प्रभु—ये बारह साध्य (या तुषित) देवता कहे गये हैं।

अब कश्यपकी सन्तानोंका वर्णन करता हूँ। अंश, धाता, भव, त्वष्टा, मित्र, वरुण, अर्यमा, विवस्वान्, सविता, पूषा, अंशुमान् तथा विष्णु—ये सहस्र किरणोंवाले बारह आदित्य (अदितिके पुत्र) हैं। अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, विरूपाक्ष, रेवत, हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, सवित्र, जयन्त, पिनाकी तथा अपराजित—ये ग्यारह रुद्रगण हैं; जो असंख्य रुद्रगणोंके स्वामी हैं (इन्हें सुरभिकी सन्तान कहा जाता है)। बलपर गर्व रखनेवाली दितिने दो पुत्र प्राप्त किये—ज्येष्ठका नाम हिरण्यकशिपु और छोटेका नाम हिरण्याक्ष था। हिरण्यकशिपुके चार महाबली पुत्र हुए, जिनमें प्रह्लाद ज्येष्ठ थे, उनसे छोटेका नाम अनुह्लाद था। अनुह्लादसे छोटे क्रमशः ह्लाद और ह्लद थे। ह्लदके दो पुत्र हुए—सुन्द और उपसुन्द। ह्लादके एक ही पुत्र हुआ, जो मूक नामसे विख्यात था। सुन्दका पुत्र मारीच था, जो ताड़काके गर्भसे उत्पन्न हुआ था। उसे महाबली श्रीरामचन्द्रजीने दण्डकारण्यमें मार डाला। मूक भी सव्यसाची अर्जुनके द्वारा किरात प्रदेशमें मारा गया। संह्लादके कुलमें निवातकवच नामक दैत्य उत्पन्न हुए, जिनकी संख्या तीन करोड़ बतायी गयी है। वे सभी अर्जुनके द्वारा मारे गये। गवेष्ठी, कालनेमि, जम्भ, बल्वल, शम्भु तथा विरोचन—ये प्रह्लादके पुत्र माने गये हैं। शम्भुके दो पुत्र हुए—धेनुक और सोमलोमा। विरोचनके एक ही पुत्र प्रतापी बलि हुए। हिरण्याक्षके पाँच पुत्र हुए जो बड़े पराक्रमी और महाबली थे। उनके नाम इस प्रकार हैं—अन्धक, शकुनि, कालनाभ, महानाभ तथा भूतसन्तापन। इनकी लाखों सन्तानें हुईं। ये सभी तारकामय संग्राममें मारे गये। इस प्रकार संक्षेपसे कश्यपजीकी सन्तानोंका वर्णन किया गया, जिनके द्वारा देवता, असुर और मनुष्योंसहित सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है।

## चन्द्रमाके द्वारा प्रभासक्षेत्रमें शिवकी आराधना, वरदान-प्राप्ति, सोमनाथके मन्दिरका निर्माण तथा ब्राह्मणोंको उनकी आराधनामें लगाना

**देवी पार्वतीने पूछा**—जगदीश्वर! प्रभासक्षेत्रमें किस समय सोमनाथ लिंगकी स्थापना हुई है? रोहिणीवल्लभ चन्द्रमाने कृतार्थ होकर किस प्रकार उसकी आराधना की।

**महादेवजीने कहा**—प्रिये! वैवस्वत मन्वन्तरके दसवें त्रेतायुगमें दुर्वासासहित चन्द्रदेव उत्पन्न हुए। उस समय चन्द्रमाने सहस्रों वर्षोंतक तपस्या करके भगवान् शंकरका प्रत्यक्ष दर्शन किया और लोककर्ता ब्रह्माजीके द्वारा शिवलिंगकी स्थापना करायी। तत्पश्चात् पुनः सहस्र वर्षोंतक मुझ शंकरकी आराधना की। विधिपूर्वक मेरी पूजा करनेके अनन्तर अपने कार्यों और मनोरथोंकी सिद्धिके लिये निशानाथने मेरा स्तवन किया।

**चन्द्रमा बोले**—शिवके समान दूसरा कोई देवता नहीं है। रणभूमिमें शिवजीके समान कोई रक्षक नहीं है। संसारमें शिवके सदृश शरणागतवत्सल नहीं है तथा शिवके समान दूसरी कोई गति

नहीं है। सांख्यवादी जिन्हें प्रधान और पुरुष कहते हैं, योगी जिनका परम प्रधान एवं परम पुरुषरूपसे चिन्तन करते हैं, उन ज्ञेयस्वरूप सदाशिवको नमस्कार है। विद्वान् पुरुष जिन्हें देवता, असुर और मनुष्योंकी सृष्टि तथा संहारका कारण मानते हैं, उन सर्वात्माको नमस्कार है। जो अविनाशी, अनादि, अनन्त, नित्य, सनातन, ध्रुव, कलातीत एवं परम ब्रह्मस्वरूप हैं, उन योगात्मा शिवको नमस्कार है। जो आदिदेव महेश्वर पवित्र वस्तुओंमें सबसे अधिक पवित्र हैं तथा दर्शनमात्रसे ही पवित्र कर देते हैं, उन तीर्थात्मा शिवको नमस्कार है। जिनसे सबकी उत्पत्ति होती है, जिनमें सबका लय होता है तथा जो सम्पूर्ण जगत्का पालन करते हैं, उन सर्वात्माको नमस्कार है। ब्राह्मणलोग पूर्ण दक्षिणायुक्त अग्निष्टोम आदि यज्ञोंके द्वारा जिनका यजन करते हैं, उन यज्ञात्माको नमस्कार है।

पार्वती! इस प्रकार जब चन्द्रमाने दिन-रात मेरा स्तवन किया, तब मैंने प्रसन्न होकर कहा—'वत्स! मैं तुम्हारे इस स्तोत्रसे पूर्णतः सन्तुष्ट हूँ। तुम अपनी इच्छाके अनुसार वर माँगो।'

**चन्द्रमाने कहा**—प्रभो आप इस शिवलिंगमें सदैव निवास कीजिये। जो लोग अत्यन्त भक्तिपूर्वक यहाँ आपका दर्शन करें, उन्हें आपके प्रसादसे उत्तम सिद्धि प्राप्त हो।

**मैंने कहा**—चन्द्रदेव! इस लिंगमें मेरा निवास तो पहलेसे ही है, अब तुम्हारी निरन्तर भक्तिके कारण मैं इसमें विशेष रूपसे उमासहित निवास करूँगा। इस क्षेत्रमें मेरे प्रसादसे तुमने अपनी प्रभा प्राप्त की है, इस कारण इसका नाम प्रभास होगा। सोम! तुमने मेरे इस शुभ लिंगकी प्रतिष्ठा की है, इसलिये यहाँ मेरा नाम 'सोमनाथ' प्रसिद्ध होगा। जो मनुष्य मेरी भक्तिमें तत्पर हो यहाँ मेरा दर्शन करेंगे, उन्हें मेरे प्रभावसे रोग, दरिद्रता, दुर्गति तथा इष्टजनोंका वियोग नहीं होगा। मेरे दर्शनकी इच्छा रखनेवाले जो लोग भक्तिभावसे यहाँकी यात्रा करेंगे, उन्हें पग-पगपर अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होगा। निशाकर! एक पुरुष तो जीवनभर ब्रह्मचारी रहे और दूसरा एक बार यहाँ मेरा दर्शन करे, उन दोनोंके लिये समान फल बतलाया गया है। एक मनुष्य ब्राह्मणको सब प्रकारके दान देता है और एक यहाँ आकर मेरा दर्शन करता है, उन दोनोंके लिये समान फल बताया गया है। सोमवारको चन्द्रग्रहण प्राप्त होनेपर जो भक्तिपूर्वक मेरा दर्शन करता है, उसे पूर्वोक्त सभी पुण्यकर्मोंका फल प्राप्त होता है। सरस्वती, समुद्र, सोमवार, सोमग्रहण और सोमनाथजीका दर्शन—इन पाँच सकारोंका योग दुर्लभ है। चार मासतक विधिपूर्वक शिवकी पूजा करनेसे जो पुण्य प्राप्त होता है, वही कार्तिककी पूर्णिमामें पूजन करनेपर यहाँ एक ही दिनमें प्राप्त हो जाता है। वही पुण्य चैत्रकी पूर्णिमाको दूना बताया गया है। फाल्गुन और आषाढ़की पूर्णिमाके दिन दर्शन-पूजनका भी यही पुण्य है। जो मनुष्य जीवनपर्यन्त प्रति माघमासमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको भोजन कराता है और जो एक बार इस शिवलिंगका दर्शन करता है, उन दोनोंको समान फल प्राप्त होता है; इसमें संशय नहीं है। नागकेशर, चम्पा, श्वेतकमल और धतूरके फूल शिवकी पूजाके लिये उत्तम माने गये हैं। केतकी, अतिमुक्त (मरुआ), कुन्द, जूही, सिरस, शाल और जामुनके फूलोंको शिवकी पूजामें त्याग देना चाहिये। धतूर और कदम्बके फूल रातमें शिवके ऊपर चढ़ाने चाहिये। शेष जो फूल बताये गये हैं, उनका उपयोग दिनको करना चाहिये। मल्लिका अर्थात् बेलाका फूल दिन और रात दोनोंमें चढ़ाना चाहिये। जिसमें कीड़े और केश आदि पड़ गये हों, जो रातके तोड़े हुए होनेसे बासी हो गये हों, जो अपने-आप टूटकर गिरे हुए अथवा कुचल गये हों—ऐसे फूलोंको त्याग देना चाहिये। तुलसी, कमल, गान्धार और दवनासे सोमनाथकी सदा पूजा करे। ऐसा करनेवाला मनुष्य यहाँकी यात्राका पूरा फल पाता है और स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है।

ऐसा कहकर सोमेश्वर शिव वहीं अन्तर्धान हो गये। चन्द्रमाको यक्ष्मारोगसे छुटकारा मिला। उन्होंने विश्वकर्माको बुलाकर सोमनाथके लिये एक मन्दिर बनवाया, जो शुद्ध स्फटिक तथा गोदुग्धके समान उज्ज्वल था। उसके चारों ओर अन्य चौदह मन्दिर बनवाये गये। ब्रह्मा आदि समीपवर्ती देवताओंके लिये भी दस मन्दिर निर्माण किये गये। वैवस्वत मन्वन्तरके दसवें त्रेतामें मण्डप बनवाकर विधिपूर्वक सोमेश्वर शिवकी प्रतिष्ठा करके दीनों और अनाथोंके लिये सैकड़ों और हजारों वापी, कूप, तड़ाग और गृह आदि बनवाये। सब कुछ बनवाकर पृथक्-पृथक् ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक दान दिया। सोमेश्वरके समीप नगर बसाकर चन्द्रमाने ब्राह्मणोंका पूजन किया और कहा—'ब्रह्माजीकी कृपासे मैं यद्यपि आपलोगोंका राजा हूँ, तथापि विनय और भक्तिसे ही कुछ निवेदन करता हूँ। धन, सुवर्ण, रत्न, धान, जौ आदि अन्न, गाय-भैंस आदि पशु, भाँति-भाँतिके वस्त्र, केला और नारियलके फल, पान और सुपारी तथा मनोहर उद्यान आपलोगोंके लिये सब ओर उपस्थित हैं। जम्बूद्वीपके सब मनुष्य आपके अधीन होकर आपकी आज्ञाका पालन करेंगे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा वर्णसंकर लोग भी आपको गुरु मानकर तीर्थयात्रा करेंगे। विप्रवरो! आपलोग यहाँ रहकर पवित्र उपचारोंसे मेरे द्वारा स्थापित सोमनाथजीकी सब समय पूजा करें। आपलोग स्मृतियोंके सदाचारका पालन करनेमें कुशल हैं। यहाँ रहकर सबके व्यवहारोंको देखिये और स्वयं भी श्रुति-स्मृति एवं पुराणोंमें प्रतिपादित धर्मोंका आचरण कीजिये।'

**यह सुनकर उन ब्राह्मणोंने कहा**—चन्द्रदेव! आप हम ब्राह्मणोंके राजा हैं। आपने हमें सर्वथा उत्तम उपदेश दिया है। हम आपकी सब आज्ञाका पालन करेंगे। परन्तु जो लोग किसीके द्वारा नियुक्त होकर—वेतन लेकर पूजा करते हैं, अथवा शिवनिर्माल्यका सेवन करते हैं, वे पतित हो जाते हैं। अतः ऐसा करनेपर हम भी पतित हो सकते हैं। यह पातित्य श्रुतियों और स्मृतियोंद्वारा निन्दित है। श्रुति और स्मृति दोनों ही शिवजीकी आज्ञाएँ हैं, अतः कौन ऐसा मूढ़ होगा जो प्राणोंके कण्ठतक आ जानेपर भी शिवकी आज्ञाओंका उल्लंघन करेगा। अष्टमूर्ति शिवकी एक मूर्ति अग्निदेव हैं। वे ही देवताओंके मुख हैं। हम अग्निमें यज्ञ कराते हुए सत्स्वरूपसे सम्पूर्ण जगत्को तृप्त करते हैं। यह जगत् भगवान् शिवका रूप है। जगत्में परस्पर भेद होते हुए भी यह जगदीश्वर शिवसे अभिन्न है। अग्निमें विधिपूर्वक दी हुई आहुति सूर्यदेवको प्राप्त होती है। सूर्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है और अन्नसे प्रजा जीवन धारण करती है*। हम सदा श्रुति, स्मृति और पुराणोंके अभ्यासमें संलग्न रहनेवाले हैं। उसके अर्थका विचार करनेमें ही तत्पर रहते हैं और उनमें बताये हुए सभी सत्कर्मोंका अनुष्ठान किया करते हैं; अतः हमें शिवलिंग-पूजनके लिये बहुत कम अवसर मिल सकता है। तथापि हम रुद्रका जप और पंच महायज्ञोंका अनुष्ठान करते हुए ही यथासमय और यथावकाश सोमेश्वर लिंगका भी पूजन करते रहेंगे।

**एक समय पार्वतीजीने शिवजीसे पूछा**—देव! दैत्यलोग आपका प्रसाद पाकर तीनों लोकोंमें उत्पात करते और इन्द्र आदि देवताओंको भी अपने स्थानसे भगा देते हैं। ऐसे दुष्टात्माओंको आप वर क्यों देते हैं और भगवान् विष्णु उन्हें क्यों मारते हैं। उनके द्वारा मारे हुए दैत्योंकी क्या गति होती है?

**महादेवजीने कहा**—सात्त्विक, राजस और

* अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठति। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ (स्क० पु०, प्रभास० २२।८८-८९)

तामस तीन प्रकारके प्राणी होते हैं। उनमेंसे ये दैत्यगण प्रायः तमोगुणी और दुर्धर्ष होते हैं। देवताओंके साथ ये सदा लाग-डाँट रखते हैं और संसारका संहार कर देनेके लिये उद्यत होकर तामसिक तपस्याओंके द्वारा मोहवश मेरा भजन करते हैं। मैं जो उन्हें वरदान देता हूँ, उसमें केवल उनकी भक्ति ही कारण है। मैं भक्तिसे भलीभाँति वशमें हो जानेवाला हूँ। तपस्याके अनुसार वर पाकर वे पापात्मा दैत्य जो विष्णुके द्वारा मारे जाते हैं, उसका रहस्य मुझसे सुनो। मैं और विष्णु जो भिन्न प्रतीत होते हैं, उसमें गुणभाग कारण है। वास्तवमें हम दोनों अभिन्न हैं। हममें आराध्य और आराधक आदिका भेद भी सामान्य ही है—हम उनके आराध्य हैं और वे हमारे। श्रीविष्णुके चरणोंके अग्रभागसे निकली हुई गंगाजीको मैं भक्तिपूर्वक मस्तकपर धारण करता हूँ। तीनों लोकोंकी रक्षाके लिये उद्यत हुए श्रीविष्णुने भी चिरकालतक मेरी उपासना करके दुष्ट दैत्योंका नाश करनेवाला चक्र प्राप्त किया। त्रिभुवनकी उत्पत्तिके कारणभूत श्रीहरिकी मैं भक्तिपूर्वक आराधना करता हूँ। इसी प्रकार श्रीहरि भी मेरी आज्ञा शिरोधार्य करके अजन्मा होते हुए भी जन्म लेकर सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करते हैं। हिरण्यकशिपु दैत्यका वध करनेके लिये नृसिंह-शरीर धारण करनेवाले श्रीहरिको मैंने ही शान्त किया। इसी प्रकार बाणासुरकी रक्षाके लिये त्रिशूल उठानेवाले मुझ शंकरको मनुष्य-अवतारमें स्थित होते हुए भी श्रीहरिने लीलापूर्वक स्तब्ध कर दिया था। मेरी महिमा और प्रभावको बढ़ाते हुए मेरे प्रभु भगवान् विष्णु नित्य मेरी सेवा करते हैं तथा मैं भी अनादि, अनन्त परमात्मा श्रीहरिका ध्यानयोग और समाधिमें चिन्तन करता हूँ। इस प्रकार उनका और मेरा भेद वास्तविक नहीं है। मूढ़ मनुष्य ही हम दोनोंमें भेद और न्यूनता-अधिकताका आरोप करते हैं। मैं ही विष्णुरूप धारण करके दुष्टोंका संहार करता हूँ। वे दैत्य हम दोनोंके प्रभावसे निष्पाप होकर मुक्तिके लिये ब्रह्मर्षियोंके कुलमें जन्म लेते हैं। ब्रह्मचर्यके पश्चात् पाशुपत योगका आश्रय ले पूर्वजन्मके संस्कारसे वे फिर मेरी उपासना करते हैं। मेरे लिंगोंका पूजन करते हैं। सदा एकमात्र मुझमें ही चित्त लगाये हुए मेरे ध्यानमें दृढ़तापूर्वक स्थित रहते हैं। जो सम्पूर्ण जगत्की अधीश्वरी तुम पार्वतीकी भी वन्दना करते हैं, उन्हें देहत्यागके पश्चात् मैं सारूप्य तथा सालोक्य मुक्ति देता हूँ। धर्मशास्त्रके अनुकूल आचारके कारण वे साधुपुरुषों और मुनियोंद्वारा निन्दित नहीं होते। तीर्थयात्राके प्रसंगसे वे ब्राह्मण लोग जब यहाँ आते हैं, तब मैं उन्हें अपने स्थानपर ले आता हूँ और तुम उन भोजनार्थी तपस्वीजनोंको नाना प्रकारके उपहारोंसे तृप्त करती हो। फिर वे सब धर्मोंमें तत्पर होकर श्रीसोमेश्वरदेवकी पूजा करते हैं और शरीरका अन्त होनेपर परम दुर्लभ मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

**ब्राह्मणलोग कहते हैं**—चन्द्रदेव! पार्वतीजीके पूछनेपर भगवान् शिवने यही कहा था। वहीं देवर्षि नारदने दोनोंका वह सब संवाद सुना और कथा-गोष्ठीमें हमारे पूछनेपर वह सब वृत्तान्त बतलाया।

ब्राह्मणोंके यों कहनेपर सोमदेव प्रसन्न होकर अपने लोकको चले गये। और उनकी आज्ञासे वे ब्राह्मण भी सोमेश्वरदेवकी यथावत् पूजा करते हैं। जिस मनुष्यने सोमवारसे लेकर आठ दिनोंतक सोमेश्वरदेवका पूजन किया है, उसने सब प्रकारके दान और सम्पूर्ण महाव्रतोंका अनुष्ठान कर लिया।

# सोमवारव्रतकी विधि और महिमा, गन्धर्वसेनाकी रोगनिवृत्ति

**महादेवजी कहते हैं**—पार्वती! कैलासके उत्तर निषधपर्वतके शिखरपर स्वयम्प्रभा नामक एक विशाल पुरी है। उसमें धनवाहन नामके एक गन्धर्वराज रहते थे। उनकी स्त्री बड़ी मनोहर थी। उसके साथ रहकर वे वहाँ दिव्य भोगोंका उपभोग करते थे। समयानुसार उनके आठ पुत्र हुए। पुत्रोंके बाद एक कन्या उत्पन्न हुई, जिसका नाम गन्धर्वसेना था। वह पिताकी आज्ञासे बहुत-सी कन्याओंके साथ भाँति-भाँतिके वृक्षों, लताओं, फलों और फूलोंसे सुशोभित सुन्दर उद्यानमें खेला करती थी। एक दिन खेलती हुई उस कन्याको देखकर उसकी माताने पतिसे कहा—'स्वामिन्! बन्धु-बान्धवोंसहित आपका तथा मेरा भी जीवन व्यर्थ है, जिनके घरमें इतनी बड़ी कन्या अभीतक अविवाहिता है।' पत्नीके यों कहनेपर गन्धर्वराजने कहा—'देवि! मैं पुत्रीके लिये सुन्दर वरकी खोज करता हूँ।' यों कहकर धनवाहनने पुत्रीको पुकारा। माता-पिताके बुलानेपर गन्धर्वसेना तुरंत वहाँ आयी और उनके चरणोंमें प्रणाम करके बोली—'पिताजी! क्या आज्ञा है?' धनवाहनने प्रसन्न होकर कहा—'बेटी! तुम्हें जो कोई वर पसंद हो, उसे बताओ। मैं उसी गन्धर्वशिरोमणिके साथ तुम्हारा विवाह कर दूँगा।' पिताके यों कहनेपर कन्याने कहा—'क्या तीनों लोकोंमें मेरे रूपके करोड़वें अंशकी भी बराबरी करनेवाला कोई है?' उसकी यह अद्भुत बात सुनकर पिता-माता भौंचक्के-से रह गये और आपसमें बोले—'पुत्रीने यह अच्छी बात नहीं कही।' गन्धर्वसेना उस विशाल उद्यानमें पूर्ववत् सखियोंके साथ खेलने लगी। वसन्तका समय था, वह झूला झूल रही थी। उसी समय गणनायक शिखण्डी दिव्य विमानपर बैठा हुआ वहाँ आ निकला। उसने आकाशसे ही उस कन्याको देखा। मध्याह्न-संध्याका समय था। वह विमानसे उतरा और उसी उद्यानमें ठहर गया। उसी समय उसने गन्धर्वकन्याके मुखसे यह वचन सुना—'संसारमें कोई देवता अथवा दानव मेरे रूपके करोड़वें अंशके भी बराबर नहीं है।' तब गणनायकने अहंकारमें भरी हुई उस कन्याको शाप दे दिया—'तुम रूपके अभिमानमें गन्धर्वों और देवताओंका तिरस्कार करती हो, अतः तुम्हारे शरीरमें कोढ़ हो जायगी।' यह शाप सुनकर वह कन्या भयभीत हो गयी और साष्टांग प्रणाम करके दयाकी भीख माँगने लगी। उसकी विनयसे गणनायकको दया आ गयी और उसने कहा—'यह तुम्हारे गर्वका फल है, इसलिये गर्व कभी नहीं करना चाहिये। हिमालयके वनमें गोशृंग नामके एक श्रेष्ठ मुनि रहते हैं। वे तुम्हारा उपकार करेंगे।' यों कहकर गणनायक चला गया। गन्धर्वसेना उस सुन्दर वनको छोड़कर पिताके समीप आयी और कुष्ठ होनेका सब कारण कह सुनाया। सुनकर उसके माता-पिता शोकसे सन्तप्त हो उठे और पुत्रीको साथ ले तुरंत ही हिमालय पर्वतपर आये। वहाँ उन्होंने गोशृंग ऋषिके आश्रमको देखा। मुनिवर गोशृंग आश्रमके भीतर बैठे थे। उनका दर्शन करके स्तुति-प्रणाम करनेके अनन्तर वे दोनों गन्धर्व-दम्पति उनके आगे भूमिपर बैठे। मुनिके पूछनेपर गन्धर्वराजने कहा—'मेरी कन्याका शरीर कुष्ठरोगसे पीड़ित है। जिससे उसकी शान्ति हो, वह उपाय करें।'

**गोशृंगजी बोले**—भारतवर्षमें समुद्रके समीप सर्वदेववन्दित भगवान् सोमनाथ विराजमान हैं। वहाँ जाकर मनुष्योंको एक समय भोजन करते हुए सब रोगोंके नाशके लिये सोमनाथकी पूजा करनी चाहिये। तुम सोमवारव्रतके द्वारा भगवान् शंकरकी आराधना करो। यों करनेसे तुम्हारी पुत्रीका रोग नष्ट हो जायगा।

महर्षिका यह वचन सुनकर गन्धर्वराजने वहाँ

जानेका विचार किया और गोशृंग मुनिसे पूछा—'भगवन्! सोमवारव्रत कैसे करना चाहिये? किस समय उसका अनुष्ठान उचित है?'

**गोशृंगजीने कहा**—महाप्राज्ञ! पहले ब्रह्मवेलामें उठकर शौच आदिसे निवृत्त हो दन्तधावन करे, फिर स्नान करके स्वधर्मके अनुसार नित्यकर्म करे। उसके बाद सुन्दर समतल एवं शुद्ध स्थानमें उत्तम कलश स्थापित करे, जिसमें आमका पल्लव डाला गया हो और जिसपर चन्दनसे भाँति-भाँतिके चित्र बनाये गये हों। कलशके ऊपर पात्र रखे और उस पात्रमें जटा-मुकुटमण्डित सर्वाभूषण-भूषित श्वेतवस्त्रधारी अर्द्धनारीश्वर शिवकी प्रतिमा स्थापित करे। तत्पश्चात् उमासहित महेश्वरकी श्वेत वस्त्रों और भाँति-भाँतिके भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंद्वारा पूजन करे। बिजौरा नीबू अर्पण करे। निम्नांकित मन्त्रसे सब पूजा करनी चाहिये—

**ॐ नमः पञ्चवक्त्राय दशबाहुत्रिनेत्रिणे।**
**देव श्वेतवृषारूढ श्वेताभरणभूषित॥**
**उमादेहार्द्धसंयुक्त नमस्ते सर्वमूर्तये।**

'महादेव! आप श्वेत वृषभपर आरूढ़, श्वेत आभूषणोंसे भूषित तथा आधे शरीरमें भगवती उमासे संयुक्त हैं। आपके पाँच मुख, दस भुजाएँ तथा प्रत्येक मुखके साथ तीन-तीन नेत्र हैं। आपको नमस्कार है। आप सर्वस्वरूप हैं, आपको नमस्कार है।'

इसी मन्त्रसे पूजन और स्तुति करके रात्रिमें भोजन करे। सोमनाथ महादेवजीका ध्यान करते हुए कुशकी चटाईपर सोये। यों करनेपर अठारह प्रकारके कुष्ठ रोगोंका नाश होता है। दूसरे सोमवारको करंजका दन्तधावन करे और ज्येष्ठा-शक्तिसे संयुक्त शिवका कमलके फूलोंसे पूजन करके विधिपूर्वक मधुर भोजन करे। भगवान्‌को नारंगी चढ़ाये। शेष सब विधि पूर्ववत् करे। दूसरे सोमवारको यों करनेसे लाख गोदानका फल प्राप्त होता है। तीसरे सोमवारको अपामार्गकी दातुन करके शिवजीका पूजन करे। अनारके फलका भोग लगाये तथा चमेलीके फूलोंसे पूजा करे। रातमें अगुरु भोजन करे। उस दिन सिद्धि नामक शक्तिके साथ शिवकी पूजा करनी चाहिये। चौथे सोमवारको गूलरकी दातुन करनेका विधान है। उस दिन सोमासहित गौरीपतिकी पूजा करे। नारियलका फल चढ़ाये और दवनेके पत्तेसे पूजा करे। रातमें चीनी खाय और जागरण करे। पाँचवें सोमवारको विभूतिसहित गणेश्वरकी कुन्दके फूलोंसे पूजा करे। पीपलकी दातुन करे और मुनक्काके साथ अर्घ्य दे। रातको मौक्तिक तंदुल (सफेद मक्का) भोजन करे। यों करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है। छठे सोमवारको भद्रासहित स्वरूपनामक शिवका पूजन करे। चमेलीकी दातुन करे और धतूरके फलसे अर्घ्य दे। उस दिन बेलाके फूलोंसे परम भक्तिपूर्वक पूजा करनी चाहिये। रातमें कपूर भोजन करे। सातवें सोमवारको बेलाकी दातुन करे और दीप्ताशक्तिके साथ सर्वज्ञ शिवकी पूजा करे। जँभीरी नीबूका फल अर्पण करे और चमेलीके फूलोंसे पूजा। रातको लौंग खाय। यों करनेसे अनन्त फलकी प्राप्ति होती है। आठवें सोमवारको केलेके फल और मरूआके फूलोंसे अमोघा शक्तिसहित जगदीश्वर शिवका पूजन करे। रातमें दूध पिये। इससे अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त होता है। करोड़ बार गंगास्नान करनेसे और सूर्यग्रहणके समय कुरुक्षेत्रमें वेदवेत्ता ब्राह्मणको दस हजार स्वर्णमुद्रा दान करनेसे जिस फलकी प्राप्ति होती है, वही सोमवारव्रत करनेपर कोटिगुना होकर मिलता है। नवाँ सोमवार प्राप्त होनेपर व्रतका उद्यापन करे। ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित गोल मण्डप और कुण्ड बनाये। चार दरवाजे बनाकर मण्डपके मध्यमें चौकोर वेदीका निर्माण करे। उसपर मण्डल बनाकर बीचमें कमल बनाये। आठों दिशाओंमें पृथक्-पृथक् सुवर्णसहित कलश स्थापित करके पूर्वसे लेकर वामादि शक्तियोंकी भी स्थापना करे। कर्णिकामें परम प्रकाशमय श्रीसोमनाथजीको विराजमान करे।

सोमनाथजीकी सुवर्णमयी प्रतिमा मनोमती नामक शक्तिके सहित स्वर्ण-शय्यापर स्थापित करनी चाहिये। सुवर्ण अथवा रजत आदिके पात्रको शहदसे भरकर उसे स्वर्ण शय्यापर आच्छादित करके रख दे और उसीपर शिव-प्रतिमाका पूजन करे। फिर वस्त्र, आभूषण, ताम्बूल, छत्र, चवँर, दर्पण, दीप, घण्टा, चँदोवा, शय्या और गद्दा आदि वस्तुएँ सोमनाथकी प्रीतिके उद्देश्यसे पुराणवेत्ता आचार्यको दान करे। वहीं होम कराये। पूजन करके रातमें वहीं जागरण करे। अपने हृदयमें सोमनाथजीका ध्यान करते हुए पंचगव्य पीकर रहे। प्रातःकाल स्नान करके विधिपूर्वक सोमदेवका ध्यान करे। तत्पश्चात् दूध और खाँड़ आदिसे बने हुए अनेक प्रकारके भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंद्वारा नौ ब्राह्मणोंको भक्तिपूर्वक भोजन कराये। दो वस्त्र और एक गोदान करके विसर्जन करे। इस प्रकार सोमवारव्रतका पालन करनेवाला पुरुष अक्षय पुण्यका भागी होता है। धन-धान्यसे सम्पन्न तथा स्त्री-पुत्र आदिसे सुशोभित होता है। उसके कुलमें कोई दरिद्र अथवा दुःखी नहीं होता। इस प्रकार विधिपूर्वक व्रत करनेपर मनुष्य देहत्यागके पश्चात् शिवलोकमें जाता है। महाभाग! जहाँ भगवान् सोमनाथ विराजमान हैं, वहाँ शीघ्र जाओ।

**महादेवजी कहते हैं**—गोशृंग मुनिके यों कहनेपर गन्धर्वराज धनवाहन अपनी पुत्रीके साथ सब उपहार लेकर प्रभासक्षेत्रमें आये। वे सोमनाथका दर्शन करके आनन्दमें मग्न हो गये। यात्राके क्रमसे सोमनाथजीका पूजन करके उन्होंने कन्यासहित सोमवारव्रत किया। इससे उनके ऊपर सोमनाथ प्रसन्न हुए और उन्होंने उनकी कन्याके रोगोंका नाश करके समस्त कामनाओंकी सिद्धि देनेवाला गन्धर्वदेशका राज्य तथा अपनी भक्ति दी।

महादेवजीसे वरदान पाकर धनवाहन गन्धर्व कृतार्थ हो गये। उन्होंने सोमनाथजीके उत्तर भागमें दण्डपाणिके समीप भक्तिपूर्वक गन्धर्वेश्वर शिवकी स्थापना की। ये वरदासे पश्चिम पाँच धनुषकी दूरीपर स्थित हैं। पंचमी तिथिमें उनकी पूजा करके मनुष्य कभी दुःखी नहीं होता। धनवाहनकी पुत्री गन्धर्वसेनाने भी वहीं गौरीजीके समीप पूर्वभागमें तीन धनुषकी दूरीपर विमलेश्वर नामक शिवलिंगकी प्रतिष्ठा की, जो सब रोगोंका नाश करनेवाला है। तृतीयाको विमलेश्वरकी पूजा करके प्रत्येक स्त्री दुर्भाग्य-दोषसे मुक्त हो जाती, घरमें सम्मानित होती तथा पुत्र एवं संपूर्ण मनोरथोंको प्राप्त कर लेती है।

## सोमनाथकी यात्राविधि

**पार्वती बोलीं**—देव! अब आप सोमनाथजीकी महिमाका यथावत् वर्णन करें।

**महादेवजीने कहा**—भामिनि! हेमन्त, शिशिर एवं वसन्त-ऋतुओंमें सोमनाथकी यात्रा करनी चाहिये। अथवा जब कभी भी आपके पास धन हो, मनमें यात्राके लिये उत्साह हो एवं कोई पर्व आया हो, तभी वहाँ यात्रा की जा सकती है। श्रद्धा-भक्ति ही यात्राका मुख्य हेतु है। अपने घरमें कोई नियम लेकर मन-ही-मन भगवान् शिवको प्रणाम करे। फिर विधिपूर्वक श्राद्ध करके अपने ग्रामकी परिक्रमा करे। तत्पश्चात् मौन एवं एकाग्रचित्त हो मन और इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए यात्राके लिये निकले। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मात्सर्य और चपलताका त्याग करके मनुष्योंको वहाँकी यात्रा करनी चाहिये। तीर्थयात्रामें यज्ञोंसे भी बढ़कर पुण्य होता है। महादेवि! सोमनाथजीकी यात्राके सिवा दूसरे किसी उपायद्वारा सुगमतासे स्वर्गलोककी प्राप्ति नहीं होती। जो मनुष्य पवित्र श्रद्धाभावसे युक्त हो सोमेश्वरकी यात्रा करते हैं, वे मनुष्य कलियुगमें धन्य हैं। जैसे

समुद्रके समान दूसरा कोई जलाशय नहीं है, उसी प्रकार प्रभासक्षेत्रके सदृश अन्य कोई तीर्थ नहीं है। जिसके हाथ, पैर और मन भलीभाँति वशमें हों, जो विद्या, तप और कीर्तिसे युक्त हो, वह तीर्थके फलका भागी होता है। जो नियमसे रहे, नियमित भोजन करे, स्नान और जपमें तत्पर रहे तथा व्रत एवं उपवास करे, वह तीर्थके फलका पूर्णतः भागी होता है। जो क्रोधरहित, सत्यवादी, दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाला तथा संपूर्ण प्राणियोंके प्रति आत्मभाव रखनेवाला है, वह तीर्थके फलका भागी होता है। जो दरिद्र एवं धनहीन मनुष्य तीर्थयात्रामें तत्पर होते हैं, उन्हें विशेष नियमोंके बिना ही यज्ञफलकी प्राप्ति होती है। सभी वर्णों और आश्रमोंके लोगोंको तीर्थयात्रा फल देनेवाली है। जो दूसरे किसी कार्यसे तीर्थमें जाता है और वहाँ स्नान करता है, उसके लिये मुनियोंने स्नानके आधे फलकी प्राप्ति बतायी है। इस लोकमें पैदल तीर्थयात्रा करनेको उत्तम तप बताया गया है। किसी सवारीसे यात्रा करनेपर तीर्थमें स्नान-मात्रका ही फल मिलता है, यात्राका नहीं। देवि! जो मनुष्य अपने ही धन और अपने ही पैरोंसे तीर्थयात्रा सम्पन्न करते हैं, उन्हें चौगुने पुण्यकी प्राप्ति होती है।[१] इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए भिक्षान्न-भोजनपूर्वक जो तीर्थयात्रा करते हैं, वे दसगुना पुण्य-फल पाते हैं। छाता और जूता धारण न करके भिक्षान्न-भोजन एवं इन्द्रियसंयमपूर्वक तीर्थयात्रा करनेवाला ब्राह्मण भयंकर पापोंसे मुक्त हो जाता है। प्रतिग्रह (दान-ग्रहण) न करनेवाले मनुष्यकी यात्रा दसगुना पुण्य देनेवाली होती है। जो ब्राह्मण लोभवश क्षेत्रमें दानकी रुचि रखता है, उस दूषित हृदयवालेके लिये न तो यह लोक सुखद होता है न परलोक ही। यदि शूद्र ब्राह्मणका वेष धारण करके तीर्थमें दान ग्रहण करता है तो वह तत्काल तृण और काष्ठके समान भस्म हो जाता है और नरकमें गिरता है। अतः औरोंकी तो बात ही क्या है, ब्राह्मणोंको भी थोड़ा भी प्रतिग्रह नहीं स्वीकार करना चाहिये।

तीर्थ दो प्रकारके होते हैं—कृत और अकृत। जो स्वकीयभावसे युक्त है अर्थात् जो अपने ही धन एवं पैरोंसे यात्रा करता और अपने हृदयमें उत्तम भाव रखता है, वही इन दोनों प्रकारके तीर्थोंका संपूर्ण फल पाता है। जो मनुष्य दूसरेके अन्नसे जीविका चलाते हुए यात्रा करता है, वह उस तीर्थ-यात्राके संपूर्ण फलका सोलहवाँ भाग पाता है। असमर्थ, अन्ध, पंगु तथा यायावर,[२] जो दूसरोंसे अन्न लेनेके लिये विवश हैं, उनका प्रतिग्रह दोषरहित माना गया है। जो तीर्थसेवी मनुष्य ब्राह्मणोंको स्नानकी सुविधा (व्यय आदि) तथा खान-पान आदि देता है, वह तीर्थजनित संपूर्ण फलको पाता है। इष्ट देव, गुरु और माता-पिताको स्वेच्छानुसार पुण्य प्रदान करनेवाला पुरुष आठगुने फलका भागी होता है। स्नान, दान, तप, होम, स्वाध्याय, देवपूजा आदि पुण्य-कर्मका ही सर्वत्र दान होता है; पाप कर्मका नहीं। तीर्थमें जाकर पिता, माता, भाई, सुहृद् तथा गुरु—जिसके उद्देश्यसे भी मनुष्य गोता लगाता है, वह उस तीर्थ-स्नानके पुण्यका द्वादशांश प्राप्त कर लेता है। अतः वेदके बलका भरोसा करके प्रतिग्रह (दान लेने)-में रुचि न रखे। वेद बेचनेवाले पुरुषका स्पर्श कर लेनेपर स्नान करनेका ही विधान है। राजाके दरबारमें तथा विशेषतः तीर्थ और महातीर्थमें रहनेवाले विद्वान्को वेद-विक्रय कदापि नहीं करना चाहिये। जो तीर्थसेवी ब्राह्मण देनेपर भी दान न ले, वही वास्तवमें तीर्थ करता और अपने पूर्वजोंको भी पवित्र कर देता है। अन्यत्र किया हुआ पाप

---

१- तीर्थानुगमनं पद्भ्यां तपः परमिहोच्यते। तदेव कृत्वा यानेन स्नानमात्रं फलं लभेत्॥
ये चान्ये कुर्वते शक्त्या तीर्थयात्रां तथेश्वरि। स्वकीयद्रव्यपादाभ्यां तेषां पुण्यं चतुर्गुणम्॥
(स्क० पु०, प्र० ख० २६। २४-२५)

२- जो एक-एक गाँवमें एक रात डेरा डालते हुए सदा विचरता रहता है, उस साधु अथवा मुनिको 'यायावर' कहते हैं।

तीर्थमें क्षीण हो जाता है, परन्तु तीर्थमें किया गया पाप अन्य स्थानोंमें कभी नष्ट नहीं होता है। तीर्थसेवन करनेवाला जो ब्राह्मण अत्यन्त क्लेशग्रस्त होनेपर भी किसीसे दान नहीं लेता, सत्य बोलता और चित्त-वृत्तियोंको रोककर ध्यानस्थ रहता है, उसीके लिये तीर्थ उपकारक होता है। सत्ययुगमें पुष्कर, त्रेतामें नैमिषारण्य, द्वापरमें कुरुक्षेत्र तथा कलियुगमें प्रभासक्षेत्र मुख्य माना गया है। एक मनुष्य सहस्र युगोंतक एक पैरसे खड़ा होकर तपस्या करता है और दूसरा केवल प्रभास-तीर्थकी यात्रा करता है; दोनोंका फल समान है। प्रभास-तीर्थमें पहुँचकर मनुष्य सवारी छोड़ दे और अपने ही चरणोंसे पैदल चले। नाचते, हँसते, गाते और कीर्तन करते हुए सोमेश्वरदेवके समीप जाय; वहाँ सबसे पहले जटाजूटधारी भगवान् शिवका दर्शन करे। सोमनाथके सम्मुख स्थित हुए उस पुरुषको देखकर पितर सदैव संतुष्ट होते हैं, पितामह हर्षध्वनि करते हैं और कहते हैं—'हमारे वंशका सुपुत्र हमें तारनेके लिये प्रस्थित हुआ है।' सोमनाथजीके समीप जाकर पहले क्षौर कराये, तीर्थमें उपवास करे। गंगाके समान कोई तीर्थ नहीं है, कृष्णके समान दूसरी गति नहीं है, गायत्रीके सदृश दूसरा जपनीय मन्त्र नहीं है, व्याहृति-होमके समान होम नहीं है, जलके भीतर अघमर्षण-जपके समान दूसरा कोई पापनाशक कर्म नहीं है; तथा तीर्थमें उपवास करनेसे बढ़कर और कोई ऐसा उपाय नहीं है, जो पापियोंके सब पापोंको शान्त करनेवाला तथा सत्पुरुषोंको उनके अभीष्ट मनोरथोंको देनेवाला हो। देवस्थानमें उपवास करनेका विशेष विधान है। उपवास ही ब्राह्मणका श्रेष्ठ तप कहा गया है। छठे समय भोजन करना शूद्रोंके लिये महान् तप है। वर्णसंकरोंके लिये एक दिनका उपवास ही श्रेष्ठ तप है। यदि शूद्र छठे कालसे अधिक उपवास करे अर्थात् वह तीन दिनसे अधिक समयतक बिना भोजन किये तप करता रहे तो राष्ट्रकी हानि होती है तथा राजाके लिये महान् उपद्रव प्राप्त होता है। शूद्रको चाहिये कि वह कुशा न उखाड़े, कपिला गौका दूध न पिये, पीपलके पत्तेपर भोजन न करे, ॐकारका उच्चारण न करे, यज्ञका पुरोडाश न खाय, यज्ञोपवीत न पहने और वेद न पढ़े। शूद्रके कर्म केवल देवता-आदिको नमस्कार करनेमात्रसे सिद्ध हो जाते हैं (मन्त्रयुक्त प्रार्थनाकी आवश्यकता नहीं रहती)। शूद्रके लिये जिन कर्मोंका निषेध किया गया है, उन्हें यदि वह करता है तो वह अपने पितरोंके साथ नरकमें डूबता है। जिसने अपनी ग्यारह इन्द्रियोंको वशमें कर लिया है, वही तीर्थका फल पाता है; दूसरे अजितेन्द्रिय मनुष्य केवल क्लेशके भागी होते हैं। जो मानव तीर्थमें पितरोंका श्राद्ध और स्नान करता है तथा सब प्राणियोंके हितमें संलग्न रहता है, वह तीर्थके पूर्ण फलको पाता है। जो पाखण्डी, लोभी और परस्त्रीपरायण होकर तीर्थयात्रा करता है, वह केवल पापका भागी होता है।

महादेवि! यों जानकर मनुष्य विधिपूर्वक तीर्थयात्रा करे। पहले तीर्थमें उपवास करके श्रद्धायुक्त हो दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करे, उसके बाद वहाँ भोजन करे। ब्राह्मणको उस दिन कहीं भी पराया अन्न नहीं खाना चाहिये। भोजन देनेवालेको सौगुना पुण्य मिलता है; अतः व्रती, तीर्थयात्री एवं विशेषतः विधवाको चाहिये कि वह तीर्थमें उपवास करे और यथासंभव दूसरेको अन्न दे। पराया अन्न भोजन करनेपर जिसका अन्न खाया जाता है, उसीको पुण्य-फल प्राप्त होता है।

अब मैं विधवा स्त्रीके लिये तीर्थयात्राकी विधि बतलाता हूँ। विधवाको उचित है कि वह रोली, चन्दन, पान, पुष्पमाला, रंगीन वस्त्र, शय्या आदि बिछावन, अशिष्ट मनुष्योंसे वार्तालाप, दुबारा भोजन, पुरुषकी ओर देखना और हँसना छोड़ दे। जोर-जोरसे बोलना, जूते पहनना, नृत्य और गीतको त्याग दे। केश रखना, आँखोंमें काजल लगाना, उबटन लगवाना, कुलटा स्त्रियोंसे

बात करना और पण्डिताई दिखाना छोड़ दे।* यति, ब्रह्मचारी और विधवा—ये नित्य स्नान और श्वेत वस्त्र धारण करें।

सत्ययुगमें तप उत्तम है, त्रेतामें ध्यान, द्वापरमें यज्ञ और कलियुगमें केवल दान श्रेष्ठ धर्म है। मुनिलोग प्रभासमें पहुँचकर कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि तप करते हैं और दूसरे लोग कलियुगमें प्रभासक्षेत्रमें जाकर ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक दान देते हैं; किंतु वे उस दानसे ही तपस्याका फल पा लेते हैं। धान्य, रत्न, गुड, सुवर्ण, तिल, रुई, शक्कर, घी, नमक और चाँदी—ये दस पर्वत कहे गये हैं (अर्थात् धान्य-पर्वत, रत्नमय पर्वत आदि रूपसे इन वस्तुओंके पर्वत (ढेरी)-का दान करना चाहिये)। गुड़, घी, दही, मधु, जल, रुई, तिल, कम्बल, रत्न तथा नमक—ये दस प्रकारकी वस्तुएँ धेनु मानी गयी हैं (इनकी धेनुका दान किया जाता है) इन दानोंमेंसे कोई-न-कोई एक दान विभिन्न तीर्थोंमें अवश्य करना चाहिये। महादेवि! सरस्वती समुद्रसंगममें विद्वान् ब्राह्मणके लिये गृहस्थोपयोगी वस्तु एवं सर्वस्व दान करना चाहिये। बहुत हो या थोड़ा, ब्राह्मणोंको प्रिय वस्तुओंका ही दान करना चाहिये। जिस तीर्थमें शिवलिंग तथा निर्मल जलवाला जलाशय हो, वहाँ पहले अग्निहोत्र करके विशिष्ट दान देना चाहिये। प्रत्येक तीर्थमें देवताओं और पितरोंका तर्पण, श्राद्ध, दक्षिणासहित दान तथा गोदान करना चाहिये। यह आवश्यक विधि है। देवताओंको स्नान कराकर चन्दन लगाये और उनकी पूजा करे। पृथ्वीका भी भक्तिपूर्वक पूजन और लेपन करे। देवमन्दिरमें चूना लगाकर उसे सफेद करे। यदि मन्दिर पुराना हो गया हो तो उसका जीर्णोद्धार करे। देवसेवाके लिये फुलवाड़ी लगाये। निर्मल जलका कुआँ बनवाये तथा वन-उपवनका निर्माण कराये। ब्राह्मणोंको प्रचुर दान दे और देव-पूजन करे। सर्वत्र देवयात्राके लिये यह विधि नियत की गयी है। प्रसिद्ध तीर्थमें महादान और मध्यममें मध्यम श्रेणीका दान करे। गोदान तो सभी तीर्थोंमें करनेयोग्य है। इस प्रकार भक्तिपूर्वक दान करके मनुष्य अपने जन्मका फल पा लेता है।

**पार्वतीजीने पूछा**—प्रभो! जो मनुष्य प्रभासक्षेत्रमें आकर भी भक्ति, दान, स्नान और मन्त्रसे विहीन हैं, उन्हें क्या फल मिलता है? यह बतायें।

**महादेवजीने कहा**—देवि! धनी हों या निर्धन, मन्त्रज्ञ हों या मन्त्ररहित, जो प्रभासमें मृत्युको प्राप्त होते हैं, वे सभी शिवलोकको जाते हैं। प्रिये! जो मन्त्रहीन और निर्धन मनुष्य वहाँ देह-त्याग करते हैं, उन्हें मैं एक बड़ा भारी विमान देता हूँ। वे स्नान-दानके अनुरूप परम पदको प्राप्त होते हैं। कोई स्नानके प्रभावसे, कोई दानसे, कोई सोमेश्वरलिंगके प्रभावसे, कोई लिंगपूजासे, कोई ध्यानके प्रभावसे, कोई योगकी महिमासे, कोई मन्त्र-जपसे, कोई तपसे, कोई तीर्थसंन्याससे तथा कोई भक्तिभावके अनुसार वहाँ परमपदको प्राप्त होते हैं। ये तथा और भी बहुत-से उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणीके लोग सूर्यसदृश तेजस्वी विमानोंद्वारा शिवलोकमें जाते हैं।

पहले प्रणवका उच्चारण करके तीर्थके पवित्र जलका स्पर्श करे। तदनन्तर भीतर प्रवेश करके मन्त्रपाठपूर्वक स्नान करे। मन्त्र इस प्रकार है—

**ॐ नमो देवदेवाय शितिकण्ठाय दण्डिने।**
**रुद्राय वामहस्ताय चक्रिणे वेधसे नमः॥**

---

* विधवा चैव या नारी तस्या यात्राविधिं ब्रुवे। कुंकुमं चन्दनं चैव ताम्बूलं च स्रजस्तथा॥
रक्तवस्त्राणि सर्वाणि शय्याद्यास्तरणानि च। अशिष्टैः सह संभाषां द्विवारं भोजनं तथा॥
पुंसां प्रदर्शनं चैव हासं चैव विवर्जयेत्। संशब्दोपानहौ चैव नृत्यगीतं च वर्जयेत्॥
धारणं चैव केशानामञ्जनं च विलेपनम्। असतीजनसंसर्गं पाण्डित्यं च परित्यजेत्॥
(स्क० पु०, प्रभा० ख० २६। ७८—८१)

**सरस्वती च सावित्री देवमाता विभावरी।**
**सन्निधाने भवत्वत्र तीर्थे पापप्रणाशने॥**

जो सच्चिदानन्दस्वरूप, देवताओंके भी देवता, कण्ठमें नीला चिह्न धारण करनेवाले, दण्डधारी, सुन्दर हाथवाले, चक्रधारी तथा विश्वके उत्पादक हैं, उन भगवान् रुद्रको नमस्कार है, नमस्कार है। इस पापनाशक तीर्थमें आकर सरस्वती, सावित्री तथा देवमाता विभावरी निवास करें, हमें अपना सामीप्य दें।

सभी तीर्थोंके लिये यह मन्त्र बताया गया है। इसका उच्चारण करके विधिपूर्वक नमस्कार एवं स्नान करे। उस दिन उपवास भी करे। वर्षमें एक बार उस तिथिपर अवश्य उपवास करना चाहिये।

## समुद्रमें स्नानकी विधि और महिमा

**महादेवजी कहते हैं**—सोमनाथके दक्षिणभागमें त्रिभुवनविख्यात पद्मक नामक तीर्थ है, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है। पहले सोमेश्वरके समीप क्षौर कराकर मन-ही-मन मेरा चिन्तन करते हुए उस तीर्थमें अपने केश डाल दे। उसके बाद पुनः स्नान करे। मनुष्य जो कुछ भी पाप करता है, वह सब केशोंमें स्थित होता है; अतः केशोंको अवश्य ही तीर्थमें फेंक देना चाहिये। सौभाग्यवती स्त्रियोंको चाहिये कि वे सब केशोंको हाथसे पकड़कर अग्रभागकी ओरसे दो अंगुल कटवा दें (उनके लिये मुण्डनकी विधि नहीं है)। मुण्डन और स्नानके पश्चात् देवताओं और पितरोंका तर्पण करे। सभी तीर्थोंमें मुण्डन और उपवासकी विधि है। जो पर्वका दिन छोड़कर और किसी समय प्रभासक्षेत्रमें बिना मन्त्रके स्नान करता है, वह उसका पुण्य-फल नहीं पाता। बिना मन्त्रके, बिना पर्वके और बिना क्षौरकर्म किये समुद्र-जलका स्पर्श नहीं करना चाहिये। निम्नांकित मन्त्रका उच्चारण करके सागरके जलका स्पर्श करना उचित है—

**ॐ नमो विष्णुगुप्ताय विष्णुरूपाय ते नमः।**
**सान्निध्ये भव देवेश सागरे लवणाम्भसि॥**

'समुद्रदेव! तुम भगवान् विष्णुसे सुरक्षित हो, तुम्हें नमस्कार है। तुम साक्षात् विष्णुके स्वरूप हो, तुम्हें नमस्कार है। देवेश्वर! विष्णो! आप इस क्षीरसागरके जलमें मेरे समीप स्थित हों।'

यों कहकर तीर्थसेवी मानव नदीपति समुद्रके जलमें स्नान करे। फिर श्रद्धायुक्त होकर तिलमिश्रित जलसे देवता, मनुष्य और पितरोंका तर्पण करे। सहस्रों जन्मोंमें मनुष्य जो पाप करता है, उसे एक बार समुद्रके जलमें नहाकर नष्ट कर देता है। ब्रह्माजीने समुद्रसे कहा है—'सागर! जबतक लोकमें तुम्हारी स्थिति रहेगी, जबतक आकाशमें सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र बने रहेंगे, तबतक पूर्वज तुम्हारे खारे जलके अमृतसे तृप्त होंगे। जो मनुष्य शुद्धचित्त होकर प्रतिमास तुम्हारे जलमें स्नान करेगा, उसे प्रतिदिन पुण्डरीक यज्ञका फल मिलेगा। श्रीसोमनाथ तथा समुद्रके बीचकी भूमिमें जिनकी मृत्यु होगी, वे पापी रहे हों तो भी निष्पाप होकर स्वर्गलोकमें जायँगे। महादेवि! समुद्रके भीतर पाँच करोड़ शिवलिंग हैं, जिन्हें समुद्रने इस मन्वन्तरमें अदृश्य कर दिया है। इसी प्रकार वहाँ अग्निकुण्ड तथा पद्म-सरोवर भी हैं, जो इस मन्वन्तरमें समुद्रजलसे आवृत हो गये हैं। दक्षिण ओर चक्र तथा मैनाकके मध्यभागमें सौ धनुष लंबा-चौड़ा सुवर्णमय कुण्ड है; सोमनाथसे दक्षिण सौ धनुषकी दूरीपर वह स्थान है। उत्तर मानससे पूर्व जहाँ कृतस्मरदेव हैं; वहाँतक उसकी सीमा है; यह गुप्त स्थान है।'

# सोमनाथके दर्शन-पूजनकी महिमा और पंचस्रोता सरस्वतीका आविर्भाव तथा माहात्म्य; बडवानलका समुद्रमें वास

**महादेवजी कहते हैं**—देवि! इस प्रकार विधिपूर्वक स्नान करके समुद्रको अर्घ्य दे; गन्ध, पुष्प, वस्त्र और चन्दन आदिसे उनकी पूजा करे; तत्पश्चात् तर्पण करके भगवान् कपर्दीके समीप जाय। उनकी भी पुष्प, धूप, गन्ध तथा वस्त्रद्वारा भक्तिपूर्वक पूजा करे। '**गणानां त्वां**' इत्यादि मन्त्र पढ़कर उन्हें अर्घ्य निवेदन करे। शूद्रोंको अष्टाक्षर मन्त्र (**गं गणपतये नमः**)-का उच्चारण करके अर्घ्य देना चाहिये। तदनन्तर सोमनाथजीके समीप जाय। उन्हें विधिसे स्नान कराकर शतरुद्रियका जप (पाठ) करे। रुद्रपंचांगोंका तथा अन्यान्य रुद्रसंहिताओंका भी जप करना चाहिये। दूध, दही, घी, मधु तथा इक्षुरससे सोमेश्वरको नहलाकर उनके अंगोंमें कुंकुमका लेप करे। उसमें कपूर, खस और कस्तूरीको भी मिलाये रखना चाहिये। इसके बाद सुगन्धयुक्त चन्दन और फूलोंसे पूजा करे। नाना प्रकारके धूप निवेदन करके उन्हें वस्त्रसे आवेष्टित करे। तत्पश्चात् उत्तम नैवेद्य अर्पण करे और इच्छानुसार स्तुति करे। साष्टांग प्रणाम करके गीतवाद्य आदिका आयोजन करे। धर्म-कथा सुने और भगवान्‌की परिक्रमा करे। तदनन्तर ब्राह्मणों, तपस्वियों, दीनों, अन्धों, कंगालों तथा भिक्षुओंको अपनी शक्तिके अनुसार दान दे। उस दिन उपवास करना चाहिये। जिस दिन पहले-पहल मनुष्य सोमनाथका दर्शन करे; उस तिथिको एक वर्षतक भक्तिपूर्वक उपवास करे। यों करके मनुष्य अपने जन्मका फल पा लेता है। पिता और माताके कुलका उद्धार कर देता है। सोमनाथका दर्शन करनेसे सब पापोंका नाश हो जाता है; अतः सात जन्मोंतक कभी दुःख, दारिद्र्य और दुर्भाग्यकी प्राप्ति नहीं होती। सोमनाथके प्रति भक्ति बढ़ती है। पहले दूधसे स्नान कराकर फिर जलसे स्नान कराना चाहिये। जो मनुष्य मध्याह्नकालमें और सन्ध्याके समय सोमेश्वर शिवकी आरतीका दर्शन करते हैं, वे फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेते।

**पार्वतीजीने पूछा**—भगवन्! प्रभासक्षेत्रमें सरस्वती नदी कहाँसे आयी है।

**महादेवजीने कहा**—देवि! सुनो। हरिणी, वज्रिणी, न्यंकु, कपिला तथा सरस्वती—इन पाँच स्रोतोंसे युक्त सरस्वती नदी इस क्षेत्रमें प्रवाहित होती है। एक समय देवाधिदेव भगवान् विष्णुने सरस्वतीसे कहा—'कल्याणि! तुम पश्चिम दिशामें क्षारसमुद्रके समीप जाओ और बडवानलको वहीं ले जाकर डाल दो। इससे सब देवता निर्भय हो जायँगे।' तब सरस्वती बोलीं—'मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। मेरे पिता विद्यमान हैं, मैं उनकी आज्ञाकारिणी पुत्री हूँ। ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाली कुमारी हूँ। पिताकी आज्ञाके बिना एक पग भी कहीं नहीं जाऊँगी।'

तब भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीके समीप जाकर कहा—'देवेश्वर! आप देवताओंका यह कार्य सिद्ध कीजिये।' उनके यों कहनेपर ब्रह्माजी अपनी कुमारी कन्यासे बोले—'देवि! तुम भयसे व्याकुल हुए उन सब देवताओंकी रक्षा करो।'

**सरस्वती बोलीं**—पिताजी! आपकी आज्ञासे मैं निश्चय ही वहाँ जानेके लिये उद्यत हूँ। परंतु यह भयंकर बडवानल मेरे शरीरको जला देगा। इसके सिवा इस समय भूतलपर कलियुग आया है। अतः कलियुगके पापाचारी मनुष्य मेरा स्पर्श करेंगे।

**ब्रह्माजीने कहा**—बेटी! यदि तुम पापी जनोंसे भरी हुई इस पृथ्वीका स्पर्श करना नहीं चाहतीं, तो पातालमें स्थित होकर इस बडवानलको समुद्रमें ले जाओ। जब बडवानलका ताप अधिक हो जाय, तब पृथ्वी फोड़कर प्रत्यक्ष हो जाना

और पूर्ववाहिनी होकर प्राची सरस्वतीके नामसे विख्यात होना।

**महादेवजी कहते हैं**—ब्रह्माजीका यह आदेश पाकर सरस्वती अपने तेजसे सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करती हुई चलीं। उस समय अपने पीछे-पीछे आती हुई गंगाजीसे सरस्वतीने कहा—'सखी! अब मैं पुनः कहाँ तुम्हारा दर्शन करूँगी?' गंगाजीने स्नेहभरी वाणीमें उत्तर दिया—'सुव्रते! पश्चिम जाती हुई तुम जब-जब पूर्वदिशाकी ओर मुँह करके देखोगी, तब-तब मुझे अपने समीप खड़ी हुई पाओगी। वहाँ मैं सब देवताओंके साथ तुम्हें दर्शन दूँगी।' तब उन्होंने गंगाजीसे विदा लेकर कहा—'भद्रे! अब तुम अपने स्थानको जाओ, मुझे पुनः तुम्हारा दर्शन प्राप्त हो।' इसी प्रकार सरस्वतीने यमुना, गायत्री और सावित्री आदि सखियोंको भी विदा किया। तदनन्तर हिमालय पर्वतपर आकर वे एक पाकड़के वृक्षसे नदीरूपमें प्रकट हुईं और पृथ्वीपर उतरीं। उस समय पुण्यसलिला सरस्वतीदेवीकी ब्रह्मर्षिगण स्तुति कर रहे थे। बडवानलको लेकर वह नदी बड़े वेगसे चली और पृथ्वी फोड़कर पातालमें प्रवेश कर गयी। कहीं-कहीं मर्त्यलोकमें भी प्रत्यक्ष हो जाती थी। इस प्रकार पातालमार्गसे समुद्रके निकट गयी। खदिरामोद नामक वनमें पहुँचकर सरस्वतीने समुद्रको देखा और बडवानलको लेकर उसके समीप जानेका विचार किया। जब वह दक्षिणकी ओर मुख करके प्रस्थित हुई, उसी समय वेदोंके पारंगत विद्वान् चार महर्षि प्रभासक्षेत्रमें आये। उनके नाम इस प्रकार हैं—हिरण्य, वज्र, न्यंकु और कपिल। वे चारों तपस्वी थे। उन्होंने अलग-अलग स्नान करनेके लिये सरस्वतीका आवाहन किया। इतनेमें ही समुद्र भी सहसा सरस्वतीके सम्मुख उपस्थित हुआ। तब सरस्वतीने पाँच धाराओंमें विभक्त होकर उन सबको सन्तुष्ट किया। इससे इस पृथ्वीपर उसके पाँच नाम विख्यात हुए—हरिणी, वज्रिणी, न्यंकु, कपिला और सरस्वती। यह पंचस्रोता सरस्वती अपने भीतर जलपान और स्नान करनेसे मनुष्योंके पाँच महापातकोंका नाश करती है। एक सप्ताहतक वहाँ उपवास, जप, होम, स्नान और जलपान करनेसे वह सब पापोंका नाश कर देती है। सरस्वती अपने भीतर आचमन और स्नान करनेपर मनुष्योंकी घोर ब्रह्महत्याका तथा कपिला मदिरापानरूप महापातकका नाश करती है। न्यंकु नदीमें स्नान करके पुरुष चोरीके महापातकसे मुक्त हो जाता है। वज्रिणी नदीका जल पीनेसे गुरुपत्नीगमनरूप महापातकका नाश होता है। हरिणी नदी सात दिनोंतक स्नान करनेसे संसर्गजनित महापातकका अपहरण करनेवाली है। इस तरह पाँच धाराओंमें विभक्त सरस्वती नदी सब पातकोंका निश्चय ही नाश कर देती है। तदनन्तर पुनः बडवानलको लेकर सरस्वती समुद्रके समीप स्थित हुईं। बडवानलने उठती हुई तरंगोंसे युक्त समुद्रको देखकर सरस्वतीसे पूछा—'भद्रे! यह क्या है? क्षारसमुद्र मुझसे डरता क्यों है?' सरस्वतीने हँसकर कहा—'अग्ने! तुमसे कौन भयभीत न होगा।' बडवानल बोला—'भद्रे! मैं तुम्हें वर दूँगा, इच्छानुसार वर माँगो।' तब सरस्वतीने भगवान् विष्णुका स्मरण किया। भगवान्ने हृदयमें प्रकट होकर उसे दर्शन दिया। सरस्वतीने पूछा—'भगवन्! बडवानल मुझे वरदान देता है; बताइये, मैं इससे क्या माँगूँ?' हृदयस्थित भगवान्ने कहा—'कल्याणी! तुम उससे कहो कि वह अपना मुँह सूईके समान बना ले।' तब सरस्वतीदेवीने उससे कहा—'बडवानल! तुम सुईके समान मुँह बनाकर समुद्रका जल पीते रहो।' उसके यों कहनेपर बडवानलने सूईके छिद्रके समान अपना मुँह कर लिया। जैसे घटीसूचक पात्रमें धीरे-धीरे जल प्रवेश करता है, उसी प्रकार वह भी जल पीने लगा।

**महादेवजी कहते हैं**—तदनन्तर सरस्वतीने समुद्रको बुलाकर कहा—'तुम सब देवताओंके आदि तथा प्राणियोंके प्राण हो, भगवान् विष्णुकी आज्ञासे यहाँ आकर इस बडवानलको ग्रहण

करो।' समुद्रने कहा—'देवि! लाओ, बडवानलको मुझे दे दो।' तब सरस्वतीने बडवानलसे कहा—'जैसे अग्निदेव घीकी आहुति ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार तुम भी जल भक्षण करो।' यों कहकर उसने वह बडवानल समुद्रको समर्पित कर दिया। इसके बाद सरस्वती पुनः नदी होकर नारदेश्वरके मार्गसे समुद्रमें मिल गयी। वह स्वरूपसे ही परम पवित्र थी, फिर प्रभासक्षेत्र और समुद्रके सम्पर्कसे अत्यन्त पुण्यमयी हो गयी। महाबली बडवानल समुद्रमें रहकर अपने मुखसे उसका जल पीने लगा। उसके उच्छ्वासकी वायुसे उठा हुआ जल ज्वारके रूपमें समुद्रसे बाहरतक दौड़ जाता है। इस प्रकार समस्त पातकोंका नाश करनेवाली सरस्वती ब्रह्मलोकसे उत्तम प्रभासक्षेत्रमें आयी है। समुद्रके समीप सोमनाथके दक्षिण एवं आग्नेय दिशामें सरस्वतीकी स्थिति है। पहले अग्नितीर्थमें स्नान करके मनुष्य विधिपूर्वक सरस्वतीका पूजन करे। वहाँ ब्राह्मणदम्पतिको भोजन कराकर उन्हें पहननेके लिये वस्त्र दे। उसके बाद कपर्दीश्वरकी पूजा करे। पार्वती! इस प्रकार यह सरस्वती नदीके प्रकट होनेका वृत्तान्त तुमसे कहा गया है।

## सरस्वती नदीकी महिमा तथा वहाँ स्नान, दान और श्राद्धका माहात्म्य

**महादेवजी कहते हैं**—प्रभासक्षेत्रमें सरस्वती नदी स्वर्गलोककी सीढ़ीके समान स्थित हैं। प्राची सरस्वती सर्वत्र दुर्लभ हैं; परंतु प्रभास, कुरुक्षेत्र और पुष्करमें उनका दर्शन विशेष दुर्लभ है। अग्नितीर्थके समीप सरस्वती बहती हैं। जो पहले उनका पूजन करता है, वह तीर्थके फलका भागी होता है। सागर तीर्थ भी पापोंका नाश और पुण्यकी वृद्धि करनेवाला है। उसके दर्शनसे ही महायज्ञका फल होता है। अग्नितीर्थमें स्नान करके क्रमशः सरस्वती-कपर्दीश्वर, केदारेश्वर, भीमेश्वर तथा सोमेश्वरदेवका विधिपूर्वक पूजन करके बालरूपधारी ब्रह्माजीकी पूजा करे। इस प्रकार शैवी यात्रा बतायी गयी है।

जो मनुष्य भोजन करके या बिना भोजन किये, दिनमें अथवा रातमें चन्द्रभागा, गंगा और सरस्वती—इन तीन नदियोंका जल पीते हैं, वे देवताके समान हैं। जहाँ प्राची सरस्वती बहती हैं, वहाँ काल, अग्नि और यमराजका भय नहीं है। जैसे कामदा गौएँ हर समय फल देनेवाली होती हैं, वैसे ही प्राची सरस्वती भी हैं। जहाँ चिन्तामणिके समान प्राची सरस्वती हैं, वहाँ स्वर्ग और मोक्ष दोनों सुलभ हैं। अठासी हजार ऊर्ध्वरेता मुनि जहाँ संन्यास आश्रममें स्थित हैं, उस सरस्वतीसे बढ़कर और कौन-सा तीर्थ है। पार्वती! प्रभास नामक महाक्षेत्रमें सरस्वतीके उत्तर तटपर जो अपने शरीरका त्याग करता है, वह फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेता। जो मनुष्य इस तीर्थमें श्राद्ध करेंगे, वे अपनी इक्कीस पीढ़ियोंके साथ स्वर्गलोकमें चले जायँगे। यहाँ कृष्णपक्षकी चतुर्दशीको सदा ही स्नानकी विधि है। यहाँ श्राद्ध करनेसे पितरोंको अक्षय तृप्ति मिलती है। जो यहाँ अधिक अन्न दान करते हैं, वे मोक्ष मार्गको प्राप्त होते हैं। जो पुरुष ब्राह्मणको यहाँ सुन्दर दही देता है, वह गोलोकमें जाकर उत्तम भोग भोगता है। जो भक्तिपूर्वक श्रेष्ठ ब्राह्मणको ऊनी चद्दर दान करता है, उसे उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है। जो भक्तिपूर्वक इस तीर्थमें स्नान करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो ब्रह्मलोकमें पूजित होता है।

# 'कपर्दी' की अग्रपूजाका हेतु और महिमा

**पार्वतीजीने पूछा**—भगवन्! आपने जो यह कहा है कि पहले 'कपर्दी' का दर्शन करे, इसका क्या कारण है? क्योंकि वह तो आपका सेवक है। स्वामीके पश्चात् ही सेवकका पूजन हो, यह सनातन धर्म है।

**महादेवजी कहते हैं**—प्रभासक्षेत्रमें सोमेश्वर देवके रूपमें जो लिंगरूपधारी सदाशिव विराजमान हैं, वे इन्द्रियातीत पुरुषोंद्वारा चिन्तन करने योग्य हैं। उनके वामभागमें वाराहरूपधारी भगवान् विष्णु और दक्षिणभागमें प्रजापति ब्रह्माजी विराजमान हैं। द्वापरकी सन्धिमें कलियुग प्राप्त होनेपर स्त्री, म्लेच्छ, शूद्र तथा अन्य पापाचारी मनुष्य भी भगवान् सोमनाथका दर्शन करके शीघ्र ही स्वर्गलोकको चले जाते थे। बालक और वृद्ध सभी उत्तम गतिको प्राप्त होते थे। यह देख इन्द्र आदि देवता मेरी शरणमें आये और हाथ जोड़कर बोले—'भगवन्! आपके प्रसादसे यह सम्पूर्ण स्वर्ग मनुष्योंसे भर गया है, अतः अब हमारे रहनेके लिये कोई दूसरा स्थान दीजिये। जिनके लिये भयंकर कुम्भीपाक सजाया गया, रौरव तथा शाल्मलि आदि नरकोंका निर्माण किया गया, उन्हें स्वर्गमें स्थित देखकर यमराजने अपना व्यापार ही छोड़ दिया है।'

**मैंने कहा**—देवताओ! मैंने चन्द्रमाकी भक्तिसे संतुष्ट होकर उनसे यह प्रतिज्ञा की है कि प्रभासक्षेत्रमें सदा मेरा निवास होगा। मैं अपनी कही हुई बात किसी प्रकार पलट नहीं सकता। जो लोग वहाँ मेरा दर्शन करेंगे, वे निश्चय ही स्वर्गलोकमें जायँगे।

पार्वती! यह सुनकर देवता भयसे व्याकुल हो गये और तुम्हें वहाँ खड़ी देख हाथ जोड़कर बोले—'माता! तुम्हीं हमें आश्रय दो।' यों कहकर वे तुम्हारी स्तुति करने लगे।

**देवता बोले**—देवेश्वरी! तुम्हें नमस्कार है। जगदम्बा! तुम्हें नमस्कार है। कमलके समान नेत्रोंवाली देवी! तुम्हें नमस्कार है। सुवर्णके सदृश गौर आकृति धारण करनेवाली गौरी! तुम्हें नमस्कार है। जगत्की सृष्टि और संहार करनेवाली महेश्वरि! तुम्हें नमस्कार है। शंकर प्रिये! तुम्हें नमस्कार है। कालका भी नाश करनेवाली कालरात्रि! तुम्हें नमस्कार है। गिरिराजकुमारी! तुम्हें नमस्कार है। आर्ये! भद्रे! विशालाक्षि! त्रिलोकसुन्दरि! तुम्हें नमस्कार है। तुम्हीं रति, धृति, श्री, स्वाहा, स्वधा, सती, दुर्गा, मति, मेधा, पृथ्वी तथा सर्वस्वरूपा हो। तुमने इस सम्पूर्ण चराचर त्रिलोकीको व्याप्त कर रखा है। नदियों, पर्वत-शिखरों, समुद्रों, गुफाओं, वनों, मन्दिरों तथा मुनियोंके आश्रमोंमें भी तुम विराज रही हो। देवि! तीनों लोकोंमें ऐसा कोई स्थान मैं नहीं देखता, जहाँ तुम विद्यमान न हो। विशाल नेत्रोंवाली शिवे! हमारी यह प्रार्थना सुनकर महान् भयसे हमें बचाओ।

पार्वती! इन्द्र आदि देवताओंके इस प्रकार स्तवन करनेपर तुम करुणाके वशीभूत हो हाथ मलने लगीं। इससे गजराजके-से मुखवाला एक मनोहर कुमार प्रकट हुआ, जिसके चार भुजाएँ थीं। तब तुमने देवताओंसे कहा—'देवगण! मैंने तुम्हारे हितके लिये इस बालकको उत्पन्न किया है। यह मनुष्योंके समक्ष सब प्रकारके विघ्न उपस्थित करेगा, जिससे मोहग्रस्त होकर वे सोमनाथका दर्शन नहीं करेंगे और अपने पापोंके कारण नरकमें जायँगे।'

इसके बाद गजाननने तुमसे विनयपूर्वक पूछा—'माँ! मुझे आज्ञा दो, मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ?' तुमने कहा—'बेटा! तुम प्रभासक्षेत्रमें जाओ, जहाँ सोमेश्वरलिंगके रूपमें महादेवजी सदैव निवास करते हैं। वहाँ रहकर सोमनाथकी रक्षा करो, जिससे मनुष्योंको उनका दर्शन न होने

पाये।' तुम्हारे इस आदेशसे गजानन वहाँ गये और सदा वहीं स्थित रहकर मनुष्योंके सम्मुख विघ्न उपस्थित करते हैं। जब किसी मनुष्यको वे सोमनाथके प्रति आते देखते हैं, तब उसके मार्गमें स्त्री, पुत्र, गृह, क्षेत्र, धन, धान्य आदिका महान् मोह लाकर रखते हैं और इस प्रकार उसके सामने बड़ा भारी विघ्न डालते हैं, जिससे वे मानव सोमेश्वर शिवका दर्शन नहीं कर पाते। अथवा गलगण्ड आदि रोग पैदा कर देते हैं, जिससे पीड़ित होकर मनुष्य सोमेश्वरके दर्शनसे वंचित रह जाता है। वे गजानन ही लोकपूजित कपर्दी हैं। अतः सोमेश्वरकी प्राप्तिके लिये प्रतिदिन प्रयत्नपूर्वक कपर्दीकी पूजा करनी चाहिये। उन प्रभासक्षेत्रके रक्षक गणेशका निम्नांकित स्तोत्रद्वारा स्तवन करना चाहिये। महादेवि! मैं कपर्दीका वह विघ्ननाशक स्तोत्र कहता हूँ, सावधान होकर सुनो—

ॐ विघ्नराजको नमस्कार है, कपर्दीको नमस्कार है। अत्यन्त भयंकर दाढ़वाले प्रभासक्षेत्रनिवासी गणेशको नमस्कार है। सोमनाथकी यात्राके निर्विघ्नतापूर्वक पूर्ण होनेके लिये कपर्दीको नमस्कार करके मैं सिद्धि-बुद्धि-प्रियतम मंगलकारी विघ्नराजकी स्तुति करता हूँ। जो महागणपति शूरवीर, किसीसे भी पराजित न होनेवाले, जयकी वृद्धि करनेवाले, एक-दो तथा चार दाँतवाले, चार भुजावाले, त्रिनेत्रधारी, हाथमें त्रिशूल रखनेवाले, लाल नेत्रोंवाले, वरदायक, अजेय, शंकुकर्ण, प्रचण्ड, दण्डनायक, लोहदण्डधारी, मुखसे हविष्य ग्रहण करनेवाले तथा हविष्यके प्रेमी हैं एवं पूजित न होनेपर जो मनुष्योंके सब कार्योंमें विघ्न डालते हैं, उन महाभयंकर पार्वतीनन्दन गणेशको मैं नमस्कार करता हूँ। जिनके गण्डस्थलसे मदकी धारा बहती है, नेत्र भयंकर हैं और मुख हाथीके समान है, जिनकी कान्ति सदा एक-सी रहती है, जो ध्रुव, निश्चल और शान्त हैं, उन विनायकको मैं प्रणाम करता हूँ। भगवन्! आप सबसे पहले प्रकट हुए हैं, आपने प्राचीन देवताओंके कार्यकी सिद्धिके लिये हाथीका रूप धारण करके समस्त दानवोंको भयभीत किया और अपनेको ऋषियों तथा देवताओंका स्वामी सिद्ध कर दिखाया।

इस प्रकार पूर्वकालमें देवताओंने शिवपुत्र गणेशका स्तवन करके अपना कार्य सिद्ध करनेके लिये रक्तचन्दनमिश्रित जल और लाल फूलोंसे उनका पूजन किया। जो चतुर्थीको लाल वस्त्र धारण करके एक या दोनों समय पूर्वोक्तरूपसे गणेशजीकी पूजा करता है और नियमसे रहते हुए नियमित भोजन करता है, वह सबको अपने वशमें कर लेता है। सम्पूर्ण तीर्थों और समस्त यज्ञोंसे जो फल प्राप्त होता है, उसीको गणेशजीकी स्तुति करके मनुष्य पा लेता है। उसे कभी विघ्नका भय नहीं होता और वह अपने पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण करनेवाला होता है। जो प्रतिदिन इस स्तोत्रका पाठ करता है, वह छः महीनेमें ही इसका फल पाता है। वर्षभरमें उसे सिद्धि प्राप्ति होती है और भगवान् सोमनाथ कृपापूर्वक उसे दर्शन देते हैं।

## केदारलिंगकी महिमा, राजा शशिविन्दुके पूर्वजन्मका वृत्तान्त

**महादेवजी कहते हैं**—महादेवि! कपर्दीका पूजन करनेके पश्चात् मनुष्य केदारलिंगके समीप जाय। कपर्दीसे अग्निकोणमें भीमेश्वरके समीप केदारेश्वरनामक स्वयम्भू-लिंग स्थित है। वह कल्पपर्यन्त स्थिर रहनेवाला लिंग मुझे बहुत ही प्रिय है। उस महाप्रकाशमय लिंगको वृद्धिलिंग भी कहते हैं। देवि! स्वयं मैंने भी उनकी पूजा की है। जो चतुर्दशी (शिवरात्रि)-को वहाँ निराहार रहकर जागरण करता है, उसे सनातन लोक प्राप्त होते हैं। प्राचीन युगमें केदारेश्वरका नाम रुद्रेश्वर था। इस कलियुगमें म्लेच्छोंके स्पर्शके भयसे केदारजी समुद्रके समीप इसी लिंगमें लीन

हो गये, इसीलिये इसका नाम 'केदार' हो गया। जो मनुष्य आहारको जीतकर माघमासमें रुद्रेशके दक्षिणभागमें दस धनुषकी दूरीपर समुद्रमें स्थित पद्मकेतुनामक महाकुण्डमें नहाकर विधिपूर्वक रुद्रेश्वरकी पूजा करेगा, उसे केदार-यात्राका पूर्ण फल प्राप्त होगा। उनके पूजनसे ब्रह्महत्या आदि महापापोंका नाश होता है।

प्राचीन कालमें शशिविन्दु नामसे विख्यात एक चक्रवर्ती राजा थे। उनकी पतिव्रता स्त्री उन्हें प्राणोंसे भी अधिक प्रिय थी। राजाके पास एक सुन्दर सुवर्णमय आकाशगामी विमान था, जिसके द्वारा वे अपनी इच्छाके अनुसार सम्पूर्ण लोकोंमें घूमते रहते थे। एक समय फाल्गुन कृष्णपक्षकी चतुर्दशीका पर्व आनेपर राजा शशिविन्दु उत्तम प्रभासक्षेत्रमें आये। वहाँ उन्होंने बहुतसे महर्षियोंको देखा, जो जपमें और होममें तत्पर हो रात्रिमें जागरण करनेके लिये श्रीसोमनाथजीके सम्मुख बैठे हुए थे। राजाने भी सोमनाथका दर्शन और प्रणाम करके विधिपूर्वक पूजन किया और क्रमशः भक्तिभावसे उन सभी ऋषि-मुनियोंका स्वागत-सत्कार करके वे केदारलिंगके पास चले आये। वहाँ विचित्र पुष्पमालाओं, नैवेद्यों तथा मनोहर वस्त्राभूषणोंसे केदारेश्वरकी पूजा की और वहीं एकाग्रचित्त हो जागरण किया। तब वे सब मुनि कौतूहलवश राजाके समीप गये और इस प्रकार बोले—'राजन्! तुम सोमेश्वर देवको छोड़कर केदारजीके आगे जो जागरण और पूजन करते हो, इसका क्या कारण है?'

**राजाने कहा**—विप्रवरो! आपलोग सुनें, यह मेरे पूर्वजन्मका वृत्तान्त है। पहले जन्ममें मैं ब्राह्मणोंकी पूजा करनेवाला शूद्र था। मेरी जन्मभूमि सौराष्ट्र देशमें थी। एक समय वहाँ भयंकर अनावृष्टि हुई। उस समय मैं भूखसे व्याकुल होकर प्रभासक्षेत्रमें चला आया। वहाँ आनेपर हरिणीके मूलभागमें स्थित एक सुन्दर सरोवरपर मेरी दृष्टि पड़ी जो रामसरोवरके नामसे प्रसिद्ध है। वह तड़ाग कमलसमूहसे सुशोभित था। मैं थका माँदा तो था ही। उस सरोवरको देखकर मैंने उसमें स्नान किया तथा देवताओं और पितरोंका तर्पण करके उसके स्वच्छ जलको पीया। तत्पश्चात् मेरी स्त्रीने कहा—'इन कमल-पुष्पोंको ले लीजिये। यहाँसे निकट ही एक सुन्दर स्थान दिखायी देता है। वहाँ चलकर इन फूलोंको बेचेंगे, जिससे कुछ भोजनकी व्यवस्था हो सकेगी।' पत्नीके यों कहनेपर मैं जलके भीतर उतरा और बहुत-से कमलके फूल लेकर नगरकी ओर चला। वहाँ पहुँचकर सड़कों, चौराहों और तिमुहानियोंपर घूमता रहा; परंतु किसीने भी मेरे फूल नहीं लिये। इतनेमें दिन डूब गया और मैं अपनी पत्नीके साथ एक मन्दिरमें आकर सो रहा। वहाँ स्त्रीसहित मुझे भूख अधिक पीड़ा देने लगी। इतनेमें ही मैंने देखा किसी देवालयमें होम और जागरण हो रहा है। तब मैं भी उठकर वहाँ गया और रुद्रेश्वरनामक वृद्धिलिंगका दर्शन किया। उस समय वहाँ अनंगवती नामक एक वेश्या शिवरात्रि-व्रतमें संलग्न हो नृत्य, गीत और उत्सव आदिके द्वारा भगवान्‌के सामने जागरण कर रही थी। मैंने एक मनुष्यसे पूछा—'भाई! यहाँ रात्रिमें जागरण किसलिये होता है? यह नाच, गान और उत्सवमें लगी हुई कौन स्त्री दिखायी दे रही है?' उसने बताया—'आज शिवधर्मोत्तरपुराणमें प्रतिपादित शिवरात्रि है। यह धर्मपरायणा स्त्री अनंगवती नामकी वेश्या है, जो कल्याणमय शिवरात्रि-व्रत करके जागरण कर रही है। जो कोई मनुष्य शिवरात्रि-व्रत करता है, उसे दुःख-दारिद्र्य और बन्धनकी प्राप्ति नहीं होती। दुष्ट ग्रह, अरिष्टयोग, रोग अथवा भय भी उसके पास नहीं आता। वह उत्तम कुलमें उत्पन्न हो सुख और सौभाग्यसे युक्त होता है। तेजस्वी यशस्वी तथा पूर्णतः कल्याणका भागी होता है।'

उस मनुष्यकी बात सुनकर मेरे मनमें वह

व्रत करनेका निश्चित विचार हुआ। मैंने सोचा 'अन्नका अभाव होनेके कारण उपवास तो मुझे विवश होकर करना ही है। अतः क्षार समुद्र पद्मकतीर्थमें स्नान करके इन कमलके फूलोंसे भगवान् महेश्वरकी पूजा करूँ।' तब मैंने स्त्रीसहित स्नान करके भक्तिभावसे कमलके फूलोंद्वारा भगवान् रुद्रेश्वरका पूजन किया। पत्नीके साथ रातभर वहाँ जागता रहा। सबेरा होनेपर वेश्याने मुझसे कहा—'अपने फूलोंका मूल्य तीन भर सोना ले लो।' परंतु मैंने सात्त्विकभावका आश्रय लेकर उसका दिया हुआ मूल्य स्वीकार नहीं किया। भिक्षा माँगकर जीवननिर्वाह करने लगा। दीर्घकालके पश्चात् मेरी मृत्यु हुई। उस समय यह मेरी प्राणप्यारी पत्नी मेरे शरीरको लेकर चिताकी आगमें प्रवेश कर गयी। उस पूजन और जागरणके प्रभावसे मैं पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण रखनेवाले चक्रवर्ती राजा हुआ। एक बार संयोगवश यह व्रत किया था, जिसका यह महान् फल प्राप्त हुआ। अब मैं भक्तिभावसे यथावत् सामग्रीके साथ जो इस व्रतका पालन करता हूँ, इसका भविष्यमें क्या फल होगा—यह मैं नहीं जानता।

यह सुनकर उन ब्राह्मणोंके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे। उन्होंने 'साधु-साधु' कहकर राजाकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। उन्होंने स्वयं भी उस स्वयम्भू-लिंगका पूजन किया। राजा शशिविन्दु उस केदारलिंगके प्रसादसे देवदुर्लभ उत्तम सिद्धिको प्राप्त हुए। अनंगवती वेश्या शिवरात्रि-व्रत तथा केदार लिंगके प्रभावसे रम्भा नामक अप्सरा हुई। इसलिये जो विद्वान् पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी इच्छा रखता हो, उसे प्रयत्नपूर्वक उक्त शिवलिंगका पूजन करना चाहिये।

## श्वेतकेत्वीश्वर आदि विभिन्न शिवलिंगोंका माहात्म्य

**महादेवजी कहते हैं**—महादेवि! पूर्वकालमें जब स्वायम्भुव मन्वन्तरका त्रेतायुग चल रहा था, उस समय श्वेतकेतु नामके एक राजर्षि थे। वे बड़े भारी तपस्वी थे। उन्होंने प्रभासक्षेत्रमें आकर समुद्रके तटपर शिवलिंगकी स्थापना करके महान् तप प्रारम्भ किया। तपस्या और नियमका पालन करते हुए उनके चौदह वर्ष बीत गये। तब मैंने उन्हें दर्शन देकर कहा—'सुव्रत! वर माँगो।' श्वेतकेतु बोले—'प्रभो! मुझे अपनी अविचल भक्ति दीजिये और इस स्थानपर सदा निवास कीजिये।' '**एवमस्तु**' कहकर मैं वहाँसे अन्तर्धान हो गया। कुछ कालके पश्चात् राजा श्वेतकेतुने उस लिंगकी आराधना करके महान् अभ्युदययुक्त स्थान प्राप्त किया। इसलिये उस शिवलिंगका नाम श्वेतकेत्वीश्वर हो गया। तदनन्तर कलियुग आनेपर पवनपुत्र भीमसेन अपने भाइयोंके साथ तीर्थयात्राके प्रसंगसे प्रभास-क्षेत्रमें आये। उन्होंने रात्रिमें जागरण करके समुद्रके समीप श्वेतकेत्वीश्वर लिंगका पूजन किया। तबसे उसका नाम भीमेश्वरलिंग हुआ। श्वेतकेत्वीश्वरलिंगका एक बार दर्शनमात्र कर लेनेसे अन्य जन्मोंके किये हुए तथा इस जन्मके भी बहुत-से पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं। भीमेश्वरसे पूर्व और सोमनाथसे अग्निकोणमें सरस्वतीद्वारा स्थापित महाप्रभावशाली रवेश्वरलिंग है। मनुष्यको चाहिये कि वह सरस्वती देवी तथा भैरवेश्वरलिंगका विधिपूर्वक पूजन करे। जो महानवमीको विधिवत् स्नान करके सरस्वती देवीका पूजन करता वह वाणीजनित समस्त दोषोंसे मुक्त हो जाता है। जो अघोर-मन्त्रसे दूधके द्वारा उस लिंगको नहलाकर उसकी पूजा करता है, वह यात्राके उत्तम फलको पाता है।

वहाँसे चण्डीश्वरदेवके पास जाय, वह स्थान सोमनाथके दक्षिण सात धनुषकी दूरीपर स्थित है।

पूर्वकालमें चण्डीदेवीने भगवान् दण्डपाणिकी स्थापना की थी। तत्पश्चात् मेरे गण चण्डने उस लिंगकी आराधना की और वहाँ बड़ी कठोर तपस्या की। इस कारण पृथ्वीपर वह चण्डेश्वर लिंगके नामसे विख्यात हुआ। चण्डेश्वरको दूध, दही, मधु, घृत तथा ईखके रससे स्नान कराये और उनके श्रीअंगमें कुंकुमका लेप करे। फिर कपूर, खस और कस्तूरी मिलाया हुआ सुगन्धित चन्दन लगाये। तदनन्तर फूलोंसे उनका पूजन करे। इसके बाद धूप तथा अगुरु निवेदन करके अपने वैभवके अनुसार वस्त्रोंसे पूजन करे। उत्तम नैवेद्य लगाके दीपमाला जलाकर रखे और ब्राह्मणोंको यथाशक्ति दक्षिणा दे। यों करनेसे पितर कल्पपर्यन्त तृप्त रहते हैं।

पार्वती! सोमनाथसे पश्चिम सात धनुषकी दूरीपर आदित्येश्वर नामक शिवलिंगके समीप जाय, जिसकी स्थापना साक्षात् भगवान् सूर्यने की है और जो समस्त पातकोंका नाश करनेवाला है। त्रेतायुगमें महात्मा समुद्रने दस हजार वर्षोंतक रत्नोंद्वारा आदित्येश्वरका पूजन किया था। इससे पृथ्वीपर इनका नाम रत्नेश्वर प्रसिद्ध हुआ। रत्नेश्वरको पंचामृतसे नहलाकर पंचरत्नोंद्वारा उनकी पूजा की जाती है। इसके बाद भाँति-भाँतिके उपचारोंसे विधिपूर्वक उनकी अर्चना करनी चाहिये। यों करनेपर मनुष्य मेरुपर्वतके दानका फल पाता है। उसे सब तीर्थोंके सेवनका फल मिल जाता है और वह अपने पितृकुल और मातृकुल दोनोंका उद्धार कर देता है। रत्नेश्वरका दर्शन करके मनुष्य अपने सब पाप धो डालता है। जो विधिपूर्वक रत्नेश्वर लिंगकी पूजा करके शतरुद्रियका जप करता है, वह फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेता।

महादेवि! वहाँसे परम उत्तम अंगारेश्वरके समीप जाय, जिसकी स्थापना भूमिपुत्र मंगलने की है। वह स्थान सोमनाथसे ईशानकोणमें है। पूर्वकालमें मंगलने प्रभासक्षेत्रमें आकर बाल्यावस्थासे ही तपस्याद्वारा मेरी आराधना की। तब मैंने सन्तुष्ट होकर उन्हें वर माँगनेके लिये कहा। मंगल बोले—'सर्वेश्वर! मुझे ग्रहका पद प्रदान कीजिये।' मैंने 'तथास्तु' कहकर मंगलको यह बताया कि 'जो मनुष्य वहाँ आकर भक्तिपूर्वक तुम्हारी पूजा करेगा, उसे कभी तुम्हारे द्वारा दी हुई पीड़ा नहीं भोगनी पड़ेगी।' यों कहकर मैं वही अन्तर्हित हो गया। मंगलदेव ग्रहोंके मध्यमें विमानपर विराज रहे हैं।

अंगारेश्वरसे उत्तर दिशामें महाप्रभावशाली बुधेश्वर विद्यमान हैं। उनका स्थान वहाँसे अधिक दूर नहीं, दो ही धनुषके अन्तरपर है। वे दर्शनमात्रसे ही सब पाप हर लेते हैं। देवेश्वरि! बुधने पूर्वकालमें वहाँ बड़ी भारी तपस्या की और निर्मल शिवलिंग स्थापित किया। इससे सन्तुष्ट होकर मैंने बुधको ग्रहत्व प्रदान किया है। बुधवार और अष्टमीके योगमें बुधद्वारा स्थापित शिवलिंगकी विधिवत् पूजा करके मनुष्य राजसूय यज्ञका फल पाता है। बुधेश्वरके प्रसादसे उसके कुलमें दुःख और दुर्भाग्य प्रवेश नहीं करते।

उमा-मन्दिरके पूर्वभागमें सिद्धेश्वरसे आग्नेय कोणमें बृहस्पतिद्वारा स्थापित महालिंग है। बृहस्पतिजीने भक्तिभावसे उसकी आराधना करके मुझ देवेश्वर शिवको सन्तुष्ट किया। इससे उन्होंने सम्पूर्ण मनोवांछित फल प्राप्त कर लिये। मुझसे ज्ञान पाकर वे देवताओंके पूजनीय गुरु हो गये और ग्रहके पदपर प्रतिष्ठित हो इस समय स्वर्गलोकमें आनन्द भोगते हैं। बृहस्पतीश्वरका भक्तिभावसे दर्शन करके मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता। उसे बृहस्पतिकी ओरसे पीड़ा नहीं प्राप्त होती। शुक्लपक्षकी चतुर्दशी तथा गुरुवारके योगमें पंचोपचारसे विधिपूर्वक उक्त लिंगकी पूजा करके मानव परम पदको प्राप्त कर लेता है।

तदनन्तर विभूतिश्वरसे पश्चिम थोड़ी ही दूरपर शुक्राचार्यके द्वारा स्थापित शिवलिंग है; जहाँ शुक्रने शुक्रेश्वर शिवके प्रभावसे मृतसंजीवनी विद्या प्राप्त की थी। जो मनुष्य स्थिरचित्त होकर उस शिवलिंगकी आराधना करता है और एक लाख मृत्युंजय मन्त्रको जपता है, वह अपने

सभी मनोरथोंको प्राप्त कर लेता है। शुक्रेश्वरका दर्शन और स्पर्श करके मनुष्य जन्मसे लेकर मृत्युतकके सभी पातकोंसे मुक्त हो जाता है। सुगन्धित पुष्पोंद्वारा उनकी पूजा करनेसे शुक्रकी पीड़ा नहीं प्राप्त होती।

बुधेश्वरसे पश्चिम और अजादेवीसे अग्निकोणमें समीप ही पाँच धनुषकी दूरीपर शनैश्चरेश्वरका स्थान है। छायानन्दन शनैश्चरने अत्यन्त कठिन तपस्या करके उस लिंगमें मुझ अनादि, अनन्त शिवको उतारा है। उन्होंने भक्ति तथा मेरे प्रसादसे ग्रहका पद प्राप्त किया है। शनैश्चरके दिन शमीके पत्तोंसे शनैश्चरेश्वरका पूजन करके तिल, उड़द, गुड़ और भातसे ब्राह्मणको तृप्त करे। उसे काले रंगका बैल दान करे। तत्पश्चात् सब प्रकारकी पीड़ाओंका निवारण करनेके लिये अनेकानेक स्तोत्रोंद्वारा शनैश्चरेश्वर देवकी स्तुति करनी चाहिये। जो मनुष्य प्रतिदिन भक्तिभावसे शनैश्चरेश्वरका स्मरण करता है, उसके ऊपर सूर्यनन्दन शनैश्चर प्रसन्न होते हैं।

शनैश्चरेश्वरसे वायव्यकोणमें राहुद्वारा स्थापित शिवलिंग है, जहाँ विप्रचित्तिके पुत्र राहुने एक सहस्र वर्षतक तपस्या की है। जो उनके द्वारा स्थापित शिवका भक्तिपूर्वक पूजन और दर्शन करता है, उसका पाप नष्ट हो जाता है।

राह्वीश्वरसे उत्तर और अंगारेश्वरसे दक्षिण एक ही धनुषके अन्तरपर महाप्रकाशमय केतुलिंग है। वह सब पापोंका नाश करनेवाला है। केतुने मुझ शिवके प्रति भक्ति रखकर देवताओंके मानसे सौ वर्षोंतक वहाँ उग्र तपस्या की थी। इससे संतुष्ट होकर मैंने उन्हें ग्रहत्व प्रदान किया। भयंकर ग्रहपीड़ा होनेपर पुष्प, गन्ध, धूप तथा भाँति-भाँतिके शुभ नैवेद्योंद्वारा केत्वीश्वरकी पूजा करके उन्हें प्रसन्न करना चाहिये। इससे सब पीड़ा शान्त हो जाती है। जो पूर्वोक्त चौदह देवस्थानोंको भक्तिभावसे जानता है, वह क्षेत्रके फलका भागी होता है।

## प्रभासक्षेत्रकी त्रिविध शक्तियों तथा दूतीशक्तियोंके दर्शन-पूजनका माहात्म्य

**महादेवजी कहते हैं**—सोमेश्वरसे ईशानकोणमें वरारोहा देवीसे पूर्वभागमें परम उत्तम सर्वेश्वर देव विराजमान हैं। उनके समीप भक्तिपूर्वक जाकर मनुष्य अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त करता है। सर्वेश्वरकी स्थापना सिद्धोंने की है। जो मानव भक्तिपूर्वक उनका दर्शन करता है, वह सब पातकोंसे मुक्त हो सिद्धलोकमें जाता है। काम, क्रोध, भय, लोभ, राग, मात्सर्य, ईर्ष्या, दम्भ, आलस्य, निद्रा, मोह, अहंकार—ये सिद्धिमें विघ्न डालनेवाले दोष हैं। सिद्धेश्वरके पूजनसे इन सब दोषोंका नाश हो जाता है। यों जानकर प्रयत्नपूर्वक वहाँकी यात्रा करे।

सिद्धेश्वरके पूर्वभागमें थोड़ी ही दूरपर कपिलेश्वर लिंग प्रतिष्ठित है, जिसके दर्शनमात्रसे सब पापोंका नाश हो जाता है। प्राचीन कालमें कपिल नामसे प्रसिद्ध एक राजर्षि हो गये हैं। उन्होंने वहाँ बड़ी भारी तपस्या करके उत्तम सिद्धि प्राप्त की और शिवलिंगकी स्थापना करके मेरी समीपता पायी है। उस लिंगमें मैं सब लोगोंके हितके लिये सदा निवास करता हूँ। जो शुक्लपक्षकी चतुर्दशी तिथिमें सात बार सोमेश-कपिलेश्वरका दर्शन करता है, वह गोदानका फल पाता है। जो वहाँ तिलमयी धेनु दान करता है, वह एक-एक तिलकी संख्याके बराबर युगोंतक स्वर्गलोकमें निवास करता है।

दण्डपाणीश्वरसे निकट ही गन्धर्वेश्वर नामसे प्रसिद्ध उत्तम शिवलिंग है। गन्धर्वराज धनवाहनने वहाँ कठोर तपस्या करके उस शिवलिंगको स्थापित किया है। उसकी पुत्री गन्धर्वसेनाने भी वहाँ शिवलिंगकी स्थापना की है। जो मनुष्य

पवित्र होकर यत्नपूर्वक गन्धर्वेश्वरका पूजन और दर्शन करता है, वह गन्धर्वलोकमें जाता है। जो उत्तरायण आनेपर अग्नितीर्थमें स्नान करके गन्धर्वपूजित उस शिवलिंगका पूजन करता है, वह मोक्षको प्राप्त होता है। इस माहात्म्यका श्रवण और अभिनन्दन करके भी मनुष्य महान् भयसे मुक्त हो जाता है।

गन्धर्वेश्वरके पूर्वभागमें गौरीजीके समीप विमलेश्वर नामक लिंग प्रतिष्ठित है। जिसका शरीर क्षयरोगसे आक्रान्त है, वह भक्तिपूर्वक विमलेश्वरका दर्शन करके सब दुःखोंका अन्त कर देता और निर्मल पदको प्राप्त होता है। वहीं रोगग्रस्त गन्धर्वसेना रोगसे मुक्त हो विमल स्वरूपको प्राप्त हुई थी, इसलिये पृथ्वीपर वह लिंग विमलेश्वर नामसे प्रसिद्ध हुआ।

ब्रह्माजीके स्थानसे नैर्ऋत्यकोणमें सोलह धनुषकी दूरीपर धनदेश्वर लिंग है। यह राहुलिंगसे वायव्यकोणमें स्थित है। कुबेरने वहाँ बड़ी भारी तपस्या करके धनदका पद प्राप्त किया है। वे विधिपूर्वक शिवलिंगकी स्थापना और पूजा करके अलकापुरीके स्वामी हुए हैं। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक धनदेश्वरका दर्शन करके पंचोपचारसे उनकी पूजा करता है, उसके कुलमें दरिद्रताका कभी नाम भी नहीं सुना जाता।

मेरी तीन शक्तियाँ हैं—इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति। पहले जो चौदह और पाँच शिवलिंग बताये गये हैं, उनमेंसे यथाशक्ति चार, तीन या एककी पूजा करके फिर पूर्वोक्त तीन शक्तियोंका पूजन करना चाहिये। सोमेश्वरसे ईशानकोणमें जो वरारोहा देवी कही गयी हैं, वे चन्द्रमाकी अमा नामक कला हैं। वे ही भगवती उमाकी भी कला मानी गयी हैं। उन्हींको मेरी इच्छाशक्ति जानना चाहिये। वरारोहा देवी भूमण्डलके समस्त प्राणियोंका हित करनेके लिये प्रभासक्षेत्रमें विराजमान हैं।

सोमेश्वरसे वायव्यकोणमें साठ धनुषकी दूरीपर क्रियाशक्तिरूपा दूसरी महादेवी स्थित हैं। वहीं योगिनीवन्दित पीठ है। उसी स्थानपर पातालको जानेवाला एक बहुत बड़ा विवर है। पहले उन महादेवीका नाम भैरवी था। फिर इस वैवस्वत मन्वन्तरके अट्ठाईसवें चुतुर्युगमें राजा अजापालके द्वारा आराधित होनेके कारण वे अजापालेश्वरीक नामसे विख्यात हुई हैं। जो मनुष्य लौकिक सुखभोगकी इच्छा रखता है, उसे गन्ध, धूप, अलंकार, वस्त्र तथा अन्य उपचारोंद्वारा उन महादेवीका पूजन करना चाहिये।

प्रभासक्षेत्रके मध्यभागमें दरिद्रताका विनाश करनेवाली तीसरी अजादेवी हैं, जिन्हें ज्ञानसक्ति माना गया है। उनका स्थान राह्वीश्वरसे दक्षिणभागमें है। अघासुरके साथ जब मेरा भयंकर युद्ध चल रहा था, उस समय मेरे क्रोधसे अजा नामकी देवी प्रकट हुईं। उनके साथ करोड़ों देवियाँ और थीं। वे सिंहपर सवार थीं। उनका रूप बड़ा सुन्दर था। उन्होंने ढाल और तलवार लेकर बड़े-बड़े दैत्योंका संहार किया। उनके भयसे बहुत-से दैत्य समुद्रकी ओर भागे। देवी सिंहवाहिनी और उनके गणोंने उन सबका पीछा किया। वे दैत्य इधर-उधर भागते हुए महासागरके समीप प्रभासक्षेत्रमें आ पहुँचे। वहाँ कुछ तो मार डाले गये और कुछ पातालमें समा गये। सब दैत्योंको मारा गया देख तथा इस क्षेत्रको परम पवित्र जानकर सिंहवाहिनी देवी यहीं सोमेश्वरके ईशानकोणमें और गौरीश्वरसे उत्तर दिशामें स्थित हुईं। जो स्त्री या पुरुष वहाँ उनका दर्शन करते हैं, वे सात जन्मोंतक पूर्णतः सौभाग्यशाली होते हैं। जो मानव वहाँ गीत, वाद्य तथा नृत्य करता है, उसके वंशमें देवीके प्रसादसे कोई दुर्भाग्यवान् नहीं होता। जो स्त्री वहाँ लाल रंगकी बत्तीसे युक्त, दीपकको घीसे जलाकर देवीको अर्पण करती है, उस बत्तीमें जितने सूत होते हैं, उतने जन्मोंतक वह सौभाग्य प्राप्त करती है। जो तृतीयाको इस माहात्म्यका पाठ करता है अथवा जो भक्तिपूर्वक इसे सुनता है, वह सम्पूर्ण मनोरथोंको प्राप्त कर लेता है।

प्रभासक्षेत्रमें तीन दूती शक्तियाँ हैं—पहलीका नाम मंगला देवी है, दूसरीको विशालाक्षी देवी कहते हैं और तीसरी चत्वर देवीके नामसे प्रसिद्ध हैं। प्रभासक्षेत्रकी यात्राका पूरा-पूरा फल चाहनेवाले मनुष्यको क्रमशः इन तीनों शक्तियोंका पूजन करना चाहिये। मंगलादेवी ब्रह्माजीकी शक्ति कही गयी हैं, विशालाक्षी विष्णुशक्ति मानी गयी हैं तथा चत्वरप्रिया देवी मेरी शक्ति हैं। पहले मंगला देवीकी पूजा करनी चाहिये। वे अजादेवीके उत्तरभागमें निवास करती हैं। राह्वीशके दक्षिणभागमें थोड़ी ही दूरपर उनका स्थान है। सोमनाथकी प्रतिष्ठाके लिये जब सोमने यज्ञ प्रारम्भ किया, उस समय उसे देखनेके लिये वहाँ आये हुए ब्रह्मादि देवताओंका उसी देवीने मंगल किया था। इसीलिये उसका नाम मंगला हुआ। जो नारी तृतीयाको मंगला देवीकी पूजा करेगी, उसके अमंगल और दुःख पूर्णतः नष्ट हो जायँगे। भगवान् दैत्यसूदनसे पूर्वभागमें वैष्णवी क्षेत्र दूती महादेवी विशालाक्षी हैं। योगेश्वरीसे ईशानकोणमें सौ धनुषकी दूरीपर उसका स्थान है। जो लोग महान् दुर्भाग्यकी आगमें जल रहे हैं, उनका दाह शान्त करनेके लिये विशालाक्षी देवी ओषधिके समान हैं। चाक्षुष मन्वन्तरमें जब सब दैत्य भगवान् विष्णुकी मार खाकर दक्षिण दिशामें भाग गये, उस समय उनको मारना दुष्कर जानकर भगवान् विष्णुने अत्यन्त प्रभावशालिनी भैरवी शक्ति महामायाका स्मरण किया। उनके स्मरण करते ही अत्यन्त प्रकाशमयी महामाया वहाँ आ गयी। भगवान् विष्णुके दर्शनसे उसके नेत्र आनन्दसे खिल उठे। उसने बड़ी-बड़ी आँखें करके भगवान्‌को देखा। इससे उसका नाम विशालाक्षी हुआ। इस कल्पमें उसे ललितोमा कहते हैं। जो माघमासमें तृतीया तिथिको विधिपूर्वक उसका पूजन करता है, उसके वंशमें कोई भी सन्तानहीन नहीं होता। जो मानव भक्तिभावसे उसका दर्शन करता है, वह दीर्घकालतक नीरोग, सुखी और सौभाग्यशाली होता है।

ललितासे उत्तर दिशामें दस धनुषकी दूरीपर तीसरी शक्ति चत्वरप्रियाका निवास है। मेरी प्रेरणासे वह इस क्षेत्रकी रक्षामें संलग्न रहती है। चबूतरों, चौराहों, पुराने घरों, बगीचों तथा महलोंकी अटारियोंपर एवं मार्गमें वह रातको घूमती रहती है। जो स्त्री अथवा पुरुष महानवमीके दिन नाना प्रकारके उपहारों और फूलोंसे उस कल्याणमयी देवीकी विधिपूर्वक पूजा करता है, उसके ऊपर प्रसन्न हो वह सम्पूर्ण लोक प्रदान करती है। यात्राके उत्तम फलकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको वहाँ भोजन देना चाहिये।

## भैरवेश्वर आदि विविध लिंगोंका माहात्म्य

**महादेवजी कहते हैं**—पार्वती! योगेश्वरीसे दक्षिण थोड़ी ही दूरपर उत्तम भैरवेश्वरका स्थान है। प्राचीन कालमें देवीने जब दैत्योंके विनाशके लिये उद्योग किया, तब मेरे स्वरूपभूत भैरवको बुलाकर दूतके कार्यपर नियुक्त किया। इसलिये उस समय उनका नाम 'शिवदूती' हुआ। उसके बाद वे ही योगेश्वरी नामसे विख्यात हुईं। उन्होंने भैरवको दूत बनाया था, इसलिये उनके द्वारा स्थापित शिवलिंगका भैरवेश्वर नाम हुआ। जो मनुष्य कार्तिककी पूर्णिमाको उस शिवलिंगकी पूजा करता है अथवा जो छः महीनेतक निरन्तर उसकी पूजामें संलग्न रहता है, वह मनोवांछित फलको प्राप्त कर लेता है।

भैरवेश्वरसे पूर्वदिशामें पाँच धनुषकी दूरीपर लक्ष्मीश्वर नामसे प्रसिद्ध शिवलिंग है, जो दरिद्रताका नाश करनेवाला है। जो श्रीपंचमीको विधिपूर्वक भक्तिभावसे लक्ष्मीश्वरका पूजन करता है, उसको लक्ष्मी कभी नहीं छोड़तीं। लक्ष्मीश्वरसे उत्तर

और विशालाक्षीसे दक्षिण वाडवद्वारा स्थापित अत्यन्त प्रभावशाली वाडवेश्वरलिंग विराजमान है। उसको दधिसे स्नान कराकर विधिपूर्वक पूजा करनी चाहिये। जो मानव वहाँ वेदज्ञ ब्राह्मणको दहीका दान करता है, वह तेजस्वी लोकोंमें जाता और यात्राका उत्तम फल पाता है। विशालाक्षीसे उत्तर थोड़ी ही दूरपर देवताओं और गन्धर्वोंसे पूजित अर्घ्येश्वरलिंग प्रतिष्ठित है। जो पंचामृतसे स्नान कराकर अर्घ्येश्वरका पूजन करता है, वह सात जन्मोंतक विद्वान्, शास्त्रवक्ता और सब संदेहोंका निवारण करनेवाला होता है।

महादेवि! दैत्यसूदनके पश्चिमभागमें सात धनुषकी दूरीपर कामेश्वर नामक महान् लिंग है, वह सब पापोंको हरनेवाला तथा संपूर्ण अभीष्ट फलोंको देनेवाला है। इस प्रकार पंचवक्त्रलिंग बताये गये। सोमेश्वरसे पूर्व साठ धनुषकी दूरीपर अर्थेश्वरलिंग है। जो मनुष्य उसे पंचामृतसे नहलाकर विधिपूर्वक पूजन करता है, वह सात जन्मोंतक पूर्ण विद्या पाता है और शास्त्रोंका उत्तम वक्ता होता है। जो पुत्रहीना स्त्री वहाँ नारियल चढ़ाती है, वह शीघ्र ही सबल एवं सुन्दर पुत्र पाती है। जो नारी वहाँ लाल बत्तीसे युक्त दीपकको घीसे जलाकर अर्पण करती है, उसके दीपककी बत्तीमें जितने तार होते हैं, उतने जन्मोंतक वह सदैव सौभाग्यवती होती है। जो पराभक्तिके साथ वहाँ नृत्य करती है, वह दीर्घकालतक आरोग्य, सुख और सौभाग्यसे युक्त होती है। वहाँ स्वच्छ जलसे भरा हुआ एक महान् कुण्ड है। जो मनुष्य उसमें स्नान करता है, वह सब पातकोंसे छूट जाता है। जो भक्तिपूर्वक पितरोंके उद्देश्यसे वहाँ श्राद्ध करता है, वह पुण्यात्मा अपने पितरोंके साथ परमपदको प्राप्त होता है। इसलिये सर्वथा प्रयत्न करके वहाँ श्राद्ध करना चाहिये। रात्रिमें गीत, वाद्य और नृत्य आदिके आयोजनद्वारा वहाँ जागरण करना उचित है। वहाँ ब्राह्मण-दम्पतिको पहननेके लिये वस्त्र और दक्षिणा देनी चाहिये।

देवि! प्रभासक्षेत्रमें जो यह तपोवन है, यह गौरी तपोवनके नामसे विख्यात है। यह सब ओर पचास-पचास धनुषतक फैला हुआ है। इसके मध्यभागमें सतीदेवी एक पैरसे खड़ी होकर तपस्यामें लगी थीं। उस स्थानसे चार धनुष दूर ईशानकोणमें गौरीश्वरलिंग है, जो पापभयको दूर करनेवाला है। जो मनुष्य सदा ही—विशेषतः कृष्णपक्षकी अष्टमीको श्रद्धापूर्वक गौरीश्वरका पूजन करता है, वह सब पातकोंसे मुक्त हो जाता है। यहाँ सब पापोंकी शान्तिके लिये गोदान और अन्नदान श्रेष्ठ कहा गया है। गौरीश्वरलिंगके दर्शनसे गोघाती, ब्रह्महत्यारे तथा अन्यान्य पापी भी सब पापोंसे छूट जाते हैं। गौरीतपोवनसे अग्निकोणमें बीस धनुष दूर वरुणजीके द्वारा स्थापित वरुणेश्वरलिंग है। उनका दर्शन करनेसे मनुष्य सब तीर्थोंका फल पा लेता है। अष्टमी और चतुर्दशीको यदि उन्हें दहीसे नहलाया जाय तो वह ब्राह्मण चारों वेदोंका ज्ञाता है। पार्वती! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, वर्णसंकर, गूँगे, बहरे, बालक, स्त्री और नपुंसक भी वरुणेश्वरका दर्शन करके धर्मपरायण हो स्वर्गलोकमें चले जाते हैं। जो उस स्थानमें स्नान, जप, होम और पूजन करता है, उसका वह सब शुभकर्म अक्षय हो जाता है।

वरुणेश्वरसे दक्षिण तीन धनुषके अन्तरपर ईषेश्वरलिंग है। पतिके दुःखसे घिरी हुई वरुणपत्नी ईषाने उस सिद्धिदायक महालिंगकी स्थापना की थी। जो मनुष्य पापनाशक ईषेश्वरका भक्तिपूर्वक पूजन करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है। ईषेश्वरलिंग स्त्रियोंके लिये सौभाग्यदाता एवं दुःख दुर्भाग्यका नाशक है।

वरुणेश्वरसे नैर्ऋत्यकोणमें तीस धनुष दूर पश्चिम मुखवाला कुमारेश्वरलिंग प्रतिष्ठित है। कुमार कार्तिकेयने बड़ी भारी तपस्या करके यहाँ उस महालिंगकी स्थापना की थी, इसीसे उसका नाम कुमारेश्वर हुआ। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक कुमारेश्वरकी पूजा करता है, उसे एक ही दिनमें छः मासकी

आराधनाका फल मिल जाता है। काम, क्रोध, लोभ, राग और मात्सर्य छोड़कर ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए इन्द्रियसंयमपूर्वक एक बार अवश्य कुमारेश्वरका पूजन करना चाहिये।

दैत्यसूदनके स्थानसे वायव्यकोणमें तीस धनुषपर शाकल्यके द्वारा पूजित शाकल्येश्वर नामक लिंग है। राजर्षि शाकल्यने वहाँ बड़ी भारी तपस्या और आराधना करके मुझ महादेवका प्रत्यक्ष दर्शन पाया तथा प्रसन्न हुए मुझ महेश्वरको उस लिंगमें उतारा है। पार्वती! शाकल्येश्वरके दर्शनसे मानवोंके सात जन्मोंका पाप तत्काल नष्ट हो जाता है। अष्टमी और चतुर्दशी तिथियोंको वहाँ दूधसे शाकल्येश्वरको स्नान कराये और क्रमशः गन्ध-पुष्प आदिके द्वारा विधिपूर्वक उनकी पूजा करे। तीर्थयात्राका उत्तम फल चाहनेवाले पुरुषोंको वहाँ सुवर्ण दान करना चाहिये। सत्ययुगमें उनका नाम 'भैरवेश्वर' कहा गया है। फिर त्रेतामें 'सावर्णिकेश्वर' हुआ। द्वापर आनेपर उन्हें 'गालवेश्वर' नाम प्राप्त हुआ और अब कलियुगमें उनका चौथा नाम 'शाकल्येश्वर' हुआ है। इस प्रकार उस लिंगके चारों युगोंमें प्रसिद्ध नाम बताये गये। इनका कीर्तन करनेपर ये पापोंका नाश, पुण्यकी वृद्धि तथा संपूर्ण कामनाओंकी पूर्ति करते हैं। इनका मण्डल सब ओरसे अठारह धनुषका है। वह लिंग उस क्षेत्रमें निवास करनेवाले प्राणियोंके महान् पापोंको भी हर लेता है। वहाँ जो कृमि, कीट, पतंग और पशु-पक्षी हैं, उनको भी वह मोक्ष प्रदान करता है। उस स्थानपर जो कूप आदि हैं, उनमें सरस्वतीजीका जल है। उस लिंगके दर्शनसे मनुष्य सहस्र अश्वमेध और सौ वाजपेय यज्ञोंका फल पाता है। जो बुद्धिमान् पुरुष चन्द्रग्रहणके अवसरपर घृतकी आहुति देते हुए वहाँ लिंगके समीप अघोर-मन्त्रका जप करता है, उसे मोक्ष प्राप्त होता है। यहाँ रहनेवाले महापातकी और उपपातकी मनुष्य भी स्वर्गमें जाते और उत्तम सिद्धि पाते हैं। शाकल्येश्वर लिंग 'कामिक' कहा गया है। वह इच्छानुसार फल देनेवाला है।

## कलकलेश्वर, उत्तंकेश्वर, वैश्वानरेश्वर तथा गौतमेश्वरकी महिमा

**महादेवजी कहते हैं**—पार्वती! शाकल्येश्वरसे नैर्ऋत्यकोणमें साठ धनुष दूर कलकलेश्वर लिंग है, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है। भिन्न-भिन्न युगोंमें उसके भिन्न-भिन्न नाम माने गये हैं। पहले सत्ययुगमें उसका नाम कामेश्वर था, फिर त्रेतामें पुलहेश्वर, द्वापरमें सिद्धनाथ और कलियुगमें नारदेश्वर हुआ। उसीको कलकलेश्वर भी कहते हैं। जिस समय सरस्वती नदी समुद्रमें मिलनेके लिये आयी, उस समय उसके जलके शब्दसे, महासागरकी गर्जनासे तथा देवता, गन्धर्व, ऋषि, सिद्ध और चारणोंने जो हर्ष-ध्वनि की उसके शब्दसे महान् कलकल नाद हुआ। उस कलकल ध्वनिसे मेरा लिंगमय स्वरूप प्रकट हुआ। इसीलिये उसे कलकलेश्वर कहा गया। द्वापरकी सन्धिमें जब कलियुगका प्रवेश हुआ, उस समय देवर्षि नारदने उस लिंगके समीप उग्र तपस्या की और देवाधिदेव महादेवजीकी प्रसन्नताके लिये पौण्डरीक नामक महायज्ञका अनुष्ठान किया। उस यज्ञके पूर्ण होनेपर प्रभासक्षेत्रके निवासी सहस्रों ब्राह्मण दक्षिणाके लिये आये। नारदजीने वहाँ भूमिपर रत्नों और सुवर्णकी वर्षा कर दी। सब ब्राह्मण उसे लेनेके लिये महान् कोलाहल करने लगे। इस कारण भी उस शिवलिंगका नाम कलकलेश्वर हुआ। जो मनुष्य उस शिवलिंगको भक्तिपूर्वक स्नान कराकर उसकी तीन बार प्रदक्षिणा करता है, वह मेरे प्रसादसे निश्चय ही रुद्रलोकमें जाता है। जो मानव वहाँ ब्राह्मणोंको सुवर्णदान करके भक्तिपूर्वक गन्ध, पुष्प और चन्दन आदिसे कलकलेश्वरकी पूजा करता है, वह परमपदको प्राप्त होता है।

कलकलेश्वरके समीप ही नकुलीश तथा दो परम पुण्यमय लिंग हैं। जो मनुष्य भादोंमासके शुक्लपक्षकी चतुर्दशीको उपवास करके उनके समीप जागरण करता है और नकुलीश तथा उन दोनों लिंगोंकी पृथक्-पृथक् पूजा करता है, वह मुझ महेश्वरके परम धामको जाता है।

महादेवि! वहाँसे दक्षिण थोड़ी ही दूरपर उत्तंकेश्वर लिंग है, जिसे महात्मा उत्तंकने स्वयं ही भक्तिपूर्वक स्थापित किया है। जो उसका दर्शन, स्पर्श और भक्तिभावसे विधिवत् पूजन करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। उस स्थानसे अग्निकोणमें पाँच धनुषकी दूरीपर वैश्वानरेश्वर देव विराजमान हैं। प्राचीन कालमें वहाँ किसी तोतेने मन्दिरके भीतर सुन्दर घोंसला बना रखा था। उसमें अपनी स्त्रीके साथ रहकर उसने दीर्घकालतक तपस्या की। घोंसलेमें आने जानेके कारण वे दोनों दम्पति प्रतिदिन वैश्वानरेश्वरकी परिक्रमा कर लेते थे। दीर्घकालके पश्चात् उन दोनोंकी मृत्यु हो गयी। उसीके प्रभावसे वे दोनों इस पृथ्वीपर अपने पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण रखनेवाले ब्राह्मण-दम्पति हुए। स्त्रीका नाम लोपामुद्रा और पुरुषका नाम अगस्त्य हुआ। उन दोनोंने परम सिद्धि प्राप्त की। अपने पूर्व शरीरके वृत्तान्तको याद करके महात्मा अगस्त्यने कहा है कि 'जो मनुष्य वह्नीश्वरकी परिक्रमा करके उनका दर्शन करता है, वह निश्चय ही सिद्धिको प्राप्त होता है। जो मानव श्रद्धापूर्वक अग्नीश्वरको घृतसे नहलाकर विधिपूर्वक उनकी पूजा करता है और श्रेष्ठ ब्राह्मणको सुवर्ण देता है, वह अग्निलोकमें जाकर अनन्त कालतक आनन्द भोगता है।'

वैश्वानरेश्वरसे पश्चिम सात धनुषकी दूरीपर लकुलीश्वर विराजमान हैं। जो मनुष्य सदा उनका पूजन करता है, विशेषतः कार्तिककी पूर्णिमाको और उत्तरायण आरम्भ होनेके दिन उनकी आराधना करता और बुद्धिमान् ब्राह्मणको विद्यादान देता है, वह सात जन्मोंतक धनाढ्य ब्राह्मणोंके उत्तम कुलमें जन्म ले बुद्धिमान् तथा लक्ष्मीवान् होता है।

उस स्थानसे पूर्व दिशामें दैत्यसूदनके पश्चिम पाँच धनुषके अन्तरपर गौतमेश्वर लिंग प्रतिष्ठित है, जो संपूर्ण इच्छित फलोंको देनेवाला है। मद्रदेशके राजा शल्यने उसकी आराधना की थी। जो मनुष्य चैत्र शुक्ला चतुर्दशीके दिन गौतमेश्वरको दूधसे स्नान कराता है और चन्दन, जल तथा फूलोंसे विधिपूर्वक उनकी पूजा करता है, वह अश्वमेध यज्ञका फल पाता है। गौतमेश्वरके दर्शनसे मन, वाणी और क्रिया द्वारा किये हुए सब पाप नष्ट हो जाते हैं।

## वैष्णवक्षेत्रमें भगवान् दैत्यसूदनकी महिमा

**महादेवजी कहते हैं**—महादेवि! गौतमेश्वरके स्थानसे देवेश्वर भगवान् दैत्यसूदनके समीप जाना चाहिये, जो प्रभासक्षेत्रमें निवास करनेवाले सब प्राणियोंके पापोंका नाश करते हैं। भगवान् दैत्यसूदन सबके कार्योंकी सिद्धि करनेवाले हैं। भयंकर भवसागरमें पड़े हुए प्राणियोंको पार उतारनेके लिये वे सुदृढ़ जहाजकी भाँति स्थित हैं। पार्वती! वटवृक्ष, कल्पवृक्ष, वैदूर्यपर्वत, भगवान् दैत्यसूदन तथा महामुनि मार्कण्डेय—इनका सात कल्पोंतक क्षय अथवा विनाश नहीं होता। दैत्यसूदनसे बढ़कर दूसरा कोई देवता इस पृथ्वीपर नहीं है। उनका क्षेत्र यवाकार है, वह सब पातकोंका नाश करनेवाला, ऋषि-मुनियोंसे सेवित तथा यक्ष, विद्याधर और नागगणका आश्रय है। उस वैष्णवक्षेत्रकी सीमा इस प्रकार है—पूर्वमें यमेश्वरतक, पश्चिममें सोमेश्वरतक, उत्तरमें विशालाक्षीतक और दक्षिणमें समुद्रतक वह फैला हुआ है। जो मनुष्य इस क्षेत्रमें मृत्युको प्राप्त होते हैं, वे सब स्वर्गलोकमें जाते हैं। वहाँ जो कुछ दान, होम, जप और तप किया जाता

है, वह सात कल्पोंतक अक्षय बना रहता है। जो वहाँ भगवान् विष्णुकी प्रीतिके लिये विधिपूर्वक एक ब्राह्मणको भी भोजन करायेगा, उसे एक करोड़ ब्राह्मण-भोजन करानेका फल होगा। जो मनुष्य वहाँ भक्तिपूर्वक उपवास करता है, उसे एक ही उपवाससे दस हजार उपवासोंका फल मिलता है। जो मानव कार्तिकमासकी द्वादशीको चक्रतीर्थमें स्नान करके इन्द्रियसंयमपूर्वक उपवास एवं विधिवत् भगवान् विष्णुकी पूजा करता है, वह सब पातकोंसे मुक्त हो जाता है।

**पार्वतीजीने पूछा**—भगवन्! श्रीविष्णुका दैत्य-सूदन नाम किस समय और किस प्रकार हुआ?

**महादेवजीने कहा**—देवि! भगवान् दैत्यसूदन विष्णुके नाम अनादि और अनन्त हैं। प्रत्येक कल्पमें उनके नये-नये नाम प्रसिद्ध होते हैं। पूर्वकल्पमें उनका नाम श्रियावृत था, दूसरे कल्पमें वामन हुआ, तीसरेमें वे वज्रांग कहलाये, चौथेमें कमलाप्रिय नाम हुआ, पाँचवेंमें दुःखहर्ता, छठेमें पुरुषोत्तम और सातवें कल्पमें वे दैत्यसूदन नामसे प्रसिद्ध हुए।

पूर्वकालमें देवताओं और असुरोंमें बड़ा भारी युद्ध हुआ। उसमें देवकण्टक दानवोंसे पराजित होकर सब देवता क्षीरसागरमें निवास करनेवाले श्रीहरिकी शरणमें गये और प्रणाम करके उनकी स्तुति करने लगे।

**देवता बोले**—देव! जगन्नाथ! आपकी जय हो। आप दैत्यों और असुरोंका मान मर्दन करनेवाले हैं। आपने ही वाराहरूप धारण करके इस पृथ्वीका उद्धार किया था। मत्स्यरूपसे आपने ही समुद्रके जलसे वेदोंका उद्धार किया है। जब क्षीरसागरका मन्थन हो रहा था, उस समय कूर्मरूप धारण करके आपने अपनी पीठपर मन्दराचल उठाया और लक्ष्मीजीका उद्धार किया; आपको नमस्कार है। आप लक्ष्मीपति हैं; लक्ष्मीजीने आपका आश्रय लिया है। देव! आप पीड़ितोंकी पीड़ाका नाश करनेवाले हैं। आपने वामनरूप धारण करके बलिको बाँधा है और वाराहरूपसे महादैत्य हिरण्याक्षका वध किया है। आपने ही नृसिंहरूपसे हिरण्यकशिपुको आकाशमें धारण करके मारा है। आप ही सम्पूर्ण देवताओंके मूल हैं। प्रभो! महादेव! आपने ही समस्त संसारका उद्धार किया है।

पार्वती! यह स्तोत्र सुनकर कमलनयन भगवान् विष्णुने ब्रह्मा आदि देवताओंसे कहा—'देवगण! तुम दानवोंका भय छोड़ दो, मैं शीघ्र ही उनका संहार करूँगा?' यो कहकर श्रीविष्णु देवताओंके साथ वहाँ आये और चक्रद्वारा पृथक्-पृथक् सब दानवोंका संहार आरम्भ किया। यह देख सब दानव भयसे विकल हो भागने लगे। प्रभासक्षेत्रमें आकर उन्होंने समुद्रकी शरण ली। भगवान्ने अपने चक्रसे सब दैत्योंका सफाया कर डाला। उनके मारे जानेपर देवताओं, ब्राह्मणों तथा तपस्वी जनोंका कल्याण हुआ। संसारकी व्याकुलता दूर हुई और सबका चित्त स्वस्थ हुआ। तभीसे भगवान् विष्णुका नाम 'दैत्यसूदन' हुआ। उनका दर्शन करके मनुष्य सात जन्मोंतक जड, अन्ध, दरिद्र और दुःखी नहीं होता। श्रवण नक्षत्रमें द्वादशीका योग पुण्यदायक है तथा रोहिणी नक्षत्रमें अष्टमीका संयोग शुभ है। उस समय भगवान् दैत्यसूदनके शयन और उत्थापनका उत्सव होता है। उस अवसरपर दैत्यसूदनके समीप एक-एक उपवासका दस-दस उपवासके बराबर फल होता है। चाण्डाल, श्वपच और पशु-पक्षी भी वहाँ प्राण त्याग करनेपर वैकुण्ठधाममें जाते हैं। कार्तिक और वैशाखमासमें वहाँ श्रद्धापूर्वक एक मासतक उपवास करे। उस समय एक-एक उपवासका कोटि-कोटि उपवासके बराबर फल होता है। विष्णुक्षेत्रका ऐसा ही प्रभाव है। जो वहाँ एक मास या एक पक्षतक दीपदान करता है, उसे कोटिगुने फलकी प्राप्ति होती है। जो आषाढ़ शुक्ला एकादशीको निराहार रहकर भगवान् दैत्यसूदनको पंचामृतसे नहलाकर पूजा करे और नियमपूर्वक उनके समीप रहकर चातुर्मास्य व्यतीत करे, उसके ऊपर भगवान् विष्णु संतुष्ट होते हैं।

जो मनुष्य एकादशी तिथिको वहाँ गीत, नृत्य, वाद्य तथा दृश्य—अभिनय आदिके द्वारा रातमें जागरण करता है, वह भगवान् विष्णुके उस परम धाममें जाता है, जहाँसे पुनः इस संसारमें आना नहीं होता। जिनकी निद्रा दैत्यसूदनके समीप जागरणमें बीत जाती है। वे स्वप्नमें भी यममार्ग, यमपुरी, यमदूत तथा असिपत्रवन आदि नरकोंका दर्शन नहीं करते। जो एकादशीको उपवास करके द्वादशीके दिन वहाँ नैवेद्य, तुलसीपत्र भक्षण करता है, उसकी कोटि-कोटि हत्याओंका नाश हो जाता है। पार्वती! सब पातकोंका नाश करनेवाले चक्रतीर्थमें स्नान करके भगवान् दैत्यसूदनकी सेवाके लिये पीले वस्त्र, गौ तथा सुवर्णका दान करना चाहिये।

## योगेश्वरी देवीकी महिमा

**महादेवजी कहते हैं**—पार्वती! दैत्योंका संहार करनेके पश्चात् भगवान् विष्णुने जहाँ अपने चक्रको धोया, वहीं आठ करोड़ तीर्थोंको लाकर स्थापित किया। उसमें सुदर्शनको शुद्ध करके उन्होंने उस तीर्थका चक्रतीर्थ नाम रख दिया। चक्रतीर्थमें कुल आठ करोड़, असी हजार तीर्थ हैं। जो मानव एकाग्रचित्त होकर वहाँ स्नान करता है, वह सब तीर्थोंमें स्नान करनेका पूरा फल पा लेता है। एकादशीको या विशेषतः चन्द्रमा और सूर्यके ग्रहणके अवसरपर जो उसमें स्नान करता है, वह कोटि यज्ञोंका फल पाता है। पूर्व कल्पमें इसका नाम कोटितीर्थ था। दूसरे कल्पमें श्रीनिधान, तीसरेमें शतधार और चौथेमें चक्रतीर्थके नामसे इसकी प्रसिद्धि हुई। उस वैष्णव क्षेत्रका प्रमाण आधा कोस बताया गया है। उसमें ब्रह्महत्या नहीं प्रवेश कर पाती। उस क्षेत्रमें जाकर जो मासोपवासी, अग्निहोत्री, पतिव्रता स्त्री एवं स्वाध्यायपरायण तथा यज्ञशील मानव चान्द्रायण आदि तप, तिल-जलसे पितरोंका तर्पण, श्राद्ध, एकरात्रव्रत, द्विरात्रव्रत, त्रिरात्रव्रत, कृच्छ्र, सान्तपन, मासोपवास या अन्य कोई पुण्य-कर्म करते हैं, वह अन्य क्षेत्रोंकी अपेक्षा कोटिगुना पुण्यदायक होता है।

चक्रतीर्थसे पूर्व दिशामें महादेवी योगेश्वरीका स्थान है। पूर्वकालमें महिषासुर नामक एक बड़ा भयंकर दैत्य हो गया है। वह इच्छानुसार रूप धारण करनेवाला था और तीनों लोकोंको अपने वशमें करके सुखसे रहता था। एक समय ब्रह्माजीने एक मनोमयी कन्या उत्पन्न की। वह पृथ्वीपर अप्रतिम सुन्दरी थी। उस रूपवती कन्याने बड़ी घोर तपस्या की। एक दिन देवर्षि नारदजीने उस कन्याको देखा और महिषासुरके समीप गये। महिषासुरने मुनिका बड़ा स्वागत-सत्कार किया और कुशल-मंगल पूछते हुए कहा—'नारदजी! यहाँ पधारनेका क्या कारण है? बताइये।' मुनि बोले—'महादैत्य! जम्बूद्वीपमें एक अनुपम सुन्दरी कन्या उत्पन्न हुई है। उसके जैसा रूप मैंने स्वर्ग, मर्त्यलोक और पातालमें भी न तो देखा है और न सुना ही है।'

मुनिकी यह बात सुनकर महिषासुर बड़ी भारी सेनाके साथ प्रभासक्षेत्रमें गया, जहाँ वह कन्या तप करती थी। वहाँ उस असुरने उससे इस प्रकार प्रार्थना की—'भीरु! तुम मेरी स्त्री हो जाओ। यह तपस्या तुम्हारी जवानीके विरुद्ध है।' उसकी बात सुनकर वह तपस्विनी हँस पड़ी। हँसते समय उसके मुखसे सहस्रों भयंकर स्त्रियाँ हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये निकलीं। उन सबने महिषासुरकी सारी सेनाका संहार कर डाला। यह देख वह दैत्य कुपित हो अपने तीखे सींग हिलाता हुआ शीघ्र ही उस देवीके सम्मुख गया। उसके साथ बड़ा

भारी युद्ध करके अन्तमें वह महिष पकड़ा गया। देवी सींग पकड़कर उसके ऊपर चढ़ गयी और पैरोंसे दबाकर उसे त्रिशूलसे मार डाला। फिर तलवारसे उसका मस्तक काट लिया। महिषासुरको मारा गया देख इन्द्र आदि देवताओंने प्रसन्नचित्त होकर देवीका स्तवन किया।

**देवता बोले**—महान् सौभाग्यशालिनी देवि! तुम्हें नमस्कार है। तुम गम्भीर स्वभाववाली हो। तुम्हारी दृष्टि बड़ी भयंकर है। तुम सदा न्यायके पथपर स्थित रहती हो, उत्तम सिद्धोंकी अधीश्वरी हो; तुम्हारे तीन नेत्र हैं और सब ओर मुख हैं। विद्या और अविद्या तुम्हारे ही स्वरूप हैं। तुम्हीं जया (विजयशक्ति) और जपनीय मन्त्रस्वरूपा हो। महिषासुरका मर्दन करनेवाली देवि! तुम सर्वत्र व्यापक, समस्त विद्याओंकी स्वामिनी और विश्वरूपा हो। तुम्हें नमस्कार है। तुम शोकसे परे और ध्रुवस्वरूपा हो। पद्मपत्रके समान विशाल नेत्रोंवाली देवि! तुम शुद्ध सत्त्वगुणोंमें स्थित हो, व्रतपरायण हो; तुम्हीं प्रचण्ड रूप धारण करनेवाली विभावरी (रात्रि) हो, तुम्हें नमस्कार है। ऋद्धि-सिद्धि देनेवाली देवि! तुम कालमृत्यु (प्रलयताण्डव) करनेवाली हो। धृति (धैर्य) तुम्हें विशेष प्रिय है। तुम्हीं शांकरी, ब्राह्मणी और ब्राह्मी हो। सम्पूर्ण देवताओंसे वन्दित देवि! तुम्हें नमस्कार है। तुम्हारे हाथोंमें घण्टा और शूल शोभा पाते हैं। तुम महामहिष दानवका मर्दन करनेवाली हो, तुम्हारा रूप बड़ा भयंकर और नेत्र भयानक हैं। महामाये! तुम अमृतस्वरूपा और कल्याणमयी हो, तुम्हें नमस्कार है। सर्वत्र व्याप्त रहकर सब कुछ देनेवाली देवि! समस्त सात्त्विक वस्तुओंका उदय तुम्हींसे होता है। तुम्हीं विद्या, पुराण और शिल्पकलाकी जननी हो। सब भूतोंको धारण करनेवाली हो। सम्पूर्ण देव-रहस्योंका आश्रय तथा समस्त सत्त्वगुणी प्राणियोंको शरण देनेवाली हो। शुभे! तुम्हीं विद्या-अविद्या, प्रिया तथा अप्रिया हो।

देवताओंके इस प्रकार स्तवन करनेपर देवीने मुसकराते हुए कहा—'उत्तम वर माँगो।'

**देवता बोले**—देवि! जो श्रेष्ठ मानव यहाँ इस स्तोत्रके द्वारा तुम्हारा स्तवन करें, वे पूर्णकाम हों। इस क्षेत्रमें तुम सदा निवास करो।

**'एवमस्तु'** कहकर देवीने देवताओं और महर्षियोंको विदा किया और स्वयं वहीं रहने लगीं। जो मनुष्य आश्विन शुक्ला नवमीको उपवास करके भक्ति-भावसे योगेश्वरीदेवीका दर्शन करता है, उसका पाप नष्ट हो जाता है। जो मानव प्रातःकाल उठकर इस स्तोत्रको पढ़ता है, उसे जीवनभर भयका सामना नहीं करना पड़ता। आश्विन शुक्ला अष्टमी यदि मूल नक्षत्रसे युक्त हो तो महाष्टमी मानी गयी है। वह तीनों लोकोंमें अत्यन्त दुर्लभ है। उस दिन जगदम्बाका पूजन करके मनुष्य अपने शत्रुओंपर विजय पाता है।

## आदिनारायणका माहात्म्य

**महादेवजी कहते हैं**—पार्वती! योगेश्वरीसे पूर्व दिशामें आदिनारायण भगवान् विष्णु विराजमान हैं। ये पादुकापर खड़े हैं तथा सब दैत्योंका विनाश करनेवाले हैं। पहले सत्ययुगमें मेघवाहन नामसे प्रसिद्ध एक दैत्य हो गया है; उसे ब्रह्माजीने वरदान दिया था कि 'जब भगवान् विष्णु युद्धभूमिमें तुम्हें पादुकासे मारेंगे, तभी तुम्हारी मृत्यु होगी, अन्यथा नहीं।' इस प्रकार वर पाकर वह दैत्य देवता, असुर और मनुष्योंसहित समस्त भूमण्डलको संताप देने लगा। कोटि युगोंतक सबको नाना प्रकारके कष्ट देकर वह दक्षिण समुद्रके तटपर आया और वहाँ ऋषियोंके आश्रमोंका विध्वंस करने लगा। तब ऋषियोंने उसे अजेय समझकर

भगवान् गरुडध्वजका स्तवन किया।

**ऋषि बोले**—परमकल्याण! आपको नमस्कार है। आप कल्याणस्वरूप आत्मयोगीको नमस्कार है। आप जनार्दन, श्रीधर और वेधा (सृष्टिकर्ता) हैं। देव! आपको नमस्कार है। कमल-केसरके समान सुवर्णमय मुकुट धारण करनेवाले केशवको नमस्कार है। आप अत्यन्त सूक्ष्म तथा अतिशय महान् शरीरवाले हैं, आपको बारंबार नमस्कार है। आपकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ है, आपको नमस्कार है। आप ही श्रीहरि तथा हरिवेधा हैं, आपको नमस्कार है। आप ही सम्पूर्ण जगत्के कारणभूत हिरण्यगर्भ हैं, आपको नमस्कार है। आप अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले तथा उन्नत (सर्वोच्च पदमें स्थित) हैं, आपको बारंबार नमस्कार है। मायाके परदेसे ढके हुए आप जगदाधार परमात्माको नमस्कार है। संसारसागरसे पार उतारनेवाले प्रभो! आप ज्ञाननौका प्रदान करनेवाले हैं; आपको नमस्कार है। आपकी बुद्धि कभी कुण्ठित नहीं होती, आप धाता एवं संसारकी सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले हैं। आपको नमस्कार है। आपका वासुदेव नाम सब पातकोंका नाश करनेवाला है, इस सत्यके प्रभावसे यह मेघवाहन दैत्य नष्ट हो जाय। भगवान् विष्णुके भक्तोंमें पाप नहीं ठहरता, भगवान् विष्णु स्मरण करते ही सब पापोंका नाश कर देते हैं—यह सत्य है तो यह पापात्मा मेघवाहन दैत्य नष्ट हो जाय। परमेश्वरके जगदाधार वासुदेव नामका भक्तिपूर्वक स्मरण करनेसे सबका कल्याण हो और समस्त संसारके सभी दोष नष्ट हो जायँ।

ऋषियोंके इस प्रकार स्तुति करनेपर आदिनारायण भगवान् श्रीहरिने पादुकापर आरूढ़ हो उन सबको दर्शन दिया और कहा—'आपलोगोंके मनमें कौन-सा कार्य उपस्थित हुआ है? बताइये, मैं उसे पूर्ण करूँगा। आपके द्वारा की हुई इस स्तुतिसे मैं बहुत सन्तुष्ट हूँ।'

**ऋषि बोले**—देव! आप सब कुछ जानते हैं, आपसे कुछ भी छिपा नहीं है। इस महाबली दैत्य मेघवाहनका संहार कीजिये, जिससे सारा विश्व निर्भय हो।

उनके यों कहनेपर भगवान् विष्णुने उस दैत्यको युद्धके लिये ललकारा और अपनी पादुकासे उसकी छातीमें प्रहार किया। उसकी चोट खाकर दैत्यके प्राण-पखेरू उड़ गये और वह समुद्रमें गिर पड़ा। उस श्रेष्ठ दैत्यका वध करके भगवान् विष्णु उसी स्थानपर स्थित हो गये। आज भी वे वहीं पादुकाके आसनपर खड़े हैं। जो श्रेष्ठ मनुष्य एकादशी तिथिको भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करता है, वह अश्वमेध यज्ञका फल पाकर स्वर्गमें आनन्दित होता है। जिनके हृदयमें भगवान् आदिनारायण विराजमान हैं, उनके लिये कलियुगमें भी सत्ययुग है।

## पाण्डवेश्वरलिंग तथा ग्यारह रुद्रोंका माहात्म्य

**महादेवजी कहते हैं**—आदिनारायणसे तीन धनुष पश्चिम महानदी सन्निहिता विराज रही है। जब जरासन्धके आक्रमणके भयसे बाल, वृद्ध, वणिग्जन तथा अपने परिजनोंसहित सब यादवोंको साथ ले भगवान् श्रीकृष्ण मथुराको सूनी करके चले, तब प्रभासक्षेत्रमें आये। वहाँ उन्होंने रहनेके लिये समुद्रसे स्थान माँगा। इसी समय सूर्यग्रहण लगा। तब भगवान् जनार्दनने यादवोंसे कहा—'मैं परम पवित्र सन्निहित नामक सरोवरको यहाँ लाऊँगा।' उनके इतना कहते ही धरती फोड़कर शुभ जलका प्रवाह प्रकट हुआ। यह देख बलरामजी तथा साम्ब आदि सभी यादवोंने उसमें ग्रहणस्नान किया। उसमें स्नान करनेसे अग्निष्टोम यज्ञका फल मिलता है। वहाँ एक-एक आहुति देनेसे कोटि होमका फल होता है। उस स्थानमें रहकर यदि

कोई मन्त्रजप करता है तो उसे एक-एक जपका कोटि-कोटिगुना फल मिलता है।

सन्निहिताके दक्षिण तटपर पाण्डवेश्वरलिंग है, जिसकी स्थापना पाँचों पाण्डवोंने की है। वनवासी पाण्डव जब अज्ञातवासमें थे, तब तीर्थयात्राके प्रसंगसे प्रभासक्षेत्रमें आये। उस समय चन्द्रग्रहणका पर्व था। उसी अवसरपर उन सबने सन्निहिताके किनारे पाण्डवेश्वरकी स्थापना की। मार्कण्डेय आदि मुनियों तथा श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको ऋत्विज् बनाकर उन्होंने वैदिक मन्त्रोंसे मुझ शिवका अभिषेक कराया। ऋषियोंने उस लिंगका माहात्म्य बताते हुए कहा—'जो लोग इस पाण्डव-पूजित लिंगकी अर्चना करेंगे, वे देवता, दानव तथा राक्षसोंके लिये भी पूजनीय होंगे। श्रद्धापूर्वक इसका पूजन करनेसे उन्हें अश्वमेध यज्ञका फल होगा। जो पूरे माघभर सन्निहिता कुण्डमें नहाकर पाण्डवेश्वरकी पूजा करता है, वह साक्षात् पुरुषोत्तम होता है। इस लिंगके दर्शनसे भी पापके सहस्रों टुकड़े हो जाते हैं।'

पार्वती! इस प्रकार श्रद्धापूर्वक यात्रा करके मनुष्य प्रभासक्षेत्रके ग्यारह रुद्रोंके समीप जाय। मनुष्योंसे जो ग्यारह इन्द्रियोंद्वारा ग्यारह प्रकारके पाप बन जाते हैं, उन सबका यहाँ ग्यारह रुद्रोंके पूजनसे नाश हो जाता है। संक्रान्ति, अयन, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण तथा अन्यान्य पुण्य तिथियोंमें भक्तिभावसे क्रमशः ग्यारह रुद्रोंका पूजन करना चाहिये। कलिमें इन ग्यारह रुद्रोंके नाम इस प्रकार हैं—भूतेश, नीलरुद्र, कपाली, वृषवाहन, त्र्यम्बक, घोरनामा, महाकाल, भैरव, मृत्युंजय, कामेश और योगेश। पार्वती! ये जो ग्यारह रुद्र बताये गये हैं, इनका रहस्य सुनो। इनमें दस तो दस प्राणवायु हैं और एक आत्मा है। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय—ये ही दस प्राणवायु कहे गये हैं।

रुद्रोंमें आदिदेव सोमेश्वर भी हैं, उनकी भूतेश्वर नामसे विधिवत् पूजा करनी चाहिये। उन्हें पंचामृतसे स्नान कराकर '**सद्योजात**' मन्त्रसे मनोहर पुष्पोंद्वारा पूजन करना चाहिये। भक्तिपूर्वक सदाशिवका ध्यान करते हुए तीन बार प्रदक्षिणा और साष्टांग प्रणाम करे। महत्तत्त्वसे लेकर विशेषपर्यन्त जो पचीस भूतगण बताये गये हैं, उन सबके ईश्वर होनेसे इन शिवको 'भूतेश्वर' कहते हैं। भूतेश्वरका पूजन करके मनुष्य अविनाशी मोक्षको प्राप्त होता है।

भूतेश्वरसे उत्तरभागमें सोलह धनुषपर द्वितीय रुद्र नीलरुद्रके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनको विधिपूर्वक स्नान कराकर ईश-मन्त्रद्वारा पूजा करे। कुमुद, उत्पल और कह्लार (लाल कमल) चढ़ाये। प्रदक्षिणा और नमस्कार करे। यों करनेसे मनुष्य राजसूय यज्ञका फल पाता है। पूर्वकालमें नीले अंजनके समान रंगवाला अन्धकासुर उनके द्वारा मारा गया था, इसलिये वे नीलरुद्र कहलाये।

नीलरुद्रसे पूर्व और बुधेश्वरसे पश्चिम सात धनुष दूर कपालेश्वर विराजमान हैं। '**तत्पुरुष**' मन्त्रद्वारा उनकी पूजा करे। उनके दर्शनसे जन्मभरका पाप नष्ट हो जाता है।

बालरूपधारी ब्रह्माजीसे उत्तर तीन धनुषपर वृषभेश्वर नामक चौथे रुद्र हैं। वे आदिलिंग हैं। पुण्यहीन मनुष्य उनको नहीं जानता। जो उन वृषभवाहन शिवका पूजन करता है, वह सात जन्मोंके पातकोंसे मुक्त हो जाता है। उनके चारों ओर तीस-तीस धनुषतक उन्हींका क्षेत्र है। जो उस तीर्थमें स्नान, जप, बलि, होम, पूजा, स्तोत्रपाठ आदि करता है, उसका वह सब कर्म अक्षय हो जाता है। जो एक रात उवास करके ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक वृषभेश्वरदेवके समीप जागरण करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। जो वहाँ भाँति-भाँतिके भोज्य पदार्थोंसे ब्राह्मणोंको तृप्त करता है, उसे एक ब्राह्मणको भोजन करानेपर कोटि ब्राह्मणोंके भोजन करानेका फल होता है। भैरव, केदार, पुष्कर, कुरुजांगल, कुरुक्षेत्र, काशी, महाकाल और नैमिष—ये आठ तीर्थ वृषभेश्वरलिंगमें प्रतिष्ठित हैं। जो माघकृष्णा चतुर्दशीकी रात्रिमें वहाँ जागता है, वह विधिपूर्वक उस लिंगकी

पूजा करके उक्त आठों तीर्थोंके सेवनका फल पाता है। जो मनुष्य अमावास्याको वहाँ रुद्रके समीप पिण्डदान करता है, उसके पितर ब्रह्माजीके दिन (एक कल्प)-तक तृप्त रहते हैं। दही, दूध, घी, पंचगव्य, कुशोदक, कुंकुम, अगुरु तथा कपूर—इन सबको अघोरमन्त्रसे अभिमन्त्रित करके रातमें इनके द्वारा मेरा ध्यान करते हुए वृषभेश्वरका पूजन करे। यों करनेसे मनुष्य पाँच महापातकोंसे मुक्त हो जाता है। यदि उन्हें दूधसे नहलाये तो पूर्वजन्म और इस जन्मके पापका नाश हो जाता है। जो मनुष्य पंचगव्यसे वृषभेश्वरको स्नान कराता है, वह अपने सब पातकोंको जला देता है। उस लिंगकी पूजाके लिये उद्यत होते ही मनुष्य सब पापोंसे छूट जाता है। जो मानव पूरे कार्तिकभर ब्रह्मेश्वर महालिंगका पूजन करता है, उसे सब प्रकारके पातकोंसे छुटकारा मिल जाता है। इस प्रकार वृषभेश्वर शिवका देवपूजित माहात्म्य बताया गया।

वहाँसे अविनाशी त्र्यम्बकेश्वरलिंगके समीप जाय। त्र्यम्बकेश्वरजी पाँचवें रुद्र माने गये हैं। इनका स्थान कपिलेश्वर लिंगसे ईशानकोणमें सोलह धनुषकी दूरीपर है। ये सबके ऊपर दया करनेवाले तथा सब वांछित फलोंको देनेवाले हैं। इनके दर्शनसे भी पातकोंके सहस्रों टुकड़े हो जाते हैं। जो भक्तिभावसे कामदेव मन्त्रद्वारा इनका विधिवत् पूजन करता है, वह सब पातकोंसे मुक्त हो जाता है। जो चैत्र शुक्ला चतुर्दशीकी रातमें वहाँ जागरण करता है और पूजा, स्तुति एवं कथा-वार्तामें समय बिताता है, वह मनोवांछित फल पाता है।

इसके बाद छठे रुद्र अघोरेश्वरलिंगके समीप जाय। इनका स्थान त्र्यम्बकेश्वरसे वायव्यकोणमें पाँच धनुषके अन्तरपर है। ये सम्पूर्ण अभीष्टफलोंके दाता तथा कलियुगके पापोंका नाश करनेवाले हैं। जो मानव स्नान-पूजन आदिके क्रममें इनकी आराधना करता है, उसे सुवर्णमय मेरुगिरिके दानका फल प्राप्त होता है। अघोरेश्वरदेवके लिये जो कुछ दिया जाता है, वह सब अक्षय होता है। जो मनुष्य अघोरेश्वरके दक्षिण भागमें श्राद्ध करता है, उसके पितर कल्पपर्यन्त तृप्त रहते हैं।

अघोरेश्वरसे उत्तर कुछ-कुछ वायव्यकोणकी ओर तीस धनुषकी दूरीपर महाकालेश्वरका स्थान है। वह लिंग सब पापोंका नाश करनेवाला है। उसके भीतर मैं कालरूपसे प्रतिष्ठित हूँ। वह कल्पपर्यन्त स्थिर रहनेवाला और मेरा विशेष प्रिय है। जो षडक्षर मन्त्रद्वारा उसकी पूजा करता है, वह उसी क्षण मृत्युको जीत लेता है। जो कृष्णपक्षकी अष्टमीमें रातके समय विधिपूर्वक पूजा करके घृतमिश्रित गुग्गुलका धूप देता है, उसके सहस्रों अपराध भैरवजी क्षमा कर देते हैं। महर्षिलोग उस स्थानपर गोदानकी महिमा बतलाते हैं। वहाँ गोदान करनेवाले पुरुष अपने आगे-पीछेकी दस-दस पीढ़ियोंका उद्धार कर देते हैं। जो महाकालेश्वरके दक्षिणभागमें रुद्रियका जप करता है, वह मातृकुल और पितृकुल दोनोंको तारता है।

महाकालेश्वरसे अग्निकोणमें बीस धनुष दूर भैरवेश्वरका स्थान है। भैरवेश्वरलिंग सब वांछित फलोंका देनेवाला तथा दरिद्रताका नाश करनेवाला है। पूर्वकालमें चण्ड नामक मेरे पार्षदने एक सहस्र दिव्य वर्षोंतक उसकी आराधना की थी, इससे उसका नाम चण्डेश्वर हुआ। जो एकाग्रचित्त हो देवाधिदेव चण्डेश्वरका दर्शन और स्पर्श करता है, वह जन्मसे लेकर मृत्युतकके सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है। भाद्रपदमासके कृष्ण पक्षकी चतुर्दशी तिथिको उपवास करके जो भैरवेश्वरके समीप जागरण करता है, वह मेरे परम धामको जाता है। भैरवेश्वरके दर्शनसे मन, वाणी और क्रियाद्वारा किये हुए सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। यात्राके उत्तम फलकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको अपने सब पापोंका नाश करनेके लिये वहाँ तिल, सुवर्ण और वस्त्रका दान करना चाहिये। कल्पके अन्तमें वे रुद्रदेव भैरव (भयानक)

आकार धारण करके सम्पूर्ण विश्वका संहार करते हैं, इसीलिये भैरव कहलाते हैं।

भैरवेश्वरसे अग्निकोणमें दस धनुषकी दूरीपर मृत्युंजयेश्वरलिंग स्थित है। सागरादित्यसे पश्चिम चार धनुषपर वह स्थान है। वह लिंग दर्शन और स्पर्श करनेपर सब प्राणियोंके पापोंका नाश करनेवाला है। मेरे पार्षद नन्दीने उस महालिंगकी स्थापना करके नित्य पूजनमें तत्पर हो लाख करोड़ महामृत्युंजयका जप किया है। इससे प्रसन्न होकर मैंने उसे अपने गणोंका आधिपत्य और सामीप्य मुक्ति प्रदान की है। मृत्युंजयमन्त्रसे प्रसन्न होकर वहाँ मेरे स्वरूपभूत रुद्र प्रकट हुए, इसलिये उनका नाम मृत्युंजयेश्वर हुआ। जो मनुष्य भक्तिभावसे मृत्युंजयेश्वरका पूजन अथवा दर्शन करता है, उसके सात जन्मोंका पाप वे नष्ट कर देते हैं।

मृत्युंजयेश्वरसे उत्तर दिशामें तीन धनुषपर कामेश्वरलिंग स्थित है, जिसके दर्शन और पूजनसे सात जन्मोंका पाप तत्काल नष्ट हो जाता है और सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धि होती है। जो मानव कामेश्वरलिंगका पूजन करेंगे, वे उत्तम गतिको प्राप्त होंगे। इस लिंगके प्रसादसे उनके सब मनोरथोंकी सिद्धि होगी। जो चैत्र शुक्ला त्रयोदशीको कामेश्वरजीका पूजन करता है, वह मनुष्योंमें पुत्र और सौभाग्यसे सम्पन्न एवं पूर्णकाम होता है।

कामेश्वरसे वायव्यकोणमें सात धनुष दूर योगेश्वरलिंग है। वहाँ मेरे असंख्य पार्षदोंने योगनिष्ठ होकर सहस्रों वर्षोंतक घोर तपस्या की थी। तब मैंने प्रसन्न होकर उन्हें सालोक्य मुक्ति प्रदान की थी। उनके षडंगयोगसे सन्तुष्ट होकर शिवलिंगका प्रादुर्भाव हुआ था। इसलिये उसका नाम योगेश्वर हुआ। जो मानव विधिपूर्वक भक्तिभावसे उसकी पूजा करता है, उसे योगसिद्धि प्राप्त होती है। जो प्रभासक्षेत्रमें स्थित इन ग्यारह रुद्रोंको नहीं जानता, वह उस क्षेत्रके बीचमें रहकर भी नहींके समान है। उसे पशु माना गया है। इन ग्यारह रुद्रोंमेंसे सबका अथवा एकमात्र सोमेश्वरका पूजन करके जो शतरुद्रियका जप करता है, उसे सब रुद्रोंके पूजनका फल प्राप्त हो जाता है। पार्वती! ग्यारह रुद्रोंका यह गुप्त माहात्म्य तुम्हें बताया गया।

## चन्द्रेश्वर, चक्रपाणि, दण्डपाणि तथा साम्बादित्यकी महिमा

**महादेवजी कहते हैं**—सोमेश्वरसे वायव्यकोणमें साठ धनुषकी दूरीपर चन्द्रेश्वरलिंग है। वह दिव्य लिंग सब गतकोंका नाश करनेवाला है। चन्द्रेश्वरका दर्शन करके मनुष्य सात जन्मोंके समस्त पापोंसे मुक्त एवं कृतकृत्य हो जाता है। प्राचीन कालमें यह पृथ्वी दैत्योंके भारसे पीड़ित हो गौका रूप धारण करके प्रभासक्षेत्रमें आयी और उसने भक्तिभावसे उत्तम शिवलिंगकी स्थापना की। इससे मैं प्रसन्न हुआ और उससे बोला—'भूदेवी! भगवान् विष्णुके हाथसे मारे जाकर सब दैत्य नष्ट हो जायँगे और तुम्हारा भार उतर जायगा। तुमने जो यह परम सुन्दर शिवलिंग स्थापित किया है, यह संसारमें धरित्रीश्वरके नामसे विख्यात होगा। मैं इस लिंगमें सदैव निवास करूँगा। भादोंके कृष्णपक्षकी तृतीयाको जो मनुष्य इस शिवलिंगका पूजन करेगा, वह निश्चय ही अश्वमेध यज्ञका फल पायेगा। केवल इस लिंगके पूजनसे सब तीर्थोंमें स्नानका और सब प्रकारके दानोंका फल मिल जायगा। इसके चारों ओर सोलह धनुषतक इसीका क्षेत्र होगा और यह क्षेत्र समस्त प्राणियोंको मोक्ष प्रदान करेगा। इस क्षेत्रमें मरनेवाले प्राणी उत्तम गतिको प्राप्त होंगे।'

यों कहकर मैं वहाँसे अन्तर्धान हो गया। तदनन्तर वाराहकल्पमें किसी समय दक्षके शापसे चन्द्रमा राजयक्ष्मासे पीड़ित हो क्षीण होने लगे। तब वे समुद्रके निकट प्रभासक्षेत्रमें आये और इस पृथ्वीश्वरलिंगका दर्शन करके इसके प्रभावको

जानकर इसीकी आराधनामें तत्पर हो गये। इसके माहात्म्यसे चन्द्रमाका पापजनित रोग दूर हुआ। तबसे इसका नाम 'चन्द्रेश्वर' हो गया।

तदनन्तर जहाँ चक्रधर विष्णु तथा दण्डपाणि गणेश दोनों एक स्थानपर स्थित हैं, वहाँकी यात्रा करे। जो मानव भक्तिभावसे क्रमशः उन दोनोंका पूजन करता है, वह पापसे मुक्त हो मेरे लोकमें जाता है। जो माघमासकी चतुर्दशी और कृष्णपक्षकी अष्टमीको गन्ध, पुष्प, धूप आदि उपचारोंसे दण्डनायककी पूजा करता है, उसे कभी विघ्न नहीं प्राप्त होता। जो एकादशी तिथिको निराहार रहकर चक्रपाणिका पूजन करता है, वह सब पातकोंसे मुक्त हो भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है।

इस प्रकार यहाँ संक्षेपसे चक्रपाणि और दण्डपाणिका माहात्म्य बताया गया।

इन दोनोंके उत्तर और बालरूपधारी ब्रह्मासे वायव्यकोणमें साम्बके द्वारा स्थापित देवश्रेष्ठ साम्बादित्यका स्थान है। प्रभासक्षेत्रमें जो साम्बनामक पुर है, वही सूर्यनारायणका द्वितीय स्थान है। वहाँ भगवान् सूर्य बारह स्वरूपोंमें विभक्त हो सदा सबके कल्याणके लिये निवास करते हैं और भक्तोंद्वारा दी हुई पूजाको ग्रहण करते हैं। जो मनुष्य वहाँ बारह नामोंवाले सूर्यदेवकी स्तुति करेगा, उसकी सात जन्मोंकी दरिद्रता नष्ट हो जायगी। आदित्य, सविता, सूर्य, मिहिर, अर्क, प्रतापन, मार्तण्ड, भास्कर, भानु, चित्रभानु, दिवाकर तथा रवि—ये सूर्यदेवके सामान्य नाम हैं। विष्णु, धाता, भग, पूषा, मैत्र, इन्द्र, वरुण, अर्यमा, विवस्वान्, अंशुमान्, त्वष्टा तथा पर्जन्य—ये बारह स्वरूपोंके विशेष नाम हैं। ये सभी क्रमशः बारह महीनोंमें सूर्यमण्डलमें तपते हैं। चैत्रमें विष्णु, वैशाखमें अर्यमा, ज्येष्ठमें विवस्वान्, आषाढ़में अंशुमान्, श्रावणमें पर्जन्य, भाद्रपदमें वरुण, आश्विनमें इन्द्र, कार्तिकमें धाता, अगहनमें मित्र, पौषमें पूषा, माघमें भग और फाल्गुनमें त्वष्टा तपते हैं। इस प्रकार प्रभासक्षेत्रमें द्वादश मूर्तिवाले सूर्यदेव विराजमान हैं। माघशुक्ला पंचमीको एकभक्तव्रत, षष्ठीको नक्तव्रत और सप्तमीको साम्बादित्यके समीप उपवास-व्रत करके व्रती मनुष्य लाल-चन्दन मिश्रित कनेरके फूलोंसे सूर्यनारायणके लिये अर्घ्य और धूप देकर पूजा करे। शक्तिके अनुसार ब्राह्मण-भोजन भी कराये। जो इस प्रकार साम्बादित्यका पूजन करता है, वह उस लोकमें समस्त मनोवांछित फलोंको पा लेता है।

## बालरूपधारी ब्रह्माकी महिमा, ब्रह्माजीकी आयुका मान तथा त्रिदेवोंकी एकता

**महादेवजी कहते हैं**—पार्वती! साम्बादित्यसे उत्तर दिशामें कपालेश्वर विराजमान हैं। उनका दर्शन करनेसे मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल पाता है और पूर्वजन्मके पातकोंसे मुक्त हो जाता है।

उससे उत्तर कोटीश्वरलिंग है, जो सबके पापोंका नाश करनेवाला है। वहाँ कोटि ऋषियोंने सिद्धि प्राप्त की है, इसलिये उनका नाम कोटीश्वर है। जो मानव भक्तिभावसे कोटीश्वरका पूजन करता है, उसे एक करोड़ मन्त्र-जपका फल प्राप्त होता है। कोटीश्वरके निकट वेदवेत्ता ब्राह्मणको सुवर्ण देना चाहिये।

सोमेश्वर, दैत्यसूदन, बालरूपधारी ब्रह्मा, अर्कस्थल, सूर्य तथा शशिभूषण—ये छः प्रभास-क्षेत्रके श्रेष्ठ देवता हैं। इनके दर्शनमात्रसे मनुष्य कृतार्थ हो जाता है और जन्मसे लेकर मृत्युतकके भयंकर पापोंसे छूट जाता है।

**पार्वतीजीने पूछा**—भगवन्! अन्य सब स्थानोंमें तो वृद्धरूपी ब्रह्मा हैं, यहाँ वे बालरूपी कैसे हुए?

**महादेवजीने कहा**—देवि! मनुष्य इस संसारमें

तभीतक दुःख, शोक और भयके समुद्रमें डूबे रहते हैं, जबतक कि ब्रह्माजीके प्रति उनकी भक्ति नहीं होती। जीवका चित्त जैसे विषयोंमें लगा है, यदि उसी प्रकार ब्रह्माजीमें भी लग जाय, तो कौन बन्धनसे मुक्त न होगा। सोमनाथसे ईशानकोणमें और साम्बादित्यसे अग्निकोणमें ब्रह्माजीका उत्तम स्थान है। वहाँ बालरूपधारी ब्रह्माजी विराजमान हैं। जो सम्पूर्ण जगत्के स्वामी, सब लोकोंके स्रष्टा और महान् तेजस्वी हैं, वे ही इस प्रभासक्षेत्रमें आठ वर्षकी आयुमें आये हैं। उन्होंने ही सोमनाथ-लिंगकी स्थापना करके ब्राह्मणोंको बहुत-सी दक्षिणा दी। प्रभासक्षेत्रमें रहते हुए बालरूपधारी ब्रह्माजीके बयालीस वर्ष बीत गये हैं। इस प्रकार उनकी आयुका एक परार्ध व्यतीत हो गया।

**पार्वतीजीने कहा**—प्रभो! ब्रह्माजीके दिन, मास और वर्षका परिमाण बताइये।

**महादेवजीने कहा**—देवि! ब्रह्माजीकी जो परम आयु है, उसका एक परार्ध बीत गया है। अब दूसरा परार्ध चल रहा है। आठ वर्षकी आयुमें यहाँ आये थे, इसीलिये उन्हें बालरूपी कहते हैं। प्रभासक्षेत्रको छोड़कर अन्य सब तीर्थोंमें वे वृद्धरूपी ही हैं। प्रथम कल्पमें इनका नाम स्वयम्भू था। दूसरेमें पद्मभू, तीसरेमें विश्वकर्ता और चौथेमें बालरूपी कहे गये हैं। जो मनुष्य प्रतिदिन इन नामोंको स्मरण करता है, वह दीर्घायु होता है। चन्द्र, सूर्य आदि सभी ग्रह, देवता, असुर, दानव तथा समस्त त्रिलोकी—ये सब ब्रह्माजीकी रात आनेपर नष्ट हो जाते हैं। फिर दिन आनेपर जब ब्रह्माजी जगते हैं, तब पूर्ववत् सृष्टि करने लगते हैं।

पलक गिरनेमें जितना समय लगता है, उसके एक चौथाई भागको त्रुटि कहते हैं। दो त्रुटिका एक निमेष होता है। पंद्रह निमेषोंकी एक काष्ठा होती है। तीस काष्ठाओंकी एक कला, तीस कलाओंका मुहूर्त और पंद्रह मुहूर्तोंका एक दिन होता है। दिनके बराबर ही रातका भी मान है। दिन तथा रात दोनोंको एक 'अहोरात्र' कहते हैं। पंद्रह दिन-रातोंका पक्ष और दो पक्षोंका मास होता है। छः मासोंका एक अयन और दो अयनोंका एक वर्ष होता है। तैंतालीस लाख बीस हजार सौर वर्षोंका एक चतुर्युग होता है। इकहत्तर चतुर्युगोंका मन्वन्तर कहा गया है। यही संक्षेपसे इन्द्र देवताकी आयु बतायी गयी है। ब्रह्माजीके एक दिनमें चौदह मनु और चौदह इन्द्र नष्ट होते हैं। विश्ववक्ता, विपश्चित्, स्वचिति, शिवि, विभु, मनोभुव, ओजस्वी, बलि, अद्भुत, शान्ति, वृषा, शतधामा, दिवस्पति, शुचि—ये चौदह इन्द्र हैं। ब्रह्माजीका दिन जितना बड़ा होता है, उनकी रात भी उतनी ही होती है। यह कल्पका मान बताया गया। पहला श्वेत कल्प है। दूसरे कल्पका नाम नीललोहित, तीसरेका वामदेव, चौथेका रथन्तर, पाँचवेंका रौरव, छठेका प्राण, सातवेंका बृहत्कल्प, आठवेंका कन्दर्प, नवेंका सद्यःकल्प, दसवेंका ईशान, ग्यारहवेंका ध्यान, बारहवेंका शाश्वत, तेरहवेंका उदान, चौदहवेंका गरुड, पंद्रहवेंका कूर्म, सोलहवेंका नारसिंह, सतरहवेंका समाधि, अठारहवेंका आत्रेय, उन्नीसवेंका सोम, बीसवेंका भावन, इक्कीसवेंका तत्पुरुष, बाइसवेंका वैकुण्ठ, तेइसवेंका अर्चित, चौबीसवेंका रुद्र, पचीसवेंका लक्ष्मी, छब्बीसवेंका सारस्वत, सत्ताईसवेंका वैराज, अट्ठाइसवेंका गौरी-कल्प, उन्तीसवेंका माहेश्वरकल्प और तीसवेंका नाम पितृकल्प है। यही ब्रह्माजीकी अमावास्या है। ब्रह्माजीके महीनेके ये तीस कल्प बताये गये। व्यतीत हुए सभी कल्पोंके नाम बताये जा चुके हैं। इस समय वाराहकल्प चल रहा है। यही ब्रह्माजीकी प्रतिप्रदा है, जिसमें भगवान् वाराहने रसातलसे पृथ्वीका उद्धार किया। तीस कल्पोंका ब्रह्माजीका एक मास माना गया है। ऐसे बारह मासोंका एक वर्ष होता है। ऐसे वर्षमानसे जब ब्रह्माजी आठ वर्षके थे, तब सोमदेव उन्हें प्रभासक्षेत्रमें ले आये और उन्हींके द्वारा सोमनाथकी प्रतिष्ठाका कार्य सम्पन्न हुआ। इस प्रकार प्रभासक्षेत्रमें

निवास करते हुए ब्रह्माजीका एक परार्ध व्यतीत हो गया और अब दूसरा चल रहा है। इस तरह बचपनसे ही उनका इस क्षेत्रमें निवास होता है। मनीषी पुरुषोंके द्वारा वे बारंबार वन्दनीय हैं। यात्राका उत्तम फल चाहनेवाले पुरुषोंको पहले उन्हींकी पूजा करनी चाहिये। जो भक्तिपूर्वक ब्रह्माजीकी पूजा करता है, वह निश्चय ही मेरा पूजन करता है। जो उनसे द्वेष करता है, वह मुझीसे द्वेष करता है और जो उनका पुजारी है, वह मेरा ही पूजक है। ब्रह्माजीकी पूजा करनेवाले पुरुषोंके द्वारा मैं और भगवान् विष्णु दोनों ही पूजित होते हैं। विष्णु सत्त्वगुणी हैं, ब्रह्माजी रजोगुणी हैं और मैं तमोगुणसे युक्त हूँ। ब्रह्माजी वायु, रुद्रदेव अग्नि तथा भगवान् विष्णु जलरूप हैं। मैं सामवेदका आश्रय हूँ। ब्रह्माजी ऋग्वेद धारण करते हैं तथा भगवान् विष्णु यजुर्वेदके स्वरूप एवं अथर्वकी कलाके आधार हैं। मुझे दक्षिणाग्नि, विष्णुको गार्हपत्याग्नि तथा ब्रह्माजीको आहवनीयाग्नि जानना चाहिये। ब्रह्माजी नाभिमें, विष्णु हृदयमें तथा सब भूतोंका आधारभूत मैं चक्र (मूलाधारसे लेकर ब्रह्मरन्ध्रतक)-में स्थित हूँ। हम लोगोंके रूपमें शक्तिविशेषसे साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही स्थित हैं। ॐकार परब्रह्म है और गायत्री उत्तम प्रकृति है। इन दोनोंको जानकर मनुष्य पुरुषयोनिसे वियुक्त नहीं होता। पार्वती! इस प्रकार जो द्वैतरहित परब्रह्मको जानता है, वह सब कुछ जानता है। जो भेददर्शी है, वह नहीं जानता। परब्रह्म तो वास्तवमें एकरूप ही है, तथापि कार्यरूपसे वह पृथक्-सा प्रतीत होता है। जो उससे द्वेष करता है, वह ब्रह्मद्वेषी कहलाता है। मेरे दाहिने अंगमें ब्रह्मा और बायें अंगमें विष्णु विराजमान हैं; जो इन दोनोंसे द्वेष करता है, वह मेरा ही द्वेषी है। सुन्दरि! ऐसा जानकर मनमें भेदभाव न रखते हुए ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्रकी एकरूपसे ही पूजा करनी चाहिये।

## ब्राह्मणोंकी महिमा, क्षेत्रवासी ब्राह्मणोंके भेद

**महादेवजी कहते हैं**—देवि! पृथ्वीपर जो ब्राह्मण हैं, वे मेरे प्रत्यक्ष स्वरूप हैं। स्वर्गके देवता तो परोक्ष हैं, ब्राह्मण ही प्रत्यक्ष देवता हैं। ब्राह्मण मुझे प्रिय हैं। जो भक्तिभावसे उनकी पूजा करता है, वह सदा मेरी ही पूजा करता है। जो भक्तिद्वारा उन्हें संतुष्ट करता है, वह मुझे संतुष्ट कर लेता है। जो ब्राह्मण हैं, वह मैं हूँ। उनके साथ जिसका वैर है, वह मेरा भी वैरी है। प्रिये! पृथ्वीपर जितने भी ब्राह्मण हैं, उनमेंसे जिन्होंने वेदव्रतका पालन किया है, वे तो पूज्य हैं ही; जिन्होंने वेदोक्त व्रतोंका पालन नहीं किया है, वे भी पूजनीय हैं। ब्राह्मण जातिसे ही पवित्र हैं, वेदाभ्याससे उनकी पवित्रता और भी बढ़ जाती है। अतः हव्य और कव्य (यज्ञ और श्राद्ध)-में कहीं भी ब्राह्मण निन्दाके योग्य नहीं हैं। काने, कुबड़े, कोढ़ी, रोगी तथा दरिद्र ब्राह्मणोंका भी विद्वान् पुरुष अपमान न करे; क्योंकि वे मेरे स्वरूप कहे गये हैं। बहुत-से अज्ञानी मनुष्य इस बातको नहीं जानते। जो मेरे स्वरूपभूत ब्राह्मणोंको मारते हैं, उनसे शास्त्रविपरीत कर्म करवाते हैं, जहाँ नहीं भेजना चाहिये, वहाँ उन्हें भेजते हैं तथा उनसे दासता (सेवा-टहल) कराते हैं, वे जब मरते हैं, तब यमदूत उनके माथेपर आरा रखकर उससे उन्हें चीरते हैं—ठीक वैसे ही, जैसे बढ़ई लकड़ी चीरते हैं। जो ब्राह्मणको अंगभंग करता और उनके प्राण लेता है, उसे ब्रह्महत्यारा जानना चाहिये; उसके उद्धारके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है। वह पचास करोड़ नरकोंमेंसे प्रत्येकमें क्रमशः सहस्रों वर्षोंतक बहुत पीड़ित किया जाता है। इसलिये मानवोंको चाहिये कि वे ब्राह्मणोंको

सदा नमस्कार करें, अन्न-पान देकर सदैव उनकी पूजामें संलग्न रहें। सभी ब्राह्मण सब प्रकारके दान लेनेके अधिकारी हैं। दूसरा कोई दान लेनेमें समर्थ नहीं है। यदि लोभवश कोई दान ग्रहण करता है तो वह अधम गतिको प्राप्त होता है। तपस्यासे पवित्र हुआ ब्राह्मण पापरहित होता है। अतः प्रतिग्रह लेकर वह कष्टमें नहीं पड़ता और न उसे कोई पाप लगता है। जो हृदयमें सदा पवित्रभाव रखते हुए नित्य-निरन्तर ध्यानमें लगा रहता है, उस ब्राह्मणको दोषका सम्पर्क नहीं प्राप्त होता। ब्राह्मण जन्मसे ही महान् है। लोक और लोकेश्वर भी ब्राह्मणोंके पूजक हैं। ब्राह्मण यदि कुपित हों तो अपराधीको नष्ट कर सकते हैं, उसे अपने तेजसे जला सकते हैं। ये ही स्वर्गलोकमें पहुँचानेवाले सनातन देवदेव हैं। ब्राह्मण पूजनीय हैं, वन्दनीय हैं; उन्हींमें सब कुछ प्रतिष्ठित है। वे ही इन सब लोकोंका परस्पर पालन करते हैं। अपने स्वाध्याय और तपको प्रकट न करनेवाले ब्राह्मण उत्तम व्रतवाले हैं। जो विद्या और व्रतमें स्नात हैं, दूसरेके आश्रित न रहकर जीवन-निर्वाह करते हैं, वे ब्राह्मण कुपित होनेपर कालसर्प बन जाते हैं; अतः उनका पूजन करना चाहिये, उन्हें कुपित नहीं करना चाहिये। अध्यात्मस्वरूपका चिन्तन करनेवाले ब्राह्मण ही सब प्राणियोंकी गति हैं। ब्राह्मण यदि विपत्तिमें पड़ा हो तो उसकी सब उपायोंसे रक्षा करे। ये ब्राह्मण मनुष्योंद्वारा सर्वत्र पूजा पाने योग्य हैं। फिर जो अपने चित्तको संयममें रखनेवाले तथा विशेषतः पुण्यक्षेत्रके निवासी हैं, उनके विषयमें तो कहना ही क्या है। जो द्विज विधिपूर्वक क्षेत्र-संन्यास तथा वृत्तिभेदके क्रम जानते हैं, वे क्षेत्रके पूर्ण फलके भागी होते हैं। प्राजापत्य, महीपाल, कपोत, ग्रन्थिक, कुटिक, वेताल, पद्म, हंस, धृतराष्ट्र, वक, कंक, गोपाल, त्रुटिक, प्रवर, गुटिक तथा दण्डिक—ये क्षेत्रवासी ब्राह्मणोंके भेद हैं।

अहिंसा, गुरु-शुश्रूषा, स्वाध्याय, शौच, संयम, सत्य तथा अस्तेय (चोरीका अभाव)—यह प्राजापत्योंका व्रत कहा गया है। शान्ति-पुष्टि आदि कर्मोंद्वारा जो इस मही (पृथ्वी)-का पालन करते हैं, वे महीपाल हैं। जो धरतीपर गिरे हुए अन्नके दानोंको कपोतकी भाँति चुनते हैं और इस तरह उञ्छवृत्तिसे जीविका चलाते हैं, वे साधु पुरुष कपोत कहलाते हैं। जो घर बनाकर रहते हैं, वे सद्ग्रन्थ या ग्रन्थिक हैं। जो सहसा घर त्याग देते हैं, वे शिवाराधनमें तत्पर रहनेवाले साधक कुटिक कहे गये हैं। जिनका तीर्थसेवनमें अनुराग है तथा जो पत्नीके साथ रहते हुए जो कुछ मिल जाय उसीपर संतोष करते हैं, वे महान् साहस (धैर्य)-से युक्त साधक वेताल कहलाते हैं। जो इन्द्रियोंको संयममें रखते हैं, परंतु कामनाओंमें आसक्त हैं, राज्य और धनकी इच्छासे साधनरत हो रहे हैं, वे 'पद्म' कहलाते हैं और सदा भिक्षासे ही जीवन-निर्वाह करते हैं। जो ज्ञानयोगसे युक्त हैं, जिनके केवल व्यवहारमें ही द्वैत है, वे साधक 'हंस' कहे गये हैं। जिन्होंने ब्रह्मचर्य, सत्त्वगुण तथा निर्लोभता आदि गुणोंसे सम्पूर्ण जगत्को जीत लिया है और जो सबका धारण-पोषण करते हैं, वे 'धृतराष्ट्र' माने गये हैं। जो सदा एकमात्र स्वार्थमें ही स्थित होकर ज्ञान, व्रत अथवा धर्मका आचरण करते हैं, उन्हें 'वक' कहते हैं। जो उत्कृष्ट सिद्धि प्राप्त करनेके लिये जलाशयका आश्रय ले कमलकी नाल और सिंघाड़ा आदि खाकर रहते हैं, वे साधक 'कंक' माने गये हैं। जो गौओंके साथ चलते, गोशालामें निवास करते तथा पंचगव्य रसका सेवन करते हैं, वे साधक 'गोपाल' माने गये हैं। जो कृच्छ्र और चान्द्रायण आदि व्रतोंके द्वारा अपने शरीरको क्षीण करते हैं तथा त्रुटिकाल (आधे निमेष)-में ही भोजन कर लेते हैं, वे साधक त्रुटिक माने गये हैं। जो कुशकी पत्नी बनाकर मठमें स्थापित करते और गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए भिक्षावृत्तिसे जीवन-निर्वाह करते हैं, वे साधक 'प्रवर' या 'मठर' कहलाते हैं। जो

ब्राह्मण कन्द अथवा मूल-फलकी एक-एक ग्रासकी आठ गुटिकाएँ बनाकर उन्हींका आहार करते हैं, वे 'गुटिक' कहलाते हैं। जो रातमें वीरासनसे बैठकर अपने शरीरको ही दण्ड देनेमें संलग्न हैं, वे 'दण्डी' कहे गये हैं। प्रभासक्षेत्रमें रहनेवाले जो ब्राह्मण इस प्रकारकी वृत्तियोंसे जीविका चलाते हैं, उनके द्वारा बालरूपधारी भगवान् ब्रह्मा सदैव पूजनीय हैं। जो महापातकी हैं और जिन्हें ब्राह्मणोंने अपनी पंक्तिसे बाहर कर दिया है, वे बालरूपधारी ब्रह्माजीका स्पर्श न करें। जो दीर्घजीवी होना चाहता है, वह ब्रह्मचारी, शान्त और जितेन्द्रिय ब्राह्मणका कभी अपमान न करे।

## ब्रह्माजीके प्रति भक्तिके भेद, रथयात्रा, ब्रह्माके एक सौ आठ नाम तथा कार्तिकपूर्णिमाको उनके दर्शनका माहात्म्य

**महादेवजी कहते हैं**—भक्तिके तीन भेद हैं—लौकिकी, वैदिकी और आध्यात्मिकी। गन्ध, माला, शीतल जल, घी, गुग्गुल, धूप, काला, अगुरु, सुगन्धित पदार्थ, सुवर्ण, रत्न आदि आभूषण, विचित्र हार, न्यास, स्तोत्र, ऊँची-ऊँची पताका, नृत्य-वाद्य, गान, सब प्रकारकी वस्तुओंके उपहार तथा भक्ष्य, भोज्य, अन्न, पान आदि सामग्रियोंसे मनुष्योंद्वारा जो ब्रह्माजीकी पूजा की जाती है, वह लौकिकी भक्ति मानी गयी है। वेदमन्त्र और हविष्यभागके द्वारा जो यज्ञक्रिया की जाती है, वह वैदिकी भक्ति है। अमावास्या और पूर्णिमाको किया जानेवाला अग्निहोत्र, संस्रवप्राशन, दक्षिणादान, पुरोडाश, इष्टि, धृति, सोमपान, सब प्रकारके यज्ञकर्म, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदके मन्त्रोंका जप तथा संहिताभागका स्वाध्याय—ये सब कर्म जो ब्राह्मणोंद्वारा किये जाते हैं, वे वैदिकी भक्तिके अन्तर्गत हैं। जो प्रतिदिन इन्द्रियसंयमपूर्वक प्राणायाम एवं ध्यानमें संलग्न रहता है, भिक्षान्नसे जीवननिर्वाह करता है, व्रतके पालनमें स्थित रहता है, समस्त इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे समेटकर उन्हें हृदयमें स्थापित करके प्रजापति ब्रह्माजीका ध्यान करता है, वह आध्यात्मिकी भक्तिसे युक्त 'ब्रह्मभक्त' कहलाता है। ब्रह्माजीका ध्यान इस प्रकार करे—हृदयकमलकी कर्णिकाके आसनपर ब्रह्माजी विराजमान हैं, उनके शरीरका वर्ण लाल है, नेत्र बड़े सुन्दर हैं, मुख दिव्य तेजसे प्रकाशित है, उनके चार भुजाएँ हैं और हाथोंमें वरद एवं अभयकी मुद्राएँ हैं।'

जो ममता और अहंकारसे रहित, अनासक्त, परिग्रहशून्य, चारों पुरुषार्थोंके प्रति भी स्नेह न रखनेवाले, ढेला, पत्थर और सुवर्णको समान दृष्टिसे देखनेवाले, समस्त प्राणियोंके हितके लिये धर्मानुष्ठानमें तत्पर, सांख्ययोगकी विधिके ज्ञाता, धर्मके विषयमें संशयरहित तथा प्रतिदिन ब्रह्माजीकी पूजामें संलग्न रहनेवाले हैं, वे ही ब्राह्मण प्रभासक्षेत्रके श्रेष्ठ निवासी हैं।

गायत्री उत्तम मन्त्र है। जो पूर्णिमामें उपवास करके गायत्रीके अक्षरतत्त्वोंद्वारा ब्रह्माजीकी पूजा करता है, वह परम पदको प्राप्त होता है। यदि ब्राह्मण भयंकर संसार-सागरके पार उतरना चाहे तो प्रभासमें पूरे कार्तिकमासभर ब्रह्माजीके पूजनमें तत्पर रहे। जिनके दर्शनमात्रसे अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है, प्रभासक्षेत्रमें उन बालरूपधारी ब्रह्माजीकी कौन विद्वान् पूजा नहीं करेगा? जिनके एक दिनका अन्त होते ही देवता, असुर और मनुष्य आदि सब प्राणी विनाशको प्राप्त होते हैं, उनका पूजन कौन नहीं करेगा। रुद्र और विष्णुके रूपमें भी वे लोकनाथ ब्रह्माजी ही पूजित होते हैं। जो पूर्णिमाको उपवास करके जगत्पति ब्रह्माका विधिपूर्वक पूजन करता है, वह अश्वमेध यज्ञका फल पाता है। कार्तिककी पूर्णिमाको सावित्रीसहित चतुर्मुख ब्रह्माजीको गाजे-बाजेके साथ नगरमें घुमाये। तत्पश्चात् उन्हें विश्राम-स्थानपर स्थापित करे। फिर ब्राह्मणोंको

भोजन कराकर शाण्डिलेयकी पूजा करे। उसके बाद मंगलमय वाद्योंकी ध्वनिके साथ ब्रह्माजीको पुनः रथपर बिठाये। रथके आगे शाण्डिली-पुत्रकी विधिवत् पूजा करके ब्राह्मणोंसे पुण्याहवाचन कराये। रथपर चढ़ानेके बाद रातमें जागरण करे। ब्रह्माजीके दाहिने पार्श्वमें सावित्रीदेवीको स्थापित करे और भोजनको बायें पार्श्वमें। ब्रह्माजीके आगे एक कमल रख दे, फिर वाद्यों और शंखोंकी तुमुल ध्वनिके साथ समूचे नगरकी प्रदक्षिणा करते हुए रथको घुमाये और अपने स्थानपर आकर ब्रह्माजीकी आरती करके फिर उन्हें यथास्थान विराजमान करे। जो इस प्रकार यात्रा करता है, जो उस यात्राको देखता है अथवा ब्रह्माजीके रथको खींचता है, वह ब्रह्मधाममें जाता है। जो ब्रह्माजीके रथके पीछे दीप धारण करता है, वह पग-पगपर अश्वमेध यज्ञका महान् फल पाता है। राजाको चाहिये कि वह ब्रह्माजीकी रथयात्रा अवश्य कराये। प्रतिपदाको ब्राह्मणभोजन कराना चाहिये और उन ब्राह्मणोंका नवीन वस्त्र, गन्ध, माला और अनुलेपन आदिके द्वारा पूजन करना चाहिये। जो कार्तिककी अमावास्याको ब्रह्माजीके मन्दिरमें दीप जलाता है, वह परम पदको प्राप्त होता है। सभी उत्सवोंके अवसरपर इन जगत्पति ब्रह्माजीकी पूजा करनी चाहिये।

पार्वती! अब मैं ब्रह्माजीके एक सौ आठ नाम कहता हूँ; उनका अष्टोत्तरशतनामस्तोत्र परम दिव्य, गोपनीय तथा पापनाशक है। वेदोंके ज्ञाता महात्मा ब्राह्मणको इसका उपदेश देना चाहिये। पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने पूछा—'देवदेव पितामह! आप किन-किन स्थानोंमें किस-किस नामसे निवास करते हैं? यह स्मरण करके बताइये।'

**ब्रह्माजीने कहा**—मैं पुष्करमें सुरश्रेष्ठ, गयामें प्रपितामह, कान्यकुब्जमें वेदगर्भ, भृगुकच्छमें चतुर्मुख, कौबेरीमें सृष्टिकर्ता, नन्दिपुरीमें बृहस्पति, प्रभासमें बालरूपी, वाराणसीमें सुरप्रिय, द्वारावतीमें चक्रदेव, वैदिशमें भुवनाधिप, पौण्ड्रकमें पुण्डरीकाक्ष, हस्तिनापुरमें पीताक्ष, जयन्तीमें विजय, पुरुषोत्तममें जयन्त, वाडमें पद्महस्त, तमोलिप्तमें तमोनुद, आहिच्छत्रीमें जनानन्द, कांचीपुरीमें जनप्रिय, कर्णाटकमें ब्रह्मा, ऋषिकुण्डमें मुनि, श्रीकण्ठमें श्रीनिवास, कामरूपमें शुभंकर, उड्डीयानमें देवकर्ता, जालन्धरमें स्रष्टा, मल्लिकामें विष्णु, महेन्द्रपर्वतपर भार्गव, गोमदमें स्थविराकार, उज्जयिनीमें पितामह, कौशाम्बीमें महादेव, अयोध्यामें राघव, चित्रकूटमें विरंचि, विन्ध्याचलमें वाराह, हरिद्वारमें सुरश्रेष्ठ, हिमवान् पर्वतपर शंकर, देहिकामें स्रचाहस्त, अर्बुदमें पद्महस्त, वृन्दावनमें पद्मनेत्र, नैमिषारण्यमें कुशहस्त, गोपक्षेत्रमें गोविन्द, यमुनातटपर सुरेन्द्र, भागीरथीमें पद्मतनु, जनस्थलमें जनानन्द, कोंकणमें मध्वक्ष, काम्पिल्यमें कनकप्रभ, खेटकमें अन्नदाता, क्रतुस्थलमें शम्भु, लंकामें पौलस्त्य, काश्मीरमें हंसवाहन, अर्बुदमें वसिष्ठ, उत्पलावनमें नारद, मेधकमें श्रुतिदाता, प्रयागमें यजुष्पति, शिवलिंगमें सामवेद, मार्कण्डस्थानमें मधुप्रिय, गोमन्तमें नारायण, विदर्भामें द्विजप्रिय, अंकुलकमें ब्रह्मगर्भ, ब्रह्मवाहमें सुतप्रिय, इन्द्रप्रस्थमें दुराधर्ष, पम्पामें सुदर्शन, विरजामें महारूप, राष्ट्रवर्धनमें सुरूप, कदम्बकमें जनाध्यक्ष, समस्थलमें देवाध्यक्ष, रुद्रपीठमें गंगाधर, सुपीठमें जलद, त्र्यम्बकमें त्रिपुरारि, श्रीशैलमें त्रिलोचन, प्लक्षपुरमें महादेव, कपालमें वेधनाशन, शृंगवेरपुरमें शौरि, निमिषक्षेत्रमें चक्रधारक, नन्दिपुरीमें विरूपाक्ष, प्लक्षपादपमें गौतम, हस्तिनाथमें माल्यवान्, वाचिकमें द्विजेन्द्र, इन्द्रपुरीमें दिवानाथ, भूतिकामें पुरन्दर, चन्द्रामें हंसबाहु, चम्पामें गरुडप्रिय, महोदयमें महायक्ष, पूतक वनमें सुयज्ञ, सिद्धेश्वरमें शुक्लवर्ण, विभामें पद्मबोधक, देवदारुवनमें लिंगी, उदकमें उमापति, मातृस्थानमें विनायक, अलकामें धनाधिप, त्रिकूटमें गोविन्द, पातालमें वासुकि, कोविदारमें युगाध्यक्ष, स्त्रीराज्यमें सुरप्रिय, पूर्णगिरिमें सुभोग, शाल्मलिमें तक्षक, अमरमें पापहा, अम्बिकामें सुदर्शन, नरवापीमें महावीर, कान्तारमें दुर्गनाशन, पद्मावतीमें पद्मगृह तथा गगनमें मृगलाञ्छन नामसे

रहता हूँ। मधुसूदन! जो इन एक सौ आठमेंसे एकमात्र बालरूपी ब्रह्माका भी दर्शन कर लेता है, उसे पूर्वोक्त सभी ब्रह्मविग्रहोंके दर्शनका पुण्य-फल प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण! जो प्रभासमें इन नामोंद्वारा मेरा स्तवन करता है, वह मेरे धामको पाकर आनन्द भोगता है। मेरे इस स्तोत्रके पाठसे या श्रवणसे मानसिक, वाचिक और शारीरिक सभी पाप छूट जाते हैं। कार्तिककी पूर्णिमाको जब कृत्तिका नक्षत्र हो, तब प्रभासक्षेत्रमें वह तिथि मुझे बहुत प्रिय है। और यदि उसी तिथिमें रोहिणी नक्षत्र आ जाय तो वह पुण्यमयी महा कार्तिकी कहलाती है, जो देवताओंके लिये भी दुर्लभ है। शनैश्चर, रविवार अथवा बृहस्पतिवार तथा कृत्तिका नक्षत्रके योगसे युक्त यदि कार्तिक-मासकी पूर्णिमा हो तो उसमें बालरूपी ब्रह्माजीका दर्शन करके मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल पाता है। विशाखा नक्षत्रके सूर्य और कृत्तिका नक्षत्रके चन्द्रमा हों तो वह पद्मकयोग प्रभासक्षेत्रमें दुर्लभ है। करोड़ों पापोंसे युक्त मनुष्य भी उक्त योगमें प्रभासक्षेत्रके भीतर यदि बालरूपधारी ब्रह्माजीका दर्शन कर ले तो उसे यमलोक नहीं देखना पड़ता।

## प्रत्यूषेश्वर, अनिलेश्वर, प्रभासेश्वर, रामेश्वर, लक्ष्मणेश्वर, कुण्डेश्वरीदेवी तथा भूतेश्वरका माहात्म्य

**महादेवजी कहते हैं**—तदनन्तर सोमेश्वरसे ईशानकोणमें पचास धनुषके अन्तरपर प्रत्यूषेश्वर नामक लिंग है। उसके दर्शनसे सात जन्मोंका पाप नष्ट हो जाता है। धर्मराजसे उनकी पत्नी विश्वाने आठ पुत्रोंको जन्म दिया, जो आठ 'वसु' कहलाये। उनके नाम इस प्रकार हैं—आप, भव, सोम, धर, अनल, अनिल, प्रत्यूष और प्रभास। इनमें सातवें वसु प्रत्यूष पुत्रकी इच्छासे प्रभासक्षेत्रमें आये और शिवलिंगकी स्थापना करके मेरा ध्यान करते हुए उन्होंने शान्तचित्तसे दिव्य सौ वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्या की। उनकी भक्तिसे मैं प्रसन्न हुआ और मैंने उन्हें पुत्र दिया। योगियोंमें श्रेष्ठ देवल ही उनके पुत्र हैं। प्रत्यूषके द्वारा स्थापित और पूजित होनेसे उस लिंगका नाम 'प्रत्यूषेश्वर' हुआ। जो सन्तानहीन पुरुष उनकी आराधना करता है, उसके कुलमें कभी सन्ततिका नाश नहीं होता। जो भक्तिभावसे इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए सदा उनकी पूजा करता है, उसका महापाप भी नष्ट हो जाता है। माघ कृष्णा चतुर्दशीकी रात्रिमें वहाँ जागरण करना चाहिये। जागरण करनेसे मनुष्य सब दानों और यज्ञोंका फल पा लेता है।

वहाँसे उत्तर और ईशान दिशामें तीन धनुषकी दूरीपर अनिलेश्वरलिंग है, उनका बड़ा प्रभाव है। वह दर्शनमात्रसे सब पापोंका नाश करनेवाला है। पूर्वोक्त आठ वसुओंमेंसे अनिलने मेरी आराधना करके मेरा प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त किया और शिवलिंगकी स्थापना की। इससे उन्हें मनोजव नामक पुत्र प्राप्त हुआ। अनिलेश्वरका दर्शन करके मनुष्य कभी अन्धा, बहरा, गूँगा, रोगी और निर्धन नहीं होता। जो उस लिंगपर एक फूल भी चढ़ा देता है, वह सदा सुख-सौभाग्यसे सम्पन्न तथा रूपवान् होता है।

गौरी-तपोवनसे पश्चिम सात धनुषकी दूरीपर प्रभासेश्वर नामक महान् शिवलिंग है, जिसकी स्थापना शिवपूजनपरायण आठवें वसु प्रभासने की है। प्रभासने वहाँ सौ वर्षोंतक तपस्या की। इससे सन्तुष्ट होकर मैंने उन्हें मनोवांछित वर दिया। प्रभासके पुत्र विश्वकर्मा हुए। माघमासकी चतुर्दशीको समुद्रसंगममें स्नान करके मनुष्य भूमिशयन और उपवासका नियम ले शतरुद्रियका जप करे तथा पंचामृतसे प्रभासेश्वरको स्नान कराकर विधिपूर्वक

उनकी पूजा करे। यों करनेसे वह सब पापोंसे मुक्त और सम्पूर्ण भोगोंसे सम्पन्न होता है।

प्रभासेश्वरसे ईशानकोणमें साठ धनुषकी दूरीपर पुष्करारण्य है। वहीं ज्येष्ठपुष्कर नामक कुण्ड है। वह समस्त पापोंका नाश करनेवाला है। पुण्यहीन पुरुषोंके लिये वह दुर्लभ है। पूर्वकालमें परम बुद्धिमान् श्रीरामने वहाँ रामेश्वरलिंगकी स्थापना की थी। उसकी पूजा करनेसे मनुष्य ब्रह्महत्यासे मुक्त हो जाता है।

चौबीसवें त्रेतायुगकी बात है, पुरोहित वसिष्ठजीके द्वारा पुत्रेष्टि यज्ञ कराये जानेपर राजा दशरथके चार पुत्र हुए। उनमेंसे श्रीरामचन्द्रजी सीता और लक्ष्मणके साथ वनवासके लिये गये। उसी समय यात्रा-प्रसंगसे वे प्रभासक्षेत्रमें भी आये। ज्येष्ठपुष्करके समीप आकर वे विश्रामके लिये बैठे। सूर्यास्त हो जानेपर उन्होंने पृथ्वीपर पत्ते बिछाये और सो गये। कुछ रात बाकी रहनेपर स्वप्नमें उन्हें अपने पिता दशरथजीका दर्शन हुआ। प्रातःकाल उठकर उन्होंने ब्राह्मणोंसे यह सब बात कही।

**तब ब्राह्मणोंने कहा**—रघुनन्दन! पितर आपका अभ्युदय चाहते हैं; जब वे वर देनेको उद्यत होते हैं, तभी स्वप्नमें अपने वंशजोंको दर्शन देते हैं। यह परम पुण्यमय स्थान भगवान् विष्णुका गुप्त तीर्थ है। प्रभासक्षेत्रमें इसकी पुष्कर नामसे प्रसिद्धि है। अतः यहाँ पितरोंका श्राद्ध कीजिये। निश्चय ही राजा दशरथ इस तीर्थमें आपके द्वारा दिया हुआ शुभ पिण्ड प्राप्त करना चाहते हैं। इसीलिये उन्होंने दर्शन दिया है।

उनकी बात सुनकर कमलनयन श्रीरामने श्राद्धके लिये ब्राह्मणोंको निमन्त्रित किया और लक्ष्मणजीसे कहा—'सुमित्रानन्दन! तुम श्राद्धके लिये फल लेनेको जाओ।' 'बहुत अच्छा' कहकर लक्ष्मणजी गये और अनेक प्रकारके उत्तम फल ले आये। जानकीजीने उन फलोंको शीघ्र ही पकाकर तैयार किया। फिर कुतप काल (मध्याह्नके समय)-में नहा-धोकर पवित्र हो वल्कल धारण किये हुए श्रीरामचन्द्रजी श्राद्धके योग्य ब्राह्मणोंको बुला ले आये। गालव, देवल, रैभ्य, यवक्रीत, पर्वत, भारद्वाज, वसिष्ठ, जाबालि, गौतम, भृगु तथा अन्य बहुत-से वेदज्ञ ब्राह्मण श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा किये जानेवाले श्राद्धको सम्पन्न करनेके लिये आये। इसी समय श्रीरामचन्द्रजीने सीतासे कहा—'विदेहनन्दिनी! आओ, ब्राह्मणोंके लिये पाद्य और अर्घ्य दो।' यह सुनकर सीताजी वृक्षोंके बीचमें चली गयीं और लताकुंजमें अपनेको छिपाकर श्रीरामचन्द्रजीकी दृष्टिसे ओझल हो गयीं। इधर श्रीरामचन्द्रजी 'सीते! सीते!' कहकर पुकारने लगे। तब लक्ष्मणजीने ही ब्राह्मणोंको अर्घ्य देनेका कार्य किया। जब ब्राह्मणलोग भोजन कर चुके और पिण्डदानका कार्य समाप्त हो गया, तब जनकनन्दिनी सीता श्रीरामचन्द्रजीके पास आयीं। उन्हें देखकर श्रीरामने पूछा—'श्राद्धकाल उपस्थित होनेपर तुम मुझे छोड़कर कहाँ चली गयी थीं?'

**सीताजीने हाथ जोड़कर कहा**—प्रभो! आज मैंने आपके पिता, पितामह, प्रपितामह तथा मातामह आदिको भी देखा है। वे पृथक्-पृथक् ब्राह्मणोंके अंगोंमें स्थित थे। अतः उनके सामने जानेमें मुझे लज्जा हुई। श्वशुरवर्गको उपस्थित देखकर मैं लज्जासे ही छिप गयी थी।

यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजीको बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने पुष्करके समीप ही वहाँसे एक धनुष दक्षिण हटकर रामेश्वरलिंगकी स्थापना की। जो मनुष्य गन्ध, पुष्प आदिके द्वारा भक्तिपूर्वक रामेश्वरका पूजन करता है, वह भगवान् विष्णुके उत्तम धाममें जाता है। शुक्ल अथवा मंगलयुक्त चतुर्थी तथा आश्विनमासकी षष्ठीको वहाँ श्राद्ध करनेसे महान् फल होता है। वहाँ पुष्करमें अपने वंशजोंद्वारा तर्पण किये जानेपर पितर और पितामह बारह वर्षोंतक तृप्त रहते हैं और दूसरी किसी भी वस्तुकी इच्छा नहीं करते।

रामेश्वरसे तीस धनुष पूर्व दिशामें लक्ष्मणेश्वर-लिंग है। यात्रामें गये हुए लक्ष्मणजीने उस देवपूजित लिंगको स्थापित किया था। जो स्त्री या पुरुष विधिपूर्वक स्नान कराकर भक्तिभावसे लक्ष्मणेश्वरका पूजन करता है, वह सब पातकोंसे मुक्त हो जाता है। रामेश्वरसे नैर्ऋत्यकोणमें जानकीश्वर-लिंग है। जो नारी माघमासकी तृतीयाको जानकीश्वरका पूजन करती है, उसके वंशमें दुर्भाग्य, दुःख और शोक नहीं होते।

तदनन्तर वामन स्वामीके नामसे प्रसिद्ध पापहारी विष्णुके समीप जाय। उनका स्थान पुष्करसे नैर्ऋत्यकोणमें बीस धनुषके अन्तरपर है। जिस समय उन्होंने दैत्यराज बलिको बाँधा था, उस समय पहला चरण वहीं (प्रभासक्षेत्रमें) रखा, दूसरा मेरु-शिखरपर रखा और तीसरा आकाशमें जब ऊपरकी ओर वे पैर बढ़ाने लगे तब उनके चरणोंके अग्रभागसे ब्रह्माण्ड फूट गया तथा वहाँसे जल निकल आया। वह जल उनके घुटनेके मार्गसे बहता हुआ इस पृथ्वीपर आया। वही इस पृथ्वीपर विष्णुपदी गंगाके नामसे प्रसिद्ध है। महानदी गंगा पहले प्रभासक्षेत्रके अन्तर्गत पुष्करमें ही आयी। जो मनुष्य विष्णुपदीमें स्नान करके भगवान्‌के चरणका दर्शन करता है, वह उनके परम धाममें जाता है। जो वहाँ ब्राह्मणको उपानह देता है वह श्रेष्ठ विमानपर चढ़कर विष्णुलोकमें प्रतिष्ठित होता है।

वहाँसे दक्षिण जानकीश्वरके समीप परम उत्तम पुष्करेश्वरलिंग है, जिसकी पूजा ब्रह्मपुत्र सनत्कुमार मुनिने सुवर्णमय कमलोंसे की है। वह सब पातकोंका नाश करनेवाला है। जो मनुष्य भक्तिसे गन्ध, पुष्प आदिके द्वारा उनकी पूजा करता है, उसको पुष्करयात्राका फल मिलता है।

पुष्करसे वायव्यकोणमें तीस धनुषपर और भूतेश्वरसे नैर्ऋत्यकोणमें कुण्डेश्वरी देवीका स्थान है। वे देवी दरिद्रता और पापका नाश करनेवाली हैं। उनसे नैर्ऋत्यकोणमें पंद्रह धनुषकी दूरीपर शंखोदक कुण्ड है, जो सब पातकोंका नाश करनेवाला है। जो पुरुष अथवा सदाचारिणी स्त्री शंखावर्ता नामसे विख्यात देवीकी पूजा करती है, उसके सब मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं। कलियुगमें शंखावर्ता देवी कुण्डेश्वरी नामसे प्रसिद्ध हैं। प्राचीन कालमें भगवान् विष्णुने जब शंख नामक दैत्यको मारा, उस समय उसके शंखाकार शरीरको इसी तीर्थके जलसे धोकर पवित्र किया और मेघके समान गम्भीर ध्वनिवाले उस शंखको वहीं बजाया। उसके गम्भीर नादसे देवी वहाँ आयीं और कुण्डके समीप स्थित होकर कारण पूछने लगीं। इसीसे उनका नाम 'कुण्डेश्वरी' हुआ। जो स्त्री या पुरुष माघमासकी तृतीयाको कुण्डेश्वरी देवीका पूजन करता है, उसे गौरी-पदकी प्राप्ति होती है। यात्राके फलकी इच्छा रखनेवाले मनुष्योंको वहाँ ब्राह्मण-दम्पतिको भोजन कराना चाहिये।

कुण्डेश्वरीसे ईशानकोणमें बीस धनुषके अन्तरपर भूतनाथेश्वर शिव हैं। वह आदि-अन्तरहित लिंग कल्पपर्यन्त रहनेवाला है। पहले त्रेतायुगमें उसका नाम वीरभद्रेश्वर था। फिर कलियुगमें भूतेश्वर हुआ। जब द्वापर और कलियुगकी सन्धिका समय चल रहा था, उस समय उस लिंगके प्रभावसे करोड़ों भूतप्राणी परमसिद्धि (मुक्ति)-को प्राप्त हुए थे। इसीसे भूतलपर वह 'भूतेश्वर' नामसे विख्यात हुआ। जो कृष्णपक्षकी चतुर्दशीको रात्रिमें भूतेश्वर शिवका पूजन करके दक्षिण दिशामें जा जितेन्द्रिय, निर्भय एवं ध्यानपरायण होकर अघोरमन्त्रका जप करता है, उसको पूर्ण सिद्धि प्राप्त होती है। वहाँपर पितरोंकी प्रेतयोनिसे मुक्तिके लिये तिल, सुवर्ण और पिण्डका दान करना चाहिये।

# गोप्यादित्यकी स्थापना और महिमा तथा नीलसे हानि

भूतेशसे वायव्यकोणमें तीस धनुषकी दूरीपर गोप्यादित्यका स्थान है। पूर्वकालमें महातेजस्वी श्रीकृष्ण जब छप्पन कोटि यादवोंके सात प्रभासक्षेत्रमें आये, उस समय सोलह हजार गोपियाँ भी वहाँ आ गयीं। उनमेंसे जो सर्वश्रेष्ठ सोलह गोपियाँ बतायी गयी हैं, उनके नाम बताता हूँ; सुनो—लम्बिनी, चन्द्रिका, कान्ता, अक्रूरा, शान्ता, महोदया, भीषणी, नन्दिनी, अशोका, सुपर्णा, विमला, अक्षया, शुभदा, शोभना और पुण्या—ये हंस (श्रीकृष्णचन्द्र)-की कलाएँ मानी गयी हैं। परमात्मा श्रीकृष्ण ही हंस हैं और उनकी ये शक्तियाँ हैं। श्रीकृष्ण चन्द्रस्वरूप हैं और ये गोपियाँ उनकी कलाएँ हैं। उपर्युक्त पंद्रह कलाओंके सिवा, मालिनी उनकी सोलहवीं कला है। जो पुरुष इस प्रकार जानता है, उसे वैष्णव जानना चाहिये।

उन सोलह हजार गोपियोंने भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञा ले उस क्षेत्रमें निवास करनेवाले नारद आदि मुनियोंके सहयोगसे विधिपूर्वक भगवान् सूर्यकी स्थापना की और नाना प्रकारके दान दिये। महर्षियोंने वहाँ भगवान् सूर्यका नाम गोप्यादित्य रखा। इस प्रकार सूर्यदेवकी प्रतिष्ठा हो जानेपर वे सब गोपियाँ कृतार्थ हुईं और महान् यश पाकर श्रीकृष्णके साथ द्वारकाको गयीं। प्रभासक्षेत्रमें गोपियोंद्वारा स्थापित जो गोप्यादित्य हैं, उनका दर्शनमात्र करके मनुष्य दुःखशोकसे मुक्त हो जाता है। जो मानव माघमासकी सप्तमीको उपवास करके गोप्यादित्यकी पूजा करता है, वह अपने पितरोंको सात बार तृप्त कर लेता है। वह अपने समस्त रोगोंका नाश करता है और दुश्चेष्टापरायण दुर्जय शत्रुओंको भी जीत लेता है। सप्तमीको तैलका स्पर्श न करे, नीले रंगका वस्त्र न पहने, आँवला लगाकर स्नान न करे और कहीं किसीके साथ विवाद भी न करे। नीलके रँगे हुए वस्त्र धारण करके द्विज जो भी स्नान, दान, जप, होम, स्वाध्याय तथा पितृतर्पण आदि कर्म करता है, वे तथा इसके पञ्च महायज्ञ भी उस नील सूत्रके कारण नष्ट हो जाते हैं। यदि ब्राह्मण नीलका रँगा वस्त्र अपने अंगोंमें धारण कर ले तो दिन-रात उपवास करके पंचगव्य पीनेसे शुद्ध होता है। यदि किसी ब्राह्मणके रोमकूपोंमें नीलके रसका (नीलमिश्रित जलका) प्रवेश हो जाय तो वह पतित हो जाता है और तीन कृच्छ्र-व्रत करनेपर उसकी शुद्धि होती है। यदि ब्राह्मण भूलसे भी नील-वृक्षोंके बीचसे निकल जाय तो वह दिन-रात उपवास करके पंचगव्य पीनेपर शुद्ध होता है। यदि ब्राह्मणके शरीरमें नीलकी लकड़ी गड़ जाय और रक्त दिखायी देने लगे तो उसे चान्द्रायण व्रत करना चाहिये। देवि! जो अनजानमें नीलका दाँतौन कर लेता है, वह दो बार कृच्छ्र-व्रत करनेपर उस पापसे शुद्ध होता है।*

पार्वती! कुरुजांगल (कुरुक्षेत्र)-में एक लाख गोदान करनेसे जो पुण्य होता है, वह सब गोप्यादित्यके दर्शनमात्रसे प्राप्त हो जाता है।

---

* नीलरक्तेन वस्त्रेण यत्कर्म कुरुते द्विजः। स्नानं दानं जपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम्॥
नश्यन्त्यस्य महायज्ञा नीलसूत्रस्य कारणात्। नीलरक्तं यदा वस्त्रं विप्रस्त्वङ्गेषु धारयेत्॥
अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति। रोमकूपे यदा गच्छेद्रसं नीलस्य कस्यचित्॥
पतितस्तु भवेद् विप्रस्त्रिभिः कृच्छ्रैर्विशुद्ध्यति। नीलमध्ये यदा गच्छेत्प्रमादाद् ब्राह्मणः क्वचित्॥
अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति। नीलदारु यदा भिद्येद् ब्राह्मणानां शरीरके॥
शोणितं दृश्यते चैव द्विजश्चान्द्रायणं चरेत्। कुर्यादज्ञानतो यस्तु नीलं वै दन्तधावनम्॥
कृत्वा कृच्छ्रद्वयं देवि तस्मात पापाद् विशुद्ध्यति। (स्क० पु०, प्र० खं० ११५। ३१—३७)

## रामेश्वर, चित्रांगदेश्वर तथा रावणेश्वरकी महिमा

**महादेवजी कहते हैं**—तदनन्तर परशुरामजीके द्वारा स्थापित रामेश्वरलिंगका दर्शन करे। वह स्थान गोपीश्वरसे वायव्यकोणमें तीस धनुषकी दूरीपर है। जिस समय जमदग्निपुत्र परशुरामजीने पिताकी आज्ञासे अपनी माताका वध किया और पिताके अनुग्रहसे वह पुनः जीवित हो गयी, उस समय प्रभासक्षेत्रमें आकर उन्होंने अद्भुत तपस्या की। वे मेरे विग्रहकी स्थापना करके एक सौ पचास वर्षतक आराधनामें संलग्न रहे। इससे सन्तुष्ट होकर मैंने उन्हें मनोवांछित वर दिया और उनके द्वारा स्थापित शिवलिंगमें निवास किया। इससे महर्षि परशुराम कृतार्थ हुए। तदनन्तर भूमण्डलके सम्पूर्ण क्षत्रियोंका इक्कीस बार संहार करके वे माता-पिताके ऋणसे उऋण हुए। जो मनुष्य उनके द्वारा स्थापित शिवलिंगका भक्तिपूर्वक पूजन करता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो मेरे धाममें जाता है।

रामेश्वरसे बीस धनुषके अन्तरपर नैर्ऋत्यकोणमें चित्रांगदेश्वरलिंग है। गन्धर्वोंके स्वामी चित्रांगदने उस क्षेत्रको परम पवित्र जानकर वहाँ शिवलिंग स्थापित किया और बड़ी भारी तपस्या करके मेरी आराधना की। जो पुरुष भाव-भक्तिसे युक्त हो उस लिंगकी पूजा करता है, वह गन्धर्वलोकमें जाता और गन्धर्वोंके साथ आनन्द भोगता है। शुक्लपक्षकी चतुर्दशीको जो विधिपूर्वक उस शिवलिंगको स्नान कराकर भाँति-भाँतिके पुष्प, चन्दन और धूप आदिके द्वारा उसकी पूजा करता है, वह सम्पूर्ण मनोवांछित फलको प्राप्त कर लेता है।

उस स्थानसे दक्षिण और नैर्ऋत्यमें सोलह धनुषके अन्तरपर रावणेश्वरलिंग है, जिसकी स्थापना रावणने की है। वहाँ उसने भक्तिपूर्वक उपवास करके मेरी आराधना की और गीत, वाद्य आदिका आयोजन करके जागरण किया। पंद्रह दिनोंतक इस प्रकार मेरी अर्चना करनेपर आकाशवाणी हुई—'महाबाहु दशग्रीव! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। मेरे प्रसादसे तीनों लोक तुम्हारे अधीन होंगे। मैं प्रतिदिन तुम्हारे द्वारा स्थापित शिवलिंगमें निवास करूँगा। राक्षसराज! जो मानव भक्तिपूर्वक रावणेश्वर लिंगकी पूजा करेंगे, वे शत्रुओंसे अजय होंगे। मेरी कृपासे उन्हें परमसिद्धि प्राप्त होगी।'

यों कहकर मेरी आकाशवाणी मौन हो गयी। रावणने भी सन्तुष्ट होकर बार-बार मेरा पूजन किया और तीनों लोकोंपर विजय पानेकी इच्छा रखकर वह पुष्पक विमानपर आरूढ़ हो अभीष्ट स्थानको चला गया।

रावणेश्वरसे पश्चिम पाँच धनुष दूर सौभाग्य-दायिनी गौरीका निवास है, जहाँपर सौभाग्यकी इच्छा रखनेवाली अरुन्धतीदेवीने गौरीजीकी आराधनामें तत्पर हो घोर तपस्या की थी। गौरीदेवीके प्रसादसे उन्हें उत्तम सिद्धि प्राप्त हुई। जो माघ शुक्ला तृतीयाको भक्तिपूर्वक गौरीजीका पूजन करता है, वह सात जन्मोंतक सौभाग्यशाली होता है।

## पौलोमीश्वर, शाण्डिल्येश्वर, क्षेमेश्वर तथा सागरादित्यका माहात्म्य

**महादेवजी कहते हैं**—रावणेश्वरसे वायव्यकोणमें तीस धनुषकी दूरीपर पौलोमीश्वरलिंग है। उसकी स्थापना पुलोमपुत्री शचीने की थी। जिस समय तारकासुरने देवताओंका राज्य छीन लिया और स्वयं इन्द्रपदपर अधिकार जमा लिया तथा उसके भयसे व्याकुल इन्द्रदेव कहीं भाग गये, उस समय उनकी पत्नी शचीने शोकसे दुर्बल होकर मेरी आराधना की। इससे सन्तुष्ट होकर मैंने शचीसे कहा—'देवि! मेरा पुत्र तारकासुरका वध करेगा। तुम निश्चिन्त होकर जाओ। जो

मानव इस पौलोमीश्वरलिंगका पूजन करेगा, वह मेरा पार्षद होकर मेरे समीप पहुँच जायगा।' यह सुनकर पतिव्रता इन्द्राणी देवराज इन्द्रके समीप चली गयीं।

ब्रह्माजीके स्थानसे पश्चिम सोलह धनुषके अन्तरपर शाण्डिल्येश्वरलिंग है। जिसके दर्शनमात्रसे सम्पूर्ण पापोंका नाश हो जाता है। ब्रह्मर्षि शाण्डिल्य ब्रह्माजीके सारथि माने गये हैं। वे तपस्वी महातेजस्वी, ज्ञाननिष्ठ और जितेन्द्रिय हैं। उन्होंने प्रभासक्षेत्रमें आकर बड़ी उग्र तपस्या की। सोमनाथके उत्तर एक महालिंग स्थापित करके उसकी सौ वर्षोंतक पूजा की। तत्पश्चात् मनोवांछित वस्तुको पाकर वे कृतकृत्य हो गये। मेरे प्रसादसे उन्हें अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त हुईं। शाण्डिल्येश्वर शिवका दर्शन करके मनुष्य तत्काल पापरहित हो जाता है।

शाण्डिल्येश्वरसे उत्तर और कपालेश्वरसे अग्निकोणमें पंद्रह धनुषपर सर्वपापनाशक क्षेमेश्वरलिंग है। राजा क्षेममूर्तिने भक्तिपूर्ण हृदयसे उसकी स्थापना की है। जो क्षेमेश्वरका दर्शन करता है, वह क्षेमको प्राप्त होता और उसका प्रत्येक कार्य क्षेमपूर्वक सिद्ध होता है।

पार्वती! वहाँसे परम उत्तम सागरादित्य दर्शन करनेके लिये जाना चाहिये। वह स्थान भैरवेश्वर तथा मृत्युंजय रुद्रसे पश्चिम और कामेश्वरलिंगसे दक्षिण एवं अग्निकोणमें थोड़ी ही दूरपर है। सूर्यवंशमें उत्पन्न महात्मा राजा सगरने प्रभासक्षेत्रको उत्तम तीर्थ जानकर वहीं भगवान् सूर्यकी स्थापना की और उसी स्थानपर तपस्या करके उन्होंने सूर्यदेवको प्रसन्न किया। दस हजार योजन विस्तृत और अठासी हजार योजन लम्बा समुद्र सगरके पुत्रोंकी ही कीर्ति है, इसीलिये उसका नाम सागर है। आज भी राजा सगरकी कीर्ति-कथा गायी जाती है और पुराणोंमें उनके सुयशकी गाथा प्रसिद्ध है। सागरादित्यका दर्शन करके मनुष्य जड, अन्ध, दरिद्र और दुःखी नहीं होता। उसे प्रियजनोंसे वियोग तथा रोग भी नहीं होते और वह कभी पापका आचरण नहीं करता। माघमासके शुक्लपक्षमें षष्ठी तिथिको उपवास करके जितेन्द्रिय मनुष्य रातमें उनके आगे शयन करे। फिर सप्तमीको सबेरे उठकर भक्तिभावसे सूर्यदेवकी पूजा करे और ब्राह्मणोंको भक्तिपूर्वक भोजन कराये। यों करनेवाले मानव सूर्यनारायणके भक्तोंको प्राप्त होनेवाली उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं। जो पुरुष दूर्वाके अंकुरोंसे भी भक्तिपूर्वक सूर्यदेवकी पूजा करते हैं, उन्हें वे सब यज्ञोंसे भी दुर्लभ फल देते हैं; इसलिये सर्वथा प्रयत्न करके सूर्यनारायणकी आराधना करनी चाहिये। वे सबके आत्मा, समस्त लोकोंके स्वामी, देवताओंके भी देवता और प्रजाजनोंके पालक हैं। सूर्यदेव ही त्रिलोकीके मूल कारण तथा परम देवता हैं। जितेन्द्रिय मनुष्यको चाहिये कि वह विधिसे भगवान् सूर्यकी पूजा करके समस्त पातकोंका नाश करनेवाले इस स्तोत्रका पाठ करे। इस स्तोत्रमें सूर्यदेवके गुह्य, पवित्र एवं शुभ नाम हैं। विकर्तन, विवस्वान्, मार्तण्ड, भास्कर, रवि, लोकप्रकाशक, श्रीमान्, लोकचक्षु, ग्रहेश्वर, लोकसाक्षी, त्रिलोकेश्वर, कर्ता, हर्ता, तमिस्रहा, तपन, तापन, शुचि, सप्ताश्ववाहन, गभस्तिहस्त, ब्रह्मा तथा सर्वदेवनमस्कृत—इस प्रकार इक्कीस नामोंका जो स्तोत्र है, इससे सन्तुष्ट होकर भगवान् सूर्य शरीरको आरोग्य देते हैं, धन बढ़ाते हैं तथा यशकी प्राप्ति कराते हैं। जो सूर्योदय और सूर्यास्त दोनों सन्ध्याओंके समय पवित्र होकर इससे सूर्यदेवकी स्तुति करता है अथवा जो इसे सुनता तथा पढ़ता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है और अन्तमें सूर्यलोकको प्राप्त होता है।

# अक्षमालेश्वर, पाशुपतेश्वर, ध्रुवेश्वर तथा सिद्धि लक्ष्मीकी महिमा

**महादेवजी कहते हैं**—सागरादित्यसे ईशानकोणमें पचास धनुषके अन्तरपर अक्षमालेश्वरलिंग है, जो दर्शन और स्पर्श करनेसे सब प्राणियोंके पापका नाश करनेवाला है। भादोंमें ऋषिपंचमीको अक्षमालेश्वरके समीप जाकर मनुष्य नरकके भयसे मुक्त हो जाता है। वहाँ गोदान, अन्नदान और जलदानको श्रेष्ठ बताया गया है। उक्त दान करनेसे मनुष्योंके सब पापोंका नाश होता है तथा परलोकमें उन्हें अनन्त सुखकी प्राप्ति होती है।

उग्रसेनेश्वरसे पूर्वभागमें तथा गोप्यादित्यसे अग्निकोणमें कुछ दक्षिणकी ओर पाशुपतेश्वरलिंग विद्यमान है, जो दर्शनमात्रसे समस्त पापोंका नाशक और सम्पूर्ण अभीष्ट फलोंको देनेवाला है। इस युगमें उसका सन्तोषेश्वर नाम कहा गया है। वह सम्पूर्ण सिद्धियोंका स्थान, शिवभक्तोंका आश्रय तथा पाप-रोगोंका औषध है। पार्वती! पाशुपतेश्वरलिंगके समीप वामदेव, सावर्णि, अघोर तथा कपिल—ये चार महर्षि सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं। उस शिवलिंगके समीप श्रीमुख नामका एक वन है, जो लक्ष्मी देवीका स्थान है। वहाँ योगी और सिद्ध पुरुष निवास करते हैं। वहाँ उत्तम शिवभक्तोंका वास है। प्रभासक्षेत्रमें वह मन्दिर मुझे सदैव रुचिकर है। उसमें सदा ही मेरा निवास रहता है। वहाँ जो शिवभक्त मेरे ध्यानमें संलग्न रहते हैं, वे सब मेरे पुत्र हैं और पवित्र होकर उत्तम सिद्धिको प्राप्त होते हैं। यह पाशुपतेश्वरलिंग परब्रह्मस्वरूप है। इसका एक नाम अनादीश्वर भी है। यहाँ निवास करनेवाले ब्राह्मणोंको सिद्धि और मुक्ति भी प्राप्त होती है और इसी शरीरसे वे छः महीनेमें सिद्ध हो जाते हैं। इस लिंगका प्राकट्य संसार-बन्धनसे छुटकारा दिलानेके लिये हुआ है। यह सब लोगोंके लिये दुर्लभ मोक्ष एवं परमपद है। इस लिंगमें शिवतत्त्वका सम्पूर्ण ज्ञान प्रतिष्ठित है। जो माघमासमें निरन्तर भक्तिपूर्वक इनकी पूजा करता है, वह सब यज्ञों और दानोंका फल पाता है। '**अग्निः**' इत्यादि मन्त्रसे वहाँ भस्म लेकर अपने अंगोंमें लगानी चाहिये। यदि संचित अग्निमेंसे भस्म लेनी हो तो उस घरके निवासियोंसे लेनी चाहिये। पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

**अग्निरिति भस्म, वायुरिति भस्म, जलमिति भस्म, स्थलमिति भस्म, सर्वꣳ ह वा इदं भस्माभवत।**

'अग्नि, वायु, जल और स्थल—सभी भस्म हैं। यह जो कुछ भी दिखायी देता है, सबको भस्म होना है।'

जिसने शिवकी दीक्षा नहीं ली है, वह इस शिवलिंगका स्पर्श न करे। ब्राह्मणोंसे भस्म लेनी चाहिये, शूद्रोंसे नहीं। शूद्रोंका पाशुपत-व्रतमें अधिकार नहीं है। मैं प्रत्येक युगमें ब्राह्मणोंका शरीर धारण करके प्रकट होता हूँ।

राजा उत्तानपादके ध्रुव नामका एक पुत्र था, जो महात्मा, ज्ञानी, सर्वज्ञ तथा प्रियदर्शन था। उसने एक समय प्रभासक्षेत्रमें आकर सहस्रों वर्षोंतक बड़ी कठोर तपस्या की। वह शिवलिंगकी स्थापना करके प्रतिदिन भक्तिपूर्वक उसकी पूजा तथा स्तुति करता था। वह स्तुति इस प्रकार है—

**ध्रुव बोले**—जो सच्चिदानन्दस्वरूप तथा समस्त कारणोंके भी कारण हैं, उन भगवान् महेश्वरको नमस्कार है। भयंकर संसार-सागरसे पार होनेके लिये सुदृढ़ सेतु हैं, केवल ध्यानके द्वारा जिनका कुछ चिन्तन किया जाता है तथा जो सम्पूर्ण योगशक्तियोंसे युक्त हैं, उन भगवान् शिवको नमस्कार है। सिद्ध और चारण जिसके स्वच्छ सलिलका सेवन करते हैं, जो बड़ी-बड़ी लहरोंके कारण अत्यन्त भयंकर जान पड़ती है, आकाशसे वेगपूर्वक गिरती हुई उस गंगाको जिन्होंने चंचल फूलोंकी मालाके समान अपने मस्तकपर धारण

कर लिया, उन शरणदाता भगवान् शंकरकी मैं शरण लेता हूँ। जिन्होंने दैत्य, दानव, विद्याधर तथा नागगणोंको भी, जो इस पृथ्वीपर फल-मूलका आहार करते हुए तपस्यामें संलग्न रहे हैं, अपने परमपदकी प्राप्ति करायी है, उन शरणदाता भगवान् शंकरकी मैं शरण लेता हूँ। यह सम्पूर्ण जगत् सदा जिनके अधीन रहता है, जो अपनी आठ मूर्तियोंद्वारा समस्त लोकोंका पालन करते हैं तथा जो परम कारण-तत्त्वोंके भी कारण हैं, उन शरणदाता भगवान् शंकरकी मैं शरण लेता हूँ। जिन वरदायक परमेश्वरके चरणोंमें भक्तिपूर्वक प्रणाम करके तथा अमृतमयी वाणीसे जिनकी स्तुति करके उत्तम हृदयवाले भगवान् सूर्य अपनी दिव्य दीप्ति तथा किरणोंके द्वारा जगत्का अन्धकार दूर करते हैं, उन शरणदाता भगवान् शंकरकी मैं शरण लेता हूँ।

जो मनुष्य अपने मनको वशमें रखकर साक्षात् ध्रुवजीके द्वारा रचित इस रुचिर अर्थवाले स्तोत्रका पाठ करता है, वह कभी मोहमें नहीं पड़ता। उसके कर्म सदैव शुद्ध और पवित्र होते हैं तथा वह अनादिसिद्ध शिवलोकमें जाता है। पार्वती! शुद्ध चित्तवाले महात्मा ध्रुवके इस प्रकार स्तुति करनेपर मैं बहुत प्रसन्न हुआ और इस प्रकार बोला—'वत्स ध्रुव! तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुमसे बहुत सन्तुष्ट हूँ। अब तुम परम शुद्ध हो गये। मैं तुम्हें दिव्यदृष्टि देता हूँ। तुम मुझे प्रत्यक्ष देखो।'

**ध्रुवजीने कहा**—देव! यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझे निर्मल भक्ति दीजिये और इस शिवलिंगमें सदा निवास कीजिये।

**मैंने कहा**—ध्रुव! तुमने जो माँगा है, वह सब मैंने तुम्हें दे दिया; साथ ही तुम्हें वह ध्रुव स्थान भी दिया, जिसे भगवान् विष्णुका परम पद कहते हैं। जो श्रावणकी अमावास्या तथा आश्विनकी पूर्णिमाको ध्रुवेश्वरकी पूजा करता है, वह अश्वमेध यज्ञका फल पाता है।

सोमेश्वरसे ईशानकोणमें थोड़ी ही दूरपर क्षेत्रपीठकी अधिष्ठात्री देवी वैष्णवी शक्ति है, जो सिद्धलक्ष्मीके नामसे विख्यात है। ब्रह्माण्डमें यह पहला पीठ है। इस पीठमें निवास करनेवाली भगवती महालक्ष्मी समस्त पापोंका नाश करनेवाली तथा सम्पूर्ण अभीष्ट फलों और शुभको देनेवाली हैं। जो मनुष्य श्रीपंचमीके दिन गन्ध, पुष्प आदिके द्वारा भक्तिपूर्वक इनकी पूजा करता है, उसे लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। तृतीया, अष्टमी तथा चतुर्दशीको जो विधिपूर्वक लक्ष्मीदेवीकी पूजा करता है, उसके हाथमें सिद्धि आ जाती है।

## महाकाली देवी, पुष्करावर्तका नदी, कंकालभैरव तथा चित्रादित्यकी महिमा

**महादेवजी कहते हैं**—वहीं पातालविवरसे युक्त एक महापीठ है, जहाँ महाकाली देवी निवास करती हैं। वे सब दुःखोंकी शान्ति तथा समस्त शत्रुओंका नाश करनेवाली हैं कृष्णपक्षकी अष्टमीको आधी रातमें गन्ध-पुष्प आदि उपचारोंसे विधिपूर्वक पूजा करनेपर वे समस्त दुःखोंका निवारण करती हैं। जो स्त्री शुद्धचित्त होकर एक वर्षतक प्रत्येक शुक्लपक्षकी तृतीयाको विधिपूर्वक देवीकी पूजा करती है, वह सात जन्मोंतक क्षुधा, दुर्भाग्य और दीनताका कष्ट नहीं भोगती।

ब्रह्मकुण्डसे उत्तरमें थोड़ी ही दूरपर पुष्करावर्तका नदी है। पूर्वकालमें जब महात्मा सोमका यज्ञ प्रारम्भ हुआ, उस समय उनका निमन्त्रण पाकर सोमनाथकी प्रतिष्ठा करानेके लिये सब देवताओंके साथ ब्रह्माजी भी प्रभासक्षेत्रमें आये और इस प्रकार बोले—'मैं जबतक यहाँ रहूँ तबतक त्रिपुष्कर तीर्थमें ही मुझे तीनों समयोंकी सन्ध्या करनी चाहिये।' इसी समय जब लग्नकाल

उपस्थित हुआ, तब वेदचिन्तक ब्राह्मणोंने बताया, यही प्रतिष्ठाके लिये सबसे उत्तम समय है। उस समय ब्रह्माजीको पुष्कर तीर्थकी ओर प्रस्थान करते देख निशानाथ चन्द्रमाने कहा—'भगवन्! ज्योतिषियोंने प्रतिष्ठाके लिये यही शुभ मुहूर्त बताया है। यह मुहूर्त बीतने न पाये, इसका ध्यान रखना चाहिये।' तब ब्रह्माजीने मन-ही-मन पुष्कर तीर्थोंका चिन्तन किया। उनके स्मरण करते ही वे तीनों नदीके तटपर प्रकट हुए। उस समय नदीमें ज्येष्ठ, मध्य और कनिष्ठ—तीन भँवरें उठीं। उन तीनों आवर्तोंको देखकर लोकपितामह ब्रह्माजीने कहा—'आजसे यह सुन्दर नदी पुष्करावर्तका नामसे प्रसिद्ध होगी। जो मनुष्य इसमें स्नान करके भक्तिपूर्वक पितरोंका तर्पण करेगा, उसे तीनों पुष्करमें स्नानके समान पुण्य प्राप्त होगा। जो मानव श्रावण शुक्ला तृतीयाको उसमें पितरोंका तर्पण करता है, उसके वे पितर दस हजार कल्पोंतक तृप्त रहते हैं।'

वहीं कंकालभैरव नामक क्षेत्रपाल हैं, जिन्हें उस क्षेत्रकी रक्षाके लिये भैरवजीने नियुक्त किया है। जो श्रावण शुक्ला पंचमी तथा आश्विन शुक्ला अष्टमीको कंकालभैरवका भक्तिपूर्वक पूजन करता है, उस महात्माके उस क्षेत्रमें निवासके लिये वे सब विघ्नोंका निवारण करते हैं और उसकी पुत्रकी भाँति रक्षा करते हैं। उस स्थानके दक्षिण भागमें ब्रह्मकुण्डके समीप दरिद्रताका नाश करनेवाले चित्रादित्य विराजमान हैं। प्राचीनकालमें इस पृथ्वीपर मित्र नामके एक धर्मात्मा कायस्थ निवास करते थे, जो सदा सब प्राणियोंके हितमें तत्पर रहते थे। उनके दो सन्तानें हुईं—एक पुत्र और एक कन्या। पुत्रका नाम चित्र और कन्याका नाम चित्रा हुआ। चित्रा बड़ी सुन्दरी और सुशीला थी। इन दोनोंके जन्म लेते ही उनके पिता मित्रकी मृत्यु हो गयी। मित्रकी पत्नीने पतिके साथ चितामें प्रवेश किया। तदनन्तर इन दोनों अनाथ बालकोंका ऋषियोंने पालन किया। वे महान् वनमें ही बड़े हुए और बचपनसे ही व्रतपरायण रहे। एक बार प्रभासक्षेत्रमें आकर उन दोनोंने महादेव सूर्यकी स्थापना की और वे बड़ी भारी तपस्यामें संलग्न हो गये। धर्मात्मा चित्रने धूप, माला, चन्दन आदि उपचारोंसे सूर्यदेवका पूजन किया और वसिष्ठजीके द्वारा बताये हुए अड़सठ नामोंद्वारा उनका स्तवन किया।

**चित्र बोले**—जो आदिदेव जगन्नाथ पापनाशक तथा रोग-निवारण करनेवाले हैं, उन आकाशके स्वामी भगवान् भास्करको मैं सिरसे प्रणाम करके उनकी स्तुति करता हूँ। उनके सहस्रों नेत्र, सहस्रों रश्मियाँ तथा सहस्रों किरणमय आयुध हैं। अनेक गुह्य नामोंद्वारा उनका स्तवन किया जाता है। उन प्रातःकाल गंगासागर-संगमपर निवास करनेवाले मुण्डीर स्वामीको मैं नमस्कार करता हूँ। मध्याह्नकालमें यमुनातटवर्ती भगवान् कालप्रियको और सूर्यास्तके समय चन्द्रभागा नदीके तटपर विराजमान श्रीमूलस्थानको मैं प्रणाम करता हूँ, जहाँ उपवास करके श्रीसाम्बजीको स्वतः सिद्धि प्राप्त हुई है। काशीमें लोहिताक्ष, गोभिलाक्षमें बृहन्मुख, प्रयागमें प्रतिष्ठान, महाद्युतिमें वृद्धादित्य, कोट्यक्षमें द्वादशादित्य, चतुर्घटमें गंगादित्य, नैमिषारण्यमें गोलस्थ, भद्रपुटमें भद्र, जयामें विजयादित्य, प्रभासमें स्वर्णवेतस, कुरुक्षेत्रमें सामन्त, इलावृतमें त्रिमन्त्र, महेन्द्रमें क्रमणादित्य, हिरण्यमें सिद्धेश्वर, कौशाम्बीमें पद्मबोध, ब्रह्मबाहुमें दिवाकर, केदारमें चण्डकान्ति, नित्यमें तिमिरापह, गंगामार्गमें हरद्वार, भूप्रदीपनमें आदित्य, सरस्वती-तटपर हंस, पृथूदकमें विश्वामित्र, उज्जयिनीमें नरद्वीप, सिद्धापुरीमें अमितद्युति, कुन्तीकुमारमें सूर्य, पंचनदीमें विभावसु, मथुरामें विमलादित्य, संज्ञिकमें संज्ञादित्य, श्रीकण्ठमें मार्तण्ड, दशार्णमें दण्डक, गोधनमें गोपति, मरुस्थलमें कर्णदेव, देवपुरमें पुष्प, लोहितमें केशवादित्य, वैदिशमें शार्दूल, शोणमें अरुणवासी, वर्द्धमानमें साम्बादित्य, कामरूपमें शुभंकर, कान्यकुब्जमें मिहिर, पुण्यवर्द्धनमें मन्दार, गान्धारमें क्षोभणादित्य, लंकामें अमरद्युति, चम्पामें कर्णादित्य, प्रबोधमें शुभदर्शी, द्वारावतीमें

पार्वत्य, हिमवन्तमें हिमापह, लौहित्यमें महातेज, अमलांगमें धूर्जटि, रोहिकमें कुमार, पद्ममें पद्मसम्भव, लाटामें धर्मादित्य, अर्बुदमें स्थविर, कौवेरीमें सुखप्रद, कोसलमें गोपति, कोंकणमें पद्मदेव, विन्ध्यपर्वतपर तापन, काश्मीरमें त्वष्टा, चरित्रमें रत्नसम्भव, पुष्करमें हेमगर्भ, गभस्तिकमें सूर्य, प्रकाशामें मुज्जाल, तीर्थग्राममें प्रभाकर, काम्पिल्यमें इल्लकादित्य, धन्यकमें धन्यवासी, नर्मदा-तटपर अनल तथा सर्वत्र गगनाधिप नामसे प्रसिद्ध सूर्यदेवको मैं नमस्कार करता हूँ। ये भगवान् भास्करके अड़सठ नाम हैं। जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर पवित्र हो भक्तिभावसे इन नामोंको पढ़ता अथवा सुनता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

**महादेवजी कहते हैं**—शुद्धचित्तवाले चित्रके इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान् सूर्यने प्रसन्न होकर कहा—'वत्स! तुम्हारा भला हो। तुम कोई वर माँगो।'

**चित्रने कहा**—उष्णरश्मे! सब कार्योंमें मेरी रुचि हो और मुझे कुशलता प्राप्त हो।

'**एवमस्तु**' कहकर भगवान् सूर्यने उनकी इच्छाका अनुमोदन किया। तबसे चित्र सर्वार्थ-कुशल हुए। धर्मराजको जब यह बात मालूम हुई, तब उन्होंने सोचा, यदि यह मेरा लेखक हो जाता तो बड़ा अच्छा होता। एक दिन चित्र क्षारसमुद्रके भीतर अग्नितीर्थमें स्नान करनेके लिये गये। उसमें प्रवेश करते ही यमदूत उन्हें शरीरसहित यमपुरी उठा ले गये। वहाँ वे चित्रगुप्त नामसे प्रसिद्ध हुए। चित्रगुप्तजी सम्पूर्ण विश्वके शुभाशुभ चरित्रोंको लिखते रहते हैं। इसीलिये उनके द्वारा स्थापित सूर्यदेवका नाम चित्रादित्य हुआ। जो मनुष्य सप्तमीको उपवास करके उनकी पूजा करता है, उसे सात जन्मोंतक दरिद्रता और दुःखोंकी प्राप्ति नहीं होती।

## लोमशेश्वर, चित्रपथा नदी, रूपकुण्ड, रत्नेश्वर तथा वैनतेयेश्वरका माहात्म्य

**महादेवजी कहते हैं**—वहाँसे लोमशेश्वरका दर्शन करनेके लिये जाय। वह स्थान दुःखान्धकारिणीसे पूर्व भागमें सात धनुषकी दूरीपर है। महर्षि लोमशने उस लिंगकी स्थापना की है। लोमशेश्वरके प्रसादसे ही लोमशजी दीर्घायु हुए। जो भक्तिभावसे लोमशेश्वरकी पूजा करता है, वह दीर्घायु और सुखी होता है। उसके शरीरमें रोग और घाव नहीं होते। लोमशेश्वरके पश्चिमभागमें पाँच धनुषके अन्तरपर तृणविन्द्वीश्वर लिंग प्रतिष्ठित है। मुनीश्वर तृणविन्दु एक-एक मासपर कुशके अग्रभागसे एक विन्दुजल लेकर पीते और तपस्या करते थे। इस प्रकार अनेक वर्षोंतक प्रभासक्षेत्रमें मेरी आराधना करके वे परम सिद्धिको प्राप्त हो गये।

वहाँसे परम उत्तम चित्रपथा नदीके समीप जाय। वह ब्रह्मकुण्ड और चित्रादित्यके बीचमें होकर बहती है। जिस समय यमदूत चित्रको शरीरसहित उठा ले गये, उस समय यह समाचार पाकर उनकी बहिन चित्राको बड़ा दुःख हुआ। तब वह चित्रा नदीके रूपमें परिणत हो अपने भाईकी खोज करनेके लिये समुद्रमें समा गयी। ब्राह्मणोंने उसका नाम चित्रपथा रख दिया। जो मनुष्य चित्रपथामें स्नान करके चित्रादित्यका दर्शन करता है, वह सूर्यदेवके परमधाममें जाता है। कलियुगमें चित्रपथा नदी अन्तर्धान हो गयी है। केवल वर्षाकालमें उसका दर्शन होता है। भोजन करके या बिना भोजन किये, रातमें या दिनमें, पर्वके समय अथवा विना पर्वके, मनुष्य पवित्र हो या अपवित्र—जब, जहाँ, जिस अवस्थामें चित्रपथा नदीका दर्शन करे, वही उसका पुण्यकाल है। उसका दर्शन ही पुण्यपर्व है। कोई समयविशेष उसकी महत्ताका कारण नहीं होता। स्वर्गवासी पितर उस नदीका दर्शन करके हर्षसे गाने और हँसने लगते हैं कि 'हमारे वंशका कोई यहाँ

आकर श्राद्ध करेगा और हमें एक कल्पतकके लिये तृप्त कर देगा।' यों जानकर सब पापोंके नाश और पितरोंकी तृप्तिके लिये वहाँ स्नान और श्राद्ध करना चाहिये।

महादेवी! ब्रह्मकुण्डके उत्तरभागमें रूपकुण्ड है। वहाँ स्नान करके मनुष्य चोरीके पापसे छूट जाता है। उसमें स्नान करनेके प्रभावसे उसके वंशमें सात जन्मोंतक कोई चोर और क्रूर नहीं होता। जो शस्त्रसे मारे गये हों अथवा पापी रहे हों, ऐसे पूर्वजोंकी मुक्तिके लिये वहाँ शिवरात्रिको विशेषरूपसे पिण्डदान आदि कार्य करने चाहिये।

वहीं उत्तम रत्नेश्वरलिंग है, जिसकी स्थापना साक्षात् भगवान् विष्णुने की है। जो रत्नकुण्डमें स्नान करके रत्नेश्वरकी पूजा करता है, वह सात जन्मोंतक लक्ष्मीवान्, बुद्धिमान् तथा गाय, बैल आदि पशुओंसे सम्पन्न होता है। जो श्रवण नक्षत्र और द्वादशीके योगमें विधिवत् उपवास करके भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करता है, वह मनोवांछित फलको पाता है। पार्वती! वह स्थान मुझे विशेष प्रिय है। मैं वहाँ सदा निवास करता हूँ और प्रलयकालमें भी उसका त्याग नहीं करता। वह सुदर्शन नामक वैष्णव क्षेत्र कहा गया है। उसका विस्तार सब ओर छत्तीस-छत्तीस धनुषतक है। इस सीमाके भीतर जो कोई अधम प्राणी भी कालवश मृत्युको प्राप्त होते हैं, उन्हें परमपदकी प्राप्ति होती है। जो लोग वहाँ भगवान् विष्णुकी प्रीतिके लिये सोनेका गरुड़ और पीताम्बर दान करते हैं, उन्हें यात्राका उत्तम फल प्राप्त होता है।

रत्नेश्वरसे उत्तरमें तीन धनुष दूर विनतानन्दन गरुड़के द्वारा स्थापित वैनतेयेश्वर लिंग है। जो मनुष्य पंचमीके दिन भक्तिपूर्वक गरुड़ेश्वरकी पूजा करता है, उसे सात जन्मोंतक सर्पजनित विषका भय नहीं प्राप्त होता। जो वैनतेयेश्वरको पंचामृतसे स्नान कराकर विधिवत् उनका पूजन करता है, वह स्वर्गलोकमें आनन्द भोगता है।

~~o~~

## रैवन्त और अनन्तेश्वरकी महिमा, सावित्रीकी कथा, सावित्री-व्रतकी महिमा तथा ब्रह्मा-सावित्रीके पूजनका महत्त्व

**महादेवजी कहते हैं**—महादेवि! तदनन्तर सावित्रीसे नैर्ऋत्यकोणमें स्थित अश्वारूढ़ राजभट्टारक रैवन्तकका दर्शन करनेके लिये जाय। उनके दर्शनसे मनुष्य सब आपत्तियोंसे छूट जाता है। जो रविवारयुक्त सप्तमी तिथिमें उनकी पूजा करता है, उसके वंशमें कोई भी मनुष्य दरिद्र नहीं होता; इसलिये यत्नपूर्वक उन्हींकी पूजा करे।

उससे दक्षिण अनन्तद्वारा स्थापित अनन्तेश्वर लिंग है। वह स्थान लक्ष्मणेश्वरसे पूर्व दिशामें है। वह सब पापोंका नाशक और बड़े भारी विषका विनाशक है। सिद्ध और गन्धर्व ही उसकी पूजा करते हैं। वह उपासकको मनोवांछित फल देनेवाला है। विशेषतः कृष्णपक्षकी अष्टमीमें जो अनन्तेश्वरकी पूजा करता है, वह घोर पातकोंसे मुक्त होकर नागलोकमें प्रतिष्ठित होता है।

पार्वती! मद्रदेशमें अश्वपति नामसे प्रसिद्ध एक धर्मात्मा राजा थे, जो सब प्राणियोंके हितमें तत्पर, क्षमावान्, सत्यवादी तथा जितेन्द्रिय थे। परंतु उनके कोई सन्तान नहीं थी। एक समय राजा अश्वपतिने प्रभासक्षेत्रकी यात्रा की। यहाँके तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए वे सावित्रीस्थलपर आये। वहाँ उन्होंने सावित्री-व्रतका अनुष्ठान किया। इससे उनके ऊपर ब्रह्माजीकी प्रिय पत्नी भूर्भुवःस्वःस्वरूपा सावित्री देवी प्रसन्न हुईं और मूर्तिमती होकर उनके नेत्रोंके समक्ष प्रकट हुईं। उनके हाथमें कमण्डलु शोभा पा रहा था और मुख एवं नेत्र प्रसन्नतासे खिले हुए थे।

**सावित्री बोलीं**—राजन्! वर माँगो।

**राजाने कहा**—देवि! मुझे संतान दो।

**सावित्री बोलीं**—राजन्! तुम्हें एक पुत्री प्राप्त होगी।

इतना कहकर सावित्रीदेवी अन्तर्धान हो गयीं। तदनन्तर कुछ कालके बाद राजा अश्वपतिके यहाँ एक दिव्यरूपधारिणी कन्या उत्पन्न हुई। सावित्रीकी पूजासे सावित्रीने ही प्रसन्न होकर वह कन्या दी थी, इसलिये ब्राह्मणोंने उसका नाम सावित्री रख दिया। वह राजकन्या मूर्तिमती लक्ष्मीकी भाँति बढ़ने लगी। उसे देखकर लोग यही कहते थे कि यह कोई देवकन्या ही पृथ्वीपर उतर आयी है। एक दिन उस देवरूपिणी कन्याको देखकर मन्त्रियोंसे परामर्श करके राजाने कहा—'बेटी! तुम्हारे विवाहका समय आ पहुँचा है, परंतु अबतक तुम्हारा किसीने वरण नहीं किया। मैं जब विचार करके देखता हूँ, तब यहाँ तुम्हारे योग्य कोई वर नहीं दिखायी देता। अतः देवता आदिके द्वारा मैं निन्दनीय न होऊँ, ऐसा कोई प्रयत्न करना आवश्यक है। मैंने धर्मशास्त्रोंमें यह बात सुनी है कि जो कन्या पिताके घरमें विवाह संस्कारके पहले ही अपनेको रजस्वला देखती है, उसके पिताको ब्रह्महत्याका पाप लगता है। अतः मैं तुम्हें बूढ़े मन्त्रियोंके साथ तीर्थयात्राके लिये भेजता हूँ, तुम स्वयं पतिका वरण करो।'

'जो आज्ञा' कहकर सावित्रीने पिताकी बात मान ली और यात्राके लिये निकली। वह राजर्षियोंके सुन्दर तपोवनोंमें गयी। वृद्ध महर्षियोंके चरणोंमें मस्तक झुकाया और समस्त आश्रमों एवं तीर्थोंमें घूम-फिरकर पुनः घरपर लौट आयी। वहाँ उसने अपने सामने आसनपर विराजमान देवर्षि नारदको देखा और प्रणाम करके पितासे कहा—'शास्वदेशमें एक धर्मात्मा क्षत्रिय राज्य करते थे। उनका नाम द्युमत्सेन है। वे दैववश अन्धे हो गये। उनका सामन्त रुक्मी पहलेसे ही उनसे वैर रखता था। उसने यह अवसर देखकर राजाका राज्य छीन लिया। राजा द्युमत्सेन अपनी पत्नीके साथ वनमें चले गये। उनकी पत्नीकी गोदमें एक छोटा-सा बालक भी था। राजाका वह पुत्र वनमें ही बड़ा हुआ है। वह परम धर्मात्मा है। उसका नाम सत्यवान् है। सत्यवान् ही मेरे मनके अनुरूप पति है। मैं उन्हींको प्राप्त करना चाहती हूँ।'

**नारदजीने कहा**—राजन्! सावित्री अभी बच्ची है, तभी इसने गुणवान् सत्यवान्का वरण किया है। उसके पिता सत्य बोलते हैं। उसकी माता सत्य भाषण करती है और वह स्वयं भी सत्य बोलता है। इसीलिये मुनियोंने उस राजकुमारका नाम सत्यवान् रखा है। सत्यवान्को अश्व बड़े प्रिय हैं। वह मिट्टीके अश्व बनाया करता है और अश्वके ही चित्र भी बनाता है, अतः उसका दूसरा नाम चित्राश्व है; किंतु उसे स्वीकार करके सावित्रीने बहुत बड़ा कष्ट मोल ले लिया है। द्युमत्सेनका वह पुत्र शिक्षा, दान और गुणोंमें देवताओंके समान है। उशीनरराज शिबिके समान सत्यवादी और ब्राह्मणभक्त है। ययातिके समान उदार, चन्द्रमाके समान सुन्दर, अश्विनीकुमारोंके समान रूपवान् तथा अतिशय बलवान् है। परंतु उसमें एक दोष है। आजसे एक वर्ष पूर्ण होनेपर उसकी आयु समाप्त हो जायगी और वह अपना शरीर त्याग देगा।

**नारदजीकी यह बात सुनकर राजाने कन्यासे कहा**—बेटी सावित्री! जाओ, किसी दूसरे श्रेष्ठ पतिका वरण करो। यह सत्यवान् तो एक ही वर्षमें शरीर त्याग देगा।

**सावित्री बोली**—पिताजी! राजालोग एक बार ही कोई बात कहते हैं। विद्वान् पुरुष भी एक ही बोली बोलते हैं और कन्याओंका दान भी एक ही बार किया जाता है। ये तीनों बातें एक-एक बार ही होती हैं। सत्यवान् दीर्घायु हों या अल्पायु, गुणवान् हों या गुणहीन—उन्हें एक बार मैंने वरण कर लिया, अब वे मेरे पति हो गये; अतः दूसरे किसीका वरण नहीं करूँगी। पहले मनसे निश्चय करके ही वाणीद्वारा किसी बातको

कहा जाता है और फिर उसे कार्यरूपमें परिणत किया जाता है। मैंने भी यही किया है। इस विषयमें मेरा मन ही प्रमाण है।

**नारदजीने कहा**—राजन्! यदि सावित्रीकी यही इच्छा है तो आप भी इस सम्बन्धको स्वीकार करें और शीघ्र ही इसे कर डालें। आपकी पुत्रीके विवाहमें कोई विघ्न नहीं पड़ना चाहिये।

यों कहकर नारदजी स्वर्गको चले गये। राजाने उत्तम मुहूर्तमें वेदोंके पारगामी ब्राह्मणोंके द्वारा कन्याका सब वैवाहिक कार्य सम्पन्न कराया। सावित्री भी मनोवांछित पतिको पाकर बहुत प्रसन्न हुई। इस प्रकार उस आश्रममें निवास करते हुए उन तीनोंका कुछ समय व्यतीत हुआ। सावित्री दिन-रात चिन्तित रहती थी। नारदजीने जो बात कही थी, वह सावित्रीको भूलती नहीं थी। उसने मन-ही-मन हिसाब लगाकर यह जान लिया कि आजसे चौथे दिन मेरे पतिकी मृत्यु होनेवाली है। तत्पश्चात् उसने त्रिरात्रि-व्रत प्रारम्भ किया। उसे पूर्ण करके सावित्रीने स्नान किया और देवता-पितरोंका तर्पण करके उसने सास-ससुरके चरणोंमें प्रणाम किया। तदनन्तर सत्यवान् हाथमें फरसा लेकर वनको चले। सावित्री भी उनके पीछे-पीछे गयी। सत्यवान्ने शीघ्रतापूर्वक फल, फूल, समिधा और कुशा एकत्र करके सूखे काष्ठका एक बोझ बाँधा। तत्पश्चात् वे बरगदकी शाखाका सहारा लेकर बोले—'प्रिये! मेरे सिरमें बड़ी पीड़ा हो रही है। मैं क्षणभर तुम्हारी गोदमें मस्तक रखकर सोना चाहता हूँ।'

**सावित्री बोली**—महाबाहो! आइये, विश्राम कीजिये। थोड़ी देर बाद हमलोग आश्रमपर चलेंगे।

तदनन्तर सावित्रीकी गोदमें मस्तक रखकर सत्यवान् ज्यों-ही पृथ्वीपर सोये त्यों-ही सावित्रीने एक पुरुषको देखा, जो काले और पीले रंगके दिखायी पड़ते थे। मस्तकपर किरीट और अंगोंमें पीताम्बर धारण किये वे साक्षात् सूर्यकी भाँति शोभा पा रहे थे। सावित्रीने उन्हें प्रणाम करके मधुर वाणीमें पूछा—'तुम कौन हो? दूर ही रहो; पति-भक्तिके प्रभावसे मुझे कोई धर्मसे गिरा नहीं सकता। प्रज्वलित अग्निशिखाकी भाँति मेरा कोई स्पर्श भी नहीं कर सकता।'

**यमने कहा**—पतिव्रते! मैं सबका संयमन करनेवाला यम हूँ। तुम्हारे पतिकी आयु क्षीण हो गयी है। मेरे दूत तुम्हारे समीप आकर इन्हें ले जानेमें असमर्थ हैं, इसलिये मैं स्वयं आया हूँ।

उनके यों कहनेपर सत्यवान्के शरीरसे अँगूठेके बराबर एक पुरुष निकला जो पाशमें बँधा हुआ था। सावित्रीने उसे देखा और स्वयं भी यमराजके पीछे-पीछे चलना प्रारम्भ किया। पातिव्रत्यके प्रभावसे उसे वहाँ जानेमें कोई श्रम नहीं होता था। उस समय यमराजने उससे कहा—'सावित्री! तू बहुत दूर चली आयी, अब लौट जा। इस मार्गपर कोई जीवित पुरुष नहीं चलता।'

**सावित्री बोली**—भगवन्! मुझे चलनेमें न तो परिश्रम होता है और न ग्लानि ही। एकमात्र पतिको छोड़कर स्त्रीके लिये दूसरा कोई अवलम्ब नहीं है।

इस प्रकार और भी बहुत-सी धर्मयुक्त मधुर बातें सुनकर सूर्यनन्दन यम सावित्रीपर बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'देवि! तुम्हारा कल्याण हो, तुम कोई वर माँगो।' तब सावित्रीने विनीत होकर पाँच वरदान माँगे—'मेरे महात्मा श्वशुरको नेत्र प्राप्त हों, उनका खोया हुआ राज्य भी मिल जाय, मेरे पति जीवित हों, निरन्तर उनके धर्मकी वृद्धि हो तथा मेरे पुत्रहीन पिताको पुत्रकी प्राप्ति हो।' धर्मराजने वरदान देकर उसे भेजा। पतिको पाकर सावित्रीका मन प्रसन्न हो गया। अब वह स्वस्थचित्त होकर पतिके साथ आश्रमपर गयी। ज्येष्ठकी पूर्णिमाको उसने यह व्रत किया था, जिससे उसके सौभाग्यकी रक्षा हुई।

**पार्वतीने पूछा**—महेश्वर! सावित्रीने जिस व्रतका पालन किया, वह कैसा है? बतानेकी कृपा करें।

**महादेवजी बोले**—देवेश्वरी! पतिव्रता सावित्रीने जिस व्रतका पालन किया है, उसका वर्णन करता हूँ; सुनो। ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशीको दन्तधावनपूर्वक स्नान करके त्रिरात्र उपवासका नियम ग्रहण करे। जो स्त्री त्रिरात्र करनेमें असमर्थ हो, वह जितेन्द्रिय होकर त्रयोदशीको नक्तव्रत, चतुर्दशीको अयाचित्त व्रत और पूर्णिमाको उपवास करे। प्रतिदिन तड़ाग, किसी बड़ी नदी अथवा झरनेमें स्नान करे। यदि पाण्डुकूपमें स्नान कर ले तो सबमें स्नान करनेका फल प्राप्त हो जाता है। विशेषतः पूर्णिमाको सरसों, मिट्टी और जलसे स्नान करना चाहिये। एक पात्रमें बालू भरकर अथवा जौ,चावल या तिल आदि धान्य भरकर उसपर दो वस्त्रोंमें लपेटा हुआ बाँसका पात्र रखे और उसमें सोने-चाँदी अथवा मिट्टीकी बनी हुई सावित्रीदेवी और ब्रह्माजीकी सर्वांगशोभित प्रतिमा स्थापित करे। फिर उन प्रतिमाओंपर दो लाल वस्त्र चढ़ाये और अपनी शक्तिके अनुसार उन दोनों विग्रहोंकी पूजा करे। चन्दन, सुगन्धित पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, तरोई या लटजीराके फूलोंसे, कुम्हड़ा और ककड़ीके फलोंसे, नारियल, छुहारा, कैथ, अनार, जामुन, नीबू, नारंगी, कंकोल, कटहल, जीरक, खाँड़, गुड़, लवण, चरभट तथा सप्तधान्य आदि वस्तुएँ बाँसके पात्रोंमें रखकर निवेदन करे। कण्ठसूत्रको सुन्दर केसर और कुंकुमसे रँगे। तत्पश्चात् मन्त्रोच्चारणपूर्वक पूजन करे। मन्त्र इस प्रकार है—

**ओङ्कारपूर्विके देवि वीणापुस्तकधारिणि।**
**देव्यम्बिके नमस्तुभ्यमवैधव्यं प्रयच्छ मे॥**

वीणा और पुस्तक धारण करनेवाली सच्चिदानन्दमयी माता सावित्री देवी! तुम्हें नमस्कार है। तुम मुझे सौभाग्य प्रदान करो।

इस प्रकार पूजा-प्रार्थना करके बहुत-से स्त्री-पुरुषोंके साथ गाना-बजाना करते हुए वहाँ जागरण करे। श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे सावित्रीकी कथा कहलाये। ब्रह्मा-सावित्रीका विवाह करे। सारी सामग्री वेदज्ञ ब्राह्मणको दान करे। जिसकी जीविका कठिनाईसे चलती हो, ऐसे निर्धन अग्निहोत्री ब्राह्मणको सावित्रीकी प्रतिमा दान करे। उस रात्रिमें ब्राह्मण-दम्पतियोंको निमन्त्रित करके प्रातःकाल वटवृक्षके नीचे सावित्रीके सम्मुख भोजन कराये। वहाँ एक-एक ब्राह्मणको भोजन कराना कोटि-कोटि ब्राह्मणोंको भोजन करानेके समान पुण्यदायक कहा गया है। ब्राह्मणोंको भोजन कराते समय कड़वे तेलका बना हुआ सामान न परोसे। स्त्रीको खट्टा और खारा भोजन कभी नहीं देना चाहिये। पाँच प्रकारके मधुर भोजन कराये—१. दूध और घीमें बने हुए पूवे, २. अशोकवर्तिका (एक प्रकारका पकवान), ३. छुहारेके साथ बनी हुई पूपिका, ४. घी और गुड़से बना हुआ हलवा, ५. और मोदक। जो स्त्री ऐसा करती है, वह धन-धान्य और मनुष्योंसे पूर्ण होती है। उसका वंश भरा-पूरा रहता है, उसके कुलमें कभी कोई स्त्री विधवा नहीं होती। अथवा यदि तीर्थमें भोजनकी सुविधा न हो तो घर लौटनेपर भोजन कराये, जिससे सावित्री देवी प्रसन्न हों। इसी प्रकार अपने घरपर आकर पितरोंके लिये पिण्डदानपूर्वक श्राद्ध भी करे। इससे पितर सन्तुष्ट होते हैं। ऐसा ब्रह्माजीका कथन है। अपने घरमें श्राद्ध-दान करनेसे तीर्थकी अपेक्षा भी आठगुना पुण्य होता है। क्योंकि वहाँ नीच पुरुषोंकी दृष्टि नहीं पड़ती। पितरोंका श्राद्ध एकान्त एवं गुप्त होना चाहिये। नीच पुरुषोंकी दृष्टिसे दूषित होनेपर वह पितरोंको नहीं प्राप्त होता, अतः प्रयत्नपूर्वक श्राद्धको गुप्त रखकर ही करे। वही पितरोंके लिये तृप्तिदायक होता है।

# शालकटङ्कटा देवी, दशरथेश्वर, भरतेश्वर, लिंगचतुष्टय, कुन्तीश्वर, अर्कस्थल तथा त्रिसंगमतीर्थ आदिका महत्त्व

**महादेवजी कहते हैं**—पार्वती! तदनन्तर शालकटंकटा देवीके समीप जाय। उनका स्थान सावित्रीसे दक्षिण तथा रैवन्तसे पूर्व दिशामें है। वे महान् पापपुंज तथा सम्पूर्ण दुःखोंका विनाश करनेवाली हैं। सिद्ध और गन्धर्व भी उनकी उपासना करते हैं। वे महाप्रचण्ड दैत्योंका नाश करनेवाली तथा महिषासुरमर्दिनी हैं। पुलस्त्य-पुत्र विश्रवाने उनकी स्थापना की है। माघ मासकी चतुर्दशीको जो उनकी पूजा करता है, वह पशु-धनसे सम्पन्न, बुद्धिमान्, विद्वान्, लक्ष्मीवान् और पुत्रवान् होता है।

तदनन्तर दशरथेश्वरका दर्शन करे। पूर्वकालमें सूर्यवंशके भूषण महाराज दशरथने प्रभासक्षेत्रमें आकर अत्यन्त दुष्कर तपस्या की। वहाँपर एक शिवलिंगकी स्थापना करके मुझे सन्तुष्ट किया और अत्यन्त तेजस्वी पुत्र प्राप्त होनेके लिये प्रार्थना की। तब मैंने उन्हें त्रैलोक्यपूजित पुत्र प्रदान किया, जिनका नाम श्रीराम था और जिनका यश तीनों लोकोंमें फैला हुआ है और आज भी त्रिभुवनके निवासी देवता, दैत्य, असुर तथा वाल्मीकि आदि महर्षि जिनकी कीर्ति-कथाका गान करते हैं। उस शिवलिंगके प्रभावसे राजा दशरथको महान् यश प्राप्त हुआ। जो कार्तिकमासमें कार्तिककी पूर्णिमाको विधिपूर्वक धूप, दीप और पूजा आदिके उपहारोंसे दशरथेश्वरकी पूजा करता है, वह यशस्वी होता है।

उससे उत्तर कोणमें थोड़ी ही दूरपर भरतेश्वरलिंग है। भूतलमें भरत नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं, जिनके नामसे लोकमें इस देशको भारतवर्ष कहते हैं। उन्होंने मेरे विग्रहकी स्थापना करके सहस्रों वर्षोंतक यहाँ दुष्कर तपस्या की, जिससे सन्तुष्ट होकर मैंने उन्हें आठ पुत्र और एक यशस्विनी कन्या प्रदान की। इस प्रकार अभीष्ट मनोरथ पाकर राजा भरत कृतकृत्य हुए और भारतवर्षके नौ विभाग करके उन्होंने अपने पुत्रों और पुत्रीको एक-एक भाग बाँट दिया। वे द्वीप उन पुत्रोंके नामसे ही प्रसिद्ध हुए। इन्द्रद्वीप, कुशेरु, ताम्रपर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व तथा वारुणि—ये आठ द्वीप हैं और यह कुमारी नामसे प्रसिद्ध नवाँ द्वीप है। इनमेंसे आठ द्वीप जो उत्तरमें स्थित थे, समुद्रमें डूब गये। ग्राम और देश आदिके सहित सागरमें विलीन हो गये। उनमेंसे यह कुमारी नामक द्वीप ही अवशेष है। यह विन्दुसरसे लेकर समुद्रतक दक्षिणसे उत्तरतक फैला हुआ है, जिसकी लम्बाई नौ हजार योजन और चौड़ाई एक हजार योजन है। जो भरतेश्वर लिंगका पूजन करता है, वह सब यज्ञों और दानोंका फल पाता है। जो कार्तिकमासकी पूर्णिमाको कृत्तिका नक्षत्रके योगमें भरतेश्वरका दर्शन करता है, वह स्वप्नमें भी भयंकर नरकको नहीं देखता।

सावित्रीके स्थानसे पश्चिम दिशामें एक ही स्थानपर चार शिवलिंग हैं, उनमें दो शिवलिंग तो पूर्वमें हैं और दो पश्चिममें। उन चारोंके नाम इस प्रकार हैं—कुशकेश्वर, गर्गेश्वर, पौरुषेश्वर तथा मैत्रेयेश्वर। जो जितेन्द्रिय मनुष्य भक्तिपूर्वक इन चारों लिंगोंका दर्शन करता है, वह सब पातकोंसे मुक्त हो मेरे परम धामको जाता है। वैशाख शुक्ला चतुर्दशीको वहाँ स्नान करके ब्राह्मणोंकी पूजा करे और उन्हें यथाशक्ति वस्त्र दे।

सावित्रीके पूर्वभागमें गड्ढेके भीतर कुन्तीश्वर नामसे प्रसिद्ध एक शिवलिंग है। पूर्वकालमें जब पाण्डवलोग तीर्थयात्राके प्रसंगसे कुन्तीके साथ प्रभासक्षेत्रमें आये थे, उस समय कुन्तीदेवीने वहाँ एक शिवलिंग स्थापित किया, जो समस्त पापभयको दूर करनेवाला है। जो मनुष्य कार्तिककी पूर्णिमाको

विशेषरूपसे कुन्तीश्वरका पूजन करता है, वह समस्त कामनाओंसे सम्पन्न हो शिवलोकमें सम्मानित होता है। कुन्तीश्वर लिंगके दर्शनसे मन, वाणी और क्रियाद्वारा किये हुए समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।

पार्वती! वहाँसे अग्निकोणमें समस्त पातकोंका नाश करनेवाला पुण्यतीर्थ अर्कस्थल है। उसका दर्शन करके मनुष्य सात जन्मोंतक दरिद्र नहीं होता तथा उसके अठारहों प्रकारके कुष्ठ नष्ट हो जाते हैं। इसलिये सप्तमी तिथिको त्रिसंगमतीर्थमें स्नान करके पुण्यवान् मनुष्य उनका पूजन अवश्य करे। सिद्धेश्वरसे दक्षिणभागमें तीन धनुषके अन्तरपर माण्डव्येश्वर लिंग है। जो माघमासकी चतुर्दशीको जितेन्द्रिय होकर उसकी पूजा करके रातमें वहाँ जागरण करता है, वह यमलोकमें नहीं जाता।

वहींपर पुष्पदन्तने कठोर तपस्या करके एक शिवलिंग स्थापित किया, जिसका दर्शन करके प्राणी जन्म-मृत्युमय संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है और इहलोक तथा परलोकमें मनोवांछित फल प्राप्त करता है।

सिद्धेश्वरके पास ही थोड़ी दूर पूर्वकी ओर क्षेत्रपेश्वर नामका उत्तम लिंग है। शुक्लपक्षकी पंचमीको उनका दर्शन करनेसे मनुष्यको कभी सर्प नहीं काटता।

सरस्वती, हिरण्या और समुद्रका संगम देवताओंके लिये भी दुर्लभ है। उसका नाम मिश्रतीर्थ है। वहाँका जल सब जलोंमें प्रधान है; इसलिये वह उत्तम तीर्थ है। सूर्यग्रहण आनेपर उसकी महत्ता कुरुक्षेत्रसे भी बढ़ जाती है। उस स्थानपर किया हुआ जप और दान कोटिगुना फल देनेवाला होता है। मंकीशसे पश्चिम भागमें कृतस्मर तीर्थतक दस करोड़ तीर्थोंका निवास है। उसके भीतर रहनेवाले कृमि, कीट, पतंग और श्वपच आदि भी स्वर्गलोकमें चले जाते हैं; फिर शुद्ध चित्तवाले पुरुषके लिये तो कहना ही क्या है? कृष्णपक्षकी चतुर्दशी तिथिको वहाँ स्नान करके जो पितरोंका तर्पण करता है, उसके पितर तबतक तृप्त रहते हैं, जबतक आकाशमें सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र प्रकाशित रहते हैं। देवि! यह त्रिसंगम तीर्थ बड़े-बड़े पातकोंका नाश करनेवाला है।

त्रिसंगमके पास ही मंकीश्वर लिंग है। प्राचीन कालमें तपस्वियोंमें श्रेष्ठ मंकि नामके एक महर्षि हो गये हैं। उन्होंने मेरे विग्रहकी स्थापना करके दस हजारसे कुछ अधिक वर्षोंतक यहाँ घोर तपस्या की थी। इससे सन्तुष्ट होकर मैंने उन्हें वरदान दिया। तभीसे उस शिवलिंगका मंकीश्वर नाम प्रसिद्ध हुआ। जो माघमासकी त्रयोदशी और चतुर्दशी तिथियोंको पंचोपचारसे मंकीश्वरका पूजन करता है, वह मनोवांछित फल पाता है।

## देवमाता, शेषस्थान, प्रभासपंचक, रुद्रेश्वर, महाश्मशान तथा सरस्वती नदी और संगममें स्नानका महत्त्व

**महादेवजी कहते हैं**—पार्वती! मंकीश्वरसे नैर्ऋत्य कोणमें देवमाताका स्थान है। वे गौरीरूप धारण करके वहाँ रहती हैं। सरस्वती देवीका ही नाम वहाँ देवमाता है। उन्होंने बड़वानलसे देवताओंकी माताके समान रक्षा की, इसीलिये उन्हें देवमाता कहते हैं। जो पतिव्रता स्त्री अथवा पुरुष माघमासकी तृतीयाको उनकी पूजा करते हैं, वे सब अभीष्ट फलोंको प्राप्त कर लेते हैं। जो वहाँ शर्करायुक्त खीर आदिसे ब्राह्मण-दम्पतिको भोजन कराते हैं, वे एक सहस्र गौरी कन्याओंको भोजन देनेका फल पाते हैं।

नगरादित्यसे पूर्व दिशामें मित्रवनके भीतर जहाँ बलभद्रजीने शरीर छोड़ा है, वह स्थान शेषस्थान कहलाता है। उसीको नागस्थान भी कहते हैं। जो पुरुष त्रिसंगम तीर्थमें स्नान करके पंचमीको निराहार रहकर नागस्थानकी पूजा

करता है तथा श्राद्ध करके ब्राह्मणको यथाशक्ति दक्षिणा देता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर मेरे लोकमें जाता है।

नागस्थानसे पश्चिम दिशामें प्रभासपंचक नामक स्थान है जो परम पुण्यमय आदितीर्थ है। उसके पश्चिम भागमें प्रभासक्षेत्र है, उससे दक्षिण भागमें वृद्धप्रभास है। उससे दक्षिण जलप्रभास है। उससे दक्षिण महाप्रभास है। तदनन्तर कृतस्मर प्रभास है, जहाँ श्मशानभैरव हैं। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक इन पाँच प्रभासोंका दर्शन करता है, वह जरा-मृत्युसे रहित परम पदको प्राप्त होता है। प्रभास तीनों लोकोंमें विख्यात आदितीर्थ है। वह देवताओंके लिये भी दुर्लभ तथा महापातकोंका नाशक है। प्रभासमें अमावास्याको एक रात व्रत रखनेवाला पुरुष सब पातकोंसे मुक्त हो शिवलोकमें जाता है। पुष्करमें स्नान करनेसे सात जन्मोंका पाप नष्ट हो जाता है।

आदिप्रभासके आगे तीन धनुषकी दूरीपर रुद्रेश्वर लिंग स्थित है, जहाँ मुझ रुद्रने ध्यान लगाकर अपने तेजको स्थापित किया है। उसका दर्शन और पूजन करके मनुष्य सब वांछित फलोंको प्राप्त कर लेता है।

कृतस्मरसे लगाकर मंकीश्वरतक महाश्मशान है, जो पुनर्जन्मका निवारण करनेवाला है। उस स्थानपर मरे हुए जीवके शरीरका दाह करना चाहिये। वह कर्मबीजके लिये ऊसर क्षेत्र कहा गया है। वह मुझे सदा अत्यन्त प्रिय है। मैं कल्पान्तमें भी उसका त्याग नहीं करता। मेरे लिये वह अविमुक्त क्षेत्रसे भी अधिक प्रिय है।

सरस्वतीका जल स्वतः पवित्र है। उसमें जहाँ-कहीं भी स्नान किया जा सकता है, किन्तु सरस्वती और समुद्रका संगम तो देवताओंके लिये भी दुर्लभ है। सब नदियोंमें सरस्वती नदी ही पुण्यदायिनी तथा समस्त लोकोंको सुख देनेवाली है। सरस्वतीको पाकर स्वर्गलोकमें पहुँचे हुए मनुष्य सदाके लिये शोकमुक्त हो जाते हैं। सरस्वतीका पावन जल पुण्यात्मा पुरुषोंको ही प्राप्त होता है। वैशाखकी पूर्णिमा तथा चन्द्रग्रहणके अवसरपर तो वह तीनों लोकोंके लिये भी दुर्लभ है। यदि सोमवती अमावास्याको वहाँ स्नानका सुयोग मिल जाय तो सौ कोटि पर्वोंसे क्या प्रयोजन है। मनुष्यकी हड्डी जबतक सरस्वतीके जलमें रहती है, उतने ही सहस्र वर्षोंतक वह मेरे लोकमें सम्मानित होता है। जो समर्थ होकर भी प्रभास तीर्थमें सरस्वतीका दर्शन नहीं करते, उन्हें जन्मके अन्धों और पंगुओंके समान जानना चाहिये। वे देश, वे तीर्थ, वे आश्रम तथा वे पर्वत धन्य हैं, जिनके बीचसे होकर सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती नदी निकलती हैं। जो त्रिभुवनको पवित्र करनेवाली पुण्यदायिनी सरस्वतीकी शरण ले चुके हैं, वे संसाररूपी कीचड़की दुर्गन्ध फिर नहीं सूँघते। प्रभास तीर्थमें सरस्वती नदी स्वर्गकी सीढ़ी है। सरस्वतीके दर्शनसे मनुष्य राजसूय यज्ञका फल पाता है। सरस्वतीसे बढ़कर दूसरा कोई तीर्थ न हुआ है न होगा। जहाँ सरस्वतीका जल समुद्रकी लहरोंसे व्याप्त रहता है, उस संगममें जो मनुष्य स्नान करेंगे, वे प्रत्येक युगमें ऐश्वर्यवान् होंगे। जिन मनुष्योंका शरीर सरस्वतीके जलसे अभिषिक्त होता है, वे धन्य हैं, वे मुनि हैं और उन्हींका निर्मल यश सर्वत्र फैला हुआ है।

## श्राद्धके विषयमें कुछ ज्ञातव्य बातें

**महादेवजी कहते हैं**—पार्वती! सबेरे तीन मुहूर्ततक प्रातःकाल, फिर तीन मुहूर्त संगव-काल, फिर तीन मुहूर्त मध्याह्नकाल और उसके बाद तीन मुहूर्त अपराह्णकाल होता है। तदनन्तर तीन मुहूर्ततक सायाह्नकाल होता है। उसमें श्राद्ध नहीं करना चाहिये। कुशके अग्रभागको दैव और

मूलसहित अग्रभाग (द्विभुग्न कुश)-को पैतृक कहा गया है। उसमें अवलम्बित कुशोंको कुतुक माना गया है। श्राद्धकालमें शरीर, द्रव्य, स्त्री, भूमि, मन, मन्त्र तथा ब्राह्मण—इन सात वस्तुओंकी शुद्धिपर विशेष ध्यान देना चाहिये। श्राद्धमें तीन वस्तुएँ पवित्र मानी गयी हैं—दौहित्र, कुतपकाल तथा तिल। तीन बातें प्रशंसाके योग्य कही गयी हैं—शुद्धि, अक्रोध तथा अत्वरा (उतावलेपनका अभाव)। सात प्रकारका धन शुद्ध माना गया है—श्रुत, शौर्य, तप, कन्या, शिष्य आदि, कुल-परम्परा तथा न्यायवृत्तिसे जो प्राप्त हुआ हो। इनकी प्राप्तिके उपाय भी सात प्रकारके हैं—१. कृषि और २. वाणिज्यसे प्राप्त धन कुत्सित है। ३. शिल्पानुवृत्तिसे मिले हुए धनको शुक्ल (उत्तम) कहा गया है। ४. किये हुए उपकारके बदलेमें प्राप्त किया हुआ धन शबल (मध्यम श्रेणीका) बताया गया है। ५. सूद, ६. साहस और ७. छल-कपटसे कमाये हुए धनको कृष्ण (अधम) कहते हैं। अन्यायोपार्जित धनसे जो श्राद्ध किया जाता है, उससे चाण्डाल आदि योनियोंमें पड़े हुए लोगोंकी ही तृप्ति होती है। मनुष्य धरतीपर जो अन्न बिखेरते हैं, उससे पिशाचयोनिमें पड़े हुए पितरोंकी तृप्ति होती है। स्नानके वस्त्रसे धरतीपर जो जल गिरता है, उससे नीच योनियोंमें पड़े हुए पूर्वजोंकी तृप्ति होती है। धरतीपर जो सुगन्धित जलकी बूँदें पड़ती हैं, उससे देवयोनिमें आये हुए पितरोंकी तृप्ति होती है। पिण्ड उठानेपर जो अन्नके दाने पृथ्वीपर गिरते हैं, उनसे सम्मार्जनका जल पीनेवाले विकिर नामके पितर तृप्तिलाभ करते हैं। श्राद्ध-भोजन करके ब्राह्मणलोग जो आचमन और कुल्ला करते हैं, उससे पशुयोनिके पितर तृप्त होते हैं।

श्राद्धमें जो उत्तम माने गये हैं, ऐसे ब्राह्मणोंका वर्णन करता हूँ; सुनो। विशिष्ट, श्रोत्रिय, योगी, वेदवेत्ता, नाचिकेतसंज्ञक त्रिविध अग्नियोंका सेवन करनेवाला, अथवा '**अयं वाव यः पवते**' इत्यादि तीन अनुवाकोंका अध्ययन और अनुष्ठान करनेवाला, '**मधुवाता ऋतायते**' इत्यादि तीन ऋचाओंका जप करनेवाला, '**ब्रह्ममेतु माम्**' इत्यादि तीन अनुवाकोंका अध्ययन और तत्सम्बन्धी व्रत करनेवाला पुत्रीका पुत्र, जामाता और भानजा, पंचाग्निकर्ममें तत्पर, तपोनिष्ठ, मामा, पिता-माताका भक्त, शिष्य, सम्बन्धी, बन्धु-बान्धव, वेदार्थका ज्ञाता और वक्ता, ब्रह्मचारी, सहस्रोंका दान करनेवाला तथा सौ वर्षकी आयुवाला पुरुष—ऐसे ब्राह्मण पंक्तिपावन जानने चाहिये। अपना भानजा तथा भाई-बन्धु मूर्ख भी हों तो भी श्राद्धमें उनका त्याग न करे। देवकर्ममें ब्राह्मणकी परीक्षा न करे, किंतु श्राद्धकर्ममें यत्नपूर्वक ब्राह्मणकी परीक्षा करे। जो चोर, पतित, नपुंसक और नास्तिक-वृत्तिके ब्राह्मण हैं, उन्हें मनुजीने यज्ञ और श्राद्धमें सम्मिलित करनेका निषेध किया है। जो जटाधारी, वेदाध्ययनरहित, दुर्बल, धूर्त तथा शूद्रोंके पुरोहित हों, उनका श्राद्धकर्ममें पूजन न करे। वैद्य, वेतन लेकर देव-पूजा करनेवाले, मांसविक्रेता तथा वाणिज्यसे जीविका चलानेवाले ब्राह्मण भी यज्ञ और श्राद्धमें त्याज्य हैं। जो गँवार, राजसेवक, बुरे नखोंवाला, काले दाँतोंवाला, गुरुके प्रतिकूल आचरण करनेवाला, अग्निहोत्रका त्यागी, सूदखोर, राजयक्ष्माका रोगी, पशु-पालनकी वृत्तिसे जीनेवाला, परिवेत्ता (बड़े भाईसे पहले ही विवाह करनेवाला), निराकृति (किसी अंगसे हीन), ब्राह्मणद्वेषी, परिविति (परिवेत्ताका बड़ा भाई), कुशीलव (नाचने-गानेवाला), अपकीर्णी (धर्मभ्रष्ट), दुःशील, काना, शूद्रजातीय स्त्रीसे सम्बन्ध रखनेवाला, उढ़रीका बेटा, जुआरी, शराबी, कोढ़ी, कलंकित, पाखण्डी, रस बेचनेवाला, धनुष-बाण बनानेवाला, बड़ी बहिनके अविवाहित रहते उसकी छोटी बहिनसे विवाह करनेवाला, मित्रद्रोही, पुत्रसे शिक्षा लेनेवाला, मिरगीका रोगी, घेघेवाला, श्वेतकुष्ठी, चुगलखोर, उन्मादी, अन्धा तथा

वेदकी निन्दा करनेवाला—ये सभी ब्राह्मण श्राद्धमें त्याग देनेयोग्य हैं। जलके प्रवाहको छिन्न-भिन्न करनेवाला अथवा उसे रोकनेवाला, दूतकर्म करनेवाला, वृक्षारोपणकी वृत्तिसे जीनेवाला, कुत्तेसे शिकार खेलनेवाला, बाज पक्षीसे जीविका चलानेवाला, कुमारी कन्याको कलंकित करनेवाला, हिंसक, शूद्रवृत्तिसे जीनेवाला, आचारहीन, बहुत बड़े जनसमुदायकी पुरोहिती करनेवाला, प्रतिदिन भीख माँगनेवाला तथा मुर्दे ढोनेवाला—ऐसे ब्राह्मण यत्नपूर्वक त्याज्य हैं। जिनका आचरण निन्दित हो, वे अधम द्विज श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी पंक्तिमें बैठनेके अधिकारी नहीं हैं; अतः विद्वान् ब्राह्मण देवकार्य और पितृकार्य दोनोंमें पूर्वोक्त ब्राह्मणोंको सम्मिलित न करे।

प्रत्येक मासमें अमावास्या आनेपर श्राद्ध करना चाहिये। अष्टका तिथि, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, विषुवयोग, अयनारम्भके दिन तथा सामान्यतः सूर्यकी प्रत्येक संक्रान्तिके दिन श्राद्ध करना चाहिये। कृष्णपक्षमें आर्द्रा, मघा, रोहिणी आदि नक्षत्रोंमें श्राद्धके योग्य द्रव्य और ब्राह्मणका संयोग प्राप्त होनेपर तथा गजच्छाया, व्यतीपात, भद्रा और वैधृतियोगमें भी श्राद्ध करना चाहिये। वैशाखकी तृतीया, कार्तिक शुक्ला नवमी, माघकी पूर्णिमा और भाद्रपद कृष्णा त्रयोदशी—ये युगादि तिथियाँ मानी गयी हैं। माघमासकी सप्तमीको भगवान् सूर्य पहले-पहल रथपर आरूढ़ हुए, इसलिये उसे 'रथ-सप्तमी' कहते हैं। आश्विन शुक्ला नवमी, कार्तिककी द्वादशी, चैत्र और भादोंकी तृतीया, फाल्गुनकी अमावास्या, पौषकी एकादशी, आषाढ़की दशमी, माघकी सप्तमी, श्रावणकी कृष्णाष्टमी, आषाढ़, कार्तिक, फाल्गुन, चैत्र और ज्येष्ठकी पूर्णिमाएँ—ये मन्वन्तरकी आदि तिथियाँ हैं जो दानके पुण्यको अक्षय करनेवाली हैं। मन्वन्तरादि तिथिमें बारह प्रकारके श्राद्ध करने चाहिये—नित्य, नैमित्तिक, काम्य, वृद्धिश्राद्ध, सपिण्डन-श्राद्ध, पार्वण-श्राद्ध, गोष्ठ-श्राद्ध, शुद्धि-श्राद्ध, कर्मांग-श्राद्ध, दैविकश्राद्ध, क्षयाह-श्राद्ध और तुष्टि-श्राद्ध। इन सबमें सांवत्सरिक (क्षयाह) श्राद्ध श्रेष्ठ माना गया है। प्रतिदिन किये जानेवाले श्राद्धको 'नित्य-श्राद्ध' कहते हैं। उसमें विश्वेदेवकी पूजा नहीं की जाती। यदि अन्नसे श्राद्ध करनेकी शक्ति न हो तो केवल जलसे भी नित्यश्राद्ध किया जाता है। एकोद्दिष्ट श्राद्धका नाम नैमित्तिक श्राद्ध है। अभीष्ट वस्तुकी सिद्धिके लिये कामना रखकर जो श्राद्ध किया जाता है, उसे काम्य-श्राद्ध कहते हैं। विवाह आदि उत्सवोंके अवसरपर जो श्राद्ध किया जाता है, वह वृद्धि-श्राद्ध कहलाता है। 'ये समाना०'—इत्यादि दो मन्त्रोंके द्वारा किये जानेवाले श्राद्धको 'सपिण्डन' कहते हैं। अमावास्या आदि पर्वोंपर किये जानेवाले श्राद्धको 'पार्वण' कहते हैं। गोशालामें जो श्राद्ध किया जाता है, वह गोष्ठश्राद्ध है। पापशुद्धिके लिये जो श्राद्ध किया जाता है, उसे 'शुद्धि' श्राद्ध कहते हैं। गर्भाधान, सोमयाग, सीमन्तोन्नयन तथा पुंसवन आदिमें जो श्राद्ध किया जाता है, वह कर्मांग-श्राद्ध है। देवताके उद्देश्यसे किये जानेवाले श्राद्धको 'दैविक श्राद्ध' कहते हैं। जो देशान्तरमें चला जाय, उसकी तुष्टिके लिये घीसे श्राद्ध करना चाहिये। इसे तुष्टि-श्राद्ध कहते हैं। बारह महीनेपर जो श्राद्ध किया जाता है, उसे क्षयाह अथवा सांवत्सरिक श्राद्ध कहते हैं। जो वर्षके अन्तमें क्षयाहके दिन पिता और माताका आदरपूर्वक श्राद्ध नहीं करते, उनकी की हुई पूजाको मैं नहीं ग्रहण करता। जो मनुष्य पिताकी क्षयाह-तिथिको ठीक-ठीक नहीं जानता हो, उसे माघ अथवा मार्गशीर्षकी अमावास्याको सांवत्सरिक श्राद्ध करना चाहिये।

# श्राद्धविधि, सप्तशुद्धिका विचार, श्राद्धमें ग्राह्य एवं त्याज्यका निर्णय और सप्तार्चिषस्तोत्र

**महादेवजी कहते हैं**—अब मैं श्राद्धकी विधि बतलाता हूँ। श्राद्धके एक दिन पहले अपसव्य होकर पितरोंके प्रतिनिधिभूत ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करे—'आपलोग पितृकार्य सम्पन्न करें और मुझपर प्रसन्न हों।' ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करनेके लिये अपनी जातिके विश्वस्त पुरुषोंको भेजना चाहिये। बिना फटा हुआ वस्त्र पवित्र माना गया है। यदि मूर्ख ब्राह्मण अपने सामने ही रहता हो और गुणवान् अपनेसे बहुत दूर बसता हो तो गुणवान्‌को भी श्राद्धका निमन्त्रण देना चाहिये, परंतु मूर्खको त्यागना नहीं चाहिये। जो अपने निकटवर्ती ब्राह्मणको पतित न होनेपर भी त्यागकर दूर रहनेवाले गुणवान्‌की पूजा करता है, वह नरकमें जाता है। वेद, विद्या और व्रतमें निष्णात श्रोत्रिय ब्राह्मण यदि घरपर आ जाय तो विधिपूर्वक उसका पूजन करके मनुष्य परम गतिको प्राप्त होता है। दोनों सन्ध्या, जप, भोजन, दन्तधावन, पितृकार्य, देवकार्य, मूत्रोत्सर्ग, मलोत्सर्ग, गुरुके समीप तथा यज्ञ—इन अवसरोंपर जो मौन रहता है, वह स्वर्गमें जाता है। यदि जप आदिमें किसी तरह मौन भंग हो जाय तो वैष्णव मन्त्रका उच्चारण और भगवान् विष्णुका स्मरण करना चाहिये। दान, स्नान, होम, भोजन और देवपूजनमें देवताओंके लिये सीधे कुश उपयोगमें लाये जाते हैं और पितरोंके लिये द्विगुणभुग्न कुश। उत्तरमुख होकर देवताओंका और दक्षिणमुख होकर पितरोंका कार्य करना चाहिये। अग्नि, भस्म, जौ और जलसे चिह्न बना देनेपर तथा चौखट बीचमें होनेपर भी पंक्तिदोष नहीं होता। इष्टश्राद्धमें क्रतु और दक्ष, वृद्धिश्राद्धमें सत्य और वसु, नैमित्तिक श्राद्धमें काल और काम, काम्य श्राद्धमें अध्व और विरोचन तथा पार्वण श्राद्धमें पुरूरवा एवं आर्द्रव नामके विश्वेदेवोंका आवाहन-पूजन बताया गया है। पलाशके पत्तेमें श्राद्ध करनेसे ब्रह्मतेजकी वृद्धि होती है। पीपलके पत्तेमें श्राद्धभोजन करनेवाला राजाओंका मान्य होता है। पाकड़के पत्तलमें श्राद्धभोजन करनेसे सब भूतोंपर प्रभुत्व प्राप्त होता है। वटके पत्तेमें भोजन करनेसे पुष्टि, प्रजा, वृद्धि, प्रज्ञा, धृति और स्मृतिकी प्राप्ति होती है। गम्भारीका पत्ता राक्षसोंका नाश करनेवाला और यशोदायक होता है। महुवेके पत्तेमें भोजन करनेसे उत्तम सौभाग्य प्राप्त होता है। अर्जुन वृक्षके पत्तेमें श्राद्ध करनेवाला सब अभीष्ट फलोंको प्राप्त कर लेता है। मदारके पत्तेमें श्राद्ध करनेसे उत्तम कान्ति और प्रकाशकी प्राप्ति होती है। बाँसके पात्रमें श्राद्ध करनेवाले पुरुषके खेत, बगीचे और पोखरेमें सदैव मेघ पानी बरसाते हैं। सोने-चाँदीके पात्रोंमें श्राद्ध करनेसे पूर्वोक्त सभी पत्रोंके फलकी प्राप्ति होती है। पलाश, अर्जुन, वट, पाकर, पीपल, विकंकत (कटाय), गूलर, बिल्व और चन्दन—ये यज्ञ-सम्बन्धी वृक्ष हैं। सरल, देवदार, साखू, खैर—ये वृक्ष समिधाके लिये प्रशस्त हैं। श्लेष्मातक, नक्तमाल्य, कैथ, सेमल, नीबू और बहेड़ा—ये वृक्ष श्राद्धकर्ममें निन्दित हैं।

जहाँ अनिष्ट शब्द सुनायी पड़ते हों जो बहुत रूखी और जीव-जन्तुओंसे भरी हो तथा जहाँ दुर्गन्ध फैल रही हो, ऐसी भूमिको श्राद्धकर्ममें त्याग दे। अंग, बंग, कलिंग, सिन्धुका उत्तर तट तथा जहाँ आश्रम-धर्म और वर्ण-धर्म नष्ट हो गये हों, ऐसे देश यत्नपूर्वक श्राद्धकर्ममें त्याग देने योग्य हैं। ब्राह्मण सत्ययुग, क्षत्रिय त्रेता, वैश्य द्वापर और शूद्र कलियुग माना गया है। विद्वान् पुरुष शुक्लपक्षके पूर्वाह्न और कृष्णपक्षके अपराह्णमें श्राद्ध करे। पितृकार्यमें रत्नि* बराबर कुश श्रेष्ठ माने गये हैं। मूलके पाससे कटे हुए कुश वेदीपर

* कोहनसे कनिष्ठिका अंगुलितकके मापको रत्नि या अरत्नि कहते हैं।

आस्तरण करनेके लिये उत्तम होते हैं। इसी प्रकार साँवाँ, तिन्नी और दूर्वा भी श्रेष्ठ माने गये हैं। कुश सदैव पवित्र तथा श्राद्धकर्ममें आदरणीय हैं। ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाले पुरुषको उन कुशोंपर ही पिण्डदान करना चाहिये।

ब्राह्मणोंको श्रद्धापूर्वक गर्म-गर्म अन्न भोजन कराना चाहिये। फल, फूल और पेय पदार्थोंको ठंडा ही दे। जो स्नेहवश ब्राह्मणोंके हाथमें नमक या व्यंजन परोसता है, अथवा लोहेके पात्रसे परोसता है उस भोजनको राक्षस खाते हैं, पितर उसे नहीं ग्रहण करते। ब्राह्मणोंके पात्रोंमें चुपचाप अन्न परोसकर संकल्प करना चाहिये। करछुल आदिमें जो अन्न हो, उससे उनका सम्बन्ध नहीं रहना चाहिये। जो ब्राह्मण सूअरकी भाँति पात्रमें मुँह लगाकर चप-चप करते हुए खाता है, अथवा जो हाथमें ही भोजन रखकर उसीमें मुँह लगाता है तथा जो भोजनके समय बातचीत करता है, उसके खाये हुए अन्नको पितर नहीं ग्रहण करते। दो वर्षके बछड़ेके मुखमें जो सुखपूर्वक समा सकें, उतने ही बड़े पिण्ड बनाने चाहिये—यह व्यासका कथन है। स्त्री श्राद्धके पात्रको न हटाये। ज्ञानहीन तथा व्रतरहित पुरुष भी भोजनपात्रको न हटाये। स्वयं पुत्र ही आकर पिताके श्राद्धमें उच्छिष्ट पात्रोंको उठाये। तीन पिण्डोंमेंसे एकको तो जलमें डुबो दे, दूसरा पत्नीको दे दे और तीसरेको अग्निमें होम दे—इस प्रकार पिण्डोंकी यह त्रिविध गति है।[1]

पितृश्राद्धमें छन्दोग (सामवेदी) ब्राह्मणको, वैश्वदेवश्राद्धमें वैष्णवको, पुष्टिकर्ममें अध्वर्यु (यजुर्वेदी)-को तथा शान्तिकर्ममें अथर्ववेदी ब्राह्मणको भोजन कराना चाहिये। दैवश्राद्धमें दो अथर्ववेदी ब्राह्मणोंको पूर्वाभिमुख बिठाना चाहिये और पितृश्राद्धमें ऋग्वेदी, यजुर्वेदी तथा सामवेदी—इन तीन ब्राह्मणोंको उत्तराभिमुख बिठाना चाहिये। चमेली, बेला और श्वेतजूही आदि फूलोंका श्राद्धमें सदा ही उपयोग करे। जलसे पैदा होनेवाले सभी तरहके फूल और चम्पाका भी श्राद्धमें उपयोग करना उचित है। महुआ, हींग, कपूर, मिर्च, गुड़, सेंधा नमक और चाँदी—ये श्राद्धमें उत्तम हैं। ब्राह्मण, कम्बल, गौ, सूर्य, अग्नि, अतिथि, तिल, दर्भ और विहित काल—ये नौ कुतप माने गये हैं।

रजस्वला स्त्री चौथे दिन स्नान करके शुद्ध होती है। परंतु दैवकार्य और पितृकार्यके लिये वह पाँचवें दिन शुद्ध होती है।[2] धन और ब्राह्मणके अभावमें, परदेशमें तथा पुत्रजन्मके समय अथवा जिसकी स्त्री रजस्वला हो, वह आमश्राद्ध करे—ब्राह्मणको कच्चा अन्न दे दे। साँपके काटे हुए, ब्राह्मणके मारे हुए, दाढ़वाले, सींगवाले तथा बिच्छू आदिके द्वारा मारे हुए और आत्मघात करनेवाले प्राणियोंका श्राद्ध न कराये। सब भाइयोंसे सलाह करके बिना बँटे हुए धनके द्वारा ज्येष्ठ भाईने जो श्राद्ध और दान किया हो, वह सबके द्वारा किया हुआ माना जाता है। प्रतिवर्ष माता-पिताकी क्षयाह तिथिको जो श्राद्ध किया जाता है, उसे मलमासमें नहीं करना चाहिये—ऐसा व्यासजीका वचन है। गर्भमें, ऋण लेने-देनेके व्यवहारमें, प्रेतकर्ममें, मृत्युमें, मासिक श्राद्धमें तथा वार्षिक श्राद्धमें मलमासकी गणना नहीं की जाती है। विवाह आदिके अवसरोंपर सौरमास, यज्ञ आदिमें सावनमास तथा वार्षिक श्राद्ध और पितृकार्यमें चान्द्रमास उत्तम माना गया है। जिस राशिपर सूर्यके स्थित रहते समय ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी मृत्यु हो जाती है, उसी राशिमें मृत्युतिथिको पितृकर्म करना चाहिये। वषट्कार (इन्द्रयाग), होम (देवयाग),

---

१- अप्स्वेकं प्लावयेत् पिण्डमेकं पत्न्यै निवेदयेत्। एकं वै जुहुयादग्नावेषा तु त्रिविधा गतिः॥
(स्क० पु०, प्र० ख० २००। ४४)

२- संशुद्धा स्याच्चतुर्थेऽह्नि स्नाता नारी रजस्वला। दैवे कर्मणि पित्र्ये च पञ्चमेऽहनि शुद्ध्यति॥
(स्क० पु०, प्र० ख० २००। ५१)

पर्व (दर्श-पौर्णमास) तथा आग्रायण आदि कार्य मलमासमें भी करने योग्य हैं। अग्न्याधान, प्रतिष्ठा, यज्ञ, दान, व्रत, वेद-व्रत, वृषोत्सर्ग, चूडाकर्म तथा मांगलिक अभिषेक भी मलमासमें न करे। नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको मलमासमें यत्नपूर्वक करना चाहिये। इसी प्रकार तीर्थस्नान, गजच्छाया-स्नान और प्रेतश्राद्ध भी मलमासमें अवश्य करने योग्य है। जहाँ भोजन करनेवाले भाई-बन्धु और सगोत्र पुरुष नहीं उपलब्ध होते और अन्त्यज आदिसे श्राद्धभूमि घिर जाती है, वहाँ यह सब राक्षसी श्राद्धका लक्षण है। जो स्वयं श्राद्ध करके दूसरेके श्राद्धमें विह्वल होकर भोजन करता है, उसके पितर पिण्ड और तर्पणके लुप्त हो जानेसे नरकमें गिरते हैं।[१]

यज्ञ और श्राद्धके लिये न्यायपूर्वक ब्राह्मणको निमन्त्रण देकर जो किसी प्रकार उसे छोड़ देता है, वह पापात्मा शूकर-योनिको प्राप्त होता है। दैवश्राद्ध अथवा पितृश्राद्धमें जब अशौच हो जाय, तब उसकी निवृत्ति होनेपर ब्राह्मणोंको श्राद्धका दान देना चाहिये। श्राद्धकी समाप्ति होनेपर ब्राह्मणोंसे आशीर्वाद लेना चाहिये, इससे दीर्घायुकी प्राप्ति होती है। पहले ब्राह्मणके हाथमें जल देकर इस प्रकार प्रार्थना करे—

**अपां मध्ये स्थिता देवाः सर्वमप्सु प्रतिष्ठितम्।**
**ब्राह्मणस्य करे न्यस्ताः शिवा आपो भवन्तु नः॥**

'देवता जलके भीतर निवास करते हैं। सब कुछ जलमें ही प्रतिष्ठित है। ब्राह्मणके हाथमें रखा हुआ जल हमारे लिये कल्याणकारी हो।'

तत्पश्चात् ब्राह्मणके हाथमें फूल देकर इस प्रकार प्रार्थना करे—

**लक्ष्मीर्वसति पुष्पेषु लक्ष्मीर्वसति पुष्करे।**
**लक्ष्मीर्वसति वै सोमे सौमनस्यं सदास्तु मे॥**

'लक्ष्मी फूलोंमें निवास करती हैं। लक्ष्मी कमलमें निवास करती हैं और लक्ष्मी चन्द्रमामें वास करती हैं। मेरा मन सदा प्रसन्न रहे।'

तदनन्तर ब्राह्मणके हाथमें अक्षत देकर प्रार्थना करे—

**अक्षतं चास्तु मे पुण्यं शान्तिः पुष्टिर्धृतिश्च मे।**
**यद्यच्छ्रेयस्करं लोके तत्तदस्तु सदा मम॥**

'मेरा पुण्य अक्षय हो; मुझे शान्ति, पुष्टि और धृति प्राप्त हो। लोकमें जो कल्याणकारी वस्तुएँ हैं, वे सदा मुझे मिलती रहें।'

इसके बाद ब्राह्मणको दक्षिणा देकर प्रार्थना करे—

**दक्षिणाः पान्तु सर्वत्र बहुदेयं तथास्तु नः।**

'दक्षिणा सर्वत्र रक्षा करे और हमारे पास दान करनेके लिये बहुत सामग्री हो।'

सभी प्रार्थनाओंके उत्तरमें ब्राह्मण '**एवमस्तु**' कहकर उनका अनुमोदन करे और यजमान मस्तक झुकाकर ब्राह्मणके आशीर्वादको शिरोधार्य करे। भोगकी इच्छा रखनेवाला पुरुष पिण्डको सदा अग्निमें डाले। सन्तानकी प्राप्तिके लिये मध्यम पिण्ड मन्त्रोच्चारणपूर्वक पत्नीको दे दे। उत्तम कान्ति चाहे तो सदा गौओंको ही पिण्ड खिला दे। यदि प्रज्ञा, यश और कीर्तिकी अभिलाषा हो तो सदा पिण्डको जलमें ही डाल दे। दीर्घ आयुकी चाह हो तो सब पिण्ड कौओंको खिला दे। कार्तिकेयजीके लोकमें जानेकी अभिलाषा हो तो मुर्गेको खिलाये अथवा दक्षिण दिशाकी ओर मुख करके सब पिण्ड आकाशमें ही फेंक दे। क्योंकि आकाश और दक्षिण दिशा पितरोंके स्थान हैं।[२]

चन्द्रग्रहणके सिवा और कभी रात्रिमें श्राद्ध न करे। चन्द्रग्रहणका दर्शन होनेपर शीघ्र सर्वस्व

---

१- श्राद्धं कृत्वा परश्राद्धे यस्तु भुङ्क्ते स विह्वलः। पतन्ति पितरस्तस्य लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥
(स्क० पु०, प्र० ख० २००। ६३-६४)

२- पिण्डमग्नौ सदा दद्याद्भोगार्थी सततं नरः। प्रजार्थं पत्न्यै वै दद्यान्मध्यमं मन्त्रपूर्वकम्॥
उत्तमां द्युतिमन्विच्छेद्गोषु नित्यं प्रदापयेत्। प्रज्ञामिच्छेद्यशः कीर्तिमप्सु नित्यञ्च प्रक्षिपेत्॥

लगाकर भी रात्रिमें श्राद्ध करे। ग्रहणके समय श्राद्ध न करनेवाला कष्ट पाता है और जो श्राद्ध करता है, वह अपने पापसे उसी प्रकार तर जाता है, जैसे जहाज समुद्रके पार होता है। काला उड़द, तिल, जौ, अगहनीका चावल, महायव, व्रीहियव तथा काले और सफेद तिल श्राद्धकर्ममें सदा ग्राह्य हैं। बेल, आँवला, मुनक्का, कटहल, आमड़ा, अनार, केला, सामयिक साग और मूँग आदि वस्तुएँ श्राद्ध-कर्ममें उत्तम मानी गयी हैं। मसूर, सौंफ और कुसुम्भके फूल श्राद्धमें सदैव वर्जित हैं। लहसुन, गाजर, प्याज, पिण्डमूल, मोरट और बड़ी मूली—ये सब श्राद्धमें वर्जित हैं। इनके सम्पर्कसे श्राद्ध व्यर्थ हो जाता है और दाता नरकमें पड़ता है। प्रातःकालसे लेकर सन्ध्यातक पंद्रह मुहूर्त होते हैं। उनमें तीन मुहूर्तका प्रातःकाल, फिर तीन मुहूर्तका संगवकाल, उसके बाद तीन मुहूर्तका मध्याह्नकाल, फिर उतनेका ही अपराह्नकाल तथा शेष तीन मुहूर्तका सायाह्नकाल कहा गया है। यही पाँचवाँ दिनांश है। प्रातःकालसे लेकर रोहिणतक मनुष्य श्राद्ध करे। रोहिण मुहूर्तका उल्लंघन न करे। दिनके आठवें मुहूर्तको कुतप और नवेंको रोहिण कहते हैं। एकोद्दिष्ट श्राद्ध मध्याह्नमें करना चाहिये। केवल जातकर्म-संस्कारके समय उसे प्रातःकाल किया जा सकता है। पितरोंके लिये पृथक् और विश्वेदेवोंके लिये पृथक् श्राद्ध करे। श्राद्ध करके ब्राह्मणोंको विदा करे। उसके बाद बलिवैश्वदेव कर्म करे। यदि आग प्रज्वलित न हो और उसमें धूआँ उठता हो तो उसमें हवन करनेवाला यजमान अपने पुत्रके साथ अन्धा हो जाता है। जहाँ दुर्गन्धयुक्त, काले और नीले रंगकी अग्नि पृथ्वीपर प्राप्त हो, वहाँ पराजय होती है—यों जानना चाहिये। जिसमें लपटें उठती हों, जिसकी ज्वालामें कुछ पीला रंग दिखायी देता हो, जो घृत और सुवर्णके समान देदीप्यमान हो तथा जिसकी लपट प्रदक्षिण भावसे उठ रही हो, वह अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको सिद्ध करनेवाली होती है। चन्दन, अगुरु, तमाल, खस, पद्मक, धूप, गुग्गुल तथा लोहबानकी धूप श्रेष्ठ मानी गयी है। कमल, उत्पल, सुगन्धित फूल तथा श्वेत रंगके पुष्प श्राद्धमें श्रेष्ठ माने गये हैं। जौ, सुमना, झिंटी, रक्तक और कुरण्टक—ये सभी फूल श्राद्धकर्ममें सदैव वर्जित हैं। सोने, चाँदी और ताँबेके पात्र पितरोंके पात्र कहे जाते हैं। श्राद्धमें चाँदीकी चर्चा और दर्शन भी पुण्यदायक है। चाँदीका समीप होना, दर्शन अथवा दान राक्षसोंका विनाश करनेवाला, यशोदायक तथा पितरोंको तारनेवाला होता है।

अब मैं अमृत-मन्त्रका उपदेश करता हूँ—

**देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च।**
**नमः स्वधायै स्वाहायै नित्यमेव नमो नमः॥**

'देवता, पितर, महायोगी, स्वधा और स्वाहा—इन सबको नित्य बारंबार नमस्कार है।'

श्राद्धके आदि और अन्तमें इस मन्त्रका तीन-तीन बार जप करना चाहिये। ब्राह्मणोंद्वारा सदैव पूजित होनेपर यह मन्त्र अश्वमेध यज्ञका फल देता है। पिण्डदानके समय भी एकाग्रचित्त होकर इस मन्त्रको जपे। इससे पितर प्रसन्न होते हैं तथा राक्षस भाग जाते हैं।

अब मैं सप्तार्चिष स्तोत्र कहता हूँ। जो मूर्तिरहित और मूर्तिमान् हैं, जिनका तेज सब ओर उदीप्त है, जो सर्वत्र व्यापक और दिव्य दृष्टिवाले हैं, उन पितरोंको मैं सदा नमस्कार करता हूँ। जो इन्द्र आदि देवताओं तथा दक्ष और कश्यपके भी नेता हैं एवं सप्तर्षियों और पितरोंके भी नायक हैं, सबकी अभिलाषा पूर्ण

---

प्रार्थयन्दीर्घमायुश्च वायसेभ्यः प्रदापयेत्। कुमारलोकमन्विच्छन् कुक्कुटेभ्यः प्रदापयेत्॥
आकाशे गमयेद्वापि स्थितो वा दक्षिणामुखः। पितॄणां स्थानमाकाशं दक्षिणा चैव दिक् तथा॥
(स्क० पु०, प्र० ख० २००। ७३—७६)

करनेवाले उन पितरोंको मैं नमस्कार करता हूँ। जो मनु आदि सब मनुष्यों तथा सूर्य और चन्द्रमाके भी माननीय पितर हैं, उन सबको मैं हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ। जो नक्षत्रों, ग्रहों, वायु, अग्नि, आकाश और पृथ्वीके भी पिता हैं, उन सबको मैं हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ। सातों लोकोंमें रहनेवाले सातों पितरोंको नमस्कार है, नमस्कार है। योगदृष्टिवाले स्वयम्भू ब्रह्माको नमस्कार करते हैं। यह सप्तार्चिष स्तोत्र ब्रह्मर्षिगणोंसे पूजित, परम पवित्र तथा समस्त राक्षसोंका विनाशक है। इस प्रकार इस स्तोत्रका तीन बार जप करे। जो श्रद्धालु, जितेन्द्रिय तथा एकाग्रचित्त होकर बड़ी श्रद्धाके साथ प्रतिदिन इस सप्तार्चिष स्तोत्रका जप करता है, वह सात समुद्रोंवाली पृथ्वीका एकमात्र राजा होता है। जो इस श्राद्धकल्पका नित्य पाठ करता है, वह पंक्तिपावन है, वही अठारह विद्याओंका पारंगत विद्वान् माना गया है। पितर लोग प्रसन्न होकर मनुष्योंको प्रज्ञा, पुष्टि, स्मृति, मेधा, राज्य तथा आरोग्य प्रदान करते हैं। पार्वती! इस प्रकार सरस्वती और समुद्रके संगमपर मनुष्यको विधिपूर्वक श्राद्ध करना चाहिये।

## परायी वस्तुके अपहरण और प्रतिग्रहके दोष

**महादेवजी कहते हैं**—जो मनुष्य अमावास्याको दूसरेका अन्न खाता है, उसका महीनेभरका किया हुआ पुण्य अन्नदाताको मिल जाता है। अयनारम्भके दिन पराया अन्न भोजन करे तो छः महीनोंका और विषुवकालमें परान्न भोजन करनेपर तीन मासका पुण्य चला जाता है। यदि चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहणके अवसरपर मनुष्य भोजन करे तो बारह वर्षोंसे एकत्र किया हुआ सब पुण्य नष्ट हो जाता है।* संक्रान्तिके दिन दूसरेका अन्न ग्रहण करनेपर महीनेभरसे अधिक समयका पुण्य चला जाता है। आद्य श्राद्ध (एकादशाह-श्राद्ध)-में परान्न भोजन करनेपर तीन वर्षका पुण्य चला जाता है। मासिक श्राद्धमें भोजन करनेपर आठ वर्षका और छमाही श्राद्धमें भोजन करनेसे आधे वर्षका पुण्य नष्ट होता है। जो अस्थि-संचयन-श्राद्धमें दूसरेका अन्न खाता है, उसका जन्मभरका पुण्य चला जाता है। जो मरे हुए मनुष्यकी शय्याका दान लेता है, जो वेदाध्ययनको बेचता है तथा जो ब्राह्मणका धन हड़प लेता है, ऐसे लोगोंकी शुद्धि कभी नहीं होती। एक माशा सुवर्ण, एक गाय अथवा आधी अंगुल भूमि भी जो चुराता है, वह प्रलयकालतक नरकमें रहता है। ब्रह्महत्या, मदिरापान, दरिद्रके धनका अपहरण, गुरुपत्नीगमन तथा सुवर्णकी चोरी—ये पाप स्वर्गमें बैठे हुए पुरुषको भी नीचे गिरा देते हैं। चिताके काष्ठसमूहका और वेद बेचनेवाले ब्राह्मणका स्पर्श करके स्नान करना चाहिये। वेद बेचनेवाला पुरुष द्रव्यके लिये जितने वेदाक्षरोंका उपयोग करता है, उतनी बाल-हत्याओंको प्राप्त होता है। जो वेदकी शिक्षा लेकर उसके बदलेमें ब्राह्मणको दान देता है, वह पहले नरकमें जाता है। उसके बाद वह ब्राह्मण भी नरकमें गिरता है। वेदज्ञ ब्राह्मण भी यदि बलिवैश्वदेव नहीं करते तथा अग्निहोत्र आदि गृह्यकर्मसे अलग रहते हैं, उन्हें शूद्र ही जानना चाहिये। जिन ब्राह्मणोंने अध्ययन नहीं किया है, जो अग्निहोत्रसे रहित तथा अपने आचारसे हीन हैं, वे सभी

* अमावास्यां नरा ये तु परान्नमुपभुञ्जते। तेषां मासकृतं पुण्यमन्नदातुः प्रदाप्यते॥
षण्मासमयने भुङ्क्ते त्रीन्मासान् विषुवे स्मृतम्। वर्षैर्द्वादशभिश्चैव यत्पुण्यं समुपार्जितम्॥
तत सर्वं विलयं याति भुक्त्वा सूर्येन्दुसम्प्लवे।

(स्क० पु०, प्र० ख० २००। ११—१३)

शूद्रजातिके हैं। जो क्षयाहके दिन श्रद्धापूर्वक पिताका श्राद्ध नहीं करता, वह मनुष्य द्विज होनेपर भी शूद्रके ही समान है। जो ब्राह्मण मृतक-श्राद्ध, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, गजच्छाया* और सूतकमें भोजन करता है, उसके साथ शूद्रोचित बर्ताव करे। ब्रह्मचारी, संन्यासी, शिल्पी तथा यज्ञदीक्षित पुरुषको एवं यज्ञ, विवाह तथा सत्रमें कभी सूतक नहीं लगता। शिल्पी, नट, दूत और सूदखोर ब्राह्मणोंके साथ शूद्रोचित बर्ताव करना चाहिये। जो निषिद्ध कर्मोंमें संलग्न, पाखण्डी, दुष्कर्मी और पापाचारी हो, वह ब्राह्मण शूद्रके समान माना गया है। बिना स्नान किये भोजन करनेवाला विष्ठा भोजन करता है। बिना जप किये खानेवाला पीब और रक्त खाता है। बिना हवन किये आहार करनेवाला कीड़े खाता है और देवता, अतिथि आदिको दिये बिना भोजन करनेवाला पुरुष मानो मदिरा पीता है। राजाका अन्न तेज हर लेता है। शूद्रका अन्न ब्रह्मतेजको नष्ट कर देता है। सुनारका अन्न आयु और चमारका अन्न यश ले लेता है। कारीगरका अन्न सन्तानका नाश करता है। धोबीका अन्न बलको क्षीण करता है। किसी समूह या संस्थाका अन्न तथा वेश्याका अन्न स्वर्ग आदि पुण्यलोकोंसे भ्रष्ट कर देता है। वैद्यका अन्न पीब, व्यभिचारिणी स्त्रीका अन्न वीर्य, अधिक व्याज लेनेवालेका विष्ठा और हथियार बेचनेवालेका अन्न मलके समान त्याज्य है। ब्राह्मण मांस, लाख और नमक बेचनेसे तत्काल पतित हो जाता है और दूध बेचनेसे तीन दिनमें शूद्रके समान हो जाता है। रसको रससे बदलना चाहिये, किंतु रस देकर नमक नहीं लेना चाहिये। पके अन्नको कच्चे अन्नसे बदला जा सकता है। तिलको उसीके बराबर धान्यसे बदलना चाहिये। जो ब्राह्मण तिलोंसे भोजन, उबटन और दानसे भिन्न कोई दूसरा व्यापार आदि कर्म करता है, वह कीड़ा होकर अपने पितरोंके साथ कुत्तेकी विष्ठामें डूबता है। पूआ, सुवर्ण, गौ, घोड़ा, पृथ्वी और तिलका दान लेनेवाला ब्राह्मण यदि विद्वान् न हो तो वह उसे ग्रहण करके काष्ठकी भाँति जल जाता है। दानमें लिया हुआ सुवर्ण आयुका तथा रत्न अपने शरीर, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, दौहित्र तथा कुलमें होनेवाले अन्य पुरुषोंका नाश कर देता है। पाँच योजनके भीतर भी यदि अपने गुरुका आगमन सुनायी पड़े तो उनकी उपेक्षा न करे। मनुष्य सदा सत्पात्रको ही दान दे। जो कहीं दान दिया जाता हुआ देखकर लोभवश उसे माँगने लगे तो विद्वान् पुरुष उसे दान न दे; क्योंकि लोलुपता या चपलता अच्छी नहीं होती। यदि ब्राह्मण रसका विक्रय त्याग दे तो उसे सौभाग्यकी प्राप्ति होती है। मांसका त्याग करनेसे सन्तानकी आयु बढ़ती है। चीर और वल्कल धारण करनेसे वस्त्र और आभूषण प्राप्त होते हैं, सच बोलनेसे मनुष्य स्वर्गमें क्रीड़ा करता है। अहिंसाधर्मके पालनसे आरोग्य और दान देनेसे यशकी प्राप्ति होती है। ब्राह्मणकी सेवा करनेसे राज्य तथा द्विजत्व प्राप्त होते हैं। देवताओंकी सेवासे मनुष्य दिव्य रूप पाता है। अन्नदानसे सम्पूर्ण अभीष्ट भोगोंकी प्राप्ति होती है।

~~o~~

* ज्योतिषका एक योग जो उस समय होता है, जब कृष्ण त्रयोदशीके दिन चन्द्रमा मघा नक्षत्रमें और सूर्य हस्त नक्षत्रमें हो—यह योग श्राद्धके लिये अच्छा माना जाता है।

# उत्तम-अधम जन्म, व्यर्थ और सफल दान, सुपात्रके लक्षण, विद्धा एकादशीके दोष तथा द्रव्याभावमें श्राद्धकी विधि

**महादेवजी कहते हैं**—पार्वती! चार प्रकारके जन्म और सोलह प्रकारके दान व्यर्थ हैं तथा चार प्रकारके जन्म उत्तम और सोलह प्रकारके दान महादान हैं। अब इनका विवरण सुनो। (१) कुपुत्रोंका जन्म व्यर्थ है। (२) जो धर्मसे बहिष्कृत हैं, (३) जो परदेशमें जाते हैं तथा (४) जो सदा परस्त्रियोंमें आसक्त रहते हैं, उनका जन्म भी व्यर्थ है। १. जो दूसरेके यहाँ भोजन करते हैं और (२) परस्त्री-लम्पट हैं, उनको दिया हुआ दान व्यर्थ है। (३) एक बार देनेसे इन्कार करके फिर जो दान दिया जाता है, वह भी व्यर्थ है। (४) आरूढ़-पतित (संन्यासी होकर फिर गृहस्थ होनेवाले)-को दिया हुआ दान तथा (५) अन्यायोपार्जित धनका दान भी व्यर्थ है। (६) ब्रह्महत्यारे, (७) पतित, (८) चोर, (९) गुरुको प्रसन्न न रखनेवाले (१०) कृतघ्न, (११) ग्राम-पुरोहित, (१२) अधम ब्राह्मण, (१३) शूद्रा स्त्रीसे सम्बन्ध रखनेवाले ब्राह्मण, (१४) वेदविक्रेता, (१५) जिसकी स्त्रीका किसी जार पुरुषसे सम्बन्ध हो तथा (१६) जो स्त्रीके अधीन रहता हो, ऐसे ब्राह्मणोंको दिये हुए दान असफल होते हैं। इस तरह ये सोलह प्रकारके दान व्यर्थ हैं।

अब जिनका जन्म उत्तम है, उनका परिचय सुनो। (१) जो अपने माता-पिताके उत्तम पुत्र हैं, (२) सदा धर्ममें तत्पर रहते हैं, (३) परदेशमें नहीं जाते और (४) परायी स्त्रियोंसे विमुख हैं—इन चार प्रकारके मानवोंका जन्म श्रेष्ठ है। (१) गौ, (२) सुवर्ण, (३) चाँदी, (४) रत्न, (५) विद्या, (६) तिल, (७) कन्या, (८) हाथी, (९) घोड़ा, (१०) शय्या, (११) वस्त्र, (१२) भूमि, (१३) अन्न, (१४) दूध, (१५) छत्र तथा (१६) आवश्यक सामग्रियों-सहित गृह—इन सोलह प्रकारकी वस्तुओंके दानको महादान कहते हैं।

इसलिये शठता छोड़कर श्रद्धा और विधिके साथ उत्तम देशमें, उत्तम कालमें और उत्तम पात्रको न्यायोपार्जित धनका दान देना चाहिये। जो वेदाध्ययनसे सम्पन्न, योगनिष्ठ, शान्त, पुराणका ज्ञाता, पापसे डरनेवाला, स्त्रियोंके प्रति क्षमाभाव रखनेवाला, धर्मात्मा, गौओंको आश्रय देनेवाला तथा सदाचारसे युक्त हो, उसीको दानका उत्तम पात्र कहते हैं। सत्य, इन्द्रियसंयम, तप, शौच, सन्तोष, ईर्ष्याका न होना, सरलता, ज्ञान, मनःसंयम, दया और दान—ये सद्गुण ही सुपात्रके लक्षण हैं।* जो ऐसे श्रेष्ठ पात्रको समान बछड़ेवाली, चाँदीके खुर और सोनेके सींगवाली, सर्वगुणसम्पन्न एक गाय भी दान करता है, वह मेरे लोकमें प्रतिष्ठित होता है। जो मानव ऐसी गायको दानमें देता है, वह उत्तम गतिको प्राप्त होता है। उसके ऊपर मैं सदा प्रसन्न रहता हूँ। जो गाय क्रोध करनेवाली, दुष्ट, दुर्बल, रोगिणी तथा मूल्य न देकर लायी गयी हो, उसका दान नहीं करना चाहिये। जो अतिथियोंका प्रेमी, मनको वशमें रखनेवाला, अग्निहोत्री तथा धनके अभावसे कष्ट पानेवाला श्रोत्रिय ब्राह्मण हो, उसे दी हुई एक गाय भी अधिक गुणवाली होती है। जो ज्ञान-दुर्बल ब्राह्मण गायको बेचता है, वह गोदान लेनेका अधिकारी नहीं है, उसे ब्राह्मण नहीं मानना चाहिये। गाय, घर, शरण तथा कन्या—ये वस्तुएँ अनेक पुरुषोंको नहीं देनी चाहिये—इनमेंसे एक वस्तु एक ही व्यक्तिको देनी चाहिये।

---

* सत्यं दमस्तपः शौचं सन्तोषोऽनैर्घ्यमार्जवम्। ज्ञानं शमो दया दानमेतत्पात्रस्य लक्षणम्॥

(स्क० पु०, प्र० ख० २०२। १८। १९)

यदि एकादशी दशमीसे विद्ध हो और द्वादशीका क्षय हो गया हो, तो उस दिन नक्त-व्रत करे। उस दिन उपवासका विधान नहीं है। जो एकादशीमें उपवास करके त्रयोदशीको पारण करता है, उसकी बारह द्वादशियोंका फल नष्ट हो जाता है। उपवास और श्राद्धके दिन काष्ठसे दन्तधावन न करे। दर्श, पौर्णमास तथा पिताका वार्षिक श्राद्ध पूर्वविद्धा तिथिमें ही करना चाहिये; जो ऐसा नहीं करता, वह नरकमें पड़ता है। उसकी सन्तानकी हानि बतायी गयी है और वह दुर्भाग्यको प्राप्त होता है।*

द्रव्यके अभावमें एक ही ब्राह्मणके द्वारा छः पिण्डवाला श्राद्ध करे। उसमें पिता आदिके लिये छः अर्घ्य स्थापित करके उन्हें विधिपूर्वक निवेदन करे। ब्राह्मणके हाथमें जो अन्न जाता है, उसे पिता भोजन करते हैं, मुखमें पितामह खाते हैं, तालुभागमें स्थित होकर प्रपितामह उस अन्नको ग्रहण करते हैं। ब्राह्मणके कण्ठमें मातामह, हृदयमें प्रमातामह और नाभिमें वृद्ध प्रमातामह स्थित होकर अन्न ग्रहण करते हैं। ब्राह्मण न मिले तो कुशका ब्राह्मण बनाकर रखे (और उसके सन्निधानमें श्राद्ध-कार्य पूर्ण करे) यह सभी पुराणोंसे उनका सार निकालकर कहा गया है। जो नास्तिक चुगलखोर और वेदोंका निन्दक हो, उसे इसका उपदेश नहीं देना चाहिये।

## मार्कण्डेयेश्वर आदि विविध लिंगोंकी महिमा

**महादेवजी कहते हैं**—पार्वती! तदनन्तर महर्षि मार्कण्डेयजीके द्वारा स्थापित परम उत्तम मार्कण्डेयेश्वरके समीप जाय। उनका स्थान सावित्रीसे पूर्व दिशामें थोड़ी ही दूरपर है। पूर्वकालमें महर्षि मार्कण्डेय एक विख्यात महात्मा हुए हैं। पद्मयोनि ब्रह्माजीके प्रसादसे उन्हें अजरता और अमरता प्राप्त हो चुकी है। वे प्रभासक्षेत्रमें गये और वहाँ शिवजीकी स्थापना तथा पूजा करके दक्षिण ओर स्थित हो पद्मासन लगाकर ध्यानमग्न हो गये। ध्यानमें ही उनके दस हजार अरब युग बीत गये; परंतु मुनीश्वर मार्कण्डेय नहीं जगे। इस दीर्घकालमें हवासे उड़ी हुई धूलके द्वारा धीरे-धीरे वहाँके मन्दिर, शिवलिंग और स्थान आदिका लोप हो गया। तत्पश्चात् किसी समय मुनि जब समाधिसे जगे, तब उन्होंने सारा शिवमन्दिर धूलसे आच्छादित देखा। फिर वे मिट्टी खोदकर वहाँसे बाहर निकले और वहाँ शिवकी पूजाके लिये एक बहुत बड़ा द्वार बनवाया। जो मनुष्य उसमें प्रवेश करके वहाँ भगवान् शिवका पूजन करता है, वह मेरे परम धामको प्राप्त होता है।

मार्कण्डेयेश्वरसे उत्तर दिशामें पाँच धनुषकी दूरीपर पुलस्त्येश्वरका स्थान है। उनका दर्शन और पूजन करके मनुष्य अपने सात जन्मोंका पाप नष्ट कर डालता है।

वहाँसे नैर्ऋत्यकोणमें आठ धनुषके अन्तरपर क्रत्वीश्वर शिव हैं, उनका भक्तिभावसे पूजन करना चाहिये। वे बड़े-बड़े यज्ञोंके फल देनेवाले हैं। उनका दर्शन करके मानव पुण्डरीक-यज्ञका फल पाता है। उसे सात जन्मोंतक दरिद्रता और दुःखकी प्राप्ति नहीं होती।

क्रत्वीश्वरसे पूर्व दिशामें सोलह धनुष दूर कश्यपेश्वर लिंग है, जो महापातकोंका नाश

* दर्शञ्च पौर्णमासञ्च पितुः सांवत्सरं दिनम्। पूर्वविद्धमकुर्वाणो नरकं प्रतिपद्यते॥
हानिश्च संततेः प्रोक्ता दौर्भाग्यं हि समाप्नुयात्॥

(स्क० पु०, प्र० ख० २०३। ४२-४३)

करनेवाला है। कश्यपेश्वरका दर्शन करके मनुष्य धनवान् और पुत्रवान् होता है तथा सब पातकोंसे मुक्त हो जाता है।

कश्यपेश्वरसे ईशानकोणमें आठ धनुष दूर कौशिकेश्वर शिव हैं, जो बड़े-बड़े पातकोंका नाश करनेवाले हैं। उनका दर्शन-पूजन करके मानव मनोवांछित फल पाता है।

मार्कण्डेयेश्वरसे बीस धनुष दक्षिण ओर कुमार कार्तिकेयद्वारा स्थापित लिंग है। उसके आगे एक कूप है। उसमें स्नान करके जो कुमारेश्वर शिवका पूजन करता है, वह सब पातकोंसे मुक्त होकर स्वामी कार्तिकेयजीके लोकमें जाता है।

मार्कण्डेयेश्वरसे उत्तर दिशामें पंद्रह धनुष दूर गौतमेश्वर नामक उत्तम लिंग है। उस लिंगकी विधिपूर्वक पूजा करके मनुष्य पाँच पातकोंसे छूट जाता है।

वहाँसे पश्चिम भागमें सोलह धनुषपर देवराजेश्वर लिंग है, जिसकी स्थापना देवराज इन्द्रने की है। जो मनुष्य उनकी पूजा करता है, वह सब पातकोंसे मुक्त हो जाता है। वहींपर मनुजीके द्वारा स्थापित मानवेश्वर लिंग है। जो उसकी पूजा करता है, वह पातकोंसे मुक्त होता है। सब लोक शिवमय हैं और सब कुछ शिवमें ही प्रतिष्ठित है। इसलिये जो अपना कल्याण चाहे वह भगवान् शिवके ही नामोंका जप करे। ब्रह्मा आदि सब देवता, राजा, महर्षि, मनुष्य और मुनि—ये सभी लोग शिवलिंगका पूजन करते हैं। शिवलिंगकी स्थापना करनेवाला मानव ब्रह्महत्या, बालहत्या तथा अन्य पातकोंका शिवजीके तेजसे नाश करता है।

वहाँसे दक्षिण दिशामें वृषध्वजेश्वर नामक शिव हैं। वे ही अव्यक्त अविनाशी अक्षर ब्रह्म हैं, जिससे परे कुछ भी नहीं है। उनका न आदि है, न अन्त है। वे योगिगम्य हैं। सर्वाश्चर्यमय हैं। बुद्धिसे ग्रहण करनेयोग्य तथा निरामय हैं। उनके सब ओर हाथ, पैर, नेत्र, सिर और मुख हैं। उन्हींको मृड और स्थाणु आदि नामोंसे पुकारते हैं। राजा मरुत्त, पृथु, भरत, शशविन्दु, गय, शिबि, राम, अम्बरीष, मान्धाता, दिलीप, भगीरथ, सुहोत्र, रन्तिदेव, ययाति और सगर—ये भाग्यशाली राजा प्रभासक्षेत्रमें आये और वृषध्वजेश्वरकी यज्ञोंद्वारा आराधना करके स्वर्गलोकमें चले गये। देवि! मैं सच कहता हूँ, हितकी बात कहता हूँ और बार-बार इसको दुहराता हूँ—इस विनाशशील असार संसारमें केवल शिवकी आराधना ही सार है। जिसने भगवान् शिवका दर्शन किया है, वह धन्य है।

## गौतम और प्रेतका संवाद, प्रेतोंका उद्धार तथा प्रेततीर्थकी उत्पत्ति

**महादेवजी कहते हैं**—पूर्वकालकी बात है, उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षि गौतम भृगुकच्छसे प्रभासक्षेत्रमें आये। वे परम पवित्र उत्तरायणमें श्रीसोमनाथजीका दर्शन करनेकी इच्छासे वहाँ पधारे थे। सोमेश्वरका दर्शन तथा सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नान करके गौतमजी प्रभासमें ही तीर्थभ्रमण करने लगे। घूमते-घूमते गात्रच्छेद तीर्थमें गये। उसकी सीमापर पहुँचते ही उन्हें वैष्णव वन दिखायी दिया, जो भगवान् विष्णुको बहुत ही प्रिय है। उस वनमें सौ धनुषतक फैला हुआ पुरुषोत्तम क्षेत्र है। वहाँ सीमापर पहुँचकर उन्होंने महाभयंकर विशालकाय पाँच प्रेतोंको देखा, जो बड़े-बड़े वृक्षोंपर बैठे हुए थे। उनके केश ऊपरकी ओर उठे हुए थे। उन प्रेतोंको देखकर वे भयसे थर्रा उठे। फिर भी धैर्य धारण करके देरतक कुछ सोच-विचारकर उन्होंने पूछा—'अहो! यह विकराल देह धारण करनेवाले तुमलोग कौन हो?'

**प्रेतोंने कहा**—महामना! हमलोग प्रेत हैं और इस तीर्थको श्रेष्ठ एवं पुण्यमय सुनकर बहुत दूरसे यहाँ आये हैं; परंतु हमें इसके भीतर प्रवेशकी आज्ञा नहीं मिलती। कुछ अदृश्य दूतोंने हमें मार-मारकर जर्जर कर दिया है। हममेंसे एक यह लेखक है, दूसरा रोहक है, तीसरा शीघ्रग है, चौथा सूचक है और पाँचवाँ मैं सबसे बड़ा पापी हूँ। मेरा नाम पर्युषित है।

**गौतमने पूछा**—तुमलोग तो प्रेतयोनिमें पड़े हुए हो? फिर तुम्हारे ये लेखक आदि नाम कैसे हुए?

**प्रेत बोले**—इसके पास जब कोई ब्राह्मण याचना करने आता, तब यह पृथ्वीपर कुछ लिखने लगता था। उसे 'हाँ' या 'ना' कुछ भी उत्तर नहीं देता था। इसीलिये यह लेखक नामसे सूचित हुआ है। हमारा यह दूसरा साथी किसी याचक ब्राह्मणको देखते ही भयसे महलकी छतपर चढ़ जाता था, इसीलिये इसका नाम 'रोहक' (चढ़नेवाला) हुआ। इस तीसरे पापीने राजासे बहुतेरे ब्राह्मणोंके विषयमें यह सूचना दी (चुगली खायी) कि ये तो बड़े धनाढ्य हैं। अतः इसकी सूचक नामसे ही प्रसिद्धि हुई। ये चौथे महाशय ब्राह्मणोंद्वारा याचना करनेपर प्रतिदिन भागकर शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ जाते थे, किसीको कुछ भी नहीं देते थे। अतः इन्हें 'शीघ्रग' कहा गया है। मैं ब्राह्मणोंको सदा पर्युषित (बासी) कदन्न देता था और स्वयं मिष्ठान्नोंसे ही पेट भरता था, इसलिये मैं 'पर्युषित' नामसे भूतलपर प्रसिद्ध हुआ।

**गौतमने पूछा**—संसारमें कोई भी प्राणी बिना भोजनके नहीं रहते; अतः बताओ, तुमलोग क्या आहार करते हो?

**प्रेतोंने कहा**—द्विजश्रेष्ठ! जहाँ भोजनके समय आपसमें कलह होने लगता है, वहाँ उस अन्नके रसको हम ही खाते हैं। जहाँ मनुष्य बिना लिपी-पुती धरतीपर खाते हैं, जहाँ ब्राह्मण शौचाचारसे भ्रष्ट होते हैं, वहाँ हमको भोजन मिलता है। जो पैर धोये बिना खाता है, जो दक्षिणकी ओर मुँह करके भोजन करता है अथवा जो सिरमें वस्त्र लपेटकर भोजन करता है, उसके उस अन्नको सदा प्रेत ही खाते हैं।* जहाँ रजस्वला स्त्री, चाण्डाल और सूअर श्राद्धके अन्नपर दृष्टि डाल देते हैं, वह अन्न हम प्रेतोंका ही भोजन होता है। जिस घरमें सदा जूठन पड़ा रहे, निरन्तर कलह होता रहे और बलिवैश्वदेव न किया जाता हो, वहाँ हम प्रेतलोग भोजन करते हैं।

**ब्राह्मणने पूछा**—कैसे घरोंमें तुम्हारा प्रवेश नहीं होता? यह बात मुझे सत्य-सत्य बताओ।

**प्रेत बोले**—ब्रह्मन्! जिस घरमें बलिवैश्वदेव होनेसे धुएँकी बत्ती उठती दिखायी देती है, उसमें हमारा प्रवेश नहीं होता। जिस घरमें सबेरे चौका लग जाता है तथा वेदमन्त्रोंकी ध्वनि होती रहती है, वहाँकी किसी वस्तुपर हमारा अधिकार नहीं होता।

**गौतमने पूछा**—किस कर्मके परिणामसे मनुष्य प्रेत भावको प्राप्त होता है?

**प्रेत बोले**—जो धरोहर हड़प लेते हैं, जूठे मुँह यात्रा करते हैं तथा गौओं और ब्राह्मणोंकी हत्या करनेवाले हैं, वे प्रेतयोनिको प्राप्त होते हैं। जो दूसरोंकी चुगली खानेमें लगे रहते हैं, झूठी गवाही देते और न्यायके पक्षमें नहीं रहते, वे मरनेपर प्रेत होते हैं। जो सूर्यकी ओर मुँह करके थूक, खँखार और मल-मूत्र त्याग करते हैं, वे प्रेतशरीर प्राप्त करके दीर्घकालतक उसीमें स्थित रहते हैं। गौओं, ब्राह्मणों तथा रोगियोंको जब कुछ दिया जाता हो, उस समय जो न देनेकी सलाह देते हैं, वे भी प्रेत ही होते हैं। यदि शूद्रका अन्न पेटमें रहते हुए ब्राह्मणकी मृत्यु हो जाय तो वह अत्यन्त भयंकर प्रेत होता है। विप्रवर! जो अमावास्या तिथिमें मदोन्मत्त होकर हलमें तीन बैलोंको जोतता है, वह मनुष्य प्रेत होता है। जो

* अप्रक्षालितपादस्तु यो भुङ्क्ते दक्षिणामुखः। यो वेष्टितशिरा भुङ्क्ते प्रेता भुञ्जन्ति नित्यशः॥ (स्क० पु०, प्र० ख० २१६। ४१)

विश्वासघाती, ब्रह्महत्यारा, स्त्री-वध करनेवाला, गोघाती, गुरुघाती और पितृहत्या करनेवाला है, वह मनुष्य भी प्रेत होता है। मरनेपर जिसके लिये सोलह एकोद्दिष्ट नहीं किये गये हैं, उसको भी प्रेतयोनिकी प्राप्ति होती है।

**गौतमने पूछा**—किस कर्मके परिणामसे मनुष्य प्रेतयोनिमें नहीं पड़ता, वह सब मुझसे कहो।

**प्रेतोंने कहा**—जो तीर्थयात्रामें तत्पर, देवपूजा-परायण तथा सदा ब्राह्मण-भक्त रहता है, वह प्रेत नहीं होता। जो प्रतिदिन शास्त्र सुनता, नित्य पण्डितोंकी सेवा करता और वृद्ध पुरुषोंसे अपना सन्देह पूछता है, वह प्रेत नहीं होता। जो पवित्र गयातीर्थमें जाकर श्राद्ध करता है, उसके वंशमें कोई प्रेत नहीं होता। इसीलिये हम बड़ी दूरसे यहाँ शीघ्रतापूर्वक आये हैं, परंतु इस पुण्यक्षेत्रमें प्रवेश नहीं कर पाते। इस प्रेतशरीरसे हमारा मन खिन्न हो गया है। अतः महाभाग! आप ही प्रयत्नपूर्वक हमलोगोंके आश्रय होइये।

**गौतमने पूछा**—तुम्हारा उद्धार किस प्रकार होगा?

**प्रेत बोले**—प्रभो! आप वैष्णव-क्षेत्रमें जाकर हमारे नाम और गोत्रका उच्चारण करके श्राद्ध कीजिये। इससे हमारी मुक्ति हो जायगी।

यह सुनकर दयार्द्र गौतमने वैष्णव-क्षेत्रमें जाकर उन सबोंके लिये पृथक्-पृथक् श्राद्ध किया। वे जिस-जिसका श्राद्ध करते थे, वह-वह रात्रिको स्वप्नमें आकर दर्शन देता और कहता—'विप्रवर! आपके प्रसादसे मैं प्रेतयोनिसे मुक्त हो गया। आपका कल्याण हो, अब मैं जाता हूँ। मेरे लिये विमान उपस्थित हुआ है।' यों कहकर प्रत्येक प्रेत चल देता था। इस प्रकार उन्होंने चार प्रेतोंका तो उद्धार कर दिया। पाँचवें दिन उन्होंने पर्युषितके लिये विधिपूर्वक श्राद्ध किया। तदनन्तर रातको स्वप्नमें उन्हें पर्युषित दिखायी दिया, जो लंबी-लंबी साँसें खींचता हुआ दीनतापूर्ण वाणीमें बोल रहा था—'विप्रवर! मुझ भाग्यहीन पापीका उद्धार नहीं हुआ। मेरे द्वारा यही सबसे बड़ा पाप हुआ कि मैंने धन बढ़ाया।'

**गौतमने पूछा**—प्रेत! तुम्हारा उद्धार अब किस प्रकार होगा? अब शीघ्र बताओ।

**पर्युषित बोला**—ब्रह्मन्! आप मेरा पुनः श्राद्ध कीजिये।

उसके यों कहनेपर गौतमने उसके लिये उत्तरायणमें पुनः श्राद्ध किया। तदनन्तर रातको स्वप्नमें उसने आकर दर्शन दिया और कहा—'विप्रवर! मैं आपके प्रसादसे प्रेत-योनिसे छूट गया। आपका कल्याण हो, मैं जाता हूँ। मुझे देवत्व प्राप्त हुआ है, अतः मुझमें वर देनेकी शक्ति आ गयी है; इसलिये मुझसे कोई शुभ वर ग्रहण कीजिये। क्योंकि ब्रह्महत्यारे, शराबी, चोर तथा व्रतभंग करनेवाले पुरुषोंके लिये साधु पुरुषोंने प्रायश्चित्त बताया है; किंतु कृतघ्नके लिये कोई भी प्रायश्चित्त नहीं बतलाया गया है।'

**गौतमने कहा**—यदि तुम मुझे वर देनेमें समर्थ हो तो जिस स्थानमें मैंने तुम सब प्रेतोंको देखा है, वहाँ मैं आश्रम बनाकर तपस्या करूँगा। वहाँ जो मनुष्य भक्तिपूर्वक स्नान और देवताओंका तर्पण करके पितरोंके उद्देश्यसे विधिवत् श्राद्ध करे, वह आपके प्रसादसे कभी प्रेत-योनिमें न आये। उसके वंशमें भी कभी कोई प्रेत न हो।

**पर्युषित बोला**—विप्रवर! तुम वहाँ जाकर आश्रम बनाओ। इससे तुम्हें उत्तम सिद्धि प्राप्त होगी। जो मानव श्रद्धा-भक्तिसे यहाँ श्राद्ध करेंगे, वे पितरोंसहित विमानमें बैठकर स्वर्गको जायँगे। उनमेंसे कोई प्रेत नहीं होगा। स्थिरबुद्धिवाले विद्वानोंने मैत्रीको सात पदवाली बताया है। तुम्हारा यह पवित्र आश्रम सब पापोंका नाशक और समस्त दुःखोंका निवारक होगा। यह स्थान मेरे नामपर प्रेततीर्थ कहलाये।

**'एवमस्तु'** कहकर गौतमजी चले गये। तदनन्तर वेदोक्त मार्गसे उन्होंने सब कार्य सम्पन्न किया।

# नरकेश्वरका माहात्म्य

**महादेवजी कहते हैं**—पार्वती! इन्द्रेश्वरसे उत्तर दिशामें समस्त पापोंका नाश करनेवाले नरकेश्वरदेव विराजमान हैं। प्राचीन कालकी बात है, भूतलमें विख्यात मथुरा नामकी नगरीमें देवशर्मा नामक एक विद्वान् ब्राह्मण रहता था, जो अगस्त्यगोत्रमें उत्पन्न तथा दरिद्रतासे पीड़ित था। उस नगरमें उसी रूप और अवस्थासे युक्त एक दूसरा भी वेदज्ञ ब्राह्मण था, जो उसी गोत्रमें उत्पन्न हुआ था। नाम भी उसका वही था। किसी समय यमराजने अपने दूतसे कहा—'तुम मथुरापुरीको जाओ और देवशर्माको ले आओ।' दूत गया और नामकी समानतासे उस दारिद्र्य-पीड़ित देवशर्माको ले आया। उसे देखकर यमराजने कहा—'विप्रवर! आप शीघ्र लौट जाइये। दूत नामकी समानतासे तुम्हें ले आया है।' ब्राह्मण बोले—'भगवन्! मैं घर नहीं लौटूँगा। जीवनभरकी दरिद्रतासे वहाँ भी मैं तंग आ गया था। अब जो शेष आयु है, उसे यहाँ आपके समीप ही बिता दूँगा।'

**यमराज बोले**—ब्रह्मन्! यहाँ कोई असमयमें नहीं आता और समय पूरा होनेपर कोई पृथ्वीपर क्षणभर भी जीवित नहीं रहता। पृथ्वीपर न कोई मेरा मित्र है न शत्रु। यदि उसका समय पूरा नहीं हुआ है तो सैकड़ों बाणोंसे घायल होनेपर भी मनुष्यकी मृत्यु नहीं होती और आयु पूर्ण हो जानेपर कुशाग्रसे बिंधनेपर भी वह जीवित नहीं रहता। अतः द्विजश्रेष्ठ! जबतक तुम्हारा शरीर जला न दिया जाय, तबतक लौट जाओ।

**ब्राह्मणने कहा**—देव! साधु पुरुषोंका, विशेषतः आपका दर्शन कभी व्यर्थ नहीं जाता। अतः मैं पूछता हूँ कि ये जो अत्यन्त भयंकर नरक दिखायी देते हैं, इनमें किस कर्मसे मनुष्यको जाना पड़ता है? इन नरकोंकी कितनी संख्याएँ हैं?

**यमराजने कहा**—विप्रवर! मेरे लोकमें बहुत-से नरक हैं। इनमेंसे कुछ प्रधान हैं और कुछ उन्हींकी शाखाएँ हैं। जिनको तुम मेरे सेवकोंद्वारा यन्त्रमें पीड़ित देख रहे हो, ये पापी और कृतघ्न हैं। इन्होंने आसक्त होकर परायी स्त्रियोंपर कुदृष्टि डाली है और जिन्हें तुम कुम्भीपाकमें डाला हुआ देखते हो, ये सब झूठी गवाही देनेवाले और घूसखोर हैं। ये जो लोहेके तपाये हुए खम्भोंका आलिंगन कर रहे हैं, इन दुरात्माओंने परायी स्त्रियोंके साथ रमण किया है। जो दुष्ट गोघाती तथा देवताओं और ब्राह्मणोंके निन्दक रहे हैं, वे ही ये कुठारसे काटे जाते हैं। जिन्हें सियार, भेड़िये और लोहमुख जन्तु खा रहे हैं तथा ये जो भूखसे पीड़ित होकर अपना ही मांस खाते हैं, इन्होंने कभी अन्न-दान नहीं किया है। जो लोग सदा गौओं और ब्राह्मणोंके विनाशके लिये यत्नशील रहे हैं, वे ही ये रक्त, पीब और चर्बी भक्षण कर रहे हैं। इसी प्रकार विविध पापोंका फल भोग करानेके लिये भिन्न-भिन्न नरक हैं। जो प्रभासक्षेत्रमें जाकर नरकेश्वर शिवका दर्शन करता है, उसे कभी नरक नहीं देखना पड़ता। नरकेश्वरकी स्थापना स्वयं मैंने ही की है।

यह सुनकर वह ब्राह्मण अपने घरको लौट गया और धर्मराजके वचनका स्मरण करके प्रभासक्षेत्रमें जा जीवनभर नरकेश्वरकी आराधनामें संलग्न हो उत्तम सिद्धिको प्राप्त हुआ। इसलिये सर्वथा प्रयत्न करके भक्तिपूर्वक नरकेश्वरका दर्शन करना चाहिये। अतिपातकोंसे युक्त मनुष्य भी उनके दर्शनसे नरकमें नहीं पड़ता। आश्विनकृष्णा चतुर्दशीको जो वहाँ विधिपूर्वक श्राद्ध करता है, वह अश्वमेध यज्ञका फल पाता है।

# संवर्तेश्वर, बलभद्रेश्वर, दशाश्वमेधिक तीर्थ, शतमेधादि लिंग तथा दुर्वासादित्यका माहात्म्य

**महादेवजी कहते हैं**—पार्वती! इन्द्रेश्वरसे पश्चिम और अर्कस्थलसे पूर्व संवर्तेश्वर लिंग है। पुष्करिणीके जलमें स्नान करके उनका दर्शन करनेसे मनुष्य दस अश्वमेध यज्ञोंका फल पाता है। उसके पूर्वभागमें और पापमोचन तीर्थसे नैर्ऋत्यकोणमें मेघेश्वर नामसे विख्यात शिवलिंग है, जो सब पातकोंका नाश करनेवाला है। अनावृष्टिका भय होनेपर वहीं वारुणी शान्ति करानी चाहिये तथा वहाँकी पृथ्वीको जलमें डुबाये। जहाँ प्रतिदिन मेघोंद्वारा स्थापित मेघेश्वर लिंगका पूजन होता है, वहाँ अनावृष्टिका भय नहीं होता।

गात्रोत्सर्ग तीर्थसे उत्तर बलभद्रजीके द्वारा स्थापित महापापहारी शिवलिंग है। जो मानव तृतीया और रेवती नक्षत्रके योगमें भक्तिभावसे चन्दन, पुष्प आदि उपचारोंद्वारा बलभद्रेश्वर लिंगका पूजन करता है, वह योगीश्वरका पद पाता है।

प्राचीन कालमें राजा भरतने पुण्यमय प्रभासक्षेत्रमें आकर परम उत्तम दस अश्वमेध-यज्ञोंका अनुष्ठान किया था। उसमें सोमपान करके सहस्र नेत्रोंवाले इन्द्र पूर्ण तृप्त हुए थे। अन्न और पानसे दीनजन तथा दक्षिणासे ब्राह्मणलोग तृप्त हुए थे। तदनन्तर सब देवता प्रसन्न होकर राजा भरतसे बोले—'महाबाहो! तुम कोई मनोवांछित वर माँगो।'

**राजा बोले**—जो मनुष्य यहाँ आकर भक्तिपूर्वक स्नान करे, उसे दस अश्वमेध यज्ञोंका फल प्राप्त हो।

**देवताओंने कहा**—राजन्! भूतलपर यह स्थान दशाश्वमेधिक नामसे विख्यात होगा।

**महादेवजी कहते हैं**—पार्वती! तबसे सब पापोंका नाश करनेवाला वह तीर्थ पृथ्वीपर दशाश्वमेधिक नामसे विख्यात हुआ। ऐन्द्रवारुण स्थानसे लेकर गोमुखतक और गोमुखसे आश्वमेधिक तीर्थतक विद्वानोंने शिवक्षेत्र बताया है। वहाँ मृत्युको प्राप्त होनेपर मनुष्य शिवलोकमें आनन्दित होता है।

वहीं शतमेध, सहस्रमेध और कोटिमेध नामके क्रमशः तीन लिंग हैं। दक्षिण दिशामें शतमेध लिंग है, जो सौ यज्ञोंका फल देनेवाला है। प्राचीन कालमें कार्तवीर्यने वहीं शिवलिंगकी स्थापना करके सौ यज्ञोंका अनुष्ठान किया था। मध्यमें जो कोटिमेध लिंग है, वहाँ साक्षात् ब्रह्माजीने ही महालिंगकी स्थापना करके एक करोड़ यज्ञ किये थे। उसके उत्तर भागमें सहस्रमेध लिंग है, जिसकी स्थापना करके देवराज इन्द्रने सहस्र यज्ञोंका अनुष्ठान किया था। जो पंचामृत रस, जल, गन्ध और पुष्प आदिद्वारा विधिसे उस लिंगत्रयकी पूजा करता है, वह उन तीनों शिवलिंगोंके नामवाले यज्ञोंका फल पाता है।

वहीं दुर्वासादित्यका स्थान है, जहाँ मुनिवर दुर्वासाने हजार वर्षोंतक तप किया और निराहार रहकर सूर्यनारायणकी आराधना की थी। तब भगवान् सूर्यने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन देकर कहा—'सुव्रत! वर माँगो।' दुर्वासाजी बोले—'भगवन्! यहाँ मेरे द्वारा आपकी जो सुन्दर प्रतिमा स्थापित की गयी है, उसमें आप तबतक निवास करें, जबतक यह पृथ्वी स्थिर है। आपकी पुत्री यमुनाजी भी यहाँ रहें और आपके महाबली पुत्र धर्मराजजी भी यहाँ निवास करें।'

**सूर्यदेवने कहा**—महामुने! तुमने जो कुछ माँगा है, वह तो होगा ही; उसके सिवा गंगा आदि कोटि तीर्थोंका और भी यहाँ निवास होगा। देवताओंसहित मैं सदा यहाँ स्थित रहूँगा। दुर्वासादित्यका दर्शन करनेसे यहाँ सब प्राणी कोटि यज्ञोंका फल पायेंगे।

यों कहकर भगवान् सूर्यने अपनी कन्या और पुत्रका स्मरण किया। यमुनाजी पाताल फोड़कर

वहाँ प्रकट हुईं तथा कालदण्डधारी यमराज भी भगवान् सूर्यके निकट उपस्थित हुए।

**सूर्यदेव बोले**—धर्म! तुम और यमुना कोटि तीर्थोंके साथ यहाँ निवास करो। तुम्हें यहाँ रहकर पापी प्राणियोंकी भी यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये।

यों कहकर श्रीसूर्यदेव अन्तर्धान हो गये। दुर्वासाजीने अपने आश्रमकी ओर दृष्टिपात किया तो देखा, वहाँ पातालसे यमुना प्रकट हो गयीं और उस क्षेत्रमें साक्षात् यमराज भी स्वरूप धारण करके दृष्टिगोचर हुए। आदित्यसे दक्षिण और दुन्दुभिसे पूर्वभागमें यमुनाकुण्ड है। दुन्दुभि वहाँके क्षेत्रपाल हैं, जिनका शब्द दुन्दुभि-ध्वनिके समान होता है। वैशाखमासमें उस कुण्डमें स्नान करके मनुष्य भक्तिभावसे दुर्वासादित्यकी पूजा करे। जो उस महाकुण्डमें स्नान करके पितरोंका तर्पण करता है, उसके पितर दस वर्षतक तृप्त रहते हैं। वहाँ पिण्ड देनेसे पितरोंकी एक सौ आठ पीढ़ियाँ पुष्ट होती हैं, साथ ही नरकमें गिरे हुए पितरोंका तत्काल उद्धार हो जाता है। माघमासके शुक्लपक्षमें सप्तमी तिथिको जो मानव अपने मनको संयममें रखते हुए दुर्वासादित्यकी पूजा करता है, वह ब्रह्महत्यासे छूट जाता है। जो वहाँ दुर्वासादित्यके समीप सहस्र नामोंका पाठ करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। दुर्वासादित्यका दर्शन सब बालकोंपर लगे हुए ग्रहों और राक्षसोंका निवारण तथा महान् पापपुंजोंका शमन करनेवाला है। जो वहाँ क्षेत्रपाल दुन्दुभिका पूजन करता है, वह पशु-सम्पत्ति, पुत्र, बुद्धि तथा लक्ष्मीसे सम्पन्न होता है। सूर्यदेवका वह क्षेत्र एक कोसतक फैला हुआ है। जो सूर्यदेवके प्रति भक्तिभावसे रहित है, उसे उस क्षेत्रमें नहीं प्रवेश करना चाहिये।

## नागरादित्य, पिंगा नदी, संगमेश्वर तथा गंगेश्वरकी महिमा

**महादेवजी कहते हैं**—समस्त यादवोंका संहार हो जानेपर केवल वज्र शेष रह गये थे। वे अपनी आयुके शेष भागमें अपने पुत्र महद्बलक यादवोंके राज्यपर अभिषिक्त करके प्रभासक्षेत्रमें आये। यहाँ उन्होंने एक शिवलिंग स्थापित किया, जो व्रजेश्वर नामसे प्रसिद्ध हुआ। राजा वज्रने नारदजीके उपदेशसे दीर्घकालतक पापनाशक प्रभासक्षेत्रमें तपस्या की और परम सिद्धिको प्राप्त किया। जो मनुष्य जाम्बवतीके जलमें स्नान करके व्रजेश्वरकी पूजा करता और वहाँ यादवस्थलके समीप ब्राह्मणोंको भोजन कराता है, वह सहस्र गोदानोंका फल पाता है।

हिरण्याके समीप नागरादित्यका स्थान है। नागरादित्य सब पापोंका नाश करनेवाले हैं। द्वारकामें निघ्नके पुत्र सत्राजित् हो गये हैं। उन्होंने यहाँ भगवान् सूर्यकी आराधना की और भगवान्ने संतुष्ट होकर उन्हें स्यमन्तकमणि प्रदान की, जो प्रतिदिन आठ भार सोना देती थी। उसे देकर भगवान् भानुने पुनः सत्राजित्को वर माँगनेके लिये प्रेरित किया। तब सत्राजित्ने कहा—'प्रभो! आप इस पुण्य आश्रममें सदा निवास करें।' 'एवमस्तु' कहकर सूर्यदेव अन्तर्धान हो गये। सत्राजित्ने वहाँ सूर्यदेवकी दिव्य प्रतिमा स्थापित की और प्रभास नगरके ब्राह्मणोंको वृत्ति देकर उन्हें सेवा-पूजाका भार समर्पित किया। अतः नागर ब्राह्मणोंके नामपर ही उसका नाम नागरादित्य हुआ। जो हिरण्या नदीके जलमें स्नान करके नागरादित्यका पूजन करता है, वह सूर्यलोकमें पूजित होता है। जब शुक्लपक्षकी सप्तमीको सूर्यकी संक्रान्ति हो, तब उसे महाजया सप्तमी कहते हैं। उसमें किये हुए स्नान, दान, जप, होम तथा देवताओं और पितरोंका पूजन—ये सभी कोटिगुना फल देनेवाले होते हैं। जो उस समय नागरादित्यके समीप एक ब्राह्मणको भोजन

कराता है, उसे एक करोड़ ब्राह्मण-भोजन करानेका फल होता है। विकर्तन, विवस्वान्, मार्तण्ड, भास्कर, रवि, लोकप्रकाशक, श्रीमान्, लोकचक्षु, ग्रहेश्वर, लोकसाक्षी, त्रिलोकेश, कर्ता, हर्ता, तमिस्रहा (अन्धकार-नाशक), तपन, तापन, शुचि, सप्ताश्ववाहन, गभस्तिहस्त (किरणरूप हाथवाले), ब्रह्मा तथा सर्वदेवनमस्कृत—यह इक्कीस नामोंवाला नागरादित्यका स्तोत्र है। इसे स्तवराज कहते हैं। यह शरीरको आरोग्य तथा पुष्टि प्रदान करनेवाला है। महादेवि! जो दोनों सन्ध्याओंके समय इस स्तोत्रसे नागरादित्यकी स्तुति करता है, वह मनोवांछित फल पाता है।

ऋषितीर्थसे पश्चिम पातकोंका नाश करनेवाली पिंगा नदी है, जो समुद्रमें मिली है। उसके जलका स्पर्श करनेसे मनुष्य रूपवान् होता है। एक समय दक्षिण भारतके रहनेवाले कुछ महर्षि सोमनाथजीका दर्शन करनेकी इच्छासे प्रभासक्षेत्रमें आये और एक नदीके किनारे ठहर गये। वे काले रंगके और कुरूप थे, किंतु वहाँ स्नान आदि करनेसे कामदेवके समान रूपवान् हो गये। तब उन सबने आश्चर्यचकित होकर कहा—'इसमें स्नान करके हम सब लोग पिंगल (गौरवर्ण) को प्राप्त हुए हैं, इसलिये आजसे इसका नाम पिंगा होगा। जो लोग भक्तिपूर्वक इसमें स्नान करेंगे, उनके वंशमें कोई कुरूप न होगा। पिंगाके दर्शनसे मनुष्यको पितृमेध यज्ञका फल प्राप्त होगा। यहाँ स्नान करनेसे दूना और तर्पणसे चौगुना पुण्य होगा। जो यहाँ श्राद्ध करेगा, उसे असंख्य फलकी प्राप्ति होगी।'

पूर्वकालमें उद्दालक नामके एक महातपस्वी महर्षि प्रभासक्षेत्रमें रहते थे। उन्होंने सरस्वती-पिंगा-संगमके समीपकी भूमिपर बड़ी भारी तपस्या की। उनकी भक्तिके प्रभावसे उनके आगे ही एक शिवलिंग प्रकट हुआ और आकाशवाणी हुई—'महाबाहु उद्दालक! मेरी बात सुनो, आजसे इस शिवलिंगमें मेरा नित्य निवास होगा। यह संगमपर प्रकट हुआ है, इसलिये इसका नाम संगमेश्वर होगा। इस लोकप्रसिद्ध संगममें स्नान करके जो मनुष्य संगमेश्वरका दर्शन करेगा, वह उत्तम गतिको प्राप्त होगा।'

इस आकाशवाणीको सुनकर महर्षि उद्दालक दिन-रात आलस्य छोड़कर संगमेश्वरकी आराधना करने लगे। तदनन्तर देहत्यागके पश्चात् वे मेरे महेश्वरधामको चले गये।

संगमेश्वरसे पश्चिम त्रिभुवनविख्यात गंगेश्वर लिंग है। भगवान् श्रीकृष्णने परम धाम पधारते समय स्नान करनेके लिये वहाँ गंगाजीका आवाहन किया। गंगाने शिवभक्तिपरायण होकर वहाँ शिवलिंग स्थापित किया। गंगेश्वरका दर्शन करनेसे गंगास्नानका फल होता है।

## नन्दादित्य, पर्णादित्य, गंगेश्वर, सूर्यप्राची, त्रिलोचनलिंग, देविका, उमापतीश्वर, भूधरवराह तथा मूलस्थानगत सूर्यकी महिमा, वाल्मीकिजीकी पूर्वकथा

**महादेवजी कहते हैं**—तदनन्तर एकाग्रचित्त होकर नन्दादित्यका दर्शन करनेके लिये जाय। पूर्वकालमें नन्द नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो चुके हैं, जो सब लोगोंको सुख देनेवाले थे। उन धर्मज्ञ नरेशके शासनकालमें दुर्भिक्ष, रोग, व्याधि, अकालमृत्यु तथा अनावृष्टिका भय किसीको नहीं था। कुछ कालके अनन्तर पूर्वकर्मोंके फलसे राजाका शरीर बड़े भारी कुष्ठरोगसे व्याप्त हो गया। इससे उन्हें बड़ा वैराग्य हुआ और उन्होंने प्रभासमें नदीके तटपर देवाधिदेव भगवान् सूर्यकी स्थापना की। इससे वे रोगसे मुक्त हो गये। वहाँ स्नान और श्राद्ध-तर्पण करके नन्दादित्यका दर्शन

करनेवाला मनुष्य फिर मर्त्यलोकमें जन्म नहीं लेता—मुक्त हो जाता है।

पार्वती! प्राची सरस्वतीके तटपर भगवान् पर्णादित्यका स्थान है। प्राचीन कालके त्रेतायुगकी बात है, पर्णाद नामके एक ब्राह्मणने प्रभासक्षेत्रमें आकर बड़ी कठोर तपस्या की। उन्होंने अत्यन्त भक्तिभावसे भगवान् सूर्यका आराधन तथा वेदोक्त स्तुतियोंद्वारा स्तवन किया। तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् प्रसन्न होकर भगवान् सूर्यने कहा—'सुव्रत! मैं इस तपस्यासे बहुत प्रसन्न हूँ। तुम कोई मनोवांछित वर माँगो।'

**ब्राह्मणने कहा**—भगवन्! आप प्रसन्न हो गये, यही मेरे लिये सबसे बड़ा वर और अभीष्ट मनोरथ है। देवेश्वर! आपका दर्शन तो स्वप्नमें भी दुर्लभ है; तथापि यदि मुझे वर देना ही है तो मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप सदा इस स्थानपर निवास करें।

'**एवमस्तु**' कहकर भगवान् सूर्य अन्तर्धान हो गये। पर्णादके द्वारा स्थापित होनेके कारण वे पर्णादित्य कहलाये। पर्णाद जीवनभर उनकी आराधनामें लगे रहे। अन्तमें उन्हें सूर्यलोककी प्राप्ति हुई। जो भाद्रपदमासकी षष्ठीको वहाँ स्नान और पर्णादित्यका दर्शन करता है, वह कभी कोई कष्ट नहीं पाता।

गंगापथ नामक स्थानमें महान् स्रोतवाली गंगाजी और गंगेश्वर शिव हैं। जो वहाँ स्नान करके गंगेश्वरकी पूजा करता है, वह भयंकर पातकोंसे मुक्त हो जाता है। जो मनुष्य वैशाखकी पूर्णिमाको सरस्वती नदीमें स्नान करके वहीं चमसोद्भेद तीर्थमें पिण्डदान देता है, उसे गयासे कोटिगुना पुण्य प्राप्त होता है।

तदनन्तर सब पापोंका नाश करनेवाली तथा सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाली सूर्यप्राचीकी यात्रा करे। वहाँ स्नान करके मनुष्य पाँच महापातकोंसे मुक्त हो जाता है।

ऋषितीर्थके समीप न्यंकुमती नदीके उत्तर तटपर ऋषियोंद्वारा पूजित त्रिलोचन लिंग है, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है। जो भाद्रपद कृष्ण चतुर्दशीको वहाँ उपवास, रातमें जागरण तथा प्रातःकाल श्राद्ध एवं विधिवत् शिवकी पूजा करता है, वह शिवलोकमें निवास करता है।

ऋषितीर्थके समीप देविका नामक उत्तम क्षेत्र है, जो इच्छानुसार फल देनेवाला है। वहीं ऋषियों और सिद्धोंसे घिरा हुआ महासिद्ध वन है, जो भाँति-भाँतिके वृक्षों और लताओंसे व्याप्त तथा पर्वतोंसे सुशोभित है।

देविकाके उत्तर तटपर मैं उमापतीश्वर नामसे निवास करता हूँ। वह क्षेत्र मुझे बहुत प्रिय है। पार्वती! वहाँ मेरा विग्रह उमा नामके तुम्हारे विग्रहसे संयुक्त है; इसलिये उमापति नामसे मेरी प्रसिद्धि हुई है। जो पौषमासकी अमावास्याको वहाँ श्राद्ध करता है, उसका वह श्राद्ध अक्षय होता है। बुद्धिमान् मनुष्य वहाँ गौ, भूमि, सुवर्ण तथा वस्त्रका दान करे। सब देवताओंने उस श्रेष्ठ नदीका आवाहन किया है, इस कारण वह पापनाशिनी देविका कही गयी है।

वहीं भगवान् भूधर (वाराह)-का दर्शन करना चाहिये। चारों वेद ही उनके चारों पैर हैं। यूप उनकी दाढ़ हैं। क्रतु उनके दाँत हैं। स्रुवा मुख है। अग्नि जिह्वा है। कुश रोम हैं। ब्रह्म मस्तक हैं। दिन और रात उनके नेत्र हैं। वेदांग कानोंके आभूषण हैं। इस प्रकार यज्ञमय वाराह भगवान् उस स्थानपर स्थित हैं। आश्विनमासकी अमावास्या तथा एकादशीको जब सूर्य कन्याराशिपर स्थित हों, गुड़युक्त पायस एवं गुड़युक्त हविष्य लेकर '**नमो वः पितरो रसाय**' इत्यादि मन्त्रसे उसको तथा अन्य भोजन-सामग्रीको अभिमन्त्रित करे। '**तेजोऽसि शुक्रम्**' इत्यादि मन्त्रसे घी और '**दधिक्राव्णो**' इत्यादि मन्त्रसे दही अभिमन्त्रित करे। '**आप्यायस्व**' इत्यादि मन्त्रके द्वारा दूध अभिमन्त्रित करके जितने व्यंजन और भक्ष्य-भोज्य पदार्थ हैं, उन सबको '**महान् इन्द्रेण**' इत्यादि मन्त्रके द्वारा अर्पण करे। '**संवत्सर**' इत्यादि मन्त्रके द्वारा जल अर्पण करे। इस प्रकार ब्राह्मण-भोजन कराकर वहाँ पिण्डदान देना चाहिये।

प्राचीन कालमें शमीमुख नामक एक ब्राह्मण

था। उसके विशाख नामका एक पुत्र हुआ, जो बड़े भयंकर कर्म करनेवाला था। उसने एकमात्र माता-पिताकी सेवाको छोड़कर और कोई सत्कर्म कभी नहीं किया था। तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् उसके माता-पिता बहुत वृद्ध हो गये और मृत्युके निकट पहुँचे। वे रोग आदिसे अत्यन्त व्याकुल थे। विशाख प्रतिदिन जंगलमें जाता और अपनी शक्तिका प्रयोग करके दूसरोंका धन लूट लाता। उसी धनसे वह अपने माता-पिता और पत्नीका पोषण करता था। एक समय उसी मार्गसे तीर्थयात्रापरायण सप्तर्षि जा रहे थे। उन्हें देखकर विशाखने डंडा उठाया और कठोर वचनोंद्वारा उन्हें घुड़कते हुए कहा—'ठहरो, ठहरो।' वे मुनि परम शान्त थे। ढेला, पत्थर और स्वर्णको समान समझते थे। शत्रु तथा मित्रके प्रति भी उनके मनमें समान भाव था और राग-द्वेषसे वे सर्वथा शून्य थे। उन्होंने आपसमें कहा—'हमलोगोंके साथ जो इसका दर्शन और सम्भाषण हुआ है, वह व्यर्थ न जाय—इसलिये इससे वार्तालाप करना चाहिये।'

**ऐसा निश्चय करके अंगिराने कहा**—तस्कर! थोड़ी देरतक सावधान होकर मेरी बात सुनो। मैं तुम्हारे हितके लिये ही सच्ची बात कह रहा हूँ। पहले यह बताओ कि तुम्हारे घरमें किस गोत्रके कौन-कौन लोग रहते हैं?

**तस्कर बोला**—मुने! मेरे घरमें बूढ़े माता-पिता और मेरी सन्तानहीन पत्नी है और एक मैं हूँ। पाँचवाँ कोई नहीं है।

**अंगिराने कहा**—तुम पापसे जो धन कमाते हो, उससे उन सबकी पुष्टि हो रही है। अतः घर जाकर उन सबसे पूछो कि 'मैं पाप करता हूँ और सब लोग उस पापकी कमाई खाते हैं; अतः वह पाप किसको लगेगा? और मेरा पाप कैसे शीघ्र छूटेगा?'

मुनिके यों कहनेपर विशाख तुरंत अपने घर चला गया और मुनिकी कही हुई बातें अपने माता-पितासे उसने पूछीं। उसकी बात सुनकर माता-पिता बोले—'बेटा! एक मनुष्य पाप करता है और उस पापकी कमाईको बहुत-से लोग भोगते हैं। भोगनेवाले तो छूट जाते हैं और कर्ता उस पापदोषसे लिप्त होता है। जो मन्दबुद्धि मानव कुटुम्बके लिये अशुभ कर्म करता है, उस पापीको निश्चय ही अपना आत्मा प्रिय नहीं है।'

माता-पिताकी बात सुनकर उसे मन-ही-मन कुछ भय हुआ और उसने निकट जाकर पिता-मातासे कहा—'मैं आपलोगोंके लिये ही पाप करता हूँ, अतः आप उसके किसी अंशका भोग करेंगे या नहीं?'

**पिता-माता बोले**—बेटा! जब हम पहली अवस्थामें थे, तब तुम हमारे द्वारा पालन करने योग्य थे और अब इस वृद्धावस्थामें तुमको ही हमारा पालन करना चाहिये। ब्रह्माजीने यही पिता-पुत्रका पारस्परिक धर्म बतलाया है। हमने तुम्हारे लिये जो शुभाशुभ कर्म किया है, उसको हम भोगेंगे और अब तुम जो शुभ या अशुभ कर्म करते हो, उसका भोग तुम्हींको करना पड़ेगा। अतः विद्वान् पुरुषको सदा शुभ कर्म ही करने चाहिये। चोरी, खेती, व्याज, व्यापार अथवा नौकरी—कुछ भी करके तुम हमें प्रतिदिन भोजन देते हो। उसका दोष हमको नहीं लगता।

माता-पिताकी बात सुनकर विशाखने पत्नीसे भी वही बात पूछी। उसने भी वही उत्तर दिया, जो माता-पिताने दिया था। इससे विशाखको बड़ा वैराग्य प्राप्त हुआ। वह बार-बार अपनी निन्दा करता हुआ बहुत दुःखी हुआ और बोला—'मुझ पापकर्मपरायण दुष्कर्मीको धिक्कार है। जो विवेकसे शून्य और सत्संगसे रहित है, जो विद्वान् पुरुषोंकी सेवा नहीं करता, वही पाप करता है। उस पापीको अपना आत्मा प्रिय नहीं है।'

इस प्रकार सोच-विचार करता हुआ वह ऋषिके समीप आया और मधुर वाणीमें आदरपूर्वक कहा—'मुने! अब आप पधारिये। यह अपना कुशासन और कमण्डलु लीजिये। ये हैं आपके वल्कल, चीर और मृगचर्म। ये सब लेकर मेरा अपराध क्षमा कीजिये। मैं दीन हूँ, कृपण हूँ तथा सत्संगसे वंचित एवं मूर्ख हूँ। मुझे क्षमा कीजिये।

आजसे मैं इस साधुनिन्दित, क्रूर एवं भयंकर कर्मसे निवृत्त हो गया। अब मुझे इस पापकर्मका कोई प्रायश्चित्त बताइये, जिससे आपकी कृपासे मैं पापसे मुक्त होऊँ।'

**ऋषियोंने कहा**—वत्स! तुमने बहुत अच्छी बात पूछी है। एकाग्रचित्त होकर सुनो। मैं तुम्हें गोपनीय बात बतलाऊँगा, उसे किसीके सामने कहना नहीं चाहिये। उसके जपसे तुम अवश्य पापमुक्त हो जाओगे। यह चार अक्षरवाला मन्त्र तुम उच्च स्वरसे जपते रहो, यह मनुष्योंके सब पापोंको हरनेवाला तथा स्वर्ग और मोक्ष देनेवाला है।

उनके यों कहनेपर विशाख प्रतिदिन उस मन्त्रका जप करने लगा और वे मुनि वहाँसे चले गये। विशाख गुरुभक्त था। देविकाके उत्तम तटपर उस मन्त्रका जप करते हुए उसे समाधि लग गयी। उसकी भूख-प्यास नष्ट हो गयी और शरीर शुद्ध हो गया। मन्त्र, तीर्थ, द्विज, देवता, दैवज्ञ, दवा और गुरु—इनमें जैसी जिसकी भावना होती है, उसको वैसी सिद्धि प्राप्त होती है। यह जीवात्मा स्वभावसे ही निर्मल परमात्माका स्वरूप है, उपाधिके संगसे विकारको प्राप्त होता है—जैसे स्फटिकमणि स्वरूपतः स्वच्छ है किंतु उपाधिवश उसमें भी भिन्न रंगोंकी प्रतीति होती है—जिस प्रकार भ्रमरी स्वयं तो वन्ध्या होती है, परंतु कहींसे छोटा-सा जीव-जन्तु पाकर उसे अपने स्थानपर ले आती है और ध्यानमग्न होकर अपने शिशुरूपसे उसका चिन्तन करती है, जिसके कारण उसीका ध्यान करके बढ़नेवाला वह जीव भी वैसा ही हो जाता है। यद्यपि वह जीव दूसरी योनिमें उत्पन्न हुआ रहता है, तथापि भ्रमरीके चिन्तनसे भ्रमररूप हो जाता है। यही सत्पुरुषोंके लिये दृष्टान्त है। जो गुरुसे उपदेश पाकर उसमें संदेह करता है, वह सिद्धिको नहीं पाता, जैसे भाग्यहीन पुरुषको निधि नहीं मिलती।

इस प्रकार मन्त्रजपमें संलग्न हो अमरत्वको प्राप्त हुए विशाख मुनिके सहस्रों वर्ष बीत गये। कुछ कालके पश्चात् वे बाँबीकी मिट्टीसे घिर गये। उन्हें इस बातका कुछ भी पता नहीं था। तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् वे सप्तर्षि फिरसे उधर आ निकले और उस स्थानको देखकर एक-दूसरेसे कहने लगे—'यहीं वह भयानक आकारवाला तस्कर विशाख हमें मिला था, जिसने यहाँ आते ही हमारा सब कुछ लूट लिया था।' इस प्रकार वार्तालाप करते हुए महर्षियोंने बाँबीके भीतरसे आती हुई मन्त्रोच्चारणकी उत्तम ध्वनि सुनी। तब कौतूहलवश उन्होंने खनतीसे उस पर्वताकार वल्मीकको खोदा। उसके भीतर उसी चतुरक्षर मन्त्रका जप करता हुआ विशाख उन्हें दिखायी दिया। उसे समाधिमें स्थित जान योगसम्मत ओषधियोंको लेकर उन्होंने उसके सुप्त शरीरमें मर्दन किया। तब वह सजग होकर बोला—'महर्षियो! अपना-अपना धन ले लीजिये, मुझ पापीने अज्ञानवश इसे छीन लिया था। अब आप यह सब लेकर तीर्थयात्राको जाइये, मैंने आपको मुक्त कर दिया। मेरे माता-पिता और पत्नीसे जाकर कह दीजिये कि विशाख सब प्रकारकी आसक्तियोंसे रहित हो गया। अब वह पहलेकी तरह आपलोगोंसे मिलना नहीं चाहता।'

**सप्तर्षि बोले**—मुने! तुम्हें यहाँ रहते हुए बहुत वर्ष बीत गये। तुम्हारे माता-पिता, पत्नी तथा अन्य जो कुटुम्बी लोग थे, उन सबकी मृत्यु हो चुकी है। हमलोग दीर्घकालके पश्चात् इस स्थानपर आये हैं। अब तुम इस मन्त्र-जपके प्रभावसे सिद्ध हो गये हो। तुम एकाग्रतापूर्वक मन्त्रका चिन्तन करते हुए वल्मीकमें स्थित रहे हो। अतः इस भूतलपर 'वाल्मीकि' नामसे प्रसिद्ध होओगे। तुम्हारी जिह्वाके अग्रभागपर सरस्वती देवी स्वच्छन्द निवास करेंगी और तुम रामायण काव्यका निर्माण करके मोक्ष प्राप्त करोगे।

**विशाख बोला**—विप्रवरो! आप प्रसन्न होकर गुरु दक्षिणा स्वीकार करें, जिससे मैं उऋण होकर महान् तपमें संलग्न होऊँ।

**ऋषि बोले**—ब्रह्मन्! तुम सिद्ध हो गये। यही हमारे लिये गुरुदक्षिणा है। तुम पुनः कोई मनोवांछित वर माँग लो।

**वाल्मीकिजी बोले**—यदि आपलोग मेरे ऊपर प्रसन्न हैं और मुझे वर देना चाहते हैं तो बताइये, यहाँ देविका नदीके सुरम्य तटपर कौन-से देवता स्थित हैं, जो समस्त कामनाओं और फलोंके देनेवाले हैं?

**ऋषि बोले**—ब्रह्मन्! यह सामने जो अनेक शाखाओंके साथ फैला हुआ वृक्ष है, इसकी ओर देखो। इसके मूलस्थानमें ब्रह्माजीके अंशसे उत्पन्न भगवान् सूर्य स्थित हैं। कल्पके प्रारम्भकालसे ही उनकी यहाँ स्थिति है। वे ही इस क्षेत्रके देवता हैं, उनकी आराधना करो। यहाँ दो कोसतकका स्थान सूर्यक्षेत्र कहा गया है। यहाँ रहनेवालोंको निश्चय ही स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है।

उनकी बात सुनकर वाल्मीकिने भगवान् सूर्यकी आराधना की। इससे सन्तुष्ट होकर भगवान् सूर्यने कहा—'वर माँगो।'

**वाल्मीकि बोले**—देवेश्वर! आजसे आप यहाँ सदैव निवास करें।

**सूर्यने कहा**—विप्रवर! मूलस्थानमें निवास करनेवाला मैं आज तुमपर सन्तुष्ट हुआ हूँ, अतः यह क्षेत्र अब मूलस्थानके नामसे ही विख्यात होगा। जो लोग उत्तरायणमें यहाँ भक्तिपूर्वक स्नान करेंगे, वे स्वर्गलोकमें जायँगे। विप्रवर! तिलमिश्रित जलसे यहाँ तर्पण करनेपर पितरोंको गयाश्राद्धके समान सन्तोष प्राप्त होगा। जो मानव भक्तिपूर्वक साग, मूल, फल, खली अथवा गुड़से यहाँ श्राद्ध करेंगे, वे परम मोक्षको प्राप्त होवेंगे। कीट, पतंग, पशु, पक्षी तथा मृग भी प्याससे पीड़ित हो यहाँके जलका स्पर्श करने मात्रसे परम गतिको प्राप्त होंगे। श्रावणमासकी पूर्णिमाको तुम्हारे स्नेहवश मैं यहाँ विशेषरूपसे निवास करूँगा। उस दिन जो यहाँके जलसे पितरोंका तर्पण करेगा, उसकी अठारह प्रकारकी कोढ़ तत्काल नष्ट हो जायगी। कपाल, औदुम्बर, मण्डल, विचर्चिका, ऋक्षजिह्व, कच्छु, किटिभ, सिध्म, अलस, विपादिका, दद्रु, शतारु, विस्फोटक, पुण्डरीक, काकण, पामा, चर्मदल और चर्म—ये अठारह प्रकारके कुष्ठ अवश्य दूर हो जायँगे, इसमें सन्देह नहीं है।

यों कहकर सूर्यदेव अन्तर्धान हो गये। वाल्मीकि मुनिने सूर्यदेवकी आराधना तथा रामायणकाव्यका निर्माण किया। अतः उस तीर्थमें सब यज्ञोंका फल देनेवाले सूर्यदेवका अवश्य दर्शन तथा इस सर्वपातकनाशिनी कथाका श्रवण करना चाहिये।

## भगवान् सूर्यके अष्टोत्तरशतनामोंकी महिमा

**महादेवजी कहते हैं**—पार्वती! हिरण्याके पूर्वभागमें महर्षि च्यवनके द्वारा स्थापित परम उत्तम च्यवनादित्यका उत्तम स्थान है। मनुष्योंद्वारा विधिपूर्वक पूजित होनेपर वे समस्त अभीष्ट फलोंको देनेवाले हैं। जो मानव सप्तमी तिथिके दिन एक सौ आठ नामोंद्वारा श्रद्धापूर्वक उनकी स्तुति करता है, वह मनोवांछित फलको पाता है।

पूर्वकालमें महर्षि धौम्यने महात्मा युधिष्ठिरसे सूर्यदेवके जिन एक सौ आठ नामोंका वर्णन किया, उन्हें सुनो—सूर्य, अर्यमा, भग, त्वष्टा, पूषा, अर्क, सविता, रवि, गभस्तिमान्, अज, काल, मृत्यु, धाता, प्रभाकर, पृथ्वी, बल-तेज-आकाश-वायु-परायण, सोम, बृहस्पति, शुक्र, बुध, अंगारक, मंगल, इन्द्र, विवस्वान्, दीप्तांशु, शुचि, सौर्य, शनैश्चर, ब्रह्मा, रुद्र, विष्णु, स्कन्द, वैश्रवण, यम, वैद्युत, जाठराग्नि, ऐन्धन, तेजःपति, धर्मध्वज, वेदकर्ता, वेदांग, वेदवाहन, कृत

(सत्ययुग), त्रेता, द्वापर, कलि, सर्वामराश्रय (अथवा संवत्सरात्मक), कला-काष्ठा-मुहूर्त-पक्ष-मास-अहः-निशा-संवत्सरकर, स्वच्छ, कालचक्र, विभावसु, पुरुष, शाश्वत, योगी, व्यक्त, अव्यक्त, सनातन, लोकाध्यक्ष, प्रजाध्यक्ष, विश्वकर्मा, तमोनुद, वरुण, सागर, अंशु, जीमूत, जीवन, अरिहा (शत्रुनाशक), भूताश्रय, भूतपति, सर्वभूतनिषेवित, स्रष्टा, संवर्तक, वह्नि, सर्वादिकर, अमल, अनन्त, कपिल, भानु, कामद, सर्वतोमुख, जय, विषाद, वरद, सर्वधातुनिषेवित, सम, सुवर्ण, भूतादि, शीघ्रग, प्राणधारक, धन्वन्तरि, धूमकेतु, आदिदेव, अदितिसुत, द्वादशात्मा, अरविन्दाक्ष, पिता, माता, पितामह, स्वर्गद्वार, प्रजाद्वार, मोक्षद्वार, त्रिविष्टप, देहकर्ता, प्रशान्तात्मा, विश्वात्मा, विश्वतोमुख, चराचरात्मा, सूक्ष्मात्मा तथा मैत्रशरीरान्वित।

ये कीर्तन करनेयोग्य अमित तेजस्वी भगवान् सूर्यके एक सौ आठ नाम महात्मा इन्द्रके द्वारा प्रकाशित हुए हैं। इन्द्रसे नारदको, नारदसे धौम्यको और धौम्यसे राजा युधिष्ठिरको इनका उपदेश प्राप्त हुआ है। राजा युधिष्ठिरने इन्हें पाकर सम्पूर्ण मनोरथोंको प्राप्त कर लिया। जो एकाग्रचित्त होकर सूर्योदय कालमें इस स्तोत्रका पाठ करता है, वह पुत्र, धन, रत्नराशि, पूर्व-जन्मकी स्मृति, स्मरण-शक्ति तथा मेधा (बुद्धि) प्राप्त कर लेता है। जो देवताओंमें श्रेष्ठ भगवान् सूर्यके इस स्तोत्रका एकाग्रचित्त होकर पाठ करता है, वह शोकरूपी दावानलसे मुक्त हो मनोवांछित फलोंको प्राप्त कर लेता हैं।

~~o~~

## महर्षि च्यवनकी कथा और च्यवनेश्वरकी महिमा

**महादेवजी कहते हैं**—पार्वती! महर्षि भृगुके पुत्र च्यवन मुनिने प्रभासक्षेत्रमें जाकर बड़ी भारी तपस्या की। वे आसन लगाकर ठूँठकी भाँति अविचल भावसे बहुत समयतक एक ही स्थानपर बैठे रहे। वहाँ उनके शरीरपर सब ओरसे बाँबीकी मिट्टी जम गयी और उसके ऊपर लताएँ फैल गयीं। उस बाँबीमें सब ओर चींटियाँ फैल गयी थीं। इस प्रकार बाँबीसे घिरे हुए च्यवन मुनि मिट्टीकी मूर्तिकी भाँति वहाँ स्थिर होकर घोर तपस्यामें स्थित हो गये। तदनन्तर किसी समय राजा शर्याति तीर्थयात्राके प्रसंगसे श्रीसोमनाथजीका दर्शन करनेके लिये पापनाशक प्रभासक्षेत्रमें आये। राजाके सुकन्या नामकी एक कन्या थी, जो सखियोंसे घिरी हुई वहाँ वनमें घूमने लगी। घूमते-घूमते वह च्यवन मुनिकी बाँबीके समीप जा पहुँची। वहाँ उनके चमकते हुए नेत्रोंको देखकर उसने कौतूहलवश सोचा, यह क्या है? फिर उसने काँटेसे उन दोनों नेत्रोंको छेद दिया। नेत्रोंके बिंध जानेपर मुनिके कोपसे राजा शर्यातिके सैनिकोंका मल-मूत्र रुक गया। इससे सारी सेना बहुत दुःखी हुई। यह देख राजाको भी बड़ा दुःख हुआ। वे बोले—'आज किसने यहाँ महात्मा भार्गवका अपकार किया है, उसे तुमलोग शीघ्र बताओ?' सैनिकोंने उत्तर दिया, 'हमें किसी अपकार करनेवालेका पता नहीं है।' तब राजाने अपने सुहृदोंसे पूछा।

सैनिकोंको दुःखसे व्याकुल तथा पिताको चिन्तित देखकर सुकन्याने कहा—'पिताजी! मैं इस वनमें घूम रही थी। इतनेमें एक बाँबीके भीतरसे मुझे जुगनूकी भाँति चमकते हुए दो प्रकाश दिखायी पड़े। मैंने अज्ञानवश उन्हें बींध डाला।' यह सुनकर राजा शर्याति शीघ्र ही बाँबीके पास आये और उन्होंने तपोवृद्ध एवं वयोवृद्ध च्यवन मुनिका दर्शन किया। तदनन्तर वे हाथ जोड़कर सैनिकोंके कष्ट-निवारणके लिये प्रार्थना करते हुए बोले—'भगवन्! मेरी बालिकाने अज्ञानवश जो आपका अपराध किया है, उसके लिये क्षमा करें।'

इसके बाद महर्षिकी आज्ञासे शर्यातिने उन्हें अपनी कन्या व्याह दी और स्वयं सेनाके साथ नगरको प्रस्थान किया। सुकन्या परम उत्तम तपस्वी पतिको पाकर प्रेमपूर्वक तपस्या और नियमसे रहती हुई उनकी सेवा करने लगी। मुनिके यहाँ जो अतिथि आते, उनका यथोचित सत्कार करके वह शीघ्र ही महर्षि च्यवनकी सेवामें संलग्न हो जाती थी।

कुछ कालके पश्चात् अश्विनीकुमार नामक देवता उस वनमें आये। उन्होंने सुन्दर दाँतोंवाली सुकन्याको स्नान करके जाते हुए देखा और उसके समीप जाकर कहा—'वामोरु! तुम किसकी स्त्री हो और इस वनमें किस लिये घूम रही हो?'

**सुकन्याने प्रसन्न होकर कहा**—आपलोग मुझे राजा शर्यातिकी पुत्री तथा महर्षि च्यवनकी पत्नी जानें।

**अश्विनीकुमार बोले**—तुम्हारे पिताने जान-बूझकर इन गतायु महर्षिके साथ तुम्हारा विवाह कैसे किया? च्यवनजी तुम्हारे पालन-पोषण और रक्षणमें तो सर्वथा असमर्थ हैं। अतः उन्हें छोड़कर तुम हम दोनोंमेंसे किसी एकको अपना पति बना लो।

**उनके यों कहनेपर सुकन्या बोली**—देवताओ! मैं अपने पतिदेव च्यवनमें पूर्णतः अनुरक्त हूँ। मेरे विषयमें आपलोग कोई ऐसी आशंका न करें।

**तब अश्विनीकुमारोंने कहा**—देवि! हम दोनों वैद्य हैं। तुम्हारे पतिको रूप और यौवनसे सम्पन्न कर देंगे। उसके बाद हम तीनोंमेंसे किसी एकको तुम अपना पति चुन लेना।

उन दोनोंकी यह बात सुनकर सुकन्या च्यवन मुनिके पास गयी और अश्विनीकुमारोंने जो कुछ कहा था, वह सब उसने कह सुनाया। उसकी बात सुनकर मुनिवर च्यवनने कहा—'अश्विनी-कुमारोंकी बातोंका आदर करो।' मुनिकी यह आज्ञा पाकर सुकन्या उन दिव्य रूपधारी देववैद्योंसे बोली—'आप दोनोंने मेरे पतिको तरुण बनानेके विषयमें जो कुछ कहा है, उसे शीघ्र पूरा करें।' वे बोले—'तुम्हारे पति इस तालाबमें प्रवेश करें।' तब मुनिवर च्यवनने दिव्य रूपकी अभिलाषासे शीघ्र ही उस तालाबमें प्रवेश किया, तत्पश्चात् अश्विनीकुमार भी उस जलके भीतर प्रविष्ट हुए। दो ही घड़ीमें वे तीनों उस सरोवरसे बाहर निकले। उनके रूप और वेष दिव्य थे। तीनों ही तरुण एवं दिव्य कुण्डलोंसे विभूषित थे। वे सब एकत्र होकर बोले—'शुभे! हममेंसे एकको वरण करो। सुकन्याने सबको एक समान रूपवाले देखकर अपने मन और बुद्धिसे निश्चय करके अपने पति च्यवन मुनिको पहचान लिया और एकमात्र उन्हींका वरण किया। अपनी पत्नीको पाकर तेजस्वी महर्षि च्यवन अश्विनीकुमारोंसे बोले—'आप दोनोंने कृपा करके मुझे दिव्य रूप तथा तरुण अवस्थासे संयुक्त किया और मुझे अपनी पत्नीकी प्राप्ति हुई, इसलिये मैं आप दोनोंको यज्ञभागका अधिकारी बनाऊँगा।' मुनिकी यह बात सुनकर अश्विनीकुमार प्रसन्नतापूर्वक चले गये।

तदनन्तर राजा शर्यातिने जब सुना कि महर्षि च्यवनको नयी अवस्था प्राप्त हुई है, तब वे बहुत प्रसन्न हुए और सेनाके साथ उनके आश्रमपर गये। पुत्री और जामाताको देवकुमारोंकी भाँति देखकर राजा शर्यातिके हर्षकी सीमा न रही। महर्षि च्यवनने रानीसहित महाराज शर्यातिका पूर्ण सत्कार किया और समीप बैठकर वार्तालाप किया। बात-चीतमें ही उन्होंने राजासे कहा—'राजन्! मैं आपसे यज्ञ कराऊँगा। आप सब सामग्री एकत्र करें।' राजा शर्याति इस प्रस्तावसे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने शुभ मुहूर्तमें यज्ञमण्डप निर्माण कराया। उस मण्डपमें महर्षि च्यवनने राजासे यज्ञ प्रारम्भ कराया और उसमें अश्विनीकुमारोंके लिये सोमरसका भाग ग्रहण किया। इन्द्रने उन्हें ऐसा करनेसे रोका और कहा—'अश्विनीकुमार सोमरसके अधिकारी नहीं हैं, ऐसा मेरा निश्चित मत है। वे दोनों देवताओंके वैद्य हैं, अतः निन्दित माने गये हैं।'

**च्यवनने कहा**—देवराज! आप अश्विनीकुमारोंको भी देवताओंकी ही कोटिमें समझें। ये दोनों महात्मा रूपसम्पदासे सम्पन्न और तेजस्वी हैं। इन्होंने इस समय मुझे अजर बनाया है।

**इन्द्र बोले**—ये दोनों वैद्य हैं और इच्छानुसार रूप धारण करके मर्त्यलोकमें विचरते रहते हैं; अतः देवताओंकी श्रेणीमें बैठकर सोमके अधिकारी कैसे हो सकते हैं?

इन्द्रके यों कहनेपर भी उनका अनादर करके च्यवन मुनिने अश्विनीकुमारोंके लिये भाग ग्रहण किया। यह देख इन्द्रने कहा—'यदि तुम मेरी अवहेलना करके इन वैद्योंके लिये सोमरसका भाग ग्रहण करोगे तो मैं तुम्हारे ऊपर भयंकर वज्रका प्रहार करूँगा।'

इन्द्रकी यह बात सुनकर च्यवनने एक बार उनकी ओर दृष्टिपात किया और अश्विनीकुमारोंके लिये सोमरसका भाग विधिपूर्वक निकाला। इसी समय इन्द्रने उनपर तुरंत वज्रका प्रहार किया, परंतु भृगुनन्दन च्यवनने वज्रसहित उनकी बाँह स्तम्भित कर दी। तदनन्तर मन्त्र पढ़कर अग्निमें आहुति डाली। मुनिके तपोबलसे उस समय महापराक्रमी महाकाय मद नामक महादैत्य उत्पन्न हुआ और क्रोधमें भरकर भयंकर सिंहनादसे सम्पूर्ण लोकोंको गुँजाता हुआ इन्द्रकी ओर दौड़ा। मुँह बाये हुए कालकी भाँति उस दैत्यको आते देख इन्द्र भयसे पीड़ित हो गये और मुनिवर च्यवनको प्रणाम करके बोले—'भृगुनन्दन! आजसे ये दोनों अश्विनीकुमार सोमरसके अधिकारी होंगे। तपोधन! मुझपर आपका अकारण क्रोध न हो; जिस प्रकार आपने इन अश्विनीकुमारोंको सोमरसका अधिकारी बनाया है, उसी प्रकार मेरी रक्षाके लिये भी अपने बल-वीर्यको प्रकाशित करें। आजकी इस घटनासे सुकन्याके पिता राजा शर्यातिकी कीर्ति संसारमें अमर होगी। आप मुझपर कृपा करें।'

इन्द्रके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर मुनिवर च्यवनका क्रोध शान्त हो गया। इन्द्र उनकी आज्ञा ले शीघ्र वहाँसे चले गये। च्यवनने इन्द्रकी पूजा करके अश्विनीकुमारोंसहित सब देवताओंका पूजन किया तथा राजा शर्यातिका यज्ञ पूर्ण कराकर वे सुकन्यासहित इस वनमें विहार करने लगे। उनके द्वारा स्थापित च्यवनेश्वर लिंग महापातकोंका नाश करनेवाला है। जो विधिपूर्वक च्यवनेश्वरकी पूजा करता है, वह अश्वमेध यज्ञका फल पाता है। यहाँ आश्विनमासकी पूर्णिमाको विधिपूर्वक श्राद्ध करे और ब्राह्मणोंको भोजन कराये। यों करनेसे कोटि तीर्थोंके सेवनका फल प्राप्त होता है।

## सुकन्यासरोवर, गोष्पदतीर्थ, गंगेश्वर, बालादित्य, पातालगंगा तथा कुबेरेश्वरकी महिमा; कुबेरके द्वारा शिवकी स्तुति

**महादेवजी कहते हैं**—पार्वती! जहाँ च्यवन मुनिके साथ अश्विनीकुमारोंने स्नान किया था, वह जलाशय सुकन्या सरोवरके नामसे विख्यात है। जो नारी तृतीयाको उस सरोवरमें स्नान करती है, उसकी गृहस्थी सात हजार जन्मोंतक नष्ट नहीं होती और उसका पुत्र दरिद्र, अंगहीन, दीन तथा अंधा नहीं होता।

तदनन्तर न्यंकुमती नदीके तटपर जाकर परम उत्तम गोष्पदतीर्थमें गया-श्राद्ध करे। उसके बाद भगवान् वराहका दर्शन करके नारिगृहकी यात्रा करे। फिर मातृसुतकी पूजा करके सागरसंगममें स्नान करे, फिर न्यंकुमतीके तटपर जाकर मुनिवर अगस्त्यजीके क्षुधाहर नामक दिव्य आश्रमपर जाय। वह समस्त पातकोंका नाश करनेवाला है।

उसके पश्चिम भागमें उससे थोड़ी ही दूरपर गंगाजीके द्वारा स्थापित गंगेश्वर लिंग है। अगस्त्यजीके

आश्रममें गंगेश्वरका दर्शन करके स्नान, दान और जप आदि करनेसे मनुष्य सब पातकोंसे मुक्त हो जाता है।

उस आश्रमसे थोड़ी दूर उत्तर दिशामें सूर्यदेवने बाल्यावस्थामें तपस्या की है। इससे उनका नाम बालादित्य हुआ। रविवारको उनका दर्शन करनेसे मनुष्य कोढ़ी नहीं होता और बालकोंको रोग-व्याधि नहीं सताते।

वहाँसे दक्षिणमें दो कोसकी दूरीपर सब पातकोंका नाश करनेवाली पातालगामिनी गंगा हैं, जिन्हें विश्वामित्रजीने स्नान करनेके लिये बुलाया था। उसमें स्नान करके मनुष्य सब पातकोंसे मुक्त हो जाता है। वहाँ गंगेश्वर, विश्वामित्रेश्वर तथा बालेश्वरका दर्शन करनेसे मनुष्यको सम्पूर्ण अभीष्ट फलोंकी प्राप्ति होती है।

शास्त्रज्ञान और शीलसे सम्पन्न धर्मात्मा कुबेरने न्यंकुमतीके पूर्व-तटपर एक शिवलिंग स्थापित किया, जो कुबेरेश्वरके नामसे विख्यात है। वहाँसे पश्चिम न्यंकुमतीके तटपर जो सोमनाथ महादेव हैं, उनकी पूजा करके कुबेरजीने इस प्रकार मेरा स्तवन किया—'जो यज्ञका मूल, तुम्बीके ऊँचे फलके समान आकृतिवाली तथा सौ कोटि ब्रह्माण्डोंमें स्थित है, ब्रह्माण्डवर्ती देवसमूह भी जिसका परिमाण नहीं जानते, महेश्वरकी वह कोई महामहिम लिंगमूर्ति सदा हमारी रक्षा करे। जो अजन्मा, पुराण, उपेन्द्र (विष्णु) के भी वन्दनीय तथा बड़े-बड़े राजाओंसे सेवित हैं, चन्द्रमा, सूर्य और अग्निके समान जिनके नेत्र हैं, जो अपनी ध्वजामें वृषभेन्द्र नन्दीका चिह्न धारण करनेवाले तथा प्रलय आदिके हेतु हैं, उन महादेवजीको मैं प्रणाम करता हूँ। जो सबके एकमात्र ईश्वर, देवताओंके एक ही बन्धु, योगसे प्राप्त होनेवाले, सम्पूर्ण विश्वके निवासस्थान, विस्मयके आधार, अनन्त शक्तिसम्पन्न, ज्ञानजनक तथा धैर्य आदि गुणोंके कारण सर्वोत्कृष्ट हैं अथवा जिनमें धैर्य आदि गुणोंकी अधिकता है, उन भगवान् शिवको मैं नमस्कार करता हूँ। जिनके हाथोंमें पिनाक, पाश, अंकुश और त्रिशूल शोभा पाते हैं, जो मस्तकपर जटाजूट धारण करते हैं, जिनके शब्दोच्चारणकी ध्वनि मेघके समान गम्भीर है, जिनके सम्पूर्ण अंगोंकी कान्ति स्फटिक मणिके समान उज्ज्वल तथा कण्ठमें नीला चिह्न है, जो सहस्रों मूर्ति धारण करनेवाले विशिष्ट पुरुष हैं, उन भगवान् शिवको मैं प्रणाम करता हूँ। जिन्हें संत पुरुष अक्षर, निर्गुण, अप्रमेय, ज्योतिर्मय, एक, दूरंगम (दूर गमन करनेवाले), जानने योग्य, अनिन्द्य, सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान तथा परम पवित्र बतलाते हैं, उन भगवान् शंकरको मैं नमस्कार करता हूँ। जिनका स्वरूप तेज-पुंजके समान है, जिनके मस्तकपर बालचन्द्रमा शोभा पाते हैं, जिनका भयानक मुख स्फुरित होता रहता है, जो कालके भी काल, मनोवांछित फलोंके दाता, आसक्तिरहित, धर्मासनपर स्थित तथा परा और अपरा दोनों प्रकृतियोंमें विराजमान हैं, उन भगवान् रुद्रदेवको मैं प्रणाम करता हूँ। जो इन्द्रियातीत, विश्वपालक, शत्रुविजयी, तीनों गुणोंसे परे, अजन्मा, निरीह, तपोमय, वेदमय, प्रजापालक तथा अनेक नामोंवाले इन्द्ररूप हैं, उन्हीं आप महेश्वरको मैं नमस्कार करता हूँ। जो भूत और भविष्यके ज्ञाता महेश्वर हैं, योगवेत्ता मुनीश्वर सदा जिनका ध्यान करते रहते हैं, जो संसारबन्धनके काटनेवाले तथा नित्य मुक्तस्वरूप हैं, उन महादेवजीको मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ। जिन परम पुरुष परमात्माके अनुपम मुख, बल, प्रभाव और स्वभाव आदिका ज्ञान देवताओंको भी नहीं होता, उन अचिन्तनीय महिमावाले भगवान् वामदेवको मैं प्रणाम करता हूँ। जिन उग्रमूर्ति भगवान् शिवकी आराधना करके अगस्त्यजीने समुद्रको पी लिया तथा राजा दिलीपने सम्पूर्ण मनोरथ प्राप्त कर लिये, उन विश्वयोनि भगवान् शंकरकी मैं शरण लेता हूँ। देवेन्द्रवन्द्य शम्भो! मुझ अनाथका उद्धार कीजिये। आप कृपालु एवं करुणामय हैं। उमेश! दुःखसागरमें डूबे हुए मुझ

दीनका उद्धार कीजिये। भव! आप सबका कल्याण करनेवाले हैं। मेरा भी कल्याण कीजिये। जिनकी पूजा करके ब्रह्मा और इन्द्र आदि देवता स्वर्गमें इच्छानुसार विहार करते हैं, उन वन्दनीय शिवकी शरणमें आकर मैं उन्हींकी स्तुति, उन्हींका गुणगान, उन्हींके नामका जप और उन्हींकी वन्दना करता हूँ।'

इस प्रकार स्तुति करके जब कुबेरजी चुप हुए, तब भगवान् शिवने उन्हें अपने मित्रका पद, दिक्पालका पद और देवताओंके धनाध्यक्षका पद—ये तीन वर प्रदान किये और कहा—'यह स्थान तुम्हारे ही नामपर कुबेरनगर कहलायेगा। तुमने इस स्थानसे पश्चिममें जो शिवलिंग स्थापित किया है, उसका जो पुरुष श्रीपंचमीके दिन विधिपूर्वक पूजन करेगा, उसके यहाँ सात पीढ़ियोंतक लक्ष्मी बराबर बनी रहेगी।'

## भद्रकाली, कुबेर, ऋषितोया नदी, शृगालेश्वर तथा गुप्त प्रयागका माहात्म्य

**महादेवजी कहते हैं**—पार्वती! कुबेरस्थानसे उत्तर भागमें मनोवांछित वस्तुओंको देनेवाली महादेवी भद्रकालीका स्थान है। जो चैत्रमासकी तृतीयाको उनकी पूजा करता है, उसे सौभाग्य, विजय और लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है।

कुबेरस्थानसे नैर्ऋत्य भागमें साक्षात् कुबेरजी विराजमान हैं। जो पंचमी तिथिको भक्तिभावसे गन्ध, पुष्प तथा चन्दन आदिके द्वारा उनकी पूजा करता है, उसे विघ्नरहित अनुपम निधिकी प्राप्ति होती है। वहाँ कुण्डमें स्नान करनेसे ब्रह्महत्या-जैसे पापोंका नाश हो जाता है। उसके पूर्वभागमें बालार्केश्वर लिंग तथा उत्तर भागमें गयाक्षेत्रसहित अम्बिका स्थान है। उन दोनोंके दर्शनसे मनुष्य वाजपेय यज्ञका फल पाता और समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है। कुबेरस्थानसे दस कोसकी दूरीपर पुष्कर नामका तीर्थ है। उससे अग्निकोणमें चौदह कोस दूर देवकुल नामक स्थान है, जहाँ देवताओंका समागम हुआ है, उसके पश्चिम भागमें ऋषितोया नदी है, जो समस्त पातकोंका नाश करनेवाली तथा ऋषियोंको प्रिय है। जो मनुष्य उसमें विधिवत् स्नान करके पितरोंका तर्पण करता है, वह सत्तर हजार वर्षोंतकके लिये पितरोंको तृप्त कर देता है; इतना ही नहीं, उसे सात जन्मोंके पापोंसे छुटकारा मिल जाता है।

परमपवित्र देवदारु-वनमें सहस्रों ऋषि निवास करते थे। वे सभी प्रतिदिन बावली, कुआँ और तड़ाग आदिमें स्नान करते थे। वहाँ रहते उन्हें बहुत वर्ष व्यतीत हो गये। उनके पुत्र-पौत्रोंकी संख्या बढ़ गयी और वे दारुकवनमें सब ओर फैलकर रहने लगे। एक दिन उन सबने एकत्र होकर परस्पर विचार किया कि 'हमलोग ब्रह्मलोकमें चलकर ब्रह्माजीकी प्रार्थना करें, जिससे यहाँ कोई नदी प्रकट हो।' ऐसा निश्चय करके वे तपोधन मुनि ब्रह्मलोकमें गये और वहाँ ब्रह्माजीकी अनेक प्रकारसे स्तुति करने लगे।

**ऋषि बोले**—ॐकारस्वरूप आपको नमस्कार है। सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि करनेवाले आपको बार-बार नमस्कार है। समस्त संसारकी रक्षा करनेवाले आप परमात्माको नमस्कार है और जगत्का संहार करनेवाले तथा ब्रह्मरूपधारी आपको नमस्कार है। पितामह! आपको नमस्कार है। सुरज्येष्ठ! आपको नमस्कार है।

उन ऋषियोंके इस प्रकार स्तवन करनेपर लोकपितामह ब्रह्माजी बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'विप्रवरो! तुम्हारा स्वागत है। मैं इस दिव्य स्तोत्रसे बहुत संतुष्ट हूँ। तुम कोई उत्तम वर माँगो।'

**ऋषियोंने कहा**—सुरश्रेष्ठ! आप हमें स्नान

करनेके लिये कोई पापनाशिनी नदी प्रदान कीजिये।

उनके यों कहनेपर ब्रह्माजीने वहाँ मूर्तिमती नदियोंकी ओर दृष्टिपात किया। उन्हें देखकर फिर कमण्डलुकी ओर दृष्टि डाली। तब वे सभी नदियाँ उनके कमण्डलुमें प्रवेश कर गयीं।

**ब्रह्माजी बोले**—महर्षियो! ये सब महापुण्यमयी नदियाँ कृपापूर्वक भूलोकमें जानेके लिये इस कमण्डलुमें प्रविष्ट हुई हैं। यदि इनमेंसे किसी एकको भेजूँ तो औरोंके मनमें क्रोध होगा; अतः इस कमण्डलुमें स्थित सभी नदियोंको मैं देवदारु-वनमें जानेके लिये छोड़ता हूँ।

यों कहकर ब्रह्माजीने उन सबको छोड़ दिया और कहा—'मैंने ऋषियोंकी प्रार्थनासे तोयरूपा इन नदियोंको स्नानके लिये दिया है, इसलिये इनसे प्रकट होनेवाली नदी ऋषितोया नामसे प्रसिद्ध होगी। इस प्रकार देवदारु-वनमें ऋषितोया नदीका आगमन हुआ है। पूर्ववाहिनी ऋषितोया नदी जहाँ समुद्रमें मिली हैं, वहाँ जो मनुष्य स्नान और जलपान करते हैं, वे धन्य हैं। वहाँ प्रातःकाल गंगा, पूर्वाह्ण कालमें यमुना, मध्याह्नकालमें सहस्रों नदियोंके साथ सरस्वती, अपराह्णकालमें नर्मदा तथा सायाह्नकालमें सूर्यपुत्री तपती नदी बहती है। यों जानकर जो विद्वान् उसमें स्नान और विधिवत् श्राद्ध करता है, वह उसके फलका भागी होता है।

ऋषितोयाके पश्चिम दो कोस दूर शृगालेश्वर लिंग है, जो सब पातकोंका नाश करनेवाला है। वहाँ गुप्त प्रयाग, माधवदेव तथा गंगा, यमुना और सरस्वती हैं। वहाँ स्नान, जलस्पर्श तथा पूजन करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। वहाँ ब्रह्मकुण्ड, विष्णुकुण्ड तथा रुद्रकुण्ड हैं। इनके अतिरिक्त चौथा त्रिसंगम तीर्थ भी है, जहाँ गंगा, यमुना और सरस्वती तीनोंका संगम हुआ है। ब्रह्मकुण्डमें एक करोड़, वैष्णवकुण्डमें भी एक करोड़ और रुद्रकुण्डमें डेढ़ करोड़ तीर्थ हैं। पश्चिममें ब्रह्मकुण्ड, पूर्वमें वैष्णवकुण्ड और मध्यभागमें रुद्रकुण्ड है। जहाँ कुण्डके मध्यभागसे गंगाजी निकलकर सूर्यपुत्री यमुनासे मिली हैं, वहाँ संगम कहलाता है। इन दोनोंके सूक्ष्म अन्तरमें गुप्त सरस्वतीकी स्थिति मानी गयी है। इनके पास ही तीर्थराज प्रयाग है। जो मनुष्य माघमासमें सूर्यके मकरराशिपर स्थित रहते समय प्रातःकाल सूर्योदयकालमें यहाँ आकर स्नान करता है, वह एक स्नानसे मानसिक, द्वितीय स्नानसे वाचिक और तृतीय स्नानसे शारीरिक पापको नष्ट कर देता है। चौथे स्नानसे सांसर्गिक पाप, पाँचवें स्नानसे गुप्त पाप और छठे स्नानसे उपपातकोंका नाश करता है। इन कुण्डोंमें सात बारके स्नानसे मनुष्य अपने महापातकोंका भी नाश कर देता है। जो पूरे एक मासतक गुप्त प्रयागमें स्नान करता है, उसके फलको ब्रह्मा आदि देवता कोटि कल्पोंमें भी नहीं बता सकते। प्रभासमें जो कोई भी तीर्थ हैं, उन सबकी अपेक्षा अत्यन्त प्रिय तथा सब पातकोंका नाश करनेवाला यही तीर्थ है। मैंने इस तीर्थकी रक्षाके लिये मातृकाओंको नियुक्त किया है। भाँति-भाँतिके नैवेद्योंसे यत्नपूर्वक उनकी पूजा करनी चाहिये। जो कृष्णपक्षकी चतुर्दशीको श्रद्धा-भक्तिके साथ वहाँ पितरोंका श्राद्ध करता है, वह पितृवर्ग और मातृवर्ग दोनोंका उद्धार कर देता है।

# माधव, शृगालेश्वर, त्रिपथगा, गोपालस्वामी, उत्तरार्क, मरुद्देवी आदि विविध तीर्थ और देवविग्रहोंके सेवनकी महिमा

**महादेवजी कहते हैं**—पार्वती! उसके दक्षिण भागमें थोड़ी ही दूरपर शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् माधव विराजमान हैं। जो शुक्लपक्षकी एकादशीको स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनकर गन्ध, पुष्प और अनुलेपनके द्वारा भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करता है, वह परमपदको प्राप्त होता है। जो विष्णुकुण्डमें स्नान करके माधवकी पूजा करता है, वह श्रीहरिके परमधाममें जाता है।

वहाँसे उत्तर दिशामें कुछ वायव्यकोणकी ओर शृगालेश्वर लिंग है। महातेजस्वी इन्द्र, वरुण, कुबेर, यमराज, अग्नि, आदित्य, वसु तथा समस्त लोकपालोंने उस महालिंगकी आराधना की है। जो शृगालेश्वरका पूजन करेंगे, उनके कुलमें कोई निर्धन नहीं होगा। जो मनुष्य अमावास्या तिथिको यहाँ आकर स्नान करके क्रोधरहित हो विधिपूर्वक पितरोंका श्राद्ध करता है, उसके पितर प्रलयकालतक तृप्त रहते हैं। इस क्षेत्रका विस्तार एक मीलतक है। उसमें जो मृत्युको प्राप्त होते हैं, उन्हें उत्तम गतिकी प्राप्ति होती है। जो अनशन-व्रत ग्रहण करके इस तीर्थमें प्राणोंका त्याग करते हैं, वे परमेश्वरमें लीन हो जाते हैं।

शृगालेश्वरसे ईशानकोणमें सात धनुषकी दूरीपर त्रिपथगा गंगा हैं। उसके जलमें उत्पन्न होनेवाली मछलियाँ इस कलियुगमें भी तीन नेत्रोंवाली देखी जाती हैं। वहाँ स्नान करके मनुष्य पाँच महापातकोंसे मुक्त हो जाता है।

चण्डीशसे पूर्व भागमें बीस धनुषपर गोपाल-स्वामीका स्थान है; जो माघमासमें गोपालस्वामी श्रीहरिका दर्शन, पूजन तथा वहाँ रात्रिमें जागरण करता है, वह परमपदको प्राप्त होता है। वहाँसे उत्तर दिशामें आठ धनुषपर वकुलस्वामी सूर्यदेवका स्थान है। जो मनुष्य रविवारयुक्त सप्तमीमें वहाँ जागरण करता है, वह सभी अभीष्ट वस्तुओंको पाता और स्वर्गलोकमें पूजित होता है।

वहाँसे वायव्यकोणमें सोलह धनुषपर उत्तरार्क नामसे प्रसिद्ध भगवान् सूर्य विराजमान हैं। वहाँ रथसप्तमीको उपवास करके मनुष्य सब रोगोंसे मुक्त हो जाता है। वहीं देवकुलसे आग्नेयकोणमें दो कोस दूर समुद्रके सुरम्य तटपर परम उत्तम ऋषितीर्थ है। वहाँ पत्थरकी आकृतिवाले ऋषिलोग आज भी देखे जाते हैं, जो सब पातकोंका नाश करनेवाले हैं।

वहाँसे पश्चिम दिशामें आधे कोसपर मरुद्देवी हैं, जो मरुद्गणोंके द्वारा पूजित तथा समस्त अभीष्ट वस्तुओंको देनेवाली हैं। मनुष्यको चाहिये कि समस्त कामनाओंकी सिद्धिके लिये महानवमी और सप्तमी तिथिको गन्ध, पुष्प आदि उपचारोंद्वारा यत्नपूर्वक उनकी पूजा करे।

देवकुलसे पूर्वमें दस कोसपर शबरस्थानमें क्षेमादित्य नामसे प्रसिद्ध सूर्यदेवका स्थान है। उनका दर्शन करके मनुष्य क्षेम तथा अर्थसिद्धिका भागी होता है। रविवारयुक्त सप्तमीको पूजित होनेपर वे समस्त अभीष्ट वस्तुओंको देते हैं।

देवकुण्डसे उत्तर और भास्करसे दक्षिण कण्टकशोधिनी देवीका स्थान है। जो मनुष्य अष्टमी तथा नवमीके दिन उनकी पूजा करता है, उसको राक्षसों और पिशाचोंसे भय नहीं होता और वह उत्तम सिद्धिको पाता है।

उससे पूर्वदिशामें थोड़ी ही दूरपर ब्राह्मणोंद्वारा स्थापित ब्रह्मेश्वर लिंग है। जो ऋषितोयाके जलमें स्नान करके उसका पूजन करता है, वह ब्राह्मण जडतासे रहित एवं वेदज्ञ होता है। भगवती चण्डीके गणोंद्वारा वह स्थान सुरक्षित है। मैंने सीमासहित वह स्थान ब्राह्मणोंको दे दिया है।

स्थलकेश्वरसे पूर्व दिशामें कुछ आग्नेयकोणकी ओर विश्वकर्माद्वारा स्थापित दो महापुण्यमय लिंग हैं। विश्वकर्मा जब नगरका निर्माण करनेके लिये वहाँ आये, उस समय उन्होंने पहले शिवलिंगकी स्थापना की। तत्पश्चात् पुनः नगर-निर्माणका कार्य प्रारम्भ किया। विवाह और गृहप्रतिष्ठा आदि प्रत्येक कार्यके आदि और अन्तमें उन दोनों लिंगोंकी पूजा करके मनुष्य तत्काल सिद्धिको पाता है।

वहाँसे दक्षिण भागमें समस्त पातकोंका नाश करनेवाले दुर्गादित्य नामक सूर्यदेवके समीप जाय। जो रविवारयुक्त सप्तमीमें उनका पूजन करता है, उसके सब दुःख और अनेक प्रकारके कुष्ठ नष्ट हो जाते हैं।

वहाँसे दक्षिण भागमें ऋषितोयाके तटपर सोमेश्वरलिंग है, जिसका नाम पहले भूतेश्वर था। सोमेश्वरका दर्शन-पूजन करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। वहाँसे उत्तर भागमें कुछ वायव्यकोणकी ओर सिद्धिदायक विनायक विराजमान हैं। जिन कुबेरको मैंने अपना सखा बताया है, वे ही गणनाथरूपसे इस स्थानमें लोगोंको सिद्धि प्रदान करनेके लिये स्थित हैं। जो मंगलवारयुक्त चतुर्थीको लड्डूसहित नाना प्रकारके भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंद्वारा उनकी विधिपूर्वक पूजा करता है, उसे निश्चय ही सिद्धि प्राप्त होती है।

तदनन्तर ऋषितोयाके तटपर स्थित सर्वविघ्न-नाशक विनायकका दर्शन करनेके लिये जाय। वे साक्षात् त्रिपुरान्तक शिव हैं और गजरूप धारण करके महाक्षेत्र प्रभासमें ऊँचे स्थानपर अपने कोटिगणोंके साथ स्थित हैं। अतः निर्विघ्नतापूर्वक यात्राकी सिद्धिके लिये गन्ध, पुष्प आदि उपचारोंद्वारा उनका पूजन करना चाहिये। योगक्षेमकी सिद्धिके लिये उनकी यात्राका महोत्सव भी करना चाहिये। वहाँसे उत्तर महाकालेश्वरदेव हैं, जो उस पुरके अधिष्ठाता रौद्ररूपधारी भैरव हैं। पूर्णमासी और अमावास्याको इनकी महापूजा करनी चाहिये। जो महोदय तीर्थमें स्नान करके महाकालका दर्शन करता है, वह सात हजार जन्मोंतक संसारमें धनाढ्य होता है।

वहाँसे ईशानकोणमें महोदय तीर्थ है। उसमें विधिपूर्वक स्नान करके जो देवताओं और पितरोंका तर्पण करता है, उसे प्रतिग्रहजनित दोषसे भय नहीं होता। उस तीर्थकी रक्षाके लिये महाकालके उत्तर भागमें मेरी प्रेरणासे मातृकाएँ रहती हैं। वहाँ स्नान करके मनुष्य पहले उन मातृकाओंकी ही पूजा करे। वहाँसे वायव्यकोणमें संगमेश्वर लिंग है और उससे भी पूर्वदिशामें पापनाशिनी कुण्डिका है, जहाँ बडवानलसहित सरस्वतीजी आयी हैं। जो कुण्डिकामें स्नान करके संगमेश्वरका पूजन करता है, उसका सहस्र जन्मोंतक लक्ष्मी, पुत्र तथा प्रियजनोंसे कभी वियोग नहीं होता। वह जन्मसे लेकर मृत्युतकके समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है।

उस स्थानसे तीन योजन उत्तर तप्तोदकस्वामी हैं, जहाँ भगवान् विष्णुने युद्ध करके दैत्यराज तलका वध किया था। जो मानव तप्तकुण्डमें स्नान करके तलस्वामीकी पूजा तथा स्नान करता है, वह करोड़ों यात्राओंका फल पाता है। उससे पूर्वदिशामें कालमेधलिंगरूपी क्षेत्रपाल हैं। अष्टमी और चतुर्दशीको विस्तारपूर्वक उनकी पूजा करनी चाहिये। वे कलियुगमें कल्पवृक्षके समान मनोवांछित फल देनेवाले हैं।

वहाँसे दक्षिण भागमें पचीस धनुषके अन्तरपर सब पापोंका नाश करनेवाली रुक्मिणीदेवी स्थित हैं। तप्तोदक कुण्डमें स्नान करके रुक्मिणीजीकी पूजा करे। इससे सात जन्मोंतक स्त्रियोंकी गृहस्थी भंग नहीं होती। बलभद्रसे पूर्वदिशामें एक श्रेष्ठ नदी है, जहाँ दुर्वासेश्वरलिंग प्रतिष्ठित है। जो अमावास्याको उस नदीमें स्नान करके पिण्ड देता है, वह सौ कोटि कल्पोंसे अधिक कालतकके लिये पितरोंको तृप्त कर देता है। वहाँ दुर्वासेश्वर शिवका विधिपूर्वक पूजन करके

मनुष्य कोटि यज्ञोंका फल तथा समस्त अभीष्ट वस्तुएँ प्राप्त कर लेता है। वहाँ ऋषियोंद्वारा स्थापित किये हुए बहुतसे शिवलिंग हैं। उनका दर्शन, स्पर्श और पूजन करके मनुष्य सब पापोंसे छूट जाता है। जहाँ क्षेत्रकी परिधिरूप मधुमती नामक स्थान है, वहाँ समुद्र-तटपर लिंगेश्वरदेव तथा सप्तकूप हैं। वहाँ श्राद्ध करके मनुष्य गयासे कोटिगुना फल पाता है।

## तलस्वामी, शंखावर्त तीर्थ और गोष्पद तीर्थकी महिमा, वहाँ श्राद्धकी विधि तथा राजा पृथुके द्वारा पृथ्वीका दोहन

**महादेवजी कहते हैं**—मनुष्यको चाहिये कि वह तलस्वामी विष्णुका स्मरण करे, फिर '**सहस्रशीर्षा**' मन्त्रसे तर्पण आदि करे। विधिवत् स्नान करके श्रीविष्णुको अर्घ्य दे। गन्ध, पुष्प, वस्त्र, अनुलेपन, मधु, इक्षुरस, कुंकुम, कपूर, खस तथा कस्तूरी आदि उपचारोंसे उनकी पूजा करे; फिर वस्त्रोंसे वेष्टित करके उत्तम नैवेद्य भोग लगाये। धर्मकथा-श्रवणपूर्वक रात्रिमें जागरण करे। वेदज्ञ श्रोत्रिय ब्राह्मणको सुवर्ण और दो वस्त्र दान करे। उस दिन उपवासपूर्वक श्रीविष्णुको नमस्कार करके रुक्मिणीजीका दर्शन करे। भक्तिभावसे यों करके मनुष्य अपने जन्मका फल पाता है। समस्त यज्ञों, दानों, तीर्थों और व्रतोंका भी फल पा लेता है। पितृवर्ग और मातृवर्गका भी उद्धार करता है तथा जन्मभरके किये हुए पापोंका नाश कर देता है।

वहाँसे पश्चिम न्यंकुमती नदीके उत्तम तटपर दक्षिण दिशाकी ओर शंखावर्त नामक तीर्थ है, जहाँ स्वयं प्रकट हुई अति उत्तम रक्तगर्भा 'चक्रांकित' शिला स्थित है। पूर्वकालमें सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णुने वेदोंका अपहरण करनेवाले शंखासुरको जहाँ मारा है, वह विष्णुक्षेत्र कहा गया है। उसीको शंखोदक तीर्थ भी कहते हैं। वह शंखाकार दिखायी देता है। उसमें स्नान करके मनुष्य ब्रह्महत्यासे मुक्त हो जाता है तथा शूद्रको भी लगातार सात जन्मोंतक ब्राह्मणयोनि प्राप्त होती है।

तत्पश्चात् गोष्पद तीर्थको जाय, जहाँ श्राद्ध करके मनुष्य गयासे सातगुना अधिक फल पाता है। वहीं श्राद्ध करके वेननन्दन पृथुने अपने पिताको पाप-योनिसे मुक्त किया था।

न्यंकुमती नदी परम पवित्र और महासिद्ध है। वह इस क्षेत्रकी सीमाके लिये लायी गयी है। सब पापोंका नाश करनेवाली वह नदी पर्णादित्यसे दक्षिण भागमें स्थित है। नारायणगृहसे उत्तर दिशामें थोड़ी ही दूरपर उसकी स्थिति है। उसीके भीतर विख्यात गोष्पद नामक तीर्थ है। गोष्पदके समीप थोड़ी ही दूरपर नागराज अनन्त स्वतः प्रकट हुए हैं, जो पृथ्वीपर उस तीर्थकी रक्षाके लिये नियुक्त किये गये हैं। नरकसे अत्यन्त भयभीत होनेवाले पितर पुत्रप्राप्तिकी इच्छा रखते हैं और कहते हैं—'हमारे वंशजोंमेंसे जो गोष्पदतीर्थकी यात्रा करेगा, वही हमारा उद्धार करनेवाला होगा।' गोष्पदतीर्थमें पुत्रको देखकर पितरोंके यहाँ उत्सव मनाया जाता है। खीर, मधु, सत्तू, आटा, तिल और अक्षत आदिसे वहाँ श्राद्ध करके मनुष्य अपने पितरोंको स्वर्गलोकमें भेज देता है। उस तीर्थमें श्रेष्ठ पुरुष नास्तिकका संग न करे। सब सामग्रियोंके सहित श्रद्धालु पुरुष आस्तिक मनुष्यके साथ उस तीर्थमें जाय और वहाँ पहुँचकर मन-ही-मन यह भावना करे कि मैं गया तीर्थमें आया हूँ। इस प्रकार जो ब्राह्मण प्रतिग्रहरहित होकर वहाँकी यात्रा करता है, उसे पग-पगपर अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है। वहाँ न्यंकुमती नदीमें स्नान करके पितरोंकी मुक्तिके लिये विधिपूर्वक श्राद्ध-तर्पण करे। तर्पणके समय इस प्रकार कहे—

**ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं देवर्षिपितृमानवाः।**
**तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृमातामहादयः॥**

'ब्रह्माजीसे लेकर तृणपर्यन्त समस्त देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य तथा माता और मातामह आदि समस्त पितर मेरे दिये हुए जलमें तृप्त हों।'

इस प्रकार विधिपूर्वक तर्पण करके मनुष्य शास्त्रोक्त विधिसे पिण्डयुक्त श्राद्ध करे। पहले शास्त्रके ज्ञाता निर्दोष ब्राह्मणोंको आमन्त्रित करके उन्हें अर्घ्य देकर इस प्रकार कहे—

**कव्यवाडनलः सोमो यमश्चैवार्यमा तथा।**
**अग्निष्वात्ता बर्हिषदः सोमपाः पितृदेवताः॥**
**आगच्छन्तु महाभागाः युष्माभी रक्षितास्त्विह।**
**मदीयाः पितरो ये च कुले जाताः सनाभयः॥**
**तेषां पिण्डप्रदाताहमागतोऽस्मि पितामह॥**

'कव्यवाट् अनल, सोम, यम, अर्यमा, अग्निष्वात्त, बर्हिषद् और सोमप नामके पितृदेवताओ! आप सभी महाभाग यहाँ पधारें और आपके द्वारा सुरक्षित जो मेरे पितर, वंशज एवं सहोदर हों, वे भी यहाँ पदार्पण करें। पितामह! उन सबको पिण्डदान देनेके लिये मैं यहाँ आया हूँ।'

यों कहकर फिर निम्नांकित मन्त्रका उच्चारण करे—

**पिता पितामहश्चैव प्रपितामह एव तु।**
**माता पितामही चैव तथैव प्रपितामही॥**
**मातामहस्तत्पिता च प्रमातामहकादयः।**
**तेषां पिण्डो मया दत्तो ह्यक्षय्यमुपतिष्ठतु॥**
**ॐ नमो भगवते भर्त्रे सोमभौमेज्यरूपिणे।**

'पिता, पितामह, प्रपितामह, माता, पितामही, प्रपितामही, मातामह, प्रमातामह तथा वृद्धप्रमातामह आदि जो पितर हैं, उनके लिये मेरे द्वारा दिया हुआ यह पिण्ड अक्षयरूपसे उपस्थित हो। सोम, मंगल और बृहस्पतिरूप भगवान् विश्वम्भरको नमस्कार है।'

इस प्रकार नमस्कार एवं पूजन करके गोष्पदके समीप अनाथ पितरोंके लिये पिण्डदान करे। उस समय निम्नांकित स्तुतिका पाठ करना चाहिये—

**अस्मत्कुले मृता ये च गतिर्येषां न विद्यते।**
**रौरवे चान्धतामिस्त्रे कालसूत्रे च ये गताः॥**
**तेषामुद्धरणार्थाय इदं पिण्डं ददाम्यहम्।**
**अनन्तयातनासंस्थाः प्रेतलोकेषु ये गताः॥**
**पशुयोनिं गता ये च पक्षिकीटसरीसृपाः।**
**अथवा वृक्षयोनिस्थास्तेभ्यः पिण्डं ददाम्यहम्॥**
**येऽबान्धवा बान्धवा वा येऽन्यजन्मनि बान्धवाः।**
**ते सर्वे तृप्तिमायान्तु पिण्डदानेन सर्वदा॥**
**ये केचित् प्रेतरूपेण वर्तन्ते पितरो मम।**
**ते सर्वे तृप्तिमायान्तु पिण्डदानेन सर्वदा॥**
**दिव्यन्तरिक्षभूमिस्थाः पितरो बान्धवादयः।**
**मृता असंस्कृता ये च तेषां पिण्डस्तु मुक्तये॥**
**पितृवंशे मृता ये च मातृवंशे तथैव च।**
**गुरुश्वशुरबन्धूनां ये चान्ये बान्धवाः स्मृताः॥**
**ये मे कुले लुप्तपिण्डाः पुत्रदारविवर्जिताः।**
**क्रियालोपगता ये च जात्यन्धाः पङ्गवस्तथा॥**
**विरूपा आमगर्भाश्च ज्ञाताज्ञाताः कुले मम।**
**तेषां पिण्डो मया दत्तो ह्यक्षय्यमुपतिष्ठतु॥**
**प्रेतत्वात् पितरो मुक्ता भवन्तु मम शाश्वतम्।**
**यत् किञ्चिन्मधुसंमिश्रं गोक्षीरं घृतपायसम्॥**
**अक्षय्यमुपतिष्ठेत् तत् त्वस्मिंस्तीर्थे तु गोष्पदे।**

'हमारे कुलमें जो लोग मरे हैं किंतु जिनकी सद्गति नहीं हुई है, जो रौरव, अन्धतामिस्त्र और कालसूत्र आदि नरकोंमें पड़े हैं, उनके उद्धारके लिये मैं यह पिण्ड देता हूँ। जो अनन्त यातनाओंमें पड़े हैं, प्रेतलोकोंमें गये हुए हैं, पशु, पक्षी, कीट, सर्प अथवा वृक्षयोनिमें स्थित हैं, उन सबके लिये मैं यह पिण्ड देता हूँ। जो हमारे बान्धव नही हैं, जो हमारे बान्धव हैं अथवा जो अन्य जन्मोंमें बान्धव रहे हैं, वे सब इस पिण्डदानसे सदा तृप्त रहें। मेरे जो पितर प्रेतरूपमें विद्यमान हैं, वे सब इस पिण्डदानसे सदा तृप्त रहें। जो पितर तथा बान्धव आदि स्वर्ग, अन्तरिक्ष एवं भूलोकमें स्थित हैं, जिनका मरनेके बाद संस्कार नहीं हुआ है, यह पिण्ड उन सबको मुक्ति देनेवाला हो। जो मेरे पितृकुलमें, मातृकुलमें, गुरुकुल, श्वशुरकुल तथा बन्धुकुलमें रहे हैं तथा इनके अतिरिक्त भी जो बान्धव कहे

गये हैं, मेरे कुलमें जिनके लिये पिण्डदान आदि क्रियाएँ नहीं हुई हैं, जो स्त्री और पुत्रसे रहित हैं, जिनके श्राद्ध आदि कर्मोंका लोप हो गया है, जो जन्मसे अन्धे, पंगु तथा विकृत रूपवाले रहे हैं, जो कच्चे गर्भकी अवस्थामें ही मर गये हैं—इस प्रकार मेरे कुलमें जो ज्ञात अथवा अज्ञात पूर्वज मृत्युको प्राप्त हुए हैं, उन सबके लिये मैंने यह पिण्ड दिया है। यह अक्षय होकर उन सबको प्राप्त हो। मेरे सभी पितर सदाके लिये प्रेतभावसे मुक्त हो जायँ। इस गोष्पद तीर्थमें जो कुछ भी मधुमिश्रित गोदुग्ध, घृत और खीर आदि दिया गया है, वह सब पूर्वोक्त सभी पितरोंको अक्षय होकर प्राप्त हो।'

तदनन्तर श्राद्धकर्ता वहाँ वेदमन्त्रोंका स्वाध्याय करे। सब पुराण सुनाये। ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य तथा रुद्र-सम्बन्धी नाना प्रकारके स्तोत्रोंका पाठ करे। ऐन्द्रसूक्त, सोमसूक्त, पवमानसूक्त, बृहत्साम, रथन्तरसाम, ज्येष्ठसाम, शान्तिकाध्याय, मधुब्राह्मण तथा मण्डल-ब्राह्मणका भी यथासम्भव पाठ करे। ये सब स्तोत्र पितरोंको प्रसन्न करनेवाले हैं। इस प्रकार न्यंकुमती नदीमें स्नान करके उत्तम गोष्पद तीर्थमें विधिवत् पिण्डदान करनेके पश्चात् पुनः निम्नांकित मन्त्रका पाठ करे—

**साक्षिणः सन्तु मे देवा ब्रह्माद्या ऋषिपुङ्गवाः।**
**मयेदं तीर्थमासाद्य पितॄणां निष्कृतिः कृता॥**
**आगतोऽस्मि इदं तीर्थं पितृकार्ये सुरोत्तमाः।**
**भवन्तु साक्षिणः सर्वे मुक्तश्चाहमृणत्रयात्॥**

'ब्रह्मा आदि देवता और श्रेष्ठ मुनिवर साक्षी रहें। मैंने इस तीर्थमें आकर पितरोंका ऋण चुकाया है। श्रेष्ठ देवताओ! मैं पितृकार्यके लिये इस तीर्थमें आया हूँ। आज मैं तीनों ऋणोंसे मुक्त हो गया, इस बातके आप सभी लोग साक्षी रहें।'

इस प्रकार उत्तम गोष्पद तीर्थकी परिक्रमा करके ब्राह्मणोंको दक्षिणा दे और पिण्डोंका नदीमें विसर्जन कर दे। वृद्धि-श्राद्धमें मातासे आरम्भ करके और गयामें पितासे प्रारम्भ करके श्राद्ध करना चाहिये। इस तीर्थमें श्राद्ध और पिण्डदान करनेवाला पुरुष अपने पितरोंको विष्णुलोकमें पहुँचा देता हैं। गोष्पद तीर्थमें जो एक ब्राह्मणको भोजन कराता है, उसे कोटि ब्राह्मणोंको भोजन देनेका पुण्य मिलता है।

पूर्वकालमें वेन नामक राजा हो गया है। वह मृत्युकी कन्याका पुत्र था। अतः मातामहके दोषसे उसमें भी क्रूरतापूर्ण विचार आ गया। उसने अपने धर्मको पीछे छोड़कर पापमें मन लगाया। वेद-शास्त्रोंका उल्लंघन करके वह अधर्ममें तत्पर हो गया। उसका विनाशकाल उपस्थित था; इसलिये उसकी ऐसी बुद्धि हुई कि 'मैं ही सब यज्ञों और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके द्वारा स्तवन और पूजन करने योग्य हूँ।' इस निश्चयके द्वारा धर्मका उल्लंघन करके वह प्रजाजनोंको पीड़ा देने लगा। उसका यह बर्ताव देख मरीचि आदि महर्षि कुपित होकर बोले—'वेन! तुम अधर्म न करो। तुम जो कुछ करते हो, वह सनातन धर्म नहीं है। तुमने राजसिंहासनपर बैठते समय पहले यह प्रतिज्ञा की है कि 'मैं प्रजाजनोंका पालन करूँगा।' परंतु अब इसके विपरीत आचरण करते हो।'

महर्षियोंके यों कहनेपर दुर्बुद्धि वेन हँसकर बोला—'मेरे सिवा कौन धर्मकी सृष्टि करनेवाला है। पराक्रम, शास्त्रज्ञान, तपस्या और सत्यके द्वारा मेरी समानता करनेवाला इस भूतलपर कौन है। तुमलोग मुझे धर्मकी उत्पत्तिका स्थान समझो। मैं चाहूँ तो इस पृथ्वीको जला सकता हूँ, संसारकी सृष्टि कर सकता हूँ और सबका संहार भी कर सकता हूँ।'

गर्व और उद्दण्डतासे मोहित हुए वेनको जब वे किसी प्रकार समझानेमें सफल न हुए, तब सभी महर्षियोंने कुपित हो अथर्ववेदीय आभिचारिक मन्त्रके प्रयोगसे महाबली वेनको मारकर उसकी बायीं भुजाका मन्थन किया। उससे एक छोटा-सा काले रंगका पुरुष पैदा हुआ। वह भयभीत हो हाथ जोड़कर सामने खड़ा हो गया। उसकी

ओर देखकर मुनियोंने कहा—'निषीद (बैठ जाओ)।' इससे वह निषाद कहलाया और निषादवंशका प्रवर्तक हुआ। उससे तुम्बर और खस आदि अन्य जो धीवर जातियाँ उत्पन्न हुईं, उन्होंने विन्ध्यगिरिको अपना निवास स्थान बनाया; फिर उन महर्षियोंने वेनके दाहिने हाथको अरणीकी भाँति मथा। इससे सूर्य और अग्निकी भाँति पृथु पैदा हुए। उनका शरीर बड़ा तेजस्वी था। उन्होंने लोकरक्षाके लिये आजगव नामक धनुष, सर्पोंके समान बाण, खड्ग तथा कवच धारण किया। उनके प्रकट होनेपर सब प्राणी हर्षमें भर गये। वेन स्वर्गलोकको चला गया। तदनन्तर नदियाँ और समुद्र भाँति-भाँतिके रत्न लेकर राजा पृथुका अभिषेक करनेके लिये उपस्थित हुए। ऋषियों और देवताओंके साथ भगवान् ब्रह्माजी भी आये। आंगिरस देवताओंने प्रतापी राजा पृथुको राजपदपर अभिषिक्त किया। उनके राज्यमें पृथ्वी बिना जोते-बोये ही अन्न पैदा करती थी। चिन्तन करनेमात्रसे ही मन्त्र सिद्ध हो जाते थे। सभी गौएँ कामधेनु थीं और वृक्षोंके एक-एक पत्तेसे मधुकी प्राप्ति होती थी। राजा पृथुको देखकर प्रसन्न हुए महर्षियोंने प्रजाजनोंसे कहा—'ये वेननन्दन राजा पृथु तुम सब लोगोंको जीविका प्रदान करेंगे।' यह सुनकर प्रजाओंने महाभाग पृथुका स्तवन किया और कहा—'आप महर्षियोंके कथनानुसार हमारे लिये आजीविकाकी व्यवस्था करें।' तब बलवान् राजा पृथुने प्रजाकी रक्षाकी इच्छासे धनुष-बाण लेकर पृथ्वीपर आक्रमण किया। पृथ्वी उनके भयसे थर्रा उठी और गायका रूप धारण करके भागी। पृथुने भी उसका पीछा किया। अन्तमें वह उन्हींकी शरणमें आयी और हाथ जोड़कर बोली—'राजन्! मेरे बिना तुम प्रजाको कैसे धारण करोगे? मेरे ऊपर ही सम्पूर्ण लोक स्थित हैं। मैं ही इस जगत्को धारण करती हूँ। मेरे बिना सारी प्रजा नष्ट हो जायगी। अतः तुम्हें मेरा वध नहीं करना चाहिये। महीपते! क्रोध छोड़ो। मैं तुम्हारी आज्ञाके अनुकूल चलूँगी। तुम्हें धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये।'

पृथ्वीकी यह बात सुनकर धर्मात्मा एवं उदार राजा पृथुने अपने क्रोधको रोका और इस प्रकार कहा—'जो अपने या पराये एकके हितके लिये स्वार्थवश बहुत-से प्राणियोंका वध करता है, उसे पाप लगता है। यदि किसी एकको मार देनेसे बहुत लोग सुखी हो जाते हों तो उसके मारनेपर पातक नहीं लगता। अतः वसुन्धरे! यदि तू मेरी आज्ञासे संसारका हित नहीं करेगी तो मैं प्रजाके लिये तेरा वध कर डालूँगा। मेरी आज्ञाके विपरीत चलनेवाली तुझ वसुधाको बाणोंसे मारकर मैं स्वयं अपने शरीरको विशाल बनाकर समस्त प्रजाको धारण करूँगा; अतः तू मेरी आज्ञासे समस्त प्रजाको जीविका प्रदान कर; क्योंकि ऐसा करनेमें तू समर्थ है।'

राजा पृथुके इस प्रकार कहनेपर पृथ्वीने उत्तर दिया—'राजन्! मैं यह सब करूँगी। तुम मेरे लिये बछड़ेकी कल्पना करो। जिसके प्रति वत्सल होकर मैं दूधके रूपमें अन्न प्रदान करूँ। इसके सिवा मुझे समतल बनाओ, जिससे मैं अपने दूधको सर्वत्र फैला सकूँ।'

तब राजा पृथुने धनुषकी कोटिसे पर्वतों और शिलाखण्डोंको उखाड़कर एक जगह किया और चाक्षुष मनुको बछड़ा बनाकर उन्होंने अपने हाथमें अन्नोंको दुहा। तदनन्तर चन्द्रमा बछड़ा हुए, बृहस्पति दुहनेवाले बने, गायत्री आदि छन्द दुग्धपात्र हुए और तपस्या एवं सनातन ब्रह्म उन्हें दुग्धरूपमें प्राप्त हुआ। फिर इन्द्र आदि देवताओंने सुवर्णमय पात्र लेकर इस पृथ्वीको दुहा। उस समय इन्द्र बछड़ा और सूर्य दुहनेवाले हुए। उनका दूध अमृतमय था। इसी प्रकार पितरोंने भी चाँदीके पात्रमें अपनी तृप्तिके लिये सुधारूप दुग्धका दोहन किया। उनके लिये वैवस्वत मनु बछड़ा और अन्तक दुहनेवाले थे। असुरोंने लोहेके पात्रमें मायाशक्तिका दोहन किया। उस समय दूध

दुहनेवाला द्विमूर्धा और बछड़ा विरोचन था। उस मायारूप दूधसे ही दैत्य आज भी मायावी हैं। नागोंने तक्षकको बछड़ा बनाकर तूँबेके पात्रमें विषरूपी दूध दुहा। उस समय वासुकि दोग्धा थे। इसीलिये सर्प बड़े विषैले होते हैं। यक्षों और पुण्यजनोंने कुबेरको बछड़ा बनाकर कच्चे पात्रमें अन्तर्धान-शक्तिका दोहन किया। उनके दोग्धा थे रजतनाग। राक्षसों और पिशाचोंने भी पृथ्वीसे कपालरूपी पात्रमें रक्तमय दूधका दोहन किया। उनकी ओरसे सुमाली बछड़ा था और ब्रह्मोपेत कुबेर दोग्धा। गन्धर्वों और अप्सराओंने चित्ररथको बछड़ा बनाकर कमलके पात्रमें उत्तम गन्धका दोहन किया। मुनिपुत्र रुचि उनकी ओरसे दोग्धा हुए थे। पर्वतोंने पृथ्वीसे मूर्तिमयी ओषधियों तथा भाँति-भाँतिके रत्नोंको दुहा। उनका बछड़ा हिमालय, दुहनेवाला मेरुगिरि तथा पात्र हिमालय था। वृक्ष और लता आदि वनस्पतियोंने पलाशका पात्र लेकर पृथ्वीको दुहा। कटनेपर पुनः अंकुरित हो जाना, यही उनका दूध था। खिला हुआ शालवृक्ष उनका दोग्धा और पाकड़का वृक्ष उनका बछड़ा था।

इस प्रकार समस्त लोकोंके हितके लिये राजा पृथुने सबका धारण-पोषण करनेवाली इस पृथ्वीका दोहन किया। उन्होंने धर्मसे भूतलवासियोंका रंजन किया, इसलिये उन्हें 'राजा' कहा गया। तभीसे इस पृथ्वीपर राजा शब्दकी प्रसिद्धि हुई।

## पृथुके गोष्पद तीर्थमें श्राद्ध-यज्ञ करनेसे वेनको स्वर्गप्राप्ति

**महादेवजी कहते हैं**—पार्वती! राज्य पाकर राजा पृथुने सोचा, 'मेरे पिता बड़े अधर्मी थे, उन्होंने यज्ञ आदिका उच्छेद कर डाला था; अतः उन्हें किस लोककी प्राप्ति हुई है, इसका ज्ञान मुझे कैसे हो? वे ब्राह्मणोंके द्वारा मारे गये हैं। उनकी क्रिया किस प्रकार करनी चाहिये?' इस प्रकार सोच-विचारमें पड़े हुए राजा पृथुके समीप देवर्षि नारद आये। राजाने उन्हें आसन देकर प्रणाम किया और पूछा—'भगवन्! आप सब संसारके शुभ-अशुभको जानते हैं, मेरे पिता बड़े दुराचारी और देवताओं तथा ब्राह्मणोंके निन्दक थे। उन्हें शुभ या अशुभ—किस स्थानकी प्राप्ति हुई है?'

उन्हें शुभ या अशुभ किस स्थानकी प्राप्ति हुई है, नारदजीने दिव्य दृष्टिसे यह जानकर कहा—'राजन्! जहाँ जल और वृक्षोंसे रहित मरुप्रदेश है, वहाँ म्लेच्छोंके बीचमें उत्पन्न होकर तुम्हारे पिता यक्ष्मा और कुष्ठ रोगसे पीड़ित हैं।'

नारदजीकी यह बात सुनकर राजा पृथुने विचार किया कि 'संसारमें पुत्र वही कहलाता है, जो पिताका उद्धार करे। मेरे द्वारा किस प्रकार पिताजी पापमुक्त हो सकेंगे?' यह सोचकर उन्होंने पुनः नारदजीसे पूछा—'भगवन्! किस कर्मसे मेरे पिताकी मुक्ति होगी?'

**नारदजीने कहा**—राजन्! प्रधान-प्रधान तीर्थोंकी यात्रा करो। इससे तुम्हारे पिताका मोक्ष होगा।

नारदजीका यह वचन सुनकर राजा पृथुने राज्यका सारा भार मन्त्रीके ऊपर रख दिया और स्वयं तीर्थसेवनके लिये निकले। अनेक तीर्थोंकी यात्रा करके वे प्रभासक्षेत्रमें आये। उस तीर्थका माहात्म्य जाननेवाले ब्राह्मणोंको आगे करके महाराज पृथु न्यंकुमती नदीके समीप गये। वहाँ ब्राह्मणोंने उन्हें प्रेतशिलामें स्थित पदरूप तीर्थका दर्शन कराया। उस विमल तीर्थका दर्शन करके राजाके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे। उन्होंने यज्ञोंकी सिद्धिके लिये कुण्डों, वेदियों तथा मण्डपोंका निर्माण किया। तदनन्तर पर्याप्त दक्षिणावाला यज्ञ विधिपूर्वक प्रारम्भ हुआ। राजा पृथुको तेजस्वी पितरोंने प्रत्यक्ष दर्शन दिया और श्राद्ध ग्रहण करके सन्तुष्ट होकर कहा—'राजन्! तुम धन्य हो, पुण्यस्वरूप हो और हम तीनों—तुम्हारे

पिता, पितामह और प्रपितामह भी परम धन्य हैं, जिन्हें इस गोष्पद तीर्थमें श्राद्ध करके तुमने तार दिया।' यों कहकर वेनसहित सब पितर विमानपर बैठे और स्वर्गलोकको चले। जाते समय वेनने कहा—'राजन्! इधर मैं चार जन्म ले चुका। पहले जन्ममें कोढ़ी था, दूसरेमें पापी हुआ, तीसरेमें भी दुराचारी ही था और चौथेमें उच्छिष्ट-भोजी चाण्डाल हुआ। आज मैं सब पापोंसे मुक्त होकर स्वर्गलोकको जाता हूँ। महाभाग! अब तुम जाओ और चिरकालतक राज्य भोगो। पुत्रके द्वारा पितरोंके लिये जो कुछ किया जाता है, वह सब तुमने सफल कर दिया।'

पिताकी यह बात सुनकर राजा पृथु कुटुम्बियोंसहित बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने भूमि और सुवर्ण आदि दान देकर ब्राह्मणोंको सन्तुष्ट किया। संसारमें कोई ऐसी देने योग्य वस्तु नहीं, जिसका उन्होंने वहाँ दान न किया हो। इस प्रकार पितरोंका प्रत्यक्ष दर्शन करानेवाला उस तीर्थका प्रभाव देखकर राजा अपनी राजधानीको चले गये। सारी पृथ्वीका राज्य भोगकर देहत्यागके पश्चात् उन्होंने दिव्य लोक प्राप्त किया।

गोष्पद तीर्थमें स्नान करके यत्नपूर्वक वेदज्ञ ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करे और विधिपूर्वक श्राद्धमें उन्हें भोजन कराये। पितरोंकी तृप्ति चाहनेवाले पुरुषको वहाँ पिताका श्राद्ध अवश्य करना चाहिये। इसके लिये वहाँ किसी तिथि, नक्षत्र, पर्व और मास आदिका नियम नहीं है। वहाँ सदा श्रद्धायुक्त चित्तसे यात्रा करनी चाहिये। किसी विशेष कालका वहाँके लिये नियम नहीं है।

## नारायणगृह तथा जालेश्वरलिंगकी महिमा, आपस्तम्ब और नाभागकी कथा, गौओं और संतोंका माहात्म्य

**महादेवजी कहते हैं**—पार्वती! गोष्पदके दक्षिण समुद्रतटपर नारायणगृह है, जिसमें साक्षात् विष्णु निवास करते हैं। वे सत्ययुगमें सुवर्णमय, त्रेतामें रत्नमय, द्वापरमें रजतमय और कलियुगमें प्रस्तरमय विग्रहमें रहते हैं। सरस्वतीके पश्चिम तटपर स्वयं श्रीहरिके द्वारा निर्मित चक्रतीर्थ है। उसमें स्नान करके मनुष्य ब्रह्महत्याका नाश कर देता है। भगवान् विष्णु जब दैत्योंका विनाश करते हैं, तब विश्रामके लिये उस घरमें स्थित होते हैं। इसलिये इस भूतलपर वह नारायणगृहके नामसे प्रसिद्ध है। वहाँ सत्ययुगमें भगवान् जनार्दनके नामसे प्रसिद्ध होते हैं, त्रेतामें उनका नाम मधुसूदन होता है, द्वापरमें उन्हें पुण्डरीकाक्ष कहते हैं और कलियुगमें वे नारायण कहलाते हैं। इस प्रकार चारों युगोंमें श्रीविष्णु धर्मकी स्थापना करके उस स्थानपर आते हैं। जो एकादशीको निराहार रहकर उन नारायणदेवका दर्शन करता है, वह मृत्युके पश्चात् उनके आनन्दमय अविनाशी धामको प्राप्त होता है।

न्यंकुमतीके किनारे उत्तम कुबेरनगर है। उससे अग्निकोणमें कोटीश्वरलिंग है। कुबेरसे पूर्व दिशामें बालार्केश्वर हैं और उत्तर दिशामें अम्बिकास्थान है। वहाँ कुण्डमें स्नान करनेसे ब्रह्महत्याका नाश होता है। बालार्केश्वर और अम्बिकाके दर्शनसे वाजपेय यज्ञका फल मिलता है। कुबेरनगरमें सैकड़ों तीर्थ और शिवलिंग हैं। उनका दर्शन करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

देविका नदीके तटपर जालेश्वरलिंग है, जिसके दर्शनसे ब्रह्महत्या नष्ट हो जाती है। पूर्वकालमें आपस्तम्ब नामके एक श्रेष्ठ महर्षि हो गये हैं। वे प्रभासक्षेत्रमें जाकर देविका नदीके जलके भीतर रहने लगे और वहाँ भगवान् शिवका ध्यान करते हुए काष्ठकी भाँति स्थित हो गये।

तदनन्तर एक समय मछलियोंसे जीविका चलानेवाले धीवर वहाँ आये। उन्होंने वहाँ एक महाजाल बिछाकर उसे बलपूर्वक बाहरकी ओर खींचा। जालके साथ आपस्तम्बजी भी खिंच आये। तपस्यासे उद्दीप्त उन महर्षिको देखकर सब केवट भयसे व्याकुल हो उठे और चरणोंमें मस्तक रखकर उन्हें प्रणाम करके बोले—'मुने! हमने अनजानमें यह पाप कर डाला है; आप कृपा करके हमें क्षमा कर दें और इस समय आपका जो प्रिय कार्य हो, उसे करनेके लिये आज्ञा दीजिये।' मुनिने देखा अज्ञानवश यहाँ बहुत बड़ा संहार किया गया है; तथापि वे बड़े भारी क्षमाशील थे। उन्होंने दुखी होकर कहा—'यदि ज्ञानियोंका भी चित्त केवल अपने ही लाभमें रत है, ज्ञानी भी यदि स्वार्थका आश्रय लेकर ही ध्यान करते हैं, तब इस संसारके दुःखातुर प्राणी कहाँ सुख पायँगे। जो मनुष्य एकान्ततः दुःख भोगना चाहता है, उसे मुमुक्षु पुरुष पापीसे भी पापी कहते हैं। मैं कौन-सा ऐसा उपाय करूँ, जिससे समस्त दुःखी प्राणियोंके अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर उनके सब दुःखोंको अकेला ही भोगूँ? यदि मेरा कोई शुभकर्म है तो वह दीन-दुःखी प्राणियोंको प्राप्त हो और उन सबने जो दुष्कर्म किया हो, वह सब-का-सब मुझे मिल जाय। संसारके अंधे, दीन-दुखी, अंगहीन, अनाथ तथा रोगी मनुष्योंको देखकर जिसके हृदयमें दया नहीं आती, वह मेरे विचारसे राक्षस है। जो समर्थ होकर भी प्राण-संकटमें पड़े हुए भयविह्वल प्राणियोंकी रक्षा नहीं करता, वह पाप भोगता है। अतः मैं इन दीन-दुःखी भयभीत जन्तुओंको छोड़कर एक पग भी कहीं नहीं जाऊँगा। फिर स्वर्गलोककी तो बात ही क्या है।'

महर्षिकी यह बात सुनकर वे मल्लाह बहुत घबराये। उन्होंने वहाँका सब वृत्तान्त राजा नाभागसे जाकर कहा। नाभाग भी यह समाचार सुनकर ब्रह्मनन्दन आपस्तम्बजीको देखनेके लिये तुरंत वहाँ आये। उनके साथ मन्त्री और पुरोहित भी थे। उन देवकल्प मुनिका भलीभाँति पूजन करके राजाने कहा—'भगवन्! बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?'

**आपस्तम्बजीने कहा**—ये दुःखसे जीविका चलानेवाले केवट मुझको और इन जलजन्तुओंको जलसे निकालनेके कारण बड़े भारी परिश्रमसे थक गये हैं। इनके परिश्रमका जो उचित मूल्य समझो, वह दे दो।

**नाभाग बोले**—भगवन्! मैं निषादोंको इनके परिश्रमका मूल्य एक लाख स्वर्णमुद्रा दूँगा।

**आपस्तम्बने कहा**—राजन्! तुम्हें मुझे एक लाखके मूल्यसे नहीं बाँधना चाहिये। मेरे योग्य जो मूल्य हो, वह दो। अपने मन्त्रियोंके साथ सलाह कर लो।

**नाभाग बोले**—द्विजश्रेष्ठ! इन निषादोंको एक करोड़ मूल्य दे दिया जाय। यदि यह भी उचित मूल्य न हो तो और भी दिया जा सकता है।

**आपस्तम्बने कहा**—राजन्! मैं एक करोड़ या इससे अधिक मूल्यमें बेचनेयोग्य नहीं हूँ। मेरे योग्य मूल्य दो। जाओ, ब्राह्मणोंके साथ सलाह कर लो।

**नाभाग बोले**—मेरा आधा या समूचा राज्य निषादोंको दे दिया जाय। मैं इसे ठीक मूल्य समझता हूँ। आपकी क्या राय है?

**आपस्तम्बने कहा**—भूपाल! तुम्हारा आधा या समूचा राज्य भी मेरे योग्य नहीं है। मेरे योग्य मूल्य दो। समझमें न आये तो ऋषियोंके साथ विचार करो।

आपस्तम्बजीका यह वचन सुनकर राजा नाभाग अपने मन्त्री और पुरोहितोंके साथ दुःखसे आतुर एवं चिन्तित हो गये। इसी समय महातपस्वी महर्षि लोमश वहाँ आ गये और राजा नाभागसे बोले—'तुम डरो मत, मैं मुनिको सन्तुष्ट कर लूँगा।'

**नाभाग बोले**—महाभाग! इन महात्मा मुनिका मूल्य बताइये और कुल, कुटुम्ब एवं बन्धु-

बान्धवोंसहित मुझ सेवककी इनके कोपसे रक्षा कीजिये। ये साक्षात् भगवान् रुद्र हैं। चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंको भस्म कर सकते हैं। फिर मुझ विषयासक्त मानवकी तो बिसात ही क्या है।

**लोमशजीने कहा**—महाराज! तुम तो स्तुत्य हो, ये द्विजश्रेष्ठ भी सम्पूर्ण जगत्के लिये पूजनीय हैं और गौएँ दिव्य होती हैं; अतः इनके मूल्यमें एक गौ दे दो।

यह सुनकर राजा नाभाग मन्त्री और पुरोहितोंसहित बहुत प्रसन्न हुए और आपस्तम्ब मुनिसे बोले—'भगवन्! उठिये, उठिये। अब मैंने निस्सन्देह आपको खरीद लिया। मुनिश्रेष्ठ! यह गौ ही आपका योग्यतम मूल्य है।'

**आपस्तम्बने कहा**—राजन्! लो, अब मैं अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक उठता हूँ। अबकी बार तुमने ठीक मूल्यपर मुझे खरीदा है। मैं गौओंसे बढ़कर परम पवित्र मूल्य दूसरा कुछ नहीं देखता। गौओंकी परिक्रमा तथा निरन्तर पूजा करनी चाहिये। वे मंगल-निकेतन हैं, स्वयम्भू ब्रह्माजीने इन गौओंकी दिव्य सृष्टि की है। ब्राह्मणोंके स्थान, गृह तथा देवताओंके मन्दिर भी जिनके गोबरसे शुद्ध होते हैं, उन गौओंसे बढ़कर दूसरा कौन प्राणी है। गौओंका मूत्र, गोबर, दूध, दही और घी—ये पाँचों पवित्र हैं और सम्पूर्ण जगत्को पवित्र करते हैं।

निम्नांकित मन्त्रका सदा जप करना चाहिये—

**गावो ममाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च।**
**गावो मे हृदये चैव गवां मध्ये वसाम्यहम्॥**

'गौएँ मेरे आगे रहें। गौएँ सदा मेरे पीछे भी रहें। गौएँ मेरे हृदयमें रहें। मैं सदा गौओंके बीचमें निवास करूँ।'

जो मनुष्य पवित्र एवं जितेन्द्रिय होकर इस विशुद्ध मन्त्रका जप करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होता और स्वर्गलोकमें जाता है। प्रतिदिन गौओंको भक्तिपूर्वक ग्रास समर्पित करना चाहिये। जो उन्हें गोग्रास दिये बिना स्वयं भोजन करता है, वह दुर्गतिको प्राप्त होता है। जो प्रतिदिन गोग्रास देता है, वह उतनेसे ही अग्निहोत्र, पितृतर्पण और देवपूजन—सब कुछ कर लेता है। गोग्रास देनेका मन्त्र इस प्रकार है—

**सौरभेयी जगत्पूज्या देवी विष्णुपदे स्थिता।**
**सर्वमेतन्मया दत्तं मया दत्तं प्रतीच्छतु॥**

'सम्पूर्ण जगत्के लिये पूजनीय सौरभेयी देवी भगवान् विष्णुके गोलोकधाममें स्थित हैं। मैंने यह सब अन्न उनकी सेवामें समर्पित किया है। मेरे दिये हुए इस आहारको वे ग्रहण करें।'

गोपुत्रों (बैलों)-की रक्षा करनेसे, गौओंको सहलाने और खुजलानेसे तथा दुर्बल एवं पीड़ितोंकी रक्षा करनेसे मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है। आदि, मध्य और अन्त—तीनों कालोंमें गौओंकी स्थिति बतायी गयी है। वे देवताओंके दूध, घी एवं अमृतकी सदा रक्षा करती हैं; इसलिये उनका दान करना चाहिये। उनकी नित्य पूजा करनी चाहिये। वे स्वर्गमें पहुँचानेके लिये सीढ़ीके तुल्य बतायी गयी हैं।

इस प्रकार गौओंका उत्तम माहात्म्य सुनकर वे निषाद महात्मा आपस्तम्बके चरणोंमें प्रणाम करके बोले—'संतोंका वार्तालाप, दर्शन, स्पर्श, कीर्तन तथा स्मरण—ये सभी निश्चय ही पवित्र करनेवाले हैं—ऐसी बात सुनी गयी है। मुने! हमारे साथ आपने सम्भाषण किया और हमें आपका दर्शन प्राप्त हुआ। अब हमपर अनुग्रह कीजिये और हमारी दी हुई यह गौ ग्रहण कीजिये।'

**आपस्तम्ब बोले**—निषादो! यह मैं तुमसे गोदान लेता हूँ। तुम पापरहित होकर जलसे निकाले हुए इन मत्स्योंके साथ ही स्वर्गलोकको जाओ। प्रतिग्रहरूप निन्दित कर्मसे भी दूसरे प्राणियोंकी प्रसन्नताका कार्य करके यदि मैं नरकमें पड़ूँगा तो उसे भी स्वर्ग ही समझूँगा। मैंने मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा जो कुछ भी पुण्यकर्म किया हो, उससे समस्त दुःखातुर प्राणी शुभ गतिको प्राप्त हों।

तदनन्तर उन विशुद्ध चित्तवाले महर्षिके प्रसादसे वे निषाद उनकी बात पूरी होते ही मत्स्योंसहित स्वर्गलोकमें चले गये। मछलियों और मछलीमारोंको इस प्रकार स्वर्गलोकमें जाते देख मन्त्रियों और सेवकोंसहित राजा नाभाग विस्मित होकर बोले—'कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको सदैव संतोकी सेवा करनी चाहिये। साधु पुरुष पुण्यतीर्थोंके जलके समान होते हैं। इस लोकमें यदि क्षणभर भी उनकी उपासना की जाय तो वह निष्फल नहीं होती। संतोंके साथ बैठना चाहिये। संतोंके साथ उत्तम कथा-वार्ता करनी चाहिये। जिस सभामें संत बैठे हों, वहाँ बैठना चाहिये। दुष्ट पुरुषोंके साथ कुछ भी नहीं करना चाहिये। संत समागमसे ही ये मत्स्य और मल्लाह पुण्यात्मा मनुष्योंकी भाँति स्वर्गलोकमें चले गये।'

तदनन्तर मुनिवर आपस्तम्ब और महामुनि लोमश राजा नाभागको नाना प्रकारके अभीष्ट वर माँगनेके लिये प्रेरित करने लगे। तब राजाने अत्यन्त दुर्लभ धर्मबुद्धिको वरण किया, अर्थात् यह वर माँगा कि मेरी बुद्धि सदा धर्ममें ही लगी रहे। वे दोनों मुनि 'तथास्तु' कहकर प्रसन्नतापूर्वक राजाकी प्रशंसा करते हुए बोले—'राजेन्द्र! तुम धन्य हो, जो तुम्हारी बुद्धि धर्ममें लगी है। मनुष्यमात्रके लिये धर्म अत्यन्त दुर्लभ है। विशेषतः राजाओंके लिये तो वह परम दुर्लभ है। यदि राजा मदोन्मत्त होकर स्वधर्मका परित्याग न करे तो संसारमें उससे श्रेष्ठ कौन पुरुष होगा। राजाओंको सदा जन्म लेना पड़ता है—यह ध्रुव है। उन्हें सदा मोह होता—यह भी ध्रुव है और मोहसे नरककी प्राप्ति भी ध्रुव है। अतएव बुद्धिमान् पुरुष राज्यकी निन्दा करते हैं। विषय-लोलुप मनुष्य राज्यको अधिक महत्त्व देते हैं; किंतु मनीषी मानव उसीको नरकके समान देखते हैं, अतः महाराज! यदि तुम अपने लिये सनातन गति चाहते हो तो कभी मद न करना; क्योंकि वह लोक-परलोक दोनोंका नाश करनेवाला है।'

यों कहकर वें दोनों महात्मा अपने-अपने आश्रमको चले गये। नाभागने भी वर पाकर प्रसन्नतापूर्वक नगरमें प्रवेश किया। पार्वती! इस प्रकार देविका नदीका प्रभाव बताया गया। मुनीश्वर आपस्तम्बने वहाँ शिवलिंगकी स्थापना की। वे निषादोंके जालमें पड़े थे, इसलिये उनके द्वारा स्थापित शिवलिंगका नाम जालेश्वर हुआ। चैत्र शुक्ला त्रयोदशीको जो वहाँ पितरोंके लिये पिण्डदान करता है, उसके उस श्राद्धका कभी अन्त नहीं होता।

## चन्द्रेश्वर, कपिलेश्वर तथा नलेश्वरकी महिमा

**महादेवजी कहते हैं**—पार्वती! आशापुर विघ्नराजके स्थानसे दक्षिण एवं नैर्ऋत्यकोणमें थोड़ी ही दूरपर एक पापहारक चन्द्रेशलिंग है। वहीं अमृतकुण्ड और कुलकुण्ड भी हैं। जो उन कुण्डोंमें स्नान करके चन्द्रेश्वरकी पूजा करेगा, वह सहस्र वर्षोंतक तपस्या करनेका फल पायेगा। वहीं चन्द्रतड़ाग है, जिसका विस्तार सोलह धनुषका है।

वहाँसे परम उत्तम कपिलेश्वरलिंगका दर्शन करनेके लिये जाय। वह स्थान शशिभूषणसे पूर्व, कोटितीर्थसे पश्चिम, जरद्गवसे दक्षिण तथा समुद्रसे उत्तर है। यह कपिलक्षेत्र पुण्यहीन पुरुषोंके लिये दुर्लभ है। पूर्वकालमें महर्षि कपिलने वहाँ महेश्वरकी स्थापना करके दस हजार वर्षोंसे अधिक कालतक बड़ी भारी तपस्या की थी। उनके द्वारा वहाँ कपिलधारा नामकी दिव्य महानदी लायी गयी है। समुद्रमें आज भी उसका दर्शन होता है। जो कपिला नदीमें नहाकर कपिला गायका दान करता है, वह कोटि गोदानके फलका भागी होता है। यह सभी पापोंका एकमात्र प्रायश्चित्त बताया

गया है। भादोंमासके कृष्णपक्षमें षष्ठी तिथिको यदि मंगलवार, रोहिणी नक्षत्र तथा व्यतीपात योग हो तो वह कपिला-षष्ठी कही जाती है। उस दिन कपिलक्षेत्रमें, अर्कस्थलमें तथा शुभ कपिलासंगममें मिट्टी और तिलोंके द्वारा स्नान करके सन्ध्या-वन्दन एवं जपके पश्चात् मनुष्य रक्तचन्दनमिश्रित जल एवं कनेरके फूलसे भगवान् सूर्यको अर्घ्य दे। अर्घ्यका मन्त्र इस प्रकार है—

**नमस्त्रैलोक्यनाथाय उद्भासितजगत्त्रय।**
**तेजोरश्मे नमस्तुभ्यं गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥**

'त्रिलोकीनाथ भगवान् सूर्यको नमस्कार है। तीनों लोकोंको प्रकाशित करनेवाले तेजोरश्मे! आपको नमस्कार है। बार-बार नमस्कार है। यह अर्घ्य ग्रहण कीजिये।'

तत्पश्चात् सूर्यदेवकी परिक्रमा करके कपिलेश्वरजीकी पूजा करे।

कपिलेश्वरसे ईशान तथा उत्तर दिशामें जरद्गवके द्वारा स्थापित जरद्गवेश्वरलिंग है। वहीं देवनदी अंशुमती बहती है। उसमें विधिपूर्वक स्नान करके जो पिण्डदान देता है, वह सौ कोटिसे भी अधिक वर्षोंतक पितरोंको तृप्त रखता है। चन्दन, पुष्प, पंचामृत तथा गुग्गुलकी धूपसे जरद्गवेश्वरकी पूजा करनी चाहिये। उन्हें दण्डवत्-प्रणाम तथा उनकी स्तुति भी करनी चाहिये। उनके समीप नाना प्रकारके भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंद्वारा ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिये। वहाँ एक ब्राह्मणको भोजन करानेसे कोटि ब्राह्मण-भोजन करानेका पुण्य होता है।

जरद्गवसे पूर्वदिशामें एक सौ अस्सी धनुषकी दूरीपर हाटकेश्वरलिंग है। वहीं दमयन्तीके पति राजा नलने नलेश्वर शिवकी स्थापना की है। उसका दर्शन और विधिपूर्वक पूजन करके मनुष्य कलिदोषसे छुटकारा पाता और युद्धमें विजयी होता है।

## राजा गज और भद्रमुनिका संवाद, विभिन्न तीर्थोंकी महिमा और दामोदर-माहात्म्य

**महादेवजी कहते हैं**—पार्वती! स्वर्गकी इच्छा रखनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जिनके देवदुर्लभ दिव्य जलका सेवन करते हैं, उन गंगाजीके मुनिजनसेवित परममनोहर पवित्र तटपर गज नामके एक बलवान् राजा राज-काज छोड़कर स्नानके लिये आये। उनकी सती-साध्वी पतिव्रता पत्नी भी उनके साथ वहाँ आयी। दोनों दम्पति गंगाजीके किनारे रहने लगे। इस प्रकार वहाँ रहते हुए उनके दस हजार वर्ष बीत गये। तदनन्तर महायशस्वी भद्रमुनि जप-होमपरायण अनेक ब्राह्मणोंके साथ वहाँ आये। उन्होंने गंगाजीमें स्नान करके अपने शरीरका मल नष्ट किया, फिर समस्त भूत-प्राणियोंकी तृप्तिके लिये जल देकर भगवान् जनार्दनकी पूजा की। फिर ज्यों ही वे नदीके तटपर डेरा डालने लगे, त्यों ही उनकी दृष्टि राजा गजपर पड़ी। राजाने भी उन सबको देखा और आगे जाकर कहा—'पूजनीय महर्षियो! आपलोग मेरे घर पधारें। मेरी यशस्विनी पत्नी संगताके हाथसे पूजा ग्रहण करके जहाँ आपकी इच्छा हो, उस पुण्य पथपर जाइयेगा।'

राजाके इस प्रकार अनुरोध करनेपर वे महर्षि उनके भवनमें पधारे। उनको विचित्र आसन देकर राजाने उनके आगे हाथ जोड़े और भद्र मुनिसे कहा—'मुने! यह पृथ्वी धन-धान्यसे परिपूर्ण है, नगरी, पुरी, पर्वत, समुद्र, सरिता, सरोवर, ग्राम, गोकुल, श्रेष्ठ मनुष्य, रत्न तथा आकर आदिसे सुशोभित है। भोगमें आसक्त होकर परम ज्ञानसे विमुख रहनेवाले पुरुषोंके लिये इसका त्याग कठिन है। भोग-सम्पन्न पृथ्वी ही महाभयानक संसारमें पुनरावृत्ति करानेवाली

है। यहीं बार-बार पुरुष गिरते हैं। अतः जिस दान और तपस्याके अनुष्ठानसे मनुष्य निर्मल स्वर्गलोकको पाता है, उसका उपदेश कीजिये।'

**भद्र बोले**—राजेन्द्र! जो अपने भीतर विराजमान सच्चिदानन्दघन परमात्माको नहीं देखते, उनके लिये वाह्य तीर्थ जलसे भरे हुए जलाशयमात्र हैं और देवता पत्थर एवं मिट्टीकी मूर्तिमात्र हैं। यदि परमात्मतत्त्वका ज्ञान है, तभी तीर्थों और देवताओंके चिन्मय स्वरूपका दर्शन होता है। इस भूतलपर अनेक तीर्थ हैं, बहुत-से पुण्यमय देवमन्दिर हैं, बहुतेरी पुण्यसलिला पवित्र नदियाँ तथा पावन जलवाले समुद्र हैं। यह पृथ्वी स्थान-स्थानमें पग-पगपर बहुत पुण्य देनेवाली है। कृष्ण, विष्णु, हृषीकेश, शंखी, गदी, चतुर्भुज, महाबाहु, प्रभासवासी, दैत्यसूदन, वाराह, वामन, नरसिंह, बल, अर्जुन, श्रीराम, परशुराम, बलराम, पुरुषोत्तम, पुण्डरीकाक्ष, गदापाणि, राघव, शत्रुदमन, गोविन्द, जय, भूधर, जनार्दन, सुरेश, श्रीधर, हरि, योगीश्वर, कपिलेश्वरनाथ, श्वेतद्वीपपति, बदरिकाश्रमवासी नर-नारायण, पद्मनाभ, सुनाभ, हयग्रीव, द्विजनाथ, धरानाथ, शार्ङ्गपाणि, दामोदर, जगन्नाथ तथा सर्वपापहारी हरि—ये ही देवाधिदेव श्रीविष्णुके स्थान हैं। इनमेंसे जहाँ भी मनुष्य जाते हैं, वहीं सब पातकोंसे मुक्त हो जाते हैं। गंगा, यमुना, गोदावरी, शतद्रु, विन्ध्या, पयोधा, वरदा, चर्मण्वती, सरयू, गण्डकी, चन्द्रभागा, विपाशा, तथा शोणा—ये और दूसरी भी बहुत-सी सरिताएँ पुण्यमयी हैं। हिमवान् पर्वत भी पुण्य तीर्थ है। इन सबके नामोंका उच्चारण करनेमात्रसे समस्त पाप रसातलको चले जाते हैं। अगहनमें कान्यकुब्ज तीर्थमें निवास करके स्त्री और पुरुष शोकमुक्त होते हैं तथा स्वर्गलोकमें जाते हैं। यदि पौषमासकी पूर्णमासीको अर्बुदाचल (आबू)-में निवास करे तो मनुष्य पितरोंके साथ अरबों वर्षोंतक स्वर्गलोकमें आनन्द भोगता है। यदि गयामें माघमासकी पूर्णिमाको मनुष्य पितरोंका श्राद्ध करे तो वह भगवान् विष्णुके परमधाममें जाता है। जो फाल्गुनकी पूर्णिमाको एक रात हिमालयपर निवास करता है, वह श्रीहरिके उत्तम लोकमें जाता है। जो मनीषी पुरुष चैत्रकी पूर्णिमाको प्रभासक्षेत्रमें श्राद्ध करते हैं, वे अपने कुलमें उत्पन्न हुए पुरुषोंके साथ इस मर्त्यलोकमें जन्म नहीं लेते—मुक्त हो जाते हैं। जो वैशाखकी पूर्णिमाको अवन्तीपुरीके जलप्रिय तीर्थमें जल पीते हैं, वे परम गतिको प्राप्त होते हैं। जो ज्येष्ठकी पूर्णिमाको त्रिकूपमें श्राद्ध करते हैं, वे वैकुण्ठमें जाते हैं। श्रावणकी अमावास्या तथा पूर्णिमाको पूर्वसागरमें स्नान, दान, तप और श्राद्ध करनेवाला पुरुष शोकमुक्त हो जाता है। जो भाद्रपदमासमें प्रभासमें शशिभूषणका पूजन करता है, वह देवस्वरूप हो जाता है। जो आश्विनमासमें चन्द्रभागाके तटपर श्राद्ध और स्नान करता है, वह स्वर्गलोकमें निवास पाता है। जो अष्टाक्षर मन्त्र (**ॐ नमो नारायणाय**)-का जप करते हुए चार भुजाधारी नारायणका ध्यान करता है, वह वैकुण्ठधाममें जाता है। सब महीनोंमें कार्तिक श्रेष्ठ है, कार्तिकमें भी भीष्मपंचक श्रेष्ठ है, उसमें भी दामोदर-तीर्थके जलमें द्वादशी तिथिका स्नान और भी श्रेष्ठ है। दामोदरमें स्नान करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। दामोदर-तीर्थमें जिनकी जहाँ कहीं भी मृत्यु हो गयी है, वे श्रीहरिके श्रीविग्रहमें निवास करते हैं, संसारमें कभी जन्म नहीं लेते। सोमनाथके समीप उदयान्त नामक महान् पर्वत है; उसके पश्चिम भागमें रैवत पर्वत है, जहाँ कांचनशेखरा नदी बहती है। उस पर्वतमें लाल, सफेद, नील और कृष्ण धातुएँ हैं। उसमें कुछ पत्थर हाथीके समान आकारवाले हैं और दूसरे सुवर्णके सदृश हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा शूद्रोंके सेवक उस पर्वतका सदा सेवन करते हैं। बहुत-से पक्षी वहाँ चहकते रहते हैं। पशु-पक्षी, सर्प तथा कीट, पतंग आदि जो भी जीव वहाँ कालवश मृत्युको प्राप्त होते हैं, वे उत्तम विमानपर आरूढ़ हो

भगवान् विष्णुके धामको जाते हैं। उपर्युक्त नदी धरती फोड़कर पातालसे आयी है। इन्द्रने भी स्वर्गसे यहाँ आकर उत्तम यज्ञ किया और अतिशय उत्तम पद पाकर व्याधिहीन स्वर्गलोककी उपलब्धि की। कार्तिकमें राजा बलिने भी वहाँ आकर बहुत-से दान दिये हैं। हरिश्चन्द्र, शिबि, नल, नहुष, नाभाग तथा अम्बरीष आदिने भी वहाँ दुष्कर कर्म किये हैं। श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको नाना प्रकारके वस्त्र, छत्र तथा रसमिश्रित अन्न दान करके वे विष्णुलोकमें गये, जहाँसे फिर इस मर्त्यलोकमें पुनरावृत्ति नहीं होती। जो उस तीर्थमें ब्राह्मणोंको भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल और जल दान करता है, वह जलशायी भगवान् श्रीहरिको प्राप्त होता है। जो भूखसे पीड़ित मनुष्यके लिये वहाँ एक पसर या मुट्ठीभर भी अन्न देता है, वह श्रेष्ठ विमानपर चढ़कर चन्द्रलोकसे भी ऊपर जाता है। दामोदरके आगे एक मासतक उपवास करनेपर मनुष्य दामोदरनगर (वैकुण्ठधाम)-को जाता है, जहाँसे फिर नहीं लौटता। जो दामोदरके आगे पाँच पत्थरका मन्दिर बनवाता है, वह भगवान् श्रीहरिके धाममें जाता है। जो स्त्री भगवान्‌का सुन्दर मन्दिर बनवाती है, वह विष्णुधामको जाती है। जो एक हजार पत्थरोंका बहुत सुन्दर मन्दिर बनवाता है, वह परब्रह्मको प्राप्त होता है। जो दामोदर-मन्दिरपर पचरंगी ध्वजा फहराता है, वह उसके तन्तुओंके बराबर दिव्य वर्षोंतक स्वर्गलोकमें निवास करता है। वहाँसे दो कोसपर वस्त्रपथ नामक उत्तम क्षेत्र है, जिसका दर्शन करनेसे सब पाप नष्ट हो जाते हैं और पुनरावृत्तिरहित परम धामकी प्राप्ति होती है। स्त्री या पुरुष, जो भी संसारबन्धनका नाश करनेवाले शिवका पूजन करते हैं, वे शिवलोकमें पूजित होते हैं।

भद्रकी यह बात सुनकर राजा गज कार्तिकी पूर्णिमाका तीर्थकृत्य करनेके लिये ऋग्, यजु और सामवेदके ज्ञाता ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मणों, क्षात्रधर्मपरायण क्षत्रियों, दानपरायण वैश्यों तथा सेवाकुशल शूद्रोंको साथ लेकर उस तीर्थमें आये और अनेक प्रकारके दान दे अग्निमें होम करके अग्निष्टोम तथा अश्वमेध आदि यज्ञोंका अनुष्ठान किया। उस तीर्थमें कितने ही पुरुष गायत्री-मन्त्रका जप करते और कुछ लोग मन-ही-मन सावित्री एवं सरस्वतीका ध्यान करते थे। कितने ही ब्राह्मण ब्रह्माजीके द्वारा संकलित पवित्र वैदिक सूक्तोंका पाठ करते और दूसरे लोग द्वादशाक्षर (**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**) मन्त्रका जप करते थे। सब शास्त्रोंको देखकर और बार-बार उनपर विचार करके एकमात्र यही सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि सदा भगवान् नारायणका ध्यान करना चाहिये।[१] महादेवजीके सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो गिरते हुएकी रक्षा करे। चन्द्रमा और सूर्य आदि ग्रह बार-बार जाकर लौट आते हैं, परंतु द्वादशाक्षर मन्त्रका चिन्तन करनेवाले भक्तजन आज भी नहीं लौटते।[२] जिसने 'हरि' इन दो अक्षरोंका एक बार भी उच्चारण कर लिया, उसने मोक्षधामतक पहुँचनेके लिये मानो कमर कस ली है।[३] एकभक्त व्रत, नक्तव्रत, अयाचितव्रत और उपवासव्रत—ये तथा और भी जो व्रत हैं, उनका भगवान् दामोदरके आगे अनुष्ठान करके मनुष्य कृतकृत्य हो जाते हैं। राजा गज ऋषियोंके साथ वहाँ बैठे हुए वार्तालाप कर ही रहे थे कि इतनेमें वहाँ सहस्रों विमान आ गये। वे पत्नी तथा देशवासियोंसहित विमानपर आरूढ़ हो अनामय पदको प्राप्त हुए। जो मानव सदा इस प्रसंगको पढ़ता अथवा सुनता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर विष्णुधामको जाता है।

१- आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः। इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥ (स्क० पु०, प्र० ख० ३१७। १४)

२- गत्वा गत्वा निवर्तन्ते चन्द्रसूर्यादयो ग्रहाः। अद्यापि न निवर्तन्ते द्वादशाक्षरचिन्तकाः॥ (स्क० पु०, प्र० ख० ३१७। १६)

३- सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्। बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥ (स्क० पु०, प्र० ख० ३१७। १८)

# तीर्थमें पूजन, श्राद्ध और दानकी महिमा; गृहस्थके लिये आचरणीय शिष्टाचार, दान एवं श्राद्धका उपदेश

**सारस्वत मुनि कहते हैं**—जो गंगाजल, मधु, घृत, कुंकुम, अगर, चन्दन, गुग्गल, बिल्वपत्र, गूमका फूल आदि आवश्यक वस्तुओंका भार कंधेपर रखकर पैदल तीर्थयात्रा करता है और तीर्थमें स्नान करके शिव, विष्णु तथा ब्रह्माजीका दर्शन करता एवं उन्हें पूजा चढ़ाता है, वह सब बन्धनोंसे मुक्त हो प्रलयकालपर्यन्त भगवान् शिवका पार्षद बना रहता है। जो स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई तथा सज्जन पुरुषोंके साथ तीर्थयात्रा करता है तथा तीर्थमें वहाँके प्रधान देवताका चिन्तन करता है, वह उत्तम गतिको पाता है। सुन्दर देवमूर्तिका निर्माण करके उसे रथपर स्थापित करे। फिर चन्दन, अगर, कपूर, कुंकुम, भाँति-भाँतिके पुष्प, धूप, दीप, गीत, नृत्य और वाद्य आदिके द्वारा उसकी पूजा करे। जो यों करता है, वह जन्मभरके पापोंको भस्म करके तेजोमय, सर्वव्यापी तथा विश्वकी उत्पत्ति करनेवाले भगवान् पुराणपुरुषका दर्शन करता और मुक्त हो जाता है। तीर्थमें स्नान करके सन्ध्यावन्दन, श्राद्ध-तर्पण आदि करनेके विषयमें ब्राह्मणकी आज्ञा लेनी चाहिये और उसकी बात माननी चाहिये। तदनन्तर दर्भ, तिल और हविष्यान्नका श्रद्धापूर्वक प्रयोग करना चाहिये। तीर्थमें अगस्त्य, भृंगराज एवं कमलके पुष्प, कपूर, अगर, चन्दन, कुंकुम और तुलसीदल आदिको संकल्पपूर्वक चढ़ानेपर अनन्त पुण्यकी प्राप्ति होती है। तीर्थभूमिमें ताम्बूल, फल, नैवेद्य, तिल, कुशा और जलके साथ बिल्वके बराबर पिण्ड देना चाहिये। अमावास्या, पूर्णिमा, माता-पिताकी निधन-तिथि, गजच्छाया और त्रयोदशी तिथिको एवं श्राद्धयोग्य द्रव्य और श्रेष्ठ ब्राह्मण प्राप्त होनेपर पितरोंके ऋणसे मुक्त होनेके लिये घरपर श्राद्ध करना चाहिये। सागरगामिनी नदीके तटपर श्राद्ध किया जाय तो घरसे सौगुना अधिक फल होता है। मनुष्य यदि प्रभास, पुष्कर, गया, पिण्डतारक प्रयाग, गोमती, भव तथा दामोदरके सम्मुख एवं नर्मदा आदि तीर्थोंमें श्राद्ध करे तो उसके पितर सब पापोंसे मुक्त हो उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं और श्राद्धकर्ता भी उत्तम सन्तान पाकर तथा उत्तम भोग भोगकर अन्तमें दिव्य विमानपर आरूढ़ हो स्वर्गलोकको जाता है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद आदि, माया, मात्सर्य, चुगली, अविवेक, अविचार, अहंकार, स्वछन्दता, चपलता, लोलुपता, अन्यायसाधन, आयास, प्रमाद, द्रोह, दुस्साहस, आलस्य, दीर्घसूत्रता, परस्त्रीगमन, अत्यधिक आहार, सर्वथा आहारका त्याग, शोक तथा चोरी इत्यादि दोषोंको त्यागकर तो घरमें सदाचारपूर्वक रहता है, वह मनुष्य इस भूमिका, देशका तथा नगरका भूषण है। वह श्रीमान्, विद्वान् तथा कुलीन है और वही सब पुरुषोंसे श्रेष्ठ है। काम आदिके कारण कोई भी घरमें दोषोंका त्याग नहीं कर पाता। जिसने दोषोंका परित्याग कर दिया है, उसीके द्वारा स्नान, सन्ध्या, जप, होम, श्राद्ध-तर्पण तथा देवपूजा आदि सत्कर्म सम्पन्न होते हैं। प्रयाग, कुरुक्षेत्र, सरस्वती नदी, समुद्र, गया, रुद्रपद, नर-नारायणका आश्रम, प्रभास, पुष्कर, कृष्ण-गोमती, पिण्डतारक, वस्त्रापथ, पुण्यगिरि, दामोदर, भीमेश्वरी, नर्मदा, स्कन्दतीर्थ, रामेश्वर आदि, उज्जयिनी, महाकाल, काशी, कलिंग और मथुरा—इन तीर्थोंकी मनुष्य यदि एक बार भी यात्रा कर लेता है तो वह ब्रह्महत्या आदि समस्त दोषोंसे मुक्त हो जाता है। गंगा आदि नदियाँ जो समुद्रमें मिली हैं, उनमें पग-पगपर पुण्यकी निधिरूप अनेक तीर्थ हैं, जिनके स्मरणमात्रसे ही सब पापोंका नाश हो जाता है। कामभोगमें आसक्त चित्तवाले जो मूढ़ मानव स्त्रियोंमें रमते रहते हैं,

उनकी यह विपरीत धारणा है कि सुन्दरी स्त्रियोंका शरीर अपने अपवित्र शरीरसे कोई भिन्न वस्तु है। वे मुक्ति-मार्गसे भ्रष्ट होकर पशुयोनिमें जन्म लेते हैं। जो मानव पुष्ट शरीर और नीरोग युवावस्था पाकर गंगा आदि तीर्थोंमें नहीं जाते, वे ज्ञानशून्य खल जीते-जी भी मरे हुएके समान हैं। पहले शुभ और अशुभ कर्मोंका बन्धन काटकर फिर कल्याणमय मोक्ष पानेकी इच्छा करे। यदि ऐसा न हो सके तो मनुष्योंको सदा शुभ कर्म ही करना चाहिये। प्रतिदिन उठकर स्नान करे। उसके बाद भगवान् विष्णु और शिवकी पूजामें संलग्न हो। सदा सच बोले। सबका हित करे। अपनी शक्तिके अनुसार दान दे। परनिन्दासे डरे। परायी स्त्रियोंसे दूर रहे। सुवर्णकी चोरी, पृथ्वीका अपहरण और ब्राह्मणके धनका त्याग करे। ब्राह्मण, स्त्री, राजा, बालक, वृद्ध, तपस्वी, पिता-माता तथा गुरुजन—इनका मनसे भी कभी अप्रिय न करे। देश-कालका ज्ञान तथा पात्र और अपात्रका विवेक रखना चाहिये। गृहस्थ पुरुष याचकोंको छाया, तृण, अन्न, वस्त्र, मट्ठा, अग्नि, ईंधन, काँजी, औषध और शाक दे। एकादशी, पूर्णिमा, चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या, व्यतीपात, संक्रान्ति, ग्रहण, वैधृति, पिता-माताकी निधन-तिथि, युगादि-तिथि और मन्वादि तिथिको अपने घरमें श्राद्ध, दान एवं कीर्तन आदिका उत्सव मनाना चाहिये। अथवा उक्त तिथियोंको तीर्थमें जाना चाहिये; क्योंकि वहाँ घरसे सौ गुना फल होता है। गृहस्थ पुरुष इन्द्रियोंको वशमें करे। मदिरा पीना और जूआ खेलना छोड़ दे। विवादमें जाना और युद्ध करना यत्नपूर्वक त्याग दे। स्नान, दान, जप, होम, देवपूजन और ब्राह्मणभोजन आदि पुण्यकर्म यदि उक्त तिथियोंमें विधिपूर्वक किये जायँ तो वे सब अक्षय होते हैं। किसी श्रेष्ठ ब्राह्मणको एक भी गौ अवश्य दान करे, जो वस्त्र और आभूषणोंसे विभूषित, दूध देनेवाली, बछड़ेवाली और तरुणी (नयी) हो। जो एक भी गाय ब्राह्मणको दान करता है, वह सब पातकोंसे मुक्त हो जाता है। जब यमदूत किसी पुरुषको बाँधकर उसे यमलोकके मार्गसे ले जाते हैं, उस समय दानमें दी हुई नन्दा गौ वहाँ आकर उसे अपने पुत्रकी भाँति देखती है और यमदूतोंको अपने हुंकारसे जीतकर दाताको साथ ले शिवलोकमें पहुँचा देती है। यदि अपने आहारमेंसे चौथाई भाग सिद्धान्न निकालकर दान किया जाता है तो दाता पुरुष निश्चय ही ध्रुवलोकमें जाता है। यदि प्रतिदिन अपने आहारके बराबर अन्न गौओंको गोग्रासके रूपमें दिया जाता है, उसे देनेवाला पुरुष शिवलोकमें जाता है। ओखली, चक्की, चूल्हा और झाड़ू आदिके द्वारा जो पाप बन जाता है, उस पापको गृहस्थ पुरुष प्रतिदिन भिक्षा देकर धोता है। एक ग्रास अन्नकी भिक्षा होती है। जहाँ उतनी भिक्षा प्रतिदिन दी जाती है, उसी घरको घर समझना चाहिये। दूसरा घर श्मशान-सा दिखायी देता है। घर, अन्न, जल सिद्धान्न, छाता, जूता, कमण्डलु, अँगूठी और वस्त्र दान करके मनुष्य स्वर्गमें जाता है। जो थके हुएको सवारी देता, प्यासेको पानी पिलाता और भूखसे पीड़ित मनुष्यको अन्न देता है, वह विमानद्वारा स्वर्गलोकमें जाता है। अपनी शक्तिके अनुसार सदा घृतयुक्त भोजन देना चाहिये; क्योंकि प्राण अन्नमय है, अतः उसे पाकर प्राणी सन्तुष्ट होते हैं। संसारमें भूखकी पीड़ा ही सबसे बड़ी पीड़ा है। उसकी दवा है अन्न। अन्नसे ही वह पीड़ा शान्त होती है। इसलिये अन्नदान उत्तम है। अन्न, वस्त्र, फल, जल, मट्ठा, शाक, घृत, मधु, पत्र, पुष्प, जूता, गुदड़ी, छड़ी, कमण्डलु, छाता, पात्र, विद्या, पुस्तक, देवपूजा, कन्या, कुश, यज्ञोपवीत, बीज, ओषधि, गृह, रत्न, क्षेत्र, यज्ञपात्र, योगपट्ट, पादुका, काला मृगचर्म, बुद्धिदान, धर्मोपदेश तथा धर्मकथा—इन सबके द्वारा सदैव दान करते रहना चाहिये। उससे महान् कल्याण होता है और दाता सब पापोंका नाश करके शिवलोकमें जाता है। श्राद्धमें

कुलीन, वेदज्ञ, क्रोधरहित, स्नानशील तथा अपने देशके अनुकूल सदाचारमें तत्पर गृहस्थ ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिये। श्राद्धके एक दिन पहले निष्काम, लोभरहित एवं नीरोग ब्राह्मणोंको निमन्त्रण देना चाहिये; किंतु गाँवभरकी पुरोहिती करते हों, उनको नहीं। उन निमन्त्रित ब्राह्मणोंके आगे विधिपूर्वक पिण्डदान करना चाहिये। बिना श्रद्धाके किया हुआ श्राद्ध दूसरेके किये हुएके समान निष्फल होता है। अतः क्रोध त्यागकर श्रद्धापूर्वक श्राद्धका अनुष्ठान करना चाहिये। श्राद्धकर्ममें बलिवैश्वदेवके अन्तमें वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी, पथिक एवं तीर्थसेवी अतिथिका सत्कार करना चाहिये। गृहस्थोंको चाहिये कि वे अपनी शक्तिके अनुसार संन्यासियोंका सदा ही पूजन करें।

## राजा बलिके राज्यकी प्रशंसा, नारदजीका बलिको राजाके कर्तव्यका उपदेश, उत्पात-शान्तिके लिये बलिके द्वारा यज्ञका प्रारम्भ

महाबलवान् भगवान् नृसिंहने हिरण्यकशिपुको मारकर त्रिलोकीका राज्य इन्द्रको दे दिया। हिरण्यकशिपुके कुलमें बलि पैदा हुए। वे बड़े बलवान् थे। उन्होंने इस पृथ्वीका एकछत्र शासन किया। उनके राज्यमें सारी पृथ्वी बिना जोते-बोये ही अन्न पैदा करती और हरी-भरी खेतीसे सुशोभित होती थी। वृक्षोंमें सुगन्धित पुष्प और रसीले फल लगते थे। वृक्षोंमें तनेके ऊपरतककी डालियोंमें फल लगते थे। उनके पत्ते-पत्तेमें मधु भरा रहता था। सभी ब्राह्मण चारों वेदोंके ज्ञाता होते थे। क्षत्रिय युद्धकलामें कुशल, वैश्य गोसेवापरायण तथा शूद्र द्विजमात्रकी सेवामें तत्पर होते थे। सब लोग दरिद्रता, दुःख और अकालमृत्युके भयसे मुक्त हो दीर्घजीवी होते थे। रातमें प्रत्येक भूभागमें दीपकोंका इतना प्रकाश होता कि रात्रि भी दिनके समान जान पड़ती थी। जैसे देवता देवलोकमें सुखपूर्वक विहार करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भूलोकमें सानन्द विचरण करते थे। पृथ्वी स्वर्गरूप हो गयी थी और वहीं राजा बलि राज्य करते थे। देवताओं और दानवोंमें परस्पर युद्ध नहीं होता था।

एक समयकी बात है नारदजी राजा बलिके भवनमें पधारे। बलिने उन्हें आसन, पाद्य और अर्घ्य देकर उनका पूजन किया, फिर सब दैत्य और दानव बैठे। उस समय शुक्राचार्यसहित बलिने नारदजीसे कहा—'देवर्षे! यह राज्य, यह पत्नी, ये मेरे पुत्र और मैं बलि सब आपकी सेवामें प्रस्तुत हैं। इनमें जिससे आपका जो कार्य हो, उसे कहिये।'

**नारदजीने कहा**—राजन्! जो ब्राह्मण यजमानकी भक्तिसे ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, वे 'भूमिदेव' कहे गये हैं। तुमने मेरा भलीभाँति पूजन किया, इससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। मुझे धनसे कोई प्रयोजन नहीं है। मैं तुम्हारे राज्यसे, तुम्हारे, यज्ञ, दान और व्रतोंसे परम सन्तुष्ट हूँ। बले! मैं देखता हूँ, देवताओंद्वारा तुम्हारा कुछ अप्रिय कार्य किया गया है। तुमसे भलीभाँति पूजित होनेपर भी देवराज इन्द्र सन्तुष्ट नहीं हो रहे हैं। मैंने सुना है, देवताओंके प्रयत्नसे भूतलपर तुम्हारे राज्यका उच्छेद होगा। यह सुनकर तुम्हें जो उचित प्रतीत हो, वह शीघ्र करो।

**राजा बलिने पूछा**—प्रभो! राजा किन गुणोंसे राज्य करता है, यह बताइये। दान सत्पात्रको देना चाहिये या अपात्रको?

**नारदजीने कहा**—जो राजा छत्तीस गुणोंसे सम्पन्न होकर राज्य करता है, वही राज्यका फल पाता है। राजा पापरहित हो सब धर्मोंका प्रेमपूर्वक अनुष्ठान करते हुए आस्तिक बना रहे। गुप्तरूपसे अर्थका साधन करे, कामनाओंको त्याग दे और उद्दण्डतासे दूर रहे। प्रिय वचन बोले, किंतु कभी दीन न हो। शूरवीर होकर रहे, परंतु डींग न

मारे। दाता हो, परंतु कुपात्रके यहाँ धनकी वर्षा न करे। धृष्ट होकर रहे, किंतु निष्ठुर न हो। दुष्टोंसे सन्धि और भाई-बन्धुओंसे विरोध न करे। दुष्ट पुरुषसे गुप्तचरका काम न ले। किसीको सताकर अपना स्वार्थ सिद्ध न करे। अर्थको समझे। जहाँ आपत्तिमें पड़ा हो, वहाँ अपने गुणोंका बखान न करे। साधु पुरुषोंसे विरोध न करे। असाधु पुरुषोंका आश्रय न ले। अच्छी तरह जाँच-पड़ताल किये बिना किसीको दण्ड न दे। गुप्त मन्त्रणाको प्रकाशित न करे। लोभी पुरुषोंको दान न दे। अपकारियोंपर विश्वास न करे। स्त्रीको अत्यन्त गुप्त रखे। बलवान् राजा दूसरोंके अपराध क्षमा करे। स्त्रीका अत्यन्त सेवन न करे। प्रिय तथा हितकर भोजन करे, अहितकर नहीं। जो चोर न हो, ऐसे मनुष्यका सत्कार करे। निष्कपट भावसे गुरुकी सेवा करे। देवताकी पूजा दिखावेके लिये न करे। अनिन्दित लक्ष्मीकी इच्छा करे। स्वार्थ त्यागकर सेवा करे। कार्यदक्ष तथा समयका ज्ञाता हो। बातचीत करते हुए भोजन न करे। किसीपर अनुग्रह करते हुए उसपर आक्षेप न करे। समझ-बूझकर प्रहार करे, शत्रुओंको मारकर शेष न रहने दे। अकस्मात् क्रोध न करे। अपराधियोंके प्रति भी मृदु व्यवहार करे। इस प्रकार आचरण करनेसे राज्य सुस्थिर होता है। यदि कल्याण चाहते हो तो योगके द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करो। तपस्या, स्वाध्याय, दान, तीर्थयात्रा तथा आश्रमवास—ये सब आत्मज्ञानकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हैं। तुम्हें संसारकी ओरसे वैराग्य रखना और ब्राह्मणोंका पूजन करना चाहिये। नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान तथा भगवान् नारायणका चिन्तन करना चाहिये। राजन्! मैं प्रसंगवश यहाँ आ गया था, अब जाता हूँ।

यों कहकर नारदजी चले गये। तत्पश्चात् दैत्योंको अपशकुन दिखायी देने लगे। रातको सियारिनें उनके नगरमें प्रवेश करके विकृत स्वरमें रोती थीं। दूषित शब्द करनेवाले कौए दिन-रात नगरमें आते-जाते थे। भयंकर विषवाले काले साँप घरोंमें घूमते थे। कौए, गीध, और बगले पागल-से होकर नगरके ऊपर मँडराते थे। स्त्रियों, गौओं और हिरनियोंके गर्भ उलटे पैदा होते थे। गौओंके दूधमें घी नहीं निकलता था। तिलमें तेल नहीं होता था। देशवासी मनुष्य प्रतिदिन आपसमें लड़ते थे। मेघ कुपित होकर असमयमें अधिक जलकी वर्षा करते थे। बादल बहुत गरजते और ओलोंकी वर्षा करते थे। भूकम्प होता और दिशाओंमें आग लगती थी। गाँवोंमें उल्लुओंके शब्द गूँजते रहते थे और झुंड-के-झुंड कुत्ते एकत्र होकर मुँह ऊँचे करके रातभर रोया करते थे। राजा बलिके राज्यका विनाश आ पहुँचा था। दिनमें पुच्छलतारेका उदय होता। सूर्यमण्डल कीलोंसे घिरा हुआ दिखायी देता। आकाश घड़ोंसे व्याप्त होनेके कारण उसमें चन्द्रमाका प्रकाश नहीं प्रतीत होता था। रोहिणी नक्षत्रका वेध हुआ, जो प्रलयकालमें हुआ करता था। दिनमें तारे गिने जाते थे। भूमि, स्त्री, गाय और मृगियोंमें बीजोंका उलट-फेर होने लगा। मन्त्रीलोग गुप्त मन्त्रणामें सम्मिलित होकर फिर फूट जाते थे। उस समय घीकी आहुति देनेपर भी आग प्रज्वलित नहीं होती थी। प्रचण्ड आँधी चलती थी। बवंडरसे वृक्ष जोर-जोरसे झूमते थे। सेनाओंमें ध्वजाएँ जलती थीं। आकाश धूलसे धूसरित हो जाता था। ये तथा और भी बहुत-से उत्पात राजा बलिके यहाँ होने लगे। वामनजीका अवतार हो जानेपर दैत्योंके घरमें भयंकर विवाद और स्वप्नदर्शन होता था। जब दैत्यराज बलि कवच धारण करके यात्रा करते, तब सेनासहित उनके सामने ऐसे-ऐसे अपशकुन उपस्थित होते थे, जिनके होनेपर यात्रा करनेवाला पुरुष अपने घरको कुशलपूर्वक नहीं लौटता। जब वे घरपर रहते तथा राज्य करते, तब उनके शरीरको सुख नहीं मिलता। सब अंग टूटता और सिरमें दर्द होने लगता। वे ज्वरग्रस्त होनेके कारण न सुखसे सोते, न खाते और न पीते ही थे। लोग रातको भोजन नहीं करते। क्योंकि सब प्रकारकी

व्याधियोंसे व्याकुल थे।

जगत्‌की यह विपरीत दशा देख बलिका चित्त व्याकुल हो उठा। वे अत्यन्त दुःखी हो ब्राह्मणोंके साथ बैठकर विचार करने लगे कि यह क्या है। बलिने पराभक्तिसे युक्त हो अपने गुरुको बुलाकर सभामें बैठाया और कुशल-समाचार पूछा और कहा—'गुरुदेव! यह सम्पूर्ण जगत् विपरीत दशाको प्राप्त हुआ है। इसका कारण बताइये।'

**शुक्राचार्य बोले**—राजन्! उत्पात-शान्तिके लिये ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके साथ एक द्वादशवार्षिक यज्ञ करो, जिसमें सर्वस्वकी दक्षिणा दी जाती हो। ऋषि, ब्राह्मण, मुनि और ब्रह्मचारी जो दूर-दूर रहनेवाले हैं, वे सब इस महायज्ञमें पधारें। नगरसे पूर्व दिशामें यज्ञमण्डप बनाना चाहिये। जिसकी जैसी रुचि हो, वैसी वस्तु उसे दानमें देनी चाहिये।

'यही करूँगा' यह कहकर राजा बलि शीघ्र ही यज्ञ प्रारम्भ करनेको उद्यत हुए और यज्ञकर्ममें कुशल समस्त ब्राह्मणोंको बुलाकर बोले—'मुझे यज्ञकी दीक्षा लेकर सर्वस्वकी दक्षिणा देनी है। इसमें ब्राह्मणोंके याचना करनेपर उन्हें सदा सब कुछ देनेपर तत्पर रहना चाहिये। मैं किसीके याचना करनेपर अपने पुत्र, मित्र तथा इस शरीरको भी दे डालूँगा। इस यज्ञमें मुझे ब्राह्मणोंके लिये सदा दान करना चाहिये। किसीके मना करनेपर भी मुझे रुकना नहीं है। दान देनेका निश्चय मैंने पूर्णरूपसे कर लिया है। अनेक योजन विस्तृत दिव्य मण्डप बनवाकर उसमें सबको दान, भोजन और वस्त्र दिये जायँ।'

सप्तर्षिगण आकाशसे भूतलपर आये। सब देवता भी उपस्थित हुए। पृथ्वीपर जो श्रेष्ठ ब्राह्मण थे, वे भी पधारे। क्षत्रिय, नट, नर्तक और याचक भी आये। वेदमन्त्रोंकी ध्वनिके साथ गीत और वाद्यका भी शब्द होने लगा। 'दीजिये, दीजिये' की याचनाका शब्द तीनों लोकोंको बधिर किये देता था। 'न दो या थोड़ा दो' की बात किसीके मुँहसे नहीं निकलती थी। जो जिस वस्तुको माँगता, उसे वही दी जाती थी। कोई ऐसा ब्राह्मण नहीं था, जो वहाँ बहुत याचना करे। स्वतः दिये जानेपर भी ब्राह्मणलोग भोजन और वस्त्रतक नहीं लेते थे। क्योंकि वे सब लोग राजा बलिके राज्यसे ही बहुत सन्तुष्ट थे। धन लेकर क्या करते।

इस प्रकार सर्वस्वकी दक्षिणासे युक्त वह महान् यज्ञ प्रारम्भ हुआ। वहाँ कोई नाचते, कोई गाते, कोई पाठ और स्तुति करते थे। ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, सूर्य, चन्द्र आदि देवता आहुतियों और मन्त्रोंसे अत्यन्त प्रसन्न किये गये। कुछ लोग यजमान राजा बलिकी प्रशंसा करते और कुछ लोक आचार्यकी। कोई होताके गुण गाता और कोई परिचारकके। दैत्य सब कुछ सुनते और राजा बलिके आगे जाकर कहते थे। बलि प्रसन्न होकर सबको मुँहमाँगी वस्तुएँ देते थे।

## देवर्षि नारदका वामनजीको मत्स्य आदि अवतारोंका वृत्तान्त सुनाना, नृसिंहावतार एवं प्रह्लादकी कथा

**महादेवजी कहते हैं**—एक समय देवर्षि नारद वामनजीके समीप गये और उनके वृत्तान्त पूछनेपर इस प्रकार बोले—'प्रभो! मैं स्वर्गलोकसे यहाँ आया हूँ। प्रतिदिन सूर्यके गमनागमन ब्रह्माका दिन पूरा होता है। दिनके अन्तमें रात होती है और ब्रह्माजीकी रात्रिमें सब देवताओंका नाश हो जाता है। फिर मर्त्यलोककी तो बात ही क्या कहूँ, जहाँ प्रतिदिन लोगोंकी मृत्यु होती है। आकाश धुएँसे आच्छादित हो गया है। सब देवता राजा बलिके घर गये हैं। सप्तर्षिगण तथा ब्राह्मण और ब्रह्मचारी भी वहीं पहुँचे हैं। हाहा, हूहू, तुम्बुरु, पर्वत, अप्सराएँ तथा गन्धर्वगण—

ये सब लोग राजा बलिके भवनमें गये हैं। बलि उत्पातकी शान्तिके लिये यज्ञ करते हैं। मैं भी उन्हींके यहाँ यज्ञ देखनेके लिये जाना चाहता हूँ। सुना है, राजा बलि एक कम एक सहस्र यज्ञ कर चुके हैं। उस एकके भी पूरा हो जानेपर सम्पूर्ण लोकोंपर दैत्योंका अधिकार हो जायगा। वहाँ यह प्रतिज्ञा करके यज्ञ आरम्भ किया गया है कि ब्राह्मणोंको जिसकी जो इच्छा होगी, वही वस्तु दी जायगी। बलिका कहना है कि 'किसीके मना करनेपर भी ब्राह्मणको मुँहमाँगी वस्तु अवश्य दी जायगी। मेरी बात सत्य होगी। मैं अपने सेवकों, प्यारे पुत्रों, सम्पूर्ण राज्य तथा अपने-आपको भी माँगनेपर दे दूँगा। मेरा यज्ञ व्यर्थ न होने पाये। उनकी इस अहंकारपूर्ण बातसे मेरे सिरमें दर्द होने लगा है। भला, इस प्रकार प्रतिज्ञा करके कैसे यह यज्ञ पूर्ण होगा? आप ही उस यज्ञके विध्वंसमें कारण होंगे, यह जानकर मैं आपके पास आया हूँ। आप इस समय ऐसी चेष्टा करें, जिससे वह यज्ञ पूरा न हो।'

**वामनजीने कहा**—महर्षे! मुझे यह बताओ कि मैं कौन हूँ? मेरी क्या शक्ति है? मैं किस कारणसे यज्ञकी पूर्तिमें विघ्न उपस्थित करूँगा? जब इस यज्ञमें सब देवता पधारे हैं, सभी ऋषि और ब्राह्मणलोक भी सम्मिलित हुए हैं, तब यह व्यर्थ कैसे होगा?

**नारदजी बोले**—प्रभो! एक समय ब्रह्माजीने भगवान् विष्णुसे कहा—'हरे! वेदोंके बिना मैं सृष्टि कैसे करूँगा? वेद नष्ट हो गये हैं, उनको मैं नहीं जानता। क्या वे किसी स्थानपर स्थित हैं या नीचे चले गये हैं? मुझमें जलके भीतर जानेकी शक्ति नहीं है। आपको दस अवतार धारण करके सृष्टिकी रक्षा करनी चाहिये। अतः आप जलचर मत्स्य हों और शीघ्र ही वेदोंको ढूँढ़ लाकर मुझे देनेकी कृपा करें।' उनके यों कहनेपर श्रीहरिने जलमें मत्स्यरूप धारण किया और वेदोंको लाकर ब्रह्माजीको लौटा दिया। तत्पश्चात् किसी समय ब्रह्माजीने पुनः प्रार्थना की—'प्रभो! आप कच्छपरूप ग्रहण करके मन्दराचलको पीठपर धारण करें। समुद्र-मन्थनसे प्रकट होकर लक्ष्मीजी आपका वरण करेंगी।' ब्रह्माजीके यों कहनेपर आप श्रीहरिने कच्छपरूप धारण किया। समुद्र-मन्थनके समय आपका वह अद्भुत चरित्र मैंने अपनी आँखों देखा। तदनन्तर एकार्णवके जलमें डूबकर जब पृथ्वी रसातलको चली गयी और कहीं दिखायी न दी, तब ब्रह्माजीसे प्रेरित होकर आपने महावराहका रूप धारण किया और नीचे जाकर अपनी दाढ़ोंके अग्रभागपर पृथ्वीको उठाया; फिर जलके ऊपर ले आकर पृथ्वीको यथास्थान रख दिया। वह आपका परम मनोहर तृतीय अवतार था, जिसके द्वारा आपने पर्वतोंसहित पृथ्वीको स्थापित किया। अब आपके अत्यन्त भयंकर नृसिंह-अवतारकी, जो चौथा है, कथा कहता हूँ। अदितिके पुत्र आदित्य (देवता) कहलाते हैं और दितिके पुत्र दैत्य। पूर्वकालमें दितिके दो महाबली पुत्र हुए थे। एकका नाम हिरण्यकशिपु था और दूसरेका हिरण्याक्ष। स्वर्गलोकमें देवता रहते थे और पातालमें दैत्यों तथा दानवोंका राज्य था। हिरण्यकशिपु रसातलमें राज्य करता था। देवताओं और दानवोंने मिलकर मनुके पुत्रोंको पृथ्वीके राज्यपर स्थापित किया था। हिरण्यकशिपुने यह व्यवस्था तोड़ दी और उसने युद्धमें इन्द्रको परास्त करके सात द्वीपोंवाली पृथ्वी तथा अमरावतीपुरीको भी अपने अधिकारमें कर लिया। सब भोगोंपर अधिकार करके वह असुर अपने पुत्र और पौत्रोंके साथ राज्य भोगने लगा। उसने तपस्याके द्वारा ब्रह्माजीको संतुष्ट किया और ब्रह्माजीने उसे मुँहमाँगा वर देनेको स्वीकार किया। उस दैत्यने इस प्रकार वर माँगा—'सुरश्रेष्ठ! मुझे अमरत्व प्रदान कीजिये। देवताओं और मनुष्योंसे किसी प्रकार भी मेरी मृत्यु न हो। यदि मृत्यु हो ही तो ऐसे पुरुषसे हो, जिसका स्वरूप कुछ सिंहका और कुछ मनुष्यका हो, जो समूची पृथ्वीको धारण

करनेवाला हो। उसके थपेड़ोंसे विदीर्ण होकर मैं पृथ्वीपर मृत्युको प्राप्त होऊँ।'

'एवमस्तु' कहकर ब्रह्माजी चले गये। दैत्यराज हिरण्यकशिपु भी अपने स्थानको गया। कुछ काल व्यतीत हो जानेपर उसके मनमें देवताओंके प्रति बड़ा भारी वैर हुआ। वह सोचने लगा—'देवता मेरा क्या कर लेंगे। विष्णुसे मेरा क्या प्रयोजन है तथा रूद्र भी मेरा क्या बिगाड़ लेंगे। समस्त यज्ञोंद्वारा सदा मेरी ही आराधना होनी चाहिये।' उस दैत्यका बर्ताव तो ऐसा था, परंतु उसके पुत्र प्रह्लाद श्रीहरिकी स्तुति करते थे। जिनसे उसकी मृत्यु होनेवाली थी, उन्हीं भगवान् विष्णुका वे चिन्तन करने लगे। जब उन्हें दूसरी बातें पढ़ायी जाती थीं, तब भी वे 'हरि हरि'का ही कीर्तन करते थे। 'जो चार भुजाओंसे सुशोभित, शंख, चक्र, गदा और खड्ग धारण करनेवाले, पीताम्बरधारी, कौस्तुभमणिसे उद्भासित तथा सम्पूर्ण जगत्के एकमात्र स्वामी हैं, जो स्मरण करनेमात्रसे ही मोक्ष देते हैं, उन भगवान् विष्णुका मैं सदा स्मरण करता हूँ'—उनकी इस बातसे दैत्य कुपित हो उठा और दूसरे दैत्योंसे बोला—'मेरे इस दुष्ट पुत्रको तुमलोग हाथी, सर्प, जल और अग्निद्वारा मार डालो।'

**प्रह्लाद बोले**—दैत्यराज! हाथीमें भी विष्णु हैं, सर्पमें भी विष्णु हैं, जलमें भी विष्णु हैं और स्थलमें भी विष्णु हैं। तुममें और मुझमें भी वे ही विराजमान हैं। विष्णुके बिना यह दैत्योंका समुदाय भी नहीं है।

सदा प्रह्लादको मारनेकी चेष्टा की जाती थी, तो भी उनकी मृत्यु नहीं होती थी। यह देख हिरण्यकशिपुकी छाती क्रोधाग्निसे जलती रहती थी। तब उसने पुत्रको स्वयं ही दण्ड देनेके लिये उसके मुँहपर तलवार तान दी और कठोर वचनोंसे डाँटते हुए उसे मार डालनेका उद्योग किया। वह बोला—'अरे बालक! तुझे धिक्कार है। तू नारायणकी स्तुति करता है, बार-बार मेरे शत्रुके गुण गाता है; अतः इस श्रेष्ठ तलवारसे मैं अभी तेरा सिर उड़ाये देता हूँ। मैं ही विष्णु, मैं ही ब्रह्मा, मैं ही रुद्र, इन्द्र और वरदाता प्रभु हूँ। तू अपने पिताको छोड़कर दूसरेकी स्तुति क्यों करता है।'

बालक प्रह्लाद जब पिताकी इच्छाके अनुसार नहीं पढ़ सके और अपने पिताकी स्तुति भी नहीं कर सके, तब गुरुजीने छड़ीसे मारकर प्रह्लादको पुनः पढ़ाना प्रारम्भ किया।

**प्रह्लाद बोले**—जिन सर्वव्यापी श्रीहरिने चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंको उत्पन्न किया, बढ़ाया और फिर सबका शमन किया है, उन्हींकी मैं स्तुति करता हूँ। वे ही श्रीविष्णु मुझपर प्रसन्न हों। ब्रह्माजी भी विष्णु हैं। शिव भी विष्णु ही हैं। इन्द्र, वायु, यम और अग्नि भी विष्णु हैं। प्रकृति आदि चौबीस तत्त्व और उनके साक्षी पचीसवें पुरुष भी विष्णु ही हैं। वे ही पिताजीके, गुरुजीके तथा मेरे शरीरमें भी स्थित हैं। यह जाननेपर भी कोई मरणधर्मा प्राणी श्रीहरिके सिवा दूसरे नीच मनुष्योंकी स्तुति कैसे कर सकता है।

**गुरुजीने कहा**—शिष्य! यह तो बता, मनुष्योंमें नीच कौन है?

**प्रह्लादजीने कहा**—पुत्र-जन्म आदिके समय, मृत्युके समय तथा शुभ अवसरोंमें जिसके मुखसे 'हरि' इन दो अक्षरोंका उच्चारण नहीं होता, वही मनुष्योंमें अधम है। भय, राजकुलसे समागम, युद्ध, व्याधि, स्त्रीसंग, विपत्ति, यात्रा तथा मृत्युके समय जो इस पृथ्वीपर रहते हुए श्रीहरिको भूलकर माता-पिताका स्मरण करते हैं, वे मूर्ख मानव मनुष्योंमें अधम हैं। मेरे तो न माता है, न पिता है, न स्वजन है, न सेवक है; श्रीहरिके बिना मेरा कोई नहीं है। आपको जो उचित जान पड़े, वह बर्ताव कीजिये।

इस तरहकी बातोंसे दैत्यको बड़ा क्रोध हुआ और वह मारनेके लिये समीप आया। इतनेमें ही प्रह्लादकी माताने आकर पुत्रको आँचलसे ढक लिया और उसके भाई, स्वजन तथा बहिन—ये सभी आकर कहने लगे—'भैया! तू 'हरि, हरि' मत बोल। मैं तेरी माता हूँ। यह बहिन है, ये भाई

हैं तथा ये स्वजन लोग हैं। हम सब तुम्हारे पिताका सम्मान करते हैं; इसीलिये हम बहुत दिनोंतक यहाँ जीवित रह सकते हैं। (अतः तुम्हें भी इनका आदर करना चाहिये)।'

**प्रह्लाद बोले**—प्रकृति मेरी माता है। बुद्धि मेरी बहिन है। जिसको मैं कहा जाता है, वह अहंकार है। पंचतन्मात्राओंके समुदाय मेरे सहोदर भाई हैं, जो मेरे साथ ही जाते हैं। इनको उत्पन्न करनेवाला जो पचीसवाँ पुरुष है, वही मेरा पिता है। परमात्मा श्रीहरि ही अन्तर्यामी इस शरीरमें स्थित हैं। यदि उनका सम्मान किया जाय तो वे हृदयमें दर्शन देते हैं। उनका चरण ही अणिमा आदि आठों सिद्धियोंका स्थान है। आपलोगोंके लिये राज्य ही अभीष्ट वस्तु है; परंतु जहाँ भगवान् विष्णुका पूजन (आदर) नहीं होता, वह राज्य मुझे तिनकेके समान प्रतीत होता है। ब्रह्मा, रुद्र, अनल आदिके रूपमें जिनका प्रत्यक्ष दर्शन होता है, जो बिना किसी आधारके ही सर्वत्र विचरते हैं, वे ही भगवान् विष्णु हैं। ये जो आकाशमें स्थित और ध्रुवसे बँधे हुए सम्पूर्ण ग्रह दृष्टिगोचर होते हैं, वे सब भगवान् विष्णुके ही वचनसे पृथ्वीपर नहीं गिरते। फिर प्रलयकालमें वे ही सबका विनाश करते हैं। ऐसा विचार करके मुझे आप लोगोंसे मृत्युका भय नहीं है।

प्रह्लादकी यह बात पूरी होते ही उनके पिताने उन्हें लात मारकर कहा—'कहाँ है तेरा हरि? पहले मैं उसीको मारता हूँ। उसके बाद 'हरि, हरि'की रट लगानेवाले तुझ दुष्टका भी वध कर डालूँगा।'

**प्रह्लादने कहा**—पृथ्वी आदि पाँचों भूत भगवान् विष्णुके ही स्वरूप हैं। वे ही स्थल और जलमें हैं। अधिक कहनेसे क्या लाभ, यह सम्पूर्ण जगत् विष्णुमय ही है। तृण, काष्ठ, गृह, क्षेत्र, द्रव्य और देह—सबमें श्रीहरि स्थित हैं। वे ज्ञानयोगसे जाने जाते हैं, इस चर्मचक्षुसे नहीं देखे जाते। भगवान् विष्णु सब सुनते हैं, सब जानते हैं और सब कुछ करते हैं।

प्रह्लादके यों कहनेपर हिरण्यकशिपु सहसा सिंहासन छोड़कर खड़ा हो गया। उसने दृढ़तापूर्वक कमर कस ली और म्यानसे चमचमाती हुई तलवार खींचकर प्रह्लादको थप्पड़ मारकर कहा—'अब तू अपने विष्णुका स्मरण कर ले। मैं अभी उज्ज्वल कुण्डलोंसे सुशोभित तेरा मस्तक पृथ्वीपर गिरा दूँगा, जैसे वृक्षसे पका फल गिराया जाता है। यदि जीवित रहना चाहता है तो इस खम्भेसे अपने विष्णुको निकालकर दिखा।'

प्रह्लादजी भय छोड़कर पद्मासन लगा धरतीपर बैठ गये और कंधा नीचे करके श्वासको ऊपर रोकर हृदयमें भगवान् श्रीहरिका ध्यान करते हुए मरनेके लिये तैयार हो गये। प्रभो! उस समय मैंने एक आश्चर्यकी बात देखी—आकाशसे फूलोंकी एक माला नीचे आयी और स्वयं ही प्रह्लादजीके गलेमें पड़ गयी। इतनेमें ही खम्भेसे एक भयंकर आवाज हुई, जिसे सुनकर सब लोग क्षुब्ध हो गये और मन-ही-मन सोचने लगे, 'क्या यह पृथ्वी पातालमें धँस जायगी अथवा क्या स्वर्गलोक टूटकर पृथ्वीपर गिर पड़ेगा अथवा प्रह्लादका सिर इस दैत्यके खड्गसे कटकर पृथ्वीपर तो नहीं गिर जायगा?' इसी समय खम्भेसे बड़ा भयानक सिंहनाद हुआ। उस शब्दसे मूर्च्छित होकर सब दैत्य पृथ्वीपर गिर पड़े। हिरण्यकशिपुके हाथसे ढाल और तलवार भी गिर गयी। वह सोचने लगा, 'यह क्या है?' जब सिर ऊँचा करके वह देखने लगा, तब भगवान् विष्णुपर उसकी दृष्टि पड़ी। नीचेसे मनुष्यकी आकृति और ऊपरसे भयंकर सिंहका स्वरूप! दाढ़ोंके कारण विकराल मुख, मानो वे आकाशको चाट लेंगे। शरीर तेजसे प्रज्वलित हो रहा था। मुखसे भयानक कटकटकी ध्वनि हो रही थी, मानो गरजता हुआ बादल मूर्तिमान् हो गया हो। गर्दनके बाल ऊपरकी ओर उठे हुए थे। देवता और दैत्य सबके लिये उनकी ओर देखना कठिन था। उन्हें देखकर वह दैत्य पुनः पृथ्वीपर गिर पड़ा। नृसिंहजीने उसके बाल पकड़कर आकाशमें सौ बार उसे घुमाया और पृथ्वीपर पटक दिया, परंतु ब्रह्माजीके वरके प्रभावसे उस दैत्यकी मृत्यु

नहीं हुई। तब भगवान्‌ने हिरण्यकशिपुको घुटनोंपर सुलाकर उसकी छाती चीर डाली। देवता जय-जयकार करने लगे। चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंमें शान्ति छा गयी।

हिरण्यकशिपुकी मृत्युके पश्चात् विष्णुभक्त प्रह्लादजी दैत्योंके राजा बनाये गये। उन्होंने बहुत वर्षोंतक भूमण्डलका राज्य किया। उनके अनेक पुत्र हुए, जिनमें विरोचन ज्येष्ठ थे। विरोचनसे बलिका जन्म हुआ। बलिके उत्पन्न होनेके पश्चात् विरोचनने एकान्तमें योग-साधन करके श्रीहरिके तत्त्वका ज्ञान प्राप्त किया और राज्य त्यागकर वे पर्वतशिखरपर चले गये। श्रीहरिने उनके शरीरको कल्पान्तस्थायी कर दिया। तदनन्तर 'हममेंसे कौन राजा होगा?' इस प्रश्नको लेकर दैत्यों और दानवोंमें बड़ा विवाद हुआ। तब प्रह्लादजीने आकर एक व्यवस्था की। उन्होंने कहा—'जो समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, दीर्घायु, अतिशय बलवान्, यज्ञशील, सदा आनन्दयुक्त, अधिक पुत्रोंवाला तथा अत्यन्त दुर्जय हो, जो देवताओंके साथ अकारण युद्ध न करे और भगवान् विष्णुको सर्वोपरि, अजेय शक्तिके रुपमें जाने, जिसकी संग्राममें मृत्यु न हो, जो सर्वस्व दक्षिणामें दे देनेवाला हो, अपनी बात कभी व्यर्थ न होने देता हो तथा सब पुत्रोंमें जो अपनी स्वाभाविक श्रीके द्वारा अधिक शोभा पाता हो, उस व्यक्तिको जब गुरुदेव शुक्राचार्य राज्यपदपर अभिषिक्त कर दें, तब वही सब दैत्योंका राजा हो। राजा होने योग्य कौन है—इसके निर्णयमें गुरुदेव ही प्रमाण हैं।' यों कहकर प्रह्लादजी चले गये। तदनन्तर दैत्य दानव एकमत होकर उस व्यवस्थाका पालन करने लगे। शुक्राचार्यजीने राजा बलिको ही गुणोंमें अधिक देखकर तथा प्रह्लादके सभी गुण बलिमें विद्यमान हैं—यों समझकर उन्हींको दैत्योंका राजा बनाया।

वामनजी! मुझे युद्ध देखनेके लिये बड़ी उत्कण्ठा रहती है। ब्राह्मणको युद्ध करते देख मुझे बड़ा हर्ष होता है। आप भी ब्राह्मणके रूपमें प्रकट हुए हैं; अतः बताइये, कब युद्ध करेंगे?

## वामनजीका बलिसे तीन पग भूमि ग्रहण करना तथा गंगा और वामनस्थलीकी महिमा, प्रभासखण्डका उपसंहार

**वामनजीने हँसकर कहा**—ठीक है, ठीक है। तुम्हारी इच्छा पूरी होगी। फिर मैं जमदग्निनन्दन परशुरामके रूपमें प्रकट होकर भगवान् शिवको गुरु बनाऊँगा और बहुत-से क्षत्रियोंके साथ कार्तवीर्य अर्जुनका वध करूँगा। आगे चलकर महाबली रावण लंकाका राजा होगा। वह अपने अत्याचारोंके कारण जब तीनों लोकोंके लिये कण्टकरूप कहा जाने लगेगा, तब मैं दशरथ और कौसल्याका पुत्र 'राम' होकर भाइयोंके साथ अवतार लूँगा। विश्वामित्रजीके यज्ञमण्डपमें जाऊँगा। ताड़काको मारकर सुबाहुको यमलोक पठाऊँगा। इस प्रकार यज्ञ पूर्ण करके सीताके स्वयंवरमें जाऊँगा और शंकरजीका धनुष भंग करके सीताके साथ विवाह करूँगा। तत्पश्चात् अयोध्याका राज्य छोड़कर चौदह वर्षोंके लिये वनमें चला जाऊँगा। वहाँ पहले मुझे सीता-हरणका दुःख प्राप्त होगा। इससे भी पहले मैं लक्ष्मणद्वारा राक्षसी शूर्पणखाकी नाक और कान कटवा दूँगा। फिर चौदह हजार राक्षसोंसहित खर, दूषण तथा त्रिशिराका वध करूँगा। मृगरूपधारी मारीच राक्षसको मौतके घाट उतारूँगा। तदनन्तर रावणद्वारा मेरी पत्नी सीताका अपहरण होगा। सीताकी रक्षाके लिये प्राण दे देनेवाले जटायुका दाह-संस्कार करके सुग्रीवसे मित्रता जोड़ूँगा। बालिको मारकर नल आदि वानरोंके सहयोगसे समुद्रपर पुल बाँधूँगा। लंकापर घेरा डाल दूँगा और सब राक्षसोंका संहार करूँगा। विभीषणको लंकाका राज्य दूँगा, फिर अयोध्या आकर वहाँका अकण्टक राज्य

भोगकर काल और दुर्वासाके अद्भुत चरित्रद्वारा प्रेरित हो पुत्रको राज्य दे भाइयोंके साथ सशरीर परमधामको जाऊँगा। द्वापर आनेपर जब बहुत-से असुर-भावापन्न क्षत्रियोंके भारसे आक्रान्त हो यह पृथ्वी रसातल जानेको उद्यत हो जायगी, तब मैं उसकी दुर्दशा नहीं देख सकूँगा। मथुराके राजा कंसको मारकर शिशुपालको भी परास्त करूँगा और समस्त असुरोंका संहार करके पृथ्वीका भार उतारूँगा। कलियुग आनेपर थोड़े जलवाले बादल होंगे, गौएँ बहुत कम दूध देंगी, दूधमें घी और मनुष्योंमें सत्यका अभाव होगा, लोकमें चोरोंका उपद्रव बढ़ जायगा, सब लोग रोगसे पीड़ित होंगे और किसीको अपना रक्षक नहीं पायँगे। उस समय मैं बुद्धरूपमें अवतार लूँगा। उसके बाद जब नदियाँ क्षीण हो छोटी हो जायँगी, उनकी धारा पीछेकी ओर बहने लगेगी तथा कार्तिकमें ही वे सूख जायँगी, एकादशी और शिवरात्रिका व्रत बंद हो जायगा, उस समय कलियुगमें ऐसे-ऐसे बर्ताव होंगे, जो पहलेके तीन युगोमें कभी नहीं हुए थे। बेटा माता-पिताको त्यागकर पत्नीकी सेवामें लग जायगा; न कोई गुरु होगा; न सेवक, कोई किसीकी सेवा नहीं करेगा। कलियुग इस पृथ्वीपर ज्यों-ज्यों अपने रोगका विस्तार करता जायगा; त्यों-त्यों सब लोग एकाकार होते जायँगे। सब कुछ म्लेच्छोंद्वारा दूषित होगा। लोग स्नान और सन्ध्या छोड़ देंगे। उस समय मैं कल्कि नाम विख्यात ब्राह्मण होऊँगा और म्लेच्छोंका संहार करके याज्ञवल्क्यजीको पुरोहित बनाकर म्लेच्छवधका प्रायश्चित्त करनेके लिये यज्ञ करूँगा। नारदजी! इस प्रकार जो मेरे अवतार होंगे, उनमें युद्धका अवसर आयेगा। इस समय देवतालोग राजा बलिके साथ युद्ध नहीं करेंगे। दैत्यराज बलि मेरा यजन करते हैं; वे महात्मा पुरुष हैं, अतः मेरे द्वारा मारनेयोग्य नहीं हैं। उन्होंने महान् यज्ञका प्रारम्भ करके सर्वस्व-दानका नियम ग्रहण किया है।

यों कहकर वामनजी नगरमें गये और एक घरसे दूसरे घरको देखते हुए प्रतिदिन ब्राह्मणोंके घरोंपर भिक्षा माँगने लगे। वे प्रतिदिन स्नान और वेदाध्ययन करते और द्विजोंके घरोंमें भिक्षा एवं भोजन पाते थे। चौराहोंपर तथा सुन्दर मन्दिरोंमें ठहरते थे। वहाँ बहुत लोग उन्हें घेरे रहते थे। उनके कंधे मोटे और ठोढ़ी बड़ी थी। वे सिर हिला-हिलाकर ताल दे-दे नाचते और अत्यन्त मनोहर स्वरमें गाते थे। ब्राह्मणोंकी सभामें वे चारों वेदोंका उच्चारण करते थे। वामनजीका स्वरूप बड़ा सुन्दर था। दैत्यों तथा ब्राह्मणोंके बालक उन्हें दिन-रात घेरे रहते थे। वे सब ब्रह्मचारी वामनको यज्ञमण्डपमें ले गये और बोले—'तुम अपनी कुटी बनानेके लिये कोई स्थान राजा बलिसे माँग लो। विद्वान् ब्राह्मणका इस नगरमें सदा आदर किया जाता है।' सब मनुष्य उनसे अनुरोध करने लगे—'वामनजी! आप सदा दैत्यराज बलिके नगरमें निवास करें।' 'बहुत अच्छा' कहकर वामनजीने यज्ञमण्डपमें प्रवेश किया। उस समय मण्डपके द्वारपर बड़ा कोलाहल हुआ। वामनजी अनेक ब्राह्मणोंके साथ वहाँ खड़े होकर वेदमन्त्रोंका उच्चारण करने लगे। वेदमन्त्रोंका वह महान् घोष समूचे मण्डपमें छा गया। पहलेसे भीतर गये हुए दैत्योंने दैत्यराज बलिको सूचित किया—'देव! एक वामन ब्रह्मचारी यज्ञमें आपका दर्शन करनेके लिये आये हैं। आप उन्हें भीतर ले आनेके लिये द्वारपालको आज्ञा दें।'

एक मुखसे चारों वेदोंके उच्चारणकी ध्वनि सुनकर राजा बलिको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे द्वारपालसे बोले—"इन्हें आदरपूर्वक भीतर ले आओ, मैं इनकी पूजा करूँगा और इन्हें जिस वस्तुकी इच्छा होगी, वही दूँगा। मुझे वे बातें याद हैं, जो गुरुजीने सिखायी थीं—'कोई वेदमय पात्र होता है, कोई तपोमय। जो भी पात्र तुम्हारे पास आवेगा, वही तुम्हें तार देगा।' यज्ञ आरम्भ होनेपर मुझे सत्पात्रके लिये अवश्य दक्षिणा देनी चाहिये।"

बलिकी यह बात सुनकर गुरु शुक्राचार्यने उन्हें रोका और कहा—'राजन्! वामनको भीतर

न बुलाओ, सब ब्राह्मणोंका पूजन यज्ञमण्डपके द्वारपर ही करना चाहिये। दीन, अन्ध, कृपण, बधिर, वामन, कुब्ज तथा रोगी—ये सब द्वारपर ही पूजनेयोग्य हैं। आप द्वारपर ही जाकर सोने, चाँदी और वस्त्रोंसे वामनका सत्कार करें। चार पुरुषोंका जन्म व्यर्थ है और सोलह प्रकारके दान भी व्यर्थ हैं—जिनके पुत्र नहीं है, जो धर्मसे बहिष्कृत हैं, जो दूसरेके घर भोजन करते हैं तथा जो परायी स्त्रियोंमें आसक्त हैं। इन चार प्रकारके मनुष्योंका जन्म व्यर्थ माना गया है। अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको अन्यायोपार्जित धनका दान नहीं करना चाहिये। जो ब्राह्मण नहीं हैं, जिनका विवाह नहीं हुआ है, जो पतित हैं, सन्ध्याहीन हैं, चोर हैं, जो गुरुको प्रसन्न नहीं रख सकते, पिता-माताकी सेवासे विमुख हैं, ब्राह्मणोंमें अधम हैं, शूद्र स्त्रीसे संपर्क रखते हैं, वेद-विक्रेता, कृतघ्न, ग्रामपुरोहित (अथवा गाँव-गाँव भीख माँगनेवाले) हैं, जिन्हें स्त्रीने वशीभूत कर रखा है, जो साँप पकड़नेवाले हैं तथा दूसरोंकी निन्दामें रत रहते हैं, उन सबको दिया हुआ दान व्यर्थ होता है।'

**राजा बलिने कहा**—गुरुदेव! आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये। जो कोई भी वेदोंका स्वाध्याय करता है, वह ब्राह्मण मेरे लिये विष्णुके समान आदरणीय है। घरपर श्रोत्रिय ब्राह्मणके आनेपर उसके सत्कारमें विलम्ब नहीं करना चाहिये। उठकर उसका स्वागत करे, मीठे वचन बोले और चरण धोकर यथाशक्ति उसे भोजन दे। यही गृहस्थका धर्म है। यदि वामनजी मेरे यज्ञमण्डपसे बिना पूजा प्राप्त किये ही लौट जायँगे तो सर्वस्व दक्षिणाके संकल्पसे किया जानेवाला यह सम्पूर्ण यज्ञ व्यर्थ हो जायगा।

यह बातचीत हो ही रही थी कि वामनजी दैत्यराज बलिके समीप बुलाकर लाये गये। उनका पिंगल शरीर तेजसे सूर्यकी भाँति प्रज्वलित हो रहा था। विष्णुस्वरूप वामनजीको आते देख राजा बलि उठकर उनके सम्मुख गये और प्रणाम करके आगे खड़े हो इस प्रकार बोले—'मैं धन्य हूँ, जिसके यज्ञमें विष्णुके समान ब्राह्मणका शुभागमन हुआ है।' यों कहकर बलि उन्हें मध्यवेदीके समीप ले गये। उन्हें बैठनेको आसन दिया। पाद्य, आचमनीय और अर्घ्य अर्पण किया। चन्दन, धूप और गन्ध आदिके द्वारा उनकी पूजा करके सामने खड़े हो उन्हें मधुपर्क और गौ निवेदन की। वामनजीने मधुपर्कको सूँघकर गायको प्रणाम किया। बलिने कहा—'विप्रवर! आपका स्वागत है।' वामनजी बोले—'राजन्! तुम्हारा कल्याण हो; मैं याचक होकर आया हूँ, मुझे दान दो।' बलिने कहा—'प्रभो! बताइये, आपको क्या दिया जाय?' वामन बोले—'दैत्यराज! भूमि दो।' बलिने कहा—'प्रभो! कितनी भूमि दूँ?' वामन बोले—'राजन्! मुझे कुटी बनानेके लिये तीन पग भूमि दीजिये।' बलिने कहा—'मैंने आपको तीन पग भूमि दी।' वामन बोले—'मैंने तुम्हारा यह दान ग्रहण किया।'

इसी बीचमें शुक्राचार्य बोल उठे—'इन्हें दान न दो। ये सनातन विष्णु हैं।' तब बलिने कहा—'गुरुदेव! यदि ऐसी बात है तो इनसे बढ़कर दानका उत्तम पात्र और कौन हो सकता है।' यों कहकर बलिने सव्यभावसे दाहिने हाथमें कुश और अक्षत लिये; परंतु गुरुजीने न तो संकल्प पढ़ा और न वामनके हाथमें जल ही गिरवाया। यह देख सारे ऋषि, होता, सभासद, बहुत-से ब्राह्मण, दैत्य तथा राजाके स्त्री-पुत्र और बन्धु-बान्धव आश्चर्यचकित हो उठे और कहने लगे—'**दत्तम्**' (दिया) तथा '**गृहीतम्**' (लिया) यह वाणीद्वारा दोनों ओरसे कह दिये जानेपर भी गुरुजी संकल्पके लिये जल क्यों नहीं छोड़ते हैं। वामनजीके हाथमें कल्याणके निमित्त ही जल दिया जाना चाहिये। वाणीद्वारा जो दान दे दिया गया, उसे क्रियाद्वारा निष्पन्न क्यों नहीं किया जाता? गुरुजी यजमानको नरकमें घसीट रहे हैं।

यह सब सुनकर शुक्राचार्यने कहा—'राजन्! ये वामन साक्षात् विष्णु हैं। दैवयोगसे तुम्हें देखनेके लिये आये हैं। पता नहीं दान लेकर

ये तुम्हारा प्रिय करेंगे या अप्रिय।' तब बलिने कहा—'गुरुदेव! मेरी बात सुनिये। मैं इन्द्र हूँ, साक्षात् भगवान् विष्णु ही ब्राह्मण हैं और देनेयोग्य द्रव्य सूर्यदेवताका स्वरूप है। जब साक्षात् विष्णु ही यहाँ उपस्थित हैं, तब उनकी प्रीतिके लिये मुझे यह दान क्यों नहीं देना चाहिये?' यों कहकर बलिने वामनके हाथमें संकल्पका जल दे दिया। तब वामनजी चतुर्भुज रूप धारण करके बढ़ने लगे। उनके बढ़ते हुए स्वरूपको देखकर ब्राह्मण, ऋषि और देवता उनकी स्तुति करने लगे—'देव! आपकी जय हो; अनन्त! आपकी जय हो; सर्वव्यापी विष्णुदेव! आपकी जय हो; अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले परमेश्वर! आपकी जय हो; मत्स्यरूपधारी हरे! आपकी जय हो; कूर्मावतार! आपकी जय हो। पृथ्वीको उठानेवाले वाराह! आपको नमस्कार है। नरसिंह! आपको नमस्कार है, नमस्कार है। जमदग्निनन्दन परशुराम! आपको नमस्कार है। लक्ष्मणसहित श्रीराम! आपकी जय हो। कृष्ण! जगन्नाथ! देवकीनन्दन! आपकी जय हो। बुद्ध और कल्किको मैं प्रणाम करता हूँ।'

इस प्रकार सब नर-नारी भगवान्‌की स्तुति करते थे। देवर्षि नारद और सनकादि योगी भी उनके गुण गाते थे। भगवान् विष्णुने दो ही पगोंमें समस्त ब्रह्माण्डको माप लिया, तीसरेके लिये स्थान न रहा। उस समय देवता, दानव, मनुष्य, गन्धर्व, नाग तथा राक्षसोंने भी भगवान् विष्णुके चरणोंका पूजन और उनका स्तवन किया। गन्धर्वोंने उनके गुण गाये। भगवान् जब अपने चरणको समेटने लगे, उस समय उसके आघातसे ब्रह्माण्ड फूट गया और उससे बाहरका जल वहाँ प्रकट हो गया। वही जल भगवान् विष्णुके चरणोंसे प्रकट हुई गंगा है। जो ब्रह्माण्डके शिरोभागसे निकली है। गंगा देवी त्रिभुवनको पवित्र करनेवाली हैं। साक्षात् भगवान् शंकरने अपने मस्तकपर उन्हें धारण किया है। वे स्वर्गलोकमें स्वर्धुनीके नामसे पूजित होती हैं और भूलोकमें आनेपर 'गां (भूमिं) गता' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'गंगा' कहलाती हैं तथा जब वे पातालमें आयीं तब त्रिपथगाके नामसे प्रसिद्ध हुईं। गंगाजीके स्मरणमात्रसे सब पापोंका नाश हो जाता है। उनके दर्शनसे सम्पूर्ण अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है। उनके जलमें स्नान करनेमात्रसे सात जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं। जो गंगाजीमें स्नान करके देवी, विष्णु तथा शिवकी पूजा करता है, वह इन्द्रलोकको लाँघकर श्रीविष्णुके लोकमें प्रतिष्ठित होता है। श्रीविष्णुके चरणोदकरूप गंगाका जल पीकर, उसमें स्नान करके तथा उसे प्रणाम करके मन और इन्द्रियोंका पूर्ण संयम रखनेवाला पुरुष मोक्षको प्राप्त होता है। एकादशीको उपवास करके मनुष्य मुक्ति पाते हैं। जो शुद्ध भावसे युक्त हो परमात्मचिन्तनमें स्थित होते हैं, जनसमुदायके स्थानोंसे विरक्त रहते हैं, वे संसार-बन्धनका उच्छेद करके परम गतिको प्राप्त होते हैं।

**महादेवजी कहते हैं**—देवि! प्रतिज्ञाकी पूर्ति न कर सकनेके कारण वामनजीने जो बलिका निग्रह किया, उससे देवताओंको बड़ी प्रसन्नता हुई। तत्पश्चात् भगवान्‌ने राजा बलिपर अनुग्रह किया और उन्हें पाताललोकमें भेजकर स्वयं वामनस्थलीमें निवास करनेका विचार किया। वहाँ उन्होंने पंचाग्नि-साधन किया और 'वामनपुरी' बसायी। विश्वकर्माद्वारा बनायी हुई वह पुरी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको दी गयी। वह पुरी भद्रा नदीके किनारे स्थित है। मधुमतीमें साढ़े तीन करोड़ तीर्थ हैं। वृद्ध प्रभासमें उन सबका विस्तार बताया गया है। भगवान् विष्णु वामनस्थलीमें स्थित हुए। राजा बलि पाताललोकमें रहने लगे, मधुमतीमें सब कामनाओं और फलोंके दाता भगवान् माधव विराजमान हैं। पार्वती! इस प्रकार मैंने तुमसे बारह योजन विस्तृत प्रभासक्षेत्रका वर्णन किया, जो स्मरण करनेमात्रसे सब सिद्धियोंको देनेवाला है।

**प्रभासखण्ड सम्पूर्ण**

# श्रीद्वारका-माहात्म्य

## भगवान्‌के परमधाम पधारनेपर महर्षियोंका ब्रह्माजीकी आज्ञासे प्रह्लादजीके समीप जाना और प्रश्न करना

**श्रीशौनकजीने पूछा**—सूतजी! अनेक प्रकारके पाखण्डोंसे भरे हुए इस भयंकर कलिकालमें हम भगवान् मधुसूदनको किस प्रकार प्राप्त कर सकेंगे?

**सूतजीने कहा**—महर्षियो! दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजी महाराज जब परमधामको चले गये, उसके दीर्घकालके पश्चात् द्वापरमें जब दुष्ट राजाओंके भारसे यह पृथ्वी पीड़ित होने लगी, उस समय साक्षात् भगवान् विष्णु देवताओंका कार्य सिद्ध करने एवं पृथ्वीका भार उतारनेके लिये वसुदेवजीके कुलमें अवतीर्ण हुए। फिर वे नन्दके व्रजमें गये। वहाँ उनके द्वारा पूतनाका नाश हुआ। तृणावर्त मारा गया। दहीसे भरा हुआ छकड़ा उलट दिया गया। कालियनागका दमन और प्रलम्बासुरका संहार हुआ। तत्पश्चात् श्रीकृष्णने अपने हाथसे गोवर्धन पर्वतको उठाकर इन्द्रके कोपसे गोकुलकी रक्षा की। उनका गौओंके इन्द्रपदपर अभिषेक हुआ और इन्द्रका अहंकार दूर किया गया। फिर भगवान्‌ने रासक्रीड़ा की। उसके बाद केशी दानव मारा गया। फिर वे अक्रूरके कहनेसे मथुरापुरीमें गये। वहाँ भी श्रीकृष्णने कुबलयापीड हाथी और मल्लराज चाणूरको मौतके घाट उतारा। दैत्योंके स्वामी भोजराज कंसको भी मार गिराया। उग्रसेनको मथुराका राजा बनाया। जरासन्धकी असंख्य भयंकर सेनाका संहार किया। युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें शिशुपालका भी वध किया। उसके बाद महाभारत-युद्ध आरम्भ होकर समाप्त हो गया। इस प्रकार पृथ्वीका बहुत बड़ा भार उतर गया। तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण समस्त यदुवंशियोंको तीर्थयात्राके लिये प्रभासक्षेत्रमें ले आये। वहाँ उनमें परस्पर कलह आरम्भ हो गया और उस महाभयंकर कलहाग्निमें समस्त यादववंश जलकर भस्म हो गया। तब भगवान् विष्णु वहीं अस्त्र-शस्त्रोंका त्याग करके अश्वत्थ वृक्षकी जड़का सहारा लेकर भूमिपर जा बैठे। इतनेहीमें एक बहेलियेने बाण मारा और उनके चरणमें घाव हो गया। इसे ही निमित्त बनाकर भगवान् श्रीकृष्ण परमधामको चले गये। इसके बाद अर्जुन द्वारकामें आये और यदुकुलकी स्त्रियों तथा बालकोंको लेकर जब बाहर निकले, तब समुद्रने सब ओरसे यदुपुरीको डुबो दिया। श्रीहरिके मन्दिरका निर्माण कराकर वज्र इन्द्रप्रस्थ चले गये। इस प्रकार द्वापर बीत गया और महाभयानक कलिकाल आ पहुँचा। सद्धर्म क्षीण होने लगा। अधर्म प्रबल हो गया। वेदवादका बहिष्कार होने लगा। वर्ण और आश्रमधर्मका ह्रास हुआ तथा धर्मका एक ही चरण शेष रह गया। जब ऐसी अवस्था प्राप्त हुई, तब समस्त वनवासी महर्षि परस्पर मिलकर मन्त्रणा करने लगे। उस मन्त्रणामें गर्ग, च्यवन, गालव, असित, देवल, धौम्य तथा उद्दालक आदि अनेक महर्षि सम्मिलित थे। वे आपसमें इस प्रकार बोले—'अहो! देखो तो सही, पृथ्वीपर प्रत्येक दिशामें कलियुगका साम्राज्य हो गया है। सब ओर लुटेरों और डाकुओंसे प्रजाको बड़ा कष्ट हो रहा है। सत्य और सरलता आदि सद्गुणोंका त्याग करके प्रायः लोग पापमें प्रवृत्त हो रहे हैं। ऐसी दशामें हमें भगवान् विष्णुकी प्राप्ति कैसे होगी? भवसागरमें पड़े हुए हमलोगोंका

कौन उद्धार करेगा? भगवान् पुण्डरीकाक्षके बिना इस कलियुगमें हम कैसे रहेंगे?'

इस प्रकार जब वे तपस्वी महर्षि दुखी एवं चिन्तित हो रहे थे, उस समय महर्षि उद्दालकने उन सबसे कहा—'मुनिवरो! हमलोग शीघ्र ही ब्रह्मलोकमें चलें और ब्रह्माजीसे पूछें, कलियुगमें भगवान् विष्णुकी स्थिति कहाँ है? क्योंकि कलिकालमें भगवान्के बिना संसारमें कौन रहेगा।'

उनकी बात सुनकर सब महर्षियोंने एक स्वरसे 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' कहकर ब्रह्माजीके निकट प्रस्थान किया। वहाँ ब्रह्माजीका दर्शन करके उनके चरणोंमें प्रणाम किया और इस प्रकार स्तुति की—'कमलोद्भव! आपको नमस्कार है। अक्षय! अविनाशी! चतुरानन! आपको नमस्कार है। संसारकी सृष्टि करनेवाले! आपको नमस्कार है। पितामह! आपको नमस्कार है।'

मुनियोंके इस प्रकार स्तवन करनेपर ब्रह्माजी बहुत प्रसन्न हुए। फिर पाद्य और अर्घ्यसे उन मुनिवरोंका सत्कार करके उन्होंने पूछा—'पुत्रो! तुम्हारे आगमनका क्या प्रयोजन है? तुम लोगोंके पुत्र, शिष्य, अग्नि और भाई-बन्धु तो कुशलसे हैं न?'

**ऋषियोंने पूछा**—भगवन्! आपके प्रसादसे सर्वत्र कुशल है। आप सम्पूर्ण देवताओंके गुरु हैं। आपका दर्शन पाकर हमें तपस्याका सम्पूर्ण फल मिल गया। अब हम अपने आनेका कारण बतलाते हैं। सत्ययुग आदि तीन युग व्यतीत हो गये। अब भयंकर कलियुग प्राप्त हुआ है। इस समय पृथ्वीपर भगवान् विष्णु कहाँ हैं? जिनका दर्शन करके हम बन्धनरहित हो परम मुक्ति प्राप्त कर सकें।

**ब्रह्माजीने कहा**—तुमलोग पाताललोकमें जाओ और वहाँ दैत्योंमें श्रेष्ठ प्रह्लादजीसे पूछो। उन्हें कलियुगमें भगवान्के रहनेके स्थानका पता होगा। वे तुमसे सब कुछ बता देंगे।

ब्रह्माजीकी बात सुनकर उन तपस्वी महात्माओंने उन्हें प्रणाम किया और प्रह्लादजीकी प्रशंसा करते हुए वे दैत्यराजके नगरमें गये। उन्हें दूरसे ही आते देख राजा बलि और प्रह्लादजीने उठकर उनकी अगवानी की और पाद्य, अर्घ्य, मधुपर्क एवं गौ देकर उनका यथावत् पूजन किया। तत्पश्चात् प्रसन्न चित्तसे हाथ जोड़कर कहा—'महाभाग महात्माओ! आपका स्वागत है। आजका प्रभात हमारे लिये बड़ा उत्तम था, जो कि आपका दर्शन प्राप्त हुआ। कहिये, मैं आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ?'

इस प्रकार दैत्यराज प्रह्लादके द्वारा सत्कार किये जानेपर वे महर्षि बोले—'भगवान्के प्रिय भक्त प्रह्लादजी! आप इस भवसागरसे हमारे रक्षक होइये। इस भयंकर कलिकालमें भगवान् विष्णुके बिना हमलोग कैसे रह सकेंगे। इस युगमें अधर्मने सनातन धर्मपर विजय पायी है। झूठने सत्यको तथा शूद्रोंने ब्राह्मणोंको परास्त किया है। राजाका रूप धारण करके आये हुए म्लेच्छ ब्राह्मणोंको सता रहे हैं। वर्णाश्रम-धर्मका ह्रास हो गया है। वेदोक्त मार्ग लुप्त होता जा रहा है। ऐसे समयमें भगवान् विष्णु कहाँ हैं? जहाँ ज्ञान, ध्यान और इन्द्रियनिग्रहके बिना भी भगवान्की प्राप्ति हो, उस गूढ़ स्थानका पता हमें बताइये। दैत्यराज! आप हमारे सुहृद् हैं, मार्गदर्शक हैं, अतः कृपा करके बताइये, भगवान् विष्णु कहाँ विराज रहे हैं?'

इस प्रकार उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके पूछनेपर दैत्यराज प्रह्लादने उन्हें मस्तक झुकाया और देवताओंसहित ब्रह्माजी एवं परमात्माको नमस्कार करके उत्तर देना आरम्भ किया।

# द्वारकाकी महिमा, वहाँकी यात्रा और उसमें योग देनेका माहात्म्य, गोमती और चक्रतीर्थकी उत्पत्ति एवं महिमा, सनकादिकोंपर भगवान्‌की कृपा

**श्रीप्रह्लादजी बोले**—महर्षियो! आप सम्पूर्ण देवताओं, दैत्यों, दानवों तथा राक्षसोंके भी पूजनीय हैं। आप पूजनीय महापुरुषोंकी आज्ञा तथा भगवान् विष्णुके प्रसादसे मैं भगवान्‌के स्थानका परिचय देता हूँ—पश्चिम समुद्रके तटपर जो कुशस्थलीपुरी है, जिसका निर्माण पहले राजा कुशके द्वारा हुआ है, जहाँ गोमती नदी बहती है और समुद्रमें मिली है, वही द्वारावतीपुरी कहलाती है। उसे आनर्ता भी कहते हैं। उसीमें सोलह कलाओं तथा बारह मूर्तियोंसे युक्त विश्वात्मा भगवान् विष्णु निवास करते हैं। जो भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं। वही परम धाम है, वही परमपद है। वह द्वारकापुरी धन्य है, जहाँ शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले चतुर्भुज श्रीकृष्ण विद्यमान हैं। वहाँ जानेसे कलिकालके मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर लेंगे। जहाँ गोमती नदी बहती हैं, जहाँ भगवान् विष्णुकी त्रिविक्रम मूर्ति है, उस द्वारकापुरीमें जाकर चक्रतीर्थमें स्नान करनेवाले मनुष्य मोक्ष प्राप्त करेंगे। जब भगवान् श्रीकृष्ण प्रभासक्षेत्रमें परमधामको पधारे, तब कलासहित वे उस त्रिविक्रम मूर्तिमें स्थित हुए, अतः ब्राह्मणो! इस कलिकालमें भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकाके सिवा अन्यत्र नहीं मिल सकते। यदि आपको श्रीकृष्णसे मिलनेकी इच्छा हो तो शीघ्र वहीं जाइये।

**ऋषि बोले**—भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ तथा उत्तम मार्ग दिखानेवाले प्रह्लादजी! आपको धन्यवाद है। आज हमने आपके द्वारा उस रहस्यको जान लिया, जिसे आपके सिवा दूसरा कोई नहीं जानता है। अब यह बताइये कि द्वारकापुरीमें जानेसे क्या फल होता है? वहाँ श्रीकृष्ण-दर्शनसे किस फलकी प्राप्ति होती है? द्वारकामें कौन-कौनसे तीर्थ और देवता हैं।

**प्रह्लादजीने कहा**—ब्राह्मणो! जब मनुष्य द्वारका जानेका विचार मनमें लाता है, उसी समय उसके पितर नरकसे मुक्त हो हर्षके गीत गाने लगते हैं। मनुष्य भगवान् श्रीकृष्णके मार्गमें जितने पग आगे चलता है, उसे पग-पगपर अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है। जो मानव श्रीकृष्णपुरीकी यात्राके लिये दूसरोंको प्रेरणा देता है, वह निःसन्देह विष्णुधाममें जाता है। जो द्वारका अथवा मथुरा जानेवाले मनुष्यको धन देता है, वह भगवद्धाममें आनन्दक्रीड़ा करता है। उस मार्गमें थके हुए शरीरवाले मनुष्यको जो सवारी देता है, वह मनुष्य हंसयुक्त विमानसे स्वर्गमें जाता है। जो यात्रामें जाते हुए भूखे पुरुषको मध्याह्नकालमें अन्न देता है, वह गयाश्राद्धसे होनेवाले पुण्यको पाता है। वहाँ पितरोंकी अक्षय तृप्ति होती है। जो द्वारका जानेवाले यात्रीको पहननेके लिये जूते देता है, वह मानव भगवान् श्रीकृष्णके प्रसादसे हाथीपर बैठकर चलता है। जो द्वारका जानेवालेके मार्गमें विघ्न खड़ा करता है, वह मूढ एक कल्पतक रौरव नरकमें डूबा रहता है। जो द्वारकाके मार्गमें टिके हुए पुरुषको कमण्डलु देता है, उसे एक हजार पौंसला चलानेका फल होता है। जो उस तीर्थके मार्गमें जाते हुए पुरुषसे भगवान् विष्णुकी कथा-वार्ता एवं संगीत सुनता है अथवा उसे दान देता है, उससे बढ़कर धन्य मनुष्य कोई नहीं है। द्वारकामें देवाधिदेव भगवान् श्रीकृष्णका मन्दिर कैलास-शिखरके समान ऊँचा और श्वेत बादलोंकी भाँति उज्ज्वल है। जो उसका दर्शन करता है, वह मनुष्योंमें श्रेष्ठ है। दूरसे ही फहराती हुई ध्वजा-पताकाके साथ भगवन्मन्दिरका सुवर्णमय कलश देखकर जो सवारीको त्याग देता और धरतीपर लोटकर उसे प्रणाम करता है, उसके पंचसूनाजनित पाप,

अन्यान्य, भयंकर पाप, मार्गमें पैरोंसे दबकर मरे हुए कृमि-कीट और पतंग आदिके वधसे होनेवाले, परान्न-भोजन, परकीय जलपान तथा स्पर्शसे होनेवाले पाप—ये सभी उस भगवत्क्षेत्रके दर्शनसे नष्ट हो जाते हैं। द्वारकाके यात्रीको चाहिये कि वह मार्गमें विष्णुसहस्रनाम, भीष्मस्तवराज अथवा गजेन्द्रमोक्षका पाठ करते हुए धीरे-धीरे चले। भगवान्‌के अनेक अवतारोंकी लीला-कथाका गान करते हुए सदा हर्षमें भरा रहे और पवित्रभावसे यात्रा करे। पहले बिना पैर धोये ही भगवान् गणेशको नमस्कार करे। इससे सब विघ्नोंका नाश होता है। जो पहले बड़े भैया बलरामजीको प्रणाम करके नीलकमलदलके समान श्याम वर्णवाले देवकीनन्दन श्रीकृष्णको प्रणाम करता है, वह उनके दर्शनमात्रसे बाल, कुमार तथा युवावस्थामें किये हुए समस्त पापोंका नाश कर देता है। इतना ही नहीं, सहस्रों जन्मोंके मन, वाणी और क्रियाद्वारा किये हुए उसके जितने भी पाप हैं, सब नष्ट हो जाते हैं। एक हजार भार सुवर्णदान करनेसे जो फल मिलता है, उससे कोटि गुना फल द्वारकामें श्रीकृष्णके मुखका दर्शन करनेसे मिल जाता है। कमलके समान नेत्रोंवाले देवेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण तथा द्वारकाकी रक्षा करनेवाले महर्षि दुर्वासाजीको गरुड़सहित प्रणाम करके द्वारकापुरीके उत्तम द्वारपर आवे।

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण ही जिसके आश्रय हैं, उस गोमती नदीके समीप जाय। उसका दर्शनमात्र करके मनुष्य सब पातकोंसे मुक्त हो जाता है। गोमतीका जल पापराशि और अमंगलका विनाश करनेवाला तथा मनुष्योंकी सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाला है। उसे प्रणाम करना चाहिये। वह महापापोंका क्षय करनेवाला, जिनकी कहीं भी गति नहीं है, उन्हें सद्गति देनेवाला तथा परम शीतल है। मनुष्यके सब पुण्य जब सहायक होते हैं, तभी उसे गोमतीका जल प्राप्त होता है।

**ऋषियोंने पूछा**—दैत्यराज! यह गोमती कौन है और इसे कौन लाया है?

**प्रह्लादजीने कहा**—प्राचीनकालमें जब एकार्णवके जलमें समस्त स्थावर-जंगम जगत्‌का नाश हो गया था, उस समय भगवान् विष्णुके नाभिकमलसे ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। भगवान्‌ने आज्ञा दी—'ब्रह्मन्! नाना प्रकारकी प्रजाकी सृष्टि कीजिये।' 'बहुत अच्छा' कहकर ब्रह्माजीने सृष्टिमें मन लगाया। उन्होंने अपने मनसे सनक, सनन्दन आदि कुमारोंको जन्म दिया और कहा—'पुत्रो! प्रजा उत्पन्न करो।' ब्रह्माजीका यह वचन सुनकर सनक आदि महात्मा हाथ जोड़कर बोले—'भगवन्! प्रजापते! हम भगवत्स्वरूपका दर्शन करना चाहते हैं; अतः हम बन्धनमें नहीं पड़ेंगे। इस दुर्गम सृष्टिके चक्रमें नहीं फँसेंगे।' ऐसा कहकर सनकादि कुमार वहाँसे चल दिये। पश्चिम दिशामें समुद्रके तटपर आकर वे भगवान्‌के तेजोमय स्वरूपका दर्शन पानेकी इच्छासे उन्हींमें मन लगाकर उत्तम तपस्यामें संलग्न हो गये। बहुत वर्षोंके पश्चात् धरणीधर भगवान् विष्णु प्रसन्न हो समुद्रके जलका भेदन करके उनके सामने प्रकट हुए। उनका वह तेजोमय स्वरूप सूर्यके समान दुर्दर्श था। करोड़ों सूर्योंके समान तेजस्वी तथा सहस्रों धारवाले सुदर्शन चक्रमय स्वरूपका दर्शन करके ब्रह्माजीके पुत्र सनकादि बड़े विस्मित हुए। वे भगवान्‌के उस उत्तम आयुधकी ओर देखते रह गये। उन्हें आश्चर्यमें पड़ा हुआ देख आकाशवाणी हुई—'ब्रह्मपुत्रो! भगवान् विष्णु शीघ्र ही प्रकट होंगे। भगवान्‌की पूजाके लिये शीघ्र अर्घ्य प्रदान करो। यह उन्हीं भगवान् जगन्नाथका आयुध है। इसके लिये भी शीघ्र अर्घ्य दो।'

आकाशवाणीका यह कथन सुनकर उन सब महर्षियोंने सुदर्शनकी स्तुति की। वे बोले—'ज्योतिर्मय सुदर्शन! तुम्हें नमस्कार है। हरिवल्लभ! तुम्हें नमस्कार है। सहस्र अरोंवाले सुदर्शनचक्र! तुम अविनाशी हो, तुम्हें नमस्कार है। सूर्यस्वरूप! तुम्हें नमस्कार है। ब्रह्मरूप! तुम्हें नमस्कार है। तुम्हारा प्रहार कभी व्यर्थ नहीं होता।

तुम्हें नमस्कार है। चक्ररूप! तुम्हें बार-बार नमस्कार है।'

इस प्रकार स्तुति करके उन्होंने फूल और अक्षत आदिसे भगवान्‌के प्रिय आयुध सुदर्शनका पूजन और प्रणाम किया। तत्पश्चात् भगवान्‌के दर्शनके लिये उत्सुक होकर सनकादिकोंने मन-ही-मन अपने पिता ब्रह्माजीका स्मरण किया। उनका अभिप्राय जानकर ब्रह्माजीने गंगाजीसे कहा—'सरिताओंमें श्रेष्ठ गंगे! तुम भगवान्‌की सेवाके लिये भूतलपर जाओ। 'गो' अर्थात् इस दिव्य लोकमें तुम मुझे विशेष अभिमत हो, इसलिये पृथ्वीपर तुम्हारा नाम गोमती होगा। जैसे पिताके साथ पुत्री जाती है, उसी प्रकार तुम वसिष्ठजीके पीछे-पीछे पृथ्वीपर जाओ और वसिष्ठजीकी पुत्री होकर रहो।' 'बहुत अच्छा' कहकर गंगादेवी पश्चिम समुद्रकी ओर चलीं। आगे-आगे वसिष्ठजी और पीछे-पीछे गंगा। वसिष्ठजीके साथ गंगाजीको पश्चिम समुद्रकी ओर जाती देख सब लोगोंने नमस्कार किया। जहाँ सनकादि मुनि थे, वहीं गंगाजी प्रकट हुईं। उन महाभाग मुनियोंने दिव्य सुगन्धित माला, चन्दन, धूप आदिसे उनकी पूजा करके उनके ऊपर अक्षत और फूल बिखेरे। भगवान्‌के लक्ष्मीसेवित चतुर्भुजरूपका दर्शन करनेकी इच्छावाली सर्वलोकपावनी महाभागा गंगाजीकी उन सबने बड़ी प्रशंसा की और साधुवाद दिया। वसिष्ठजीको देखकर सब ब्राह्मण उठकर खड़े हो गये और बोले—'महर्षे! आप इस श्रेष्ठ नदीको यहाँ ले आये हैं, इसलिये यह लोकमें आपकी पुत्रीरूपसे विख्यात होगी। 'गो' अर्थात् स्वर्गसे इस स्थानपर आकर यह मतिस्वरूपा मानी गयी है, इसलिये लोकमें गोमती नामसे उसकी प्रसिद्धि हुई है। इसके दर्शनमात्रसे मनुष्य मोक्षको प्राप्त होंगे। फिर यहाँ स्नान-दान आदि करके वे श्रीहरिके धाममें जायँगे, इसके विषयमें कहना ही क्या।' सनकादि योगीश्वरोंने गोमतीको अर्घ्य देकर पुरुषसूक्तके मन्त्रोंसे शेषशायी भगवान् श्रीहरिका स्तवन किया। इस प्रकार स्तुति करते हुए उनके समक्ष साक्षात् भगवान् विष्णु प्रकट हुए। उन्होंने पीले रंगका रेशमी वस्त्र पहन रखा था। गलेमें वनमाला शोभा दे रही थी। दिव्य माला तथा दिव्य अनुलेपनसे उनके श्रीअंगोंकी बड़ी शोभा हो रही थी। वे दिव्य आभूषणोंसे विभूषित थे। शेषनागकी शय्यापर पौढ़े हुए थे। उन्होंने हाथोंमें अनेकों दिव्य आयुध धारण कर रखे थे। उनके मस्तकपर कीरीट-मुकुट जगमगा रहा था और कानोंमें मकराकृत कुण्डल चमचम कर रहे थे। भक्तोंको अभय देनेवाले कमनीय विग्रह महाबाहु श्रीहरिका वक्षःस्थल श्रीवत्सचिह्नसे सुशोभित था। उनके मुखपर शाश्वत प्रसन्नता छायी हुई थी। श्रीविग्रहकी कान्ति श्याम थी। चार भुजाओंसे शोभायमान वे भगवान् विष्णु लक्ष्मीजीके द्वारा चरणसंवाहनजनित आनन्दमें मग्न होकर अतिशय मनोहर प्रतीत होते थे। उन्हें देखकर सनकादि मुनि बड़े प्रसन्न हुए और वैदिक विष्णुसूक्तके मन्त्रोंसे आनन्दस्वरूप श्रीविष्णुकी स्तुति करने लगे। उनके इस प्रकार स्तवन करनेपर दीनोंपर दया करनेवाले श्रीहरि प्रसन्नचित्त होकर इस प्रकार बोले—'ब्रह्मकुमारो! मैं तुमसे बहुत संतुष्ट हूँ; अतः तुम्हें मनोवांछित वर दूँगा। तुम मेरी मायासे निर्लिप्त रहकर नित्य ज्ञानसम्पन्न होओगे। ब्राह्मणो! तुमने मोक्षकी अभिलाषा लेकर मुझ जलशायी विष्णुको प्रसन्न किया है; इसलिये यह मेरा श्रेष्ठ तीर्थ सदा मोक्षदायक होगा। तुमपर अनुग्रह करनेके लिये यहाँ पहले सुदर्शन चक्र प्रकट हुआ है; अतः उस चक्रके नामपर यह तीर्थ चक्रतीर्थ कहलायगा। यहाँ महासागरमें मेरा भी नियमित रूपसे निवास होगा। जो मानव किसी अन्य प्रसंगसे भी यहाँ चक्रतीर्थमें स्नान करते हैं, उन्हें मुक्ति हाथ लग जाती है। विप्रवरो! आपलोग भी सदा यहाँ निवास करें।'

भगवान्‌का यह वचन सुनकर सनकादि

महात्माओंके मनमें बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने भगवान्‌को अर्घ्य दे गोमतीके जलसे उनके चरण पखारे और उन चरणोंको मस्तकपर धारण किया। इस प्रकार श्रीहरिके चरणोंका प्रक्षालन करके महाभयहारिणी गोमती महासागरमें मिल गयीं। तदनन्तर सनकादि महात्माओंको अभीष्ट वरदान दे श्रीहरि वहीं अन्तर्धान हो गये और ब्रह्मपुत्र सनकादि एकाग्रचित्त हो उसी तीर्थमें रहने लगे। इस प्रकार वहाँ गोमतीका प्रादुर्भाव हुआ और वह समुद्रमें जा मिली। पहले जिनका नाम गंगा सुना गया था, वे ही द्वारकामें सागरगामिनी गोमती कहलायीं।

## गोमतीमें स्नान और भगवत्पूजनकी महिमा

**ऋषि बोले**—दैत्यप्रवर महाभाग प्रह्लादजी! आपको अनेकशः धन्यवाद है; क्योंकि आपने इस कलियुगमें हमें भगवान् श्रीहरिका दर्शन कराया है। जहाँ गोमती नदी बहती है, उस स्थानपर हमें अवश्य जाना चाहिये; क्योंकि वहाँ भगवान् श्रीहरि चक्रतीर्थका निरीक्षण करते हुए सदा निवास करते हैं। महामते! अब गोमतीमें स्नान तथा भगवान् श्रीकृष्णके पूजनकी विधिका वर्णन कीजिये।

**प्रह्लादजीने कहा**—गोमतीके तटपर जाकर पहले उसे साष्टांग प्रणाम करे; फिर हाथ-पैर धोकर दोनों हाथोंमें कुशा ले तथा अक्षत और फल आदि संग्रह करके संयमपूर्वक पूर्वाभिमुख होकर बैठे और विधिवत् अर्घ्य दे। अर्घ्यका मन्त्र इस प्रकार है—

**ब्रह्मलोकात्समायाते वशिष्ठतनये शुभे।**
**सर्वपापविशुद्ध्यर्थं ददाम्यर्घ्यं च गोमति॥**
**वशिष्ठदुहितर्देवि शक्तिज्येष्ठे यशस्विनि।**
**त्रैलोक्यवन्दिते देवि पापं मे हर गोमति॥**

'ब्रह्मलोकसे आयी हुई वसिष्ठकी पुत्री गोमती! मैं तुम्हें सब पापोंसे शुद्ध होनेके लिये अर्घ्य देता हूँ। वसिष्ठतनये! तुम्हारी शक्ति बहुत बड़ी है। सुयशसे सुशोभित होनेवाली त्रिभुवनवन्दिता गोमती देवी! मेरे पाप हर लो।'

इस मन्त्रका उच्चारण करके हाथमें मिट्टी लेकर मन-ही-मन भगवान् विष्णुका स्मरण करते हुए निम्नांकित मन्त्रका उच्चारण करे—

**अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे।**
**उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना॥**
**मृत्तिके हर मे पापं यन्मया पूर्वसञ्चितम्।**
**त्वया हतेन पापेन सर्वपापैः प्रमुच्यते॥**

'अश्व, रथ तथा भगवान् विष्णुके द्वारा आक्रान्त होनेवाली वसुन्धरे! तुम्हें सैकड़ों भुजाओंवाले वराहरूपधारी भगवान् विष्णुने जलके ऊपर उठाया है। मृत्तिके! मेरे पूर्वसंचित पाप हर लो। तुम्हारे द्वारा पापके नष्ट कर दिये जानेपर मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

ऐसा कहकर उस मृत्तिकाको सब अंगोंमें लगावे और विधिपूर्वक स्नान करे। स्नानके समय '**आपो अस्मान्०**' इत्यादि वैदिक मन्त्रका भी उच्चारण करना चाहिये। सूर्यग्रहणके समय कुरुक्षेत्रमें स्नान करनेसे जो पुण्य होता है, वही श्रीकृष्णके समीप गोमतीमें स्नान करनेमात्रसे प्राप्त हो जाता है। अतः उत्तम भक्तिभावसे गोमतीमें स्नान करके यथोचित कर्म करे। देवताओं, पितरों और मनुष्योंका तर्पण करे। जो रौरव नरकमें स्थित हैं अथवा कीटयोनिमें पड़े हैं, वे सब पितर गोमतीका जल देनेसे निस्सन्देह मुक्त हो जाते हैं। अक्षत और कुशके बिना ही बिना भावनाके भी गोमतीका जलमात्र अर्पण करनेसे गया-श्राद्धका फल होता है।

इस प्रकार तर्पण करनेके पश्चात् तीर्थवासी वेदज्ञ ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करे और विश्वेदेव आदिके पूजनपूर्वक पितरोंका श्राद्ध करे। सुवर्ण

और रजतकी दक्षिणा दे। सोनेके सींग और चाँदीके खुरोंसे विभूषित रत्नमय पुच्छ और ताम्रमय पृष्ठभागवाली दुग्धयुक्त सवत्सा गौकी वस्त्र और आभूषणोंद्वारा पूजा करके भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके उद्देश्यसे सप्तधान्यसहित उस गौका दान करे। तदनन्तर ब्राह्मणोंको सीमाके बाहरतक पहुँचाकर जितेन्द्रिय एवं पवित्र पुरुषों, दीनों, अन्धों और कृपणोंको अपनी शक्तिके अनुसार दान दे। गोमती नदी, गोमयस्नान, गोदान, गोपीचन्दन तथा गोपीनाथका दर्शन—ये पाँच गकार दुर्लभ हैं।* इसलिये मनुष्यको गोमतीके तटपर गोदान अवश्य करना चाहिये। ऐसा करनेसे मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। जो पूर्वकर्मोंके फलसे स्थावर (वृक्ष आदि)-की योनिमें चले गये हैं, ऐसे पितर, पितृकुलके हों या मातृकुलके, वे सभी कलियुगमें गोमतीके दर्शनसे मोक्षको प्राप्त होते हैं। गोमतीके तटपर श्राद्ध करनेसे निश्चय ही अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है। प्रयागमें गंगा-स्नान करनेसे जो पुण्य होता है, उसे गोमतीके तटपर श्राद्ध करनेवाला पुरुष प्राप्त कर लेता है। उसके तीनों कुलोंके पितर विष्णुलोकमें जाते हैं तथा सहस्रों जन्मोंका किया हुआ पाप नष्ट हो जाता है। गोमतीके दर्शनसे मन, वाणी और क्रियाद्वारा किये हुए सभी पाप विलीन हो जाते हैं। भयभीत प्राणीको अभयदान देनेसे मनुष्य जिस पुण्यको पाता है, उसीको गोमतीके जलमें स्नान करके मनुष्य पा लेता है; इतना ही नहीं, वह पैतृक ऋणसे मुक्त एवं कृतकृत्य हो जाता है। मन, वाणी और क्रियाद्वारा किये हुए समस्त पाप गोमतीके जलका सम्पर्क होते ही नष्ट हो जाते हैं। गोमतीमें स्नान करनेवाला पुरुष सुन्दर वनमाला, चार भुजा तथा दिव्य गन्ध और अनुलेपनसे युक्त होकर उस विष्णुधाममें जाता है, जहाँसे पुनः लौटकर इस संसारमें नहीं आना पड़ता।

## चक्रतीर्थ तथा रुक्मिणीह्रदका माहात्म्य

**प्रह्लादजी कहते हैं**—विप्रवरो! यहाँसे चक्रतीर्थयुक्त समुद्रके समीप जाय, जहाँ मोक्ष देनेवाली चक्रांकित शिलाएँ देखी जाती हैं। जो प्रतिदिन भाव-भक्तिके साथ भगवान् जगन्नाथ श्रीकृष्णका पूजन करते हैं और सदा अपलक नेत्रोंसे उनका दर्शन करते रहते हैं, वे धन्य हैं। साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णने जिसे निरन्तर अपनी दृष्टिसे देखकर पालन किया है, वह श्रीहरिका सर्वपापनाशक चक्रतीर्थ सबसे श्रेष्ठ है। किसी दूसरे प्रसंगसे भी जिसका दर्शन कर लेनेपर मनुष्य पापमुक्त हो जाता है, वह चक्रतीर्थ सब तीर्थोंमें श्रेष्ठ और पावन है। वहाँ जाकर प्रसन्नतापूर्वक हाथ-पैर धोकर आचमन करनेके पश्चात् साष्टांग प्रणाम करे। फिर पंचरत्नयुक्त अर्घ्यपात्र लेकर उसमें फूल, अक्षत, गन्ध, फल और चन्दन आदि मिलाकर अर्घ्य तैयार करे और फिर उसे हाथमें लेकर पश्चिम या समुद्रकी ओर मुँह करके निम्नांकित मन्त्र पढ़े—

**ॐ नमो विष्णुरूपाय विष्णुचक्राय ते नमः।**
**गृहाणार्घ्यं मया दत्तं सर्वकामप्रदो भव॥**

'ॐविष्णुस्वरूप तुम विष्णुचक्रको बार-बार नमस्कार है। मेरा दिया हुआ अर्घ्य स्वीकार करो और मेरे सम्पूर्ण मनोरथोंके दाता बनो।'

इस प्रकार अर्घ्य देकर समुद्रमें स्नान करे। फिर तीर्थकी भीगी हुई मिट्टी हाथमें ले उसे मस्तकपर धारण करके प्रणवका उच्चारण करते हुए पुनः स्नान करे। तदनन्तर क्रमशः देवता, ऋषि, मनुष्य तथा पितरोंका तर्पण करके भक्तिभावसे श्रीविष्णु और शिवका पूजन करे। भलीभाँति विधिपूर्वक किये हुए सहस्रों अश्वमेध यज्ञोंसे

* गोमती गोमयस्नानं गोदानं गोपिचन्दनम्। दर्शनं गोपिनाथस्य गकाराः पञ्च दुर्लभाः॥ (स्क० पु०, द्वा० मा० ६। २३-२४)

जो फल प्राप्त होता है, वही चक्रतीर्थमें स्नान करनेमात्रसे मिल जाता है। चक्रतीर्थसे निकली हुई चक्रांकित शिला मनुष्योंद्वारा सदा पूजनेयोग्य है। उसके पूजनसे भगवान् विष्णुका सामीप्य प्राप्त होता है। मन, वाणी और क्रियाद्वारा किये हुए समस्त पाप वहाँ स्नानमात्रसे नष्ट हो जाते हैं।

वहाँसे सुप्रसिद्ध सात कुण्डोंके समीप जाय, जो सब पापोंका नाश करनेवाले तथा ऋद्धि और बुद्धिको बढ़ानेवाले हैं। कलियुगमें उनकी रुक्मिणीह्रदके नामसे प्रसिद्धि होगी। भृगुजीसे सेवित होनेके कारण उसे भृगुतीर्थ भी कहते हैं। वहाँ जाकर प्रसन्नतापूर्वक हाथ-पैर धोये और आचमन करके इन्द्रियसंयमपूर्वक पूर्वाभिमुख हो कुश, फल, फूल, अक्षत और रजत आदिसे युक्त भरा हुआ अर्घ्यपात्र लेकर मस्तकसे लगाकर इस प्रकार कहे—'मैं सब पापोंके नाश तथा रुक्मिणीजीकी प्रसन्नताके लिये रुक्मिणीह्रदनामक इस तीर्थको भक्तिपूर्वक अर्घ्य देता हूँ।' ऐसा कहकर अर्घ्य दे और सिरपर मार्जन करके स्नान करे। फिर देवता, ऋषि, मनुष्य और पितरोंका तर्पण करके ब्राह्मणोंको बुलाकर भक्तिभावसे श्राद्ध करे। फिर सुवर्ण और रजतकी दक्षिणा दे। विशेषतः रसीले फल अर्पण करने चाहिये। ब्राह्मणदम्पतिको मिष्टान्न भोजन करावे। पितृपंक्ति तथा अन्यान्य स्त्रियोंका यथाशक्ति कंचुकि और लाल वस्त्रोंके द्वारा पूजन करे। '**रुक्मिणी प्रीयताम्**—रुक्मिणीदेवी प्रसन्न हों' ऐसा कहकर वह पूजन आदि कर्म रुक्मिणीदेवीको समर्पित करना चाहिये। ऐसा करनेपर मनुष्य कृतकृत्य होता, सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त करता और विष्णुलोकमें जाता है। जो रुक्मिणीकुण्डमें स्नान करता है, वह शक्तिहीन तथा याचक नहीं होता। उसे संसारचक्रमें भटकना नहीं पड़ता। वह दुःख, शोक,पाप तथा महान् भयसे मुक्त हो भगवान् विष्णुके धाममें जाता है।

## विष्णुपदोद्भवतीर्थकी महिमा, उद्धवजीका व्रजमें आगमन, उनके साथ गोपियोंकी बातचीत, गोपियोंका द्वारकागमन तथा मयसरोवरकी महिमा

**प्रह्लादजी कहते हैं**—विप्रवरो! वहाँसे विष्णुपदोद्भव तीर्थमें जाय, जिसके दर्शनमात्रसे गंगास्नानका फल मिलता है तथा जिसके स्मरण और कीर्तनसे सब पापोंका नाश हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्णने रुक्मिणीजीके लिये जिस गंगाजीको प्रकट किया था, वही विष्णुपदा कहलाती हैं। उसमें आचमन करनेमात्रसे अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है। श्रीविष्णुके चरणसे प्रकट हुई है, इसलिये वह वैष्णवी नामसे भी प्रसिद्ध है। वहाँ जाकर विधिपूर्वक अर्घ्य हाथमें लेकर निम्नांकित मन्त्रका उच्चारण करे—

**नमस्ये त्वां भगवति विष्णुपादतलोद्भवे।**
**गृहाणार्घ्यमिदं देवि गङ्गे त्वं हरिणा सह॥**

'भगवान् विष्णुके चरणतलसे प्रकट हुई भगवती गंगे! मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। देवि! तुम श्रीहरिके साथ मेरा यह अर्घ्य स्वीकार करो।'

ऐसा कहकर अर्घ्य दे। फिर हाथसे तीर्थकी मृत्तिका लेकर मस्तकमें लगाये और इन्द्रियोंको अपने वशमें रखते हुए पूर्वाभिमुख हो स्नान करे। स्नानके बाद देवताओं और पितरोंका तर्पण करे। फिर ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करके श्रद्धापूर्वक श्राद्ध करे। सोना-चाँदी दक्षिणामें दे। अपनी शक्तिके अनुसार दीनों, अन्धों और कृपणोंको भी दान दे।

तत्पश्चात् गोप्रचार या गोपीसरोवर तीर्थमें जाय, जहाँ भक्तिपूर्वक स्नान करके मनुष्य गोदानका फल पाता है। जहाँ जगदीश्वर श्रीकृष्ण श्रावण मासमें देवताओंसहित स्नान करते हैं, वहाँ द्वादशीको चटाई देनेका विधान है।

**ऋषियोंने पूछा**—दैत्यराज! वहाँ गोप्रचार तीर्थ कैसे हुआ? जिसमें साक्षात् भगवान् जनार्दन स्नान करते हैं?

**प्रह्लादजीने कहा**—अमित तेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा भोजराज कंसके मारे जानेपर जब उग्रसेन मथुरापुरीके राजा हुए, उस समय गोकुलप्रिय श्रीकृष्णने अपने सुहृद् गोपों तथा गोपीजनोंका प्रिय करनेके लिये उद्धवजीको गोकुलमें भेजा। उद्धवजी गोविन्दको नमस्कार करके उन्हींके समान वेष-भूषा तथा वस्त्रालंकार धारण करके नन्दगाँवकी ओर चले। सन्ध्याकालमें श्रीकृष्णके प्रिय सखा उद्धवजीको अपने घर आया देख पुत्रवत्सला माता यशोदाने अच्छे-अच्छे वस्त्र और आभूषण देकर उनका सत्कार किया। जब उद्धवजी भोजन करके विश्राम कर चुके, तब पुत्रस्नेहमयी यशोदा तथा नन्दबाबाने अपने नेत्रोंमें आँसू भरकर श्रीकृष्णका कुशल-समाचार पूछा—'उद्धवजी! बताओ तो सही, हमारे दोनों पुत्र श्रीकृष्ण-बलराम कुशलसे तो हैं न? क्या श्रीकृष्ण अपने साथी ग्वाल-बालोंको कभी याद करते हैं? क्या मथुरानाथ गोविन्द कभी गोकुलमें भी पधारेंगे? क्या हमारा लाला कन्हैया इस गोकुलका शोकसमुद्रसे उद्धार करेगा?' ऐसा कहकर पुत्रस्नेहके वशीभूत यशोदा मैया और नन्दबाबा—दोनों दीनभावसे फूट-फूटकर रोने लगे। उनके नेत्रोंसे अश्रुधारा बह रही थी। उद्धवने देखा, ये दोनों विरहकी अन्तिम सीमातक पहुँच गये हैं। अब इनके प्राण रहेंगे या नहीं, यह संशय उपस्थित हो गया है। तब उन्होंने श्रीकृष्णके स्नेहयुक्त मधुर सन्देश सुनाकर उन दोनोंको जीवनदान दिया। उद्धवजी बोले—'श्यामसुन्दर श्रीकृष्णने अपने बड़े भैया बलरामजीके साथ आप दोनोंको नमस्कार कहलाया है। कुशल-मंगल पूछा है और वे दोनों भाई भी कुशलसे हैं। जगदीश्वर श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ शीघ्र ही यहाँ आवेंगे और आपलोगोंका हित-साधन करेंगे।'

इस प्रकार श्रीकृष्णके सन्देश-वाक्योंसे नन्द और यशोदाको सान्त्वना देकर उनके द्वारा सम्मानित हो उद्धवजी शय्यापर सुखपूर्वक सोये। प्रातःकाल गोपियाँ नन्दबाबाके द्वारपर रथ खड़ा देख अत्यन्त विस्मित हुईं। उनके मनमें सन्देह हुआ, श्रीकृष्ण तो नहीं आ गये? अतः वे परस्पर पूछने लगीं, 'नन्दरायजीके घरमें सूर्यके समान तेजस्वी रथसे ये श्रीकृष्णकी-सी वेष-भूषा धारण किये कौन आये हैं?' इस प्रकार जिज्ञासा करती हुई समस्त व्रजसुन्दरियाँ परस्पर मिलकर एकान्त स्थानमें गयीं और शोकसे दुर्बल हो उद्धवजीको वहीं बुलाकर श्रीकृष्णका सन्देश पूछने लगीं—'तुम कहाँसे आये हो? और किसलिये यहाँ पधारे हो?' इतना कहते-कहते वे शोकसे विह्वल एवं मूर्च्छित हो गयीं और उद्धवजीकी ओर देखती हुई पृथ्वीपर गिर पड़ीं।

श्रीकृष्ण-प्रेम-परवश गोपीजनोंकी यह अवस्था देखकर उद्धवजीने उन्हें श्रवण-सुखद वचनोंद्वारा आश्वासन देते हुए कहा—'गोपियो! भगवान् श्रीकृष्णकी भी यही दशा है। वे दिन-रात तुम्हारी ही याद करके निरन्तर दुःखी रहते हैं।' उद्धवजीकी यह बात सुनकर ललिता प्रणयकोपसे मूर्च्छित-सी होकर आँखें लाल किये रोती हुई बोलीं—'श्यामसुन्दर झूठे हैं। मर्यादा भंग करनेवाले और क्रूर हैं। क्रूर मनुष्य ही उन्हें प्रिय हैं। कृतज्ञता तो उनमें छू भी नहीं गयी है। उद्धवजी! आप उनकी कोई चर्चा हमारे आगे न कीजिये।'

**श्यामला बोली**—सखियो! तुमलोग उनकी बात चलाती ही क्यों हो? छोड़ो श्रीकृष्णकी चर्चा, कोई दूसरी बातें करो।

**धन्याने कहा**—पुरुषार्थहीन लक्ष्मीपतिके इन दूत महोदयको कौन यहाँ बुला लाया है? श्रीकृष्णका साथ करनेसे कोई लाभ नहीं है।

**विशाखा बोली**—जिनके कुल और शीलका कोई पता नहीं है, उन्हें पापका भय क्या होगा? उनके जन्म-कर्मकी ख्याति तो स्त्रीवधसे ही प्रारम्भ हुई है।

**श्रीराधाजीने कहा**—सखियो! जिन्हें प्राणियोंका वध करनेमें पापका कोई भय नहीं होता, उन्हें स्त्री-वध करनेमें क्या शंका हो सकती है?

**शैव्या बोली**—महाभाग उद्धवजी! सच बताइये, नागरी स्त्रियोंसे घिरे हुए यदुवंशशिरोमणि श्रीकृष्ण क्या कभी हमलोगोंका भी स्मरण करते हैं?

**पद्माने कहा**—उद्धवजी! नागरीजनोंके प्रियतम तथा कमल-दलके सदृश विशाल नेत्रोंवाले श्रीकृष्ण यहाँ कब पधारेंगे?

**भद्रा बोली**—हा कृष्ण! हा गोपप्रवर! हा गोपीजनवल्लभ! महाबाहो! हम गोपियोंका संसार-सागरसे उद्धार करो।

इस प्रकार नाना प्रकारकी बातें कह-कहकर व्रजयुवतियाँ विलाप करने लगीं! वे श्रीकृष्णकी एक-एक लीला याद करके फूट-फूटकर रोने लगीं। उनका वह रोना सुनकर भक्ति और स्नेहमें डूबे हुए उद्धवजीको बड़ा विस्मय हुआ और वे उन गोपियोंकी सराहना करने लगे—'अहो! ब्रह्मा, महादेवजी, देवता तथा महर्षि भी जिस भावतक नहीं पहुँच सकते, वहाँ इन गोपियोंकी पहुँच हो चुकी है। व्रजकी ये समस्त सुन्दरियाँ धन्य हैं। इन सबका जन्म, जीवन तथा यौवन-धन सफल हो गया, क्योंकि भगवान् श्यामसुन्दरमें इनकी भक्ति अविचल है।'

**गोपियाँ बोलीं**—उद्धवजी! आप हमें गोविन्दका दर्शन करा दें। प्यारे श्यामसुन्दरसे मिला दें। जहाँ श्रीकृष्ण रहते हैं, वहीं हमको भी ले चलें।

गोपांगनाओंकी यह बात और विलाप सुनकर उद्धवजी स्नेहसे विह्वल हो गये और 'बहुत अच्छा' कहकर उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया। तदनन्तर श्रीकृष्णदर्शनके लिये लालायित रहनेवाली समस्त व्रजांगनाएँ बड़ी प्रसन्नताके साथ उद्धवजीके पीछे-पीछे चलीं। वे मार्गमें उनकी बाललीलाके प्रिय गीत गाती जा रही थीं। यदुपुरीके समीप पहुँचकर उन्होंने वहाँके उद्यानों और वन-श्रेणियोंको देखा। तब वे परस्पर कहने लगीं—'यहाँ हमें अपने प्यारे कमलनयन नन्दनन्दनका दर्शन होगा।' द्वारकामें जाने और लक्ष्मीपतिका चिन्तन करनेसे गोपियाँ समस्त पापोंसे मुक्त हो गयीं, उनके सारे बन्धन टूट गये। धीरे-धीरे वे मयसरोवरके तटपर आयीं। वहाँ उद्धवजीने उनके चरणोंमें प्रणाम करके कहा—'देवियो! तुमलोग यहीं ठहरो। महाबाहु श्रीकृष्ण यहीं आवेंगे और तुम सब लोगोंका हित करेंगे।'

**गोपियोंने पूछा**—उद्धवजी! खिले हुए कमलों, कह्लारों, कुमुदों और उत्पलोंसे जिसकी विचित्र शोभा हो रही है और जहाँ सारस किलोल करते हैं, ऐसा यह सरोवर किसका है?

**उद्धवजीने कहा**—माया जाननेवाला महादैत्य मय तीनों लोकोंमें विख्यात है। उसीने यह सुन्दर सरोवर बनाया है; अतः उसीके नामसे यह मयसरोवर कहलाता है।

**गोपियाँ बोलीं**—अच्छा, उद्धवजी! आप शीघ्र जाइये और प्यारे श्यामसुन्दरको बुला लाइये। वे ही हमारे नयनोंमें आनन्दकी सृष्टि करते हैं। उन्हींसे हमारे तीनों तापोंका नाश होता है; अतः शीघ्र उनका दर्शन कराइये।

यह सुनकर उद्धवजी गये और भगवान् श्रीकृष्णको शीघ्र बुला लाये। गोपियोंने देखा, देवकीनन्दन आ रहे हैं। उनका श्रीअंग वनमालासे विभूषित है। मस्तकपर किरीटमुकुट जगमगा रहा है। कानोंमें मकराकार कुण्डल चमचम कर रहे हैं। वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न शोभा पा रहा है। उनकी बड़ी-बड़ी भुजाएँ हैं। उन्होंने रेशमी पीताम्बर पहन रखा है। तीनों लोकोंमें सबसे अधिक सुन्दर और सबका मन मोह लेनेवाले अपने प्रियतम श्यामसुन्दरको दीर्घकालके बाद देखकर श्रीकृष्णप्रिया गोपियाँ प्रेमावेशसे मूर्च्छित हो गयीं। कुछ देरके बाद जब वे सचेत हुईं, तब इस प्रकार विलाप करने लगीं—'हा नाथ! हा प्राणवल्लभ! हा स्वामिन्! हा व्रजेश्वर! हा मनमोहन! बचपनमें जिन्होंने तुम्हारा लालन-

पालन किया, जिनके साथ तुमने क्रीडाएँ कीं, उनको भी तुमने त्याग दिया। निर्दयी! बताओ तो सही, हमपर इतने रुष्ट कैसे हो गये? हम जानती हैं, तुममें न धर्म है न सौहार्द, न मैत्री है और न सत्यवादिता, तुम तो पिता-माताका भी परित्याग करनेवाले हो। तुम्हें कैसे सद्गति प्राप्त होगी? प्राणवल्लभ! भक्तजनोंका परित्याग सब शास्त्रोंमें निन्दित बताया गया है। वीर! हमें वनमें छोड़ते समय तुमने उन शास्त्र-वचनोंपर भी दृष्टिपात नहीं किया?'

गोपियोंका यह विलाप सुनकर सबके आन्तरिक भावोंको जाननेवाले भगवान् श्रीकृष्णने यह जान लिया कि सब गोपियाँ अनन्यभावसे मेरी शरणमें आयी हैं; अतः व्रजेश्वरने उन सबको सान्त्वना देते हुए कहा—'देवियो! तुमसे मेरा कभी वियोग नहीं है। मैं समस्त प्राणियोंके हृदयमें सदा सामान्यरूपसे निवास करता हूँ। मैं ही सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ। मुझसे ही इन्द्र आदि देवता प्रकट हुए हैं। आदित्य, वसु, रुद्र, विश्वेदेव, मरुद्गण, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, आद्याशक्ति, महर्षि, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, सत्त्व, रज, तम, काम, क्रोध, लोभ, मद और अहंकार—इन सबकी प्रवृत्ति मुझसे ही होती है। ऐसा जानकर तुम मनमें शोक न करो। सब प्राणियोंके भीतर मुझे सदा ही स्थित जानकर अन्तर्यामीरूपसे मेरा चिन्तन करो। इससे सब प्रकारके पाप-तापसे मुक्त हो जाओगी।'

श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर गोपियोंके सब बन्धन कट गये। उनके संशय और क्लेश नष्ट हो गये। वे भगवद्दर्शनजनित आनन्दमें डूब गयीं। श्रीकृष्णके दर्शनसे उनका अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो गया। वे इस प्रकार बोलीं—'गोविन्द! आज हमारा जन्म सफल हो गया। आज हमारे नेत्र सार्थक हो गये। क्योंकि आज दीर्घकालके बाद हमारी आँखें नागरीजनवल्लभ गोविन्दका दर्शन कर रही हैं। पुण्यहीन स्त्रियोंको पुरुषोत्तम श्रीकृष्णका दर्शन नहीं होता। मधुसूदन! यद्यपि आपने युक्ति तथा अर्थयुक्त वचनोंसे हमें ज्ञानका उपदेश दिया है तथापि हमारे हृदयसे माया नहीं निकलती।'

**श्रीकृष्णने कहा**—इस सरोवरके दर्शन और स्पर्शसे तुम सम्पूर्ण बन्धनोंसे मुक्त हो गयी हो। अब इसमें स्नान कर लेनेसे तुम्हारी सम्पूर्ण कामनाएँ पूरी हो जायँगी।

**गोपियाँ बोलीं**—जगन्नाथ! आपने इस सरोवरका अद्भुत प्रभाव बतलाया है। अब इसमें स्नान करनेकी क्या विधि है, वह विस्तारपूर्वक कहिये।

**श्रीकृष्णने कहा**—गोपियो! इस सरोवरपर मेरे साथ तुम्हारा मिलन हुआ है, अतः यहाँ मेरे ही साथ तुम्हें नियमपूर्वक स्नान करना चाहिये। जो श्रावण शुक्ला द्वादशीको संयम, नियम एवं पवित्रतासे रहकर भक्तिपूर्वक इस सरोवरमें स्नान करके पितरोंका तर्पण करेगा और मेरे तथा पितरोंके उद्देश्यसे यथाशक्ति दान देगा, वह पितरोंसहित विष्णुधामको प्राप्त होगा। मयतीर्थके पास जाकर दोनों हाथोंमें कुश और फल ले निम्नांकित मन्त्रसे अर्घ्य दे—

**गृहान्धकूपे पतितं मायापाशशतैर्वृतम्।**
**मामुद्धर महीनाथ गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥**

'महीनाथ! मैं घरके अन्धकूपमें पड़ा हूँ। मायाके सैकड़ों बन्धनोंमें बँधा हूँ। मेरा उद्धार करो। यह अर्घ्य लो। तुम्हें नमस्कार है।'

इस प्रकार अर्घ्य दे भक्तिपूर्वक स्नान करे। भक्तिभावसे पितरोंका तर्पण और श्राद्ध करे। सोने और चाँदीकी दक्षिणा दे। शक्कर मिलाया हुआ खीर, मधु आदि अर्पण करे। मुझे तुमलोगोंका यहाँ दर्शन हुआ है; अतः मुझे सदा इस जलाशयमें आना और रहना चाहिये। प्यारी गोपियो! जो इस मयसरोवरमें स्नान करता है, उसे गंगास्नानका फल और अक्षय वैकुण्ठधाम प्राप्त होते हैं। उसके तीनों कुलोंके पितर मुक्त हो जाते हैं। वह स्वयं भी पुत्र-पौत्रसे युक्त तथा धन-धान्यसे सम्पन्न होता है। जीवनभर सुख भोगकर अन्तमें श्रीहरिके धामको जाता है।

# गोपी-सरोवरका निर्माण और उसकी महिमाका वर्णन

**प्रह्लादजी कहते हैं**—श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर गोपियोंके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई। उस मयसरोवरमें स्नान करके वे समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो गयीं। श्यामसुन्दर श्रीकृष्णके दर्शनसे उनके हृदयमें असीम आनन्द हुआ था। उन्होंने माधवसे मधुर वाणीमें कहा—'भगवन्! दैत्योंमें श्रेष्ठ मय धन्य है, जिसके बनाये हुए सरोवरमें सम्पूर्ण देवताओंके साथ जगदीश्वर निवास करें। प्रभो! यदि आप हम पर प्रसन्न हैं और हम आपके कृपापात्र हैं तो हमारे लिये भी एक तीर्थका निर्माण कराइये। जहाँ रहकर आपके नामोंका कीर्तन, आपका दर्शन तथा निरन्तर आपके स्वरूपका ध्यान करनेसे हम परम गतिको प्राप्त हों।'

**श्रीकृष्णने कहा**—साध्वी गोपियो! तुम मेरी आत्मीयजन हो; अतः तुम्हारा प्रिय कार्य अवश्य करूँगा। तुम सदैव मेरे अनुग्रहकी पात्र हो; क्योंकि मैं सदा भक्तिके वशीभूत रहता हूँ।

ऐसा कहकर भगवान् श्रीकृष्णने गोपियोंके हितके लिये मयसरोवरके समीप एक-दूसरे सरोवरका निर्माण कराया। उसमें अगाध जल था। कमलके पत्ते उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। उस सरोवरका जल बड़ा ही स्वच्छ था। हंस, सारस और चक्रवाक आदि पक्षी उसे सुशोभित करते थे। कुमुद, उत्पल, कह्लार और पद्मखण्ड उस सरोवरके शृंगार थे। उसके तटपर मुख्य-मुख्य ब्राह्मण, सिद्ध और विद्याधर आकर रहने लगे। यदुकुलकी स्त्रियाँ, बालक और उस जनपदके लोग दिन-रात वहाँ भरे रहते थे। उस सरोवरको देखकर श्रीकृष्णने कहा—'गोपियो! मयसरोवरके समीप सज्जनोंके मनकी भाँति स्वच्छ जलसे भरे हुए इस सरोवरको देखो। यह तुम्हारे ही लिये तैयार कराया गया है। तुम्हारे नामसे ही इसकी ख्याति होगी। तुम्हें और मुझे गोवाचक शब्द अभीष्ट है; अतः गौके नामपर लोकमें यह तीर्थ गोप्रचार नामसे प्रसिद्ध होगा। मैंने तुम सब गोपियोंका प्रिय करनेकी इच्छासे इस सरोवरका निर्माण किया है; इसलिये यह गोपीसरोवरके नामसे भी विख्यात होगा। तुमलोग मेरे प्रति विशेष भक्तिके कारण यहाँ आयी हो, अतः तुम्हें जो अभीष्ट हो या तुम्हारे मनमें जो कुछ भी हो, वह माँगो।'

**गोपियाँ बोलीं**—माधव! आप प्रसन्नतापूर्वक इस सरोवरमें निवास करें। जहाँ आप हैं वहीं दान, व्रत, नियम, ॐकार, वषट्कार, स्वाहाकार, स्वधाकार, भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्गलोक, महर्लोक, जन, तप और सत्यलोक सबकी स्थिति है। देवता, असुर और मनुष्योंसहित यह सम्पूर्ण जगत् श्रीकृष्णमय ही है। तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाली गंगा आपका चरणोदक ही तो हैं। आपके वक्षःस्थलमें लक्ष्मी और मुखमें सरस्वती देवीका वास है। जगदीश्वर! आप यहाँ अपने सर्वभूतमय स्वरूपसे स्नान करें। महाबाहो! यहाँकी यात्रा करनेसे जो फल होता हो, उसका वर्णन कीजिये।

**श्रीकृष्णने कहा**—गोपियो! सुनो—सदाचारी, शुद्ध, निर्धन, परोपकारी एवं कुटुम्बी ब्राह्मणको आवश्यक सामग्री, बछड़ा, वस्त्र, आभूषण तथा शास्त्रोक्त दक्षिणासे युक्त गाय दान करनेसे जो फल प्राप्त होता है, वह सब इस गोपी-तीर्थमें स्नान करनेमात्रसे मिल जाता है। जो मनुष्य अनेक प्रकारके स्तोत्रोंसे स्तुति करते हुए मेरे विग्रहके साथ गाते-बजाते गोपी-सरोवरकी यात्रा करते हैं, उन्हें कभी माताके गर्भकी यातना नहीं भोगनी पड़ती। वे समस्त मनोरथोंको पाते और विष्णुलोकको जाते हैं। गोपीसरोवरमें निम्नांकित मन्त्रसे श्रद्धापूर्वक अर्घ्य देकर स्नान करना चाहिये—

अर्घ्य-मन्त्र

**नमस्ते गोपरूपाय विष्णवे परमात्मने।**
**गोप्रचार जगन्नाथ गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥**

'गोपरूपधारी परमात्मा विष्णुको नमस्कार है। गोप्रचार! जगन्नाथ! यह अर्घ्य ग्रहण करो। तुम्हें नमस्कार है।'

इस प्रकार विधिपूर्वक अर्घ्य दे हाथसे तीर्थकी मिट्टी लेकर मस्तकमें लगावे और श्रद्धापूर्वक स्नान करके देवताओं तथा पितरोंका तर्पण करे। फिर एकाग्रचित्त हो भक्तिभावसे श्राद्ध करे और शास्त्रमें बताये अनुसार सुवर्ण तथा रजतकी दक्षिणा दे। ऐसा करनेसे मनुष्य उत्तम गतिको पाता है। उसके तीनों कुलोंके पितर उत्तम लोकमें जाते हैं। श्राद्धकर्ता पुरुष यदि पुत्रकी इच्छा रखनेवाला हो तो वह मनके अनुकूल पुत्र पाता है। जो गोपीसरोवरमें स्नान करता है, वह स्वर्ग और मोक्ष आदि जिस-जिस वस्तुको चाहता है, सब कुछ पा लेता है। जबतक जगत् रहेगा, तबतक यह सरोवर भी रहेगा और जबतक सरोवर रहेगा, तबतक तुम्हारी कीर्ति भी स्थिर रहेगी। मनुष्यलोकमें जबतक कीर्ति बनी रहती है, तबतक उसका स्वर्गलोकमें रहना निश्चित है। इसमें स्नान करके निष्पाप हुए समस्त प्राणी परम गतिको प्राप्त होंगे। भाद्रपदमास आनेपर जलसे भरे हुए पवित्र गोपीसरोवरमें नियमपूर्वक स्नान करना होगा। तुमलोग कान्तभावसे अथवा ब्रह्मभावसे मुझ परमेश्वरका चिन्तन करते हुए परम उत्तम गतिको प्राप्त होओगी।

इस प्रकार भगवान्‌की आज्ञा पाकर उन गोपकन्याओंने उन्हें नमस्कार किया और वे जैसे आयी थीं, वैसे ही चली गयीं। इस प्रकार गोपियोंको विदा करके उद्धवसहित श्रीकृष्ण अपने घरको गये।

## ब्रह्मकुण्ड, चन्द्रसरोवर, इन्द्रसरोवर, महादेवसरोवर, गौरीसरोवर, वरुणसरोवर तथा पंचनदतीर्थका माहात्म्य

**प्रह्लादजी कहते हैं**—द्वारकामें बहुत-से आश्चर्यजनक तीर्थ हैं, जो घोर कलियुग प्राप्त होनेपर समुद्रमें विलीन हो जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण पृथ्वीका भार उतारकर और साधु पुरुषोंको सन्मार्गमें स्थापित करके जब बड़े-बूढ़े वृष्णिवंशियोंके साथ द्वारका चले आये, तब उनके दर्शनके लिये सम्पूर्ण देवताओंके साथ इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, सूर्य तथा चन्द्रमा वहाँ आये और श्रीकृष्णसे मिलकर अपना कार्य सिद्ध कर लेनेके पश्चात् ब्रह्माजीने अपने नामसे वहाँ एक तीर्थ निर्माण किया, जो ब्रह्मकुण्ड कहलाया। वह सब पापोंका नाश करनेवाला तीर्थ है। ब्रह्मकुण्डके तटपर उन्होंने सूर्यनारायणकी स्थापना की। लोकपितामह ब्रह्माजी सम्पूर्ण देवताओंके मूल हैं, अतः उनके द्वारा स्थापित उस तीर्थको मूल स्थान कहते हैं। उस ब्रह्मतीर्थको देखकर चन्द्रमाने भी अपने नामसे एक तड़ाग बनाया, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है। उस तेजस्वी तीर्थको देखकर सब देवता बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने लोकस्रष्टा ब्रह्माजीसे कहा—'जो यहाँ स्नान करके पितरोंका तर्पण करेगा तथा जो माघशुक्ला सप्तमीको देवेश्वर मूलस्थानका पूजन करेगा, वह सब पापोंसे मुक्त हो धन-धान्यसे सम्पन्न होगा।'

ब्रह्माजीने उस सरोवरके तटपर एक शिवलिंगको भी स्थापित किया; फिर महाभाग इन्द्रने भी परम सुन्दर सरोवर बनाकर वहाँ इन्द्रेश्वर लिंगकी स्थापना की। वहाँ स्नान करके मनुष्य इन्द्रपद पाता है; अतः वह भूतलपर इन्द्रपदके नामसे प्रसिद्ध है। उसका दर्शन करके मनुष्य सब पातकोंसे मुक्त हो जाता है। अष्टमी और चतुर्दशीको इन्द्रपद तीर्थमें स्नान करके जो इन्द्रेश्वरकी पूजा करता है, वह मोक्ष पाता है। जब सूर्य मकर राशिपर स्थित हों, उस समय उत्तरायणकी संक्रान्तिके अवसरपर तथा विशेषतः शिवरात्रिको पार्वतीसहित इन्द्रेश्वरकी पूजा करके

जो मनुष्य रात्रिमें जागरण करता है, वह उत्तम लोकको पाता है।

ब्रह्मतीर्थ और इन्द्रसरोवरका दर्शन करके भगवान् विष्णुके साथ अपनी एकता दिखाते हुए महादेवजीने भी वहाँ एक तड़ाग बनवाया। अथाह जलवाले उस सरोवरको देखकर पिनाकपाणि शिवजीने ब्रह्मा और विष्णुके सहित उसमें स्नान किया। यह देखकर देवताओंने कहा—'इस महासरोवरका निर्माण महादेवजीने किया है, इसलिये यह महादेवसरोवरके नामसे प्रसिद्ध होगा। जो इसमें भक्तिभावसे स्नान, तर्पण और श्राद्ध करेगा, वह उत्तम गतिको प्राप्त होगा। महादेवसरोवरके दर्शनसे मनुष्य पापमुक्त हो जाता है और भक्तिपूर्वक उसमें स्नान करनेसे उसकी कभी दुर्गति नहीं होती। स्त्री स्नान करे तो वह कभी सौभाग्य और सन्तानसे वंचित नहीं होती। वहीं गौरीसरोवर भी है। उसमें स्नान करके मनुष्य सब कामनाएँ प्राप्त कर लेता है।

वरुणजीने भी भगवान्‌के प्रति भक्तिभाव रखकर दिव्य सरोवरका निर्माण किया, जो वरुणसरोवरके नामसे विख्यात है। जो उसका दर्शन करता है, उसके सब पापोंका नाश हो जाता। भादोंकी पूर्णिमाको वहाँ तर्पण और श्राद्ध करनेसे मनुष्य उस उत्तम लोकमें जाता है, जहाँ जाकर फिर कभी शोकका अवसर नहीं आता।

भगवान् विष्णुको द्वारकामें पधारे हुए सुनकर ब्रह्मपुत्र मरीचि आदि ऋषि श्रीकृष्णपालित द्वारकापुरीमें आये। उन्होंने द्वारकापुरी और समुद्रमें मिली हुई गोमतीका दर्शन करके वहाँ पंचनदतीर्थको स्थापित किया। उनके आवाहन करनेपर वहाँ पाँच नदियाँ वेगपूर्वक आयीं। मरीचिके लिये गोमती नदी, अत्रिके लिये लक्ष्मणा नदी, अंगिराके लिये चन्द्रभागा, पुलहके लिये कुशावती तथा क्रतुको पवित्र करनेके लिये जाम्बवती नदी आयी। उन यशस्वी ब्रह्मपुत्रोंने उन सबमें स्नान करके उस स्थानका नाम पंचनदतीर्थ रखा, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है। स्वर्ग और मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषोंको वहाँ सदा स्नान करना चाहिये। इन्द्रियसंयमपूर्वक फलसहित अर्घ्यपात्र ले निम्नांकित मन्त्रसे पाँचों नदियोंको अर्घ्य देना चाहिये—

**ब्रह्मपुत्रैः समानीताः पञ्चैताः सरितां वराः।**
**गृह्णं त्वर्घ्यमिमं देव्यः सर्वपापप्रशान्तये॥**

'ब्रह्माजीके पुत्रोंद्वारा लायी हुई ये देवीस्वरूपा पाँचों श्रेष्ठ सरिताएँ सब पापोंकी शान्तिके लिये मेरे दिये हुए इस अर्घ्यको ग्रहण करें।'

इस प्रकार अर्घ्य देकर स्नान करनेके पश्चात् देवताओं और पितरोंका तर्पण तथा श्रद्धापूर्वक विधिवत् श्राद्ध करे। ब्राह्मणोंको पंचरत्न और सप्तधान्य दान करे। तदनन्तर दीनों, अन्धों और कृपणोंको अपनी शक्तिके अनुसार दान दे। ऐसा करनेवाला पुरुष सब कामनाओंको पाता और विष्णुलोकमें जाता है*। लोकमें पुत्र और पौत्रोंसे संयुक्त रहकर वह उत्तम सुख पाता है।

## सिद्धेश्वरलिंग, ऋषितीर्थ, गदातीर्थ आदि विविध तीर्थों और देवी-देवताओंके सेवनकी महिमा तथा श्रीकृष्ण-दर्शनका माहात्म्य

**प्रह्लादजी कहते हैं**—अपने पिता ब्रह्माजीको द्वारकामें आया हुआ सुनकर सनकादि मुनि उन्हें प्रणाम करनेके लिये गये। उनका दर्शन करके सबने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। ब्रह्माजीने उनसे कुशल-समाचार पूछा और प्रसन्न होकर कहा—'पुत्रो! जिसने महादेवजीका पूजन किया है, उसपर भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं। यदि भगवान् शिवकी पूजा नहीं की जाय तो श्रीहरि अपनी पूजाको ग्रहण नहीं करते। अतः सब प्रकारसे यत्न करके भगवान् शंकरका पूजन

* दीनान्धकृपणानां च दानं दद्यात्स्वशक्तितः। सर्वान् कामानवाप्नोति विष्णुलोकं स गच्छति॥ (स्क० पु०, द्वा० मा० १४। ५५)

करना चाहिये; जिससे सदा भगवान् विष्णुके लिये की हुई पूजा पूर्णताको प्राप्त हो।'*

ब्रह्माजीका यह वचन सुनकर योगसिद्ध सनकादि महर्षियोंने शिवलिंग स्थापित किया। उसके पास ही ऋषियोंने एक कूपका निर्माण किया। यह देखकर ब्रह्माजीने कहा—'पुत्रो! तुम योगसिद्ध हो। तुम्हारे द्वारा यह शिवलिंग स्थापित हुआ है, इसलिये इसका नाम सिद्धेश्वर होगा। इसके समीप ही ऋषियोंने जो यह कूप निर्माण किया है, इसकी लोकमें ऋषितीर्थके नामसे प्रसिद्धि होगी। यहाँ श्राद्ध और तर्पण किये बिना ही केवल भक्तिपूर्वक स्नान करनेमात्रसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है। असत्यवादी तथा परनिन्दापरायण मनुष्य भी ऋषितीर्थमें स्नानमात्र करके शुद्ध हो जाते हैं। ऋषितीर्थमें स्नान करनेवाले पुरुषके मन, वाणी और क्रियाद्वारा किये हुए समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। जो ऋषितीर्थमें स्नान करके सिद्धेश्वरजीका दर्शन करता है, वह यदि पुत्रहीन हो तो उसे पुत्र-पौत्र प्राप्त होते हैं। सिद्धेश्वरके दर्शनसे पापका नाश और पुण्यकी वृद्धि होती है। उन्हें प्रणाम करनेवाले मनुष्योंको अभीष्ट मनोरथोंकी प्राप्ति होती है और उनके पितर सन्तुष्ट होते हैं।'

तदनन्तर अति उत्तम गदातीर्थमें जाय, जिसमें विधिपूर्वक स्नान करनेसे अग्निष्टोम यज्ञका फल मिलता है। जो वाराहरूपधारी देवेश्वर श्रीविष्णुकी भक्तिपूर्वक पूजा और वन्दना करता है, वह विष्णुलोकमें पूजित होता है।

वहाँसे नागतीर्थमें जाय, जिसमें स्नान करके मनुष्य दिव्य लोकको पाता है। जिस समय समुद्रने द्वारकापुरीको डुबा दिया था, उस समय बहुत-से तीर्थ जल और बालूसे आच्छादित हो गये। उनमेंसे कुछ तो देखे जाते हैं और कुछ अदृश्य हैं। मैं उन सबका संक्षेपसे वर्णन करता हूँ। पापनाशिनी चन्द्रभागामें स्नान करके मनुष्य वाजपेय यज्ञका फल पाता है। वहीं यशोदा और नन्दकी पुत्री देवी चन्द्रार्चिताका स्थान है, जो कुमारी अवस्थामें हैं। उनके हाथोंमें शक्ति, ढाल और तलवार आदि शस्त्र शोभा पाते हैं। वे ही कंस आदि दैत्योंका दलन करनेवाली तथा बलराम और श्रीकृष्णकी बहिन हैं। उनके दर्शनमात्रसे मनुष्य सब कामनाओंको पा लेता है। कलिकालमें पापनाशक मुक्तिद्वार तीर्थमें स्नान करके मनुष्य गंगास्नानका फल पाता है। जहाँसे गोमती निकलकर समुद्रमें मिली हैं, वहाँ स्नान करके मानव अश्वमेध यज्ञका फल पाता है। वहीं भृगुजीने तपस्या की और अम्बिकाजीको स्थापित किया। वे देवी भृगु-अर्चिताके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनके चिन्तनसे मनुष्य उत्तम सिद्धिको पाते हैं।

जालेश्वरजीका दर्शन करके मनुष्य गहरे पापसे छूट जाता है और भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करके वह शिवलोकको पाता है।

तत्पश्चात् चक्रस्वामीके उत्तम तीर्थमें जाय, जहाँ त्रिभुवनविख्यात जरत्कारुतीर्थ है। उसमें स्नान करनेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता।

इन सब तीर्थोंमें स्नान करके मनुष्य यथायोग्य दक्षिणा देनेके पश्चात् परम पुरुष श्रीकृष्णका पूजन करे। पहले जयन्तका और उसके बाद पुलोमपुत्रका पूजन करना चाहिये। इन दोनोंको देवराज इन्द्रने श्रीहरिकी सेवाके लिये नियुक्त कर रखा है। तदनन्तर देवकीनन्दन श्रीकृष्णके समीप जाय। एक मनुष्य निरन्तर प्राणायाम आदिपूर्वक ज्ञान और ध्यानमें तत्पर है और दूसरा केवल देवेश्वर श्रीकृष्णका दर्शन करता है। उन दोनोंका समान फल है। एक मानव गंगा आदि तीर्थोंमें स्नान करता है और दूसरा देवेश्वर श्रीकृष्णका दर्शन; उन दोनोंको समान फलकी प्राप्ति होती है।

---

* येनार्चितो महादेवस्तस्य तुष्यति केशवः। अनर्चिते नीलकण्ठे न गृह्णात्यर्चनं हरिः॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन पूज्यतां नीललोहितः। येन सम्पूर्णतां याति कृष्णपूजा कृता सदा॥
(स्क० पु०, द्वा० मा० १५। ४-५)

# श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणीदेवीके दर्शन और पूजनकी महिमा

**प्रह्लादजी कहते हैं**—द्वारकापुरीमें जाकर मधुसूदन श्रीविष्णुकी अवश्य पूजा करनी चाहिये। तत्पश्चात् सुगन्ध लेप, चन्दन, वस्त्र, पुष्प, नैवेद्य, आभूषण, ताम्बूल, फल तथा आरती आदि उपचारोंसे भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा करके उन्हें साष्टांग प्रणाम करे। घीका दीपक जलाकर अर्पण करे। रात्रिमें जागरण, गाने, बजाने तथा पुस्तक-पाठ करे। भादोंकी अष्टमी और द्वादशीको भी श्रीहरिका पूजन करना चाहिये। कलियुगमें गोमती और समुद्रके संगममें स्नान और श्रीकृष्णपूजन करके मनुष्य निर्मल लोकमें जाता है, जहाँ पहुँचकर फिर कभी शोकका सामना नहीं करना पड़ता।

विधिपूर्वक श्रीकृष्णकी पूजा करनेके अनन्तर मनुष्य रुक्मिणीजीके समीप जाय और दही, दूध, मधु, घी तथा शक्करसे उन्हें स्नान करावे। फिर गन्ध और फूलोंसे पूजा करे। जो तीर्थके जलसे स्नान कराता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। जो इस प्रकार श्रीकृष्णप्रिया रुक्मिणीदेवीको नहलाता है, उसके लिये इहलोक और परलोकमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है। जो चन्दन, रोली तथा कस्तूरीका लेप लगाता है, वह कभी पुत्रहीनता और निर्धनताका कष्ट नहीं देखता। वह सदा भोग-सामग्रियोंसे सम्पन्न, रूपवान् तथा जनसम्मानित होता है। जो चमेली, सुगन्धित कमल, कनेर, बेला, तुलसी, राजचम्पा, जलमें होनेवाले फूल, केतकी तथा पाटल (गुलाब) आदि फूलोंसे, धूप, अगरु तथा गुग्गुलसे, सुन्दर एवं कोमल वस्त्रोंसे भक्तिपूर्वक कृष्णप्रिया रुक्मिणीकी पूजा करता है और मणि एवं रत्नोंके आभूषणोंसे उनका शृंगार करता है, उसके कुलमें कोई दुःखी, अधर्मी, निर्धन, पुत्रहीन, पापकर्मी, धूर्त तथा नीचसेवी नहीं होता। कलियुगमें मनुष्योंको जगन्माता रुक्मिणीदेवीका भक्ष्य-भोज्य आदि नैवेद्योंके द्वारा पूजन करना चाहिये। **'देवी मे प्रीयताम्'**—रुक्मिणीदेवी मुझपर प्रसन्न हों' यही पूजनका उद्देश्य होना चाहिये। भक्तिभावसे रुक्मिणीजीको कर्पूरयुक्त ताम्बूल निवेदन करे। अक्षतोंके साथ दिव्य फल लेकर निम्नांकित मन्त्रसे विधिपूर्वक अर्घ्य दे—

**कृष्णप्रिये नमस्तुभ्यं विदर्भाधिपनन्दिनि।**
**सर्वकामप्रदे देवि गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥**

'विदर्भराजकुमारी! कृष्णप्रिया रुक्मिणीदेवी! तुम्हें नमस्कार है। तुम सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाली हो। मेरा यह अर्घ्य स्वीकार करो। तुम्हें नमस्कार है।'

इस प्रकार अर्घ्य देकर प्रज्वलित दीपकसहित आरती करे। विशेषतः कर्पूर जलाकर देवीकी नीराजना करे। शंखमें जल लेकर भावपूर्वक देवीके ऊपर घुमावे और फिर आत्मशुद्धिके लिये सिरपर धारण करे। तत्पश्चात् **'नमः कृष्णप्रिये'**—ऐसा कहते हुए पृथ्वीपर लोटकर साष्टांग प्रणाम करे। जो कलियुगमें श्रीकृष्णपुरी द्वारकामें जाकर उनकी प्रिया रुक्मिणीदेवीका दर्शन करता है, वह इस लोक और परलोकमें सब कामनाओंको पाता है। माघ शुक्ला अष्टमीको जो चन्दन, पुष्प तथा अनेक प्रकारके उपहारोंसे कामदेवकी जननी रुक्मिणीदेवीका पूजन करते हैं, उनका जीवन सफल है, उनके सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं। जो चैत्र और वैशाखमें द्वादशी तिथिको कृष्णसहित रुक्मिणीदेवीका दर्शन करते हैं, वे मानव धन्य हैं। उन्हें श्रीकृष्णके साथ उनके धाममें रहनेका सौभाग्य प्राप्त होता है। जिन मानवोंने भाद्रपदमासमें सदा ही श्रीकृष्ण और रुक्मिणीका पूजन किया है, वे सब पापोंसे मुक्त हो वैकुण्ठ-धाममें जाते हैं। जो कार्तिक शुक्ला द्वादशीको श्रीकृष्णसहित रुक्मिणीका दर्शन करता है, उसका जीवन सफल हो जाता है और सन्तान-परम्पराका कभी नाश नहीं होता।

**सूतजी कहते हैं**—बलिको बाँधनेवाले भगवान्

विष्णुने इस पुराणसंहिताका संकलन किया है। उन्होंने कृपापूर्वक महात्मा प्रह्लादको इसका उपदेश किया। दैत्यराज प्रह्लादने ऋषियोंके पूछनेपर उनसे इसका वर्णन किया। जो मानव भक्तिपूर्वक इसको सुनता अथवा पढ़ता है, वह सम्पूर्ण मनोरथोंको पाता और विष्णुलोकमें जाता है। इस विषयमें महात्मा मार्कण्डेय तथा राजा इन्द्रद्युम्नका संवाद भी हुआ है, जिसे बताया जाता है।

## द्वारकापुरी तथा वहाँ श्रीकृष्णके दर्शन-पूजनका माहात्म्य तथा तुलसीकी महिमा

**मार्कण्डेयजी बोले**—इन्द्रद्युम्न! कलियुगमें जो मानव श्रीकृष्णका माहात्म्य सुनते और पढ़ते हैं, उनका यमलोकमें निवास नहीं होता। जिन्हें सदा श्रीकृष्णकी कथा प्राणोंसे भी प्रिय है, उसके लिये इस लोक और परलोकमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है। कलियुगमें यदि चाण्डाल भी द्वारकापुरीमें निवास करता है, तो वह यतियोंकी गति पाता है। जो द्वारकापुरीकी यात्रा करता है, उसे मार्गमें प्रतिदिन कुरुक्षेत्र-सेवनका फल प्राप्त होता है। कलियुगमें जिनकी बुद्धि द्वारकाकी यात्रा और श्रीकृष्णका दर्शन करनेमें संलग्न होती है, वे मानव धन्य हैं और उनका वह मनोरथ भी धन्य है। जिन्होंने कोटि अयुत पापोंका नाश करनेवाले श्रीकृष्ण-मुखारविन्दका दर्शन किया है, वे धन्य हैं, कृतकृत्य हैं, वन्दनीय हैं और सम्पूर्ण लोकोंको पवित्र करनेवाले हैं। जो मानव श्रीकृष्णके मस्तकपर दूधसे स्नान कराते हैं, उन्हें सौ अश्वमेध यज्ञोंका पुण्य प्राप्त होता है। जो मनुष्य निष्कामभावसे श्रीकृष्णको स्नान कराता है, वह मोक्ष पाता है। जो स्नानसे भीगे हुए श्रीकृष्णविग्रहको वस्त्रसे पोंछता है, उसका जन्मभरका पाप नष्ट हो जाता है। जो जगदीश्वर श्रीकृष्णको स्नान कराकर उन्हें फूलोंकी माला पहनाता है, जो उनके स्नानकालमें शंख बजाता है, अथवा सहस्रनामोंका पाठ करता है, उसे एक-एक अक्षरपर कपिला गौके दानका फल प्राप्त होता है। गीता, गजेन्द्रमोक्ष, भीष्मस्तवराज तथा महर्षियोंद्वारा रचित अन्यान्य स्तोत्रोंके पाठका भी यही फल है। भगवान् उनके समीप आते और उनकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण करते हैं। जो श्रीकृष्णके स्नानकालमें नृत्य और गान करता है, ताली बजाता और जय-जयकार करता है, वह योनि-यन्त्रसे निकलनेकी (जन्म लेनेकी) पीड़ासे छुटकारा पा जाता है। जो मानव कलियुगमें श्रीकृष्णके गुणोंका वर्णन करता है, वह पितरोंसहित वैकुण्ठधाममें निवास करता है। जो भाँति-भाँतिके कोमल वस्त्रोंसे पूजा करके माधवको धूप निवेदन करता है, वह विष्णुधाममें निवास करता है। जो भक्तिपूर्वक सुवर्ण, रत्न एवं मणियोंके आभूषणोंसे श्रीकृष्णका शृंगार करते हैं, उन्हें वह उत्तम फल प्राप्त होता है, जो इन्द्र, शिव, ब्रह्मा तथा मुनियोंको भी ज्ञात नहीं। जो मानव कोमल तुलसीदलोंसे और शुद्ध वस्त्रोंसे देवकीनन्दन श्रीकृष्णकी पूजा करता है, उसे यज्ञकर्ताओं, दानवीरों, तीर्थसेवियों, मातृभक्तों तथा वेधरहित द्वादशी तिथिको भगवान् विष्णुके आगे जागरण, नृत्य, गान और वैष्णवशास्त्रका पाठ करनेवाले भक्तोंको प्राप्त होनेवाला फल मिलता है। तुलसीमालासे पूजित होकर रुक्मिणीवल्लभ श्रीकृष्ण पूर्वोक्त सभी फल प्रदान करते हैं। जैसे लक्ष्मी भगवान् विष्णुको प्रिय हैं, उसी प्रकार उनसे भी अधिक तुलसी उन्हें प्रिय हैं। कलियुगमें जहाँ-कहीं भी तुलसीकी मालासे भगवान् विष्णुका पूजन होता है, वहाँ द्वारकाका समग्र पुण्य प्राप्त होता है **'श्रीकृष्ण शरणं मम'** (श्रीकृष्ण मेरे आश्रय हैं) यह आठ अक्षरोंवाला मन्त्र श्रीकृष्णकी कृपा प्राप्त करानेवाला है। जो कलियुगमें कपूरसहित

काले अगुरुसे श्रीकृष्णको धूप देते हैं, वे श्रीकृष्णका सारूप्य प्राप्त करते हैं। घी, गुग्गुल तथा सुगन्धित पदार्थके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णको धूप देकर मनुष्य सदा कल्याणमय पदको प्राप्त होता है। जो श्रीकृष्णको अगुरु धूप देता है, वह सब पातकोंका त्याग करके अत्यन्त सुन्दर रूप पाता है। जो श्रीकृष्णमन्दिरके द्वारपर प्रतिदिन दीपमाला जगाता है, वह सातों द्वीपोंसे युक्त पृथ्वीका सम्राट् होता है। जो श्रीकृष्णके आगे सुगन्धित नैवेद्य निवेदन करता है, उसके पितर कल्पपर्यन्त नित्य तृप्त रहते हैं। जो कपूर और सुपारीके साथ ताम्बूल निवेदन करता है, उसे देवपदकी प्राप्ति होती है। जो भगवान् श्रीकृष्णके आगे जलसे भरा हुआ कलश और कमण्डलु निवेदन करता है, उसके पितर एक कल्पतक जल पीनेकी इच्छा नहीं रखते। जो भगवान् श्रीकृष्णको मनोहर फल भेंट करता है, उसके उत्तम मनोरथ कल्पपर्यन्त सफल होते रहते हैं। जो देवदेव श्रीकृष्णकी परिक्रमा करता है, उसके कुलमें किसीको यमलोकका दण्ड नहीं भोगना पड़ता। जो श्रीकृष्णके मन्दिरमें सुन्दर पुष्प-मण्डप बनाता है, वह कोटि-कोटि पुष्पक विमानोंद्वारा दिव्यलोकमें क्रीड़ा करता है। जो श्वेत चँवरकी हवा देकर श्रीकृष्णको प्रसन्न करता है, देवेश्वर श्रीकृष्ण उसके मस्तकको अपने मुँहसे चूमते हैं। जो श्रीकृष्णके मन्दिरको केलेके खंभोंसे सुशोभित करता है, उसका स्वागत देवराज स्वयं करते हैं। जो मनुष्य श्रीकृष्ण-मन्दिरको ध्वजा-पताकाओंसे सजाता है, वह सदा सूर्यलोकमें निवास करता है। जो श्रीकृष्ण-मन्दिरके ऊपर ध्वजारोपण करता है, उसका ब्रह्मलोकमें निवास होता है। जो देवदेव श्रीकृष्णके आँगनको स्वस्तिकोंसे विभूषित करता है, वह तीनों लोकोंमें क्रीड़ा करता है। जो मानव शंखमें जल लेकर भगवान् श्रीकृष्णके ऊपर घुमाता है, वह पूरे कल्पभर क्षीरसागरमें भगवान् विष्णुके समीप निवास करता है। जो विष्णुसहस्रनाम अथवा अन्य स्तोत्रोंका पाठ करते हुए भगवान् श्रीकृष्णकी परिक्रमा करता है, उसे पग-पगपर सातों द्वीपोंवाली पृथ्वीकी परिक्रमाका पुण्य प्राप्त होता है। जो उन्हें साष्टांग प्रणाम करता है, उसे दस हजार अश्वमेध यज्ञोंका फल प्राप्त होता है। जो मीठे स्वरवाले उत्तम गीतोंसे भगवान् श्रीकृष्णको सन्तुष्ट करता है, उसे सामवेदके पाठका फल प्राप्त होता है। जो प्रसन्नचित्त होकर भक्तिभावसे श्रीकृष्णके सम्मुख नृत्य करता है, वह अपने समस्त पापोंको भस्म कर देता है। जो श्रीकृष्णके समीप आकर भक्तिभावसे स्वस्तिवाचन करता है, उसे एक-एक अक्षरमें सौ कपिला-दानका पुण्य मिलता है। जो ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदकी वाणीसे श्रीकृष्णको सन्तुष्ट करते हैं, उन्हें ब्रह्मलोकका निवास प्राप्त होता है। जो योगी पुरुष श्रीकृष्णके समीप योग-शास्त्र और वेदान्तका पाठ करते हैं, वे सूर्यमण्डलको भेदकर भगवान् विष्णुके धाममें जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता, विष्णुसहस्रनाम, भीष्मस्तवराज, अनुस्मृति और गजेन्द्रमोक्ष—ये पाँचों स्तोत्र श्रीकृष्णको अत्यन्त दुर्लभ प्रतीत होते हैं—बहुत प्रिय लगते हैं*। श्रीकृष्णके समीप जो श्रीमद्भागवतका पाठ करता है, वह योगियोंके साथ क्रीड़ा करता है। जो वहाँ रामायण, महाभारत और पुराणोंका पाठ करता है, उसे मोक्ष प्राप्त होता है। जो गोमतीके जलमें स्नान करके पवित्र हो श्रीकृष्णके मुखारविन्दका दर्शन करते हैं, उनके दर्शनसे सौ वर्षोंका पातक नष्ट हो जाता है। संसारमें वे मनुष्य धन्य हैं, जो कलियुगमें द्वारकापुरी जाकर गोमती और समुद्रके संगममें देवताओं और पितरोंका तर्पण करते हैं;

---

* योगशास्त्राणि वेदान्तान् योगिनः कृष्णसन्निधौ। पठन्ति रविबिम्बं तु भित्त्वा यान्ति लयं हरेः॥
गीता नामसहस्रं तु स्तवराजस्त्वनुस्मृतिः। गजेन्द्रमोक्षणं चापि कृष्णस्यातीव दुर्लभम्॥
(स्क० पु०, द्वा० मा० २३। ७९-८०)

वे हरिद्वार, प्रयाग, गया, कुरुक्षेत्र, पुष्कर, प्रभास, श्रीस्थल और शुक्लतीर्थके सेवनका तथा सहस्रों चान्द्रायणव्रतका फल पाते हैं। द्वारकापुरी धन्य है, जहाँ गोमती नदी बहती है और जहाँ रुक्मिणीवल्लभ श्रीकृष्ण निवास करते हैं। जो कलिकालमें पापसे मोहित होकर गोमतीके जलमें स्नान नहीं करते, उनके पापबन्धनका नाश कैसे होगा। श्रीकृष्णने कलिकालके लिये गोमती नदीको स्वर्गलोककी सीढ़ी बनाया है। वह मनुष्योंके मनको आनन्द देनेवाली तथा स्नानमात्रसे मोक्ष प्रदान करनेवाली है। राजन्! जहाँ गोमतीके जलसे मिला हुआ समुद्र जाग रहा है, जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण विराजमान हैं और जहाँ पूजन करनेपर मोक्ष देनेवाली चक्रांकित शिलाएँ उपलब्ध होती हैं, वहाँ चलो। जहाँकी मिट्टी भी चक्रसे चिह्नित होकर कलियुगमें पापका नाश करनेके लिये स्थित है, जो पुरी दैत्य, दानव, राक्षस तथा देवताओंको भी शरण देनेवाली है, जिसे देवकीनन्दन श्रीकृष्ण कलिकालमें कभी नहीं छोड़ते हैं, उस द्वारकापुरीका कौन सेवन नहीं करेगा? जो मनुष्य द्वारकामें श्रीकृष्णचन्द्रजीके मुखारविन्दका तीनों समय दर्शन करते हैं, उनकी करोड़ों कल्पोंमें भी पुनरावृत्ति नहीं होती। जो विधवा स्त्री द्वारकामें निवास करती है, वह परम पदको प्राप्त होती है। जो द्वारकापुरीको नहीं गया, वह इस संसारमें पुत्र लेकर भी क्या करेगा?

श्रीकृष्णकी द्वारकापुरीमें जाकर जो तुलसीदलोंसे उनकी पूजा करता है, उसने जन्मका फल पा लिया और पितरोंको तार दिया। जो श्रीकृष्णके श्रीविग्रहसे उतारी हुई प्रसाद-स्वरूपा तुलसीमाला धारण करता है, वह एक-एक पत्तेमें दस अश्वमेध यज्ञोंका फल पाता है। जिसके मस्तकपर तुलसीके काष्ठकी माला शोभा देती है, उस मानवके शरीरमें साक्षात् श्रीहरि विराजमान होते हैं। जो कलियुगमें तुलसीकाष्ठमालासे विभूषित होकर पुण्यकर्म करता है तथा देवताओं और पितरोंका पूजन करता है उसका वह सत्कर्म कोटिगुना हो जाता है। तुलसीकाष्ठकी माला देखकर यमराजके दूत दूर भागते हैं, जैसे आँधीसे उड़ाये हुए पत्ते दूर हो जाते हैं। जिसके घरमें तुलसीका काष्ठ तथा उसकी सूखी या हरी पत्ती रहती है, उसके घरमें कहींसे पापका संक्रमण नहीं होता। जो तुलसीमालासे भूषित होता है, उसके हृदयमें भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अविचल भक्ति होती है तथा उसे इहलोक और परलोकमें भय नहीं प्राप्त होते। उसके दुःस्वप्न, अपशकुन और शत्रुभयका निवारण हो जाता है। बोधिनी, शयनी, त्रिस्पृशा तथा पक्षवर्द्धिनी एकादशी अवश्य करनी चाहिये। अष्टमीके भी जयन्ती, विजया और जया आदि कई भेद हैं। वह सब पापोंका नाश करनेवाली तथा श्रीकृष्णको अत्यन्त प्रिय है।

## शंखोद्धारतीर्थकी महिमा

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—महाभारतमें कौरवसेनाके मारे जाने और समस्त योद्धाओंके नष्ट हो जानेपर अर्जुन भक्तिभावसे श्रीकृष्णके समीप गये और उनकी परिक्रमा तथा प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले—'भगवन्! शंखोद्धारतीर्थका फल बताइये।'

**श्रीभगवान् बोले**—महाबाहो! जो मनुष्य घरमें रहकर भी शंखोद्धारतीर्थका स्मरण करते हैं, उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती। जो शंखोद्धारतीर्थमें जाकर मन-ही-मन भगवान् शंखधरका स्मरण करते हैं, वे विष्णुलोकमें निवास पाते हैं। जो शंखोद्धारतीर्थका दर्शन करता है, वह स्वर्गलोकको जाता है। अर्जुन! यदि शंखोद्धारकी यात्रा करनेवाला मनुष्य मार्गमें ही मर जाय और शंखोद्धारका दर्शन न कर सके तो वह भी मुझे वैसा ही प्रिय

है, जैसी कि लक्ष्मी हैं। मनुष्यको अपने घरमें रहते हुए भी शंखोद्धारतीर्थ और शंखधारी भगवान् विष्णुका स्मरण करना चाहिये। करोड़ों सूर्यग्रहणोंके समय सरस्वतीतीर्थमें जो फल होता है, वही आधे पलमें शंखोद्धारतीर्थके दर्शनसे हो जाता है। जो मनुष्य शंखोद्धारतीर्थमें स्नान करके शंखधारी श्रीहरिका दर्शन करता है, उसके पुण्यकी कोई संख्या नहीं है। मनुष्य तभीतक संसारमें तथा पापपूर्ण नरकमें भटकते हैं जबतक कलिमलनाशक शंखोद्धार-तीर्थका दर्शन नहीं करते। शंखोधारतीर्थमें स्नान करके मनुष्य फिर जन्म नहीं लेता। शंखोद्धारतीर्थके समान मोक्षदायक तीर्थ प्रायः नहीं देखा जाता। साढ़े तीन करोड़ तीर्थ कहे गये हैं। शंखोद्धारमें उन सभी तीर्थोंका फल प्राप्त होता है। जिसका मन श्रीकृष्णमें नहीं लगता है और जो शंखोद्धारतीर्थका दर्शन नहीं करता है, उसके स्वर्गवासी पितर भी उसे भयंकर शाप देते हैं। जो शंखोद्धारतीर्थमें रहकर अन्नदान करता है, उसने रुक्मिणीपतिकी प्रसन्नतासे स्वयं ही मुक्ति प्राप्त कर ली। अन्नदानके समान दूसरा कोई दान न हुआ है न होगा। इसलिये प्रयत्नपूर्वक अन्नदान करना चाहिये।

कुन्तीनन्दन! जो तुलसीदलसे मेरी पूजा करता है, उससे इन्द्रदेव भी भयभीत होते हैं। जो किसी भी कारणसे श्रीकृष्णका एकादशी व्रत कर लेते हैं, वे धन्य हैं। मृत्युके पश्चात् उन्हें चतुर्भुज भगवान् विष्णु प्राप्त होते हैं। द्वारका समुद्रके जलमें सब ओरसे दुर्जय है और उसके मध्यभागमें पापनाशक शंखदेव निवास करते हैं। जो मनुष्य शंखोद्धारमें स्नान करके विधिपूर्वक श्राद्ध करते हैं, वे अपने पितरोंका उद्धार करके उत्तम लोकको जाते हैं। भगवान् शंखधारीको नमस्कार और उनका पूजन करके मानव उस निर्मल लोकमें जाता है, जहाँ शोकका अत्यन्त अभाव है। भगवान् शंखधरका दर्शन करके मरणधर्मा मनुष्य अनेक जन्मोंके घोर पापोंसे मुक्त तथा कृतकृत्य हो जाता है। भगवान् शंख उसे मनोवांछित फल देते हैं।

## द्वारकापुरी, गोपीचन्दन तथा गोमतीका माहात्म्य

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—राजन्! कलिकालमें मथुरा, द्वारका और अयोध्या—ये तीन पुरियाँ भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष देनेवाली हैं। मथुरामें यमुना, द्वारकामें गोमती तथा अयोध्यामें सरयू नदी है, जो सेवन करनेपर मोक्षदायिनी होती है। अयोध्यामें श्रीहरिका, द्वारकामें श्रीकृष्णका और मथुरामें केशवका स्मरण करनेसे मुक्ति प्राप्त होती है। संसारमें मथुरापुरी धन्य है, जहाँ साक्षात् भगवान् विष्णु प्रकट हुए हैं। द्वारकापुरी सफल है, जहाँ रहकर श्रीहरिने अनेक प्रकारकी लीलाएँ की हैं और सब कामनाओंको देनेवाली अयोध्यापुरी धन्यातिधन्य है, जिसका स्वयं धर्मज्ञ भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने पालन किया है। अयोध्याके स्वामी भगवान् श्रीरामका, मथुरावासी केशवका तथा द्वारकानिवासी परम सुन्दर श्रीकृष्णका प्रेमसे कीर्तन करे। कीर्तन करनेसे मथुरा, स्मरण करनेसे द्वारकापुरी और यात्रा करनेसे अयोध्यापुरी पुण्यदायिनी होती है। इन तीनोंके द्वारा विशुद्ध पदकी प्राप्ति होती है। श्रीकृष्ण, ब्रह्माजी, श्रीविष्णु तथा द्वारकापुरीका श्रवण अथवा दर्शन करके मनुष्य जन्मके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। अयोध्या, मथुरा और द्वारकापुरी श्रवण अथवा दर्शनकी अभिलाषा करनेपर कल्पभरके पापका नाश कर देती है। कलियुगमें जो श्रीकृष्ण, विष्णु और हरिका स्मरण करता तथा द्वादशीको रातमें भगवान्‌के समीप जागता है, उसे दस हजार अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है। कलिकालमें वे मनुष्य धन्य हैं, जो सरयू, गोमती

और यमुनाके जलमें स्नान करते हैं। जो पश्चिम दिशाकी ओर मुँह करके स्नान करते और दोनों हाथ जोड़कर द्वारकापुरीका स्मरण करते हैं, उन्हें कोटिगुना फल होता है। कलियुगमें जो मानव द्वारकापुरीका चिन्तन करते हैं वे दस हजार कपिला गौओंके दानका पुण्य पाते हैं। राजन्! मैं मार्कण्डेय सात कल्पकी बातोंका स्मरण करनेवाला हूँ। कलियुगमें द्वारकापुरीके समान अथवा इससे बढ़कर दूसरी कोई पुरी नहीं है। कलियुगमें जो मनुष्य द्वारकापुरीको जाता है, वह पग-पगपर एक हजार अश्वमेध और सौ राजसूय यज्ञोंका फल पाता है। नृपश्रेष्ठ! कलियुगमें द्वारकाकी यात्रा करते हुए जिन मनुष्योंका चित्त विचलित नहीं होता, उनका जीवन सफल है। जिसने गोमतीके तटपर भगवान् श्रीकृष्णके समीप पिण्डान किया है, उसी पुत्रसे माता पुत्रवती है और पितर पुत्रवान् है। गोपीचन्दनका तिलक करके मनुष्य यदि इस पृथ्वीपर भ्रमण करता है, तो उससे वह समूचा देश पवित्र हो जाता है। फिर जहाँ वह स्वयं स्थित है, उसके लिये तो कहना ही क्या है। जो द्वारकामें उत्पन्न हुई श्रीकृष्णसेवित तुलसीको अपने मस्तकपर धारण करता है, वह स्वर्गलोकका स्वामी होता है। भगवान् विष्णुको विजया एकादशी तिथि, गंगाजल, काशीपुरी, तुलसी, आँवलेका फल, भागवत शास्त्र, रामायण, द्वारकापुरी, चमेलीका फूल, एकादशीकी रातमें जागरण तथा कीर्तन और गायन—ये अधिक प्रिय हैं।* कलिकालमें जिसके घरमें सदा गोपीचन्दनकी मृत्तिका विद्यमान है वहाँ श्रीकृष्णसहित द्वारकापुरी स्थित है। कृतघ्न, गोघाती तथा समस्त पापोंका आचरण करनेवाला मनुष्य भी गोपीचन्दनके सम्पर्कसे तत्काल पवित्र हो जाता है। जो किसी वैष्णवको गोपीचन्दनका एक टुकड़ा देता है, वह अपने कुलका उद्धार करता है। जिसके मन्दिरमें द्वारकाकी तुलसी है, उससे यमराज भी डरते हैं। द्वारकाकी मृत्तिका, तुलसी तथा श्रीकृष्णका कीर्तन सौ करोड़ यज्ञोंसे भी अधिक पुण्यदायक बताया गया है। मैंने सब शास्त्रों और पुराणोंका बार-बार अवलोकन करके देख लिया, मुझे द्वारकाके समान दूसरी कोई पुरी नहीं दिखायी दी। जिसने द्वारकाकी यात्रा और श्रीकृष्णका कीर्तन किया है, उसने हजारों तीर्थोंमें स्नान और करोड़ों यज्ञोंका यजन कर लिया है। जिन मनुष्योंने द्वारकापुरीमें जाकर श्रीकृष्णके मुखारविन्दका दर्शन नहीं किया, वे मानव पंगु हैं, जन्मके ही अन्धे हैं। जिन्होंने द्वारकापुरीमें जाकर एकादशीकी रात्रिमें भक्तिपूर्वक जागरण और नृत्य किया है, वे कृतार्थ और धन्य हैं। जो श्रीकृष्णपुरी द्वारकामें जाकर गोमतीके तटपर पिण्डदान और यथाशक्ति दान करता है, उसके पितर तृप्त हो जाते हैं। जो द्वारकापुरीमें गया है, उस मनुष्यको सौ जन्मोंतक प्रेत और पिशाचकी योनि नहीं मिलती। जो मनुष्य वैशाखमासमें हिंडोलेपर बैठे हुए श्रीकृष्णका दर्शन करते हैं, उनके पुत्र, पौत्र, प्रपितामह, श्वशुर, दास, भृत्य और पशु भी भगवान् विष्णुके साथ क्रीड़ा करते हैं। जो मानव कलिकालमें श्रीकृष्णके समीप द्वादशीको उपवास करते हैं, उनमें तथा श्रीकृष्णमें मैं कोई अन्तर नहीं देखता। श्रीकृष्णके समीप द्वादशी तिथिके समान कोई दिन नहीं है। श्रीकृष्णके निकट सभी तिथियाँ युगादि तिथियोंके समान पुण्यदायिनी होती हैं। कलियुगमें अधिक पुण्यात्मा पुरुषोंको द्वारकापुरीका सेवन करना चाहिये। कलिमें श्रीकृष्णकी कृपाके बिना कोई द्वारकापुरीमें नहीं जा सकता। श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये शिव आदि देवता सदा द्वारकापुरी जाते हैं। जो 'कृष्ण-कृष्ण' का कीर्तन करता है,

* दैत्यारेर्भगवत्तिथिश्च विजया नीरं च गङ्गोद्भवं नित्यं काशिपुरी तथैव तुलसी धात्रीफलं वल्लभम्।
शास्त्रं भागवतं तथा च दयितं रामायणं द्वारका पुष्पं मालतिसम्भवं सुदयितं गीतं कृतं जागरम्॥
(स्क० पु०, द्वा० मा० २७। २८)

उसका जीवन सफल है, उसकी चेष्टा सफल है और उसीकी वाणी सफल है। द्वारकापुरीमें अपने पुत्रको देखकर नरकसे छूटे हुए पितर स्वर्गमें स्थित होकर हँसते, गाते और उछलते हैं। मनुष्योंका जो गुप्त पातक है, उसे गोमती अपना स्मरण और कीर्तन करनेसे भी नष्ट कर देती है, फिर उसकी स्तुति की जाय, तब तो कहना ही क्या है? जो कलिकालमें वर्द्धिनी एकादशीको उपवास करते हैं, वे दुर्लभ हैं। द्वारका, गया और वर्द्धिनी एकादशी—इन तीनोंका पुण्यफल एक-सा बताया गया है। वर्द्धिनी एकादशी सबसे बढ़कर है। क्योंकि उस दिन उपवास करके द्वादशीको पारण करनेपर भगवान् विष्णुका परम पद अनायास ही प्राप्त हो जाता है। वर्द्धिनी एकादशीको उपवास करनेसे घरमें ही तीर्थसेवन, तपस्याका अनुष्ठान और मोक्ष प्राप्त हो जाते हैं। वर्द्धिनी एकादशी, द्वारकापुरी, गंगा, गया, गोविन्दजीका दर्शन, गोमती, गोकुल, गीता और गोपीचन्दन—ये दुर्लभ हैं।१

जो मनुष्य भगवान् श्रीकृष्णमें मन लगाकर इस प्रसंगको सुनता है, वह एक हजार अश्वमेध-यज्ञका फल पाता है। जो एकादशीकी रातमें जागरण करते समय भगवान् केशवके इस माहात्म्यको सुनेंगे, वे सब पापोंसे मुक्त हो वैकुण्ठधामको जायँगे। जो मानव इसे प्रतिदिन भक्तिपूर्वक पढ़ेंगे अथवा सुनेंगे, वे तुलादानका फल पावेंगे, एकादशीको जो थोड़ा भी दान किया जाता है, वह कोटिगुना होता है, ऐसा जानना चाहिये।

## एकादशीकी रात्रिमें श्रीहरिके समीप जागरणका माहात्म्य

**मार्कण्डेयजी कहते हैं**—जिन्होंने पिताकी आज्ञासे समस्त राज्यको वस्त्रमें लगे हुए तिनकेके समान त्याग दिया और अनुपम धर्मका ही संबल लेकर भयंकर वनको प्रस्थान किया, 'मुझे वनवास दे दिया गया' यह समाचार सुनकर बलवान् होते हुए भी जिनके मनमें क्रोध आदि विकार नहीं उत्पन्न हुए, वे विभीषणकी पीड़ा दूर करनेवाले श्रीराम-नामसे प्रसिद्ध भगवान् विष्णु आपलोगोंकी रक्षा करें।२

एक समयकी बात है, सब धर्मोंके ज्ञाता, वेद और शास्त्रोंके अर्थज्ञानमें पारंगत, सबके हृदयमें रमण करनेवाले श्रीविष्णुके तत्त्वको जाननेवाले तथा भगवत्परायण प्रह्लादजी जब सुखपूर्वक बैठे हुए थे, उस समय उनके समीप स्वधर्मका पालन करनेवाले महर्षि कुछ पूछनेके लिये आये। वे बोले—'प्रह्लादजी! आप कोई ऐसा साधन बताइये, जिससे ज्ञान, ध्यान और इन्द्रियनिग्रहके बिना ही अनायास भगवान् विष्णुका परम पद प्राप्त हो जाता है।'

उनके ऐसा कहनेपर सम्पूर्ण लोकोंके हितके लिये उद्यत रहनेवाले विष्णुभक्त महाभाग प्रह्लादजीने संक्षेपसे इस प्रकार कहा—'महर्षियो! जो अठारह पुराणोंका सारसे भी सारतर तत्त्व है, जिसे कार्तिकेयजीके पूछनेपर भगवान् शंकरने उन्हें बताया था, उसका वर्णन करता हूँ, सुनिये।

**महादेवजी कार्तिकेयसे बोले**—जो कलिमें एकादशीकी रातमें जागरण करते समय वैष्णवशास्त्रका पाठ करता है, उसके कोटि जन्मोंके किये हुए

१- वर्द्धिनी द्वारका गङ्गा गया गोविन्ददर्शनम्। गोमती गोकुलं गीता दुर्लभं गोपिचन्दनम्॥
(स्क० पु०, द्वा० मा० २७।६३)

२- राज्यं येन पटान्तलग्नतृणवत् त्यक्तं गुरोराज्ञया पाथेयं परिगृह्य धर्ममतुलं घोरं वनं प्रस्थितः।
श्रुत्वाप्याऽऽत्मविवासनं च बलवान् यो नागतो विक्रियां पायाद्वः स विभीषणार्तिहरणो रामाभिधानो हरिः॥
(स्क० पु०, द्वा० मा० २८।१)

चार प्रकारके पाप नष्ट हो जाते हैं। जो एकादशीके दिन वैष्णव-शास्त्रका उपदेश करता है, उसे मेरा भक्त जानना चाहिये। जिसे एकादशीके जागरणमें निद्रा नहीं आती और जो उत्साहपूर्वक नाचता एवं गाता है, वह मेरा विशेष भक्त है। मैं उसे उत्तम ज्ञान देता हूँ और भगवान् विष्णु मोक्ष प्रदान करते हैं। अतः मेरे भक्तको विशेषरूपसे जागरण करना चाहिये। जो भगवान् विष्णुसे वैर करते हैं, उन्हें पाखण्डी जानना चाहिये। जो एकादशीको जागरण करते और गाते हैं, उन्हें आधे निमेषमें अग्निष्टोम तथा अतिरात्र-यज्ञके समान फल प्राप्त होता है। जो रात्रि-जागरणमें बारंबार भगवान् विष्णुके मुखारविन्दका दर्शन करते हैं, उनको भी वही फल प्राप्त होता है। जो मानव द्वादशी तिथिको भगवान् विष्णुके आगे जागरण करते हैं, वे यमराजके पाशसे मुक्त हो जाते हैं। जो द्वादशीको जागरण करते समय गीता-शास्त्रसे मनोविनोद करते हैं, वे भी यमराजके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। जो प्राणत्याग हो जानेपर भी द्वादशीका जागरण नहीं छोड़ते, वे धन्य और पुण्यात्मा हैं। जिनके वंशके लोग एकादशीकी रातमें जागरण करते हैं, वे ही धन्य हैं। जिन्होंने एकादशीको जागरण किया है, उन्होंने यज्ञ, दान, गयाश्राद्ध और नित्य प्रयागस्नान कर लिया। उन्हें संन्यासियोंका पुण्य भी मिल गया और उनके द्वारा इष्टापूर्त कर्मका भी भलीभाँति पालन हो गया। षडानन! भगवान् विष्णुके भक्त जागरणसहित एकादशीव्रत करते हैं, इसलिये वे मुझे सदा ही विशेष प्रिय हैं। जिसने वर्द्धिनी एकादशीकी रातमें जागरण किया है, उसने पुनः प्राप्त होनेवाले शरीरको स्वयं ही भस्म कर दिया। जिसने त्रिस्पृशा एकादशीको रातमें जागरण किया है, वह भगवान् विष्णुके स्वरूपमें लीन हो जाता है। जिसने हरिबोधिनी एकादशीकी रातमें जागरण किया है, उसके स्थूल-सूक्ष्म सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। जो द्वादशीकी रातमें जागरण तथा ताल-स्वरके साथ संगीतका आयोजन करता है, उसे महान् पुण्यकी प्राप्ति होती है। जो एकादशीके दिन ऋषियोंद्वारा बनाये हुए दिव्य स्तोत्रोंसे ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेदके वैष्णव मन्त्रोंसे, संस्कृत और प्राकृतके अन्य स्तोत्रोंसे तथा गीत, वाद्य आदिके द्वारा भगवान् विष्णुको सन्तुष्ट करता है, उसे भगवान् विष्णु भी परमानन्द प्रदान करते हैं। जो एकादशीकी रातमें भगवान् विष्णुके आगे वैष्णवभक्तोंके समीप गीता और विष्णुसहस्रनामका पाठ करता है, वह उस परमधाममें जाता है, जहाँ साक्षात् भगवान् नारायण विराजमान हैं।* पुण्यमय भागवत तथा स्कन्दपुराण भगवान् विष्णुको प्रिय है। मथुरा और व्रजमें भगवान् विष्णुके बालचरित्रका जो वर्णन किया गया है, उसे जो एकादशीकी रातमें भगवान् केशवका पूजन करके पढ़ता है, उसका पुण्य कितना है, यह मैं भी नहीं जानता। कदाचित् भगवान् विष्णु जानते हों। बेटा! भगवान्के समीप गीत, नृत्य तथा स्तोत्रपाठ आदिसे जो फल होता है, वही कलिमें श्रीहरिके समीप जागरण करते समय विष्णुसहस्रनाम, गीता तथा श्रीमद्भागवतका पाठ करनेसे सहस्र गुना होकर मिलता है। जो श्रीहरिके समीप जागरण करते समय रातमें दीपक जलाता है, उसका पुण्य सौ कल्पोंमें भी नष्ट नहीं होता। जो जागरणकालमें मंजरीसहित तुलसीदलसे भक्तिपूर्वक श्रीहरिका पूजन करता है, उसका पुनः इस संसारमें जन्म नहीं होता। स्नान, चन्दन, लेप, धूप, दीप, नैवेद्य और ताम्बूल यह सब जागरणकालमें भगवान्को समर्पित किया जाय तो उससे अक्षय पुण्य होता है। कार्तिकेय! जो भक्त मेरा ध्यान

* यः पुनः पठते रात्रौ गीतां नामसहस्रकम्। द्वादश्यां पुरतो विष्णोर्वैष्णवानां समीपतः।
स गच्छेत्परमं स्थानं यत्र नारायणः स्वयम्॥

(स्क० पु०, द्वा० मा० २८। ४३-४४)

करना चाहता है, वह एकादशीकी रात्रिमें श्रीहरिके समीप भक्तिपूर्वक जागरण करे। एकादशीके दिन जो लोग जागरण करते हैं उनके शरीरमें इन्द्र आदि देवता आकर स्थित होते हैं। जो जागरणकालमें महाभारतका पाठ करते हैं, वे उस परमधाममें जाते हैं जहाँ संन्यासी-महात्मा जाया करते हैं। जो उस समय श्रीरामचन्द्रजीका चरित्र, दशकण्ठ-वध पढ़ते हैं, वे योगवेत्ताओंकी गतिको प्राप्त होते हैं। जिन्होंने श्रीहरिके समीप जागरण किया है, उन्होंने चारों वेदोंका स्वाध्याय, देवताओंका पूजन, यज्ञोंका अनुष्ठान तथा सब तीर्थोंमें स्नान कर लिया। श्रीकृष्णसे बढ़कर कोई देवता नहीं है। उनके दिनसे बढ़कर दूसरा कोई दिन नहीं है और एकादशी व्रतके समान दूसरा कोई व्रत नहीं है। जहाँ भागवत शास्त्र है, भगवान् विष्णुके लिये जहाँ जागरण किया जाता है और जहाँ शालग्रामशिला स्थित होती है, वहाँ साक्षात् भगवान् विष्णु उपस्थित होते हैं।

## द्वारका-यात्राकी विधि एवं महिमा

**प्रह्लादजी कहते हैं**—एक समय देवर्षि नारदजीने महर्षियोंसे इस प्रकार कहा—'द्वारकाकी यात्रा करनेवाले श्रद्धालु मनुष्यको चाहिये कि पहले दिन तेल, उबटन लगाकर स्नान करके वैष्णवोंका पूजन करे और अपनी शक्तिके अनुसार उन्हें भोजन कराये। तदनन्तर भावनाद्वारा भगवान् महाविष्णुसे आज्ञा लेकर पक्वान्न भोजन करे और प्रसन्नतापूर्वक द्वारका तथा श्रीकृष्णका चिन्तन करते हुए रातमें पृथ्वीपर शयन करे। प्रातःकाल पवित्र हो स्नान करके जगदीश्वरकी पूजा, परिक्रमा और नमस्कार करे। तत्पश्चात् महाविष्णुकी आज्ञा लेकर कुलके बड़े-बूढ़े पुरुषों, ब्राह्मणों तथा वैष्णवजनोंसे मिले। गन्ध और ताम्बूलसे उनका अर्चन करे और उनके आगे महान् उत्सव मनावे। तदनन्तर गाने-बजाने और स्तुति-पाठके द्वारा द्वारकापुरीके लिये प्रसन्नतापूर्वक यात्रा प्रारम्भ करे। द्वारका जानेवाले पुरुषको शान्त, जितेन्द्रिय, पवित्र, ब्रह्मचारी तथा भूमिशायी होना चाहिये। मार्गमें एकाग्रचित्त होकर विष्णुसहस्रनाम आदि स्तोत्र, पुराण-पाठ और वैदिक सूक्तोंका पठन करना चाहिये। स्वयं प्रसन्न रहकर दूसरोंसे सदा प्रिय वचन बोले। सबको सम्मान दे। दूसरोंकी थकावट दूर करनेका प्रयत्न करे। द्वारका जानेवाले वृद्ध और असमर्थ पुरुषोंको जल दे। उन्हें सुखपूर्वक ठहरनेकी व्यवस्था करे और उन्हें सवारी भी दिलानेकी चेष्टा करे। मनमें दयाभाव रखते हुए उन सबकी सेवा करे। अपने पास धन हो तो मनुष्य उन यात्रियोंको अन्न और वस्त्र आदि भी दे। भगवान् श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये यह सब कुछ करे। इससे महान् पुण्यकी प्राप्ति होती है। उस समय अपनी शक्तिके अनुसार थोड़ा-सा भी दिया जाय तो वह कोटिगुना होकर फलता है। जो भक्तिभावसे मार्गमें श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये यात्रीको एक ग्रास अन्न भी देता है, उसके द्वारा मानो सात द्वीपोंवाली पृथ्वी दे दी गयी। उसके पुण्यका कभी अन्त नहीं होता। द्वारकाके क्षेत्रमें श्रीकृष्णके समीप एक ब्राह्मणको भोजन करानेपर दस राजसूय-यज्ञका फल मिलता है, जिन्होंने द्वारका जानेवाले यात्रियोंको अन्नदान किया है, उन्होंने लाखों बार गया-श्राद्ध कर लिया। अपने पास विभव हो तो जूता, खड़ाऊँ, छाता, कम्बल, अन्न, जल, वस्त्र तथा पात्र दान करे। महाविष्णुकी प्रसन्नताके लिये जो कुछ भी दान किया जाता है, वह सब मनोरथोंकी सिद्धि करनेवाला होता है। मनस्वी पुरुषोंको आदरपूर्वक भगवान् विष्णुकी आराधना करनी चाहिये। तीर्थयात्रीको परायी निन्दा कदापि नहीं करनी चाहिये। जिसके हाथ,

पैर और मन भलीभाँति वशमें होते हैं, उसीको उत्तम यशकी प्राप्ति होती है और उसे ही तीर्थका निश्चित फल प्राप्त होता है। यात्रीके पास धन हो तो वह दूसरेका अन्न और दूसरेकी रसोई अवश्य त्याग दे। धन न होनेपर भोजनमात्र दूसरोंसे ले लिया जाय तो उसमें कोई दोष नहीं है। द्वारकाके मार्गपर चलनेवाले मनुष्योंको परस्पर भक्तिभाव बढ़ानेवाली भगवान् विष्णुकी कथा सुननी चाहिये और प्रसन्नतापूर्वक श्रीहरिके नामोंका कीर्तन करना चाहिये। वैदिक मन्त्रोंका जप करना भी उचित है। आगमोक्त और पुराणोक्त स्तोत्र भगवान्‌की अत्यन्त प्रसन्नता बढ़ानेवाले होते हैं; अतः उनका भी पाठ करना चाहिये*।'

नारदजीके इस प्रकार कहनेपर सब महर्षि बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके मार्गपर जाते समय सब कुछ उसी प्रकार किया। कोई भगवान् विष्णुकी लोकविख्यात कथाएँ सुनते थे, जिनके श्रवण करनेमात्रसे भगवान् हृदयमें आकर बस जाते हैं। कुछ महर्षि महान् पुण्यदायक तथा कलिमें सबको पवित्र करनेवाले भगवन्नामोंका कीर्तन करते थे। कुछ मुनियोंने दिव्य पुराणसंहिताका पाठ किया, जो भगवान् विष्णुकी मंगलमयी महिमाको प्रकाशित करती है। भगवान्‌के जो सद्‌गुण हैं, उन्होंने पूर्वकालमें लीलावतार धारण करके जो पराक्रमपूर्ण लीलाएँ की हैं, उन्हींको कुछ लोग प्रसन्नतापूर्वक सुनते थे। कुछ मंगलमय महात्मा पुरुष आनन्दमें मग्न हो नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहाते हुए बड़ी भक्तिसे भगवान् वासुदेवकी लीला-कथा सुनाया करते थे। कुछ लोग प्राचीन मुनियोंद्वारा वर्णित भगवच्चरित्रोंका गान करते थे। दूसरे महात्मा आदि-अन्तरहित देवेश्वर भगवान् विष्णुका भक्तिभावसे चिन्तन ही करते रहते थे। कुछ मुनि मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर बड़ी प्रसन्नताके साथ भगवान्‌के वैदिक, पौराणिक तथा वैष्णवशास्त्रोक्त स्तोत्रोंका पाठ करते थे। दूसरे महर्षि भगवान्‌के पापहारी नामोंका कीर्तन करते थे। कोई शतनाम, कोई सहस्रनाम और कोई लक्षनाम जपते थे। कुछ मुनि प्रसन्न होकर लौकिक भाषामें गाये हुए हरिनामोंका गान करते थे। कुछ लोग अपने शरीरकी सुधि भूलकर सब ओर भगवान्‌के सुन्दर रूपोंका साक्षात्कार करते थे। वे जो कुछ देखते और जो कुछ सुनते थे, वह सब उन्हें चतुर्भुज विष्णुरूप प्रतीत होता था। कोई गाने-बजाने और करतालकी ध्वनिके साथ उत्सव करते चलते थे। कोई गाते, कोई नाचते और कोई नृत्य एवं तालके अनुसार बाजे बजाते थे। सब लोग एक साथ मिलकर एक स्वरसे हरिनामकी गर्जना करते थे। परमानन्दमें निमग्न होकर वे परस्पर हँसते थे। गीत और नृत्यके साथ श्रीहरिका उत्सव मनाते थे और भगवान् विष्णुमें मन लगाकर वैष्णवमन्त्रोंका जप करते थे। ऐसे महात्माओंको देखकर पापी भी शुद्ध हो जाता है। जिसे ऐसे वैष्णव महात्माओंका दर्शन होता है, उससे बढ़कर धन्य पुरुष तीनों लोकोंमें कोई नहीं है। द्वारकाके मार्गमें नृत्य और कीर्तन करके प्रसन्न होनेवाले सभी पुरुषोंको उनके चरणोंमें लगे हुए धूलि-कणकी संख्याके बराबर अश्वमेध यज्ञोंका फल प्राप्त होता है। द्वारकाके यात्रीको पग-पगपर उसकी पग-धूलिकी संख्याके अनुसार सहस्रों यज्ञोंका पुण्य प्राप्त होता है।

---

* यस्य हस्तौ च पादौ च मनो यस्य सुसंयतम्। तस्य चैव पराकीर्तिर्भवेत्तीर्थफलं ध्रुवम्॥
परान्नं परपाकं च सति वित्ते त्यजेद् ध्रुवम्। न दोषोऽसति वित्तेऽस्य तावन्मात्र प्रतिग्रहे॥
श्रोतव्या सत्कथा विष्णोर्नामसङ्कीर्तनं मुदा। द्वारकापथि गच्छद्भिरन्योन्यं भक्तिवर्द्धनम्॥
जप्तव्यं वैदिकं जाप्यं स्तोत्रमागमिकं तथा। पौराणिकं च यत्स्तोत्रं विष्णोः सुप्रीतिहेतवे॥
(स्क० पु०, द्वा० मा० ३२। ३१—३४)

# ऋषियों और देवताओंकी द्वारका-यात्रा तथा भगवद्दर्शन एवं पूजन

**प्रह्लादजी कहते हैं**—द्वारकापुरी अपनी प्रभासे बाहरके गाढ़ अन्धकारका नाश कर देती है और भक्तोंको भयनाशक परमानन्दमय पद प्रदान करती है। पुण्यको बढ़ानेवाली द्वारकापुरी अपनी गगनचुम्बी ध्वजा-पताकाओं तथा दिव्य पुण्य प्रकाशसे गिरिराजके समान शोभा पाती है। पूर्वोक्त तीर्थयात्री महर्षियोंने द्वारकापुरीमें दूरसे ही चक्रविभूषित श्रीकृष्णमन्दिरका दर्शन करके छाता और खड़ाऊँ त्यागकर साष्टांग प्रणाम किया। वे दण्डकी भाँति पृथ्वीपर लोट गये। उनकी भक्ति बहुत बढ़ गयी और वे बार-बार धरतीपर लोटने लगे। कोई जय-जयकार और नमस्कारके साथ हरिनामकी गर्जना करने लगे। दूसरे लोग परमानन्दमें निमग्न हो स्तुति सुनाने लगे। सभी महर्षि तथा वहाँ प्रकट हुए सभी तीर्थ आनन्दके आँसू बहाते हुए प्रेमगद्गद वाणीमें भगवान्‌की स्तुति करने लगे।* उन सबको देखकर नारदजीने कहा—'तुमने सहस्रों जन्मोंमें सहस्रों पुण्यपुंजोंकी राशि संचित कर रखी थी, जिससे आज तुम्हें भगवान् श्रीकृष्णके मन्दिरका दर्शन हुआ है। भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन, द्वारका जानेकी बुद्धि और महादेवजीमें दृढ़ भक्ति—ये सब थोड़ी तपस्याके फल नहीं हैं। वे पूर्वज धन्य हैं, जिनके वंशज श्रीकृष्ण-दर्शनके लिये, उत्सवपूर्वक द्वारकाकी यात्रा करते हैं और वहाँ पहुँचकर अपने इष्टदेव श्रीहरिका दर्शन पाते हैं। सब मुनिलोग देखें, यह द्वारकापुरी तीनों लोकोंमें सुशोभित होती है। श्रीकृष्णप्रिया द्वारका इस पृथ्वीकी कीर्ति है, जहाँ गोमती, रुक्मिणीदेवी तथा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण विराज रहे हैं। जिसके सम्बन्धसे यह पृथ्वी स्वर्गसे भी अधिक शोभा पाती है, वह पवित्र द्वारकापुरी अपने दिव्य तेजसे सुशोभित है।'

नारदजीका यह वचन सुनकर और द्वारकाके माहात्म्यको अपनी आँखों देखकर ऋषि और देवता आगे चले। वे सब ओर गीत, वाद्य, नृत्य और पताका आदिके द्वारा उत्सव मनाते हुए नाना प्रकारके स्तोत्र पढ़कर द्वारकाप्रिय श्रीकृष्णकी स्तुति कर रहे थे। हरिनामके उच्च घोषके साथ उनकी गर्जना सुनकर प्रसन्न हुए नारदजीने उन सबका एक व्यूह बनाया। इस प्रकार आगे बढ़ते हुए वे सब लोग गोमतीके तटपर आये। सबने गोमतीको प्रणाम किया और गोमतीकी महिमा देखकर नारदजीने कहा—'ये ही वे गोमतीदेवी हैं, जिनकी तीनों लोकोंमें ख्याति है। इनके जलमें किया हुआ एक बारका स्नान ब्रह्मविद्यासे स्पर्धा रखता है। गोमती ब्रह्मज्ञानके समान है। यह सब तीर्थोंमें उत्तम है। मनुष्य ब्रह्मज्ञानसे मुक्त होते हैं और वह ब्रह्मज्ञान गोमतीमें स्नान करनेसे सुलभ होता है। अथवा श्रीकृष्णके समीप गोमतीमें स्नान करनेमात्रसे सबकी मुक्ति हो जाती है।'

ऐसा कहकर नारदजीने हरिप्रिया द्वारकाको प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'द्वारके! ये सब ऋषि और महर्षि तुम्हें बार-बार प्रणाम करते हैं। इन सबको देखो। ये सब गान, वाद्य और नृत्यके द्वारा प्रसन्न होकर श्रीहरिनामका कीर्तन कर रहे हैं। देवि! तुम सबसे श्रेष्ठ हो; क्योंकि साक्षात् भगवान् विष्णु तुम्हारा कभी त्याग नहीं करते हैं। हमें देवेश्वर श्रीकृष्णका दर्शन कराओ।'

उनके ऐसा कहनेपर द्वारकादेवी प्रत्यक्ष प्रकट हुई और हर्षसे विह्वल होकर बोली—'देवताओ! देखो, देखो; ये भगवान् द्वारकानाथ विराज रहे हैं।' उस समय देवताओंने पश्चिमाभिमुख श्रीकृष्णका

---

* जयशब्दैर्नमःशब्दैर्गर्जन्तो हरिनामभिः। ततोऽन्ये च स्तुवन्ति स्म परमानन्दसम्प्लुताः॥
आनन्दाश्रु प्रमुञ्चन्तः प्रेम्णा गद्गदया गिरा। स्तुवन्ति ऋषयः सर्वे तीर्थादीनि च सर्वशः॥
(स्क० पु०, द्वा० मा० ३३। ११-१२)

दर्शन करके उन्हें प्रणाम किया और प्रसन्न होकर गीत, वाद्य तथा नृत्य किया। जय-जयकार और नमस्कार शब्दके साथ हरिनामकी गर्जना की। बारंबार श्रीकृष्णका दर्शन करके सबने भक्तिभावसे अनेक बार उठ-उठकर साष्टांग प्रणाम किया और—'हे कृष्ण! हे कृष्ण! जय कृष्ण!' ऐसा कहा। श्रीकृष्णके दर्शनसे उन सब सिद्धोंको उत्तम सिद्धि प्राप्त हुई। गोमतीके जलमें और समुद्रके अन्तर्गत चक्रतीर्थके जलमें उन सबने स्नान करके श्रीकृष्णके दर्शनकी लालसा प्रकट की थी। तदनन्तर श्रीकृष्णके मुखारविन्दका दर्शन पाकर वे सभी परमानन्दमें डूब गये। नेत्रोंसे प्रेमके आँसू बहाने लगे। उन्हें अपने-आपकी भी सुधि नहीं रही। तत्पश्चात् कमलके आसनपर बैठे हुए बलराम और श्रीकृष्णका दर्शन करके उन सबने उन्हें पंचामृतसे तथा त्रिलोकीके सभी तीर्थोंके जलसे स्नान कराया। सनकादि योगियोंने भी उनका पूजन किया। नारदादि महर्षियोंने परम श्रद्धा-भक्तिसे पृथक्-पृथक् दिव्य वस्त्र, दिव्य गन्ध और दिव्य अनुलेपनोंसे पूजन किया। तुलसीदलसे श्रीकृष्णकी पूजा की। पृथक्-पृथक् दिव्य धूप देकर कपूरकी आरती उतारी। भाँति-भाँतिके कर्पूरवासित पवित्र पदार्थोंद्वारा नैवेद्य लगाया। कर्पूरमिश्रित ताम्बूल निवेदन किया। प्रिय वस्तुएँ भेंट कीं। मंगलमय स्तोत्रोंद्वारा स्तुति की तथा चवँर और व्यजन आदि डुलाकर महाविष्णुकी आराधना पूरी की। तत्पश्चात् ब्रह्मपुत्रोंने भगवान् श्रीकृष्णके आगे गीत गाये, बाजे बजाये और नृत्य किया। इतनेमें ही वहाँ भगवान् विष्णुके पार्षद प्रकट हो गये। देवताओं तथा ऋषियोंने उन पार्षदोंको प्रणाम किया। इसके बाद बड़े भैया बलरामसहित श्रीकृष्णको मस्तक झुकाया। तदनन्तर पुष्पांजलि देते हुए कहा—'देवि द्वारके! तुम सब तीर्थोंकी महारानी और अधीश्वरी हो।' ऐसा कहकर उन सबने द्वारकापुरीको प्रणाम किया।

## दिलीप-वसिष्ठ-संवाद, द्वारकासे लौटे हुए यात्रीके दर्शनसे राक्षसके वज्रलेप पापका नाश

**प्रह्लादजी कहते हैं**—मुनीश्वरो! द्वारकापुरीका ऐसा ही अद्भुत माहात्म्य है। वह बड़े-बड़े पापोंको जलानेवाला है और महान् पुण्यकी वृद्धि करनेवाला है। द्वारकाकी यात्रा अत्यन्त भयंकर पापराशिके दाहका स्थान है। जब बृहस्पति सिंह राशिपर स्थित हों, उस समय जो द्वारकाकी यात्रा करते हैं, उनके चरणोंकी धूलिका स्पर्श करके पापी मनुष्य भी स्वर्गलोकमें चले जाते हैं। गोमतीके जलसे पवित्र होकर श्रीकृष्णके मुखारविन्दका दर्शन करनेवाले उन पुण्यात्माओंके दर्शनसे सौ जन्मोंका पाप नष्ट हो जाता है—इस विषयमें राजा दिलीप और महर्षि वसिष्ठका संवाद बड़ा ही आश्चर्यजनक है।

**दिलीपने पूछा**—विप्रवर! काशीमें किया हुआ पाप वज्रलेप होता है। वह भयंकर वज्रलेप जहाँ नष्ट हो जाय, और सब प्रकारके महापुण्य जहाँ प्राप्त हों, वह ऐसा कौन-सा क्षेत्र है। यह बतानेकी कृपा करें। जहाँ जानेपर पापरूपी बीज अंकुरित नहीं होते, उस पुण्यक्षेत्रका वर्णन कीजिये।

**वसिष्ठजीने कहा**—काशीमें मोक्षधर्मको जाननेवाला कोई त्रिदण्डी संन्यासी रहता था। वह एक दिन एकाग्रचित्त हो दशाश्वमेध घाटपर गायत्रीका जप कर रहा था। उसी समय वहाँ कोई गजगामिनी युवती आयी और गंगाके तटपर अपने वस्त्र रखकर जलमें क्रीड़ा करने लगी। संन्यासी उस तरुणीको देखकर कामदेवके वशीभूत हो गया। उस कुलटाने भी मन-ही-मन उस तरुण संन्यासीसे मिलनेका संकल्प किया। वे

दोनों पापाचारके द्वारा एक दूसरेसे मिले। तरुणीने संन्यासीका मन मोह लिया था; अतः वह उसीके पीछे-पीछे लगा रहा। उसकी प्रसन्नताके लिये वह न्याय अथवा अन्यायसे भी धनकी याचना करने लगा। काशीमें रहकर वह चाण्डालसे भी दान लेता था। उसने स्नान छोड़ दिया। अपवित्र रहने लगा और पापमें प्रवृत्त होकर रातमें चोरी भी करने लगा। एक दिन वह दुराचारी यति मांस लानेकी इच्छासे वनमें गया। वहाँ उसकी दृष्टि एक चाण्डाल-कन्यापर पड़ी, जिसके नेत्र उस युवकको उन्मत्त बना देनेवाले थे। वह बड़ी ही सुन्दरी थी। उसका अतिशय सौन्दर्य देखकर उसने निर्जन वनमें उस चाण्डालीके साथ समागम किया। उसके साथ भोजन भी किया और उसीके घरमें उसकी मृत्यु हुई। पापात्मा और सर्वभक्षी होकर भी वह काशीके प्रभावसे नरकमें नहीं पड़ा; परन्तु उसके द्वारा अत्यन्त भयानक वज्रलेप पाप हुआ था, इसलिये क्रूर योनियोंमें उसका जन्म हुआ। पहले भेड़िया, फिर क्रमशः व्याघ्र, सिंह, कुत्ता, सियार और सूअर हुआ। इस प्रकार दस हजार युगोंमें भी उसका वह पाप नष्ट नहीं हुआ। तदनन्तर वह राक्षस हुआ और अनेक प्रकारके प्राणियोंका भक्षण करते हुए विन्ध्यपर्वतपर आकर रहने लगा। इसी समय एक अद्भुत घटना घटी। एक मनुष्य द्वारका और श्रीकृष्णचन्द्रके सुन्दर मुखारविन्दका दर्शन करके लौट रहा था। वह गोमतीके जलमें स्नान करके पवित्र हो चुका था। धीरे-धीरे जब वह विन्ध्याचलपर आया तो वह क्रूरकर्मी राक्षस उसे खानेके लिये उसके पास गया; परन्तु वह तीर्थयात्री तनिक भी भयभीत न हुआ। उसके दर्शनमात्रसे राक्षसका भयंकर वज्रलेप पाप क्षणभरमें जलकर भस्म हो गया और वह पुण्यके प्रकाशसे शोभा पाने लगा। तदनन्तर उसने उस पथिकके चरणोंमें श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया और विस्मित होकर कहा—'अहो! आपके दर्शनमात्रसे मेरा यह भयंकर राक्षसभाव नष्ट हो गया और मुझे उत्तम सिद्धि प्राप्त हुई। भद्रपुरुष! आप कहाँसे आये हैं और आपका ऐसा प्रभाव क्यों है?'

राक्षसकी यह बात सुनकर यात्रीने प्रसन्नचित्त होकर कहा—'राक्षस! मैं द्वारकापुरीका दर्शन करके आया हूँ। मुझमें वज्रलेप-जैसे पापको हर लेनेवाला प्रभाव भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनसे प्रकट हुआ है।' उसके ऐसा कहनेपर राक्षसने भक्तिभावसे उसे प्रणाम किया और उसकी परिक्रमा करके वह द्वारकापुरीको चला गया। वहाँ गोमतीके जलमें अपना शरीर त्यागकर उसने वैकुण्ठधाम प्राप्त किया। उस समय देवेश्वर तथा गन्धर्वगण फूलोंकी वर्षा करते हुए उसकी स्तुति कर रहे थे।

वसिष्ठजीके मुखसे यह कथा सुनकर राजा दिलीपका चित्त प्रसन्न हो गया। वे देवाधिदेव भगवान् श्रीकृष्णकी द्वारकापुरीका दर्शन करनेके लिये गये और आदरपूर्वक देवमन्दिरमें श्रीकृष्णका दर्शन करके परम सिद्धिको प्राप्त हुए।

## द्वारकापुरी तथा श्रीकृष्ण-दर्शनका माहात्म्य

**प्रह्लादजी कहते हैं**—ब्रह्मा और शिव आदि भी जिनके चरणारविन्दोंकी वन्दना करते हैं, वे भगवान् श्रीकृष्ण जहाँ निवास करते हैं, वह द्वारकापुरी सब कुछ देनेवाली तथा सर्वज्ञ है। द्वारकाके प्रभावसे कीट, पतंग, पशु, पक्षी तथा सर्प आदि योनियोंमें पड़े हुए समस्त पापी भी मुक्त हो जाते हैं *। फिर जो प्रतिदिन द्वारकामें रहते और जितेन्द्रिय होकर भगवान् श्रीकृष्णकी सेवामें उत्साहपूर्वक लगे होते हैं, उन मनुष्योंकी मुक्तिके विषयमें क्या कहना है। द्वारकामें रहनेवाले

* अपि कीटपतङ्गाद्याः पशवोऽथ सरीसृपाः। विमुक्ताः पापिनः सर्वे द्वारकायाः प्रभावतः॥ (स्क० पु०, द्वा० मा० ३७।७)

समस्त प्राणियोंको जो गति प्राप्त होती है, वह ऊर्ध्वरेता मुनियोंको भी दुर्लभ है। द्वारका सब क्षेत्रों और तीर्थोंसे उत्तम कही गयी है। द्वारकामें जो होम, जप, दान और तप किये जाते हैं, वे सब भगवान् श्रीकृष्णके समीप कोटिगुने एवं अक्षय होते हैं। जो द्वारकावासी श्रेष्ठ पुरुषोंकी निन्दा करते हैं, वे श्रीकृष्णकी कृपासे वंचित हो दुःखके घोर समुद्रमें गिरते हैं। अतः द्वारकावासी मनुष्य सदा सबके लिये पूजनीय हैं। द्वारकामें दी हुई अणुमात्र वस्तु भी अक्षय फल देनेवाली होती है। जो मनुष्य द्वारकामें अन्नदान करता है, उसके दानजनित उत्तम फलका वर्णन करनेमें ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी समर्थ नहीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज तथा स्त्री जो भी द्वारकामें भक्तिपूर्वक निवास करते हैं, वे विष्णुलोकमें प्रतिष्ठित होते हैं। द्वारकावासीका दर्शन और स्पर्श करके भी मनुष्य बड़े-बड़े पापोंसे मुक्त हो स्वर्गलोकमें निवास करते हैं। द्वारकाका माहात्म्य सबसे श्रेष्ठ है। वहाँकी पवित्र धूलि भी पापियोंको मोक्ष देनेवाली है।

विप्रवरो! जिस दिन बृहस्पति सिंह राशिपर आते हैं, उस तिथिको द्वारकामें कुशावर्तसे लेकर गोमती-समुद्र संगमतक कहीं भी गोमतीमें किया हुआ स्नान बारह गोदावरी स्नानके समान फल देनेवाला है। जो दूसरेको भी द्वारका भेजता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। 'द्वारका जाओ, द्वारका जाओ' ऐसा कहकर जो वहाँ जानेके लिये प्रेरणा करता है, उसके दर्शनसे ही मनुष्य पापमुक्त हो जाते हैं। जो मनुष्य द्वारकाकी ओर मुँह करके 'द्वारका, द्वारका' का कीर्तन करता है, वह भगवान् कृष्णकी कृपासे निश्चय ही मोक्षका भागी होता है। द्वारका, पुण्यमयी गोमती, रुक्मिणीदेवी तथा भगवान् श्रीकृष्णका जो लोग प्रतिदिन स्मरण करते हैं, वे द्वारकाके पुण्य-फलके भागी होते हैं। जो सहस्रों योजन दूर रहकर भी अपनी बुद्धिमें ऐसे विचार लाता है कि 'मैं द्वारका जाऊँगा और द्वारकानाथजीका दर्शन करूँगा' उसका मुँह देखनेसे महापातकी मनुष्य भी मुक्त हो जाते हैं। समस्त लोकोंको पवित्र करनेवाले श्रीकृष्णभक्त धन्य हैं, समस्त लोकोंके लिये वन्दनीय हैं। भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनसे जो पुण्य होता है, उसका वर्णन सर्वज्ञ विद्वान् तथा शेषनाग भी नहीं कर सकते। श्रीकृष्ण-दर्शनके पुण्यफलका कभी अन्त नहीं होता। इस लोकमें जो बड़े-बड़े पापी हैं, वे भी द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करके सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। जिन भगवान् श्रीकृष्णके सामीप्यसे गोमतीका जड जल भी ब्रह्मविद्यासे स्पर्धा रखता है, स्नानमात्रसे ही बड़े-बड़े पापोंको भस्म कर डालता है, जिनके क्षेत्रकी चक्रचिह्नित शिलाएँ भी सबको मोक्ष देनेवाली हैं, मगध आदि देशोंमें भी पूजित होनेपर जहाँकी चक्रचिह्नित शिलाएँ मुक्ति देती हैं, जिनके क्षेत्रकी पवित्र धूलि सब पापियोंको मोक्ष देनेमें समर्थ है तथा जिनके क्षेत्रमें जानेके लिये विचार करना भी पातकोंका नाश कर देता है; उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी पुरी द्वारकाके दर्शनसे पाप नष्ट होता है; ऐसा कहनेसे उनकी क्या स्तुति होती है। द्वारका जाते हुए जो मनुष्य श्रीकृष्ण-दर्शनकी महिमाका वर्णन करता है, उसके पुण्यकी संख्या बताना शेषनाग-जैसे विद्वानोंके लिये भी असम्भव है। जहाँ श्रीकृष्ण-दर्शनकी महिमा बतानेसे भी पाप नष्ट हो जाता है, वहाँ साक्षात् श्रीकृष्णके दर्शनसे कितना पुण्य होता है—इसकी गणना कौन करेगा। संसारमें वे मनुष्य धन्य हैं, जो हर्षोल्लासमें भरकर भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करते हैं। जब दर्शनकी ऐसी महिमा है, तब उनके स्पर्शसे तथा दुग्ध आदिके द्वारा उनके स्नान-पूजन आदि करनेसे जो पुण्य होता है, उसे कौन बता सकता है। रातके चौथे पहरमें दुग्धका स्नान उत्तम है। पूजा, आरती, नैवेद्य, ताम्बूल, नमस्कार, गीत, वाद्य और नृत्य—ये श्रीकृष्णको प्रिय हैं। जो एकादशीको भगवान् श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये गीत और नृत्य करते हैं, वे भगवान् श्रीकृष्णके प्रिय भक्त हैं। जो

भलीभाँति पूजित होनेपर श्रीकृष्णकी झाँकी करते हैं, वे महान् पुण्यको प्राप्त होते हैं। श्रीकृष्णकी महापूजा करनेवालेको अनन्त पुण्य होता है। संसारमें वे मनुष्य धन्य हैं, जो सदा श्रीकृष्णदेवका दर्शन, स्पर्श, पूजन, स्तुति और नमस्कार करते हैं। जो मनुष्य द्वारकामें काष्ट या प्रस्तरकी प्रतिमा स्थापित करता है, उसने मानो तीनों लोकोंकी स्थापना कर ली। वह भगवान् विष्णुके समान होता है और तीनों लोकोंका साम्राज्य प्राप्त करता है।

## द्वारकामें श्रीकृष्णदर्शनकी महिमा, एकादशीव्रतके भेद, चक्रचिह्नित शिलाओंकी विशेष संज्ञा तथा भयनिवारणके उपाय

**प्रह्लादजी कहते हैं**—जो मन-ही-मन द्वारका जानेकी भावना करते हैं, उनके दस हजार जन्मोंके संचित पूर्वपाप नष्ट हो जाते हैं। जिस देहधारीके मनमें श्रीकृष्णके दर्शनका विचार उत्पन्न होता है, उसका मुख देखकर पापके सैकड़ों टुकड़े हो जाते हैं। जो परम सुन्दर श्रीकृष्णपुरीकी यात्रा करके गोमती-समुद्र-संगमपर पिण्डदान करते हैं, वे अपने पितरोंका उद्धार कर देते हैं। वैशाख शुक्ला द्वादशीको जो भगवान् श्रीकृष्णके समीप जागरण करता है, वह उनके मुखारविन्दका दर्शन करके पितरोंसहित मुक्त हो जाता है। जो श्रीकृष्णकी लीलाभूमिमें जानेकी मनसे इच्छा करते हैं, उनके अस्थिगत पापको भी प्रेतराज यम धो डालते हैं। जीव जबतक कलियुगमें द्वारकापुरीका दर्शन नहीं करता, तभीतक उसके शरीरमें अत्यन्त भयंकर पाप डेरा डाले रहते हैं। जो श्रवण और द्वादशीके योगमें गोमती-समुद्र-संगममें स्नान करके श्रीकृष्णके मुखचन्द्रका दर्शन करता है, वह मानव मोक्षको प्राप्त होता है। जिस किसी भी मासकी द्वादशी तिथिको श्रीकृष्णकी लीला-नगरी द्वारकाका दर्शन करके मनुष्य संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है। कलियुगमें बिना पिण्डदान किये भी गोमतीके जलमात्रसे पितरोंकी तृप्ति हो जाती है। चक्रतीर्थका ऐसा ही प्रभाव है। जिसने द्वारकामें जाकर श्रीकृष्णके मुखारविन्दका दर्शन कर लिया है, वह न तो प्रेत होता है और न उसे नरकका कष्ट भोगना पड़ता है। जो घरमें रहकर भी प्रतिदिन कलिकालमें श्रीकृष्णपुरीका स्मरण करते हैं, उनके पाप नष्ट हो जाते हैं। महाभाग! कलिकालके समान दूसरा कोई युग नहीं है; क्योंकि उसमें भगवान् विष्णुके स्मरण और कीर्तनसे मनुष्य परमपद प्राप्त कर लेता है। जो कलियुगमें नित्यप्रति 'कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण' का उच्चारण करेगा, उसे प्रतिदिन दस हजार यज्ञों और करोड़ों तीर्थोंका पुण्य प्राप्त होगा। जो मनुष्य नित्य 'कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण' का जप करता है, कलियुगमें श्रीकृष्णके ऊपर उसका प्रेम निरन्तर बढ़ता है।*

रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती, मित्रविन्दा, कालिन्दी, भद्रा, नाग्नजिती तथा लक्ष्मणा—श्रीकृष्णकी इन आठों प्रियतमा पत्नियोंका भी वहाँ भलीभाँति पूजन करना चाहिये। जो नियम और व्रतोंसे तथा गीत, वाद्य, दीपदान तथा जागरण आदिके द्वारा उन सबकी विधिपूर्वक पूजा करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको पाता है और उसके ऊपर भगवान् विष्णु प्रसन्न होते

* नास्ति नास्ति महाभाग कलिकालसमं युगम्। स्मरणात् कीर्तनाद् विष्णोः प्राप्यते परमं पदम्॥
कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति कलौ वक्ष्यति प्रत्यहम्। नित्यं यज्ञायुतं पुण्यं तीर्थकोटिसमुद्भवम्॥
कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति नित्यं जपति यो जनः। तस्य प्रीतिः कलौ नित्यं कृष्णस्योपरि वर्द्धते॥
(स्क० पु०, द्वा० मा० ३८। ४४—४६)

हैं। जो कलिमें प्रतिदिन जागते और सोते समय 'कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण' का कीर्तन करता है, वह श्रीकृष्णस्वरूप हो जाता है।* चन्द्रमामें उष्णता नहीं होती, अग्निमें शीतलता नहीं होती तथा एकादशीको उपवास करनेवाले वैष्णव भक्तोंमें पाप नहीं होता है। जब पूरे दिन-रात एकादशी हो और दूसरे दिन द्वादशीमें भी एकादशी पड़ गयी हो तो उसको उन्मीलिनी कहते हैं। वह तिथियोंमें उत्तम तिथि मानी गयी है। जो बंजुलीके दिन-रात्रिमें जागरण करते हैं, उन्हें आधे मुहूर्तमें दस हजार यज्ञोंका पुण्य होता है। यदि सम्पूर्ण दिन-रात द्वादशी होकर दूसरे दिन त्रयोदशीमें भी द्वादशी बढ़ गयी हो तो उसे बंजुली कहते हैं। वह कलियुगमें अत्यन्त दुर्लभ है। जो उन्मीलिनीमें जागरण करते हैं, उन्हें आधे पलमें कोटि गोदानका पुण्य प्राप्त होता है। पूरे दिन-रात एकादशी होकर यदि प्रतिदिन अमावस्या या पूर्णिमातक तिथि बढ़ती रहे तो उसे पक्षवर्द्धिनी एकादशी कहते हैं। उस एकादशीको जो जागरण करते हैं, उन्हें चौथाई पलमें ही कोटि गोदानका फल मिलता है। घरमें भी एकादशी करनेवालोंके लिये यह फल बतलाया गया है; फिर जो भगवान् विष्णुके समीप व्रत और जागरण करते हैं, उनके लिये तो कहना ही क्या है? कलियुग आनेपर द्वारकामें जो इस व्रतका अनुष्ठान करते हैं, उन्हें कोटिगुना फल होता है, द्वारकामें एक चक्रसे चिह्नित शिलाकी सुदर्शन संज्ञा है। सुदर्शनशिलाका पूजन करनेपर वह मोक्षरूप फल देनेवाली होती है। जिस शिलापर दो चक्रके चिह्न हों, वह लक्ष्मीनारायणका स्वरूप है। वे लक्ष्मीनारायण भोग और मोक्ष दोनों फलोंको देनेवाले हैं। तीन चक्रसे चिह्नित शिलाका नाम अच्युत है। अच्युतजी इन्द्रपद देनेवाले हैं। चार चक्रोंसे चिह्नित शिलाको जनार्दन कहते हैं, जनार्दनजी शत्रुनाशक तथा लक्ष्मीप्रद हैं। पाँच चिह्नोंसे चिह्नित शिलाकी वासुदेव संज्ञा है। वासुदेवजी जन्म-मृत्यु और जराका नाश करनेवाले हैं। छः चिह्नोंसे युक्त शिलाखण्डको प्रद्युम्न कहते हैं। वे उपासकको धन और कान्ति देते हैं। सात चिह्नोंसे युक्त होनेपर उसकी बलदेव संज्ञा होती है। बलदेवजी गोत्र और कीर्ति बढ़ानेवाले हैं। आठ चिह्नोंसे युक्त शिलाखण्ड पुरुषोत्तम है। भगवान् पुरुषोत्तम भक्तिभावसे पूजित होनेपर मनोवांछित फल देते हैं। नौ चिह्नसे युक्त होनेपर उसे नवव्यूह कहते हैं। यह देवताओंके लिये भी दुर्लभ है। नवव्यूह भी सब कुछ दे सकते हैं। दस चिह्नोंसे युक्त शिलाखण्डोंको दशावतार संज्ञा है। उससे राज्यकी प्राप्ति होती है। एकादश चिह्नोंसे युक्त शिलाखण्ड अनिरुद्ध है, जो ऐश्वर्य प्रदान करता है। बारह चक्रोंसे युक्त शिलाको द्वादशात्मा कहते हैं। वह निर्वाण प्रदान करती है। इससे अधिक चिह्न होनेपर अनन्त संज्ञा होती है। भगवान् अनन्त भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं। श्रीकृष्णके चक्रसे चिह्नित जो कोई भी प्रस्तर वहाँ उपलब्ध होते हैं, उनके स्पर्शमात्रसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। मन, वाणी और क्रियाद्वारा किये हुए जितने भी ब्रह्महत्या आदि पाप हैं, वे सब चक्रचिह्नित शिलाके पूजनसे नष्ट हो जाते हैं। जो एक वर्षतक चक्रांकित शिलाकी पूजा, दर्शन और स्पर्श करते हैं, वे पापी रहे हों तो भी अविनाशी विष्णुमें प्रवेश करते हैं। मृत्युकाल प्राप्त होनेपर जो अपने वक्षपर चक्रचिह्नित शिला धारण करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है। गोमतीचक्रसे चिह्नित शिला यदि छातीपर रखी हुई हो तो यमराजके दूत भयके मारे समीप नहीं आते और वह मनुष्य वैकुण्ठलोकमें जाता है। भगवान् श्रीकृष्णकी बाललीलाओं,

* कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति नित्यं जाग्रत् स्वपंश्च यः। कीर्तयेत्तु कलौ चैव कृष्णरूपी भवेद्धि सः॥ (स्क० पु०, द्वा० मा० ३९। १)

गोकुलमें की हुई क्रीडाओं, गोपीजनोंके साथ की हुई क्रीडाओं तथा श्रीकृष्णावतारकी अन्य लीलाओंको भी बार-बार सुनना चाहिये। उत्कण्ठित होकर नृत्य और गान करना चाहिये तथा कमलनयन श्रीकृष्णके मुखारविन्दका बार-बार दर्शन करना चाहिये। बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान करनेसे जो फल मिलता है, उसको मनुष्य श्रीकृष्णके समीप आधे दिनमें प्राप्त कर लेता है। भगवान् श्रीकृष्णमें मन लगाकर मनुष्य जिस फलको पाता है, उसका हजारवाँ अंश भी दूसरे किसी कर्मसे नहीं पा सकता है। जो राग-द्वेषकी आगमें जल रहे हैं और अज्ञानमय विषयोंमें आसक्त हैं, ऐसे मनुष्योंको स्वस्थ करनेके लिये वैष्णवधर्म चिकित्सारूप है। कोरे तर्क और युक्तिपर टिके हुए मतवादोंकी कुदृष्टिसे अज्ञानान्धकारमें पड़कर जो लोग अन्धे हो रहे हैं, उनके लिये यह वैष्णव-शास्त्र दीपकका काम देता है। विद्वानोंको इसका सदैव मनन करना चाहिये। जहाँ श्रीहरिके समक्ष रात्रिमें जागरण किया जाता है, उसे ब्रह्मावर्तके समान ऋषिदेश और मध्यदेश जानना चाहिये। जो मानव कलियुगमें द्वारकाका माहात्म्य सुनता है या दूसरोंमें सुननेका भाव उत्पन्न करता है, उसे सौ यज्ञोंका फल मिलता है। जिसके घरमें द्वारकाकी मृत्तिका मौजूद है तथा जिसके ललाटमें गोपीचन्दनका तिलक लगा है; उसके घरको लक्ष्मीदेवी कभी नहीं छोड़ती हैं। वहाँ ग्रहों, रोगों तथा राक्षसोंकी बाधा भी नहीं होती है। पिशाच, कूष्माण्ड और प्रेत भी वहाँ उपद्रव नहीं करते हैं। उस घरमें अग्नि, चोर, शत्रु तथा सींगवाले पशुओंसे भी भय नहीं प्राप्त होता है। दैव, भूत, रोग, व्याधि तथा दरिद्रताका कष्ट भी वहाँ नहीं आता है। बिजली और उल्कापातका भी भय वहाँ नहीं रहता है।

जहाँ बंजुली द्वादशीके दिन रात्रिमें जागरण, भागवतके एक या चौथाई श्लोकका पाठ, वैष्णवशास्त्रका पठन, भगवद्भक्तका दर्शन, विष्णुकी रथयात्राका उत्सव, अश्वत्थवृक्षका दर्शन, विष्णु-भक्तका सत्कार और शालग्रामशिलाका पूजन किया जाता है, जहाँ भगवान्‌के चरणोदकका पान, नैवेद्यका भक्षण, तुलसी-पूजन, एकादशी-व्रतका अनुष्ठान, हेमन्त-ऋतुमें जलवास, ग्रीष्म-ऋतुमें त्रिस्पृशाको उपवास, धातृव्रत और अश्वत्थव्रतका पालन किया जाता है; जहाँ उन्मीलिनी, पक्षवर्द्धिनी, श्रावण (भाद्रपद)-मासकी रोहिणीयुक्त जयन्तीसंज्ञक अष्टमी, द्वादशी तथा प्रबोधिनी आदि एकादशियोंके व्रतका अनुष्ठान और रम्भाव्रत आदिका आचरण—ये सब पुण्यकर्म किये जाते हैं, वहाँ भी पूर्वोक्त भय नहीं आते हैं। जो प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक श्रीहरिके समीप भागवतशास्त्रका श्रवण या पाठ करता है, दशमीको केवल रातमें ही भोजन करता है, द्वादशीको शक्ति रहते पराये अन्नका भोजन नहीं करता, रातमें जागता है, शक्तिके अनुसार दान देता है तथा यथाशक्ति भगवान्‌की विशेष पूजा करता-कराता है तथा जो द्वादशीको गंगाकी मिट्टी या गोपीचन्दनका तिलक लगाता है, वह भी पूर्वोक्त सभी भयोंसे छुटकारा पा जाता है। भगवान् विष्णुका कथन है कि 'जो मेरा तथा रुद्र, आदित्य और यमका भक्त है, उसे मैं श्रेष्ठ भागवत मानता हूँ। जिन्हें मेरे भक्त प्रिय हैं, उनपर मैं सदैव संतुष्ट रहता हूँ। कलियुग आनेपर मैं सदा द्वारकापुरीमें वास करता हूँ। जो मुझे प्रसन्न करना चाहता है, वह कलिकालमें परम सुन्दर द्वारकापुरीमें जाकर मेरा दर्शन करे।'

# द्वारका-माहात्म्यके पाठकी महिमा, वैष्णव-सेवाका महत्त्व, नीलका निषेध, वृक्ष काटनेसे हानि, उसे लगानेका फल, आक,बिल्वपत्र, आँवला एवं तुलसी-रोपणका महत्त्व तथा द्वारका-माहात्म्यका उपसंहार

**प्रह्लादजी कहते हैं**—मनुष्य जब द्वारका जानेमें समर्थ न हो तब घरपर ही द्वारका-माहात्म्यका पाठ करे। वैष्णवभक्तोंको इस माहात्म्यको सुनावे और भक्त पुरुष इसे भक्तिभावसे सुने। विशेषतः द्वादशी तिथिको इस माहात्म्यका पाठ अवश्य करना चाहिये। ऐसा करनेसे वह घरमें रहकर भी द्वारका-सेवनका पुण्य पा लेता है। इहलोक और परलोकमें उसे मनोवांछित फलकी प्राप्ति होती है। भगवान् जनार्दन सदैव उसके योगक्षेमका निर्वाह करते हैं। वह पापरहित होता है। उसके कुलमें कोई भी नरकगामी अथवा प्रेत नहीं होता। जो भगवान् श्रीकृष्णके समीप द्वारका-माहात्म्यका पाठ करता है, श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी तथा द्वादशीका व्रत करता तथा रातमें जागता है, उसके दर्शन, कीर्तन, स्मरण तथा स्पर्शसे करोड़ों तीर्थोंका फल प्राप्त होता है। उसके स्मरणसे दस हजार जन्मोंका पाप नष्ट हो जाता है। जिसके घरमें यह भागवतशास्त्र सदा विद्यमान रहता है, उसकी इस संसारमें पुनरावृत्ति नहीं होती है। वैष्णवके प्रसन्न होनेपर भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं; अतः विष्णुकी प्रसन्नताके लिये वैष्णवको अवश्य प्रसन्न करे। जो पुण्यक्षेत्रमें नील बोता और मूली खाता है, नीली कर्म करता तथा रस बेंचता है, उसे पुण्यकी प्राप्ति नहीं होती है। वह पापका भागी होता है। सैकड़ों यज्ञोंका अनुष्ठान करके भी वह पुण्यका भागी नहीं होता है। जो मनुष्य किसी वैदिक कर्मके प्राप्त हुए बिना ही पीपलकी लकड़ी काटता है, उसे ब्रह्महत्याका पाप लगता है। मदारके वृक्षमें एक बार कुल्हाड़ी मारनेपर मनुष्य कई मन्वन्तरोंतक रौरव नरककी पीड़ा भोगता है। जो नीमका वृक्ष काटता है, वह कोढ़ी होता है। उसके किये हुए पूजन, व्रत एवं दानको भगवान् सूर्य नहीं ग्रहण करते हैं। जो अमावास्याको वनस्पतियोंका छेदन करता है, उसे द्वादशीका पुण्य नहीं मिलता और एक-एक पत्र, पुष्प तथा फलके बदलेमें ब्रह्महत्याका पाप लगता है। वह मनुष्य सात कल्पोंतक यमलोकमें निवास करता है। उसके किसी भी कार्यमें उन्नति नहीं होती है। जो मनुष्य आकका पेड़ लगाता और उसकी रक्षा करता है, वह सात कल्पोंतक भगवान् सूर्यनारायणके समीप वास करता है। एक लाख देववृक्ष लगानेसे जो फल होता है, वही एक पीपलका पेड़ लगानेसे प्राप्त हो जाता है। आँवला और तुलसी लगानेका भी ऐसा ही फल मिलता है। जो देवताओं, पितरों, मनुष्यों (सनकादिकों) तथा अतिथियोंका तर्पण एवं पूजन करते हुए वर्द्धिनी द्वादशीका व्रत करता है, वह परम पदको प्राप्त होता है। कलिकालमें प्रातःकाल उठकर द्वारकाका कीर्तन करनेसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो निश्चय ही स्वर्गलोकमें जाता है।

जो भगवान्‌के भक्तोंसे वैर रखते और एकादशी व्रत नहीं करते हैं, उन्हें यमदूत ले जाते हैं। जो वैष्णवोंको गोपीचन्दनकी मृत्तिका देते हैं, उन्हें त्रिपुण्ड्रधारी महात्मा पुरुषोंके समान पुण्यफलकी प्राप्ति होती है। जो प्रातःकाल उठकर 'द्वारके! द्वारके!' ऐसा पुकारता है, वह द्वारकानामका नित्य कीर्तन करनेसे द्वारका-वासका फल पाता है। जो श्रीनामसे अंकित

बिल्वपत्रोंद्वारा श्रीपति भगवान् विष्णुकी पूजा करता है, वह सातों द्वीपोंका स्वामी होता है। जो सदा कलिमें बिल्वपत्रोंसे देवताओंकी पूजा करते हैं, वे दस हजार अश्वमेध यज्ञोंका फल पाते हैं। पीपलके दलसे गिरे हुए जलसे देवता तथा ऋषि-मुनि पवित्र होते हैं। जो बिल्वपत्रसे ब्रह्मा, शिव तथा सूर्य आदिका पूजन करते हैं, वे अक्षय लोकोंमें जाते हैं। बिल्व-पत्रोंसे लक्ष्मी, सरस्वती, सावित्री तथा दुर्गाजीका पूजन करके मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं। बिल्वपत्रका महत्त्व तुलसीदलसे भी अधिक है, अतः सदा यत्नपूर्वक उससे श्रीहरिका पूजन करना चाहिये। जो द्वादशी तथा रविवारको बिल्ववृक्षकी पूजा करते हैं, वे सैकड़ों ब्रह्महत्याओंके पापसे भी लिप्त नहीं होते हैं। कलियुगमें श्रीकृष्णका कीर्तन करनेसे मानव बीती हुई सात पीढ़ियों और आनेवाली चौदह पीढ़ियोंके सब मनुष्योंका उद्धार कर देता है।[१]

श्रीमद्भागवतपुराणका एक-एक उत्तम श्लोक भी भगवान् श्रीकृष्णके लिये प्रीतिजनक है तथा पाठ करनेवालेको वह कोटि यज्ञोंका फल देनेवाला है। जो द्विज पूरे कार्तिकमासमें भगवान् श्रीकृष्णके सम्मुख बैठकर गीता-पाठ करते हैं, उनके सौ कोटि कल्पोंके पाप भी नष्ट हो जाते हैं।[२] कलियुगमें जो मनुष्य भक्तिभावसे गोमती-समुद्र-संगम तथा रुक्मिणीसहित श्रीकृष्णका दर्शन करते हैं, वे धन्य हैं। द्वारका जाते हुए मनुष्यकी यदि मार्गमें ही मृत्यु हो जाय तो पितरोंसहित उसकी परम धामसे पुनरावृत्ति नहीं होती है।[३] जो मनुष्य प्रतिदिन उत्तम भक्तिसे कृष्ण-कृष्णका कीर्तन करता है, वह अनायास ही सौ अश्वमेध यज्ञोंका फल पा लेता है।[४]

~~०~~

**द्वारका-माहात्म्य-खण्ड सम्पूर्ण**

~~०~~

**सं० स्कन्दपुराण सम्पूर्ण**

~~०~~

---

१- अतीतान्सप्त पुरुषान् भविष्यांश्च चतुर्दश। नरस्तारयते सर्वान् कलौ कृष्णेति कीर्तनात्॥
(स्क० पु०, द्वा० मा० ४२। ११)

२- तथा भागवतस्योक्तं पुराणं श्लोकमुत्तमम्। कृष्णस्य प्रीतिजननं यज्ञकोटिफलप्रदम्॥
तेषां विलीयते पापं कल्पकोटिशतैः कृतम्। गीतां पठन्ति कृष्णाग्रे कार्तिकं सकलं द्विजाः॥
(स्क० पु०, द्वा० मा० ४२। ३६-३७)

३- द्वारकां गच्छमानस्य विपत्तिर्भवते यदि। न तस्य पुनरावृत्तिः पितृभिः सह तत्पदात्॥
(स्क० पु०, द्वा० मा० ४५। २५)

४- कृष्ण कृष्णेति यो ब्रूयात् सद्भक्त्या प्रत्यहं नरः। हेलया सोऽश्वमेधानां शतानां लभते फलम्॥
(स्क० पु०, द्वा० मा० ४६। २७)

# गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित पुराण-साहित्य

**श्रीमद्भागवतमहापुराण, व्याख्यासहित ( कोड 26, 27 ) ग्रन्थाकार**—श्रीमद्भागवत भारतीय वाङ्मयका मुकुटमणि है। भगवान् शुकदेवद्वारा महाराज परीक्षित्को सुनाया गया भक्तिमार्गका तो मानो सोपान ही है। इसके प्रत्येक श्लोकमें श्रीकृष्ण-प्रेमकी सुगन्धि है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थरत्न मूलके साथ हिन्दी-अनुवाद, पूजन-विधि, भागवत-माहात्म्य, आरती, पाठके विभिन्न प्रयोगोंके साथ दो खण्डोंमें उपलब्ध है। पत्राकारकी तरह बेड़िया ( **कोड 1951, 1552** ) सचित्र, सजिल्द, ( **कोड 1552, 1553** ) गुजराती, ( **कोड 1678, 1735** ) सानुवाद, मराठी, ( **कोड 1739, 1740** ), कन्नड़, ( **कोड 1577, 1744** ) बँगला, ( **कोड 1966, 1967, 1968** ) तमिल, ( **कोड 1831, 1832** ) ओड़िआ, ( **कोड 1975, 1976** ) तेलुगु, ( **कोड 564, 565** ) अंग्रेजी-अनुवाद, ( **कोड 25** ) केवल हिन्दी बृहदाकार, बड़े टाइपमें, ( **कोड 1945** ) (वि० सं०) केवल हिन्दी ( **कोड 1930** ) केवल हिन्दी, ( **कोड 1608** ) केवल गुजराती, ( **कोड 29** ) मूल, मोटा टाइप, संस्कृत, ग्रन्थाकार ( **कोड 1573** ) मूल, मोटा टाइप, तेलुगु, ग्रन्थाकार ( **कोड 124** ) मूल मझला आकार, ( **कोड 1855** ) विशिष्ट सं० मूल, मझला संस्कृतमें भी।

**संक्षिप्त शिवपुराण, मोटा टाइप ( कोड 789 ) ग्रन्थाकार**—इस पुराणमें परात्पर ब्रह्म शिवके कल्याणकारी स्वरूपका तात्त्विक विवेचन, रहस्य, महिमा और उपासनाका विस्तृत वर्णन है। सचित्र, सजिल्द, विशिष्ट संस्करण ( **कोड 1468** ) हिन्दी एवं ( **कोड 1286** ) गुजरातीमें भी उपलब्ध।

**संक्षिप्त पद्मपुराण ( कोड 44 ) ग्रन्थाकार**—इस पुराणमें भगवान् विष्णुकी विस्तृत महिमाके साथ, भगवान् श्रीराम तथा श्रीकृष्णके चरित्र, विभिन्न तीर्थोंका माहात्म्य, शालग्रामका स्वरूप, तुलसी-महिमा, गीता माहात्म्य, विष्णुसहस्रनाम, उपासना-विधि तथा विभिन्न व्रतोंका सुन्दर वर्णन है। सचित्र, सजिल्द।

**संक्षिप्त मार्कण्डेयपुराण ( कोड 539 ) ग्रन्थाकार**—भगवतीकी विस्तृत महिमाका परिचय देनेवाले इस पुराणमें दुर्गासप्तशतीकी कथा एवं माहात्म्य, हरिश्चन्द्रकी कथा, मदालसा-चरित्र, अत्रि-अनसूयाकी कथा, दत्तात्रेय-चरित्र आदि अनेक सुन्दर कथाओंका विस्तृत वर्णन है। सचित्र, सजिल्द।

**श्रीविष्णुपुराण, अनुवादसहित ( कोड 48 ) ग्रन्थाकार**—इसके प्रतिपाद्य भगवान् विष्णु हैं, जो सृष्टिके आदिकारण, नित्य, अक्षय, अव्यय तथा एकरस हैं। इसमें आकाश आदि भूतोंका परिमाण, समुद्र, सूर्य आदिका परिमाण, पर्वत, देवतादिकी उत्पत्ति, मन्वन्तर, कल्प-विभाग, सम्पूर्ण धर्म एवं देवर्षि तथा राजर्षियोंके चरित्रका विशद वर्णन है। सचित्र, सजिल्द ( **कोड 1364** ) केवल हिन्दी अनुवादमें भी उपलब्ध।

**संक्षिप्त नारदपुराण ( कोड 1183 ) ग्रन्थाकार**—इसमें सदाचार-महिमा, वर्णाश्रम धर्म, भक्ति तथा भक्तके लक्षण, देवपूजन, तीर्थ-माहात्म्य, दान-धर्मके माहात्म्य और भगवान् विष्णुकी महिमाके साथ अनेक भक्तिपरक उपाख्यानोंका विस्तृत वर्णन किया गया है। सचित्र, सजिल्द।

**संक्षिप्त स्कन्दपुराण ( कोड 279 ) ग्रन्थाकार**—यह पुराण कलेवरकी दृष्टिसे सबसे बड़ा है तथा इसमें लौकिक और पारलौकिक ज्ञानके अनन्त उपदेश भरे हैं। इसमें भगवान् शिवकी महिमा, सती-चरित्र, शिव-पार्वती-विवाह, कार्तिकेय-जन्म, तारकासुर-वध एवं धर्म, सदाचार, योग, ज्ञान तथा भक्तिके सुन्दर विवेचनके साथ-साथ अनेक साधु-महात्माओंके सुन्दर चरित्र पिरोये गये हैं। सचित्र, सजिल्द।

**संक्षिप्त ब्रह्मपुराण ( कोड 1111 ) ग्रन्थाकार**—इस पुराणमें सृष्टिकी उत्पत्ति, पृथुका पावन चरित्र, सूर्य एवं चन्द्रवंशका वर्णन, श्रीकृष्णचरित्र, कल्पान्तजीवी मार्कण्डेय मुनिका चरित्र, तीर्थोंका माहात्म्य एवं अनेक भक्तिपरक आख्यानोंकी सुन्दर चर्चा की गयी है। सचित्र, सजिल्द।

**संक्षिप्त गरुडपुराण—( कोड 1189 ) ग्रन्थाकार**—इस पुराणके अधिष्ठातृ देव भगवान् विष्णु हैं। इसमें ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, सदाचार, निष्काम कर्मकी महिमाके साथ यज्ञ, दान, तप, तीर्थ आदि शुभ कर्मोंमें सर्व-साधारणको प्रवृत्त करनेके लिये अनेक लौकिक एवं पारलौकिक फलोंका वर्णन किया गया है। सचित्र, सजिल्द।

**संक्षिप्त भविष्यपुराण—( कोड 584 ) ग्रन्थाकार**—यह पुराण विषय-वस्तु एवं वर्णन-शैलीकी दृष्टिसे अत्यन्त उच्च कोटिका है। इसमें धर्म, सदाचार, नीति, उपदेश, अनेक आख्यान, व्रत, तीर्थ, दान, ज्योतिष एवं आयुर्वेदशास्त्रके विषयोंका अद्भुत संग्रह है। वेताल-विक्रम-संवादके रूपमें कथा-प्रबन्ध इसमें अत्यन्त रमणीय है। इसके अतिरिक्त इसमें नित्यकर्म, सामुद्रिक शास्त्र, शान्ति तथा पौष्टिक कर्मका भी वर्णन है। सचित्र, सजिल्द।

**संक्षिप्त श्रीवराहपुराण ( कोड 1361 ) ग्रन्थाकार**—इस पुराणमें भगवान् श्रीहरिके वराह-अवतारकी मुख्य कथाके साथ-साथ अनेक तीर्थ, व्रत, यज्ञ, दान आदिका विस्तृत वर्णन किया गया है। सचित्र, सजिल्द।

**संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्तपुराण ( कोड 631 ) ग्रन्थाकार**—इस पुराणमें चार खण्ड हैं—ब्रह्मखण्ड, प्रकृतिखण्ड, श्रीकृष्णजन्मखण्ड और गणेशखण्ड। इसमें भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंका विस्तृत वर्णन, अनेक रोचक एवं रहस्यमयी कथाएँ, श्रीराधाकी गोलोक-लीला तथा अवतार-लीलाका सुन्दर विवेचन किया गया है। सचित्र, सजिल्द।

**वामनपुराण, अनुवादसहित ( कोड 1432 ) ग्रन्थाकार**—यह पुराण मुख्यरूपसे त्रिविक्रम भगवान् विष्णुके दिव्य माहात्म्यका व्याख्याता है। इसमें भगवान् वामन, नर-नारायण, भगवती दुर्गाके उत्तम चरित्रके साथ-साथ भक्त प्रह्लाद तथा श्रीदामा आदि भक्तोंके बड़े रम्य आख्यान हैं। सचित्र, सजिल्द।

**अग्निपुराण, केवल हिन्दी-अनुवाद ( कोड 1362 ) ग्रन्थाकार**—इसमें परा-अपरा विद्याओंका वर्णन, महाभारतके सभी पर्वोंकी संक्षिप्त कथा, रामायणकी संक्षिप्त कथा, मत्स्य, कूर्म आदि अवतारोंकी कथाएँ, वास्तु-पूजा, विभिन्न देवताओंके मन्त्र आदि अनेक उपयोगी विषयोंका अत्यन्त सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। सचित्र, सजिल्द।

**मत्स्यमहापुराण, अनुवादसहित ( कोड 557 )**—यह पुराण मत्स्यावतारके रूपमें भगवान् विष्णुकी लीलाओंका सुन्दर परिचायक है। इसमें मत्स्यावतारकी कथा, सृष्टि-वर्णन, मन्वन्तर तथा पितृवंश-वर्णन, ययाति-चरित्र, राजनीति, यात्राकाल, स्वप्नशास्त्र, शकुन-शास्त्र आदि अनेक विषयोंका सरल वर्णन किया गया है। सचित्र, सजिल्द।

**कूर्मपुराण, अनुवादसहित ( कोड 1131 )**—इस पुराणमें भगवान्के कूर्मावतारकी कथाके साथ-साथ सृष्टि वर्णन, वर्ण, आश्रम और उनके कर्तव्यका वर्णन, युगधर्म, मोक्षके साधन, तीर्थ-माहात्म्य, २८ व्यासोंकी कथाएँ, ईश्वर-गीता, व्यास-गीता आदि विविध विषयोंका अत्यन्त सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। विभिन्न दृष्टियोंसे इस पुराणका पठन-पाठन सबके लिये कल्याणकारी है। सचित्र, सजिल्द।

**संक्षिप्त श्रीमद्देवीभागवत-मोटा टाइप ( कोड 1133 ) ग्रन्थाकार**—यह पुराण परम पवित्र वेदकी प्रसिद्ध श्रुतियोंके अर्थसे अनुमोदित, अखिल शास्त्रोंके रहस्यका स्रोत तथा आगमोंमें अपना प्रसिद्ध स्थान रखता है। यह सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, वंशानुकीर्ति, मन्वन्तर आदि पाँचों लक्षणोंसे पूर्ण है। पराम्बा भगवतीके पवित्र आख्यानोंसे युक्त इस पुराणका पठन-पाठन तथा अनुष्ठान भक्तोंके त्रितापोंका शमन करनेवाला तथा सिद्धियोंका प्रदाता है। सचित्र, सजिल्द ( कोड 1897, 1898 ) अनुवादसहित ( कोड 1326 ) गुजराती।

**नरसिंहपुराण, अनुवादसहित ( कोड 1113 ) ग्रन्थाकार**—इस पुराणमें दशावतारकी कथाएँ एवं सात काण्डोंमें भगवान् श्रीरामके पावन चरित्रके साथ-साथ सदाचार, राजनीति, वर्णधर्म, आश्रम-धर्म, योग-साधना आदिका सुन्दर विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें भगवान् नरसिंहकी विस्तृत महिमा, अनेक कल्याणप्रद उपाख्यानोंका वर्णन, भौगोलिक वर्णन, सूर्य-चन्द्रादिसे उत्पन्न राजवंशोंका वर्णन तथा अनेक स्तुतियोंका उल्लेख है। सचित्र, सजिल्द।

**महाभारत-खिलभाग हरिवंशपुराण, अनुवादसहित ( कोड 38 ) ग्रन्थाकार**— हरिवंशपुराण वेदार्थ-प्रकाशक महाभारत ग्रन्थका अन्तिम पर्व है। पुत्र-प्राप्तिकी कामनासे हरिवंशपुराणके श्रवणकी परम्परा भारतवर्षमें चिरकालसे प्रचलित है। भगवान् श्रीकृष्णसे सम्बन्धित अगणित कथाएँ इसमें ऐसी हैं, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। धार्मिक जन-सामान्यके कल्याणार्थ इसके अन्तमें सन्तानगोपाल-मन्त्र, अनुष्ठान-विधि, सन्तान-गोपाल-यन्त्र तथा संतान-गोपालस्तोत्र भी संगृहीत हैं। सचित्र, सजिल्द। ( कोड 1589 ) केवल हिन्दीमें भी।

**महाभागवत [ देवीपुराण ], अनुवादसहित ( कोड 1610 ) ग्रन्थाकार**—इस पुराणमें मुख्य रूपसे भगवती महाशक्तिके माहात्म्य एवं उनके विभिन्न चरित्रोंका विस्तृत वर्णन है। इसमें मूल प्रकृति भगवतीके गङ्गा, पार्वती, लक्ष्मी, सरस्वती, तुलसी आदि रूपोंमें विवर्तित होनेके मनोरम आख्यान हैं। सचित्र, सजिल्द।

**लिङ्गमहापुराण, अनुवादसहित ( कोड 1985 )** संस्कृत श्लोक एवं हिन्दी टीका—यह पुराण भगवान् शिवकी उपासना एवं महिमाका विस्तृत परिचायक है। इसमें शैवदर्शन, पाशुपतयोग, लिङ्ग-स्वरूप, लिङ्ग-माहात्म्य, लिङ्गार्चन एवं योगाचार्यों तथा शिव भक्तोंकी कथाओंका सरस वर्णन है। सचित्र, सजिल्द।

*Hariḥ Om*

# ŚRĪMAD
# BHĀGAVATA
# MAHĀPURĀṆAM

*of Maharṣi Vedavyāsa*

## VOL. I
## SKANDHA - I

***With the Commentaries :***

Bhāvārthadīpikā of Sri Sridharaswami, Bhāgavatachandrachandrikā of Sri Vira Raghavacharya, Padaratnāvalī of Sri Vijayadhvaja Tirtha and Sudhīsudhā of Sri Radhakrishna.


***Edited by***

*Dr. P. Radhakrishna Sarma,*

Director, S. V. Central Library & Research Centre,

T. T. Devasthanams, Tirupati.



***Published by***

***Sri Ch. Venkatapathy Raju,*** I.A.S.,

Executive Officer,

Tirumala Tirupati Devasthanams,

**TIRUPATI.**

**1989**

ŚRĪMAD BHĀGAVATAMAHĀPURĀṆAM — SKANDHA-I

*Edited by*
Dr. P. Radhakrishna Sarma

T. T. D. Religious Publications Series No.

Price : Rs.

Copies : 2,000

*Published by*
Sri Ch. Venkatapathy Raju, I.A.S.,
*Executive Officer,*
T. T. Devasthanams,
Tirupati.

*Printed at*
Tirumala Tirupati Devasthanams Press,
Tirupati .. 517 507

ॐ नमो वेङ्कटेशाय

श्रीवेदव्यासमहर्षिप्रणीतम्

# श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

## (प्रथमः स्कन्धः)

श्री श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका, श्री वीरराघवनिर्मिता
श्री भागवतचन्द्रचन्द्रिका, श्री विजयध्वजविलिखिता पदरत्नावली,
श्री राधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा चेति चतुर्भिः व्याख्यानैः भूषितम्

डा० पन्नाल राधाकृष्णशर्मणा
परिष्कृतम्

तिरुमल तिरुपति देवस्थान निर्वहणाधिकृतैः
श्री सि. एच. वेङ्कटपति राजु ऐ. ए. एस्. नामधेयैः
प्रकाशितम्
१९८९

हरिः ओम्

लोकोद्धारैकदीक्षापर निगममहाहर्म्य धर्म्यप्रदीपः
स्वाङ्घ्रिद्वन्द्वप्रपन्नाखिलदुरितमोध्वंसि पुण्यप्रदीपः ।
दिक्दृष्टेभ्यो नरेभ्यः प्रकटितसरणिः स्नेहदीप्रः प्रदीपः
युष्मानस्मान्समस्ता नवतु वृषगिरिस्थास्तु मङ्गल्यदीपः ॥

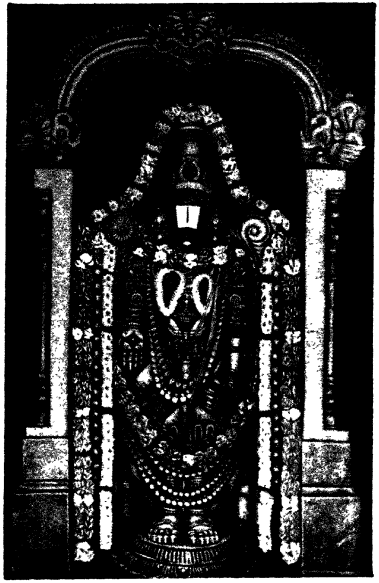

श्रीमद्भागवतं पुराण मखिलाम्नायैकसारः क्व वा ?
प्रज्ञादुर्विधकिम्पचानधिषणाः शैक्षाः क्व वा मादृशाः ?
भक्त्या चापलत स्तथाऽपि च परिष्कर्तुं वयं व्यापृताः,
एतत् प्राभृतयाम वेङ्कटपतेः पादाब्जयोः, स्वीक्रियात् ॥

## THE CRITICAL EDITION OF ŚRĪMADBHĀGAVATA

### The Editorial Board


**Ex-Officio Chairman**

Sri S. Lakshminarayana, I.A.S.,
Executive Officer,
T.T. Devasthanams, Tirupati.

**Members**

Kulapati Dr. E. Krishnamacharya,
Founder, The World Teachers' Trust,
Visakhapatnam, A.P.

Dr. S.B. Raghunathacharya,
Reader in Sanskrit,
Sri Venkateswara University,
Tirupati.

Dr. P. Sree Ramachandrudu,
Reader in Sanskrit,
Osmania University,
Hyderabad, A.P.

Dr. M.D. Balasubrahmanyam,
Ex-Principal,
Kendriya Samskrita Vidyapith,
Tirupati.

Dr. M. Narasimhacharya,
Professor in Vaishnavism,
University of Madras, Madras.

Dr. P. Sree Ramamurthy,
Professor in Sanskrit,
The Andhra University,
Waltair, A.P.

Dr. N.S. Ramanuja Tatacharya,
Professor,
Kendriya Samskrita Vidyapith,
Tirupati.

Dr. D. Arkasomayaji,
Project Officer for Creative Works,
H.D.R.S., T.T. Devasthanams,
Tirupati.

**Convener and Ex-Officio Member**

Dr. P. Radhakrishna Sarma,
Director, S.V. Central Library and Research Centre,
T.T. Devasthanams, Tirupati.

# CONTENTS


| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 1. | Introduction (English) | .. | .. | I |
| 2. | Introduction (Sanskrit) | .. | .. | XVII |
| 3. | List of Abbreviations (Editions) | .. | .. | XXXI |
| 4. | List of Abbreviations (Commentaries) | .. | .. | XXXII |
| 5. | List of Abbreviations (Texts cited) | .. | .. | XXXII |
| 6. | List of each Canto (Māhātmya and Ṣkandha I) | | .. | XXXIV |
| 7. | Contents of the Text- Skandha I (in Slokas) | | .. | XXXV |
| 8. | Process of Reciting Sri Bhagavata | .. | .. | XXXVI |
| 9. | Srimad Bhāgavata Mahatmya (Skānda Purana) | | .. | XXXVII |
| 10. | Srimad Bhagavata Māhatmya (Pādma Purana) | | .. | XXXVIII |


## TEXT


| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 11. | Canto I | .. | .. | 1 |
| 12. | Canto II | .. | .. | 52 |
| 13. | Canto III | .. | .. | 87 |
| 14. | Canto IV | .. | .. | 122 |
| 15. | Canto V | .. | .. | 146 |
| 16. | Canto VI | .. | .. | 184 |
| 17. | Canto VII | .. | .. | 210 |
| 18. | Canto VIII | .. | .. | 243 |
| 19. | Canto IX | .. | .. | 277 |
| 20. | Canto X | .. | .. | 308 |
| 21. | Canto XI | .. | .. | 331 |
| 22. | Canto XII | .. | .. | 353 |
| 23. | Canto XIII | .. | .. | 371 |
| 24. | Canto XIV | .. | .. | 407 |
| 25. | Canto XV | .. | .. | 428 |
| 26. | Canto XVI | .. | .. | 461 |
| 27. | Canto XVII | .. | .. | 483 |
| 28. | Canto XVIII | .. | .. | 508 |
| 29. | Canto XIX | .. | .. | 539 |
| 30. | Appendix I | (Quarter verse Index) .. | .. | 1 |
| 31. | Appendix II | (Additional Quarter verse Index) | .. | 58 |
| 32. | Appendix III | (Citations Index) .. | .. | 60 |

# FOREWORD

Srimad Bhagavatam has a unique place among the Hindu puranas because of the popular appeal of pure Bhakthi which is its dominant theme.

In the Bhagavatham, written in the ancient Sanskrit Language, one can find practically, everything which, in one way or the other goes to contribute to the structure of a huge philosophic and contemplative edifice. Besides being an ancient work of ornate poetry, Srimad Bhagavatam like a prism reflects the varied facets of Indian culture.

The Bhagavatam has been aptly described as the spiritual butter churned out of the ocean of the Veda Milk for the benefit of those 'who are pure in heart, free from malice and envy, and are keen to hear it'. Dry philosophy seldom appeals to the human mind. But in the Bhagavatam even the most abstruse philosophic truths are put across by means of stories and legends. This is the secret of its popularity among all classes of people.

Vedavyasa, the composer of this encyclopaedia of Bhakthi doctrine, who could not have peace of mind even after composing Mahabharatam, was advised by Narada, a celestial sage, to compose this Purana describing deeds of Lord Sri Krishna to get rid of mental depression. This reveals the greatness of Srimad Bhagavatam which occupied a place on a par with Vedas, the sacred scriptures.

All-out efforts are being made by the T.T. Devasthanams to foster and encourage the Hindu Dharma and Culture in India and abroad. With this objective in view, the T.T. Devasthanams has taken steps to accelerate its publication activities during the last few years. The Publications Department has already brought out a number of standard works on the Agamas, Indian Philosophy, Art and Architecture. They include highly philosophical works and commentaries on religious texts.

The T.T. Devasthanams has undertaken the publication of a critical edition of the sacred scripture 'Srimad Bhagavatam' in Sanskrit with Trimata commentaries. This superb edition with commentaries on the whole of the Bhagavatam is a master-piece in the field of the scriptural literature in India.

To our knowledge, there is no edition or exposition of this type on the Bhagavatam brought out hitherto. We hope, the first volume of this much awaited book now being released will be well received by the readers.

Dr. P. Radhakrishna Sarma, Editor and his colleagues deserve congratulations for the interest they have evinced in bringing out this volume in a befitting manner.

Tirupati
October 6, 1988.

**Ch. Venkatapathi Raju**
Executive Officer
T.T. Devasthanams.

# TIRUMALA TIRUPATI DEVASTHANAMS
# TRUST BOARD


**CHAIRMAN**

Sri D. Seetharamaiah, B.Com., FCA.,

**MEMBERS**

Dr. J. Bapu Reddy, I.A.S.,
Commissioner,
Endowments Department, A.P.
Sri Ch. Venkatapathi Raju, I.A.S.,
Executive Officer,
T.T. Devasthanams, Tirupati.
Sri C. Ananda Rao, M.L.A.,
Sri I.L.N. Sastry, B.Com., B.L., CAIIB.,
Dr. N. Devanathan, Ph.D.,
Sri L.V. Ramaiah,
Sri B. Ramachandra Raju,
Sri S.R. Lakshminarayana,
Sri C. Prabhakara Reddy, M.L.A.,
Sri U. Krishna Rao, M.L.A.,
Sri G. Nagi Reddy, M.L.A.,
Smt. V. Saroja, B.A., M.L.A.,

# INTRODUCTION

The advent of the critical editions of the Mahābhārata and the Vālmīki Rāmāyaṇa published by the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, and the Baroda Oriental Research Institute, Baroda, respectively has inspired Sanskrit Scholars to take up similar projects. The idea of a critical edition of the Śrīmad Bhāgavata which occupies a unique place among the Purāṇas and which has been commented upon by various scholars of different schools of thought such as the Advaita, Viśiṣṭādvaita and Dvaita has gripped on to my mind in the recent past.

The Matrusri Vidya Parishat, the Managing Committee of Matrusri Oriental College, of which I was the founder Principal, though appreciative of my ideas could not give me a helping hand for want of sufficient funds. As such my wish to undertake a critical edition of the Śrīmad Bhāgavata remained only a day dream for a few years.

During one of my visits to Tirupati towards the end of 1979, I casually mentioned about the necessity of bringing out a critical edition of the Śrīmad Bhāgavata to Sri P. V. R. K. Prasad, *I A S*, the then Executive Officer of T. T. Devasthanams and requested him that this project might be taken up by the T. T. D. Management which is the only competent institution from the point of finances, Hindu culture and religion. Sri Prasad immediately advised me to prepare and submit a project report. But owing to my preoccupations I could not immediately act in this direction. After a few months, I consulted Prof. P. Sriramamurti of the Sanskrit Department of Andhra University and Kulapati Dr. E. Krishnamacharya, the founder of the World Teacher Trust, Visakhapatnam and with their valuable advice and co-operation I prepared the project report and placed it before Sri Prasad on 17-10-1980. He, taking cognizance of the importance of the scheme, placed it before the Management Committee which approved of it in toto. It was also decided in the same meeting that I should be the Director of the project and it was conveyed to me in the month of April, 1981.

I placed the offer of T. T. D. before the Matrusri Vidya Parishat, Jillellamudi, Guntur District with a request to depute me to T. T. D. for organising this project. The Parishat graciously accorded permission to me with their blessings and I joined the service of T. T. D. on 3-7-1981. I am very grateful to the Holy Mother of Jillellamudi and the members of the Matrusri Vidya Parishat.

Then an Editorial Board was constituted with the Executive Officer and project Director as Ex-Officio Chairman and Convener of the project respectively. The Editorial Board met on 18-9-1981 and suggested to the project Director to visit the famous Oriental Research Institutes at different places which have successfully completed similar projects, to study the technique of a critical edition. Accordingly, I, along with Sri M. Ramakrishna Sastri, now the Controller of Publications, T. T. D. visited Bombay and Ahmedabad.

At Ahmedabad we learnt that the B. J. Institute of Learning and Research had already embarked on a similar project of critical edition of the Śrīmadbhāgavata some 15 years ago and so far they finished the collation of the Bhāgavata manuscripts in Devanagari that were available in North India. They were yet to collate manuscripts in south Indian Scripts. The Progress of the project had been at slow pace for various reasons.

Immediately after returning we discussed all this with the members of the Editorial Board. During discussions, the members suggested that the Bhāgavata be published with the commentaries of the three important schools of Vedanta *viz.* the Advaita, Viśiṣṭādvaita and Dvaita. Therefore, it was decided that the text of the Śrīmad Bhāgavata, along with the commentaries of Śrīdhara, Vīrarāghava and Vijayadhvaja, should be carefully edited.

Sri M. Ramakrishna Sastri was requested to study the manuscripts of the Śrīmadbhāgavata available in the S. V. Oriental Research Institute, Tirupati and in the Adyar Library and Research Centre, Madras. His study of some select manuscripts in Telugu, Grantha, Nandinagari etc., at the above places has revealed that the texts on hand are quite upto the mark when compared with the manuscripts at the above places. Hence we thought that we need not collate our texts with those available at the places mentioned above. This procedure will substantially reduce the period of critically editing the text, and will provide an opportunity, for editing the said three Sanskrit Commentaries and bringing out this edition in a short time for the convenience of the Sanskrit reading public in general and the scholars in particular as even a bare text of the Śrīmad Bhāgavata has become rare. And as proposed in the original Project Report, my lucid commentary in Sanskrit namely Sudhīsudhā is added here.

## ŚRĪMAD BHĀGAVATA AND ITS PLACE

"The importance of the Bhāgavata will be easily realised if the following points are remembered :

1. Almost the whole of Vaiṣṇava population of India look on it as their main scripture on a par with the Upaniṣads and the Gīta.

2. It has been taken up by the founders or representative teachers of all sects even outside the Vaiṣṇava fold for learned commentaries, just like the Gīta and the Upaniṣads in order to prove its support to their respective teachings.

3. Although there are eighteen Purāṇas the Bhāgavata has outmoded all the others and has become the one work of this class studied reverently and interpreted and worshipped by devotees all over India.

4. Apart from its superb poetry and the very wide range of its devotional teachings, the reason for its forceful and ever expanding appeal lies in its elaborate exposition of the life and message of Śrī Kṛṣṇa."

"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" is an ordinance issued by Vedavyāsa, which emphasises that the purport of the Veda, the first and foremost record of human thoughts, religious as well as metaphysical, should be substantiated by the Itihāsas and the Purāṇas. Of these two categories the Purāṇa is considered more important as the saying goes "that, which cannot be found either in the Veda or the Smṛti, can be found in the Purāṇa." Again, among the Purāṇas the Bhāgavatapurāṇa is considered to be the best. It was composed, unlike other Purāṇas, by Vedavyāsa himself. Even after composing the Mahābhārata, a text of encyclopaedic type, Vyāsa did not have peace of mind. Then Nārada advised him to compose this Purāṇa, replete with Kṛṣṇa-bhakti to ward off his mental agony and unrest.

According to the orthodox opinion the Bhāgavata contains eighteen thousand verses, but the actual counting reveals that this contains fourteen thousand and odd passages, including prose passages. The reason for this difference lies in calculating the long prose passage as one. But the counting of prose passage is to be done as per the old practice, that thirty two letters are to be reckoned as one grantha or śloka. So the long prose passages have to be counted as many ślokas as the number of letters allow and even the colophons are to be counted. Thus this calculation shows that the Bhāgavata contains eighteen thousand verses. The Bhāgavata now taken up for publication belongs to the category of Hindu Religious literature called the Purāṇas.

## DERIVATION OF THE WORD PURĀṆA

The word Purāṇa is derived in different ways — 1. पुरा भवं पुराणम्। पुराण is one, which originated in the grand old days.

2. पुरापि नवं पुराणम् — though it belonged to remote past, it looks new on account of ever-fresh value of its subject matter.

3. The word पुरा means, both past and future. पुरा आगतानागतौ अणति कथयति इति पुराणम्। (the root of the verb अणति is अण शब्दे) The Purāṇa tells us about the past and future alike.

4. The Vāyupurāṇa defines thus — since the text tells about the past events, it is called Purāṇa and he, who knows this etymology, will be liberated from the sins and so on.

## ORIGIN OF THE PURĀṆA

Though the Purāṇas have begun to take the present shape only from the 5th or 6th century B. C. the nucleus from which the present developed shape is formed, was as old as Vedasaṁhitas. The Purāṇa is found mentioned in Atharvaveda (11-7-24) for the first time where it is said that the Purāṇa originated in the यज्ञोच्छिष्ट (sacrificial residue) along with the Ṛks, Sāmans and Chandas. Again the Purāṇa is mentioned in the Śatapatha Brāhmaṇa and Gopatha Brāhmaṇa. The Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad states—

"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसित मेतत् यदृग्वेदो यजुर्वेद स्सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि।" etc. (बृह. उ. 2-4-10), in other words all the Vedas, Purāṇas *et cetera* have arisen from the breath of Paramātman.

In all the above references the word Purāṇa is used in singular number. So it can be inferred that the Purāṇa was a branch of Vedic learning and not diversified specific religious text as it stands now. Recital of Purāṇas was a part and parcel of the sacrifice as the Purāṇas were supposed to be the encyclopaedias of old traditional lore. The recital was done at the intervals of long protracted sacrifices such as Aśvamedha, Rājasūya and the like. As time passed on the Purāṇas were assigned the secondary place, since it was held that the purāṇapāṭha was not an integral part of sacrificial rites. Sage Vedavyāsa who is just famous for the codification of all the Vedas, systematically codified all the Purāṇas also bifurcating this literary part from the Vedas. The Sūtas who were reciting them in their turn elaborated the Purāṇas catering for the needs and taste of the people of the changing society from age to age. The Vedas, being systematically codified by the keen and meticulous care of Vedavyāsa, remained unaltered for ever, whereas the Purāṇas had undergone periodical changes and grew into a special vast body of Indological know-how. The changes in the nature of Purāṇas were going on, it was believed, from the fifth or sixth century B. C. till the 12th century A. D. As the Āpastambadharmasūtras (600-300 B. C.) cite a passage from the Bhaviṣyapurāṇa, it can be guessed that the Purāṇa might have become a recognisable, specialised literary composition, by that time.

When the Purāṇas grew unwieldy, they were divided into two groups as Mahāpurāṇas and the Upapurāṇas. The Mahāpurāṇas are eighteen in number. They are— (1) the Brāhma (2) Pādma (3) Viṣṇu (4) Vāyu (5) Bhāgavata (6) Nāradīya (7) Mārkandeya (8) Vārāha (9) Agni (10) Bhaviṣya (11)Brahmavaivarta (12) Liṅga (13) Skānda (14) Vāmana (15) Kūrma (16) Mātsya (17) Gāruḍa and (18) Brahmāṇḍa. The above order does not signify any importance or preference. The number eighteen stood fixed by the 7th century A. D. The number eighteen was considered to be a sacred one. In this connection the attention of the readers is invited to the following fact — the number of parvas in the Mahābhārata, the Vidyāsthānas, the Dvīpas and the adhyāyas of the Bhagavadgīta, is only eighteen. As such they have restricted the number of the Purāṇas to eighteen. But the composition of the Purāṇas did not stop there. The Purāṇas grew in number by leaps and bounds. They were not given serial number as nineteen, twenty and so on. But they were called the Upapurāṇas or subsidiary ones. Another group of Purāṇas also, eighteen in number arose owing to the advent of new ideas, diverse sects, novel subjects and the like. The number did not stop even here. The Purāṇas multiplied till they reached the number thirty four.

The south Indians call the Brahmavaivartapurāṇa as the Brahmakaivarta. Though the Vāyupurāṇa is listed among the Mahāpurāṇas the Śaivapurāṇa which has a claim to be listed is not included. But the Śaivapurāṇa is not different from the Vāyu Purāṇa, as Matsyapurāṇa observes :

"यत्र तद्वायवीयं स्यात् रुद्रमाहात्म्यसंयुतम्।
चतुर्विंशत्सहस्राणि पुराणं शैव मुच्यते॥"

From the above reference, it is evident that, the Vāyupurāṇa described the glory of Śiva in twenty four thousand verses is justly called Śaivapurāṇa. The Bhāgavatapurāṇa in its thirteenth canto of twelfth Skandha enumerates the ślokas of each Purāṇa as following :

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | Brāhma | 10,000 | verses |
| 2. | Pādma | 55,000 | verses |
| 3. | Vaiṣṇava | 23,000 | verses |
| 4. | Śaiva | 24,000 | verses |
| 5. | Bhāgavata | 18,000 | verses |
| 6. | Nāradīya | 25,000 | verses |
| 7. | Mārkaṇḍeya | 9,000 | verses |
| 8. | Āgneya | 15,400 | verses |
| 9. | Bhaviṣya | 14,500 | verses |
| 10. | Brahmavaivarta | 18,000 | verses |
| 11. | Liṅga | 11,000 | verses |
| 12. | Vārāha | 24,000 | verses |
| 13. | Skānda | 81,100 | verses |
| 14. | Vāmana | 10,000 | verses |
| 15. | Kaurma | 17,000 | verses |
| 16. | Mātsya | 14,000 | verses |
| 17. | Gāruḍa | 19,000 | verses |
| 18. | Brahmāṇḍa | 12,000 | verses |
| | | 4,00,000 | |

According to the Padmapurāṇa these Purāṇas are diveded into three categories, namely (1) The Sāttvika (2) Rājasa and (3) Tāmasa.

The Sāttvika Purāṇas are (1) The Vaiṣṇava (2) Nāradīya (3) Bhāgavata (4) Gāruḍa (5) Pādma and (6) Vārāha.

The Rājasa Purāṇas are (1) The Brahmāṇḍa (2) Brahmavaivarta (3) Mārkaṇḍeya (4) Bhaviṣya (5) Vāmana and (6) Brāhma.

The Tāmasa Purāṇas are (1) The Mātsya (2) Kaurma (3) Liṅga (4) Śaiva (5) Skānda and (6) Āgneya.

The Kaurma Purāṇa (1-1-17 to 20) enlists Upapurāṇas thus — (1) The Purāṇa narrated by Sanatkumāra, (2) Nārasimha, (3) Skānda narrated by Kumāra, (4) Śivadharmapurāṇa, narrated by Nandikeśvara, (5) The Purāṇa narrated by Durvāsas, (6) Nāradokta, (7) Kāpila, (8) Mānava, (9) the Purāṇa narrated by Uśanas (Śukra), (10) Brahmāṇḍa, (11) Vāruṇa, (12) Kālikāpurāṇa, (13) Māheśvara, (14) Sāmba, (15) Saura, (16) the Purāṇa narrated by Parāśara, (17) Mārīca Purāṇa, and (18) Bhāskarapurāṇa.*

## THE DEFINITION OF PURĀṆA

Generally the Purāṇa is defined as an ancient history having five fold characteristics.

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितञ्चेति लक्षणानान्तु पञ्चकम्॥"

The Purāṇa dilates on the following five topics. They are : Sarga — Primary creation of the categories or evolution, Pratisarga — secondary creation or recreation of the Universe with the categories,

* I acknowledge Sri G. V. Tagare and Śrī Svāmī Tapasyānanda

Vaṁśa — genealogies of Divinities, Demons, Manus, Ṛṣis, and Kings, Manvantara — cosmic cycle ruled over by a Manu or a Patriarch and Vaṁśānucarita — an account of royal dynasties.

But this definition seems to hold good in respect of the Upapurāṇas only. The Mahāpurāṇas should possess ten features as defined in the Brahmavaivarta. In this context the definition given by the Bhāgavata is to be remembered, accoding to which the Mahāpuraṇa is Daśalakṣaṇa; while the Upapurāṇa is Pancalakṣaṇa. The ten characteristics of a Purāṇa are—

"अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषण मूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्ति राश्रयः॥" (भाग. 2-10-1)

(1) Sarga — subtle creation, (2) Visarga — gross creation, (3) Sthāna — law and order ensured by God, (4) Poṣaṇa — protection, welfare of all, (5) ūti — material lust for karmas, (6) Manvantara (kathā) the periods of Manus and the history of that epoch, (7) Īśānukathā — accounts of the deeds of the Lord, (8) Nirodha — physical annihilation, (9) Mukti — liberation (10) Āśraya — the last resort of the Universe on the Ultimate Reality. These characteristics may slightly vary from book to book.

## THE AUTHORSHIP OF ŚRĪ BHĀGAVATA

The authorship of Śrī Bhāgavata, was doubted by the adherents of the Śākta cult. According to them :—

1. Bopadeva a renowned scholar and a protege of the king, Hemadri, composed the Bhāgavatapurāṇa to please his king, in the name of Vyāsa in order to give it the status of Vyāsa's works. Hemadri, being much pleased, took necessary steps to popularise the text in the name of Vyāsa. He got prepared a large number of copies for propagation. Some scholars wrote commentaries on the same at the behest of the king.

But a careful examination reveals that those who wanted to establish the supremacy of the Devībhāgavata over the Viṣṇubhāgavata, which establishes the supremacy of Viṣṇu over all the Gods, endeavoured to show that the Devībhāgavata was the composition of Vedavyāsa and as such only the Devībhāgavata was genuine and the Viṣṇu Bhāgavata was a later composition.

In this connection it is interesting to recall a legend that Bopadeva, a friend of Hemadri, who was a minister to Rāmarāya, who ruled from Devagiri (1271-1309 A. D.) agreed to narrate the Bhāgavata in two muhūrtas with all its important events, as a challenge in the Royal Court and accomplished this, by providing the Bhāgavatasāra.

The verse—

"श्रीमद्भागवताध्यायसारोह्यत्र निरूप्यते।
विदुषा बोपदेवेन मन्त्रिहेमाद्रितुष्टये॥" — testifies this.

Again he composed the Bhaktimuktāphala and Bhaktilahari. At the end of the commentary on the Bhaktimuktāphala he states that he produced three works — narrating the sum and substance of the Bhāgavata. Further, Bopadeva states that he studied the Bhāgavata twenty times, before he composed the books. He extolled Śrī Bhāgavata and paid homage to the sage Vyāsa. In view of the above facts, it can be decided that he did not compose the Bhāgavata. Hence to ascribe the authorship of the original text to the author of an abridgement, seems rather ridiculous.

More over, Vijayadhvaja — a reputed commentator on the Bhāgavatapurāṇa — has stated that Śrī Śaṅkarācārya (8th century A. D.) wrote a commentary on the Bhāgavata. One more interesting and deciding point against the authorship of Bopadeva is noted here. Śrī Gauḍapādācārya (7th century A. D.) quotes in his commentary on Uttaragīta two verses from the Bhāgavata, beginning with "श्रेयस्सुतिं भक्ति मुदस्य"

(भाग. 10-14-4), and "जग्राह (जगृहे) पौरुषं रूपम्" (भाग. 1-3-1) and again in the course of the commentary on the same text quotes a half verse from the Bhāgavata — "तदुक्तं भागवते — तेषा मसौ *क्लेश एव शिष्यते नान्य द्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्" (भाग. 10-14-4)।

Bopadeva, it is said, belonged to the 13th century, A. D. Hence the absurdity, in ascribing the authorship of the Bhāgavata which is cited by Śrī Gauḍapādācārya, and commented by Śaṅkarācārya of the 7th and 8th century respectively to Bopedeva of the 13th century, is evident.

2. The second argument of Śāktas is as follows : The style of composition of Vyāsa found in the Bhārata, the Skānda Purāṇa and the Padmapurāṇa *et cetera* is simple and easy as these texts are written in the Pāncāli Rīti, whereas the style of the Bhāgavata is a hard nut to crack since it was composed in Gauḍī Rīti. Hence we may say that the Bhāgavata seems to belong to the later day poetic style. In other words, the style of the Bhāgavata is quite different from that of the Mahābhārata *et cetera*. As such the authorship of the Bhāgavata can not be ascribed to Vedavyāsa.

The above argument though seems plausible, holds no water. The difference in style in the works of the same author is seen in many a place. It is well known that various works composed by Śrī Śaṅkarācārya show vast difference. The style of the Harṣacarita is not so mellifluous and euphonious as that of the Kādambarī though they were composed by one and the same author, Bhaṭṭabāṇa. The styles of the Raghuvaṁśa and the Meghadūta differ widely. So the tendency to fix the authorship of the texts basing on difference in style is not healthy. The style of expression may differ, from book to book by the same author, depending on so many factors as the age, the subject matter, the mental set up at a given time, tenacity of purpose, the devotional fervour and so on. The purpose of the Mahābhārata is to teach Dharma to those, who are not qualified to learn the Vedas, in an easy style by illustrating through wonderful stories, whereas the Bhāgavata is intended only to the enlightened select scholars, since it is full of high philosophical ideas. There was a special purpose in writing this Bhāgavata since it was composed on the advice of Nārada to elevate his own self. The Bhāgavata, as the scholars opine, elucidates the Brahmasūtras and contains the essence of Upaniṣadic lore. Vyāsa must have adopted somewhat tough style quite becoming to the theme of the text. The proverbial saying "प्रेक्षावतां भागवते परीक्षा" supports the above argument. Hence the style is not the criterion for fixing the authorship.

3. The expressions, like हयग्रीवब्रह्मविद्या cited by the commentators Śrīdhara and others, while commenting on the very first verse of the Bhāgavata, apply to the Devībhāgavata and do not refer to the Viṣṇubhāgavata. The Devībhāgavata narrates a story that Viṣṇu became Hayagrīva, when his head was cut off. The purpose of Hayagrīva incarnation is only to uplift Śrīvidyā. Hence Hayagrīvabrahmavidyā means Śrīvidyā, which was taught by Hayagrīva. This definition is accepted by Śāstras and tradition. This reference is found in the Devībhāgavata only. Hence the Devībhāgavata was composed by Vedavyāsa and the Viṣṇubhāgavata by some later poet.

The above argument that the expressions like Hayagrīvabrahmavidyā have refernce to the Devībhāgavata only and that all the texts taught by Hayagrīva to Agastya, are called Brahmavidyā, is not sound. To obtain the required meaning, the compound word हयग्रीवब्रह्मविद्या is to be dissolved in several ways. The dissolution as हयग्रीवेण प्रोक्ता ब्रह्मविद्या is wrong, because the Vedas are not written by any human hand and that is why they are called apauruṣeyas. Hence they are not प्रोक्ता., being self-revealed, they are called author-less. Even the second dissolution हयग्रीवाय प्रोक्ता ब्रह्मविद्या is also irrelevant, since हयग्रीव being the teacher for this vidyā, there could be no other teacher to him. The third dissolution as हयग्रीवेण उद्भूता ब्रह्मविद्या is to be resorted to, which means the Brahmavidyā is uplifted by Hayagrīva. The word ब्रह्म in the compound हयग्रीवब्रह्मविद्या may mean either वेद or तत्त्व or तपस् or ब्रह्म or ब्राह्मण as per the lexicon, but it never signifies

* Here क्लेश एव शिष्यते is a misprint and it must be क्लेशल एव शिष्यते।

श्रीविद्या। To arrive at the required sense one has to resort to some other dissolution as ब्रह्मणः पत्नी (सुत्री) ब्राह्मी, सरस्वती (श्रीः) तस्याः विद्या। It may seem to yield the required sense, since ब्राह्मी विद्या may be taken as signifying श्रीविद्या or देवीविद्या। But the grammar does not approve of the formation. The word ब्रह्मा of masculine gender will have to take the form of feminine gender, when it is intended to mean the wife of ब्रह्मा, as ब्राह्मी, or ब्राह्मणी or ब्रह्माणी। Then the compound must be ब्राह्मीविद्या or ब्राह्मणीविद्या or ब्रह्माणीविद्या since there is no possibility of getting पुंवद्भाव, *i.e.* the restoration of the masculine form in the place of the feminine. Hence the attempt to show ब्रह्मविद्या to mean श्रीविद्या will bear no fruit. Moreover, the ideas expressed in the verses अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणाम् *et cetera* of Garuḍapurāṇa will not apply to the Devībhagavata as they are applicable only in the case of the Viṣṇubhāgavata.

4. Vyāsa had made orderly arrangement of all the Vedas, which were in disorder till then and taught them to his disciples. Then he composed eighteen Purāṇas to expound the essence of the Vedas. After completing the Purāṇas he composed the Mahābhārata. Thereafter he produced the Viṣṇubhāgavata. Hence it can decidedly be said that the Bhāgavatapurāṇa is a later text. When it is so, how can Viṣṇubhāgavata be included in the eighteen Purāṇas? Therefore the Devībhagavata only is to be included in the list, and thus the authority of the Viṣṇubhāgavata is questioned.

The above statement, prompted by jealousy, cuts no ice. All the ancient texts such as the Śrti, Smrti, Itihāsa and Purāṇa are treated as having no beginning. Owing to the adversities of time, many texts of old were almost ruined. Then Nārāyaṇa being born as Kṛṣṇadvaipāyana, arranged in proper order not only the Vedas but also the Purāṇas. Many scholars hold that Vedavyāsa is not the author of all the Purānas, but he compiled, edited and arranged them in order. In the light of the above interpretation the word कर्ता in the half verse "अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवतीसुतः" should mean संस्कर्ता *i.e.* the editor but not author. The compilation and edition *et cetera* of the Purāṇas cannot be said to have been done in a preferential or chronological order This must have taken place almost in a specific limited time. It is argued on all hands, that his Bhāgavata occupies a distinguished place among the Purāṇas, which can be inferred from the story narrated in the opening cantos of the Bhāgavatapurāṇa. Sage Vyāsa composed the Bhāgavata, intending to substantiate the subject matter of the Upaniṣads, and to elevate his own self. He taught the Purāṇa to his son Śuka who in turn taught it to the king Parīkṣit, desirous of obtaining salvation. In fine, Vyāsa is the author of the Bhāgavata and he is only a compiler cum propagator in the case of other Purāṇas.*

The long and short of the above arguments and counter arguments is that the Viṣṇubhāgavata was composed by Vyāsa and it must be included in the eighteen Purāṇas. The praise found in Garuḍapurāṇa and others applies to the Viṣṇubhāgavata only.

There is also another contradictory view with regard to the authorship of the above text, that the Bhāgavata is composed by Śuka and not by Vyāsa. A half verse "अम्बरीष, शुकप्रोक्तं शृणु भागवत सदा" which occurs in the Pādmapurāṇa, is cited in support. In fact, there are several internal evidences in the Bhāgavata itself to prove that the Bhāgavata is, beyond all doubts, the work of Vyāsa. In the Bhāgavata it is expressly stated that it was composed by Vyāsa and Śuka learnt it from his father which is revealed by Śuka himself. Hence the word in the above verse must be taken to mean that the Bhāgavata was taught (not composed) by Śuka, after learning it from Vyāsa, his father. The above verse quoted from the Pādmapurāṇa is to be construed in accordance with the similar verses of the Bhāgavatapurāṇa, the more authentic source. Here are some quotations to prove Vyāsa's authorship — "उनमग्लोकचरितं चकार भगवानृषिः" (भाग 1-3-40) "नि श्रेयसाय लोकस्य धर्म्य स्वस्त्ययन महत्। तदिदं ग्राहयामास सुत मात्मविदा वरम्" (भाग 1-3-41), "अनर्थोपशम स्माक्षात् भक्तियोग मधोक्षजे। लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्तृवतसंहिताम्" (भाग 1-7-6). From the above citations it can safely be decided that the author was Vyāsa and he taught the text to his son. The following verses as Śuka's statement tell us undoubtedly that Śuka learnt

* For more particulars in this regard, readers may refer to the Introduction of 'Vavilla' edition (1941) of the Bhagavata

the Bhāgavata from his father — "इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्। अधीतवान् द्वापरादौ पितु द्वैपायनादहम्।" (भाग. 2-1-8), "वेदगुप्तो मुनिः कृष्णो यतोऽह मिद मध्यगाम्। हित्वा स्वशिष्यान् पैलादीन् भगवान् बादरायणः" (भाग. 9-22-22), "मह्यं पुत्राय शान्ताय परं गुह्य मिदं जगौ" (भाग 9-22-23) and so on. From the above references it is understood that Vyāsa himself composed the Bhāgavata and taught the same to his son.

## PRINTED TEXTS CONSULTED FOR THE PREPARATION OF THIS EDITION

The followiong printed editions of the Bhāgavata form the basis for this edition. These have been carefully edited by eminent scholars and published from various parts of India and so are supposed to contain all the important variants of the Bhāgavata.

1. Śrīmad Bhāgavata Purāṇam

Gita Press, Gorakhpur — published in 2008 Vikram Śaka i.e. 1951 A. D. This book contains only the text and has been carefully edited with variants. But the sources of variants have not been shown. However, it is stated therein that the variants as seen in the old editions are noted. This edition is taken by us as an authentic source book for copying down the original text. This edition in Devanagari script is marked as G.

2. Śrīmad Bhāgavata Mahāpurāṇam ; (Vol. I)

Edited and published by Sri Krishna Sankara Sastry, Nadiad Dt. Kheda, Gujarat in 1965. This book contains, along with the original text, the Sanskrit commentaries of Śrīdhara, Vaṁśīdhara (a commentator on the commentary of Śrīdhara,) Rādhāramaṇadāsa, Vīrarāghava, Vijayadhvaja, Jīvagosvāmi, Viśvanāthacakravarti, Śukadeva, Vallabhācārya, Gosvāmipuruṣottama Caraṇadāsa — (a commentator on the commentary of Vallabhācārya) and Giridhara, and also a Hindi translation. This has been carefully edited and contains variants mentioned as old versions. This edition printed in Devanagari Script, is taken as an authentic source for copying down the original text of the commentaries of Śrīdhara, Vīrarāghava and Vijayadhvaja. This edition in Devanagari Script is marked as A.

3. Śrīmad Bhāgavata Purāṇam : (Vol. I)

Edited by Sri Nityananda Brahmachari and printed by Sri Rangacharya at his own Sri Devakinandan Press, Brindavan in Samvat 1964 i.e. 1907 A. D. This edition containing the original text is provided with the commentaries of Śrīdhara, Rādhāramaṇa Gosvāmi, Vīrarāghava, Vijayadhvaja, Jīvagosvāmi, Vallabhācārya, Viśvanātha Cakravarti and Śrī Śukadeva and also a Hindi translation. This edition in Devanagari Script is named as B.

4. Śrīmad Bhāgavata Grantha : (Vol. I)

Edited, published and printed by Sri Purāṇam Hayagrīva Śāstri in Vivekananda Press, Madras — 1848A. D. This edition contains text with the commentary of Śrīdhara. This edition in Telugu Script is named as H.

5. Śrīmad Bhāgavatam : (Vol.I)

Printed and published by Sri Raja Rameswara Raya, Raja of Wanaparti samsthan in Mahabubnagar dt. (A. P.) in 1885 A. D. through Brahmavidya Vilas press founded by him. This edition contains text with the commentary of Vīrarāghava. This edition in Telugu Script is marked as W.

6. Śrīmad Bhāgavatam : (Vol. I)

Printed and published by Vavilla Ramaswamy Sastrulu & Sons, in 1941 at their Vavilla Press, Madras. This edition contains text with the commentary of Śrīdhara mainly and some extracts from other commentaries. It also contains foot-notes showing some variants. This edition in Telugu Script is named as V.

7. Śrimad Bhāgavatam

Edited by Sri Narayan Ram Acharya, published by Satyabhamabai Pandurang and printed by Ramachandra Yesu Shedge at Nirnayasagar Press, Bombay in 1950. This edition in Devanagari Script is marked as N.

8. Śrīmad Bhāgavatam : (Book I)

Published by the Bhakti Vedanta Book Trust in Bombay in 1972 with English transliteration, word to word meaning, translation and purport of A. C. Bhakti Vedanta Swami Prabhupada. This Edition in Devanagari Script is marked as I.

9. Śrīmad Bhāgavatam (Mādhva Edition)

This edition contains the commentary of Vijayadhvaja. It is printed in Devanagari Script. This edition is marked as M.

10. Śrīmad Bhāgavatam

This Mādhva Edition contains Kannada commentary. It is printed in Devanagari Script. It is marked as K edition.

Excepting the editions of Gita Press Gorakhpur and Nirnayasagar Press, all the other editions give almost all the versions and variants of the Bhāgavata text since they are provided with Sanskrit commentaries of various scholars holding different schools of thought on the Śrīmad Bhāgavata. Besides, many of the commentators were also good editiors and they suggested many variants.

Editions Nos. 1,2,3,7 and 8 generally agree on the text proper which indicates that they followed one particular recension. Nos. 4 and 6 represent another version; while Nos. 5 and 9 are suggestive of two distinct versions. No. 9 contains some additional verses that are not found in other editions and the number of verses in each chapter of every Skandha widely differs when compared with that in the other editions; but the total number being almost the same. The number of the Ślokapādas also is not consistently of the same order and it differs from edition to edition which necessarily results in difference of the total number of verses of each chapter.

But, considering all the above points we may now broadly classify all the above ten editions into the following three groups:

(A) Nos. 1,2,3,7 and 8
(B) Nos. 4,5 and 6
(C) Nos. 9 and 10

*MODUS OPERANDI*

The following principles are adopted for noting down the variants and additional verses:

1. The text in Edition No. 1 forms the Basis.
2. The variants found in other editions with reference to the basis are recorded with names of the editions.
3. The variants suggested by the commentators are noted as indicated by them.
4. The variants which are indicated in the foot-notes of a particular edition and which are not found in any text or commentary of any other edition, are noted here that they are found in a particular edition.
5. The variants, though noted in the foot-notes of a particular edition or editions, are not recorded in our edition if they are found in any text or commentary of any other edition.

6. Additional Verses found in any edition are recorded by denoting the number of the preceding and proceeding verses between which the additional verses are placed. These additional verses found in only one version are not given serial numbers treating them to be interpolations.
7. Omissions of a letter or a word in any edition or editions are recorded with reference to the basis.
8. Pratīkas are supplied by us to the commentary of Śrīdhara wherever they are found missing, keeping the style of Śrīdhara, the commentator, in mind, since we find pratīka cited, to the majority of verses, at the beginning of the commentary.
9. The slight change, in the order of words, occurring in the verses of different editions, such as यद्बिभेति स्वय भयम् and यद्बिभेति भयं स्वयम् is ignored and not noted in the foot note, because the sense remains the same in either order.

The idea in adopting the above principles is that, the variants or additional verses or omissions found in all the above 10 editions are to be carefully recorded in this edition for the convenience of the readers to understand the spirit and purport of the original text of the Śrīmad Bhāgavata.

## COMMENTARIES

The following commentaries are referred to —

1. Bhāvārthadīpikā of Śrīdharasvāmi.
2. Bhāvārthadīpikāprakāśa of Śrī Vamśīdhara on Bhāvārthadīpikā.
3. Dīpanī of Rādhāramaṇa Gosvāmi.
4. Bhāgavatacandracandrikā of Śrī Vīrarāghavācārya.
5. Padaratnāvalī of Śrī Viṭayadhvaja.
6. Kramasandarbha of Śrī Jīvagosvāmi.
7. Sārārthadarśinī of Śrī Viśvanāthacakravarti.
8. Siddhāntapradīpa of Śrī Śukadeva.
9. Subodhinī of Śrī Vallabhācārya.
10. Subodhiniprakāśa of Śrī Puruṣottama Carana Gosvāmi on Subodhinī.

Due to the popularity of Śrī Bhāgavata Purāṇa, many learned scholars belonging to different Vedantic Schools, tried their hands at writing commentaries on the Bhāgavata, in keeping with their tradition and philosophy. In this way they endeavoured to establish their own faith in a particular school of thought, taking full support from the Bhāgavata. The popularity of the Bhāgavata was so great that a great number of annotators have enriched their philosophy by these commentaries.

A great many commentaries are there on the Bhāgavata. But we have taken only three famous commentaries belonging to the Advaita, Viśiṣṭādvaita and Dvaita schools of Vedanta.

1. Śrīdharasvāmi is the earliest of all. He belongs to Śaṅkara's Advaita Philosophy. He says that he wrote his commentary, Bhāvārthadīpikā by name in strict adherence to the old tradition and followed the foot steps of Citsukhācārya. His commentary is lucid though brief, authoritative though reticent and direct to the point, and that is why most of the commentators have made use of this enlightening exegesis. Nābhādāsji (Ref. Bhaktamāla — Chappaya 440) recorded a legend wherein it was stated that Lord Bindumādhava of Vārāṇasi has recognised Śrīdhara's commentary as the authoritative interpretation of Śrī Bhāgavata. The commentators of the other schools also have paid him glorious tributes, and they have incorporated some important points from 'Śrīdhara's commentary, in their commentaries. Some commentators frankly, admitted that they have annotated the Bhāgavata only to elucidate the ideas of Śrīdhara. Jīvagosvāmi observes in his introductory verse that his commentary was intended to elucidate the commentary of Śrīdhara, where it was felt somewhat difficult to understand, and make it clear where it was otherwise. The facts mentioned above go a long way to assess the real worth of Śrīdhara's gloss. Śrīdhara

refers to Bopadeva of the thirteenth century and is referred to by writers like Viṣṇupuri*. So it can be inferred that he flourished in the middle of the 14th century.

2. Śrī Vīrarāghavācārya is a representative of the Viśiṣṭādvaita school. He wrote a commentary on the Bhāgavata. He rightly named his gloss the Candrikā, for, this commentary is as pleasing as Candrikā, or the moon-light, and throws much light on the text. It is an elaborate commentary supplying all the information required. He cited a great number of references in support of his view point. His knowledge of Śāstras is vast and his erudition very deep. His explanations supported by diverse Śāstras are exceptionally good. It is believed that he belongs to the fourteenth century. He was the son of☆ Śrīśaila of Vatsagotra.

3. Śrī Vijayadhvaja Tīrtha is another able commentator on the Bhāgavata. He belongs to the Dvaita School. His commentary is called Padaratnāvalī. He very closely follows the Bhāgavatatātparyanirṇaya of Ānanda Tīrtha, which is only a गच्छद्व्याख्या, giving elaborate elucidation wherever it is felt absolutely necessary. The Padaratnāvalī abounds in novel explanations and unique etymological derivations depending on Grammar and other Śāstras. The text of the Bhāgavatapurāṇa taken up by Śrī Vijayadhvaja records vast number of different readings, and alters the total number and the order of verses as well as the adhyāyas. He is supposed to have lived in the 15th century, A. D.

4. There is another latest commentary, the Sudhīsudhā written by Dr. P. Radhakrishna Sarma, the Director of the present project. The object of writing this commentary is to elucidate certain matters which need easier explanation. It caters for the needs of the present readers. The commentator tries to bring some modern thoughts to lime light offering new interpretation on certain topics. His explanation is chiefly meant for making the text easily understood. The deep study of the Bhāgavata Rahasyaprakāśa of Kulapati Dr. Sri Ekkirala Krishnamacharya propelled him to write this commentary taking the important points into its fold.

*Ref. to Purānavimarśa pp. 572-73 by Baladeva Upadhyaya.

☆ Here in this context we wish to write a few words to clear a doubt that may be created by a wrong interpretation of two ślokas of the introductory verses of his commentary The ślokas run thus —

"वन्दे वात्सल्य महोबलार्यतनय वात्सल्यवारं निधि
श्रीशैलैशगुरु श्रियःपति मपि प्राचार्यपारम्परीम्। . " ॥ १ ॥
"श्रीशैलपूर्णा दखिलेतिहासपुराणजाल समवाप्य येन
प्रावर्ति सन्दर्शयतेव शिष्यभाव मुनि लक्ष्मण मात्रयेऽहम्।" ॥ २ ॥

Referring to the above ślokas it is stated as "He was the son of Śrīśaila of Vatsagotra and a pupil of Laksmanamuni, his father's disciple Of course, Śri Vīrarāghavācārya was the son of Śrīśaila or Śrīsaileśa, but he was not the disciple of Laksmanamuni, and Laksmanamuni was not the disciple of the present commentator's father Therefore the above interpretation is not correct Laksmanamuni means here Ramanujacarya who belongs to the 11th century and Vīrarāghava to the 14th century The relationship of the teacher and the taught can not exist between the above two on account of the wide gap of time The above verses are to be rendered thus— "My obeisance to my father Śrīśaileśa by name, who is the son of Ahobalācārya, the ocean of the waters of Vatsalya, the compassion My obeisance to the consort of Laksmidevi, (i e Visnu) and to the successive line of preceptors I surrender unto Laksmanamuni i e Śrīrāmānujācārya who behaved as a disciple towards Śrīsailapurna, having learnt all the Itihāsas and Purānas from him."

Here in the above śloka Śrīśaileśa is the name of the father of the commentator गुरु here means father (please refer to the Colophon श्रीशैलेशगुरो स्सुतेन etc ) श्रीशैलपूर्ण mentioned in the next verse is not identical with श्रीशैलेशगुरु। श्रीशैलपूर्ण is a Sanskritised form of Tirumalainambi He is quite a different person He was the uncle, and preceptor of Rāmānujācārya, the author of the Śribhāsya etc and he taught the Rāmāyana and the Purānas to Rāmānuja

The misunderstanding is due to the confusion in the meaning of the two words, श्रीशैलेशगुरु and श्रीशैलपूर्ण। लक्ष्मण signifies Rāmānuja and muni means Samnyāsin As such Laksmanamuni means Rāmānujāchārya, a Samnyāsin The above interpretation may be verified by looking into the second śloka wherein a successive line of the disciples from Rāmānuja is stated

## APPENDICES

Appendix 1 : We have printed quarter-verse index arranging it in the alphabetical order. Though the task is strenuous and monotonous we have prepared it for the convenience of the scholars. Any quotation, from the Bhāgavata, let it be full or half or quarter verse, occurring in any book under study can be found here in the index and its position can be known easily.

Appendix 2 : In this appendix we have enlisted the quotations occurring in all the commentaries. The commentators who are versatile scholars cite the passages profusely right from the Vedas to the contemporary works either with a view to elucidating the text or to substantiating their explanations or to inculcating the Philosophy more effectively, or to infusing the spiritual consciousness into the hearts of the readers or to kindling the Bhakti or devotion in the votaries towards the God. It was aimed at tracing the sources of the quotations. The number of quotations being prodigious, source tracing proved to be an onerous task. But we have ventured to embark on this new enterprise, bearing in mind the oft-quoted saying — "अप्यप्रसिद्धं यशसे हि पुंसा मनन्यसाधारण मेव कर्म", which has served as an impetus in this respect. The quotations culled from the first skandha itself are 679. Despite our endeavour, we could not trace the sources of all the quotations. However, we have succeeded in tracing more than eighty per cent sources. But at some places we could not mention the subdivisions, i.e. Adhyāya, Sarga, Parva, Śloka *et cetera*. Hence we have given only the name of the text of very voluminous works such as the Skānda, where tracing is almost impossible.

It is hoped that the readers are enabled to refer to the original source-texts and benefitted by obtaining more information. We have noted, in brackets the name of the source-text and the numbers of the subdivision of the texts, immediately after the respective quotations, in the text of the commentary itself. Not content with this act, we have prepared separately a list of quotations along with the name of the sources *et cetera,* and arranged them in the alphabetical order and added the same to the text as appendix-2.

## EDITING

1. A correction has been made with regard to a word षोडशकला occurring in a śloka commencing with 'जगृहे पौरुषं रूपम्' (1-3-1). The commentary of Vīrarāghava pertaining to the verse according to A-edition runs as "एकादशेन्द्रियपञ्चभूतात्मकः षोडशकलाः यस्मिं स्तथा"। The word *pañcabhūtātmaka* is an adjective to the word कलाः। Hence the adjective should agree with its noun in gender and number. कलाः is of feminine gender in plural number. भूतात्मकः is of masculine gender in singular number. Now the antagonism between the noun and the adjective is apparent. Hence it is ungrammatical. The W-edition gives here somewhat better reading as पञ्चभूतात्मकाः। In this version the disagreement of number is avoided. But the adjective being of feminine gender, its form should be "पञ्चभूतात्मिकाः"। We have amended so, keeping in mind the aphorism of Pāṇini "प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यातइदाप्यसुपः" (अष्टा. 7-3-44).

2. A line "प्रत्ययस्येति शब्दस्य योऽर्थः, स तद्वा इति तच्छब्देन परामृश्यते" is found in the commentary of Vīrarāghava on the second verse in the third canto, in A-edition. The sentence, as it is, can not be construed properly. The word प्रथमस्य is not found in the text, with which some other word is intended to be construed. W-edition reads it correctly as "प्रथमस्य यस्य इति शब्दस्य योऽर्थः ....."। We adopted this version. Now it means, that the word यस्य occurs twice, in the consecutive ślokas यस्याम्भसि..... and यस्यावयव.....। There the first यस्य is to be construed with तत् in तद्वै in accordance with the convention यत्तदो र्नित्यसम्बन्धः; यस्य is referred to by तत्।

2. (a) The commentary of Vīrarāghava, according to A-edition on the above śloka runs thus— "तस्य रूपस्य ज्ञानदृश्य मपरिच्छेद्यत्वं सर्वावतारनिदानत्वञ्चाऽऽह — यस्याम्भसीति सार्धेन। Here अपरिच्छेद्यत्व and सर्वावतारनिदानत्व are abstract nouns where as the first word ज्ञानदृश्य is, unlike the other words, an adjective. This also must be an abstract

noun to suit the sense as stated in W-edition. This is amended accordingly. Further, in lieu of A-edition's reading यस्याम्पसीति सार्धेन the reading पश्यन्तीति सार्धेन is found in W-edition. In view of the sense the reading of W-edition is correct. So we have adopted the reading of W-edition.

3. A portion of the commentary of Vīrarāghava on the eighth śloka of third adhyāya, as per A-edition reads thus — "य स्तन्नात् कर्मणां निवृत्तिधर्मवतां नैष्कर्म्यं निवृत्तिधर्मविरहं प्रवृत्तिधर्माणां अकर्तव्यताऽवगम्यते। The word नैष्कर्म्य is explained by the word निवृत्तिधर्मविरह। नैष्कर्म्य is निवृत्तिधर्म but not निवृत्तिधर्मविरह, which is quite contrary. So प्रवृत्तिधर्म is adopted by us, as seen in the W-editon. Further, निवृत्तिधर्मविरहं अवगम्यते is wrong usage. Since the verb अवगम्यते is in the passive voice the object of the verb i.e. प्रवृत्तिधर्मविरह must be in nominative case as विरहः, and not in the objective case as विरहम्। So the reading विरहः is taken by us.

4. The commentary of श्रीधर on the thirty first verse in the same adhyāya reads — "स्वरूपावरणेन तदध्यासत इति सदृष्टान्त माह" as per A-edition. The word अध्यासते is replaced by अध्यासः, a reading found in H and V editions. As the verbal form अध्यासते will not serve the purpose, the word अध्यासः the noun form, suited to the context, is adopted.

5. We had to change the order of the ślokārdhas of the 43rd, 44th and 45th ślokas in the third adhyāya. It was done quite in consonance with the propriety of sense and the spirit of the commentaries.

| The order of the ślokardhas as adopted in this edition with serial No. | TEXT | The order of the ślokardhas as per A-edition with serial No. |
|---|---|---|
| 1 | प्रायोपविष्टं गङ्गायां परीतं परमर्षिभिः। | 1 |
| 2 | तत्र कीर्तयतो विप्रा विप्रर्षे भूरितेजसः ॥ ४३ ॥ | 4 |
| 3 | अहञ्चाध्यगमं तत्र निविष्ट स्तदनुग्रहात्। | 5 |
| 4 | सोऽहं वः श्रावयिष्यामि यथाधीतं यथामति ॥ ४४ ॥ | 6 |
| 5 | कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभि स्सह। | 2 |
| 6 | कलौ नष्टदृशा मेष पुराणार्कोऽधुनोदितः ॥ ४५ ॥ | 3 |

The above verses are three in number and so there are six half verses. With regard to the first half there is no change. But the fourth half as printed in A-edition is changed as the second half, the fifth as the third half, the sixth half as the fourth half, the second half as the fifth half, and the third half as the sixth half in this edition. As a result of the above adoption some changes have been effected in the position of Śrīdhara's commentary also.

6. The reading त्रैवर्णिकादित्वात् as per A-edition occurring in the commentary of Vīrarāghava on the 25th śloka of the 4th adhyāya, is replaced by त्रैवर्णिकाधिकारित्वात्, as the propriety of the reading उपनयनस्य त्रैवर्णिकाधिकारित्वात् and the impropriety of the reading उपनयनस्य त्रैवर्णिकादित्वात् are obvious.

7. "पद गतौ, गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः उपबृंहितं येन तदिति वा" is a line seen in the commentary of Vīrarāghava on the 3rd verse of the 5th adhyāya, as per A-edition. The sentence appears to be mutilated one. But W-edition gives us a meaningful reading as "पद गतौ, गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः यत् यस्मात् सर्वार्थैः परिबृंहितं, सर्वार्थाः परिबृंहिता येन तदिति वा"। So this reading is adopted.

8. "अमोघ मवितथं पश्यतीति तथाभूतहिताचरणाय बद्धदीक्षा इत्यर्थः"। Only this much is seen in the commentary of Vīrarāghava on the 13th verse of the same adhyāya as per A-edition. The above reading, as it is, makes no sense. That is why we have adopted here the lengthier reading, found in W-edition, that makes the sense full, as भूतहिताचरणोपयुक्तज्ञानसम्पन्नश्चेत्यर्थः। न केवल ममोघदृगेव, अपि तु धृतव्रतः धृतं सङ्कल्पितं व्रतं सत्यदीक्षारूपं येन सः, भूतहिताचरणाय बद्धदीक्ष इत्यर्थः।

A sentence in the same place is found in all editions as "कथ मेव महो भाग्यं ज्ञायते!" By studying the commentary, it was thought that this requires a slight change to give better meaning. So we have suggested "कथ मेवं महाभाग्यम्?" in lieu of "कथ मेव महो भाग्यम्!"

9. The 24th verse of the sixth adhyāya begins with "सत्सेवया दीर्घया ते"। This phrase allows two kinds of splitting सत्सेवया दीर्घया and सत्सेवया अदीर्घया। Both these versions were printed and commented in both the ways by different authors. But the majority of the commentators accepted the splitting as अदीर्घया and commented accordingly. Therefore accepting the splitting as अदीर्घया, we have printed the text as सत्सेवयाऽदीर्घया with अकारप्रश्लेष to suit the purpose.

10. The word सौदामनी occurring in 28th sloka of the 6th adhyāya, has been printed as सौदामिनी (A,B,K & M). This form being erroneous we have accepted the form सौदामनी agreeable to grammar. सौदामनी means lightning. The word is to be derived thus— सुदामन् is the stem; the suffix अण् is added to this as per the aphorism of Pāṇini "तेनैकदिक्" (अष्टा. 4-3-112) in the sense that the lightning exists in the same quarter (दिक्) in which the mountain सुदामा exists. Because of the affix अण् the stem gets the suffix ङीप् i.e. ई। सुदामा may mean also the white coloured elephant of Indra i.e. Airāvata as per the definition of Trikāṇḍaśeṣa as श्वेतद्विप सुदामा। Hence सौदामनी means the lightning which has the same substratum along with the Airāvata. Here again after applying the aphorism तेनैकदिक् the aphorism "अन्" (1-4-167) which ordains प्रकृतिभाव is to be applied to ward off the टिलोप *etc.*, lest it should get the unwanted form as सौदाम्नी on the analogy of रमानाम्नी *etc.* सौदामिनी is, of course, ungrammatical. Medinīkośadefines" सुदामा तु पुमान् वारिधरपर्वतभेदयोः" *i.e.* सुदामा signifies not only a mountain but also the cloud. So in the sense सुदाम्नि भवा that which arises in the cloud, is सौदामनी। Having studied the subject in this light we had to effect two corrections in A-edition following the W-edition. नान्तत्वात् has been replaced by अण्णन्तत्वात् and सौदामनी इत्यपि पाठः by सौदामिनी इत्यपपाठ।

11. A reading in the commentary of Vīrarāghava in A-edition on the 37th śloka of the same adhyāya runs "तदेत सर्वं माख्यात मित्यर्थः"। This line is unintelligible. But the reading in the same place of W-edition is found as "आख्यातमेव सङ्गृह्य दर्शयति — मे मम जन्मकर्मणोः रहस्यं, तथा भवतः तव आत्मा मनः तुष्यते येन तच्च तत्सर्वं माख्यात मित्यर्थः। This reading, being complete and meaningful, is taken to our edition.

12. (a) The reading तदुपयुक्तभगवत्स्वरूप॰ in the commentary of Vīrarāghava on the 10th verse of the 7th adhyāya, in A-edition is changed as तदुपयुक्ता भगवत्स्वरूप॰ since the word is to be split, as तदुपयुक्ता because it is the adjective of the noun संहिता। This is done following W-edition.

(b) In the commentary of Vijayadhvaja on the same verse, the reading as per the A-edition is found as "आनन्दरूपां भक्तिं कुर्वन्तीति किं वर्णनीयम्"। This is defective as some words are lost. But B,K and M-editions present the supply of all the meaningful words needed. So the version "आनन्दरूपा भक्तिं कुर्वन्ति, किंपुन र्बहुजन्म स्वपरोक्षितपरतत्त्वा ये भक्तृयादिसाधनातिशयेन मुक्ता वानन्दातिशयमाकङ्क्षाणाः शुकादयः उरुक्रमे भक्तिं कुर्वन्तीति" is adopted in this edition.

13. (a) In the commentary of Vīrarāghava on the next verse *i.e.* the 11th as per A-edition an erroneous line is found as — "नित्यं विष्णुजनप्रियः अहर्दिव माख्यानम्" is corrected as "नित्यं विष्णुजनप्रियः महदिदमाख्यानम्" as per W-edition.

(b) The version of the commentary of Vīrarāghava on the same verse seen as — "सभक्ति तदृणवतोऽस्यै वानुभाव्यत्वात् अवतारतदृणाना विशिष्य वेदान्तेभ्योऽवगतानाम्" is incorrect. Hence this is corrected in the light of the version of W–edition as "सभक्ति तदृणस्यैव भगवतोऽनुभाव्यत्वात् अवतारतदृणभक्ततदृणानां विशिष्य वेदान्तेभ्योऽनवगतानाम्"।

14. The 30th verse in the eighth adhyāya. Here the commentary of Vīrarāghava as per A and B-editions is — "किन्त्वदर्शना ऋष्यादिनाम्ना तापसादिरूपेण वा अन्विता इत्यर्थः"। The reading adopted in this edition as per W-edition is — "न त्वदर्शनहेतुना ऋष्यादिनाम्ना तापसादिरूपेणचान्विता इत्यर्थः"। This change is done for easy understanding.

15. The 16th verse of the 9th adhyāya. The commentary of Vīrarāghava as per A and B-editions runs as — "स लोकोऽपि श्रीकृष्णे यत्र सत्रादिमांश्चेतः"। Finding that this commentary can not be construed properly, the reading is replaced by — "स लोकोऽपि श्रीकृष्णायत्त सत्तादिमांश्चेत्," as found in W-edition.

16. In the commentary of Vijayadhvaja on the 41st śloka (9th Adhyāya) beginning with — "युधि तुरग ...." we have made an amendment to suit the purpose. While eulogising Śrī Kṛṣṇa, Bhīṣma uses an adjective विलसत्कवचे to Śrīkṛṣṇa and it has been commented as विलसत् शोभमान कवचं यस्य तस्मिन् i.e in him who has put on a splendid armour. Again he gives another interpretation to the same word as विलसन् सर्प अनन्त कवचं शय्यास्थानीयं यस्य स तथा। It means, in him who has a bright snake, Ananta (शेष) for his couch. The word विलसन् is explained by सर्पोऽनन्तः। But it is quite irrelevant, since विलसन् can not mean अनन्तसर्प। So it requires an amendment to get suited sense. Following the convention वबयो रभेदः, वकार can be changed to बकार and सन् is to be corrected as सत्, when the form is बिलसत्। Now the word can be dissolved as बिले सीदतीति बिलसत् that which dwells in a hole of the earth, *i.e.* a serpent शेष। So बिलसत्कवच means that विष्णु takes अनन्त as his bed. Here we remind some citations to the readers from lexicon, in support — "दन्दशूको बिलेशय" (अम को. 2-28), "मूषिकेऽहौ बिलेशयः" (वैज. को. 8-5-18) and "बिलौका गूढपा च्चक्री" (वैज. को. 4-1-6).

17. The serial number of the stanzas of the 11th अध्याय from the 18th to the 25th is different from one edition to another. The order of the serial number is changed keeping in mind the propriety of the meaning of the verses. The line "प्रत्युज्जग्मुरिति चतुर्थेनान्वयः" is found in the commentary of Śrīdhara which means the subjects denoted by the words Vāsudeva *et cetera*, existing in the 16th verse are to be construed with the verb प्रत्युज्जग्मुः, that exists in the fourth verse from the 16th verse. The fourth stanza from the 16th will be the 19th. But the verb प्रत्युज्जग्मुः is in the second half of the eighteenth verse in A-edition. So this verse can not be the 19th from the 16th. But this is the first half of the 19th verse as per B,H and V-editions. According to the sense these three editions have been taken as authentic. The commentary of Śrīdhara is arranged in this order. The remaining commentaries are arranged in the order of the ślokas which has been adopted in this edition. Pratīka is also adjusted accordingly.

18. (a) The reading of the commentary of Vīrarāghava on the 19th verse in the 12th adhyāya is found as — "न केवल मितरसाधारणैकगुण मेवानुवर्तिता" as per A-edition. But the same is found in W-edtion as — न केवल मनितरसाधारणैकगुण मेक मेवानुवर्तिता"। Being better the latter reading is adopted.

(b) In the same place the commentary of Vīrarāghava runs as, "सत्ये याचके सन्धा दृढभक्तिः" as per A-edtion. But याचके is irrelevant in the context, and so this word is replaced by वाचिके a relevant word from W-edition.

19. The commentary of Vīrarāghava on the 5th verse in the 13th adhyāya is missing in A-edition. So the commentary found in the B and W-editions is inserted in this edition at the proper place.

20. The commentary of Śrīdhara as per A-edition on the 9th verse of the 14th adhyāya reads यज्ञकरणानुरूपा। This, being irrelevant, has been given up. The reading of B,H and V-editions as यज्ञकरणरूपात् has been adopted.

21. Some portion of the commentary of Vīrarāghava on the 35th verse of the 15th Adhyāya is missing as per A-edition, where only this much as "स्वेन रूपेणैवावतस्थे तथा येन" is found. The defect here is rectified by following the reading of the W-edition which runs as follows :

"स्वेन रूपेणैवावतिष्ठते। तथा च भगवा नपि तत्तत्प्रयोजनाय मत्स्यादिरूपाणि यावत्प्रयोजनं धत्ते। तदन्ते पुन र्जह्यात्। हित्वा स्वकीयरूपेणैवावतस्थे। तथा तेन ..."।

22. The 24th verse in the 16th adhyāya. In the commentary of the above verse a portion is printed as भूरिभारावतार। The word bhāra is against the metric rule. So भार is corrected as भर in all the commentaries according to the मूलश्लोक।

23. The 13th verse in the 18th adhyāya. A line in the commentary of Vijayadhvaja reads as per A-edition as चिरसमयसङ्कीर्ण। But it is replaced here by चिरसमयस्य सङ्कीर्ण, a better version of B, K and M-editions.

24. The 44th verse in the same adhyāya. There occurs a phrase पुरुदस्यवो जनाः in the commentary of Vijayadhvaja which explains that वसु हिंसायाम् is the root for दस्यु। This is as per A-edition. But in some other edition, it is explained that, दसु हिंसायाम् is the root for *दस्यु। The latter derivation is preferred to the former.


## ACKNOWLEDGEMENTS

To express gratitude to those who have helped is the ardent duty of every one. Accordingly at the outset, I would offer my heartiest thanks to Sri P. V. R. K. Prasad, I. A S, the then Executive Officer, T. T. Devasthanams, but for whose untiring efforts this institute, viz. S. V. Central Library and Research Centre would not have been established, and the Bhāgavata project as already noted would not have been concretised. I am greatly indebted to him. I am glad to express my thanks to Sri S. Lakshminarayana, I. A S., Executive Officer, T. T. Devasthanams, Tirupati, for his generous encouragement. I sincerely thank the Chairman and members of the Trust Board, and the Management Committee of T. T. Devasthanams, Tirupati. I convey my deep feelings of gratefulness to Dr. Ravula Suryanarayana Murthy, M A., B. Ed., D. Lit, the Public Relations Officer and Sri M. Vijayakumara Reddy, L P. T., the Manager, T. T. D. Press. My hearty thanks are due to the Editorial Board of the Bhāgavata Project for its valuable guidance. I think, it is quite but meet to express my debt of gratitute to all the members of the Research Department, namely Messrs N. C. V. Narasimhacharya, Sahitya Visarada, Vidvan, Siromani, M A., B O L., the Associate Editor, S. Sudarsana Sarma, M. A., B O L, Kum. P. Jhansi Lakshmi Bai, M A., Sahityavidyapravina, S. B. Sarngapani Bhattacharya, Nyaya Siromani, Śiksāśāstri and Kum. S. Poornavalli, M A

I feel very much indebted to late Kulapati Dr. E. Krishnamacharya, who had been championing the cause of the Bhāgavata dharma among the masses and the men of letters alike and who was a source of inspiration and guidance for me from the very beginning of this scheme. Lastly I offer my heartiest thanks to all who have helped me in preparing and bringing out this volume of Śrīmad Bhāgavata.

I will be failing in my sacred duty, if I forget to thank the generous gentlemen, who have furnished the project with their rare and valuable editions of Śrīmadbhāgavata. Hence I offer my heartfelt gratitude to the following persons, but for whose helping hand I could not have prepared this edition with advantage. Dr. E. Krishnamacharya, Founder of The World Teacher Trust, Visakhapatnam, A. P., Sri K. R. Padmanabha Iyengar, Sri K. R. Raghavan, Income Tax Commissioner, New Delhi, Sri M. H. N. Thirthulu, Ongole, A.P., Sri C. Purushottam, Bangalore, Dr. S Sankaranarayanan, Director, S. V. U. Oriental Research Institute, Tirupati, Sri V. Hanumaiah, Guntur and Sri Rachakonda Narasimha Murthy, Jillellamudi, Guntur dt., A.P.

Now the first volume of Śrīmad Bhāgavata, a critical edition, with the four commentaries is presented to the readers This being my debut on this line, some mistakes must have crept in, for which we crave the indulgence of the readers. The concrete suggestions regarding the improvement of the edition will be received with pleasure and gratitude. I think that my labours will be amply rewarded if this edition can serve the purpose of the readers and scholars

— *EDITOR*


* But dhātupātha reads the roots thus — दसु उपक्षये, वसु स्तम्भे, ऐश्वर्ये च।

# अवतारः

"हर्तु तम स्सदसती च विवेक्तु मीशो मानं प्रदीप मिव कारुणिको ददाति" — अन्धतमसे विचरं श्चेतनः सती मसतीं वा सरणि मभिज्ञातु मप्रभविष्णुः दिङ्मूढ आहिण्डमानो विपद्येत। तदा कृपालुः कश्चि न्नरः 'मा भू देव मय' मिति प्रसृमरस्वप्रभाविसरविध्वस्तदुर्दान्तध्वान्तसङ्घातमेकं प्रदीपं तस्मै प्रवितरति। अध्वनीनश्च त मधिगत्य सुपन्थान मपन्थानञ्च विविनक्ति। अपथे पद मनिधाय, सुपथि तु निधाय गन्तव्य मनपाय मयते। एव मेव परमकारुणिक सर्वशक्तो जगत्पिता भगवान् तमो व्यपोह्य सदसद्विवेक मुपजनयितुं देदीप्यमानं मानाख्यं निस्नेह मपि स्नेहसम्भृतं प्रदीप मस्राक्षीत्। मानशब्देनाऽत्र परमप्रमाणभूतः निगमादि-शब्दव्यपदेश्यः अपौरुषेयः: शब्दराशि रेव बुबोधयिषितः।

निरुपाधिकवत्सलः शरण्यो नारायणः स्वाज्ञारूपां विविधपुरुषार्थप्रवर्तनीं दुरन्तसन्तापसन्तानसन्दातृसंसार निश्शेषनिकृन्तन बद्धपरिकरां अनश्वरीं अनपेक्षरवात्मिकां श्रुतिं लोकोद्दिधीर्षया चतुरानन्नाय चतुरानन्नाय समुपादिशत्। अस्याः पुनः व्याख्यासापेक्षतां निध्याय, स्वयं रूपान्तरेणावतीर्य कांश्चिन्महात्मनोऽनुप्रविश्य च स्मृतीतिहासपुराणागमादीन् तदुपबृंहणान् ग्रन्थान् व्यरचत्। तेषु च "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" इत्युक्तरीत्या यथावत् श्रुत्यर्थबोधने, इतिहासपुराणे स्मृत्यागमादीन् अतिशयाते। तयो रपि पुराणं "यन्न दृष्टं हि वेदेषु तत्सर्वं लक्ष्यते स्मृतौ। उभयो र्यन्न दृष्टं हि तत् पुराणैः प्रतीयते" इति निरूपयता ब्रह्मवैवर्तपुराणवचनेन निगमस्मृत्याद्यदृष्टविषयदृष्टिप्रयुक्त प्रशंसापात्र मिति स्तूयते। तत्रापि "कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम्" इत्युपश्लोकितेन व्यासेन ग्रथितम् उपनिषद्व्याख्यानतया जेगीयमानं, "चत्वार एकतो वेदा भारत ञ्चेद मेकतः" इति च जोघुष्यमाणं महाभारतं महत्त्वाद्भारवत्त्वाच्च अनितरसाधारण्या भासा शोशुभ्यते। 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहाऽस्ति न तत् क्वचित्' इति शिरसा श्लाघ्यमान मेतादृशं लक्षश्लोकात्मकं महाप्रबन्धं विरचय्य कृतमुखोऽपि वेदव्यासः अकृतिन मात्मान ममंस्त। अतृप्यन् विषसाद। ततोऽभ्यर्हिततरं पुराणं किञ्चित् आत्मोद्धरणाय तेन निर्मातव्य मासीत्।

अप्रमेयप्रमेयासङ्ख्येय शाखोपशाखोपेतान्योन्यसङ्कीर्ण नानानिगम विभजन परिष्करणालङ्कर्मीणेन, निखिल श्रेयोनिधानमहाभारत-निर्माणनिपुणेन, तावता अतृप्यता सरस्वतीतटिनीतटी निषण्ण विषण्णेन नारदमुनिनाथोपदेश प्रेरणानुगुण भगवद्गुणवर्णन प्रवणधिषणेन श्रीकृष्णद्वैपायनेन श्रीकृष्णपवित्रचरित्रचित्रितं श्रीमद्भागवताभिधान मेतत्पुराणरत्नं प्राणायि। इदं सकलोपनिषत्प्रतिपाद्य निखिलवेदान्त सारपूत मिति निश्शेषप्रेक्षावद्गणप्रतीक्ष्य मिति चाऽत्र नास्ति संशयलेशोऽपि। इदञ्च मात्स्यगारुडपुराणाद्यनेक सदुन्यबृन्दै रुपश्लोक्यमानं बाभाति। यथा निरुपदानि गीता-सहस्रनाम रामायणादिपदानि भगवद्गीता- विष्णुसहस्रनाम-वाल्मीकिरामायणादीनि बोधयितु मलम्भूष्णूनि भवन्ति, तथैव निरुपदः केवलो भागवतशब्दः श्रीविष्णु (पारम्यबोधि) भागवत मेव बोधयतीति निखिलशिष्टजनानुभवप्रतीतोऽयं विषयः भागवतप्रशस्तिं पिशुनयति। निखिलमुनिगणपरिचरणार्चितचरणनलिनयुगलेन वीतरागाणा मग्रण्या शुकमहर्षिणा मग्रद्ध मधीतस्य, मोक्षशास्त्र मिति निर्णीय तेन मुनिना मुमुक्षवे परीक्षिते महाराजाय उपदिष्टस्य अस्य पुराणश्रेष्ठस्य माहात्म्य मुद्भावयितुं भाषादेव्यपि न प्रगल्भेत।

पुराणाना माविर्भावकालं प्रति निश्चप्रचं न किञ्चि द्वक्तुं शक्यते। वेदाना मिव इतिहासपुराणादीना मपि कालः अत्यन्तं प्राचीनः इत्येव परं वक्तुं पार्यते। पुराणानां अद्यत्वे परिदृश्यमानं परिनिष्ठितं रूपन्तु क्रिस्तोः पूर्वं पञ्चमशताब्द्याः षष्ठशताब्द्या वा परत एव निष्पन्न मिति विमर्शका वदन्ति। तेषां मौलिकं रूपन्तु ततो बहु कालात्पूर्व मेवाऽऽसीदिति निर्णीयते। वेदसंहितासमकालिका न्येतानीति अनुमीयते। पुराणनिर्देशः अथर्ववेदे उपलभ्यते। तत्र पुराणं ऋक्सामच्छन्दोभि स्सह यज्ञोच्छिष्टा दुद्भूत मिति वर्ण्यते। शतपथब्राह्मणे, गोपथब्राह्मणे, बृहदारण्यकोपनिषदि च पुराणपरामर्शोऽस्ति। महाभूतस्य (परमात्मनः) निश्वसिता देत दुदभव दिति बृहदारण्यकोपनिषद्वर्णयति। पूर्वोक्तेषु स्थानेषु पुराण मित्येकवचनान्तमेव पदं प्रायोजि। अत एतत् विज्ञायते यत्, पुराणमिति व्यवहृता वैदिकविज्ञानसम्बन्धिनी एका प्रातिस्विकी शाखा असीदिति, सा अद्यत्वे इव विविधमत विद्योतक नानाविधग्रन्थरूपत्वेन नासी दिति च। सृष्टिः, प्राचीनचरितानि, कथाः, गाथाः, राज्ञां, ऋषीणाञ्च वंशानुचरितं, मन्त्राणां यागाना ञ्च आविर्भावसम्बन्धिनो वृत्तान्ताश्च यत्र

वर्ण्यन्ते तादृशपुराणस्य पारायणं दीर्घकालानुवर्तिसत्तसम्बन्धिधार्मिकानुष्ठानानां मध्ये विरामकाले प्रवर्तित मिति ज्ञायते; विशिष्य अश्वमेध-राजसूयादि यागाना मनुष्ठानवेलायां पुराणपठनं प्रधानकृत्य मासीत्।

अत्यन्तप्राचीनकाले पुराणपठनं यागानुष्ठानवेलासु ब्राह्मणाना मेव पुरोधसां कृत्य मासीत्। ततो गच्छति काले पुराणपठनस्य यागमुख्याङ्गत्व मनङ्गीकुर्वद्भिः वैदिकैः इदं कृत्यं सूताना मेव विहित मभवत्। एतादृशकृत्यविभागस्य सूचिकैषा गाथा परिशील्यताम्— महर्षिर्व्यासः पुराणसंहितासङ्कलनानन्तरं रोमहर्षणाख्यस्य सूतकुलीनस्य शिष्यस्य वशे पुराणप्रवचनकृत्यं समार्पयत्। रोमहर्षणश्च कृत्स्नं पुराणं षोढा विभज्य षड्भ्यश्शिष्येभ्यः प्रायच्छत्। षट्सु एतेषु शिष्येषु त्रय शिशिष्याः तिस्रः संहिताः पर्यकल्पयन्। एतास्संहिताः रोमहर्षणीया च पुराणवाङ्मयस्य सर्वस्य मूलभूता भवन्ति।

जनश्रुति मनुरुध्य एव मूह्यते। प्राक् अत्यन्तसङ्कीर्णानां वेदानां परिष्करणं वेदव्यासस्य परमं कर्तव्य मासीत्। तत्परिष्करणानन्तरञ्च वेदतुल्यकक्ष्याणां पुराणाना मपि एकराशीभूय सङ्कीर्णाना मिव स्थितानां परिष्कारोऽपि वेदव्यासेनैव व्यधायि। वेदा स्सर्वे ब्राह्मणपुरोहितेषु निक्षिप्ताः। वेदवाङ्मयापेक्षया पृथक्कृतानि पुराणानि तु सूताधीनानि कृतानि। एते च सूताः कालानुरोधेन प्रजाभिरुच्यनुसारेण च नूलै रंशै स्संयोज्य पुराणवाङ्मये महतीं वृद्धिमकल्पयन्त। आपस्तम्बसूत्रकाला त्प्रागेव एतानि पुराणानि परिष्कृतरूपाणि विशिष्टस्थानभाञ्जि, प्रमाणभूतानि च समपद्यन्त। अतएवापस्तम्बसूत्रे भविष्यत्पुराणात्, अन्यस्मात् कस्माच्चन पुराणाच्च कञ्चन ग्रन्थभाग स्समुदधारि। वेदाश्च व्यासेन परिष्कृता स्तदनन्तरं विकृती रभजमानाः तथैवाऽवातिष्ठन्त। पुराणानि तु प्रातिस्विकेन असाधारणेन मार्गेण वैदिकदर्शनपथ मनुवर्तमानानि क्रिस्तोः पूर्व पञ्चमशतकात् षष्ठशतकाद्वा आरभ्य क्रिस्तोः पश्चात् द्वादशशतकपर्यन्तं अतिमात्रमेधमानाकृतीनि समभवन्। भक्तिप्रबोधः, नानाविधा स्समयाः, विज्ञानविषयाः, साङ्ख्याः, चरित्रविशेषाः इत्येते चान्ये च बहवोऽपेक्षिताः अंशाः पुराणेषु पद मलभन्त।

## पुराणशब्दनिर्वचनम्

१. पुरा भवम् पुराणम् प्राचीनकालोत्पन्न मित्यर्थः।

२. पुराऽपि नवम्, पुराणम्, प्राचीनकालसम्बन्ध्यपि एतत् विषयवैशिष्ट्येन नूतनव त्प्रतिभासमान मित्यर्थः।

३. पुरा आगतानागतौ [पुरा इत्यस्य अव्ययस्य (प्राचीन) अतीतकालवाचित्व मिव अनागत (भविष्यत्) कालबोधकत्वम-प्यस्ति।] अणति कथयति इति पुराणम्। अण शब्दे इति धातुः।

४. पुरा नवं भवति पुराणम्— इति यास्कनिरुक्ते।

५. पुरा नीयते इति पुराणम् इति वाचस्पत्यम्।

६. "यस्मा त्पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन वा स्मृतम्। निरुक्त मस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते" इति वायुपुराणे। पुरा प्राचीनकालोदन्तं अनक्ति व्यनक्ति, बोधयतीति पुराणमित्यर्थः।

७. "पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन वै स्मृतम्"— पाद्मपुराणे।।

८. "यस्मात्पुरा ह्यभूच्चैतत् पुराणं तेन तत् स्मृतम्"— ब्रह्माण्डपुराणे।

९. "पुरातनस्य कल्पस्य पुराणानि विदु र्बुधाः"— मात्स्यपुराणे।

१०. "प्राग्वृत्तकथनं पुराणम्"— शुक्रनीतौ।

इमानि पुराणानि अष्टादशेति परिगणितानि। धारणसौकर्यार्थ विलक्षणसङ्केतविधया एकश्लोकनिबद्धानि तानि एवं देवीभागवते परिदृश्यन्ते —

"मद्वयं भद्वय ञ्चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।
अनापलिङ्गकूस्कानि पुराणानि पृथक् पृथक्।।" इति।

मद्वयम् = मकाररब्धपदद्वितयबोध्यं पुराणद्वय मित्यर्थः। एव मुत्तरत्रापि। (१) मत्स्यपुराणम् (२) मार्कण्डेयपुराणञ्च अनेन पदेन समग्राहिषाताम्। भद्वयम् = भकाररब्धपदबोध्ये (३) भागवत (४) भविष्यपुराणे, ब्रत्रयम् = (५) ब्रह्म (६) ब्रह्माण्ड (७) ब्रह्मवैवर्तपुराणानि त्रीणि, वचतुष्टयम् = (८) विष्णु (९) वराह (१०) वायु (११) वामनपुराणानि चत्वारि। अनापेत्यादि पदस्थिता न्यक्षराणि तत्तत्पुराणवाचकाद्यक्षर सङ्केतरूपाणि वेदितव्यानि। तथाच, अ = (१२) अग्निपुराणम् ना = (१३) नारदपुराणम् प =

(१४) पद्मपुराणम् लिङ् = (१५) लिङ्गपुराणम्, ग = (१६) गरुडपुराणम् कू = (१७) कूर्मपुराणम्, स्का = (१८) स्कान्दपुराणम् इति एतान्यष्टादश। अत्र ब्रह्मवैवर्तपुराणस्य ब्रह्मकैवर्तमिति दाक्षिणात्येषु व्यवहारः। उपरिनिर्दिष्टश्लोके वायुपुराणं सङ्गृहीतम्, शैवपुराणन्तु नोपात्तमिति न मन्तव्यम्, वायवीयस्यैव शैव मित्यपि व्यवहार इति — "यत्र त द्वायवीयं स्यात् रुद्रमाहात्म्यसंयुतम्। चतुर्विंशत्सहस्राणि पुराणं शैव मुच्यते" इति मत्स्यपुराणपरिशीलनेन अवगम्यते। श्रीभागवते द्वादशस्कन्धे त्रयोदशाध्याये एषां पुराणानां श्लोकसंख्याऽपि निरदेशि। सा चेत्थम् —

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1 | ब्राह्मम् | १०,००० | श्लोकाः |
| 2 | पाद्मम् | ५५,००० | श्लोकाः |
| 3 | वैष्णवम् | २३,००० | श्लोकाः |
| 4 | शैवम् | २४,००० | श्लोकाः |
| 5 | भागवतम् | १८,००० | श्लोकाः |
| 6 | नारदीयम् | २५,००० | श्लोकाः |
| 7 | मार्कण्डेयम् | ९,००० | श्लोकाः |
| 8 | आग्नेयम् | १५,४०० | श्लोकाः |
| 9 | भविष्यम् | १४,५०० | श्लोकाः |
| 10 | ब्रह्मवैवर्तम् | १८,००० | श्लोकाः |
| 11 | लैङ्गम् | ११,००० | श्लोकाः |
| 12 | वाराहम् | २४,००० | श्लोकाः |
| 13 | स्कान्दम् | ८१,१०० | श्लोकाः |
| 14 | वामनम् | १०,००० | श्लोकाः |
| 15 | कौर्मम् | १७,००० | श्लोकाः |
| 16 | मात्स्यम् | १४,००० | श्लोकाः |
| 17 | गारुडम् | १९,००० | श्लोकाः |
| 18 | ब्रह्माण्डम् | १२,००० | श्लोकाः |
| | | ..... | |
| | | ४,००,००० | |
| | | ..... | |

एवं पुराणसन्दोहश्चतुर्लक्ष उदाहृतः।

पाद्मे अयं पुराणवर्गः सात्त्विक राजस तामस भेदेन त्रेधा विभक्तः —

सात्त्विकानि यथा — "वैष्णवं नारदीयञ्च तथा भागवतं शुभम्।
गारुडञ्च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शनि॥"

राजसानि यथा — "ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं तथैव च।
भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोधत॥"

तामसानि यथा — "मात्स्यं कौर्मं तथा लैङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च।
आग्नेयञ्च षडेतानि तामसानि निबोधत॥"

एकैकस्मिन्नपि वर्गे षट् पुराणानि अन्तर्भवन्तीति, त्रिषु वर्गेषु (षट् त्रिगुणीभूताः) आकलय्य अष्टादश पुराणानि भवन्ति। एवं कौर्मे उपपुराणान्यपि अष्टादश सनामोल्लेखं निर्दिष्टानि। तानि च — (१) सनत्कुमारोक्तं पुराणम् (२) नारसिंहम् (३) स्कान्दं, कुमारेण भाषितम् (४) शिवधर्माख्यं नन्दीशभाषितम् (५) दुर्वासःप्रोक्तम् (६)नारदोक्तम् (७) कापिलम् (८) मानवम् (९)उशनसा

प्रोक्तम्, (१०)ब्रह्माण्डम्, (११) वारुणम् (१२) कालिकाह्वयम् (१३) माहेश्वरम् (१४)साम्बम्, (१५) सौरम् (१६) पराशरोक्तम् (१७) मारीचम् (१८) भार्गवाह्वयम् — इति। (कूर्म. पु. 1-1-17, 18, 19, 20)

उपपुराणसंख्याविषये विप्रतिपत्तय स्सन्ति। केचि देषामुपपुराणानां संख्यां चतुस्त्रिंशन्मिता मपि प्रदर्शयन्ति।

## पुराणलक्षणम्

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरित ञ्चेति लक्षणानान्तु पञ्चकम्"

इति कोशप्रसिद्धं साधारणं पुराणलक्षणम्। एतत् उपपुराणविषये केवल मुनवर्तते इति, महापुराणन्तु दशलक्षणं भवेदिति च ब्रह्मवैवर्ते प्रतिपाद्यते। "एत दुपपुराणानां लक्षणञ्च विदुर्बुधाः, महताञ्च पुराणानां लक्षणं कथयामि ते" इत्यारभ्य सृष्ट्यादि दशलक्षणतां महापुराणस्य न्यरूपयद्ब्रह्मवैवर्तम्।

श्रीमद्भागवतीयाः श्लोकाः परिशील्यन्ताम् —

"पुराणलक्षणं ब्रह्मन् ब्रह्मर्षिभिर्निरूपितम्।
शृणुष्व बुद्धि माश्रित्य वेदशास्त्रानुसारतः॥
सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्तिरक्षान्तराणि च।
वंशो वंश्या(शा)नुचरितं संस्था हेतु रपाश्रयः॥
दशभिर्लक्षणै र्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः।
केचित्पञ्चविधं ब्रह्मन् महदल्प व्यवस्थया॥" (भाग. 12-7-8, 9,10)

अत्र पुराणस्य दशलक्षणता मुपाद्य, ततः केचित्कारपक्षमालम्ब्य पञ्चलक्षणता मपि निरूप्य, मतद्वैतेन शङ्कामुद्भाव्य 'महदल्पव्यवस्थया' इति विलिख्य, महापुराणस्य दशलक्षणत्वं अल्प(उप)पुराणस्य पञ्चलक्षणत्वञ्च संसूच्य, शङ्का मपनुद्य, व्यवस्था मकुरुत भगवान् व्यासः।

## श्रीमद्भागवतकर्तृत्वशङ्कापरामर्शः

इत्थं परमप्रमाणभूतस्य श्रीभागवतस्य कर्तृत्वविषये असूयुभिः शाक्तैः परिकल्पिताः काश्चन शङ्काः, तासां समाधानानि च सङ्ग्रहेण क्रमशोऽत्र निर्दिश्यन्ते।

१. शङ्का — हेमाद्रिनाम्नः कस्यचि द्राज्ञः आस्थानपण्डितेषु अन्यतमो बोपदेवः गोपालमतावलम्बिन स्तत्प्रभोः तृप्तये तदाज्ञया एत त्पुराणं भगवद्व्यासप्रणीत मिति प्रचारयितुं तन्नाम्ना विरचय्य राज्ञे समर्पयामास। प्रभुश्च तदधीत्य सम्प्रीतः सर्वथोत्कृष्ट मेत देव व्यासप्रणीतं भागवत मिति प्रथा मुत्पाद्य मूलग्रन्थस्य ब्ह्मोः पुत्तिकाः (प्रतिलिपीः) कारयित्वा आस्थानविद्वद्भिः व्याख्याश्च लेखयित्वा पण्डितमुखेन ग्रन्थ स्यैतस्य महतीं ख्याति मतानीत् — इति जनश्रुतेः श्रीमद्भागवत मेतत् बोपदेवकर्तृक मेव, न व्यासरचितम् इति केचित् वदन्ति।

समाधानम् — तदेत दसङ्गत मिति अनन्तरप्रतिपादनेन ज्ञायेत। अस्य भागवतस्य अष्टादशपुराणान्तर्गतत्वं, प्राचीनत्वं, व्यासकर्तृकत्वञ्च अनभ्युपगच्छद्भिः, नवीनबोपदेवकर्तृकत्वञ्च निरूपयितुं प्रवृत्तैः प्रवर्तितो वादकोलाहलोऽतिमहान्। श्रीविष्णुभागवतं बोपदेवरचित मिति शाक्तैः अभिनिवेशवशीकृताः केवलप्रद्वेषेण कथयन्ति। अस्याः किंवदन्त्याः मूलभूता कथा काचिदत्र प्रस्तूयते — क्रि॰ प॰ १२७१—१३०९ संवत्सरमध्यकाले देवगिरिं राजधानीं कृत्वा शासतो रामरायस्य हेमाद्रिनामा पण्डितः अमात्यशेखरो बभूव। तस्य बोपदेवनामा कश्चित् पण्डितप्रवरः परमं मित्र मासीत्। कदाचि दयं हेमाद्रिः — "अस्या मास्थान्यां मुहूर्तद्वितये भागवताध्यायसङ्ग्रहार्थं ग्रन्थेनैकेन वर्णयितुं कुशलः कश्चित्कि मास्ते ?" इति सदस्यान् विदुषोऽपृच्छत्। बोपदेवः 'अहं करिष्यामि' इत्युक्त्वा प्रतिज्ञातार्थनिर्वाहाय श्रीमद्भागवतकथानुक्रमणिकाप्रतिपादनपरं भागवतसाराख्यं कञ्चित् ग्रन्थं सन्दृभ्य सचिवाय समर्पयत्। तत्राय माद्यः श्लोकः "श्रीमद्भागवताध्यायसारो ह्यत्र निरूप्यते। विदुषा बोपदेवेन मन्त्रिहेमाद्रितृप्तये" इति। ग्रन्थमेतं प्रेक्ष्य

तुतोषामात्यः। पुन स्तस्यैव तृप्तये, तदाज्ञया भक्तिमुक्ताफल-भक्तिलहरीनामकं ग्रन्थद्वय मपि बोपदेवः प्रणिनाय। तेन चायं कविः सम्मानितोऽभूत्। भक्तिमुक्ताफलाख्यग्रन्थटीकावसाने "यस्य व्याकरणे" इत्यारब्धे श्लोके 'भागवततत्त्वोक्तौ त्रयः' ग्रन्था निर्मिता इति प्रतिपाद्यते। अतोऽनेन भागवतसम्बन्धि पूर्वोक्तग्रन्थत्रयं लिखित मिति (न तु भागवतम्) निश्चीयते। किञ्च। तत्र भागवतग्रन्थः द्वाविंशतिवार मधीत इति वदता भागवतग्रन्थमाहात्म्यवर्णनपुरस्ससरं वेदव्यासोऽस्तूयत।

बोपदेवप्रणीतं भागवताध्यायसार-भक्तिमुक्ताफल-भक्तिलहरी समाह्वयग्रन्थत्रय मपरिशील्य, त त्प्रमेय मनालोच्य, अवि द्वद्भिः कृतं सङ्ग्रहग्रन्थकर्तरि परिपूर्णभागवतग्रन्थकर्तृत्वारोपण मत्यन्तासङ्गतम्। अन्योऽप्यत्र विशेषः। क्रि० प० अष्टमशताब्द्यां स्थितैः शङ्कर-भगवत्पादैः भागवतव्याख्याऽपि काचि ल्लिखितेति विजयध्वजाचार्यैः वर्णितम्। शङ्कराचार्यप्राचार्यैः व्यासपादैः क्रि० प० सप्तमशताब्द्यां उषितवद्भिः स्वीयोत्तरगीताव्याख्यायां तदुक्तं भागवते इति लिखद्भिः "श्रेयस्सुतिं भक्ति मुदस्य" (भाग. 10-14-4) इत्ययं श्लोकः, पुन रन्यत्र "जग्राह (जगृहे) पौरुषं रूपं" (भाग. 1-3-1) इत्यन्यश्च उदाहारि। सति चैवं त्रयोदशशताब्द्यां स्थितेन विप्रकृष्टानन्तर कालिकेन बोपदेवेन भागवतं रचित मिति वर्णनं युक्तिदूर मेव।

२. शङ्का — अन्यच्च। श्रीवेदव्यासप्रणीतेषु भारत स्कान्द पाद्मादि पुराणेषु परिदृश्यमाना रचनाशैली प्रायशः पाञ्चालीरीति-निबद्धा सुबोधा च भवति। श्रीमद्भागवतशैली तु गौडीरीतिप्रधाना क्लेशसंवेद्या नव्यकाव्यशैली सन्दृब्धा च दृश्यते। अर्थात् भारतादिग्रन्थशैलीतः अतिविलक्षणा रचनाशैली भागवते लक्ष्यते इति अस्य व्यासकर्तृत्वं न सङ्गच्छते इति अन्ये वदन्ति।

तत्रेदं समाधानम् — ग्रन्थशय्याभेद माश्रित्य भिन्नकर्तृत्वप्रतिपादन मापातरमणीयम्। श्रीशङ्करभगवत्पादप्रणीतेषु ग्रन्थेषु परस्परं शैलीभेदो दृश्यते। भट्टबाणप्रणीतायां कादम्बर्यां यादृशी मृदुमधुरा शैली तादृशी हर्षचरिते नास्ति। कालिदासरचितयो रघुवंश-मेघदूतयो रपि शैल्यां मह दन्तर मस्ति। वस्तुतस्तु, अभिन्नकर्तृकग्रन्थेष्वपि प्रमेयभेदेन, तादात्विकमनःपरिपाकभेदेन अभिनिवेशतारतम्येन च शैली भिन्ना बोभवीति। वेदाध्ययनानधिकारिणां साधारणानां कृते भारतादिग्रन्थजातं चित्रकथाप्रतिपादकं आशु-बोधोद्देशेन रचित मिति तत्र शैली अधिकार्यनुरोधेन सुलभा आश्रिता। श्रीमद्भागवतन्तु आत्मतुष्टये भक्तिप्रवणेन च चेतसा आत्मोद्धरणाय उद्दिष्टम्। अतिशयिताभिनिवेशवता व्यासेन ब्रह्मसूत्रार्थगर्भित मेतत् पुराणं पण्डितोपादेयतया अखिलोपनिषत्प्रतिपाद्यार्थप्र-काशकं निरमायि। अत एव 'प्रेक्षावतां भागवते परीक्षा' इत्याभाणकश्चात्र युज्यते। अतोऽत्र शास्त्रग्रन्थे इव ईषदुर्बोधा प्रौढा शैली महर्षिणा समाद्रियत। अत श्शैलीभेदमुपाश्रित्य भिन्नकर्तृकत्वनिरूपणं दुर्निर्वाहम्।

३. शङ्का — अपि च। भागवतव्याख्यातृभिः श्रीधराचार्यादिभिः भागवतीयसर्वप्रथमश्लोकव्याख्यानावसरे उद्धृतानां पुराणवचनानां सम्बन्धीनि "हयग्रीवब्रह्मविद्या" इत्यादीनि पदानि देवीभागवतोदन्त मेव प्रस्तुवन्ति; न विष्णुभागवतीयम्। खण्डितमूर्ध्नो विष्णोः हयग्रीवत्वप्राप्तिः कण्ठरवेण देवीभागवते प्रतिपादिता। हयग्रीवावतारश्च श्रीविद्योद्धरणैकप्रयोजनकः। एवं हयग्रीवोपदिष्टा विद्या हयग्रीवब्रह्मविद्या इति शास्त्रसम्प्रदायसम्प्रतिपन्नोऽयं विषयः। अयं देवीभागवते एवास्ति, नतु विष्णुभागवते। 'हयग्रीवब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवध स्तथा' इत्यादीनि वचनानि देवीभागवतपराण्येव। अतो देवीभागवत मेव व्यासरचितम्, विष्णुभागवतन्तु नवीनेन अन्येन केनापि निर्मितम् — इति केचित्प्रत्यवतिष्ठन्ते।

इदं समाधीयते। 'हयग्रीवब्रह्मविद्या' इत्यादिवचन मवष्टभ्य हयग्रीवेण अगस्त्यमहर्षये समुपदिष्टस्य देवीमहिमावबोधकस्य ग्रन्थजातस्य हयग्रीवब्रह्मविद्येति शाक्तसमयप्रसिद्धि माश्रित्य पुराणवचनस्य देवीभागवतपरत्व मेवेति यत्प्रोक्तं तदपि न सङ्गच्छते। हयग्रीवब्रह्मविद्येत्यत्र बहुधा विग्रहवाक्यानि भवन्ति। हयग्रीवाय प्रोक्ता ब्रह्मविद्या इति त्वसङ्गतम्। हयग्रीवस्स्वयं वेदाद्युद्धारार्थ-मवतीर्णः। तस्मै उपदेशकर्ताऽन्यः को वा स्यात्? हयग्रीवेण प्रोक्ता ब्रह्मविद्या इत्यपि वक्तुं न शक्यते। वेदादीना मपौरुषेयत्वात् हयग्रीवप्रोक्तत्व मपि अयुक्त मेव। अतः हयग्रीवेण उद्धृता ब्रह्मविद्या इत्येवार्थो वर्णनीयः। अर्थात् नष्टप्राया ब्रह्मविद्या पुनरुद्धृता इत्यर्थः। ब्रह्मविद्याशब्दान्तर्गतब्रह्म-शब्दस्य वेद-तत्त्व-तपो-ब्राह्मण-चतुर्मुखाद्यर्थस्वीकारेणाऽपि देवीपरत्वं (श्रीविद्यापरत्वं) न वक्तु मुचितम्। अथ, ब्रह्मणः पत्नी सरस्वती तस्या विद्या इति खलु वक्तव्यम्। तत्तु न सङ्गच्छते। तदा ब्राह्मीविद्या, ब्राह्मणीविद्या ब्रह्माणीविद्या इति वा स्यात्, तत्र पुंवद्भावाप्रसक्तेः ब्रह्मविद्येति नेष्टरूपसिद्धिः। अष्टादशसहस्रग्रन्थपरिमितत्वद्वादशस्कन्धत्वादयस्तु उभयसाधारणाधर्माः इति न किञ्चि देतत्। गारुडपुराणोदाहृतेन 'अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणाम्' इत्यादिना प्रतिपादितानां अर्थानां देवीभागवते अप्रसक्तत्वात्, तद्वचनानां श्रीविष्णुभागवतपुराणपरत्वमेव सुवचम्।

४. शङ्का — अन्यच्च। लोकोद्धरणोद्यतो व्यासमहर्षिः सङ्कीर्णान् वेदान् संविभज्य, शिष्या नध्याप्य तन्मुखेन लोके उत्सन्नप्रायाः श्रुतीः उद्दधार। पश्चात् वेदार्थे सन्दिहानानां कृते अष्टादशपुराणानि, तत्राप्यतृप्यन् अष्टादश उपपुराणान्यपि रचयामास। तदनन्तर मेव महाभारतनिर्माणं कृतमिति सर्वे अभ्युपयन्ति। महाभारतनिर्माणात्परत एव विष्णुभागवतपुराणं निरमीयतेति भागवतादेव ज्ञायते। तथा च सकलपुराणोपपुराण महाभारत रचनानन्तरमेव रचितस्य विष्णुभागवतस्य अष्टादशपुराणान्तर्गतत्वोक्तिः न युक्तिसहा। अतः अष्टादशपुराणबहिर्भूतस्य अस्य प्रामाणिकता संशयालीढा भवति इत्यपरा शङ्का।

समाधानम् — नैत द्युज्यते। श्रुतिस्मृतीतिहास पुराणादि सकलसदुःथाः अनादिसिद्धाः। कालवैषम्येण उत्सन्नेषु प्राचीनप्रबन्धेषु नारायण एव कृष्णद्वैपायनरूपेणावतीर्य, वेदव्यास इति अन्वर्थनामा भूत्वा यथा वेदान् तथा पुराणादी न्यपि उद्धृत्य संस्कृत्य प्रकट्यकरोत्। वस्तुतः पुराणानां सर्वेषा मपि विषये व्यासस्य संस्कर्तृत्व मेव, नतु कर्तृत्व मिति विदुषा मभिप्रायः। "अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवतीसुतः" इत्यत्र श्लोके कर्तृशब्दः संस्कर्तृबोधक एवेति निश्चीयते विपश्चिद्भिः। अतः पुराणानां पौर्वापर्यं सहेतु निर्णेतुं न शक्यते। सर्वेषां पुराणानां परिष्करणं एककाल आसी दिति निर्णीयते। परन्तु सर्वपुराणवैलक्षण्य मस्य भागवतस्य सर्वैरभ्युपेयते। भागवतावतारकथापरिशीलनेन एतत् सिध्यति। भगवान् व्यासः सर्वपुराणोत्कृष्टं सकलोपनिषत्प्रतिपाद्यार्थोपबृंहकत्वेन श्रीमद्भागवत-मात्मोद्धरणाय स्वय मेव विरचय्य स्वपुत्राय शुकयोगिने समुपादिशत्, स च परीक्षिते मुमुक्षवे इति। ततः क्रमशोऽस्य प्रचारः। ब्राह्मादीनां प्रवक्तार स्त्वन्ये, प्रचारको व्यासः। अपि तु भागवतपुराणस्य प्रवक्ता स्वयमेव व्यास इति विवेकः।

एतावतो ग्रन्थस्य सङ्गृहीतं तात्पर्यमेतत् — इदं भागवतं व्यासप्रणीत मेव; इद मेव अष्टादशपुराणान्तर्गतम्; गारुडादिपुराणप्रशंसापात्र मपि इद मेव भागवतम् इति च*।

एतदुःथकर्तृत्वविषये अपरे केचि दन्यथा आशेरते। "अम्बरीष! शुकप्रोक्तं शृणु भागवतं सदा" इति पाद्मपुराणस्थं अम्बरीषं प्रति गौतमेनोक्तं वचन माधारीकृत्य भागवतं शुकप्रोक्तं शुककर्तृक मिति व्याख्यान्ति। वस्तुतस्तु शुकप्रोक्त मित्यस्य व्यासापित्तु रधीत्य स्वमुखेन पुनः कथित मित्यर्थः। शुकप्रोक्तं इतीदं पदं पाद्मपुराणस्थम्। अत्रैव भागवते भागवतं व्यासमुनिप्रोक्त मित्यस्य बहूनि प्रमाणानि सन्ति। "उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः" (भाग. 1-3-40), "निःश्रेयसाय लोकस्य धर्म्यं स्वस्त्ययनं महत्, तदिदं ग्राहयामास सुत मात्मविदां वरम्" (भाग. 1-3-41,42), "अनर्थोपशमं साक्षा द्भक्तियोग मधोक्षजे। लोकस्याजानतो विद्वां श्चक्रे सात्त्वतसंहिताम्" (भाग. 1-7-6) इत्येभिर्वचनैः भागवतस्य व्यासकर्तृकत्वं सुतायोपदिष्टत्वञ्च स्फुटं प्रतिपादिते। "इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्। अधीतवान् द्वापरादौ पितु र्द्वैपायना दहम्" (भाग. 2-1-8) "वेदगुप्तो मुनिः कृष्णो यतोऽहमिद मध्यगाम्। हित्वा स्वशिष्यान् पैलादीन् भगवान् बादरायणिः" (भाग. 9-22-22), "मह्यं पुत्राय शान्ताय परं गुह्य मिदं जगौ" (भाग. 9-22-23) इति श्रीशुकेनैवोक्तत्वात्, व्यासो विरचय्य पुत्रायोपदिदेशेति स्पष्टमवगम्यते। अतोऽत्र शुककर्तृकत्वशङ्का परास्ता।

## व्याख्यानानि

अस्माभि र्दृष्टानि व्याख्यानानि एकादश। तानीमानि —

१. श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका।
२. श्रीवंशीधरकृतः भावार्थदीपिकाप्रकाशः। नाम्नैव ज्ञायते श्रीधरस्वामिरचितभावार्थदीपिकाया व्याख्यान मेतदिति।
३. श्री राधारमणगोस्वामिप्रणीता दीपिनी।
४. श्रीवीरराघवाचार्यनिर्मिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका।
५. श्रीमद्विजयध्वजतीर्थलिखिता पदरत्नावली।
६. श्रीमज्जीवगोस्वामिसन्दृब्धः क्रमसन्दर्भः।
७. श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिपरिकलिता सारार्थदर्शिनी।

---

* विस्तर स्त्वत्र विषये वाविळ्मुद्रणालयमुद्रिते श्रीधरीयादिव्याख्यासहिते श्रीमद्भागवते, ग्रन्थपीठिकान्तर्गत-'सिद्धान्तचन्द्रिकाख्य' ग्रन्थभागे द्रष्टव्यः।

८. श्रीमच्छुकदेवविहितः सिद्धान्तप्रदीपः।

९. श्रीमद्वल्लभाचार्यसमुद्भाविता सुबोधिनी।

१०. श्रीपुरुषोत्तमचरणगोस्वामिघटितः सुबोधिनीप्रकाशः। अयं वल्लभाचार्यकृतसुबोधिनीव्याख्यानरूपः।

११. गोस्वामि श्रीगिरिधरलाललिखिता बालप्रबोधिनी।

श्रीमद्भागवत मतीव जनप्रियं, सकलोपनिषत्सारभूतम्, असाधारणख्यातिभाक् च भवति। इदञ्च पुराणोत्तमत्वेन भारतदेशे परिगण्यते। तत एव नानाप्रकारसम्प्रदायानुसारिणः महान्तो व्याख्यातारः स्वस्वमतस्य उपोद्बलकं श्रीभागवत मिति विश्वसन्ति स्म। अतः ते पुराणमेतत् स्वस्वमतानुरोधेन व्याख्यातुं प्रयेतिरे। एवं भागवतव्याख्यापरम्परा अतिसमृद्धा अजायत। अद्य यावत् भागवतसम्बन्धिन्यः व्याख्याः विमर्शग्रन्थाश्च षट्त्रिंशदुत्तरैकशतसंख्याका (१३६) लिखिता इति ज्ञायते।

एवं सत्सु बहुषु व्याख्यानेषु अस्माभिः दृष्टानां व्याख्यानानां मध्ये तिस्र एव व्याख्याः अत्र ग्रन्थे उपात्ताः। भारतदेशे परमवैदिकमतेषु अतिप्रसिद्धानि अद्वैतविशिष्टाद्वैतद्वैताभिधानानि मतानि त्रीणि भवन्ति। अत एतन्मतत्रयसम्बद्धानि त्रीणि प्रसिद्धानि व्याख्याना न्येव अस्माभिः परिष्करणाय स्वीकृतानि।

१. त्रिषु व्याख्यातृषु श्रीधरस्वामी प्राचीनतमः, प्रतीक्ष्यतमो बहूनां मार्गदर्शी च व्याख्याता। अद्वैतमतावलम्बी अयं भावार्थदीपिकाख्यां व्याख्यां व्यरचत्। "सम्प्रदायानुसारेण पूर्वाचार्यानुसारतः। श्रीभागवतभावार्थदीपिकेयं वितन्यते" इति लिखन्नयं विवरणकारः स्वस्य सम्प्रदायानुसारितां पूर्वाचार्यानुरोधिताञ्च मुक्तकण्ठं ब्रवीति। अत्र पूर्वाचार्यशब्देन चित्सुखाचार्योऽभिसंहित इत्यभिप्रयन्ति। व्याख्येयं परमप्रमाणभूता बोद्धव्यार्थप्रबोधिनी सुगमा च चकास्ति। "व्यासो वेत्ति शुको वेत्ति राजा वेत्ति न वेत्ति वा। श्रीधरः सकलं वेत्ति श्रीनृसिंहप्रसादतः" इत्यनेन श्लोकेन, वक्ता भगवान् व्यासो वेद, श्रोता च शुको योगी वेद। परीक्षित्तु वेद, न वा इति संशयः। अपितु श्रीधरस्वामी, समग्रं भागवतं सरहस्यं वेत्तीति प्रतिपादयताऽभिष्टुतः।

नाभादासजीसूरिकृत भक्तमालाख्यग्रन्थतः इदं ज्ञायते, यत् वारणास्यभिजनः बिन्दुमाधवप्रभुः श्रीधरस्वामिव्याख्यां प्रामाणिकी मवदददिति एत दपि भावार्थदीपिकाया उपादेयत्वे प्रमाणम्। मतान्तरीया अपि विवरणकाराः व्याख्या मेतां श्लाघन्ते; तद्व्याख्यानांशांश्च स्वीयेषु व्याख्यानेषु योजयन्ति। केचित् श्रीधराचार्याशयं विवरीतु मेव प्रयतमानाः तस्य प्रामाणिकता मुद्घोषयन्ति। अत्र जीवगोस्वामिनः क्रमसन्दर्भाख्यव्याख्यादृष्टः श्लोकः स्मरण मर्हति — "स्वामिपादै र्न य द्व्यक्तं, यद्व्यक्तञ्चास्फुटं क्वचित्। तत्र तत्र च विज्ञेयः सन्दर्भक्रमनामकः" इति। अयं श्रीधराचार्यः, त्रयोदशशताब्द्यां स्थितं, बोपदेवं निर्दिशति। तथा विष्णुपुर्यादिभि लैंखकैश्चायं परामृष्टः। अतः अस्य कालः क्रि॰ प॰ चतुर्दशशतकमध्यभाग इति वक्तुं शक्यते।

२. विशिष्टाद्वैतमतावलम्बिना वीरराघवविदुषा विनिर्मिता भागवतचन्द्रचन्द्रिकेति अन्वर्थनाम्नी व्याख्या चन्द्रिकेव आह्लादजननी, सकलार्थप्रकाशिका, विस्तृताकारा, विबुधमनोरञ्जनी च भवति, भागवतीयप्रथमश्लोकव्याख्या अतिविपुला बहुलार्थप्रकाशिका अवश्यमध्येतव्या भवति। अयं चतुर्दशशताब्द्या मवात्सी दित्यूह्यते।

अत्र केन चि द्विमर्शकेन लिखिता आङ्ग्लभाषामयी काचन पङ्क्तिः भ्रामिका भवति — He was the son of Śrīśaila of Vatsagotra and a pupil of Lakṣmaṇasūri, his father's disciple' ... अय मर्थः। "अयं व्याख्याता वीरराघवः श्रीवत्सगोत्रीयस्य श्रीशैलनाम्नः (तिरुमलाचार्यस्य) पुत्तः। स्वपितु र्शिशष्यस्य लक्ष्मणसूरेः शिष्यश्च" इति। एतादृशभ्रान्तलेखनस्य मूलं भागवतचन्द्रचन्द्रिकाव्याख्यासमारम्भस्थितश्लोकानां यथावद्बोधवैकल्यमेव। "वन्दे वात्स्य महोबलार्यतनयं वात्सल्यवारां निधिं श्रीशैलेशगुरुम्" इति श्लोकभागेन श्रीवत्सगोत्रोद्भवः अहोबलाचार्यस्य पुत्तः वात्सल्यसागरः श्रीशैलेशगुरुः (व्याख्यातु र्वीरराघवाचार्यस्य पिता) अभिवन्दितः। अध्यायावसानस्थितगद्य (Colophon) भागेन 'श्रीशैलगुरोस्सुतेन' इत्यनेन श्रीशैलगुरुः वीरराघवस्य पितेति स्पष्टीभवति। अनन्तरस्तु श्लोकः (द्वितीयः) "श्रीशैलपूर्णा दखिलेतिहासपुराणजालं समवाप्य येन। प्रावर्ति सन्दर्शयतेव शिष्यभावं मुनिं लक्ष्मणमाश्रयेऽहम्" इति। अत्र लक्ष्मणशब्दः श्रीभाष्यकर्तृन् रामानुजाचार्यनेव बोधयति। एषां मातुलाः तिरुमलैनम्बिनामानः। तेषां संस्कृतनाम श्रीशैलपूर्णा इति। त एव रामानुजाचार्याणां श्रीमद्रामायणादीतिहासपुराणरहस्यार्थबोधकाः गुरुवः। कारणजन्मानः रामानुजाचार्याः विदितवेदितव्या अपि रामायणादिरहस्यार्थबोधकेषु तेष्वाचार्येषु शिष्यभाव मवहन्। अत्र लक्ष्मणशब्दः रामानुजपरः, लक्ष्मणस्य रामानुजत्वात्। अयं च रामानुजशब्दः श्रीभाष्यकृद्रामानुजपरः। ता नाचार्यानह माश्रये इत्यर्थः। प्रथमश्लोकस्थितश्रीशैलगुरुशब्दस्य द्वितीयश्लोकस्थ-

श्रीशैलपूर्णशब्दस्य च ऐकार्थ्यं ममन्यत पूर्वनिर्दिष्टो विमर्शकः। अत्र पूर्णशब्दः पर्यालोचनीयः। सः 'नम्बि' इत्यस्य संस्कृतीकरणरूप इति सम्प्रदायकुले प्रतीतो विषयः। अतः श्रीशैल (श्रीशैलेश) गुरुः श्रीशैलपूर्णश्च अभिन्नत्वेन न ग्राह्यौ। अपि च। तदनन्तर-(तृतीय) श्लोकपरामर्शेऽपि इदं स्पष्टीभवति, यत स्तत्र रामानुजाचार्यानन्तरकालिकाचार्यपरम्परा क्रमशो वर्ण्यते। अतः अनेन श्लोकेन रामानुजाचार्यपरेणैव भवितव्यम्।

३. श्रीविजयध्वजतीर्थः पदरत्नावलीसमभिधानां व्याख्यां जग्रन्थ। द्वैतमतावलम्बिनी इयं व्याख्या व्युत्पत्तिविचित्रा, अपूर्वार्थप्रतिपादिका च। अयं व्याख्याता श्रीभागवतात्पर्यनिर्णयाख्यां श्रीमदानन्दतीर्थविरचितां व्याख्या मधिकतर मनुसरति। अनेनाचार्येण व्याख्याते मूलग्रन्थे व्याख्यात्रन्तरस्वीकृतमूलग्रन्थापेक्षया विभिन्नानि पाठान्तराणि बहूनि, अधिकतराः श्लोकाश्च उपलक्ष्यन्ते। कुत्र चि दध्यायविभागश्च अन्यथा क्रियते।

४. अद्य यावत् द्वैताद्वैतविशिष्टाद्वैतमतानुयायिन्यः तिस्रः व्याख्याः निर्दिष्टाः। चतुर्थ्यपि क्वचि द्व्याख्या अत्र प्रकाशने अस्माभि स्संयोज्यते। सुधीसुधासमभिख्या इयं नवीनतमा। अद्यतनपाठकानां अर्थसौलभ्यं मनसि निधाय परिकलितैषा। यदि प्राचीन व्याख्यानेषु यत्र कुत्रापि विवरणापेक्षा परिदृश्यते, आवापोद्वापाद्यावश्यकता वा लक्ष्यते तत्र तत्र सुलभ विपुल प्रतिपादनेन विशदीकरणं अस्या व्याख्यायाः प्राथमिकं लक्ष्यम्। यदि क्वचित् व्याख्यानेषु परस्परविरुद्धम् मिव भासते तत्र सामरस्यनिरूपणेन विरोधपरिहारः द्वैतीयीकं प्रयोजनम्। नवीनैः वैदिकमतेषु शिथिलविश्वासैः कैश्चित् उत्थाप्यमानानां शङ्कानां समाधानलेखनं तार्तीयीकं प्रयोजनम्। तादृशीयं व्याख्या श्री पत्राल राधाकृष्णशर्मप्रणीता। एषा जटिलस्य ग्रन्थभागस्य सौलभ्यसम्पादनाय प्रवृत्ता। किञ्च। एतदुरवः इदंद्वीपे द्वीपान्तरेषु च लब्धप्रतिष्ठाः तत्रभवन्तः श्री एक्किराल कृष्णमाचार्य समाह्वयाः। एते मुख्यतया आन्ध्रभागवतं श्री बम्मेर पोतनामात्यरचित माधारीकृत्य भागवततत्त्वनिरूपणाय महतो ग्रन्थान् रचयन्त आसन्। तेषु केचन प्रकाशिताश्च। तै र्निरूपिताश्च अपूर्वविषयाः आन्ध्रभाषाया मेव वर्तन्त इति, आन्ध्री मजानता मुपकृतये, तत्र स्थितानपि विषयान् क्रोडीकृत्य संस्कृतभाषया निरूपण मस्मिन् व्याख्याने विद्यमानं नवीनभावनासक्तचेतसां विदुषां महते उपकाराय भवे दिति विश्वस्यते। तैः कृष्णमाचार्यैः दत्तः प्रोत्साहः, तदुन्याध्ययनजनितव्युत्पत्तिसंस्कारः, अन्येषां गुरूणां गुरुकल्पनाश्च परिचयवशात् सम्पादितं विषयविज्ञानञ्च अस्याः व्याख्याया निर्माणे निदानम्।

## परिष्करणाय पुरस्कृताः ग्रन्थाः

१. श्रीमद्भागवतमहापुराणम् — गोरखपुरस्थ गीताप्रेस् मुद्रणालये मुद्रितम् - मूलमात्रम् - देवनागरलिप्यां मुद्रितोऽयं ग्रन्थ एव प्रामाणिकप्रधानमूलग्रन्थतया स्वीकृतः। अस्य ग्रन्थस्य 'G' इति सङ्केतः कल्पितः।

२. श्रीमद्भागवतमहापुराणम् — देवनागरी लिपिः - घूर्जरदेशे मुद्रितम्। श्रीकृष्णशङ्करशास्त्रिप्रकाशितम् - एकादशव्याख्या संयुतम्। अस्य परिष्करणस्य सङ्केतः 'A' इति।

३. श्रीमद्भागवंतपुराणम् — लिपि र्देवनागरी - श्रीनित्यानन्द ब्रह्मचारि परिष्कृतम् - बृन्दावने मुद्रितम् - नवव्याख्यासमन्वितम्। इदं 'B' इति चिह्नितम्।

४. श्रीमद्भागवतग्रन्थः — आन्ध्री लिपिः — श्रीपुराणं हयग्रीवशास्त्रिपरिष्कृतम् — श्रीधरीयव्याख्याविशिष्टम् — 'H' इति सङ्केतितम्।

५. श्रीमद्भागवतम् — वनपर्तिसंस्थानाधीश्वरेण प्रकाशितम् — श्रीवीरराघवीयव्याख्यानसमुपेतम् — आन्ध्र लिपिः — 'W' इति चिह्नितम्।

६. श्रीमद्भागवतम् — श्रीवाविळ्ळुरामस्वामिशास्त्रिभिः आन्ध्रलिप्यां प्रकाशितम् — श्रीधरीयव्याख्याविशिष्टम् — 'V' इति चिह्नितम्।

७. श्रीमद्भागवतम् — मूलमात्रम् — निर्णयसागरमुद्रणालये मुद्रितम्, देवनागरी लिपिः — 'N' इति सङ्केतितम्।

८. श्रीमद्भागवतम् — देवनागरी लिपिः — मूलम् — आङ्ग्लभाषानुवादादिसहितम् — 'भक्तिवेदान्त बुक् ट्रस्ट्' संस्थया प्रकाशितम्। 'I' इति चिह्नितम्।

९. श्रीमद्भागवतम् — माध्वप्रकाशनम् — विजयध्वजीयव्याख्याविशिष्टम् — देवनागरी लिपिः। अस्य सङ्केतः — 'M' इति।

१०. श्रीमद्भागवतम् — माध्वप्रकाशनम् — देवनागरी लिपिः — कन्नड भाषामयव्याख्योपेतम् — इदं 'K' इति चिह्नितम्।

## व्याख्यापरिष्करणाय विमृष्टा ग्रन्थाः

श्रीघरीयव्याख्यायै A,B,H,V सङ्केतिता ग्रन्थाः।
श्रीवीरराघवीयव्याख्यायै A,B,W सङ्केतिता ग्रन्थाः।
श्रीविजयध्वजीयव्याख्यायै A,B,K,M सङ्केतिता ग्रन्थाः।

गीतामुद्रणालयप्रकाशं, निर्णयसागरमुद्रणालय प्रकाशञ्च वर्जयित्वा अन्यानि सर्वाणि प्रकाशनानि भागवते सम्भावितान् नानाप्रकारान् पाठभेदान् समग्रं निरूपयन्ति, यतोऽत्र विविधमतावलम्बिनां विदुषां व्याख्यातॄणां विशिष्टव्याख्यानानि समुल्लसन्ति; व्याख्यातारः स्वस्वदृष्टानि पाठान्तराण्यपि सविमर्शं स्वस्वव्याख्यानेषु निरूपयन्ति च। G,A,B,N,I प्रकाशनानि प्रायशः मूलश्लोकविषये पाठसाम्यं वहन्ति इति तानि एकवर्गीयत्वेन गणयितुं शक्यन्ते। H,V प्रकाशने द्वितीयवर्गप्रातिनिध्यं वहतः। M,W प्रकाशने आत्मनोः विभिन्नवर्गीयतां सूचयतः। विशिष्य M प्रकाशः सर्वेभ्योऽपि प्रकाशेभ्यः वैलक्षण्यं धत्ते। अत्र प्रकाशान्तरानुपलब्धाः अधिकश्लोकाः लक्ष्यन्ते। एकैकस्मि न्नपि स्कन्धे, एकैकस्मिन्नप्यध्याये श्लोकसंख्या ग्रन्थान्तरापेक्षयाऽत्र विभिन्ना दृश्यते। तथाऽपि समुदितश्लोकसंख्या तु ग्रन्थान्तरसंवादिन्येव भवति। क्वचित् क्वचित् श्लोकसंख्यान मपि विभिन्नाकार मस्ति। क्वचिच्चतुर्णां पादाना मेकश्लोकत्वेन गणनं क्रियते। अन्यत्र ततो भिन्नानां षण्णां पादाना मेकश्लोकतया गणना क्रियते। अनया रीत्या अध्यायस्थश्लोकसंख्यायां ग्रन्थभेदेन भेदो भवति। पर्यालोच्य, निर्दिष्टग्रन्थानां वर्गीकरण मेवं कर्तु शक्यते —

१. G,A,B,N,I प्रकाशाः एकवर्गीयाः।
२. H,W,V प्रकाशाः अन्यवर्गीयाः।
३. M,K प्रकाश एक एव एको वर्गः।

## पाठान्तराणां निर्देशे अवलम्बिता मार्गाः

अद्य अधिकपाठानां, अधिकश्लोकानाञ्च सूचने समाश्रिता रीतयोऽधस्तात् निर्दिश्यन्ते सहृदयपाठकानां सौकर्याय।

१. सव्याख्यानं परिष्कृत्य प्रकाश्यमानस्य अस्य ग्रन्थस्य आधारग्रन्थत्वेन प्रायशः 'A' प्रकाशन मुपादीयते।
२. प्रकाशान्तरेषु लक्ष्यमाणानि पाठान्तराणि ततत्प्रकाशननामोल्लेखनपुरस्सरं अधोज्ञापिकायां (foot note) निर्दिश्यन्ते।
३. व्याख्यातृभिः निर्दिष्टनि पाठान्तराण्यपि ततद्व्याख्यातृनामनिर्देशपूर्वकं लिख्यन्ते।
४. ये ताव त्पाठभेदाः प्रकाशनेषु अधोज्ञापिकायां सूचिता अपि लभ्यमानप्रकाशनेषु वा, व्याख्यासु वा न लक्ष्यन्ते, ते तावत् 'अमुकप्रकाशने अधोज्ञापिकायां सूचिता स्ते ते पाठा' इति लिख्यन्ते।
५. कस्मिंश्चन प्रकाशने अधोज्ञापिकायां सूचिताः पाठभेदाः यदि कुत्रापि व्याख्याने वा, परिशील्यमानमूलप्रकाशने वा लभ्यन्ते, तर्हि तेऽत्र अधोज्ञापिकायां पार्थक्येन न लिख्यन्ते।
६. यदि कुत्रचि त्प्रकाशने कश्चि दधिकः श्लोकः (श्लोकौ, श्लोका वा) उपलभ्यते क्वाचित्कत्वेन प्रक्षिप्त इति मन्यमानोऽपि सः मूलपाठपारायणानुकूल्य मुद्दिश्य मूलग्रन्थे एव पूर्वोत्तरश्लोकसंख्यां निर्दिश्य तन्मध्यपातित्वेन निक्षिप्यते। यदि तादृशस्य श्लोकस्य व्याख्या प्यस्ति, तदुचितस्थाने साऽपि योज्यते। अधिकपाठतया अङ्गीकृतस्य तादृशश्लोकस्य क्रमसंख्या तु (Serial number) न दीयते।
७. पदानां वा वर्णानां वा आधिक्यं न्यूनता वा प्यस्ति चेत् आधारग्रन्थानुसार मेव तत्त न्निर्दिश्यते।
८. श्रीघरीयव्याख्याने अधिकसंख्याकानां श्लोकानां प्रतीकधारणं दृश्यते। अत इय मेतद्व्याख्यानशैली इति मत्वा, येषां प्रतीकधारणं नाऽस्ति तेषां त दस्माभिः क्रियते। अन्यव्याख्याद्वितये एवं न क्रियते। यथा मुद्रितग्रन्थे लभ्यते, ततथैव स्थाप्यते।
९. यत्र तु मूलश्लोकगतानां शब्दानां क्रमे स्वल्पो भेदः लक्ष्यते — 'यदि भेति स्वयं भयम्', (अस्य स्थाने) 'यदि भेति भयं स्वयम्' इत्यादिरूपेण, तत्र पाठभेदः अधस्सूचिकायां न लिख्यते, यतोऽत्र अर्थगतः भेदः स्वल्पोऽपि नाऽस्ति। ईदृशस्थले एकः पाठ उपादीयते; अन्य उपेक्ष्यते।

नियमाना मेषां स्वीकारे प्रयोजन मिदमेव — शोधनाय स्वीकृतानां दशाना मपि प्रकाशनानां सम्बन्धिनः सर्वे पाठभेदाः विमृश्यन्ते, तेषु व्याख्यातृदृष्ट्या, अर्थौचित्येन, सन्दर्भानुरोधेन च य एव उत्तमः पाठ इति सम्पादकैः अभिप्रेयते, स एव मूले निक्षिप्यते, शिष्टाः पाठा अधस्ता निर्दिश्यन्ते; अर्थवन्तः पाठा स्सर्व एव लिख्यन्ते।' ततः पाठका स्सहृदयाः पाठौचित्यं जानन्तु, यदि जातु चित् अधस्सूचितपाठ एव तेषां समुचिततरो भायात् त मेव वा स्वीकुर्वन्तु इति। अतः सर्वे पाठभेदाः सश्रद्ध मस्माभिः सूचिता स्सहृदया नाराधयेयु रिति विश्वसिमः।

## अनुबन्धौ

अन्तत एकं विषयं विज्ञाप्य विरन्तु मिच्छामः। पाठकानां सौकर्याय ग्रन्थान्ते अनुबन्धद्वितयं योजयामः। एकस्मिन् श्लोकपादसूचिका अकाराद्यनुक्रमेण समायोजि। यत्र कुत्रापि दृश्यमानः एकः पादोऽपि भागवतीयः भवेत् अत्र दृष्ट्वा स पादः कतमस्कन्धीयः, कतमाध्यायिकः, कतमश्लोकीयः इति च क्षणेन ज्ञातुं शक्येतेति, तदर्थोऽयं प्रयत्नः। प्राचीनमतत्रयसम्बन्धिषु व्याख्यानेषु, प्रकृतविषयोपबृंहणाय, प्रतिपाद्यांशसमर्थनाय, संवादाय वा श्रुति स्मृतीतिहास पुराणागम कोश व्याकरणादि शास्त्रग्रन्थेभ्यः विवरणकारैः उद्धृता अंशा श्शतशः सहस्रशश्च सन्ति। यदि तेषां आकरनिर्देशः क्रियेत पठितृणा माकरग्रन्थजिज्ञासा उपशमिता भवति। ते च आकरग्रन्थान् विमृश्य अधिकांशानपि जानीयुः। एवं सहृदया स्समाराधिता भवेयु रिति सङ्कल्प्य, सोढ्वा महान्तं श्रमं, तत्तद्व्याख्यानोद्धरणस्थले आकरनिर्देशं विधाय तावताप्यतृप्यद्भि रस्माभिः शतशो विद्यमानानां उद्धरणानां, साकरग्रन्थनिर्देशं अकाराद्यनुक्रमेण अनुबन्धे द्वितीये, स्थापनं विहितम्। स्थेयान् प्रयत्न आस्थेयः सिद्धयेऽनल्पकर्मणः इति प्रयत्नापि सर्वेषां उद्धरणानां आकरः न लक्षिताः। तथाऽपि शते अशीत्यधिकानां उद्धरणानां आकरा निरदिश्यन्त। यत्र तु विजयध्वजीय व्याख्यादृष्टनां उद्धरणानां आकरनिर्देशः सर्वमूलग्रन्थान्तर्गत श्रीभागवततात्पर्यनिर्णयग्रन्था स्समाद्य कृतः, तत्र तात्पर्यनिर्णयग्रन्थदृष्ट्या रीत्या केवल माकर ग्रन्थनामनिर्देशः कृतः। अध्यायाद्यवान्तरग्रन्थभागो न निर्दिष्टः। अन्येषां तु अवान्तरग्रन्थभागोऽपि यथोपलभ्यं सूचितः।

परिष्करणसन्दर्भेऽस्माभि स्नुसृताः काश्चन रीतयः सोदाहरण मधस्ता त्प्रदर्श्यन्ते —

१. प्रथमस्कन्धे तृतीयाध्याये "जगृहे पौरुषं रूपम्" इत्यारब्धे प्रथमश्लोके कश्चित्संस्कारः कर्तव्य आपतितः। तच्छ्लोकसम्बन्धिनः 'षोडशकल' मिति पदस्य वीरराघवीयव्याख्यानं 'A' प्रकाशे 'एकादशेन्द्रियपञ्चभूतात्मकः षोडश कलाः यस्मिं स्तत् तथा' इति मुद्रितम्। ....पञ्चभूतात्मकः इतीदं पदं विशेषणं सत् कलाः इति पदेनान्वेति। सति चैवं 'भूतात्मकः' इति पुंलिङ्गप्रथमैकवचनान्तं पदं स्त्रीलिङ्गप्रथमाबहुवचनान्तेन 'कलाः' इति पदेन कथ मन्वेतु? तत इद मशुद्धम्। 'W' प्रकाशे तु 'पञ्चभूतात्मकाः' इति मुद्रितम्। तत्रोऽपि संस्कारापेक्षा भवति। अत एव स शब्दः पञ्चभूतात्मिकाः इति शोधितः।

२. अस्मिन्नेवाध्याये द्वितीयश्लोकस्य वीरराघवव्याख्यायाः 'A' प्रचुरणे एका पङ्क्तिः 'प्रथमस्येति शब्दस्य योऽर्थः स तद्वा इति तच्छब्देन परामृश्यते' इत्यस्ति। इद मनन्वितम्। मूले 'प्रथमस्य' इति पदमेव नास्ति। 'प्रथमस्य यस्य इति शब्दस्य योऽर्थः' इति तु 'W' प्रचुरणे मुद्रितम्। इद मेवान्वित मिति अयं पाठः स्वीकृतः। तथाहि — 'यस्याम्भसि इति द्वितीयश्लोकारम्भे एकः 'यस्य' इति शब्दः। अयं प्रथमः। पुन स्तदनन्तरश्लोकारम्भे 'यस्यावयव ....' इत्यत्र द्वितीयः 'यस्य' इति शब्दः। अतोऽत्र द्वौ 'यस्य' शब्दौ स्तः। तत्र प्राथमिकस्य यत्तदो र्नित्यसम्बन्धन्यायं पुरस्कृत्य तृतीयश्लोकोत्तरार्धगतेन तद्वै इत्यत्र स्थितेन तच्छब्देन सम्बन्धः इति यच्छब्दार्थः तत्पदार्थेन परामृश्यते इति भावः सुगमो भवति।

अस्यैव श्लोकस्य वीरराघवीयव्याख्या, 'A' प्रकाशने 'तस्य रूपस्य ज्ञानदृश्य मपरिच्छेद्यत्वं सर्वावतारनिदानत्व ञ्चाऽऽह यस्याम्भसीति सार्धेन' इति मुद्रिता। 'ज्ञानदृश्यं अपरिच्छेद्यत्वं सर्वावतारनिदानत्वञ्चाऽऽह' इति 'A' मुद्रितः पाठः पदान्तरसमभिव्याहारानुगुणं 'ज्ञानदृश्यत्वं' इति 'W' प्रकाशदर्शितरीत्या परिवर्तितः। किञ्च। सन्दर्भपर्यालोचने इदं वाक्यं यथास्थितरूपेण न सङ्गच्छते। अतः 'यस्याम्भसीति सार्धेन' इत्यस्य स्थाने 'W' प्रकाशनप्रदर्शितः 'पश्यन्तीति सार्धेन' इति पाठः स्वीकृतः।

३. अत्रैवाध्याये अष्टमश्लोकीय वीरराघवीयव्याख्यायां 'A' प्रकाशने मुद्रितः 'यस्तन्तात् कर्मणां निवृत्तिधर्मवतां नैष्कर्म्य निवृत्तिधर्मविरहं प्रवृत्तिधर्माणां अकर्तव्याऽवगम्यते' इति पाठः अनन्वितः। नैष्कर्म्य इत्यस्य निवृत्तिधर्मविरहम् इत्यर्थः कथं सिध्यतु? नैष्कर्म्यं निवृत्तिधर्म एव। अतोऽत्र 'प्रवृत्तिधर्मविरह' इति 'W' प्रकाशने मुद्रितः पाठः अर्थानुगुण इति स्वीकृतः। किञ्च। 'निवृत्तिधर्मविरहं अवगम्यते' इति द्वितीयान्तं पदं कथ मन्वेतु; प्रथमान्तेन तेन भवितव्यम्। अतः 'प्रवृत्तिधर्मविरहः' इति पाठ स्सर्वथा युक्तः।

४. अत्रैवाध्याये एकत्रिंश (३१) श्लोकस्य श्रीधरीयव्याख्यायाः 'A' प्रकाशने 'स्वरूपावरणेन तदध्यासत इति सदृष्टन्त माह' इत्यनन्वितः पाठोऽस्ति। अतः 'स्वरूपावरणेन तदध्यासः' इति सङ्गच्छमानः H,V प्रकाशनयो र्मुद्रितः पाठोऽङ्गीकृतः।

५. अत्रैवाध्याये त्रिचत्वारिंश — चतुश्चत्वारिंश — पञ्चचत्वारिंशानां (४३,४४,४५) अन्तिमश्लोकानां त्रयाणां श्लोकार्धक्रमः व्याख्यानुरोधेन अर्थानुगत्या च परिवर्तितः। 'A' प्रकाशने मुद्रितश्लोक्रमः अस्माभिः परिवर्तितः —

| अस्मत्प्रकाशनरीत्या श्लोकार्धक्रमः | | 'A'— प्रकाशनस्थितः अर्धक्रमः |
|---|---|---|
| 1. | प्रायोपविष्टं गङ्गायां परीतं परमर्षिभिः। | 1 |
| 2. | तत्र कीर्तयतो विप्रा विप्रर्षे र्भूरितेजसः ॥ ४३ ॥ | 4 |
| 3. | अहञ्चाध्यगमं तत्र निविष्टस्तदनुग्रहात्। | 5 |
| 4. | सोऽहं वः श्रावयिष्यामि यदधीतं यथामति ॥ ४४ ॥ | 6 |
| 5. | कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिस्सह। | 2 |
| 6. | कलौ नष्टदृशा मेष पुराणार्कोऽधुनोदितः ॥ ४५ ॥ | 3 |

अत्र त्रयः श्लोकाः। अर्थात् अर्धानि षट्। प्रथमार्धे परिवृत्तिर्नास्ति। 'A' प्रचुरणस्थितं चतुर्थ मर्धं अस्माभिः द्वितीयार्धत्वेन, पञ्चमार्धं तृतीयार्धत्वेन, षष्ठार्धं चतुर्थार्धत्वेन, द्वितीयार्धं पञ्चमार्धत्वेन, तृतीयमर्धं षष्ठार्धत्वेन च स्वीकृतम्। एतत्सर्वं व्याख्यानुसारेण अर्थप्रतीतिसौकर्याय परिकल्पितम्। अत एतदनुगुणतया श्रीधरव्याख्यायां स्वल्पाः परिणामाः कृताः।

६. चतुर्थाध्याये पञ्चविंश (२५) श्लोके वीरराघवव्याख्यायां 'त्रैवर्णिकादित्वात्' इति 'A' प्रकाशमुद्रितः पाठः परित्यक्तः। 'त्रैवर्णिकाधिकारित्वात्' इति 'W' मुद्रितः पाठः स्वीकृतः। ''उपनयनस्य त्रैवर्णिकादित्वात्'' इत्यत्र असङ्गतिः ''उपनयनस्य त्रैवर्णिकाधिकारित्वात्'' इत्यत्र अर्थसङ्गतिश्च सुस्पष्टा।

७. पञ्चमाध्याय तृतीयश्लोकसम्बन्धि वीरराघवीयव्याख्यायाः एका पङ्क्तिः — ''पद गतौ, गत्यर्था बुद्ध्यार्थाः उपबृंहितं येन तदिति वा ....'' इत्यादिरूपा 'A' प्रकाशने वर्तते। परन्तु बुद्ध्यर्थाः इत्येतदनन्तरं 'W' प्रकाशने ''बुद्ध्यर्थाः यत् यस्मात् सर्वार्थैः परिबृंहितं, सर्वार्थाः परिबृंहिताः'' इति लब्धः अर्थसम्भृतः अधिको ग्रन्थभागः अस्माभिः स्वीकृतः।

८. अत्रैवाध्याये त्रयोदशश्लोकव्याख्यायां वीरराघवीयायां 'A' प्रकाशने ''अमोघ मवितथं पश्यतीति तथा भूतहिताचरणाय बद्धदीक्ष इत्यर्थः'' इति इयदेवास्ति। इद मबोधक मिवाभाति। परन्तत्र 'W' प्रकाशने अधिको ग्रन्थभागः ''भूतहिताचरणोपयुक्तज्ञान-सम्पन्नश्चेत्यर्थः। न केवलममोघदृगेव; अपि तु धृतव्रतः धृतं सङ्कल्पितं व्रतं सत्यार्थदीक्षारूपं येन सः भूतहिताचरणाय बद्धदीक्ष इत्यर्थः'' इति लक्षितः। 'A' प्रकाशने प्रमादादुन्थपात स्सञ्जात इति अय मन्वितोऽधिकांशोऽत्र अस्माभिस्संयोजितः। तथा तत्रैव ''कथ, मेव महो भाग्यं ज्ञायते'' इति इदं वाक्यं ''कथ मेवं महाभाग्यं ज्ञायते'' इति भवितु मर्हतीति अधस्सूचिकाया मस्माभि स्सूचितम्।

९. षष्ठाध्याये चतुर्विंशः श्लोकः (२४) 'सत्सेवया दीर्घया ते' इत्यारभ्यते। सत्सेवया दीर्घया इति सत्सेवया अदीर्घया इति च द्वेधा पदच्छेदः कर्तुं शक्यते। द्वेधाऽपि मूलं मुद्रितं व्याख्यातञ्च। परन्तु व्याख्यातृभि रधिकसंख्याकैः 'अदीर्घया' इत्येव व्याख्यात मिति अत्र मूले 'सत्सेवयाऽदीर्घया' इति अकारप्रश्लेषः संयोजितः।

१०. षष्ठाध्याये अष्टाविंशश्लोके (२८) K.M प्रकाशयोः सौदामिनी इति मुद्रित श्शब्दः, A.B प्रकाशयो स्तु सौदामनी इति। सौदामनी इत्येव पाठोऽस्माभिः स्वीकृतः, सौदामिनी इत्यस्य अपपाठत्वात्। तथाहि — सुदामन् शब्दात् ''तेनैकदिक्'' (अष्टा. 4-3-112) इति सूत्रेण सुदाम्ना अद्रिणा एकदिक् अधिकरणात्मिका वर्तते इत्यर्थे अण् प्रत्ययः, अण्णन्तत्वात् ङीप्च। 'श्वेतद्विपः सुदामा' इति त्रिकाण्डवचनात् सुदामा, इन्द्रस्य वाहनं श्वेतगजः ऐरावतः, तनैकदिक् इत्यर्थे वा अण्। तत ''अन्'' (अष्टा. 6-4-167) इति सूत्रेण अण्प्रत्ययपरकत्वे सुदामन् शब्दस्थितः 'अन्' इत्यय मंशः प्रकृत्यैव भवति, टिलोपादिविकारो न

भवतीत्यर्थः। अतः सौदामनीशब्दः साधु.। सौदामिनी इति तु अपपाठः। "सुदामा तु पुमान् वारिधर पर्वतभेदयोः" इति **मेदिनी**-वचनात्, **सुदाम्नि** मेघे भवा इति **अर्थे वा** सौदामनीशब्दः व्युत्पाद्यः। एव मर्थानुरोधेन — 'नान्तत्वात्' इत्यस्य स्थाने **अण्णन्तत्वात्** इति, **'सौदामिनी** इत्यपि पाठः' इत्यस्य स्थाने सौदामिनी इत्यपपाठः इति च 'W' प्रकाशानुरोधात् शोधनं कृतम्।

११. **अस्मिन्नेवाध्याये** सप्तत्रिंश (३७) श्लोकव्याख्यायां वीरराघवीयायां 'A' प्रकाशने एका पङ्क्ति रेवं दृश्यते — "तदेतत्सर्व माख्यात मित्यर्थः" इति अय मेव भाग. **'W' प्रचुरणे** 'आख्यात मेव सङ्गृह्य दर्शयति। मे मम जन्मकर्मणोः रहस्यं तथा भवत स्तव आत्मा मनः तुष्यते, येन तच्च तत्सर्व माख्यात मित्य-**वयः'** इति विस्तृताकारः पाठः उपलब्धः। सोऽस्माभिः आदृत्य अस्मत्प्रकाशने सन्निवेशितः।

१२ (a) सप्तमाध्याये दशम (१०) श्लोकसम्बन्धिन्यां व्याख्यायां 'A' प्रकाशनसम्बन्धिनी 'नेयं संहिता भगवन्मननविरोधिनी, प्रत्युत, तदुपयुक्तभगवत्**स्वरूप**०' इति पङ्क्तिः 'तदुपयुक्ता भगवत्**स्वरूप**०' इति 'W' प्रकाशानुरोधेन **परिवर्तिता०'तदुपयुक्तेति** पदस्य संहितेति पद प्रति **विशेषणत्वात्।**

(b) अस्यैव श्लोकस्य विजयध्वजीयव्याख्याने 'A' प्रकाशने 'आनन्दरूपां भक्तिं **कुर्वन्तीति** किं वर्णनीय मिति' **इति पङ्क्तिः** ग्रन्थपातयुक्ता मुद्रिता। B.K.M प्रकाशनानि दृष्ट्वा तत्र स्थिता अनुगतार्था "आनन्दरूपां भक्तिं कुर्वन्ति, **किं पुनर्बहुजन्म-स्वपरोक्षितपरतत्त्वाः ये भक्त्यादिसाधनातिशयेन** मुक्ता वानन्दातिशय माकाङ्क्षमाणाः शुकादयः उरुक्रमे भक्तिं **कुर्वन्तीति" इति पङ्क्ति रत्र** योजिता।

१३ (a) तदनन्तरश्लोक (११) वीरराघवीयव्याख्यायां 'A' **प्रकाशने' स्थिता** 'नित्यं विष्णुजनप्रियः अहर्दिव माख्यानम्' — इतीयं पङ्क्तिः '. . प्रिय· महदिद माख्यानम्' इति **'W' प्रकाशानुसारं परिणमिता।**

(b) अत्रैव श्लोके ' सभक्ति **तदुणभगवतोऽस्यैवानुभाव्यत्वात् अवतारतदुणानां** विशिष्य वेदान्तेभ्योऽवगतानां' इति 'A' **प्रकाशस्थः पाठोऽशुद्धः। शुद्धस्तु ... "सभक्ततदुणस्यैव भगवतोऽनुभाव्यत्वात् अवतारतदुण भक्ततदुणानां विशिष्य वेदान्तेभ्योऽनवगतानाम्" इत्यादिरूपः 'W' प्रकाशात् स्वीकृत्य योजितः।**

१४. अष्टमाध्याये अष्टत्रिंशः (३८) श्लोकः। अत्र वीरराघवीयव्याख्यायां A,B प्रकाशरीत्या परिदृश्यमानः "**किन्त्वदर्शना ऋष्यादिनाम्ना** तापसादिरूपेण वा अन्**विता** इत्यर्थः" **इति पाठः।** एतस्य स्थाने 'W' प्रकाशदृष्टः पाठः "न त्वदृर्शनहेतुना **ऋष्यादिनाम्ना** तापसादिरूपेण चान्**विता** इत्यर्थ" इति स्वीकृतः।

**१५. नवमेऽध्याये षोडशस्य (१६) श्लोकस्य वीरराघवीयव्याख्यायाः A,B दृष्टः पाठः — 'सलोकोऽपि श्रीकृष्णे यत्र** सत्रादिमांश्चेत्' इति। स चान्**वित** इति W प्रकाशनस्थित 'सलोकोऽपि श्रीकृष्णायतसत्रादिमांश्चेत्' इति पाठोऽङ्गीकृतः।

१६ नवमाध्यायास्थितस्य 'यूथिधुरगे' त्यारभ्यस्य एकचत्वारिंशश्लोकस्य **विजयध्वजीयव्याख्यायां** अर्थानुरोधेन का चन परिवृत्ति. कर्तव्या आपतिता। भीष्माचार्य 'श्रीकृष्णे मम आत्मा अस्तु' इत्याशसंत। तत्र श्रीकृष्णस्य विशेषणं 'विलसत्कवचे' इत्यस्ति, तच्च विलसन् शोभमान कवचं यस्य स तस्मिन् इति व्याख्यातम्। तस्यैव पुन रर्थान्तरं लिखितम्। विलसन् सर्पोऽनन्तः कवचं शयनस्थानीय यस्य स तथा तस्मिन्निति। इय पङ्क्ति A.B.M प्रकाशनेषु एव मेवास्ति। इय मबोधिकेव भाति। मुद्रणस्खालित्य मिति मत्वा किञ्चित्परिवृत्ति. **सौकर्याय** भवे दिति क्रियते। **विलस्-वबयो** रभेदात् वकारस्य स्थाने बकारं, नकारस्य स्थाने तकार ञ्च कृत्वा 'बिलसत्' इति पाठ उररीकृत। बिले सीदतीति बिलसत् सर्पोऽनन्तः इत्यर्थ स्सुगमो भवति। अत्र 'बिलसत्' **शब्दस्य** सर्पवाचित्वस्फोरणाय निघण्टुवचनानि स्मारयामि — 'दन्दशूको बिलशयः' (अम. को. 2-28), 'मृषिकेऽहौ **ना बिलेशयः'** (वैज. को. 8-5-18), **'बिलौका** गूढपाच्चक्री' (वैज को 4-1-6) इति।

१७. एकादशाध्याये अष्टादशं श्लोकमारभ्य पञ्चविंशपर्यन्तं श्लोकसंख्या **प्रचुरणभेदेन** भिन्नाकारा वर्तते। व्याख्यानत्रयं **परिशील्य अर्थानुगुणत्वेन क्रमसंख्या विपरिणमिता। षोडशश्लोकसम्बन्धिनि श्रीधरीयव्याख्याने 'प्रत्युज्जग्मु रिति चतुर्थेनान्वयः' इति वाक्यं** दृश्यते। अत्र स्थिताना **वसुदेवादिकर्तृपदानां** अस्य (१६) श्लोकस्य चतुर्थे श्लोके वर्तमानन प्रत्युज्जग्मुरिति **तिङन्तेन (क्रियापदेन) अन्वय** इत्यर्थः। षोडशस्य चतुर्थः श्लोकः एकोनविंशो भवति। परन्तु प्रत्युज्जग्मु **रिति पदं 'A' प्रकाशरीत्या अष्टादशश्लोकोक्तरार्धे**

भवति। अतोऽस्य श्लोकस्य चतुर्थत्वं न भवति। B,H,V प्रकाशनेषु प्रत्युज्जग्मु रिति पदं एकोनविंशे श्लोके (पूर्वार्धे) वर्तते इति व्याख्यार्थानुसारेण इमानि प्रकाशनानि अत्र प्रमाणीकृतानि। श्रीधरीयव्याख्यान मपि इमं क्रम मनुसृत्यैव मुद्रितम्। अस्मत्प्रकाशने यस्तु श्लोकक्रमः आदृतः त मनुरुध्यैव व्याख्यानानि सर्वाण्यपि मुद्रितानि। प्रतीकधारण मपि तदनुरोधा देव सम्यक् कृतम्।

१८. (a) द्वादशाध्याये एकोनविंशश्लोकसम्बन्धिनी वीरराघवीयव्याख्या 'A' प्रकाशने 'न केवल मितरसाधारणैकगुण-मेवानुवर्तिता' इति मुद्रिता। परन्तु 'W' प्रकाशने मुद्रितः 'न केवल मनितरसाधारणैकगुण मेक मेवानुवर्तिता' इति साधीयान् पाठः स्वीकृतः।

(b) अत्रैव श्लोके वीरराघवव्याख्यापङ्क्तौ, 'A' प्रकाशरीत्या "सत्ये याचके सन्धा दृढाभिरुचिः" इति एका पङ्क्तिः। तत्र 'याचके' इत्यनन्वित इति, 'या।चके' इत्यस्य स्थाने 'वाचिके' इति 'W' प्रकाशपाठः स्वीकृतः।

१९. त्रयोदशाध्याये पञ्चमश्लोकस्य वीरराघवव्याख्या 'A' प्रकाशे नैव मुद्रिता। अतः B,W प्रकाशयो र्वर्तमानः व्याख्यानभागः अस्मदीयपरिष्करणे उपक्षिप्तः।

२०. चतुर्दशाध्यायस्थस्य नवमश्लोकस्य व्याख्या श्रीधरीया 'A' प्रकाशने .... 'यज्ञकरणानुरूपा ....' इति मुद्रिता उपेक्षिता। अन्वितस्तु 'यज्ञकरणरूपात्' इति B,H,V प्रकाशाङ्गीकृतः पाठः स्वीकृतः।

२१. पञ्चदशाध्यायस्थस्य पञ्चत्रिंशश्लोकस्य व्याख्यायां 'A' प्रकाशने ग्रन्थपातोऽस्ति। परिशील्य 'W' प्रकाशनात् स लोपः परिहृतः। 'A' प्रकाशे "....स्वेन रूपेणैवावतस्थे। तथा येन ..." इय देवास्ति। 'W' प्रकाशने — "स्वेन रूपेणैवावतिष्ठते। तथा च भगवानपि तत्तत्प्रयोजनाय मत्स्यादिरूपाणि यावत्प्रयोजनं धत्ते। तदन्ते पुनर्जह्यात्। हित्वा स्वकीयरूपेणैवावतस्थे। तथा तेन ...." इत्यस्ति। पाठोऽसा वादृतोऽस्माभिः।

२२. षोडशाध्याये चतुर्विंशः श्लोकः। अत्र सर्वत्र मूलग्रन्थेषु "भूरिभरावतार" इत्येवास्ति। अपि तु बहुषु व्याख्यानेषु 'भूरिभारावतार' इत्येव पाठोऽमुद्यत। स च छन्दःप्रतिकूलः। 'भर' इति ह्रस्वाकारविशिष्टभकारयुक्तः मूलानुसार्येव पाठः स्वीकृतः। तदनुसारेणैव व्याख्यानपाठः परिवर्तितः।

२३. अष्टादशाध्याये त्रयोदशः श्लोकः। 'A' प्रकाशस्थितः विजयध्वजीयव्याख्यासम्बन्धी चिरसमयसञ्जीर्णेतिपाठः उपेक्षितः। B,K,M प्रकाशेषु स्थितः 'चिरसमयस्य सञ्जीर्ण' इति व्यस्तपाठः स्वीकृतः।

२४. अस्मिन्नेवाध्याये चतुश्चत्वारिंशश्लोकः। अत्र 'पुरुदस्यवो जनाः' इत्यत्र 'दस्यु' शब्दस्य विवरणवेलायां विजयध्वजीयं 'वसु हिंसायाम्' इति दस्युशब्दस्य मूलधातुं निर्दिशति। एवं 'A' प्रकाशेऽस्ति। परन्तु अन्यत्र प्रकाशने 'दसु हिंसायाम्' इति दसुधातु निर्दिष्टः। तथैवास्माभि स्सङ्गृहीतः। (प्रसिद्ध पाणिनीय) धातुपाठे तु दसु उपक्षये, (वसु स्तम्भे, ऐश्वर्ये च) इत्येवास्ति।

अन्ततः अवश्यविधेयं कृतज्ञतानिवेदनं चिकीर्षामः। अस्या भागवतप्रकाशन संस्थाया मूलस्तम्भभूताः तिरुमल तिरुपति देवस्थानानां तादात्विकनिर्वहणाधिकारिणः श्रीमन्तः ऐ. ए. एस्. बिरुदभाजः पि० वि० आर० के० प्रसादाभिधानाः प्रथमतः स्मरणीयाः, येषा मनुग्रहेण इयं भागवतसम्पादनसंस्था प्रतिष्ठापिता उज्जीवति, शोधपूर्णसव्याख्यान श्रीभागवतग्रन्थप्रकाशनञ्च निर्वहति। उत्साहमूर्तिभिः धर्मोद्धरणदीक्षितैः एतैः बह्वयः तिरुमल तिरुपति देवस्थानानुबन्धिन्यः धार्मिकसंस्थाः प्रतिष्ठापितास्सत्यः कर्तव्यनिष्ठया विश्वश्रेयसे प्रयतन्ते। तेभ्यः सश्रद्ध कृतज्ञताञ्जलयः समर्पयन्ते। देवस्थानधर्मकर्तृमण्डली, अद्यतननिर्वहणाधिकारिणः श्रीमन्तः यस्० लक्ष्मीनारायण समाख्याः ऐ. ए. यस्. बिरुदमण्डिताः, अन्ये सहायनिर्वहणाधिकारिणः, मुद्रणालयधिकृताश्च कार्येऽस्मिन् श्रद्धया, अस्मासु च प्रेम्णा ग्रन्थप्रकाशनकार्ये महत् साहाय्य माचारन्ति स्म। तेभ्य स्तेभ्यः पूर्णहृदयां कृतज्ञतां निवेदयामः। एतदुत्थसम्पादनविषये संस्थासम्बन्धिनः परिशोधकपण्डिताः, तत्सहायाश्च श्रद्धापूर्वकं तत्तत्कर्तव्यं निर्वहन्ति स्म। तेष्वपि कृतज्ञता माविष्कुर्मः।

सन्दर्भेऽस्मिन् अवश्य मनुष्ठेयं किञ्चि द्यदि नाऽऽचरिष्यं, कृतविदहं नाऽभविष्यम्। अतः श्रीमद्भागवतीयानि दुर्लभान्यनर्घाणि स्वीयानि प्रकाशनानि प्रदाय अस्मत्प्रकाशनं सुपुष्टं सुगमञ्च कृतवद्भ्यः उदारहृदयेभ्यः श्रीमद्भ्यः डा. ई. कृष्णमाचार्य - के० आर्

पद्मनाभाय्यङ्गार्य - के॰ आर॰ राघवाय्यङ्गार्य - यम्॰ हेच्॰ एन्॰ तीर्थुलु - सि॰ पुरुषोत्तम - डा॰ यस्॰ शङ्करनारायण - वि॰ हनुमय्य - राचकोण्ड नरसिंहमूर्ति **समाह्वयेभ्यः** मामिकां कृतज्ञतां निवेदयामि।

एतद्ग्रन्थपरिष्करणप्रकाशनकैङ्कर्यनिर्वहणाय सम्मतिं सदयं प्रदाय, अवकाशं प्रकल्प्य च बहूपकृतवद्भ्यः **जिल्लेळ्ळमूडि** मातृश्री **विद्यापरिषन्निर्वहणमण्डलीसदस्येभ्यः** सार्वदिकं कार्तज्ञ्यं निवेदयामः।

**एतादृशग्रन्थप्रचुरणे** एषोऽस्माकं प्रथमः प्रयत्न इति दोषाः प्रमादाश्च भवेयुः। उदारा स्सहृदया स्तानंशान् ज्ञापयन्तु इति प्रार्थयामहे। आगामिनि परिष्करणे तेषां **दूषणानां** उद्धरणं कृतज्ञाः करिष्यामहे।

अद्य व्याख्यानचतुष्टयविशिष्टस्य श्रीभागवतस्य प्रथमस्कन्धः **सम्मुद्य** रसज्ञानां हृदयालूनां सुधियां करकमलयो रर्प्यते। क्रमशः अन्येषा मपि स्कन्धानां प्रकाशनाय प्रयतिष्यामहे।

**— संपादकः**

# List of Abbreviations
(Editions)

1. A Śrīmadbhāgavata Purāṇam with eleven Sanskrit commentaries and a Hindi translation, published by Sri Krishna Sankara Sastry and others, Nadiad, Gujarat, in 1965. This edition was obtained from the Bhāgavata Vidyāpīṭha, **Ahmedabad.**

2. B Śrīmadbhāgavata Purāṇam with eight Sanskrit commentaries and a Hindi translation, edited by Sri Nityananda Brahmachari and printed by Sri Rangacharya at Devakinandan Press, **Brindavan,** in 1907.

3. G Śrīmadbhāgavata Purāṇam (mere text) published by Geeta Press, **Gorakhpur** in 1951.

4. H Śrīmadbhāgavata Purāṇam with the commentary of Śrīdhara, edited, published and printed by Sri Puranam **Hayagriva** Sastry in Vivekananda Press, Madras, in 1848.

5. I Śrīmadbhāgavata Purāṇam with the English translation and purport by Sri A. C. Bhaktivedanta Swami Prabhupada, published by Bhaktivedanta Book Trust of **ISCON,** in Bombay in 1972.

6. K Śrīmadbhāgavata Purāṇam with the commentary of Sri Vijayadhvaja Tīrtha and a **Kannada** translation, obtained from S. V. U. Oriental Research Institute, Tirupati.

7. M Śrīmadbhāgavata Purāṇam with the Commentary of Sri Vijayadhvaja Tīrtha of **Mādhva** school, obtained from Udipi.

8. N Śrīmadbhāgavata Purāṇam (mere text), edited by Sri Narayan Ram Acharya, published by Satyabhamabai Pandurang and printed by Ramachandra Yesu Shedge at **Nirnayasagar Press,** Bombay, in 1950.

9. V Śrīmadbhāgavata Purāṇam with the commentary of Śrīdhara, printed and published by **Vavilla** Ramaswamy Sastrulu & sons, in 1941, at Vavilla Press, Madras.

10. W Śrīmadbhāgavata Purāṇam with the commentary of Sri Vīrarāghava, published and printed by Sri Raja Rameswara Raya, Ruler of **Wanaparti** Samsthan, Mahabub Nagar District, Andhra Pradesh, in 1885.

**Note :** F denotes footnote, e.g. $A_F$ = A edition footnote.

## List of Abbreviations

### (Commentaries)

| | | |
|---|---|---|
| 1. | रा. कृ. | श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा |
| 2. | विज. | श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली |
| 3. | वीर. | श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका |
| 4. | श्रीध. | श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका |

## List of Abbreviations

### (Texts cited)

| | | |
|---|---|---|
| 1. | अथ. शिखा. उ. | अथर्वशिखोपनिषत् |
| 2. | अम. को. | अमरकोशः |
| 3. | अम्भ्र. सू. | अम्भ्रणीसूक्तम् |
| 4. | अष्टा. | अष्टाध्यायी |
| 5. | आप. श्रौ. सू. | आपस्तम्बश्रौतसूत्रम् |
| 6. | ईशा. उ. | ईशावास्योपनिषत् |
| 7. | ऋ सं. | ऋक्संहिता |
| 8. | ऐत. उ. | ऐतरेयोपनिषत् |
| 9. | कठ. उ. | कठोपनिषत् |
| 10. | काव्या. | काव्यादर्शः |
| 11. | कूर्म. पु. | कूर्मपुराणम् |
| 12. | केन. उ. | केनोपनिषत् |
| 13. | कौषी. उ. | कौषीतक्युपनिषत् |
| 14. | गरु. पु. | गरुडपुराणम् |
| 15. | छान्दो. उ. | छान्दोग्योपनिषत् |
| 16. | जाबा. उ. | जाबालोपनिषत् |
| 17. | त. सा. | तत्त्वसारः |
| 18. | तैत्ति. आ. | तैत्तिरीयारण्यकम् |
| 19. | तैत्ति. उ. | तैत्तिरीयोपनिषत् |
| 20. | तैत्ति. ब्रा. | तैत्तिरीयब्राह्मणम् |
| 21. | तैत्ति. सं. | तैत्तिरीयसंहिता |
| 22. | त्रि. म. ना. उ. | त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषत् |
| 23. | देवी. उ. | देव्युपनिषत् |
| 24. | ना. र. को. | नानार्थरत्नमालाकोशः |
| 25. | नारा. अथ. उ. | नारायणाथर्वशिरउपनिषत् |
| 26. | नीला. सू. | नीलासूक्तम् |
| 27. | पद्म. पु. | पद्मपुराणम् |
| 28. | प. म. | पदमञ्जरी |
| 29. | पु. सू. | पुरुषसूक्तम् |
| 30. | प्रश्न. उ. | प्रश्नोपनिषत् |
| 31. | बृह. उ. | बृहदारण्यकोपनिषत् |
| 32. | ब्र. सू. | ब्रह्मसूत्रम् |
| 33. | भ. गी. | भगवद्गीता |
| 34. | भाग. | भागवतम् |
| 35. | भार. | भारतम् |
| 36. | भा. सं. | भारद्वाजसंहिता |
| 37. | मत्स. पु. | मत्स्यपुराणम् |
| 38. | म. ना. उ. | महानारायणोपनिषत् |
| 39. | मनु. स्मृ. | मनुस्मृतिः |
| 40. | मन्त्रि. उ. | मन्त्रिकोपनिषत् |
| 41. | म. भा. | महाभाष्यम् |
| 42. | महा. उ. | महोपनिषत् |

| | | |
|---|---|---|
| 43. | माण्डू. उ. | माण्डूक्योपनिषत् |
| 44. | मुण्ड. उ. | मुण्डकोपनिषत् |
| 45. | मैत्रा. उ. | मैत्रायण्युपनिषत् |
| 46. | याज्ञ. स्मृ. | याज्ञवल्क्यस्मृतिः |
| 47. | वसि. स्मृ. | वसिष्ठस्मृतिः |
| 48. | वाम. पु. | वामनपुराणम् |
| 49. | वायु. पु. | वायुपुराणम् |
| 50. | वि. ध. | विष्णुधर्मः |
| 51. | वि. ध. पु | विष्णुधर्मोत्तरपुराणम् |
| 52. | विष्णु. पु. | विष्णुपुराणम् |
| 53. | वृद्ध. हा. सं. | वृद्धहारीतसंहिता |
| 54. | वे. नि. | वेदनिघण्टुः |
| 55. | वैज. को. | वैजयन्तीकोशः |
| 56. | व्यास. स्मृ. | व्यासस्मृतिः |
| 57. | श्वेता. उ. | श्वेताश्वतरोपनिषत् |
| 58. | सि. कौ. | सिद्धान्तकौमुदी |
| 59. | सुबा. उ. | सुबालोपनिषत् |
| 60. | सूर्य. उ. | सूर्योपनिषत् |
| 61. | स्कन्द. पु. | स्कन्दपुराणम् |
| 62. | ह. वं. | हरिवंशः |

श्रीहरिः

# माहात्म्यसहितश्रीमद्भागवतमहापुराण प्रथमस्कन्धस्थविषयाणामनुक्रमणी

## माहात्म्ये

### (पद्मपुराणान्तर्गते)


| अध्याये | विषयाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|---|
| १. | नारदसनकादिसमागमः, नारदकर्तृकं भक्तिज्ञानवैराग्यवृत्तान्तनिवेदनं च। | .... |
| २. | भक्तेः क्लेशनिवृत्तये नारदस्योद्योगः। | .... |
| ३. | सनकादिमुखाच्छ्रीमद्भागवतश्रवणेन भक्तेस्तुष्टिर्ज्ञानवैराग्ययोः पुष्टिश्च। | .... |
| ४. | सप्ताहकथायां भगवतः प्रादुर्भावः, गोकर्णोपाख्यानारम्भश्च। | .... |
| ५. | धुन्धुकारिणो दुर्मृत्युनिमित्तकप्रेतत्वप्राप्तिवर्णनं ततो गोकर्णानुग्रहेणोद्धारश्च। | .... |
| ६. | श्रीमद्भागवतसप्ताहपारायणविधिः। | .... |


## प्रथमस्कन्धे


| | | |
|---|---|---|
| १. | नैमिषक्षेत्रे श्रीमद्भागवतविषये सूतं प्रति शौनकादिमुनीनां प्रश्नः। | .... |
| २. | सूतप्रतिवचनम्, भगवत्कथायाः श्रवणकीर्तनयोर्निःश्रेयसकरत्वं, भगवद्भक्तेर्माहात्म्यवर्णनं च। | .... |
| ३. | भगवतश्चतुर्विंशत्यवताराणां संक्षेपतो वर्णनम्। | .... |
| ४. | महर्षेर्व्यासस्यापरितोषः, तदाश्रमे देवर्षिनारदस्यागमनं च। | .... |
| ५. | नारदव्याससंवादः, भगवद्गुणकर्मवर्णनस्य महत्त्वं देवर्षिनारदकर्तृकं स्वकीयपूर्वजन्मवृत्तान्तकथनं च। | .... |
| ६. | पूर्वजन्मवृत्तान्तशेषांशः, नारदस्य भगवदाराधनपूर्वकं ब्रह्मणः सकाशाज्जन्मग्रहणम्। | .... |
| ७. | नारदोपदेशेन व्यासद्वारा श्रीमद्भागवतारम्भः, तत्र परीक्षिज्जन्मप्रस्तावेऽश्वत्थाम्ना कृतः सुप्तानां द्रौपदीसुतानां वधः, अश्वत्थाम्नः पराभवश्च। | .... |
| ८. | उत्तरागर्भे द्रौण्यस्त्रतः परीक्षितो रक्षणम्, कुन्तीकृता श्रीकृष्णस्तुतिः, युधिष्ठिरानुतापश्च। | .... |
| ९. | युधिष्ठिरादीनां भीष्मसमीपे गमनम्, तत्र विविधान् धर्मानुपदिश्य श्रीकृष्णस्तवनपूर्वकं भीष्मस्य महाप्रस्थानं च। | .... |
| १०. | भगवतः श्रीकृष्णस्य द्वारकागमनम्। | .... |
| ११. | द्वारकावासिभिः कृतं भगवतोऽभिनन्दनम्, पुरप्रवेशवर्णनं च। | .... |
| १२. | परीक्षितो जन्मोत्सवः। | .... |
| १३. | विदुरोपदेशेन गान्धार्या सह धृतराष्ट्रस्य वनाय प्रस्थानम्। | .... |
| १४. | अपशकुनदर्शनेन युधिष्ठिरस्य चिन्ता, द्वारकातोऽर्जुनस्यागमनं च। | .... |
| १५. | अर्जुनाद् यदुकुलसंहारं भगवतस्तिरोधानं च श्रुत्वा पाण्डवानां हिमालयदिशि महाप्रयाणम्। | .... |
| १६. | परीक्षितो राज्यलाभः, दिग्विजयः, भूमिधर्मसंवादश्रवणं च। | .... |
| १७. | परीक्षिद्धर्मसंवादः, कलिनिग्रहणं च। | .... |
| १८. | परीक्षिते मुनिकुमारशापः। | .... |
| १९. | परीक्षितो गङ्गातटे प्रायोपवेशनम्, ऋषिसमागमः, शुकागमनम्, राज्ञः प्रश्नश्च। | .... |

श्रीः

श्रीमद्भागवत प्रथमस्कन्धीय

# अध्यायार्थसङ्ग्रहश्लोकाः

शास्त्रौघसारः श्रीकृष्णकृत्यं सृष्ट्यादिकेलयः।
अवतारकथाः कृष्णवृत्तयो धर्मरक्षणम्॥ १॥

तदेवं प्रथमेऽध्याये षट् प्रश्ना मुनिभिः कृताः।
द्वितीयेतूत्तरं सूत श्रुतुर्णा माह तेष्वथ॥ २॥

अवतारकथाप्रश्ने तृतीये तूत्तराभिधा।
पुरुषाद्यवतारोक्त्या तत्तच्चारित्रवर्णनैः॥ ३॥

तुर्ये भागवतारम्भकारणत्वेन वर्ण्यते।
व्यासस्यापरितोषस्तु तपःप्रवचनादिभिः॥ ४॥

पञ्चमे सर्वधर्मेभ्यो हरिकीर्तनगौरवम्।
व्यासचित्तप्रसादाय नारदेनोपदिश्यते॥ ५॥

व्यासस्य प्रत्ययार्थं हि षष्ठे प्राग्जन्मसम्भवम्।
स्वभाग्यं नारदः प्राह कृष्णसङ्कीर्तनोद्भवम्॥ ६॥

अथ भागवतश्रोतु र्जन्म वक्तुं परीक्षितः।
सुप्तबालवधाद्दौणे र्दण्ड स्सप्तम उच्यते॥ ७॥

अष्टमे कुपितद्रौणे रस्त्राद्रक्षा परीक्षितः।
श्रीकृष्णसंस्तुतिः कुन्त्या राज्ञ श्शोकश्च कीर्त्यते॥ ८॥

युधिष्ठिराय भीष्मेण सर्वधर्मनिरूपणम्।
श्रीकृष्णसंस्तुति र्मुक्ति र्नवमे तस्य वर्ण्यते॥ ९॥

दशमे कृतकार्यस्य हस्तिनापुरतो हरेः।
स्त्रीभिस्संस्तूयमानस्य वर्ण्यते द्वारकागमः॥ १०॥

एकादशे रति स्सम्य ग्यादवेन्द्रस्य वर्ण्यते।
आनतै स्स्तूयमानस्य पुरीं निर्विश्य बन्धुभिः॥ ११॥

पूर्वोक्तं यत्प्रसङ्गा द्यद्यौणिदण्डादिविस्तरात्।
द्वादशे तु तथैवाथ परीक्षिज्जन्म वर्ण्यते॥ १२॥

निर्गमो धृतराष्ट्रस्य विदुरोक्त्या त्रयोदशे।
उक्तः पौत्राभिषेकेण वक्तुं राज्ञो महापथम्॥ १३॥

चतुर्दशे त्वरिष्टानि दृष्ट्वा राजा विशङ्कितः।
अशृणो दर्जुना त्कृष्णतिरोधान मितीर्यते॥ १४॥

कलिप्रवेश मालक्ष्य धुरं न्यस्य परीक्षिति।
आरुरोह नृप स्स्वर्ग मिति पञ्चदशेऽब्रवीत्॥ १५॥

ततश्च षोडशे भूमिधर्मयोः कलिखिन्नयोः।
संवादो वर्ण्यते प्राप्तिः पालकस्य परीक्षितः॥ १६॥

तत स्सप्तदशे राज्ञः कले र्निग्रह उच्यते।
तस्यैवं वीर्यभाजोऽपि वैराग्यं वक्ष्यतेऽद्भुतम्॥ १७॥

राज्ञ स्स्वष्टादशे तस्य ब्रह्मशापो निरूप्यते।
स चानुग्रह एवाऽस्य जातो वैराग्य मावहन्॥ १८॥

प्रायोपविष्टे गङ्गायां राज्ञि योगिजनावृते।
शुकस्यागमनं तत्र प्रोक्त मेकोनविंशके॥ १९॥

# श्रीमद्भागवतपाठविधिः

स्नातः शुचिर्भूत्वा प्राणानायम्य त्रिराचम्य च मङ्गलपाठपूर्वकं भगवन्त प्रणमेत्। तदनु सञ्चितैः षोडशोपचारैर्मानसोपचारैर्वा व्यासं शुकं वासुदेवं श्रीमद्भागवतग्रन्थ च सादरं सविनय सभक्तिभाव सम्पूजयेत्। ततः पाठारम्भात् प्राक् 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' इति द्वादशाक्षरमन्त्रम्, 'ओं क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' इति गोपालमन्त्रं वाऽष्टोत्तरशतं जपेत्। पश्चादेवं विनियुञ्जीत —

## विनियोगः

ओं अस्य श्रीमद्भागवताख्यस्तोत्रमन्त्रस्य नारद ऋषिः, बृहती छन्दः, श्रीकृष्णः परमात्मा देवता, ब्रह्म बीजम्, भक्तिः शक्तिः, ज्ञानवैराग्ये कीलकम्, मम **श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थं** पाठे विनियोगः।

## ऋष्यादिन्यासः

'नारदर्षये नमः' शिरसि। 'बृहतीच्छन्दसे नमः' मुखे। 'श्रीकृष्णपरमात्मदेवतायै नमः' हृदि। 'ब्रह्मबीजाय नमः' गुह्ये। 'भक्तिशक्तये नमः' पादयोः। 'ज्ञानवैराग्यकीलकाय नमः' नाभौ। **श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थकपाठविनियोगाय नमः सर्वाङ्गे। द्वादशाक्षरमन्त्रेण हृदयाद्यङ्गन्यासं करन्यासं च कुर्यात्।** अथवाऽधोऽङ्कितरीत्याङ्गन्यासकरन्यासौ विदध्यात् —

## अङ्गन्यासः

ओं क्लां हृदयाय नमः। ओं क्लीं शिरसे स्वाहा। ओं क्लूं शिखायै वषट्। ओं क्लैं कवचाय हुम्। ओं **क्लौं** नेत्रत्रयाय वौषट्। ओं क्लः **अस्त्राय** फट्।

## करन्यासः

ओं क्लां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ओं क्लीं तर्जनीभ्यां नमः। ओं क्लूं मध्यमाभ्यां नमः। ओं **क्लौं** अनामिकाभ्यां नमः। ओं **क्लौं** कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ओं क्लः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

## अथ ध्यानम्

**कस्तूरीतिलकं ललाटफलके वक्षःस्थले कौस्तुभं नासाग्रे नवमौक्तिकं करतले वेणुं करे कङ्कणम्।**
**सर्वाङ्गे हरिचन्दनं च कलयन् कण्ठे च मुक्तावलिं गोपस्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपालचूडामणिः ॥**
**अस्ति स्वस्तरुणीकराग्रविगलत्कल्पप्रसूनाप्लुतं वस्तु प्रस्तुतवेणुनादलहरीनिर्वाणनिर्व्याकुलम्।**
**स्रस्तस्रस्तनिबद्धनीविविलसद्गोपीसहस्रावृतं हस्तन्यस्तनतापवर्गमखिलोदारं किशोराकृति ॥**

*इत्येवं ध्यात्वा पाठमारभेत।*

# श्रीमद्भागवतसप्ताहपारायणस्य दैनन्दिनविश्रामस्थलानि निम्नाङ्कितपद्येषु निरूपितानि

**मनुकर्दमसंवादपर्यन्तं प्रथमेऽहनि। भरताख्यानपर्यन्तं द्वितीयेऽहनि वाचयेत् ॥**
**तृतीये दिवसे कुर्यात् सप्तमस्कन्धपूरणम्। कृष्णाविर्भावपर्यन्तं चतुर्थे दिवसे वदेत् ॥**
**रुक्मिण्युद्वाहपर्यन्तं पञ्चमेऽहनि शस्यते। श्रीहंसाख्यानपर्यन्तं षष्ठेऽहनि वदेत्सुधीः ॥**
**सप्तमे तु दिने कुर्यात् पूर्तिं भागवतस्य वै। एवं निर्विघ्नतासिद्धिर्विपर्यय इतोऽन्यथा ॥**

# श्रीमद्भागवतमाहात्म्यम्

## (स्कान्दपुराण विष्णुखण्डस्थम्)

श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं लोकविश्रुतम्।
शृणुयाच्छ्रद्धया युक्तो मम सन्तोषकारणम्॥ १॥
नित्यं भागवतं यस्तु पुराणं पठते नरः।
प्रत्यक्षरं भवेत्तस्य कपिलादानजं फलम्॥ २॥
श्लोकार्धं श्लोकपादं वा नित्यं भागवतोद्भवम्।
पठते शृणुयाद् यस्तु गोसहस्रफलं लभेत्॥ ३॥
यः पठेत् प्रयतो नित्यं श्लोकं भागवतं सुत।
अष्टादशपुराणानां फलमाप्नोति मानवः॥ ४॥
नित्यं मम कथा यत्र तत्र तिष्ठन्ति वैष्णवाः।
कलिबाह्या नरास्ते वै येऽर्चयन्ति सदा मम॥ ५॥
वैष्णवानां तु शास्त्राणि येऽर्चयन्ति गृहे नराः।
सर्वपापविनिर्मुक्ता भवन्ति सुरवन्दिताः॥ ६॥
येऽर्चयन्ति गृहे नित्यं शास्त्रं भागवतं कलौ।
आस्फोटयन्ति वल्गन्ति तेषां प्रीतो भवाम्यहम्॥ ७॥
यावद्दिनानि हे पुत्त शास्त्रं भागवतं गृहे।
तावत् पिबन्ति पितरः क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्॥ ८॥
यच्छन्ति वैष्णवे भक्त्या शास्त्रं भागवतं हि ये।
कल्पकोटिसहस्राणि मम लोके वसन्ति ते॥ ९॥
येऽर्चयन्ति सदा गेहे शास्त्रं भागवतं नराः।
प्रीणितास्तैश्च विबुधा यावदाभूतसंप्लवम्॥ १०॥
श्लोकार्धं श्लोकपादं वा वरं भागवतं गृहे।
शतशोऽथ सहस्रैश्च किमन्यैः शास्त्रसङ्ग्रहैः॥ ११॥
न यस्य तिष्ठते शास्त्रं गृहे भागवतं कलौ।
न तस्य पुनरावृत्तिर्याम्यपाशात् कदाचन॥ १२॥
कथं स वैष्णवो ज्ञेयः शास्त्रं भागवतं कलौ।
गृहे न तिष्ठते यस्य श्वपचादधिको हि सः॥ १३॥
सर्वस्वेनापि लोकेश कर्तव्यः शास्त्रसंग्रहः।
वैष्णवस्तु सदा भक्त्या तुष्ट्यर्थं मम पुत्तक॥ १४॥
यत्र यत्र भवेत् पुण्यं शास्त्रं भागवतं कलौ।
तत्र तत्र सदैवाहं भवामि त्रिदशैः सह॥ १५॥
तत्र सर्वाणि तीर्थानि नदीनदसरांसि च।
यज्ञाः सप्तपुरी नित्यं पुण्याः सर्वे शिलोच्चयाः॥ १६॥
श्रोतव्यं मम शास्त्रं हि यशोधर्मजयार्थिना।
पापक्षयार्थं लोकेश मोक्षार्थं धर्मबुद्धिना॥ १७॥
श्रीमद्भागवतं पुण्यमायुरारोग्यपुष्टिदम्।
पठनाच्छ्रवणाद्वापि सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ १८॥
न शृण्वन्ति न हृष्यन्ति श्रीमद्भागवतं परम्।
सत्यं सत्यं हि लोकेश तेषां स्वामी सदा यमः॥ १९॥
न गच्छति यदा मर्त्यः श्रोतुं भागवतं सुत।
एकादश्यां विशेषेण नास्ति पापरतस्ततः॥ २०॥
श्लोकं भागवतं चापि श्लोकार्धं पादमेव वा।
लिखितं तिष्ठते यस्य गृहे तस्य वसाम्यहम्॥ २१॥
सर्वाश्रमाभिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम्।
न तथा पावनं नृणां श्रीमद्भागवतं यथा॥ २२॥
यत्र यत्र चतुर्वर्क्कं श्रीमद्भागवतं भवेत्।
गच्छामि तत्र तत्राहं गौर्यथा सुतवत्सला॥ २३॥
मत्कथावाचकं नित्यं मत्कथाश्रवणे रतम्।
मत्कथाप्रीतमनसं नाहं त्यक्ष्यामि तं नरम्। २४॥
श्रीमद्भागवतं पुण्यं दृष्ट्वा नोत्तिष्ठते हि यः।
सांवत्सरं तस्य पुण्यं विलयं याति पुत्तक॥२५॥
श्रीमद्भागवतं दृष्ट्वा प्रत्युत्थानाभिवादनैः।
सम्मानयेत तं दृष्ट्वा भवेत् प्रीतिर्ममातुला॥ २६॥
दृष्ट्वा भागवतं दूरात् प्रक्रमेत् सम्मुखं हि यः।
पदे पदेऽश्वमेधस्य फलं प्राप्नोत्यसंशयम्॥ २७॥
उत्थाय प्रणमेद्यो वै श्रीमद्भागवतं नरः।
धनपुत्रांस्तथा दारान् भक्तिं च प्रददाम्यहम्॥ २८॥
महाराजोपचारैस्तु श्रीमद्भागवतं सुत।
शृण्वन्ति ये नरा भक्त्या तेषां वश्यो भवाम्यहम्॥ २९।
ममोत्सवेषु सर्वेषु श्रीमद्भागवतं परम्।
शृण्वन्ति ये नरा भक्त्या मम प्रीत्यै च सुव्रत॥ ३०॥
वस्त्रालङ्करणैः पुष्पैर्धूपदीपोपहारकैः।
वशीकृतो ह्यहं तैश्च सत्स्त्रया सत्पतिर्यथा॥ ३१॥

ओं नमो भगवते वासुदेवाय

# श्रीमद्भागवतमाहात्म्यम्

## (पाद्मपुराणान्तर्गतम्)

*कृष्णं नारायण वन्दे कृष्णं वन्दे व्रजप्रियम्।*
*कृष्ण द्वैपायन वन्दे कृष्ण वन्दे पृथासुतम्॥*

## अथ प्रथमोऽध्यायः

सच्चिदानन्दरूपाय विश्वोत्पत्त्यादिहेतवे।
तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः॥ १॥

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव।
पुत्त्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु-
स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि॥ २॥

नैमिषे सूतमासीनमभिवाद्य महामतिम्।
कथामृतरसास्वादकुशलः शौनकोऽब्रवीत्॥ ३॥

*शौनक उवाच*

अज्ञानध्वान्तविध्वंसकोटिसूर्यसमप्रभ।
सूताख्याहि कथासारं मम कर्णरसायनम्॥ ४॥

भक्तिज्ञानविरागाप्तो विवेको वर्धते महान्।
मायामोहनिरासश्च वैष्णवैः क्रियते कथम्॥ ५॥

इह घोरे कलौ प्रायो जीवश्चासुरतां गतः।
क्लेशाक्रान्तस्य तस्यैव शोधने किं परायणम्॥ ६॥

श्रेयसां यद्भवेच्छ्रेयः पावनानां च पावनम्।
कृष्णप्राप्तिकरं शश्वत्साधनं तद्वदाधुना॥ ७॥

चिन्तामणिर्लोकसुखं सुरद्रुः स्वर्गसम्पदम्।
प्रयच्छति गुरुः प्रीतो वैकुण्ठं योगिदुर्लभम्॥ ८॥

*सूत उवाच*

प्रीतिः शौनक चित्ते ते ह्यतो वच्मि विचार्य च।
सर्वसिद्धान्तनिष्पन्नं संसारभयनाशनम्॥ ९॥

भक्त्योघवर्धनं यच्च कृष्णसन्तोषहेतुकम्।
तदहं तेऽभिधास्यामि सावधानतया शृणु॥ १०॥

कालव्यालमुखग्रासत्रासनिर्णाशहेतवे।
श्रीमद्भागवतं शास्त्रं कलौ कीरेण भाषितम्॥ ११॥

एतस्मादपरं किञ्चिन्नश्शुद्ध्यै न विद्यते।
जन्मान्तरे भवेत्पुण्यं तदा भागवतं लभेत्॥ १२॥

परीक्षिते कथां वक्तुं सभायां संस्थिते शुके।
सुधाकुम्भं गृहीत्वैव देवास्तत्र समागमन्॥ १३॥

शुकं नत्वाऽवदन् सर्वे स्वकार्यकुशलाः सुराः।
कथासुधां प्रयच्छस्व गृहीत्वैव सुधामिमाम्॥ १४॥

एवं विनिमये जाते सुधा राज्ञा प्रपीयताम्।
प्रपास्यामो वयं सर्वे श्रीमद्भागवतामृतम्॥ १५॥

क्व सुधा क्व कथा लोके क्व काचः क्व मणिर्महान्।
ब्रह्मरातो विचार्यैवं तदा देवाञ्जहास ह॥ १६॥

अभक्तांस्तांश्च विज्ञाय न ददौ स कथामृतम्।
श्रीमद्भागवती वार्ता सुराणामपि दुर्लभा॥ १७॥

राज्ञो मोक्षं तथा वीक्ष्य पुरा धातापि विस्मितः।
सत्यलोके तुलां बद्ध्वाऽतोलयत्साधनान्यजः॥ १८॥

लघून्यन्यानि जातानि गौरवेण इदं महत्।
तदा ऋषिगणाः सर्वे विस्मयं परमं ययुः॥ १९॥

मेनिरे भगवद्रूपं शास्त्रं भागवतं कलौ।
पठनाच्छ्रवणात्सद्यो वैकुण्ठफलदायकम्॥ २०॥

सप्ताहेन श्रुतं चैतत् सर्वथा मुक्तिदायकम्।
सनकाद्यैः पुरा प्रोक्तं नारदाय दयापरैः॥ २१॥

यद्यपि ब्रह्मसम्बन्धाच्छ्रुतमेतत् सुरर्षिणा।
सप्ताहश्रवणविधिः कुमारैस्तस्य भाषितः॥ २२॥

*शौनक उवाच*

लोकवियग्रहमुक्तस्य नारदस्यास्थिरस्य च।
विधिश्रवे कुतः प्रीतिः संयोगः कुत्र तैः सह॥ २३॥

**सूत उवाच**

अत्र ते कीर्तयिष्यामि भक्तियुक्तं कथानकम्।
शुकेन मम यत्प्रोक्तं रहः शिष्यं विचार्य च॥ २४॥
एकदा हि विशालायां चत्वार ऋषयोऽमलाः।
सत्सङ्गार्थं समायाता ददृशुस्तत्र नारदम्॥ २५॥

**कुमारा ऊचुः**

कथं ब्रह्मन्दीनमुखः कुतश्चिन्तातुरो भवान्।
त्वरितं गम्यते कुत्र कुतश्चागमनं तव॥ २६॥
इदानीं शून्यचित्तोऽसि गतवित्तो यथा जनः।
तवेदं मुक्तसङ्गस्य नोचितं वद कारणम्॥ २७॥

**नारद उवाच**

अहं तु पृथिवीं यातो ज्ञात्वा सर्वोत्तमामिति।
पुष्करं च प्रयागं च काशीं गोदावरीं तथा॥ २८॥
हरिक्षेत्रं कुरुक्षेत्रं श्रीरङ्गं सेतुबन्धनम्।
एवमादिषु तीर्थेषु भ्रममाण इतस्ततः॥ २९॥
नापश्यं कुत्रचिच्छर्म मनसस्तोषकारकम्।
कलिनाऽधर्ममित्रेण घरेयं बाधिताऽधुना॥ ३०॥
सत्यं नास्ति तपः शौचं दया दानं न विद्यते।
उदरम्भरिणो जीवा वराकाः कूटभाषिणः॥ ३१॥
मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः।
पाखण्डनिरताः सन्तो विरक्ताः सपरिग्रहाः॥ ३२॥
तरुणीप्रभुता गेहे श्यालको बुद्धिदायकः।
कन्याविक्रयिणो लोभाद्दम्पतीनां च कल्कनम्॥ ३३॥
आश्रमा यवनै रुद्धास्तीर्थानि सरितस्तथा।
देवतायतनान्यत्र दुष्टैर्नष्टानि भूरिशः॥ ३४॥
न योगी नैव सिद्धो वा न ज्ञानी सत्क्रियो नरः।
कलिदावानलेनाद्य साधनं भस्मतां गतम्॥ ३५॥
अट्टशूला[1] जनपदाः शिवशूला द्विजातयः।
कामिन्यः केशशूलिन्यः सम्भवन्ति कलाविह॥ ३६॥
एवं पश्यन् कलेर्दोषान् पर्यटन्नवनीमहम्।
यामुनं तटमापन्नो यत्र लीला हरेरभूत्॥ ३७॥
तत्राश्चर्यं मया दृष्टं श्रूयतां तन्मुनीश्वराः।
एका तु तरुणी तत्र निषण्णा खिन्नमानसा॥ ३८॥
वृद्धौ द्वौ पतितौ पार्श्वे निःश्वसन्तावचेतनौ।
शुश्रूषन्ती प्रबोधन्ती रुदती च तयोः पुरः॥ ३९॥
दशदिक्षु निरीक्षन्ती रक्षितारं निजं वपुः।
वीज्यमाना शतस्त्रीभिर्बोध्यमाना मुहुर्मुहुः॥ ४०॥
दृष्ट्वा दूरादुतः सोऽहं कौतुकेन तदन्तिकम्।
मां दृष्ट्वा चोत्थिता बाला विह्वला चाब्रवीद्वचः॥ ४१॥

**बालोवाच**

भो भोः साधो क्षणं तिष्ठ मच्चिन्तामपि नाशय।
दर्शनं तव लोकस्य सर्वथाऽघहरं परम्॥ ४२॥
बहुधा तव वाक्येन दुःखशान्तिर्भविष्यति।
यदा भाग्यं भवेद्भूरि भवतो दर्शनं तदा॥ ४३॥

**नारद उवाच**

कासि त्वं कावियौ चेमा नार्यः काः पद्मलोचनाः।
वद देवि सविस्तारं स्वस्य दुःखस्य कारणम्॥ ४४॥

**बालोवाच**

अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ।
ज्ञानवैराग्यनामानौ कालयोगेन जर्जरौ॥ ४५॥
गङ्गाद्याः सरितश्चेमा मत्सेवार्थं समागताः।
तथापि न च मे श्रेयः सेवितायाः सुरैरपि॥ ४६॥
इदानीं शृणु मद्वार्तां सचित्तस्त्वं तपोधन।
वार्ता मे विततापास्ति तां श्रुत्वा सुखमावह॥ ४७॥
उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित् क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता॥ ४८॥
तत्र घोरकलेर्योगात्पाखण्डैः खण्डिताङ्गका।
दुर्बलाहं चिरं याता पुत्राभ्यां सह मन्दताम्॥ ४९॥
बृन्दाबनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी।
जाताहं युवती सम्यक् प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम्॥ ५०॥
इमौ तु शयितावत्र सुतौ मे क्लिश्यतः श्रमात्।
इदं स्थानं परित्यज्य विदेशं गम्यते मया॥ ५१॥
जरठत्वं समायातौ तेन दुःखेन दुःखिता।
साहं तु तरुणी कस्मात्सुतौ वृद्धाविमौ कुतः॥ ५२॥
त्रयाणां सहचारित्वाद्वैपरीत्यं कुतः स्थितम्।
घटते जरठा माता तरुणौ तनयाविति॥ ५३॥
अतः शोचामि चात्मानं विस्मयाविष्टमानसा।
वद योगनिधे धीमन् कारणं चात्र किं भवेत्॥ ५४॥

**नारद उवाच**

ज्ञानेनात्मनि पश्यामि सर्वमेतत्तवानघे।
न विषादस्त्वया कार्यो हरिः शं ते करिष्यति॥ ५५॥

**सूत उवाच**

क्षणमात्रेण तज्ज्ञात्वा वाक्यमूचे मुनीश्वरः॥ ५६॥

1. अट्टमत्रं शिवो वेदः शूलो विक्रय उच्यते। केशो भगमिति प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥

*नारद उवाच*

शृणुष्वावहिता बाले युगोऽयं दारुणः कलिः।
तेन लुप्तः सदाचारो योगमार्गस्तपांसि च॥ ५७॥
जना अघासुरायन्ते शाठ्यदुष्कर्मकारिणः।
इह सन्तो विषीदन्ति प्रहृष्यन्ति ह्यसाधवः।
धत्ते धैर्यं तु यो धीमान् सः धीरः पण्डितोऽथवा॥ ५८॥
अस्पृश्यानवलोक्येयं शेषभारकरी धरा।
वर्षे वर्षे क्रमाज्जाता मङ्गलं नापि दृश्यते॥ ५९॥
न त्वामपि सुतैः सार्कं कोऽपि पश्यति साम्प्रतम्।
उपेक्षितानुरागान्धैर्जर्जरत्वेन संस्थिता॥ ६०॥
बृन्दावनस्य संयोगात्पुनस्त्वं तरुणी नवा।
धन्यं बृन्दावनं तेन भक्तिर्नृत्यति यत्र च॥ ६१॥
अत्रेमौ ग्राहकाभावात्र जरामपि मुञ्चतः।
किञ्चिदात्मसुखेनेह प्रसुप्तिमन्यतेऽनयोः॥ ६२॥

*भक्तिरुवाच*

कथं परीक्षिता राज्ञा स्थापितो ह्यशुचिः कलिः।
प्रवृत्ते तु कलौ सर्वसारः कुत्र गतो महान्॥ ६३॥
करुणापरेण हरिणाप्यधर्मः कथमीक्ष्यते।
इमं मे संशयं छिन्धि त्वद्वाचा सुखितास्म्यहम्॥ ६४॥

*नारद उवाच*

यदि पृष्टस्त्वया बाले प्रेमतः श्रवणं कुरु।
सर्वं वक्ष्यामि ते भद्रे कश्मलं ते गमिष्यति॥ ६५॥
यदा मुकुन्दो भगवान् क्ष्मां त्यक्त्वा स्वपदं गतः।
तद्दिनात् कलिरायातः सर्वसाधनबाधकः॥ ६६॥
दृष्टो दिग्विजये राज्ञा दीनवच्छरणं गतः।
न मया मारणीयोऽयं सारङ्ग इव सारभुक्॥ ६७॥
यत् फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना।
तत् फलं लभते सम्यक्कलौ केशवकीर्तनात्॥ ६८॥
एकाकारं कलिं दृष्ट्वा सारवत्सारनीरसम्।
विष्णुरातः स्थापितवान् कलिजानां सुखाय च॥ ६९॥
कुकर्माचरणात्सारः सर्वतो निर्गतोऽधुना।
पदार्थाः संस्थिता भूमौ बीजहीनास्तुषा यथा॥ ७०॥
विप्रैर्भागवती वार्ता गेहे गेहे जने जने।
कारिता कणलोभेन कथासारस्ततो गतः॥ ७१॥
अत्युग्रभूरिकर्माणो नास्तिका रौरवा जनाः।
तेऽपि तिष्ठन्ति तीर्थेषु तीर्थसारस्ततो गतः॥ ७२॥
कामक्रोधमहालोभतृष्णाव्याकुलचेतसः।
तेऽपि तिष्ठन्ति तपसि तपस्सारस्ततो गतः॥ ७३॥
मनसश्चाजयाल्लोभाद्दम्भात्पाखण्डसंश्रयात्।
शास्त्रानभ्यसनाच्चैव ध्यानयोगफलं गतम्॥ ७४॥
पण्डितास्तु कलत्रेण रमन्ते महिषा इव।
पुत्रस्योत्पादने दक्षा अदक्षा मुक्तिसाधने॥ ७५॥
न हि वैष्णवता कुत्र सम्प्रदायपुरस्सरा।
एवं प्रलयतां प्राप्तो वस्तुसारः स्थले स्थले॥ ७६॥
अयं तु युगधर्मो हि वर्तते कस्य दूषणम्।
अतस्तु पुण्डरीकाक्षः सहते निकटे स्थितः॥ ७७॥

*सूत उवाच*

इति तद्वचनं श्रुत्वा विस्मयं परमं गता।
भक्तिरूचे वचो भूयः श्रूयतां तच्च शौनक॥ ७८॥

*भक्तिरुवाच*

सुरर्षे त्वं हि धन्योऽसि मद्भाग्येन समागतः।
साधूनां दर्शनं लोके सर्वसिद्धिकरं परम्॥ ७९॥
जयति जगति मायां यस्य कायाधवस्ते
वचनरचनमेकं केवलं चाकलय्य।
ध्रुवपदमपि यातो यत्कृपातो ध्रुवोऽयं
सकलकुशलपात्रं ब्रह्मपुत्रं नतास्मि॥ ८०॥

---

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये
भक्तिनारदसमागमो नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

ओं नमो भगवते वासुदेवाय

---

# अथ द्वितीयोऽध्यायः

*नारद उवाच*

वृथा खेदयसे बाले अहो चिन्तातुरा कथम्।
श्रीकृष्णचरणाम्भोजं स्मर दुःखं गमिष्यति॥ १॥

द्रौपदी च परित्राता येन कौरवकश्मलात्।
पालिता गोपसुन्दर्यः स कृष्णः क्वापि नो गतः॥ २॥

त्वं तु भक्तिः प्रिया तस्य सततं प्राणतोऽधिका।
त्वयाऽऽहूतस्तु भगवान् याति नीचगृहेष्वपि॥ ३॥

सत्यादित्रियुगे बोधवैराग्यौ मुक्तिसाधकौ।
कलौ तु केवला भक्तिर्ब्रह्मसायुज्यकारिणी॥ ४॥

इति निश्चित्य चिद्रूपः सद्रूपां त्वां ससर्ज ह।
परमानन्दचिन्मूर्तिः सुन्दरीं कृष्णवल्लभाम्॥ ५॥

बद्धाञ्जलिं त्वया पृष्टं किं करोमीति चैकदा।
त्वां तदाऽऽज्ञापयत् कृष्णो मद्भक्तान् पोषयेति च॥ ६॥

अङ्गीकृतं त्वया तद्वै प्रसन्नोऽभूद्धरिस्तदा।
मुक्तिं दासीं ददौ तुभ्यं ज्ञानवैराग्यकाविमौ॥ ७॥

पोषणं स्वेन रूपेण वैकुण्ठे त्वं करोषि च।
भूमौ भक्तविपोषाय छायारूपं त्वया कृतम्॥ ८॥

मुक्तिं ज्ञानं विरक्तिं च सह कृत्वा गता भुवि।
कृतादिद्वापरस्यान्तं महानन्देन संस्थिता॥ ९॥

कलौ मुक्तिः क्षयं प्राप्ता पाखण्डामयपीडिता।
त्वदाज्ञया गता शीघ्रं वैकुण्ठं पुनरेव सा॥ १०॥

स्मृता त्वयापि चात्रैव मुक्तिरायाति याति च।
पुत्रीकृत्य त्वयेमौ च पार्श्वे स्वस्यैव रक्षितौ॥ ११॥

उपेक्षातः कलौ मन्दौ वृद्धौ जातौ सुतौ तव।
तथापि चिन्तां मुञ्च त्वमुपायं चिन्तयाम्यहम्॥ १२॥

कलिना सदृशः कोऽपि युगो नास्ति वरानने।
तस्मिंस्त्वां स्थापयिष्यामि गेहे गेहे जने जने॥ १३॥

अन्यधर्मांस्तिरस्कृत्य पुरस्कृत्य महोत्सवान्।
तदा नाहं हरेर्दासो लोके त्वां न प्रवर्तये॥ १४॥

त्वदन्विताश्च ये जीवा भविष्यन्ति कलाविह।
पापिनोऽपि गमिष्यन्ति निर्भयं कृष्णमन्दिरम्॥ १५॥

येषां चित्ते वसेद् भक्तिः सर्वदा प्रेमरूपिणी।
न ते पश्यन्ति कीनाशं स्वप्नेऽप्यमलमूर्तयः॥ १६॥

न प्रेतो न पिशाचो वा राक्षसो वाऽसुरोऽपि वा।
भक्तियुक्तमनस्कानां स्पर्शने न प्रभुर्भवेत्॥ १७॥

न तपोभिर्न वेदैश्च न ज्ञानेनापि कर्मणा।
हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिकाः॥ १८॥

नृणां जन्मसहस्रेण भक्तौ प्रीतिर्हि जायते।
कलौ भक्तिः कलौ भक्तिर्भक्त्या कृष्णः पुरः स्थितः॥ १९॥

भक्तिद्रोहकरा ये च ते सीदन्ति जगत्त्रये।
दुर्वासा दुःखमापन्नः पुरा भक्तविनिन्दकः॥ २०॥

अलं व्रतैरलं तीर्थैरलं योगैरलं मखैः।
अलं ज्ञानकथालापैर्भक्तिरेकैव मुक्तिदा॥ २१॥

*सूत उवाच*

इति नारदनिर्णीतं स्वमाहात्म्यं निशम्य सा।
सर्वाङ्गपुष्टिसंयुक्ता नारदं वाक्यमब्रवीत्॥ २२॥

*भक्तिरुवाच*

अहो नारद धन्योऽसि प्रीतिस्ते मयि निश्चला।
न कदाचिद्विमुञ्चामि चित्ते स्थास्यामि सर्वदा॥ २३॥

कृपालुना त्वया साधो मद्बाधा ध्वंसिता क्षणात्।
पुत्रयोश्चेतना नास्ति ततो बोधय बोधय॥ २४॥

*सूत उवाच*

तस्या वचः समाकर्ण्य कारुण्यं नारदो गत।
तयोर्बोधनमारेभे कराग्रेण विमर्दयन्॥ २५॥

मुखं संयोज्य कर्णान्ते शब्दमुच्चैः समुच्चरन्।
ज्ञान! प्रबुध्यतां शीघ्रं रे वैराग्य! प्रबुध्यताम्॥ २६॥

वेदवेदान्तघोषैश्च गीतापाठैर्मुहुर्मुहुः।
बोध्यमानौ तदा तेन कथञ्चिच्चोत्थितौ बलात्॥ २७॥

नेत्रैरनवलोकन्तौ जृम्भन्तौ सालसावुभौ।
बकवत्पलितौ प्रायः शुष्ककाष्ठसमाङ्गकौ॥ २८॥

क्षुत्क्षामौ तौ निरीक्ष्यैव पुनः स्वापपरायणौ।
ऋषिश्चिन्तापरो जातः किं विधेयं मयेति च॥ २९॥

अहो निद्रा कथं याति वृद्धत्वं च महत्तरम्।
चिन्तयन्निति गोविन्दं स्मारयामास भार्गव॥ ३०॥

व्योमवाणी तदैवाभून्मा ऋषे खिद्यतामिति।
उद्यमः सफलस्तेऽयं भविष्यति न संशयः॥ ३१॥

एतदर्थं तु सत्कर्म सुरर्षे त्वं समाचर।
तत्ते कर्माभिधास्यन्ति साधवः साधुभूषणाः ॥ ३२ ॥
सत्कर्मणि कृते तस्मिन् सन्निद्रा वृद्धतानयोः।
गमिष्यति क्षणाद्भक्तिः सर्वतः प्रसरिष्यति ॥ ३३ ॥
इत्याकाशवचः स्पष्टं तत्सर्वैरपि विश्रुतम्।
नारदो विस्मयं लेभे नेदं ज्ञातमिति ब्रुवन् ॥ ३४ ॥

*नारद उवाच*

अनयाऽऽकाशवाण्यापि गोप्यत्वेन निरूपितम्।
किं वा तत्साधनं कार्यं येन कार्यं भवेत्तयोः ॥ ३५ ॥
क्व भविष्यन्ति सन्तस्ते कथं दास्यन्ति साधनम्।
मयात्र किं प्रकर्तव्यं यदुक्तं व्योमभाषया ॥ ३६ ॥

*सूत उवाच*

तत्र द्वावपि संस्थाप्य निर्गतो नारदो मुनिः।
तीर्थं तीर्थं विनिष्क्रम्य पृच्छन्मार्गे मुनीश्वरान् ॥ ३७ ॥
वृत्तान्तः श्रूयते सर्वैः किंचिन्निश्चित्य नोच्यते।
असाध्यं केचन प्रोचुर्दुर्ज्ञेयमिति चापरे।
मूकीभूतास्तथान्ये तु कियन्तस्तु पलायिताः ॥ ३८ ॥
हाहाकारो महानासीत्तेलोक्ये विस्मयावहः।
वेदवेदान्तघोषैश्च गीतापाठैर्विबोधितम् ॥ ३९ ॥
भक्तिज्ञानविरागाणां नोदतिष्ठत्तिकं यदा।
उपायो नापरोऽस्तीति कर्णे कर्णेऽजपञ्जनाः ॥ ४० ॥
योगिना नारदेनापि स्वयं न ज्ञायते तु यत्।
तत्कथं शक्यते वक्तुमितरैरिह मानुषैः ॥ ४१ ॥
एवमृषिगणैः पृष्टैर्निर्णीयोक्त दुरासदम् ॥ ४२ ॥
ततश्चिन्तातुरः सोऽथ बदरीवनमागतः।
तपश्चरामि चात्रेति तदर्थं कृतनिश्चयः ॥ ४३ ॥
तावद्दर्श पुरतः सनकादीन्मुनीश्वरान्।
कोटिसूर्यसमाभासानुवाच मुनिसत्तमः ॥ ४४ ॥

*नारद उवाच*

इदानीं भूरिभाग्येन भवद्भिः सङ्गमोऽभवत्।
कुमारा ब्रुवतां शीघ्र कृपा कृत्वा ममोपरि ॥ ४५ ॥
भवन्तो योगिनः सर्वे बुद्धिमन्तो बहुश्रुताः।
पञ्चहायनसयुक्ता पूर्वेषामपि पूर्वजाः ॥ ४६ ॥
सदा वैकुण्ठनिलया हरिकीर्तनतत्पराः।
लीलामृतरसोन्मत्ताः कथामात्रैकजीविन ॥ ४७ ॥
हरिः शरणमेव हि नित्यं येषा मुखं वचः।
अतः कालसमादिष्टा जरा युष्मान्न बाधते ॥ ४८ ॥
येषां भ्रूभङ्गमात्रेण द्वारपालौ हरेः पुरा।
भूमौ निपतितौ सद्यो यत्कृपातः पुरं गतौ ॥ ४९ ॥
अहो भाग्यस्य योगेन दर्शनं भवतामिह।
अनुग्रहस्तु कर्तव्यो मयि दीने दयापरैः ॥ ५० ॥
अशरीरगिरोक्तं यत्तत्किं साधनमुच्यताम्।
अनुष्ठेयं कथं तावत् प्रब्रुवन्तु सविस्तरम् ॥ ५१ ॥
भक्तिज्ञानविरागाणां सुखमुत्पद्यते कथम्।
स्थापनं सर्ववर्णेषु प्रेमपूर्वं प्रयत्नतः ॥ ५२ ॥

*कुमारा ऊचुः*

मा चिन्तां कुरु देवर्षे हर्षं चित्ते समावह।
उपायः सुखसाध्योऽत्र वर्तते पूर्व एव हि ॥ ५३ ॥
अहो नारद धन्योऽसि विरक्तानां शिरोमणिः।
सदा श्रीकृष्णदासानामग्रणीर्योगभास्करः ॥ ५४ ॥
त्वयि चित्रं न मन्तव्यं भक्त्यर्थमनुवर्तिनि।
घटते कृष्णदासस्य भक्तेः संस्थापना सदा ॥ ५५ ॥
ऋषिर्भर्बहवो लोके पन्थानः प्रकटीकृताः।
श्रमसाध्याश्च ते सर्वे प्रायः स्वर्गफलप्रदाः ॥ ५६ ॥
वैकुण्ठसाधकः पन्थाः स तु गोप्यो हि वर्तते।
तस्योपदेष्टा पुरुषः प्रायो भाग्येन लभ्यते ॥ ५७ ॥
सत्कर्म तव निर्दिष्टं व्योमवाचा तु यत्पुरा।
तदुच्यते शृणुष्वाद्य स्थिरचित्तः प्रसन्नधीः ॥ ५८ ॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च ते तु कर्मविसूचकाः ॥ ५९ ॥
सत्कर्मसूचको नूनं ज्ञानयज्ञः स्मृतो बुधैः।
श्रीमद्भागवतालापः स तु गीतः शुकादिभिः ॥ ६० ॥
भक्तिज्ञानविरागाणां तद्घोषेण बलं महत्।
व्रजिष्यति द्वयोः कष्टं सुखं भक्तेर्भविष्यति ॥ ६१ ॥
प्रलयं हि गमिष्यन्ति श्रीमद्भागवतध्वनेः।
कलेर्दोषा इमे सर्वे सिंहशब्दाद्वृका इव ॥ ६२ ॥
ज्ञानवैराग्यसंयुक्ता भक्तिः प्रेमरसावहा।
प्रतिगेहं प्रतिजनं ततः क्रीडां करिष्यति ॥ ६३ ॥

*नारद उवाच*

वेदवेदान्तघोषैश्च गीतापाठैः प्रबोधितम्।
भक्तिज्ञानविरागाणां नोदतिष्ठत्तिकं यदा ॥ ६४ ॥
श्रीमद्भागवतालापात्तत्कथं बोधमेष्यति।
तत्कथासु तु वेदार्थः श्लोके श्लोके पदे पदे ॥ ६५ ॥

छिन्दन्तु संशयं ह्रेनं भवन्तोऽमोघदर्शनाः।
विलम्बो नात्र कर्तव्यः शरणागतवत्सलाः॥ ६६॥

**कुमारा ऊचुः**

वेदोपनिषदां साराज्जाता भागवती कथा।
अत्युत्तमा ततो भाति पृथग्भूता फलाकृतिः॥ ६७॥
आमूलाग्रं रसस्तिष्ठन्नास्ते न स्वाद्यते यथा।
स भूयः संपृथग्भूतः फले विश्वमनोहरः॥ ६८॥
यथा दुग्धे स्थितं सर्पिर्न स्वादायोपकल्पते।
पृथग्भूतं हि तदृव्यं देवानां रसवर्धनम्॥ ६९॥
इक्षूणामपि मध्यान्तं शर्करा व्याप्य तिष्ठति।
पृथग्भूता च सा मिष्टा तथा भागवती कथा॥ ७०॥
इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।
भक्तिज्ञानविरागाणां स्थापनाय प्रकाशितम्॥ ७१॥
वेदान्तवेदसुस्नाते गीताया अपि कर्तरि।
परितापवति व्यासे मुह्यत्यज्ञानसागरे॥ ७२॥
तदा त्वया पुरा प्रोक्तं चतुःश्लोकसमन्वितम्।
तदीयश्रवणात्सद्यो निर्बाधो बादरायणः॥ ७३॥
तत्र ते विस्मयः केन यतः प्रश्नकरो भवान्।
श्रीमद्भागवतं श्राव्यं शोकदुःखविनाशनम्॥ ७४॥

***नारद उवाच***

यद्दर्शनं च विनिहन्त्यशुभानि सद्यः
श्रेयस्तनोति भवदुःखदवार्दितानाम्।
निश्शेषशेषमुखगीतकथैकपानाः
प्रेमप्रकाशकृतये शरणं गतोऽस्मि॥ ७५॥
भाग्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन
सत्सङ्गमं च लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार-
नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः॥ ७६॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे **श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये** कुमारनारदसंवादो
नाम द्वितीयोऽध्याय॥ २॥

# अथ तृतीयोऽध्यायः

***नारद उवाच***

ज्ञानयज्ञं करिष्यामि शुकशास्त्रकथोज्ज्वलम्।
भक्तिज्ञानविरागाणां स्थापनार्थं प्रयत्नतः॥ १॥
कुत्र कार्यो मया यज्ञः स्थलं तद्वाच्यतामिह।
महिमा शुकशास्त्रस्य वक्तव्यो वेदपारगैः॥ २॥
कियद्भिर्दिवसैः श्राव्या श्रीमद्भागवती कथा।
को विधिस्तत्र कर्तव्यो ममेदं ब्रुवतामितः॥ ३॥

**कुमारा ऊचुः**

शृणु नारद वक्ष्यामो विनम्राय विवेकिने।
गङ्गाद्वारसमीपे तु तटमानन्दनामकम्॥ ४॥
नानाऋषिगणैर्जुष्टं देवसिद्धनिषेवितम्।
नानातरुलताकीर्णं नवकोमलवालुकम्॥ ५॥
रम्यमेकान्तदेशस्थं हेमपद्मसुसौरभम्।
यत्समीपस्थजीवानां वैरं चेतसि न स्थितम्॥ ६॥
ज्ञानयज्ञस्त्वया तत्र कर्तव्यो ह्यप्रयत्नतः।
अपूर्वरसरूपा च कथा तत्र भविष्यति॥ ७॥
पुरस्स्थं निर्बलं चैव जराजीर्णकलेवरम्।
तद्दृयं च पुरस्कृत्य भक्तिस्तत्रागमिष्यति॥ ८॥
यत्र भागवती वार्ता तत्र भक्त्यादिकं व्रजेत्।
कथाशब्दं समाकर्ण्य तत्तिकं तरुणायते॥ ९॥

***सूत उवाच***

एवमुक्त्वा कुमारास्ते नारदेन समं ततः।
गङ्गातटं समाजग्मुः कथापानाय सत्वराः॥ १०॥
यदा यातास्तटं ते तु तदा कोलाहलोऽप्यभूत्।
भूर्लोके देवलोके च ब्रह्मलोके तथैव च॥ ११॥
श्रीभागवतपीयूषपानाय रसलम्पटाः।
धावन्तोऽप्यायय्युः सर्वे प्रथमं ये च वैष्णवाः॥ १२॥
भृगुर्वसिष्ठश्च्यवनश्च गौतमो
मेधातिथिर्देवलदेवरातौ।
रामस्तथा गाधिसुतश्च शाकलो
मृकण्डुपुत्तात्रिजपिप्पलादाः॥ १३॥
योगेश्वरौ व्यासपराशरौ च
छायाशुको जाजलिजह्नुमुख्याः।

सर्वेऽप्यमी मुनिगणाः सहपुत्रशिष्याः
स्वस्त्रीभिराययुरतिप्रणयेन युक्ताः ॥ १४ ॥
वेदान्तानि च वेदाश्च मन्त्रास्तन्त्राः समूर्तयः।
दशसप्तपुराणानि षट् शास्त्राणि तथाऽऽययुः ॥ १५ ॥
गङ्गाद्याः सरितस्तत्र पुष्करादिसरांसि च।
क्षेत्राणि च दिशः सर्वा दण्डकादिवनानि च ॥ १६ ॥
नगादयो ययुस्तत्र देवगन्धर्वदानवाः।
गुरुत्वात्तत्र नायातान् भृगुः सम्बोध्य चानयत् ॥ १७ ॥
दीक्षिता नारदेनाथ दत्तमासनमुत्तमम्।
कुमारा वन्दिताः सर्वैर्निषेदुः कृष्णतत्पराः ॥ १८ ॥
वैष्णवाश्च विरक्ताश्च न्यासिनो ब्रह्मचारिणः।
मुखभागे स्थितास्ते च तदग्रे नारदः स्थितः ॥ १९ ॥
एकभागे ऋषिगणास्तदन्यत्र दिवौकसः।
वेदोपनिषदोऽन्यत्र तीर्थान्यत्र स्त्रियोऽन्यतः ॥ २० ॥
जयशब्दो नमश्शब्दः शङ्खशब्दस्तथैव च।
चूर्णलाजाप्रसूनानां निक्षेपः सुमहानभूत् ॥ २१ ॥
विमानानि समारुह्य कियन्तो देवनायकाः।
कल्पवृक्षप्रसूनैस्तान् सर्वास्तत्र समाकिरन् ॥ २२ ॥

*सूत उवाच*

एवं तेष्वेकचित्तेषु श्रीमद्भागवतस्य च।
माहात्म्यमूचिरे स्पष्टं नारदाय महात्मने ॥ २३ ॥

*कुमारा ऊचुः*

अथ ते वर्ण्यतेऽस्माभिर्महिमा शुकशास्त्रजः।
यस्य श्रवणमात्रेण मुक्तिः करतले स्थिता ॥ २४ ॥
सदा सेव्या सदासेव्या श्रीमद्भागवती कथा।
यस्याः श्रवणमात्रेण हरिश्चित्तं समाश्रयेत् ॥ २५ ॥
ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसम्मितः।
परीक्षिच्छुकसंवादः शृणु भागवतं च तत् ॥ २६ ॥
तावत्संसारचक्रेऽस्मिन् भ्रमतेऽज्ञानत पुमान्।
यावत्कर्णगता नास्ति शुकशास्त्रकथा क्षणम् ॥ २७ ॥
किं श्रुतैर्बहुभिः शास्त्रैः पुराणैश्च भ्रमावहैः।
एकं भागवतं शास्त्रं मुक्तिदानेन गर्जति ॥ २८ ॥
कथा भागवतस्यापि नित्यं भवति यद्गृहे।
तद्गृहं तीर्थरूपं हि वसता पापनाशनम् ॥ २९ ॥
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
शुकशास्त्रकथायाश्च कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ३० ॥
तावत्पापानि देहेस्मिन्निवसन्ति तपोधनाः।
यावन्न श्रूयते सम्यक् श्रीमद्भागवतं नरैः ॥ ३१ ॥
न गङ्गा न गया काशी पुष्करं न प्रयागकम्।
शुकशास्त्रकथायाश्च फलेन समतां नयेत् ॥ ३२ ॥
श्लोकार्धं श्लोकपादं वा नित्यं भागवतोद्भवम्।
पठस्व स्वमुखेनैव यदीच्छसि परां गतिम् ॥ ३३ ॥
वेदादिर्वेदमाता च पौरुषं सूक्तमेव च।
त्रयी भागवतं चैव द्वादशाक्षर एव च ॥ ३४ ॥
द्वादशात्मा प्रयागश्च कालः संवत्सरात्मकः।
ब्राह्मणाश्चाग्निहोत्रं च सुरभिर्द्वादशी तथा ॥ ३५ ॥
तुलसी च वसन्तश्च पुरुषोत्तम एव च।
एतेषां तत्त्वतः प्राज्ञैर्न पृथग्भाव इष्यते ॥ ३६ ॥
यश्च भागवतं शास्त्रं वाचयेदर्थतोऽनिशम्।
जन्मकोटिकृतं पापं नश्यते नात्र संशयः ॥ ३७ ॥
श्लोकार्धं श्लोकपादं वा पठेद् भागवतं च यः।
नित्यं पुण्यमवाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः ॥ ३८ ॥
उक्तं भागवतं नित्यं कृतं च हरिचिन्तनम्।
तुलसीपोषणं चैव धेनूनां सेवनं समम् ॥ ३९ ॥
अन्तकाले तु येनैव श्रूयते शुकशास्त्रवाक्।
प्रीत्या तस्यैव वैकुण्ठं गोविन्दोऽपि प्रयच्छति ॥ ४० ॥
हेमसिंहयुतं चैतद्वैष्णवाय ददाति च।
कृष्णेन सह सायुज्यं स पुमॉल्लभते ध्रुवम् ॥ ४१ ॥
आजन्ममात्रमपि येन शठेन किंचि-
च्चित्तं विधाय शुकशास्त्रकथा न पीता।
चाण्डालवच्च खरवद् बत तेन नीतं
मिथ्या स्वजन्म जननीजनिदुःखभाजा ॥ ४२ ॥
जीवच्छवो निगदितः स तु पापकर्मा
येन श्रुतं शुककथावचनं न किंचित्।
धिक् त नरं पशुसमं भुवि भाररूप-
मेवं वदन्ति दिवि देवसमाजमुख्याः ॥ ४३ ॥
दुर्लभैव कथा लोके श्रीमद्भागवतोद्भवा।
कोटिजन्मसमुत्थेन पुण्येनैव तु लभ्यते ॥ ४४ ॥
तेन योगनिधे धीमन् श्रोतव्या सा प्रयत्नतः।
दिनानां नियमो नास्ति सर्वदा श्रवणं मतम् ॥ ४५ ॥
सत्येन ब्रह्मचर्येण सर्वदा श्रवणं मतम्।
अशक्यत्वात् कलौ बोध्यो विशेषोऽत्र शुकाज्ञया ॥ ४६ ॥
मनोवृत्तिजयश्चैव नियमाचरणं तथा।
दीक्षा कर्तुमशक्यत्वात् सप्ताहश्रवणं मतम् ॥ ४७ ॥

श्रद्धातः श्रवणे नित्यं माघे तावद्धि यत् फलम्।
तत् फलं शुकदेवेन सप्ताहश्रवणे कृतम्॥ ४८॥
मनसश्चाजयाद् रोगात् पुंसां चैवायुषः क्षयात्।
कलेर्दोषबहुत्वाच्च सप्ताहश्रवणं मतम्॥ ४९॥
यत् फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना।
अनायासेन तत्सर्वं सप्ताहश्रवणे लभेत्॥ ५०॥
यज्ञाद् गर्जति सप्ताहः सप्ताहो गर्जति व्रतात्।
तपसो गर्जति प्रोच्चैस्तीर्थात्रित्यं हि गर्जति॥ ५१॥
योगाद् गर्जति सप्ताहो ध्यानाज्ज्ञानाच्च गर्जति।
किं ब्रूमो गर्जनं तस्य रे रे गर्जति गर्जति॥ ५२॥

*शौनक उवाच*

साश्चर्यमेतत्कथितं कथानकं
ज्ञानादिधर्मान् विगणय्य साम्प्रतम्।
निःश्रेयसे भागवतं पुराणं
जातं कुतो योगविदादिसूचकम्॥ ५३॥

*सूत उवाच*

यदा कृष्णो धरां त्यक्त्वा स्वपदं गन्तुमुद्यतः।
एकादशं परिश्रुत्याप्युद्धवो वाक्यमब्रवीत्॥ ५४॥

*उद्धव उवाच*

त्वं तु यास्यसि गोविन्द भक्तकार्यं विधाय च।
मच्चित्ते महती चिन्ता तां श्रुत्वा सुखमावह॥ ५५॥
आगतोऽयं कलिर्घोरो भविष्यन्ति पुनः खलाः।
तत्सङ्गेनैव सन्तोऽपि गमिष्यन्त्युग्रतां यदा॥ ५६॥
तदा भारवती भूमिर्गोरूपेयं कमाश्रयेत्।
अन्यो न दृश्यते त्राता त्वत्तः कमललोचन॥ ५७॥
अतः सत्सु दयां कृत्वा भक्तवत्सल मा व्रज।
भक्तार्थं सगुणो जातो निराकारोऽपि चिन्मयः॥ ५८॥
त्वद्वियोगेन ते भक्ताः कथं स्थास्यन्ति भूतले।
निर्गुणोपासने कष्टमतः किंचिद्विचारय॥ ५९॥
इत्युद्धववचः श्रुत्वा प्रभासेऽचिन्तयद्धरिः।
भक्तावलम्बनार्थाय किं विधेयं मयेति च॥ ६०॥
स्वकीयं यद्भवेत्तेजस्तच्च भागवतेऽदधात्।
तिरोधाय प्रविष्टोऽयं श्रीमद्भागवतार्णवम्॥ ६१॥
तेनेयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तते हरेः।
सेवनाच्छ्रवणात्पाठाद् दर्शनात्पापनाशिनी॥ ६२॥
सप्ताहश्रवणं तेन सर्वेभ्योऽप्यधिकं कृतम्।
साधनानि तिरस्कृत्य कलौ धर्मोऽयमीरितः॥ ६३॥
दुःखदारिद्र्यदौर्भाग्यपापप्रक्षालनाय च।
कामक्रोधजयार्थं हि कलौ धर्मोऽयमीरितः॥ ६४॥
अन्यथा वैष्णवी माया देवैरपि सुदुस्त्यजा।
कथं त्याज्या भवेत्पुम्भिः सप्ताहोऽतः प्रकीर्तितः॥ ६५॥

*सूत उवाच*

एवं नगाहश्रवणोरुधर्मे
प्रकाश्यमाने ऋषिभिः सभायाम्।
आश्चर्यमेकं समभूत्तदानीं
तदुच्यते संशृणु शौनक त्वम्॥ ६६॥
भक्तिः सुतौ तौ तरुणौ गृहीत्वा
प्रेमैकरूपा सहसाऽऽविरासीत्।
श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे
नाथेति नामानि मुहुर्वदन्ती॥ ६७॥
तां चागतां भागवतार्थभूषां
सुचारुवेषां ददृशुः सदस्याः।
कथं प्रविष्टा कथमागतेयं
मध्ये मुनीनामिति तर्कयन्तः॥ ६८॥
ऊचुः कुमारा वचनं तदानीं
कथार्थतो निष्पतिताऽधुनेयम्।
एवं गिरः सा ससुता निशम्य
सनत्कुमारं निजगाद नम्रा॥ ६९॥

*भक्तिरुवाच*

भवद्भिरद्यैव कृतास्मि पुष्टा
कलिप्रणष्टोपि कथारसेन।
क्वाहं तु तिष्ठाम्यधुना ब्रुवन्तु
ब्राह्मा इदं तां गिरमूचिरे ते॥ ७०॥
भक्तेषु गोविन्दसरूपकर्त्री
प्रेमैकधर्त्री भवरोगहन्त्री।
सा त्वं च तिष्ठस्व सुधैर्यसंश्रया
निरन्तरं वैष्णवमानसानि॥ ७१॥
ततोऽपि दोषाः कलिजा इमे त्वां
द्रष्टुं न शक्ताः प्रभवोऽपि लोके।
एवं तदाज्ञावसरेऽपि भक्ति-
स्तदा निषण्णा हरिदासचित्ते॥ ७२॥
सकलभुवनमध्ये निर्धनास्तेऽपि धन्या
निवसति हृदि येषां श्रीहरेर्भक्तिरेका।
हरिरपि निजलोकं सर्वथाऽतो विहाय
प्रविशति हृदि तेषां भक्तिसूत्रोपनद्धः॥ ७३॥

ब्रूमोऽद्य ते किमधिकं महिमानमेवं
ब्रह्मात्मकस्य भुवि भागवताभिधस्य।
यत्संश्रयान्निगदिते लभते सुवक्ता
श्रोतापि कृष्णसमतामलमन्यधर्मैः ॥ ७४ ॥

---

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये
भक्तिकष्टनिवर्तनं नाम तृतीयोऽध्याय ॥ ३ ॥

---

## अथ चतुर्थोऽध्यायः

*सूत उवाच*

अथ वैष्णवचित्तेषु दृष्ट्वा भक्तिमलौकिकीम्।
निजलोकं परित्यज्य भगवान् भक्तवत्सलः ॥ १ ॥
वनमाली घनश्यामः पीतवासा मनोहरः।
काञ्चीकलापरुचिरो लसन्मुकुटकुण्डलः ॥ २ ॥
त्रिभङ्गललितश्चारुकौस्तुभेन विराजितः।
कोटिमन्मथलावण्यो हरिचन्दनचर्चितः ॥ ३ ॥
परमानन्दचिन्मूर्तिर्मधुरो मुरलीधरः।
आविवेश स्वभक्तानां हृदयान्यमलानि च ॥ ४ ॥
वैकुण्ठवासिनो ये च वैष्णवा उद्धवादय ।
तत्कथाश्रवणार्थं ते गूढरूपेण संस्थिताः ॥ ५ ॥
तदा जयजयारावो रसपुष्टिरलौकिकी ।
चूर्णप्रसूनवृष्टिश्च मुहुः शङ्खरवोऽप्यभूत् ॥ ६ ॥
तत्सभासंस्थितानां च देहगेहात्मविस्मृतिः।
दृष्ट्वा च तन्मयावस्था नारदो वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥
अलौकिकोऽयं महिमा मुनीश्वरः
सप्ताहजन्योऽद्य विलोकितो मया।
मूढाः शठा ये पशुपक्षिणोऽत्र
सर्वेऽपि निष्पापतमा भवन्ति ॥ ८ ॥
अतो नृलोके ननु नास्ति किंचि-
च्चित्तस्य शोधाय कलौ पवित्रम्।
अघौघविध्वंसकरं तथैव
कथासमानं भुवि नास्ति चान्यत् ॥ ९ ॥
के के विशुद्ध्यन्ति वदन्तु मह्यं
सप्ताहयज्ञेन कथामयेन।
कृपालुभिर्लोकहितं विचार्य
प्रकाशितः कोऽपि नवीनमार्गः ॥ १० ॥

*कुमारा ऊचुः*

ये मानवाः पापकृतस्तु सर्वदा
सदा दुराचाररता विमार्गगाः।
क्रोधाग्निदग्धाः कुटिलाश्च कामिनः
सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ते ॥ ११ ॥
सत्येन हीनाः पितृमातृदूषका-
स्तृष्णाकुलाश्चाश्रमधर्मवर्जिताः।
ये दाम्भिका मत्सरिणोऽपि हिंसकाः
सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ते ॥ १२ ॥
पञ्चोग्रपापाश्छलछद्मकारिणः
क्रूराः पिशाचा इव निर्दयाश्च ये।
ब्रह्मस्वपुष्टा व्यभिचारकारिणः
सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ते ॥ १३ ॥
कायेन वाचा मनसापि पातक
नित्यं प्रकुर्वन्ति शठा हठेन ये।
परस्वपुष्टा मलिना दुराशयाः
सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ते ॥ १४ ॥
अत्र ते कीर्तयिष्याम इतिहासं पुरातनम्
यस्य श्रवणमात्रेण पापहानिः प्रजायते ॥ १५ ॥
तुङ्गभद्रातटे पूर्वमभूत्पत्तनमुत्तमम्।
यत्र वर्णाः स्वधर्मेण सत्यसत्कर्मतत्पराः ॥ १६ ॥
आत्मदेवः पुरे तस्मिन् सर्ववेदविशारदः।
श्रौतस्मार्तेषु निष्णातो द्वितीय इव भास्करः ॥ १७ ॥
भिक्षुको वित्तवाँल्लोके तत्प्रिया धुन्धुली स्मृता।
स्ववाक्यस्थापिका नित्यं सुन्दरी सुकुलोद्भवा ॥ १८ ॥
लोकवार्तारता क्रूरा प्रायशो बहुजल्पिका।
शूरा च गृहकृत्येषु कृपणा कलहप्रिया ॥ १९ ॥

एवं निवसतोः प्रेम्णा दम्पत्यो रममाणयोः।
अर्थाः कामास्तयोरासन् सुखाय गृहादिकम्॥ २०॥
पश्चाद्धर्माः समारब्धास्ताभ्यां सन्नाहेतवे।
गोभूहिरण्यवासांसि दीनेभ्यो यच्छतः सदा॥ २१॥
धनार्धं धर्मार्गेण ताभ्यां नीतं तथापि च।
न पुत्रो नापि वा पुत्री ततश्चिन्तातुरो भृशम्॥ २२॥
एकदा स द्विजो दुःखाद्गृहं त्यक्त्वा वनं गतः।
मध्याह्ने तृषितो जातस्तडागं सम्पेयिवान्॥ २३॥
पीत्वा जलं निषण्णस्तु प्रजादुःखेन कर्शितः।
मुहूर्तां दपि तत्रैव सन्न्यासी कश्चि दागतः॥ २४॥
दृष्ट्वा पीतजलं तं तु विप्रो यातस्तदन्तिकम्।
नत्वा च पादयोस्तस्य निःश्वसन् संस्थितः पुरः॥ २५॥

*यतिरुवाच*

कथं रोदिषि विप्र त्वं का ते चिन्ता बलीयसी।
वद त्वं सत्वरं मह्यं स्वस्य दुःखस्य कारणम्॥ २६॥

*ब्राह्मण उवाच*

किं ब्रवीमि ऋषे दुःखं पूर्वपापेन संचितम्।
मदीयाः पूर्वजास्तोयं कवोष्णमुपभुञ्जते॥ २७॥
मद्दत्तं नैव गृह्णन्ति प्रीत्या देवा द्विजातयः।
प्रजादुःखेन शून्योऽहं प्राणांस्त्यक्तुमिहागतः॥ २८॥
धिक् जीवितं प्रजाहीनं धिक् गृहं च प्रजां विना
धिक् धनं चानपत्यस्य धिक् कुलं सन्ततिं विना॥ २९॥
पाल्यते या मया धेनुः सा वन्ध्या सर्वथा भवेत्।
यो मया रोपितो वृक्षः सोऽपि वन्ध्यत्वमाश्रयेत्॥ ३०॥
यत् फलं मद्गृहायातं तच्च शीघ्रं विनश्यति।
निर्भाग्यस्यानपत्यस्य किमतो जीवितेन मे॥ ३१॥
इत्युक्त्वा स रुरोदोच्चैस्ततपार्श्वं दुःखपीडितः।
तदा तस्य यतेश्चित्ते करुणाऽभूदुरीयसी॥ ३२॥
तद्भालाक्षरमालां च वाचयामास योगवान्।
सर्वं ज्ञात्वा यतिः पश्चाद्विप्रमूचे सविस्तरम्॥ ३३॥

*यतिरुवाच*

मुञ्चाज्ञानं प्रजारूपं बलिष्ठा कर्मणो गतिः।
विवेकं तु समासाद्य त्यज संसारवासनाम्॥ ३४॥
शृणु विप्र मया तेऽद्य प्रारब्धं तु विलोकितम्।
सप्तजन्मावधि तव पुत्रो नैव च नैव च॥ ३५॥
सन्ततेः सगरो दुःखमवापाङ्ग! पुरा तथा।
रे! मुञ्चाद्य कुटुम्बाशां सन्न्यासे सर्वथा सुखम्॥ ३६॥

*ब्राह्मण उवाच*

विवेकेन भवेत्किं मे पुत्रं देहि बलादपि।
नो चेत्त्यजाम्यहं प्राणांस्त्वदग्रे शोकमूर्च्छितः॥ ३७॥
पुत्रादिसुखहीनोऽयं सन्न्यासः शुष्क एव हि।
गृहस्थः सरसो लोके पुत्रपौत्रसमन्वितः॥ ३८॥
इति विप्राग्रहं दृष्ट्वा प्राब्रवीत्स तपोधनः।
चित्रकेतुर्गतः कष्टं विधिलेखविमार्जनात्॥ ३९॥
न यास्यसि सुखं पुत्राद्यथा दैवहतोद्यमः।
अतो हठेन युक्तोऽसि ह्यर्थिनं किं वदाम्यहम्॥ ४०॥
तस्याग्रहं समालोक्य फलमेकं स दत्तवान्।
इदं भक्षय पत्न्या त्वं ततः पुत्रो भविष्यति॥ ४१॥
सत्यं शौचं दया दानमेकभुक्तं तु भोजनम्।
वर्षावधि स्त्रिया कार्यं तेन पुत्रोऽतिनिर्मलः॥ ४२॥
एवमुक्त्वा ययौ योगी विप्रस्तु गृहमागतः।
पत्न्याः पाणौ फलं दत्त्वा स्वयं यातस्तु कुत्र चित्॥ ४३॥
तरुणी कुटिला तस्य सख्यग्रे च रुरोद ह।
अहो चिन्ता ममोत्पन्ना फलं चाहं न भक्षये॥ ४४॥
फलभक्षेण गर्भः स्याद्भैणोदरवृद्धिता।
स्वल्पभक्षं ततोऽशक्तिर्गृहकार्यं कथं भवेत्॥ ४५॥
दैवाद्वाटी व्रजेद्गामे पलायेद्गर्भिणी कथम्।
शुकवन्निवसेद्गर्भस्तं कुक्षेः कथमुत्सृजेत्॥ ४६॥
तिर्यक्चेदागतो गर्भस्तदा मे मरणं भवेत्।
प्रसूतौ दारुणं दुःखं सुकुमारी कथं सहे॥ ४७॥
मन्दायां मयि सर्वस्वं ननान्दा संहरेत्तदा।
सत्यशौचादिनियमो दुराराध्यः स दृश्यते॥ ४८॥
लालने पालने दुःखं प्रसूतायाश्च वर्तते।
वन्ध्या वा विधवा नारी सुखिनी चेति मे मतिः॥ ४९॥
एवं कुतर्कयोगेन तत् फलं नैव भक्षितम्।
पत्या पृष्टं फलं भुक्तं भुक्तं चेति तयेरितम्॥ ५०॥
एकदा भगिनी तस्यास्तद्गृहं स्वेच्छयाऽऽगता।
तदग्रे कथितं सर्वं चित्तेयं महती हि मे॥ ५१॥
दुर्बला तेन दुःखेन ह्यनुजे करवाणि किम्।
साब्रवीन्मम गर्भोऽस्ति तं दास्यामि प्रसूतितः॥ ५२॥
तावत्कालं सगर्भेव गुप्ता तिष्ठ गृहे सुखम्।
वित्तं त्वं मत्पतेर्यच्छ स ते दास्यति बालकम्॥ ५३॥
षाण्मासिको मृतो बाल इति लोको वदिष्यति।
तं बालं पोषयिष्यामि नित्यमागत्य ते गृहे॥ ५४॥

फलमर्पय धेन्वै त्वं परीक्षार्थं तु साम्प्रतम्।
तत्तदाचरितं सर्वं तथैव स्त्रीस्वभावतः ॥ ५५ ॥
अथ कालेन सा नारी प्रसूता बालकं तदा।
आनीय जनको बालं रहस्ये धुन्धुलीं ददौ ॥ ५६ ॥
तया च कथितं भर्त्रे प्रसूतः सुखमर्भकः।
लोकस्य सुखमुत्पन्नमात्मदेवप्रजोदयात् ॥ ५७ ॥
ददौ दानं द्विजातिभ्यो जातकर्म विधाय च।
गीतवादित्रघोषोऽभूत्तद्द्वारे मङ्गलं बहु ॥ ५८ ॥
भर्तुरग्रेऽब्रवीद्वाक्यं स्तन्यं नास्ति कुचे मम।
अन्यस्तन्येन निर्दुग्धा कथं पुष्णामि बालकम् ॥ ५९ ॥
मत्स्वसुश्च प्रसूताया मृतो बालस्तु वर्तते।
तामाकार्य गृहे रक्ष सा तेऽर्भं पोषयिष्यति ॥ ६० ॥
पतिना तत्कृतं सर्वं पुत्तरक्षणहेतवे।
पुत्तस्य धुन्धुकारीति नाम मात्रा प्रतिष्ठितम् ॥ ६१ ॥
त्रिमासे निर्गते चाथ सा धेनुः सुषुवेऽर्भकम्।
सर्वाङ्गसुन्दरं दिव्यं निर्मलं कनकप्रभम् ॥ ६२ ॥
दृष्ट्वा प्रसन्नो विप्रस्तु संस्कारान् स्वयमादधे।
मत्वाऽऽश्चर्यं जनाः सर्वे दिदृक्षार्थं समागताः ॥ ६३ ॥
भाग्योदयोऽधुना जात आत्मदेवस्य पश्यत।
धेन्वा बालः प्रसूतस्तु देवरूपीति कौतुकम् ॥ ६४ ॥
न ज्ञातं तद्रहस्यं तु केनापि विधियोगतः।
गोकर्णं तं सुतं दृष्ट्वा गोकर्णं नाम चाकरोत् ॥ ६५ ॥
कियत्कालेन तौ जातौ तरुणौ तनयावुभौ।
गोकर्णः पण्डितो ज्ञानी धुन्धुकारी महाखलः ॥ ६६ ॥
स्नानशौचक्रियाहीनो दुर्भक्षी क्रोधवर्धितः।
दुष्परिग्रहकर्ता च शवहस्तेन भोजनम् ॥ ६७ ॥
चौरः सर्वजनद्वेषी परवेश्मप्रदीपकः।
लालनायार्भकान् धृत्वा सद्यः कूपे न्यपातयत् ॥ ६८ ॥
हिंसकः शस्त्रधारी च दीनान्धानां प्रपीडकः।
चाण्डालाभिरतो नित्यं पाशहस्तः श्वसङ्गतः ॥ ६९ ॥
तेन वेश्याकुसङ्गेन पित्र्यं वित्तं तु नाशितम्।
एकदा पितरौ ताड्य पात्राणि स्वयमाहरत् ॥ ७० ॥
तत्पिता कृपणः प्रोच्चैर्धनहीनो रुरोद ह।
कस्यत्वं तु समीचीनं कुपुत्रो दुःखदायकः ॥ ७१ ॥
क्व तिष्ठामि क्व गच्छामि को मे दुःखं व्यपोहयेत्।
प्राणांस्त्यजामि दुःखेन हा कष्टं मम संस्थितम् ॥ ७२ ॥
तदानीं तु समागत्य गोकर्णो ज्ञानसंयुतः।
बोधयामास जनकं वैराग्यं परिदर्शयन् ॥ ७३ ॥
असारः खलु संसारो दुःखरूपी विमोहकः।
सुतः कस्य धनं कस्य स्नेहवाङ्बलतेऽनिशम् ॥ ७४ ॥
न चेन्द्रस्य सुखं किंचित्र सुखं चक्रवर्तिनः।
सुखमस्ति विरक्तस्य मुनेरेकान्तजीविनः ॥ ७५ ॥
मुञ्चाज्ञानं प्रजारूपं मोहतो नरके गतिः।
निपतिष्यति देहोऽयं सर्वं त्यक्त्वा वनं व्रज ॥ ७६ ॥
तद्वाक्यं तु समाकर्ण्य गन्तुकामः पिताऽब्रवीत्।
किं कर्तव्यं वने तात तत्त्वं वद सविस्तरम् ॥ ७७ ॥
अन्धकूपे स्नेहपाशे बद्धः पङ्गुरहं शठः।
कर्मणा पतितो नूनं मामुद्धर दयानिधे ॥ ७८ ॥

### गोकर्ण उवाच

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ॥ ७९ ॥
धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्
सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम्।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम् ॥ ८० ॥
एवं सुतोक्तिवशतोऽपि गृहं विहाय
यातो वनं स्थिरमतिर्गतषष्टिवर्षः।
युक्तो हरेरनुदिनं परिचर्ययाऽसौ
श्रीकृष्णमाप नियतं दशमस्य पाठात् ॥ ८१ ॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे **श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये** विप्रमोक्षो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

## अथ पञ्चमोऽध्यायः

*सूत उवाच*

पितर्युपरते तेन जननी ताडिता भृशम्।
क्व वित्तं तिष्ठति ब्रूहि हनिष्ये लत्तया न चेत्॥ १॥
इति तद्वाक्यसन्तप्ताज्जनन्या पुत्रदुःखतः।
कूपे पातः कृतो रात्रौ तेन सा निधनं गता॥ २॥
गोकर्णस्तीर्थयात्रार्थं निर्गतो योगसंस्थितः।
न दुःखं न सुखं तस्य न वैरी नापि बान्धवः॥ ३॥
धुन्धुकारी गृहेऽतिष्ठत्पञ्चपण्यवधूवृतः।
अत्युग्रकर्मकर्ता च तत्पोषणविमूढधीः॥ ४॥
एकदा कुलटास्तासु भूषणार्थमिलिप्सवः।
तदर्थं निर्गतो गेहात्कामान्धो मृत्युमस्मरन्॥ ५॥
यतस्ततश्च संहृत्य वित्तं वेश्म पुनर्गतः।
ताभ्योऽयच्छत्सुवस्त्राणि भूषणानि कियन्ति च॥ ६॥
बहुवित्तचयं दृष्ट्वा रात्रौ नार्यो व्यचारयन्।
चौर्यं करोत्यसौ नित्यमतो राजा ग्रहीष्यति॥ ७॥
वित्तं हृत्वा पुनश्चैनं मारयिष्यति निश्चितम्।
अतोऽर्थगुप्तये गूढमस्माभिः किं न हन्यते॥ ८॥
निहत्यैनं गृहीत्वार्थं यास्यामो यत्र कुत्रचित्।
इति ता निश्चयं कृत्वा सुप्तं सम्बध्य रश्मिभिः॥ ९॥
पाशं कण्ठे निधायास्य तन्मृत्युमुपचक्रमुः।
त्वरितं न ममाराऽसौ चिन्तायुक्तास्तदाऽभवन्॥ १०॥
तप्ताङ्गारसमूहांश्च तन्मुखे हि चिचिक्षिपुः।
अग्निज्वालातिदुःखेन व्याकुलो निधनं गतः॥ ११॥
तं देहं मुमुचुर्गेर्तं प्रायः साहसिकाः स्त्रियः।
न ज्ञातं तद्रहस्यं तु केनापीदं तथैव च॥ १२॥
लोकैः पृष्टा वदन्ति स्म दूरं यातः प्रियो हि नः।
आगमिष्यति वर्षेऽस्मिन् वित्तलोभविकर्षितः॥ १३॥
स्त्रीणां नैव तु विश्वासं दुष्टानां कारयेद्बुधः।
विश्वासे यः स्थितो मूढः स दुःखैः परिभूयते॥ १४॥
सुधाभमं वचो यासां कामिनां रसवर्धनम्।
हृदयं क्षुरधाराभं प्रियः को नाम योषिताम्॥ १५॥
संहृत्य वित्तं ता याताः कुलटा बहुभर्तृकाः।
धुन्धुकारी बभूवाथ महान् प्रेतः कुकर्मतः॥ १६॥
वात्यारूपधरो नित्यं धावन्दशदिशोऽन्तरम्।
शीतातपपरिक्लिष्टो निराहारः पिपासितः॥ १७॥
न लेभे शरणं क्वापि हा दैवेति मुहुर्वदन्।
कियत्कालेन गोकर्णो मृतं लोकादबुध्यत॥ १८॥
अनाथं तं विदित्वैव गयाश्राद्धमचीकरत्।
यस्मिंस्तीर्थे तु संयाति तत्र श्राद्धमवर्तयत्॥ १९॥
एवं भ्रमन् स गोकर्णः स्वपुरं समुपेयिवान्।
रात्रौ गृहाङ्गणे स्वप्तुमागतोऽलक्षितः परैः॥ २०॥
तत्र सुप्तं स विज्ञाय धुन्धुकारी स्वबन्धवम्।
निशीथे दर्शयामास महारौद्रतरं वपुः॥ २१॥
सकृन्मेषः सकृद्धस्ती सकृच्च महिषोऽभवत्।
सकृदिन्द्रः सकृच्चाग्निः पुनश्च पुरुषोऽभवत्॥ २२॥
वैपरीत्यमिदं दृष्ट्वा गोकर्णो धैर्यसंयुतः।
अयं दुर्गतिकः कोऽपि निश्चित्याथ तमब्रवीत्॥ २३॥

*गोकर्ण उवाच*

कस्त्वमुग्रतरो रात्रौ कुतो यातो दशामिमाम्।
किं वा प्रेतः पिशाचो वा राक्षसोऽसीति शंस नः॥ २४॥

*सूत उवाच*

एवं पृष्टस्तदा तेन रुरोदोच्चैः पुनः पुनः।
अशक्तो वचनोच्चारे संज्ञामात्रं चकार ह॥ २५॥
ततोऽञ्जलौ जलं कृत्वा गोकर्णस्तमुदैरयत्।
तत्सेकहतपापोऽसौ प्रवक्तुमुपचक्रमे॥ २६॥

*प्रेत उवाच*

अहं भ्राता त्वदीयोऽस्मि धुन्धुकारीति नामतः।
स्वकीयेनैव दोषेण ब्रह्मत्वं नाशितं मया॥ २७॥
कर्मणो नास्ति संख्या मे महाज्ञाने विवर्तिनः।
लोकानां हिंसकः सोऽहं स्त्रीभिर्दुःखेन मारितः॥ २८॥
अतः प्रेतत्वमापन्नो दुर्दशां च वहाम्यहम्।
वाताहारेण जीवामि दैवाधीनफलोदयात्॥ २९॥
अहो बन्धो कृपासिन्धो भ्रातर्मामाशु मोचय।
गोकर्णो वचनं श्रुत्वा तस्मै वाक्यमथाऽब्रवीत्॥ ३०॥

*गोकर्ण उवाच*

त्वदर्थं तु गयापिण्डो मया दत्तो विधानतः।
तत्कथं नैव मुक्तोऽसि ममाश्चर्यमिदं महत्॥ ३१॥
गयाश्राद्धान्नमुक्तिश्चेदुपायो नापरस्त्वह।
किं विधेयं मया प्रेत तत्त्वं वद सविस्तरम्॥ ३२॥

प्रेत उवाच

गयाश्राद्धशतेनापि मुक्तिर्मे न भविष्यति।
उपायमपरं कंचित्त्वं विचारय साम्प्रतम्॥ ३३॥
इति तद्वाक्यमाकर्ण्य गोकर्णो विस्मयं गतः।
शतश्राद्धैर्न मुक्तिश्चेदसाध्यं मोचनं तव॥ ३४॥
इदानीं तु निजं स्थानमातिष्ठ प्रेत निर्भयः।
त्वन्मुक्तिसाधकं किं चिदाचरिष्ये विचार्य च॥ ३५॥
धुन्धुकारी निजस्थानं तेनादिष्टस्ततो गतः।
गोकर्णश्चिन्तयामास तां रात्रिं न तदध्यगात्॥ ३६॥
प्रातस्तमागतं दृष्ट्वा लोकाः प्रीत्या समागताः।
तत्सर्वं कथितं तेन यज्जातं च यथा निशि॥ ३७॥
विद्वांसो योगनिष्ठाश्च ज्ञानिनो ब्रह्मवादिनः।
तन्मुक्तिं नैव तेऽपश्यन् पश्यन्तः शास्त्रसंचयान्॥ ३८॥
ततः सर्वैः सूर्यवाक्यं तन्मुक्तौ स्थापितं परम्।
गोकर्णः स्तम्भनं चक्रे सूर्यवेगस्य वै तदा॥ ३९॥
तुभ्यं नमो जगत्साक्षिन् ब्रूहि मे मुक्तिहेतुकम्।
तच्छ्रुत्वा दूरतः सूर्यः स्फुटमित्यभ्यभाषत॥ ४०॥
श्रीमद्भागवतान्मुक्तिः सप्ताहं वाचनं कुरु।
इति सूर्यवचः सर्वैर्धर्मरूपं तु विश्रुतम्॥ ४१॥
सर्वेऽब्रुवन् प्रयत्नेन कर्तव्यं सुकरं त्विदम्।
गोकर्णो निश्चयं कृत्वा वाचनार्थं प्रवर्तितः॥ ४२॥
तत्र संश्रवणार्थाय देशग्रामाज्जना ययुः।
पंग्वन्धवृद्धमन्दाश्च तेऽपि पापक्षयाय वै॥ ४३॥
समाजस्तु महाञ्जातो देवविस्मयकारकः।
यदैवासनमास्थाय गोकर्णोऽकथयत्कथाम्॥ ४४॥
स प्रेतोऽपि तदाऽऽयातः स्थानं पश्यन्नितस्ततः।
सप्तग्रन्थियुतं तत्रापश्यत्कीचकमुच्छ्रितम्॥ ४५॥
तन्मूलच्छिद्रमाविश्य श्रवणार्थं स्थितो ह्यसौ।
वातरूपी स्थितिं कर्तुमशक्तो वंशमाविशत्॥ ४६॥
वैष्णवं ब्राह्मणं मुख्यं श्रोतारं परिकल्प्य सः।
प्रथमस्कन्धतः सप्टमाख्यानं धेनुजोऽकरोत्॥ ४७॥
दिनान्ते रक्षिता गाथा तदा चित्रं बभूव ह।
वंशैकग्रन्थिभेदोऽभूत्सशब्दं पश्यतां सताम्॥ ४८॥
द्वितीयेऽह्नि तथा सायं द्वितीयग्रन्थिभेदनम्।
तृतीयेऽह्नि तथा सायं तृतीयग्रन्थिभेदनम्॥ ४९॥
एवं सप्तदिनैश्चैव सप्तग्रन्थिविभेदनम्।
कृत्वा स द्वादशस्कन्धश्रवणात्प्रेततां जहौ॥ ५०॥
दिव्यरूपधरो जातस्तुलसीदाममण्डितः।
पीतवासा घनश्यामो मुकुटी कुण्डलान्वितः॥ ५१॥
ननाम भ्रातरं सद्यो गोकर्णमिति चाब्रवीत्।
त्वयाहं मोचितो बन्धो कृपया प्रेतकश्मलात्॥ ५२॥
धन्या भागवती वार्ता प्रेतपीडाविनाशिनी।
सप्ताहोऽपि तथा धन्यः कृष्णलोकफलप्रदः॥ ५३॥
कम्पन्ते सर्वपापानि सप्ताहश्रवणे स्थिते।
अस्माकं प्रलयं सद्यः कथा चेयं करिष्यति॥ ५४॥
आर्द्रं शुष्कं लघु स्थूलं वाङ्मनःकर्मभिः कृतम्।
श्रवणं विदहेत्पापं पावकः समिधो यथा॥ ५५॥
अस्मिन् वै भारते वर्षे सूरिभिर्देवसंसदि।
अकथाश्राविणां पुंसां निष्फलं जन्म कीर्तितम्॥ ५६॥
किं मोहतो रक्षितेन सुपुष्टेन बलीयसा।
अधुवेण शरीरेण शुकशास्त्रकथां विना॥ ५७॥
अस्थिस्तम्भं स्नायुबद्धं मांसशोणितलेपितम्।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धं पात्रं मूत्रपुरीषयोः॥ ५८॥
जराशोकविपाकार्तं रोगमन्दिरमातुरम्।
दुष्पूरं दुर्धरं दुष्टं सदोषं क्षणभङ्गुरम्॥ ५९॥
कृमिविड्डस्मसंज्ञान्तं शरीरमिति वर्णितम्।
अस्थिरेण स्थिरं कर्म कुतोऽयं साधयेन्न हि॥ ६०॥
यत्प्रातः संस्कृतं चात्र सायं तच्च विनश्यति।
तदीयरससम्पुष्टे काये का नाम नित्यता॥ ६१॥
सप्ताहश्रवणाल्लोके प्राप्यते निकटे हरिः।
अतो दोषनिवृत्त्यर्थमेतदेव हि साधनम्॥ ६२॥
बुद्बुदा इव तोयेषु मशका इव जन्तुषु।
जायन्ते मरणायैव कथाश्रवणवर्जिताः॥ ६३॥
जडस्य शुष्कवंशस्य यत्र ग्रन्थिविभेदनम्।
चित्रं किम् तदा चित्तग्रन्थिभेदः कथाश्रवात्॥ ६४॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि सप्ताहश्रवणे कृते॥ ६५॥
संसारकर्दमालेपप्रक्षालनपटीयसि।
कथातीर्थे स्थिते चित्ते मुक्तिरेव बुधैः स्मृता॥ ६६॥
एवं ब्रुवति वै तस्मिन् विमानमागमत्तदा।
वैकुण्ठवासिभिर्युक्तं प्रस्फुरद्दीप्तिमण्डलम्॥ ६७॥
सर्वेषां पश्यतां भेजे विमानं धुन्धुलीसुतः।
विमाने वैष्णवान् वीक्ष्य गोकर्णो वाक्यमब्रवीत्॥ ६८॥

**गोकर्ण उवाच**

अत्रैव बहवः सन्ति श्रोतारो मम निर्मलाः।
आनीतानि विमानानि न तेषां युगपत्क्लुतः॥ ६९॥
श्रवणं समभागेन सर्वेषामिह दृश्यते।
फलभेदः कुतो जातः प्रब्रुवन्तु हरिप्रियाः॥ ७०॥

**हरिदासा ऊचुः**

श्रवणस्य विभेदेन फलभेदोऽत्र संस्थितः।
श्रवणं तु कृतं सर्वैर्न तथा मननं कृतम्।
फलभेदस्ततो जातो भजनादपि मानद॥ ७१॥
सप्तरात्रमुपोष्यैव प्रेतेन श्रवणं कृतम्।
मननादि तथा तेन स्थिरचित्ते कृतं भृशम्॥ ७२॥
अदृढं च हतं ज्ञानं प्रमादेन हतं श्रुतम्।
संदिग्धो हि हतो मन्त्रो व्यग्रचित्तो हतो जपः॥ ७३॥
अवैष्णवो हतो देशो हतं श्राद्धमपात्रकम्।
हतमश्रोत्रिये दानमनाचारं हतं कुलम्॥ ७४॥
विश्वासो गुरुवाक्येषु स्वस्मिन्दीनत्वभावना।
मनोदोषजयश्चैव कथायां निश्चला मतिः॥ ७५॥
एवमादि कृतं चेत् स्यात्तदा वै श्रवणे फलम्।
पुनः श्रवान्ते सर्वेषां वैकुण्ठे वसतिर्ध्रुवम्॥ ७६॥
गोकर्ण तव गोविन्दो गोलोकं दास्यति स्वयम्।
एवमुक्त्वा ययुः सर्वे वैकुण्ठं हरिकीर्तनाः॥ ७७॥
श्रावणे मासि गोकर्णः कथामूचे तथा पुनः।
सप्तरात्रवतीं भूयः श्रवणं तैः कृतं पुनः॥ ७८॥
कथासमाप्तौ यज्जातं श्रूयतां तच्च नारद॥ ७९॥
विमानैः सह भक्तैश्च हरिराविर्बभूव ह।
जयशब्दा नमश्शब्दास्तत्राऽऽसन् बहवस्तदा॥ ८०॥
पाञ्चजन्यध्वनिं चक्रे हर्षात्तत्र स्वयं हरिः।
गोकर्णं तु समालिङ्ग्याऽकरोत् स्वसदृशं हरिः॥ ८१॥
श्रोतॄन्यान् घनश्यामान् पीतकौशेयवाससः।
किरीटिनः कुण्डलिनस्तथा चक्रे हरिः क्षणात्॥ ८२॥
तदामे ये स्थिता जीवा आश्वचाण्डालजातयः।
विमाने स्थापितास्तेऽपि गोकर्णकृपया तदा॥ ८३॥
प्रेषिता हरिलोके ते यत्र गच्छन्ति योगिनः।
गोकर्णेन स गोपालो गोलोकं गोपवल्लभम्।
कथाश्रवणतः प्रीतो निर्ययौ भक्तवत्सलः॥ ८४॥
अयोध्यावासिनः पूर्वं यथा रामेण सङ्गताः।
तथा कृष्णेन ते नीता गोलोकं योगिदुर्लभम्॥ ८५॥
यत्र सूर्यस्य सोमस्य सिद्धानां न गतिः कदा।
तं लोकं हि गतास्ते तु श्रीमद्भागवतश्रवात्॥ ८६॥
ब्रूमोऽत्र ते किं फलबृन्दमुज्ज्वलं
सप्ताहयज्ञेन कथासु संचितम्।
कर्णेन गोकर्णकथाक्षरो यैः।
पीतश्च ते गर्भगता न भूयः॥ ८७॥
वाताम्बुपर्णाशनदेहशोषणै-
स्तपोभिरुग्रैश्चिरकालसंचितैः।
योगैश्च संयान्ति न तां गतिं वै
सप्ताहगाथाश्रवणेन यान्ति याम्॥ ८८॥
इतिहासमिमं पुण्यं शाण्डिल्योऽपि मुनीश्वरः।
पठते चित्रकूटस्थो ब्रह्मानन्दपरिप्लुतः॥ ८९॥
आख्यानमेतत्परमं पवित्रं
श्रुतं सकृद्वै विदहेदघौघम्।
श्राद्धे प्रयुक्तं पितृतृप्तिमावहे-
न्नित्यं सुपाठादपुनर्भवं च॥ ९०॥

---

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे **श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये** गोकर्णमोक्षवर्णनं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

---

## अथ षष्ठोऽध्यायः

**कुमारा ऊचुः**

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामः सप्ताहश्रवणे विधिम्।
सहायैर्वसुभिश्चैव प्रायः साध्यो विधिः स्मृतः॥ १॥
दैवज्ञं तु समाहूय मुहूर्तं पृच्छ्य यत्नतः।
विवाहे यादृशं वित्तं तादृशं परिकल्पयेत्॥ २॥
नभस्य आश्विनोर्जौ च मार्गशीर्षः शुचिर्नभाः।
एते मासाः कथारम्भे श्रोतॄणां मोक्षसूचकाः॥ ३॥
मासानां विप्र हेयानि तानि त्याज्यानि सर्वथा।
सहायाश्चेतरे तत्र कर्तव्याः सोद्यमाश्च ये॥ ४॥

देशे देशे तथा सेयं वार्ता प्रेष्या प्रयत्नतः।
भविष्यति कथा चात्र आगन्तव्यं कुटुम्बिभिः॥ ५॥
दूरे हरिकथाः केचिद्दूरे चाच्युतकीर्तनाः।
स्त्रियः शूद्रादयो ये च तेषां बोधो यतो भवेत्॥ ६॥
देशे देशे विरक्ता ये वैष्णवाः कीर्तनोत्सुकाः।
तेष्वेव पत्रं प्रेष्यं च तल्लेखनमितीरितम्॥ ७॥
सतां समाजो भविता सप्तरात्रं सुदुर्लभः।
अपूर्वरसरूपैव कथा चात्र भविष्यति॥ ८॥

श्रीभागवतपीयूषपानाय रसलम्पटाः।
भवन्तश्च तथा शीघ्रमायात प्रेमतत्पराः॥ ९॥
नावकाशः कदाचिच्चेद्दिनमात्रं तथापि तु।
सर्वथाऽऽगमनं कार्यं क्षणोऽत्रैव सुदुर्लभः॥ १०॥
एवमाकारणं तेषां कर्तव्यं विनयेन च।
आगन्तुकानां सर्वेषां वासस्थानानि कल्पयेत्॥ ११॥
तीर्थे वापि वने वाऽपि गृहे वा श्रवणं मतम्।
विशाला वसुधा यत्र कर्तव्यं तत्कथास्थलम्॥ १२॥
शोधनं मार्जनं भूमेर्लेपनं धातुमण्डनम्।
गृहोपस्करमुद्धृत्य गृहकोणे निवेशयेत्॥ १३॥
अर्वाक् पञ्चाहतो यन्नास्तीर्णानि प्रमेलयेत्।
कर्तव्यो मण्डपः प्रोच्चैः कदलीखण्डमण्डितः॥ १४॥
फलपुष्पदलैर्विश्वग्वितानेन विराजितः।
चतुर्दिक्षु ध्वजारोपो बहुसम्पद्विराजितः॥ १५॥
ऊर्ध्वं सप्तैव लोकाश्च कल्पनीयाः सविस्तरम्।
तेषु विप्रा विरक्ताश्च स्थापनीयाः प्रबोध्य च॥ १६॥
पूर्वं तेषामासनानि कर्तव्यानि यथोत्तरम्।
वक्तुश्चापि तदा दिव्यमासनं परिकल्पयेत्॥ १७॥
उदङ्मुखो भवेद्वक्ता श्रोता वै प्राङ्मुखस्तदा।
प्राङ्मुखोदङ्मुखवेद्वक्ता श्रोता चोदङ्मुखस्तदा॥ १८॥
अथवा पूर्वदिग् ज्ञेया पूज्यपूजकमध्यतः।
श्रोतॄणामागमे प्रोक्ता देशकालादिकोविदैः॥ १९॥
विरक्तो वैष्णवो विप्रो वेदशास्त्रविशुद्धिकृत्।
दृष्टान्तकुशलो धीरो वक्ता कार्योऽतिनिःस्पृहः॥ २०॥
अनेकधर्मविभ्रान्ताः स्त्रैणाः पाखण्डवादिनः।
शुकशास्त्रकथोच्चारे त्याज्यास्ते यदि पण्डिताः॥ २१॥
वक्तुः पार्श्वे सहायार्थमन्यः स्थाप्यस्तथाविधः।
पण्डितः संशयच्छेता लोकबोधनतत्परः॥ २२॥

वक्ता क्षौरं प्रकर्तव्यं दिनादर्वाक् व्रतापत्ये।
अरुणोदयेऽसौ निर्वर्त्य शौचं स्नानं समाचरेत्॥ २३॥
नित्यं संक्षेपतः कृत्वा सन्ध्याद्यं स्वं प्रयत्नतः।
कथाविघ्नविघाताय गणनाथं प्रपूजयेत्॥ २४॥
पितॄन् संतर्प्य शुद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तं समाचरेत्।
मण्डलं च प्रकर्तव्यं तत्र स्थाप्यो हरिस्तथा॥ २५॥
कृष्णमुद्दिश्य मन्त्रेण चरेत्पूजाविधिं क्रमात्।
प्रदक्षिणनमस्कारान् पूजान्ते स्तुतिमाचरेत्॥ २६॥

संसारसागरे मग्नं दीनं मां करुणानिधे।
कर्ममोहगृहीताङ्गं मामुद्धर भवार्णवात्॥ २७॥
श्रीमद्भागवतस्यापि ततः पूजा प्रयत्नतः।
कर्तव्या विधिना प्रीत्या धूपदीपसमन्विता॥ २८॥
ततस्तु श्रीफलं धृत्वा नमस्कारं समाचरेत्।
स्तुतिः प्रसन्नचित्तेन कर्तव्या केवलं तदा॥ २९॥
श्रीमद्भागवताख्योऽयं प्रत्यक्षः कृष्ण एव हि।
स्वीकृतोऽसि मया नाथ मुक्त्यर्थं भवसागरे॥ ३०॥

मनोरथो मदीयोऽयं सफलः सर्वथा त्वया।
निर्विघ्नैव कर्तव्यो दासोऽहं तव केशव॥ ३१॥
एवं दीनवचः प्रोच्य वक्तारं चाथ पूजयेत्।
सम्पूज्य वस्त्रभूषाभिः पूजान्ते तं च संस्तवेत्॥ ३२॥
शुकरूप प्रबोधज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
एतत्कथाप्रकाशेन मदज्ञानं विनाशय॥ ३३॥

तदग्रे नियमः पश्चात्कर्तव्यः श्रेयसे मुदा।
सप्तरात्रं यथाशक्त्या धारणीयः स एव हि॥ ३४॥
वरणं पञ्चविप्राणां कथाभङ्गनिवृत्तये।
कर्तव्यं तैर्हरेर्जाप्यं द्वादशाक्षरविद्यया॥ ३५॥
ब्राह्मणान् वैष्णवांश्चान्यांस्तथा कीर्तनकारिणः।
नत्वा सम्पूज्य दत्ताज्ञः स्वयमासनमाविशेत्॥ ३६॥
लोकवित्तधनागारपुत्रचिन्तां व्युदस्य च।
कथाचित्तः शुद्धमतिः स लभेत् फलमुत्तमम्॥ ३७॥
आसूर्योदयमारभ्य सार्धत्रिप्रहरान्तकम्।
वाचनीया कथा सम्यग्धीरकण्ठं सुधीमता॥ ३८॥
कथाविरामः कर्तव्यो मध्याह्ने घटिकाद्वयम्।
तत्कथामनु कार्यं वै कीर्तनं वैष्णवैस्तदा॥ ३९॥
मलमूत्रजयार्थं हि लघुहारः सुखावहः।
हविष्यान्नेन कर्तव्यो होकवारं कथार्थिना॥ ४०॥

उपोष्य सप्तरात्रं वै शक्ति श्चेच्छृणुयात्तदा।
घृतपानं पयःपानं कृत्वा वै शृणुयात्सुखम्॥ ४१॥
फलाहारेण वा भाव्यमेकभुक्तेन वा पुनः।
सुखसाध्यं भवेद्यत्तु कर्तव्यं श्रवणाय तत्॥ ४२॥
भोजनं तु वरं मन्ये कथाश्रवणकारकम्।
नोपवासो वरः प्रोक्तः कथाविघ्नकरो यदि॥ ४३॥
सप्ताहव्रतिनां पुंसां नियमाञ्छृणु नारद।
विष्णुदीक्षाविहीनानां नाधिकारः कथाश्रवे॥ ४४॥
ब्रह्मचर्यमधःसुप्तिः पत्रावल्यां च भोजनम्।
कथासमाप्तौ भुक्तिं च कुर्यान्नित्यं कथाव्रती॥ ४५॥
द्विदलं मधु तैलं च गरिष्ठान्नं तथैव च।
भावदुष्टं पर्युषितं जह्यान्नित्यं कथाव्रती॥ ४६॥
कामं क्रोधं मदं मानं मत्सरं लोभमेव च।
दम्भं मोहं तथा द्वेषं दूरयेच्च कथाव्रती॥ ४७॥
वेदवैष्णवविप्राणां गुरुगोव्रतिनां तथा।
स्त्रीराजमहतां निन्दां वर्जयेद्यः कथाव्रती॥ ४८॥
रजस्वलान्त्यजम्लेच्छपतितव्रात्यकैस्तदा।
द्विजद्विड्वेदबाह्यैश्च न वदेद्यः कथाव्रती॥ ४९॥
सत्यं शौचं दयां मौनमार्जवं विनयं तथा।
उदारमानसं तद्वदेवं कुर्यात् कथाव्रती॥ ५०॥
दरिद्रश्च क्षयी रोगी निर्भाग्यः पापकर्मवान्।
अनपत्यो मोक्षकामः शृणुयाच्च कथामिमाम्॥ ५१॥
अपुष्पा काकवन्ध्या च वन्ध्या या च मृतार्भका।
स्रवद्गर्भा च या नारी तया श्राव्या प्रयत्नतः॥ ५२॥
एतेषु विधिना श्रावे तदक्षयतरं भवेत्।
अत्युत्तमा कथा दिव्या कोटियज्ञफलप्रदा॥ ५३॥
एवं कृत्वा व्रतविधिमुद्यापनमथाचरेत्।
जन्माष्टमीव्रतमिव कर्तव्यं फलकाङ्क्षिभिः॥ ५४॥
अकिञ्चनेषु भक्तेषु प्रायो नोद्यापनाग्रहः।
श्रवणेनैव पूतास्ते निष्कामा वैष्णवा यतः॥ ५५॥
एवं नगाहयज्ञेऽस्मिन् समाप्ते श्रोतृभिस्तदा।
पुस्तकस्य च वक्तुश्च पूजा कार्यातिभक्तितः॥ ५६॥
प्रसादतुलसीमाला श्रोतृभ्यश्चाथ दीयताम्।
मृदङ्गताललललितं कर्तव्यं कीर्तनं ततः॥ ५७॥
जयशब्दं नमश्शब्दं शङ्खशब्दं च कारयेत्।
विप्रेभ्यो याचकेभ्यश्च वित्तमत्रं च दीयताम्॥ ५८॥
विरक्तश्चेद्भवेच्छ्रोता गीता वाच्या परेऽहनि।
गृहस्थश्चेत्तदा होमः कर्तव्यः कर्मशान्तये॥ ५९॥
प्रतिश्लोकं तु जुहुयाद्विधिना दशमस्य च।
पायसं मधु सर्पिश्च तिलान्नादिकसंयुतम्॥ ६०॥
अथवा हवनं कुर्यात् गायत्र्या सुसमाहितः।
तन्मयत्वात्पुराणस्य परमस्य च तत्त्वतः॥ ६१॥
होमाशक्तौ बुधो हौम्यं दद्यात्तत्फलसिद्धये।
नानाच्छिद्रनिरोधार्थं न्यूनताधिकतानयोः॥ ६२॥
दोषयोः प्रशमार्थं च पठेन्नामसहस्रकम्।
तेन स्यात्सफलं सर्वं नास्त्यस्मादधिकं यतः॥ ६३॥
द्वादश ब्राह्मणान् पश्चाद्भोजयेन्मधुपायसैः।
दद्यात्सुवर्णं धेनुं च व्रतपूर्णलहेतवे॥ ६४॥
शक्तौ पलत्रयमितं स्वर्णसिंहं विधाय च।
तत्रास्य पुस्तकं स्थाप्यं लिखितं ललिताक्षरम्॥ ६५॥
सम्पूज्यावाहनाद्यैस्तदुपचारैः सदक्षिणम्।
वस्त्रभूषणगन्धाद्यैः पूजिताय यतात्मने॥ ६६॥
आचार्याय सुधीर्दत्त्वा मुक्तः स्याद्भवबन्धनैः।
एवं कृते विधाने च सर्वपापनिवारणे॥ ६७॥
फलदं स्यात्पुराणं तु श्रीमद्भागवतं शुभम्।
धर्मकामार्थमोक्षाणां साधनं स्यात्र संशयः॥ ६८॥

**कुमारा ऊचुः**

इति ते कथितं सर्वं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि।
श्रीमद्भागवतेनैव भुक्तिमुक्ती करे स्थिते॥ ६९॥

**सूत उवाच**

इत्युक्त्वा ते महात्मानः प्रोचुर्भागवतीं कथाम्।
सर्वपापहरां पुण्यां भुक्तिमुक्तिप्रदायिनीम्॥ ७०॥
शृण्वतां सर्वभूतानां सप्ताहं नियतात्मनाम्।
यथाविधि ततो देवं तुष्टुवुः पुरुषोत्तमम्॥ ७१॥
तदन्ते ज्ञानवैराग्यभक्तीनां पुष्टता परा।
तारुण्यं परमं चाभूत्सर्वभूतमनोहरम्॥ ७२॥
नारदश्च कृतार्थोऽभूत्सिद्धे स्वीये मनोरथे।
पुलकीकृतसर्वाङ्गः परमानन्दसम्भृतः॥ ७३॥
एवं कथां समाकर्ण्य नारदो भगवत्प्रियः।
प्रेमगद्गदया वाचा तानुवाच कृताञ्जलिः॥ ७४॥

**नारद उवाच**

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि भवद्भिः करुणापरैः।
अद्य मे भगवाँल्लब्धः सर्वपापहरो हरिः॥ ७५॥

श्रवणं सर्वधर्मेभ्यो वरं मन्ये तपोधनाः।
वैकुण्ठस्थो यतः कृष्णः श्रवणाद्यस्य लभ्यते॥ ७६॥

*सूत उवाच*

एवं ब्रुवति वै तत्र नारदे वैष्णवोत्तमे।
परिभ्रमन् समायातः शुको योगेश्वरस्तदा॥ ७७॥
तत्राऽऽययौ षोडशवार्षिकस्तदा
व्यासात्मजो ज्ञानमहाब्धिचन्द्रमाः।
कथावसाने निजलाभपूर्णः
प्रेम्णा पठन् भागवतं शनैः शनैः॥ ७८॥
दृष्ट्वा सदस्याः परमोरुतेजसं
सद्यः समुत्थाय ददुर्महासनम्।
प्रीत्या सुरर्षिस्तमपूजयत्सुखं
स्थितोऽवदत्संशृणुतामलां गिरम्॥ ७९॥

*श्रीशुक उवाच*

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥ ८०॥
धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥ ८१॥
श्रीमद्भागवतं पुराणतिलकं यद्वैष्णवानां धनं
यस्मिन् पारमहंस्यमेवममलं ज्ञानं परं गीयते।
यत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं।
तच्छृण्वन् प्रपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥ ८२॥
स्वर्गे सत्ये च कैलासे वैकुण्ठे नास्त्ययं रसः।
अतः पिबन्तु सद्भाग्या मा मा मुञ्चत कर्हिचित्॥ ८३॥

*सूत उवाच*

एवं ब्रुवाणे सति बादरायणौ
मध्ये सभायां हरिराविरासीत्।
प्रह्लादबल्युद्धवफाल्गुनादिभि-
र्वृतः सुरर्षिस्तमपूजयच्च तान्॥ ८४॥
दृष्ट्वा प्रसन्नं महदासने हरिं
ते चक्रिरे कीर्तनमग्रतस्तदा।
भवो भवान्या कमलासनस्तु
तत्रागमत्कीर्तनदर्शनाय॥ ८५॥
प्रह्लादस्तालधारी तरलगतितया चोद्धवः कांस्यधारी
वीणाधारी सुरर्षिः स्वरकुशलतया रागकर्तार्जुनोऽभूत्।
इन्द्रोऽवादीन्मृदङ्गं जय जय सुकराः कीर्तने ते कुमारा
यत्राग्रे भाववक्ता सरसरचनया व्यासपुत्रो बभूव॥ ८६॥
ननर्त मध्ये त्रिकमेव तत्र
भक्त्यादिकानां नटवत्सुतेजसाम्।
अलौकिकं कीर्तनमेतदीक्ष्य
हरिः प्रसन्नोऽपि वचोऽब्रवीत्तत्॥ ८७॥
मत्तो वरं भावकृताद्गृणुध्वं
प्रीतः कथाकीर्तनतोऽस्मि साम्प्रतम्।
श्रुत्वेति तद्वाक्यमतिप्रसन्नाः
प्रेमार्द्रचित्ता हरिमूचिरे ते॥ ८८॥
नगाहगाथासु च सर्वभक्तै-
रेभिस्त्वया भाव्यमिति प्रयत्नात्।
मनोरथोऽयं परिपूरणीय-
स्तथेति चोक्त्वान्तरधीयताऽच्युतः॥ ८९॥
ततोऽनमत्तच्चरणेषु नारद-
स्तथा शुकादीनपि तापसांश्च।
अथ प्रहृष्टाः परिनष्टमोहाः
सर्वे ययुः पीतकथामृतास्ते॥ ९०॥
भक्तिः सुताभ्यां सह रक्षिता सा
शास्त्रे स्वकीयेऽपि तदा शुकेन।
अतो हरिर्भागवतस्य सेवना-
च्चित्तं समायाति हि वैष्णवानाम्॥ ९१॥
दारिद्र्यदुःखज्वरदाहितानां
मायापिशाचीपरिमर्दितानाम्।
संसारसिन्धौ परिपातितानां
क्षेमाय वै भागवतं प्रगर्जति॥ ९२॥

*शौनक उवाच*

शुकेनोक्तं कदा राज्ञे गोकर्णेन कदा पुनः।
सुरर्षये कदा ब्राह्मैस्छिन्धि मे संशयन्त्विमम्॥ ९३॥

*सूत उवाच*

आकृष्णनिर्गमात्त्रिंशद्वर्षाधिकगते कलौ।
नवमीतो नभस्ये च कथारम्भं शुकोऽकरोत्॥ ९४॥
परीक्षित्च्छ्रवणान्ते च कलौ वर्षशतद्वये।
शुद्धे शुचौ नवम्यां च धेनुजोऽकथयत्कथाम्॥ ९५॥

तस्मादपि कलौ प्राप्ते त्रिंशद्वर्षगते सति।
ऊचुरूर्जे सिते पक्षे नवम्यां ब्रह्मणः सुताः ॥ ९६ ॥
इत्येतत्ते समाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वयानघ।
कलौ भागवती वार्ता भवरोगविनाशिनी ॥ ९७ ॥
कृष्णप्रियं सकलकल्मषनाशनं च
मुक्त्येकहेतुमिह भक्तिविलासकारि।
सन्तः कथानकमिदं पिबताऽऽदरेण
लोके हि तीर्थपरिशीलनसेवया किम्॥ ९८ ॥
स्वपुरुषमपि वीक्ष्य पाशहस्तं
वदति यमः किल तस्य कर्णमूले।
परिहर भगवत्कथासु मत्तान्
प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवानाम्॥ ९९ ॥

असारे संसारे विषयविषसङ्गाकुलधियः
क्षणार्धं क्षेमार्थं पिबत शुकगाथातुलसुधाम्।
किमर्थं व्यर्थं भो व्रजत कुपथे कुत्सितकथे
परीक्षित्साक्षी यच्छ्रवणगतमुक्त्युक्तिकथने ॥ १०० ॥

रसप्रवाहसंस्थेन श्रीशुकेनेरिता कथा।
कण्ठे सम्बध्यते येन स वैकुण्ठप्रभुर्भवेत्॥ १०१ ॥

इति च परमगुह्यं सर्वसिद्धान्तसिद्धं
सपदि निगदितं ते शास्त्रपुञ्जं विलोक्य।
जगति शुककथातो निर्मलं नास्ति किञ्चित्
पिब परसुखहेतोर्द्वादशस्कन्धसारम्॥ १०२ ॥

एतां यो नियततया शृणोति भक्त्या
यश्चैनां कथयति शुद्धवैष्णवाग्रे।
तौ सम्यग्विधिकरणात् फलं लभेते
याथार्थ्यान्न हि भुवने किमप्यसाध्यम्॥ १०३ ॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये
श्रवणविधिकथनं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

॥ समाप्तमिदं श्रीमद्भागवतमाहात्म्यम् ॥

*॥ हरिः ओं तत्सत् ॥*

ओं तत्सत्

श्रीगणेशाय नमः

# श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

ओं नमो भगवते वासुदेवाय

## प्रथमः स्कन्धः

### प्रथमोऽध्यायः

**जन्माद्यस्य यतोऽन्वया दितरतश्चार्थे ष्वभिज्ञः स्वराट्**
**तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः[1] ।**
**तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा[2]**
**धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥ १ ॥**

---

1. W यं सू° 2. H,W °र्गो मृषा

ओम्

श्री महागणाधिपतये नमः

**श्रीधरस्वामिविरचिता[1] भावार्थदीपिका**

ओं[2] नमो भगवते परमहंसास्वादित चरणकमलचिन्मकरन्दाय भक्तजनमानसनिवासाय श्रीरामचन्द्राय[3] ।

वागीशा[4] यस्य वदने लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि ।
यस्याऽऽस्ते हृदये संवित् तं नृसिंह महं भजे ॥ १ ॥

विश्वसर्गविसर्गादिनवलक्षणलक्षितम् ।
श्रीकृष्णाख्यं परं धाम जगद्धाम नमामि तत् ॥ २ ॥

माधवोमाधवावीशौ सर्वसिद्धिविधायिनौ ।
वन्दे परस्परात्मानौ परस्परनतिप्रियौ ॥ ३ ॥

सम्प्रदायानुरोधेन[5] पौर्वापर्यानुसारतः[6] ।
श्रीभागवतभावार्थदीपिकेयं प्रतन्यते[7] ॥ ४ ॥

*क्वाहं मन्दमतिः क्वेदं मथनं क्षीरवारिधेः।
किं तत्र परमाणुर्वै यत्र मज्जति मन्दरः॥ ५॥

*मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥ ६॥

श्रीमद्भागवताभिधः सुरतरुस्ताराङ्कुरः[10] सज्जनिः
स्कन्धै र्द्वादशभि स्ततः प्रविलसद्धत्तक्वालवालोदयः।
द्वात्रिंशत्तिशतञ्च यस्य विलसच्छाखाः[11] सहस्राण्यलं[12]
पर्णान्यष्टदशेष्टदोऽतिसुलभो वर्वर्ति सर्वोपरि॥ ७॥

अथ [13] नानापुराणशास्त्रप्रबन्धैश्चित्तप्रसत्तिमलभमानस्तत्र तत्रापरितुष्यन् नारदोपदेशतः श्रीमद्भगवद्गुणानुवर्णनप्रधानं श्रीमद्भागवतशास्त्रं प्रारिप्सुर्वेदव्यासः तत्प्रत्यूहनिवृत्त्यादिसिद्धये तत्प्रतिपाद्यपरदेवताऽनुस्मरणलक्षणं[14] मङ्गलमाचरति — जन्माद्यस्येति। परं परमेश्वरम्। धीमहि इति ध्यायतेर्लिङ्[17]। आत्मनेपदं छान्दसम् ध्यायेम इत्यर्थः। बहुवचनं शिष्याधिप्रायकम्। तमेव स्वरूपतटस्थलक्षणाभ्यां उपलक्षयति। तत्र स्वरूपलक्षणं-सत्यमिति। सत्यत्वे हेतुः — यत्र यस्मिन् ब्रह्मणि त्रयाणां मायागुणानां[18] तमोरजसत्त्वानां सर्गो भूतेन्द्रियदेवतारूपोऽमृषा सत्यः यत्सत्यतया मिथ्यासर्गोऽपि सत्यवत् प्रतीयते तं परं सत्यमित्यर्थः। अत्र दृष्टान्तः — तेजोवारिमृदामिति। विनिमयो व्यत्ययो व्यत्यासः अन्यस्मिन्नन्यावभासः, सः यथाऽधिष्ठानसत्तया[19] सत्यवत् प्रतीयते तद्वत् इत्यर्थः। तत्र तेजसि वारिबुद्धिर्मरीचिकायां[20] प्रसिद्धा, मृदि काचादौ वारिबुद्धिः, वारिणि[21] काचादिबुद्धिरित्यादि यथायथमूह्यम्। यद्वा तस्यैव परमार्थ सत्यत्वप्रतिपादनाय तदितरस्य मिथ्यात्वमुक्तम्। यत्र मृषैवायं त्रिसर्गो न वस्तुतः सन्निति। यत्रेत्यनेन प्राप्त[22]-मुपाधिसम्बन्धं वारयति — स्वेनैव धाम्ना महसा निरस्तं कुहकं कपटं मायालक्षणं[23] यस्मिन् तम्[24]। तटस्थलक्षणमाह — जन्मादीति। अस्य विश्वस्य [26] जन्मस्थितिभङ्गाः यतो[27] भवन्ति तं धीमहीति। तत्र हेतुः — अन्वयादितरतश्चार्थेषु आकाशादिकार्येषु परमेश्वरस्य सद्रूपेणान्वयात् अकार्येभ्यः खपुष्पादिभ्यस्तद्व्यतिरेकाच्च। यद्वा अन्वयशब्देन अनुवृत्तिः, इतरशब्देन व्यावृत्तिः। अनुवृत्तत्वात् सद्रूपं [28] ब्रह्म कारणं मृत्सुवर्णादिवत्। व्यावृत्तत्वात् विश्वं कार्यं घटकुण्डलादिवदित्यर्थः। यद्वा सावयवत्वा दन्वयव्यतिरेकाभ्यां यदस्य जन्मादि तत् ततो[29] भवतीति सम्बन्धः। तथा च श्रुतिः — "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशंति" (तैत्ति. उ. 3-1) इत्याद्या। स्मृतिश्च "यतस्सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे। यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये" (भार. 13-135-11) इत्याद्या। तर्हि किं प्रधानं जगत्कारणत्वात् ध्येयमभिप्रेतम्? नेत्याह। अभिज्ञो यस्तं "स ईक्षत लोकान्नु सृजा" (ऐत. उ. 1-1) इति "स इमान् लोकानसृजत" (ऐत. उ. 1-2) इत्यादिश्रुतेः — 'ईक्षतेर्नाशब्दं' (ब्र. सू. 1-1-5) इति न्यायाच्च[31][32]। तर्हि किं जीवो ध्येयः स्यान्नेत्याह — स्वराट् स्वेनैव राजते यस्तं स्वतस्सिद्धज्ञानमित्यर्थः। तर्हि किं ब्रह्मा[33] ध्येयः "हिरण्यगर्भस्समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्" (ऋ. सं. 10-121-1) इति श्रुतेः। नेत्याह — तेन इति।

आदिकवये [34] ब्रह्मणेऽपि ब्रह्म वेदं यस्तेने प्रकाशितवान्। "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" (श्वेता. उ. 6-18) इत्यादि श्रुतेः। ननु ब्रह्मणोऽन्यतः वेदाध्ययनमप्रसिद्धम्। सत्यं; तत्तु हृदा मनसैव तेने विस्तृतवान्। अनेन बुद्धिवृत्तिप्रवर्तकत्वेन गायत्र्यर्थोऽपि दर्शितः। वक्ष्यति हि "प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती वितन्वताऽजस्य सतीं स्मृतिं हृदि। स्वलक्षणा प्रादुरभूत्किलास्यतः स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम्" (भाग. 1-4-22) इति। ननु ब्रह्मा स्वयमेव सुप्तप्रतिबुद्धन्यायेन वेदमुपलभताम्। नेत्याह — यद्यस्मिन् [35] ब्रह्मणि सूरयोऽपि मुह्यन्ति, तस्मात् ब्रह्मणोऽपि पराधीनज्ञानत्वात् स्वतस्सिद्धज्ञानः परमेश्वर एव जगत्कारणम्। अत एव सत्योऽसतः सत्ताप्रदत्वाच्च परमार्थसत्यत्वेन सर्वज्ञत्वेन च निरस्तकुहकस्तं धीमहीति गायत्र्या प्रारम्भेण च गायत्र्यास्त्र्यब्रह्मविद्यारूपमेतत् पुराणमिति दर्शितम्। यथोक्तं मत्स्यपुराणे पुराणदानप्रस्तावे — "यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः। वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमिष्यते॥ लिखित्वा तच्च यो दद्याद्धेमसिंहसमन्वितम्। प्रौष्ठपद्यां पौर्णमास्यां स याति परमं पदम्॥ अष्टादश सहस्राणि पुराणं तत्प्रकीर्तितम्" इति। पुराणान्तरे च — "ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसम्मितः। हयग्रीवब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा॥ गायत्र्या च समारम्भस्तद्वै भागवतं विदुः" (स्कन्द. पु.) इति। पद्मपुराणे च अम्बरीषं प्रति श्रीगौतमवचनम् — "अम्बरीष! शुकप्रोक्तं नित्यं भागवतं शृणु। पठस्व स्वमुखेनापि यदीच्छसि भवक्षयम्" इति। [38] अत एव भागवतं नाम अन्यदित्यपि न शङ्कनीयम्॥ १॥

---

1. H,V — °रचार्यवर्यप्रणीता श्रीभागवतभावार्थदीपिकाख्या अद्वैतव्याख्या 2 H.V omit ओं ... चन्द्राय 3 B °कृष्णाय 4 H.V omit vv. 1–3 5. H,V °सारेण 6 H.V पूर्वाचार्यानु° 7 H वि° 8 H.V omit v 5 9 H.V begin with — यत्कर्णान्दोलकेली-समयसमुदयद्वायुवेगानुकूलं, तोलन्तौ पुष्पवन्तौ घटनविघटनापाटवं नाटयन्तौ। सन्ध्यायामन्धकारेरधिनटनविधिस्वर्णकांस्याग्रताल क्रीडामप्यानयेते स भवतु भगवान् स्वस्तिदो हस्तिवक्त्रः॥ and followed by v. मूकं... 10. H °स्सा° 11 V °खास° 12. H,V °हो 13. H,V add तत्रभवान् वेदव्यासः 14. H,V °प्रशम° 15. B omits तत्र ... सिद्धये 16. H °रूपं 17. A,B लिंङि छान्दसम् 18. H,V आत्मभाया° 19. H,V सद्वत् 20. H,V °र्मरुमरीचिका° 21. H,V add च 22. H,V प्रतीत° 23. H,V मायिकं 24. H,V add विश्वं 25. H,V add धीमहीति पूर्वेणैव सम्बन्धः 26. H,V add जन्मादि 27. H,V यतःपरमेश्वरात् 28. H adds पर° 29. B,H,V यतो 30. H,V इमान् लोकान् लोकपालांश्च 31. H,V शारीरकसूत्राच्च 32. H,V add [ईक्षतेःश्रवणात्, ब्रह्मैव जगत्कारणम्। श्रु॥ 'सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम्' इत्यादि। प्रधानस्य जडत्वेन ईक्षितृत्वायोगात्, अशब्दं शब्देन जगत्कारणत्वेन अप्रतिपादितम्। प्रधानं जगत्कारणं न भवतीति सूत्रस्यार्थः।] 33. H,V add हिरण्यगर्भः 34. H,V add चतुर्मुख° 35. H,V add शब्द° 36. H,V add "पर° 37. H,V अष्टादशसहस्रं तत् पुराणं परिकीर्तितम्। 38. H,V add [अत्र सवितुर्देवस्येति पदद्वयं व्याचष्टे 'जन्माद्यस्य यत' इति। वरेण्यमित्यस्य विवरणं 'पर' मिति। भर्ग इत्यस्य व्याख्या 'स्वरा' डिति। 'धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहक' मिति च। तृतीयपादव्याख्यानं 'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवय' इति। किञ्चात्र प्रतिपदविवरणं विद्वद्भिरेवमप्यूहितुं शक्यम्। तथाहि — गायत्रीमन्त्रादिमतपदप्रतिपदं 'सत्य' मिति। श्रु — 'तत्सत्यमित्याचक्षते' इत्यादि। सवितृपदप्रतिपदं 'यत' इति। वरेण्यमित्यस्य प्रतिपदं 'पर' मिति, 'अभिज्ञ' इति च। भर्ग इत्यस्य प्रतिपदं 'स्वरा' डिति। भर्गस्वरूपं तेज इत्यर्थः। देवस्येत्यस्य प्रतिपदं 'अस्ये' ति। धीमहीत्यस्य 'धीमही' त्येव। धिय इत्यस्य प्रतिपदं विभक्तिव्यत्ययेन 'हृदे'ति। य इत्यस्य 'य' इत्येव। न इत्यस्य 'आदिकवय' इति। प्रचोदयादित्यस्य 'तेन' इति। तस्मात् गायत्रीमन्त्रस्थित 'धीमहि' 'य' इति पदद्वयेन च तदितरपदाष्टकार्थोपबृंहकपदैस्त्रात्रारम्भेण गायत्र्याख्य श्रीपरब्रह्मविद्यारूपमेतत्पुराणमिति सिद्धम्।]

# श्रीमते रामानुजाय नमः

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

वन्दे वात्स्य महोबलार्यतनयं वात्सल्यवारां निधिं
श्रीशैलेशगुरुं श्रियः पतिमपि प्राचार्यपारम्परीम् ।
तुर्यं व्यूह मशेषहेतु मजितस्याजं तदुत्सङ्गजं
देवर्षिप्रवरं पराशरसुतं व्यासं च वैयासकिम् ॥ १ ॥

श्रीशैलपूर्णा दखिलेतिहासपुराणजालं समवाप्य येन
प्रावर्ति सन्दर्शयतेव शिष्यभावं मुनिं लक्ष्मणमाश्रयेऽहम् ॥ २ ॥

श्रीरामानुजयोगि[1] पूर्णकरुणापात्रं महान्तं ततः
सम्प्राप्ताखिलवेदविद्य मखिलान् यो द्राविडान् व्याकरोत् ।
वेदान्तान् कुरुकेश्वरं गुणनिधिं श्रीविष्णुचित्तं गुरुं
वात्स्यं तं वरदं च वाग्विजयजं व्यासार्य मीडीमहि ॥ ३ ॥

श्रीमद्भागवतं पुराणमखिलं व्याख्यातृभि र्व्याकृतं
व्यासार्यै र्यतिराजभाष्यवचसा मर्हं बुधानां मुदे ।
मन्दानामपि मादृशा मवगमायाहं[2] तदा[3] दर्शितं
पन्थानं समुपाश्रितो विवृणुयां मत्साहसं क्षम्यताम् ॥ ४ ॥

तत्र भगवान्[4] पाराशर्यः सत्यवत्यां भगवदंशेनावतीर्णो बादरायणोऽखिलहेयप्रत्यनीक कल्याणगुणगणेन[5] परेण ब्रह्मणा विरचितेऽस्मिन् ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ते देवमनुष्य पशुपादप[6] स्त्रीपुंस चातुर्वर्ण्य चातुराश्रम्यादि भेदभिन्ने जगति तदुपकल्पित तदाराधनोपयुक्त करणकलेवरान् चतुर्मुखादिपरम्पराप्रवर्तित[7] निःश्वसितरूप धर्मार्थकाममोक्ष पुरुषार्थचतुष्टय-तत्साधनावबोध्यधीतवेदानपि स्वस्वकर्मवासनानुवर्ति बुद्ध्यनुगुणप्रवृत्तं[8] कर्मानुगुण गर्भजन्मजरामरणादि सांसारिकदुःखोपहतान् अनवगतवेदार्थान् जना नवलोक्यानुकम्पितमना स्तदुज्जिजीविषया तेषां दुरवबोधं प्रतिजन्म हितोपदेशेन मातापितृसहस्रेभ्योऽपि[9] अतिवत्सलतमं भागद्वयात्मकं वेदं व्याचिख्यासु स्तावत् स्वशिष्येण भगवता जैमिनिना महर्षिणा पूर्वभागं व्याख्याप्य[10], स्वय मुत्तरभागं समीचीनैः शारीरकनयै र्व्याख्याय प्रायशः पूर्वभागोपबृंहणात्मकं पञ्चमवेदत्वेन प्रसिद्धं श्रीमहाभारताख्य मितिहासं निर्माय प्राधान्येन वेदान्तार्थोपबृंहणात्मकं श्रीमद्भागवताख्यपुराणरत्नं[11] चिकीर्षुस्तावदिष्टदेवतोपासनात्मकं मङ्गल माचरति प्रथमश्लोकेन जन्मादीत्यादिना ।

यद्यपि केचि दिदं पुराणं शुककर्तृक मिति वदन्ति, यद्यपि च, उपनिषद्भागोपबृंहणपरेषु तत्रापि सात्त्विकतया प्रत्यक्षश्रुत्यनुगुणार्थतया च प्रबलेषु प्रबन्धेषु वाशिष्ठपौत्रप्रत्यक्षश्रुत्यभीष्टतम पञ्चमश्रुतिप्रवर्त्तक भगवदंशपाराशर्यतनय परम-ऋषिप्रणीतं पुराणं श्रीमद्भागवत मशेषजगत्प्रथितं परमनिःश्रेयसाभ्यर्थिभि रत्यन्त मुपादेयं, यथा पाद्मे अम्बरीषं प्रति गौतमेनोक्तम् — "अम्बरीष शुकप्रोक्तं, शृणु भागवतं सदा। पठस्व स्वमुखेनापि यदीच्छसि भवक्षयम्" (पद्म. पु.) इति, श्रीव्यासार्यसूत्रैश्च[12] शुककर्तृकत्व मवगम्यते; तथाऽपि तत्र प्रणीत मित्यस्य प्रवर्तित मित्यर्थः, पाराशर्य्येत्यस्य कृतेति शेषः, तनयेत्यस्य तदित्यादिः। अन्यथा एतत्पुराणस्थ बहुवचनविरोधापत्तेः। तथाहि — तावदस्मिन्नेव ग्रन्थे तृतीयाध्याये 'उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः" (भाग. 1-3-40)। "निःश्रेयसाय लोकस्य धन्यं स्वस्त्ययनं महत्। तदिदं ग्राहयामास सुतमात्मविदां वरम्" (भाग. 1-3-40,41) इति व्यासकर्तृकत्वं स्पष्टं प्रतीयते। तथा श्रीनारदस्याज्ञया एतत्पुराणनिर्माणं तथाऽस्मिन्नेव स्कन्धे स्पष्टीभविष्यति[13] "अनर्थोपशमं साक्षा द्भक्तियोग मधोक्षजे। लोकस्याजानतो विद्वां श्चक्रे सात्वतसंहिताम्[14]" (भाग. 1-7-6) इति। तथा द्वितीये प्रथमेऽध्याये "इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्। अधीतवान् द्वापरादौ पितु र्द्वैपायना दहम्" (भाग. 2-1-8) इति शुकोक्तेरपि तदवगम्यते। तथा नवमे द्वाविंशेऽध्याये "यस्यां पराशरात् साक्षा दवतीर्णो हरेः कला" (भाग. 9-22-21)। "वेदगुप्तो मुनिः कृष्णो यतोऽह मिद मध्यगाम्। हित्वा स्वशिष्यान् पैलादीन् भगवान् बादरायणिः[15]" (भाग. 9-22-22)। "मह्यं पुत्राय शान्ताय परं गुह्यमिदं जगौ" (भाग. 9-22-23) इति शुकोक्तेरपि त दवगम्यते। उदाहृतव्यासार्य श्रीसूक्तिगतहेतुभि रेवास्य पुराणरत्नस्य प्रामाण्यम्, अत एवोपादेयत्वं च स्पष्ट मवगम्यत इति न तत्रास्माभिः कार्यो यत्नः। पुराणान्तरसंवादाच्च[16] तदनन्तरमेव स्फुटीभविष्यति। अत्र गायत्र्युपक्रमत्वं प्रतीयते — धीमहीति शब्दतः पदान्तरै[17] रर्थतश्च तदुपक्रमत्वप्रत्यभि-ज्ञानात्। गायत्र्युपक्रमत्वं चास्य स्कान्दे पुराणे उत्तरखण्डे — "ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसम्मितः। हयग्रीव-ब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवध स्तथा॥ गायत्र्या च[18] समारम्भो यत्र भागवतं विदुः" इति। तथाचोक्तं मात्स्ये — "आरभ्य यत्र गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः। वृत्रासुरवधश्चापि यत्र भागवतं विदुः" इति। तत्र "जन्माद्यस्य यतः" इति जगत्कारणत्वप्रतिपादनेन तदर्थक सवितृशब्दार्थ उक्तः। वेदान्तप्रसिद्धिं द्योतयता "यत" इति पदेन तच्छब्दार्थश्च सूचितः। "सूरय" इत्यनेन वरेण्य शब्दार्थ उक्तः। उक्तं हि सर्वज्ञैः सावित्रीविवरणे — "वरै र्नेयं वरेण्यं तु वरा ध्यातार ईरिता" इति। "तेन" इत्यादिना देवशब्दार्थ उक्तः, "द्योतनः सर्वभावानां द्योतमानः स्वयं सदा। अज्ञानमखिलं तु द्यन्" इति तत्रोक्तम्। द्यन् खण्डयन् "दो अवखण्डने"। द्योतनः प्रकाशकः। जन्मादीत्यनेन च देव-शब्दार्थ उक्तः, जगद्व्यापारो हि तल्लीला। "धाम्ने" त्यादिना भर्गशब्दार्थ उक्तः, "भर्गस्तेजः समाख्यातं" "भर्जयत्यखिलं कष्टं" इति च तत्र ह्युक्तम्। स्वराट् स्वतन्त्रः। प्रेरकत्वेन धीप्रचोदनं द्योतनं धियो धीपूर्विकाश्चेष्टाः, "प्रेरणं तु प्रचोदनं" इति हि तत्रोक्तम्। एवं प्रदर्शितया दिशा गायत्र्युपक्रमत्वसिद्धिः। अथ पदानि योज्यन्ते — प्रबन्धस्य वेदान्तार्थोपबृंहणरूपतां दर्शितां द्योतयति — जन्मादीति। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तैत्ति. उ. 3-1) इति वेदान्तार्थप्रत्यभिज्ञानात्। शारीरकार्थसङ्ग्रहं चात्र द्योतयति; शारीरकद्वितीयसूत्रस्यैवादावुपादानात्। श्रुत्यर्थं प्रत्यभिज्ञानादेव "परं धीमहि" इत्यत्र "ब्रह्म" इत्यध्याहारो बोध्यः। अस्य चिदचिन्मयस्य जगतो यतो जन्मादि

तं सत्यं परं ब्रह्म धीमहीत्यन्वयः, "कारणं तु ध्येयः" (अथ. शिखा. उ. 3) इति श्रुतेरिति भावः। एवमन्येषामपि यच्छब्दानां जन्मादीति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः, जन्मस्थितिलयं अन्यपदार्थः, अत एव नपुंसकत्व मेकवचनत्वं च। अतद्गुण संविज्ञानबहुव्रीहित्वे सृष्टिकारणत्वासिद्धिः। तथा स्थितिलययोरेवान्यपदार्थत्वेन जन्मादिशब्दस्य द्विवचनान्तत्वे "ईदूदेद्द्विवचनम्" (अष्टा. 1-1-11) इति प्रगृह्यसंज्ञायां सन्ध्यभावप्रसङ्गः। तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहित्वपक्षेऽपि जन्मादित्रयाणा मसमुदिताना मन्यपदार्थत्वे जन्मादिशब्दस्य बहुवचनान्तत्वापत्तिः। जन्मन एवान्यपदार्थत्वं समस्यमानपदार्थत्वं च विरुद्धम्। जन्म प्रत्येव तस्यादित्वानुपपत्तिश्च। अतो जन्मस्थितिलयसमाहार मन्यपदार्थं विवक्षित्वा जन्मादीति तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः प्रयुक्तः, तस्यान्यपदार्थस्य गुणा विशेषणानि समस्यमानपदार्था इति यावत्। तेषां समि त्येकीकारे संविज्ञानं विशेष्यभूतान्यपदार्थान्तभविन विज्ञानं यस्माद्बहुव्रीहे र्लम्बकर्णो गत इत्यादिः स तद्गुण-संविज्ञानो बहुव्रीहिः। तद्विपरीत श्चित्रगु रित्यादि स्वतद्गुणसंविज्ञानः। यतो जन्मादि तद्धीमहीत्यनेन जन्मादिकारणत्वं ब्रह्मणो लक्षणं विवक्षितम्। "यतो वा इमानि" इत्यादिश्रुतौ प्रतिवाक्यं तद् ब्रह्मे त्युक्ते रनेकलक्षणवैयर्थ्याच्च जन्मादिहेतुत्वसमुदाय एकं लक्षणं, न तु जन्मकारणत्वं स्थितिकारणत्वं लयकारणत्वं चेत्यनेकं लक्षणम्। अत्र हि "सत्यं परं ब्रह्म धीमहि" इत्येतावन्मात्रोक्तौ ब्रह्मशब्दस्य बृहन्महदादि शब्दपर्यायत्वाभिधानेन प्रकृतिजीवादिपरत्वस्यापि सम्भवात् तेषामेवात्र ध्येयत्वं प्रसक्तं, तद्व्युदासायात्र ध्येयस्य ब्रह्मणो निरतिशयबृहत्त्वं तदेव स्वरूपगुणबृहत्त्वं तदेव ब्रह्मशब्द प्रवृत्तिनिमित्तम्। प्रकृत्यादिषु ब्रह्मशब्द स्तु औपचारिकश्चेति वक्तु मत्र लक्षण मुच्यते। तत्र चैकेनैव समुदायलक्षणेन ध्येयस्य ब्रह्मणो निरतिशयबृहत्त्वलाभात् तत एव प्रकृत्यादिव्युदासा न्नानेकलक्षणत्वम्। अन्यथा सृष्टिकारणत्वमात्रान्तरानुकूल ज्ञानशक्त्याद्यलाभेऽपि स्थित्याद्यनुकूल ज्ञानशक्त्याद्यलाभेन निरतिशय बृहत्त्वासिद्धिः। न च त्रितयोक्तावपि मोचकत्वोपयोगि ज्ञानशक्त्याद्यलाभ इति वाच्यम्; मोक्षस्य स्थितिलयान्यतरान्तर्भूतत्वेन तत्कारणत्वोक्तयैव तल्लाभात्। स्थितिर्नाम अनिष्टपरिहारपूर्वकेष्टप्रापणरूपा। मोचकत्वं च तादृशमेव। यदि चायं मोक्ष आत्यन्तिकनाशरूप इष्टः तर्हि लयान्तर्भूतः। यत इति हेतौ पञ्चमी। नतु "जनिकर्तुः प्रकृतिः" (अष्टा. 1-4-30) इत्यपादानसंज्ञायां पञ्चमी, तथा सति स्थितिलययोरनन्वयः स्यात्। "जनिकर्तुः प्रकृतिः" इति सूत्रे हि प्रकृतिशब्द उपादानकारणवाची; जायमानस्योपादान मपादानसंज्ञक मिति तत्सूत्रार्थात्। अत्र तत्सूत्रविहितापादानसंज्ञा निमित्तपञ्चम्यभ्युपगमे जन्मकारणत्वस्य लक्षणत्वलाभेऽप्यादिशब्दग्राह्य स्थितिलयकारणत्वस्य लक्षणत्वाभावात् तयो रनन्वयः स्फुट एव। हेत्वर्थपञ्चम्यां तु हेतुत्वस्य निमित्तोपादानसाधारण्या त्तदन्वय उपपन्नः, तत्र भाव्यवस्थाविशेषवतः प्रागवस्थायोगित्व मुपादानत्वम्। निमित्तत्वं नाम कर्तृत्वम्। एवं चात्र जगज्जन्मादि प्रत्युपादानत्व निमित्तत्व रूपोभयविध कारणत्वं ब्रह्मणो लक्षणं विवक्षितम्। ननु लोके मृत्कुलालयो र्विभिन्नयो रेवोपादानत्वनिमित्तत्वदर्शनात् कथमेक स्योभयविधकारणत्व मित्यत्राऽऽह — अन्वया दितरत श्चार्थेष्विति। अर्थेषु कार्यभूतेषु देवमनुष्यादिष्वन्वया दनुवृत्ते रुपादानत्वम्, इतरतो व्यतिरेका दनन्वयात् प्रकृतिपुरुषाभ्यां विलक्षणत्वेन तन्नियन्तृतया पृथगेवावस्थाना न्निमित्तत्वं चैकस्यैव ब्रह्मण उपपन्न मित्यर्थः। कुलालस्यासर्वशक्ते र्घटादिषु मृत्कार्येष्वनन्वया न्नोपादानत्वम्। अचेतनाया मृदस्तु व्यतिरेकाभावा न्निमित्तत्वं, ब्रह्मणस्तु प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरानवगतस्य केवलवेदान्तैकसमधिगम्यस्य चिदचिद्विलक्षण स्योभयविधकारणत्वोपयुक्त सार्वज्ञ्यसर्वशक्ति-

युक्त स्यान्वयव्यतिरेकयोः वेदान्तेभ्योऽवगतत्वात् उभयविधकारणत्वोपपत्ति रिति भावः। वेदान्ताश्च "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (त्रि. म. ना. उ. 1-3) "ऐतदात्म्य मिदं सर्वं" (छान्दो. उ. 6-8-7) "अयमात्मा ब्रह्म" (माण्डू. उ. 2) "तत्त्व मसि" (छान्दो. उ. 6-8-7) इत्यादयोऽन्वयप्रतिपादकाः, "तदैक्षत" (छान्दो. उ. 6-2-3) "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यामन्तरोऽयं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवी मन्तरो यमयति य आत्मनि तिष्ठ न्नात्मनोऽन्तरोऽयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मान मन्तरो यमयति" (बृह. उ. 3-7-3) इत्याद्या व्यतिरेकप्रतिपादकाः। यद्वा, एवंविधानां उभयविधकारणत्व निर्वाहकान्वयव्यतिरेक प्रतिपादकानां उभयविधकारणत्व प्रतिपादकानां "सदेव सोम्येद मग्र आसीत्" (छान्दो. उ. 6-2-1) "एकमेवाद्वितीयम्" "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" (छान्दो. उ. 6-2-3) "सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजा" (छान्दो. उ. 6-8-4) इत्यादीनां च वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रतिपादकतयाऽन्वयात्, अर्थेषु इतरतो ऽनन्वयात् प्रकृति पुरुषादि षूभयविधकारणत्व प्रतिपादकत्वेनान्वयाभावाच्च ब्रह्मै वोभयविधकारण मित्यर्थः।

यथा ब्रह्मस्वरूपगुणादिकं शास्त्रैकसमधिगम्यं तथा तदुभयविधकारणत्वं ब्रह्मण्येव शास्त्रेभ्योऽवगतं, न तु प्रकृत्यादिष्विति भावः। अस्मिन् पक्षे "अन्वया" दित्यनेन समन्वयाध्यायप्रथमपादार्थ उक्तः, "इतरत" इत्यनेन त्रिपाद्यर्थः, ब्रह्म कारणमेव, ब्रह्मैव कारणमि त्ययोगान्ययोगव्यवच्छेदेन कारणत्वं हि समन्वयाध्याये समर्थिम्। पूर्वव्याख्याने तु अनुवृत्यननुवृत्तिभ्यां उपादानिमित्तत्व निर्वाहकाभ्यां तदुभयविधकारणत्वे प्रसाधिते अर्था देव प्रकृत्यादीना-मकारणत्वसिद्धेः अयोगान्ययोग व्यवच्छेदा वर्था देव सिध्यतः। यद्वा समन्वया दुभयविधकारणत्वस्य ब्रह्मण्येव सङ्गते रर्थेषु प्रकृत्यादिषु इतरतोऽसङ्गतेश्च ब्रह्मण एव कारणत्व मित्यर्थः। "एक मेवाद्वितीयम्" (छान्दो. उ. 6-2-1) इत्यनेन हि कृत्स्नस्य जगत एक मेवोभयविधकारण मवगतम् तत्र प्रकृत्यादि षूभयविधकारणत्वोपयुक्त सर्वज्ञत्वसर्वशक्ति-त्वाद्यभावस्य ब्रह्मणि तत्सद्भावस्य च श्रुतिभ्य एव "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" (मुण्ड. उ. 1-1-9) "सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः" (छान्दो. उ. 8-1-5) "पराऽस्य शक्ति र्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" (श्वेता. उ. 6-8) "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" (श्वेत. उ. 1-9) "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" (म. ना. उ. 8-4) इत्यादिभ्योऽवग-मा दुभयविधकारणं ब्रह्मैवेति भावः। अस्मिन् पक्षे सार्वज्ञ्यसर्वशक्तित्वादि गुणप्रतिपादकत्वेन वेदान्तानां ब्रह्म ण्यन्वयात् तस्मि न्नुभयविधकारणत्वोपपत्तिः। तदुपपत्तेश्च जन्मादिकारणत्वस्य लक्षणत्वसिद्धिः अवगन्तव्या। अस्मिन्नपि पक्षे अयोगान्ययोग व्यवच्छेदौ शाब्दौ। यद्वा, ब्रह्म लक्षणेन प्रतिपत्तव्यम्, अनुमानेनाप्यवगन्तुं शक्यत्वात्। अप्राप्ते हि शास्त्र मर्थवत्। शास्त्रैकप्रमाणकत्वेऽपि वा तस्मिन् प्रवृत्तिनिवृत्त्युभयरूपरहिते अपुरुषार्थस्वरूपे न वेदान्तानां बोधकत्वेनान्वयः, पुरुषार्थ पर्यवसानासम्भवा न्न शास्त्रं प्रमाण मित्यत आह — अन्वया दितरत श्चार्थे ष्विति। अत्र "अन्वयात्" इत्यनेन समन्वयाधिकरण सिद्धान्तार्थ उक्तः। शास्त्रयोन्यधिकरण सिद्धान्तार्थस्तु अर्था दत्र विवक्षितः, शास्त्रयोन्यधिकरणस्य लक्षणाक्षेपपरिहाररूपत्वेन, लक्षणकथनेनैव तदाक्षेपपरिहारयोरप्यत्र विवक्षितत्वप्रतीतेः। समन्व-याधिकरणन्तु शास्त्रयोन्यधिकरणाक्षेपपरिहाररूप मिति तत् "अन्वयादि" त्यनेन प्रदर्शितम्। अयम्भावः — न ताव दनु-मानगम्यं ब्रह्म, तस्यासम्भवात्। यद्यपि घटादिवत् सावयवत्वादिना जगतः कार्यत्वमनुमीयते, कार्यं च तदभिज्ञकर्तृक मित्यनभिज्ञजीवव्यतिरिक्तः कृत्स्नजगन्निर्माणचतुर ईश्वरोऽनुमातुं शक्यते, तथापि लाघवात् कार्यत्वादिहेतु-

नाऽनुमीयमानो यः कश्चित् कर्ता जीव एव स्यात्, तस्य दृष्टत्वात्; तेन जीवक्लृप्तौ लाघवम्, ईश्वरक्लृप्तौ गौरवमिति नेश्वरसिद्धिः। ननु जीवाना मल्पज्ञत्वात् कथं महीमहीधराद्यर्थकर्तृत्व मिति चेत् — न; तत्तद्विलक्षण पुण्यविशेषोपचित शक्तिविशेषाणां विश्वामित्रादीनामेव तत्सम्भवात्। [40]अस्त्वेकस्मि न्नण्डे विश्वामित्रोऽन्यत्र स नास्तीति चेत् — न; अन्यत्राप्यन्यस्य विद्यमानत्वाद्धि[41]वद्धि रनन्ता एव योगिनः कल्प्यन्ते, सर्वज्ञाः सर्वशक्तयश्चेति तैरेव तत्र विश्वसृष्टिः प्रवर्तताम्, किमनेन नित्यज्ञानचिकीर्षा प्रयत्नवत्तया विजातीयतया परिकल्पितेन? तथा च अन्यथासिद्धिदूषितानि कार्यत्वाद्यनुमानानि ईश्वर मनुमातुं न प्रभवन्ति। तर्हि [42]सर्वं कार्यं एककर्तृ[43]कं कार्यत्वा दिति [44]साधयाम इति चेत्, त ह्यनेककर्तृकेषु घटादिषु व्यभिचारः, अन्यथासिद्धिर्वा? नह्येककर्तृकत्वाभावे कोऽपि विरोधः स्यात्, अनेककर्तृकं न भवति कार्यत्वा दित्युक्तेऽप्ययमेव दोषः। तस्मा दनुमानानां अनेकदोषदुष्टत्वात् वेदान्तवाक्याना [45]मप्राप्ततवलक्षणं तात्पर्यलिङ्ग मस्त्येवेति लक्षण मुपपन्न मिति। नापि प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वयविरहिणो ब्रह्मणोऽपुरुषार्थरूपत्वात् तत्र न पुरुषार्थपर्यवसायिनां वेदान्तानां च तात्पर्य मिति वाच्यम्; अन्वया द्वेदान्तानां निरतिशयपुरुषार्थरूपे ब्रह्मणि तत्स्वरूपरूपादितात्पर्यकतयान्वया दितरत स्तद्व्यतिरिक्तेष्वर्थेषु पुरुषार्थाभासेषु [47]"एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" (छान्दो. उ. 8-1-6) इत्यादिभिः[48] प्रतिषेधाच्च तत्र शास्त्रं प्रमाणमेवेति। ब्रह्मणः पुरुषार्थरूपत्वं तु "आनन्दो ब्रह्म[49]" (तैत्ति. उ. 3-6) "खं ब्रह्म," (बृह. उ. 5-1-1) "रसो वै सः[50] रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् एष ह्येवानन्द्यात्" (तैत्ति. उ. 2-7) इत्यादिभि रवगतं, निरतिशयसुखस्यैव पुरुषार्थत्वात्। अयोगव्यवच्छेदिकां सर्वज्ञादिगुण[51]वत्ता माह — अभिज्ञ इति। अभितः सर्वदा सर्वत्र सर्वं जानातीत्यभिज्ञः, सर्वज्ञः। इदं च सार्वज्ञ्यं, निमित्तकारणत्वोपयुक्तं; तच्चोपादानकारणत्वोपयुक्तसर्वशक्तित्वस्याप्युपलक्षणम्। सर्वज्ञत्वात् सर्वशक्तित्वात् तस्योभयविधकारणत्व मुपपन्न मिति भावः। ननु सार्वज्ञ्यादिकं सुकृतहेतुकं स्या दित्येवं रूपं[52] कर्मवश्यत्व मध्येयत्वा[53]पादक माशङ्क्याऽऽह — स्वरा डिति। स्वराट् स्वतन्त्रः अकर्मवश्यः कर्मवश्याना प्रेरकः तस्मात् ध्येय एवेति भावः। यद्वा सार्वज्ञ्यादिकं सुकृतहेतुकं चेत् सुकृतस्य तन्मूलकसार्वज्ञ्यादेश्च परिमितत्वसम्भावनया कृत्स्नजगत्कारणत्वासिद्धिः, ततश्च "कारणं तु ध्येयः" (अथ. शिखा. उ. 3) इति श्रुतिविरुद्धम्। अकारणवस्तुध्यान मनुचितं इत्यत्राह — स्वरा डिति। स्वेनैव राजते प्रकाशते सर्वं विषयीकरोति, न तु कर्मणेति स्वराट्। अनेन सार्वज्ञ्यादिकं स्वरूपानुबन्ध्येव, न तु कर्ममूलक मित्युक्तम्। एवं सार्वज्ञ्यादिगुणवत्ताकथनेन ब्रह्मणोऽकारणत्वव्यवच्छेदरूपोऽयोगव्यवच्छेद उक्तः, स एव पुनराक्षिप्य परिह्रियते — तेने इत्यादिना। अत्रेयमाशङ्का — यद्यपीश्वरः प्राक् सृष्टे रेक एव सन् सकलेतरविलक्षणत्वेन सर्वार्थशक्तियुक्तः स्वयमेव विचित्रं जगत् स्रष्टुं शक्नोति, तथापीश्वरकारणत्वं न सम्भवति, [54]प्रयोजनवत्त्वात् विचित्रसृष्टेः, ईश्वरस्य च प्रयोजनाभावात्। बुद्धिपूर्वकारिणा मारम्भे द्विविधं हि प्रयोजनम् — स्वार्थः परार्थो वा। न हि परस्य ब्रह्मणः स्वभावत एवाप्तसमस्तकामस्य जगत्सर्ग[55]ेण किञ्चित् प्रयोजन मनवाप्त मवाप्यते। नापि परार्थः; अवाप्तसमस्तकामस्य परार्थता हि परानुग्र[56]हेणेन भवति; न चेदृशगर्भजन्मजरामरणनरकादि नानाविधानन्तदुःखबहुलं जगत् करुणावान् सृजति; प्रत्युत, सुखैकतानमेव जनये ज्जग त्करुणया हि सृजन्। अतः प्रयोजनाभावा न्न ब्रह्मणः कारणत्वमुपपद्यते, इतीमा माशङ्का मर्थादेवापनय न्नाह — तेन इत्यादिना। हृदा सङ्कल्पेनादिकवये [57]चतुर्मुखाय ब्रह्म धर्मादिपुरुषार्थ-

तत्साधनादिकं निरतिशयपुरुषार्थं स्वरूपगुणादिकं चावेदयतीति तथा तं वेदं तेने विस्तृतवान् प्रकाशितवान्, प्रादादिति यावत्। "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" (श्वेता. उ. 6-18) इति श्रुत्यर्थोऽत्रानुसन्धेयः। शास्त्रप्रवर्त्तनं हितार्थम्। एवं च तुल्यन्यायतया जगत्सृष्टिरपि हितार्थैवेति सूचितम्। ततश्च कारुण्यात् चेतनाना मपवर्गोपयुक्तज्ञानप्रवृत्तिनिष्पादक करणकलेवरप्रदानाय जगत्सृष्टिः; तदपि परिपूर्णत्वादिति च फलितम्। गर्भजन्मादिदुःखानुभवस्तु स्वस्वकर्ममूलक इति नेश्वरस्य दोष इति भावः। "तेन" इत्यादिना नामप्रपञ्चसृष्टि रुच्यते इति केचित्। तत्र; नामकल्पनस्य सृष्ट्यन्तर्भावेण पृथगुक्त्यनपेक्षत्वात्। नामरूपव्याकरणं हि सृष्टिः, "नामरूपे व्याकरवाणि" (छान्दो. उ. 6-3-2) "तन्नामरूपाभ्यां [भ्यामेव] व्याक्रियत" (बृह. उ. 1-4-7) इति श्रुतेः, ब्रह्मशब्दस्य नामधेयपर्यायत्वाभावाच्च। स हि वेदपर्यायशब्दः ब्रह्म च स एव "मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च" (भार. 1-1-66) इति प्रयोगाच्चेति, "कवय" इत्यस्यानन्वयापत्तेश्च। यच्छास्त्रप्रवर्तनेन चिकीर्षितं हितं तद्दर्शयितुं तत्प्रवर्तनाभावेऽनर्थं दर्शयन् विशिनष्टि — मुह्यन्ति यत् सूरय इति। सूरयो ज्ञानवन्तः उपासका यं प्रति मुह्यन्ति अपरिच्छेद्यवैभवत्वात् व्याकुलीभवन्तीत्यर्थः। अपरिच्छिन्नब्रह्मानुसन्धानं हि शास्त्रप्रवर्तनस्य परमं प्रयोजनम्। शास्त्रप्रवर्तनाभावे अपरिच्छेद्य स्वरूपरूपगुणविभूत्यादीन् मानान्तरानवगम्यान् निरतिशयपुरुषार्थरूपा नवगन्तु मशक्ताः सूरयो मुह्येयुः। अत एषां मोहो मा भूदि त्येतदर्थं ब्रह्म तेने इत्यर्थः। यदिति पाठे यत् यस्मात् शास्त्रप्रवर्तनाभावे मुह्यन्ति। अतो ब्रह्म तेने इत्यन्वयः। यद्वा "आशी र्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्" (काव्या. 1-14) इत्यभियुक्तोक्तेः चिकीर्षितकृत्स्नप्रबन्धार्थरूपवस्तुनः शारीरकाध्यायचतुष्टयार्थरूपस्यात्र प्रबन्धादौ निर्देष्टव्यत्वेन, तत्र तावत् "कवय" इत्यन्तेन समन्वयाध्यायार्थरूप वस्तु निर्दिष्टम्। मुह्यन्तीत्यादिना विनिमय इत्यन्तेन द्वितीयाध्यायार्थरूपं वस्तु निर्दिश्यते। "सूरय" इत्यनेन द्वितीयाध्यायाद्यधिकरणार्थानां "तेजोवारिमृदां यतो विनिमय" इत्यनेन तदा अध्यायान्त्यस्य संज्ञा मूर्तिकृप्त्यधिकरणस्य चात्र प्रत्यभिज्ञानात्। एवं चायमर्थः — सूरयः कपिलहिरण्यगर्भकणभक्षाक्षपादक्षपणकपशुपत्यादयः साङ्ख्ययोगादितन्त्रप्रणेतारः प्रकृत्याद्युपादानत्व निमित्तमात्रेश्वरवादिनो यं प्रति मुह्यन्ति, ईश्वरस्य सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्य जगद्रूपेण परिणामं तदुपयुक्तसर्वशक्त्यादिगुणयोगं चाजानन्तः प्रधानस्योपादानत्वं वदन्त स्तन्निर्वोढुं चासमर्था व्याकुलीभवन्तीत्यर्थः। "यत्" इति पाठे यस्मिन् विषयभूते ब्रह्मणि मुह्यन्तीत्यर्थः। "तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये" इत्येतदपि द्वितीयाध्यायार्थनिर्देशपर मिति कश्चित्सम्प्रदायः; तत्र न प्रयोजनवत्त्वाधिकरणार्थप्रत्यभिज्ञानात्। यद्वा, प्रतिपिपादयिषितार्थ प्रामाण्यजिज्ञासायां वेदान्तानामेव तत्र तत्प्रमापकत्वं वक्तुं, कृत्स्नस्य वेदस्य अनादिनिधनाविच्छिन्न सम्प्रदायासम्भिन्नव्यदोषगन्धतां पूर्वतन्त्रनिर्णीतां स्मारयितुं, "तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये" इत्युक्तम्; एवं कारणत्वासम्बन्धव्यवच्छेदरूपोऽयोगव्यवच्छेद उक्तः। अथान्येषु प्रधानादिषु कारणत्वसम्बन्धव्यवच्छेदरूपान्ययोग व्यवच्छेदाक्षेपपरिहारौ सूचयन् ध्येयं परमात्मानं विशिनष्टि — "तेजोवारिमृदां यतो विनिमय" इति। अत्रैवं आशङ्क्यते तावत्पुरुषस्याकारणत्वं नोपपद्यते, कारणत्वावगमात्। तथा हि तावत् "हन्ताह मिमा स्तिस्रो देवता अनेन जीवेन आत्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि, तासां त्रिवृते त्रिवृत मेकैकां करवाणि" (छान्दो. उ. 6-3-2) इति त्रिवृत्करणनामरूपव्याकरणे समानकर्तृके प्रतीयेते। त्रिवृत्करणं च हिरण्यगर्भरूप समष्टिजीवकर्तृकं चतुर्मुखसृष्टेष्वण्डान्तर्वर्त्यम्यादिषु उपदेशात् "यदग्ने रोहितं

रूपं तेजस स्तदेपाम्" (छान्दो. उ. 6-4-1) इत्यादिभिः त्रिवृत्करण मग्न्यादित्यचन्द्रविद्युत्सु। एवं च त्रिवृत्कर्त्रैककर्तृकं नामरूपव्याकरण मप्यण्डाधिपतिचतुर्मुखकर्तृक मेवेति तमिममाक्षेप मभिप्रेत्य समाधत्ते — तेजोवारिमृदां यतो विनिमय इति। विनिमयः परस्परं मिश्रीकरणं तेजोवारिमृदां तेजोऽबन्नानां विनिमयः, यतो ब्रह्मणः चतुर्मुखादेरित्यर्थः। अयम्भावः — तावत् त्रिवृत्करणं हि अण्डसृष्ट्यर्थम्। "नानावीर्याः पृथग्भूता स्ततस्ते संहतिं विना नाशक्नुवन् प्रजाः स्रष्टुमसमागत्य कृत्स्नशः"। (विष्णु. पु. 1-2-52) "समेत्यान्योऽन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः" (विष्णु. पु. 1-2-53)। "महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते" (विष्णु. पु. 1-2-54) इत्यादिभिः वैष्णवादिवचनैः तस्यावगमात्। अण्डसृष्ट्यनन्तरं चतुर्मुखोत्पत्तिः "तदण्डमभवद्धैमं तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा" (मनु. स्मृ. 1-9) इति स्मरणात्। एवं चाण्डोत्पत्तेः प्राक्तनं त्रिवृत्करणं परमात्मकर्तृकमेवेति तत्कर्त्रेककर्तृकं नामरूपव्याकरणमपि परमात्मकर्तृकमेवेति, तस्यैव जगत्कारणत्वं, न तु जीवप्रधानयोरिति। तर्हि "यदग्ने रोहितं रूपम्" (छान्दो. उ. 6-4-1) इत्यादि त्रिवृत्करणोपदेशपर-श्रुतिविरोध इति चेत् — मैवम्; तत्र ह्यण्डान्तर्वर्ति ष्वग्न्यादिषु न त्रिवृत्कृत भूतकार्यत्वप्रदर्शनाय अग्न्यादीनां भूतत्रयात्मकत्वमात्रं उपदिश्यते। यथा इति पाठे यथा विनिमयः यथायथं विनिमयः। यत इति पूर्वस्मादनुषङ्गः। नन्वेवमपि न ब्रह्मण्युपादानकारणत्वं, तद्धि "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" (मुण्ड. उ. 1-5) "निष्क्रियं निष्कलं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" (श्वेता. उ. 6-19) इत्यादिभिः निर्विकार मवगतम्। उपादानकारणत्वं च भाव्यव्यवस्थाविशेष-वतः प्रागवस्थायोगित्वरूपं; तच्च ब्रह्मणि नोपपद्यते, तथा सति ब्रह्मणो विकाराश्रयत्वापत्ते रुक्तश्रुतिविरोधप्रसङ्गा दित्याश-ङ्कामभिप्रेत्याह — यत्र त्रिसर्गो मृषेति। त्रयाणां सत्त्वरजस्तमसां सर्गः; सृज्यत इति सर्गः। कर्मणि घञ्। गुणत्रयसृष्टः प्रपञ्चो यत्र यस्मिन् यत्स्वरूपेण मृषा मिथ्या, नास्तीति यावत्, त्रिसर्गस्य सत्त्वादिगुणगतत्वेन न तस्य ब्रह्मस्वरूपगततमिति विकाराभावात् न निर्विकारश्रुतिविरोध इति भावः।

ननु विकाराश्रयत्वरूपं कारणत्वं निर्विकारत्वं चेत्युभयं परस्परविरुद्धं कथ मेकस्मि न्नुच्यते? इति चेत् — शृणु तावत्; ईश्वरप्रधानयोः स्वरूपभेदः सर्वसिद्धान्तसम्प्रतिपन्नः। तथा जीवेश्वरयोरपि "क्षरं प्रधान ममृताक्षरं हरः" "क्षरात्मानावीशते देव एकः" (श्वेता. उ. 1-10) "प्रधानक्षेत्रज्ञपति र्गुणेशः" (श्वेता. उ. 6-16) "सकारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" (श्वेता. उ. 6-9) "पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युतम्" (म. ना.उ. 9-3) "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" (श्वेता. उ. 1-9) "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् एको बहूनां यो विदधाति कामान्" (कठ. उ. 5-13)। "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा" (श्वेता. उ. 1-12) "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति"(मुण्ड. उ. 3-1-1) "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्ट स्तत स्तेनामृतत्व मेति" (श्वेता. उ. 1-6) "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" (म. ना. उ. 8-4) इत्यादिभिः स्वरूपस्वभावभेदः श्रावितः। एवं स्वरूपतः स्वभावतश्चात्यन्तविलक्षणयोः कार्यकारणोभयावस्थयोः प्रकृतिपुरुषयोः परमात्मानं प्रति शरीरत्वम् "यः पृथिव्यां तिष्ठन् य आत्मनि तिष्ठन् योऽव्यक्तमन्तरे सञ्चरन् यस्याव्यक्तं शरीरं योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन् यस्याक्षरं शरीरम्" (बृह. उ. 3-7-3) इत्यादिभिः श्रावितम्। एवं सर्वावस्थावस्थित चिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकारः परमपुरुष एव

कार्यावस्थ कारणावस्थ जगद्रूपेणावस्थितः इतीममर्थं ज्ञापयितुं काश्चन श्रुतयः कार्यावस्थं कारणावस्थं जगत् स एवेत्याहुः।

"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छान्दो. उ. 6-2-1) "एकमेवाद्वितीयं" (छान्दो. उ. 6-2-1) "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" (छान्दो. उ. 6-3-2) इत्यारभ्य "सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः" (छान्दो. उ. 6-8-4) "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (छान्दो. उ. 6-8-7) इति, तथा "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत" (तैत्ति. उ. 2-6) इत्यारभ्य "सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्" (तैत्ति. उ. 2-6) इत्याद्याः। तदेवं भोक्तृभोग्यनियन्तृत्वेन विभक्तस्वभावान् प्रतिपाद्य भोग्यगत मुत्पत्त्यादिकं भोक्तरि जीवे प्रतिषिध्य, तस्य नित्यतां च प्रतिपाद्य, भोग्यभूतप्रधानगतं उत्पत्त्यादिकं भोक्तृगतं च अपुरुषार्थत्रियत्वं नियन्तरि प्रतिषिद्ध्य, तस्य नियन्तृत्वं सर्वदा सर्वज्ञत्वं सत्यसङ्कल्पत्वं करणाधिपाधिपत्वं विश्वस्य पतित्वं च प्रतिपाद्य, सर्वावस्थावस्थितयोः चिदचितोः तं प्रति शरीरत्वं च तस्य चाऽऽत्मत्वं प्रतिपादितम्। अतः सर्वदा चिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकारं ब्रह्म। तत् कदाचित् स्वस्मात् विभक्तव्यपदेशानर्हातिसूक्ष्म दशापन्न चिदचिद्वस्तुशरीरं तिष्ठति। तत् कारणावस्थं ब्रह्म कदाचिच्च विभक्तनामरूपस्थूलचिद्वस्तुशरीरम् तच्च कार्यावस्थं, तत्र कारणावस्थस्य कार्यावस्थापन्ना वचिदंशस्य कारणावस्थायां शब्दादिविहीनस्य भोग्यत्वाय शब्दादिसत्तया स्वरूपान्यथाभावरूपविकारो भवति। चिदंशस्य च सङ्कुचितज्ञानस्य कर्मफलविशेषभोक्तृत्वाय तदनुरूपज्ञान सङ्कोचावकाशात्मक स्वभावान्यथाभावरूपविकारो भवति। उभयप्रकारविशिष्टे नियन्त्रंशे तदवस्थतदुभयविशिष्टतारूपविकारो भवति। कारणावस्थाया अवस्थान्तरापत्तिरूपो विकारः प्रकारद्वये प्रकारिणि च समानः। अत एव एकस्यावस्थान्तरापत्तिरूप विकारापेक्षया "येनाश्रुतम् श्रुतं" (छान्दो. उ. 6-1-3) इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय मृदादिदृष्टान्तः "यथा सोम्यैकेन" (छान्दो. उ. 6-1-6) इत्यादिना दर्शितः। ईदृशज्ञानसङ्कोचविनाशक तत्तद्देहसम्बन्धवियोगाभिप्रायाः जीवस्योत्पत्तिमरणवादिन्यः "प्रजापतिः प्रजा असृजत" (तैत्ति. सं. 2-2-1) इत्याद्याः श्रुतयः अचिदंशवत् स्वरूपान्यथात्वाभावाभिप्रायाः उत्पत्तिप्रतिषेधवादिन्यो नित्यत्ववादिन्यश्च। "न जायते म्रियते" (कठ. उ. 1-18) इत्याद्या "नित्यो नित्यानाम्" (कठ. उ. 5-13) इत्याद्याश्च श्रुतयः स्वरूपान्यथात्वज्ञान सङ्कोचविकासरूपोभयविधानिष्टविकाराभावाभिप्रायाः। "निष्क्रियं निष्कलं" (श्वेता. उ. 6-19) "स वा एष महानज आत्मा अजरोऽमृतो ब्रह्म" (बृह. उ. 4-4-25) "नित्यो नित्यानाम्" (कठ. उ. 5-13) इत्याद्याः परमात्मविषयाः श्रुतयः। अतः स्थूलसूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरकं ब्रह्मैव कार्यं कारणं चेति ब्रह्मोपादानं जगत्सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरकम् ब्रह्मैव कारणमिति ब्रह्मोपादानत्वेऽपि, संघातस्योपादानत्वेन चिदचितोर्ब्रह्मणश्च स्वभावासङ्करोऽप्युपपन्नतरः। यथा शुक्लकृष्णरक्त तन्तुसङ्घातोपादानत्वेऽपि चित्रपटस्य तत्तत्तन्तुप्रदेश एव तत्तच्छौक्ल्यादिसम्बन्ध इति कार्यावस्थायामपि न सर्वत्र वर्णसङ्करः। तथा चिदचिदीश्वरसङ्घातोपादानत्वेऽपि जगतः कार्यावस्थायामपि भोक्तृत्वभोग्यत्वनियन्तृत्वाद्यसङ्करः।

इयांस्तु विशेषः — तन्तूनां पृथक्स्थितियोग्यानामेव पुरुषेच्छया कदाचित्संहतानां कारणत्वं कार्यत्वं च। इह तु चिदचितोः सर्वावस्थयोः परमपुरुषशरीरत्वेन तत्प्रकारतयैव पदार्थत्वात् तत्प्रकारः परमपुरुषः सर्वदा सर्वशब्दवाच्य

इति स्वभावभेदः। तदसङ्करश्च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः तुल्यः। एवञ्च सति परस्य ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशेऽपि स्वरूपान्यथाभावाभावात् अविकृतत्वं उपपन्नतरम्। स्थूलावस्थस्य नामरूपविभागविभक्तस्य चिदचिद्वस्तुन आत्मतयाव-स्थानात् कार्यत्वं उपपन्नतरम्। अवस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्यतेति सर्वमनवद्यमिति। तत्र जन्मादीत्यादिना जगदुपादानत्वं, सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टब्रह्मनिष्ठं, "तेने" इत्यादिना "मृषे" त्यन्तेन निमित्तकारणत्वं, विशेष्यभूतशुद्धस्वरूपनिष्ठमिति च सूचितं; शास्त्रप्रवर्तन त्रिवृत्करण नामरूपव्याकरण त्रिसर्गस्रष्टृत्वादेः विशेष्यनिष्ठत्वप्रतीतेः। एवमेकस्यैव ब्रह्मणो विशि-ष्टाकारेण जगदुपादानत्वं शुद्धस्वरूपेण निमित्तकारणत्वं चेत्युभयविधकारणत्वं समर्थितम्। एवञ्च जन्मादिकारणत्वं विशिष्टब्रह्मणो विशेषणभूतं लक्षणं विशुद्धस्वरूपस्य तु उपलक्षणतया लक्षणमित्यवगन्तव्यं; तस्य शुद्धस्वरूपनिष्ठ-त्वाभावस्य "यत्र त्रिसर्गो मृषे" त्यनेनावगतत्वात्। न च तदनिष्ठस्य कथं लक्षणत्वं, तदसाधारणधर्मस्यैव लक्षणत्वादिति वाच्यम्। इतरव्यावृत्तवस्तुप्रत्यायकत्वस्यैव अत्रोपलक्षणत्वेन विवक्षितत्वात्, जगत्कारणत्वस्य शुद्धस्वरूप-निष्ठस्यापि तदुपलक्षणतया सकलेतरव्यावृत्तत्वेन ब्रह्मप्रत्यायकत्वसम्भवात्। न च तस्य शुद्धस्वरूपोपलक्षणत्वमपि न स-म्भवति, तस्य तदवृत्तित्वादिति वाच्यम्। तटस्थस्यापि शाखाग्रस्थस्य चन्द्रोपलक्षकत्वदर्शनात् विशेष्यनिष्ठत्वानिष्ठत्वाभ्यां वि-शेषणत्वोपलक्षणत्वयोः भेदः। ततश्च कारणत्वस्य ब्रह्मनिष्ठतया विशेषणत्वं, प्रपञ्चगतजन्मादेस्तु ब्रह्मस्वरूपानिष्ठतया उपलक्षणत्वमिति विभावनीयम्। "यत्र त्रिसर्गो मृषा" इत्यनेनोपादानत्वप्रयुक्ताचिद्गतदोषो निवारितः। अथ चेतनगतं भ्रान्त्यादिक मन्यच्च सर्वमवद्यं नेति वदन् चिदचिद्व्यावृत्तं ब्रह्मस्वरूपं शोधयन् विशिनष्टि — धाम्नेति। ननु जगज्जन्मादिकारणत्वलक्षणेनैव सकलेतरवस्तुव्यावृत्तिः सिद्धेति किमनेन प्रयत्नेनेति चेत् न। जगज्जन्मादिकारणत्वैः अकारणत्वव्यावृत्तिसिद्धावपि जीवजडजातीयत्वशङ्का स्यादेव, कम्बुग्रीवादिमत्त्वरूप संस्थानविशेषवत्त्वादिना पटादिव्यावृत्तघ-टादेः गन्धवत्त्वादिना तज्जातीयत्वदर्शनात्, अबादेः तदभावेन तच्छङ्कानिवृत्तिदर्शनात्। अतः तन्निवृत्त्यर्थं धाम्नेत्यादिवि-शेषणानि। ननु संस्थानविशेषो हि घटपटादिष्व एव व्यावर्तयति, न तु पृथिवीमात्रात् पटस्यापि पृथिवीत्वात्। एवञ्च संस्थानादिकं येभ्यः पटादिभ्यो व्यावर्तयति तद्विजातीयत्वमपि तेनैव सिद्धम्; अबादेरपि पृथिवीमात्रव्यावर्तकाप्त्वा-दियोगादेव हि पृथिवीजातीयात् संस्थानादिना वैजात्यं न सिध्यति, तस्मात् व्यावर्तकत्वमपि संस्थानादेर्नास्ति; प्रकृते तु कारणत्वं जीवादिभ्यो ब्रह्म व्यावर्तयतीति कथं तेनाकारणेभ्यो जीवादिभ्यो वैजात्यं तदन्तर्भावायोग्यत्वादिस्वरूपं न सिध्येत्? तदनिष्ठजातियोगित्वं तु धाम्ना निरस्तकुहकत्वादिना लक्षणान्तरेणापि न सिध्यति, कारणत्ववन्निरुपाधिकधामनि-रस्तकुहकत्वादेरपि अजातिरूपत्वात्। तस्माद्धाम निरस्तकुहकत्वादिवत् कारणत्वमपि स्वेतरसर्वव्यावर्तकमिति चेत् — उच्यते; वैजात्यं हि तद्वृत्तिधर्मयोगराहित्यम्। तच्च व्यावृत्तिबोधककारणत्वबला न्न सिध्यति। न हि धर्मभेदग्राहकसामग्र्येव तद्धर्माभावग्राहिका, किन्तु सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मणो लक्षणमिदं जगज्जन्मादिकारणत्वमिति। ततो विशिष्टस्येतरव्यावृत्ति तद्वैजात्यसिद्धावपि केवले विशेष्यस्य विशेषणभूतचिदचित्साजात्यशङ्कायां तद्वारणार्थं धाम निर-स्तकुहकत्वादिकं स्वरूपलक्षणम्। वस्तुतस्तु "यतो वा" (तैति. उ. 3-1) इत्यादि श्रुत्या ब्रह्मण्युपादानत्वस्याप्यवगमात् तस्य च मृदादौ विकारादौ दोषसहचरितत्वदर्शनात् ब्रह्मण्यपि तत्प्रयुक्तदोषशङ्कावारणार्थं निरुपाधिक-धाम-निरस्तकुहक-त्वादि विशेषणत्रयमिति न तद्वैयर्थ्यशङ्केति।

अत्र "धाम्ने" त्यादिविशेषणत्रयेण "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" (तैत्ति. उ. 2-1) इति श्रुत्युक्तं विशेषणत्रयं प्रत्यभिज्ञाप्यते; "धाम" पदेन ज्ञानपदस्य "पर" पदेनाधिक्यवाचिनाऽनन्तपदस्य "सत्य" पदेन तस्य च प्रत्यभिज्ञानात्। धाम्ना तेजसा नित्यासङ्कुचितज्ञानरूपेण स्वेन स्वाभाविकेन निरुपाधिकेनेति यावत्। निरस्तकुहकं[105] वञ्चकविषयभूतं[104] वस्त्विति यावत्। तद्यस्य तं नित्यनिरुपाधिकासङ्कुचित धर्मभूतज्ञानेनावगतवस्तुरहितमित्यर्थः। अनेन मुक्तजीवा व्यावृत्ताः। तेषां भक्तिदशायां असङ्कुचितज्ञानत्वेऽपि तस्य परमात्मप्रसादायत्तत्वेन सोपाधिकत्वात् बद्धदशायां अभावेन नित्यत्वाभावाच्च "सत्य" पदं निरुपाधिकसत्तायोगिकं[106] परमपुरुषमाह। तेन विकारास्पदमचेतनं तत्संसृष्टचेतनश्च व्यावृत्तः, नामान्तरभजनार्हावस्थान्तरयोगेन[107] तयोर्निरुपाधिकसत्तायोगरहितत्वात्[108]। परशब्दोऽधिकवाची संस्थानप्रमाणादपरिच्छिन्नाधिक्यपरः, अनन्तमित्यर्थः। आनन्त्यं चात्र देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितत्वरूपम्। तच्च सगुणत्वात् स्वरूपस्य स्वरूपेण गुणैश्चाभिप्रेतम्। अनेन पूर्वपदद्वयव्यावृत्त कोटिद्वयविलक्षणाः सातिशयस्वरूपस्वगुणा नित्यसिद्धा व्यावृत्ताः; विशेषणानां व्यावर्तकत्वात्। सत्यादिवाक्यस्यात्र प्रत्यभिज्ञानादेव विशेष्यसमर्पकं ब्रह्मपदमध्याह्रियते। एवं च जगज्जन्मादिना लक्षणेनावगतस्वरूपं ब्रह्म सकलेतरवस्तुविजातीयमिति लब्धम्। तत्र देशपरिच्छेदो नाम सर्वदेशावर्तित्वरूपः। इदमत्र भवति, अत्र तु न भवतीत्येवंविधः। कालपरिच्छेदस्त्विदमिदानीं भवति इदानीं तु न भवतीत्येवंविधः। वस्तुपरिच्छेदो नाम सर्ववस्तुसामानाधिकरण्याभावः[109]; स्वापेक्षया उत्कृष्टवस्तुसद्भावो वा तदभावो वस्तुपरिच्छेदरहितत्वम्। तत्राऽऽद्ये वस्तुपरिच्छेदरहितं ब्रह्मस्वरूपस्यैव, न तु तद्गुणानां; तत्स्वरूपस्य सर्ववस्तुशरीरकत्वेन सर्ववस्तुसामानाधिकरण्यसत्त्वेऽपि तद्गुणानामसम्भवात्[110]। द्वितीये तद्गुणानामपि तत्संभवति, ब्रह्मगुणापेक्षया उत्कृष्टगुणानां अभावात् — इति विवेकः। सामानाधिकरण्यञ्च द्विविधं — शब्दसामानाधिकरण्यं अर्थसामानाधिकरण्यं चेति। तत्र शब्दसामानाधिकरण्यं नाम भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानामेकस्मिन् विशेष्ये पर्यवसान[111] मभिधान मित्यर्थः; यथा नीलोत्पलशब्दयोः। अर्थसामानाधिकरण्यं तु भिन्नार्थानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः[112]; यथा नीलत्वोत्पलत्वादीनाम्। अत्र विशेष्यसमर्पणायाध्याहृतो ब्रह्मशब्दः स्वभावतो निरस्तनिखिलदोषं अनवधिकातिशयासंख्येय कल्याणगुणगणं पुरुषोत्तम माह। तथा च अभाषि भगवद्भिः श्रीरामानुजमुनिभिः — "ब्रह्मशब्देन च स्वभावतो निरस्तनिखिलदोषोऽनवधिकातिशयासंख्येय कल्याणगुणगणः पुरुषोत्तमोऽभिधीयते। बृंहत्त्वगुणयोगेन[113] हि ब्रह्मशब्दः। बृंहत्त्वञ्च[114] स्वरूपेण गुणैश्च यत्राऽनवधिकातिशयं सोऽस्य मुख्योऽर्थः" (श्रीभाष्यं 1-1-1. अवतारिकायां) इति। तत्र स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयबृंहत्त्वं[115] ब्रह्मशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं; "स्वभावत" इत्यादिविशेषणद्वयं तु "ब्रह्म" शब्दस्य पुरुषोत्तमपरत्वप्रतिपादनोपयोगितयोक्तं, न तु प्रवृत्तिनिमित्ततया। बृहत्त्वस्य निरतिशयत्वं नाम आनन्त्यम्। ननु "बृंहति[116] बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म" "बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च तद्ब्रह्मेत्यभिधीयते" (विष्णु. पु. 3-3-22) इति श्रुतिस्मृतिभ्यां बृहत्त्वबृंहणत्वे उभे च प्रवृत्तिनिमित्ततयावगते, कथमिह बृहत्त्वमात्रं प्रवृत्तिनिमित्तमुच्यते? गुणतो बृहत्त्वे बृंहणत्वस्याप्यन्तर्गतत्वादिति भावः। "स चाऽऽनन्त्याय कल्पते" (श्वेता. उ. 5-9) इति श्रुतिप्रसिद्धं सकलसङ्कोचनिवृत्तिपूर्वक निरवधिकज्ञान क्रियासरूपानन्त्यावहत्वं हि बृंहणत्वं, तद्धि सकलहेयप्रत्यनीकत्व क्षान्तिकारुण्यादि मोक्षप्रदत्वौपयिकगुणवत्त्वं, ब्रह्मशब्दश्च योगरूढिभ्यां[117] श्रीनिवासमभिधत्ते। तथा च स्मर्यते श्रीमति गारुडे पुराणे — "वेदे भूरिप्रयोगाच्च गुणयोगाच्च शार्ङ्गिणि। तस्मिन्नेव ब्रह्मशब्दो मुख्यवृत्ते

महामुने।" इत्यारभ्य "यस्मिन् प्रयुज्यमाने तु गुणयोगः सुपुष्कलः। तत्रैव मुख्यकृत्तोऽयमन्यत्रह्युपचारतः" इति। अनेन जगत्कारणभूतवस्तुविशेषजिज्ञासायां देवताविशेषावगमश्च सिद्धः। उक्तप्रकारेण सर्वविलक्षणं श्रियः पतिं धीमहि उपासिषीमहीत्यर्थः। धियं कुर्यामेति[118] विग्रहे धीशब्दात् "तत्करोति" (चुरादि. गणसूत्रं. 204) इति णिचीष्टवद्भावात्। "प्रकृत्यैकाच्" (अष्टा. 6-4-163) इति प्रकृतिभावात् टिलोपाभावे तस्मादाशिषि लिङि "णिचश्च" (अष्टा. 1-3-74) इत्यात्मनेपदे आगमशास्त्रस्य अनित्यत्वात् आर्धत्वाद्वा सीयुडिटोरभावे[119] "णेरनिटि" (अष्टा. 6-4-51) इति णिलोपे च "धीमही" ति रूपम्। वेदनोपासन ध्रुवानुस्मृति चिन्तास्मृतिभक्त्यादिश-ब्दपर्यायस्य धीशब्दस्य ध्यानमर्थः, लिङस्तु, अलभ्यलिप्सारूपा आशीः। अनेन "आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनि-र्देशोवा" (काव्या. 1-14) इत्यभियुक्तोक्ताशीश्च कृता भवति। अत्र उक्तविशेषणविशिष्टस्य ध्येयस्य ब्रह्मणो ध्यातुः स्वस्मादुत्कृष्टत्वावगमात् स्वस्य च ततोऽपकृष्टत्वावगमात् प्रह्वीभावावगमात् नमस्क्रियाऽपि कृता भवति। पूर्वद्विकप्रतिपाद्यार्थरूप वस्तुसङ्ग्रहस्तु "जन्मादी" त्यादिना "विनिमय" इत्यन्तेन कृतः पुरस्तादेव दर्शितः। "यत्र त्रिसर्गो मृषे" त्यनेन प्रकृतिपुरुषगतदोषप्रसङ्गपरिहारपरेण जीवदोषकीर्तनपर तार्तीयप्रथमपादार्थः, "तेन सत्य" मित्यादिविशेषणेन च उभयलिङ्गपादार्थश्च निर्दिष्टः। धामनिरस्तकुहकत्वाद्यनेक गुणविशिष्टब्रह्मणो ध्येयत्वोक्त्या गुणोपसंहारपादार्थश्च सूचितः। "धीमही" त्युक्तस्य उपासनस्य अनेकसाधनत्वापेक्षत्वप्रसिद्ध्या अङ्गपादार्थश्च सूचितः। अध्याहृत ब्रह्मशब्दप्रवृ-त्तिनिमित्तभूत बृहत्त्वान्तर्भूत बृंहणत्वेन अभिप्रेतेन तुरीयफलाध्यायार्थश्च सूचितः। एवमभियुक्तभिमतं त्रिविधं मङ्गलं मनसाऽपि[120] कर्तुं शक्यमपि शिष्यशिक्षायै ग्रन्थादौ शब्दतोऽपि कृतमि त्यवगन्तव्यम्। "यत्र त्रिसर्गो मृषा धाम्ने" त्यादिना "परम्" इत्यन्तेन निरस्तनिखिलदोषत्व कल्याणगुणाकरत्व कीर्तनात् सगुणनिर्गुणश्रुत्योः विषयभेदश्च दर्शितः॥ १॥

---

1. B °वेद्य° 2. B °च्चा° 3. B तथा 4. W °भवान् 5. B °गुणेन परेण 6. B °प्रति° 7. B,W add तत् 8. B,W °प्रवृत्तकर्मा° 9. A,B °भ्यः प्रति° 10. A,B °ख्याय्य 11. B °मलंचकीर्षुः 12. W °श्रीसूक्तेश्च 13. W तच्चा° 14. W °व्यास° 15. W °णः 16. W °वादश्च 17. B °रर्थश्च 18. W °श्च 19. B omits °हेतुत्व° 20. W °त्येकैकं 21. B,W omit तदेव 22. B °ष्टा° 23. W °चृद्नु° 24. B,W °दि° 25. B °दृष्टः 26. W adds °कारण° 27. W °लाभात् 28. W adds अर्थेषु 29. W अ° 30. W तद्वदुभय° 31. W °दानत्व° 32. W एक° 33. W कृत्स्न° 34. B तद्भाव° 35. A,B ज्ञातौ 36. B ब्रह्मणो; W ब्रह्म न 37. B omits °रूप° 38. A °करणार्थादत्र B °करणार्थस्तु अर्थादत्र 39. W °करणस्य लक्षणाक्षेप° 40. B अस्मिन्नेकस्मि° 41. B °द्भगवन्निरनन्ता योगिनः कल्पिताः 42. A,B सर्व° 43. W °कर्तृकं 44. B साध्या 45. W घटपटादिषु 46. B °मप्रापत्वात् 47. W adds स्वर्गादिषु 48. W adds पुरुषार्थत्व° 49. B,W add कं ब्रह्म 50. A,B °घः 51. W कारणत्वोपयुक्तसार्वज्ञ्यादि° 52. W adds कर्मवश्यः 53. B °त्वादिक° 54. B अप्रयोजन° 55. B सर्गे 56. B,W °ग्रहेण 57. B adds ब्रह्मणे 58. W adds °रूप स्व° 59. W °तार्थमे° 60. W तत्र 61. B °गमान् 62. W °भाव्यमान 63. A omits °रूपो .... व्यवच्छेद° 64. W अत्रेदं 65. B त्रिवृतं त्रिवृत्त°; W त्रिवृतं त्रिवृत° 66. W °दूपम् 67. W न तत् चतुर्मुखादित्यर्थः 68. W °गम्य 69. W adds त्रिवृत्करणप्रदर्शनं किन्तु क्षेत्रकेतोः शृण्वोः अण्डान्तर्वीर्तेत्वेन तस्य बहिष्ठवस्तुनु त्रिवृत्करणप्रदर्शनायोगात्। त्रिवृत्कृतानां भूतानां कार्यभूतेष्वन्यादिषु 70. W °मपि ब्रह्मोपादानकारणं 71. B,W भाव्यवस्था° 72. B,W °रूपे 73. B निर्गुण° 74. B °त्मनि विशते 75. A ज्ञातौ 76. B °मत्ति 77. W adds श्रुतिभिः 78. W adds च 79. W °नियन्तृन् 80. B,W add निरवद्यत्वं 81. B शरीरे 82. B,W °चिदचिद्वस्तु 83. W °मतया 84. B °सङ्कोचविकाशा°; W °विकासात्मक° 85. B °रोऽन्यथा 86. W उभयत्र 87. B,W omit °ज्ञान° 88. B °विकाशकर°; W °विकासकर° 89. A,B

°भावाभावाभिप्राया 90. A,B निष्फलं 91. W omits ब्रह्म 92. W °चिदचित्प्रकाशकं 93. W °विस्थतानामेव 94. B उभयत्र° 95. B,W °पा° 96. W °क° 97. W omits °त्व° 98. B,W add पृथिवी वैजात्यं यस्मात् 99. B °त्वरूपं निषिद्धयेत् 100. W धर्मि° 101. W विशेष° 102. B °सङ्कोच° 103. B निरस्तं 104. W °मविषय° 105. B,W मुक्ति° 106. B °योगिनं 107. W °भजनावस्था 108. B °साक्षि° 109. B समानाधिकरणा° 110. W adds तु 111. B °सायिना अभि° 112. W नीलोत्पलादीनाम् 113. B ब्रह्मत्व° 114. B ब्रह्मत्वञ्च 115. B °ब्रह्मत्वं 116. A,B बृंहति 117. B शार्ङ्गिणा 118. B,W °स्मेति 119. W °भावात् 120. W मनसा

श्री गणेशाय नमः ।
श्री वेदव्यासाय नमः ।
श्री गुरुभ्यो नमः ।
श्री लक्ष्मीनारायणाय नमः ।
ओं नमो नारायणाय ।

# श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्येभ्यो नमः ।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

यतो जन्माद्यस्य श्रुतिसुनयमानैकविषयात्
स्वतन्त्र स्तन्त्रज्ञो गुरुरपि गुरोर्यश्च जगताम् ।
विमूढा यत्तत्त्वं प्रकटमिह वेत्तुं सुमनसो
मुकुन्दं ध्यायामापहतकुहकं तं स्वमहसा ॥ १ ॥

त्रिसर्गो यत्रायं लसति चिदचिद्विष्णुविषयो
ऽनलोको नानेयं विकृतिरिव तेजोजलमृदाम् ।
विशुद्धं चैतन्यं प्रकृतिविकलं यच्च वितनं
परं ब्रह्मात्मानं स्मर हृदय सत्यं गुरुतमम् ॥ २ ॥

यदीयकृति रञ्जसा सुमनसां सुमानं सतां
सती सकलसन्नता सकलवेदवाणीनिधिः ।
स चित्सुखपयोनिधिः सरसिजेक्षणः श्रीपतिः
पराशरशरीरजः शरणमस्तु मे सन्ततम् ॥ ३ ॥

मम वचसि मङ्गलदेवता प्रणयतातिं सन्निदधात्वियम् ।
विलसदुरसीव मधुद्विषः कमलवनमध्य इवान्वहम् ॥ ४ ॥

जयति जनकः शम्भो रम्भोजनाभसुताग्रणीः
प्रथमकवीनां मुख्यो यः सर्वजीवन नायकः ।
श्रुतिविततता वाग् यस्य ब्राह्मी प्रमाण मनाकुलं
परमविषये सम्यक् प्रेक्षावतां न मृषा क्वचित् ॥ ५ ॥

हिमकरलसद्बिम्बद्योतः सुधारसजित्वरीं
स मम सुदृशं देया दानन्दतीर्थमहामुनिः ।

मणिगणवराः शाणोल्लीढा इवाधिसमुत्त्विषः
शमदमगुणा यत्रोल्लसन्ति सन्तत मेधसि ॥ ६ ॥

चरणनलिने दैत्याराते र्भवार्णवान्तरसत्तरीम् ।
दिशतु विशदां भक्तिं मह्यं महेन्द्रतीर्थयतीश्वरः ॥ ७ ॥

क शब्दः काभ्यासः श्रुतिरपि गुरोः काग्रसरणीः
समीक्षा पौराणी क खलु विबुधा मत्सरधियः ।
तथाऽपि व्यामोहात् गुरुगुरुकटाक्षैकशरणो
मनाक् व्याकुर्वेऽहं भागवतपुराणं प्रगहनम् ॥ ८ ॥

आचार्यैरपरैरपि प्रविवृते मार्गे मनश्चोदितां
खद्योतस्तपनप्रकाशितपदे किं तत्र कुर्यादिति ।
तन्मार्गानुगमेन वाक्तनुमनःशुद्धिक्रियायै ततः
श्रीमद्भागवतं पुराणमतुलं व्याकर्तुकामो यते ॥ ९ ॥

तदस्यां पद्यायां झटिति कृतयात्रे मयि कृपां
महान्तः कुर्वन्तो दिवि भुवि वसन्तः सदयनाः ।
निरस्तासूया ये परमपदभक्तिक्षितिधरो-
द्वहप्रह्वग्रीवा विपुलकरुणाः सर्वसुहृदः ॥ १० ॥

आनन्दतीर्थविजयतीर्थौ प्रणम्य मस्करिवरवन्द्यौ ।
तयोः कृतिं स्फुटमुपजीव्य प्रवच्मि भागवतपुराणम् ॥

अथ कलिमलापनुत्तये विधिभवपुरस्सरैः अमरवरैः आदरात् प्रार्थितो दितिसुतबलभर परिखिन्नधरणितले चिरसमयसमाचीर्णतपसा सत्यवत्यां पराशरादवतीर्णो व्यासनामा मुरमथनः समुद्धृतसमुत्सन्न निगमकल्पतरुः अल्पमतिमनुजदयालुः शाखोपशाखाभेदेन विभक्तवेद स्तदर्थनिर्णयेच्छु र्विरचितब्रह्मसूत्र स्तदनधिकारिजनापवर्गाय प्रकाशित पुराणसंहितो वेदान्तार्थप्रकाशिकां द्वादशस्कन्धसम्मितां अष्टादशसहस्रसङ्ख्योपेतां भागवतपुराणसंहितां चिकीर्षुः कालदोषेण पिहितान् भागवतधर्मा नाविश्चिकीर्षु र्निरन्तरापरोक्षितब्रह्मस्वरूपो निरन्तरायोऽपि प्रेक्षावच्छिक्षायै मङ्गलाचरणाना मनेकप्रयोजनाय च सर्वेष्टदेवतां नारायणाख्या मनुस्मरति जन्माद्यस्य यत इति। अत्र यच्छब्दश्रुते स्तच्छब्दोऽध्याहार्यः। अस्य जगतो जन्मादि यतः, यश्चार्थे ष्वभिज्ञः, यश्च स्वराट्, यश्च ब्रह्म हृदा आदिकवये तेने, यं प्रति सूरयो मुह्यन्ति, तेजोवारिमृदां विनिमयो यथा तथा त्रिसर्गोऽपि यत्र मृषा तं स्वेन धाम्ना सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहीति समस्तान्वयः।

तत्र प्रथमं परं धीमहीति व्यस्तान्वयः ; पश्चा दाकाङ्क्षाव[14]शादितः सर्वेषा मन्वयः। परं पूर्णं गुणैरिति शेषः। "पृ पालनपूरणयोः" इति धातोः। द्विविधा हि देवता ग्रन्थारम्भे[15] नमस्कारादिमङ्गलक्रिया महेति आधिकारिकी, अभीष्टा चेति। यथा ज्योतिश्शास्त्रे सूर्यादिग्रहलक्षणदेवताऽऽधिकारिकी नमनादिक्रियार्हा परमप्रेमादिविषया ह्यभीष्टा चेति। भगवां स्तूभयरूप इत्यभिप्रायेण "पर" मित्युक्तम्। परमात्मा हि सकलप्राणिनां संसारोन्मूलनायास्मिन् शास्त्रे प्रतिपाद्यते। "तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मा त्सर्वस्मा दन्तरं य दयमात्मा" (बृह. उ. 1-4-8) इति श्रुते», स एव परमप्रेमविषयः ; परोऽपि नारायण एव नान्यः कश्चित्। "यदेतत् परमं ब्रह्म वेदवादेषु पठ्यते। स देवः पुण्डरीकाक्षः स्वयं नारायणः परः॥" इति हरिवंशे सत्यतपःप्रश्नोत्तरत्वेन दुर्वाससः प्रतिवचने परस्य नारायणत्वोक्तेः। "ब्रह्मवि दाप्नोति परम्" (तैत्ति. उ. 2-1) इति श्रुतेश्च। "धीमहि" ध्यायेम। "जन्माद्यस्य यत" इत्यादिविशेषणैः परशब्दोक्तान् गुणान् विशिनष्टि। पालनपूरणाभ्यां यथासम्भवं सृष्टयादयो वाच्या इत्यूहनीयम्। अलौकिकवस्तुनो लक्षणोपदेशमन्तरेण ज्ञातु मशक्यत्वात् शशविषाणकल्पं तदि त्यतो वा लक्षण माह जन्माद्यस्य यत इति। अस्य प्रत्यक्षस्य जगतो जन्म आदिर्यस्य तत्, जन्मादि इति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः, यतो यस्मात् भवतीति शेषः। आदिशब्देन स्थितिसंहारनियमन ज्ञानाज्ञान बन्धमोक्षा गृह्यन्ते, न केवलं स्थितिसंहारौ, श्रुतिस्मृतिविरोधात्। यथा सास्नादिमान् गौ रिति वृद्धोपदिष्टसास्नादिमत्तं पदार्थ मश्वादिभ्यो व्यावृत्तं गोशब्दवाच्यं प्रत्येति ; तथा जगज्जन्मादिकारणं पर मिति श्रुत्याचार्योपदिष्टं जन्मादिकं प्रत्येकं परब्रह्मलक्षणतया ज्ञातव्यं, वेदान्तसूत्रेषु प्रतिपादितत्वात्। ननु परस्य जन्मादिकारणत्वं कुत इति तत्रऽऽहुः — अन्वयादिति। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति" (तैत्ति. उ. 3-1) इत्यादिश्रुतीनां, "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।" (भ. गी. 10-8) "स्रष्टा पाता तथैवात्ता निखिलस्यैक एव तु" इत्यादिस्मृतीनां च जगत्कारणे हरा वन्वयात् उपक्रमोपसंहारादि तात्पर्यलिङ्गात् परं ब्रह्मैव जगत्कारणं नान्यत् इति भावः। ननु रुद्रादीनाम[17]पि जगज्जन्मादिकारणत्वं श्रूयते, अतः कथं परस्यैवेत्यवधार्यते ? उच्यते। यद्यपि रुद्रादीनां वेदैकदेशप्रतिपाद्यत्व मस्ति, तथाऽप्यनन्तवेद कदम्बप्रतिपादितत्वं विष्णोरेव, "सर्वे वेदा यत्पद मामनन्ति" (कठ. उ. 2-15) "वेदैश्च सर्वै रहमेव वेद्यः" (भ. गी. 15-15) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। ननु श्रुत्यादेः पिपीलिकादिलिपिवत् अप्रमाणत्वा न्मानवक दृष्टशार्दूलकल्पनेन तन्निश्चयाभावात्। अतः परमाणुपुञ्जस्यैव कारणत्व मिति तत्राह इतरत इति। प्रत्यक्षागमाभ्या मनुगृहीता दितरस्मात् तर्कात् परब्रह्मणः कारणत्वं ज्ञायते, "समुदाय उभयहेतुकोऽपि तदप्राप्तिः" (ब्र. सू. 2-2-18) इति भगवता कृष्णद्वैपायनेन परमाणुपुञ्जवादस्य निरस्तत्वात्। अत्र श्रुत्याद्यनुगृहीततर्काभावात् केवलतर्कस्य अप्रतिष्ठितत्वात्। ननु, कार्यं कारणपूर्वकं कार्यत्वा दिति कारणसामान्यमात्रं सिद्धं, विशेषतः कुतः सिद्धि रिति चेत् — सत्यम्, प्रधानादे रचेतनत्वेन बुद्धिपूर्वककर्तृत्वानुपपत्ते रस्वातन्त्र्याच्च, क्षित्यादे श्चेतनकर्तृकत्वं परिशेषसिद्धं, चेतनाद्धि पित्रादेः पुत्राद्युत्पत्तिदर्शनात् तदृष्टान्तेन ब्रह्मादिचेतनजातं परमचेतनाद्विष्णो रुत्पद्यत इति सुशकोऽयं तर्कः समुत्तिष्ठते। चशब्दः समुच्चये, वेदाना मपौरुषेयत्वेन कर्तृप्रसिद्धयभावा दसन्दिग्धप्रमाणत्वे[18] तदनुगृहीततर्कस्यापि प्रतितर्कपराहति र्नाशङ्कनीये त्यस्मिन्नर्थे वा। अनेन "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा," (ब्र. सू. 1-1-1) "जन्माद्यस्य यतः" (ब्र. सू. 1-1-2), "शास्त्रयोनित्वात्" (ब्र. सू. 1-1-3), "तत्तु समन्वयात्" (ब्र. सू. 1-1-4) इति चतुस्सूत्री च

व्याख्याता। जिज्ञासैव धीमही त्यनेनोच्यते, वेदविचारनिर्णीत गुणोपसंहाररूपत्वात्। इयानेव विशेषः — ध्यानमेव ज्ञानसाधनं, न कर्मादिक मित्यतो 'धीमही' तिपदं कर्मणः शुद्धान्तःकरणस्य ध्यानसम्भवा दिति। यस्तु श्रुतिस्मृती अनादृत्य केवलतर्केण ब्रह्मणो जन्मादिकारणत्वं विघटय्य प्रत्यवतिष्ठते सोऽन्वयव्यतिरेकात्मक तर्केणापहसितव्य इत्यतो वाऽऽह अन्वयादितरत इति। अन्वयात् अन्वयानुमानात्, इतरतो व्यतिरेकानुमानात् ते च दर्शिते। चशब्द-स्तूक्ततर्कस्य केवलस्य व्याप्तिशून्यत्वा दस्य च प्रत्यक्षगृहीतव्याप्तिकत्वेन बलीयस्त्वा दप्रतिहतः स्वार्थं साधयती-त्येतस्मिन्नर्थे वर्तते। ननु यथा पयोम्ब्वादे रचेतनस्य स्पन्दनादिप्रवृत्तिदर्शनात् तन्निदर्शनेन प्रधानस्य कारणत्वं किं न स्या-दिति तत्राऽऽह — अर्थेष्विति। अर्थेषु घटपटादिषु अभितः सर्वतोऽशेषविशेषाकारेण जानाती त्यभिज्ञः। प्रधानस्य जडत्वेन ज्ञानाश्रयत्वलक्षणासम्भवा न्नितरां न सर्वज्ञत्वं, विष्णोस्तु सर्वज्ञत्वं श्रुतिस्मृतिसिद्धम्। "यः सर्वज्ञः (स) सर्ववित्," (मुण्ड. उ. 2-2-7) "तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप" (भ. गी. 4-5) इत्यादि। नन्वस्य हेतोः सर्वज्ञे रुद्रादावपि वृत्ते रसाधकत्व मिति तत्राह — स्वराडिति। स्वयमेव राजत इति स्वराट्, स्वस्य स्वयमेव राजा नान्योऽधिपति रिति वा। अयं भावः — "यं कामये तं त मुग्रं कृणोमि" (अभ्रणीसूक्तम्) इति रुद्रादीनां श्रीप्रसादायत्त ज्ञानादिगुणवत्त्वदर्शनात्, "मम योनि रप्स्वन्तः" (देव्युप. 4), (अभ्रणीसूक्तम्) इति श्रियश्च विष्णव-नुगृहीत ज्ञानादिमत्त्वदर्शनात् विष्णो स्त्वनन्याधीन ज्ञानादिगुणवत्त्वात्, तद्गतानां विशेषाणां अनन्तानां तै रज्ञातत्वा न्न तेषां निरुपचरितसर्वज्ञत्वम्, अतो नान्येषु तस्य हेतो र्व्यभिचार इति स एव सर्वकर्तेति। "न ते विष्णो जायमानः स एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिः" (वृद्ध. हा. सं. 8-247) इत्यादिश्रुति रनन्याधिपतित्वे सर्वाधिपत्ये च मानं; स्रष्टृराजान्तररहित इति वा स्वराट्; स्वात्मानं स्वयमेव राजयति प्रकाशयति न परेच्छयेति वा।

ननु, श्रुतीना मनन्तत्वा देकत्र हरे रन्याधीनत्वकथनसम्भवा दतः कुतो निश्चयः? परो नान्याधीन इति तत्राऽऽह — तेने इति। यः पर आदिकवये चतुर्मुखाय ब्रह्म साङ्गं वेदं हृदा स्नेहेन तेने विस्तारितवान्, तस्य सकृदुपदेशमात्रेण अशेषविशेष ग्रहणसामर्थ्येऽपि "वक्तव्यं ब्रह्म गुरुणा चतुर्वार मथापि वा" इत्युपदेशशास्त्र मनुसृत्य तेन इत्युक्तम्। शिष्यशिक्षायै तथोपदेशसम्भवात् चतुर्मुखस्य वेदोपदेशेन हरे रनन्याधिपतित्वस्य कि मायात मिति चेत् — न; "प्रजापते नत्वदेता न्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव" (ऋ. सं. 10-121-10) इति श्रुतौ चतुर्मुखस्य निरतिशयमाहात्म्यकथना त्तदुपदेशा त्तस्य अनन्याधिपतित्वसिद्धेः। "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" (श्वेता. उ. 6-18) इति श्रुतेः सकलवेदविद्योपदेशोऽपि सिद्धः। आदिकविवञ्च ब्रह्मणः "कवि र्यः पुत्रः स इमा चिकेत" (ऋ. सं. 1-164-16) इत्यादिश्रुतिसिद्धम्। "[20]ब्रह्म वेद स्तप स्तत्त्वं ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः" (अम. को. 3-271) इत्यभिधानम्। "हृत् स्नेहे मनसि स्निग्धे सुहृद्बन्धौ हरावपि" इति च। न प्रहेलिकाव दुपदेश इति द्योतनाय हृदेत्युक्तम्। तेने ब्रह्मेति सर्वज्ञत्वे [21]युक्त्यन्तरं वा। सकलचेतनराश्युत्तमस्य चतुराननस्योपदेष्टुः शार्ङ्गपाणेः सर्वज्ञत्वं न्यायप्राप्त मिति भावः। "वेदाहं मेतं पुरुषं महान्तम्। आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।" (पु. सू. 2-1) इति श्रुतौ नारायणविषयज्ञाने स्वातन्त्र्यकथना त्तदुपदिष्टज्ञानेनैव तज्ज्ञानं कथं सङ्गच्छत इत्याशङ्क्य "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" (कठ. उ. 2-22) इति श्रुतेः। तत्प्रसादायत्तज्ञानेन एतद्विषयं ज्ञानं, न तु [22]स्वायत्तम्। अन्यथा ज्ञानमेव न स्या-दुक्तहेतो रित्यभिप्रेत्याऽऽह मुह्यन्ति यं सूरय इति। [23]भूतभविष्यद्वर्तमानब्रह्मादयो यत्प्रसाद मन्तरेण मुह्यन्ति, "मुह वैचित्त्ये"

इति धातो श्चितिं ज्ञानं न जानन्ति, क्वचि दन्यथा च जानन्ति इत्यर्थः। "तेने" इत्युक्ते रस्मात् ब्रह्मादिचेतनराश्यचिन्त्यमहिमा महीधरः प्रसादाभावे इति प्रतीयते। न न्वीश्वरः सृष्ट्यादौ प्रवर्तमानः प्रयोजनार्थी भवति, अन्यथा वा ? न प्रथमः, यत्प्रयोजनार्थं प्रवर्तते तस्य तत्पूर्वं तदभावा दपूर्णत्वेन अशक्तत्वात् सृष्ट्यनुपपत्तेः। न द्वितीयः, प्रवृत्तिमात्रस्य स्वप्रयोजनोद्देशेन दृष्टत्वात् वृथा तदनुपपत्तेः। अतो मायामयी सृष्टि रेष्टव्ये त्यत आह तेजोवारीति। तेजोवारिमृदां विनिमयो यथा तथा त्रिसर्गो यत्र यस्मिन् भगवति विषये मृषैव पूर्वाप्राप्तप्रयोजनप्रापको न भवति। कथं तर्हि प्रवृत्ति रिति चेत्, उच्यते। "देवस्यैष स्वभावोऽय माप्तकामस्य का स्पृहा," "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" (ब्र. सू. 2-1-33) इति श्रुतिसूत्रबला दाप्तसमस्तप्रयोजनस्य हरेः लीलयैव प्रवृत्ति रिति भावः। जीवेश्वरजडानां सर्गस्त्रिसर्गः, यथा एकमेव मूलं तेजः स्वकार्येषु पार्थिवादिपदार्थेषु बहुधा भूत्वा प्रविशति, बहिश्च मथनादिनाऽऽविर्भवति तथेश्वरोऽपि जगत् सृष्ट्वा बहुरूपीभूय जगदन्तः प्रविशति, बहिश्च भूतानुकम्पया वासुदेवादिबहुरूप आविर्भवति। अय मीश्वरसर्गः। दीपात् दीपान्तरोत्पत्ति र्यथा, तथेश्वरसर्ग इति वा। यथा सूर्यादितेजसां जलाद्युपाधिनिमित्तैः बहूनि प्रतिबिम्बानि सूर्यकान्तादीनि सूर्यादे र्जायन्ते, तथैव सूक्ष्मस्थूलशरीराद्युपाधिनिमित्तैः प्रतिबिम्बभूता जीवाः हरे रुत्पद्यन्ते। एष जीवसर्गः। यथा कुलालो मृद मुपादानीकृत्य घटादीन् सृजति तथेश्वरो जडप्रकृति मुपादाय महदहङ्काराद्यशेषजडपदार्थान् सृजति। एष जडसर्गः। अनेन मायामयी सृष्टिः इत्यस्य किमायात मिति चेत् उच्यते। यत्रेश्वर इति विशेषणा दन्यत्र जगत्यमृषा मिथ्या न भवति। तथा च योजना — यथा तेजोवारिमृदां विनिमयः कार्यम् अर्थक्रिया योग्यत्वात् सदसद्विलक्षणो न भवति, तथा यत्र यदाधारतया क्रियमाण स्त्रिसर्गो मिथ्या न भवति अर्थक्रियोपपत्तिरेव मिथ्यात्वबाधिकेति भावः। ननु तेजःकार्य केशोण्ड्रकादि, वारिकार्य फेनादि, मृत्कार्य घटादि, यथा मिथ्या तथा यत्र जगन्मिथ्ये त्यर्थः स्यात्। तथा च श्रुतिः "वाचाऽऽरम्भणं विकारः"। (छान्दो. उ. 6-4-1) अनुमानञ्च — विमतं मिथ्या दृश्यत्वा दित्यतो मायामयी सृष्टि रित्यत आह — धाम्नेति। स्वेन धाम्ना स्वरूपज्ञानमहिम्ना सदा नित्यं निरस्तं कुहकम् इन्द्रजालादिमाया येन यस्य वा स तथोक्तः तम्। "य स्सर्वज्ञः" (मुण्ड. उ. 1-1-9) "अथैन माहुः सत्यकर्मेति", "विश्वं सत्यम्"(ऋ. सं. 2-24-12) इत्यादिश्रुति विरोधात् उदाहृतश्रुते रर्थान्तरत्वसम्भवा दनुमानस्य व्याप्तिशून्यत्वेन तद्विरोधाभावा त्रित्यनिरस्तेन्द्रजालो विष्णु र्मायामयीं सृष्टिं न विदधाति ; किन्तु सत्यामेव। लोके वा असमर्थः सन् इन्द्रजालादिकं सृजति, न तु समर्थः। विष्णुस्तु नित्यपरिपूर्णशक्तिः किमर्थं तत् करोतीत्यर्थः। मुक्तव्यावृत्तये "सदा" इत्युक्तम्, तेषां मुक्तेः पूर्वं बन्धभाक्त्वेन कुहकत्वसम्भवात्। ननु विष्णोः सदा निरस्तकुहकत्वे मुक्तव्यावृत्ति र्घटते, तदेव कुत इति तत्राऽऽह — सत्य मिति। सत्यं निर्दुःखनित्य निरतिशयानन्दाद्यनुभवरूपम्। "सच्छब्द उत्तमं ब्रूया दानन्दन्तीति वै वदेत्। येति ज्ञानं समुद्दिष्टम्" इति वचना त्रित्यनिरस्तकुहकत्वेन मुक्तव्यावृत्ति र्युज्यत इति भावः। एत दुक्तं भवति — उपक्रमादितात्पर्ययुक्त्युपेत सर्वश्रुतिस्मृतितात्पर्यपर्यालोचनया जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वात् सर्वज्ञत्वा दनन्याधिपतित्वा च्चतुर्मुखज्ञानोपदेष्टृत्वात् स्वानुग्रहमन्तरेण दुर्ज्ञेयत्वात् स्वप्रयोजनानुद्देशेन केवललीलयैव जगत्सर्जनादिप्रवृत्तिमत्त्वात् स्वत एव निरस्तेन्द्रजालत्वेन सत्यमहिमत्वा न्निर्दुःखनित्य निरतिशयानन्दाद्यनुभवरूपत्वाच्च सर्वगुणपूर्णो विष्णुः सर्वैं र्ध्येय इति वा तात्पर्यार्थः। ननु 'धीमही' ति छान्दसः प्रयोगः कस्मात् कृतः ? उच्यते — गायत्रीप्रतिपाद्यं नारायणाख्यं परं ब्रह्मैव न सूर्यः, तस्य "चक्षोस्सूर्यो अजायत" (पु. सू. 1-6) इति श्रुत्या

तदङ्गजननोक्ते रिति दर्शयितुं यथा वेदाध्ययनोपक्रमे गायत्र्यभिधीयते, विशिष्टफलहेतुत्वात्, तथा भागवतोपक्रमे इति वा गायत्र्याद्यशेष वेदप्रतिपाद्यो नारायण एव भागवते प्रतिपाद्यत इति वा इतरेषां भगवत्कृतत्वेन तत्परत्वेऽपि तद्व्यावृत्तये इति वा इतरेभ्योऽप्यस्य माहात्म्याधिक्यप्रकटनायेति वा। 'धीमही' ति छान्दसं पदं प्रायुङ्क्त भगवान् बादरायणः। तथा च मत्स्यपुराणे [25]पुराणदानमाहात्म्ये[26] प्रस्तावमाहात्म्ये[27] तल्लक्षणं प्रदर्श्यते "यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः। वृत्रासुरवधश्चापि यत्तद्भागवतं विदुः॥ लिखित्वा तच्च यो दद्या द्धेमसिंहसमन्वितम्। पौर्णमास्यां प्रोष्ठपद्यां स याति परमं पदम्॥ अष्टादशसहस्राणि पुराणं तत्प्रकीर्तितम्" इति। स्कान्दे — "ग्रन्थो ऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसम्मितः। हयग्रीवब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवध स्तथा। गायत्र्या च समारम्भो यत्र भागवतं विदुः" इति। गारुडे च — "अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः। गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः। पुराणानां साररूपः साक्षात् भगवतोदितः। द्वादशस्कन्धसंयुक्तः शतविच्छेदसंयुतः। ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः" इति। अन्ये "चतुर्विंशत्साहस्रं भागवतम्" इति वदन्ति। तत् असम्प्रदायविदां वचनमि त्युपेक्षणीयम्। गायत्र्यर्थोऽप्यनेन श्लोकेन सूचितः। तथा हि — तत्सवितु र्देवस्ये त्यस्यार्थः जन्माद्यस्य यत्त इत्यादीति। "वामं वरेण्यं परम्," इत्यभिधानात् वरेण्य मित्यस्य व्याख्यानम् — पर मिति। भर्ग इत्यस्य व्याख्यानं — धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहक मिति। भर्गः सकलदुरितभर्जनं ज्योतीरूपं, तत्पदार्थव्याख्यानम् — स्वराडिति, धियो यो नः प्रचोदया दित्यस्य विवरणं — तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये इति। यः सविता जन्मादिकर्ता नः अस्माकं धियः धर्मादिविषया बुद्धीः; उपलक्षण मेतत् — सर्वेन्द्रियाणि इत्यादि स्वतत्त्वविषयं ज्ञानं गुरुमुखेनोपदिश्य तज्ज्ञानसाधनानि सर्वाणि करणानि प्रचोदयात् प्रचोदयति, स्वात्मविषयतया प्रेरयति। तस्य सवितु र्देवस्य क्रीडादिगुणसम्पन्नस्य नारायणस्य अनन्याधीनतयाँ[28] तत्तत्त्वात् व्याप्तत्वा त्तद्व-रेण्यं सकलगुणाकरतया परममङ्गलं भर्गः,[29] ज्योतीरूपं भरणगमनयोगात् सर्वज्ञं वा वपुः [30]ज्ञानादिगुणरचित करचरणाद्यव-यव मिति यावत्। धीमहि ध्यायेम। ज्ञानमेव तत्प्रीतिजनकम् न कर्मादिकं, तस्मात् तच्चिन्तनं कर्तव्य मित्यर्थः।

यत्तु, केनचि द्वेदसम्मितैर्वविध ग्रन्थव्याख्यानारम्भसमये प्रजल्पितम् — "पदच्छेदः पदार्थोक्ति र्विग्रहो वाक्ययो-ज़ना। आक्षेपश्च समाधान मिति व्याख्यानलक्षणम्॥ अतिरिक्तं पदं त्याज्यं हीनं वाक्ये निवेशयेत्। विप्रकृष्टं च सन्दध्या दानुपूर्व्यं च कल्पयेत्॥ लिङ्गं धातुं विभक्तिञ्च योजये च्चानुलोमतः। वाक्यार्थस्यानुसारेण तेषां च प्रत्ययोऽपि च" इति। तत् अनुपासितग्रन्थ सम्प्रदायवित्सज्जनचरणै रुपेक्षित मिति विदुषां परिषदि न स्वारस्य माधत्ते। नहि यथा वेदादा वकारी त्यत्रा करोदिति पदम् अशक्यनिवेशनं, तथात्रा प्यतिरिक्तं पदं सन्त्यज्य हीन मप्रयोज्यं यत एतद्व्याख्यानम् तल्लक्षणं न भवति; तस्मा द्यथास्थितग्रन्थव्याख्यानमेव सज्जनचित्तरञ्जन मिति सन्तोष्टव्यम्। ननु नायं श्लोकार्थः, किन्त्वन्य एव। तथा हि — तं सत्यं धीमहि। ननु "मृत्तिकेत्येव सत्यं" (छान्दो. उ. 6-4-1) इति मृदादेरपि सत्यत्वं श्रूयते, तद्व दस्यापीति तत्राह — पर मिति। मृदादेः कार्यापेक्षया सत्यत्वम्, अयन्तु पारमार्थिकः सत्यः, "तत्सत्यं स आत्मा" (छान्दो. उ. 6-8-7) इति श्रुतेः। परमसत्य स्यावाङ्मनोगोचरस्य कथं ध्यातृ ध्यानध्येयादि व्यव-हारगोचरत्व मित्याशङ्क्याह — जन्मादीति। अस्य जगतो जन्मस्थितिभङ्गा यतः परात् सत्यात् तं धीमहीत्यर्थः। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तैत्ति. उ. 3-1) इति श्रुतिसिद्धजगत्कारणत्वरूपेण अवाङ्मनोगोचरस्यापि ध्यातृध्यानादिव्य-

वहारो घटत इति भावः। ननु, ब्रह्मणः सिद्धरूपत्वात् प्रमाणान्तरागोचरत्वम्। अतस्तत्र वेदान्ताना मनुवादकत्वा-दप्रामाण्य मित्याशङ्क्याह — अन्वया दिति। वेदान्तानां ब्रह्मण्येवान्वया त्तात्पर्या दित्यर्थः। तथाच श्रुतिस्मृती "सर्वे वेदा यत्पद मामनन्ति" (कठ. उ. 2-15), "वेदैश्च सर्वै रहमेव वेद्यः" (भ. गी. 15-15) इति प्रमाणान्तरसिद्धत्वेन ह्यनुवादकत्वं सिद्ध मित्यपि ज्ञातव्यम्। न केवलं श्रुत्यन्वयात् स्मृत्यन्वया च्चेत्याह — इतरतश्चेति। "अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलय स्तथा" (भ. गी. 10-8) इति स्मृतितश्चेत्यर्थः। अथवा प्रतिपदोक्त विवक्षितार्थसिद्धये हेतु माह — अन्वया दितरतश्चेति। अस्ति प्रकाशत इति ब्रह्मणश्च कार्यप्रपञ्चे मृदादेरिव घटादौ समन्वया दितरतः प्रकाशव्यतिरेकेण कदाचिदपि कस्या प्यप्रतिभासात् मृदादिव्यतिरेकेण घटादे रिवे त्यन्वयव्यतिरेकौ दर्शितौ। अथवा, ब्रह्मणि कारणापन्ने[31] महदादिकार्यदर्शना दन्यथाऽदर्शना दिति सत्तास्थित्योः अन्वयव्यतिरेकौ दर्शितौ।

ननु तर्हि साङ्ख्यपरिकल्पितं प्रधानमेव जगत्कारण मस्तु, किं ब्रह्मणेति तत्राऽऽह — अर्थेष्वभिज्ञ इति। उत्पाद्यसर्वपदार्थे ष्वभिज्ञः सः अभितः सर्वतः सर्वमिदं जानातीति एवंविधस्यैव कारणत्वम्; नेतरस्य प्रधानस्य जडत्वा त्र सर्वज्ञत्वम्। तथा च "य स्सर्वज्ञः" (मुण्ड. उ. 2-2-7) इति श्रुतिः। तर्हि अर्थेष्वभिज्ञानां जीवानामेव जगत्कारणत्व मस्त्वि त्याशङ्काऽऽह —— स्वराडिति। स्वयमेव राजत इति स्वराट्। जीवानां परिच्छिन्नज्ञानत्वेन पराधीनत्वा त्र स्रष्टृत्वं सम्भवतीत्यर्थः। "एष सर्वेश्वरः" (बृह. उ. 4-4-21) "एष (सर्व) लोकपालः" (कौषी. उ. 3-9) इति श्रुतेः। ननु ईश्वरस्यापि "न तस्य कार्यं करणं[32] च विद्यते" (श्वेता. उ. 6-8) इति श्रुत्या कार्यकरणाद्यभावात्[33] कथं सर्वज्ञत्व मिति तत्राऽऽह — तेने ब्रह्मेति। आदिकवये ब्रह्मणे। यः ब्रह्मा ऋग्वेदादिलक्षणं साङ्गं वेदं हृदा मनसा मनोमात्रेण साधनान्तरनिरपेक्षतया तेने स्वर मात्रा वर्ण पद वाक्यादिक्रमेण विस्तारितवान्। ब्रह्मणः उपाधिभूतां बुद्धिं निर्मिय तत्र वेदं प्रकाशितवा नित्यर्थः। अथवा हृदोपनिषदा सह सङ्कल्पमात्रेण कार्यकारणसम्बन्ध-रहितोऽपि भगवान् सर्वान्तर्यामी ब्रह्मादिकार्यकारणसाक्षित्वेन सर्वज्ञ इत्यर्थः। एवं जगत्कारणे सच्चिदानन्दात्मके वेदैकवेद्ये निरवद्ये सर्वेश्वरे परै रुद्भाव्यदोषकलापि नास्ती त्यभिधत्ते — मुह्यन्तीति। यं प्रति सूरयः कपिलादयः शास्त्रप्रणेतारः मुह्यन्तीत्युक्ते, तत्प्रणीतशास्त्रस्य निर्मूलत्वेनाप्रामाण्यात् तद्विरोधिग्रन्थो नास्तीत्यर्थः। नानाऽसत्तर्ककलिलान्तःकरण दुरवग्रह-वादिनां विवादानवसरे उपरतसमस्तमायामये भगवति को नु दुर्घट इति स्वोक्तेः। अतः परमसत्याद प्युत्पन्नस्य जगतः कुतः सत्यत्वम्? किन्तु मिथ्यात्वमेवेति दर्शयति — तेजोवारीति। विनिमयः कार्यतेजोविनिमयः केशोण्ड्रकादिः, वारिणो विनिमयः हिमकरकादिः, मृदो विनिमयो घटादिः। यथा येन प्रकारेण तथा कारण सत्ताप्रतीतिव्यतिरेकेण कार्यस्य पृथक् सत्ताप्रतीतिशून्यत्वमे वात्र मिथ्यात्वम्। तद्वत्तेजोवारिमृदामपि कारणसत्ताप्रतीति व्यतिरेकेण कार्यस्य पृथक् सत्ताप्रतीत्यभावात् मिथ्यात्व मित्यर्थः। किञ्च, त्रिवृत्कृतानां चोभयेषां दृष्टान्तदार्ष्टन्तिकव्याजेन मिथ्यात्वं कथित मिति सम्प्रदायविदा मभिप्रायः। ननु ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे क्रियाकारकादिसम्बन्धात् "असङ्गो ह्ययं पुरुष" इति विरुध्येते त्यतो वाऽऽह — तेजोवारीति। त्रिसर्ग स्त्रयाणां सर्गः तेजोवारिमृदां सर्गः। उपलक्षणं चैतत् — पञ्चभूतानां सृष्टिः यत्र मृषा कथम्? यथा तेजोवारिमृदां विनिमयो मिथ्या तथा जगदपि मिथ्येत्यर्थः। "वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् (छान्दो. उ. 6-4-1) इति श्रुतेः। इदानी मेवंविधप्रपञ्चकारणत्वेन कल्पितमायासम्बन्धनिबन्धनं

किञ्चिदपि चिद्रूपपरमसत्यात्मके ईश्वरे स्वदृष्ट्या वस्तुगत्याऽपि नास्तीति दर्शयति — धाम्नेति। धाम्ना प्रकाशेन स्वेन स्वरूपभूतेनात्मचैतन्येन उपचारतः कारणत्वेन कल्पितेन सदा सर्वदा निरस्तं निराकृतं कुहकं कपटाख्यं येन सः तथोक्तः तम्। सदेति। जीवा द्वैलक्षण्यप्रदर्शनाय अर्था दसङ्गत्वं कूटस्थत्वं चोक्तं, तस्मा देकमेव ब्रह्म उपहितानुपहित-भेदेन "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चै वामूर्तञ्च" (बृह. उ. 2-3-1) इति श्रुत्या प्रतिपाद्यते। तत्र सगुणब्रह्मोपासनाजनि-तेन ज्ञानेन शुद्धान्तःकरणस्य निर्गुणब्रह्मोपास्तौ बुद्धि रुपतिष्ठते। ततश्च सकलं स्वात्मानं पश्य न्नात्मव्यतिरिक्तं किञ्चिद प्यपश्य न्निर्गुण एवावतिष्ठत इत्येषोऽर्थोऽनेन प्रतिपाद्यते, नापरोऽप्रामाणिक इति तदेत त्कण्ठशोषणप्रलाप ज्वलन-ज्वालातुल्य मिति न परीक्षकाः क्षणमपि कटाक्षेण प्रेक्षन्ते। पूर्वापरपर्यालोचनया स्वोत्प्रेक्षितयुक्तिविरुद्धत्वाच्छ्रुतिस्मृतीना-मतात्पर्यार्थत्वा त्प्रत्यक्षादिप्रमाण प्रहरणप्रहतशिरस्कत्वा दाचार्यैः तत्र तत्र निराकृतत्वाच्छ्रुत्यादीनां मिथ्यात्वपरत्वे विरोधस्य दर्शितत्वा दस्मदुक्तार्थे बहुप्रमाणसम्भवात् ग्रन्थबाहुल्यभया न्न तन्निराकरणं प्रपञ्च्यते। न हि "अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्" (भ. गी. 16-8) इति वदतां सम्प्रदायवित्त्व मिति ॥ १ ॥

---

1. K ध्यायेमा° 2. K व्यलीको 3. B,K यच्च 4. K °मधि° 5. B,K °वोत्तर° 6. K उ° 7. B,K प्रविवृतां मागा ज्ञनः खेदतां 8. K °कामा° 9. K कृती 10. K °तपस्यायां 11. K adds विन्नाभावेऽपि 12. K °विहतान् 13. A,B,M °रोहित° 14. A,B वशादादितः 15. B °रम्भेन 16. K °दिष्टिः 17. A,B,M °मपि जन्मा° 18. B,K,M °त्वेन. 19. B,K,M अशेषाकरेण 20. "वेद स्तत्त्वं तपो ब्रह्म" इति मुद्रितामरकोशपाठः 21. K हेत्वन्तरं 22. K स्वप्रतिभया 23. K adds यं प्रति 24 K °क्रियोपयोगित्वोपपत्ति° 25. K adds भागवत° 26. K °तव्यं 27. K °व्य तम्भाहात्यं 28. K ° यातत्त्वा 29. K adds पापभञ्जकं 30. K ज्ञानानन्द° 31. K °णायिते 32. M कारणं 33. M °कारणा°

# ओं श्रीमहागणाधिपतये नमः

श्रीकृष्णाय नमः

## राधाकृष्ण प्रणीता सुधीसुधा

परब्रह्मानन्दप्रसितहृदयान् दीनसदयान्
जगच्छ्रेयःप्राणान् प्रणतजनरक्षैकनिपुणान् ।
सुधीरान् मैत्रेयप्रभृतिबहुनामाकृतिधरान्
सुचर्याश्रीधुर्यान् परमगुरुवर्यान् हृदि भजे ॥ १ ॥

वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञैः श्रीधराद्यैः परिष्कृते ।
हरेः कृपां प्रपां कर्तुं यते भागवताध्वनि ॥ २ ॥

कृष्णमाचार्यगुरुणा प्रकाशे परिवर्धिते ।
पश्यामि दिव्यसौन्दर्यं श्रीमद्भागवताकृतेः ॥ ३ ॥

श्रीमद्भागवताम्भोधि समाकर्षसमुद्भवा ।
तनोतु सुधियां मोदं मदीयेयं सुधीसुधा ॥ ४ ॥

नात्र शास्त्रार्थविन्यासो नवा नानामतोद्धृतिः ।
केवलं भगवद्भक्ति सुधास्वादो विधीयते ॥ ५ ॥

अस्य जगतः, जन्मादि सृष्टिस्थितिलयादिकम्। अन्वयात् इतरतश्च, अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्। यत्सत्त्वे यत्सत्त्वं अन्वयः। यदभावे यदभावो व्यतिरेकः। यतः ईश्वराद्भवति। अर्थेषु अखिलपदार्थेषु अभिज्ञः ज्ञानवान् सर्वज्ञ इत्यर्थः। स्वराट् स्वयं प्रकाशमानः यः आदिकवये चतुर्मुखब्रह्मणे हृदा मनसा मनसि प्रवर्तितया स्फूर्त्या यत् यस्मिन् शब्दब्रह्मणि सूरयः ब्रह्मादयोऽपि मुह्यन्ति मोहं प्राप्नुवन्ति, अज्ञानिन इति यावत्। तत् ब्रह्म वेदं तेने प्रकाशयाञ्चक्रे। यत्र यस्मिन् परब्रह्मणि त्रिसर्गः त्रयाणां मायागुणानां तमोरजस्सत्त्वानां सर्गः सृष्टिः तेजोवारिमृदां विनिमयो यथा व्यत्ययो यथा, अन्यस्मि न्नन्यावभास इवेत्यर्थः। तेजसि वारिबुद्धिः मरुमरीचिकायां प्रसिद्धा। मृदि काचादौ वारिबुद्धिः, वारिणि काचादिबुद्धिः। एतादृशो विनिमय इव अमृषा सत्यः अधिष्ठानसत्तया सद्वत्प्रतीयमानः। यद्वा, मृषा सत्यत्वेन प्रतीयमानोऽप्यवास्तविकः। यत्तदो र्नित्यसम्बन्धात्, तं तादृशं, स्वेन स्वीयेन धाम्ना तेजसा सदा नित्यं निरस्तकुहकं निरस्तमायागुणं सत्यं परमार्थसत्यभूतं परं परमात्मानं धीमहि ध्यायेम।

यः अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विश्वसृष्टिस्थितिलयादीनां निदानभूतः, यो वा सर्वज्ञः स्वयं प्रकाशमानः, यश्च चतुर्मुखब्रह्मणे मनसि स्फूर्तिं आधाय सूरिमोहनं वेदं प्रकाशयाञ्चक्रे, यस्मिन् त्रिगुणसर्गश्च तेजोवारिमृदां व्यत्यय इव वास्तवत्वेन प्रतीयमानः, तं स्वतेजोनिरस्तमायागुणं परमार्थसत्यभूतं परमात्मानं ध्यायेम।

यदुक्तं श्रीशुकदेवेन स्वसिद्धान्तप्रदीपे — "मायावादिना तु यत्र त्रिसर्गोऽमृषा यत्सत्यतया मिथ्यासर्गोऽपि सत्यव त्प्रतीयत इति व्याख्यातं — त दसत्। 'सदेव सोम्येद मग्र आसीत्' (छान्दो. उ. 6-2-1) इत्यादिश्रुतिविरो - धात्। जगत् सत्यं सदुपादानकत्वात् इत्यन्वयात्, न य त्सदुपादानकं न त त्सत्यं, खपुष्पवत् इति व्यतिरेकाच्च हेतोः" इति। तत्रोच्यते —

अत्र मायावादी श्रीधराचार्यः। "यत्सत्यतया मिथ्यासर्गोऽपि सत्यव त्प्रतीयते" इति च तदीयमेव व्याख्यानं खण्डितम्। इदं च खण्डन मनावश्यक मिव प्रतिभाति। तथाहि —

"इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्" (भाग. 1-3-40) इति भागवतोक्तदिशा भगवत्तत्त्वप्रतिपादकस्य भागवतस्य वेदतुल्यत्वात्, वेदानां च द्वैताद्वैतादि नानामतप्रमाणभूतत्वात्, अद्वैतोपष्टम्भकस्य मायावादस्य च वेदप्रामाण्य-सिद्धेः, मायावादिपदव्यपदिष्टस्य श्रीधरस्वामिनो व्याख्यानस्य खण्डनं श्रीशुकदेवकृतं वेदनिरासनिर्विशेषं सत् अविचाररमणी-यम्। न चात्र श्रुतिविरोधः, "सदेव सोम्येदम्" (छान्दो. उ. 6-2-1) इत्यादौ सत्पदस्य ब्रह्मार्थकत्वात्। नापीदं अपूर्वार्थप्रतिपादकं; मायावादिनोऽपि जगतो व्यावहारिकसत्तायाः अभिमतत्वात्। किं च यस्य ब्रह्मणः सत्यतया परमार्थत्वेन मिथ्यासर्गोऽपि सत्यव त्प्रतीयते इति व्याख्याने न काप्यनुपपत्तिः ब्रह्मविवर्तार्थकेन 'मिथ्या' पदेन अत्यन्ताभावस्य अलक्षितत्वात्, वासुदेवपरब्रह्ममयत्वानुसन्धानाननुसन्धानाभ्यां च जगतः सत्यत्वासत्यत्वयो रुभयोरपि सिद्धत्वात्।

यच्चोक्तं तेनैव महाभागेन — "यत्तु सत्य मिति स्वरूपलक्षणम्, जन्माद्यस्येति तटस्थलक्षणम्; तत्र; जगत्कर्तृकत्वस्य धर्मस्य 'सोऽसृज त्सर्वान् लोकान्' इति श्रुतेः, स्वरूपे उपपन्नत्वेन तटस्थलक्षणस्य असम्भवा"दिति तदपि चिन्त्यमेव। तेनैव प्रस्तुते अगणितगुणसिन्धौ भगवति स्वरूपतटस्थलक्षणयो रुभयोरपि युगपत्सम्भवात्। अन्यथा अगणितगुणसिन्धुविशेषणवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च। एवमस्य सिद्धान्तप्रदीपः श्रीमद्भागवतसिद्धान्तप्रतीप इव प्रतिभाति।

अत्रेद मनुसन्धेयं जिज्ञासुभिः — यत् अगणितगुणसिन्धोः स्वप्रपन्नैकबन्धोः सकलभुवनहेतोः सर्वसौन्दर्यहेतोः विगतसकलदोषस्य वेदवेद्यस्य परेशस्य गोपवेषस्य भगवतः तत्त्वप्रतिपादकं कल्पद्रुमवत् सर्वाभीष्टार्थप्रदं श्रीमद्भागवतं सर्वैरपि मुमुक्षुभि र्जनैः यथारुचि यथामति अधीतं सत्, आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिलक्षणं मोक्षं तेभ्यो वितरतीति; तथा चात्र रुचिमात्रप्रयुक्तेषु भगवदेकगम्येषु नानाविधवादप्रवाहेषु वैमत्यं परित्याज्य मिति च।

सम्भाव्यते चं सहृदयै र्यत् प्रायशो ह्ययमेवार्थो "धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सताम्" (भाग. 1-1-2) इत्यादिश्लोके भागवतप्रणेत्रा भगवता बादरायणेन सूचित इति।

अत्र प्रथमश्लोके गायत्रीप्रतिपादितं सत्यं — "योऽस्माकं बुद्धिवृत्तीः प्रेरयति तस्य तेजो ध्यायेम" इत्याकारकं प्रदर्शितम्। तच्च बुद्धिप्रचोदकं पञ्चज्ञानेन्द्रियेभ्यो, मनसो, बुद्धेश्च परमेव यस्य ताव दस्मदन्तर्गतत्वेन ज्ञानं सुलभं

न तु अस्मत्त्वेनैव, तस्मा दात्मनो भेदमापाद्य जीव स्तत्पश्यति, वस्तुतस्तु न। अत एव तदस्मद्विलक्षणं सूर्यतेजस्त्वेन दृश्यते; वर्तते चास्माकं दूरे यथा वयं तदेवाय मिति ब्रूमः। अत एव "असा वादित्यो ब्रह्म" (सूर्य. उ. 5) इति ऋषयः प्रावोचन्। अस्य चायमाशयः — अस्माभि रयमिति व्यवह्रियमाणः आदित्य एवास्मान् तं चाभिव्याप्य वर्तते। अस्मिन् पुरः स्थिते पुरुषे आदित्ये च अन्तर्यामी एक एव इति। तदिदं परमं सत्यं यत्र सर्वं उत्प्लवते, प्रलयाख्यसमुद्रे तदेतत् मत्स्यत्वेन प्लवमानं प्रतीयते — अव्यक्तः प्रलयः तत्र प्लवमानः सूर्यो मत्स्यः तज्ज्योतिषा कृतं लोकानां उद्धरणमेव मत्स्यकृतं वेदानां उद्धरणम् — इति हि सम्प्रदायविदः कथयन्ति। एवं सङ्केतिता ध्यानविद्यैव मत्स्यपुराण रहस्य मिति कथ्यते। अव्यक्तं सत्यं मायावरणेन सूर्यस्य वृत्ताकारे समारोप्यते। स्थिते रस्याः वृत्रासुरसंज्ञा। तामिमां माया मतिक्रम्य सत्यं पश्यन्त्याः प्रज्ञायाः वृत्रासुरघ्नः इन्द्रः इति संज्ञा।

गायन्तं त्रायते इति गायत्री। सा च उच्छ्वासनिश्वासरूप प्राणात्मना अभिव्यज्यते येन प्राणिनः प्राणवन्तो भवन्ति। स प्राणः 'सोऽह 'मित्यक्षरद्वयात्मक मन्त्रेणाभिव्याप्तः। स मन्त्रश्च स्वनिष्ठहृद्द्वयच्युत्या परिणमति ओमिति प्रणवत्वेन। सोऽयं प्रणवः श्वासमनश्शरीराद्यावरणं परिकल्प्य, जीवरूपेणावतरति; जीवेषु चान्तर्यामितया विद्योतते। तस्मादिमां गायत्रीं ध्यायतां प्राणिनां परब्रह्मत्वप्राप्तिः। तथा च प्राणिनां परस्परदर्शनस्पर्शनादि सम्बन्धसमारोपसमये एतत्स्मरणेन जीवरूपदेवस्मरणं सिध्यति। एतत्साधनमार्गबोधनप्रधानमेव भागवतम्।

**धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां**
**वेद्यं वास्तव मत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।**
**श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परै रीश्वरः**
**सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभि स्तत्क्षणात्॥ २॥**

**श्रीध०** इदानीं श्रोतृप्रवर्तनाय श्रीभागवतस्य काण्डत्रयविषयेभ्यः सर्वशास्त्रेभ्यः **श्रैष्ठ्यं दर्शयति — धर्म** इति। अत्र श्रीमति सुन्दरे[1] भागवते परमो धर्मः निरूप्यते। परमत्वे हेतुः — **प्रकर्षेण उज्झितं कैतवं** फलाभिसन्धिलक्षणं कपटं यस्मिन् सः। प्रशब्देन मोक्षाभिसन्धिरपि निरस्तः। केवल मीश्वराराधनलक्षणः धर्मः निरूप्यते[2]। अधिकारिणोऽपि[3] धर्मस्य परमत्वमाह। निर्मत्सराणां परोत्कर्षासहनं मत्सरः, तद्रहितानां सतां भूतानुकम्पिनाम्। एवं कर्मकाण्डविषयेभ्यः शास्त्रेभ्यः श्रैष्ठ्य मुक्तम्। ज्ञानकाण्डविषयेभ्योऽपि, **श्रैष्ठ्य माह** — वेद्य मिति। वास्तवं परमार्थभूतं वस्तु वेद्यं; न तु वैशेषिकाणामिव द्रव्यगुणादिरूपम्। यद्वा, **'वास्तव' शब्देन** वस्तुनोंऽशः जीवः, वस्तुनः शक्तिः माया, वस्तुनः कार्यं जगच्च तत्सर्वं वस्त्वेव; न ततः पृथ गिति वेद्यम्, अयत्नेनैव ज्ञातुं शक्य मित्यर्थः। ततः किमत आह — शिवदं परमसुखदम्। किञ्च, आध्यात्मिकादितापत्रयोन्मूलनं च। अनेन ज्ञानकाण्डविषयेभ्यः **श्रैष्ठ्यं** दर्शितम्। कर्तृतोऽपि **श्रैष्ठ्य माह**। महामुनिः श्रीनारायणः। तेन **प्रथमं सङ्क्षेपतः कृते। देवताकाण्डविषयगतं श्रैष्ठ्य माह** — किं वेति। **परैः** शास्त्रैः तदुक्तसाधनै र्वा **ईश्वरो** हृदि किं वा **सद्य एवावरुध्यते स्थिरीक्रियते। वा** शब्दः

कापट्यलक्षणः काकर्थः। किन्तु विलम्बेन कथञ्चिदेव, अत्र तु शुश्रूषुभिः श्रोतु मिच्छुभिरेव तत्क्षणादेवावरुध्यते। ननु इदमेव तर्हि किमिति सर्वे न शृण्वन्ति तत्राह — कृतिभिरिति। श्रवणेच्छा तु पुण्यैर्विना नोत्पद्यते इत्यर्थः। तस्मा दत्र काण्डत्रयार्थस्य च यथावत्प्रतिपादना दिदमेव सर्वशास्त्रेभ्यः श्रेष्ठम्, अतो नित्य मेतदेव श्रोतव्य मिति भावः ॥ २ ॥

---

1. H,V add मुमुक्षूणा मतिरमणीय इत्यर्थः 2. H,V add इत्यर्थः। 3. H,V °र° 4 H,V °कादिवत् 5. H,V °काण्डतः 6 A,B कटाक्षे 7. A,B omit काकर्थः

**वीर०** अथ विषयप्रयोजन सम्बन्धाधिकारिरूपं अनुबन्धचतुष्टय माह द्वितीयश्लोकेन "धर्मः प्रोज्झितकैतव" इत्यादिना। विषयो नाम प्रधानप्रतिपाद्यवस्तुरूपः। स चात्र धर्मः। सोऽपि साध्यः सिद्धश्चेति द्विविधः। सिद्धरूपे वस्तुनि धर्मशब्दप्रयोगो महाभारते दृष्टः। यथा "ये च वेदविदो विप्रा ये चाध्यात्मविदो जनाः। ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम्" (भार. 3-86-22) इति। तथाऽभियुक्तै श्च अलौकिकत्वे सति श्रेयस्साधनत्वं धर्मशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं मन्वानैः सिद्धरूपेऽर्थे धर्मशब्दः प्रयुक्तः। "द्रव्यक्रियागुणादीनां धर्मत्वं स्थापयिष्यते। तेषा-मैन्द्रियकत्वेऽपि न तद्रूपेण धर्मता" इति। तत्र सिद्धधर्मः परमात्मा "अमृतस्यैष सेतुः" (मुण्ड. उ. 2-2-5) इत्यादिशास्त्रेण तस्यालौकिकत्वे सति श्रेयस्साधनत्वावगमात्। साध्यधर्मस्तु परमात्माराधनात्मिका भक्तिः। तत्र 'सतां' इत्यन्तेन साध्यधर्म उच्यते। 'वेद्य' मित्यादिना 'तापत्रयोन्मूलन' मित्यन्तेन सिद्धधर्मः। 'ईश्वर' इत्यादिना प्रयोजन'मु-च्यते। तच्चाप्ति द्विविधं व्यवहितं अव्यवहितं चेति। तत्रायत्नेन हृदि ईश्वरावस्थापनं अव्यवहितं फलम्। तापत्रयनिवृत्तिस्तु भगवदनुभवपरम्परया व्यवहितं फलम्। सम्बन्धोऽपि द्विविधः — साध्यसाधनभावरूपः, प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावरूपः चेति। तत्र प्रयोजनोक्त्या साध्यसाधनभावरूपः,विषयोक्त्या प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावरूप श्चाऽऽर्थो विवक्षितः। एवं सिषाधयिषुः प्रतिपित्सुरूपो मुमुक्षुरधिकारी अर्थतो विवक्षितो वेदितव्यः। तत्र साध्यधर्ममाह — धर्म इति। अत्रास्मिन् पुराणे प्रोज्झितकैतवः परमो निर्मत्सराणां सतां धर्मः साध्यतयोच्यते इत्यर्थः। कैतवं वञ्चनं; प्रोज्झितं नितरां त्यक्तं कैतवं यस्मिन्। अनेन विप्रलिप्सामूल बाह्यागमोक्त चैत्यवन्दनादिव्यावृत्तिः। "निर्मत्सराणां सताम्" इति सम्बन्धसामान्ये षष्ठी। निर्मत्सराणां सतां सम्बन्धी धर्मोऽत्र साध्यतयोच्यत इत्यर्थः। सम्बन्ध श्चानुष्ठेयानुष्ठातभावरूपः। "निर्मत्सराणां सतां धर्म" इत्यनेन वेदोक्ताभिचारादि व्यावृत्तिः। अभिचारादयो हि मत्सरादिमतां अनुष्ठेयाः। परमः सर्वोत्कृष्टः। अनेन क्षुद्रफलप्रदकाम्यकर्मव्यावृत्तिः। यद्वा, 'मत्सर' शब्दः कामादीनां प्रदर्शनार्थः शमदमाद्युपेतानां मुमुक्षूणां धर्मः। अनेन स्वर्गाद्यर्थ कर्म व्यावृत्तिः। परमः "सर्वेषामेव धर्माणा मुत्तमो वैष्णवो विधिः" इत्युक्तप्रकारेण भगवत्सन्तोषैकफलत्वात् परमः। एवं साध्यधर्मरूपो विषय उक्तः। अथ एवंविधमोक्षैकप्रयोजनकं साध्यधर्मस-माराध्य मेत त्पुराणवेद्यं परब्रह्मात्मकं सिद्धधर्मरूपं विषयमाह — वेद्य मिति। सता मित्येतत् काकाक्षिन्यायात् अत्रापि सम्बध्यते। अत्रास्मिन् महामुनिकृते श्रीमद्भागवताख्ये पुराणे। अन्वर्थ मिदं नाम — भगवतः स्वरूपरूपगुण विभूतिप्रति-पादकत्वेन भगवत इदं भागवतमिति व्युत्पत्तेः। सतां वेद्यं वस्तु वास्तवं शिवदं तापत्रयोन्मूलनं वास्तवत्वादि गुणविशिष्ट-

मित्यन्वयः। महामुनिना श्रीबादरायणेन कृते। मुनेः महत्त्वम् अत्र असम्भाव्यमान पौरुषेयदोषगन्धापौरुषेयप्रत्यक्ष श्रुति-वाक्येन, "सहोवाच व्यासः पाराशर्यः" (तैत्ति. उ. 1-9-2) इत्यनेन आप्ततमतया श्रावितत्वरूपं विवक्षितम्। अनेनास्य पुराणस्य वक्तृवैलक्षण्यवत्त्वं सिद्धम्। अत एव प्रमाणतमत्वं च इतरदेवतानाम् असद्गुणारोपेण स्तोतव्यत्वात् तद्व्यावृत्त्यर्थं वास्तव मित्युक्तम्। वस्तुनो भावो वास्तवम्, युवादित्वात् "हायनान्तयुवादिभ्योऽण्" (अष्टा. 5-1-130) इत्यण्, ततो मत्वर्थीयोऽच्। स्वाभाविकधर्मयुक्त मित्यर्थः। शिवदं मङ्गलदं मोक्षानन्दप्रदम्। अनेनेष्टप्राप्तकत्वं उक्तम्। तापत्रयोन्मूलनम् आध्यात्मिकादि तापत्रयोच्छित्तिकरम्। अनेन अनिष्टनिवर्तकत्वमुक्तम्। यद्वा, 'वास्तव' शब्देन शास्त्रान्तराभ्युपेताब्रह्मात्मक स्वतन्त्रप्रधानादेः वैलक्षण्यमभिप्रेतम्। अब्रह्मात्मकप्रधानादीनां अप्रामाणि-कत्वात् इतरविशेषणद्वयेन क्षुद्रोपद्रवशतोपप्लुत परिमितसुखप्रददेवतान्तरव्यावृत्तिः। एवं मोक्षसाधनधर्मः तत्समाराध्यपरदेव-ता चास्य प्रबन्धस्य विषय इत्युक्तम्। यत एवेद मीदृशविशिष्टविषयकम् तत एव न शास्त्रान्तरैः प्रयोजन मस्ती-त्याह — किं वाऽपरै रिति। अपरैः शास्त्रजालैः किं वा ? न किञ्चिदपि प्रयोजन मस्तीत्यर्थः। अथ प्रयोजनमाह — ईश्वर इत्यादिना। शुश्रूषुभिः श्रवणेच्छामात्रवद्भिः। अत एव तत्क्षणात् कृतिभिः धन्यैः सद्य एतत्पुराणश्रवणानन्तरमेव हृदि ईश्वरोऽवरुध्यते। श्रुतिपथेन हृदयं प्रविशतीत्यर्थः। "यत्नेन चित्ते विनिवेशयन्ति" इति न्यायेन दुर्ग्रहस्य ईश्वरस्य अयत्नेन हृद्यवस्थानं अव्यवहितं फलम्। तापत्रयनिवृत्तिश्च भगवद्नुभवपरम्परया फल मित्युक्तं भवति। प्रयोजनेन साध्यसाधनभावरूपः विषयेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावरूपश्च सम्बन्धः। अधिकारी च अर्थसिद्ध इति पुरस्ता-देवोक्तम् ॥ २ ॥

---

1. W °श्चार्थतो 2. A,B omit °क°

**विज०** ननु "जन्माद्यस्य यत" इत्यनेन सकलपुराणार्थस्य सङ्क्षेपतो दर्शितत्वात् कि मुत्तरश्लोकेन त्यतो ग्रन्थारम्भे मङ्गलाचरणा द्युक्त्या नारायणस्य प्रस्तुतत्वं, न तु साक्षाद्विषयत्वेन। विषय स्त्वन्य एवेति शङ्कानिरासार्थं विषय तत्साधनाधिकारि प्रयोजनानि द्वितीयश्लोकेन दर्शयति **धर्म** इति।

ननु य दिष्टसाधनत्वावबोधकं प्राय स्तदेव प्रमाणतयोपादेयम्। अतः कथ मस्य ग्रन्थस्ये त्यतो वाऽऽह धर्म इति। अत्र श्रीमद्भागवते प्रोज्झितकैतवः परमो धर्मः प्रतिपाद्यते। अत्र श्रीमद्भागवते निर्मत्सराणां सतां वेद्यं वास्तवं शिवदं तापत्रयोन्मूलनं वस्तु प्रतिपाद्यते। किं विशिष्टे ? महामुनिकृते। अपरैः किं वा ? शुश्रूषुभिः कृतिभिः। अत्र श्रीमद्भागवतेऽभ्यस्यमाने ईश्वरः सद्य स्तत्क्षणात् हृदि अवरुध्यते इत्येकान्वयः। अत्रास्मिन् श्रीमद्भागवते श्रीमत्त्वं नाम श्रूयमाण रमणीयताऽर्थ पर्यालोचनया च अस्य इतरेभ्यः आधिक्यम्। तथाचोक्तम् — "राजन्ते ताव दन्यानि पुराणानि सतां गणे। याव न्न दृश्यते साक्षाच्छ्रीमद्भागवतं परम्" इति। ध्रियते अनेन अधः पतन् पुरुष इति धर्मः। धारयतीति धरो भगवान्। समीयते ज्ञायते अनेनेति वा। दधाति कर्तारं रमयति मनुते हिनस्ति पाप मिति वा

भगवतः प्राप्तिसाधनभूतः। ननु धर्मोऽन्यत्रापि प्रतिपाद्यते कि मत्रैवेति तत्राह — प्रोज्झित इति। प्रोज्झितकैतवः, कितवस्य भावः कैतवम्। प्रकर्षेणोज्झितं कैतवं येन स तथोक्तः। कितवो नाम लोके मन स्यन्य दभिसन्धाय अन्य दभिधत्ते, अन्यदेवाभिचरति। तद्व दत्रापि भगवत्प्रीति मंन्तरेण स्वर्गादिफलं मनसि अनुसन्धाय भगवद्गुणप्रतिपाद-नलोलुपनिगमार्थं अन्यथा वदन् स्वात्मनो देहेन्द्रियाणामीश्वराधिष्ठितत्व मीश्वरनियाम्यत्वं निगूह्य हरेः कारयितृत्वं फलदातृत्व मपि अंगणय्य अह मेवेदं करिष्ये, अर्थी समर्थो विद्वा नहमेव स्वतन्त्र इति बुद्ध्या वा युक्तः कितवः। तेन क्रियमाणो धर्मः कैतवं इत्युच्यते। अतोऽफलकामनयैव धर्मः कर्तव्य इत्ययमर्थोऽत्र प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। "तत्कर्म य न्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये" इति श्रीविष्णुपुराणे (1-19-41)। तर्हि एतावता पूर्यत इति तत्राह — परम इति। "यत् करोषि य दश्नासि य ज्जुहोषि ददासि यत्। य त्तपस्यसि कौन्तेय ! त त्कुरुष्व मदर्पणम्॥" (भ. गी. 9-27) इति स्मृतेः भगवदर्पणतः परमो भवतीत्यर्थः। किञ्च परः परमात्मा मीयते अनेनेत्येतदभिप्रायेण परम इत्यभिधायि "परोऽरि परमात्मनोः" (वैज. को. 6-5-49) इत्यभिधानात्। स परः शत्रुः संसारो मीयते प्रलीयते इति वा। मीङ् हिंसायाम्। "प्रमीया हिंसा च संज्ञपन" मित्यभिधानम्। किञ्च, यतोऽधिकतमः सुखहेतुः भवति, स परमो धर्मः। स च भक्तियोगलक्षण एव। तथाच भारते भीष्मयुधिष्ठिरसंवादे "को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः" (भार. 13-135-3) इति पृष्टे "एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः, यद् भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवै रर्चे न्नर स्सदा" (भार. 13-135-8) इति। उक्तञ्च — "एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः, भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः" (भाग. 6-3-22)। "नृणा मयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः, त्रिंशल्लक्षणवान् साक्षा त्सर्वात्मा येन तुष्यति" — (भाग. 7-11-12) इति स्वोक्तेः। केषा मधिकारः, कश्च साक्षा द्विषय इति तत्राह — निर्मत्सराणा मित्यादिना। भाव प्रधानो निर्देशः। निर्गतं मात्सर्यं येषान्ते तथोक्ताः। तेषां सतां प्रशस्तकर्मणां पुरुषाणां सतामपि क्वचित् क्वचिन्मात्सर्यं स्यात्, तत्र कर्तव्यं स्वोत्तमेष्वि त्यतो निर्मत्सराणा मित्युक्तं ज्ञेयम्। कृद्योगे षष्ठीति सता मिति। वेदनं ज्ञानमेव, न कर्मादिकमि त्यतो वेद्य मित्युक्तम्। वास्तवं नित्यनिरस्तदोषं पूर्णगुणं वस्तु अप्रतिहतनित्यत्वेन वसनशीलत्वा दित्यर्थः। दुःखनिवृत्ति सुखप्राप्तिलक्षणस्य पुरुषार्थत्वात्, तदभावात् कि मनेनेति तत्राह — शिवद मिति। परमानन्दं ददाति च तापत्रयोन्मूलनं, आध्यात्मिकादि सकलदुःखनिवर्तकञ्च। "वेत्ता वेद्यस्य सर्वस्य मुनिः सद्भिरुदाहृत" इत्यभिधाना न्मुनयो ब्रह्मादयः। तेभ्योऽप्यतिशयितसार्वज्ञ्या न्महामुनि र्व्यासः साक्षा न्नारायणः "कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम्" (विष्णु. पु. 3-4-5) इति वचनम्। तेन कृते प्रणीते।

ननु किमिति ईश्वरतुष्टिकरो भक्तियोगलक्षणो धर्मः। ईश्वर श्चात्र प्रतिपाद्यो, न धर्मादि रिति तत्राह किं वेति। भक्तियोगलक्षण धर्मस्य हरे रपरोक्षज्ञान मुत्पाद्य, तत्प्रसादान्तरङ्गसाधनत्वेन अपवर्गलक्षणानश्वरफलहेतुत्वात् बहिर्मुखमनोरञ्ज-कत्वेन स्वर्गादिक्षयिष्णुत्फल मुत्पाद्य संसारावृत्ति हेतुत्वात् धर्मादिकथनैः किंवा प्रयोजनं, न किमपी त्यतः तानन्तरेण भक्तियोगलक्षणधर्म, स्तद्विषय ईश्वरश्चात्र प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। ननु दृष्टफलप्रवृत्तिद्वाराऽदृष्टफलप्रवृत्तिदर्शनात् किमत्र दृष्टफल मिति तत्राह — ईश्वर इति। अस्मिन् भागवतशास्त्रे सम्यगभ्यस्यमाने कृतिभिः शिक्षितबुद्धिभिः शुश्रूषुभिः मनोवाक्कर्मभिः गुर्वादिपरमपुरुष परिचर्याकरणकुशलैः साधनसामग्र्युपेतैः एभिः ईश्वरः लक्ष्मीशादिचेतनगणाद्वर उत्तमः,

तत्प्रवर्तनशीलो वा परमात्मा हृदि हृदयकमले सद्यः शीघ्रं तत्क्षणात् कालव्यवधानमन्तरेण अवरुध्यते भक्तिशृङ्खलया बद्धो दृश्यत इत्यर्थः। अत्र सद्य स्तत्क्षण शब्दा वधिकारिविशेषद्योतकतया प्रयुक्तौ। ये साधनसामग्रीमन्त स्तेषां यस्मिन् क्षणे ग्रन्थोपक्रम स्तस्मिन् क्षण एव भगवान् दृश्यते। तदुक्तं — "शनकैर्भगवल्लोका न्नृलोकं पुन रागतः" इति। ये भविष्यत्साधनसम्पत्ति सम्पादनयोग्याः तेषामपि सद्यः साधनसामग्र्यां सत्यां दृश्यते। य त्रियतं कालान्तरभावि तज्झटिति भवत्येवेति च वक्तुं शक्यत्वात्। भक्तियोगलक्षणधर्मैश्वरौ विषयतया, निर्मत्सरसदधिकारिभिः प्राप्तं निर्दुःखपरमात्मानन्दाख्यं प्रयोजन मित्येत त्त्रितय मत्र प्रतिपाद्यत इत्यभिप्रायेण अत्रेति त्रिशः कथितं, न तु सगुणब्रह्म। तत्तुष्टिकरः परमधर्मः निराकारं निर्गुणं ब्रह्म चेति त्रितयाभिप्रागेण अत्रेति त्रित्व मिति। कर्मदेवब्रह्मकाण्डार्थोऽप्यत्रैव निर्णीत इति वा। धर्म इति कर्मकाण्डार्थः। निर्मत्सराणां सता मिति देवताकाण्डार्थः। देवतानामेव मात्सर्यराहित्येन ; मुख्यसत्त्वेनोत्तमाधिकारित्वाच्च। वेद्य मिति ब्रह्मकाण्डार्थः। तस्मा न्नारायणवतारेण सर्वज्ञतमेन कृष्णद्वैपायनेन आप्ततमेन प्रणीतत्वेन प्रमाणतमत्वा दिदं श्रीमद्भागवतं सर्वमुमुक्षुभि र्निरन्तर मभ्यसनीय मिति सिद्धम् ॥ २ ॥

---

1 B,M °यतया 2 अविगणय्य इति साधीयान् पाठः 3 B,M add अप्रतिहतं नित्यं 4 M ददातीति 5 M omits °त्मा°

**रा॰ कृ॰** अत्र अस्मिन् महामुनिकृते श्रीमन्नारायणावतारेण भगवता कृष्णद्वैपायनमहर्षिणा प्रणीते श्रीमद्भागवते श्रीमति सुन्दरे भागवताख्ये ग्रन्थे प्रोज्झितकैतवः प्रकर्षेण उज्झितं त्यक्तं कैतवं सर्वफलाभिसन्धिलक्षणं कपटं यस्मिन् तथाभूते। परमः निश्श्रेयससाधनत्वात् सर्वोत्कृष्टः धर्मः भक्तिरूपो धर्मः, निरूप्यत इति शेषः। अपि चात्र निर्मत्सराणां परोत्कर्षासहनरूपमात्सर्यरहितानां सतां भूतदयावतां वेद्यं ज्ञेयं वास्तवं परमार्थभूतं वस्तु ब्रह्मरूपं शिवदं परमसुखदं तापत्रयोन्मूलनं आध्यात्मिकादितापत्रयनिवारणं प्रतिपाद्यत इति शेषः। परैः शास्त्रान्तरैः तदुक्तसाधनै र्वा ईश्वरः किं वा हृदि सद्यः अवरुध्यते ? स्थिरीक्रियते वा ? किन्तु विलम्बेन कथञ्चिदेव। अतोऽत्र भागवते कृतिभिः पुण्यवद्भिः शुश्रूषुभिः श्रोतुमिच्छद्भि रेव तत्क्षणात् अविलम्बेनैव ईश्वरो मनसि विषयीक्रियते इत्यर्थः।

अस्मिन् भागवते सकलविधफलाभिप्रायरहितः सर्वोत्कृष्टो भक्तिरूपो धर्मो निरूप्यते। किञ्चात्र मात्सर्यविरहितानां सज्जनानां ज्ञेयं परमार्थभूतं परब्रह्मात्मकं वस्तु परमसुखदं तापत्रयनिवारणचणं प्रतिपाद्यते। अपि चात्र यथा धन्यैः शुश्रूषुभिः तत्क्षणादेव ईश्वरो मनोविषयीक्रियते न तथा शास्त्रान्तरै स्तदुक्तसाधनै र्वा।

विना फलाभिसन्धिं अयं भागवतग्रन्थः श्रद्धया पठनीयः। तेन सर्वान्तर्यामिन स्तत्त्वं बुद्धिविषयीभवति। ततश्च तापत्रयं नश्यति। अत्रेद मवधेयम्। वस्तुतस्तु संसारबद्धैः प्राणिभिः आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकरूपतापत्रयवेदनानुभवो दुर्निवारः। सुखादिफलाभिसन्धिना कृतस्य कृत्स्नस्यैव कर्मणो दोषदूषितत्वात् बन्धहेतुत्वाच्च। अथ तापत्रयनिवारणौषधं किमिति मनसि विचिन्तयन्तः केचित् बुद्धिमन्तोऽपि कर्माचरणं सन्यस्य भ्रष्टा भवन्ति। तथापि विश्वस्मिन् विष्णुं पश्यन्तः ये केचन सन्तः तत्समर्पितानि सर्वकर्माणि विना फलाभिसन्धिं केवलकर्तव्यधिया समाचरन्ति न ते पीड्यन्ते तापत्रयेण, भगवदर्पितकर्मणां बन्धराहित्यात्, विज्ञानहेतुत्वात् जीवरूपेश्वरसन्तर्पणाच्च।

निरन्तरसुखाधायकं वस्त्वेकं परब्रह्मैव। तद्धि सर्वमयं सत् सर्वभिन्नं च भवति। तद्बोधकमेव भागवतम्। तस्मात् "अत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्" इति सुष्ठूक्तं भगवता बादरायणेन॥ २॥

**निगमकल्पतरो र्गलितं फलं शुकमुखा दमृतद्रवसंयुतम्।**[1]
**पिबत भागवतं रसमालयं मुहु रहो रसिका भुवि भावुकाः॥ ३॥**

1 V °सम्मि°

**श्रीध°** इदानीन्तु न केवलं सर्वशास्त्रेभ्यः श्रेष्ठत्वा दस्य श्रवणं विधीयते, अपितु सर्वशास्त्रफलरूपमिदम्, अतः परमादरेण सेव्य मित्याह — **निगमेति**। निगमः वेदः स एव कल्पतरुः सर्वपुरुषार्थोपायत्वात् तस्य फलं[1] भागवतं नाम। तत्तु वैकुण्ठगतं नारदेन आनीय मह्यं दत्तम्। मया च शुकस्य मुखे निहितम्। तच्च तन्मुखाद् भुवि गलितं शिष्यप्रशिष्यादिरूपपल्लवपरम्परया शनैरखण्डमेवावतीर्णम्; न तु उच्चनिपातेन स्फुटितमित्यर्थः। एतच्च भविष्यदपि भूतव न्निर्दिष्टम्। अनागताख्यानेनैवास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तेः। अत एवामृतरूपेण द्रवेण संयुतम्। लोके हि शुकमुखस्पृष्टं फल ममृतमिव स्वादु भवतीति प्रसिद्धम्। अत्र[2] शुको मुनिः। अमृतं परमानन्दः। स एव द्रवः रसः। "रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" (तैत्ति. उ. 2-7) इति[3] श्रुतेः। अतो हे रसिकाः! रसज्ञास्तत्रापि भावुका हे रसविशेषभावनाचतुराः! अहो! भुवि गलितमित्यलभ्यलाभोक्तिः। इदं भागवतं नाम फलं मुहुः पिबत। ननु त्वगष्ठ्यादिकं विहाय फलाद्रसः पीयते, कथं फलमेव पातव्यं तत्राऽऽह। रसं रसरूपम्। अतस्त्वगष्ठ्यादेः हेयांशस्याभावात् फलमेव कृत्स्नं पिबत। अत्र च रसतादात्म्य[4]विवक्षया रसवत्त्वस्य[5]विवक्षितत्वात् अंगुणवचनेऽपि रसशब्दे मतुपः प्राप्त्यभावात् तेन विनैव रसं फल मिति सामानाधिकरण्यम्। तत्र फलमित्युक्ते पानासम्भवः, हेयांशप्रसक्तिश्च भवेदिति तन्निवृत्त्यर्थं रसमित्युक्तं, रस मित्युक्तेऽपि गलितस्य रसस्य पातुमशक्यत्वात् फलमिति[7] द्रष्टव्यम्। न च भागवतामृतपानं मोक्षेऽपि त्याज्यमित्याह। आलयं लयो मोक्षः अभिविधा[8]वाकारः लय मभिव्याप्य। नहीदं स्वर्गादिसुखवन्मुक्तै रुपेक्ष्यते, किन्तु सेव्यत एव। वक्ष्यति हि — "आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्ति मित्थम्भूतगुणो हरिः (भाग. 1-7-10)॥ ३॥

1 B.H V add इदं 2 H.V add तु 3 H इत्यादि° 4 A ° त्या ° 5 A °स्य° 6 A.H गुण° 7 B.H.V add उक्तमिति 8 H °धावेवा°

**वीर°** एवं विषयप्रयोजनकथनेऽपि प्रामाण्यनिश्चयं विना श्रवणं नोपपद्यत इत्याशङ्क्य वेदान्तमूलत्वं वदन् चेतना नभिमुखयति तृतीयश्लोकेन — **निगमकल्पतरोः** इत्यादिना। हे! रसिकाः! रसज्ञाः भावुकाः! भगवत्संशीलनपराः! निगमो वेदः स एव कल्पतरुस्तस्य फलं फलरूप मिदं श्रीभागवतं पुराणं आलय मामरणं पुनः[1] पिबत। निगमस्य कल्पतरुत्वनिरूपणं[2] धर्मार्थकाममोक्ष पुरुषार्थचतुष्टय तत्साधनद्वारा[3] धर्मादिफलजनकत्वात्, भागवतस्य तत्फल-

त्वनिरूपणं[4] निगमसारांशरूपत्वात्। 'खादत' इत्यनुक्त्वा 'पिबत' इति वदन्नेतत्सूचयति। आम्रादिफलेष्विव अनुपादेयांशस्त्वग्बीजादिरूपः कल्पतरुफले नास्ति, किन्तु केवलं पेयः कृत्स्नो रस एव, सत्रपि त्वग्बीजादिर प्युपादेय एव। एव मस्मिन्नपि पुराणे नानुपादेयांशो विद्यते। अपि तु सर्वोऽप्युपादेय एवेति। निगमद्रुमफलत्वं चास्य पुराणस्य स्वप्रधानप्रतिपाद्य निरतिशयानन्तब्रह्मानन्द साधनभूतभक्तिद्वाराऽवगन्तव्यम्। एवं 'अमृतद्रवसंयुतम्' इत्यादीन्यपि विशेषणानि। निगमफलत्वं[5] स्वर्गादितत्साधनावबोधि वेदपूर्वभागोपबृंहणात्मक कल्पसूत्रादेरप्यस्तीति तद्वद्युदासायाऽऽह — अमृतद्रवसंयुत मिति। अमृतं मोक्षः। "मुक्तिः कैवल्य निर्वाण श्रेयो निःश्रेयसामृतम्" (अम. को. 1-146) इति मुक्त्यादिशब्दपर्यायत्वस्मरणात्, स एव द्रवः सारांशस्तेन संयुतं रसं रसवत्, "गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः" (वार्तिकम् 2561. अष्टा. 1-4-19 सूत्रस्य अधस्तात्) इति लुक्; भगवदनुभवानन्दवत्। अनेन भक्तिरूपत्वं सिद्धम्। भक्ति र्नाम "स्नेहपूर्व मनुध्यानं भक्तिरि त्यभिधीयते" इति स्मरणात्, प्रीतिमद्भगवत्स्मरणम्। फल मत्र सम्यज्ज्ञानात्मकं विवक्षितम्, "शुकमुखात् गलितं" इत्युच्चस्थं फलं शुकाख्यपक्षिमुखपातितं सुग्रहं स्यात् तद्व द्वेदवृक्षशाखाग्रगतं ज्ञानफलं शुकमुखसम्बन्धात् सुलभमित्यर्थः। "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते" (मुण्ड. उ. 3-1-7) इति श्रुत्यनुसारेण बादरायणेः शुकाख्यपक्षिस्वरूपिणः। 'आ लया' दिति पाठे आ मरणात् इत्यर्थः। निगमद्रुमफलत्वरूपणेन वेदमूलत्वं 'शुकमुखाद्गलित' मित्यनेन केवलनिवृत्तिधर्मपरायणास्वादितत्वप्रतीत्या शिष्टपरिगृहीतत्वं अत एव प्रामाण्यं मुमुक्षुभि रतीवोपादेयत्वं चेत्यादि फलितम्। यद्यप्येतत्प्रबन्धनिर्माणोपक्रमदशाया मस्य शुकमुखास्वादितत्वं न विद्यते, तथाऽपि भविष्यदभिप्रायेण त्रैकालंज्ञस्य निर्मातु रेव मुक्तिः॥ ३॥

---

1 W मुहुः पुनःपुन 2 W रूपणं 3 B,W °नावबोधनद्वारा 4 W रूपणं 5 W निगमद्रुम° 6 B W अ° 7 W °पक्षित्वरूपण 8 W °त्य°

**विज**° एवं ज्ञातफलानामपि प्रेक्षावतां प्रशंसाविधिभ्यां भागवतशास्त्रश्रवणाभ्यासे क्षिप्रप्रवृत्तिः स्यादिति प्रशस्य विधत्ते — **निगमकल्पतरोः** इति। भुवि भावुका रसिकाः! य त्रिगमकल्पतरो र्गलितं शुकमुखा दमृतद्रवसंयुतं भागवतं फलं, तस्य रस मालयं मुहुः पिबते त्येकान्वयः। मर्त्यलोके भवनशीलरसज्ञा यूयम्। निगमयति नितरां ज्ञापय त्यपेक्षिताशेषपुरुषार्थानिति निगमो वेदः। स एव कल्पतरुः कल्पितं सङ्कल्पितं भक्ताऽऽकाङ्क्षितं तरति वितरति ददातीति कल्पतरुः सुरपादपः। उपसर्गः स्वयं धातुलीन मर्थं प्रकाशयति। न स्वत उत्पादयतीति वृत्तिकारवचनदर्शनात् तरति र्दानार्थोऽपि भवति। "विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्" (अम. को. 2-428) इत्यभिधानाच्च। तस्मा द्व्यासनाम्ना मया गलितं पातितं शिवावतारस्य मत्पुत्रस्य शुकनाम्नो मुने र्मुखात् परीक्षिते प्रवचना दमृतद्रवेण संयुतं पूर्वम प्यमृतवत् द्रवसंयुतं पश्चाच्छुकाचार्यमुखप्रवचनेन अतोवद्रवीकृत मित्यर्थः। तथाच पद्मपुराणे अम्बरीषं प्रति गौतमवचनम् "अम्बरीष! शुकप्रोक्तं शृणु भागवतं सदा। पठस्व स्वमुखेनापि यदीच्छसि भवक्षयम्" (पद्म. पु.) इति भागवताख्यं फलं निष्पन्नं पक्व मिति यावत्। तस्य फलस्य मधुरं रसं लिङ्गशरीरमोक्षपर्यन्तं मुहुः परावृत्य श्रवणाञ्जलिपुटैः पिबत पानं कुरुत, श्रवणादिनाऽऽस्वादयतेत्यर्थः। 'अहो' इति बाला नुन्मुखीकरोति। अस्य फलस्य

अमृतरसास्वादसुखानुभवं पश्यतेति रसशब्दस्य तिक्तादिषु षट्सु वृत्तावप्यमृतद्रवेत्यादिस्वोक्तेस्तदन्यथाऽनुपपत्त्या मधुररसो ग्राह्यः। पानप्रारम्भसमयेऽतिमधुर एवायं रस इति वा अहो इति। निगमकल्पो वेदाख्यकल्पवृक्षः "कल्पः सुरपादपेऽपि सम्प्रोक्तः" इति वचनात्। तमेव तारयति प्रकाशयतीति निगमकल्पतरुः। तस्माच्छुकाचार्यानात् गलितं व्याख्यातं, परीक्षिते इति शेषः। अमृतं कैवल्यं तस्य द्रवो गतिः। तया युक्तं कैवल्यप्रापकमिति यावत्। रससम्पत्ते र्निवासस्थानं भागवतं फलं पिबतेति वा। अत्र पिबति र्भक्षणार्थः, अनेकार्थत्वात् धातूनाम्। न चायमाचार्योक्तोऽर्थो नेत्यश्रद्धेयं, चतुर्मुखमुखलेखबुद्धिगोचरापरिमितार्थ भागवततात्पर्यार्थि दर्शयतां पूर्णमतीनामाचार्याणां अप्ययं कश्चित् बुद्धिसमुद्रतरङ्ग इति निश्चित्य वक्तुं शक्यत्वात्। भुवि गलितमिति वा देवलोके देवैः पीयमानं सज्जनमनुजकृपया भुवि पातितमित्यर्थः॥ ३॥

**रा॰ कृ॰** हे! भावुकाः भावनाविशारदाः! रसिकाः! रसज्ञाः! शुकमुखात् शुकयोगिनामककीरमुखात्, भुवि भूतले, गलितं पतितं, अमृतद्रवसंयुतं परमानन्दरूपरसभरितं, रसं रसमयं, निगमकल्पतरोः वेदकल्पवृक्षस्य, फलं फलभूतं, भागवतं भागवताख्यग्रन्थं, आलयं यावन्मोक्षं, मुहुः पुनःपुनः, पिबत।

अत्र रसिकाः भावुकाः इति पदद्वयेन रसास्वादनकुशलाः एव भावनाविशारदा भवन्तीति व्यज्यते। लोके हि काव्येषु नवरसपरिपोषः क्रियते। तत्र विभिन्नवरसानन्दोऽनुभूयते। अत्र तु भागवतेऽखण्डैकरसानन्दः। ईश्वर श्चाखण्डरसस्वरूपः "रसो वै सः" (तैत्ति. उ. 2-7) इति श्रुतेः॥ ३॥

**नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः।**
**सत्त्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत ॥ ४ ॥**

---

1 H.V.W °शे 2 H.V.W मुनयः

**श्रीध॰** तदेवमनेन श्लोकत्रयेण विशिष्टेष्टदेवतानुस्मरणपूर्वकं प्रारिप्सितस्य शास्त्रस्य विषयप्रयोजनादि-वैशिष्ट्येन सुखसेव्यत्वेन च श्रोतॄनभिमुखीकृत्य शास्त्रमारभते — **नैमिश** इति। ब्रह्मणा विसृष्टस्य मनोमयस्य चक्रस्य नेमिः शीर्यते कुण्ठीभवति यत्र तन्नेमिशं; नेमिशमेव नैमिशम्। तथाच वायवीये — "एतन्मनोमयं चक्रं मया सृष्टं विसृज्यते। यत्रास्य शीर्यते नेमिः स देशस्तपसः शुभः। इत्युक्त्वा सूर्यसङ्काशं चक्रं सृष्ट्वा मनोमयम्। प्रणिपत्य महादेवं विससर्ज पितामहः। तेऽपि हृष्टतमा विप्राः प्रणम्य जगतां प्रभुम्। प्रययुस्तस्य चक्रस्य यत्र नेमिर्व्यशीर्यत। तद्वनं तेन विख्यातं नैमिशं मुनिपूजितम्।" इति। नैमिष इति पाठे वराहपुराणोक्तं द्रष्टव्यम्। तथाहि — गौरमुख मृषिं प्रति भगवद्वाक्यं — "एवं कृत्वा ततो देवो मुनिं गौरमुखं तदा। उवाच निमिषेणेदं निहतं दानवं बलम्। अरण्येऽस्मिन् ततस्त्वेत न्नैमिषारण्यसंज्ञितम्। भविष्यति यथार्थं वै ब्राह्मणानां विशेषकम्।" इति

अनिमिषः श्रीविष्णुरलुप्तदृष्टित्वात्तस्य क्षेत्रे। तथा चात्रैव शौनकादिवचनं "क्षेत्रेऽस्मिन् वैष्णवे वयम्" (भाग. 1-1-21) इति। स्वः स्वर्गे गीयते इति स्वर्गायो हरिः। स एव लोको भक्तानां निवासस्थानं, तस्मै — तत्प्राप्तये इत्यर्थः। सहस्रं समाः संवत्सराः अनुष्ठानकालो यस्य तत् सत्त्रं सत्त्रसंज्ञकं[6] कर्मोद्दिश्य आसत उपविविशुः। यद्वा आसत अकुर्वत इत्यर्थः। आलभेत निर्वपति उपयन्तीत्यादिवत् प्रत्ययोच्चारणमात्रार्थत्वेनाऽऽस्तेर्धात्वर्थस्याविवक्षितत्वात् ॥ ४ ॥

1 H.V यत्र 2 B हृष्टास्तदा 3 H °तराः 4 H.V तथा 5 H.V चास्मिन्नेवाध्याये 6 H.V add 'सत्त्र माच्छादने यज्ञे सदादानेवनेऽपिच'। इत्यभिधानात्। (अम. को. 3-336)

**वीर**° तदेवमनुष्ठितत्रिविधमङ्गलप्रदर्शितानुबन्धचतुष्टयप्रामाण्यो भगवान् बादरायणस्त्रैकालज्ञोऽस्य चिकीर्षितस्य वेदान्तार्थोपबृंहणरूपस्य पुराणस्य परीक्षिच्छौनकशुकसूतादाद्यष्टप्रतिवक्तृप्रश्नोत्तरमुखेन भाविनीं प्रवृत्तिं मालोच्य तत्र तेषां प्रश्नोत्तररूपान् श्लोकान् स्वयमेव तत्र तत्र निर्मित्सुः ताव दुपोद्घातरूपेऽस्मिन् प्रथमस्कन्धे प्रथमप्रष्टुः परीक्षितः प्रतिवक्तुः शुकस्य चैकत्र समावेशः। प्रतिवक्तुः शुकस्य समागमं परीक्षित्प्रश्नोद्योगहेतुप्रायोपवेशं तन्निमित्तविप्रशापं च विवक्षुः प्रायोपवेशात् प्राक्तनं जन्मावधिकं पारीक्षितं वृत्तान्तं, ततः प्राक्तनं तत्पित्रादिवृत्तान्तं तथैव तत्प्रबन्धकर्तुः स्वस्यैव तन्निर्माणनिमित्तदर्शनसमागतदेवर्षेश्च संवादे[7] तदाज्ञयैतत्प्रबन्धनिर्माणं च शौनकसूतप्रश्नोत्तरमुखेन विवक्षुस्तावच्छौनकादीनां प्रश्नप्रकारं वक्तुं तदुपोद्घात माह — **नैमिष** इति। अत्र केचिच्छौनकादिप्रश्नरूपाः श्लोकास्तदर्वाचीनैः निर्मायात्र तत्र तत्र निबद्धाः, परीक्षिदादिप्रश्नादिरूपास्तु सूतेनेति वदन्ति — तदसारम्। त्रैकालज्ञस्य प्रबन्धप्रबन्धुरेव तन्निर्माणोपपत्तेः। न हि, सद्विद्यानन्दवल्लीप्रतर्दनविद्यादिषु "श्वेतकेतुर्हारुणेय आस। तं ह पितोवाच"[10] (छान्दो. उ. 6-1-1) "भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति"। (तैत्ति. उ. 3-1) "प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम" (कौषी. उ. 3-1) इत्यादीनां प्रश्नोत्तररूपाणां[11] श्रौतवचसामाधुनिकत्वं वक्तुं युक्तम्। ननु वेदे कर्तुरभावाद्वेद[12] एव प्रश्नोत्तररूपे[13] प्रतिपिपादयिषितानर्थान् प्रतिपादयति। अत्र तु पौरुषेयेऽन्यकर्तृकाणामपि वचसां सन्दर्भस्तत्र तत्र न दोषावह इति चेत्,[14] एवमपि कृत्स्नप्रबन्धस्यैककर्तृकत्वासिद्धेः कृत्स्नस्य पुराणप्रपञ्चस्य प्रश्नोत्तररूपत्वेन कानि ग्रन्थकर्तुर्वचांसि कानि चेतरेषामिति विभागस्याशक्यत्वाच्च तस्माद्यथोक्तमेव युक्तम्। शौनक आदि येषां ते मुनयः। ब्रह्मणा विसृष्टस्य चक्रस्य नेमिः शीर्यते कुण्ठीभवति यत्रेदं[15] तन्नेमिशं तदेव नैमिशम्। तच्च वायुपुराणे प्रसिद्धम्। "नैविश" इति पाठे निविशन्त्यत्र महर्षय इति निविशं, तदेव नैविशं इत्यन्वर्थं नाम। नैविशाख्येऽनिमिषक्षेत्रे[16] भगवत्सान्निध्यवतीति भावः। स्वर्गाय लोकाय स्वर्गो निरतिशयानन्दः तादृशो लोकः परं[17] पदं तस्मै तत्प्राप्तये तत्साधनं सत्त्रं सहस्रसमं[18] सहस्र[19] संवत्सरमासत, अनुष्ठितवन्तः। स्वर्गो लोकोऽत्र परमपदमेव। "अनन्ते स्वर्गे लोकेऽजय्ये प्रतितिष्ठति" (केन. उ. 4-9) इति, "स्वर्गं लोकेऽमृतत्वं भजन्ते"([स्वर्गलोका] कठ. उ. 1-13) इति श्रुत्यनुरोधेनास्य निर्देशात्। अन्यथा शौनकादय इति न घटते। "दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय" (भार. 12-94-3) इति वदतः

परमभागवतस्य शौनकस्य प्रसिद्धस्वर्गाद्यर्थित्वायोगात्। ऋत्विज एव यत्र यजमानास्तत्सत्त्रम्। यद्वा,[20] 'सत्त्र' शब्देन भगवद्गुणानुभवात्मकं ब्रह्मसत्त्रं विवक्षितम्। तथा च तल्लक्षणं वक्ष्यति दशमे श्रुतिगीतायां[21] "तुल्यश्रुततपःशीला-स्तुल्यस्त्रीयारिमध्यमाः। अपि चक्रुः प्रवचनमेकं शुश्रूषवोऽपरे" (भाग. 10-87-11) इति। अत एवासीना दीर्घसत्त्रेणेति वक्ष्यमाणोपपत्तिः ॥ ४ ॥

1 W °मङ्गलः 2 W °त्य° 3 W सूतादिप्रष्टृ° 4 W शं 5 W परीक्षितः प्रष्टुः 6 W °हेतुं 7 W °दं 8 W °त्य° 9 A,B °बद्धु° 10 W adds श्वेतकेतो 11 W प्रश्नप्रतिवचनादि° 12 W °वात् स्वयमेव वेदः प्रश्नो° 13 W रूपेण 14 W adds न 15. A,B यत्र तत्रेमिषं तदेव नैमिषम् 16 W adds देवक्षेत्रे 17 W परमपदं 18. A,B °सहस्रं 19 A,B omit सहस्र° 20 A.B add अत्र 21 W °गीताध्याये

**विज०** ननु "ब्रह्मज्ञानेन वा मुक्तिः प्रयागमरणेन वा। अथवा स्नानमात्रेण गोमत्यां कृष्णसन्निधौ" इति स्मृतेः प्रकारान्तरेणाऽपि पुरुषार्थः स्यात्, किमनेने त्यतोऽनेनैव पुरुषार्थो, नान्येनेति ख्यापनाय अस्य शिष्टपरिगृही-तत्वज्ञापनाय श्रोतृप्रवक्तॄणां महापुण्यफलकत्वेवेदनाय च शौनकादिमुनिवरसूत प्रश्नप्रतिवचनरूपा माख्यायिकामाह — **नैमिष** इति। शौनकादयः ऋषयः अनिमिषक्षेत्रे नैमिषे स्वर्गाय लोकाय सहस्रसमं सत्त्रमासत इत्येकान्वयः। शुनकस्यापत्यं शौनकः तदेव तस्य नाम शौरि रितिवत्। स आदिर्येषां ते तथोक्ताः। ऋषय स्त्रिकालदर्शिनः मन्त्रद्रष्टारो वा। अनिमिषक्षेत्रे श्रीनरहर्यादिसुरवरसन्निधानावासे निमिषा ऋषिसेव्यफलाः वृक्षविशेषाः तस्मिन् सन्तीति नैमिषं, "चित्रकृन्निमिषो नेमिः। चञ्चलोऽथायुगच्छदः" इत्यभिधानात्। विशिष्टक्षेत्रदर्शनाय देवप्रेरितस्य सुदर्शनस्य नेमिर्यस्मिन् विशीर्यते तन्निमिषं, तदेव नैमिषमिति यत्तच्चिन्त्यम्। निमिषनाम्ना ऋषिणा यत्र तपश्चीर्णं तत्सम्बन्धाद्वा। नैमिषे, तस्मिन्नैमिषारण्ये। स्वरतो विष्णुः तेन गतो लोको वैकुण्ठाख्यः तस्मै। सदानन्दज्ञानमूर्तित्वात्स्वर्गो विष्णुः। लोक आश्रयः तदर्थ मिति वा। स्वरिति विष्णुः, तं गमयति प्रापयति ज्ञापयतीति स्वर्गः। "लुक् प्रकाशने" इति धातोः लोकः प्रकाशः ज्ञानं विष्णु स्तद्विषयपुराणधर्मज्ञानार्थमिति वा; न तु "मनःप्रीतिकरः स्वर्गो नरक स्तद्विपर्ययः" इति दुःखासम्भिन्नदेवसेव्य देशविशेषायेति, तस्य नश्यत्वश्रुतेः। सहस्रं समा यस्मिंस्तत्तथोक्तं वर्षसहस्रसमाप्यमित्यर्थः। सतः सुजनान् त्रायत इति, सतो ब्रह्मण स्त्राणमस्येति वा सत्त्रं, प्रशस्ततरकर्मसु श्रेष्ठमिति वा सत्त्रं, बहुकर्तृकं यागविशेषम्, आसत उपाविशन्, अदीक्षय न्नित्यर्थः ॥ ४ ॥

1 A प्रकाश

**रा० कृ०** अनिमिषक्षेत्रे विष्णुक्षेत्रे नैमिशे नैमिशारण्ये शौनकादयो मुनयः स्वर्गाय निरतिशयानन्दरूपाय लोकाय परमपदाय परमपदप्राप्तये इत्यर्थः। सहस्रसमं सहस्रं संवत्सराः अनुष्ठानकालो यस्य तत्, सत्त्रं सत्त्रनामकं कर्म उद्दिश्य आसत उपविविशुः।

अस्य अनिमिषक्षेत्रस्य वायव्यपुराणानुसारेण 'नैमिशं' इति ; वराहपुराणानुसारेण 'नैमिषं' इति च द्वे संज्ञे। तत्र नैमिशमिति संज्ञायां नेमिर्नाम चक्रस्य परिधिः। चक्रञ्च मनोमयम्। मनोमयस्य चक्रस्य परिधिर्यत्र शीर्यते कुण्ठीभवति तन्नेमिशं, नेमिशमेव नैमिशम्। मनोमयचक्रपरिधिकुण्ठीभवनम्। सर्वभूतात्मभूतात्मत्वप्रापकं, तदेवं नैमिशं वनं मनोलयलक्षणयोगसिद्धेः सङ्केतः। तदाश्रयिणः शौनकादयः सङ्कल्पपरहिताः सर्वभूतात्मभूतात्मानः निष्कारणमेव हरिभक्तिभरितान्तरङ्गाः साधकानां च निरन्तरब्रह्मानन्दानुभव पथप्रदर्शकाश्च भवन्ति। नैमिष मिति संज्ञायान्तु — यस्मिन्नरण्ये निमिषेण दानवं बलं निहतं, तदेव नैमिषम्। अत्र दानवबलं रजस्तमसोस्सङ्केतः। निमिषस्तु कालस्य। कालेन रजस्तमोनाशे परिशेष्यायेन सत्त्वमेवावतिष्ठते। तथा च शुद्धसत्त्वेन सर्वकर्मभस्मीकरणचणं ब्रह्मज्ञानं गम्यते। कालेन च ज्ञानप्राप्तौ "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्र मिह विद्यते। तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।" (भ. गी. 4-38) इति भगवद्गीतावचनं प्रमाणम्। तदेवं नैमिषशब्दोऽपि योगसिद्धे रेव सङ्केतः। अन्यत्सर्वं प्रागुक्तमेव। निरन्तरब्रह्मानन्दानुभवेन तत्क्षेत्रमनिमिषं भवति। तत्र कालपरिगणना नोदेतीति भावः। तैः शौनकादिभिः उद्दिष्टं कर्म सत्त्वं सज्जनत्राणरूपं यज्ञमयम्। तच्च विष्णुरूपमेव "यज्ञो वै विष्णुः" (तैत्ति. सं. 1-5-6) इति श्रुतेः। तस्मिन् यज्ञकर्मणि ते सहस्रसंवत्सरान् निमग्ना बभूवुः। सहस्रसमपदेन ते परार्थैकप्रयोजन सुदीर्घधन्यजीवना व्यराजन्तेति व्यज्यते। वेदविद्यासम्प्रदायसंरक्षणाय लोकोद्धरणाय च पुरा महर्षिभिरीदृशाः दीर्घसत्त्रयागाः निरुह्यन्ते स्मेति ज्ञायते ॥ ४ ॥

**त एकदा तुमुनयः प्रातर्हुतहुताग्नयः।**
**सत्कृतं सूतमासीनं पप्रच्छुरिदमादरात्[2] ॥ ५ ॥**

1 H.M °हुताशनाः 2 M °दृताः

**श्रीध०** त इति। प्रातः काले[1] हुता एव हुता अग्नयो यैस्ते। अनेन नित्यनैमित्तिकहोमसाकल्यं दर्शितम्। इदं वक्ष्यमाणं[3] आदरात् पप्रच्छुः ॥ ५ ॥

1 H.V काल्ये 2 B °साधकत्वं 3 H V °माणार्थं

**वीर०** त इति। ते शौनकादयो मुनयः कदाचित् प्रातर्हुतहुताग्नयः। हुते त्यर्हार्थे क्तः। हुतेन होमार्हद्रव्येण पयस्सर्पिरादिना साधनेन हुता अग्नयः आहवनीयादयो यैस्तथाभूताः। सत्कृतं यथोचितं बहुमतमासीनमुपविष्टं च सूत मिदं वक्ष्यमाण मादरा दादरपूर्वकं पप्रच्छुः ॥ ५ ॥

**विज०** ये सत्त्रयागे दीक्षिता स्ते मुनयः सर्वज्ञा अपि एकदा कस्मिंश्चित्काले स्वाश्रमं प्रति आगतं सत्कृतं तद्योग्यसत्कारैः पूजित मासीनं सुखं पीठे उपविष्टं सूतम् इदं स्वबुद्धिस्थितं पप्रच्छुः। किंविशिष्टाः ? आदृताः विनीताः तेनापि पूजिता इति वा। हुतं हवि रश्नातीति हुताशनोऽग्निः प्रातः काले हुतः हुताशनो यैस्ते तथोक्ताः। हुतेन

पय आदिद्रव्येण हुतोऽग्निः यैस्ते हुतहुताग्रय इत्यसत्, हुतशब्दस्य पयआदिष्वपाठात्। तुर्लोकानुकम्पाद्योतकः। पृच्छतेः द्विकर्मकत्वात् सूतमिदं पप्रच्छुरिति कर्मद्वयं युज्यते॥ ५॥

**रा॰ कृ॰** ते मुनयः शौनकादयः एकदा तु प्रातः हुतहुताग्रयः सत्कृतं आसीनं सूतं आदरात् इदं वक्ष्यमाणं पप्रच्छुः॥ ५॥

**ऋषय ऊचुः**

**त्वया[1] खलु पुराणानि सेतिहासानि चानघ!**
**आख्यातान्यप्यधीतानि धर्मशास्त्राणि यान्युत॥ ६॥**

**यानि वेदविदां श्रेष्ठो भगवान् बादरायणः।**
**अन्ये च मुनय स्सूत! परावरविदो विदुः॥ ७॥**

**वेत्थ त्वं सौम्य तत्सर्वं तत्त्वत स्तदनुग्रहात्।**
**ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत॥ ८॥**

1 W °याऽखिल° 2 M ता° 3 H.M.V °पर° 4 W °स्स°

**श्रीध॰** विविदिषिता नर्थान् प्रष्टुं सूतस्य सर्वशास्त्रज्ञानातिशय माहुः **त्वयेति**[2] त्रिभिः श्लोकैः। इतिहासो महाभारतादिस्तत्सहितानि[3] न केवल मधीता न्यपि तु आख्यातान्यपि व्याख्यातानि च। उत अपि यानि धर्मशास्त्राणि तान्यपि॥ ६॥

किञ्च, **यानीत्यादि**। विदां विदुषां मध्ये श्रेष्ठो व्यासो यानि वेद। परावरे[4] सगुणनिर्गुणे ब्रह्मणी विदन्तीति तथा[5]॥ ७॥

**वेत्थेति।** वेत्थ जानासि। सौम्य! हे साधो! तेषामनुग्रहात् तत्त्वतो ज्ञानं हेतुमाह, ब्रूयुरिति। स्निग्धस्य[6] प्रेमवतः। अत[7] एव गुह्यं रहस्यमपि ब्रूयुरेव॥ ८॥

1 H °ह 2 H.V °त्यादि° 3 H.V add पुराणानि 4 W °परे 5 V विदः। 6 B adds शिष्यस्य 7 A B V उत

**वीर॰** प्रश्नमेवाह — **त्वयेत्यादिना** यावदध्यायसमाप्ति। तावद्युष्मत्प्रश्नोत्तरं वक्तुं नाहं समर्थ इत्याशङ्कां निराकुर्वन्त आहुः, त्वयेति[1]। हे अनघ! शास्त्रार्थज्ञाननिमित्त कर्मरूपपापरहित! जातिप्रयुक्तावमत्व रूपाघरहित! इति वा। त्वयेतिहाससहितानि सर्वपुराणानि उत अपि च यानि धर्मशास्त्राणि मानवादीनि तानि सर्वा ण्यधीता न्याख्यातानि[2] च॥ ६॥

कानि तानि पुराणधर्मशास्त्राणीत्यत आहुः[3] — **यानीति**। [4]वेदविदां स्वरूपतोऽनुष्ठान पर्यन्तार्थतश्च वेदं विदन्तीति तथा, तेषां मध्ये श्रेष्ठो भगवान् बादरायणः तथाविधा अन्ये च मुनयः पराशरादयो मन्वादयश्च परावरविदः परं परमात्मतत्त्वमवरं प्रकृतिपुरुषतत्त्वं तद्विदः। तत्त्वज्ञा याथात्म्यविदः यानि पुराणानि धर्मशास्त्राणि च विदुस्तान्यधीतान्याख्यातानि चेति पूर्वेणान्वयः। वेदविच्छ्रेष्ठो बादरायणः अन्ये च मुनयो यानि विदुरित्येनेन स्मृतीतिहासपुराणानां वेदमूलत्वम्। अत एव प्रामाण्यं च दर्शितम् ॥ ७ ॥

नन्वपशूद्राधिकरणन्यायेन अनधिकृतशारीरकोऽहं इतिहासपुराणाध्ययनजापातप्रतीतिमान् कथं[7] भवत्प्रश्नस्योत्तरं वक्तुं प्रभुरितीमां शङ्कां वारयन्त आहुः — **वेत्थेति**। हे! सौम्य! सदनुग्रहात्सतो व्यासस्यानुग्रहात्[9] हेतोः तत्सर्वं इतिहासपुराणादिप्रधानप्रतिपाद्यं वस्तु, तत्त्वतस्त्वं वेत्थ जानासि। अनधिकृतशारीरकोऽपि त्वं सदनुग्रहादितिहासपुराणाद्यर्थरूपं वस्तु यथावद्वेत्सि[10] नत्वापातत इति भावः। सदनुग्रहादपि कथं शारीरकाध्ययनं निर्णेतव्यं वस्तुतत्त्वमहं विद्यामित्यत[11] आहुः, ब्रूयुरिति। स्निग्धस्यानुरक्तस्य त्वादृशस्य शिष्यस्य गुरवो बादरायणादयो गुह्यमपि[12] ब्रूयुः, शारीरकमुखेनानुक्त्वा केवलमुपदिशेयुरिति भावः ॥ ८ ॥

1 W adds त्रिभिः, 2 W adds कथितानि श्राविताने 3 W °ह 4 W adds हे सूत! 5 B,W तत्त्वत्रय° 6 W °णाद्यध्ययन° 7 W adds ब्रह्मविदां 8 W युष्माकं प्रश्न° 9 A,B omit हेतोः ... दितिहास° 10 W °त्थ 11 W वदामीत्यत 12 W adds उत गुह्यमपि

**विज**° प्रशंसितः प्रवक्ता सूतः स्वप्रश्नोत्तरं सन्तुष्य सम्यग्वक्तीति हृदि कृत्वा प्रष्टव्यार्थं पृष्ठतः कृत्वा तं प्रशंसन्ति शौनकादय इत्याह — **त्वया खल्विति**। अनघ! "दुःखैनोव्यसने ष्वघम्" (ना. र. को. 47) इति अभिधाना त्रिरस्तसमस्तकार्यव्यसन! त्वया सेतिहासानि पुराणानि चशब्दादुपपुराणानि अधीतानि वेदवत्पठितानि आख्यातानि व्याख्यातान्यपि यानि मनुयाज्ञवल्क्यादिप्रणीतानि धर्मशास्त्राणि तान्युत अपि अधीत्य व्याख्यातानीत्येकान्वयः ॥ ६ ॥

तस्य ज्ञानेयत्तां वदन्तीत्याह — **यानीति**। वेदाविदां श्रेष्ठः बादरायणो भगवान् यानि वेद अन्ये च परापरविदः मुनयः तान्येव विदुः। किञ्च ते मुनयो वेदादन्यत्र यानि विदुः हे सौम्य! त्वं तत्त्वतः तत्सर्वं वेत्थेत्येकान्वयः। वेदवादरतानां वादिनामाश्रयत्वाद्बादरायणः बवयोः सावर्ण्यात्। बादरायणसम्बन्धि यत् बादरं अयनं स्थानं यस्य स तथोक्त इति वा। परं ब्रह्म, अपरं ब्रह्म विदन्तीति परापरविदः अतीतानागतविदो वा। हे सौम्य! भक्तिज्ञानलक्षणसोमार्ह! "विद कृतौ" इति धातोः भगवान् यानि वेद, चकार, अन्ये च मुनयो यानि चक्रुः तत्सर्वं जानासीति वा। गुरवः स्निग्धस्य स्नेहलक्षणभक्तिसम्पन्नस्य शिष्यस्य गुह्यमप्यतिगोप्यमपि ब्रूयुः, उतापि तत्सम्भावित मित्यन्वयः ब्रूयुरपि[2] वेत्यर्थ इति वा ॥ ७, ८ ॥

1. B,M add भारतादीतिहाससहितानि 2 M adds ब्रूयुरे°

**रा॰ कृ॰** ऋषयः शौनकादयः त्वयेत्यादित्रयाणां श्लोकानां एकान्वयः। हे अनघ! सूत! त्वया यानि सेतिहासानि महाभारतादीतिहाससहितानि पुराणानि। उत अपि च धर्मशास्त्राणि वर्तन्ते, यत्तदो र्नित्यसम्बन्धात् तानि सर्वाण्यपि अधीतानि अभ्यस्तानि आख्यातानि व्याख्यातानि च। यानि शास्त्रादीनि विदां विदुषां मध्ये निर्धारणषष्ठी, श्रेष्ठः भगवान् बादरायणः व्यासः वेद। किञ्च, परापरविदः सगुणनिर्गुणब्रह्मविदः अन्ये मुनयः विदुः। हे सौम्य! हे साधो! तदनुग्रहात् तेषां महर्षीणा मनुग्रहात् तत्सर्वं तत्त्वतः याथार्थ्यतः त्वं वेत्थ जानासि। कुत इति चेत्, गुरवः अज्ञानान्धकारनिरसनपटवः स्वाभ्यस्तमहाविषयोपन्यासकाः पण्डिताः पृच्छकानामावश्यकविषयबोधनेन चक्षुरुन्मीलनविधायिनो गुरवः, नहि केवलं पाण्डित्यं गुरुत्वप्रयोजकम्। आचार्याः स्निग्धस्य विद्याप्रेमिणः शिष्यस्य गुह्यमपि रहस्यमपि ब्रूयुः उत अवश्यं कथयेयुः। उते त्येवार्थे।

व्याससूतनामनी न व्यक्तिविशेषबोधके। किन्तु, तन्नामकपीठबोधके। व्यासाः सूताश्च बहवो दृश्यन्ते। प्रतिद्वापरयुगान्तं कश्चन महानवतारपुरुषः व्यासपीठमलङ्करोति। साम्प्रतमस्माभिरधीयमानभारतभागवतयोः कर्ता कृष्णनामधेयः। स एव कृष्णद्वीपबदरिकाश्रमसम्बन्धात् कृष्णद्वैपायनबादरायणाभिख्याभ्यां प्रसिद्धिमाप। वेदार्थपरब्रह्मतत्त्वज्ञानसूतिहेतुभूतः सूतः। व्यासवत्तेऽपि बहवः। तत्र भारतभागवतव्याख्याता सूतः उग्रश्रवोनामको रोमहर्षणतनयः। इमेऽपिनामनी ब्रह्मविद्यासक्ताभ्यां मातापितृभ्यां विहिते भवेताम्। परब्रह्मतत्त्वस्मरणेन हृष्टरोमा रोमहर्षणः। बहुवृद्धसेवनेन विद्वद्विस्मयभयावहापरिमित विषयविशेषश्रोता उग्रश्रवाः।

सूतः स्वविज्ञानवैभवेन व्यासप्रोक्तपुराणानि सव्याख्यान विवृणोति। अत एव व्यासप्रोक्तो ग्रन्थः विपुलतरोऽभवत्। व्यासविरचितः कुरुपाण्डव युद्धकथाग्रन्थः जयाख्यः नितरा मल्प एव। स वैशम्पायनेन जनमेजयस्यास्थाने सर्पयागसन्दर्भे सविस्तर मुक्तो भारताख्यो विपुलग्रन्थोऽभूत्। स एष सूतेन बहुयुगान्तरप्रवृत्तकथाभिस्सह शौनकादिभ्यो व्याख्यातो महाभारताख्यो बृहत्तमग्रन्थोऽभवत्।

एवं भागवत मपि — इद मादौ ब्रह्मा नारदाय उपदिदेश मन्त्रयोगमार्गादिशा। तत् नारदो व्यासायोपदिदेश। अत्रान्तरे श्रीकृष्णः 'परम' पद मगमत्। श्रीकृष्णेन स्वनिर्याणात् कतिपय घटिकाभ्यः प्रागेव तन्मैत्रेयायोपदिष्टम् यत्पुनः श्रीकृष्णाभिलाषमनुसृत्य मैत्रेयो विदुरायोपादिशत्। अनन्तरं तत्पुनर्नारदो व्यास मवोचत ततश्च व्यासः तच्छुकयोगिने समुपादिशत्। शुकश्च शापग्रस्ताय परीक्षिते तदन्वग्रहीत्। सर्वैरेभि र्वृत्तान्तै स्सह तद्पदिदेश सूतः शौनकादिभ्यः। तदिदमस्माभि रधुनाऽधीयमानं श्रीमद्भागवतमहापुराणम् ॥ ६, ७, ८, ॥

**तत्र तत्राञ्जसाऽऽयुष्मन् भवता यद्विनिश्चितम्।**
**पुंसामेकान्ततः श्रेयस्तन्नः शंसितुमर्हसि ॥ ९ ॥**

**प्रायेणाल्पायुषः सभ्य! कलावस्मिन् युगे जनाः।**
**मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः ॥ १० ॥**

**भूरीणि भूरिकर्माणि श्रोतव्यानि विभागशः ।**
**अतः साधोऽत्र यत्सारं समुद्धृत्य[2] मनीषया ।**
**ब्रूहि नः[3] श्रद्दधानानां येनात्मा सम्प्रसीदति[4] ॥ ११ ॥**

**सूत जानासि भद्रं[5] ते भगवान् सात्वताम्पतिः ।**
**देवक्यां वसुदेवस्य जातो यस्य[6] चिकीर्षया ॥ १२ ॥**

---

1 H साधो! M मत्याः ; V सर्वे 2 H.V °द्धृत्य 3 H I V भद्राय भूतानां 4 H I सु. M °ऽऽशु 5 H तत्सर्वं 6 H यत्र

**श्रीध० तत्रेति ।** अञ्जसा ग्रन्थार्जवेन । एकान्ततः श्रेयोऽव्यभिचारि श्रेयस्साधनम् ॥ ९ ॥

अन्येऽपि[1] बहुना[2] कालेन बहुशास्त्रश्रवणादिभिर्विनिश्चिन्वन्तु । नेत्याहुः — **प्रायेणेति** । हे सभ्य! हे साधो! अस्मिन् युगे कलौ अल्पायुषः जनास्तत्रापि मन्दा अलसास्तत्रापि सुमन्दमतयस्तत्रापि मन्दभाग्याः विघ्नाकुलास्तत्रापि उपद्रुता रोगादिभिः[3] ॥ १० ॥

न च बहुशास्त्रश्रवणेऽपि तावतैव[4] फलसिद्धिरित्याहुः । **भूरीणीति**[5] । भूरीणि कर्माण्यनुष्ठेयानि येषु तानि समुद्धृत्य येनोद्धृत[7]वचनेन आत्मा बुद्धिः सम्प्रसीदति सम्यगुपशाम्यति ॥ ११ ॥

प्रश्नान्तरं — **सूत! जानासीति** पञ्चभिः । भद्रं ते इत्यौत्सुक्येनाशीर्वादः ।[8] भगवान्निरतिशयैश्वर्यादिगुणः[9] । सात्वतां सच्छब्देन सत्त्वमूर्तिं भगवान्,[10] स उपास्यतया विद्यते येषामिति सत्वन्तो भक्ताः ।[11] स्वार्थेऽण् राक्षसवायसादिवत् । तस्य[12] चाश्रवणमार्षम् । तदेवं सात्वन्त इति भवति । तेषां पतिः पालकः । यस्यार्थविशेषस्य चिकीर्षया वसुदेवस्य भार्यायां देवक्यां जातः ॥ १२ ॥

---

1 H,V नन्वन्येऽपि 2 H,V भूयसा 3 H,V add पीडिताः 4 H.V तावती 5 H,V add सार्धश्लोकमेकं वाक्यम् । 6 H,V °द्धृत्य यथाव दुद्धृत्य 7 H,V add विषयप्र° 8 H,V add [विस्तरेणाशीर्वादवचनेन विष्णुकथाभिधातो भवतीति सङ्क्षेपोक्तम् । तथा हि — श्लो॥ सा हानि स्तन्महच्छिद्रं स मोहस स विभ्रमः । यन्मुहूर्तं क्षणं वाऽपि वासुदेवं न चिन्तयेत् ॥ इति वक्ष्यमाणत्वात् ।] 9 H,V गुणयुक्तः 10 V adds अभिधीयते 11 H,V add ततः 12 H अत्र तकारस्य श्रवण°

**वीर०** एवं तस्य प्रतिवचनसामर्थ्यमाविष्कृत्य प्रष्टव्यं पृच्छन्ति — **तत्रेति** । हे! आयुष्मन्! पुंसामेकान्ततो नियमेन निरतिशयं श्रेयः यत्[1] यतः साधनाच्छ्रेयो भवेत् तत् भवता तत्र तत्र पुराणादिषु निश्चितं निर्णीतं नोऽस्मभ्यं शंसितुं प्रस्तोतुमर्हसि । एवमुक्तसाधनभूतो[2] धर्मः पृष्टः किं निरतिशयं श्रेयः ? को वा तत्साधनभूतो धर्मः ? इति प्रश्नार्थः ॥ ९ ॥

अथ त्रिवर्गसाधनानामश्रोतव्यत्वं सूचयन्तस्तन्निष्ठानां दौर्भाग्यं तैः श्रोतव्यानां बहुत्वं च वदन्तः सर्वशास्त्रार्थसारभूतं मुक्तिसाधनमेव पृच्छन्ति — **प्रायेणेति** साधीयाम् । सभ्य! अस्मिन् कलौ युगे जना मानवाः

प्रायेणाल्पायुषः। अनियतशतवर्षायुषः। अनेन कृतादियुगेष्विव यथेष्टं भोगानन्तरं मुमुक्षोदयासम्भव उक्तः। मन्दाः मन्दप्रकृतयः[3] नितरां मन्दबुद्धयः, उपद्रुताः तापत्रयवर्गत्रयतृष्णाभ्यामिति शेषः। 'सुमन्दमतय' इत्यनेन झटिति श्रेयस्तत्साधनानवगमः सूचितः। 'मन्दा' इत्यनेन श्रेयस्साधनोपसंहारासामार्थ्यं सूचितम्। 'उपद्रुता' इत्यनेन क्वचिच्छ्रेयस्साधनोद्योगस्थानेकान्तरायविहतत्वम्। अत एव ते जना मन्दभाग्या दुर्भगा इत्यर्थः॥ १०॥

हि यस्मात्, उपद्रुता अत एव तैर्विभागशः स्वस्वार्पक्षितधर्मादिसाधनभेदेन श्रोतव्यानि भूरिकर्माण्यायासबहुलानि कर्माणि[4] बहूनि सन्तीति पौण्डरीकवाजपेयादिभेदेन भूरीणि एकैकस्मिन्नेकेतिकर्तव्यता कलापवत्त्वेन भूरिकर्माणीति[5]। यत एव मतोऽत्र श्रोतव्येषु मध्ये यत्सारमनिष्टनिवर्तक मिष्टप्रापकं सारं साधनं तन्मनीषया सूक्ष्मया धिया समुद्धृत्य दध्नो घृतमिवोद्धृत्य श्रद्दधानानां[6] नोऽस्माकं ब्रूहि। सारं विशिषन्ति — येनेति। येन सारेण आत्मा चित्तं सम्प्रसीदति रागादिभिरकलुषं[7] स्यात्, तत्सारं ब्रूहीत्यन्वयः। प्रायेणेत्यल्पायुरादिभिः[8] प्रत्येकं सम्बध्यते, प्रायेण[9] मन्दा इत्यादिना[10]। तेन "मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये" (भ. गी. 7-3) इति भगवद्वचनार्थः स्मारितः। 'येनात्मा सम्प्रसीदती' त्यने नात्मप्रसादार्थमेव तावन्मुमुक्षुभिर्वर्तितव्यम्[11]। सति चाऽऽत्मप्रसादे "प्रसादे सर्वदुःखानां हानि रस्योपजायते। प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठति" (भा. गी. 2-65) इत्युक्तरीत्या दुःखहान्यादि रर्थादेव भवतीति सूचितम्। यद्वा येन सारभूतेन साधनेनाऽऽत्मा[12] सम्प्रसीदति प्रसन्नो भवतीत्यर्थः। एवं च "कि मलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने" (भाग. 10-39-2) इति वक्ष्यमाणरीत्या ततः सर्वं सम्पद्यत[13] एवेति भावः। भूरीणि[14] श्रोतव्यानि विभागशः सन्ति, तत्र सारं ब्रूहीत्यनेन भूरिकर्माणि न श्रोतव्यानि प्रतीयन्ते[15]। यद्यपि कर्माण्यपि फलद्वारा हानाय स्वरूपेणोपादानाय च श्रोतव्यान्येव। अन्यथा सांसारिकफलनिर्वेदासम्भवेन निश्श्रेयससाधनावबोध्याध्यात्म[16] शास्त्रशुश्रूषाया[17] एवासम्भवात् परमात्मोपासनस्यानभिसंहितफलकर्मोपकार्यत्वज्ञानाभावप्रसङ्गाच्च, तथाप्येकयैवोक्त्या सर्वाणि फलत स्त्याज्यान्युपासनाङ्गतया यथाशक्त्यनुष्ठेयान्येतावदेव श्रोतव्यं मुमुक्ष्वभिप्रायेणैवमुक्तम्[18]॥ ११॥

एवं मुक्तिसाधनं पृष्टाऽथ तदनुग्राहकेषु प्रधानतमं "श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणम्" (भाग. 7-5-23) इत्यादिषु प्रथमोपात्तं भगवच्चरित्रश्रवणं चिकीर्षव स्तत्रापि साधुपरित्राणायावतीर्णसमनन्तरं[20] श्रीकृष्णावतारचरितं पृच्छन्ति — सूत इत्यादि षड्भिः। हे! सूत! तुभ्यं भद्रं कल्याण मस्तु। सात्वतां भक्तानां पतिः पालयिता भगवान् वसुदेवस्य, अपादानस्य सम्बन्धविवक्षया षष्ठी, वसुदेवात्तद्भार्यायां देवक्यां यस्य चिकीर्षया यत्कर्म कर्तुमिच्छया जातो ऽवतीर्णः। तत्सर्वं त्वं जानासीति॥ १२॥

---

1 W इति वा 2 W एवं मुक्ति° 3 W adds सुमन्दमतयः 4 W adds भूरीणि 5 W adds वा 6 W adds श्रद्धां कुर्वतां 7 W °षितः 8. W °त्येतद° 9 W adds अल्पायुषःप्रायेण 10 W इत्येतेन "मनुष्या° 11 W °र्यति° 12 W adds परमात्मा 13 W °त्स्य° 14 W adds भूरिकर्माणि 15 W इति प्रतीयते 16 A.B °यस्सा° 17 W °बोध्य° 18 W adds कर्माणि 19 W मुमुक्षुभि रित्यभि° 20 B.W °समनन्तर°

**विज०** इदानी मभिमतार्थ माहु रित्याह — **तत्रेति**। आयुष्मन्! प्रशस्तायुष सूत! भवता तत्र पुराणादिष्वञ्जसा ऋजुमार्गेण य त्पुंसामेकान्ततः श्रेयो निश्चितं तन्नः शंसितुमर्हसीत्यन्वयः॥ ९॥

ननु किमिति सङ्क्षिप्य कथनं, विस्तरेण किं न स्यादिति तत्राह — **प्रायेणेति**। अस्मिन् कलौ युगे जनाः अल्पायुषः। अत एव मर्त्याः मरणशीला मन्दाः कर्मकरणशक्तिशून्याः। सुमन्दमतयः अत्यल्पप्रज्ञाः मन्दभाग्याः अल्पपुण्यभागिनः कुष्ठभगन्दरादिव्याधिभिरुपद्रुताः। प्रायेणेति प्रत्येकमभिसम्बध्यते। बहुलमेवं कश्चिदेवोक्तार्थे अन्यथा स्यादित्यर्थे वर्तते इत्यन्वयः॥ १०॥

अल्पायुष्यादिभिः अत्यन्तं दुर्बलानां श्रेयस्साधनशास्त्राणि हित्वा अर्थादिविषयानेकशास्त्रश्रवणं दुश्शकमित्याहुरित्याह — **भूरीणीति**। विभागशः प्रत्येकं विभक्तानि तथाभूतानि भूरीणि बहूनि भूरिकर्माणि व्यापारवन्ति श्रोतव्यानि अर्थादिविषयशास्त्राणि सन्तीति यदित्यन्वयः। प्रश्नार्थं निगमयति अत इति। एवमर्थादिविषयशास्त्रज्ञानं दुश्शकं श्रेयःपरिपन्थि च, आयुरादिकं चाल्पम्। अतः साधो! हीनजात्युत्पन्नत्वेऽपि निर्दोष! अत्रैषु शास्त्रेषु यत्सारं तन्मनीषया बुद्ध्या समुद्धृत्य इदमेवोपादेयमिति नः ब्रूहि। किमर्थम्? भूतानां भद्राय, येन भवदुक्तसारश्रवणेनाऽऽत्मा हरिराशु प्रसीदति; अनुग्रहोन्मुखो भवतीत्येकान्वयः॥ ११॥

सारश्च हरेः कृष्णावतारकथैवेत्याशयवन्तः पुनराहुरित्याह — **सूतेति**। भो सूत! जानासि सकलमिति शेषः। ते तुभ्यं भद्रं मङ्गलमस्तु, ते तव बिम्बभूतं भद्रं सर्वमङ्गलं भगवत्तं जानासीति वा। सात्वतां पतिर्भगवान् यस्य कार्यविशेषस्य चिकीर्षया वसुदेवस्य सकाशात् देवक्यां जातः, तद्द्वारा प्रकाशितः॥ १२॥

---

1. B.M add अतः

**रा॰ कृ॰** हे आयुष्मन्! सूत! भवता तत्र तत्र पुराणादिषु पुंसां एकान्ततः नियमेन श्रेयः श्रेयस्साधनं यद्विनिश्चितं तत् अञ्जसा ग्रन्थार्जवेन नः अस्मभ्यं शंसितुं वक्तुमर्हसि। गुरवः शिष्येभ्यो वेदविवरणावसरे सुखबोधाय पुराणेतिहासान् समुदाहरन्। तत्र काश्चित्कथाः वृत्ताः, अन्याः वेदार्थस्पष्टप्रतिपत्तये महर्षिभिः कल्पिताः। पुरावृत्तकथाश्रयाः इतिहासाः। सामग्र्येण सृष्टिलक्षण विवरणोपेतानि पुराणानि। शिष्यपरम्परोपदेश परिवर्धितानि तानि सहस्राधिकान्यासन्। भविष्यत्कलिप्रभावेन पण्डिताः वेदानामपार्थं आपादयिष्यन्तीति मत्वा तेषां मध्ये मुख्यानि अष्टादश, स्वीयविष्णुपुराणे सञ्जग्राह पराशरः। तदाज्ञया तदात्मजो वेदव्यासः तान्यष्टादशपुराणानि प्रत्येकं व्याख्यातवान्। पश्चात्तेषां समन्वयं स्वसमयप्रवृत्त कौरवपाण्डवकथायां सङ्गृह्य भारतेतिहासमवतारितवान्। तथाऽपि साधारणजनाय समुचितदिशा वेदार्थबोधने कृतार्थो नैवाभूवमिति दुर्मनायमानाय व्यासाय नारदो भागवतमुपादिशत्॥ ९॥

अस्मिन् कलौ युगे सर्वे जनाः प्रायेणाल्पायुषः, मन्दाः अलसाः, तत्रापि सुमन्दमतयः तत्रापि मन्दभाग्याः विघ्नाकुलाः। तत्रापि उपद्रुताः रोगादिभिः पीडिताः॥ १०॥

हे साधो! सूत! सारग्राहिणः परोपकारनिरताः एव साधवो भवन्तीति भावार्थदीपिकाप्रकाशे श्रीवंशीधरः। विभागशः स्वोद्दिष्टधर्मसाधनभेदेन श्रोतव्यानि भूरिकर्माणि नानाविधानुष्ठेयकर्माणि भूरीणि बहूनि सन्ति। अतोऽत्र श्रोतव्येषु मध्ये यत्साधनं सारं सारभूतं वर्तते तन्मनीषया बुद्ध्या समुद्धृत्य यथावत् उद्धृत्य, भूतानां प्राणिनां भद्राय

श्रेयसे ब्रूहि कथय। येन कथनेन आत्मा बुद्धिः, सम्प्रसीदति सम्यक् प्रसन्नं निर्मलं भवति। सारभूतकथनेन सर्वेषामेव जनानां बुद्धिप्रसादो भवतीति भावः। हे सूत! ते तुभ्यं भद्रं भूया दिति शेषः। भगवान् निरतिशयैश्वर्यादिगुणः, सात्वतां यादवानां पतिः श्रीकृष्णः यस्यार्थविशेषस्य चिकीर्षया वसुदेवस्य देवक्यां जातः। जानासि तमर्थं सर्वं वेत्सि॥ ११, १२॥

**तन्नः शुश्रूषमाणानामर्हस्यङ्गानुवर्णितुम्।**
**यस्यावतारो भूतानां क्षेमाय च भवाय च॥ १३॥**

**आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन्।**
**ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम्॥ १४॥**

**यत्पादसंश्रयाः सूत! मुनयः प्रशमायनाः।**
**सद्यः पुनन्त्युपस्पृष्टाः स्वर्धुन्यापोऽनुसेवया॥ १५॥**

**को वा भगवतस्तस्य पुण्यश्लोकेड्यकर्मणः।**
**शुद्धिकामो न शृणुयाद्यशः कलिमलापहम्॥ १६॥**

---

1 M वि° 2 A त°. M यं बि° 3 M.W भव 4 M °नोवा°

**श्रीध० तन्न** इति। अङ्ग! हे सूत! तन्नोऽनुवर्णयितुमर्हसि। सामान्यतस्तावद्यस्यावतारो भूतानां क्षेमाय पालनाय भवाय समृद्धये॥ १३॥

तत्प्रभावमनुवर्णयंस्तद्यशः श्रवणौत्सुक्यमाविष्कुर्वन्ति **आपन्न** इति त्रिभिः। संसृतिमापन्नः प्राप्तः विवशोऽपि गृणन्। ततः संसृतेः। अत्र हेतुः। यत् यतो नाम्नः भयमपि स्वयमेव बिभेति॥ १४॥

**यत्पादेति**। किञ्च यस्य पादौ संश्रयो येषां अत एव प्रशमः अयनं वर्त्म, आश्रयो वा येषां ते मुनयः उपस्पृष्टाः सन्निधिमात्रेण सेविताः सद्यः पुनन्ति। स्वर्धुनी गङ्गा, तस्याः आपस्तु तत्पादान्निस्सृता न तु तत्रैव तिष्ठन्ति। अत स्तत्सम्बन्धेनैव पुनन्त्योऽपि अनुसेवया पुनन्ति न तु सद्यः इति मुनीना मुत्कर्षोक्तिः॥ १५॥

**क** इति। पुण्यश्लोकैरीड्यानि स्तव्यानि कर्माणि यस्य तस्य यशः कलिमलापहं संसार-दुःखोपशमनम्॥ १६॥

---

1 H वर्णितुं 2 H,V add पुनरपि 3 V adds °अतिभीतो° 4 H,V add ते 5 B adds तत्रापि

**वीर०** तस्मा द्वक्तु मर्हसी त्याहुः — **तदिति**। तच्छ्रीकृष्णचरितं श्रोतुमिच्छतां नोऽस्माकं वर्णितुं अङ्ग! हे सूत! अर्हसि[1]। 'अर्हसी' त्यनेन सदनुगृहीतः कात्स्न्र्येन तच्चरित्रवेदी त्वं वक्तुं प्रभुरिति सूचितम्। महोपकर्तृत्वात्तदवतारचरित्रमवश्यं शुश्रूषितव्यमित्यभिप्रायेण तदवतारं विशिंषन्ति यस्येति। यस्य भगवतोऽवतारः श्रीकृष्णरूपो भूतानां विभवाय योगापरपर्यायेष्टोदयाय क्षेमाय तत्पालनाय च। भक्तानामित्यनुकूल्यं[2] भूतानामिति वदतामयमभिप्रायः। शत्रूणामपि दमनपूर्वकमपवर्गदायित्वेन महोपकर्तेति किमु वक्तव्यम् तदवतारो भूतानां योगक्षेमार्थ इति॥ १३॥

यत[3]स्तत्रामैवानिष्टपरिहारेष्टप्रापणक्षम मेवेत्यभिप्रायेण नामप्रभावमाहुः **आपन्न** इति। घोरां **गर्भजन्मजरामरणादिरूपां** संसृतिमापन्नः प्राप्तः पुमान् शत्रुरपि विवशः पारवश्येनापीत्यर्थः। यस्य श्रीकृष्णस्य **यच्छब्दानां[4] को वा** भगवतस्तस्येत्युत्तरेणान्वयः। नाम गृणन्नुच्चरन्[5] देहावसान इति शेषः। ततः संसृतेः सद्य एव विमुच्येत मुक्तो भवेत्। कथं पारवश्येना प्युच्चारणमात्रेणापि शत्रुरपि मुच्येतेत्यत्रोच्चारणं विशिंषन्ति **यद्बिभेति** स्वयं भव इति। **यन्नामोच्चारणं** प्रति भवः संसारः स्वयं बिभेति। 'भय' मिति पाठेऽपि जन्ममरणादिभयहेतुत्वाद्भव एव भयशब्देन विवक्षितः। देहावसानकालिकभगवन्नामोच्चारणस्याव्यवधानेन मुक्तिसाधनत्वं इतर कालिकस्य तु कर्मज्ञानयोगादिव द्भक्तियोगानुग्राहकत्वेन तद्द्वारेति विवेकः। एतच्च षष्ठेऽजामिलोपाख्याने प्रपञ्चयिष्यते॥ १४॥

आस्तां तावदवताराणां नाममाहात्म्यं तदीयानां माहात्म्यमेव वाङ्मनसागोचर[6]मित्यभिप्रायेणाऽऽहुः **यदिति**। हे! सूत! यस्य भगवतः पादसंश्रयाः पादावेव प्राप्यत्वेन प्रापकत्वेन संश्रयन्त इति तथा। मुनय स्तत्पदारविन्दमननशीलाः प्रशमायनाः शमदमादिगुणानामाश्रयाः तदीयाः स्पृष्टाः,[7]पादयो रिति शेषः। पादस्पर्शमात्रेणापीति भावः। सद्य एव पुनन्ति, स्पृष्टा[8]नि ति शेषः। एवं तत्पादसम्बन्धिन्याः स्वर्धुन्या गङ्गाया आपोऽप्यनुसेवया स्नानपानादिरूपया **सेवया** पुनन्ति स्वर्धुन्याप स्त्वनुसेवया पुनन्ति मुनयस्तदीया स्तूपस्पर्शमात्रेणापि पुनन्तीति केचिद् व्याचक्षते। यथा स्वर्धुन्यापोऽनुसेवया पुनन्ति तथा मुनयोऽप्युपस्पृष्टाः पुनन्तीति दृष्टान्तो वाऽभिप्रेतः॥ १५॥

उक्तैरन्यैश्च गुणैस्तं विशेषतस्तच्चरित्रमवश्यात्मशुद्धि[10] मिच्छद्भिः[11] श्रोतव्यमित्यभिप्रायेणाऽऽहुः **को वेति**। तस्योक्तविधस्य पुण्य[12]स्य शृण्वतां वदतां च पुण्यावहः। श्लोक्यत इति श्लोको यशो यस्य। अत एव स चासावीड्यं स्तुत्यं कर्म चरित्रं यस्य तस्य भगवतो यशः कलिमलापहं कलिप्रयुक्तपापहन्तृ चित्तशुद्धिकामः को वा पुमान्न शृणुयात्? सर्वोऽपि शृणुया दवेत्यर्थः॥ १६॥

---

1 W add\ जानासि 2 W °कृत्वा 3 W अ° 4 A,B त्मको 5 °च्चैरादे° 6 A °सामगो° 7 W adds उप° 8 W स्पृष्टृ° 9 W °कान् 10 W °शिंषन्त° 11 B,W °श्यमा° 12 W °ण्यः

**विज०** यस्यावतारो भूतानां क्षेमाय ऐहिकामुष्मिकसुखाय विभवा याभिवृद्धये भवति। अङ्ग! हे वत्स! तस्य कृष्णस्य तं कार्यविशेष चरित्रापरपर्यायं शुश्रूषमाणाना मस्माकमनुवर्णितुं सम्यक् वक्तुमर्हसीत्येकान्वयः। सात्वतामिति सत् ब्रह्म कृष्णाख्य मुपास्य मेषामस्तीति सत्वन्तः त एव सात्वन्तः। प्रज्ञादित्वात् स्वार्थे अण्। तस्यादर्शनं

छन्दसम्। यद्वा सातिः सौत्रो धातुः, सुखार्थः वासरूपन्यायेन क्विपि सात् सखा परमात्मा स एषामस्तीति सात्वन्तो भक्ता स्तेषां पतिः मरुत्वतामितिवत् सात्वतामिति रूपसिद्धिः। यद्वा, सात्वतप्रातिपदिकात् "तत्करोति तदाचष्टे" (अष्टा. ग. सू. 204) इति णिचि कृते "क्विप्च" (अष्टा. 3-2-76) इति क्विपि च कृते णिचो लोपे अतो लोपे च सात्वतामिति, रूपसिद्धिः। सात्वतां पाञ्चरात्रोक्तानुष्ठानकारिणां, यादवानां वा॥ १३॥

सारत्वात् कृष्णचरितमेवानुवर्णनीयं नान्यत् यतस्तस्य वासुदेवादिनामोच्चारणा दखिलबन्धनिवृत्तिः, तत्र किं वक्तव्यं तच्चरितश्रवणमननाभ्यामि त्याशयवन्त आहुरित्याह **आपन्न** इति। भवः संसारः अहङ्काररूपेण बन्धको रुद्रो वा यं प्रति बिभेति भयादपसृतो भवति यन्नाम यस्य नाम गृणन् उच्चारयन् विवशः बह्वभ्यासात् घोरां संसृतिमापन्नः पुरुषः ततः घोरसंसारात् सद्य स्तदानी मेव विमुच्येत विशिष्टां मुक्तिमाप्नोति॥ १४॥

किञ्च यत्पादसंश्रयाः यस्य पादावेव संश्रयो येषां ते तथोक्ताः। प्रकृष्टः शमो भगवन्निष्ठैव अयनमाश्रयो येषान्ते प्रशमायनाः मुनयः यैः प्राणिभि रुपस्पृष्टास्तान् सद्यः पुनन्ति पवित्रीकुर्वन्ति, 'यत्पादसंश्रया' दिति पाठे यच्चरणनिषेवणादात्मानं पुनन्तीत्यर्थः। तत्र निदर्शनमनुसेवया अनुसेवनेन निषेवणेन उपस्पर्शनस्नानाचमनादिना स्वर्धुनी गङ्गेव यथा लोकं पुनाति तथेत्यन्वयः। "स्वर्धुन्याप" इति पाठे गङ्गाजलपरमाणवः। चिरकालसेवया, मुनयः सद्य-इति शेषः॥ १५॥

पुण्यश्लोकै र्ब्रह्मादिभिः ईड्यं स्तुत्यं कर्म कंसवधादिचरितं यस्य स तथा। पुण्यश्लोक श्चाय मीड्य-कर्मेति वा तस्य हरेः कलिमलापहं कलिनिमित्तं मलं पापलक्षण मपहन्तीति। यश श्चरितापरपर्यायम्। शुद्धिकामः अन्तःकरणनिर्मलतां कामयमानः को वा पुरुषः न शृणुयादित्येकान्वयः॥ १६॥

---

1. A,K °न्याये

**रा॰ कृ॰ अङ्ग!** हे सूत! यस्य परमात्मनः श्रीकृष्णस्य अवतारः भूतानां क्षेमाय पालनाय भवाय च समृद्धये च भवति तं शुश्रूषमाणानां नः अस्माकं अनुवर्णितुं अनुवर्णयितुं अर्हसि॥ १३॥

घोरां संसृतिं आपन्नः प्राप्तः विवशोऽतिभीतोऽपि यन्नाम यस्य भगवतो नाम गृणन् उच्चारयन् तत स्संसृते स्सद्यो विमुच्येत मुक्तिं प्राप्नुयात्। हे सूत! यत् यन्नाम्नः भयं संसारभयमपि स्वयं बिभेति। किं च यत्पादसंश्रयाः मुनयः प्रशमायनाः शमादिगुणाश्रया स्सन्तः उपस्पृष्टाः सन्निधिमात्रेण सेविताः सद्यः पुनन्ति स्पृष्टान् पवित्रीकुर्वन्ति। स्वर्धुन्यापः गङ्गायाः जलानि तु अनुसेवया स्नानपानादिरूपया पुनन्तीति शेषः; न तु सद्य इति मुनीनामुत्कर्षकथनम्॥ १४, १५॥

पुण्यश्लोकेड्यकर्मणः पुण्यकीर्तिभिः स्तुत्यानि कर्माणि यस्य तस्य भगवतः कलिमलापहं यशः शुद्धिकामः को वा न शृणुयात्॥ १६॥

तस्य कर्माण्युदाराणि परिगीतानि सूरिभिः ।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां लीलया दधतः कलाः ॥ १७ ॥

अथाख्याहि हरे धीमन्नवतारकथाः शुभाः ।
लीला विदधतः स्वैरमीश्वर स्यात्ममायया ॥ १८ ॥

वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे[1] ।
य च्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे ॥ १९ ॥

कृतवान् किल वीर्याणि[2] सह रामेण केशवः ।
अतिमर्त्यानि भगवान् गूढः कपटमानुषः ॥ २० ॥

---

1. H,M °मैः 2. B,I कर्माणि

**श्रीध०** प्रश्नान्तरम् **तस्येति**। उदाराणि महान्ति विश्वसृष्ट्यादीनि। सूरिभिर्नारदादिभिः कलाः ब्रह्मरुद्रादिमूर्तीः ॥ १७ ॥

**अथेति** प्रश्नान्तरे[1]। अवताराकथाः स्थित्यर्थमेव तत्तदवसरे ये मत्स्याद्यवतारास्तदीयाः[2] कथाः। स्वैरं लीलाः कुर्वतः। श्रीकृष्णावतारप्रयोजन प्रश्नेनैव तच्चरितप्रश्नोऽपि जात एवेति ज्ञातव्यम् ॥ १८ ॥

अत्यौत्सुक्येन पुनरपि तच्चरितान्येव श्रोतुं इच्छन्त स्तत्रात्मनस्तृप्त्यभाव मावेदयन्ति **वयन्त्विति**। योगयागादिषु तृप्ताः स्मः। उद्गच्छति तमो यस्मात्स उत्तमस्तथाभूतः श्लोको यशो यस्य तस्य विक्रमे तु विशेषेण न तृप्यामः, अलमिति न मन्यामहे। तत्र हेतुः। यद्विक्रमं[3] शृण्वताम्। यद्वा अन्ये तृप्यन्तु नाम वयन्तु नेति तुशब्दस्यान्वयः। अयमर्थः। त्रेधा ह्यलम्बुद्धि र्भवति — उदरादिभरणेन वा, रसाज्ञानेन वा, स्वादुविशेषाभावा द्वा। [4] **तत्र शृण्वतामित्यनेन** श्रोत्रस्याकाशत्वान्न भरणमित्युक्तम्। रसज्ञाना मित्यनेन चाज्ञानतः[5] पशुप्रवृत्ति[6] र्निराकृता। इक्षुभक्षणव द्रसान्तराभावेन तृप्तिं निराकरोति। पदे पदे प्रतिक्षणं[7] स्वादुतोऽपि[8] **स्वादु** ॥ १९ ॥

अतः श्रीकृष्णचरितानि **कथयेत्याशये** नाऽऽहुः — **कृतवा निति**। अतिमर्त्यानि **मर्त्यानतिक्रान्तानि** गोवर्धनोद्धरणादीनि। मनुष्ये ष्वसम्भावितानि **इत्यर्थः** ॥ २० ॥

---

1 B,H,V °रं 2 V °तारः कृता स्तदाश्रयाः 3 B °मणं 4. H,V add एतत्तय मुत्तमश्लोके नास्तीत्याह। 5. H,V **च रसाज्ञानतः**
6. B,H,V °वत्तृप्ति° 7. H.V °पदं 8 H,V °नोऽ°

**वीर०** **तस्येति**। अतो लीलया न तु कर्मणेति भावः। कलाः मूर्तीरवतारान्तररूपाः दधतः तस्योदाराणि विपुलानि सूरिभिः नारदपराशरपाराशर्यादिभिः परिगीतानि च कर्माणि चरितानि श्रद्दधानानां नोऽस्मभ्यं ब्रूहीति।

लीलये त्यने नावताराणां अकर्ममूलत्व मुक्तम्। "कलाः दधत" इत्यनेन श्रीकृष्णस्यावतारित्वप्रतीत्या पूर्णावतारत्वं सूचितं; तेनै वावतारान्तरकथाप्रश्नश्च कृत इत्यर्थः ॥ १७ ॥

लीलयेत्यनेनावताराणामकर्ममूलत्वमुक्तम्। अथावतारचेष्टितानामकर्ममूलत्वं वदन्तः कात्स्न्येंन तदवतारचरित्राणि पृच्छन्ति **अथेति**। हे धीमन् आत्ममायया आत्मनः स्वस्य मायया आश्चर्यशक्तियुक्तेन। आश्चर्यत्वं मायाशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं सङ्कल्पपरूपज्ञानेन वा। "माया वयुनम्" (वै. नि. 3-9) इति नैघण्टुकाः। "मायया सततं वेत्ति प्राणिनां च शुभाशुभम्" (भार. App. 15. 2085 pr.) इति ज्ञाने ऽभियुक्तप्रयोगः। स्वैरं यथा तथा लीला श्चेष्टा विदधतः कुर्वत ईश्वरस्य सर्वनियन्तु र्हरे राश्रितदुरितहरस्य भगवतः शुभाः शृण्वतां वदतां च शुभावहाः अवतारकथाः। **अथ** कात्स्न्येंनाऽऽख्याहि कथय। "मङ्गलानन्तरारम्भ प्रश्नकात्स्न्येंष्वथो अथ" (अम. को. 3-248) इति नैघण्टुकाः। आत्ममायया स्वैरं लीला विदधत इत्यनेन देवमनुष्यादिजातीयानां अवतारचेष्टानां आत्मीयसङ्कल्पमूलत्वं अकर्मवश्यत्वप्रयुक्तत्वं च सूचितम् ॥ १८ ॥

ननु, आभीक्ष्ण्येन श्रुता एव भगवदवतारकथा भवद्भिः, अतस्ताः किमर्थं पृच्छ्यन्ते? तत्राऽऽहुः **वयन्त्विति**। वयं यदुत्तमश्लोकचरितं शृण्वतामपि रसज्ञानां पदे पदे क्षणे क्षणे पुनः पुनर्वा स्वादु रुचिजनकं भवति पूर्वं श्रवणापेक्ष यो त्तरश्रवणेऽतीव रुचिकरमेव भवति इति श्रुतमपि पुनः पुनः नवमेव भवतीति भावः। यत् यस्मा त्पदे पदे स्वादुतः स्वादु तदुत्तमश्लोकविक्रमे न वितृप्याम इत्यन्वयः ॥ १९ ॥

युक्तं चैतदित्यभिप्रायेणाऽऽहुः — **कृतवा** निति। कपटमानवः छद्यमानवः। मनुष्यवत् प्रतीयमान इत्यर्थः। एवमपि भगवान् पूर्णाद्भुण्यः तथाऽपि गूढः तत्त्वतोऽयमीश्वर इति केनापि न ज्ञातः। केशवः "क इति ब्रह्मणो नाम ईशोऽहं सर्वदेहिनाम्। आवां त्वदङ्गसम्भूतौ तस्मात् केशवनामवान्" (हरिवंशे) इति रुद्रनिरुक्तकेशवपद पुष्कलप्रवृत्तिनिमित्ताश्रयः श्रीकृष्णो बलरामसहितः अतिमर्त्या न्यतिमानुषाणि मनुष्यैः कर्तु मशक्यानीति यावत्। वीर्याणि चेष्टितानि कृतवा नेवेति प्रसिद्धिः। मानुषाणि हि कर्माणि सकृत् श्रुतानि पुनः पुनः शुश्रूषां न जनयेयुः, भगवद्वीर्या ण्यतिमानुषत्वाद्विलक्षणविषयत्वादेव स्वविषयां शुश्रूषाम प्युत्तरोत्तराधिकां विलक्षणां जनयन्ति, तत्र किमु वक्तव्यमित्यर्थः। अत स्तत्र न वितृप्याम इति भावः। अतो भगवत्कर्मश्रवणे श्रद्धावतां नः तानि कथयेत्यर्थः ॥ २० ॥

---

1 W °र° 2 W °मप्य° 3 W °योगेन 4 W अभियुक्तैः ज्ञानपर्यायत्वेन मायाशब्द प्रयुक्तः 5 W °दिस° 6 W पृच्छथ इति 7 W adds उत्तमैः ब्रह्मादिभिः श्लोक्यत इत्युत्तमः श्लोको यस्येति वा तस्य विक्रमे चरित्रविषये न वयं तृप्याम। अतृप्तौ हेतु वदन्तः चरित्रं विशिषन्ति यदिति। 8 W adds स्वादु 9 B.W add °पूर्व° 10 W adds °त्तरो° 11 W तवाङ्गे 12 W रामेण बलरामेण सहित. 13 W °वान् किले°

**विज०** न केवलं कृष्णकथैव वक्तव्या मत्स्याद्यवतारान्तरकथाऽपीत्याह **तस्य कर्माणीति**। लीलया मत्स्यादिकलाः दधतः तस्य हरेः सूरिभिः ब्रह्मादिभिः परिगीता न्युदारा ण्यक्लिष्टा न्युद्गतदोषाणि वा कर्माणि ब्रूहीत्येकान्वयः ॥ २७ ॥

तदे वास्माकं वर्णनीयमित्यभिप्रेत्याऽऽहुरित्याह — **अथेति**। यत एवं **य च्छृद्दधानानामस्माकं कलिमलापहमेव** तस्मादात्ममायया स्वरूपभूतेच्छया स्वैरं यथेष्टं लीलाः प्रलयजलविहारादिक्रीडाः विदधत ईश्वरस्य स्वतन्त्रस्य हरेः शुभाः मङ्गला अवतारकथाः हे धीम न्नस्माकमाख्याहीत्येकान्वयः ॥ १८ ॥

भवतां बहुशः श्रुतहरिकथानां किमि त्ययमुत्कण्ठाविशेष इत्यत उच्यते **वयं** इति। **वयमुत्तमश्लोकस्य हरेर्विक्रमैः** श्रुतै र्न वितृप्यामः अन्येषां तृप्ति रस्तु वा, नास्माकमलम्बुद्धिरित्येतस्मि न्नर्थे तुशब्दः। यद्विक्रमजातं **शृण्वतां** रसविवेकविदुषां स्वादु स्वाद्वतिमधुरं भवती त्येकान्वयः। "रसो रागे विषे वीर्ये तिक्तादौ पारदे द्रवे" (वैज. को. 6-1-49) इति तद्विशेषज्ञा वा रसज्ञाः ॥ १९ ॥

सम्प्रति कृष्णावतारचरितश्रवण एव उत्कण्ठाविशेष इत्यभिप्रेत्याऽऽहुरित्याऽऽह — **कृतवा** निति। स्वमहिम्ना गूढः कपटमानुषः केशवो भगवान् रामेण सह यानि मर्त्यवीर्यमतिक्रम्य विद्यमानानि वीर्याणि पराक्रमलक्षणानि कृतवान् किल, ता न्यस्माकं ब्रूही त्येकान्वयः। मानुषेष्वपि कं सुखं पटति प्राप्नोति इति कपटमानुषः इत्यर्थोऽपि ग्राह्य इति ॥ २० ॥

**रा॰ कृ॰** लीलया कलाः ब्रह्मरुद्रादिमूर्तीः दधतः तस्य भगवतः सूरिभिः नारदादिभिः परिगीतानि उदाराणि कर्माणि श्रद्दधानानां नः अस्मभ्यं ब्रूहि ॥ १७ ॥

हे धीमन्! अथ अनन्तरं स्वैरं यथेच्छं आत्ममायया लीलाः विदधतः हरेः शुभाः अवतारकथाः मत्स्याद्यवताराश्रयकथाः आख्याहि कथय ॥ १८ ॥

यत् यद्विक्रमादिकं शृण्वतां रसज्ञानां पदे पदे स्वादु स्वादु स्वादुनोऽपि स्वादु भवति, तस्मिन् उत्तमश्लोकविक्रमे तमोऽपहकीर्तिमतो भगवतो विक्रमकथायां वयं न वितृप्यामः तृप्तिं न भजामः ॥ १९ ॥

गूढोऽय मीश्वर इति **केनापि** न ज्ञातः कपटमानुषः मानुषव त्प्रतीयमानः भगवान् केशवः रामेण बलरामेण सह अतिमर्त्यानि मनुष्येषु असम्भावितानि गोवर्धनोद्धरणादीनि वीर्याणि पराक्रमचेष्टितानि कृतवान् किल ॥ २० ॥

**कलि मागत माज्ञाय क्षेत्रे ऽस्मिन् वैष्णवे वयम् ।**
**आसीना दीर्घसत्रेण कथायां सक्षणा हरेः ॥ २१ ॥**

**त्वं नः सन्दर्शितो धात्रा दुस्तरं निस्तितीर्षताम् ।**
**कलिं सत्त्वहरं पुंसां कर्णधार इवार्णवम् ॥ २२ ॥**

**ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्मवर्मणि ।**
**स्वां काष्ठामधुनोपेते धर्मः कं शरणं गतः ॥ २३ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे **श्रीवैयासिक्यां** अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे
नैमिशोपाख्याने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

1. H °गी° 2 M °क°

**श्रीध०** ननु याजनाध्यापनादिव्यग्राणां कुतः एतच्छ्रवणावकाशः स्या दत आहुः — **कलि**मिति। कलिमागतं ज्ञात्वा तद्भिया विष्णुपदं गन्तुकामाः दीर्घसत्रेण निमित्तेनात्र वैष्णवे क्षेत्रे आसीनाः हरेः कथायां सक्षणाः **लब्धावसराः** ॥ २१ ॥

अस्मिंश्च समये त्वद्दर्शनमीश्वरेणैव सम्पादितमित्यभिनन्दन्ति — **त्वं** इति। कलिं संसारं निस्तर्तु मिच्छताम्। अर्णवं तितीर्षतां कर्णधारो नाविक इव ॥ २२ ॥

पुनः **प्रश्नान्तरम्** — **ब्रूहीति**। धर्मस्य वर्मणि कवचवद्रक्षके स्वां काष्ठां मर्यादां स्वस्वरूपमित्यर्थः। **अस्यचोत्तरं** "कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभि स्सह" (भाग. 1-3-43) इत्ययं श्लोकः ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

---

1 B य° 2 B °ध्यय° 3 B एव कथाश्रवणा° 4 H,V नितरां तरितु° 5 B निस्तितीर्षतां 6 H V add वक्ष्यमाण

**वीर०** ननु भगवद्वीर्याणि बहूनि महता कालेन श्रोतव्यानि, भवतां तु नित्यं तपश्चरतां कोऽवसर इत्याहुः — **कलिं** इति। कलिं तपोविघ्नकरं कलियुगमागतं प्रवृत्तं विज्ञायाऽऽलक्ष्य वयं उपायान्तरेण कलिं जेतुमशक्ता हरेः कलिकृतदोषहरस्य भगवतः कथायां निमित्तभूतायां कथाश्रवणार्थमित्यर्थः। सक्षणाः सावसराः लब्धावसरा इति यावत्। अस्मिन् वैष्णवे विष्णोः सम्बन्धिनि तत्सान्निध्यवति क्षेत्रे नैमिषाख्ये दीर्घसत्रेण सहस्रवत्सरपर्यन्तेन ब्रह्मसत्रेण। "अध्ययनेन वस" तीतिवत् हेत्वर्थे तृतीया। दीर्घसत्रार्थ मित्यर्थः। आसीना उपविष्टा वयं भवामः ॥ २१ ॥

किञ्च पुंसां सत्त्वहरं तपआदिसारहरमत एव दुस्तरमुपायान्तरैस्तर्तु जेतुमशक्यं कलिं निस्तितीर्षतां तर्तुमिच्छतां नोऽस्माकं अर्णवं सागरं निस्तितीर्षतां जनानां कर्णधार इव त्वं धात्रा ईश्वरेण सन्दर्शितः, उपायत्वेनेति शेषः। दैववशादिदं सम्पन्नमिति भावः ॥ २२ ॥

स्वस्ववर्णाश्रमधर्मेणैव कलिं तरतः किं हरिकथाश्रवणेनेति इमां शङ्कां निराकुर्वन्तः प्रश्न मुपसंहरन्ति — **ब्रूहीति**। ब्रह्मणि ब्रह्मकुले साधुः ब्रह्मण्यः तस्मिन् धर्मवर्मणि धर्मस्य वर्मवत्कवचवत् पालके योगेश्वरे भक्तियोगाराध्ये श्रीकृष्णेऽधुना स्वां काष्ठा मभियोगप्रकर्षं स्वां दिशं वा वैकुण्ठलोकमिति यावत्। उपेते गते सति

**धर्मः वर्णाश्रमानुकूलः कं कृष्णादन्यं कं शरणं रक्षितारं गतः गच्छेत् न कमपीत्यर्थः। अधुना धर्मगोप्तुरभावात् कलिनाऽभिभूतो धर्मस्तं जेतुमप्रभुः। अतः केवलं कलिघ्नं भगवच्चरितमेव ब्रूहि इत्यर्थः॥ १३॥**

इति श्रीवत्सान्वयपयःपारावार राकासुधाकरस्य सर्वविद्यानिधे श्चक्रवर्तिनः श्रीशैलगुरोः सुतेन
तत्त्परणकमलपरिचर्याप्रसादित तत्सूक्तिसमधिगत श्रीमद्भागवतार्थहृदयेन श्रीवैष्णवदासेन, श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां
श्रीमद्भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां श्रीमद्भागवतव्याख्यायां प्रथमस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

---

1. W adds नितरां

**विज०** दीर्घसत्रे दीक्षितानामस्माक हरिकथाश्रवणावसरोऽस्तीत्याहुरित्याह — **कलिमागतं** इति। आगतं **प्रविष्टं** कलिमाज्ञायाऽस्मिन् वैष्णवे क्षेत्रे दीर्घसत्रेणाऽऽसीनाः व्यापारान्तरं विहाय वयं हरेः कथायां कथाश्रवणे सक्षणाः सावसरा इत्येकान्वयः॥ २१॥

पुंसां सत्त्वगुणहरं दुस्तरं तर्तुमशक्यं कलिं निस्तितीर्षतां नितरां तर्तुमिच्छतां नः हे सूत! त्वं धात्रा दैवेन सन्दर्शितः। क इव? दुस्तरमर्णवं निस्तितीर्षतां सांयात्रिकाणां कर्णधार इव। कर्णधारो यूपकाग्रस्थायी पुरुषः॥ २२॥

प्रश्नान्तरं कुर्वन्तीत्याह — **ब्रूहीति**। अधुना धर्मरूपाणि कर्माणि यस्य स धर्मकर्मा तस्मिन्। ब्रह्मण्ये ब्राह्मणहितकारिणि अणिमाद्यष्टयोगेश्वरे भक्तिज्ञानलक्षणयोगे वा योगीश्वरे वा। "कृषि र्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयो रैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते" (भार. 5-68-5) इति वचनात्सच्चिदानन्दलक्षणे कृष्णे स्वां काष्ठां गुणपूर्णस्वरूपमुपेते गतवति सति। पूर्वनिर्दिष्टो धर्मः भक्तिज्ञानलक्षणः। कं पुरुषं शरणं गत इति तं अस्माकं **ब्रूहीत्येकान्वयः**। "पुंसा मेकान्ततः" इति श्रेयस्साधनविषयः (१); "ब्रूहि भद्राय" इति प्रत्यगात्मविषयः (२); "**अर्ह स्यङ्गानुवर्णितुं**" इति कृष्णावतारविषयः (३); "ब्रूहि नः श्रद्दधानानां" इति यशोविषयः (४); "अथाऽऽख्याहि" **इत्यवतारान्तरविषयः** (५); "ब्रूहि योगेश्वर" इति धर्मविषयः (६); — एवं षट् प्रश्नाः॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां सहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
प्रथमस्कन्धे प्रथमो ऽध्यायः॥ १॥

**रा० कृ०** कलिमागतं विज्ञाय हरेः कथायां सक्षणाः सावसराः लब्धावसराः अस्मिन् वैष्णवे क्षेत्रे दीर्घसत्रेण हेतुना आसीनाः वयमुपविष्टाः स्मः॥२१॥

सत्त्वहरं सत्त्वगुणहरं कलिं निस्तितीर्षतां नितरां तर्तुमिच्छतां नः अस्माकं त्वं दुस्तरं अर्णवं निस्तितीर्षतां पुंसां कर्णधार इव धात्रा सन्दर्शितः। देवकीवसुदेवतनयत्व भौतिकदेहसञ्चारादिभिः मानवत्वेन प्रतीयमानः कपटमानुषः।

देहरामणीयकत्वयोनामबान्धव्याद्यनावश्यकविषयैः पिहितः विस्मृतप्रायो गूढः। असद्विषया अपि भागवतजनेषु सत्प्रयोजनपर्यवसायिनो भवन्ति। ते कलेरागमनं दुःखनिदानं न मन्यन्ते। न वा तन्निन्दन्ति। अपि तु यज्ञार्थकर्माचरणशीलाः विष्णुकथाश्रवणपरायणाश्च भवन्ति ॥ २२ ॥

धर्मवर्मणि धर्मस्य कवचवद्रक्षके ब्रह्मण्ये ब्रह्मकुलहितकारिणि योगेश्वरे कृष्णे स्वां काष्ठां स्वस्वरूपं उपेते अधुना धर्मः कं शरणं गतः ? ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां व्याख्यायां
प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

---

# द्वितीयोऽध्यायः

## व्यास उवाच

इति सम्प्रश्नसंहृष्टो[1] विप्राणां रौमहर्षणिः ।
प्रतिपूज्य वचस्तेषां प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥

## सूत उवाच

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु[2] स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥ २ ॥

यः स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेकमध्यात्मदीपमतितितीर्षतां[3] तमोऽन्धम् ।
संसारिणां करुणयाऽऽह पुराणगुह्यं तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम् ॥ ३ ॥

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं[4] ततो जयमुदीरयेत्[5] ॥ ४ ॥[6]

---

1. H सम्पृष्ट सम्प्रश्नः ; M सम्प्रश्न सम्पृष्टः ; V सम्प्रश्न सन्तुष्टः 2 M °ऽपि 3 H,V °मतितीरषतां 4 B चैव 5 M ग्रन्थ° 6 H,M °मुदीरये

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

[1]तदेवं प्रथमेऽध्याये षट् प्रश्नाः मुनिभिः कृताः ।
द्वितीये तूत्तरं सूतश्चतुर्णामाह तेष्वथ ॥

**इतीति ।** विप्राणाम् इति एवंभूतैः सम्यक्प्रश्नैः सम्यक् पृष्टैः[2] रोमहर्षणस्य पुत्तः उग्रश्रवाः[3] तेषां वचः प्रतिपूज्य सत्कृत्य प्रवक्तुमुपचक्रमे उपक्रान्तवान् ॥ १ ॥

प्रवचनस्योपक्रमो नाम[4] गुरुदेवतानमस्कार इति[5] तमाह — **यमिति** त्रिभिः। तत्र स्वगुरोः शुक[6] स्यैश्वर्यं तच्चरितेनैव द्योतय न्नाह — यमिति। यं प्रव्रजन्तं[7] सन्यस्य गच्छन्तं अनुपेतं मामुपनयस्वेत्युपनयनार्थ-माचार्यमनुपसन्नम्[8], यद्वा केनाप्यनुपेत मननुगतमेकाकिनमित्यर्थः। तत्र हेतुः अपेतकृत्यं कृत्यशून्य कर्ममार्गे अप्रवर्तमानं नैष्ठिकत्वात्। द्वैपायनो व्यासः विरहात् कातरो भीतस्सन् पुत्र ३ इति प्लुतेन आजुहाव आहूतवान्। दूरादाह्वाने प्लुतेः[10] सत्यपि सन्धिरार्षः। तदा तन्मयतया शुकरूपतया तरवोऽभिनेदुः प्रत्युत्तरमुक्तवन्तः। पितुः स्नेहानुबन्धपरिहाराय यो

वृक्षरूपेणोत्तरं दत्तवानित्यर्थः। तं मुनिं आनतोऽस्मि। तन्मयत्वोपपादनाय विशेषणम्[11]। सर्वभूतानां हृत् मनः अयते योगबलेन प्रविशतीति सर्वभूतहृदयः तम् ॥ २ ॥

तत्कृपालुतां दर्शयन्नाह — **य इति**। अन्धं गाढं तमः संसाराख्यं[12] मतितर्तुमिच्छताम् ।[13] पुराणानां मध्ये गुह्यम् गोप्यम्। तत्र हेतुत्वेन चत्वारि विशेषणानि। स्वो निजोऽसाधारणोऽनुभावः प्रभावः यस्य तत् स्वानुभावम्। अखिलश्रुतीनां सारम्। एकमद्वितीयमनुपममित्यर्थः। आत्मानं कार्यकारणसङ्घातमधिकृत्य वर्तमानमात्मतत्त्वमध्यात्मं तस्य दीपं साक्षात्प्रकाशकम् उपयामि शरणं व्रजामि ॥ ३ ॥

[14]जयत्यनेन संसारमिति जयो ग्रन्थः, तं उदीरयेदिति[15] स्वयं तथोदीरयन् अन्यान् पौराणिकानुपशिक्षयति ॥ ४ ॥

---

1 H.V begin with शास्त्रौघपारः श्रीकृष्णकृत्यं सृष्ट्यादिकेलयः। अवतारकथाः कृष्णवृत्तयो धर्मरक्षणम् ॥ 2 V तु° 3 H V add सूतः 4 B adds अत्र 5 H.V add अभिप्रेत्य 6 H.V शुकदेव° 7 H.V add सर्वं 8 H V °समीप मनुपपन्नम् 9 H.V add (उपनयनकर्मणोऽप्यनर्हवयस्कत्वात् विशेषतो बाल इत्यभिप्रायः) 10 H.V ("दूराद्धूते च" इति सूत्रात्) प्लुतेन "प्लुतप्रगृह्या" इति सूत्रेण सन्ध्यभावे प्राप्ते सन्धि रार्षः। (यद्वा पुत्रेति आदिमगुरुवर्णस्य 'गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम्" इति सूत्रेण प्लुतत्वाङ्गीकारे नात्र सन्ध्यभावः शङ्कनीयः।) 11 H.V add सर्वभूतहृदयमिति। 12 H.V add °मतितीरषता° 13 H.V add रेफषकारयोः विश्लेषणं छान्दसम्। 14 H.V begin with एवं द्वाभ्यां गुरुं नमस्कृत्य देवं प्रणमति नारायणमिति। 15 H °ये इति

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं संपृष्टः[1] निश्श्रेयससाधन तदनुग्राहकप्रधानतम श्रीकृष्णचरित्रं सूतः शौनकादीनां प्रश्नमभिनन्दयन्[3] तेषामुत्तररूपं श्रीभागवताख्यं पुराणमाहेत्याह बादरायणः — **इतीति**। अत्र श्रीसूत उवाच इति संप्रश्नसम्पृष्ट इति क्वचित् पाठो दृश्यते, सच्चासङ्गतः; इतीत्यादिश्लोकस्य सूतोक्तित्वाभावात्। यं प्रव्रजन्तमित्यादिर्हि सूतोक्तिः। अतस्ततः प्रागेव सूत उवाचेति पठितुं युक्तम्। इह तु श्रीव्यास उवाचेति। इतीत्थं विप्राणां शौनकादीनां तैः **प्रश्नैः** संहृष्टो रौमहर्षणिः रोमहर्षणस्यापत्यं पुमान् सूतः तेषां विप्राणां वचः प्रश्नात्मकं वचः प्रतिपूज्य अभिनन्द्य **प्रतिवक्तुं** प्रतिवचनरूपपुराणमिदं वक्तुं उपचक्रमे आरेभे। विप्राणां इत्यनेन सापेक्षस्यापि सम्प्रश्नशब्दस्य नित्यसापेक्षत्वादार्षत्वा - द्वाऽसमासः। तेषां विप्राणां वचः प्रतिपूज्येति वाऽन्वयः। सम्प्रश्नसंपृष्ट इति पाठान्तरम्। तदा समीचीनः **प्रश्नो** यस्य तस्मै प्रतिवचनाय संपृष्टः प्रत्युत्तरं वक्तुं पृष्टः इत्यर्थः। यद्वा विप्राणां इत्यस्य वच इत्यनेनैवान्वयः। सं शोभनाः प्रश्नाः येषां तैः शौनकादिभिः संपृष्ट इत्यर्थः ॥ १ ॥

प्रश्नानाम् उत्तररूपमिदं पुराणं शुश्रावयिषुरन्यैरपि श्रावयितृभिरेवं कार्यमिति सूचयितुमेतत्पुराण-प्रथमप्रवर्तकत्वरूपमहोपकर्तृ बादरायणिरूप गुरुनमस्कार[5] तच्चरणवरणात्मकं मङ्गलमाचरति सूतः — **यं प्रव्रजन्तमिति** द्वाभ्याम्। द्वैपायनः श्रीव्यासः विरहकातरस्सन् यं पुत्रेत्याजुहाव आहूतवान्। तदा तन्मयतया तरवोऽभिनेदुः तं सर्वभूतहृदयं मुनिं आनतोऽस्मीत्यन्वयः। कथम्भूतम्? प्रव्रजन्तं, तदैव[6] पित्रादीन् परित्यज्य व्रजन्तम्। अनुपेतं उपेतरहितं

असहायं इत्यर्थः। अपेतं कृत्यं यस्य तं कर्तव्यांशरहितं निष्पन्नब्रह्मोपासनत्वात् कृतकृत्यमिति भावः। प्रव्रजन्तमित्यनेन देहानुबन्धित्याग उक्तः। अनेन ममताराहित्यं फलितम्। अनुपेतमित्यनेनासहायत्वमुक्तम्। अनेन देहपोषकसहायान्तर-राहित्यं सूचितम्। तेन च देहात्मभ्रमरूपाहङ्काराराहित्यं फलितम्। द्वैपायनो विरहकातर आजुहावेत्यनेन द्वैपायनादप्यतिश-यितज्ञानवत्त्वं सूचितम्। यद्यपि पुत्रेत्यस्य दूरादाह्वानविषयवाक्यत्वात्[7] "दूराद्धूते च" (अष्टा. 8-2-84) इति प्लुतत्वे सति "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्।" (अष्टा. 6-1-125) इति प्रकृतिभावे च सति सन्धिः दुर्लभः। तथाऽपि "गुरोरनृत" (अष्टा. 8-2-86) इत्यत्र प्राचामिति योगं विभज्य सर्वस्य प्लुतस्य वैकल्पिकत्वाभ्युपगमात्, "अग्नीत्प्रेषणे परस्य च" (अष्टा. 8-2-92) इति सूत्रे "सर्वः प्लुतः साहसमनिच्छता विभाषा कर्तव्यः" इति महाभाष्यकारोक्तेश्च (अष्टा. 8-2-92 महाभाष्यम्) प्लुताभावपक्षे सन्धिः सुलभ एवेति बोध्यम्। साहसं शास्त्रत्यागः तदनिच्छता शास्त्रमनुरुन्धानेनेत्यर्थ इति हरदत्तो व्याख्यादिति केचित्। (प. म. अष्टा. 8-2-92) वस्तुतस्त्विति शब्दस्यैव वाक्यान्तत्वेन पुत्रशब्दे प्लुतप्रसङ्ग एव नास्ति। अनुकार्यस्य पुत्रशब्दस्य सम्बोधनविषयत्वे पुत्रानुकरणस्य तस्य तदभावाच्च। तन्मयतयेत्यत्र मयट् प्राचुर्ये सम्बन्धमात्रे वा; तत्प्रचुरतया तत्सम्बन्धितया वा तरवोऽभिनेदुः शुकात्मका वयं इत्येवंरूपेण प्रतिदध्वनुरित्यर्थः। तत्प्राचुर्यं च तरूणां[8] शुकेन[9] व्याप्याऽधिष्ठितत्वा दव-गन्तव्यम्। सम्बन्धमात्रे मयट्पक्षेऽपि ज्ञानद्वाराऽधिष्ठेयभावरूप एव सम्बन्धो[10] बोध्यः; स्वरूपेण[11] तर्वधिष्ठातृत्वासम्भवात्[12], "एषोऽणुरात्मा" (मुण्ड. उ. 3-1-9) "आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः" (श्वेता. उ. 5-8) इत्यादिभिः श्रुतिभिर्जीवस्वरूप - स्याणुत्वावगमात्, तत्स्वरूपेणानेकाधिष्ठातृत्वासम्भवात्। यद्यपि धर्मभूतज्ञानस्यापि "स चानन्त्याय कल्पते" (श्वेता. उ. 5-9) इत्यादिश्रुतिभिः मुक्तिदशायामेव आनन्त्यमवगतं; तथाऽपि, शुकस्य परिनिष्पन्नब्रह्मोपासनत्वेन मुक्तानामिव निवृत्तज्ञानसङ्कोचक कर्मरूपावरणत्वात् अपरिच्छिन्नधर्मभूतज्ञानद्वारा अनेकतर्वधिष्ठातृत्वं उक्तम्। यत एव तन्मयतया तरवोऽभिनेदु रत एव सर्वभूतहृदयं सर्वभूतानां हृद्यते[13] गच्छति ज्ञानद्वारा व्याप्नोतीति सर्वभूतहृदयः तम्। अयगताविति धातुः। यद्वा सर्वभूतानां हृदयं यस्य ज्ञानद्वारा व्याप्यं स सर्वभूतहृदयः तम्। यद्वा, हृदयशब्देन धर्मभूतं ज्ञानं लक्ष्यते, हृदयस्य ज्ञानसाहचर्यात्। सर्वभूतेषु हृदयं धर्मभूतं ज्ञानमधिष्ठानं[14] यस्य सः तं मुनिं स्वात्मपरमात्म याथात्म्यमननशीलं श्रीशुकं इति विशेष्यं अध्याहार्यम्। आनत इति कर्तरि क्तः, नमस्कृतवानस्मी त्यर्थः ॥२॥

**य** इति। यः करुणया पुराणगुह्यम्। "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" (अष्टा. 2-1-57) इति बहुलग्रहणात् विशेष्यस्यापि पुराणशब्दस्य पूर्वनिपातः। गुह्यं पुराणम्।[15] पुराणगतं गुह्य माह, तं मुनीनामपि गुरुं व्याससूनुं उपयामि शरणं व्रजामि। पुराणं कथम्भूतम्? स्वानुभावं स्वेन शुकेनानुभावम्— कर्मणि घञ्— प्रथममनुभूतमित्यर्थः। अखिलानां[16] श्रुतीनां सारो यस्मिन्, प्रतिपाद्यः सः। तथा वेदपूर्वभागार्थभूतकर्मणामप्युत्तरत्र[17] पुराणे भगवदाराधनरूपतायाः तत्र तत्र प्रतिपादनादखिलश्रुतिसारमित्युक्तम्। एवं स्वतुल्याधिकपुराणान्तररहितम्। अध्यात्मदीपम्। आत्मन्यधीत्यध्यात्ममिति विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। स्वात्मपरमात्मयाथात्म्यप्रकाशने दीपतुल्यमित्यर्थः। अतितितीर्षतां संसृतिं तर्तुमिच्छारहितानामपि संसारिणां तमोऽन्धं तमः संसृतिरुचिजनकं अज्ञानम् अन्धयति तिरोधापयति निवर्तयतीति तथा॥ ३॥

एवं श्रावयितृभिः आदौ महोपकर्तुः बादरायणेः नमस्कारात्मकं मङ्गलं अनुष्ठेयमिति सूचितम्। न केवलं बादरायणिरेव नमस्कार्यः, अपित्वन्येऽपि नारायणादय इत्यभिप्रायेणाऽऽह — **नारायणमिति**। नारायणादीन्नमस्कृत्य ततो जयमुदीरयेत् कथयेत् श्रावयेत् इति यावत्। जयमित्यस्यैव पुराणस्यान्वर्थं नामान्तरं, अखिलदुरितजयाविनाभूतत्वात् जयमिति। तत्र नरनारायणयोः बदर्याश्रमवासिनोः भगवदवतारभूतयोः "यो वै भारतवर्षेऽस्मिन् क्षेमाय स्वस्तये नृणाम्। धर्मज्ञानसमन्वितेपेत आकल्पादास्थितस्तपः (भाग. 10-87-6) इति वक्ष्यमाणरीत्या शिष्याचार्यरूपेण स्वानुष्ठानद्वाराऽखिलधर्म प्रवर्तकत्वेन नारदादिमुखेनाखिलाध्यात्मशास्त्रप्रवर्तकत्वेन च गुरूणामपि गुरुत्वेन महोपकर्तृत्वात् तन्नमस्कृतिरवश्यं कार्येति भावः। वागधिष्ठातृदेवतात्वात् सरस्वती नमस्कार्येत्यभिप्रायेण सरस्वतीमित्युक्तम्। देवस्य चतुर्मुखस्य स्त्री देवी ताम्। "पुंयोगादाख्यायाम्" (अष्टा. 4-1-48) इति ङीष्। अत्र सरस्वत्याः चतुर्मुखसम्बन्धप्रत्यायक देवीत्वविशेषणेन चतुर्मुखनमस्कृति रपि कार्येति सूचितम्। चतुर्मुखो हि अनिरुद्धाख्य भगवत्तुरीयव्यूह नाभिकमलसम्भूत तपस्तोषितानिरुद्धोपदिष्ट भागवतचतुश्लोकी कृत्स्नैतत्पुराणनिदानभूतां नारदायोपदिदेश। अतः सोऽपि महा नुपकर्तैव गुरु श्चेति नमस्कार्य इत्यभिप्रायः। अनेनैव अनिरुद्धनारदयोरपि नमस्कार्यत्वं अर्थसिद्ध वेदितव्यम्। अनिरुद्धा च्चतुश्श्लोक्यधिगमो नारदाय तदुपदेशश्च द्वितीये स्पष्टीभविष्यति। नारदा च्चतुश्श्लोकी मधिगम्य, कार्त्स्न्येन एतत्पुराणनिर्मातृत्वेन उपकर्तृतमत्वात् व्यासो नमस्कार्य इत्यभिप्रायेण व्यासमित्युक्तम्। तत्रायं क्रमो विवक्षितः — तावन्नमस्कार्यः शुकस्ततो व्यासस्ततो नारदस्ततः सरस्वतीतद्वल्लभौ ततोऽनिरुद्धः ततश्च नरनारायणा विति ॥ ४ ॥

1 W संपृष्टनिःश्रेय° 2 W °चरित्रसूतः 3. W °श्नान° 4 W संप्रश्नैःसमीचीनैः 5 A,B °रः 6 A,B दैवपैत्राद्दीन् 7 W °वयस्थ° 8. W adds तेन 9. W adds ज्ञान° 10. W °ऽधिष्ठात्रधिष्ठेय° 11. W °धोऽत्र 12. W सर्वा° 13. W °द° 14 W °तृ 15. W adds यद्वा 16. A,B omit श्रुतीनां 17 W °प्यत्र 18. W °नीत्यध्यात्मम 19. A,B °धायय° 20. W °धा°

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

शौनकादिविप्राणामिति पूर्वोक्तैः षड्भिः समीचीनैः प्रश्नैः सम्यक् पृष्टो रोमहर्षणस्य अपत्यं रौमहर्षणिः सूतः तेषां शौनकादीनां वचः प्रतिपूज्य, प्रवक्तुं व्याख्यातुं उपचक्रमे इत्येकान्वयः। एतत् व्यासवचनम् ॥ १ ॥

शौनकादि प्रश्नपरिहारतया भागवतपुराणं व्याकर्तुकामः उरुश्रवाः स्वेष्टगुरुं रुद्रावतारं श्रीशुकमुनिं प्रणमति — **यमिति**। विरहकातरः पुत्रवियोगे कातरः अधीर इव स्थितः सः द्वैपायनो यदा प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं पुत्रेत्याजुहाव, तदा तन्मयतया तरवोऽपि नेदुः, अहं सर्वभूतहृदयं तं मुनिं सर्वज्ञं आनतोस्मीत्येकान्वयः। द्वीपो नदीमध्यप्रदेशः, सः अयनं आलयः यस्य सः तथा द्वीपायनः स एव द्वैपायनः द्वीपस्यापत्यं द्वैपायनः नदीद्वीपे समुत्पन्नत्वात्तदपत्यत्वनिर्देश औपचारिकः। तद्वत्पराशरसुतत्वमपि औपचारिकमिति ज्ञापयितुं एतदेव प्रसिद्धनामाऽकरोत्। प्रव्रजन्तं सर्वपरित्यागरूपमाश्रममाश्रयन्तम्। तत्र कारण माह — अनुपेतं देहाद्यभिमानशून्यं, केनापि सख्या रहितं एकाकिनमिति वा। न च उपनयनशून्योऽनुपेतः अनुपनीतस्य प्रव्रजनायोगात्। न च प्रव्रजनं सन्न्यासः, किं तर्हि ?

**प्रकर्षेण** गमनमेवेति वाच्यम्; "यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्"* इति गौतमसूत्रविरोधात्। (अपेतं) अपगतं **कृत्यं** यस्मात्सोऽपेतकृत्यः तं कृतकृत्यम्। अपेतं निराकृतं कृत्यं छेदनकर्म येन स तथा अवाप्ताहिं-**सालक्षणाश्रमत्वात्तमिति** वा। पुत्रेति दूरादाह्वाने प्लुताभावः छान्दसः। सर्वगतत्वज्ञापनाय वा तन्मयतया **अहङ्कारात्मकरुद्रावतारशुकस्य** व्याप्तिमत्तया वृक्षा अपि प्रतिशब्दं नेदुः, किमुत शरीरिण इति द्योतयितुं अपिशब्दः। **सर्वभूतानां** हृत्स्थान मयते गच्छतीति सर्वभूतहृदयः तं अहङ्कारतत्त्वाभिमानित्वेन सर्वत्र स्थितमित्यर्थः॥ २॥

पुनरपि भक्त्युद्रेकात्तमेव प्रणमति — **य** इति। यः स्वानुभावं अनन्याधीनसामर्थ्यं ब्रह्म [1]आह उपादिशत्, **य श्चान्धं** तमः अन्धत्वापादकं अज्ञानं तितीर्षतां तर्तुमिच्छतां संसारिणां जीवानां करुणयाऽखिलानां श्रुतीनां **अर्थज्ञापकतया** सारं उत्तमम्। अखिलस्य जगतः श्रुतेः श्रवणेन्द्रियस्य सारं सुखदं वा। एकं सकलपुराणोत्तमम्। **देहादीश्वरपर्यन्ततत्त्वानि** दीपयति प्रकाशयती त्यध्यात्मदीपम्। पुराणगुह्यं पुराणेषु गोप्यं, पुराणस्य भगवतः सन्निधातुं **योग्यमिति** वा। भागवताख्यं पुराणं मम व्याचख्यौ। मुनीनां गुरुं तं व्याससूनुं श्रीशुकं उपयामि शरणं **गच्छामी** त्येकान्वयः। अखिलश्रुतीः सरति गच्छति विषयतयेत्यखिलश्रुतिसारः, **कर्मण्यण्प्रत्ययः**। वेदार्थं **सारभूतमिति** वा। अध्यात्मं देहः तत्र दीपवत् वर्तमानं पुराणेषु गोपितं स्वानुभावं ममोपदिदेशेति वा॥ ३॥

इष्टदेवतां शास्त्रगुर्वादीन् प्रणमति — **नारायणमिति**। नारायणं शास्त्रप्रतिपाद्यं तथा तमेव शास्त्रकर्तृत्वात् **गुरुं व्यासञ्च** नमस्कृत्य सकलभाग्यात्मिकां श्रियं देवीं तथा परमगुरुं नरोत्तमं वायुं तथा विद्याभिमानिनीं सरस्वतीं **तथोपसाधकं** नरं शेषं प्रणम्य ततः तेषां प्रसादात् श्रीभागवताख्यं ग्रन्थं उदीरये व्याख्यास्ये, भवत्प्रश्नपरिहारित्वेनेति **शेषः** इत्येकान्वयः। श्रीभागवतादिसर्वशास्त्रप्रवक्तृश्रोतृभिः ते अवश्यं नमस्कार्या इति द्योतयितुमेवेत्युक्तिः॥ ४॥

---

इदं जाबालोपनिषदि लभ्यते। (जाबा. उ. 4) 1. M adds मम

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

विप्राणां इति सम्प्रश्नसन्तुष्टः पूर्वोक्तसम्यक्प्रश्नैः **सम्यक्तुष्टः** रौमहर्षणिः रोमहर्षणात्मजः उग्रश्रवोनामकः सूतः विप्राणां तेषां वचः प्रतिपूज्य सत्कृत्य प्रवक्तुं उपचक्रमे प्रक्रान्तवान्॥१॥

प्रवचनादौ गुरुं श्लोकद्वयेन, देवताश्च श्लोकेनैकेन नमस्करोति।

प्रव्रजन्तं सर्वसङ्गान् परित्यज्य गच्छन्तं केनाऽपि अनुपेतं अननुसृतं एकाकिन मिति भावः। अपेतकृत्यं कर्तव्यविरहितं यं शुकयोगिनं द्वैपायनो विरहकातरः पुत्रवियोगभीतस्सन् पुत्र! इति आजुहाव आहूतवान्। तन्मयतया **शुकरूपतया** तरवः अभिनेदुः प्रतिवचनं अवोचन्; सर्वभूतहृदयं सर्वभूतात्मभूतात्मानं तं मुनिं शुकं आनतोऽस्मि प्रणतोऽस्मि।

व्यासस्य शुके पुत्रभावना। शुकस्य तु सर्वं ब्रह्ममयमेव। अपि च ब्रह्मवित् शुको भूतमयः। तस्मात्तरवः तन्मयतां प्राप्य व्यासाय प्रतिवचनं अयच्छन्। पुत्रमपि परब्रह्मतादात्म्यभावनाविलसितं अनुसरता व्यासेन प्रोक्तं भागवतं ब्रह्मतत्त्वप्रबोधप्रधानं इति गम्यते। तेन च सर्वभूतमनोहारिणि ब्रह्मभूते शुके व्यासस्य स्नेहः न प्राकृतमोहः, अपि तु स्पृहणीयः परमपुरुषव्यामोह इति विवेकः ॥ २ ॥

अन्धं सर्वावरकं गाढं तमः अज्ञानमयं संसारं अतितितीर्षतां अतितर्तु इच्छतां संसारिणाम्। करुणया तेषु करुणया स्वानुभावं असाधारणप्रभावं अखिलश्रुतिसारं सर्ववेदसारभूतं एकं अद्वितीयं अध्यात्मदीपं आत्मतत्त्वस्य दीपं प्रकाशकं पुराणगुह्यं पुराणानां मध्ये गोप्यं यः आह उपादिशत्, मुनीनां नारदव्यासादीनामपि गुरुं तं व्याससूनुं शुकं उपयामि शरणं गच्छामि।

अत्र सर्ववेदसारभूतं गुह्यं आत्मतत्त्वम। आत्मा च सर्वसृष्ट्यन्तर्यामी अह मित्याकारकः प्रकाशः। आत्मतत्त्वप्रकाशेन संसारतमोनाशः। सृष्टिविषयकोऽस्मदभिप्रायसमाहारः संसारः। तन्निवृत्तेः सृष्टौ आत्मसाक्षात्कारः। तदावश्यकोपदेशे शुकयोगी निरुपमः तस्मा दयं मुनीनां गुरुरिति प्रस्तुतः ॥ ३ ॥

नारायणं, नरोत्तमं नरं, देवीं सरस्वतीं, व्यासं च नमस्कृत्य ततोऽनन्तरं जयं संसारतरणसाधनं ग्रन्थं उदीरयेत्।

अत्र नरनारायणौ सृष्टिश्रेयसे तपसि स्थितौ द्वौ ऋषी। तौ न केवलं शरीरधारिणौ अपि तु जीवेषु प्रज्ञारूपेण व्याप्तुतः। तदंशसञ्जातौ कृष्णार्जुनौ ॥ ४ ॥

**मुनय स्साधु पृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमङ्गलम्।**
**यत्कृतः कृष्णसंप्रश्नो येनात्मा[1] सु[2]प्रसीदति ॥ ५ ॥**

**स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।**
**अहैतुक्य[3]प्रतिहता ययाऽऽत्मा[4] स[5]म्प्रसीदति ॥ ६ ॥**

**वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।**
**जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च[6] यदहैतुकम् ॥ ७ ॥**

**धर्मं स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन क[7]थासु यः।**
**नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥ ८ ॥**

***श्रुतमप्यौपनिषदं दूरे हरिकथामृतात्।**
**यत्र सन्ति द्रवच्चित्तप्रेमाश्रुपुलकोद्गमाः ॥**

---

1. M °त्माऽऽशु 2. $V_F$ सं° 3 M °क्यव्यवहिता 4 M °त्माऽऽशु 5. B,H,I,V सुप्र° 6 N,$V_F$ यत्तद° 7 M कथाश्रयाम् * H.V add this v. Sridhara's commentary and the commentary of Sri Radhakrishna Sarma are to be found at respective places

**श्रीध०** तेषां वचः प्रतिपूज्येति यदुक्तं तत्प्रतिपूजनं करोति — **मुनय इति**। हे मुनयः! साधु यथा भवति तथाऽहं पृष्टः। यतो लोकानां मङ्गलमेतत्। यत् यतः कृष्णविषयः सम्प्रश्नः कृतः। सर्वशास्त्रार्थसारोद्धार-प्रश्नस्यापि कृष्णे पर्यवसानात् एवमुक्तम् ॥ ५ ॥

तत्र यत् प्रथमं पृष्टं सर्वशास्त्रसारमैकान्तिकं श्रेयो ब्रूहीति, तत्रोत्तरम् — **स वै पुंसा** मिति। अयमर्थः — धर्मो द्विविधः प्रवृत्तिलक्षणः निवृत्तिलक्षणश्च[1]। तत्र यः स्वर्गाद्यर्थः प्रवृत्तिलक्षणः, सोऽपरः। यतस्तु धर्मात्[2] श्रवणादरादिलक्षणा[3] भक्तिः भवति, स परो धर्मः; स एवैकान्तिकं श्रेय इति। कथं भूता[4]? अहैतुकी, हेतुः फलानुसन्धानं तद्रहिता अप्रतिहता विघ्नैरनभिभूता ॥ ६ ॥

ननु "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" (बृह. उ. 4-4-22) इत्यादिश्रुतिभ्यो धर्मस्य ज्ञानाङ्गत्वं प्रसिद्धम्। तत्कुतो भक्तिहेतुत्वमुच्यते? सत्यम्[5]। तत्तु भक्तिद्वारेणेत्याह — **वासुदेव** इति। अहैतुकं शुष्कतर्काद्यगोचरम् औपनिषदमित्यर्थः ॥ ७ ॥

व्यतिरेकमाह — **धर्म** इति। यो धर्म इति प्रसिद्धः स यदि विष्वक्सेनस्य कथासु रतिं नोत्पादयेत्तर्हि स्वनुष्ठितोऽपि सन् अयं श्रमो ज्ञेयः। ननु मोक्षार्थस्यापि धर्मस्य श्रमत्वमस्त्येव। अत आह — केवलं विफलः श्रम इत्यर्थः। ननु अस्ति तत्रापि स्वर्गादिफलम् इत्याशङ्क्य एवकारेण निराकरोति। क्षयिष्णुत्वात् न तत् फलम् इत्यर्थः। ननु "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति" (आ. श्रौ. सू. 8-1-1) इत्यादि श्रुतेः न तत्फलस्य क्षयिष्णुत्वं इत्याशङ्क्य हिशब्देन साधयति, "तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते"[7] (छान्दो. उ. 8-1-6) इति तर्कानुगृहीतया श्रुत्या-क्षयिष्णुत्वप्रतिपादनात्[8] ॥ ८ ॥

ननु वेदान्तश्रवणादिभिरेव तत्त्वसाक्षात्कारः स्यात्। किं भक्त्या? अत आह — **श्रुतमिति**। यत् यस्य पुंसः हरिकथामृतात् आस्वाद्यमानात् द्रवच्चित्तं प्रेमाश्रुपुलकोद्गमाश्च वा न सन्ति, तस्य औपनिषदं आत्मतत्त्वं श्रुतमपि दूरे परोक्षे इत्यर्थः ॥

---

1 H.V add इति 2 V adds निवृत्तिलक्षणात् 3 B कृष्णे श्रवणादिल° 4 H °तः 5 H °र्वं 6 H.V add हि यस्मात् 7 B.H.V add एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते 8 H.V फलस्य क्षयिष्णुत्वावगमात् इति हिशब्दस्यार्थः; उक्तफल प्रतिपादनात्।

**वीर०** तदेवं "मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम्। जपतां जुह्वतां नित्यं विनिपातो न विद्यते"* इत्युक्तरीत्या कृतगुरुदेवतोपासनात्मकमङ्गलस्तावत् प्रश्नं अभिनन्दति — **मुनय** इति। हे मुनयः! भवद्भिः साधु यथा भवति तथा लोकमङ्गलं[1] प्रत्यहं पृष्टः। पृच्छति द्विकर्मकः वक्तृकर्मको वाच्यकर्मकश्चेति। तत्र लोकमङ्गलमिति वाच्यकर्मोच्यते। तस्य अनभिहितत्वात् द्वितीया। वक्तृकर्मणस्त्वहं शब्दार्थस्य 'क्त' प्रत्ययेनाभिहितत्वात् प्रथमा प्रयुक्ता। लोकमङ्गलमिति प्रश्नसाधुत्वे[2] हेतुः। लोकमङ्गलविषयकत्वात् प्रश्नः[3] कृतः "मङ्गलानां च मङ्गलम्" (भार.

13-135-10) इत्युक्तरीत्या निरतिशयैः मङ्गलस्वरूपकृष्णविषयकसम्प्रश्नः कृतः। ततो लोकमङ्गलमह पृष्ट इत्यर्थः, कृष्णसम्प्रश्नस्य लोकमङ्गलविषयत्वमेवोपपादयति। येन कृष्णेन तद्विषयकप्रश्नेन वा हेतुना चाऽऽत्मा चित्तं सुष्ठु प्रसन्नं भवति प्रश्नोत्तराभ्यां सस्वरूपगुणविभूतिः कृष्णोऽनुसंहितः चित्तगतमालिन्यं अपनयति[5] चित्तप्रसादादैव लोकानां सर्वाणि मङ्गलानि सुलभान्येवेति भावः ॥ ५ ॥

तत्र यत्तावत्पृष्टं भवता य द्विनिश्चितं "पुंसामेकान्ततः श्रेयस्तत्रः शंसितुमर्हसि" (भाग. 1-1-9) इति। किं निरतिशयं श्रेयः, को वा तत्साधनभूतो धर्मः श्रेष्ठ इति तत्र गर्भ[7] जरामरणाद्यनर्थरूपसंसृतिनिवृत्तिपूर्वकब्रह्मानन्दानुभवात्मको मोक्ष एव निरतिशयं श्रेयः। तत्साधनभूतधर्मश्च परब्रह्मोपासनात्मिका विजातीयप्रत्ययान्तराव्यवहिता प्रत्यक्षतापन्ना प्रीत्यात्मिका तद्भक्तिरेव। तत्रिष्पत्तिश्च अनभिसंहितफलैः वर्णाश्रमधर्मैः ज्ञानयोगशमदमादिभिः सत्सङ्गत्यादिप्रणाल्या[8] च भगवद्गुणश्रवणादि रुचिजननद्वारा भवतीति वक्तुं तावद्भक्तियोगानुग्राहक एव वर्णाश्रमप्रयुक्तो धर्मः श्रेष्ठः, तदन्यस्तु अभिसंहितफलः पुनः संसृतिहेतुत्वेनानर्थावह इत्याह — **स वा** इति त्रिभिः। यतोऽनभिसंहितफलाद्धर्माद्वर्णाश्रमानुगुणादनुष्ठितात्[9] अधोक्षजे भक्तिः भवति, स एव धर्मः परः उत्कृष्टः। भक्तिमपि विशिनष्टि — अहैतुकी फलोपाधिरहिता अप्रतिहता अन्तरायानुपहता। अव्यवहितेति पाठान्तरम्। तदा विजातीयप्रत्ययान्तराव्यवहिता। यया भक्त्या आत्मा सुप्रसीदति पूर्वाल्पभक्तिरुत्तरभक्तिप्रकर्षौपयिक मनोनैर्मल्यहेतुरित्यर्थः। यद्वा, ययाऽऽत्मा सुप्रसीदति इत्यनेन प्रीत्यात्मकत्वं उच्यते। अनुकूलज्ञानेनैव हि चित्तप्रसादः; प्रतिकूलेन तु चित्तविक्षेप एव। अनुकूलज्ञानमेव हि आनन्दः सुखं प्रीतिश्चेति पर्यायान्तरैः उच्यते। अव्यवहितेत्यनेन तैलधारावत् अविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपत्वं उक्तम् ॥ ६ ॥

ननु अव्यवहितेत्ययुक्तम्; शब्दादिविषयासक्तमनसां[11] अकामेनापि मध्ये मध्ये विषयान्तरानुध्यानव्यवहितत्वप्रसङ्गादिति शङ्कां निराकुर्वन्नुक्तभक्तेरेव विशेषणान्तरं आह — **वासुदेव** इति। भगवति षाड्गुण्यपरिपूर्णे वासुदेवे प्रयोजितो भक्तियोगः वैराग्यं आशु जनयति। "सर्वत्रासौ समस्तं[12] च वसत्यत्रैव वै यतः। ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिगीयते" (विष्णु. पु. 1-2-12) इति निरुक्तवासुदेवशब्देन सर्वान्तरात्मत्वं सर्वाधारत्वं, भगवच्छब्देन षाड्गुण्यपूर्तिश्चोक्ता। सर्वान्तरात्मकत्वेन निरतिशयत्वं[13] लब्धम्। आत्मैव हि निरतिशयप्रियः। एवमनेन पदद्वयेन शब्दादि लौकिकविषयेभ्यो वैलक्षण्यं अभिप्रेतम्। एवं च विषयस्य विलक्षणत्वादेव तदनुध्यानरूपो भक्तियोगः शब्दादिविषयेषु अनासक्तिरूपवैराग्यं आशु जनयति, कस्मिंश्चिद्विषये विलक्षणे अनुरागातिशयस्य[14] विषयान्तर वैतृष्ण्यावहत्वदर्शनात्। तस्माद्भक्तियोगनिष्ठमनसः शनैः विषयान्तरवैतृष्ण्य स्यार्थादेवोदयात् विषयान्तरानुध्यानाव्यवहितत्वं भक्तेः सम्पत्स्यत एवेति भावः। तथा यदहैतुकम्। "नाहं वेदैर्न[15] तपसा" (भ. गी. 11-53) इत्युक्तरीत्या भक्तिव्यतिरिक्तहेत्वन्तरालभ्यं[16] ज्ञानं[17] साक्षात्कारात्मकम्, तच्च जनयति। अनेन भक्तेः साक्षात्कारात्मकत्वं विशेषणं उक्तम् ॥ ७ ॥

तदेवं श्लोकद्वयेनोक्तविधभक्त्यनुग्राहक एवानभिसंहितफलवर्णाश्रमप्रयुक्तधर्मः श्रेष्ठ इत्युक्तम्। अथाऽस्य धर्मस्य भगवद्गुणादि[18] रुचिजननद्वारा भक्तियोगानुग्राहकत्वं वदन्नभिसंहितफलधर्मस्य श्रमफलकत्वं आह — **धर्म**

**इत्येकेन। यः सम्यगनुष्ठितोऽपि धर्मः पुंसां विष्वक्सेनस्य भगवतः कथासु रतिं रुचिं यदि नोत्पादयेत्तर्हि स धर्मः केवलं श्रम एव श्रमफलक एव, संसृतिरूपानर्थावह एवेत्यर्थः। रतिं नोत्पादयेदित्यनेन रत्येकप्रयोजनतया अनुष्ठितो धर्मः परः। ऐहिकामुष्मिकफलार्थस्तु श्रमफलक इति प्रतीतेः, फलानभिसन्ध्यभिसन्धिभ्यां धर्मस्य उत्कृष्टत्वापकृष्टत्वे वेदितव्ये॥ ८॥**

---

* मनु. स्मृ. 4-146 1 A B omit लोक .. प्रथमा प्रयुक्ता 2 W °त्वं° 3 W adds °साधुरित्यर्थः कथं प्रश्नस्य लोकमङ्गलविषयकत्वं? इत्यत आह यत्कृत° कृष्णसम्प्रश्न इति। य द्यस्मात् कृष्णविषयकः सम्प्रश्नः 4 W °यं° 5 W adds ततश्चित्तं सुप्रसीदति 6 W °दे च 7 W adds °जन्य° 8 W °त्सङ्गादि° 9 W °तत्त्व° 10 W adds पुंसां 11 W °सो 12 A °स्ते 13 W °शयप्रियत्वं 14 A.B °स्वनि 15 A.B वेदेन 16 A B °भ्य° 17 A.B °न° 18 W °द्गणश्रवणादि°

**विज०** सम्प्रति सूतः शौनकादिप्रश्नसंहृष्टः तत्प्रश्नं स्तौतीत्याह — **मुनय** इति। कृष्णविषयः समीचीनः प्रश्नः कृत इति यत् यस्मात्। अतोऽहं भवद्भिः साधु सर्वसाधनेषु उत्तमसाधनं प्रति पृष्टो न केवलं उभयेषां अस्माकं साधु, किन्तु, लोकं मङ्गलयतीति श्रवणमननाभ्यां कल्याणजनकत्वादित्यर्थः। कुतः? येन कृष्णसम्प्रश्नेनाऽऽत्मा परमात्मा मनो वा प्रसीदति तस्मादित्येकान्वयः॥ ५॥

भगवद्भक्तिजनकत्वात् कृष्णसम्प्रश्न एव परमधर्म इत्याह — **स वा** इति। यतः कृष्णसम्प्रश्नात् अधोक्षजे अहैतुकी अव्यवहिता भक्तिः भवति, पुंसां परमधर्मस्स वा इत्येकान्वयः। अक्षजन्यज्ञानं अधःकृत्वा, अतीत्य, वर्तत इत्यधोक्षजः। भगवत्प्रसादमन्तरेण काम्यफलहेतुशून्या अहैतुकी। विक्षेपादन्यप्रसङ्गादिव्यवधानशून्याऽव्यवहिता "नचान्योऽसा वन्योऽहमस्मि" (बृह. उ. 1-4-10) इति "नाऽविष्णुः कीर्तये द्विष्णुम्" इत्यादि श्रुतिस्मृतिनिषिद्धत्वात् भेदबुद्ध्यपरपर्याय व्यवधानशून्येत्यर्थ इति, "व्यवधानं तिरोधान मपिधान मथोच्यते" इत्यभिधानविरोधात्। न च श्रुतिस्मृतिविरोधः, अनयोः, अन्यार्थत्वात्। अविष्णुः न विष्णु र्यस्य स तथा, अतद्भक्त इत्यर्थः। अन्यः स्वतन्त्रः। अप्रतिहतेति पाठे अस्खलितेत्यर्थः। यया भक्त्या आत्मा आशु प्रसीदति। समुद्धृत्य मनीषयेत्युक्तं दर्शयति स इति। स एव परो धर्मो यतो धर्मादधोक्षजे भक्तिर्भवतीति वा॥ ६॥

भक्तिरपि वैराग्यद्वारेण अपरोक्षज्ञानसाधनमित्याह — **वासुदेव** इति। वासुदेवे भगवति प्रयोजितो भक्तियोगो वैराग्यं यदहैतुकं ज्ञानं तच्च जनयती त्येकान्वयः। वसति सर्वत्र, स्वस्मिन् सर्वं वासयतीति वा वासुः, क्रीडादिकरणात् देवः, वासु श्चासौ देव श्चेति वासुदेवः। तस्मिन्, भक्तिलक्षण उपायो भक्तियोगः। वैराग्यं विषयेष्वसारताबुद्धिम्। अकारवाच्यविष्णुप्रसाद एव हेतुः निमित्तं यस्यतत्तथोक्तम्। द्रव्यलाभादिहेतुसम्बन्धीन्द्रजालादिज्ञानं न भवतीति वा॥ ७॥

ननु नित्यनैमित्तिकादिधर्माणां सत्त्वात् कथमस्यैव परमत्वं इत्याशङ्क्य, तेषामपि कृष्णकथारतिजनकतया तत्साधनत्वेन परमत्वं इत्याह **धर्म** इति। यः पुरुषैः स्वनुष्ठितो धर्मः विष्वक्सेनकथाश्रयां रतिं नोत्पादयेत्तर्हि पुंसां स

केवलं श्रम एव हीत्येकान्वयः। शास्त्रोक्तसदाचारद्रव्यदेशकालादिभिर्नियततया सुष्ठुनुष्ठितः यत्राम्रि कीर्तिते विष्वक् सर्वतोऽञ्चति दैत्यसेनाम् इति विष्वक्सेनः तस्य कथासु रतिं निरन्तराभ्यासरूपाम्। केवलं श्रम एव क्रियाकाले उत्तरकालेऽपि दुःखस्वरूपत्वादायास एवेत्यर्थः। हिशब्देनानेवंवित् महत्पुण्यं कर्म करोति तद्वा अस्य अन्ततः क्षीयत इति श्रुतिप्रसिद्धिं दर्शयति ॥ ८ ॥

1 M adds स्वधर्मः

**रा॰ कृ॰** हे मुनयः, भवद्भिरहं लोकमङ्गलं प्रति साधु पृष्टः। यत् यतः येन आत्मा मनः सुप्रसीदति सः कृष्णसम्प्रश्नः कृष्णविषयकः प्रश्नः भवद्भिः कृतः ॥ ५ ॥

यया भक्त्या आत्मा मनः सम्प्रसीदति, सा अहैतुकी फलाभिसन्धिरहिता अप्रतिहता अन्तरायैरनभिहता भक्तिः अधोक्षजे हरौ यतो यस्मात् धर्मात् भवति, सः पुंसां परो धर्मः ॥ ६ ॥

भगवति वासुदेवे प्रयोजितो भक्तियोगः वैराग्यं वैतृष्ण्यं यत् अहैतुकं शुष्कतर्काद्यगोचरं तज्ज्ञानं च जनयति ॥ ७ ॥

यो धर्मः स्वनुष्ठितः सम्यगाचरितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु नारायणकथासु रतिं नोत्पादयेत्, स धर्मः केवलं श्रम एवहि ॥ ८ ॥

यत् यतः द्रवच्चित्तप्रेमाश्रुपुलकोद्गमाः न सन्ति। तस्य पुंसः औपनिषदं श्रुतं आत्मतत्त्वं हरिकथामृतात् दूरे हरिकथातुल्यं न भवतीति भावः ॥

**धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य[1] नाऽर्थोऽर्थायोपकल्पते[2]।**
**नाऽर्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥ ९ ॥**
**कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।**
**जीवस्य[3] तत्त्वजिज्ञासा[4] नाऽर्थो यश्चेह कर्मभिः ॥ १० ॥**
**वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्[5]।**
**ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते[6] ॥ ११ ॥**
***सत्तामात्रं तु यत्किञ्चित् सदसच्चाविशेषणम्[7]।**
**उभाभ्यां भाष्यते साक्षात् भगवान् केवलः स्मृतः[8] ॥**
**तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया[9]।**
**पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया[10] ॥ १२ ॥**

1 H ह्यापवर्गस्य 2 M °येह°, W °यप्र° 3 M °स्या° 4 H,M °सोः 5 H,V °व्य° 6 V कथ्यते। 7 H ° त्त्व ° 8 H समः 9 AF °यः 10 M °ति°

*This additional verse is found between 11th and 12th vv in H & M and is commented upon by Sri Vijayadhvajatirtha and the commentary is to be found in its relevent place

**श्रीध०** तदेवं हरिभक्तिद्वारा तदितरवैराग्यात्मज्ञानपर्यन्तः परो धर्मः इत्युक्तम्। अन्ये तु[1] मन्यन्ते धर्मस्य अर्थः फलं, तस्य च कामः फलं, तस्य च इन्द्रियप्रीतिः, तत्प्रीतेश्च पुनरपि धर्मार्थादिपरम्परेति। यथाऽऽहुः "धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते" (भार. 18-5-49) इत्यादि, त त्रिराकरोति **धर्मस्येति द्वाभ्याम्**। आपवर्ग्यस्य[2] उक्तन्यायेन अपवर्गपर्यन्तस्य धर्मस्यार्थाय फलत्वाय अर्थो नोपकल्पते योग्यो न भवति। तथा धर्मैकान्तस्य[3] एवम्भूतधर्माव्यभिचारिणः अर्थस्याऽपि कामो लाभाय फलत्वाय न हि स्मृतो मुनिभिः ॥ ९ ॥

**कामस्येति**। कामस्य च विषयभोगस्य इन्द्रियप्रीतिः लाभः फलं न भवति, किन्तु यावता जीवेत तावानेव कामस्य लाभः[4] जीवनपर्याप्त एव कामः सेव्य इत्यर्थः। जीवस्य जीवनस्य च पुनः कर्मानुष्ठानद्वारा कर्मभिः य इह प्रसिद्धः[6] सोऽर्थो न भवति, किन्तु तत्त्वजिज्ञासैवेति ॥ १० ॥

ननु च तत्त्वजिज्ञासा नाम धर्मजिज्ञासैव धर्म एव हि तत्त्वमिति केचित्, तत्राऽऽह **वदन्तीति**। तत्त्वविदस्तु तदेव तत्त्वं वदन्ति। किं तत्? यज्ज्ञानं नाम अद्वयमिति क्षणिकविज्ञानपक्षं व्यावर्तयति। ननु तत्त्वविदोऽपि विगीतवचना एव। मैवम्; तस्यैव तत्त्वस्य नामान्तरैः अभिधाना दित्याह। **औपनिषदैर्ब्रह्मेति** हैरण्यगर्भैः परमात्मेति सात्वतैः भगवानि त्यभिधीयते ॥ ११ ॥

तच्च तत्त्वं सपरिकरया भक्त्यैव प्राप्यत इत्याह — **तदिति**। तच्चेत्यन्वयः[7]। ज्ञानवैराग्ययुक्तयेत्यत्र ज्ञानं परोक्षम्। तच्च तत्त्व मात्मनि क्षेत्रज्ञे पश्यन्ति। किं तत्? आत्मानं परमात्मानम्। श्रुतेन वेदान्तादिश्रवणेन गृहीतया प्राप्तयेति भक्तेर्दार्ढ्य मुक्तम् ॥ १२ ॥

---

1 H.V °त्वेवं 2 H अपवर्गस्य 3 A B omit धर्मैकान्तस्य 4 H.V add फलं न **त्विन्द्रियप्रीतिः** 5 B ध° 6 B adds स्वर्गादिः 7 H.V तदित्यव्ययम्।

**वीर०** तदेवमनभिसंहितफलो भगवद्गुण श्रवणादिरुचिजननद्वारा भक्तियोगानुग्राहक एव धर्मः, परोऽन्यस्तु श्रमफलक इत्युक्तम्। अथ उक्तविधधर्मानुग्राह्य भगवद्भक्तियोगसाध्यमोक्षस्यैव निरतिशयपुरुषार्थत्वमिति दर्शयितुं धर्मार्थकामानां स्वतः पुरुषार्थत्वं धर्मस्यार्थार्थत्वमर्थस्य कामार्थत्वं कामस्येन्द्रियतृप्त्यर्थत्वं इन्द्रियतृप्तेः[1] जीवनस्य पुनर्धर्मार्थत्वमित्यादिरूपां चक्रवत्परिवृत्तिं लौकिकाभिमतां च निरस्य धर्मादीनामपि परम्परया निरतिशयपुरुषार्थरूपमोक्ष-साधन भक्तियोगानुग्राहकत्वं आह — **धर्मस्येति** त्रिभिः। तत्र धर्मस्य फलं अर्थः अर्थफलं कामः कामफलमिन्द्रियतृप्तिरिति लौकिकानां मतम्। तत्र धर्मफलत्वमर्थस्य निरस्यति धर्मस्येत्यर्धेन। आपवर्ग्यस्यापवर्ग-साधनस्य अनभिसंहितफलत्वे सति परम्परया निरतिशयपुरुषार्थरूप मोक्षसाधनीभविष्यतो धर्मस्यार्थाय प्रयोजनायार्थः धनं न प्रकल्पते, धनं धर्मस्य फलं न भवतीत्यर्थः। धर्मस्यार्थफलकत्वरूप लौकिकमतानुवादेनैव स्वतः पुरुषार्थत्वमपि

निरस्तं वेदितव्यम्। एवं उत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। एकस्यैव दानयागादिरूपस्य धर्मस्य फलानभिसन्ध्यभिसन्धिरूपाकारभेदे-नोत्कृष्टापकृष्टफलसाधनत्वेऽवगते सति तत्र अनभिसंहित फलत्वरूपाकारानादरेण सह इतरपुरुषार्थरूपार्थार्थत्वावादरूपं लौकिकानां मतं अतीवानादरणीय मिति भावः। अथ कामस्यार्थफलत्वं निरस्यति — नार्थस्येति। धर्मैकान्तस्य धर्मैकप्रयोजनस्यार्थस्य वित्तस्य लाभाय प्रयोजनाय कामो न स्मृतः। अर्थस्य प्रयोजनं न कामो भवतीत्यर्थः। अत्र कामशब्देन काम्यते इति काम इति व्युत्पत्त्या अन्नपानादिः उच्यते॥ ९॥

अथ कामस्य इन्द्रियतृप्तिफलकत्वं निरस्यति — **कामस्येति**। यावता अन्नपानादिना कामेन काम्यमानेन वस्तुना जीवति तावतोऽन्नादेर्भोग्यवस्तुनः लाभः फलं नेन्द्रियतृप्तिः, **किन्तु** देहधारणमेव **अन्नपानादिकामफलमित्यर्थः**। अथ जीवनस्य पुनर्धर्मार्थत्वं निरस्यति। जीवस्य जीवनस्य प्रयोजनं तत्त्वजिज्ञासैव; न तु इह लोके यः कर्मभिः साध्यो धर्मः सोऽर्थः प्रयोजनम्। अत्र धर्मार्थकामजीवनानां क्रमेण अर्थकामेन्द्रियतृप्तिधर्मार्थत्वं निरस्य, तेषां क्रमेणापवर्गधर्म देहधारणमात्रतत्त्वजिज्ञासार्थत्वोक्तेः अयं भावः। सति वित्ते तेनानभिसंहितफलं धर्मं सम्पाद्य तेन धर्मेण अपवर्गसाधनभूतं भक्तियोगं उपकुर्यात्। सति तु कामे तेन देहधारणमात्रोपयुक्तेन देहं धृत्वा तेन देहेन भजनीयतत्त्वजिज्ञासा कार्येति॥ १०॥

जीवस्य प्रयोजनं तत्त्वजिज्ञासैवेत्युक्तम्। किं तत्त्वम्, यज्जिज्ञासितव्यम्? इत्यत आह — **वदन्तीति**। यज्ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं ज्ञानगुणकं च अद्वयं स्वतुल्याभ्यधिक वस्त्वन्तररहितम् अवयवभेदरहितं वा जात्यादिभेदरहितं वा ब्रह्मपरमात्मभगवच्छब्दाभिहितं तदेव तत्त्वमिति तत्त्वविदो वदन्ति। ब्रह्मपरमात्मभगवच्छब्दाः सामान्यविशेषशब्दाः प्रयुक्ताः। एवं प्रयुज्ञानस्य सदाकाशादिशब्दा अपि कारणवाक्यगता भगवत्परा इत्यभिप्रायः॥ ११॥

एवं परधर्मादिवर्गस्यापि[2] परम्परयाऽपवर्गसाधनत्वं, प्रसङ्गात् भजनीयवस्तुस्वरूपं चोक्तम्। अथ यद्विवक्षितं मोक्ष एव निरतिशयं श्रेयः तत्साधनं तु भक्तिरेव। तन्निष्पत्तिश्च वर्णाश्रमधर्मज्ञानयोगसमाधिभिरिति[3] तदुपपादयति **तदित्यादिभिः** साधैः दशभिः। त तस्मात् भक्तियोगानुग्राहकस्यैव धर्मस्य परत्वात् त्रिवर्गस्यापि परम्परया अपवर्गार्थत्वात् अपवर्गातिरिक्तनिरतिशयपुरुषार्थाभावाच्चेत्यर्थः। श्रुतं यज्ञादिकर्म तस्य कर्तव्यतया वेदे श्रुतत्वात्तेन गृहीतयाऽनुगृहीतया ज्ञानवैराग्याभ्यां युक्तया भक्त्या आत्मनि जीवात्मन्यन्तरात्मतया स्थितं ब्रह्मादिशब्दवाच्यं भगवन्तं श्रद्दधाना ऐते[5] एवंविधया भक्त्या पश्यन्ति। ज्ञानशब्देन प्रत्यगात्मयाथात्म्यज्ञानयोगो विवक्षितः। वैराग्यं विषयान्तरेषु वैतृष्ण्यं, तेन शमादिसङ्ग्रहः[6]। एभिरङ्गैरुपकृतया भक्त्या आत्मनि स्थितं परमात्मानं पश्यन्ति साक्षात्कुर्वन्तीत्यनेन भक्तेरेव परमात्मदर्शनसमनन्तरभाविमोक्षसाधनत्वमुक्तम्। कर्मयोगज्ञानयोगयोः शमादीनां च भक्तियोगानुग्राहकत्वं च "भिद्यते-हृदयग्रन्थिः" (मुण्ड. उ. 2-2-8) इति श्रुत्या तदर्थानुवादिना वक्ष्यमाणश्लोकेन च मोक्षस्य दर्शनानन्तरभावित्वं अवगतम्। एवञ्च भक्त्या पश्यन्तीत्यस्य दर्शनरूपापन्नाया भक्तेः अव्यवधानेन मोक्षसाधनत्वं इत्यभिप्रायः॥ १२॥

---

1. W adds जीवनार्थत्वं 2. W वर्गत्रयस्यापि 3. W °शमादि° 4 W मुनयः 5. W adds पश्यन्ति। हे मुनय इति सम्बोधनं वा। तदा ये श्रद्दधाना स्ते 6. W शमदमादि°

**विज०** ननु धर्मस्य भगवत्कथारत्यजनकत्वे कथं श्रमैकफलत्वं, धर्मादर्थोऽर्थात्कामः कामात्सुखमित्यर्थशास्त्रादौ प्रसिद्धेरिति तत्राह — **धर्मस्येति**। अपवर्गो मोक्षः तत्साधनं आपवर्ग्यं तस्य धर्मस्य इहार्थः। काङ्क्षनादिद्रव्यं अर्थाय फलाय न कल्पते; हि यस्मात्तस्माद्धरिकथारतिजनकत्वमेव फलं इत्यर्थः। धर्म एव एकान्तं नियमेन फलं यस्य स धर्मैकान्तः। तस्य धर्मसाधनस्य अर्थस्य कामो लाभाय प्रयोजनाय न स्मृतः, विद्वद्भिरिति शेषः। अत्रापि हिशब्दो हेतौ ॥ ९ ॥

कामस्येन्द्रियप्रीतिः लाभः न भवति, तर्हि अशनाच्छादनाद्यभावे क्षुधादिना मरणमेव स्यात्। तत्राऽऽह — जीवेतेति। यावतार्थादिना जीवति शरीरयात्रानिर्वाहको भवति, तस्मादर्थशास्त्रादौ प्रतिपादितक्रमो बहिर्मुखानां इति भावः। ब्रह्मार्पणबुद्ध्या कृतस्य कर्मणः भगवत्कथारतिसाधनत्वं इत्याह — जीवस्येति। इह कर्मभिः योऽर्थः भगवत्कथारतिलक्षणः सः अतत्त्वजिज्ञासोः जीवस्य न भवति। भगवत्तत्त्वं अजानतः पुरुषस्य तदनर्पणबुद्ध्या कृतैः कर्मभिः फलं ऐहिकामुष्मिकं न स्यादिति भावः ॥ १० ॥

ननु अतत्त्वजिज्ञासोरित्युक्तं किं तत्तत्त्वं येन तज्ज्ञस्य कर्मभिः पुरुषार्थो न स्यादिति तत्राह — **वदन्तीति**। **अद्वयं** असमाधिकं ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं देशकालादिषु बृंहितत्वात् सर्वान्तर्यामित्वादैश्वर्यादिगुणवत्त्वात् ब्रह्मेति, परमात्मेति, भगवानिति **शब्द्यते** ॥ ११ ॥

***यच्च** सत्तामात्रं केवलानन्ददेहं अत एव यत्किञ्चिल्लोकविलक्षणं तत् तत्त्वं वदन्तीति त्रिकालेऽप्यनन्यथाभूतं एकविधं ब्रुवते। न ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपत्वं युक्तिमत्, लोके ज्ञानस्य विषयापेक्षया उत्पत्तिविनाशधर्मदर्शनात्, अस्यापि तथात्वेन अनित्यत्वप्रसङ्गादिति, तत्राह — सदसदिति। सत्कार्यं असत्कारणं च। अविशेषणं न स्वनियतविशेषापादकम्। यस्येतिशेषः विषयापेक्षया अनुत्पाद्यमिति उभाभ्यां सदसद्भ्यां भाष्यते **मृत्स्रष्टृघटस्रष्टृमृज्ज्ञातृघटज्ञातृत्वाद्यनन्तकार्यकारणविशिष्टतया** व्यवह्रियते। अतो भगवान् साक्षात् केवलः प्रकृतिसम्बन्धविधुरः स्मृतः। ***याद्वषयज्ञानं भक्तियोगं** जनयेत् तद् ब्रह्म किं प्रमाणगोचरः? उतागोचरः? गोचरश्चेत् घटादिवदब्रह्मत्वं, **अगोचरश्चे न्नास्त्येवेत्याशङ्क्य** उभयदोषपरिहारायाऽऽह — **वदन्तीति**। न वयं प्रमाणैरनुमिमीमहे न चैव तावता नास्ति। किं तर्हि, यज्ज्ञानमद्वयं ज्ञातृज्ञेयलक्षणरहितं तत्त्वविदस्तत्तत्त्वं जगदाकारेण विवर्तत इति वदन्ति। तदेव वेदान्तिभिः ब्रह्मेति, परमात्मेति, भगवानिति शब्द्यते। तत्रायं विभागः। बृहत्त्वात् ब्रह्मेति वेदान्तिनः। परं केवलमादानादिकर्तृत्वादात्मेति योगिनः। षड्गुणयुक्तत्वात् भगवानिति पौराणिकाः। तत्र किं तत् सत्यमिति। तत्राह — **सत्तेति**। तस्मादत्र सगुणं प्रमाणवेद्यं न निर्गुणमिति शास्त्रमथितार्थ इति केचिद्व्याचक्षते तदसारम्, अत्रैव पूर्वापरवाक्यार्थपर्यालोचनया स्वविरोधात् ॥

तदाह **तदिति**। एवं उक्तप्रकारेण ब्रह्मपरमात्माद्यनन्तवैदिकादिपदवाच्यतया सगुणः सर्वजगत्कर्ता परमात्मैव तत्त्वमिति यस्मात्तस्मान्मुनयो ज्ञानिनः श्रद्दधानाः शास्त्रोक्तवस्तुगत्या आस्तिक्यबुद्धियुक्त श्रुतिगृहीतया, वेदान्तश्रवणेन दृढगृहीतया, तत्त्वज्ञानेन विषयवैराग्येण युक्तया भक्त्या तमेवात्मानं परमात्मानमात्मनि हृदि पश्यन्ति। चकारः "स्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्" (बृह. उ. 4-4-23) इति श्रुतिप्रसिद्धिद्योतको न तु आत्मनि क्षेत्रज्ञे जीवे आत्मानं

परमात्मानं पश्यन्ति; परमात्मनि क्षेत्रज्ञं चेति समुच्चयार्थः। तस्मा ज्जगदाकारेण विवर्तितं तत्त्वं अन्यन्निर्गुण मन्य त्तत्त्व-मिति नार्थः ॥ १२ ॥

1 K adds यत् *The vv with No 11 and asterisk mark are commented twice by Vijayadhvaja Thirtha.

**रा॰ कृ॰** आपवर्ग्यस्य मोक्षफलपर्यन्तस्य धर्मस्य अर्थाय प्रयोजनाय फलत्वायेति यावत्। **अर्थः** नोपकल्पते योग्यो न भवतीत्यर्थः। धर्मैकान्तस्य धर्माव्यभिचारिणः अर्थस्य कामो लाभाय न श्रुतः ॥ ९ ॥

कामस्य इन्द्रियप्रीतिः लाभो न भवति। यावता जीवेत् तावतैव कामलाभः। जीवस्य जीवनस्य कर्मभिः यः अर्थः सः कर्माचरणरूपं प्रयोजनं न भवति; केवलं तत्त्वजिज्ञासा प्रयोजनम् ॥ १० ॥

तत्त्वविदस्तु — यत् अद्वयं अखण्डाकारं ज्ञान मिति ब्रह्मेति परमात्मेति भगवा निति च कथ्यते तत् तत्त्व मिति वदन्ति ॥ ११ ॥

तच्च तत्त्वं श्रद्दधानाः मुनयः ज्ञानवैराग्ययुक्तया श्रुतगृहीतया भक्त्या आत्मनि आत्मानं परमात्मत्वेन पश्यन्ति जानन्ति ॥ १२ ॥

**अतः पुम्भि र्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः ।**
**स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धि र्हरितोषणम् ॥१३ ॥**

**तस्मा देकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः ।**
**श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा[1] ॥ १४ ॥**

**यदनुध्यासिना[2] युक्ताः कर्मग्रन्थिनिबन्धनम् ।**
**छिन्दन्ति कोविदा स्तस्य को न कुर्यात् कथारतिम् ॥ १५ ॥**

**शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः[3] ।**
**स्या न्महत्सेवया विप्राः! पुण्यतीर्थनिषेवणात् ॥ १६ ॥**

1 H,V °शः 2 M °ध्यायिनो 3 H,M,V रतिः

**श्रीध॰** धर्मस्य फलं भक्तिः न अर्थकामादिकं इतीम मर्थं उपपाद्य, उपसंहरति — **अत इति**। हे द्विजश्रेष्ठाः, हरितोषणं हरे राराधनम्। संसिद्धिः फलम् ॥ १३ ॥

यस्माच्च भक्तिहीनो धर्मः केवलं श्रम एव तस्मात् भक्तिप्रधानः एव धर्मः अनुष्ठेयः इत्याह — **तस्मादिति**। एकेन एकाग्रेण मनसा ॥ १४ ॥

भक्तिरहितो धर्मः श्रम एवेति प्रपञ्चितम्। इदानीं तु भक्तेः मुक्तिफलत्वं प्रपञ्चयति — **यदिति**। यस्यानुध्या अनुध्यानम्, सैवासिः खड्गः तेन युक्ताः[1] विवेकिनः, ग्रन्थिं अहङ्कारं निबध्नाति य त्कर्म तच्छिन्दन्ति; तस्य कथायां रतिं को न कुर्यात्॥ १५॥

ननु सत्य मेव[2] कर्मनिर्मूलनी[3] हरिकथारतिः तथाऽपि तस्यां रुचिः नोत्पद्यते; किं कुर्म स्तत्राह — **शुश्रूषोरिति**। पुण्यतीर्थनिषेवणात्[4] निष्पापस्य महत्सेवा स्यात्। तया च तद्धर्मश्रद्धा। ततः श्रवणेच्छा। ततो रुचिः स्यात् इत्यर्थः॥ १६॥

---

1 H.V add अप्रमत्ताः 2 H.V °वं 3 H.V °लि° 4 B.H.V निषेवणादिभिः

**वीर**° श्रुतगृहीतयेत्यनेन वर्णाश्रमधर्मस्य भक्तियोगानुग्राहकत्वं उक्तम्, "धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां" (भाग. 1-2-8) इत्यादिना धर्मस्य भक्तियोगानुग्रहप्रकार उक्तः, इदानीं अन्यथाऽपि, तदनुग्रहप्रकारं दर्शयति — **अत** इति। यतो भक्तेरेव साक्षात् मुक्तिसाधनत्वं, अतो हे द्विजश्रेष्ठाः पुम्भिः वर्णाश्रमविभागशः अवस्थितस्येति शेषः। तद्वर्णाश्रमानुगुणस्य इत्यर्थः। वर्णादिभेदेनावस्थितैः पुम्भिरिति वा। सम्यगनुष्ठितस्य[3] पञ्चमहायज्ञादि रूपस्य संसिद्धिः फलं हरितोषणमेव। अयं भावः — स्वनुष्ठिता द्धर्मात् भक्तियोगप्रतिबन्ध निवृत्त्यनुकूल सङ्कल्पहेतु र्हरितोषः, ततश्च भक्तियोगसंम्पन्न प्रतिबन्धपापक्षयः, ततो भक्तियोगनिष्पत्तिः इति। यद्वा हरि स्तुष्यते येनानुध्यानेन त द्धरितोषणम्। तदेव धर्मस्य स्वनुष्ठितस्य संसिद्धिः फलम्। भक्तियोगोत्पत्ति प्रतिबन्धनिरसनद्वारा हरितोषहेतु भक्तियोगनिष्पत्ति रेव धर्मस्य फलं इत्यर्थः। अन्यथा, "धर्मेण पाप मपुनदृति" (म. ना. उ. 17-6), "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा"(ईशा. उ. 11) इत्यादिश्रुतेः धर्मस्य भक्तियोगोत्पत्ति प्रतिबन्धक पापनिरासकत्वं वदन्त्या विरोधापत्तेः; धर्मस्यैव हरितोषफलकत्वे भक्तेः वैयर्थ्यापत्तेश्च। ननु "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन" (भ. गी. 4-37) इति भक्तियोगस्यैव सर्वदुरितनिवर्तकत्वस्मरणात्, भक्तियोगवत् धर्मस्यापि हरितोषहेतुत्वमेव युक्त मिति चेत्, शृणु — प्रापकप्रतिबन्धकं प्राप्तिप्रतिबन्धकं चेति द्विविधं दुरितम्। तत्र प्रापकस्य भक्तियोगस्य य दुत्पत्तिप्रतिबन्धकं दुरितं तद्ध्वंसनोद्यम्। एवं धर्मनिरस्तप्रतिबन्धके भगवत्प्रापकभक्तियोगे निष्पन्ने तेन यद्भगवत्प्राप्ति प्रतिबन्धकं दुरितं तदपनोद्यते; तदभिप्रायकाणि ज्ञानाग्नि रित्यादीनि वचनानि॥ १३॥

एवं वर्णाश्रमधर्मस्य भक्तियोगोपकारः तत्प्रकारश्च भक्तियोग प्रतिबन्धनिरसनेन, भगवद्गुणादि श्रवणरुचिजनकद्वारा[7] वेति द्विधा सन्दर्शितः। अथ तुल्यन्यायतया भगवद्गुणस्वरूपादि श्रवणादीनामपि भक्तियोगोपकारकत्वं उपकारप्रकारं च वक्तुं तेषां अवश्यकर्तव्यतां ताव दाह **तस्मादिति** द्वाभ्याम्। तस्मा द्धर्मस्य भक्तियोगानुग्राहकत्व-तत्प्रकारप्रदर्शनादेव तुल्यन्यायतया भगवद्भक्तियोगोपकारकत्वेन सात्वतां भक्तानां पतिः भगवा नेके नैकाग्रेण मनसा नित्यदा श्रोतव्यः कीर्तितव्यः ध्येयः स्मर्तव्य; पूज्यश्च। ध्यानं अत्र श्रुतार्थप्रतिष्ठापनात्मकं मननापरपर्यायं स्मरणं विवक्षितम्। भक्त्यात्मकस्य[10] श्रवणाद्यनन्तरभावित्वं हि वक्ष्यते॥ १४॥

यस्य भगवतो ऽनुध्या अनुध्यानं भक्तिः सैवासिः **खड्गः** तेन युक्ताः सहिताः कोविदाः कुशलाः। कर्मैव ग्रन्थिः तद्रूपं निबन्धनं बन्धनं छिन्दन्ति। कर्मणो ग्रन्थित्वरूपणं ग्रन्थिव दुर्मोच्यत्वात्।[11] [12]दुर्विमोच्येन कर्मणा निबध्यत इति निबन्धनं, कर्मायत्तः संसारः तं छिन्दन्ति इति वा। तस्य कथासु रतिं को वा पुमान् न कुर्यात्, सर्वोऽपि कुर्या देवेत्यर्थः। यस्य भक्तिः अनर्थावहसंसृति निरासहेतुः तस्य महोपकर्तुः भक्तियोगस्य अनुग्राहकतया तत्कथासु रतिं सर्वोऽपि जनः कुर्या देवेत्यर्थः॥ १५॥

यद्यपि धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसा मिति धर्मस्य वासुदेवकथा रुचिजननद्वारा भक्तियोगानुग्राहकत्वोक्त्यैव कथारुचिजनकत्वम प्युक्तमेव भवति; तथाऽपि न साक्षादेव धर्मः कथारतिहेतुः; अपि तु सत्सङ्गादिद्वारा हेत्वन्तरेण वेत्याह **शुश्रूषोरिति**। श्रोतुमिच्छोः स्वधर्मनिरस्त शुश्रूषा प्रतिबन्धकस्येत्यर्थः। श्रद्धायुक्तस्य पुंसः वासुदेवकथायां रुचिः, हे विप्राः, महतां सेवया पुण्यतीर्थानां गङ्गादीनां निषेवणाच्च भवति॥ १६॥

---

1. W विष्वक्सेनकथासु यः नोत्पादयेद्यदि रतिं इति 2 A.B omit °व° 3 W adds धर्मस्य 4 W °निष्पत्ति° 5 W तथा 6 W तद्धर्मापनोद्यम् 7 W °न° 8 W चे° 9 W ततुल्य° 10 W adds ध्यानस्य 11 W °च° 12 W adds ग्रन्थिवत्

**विज०** उपसंहरति **अत इति**। हे द्विजश्रेष्ठाः, संसिद्धिः फलम्॥ १३॥

कृष्णसम्प्रश्नस्य परमधर्मत्वं निगमयति — **तस्मादिति**। यतः कृष्णसम्प्रश्नस्यैव परमधर्मत्वं तस्माद्धेतोः एकेन एकाग्रेण। चकारौ परस्पर समुच्चयार्थे। श्रवणादितत्तत्काले कर्तव्यं न कचित्कालो वृथा यापनीय इत्यस्मिन्नर्थे नित्यदाशब्दः॥ १४॥

फलदर्शनं पुरोधाय प्रवृत्तिदर्शनात् श्रवणादिना किं फलमिति तत्राह — **यदिति**। यं भगवन्तं अनुसवनं निरन्तरं ध्यातुं शीलं एषां इति यदनुध्ययिनो युक्ताः मनोयोगयुक्ताः कर्मपाशेन नितरां बन्धनं तत् छिन्दन्ति। तस्य कथासु रतिं को न कुर्यात्। अतः श्रवणादिफलं अपरोक्षज्ञानद्वारा मुक्तिरेव॥ १५॥

हरिकथारतिः केन स्यात् इति तत्राह — **शुश्रूषो रिति**। हे विप्राः, शुश्रूषोः गुर्वादिपरिचर्याशीलस्य, वेदादिषु श्रद्दधानस्य महतां सेवया पुण्यतीर्थानां भागवतादि सच्छास्त्राणां गङ्गादितीर्थानां च नितरां सेवनाच्च वासुदेवकथारतिः स्यात् इत्येकान्वयः॥ १६॥

**रा० कृ०** अतः हे द्विजश्रेष्ठाः, पुंभिः वर्णाश्रमविभागशः वर्णाश्रमानुगुण्येन स्वनुष्ठितस्य सम्यगनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिः फलं हरितोषणमेव॥ १३॥

तस्मात् एकेन अनन्येन मनसा भगवान् सात्त्वतां पतिः नित्यशः श्रोतव्यः, कीर्तितव्यः, ध्येयः, पूज्यश्च भवति॥ १४॥

यदनुध्याऽसिना यस्य भगवतः अनुध्या अनुध्यानं सैवाऽसिः खड्गः तेन युक्ताः अवधानवन्तः कोविदाः ग्रन्थिनिबन्धनं अहङ्कार कारणं कर्म छिन्दन्ति, तस्य भगवतः कथारतिं कथास्वनुरागं को न कुर्यात्? सर्वोऽपि कुर्या देवेत्यर्थः ॥ १५ ॥

हे विप्राः, शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य पुंसः महत्सेवया पुण्यतीर्थनिषेवणात् वासुदेवकथारतिः स्यात् ॥ १६ ॥

**शृण्वतां स्वकथां[1] कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।**
**हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥ १७ ॥**
**नष्टप्राये ष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया[2] ।**
**भगव त्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥ १८ ॥**
**तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये ।**
**चेत एतै रनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥ १९ ॥**
**एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।**
**भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥ २० ॥**

1 B.H.I.V °थाः 2 AFGF भगवदाश्रया

**श्रीध०** ततश्च **शृण्वता मिति** । पुण्ये श्रवणकीर्तने यस्य सः । सतां सुहृत् हितकारी । हृदि या न्यभद्राणि[1] कामादिवासनाः तानि । अन्तःस्थो हृदयस्थ स्सन्[2] ॥ १७ ॥

ततश्च **नष्टप्राये** ष्विति । सर्वाभद्रनाशस्य ज्ञानोत्तरकालत्वा[3] त्प्रायोग्रहणम्[4] । भागवतानां भागवतशास्त्रस्य वा सेवया नैष्ठिकी निश्चला विक्षेपकाभावात्[5] ॥ १८ ॥

**तदेति** । रजश्च तमश्च ये च तत्प्रभवाः भावाः कामादयः एतै रनाविद्धं अनभिभूतम् । **प्रसीदति** उपशाम्यति ॥ १९ ॥

**एवमिति** । भगवद्भक्तियोगतः प्रसन्नमनसः । अत एव मुक्तसङ्गस्य ॥ २० ॥

1 V °च्छिद्राणि 2 H,V add विधुनोति 3 H,V कालीनत्वा° 4 H,V °य° 5. H,V add अत्र पूर्वि नित्यं भागवतसेवयेति वर्णाधिक्यं आर्षम् । सद्भागवतसेवयेति पाठे नका प्यनुपपत्तिः ।

**वीर०** श्रवणादीनां भक्तियोगोपकारप्रकारं दर्शयति **शृण्वतामिति** द्वाभ्याम् । पुण्यं शृण्वतां कीर्तयतां च पुण्यावहं श्रवणं कीर्तनं च यस्य स कृष्णः स्वकथां शृण्वतां सतां साधूनां हृदयान्तःस्थितस्सन् अभद्राणि भक्तियोगोत्पत्ति प्रतिबन्धकानि दुरितानि विधुनोति । सुहृ दिति हेतुगर्भ मिदं सुहृत्त्वात् धुनोतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

ततः किमत आह **नष्टप्रायेष्विति**। नित्यं भागवतानां सतां सेवया तत्सेवापूर्वक भगवद्गुण श्रवणेनेत्यर्थः। अभद्रेषु नष्टप्रायेषु सत्सु उत्तमश्लोके भगवति नैष्ठिकी दृढा भक्तिः भवति। नष्टप्रायेष्विति प्रायग्रहणेन भक्तियोगापनोद्यं प्राप्तिप्रतिबन्धकं उत्तरपूर्वाघरूपं तु अवशिष्यत इति सूचितम्। एवं तुल्यन्यायतया स्वधर्मेणापि उपायोत्पत्तिप्रतिबन्धकमात्र मेव निरस्यत इति सम्य गुक्तं प्राक्॥ १८॥

कथं अभद्रेषु नष्टेष्वपि भक्तिः भवतीत्यत्राह — **तदेति**। नृणां सततं महत्सेवैव धर्मः। तस्मात् अभद्रेषु नष्टेषु तन्मूलाः चित्तविक्षेपावरणहेतवो रजस्तमसो भावा धर्माः कार्यभूता इति यावत्। ये कामलोभादयः सन्ति, आदिशब्दग्राह्याः क्रोधमोहादयः; ते सर्वे नश्यन्ति। नष्टेषु च रजस्तमोभावेषु एतै रजस्तमोभावैः अनाविद्धं अविक्षिप्तं अविमूढं च अत एव सत्त्वे रजस्तमोभ्यां अनभिभूते सत्त्वगुणे स्थितं सत्त्वप्रधानं सत् स्थिरं स दिति याव त्प्रसीदति। प्रसन्ने च चेतसि नैष्ठिकी भक्तिरप्युद्भवतीति भावः॥ १९॥

तदेवाह **एवमिति**। एवं उक्तरीत्या प्रसन्नं मनो यस्य तस्य मुक्तसङ्गस्य विरक्तस्य पुंसः नैष्ठिकी भक्तिः भवतीति शेषः। तस्माच्च भक्तियोगात् भगवत्तत्त्वविज्ञानं भगवत्स्वरूपगुण याथात्म्यसाक्षात्कारात्मकं ज्ञानं जायते। दृष्ट इत्यनन्तरोक्तेः तच्च ज्ञानं परभक्तेः फलं "भक्त्या त्वनन्यया शक्य अह मेवंविधो ऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप" (भ. गी. 11-54) इति वचनात्॥२०॥

1. A °वो° 2. B,W °घ° 3. W adds तदा 4. W °राशुभव°

**विज०** श्रवणफल माह — **शृण्वता** मिति। सुहृ दनिमित्तबन्धुः। पुण्ये श्रवणकीर्तने यस्य स तथा॥ १७॥

सर्वामङ्गलनाशफलं आह — **नष्टेति**। लिङ्गशरीरभङ्गपर्यन्तं अभद्राणां सम्भवात् प्रायेष्वित्युक्तम्। नैष्ठिकी अचला। उत्तमः उद्गतदोषः श्लोकः कीर्तिः यस्य स तथोक्तः तस्मिन्॥ १८॥

भक्तिफल माह — **तदेति**। यदा हरौ अचला भक्तिः तदा ये रजआदयो भावाः। एतैः अनाविद्धं असंसक्तं शुद्धसत्त्वे स्थितं वा। बलज्ञान समाहारवति हरौ स्थितं वा चेतः प्रसीदति। सकलदोषविधुरतया निरन्तरं परमात्मानं स्मरतीत्यर्थः। रजस्तमोभ्यां भावः उत्पत्तिः येषां ते तथोक्ताः कामलोभादयः। चकारात् प्रमादादय हति वा॥ १९॥

निरन्तरं हरिस्मरणफलं आह **एव** मिति। भगवत्तत्त्वविज्ञानं स्वबिम्बापरोक्षविज्ञानम्॥ २०॥

**रा० कृ०** पुण्यश्रवणकीर्तनः सतां सुहृत् कृष्णः स्वकथाः शृण्वताम्। अन्तःस्थस्सन् हृदि हृदयस्थानि अभद्राणि वासनारूपाणि विधुनोति॥ १७॥

अभद्रेषु नष्टप्रायेषु 'नित्यं भागवतसेवया' — अत्र 'सद्भागवत सेवया' इति समुचिततरः पाठः श्रीधराचार्यैः सूचितः। उत्तमश्लोके भगवति नैष्ठिकी निश्चला भक्तिः भवति॥ १८॥

किंच, तदा रजस्तमोभावाः रजस्तमोभवा ये कामलोभादयो वर्तन्ते, एतैः अनाविद्धं चेतः सत्त्वे स्थितं सत् **शुद्धसत्त्वस्वरूपे** भगवति आसक्तं सत् प्रसीदति प्रसन्नं भवति ॥ १९ ॥

एवं भगवद्भक्तियोगतः प्रसन्नमनसो मुक्तसङ्गस्य भगवत्तत्त्व विज्ञानं जायते ॥ २० ॥

**भिद्यते हृदयग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।**
**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट ए वात्म नीश्वरे ॥ २१ ॥**

**अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा ।**
**वासुदेवे भगवति कुर्व न्त्यात्मप्रसादनीम्[1] ॥ २२ ॥**

**सत्त्वं रज स्तम इति प्रकृते र्गुणा स्तै र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते ।**
**स्थित्यादये[2] हरिविरिञ्चि हरेति संज्ञाः श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनो र्नृणां स्युः॥ २३ ॥**

**पार्थिवा द्दारुणो धूम स्तस्मा दग्नि स्त्रयीमयः ।**
**तमसस्तु रज स्तस्मा त्सत्त्वं यद् ब्रह्मदर्शनम् ॥ २४ ॥**

---

1 H.V °दि° 2 H °यो

**श्रीध०** ज्ञानफल माह — **भिद्यत** इति । हृदयमेव ग्रन्थिः चिज्जडग्रथनरूपः अहङ्कारः । अत एव सर्वे **संशयाः** असम्भावनादिरूपाः । कर्माणि अनारब्धफलानि । आत्मनि स्वरूपभूते ईश्वरे दृष्टे साक्षात्कृते सति । एवकारेण **ज्ञानानन्तर** मेवेति दर्शयति ॥ २१ ॥

तत्र च सदाचारं दर्शयन् उपसंहरति — **अत** इति । आत्मनः प्रसादनीं मनश्शोधनीं वासुदेवे भक्तिं **कुर्वन्ती**ति भजनीयविशेषो दर्शितः ॥ २२ ॥

तदेवोपपादयितुं ब्रह्मादीनां त्रयाणां एकात्मकत्वेऽपि वासुदेवस्य आधिक्य माह — **सत्त्व** मिति । इह यद्यपि एक एव परः पुमान् अस्य स्थित्यादये स्थितिसृष्टि प्रलयार्थं हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः केवलं भिन्नाः धत्ते । "हरिविरिञ्चिहरा" इति वक्तव्ये सन्धि रार्षः । तत्र तेषां मध्ये श्रेयांसि शुभफलानि सत्त्वतनोः वासुदेवादेव स्युः ॥ २३ ॥

उपाधिवैशिष्ट्येन फलवैशिष्ट्यं सदृष्टान्त माह — **पार्थिवादिति** । पार्थिवात् स्वतःप्रवृत्ति प्रकाशरहिता द्दारुणः **काष्ठात्** सकाशात् धूमः प्रवृत्तिस्वभावः त्रयीमयो वेदोक्तकर्मप्रचुरः ईषत्कर्मप्रत्यासत्तेः । तस्माद् प्यग्निः त्रयीमयः **साक्षा** त्कर्मसाधनत्वात् । एवं तमसः सकाशा द्रजः, ब्रह्मदर्शनं ब्रह्मप्रकाशकम् । तुशब्देन लयात्मका त्तमसः **सकाशा-**

द्रजसः सोपाधिक ज्ञानहेतुत्वेन किञ्चिद् ब्रह्मदर्शनप्रत्यासत्तिमात्र मुक्तं; न तु सर्वथा तत्प्रकाशकत्वं विक्षेपकत्वात्। यत्सत्त्वं तत्साक्षाद् ब्रह्मदर्शनम्[9]। अतः तद्गुणोपाधीनां ब्रह्मादीनामपि यथोत्तरं वैशिष्ट्य मिति भावः॥ २४॥

1. H,V °ने 2 B adds आत्म° 3 V °दि° 4 H,V °धि° 5. B,H,V add विश्वस्य 6 H °यः 7 H,V add लयात्मकात् 8 H,V add तस्मात् सत्त्वं 9. H,V add प्रकाशकत्वात्

**वीर०** एवं साक्षात्कारपर्यन्त भगवद्भक्तियोगसाध्यं फलमाह — **भिद्यत** इति। आत्मनि परमात्मनि ईश्वरे भगवति दृष्ट एव दृष्टमात्रे सत्ये वास्य द्रष्टुः पुंसः सर्वकर्माणि भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धकानि उत्तरपूर्वाघरूपाणि-क्षीयन्ते नश्यन्ति, अत एव तन्मूलकाः सर्वे संशयाः नश्यन्ति। सर्वशब्देन अन्यथाज्ञान विपरीतज्ञानाज्ञान सङ्ग्रहः। ततः तन्मूलको हृदयग्रन्थिव दनिर्मोच्यो ऽहंममाभिमानो भिद्यते, समूला संसृतिः निवर्तते। तन्निवृत्तौ च ब्रह्मप्राप्तिः तदनुभव श्च अयत्नसिद्धः इति भावः॥ २१॥

उक्तार्थस्य अनुष्ठानं दर्शयति — **अत** इति। यतो मोक्ष एव निरतिशयपुरुषार्थः। तत्साधनं तु भक्तिरेव। अतः कवयो निरतिशयश्रेयस्तत्साधनाभिज्ञाः परमया मुदा भगवति वासुदेवे भक्तिं आत्मप्रसादनीं कुर्वन्ति। आत्मप्रसादनीं[1] भक्तिं कुर्वन्तीत्यनेन आरब्धभक्तियोगस्य चित्तप्रसादोऽपि शनैः शनैः भक्तियोगादेव भवतीति सूचितम्॥ २२॥

ननु सृष्ट्यादिकारणेषु ब्रह्मरुद्रादिदेवेषु सत्सु कथं वासुदेवभक्तिरेव मोक्षोपायत्वेनोच्यत इति शङ्कायामाह — **सत्त्व** मित्यादिना यावदध्यायसमाप्ति। तत्र भगवान् वासुदेव[2] हिरण्यगर्भ रुद्राख्य जीवशरीरकतया स्वावतार-रूपेण च जगत्सृष्टि स्थितिलय कारणभूतः। तत्र साक्षा द्वासुदेवभक्ति रेव मोक्षोपायभूता। तच्छरीरभूत हिरण्यगर्भादि-भक्तिश्च[3] "यो यो यां यां तनुं भक्तः" (भ. गी. 7-21) इत्याद्युक्तरीत्या तत्तल्लोकादि[4] प्राप्त्युपायः यद्यपि हिरण्यगर्भादि-जीवशरीरकतया तद्रूपेणावस्थितः परमात्मैव, तथाऽपि कर्तृत्व भोक्तृत्वादिकं जीवगतमेव, न[5] परमात्मगतम्। न हि शरीरगतधर्माणां शरीरिणि प्रसक्तिः इत्ययं अर्थोऽत्र प्रतिपाद्यते। सत्त्व मिति सत्त्वादय स्त्रयः प्रकृते गुणाः। प्रकृते रिति सावधारणं विवक्षितम्। प्रकृतेरेव गुणा न तु जीवस्य ईश्वरस्य[6] वेत्यर्थः। तैः सत्त्वादिभि र्युक्तः परः पुरुषः परमपुरुषः योगोऽत्र शरीरात्मभावरूपो विवक्षितः। एकः सृष्टेः प्रागिति शेषः। "सदेव सौम्येद मग्र आसीत्" (छान्दो.उ. 6-2-1) इत्यादि श्रुत्यनुरोधात्। एकत्वं च कार्यदशावस्था नामरूपविभागप्रयुक्त बद्धप्रतिसम्बन्धि[7] नामरूप विभागाभावप्रयुक्त विभागानर्ह सूक्ष्मचिदचि च्छरीरकत्वं[8] सृष्टेः प्राक् नामरूपविभागानर्ह सूक्ष्म चिद-चिच्छरीरकतया एक एव सन्नित्यर्थः। अस्य स्थूलचिदचिदात्मकस्य जगतः स्थित्यादये स्थितिसृष्टिलयार्थम्। स्थिति प्राथम्यं भगवत्प्राथम्यविवक्षया परमपुरुष एव ब्रह्मरुद्ररूपेण तन्मध्ये स्वावताररूपेण स्थितिसृष्ट्यादिकृ द्धरिविरिञ्चिहरेति संज्ञा विष्णुब्रह्मरुद्रसंज्ञाः। इतिः प्रकारार्थः; तेन रूपसङ्ग्रहः, हयादिरूपाणि तद्वाचकानि हयादिनामानि च धत्ते बिभर्ति। तत्र सत्त्वं तनुः शरीरं अधिष्ठेयं यस्य तस्मात् सत्त्वप्रवर्तका द्विष्णोरेव[10] नृणां भजतां श्रेयांसि

ज्ञाननिष्पत्ति भवनिवृत्तिपर प्राप्तिरूपाणि स्युः खलु। सर्वकारणत्वात् सर्वस्मात् परत्वात् सम्यक् ज्ञानवर्धक सत्त्वप्रवर्तकत्वाच्च वासुदेवभक्ति रेव मोक्षप्रदेत्यर्थः। नन्वेक एव हर्यादिसंज्ञा धत्ते इत्यनेन हर्यादीनां परस्परं संज्ञाभेद एव, न वस्तुभेद इति प्रतीत्या त्रयाणां ऐक्यम्[11] एव द्रष्टव्यम्[12]। तथा च श्रूयते "ब्रह्मा नारायणः शिवश्च नारायणः" (त्रि. म. ना. उ. 2-8) इति। स्मर्यते च "ब्रह्मा[13] नारायणाख्योऽसौ कल्पादौ भगवान् यथा। प्रजाः ससर्ज भगवान् ब्रह्मा - नारायणात्मकः"। (विष्णु. पु. 4-4-1,2) "तत स्स भगवा न्विष्णू रुद्ररूपधरो ऽव्ययः। ततः कालाग्निरुद्रोऽसौ भूत्वा सर्वहरो हरिः। सर्गस्थित्यन्तकारिणीं[14] ब्रह्मविष्णु शिवात्मिकाम्। संज्ञां[15] सयाति[16] भगवा नेक एव जनार्दनः।" इति। ततश्च वासुदेवस्य सर्वस्मा त्परत्वं नोपपद्यते। किञ्चैक एव हर्यादिसंज्ञा धत्ते इत्यनेन न[17] हर्यादिभ्यः परं तत्त्व मस्ती त्यवगम्यते। युक्तं चैतत्। अत एव "विष्णु र्मन्वादयः कालः" (विष्णु. पु. 1-22-32) "यस्मिन् ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्राः[18] सर्वे सम्प्रसूयन्ते" (अथ. शिखा. उ. 2) "तेनेदं पूर्ण पुरुषेण सर्वम्। ततो यदुत्तरतरं तदरूपं अनामयम्। यएत द्विदु रमृता स्ते भवन्ति" (श्वेता. उ. 3-10) इति विष्णोरपि परतत्त्वविभूतित्व, तत उत्पत्तिः, पुरुषशब्दनिर्दिष्ट नारायणातिरिक्त तत्त्वस्य मोक्षहेतुत्वं इत्यादिकं सर्वं श्रूयमाणं सङ्गच्छते। किञ्च, "अमृतस्यैष सेतुः" (मुण्ड. उ. 2-2-5) इति सेतुव द्भगवतो ऽन्यप्रापकत्वोक्तेश्च त्रिमूर्त्युत्तीर्णमेव सर्वजगत्कारण मिति नारायणस्य न परत्वं नापि तद्भजना न्मुक्तिः, "कारणं तु ध्येयः" (अथ. शिखा. उ. 3) इति श्रुतिविरोधप्रसङ्गा दिति चे दत्रोच्यते — न तावत् त्रिमूर्त्यैक्य मुपपन्नम् "नारायणाद् ब्रह्मा जायते। नारायणाद्रुद्रो जायते। नारायणाद् द्वादशादित्या रुद्रा वसवः सर्वाणि च्छन्दांसि नारायणादेव समुत्पद्यन्ते" (नारा. उ. 1)। "एको ह वै नारायण आसी न्न ब्रह्मा नेशानः" (महा. उ. 1-1) "एको ह वै नारायण आसी न्न ब्रह्मा न च शङ्करः। स मुनिर्भूत्वा समचिन्तयत् तत एते व्यजायन्त विश्वे हिरण्ययर्भोऽग्नि र्यमवरुणरुद्रेन्द्राः। य न्नाभिपद्मा दभवत् स महात्मा प्रजापतिः। तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत सोऽग्रे भूतानां मृत्यु मसृजत[19]। त्र्यक्षं त्रिशिरस्कं त्रिपादं खण्डपरशुम्। ब्रह्मणः पुत्राय ज्येष्ठाय"। "ब्रह्मा दक्षादयः काल स्तथैवाखिल जन्तवः। विभूतयो हरे रेता[20] जगतः सृष्टिहेतवः" (विष्णु. पु. 1-22-31)। "रुद्रः कालान्तकाद्याश्च समस्ताश्चैव जन्तवः। चतुर्विधाश्च ते सर्वे जनार्दन विभूतयः" (विष्णु. पु. 1-22-33)। "आद्यो नारायणो देव स्तस्मात् ब्रह्मा ततो भवः। परो नारायणो देव स्तस्मा ज्जात श्चतुर्मुखः। तस्मा द्रुद्रोऽभवद्देवि"। "क इति ब्रह्मणो नाम ईशोऽहं सर्वदेहिनाम्। आवां त्वदङ्गसम्भूतौ तस्मात् केशवनामभाक्" (हरिवंशे) "तवान्तरात्मा मम च येचान्ये देहिसंज्ञिताः। सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित् क्वचित्"। (भार. 12-339-4) "एतौ द्वौ विबुधश्रेष्ठौ प्रसादक्रोधजौ स्मृतौ। तदा दर्शितपन्थानौ सृष्टिसंहारकारकौ" (भार. 12-328-17)। "विष्णुरात्मा भगवतो भवेस्यामितितेजसः"[21]। (भार. 8-24-85) "सृष्टिं ततः करिष्यामि त्वामाविश्य प्रजापते" (वि. ध. पु. 68-52)। "हरो हरति तद्वशः" इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यः ब्रह्मरुद्रयोः परमपुरुषसृज्यत्व तद्विभूतित्व तदवरत्व[22] तत्प्रसादायत्त ज्ञानवत्त्व तच्छरीरत्वादि धर्माणां तदैक्यविरुद्धानां अवगतत्वात्। "ब्रह्मा नारायणः शिवश्च नारायणः" (त्रि. म. ना. उ. 2-8) इत्यादि सामानाधिकरण्यस्य च "सृष्टिं ततः करिष्यामि त्वामाविश्य प्रजापते" (वि. ध. पु. 68-52)। "हरो हरति तद्वश" इति प्रमाणान्तरानुगुण्ये नान्तरात्मतया आकृत्यधिकरणन्यायेन शरीरवाचिनां शरीरिपर्यन्तत्वेना प्युपपत्तेः। बहुप्रमाणावगत भेदस्य

निर्वाहासम्भवाच्च। नापि नारायणा दुत्तीर्णं तत्त्वान्तर मस्ति ? "विश्वमेवेदं पुरुष स्तद्विश्व मुपजीवति। पतिं विश्व स्यात्मेश्वरम्," (म. ना. उ. 11-1) "य मन्तः समुद्रे कवयो वयन्ति" (म. ना. उ. 1-3) "न तस्येशे कश्चन तस्य नाम महद्यशः" (म. ना. उ. 1-10)। "परात्परं य न्महतो महान्तम्" (महा. उ. 4-71) "न तत्सम श्चाभ्याधिक श्च दृश्यते," (श्वेता. उ. 6-8) "अग्नि रवमो देवतानां विष्णुः परमः" (तैत्ति. सं. 5-5-1)। "मत्तः परतरं नान्य त्किञ्चि दस्ति धनञ्जय" (भ. गी. 7-7)। "आभूतसंप्लवे प्राप्ते प्रलीने प्रकृतौ महान्" (भार. 2 App. 21-52 pr)। "एकस्तिष्ठति विश्वात्मा" (भार. 12 App. 17B-45 pr) "स तु नारायणः स्मृतः" (भार. 2 App. 21-53 post)। "न परः पुण्डरीकाक्षाद् दृश्यते पुरुषर्षभः।" "परं हि पुण्डरीकाक्षा न्न भूतो न भविष्यति"। "न विष्णोः परमो देवो विद्यते नृपसत्तम। न वासुदेवा त्परमस्ति दैवतम्।" "न वासुदेवं प्रणिपत्य सीदति"। "देशतः कालतो व्याप्ति र्मोक्षदत्वं तथैव च। हरे र्विभूतिमात्रं तु केवलं सम्प्रभाषितम्।" "न देवः[23] केशवात्परः[24]" (भार. 3 App. 13-17 post) "राजाधिराजः सर्वेषां (सर्वासां) विष्णु र्ब्रह्ममयो महान्" (भार. 14-43-12) "परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयः सन्ति परावरेशे" (विष्णु. पु. 6-5-85) इत्यादिभि र्बहुभिः प्रमाणै र्विष्णोः सर्वाधिकत्वप्रदर्शनपूर्वकं तदधिकदेवतान्तर निषेधात्। ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्राः ते सर्वे सम्प्रसूयन्त इत्यत्र तु विष्णो रुत्पत्ति रवताररूपा स्वसङ्कल्पमूला उच्यते; न तु ब्रह्मरुद्रादीना मिव कर्ममूला। कारणवाक्ये ष्वेकस्यैव कृत्स्न जगत्कारणत्वावगमात् त्रयाणां समुच्चित्य कारणत्वानुपपत्तेः कारणत्वोपास्यत्व बोधकवाक्य गतानां शिवशम्भ्वादि सामान्यशब्दानां छागपशुन्यायेन विशेषवाचि नारायणशब्दार्थ पर्यवसानोपपत्तेः अचितः सर्वकारणत्वानुपपत्तेरीक्षणार्थ[25]विरोधाच्च रुद्रादीनां अनपहतपाप्मा वा अह मस्मी त्यादिना कार्यत्वकर्मवश्यत्वादि श्रवणात् वासुदेवादि पदवाच्यस्य कुत्रापि कर्मवश्यत्वाद्यश्रवणात् तदुत्पत्तेश्च "अजायमानो बहुधा विजायते" (तैत्ति. आ. 3-13) इत्यवताररूपत्वश्रवणात् अजायमान इति कर्मायत्तोत्पत्ति निषेधाच्च कर्मकृतत्वस्यापोदितत्वाच्च, इतरोत्पत्तेः तथा अपवादकाभावाच्च। ततो य दुत्तरतरं इत्यनेन कि मुच्यते इति चे दुच्यते — त्रिमूर्तिमध्ये रक्षकत्वे नावतीर्णस्य नारायणस्य "अस्येशाना जगतो विष्णुपत्नी" (तैत्ति. सं. 4-4-12) इत्यादिना अवगतस्य "अद्भ्यः सम्भूतः" (तैत्ति. आ. 3-13) इत्यत्र पूर्वानुवाकोक्तं महापुरुषत्वं "वेदाहमेतं" (तैत्ति. आ. 3-12) इत्यनेनैव वाक्येन प्रत्यभिज्ञाप्य तस्य श्रियःपतित्व महापुरुषत्वादिश्रवणात् तमेव सर्वोत्तरं महापुरुषं "यस्मात् परं ना परमस्ति किञ्चित्। यस्मा न्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठ त्येकस्ते नेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" (म. ना. उ. 10-4; श्वेता. उ. 3-9) इति प्रत्यभिज्ञाप्य, उपरिच "सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः सर्वव्यापी च भगवान्" (श्वेता. उ. 3-11) इति सहस्रशीर्षत्वादिधर्मान् प्रत्यभिज्ञाप्य तयोः वाक्ययोः मध्ये प्रयुक्तस्य ततो य दुत्तर[26] मिति वाक्यस्य सन्दंशन्यायेन नारायणपरत्वस्य आवश्यकत्वात् तत इत्यस्य शब्दतोऽर्थतश्च प्रत्यभिज्ञापित तद्धेतुपरामर्शत्वस्यैव न्याय्यत्वात् अन्यथा यस्मात्पुरुषा दपरं व्यतिरिक्तं परं उत्कृष्टं नास्तीति पूर्ववाक्ये नोक्तं पुरुषमेव परामृश्य तद्व्यतिरिक्तस्य उत्त्वप्रतिपादने पूर्वापरव्याघातप्रसङ्गाच्च। तत उक्तहेतुभ्यः यत्पुरुषशब्दवाच्यं तत्त्वं तदेवोत्तरं तत्त्व मिति "अमृतस्यैष सेतु"रिति अनेनापि विष्णोः न तत्त्वान्तरप्रापकत्वं उच्यते; अपि तु स्वप्राप्तौ स्वयमेव हेतु रिति दिक्॥ २३॥

ननु प्रकृतिगुणत्वे समानेऽपि कथं मोक्षहेतुः, कथ मितरौ गुणौ तदहेतू, सर्वमपि मोक्षहेतु र्न वा स्या दिति शङ्कायां दृष्टान्तेन गुणानां वैषम्य मुपपादयति — **पार्थिवा** दिति। दारुण इति पञ्चमी पार्थिवात् पृथिवी-परिणामरूपादारुणः काष्ठात्तावद्धूमः उत्पद्यते तस्माद्धूमादनन्तरं इत्यध्याह्रियते। धूमोह्यग्नेः पूर्वमुत्पद्यते तस्माद्धूमादन-न्तर मग्नि रुत्पद्यते स च त्रयीमयः। यथा पार्थिव दारूत्पन्नत्वाविशेषे ऽपि धूमो न प्रकाशकः न च स्वर्गाद्यौपयिकः अग्निस्तु प्रकाशकः त्रयीप्रतिपाद्यतारूपेण स्वर्गप्रद श्चेति तयो र्दृष्टकार्य वैषम्यसिद्धिः, एवं सुषुप्तस्य पुरुषस्य तमोगुणानन्तरं मनसः अनाविलत्वहेतु र्यत्सत्त्वं तदेव ब्रह्मदर्शनसाधन मिति कार्यवैचित्र्योपपत्ति रित्यर्थः॥ २४॥

1. A,B °दि° 2. W adds एव 3. B,W °स्तु 4 B,W अन्तव° 5. W adds तु 6 W परस्य चे° 7. W सो° 8. B,W °बहुत्व° 9. W °कत्वरूपं विवक्षितम् 10. W adds तद्भजनादेव 11 W omits एव 12 W एष्टव्यम् 13. A °ह्य 14 W °करणीं 15. W स संज्ञां 16. W याति 17. W omits न 18. W adds ते 19. W °त् 20. W °ते 21. W °ग° 22. W °म° 23. W दैवं 24. W °त्परं 25. B,W °णाद्यर्थ° 26. B,W °त्तरतर° 27. A गुणत्वेन 28. B,W add सत्त्वं 29 A,B विशेषोऽपि 30. W स्वर्गसिद्ध्यौ° 31. B °स्तद्प्रति° 32. W °पाद्यत्रेता° 33. B,W °दृष्टादृष्ट° 34. W °दनन्तरं प्रवर्तक रजः तदनन्तरं

**विज०** अपरोक्षज्ञान फल माह — **भिद्यत** इति। आत्मनि हृत्कमल कर्णिकामध्ये स्वबिम्बे सर्वेश्वरे दृष्टे **एव**, तस्मिन् क्षण **एव हृदयग्रन्थ्याख्यलिङ्गं** मनो भिद्यते। तस्मिन् भिन्ने सति ईश्वरादितत्त्वविषयाः सर्वसंशयाः **छिद्यन्ते**। तेषु छिन्नेषु सत्सु पूर्वकृत पापकर्माणि क्षीयन्ते, उत्तराणि न श्लिष्यन्त इत्येकान्वयः। संसारच्छेदन मेवापरोक्षज्ञानफलं इति भावः। आत्मनि जीवे ईश्वरे ब्रह्मणि जीवे दृष्टे चेति परस्परभेदनिरासे नाहमेव ब्रह्मेत्येवं दृष्टे व्यतिहारन्यायेन हृदयग्रन्थिः अहङ्कारो भिद्यत इति केचित्। तदयुक्तम् — श्रुतिस्मृतिविरोधात्। "सत्य मात्मा सत्यो जीवः", "द्वासुपर्णा" (श्वेता. उ. 4-6, मुण्ड. उ. 3-1) इत्यात्मनि भिदाबोधः भेदसृष्ट्यभिमानेनेति भागवतज्ञानात् अद्वैतज्ञाननिषेधाच्च॥ २१॥

निगमयति — अत इति। अतो निश्शेषदुःखनिवृत्त्यलम्बुद्धिगोचर सुखानुभवलक्षण मोक्षाख्य-पुरुषार्थलाभाद्धि कवयः परमया मुदा आत्मप्रसादनी भक्तिं वासुदेवे भगवति कुर्वन्ती त्येकान्वयः। आत्मप्रसादनीं मनसो नैर्मल्यापादनीं विष्णुप्रसादजननीं वा, मुक्तामुक्ताश्चे त्युभयेऽपि हरौ भक्तिं कुर्वन्ती त्येतस्मि न्नर्थे वैशब्दः॥ २२॥

उक्तश्रवण भक्त्यादि लभ्यमुक्तौ कोऽधिकारी त्याशङ्क्य, सात्त्विकप्रकृतिरेव तत्राधिकारीति वक्तुं सत्त्वादिगुणां-स्तदाश्रयांश्च आह — **सत्त्व** मिति। सत्त्वं रज स्तम इत्येते त्रयो गुणाः जडप्रकृतेः, स्वरूपभूता श्चित्प्रकृत्यभिमताः हरे र्जगदुत्पत्तौ उपादानभूताः। तै र्गुणैः स्वयं अगुणः सन्नपि तत्प्रवर्तकतया युक्तः परः पुरुषोऽस्य जगतः स्थित्यादये पालनसृष्टि संहारान् कर्तु हरिविरिञ्चहरेति संज्ञाः नामानि एव धत्ते। विष्णु र्ब्रह्मा शिव इति संज्ञावत्त्वेनावतरति। तत्र सत्त्वगुणसम्बन्ध विधुरोऽपि सत्त्वगुणप्रवर्तनेन जगत् पालयन् विष्णुसंज्ञो हरि रनन्याधिष्ठिततया पृथगेव स्थितः। चतुर्मुखस्थो ब्रह्माख्यो विष्णुः स्वय मरजा अपि रजोगुण मुपादानीकृत्य जग त्सृज त्रास्ते। शिवाख्यो विष्णुः स्वयं अतमा अपि तमोगुण प्रवर्तकतया जगत्संहरन् शिवे तिष्ठति। तत्सन्निधान विशेषादेव कमलासनवृषासनयो र्ब्रह्मशिवसंज्ञा।

तस्मा द्धरे रेव त्रिसंज्ञाः, न तु लोकप्रसिद्ध हरि ब्रह्म शिव भेदनिरासेन संज्ञाः। तथात्वे, "ब्रह्मविष्णवीशरूपाणि त्रीणि विष्णो र्महात्मनः। ब्रह्मणि ब्रह्मरूप स्स" त्रित्यादि वामनपुराणविरोधात्। एवं त्रयोऽपि गुणाः विष्ण्वाश्रयाः तथाऽपि सात्त्विक राजस तामस शरीरिणां नृणां मध्ये सत्त्वतनौ सात्त्विकशरीरिणि देवप्रकृतौ जीवराशावेव श्रवणभक्त्यादिश्रेयांसि स्यु र्न राजसतामस शरीरिषु मिश्रमनुष्येषु असुरेषु च इत्येकान्वयः। सत्त्वतनोः विष्णोः केवलं भवतीति दर्शयितुं मूर्तित्रयस्वरूपं आह — सत्त्व मिति। सत्त्वादयः प्रकृते र्गुणाः तै र्युक्त एकः परः पुरुषः हर्यादित्रिसंज्ञा धत्ते। किमर्थम्? जगतः स्थितिसृष्टिभङ्गार्थम्। तत्र तेषां त्रयाणां मध्ये सत्त्वगुणः तनुः शरीरं यस्य सः सत्त्वतनुः; तस्मा द्विष्णोः श्रेयांसि स्यु रिति वाणी न युक्ता। "केवलो निर्गुणश्च" (श्वेता. उ. 6-11) इति श्रुतिव्याकोपात्; न चास्याः सर्वगुणराहित्य मर्थः। "सत्यं[3] ज्ञान मनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति. उ. 2-1-1) "गुणाः सर्वेऽपि वेत्तव्या ध्यातव्याश्च न संशयः," "आनन्दादयः प्रधानस्य" (ब्र. सू. 3-3-11) इति[4] स्मृतिसूत्रैः ज्ञानादिगुणगणविधानात् अत्रापि "साक्षी चेता केवलः[5]" (श्वेता. उ. 6-11) इत्यादि साक्षित्वादिगुण प्रतीतेश्च। तस्मात् सत्त्वादिगुण राहित्यमे वास्या अर्थ इति सन्तोष्टव्यम्। किञ्च, हरिविरिञ्चहरा इत्युक्तिं विहाय हरेत्युक्तेः प्रमाणसिद्धः कश्चि दर्थविशेषो ऽस्तीति विज्ञायते। स च सकलसुरवरपुरटमुकुट पटलकोटि तटपरिघट्टित चरणकमल परागैः श्रीमद्बादरायणान्तेवासि प्रवरैः श्रीमदानन्दतीर्थ भगवत्पादाचार्यैः दर्शित इति नोऽस्माभिः अत्र प्रयाततव्यम्॥ २३॥

ननु त्रयाणां गुणानां प्राकृतत्वा दविशेषेण कथं सत्त्वस्यैव श्रेयःप्राप्ति[7] हेतुत्वमि त्याशङ्क्य, सात्त्विकानामे वोत्तमत्वेन ब्रह्मविद्याधिकारित्व प्रतिपादनाय गुणत्रितये सत्त्वगुण स्योत्तमत्वं सोदाहरण माह — **पार्थिवादिति**। अत्रोत्तमपदं अध्याहृत्य, व्याख्येयम्। पार्थिवात् पृथिवीकार्यात् दारुणो वृक्षात् पार्थिवो धूम उत्तमः, लोकोपकारक मेघरूपत्वात्। तस्मात् धूमात् पार्थिवोऽग्निः उत्तमः। कीदृशः? त्रय्यां प्रतिपाद्यत इति त्रयीमयः, सकलपदार्थ प्रकाशकः। अत्र यथा वृक्षधूमाग्नीनां पार्थिवत्वाऽविशेषेऽपि अग्निः आधानेन संस्कृतो विशिष्ट पुरुषार्थसिद्धये याज्ञिकैः उत्तमत्वेन पूज्यते, तथा प्राकृता त्तमस स्तमोगुणा द्रजोगुण उत्तमः। तस्मा त्सत्त्वं, परब्रह्मादि सकलदेवता तत्त्वप्रकाशकः सत्त्वगुण उत्तमः। य द्यस्मा त्सत्त्वगुणात् ब्रह्मदर्शनं ब्रह्मज्ञानं भवतीति शेषः। यत्सत्त्वं ब्रह्म दर्शय त्यपरोक्षयतीति तस्मा त्सात्त्विका एव ब्रह्मज्ञानाधिकारिण इति सिद्धम्। अनेन चेतनानां अपवर्गनरक तमःप्राप्ति योग्यानां त्रैविध्यं सूचितम्॥ २४॥

---

1 M adds दृष्टे ब्रह्मणि 2 B,M add एकः 3 M °त्वं 4. M adds श्रुति° 5. A,B °लं 6. A,B प्र° 7. M °प्रति°

रा॰ कृ॰ आत्मनि परमात्मनि ईश्वरे दृष्टे एव दृष्टमात्रे अस्य द्रष्टुः हृदयग्रन्थिः अहङ्काररूपः भिद्यते। सर्वसंशयाः छिद्यन्ते; कर्माणि च क्षीयन्ते॥ २१॥

अतः कवयो विद्वांसः परमया मुदा भगवति वासुदेवे आत्मप्रसादनीं भक्तिं नित्यं कुर्वन्ति॥ २२॥

सत्त्वं रजः तम इति त्रयः प्रकृते र्गुणाः। तै र्युक्तः एकः परः पुरुषः परमपुरुषो भगवान् अस्य विश्वस्य स्थित्यादये स्थिति सर्ग प्रलयार्थं हरि विरिञ्चि हरेतिसंज्ञाः विष्णु ब्रह्म रुद्रनामानि धत्ते। तत्र तेषां मध्ये सत्त्वतनोः वासुदेवात् नृणां नराणां यशांसि स्युः खलु भवेयुः खलु॥ २३॥

पार्थिवात् पृथिवीपरिणाम रूपात् दारुणः काष्ठात् धूमः, श्रेष्ठः इत्यध्याहार्यः। तस्मा द्धूमात् त्रयीमयः अग्निः श्रेष्ठतरः। एवं लयात्मकात् तमसो रजः विक्षेपात्मकं विशिष्टम्, तस्मात् ब्रह्मदर्शनं ब्रह्मप्रकाशकं यत्सत्त्वं तत् विशिष्टतरम्। अनेन दृष्टान्तेन वासुदेवस्य सर्वोत्तमत्वं उक्तं भवति॥ २४॥

**भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्त मधोक्षजम्।**
**सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु ता निह॥ २५॥**

**मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपती[2] नथ।**
**नारायणकलाः[3] शान्ता भजन्ति[4] ह्यनसूयवः॥२६॥**

**रजस्तमःप्रकृतयः समशीला[5] भजन्ति वै।**
**पितृभूत प्रजेशादीन् श्रियैश्वर्य प्रजेप्सवः॥ २७॥**

**वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः।**
**वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः॥ २८॥**

**वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः।**
**वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः॥ २९॥**

---

1 M कल्पते नेतराविह 2 V °तीं स्तथा 3 AF GF° कलां 4 AF,GF शान्तां 5 H,V भजन्ते 6. M,W °लान्

**श्रीध०** वासुदेवभक्तौ पूर्वाचारं प्रमाणयति — **भेजिर** इति। अथातो हेतोः अग्रे पुरा विशुद्धं **सत्त्वं** सत्त्वमूर्तिं भगवन्तं अधोक्षजम्[1]। अतो ये ताननुवर्तन्ते त इह संसारे क्षेमाय कल्पन्ते॥ २५॥

नन्वन्यानपि केचि द्भजन्तो दृश्यन्ते। सत्यम्। मुमुक्षव स्त्वन्यान्[2] न भजन्ति[3], किन्तु सकामा एवेत्याह — **मुमुक्षव** इति द्वाभ्याम्। भूतपतीनिति पितृप्रजेशादीनां उपलक्षणम्। अनसूयवो देवतान्तरानिन्दकाः सन्तः॥ २६॥

**रज** इति। राजस्तमसी प्रकृतिः स्वभावः येषां ते। अत एव पितृभूतादिभिः समं शीलं **येषाम्**। श्रिया सहैश्वर्यं प्रजा श्चेप्सन्तीति तथा ते॥ २७॥

[5]मोक्षप्रदत्वा द्वासुदेवो भजनीय इत्युक्तम्। सर्वशास्त्र तात्पर्यगोचरत्वा दपीत्याह द्वाभ्याम् — **वासुदेवेति।** वासुदेव एव पर स्तात्पर्यगोचरो येषां ते। ननु वेदा मखपरा दृश्यन्ते इत्याशङ्क्य तेऽपि तदाराधनार्थत्वात् तत्परा एवेत्युक्तं — **मखा** इति। योगा योगशास्त्राणि। तेषामपि आसन प्राणायामादि क्रियापरत्वं आशङ्क्य तासामपि तत्प्राप्त्युपायत्वा त्तत्परत्वं उक्तम्॥ २८॥

**वासुदेवेति।** ज्ञानं ज्ञानशास्त्रम्। ननु च तंत् ज्ञानपरमेवे त्याशङ्क्य ज्ञानस्यापि तत्परत्वं उक्तम्। तपोऽत्र ज्ञानम्। धर्मो धर्मशास्त्रं दानव्रतादि विषयम्। ननु त त्स्वर्गपर मित्याशङ्क्य, गम्यत इति गतिः स्वर्गादिफलं साऽपि तदानन्दांशरूपत्वा त्तत्परैवे त्युक्तम्। यद्वा वेदा इत्यनेनैव तन्मूलत्वात्सर्वाण्यपि वासुदेवपराणी त्युक्तम्। तत्र ननु तेषां मखयोगक्रियादि नानार्थपरत्वात् न तदेकपरत्वमि त्याशङ्क्य मखादीनामपि तत्परत्व मित्युक्त मिति द्रष्टव्यम्॥ २९॥

1. H,V add अधः अधःकृतं अक्षजं ज्ञानं यस्मा त्तमधोक्षजम्। 2. H,V add रजसतामसान् 3. H,V °त्ते 4 B,H,V add ते 5. B,H,V add अतो 6. V तदपि 7. H,V °गादिफल°

**वीर०** यतः सत्त्वस्यैव ब्रह्मदर्शनत्वं ततश्च सत्त्वप्रवर्तका द्विष्णोरेव नृणां श्रेयांसि। अत एव सत्त्वतनुं विष्णुमेव मुनयोऽभज न्नित्याह — **भेजिर** इति। अथ तस्मा दग्रे पूर्वकाले मुनयः विशुद्धं रजस्तमोभ्या मननुविद्धं सत्त्वं सत्त्वशरीरकं तत्प्रवर्तकं भगवन्तम् अधोक्षजं भेजिरे उपासांचक्रिरे। एव मिह तान्मुनी ननुसृत्य सत्त्वतनुं भगवन्तं ये जना उपासते इत्यर्थः। ते क्षेमाय कल्पन्ते श्रेयोयुक्ता भवन्तीत्यर्थः। रजस्तमःप्रधानौ ब्रह्मरुद्रौ भजन्त स्तु न क्षेमाय कल्पन्ते, अपि त्वन्तवत्फलभाजो भवन्तीति भावः॥ २५॥

ननु केचित् ब्रह्मरुद्राद्युपासका अपि दृश्यन्ते, सर्वेऽपि विष्णुमेव किं न भजन्त इति शङ्कायां, उपासकानां स्वस्वगुणानुसारे णोपास्यदेवता विषयकोपासनायां रुचिः जायत इत्याह — **मुमुक्षव** इति द्वाभ्याम्। मुमुक्षवः सत्त्वगुणप्रधानाः अनसूयवः। घोररूपान् भूतपतीन् रुद्रादीं स्तमःप्रधानान् हित्वा शान्ताः शुद्धसत्त्वप्रवर्तका नारायणस्य कला अवतारान् भजन्ति। अनसूयव इत्यनेन विष्णुभक्तानां देवतान्तरेषु तदुपासकेषु चासूयाराहित्यं देवतान्तरभक्तानां तु विष्णौ तत्परेषु चासूयावत्त्वं चास्तीति सूचितम्॥ २६॥

रजस्तम स्वभावा स्तु जनाः समशीलान् रजस्तमस्स्वभावान् पितृभूतेशान् रुद्रादीन् प्रजेशान् हिरण्यगर्भादीन् आदिशब्देन सङ्कीर्णदेवताः सरस्वतीप्रभृतीश्च "प्रेतान् भूतपतीं (गणां) श्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः" (भ. गी. 17-4) इत्युक्तान् भजन्ति। कथम्भूताः? श्रीम च्चैश्वर्य माधिपत्यं च प्रजाः पुत्रादयश्च; ता ईप्सन्ति आप्तु मिच्छन्तीति तथाभूताः। अनेन विष्णुभक्तानां अनन्यप्रयोजनत्व मनन्तस्थिर फलप्राप्तिः, अन्येषां तु अन्तवत्फलप्राप्ति श्चेति सूचितम्॥ २७॥

अथ "सर्वे वेदा यत्पद मामनन्ति। तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति" (कठ. उ. 2-1-5)। "इष्टापूर्तं बहुधा जातं जायमानं विश्वं बिभर्ति भुवनस्य नाभिः, तदेवाग्नि स्तुद्वायु स्तत्सूर्य स्तदु चन्द्रमाः" (म. ना. उ. 1-6-7) "वेदैश्च सर्वै रहमेव वेद्यः" (भ. गी. 15-15) "यो यो यां यां तनुं भक्तः" (भ. गी. 7-21) इत्युक्तरीत्या भागद्वयात्मक वेदवेद्यः चतुर्मुखरुद्रादि शरीरकः तदन्तर्यामितया ऽन्तवच्छिस्वैश्वर्यादि फलदश्च वासुदेव एवे त्यभिप्राये णाह — **वासुदेवपरा** इति द्वाभ्याम्। वेदाः पूर्वोत्तरभागद्वयात्मका वेदाः वासुदेवपराः वासुदेवः परः तात्पर्यभूमि र्येषां तथाभूताः। ननु अग्न्यादिदेवतोद्देश्क यागदानहोमादि कर्मप्रतिपादक पूर्वभागस्य कथं वासुदेवपरत्व मित्यत आह —

**वासुदेवपरा मखा इति। मखा** अग्न्यादिदेवता पूजात्मका यागादयो **वासुदेवपरः वासुदेवः परः**[12] **प्रधानतया आराध्यः**[13] **एषां तथाभूताः** अग्न्यादि शरीरकतया तद्रूपो वासुदेव एव मखै राराध्य इत्यर्थः। **केवलं** अग्न्यादिदेवता पूज्य-मात्रत्वाभिमानेन ये मखा ननुतिष्ठन्ति तेषामपि तत्समीहितं फलं तै रविज्ञातोऽपि **वासुदेवोऽग्न्याद्यन्तर्यामितयाऽऽराधितः प्रयच्छतीति भावः।** एव माराधितोऽन्तवत् फलं प्रयच्छतीति भावः। तथा **चोक्तम्** — "**अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च** प्रभु रेव च। न तु मा मभिजानन्ति तत्त्वे नात श्च्यवन्ति ते" (भ. गी. 9-24) **इति।** एवं तुल्यन्यायतया वेदान्तेषु क्वचित् क्वचित् कालाग्निरुद्रोपनिष त्प्रतर्दनविद्यादिषु रुद्रेन्द्राद्युपासनात्मका योगा अपि रुद्रादिशरीरक वासुदेवविषया इत्याह — **वासुदेवपरा योगा इति। वासुदेवः** परो विषयो येषां त इत्यर्थः। प्रायशो वेदान्तेषु विहिता योगा वासुदेवविषया एव श्रूयन्ते। क्वचि दापाततो रुद्रादि विषयत्वेन प्रतीयमाना अपि तत्तत्प्रकरणगतै र्लिङ्गैः **रुद्रादिष्व-**सम्भाव्यमानैः तच्छरीरक वासुदेवविषयत्वेनैव निश्चीयन्त इति भावः। एवं निखिल निगमवेद्यो वासुदेव एवे त्युक्तम्। अथ तत्पूर्वभागोपबृंहणात्मक तन्मूलक स्मृत्यादि प्रतिपाद्यः स्मार्त क्रियाराध्यश्च स एवेत्याह — **वासुदेवपराः क्रिया** इति। क्रियाः स्मार्त्यः श्रौतीनां तु मखा इ त्युक्तत्वात् पूर्ववदर्थः॥ २८॥

अथ वेदान्तार्थोपबृंहणार्थतया प्रवृत्त कपिलाद्यागमोक्त प्रकृतिपुरुषविषयक ज्ञानमपि प्रकृतिपुरुषशरीरक परमात्म-विषयक मेवेत्याह — **वासुदेवपरं** ज्ञान मिति। ज्ञानं प्रकृतिपुरुषविषयकं[15] वासुदेवविषयकं **विशेषणबुद्धिशब्दयो-र्विशेष्यपर्यन्तत्वा दित्यर्थः।** कपिलादिभिस्तु तथा न बुद्ध मिति **भावः।** तथा **वेदान्तार्थोपबृंहणपरं मन्वादिस्मृत्युक्त कृच्छ्र-**चान्द्रायणानशनादि तपश्च वासुदेवाराधनरूप मित्याह — वासुदेवपरं तप इति। किं **बहुना।** सर्वे वैदिकाः **स्मार्ताश्च** धर्माः, तत्प्राप्या गतयश्च वासुदेवाधीना इत्याह — **वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गति रिति॥ २९॥**

---

1 W °दर्शनसाधनत्वं 2 W य° 3 W adds ये तद्वत् 4 W °णैवो° 5 W °र्ति° 6 W °तृ 7 W श्रीः सम्पच्चै° 8. W **जनवत्व°** 9 W °र्ती 10 W इत्यादि श्रुतिस्मृत्युक्त° 11 W °वेदपूर्व° 12 W adds प्रधानः 13 W °ध्यो येषां 14 W °जा° 15 W adds वासुदेवपरं

**विज०** उक्तार्थे शिष्टाचारं दर्शयति — **भेजिर** इति। अथ तस्मात् सात्त्विकानां उत्तमाधिकारित्वात्[1] अग्रे पूर्वं मुनयो ज्ञानिनो ब्रह्मादयो ऽधोक्षजं भेजिरे। तस्मा दिह गुणेषु विशुद्धं सत्त्वं क्षेमाय मोक्षाय कल्पते; नेतरौ तमोरजोगुणौ मुक्तये न कल्पेते इत्येकान्वयः॥ २५॥

इदानीमपि सदाचारं दर्शयति — **मुमुक्षव** इति। ब्रह्मादि परमसात्त्विका वासुदेवं भेजिर **इति यस्मा दथ** तस्मा दसूयादि दोषरहिता दुस्तर संसारात् मुमुक्षवो वर्तमान भविष्य त्सात्त्विका अपि घोररूपान् राजसतामसान् भूतपतीन् रुद्रादीन् हित्वा शान्ताः परिपूर्ण सुखात्मिकाः वासुदेवकलाः भगवन्मूर्तीः सम्प्रति भजन्ति भजिष्यन्ति हि चेत्येकान्वयः॥ २६॥

इदानीं प्रसङ्गा त्तामसराजस सेव्यानाह — **रज** इति। श्रियैश्वर्य प्रजेप्सवो रजस्तमःप्रकृतयः पुरुषाः समशीलान् पितृभूत प्रजेशादीन् भजन्ती त्येकान्वयः। "निर्दोषं हि समं ब्रह्म" (भ. गी. 5-14) इति वचनात् समं ब्रह्म।

तच्छीलान् सेवकस्य य च्छीलं सेव्यस्यापि तच्छील मस्तीति वा समशीलान्। श्रीकामः प्रजेशान् ऐश्वर्यकामो भूतपतीन् प्रजाकामः पितॄन् श्रियञ्च ऐश्वर्यञ्च प्रजाञ्च प्राप्तु मिच्छन्तः श्रियैश्वर्यप्रजेप्सवः ॥ २७ ॥

सकलशास्त्र तात्पर्य पर्यालोचनया सकलैरवश्यं सेव्यः श्रीनारायण एवे त्यभिप्रेत्याह — **वासुदेवपरा** इति। अत्र वेदा वासुदेवपरा इत्यादि प्रतिपाद मन्वेतव्यम्। वासुदेवगुणोत्कर्ष प्रतिपादन तात्पर्यवन्तो मखाः, संसारमदं खनन्तीति नाशयन्तीति मखाः अग्निष्टोमादयो वासुदेवोद्देश्याः नान्योद्देश्याः। योगाः अष्टाङ्गाः वासुदेवविषयाः। श्रुतिस्मृतिविहित सन्ध्योपासनादिकाः क्रियाः ॥ २८ ॥

ज्ञानं औपनिषदम्, तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादिकायक्लेशः। धर्मो दानादिः। गम्यत इति गतिः। फलं परलोकः। अनेन हरे रखिल ऋग्वेदादि शास्त्रमुख्य विषयत्वेन सर्वोत्तमत्व मुक्तम् ॥२९ ॥

---

1 M °र°

**रा० कृ०** अथ अतः अग्रे पुरा मुनयः विशुद्धं सत्त्वं सत्त्वस्वरूपं भगवन्तं अधोक्षजं वासुदेवं भेजिरे सिषेविरे। ये जनाः ता न्मुनीन् अनु अनुवर्तन्ते; तेऽपि क्षेमाय कल्पन्ते ॥ २५ ॥

अथ अतः मुमुक्षवः अनसूयवो देवतान्तरानिन्दका स्सन्तः घोररूपान् भूतपतीन् भूतेशादीन् हित्वा त्यक्त्वा शान्ताः नारायणकलाः नारायणावतारान् भजन्ते। रजस्तमःप्रकृतयः रजस्तमस्स्वभावाः समशीलाः पितृभूतादिभि स्सह समशीलाः श्रिया सह ऐश्वर्यप्रजेप्सवः ऐश्वर्यं प्रजां प्राप्तु मिच्छन्तः पितृभूतप्रजेशादीन् भजन्ति ॥ २६, २७ ॥

वासुदेवपराः वेदाः। एवं मखाः योगाः क्रियाश्च वासुदेवपराः। वासुदेव परमेव ज्ञानं। तत्परमेव तपः। तत्परो धर्मः। तत्परैव च गतिः ॥ २८, २९ ॥

**स एवेदं ससर्जाऽग्रे भगवा नात्ममायया ।**
**सदसद्रूपया चासौ गुणमय्याऽगुणो विभुः ॥ ३० ॥**

**तया विलसितेष्वेषु गुणेषु गुणवानिव ।**
**अन्तः प्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भितः ॥ ३१ ॥**

**यथा ह्यवहितो वह्नि र्दारुष्वेकः स्वयोनिषु ।**
**नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान् ॥ ३२ ॥**

**असौ गुणमयै र्भावै र्भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः ।**
**स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो भुङ्क्ते भूतेषु तद्गुणान् ॥ ३३ ॥**

**भावय त्येष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनः ।**
**लीलावतारानुरतः देवतिर्यङ्नरादिषु ॥ ३४ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्री हयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे
नैमिषीयोपाख्याने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

1 M व्य° 2 M.W °न्ने° 3 M °ग° 4 M तिर्यङ्नरसुरादिषु

**श्रीध०** ननु जगत्सर्गतत्प्रवेश नियमनादि विलासयुक्ते वस्तुनि सर्वशास्त्र समन्वयो दृश्यते। कथं च वासुदेवपरत्वं सर्वस्य ? तत्राह — **सएवेति** चतुर्भिः। एतैरेव श्लोकैस्तस्य कर्माण्युदाराणि ब्रूहीति प्रश्नस्योत्तर-मुक्तम्। सदसद्रूपया कार्यकारणात्मिकया अगुण श्चेत्यन्वयः। स्वतो निर्गुणोऽपि सन्नित्यर्थः ॥ ३० ॥

भगवतो जगत्कारणत्व मुक्तं प्रवेशनियमनलक्षणां लीलामाह — **तथेति**। विलसितेषूद्भूतेषु गुणे-ष्वाकाशादिषु अन्तः प्रविष्टः सन् गुणवा निव, मदधीना एते गुणा इत्यभिमानवा निव न तु वस्तुत स्तथा। यतो विज्ञानेन चिच्छक्त्या विजृम्भितो ऽत्यूर्जितः ॥ ३१ ॥

बहुलीलारूपत्व माह — **यथेति**। स्वयोनिषु स्वाभिव्यञ्जकेषु। अवहितो निहितः विश्वात्मा पुमान् परमेश्वरः। भूतेषु प्राणिषु। अन्तर्यामिणोऽपि प्रतियोगिनानात्वेन नानात्व मिवोच्यते, क्षेत्रज्ञरूपेण वा ॥ ३२ ॥

भोगरूपां लीला माह — **असाविति**। असौ हरि र्भूतसूक्ष्माणि चेन्द्रियाणि चात्मा मनश्च तैः स्वयं निर्मितेषु भूतेषु चतुर्विधे ष्विति भोगे स्वातन्त्र्यं द्योत्यते। तद्गुणां स्तत्तदनुरूपा न्विषया निच्छया भुङ्क्ते भोजयतीति णिजर्थो वा ज्ञेयः। पालयतीति वा। तदा त्वात्मनेपद मार्षम्, (अष्टा. 1-3-66) "भुजोऽनवने" इति स्मरणात् ॥ ३३ ॥

इदानीं सूत जानासीति प्रश्न स्योत्तर माह — **भावयतीति**। भावयति पालयति। एतत्तु सर्वावतारसाधारणं प्रयोजनम्। विशेषतः कृष्णावतारस्य कुन्तीस्तुतौ वक्ष्यते। लोकभावनो लोकभर्ता। देवादिषु ये लीलावतारास्ते-ष्वनुरतोऽनुरक्तः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

1. H,V °लीला° 2. H,V सर्वशास्त्रस्य 3. H,V अनुप्रवेश° 4. H adds आभाति 5. H एवेमे 6. B,H,V °रूपलीला° 7. H नि° 8 V °नि° 9. H,V णिचो 10. H,V लोपो 11. H °क°

**वीर०** कथं वेदादीनां वासुदेवपरत्व मित्याशङ्कायां "तदात्मानं स्वय मकुरुत" (तैत्ति. उ. 2-7) इत्युक्तरीत्या सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं स्वात्मानं जगद्रूपेण परिणमय्य तत्तद्रूपेण वासुदेव स्यैवावस्थानात् वासुदेवात्मकं विना **वस्त्व**-भावा दित्याह — **स** इति द्वाभ्याम्। अग्रे सृष्टेः प्राक् स एव वासुदेव एव नामरूपविभागानर्ह सूक्ष्म-चिदचि च्छरीरकतया अवस्थित इत्यर्थः। एवकारेण तच्छब्द परामृष्ट[2] भगवद्वाचक वासुदेव शब्दावयवार्थेन चेदं लब्धम्। यद्वा इदं परिदृश्यमानं जग दग्रे सृष्टेः प्राक् स एव आसीदित्यध्याहारः। "स देव सौम्येद मग्र आसीत्" (छान्दो. उ. 6-2-1) इति स्थानप्रमाणात्। एवं चेद मित्यनेन नामरूपविभागभिन्नं जग न्निर्दिश्य तस्य वासुदेवरूपे णाव-स्थानोक्त्या वियदादिवस्त्वन्तर व्यावर्त्तकैवकार प्रयोगेण च "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभा वपि (भ. गी. 13-2) इति स्मृत्यनुरोधाच्च, अन्यथा न कर्माविभागा दिति चेन्न; अनादित्वात् इत्युक्तन्याये नाकृताभ्यागम कृतवि-प्रणाशादि दोषप्रसङ्गाच्च सूक्ष्मचिदचिद्वैशिष्ट्यं लब्धम्। सृष्टेः प्रागेव मवस्थितो भगवा नात्मनः स्वस्य मायया स्वशरीरभूतया[4] गुणमय्या सत्त्वादि गुणप्रचुरतया[5] सदसद्रूपया महदादि पृथिव्यन्तकार्यकारणरूपेण परिणममानया विभुः व्यापकः सदसद्रूपेऽप्यन्तरात्मतयाऽनुप्रविष्ट इत्यर्थः। अथाऽगुणः[7] व्याप्यतद्गुणै[8] रस्पृष्ट इदं जगत् ससर्ज॥ ३०॥

एवं समष्टिव्यष्ट्यवस्था चिदन्तर्यामितया तत्कारणतया च तद्रूपे णावस्थान मुक्तम्। अथोभयावस्थ प्रकृतिसं-सृष्ट जीवशरीरकतया तदन्तरात्मतया तद्रूपेण वासुदेवस्यै वावस्थिति माह — **तथेति**। तया आत्ममायया विलसितेषु रचितेषु एषु परिदृश्यमानेषु[9] गुणशब्दो लाक्षणिकः गुणकार्यभूत शब्दादिस्तम्बपर्यन्ते[10] [11] ष्वित्यर्थः। विज्ञानेन जीवेन "विज्ञानं यज्ञं तनुते" (तैत्ति. उ. 2-5) "य आत्मनि तिष्ठन्*" "यो विज्ञाने तिष्ठन्" (बृह. उ. 3-7-22) इति श्रुतिप्रयोगात्। तेन विजृम्भितः विशिष्टतच्छरीरक इत्यर्थः। "यस्य विज्ञानं शरीरं" (बृह. उ. 3-7-22) इति श्रुतेः। यद्वा विज्ञानरूपेण विजृम्भितः भाष्यमाणः[12] तच्छरीरतया तदन्तरात्मतया च तद्रूपेण प्रकाशमानइत्यर्थः। अन्तः प्रविष्टः जीवद्वारा देवादिशरीरे-ष्वनुप्रविष्टः। गुणवानिव साक्षा द्देवादिशरीरतच्छरीरक जीवगतधर्मवा निवाभाति। इव शब्द स्याय मभिप्रायः। "काठिन्य-वान् यो बिभर्ति नृसिंहरूपी भगवान्[13] श्चेत", इत्यत्र काठिन्यश्चे[14]त्यादिव च्छरीरभूतजीवे हेयसम्बन्धः। न तु शरीरिणि वासुदेवे इति। तथा तस्यैकस्यैव देवादिशरीर भेदे नानेकधाऽवस्थिति श्चेति॥ ३१॥

एतदेव दृष्टान्तमुखे नोपपादयति — **यथेति**। अभिव्यक्तिस्थानमात्रं[15] योनिशब्दे नोक्तं न तु[16] तदुपादानम्। न हि प्रकृति जीव स्योपादानं न वा वह्ने दारूपादानं, किन्तु निमित्तम्। "[17]अग्ने रापः अद्भ्यः पृथिवी" (तैत्ति. उ. 2-1) इति हि सृष्टिक्रमः। यथा दारुभ्यो वह्नि रवहितः व्यतिरिक्त[18] [19]एववा सन् स्वयोनिषु स्वाभिव्यक्तिस्थलेषु दारुषु नाने वानेकधेव भाति ज्वलति। अग्नित्व स्यैकरूपत्वेऽपि, तार्णपार्ण शाखादिभेदवान् भाति। एवं प्रकृतिपरिणामरूप देहे ष्वभिव्यक्तो जीवो ज्ञानानन्दरूपत्वे नैकरूपोऽपि देवोऽहं मनुष्योऽह मिति देवादिभेदभिन्नो भातीत्यर्थः। पुंशब्दो जीववाची। तच्छरी-परमात्मपर्यन्तः[20]। पुमान् विश्वात्मा जीवशरीरकः सर्वेश्वर एक एव देवादिरूपेण नाना भातीत्यर्थः। दारुषु भूते ष्विति दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकयो रधिष्ठेय बहुत्वोक्त्या यथा ह्रस्वत्व स्थूलत्व वक्रत्वादि भेदश्च दारुगत एव नाग्निगतः, तथा देवत्वाज्ञत्व दुःखित्वादि भेदोऽपि न विश्वात्मगतः, किन्तु देवादि शरीरदारुभेद स्तद्गत तच्छरीरक जीवगत इति सूचितम्।

वह्नि र्विश्वात्मे त्येकत्वनिर्देशे नाग्निव द्विश्वात्मनोऽपि सर्वत्रावस्थितस्य स्वरूपतः स्वभावतो वा नावस्थान्तरापत्ति रिति सूचितम्। इयं स्तु विशेषः। दारुष्वग्निः साक्षा दभिव्यक्तो नाना भाति, दार्ष्टान्तिके [21] जीवद्वारा देवादिरूपेण नाना भाति इति जीवविशिष्ट देवादिशरीराणा मेवाधिष्ठेयत्वात् ॥ ३२ ॥

यथा विश्वात्मनः स्वशरीरभूत प्रकृतिपुरुषद्वारा देवादिरूपेण नानाभान मेवं सुखदुःखादि भोक्तृत्वं, तन्निमित्तं कर्तृत्वञ्च, स्वशरीरभूत जीवद्वारैव ; स्वतस्तु तदुभयरहित इत्याह — **असाविति**। असौ विश्वात्मा गुणमयैः सत्त्वादिगुण परिणामरूपत्वेन तत्प्रचुरैः भूतसूक्ष्मादिरूपै र्भावैः पदार्थै स्तत्र भूतानि पृथिव्यादीनि सूक्ष्माणि गन्धादीनि, इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि, वागादीनि कर्मेन्द्रियाणि, [22] पादादीनि च, आत्मा अन्तःकरणं, जीवो वा। एभिः स्वेनैव कर्त्रा निर्मितेषु भूतेषु देवादिषु निर्विष्टः जीवद्वारा ऽनुप्रविष्टः तद्गुणान् पृथिव्यादि भूतगुणान् गन्धादीन् विषयान् भुङ्क्ते। जीवद्वारा विषयान् भुङ्क्ते न तु स्वत इत्यर्थः। भोक्तृत्व समव्याप्तं कर्तृत्वम प्यत्र विवक्षितं, जीवद्वारा पुण्यापुण्यरूपाणि कर्माणि च करोतीत्यर्थः। अत्र विश्वात्मे [23] त्युच्यमानं भोक्तृत्वं कर्तृत्वं च प्रयोजक[24]कर्तृत्वं विवक्षितम् ॥ ३३ ॥

॥ यद्वा ॥ सत्त्व रजस्तम इति प्रकृते र्गुणाः स्यु रित्यादिना सर्वकारणात् परमपुरुषादेवोपास्यमानात् नृणां श्रेयांसि कारणत्वे [25] नोपास्यत्व मोक्षप्रदत्वादीनां "कारणं तु ध्येयः, (अथ. शिखा. उ. 3) "अमृत स्यैष सेतुः" (मुण्ड. उ. 2-2-5) इत्यादि प्रमाणै रेकनिष्ठत्वावगमात्, न तु ब्रह्मरुद्रादिभ्यः तेषां कर्मवश्यत्व [26] सुखदुःखादि भोक्तृत्वादि नोपासकतुल्यत्वा दिति सूचितम्। अथ तदुपपादनाय सर्वजीवानां परमपुरुषसृष्ट कर्मानुगुण करणकलेवरादि सम्बन्धं, तत्प्रयुक्तं कर्तृत्वं भोक्तृत्वमेषां कर्मवश्यत्व प्रयुक्तत्वे नौपाधिकत्वं, स्वभावतस्तु ज्ञानैकाकारत्वंचेत्याह — **सएवे** त्यादिभिश्चतुर्भिः। स एवेद मित्यस्य यथोक्त एवार्थः। **तथेति।** तथा आत्ममायाया विलसितेषु रचितेषु एषु गुणेषु गुणकार्येषु ब्रह्मादिशरीरे ष्वन्तःप्रविष्टो जीव इति शेषः। पुमा नित्य स्योत्तरश्लोका दपकर्षो वा। विज्ञानेन स्वधर्मभूतज्ञानेन विजृम्भितः देह मात्मत्वे नाभिमन्वान इत्यर्थः। गुणवानिव देवत्वादि धर्मवानिवाभाति। देवोऽहं मनुष्योऽहं कृशोऽहं स्थूलोऽहं इ त्यभिमन्यत इत्यर्थः। इव शब्देन वस्तुतो देहविलक्षण स्तद्गतधर्मै रस्पृष्ट एवेति सूच्यते॥ क ॥

तदेव दृष्टान्ते नोपपादयति — **यथेति**। यथैक एव वह्निः स्वयोनिषु स्वाभिव्यक्ति स्थानेषु तृणपर्णादिषु अभिव्यक्तो नानेव भाति, तार्णत्वपार्णत्वादि भेदेन भाति। इव शब्देन वस्तुतो वह्नित्वेन रूपे णैकरूप एव। एवं विश्वात्मा विश्वस्याचेतनजात स्यात्मा पुमान् जीवोऽपि भूतेषु देवादिशरीरेषु नानेव भाति देवोऽहं मनुष्योऽहं इत्यादिरूपेण नाना भाति। वस्तुतो ज्ञानैकाकारेण एकरूप एवेत्यर्थः। पुमा निति जात्यभिप्रायक एकत्वनिर्देशः "एको व्रीहिः सुसम्पन्नः सुपुष्टं कुरुते प्रजा" इत्यत्र व्रीहिशब्दवत्। एवं च जीवैकत्वभ्रमो न कार्यः। दृष्टान्तेऽपि वह्नित्वेन [28]ऐकेनापि [29] व्यक्तिभेदोऽभिप्रेतः। न चैव मेकैकस्य जीवस्य देवादिशरीरस्थस्य युगप त्नानाप्रतिभानाभाव इति वाच्यम्। एकैक एव जीवः क्रमेण देवमनुष्यादिशरीरा णुयुपाददानः देवोऽहं मनुष्योऽहं इत्याभाती त्येव मभिप्रायात्। न हि दृष्टान्तेऽपि तार्णस्य वह्नेः पार्णत्वेन भान मस्ति ॥ ख ॥

असौ जीवः गुणमयैः सत्त्वादिगुणत्रयात्मक भगवन्मायापरिणामरूपैः पृथिव्यादिभूत गन्धादितन्मात्रा[30] ज्ञानेन्द्रिय-य कर्मेन्द्रियान्तःकरणै र्भावैः पदार्थैः स्वनिर्मितेषु स्वकर्मानुसारेण निर्मितेषु भूतेषु देवादिशरीरेषु निर्विष्टः गुणान् शब्दादिविषयान् भुङ्क्ते। तन्निमित्तानि कर्माणि च पुण्यापुण्यरूपाणि करोतीति च विवक्षितं वेदितव्यम्। यद्वा तया विलसिते ष्वित्यादिभिः केवलं परमात्मैव प्रतिपाद्यते। तदा विज्ञानेने त्यस्य सङ्कल्परूपज्ञानेने त्यर्थः। पुमान् परमपुरुषः गुणान् भुङ्क्ते इत्यस्य लीलारसरूपान् गुणान् भुङ्क्ते इत्यर्थः॥ ग॥

तदेवं "पुंसा मेकान्ततः श्रेय स्त न्नः शंसितु मर्हसि" (भाग. 1-1-9) इत्य स्योत्तर मुक्तम्।[31] " सूत जानासि भद्रं ते" (भाग. 1-1-12) इत्यादिना श्रीकृष्णावतारं तच्चरित्रं तदितरावतार तच्चरित्रादिकं च पृष्टम्। तत्र श्रीकृष्णावतारं तच्चरित्रादिकं विशिष्य दशमैकादशस्कन्धाभ्यां सर्वावतारां स्तच्चरित्राणि च विशिष्य तत्र तत्र तृतीयादिषु विवक्षु स्ताव त्समासतः सर्वावतारसाधारणं प्रयोजन माह — भावयन्निति[32]। एष सर्वेश्वरो लोकस्रष्टृत्वेन लोकान् भावयन् कर्मवश्यां श्चेतनान् उज्जीवयितुं सत्त्वेनोपलक्षितः शुद्धसत्त्वमूर्तिः तिर्यङ्नरसुरादिषु लीलावतारे ष्वनुरतो भवति। भावयतीति पाठे लोकभावनो लोकस्रष्टा[33] एवं सर्वेश्वरः तिर्यगादिषु मत्स्यादिषु मध्ये ये लीलया अवतारा स्तेष्वनुरतः। लीलावतारै र्भक्ते ष्वनुरतो वा सत्त्वेन लोकान् भावयति त्रायति। साधुपरित्राणाय मत्स्याद्यवतारं धत्त इत्यर्थः॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

---

1. W अवासुदेवात्मकवस्त्व° 2. W °पूर्वप्रस्तुत° 3. W सो° 4 W adds मायया 5. W °प्रचुरया 6 W °षव° 7 W अथाप्य° 8 W °गत गुणैः° 9 W adds गुणेषु 10 W °ब्रह्मादि° 11 W °पर्यन्तशरीरेष्वि° 12. W भासमानः 13 A.B °वां श्चेत 14 A.B °ङ्गे° 15 W °मत्र 16 W तूपादानं 17 W adds वायोरग्निः 18 W adds एव अभिव्यक्त 19 W एवासन् 20 W °रक° 21 W adds तु 22 W omits 23 °त्मन्यु° 24 W °कत्वरूपं 25 W °त्वोपा° 26 W adds °परमपुरुषसृज्यत्व° 27 A.B omit स एवेद मित्यस्य 28 B एकेऽपि; W एकत्वेऽपि 29 B adds न; W adds तद्° 30 W °त्र° 31 W adds अथ यत् 32 A.B °यतीति 33 W एष 34 W °ल°
* काण्वपाठसम्बन्धि विज्ञानपर्यायस्थाने माध्यन्दिनपाठे इदं वाक्यमुपलभ्यते

**विज०** अत्र हेतुमाह — **स एवेति**। यः सर्ववेदान्तादि मुख्यविषयः परमसात्त्विक ब्रह्मादीष्टदेवता वासुदेवः सोऽसावेवागुणः सत्त्वादि गुणविधुरः मुख्यकारणं वा विभु र्व्याप्तः भगवा न्नारायणोऽग्रे सृष्टेः पूर्व मात्ममायया स्वेच्छया निमित्तकारणरूपया सदसद्रूपया व्यक्ताव्यक्तरूपया गुणमय्या सत्त्वादिगुणात्मिक जडप्रकृ त्योपादानकारणरूपया चेदं जगत्ससर्जेत्येकान्वयः। अतो विष्णुरेव सत्यजगत्स्रष्टृत्वा त्सर्वोत्तम इत्यर्थः॥ ३०॥

नियन्तृत्वमपि तदेकनिष्ठ मित्याह — **तथेति**। स हरिः तया सदसद्रूपया विलसितेषु भूतभौतिक-देहेन्द्रियाद्यात्मना परिणतेष्वेषु गुणेषु अन्तः प्रविष्टो गुणवान् जीव इवाभाति अज्ञाना मिति शेषः। कुतः? विज्ञानेन

विजृम्भितः विज्ञानपूर्णः। इदं हेतुगर्भं विशेषणं नानाकर्मविपाकिनां जीवानां विज्ञानाभावा दस्य परिपूर्णत्वात् तेन नियम्यत्वं तेषा मिति भावः॥ ३१॥

न च स्थानभेदा दद्वयस्य हरे र्भेदाशङ्का कार्ये त्याह — **यथेति**। यथैको वह्निः स्वस्वयोनिषु स्वस्य व्यक्तिस्थानेषु दारुषु व्यवहितो भूताना मदृश्यतया स्थितो नानेव भाति, मथनादिनेति शेषः। दारूणा मानन्त्यात्। तथैको विश्वात्मा विश्वव्याप्तः पुमान् भूतेषु प्रविष्टो नानेव भाति। न तु नाना। "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" (बृह. उ. 4-4-19) इति श्रुतेः। अग्रेः कश्चि द्विशेषसम्भवोऽपि, नास्य कश्चि द्विशेष इति इवशब्दार्थः॥ ३२॥

न च दुर्भगशरीरेषु प्रविष्टस्य जीववद् दुःखभोगः सम्भाव्यत इत्याह — **असाविति**। असौ परमात्मा सत्वादिगुणमयैः सत्वादिगुणविकारैः भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः पञ्चमहाभूत पञ्चतन्मात्रदशेन्द्रिय मनोऽभि र्भावैः तत्त्वैरुपादानरूपैः स्वनिर्मितेषु स्वेन तत्त्वेषु प्रविष्टेन विरचितेषु भूतेषु निर्विष्टः यौगैश्वर्या दसङ्गतया प्रविष्ट स्तद्गुणानानन्दादीनेव भुङ्क्ते न तु दोषनिमित्तदुःखादीन्। तस्मात् दुर्भगशरीरस्थत्वेऽपि न दुःखादिभोग स्तस्य स्वातन्त्र्या दित्यर्थः॥ ३३॥

उत्तराध्याये अथाऽख्याहीति प्रश्नं परिहरिष्यन् तदर्थं सङ्क्षेपतो दर्शयति **भावयन्निति**। लोकभावनः जगदुत्पादकः सत्त्वेन गुणेन इतरगुणा नभिभूय लोकान् भावयन् पालनेन वर्धय न्नेष परपुरुष स्तिर्यङ्नरसुरादिषु तिर्यग्वराहादिजातिषु नरेषु मनुष्येषु देवेषु आदिशब्दात् स्तम्भादिषु लीलावतारानुगतो भवतीति, विशेषणान्वयः। लीलयै वावतारान् अनुगच्छति, न तु पूर्वकर्मणा। यो योऽवतारो जगदवनादा वनुकूलः स्या त्तं त मवतारं गृह्णाती त्यस्मि न्नर्थे ऽनुशब्दः॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
प्रथमस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

---

1 K M वेऽपि 2 K च; M omits इव 3 K परम°

**रा॰ कृ॰** अग्रे सृष्टेः प्राक् असौ स एव भगवान् अगुणः स्वतो निर्गुणोऽपि विभुः सर्वव्यापकः सन् सदसद्रूपया कार्यकारणात्मिकया गुणमय्या सत्त्वादिगुणरूपिण्या आत्ममायया इदं जगत् ससर्ज। तया मायया विलसितेषु प्रभूतेषु एषु गुणेषु। गुणशब्देन गुणिनो लक्ष्यन्ते। तेन आकाशादिषु स वासुदेवः अन्तःप्रविष्टः विज्ञानेन विजृम्भितस्सन् गुणवानिव गुणाभिमानवानिव आभाति॥ ३०, ३१॥

यथा एको वह्निः स्वयोनिषु स्वस्याभिव्यञ्जकेषु दारुषु अवहितः निहितः, तथा विश्वात्मा पुमान् परमेश्वरश्च भूतेषु अवहितः नानेव बहुरूप इवाभाति॥ ३२॥

असौ वासुदेवः गुणमयैः भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः भावैस्स्वनिर्मितेषु भूतेषु निविष्टः जीवरूपेण अनुप्रविष्टः तद्गुणान् भूतगुणान् भुङ्क्ते भुनक्ति भोजयति च॥ ३३॥

एष लोकभावनः लोकस्रष्टा वासुदेवः देवतिर्यङ्नरादिषु लीलावतारानुरतः सत्त्वेन लोकान् भावयति पालयति।

अत्र सूतसमाधानं भक्तिध्यानसाधनं त्रिमूर्तितत्त्वादि बोधनं विराजते। तथाहि — निरन्तर कृष्णकथानुसन्धानेन आत्मनि प्रसन्ने सिद्ध्यति भक्तियोगः, तेन विघ्नापगमः। मुमुक्षोः विघ्नकारणानि इन्द्रियप्रेरणया जायमाना श्चित्तवृत्तय एव। तन्निवारणप्रयत्नोऽपि चित्तवृत्तितया क्रोधोद्वेगनैराश्य श्रद्धाजाड्यादि विघ्नात्मना पर्यवस्यति। तस्मात्तन्निवारण प्रयत्न मपहाय मुमुक्षुणा कृष्णस्मरणं करणीयम्। तथा च तदार्द्रेण तिरोहितान्यवृत्तिना चित्तेन प्रत्यूहव्यूहो नानुभूयते; किन्तु तत्स्थानीयो भगवान् कृष्ण एव दृश्यते। एतादृश स्मरणाभ्यास बलेन विषयान्तरग्रह शैथिल्यं वैराग्यापरपर्यायं सिद्ध्यति। अपि च प्रापञ्चिक विषयवासनासङ्गपरित्यागप्रयत्नोऽपि व्यतिरेकेण तत्स्मरण पर्यवसायितया न वैराग्यापादकः। निरन्तर कृष्णस्मरणेन तु सर्वेषामेव विषयाणां कृष्णमयत्वापत्तेः विषयमात्र स्मरणानुपपत्ते रस्मिन् भागवतमार्गे वैराग्य मयत्नलभ्यं भवति। वैराग्य ञ्चास्मन्मते न शुष्कं रागराहित्यम्। परन्तु विश्वविस्तृत रागवत्त्वम्। तत्कथं भवति? विश्वस्मिन् भगवन्मयत्व भावनयैव। ईदृशवैराग्योदयेन सर्वस्मिन्नेव वस्तुनि अन्तर्यामितया कृष्णो दृश्यते। तत्सर्वान्तर्यामिसन्दर्शनमेव ज्ञानमिति कथ्यते। तदेतत्सर्वप्रयोजको भक्तियोगाख्यः धर्मः प्राणिनां परमो धर्मः।

धर्मो द्विविधः — व्यक्तिश्रेयोहेतुः, विश्वश्रेयोहेतु श्चेति। विश्वश्रेयस्साधन धर्मानाचरणे व्यक्तिश्रेयस्साधन धर्मनिर्वहणानुकूल दशा नोदेति। किञ्च, वैयक्तिकधर्माः फलाऽभिसन्धि दोषदूषिततया अधर्मपर्यवसायिनो भवन्ति। तत्प्राणिभिः प्रथमं विश्वश्रेयसे यज्ञार्थधर्म विशेषाः समाचरणीयाः तत्र वर्णाश्रमधर्म पालनं प्रधानम्। तेन प्रजाभि रनुभवविषयीक्रियते सर्वसन्तृप्तिकारिणी दशा, यया हि सर्वान्तर्यामी भगवान् प्रीयते। एतदेव वर्णाश्रम धर्माचरणस्य परमं प्रयोजनम्।

भगवदनुध्यानं अहंकारकारण कर्मविदारणं यदेव हि भगवदायुधं सुदर्शनतया सङ्केतितम्। तस्य च रजस्तमश्छेदेन भगवद्दर्शन साधनतया 'सुदर्शनायुधं' इत्यन्वर्था संज्ञा। तत्सुदर्शनप्रेरकः भावः भगवदायुधान्तर 'नन्दकखड्ग' त्वेन सङ्केतितः। नन्दयतीति नन्दकः इत्यन्वर्थ नाम, तस्य भगवद्दर्शनानन्द निदानत्वात्। सर्वान्तर्यामिभगवद्दर्शनानुकूल भावप्रभावेन प्राणिना महंकारग्रन्थिः विच्छिद्यते। चिज्जडग्रन्थि निबन्धनः अहंकारः, अहमिति संविद्रूपा चित्। मदीय मित्यभिप्राय लक्ष्यभूतं शरीरादिकं जडम्। चिज्जडग्रन्थिभेदे परब्रह्मतत्त्व मेकमे वावशिष्यते। यथा वा जलोपरि हिमशकले प्लवमाने वस्तुद्वयं हिमद्रुतौ तु जलमेक मेव दृश्यते। एव मपगतेऽहङ्कारे तिरोदधति स्वीयाः भावाः ये भवन्ति पूर्वाभ्यासनिष्पन्नाः; ते च पूर्वाभ्यासाः कर्मबन्धा इति तत्प्रभावाः वासना इति च कथ्यन्ते। मानवकर्माचरण मेतद्वासनापराधीनम्। वासनाक्षयश्च प्रागुक्त ध्यानसाधनेनैव।

एक एव देवः सृष्टि स्थिति लयार्थं गुणत्रय माश्रित्य ब्रह्म विष्णु शिवात्मकत्वेन त्रिधाऽऽविर्भवति। गुणत्रयात्मिका प्रकृतिः भगवच्छक्ति रेव। सा च स्थितिहेतौ विष्णौ बाह्यलक्ष्म सङ्केततया लक्ष्मीरिति वक्षसि वर्तते। वक्षःस्थलञ्च

प्राणिनां ममकारमय हृदयस्य सङ्केतः। ब्रह्मणि साऽऽविर्भावशक्तेः प्रतीकतया सरस्वतीनाम्ना वर्तते। सैव शिवे लयसङ्केततया शरीरार्धलीना सती गौरीति व्यवह्रियते।

तमोरजस्सत्त्वाना मस्ति यथोत्तरं वैशिष्ट्यम्। दारुधूमाग्नयः यथाक्रमं जडचेतनात्मनां सङ्केताः। उष्णतेजो ज्ञान-दायकः अग्निः वेदत्रयस्य सङ्केतः। प्राणिनां तु देहो दारु, प्राणो धूमः, जीवोऽग्निश्च। शुद्धवह्नेः प्रकाशकत्व मिव शुद्धसत्त्वमयस्य जीवस्यैव परमात्मत्वम्। अतए वाग्राविष्णू परदेवतात्वेन वेदः स्तौति। वेदविदश्च एतद्विद्यां प्रकाशरूपिणीं ग्रहीतुकामाः समिद्भि रग्निं जुह्वति।

भगवान् वासुदेवः अधोक्षजः अधःकृतेन्द्रिय ज्ञानवान्। बुद्धेरपि परस्य तस्य ग्रहणे विषयवासनादूषितानि इन्द्रियाण्यशक्ता न्येव रजस्तमोऽभिभूताः जनाः सम्पदैश्वर्य सन्तानकाङ्क्षिणः पितृभूतप्रजेशादीन् सेवन्ते। पितरो नाम पितृपितामहाद्याः। तदाराधनञ्च तद्दत्तधनरक्षण वर्धनादि श्रद्धारूपम्। भूताश्च रजस्तमोदूषिते मनसि जायमानाः शक्तिमन्तो भावाः आग्रह जागरूकता कार्पण्यसंशयादयः। एतद्भावानुषङ्गेण भौतिकसुखाय उच्चावच दशाविहरणमेव भूताराधनम्। सृष्टिसाधनावयवगत शक्तीनां स्त्रीपुरुषसम्बन्ध कामादिभावानां च सङ्केताः प्रजापतयः। पुंस्त्ववर्धका हारौषधसेवन व्यायाम-मन्त्र तन्त्राद्यभ्यास एव प्रजापत्याराधनम्। सर्व एवैते जनाः तत्तद्दशा विशेषावस्थिताः तत्तद्रूपधारिण मीश्वर मेकमेवाश्रित्य जीवन्ति। अज्ञान विलसितमपि तेषां जीवनं साधनान्तर्गत मेव। "तेऽपि मामेव कौन्तेय। यजन्त्यविधि पूर्वकम्" (भ. गी. 9-23) इति गीतायां भगवतै वोक्तत्वात्। किन्तु, तेषां साधनमार्गः व्यत्यस्तः। मुमुक्षूणां साधकानान्तु शुद्धसत्त्वस्वरूपिणो वेदादि विश्वात्मकस्य नारायणस्य सेवनमेव समीचीनः पन्थाः। स भगवान् सूर्यमण्डलाधिपतिः सूर्यं रक्षति। भूम्यादि ग्रहान्तराण्यपि परस्पराकर्षणाधानाद्युपायै स्संरक्षति। नख दशन दंष्ट्रा शृङ्गादिभिः मृगान् रक्षति। माता पितृ सम्बन्धरूपेण सन्ततिं रक्षति। दुष्कर्मभिः त्रिगुणानां साम्यभङ्गेन प्रकोपे तेन प्रागुत्तरक्षणे च दुष्करे सः नानाविधं लीलावतारधारी विश्वं रक्षति॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्री राधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां व्याख्यायां
द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

# तृतीयोऽध्यायः

**सूत उवाच**

**जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः ।**
**सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया ॥ १ ॥**

**यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः ।**
**नाभिह्रदाम्बुजादासीद्ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः ॥ २ ॥**

**यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः ।**
**तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्व मूर्जितम् ॥ ३ ॥**

**पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम् ।**
**सहस्रमूर्धश्रवणाक्षिनासिकं सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ॥ ४ ॥**

---

1. H.M °षः

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अवतारकथाप्रश्ने तृतीये तूत्तराभिधा ।
पुरुषाद्यवतारोक्त्या तत्तच्चारित्रवर्णनैः ॥

यदुक्तम् — "अथाख्याहि हरेर्धीमन्नवतारकथाश्शुभाः"(भाग. 1-1-18) इति, तदुत्तरत्वे [1]नावतारानननुक्रमिष्यन् प्रथमं पुरुषावतारमाह — **जगृह** इति पञ्चभिः। महदादिभिः महदहङ्कारपञ्चतन्मात्रैः सम्भूतं सुनिष्पन्नम्। एकादशेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानीति षोडशकलाः अंशाः यस्मिन्[2]। यद्यपि भगवद्विग्रहो नैवम्भूतः, तथाऽपि विराड्जीवान्तर्यामिणो[4] भगवतो विराड्रूपेणोपासनार्थमेवमुक्तमिति द्रष्टव्यम् ॥ १ ॥

कोऽसौ भगवानित्यपेक्षायां तं विशिनष्टि — **यस्येति**। यस्य अम्भसि एकार्णवे शयानस्य विश्रान्तस्य तत्रच योगः समाधिः तद्रूपां निद्रां विस्तारयतः। नाभिरेव ह्रदः तस्मिन् यदम्बुजं तस्मात् सकाशात् ब्रह्मा आसीत् अभूत्। पाद्मे कल्पे स पौरुषं रूपं जगृहे ॥ २ ॥

कीदृशं रूपम्[5] ? तदाह — **यस्येति**। ननु कीदृशो विग्रहः तस्य, योऽम्भसि शेते स्म ? तदाह। तत् तस्य भगवतो रूपं तु विशुद्धं रजआद्यसम्भिन्नम्, अत एव ऊर्जितम् निरतिशयं सत्त्वम् ॥ ३ ॥

एतच्च योगिनां प्रत्यक्षमित्याह — **पश्यन्तीति**। अदभ्रमनल्पं ज्ञानात्मकं य च्चक्षुः तेन। सहस्रमपरिमितानि यानि पादादीनि तैः अद्भुतम्। सहस्रं मूर्धादयो यस्मिन् तत्। सहस्रं यानि मौल्यादीनि तैरुल्लसत् शोभमानम् ॥ ४ ॥

---

1 H,V add °न ना° 2 H,V °तारकथामनु° 3 B,H,V add तत् 4 H,V °इदेहान्त° 5 B adds जगृहे

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदेवं प्रथमेऽध्याये प्रश्नः कृतः। द्वितीये तु सर्वप्रवर्तकभगवद्भक्तेरेव मोक्षप्रदत्वात् भगवदीयप्रबन्ध एव श्रोतव्य इति स्थापितम्, अवतारप्रयोजनं चोपक्षिप्तम्। अथ भगवदवतार विशेषं तच्चरितानि विस्तरेणोपरि विवक्षता सूतेन भगवतोऽनेकेऽवताराः सन्तीति प्रतिपाद्यते तृतीयाध्याये — **जगृहे** इत्यादिना। अवताराश्च द्विविधाः — अनुप्रवेशावताराः, स्वेन रूपेणावताराश्चेति। अकर्महेतुत्वाविशेषात् उभयत्रावतार शब्द प्रयोगः कृतः। द्विविधानपि तान् वक्तुं तदुपयोगित्वेन प्रथमं चेतनमिश्रं प्रकृतिप्राकृतजातमेकं शुद्धसत्त्वमयमपरं चेति रूपद्वयं भगवतोऽस्तीति विवक्षन् पूर्वं प्रकृतिप्राकृतात्मरूपपरिग्रहमाह — जगृह इति। पुरुषाः क्षेत्रज्ञाः तत्सम्बन्धि पौरुषं तन्मिश्रमित्यर्थः। एकादशेन्द्रियपञ्चभूतात्मिकाः षोडश कलाः यस्मिन् तत् तथा। महदादिभिस्सम्भूतं रूपम् अण्डकारणं समष्टितत्त्वजातम् इह रूपशब्देन विवक्षितम्। समुदायस्य महदादिभिः सम्पाद्यत्वात् महदादिभिः सम्भूतमित्युक्तम्। लोकसिसृक्षया जगृहे ब्रह्माण्डतदन्तर्वर्तिकार्यजातसिसृक्षया रूपं जगृहे इत्यर्थः ॥ १ ॥

अथ स्वासाधारणं रूपमाह — **यस्येति**। प्रथमस्य यस्य इति शब्दस्य योऽर्थः, स तद्वा इति तच्छब्देन परामृश्यते। द्वितीयं तु यस्येति पदं चतुर्मुखपरम्। चतुर्मुखशरीराद्धि देवमनुष्यादिसृष्टिः पुराणान्तरेषु दृष्टा। यस्यावयवसंस्थानैः यच्छरीरावयवपरिणामैः देवमनुष्यादिलोकविस्तरः। स ब्रह्मा विश्वसृजां मरीच्यादीनां पतिः। यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः अनिरुद्धस्य नाभिह्रदाम्बुजादासीत्तद्भगवतो रूपमूर्जितम्, विशुद्धं **सत्त्वं शुद्धसत्त्वमयम्** इति, श्लोकद्वयमेकवाक्यम्। तस्य रूपस्य ज्ञानदृश्यत्वमपरिच्छेद्यत्वं सर्वावतार निदानत्वं चाऽऽह — पश्यन्तीति सार्धश्लोकेन। यद्वा जगृह इत्यादिश्लोकानामेवमर्थः। अजडेषु अनुप्रवेशरूपेण स्वेन रूपेण च द्विविधेऽवतारे तत्र प्रथमस्य देवादि ष्वनुप्रवेशरूपत्वात् तत्र वक्तव्याशाभावात् स्वेन रूपेण अवतारोपयोगिदिव्यमङ्गलविग्रहयोग उच्यते। आदौ महदादिभिः लोकसिसृक्षया षोडशकलं भूतेन्द्रियाभिमानिदेवताश्रयं पौरुषं परमपुरुषसम्बन्धि रूपम् अनिरुद्धाख्यरूपं सम्भूत माविर्भूतं जगृहे परिजग्राह। यस्याम्भसीति स्फुटम्। यस्यावयवेति यस्य अनिरुद्धस्यावयवसंस्थानैः शरीरभूत प्रकृत्येकदेशपरिणामैः लोकविस्तरः कल्पितः, तस्य भगवतो रूपं **शुद्धसत्त्वमयमूर्जितमुत्कृष्टमित्यर्थः** ॥ २, ३ ॥

**पश्यन्तीति**। अदः एतदनिरुद्धाख्यं रूपम् अदभ्रचक्षुषा अनल्पज्ञानेन मनसा पश्यन्ति। मनसा तु विशुद्धेन "दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" (कठ. उ. 3-12) इत्याद्युक्तरीत्या योगपरिशुद्धमनसा

पश्यन्तीत्यर्थः। प्रत्येकं सहस्रसङ्ख्याकैः पादादिभिः अद्भुतं तथा प्रत्येकं सहस्रं मूर्धादयो यस्मिंस्तत्। तत्र श्रवणे[10] श्रोत्रे[11] सहस्रेण मौलिभिः किरीटैः अम्बरैः वस्त्रैश्च कुण्डलैश्च[12] उपशोभमानं रूपं भवतीति॥ ४॥

1 W °त्त्व° 2 W °ष° 3 A,B °जा 4 A,B omit महदादिभिः सम्पाद्यत्वात् 5 A,B °स्यै° 6 A,B °स्वेन रूपेण 7 A,B °धा° 8 A,B °व्यस्वभा° 9 A,B omit आदौ ... यस्यावयवेति 10 W °णं 11 W °त्रं 12 W adds उल्लसत्

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

"भावयन्नेष सत्त्वेन" इति द्वितीयाध्यायान्ते सूचितान् अवतारान् कथयितुं प्रथमतः परमपुरुषाख्यभगवदभिव्यक्तिप्रकारमाह — **जगृह** इति। भगवानादौ लोकसिसृक्षया महदादिभिः सम्भूतं षोडशकलं पौरुषं रूपं जगृह इत्येकान्वयः। प्रलयकालीनस्वगूहकतमःपानेन परमपुरुषाख्यं निजं रूपमाविश्चक्रे; न तु विराड्रूपम्। महदादिभिः प्रलयकाले स्वोदरनिविष्टैः महदहङ्कारादिसप्तप्रकृतिविकृतिभिः शरीरस्थानीयादिभिः सम्भूतं सहितम्। "कलाश्च पञ्चभूतानि ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि च। पञ्च पञ्च मनश्चेति षोडशोक्ता महर्षिभिः" इति षोडशकला अन्तर्गता यस्मिन्निति तत् षोडशकलम्। "यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्ति" (प्रश्न. उ. 6-2) इति श्रुतेः प्राणादिषोडशकलासहितं वा। सिसृक्षया सृष्टीच्छया यः प्राक् जगत् संहृत्य सूक्ष्मरूपतया स्वोदरे निवेश्य प्रलयोदके श्रीपर्यङ्के श्रीभूजान्तर्गतः प्रकृतिमयतमसा निगूढः स्थितः स एव परमपुरुषः पुनरुत्पत्तिकाले स्वगूहकं तमः पीत्वा आत्मानं प्रकाशितवानित्येतदेवात्र पुरुषरूपग्रहणमभिप्रेतं रामकृष्णादिवल्लोकव्यक्त्यभिप्रायोऽपीत्युक्तं भवति॥ १॥

एवं स्वगूहकतमःपानेन प्रकाशितः परमपुरुषः महदादितत्त्वान्युत्पाद्य तैः ब्रह्माण्डं सृष्ट्वा तदण्डान्तः प्रविश्य अन्तरुदके शेषपर्यङ्कशायी नाभेः लोकात्मकं पद्मं निर्माय पद्मनाभनामा भूत्वा तस्मात् पद्मात् चतुर्मुखमस्राक्षीदित्याह — **यस्येति**। अम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः यस्य भगवतो नाभिह्रदाम्बुजात् विश्वसृजा दक्षादीनां पतिः ब्रह्मा आसीत्॥ २॥

स एव पुनर्ब्रह्माण्डे "नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्" (पु. सू. 1-5) इत्यादिना अन्तरिक्षादिलोककल्पकावयवान् पुरुषाख्योऽवततार इत्यभिप्रेत्याह — **यस्येति**। पातालमित्यादिलोकविस्तरः चतुर्दशभुवनविस्तरः यस्य पुरुषनाम्ना अवतीर्णस्य अवयवसंस्थानैः चरणाद्यवयवविन्यासैः कल्पितः तदुपन्नत्वेन तदाधारत्वेन विद्भिर्निरूपितो न तु तदात्मत्वेन सच्चिदानन्दरसब्रह्मचैतन्यमविद्यादर्पणे प्रतिबिम्बितं स जीव इत्यभिधीयते तदेव ब्रह्म वशीकृतमाय मीश्वर इति तत्र सच्चिदानन्दब्रह्मलक्षणपुरुषो भगवानीश्वरः पौरुषं रूपं जगृहे। पौरुषं विराड्रूपं स्वमायया कल्पितं महदहङ्कारादिभिः सम्भूतम् उत्पन्नम्; अत एव पञ्चभूतादिषोडशकलोपेतम्। किमर्थम्? अनेन लोकसिसृक्षया। कोऽसौ भगवान् इत्यपेक्षायामाह — यस्येति। स्वमायापरिणतभूतसूक्ष्मेषु शयानस्य तत्तद्रूपेण व्याप्तस्य योगनिद्रां जगत्कारणमायाशक्तिं वितन्वतो विस्तारयतः सृष्टौ प्रेरयतो यस्य नाभिह्रदाम्बुजात् पञ्चीकृतभूतनिष्पन्नलोकपद्मात् ब्रह्मा आसीत्, यस्य ब्रह्मोत्पादकजगत्पद्मस्य अवयवविन्यासैः पद्मदलायमानैः लोकविस्तरः कल्पितः। न वस्तुतः सत्यः। तत् भगवतः

त्रैलोक्यात्मकं प्रथमं रूपमिति केचित्, तद्दूषयति — तदिति। भगवतस्तद्रूपं पुरुषादिरूपत्रयं विशुद्धं निर्दोषम् ऊर्जितम् उद्रिक्तं सत्त्वं सम्पूर्णबलज्ञानादिसर्वगुणसमूहम्। वै इति पदेन परकृतापव्याख्यानस्य प्रमाणविरोधञ्च दर्शयति। "निरनिष्ठो निरवद्यः" इति श्रुतेः नित्यनिरस्ताविद्याविलासस्य ब्रह्मणो विद्यादर्पणे प्रतिबिम्बीभूय जीवत्वं न घटते। न हि नित्यनिर्मुक्तशिरोवेदनो लीलया कदाचित् तद्वान् स्यामिति कामयते। पञ्चीकरणमपि स्वकल्पनामन्तरेण न प्रमाणपदवी मध्यास्ते। अतः उपेक्षणीयमेतन्मतम्॥ ३॥

इतोऽपि तन्मतमयुक्तमित्याह — **पश्यन्तीति**। अदभ्रचक्षुषः पूर्णज्ञानाः ब्रह्मादयोऽदो रूपत्रयं पश्यन्ति। कीदृशम्? सहस्रशब्दोऽनन्तत्ववाची प्रत्येकमभिसम्बध्यते। सहस्रं पादा ऊरवश्च भुजाश्च आननानि च सहस्रपादोरुभुजाननानि तैः अद्भुतं सहस्रं मूर्धश्रवणाक्षिनासिका यस्मिन् तत् तथोक्तम्। सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलैः उल्लसत् शोभमानं, निरस्ताविद्यैः उत्तमाधिकारिभिः ब्रह्मादिभिः अपरोक्षतया दृष्टत्वात् नैतत् रूपत्रयं मायाकल्पितमिति भावः॥ ४॥

1 B.M विद्वद्भि° 2 K °दद्वयानन्द°

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

भगवानादौ लोकसिसृक्षया लोकान् स्रष्टुमिच्छया महदादिभिः महदहङ्कारपञ्चतन्मात्रैः सम्भूतं सुनिष्पन्नं षोडशकलं, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि मन इति एकादशेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानीति षोडशकलाः अंशाः यस्मिन् तत् पौरुषं रूपं जगृहे गृहीतवान्॥ १॥

अम्भसि एकार्णवे शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः यस्य भगवतः नाभिह्रदाम्बुजात् नाभिह्रदे यदम्बुजं तस्मात् विश्वसृजां प्रजापतीनां मरीच्यादीनां पतिः ब्रह्मा आसीत् अभूत्। सः पौरुषं रूपं जगृहे इति पूर्वेणान्वयः॥ २॥

अपि च यस्य भगवतः अवयवसंस्थानैः लोकविस्तरः कृतः शरीरावयवपरिणामैः देवमनुष्यादिलोकविस्तारः कृत इत्यर्थः। तस्य तद्रूपं विशुद्धं रजोमुख्यगुणामिलितं ऊर्जितं निरतिशयं सत्त्वमयं भवतीत्यर्थः॥ ३॥

सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतं सहस्रमूर्धश्रवणाक्षिनासिकं सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् अदः रूपं आदिनारायणरूपं अदभ्रचक्षुषा अनल्पज्ञानमयनयनेन पश्यन्ति योगिनः पश्यन्ति॥ ४॥

**एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्।**
**यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः॥ ५॥**

**स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमास्थितः।**
**चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यमखण्डितम्॥ ६॥**

**द्वितीयं तु भवायास्य रसातलगतां महीम्।**
**उद्धरिष्यन्नुपादत्त यज्ञेशः सौकरं वपुः॥ ७॥**

**तृतीयमृषिसर्गं च देवर्षित्वमुपेत्य सः ।**
**तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः ॥ ८ ॥**

1. W °दा° 2. W रूप° 3. I °श्रितः 4 W सर्गः 5. H,I,K,M,W वै 6. W °मिं°

**श्रीध०** एतत्तु कूटस्थं, न त्वन्यावतारवत् आविर्भावतिरोभाववदित्याह — **एतदिति**। एतत् आदिनारायणरूपम्। निधीयते अस्मिन्निति निधानम्। कार्यावसाने [1]प्रवेशस्थानमित्यर्थः। बीजमुद्भ[2]वस्थानम्। बीजत्वेऽपि नान्यबीजतुल्यं किन्त्वव्ययम्। न केवलमवताराणामेव बीजं, किन्तु सर्वप्राणिनामपीत्याह — यस्येति। यस्यांशो ब्रह्मा, तस्यांशो मरीच्यादिः तेन ॥ ५ ॥

सनत्कुमाराद्यवतारं तच्चरित्रं चाऽऽह — **स एवेति**। कौमार आर्षः प्राजापत्यो मानवः इत्यादीनि सर्गविशेषनामानि। यः पौरुषं रूपं जगृहे स एव देवः कौमाराख्यं सर्गमास्थितस्सन् ब्रह्मा ब्राह्मणो भूत्वा ब्रह्मचर्यं चचार [3]। प्रथमद्वितीयादिशब्दाः निर्देशमात्रापेक्षया [4] [5] ॥ ६ ॥

वराहावतारमाह — **द्वितीय** मिति। अस्य विश्वस्य भवाय उद्भवाय। महीमुद्धरिष्यन्निति कर्मोक्तिः। एवं सर्वत्रावतारः तत्कर्म च उक्तमित्यनुसन्धेयम् ॥ ७ ॥

नारदावतारमाह — **तृतीय** मिति। ऋषिसर्गमुपेत्य तत्र च देवर्षित्वमुपेत्येत्यर्थः। सात्वतं वैष्णवं तन्त्रं पाञ्चरात्रागमं आचष्ट उक्तवान्। यतः तन्त्रान्निर्गतं [6] कर्मत्वं बन्धहेतुत्वं येभ्यः तानि निष्कर्माणि तेषां भावो नैष्कर्म्यम्। कर्मणामेव मोचकत्वं यतो भवति तदाचष्टेत्यर्थः ॥ ८ ॥

1 H,V add अवताराणां 2 H °द्गमन° 3. H,V add सः प्रथमोऽवतारः 4 B मात्रविवक्षया 5 H,V add प्रयुक्तः 6 V adds कर्म

**वीर०** एतदनिरुद्धाख्यं रूपं नानाविधाना मवतारांणां निदानं मूलकारणं बीजं कृत्स्नजगद्बीजभूतं कृत्स्नजगत्स्रष्टृचतुर्मुखोत्पत्तिस्थानत्वादिति भावः। अव्ययम् अपक्षयविकाररहितम्। अनेन अप्राकृतत्वमुक्तम्। यस्येति। यस्य भगवतोऽनिरुद्धस्यांशांशेन शरीरभूतचिदचित्तत्त्वैकदेशेन देवादयः सृज्यन्ते ॥ ५ ॥

स [2]देवः परमपुरुष एव ब्रह्मा चतुर्मुखशरीरकः सन् प्रथमं कौमारं [3]सर्गं सनत्कुमारादिसर्गमास्थितः सनकादिरूपेणावतीर्ण इत्यर्थः। अखण्डितं निर्विघ्नं ब्रह्मचर्यं ऊर्ध्वरेतस्कत्वोपेतं भगवदुपासनं [4]चचार चकार। ते च कुमाराः प्रथमावताररूपाः। प्रथममिति विशेषणात् द्वितीय मित्यनन्तरोक्तेश्च। इमे च कुमाराः अनुप्रवेशावताररूपाः। तथा चतुर्मुखोऽपि ब्रह्मरूपधरः "ब्रह्मा नारायणात्मकः" (विष्णु. पु. 1-4-2) इत्यादिभिः सृष्ट्यादिकाले तदात्मकतया योगिभिः चिन्त्यत्ववचनात्। भगवता शौनकेन च "आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ता जगदन्तर्व्यवस्थिताः। प्राणिनः कर्मजनित संसारवशवर्तिनः॥ यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः। अविद्यान्तर्गतास्सर्वे ते हि संसारगोचराः॥ पश्चादुद्भूतबोधास्ते ध्यानेनैवोपकारकाः। नैसर्गिको न [5] वै बोधः तेषामप्यन्यतो यतः॥" (वि. ध. पु. 104-23, 24, 25.)

इति चतुर्मुखसनकादीनां जगदन्तर्वर्तिनां अविद्यावेष्टितत्वेन शुभाश्रयत्वानर्हतामुकृ्त्वा बद्धानामेव सतां पश्चाद्योगेन उद्भूतबोधानां स्वस्वरूपापन्नानां च स्वतः शुद्धिविरहेण मुमुक्षूपास्यत्वनिषेधात्, "सृष्टिं ततः करिष्यामि त्वामाविश्य प्रजापते" (विष्णुधर्मे. 68-52) इति श्रीजन्मरहस्यवचनैकार्थ्यात् च। तदेवं चतुर्मुखसनकादयः भगवदनुप्रवेशावतारः प्रथमश्चेत्युक्तं भवति। ब्रह्मचर्यं चचार इत्यवतारप्रयोजनमुक्तम्। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

अथ वराहावतारमाह — **द्वितीय** न्त्विति। अस्य जगतः भवाय अभ्युदयाय रसातलगतां महीं पृथ्वीम् उद्धरिष्यन् यज्ञेशो भगवान् द्वितीयं सौकरं वाराहं वपुः आदत्त जगृहे। वराहो द्वितीयावतार इत्यर्थः। अयं च स्वेन रूपेणावतारः, यज्ञेश इत्यनेन यज्ञाराध्यत्व, तत्फलदत्त्व तच्छरीरकत्वाद्युक्तेः वपुरादत्तेति कथनात्, तच्छरीरकत्वायुक्तः वपुरुपादत्तेति वपुर्मात्रपरिग्रहोक्तेः अस्य भवायेति केवलसाधुपरित्राणार्थत्व सूचनाच्च ॥ ७ ॥

नारदावतारमाह — **तृतीय** मिति। तृतीयं वपुः उपादानं ऋषिसर्गः ऋषिरूपजन्मेत्यर्थः। तत्र तृतीये अवतारे स भगवान् देवर्षित्वं नारदरूपमापद्य नारदाख्यं जीवमनुप्रविश्येत्यर्थः। सात्वतं तन्त्रं पञ्चरात्रशास्त्रम् आचष्ट अवोचत्, प्रवर्तयामासेत्यर्थः। तन्त्रं विशिनष्टि, यतस्तन्त्रात् कर्मिणां निवृत्तिधर्मवतां नैष्कर्म्यं प्रवृत्तिधर्मविरहः प्रवृत्तिधर्माणामकर्तव्यता अवगम्यत इति ॥ ८ ॥

---

1. W °यादि° 2 W एव 3 W omits सर्ग 4 A,B omit चचार 5 W नैव 6 B °वा°, W द्वितीयावतार° 7 W °णैवाव° 8 A,B °दत्वयोः कथनात् 9 W °व° 10 W °रूपत्व° 11 A तं 12 A,B कर्मणां 13 W इत्यर्थः

**विज०** त्रयाणां रूपाणां मध्ये पद्मनाभाख्यं रूपम् अवतारकारण मित्याह — **एतदि**ति। यत् क्षीरार्णवशायि पद्मनाभाभिधं रूपम् एतत् मत्स्यादिनानावताराणां बीजं व्यञ्जकं निधानम्। अन्ततोऽत्र सर्वावतारा निधीयन्ते एकीक्रियन्त इति। न व्येति इत्यव्ययम्। यस्य पद्मनाभस्यांशांशेन सामर्थ्यैकदेशेन देवादयः सृज्यन्ते स पद्मनाभ एव सर्वावतारहेतु रित्यर्थः ॥ ५ ॥

स एव पद्मनाभो देवः प्रथमं स्वस्मादेव कौमारं सनत्कुमाराभिध मवतार मास्थितः। ब्रह्मा बृंहितः स्वतः पूर्णो विशिष्टजनशिक्षणाय अन्यैः दुश्चरं ब्रह्मचर्यम् अखण्डितमप्रतिहतं यथा भवति तथा चचारेत्यर्थः। सनत्कुमारोऽन्यः सनकादिषु पठितः ॥ ६ ॥

रसातलगतां महीमुद्धरिष्यन् उद्धर्तुकामो यज्ञेशः श्रीनारायणोऽस्य जगतो भवाय तु स्थित्यर्थमेव सौकरं सूकरस्य वराहस्य विद्यमानं वपुः उपादत्तेत्यन्वयः ॥ ७ ॥

ऋषिषु सर्गः अभिव्यक्तिः यस्य स तथोक्तः। ऋषीणां स्वभावो यस्य स तं तृतीयं महिदासाभिधावतारमुपेत्य देवर्षित्वं चोपेत्य स भगवान् तत्रावतारे सात्वतं पञ्चरात्रं नाम ग्रन्थविशेषमाचष्ट व्याचख्यौ नारदादेरिति शेषः।

यतः सात्वततन्त्रोक्तानुष्ठानात् कर्मणां नैष्कर्म्यं मोक्षसाधनत्वं स्यात् इत्यन्वयः। "सर्गस्स्वभावनिर्मोक निश्चयाध्यायसृष्टिषु" (अम. को. 3-178) इत्यभिधानम्। श्रुत्यादिप्रसिद्धिद्योतकेन वै शब्देन देवर्षित्वं नारदत्वमुपेत्य इत्यपव्याख्यानमपहस्तितमिति ज्ञातव्यम्। भो! शोनकादयः! तृतीयं ऋषिसर्गं वित्तेति वा, तदवतारप्रयोजनमाह देवर्षित्वमिति॥ ८॥

**रा॰ कृ॰** यस्य भगवतः अंशांशेन। अंशो ब्रह्मा, तस्यांशो मरीच्यादिः तेन देवतिर्यङ्नरादयः सृज्यन्ते, तस्यैतत् पूर्वोक्तनारायणरूपं नानावताराणां निधानं कार्यावसाने प्रवेशस्थानम् अव्ययम् अविनाशि बीजं प्रभवस्थानम्।

अयं तावत् भगवतः प्रथमावतारः। तस्येदं सर्वसृष्ट्याधारभूतं विश्वरूपमेव पुरुषसूक्ते समुपवर्णितम्। स्थूलत्वेन व्यक्तो विश्वरूपस्य देहो महत्। एतदेव जीवैः मनोयवनिकायां सृष्टित्वेन प्रतीयते। प्राणिनां करचरणाद्यवयवाः एतदीया एव। एतस्य विश्वरूपस्य वस्त्राणि आकाशस्तराः, किरीटाः सूर्यादिग्रहसमूहाः, हारास्ताराः, कुण्डलादिमण्डनानि खगोलानि।

एकार्णवश्च देशकालातीतसृष्टिस्थितिरहितनिरालम्बानन्तसत्तामात्रस्य सङ्केतः। आत्मनि जाग्रत्सु लोकेषु तेषु आत्मनो निद्रालुता योगनिद्रा। जाग्रत्प्राणिनां स्वसत्तामात्रज्ञानवतां भगवदभिज्ञानविरहे तेषु अयं भगवान् निद्राति अज्ञातो वर्तत इत्यर्थः। नाभिर्नाम केन्द्रम्। अम्बुजञ्च विकसनशीलस्य सङ्केतः। ब्रह्मणा भगवदवयवस्थानत्वेन लोकाः कल्प्यन्ते। प्राणिनामस्माकं देहावयवानाश्रित्य तत्तल्लोकसम्बन्धिन्यः प्रज्ञाः वर्तन्ते। ध्यानविधानेन जीवः तैरेव लोकैः बहिःस्थितैः सम्बन्धमापादयितुं प्रभवति। अपि च तत्तदवयवसम्बन्धिन्यो देवताः तत्तदवयवानां शक्तित्वेन प्रज्ञात्वेन च तेषु सन्निहिता वर्तन्ते। एवं बाह्यदेवतासम्बन्धेन जीवो बाह्यलोकान् द्रष्टुं श्रोतुं च समर्थो भवति॥ ५॥

यः पौरुषं रूपं जगृहे स एव देवः प्रथमं कौमारं कौमाराख्यं सर्गमास्थितस्सन् ब्रह्मा ब्राह्मणो भूत्वा अखण्डितं ब्रह्मचर्यं चचार। बाल्ययौवनयोः मध्यस्थं वयः कौमारम्। ब्रह्मणि आत्मप्रज्ञाप्रसरः ब्रह्मचर्यम्। एतदर्थमेव कौमारे वयसि तपोवेदाध्ययनादिभिस्सह ब्रह्मचर्यसाधनमपि मुमुक्षूणामावश्यकं भवति॥ ६॥

स देवः अस्य विश्वस्य भवाय उद्भवाय रसातलगतां महीम् उद्धरिष्यन् यज्ञेशस्सन् सौकरं वाराहं वपुः उपादत्त स्वीकृतवान्।

द्रवदशायां विद्यमानो ग्रहगोलाकारो रसातलम्। प्रतिफलनिरपेक्षया क्रियमाणं कर्म यज्ञः। भगवता प्रवर्तितेयं सर्वा सृष्टिः यज्ञ एव, तस्मादयं यज्ञेशः॥ ७॥

सः तृतीयं ऋषिसर्गमुपेत्य तत्रापि देवर्षित्वमुपेत्य यतः यस्मात् तन्त्रात् कर्मणां नैष्कर्म्यं बन्धमोचकत्वं भवति तत् सात्वतं वैष्णवं तन्त्रं पाञ्चरात्रागमाख्यं आचष्ट अवोचत्।

ऊहात्मकतन्तुभिः विष्णुभावनावयनस्य तन्त्रं सङ्केतः। भागवतविद्यैव वैष्णवतन्त्रम्। तत् नारदो व्यासाय उपदिदेश॥ ८॥

**तुर्ये[1] धर्मकलासर्गे नरनारायणावृषी ।**
**भूत्वा[2]ऽऽत्मोपशमोपेत मकरोद्दुश्चरं तपः ॥ ९ ॥**

**पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम् ।**
**प्रोवाचाऽऽसुरये साङ्ख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम् ॥ १० ॥**

**षष्ठे[3] अत्रेरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनसूयया ।**
**आन्वीक्षिकीमलर्काय प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान् ॥ ११ ॥**

**ततस्सप्तम आकूत्यां रुचे र्यज्ञोऽभ्यजायत ।**
**स यामाद्यै स्सुरगणै रपात् स्वायम्भुवान्तरम् ॥ १२ ॥**

---

1 M °र्यं 2 H.V शमदमोपेत 3 H.I.K.M N.V W °ष्ठं 4 VF °था स°

**श्रीध०** नरनारायणावतारमाह — **तुर्य** इति। तुर्ये चतुर्थे अवतारे। धर्मस्य यमस्य कलांऽशो भार्येत्यर्थः। "अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी" (तैत्ति. ब्रा. 3-3-3) इति श्रुतेः। तस्याः सर्गे ऋषिः भूत्वा इत्येकावतारत्वं दर्शयति ॥ ९ ॥

कपिलावतारमाह — **पञ्चम** इति। आसुरये तन्नाम्ने ब्राह्मणाय तत्त्वानां ग्रामस्य **संघस्य** विनिर्णयो यस्मिन् शास्त्रे तत् साङ्ख्यम् ॥ १० ॥

दत्तात्रेयावतारमाह — **षष्ठ** मिति। अत्रेरपत्यं तेनैव वृतस्सन् प्राप्तः "अत्रेरपत्यमभिकाङ्क्षत आह तुष्टः" (भाग. 2-7-4) इति वक्ष्यमाणत्वात् कथं प्राप्तः? अनसूयया मत्सदृशापत्यमिषेण मामेवापत्यं वृतवानिति दोषदृष्टिमकुर्वन्नेव अत्रेरपत्यत्वं प्राप्तः इत्यर्थः। आन्वीक्षिकीम् आत्मविद्याम्। अलर्काय राज्ञे प्रह्लादादिभ्यश्च। आदिपदात् यदुहैहयाद्या गृह्यन्ते ॥ ११ ॥

यज्ञावतारमाह — **तत्र** इति। स **यज्ञो** यामाद्यैः स्वस्यैव पुत्रा यामा नाम देवाः तदाद्यैस्सह स्वायम्भुवं मन्वन्तरं अपात् पालितवान्। तदा **स्वयमिन्द्राऽभूदित्यर्थः** ॥ १२ ॥

1 A.B.H omit यमस्य 2 B.H °षी 3 A.B °र्वन् इत्यर्थः 4 A.B omit अलर्काय राज्ञे 5 A B omit अपात्

**वीर०** **तुर्य** इति। धर्मकलासर्गे धर्मात् पितुः कलासर्गे देहजन्मरूपे तुर्ये चतुर्थावतारे नरनारायणाख्यावृषी भूत्वा आत्मोपशमः इन्द्रियनिग्रहः, तेन उपेतं दुश्चर मितरैः चरितुमशक्यं तपश्चकार ॥ ९ ॥

**पञ्चम** इति। पञ्चमोऽवतारः। कपिलो नाम कपिलाख्यः। सिद्धानां आत्मयाथात्म्यानुसन्धानयोगेन सिद्धानां स्वस्वरूपापन्नानामीशः कालेन प्रवर्तयितृरहितेन कालेन विप्लुतं तिरोहितं साङ्ख्यं, कथम्भूतम्? तत्त्वानां

प्रकृतिमहदादीनां ग्रामस्य कलापस्य विनिर्णयो याथात्म्यनिर्णयो यस्मात् तथाभूतम्। आसुरये प्रोवाच। आसुरिर्नाम सिद्धेषु प्रधानः, तस्मै॥ १०॥

**षष्ठ** मिति। अत्रेः प्रजापतेः अपत्यत्वं प्रति वृतः। मम पुत्रो भवेति अत्रिणा वृत इत्यर्थः। अनसूयया अत्रेर्भार्यया प्राप्तः। तस्याः पुत्रो दत्तात्रेयाख्यो भूत्वेत्यर्थः। अलर्काय प्रह्लादादिभ्यश्च आन्वीक्षिकीम् अध्यात्मविद्याम् ऊचिवान्, यं ऊचिवान् तं षष्ठमवतारं विद्यात् इति यच्छब्दाध्याहारेण अन्वयः। षष्ठं षष्ठरूपन्त्विति वा॥ ११॥

**तत** इति। ततः सप्तमे अवतारे रुचेः तद्भार्यायामाकूत्यां व्यजायत। स च यज्ञ इति प्रसिद्धः। स यज्ञः याम आद्यो येषां तैः सुरगणैस्सह स्वायम्भुवमन्वन्तरम् अपात् पालयामास॥ १२॥

---

1. A,B चर्तु° 2 A,B omit य ऊचिवान्

**विज°** भो शौनकादयः! तुरीयं चतुर्थं शृणुत। कथं स पद्मनाभः धर्मनाम्नि भगवति कलासर्गे स्वांशावतारे नाम्ना नरनारायणावृषी भूत्वा अज्ञलोकदृष्ट्या च आत्मनः अन्तःकरणस्य उपशमेन अधिकशान्त्या उपेतं युक्तं अन्यैः कर्तुमशक्यं तपः अकरोत् इत्येकान्वयः। अत्र कलासर्ग इत्युक्त्या नारायणस्य अवतारत्वं, नरे तु विशेषावेश इति ज्ञातव्यम्। तुर्य इति केचित् पठन्ति, तत्र तुर्ये चतुर्थे धर्मकलासर्गे इति सुगमोऽन्वयः॥ ९॥

पञ्चमोऽवतारोऽपि कपिलो नामेत्यन्वयः। स सिद्धेशः कपिलः कालबलेन तिरोहितं तत्त्वानां चतुर्विंशतिसङ्ख्याकानां ग्रामः समूहः तस्य विशेषेण निर्णयो भगवत्परत्वेन यस्मिन् तत् तथोक्तम्। साङ्ख्यं भगवज्ज्ञानप्रतिपादनपरं वेदार्थपरिबृंहितं नाम्ना आसुरये सच्छिष्याय प्रोवाचेति पश्चादन्वयः। अत्राज्ञलोकप्रसिद्धसाङ्ख्य-शास्त्रप्रणेता कपिलः, तच्छिष्यः आसुरिश्च अन्य एवेति सतां सम्प्रदायः। यः पद्मनाभोऽनसूयया अत्रिपत्न्या वृतः, अत्रेः ऋषेः अनसूयायामपत्यत्वं प्राप्तः आन्वीक्षिकीं तत्त्वविद्याम् अलर्काय प्रह्लादादिभ्यश्च ऊचिवान्, तमवतारं षष्ठं वित्त॥ १०, ११॥

ततः स पद्मनाभः सप्तमो रुचेः आकूत्यां पत्न्यां यज्ञोऽभ्यजायत जातः, स यज्ञो नाम्ना यामा आद्या येषां ते तथा तैः सुरगणैस्सह स्वायम्भुवमन्वन्तरम् अपात् अरक्षत् इत्यन्वयः। प्रतिमन्वन्तरं देवानां नामभेदात् यामा इत्युक्तम्॥ १२॥

**रा° कृ°** सः तुर्ये चतुर्थेऽवतारे धर्मकलासर्गे धर्मस्य यमस्य तत्पत्न्याः मूर्तिनाम्न्याश्च सर्गरूपे नरनारायणौ ऋषी भूत्वा आत्मशमोपेतं आत्मनः अन्तःकरणस्य शमः शान्तिः तदुपेतं दुश्चरं तपः अकरोत्। अनेन विश्वश्रेयोहेतुभूततपोविद्यां भगवान् लोकाय ददौ इत्यर्थः॥ ९॥

पञ्चमः पञ्चमोऽवतारः, कपिलो नाम सिद्धेशस्सन् कालविप्लुतं कालेन तिरोहितं तत्त्वग्रामविनिर्णयं तत्त्वनिर्णायकं साङ्ख्यं तन्त्रामकशास्त्रम् आसुरये तन्नाम्ने शिष्याय प्रोवाच। अनेन महदादितत्त्वोपदेशः सूचितः॥ १०॥

अत्रेः तन्नाम्ना मुनिना अपत्यत्वं वृतः अनसूयया प्राप्तो दत्तात्रेयः आन्वीक्षिकीमात्मविद्याम् अलर्काय तन्नाम्ने राज्ञे प्रह्लादादिभ्यश्च ऊचिवान् उक्तवान्। तं षष्ठमवतारमवगच्छतेति शेषः। जीवात्मपरमात्माभेदसाधनी विद्यैव आत्मविद्या। सैव योगाभ्यासः। दत्तात्रेयो योगाविर्भावसङ्केतः॥ ११॥

ततस्सप्तमोऽवतारः रुचेः आकूत्यां यज्ञः यज्ञत्वेनाभ्यजायत। स यज्ञः यामाद्यैः स्वपुत्रभूतैः सुरगणैः स्वायम्भुवान्तरं स्वायम्भुवमन्वन्तरम् अपात् अपालयत्। तदाऽयं स्वयमिन्द्रः अभूत् इत्यर्थः।

एतदवतार एव कालमनुमन्वन्तरप्रारम्भकः। सार्धसप्तघटिकापरिमितः कालः याम इत्युच्यते। यामाष्टकपरिमितो वासरः॥ १२॥

**अष्टमे[1] मेरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः।**
**दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम्॥ १३॥**

**ऋषिभिर्याचितो भेजे नवमं पार्थिवं[2] वपुः।**
**दुग्धेमामोषधीर्विप्राः[4] तेनायं स[5] उशत्तमः॥ १४॥**

**रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषोदधिसम्प्लवे[6]।**
**नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद्वैवस्वतं मनुम्॥ १५॥**

**सुरासुराणामुदधिं मथ्नतां मन्दराचलम्[7]।**
**दधे कमठरूपेण पृष्ठ एकादशे[8] विभुः[9]॥ १६॥**

---

1. K,M °मो 2. K,M,W °र्थं° 3 K,M दुग्धवानोष° 4 N,V °मौ° 5 K,M च 6 H,K,M,W °षान्तर° 7 W °न्थना° 8 K,M °शं 9 K,M °दुः

**श्रीध०** ऋषभावतारमाह — **अष्टम** इति। सर्वाश्रमनमस्कृतम् अन्त्याश्रमं पारमहंस्यं वर्त्म धीराणां दर्शयन् नाभेः आग्नीध्रपुत्रात् ऋषभो जातः॥ १३॥

पृथ्ववतारमाह — **ऋषिभि** रिति। पार्थिवं वपुः राजदेहं पृथुरूपम्। पाठान्तरे पृथोरिदं पार्थवम्। ओषधीरित्युपलक्षणम्। इमां पृथ्वीं सर्वाणि वस्तूनि दुग्ध अदुग्ध। अडागमाभावस्त्वार्षः। हे विप्राः तेन पृथ्वीदोहनेन। सोऽयमवतारः उशत्तमः कमनीयतमः। "वश-कान्तौ" इत्यस्मात् धातोः निष्पन्नोऽयं शब्दः॥ १४॥

मत्स्यावतारमाह — **रूप** मिति। चाक्षुषमन्वन्तरे य उदधीनां सम्प्लवः संश्लेषः तस्मिन् यद्यपि मन्वन्तरावसाने प्रलयो नास्ति तथाऽपि केनचित् कौतुकेन सत्यव्रताय माया प्रदर्शिता यथा अकाण्डे मार्कण्डेयाय इति द्रष्टव्यम्। महीमय्यां नावि नौकारूपायां मह्यामित्यर्थः। अपात् रक्षितवान् वैवस्वतमिति भाविनी संज्ञा॥ १५॥

कूर्मावतारमाह — **सुरेति**। कमठः कूर्मः। तद्रूपेण एकादशे अवतारे विभुः दधे दधार॥ १६॥

1. A,B omit धातोः निष्पन्नोऽयं शब्दः

**वीर०** अष्टमे अवतारे उरुक्रमे भगवान् नाभेः स्वायम्भुवमनुपौत्रस्य भार्यायां मेरुदेव्यां जातः। स च ऋषभाख्यः। धीराणां योगीश्वराणां वर्त्म अनुष्ठेयं धर्ममार्गं दर्शयन् दर्शयितुं जात इत्यर्थः। वर्त्म विशिनष्टि सर्वैराश्रमैः आश्रमस्थैः नमस्कृतं पूजितं आश्रमधर्मवर्त्मभ्यः उत्कृष्टमिति भावः॥ १३॥

**ऋषिभि** रिति। हुङ्कारैः वेनं हतवद्भिः ऋषिभिः याचितः जगत्पालनार्थं याचितो भगवान् नवमं पार्थवं पृथोःसम्बन्धि वपुः भेजे प्राप्तः। अंशेनानुप्रविष्टः पृथ्वाख्यजीवानुप्रवेशेन पृथुरूपेणावतीर्ण इत्यर्थः। हे विप्राः! शौनकादयः! स इमां पृथ्वीं गोरूपां धृतवतीम् ओषधीः दुग्ध दुदोह। अडभाव आर्षः। यतोऽदुग्ध, तेन कारणेन स पृथुः उशत्तमः सर्वेषामपीष्टतमो बभूवेत्यर्थः॥ १४॥

**रूप** मिति। चाक्षुषान्तरं चाक्षुषमन्वन्तरम्। तत्र यः सम्प्लवः प्रलयः। तस्मिन् स भगवान् मात्स्यं दशमं रूपं जगृहे। अवतारप्रयोजनमाह नावीति। वैवस्वतं मनुं वैवस्वतमनुरूपेण जनिष्यमाणं सत्यव्रतं महीमय्यां पृथ्वीरूपायां नावि आरोप्य अपात् ररक्ष॥ १५॥

एकादशे तु अवतारे विभुः भगवान् सुरासुराणां उदधिम् अमृतार्थं मथ्नतां सतां कमठरूपेण कूर्मरूपेण पृष्ठे मन्दराख्यमचलं दध्रे धृतवान्॥ १६॥

1 A,B omit मनु 2 A,B °र्थि° 3 A,B °मिष्ट° 4 A,B omit कूर्मरूपेण

**विज०** य उरुक्रमो नाभेः आग्नीध्रपुत्रात् मेरुदेव्यां पत्न्या जातः सर्वाश्रमनमस्कृतं धीराणां विद्यारतानां वर्त्म पारमहंस्याश्रमं दर्शयन् अभूत्, तस्य सोऽष्टमोऽवतारः। न शुक्रशोणितमिश्रतया अस्य जननं, किन्तु द्वारमात्रम् इत्यस्मिन्नर्थे तु शब्दः॥ १३॥

ऋषिभिः प्रार्थितः पद्मनाभो नवमावतारं पार्थवं, पृथुचक्रवर्तिशरीराविष्टरूपं भेजे। हे विप्राः! ज्ञानिनः! गोरूपिण्याः भुवः ओषधीः क्षीरात्मिकाः दुग्धवान् इति येन, तेन कर्मणाऽयं भगवान् उशत्तमः सत्यकामेषु श्रेष्ठः। उश इच्छायाम्। चशब्दो दोहनकर्मणः अमानुषत्वं द्योतयति॥ १४॥

स भगवान् चाक्षुषान्तरसम्प्लवे चाक्षुषमन्वन्तरप्रलये मात्स्यं मत्स्यस्य विद्यमानं रूपं जगृहे। किञ्च, महीमय्यां नावि तरीस्थानीयभूमौ वैवस्वतं मनुमारोप्य अपादित्यन्वयः॥ १५॥

सुरासुराणाम् उदधिं समुद्रं प्रमथ्नतां यो भगवान् पातालमाविशन्तं मन्दरं पर्वतं कूर्मरूपेण पृष्ठे दध्रे बभारेत्येकान्वयः। तम् अवतारमेकादशं विदुः इति॥ १६॥

रा॰ कृ॰ अष्टमे अवतारे धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतं वर्त्म पारमहंस्यं मार्गं दर्शयन् उरुक्रमो भगवान् नाभेः तत्राग्नो नृपतेः आग्नीध्रपुत्रस्य मेरुदेव्यां जातः ऋषभनाम्ना जातः। उच्छ्वासनिःश्वासमूलस्पन्दनस्य सङ्केतः परमहंसमार्गः। अयमेव लौकिकप्राण्युच्छ्वासनिःश्वासप्रारम्भकः। अत्र मेरुदेवी नाभ्युरुक्रमपदानि साभिप्रायाणि। कुण्डलिनी प्रणवोपासनायोगसमन्वयोऽत्र सूचितः। तथाहि — मेरुदेवी कुण्डलिनीप्रसारसङ्केतसरणिः। शब्दोत्पत्तिस्थानं नाभिः। उरुक्रमश्च श्वासक्रमः। उच्छ्वासनिःश्वासक्रमं समीकृत्य प्रणवमुपासमानानां कुण्डलिनीप्रबोधो जायते। अयञ्च समन्वयः पातञ्जलयोगानुगुण एव॥ १३॥

हे विप्राः! स देवः ऋषिभिः याचितो नवमं पार्थवं पृथुरूपं राजदेहं भेजे। इमां पृथिवीम् ओषधीः अदुग्ध। तेन पृथिवीदोहनेन अयमवतारः उशत्तमः कमनीयतमः।

अत्र स्थूलगोलाविर्भावः सूचितः। पृथुचक्रवर्ती स्थौल्यस्य चक्राकृतिगतेश्च सङ्केतः। भूगोलात् खनिजवृक्षपर्वतरत्नाद्युत्पत्तिः अभूत् इत्यर्थः॥ १४॥

सः चाक्षुषोदधिसम्प्लवे चाक्षुषमन्वन्तरे यः उदधिसम्प्लवः उदधिसंश्लेषः तस्मिन् मात्स्यं रूपं जगृहे। अपि च महीमय्यां नावि वैवस्वतं मनुमारोप्य अपात् रक्षितवान्। अयं दशमो मत्स्यावतारः।

खनिजाद्युद्भवानन्तरं वृष्ट्या भूगोलं जलाप्लावितमभूत्। तदा जले प्रथमः प्राणी मत्स्यः उदभूत्। तन्मनस्त्वेन मनुः गोपितोऽभवत्॥ १५॥

एकादशे एकादशावतारे विभुः भगवान् सुरासुराणाम् उदधिं मथ्नतां सतां कमठरूपेण पृष्ठे मन्दराचलं दध्रे धृतवान्।

जले प्लवमानं भूगोलं घनीभावमभजत् इति भावः॥ १६॥

**धान्वन्तरं द्वादशमं त्रयोदशममेव च।**
**अपाययत् सुरानन्यान् मोहिन्या मोहयन् स्त्रिया॥ १७॥**

**चतुर्दशं नारसिंहं बिभ्रद्दैत्येन्द्रमूर्जितम्।**
**ददार करजैर्वक्षस्येरकां कटकृद्यथा॥ १८॥**

**पञ्चदशं वामनकं कृत्वाऽगादध्वरं बलेः।**
**पदत्रयं याचमानः प्रत्यादित्सुस्त्रिविष्टपम्॥ १९॥**

**अवतारे षोडशमे पश्यन् ब्रह्मद्रुहो नृपान् ।**
**त्रिस्सप्तकृत्वः कुपितो निःक्षत्तामकरोन्महीम् ॥ २० ॥**

1. K,M °धामन्या° 2 H,I,K,M,V,W °रूरावेर° 3. H,K,M,V,W °कान् 4 B,I °पि° 5 K,M यच्छन् 6 H,V धर्म°

**श्रीध०** धन्वन्तर्यवतारमाह — **धान्वन्तर** मिति। धान्वन्तरं धन्वन्तरिरूपम्। द्वादशमंमिति मट्प्रयोगस्त्वार्षः। त्रयोदशमंमेवेत्यादिना तच्चरितेन सह दर्शयति, अत्राप्यार्ष एव मट्। अपाययत् इत्यत्र सुधाम् इत्यध्याहारः। मोहिन्या स्त्रिया तद्रूपेणान्यानसुरादीन् मोहयन् धन्वन्तरिरूपेणामृतमानीय मोहिन्या अपाययत् इत्यर्थः ॥ १७ ॥

नृसिंहावतारमाह — **चतुर्दश** मिति। नारसिंहं रूपं बिभ्रत् एरकां निर्ग्रन्थितृणम् ॥ १८ ॥

वामनावतारमाह — **पञ्चदश** मिति। दुष्टानां मदं वामनयतीति वामनक रूपं, ह्रस्वं वा प्रत्यादित्सुः तस्मादाच्छिद्य ग्रहीतुमिच्छुः ॥ १९ ॥

परशुरामावतारमाह — **अवतार** इति। त्रिः त्रिगुणं यथा भवति तथा सप्तकृत्वः सप्तवारान् एकविंशतिवारान् इत्यर्थः ॥ २० ॥

1. A,B °मादिप्रयोगस्त्वार्षः 2. A,B °तममव रूप तच्च° 3 A,B omit अत्राप्यार्ष एव मट् 4 H,V मोहिन्याख्यस्त्रारूपणा° 5. A,B °रान् 6. V adds सः 7. H,V °कान् 8. H,V °तृणविशेषान्

**वीर०** द्वादशमं वपुस्तु धान्वन्तरं धन्वन्तर्याख्यजीवानुप्रवेशरूपमित्यर्थः। त्रयोदशमं रूपं तु यन्मोहिन्याख्यया अन्यान् असुरान् मोहयन् सुरान् अमृतमपाययत्, तदेव मोहिनीरूपं त्रयोदशममित्यर्थः ॥ १७ ॥

नारसिंहं चतुर्दशं रूपं बिभ्रत् ऊर्जितं बलिष्ठं दैत्येन्द्रं हिरण्यकशिपुं वक्षसि करजैः नखैः ददार। यथा कटकृत् आस्तरणकृत् एरकान् तदर्थतृणविशेषान् विदारयति, तद्वत् ॥ १८ ॥

वामनकं वामनाख्यं पञ्चदशं वपुः कृत्वा धृत्वा बलेरध्वरं यज्ञवाटमगात् जगाम। प्रयोजनमाह — त्रिविष्टपं प्रत्यादित्सुः आहृत्य इन्द्राय दातुमिच्छुः, पदत्रयं पदत्रयव्याजेन त्रिलोकीं याचमानः याचयिष्यमाणोऽध्वरमगात् इत्यन्वयः ॥ १९ ॥

षोडशमे अवतारे भार्गवराम[3]ख्ये नृपान् कार्तवीर्यादीन् ब्रह्मद्रुहः ब्रह्मकुलद्रोहकान् पश्यन् कुपितः त्रिस्सप्तकृत्वः एकविंशतिवारं महीं निःक्षत्तां क्षत्तबीजरहिताम् अकरोत् ॥ २० ॥

1. A,B धान्वन्तराख्य° 2. A,B °दशमित्यर्थः 3 A,B °ख्यो 4. A,B नृपान्

**विज०** द्वादशमवतारं धान्वन्तरं धन्वन्तर्याख्यरूपसम्बन्धिनं विदुः। स हरिः यस्मिन् अवतारे मोहिन्या मोहकशक्तिमत्या स्त्रिया स्त्रीमूर्त्या अन्यान् असुरान् मोहयन् सुधाम् अपाययत्, तं त्रयोदशमेव विदुरित्येकान्वय । च शब्दो मोहयन् इत्युक्त्या मायामयं तद्रूपमिति शङ्कानिरासार्थः ॥ १७ ॥

नरसिंहसम्बन्धिविग्रहं बिभ्रत् स भगवान् करजैः नखैः ऊर्जितं हिरण्यकशिपुं ऊरौ अङ्के निपात्य तथा ददार, यथा कटकृत् तृणास्तरणकर्ता एरकान् दीर्घाकारान् तृणविशेषान् ददार दारयति, तमवतारं चतुर्दशं विदुः इत्येकान्वयः ॥ १८ ॥

त्रिविष्टपं त्रैलोक्यं प्रत्यादित्सुः बलेराच्छिद्य इन्द्रायेदं दातुकामः तदर्थं बलिं पदत्रयं याचमानः स पद्मनाभः पञ्चदशमवतारं वामनसम्बन्धिनं कृत्वा बलेः अध्वरं यज्ञम् अगात् इत्यन्वयः ॥ १९ ॥

षोडशमे अवतारे स भगवान् जमदग्निसुतो भूत्वा ब्रह्मद्रुहो ब्रह्मद्रोहिणो नृपान् यच्छन् घ्नन् त्रिसप्तकृत्वः एकविंशतिवारं महीं निःक्षत्रियां क्षत्रियजातिरहिता मकरोत् इत्येकान्वयः। कुपिताकारं दर्शयन् न तु कुपितः। न हि ईश्वरस्य कोपः सम्भवति, अशक्तस्य सः; "कामः क्रोधस्तथा लोभः तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्" (भ. गी. 16-21) इति हेयत्वात्तस्येति ॥ २० ॥

**रा० कृ०** धान्वन्तरं द्वादशमं धन्वन्तरिः द्वादशोऽवतारः, त्रयोदशमं त्रयोदशावतारः मोहिन्यवतारः। तस्मिन्नवतारे मोहिन्या स्त्रिया मोहिनी स्त्रीरूपेण अन्यान् असुरान् मोहयन् सुरान् अपाययत्; सुधामिति शेषः।

देवासुराः प्राणिगत सुगुणदुर्गुणा एव। धन्वन्तरिः देहस्थितिहेतुभूतधर्मसमाहारः। अमृतकलशश्च प्राणस्थिति-निदानं हृदयमेव। मोहिनीपदेन देहेषु स्त्रीपुरुषभेदाविर्भावस्सूचितः। तेन मानवमानसेषु परस्परव्यामोहश्च उदभूत् इत्यपि व्यञ्जितः ॥ १७ ॥

सः चतुर्दशं नारसिंहं रूपमिति शेषः बिभ्रत् करजैः नखैः ऊर्जितं दैत्येन्द्रं हिरण्यकशिपुम् ऊरौ निपात्येति शेषः। कटकृत् एरकान् यथा एरकानिव ददार दारितवान्।

आत्मनः सर्वेश्वरत्वं सर्वैरन्यैः अङ्गीकर्तव्यम् इत्यस्य जनसमुदायनिष्ठस्य असुरगुणस्य हिरण्यकशिपुः सङ्केतः। परिहृते च तद्गुणे जायमानः आह्लाद एव प्रह्लादः। एतत्साधनावश्यकतीव्रसङ्कल्पात्मकश्रद्धापाटवस्य सङ्केतो नरसिंहः। तादृशसङ्कल्पसम्भवस्थानत्वेन नरस्य सिंहशिरःकल्पना च ॥ १८ ॥

सः पञ्चदशं वामनकं वामनरूपं कृत्वा धृत्वा त्रिविष्टपं स्वर्गं प्रत्यादित्सुः इन्द्राय दातुं बलेः आच्छिद्य ग्रहीतुमिच्छुः पदत्रयं याचमानः बलेरध्वरमगात्।

द्रव्यशक्तिप्रज्ञाभिः मानवसृष्टेः सङ्केतः पदत्रययाचना। मानवे जीवभावनायाः प्रतीको बलिः। जीव भावमाक्रममाणस्य दैवभावस्यैव वामनसंज्ञा। पृथिव्याम् अयं वामनः प्रथमं भौतिकदेहेन मानवस्य आविर्भूतेः प्रारम्भकः ॥ १९ ॥

सः षोडशमे षोडशे अवतारे परशुरामाख्यया युक्तः ब्रह्मद्रुहः ब्राह्मणद्रोहिणो नृपान् कुपितस्सन् त्रिस्सप्तकृत्वः एकविंशतिवारान् महीं निःक्षत्रामकरोत् ।

दारुणहिंसाभिः दुष्टप्रभूणां क्रूरपालनेन च भूयिष्ठमुपद्रुते मानवसमाजे तत्परिष्कारसाधनम् आयोधनं विधाय मानवान्तर्गतब्रह्मक्षत्तशक्तिद्वयपरस्परपरिपोषकप्राधान्यानुसन्धानप्रयत्नस्य प्रतीकः परशुरामावतारः । तत्प्रयत्नफलभूतो रामावतारः ॥ २० ॥

**ततस्सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात् ।**
**चक्रे वेदतरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः ॥ २१ ॥**
**नरदेवत्वमापन्नः सुरकार्यचिकीर्षया ।**
**समुद्रनिग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतःपरम् ॥ २२ ॥**
**एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी ।**
**रामकृष्णा विति भुवो भगवानहरद्भरम् ॥ २३ ॥**
**ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम् ।**
**बुद्धो नाम्नाऽजनसुतः कीकटेषु भविष्यति ॥ २४ ॥**

1 W °ण्यनेकशः 2. B,I °म्नाऽञ्जन° V °म्नाऽजिन°, H,M,W °म्ना जिन°

**श्रीध०** व्यासावतारमाह — **तत** इति। अल्पमेधसः अल्पप्रज्ञान् पुंसो दृष्ट्वा तदनुग्रहार्थं शाखाः चक्रे ॥ २१ ॥

रामावतारमाह — **नरेति**। नरदेवत्वं राघवरूपेण प्राप्तस्सन् । अतःपरम् अष्टादशे ॥ २२ ॥

रामकृष्णावतारमाह — **एकोने** ति। विंशतितम इति वक्तव्ये तकारलोपच्छन्दोऽनुरोधेन । [1](वर्णाधिक्यं तु छान्दसत्वा देवेति ज्ञेयम् । नैतत्केनाऽपि व्याख्यात्रा स्पष्टीकृतम् । अत्र विंशेचेति पाठे न काप्यनुपपत्ति रिति मन्तव्यम्।) रामकृष्णावित्येवं [2]नामजन्मनी प्राप्य ॥ २३ ॥

बुद्धावतार माह — **तत** इति। [3]अजिनस्य सुतः। जिनसुत इति पाठे जिनोऽपि स एव। कीकटेषु मध्ये गयाप्रदेशे ॥ २४ ॥

1. A,B Omit वर्णाधिक्यं ..... मन्तव्यम् । 2. A,B नामनी 3. A,B °ज°

**वीर०** ततः सप्तदशे अवतारे पराशरात् सत्यवत्यां जातो बादरायण इति प्रसिद्धः। अल्पमेधसः कृत्स्नवेद-तदर्थावगमोपयुक्तबुद्धिशून्यान् पुंसः पुरुषान् दृष्ट्वा वेद एव तरुः तस्य शाखाः चक्रे ऋग्यजुस्सामादिभेदेन तदवान्तरभेदेन च विभक्तवानित्यर्थः ॥ २१ ॥

**नरदेवत्व** मिति। अतः परम् अष्टादशे अवतारे सुरकार्यं रावणवधरूपं कर्तुमिच्छया नरदेवत्वं क्षत्रियत्वं प्राप्तः श्रीरामरूपेणावतीर्ण इत्यर्थः। समुद्रविषयको निग्रहः आदिर्येषां तानि वीर्याणि कर्माणि चक्रे ॥ २२ ॥

एकोनविंशे विंशतिमे चावतारे भगवान् वृष्णिषु यादवेषु रामकृष्णाविति जन्मनी। रामः बलरामः, कृष्णश्चेति द्वे जन्मनी प्रादुर्भावरूपे प्राप्य भुवो भार महरत्। रामस्त्वेकोनविंशः, कृष्णस्तु विंशतितमोऽवतार इत्यर्थः ॥ २३ ॥

ततः कलौ युगे सम्प्रवृत्ते सति सुरद्विषामार्हतानामसुराणां वा सम्मोहनार्थं भगवान् कीकटेषु देशेषु[1] जिनस्य सुतो भविष्यति नाम्ना बुद्ध इति प्रसिद्धः। अयमेव विंशोऽवतारः ॥ २४ ॥

1. A,B Omit देशेषु

**विज०** ततस्स हरिः सप्तदशे अवतारे पराशरात् सत्यवत्यां जातः अल्पमेधसः अल्पप्रज्ञान् पुरुषान् दृष्ट्वा वेदतरोः शाखाः चक्रे कृतवान्। रामावतारात् पूर्वं व्यासावतारसत्त्वं ज्ञेयम् ॥ २१ ॥

अतः परं सप्तदशात् परं पश्चात् अष्टादशावतारे देवकार्यकरणेच्छया नरदेवत्व राजत्वं प्राप्तः समुद्रनिग्रहादीनि सेतुबन्धनपूर्वाणि वीरकर्माणि कृतवान् इत्येकान्वयः ॥ २२ ॥

स भगवान् एकोनविंशे विंशतितमे[2] अवतारे वृष्णिषु नाम्ना रामकृष्णाविति जन्मनी प्राप्य भुवो भरम् असुरपृतनालक्षणम् अहरत् इत्येकान्वयः। जन्मनी इति द्विवचनात् बलभद्रे विशेषावेशो ज्ञातव्यः ॥ २३ ॥

ततः कलौ युगे सम्प्रवृत्ते सति सुरद्विषां त्रिपुरवासिनां दैत्यानामयोग्यानां वेदमार्गे प्रवर्तमानानां मोहाय नाम्ना बुद्धः कीकटेषु मगधविषयेषु जिनसुतः जिनेन सुतत्वेन वृतः भविष्यति इत्यन्वयः ॥ २४ ॥

1. K adds अपि 2 K,M विंशतिमे

**रा० कृ०** ततः सप्तदशे अवतारे पराशरात् सत्यवत्यां जातो बादरायण इति प्रसिद्धः अल्पमेधसः पुंसः दृष्ट्वा तान् अनुग्रहीतुं वेदतरोः शाखाः चक्रे। श्रीरामावतारात् प्राक् व्यासावतार कथनं लेखकप्रमादापतितमिति चिन्त्यते ॥ २१ ॥

अतःपरम् अष्टादशे अवतारे सुरकार्यचिकीर्षया नरदेवत्वामापन्नः श्रीरामरूपेणावतीर्णः समुद्रनिग्रहादीनि वीर्याणि वीरकर्माणि चक्रे कृतवान्। मानवजात्युत्पत्त्यनन्तरं राजधर्मोपदेशाय अयमवतारः ॥ २२ ॥

सः भगवान् एकोनविंशे विंशतिमे विंशतितमे चावतारे वृष्णिषु यादवेषु रामकृष्णाविति बलरामश्रीकृष्णाविति जन्मनी प्राप्य भुवो भरमहरत्।

पूतनासंहारमारभ्य आभारतसङ्ग्रामसमाप्ति कृतो दुष्टसंहारो धर्मसंस्थापनाय उद्दिष्टः। तद्धर्मसंस्थापनम् अद्यापि भगवद्गीतामुखेन निरुह्यत एव॥ २३॥

ततः कलौ युगे सम्प्रवृत्ते सुरद्विषां सम्मोहाय कीकटेषु गयाप्रदेशे जिनसुतः नाम्ना बुद्धो भविष्यति।

अत्र राक्षससम्मोहनं नाम कामक्रोधादीनां तत्प्रेरितानां दुष्टानां च प्रेममार्गे निर्वीर्यतापादनं, अथवा प्रेम्णा विजितत्वम्।

अयं बुद्धो न शौद्धोदनिः गौतमबुद्धः। अपि तत्प्राक्कालिकः अन्य एव स जिनसुतः। तस्याराधकाः जैनाः। जैनगौतमबुद्धयोर्विषये चरित्रलेखकैः उक्ताः अंशाः भ्रान्तिमूलका इति ज्ञायते॥ २४॥

**अथासौ युगसन्ध्यायां दस्युप्रायेषु राजसु।**
**जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्किर्जगत्पतिः॥ २५॥**

**अवतारा ह्यसङ्ख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।**
**यथाऽविदासिनः कुल्याः सरसस्स्युस्सहस्रशः॥ २६॥**

**ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः।**
**कलास्सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा॥ २७॥**

**एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।**
**इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे॥ २८॥**

---

1 K M °ल्की ज° 2 H.V °दगुरुः 3 K.M यथा विदा 4 H.V मुनयो, W पितरो 5 B.H I K M V °सृमृता, 6 H एतेंऽशांश°. K.M एते स्वांश°

**श्रीध०** कल्क्यवतारमाह — **अथेति**। युगसन्ध्यायां कलेरन्ते विष्णुयशसो ब्राह्मणात् सकाशात् जनिता जनिष्यते॥ २५॥

अनुक्तसर्वसङ्ग्रहार्थमाह — **अवतारा** इति। असङ्ख्येयत्वे दृष्टान्तः यथेति। अविदासिनः अपक्षयशून्यात्, दसु उपक्षये इत्यस्मात् निष्पन्नः। सरसः सकाशात् कुल्याः क्षुद्रप्रवाहाः॥ २६॥

विभूतीराह — **ऋषय** इति॥ २७॥

तत्र विशेषमाह — **एते चेति**। पुंसः परमेश्वरस्य केचिदंशा केचित् कला विभूतयश्च। तत्र मत्स्यादीनामवतारत्वेन सर्वज्ञत्वसर्वशक्तिमत्त्वेऽपि यथोपयोगमेव ज्ञानक्रियाशक्त्याविष्करणम्। कुमारनारदादिष्वाधिकारि-केषु यथोपयोगम् अंशकलावेशः। तत्र कुमारादिषु ज्ञानावेशः, पृथ्वादिषु शक्त्यावेशः। कृष्णस्तु भगवान् साक्षात् नारायण एव, आविष्कृतसर्वशक्तित्वात्। सर्वेषां प्रयोजनमाह। इन्द्रारयो दैत्याः तैः व्याकुलम् उपद्रुतं लोकं मृडयन्ति सुखिनं कुर्वन्ति॥ २८॥

1 A उ° 2 A,B Omit निष्पन्नः 3 H °ष्वधिकारेषु 4 B तेषु 5 A Omits पृथ्वादिषु शक्त्यावेशः 6 A Omits साक्षात्

**वीर**° अथासौ जगत्पतिः भगवान् युगयोः कलिकृतयुगयोः सन्ध्यायां सन्धौ राजसु दस्युप्रायेषु चोरप्रायेषु केवलमधर्मबहुलेषु सत्सु तद्वधार्थं विष्णुयशसो जनिता विष्णुयशसः पुत्ररूपेणावतरिष्यति, स च नाम्ना कल्किरिति प्रसेत्स्यति॥ २५॥

दिङ्मात्रमेतद्दर्शितमित्यभिप्रायेण आह — **अवतारा** इति। हे द्विजाः! सत्त्वनिधेः शुद्धसत्त्वमूर्तेः भगवतोऽनिरुद्धात् एते अवतारा अन्येऽपि असङ्ख्येयाः स्युः प्रवर्तन्ते। यथा अविदासिन अशोष्यात् सरसः सहस्रशः कुल्याः स्युः स्पन्दन्ते, तद्वत्। कुल्याः क्षुद्रनद्यः॥ २६॥

के ते इत्यत आह — **ऋषय** इति। ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो वशिष्ठादयो मुनयः, केवलस्वात्मपरमात्म याथात्म्यमननशीलाः शुकादयः, देवाः इन्द्रादयः, मनुपुत्राः प्रियव्रतादयः, महौजसः महाप्रभावाः सप्रजापतयः दक्षादिभिस्सहिताः प्रजापतयश्च इत्यर्थः। त एते सर्वे हरेरेव कलाः स्मृताः, भगवदंशेनैव सम्भूता इत्यर्थः। तथाचोक्तं भगवता — "यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा, तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्"। (भ. गी. 10-41) इति॥ २७॥

एतद्वचनार्थमेवाऽऽह — **एत** इति। एते ऋषिप्रभृतयस्तु पुंसः अनिरुद्धाख्य स्यांशकलाः अंशांशसम्भूताः। "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति श्रीकृष्णस्य पूर्णावतारत्वमुक्तम् उदाहृतभगवद्गीतावचनेन। विभूत्यादिमतां जन्तूनां ममत्वेन निर्दिष्टश्रीकृष्णस्य तेजोंऽशसम्भवत्वं श्रीकृष्णस्य तु पूर्णत्वं चावगतम्। अत्रापि भगवानित्यनेन कृष्णस्य पूर्णषाड्गुण्यत्वमवगतम्। यद्वा अत्रैत इत्यनेन पूर्वोक्तिषु हिरण्यगर्भसनकादिषु केषाञ्चित् वराहनारायण मत्स्यकूर्ममोहिनी-नृसिंहवामनश्रीरामावताराणां पूर्णानां सत्त्वेऽपि छत्रिन्यायेन सर्वेऽप्यवताराः परामृश्यन्ते। तत्र पूर्णत्वं नाम षाड्गुण्यपूर्णत्वेन रूपेण साक्षादवतीर्णत्वम्। अंशांशसम्भूतत्वं नाम तत्तज्जीवान्तरातमतया अवस्थितस्य षाड्गुण्यपूर्णस्य भगवतः केनाप्यैश्वर्यवीर्यादि गुणलेशेन जीवद्वारा आविर्भूतेन विशिष्टतया सञ्जातत्वम्। निरंशस्य ब्रह्मस्वरूपस्यकदेश-भेदेन आविर्भावासम्भवात्। ननु धर्मिस्वरूपैकदेशवाचिनोंऽशशब्दस्य कथं गुणपरत्वमिति चेत् न। अपृथक्सिद्ध-विशेषणस्यापि अंशशब्दवाच्यत्वात् विशिष्टवस्त्वेकदेशत्वस्यैव अंशपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वात्, विशिष्टवस्त्वेकदेशत्वञ्च विशेषणविशेष्ययोः एकदेशतया द्वयोरप्यविशिष्टम्। वाराहाद्यवताराणां पूर्णत्वं तु तत्तत्पुराणादिभ्य एव अवगन्तव्यम्।

सर्वावतारसाधारणं प्रयोजनमुपसंहरति इन्द्रेति। इन्द्रारिभिः असुरादिभिः व्याकुलम् उपद्रुतं लोकं युगे युगे प्रतियुगं मृडयन्ति सुखयन्ति[5]॥ २८॥

1 A,B °वद्वच° 2 A,B omit तु 3 A,B स्थापितम् 4 A,B omit कृष्णस्य 5 A,B omit सुखयन्ति।

**विज०** अथ बुद्धावतारात् अनन्तरमसौ जगत्पतिः पद्मनाभो युगसन्ध्यायां प्राप्तायां राजसु दस्युप्रायेषु बहुलं चोरेषु सत्सु नाम्ना कल्किनाम्ना विष्णुयशसो विप्रात् जनिता उत्पत्स्यतीत्येकान्वयः॥ २५॥

हरेरवताराणां अनन्तत्वात् अनन्तपुरुषायुषाऽपि समापयितुं नास्माकं शक्तिरस्तीत्यभिप्रेत्याऽऽह — **अवतारा** इति। **हे द्विजाः!** सत्त्वनिधेः **बलज्ञानादिमहागुणानधानस्य** हरेरवतारा **असङ्ख्येया** हि यस्मात् तस्मात् प्राधान्यतः **सङ्ख्याताः**, न साकल्येन समापयितुं शक्याः। तत्रोदाहरणमाह यथेति। यथाऽविदासिनः उन्नतस्थलात् भिन्नाद्वा सरसः सहस्रशः कुल्याः क्षुद्रनद्यः स्युरिति। इदं मन्दमतीनपेक्ष्योक्तम्, न तु योगिनः। क्षुद्रनदीनां तैः सङ्ख्येयत्वेऽपि न हरेरवताराः सङ्ख्यातुं शक्यन्त इत्यतो **बुद्धयवतारार्थमिति** ज्ञातव्यम्॥ २६॥

इदानीं प्रतिबिम्बांशानाह — **ऋषय** इति। मनुपुत्राः प्रियव्रतादयः। प्रजापतिभिः दक्षादिभिः सहिता एते **ऋष्यादयः**। हरेः कलाः भिन्नांशाः स्मृतिषु उक्ताः॥ २७॥

तर्हि के स्वरूपांशा इति तत्राऽऽह — **एत** इति। स एव प्रथमम् इत्यारभ्य अथासौ इत्यनेन प्रोक्ता एते शेषशायिनः परमपुरुषस्य स्वांशकलाः स्वरूपांशावताराः; न तत्र अंशांशिनां भेदः प्रतिबिम्बांशवत्। किमुक्तं भवति? कृष्णो मेघश्यामः शेषशायी मूलरूपी पद्मनाभो भगवान् स्वयं तु स्वयमेव न शाखिशाखावत् भेदाभेदोऽपीति भाव इत्याह। **इन्द्रारिभिः** दैत्यैः व्याकुलं जनं तत्स्थानं च युगे युगे अवतीर्य मृडयन्ति रक्षन्तीत्यन्वयः॥ २८॥

**रा० कृ०** अथासौ जगत्पतिः युगसन्ध्यायां कलिकृतयुगयोः सन्धौ राजसु दस्युप्रायेषु बाहुल्येन चोरेषु सत्सु विष्णुयशसो ब्राह्मणात् नाम्ना कल्किः जनिता उत्पत्स्यते॥ २५॥

हे द्विजाः! यथा अविदासिनः अपक्षयरहितात्सरसः कुल्याः अल्पसरितः सहस्रशः स्युः। तथा **सत्त्वनिधेः हरेः असङ्ख्येया** अवतारा भवेयुर्हि॥ २६॥

**ऋषयः** मुनयः देवाः महौजसः सप्रजापतयो मनुपुत्राः सर्वे हरेरेव कलाः अंशाः स्मृताः। प्रजासु धर्मव्यवस्थापनशीलाः अधिकारिणः विष्णोः क्षत्रियरूपाः अंशावताराः। वेदोद्धरण सत्कर्माचरणानुशासनशीलाः सर्वे विष्णोः ब्राह्मणरूपाः अंशावताराः इन्द्रियविजयिनो विश्वहितार्थिनो लोकसञ्चारिणो महर्षयः नारायणस्य ज्योतिर्मयावताराः। एवमसङ्ख्येयाः भगवतोऽवतारा वर्तन्ते। अत एव भगवान् स्वयमाह — "**यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं** श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्" (भ. गी. 10-41) इति॥ २७॥

एते पूर्वोक्ताः ऋषिप्रभृतयः पुंसः परमपुरुषस्य अंशकलाः केचिदंशभूताः, केचित् कलाभूताः। कृष्णस्तु स्वयं भगवान् पूर्णावतार इत्यर्थः। एते सर्वेऽपि युगे युगे प्रतियुगं इन्द्रारिव्याकुलं असुरोपद्रुतं लोकं मृडयन्ति सुखयन्ति।

अत्र असुराः आसुरगुणसम्पन्नाः जनाः। मानवास्तावत् द्विविधाः दैवगुणसम्पन्नाः, आसुरगुणसम्पन्नाश्चेति। दैवासुरसम्पद्विभागश्च भगवता गीतासु षोडशेऽध्याये सुव्यक्तं कथितः। आसुरगुणसम्पन्नजनकृता बाधैव असुरबाधेति पुराणेषु कथ्यते। एतद्बाधानिवारणार्थं धर्मरक्षणार्थं च न अवतारोत्पत्त्यावश्यकता। अथ अन्तर्यामिणा दैवांशेन आविष्टैः जीवैरेव धर्मसंस्थापनं विधीयते। लोके हि केनचित् धूर्तेन अवमानितायाः कस्याश्चन स्त्रियः आक्रन्दनमाकर्ण्य परिसरवर्तिभिः जनैः तस्याः संरक्षणम्, अपि च चौर्यक्रौर्यादिपीडितानां दुर्बलानां अगतिकानां च अनाहूतैः कैश्चिदावेशपूरितैः जनैः क्रियमाणं परित्राणं च दृश्यते। एतादृशेषु सन्निवेशेषु अन्तर्यामिणा दैवांशेन आविष्टाः ते जनाः कार्येषु प्रवर्तन्ते। प्रवृत्ते च दैवांशे आसुरगुणाः अकिञ्चित्करा एव। तथाहि —अस्मन्निन्दकाय जनाय क्रुद्धा अपि वयं अकस्माद्विपन्नस्य तस्य रक्षणाय प्रयतामहे इति अस्मदनुभवविषय एव। एते सर्वेऽपि सन्निवेशाः भगवदावेशावतारतत्त्वं कथयन्ति।

किञ्च प्रागुक्तासु तदन्यास्वपि नितान्तावपत्करदशासु यदा मनुष्याः आसुरगुणाभिभूततया सद्गुणप्रत्ययविरहिताः स्वार्थैकपरायणाः परस्परक्षेमनिरपेक्षाः अन्योऽन्यं कलहायन्ते तदा नारायणः स्वावतारमुपसंहरतीति, स च तेषां विनाशकाल इति तदेतत्सर्वमपि कालात्मना भगवता स्वलीलाविशेषान्तर्भागत्वेन सङ्कल्पित इति च विज्ञेयं भवति। अत्र द्वे प्रमाणे — एकं तावत् भारतप्रधनप्राक्कालिकं धार्तराष्ट्रपक्षप्रवर्तनम्। तदा भीष्मद्रोणादयः सर्वधर्मविशारदाः भागवतोत्तमाः महावीरा अपि दुर्योधनपक्षमाश्रित्य तदनुमोदिधृतराष्ट्रानुयायिनः सन्तः पाञ्चालीवस्त्रापहरणादिविषमघट्टेषु तटस्था बभूवुः। एवम् आसुरगुणोपहतास्ते पश्चादर्जुनेन युद्धे निहताः। स्वयं कालस्वरूप इति एतद्बधे अर्जुनो निमित्तमात्र इति भगवतैवोक्तं गीतासु। यथा — "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः" इति, "मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्!" (भ. गी. 11-32, 33) इति च।

अन्यत्तु श्रीकृष्णनिर्याणात् प्राक् यादवानां मनःप्रवृत्तिः। एवमेव तत्तत्कालीनजनमनःप्रवृत्तिपर्यालोचनया भगवदवताराऽऽविर्भावोपसंहारकालोऽवसेयः॥ २८॥

**जन्म गुह्यं भगवतो य एतत्प्रयतो नरः।**
**सायं प्रातर्गृणन् भक्त्या दुःखग्रामाद्विमुच्यते॥ २९॥**

**एतद्रूपं भगवतो ह्यरूपस्य चिदात्मनः।**
**मायागुणैर्विरचितं महदादिभिरात्मनि॥ ३०॥**

**यथा नभसि मेघौघो[2] रेणुर्वा पार्थिवोऽनिले।**
**एवं द्रष्टरि दृश्यत्व मारोपितमबुद्धिभिः॥ ३१॥**

**अतःपरं यदव्यक्तमव्यूढगुणबृंहितम्[1] ।**
**अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात् स जीवो यत्पुनर्भवः ॥ ३२ ॥**

1 K,M एवं प्र° 2. K,M,W °घाः 3 A,G,N °व्यूहितम् 4 K,M,W यः पुन°

**श्रीध०** एतत्कीर्तनफलमाह — **जन्मेति**। गुह्यम् अतिरहस्यं जन्म। प्रयतः शुचिस्सन् दुःखग्रामात् संसारात् ॥ २९ ॥

विमुच्यत इति यदुक्तं तत्र कथं देहद्वयसम्बन्धे सति तद्विमुक्तिः इत्याशङ्क्य देहद्वयसम्बन्धस्य[1] भगवन्मायोत्थाविद्याविलसितत्वात् एतच्छ्रवणादिजनितविद्यया तन्निवृत्तिरुपपद्यत इत्याशयेनाऽऽह — **एतदिति** पञ्चभिः। अरूपस्य चिदेकरसस्य आत्मनो जीवस्यैतत् स्थूलं रूपं शरीरं भगवतो या माया तस्याः गुणैः महदादिरूपैः विरचितं कृतम्[2]। क ? आत्मनि आत्मस्थाने शरीरं कृतमित्यर्थः ॥ ३० ॥

कथमित्यपेक्षायाम् स्वरूपावरणेन तदध्यास इति सदृष्टान्तमाह — **यथेति**। यथा वाय्वाश्रितो मेघौघो नभसि आकाशे अबुद्धिभिः अज्ञैः आरोपितः। यथा वा पार्थिवो रेणुः तद्गतं धूसरत्वादि अनिले। एवं द्रष्टरि आत्मनि दृश्यत्वं दृश्यत्वादिधर्मकं शरीरम् आरोपितम् इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

**अत** इति। किञ्च अतः स्थूलाद्रूपात् परम् अन्यदपि रूपमारोपितमित्यनुषङ्गः। कथम्भूतं तत् ? यदव्यक्तं सूक्ष्मम्। तत्र हेतुः अव्यूढगुणबृंहितम्[3] व्यूहः[4] करचरणादिपरिणामः न[5] तथा, अव्यूढाः अपरिणताः ये गुणाः करचरणादयः[7], तैः[8] गुणैः बृंहितम् रचितं, आकारविशेषरहितत्वात् अव्यक्तमित्यर्थः। एतदेव कुतः ? तत्राऽऽह अदृष्टेति[9]। अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात् यच्च आकारविशेषवद्वस्तु तत् अस्मदादिवत् दृश्यते श्रूयते वा इन्द्रादिवत्। इदं तु न तथा। तर्हि तस्य सत्त्वे किं प्रमाणम् ? तत्राऽऽह — स जीवः जीवोपाधिः लिङ्गशरीरम्[10] "जीवो जीवेन निर्मुक्तः", "जीवो जीवं विहाय च[11]" इत्यादौ जीवोपाधौ लिङ्गदेहे जीवशब्दप्रयोगः[12] उपचारात्[13], जीवोपाधितया कल्प्यत[14] इत्यर्थः। ननु स्थूलमेव भोगायतनत्वात् जीवस्य उपाधिरस्तु, किमन्यकल्पनया इत्यत आह। यत् यस्मात् सूक्ष्मात् पुनर्भवः पुनर्जन्म भवतीति[15] जीवस्य उत्क्रान्तिगत्यागतीनां तेन विना असम्भवादिति भावः ॥ ३२ ॥

1 H,V देहसम्बन्धस्य 2 A.B omit कृतम् 3 A.B.V °व्यूहितम् 4 H व्यूढम् 5 B.V omit न 6 V omits तथा, H अथ 7 A.B omit करचरणादयः 8 A.B तैः व्यूहितम् 9 A.B omit अदृष्टेति 10 A.B omit लिङ्गशरीरं 11 A.B omit च 12 A B °गात् 13 A.B omit उपचारात् 14 H,V °ल्पि° 15 A.B omit भवतीति जीवस्य

**वीर०** अवतारकीर्तनादिफलमाह — **जन्मगुह्य**मिति। यः कश्चिन्नरो भगवतः एतज्जन्म गुह्यम् अवताररहस्यम्। सायंप्रातः समाहितचित्तो भक्त्या गृणन् कीर्तयन् दुःखजातात् विमुच्यते संसारात् मुक्तो भवतीत्यर्थः। जन्म गुह्यम् इत्यनेन भगवज्जन्म, न जीवजन्मवत् कर्ममूलम्, अपि तु स्वसङ्कल्पमूलमित्यभिप्रेतम् ॥ २९ ॥

तदेव दर्शयिष्यन् रूपप्रसङ्गात् न केवलं अवतीर्णमेव रामकृष्णाद्याख्यं भगवतो रूपम्, अपि तु परिदृश्यमानं प्रकृतिगुणवैषम्यमूलमहदादिकृतं जगदपि तद्रूपं इत्याह — **एतद्रूप**मिति। चिदात्मनः ज्ञानस्वरूपस्य। अत एव अरूपस्य अमूर्तस्वरूपस्य भगवतः मायागुणैः गुणपरिणामरूपैः महदादिभिः आत्मनि आधारभूते स्वस्मिन् एतत्परिदृश्यमानं जगदात्मकं रूपं विरचितम्। आत्मनि इत्येनेन रूपशब्देन च जगतो भगवद्रूपत्वं प्रतिपादितम् शरीरस्य आत्मनो धार्यत्वनियमात् ॥ ३० ॥

एवं जगदन्तर्गतदेवमनुष्यादिशरीराणामपि भगवद्रूपत्वे सति जीवानां केवलं देवोऽहं, मनुष्योऽहम् इत्यभिमानो भ्रम एवेत्याह — **यथेति**। यथा मेघसमूहाः नभसि आकाशे अबुद्धिभिः आकाशयाथात्म्याविद्भिः आरोपिता। यथा च पृथिव्याः सम्बन्धी रेणुः धूलिः अनिले तद्याथात्म्याविद्भिः आरोपिता एवमबुद्धिभिः प्रत्यगात्मयाथात्म्याविद्भिः द्रष्टरि जीवे दृश्यत्वमारोपितम्। देवादिशरीरजातम् 'अहं मम' अभिमानविषयत्वेन आरोपितमित्यर्थः। अतो न देवादिशरीरजातं जीवस्वरूपमिति भावः। यद्यपि देवादिशरीरस्य तदभिमानिजीवेन धार्यत्वात् तं प्रति रूपत्वमस्त्येव, तथाऽपि "य आत्मनि तिष्ठन् यस्याऽऽत्मा शरीरम्*" (बृह. उ. 3-7-22) इत्याद्युक्तरीत्या जीवस्यापि परमपुरुषधार्यत्वात् मुख्यधारकत्वं परमात्मनिष्ठमेवेति तं प्रत्येव देवाद्यचेतनजातं मुख्यं रूपं देहात्मनोः उभयोरपि परमपुरुषधार्यत्वज्ञानं भ्रमरूपं प्रकृतिपुरुषयोः अब्रह्मात्मकत्वज्ञानं प्रकृत्यादौ च आत्माभिमानः स्वातन्त्र्याभिमानः प्रकृतेः प्रत्यगात्मैकधार्यत्वाभिमानश्च अबुद्धिकृत इत्यभिप्रायः ॥ ३१ ॥

ननु दृश्यधर्मः तस्मिन्नारोपितश्चेत् स जीवः कीदृश इत्यत्राऽऽह — **अत** इति। अतः अचिदात्मकदृश्यप्रपञ्चात् परं विलक्षणं तत्त्वं स जीवः। परत्वमेव दर्शयितुं विशिनष्टि। अव्यक्तं बाह्येन्द्रियैः द्रष्टुमशक्यं, कुत इत्यपेक्षायां हेतुः अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात् इति। तत्र हेतुमाह अव्यूढगुणबृंहितमिति। व्यूढैः गुणैः बहुधा विभक्तैः गुणैः बृंहितं स्थूलीकृतं यत्र भवति तत् अव्यूढगुणबृंहितम्। अनेन अचिद्व्यावृत्तिः कारणदशायाम् अस्थूलम् अचेतनम्, कार्यदशायां हि व्यूढैः गुणैः सत्त्वादिभिश्च अनिवतं स्थूलीभवति, न तथा इत्यर्थः। अत एव अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वं तदन्यार्थे नञ्। तत्र दृष्टं कार्यावस्थितमचिद्द्रव्यम्। श्रुतं तु कारणावस्थम्। "अचेतना परार्था च नित्या सततविक्रिया" (प. सं. 2) इत्यादिशास्त्रैः श्रुतं तदुभयविलक्षणवस्तुत्वादव्यक्तम् "अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते" (भ. गी. 8-20) इति हि भगवता गीयते। एवम्भूतं यद्वस्तु स जीवः यः पुनर्भवः प्रकृतिसङ्गात् पुनःपुनर्जन्मभाक् इत्यर्थः। यत्पुनः इति पाठे यतो यत्सम्बन्धात् पुनर्भवः ततः परमित्यन्वयः ॥ ३२ ॥

---

1 A,B चिदचित्त्वम् 2. A,B °नो 3 A,B °मानिनो 4 W adds न 5 W प्रकृतौ आत्माभिमानः 6 A,B प्रसङ्गादात्मैक° 7. A,B °त्वात् 8 A,B °र्थत्वात् 9 W °स्थमचि° (*काण्वपाठसम्बन्धिविज्ञानपर्यायस्थाने इदमुपलभ्यते। बृह. उ. 3-7-22)

**विज०** फलमाह — **जन्मेति**। प्रयतः प्रकर्षेण निर्जितेन्द्रियग्रामो यो नरो जनः एवं उक्तप्रकारेण जन्मरहस्यं सायं प्रातः भक्त्या गृणन् पठन् सांसारिकदुःखसमूहात् मुच्यत **इत्यन्वयः** ॥ २९ ॥

इदानीं प्रतिमारूपमाह — **एतदिति**। मायागुणैः प्रकृतिविकारैः महदहङ्कारादिभिः उपादानकारणैः आत्मनि सर्वगते हरिणा विरचितमेतज्जडं ब्रह्माण्डं अरूपस्य प्रकृतिविकृतिरूपरहितस्य चिदात्मनः केवलज्ञानस्वरूपस्य भगवतो रूपं प्रतिमास्थानीयम्। हि हेतोः यस्मात् जडं, तस्मात् प्रतिमैव न साक्षात् स्वरूपम्; चिदेकरूपस्य भगवतो मायाकल्पितसत्त्वादिगुणैः महदाद्याकारेण परिणतैः एतत्प्रतीयमानं विराड्रूपम् आत्मनि चिद्रूपे कल्पितम्। अत एव तन्मिथ्या, अतस्मिन् तद्बुद्धेः इति यैः कैश्चिदुच्यते, तत्र युक्तम्, प्रमाणविरोधात् इत्यस्मिन्नर्थे वा हिः॥ ३०॥

प्रतिमात्वकल्पनामन्तरेण साक्षाद्रूपत्वं किं न स्यात् इत्याशङ्क्य सा भ्रान्तिरिति सोदाहरणमाह — **यथेति**। यथा मेघौघाः नभसि आरोपिताः। मेघौघान् दृष्ट्वा अयमाकाश इति कल्पयन्ति विवेकशून्याः। यथा अनिले वायौ पार्थिवो रेणुः आरोपितः, वायुना उद्धूयमानं ऊर्ध्वमुखं रेणुं दृष्ट्वा अयं वायुरिति आकाशवाय्वोः चाक्षुषत्वाभावात् भ्रान्तिरेव सा। एवं द्रष्टरि सर्वज्ञे[1] भगवति प्रतिमां दृष्ट्वा मनुष्यदृष्ट्यगोचरे अबुद्धिभिः अज्ञैः भ्रान्त्या दृश्यत्वं जडरूपत्वं आरोपितं कल्पितम्[2], तस्मात् भ्रान्तम्, अतो न साक्षाद्रूपम्, प्रतिमैव इति भावः॥ ३१॥

एवं हरेः वासुदेवादिपरमं रूपं ब्रह्माण्डाख्यं प्रतिमारूपं च निरूप्य जैवं रूपमाह — **अत** इति। यत् जैवं रूपम् अतः उक्तयोः जडेश्वररूपयोः परं यदव्यक्तं सूक्ष्मम् अव्यूढगुणबृंहितम् अनादिकालात् कदाचिदपि अनपगतसत्त्वरजस्तमोगुणपूर्णं पश्चात् अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात् अश्रुतामतानुपासितानपरोक्षितपरमात्मस्वरूपत्वात् पुनः पुनः भवः उत्पत्तिः यस्य सः तथोक्तः पुनः पुनः जायमानो म्रियमाणश्च सः जीवः। तस्मात् निर्विवादं ईश्वरवशं जैवं रूपमिति भावः। अतः कार्यरूपात् परं व्यतिरिक्तं यदव्यक्तं यदनभिव्यक्तं रूपादिव्यक्तिकारणसाधनैः शून्यम् अव्यूढम् अनभिव्यक्तम् गुणानां बृंहितं कार्यं यस्मिन् तत्, अव्यूढगुणबृंहितम्। अत एव अदृष्टाश्रुतवस्तु तस्मात् अव्यक्तं स प्रसिद्धः जीवः यत् यस्मात् पुनः[3] भवति जीवेन सह वर्तमानः पुनः भवतीति पुनर्भवो देहादिप्रपञ्चलक्षणः संसारो यस्मात् भवतीति च तत् कारणं इति यत् व्याख्यानं तत् अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात् इति हेत्वभिधानं विरुद्ध्यते[5]। अस्मिन् पक्षे यददृष्टादिविशेषणैः विशिष्टं तद्वस्तु मूलकारणमिति वक्तव्यं[6] प्रकृतानुपयुक्तं च। अत्र देवादिप्रपञ्चस्य मिथ्यावाचिपदं[7] प्रक्षेप्यम्, अतः यत्किञ्चित् एतत्॥ ३२॥

---

1 A,B °गे 2 A ज° 3. A,B omit पुनःभवति जीवेन सह वर्तमानः 4 K,M °द्धयेत 5 A,B त° 6. K °व्यत्वेन 7 K °थ्यात्व°

**रा० कृ०** यो नरः यःकोऽपि जनः प्रयतः पवित्रस्सन् भगवतः एतद् गुह्यं जन्म सायंप्रातः भक्त्या गृणन् कीर्तयन् दुःखग्रामात् संसारात् विमुच्यते।

जननमरणविरहितस्य भगवतः अवतारत्वज्ञानम् एकवारपठनेन न भवति, अपि तु दीर्घकालिकपरिशीलनेनैव। तथाऽपि परिसरवर्तिमानवलक्षणानुशीलनदशायां तदनुबन्धनिबन्धनायाः रागद्वेषरूपायाः संसृतेः आपत्तिः; तामन्तरा अवतारहस्यज्ञानं तु भक्तिपूर्वक तदध्ययनानुविद्धलोकानुशीलनेनैव भवति॥ २९॥

अरूपस्य चिदात्मनः जीवस्य एतत् स्थूलं रूपं भगवतः मायागुणैः महदादिभिः आत्मनि विरचितम्॥ ३०॥

अबुद्धिभिः अज्ञैः यथा मेघौघः वाय्वाश्रित इति शेषः। नभसि आकाशे आरोपितः, यथा वा पार्थिवो रेणुः अनिले आरोपितः। एवं तथा द्रष्टरि दृश्यत्व मारोपितम् ॥ ३१ ॥

अतः स्थूलरूपात् इत्यर्थः, परम् अन्यत् भिन्नमिति यावत्। अव्यक्तं सूक्ष्मम् अव्यूढगुणबृंहितम् अपरिणतकरचरणादिगुणविरचितम् यद्रूपं वर्तते तदपि द्रष्टरि आरोपितमिति भावः। तच्च अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात् स जीवः जीवोपाधितया वर्तते। जीवोपाधिश्च लिङ्गशरीरं, तथा च तत् सूक्ष्मरूपं लिङ्गशरीरात्मना अवतिष्ठत इत्यर्थः। यत् यस्मात् सूक्ष्मरूपात् पुनर्भवः पुनर्जन्म भवति। जीवस्य उत्क्रमणगमनागमनानि तेनैव भवन्ति ॥ ३२ ॥

**यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे ससंविदा ।**
**अविद्ययाऽऽत्मनि कृते इति तद्ब्रह्मदर्शनम् ॥ ३३ ॥**

**यद्येषोपरता देवी माया वैशारदी मतिः ।**
**सम्पन्न एवेति विदुर्महिम्नि स्वे महीयते ॥ ३४ ॥**

**एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्तुरजनस्य च ।**
**वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पतेः ॥ ३५ ॥**

**स वा इदं विश्वममोघलीलः सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन् ।**
**भूतेषु चान्तर्हित आत्मतन्त्रः षाड्वर्गिकं जिघ्रति षड्गुणेशः ॥ ३६ ॥**

**श्रीध०** तदेवं उपाधिद्वयमुक्त्वा तदपवादेन जीवस्य ब्रह्मता माह — **यत्रेति**। यत्र यदा इमे सदसती कार्यकारणरूपे स्थूलसूक्ष्मे रूपे स्वसंविदा श्रवणमननादिभक्त्या स्वरूपसम्यग्ज्ञानेन प्रतिषिद्धे भवतः। ज्ञानेन प्रतिषेधार्हत्वे तमेव हेतुमाह। अविद्यया आत्मनि कृते कल्पिते इति हेतोः तद् ब्रह्म तदा जीवो ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः। कथम्भूतं दर्शनम् ? ज्ञानैकस्वरूपम् ॥ ३३ ॥

तथाऽपि भगवन्मायायाः संसृतिकारणभूतायाः विद्यमानत्वात् कथं ब्रह्मता ? तत्राऽऽह — **यदीति**। यदीत्यसन्देहे सन्देहवचनम्; 'यदि वेदाः प्रमाणं स्युः' दतिवत्। वैशारदी विशारदः सर्वज्ञः ईश्वरः तदीया देवी संसारचक्रेण क्रीडन्ती एषा माया यद्युपरता भवति। किमित्युपरता भवेत् — तत्राऽऽह मतिः विद्या। अयं भावः — यावदेषा अविद्या आत्मनां आवरणविक्षेपौ करोति तावत् न उपरतमिति। यदा तु सैव विद्यारूपेण परिणता तदा सदसद्रूपं जीवोपाधिं दग्ध्वा निरिन्धनाग्निवत् स्वयमेव उपरमेत् इति। तदा सम्पन्नो ब्रह्मस्वरूपं प्राप्त एवेति विदुः तत्त्वज्ञाः। किमतः परम् ? यद्येवं स्वे महिम्नि परमानन्दस्वरूपे महीयते पूज्यते, विराजत इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

यथा जीवस्य जन्मादिमाया एवं ईश्वरस्यापि जन्मकर्मादिमाया इत्याह — **एवमिति**। अकर्तुः कर्माणि, अजनस्य जन्मानि, हृत्पतेः अन्तर्यामिणः ॥ ३५ ॥

तर्हि जीवात् ईश्वरस्य को विशेषः ? स्वातन्त्र्यमेव विशेष इत्याह — **स वा** इति। षाड्वर्गिकं इन्द्रियषड्वर्गविषयं जिघ्रति दूरादेव गन्धवत् गृह्णाति, न तु सज्जत इत्यर्थः कुतः ? षड्गणेशः षडिन्द्रियनियन्ता ॥ ३६ ॥

---

1. A,B omit सदसती कार्यकारणरूपे 2. V स° 3 V स° 4 A °नः 5. A सद्रूपं 6 A,B omit परम् 7 A,B जन्मादिमाया

**वीर**° तर्हि केनोपायेन प्रकृतिसङ्गमूलकपुनर्भवस्य निवृत्तिः, कीदृशं वा निवृत्तपुनर्भवं जीवरूपम् ? इत्यत्राऽऽह — **यत्रेति** द्वाभ्याम्। सदसच्छब्दौ कार्यकारणपरौ "असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत" (तैत्ति. उ. 2-7) इति प्रयोगात्। कारणावस्था च प्रलयदशा, ततश्चायमर्थः। यत्र आत्मनि इमे **चिद्रूते** सदसद्रूपे उत्पत्तिविनाशावित्यर्थः। अविद्यया अज्ञानेन आत्मनि कृते आरोपिते च तस्मिन्नात्मनि स्वसंविदा स्वशरीरकपरमात्मविषयसम्यज्ज्ञानेन प्रतिषिद्धे निवृत्ते भवतः। अनेन स्वसंविदेव पुनर्भवनिवृत्तिहेतुरिति दर्शितम्। इतिशब्दः प्रकारवाची इत्येवंविधं स्वसंवित्रिवृत्तोत्पत्तिविनाशमित्यर्थः। अत एव दर्शनं ज्ञानं प्रकृतिसङ्गवियुक्तं केवल परिशुद्धजीवात्मस्वरूपज्ञानं यत्तद् ब्रह्म गुणतो बृहत्त्वात् ब्रह्मशब्दवाच्यम्। मुक्तात्मस्वरूपम् "ब्रह्मभूयाय कल्पते" (भ. गी. 14-26) "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्" (भ. गी. 14-27) इति मुक्तात्मन्यपि ब्रह्मशब्दप्रयोगो दृश्यते ॥ ३३ ॥

**यदीति।** यदि यदा एषा वैशारदी महदादिकार्यमुखेन विपुला एषा माया तन्मूला मतिः अभिमतिः। देहात्माभिमानादिरूपा च उपरता निवृत्ता भवति। उपरति स्त्र सम्बन्धविरहः। "नित्या सततविक्रिया" (प. सं. 2) "गौरनाद्यन्तवती" (मन्त्रि. उ. 4) इति। मायाशब्दवाच्यायाः प्रकृतेः नित्यत्वावगमेन विनाशायोगात्। एव इत्यस्य तदा इत्यादि तदैव सम्पन्ने परमात्मप्राप्त्या अभिव्यक्ते स्वे स्वकीये महिम्नि गुणाष्टकरूपे मुक्तैश्वर्यात्मके महिम्नि महीयते। 'मह-पूजायाम्' महशब्दात् आचारक्यजन्तात् कर्मण्यात्मनेपदम्। स्वकीय महिमलब्ध्या हेतुना परमव्योमवासिभिः बहुमतो भवतीति विदुः, मुक्तात्मस्वरूपयाथात्म्यविदः। यद्वा, सम्पन्न इति प्रथमान्ततया छेदः, स्वे महिम्नि मुक्तैश्वर्ये सम्पन्नः तल्लब्ध्या समृद्धः महीयत इति निरवशेषत्वेन प्रकृतिसम्बन्ध तत्कार्यनिवृत्तौ आविर्भूतगुणाष्टकयुक्तः परब्रह्म अनुभवन् परमव्योमनिवासिभिः बहुमतोऽवतिष्ठते इत्यर्थः। अपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकरूपमहिम्नि "प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते" इत्यादिशास्त्रेभ्यः स्वाभाविकत्वावगमात् स्वे महिम्नि इत्युक्तं भवति ॥ ३४ ॥

तदेवं प्रसक्तानुप्रसक्ततया जीवस्वरूपं कथितम्। अथ परमप्रस्तुतस्य भगवज्जन्मनो जीवजन्मविलक्षणत्वमाह — **एव**मिति। अजनस्य जीववत् कर्मायत्तजननरहितस्य, अकर्तुः तद्वदेव पुण्यपापात्मककर्मरहितस्य हृत्पतेः हृदयकमलमध्यावस्थानेन पाति सर्वाणि भूतानि नियमयतीति हृत्पतिः। तस्य सर्वान्तरात्मनो भगवतः एवमुक्तविधानि जन्मानि कर्माणि, कवयो वेदगुह्यानि वर्णयन्ति। कवयो ज्ञानाधिकाः। "न मुह्यात् चिन्तयन् कविः"। इति प्रयोगात् वेदगुह्यानि वेदरहस्यानि वर्णयन्ति। "अजायमानो बहुधा विजायते। तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्" (पु. सू. 2-1,2) इत्यादि हि वेदतात्पर्यविषयविभागप्रदर्शनपूर्वकं यादृशानि भावयति, तादृशानि वर्णयन्ति। तत्र हि अजायमान इत्यनेन जीवस्य या कर्मायत्तोत्पत्तिः सा **ईश्वरस्य** प्रतिषिध्यते। बहुधा विजायते इत्यनेन अकर्मायत्ता

स्वसङ्कल्पमूला च उत्पत्तिः बोध्यते। "न हिंस्यात् भूतानि", "पशुमालभेत" इत्यादिवत् विधिनिषेधयोः भिन्नविषयत्वावश्यंभावात् तयोः एकविषयत्वे पूर्वोत्तरव्याघातापत्तेः। एवम् उत्सर्गापवादसामान्यविशेषन्यायादिभिः निर्णेतव्यमिममर्थं कवय एव जानन्तीत्यभिप्रायेणोक्तम्। "तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्" (पु. सू. 2-2) इति तस्य प्रस्तुतस्य भगवतः योनिम् अधिष्ठेयं शरीरं धीराः परिजानन्ति। अकर्मायत्तत्वस्वेच्छोपात्तत्वाजहत्स्वभावत्वादिरूपेण धीरा एव जानन्तीत्यर्थः। अकर्तुः कर्माणि वेदगुह्यानि इत्यनेन कर्मविधिनिषेधवादिन्योः "निष्क्रियं निष्कलं" (श्वेता. उ. 6-19) "यस्य चै(वे)तत् कर्म स वै वेदितव्यः" (कौषी. उ. 4-18) इत्यादिश्रुत्योरपि कविभिः निर्णेतव्यो विषयविभागो द्रष्टव्य इति सूचितम्। इदं सगुणनिर्गुण-सशरीराशरीर-सविकाराविकारजीवब्रह्म-भेदाभेद श्रुतिविषयविभागस्याप्युपलक्षणम्। एवं च जन्मकर्मगुणशरीरविकारभेदप्रतिपादकानां वेदान्तवाक्यानां तत्प्रतिषेधपरैर्वाक्यैः बाध्यत्वं मृषावादिभिरुक्तमनादरणीयमिति भावः। तथा चोक्तम् वातस्यैः वरदगुरुभिः —"यद्ब्रह्मणो गुणशरीरविकार भेद कर्मादि (जन्मादि) गोचर धियः (विधि) प्रतिषेधवाचः। अन्योन्य भिन्नविषया[11] न विरोधगन्धमर्हन्ति तत्र विधयः प्रतिषेधबाध्याः" (त. सा. 69) इति। अकर्तुः कर्माणि वेदगुह्यानि इत्यनेन भगवच्चेष्टितानां जगद्व्यापारादिरूपाणां[12] जीवचेष्टितसजातीयतया चिन्तयितुमशक्यानि। किन्तु तद्वैजात्येन वेदादेव अवगन्तव्यानि। तथैव च कविभिरपि वर्ण्यन्त इति चोक्तम्। कवयः वर्णयन्तीत्यनेन कवीनां भगवज्जन्मकर्मयाथात्म्यवेदनमूलक तद्वर्णयितृत्वोक्त्या कुबुद्धीनां भगवज्जन्मकर्मादियाथात्म्यवेदित्वं च सूचितमिति॥ ३५॥

तदेव उपपादयितुं तावत् भगवतः तच्चेष्टितस्य जीव-तच्चेष्टिताभ्यां वैजात्यं दर्शयति — **स वा** इति। स वै भगवान् अमोघलीलः। अमोघा अवितथा लीला यस्य सः। इदं परिदृश्यमानं चिदचिदात्मकं जगत् सृजति, अवति रक्षति, अत्ति संहरति, न च अस्मिन् जगति सज्जते च। लीलाशब्देन जगद्व्यापारस्य लीलात्वमुक्तम्। अनेन प्राचीनकर्मवासनानुगुणप्रवृत्तबुद्ध्यनुगुणकेवल सुखदुःखाद्यर्थजीवकर्मव्यावृत्तिः। अमोघपदेन लीलायाः[13] निर्विघ्नसमाप्तिं वदताऽपि अनेकान्तरायोपहतजीवकर्मवैजात्यमुक्तम्। समुदायेन जीववैजात्यं विश्वं सृजत्यवत्यत्ति इत्यनेन सर्गादिकर्मणः कृत्स्नजगद्विषयकत्वोक्त्या अनल्पत्वमवगतम्। अनेन अत्यल्पजीवकर्मव्यावृत्तिः[14]। अस्मिन् न सज्जत इति सङ्गनिषेधेन सङ्गहेतुकरागद्वेषादिराहित्यं लब्धम्। तेन **वैषम्यनैर्घृण्या**भावः। एवञ्च जीवव्यावृत्तिः। किञ्च भूतेषु चिदचिदात्मकेषु "न हिंस्याद्भूतानि" इत्यादाविव अत्र भूतशब्दः अचेतनसंसृष्टचेतनवाची अन्तर्हितः अन्तरात्मतया अवस्थितोऽपि भूतैरविज्ञात इत्यर्थः। जीवस्तु अनुमापकैः लक्षणैः विज्ञायत इति ततो व्यावृत्तिः। आत्मतन्त्रः स्वतन्त्रः, जीवस्तु कालकर्मदैवादिपरतन्त्रः। षड्गुणेशः ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजसां षण्णां गुणानामीशः, अधिपतिः आश्रय इति यावत्। जीवस्तु तद्विपरीतगुणाश्रयः। षाड्गुर्गिकं षडिन्द्रियवेद्यं शब्दादिकं भुङ्क्ते। तेन लीलारसम् अनुभवति। जीवस्तु सुख्यति दुःख्यति मुह्यति चेति भावः॥ ३६॥

---

1.A,B °मूलसंज्ञक 2. A,B °क्त° 3 A,B °शुद्धात्म° 4. W °दिः 5 A,B °दे 6. A,B स्व° 7. A,B °गुणाष्टकमहि° 8. A,B स्थितम्
9. A,B *omit* जीव 10 W व्युत्पत्तिः 11. B °श° 12. A B °रूरू° 13 A,B *omit* लीलायाः 14. A,B omit कर्म

**विज०** जीवस्य एवंविधानादिबन्धनिवर्तकं ब्रह्मज्ञानमेव, न कर्मादिकम् इत्यभिप्रेत्य आह — **यत्र इति।** यत्र परमात्मनि सदसद्रूपे व्यक्ताव्यक्त मिति प्रकृतिप्राकृतरूपे स्वसंविदा स्वरूप ज्ञानेन प्रतिषिद्धे अनादित एव निवृत्ते अविद्यया अज्ञानेन आत्मनि जीवे कृते इति यद्दर्शनं ज्ञानं तत् ब्रह्मज्ञानं संसारनिवर्तकमिति शेष इत्येकान्वयः ॥ ३३ ॥

कण्ठोक्त्या आह — **यदिति।** यदि सम्यगपरोक्षज्ञानोदयसाध्योत्तमप्रसादरूपा एषा विशारदस्य हरेः विद्यमाना देवी द्योतमाना मतिः ज्ञानरूपा मायेच्छा अपरोक्षज्ञानदानेन नैनं जीवं संसारयामीत्युपरता तस्मात् निवृत्ता तर्हि तं जीवं सम्पन्न एवेति परं ब्रह्म प्राप्त एवेति विदुः। किञ्च स्वस्वरूपे ज्ञानानन्दाद्यात्मके महिम्नि स्थितः स्वावरमुक्तजनैः महीयते पूज्यत इत्यन्वयः। महीयत इत्युक्त्या एषा कार्यकारणलक्षणप्रपञ्चविवर्तरूपा देवस्य विष्णोः सम्बन्धिनी माया वैशारदी विघटमानसंसाररूपा मतिः बुद्धिः यद्युपरता तदा स्वात्मरूपं ब्रह्म सम्पन्नं तदैक्यम् आपन्नं विदुः इत्येतत् निरस्तम्, भेदनिष्ठत्वात् पूज्यपूजकभावस्येति भावः ॥ ३४ ॥

हरेः एवंविधावतारकर्मभिः आप्तकामत्वेन प्रयोजनाभावेऽपि जीवानां प्रयोजनमस्तीत्याह — **एव** मिति। अनन्याधीनकर्तृत्वात् फलोद्देशाभावाद्वा अकर्तुः अजनस्य जनविलक्षणस्य वा हृत्पतेः मनःप्रेरकस्य विष्णोः एवंविधानि वेदगुह्यानि उपनिषत्प्रतिपाद्यानि जन्मानि कर्माणि च कवयः संसारमोक्षाय वर्णयन्ति स्म। हिशब्देन हरेः साकल्येन क्रियाराहित्यं प्रतिषेधति, अन्यथा उत्तरश्लोकविरोधात् इत्येकान्वयः। तस्मात् जीवानां संसारमोक्ष एव भगवदवतारप-राक्रमप्रयोजनम् इत्यर्थः ॥३५॥

फलाभिसन्ध्यभावात् अकर्तृत्वं न कर्तृत्वाभावात् इति यत्, तत् स्पष्टमाह — **स वा** इति। अमोघलीलः सत्यकामलक्षणक्रीडः स पद्मनाभ एव इदं विश्वं सृजति, अवति रक्षति, अत्ति संहरति न रुद्रादिः तथाऽपि अस्मिन् जगति न सज्जते। लौकिककर्तृवत् फलासक्तो न भवति, अतः अकर्ता न तु कर्तृत्वाभावात्। अभोक्तृत्वमपि दुःखाभोगादेव, न तु भोगाभावात्, सुखभोक्तृत्वसम्भवात् इत्यभिप्रेत्य आह भूतेष्विति। पञ्चभूतैः सम्भूय उत्पन्नत्वात् भूतेषु शरीरेषु अन्तर्हितो मनश्श्रोत्रादिषडिन्द्रियवर्गग्राह्यशब्दादि विषयसारं जिघ्रति भुङ्क्ते, न तु दुःखादिकम्। कुतः? आत्मतन्त्रो न हि स्वतन्त्रस्य दुःखादनं घटते। इतोऽपि नेत्याह षडिति। षड्गणेशः षडिन्द्रियविषयेशः अतश्च सारभुक्। तस्मात् अभोक्तृत्वं नाम दुःखाभोग एव, न तु भोक्तृत्वाभावादित्यर्थः। आत्मतन्त्र इत्यनेन विशेषणेन ईश्वर एव देहप्रविष्टो जीवो भवति, नान्य इत्यर्थः। स वा इदम् इत्यनेन समर्थ्यत इत्येतत् दूषितम्। न हि सुखमेव स्यात्, दुःखम् अण्वपि न स्यात् इति कर्तुं समर्थः ईश्वरः सुखदुःखपात्रीभूतं जीवत्वं अभिकाङ्क्षति, ईश्वरत्वविरोधात् ॥ ३६ ॥

1 A,B omit पूज्य 2 A °त°

**रा० कृ०** यत्र यदा, इमे सदसद्रूपे कार्यकारणरूपे स्थूलसूक्ष्मरूपे, स्वसंविदा श्रवणमननादिभक्तिरूपेण स्वरूपसम्यग्ज्ञानेन प्रतिषिद्धे भवतः, ते रूपे द्वे अपि अविद्यया आत्मनि कृते इति हेतोः तद्ब्रह्मदर्शनम्। तदा **ब्रह्म जीवो ब्रह्मैव** भवतीति भावः। तच्च ब्रह्मदर्शनं ज्ञानैकस्वरूपमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

वैशारदी विशारदः सर्वज्ञः ईश्वरः। तदीया देवी क्रीडनशीला एषा माया यद्युपरता भवति, तदा मतिः विद्या आवरणविक्षेपोपरत्या सैव मायारूपिणी अविद्या विद्यारूपेण परिणता भवति। तदा जीवः सम्पन्न एव, ब्रह्मस्वरूपं प्राप्त एवेति विदुः। तत्त्वज्ञा इति शेषः। स च स्वे महिम्नि परमानन्दरूपे महीयते पूज्यते॥ ३४॥

एवं कवयः अकर्तुः अजनस्य जन्मरहितस्य हृत्पतेः अन्तर्यामिणः देवस्य च वेदगुह्यानि कर्माणि जन्मानि वर्णयन्ति स्म। स्थूलसूक्ष्मशरीरे ज्ञानमये जीवे आरोप्येते। एते च द्वे शरीरे आत्मना व्याप्ते इति तयोः आत्मभिन्नं अन्यद्वस्तु नास्तीति ज्ञानमेव स्वरूपसम्यग्ज्ञानम्। आरोपिताभ्याम् एताभ्यां तु व्यवहारसिद्धिः। एतत् अज्ञानमेव अविद्या। तया च कर्मकौशलरूपयोगासिद्धिः, फलसङ्गश्च। विद्या तु स्वरूपसम्यग्ज्ञानमेव। विद्यावानेव ब्रह्मदर्शनाधिकारी। दर्शनं च ज्ञानमेव। तेन ब्रह्मदर्शनं नाम आत्मनः ब्रह्मत्वे अवस्थानमिति पर्यवस्यति। एवमात्मनः द्रष्टृत्वे दृश्यम् अन्यत्सर्वं नावशिष्यते।

ज्ञानमयशरीरः ईश्वरः स एव जगन्नाटकसूत्रधारी सर्वाधिकारी च। अविद्याऽपरनाम्नी तदधीना क्रीडैव माया। उक्तं च भगवता "ईश्वरस्सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया" (भ. गी. 18-61) इति। जीवरूपेणावस्थितस्य आत्मनः स्वस्वरूपज्ञानमपि एतत्क्रीडान्तर्भाग एव। स्वस्वरूपज्ञाने सति माया हि विद्या भवति। तदा स्वाधारभूतस्थूलसूक्ष्मरूपस्थितिविरहात् तत्स्थानेऽपि आत्मैव अवतिष्ठते। स च आनन्दस्वरूप एव।

शरीरादिसृष्टिकर्मणि व्यापृताः प्रज्ञामूर्तयः अत्र कवयः। यथा शुक्रधातुगतप्रज्ञया शरीराणि निर्मीयन्ते सा प्रज्ञा 'शुक्र' संज्ञया व्यवह्रियते। स शुक्रो देहकल्पनया 'कवि'रित्युच्यते। तस्यैव उशना इति नामान्तरम्। भगवान् स्वयमाह — "कवीनामुशना कविः" (भ. गी. 10-37) इति। एतदनुसन्धाय लोके कवयः वाल्मीकिव्यासादयः भगवतः जन्मकर्मवैभवं वर्णयामासुः।

भगवतः जन्मानि कर्माणि वेदगुह्यानि इत्युक्तम्। अथ कथं तानि वेदगुह्यानि? उच्यते — वेदो ज्ञानमेव। ज्ञानं च आत्मज्ञानम्। तस्मिन् ज्ञाते तु आत्मा जन्मकर्मविरहित इति जीवात्मैव तदुभयबद्ध इति ज्ञायते। तस्मात् अखण्डज्ञानमयः आत्मा जन्मकर्मरहस्यं वेत्ति; 'काणोऽयम्', 'बधिरोऽयम्' इति खण्डज्ञानमयो जीवात्मा तत्र वेत्ति। अत एव भगवता — "बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन! तान्यहं वेद सर्वाणि नत्वं वेत्थ परन्तप!" (भ. गी. 4-5) इति चमत्कृतम्। अत्र युष्मदस्मच्छब्दौ जीवात्मपरमात्मसङ्केतौ। सर्वोऽयं ज्ञानाज्ञानमयो व्यापारः भगवतः क्रीडैव। अत एव "जन्म कर्म च मे दिव्यम्" (भ. गी. 4-9) इत्यपि तत्रैव भगवतोक्तम्॥ ३५॥

अमोघलीलः स वै भगवान् इदं विश्वं सृजति, अवति रक्षति, अत्ति संहरति। किन्तु अस्मिन् न सज्जते। अपि च भूतेषु अन्तर्हितः, आत्मतन्त्रः स्वतन्त्रः षड्गुणेशः षडिन्द्रियनियन्ता च सन् षाड्गुर्गिकम् इन्द्रियषड्वर्गविषयं जिघ्रति दूरादेव गन्धवत् गृह्णाति।

अत्र भगवतः क्रीडैव लीला। सा त्वमोघा अनियता एवंभाविनी इति वक्तुं न शक्यते। स भगवान् सृष्ट्यादिकर्ता इन्द्रियविषयभोक्ताऽपि आकाश इव असङ्गः। तथाहि — महाकाशः घटमठयोगवशात् घटाकाशः

मठाकाशः इत्युच्यते। तथाऽपि घटाकाशमठाकाशयोः घटमठाभ्यां बद्धता नास्ति। यथा च ऊर्णनाभिः स्वनिर्मितैः तन्तुभिः अबद्धो विहरति तथैव भगवानपि स्वमायया नैव स्पृष्टः ॥३६॥

**न चास्य कश्चिन्निपुणेन धातुरवैति जन्तुः कुमनीष ऊतीः ।**
**नामानि रूपाणि मनोवचोभिः सन्तन्वतो नटचर्यामिवाज्ञः ॥ ३७ ॥**

**स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः ।**
**योऽमायया सन्ततयाऽनुवृत्त्या भजेत तत्पादसरोजगन्धम् ॥ ३८ ॥**

**अथेह धन्या भगवन्त इत्थं यद्वासुदेवेऽखिललोकनाथे ।**
**कुर्वन्ति सर्वात्मकमात्मभावं न यत्र भूयः परिवर्त उग्रः॥ ३९ ॥**

**इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् ।**
**उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः ॥ ४० ॥**

---

1 K,M निपुणं विधातुः 2 K,M °तिः 3 W वित° 4 K,M °त्मक आत्म° , W$_F$ °त्मन आत्म°

**श्रीध०** ननु किमीश्वरस्य सृष्ट्यादिकर्मभिः विषयभोगैर्वा? तत्राऽऽह — **न च** इति। धातुः जगद्विधातुः ईश्वरस्य ऊतीः लीलाः कुमनीषः कुबुद्धिः निपुणेन तर्कादिकौशलेन न अवैति न जानाति। मनसा रूपाणि वचसा नामानि सन्तन्वतः सम्यक् विस्तारयतः। मनोवचोभिः[1] इति बहुत्वं वृत्त्यभिप्रायेण[2] मनोवचोभिः सह इति वा॥ ३७॥

भक्तस्तु कथंचित् जानतीत्याह — **स वेद** इति। अमायया अकुटिलभावेन सन्ततया निरन्तरया अनुवृत्त्या आनुकूल्येन भजेत॥ ३८॥

भक्तिमार्गे[3] प्रवृत्तान् ऋषीन् अभिनन्दति — **अथेति**। यत्[4] यतः भक्त[5] एव भगवत्तत्वं जानाति[6]। अथ अतः कारणात्[7] भगवन्तः सर्वज्ञाः भवन्तो धन्याः कृतार्थाः। कुतः? यत् यस्मात् इत्थं प्रश्नैः वासुदेवे आत्मभावं मनोवृत्तिं कुर्वन्ति। सर्वात्मकं ऐकान्तिकम्। यत्र यस्मिन् भावे सति भूयः उग्रो गर्भवासादिदुःखरूपः परिवर्तो जन्ममरणाद्यावर्तः न भवति॥ ३९॥

सूत! किमेतत् शास्त्रम् अपूर्वं कथयसि? तत्राऽऽह — **इद** मिति। ब्रह्मसम्मितं सर्वज्ञतुल्यम्[8]। उत्तमश्लोकस्य चरितं यस्मिन् तत्। ऋषिः व्यासः॥ ४०॥

---

1 A,B,V omit मनो 2 A,B श्रुत्यभि° 3 H मार्गेण 4 A,B omit यत् 5 H,V भक्ताः 6 H,V जानन्ति 7 A,B omit कारणात् 8. B,H,V वेद°

**वीर०** नेति। यत एवं अत एव अस्य मनसा सङ्कल्पेन वचोभिः वेदात्मकैश्च नामानि देवमनुष्यादिनामानि रूपाणि देवादिरूपाणि च नटचर्याम् इव वितन्वतः विदधतः धातुः ईश्वरस्य ऊतीः गतीः अवतेः गतिश्चार्थः ; पदवीः प्रकारान् इति यावत्। निपुणेन भावप्रधानो निर्देशः नैपुण्येनापि जन्तुः नावैति नावगच्छति। अनवगतौ हेतुं वदन् जन्तुं विशिनष्टि। कुत्सिता मनीषा बुद्धिः यस्य। शब्दादिविषयासक्तबुद्धिः अज्ञः अहम्माभिमानाभ्यां स्वात्मपरमात्मयाथात्म्यानभिज्ञः मनोवचोभिः नामानि रूपाणि च वितन्वत इत्यत्र मनसा सङ्कल्पेन रूपसृष्टिः, वेदवचोभिः नामकल्पनमिति विवेकः। "नाम रूपं च भूतानां कृत्यानां च प्रपञ्चनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः।" (विष्णु. पु. 1-5-63) इति वचनात् नटचर्यामिवेति चिदचिद्गतदोषराहित्यं विवक्षितम्। यद्वा नटचर्यामिव-नटो यथा विचित्रवेषानुपादत्ते तत्तद्रूपाणि मत्स्यकूर्मादीनि तन्नामानि च सन्तन्वतः बिभ्रतोऽस्य धातुः जगत्स्रष्टुः ईश्वरस्य ऊतीः गतीः जन्तुः मनसा वचोभिश्च निपुणेन तत्र नैपुण्येन च नावैति इत्यर्थः। अत्र पक्षे नटचर्यामिवेति दृष्टान्तेन इदं विवक्षितम्। नटस्य अनेकवेषपरिग्रहेऽपि यथा स्वस्वभावात्यागः वेषाणां चेष्टामूलत्वं, चर्यायाश्च लीलात्वं तद्वदस्यापि इति। कुमनीषोऽज्ञो जन्तुः नावैतीत्यनेन शब्दादिषु विरक्तः स्वात्मपरमात्म याथात्म्य मननशीलस्तु अवैत्येवेति सूचितम्॥ ३७॥

तदेवाऽऽह — **स** इति। यः पुमान् अमायया मायागुणकामादिरहितया सन्ततया अनुस्यूतया दुरन्तवीर्यस्य अपारवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः अनुवृत्त्या सेवया तस्य रथाङ्गपाणेः पादसरोजगन्धम् भजेत अनुभवेत्। स धातू रथाङ्गपाणेः पदवीं वेद जानाति। तथाचोक्तम् भगवता — "भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥ (भ. गी. 11-54) इति॥ ३८॥

एव मया उपपादितं भगवदवतारादिरहस्यममायिकाः अविच्छिन्न भगवद्भक्तियोगनिष्ठावन्तो जानन्त्येव, अत्र न विप्रतिपत्तिरिति सूचयितुं श्रोतॄणां शौनकादीनां कृतार्थतां सहेतुकाम् आविष्करोति — **अथेति**। भगवन्त इति सम्बोधनम्, यूय मित्यध्याहारः। यद्वा हे मुनयः! भगवन्तः! पूज्याः भवन्तः धन्याः कृतार्थाः। कुतः ? हि यस्मात् इहलोके अखिललोकनाथे वासुदेवे सर्वात्मकं सर्वप्रकारकं कारणत्रयेणापीत्यर्थः। सर्वात्मक इति पाठे सर्वस्यात्मनि सर्वशरीरके वा इति वासुदेवविशेषणम्। आत्मभावं भावः भक्तियोगः आत्मनो भावः आत्मकर्तृकः। सर्वात्मन इति पाठे आत्मना मनसा यो भावो भक्तिः तं कुर्वन्ति, ततो धन्या इत्यर्थः। कथम् भक्तियोगमात्रकर्तृकत्वेन धन्यता ? इत्यपेक्षायाम् आत्मभावं विशिनष्टि। यत्र यस्मिन् आत्मभावे सति उग्रः गर्भजन्मजरामरणादिदुःखहेतुत्वेन घोरः परिवर्तः संसारपरिवृत्तिः भूयो न भवति॥ ३९॥

तदेवं "पुंसामेकान्ततः श्रेयस्तन्त्रः शंसितुमर्हसि" (भाग. 1-1-9) इत्यादीनां शौनकादिप्रश्नानां सङ्ग्रहेण उत्तराण्यभिधाय, अथ एतच्छ्रुश्रावयिषितभागवताख्यपुराणमुखेन तान्येव विस्तरतः प्रतिपिपादयिषुः तावत् एतत्पुराणनिर्माण-प्रकारं निर्मातुः बादरायणस्य निर्माणप्रवृत्तिनिमित्तं, निर्मितस्य पुनः शुकं प्रत्यध्यापनं तेन अधीतस्य राज्ञे श्रावणं च सहेतुकं प्रष्टुं अवसरप्रदानाय भगवान् बादरायणः तदिदं पुराणं निर्माय, पुत्रमध्याप्य, तन्मुखेन प्रवर्तयामास। तदाऽहं

तत्तन्मुखेनाधिगतम् इदं पुराणं वः श्रावयिष्यामीत्याह सूतः — **इदमिति**। इदं भागवतमिति प्रसिद्धं पुराणं ब्रह्मसम्मितं ब्रह्म वेदः तेन सम्मितं समीकृतं, वेदतुल्यमित्यर्थः। यद्वा, ब्रह्म परं ब्रह्म तत् सम्यक् मीयते अनेनेति ब्रह्मसम्मितम्। बाहुलकात् करणे क्तः। परब्रह्मप्रमापकमित्यर्थः। यद्वा, सम्यक् मीयते प्रमीयत इति कर्मण्येव क्तः। ब्रह्म सम्मितं यस्मात् तत् ब्रह्मसम्मितम् संपूर्वात् इण्-गतौ इत्यस्मात् वा कर्मणि क्तः। "ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्णित्यम्" (अष्टा. 8-3-32) इति ङमुडागमः। ब्रह्म सम्यक् इतं अवगतं येन यस्मात् वा तत् ब्रह्मसम्मितम्। तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि। उत्तमश्लोकस्य भगवतः चरितं चरितप्रतिपादकम् प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः अभेदविवक्षया उत्तमश्लोकचरितमित्युक्तम्। एवंविधं पुराणं भगवानृषिः निखिलनिगमद्रष्टा व्यासः चकार॥ ४०॥

---

1 A,B omit वि 2 W °मूलचर्या° 3 A,B सूचितम् 4 A,B omit भक्ति 5 A,B omit सति 6 A °दिना 7 A,B तदहं

**विज०** एवंविधमिथ्याज्ञानी तत्स्वरूपाज्ञानात् भगवद्भजनात् अवनस्मरणयोग्यानि रूपाणि सम्यक् तन्वतः विस्तारयतः मनोवचोभिः नामरूपात्मकं प्रपञ्चं सृजतो वा। सतां निपुणं भद्रं विधातुः अस्य हरेः। ऊतिम् अभिप्रायं गतिं वा कश्चिदपि नावैति न जानाति। कीदृशः? कुमनीषः मिथ्याज्ञानी जन्तुः कृमिसदृशो जन्तुरिति पुनः जायमानो म्रियमाणः मिश्रबुद्धिः संसारी। कुमनीषः इति। कुत्सितं प्रमाणविरुद्धं सर्वमिथ्यात्वं मनसा मन्यते, न तु युक्त्या वक्तुं शक्नोतीति अद्वैतवादी वा। कथमिव नटस्य अङ्गुल्याद्यभिनयविशेषानभिज्ञो नटचर्यां भरतादिकथात्मिकां यथा न जानाति, तथाऽयमितिभावः॥ ३७॥

तर्हि कीदृशो वेद इति तत्राह — **स** इति। यो वेदप्रामाणिकः अमायया अव्याजेन इदमखिलं मायाकल्पितम् अनिर्वाच्यं न भवतीति भावेन वा। सन्ततया निरन्तरया प्रवाहरूपया अनुवृत्त्या सेवया। हृत्कमलमध्यनिवासिनः तस्य पादसरोजयोः गन्धं भजेत अत्रैवास्वाद्य मग्नमनाः भवेत्, स पुरुषः दुरन्तवीर्यस्य असङ्ख्यातपराक्रमस्य परस्य पूर्णस्य धातुः पोषणादिकर्तुः रथाङ्गपाणेः श्रीनारायणस्य पदवीं मार्गं स्वरूपस्थितिं वेद इत्येकान्वयः। धातुः इत्युक्ते चतुर्मुखोऽपि स्यात् इत्यतः परस्येति। चतुर्मुखपरत्वमपि अक्षरस्यास्ति, अतौ रथाङ्गपाणेरिति। तस्मात् भागवता एव भगवदपरोक्ष्यं लभन्ते नेतरे इति सिद्धम्॥ ३८॥

भागवता अपि भवादृशा एव इत्याशयवान् आह — **अथेति**। हे भगवन्तः! पूजावन्तः भाग्यवन्तो वा। यत्र यस्मिन्, भगवति आत्मभावे स्वामिभृत्यभावे क्रियमाणे सति भूयः पुनः उं रुद्रमपि ग्रसतीति उग्रः क्रूरः परिवर्तः संसारः मरणं वा न स्यात्। तस्मिन् अखिललोकनाथे सर्वात्मके सर्वान्तर्यामिणि वासुदेवे इत्थम् उक्तप्रकारेण आत्मभावं कुर्वन्तीति यत् यस्मात्, अथ तस्मादिह चेतनराशौ यूयं धन्याः निरपेक्षगुणपूर्णाः कृतकृत्या इत्येकान्वयः। यत्र यस्मिन् आत्मभावे क्रियमाणे परिवर्तो न स्यात् तमात्मभाव मिति वा॥ ३९॥

धर्मः कं शरणं गत इति प्रश्नं परिहरति — **इद** मित्यादिना। ऋषिः सर्वज्ञः व्यासः भगवान् ब्रह्मणा वेदेन सम्मितं तुलितम् उत्तमश्लोकस्य हरेः चरितानि यस्मिन् सन्ति तत् तथोक्तम्। इदं बुद्धिस्थं भागवतं पुराणं चकार ॥ ४० ॥

1. A.B मतिम् 2 A °दपरोक्षं

**रा॰ कृ॰** किञ्च कुमनीषः विषयाविष्टबुद्धिः कश्चिदपि जन्तुः जीवः मनोवचोभिः मनसा वचोभिः यथाक्रमं रूपाणि नामानि सन्तन्वतो विस्तारयतः अस्य धातुः सर्वहेतुभूतस्य भगवतः ऊतीः लीलाः निपुणेन तर्कादिकौशलेन अज्ञः नटचर्यामिवि नावैति न जानाति ॥ ३७ ॥

अमायया फलाभिसन्धिरहितया सन्ततयाऽनुवृत्त्या आनुकूल्येन यः तत्पादसरोजगन्धम्, तस्य भगवतः पादयुग्मं भजेत; सः धातुः दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः चक्रपाणेः परस्य भगवतः पदवीं लीलामार्गं वेद जानाति ॥ ३८ ॥

अथ अतः इहात्र भगवन्तः सर्वज्ञा यूयं धन्याः कृतिनः। कुत इति चेत्, यत् यस्मात् अखिललोकनाथे वासुदेवे सर्वात्मकमैकान्तिकं आत्मभावं मनोवृत्तिं भवन्तः कुर्वन्ति। यत्र यस्मिन् भावे सति भूयः उग्रः भयङ्करः गर्भवासादिदुःखरूपः परिवर्तः जननमरणाद्यावर्तो न भवति।

जननमरणादीनां शरीरसम्बन्धितया वासुदेवभक्तानां ज्ञानिनां तु शरीरसम्बन्धस्पृहायोगात् जननमरणादिजन्यबाधा न भवतीति भावः ॥ ३९ ॥

ब्रह्मसम्मितं वेदतुल्यं अथवा श्रीकृष्णपरब्रह्मतुल्यं उत्तमश्लोकचरितम् इदं भागवतं नाम पुराणं भगवानृषिः व्यासः चकार ॥ ४० ॥

**निश्श्रेयसाय लोकस्य धन्यं स्वस्त्ययनं महत्।**
**तदिदं ग्राहयामास सुतमात्मवतां वरम् ॥ ४१ ॥**

**सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्।**
**स तु संश्रावयामास महाराजं परीक्षितम् ॥ ४२ ॥**

***प्रायोपविष्टं गङ्गायां परीतं परमर्षिभिः।**
**तत्र कीर्तयतो विप्रा विप्रर्षेर्भूरितेजसः ॥ ४३ ॥**

**अहञ्चाध्यगमं तत्र निविष्टस्तदनुग्रहात्△।**
**सोऽहं वः श्रावयिष्यामि यथाऽधीतं यथामति ॥ ४४ ॥**

‡कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिस्सह ।
कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

---

1. A F ततस्सङ्ग्रा° * The order of lines in the 3 verses starting with 'प्रायोपविष्टं' is changed to fit in with the principal commentaries thereof. 2 K,M तस्य 3. K,M राजर्षे° △. V adds यूयं व्यवसिता विप्रा जिज्ञासायां च निष्ठिताः । This line is the Second part of the 44th verse in H ‡. This verse is shown in brackets in H 4 K,M °दृशां पुंसाम् 5 K,M °ऽमु°

**श्रीध°** तत्सम्प्रदायप्रवृत्तिमाह — **निश्श्रेयसाय** इति। सुतं शुकम् आत्मवतां धीराणां मख्यम् ॥ ४१, ४२ ॥

**प्रायोपविष्ट** मिति। प्रायेण मृत्युपर्यन्तानशनेन उपविष्टमिति परमवैराग्योक्तिः। हे विप्राः! विप्रर्षेः सकाशात् ॥ ४३ ॥

**अह** मिति। अध्यगमं ज्ञातवानस्मि। तत्र कीर्तयतः तत्र निविष्टः इति च अन्वयभेदात् तत्र पदावृत्तिः अदोषः। यथाऽधीतं, न तु स्वमतिविलसितम्। तत्राऽपि यथामति स्वमत्यनुसारेण सङ्क्षेपतः कथितं विस्तरतः श्रावयिष्यामि ॥ ४४, ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

1. A.H,V omit आत्मवतां धीराणां मुख्यं 2 A °भेदपदा°; B भेदेन तत्र पदा-

**वीर°** किमर्थं लोकस्य शृण्वतो जनस्य निश्श्रेयसार्थं मुक्त्यर्थम्। तदेव दर्शयितुं विशिनष्टि। धन्यं सम्यग्ज्ञानजननद्वारा कृतार्थत्वावहं स्वस्त्ययनं मङ्गलास्पदम्। "पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम्" (भार. 13-135-10) इत्युक्तरीत्या निरतिशयमङ्गलावहं भगवत्स्वरूपरूपादिप्रतिपादकत्वेन मङ्गलास्पदमित्यर्थः। तदुक्त-विधमिदं पुराणं आत्मवतां ज्ञानिनां श्रेष्ठं सुतम् श्रीशुकं ग्राहयामास अध्यापयामास ॥ ४१ ॥

पुराणमेव विशिनष्टि। सर्वेषां पूर्वोत्तरभागात्मकानां वेदानाम् इतिहासानां च सारं सारं समुद्धृतम्। एतत्पुराणरूपेणेति शेषः। सारं सारांशः समीचीनन्यायैः परिष्कृतोऽर्थ इति यावत्। "सारं सारं समुद्धृतम्" इत्यनेन वेदेतिहासादिसिद्धस्य अर्धशरीरस्य क्रमविशेषनिवेशनं वेदाद्यर्थपरिष्करणं च व्यासबुद्धयधीनम् इति अवगम्यते। स तु अधीतैतत्पुराणः शुकस्तु परीक्षितं महाराजम् इदं संश्रावयामास। शृणोतेः शब्दकर्मणोऽण्यन्ते कर्तुः परीक्षितः

णौ-"गतिबुद्धि" ( अष्टा. 1-4-52) इति कर्मसंज्ञायां, द्वितीया। एवं ग्राहयामास सुतम् इत्यत्रापि तत्र ग्रहेरपि शब्दकर्मकत्वात् ॥ ४२ ॥

परीक्षितं कथम्भूतम्? गङ्गायां प्रायोपविष्टम् अनशनव्रतदीक्षितम्। ऋषिभिः परीतं परिवेष्टितम्। तत्र परीक्षितः सन्निधौ भूरितेजसो विप्रर्षेः शुकस्य कीर्तयतः श्रावयतः सतः हे विप्राः! ॥ ४३ ॥

**अह** मिति। तत्र निविष्टोऽहं तदनुग्रहात् शुकानुग्रहात् अध्यगमम् अधिगतवानस्मि पुराणमिति शेषः। गमेः लृदित्वादङि अध्यगममिति रूपम्। सः तदनुग्रहात् अधिगतैतत्पुराणोऽहं च यथाधीतं यथावत् अधीतम्। यद्वा, अधीतमिति भावेक्तः। यथाऽध्ययनम् अध्ययन मनतिक्रम्य अध्ययनानुसारेण इत्यर्थः। यथामति श्रावयिष्यामि। यथामति इत्यनेन पुराणस्य दुरवबोधत्वं सूच्यते ॥ ४४ ॥

पुराणं स्तौति **कृष्ण** इति। कृष्णे भगवति धर्मज्ञानादिभिस्सह स्वधाम स्वलोकं गतवति सति, अत एव कलौ युगे नष्टदृशां नष्टप्रज्ञानां जनानां दृष्टिप्रदानक्षम एष पुराणरूपोऽर्कः सूर्योऽधुनोदितः। यथा रात्रौ नष्टदृष्टीनाम् अर्कोदये सति दृष्टिः स्वविषयग्रहणसमर्था भवति, एवं रात्रिरूपे कलौ नष्टप्रज्ञानां पुनरेतत्पुराणार्कोदयेन प्रज्ञा प्रवर्तत इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

---

1 A,B omit मुक्त्यर्थं 2. W सारः स्थिरांशः समी° 3 A,B omit इति 4 A omits शुकानुग्रहात् 5 A,B omit यथावत् अधीतम्
6. A,B एव 7 A,B वर्तते

**विज०** किमर्थं लोकस्य निश्श्रेयसाय मोक्षाय धन्यं पुष्टिकरं स्वस्त्ययनं सर्वमङ्गलानाम् आलयम् अर्थतः शब्दतोऽपि महत् यदेवंविधं तदिदं, स व्यासः आत्मवतां वरं वशीकृतमनसां वरं सुतं शुकं ग्राहयामास ॥ ४१ ॥

कुतः एतदेव अग्राहयत्? इति तत्राह — **सर्वेति**। वेदादिसर्वशास्त्रोत्तमत्वात् इदमेव ग्राहितमिति भावः। स तु शुकः परमऋषिभिः परीतं समन्वितं गङ्गायां प्रयोपविष्टम् अनशनव्रतमाचरन्तं परीक्षितं नाम महाराजं चक्रवर्तिनं श्रावयामास। किञ्च अहं च हे विप्राः तदनुग्रहात् तत्र गङ्गायां तदन्तिके निविष्टो योग्यस्थाने उपविष्टो भूरितेजसः क्षात्रसामर्थ्योपितस्य ब्रह्मापरोक्षज्ञानवतो वा। तस्य राजर्षेः अर्थे कीर्तयतः शुकात् अध्यगमम् पठितवानस्मि। योऽहं तत्राध्यगमम् सोऽहं तत्र इत्यादि प्रश्नपरिहाराय सर्ववेदेतिहासादिसारत्वेन भगवतो वृत्तं श्रीभागवतं युष्माकं श्रावयिष्यामि। यथापठितं यथाप्रज्ञ मित्येकान्वयः ॥ ४२, ४३, ४४ ॥

यत्पृष्टं 'धर्मः कं शरणं गत' (भाग. 1-1-23) इति, तत्र उत्तरं धर्मज्ञानादिभिस्सह कृष्णे स्वधाम वैकुण्ठं प्राप्ते सति कलियुगे नष्टज्ञानानां पुंसां सर्वसद्धर्मप्रकाशकश्रीभगवतपुराणार्कोऽमुना वेदव्यासेन उदितः उदयं प्रापितः। तस्मात् स धर्मः सच्छास्त्रैः ज्ञानसद्धर्मप्रवर्तकं तमेव व्यासरूपिणं कृष्णं शरणं गत इति भावः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्या संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
प्रथमस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

---

1 A,B भगवता कृत श्री°

**रा० कृ०** लोकस्य निश्श्रेयसाय धन्यं स्वस्त्ययनं मङ्गलास्पदम्, महत् तदिदं भागवतं व्यासः आत्मवतां जितेन्द्रियाणां मध्ये वरं सुतं शुकं ग्राहयामास अध्यापयामास ॥ ४१ ॥

स तु शुकयोगी गङ्गायां गङ्गातीरे प्रायोपविष्टं मृत्युपर्यन्तानशनेन उपविष्टं परमर्षिभिः परीतं महाराजं परीक्षितं सर्ववेदेतिहासानां सारं सारांशं सारं श्रेष्ठं भागवतं श्रावयामास। हे विप्राः ! तत्र कीर्तयतः भूरितेजसः विप्रर्षेः सकाशात् तत्र निविष्टोऽहं च तदनुग्रहात् अध्यगमम् भागवतं ज्ञातवानस्मि। सोऽहं अधीतभागवतोऽहं यथाऽधीतं यथामति वः श्रावयिष्यामि ॥ ४२, ४३, ४४ ॥

कृष्णे भगवति धर्मज्ञानादिभिस्सह स्वधामोपगते नित्यलीलास्थानं प्राप्ते सति कलौ युगे नष्टदृशां लुप्तप्रज्ञाचक्षुषां जनानाम् एष पुराणार्कः अधुना उदितः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां व्याख्यायां
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

# चतुर्थोऽध्यायः

व्यास उवाच

इति ब्रुवाणं संस्तूय मुनीनां दीर्घसत्त्रिणाम् ।
वृद्धः कुलपतिः सूतं बह्वृचः शौनकोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

शौनक उवाच

सूत! सूत! महाभाग! वद नो वदतां वर! ।
कथां भागवतीं पुण्यां यदाह[1] भगवाञ्छुकः ॥ २ ॥

कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयं स्थाने वा केन हेतुना ।
कुतसञ्चोदितः कृष्णः कृतवान् संहितां मुनिः ॥ ३ ॥

तस्य पुत्रो महायोगी समदृङ्निर्विकल्पकः ।
एकान्तमतिरुन्निद्रो गूढो मूढ इवेयते[3] ॥ ४ ॥

---

1. K,M यामाह 2. M ग° 3 H °ह°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तुर्ये भागवतारम्भकारणत्वेन वर्ण्यते ।
व्यासस्यापरितोषस्तु तपः प्रवचनादिभिः ॥

**इतीति** । इत्येवं प्रसन्नतया श्रावयिष्यामीति ब्रुवाणम् । मुनीनां बहूनां मध्ये एकेन वक्तव्ये यो वृद्धो वृद्धेष्वपि बहुषु यः कुलपतिः गणमुख्यः[2] तेष्वपि बहुषु यो बह्वृचः ऋग्वेदी तेन वक्तव्यम्[3] । अतः एवम्भूतत्वात् शौनकोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

**सूतेति** । यत् यां कथामाह ॥२ ॥

**कस्मिन्निति** । कस्मिन् युगे कस्मिन् वा स्थाने केन हेतुनेति । महाभारतादिधर्मशास्त्राणि[5] कृतवतः पुनरेतत्संहिताकरणे किं कारणमित्यर्थः । कुत इति सार्वविभक्तिकस्तसिः ; केन प्रवर्तितः इत्यर्थः । कृष्णो व्यासः ॥ ३ ॥

यदुक्तं "स तु तं[4] श्रावयामास" (भाग. 1-3-42) इति तच्छुकस्य[7] व्याख्यानादिकं कथं घटितमिति प्रष्टुं तस्यासङ्गोदासीनतामाह द्वाभ्यां — **तस्येति** । समदृक् समं ब्रह्म पश्यति[6] । अतो निर्विकल्पकः । स्वार्थे कः ।

निरस्तभेदः। किञ्च एकस्मिन्नेवान्तः समाप्तिः यस्याः तथाभूता मतिः यस्य सः। यतः उन्निद्रः मायाशयनादुद्बुद्धः। "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी" (भ. गी. 2-69) इति स्मृतेः। अत एव गूढः अप्रकटः मूढ इव प्रतीयते॥ ४॥

1. H,V प्रसन्नवाचा 2. H गु° 3. H °न्यः 4. A,B omit युगे कस्मिन् 5. H,V °सर्व° 6. B,H,V सं° 7. H,V तत्र शुकस्य 8 H,V °तीति 9. H,V add निद्रा माया।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थं लब्धावसरः शौनकः पृच्छतीति आह व्यासः **इतीति**। अत्र व्यास उवाचेति पठ्यते युक्तं चैतत्। कृत्स्नप्रबन्धस्य व्यासोक्तिरूपत्वेऽपि परीक्षिच्छुकशौनक सूतप्रश्नोत्तररूपेण प्रणीतत्वात्, तत्र तत्र परीक्षिदादिप्रश्नोत्तरत्व-ज्ञापनाय राजोवाच, शुक उवाच इत्यादीनां पाठेऽपि यत्र शौनकसूतकृत प्रश्नोत्तरप्रकारानुकाररूपाः श्लोका दृश्यन्ते तेषां सर्वेषामादौ शौनकसूतप्रश्नोत्तरत्वज्ञापनाय तेषां व्यासोक्तित्वज्ञापनाय च तदादौ व्यास उवाच इत्यस्य पाठावश्यम्भावात्। क्वचित्तदभावेप्यर्थतः तस्य विवक्षितत्वात् शौनकादेरर्वाचीनस्य नियतप्रष्टृत्तरादेः अभावादेव अमुक उवाच इति पाठायोगात्। एतेनात्रैव व्यास उवाच इति पठ्यते, न क्वाप्यन्यत्र अस्मिन् पुराणे। तत्र मूलं मृग्यमिति केषाञ्चिदाशङ्का प्रत्युक्ता। इति इत्थं ब्रुवाणं सूतं संस्तूय दीर्घसत्रिणां ब्रह्मसत्रेण दीक्षितानां मुनीनां कुलस्य समूहस्य पतिः। कुलशब्दस्य नित्यसापेक्षत्वात् "देवदत्तस्य गुरुकुलं" इत्यादाविव समासः। वृद्धः ज्ञानेन वयसा च वृद्धः। बह्वृचः ऋग्वेदी शौनकोऽब्रवीत्॥ १॥

तदेवाह — **सूत! सूत!** इत्यादिभिः द्वादशभिः। हे सूत! सूत! आदरात् सम्भ्रमाद्वा द्विरुक्तिः। हे महाभाग! भाग्यवन्! भाग्यमत्र निखिलतत्त्वज्ञानित्वरूपम्। हे वदतां वर! भागवतीं श्रीमद्भागवतमहापुराणप्रतिपाद्यां कथां नोऽस्मभ्यं वद। भागवतं विशिनष्टि — यद्भागवतं भगवान् शुक आह परीक्षिते इति शेषः। वृत्तस्यापि भागवतस्य बुद्ध्या निष्कृष्टस्य यदित्यनेन परामर्शः॥ २॥

एवं सामान्यतः पृष्ट्वा विशेषतः पृच्छति — **कस्मिन्निति**। इयं भागवती कथा कस्मिन् युगे प्रवृत्ता इत्येकः प्रश्नः। कस्मिन् स्थाने इत्यपरः। केन हेतुनेति तृतीयः। कुतः कस्माद्धेतोः केन पुंसा सञ्चोदितः कृष्णो मुनिः द्वैपायनः इमां संहितां भागवतरूपां कृतवानिति चतुर्थः॥ ३॥

यदुक्तं "स तु संश्रावयामास महाराजं परीक्षितम्" (भाग. 1-3-42) इति तदघटनमिव अभिप्रेत्य तद्धेतुभूतैः विशेषणैः शुकं विशिनष्टि — **तस्य** इत्यादिभिः पञ्चभिः। तस्य कृष्णस्य मुनेः पुत्रः शुको महायोगी योगिश्रेष्ठः। श्रेष्ठत्वमाह — समदृक् सर्वदेवमनुष्यादिशरीरजातं प्रधानपरिणामरूपत्वेन पराक्तत्वेन च जीववर्गं ज्ञानैकाकारत्वेन सर्वत्रानुस्यूतं परमात्मानं सत्यज्ञानादिकल्याणगुणाकरत्वेन चेत्येवं रूपं समं पश्यतीति समदृक्। एवंविधमेव समदर्शित्वं "विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डितास्समदर्शिनः॥"

(भ. गी. 5-18) इत्यादावप्यगीयत। निर्विकल्पकः भेदानुसन्धानरहितः। देहगतविकल्पानां देवमनुष्यत्वादीनां आत्मनि नारोपयिता। यद्वा अब्रह्मात्मकस्वतन्त्रवस्तुज्ञानरहितः। एकान्तमतिः एकान्ता अव्यभिचारिणी निश्चितेति यावत्। मतिर्भगवति यस्य तथाभूतः। उन्निद्रः जागरूकः "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।" (भ. गी. 2-69) इत्युक्तविधजागरूक इत्यर्थः। गूढः स्वमाहात्म्यानाविष्कारशीलः मूढः अज्ञ इव ईयते दृश्यत इत्यर्थः॥४॥

1 W परास्ता 2 W °बोधि° 3 A,B समवि° 4 A,B °प्यधीयते 5 A,B omit °ज्ञान° 6. W जागरयुक्तः 7 W °ष्करण° 8 W adds प्रतीयते

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

"सोऽहं वश्श्रावयिष्यामि" (भाग. 1-3-44) इति सूतेनोक्तोऽपि शौनकः श्रीभागवतश्रवणे श्रद्धालुत्वदर्शनाय विशेषप्रश्नाय सूतमाह — **इतीति**। दीर्घसत्रिणां दीर्घकालीनं सत्रमेषामस्तीति तेषां मध्ये ज्ञानवयोवृद्धः ऋषिकुलाचाररक्षकः बह्वृचः ऋग्वेदेषु निष्णातः शौनक इति ब्रुवाणं सूतं संस्तूय सूतमब्रवीत् **इत्यन्वयः**॥१॥

महाभाग! भाग्ययुक्त! सूतसूतेति तात्पर्ये द्विरुक्तिः। एकत्र पुण्यकर्मवासनेति वा। शुको भगवान् पूजावान् पुनातीति पुण्यां यां भागवतीं कथामाह, परीक्षिते इति शेषः। हे वदतां वर! तां कथां नोऽस्माकं वदेत्येकान्वयः॥२॥

विशेषप्रश्नं दर्शयति — **कस्मिन्निति**। चतुर्णां युगाना मध्ये कस्मिन्नियं प्रवृत्ता, कस्मिन् वा स्थाने देशे केन वा कारणेन कस्माद्धेतोः सञ्चोदितः कृष्णद्वैपायन इमां संहितां कृतवानित्यन्वयः॥३॥

शुकः परीक्षितं श्रावयामासेति त्वद्वचनमनुपपन्नमेव, केनापि श्रीशुकावगमनस्यासुलभत्वादित्याशयवानाह — **तस्येति**। तस्य व्यासस्य पुत्रः शुकः महायोगी महाज्ञानी महाध्यानी वा। अत एव सर्वदेशकालवस्तुषु ज्ञानादिसर्वगुणैः सममेकप्रकारं ब्रह्म पश्यतीति समदृक्। मया श्रिया सह वर्तत इति वा समम्। अत एव निर्विकल्पकः इदं मदीयं तत् तदीयमिति भेदबुद्धिमपहाय सर्वमीश्वराधीनमिति स्थितः। अत एव एक एवान्तः एकान्तः तस्मिन् हरौ मनसः सन्ततगतिर्यस्य स तथा। अत एवोद्गता निद्राऽज्ञानादिदोषपरम्परा यस्मात्स तथा। भस्मनाऽवगूढः मूढ इव अज्ञ इव ईयते दृश्यते अज्ञेनेति शेषः। तस्मात्तद्दर्शनमसुलभमिति मन्य इत्यन्वयः॥४॥

1 K adds प्रशस्त

## श्री राधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

इति एवं ब्रुवाणं सूतं संस्तूय सम्यक् स्तुत्वा दीर्घसत्रिणां ब्रह्मसत्रदीक्षितानां मुनीनां कुलपतिः गणश्रेष्ठः वृद्धः बह्वृचः ऋग्वेदी शौनकः तदाख्यो मुनिरब्रवीत्॥१॥

सूत! सूत! आदरे द्विरुक्तिः। महाभाग! निखिलतत्त्वज्ञानरूपभाग्यवन्! वदतां वर! भगवान् शुकः यद्भागवतं आह परीक्षिते उपदिदेश तां पुण्यां भागवतीं भगवन्तमधिकृत्य कृतां श्रीमद्भागवतप्रतिपाद्यां कथां नः अस्मभ्यं वद कथय॥ २॥

इयं भागवती कथा कस्मिन् युगे कस्मिन् स्थाने केन वा हेतुना प्रवृत्ता? कुतः केन सञ्चोदितः प्रवर्तितः कृष्णो मुनिः कृष्णद्वैपायनमुनिः संहितामिमां भागवतरूपां कृतवान्॥ ३॥

तस्य कृष्णद्वैपायनस्य पुत्तः शुकः महायोगी समदृक् समदर्शनः सर्वत्र समं ब्रह्म पश्यन्नित्यर्थः। निर्विकल्पकः निर्भेदज्ञानवान्। एकान्तमतिः निर्जनदेशवासनिरतः। अथवा एकस्मिन्नेव ब्रह्मणि अन्तस्समाप्तिः यस्याः सा एकान्ता ब्रह्मैकविश्रान्ता मतिः यस्य तथाभूतः। उन्निद्रः मायारूपनिद्रायाः **उद्बुद्धः**। गूढः अप्रकटः सर्वज्ञत्वेऽपि स्वसामर्थ्यप्रकटनरहितः इत्यर्थः। मूढ इव ईयते प्रतीयते।

एकान्तमतिर्नाम सर्वत्र ब्रह्मत्वनिश्चयमतिमान्, सर्वदा सर्वत्र ब्रह्मतादात्म्यबुद्धिमानित्यर्थः। अत्रोक्ता एकान्ता मतिरेव अनन्या भक्तिरिति गीतासु कथिता। एतादृशानन्यभक्तिमतामेव भगवतो विश्वरूपस्य दर्शनं सिध्यति नेतरेषाम्। तथा चोक्तम्— "नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन! ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप!॥" (भ. गी. 11-53, 54)।

अपि च गूढमूढशब्दौ प्रश्नगर्भौ स्वविज्ञानप्रकटनपराः पण्डिताः यद्यपि राज्ञां दृष्टिपथं उपयन्ति। किन्तु गूढो मूढ इव वर्तमानः अयं शुकः कथं परीक्षिन्नरपतेः दृष्टिपथमुपयातः? इति प्रश्नः। अयं च भागवततत्त्वजिज्ञासानिदानभूतः॥ ४॥

***दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नम् देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम्।**
**तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति स्त्रीपुम्भिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः॥ ५॥**

**कथमालक्षितः पौरैः सम्प्राप्तः कुरुजाङ्गलान्।**
**उन्मत्तमूकजडवद्विचरन् गजसाह्वये॥ ६॥**

**कथं वा पाण्डवेयस्य राजर्षेर्मुनिना सह।**
**संवादस्समभूत्तात! यत्रैषा सात्त्वती श्रुतिः॥ ७॥**

**स गोदोहनमात्रं हि गृहेषु गृहमेधिनाम्।**
**अवेक्षते महाभागः तीर्थीकुर्वंस्तदाश्रयम्॥ ८॥**

* VV 5 & 6 are reversed in H & V, M omits V 5 1 K.M °लम्

**श्रीध०** निर्विकल्पकत्वं प्रपञ्चयति — **दृष्ट्वेति**। आत्मजं शुकं प्रव्रजन्तं सर्वं सन्न्यस्य गच्छन्तं अनुयान्तं अनुगच्छन्तं ऋषिं व्यासं अनग्नमपि दृष्ट्वा जले क्रीडन्त्यः देव्यः अप्सरसः ह्रिया लज्जया परिदधुः वस्त्रपरिधानं कृतवत्यः। अनग्नमपि इत्यनेन अर्थात् तत्सुतः नग्नः इत्युक्तम्[1]। नग्नस्य पुरतः गच्छतः सुतस्य तु ह्रिया न परिदधुः। तच्चित्रं वीक्ष्य। इयं स्त्री अयं पुमानिति भिदा भेदस्तवास्ति सुतस्य पुनः भेदमतिर्नास्ति। विविक्ता पूता दृष्टिर्यस्य ॥ ५॥

**कथमिति**। एवम्भूतोऽसौ कथमालक्षितो ज्ञातः? कुरवो जाङ्गलाश्च देशविशेषास्तान् सम्प्राप्तः प्रथमम्। ततो गजसाह्वये विचरन् गजेन सहित आह्वयो नाम यस्य तस्मिन् हस्तिनापुरे। हस्ती नाम राजा, तेन निर्मितत्वात् ॥ ६॥

**कथंवेति**। एवम्भूतेन मुनिना सह। यत्र संवादे एषा सात्त्वती भागवती श्रुतिः भागवतसंहिता[3]॥७॥

एतद्व्याख्यानं बहुकालावस्थानापेक्षं, तस्य त्वेकत्रावस्थानं दुर्लभमित्याह — **स** इति। गोदोहनमात्रं कालं प्रतीक्षते। तदपि न भिक्षार्थं किन्तु तेषामाश्रमं गृहं तीर्थीकुर्वन् पवित्रीकुर्वन्। तस्मादेवम्भूतः अत्र वक्ता इत्याश्चर्यम् ॥ ८॥

---

1 H.V add भवति 2 B तच्चरित्रं 3 A.B omit भागवत°

**वीर०** तस्य ज्ञानाधिक्यमेव व्यञ्जयितुं कञ्चिदितिहासमाह — **दृष्ट्वा** इत्यनेन। कदाचित् क्वचित् देवस्त्रियः नग्ना जले विहरन्त्यः पुरतो गच्छन्तं शुकमालोक्य वासांसि न परिदधुः, ततः पृष्ठतः आयान्तं व्यासमालोक्य तु ह्रिया परिदधुः। तदिदं चित्रमवलोक्य श्रीव्यासं[2] पृच्छति शुकमवलोक्यापि वासांसि किं न परिधत्त मां त्ववलोक्य परिधत्तेति। तदा ता ऊचुः — तव तु स्त्रीपुरुषविवेकोऽस्ति। तव सुतस्य तु परमात्मनिष्ठैकमनसः तद्व्यतिरिक्तज्ञानाभावेन स्त्रीपुंविभागो नास्ति। अतस्तमवलोक्यापि लज्जारहिता न परिदधीम, त्वां[3] तु अवलोक्य परिदधीम इति सोऽयमत्रोच्यते। आत्मजमनुयान्तमनग्नमपि ऋषिं व्यासं दृष्ट्वा देव्यो देवानां स्त्रियः ह्रिया लज्जया परिदधुः, वासांसीति शेषः। सुतस्य नग्नस्यापि दर्शने न परिदधुः। तद्विचित्रं वीक्ष्य मुनौ व्यासे पृच्छति सति जगदुः देव्य इत्यनुषङ्गः। किमिति? तव स्त्रीपुंभिदा[4] स्त्रीपुंभेदोऽस्ति त्वत्सुतस्य तु नास्ति। तत्र हेतुः विविक्ते प्रकृतिपुरुषविलक्षणे परमात्मन्येव दृष्टिर्यस्य तथाभूतत्वात् तद्दर्शनेनापि नास्माकं लज्जा बभूवेति॥ ५॥

एवम्भूतः सदा कुरून् जाङ्गलांश्च उन्मत्तवन्मूढवज्जडवच्च विचरन् कथं वा गजसाह्वये हास्तिनाख्ये पुरे सम्प्राप्तः? कथं च पौरैर्जनैरालक्षितः? ॥ ६॥

कथं वा पाण्डवेयस्य राजर्षेः परीक्षितो मुनिना शुकेन सह संवादः सम्बभूव? संवादं विशिनष्टि। यत्र संवादे एषा सात्वती, सातयति सुखयतीति सात् परमात्मा सातेः सुखार्थात् सौत्राद्धातोः हेतुमण्ण्यन्ताद्वासरूपविधिना

"अनुपसर्गाल्लिम्पविन्द" (अष्टा. 3-1-138) इत्यादिना शप्रत्ययाभावपक्षे क्विपि सादिति व्युत्पत्तेः। सः प्रतिपाद्यार्तया अस्तीति सात्वती। मतुयुगित्वात् ङीप्। श्रुतिः श्रुतितुल्या प्रवृत्ता॥ ७॥

संवादस्यासम्भावनां व्यञ्जयन्नाह — **स** इति। स महायोगी शुकः गृहमेधिनां गृहाश्रमिणां गृहेषु गोदोहनमात्रं, यावता कालेन गौर्दुह्यते तावन्तं कालं अवेक्षते। प्रतीक्षमाणः तिष्ठति; नत्वधिकमित्यर्थः। विरक्तत्वादिति भावः। कथमवेक्षते? तेषां गृहमेधिनामाश्रमं तीर्थीकुर्वन् पवित्रीकर्तुमित्यर्थः॥ ८॥

1 W व्यञ्जयन् 2. W °सोऽपृच्छत् 3 A,B omit त्वां त्वलोक्य परिदधीम 4. A omits स्त्रीपुम्भिदा 5. W °पुंस° 6 W तयाऽस्यामस्तीति

**विज°** श्लो° ५. माध्वसम्प्रदायानङ्गीकृतोऽयं श्लोको न व्याख्यातः।

कुरुजाङ्गलं कुरुविषयं प्राप्तः गजसाह्वये हस्तिनापुरे क्वचिदुन्मत्तवत् क्वचिन्मूकवत् क्वचिज्जडवत् विचरन् मुनिः पुरवासिभिः कथमालक्षितः? शुकत्वेनेति शेषः, पौरैरपि यज्ज्ञानं दुश्शकं किं पुनरन्तःपुरनिवासिभिः॥ ६॥

किञ्च परीक्षितः तद्दर्शनानन्तरकालीनः तेन सह संवादः सुतरां असुलभ. इत्याशयवानाह — **कथं वेति**। यत्र ययोः संवादे सात्वतो हरेः, तत्सम्बन्धिनी सात्वती श्रुतिः वर्तते। तादृशः संवादः पाण्डवेयस्य राजर्षेः परीक्षितः तेन मुनिना सह कथं वा समभूत्? न कथमपि घटत इत्येकान्वयः॥ ७॥

इतोऽपि तस्य तेन सह संवादः दुर्घटः इत्याशयवानाह — **स** इति। तदाश्रमं तेषां गृहस्थानां सतां गृहं तीर्थीकुर्वन् स्वपादक्रमणेन पवित्रीकुर्वन् महाभागः शुकः गृहमेधिनां गृहं गत्वा पाणिभिक्षामाचरन्, गोदोहनमात्रं ततो नाधिकम्, अवाङ्मुखतया एकमनाः तिष्ठति; परं अन्यतः याति। हि यस्मात् तद्दर्शनमसुलभमित्येकान्वयः॥ ८॥

1 A,B omit शुकः

**रा° कृ°** आत्मजं सर्वं सन्न्यस्य गच्छन्तं सुतं शुकं अनुयान्तं अनुगच्छन्तं अनग्नमपि ऋषिं व्यासं दृष्ट्वा देव्यः अप्सरसः ह्रिया लज्जया परिदधुः वस्त्रैः परिधानमकुर्वन्। सुतस्य नग्नस्य तु पुरो गच्छतः न परिदधुः, परिधानं नाकुर्वन्। तच्चित्रं वीक्ष्य मुनौ पृच्छति कारणं पृष्टवति — तव स्त्रीपुम्भिदा स्त्रीपुरुषभेदः अस्ति। विवित्तदृष्टेः पूतदृष्टेः सर्वत्र ब्रह्मदर्शिनः इत्यर्थः। तव सुतस्य तु नास्ति इति जगदुः अप्सरसः अवोचन्॥ ५॥

एवम्भूतोऽसौ शुकः कुरुजाङ्गलान् तत्रामकदेशविशेषान् उन्मत्तमूकजडवद्विचरन् गजसाह्वये गजसहिताह्वये पुरे इति शेषः। हस्तिनापुरे कथं प्राप्तः? कथं वा पौरैरालक्षितः ज्ञातः?॥ ६॥

तात! सूतसम्बोधनमिदम्। राजर्षेः राज्यपालनव्यापृतस्य परीक्षितः मुनिना निस्पृहेण शुकयोगिना सह यत्र यत्संवादे सात्वती हरिसम्बन्धिनी श्रुतिः भागवतसंहितेति यावत्। वर्तते सः संवादः कथं वा समभूत्?॥ ७॥

सः महाभागः शुकः गृहमेधिनां गृहस्थाश्रमिणां गृहेषु तदाश्रमं तीर्थीकुर्वन् पवित्रीकुर्वन्। संसारतरणकारणं स्थलं तीर्थमिति कथयन्ति। गोदोहनमात्रं कालमिति शेषः। अवेक्षते भिक्षाव्याजेन प्रतीक्षते॥ ८॥

**अभिमन्युसुतं सूत! प्राहुर्भागवतोत्तमम्।**
**तस्य जन्म महाश्चर्यं कर्माणि च गृणीहि नः॥ ९॥**

**स सम्राट् कस्य वा हेतोः पाण्डूनां मानवर्धनः।**
**प्रायोपविष्टो गङ्गायामनादृत्याधिराट्श्रियम्॥ १०॥**

**नमन्ति यत्पादनिकेतमात्मनः शिवाय हानीय धनानि शत्रवः।**
**कथं स वीरः श्रियमङ्ग! दुस्त्यजां युवैषतोत्स्रष्टुमहो सहासुभिः॥ ११॥**

**शिवाय लोकस्य भवाय भूतये य उत्तमश्लोकपरायणा जनाः।**
**जीवन्ति नात्मार्थमसौ पराश्रयं मुमोच निर्विद्य कुतः कलेवरम्॥ १२॥**

---

1 H,K,M,V चा° 2 K,M इयेष चोत्स्रष्टु° 3 H,V नराः 4. K,M परां श्रियं 5 H,V °वें°

**श्रीध०** श्रोतुस्तु चरितमतीवाश्चर्यं [1]अतः कथय इत्याह — **अभिमन्युसुतं** इति पञ्चभिः। गृणीहि कथय॥ ९॥

**स** इति। सम्राट् चक्रवर्ती। वेति वितर्के। कस्य वा हेतोः कस्मात् कारणात्। [2]**अधिराट्श्रियं** अधिराजां श्रियं सम्पत् अनादृत्य॥ १०॥

**नमन्तीति।** यस्य पादनिकेतनं चरणपीठम्। ह स्फुटम्। धनानि आनीय शत्रवो नमन्ति। अङ्ग! हे सूत! युवा तरुण एव। ऐषत ऐच्छत्। अत्र आर्षमात्मनेपदम्। असुभिः प्राणैस्सह॥ ११॥

ननु विरक्तस्य किं धनादिभिरिति चेत् तत्राह — **शिवाय** इति। लोकस्य शिवाय सुखाय भवाय **समृद्धये**[3] भूतये ऐश्वर्याय च ते जीवन्ति नत्वात्मार्थम्। एवं सति असौ राजा [4]निर्विद्य विरज्यापि परेषामाश्रयं कलेबरं कुतः हेतोः मुमोच? न हि परोपजीवनं स्वयं त्यक्तुमुचितमित्यर्थः॥ १२॥

1. H,V add यतः 2 B adds अधिराट् क्विबन्तः 3 B,H,V समृद्धये 4. H निर्वेद्य

**वीर०** अन्यच्च पृच्छति — **अभिमन्युसुत** मिति। हे सूत! अभिमन्योः सुतं परीक्षितं महाभागवतं प्राहुः। अतः तस्य महाश्चर्यं जन्म कर्माणि च नः अस्माकं गृणीहि कथय॥ ९॥

**स** इति। पाण्डवानां पाण्डुवंशजानां मानं प्राशस्त्यं वर्धयतीति वर्धनः, नन्द्यादित्वात् कर्तरि ल्युः। **सम्राट्** सार्वभौमः सः परीक्षित् कस्य हेतोः कस्माद्धेतोः अधिराट्छ्रियं अधिराज्यसम्पदमनादृत्य गङ्गायां प्रायोपविष्टः ॥ १० ॥

**नमन्तीति।** शत्रवः आत्मनः स्वस्य शिवाय आत्मनां योगक्षेमाय धनानि आनीय आदाय समर्प्य इत्यर्थः। यस्य परीक्षितः पादनिकेतं पादपीठं नमन्ति। ह इत्याश्चर्ये। सः वीरः परीक्षित् युवा सन्नपि दुस्त्यजां श्रियमधिराट्छ्रियं असुभिः प्राणैस्सह उत्स्रष्टुं त्यक्तुं ऐषत ऐच्छत्। अहो अत्याश्चर्यमेतत् ॥ ११ ॥

ननु महाभागवतं प्राहुरिति त्वयैव उक्तत्वात् भागवतानां च देहतदनुबन्धिषु विरक्तेः स्वाभाविकत्वाच्च नेदमाश्चर्यं इत्यत आह — **शिवाय** इति। यद्यपि भागवता विरक्ताः, तथापि उत्तमश्लोको भगवानेव परं अयनं प्राप्यः प्रापकः आधारश्च येषां ते जना भागवता न आत्मार्थं जीवन्ति, किन्तु लोकस्य शिवाय मङ्गलाय भूतये श्रियै भवाय तस्या उत्तरोत्तरोदयाय च जीवन्ति एवं पराश्रयं परैः लोकैः शिवाद्यर्थं आश्रयणीयं परोपकारकमित्यर्थः। कलेबरं कुतः हेतोः निर्विद्य हेयं मत्वा मुमोच तत्याज ॥ १२ ॥

---

1 W °कं

**विज°** किञ्च हे सूत! सुज्ञाः अभिमन्युसुतं परीक्षितं भागवतश्रेष्ठं प्राहुः। ततः किमिति, तत्राह तस्य इति। तस्य परीक्षितः महाश्चर्यं, श्रोतॄणां इति शेषः। जन्मकलिबन्धनादीनि कर्माणि च अस्माकं गृणीहि इत्यन्वयः ॥ ९ ॥

तस्य वैराग्यहेतुं पृच्छति — **स सम्राट्** इति। पाण्डवानामभिमानवर्धनः सः सम्राट् अप्रतिहताज्ञः चक्रवर्ती कस्य वा हेतोः अधिराट्छ्रियं चक्रवर्तिसम्पदं लक्ष्मीं अनादृत्य तृणवत् कृत्वा गङ्गायां प्रायोपविष्टः अभूदित्यन्वयः ॥ १० ॥

एवंविध श्रीसङ्गत्यागे महता कारणेन भवितव्यं, तत्किमित्याशङ्क्याऽऽह — **नमन्ती**ति। शत्रवः मण्डलपतयः आत्मनः शिवाय स्वकल्याणाय धनानि च आनीय यस्य परीक्षितः पदयोर्निकेतं पीठाख्यस्थानं नमन्ति इत्यन्वयः। अङ्ग! सूत! स धीरः असुभिः सह दुस्त्यजां श्रियं अधिराज्यसंज्ञां उत्स्रष्टुं हातुं इयेष ऐच्छत्। अहो आश्चर्यमेतत्। अतो महता हेतुना भवितव्यम्, तत्किमिति भावः ॥ ११ ॥

पुनरपि तदेव पृच्छति — **शिवाय** इति। ये उत्तमश्लोकपरायणाः जनाः ते लोकस्य शिवादिप्राप्तये जीवन्ति न स्वार्थं जीवन्तीत्यन्वयः। तस्मात् परार्थैकजीवनोऽसौ तस्मात् कारणात् परां उत्कृष्टां श्रियं निर्विद्य विरज्य कलेबरं देहं मुमोच इत्यन्वयः ॥ १२ ॥

---

1. A,B,M omit ततः 2. A,B °ज°

**रा॰ कृ॰** हे सूत! अभिमन्युसुतं परीक्षितं भागवतोत्तमं भगवद्भक्तानां श्रेष्ठं प्राहुः कथयन्ति। तस्य राज्ञः महाश्चर्यं जन्मकर्माणि च नः गृणीहि कथय॥ ९॥

पाण्डूनां पाण्डुवंश्यप्रभूणां मानवर्धनः अभिमानवर्धनः सः सम्राट् परीक्षित् कस्य वा हेतोः अधिराट्श्रियं राज्यसम्पदमनादृत्य गङ्गायां गङ्गातीरे प्रायोपविष्टः मरणपर्यन्तमनशनेन उपविष्टः ?॥ १०॥

किञ्च अङ्ग! हे सूत! शत्रवः आत्मनः शिवाय क्षेमाय धनानि आनीय यत्पादनिकेतं यस्य पादपीठं नमन्ति; सः वीरः परीक्षित् युवा सन् असुभिस्सह दुस्त्यजां श्रियं उत्स्रष्टुं त्यक्तुं कथमैषत, ऐच्छत्? अहो आश्चर्यम्!॥ ११॥

उत्तमश्लोकपरायणाः उत्तमश्लोकः भगवान् परमं सर्वोत्कृष्टं अयनं आश्रयः येषां ते; तथाभूताः ये जनाः सन्ति ते नराः लोकस्य शिवाय सुखाय, भवाय समृद्धये, भूतये ऐश्वर्याय जीवन्ति, न तु आत्मार्थम्। अस्यां दशायां असौ परीक्षिन्नरपतिः निर्विद्य निर्वेदं प्राप्यापि पराश्रयं परेषामाश्रयभूतं कलेवरं कुतः मुमोच? न खलु परोपकारकरणं स्वयं त्यक्तुमुचितमिति भावः॥ १२॥

**तत्सर्वं न स्समाचक्ष्व पृष्टो यदिह किञ्चन।**
**मन्ये त्वां विषये वाचां स्नातमन्यत्र छान्दसात्॥ १३॥**

**सूत उवाच**

**द्वापरे समनुप्राप्ते तृतीये युगपर्यये।**
**जातः पराशराद्योगी वासव्यां कलया हरेः॥ १४॥**

**स कदाचित्सरस्वत्या उपस्पृश्य जलं शुचि।**
**विविक्तदेश आसीनः उदिते रविमण्डले॥ १५॥**

**परावरज्ञः स ऋषिः कालेनाव्यक्तरंहसा।**
**युगधर्मव्यतिकरं प्राप्तं भुवि युगे युगे॥ १६॥**

**भौतिकानां च भावानां शक्तिह्रासञ्च तत्कृतम्।**
**अश्रद्दधानान्निस्सत्वान् दुर्मेधान् ह्रसितायुषः॥ १७॥**

**दुर्भगांश्च जनान् वीक्ष्य मुनिर्दिव्येन चक्षुषा।**
**सर्ववर्णाश्रमाणां यद्दध्यौ हितममोघदृक्॥ १८॥**

**चातुर्होत्रं कर्म शुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम्।**
**व्यदधाद्यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम्॥ १९॥**

**ऋग्यजुस्सामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः ।**
**इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते ॥ २० ॥**

1 I.K.M शुचिः 2 B.H.I K M V W एक 3 H °प° 4 B तु 5 W भूतानां 6 H.V दुर्बलांश्च 7 M °धर्मा° 8 M चिर° 9 B म° 10 H.V.W °सः

**श्रीध० तदिति।** यत्किञ्चन पृष्टः असि तत्सर्वं नः अस्मभ्यं समाचक्ष्व। यत् यस्मात् वाचां विषये गिरां गोचरेऽर्थे स्नातं पारङ्गतं त्वां मन्ये, छान्दसादन्यत्र वैदिकव्यतिरेकेण अत्रैवर्णिकत्वात्॥ १३ ॥

कस्मिन् युगे इत्यादिप्रश्नानां व्यासजन्मकथनपूर्वकमुत्तरमाह — **द्वापर** इति। द्वापरे समनुप्राप्ते। कदेत्यपेक्षायामाह, तृतीये युगस्य पर्यये परिवर्ते[1]। वासव्यामुपरिचरस्य वसोर्वीर्याज्जातायां सत्यवत्यां योगी ज्ञानी व्यासः जातः॥ १४ ॥

**स** इति। जलमुपस्पृश्य जले स्नानादिकं कृत्वा इत्यर्थः। आसीनः बभूव इति शेषः। विविक्ते देशे इत्यादि। चित्तैकाग्र्यार्थमुक्तम्। अनेनैव बदरिकाश्रमस्थानं सूचितम्॥ १५॥

**परावरज्ञ** इति। तत्र च सः ऋषिः युगधर्मव्यतिकरादिकं वीक्ष्य सर्ववर्णाश्रमाणां यत् हितं तत् दध्यौ इति तृतीयश्लोकेनान्वयः। परावरज्ञः[2] अतीतानागतवित् अव्यक्तं रंहः वेगः यस्य तेन कालेन युगधर्माणां व्यतिकरं सङ्करं प्राप्तं वीक्ष्य। तथा भुवि युगे युगे॥ १६ ॥

**भौतिकाना** मिति। भौतिकानां[4] शरीरादीनाम्। तत्कृतं कालकृतम्।[5] निस्सत्वान् धैर्यशून्यान् दुर्मेधान् मन्दमतीन् ह्रसितायुषः ह्रसितं आयुः तेजः येषां तान्॥ १७ ॥

**दुर्भगा** निति। अमोघदृक्[6] सर्वज्ञानसम्पन्नः॥ १८ ॥

**चातुर्होत्र** मिति। ततश्च होत्रोपलक्षिताः चत्वारः ऋत्विजः चतुर्होतारः, तैः अनुष्ठेयं कर्म चातुर्होत्रम्। शुद्धं शुद्धिकरं कर्म[7]। यज्ञसन्तत्यै यज्ञानामविच्छेदाय॥ १९ ॥

चातुर्विध्यमेवाऽह — **ऋगिति**। उद्धृताः पृथक्कृताः॥ २० ॥

1 H.V add चरमभाग इत्यर्थः। 2 H °प° 3 H युगतो 4 B adds भावानां 5 A H.V omit ह्रसितायुषः .. तान्। 6 A H V omit अमोघदृक् सर्वज्ञानसम्पन्नः 7 A.B omit कर्म

**वीर०** प्रश्नमुपसंहरति — **तदिति**। नः अस्माभिः पृष्टस्त्वं तदेतत् पृष्टं सर्वं सम्यगाचक्ष्व आख्याहि। यदपि[1] किञ्चन अपृष्टमस्ति तदपि समाचक्ष्व। यदसीतिपाठे यत् यस्मात् पृष्टः त्वं ततः पृष्टं तदेतत्सर्वं अन्यदपि

किञ्चित् समाचक्ष्व। त्वां अन्यत्र छान्दसात् वेदवाक्यं विना वाचां इतिहासपुराणादिरूपाणां विषये स्नातं पारङ्गतं अधिकृतं वा मन्ये वेदवाक्यव्यतिरिक्तेतिहासपुराणादिश्रवणे त्वामेव अधिकारिणं व्यासानुग्रहात् रोमहर्षणसुतं मन्य इत्यर्थः ॥ १३ ॥

एवं आपृष्टः सूतः "कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयं" इत्यादिप्रश्नान् प्रतिविवक्षुः तावत् तदुपोद्घातरूपं जन्मप्रभृत्येतत्पुराणोद्योगावधिकं श्रीव्यासचरित्रं तदनुप्रयुक्तं श्रीनारदवृत्तान्तं चाऽऽह 'द्वापर' इत्यादिना यावत्षष्ठाध्यायसमाप्ति। द्वापरे युगे समनुप्राप्ते तत्रापि तृतीये अस्य युगस्य पर्यये अवसाने पराशरात् ऋषेः वासव्यां उपरिचरवसुवीर्यजातायां सत्यवत्यां हरेः कलया अंशेन योगी श्रीव्यासः जातः जज्ञे ॥ १४ ॥

स व्यासः कदाचित् सरस्वत्यां नद्यां शुचि पवित्रं जलं उपस्पृश्य आचम्य। इदं नित्यकर्मोपलक्षणम्। रविमण्डले उदिते सति एकः असहायः। विविक्ते निर्जने देशे आसीनः उपविवेश ॥ १५ ॥

ऋषिः निखिलनिगमद्रष्टा परावरज्ञः प्रकृतिपुरुषेश्वररूपोत्कृष्टतत्त्वयाथात्म्यदर्शी स व्यासः। अव्यक्तं रंहः वेगः यस्य तेन दुर्निरीक्ष्यवेगेन कालेन हेतुना भुवि भूलोके प्रतियुगं प्राप्तं धर्मव्यतिकरं धर्मव्यत्यासं कृतादियुगक्रमेण प्राप्तं धर्मस्य वृद्धिह्रासादिकमित्यर्थः ॥ १६ ॥

तथा तत्कृतं धर्मव्यतिकरकृतं भौतिकानां आकाशादिभूतपरिणामरूपाणां देवादिशरीराणां भूतानां तत्सृष्टानां जीवानां च शक्तिह्रासं शक्तिक्षयञ्च तथा जनान् अभिवीक्ष्य। कथम्भूतान् अश्रद्दधानान् श्रद्धां अकुर्वाणान् स्वस्ववर्णाश्रमानुगुणधर्मानुष्ठानविषयकत्वरारहितान् निस्सत्त्वान् दुर्बलान् सत्यामपि श्रद्धायां दुर्बलान् सत्यपि सत्त्वे दुर्मेधान्। ह्रसितं सङ्कुचितं आयुः येषां तान् अनुष्ठानोपयुक्तज्ञानायूरहितान् ॥ १७ ॥

अत एव दुर्भगान् भाग्यहीनान् मुनिः परमात्मयाथात्म्यमननशीलः, अत एव अमोघदृक् अवितथसङ्कल्पः। दिव्येन चक्षुषा योगपरिशुद्धेन मनसा। सर्वेषां वर्णानामाश्रमाणां च हितं दध्यौ चिन्तितवान्, चिन्तापूर्वकं चकार इत्यर्थः ॥ १८ ॥

तदेवाऽऽह प्रजानां त्रैवर्णिकानां सम्बन्धितया श्रेयस्साधनतयाऽनुष्ठेयं वैदिकं वेदपूर्वभागबोध्यम्, अत एव विशुद्धं भ्रमविप्रलम्भादिपुरुषदोषास्पृष्टविधिबोधितं चातुर्होत्रं चातुर्होत्रशब्दवाच्यमन्त्रप्रकाश्यं कर्म वीक्ष्य प्रजानामनुग्रहयमालोच्य तावत् यज्ञानां सन्तत्यै कर्तव्ययज्ञकलापादिविषयकबोधार्थं तद्वेदं पूर्वं एकरूपेण अवस्थितंवेदं ऋग्यजुस्सामाथर्वभेदेन चतुर्विधं व्यदधात् व्यभाङ्क्षीत् ॥ १९ ॥

चतुर्विधेन विधानमेव दर्शयति — **ऋगिति**। ऋगाद्याः चत्वारः वेदात् उद्धृताः मिश्रीभूतवेदराशेः उद्धृत्य सन्निवेशविशेषेण योजिता इत्यर्थः। तथा इतिहासः पुराणानि च उद्धृतानि इत्यनुषङ्गः। कालेन विप्लुतानि

मत्स्यादि पुराणानि इतिहासाश्च उद्धृताः इत्यर्थः। इतिहासं पुराणानि च विशिनष्टि पञ्चमो वेद उच्यते। पञ्चमवेदत्वेन प्रसिध्यन्त इत्यर्थः ॥ २० ॥

1. W यदिह 2. W °पा° 3. W °गृहीत° 4. W °त्पुराणयोगा° 5 W °बाज° 6 A,B omit व्यतिकर 7 W तत्संसृष्टानां 8 W °पि 9. W °मि° 10. W तासां 11 W भ्रमप्रमादविप्र° 12. W तद्बोधकं 13 W °तं

**विज०** इह अस्यां अवस्थायां प्रश्नराशौ यत्किञ्चित्प्रश्नरूपं पृष्टः त्वं तत्सर्वं किञ्चन इत्यनुवरीकृत्य समाचक्ष्व। कुतः छान्दसात् वेदविषयात् अन्यत्र पुराणादौ वाचां विषये स्नातं निष्णातं मन्य इति यस्मात् तस्मात् इत्यन्वयः ॥ १३ ॥

कस्मिन् युग इति प्रश्नं परिहरति — **द्वापर** इति। कृतयुगापेक्षया तृतीये द्वापरे युगे युगपर्यवसाने समनुप्राप्ते सति हरेः कलया अंशेन पराशरात् पराकृतः शरः हिंसा येन स तथोक्तः। तस्मात् वासव्यां वसोः उपरिचरस्य पुत्र्यां सत्यवत्यां योगी नित्यज्ञानी नाम्ना व्यासो जातः अवतीर्णः। अतः द्वापरे युगपर्यवसाने भागवतप्रवृत्तिरिति भावः ॥ १४ ॥

अवतारप्रयोजनमाह — **स कदाचि** दिति। सः व्यासः भगवान् शुचिः शुद्धः कदाचित् सरस्वत्याः नद्याः जलं उपस्पृश्य सन्ध्याक्रियादिकं निर्वर्त्य पश्चात् रविमण्डले उदिते सति तत्तटे विविक्ते एकान्ते स्वाश्रम एव आसीनः एकाकी ॥ १५ ॥

परावरज्ञः कालत्रयज्ञानी सः सर्वतः सारः सर्वोत्तमः ऋषिकुलावतीर्णः परावरज्ञत्वे हेतुर्वा, त्रिकालदर्शित्वाद्वा। अव्यक्तरंहसा अनभिव्यक्तवेगेन भुवि युगे युगे प्राप्तं युगधर्मव्यतिकरं युगधर्मसाङ्कर्यम् ॥ १६ ॥

तथा तत्कृतं कालकृतं भौतिकानां भूतकार्याणां भावानां पदार्थानां शक्तिह्रासं च अत एव जनान् च अश्रद्दधानान् तात्पर्यशून्यान्, निस्सत्त्वान् निरुत्साहान्, दुष्टा मेधा येषां ते दुर्मेधाः तान् धारणाशक्तिशून्यान् वा। एधशब्दवत् अयमप्यकारान्तः। ह्रसितायुषः अल्पायुषः ॥ १७ ॥

दुष्टभाग्यान् वीक्ष्य मुनिः मौनवान् दिव्येन चक्षुषा अपरोक्षज्ञानेन सर्वाश्रमाणां यत् हितं तत् चिरं दध्यौ चिन्तितवान् इत्येकान्वयः। सर्वज्ञस्य चिरध्यानं अज्ञदृष्ट्यपेक्षया, दुष्टमोहनाय च इति ज्ञातव्यम्। अमोघदृक् अवन्ध्यज्ञानः ॥ १८ ॥

किं हितमपश्यत् इति तत्राह — **चातुर्होत्र** मिति। चत्वारः होतारः होत्रध्वर्यूद्गातृब्रह्माणः यस्मिन् तत् तथोक्तं, दशहोत्रादिचातुर्होत्रपर्यन्तैः मन्त्रैः प्रकाश्यं वा अग्निष्टोमादिकं कर्म प्रजानां वैदिकीनां शुद्धिकरं रागादिवर्जितं वा वीक्ष्य यज्ञसन्तत्यै अग्निष्टोमादियज्ञपरम्पराप्रवर्तनाय एकं अविभक्तं वेदं ऋगादिभेदेन चतुर्विधं व्यदधात् इत्येकान्वयः। आदिमध्यावसानेषु हरिस्मृत्या तत्पूज्यत्वेन क्रियमाणं कर्म प्रजानां ज्ञानद्वारा शुद्धिकरं अपश्यत् इति भावः ॥ १९ ॥

कथं विभक्ता इति तत्राह — **ऋगिति**। वेदव्यासेन मूलबेदसमुद्रात् ऋग्यजुस्सामाथर्वाख्याः चत्वारः वेदाः उद्धृताः, न तु कृताः। तदर्थज्ञानाय कृतं इतिहासपुराणञ्च वेदार्थाऽऽवेदकत्वात् पञ्चमो वेद इत्युच्यते। "पञ्चमो वेद" इत्युक्तेः इतिहासादीनां शब्दतः रचनं न तु अर्थतः, तस्य नित्यत्वात् इति ज्ञातव्यम् ॥ २० ॥

---

1. K adds अचिन्त्यो वा

**रा॰ कृ॰** इह इदानीं यत्किञ्चन पृष्टः त्वं तत्सर्वं नः अस्मभ्यं समाचक्ष्व कथय। कुत इति चेत्? छान्दसात् वैदिकात् अन्यत्र वाचां विषये अर्थे त्वां स्नातं निष्णातं पारङ्गतं मन्ये।

अत्र "अन्यत्र छान्दसात्" इति पदद्वयमाधारीकृत्य सूतस्य त्रैवर्णिकत्वाभावं तन्मूलकं वेदानधिकारं च बहवः प्राचीनप्राज्ञवरेण्याः कथयन्ति। अहन्तु व्यासहृदयं अन्यथैव मन्ये — सामान्यजनदुर्ग्रहवेदार्थसुखबोधायैव पुराणोत्पत्तेः, सूतस्य बहुपुराणकथामुखेन वेदार्थप्रवचनप्रज्ञाशालित्वात् अत्रापि छान्दसात् वैदिकवाङ्मयादन्यत्र पुराणादिलौकिकवाङ्मये तस्य पारङ्गतत्वकथनं तत्पुराणप्रवचनप्रावीण्यप्रशंसामात्रपरमेव। अन्यथा "स संहितां भागवतीं" (भाग. 1-7-8) इत्यत्र, "यत्रैषा सात्वती श्रुतिः" (भाग. 1-4-7) इत्यत्र च अस्य भागवतस्य वेदवाचकसंहिताश्रुतिशब्दाभ्यां साक्षाद्वेदत्वाभ्युपगमात् अत्रैवर्णिकत्वमात्रप्रयुक्तवेदानधिकारिणि सूते शौनकादि कृतप्रश्नस्यैव असङ्गतत्वापत्तेः ॥ १३ ॥

युगपर्यये युगगणनायां तृतीये द्वापरे समनुप्राप्ते पराशरात् वासव्यां उपरिचरवसोः वीर्यात् जातायां सत्यवत्यां हरेः कलया ज्ञानांशेन योगी ज्ञानी व्यासः जातः।

हरिकलासञ्जातो नाम भगवदवतारः इत्यर्थः। मोक्षविद्याधर्मोद्धारार्थं धरायामवतीर्णाः महात्मानः भगवतः अवताराः। तेषु अन्यतमः व्यासः। सर्वोऽपि अवतारः प्रयोजनसापेक्षः। पुराणमुखेन वेदधर्मप्रयोजनकः वेदव्यासावतारः।

दैवयोगेन पराशरमहर्षेः उपरिचरवीर्यसञ्जातायां कन्यायामेव सत्यवत्यां सद्योगर्भात् उदभूत् वेदव्यासः। पुराणोपवर्णिताः, इह परत्र वा प्राक् प्रवृत्ताः जगत्सृष्टिक्रमे च पुनः पुनः आवर्तमानाः गूढार्थव्यञ्जिकाः ईदृगवतारकथाः इतिहासरूपेण उपदिश्यन्ते प्राचीनैः। तासु एकतमा व्यासजननकथा। उपरिचरवसुः खगोलवृत्तिः सम्पत् या प्राणिनां प्राणहेतुभूतस्य सौरकिरणस्यांशमयी। जलपतिता च एषा जीवप्रज्ञारूपेण पृथक्क्रियते। अयमंशो मत्स्यावतारकथावसरे सविस्तरं व्याख्यास्यते। अथ जीवे दैवांशेन अभिव्यज्यमाना प्रज्ञैव वागित्यभिधीयते। सा परिसरवर्तिवस्तुभिः मनःप्रभृतीन्द्रियेषु अविकृतदशायां सत्यवतीसंज्ञां लभते। या चित्तवृत्तिस्पर्शायोगात् कन्या इति च कथ्यते। तस्यां येन देवभावः जागरितः सः गुरुः। तस्य वाक् शिष्ये ज्ञानबीजरूपेणोप्ता वर्धते। तदिदमेव कन्याया गर्भधारणं नाम। तद्गर्भसम्भूता च प्रज्ञा कृत्स्नमेव सृष्टिविज्ञानं विभज्य भागवतं धर्मं जगति प्रतिष्ठापयति। तदेतत् वेदव्यासजन्मनः गुह्यम्। एवं व्यासः युगे युगे अवतीर्य भुवि वेदविभागं विदधाति। अस्त्येतदुपदेशप्राप्त्युपायः। स यथा —

श्वासैकाग्रं मनः कृत्वा साधकः श्वासप्रवर्तकं सङ्गीतमनुध्यायेत्। तत्सङ्गीतश्रवणोपयोगिमर्मसमुदायः सामगानमिति गान्धर्वमिति च कथ्यते यमेव अभिदधति केचित् हंसमार्ग इत्यपि। तमनुग्रहीतुमेव जीवेभ्यः नारदः पर्यटति सर्वत्र।

एता गूढकथाः न केवलमस्मासु मनुष्येषु, किन्तु सर्वेषु लोकेषु सर्वासु कक्ष्यासु किम् बहुना जगत्सर्गे च सम्प्रवर्तन्ते। तत्प्रतिबिम्बभूतोऽयं भौतिकप्रपञ्चः। इहाप्येतत्कथाप्रवर्तकानां कथाः प्रागुक्तक्रमानुगताः एव पूर्वोक्तसङ्केतपदैः तेषां व्यवहारश्च वेदपुराणसम्प्रदायानुसार्येव। तथाहि — व्यासप्रज्ञां धरायां अवतारितवतः व्यासंज्ञा। नारदप्रज्ञां लोकायानुग्रहीतुं जातस्य नारदाख्या च। एवं सरस्वतीव्यासादिनामधारिणः जीवाः तत्सम्बन्धिप्रयोजनापेक्षया उद्भूय भगवल्लीलामयीं जीवयात्रां कुर्वन्ति। एतादृगृषिषु बहवः जन्मान्तरेष्वपि नैकेषु स्वप्रत्यभिज्ञावन्तः स्वकर्तव्यकरणपराय-णाः सन्तः तदुरुभिश्च प्रत्यभिज्ञायन्ते। एतादृशप्रत्यभिज्ञावतां मध्ये तत्तत्सङ्ख्यीयाः बहुषु जन्मसु एकमेव नामधेयं तत्तज्जन्मकारणपितृकृतनामनैरपेक्ष्येण सङ्केततया स्वीकुर्वन्ति। वेदेषु पुराणेषु च श्रूयमाणानां ऋषीणां नामानि प्रायशः ईदृशान्येव। अत एव बहुयुगप्रवृत्तपुराणकथासु श्रुतपूर्वाण्येव ऋषिनामानि पुनः पुनः श्रूयन्ते।

अन्यच्च गुह्यं — यदेतन्नामधारिणः लोकातीताः महान्तः सकुटुम्बाः यथापूर्वसम्बन्धानुगताः सङ्घशः परिवर्तिनि कालचक्रे भूयो भूयः भुव्यवतरन्ति। तथाहि — वटवृक्षबीजसञ्जातं वटवृक्षान्तरमपि पूर्वलक्षणलक्षितमेव भवति। एतद्रहस्यलवज्ञानिनः ज्योतिश्शास्त्रविदः केचन पुरा नाडीग्रन्थान् व्यरचयन्।

प्रतिवत्सरं वसन्तादिऋतुधर्माइव प्रतिवत्सरशतं प्रतिवत्सरसहस्रञ्च पुनः पुनरावर्तिनः ऋतुधर्माः सन्तीति अकथयत् सूतः महाभारतसंहितारम्भावसरे। तान् धर्मान् सम्यग्विचार्य कृतत्रेताद्वापरकल्याख्ययुगचतुष्टयव्यवस्था कृता प्राचीनैः। तानि च युगानि तिथिवासरादय इव यथाक्रमं पुनःपुनः आवर्तन्ते।

द्वात्रिंशत्सहस्रोत्तरचतुर्लक्षसंवत्सरपरिमितः कालः कलियुगस्य प्रमाणम्। तत्प्रमाणे द्विगुणीकृते द्वापरयुगं, त्रिगुणीकृते त्रेतायुगं, चतुर्गुणीकुते कृतयुगञ्च यथाक्रमं सम्पद्यन्ते। युगचतुष्टयप्रमाणानि आहत्य विंशतिसहस्रोत्तरचत्वा-रिंशल्लक्षवत्सरपरिमितकालं महायुगप्रमाणं भवति। (1. कलिः 4,32,000, 2. द्वापरं 8,64,000, 3. त्रेता 12,96,000, 4. कृतं 17,28,000 आहत्य 43,20,000) कलिः नाम गणितशास्त्रे कलनं अथवा मित्यावश्यक इत्यर्थः। द्वापरः द्विगुणः। त्रेता त्रिगुणा। कृतं तु चतुर्गुणम्। तस्मात् कलिरेव कालमानम्।

प्रतिसंवत्सरं ऋतुपरिवर्तनावसरे प्रकृत्यां मनुष्यप्रवर्तनारोग्यादिष्विव युगसन्धिष्वपि नदीसमुद्रपर्वतेषु तत्तद्देशजातिस्वरूपस्वभावेषु मानवानाञ्चाभ्यासायुरारोग्यादिषु, विशिष्य धर्मसूक्ष्मावगतिप्रत्ययादिषु विपरिणामाः दृश्यन्ते। तादृग्युगसन्धिसमयेषु धर्मसंस्थापनार्थं भगवदवतारावश्यकता समुदेति। कृतयुगे निर्व्याजमेव धर्माचरणम्। त्रेतायां स्वसंरक्षणार्थं धर्माश्रयणं क्रियते; तेन पादत्रयवान् धर्मः। द्वापरे परस्परप्रयोजनार्थं स्वाभ्युदयार्थं च धर्ममाचरन्ति जनाः। तस्मात् तदा धर्मः द्विपाद एव। कलौ तु प्राणभयावसर एव धर्मः क्रियते। ततः तदा धर्मः एकपाद एव। द्वापरकलिसन्धिसमये श्रीकृष्णव्यासयोरवतारः समजनि। अपिच, युगसन्धिषु प्रायेण प्रपञ्चमहासङ्क्रामः अनिवार्यः। व्यासकाले हि महाभारतयुद्धमभूत्॥ १४॥

सः व्यासः कदाचित् सरस्वत्याः शुचि जलं उपस्पृश्य आचम्य रविमण्डले उदिते सति एकः विविक्ते निर्जनप्रदेशे आसीनः बभूव।

परावरज्ञः अतीतानागतवेदी ऋषिः निखिलागमार्थवेदी सः व्यासः अव्यक्तरंहसा अविदितवेगेन कालेन कारणेन भुवि युगे युगे प्रतियुगं प्राप्तं युगधर्मव्यतिकरं युगधर्माणां तपोयज्ञस्वाध्यायदानादीनां नाशं अनधिकारिषु प्रवृत्तिरूपं सङ्करं वा। तत्कृतं तेनैव कालेन कृतं भौतिकानां पाञ्चभौतिकानां भावानां प्राणानां शक्तिह्रासं सामर्थ्यहानिं तथा अश्रद्दधानान् सन्मार्गश्रद्धाविरहितान्, निस्सत्त्वान् सत्त्वगुणरहितान् दुर्मेधान् मन्दमतीन् ह्रसितायुषः क्षीणायुषः दुर्बलांश्च जनान् दिव्येन चक्षुषा वीक्ष्य मुनिः मननशीलः सन् अमोघदृक् सर्वहितकरतत्त्वदर्शनः सर्ववर्णाश्रमाणां हितं यत् तत् दध्यौ ध्यातवान् ॥ १५, १६, १७, १८ ॥

किञ्च सः व्यासः चातुर्होत्रं चतुर्भिः होतृभिः अनुष्ठेयं वैदिकं वेदोक्तं शुद्धं कर्म यज्ञादिरूपं प्रजानां यज्ञसन्तत्यै यज्ञानां अविच्छेदाय एकं तावत्पर्यन्तं एकरूपेण अवस्थितं वेदं चतुर्विधं व्यधात् अकरोत् ॥ १९ ॥

ते चत्वारः वेदाः ऋग्यजुस्सामाथर्वाख्याः उद्धृताः मिश्रीभूतवेदराशेः पृथक्कृताः। इतिहासः महाभारतादिः, पुराणं विष्णुपुराणादिकं पञ्चमः वेद इत्युच्यते। इतिहासपुराणानां एकत्वाभिप्रायेण पञ्चमः वेदः इति संज्ञा।

मनुष्याणां गुणकर्मानुरूपाः विभागाः वर्णा इत्युच्यन्ते। ते च ब्रह्मक्षत्त्रवैश्यशूद्राख्याः चत्वारः। उक्तं च भगवता — "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥" (भ. - गी. 4-13) वयोऽनुरूपभावपरिणामानुकूलकर्माचरणाश्रयभूताः मनुष्याणां जीवितदशादिविशेषाः आश्रमा इति कथ्यन्ते।

वेदः कर्माचरणप्रधानः। सत्कर्माचरणमेव स्त्रीपुरुषव्यक्तिषु सत्संस्काराधाने बीजं, न तु केवलं मेधाविलसनम्, नापि तत्त्वज्ञानं वा।

वेदोपासनाय यज्ञाचरणमावश्यकं भवति। यज्ञश्च उपसर्जनीभूतेन्द्रियसुख निष्कारणमेव सर्वसङ्घेमाय पवित्रभावनया कृतं सत्कर्मैव। तथाहि — नमस्कारपुरस्काराद्विभिः सभ्यप्रसादनं पञ्चभूतपर्जन्यपशुसस्यादीनां पूज्यभावनया सद्विनियोगादिकञ्च यज्ञपदवाच्यं भवति। यज्ञनिर्वहणाय चत्वारः ऋत्विजः आवश्यकाः। ते च अस्मच्छरीरे खनिजजलोष्णप्राणस्वरूपाः। यज्ञाचरणेन प्रजानां संस्कारशुद्धिः।

व्यासकृतः वेदविभागः कलियुगे वैदिककर्माचरणौपयिकः। ऋग्वेदः वाग्रूपेण कण्ठनिस्सृतध्वनेः सङ्केतः। तद्ध्वनिकारणोच्छ्वसनिश्श्वासप्रवर्तितं प्राणस्पन्दनं सामवेदः। शरीरेण मनसा इन्द्रियैश्च क्रियमाणस्य कर्मणः प्रतीकः यजुर्वेदः। मनुष्याणां परस्परश्रेयःप्रयोजनकारोग्य पौरधर्मराष्ट्रतन्त्रादि नानाशाखामयः अथर्ववेदः। सविस्तरं वेदतत्त्वबोधकाः पुराणेतिहासाः, येषां तावत् पञ्चमवेदप्रतिपत्तिः प्रकल्पिता भगवता व्यासेन ॥ २० ॥

**तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः ।**
**वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत ॥२१ ॥**

**अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः ।**
**इतिहासपुराणानां पिता मे रोमहर्षणः ॥ २२ ॥**

**त एतं ऋषयो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्ननेकधा ।**
**शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैः वेदास्ते शाखिनोऽभवन् ॥ २३ ॥**

**त एव वेदा दुर्मेधैर्धार्यन्ते पुरुषैर्यथा ।**
**एवं चकार भगवान् व्यासः कृपणवत्सलः ॥ २४ ॥**

---

1 AF.GF एकस्तु 2 H,V °षां गणे ; K °षां ततः ; M °षा मुने ; W °षां मतः 3 K °वारुणो 4 H,K,M,N,V °व 5 K,M व्यवस्यत्

**श्रीध० तत्रेति ।** कविः पूर्वमीमांसाकृत्त्वात् जैमिनिः निष्णातः पारङ्गतः ॥ २१ ॥
**अथर्वेति ।** दारुणः क्रूरः, अथर्वोक्ताभिचारादिप्रवृत्तेः ॥ २२ ॥
शाखाविभागमाह — **त** इति । व्यस्यन् विभक्तवन्तः ॥ २३ ॥
वेदविभागप्रयोजनमाह — **तं एवेति** । ये पूर्वमतिमेधाविभिः धार्यन्ते स्म त एव ॥ २४ ॥

---

1 H,V °देत्र 2 A,H,V omit शाखाविभागमाह 3 H,V विभागं कृतवन्तः 4 H,V त इति 5 H,V एवेति

**वीर०** तत्र ऋगादीनां मध्ये ऋग्वेदधरः पैलः । अध्ययनपूर्वकं ऋग्वेदं पैलः मुनिः दधार इत्यर्थः । कविः विद्वान् जैमिनिस्तु सामगः, अध्ययनपूर्वकं ऋगाधाराणि सामानि जगौ इत्यर्थः । वैशम्पायनः एक एव ऋषिः यजुषां निष्णातः पारङ्गतः मतः स्मृतः । अवान्तरभेदाभिप्रायेण यजुषां इत्युक्तम् ॥ २१ ॥

एवं अथर्वाङ्गिरसां इत्यत्रापि तेषां निष्णातः दरुणः अपत्यं दारुणः सुमन्तुर्नाम मुनिः आसीत् । अथर्वाख्यानि अङ्गिरांसि । तेषां इतिहासानां पुराणानाञ्च निष्णातस्तु मे मम सूतस्य पिता रोमहर्षणः ॥ २२ ॥

सर्व एवैते भगवतः व्यासस्य अनुग्रहादेव निष्णाताः बभूवुः इत्यर्थतः द्रष्टव्यम् । ततस्त एते पैलादयः स्वं स्वं वेदं शिष्यैः प्रशिष्यैः शिष्याणामपि शिष्यैः तेषामपि शिष्यैश्च शिष्यादिद्वारा इत्यर्थः । अनेकधा व्यस्यन् व्यभाङ्क्षुरित्यर्थः । ततः ते वेदाः शाखिनः अभवन् व्यस्तशाखा अभवन् । तत्र ऋग्वेदः एकविंशतिशाखाभेदं प्राप्तः, यजुर्वेदस्तु एकशतधा, सामवेदस्तु सहस्रधा, आथर्वणस्तु नवधेति विवेकः ॥ २३ ॥

किमर्थमेवं आत्मना शिष्यादिमुखेन च व्यभाङ्क्षीत् इत्यपेक्षायां प्रयोजनं दर्शयन् व्यासनाम निर्वक्ति — **त** इति । दुर्मेधैरल्पप्रज्ञैः पुरुषैः त एते वेदाः यथा धार्यन्ते, यथा सन्निवेशितेषु धार्यन्ते एवं तथा चकार भगवान्

श्रीव्यासः। तत्र हेतुः कृपणेषु वत्सलः वात्सल्ययुक्तः। यतः वेदान् व्यस्यत् व्यभाङ्क्षीत् अत एव व्यास इति प्रसिद्धः बभूवेति भावः ॥ २४ ॥

---

1 A,B लो°

**विज°** तत्र तेषां वेदानां मध्ये ऋग्वेदप्रवर्तकः पैलः अभूदिति प्रत्येकमन्वयः। जैमिनस्य अपत्यं जैमिनिः। साम गायति, शिष्येषु गमयति प्रवर्तयतीति वा सामगः। कविः सूक्ष्मज्ञानी। ततः जैमिनेः अनन्तरं एकः प्रधानः वैशम्पायन एव यजुर्वेदानां निष्णातः, प्रवर्तकतया इति शेषः। एवशब्देन सूर्यादन्यः प्रतिषिध्यते, न तु सूर्यः। तथा सति वक्ष्यमाणविरोधात् ॥ २१ ॥

वारुणः वरुणपुत्रः सुमन्तुः नाम मुनिः अथर्वाङ्गिरसां अथर्ववेदानां प्रवर्तक आसीत्। मे पिता रोमहर्षणः इतिहासपुराणानां प्रवर्तकः ॥ २२ ॥

भगवदाज्ञाप्रवर्तकं चतुर्णां वेदानां शाखोपशाखाभेदेन ऋषिकृतविभागमाह — **त एव** इति। त एव पैलादय ऋषयः स्वं स्वं वेदं अनेकधा व्यस्यन् व्यभजन् इत्यन्वयः। ते वेदाः शिष्यप्रशिष्यादिभिः शाखिनः तत्रामपूर्वशाखावन्तः अभवन् इत्यन्वयः ॥ २३ ॥

व्यासनामनिर्वचनायाऽऽह — **त एव** इति। दुर्मेधैः अल्पप्रज्ञैः पुरुषैः त एव वेदा यथा धार्यन्ते पठिताः अवधृतार्थाः क्रियन्ते, एवं तथा शिष्यप्रशिष्यादिभिः शाखोपशाखाभेदेन व्यवस्यत् चकार, तस्मात् व्यास इति। किमर्थमिति तत्राह कृपणवत्सलः दीनजनस्निग्धः ॥ २४ ॥

**रा° कृ°** तत्र वेदानां मध्ये ऋग्वेदधरः ऋग्वेदप्रवर्तकः पैलः तन्नामकः ऋषिः। कविः सूक्ष्मदर्शी जैमिनिः सामगः सामवेदप्रवर्तकः। वैशम्पायनः एक एव यजुषां गणे निष्णातः निपुणः। दारुणः क्रूरस्वभावः सुमन्तुः तन्नामकः मुनिः अथर्वाङ्गिरसां अथर्ववेदानां विषये निष्णातः। मे पिता रोमहर्षणः इतिहासपुराणानां विषये निष्णातः ॥ २१, २२ ॥

त एव ते पैलादयः ऋषयः स्वं स्वं वेदं अनेकधा व्यस्यन् विभक्तवन्तः। शिष्यैः तेषां शिष्यैः प्रशिष्यैः शिष्यशिष्यैः पुनः तच्छिष्यैः ते वेदाः शाखिनः बहुशाखावन्तः अभूवन् ॥ २३ ॥

त एव पूर्वं मेधाविभिः धृता एव वेदा अद्य दुर्मेधैः मन्दप्रज्ञैः पुरुषैः यथा धार्यन्ते, एवं तथा कृपणवत्सलः दीनदयालुः भगवान् व्यासः चकार विभागं कृतवानित्यर्थः ॥ २४ ॥

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह ।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥ २५ ॥

एवं प्रवृत्तस्य सदा भूतानां श्रेयसि द्विजाः ।
सर्वात्मकेनापि यदा नातुष्यद्धृदयं ततः ॥ २६ ॥

नातिप्रसीदद्धृदयः सरस्वत्यास्तटे शुचौ ।
वितर्कयन् विविक्तस्थ इदं प्रोवाच धर्मवित् ॥ २७ ॥

धृतव्रतेन हि मया छन्दांसि गुरवोऽग्रयः ।
मानिता निर्व्यलीकेन गृहीतं चानुशासनम् ॥ २८ ॥

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः ।
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत ॥ २९ ॥

तथापि बत मे दैह्यो ह्यात्मा चैवात्मना विभुः ।
असम्पन्न इवाभाति ब्रह्मवर्चस्यसत्तमः ॥ ३० ॥

किं वा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः ।
प्रियाः परमहंसानां त एव ह्यच्युतप्रियाः ॥ ३१ ॥

तस्यैवं खिलमात्मानं मन्यमानस्य खिद्यतः ।
कृष्णस्य नारदोऽभ्यागात् आश्रमं प्रागुदाहृतम् ॥ ३२ ॥

तमभिज्ञाय सहसा प्रत्युत्थायाऽऽगतं मुनिः ।
पूजयामास विधिवन्नारदं सुरपूजितम् ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

---

1 K,M प्रसन्नहृदयः 2 B इति 3 H,I,V चो° 4 H,K,M,V °र्थः प्रदर्शितः 5 K,M धर्मो हि ; B,H,W धर्मादिः 6 B,K,M,N,W अथापि 7. K,M °स्वि सत्तमः ; W °स्युशत्तमः ; VF स्व्युशत्तमः 8 K,M,W °न्र° 9 K,M °निम्

**श्रीध°** किञ्च, **स्त्री शूद्रेति**। द्विजबन्धवः त्रैवर्णिकेष्वधमाः · तेषाम्। कर्मरूपे श्रेयसि श्रेयस्साधने। एवं भवेत् अनेनैव प्रकारेण श्रेयः भवतु इति। अत एव तेषां कृपया भारताख्यानं मुनिना कृतम्; इति सार्धश्लोकं एकं वाक्यम् ॥ २५ ॥

**एव**मिति। एवं अनेन प्रकारेण भूतानां श्रेयसि हिते सर्वात्मकेनापि[3] कर्मणा ॥ २६ ॥

**नातिप्रसीद** दिति। न अतिप्रसीदत् हृदयं यस्य सः चित्ताप्रसत्तौ[4] हेतुं वितर्कयन् इदं उवाच स्वगतम् ॥ २७ ॥

**धृतव्रतेनेति।** निर्व्यलीकेन निष्कपटबुद्ध्या। मानिताः पूजिताः ॥ २८, २९ ॥

**तथेति।** दैह्यः देहे भवः आत्मा जीवः, वस्तुतः विभुः परिपूर्ण एव। आत्मना स्वेन रूपेण असम्पन्नः तादात्म्यं अप्राप्त इवाभाति। ब्रह्मवर्चसं वेदश्रवणाध्यापनोत्कर्षजं[5] तेजः तत्र साधवः ब्रह्मवर्चस्याः तेषु सत्तमः अतिश्रेष्ठोऽपि। यद्वा, न केवलमसम्पन्न इवाभाति, प्रत्युत ब्रह्मवर्चसी ब्रह्मवर्चसवानपि असत्तम इवाभाति। उशत्तम[6] इति पाठान्तरे कमनीयतमोऽपि इति ॥ ३० ॥

असम्पत्तौ हेतुं स्वयमेवाऽऽशङ्कते — **किंवेति**। प्रायेण भूयस्त्वेन। हि यस्मात् त एव धर्माः अच्युतस्य प्रियाः ॥ ३१ ॥

**तस्येति।** खिलं[7] न्यूनम्। आत्मानं खिद्यतः खेदं प्राप्नुवतः। कृष्णस्य व्यासस्य। प्रागुदाहृतं सरस्वतीतीरस्थम् ॥ ३२ ॥

**तम्** इति। तं नारदं आगतं अभिज्ञाय सहसा प्रत्युत्थाय विधिवत् पूजयामास। सुरपूजितमिति ब्रह्मलोकादागतमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

---

1 A,H,V omit श्रेयः 2. A,B omit इति ... वाक्यम्। 3 B adds (अनेकोद्देशवताऽपि) 4. H,V चित्तस्याप्रसन्नत्वे 5. B ब्रह्मणः
6 A omits उशत्तम इति 7 V adds शून्यं

**वीर०** एवं कृतवतापि[1] मुनिना व्यासेन स्त्रीणां शूद्राणां च द्विजबन्धूनां त्रैवर्णिकाभासानाञ्च श्रुतिगोचरा श्रवणविषया त्रयी ऋगादिभिन्नो वेदः। न भवति अध्ययनस्य उपनयनाङ्गकत्वात्, उपनयनस्य च त्रैवर्णिकाधिकारित्वात्, स्त्रीशूद्रादीनां वेदाध्ययनयोग्यता नास्ति। अत एव कर्मश्रेयसि वैदिककर्मसाध्ये श्रेयसि मूढानां पुरुषार्थचतुष्टयत-त्साधनविषयकज्ञानविधुराणां अन्यथा श्रेयो न भवेत् इत्थं तु भवेदिति[2] हेतुमालोचयता ॥ २५ ॥

कृपया भारतमाख्यानं कृतं हे द्विजाः! एवं सर्वात्मकेन[3] प्रकारेणापि भूतानां लोकानां श्रेयसि निमित्ते सदा प्रवृत्तस्यापि बादरायणस्य हृदयं मनः यदा नातुष्यत् न जहर्ष, ततः तदा नातीव प्रसीदत् प्रसन्नं हृदयं यस्य तथाभूतः,

शुचौ परिशुद्धे सरस्वत्याः तटे विविक्ते निर्जने देशे स्थितः वितर्कयन्, असन्तोषहेतुः को वा इति विचारयन्, धर्मवित् बादरायणः इदं स्वगतं वक्ष्यमाणमुवाच च ॥ २६, २७ ॥

तदेवाऽऽह — **धृतव्रतेन** इत्यादिचतुर्भिः। धृत व्रतं छन्दः गुर्वग्निसेवोपयुक्तं येन तेन मया छन्दांसि छन्दोऽधिदैवतानि गुरवः अग्नयो निर्व्यलीकेन निष्कपटभावेन मानिता बहुमानिताः पूजिता इति यावत्, छन्दआदीनां अनुशासनं गृहीतं कृतञ्च ॥ २८ ॥

किञ्च, भारतव्यपदेशेन भारतव्याजेन आम्नायानां वेदानामर्थश्च दर्शितः। भारतं विशिनष्टि यत्र भारते स्त्रीशूद्रादिभिरपि धर्मः दृश्यते। स्वस्वापेक्षितश्रेयस्साधनः स्वानुरूपो धर्मः दृश्यते अवगम्यते ॥ २९ ॥

अथापि एवं सति। बतेति खेदे। मे मम दैह्यः देहस्थः विभुः प्रभुः आत्मा प्रत्यगात्मा। आत्मना अन्तःकरणेन सह। यद्वा दैह्यो विभुः आत्मा अन्तःकरणं आत्मना स्वयं ब्रह्मवर्चसि कृतस्वाध्यायनिमित्ते तेजसि। समासान्तविधेः अनित्यत्वात् "ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः" (अष्टा. 5-4-78) इत्यजभावः। उशत्तमः शुद्धतमोऽपि असम्पन्न इव असमृद्धः इवाभाति; असत्तम इति पाठे ब्रह्मवर्चसरहित इवाभाति, यथा असत्तमः असज्जनतमः इव आभाति तद्वत् ॥ ३० ॥

एवं वितर्क्य सूक्ष्मदर्शित्वात् असन्तोषहेतुमुत्प्रेक्षते — **किं वा** इति। यतः भागवता धर्माः प्रायशः मया न निरूपिताः, ततो वाऽसौ किं असन्तोषः? पारिशेष्यादयमेव भागवतधर्मानिरूपणमेवासन्तोषहेतुः भवितुमर्हति इत्यभिप्रायेण, अनिरूपणस्य असन्तोषहेतुत्वमुपपादयति प्रिया इति। सर्वान्तरात्मनि भगवति प्रीते सति हि तन्नियाम्यस्य मनसस्तोषः स च भगवान् भागवतेषु तुष्टेषु सत्सु स्वयं तुष्यति, तेषां च सन्तोषहेतवः त एव, भागवतधर्मा एव; तदनिरूपणादुचितएव असन्तोष इति भावः। प्रायेण इत्यनेन क्वचित् क्वचिदेव भारते भागवतधर्मनिरूपणमिति सूचितम् ॥ ३१ ॥

एवं इत्थं आत्मानं खिन्नं दूनं मन्यमानस्य अत एव खिद्यतः तस्य कृष्णस्य व्यासस्य प्रागुदाहृतं पूर्वमुक्तसरस्वतीतीरस्थाश्रमं प्रति नारदः अभ्यागात् अध्यागच्छत् ॥ ३२ ॥

तं आगतं अभिज्ञाय चिह्नैः नारदमुनिं ज्ञात्वा सहसा त्वरया विधिवत् पूजयामास। कथम्भूतम्? सुरैः पूजितं पूज्यमानं "मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च" (अष्टा. 3-2-188) इति वर्तमाने क्तः ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथम इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां व्याख्यायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

---

1 W adds पुनः 2 W °दिहेत्यालो° 3 A,B °कत्वेन 4 W °यश्च 5 W अपि 6 W वृत्त° 7 W adds ब्रह्मवर्चसि असम्पन्न इव 8 A,B °स्य° 9 A,B खिलं 10 A B न्यूनं

**विज०** एवं भगवद्भक्तानां त्रैवर्णिकानां वैदिककर्मानुष्ठानेन शुद्धान्तःकरणानां अधोक्षजोपासनाजनितज्ञानेन मुक्तिः स्यात् इति व्यासेन स्थापितम्, तदनधिकारिणां स्त्रीशूद्रादीनां हरिभजनं कुत्रोक्तमुपायेन इत्याकाङ्क्षायामाह — **स्त्रीशूद्रेति**। वेदोक्तकर्माख्यश्रेयसि पुरुषार्थसाधने मूढानां अत एव अनधिकारिणां स्त्रीशूद्रद्विजाधमानां त्रयी त्रयो वेदाः श्रोतुं न योग्याः, इति तस्मात् अत एवं मया करिष्यमाणभारतादिशास्त्रोक्तविधिना इह जने श्रेयः भवेत् इति कृपया मुनिना सर्वज्ञेन व्यासेन भारताख्यानं कृतमित्यन्वयः। अत्रैतत्प्रमेयमवगन्तव्यम्। स्त्रीशूद्रादिकृपया भगवता भारताख्यानस्य कृतत्वात् तेषामेव तत्राधिकारः न अन्येषां इति शङ्का माभूत्। "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" (भार. 1-1-204) इति वचनात्, ब्राह्मणादीनामपि वेदार्थपरिज्ञानाय भारताद्यभ्यासस्य आवश्यकत्वेनोक्तत्वात् उभयत्र अधिकारः युज्यते। तेषां स्त्रीशूद्रादीनां तु गत्यन्तराभावात् तदुक्तानुष्ठानेन मुक्तिरिति भावः॥ २५॥

केन हेतुना, कुतः सञ्चोदितः इति प्रश्नं परिहरिष्यन् प्रायः कृतावतारकार्यस्य दुर्जनान् मोहयतः व्यासस्य लोकानुकरणप्रकारमाह — **एवम्** इत्यादिना। हे द्विजाः! भूतानां सदा श्रेयसि नित्यमुक्तिसाधने एवं प्रवृत्तस्यापि यदा हृदयं सर्वात्मकेन नातुष्यत् मे मनः अवतारप्रयोजनेन सर्वप्रकारेण अलं इत्यलम्बुद्धिं नाप। ततः तदा॥ २६॥

धर्मज्ञानी नातिप्रसन्नहृदयः अवतारप्रयोजनानलम्बुद्धिमान् सरस्वत्याः तटे तत्रापि शुचौ देशे विविक्तस्थ एकान्ते तिष्ठन् लोकदृष्ट्यानलम्बुद्धिकारणं किञ्चेति विविधं तर्कयन् विचारयन् इदं वक्ष्यमाणमेव आत्मानं प्रत्युवाच इत्यन्वयः॥ २७॥

धृतव्रतेन लौकिकाचारोपेक्षया वेदव्रतधारणवता मया निर्व्यलीकेन निर्व्यजिन चेतसा इति शेषः। छन्दांसि वेदाः। गुरवः अध्यापकाः। त्रेता अग्नयः। मानिताः सत्कृताः। अनुशासनं आज्ञा च गृहीता। हिशब्देन विप्रादिभिः वेदव्रतादि वैदिकं कर्म अवश्यं कर्तव्यमिति दर्शयति॥ २८॥

यत्र भारते स्त्रीशूद्रादिभिरपि त्रैवर्णिकैः उत अनुष्ठेयः धर्मः दृश्यते, तस्य भारतस्य करणे नाम्नायार्थः वेदादिसम्प्रत्ययार्थः प्रदर्शितोहि। तत्र किञ्चिदुर्वरितं नास्तीत्यर्थः॥ २९॥

अथापि भारतकृपया आम्नायार्थप्रदर्शनानन्तरमपि दैह्यः देहरूपः आत्मा आत्मना स्वत एव विभुः व्याप्तः मे मम आत्मा अवतारप्रयोजनासम्पत्त्या असम्पन्नः अप्राप्तप्रयोजन इवाभाति। कीदृशः? ब्रह्मवर्चस्विसत्तमः वृत्ताध्ययनसम्पन्नानां मध्ये श्रेष्ठः इत्यन्वयः। ब्रह्मवर्चस्यसत्तम इति पाठेऽपि अयमेवार्थः॥ ३०॥

प्राय इदमेवानलम्बुद्धौ कारणमाह — **किं वा** इति। भागवता धर्माः प्रायेण न निरूपिताः। किञ्च भारते निरूपिता अपि पुनः शास्त्रान्तरेण निरूपणीया इत्यतः प्रायेण इत्युक्तम्। किंविशिष्टाः? परमहंसानां प्रियाः। ततः किं ते परमहंसाः एव अच्युतप्रियाः हि यस्मात् असम्पन्न इवाभातीति भावः॥ ३१॥

केनचित् प्रेरित एव महापुरुषः स्वकार्ये प्रवर्तते इति न्यायात् भागवतकृतिरेव अलम्बुद्धिहेतुरिति निश्चयवानपि नारदप्रेरितः भागवतमकार्षीदिति नारदस्य लोके महती कीर्तिः स्यात् इति भक्तवत्सलत्वात् नारदागमनं आकाङ्क्षमाणं व्यासं प्रति तदागमनमाह — **तस्य** इति। खिन्नं अनलम्बुद्धिमाप्तवतः खिद्यतः खिद्यमानस्य अनलम्बुद्धिं गतस्य ॥ ३२ ॥

अभिज्ञाय संज्ञापूर्वकं विज्ञाय सहसा कालक्षेपमन्तरेण सरस्वतीतीरवर्तिस्वाश्रमस्थितो भागवतधर्मज्ञापनहेतोः नारदेन चोदितः श्रीकृष्णः भागवतसंहितां अकरोत् इति शौनकप्रश्नपरिहारः ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां प्रथमस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां प्रथमस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

---

1 A नाप्तदा 2 K °रा° 3 K सम्प्रदायार्थः

**रा० कृ०** स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां स्त्रीणां शूद्राणां त्रैवर्णिकेषु अधमानां त्रयी ऋगादित्रयी श्रुतिगोचरा श्रवणयोग्या न भवति। अतः कर्मश्रेयसि कर्मरूपे श्रेयसि मूढानां अज्ञानिनां तेषां इह अस्मिन् जन्मनि श्रेयः एवं भवेत् इति विचार्य मुनिना व्यासेन कृपया भारतं आख्यानं कृतम्।

विद्यावतां बुद्धिजाड्यात् स्त्रीषु वेदाध्ययन प्राधान्यं लुप्तप्रायमभवत्। शिष्यबोधनं स्वीयगौरवप्रतिष्ठादिसाधनमिति मन्वानाः विद्वांसः स्वगृहेषु स्त्रीभ्यः वेदार्थप्रबोधे शिथिलितश्रद्धाकौशलाः सञ्जाताः। ये तावत् आश्रमाः प्राक्कुटुम्बप्रायाः बभूवुः, ते कलौ समागते अध्यापकान्तेवासि पाण्डित्यमल्लविद्याप्रदर्शन रङ्गस्थलानि अभवन्।

एवमुदरपोषणार्थं पराश्रयेण क्रियमाणं कर्म शूद्रधर्मः। तच्च यज्ञार्थकर्मव्यतिरिक्तम्। लोकश्रेयस्करकार्याचरणेन अयत्नलब्धानां अन्नवस्त्रादीनामनुभवः ब्रह्मक्षत्रवैश्य स्वभाववतां धर्मः। कलौ बहवः प्रागुक्तशूद्रधर्मेणैव जीवन्ति। उदरपोषणैकासक्तया ते निर्विरामाः अज्ञानपरवशाः वेदधर्मप्रमत्ता भवन्ति।

एवं स्त्रीशूद्रधर्मिणः वेदश्रवणानर्हाः अभवन्। ईदृशाज्ञानप्राबल्यात् कालान्तरे स्त्रीशूद्राणां वेदाध्ययनाधिकारो नास्तीति नियमोपि अकारि। एतन्नियमेन जनसामान्ये वेदप्राधान्याभाव वेदद्वेषादिकलिधर्माः प्राविशन् ॥ २५ ॥

हे द्विजाः! एवं सर्वात्मकेनापि सर्वात्मनाऽपि सर्वथाऽपि इत्यर्थः। सदा भूतानां श्रेयसि प्रवृत्तस्य व्यासस्येति शेषः। ततः स्वकर्मणः यदा हृदयं नातुष्यत् सन्तोषं न प्रापत्, तदा मातिप्रसीदद्धृदयः नातिप्रसन्नहृदयः शुचौ शुद्धे सरस्वत्याः तन्नाम्न्याः नद्याः तटे विविक्तस्थः विजनप्रदेशे स्थितः धर्मवित् सः व्यासः वितर्कयन् स्वचित्ताप्रसादहेतुं वितर्कयन् इदं वक्ष्यमाणं उवाच स्वमनसि अवोचत् इत्यर्थः ॥ २६, २७ ॥

धृतव्रतेन मया निर्व्यलीकेन निष्कपटबुद्ध्या छन्दांसि गुरवः अग्रयः मानिताः पूजिताः। अनुशासनं तेषां अनुशासनं गृहीतं तदुक्तं कृतमित्यर्थः। उत किञ्च, यत्र भारते स्त्रीशूद्रादिभिरपि अनुष्ठेयमिति शेषः। धर्मादि दृश्यते। भारतव्यपदेशेन तस्य भारतस्य व्यपदेशेन व्याजेन आम्नायार्थः वेदार्थः प्रदर्शितः। तथाऽपि मे दैह्यः देहाभिमानी आत्मा जीवः ब्रह्मवर्चस्यसत्तमः ब्रह्मवर्चस्याः वेदाध्ययनाध्यापनादिप्रभावजन्यतेजोवन्तः, तेषु श्रेष्ठः। आत्मना स्वरूपेण विभुः समर्थोऽपि असम्पन्न इव अप्राप्तमनोरथः असन्तुष्ट इवाऽऽभाति। बतेति खेदे। आत्मरूपी भगवान् ईश्वरः नातुष्यत् इति भावः।

यद्यपि कलियुगे प्रजासु वेदसम्प्रदायाविच्छेदाय व्यासः वेदं चतुर्धा विभज्य शिष्यान् अध्यापयामास, किन्तु अयं वेदविभागः कालक्रमेण केवलशाखोपशाखादिविभेद परस्परसमन्वयाभाव तत्प्रयुक्तब्राह्मणनैक्याद्यनर्थपर्यवसायी वैरूप्यं प्रापत्। तथाहि — एकशाखीयैः अन्यशाखा अनध्येतव्या, अधीता चेत् प्रायश्चित्तं कार्यमिति केचित् अधुनाऽपि वदन्ति। अन्ये केचन शाखापरमार्थानभिज्ञाः अस्माकं यजुश्शाखा प्रथमशाखापर्यालोचनया महीयसीति दृष्यन्ति। स्वकालेऽपि वेदापेक्षया तच्छाखाभेदेषु प्रवर्धमानेन आग्रहेण कैश्चित् बहुधा विशकलितप्रायं तथा निरुपयोगतां आनीतं तं वेदं आकलय्य व्यासः खेदं अनुबभूव इति तर्क्यते; यच्च तेन भगवता जनेषु वेदाध्ययनेन सह तद्विषयसमन्वय दैनन्दिनानुष्ठानसामर्थ्यं अपेक्षितं तदद्यापि लुप्तप्रायमास्ते। अत एव मानवजीवितं वर्णाश्रमधर्मभ्रष्टं कष्टभूयिष्ठं अद्य दृश्यते।

तस्मात् वेदार्थावगत्यै व्यासप्रोक्तपुराणसमुच्चय एव गतिः। एतानि पुराणानि स्त्रीशूद्रादिभ्यः उद्दिष्टानि नास्मभ्यं इति मन्यमानाः विद्वांसोऽपि वेदहृदयानभिज्ञा एव। ते हि वेदप्रयोजनं तदुक्तेतिहासयज्ञादिकर्माचरणविधानादि परिगणनमात्रमित्येव जानन्ति।

अपि च वेदेषु तत्तज्जातीयानां केषाञ्चिदायोधनगाथाः सन्तीति भ्रान्तमतयः कतिचन आर्यमिश्राः "पुरा भारतदेशे आदिममानवेषु परस्परं कलहायमानेषु तान् अन्ये वैदेशिकार्याः बलात् अभियुज्य दक्षिणपथविद्रुतान् विधाय तदुषितपूर्वं उत्तरभारतदेशं आचक्रमुः" इत्येताः कथाः कल्पयित्वा पण्डितमेलकेषु विश्वविद्यालयेषु विषबीजानि वपन्ति। एते सर्वेऽपि अनर्थाः वेदार्थस्य अनवगमेन तदवगमोपयोगिव्यासप्रोक्त पुराणसम्प्रदाय स्वीकारे कैश्चित् अपरिणतमतिभिः प्रदर्शितया मिथ्याभिमानप्रयुक्तया उपेक्षया च प्रभवन्ति।

आर्यसमाजाद्यन्यमतावलम्बिनस्तु वेदानां अपौरुषेयप्रयुक्तं प्राशस्त्य प्रकटयन्तः पुराणानां पौरुषेयत्वकृतं मिथ्यात्वं आपादयन्ति। तदविचारितरमणीयम्। कुतः? उच्यते — वेदा अपौरुषेया इत्यत्र नास्माकमपि विप्रतिपत्तिः। तथापि ते तद्दृष्टृभिर्महर्षिभिः लोके प्रकाशिताः। तथा च आप्तवाक्यानां वेदानां प्रकाशकाः महर्षयोऽप्याप्ताः। तेषु आप्तेषु मुख्यः भगवान् व्यासः। "सहोवाच व्यासः पाराशर्यः विद्युद्वधमेवाहं मृत्युमैच्छम्"(तैत्ति. आ. 1-9) इति व्यासवचनस्य प्रामाण्यं अभिहितम्। तादृशेन आप्ततमेन मन्त्रद्रष्ट्रा भगवता व्यासेन प्रणीतानां पुराणानां

मानवरचनाप्रयुक्तमिथ्यात्वकल्पनं अन्याय्यम्। अपि च यदि तावत् ईश्वरस्य संस्कृतभाषणैक दौर्गत्यमङ्गीक्रियेत ; तर्हि स संस्कृतभाषाभिज्ञमुखेनैव भाषते स्वयमरूपत्वात्, किं वेदमन्त्रैः भाषमाणः पुराणश्लोकैः नाभिभाषते ? तथा चेत् स सर्वज्ञः ईश्वरः कथं भवति ? किं च वेदमन्त्राः ऋषिभिः दृष्टा इत्यत्र वेदे तत्तदृषिनामनिर्देश एव प्रमाणम्। न खलु संस्कृतमन्त्रग्रन्था वा तदन्यमन्त्रग्रन्था वा ईश्वरेण सृष्टाः भुवि निपातिताः। वस्तुतस्तु निरहङ्कारनिर्मलान्तःकरणेन मानवेन दृष्टस्य विश्वतत्त्वस्यैव वेदसंज्ञा। स च वेदः तद्दृष्टद्वारा तद्भाषामन्त्रमयाकारः बहिः प्रकाशितः भवति। ईदृशाः द्रष्टार एव ऋषयः। तेष्वन्यतमः व्यासः। तत्कृतं वेदसमन्वयपरमार्थविवरणादिकं पुराणेषु दृश्यते। ततश्च तेषां वेदार्थोपबृंहकत्वं अव्याहतमेव इत्यलमतिविस्तरेण। आत्मरूपी भगवान् ईश्वरः नातुष्यत् इति भावः॥ २८, २९, ३० ॥

भागवताः धर्माः प्रायेण प्रायशः मया किं वा न निरूपिताः ? परमहंसानां विषयविरक्तानां ज्ञानिनां प्रियाः अभीष्टाः ते धर्मा एव अच्युतप्रियाः भगवतः नारयणस्यापि प्रियाः। एवं इत्येवंप्रकारेण आत्मानं खिलं न्यूनं मन्यमानस्य खिद्यतः कृष्णस्य कृष्णद्वैपायनस्य प्रागुदाहृतं सरस्वतीतीरस्थितं आश्रमं प्रति नारदः अभ्यागच्छत् आगच्छत् ॥ ३१, ३२ ॥

मुनिः व्यासः आगतं तं ऋषिं इति शेषः। अभिज्ञाय लक्षणैः नारदं ज्ञात्वा सहसा प्रत्युत्थाय सुरपूजितं तं नारदं विधिवत् यथाविधि पूजयामास।

सरस्वतीब्रह्मणोः पुत्रः नारदः सरस्वतीतीरस्थितं व्यासमभिजगाम। अत्र सरस्वती अव्यक्तदशायां अन्तर्वाहिन्याः वाचः प्रतीकायते। सा भविष्यद्भागवतात्मना व्यासस्य प्रज्ञायां अन्तर्वर्तिनी विराजते स्म। तां विश्वहिताय आविष्कर्तुं नारद आजगाम। गुरुः शिष्ये गुप्तां वाचं बहिः प्रकाशयति। गुरुः स्वयं शिष्यं उपैतीति ब्रह्मविद्यासम्प्रदायः ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां व्याख्यायां
चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

# पञ्चमोऽध्यायः

सूत उवाच

अथ तं सुखमासीन[1] उपासीनं बृहच्छ्रवाः ।
देवर्षिः प्राह विप्रर्षिं वीणापाणिः स्मयन्निव ॥ १ ॥

नारद उवाच

पाराशर्य! महाभाग! भवतः कच्चिदात्मना ।
परितुष्यति शारीर आत्मा मानस एव वा ॥ २ ॥

जिज्ञासितं सुसम्पन्नमपि ते महदद्भुतम् ।
कृतवान् भारतं यस्त्वं सर्वार्थपरिबृंहितम् ॥ ३ ॥

जिज्ञासितमधीतञ्च यत्तद् ब्रह्म सनातनम् ।
अथापि[2] शोचस्यात्मानमकृतार्थ इव प्रभो ॥ ४ ॥

---

1 B H V नमूपा 2 B H I K M V W तथाऽपि

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पञ्चमे सर्वधर्मेभ्यो हरिकीर्तनगौरवम् ।
व्यासचित्तप्रसादाय नारदेनोपदिश्यते ॥

**अथ** इति। उप समीपे आसीनं विप्रर्षिं व्यासं बृहच्छ्रवाः महायशाः। स्मयन् ईषद्धसन्निव इत्यनेन मुखप्रसत्तिः द्योत्यते। यद्वा इव इत्यनधिकारार्थम्। अहो महानपि मुह्यतीति स्मयमानः ॥ १ ॥

**पाराशर्य** इति। शारीरः शरीराभिमानी आत्मा, आत्मना तेन शरीरेण कच्चित् किं[2] परितुष्यति मानसः आत्मा मनोऽभिमानी तेन मनसा परितुष्यति कच्चित् किं[3] वा ॥ २ ॥

**जिज्ञासितम्** इति। ते जिज्ञासितं ज्ञातुमिष्टं धर्मादि यत्[4] सुसम्पन्नं सम्यक् ज्ञातम्। [5] अपिशब्दादनुष्ठितञ्च इत्यर्थः। अयीति पाठे सम्बोधनम्। सुसम्पन्नत्वे हेतुः महदद्भुतमित्यादि। सर्वैः अर्थैः धर्मादिभिः परिबृंहितं परिपूर्णम् ॥ ३ ॥

**जिज्ञासितम्** इति। किञ्च यत्सनातनं नित्यं परं ब्रह्म च तच्च त्वया जिज्ञासितं विचारितं अधीतं अधिगतं प्राप्तं च इत्यर्थः। अथापि शोचसि तत्किमर्थमिति शेषः ॥ ४ ॥

1 H,V °त्यधिकाश्चर्ये 2 H,V add °स्विच्चित् 3 B,H,V नो 4 B,H,V add तत्सर्वं 5 H,V add गत्यर्थधातोः ज्ञानार्थकत्वात्

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ यथावत् पूजानन्तरं सुखं आसीनः बृहत् श्रवः कीर्तिः यस्य। वीणा पाणौ यस्य स देवर्षिः नारदः स्मयन्निव स्वाज्ञया उपासीनं उपविष्टं विप्रर्षिं व्यासं प्राह ॥ १ ॥

तदेवाह **पाराशर्य** इति त्रिभिः। असन्तोषमालक्ष्य आह-कच्चिदिति इष्टप्रश्ने हे पाराशर्य! हे महाभाग! भवतः[1] स्वात्मना[2] स्वयं शारीर आत्मा क्षेत्रज्ञः मानसः मनस्सम्बन्धी मनःकरणकः समनस्क इति यावत्[3] परितुष्यत्येव हि कच्चित् ॥ २ ॥

ते त्वया जिज्ञासितं ज्ञातुमिष्टं सर्वं सुसम्पन्नमपि? अपिशब्दः प्रश्नद्योतकः, ज्ञातमेव हि इत्यर्थः। पद-गतौ, गत्यर्थाः बुद्ध्यर्थाः। यत् यस्मात् सर्वार्थैः परिबृंहितं, सर्वार्थाः परिबृंहिताः उपबृंहिताः येन तत् इति वा। अत एव महत् विपुलं अत्यद्भुतं शब्दतः अर्थतश्च चित्रं भारतं कृतवान्। अतः सुसम्पन्नं जिज्ञासितमिति भावः ॥ ३ ॥

किञ्च जिज्ञासितमिति यत् सनातनं अनादिनिधनाविच्छिन्नसम्प्रदायं ब्रह्म वेदः तदधीतं जिज्ञासितं च, सन्नर्थस्त्वविवक्षितः, विचारितमिति वा। पूर्वोत्तरमीमांसयोः प्रणायनप्रणयनाभ्यामिति भावः। तथापि एवं कृतकृत्योऽपि त्वमकृतार्थः अकृतकृत्यः इव हे प्रभो! शोचसि शोचन्निव लक्ष्यसे इत्यर्थः ॥ ४ ॥

1 W भगवतः 2 W तवात्मना 3 W adds परितुष्यत्येव वा

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अथ अर्घ्यपाद्यादिसमर्हणानन्तरं सुखमुपविष्टः विस्तृतकीर्तिः वीणा महती नाम पाणौ यस्य सः तथोक्तः, मन्दस्मितं कुर्वन्निव प्रसन्नवदनः देवर्षिः समीप उपविष्टं तं विप्रर्षिं व्यासं प्राह इत्येकान्वयः ॥ १ ॥

विज्ञातभगवदभिप्रायः तदनुकारणानुगुणानुकारणवान्[2] नारदः नित्यकुशलं तस्य सज्ञानन्नपि तदनुवदन्निव कुशलं पृच्छतीत्याह — **पाराशर्य** इति। महाभाग! ऐश्वर्याद्यनन्तभाग्यनिधे! पाराशर्य! पराशरपुत्र! भवतः[5] शारीरः मानसो वा शरीररूपो[4] वा। भेदाभावादेवमुक्तिः। आत्मावतारप्रयोजनं कृत्वा आत्मना स्वत एव परितुष्यति कच्चित्? स्वतन्त्रतया कृतावतारकार्यत्वात् परितुष्यति इत्येवकारार्थः ॥ २ ॥

कुत इति तत्राह — **जिज्ञासितम्** इत्यादि। यस्त्वं धर्मादिसर्वपुरुषार्थबृंहितं पूर्णं भारतं कृतवान् ते त्वया सुसम्पन्नं सुखपूर्णं अद्भुतं सर्वस्मादाश्चर्यतमं अत्ता रुद्रः यस्मात् भवति तदद्भुतं वा। महत् देशतः कालतः गुणतश्च अपरिच्छिन्नं ब्रह्म जिज्ञासितं विचारितम्। अपि-च-शब्दौ वक्ष्यमाणसमुच्चये। शब्दतः अर्थतः अपि महत् अद्भुतं गहनम्। ("अर्थः स्यात्...) व्यवहारे धने **शास्त्रे** वस्तुहेतुनिवृत्तिषु" (वैज. को. 6-1-3) इति वचनात्, तन्न्यायेन अर्थशब्दस्य द्विरावृत्त्या सर्वशास्त्रार्थपरिबृंहितं कृतवान् इति यस्मात् तस्मात्, तेन लोकानां ज्ञातुमिष्टं सुष्ठु सुपूर्णं अभूत् इति वा॥ ३॥

किञ्च यच्चोपाध्यायपरम्परया भवता अधीतं सनातनं नित्यं वेदात्मकं शब्दब्रह्म, तदपि जिज्ञासितं विचारितं तस्मात् कृतावतारकार्योऽपि, तत एव नातुष्टिकारणं पश्यामीत्यर्थः। तथापि एवमपि कृतावतारकार्योऽपि अकृतावतार-प्रयोजन इव आत्मानं शोचसि प्रकाशयसि। हे प्रभो! प्रभूतज्ञान! इत्यन्वयः॥ ४॥

---

1 K °क° 2 K °क° 3 B.K.M भगवतः 4 K.M add मनोरूपो

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

अथ यथावत् पूजानन्तरं सुखं आसीनः बृहच्छ्रवाः महायशाः वीणापाणिः देवर्षिः नारदः स्मयन्निव ईषत् हसन्। अत्र हासः नारदमुखप्रसादद्योतकः। उपासीनं समीपे उपविष्टं विप्रर्षिं व्यासं प्राह उक्तवान्॥ १॥

हे पाराशर्य! पराशरात्मज! महाभाग! महाभाग्यवन्! भवतः तव शारीरः आत्मा आत्मना स्वरूपेण शरीरेण अथ मानसः आत्मा वा आत्मनैव स्वरूपेण मनसैव कच्चित् किं परितुष्यति?

यद्यपि श्रीधरस्वामिप्रभृतिभिः "शारीर आत्मा मानस एव वा" इत्यत्र शरीराभिमानी आत्मा मनोभिमानी आत्मा इति च सुष्ठु व्याख्यातं, तथापि शारीरमानसरूपविशेषणद्वयं आत्मनः स्थूलसूक्ष्मादिसर्वमयत्वं सूचयति। तेन आत्मनः बृंहणशीलेन ब्रह्मणा अभेदसिद्धिः, ततश्च "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (त्रि. म. ना. उ. 1-3) इति महावाक्यं सुप्रतिष्ठितं भवति॥ २॥

ते त्वया यत् जिज्ञासितं ज्ञातुमिष्टं सुसम्पन्नमपि सम्यक् ज्ञातं, अपिना अनुष्ठितञ्च इति भावः। तत्कथमिति चेत्, उच्यते। यस्त्वं महत् अद्भुतं सर्वार्थपरिबृंहितं धर्मादिभिः सर्वैः अर्थैः पूर्णं भारतं कृतवानसि इति शेषः॥ ३॥

किञ्च यत् सनातनं शाश्वतं ब्रह्म परब्रह्म वर्तते तत्त्वया जिज्ञासितं विचारितं अधीतं प्राप्तम्। तथापि हे प्रभो! व्यास! सर्वसमर्थोऽपि इत्यनेन सम्बोधनेन गम्यते। अकृतार्थ इव अकृतकर्तव्य इव आत्मानं प्रति किमर्थं शोचसि? एवं नारदः व्यासं अपृच्छत्॥ ४॥

व्यास उवाच

अस्त्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तम् तथापि नाऽऽत्मा परितुष्यते मे ।
तन्मूलमव्यक्तमगाधबोधम् पृच्छामहे त्वाऽऽत्मभवात्मभूतम् ॥ ५ ॥

स वै भवान् वेद समस्तगुह्यम् उपासितो यत्पुरुषः पुराणः ।
परावरेशो मनसैव विश्वं सृजत्यवत्यत्ति गुणैरसङ्गः ॥ ६ ॥

त्वं पर्यटन्नर्क इव त्रिलोकीम् अन्तश्चरो वायुरिवाऽऽत्मसाक्षी ।
परावरे ब्रह्मणि धर्मतो व्रतैः स्नातस्य मे न्यूनमलं विचक्ष्व ॥ ७ ॥

श्रीनारद उवाच

भवताऽनुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम् ।
येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम् ॥ ८ ॥

---

1 K.M यः पुरुषः 2 H परापरेशो 3 H.W परापरे 4 H.V °तु

**श्रीध० अस्ति** इति। आत्मा शारीरः मानसश्च। तन्मूलं तस्य अपरितोषस्य कारणं अव्यक्तं अस्फुटम्। हे नारद! त्वा त्वां पृच्छामि। आत्मभवः ब्रह्म तस्य आत्मनः देहात् उद्भूतः तं अत एव अगाधः अतिगम्भीरः बोधः यस्य तम् ॥ ५ ॥

अगाधबोधतां प्रपञ्चयन्नाह — **स वा** इति द्वाभ्याम्। सर्वगुह्यज्ञाने हेतुः यत् यस्मात् पुराणः अनादिसिद्धः पुरुषः उपासितः त्वया। कथम्भूतः ? परावरेशः कार्यकारणनियन्ता। मनसैव सङ्कल्पमात्रेण गुणैः कृत्वा विश्वं सृजति इत्यादि ॥ ६ ॥

**त्वम्** इति। किञ्च त्वं त्रिलोकीं पर्यटन् अर्क इव सर्वदर्शी योगबलेन प्राणवायुरिव सर्वप्राणिनां अन्तश्चरस्सन् आत्मसाक्षी बुद्धिवृत्तिज्ञः। अतः परे ब्रह्मणि धर्मतः योगेन निष्णातस्य। तदुक्तं याज्ञवल्क्येन "इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्। अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनम्" (याज्ञ. स्मृ. 1-8) इति। अवरे च ब्रह्मणि वेदाख्ये। व्रतैः स्वाध्यायनियमैः निष्णातस्य मे अलं अत्यर्थं यन्न्यूनं तद्विचक्ष्व वितर्कय ॥ ७ ॥

**भवता** इति। अनुदितप्रायं अनुक्तप्रायं विमलं भगवद्यशः। विना येनैव धर्मादिज्ञानेन असौ भगवान् न तुष्येत तदेव दर्शनं ज्ञानं खिलं न्यूनं मन्येऽहम् ॥ ८ ॥

---

1 B.H.V °मः 2 H.V add पृच्छिर्द्विकर्मकः 3 A.B omit अनादिसिद्धः 4 B °याऽ° 5 H V °प° 6 H V add भवता 7 H V °त् 8 H.V तत्तदेतत् 9 H.V add शून्यम्

**वीर**० एवमापृष्टः आह व्यासः **अस्ति** इत्यादिभिः त्रिभिः। त्वयोक्तं सर्वमिदं "जिज्ञासितं सुसम्पन्नं" इत्यादिनोक्तं मम अस्त्येव, तथापि मम आत्मा न परितुष्यते। तस्य असन्तोषस्य मूलं निमित्तं, अव्यक्तं न मया ज्ञातम्। अतः त्वामेव अगाधबोधं अपारज्ञानं सर्वज्ञमिति यावत्। आत्मभवः ब्रह्मा तस्य आत्मनः शरीरात् उत्सङ्गात् उद्भूतं पृच्छामहे॥ ५॥

नाहं जानामीति मावोचः, इत्यभिप्रायेणाह — **स वा** इति। सः वै ज्ञानिनां अग्रणीः भवान्[1] समस्तं गुह्यं देहिनां अन्तर्गतं वेद जानाति। कुतः? यत् यस्मात् त्वया पुराणः पुरुषः सर्वजगत्कारणभूतः सर्वज्ञः[2] परमपुरुषः उपासितः। कथं परमपुरुषोपासनमात्रेणाहं जानीयाम् इत्यत्राह परावरेशः परे ब्रह्मादयः अवरे यस्मात् स च असौ ईशः सर्वनियन्ता भगवान् मनसैव सङ्कल्पमात्रेणैव विश्वं सृजत्यवत्यत्ति संहरति च। अथापि गुणैः सत्त्वादिभिः न सज्यते इत्यसङ्गः। स्वसङ्कल्पकृतजगदुदयविभवलयलीलस्य सर्वनियन्तुः सर्वप्राण्यन्तर्गतवस्तुवेदित्वात् यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषः भवतीति न्यायेन ईश्वरवत् सर्वमुक्तप्रायः त्वमपि जानास्येव इति भावः॥ ६॥

एतदेव उपपादयन् असन्तोषनिमित्तं वद इत्याह — **त्वम्** इति। त्वं अर्कः सूर्य इव त्रिलोकीं पर्यटन् बहिष्ठवस्तुद्रष्टा, वायुरिव अन्तश्चरः ज्ञानव्याप्त्या सर्वेषामन्तश्चरन् आत्मसाक्षी आत्मनः अन्तःकरणस्य साक्षी साक्षात्[3] द्रष्टा हृद्गतार्थवेदीत्यर्थः। अतः, परं च अवरं च तयोः समाहारः तस्मिन् ब्रह्मणि परे ब्रह्मणि तदावेदके वेदाख्ये ब्रह्मणि च विषये धर्मतः निवृत्तिधर्मैः व्रतैः काण्डव्रतादिभिश्च स्नातस्य पारङ्गतस्य समाप्तधर्मव्रतस्य इत्यर्थः। मम न्यूनं असन्तोषरूपं अलं विचक्ष्व। न्यूनशब्दस्तद्धेतावुपचाराद्वर्तते। न्यूनहेतुं विचक्ष्व। चक्षिः दर्शनेऽपि वर्तते। पश्य आलोचय इत्यर्थः। अलं द्रष्टुं समर्थः त्वम्। यद्वा न्यूनमिति भावप्रधानो निर्देशः। अलं अधिकं न्यूनं न्यूनत्वं विचक्ष्व। अथवा चक्षिः भाषणार्थः एव न्यूनताहेतुं विचक्ष्व इत्यर्थः। इत्थं प्रचोदित आह भगवान् नारदः यावदध्यायसमाप्ति॥ ७॥

"किं वा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः" (भाग. 1-4-31) इति तदुत्प्रेक्षितमेव तावत् असन्तोषहेतुमाह — **भवता** इति द्वाभ्याम्। अमलं शृण्वतां वदतां च अखिलदुरितापहं भगवतः यशः भवता अनुदितप्रायं प्रायेण अवर्णितमित्यर्थः। प्रायग्रहणेन भारते प्रासङ्गिकतया अप्राधान्येन भगवद्यशः क्वचित् क्वचित् उदितं, न तु कृत्स्नप्रबन्धानुसूतत्वेन प्राधान्येन चोदितमिति सूच्यते। येन भगवद्यशोऽनुवर्णनेनैव[4] असौ तवाऽऽत्मा न तुष्येत। असौ तवाऽऽत्मा भगवान् वा न तुष्येत भगवदपरितोषेऽपि सति तन्नियम्यं[5] त्वदीयं अन्तःकरणमपि न तुष्यत्येवेति भावः। यद्वा येनैव कारणेन न तुष्येत असौ तवाऽऽत्मा भगवान् वा तत्कारणं किमिति चेत्, खिलं न्यूनं तद्दर्शनमेव भगवद्दर्शनमेव भगवत्स्वरूप[6]गुणविभूतियाथात्म्यज्ञानपूर्वकं प्राधान्येन तद्वर्णनाभाव एवेति मन्य इत्यर्थः॥ ८॥

---

1 B भगवान् 2 W adds सर्वज्ञस्य 3 A B omit साक्षात् 4 A B °र्णितैनै° 5 W °या° 6 W adds °रूप°

**विज०** एवं नारदेन पृष्टः अपरिमितज्ञानस्वरूपोऽपि अज्ञवत् दुष्टजनमोहनाय तत्कारणं तमेव पृच्छतीत्याह — **अस्त्येव** इति। हे नारद! त्वया उक्तं इदं सर्वं मे अस्त्येव, न किञ्चिदवशिष्टमस्ति ; तथापि मे आत्मा मनः न परितुष्यते नालम्बुद्धिं प्राप्नोति। तुष्यतीति वक्तव्ये तुष्यते इति प्रयोगात् अज्ञजनमोहनार्थमेव हरिणा प्रश्नः क्रियते न अज्ञानात् इति महान् विशेषः विज्ञायते। आत्मनः विष्णोः भवतीत्यात्मभवः ब्रह्मा, तस्य आत्मनः शरीरात् उद्भूतः उत्पन्नः आत्मभवात्मभूतः[1] ब्रह्मपुत्रः इत्यर्थः ; आत्मनि भवतीति वा। त्वा इति त्वां अव्यक्तं सूक्ष्मं तस्य अपरितोषस्य मूलं कारणं पृच्छामहे। अल्पज्ञश्चेत् प्रश्नोत्तरं कथं ब्रूयादिति तत्राह अगाधेति। अपरिमितज्ञानं प्रश्नोत्तरवचनसमर्थं इत्यर्थः। अत्रापि समित्युपसर्गमन्तरेण पृच्छतेरात्मनेपदप्रयोगेण नारदस्य ज्ञानं चुलुकजलपरिमितं व्यासज्ञानं प्रलयसमुद्रवत् अपरिमितमिति तात्पर्यं शब्दज्ञैरेव ज्ञायते। आत्मभुवात्मभूतमिति केचित् पठन्ति तत्र उवङादेशः छान्दसः ॥ ५ ॥

नारदस्य स्वात्मानलम्बुद्धिहेतुवेदनकारणं वक्ति इत्याह — **स वा** इति। यः गुणैः विरचितशरीर-गतसुखदुःखफलसङ्गरहितः विश्वं मनसैव स्वतन्त्रसाधनान्तरनिरपेक्षतया सृजति अवति संहरति सः परावरेशः मुक्तामुक्तप्रपञ्चयोः ईशः इति परावरेशः। जगदुत्पत्तेः पुराप्यस्तीति पुराणः, पुरं अणतीति वा, पुरूणि कर्मफलानि सनोति ददाति इति पुरुषः उपासित इति। अतः भवान् समस्तगुह्यं वेद इत्येकान्वयः एतदुक्तं भवति — चतुर्मुखप्रियपुत्रत्वात् तवैव सर्वजगत्सृष्ट्यादिकर्तृभगवदुपासकत्वेन सर्वज्ञत्वात् तत्प्रसादात् अस्मदनलम्बुद्धिहेतुवेदनमस्ती-ति ॥ ६ ॥

तव भगवत्प्रसादेन जनितापरोक्षज्ञानेन सर्वत्र अव्याहतगतिकर्मणा च योगप्रभावेन सर्वप्राणिशरीरान्तश्चरणेन च अनलम्बुद्धिहेतुवित्त्वमित्याह — **त्वम्** इति। त्रिलोकीं पर्यटन् अर्क इव त्रिलोक्यां अव्याहतगतिः सर्वप्राण्यन्तश्चरः वायुरिव आत्मसाक्षी सर्वजीवबुद्धिवर्तिवृत्तज्ञः त्वं परे ब्रह्मणि तथा अवरे तत्प्रतिपादकवेदाख्यशब्दब्रह्मणि धर्मतः वेदोक्तभगवद्धर्मानुष्ठानेन तदधिकारोपपादकवेदव्रतादिभिश्च अनुष्ठापितैः लोकमोहाय च मया अनुष्ठितैः स्नातस्य कृतकृत्यस्य मे अवतारप्रयोजनं न्यूनं नितरां उर्वरितं अलं यथा भवति तथा विचक्ष्व विशिष्टतया ब्रूहीत्येकान्वयः ॥ ७ ॥

नारदोऽपि सर्वज्ञस्य व्यासस्य हृदि स्थिताभिप्रायं विद्वान् तत्प्रसादमादित्सुरवतारप्रयोजनं वक्तीत्याह — **भवता** इति। हे व्यास! भवता भगवतः हरेः अमलं यशः अनुदितप्रायं बहुत्वेन न प्रतिपादितं, येन अनुदितेन यशःप्रतिपादकशास्त्रेण असौ भवत आत्मा नैव तुष्येत. अहं तस्य यशसः प्रतिपादकं शास्त्रं खिलं उर्वरितं मन्य इत्यन्वयः ॥ ८ ॥

---

1 M °त° 2 K °रूनावतार°

**रा० कृ०** तदा व्यासः नारदं एवमाह। हे नारद! त्वया उक्तं सर्वं इदं मे मम अस्त्येव। तथापि मे आत्मा शारीरः मानसः अपीति भावः, न परितुष्यते। तन्मूलं तस्य अपरितोषस्य मूलं कारणं अव्यक्तं अस्फुटम्। अतः आत्मभवात्मभूतम्। अत्र आत्मभवात्मभूतशब्दस्य यद्यपि ब्रह्मात्मज इत्येवार्थः प्राचीनैः सर्वैः कथितः, तथापि आत्मभवस्य स्वयम्भुवः परमात्मनः आत्मभूतं तत्स्वरूपभूतं निरन्तरब्रह्मतादात्म्यभावनया ब्रह्मभूतं इत्यर्थोऽपि ग्रहीतुं शक्यते। "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मुण्ड. उ. 3-2-9) इत्युक्तेः। अपि च एते नारदादयः अयोनिजाः केवलप्रज्ञामयरूपिणः तत्तल्लोकेषु तत्तद्व्यनिर्मितदेहानपि कार्यवशात् धारयन्ति। निर्वृत्ते च कार्ये विसंहिताकृतयः परमाणुभावं प्राप्य सर्वत्र सञ्चरन्ति नारदस्यायं सार्वत्रिकः सञ्चारः अनन्तरश्लोके स्फुटीभविष्यति। अगाधबोधं गम्भीरज्ञानं त्वा त्वां पृच्छामहे। पृच्छामह इति बहुवचनं विनेयजनबाहुल्यद्योतकम्॥ ५॥

यः परावरेशः परे ब्रह्मरुद्रादयः उत्कृष्टाः। अवरे अस्मदादयः न्यूनाः। तेषां ईशो नियन्ता मनसैव सङ्कल्पमात्रेणैव विश्वं सृजति, अवति रक्षति, अत्ति संहरति। तथापि गुणैः असङ्गः सङ्गरहितः वर्तत इति शेषः। सः पुराणः सर्वकारणभूतः पुरुषः यत् यस्मात् उपासितः त्वया इति शेषः। स वै भवान् समस्तगुह्यं सर्वमपि रहस्यं वेद जानाति। अत्र पुराणपुरुषः नानावतारधारी भगवान् विष्णुरेव। तदुपासनञ्च सामगानधर्मोपतः भक्तियोगः॥ ६॥

त्वं त्रिलोकीं पर्यटन् अर्क इव सर्वदर्शीति शेषः। वायुरिव योगबलेन प्राणवायुरिव सर्वभूतानां अन्तश्चरन् आत्मसाक्षी बुद्धिवृत्तिज्ञः असीति शेषः। अतः परावरे परे ब्रह्मणि अवरे वेदात्मके ब्रह्मणि च क्रमेण धर्मतः ध्यानयोगेन व्रतैः स्वाध्यायनियमैः स्नातस्य निष्णातस्य मे मम यत् न्यूनं अपरितोषकारणं तत् अलं सम्यक् विचक्ष्व कथय।

अत्र अर्कचरिता त्रिलोकी भौतिकमानसिकाध्यात्मिकमयी। सैव भूर्भुवस्सुवर्लोकसंज्ञया यथाक्रमं व्यवह्रियते। एतांश्च लोकान् अध्यासते यथाक्रमं वसुरुद्रादित्यनामकदेवताः।

प्रज्ञामयाकृतिः नारदश्च उच्छ्वासनिश्वासद्वारेण ओङ्काराकारः प्राणिनां अन्तः प्रविशति। एवं सः प्रणवोपासनया नारायणत्वं प्रापितेषु असंख्याकप्राणिषु युगपन्नारायणमयः वर्तते। इत्थं श्रीकृष्णः वेणुगानमहिम्ना गोगोपालकादिभ्यः अपि स्वसान्निध्यमन्वग्रहीत्। एवमेव गौतमबुद्धः क्रीस्तुप्रभुरपि यथायथं स्वनिर्याणसमये स्वस्मै सर्वं समर्प्य समाश्रितेभ्यः स्वसान्निध्यं अयच्छत् इति ज्ञायते। तथा च प्रागुक्तरीत्या ब्रह्मविदः नारदस्य ब्रह्मभूतत्वसिद्धिः पुनरपि दृढीकृता। तेन अस्य सर्वान्तर्यामिता अत्र निरूपिता। इत्थं सर्वान्तर्यामिताप्रयुक्तसर्वज्ञताशाली नारदः "किं वा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः" (भाग. 1-4-31) इति व्यासोत्प्रेक्षितमेव तावत् असन्तोषकारणं ब्रवीति॥ ७॥

अमलं दुरितापहं भगवतः यशः भवता अनुदितप्रायं प्रायशः अनुक्तमित्यर्थः। अतः सन्तोषः न जात इति शेषः। येनैव धर्मादिज्ञानेन असौ सर्वान्तर्यामी भगवान् न तुष्येत्। तद्दर्शनन्तु तज्ज्ञानन्तु खिलं शून्यं मन्ये॥ ८॥

**यथा धर्मादयश्चार्था मुनिवर्यानुकीर्तिताः ।**
**न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः ॥ ९ ॥**

**न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित् ।**
**तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसाः न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः ॥ १० ॥**

**तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।**
**नामान्यनन्तस्य यशोङ्कितानि यत् शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥ ११ ॥**

**नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम् न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।**
**कुतः पुनश्शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥ १२ ॥**

1. K,M °योह्यर्थाः 2 H,V °वर्णिताः 3 K,W त° 4 K,M न 5 W °ही° 6 V वि°, K,M न्यपतन्मिङ्क्षया 7 K,M स वाग्वि°

**श्रीध०** नन् भगवद्यश एव तत्र तत्रानुवर्णितं तत्राह — **यथा** इति। चशब्दाद्धर्मादिसाधनानि च। तथा धर्मादिवत् प्राधान्येन वासुदेवस्य महिमा न ह्युक्त इत्यर्थः ॥ ९ ॥

वासुदेवव्यतिरिक्तान्यविषयज्ञानवदेव अन्यविषयं वाक्चातुर्यं च खिलमेवेत्याह — **न** इति। चित्रपदमपि यद्वचः हरेः यशः न प्रगृणीत, तद्वायसं तीर्थं काकतुल्यानां कामिनां रतिस्थानं उशन्ति मन्यन्ते। कुतः ? मानसाः **सत्त्वप्रधाने** मनसि वर्तमाना हंसा यतयः यत्र न निरमन्ति कर्हिचिदपि नितरां न रमन्ते। उशिक्क्षयाः उशिक् कमनीयं ब्रह्म क्षयः निवासः येषां ते। यथा प्रसिद्धा हंसा मानसे सरसि चरन्तः कमनीयपद्मखण्डनिवासाः त्यक्तविचित्रान्नदियुक्तेऽपि उच्छिष्टगर्ते काकक्रीडास्थाने न निरमन्त इति श्लेषः ॥ १० ॥

विनापि पदचातुर्यं भगवद्यशःप्रधानं वचः पवित्रमित्याह — **तत्** इति। तद्वाग्विसर्गः स चासौ वाग्विसर्गः वाचः प्रयोगः। जनानां समूहः जनता तस्या अघं विप्लावयति नाशयति इति तथा सः। यस्मिन् वाग्विसर्गे अबद्धवत्यपि अपशब्दादियुक्तेऽपि प्रतिश्लोकं अनन्तस्य यशसा अङ्कितानि नामानि भवन्ति। तत्र हेतुः। यत् यानि नामानि साधवः महान्तः वक्तरि सति **शृण्वन्ति**, श्रोतरि सति गृणन्ति, अन्यदा तु स्वयमेव गायन्ति कीर्तयन्ति ॥ ११ ॥

भक्तिहीनं ज्ञानं कर्म शून्यमेवेति कैमुत्यन्यायेन दर्शयति — **नैष्कर्म्यं** इति। निष्कर्म ब्रह्म तदेकाकारत्वात् निष्कर्मतारूपं नैष्कर्म्यम्। अज्यते अनेन इत्यञ्जनमुपाधिः। तन्निवर्तकं निरञ्जनम्। एवम्भूतमपि ज्ञानं उच्यते। भावः भक्तिः तद्वर्जितं चेत् अलं अत्यर्थं न शोभते, सम्यगपरोक्ष्याय न कल्पत इत्यर्थः। तदा शश्वत् साधनकाले फलकाले च अभद्रं दुःखरूपं यत्काम्यं कर्म यदप्यकारणं अकाम्यं तच्चेति चकारस्यान्वयः। तदपि कर्म ईश्वरे नार्पितं चेत् कुतः पुनः शोभते बहिर्मुखत्वेन सत्त्वशोधकत्वाभावात् ॥ १२ ॥

1 V वि° 2 V adds अद्धा 3 H,V कमनीयाब्जषण्डानि विहाय वायसा इव परित्यक्तोच्छिष्टविविधचित्रान्नयुक्ते 4 H,V omit नि° 5 B,H,V °गीश्च 6 H,V °था 7 A,B omit ज्ञानं 8 B adds तावत्; H,V add च 9 H,V न्यून° 10 B,H,V °गपरोक्षाय

**वीर०** 'प्राय' शब्दाभिप्रेतं व्यनक्ति — **यथा** इति। हे मुनिवर्य! धर्मादयः धर्मार्थकामादयः अर्थाः पुरुषार्थाः यथा ससाधनैः अनुकीर्तिता भारते इति शेषः। तथा वासुदेवस्य महिमा ते त्वया नानुवर्णितः॥ ९॥

एवं **तदुत्प्रेक्षितमेवासन्तोषहेतुं दृढीकृत्याऽऽह** — "प्रियाः परमहंसानां त एव ह्यच्युतप्रियाः" (भाग. 1-4-31) **इति तदुत्प्रेक्षितमेव दृढीकर्तुं** भागवतधर्माप्रतिपादकस्य प्रबन्धस्य परमहंसैरनादरणीयत्वं इत्याह — **न** इति। तच्चित्राणि पदानि यस्मिन्। अर्थवैचित्र्यस्याप्युपलक्षणमेतत्। एवंविधमपि यद्वचः वाक्यं, प्रबन्ध इति यावत्। पवित्रं शृण्वतां वदतां च पवित्रत्वापादकं हरेः यशः क्वचिदपि न प्रगृहीत नोपाददीत चेत्, न प्रगृणीतेति पाठे न वदेत् चेत्; प्रबन्धयितृगतं वदनं प्रबन्धे आरोप्य न गृणीत इत्युक्तम्। यद्वा यच्चित्रपदमपि वचः तत्र हरेः यशः न प्रगृणीत चेत् प्रबन्धकर्तेति शेषः। तद्वचः प्रबन्धं वायसं तीर्थं उशन्ति वायसतीर्थतुल्यं इच्छन्ति। तीर्थं विशिंषन्निच्छाफलमाह — यत्र वायसे तीर्थे मानसा हंसा उशिक्क्षयाः कमनीयनिवासाः न निरमन्ति। मानसाख्यसरोवर कमनीयनिवासस्थानविहारिणः मानसहंसा यथा वायसं तीर्थं उच्छिष्टपात्रादियुतरथ्योदकयुक्तं क्षेत्रं वायससञ्चारयोग्यं उशन्ति मन्यन्त इति यावत्। यत्र न निरमन्ति न नितरां रमन्ते क्षणमात्रमपि न तत्र अवतिष्ठन्त इत्यर्थः। तथा उशिक् कमनीयं निरतिशयप्रियं ब्रह्मैव क्षयं आश्रयः येषां मानसाः मनस इमे मानसा ब्रह्मानन्दानुभावकाः हंसाः विशुद्धान्तःकरणाः परमहंसा इति यावत्। तद्वचः वायसं तीर्थं उशन्ति, वायसतुल्यानां कामुकानां अनुभवयोग्यं मन्यन्ते। यत्र न निरमन्ति नाद्रियन्ते न तत्र कर्णं दत्वा शृण्वन्तीत्यर्थः। **उ शिक्षयेति** पाठे उशब्दः अवधारणे परप्रेरणयापीत्यर्थः॥ १०॥

तदेवं भगवद्यशोऽनङ्कितप्रबन्धस्य शब्दतः अर्थतः चित्रपदस्यापि भागवतानुपादेयत्वं उक्तम्। अथ तदङ्कितस्य वैचित्र्यरहितस्यापि प्रत्युत शब्दतः अर्थतश्च दुष्टस्याप्यतीव तदुपादेयत्वमाह — **तत्** इति। प्रतिश्लोकं अबद्धवत्यपि शब्दतः अर्थतश्च दोषवत्यपि यस्मिन् प्रबन्धे अनन्तस्य भगवतः यशसा **अङ्कितानि** चिह्नितानि भगवद्गुणप्रत्यायकानि नामानि नारायणवासुदेवकृष्णादिनामानि दृश्यन्ते इति शेषः, तद्वाग्विसर्गः स वाक्सृष्टिरूपः प्रबन्धः। जनता जनानां समूहः "ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल्" (अष्टा. 4-2-42) इति समूहार्थे तल्प्रत्ययः। 'तलन्तं स्त्रियाम्' (तलन्तः पा. लि. शि. 17) **इति स्त्रीत्वम्**। तस्या अघं पापं विप्लवयति नाशयतीति विप्लवः, अन्तर्भावितण्यर्थात् प्लवेः पचादित्वादच्। **यद्वा** भावे "ऋदोरप्" (अष्टा. 3-3-57) इत्यप्। जनतायाः अघस्य विप्लवः नाशः यस्मात् स तथा। अत एव भागवता उपाददत इति वदन् विशिनष्टि **यच्छृण्वन्ति इति**। यद्वाग्विसर्गं साधवः शृण्वन्ति श्रावयितृसद्भावे, गृणन्ति कथयन्ति श्रोतृसद्भावे, तदुभयाभावे केवलं स्वयं गायन्ति। सामान्याभिप्रायेण यत्तदिति नपुंसकनिर्देशः। शब्ददोषो नाम अनुपस्थाप्यार्थाभिप्रायेण प्रयोगः, यथा **'स्वे'** इत्यस्य ज्ञातिधनाभिप्रायेण प्रयोगः। अर्थदोषः नामानुपस्थापकशब्दोपस्थाप्यत्वं यथा आत्माऽऽत्मीययोः स्वशब्दोपस्थाप्यत्वम्। तदेवं त्रिवर्गतत्साधनप्रतिपादकं प्रबन्धं भागवतानुपादेयं निन्दित्वा भगवद्यशःप्रतिपादकस्यैव तदुपादेयत्वमुक्तम्॥ ११॥

**ननु धर्मादितत्साधनानां अपि पुरुषाभिलषितत्वेन हितत्वात् तन्निरूपणमप्यर्थवदेव इत्याशङ्कायां विषमिश्रपयःप्रशंसातुल्यं तन्निरूपणं** इत्यभिप्रायेणैश्वर्यकैवल्यतत्साधनानां पुरुषार्थत्वतत्साधनत्वं प्रतिक्षिपति — **नैष्कर्म्यं** इति। निर्गतं कर्मणः निष्कर्म निष्कर्मैव नैष्कर्म्य स्वार्थे ष्यञ्। कर्मणः बहिर्भूतं कर्मेतरत् **आत्मयाथात्म्योपासनात्मकज्ञानं** इत्यर्थः। तन्निरञ्जनं रागद्वेषाद्यञ्जनरहितं रागादिभिः अनुपप्लुतं अपि अच्युतस्य भगवतः भावेन भक्तियोगेन वर्जितं चेत्[5] ज्ञानानां मध्ये मलवत् हीनं, अत एव न शोभते। यद्वा नैष्कर्म्यं निरञ्जनं ज्ञानमप्यच्युतभाववर्जितं चेत् **नालं** शोभते नातीव **शोभते** इत्यर्थः। "सर्वे च्यवनधर्माणः प्रतिबुद्धस्तु मोक्षभाक्" (भार. 12-328-31) इति केवलिनः अपि पुनः **च्यवनधर्मत्तिः** तावत् कैवल्यस्य न पुरुषार्थत्वं, नापि **तत्साधनयोगस्य** पुरुषार्थसाधनत्वमिति भावः। यतः नैष्कर्म्यं[7] ज्ञानयोगमेव न शोभते कुतः पुनः तत्कर्म शोभते किं यत्तत्कर्म ईश्वरे न चार्पितं अनर्पितं अभिसंहितार्थकामादिफलं अच्युतभाववर्जितं च इत्यर्थः। अत एव शश्वत् सदा फलानुभवदशायां अनुष्ठानदशायां चाभद्रं दुःखं यस्मिन् **तदनुष्ठानदशायां अभद्रवत्त्वं कायक्लेशाद्यावहत्वेन दुष्टमेव फलदशायामपि पुनःपतनभयशङ्कया अभद्रवत्त्वं अवगन्तव्यम्। यदप्यकारणं निष्कामकर्माप्यच्युतभाववर्जितं चेत् न शोभते। अयमर्थः — ज्ञानयोगः कर्मयोगश्च भगवद्भक्तिवर्जितः न शोभते काम्यं कर्म न शोभते इति कैमुत्न्यायसिद्धमिति॥ १२॥**

---

1 B,W °थ 2 W अभागवतधर्मप्रतिपादकस्य 3 W adds इच्छन्ति 4. W adds च 5 W च ज्ञानमलं 6 W adds °ज्ञान° 7 W °र्म्यज्ञानमेव

**विज०** भारतादिशास्त्रेषु हरियशसः बहूदितत्वात्, कथं खिलं मन्ये इत्युच्यत इति तत्राह — **यथा** इति। हे मुनिवर्य! सर्वज्ञतम! मुनिभिः व्रियत इति वा[1] मुनिवर्य! धर्मादयः पुरुषार्थाः यथा अनुवर्णिताः तथा वासुदेवस्य महिमा नानुवर्णितः, हि यस्मात् तस्मात् अनुवर्णनीयः। धर्मादीनां अल्पकथनेनापि पूर्तिः स्यात् न तथा वासुदेवस्य **महिम्नः** भारतादौ अतिकथितस्यापि सतां तत्र तात्पर्यातिशयात् फलाधिक्याच्च। न **हि सूर्योदयं आकाङ्क्षमाणस्य खद्योतोदयेनेच्छा** निवर्तत इत्येतदर्थं हिशब्देनाह, द्वितीयः हिशब्दः हेत्वर्थः॥ ९॥

धर्मादीनां अल्पकथनेन कथं पूर्तिः स्यादिति तत्राह — **न** इति। यद्वचः जगत्पावनकरं हरेः यशः न गृणीत कर्हिचिदपि न प्रतिपादयेत् तच्चित्रपदमपि चित्राणि पदानि यस्मिन् तत् तथोक्तं तद्वचः शास्त्रं न भवतीत्यर्थः। कुतः? तद्वायसं वयोमात्रानुजीवितार्थं शास्त्रं उशन्ति इच्छन्ति। यत्र काकोच्छिष्टतीर्थे मानसाः प्रेक्षावन्तः **मानसाख्यसरोविहारिणो** वा हंसाः परमहंसाः धवलपक्षाः वा जलपयोविवेककारिणः मिमङ्क्षया विचारलक्षणस्नानेच्छया न न्यपतन् न निपतन्ति न प्रविशन्तीति यथा तथा। यत्र यस्मिन् तीर्थे मानसाः ब्रह्मणः मनसः जाताः सनकादयः हंसाः निर्लेपा इति वा। तस्मात् सज्जनानादरणीयत्वेन धर्मादीनां अल्पकथनेन पूर्तिरिति भावः। विरमन्त्युशिक्षया उशिक् शुद्धं क्षयं स्थानं येषां ते तथोक्ताः। शुद्धं ब्रह्म तदेव क्षयः येषां ते तथोक्ताः इति वा इति पठित्वा केचिद्व्याचक्षते तत् चिन्त्यम्॥ १०॥

वासुदेवमहिम्नः अतिकथितस्यापि कथं न पूर्तिरिति तत्राह — **स वाक्**इति। यस्मिन् निबन्धे प्रतिश्लोकं अपशब्दाद्यबद्धवत्यपि शाब्दिकैः जुगुप्सिते देशकालगुणैः अनन्तस्य हरेः पारिजातहरणाद्यात्मकयशोलाञ्छितानि नारायणादिनामानि सन्ति, साधवः परमभागवताः शुकादयः यच्च शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति स जनतायाः जनसमूहस्य अघं पापं विप्लवयति नाशयतीति जनताघविप्लवः वाचां विसर्गः विशिष्टरचनाविशेषः इत्येकान्वयः। यस्मिन् सति प्रशस्तानि अनन्तस्य नामानि साधवः शृण्वन्ति इति यत् यस्मात् तस्मात् स एव वाग्विसर्गः इति वा। जनतापापविनाशहेतुत्वात् सज्जनगृहीतत्वाच्च वासुदेवमाहात्म्यप्रतिपादकमेव शास्त्रं, नान्यत्। अतः तदेव शास्त्रप्रणेतृभिः रचनीयमिति भावः॥ ११॥

न केवलं वासुदेवमहिमद्योतकयशोङ्कविधुरशास्त्ररचनमेव मोघं, किन्तु हरिभक्तिविरहितनिर्निमित्तज्ञानकर्मणी अपि निष्फले एव इति विज्ञापयतीत्याह — **नैष्कर्म्यं** इति। नैष्कर्म्यं स्वतः निष्कर्मणः मुक्तेः साधनम्। अलं निरञ्जनं विषयसम्मार्जनमलरहितं अत्यन्तविरक्तिमत् वेदार्थविषयं परोक्षज्ञानमपि अच्युतभाववर्जितं भगवद्भक्तिरहितं हरौ अच्युततया निरन्तरभावनया मनोयोजनेन रहितं वा न शोभते, अधिकारिणः अभीष्टफलं न प्रकाशयति बन्धकतया शश्वत् सर्वदा अभद्रं अमङ्गलं ईश्वरे हरौ न चार्पितं कर्म न शोभते इति, कुतः पुनः किमु वक्तव्यम्? यद्यपि अकारणं फलकामनादिविधुरं तथापीत्यर्थः। शश्वदभद्रं अनुष्ठानकाले फलकाले वा मङ्गलं यत्काम्यं कर्म न शोभते इति कुतः पुनः यदप्यकारणं नित्यं कर्म हरौ नार्पितं चेत् तत्र शोभते इति किं वक्तव्यमिति वा। अच्युतभाववर्जितमित्यनेन अपरोक्षज्ञानस्य भक्तिसाधनत्वात् परोक्षोपपदमेवात्र ज्ञानं विवक्षितमिति ज्ञायते॥ १२॥

---

1 B.K.M add मुनिवरप्राप्य इति वा

**रा॰ कृ॰** हे, मुनिवर्य, व्यास, किञ्च धर्मादयः धर्मार्थकाममोक्षाख्याः अर्थाः पुरुषार्थाः यथा अनुवर्णिताः पुनः पुनः वर्णिताः, तथा वासुदेवस्य सर्वान्तर्यामिणः भगवतः महिमा न अनुवर्णितः धर्मादिवत् प्राधान्येन नोक्तः।

अत्र वासुदेवपरितोषजनकं ज्ञानं व्यर्थं इति कथितम्, किं तद्भवति? उच्यते — सर्वकारणस्य सर्वान्तर्यामिणः वासुदेवस्य पार्थक्येन न कस्यापि वस्तुनः अस्तित्वम्। तथा च धर्मादीनां वासुदेवमयत्वेन ज्ञानमेव सार्थकम्, तदेव वासुदेवतोषनिदानं च।

अपि च व्यासेन धर्मादयः पुरुषार्थत्वेन पाद्मब्रह्माण्डादिपुराणेषु वर्णिताः पुरुषार्थशिरोमणिः वासुदेवमहिमा तु पुरुषार्थत्वेनापि न वर्णितः। किन्तु पुरुषार्थभूत मोक्षसाधनत्वेनैव वर्णितः सोऽयं महान् प्रमादः एव चित्तस्य अप्रसादं जनयति।

यद्यपि धर्मादीनां पुरुषार्थानां अनुष्ठेयतया अनुवर्णनं समुचितं, तथापि वासुदेवमहिमानुप्रवेशेनैव सार्थक्यं तदनुवर्णनस्य। तस्मात् वासुदेवमहिमानुवर्णनं उपसर्जनीकृत्य प्रधानतया धर्मादिवर्णनं अनुचितमेव। तदेवं कर्तव्याकरणमेव चित्ताप्रसत्तेः कारणम्।

अत्रेदं अनुसन्धेयम् — वासुदेवमहिमानुवर्णनं नाम आनन्दघनस्य वासुदेवस्य सर्वान्तर्यामिणः महिम्नः अस्तित्वरूपस्य अनुवर्णनं अनुसन्धानमेव। विना च नैरन्तर्येण तादृशवासुदेवास्तित्वानुसन्धानं केवलधर्माद्यनुवर्णनं न चित्तप्रसादमावहति पार्यन्तिकसुखस्वरूपवासुदेवमयधर्मानुसन्धानस्यैव चित्तप्रसत्तिहेतुत्वात्। न खलु स्मृतमात्रं मधुगतं माधुर्यं विना आस्वादनं जिह्वया अनुभवविषयीभवति।

एवं वासुदेवमहिमा तद्भक्तेषु गुणत्वेन आत्मानं अभिव्यनक्ति। तेन च भगवत्सान्निध्यसिद्धिः। लोके च सज्जनगुणानुसन्धानेन तद्रूपनारायणश्च सन्निधत्ते अस्माकम्। तेन चित्तप्रसादः समाध्यपरपर्यायः प्राप्यते। एतदनुसन्धानव्यतिरेकिणः केचित् साधून् अविगणय्य केवलसमाधिमहत्त्वमनुचिन्तयन्तः तत्साधने च परिश्रान्ताः सन्तः विना समाधिसुखं कालान्तं भजन्ते। केवलविज्ञानापेक्षया शास्त्राध्ययनं कुर्वतां विदुषां एषैव गतिः। कदाचित् अभ्यासवशेन प्रवृद्धे अभिमानेऽपि ते आनन्दभ्रमं कुर्वन्ति। तथाहि — सुरापानादिकं अभ्यासबलेन आनन्दाभासं जनयति। ईदृशाभ्यासानुबन्ध एव सङ्गः। अथवा कर्मबन्ध इति कथ्यते। एतस्मात् मानवान् विमोचयितुं सत्साङ्गत्यसज्जनगुणश्रवणकीर्तनादिकं प्रभवति न तु धर्मानुवर्णनम्।

एवमत्रापि "भारतादिग्रन्थेषु तत्तत्कथामुखेन केवलधर्मवर्णन परायणो भवान् चित्तप्रसादनिदानं भागवतधर्मानुवर्णनं नाकरोत्" इति नारदः व्यासं वासुदेवमहिमानुवर्णने अवहितं विदधाति॥ ९॥

चित्रपदं यमकोत्प्रेक्षाद्यलङ्कारयुक्तमपि यद्वचः जगत्पवित्रं हरेः हरेः यशः कर्हिचित् कुत्रापि न प्रगृणीत न वदेत् चेत् तद्वचः काव्यं इत्यर्थः। वायसं काकतुल्यकामिसम्बन्धि तीर्थं रतिस्थानं उशन्ति मन्यन्ते। कुत इति चेत्, यत्र काव्ये मानसाः भगवन्मये सत्त्वप्रधाने मानसि स्थिताः उशिक्क्षयाः कमनीयनिवासाः ब्रह्मनिवासा इत्यर्थः। हंसाः यतयः न निरमन्ति तरां न रमन्ते। अन्यार्थस्तु — मानसाः मानससरसि चरन्तः उशिक्क्षयाः कमनीयकमलषण्डवासिनः हसाः यत्र काकक्रीडास्थाने परित्यक्तविविधचित्रान्नयुक्ते अपि उच्छिष्टगर्ते न रमन्ते इति॥ १०॥

अबद्धवत्यपि अपशब्दादिसहितेऽपि यस्मिन् वाग्विसर्गे प्रतिश्लोकं श्लोके श्लोके अनन्तस्य श्रीविष्णोः यशोऽङ्कितानि यशसा चिह्नितानि नामानि सन्ति यत् यानि नामानि साधवः सत्पुरुषाः शृण्वन्ति वक्तरि सतीति शेषः। गृणन्ति कथयन्ति श्रोतरि सति इत्यध्याहार्यम्। गायन्ति अन्यदा तु स्वयमेव कीर्तयन्ति। तद्वाग्विसर्गः सः वाक्प्रबन्धः जनताघविप्लवः जनसमूहपापनाशकः भवति।

शास्त्राणि तावत् विधिनिषेधबहुलानि। तत्र शब्दसाधुत्वासाधुत्वनिर्णायकं व्याकरणम्। तच्च "प्रयोगशरणाः वैयाकरणाः" इति न्यायेन प्रयोगाधीनम्। यत्पदं बहुभिः प्रयुक्तं रूढं भवति तत् सदिति तदन्यदसत् इति तन्निर्णयः। वस्तुतस्तु शास्त्रदृशा अपशब्दोऽपि भगवद्भक्तिप्रबोधकश्चेत् साधुरेव। शास्त्राणां मान्यता च ईश्वरतत्त्वज्ञानैकनिबन्धना॥ ११॥

नैष्कर्म्यं निष्कर्मतारूपं निरञ्जनं अविद्यारहितमपि ज्ञानं अच्युतभाववर्जितं भगवद्भक्तिशून्यं चेत् अलं अत्यन्तं न शोभते। शश्वत् सदा साधनसमये फलकाले च अभद्रं दुःखात्मकं यत्कर्म काम्यं इति शेषः। यदप्यकारणं काम्यभिन्नं तदुभयविधं कर्म ईश्वरे नार्पितं चेत् कुतः पुनः शोभते नैव शोभत इत्यर्थः॥ १२॥

**अथो[1] महाभाग! भवानमोघदृक् शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः।**
**उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम्[2]॥ १३॥**

**ततोऽन्यथा[3] किञ्चन यद्विवक्षतः[4] पृथग्दृशस्तत्कृतरूपनामभिः।**
**न कुत्रचित्[5] क्वापि च दुःस्थिता मतिः लभेत वातोहतनौरिवास्पदम्॥ १४॥**

**जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः[6] स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः।**
**तद्वाक्यतो धर्म इतीरितः स्थितः न मन्यते तस्य निवारणं जनः॥ १५॥**

**विचक्षणोऽस्याऽर्हति[7] वेदितुं विभोः अनन्तपारस्य निवृत्तितस्सुखम्।**
**प्रवर्तमानस्य गुणैरनात्मनः ततो भवान् दर्शय चेष्टितं विभोः[8]॥ १६॥**

---

1 H,K,M,V °तो; W °हो 2 H,K,M,V य° 3 K,M,W अ° 4 K,M °क्षितं 5 B,H,I,K,M,V कर्हि° 6 K,M °नं 7 H,V °णः-कोऽर्हति 8 B,N भो!

**श्रीध०** तदेवं भक्तिशून्यानि ज्ञानवाक्चातुर्यकर्मकौशलानि व्यर्थान्येव यतः, अतः हरेः चरितमेव अनुवर्णय इत्याह — **अथो** इति। अथो अतः कारणात्। अमोघा यथार्था दृक् धीः यस्य, शुचि शुद्धं श्रवः यशो यस्य, सत्ये रतः, धृतानि व्रतानि येन सः भवान् एवं महागुणस्तावत्। अतः उरुक्रमस्य विविधं चेष्टितं लीलां समाधिना चित्तैकोग्र्यण अखिलस्य बन्धमुक्तये त्वं अनुस्मर स्मृत्वा वर्णय इत्यर्थः। एतच्च वाक्यान्तरमिति मध्यमपुरुषप्रयोगः नानुपपन्नः॥ १३॥

विपक्षे दोषान्तरमाह — **तत** इति। ततः उरुक्रमचेष्टितात् पृथक्दृशः अत एव अन्यथा प्रकारान्तरेण यत्किञ्चत् अर्थान्तरं विवक्षतः तया विवक्षया कृतैः स्फुरितैः रूपैः नामभिश्च वक्तव्यत्वेन उपस्थितैः **दुःस्थिता अनवस्थिता** सती मतिः कदाचित् क्वापि विषये आस्पदं स्थानं न लभेत, वातेन आहता आघूर्णिता नौरिव। तदुक्तं गीतासु "व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्"॥ (भ. गी. 2-41) इत्यादि॥ १४॥

तदेवं हरियशो विना भारतादिषु कृतं धर्मादिवर्णनं अकिञ्चित्करं इत्युक्तं, प्रत्युत विरुद्धमेव जातमित्याह — **जुगुप्सितम्** इति। जुगुप्सितं निन्द्यं काम्यकर्मादि स्वभावत एव रक्तस्य तत्र रागिणः पुरुषस्य धर्मकृते धर्मार्थमनुशासतः तव महानयं व्यतिक्रमः अन्याय्यः[2]। कुत इत्यतः आह। यस्य वाक्यतः अयमेव मुख्यः

धर्मः इति स्थितः इतरः प्राकृतः जनः तस्य काम्यकर्मादेः अन्येन तत्त्वज्ञेन क्रियमाणं निवारणं स्वयमेव वा त्वया क्रियमाणं यद्वा "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" (म. ना. उ. 10-5) इति श्रुत्या क्रियमाणं निवारणं, यथार्थमेतदिति न मन्यते। किन्तु प्रवृत्तिमार्गनिधिकृतविषयं तदिति कल्पयति। तदुक्तं मतान्तरोपन्यासे भाट्टैः "तत्रैवं शक्यते वक्तुं येऽन्धपङ्गुदयो नराः। गृहस्थत्वं न शक्ष्यन्ति कर्तुं तेषामयं विधिः। नैष्ठिकब्रह्मचर्यं वा परिव्राजकतापि वा। तैरवश्यं ग्रहीतव्या तेनादावेतदुच्यते" इत्यादि॥ १५॥

ननु यद्येवं प्रवृत्तिमार्गः निन्द्यते तर्हि निवृत्तिमार्गे सर्वक्रियात्यागेनैव पारमेश्वरसुखस्वरूपानुभूतेः[7] किं तद्यशःकथनेनापि, तत्राह — **विचक्षण** इति। विचक्षणः[8] निपुणः कश्चिदेव निवृत्तितः सर्वक्रियानिवृत्त्या अस्य विभोः सुखं निर्विकल्पकसुखात्मकं स्वरूपं वेदितुं ज्ञातुमर्हति, न पुनः अविचक्षणः प्रवृत्तिस्वभावः। विभुत्वे हेतुः, अनन्तः कालतः देशतश्च पारं न यस्य तस्य विभोः चेष्टितम्। ततः कारणात् हे विभो![10] अनात्मनः देहाद्यभिमानिनः अत एव गुणैः सत्त्वादिभिः प्रवर्तमानस्य जनस्य दर्शय। भवानिति त्वमित्यर्थः। पाठान्तरे हे भवन्निति सम्बोधनम्॥ १६॥

---

1. H,V लीलावैचित्र्यं 2 H,V add शास्त्रोल्लङ्घनमित्यर्थः। 3. H,V add तव 4 H,V add अग्रे 5. H,V एतदिति 6. H,V गृहीतव्यं
7 B °तिः 8 B adds °ऽति° 9 H,V नास्त्यन्तः कालतः पारं च देशतः यस्य 10 H,V भोः

**वीर**° तदेवं लोकहितार्थं प्रवृत्तस्य तव केवलत्रिवर्गतत्साधननिरूपणं उचितं इत्युक्तं भवति। यतः त्रैवर्गिककर्मणः अनर्थगर्भत्वं अतः त्वं अखिलानिष्टपरिहारेष्टप्रापणक्षम भगवद्भक्तियोगनिष्पादक तच्चेष्टितज्ञानजनकं प्रबन्धं कुरु इत्याह — **अहो** इति। हे महाभाग! भाग्यमत्र भगवदंशभूतत्वं, अखिलनिगमद्रष्टृत्वं च। भवान् सत्यरतः सत्यं भूतहितं तस्मिन् रतः, न केवलं सत्यरतः एव अपि तु अमोघदृक् सत्यमूलममोघमवितथं पश्यतीति तथाभूतहिताचरणोपयुक्तज्ञानसम्पन्नश्च इत्यर्थः। न केवलं अमोघदृगेव अपितु धृतव्रतः धृतं सङ्कल्पितं व्रतं सत्यार्थदीक्षारूपं येन सः भूतहिताचरणाय बद्धदीक्ष इत्यर्थः। *'कथमेवमहो भाग्यं ज्ञायते' इत्यतः विशिनष्टि — शुचिश्रवाः, शुचि विशुद्धं श्रवः "लोकहितार्थं अवतीर्णः व्यासः" इत्येवंविधा प्रथा यस्य सः। हेतुगर्भाणि एतानि विशेषणानि एवंविधस्यानर्थगर्भत्रैवर्गिकनिरूपणं अनुचितं इति भावः। उक्तविधस्त्व उरुक्रमस्य उरवः विपुलाः क्रमाः पादविन्यासाः त्रिलोके यस्य तस्य भगवतः यद्विचेष्टितं[5] तदेव नृणां अखिलानां बन्धानां गर्भजन्ममरणादिरूपाणां मुक्तये बन्धेभ्यः मुक्तये वा समाधिना अनुस्मर सम्यक् आलोचनपूर्वकं प्रबधान इत्यर्थः॥ १३॥

एवं चेत् त्वदात्मनि असन्तोषः निवर्तेत[6] नान्यथा इत्याह — **अत** इति। अतोऽन्यथा उरुक्रमचेष्टकथनात् अन्यथा वैपरीत्येन तत्कृतरूपनामभिः पृथग्दृशः पृथग्भूतान् सम्बन्धरहितान् अर्थान् विवक्षतः वर्णयतः तव अत एव दुसःस्थिता मतिः कदाचिदपि क्वचिदपि यत्किञ्चिदपि आस्पदं प्रतिष्ठां[7] अव्याकुलतामिति यावत्; न लभेत प्रत्युत व्याकुलैव भवतीत्यर्थः। यद्वा तंतोऽन्यथा यत्किञ्चन विवक्षसे चेन्नानाविधार्थदर्शिनः[9] ते मतिः[10] क्वापि तत्कृतरूपनामभिः। कृतमिति[11] भावे क्तः, कर्म इत्यर्थः। तस्य उरुक्रमस्य कर्मरूपनामभिः हेतुभिः आस्पदं प्रतिष्ठां न लभते। बुद्धेः

अव्याकुलत्वं नाम भगवत्कर्मरूपनामगोचरत्वं तत् न सिध्यतीत्यर्थः। यथा वातेन वायुना आहता उत्पथं नीता नौः आस्पदं न लभते तद्वत्। यद्वा अतः उरुक्रमात् अन्यथा[12]सत्त्वेन उरुक्रमानात्मकत्वेन अब्रह्मात्मकस्वतन्त्रवस्तुत्वेनेति यावत्। यत्किञ्चन वस्तु विवक्षतः वर्णयितुं इच्छतः अत एव तत्कृतैः उरुक्रमकृतैः देवमनुष्यादिरूपनामभिः हेतुभिः पृथग्दृशः पृथग्दृष्टेः तव अत एव दुसःस्थिता मतिः क्वापि कर्हिचिदपि आस्पदं न लभेत[13]। यत्किञ्चन विवक्षितं चेत् तदुरुक्रमात्मकतया तद्विभूतित्वेनैव वर्णयेः[14] चेत् तव मतिः सुस्था सती आस्पदं लभेत[15]। अतदात्मकतया स्वतन्त्रवस्तुत्वेन वर्णयितुं उद्युक्तं[16] चेत् तर्हि अत एव पृथग्दृष्टेः तव दुसःस्थिता सती मतिः आस्पदं न लभेत[17] इत्यर्थः। प्राधान्येन उरुक्रमचेष्टितं वर्णनीयं तत्प्रसङ्गादपि यत्किञ्चिद्वस्तु वर्णयितुं इष्टं, तदपि तद्विभूतितयैव वर्णनीयम्। एवं चेत् मतिः अव्याकुला अन्यथा तु व्याकुला भवतीति भावः॥ १४॥

भूतहिताचरणार्थं[18] प्रवृत्तः त्वं अहितं एव कृतवान् असि इत्याह — **जुगुप्सितं** इति। स्वभावरक्तस्य इत्यर्थकामयोः[19] इत्यादिः अर्थकामयोः स्वभावतः एव रक्तस्य जनस्य धर्मकृते अर्थकामसाधनधर्मार्थं अनुशासतः भारतनिर्माणद्वारा बोधयतः तव अयं महान् व्यतिक्रमः चिकीर्षितविपरीतानुष्ठानरूपः आपतितः। भूतहितं चिकीर्षितं अधुना तद्विपरीतमेव कृतं इत्ययं महान् व्यतिक्रमः इत्यर्थः। अतः इदं जुगुप्सितं निन्दितं कृतम्। स्वभावतः एव अर्थकामपारवश्यमूलक तापत्रयाभिहतं जनं प्रति पुनरर्थकामसाधनमेव अनुतिष्ठ इत्यनुशासनं निन्दितं इति भावः। ननु मयैवं अनुशासने कृतेऽपि स्वरुच्यनुसारात् लोकः निःश्रेयससाधन एव प्रवर्तताम्। भारतेऽपि क्वचित् अर्थकामयोः हेयत्वेन उक्तत्वात् न दोषश्च इत्यतः[20] आह यद्वाक्यत इति। परः कृत्स्नवेदीतरः[21] ततः अर्वाचीनः कृत्स्नवित् जनः यस्य तव वाक्यात् अर्थकामसाधनमेव धर्म इति स्थितः। अर्थकामौ एव निरतिशयपुरुषार्थौ तत्साधनमेव निरतिशय धर्म इत्यध्यवसाययुक्तः[22]। तस्य त्रिवर्गस्य निवारणं न मन्यते। त्वया त्रिवर्गस्य विस्तरेण प्रतिपादितत्वात् त्रिवर्गस्य निवारणं त्वदभिप्रेतं इति जनो न जानातीत्यर्थः॥ १५॥

ननु अकृत्स्नवित् जनः न जानातु नाम कृत्स्नवित्तु मम अभिप्रायं जानात्येव इत्यत आह — **विचक्षण** इति। यदपि अस्य विभोः भगवतः अनन्तपारस्य, कर्मणि षष्ठीयम्। अपारं चेष्टितं विचक्षणः निपुणबुद्धिः निवृत्तिधर्मरतः[23] निवृत्तिधर्मनिष्ठतया सुखं यथा तथा वेदितुं अर्हति। निवृत्तिधर्मनिष्ठः भगवद्वैभवाभिज्ञः दुर्लभ इति भावः। तथापि गुणैः रजआदिगुणमूलकैः रागादिभिः प्रवर्तमानस्य अनात्मनः आत्मज्ञानरहितस्य जनस्य विभोः चेष्टितं दर्शय प्रबन्धनिर्माणेन वर्णय[24] इत्यर्थः। शासनं नाम अज्ञातज्ञापनरूपम्। तत्र अर्थकामयोः क्वचिदपि हेयत्वानुक्तौ अपि विचक्षणः जनः जानात्येव। अतस्तम्प्रति[25] क्वचिदपि अर्थकामयोः हेयत्वज्ञापनं व्यर्थमेव। अविचक्षणं त्वदभिप्रायानभिज्ञं प्रत्यपि तद्वयर्थमेव। अतः विचक्षणजनस्यापि सुखप्रतिपत्तये अर्थकामयोः हेयत्वं भगवच्चेष्टितज्ञानस्य निरतिशयपुरुषार्थ-साधनत्वं च विपुलप्रबन्धनिर्माणेन दर्शय इति भावः॥ १६॥

---

1 A,B परिहारेण प्रायेण भगव° 2 W °त्व° 3 W °महं ज्ञाये इत्यतो 4 W त्रिलोकी सङ्ग्राहका यस्य 5 W adds तत् 6 W निवर्तते 7. A,B omit प्रतिष्ठां 8. W अ° 9 W त° 10. W °विधशास्त्रार्थ° 11. A,B °इम° 12. W अन्यत्वेन 13. W लभते 14. W

वर्णनीयंचे° 15. W लभते 16 W °क्तः 17. W लभते 18 W °र्थं 19 B,W °त्यस्या° 20 W °त्र 21 W °वेदितुः त्वत्तोऽर्वाचीनः 22. W °न° 23. W °धर्मतः 24 W दर्श° 25 W °स्सं° * इदं वाक्यं प्रायशः "कथमेवं महाभाग्यं ज्ञायते" इति भवितुमर्हति इति सम्भाव्यते।

**विज°** अधुना अलम्बुद्धिहेतुं विज्ञापयीत्याह — **अत** इति। हे महाभाग! अपरिमितभाग्यनिधे! उक्तप्रकारेण कर्मज्ञानयोः हरिभक्तिरहितयोः निष्फलत्वात् धर्मादीनां अल्पकथनेनापि पूर्तिः। भगवन्महिम्ना अतिकथितेनापि अपूर्तिरेव इति यतः साक्षात् शुचिश्रवाः विष्णुरेव अत एव सत्ये निर्दुःखानन्दानुभवे रतः शरणागतपालनादिधृतं व्रतं येन स तथा अत एव अमोघज्ञानः अत एव भवान् पूज्यः त्वं सकलसज्जनसंसारबन्धनविध्वंसनाय उरुक्रमस्य बहुपराक्रमस्य तव यत् जगत्सृष्टिपालनादिविशिष्टचेष्टितं तत् समाधिना दर्शनगुह्यसमाधिभेदेन त्रिधा भिन्नानां भाषाणां मध्ये यथास्थितवस्तुकथनलक्षणया समाधिभाषया अनुस्मर भगवन्महिमप्रतिपादकश्रीभागवताख्यग्रन्थं कुरु। तेन कृतावतारप्रयोजनालम्बुद्धिः भविष्यतीति भावः। अखिलधर्मगुप्तये इति पाठे समस्तभागवतधर्मरक्षणाय इत्यर्थः॥ १३॥

केवलधर्मादिविषयशास्त्रकृत्यानर्थोपि भवतीति ज्ञापयतीति आह — **अतोऽन्यथा** इति। अत एव भगवन्महिम्नः अन्यथा विरुद्धतया यद्धर्मादिपुरुषार्थकथनाय विवक्षितं तत्किञ्चन यत्किञ्चि त्र पुरुषार्थोपयोगी कुतः तत्कृतरूपनामभिः तस्मिन् ग्रन्थे धर्मादिफलत्वेन प्रतिपादितस्वर्गादिगतलावण्यादिरूप मदनकलिकेत्यादिनामवत्पदार्थैः पृथग्दृशः ते मम सुखहेतवः इति वस्त्वयथार्थज्ञानिनः रागादिदोषदुष्टत्वेन दुःस्थिता मतिः कर्हिचित् क्वापि कस्मिंश्चिद्विषयेऽपि समुद्रे वातेन वायुना आहता विघटिता नौः तरीव आस्पदं आश्रयं न लभेत इत्येकान्वयः। तस्मात् केवलधर्मादिविषयशास्त्रकृतिरनर्थकारीति भावः। अतोऽन्यथा श्रीभागवतकृतिमन्तरेण यत्किञ्चन ग्रन्थकरणं विवक्षितं तद्ग्रन्थतत्कल्पितरूपनामभिः मुग्धस्य इति वा। चशब्दान्नरकपातफलमेव स्यादिति सूचयति॥ १४॥

न केवलं अनर्थकार्येव भवेत् अन्येषां निन्दिताधर्मकारी च इति ज्ञापयति — **जुगुप्सितम्** इति। स्वत एव प्रवृत्तिधर्मादिषु रागिणः अज्ञस्य प्रवृत्तिधर्मादिकृते अनुशासनं कुरु इति प्रेरणं जुगुप्सितं त्वादृशैः इति शेषः; न केवलं निन्दितं, किन्तु महान् व्यतिक्रमः वृक्षात् अधःपतितस्य दण्डेन ताडनवन्निस्सीमः अन्यायः। कुतः "स यत्प्रमाणं कुरुते" (भ. गी. 3-21) इति न्यायात् यद्वाक्यतः धर्म इति तस्य जनस्य इतरः स्थितः जनः निवारणं न मन्यत इत्यन्वयः। यस्य भवादृशस्य वचनात् धर्मोऽयं इत्यनुतिष्ठतस्तस्य प्रवृत्तिमार्गस्थितस्य जनस्य इतरस्मिन् निवृत्तिमार्गस्थितः जनः शुकादिः नायं धर्मः न चरतेति निवारणं न करोति। तस्मात् तादृशग्रन्थकृतिः अनपेक्षिता इति भावः। यद्वाक्यत इति यस्य भवादृशस्य श्रेष्ठस्य वाक्यतः वचनात् प्रतीत एव धर्मः मुख्यपुरुषार्थहेतुः इति यदुत्तरः जनः अधिकारी स्थितः विश्वस्तः तस्य जनस्य कुमार्गप्रवर्तमानस्य निवारणं स न मन्यते चेत् तस्य श्रेष्ठस्य महान् व्यतिक्रमः अन्यायः यतः, अतः जुगुप्सितं इति सम्बन्धः। कुमार्गासक्ताः स्वस्मिन् विश्वस्ताः चेत् तस्मात् ते वारणीयाः एव, न पुनः प्रवर्तनीया इति कृपालोः धर्म एव इति भावः॥ १५॥

समाधिभाषात्मकग्रन्थे अधिकार्यभावात् उपरम्यत इति न वक्तव्यं इति विज्ञापयति — **विचक्षण** इति। निवृत्तितः गुणैः प्रवर्तमानस्य अनात्मनः अस्य अनन्तपारस्य विभोः सुखं विचक्षणः वेदितुं अर्हति; यस्मात् ततः भवान् पूज्यः त्वं विभोः चेष्टितं दर्शय इत्येकान्वयः। अनुष्ठितनिवृत्तिधर्मात् सत्त्वादिगुणैः जगत्सृष्ट्यादौ प्रवर्तमानस्य अनात्मनः अस्वामिकार्यस्य जीवस्य अपरिमितमूर्तेः विभोः भगवतः सकाशात् यत् भविष्यत्सुखं भवति तत्सुखं विचक्षणः विशिष्टाचार्यः सात्त्विकप्रकृतिः ज्ञातुं योग्य इति यस्मात् तस्मात् विभोः सर्वगस्य हरेः चरितं समाधिभाषात्मकग्रन्थकरणेन ज्ञापय इत्यतः अधिकार्यभावात् न उपरन्तव्यं इति भावः। अनात्मनः बुद्ध्यादेः गुणैः सत्त्वादिभिः शब्दादिषु प्रवर्तमानस्य जनस्य सुखाय विभोः चेष्टितं दर्शय इति वा॥ १६॥

**रा॰ कृ॰** हे महाभाग! अतः भवान् अमोघदृक् यथार्थदृष्टिः शुचिश्रवाः शुद्धयशस्कः सत्यरतः, धृतव्रतश्च आस्ते। तस्मात् उरुक्रमस्य विष्णोः यद्विचेष्टितं लीलावैचित्र्यं वर्तते, तत् अखिलबन्धमुक्तये समाधिना चित्तैकाग्र्येण अनुस्मर। त्वं स्मृत्वा वर्णय इति यावत्॥ १३॥

ततः विष्णुचेष्टितात् पृथग्दृशः पृथवस्तुतात्पर्यवतः अतः एव अन्यथा प्रकारान्तरेण यत्किञ्चन यत्किमप्यर्थान्तरं विवक्षतः वक्तुमिच्छतः तव तत्कृतरूपनामभिः तया विवक्षया कृतैः स्फुरितै रूपैः नामभिः दुःस्थिता अनवस्थिता मतिः वाताहतनौरिव कर्हिचित् कदाचित् क्वापि च कुत्रापि विषये आस्पदं स्थानं न लभेत॥ १४॥

स्वभावरक्तस्य स्वभावत एव अर्थकामयोः रागवतः पुंसः धर्मकृते भागवतधर्मग्रहणार्थं जुगुप्सितं निन्द्यं काम्यकर्मादिकं अनुशासतः भारतनिर्माणद्वारेण बोधयतः तव महान् व्यतिक्रमः चिकीर्षितविपरीतानुष्ठानरूपः अन्यायः आपतितः। कथमिति चेत् यद्वाक्यतः यस्य तव वाक्यात् "देवान् पितॄन् समभ्यर्च्य खादन् मांसं न दोषभाक्" (मनु. स्मृ. 5-32) इत्यादिरूपात् धर्म इति अर्थकामादिसाधनमेव मुख्यः धर्मः इत्येवं स्थितः निश्चयवान् इतरः प्राकृतः जनः तस्य अर्थकामसाधनभूतधर्मस्य निवारणं "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" (भ. गी. 18-66) इति भगवता भारते एव क्रियमाणं न मन्यते यथार्थमेतत् इति न मन्यते॥ १५॥

विचक्षणः अतिनिपुणः कश्चिदेव निवृत्तितः सर्वकार्यनिवृत्त्या अनन्तपारस्य देशकालानवच्छिन्नस्य अस्य विभोः सुखं निर्विकल्पकसुखात्मकं आनन्दस्वरूपं वेदितुं ज्ञातुं अर्हति। ततः तस्मात् कारणात् हे विभो! अनात्मनः आत्मरहितस्य देहाद्यभिमानिनः अत एव गुणैः सत्त्वादिभिः प्रवर्तमानस्य कार्यव्यापृतस्य जनस्य चेष्टितं भगवतः लीलाविशेषान् भवान् त्वमित्यर्थे अयंशब्दः प्रयुक्तः। दर्शय वर्णय इत्यर्थः।

अत्र देहाद्यभिमानवतः सत्त्वादिगुणसङ्गेन कार्यव्यापृतस्य जनस्य आनन्दस्वरूपदर्शनाय भगवच्चेष्टानुवर्णनं कर्तव्यं इत्युक्तं भवति। तत्कथम्? उच्यते — गृहदारधनादिषु आत्मीयभावं अपहाय सर्वान्तर्यामिणः विष्णोः सत्तां अनुसन्धाय तत्समर्पणधिया तेषु स्वकर्तव्यं आचरतः जनस्य सर्वत्र भगवद्भावना सिध्यति। तया च सर्वचेष्टासु भगवल्लीलानुसन्धानं, तेन रागद्वेषोपरमः, ततश्च निर्विकल्पसुखानुभवः। सोऽयं विष्णूपासनाक्रमः। उक्तं च भगवता — "तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः। गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥" (भ. गी. 5-17) ॥ १६॥

**त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि ।**
**यत्र क्व वाऽभद्रमभूदमुष्य किं[1] को वाऽर्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः[2] ॥ १७ ॥**

**तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो न लभ्यते यद्भमतामुपर्यधः ।**
**तल्लभ्यते दुःखवदन्यतस्सुखं कालेन सर्वत्र गभीररंहसा ॥ १८ ॥**

**न[3] वै जनो जातु कथञ्चनाव्रजेत् मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग! संसृतिम् ।**
**स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुनः विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः[4] ॥ १९ ॥**

**इदं हि[6] विश्वं भगवानिवेतरो यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः[8] ।**
**तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि वै[9] प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम् ॥ २० ॥**

---

1 K,M omit किं 2 K,M °र्मम् 3 H,V स 4 K,M °ही 5 H,I,K,M,V जनः 6 H,V च 7 K,M °वः 8 H,V,W मे ; 1 ते; K,M omit वै 9 AF प्र°

**श्रीध०** एवं तावत् काम्यधर्मादिः अनर्थहेतुत्वात् तं[2] विहाय हरेः लीलैव वर्णनीया इत्युक्तम् । इदानीं तु नित्यनैमित्तिकस्वधर्मनिष्ठामप्यनादृत्य केवलं हरिभक्तिरेव उपदेष्टव्या इत्याशयेनाह — **त्यक्त्वा** इति। ननु स्वधर्मत्यागेन भजन् भक्तिपरिपाकेन यदि कृतार्थो भवेत् तदा न काचित् चिन्ता। यदि पुनः अपक्व एव म्रियेत ततः भ्रश्येद्वा तदा स्वधर्मत्यागनिमित्तः अनर्थः स्यात् इत्याशङ्क्याऽऽह। ततः भजनात् कथञ्चित् पतेत् भ्रश्येत् म्रियेत वा यदि तदपि[3] भक्तिरसिकस्य कर्मनिधिकारात् नानर्थशङ्का[4], अङ्गीकृत्याप्याह। वाशब्दः कटाक्षे यत्र क्व वा नीचयोनौ अपि अमुष्य भक्तिरसिकस्य अभद्रं अभूत् किम्? नाभूदेव इत्यर्थः। भक्तिवासनासद्भावादिति भावः। अभजद्भिस्तु केवलं स्वधर्मतः को वा अर्थः आप्तः[5]? अभजतां इति षष्ठी तु सम्बन्धमात्रविवक्षया ॥ १७ ॥

ननु स्वधर्ममात्रादपि "कर्मणा पितृलोकः" (बृह. उ. 1-5-16) इति श्रुतेः पितृलोकप्राप्तिः फलं अस्त्येव इति तत्राह — **तस्यैव** इति। तस्यैव हेतोः तदर्थं यत्नं कुर्यात्। यदुपरि ब्रह्मपर्यन्तं अधः स्थावरपर्यन्तं च भ्रमद्भिः जीवैः न लभ्यते। षष्ठी तु पूर्ववत्। भगवद्भक्तिसुखार्थमेव प्रयतेत तस्य दुर्लभत्वात्। तत्तु विषयसुखं अन्यत एव प्राचीनकर्मणा सर्वत्र नरकादावपि लभ्यते दुःखवत्; यथा दुःखं प्रयत्नं विनापि लभ्यते तद्वत्। तदुक्तं "अप्रार्थितानि दुःखानि यथैवायान्ति देहिनाम्। सुखान्यपि तथा मन्ये दैन्यमत्रातिरिच्यते[7]" इति ॥ १८ ॥

यदुक्तं "यत्र क्वाऽ भद्रमभू" दिति तदुपपादयति — **न[8] वा** इति। मुकुन्दसेवी जनः जातु कदाचित् कथञ्चन कुयोनिगतः अपि संसृतिं नाव्रजेत् नाविशेत् अङ्ग! अहो! अन्यवत् केवलकर्मनिष्ठवत् इति वैधर्म्ये दृष्टान्तः। कुत इत्यत आह — **मुकुन्दाङ्घ्रेः**[9] उपगूहनं आलिङ्गनं पुनः स्मरन् विहातुं नेच्छेत्। यतः अयं जनः रसग्रहः रसेन रसनीयेन गृह्यते वशीक्रियते। यद्वा, रसे रसनीये ग्रह आग्रहः यस्य। तदुक्तं भगवता "यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन। पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः" (भ. गी. 6-43) इति ॥ १९ ॥

तदेवं भगवल्लीलां प्राधान्येन वर्णय[10] इत्युक्तम्। तत्र कः भगवान् काश्च तस्य लीलाः इत्यपेक्षायामाह — **इदं** इति। इदं विश्वं भगवानेव। स तु अस्मात् विश्वस्मात् इतरः। ईश्वरात् प्रपञ्चः न पृथक्, ईश्वरस्तु प्रपञ्चात् पृथक् इत्यर्थः। तत्र हेतुः, यतः भगवतः हेतोः जगतः स्थित्यादयः भवन्ति, अनेनैव लीलाः अपि दर्शिताः। यद्वा इदं विश्वं भगवान्। इतर इव यः सः जीवोऽपि[11] भगवान्। चेतनाचेतनप्रपञ्चः तद्व्यतिरेकेण नास्ति। स एवैकः तत्त्वं इत्यर्थः। हिशब्देन "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छान्दो. उ. 1-14-1) इत्यादिश्रुतिप्रमाणं सूचितम्। तद्धि स्वयमेव भवान् वेद। प्रादेशमात्रं एकदेशमात्रं "आचार्यवान् पुरुषो वेद" इत्यादिश्रुत्यर्थसम्पादनाय[12] प्रदर्शितम्॥ २०॥

---

1 B,H,V °क° 2 H,V °तत् 3 H,V तथापि 4 H,V °न्नानर्थक्यमङ्गीकृत्याह 5 B,H,V add प्राप्तः 6. A,H,V omit भगवद्भक्तिसुखार्थमेव प्रयतेत, तस्य दुर्लभत्वात् इत्यर्थः। 7 B °व° 8 H,V स 9 H,V °ह्नयो° 10. B,H,V अनुवर्ण° 11 H,V जीवो भगवानेव 12 H,V add मे मया

**वीर०** यदुक्तं "कुतः पुनश्शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म" (भाग. 1-5-12) इति कर्मणः अभद्रगर्भत्वं भगवद्भक्तियोगस्य[1] शश्वद्भद्रगर्भत्वं च तदुभयमुपपादयति — **त्यक्त्वा** इति। पतेत् इति शरीरपातौक्तिः। ईश्वरे न चार्पितं स्वधर्मं स्वसमीहितं[2] फलसाधनं धर्मं त्यक्त्वा हरेः चरणाम्बुजं भजन्[3] भजनोद्यतस्सन् यः सन् अपक्वः अपक्वकषायः पतेत् म्रियेत[4] यदि, अमुष्य यत्र क्वापि किमभद्रं भविष्यति न किञ्चिदपीत्यर्थः। "न हि कल्याणकृत्कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति" (भ. गी. 6-40) "प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीस्समाः। शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते" (भ. गी. 6-41)। "अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्" (भ. गी. 6-42) इति भगवदुक्तेः इति भावः। अभजताम् इति च्छेदः। हरेः चरणाम्बुजं अभजताम्। यद्वा स्वधर्मत इति सार्वविभक्तिकः तसिः। स्वधर्मं भजताम् स्वधर्ममनुतिष्ठताम्। कर्तरि षष्ठीयम्। कोवाऽर्थः आप्तः प्राप्तः न कोऽपि इत्यर्थः। "ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम् क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" (भ. गी. 9-21) इति भगवदुक्तेरिति भावः। अन्तवदेवास्य तद्भवति — 'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते। एवमेव अमुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते" (छान्दो. उ. 8-1-6) "प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपाः" (मुण्ड. उ. 1-2-7) इत्यादिश्रुतेश्च इति भावः॥ १७॥

एवं भगवद्भक्तिस्वधर्मयोः शश्वद्भद्रगर्भाभद्रगर्भत्वे प्रतिपादिते। अथ तत्फलयोः उपायान्तरालभ्यत्वलभ्यत्वे वदन् उपायान्तरेभ्यस्तु[5] सुखसाधनोपयुक्तमेव भूतहितं कार्यं इत्याह — **तस्यैव** इति। उपरि ब्रह्मलोकादिषु अधः पातालादिषु भ्रमतां जीवानां यत् सुखं परब्रह्मानन्दानुभवात्मकं न लभ्यते तस्यैव हेतोः तत्सुखसाधनोपयुक्तोपायदर्शनार्थमेव कोविदः निपुणबुद्धिः तादृशः यतेत। एवं चेत् भूतहितकारित्वं नान्यथेति भावः। तत्सुखं वैषयिकसुखं तु सर्वत्र उपर्यधश्च गभीररंहसा दुर्लक्ष्यवेगेन कर्मणोऽप्युपलक्षणमिदं; भ्रमतां इत्यनुषङ्गः। कालेन तदुद्बोधेन[7] प्राचीनेन कर्मणा च भ्रमतां जायमानानां जनानां इत्यर्थः। अन्यतः उपायान्तरादेव कालकर्मादिरूपात् लभ्यते; दुःखवत् यथा दुःखं तद्वत्, अप्रार्थितमपि दुःखं कालकर्मादिहेत्वन्तरेण[8] एव भवति। तद्वैषयिकसुखमपि इत्यर्थः। यद्वा,

भक्तिसाध्यनैश्श्रेयससुखस्याभूतपूर्वत्व दुःखासम्भिन्नत्वज्ञापनाय भक्तिव्यतिरिक्तोपायान्तरसाध्यस्य सर्वस्यापि दुःखमिश्रत्वमाह तदिति। अन्यत अनभिसंहितफलवर्णाश्रमधर्मोपकृत भगवद्भक्तिव्यतिरिक्तोपायात् यत्सुखं महता कालेन सर्वत्र लभ्यते तद्दुःखवत् दुःखमिश्रमेव दुःखासम्भिन्नं तु प्रागुक्तोपायादेव इत्यर्थः॥ १८॥

"यत्र क्व वाऽभद्रमभूदमुष्य किम्" (भाग. 1-5-17) इति काक्वा सूचितमभिप्रायं सिंहावलोकनन्यायेन विवृणोति — **न वा** इति। अङ्ग! हे बादरायण! मुकुन्दसेवी मुकुन्दभक्तः जनः कदाचिदपि कथञ्चिदपि संसृतिं नाऽऽव्रजेत्; किन्तु; ततः मुंच्येतैव इत्यर्थः। इदं निष्पन्नभक्तियोगनिष्ठपुरुषाभिप्रायकं "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" (छान्दो. उ. 6-14-2) इति श्रुतेः। अनिष्पन्नभक्तियोगोऽपि जनः अन्यवत् केवलकाम्यकर्मिवत् न संसृतिं व्रजेत्। "नहि कल्याणकृत्कश्चित्" (भ. गी. 6-40) इत्याद्युक्तरीत्या कर्मिविलक्षणमेव जन्म प्राप्नोतीति भावः। तदेव विशदयति — स्मरन् इति। मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनम्। गुहू संवरणे इति धातुः। मुकुन्दाङ्घ्र्योः संवरणं सम्यक् वरणं प्रपदनमिति यावत्। तत् स्मरन् पौर्वदैहिकं स्मरन्नित्यर्थः। तत्पुनः हिातुं त्यक्तुं नैच्छेत्। कुतः, यतः मुकुन्दसेवी जनः रसग्रहः "रसो वै सः रसंह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" (तैत्ति. उ. 2-7) इत्युक्तरीत्या निरतिशयानन्दात्मकरसरूपपरमात्मानं गृहीतवान् इत्यर्थः। तथा चोक्तं भगवता — "तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम्। यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन! पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः" (भ. गी. 6-43,44) इत्यादिना॥ १९॥

ननु[10] के ते भगवद्गुणा ये मया वर्णनीया इत्यपेक्षायां तेषां आनन्त्यात् न मया उपदेष्टुं, साकल्येन त्वया वर्णयितुं वा शक्याः। किन्तु सङ्क्षेपेण तान् दर्शयामीत्याह — **इदं** इति। यतः यस्मात् जगत्स्थितिसंहारसर्गाः प्रवर्तन्ते। स भगवान् इदं विश्वं एवं[11] इतर इव इतर एव "वद्वा यथा तथैवैवं(साम्ये)" (अम. को. 3-420) इति इवशब्दस्यापि एवशब्दपर्यायत्वानुशासनात् विश्वाभिन्नोऽपि विश्वविलक्षण इत्यर्थः। यत इति "जन्माद्यस्य यतः" (ब्र. सू. 1-1-2) इत्यत्रेव हेतौ पञ्चमी। भगवानिदं इत्यनेन "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्" (त्रि. म. ना. उ. 1-3) इति श्रुत्यर्थोऽभिप्रेतः[12]। एवं जगदुपादानत्वजगन्निमित्तत्वतदुभयाक्षिप्तसर्वशक्तित्वं[13] उपादानकारणाक्षिप्तसर्वान्तरात्मत्वचिदचिद्विशिष्टत्वतन्मूलकजगदभिन्नजगद्विशेष्यत्व तन्मूलकतद्विलक्षणत्वकारणत्वाक्षिप्तोपास्यत्वमोक्षप्रदत्वादयः गुणाः सामर्थ्यात् अत्र फलिताः। एवमादयः त्वया वर्णनीया इति भावः। तद्धि उक्तगुणादिजातं भवान् स्वयं आत्मना वेद। तथापि[14] मया भवतः प्रादेशमात्रं प्रदेश एव प्रादेशः स्वार्थे अण्[15] प्रादेशमात्रं गुणानामेकदेशमात्रमेव प्रदर्शितम्। यद्यपि जगदुपादानत्वादीनां भगवद्गुणानां आनन्त्यं भवान् जानात्येव, तथापि पृष्टेन मया दिङ्मात्रं प्रदर्शितं इत्यर्थः॥ २०॥

---

1. W adds तु 2. W °त° 3 A,B भजमानः 4. B,W °म्रियते 5. W °रालभ्यसुख° 6. W प्रदर्शना° 7. W °णेत्युप° 8 W adds प्रयत्नमन्तरेण 9. W मुच्यत एवे° 10. W adds तर्हि 11. W adds अपि 12. W °र्थोऽत्रा° 13. W °शक्तित्वसर्वज्ञत्वस्थानकारणत्वाऽऽक्षिप्तसर्वान्तरात्मत्वचिदचिद्विशिष्टत्व तन्मूलकजगद्विशेष्यत्व तन्मूलक तद्विलक्षणत्व निरोधकारणत्वाक्षिप्तोपास्यत्वमोक्षदत्वादयो 14. W adds मे 15. W adds प्रादेश एव

**विज०** इतोऽपि प्रवृत्तिधर्मोपदेशात् निवृत्तिधर्मोपदेशः वरीयान् इत्याह — **त्यक्त्वा** इति। अथ स्वधर्मं त्यक्त्वा हरेः चरणाम्बुजं भजंस्ततः यद्यपक्वः पतेत् तदा अमुष्य यत्र क्व वाऽभद्रमभूत्, स्वधर्मं भजतां को वा अर्थ आप्तः एव, इत्येकान्वयः। भगवदविषयस्वधर्मानुष्ठानात्मकप्रवृत्तिधर्मं त्यक्त्वा निवृत्तिधर्मविधायकशास्त्रोक्ताचारैः हरेः पादपद्मं सेवमानः पुरुषः तस्मात् अनधिगातापरोक्षज्ञानादिः तत्फलपरिपाके रागाद्यन्तरायविहतः स्खलेत्, तथापि अमुष्य पुंसः "क्षिप्रं भवति धर्मात्मा" (भ. गी. 9-31) इत्यादिप्रमाणात्, यत्र क्व वा जन्मान्तरे श्रीमदादिकुलोद्भूतस्य निवृत्तिधर्मात्मकं भद्रमेष्यतु यत्तदतीतत्वेन भण्यत इति वचनात्। अभूत् भविष्यत्येव। केवलं प्रवृत्तिधर्मं भजतां अनुतिष्ठतां अस्खलनेऽपि धर्मादिषु को वा पुरुषार्थ आप्तः न कोऽपीति भावः। तस्मात् निवृत्तिधर्मविधायकशास्त्रं भवान् करोतु इति प्रार्थये॥ १७॥

तस्मात् विवेकिना प्रवृत्तिधर्मं विहाय निवृत्तिधर्म एव अनुष्ठेय इत्याह — **तस्य** इति। कोविदः तस्यैव हेतोः प्रयतेत। उपर्यधः भ्रमतां यत् न लभ्यते गभीररहंसा कालेन अन्यतः सर्वत्र दुःखवत् सुखं लभ्यते इत्येकान्वयः। अनन्तपारस्य इति हरेः मुख्यप्रसादलभ्यं यत् सुखं उक्तं तस्यैव हेतोः नान्यस्य तत्सुखहेतुनिवृत्तिधर्माख्यसाधनस्यार्थे प्रयत्नं कुर्यात्। यत्सुखं भूस्वर्गादिषु प्रवर्तमानानां प्रवृत्तिधर्माणां पुरुषाणां न सुलभं, निरन्तरं निवृत्तिधर्मं सेवमानानां अव्यक्तवेगेन अनेकजन्मपरिमितेन कालेन अन्यतः सर्वदेवेभ्यः अत्यन्तभिन्नात् हरेः सर्वदेशकालेषु निर्दुःखं स्वरूपसुखं अभिव्यज्यते। तस्मात् निवृत्तिधर्म एव श्रेयान् इति भावः। यथा पापिनां प्रयत्नमन्तरेण दुःखं लभ्यते तथा निवृत्तिधर्माणामपि साधनसामग्रीं विना निरायासेन सुखं लभ्यते इत्यस्मिन्नर्थे दुःखवत् इति दृष्टान्तो वा। स्वर्गादौ भ्रमतां यत्सुखं न लभ्यते, विवेकी तस्यैव हेतोः प्रयतेत। एवशब्दव्यावर्त्यमाह — तदिति। अन्यतः विषयभोगात् यत् दुःखोपेतं सुखं गभीररंहसा कालेन सर्वत्र लभ्यते। तस्मात् तादृशसुखार्थं न यतनीयं, किन्तु तद्व्यतिरिक्तस्य नित्यस्य केवलस्य स्वरूपसुखस्य इति वा॥ १८॥

इतोऽपि निवृत्तिधर्म एव श्रेयान् इत्याह — **न वा** इति। अङ्ग! हे भगवान्! मुकुन्दसेवी जनः अन्यवत् मुकुन्दासेवमानवत् जातु कदाचिदपि कथञ्चन कस्माच्चित् निमित्तात् संसृतिं न व्रजेत्। वैशब्देन "न हि कल्याणकृत्कश्चित् दुर्गतिं तात! गच्छति" (भ. गी. 6-40) इति वाक्यं प्रमाणयति कुत इति तत्राह — स्मरन्निति। मुकुन्दस्य मनसा चरणारविन्दालिङ्गनसुखं स्मरन् अनुभवन् रसज्ञः जनः पुनः विहातुं नेच्छेत् इत्यन्वयः॥ १९॥

मुकुन्दरूपमाह — **इदं** इति। स भगवान् इदं विश्वमिव न तु विश्वं किन्तु इतरः विलक्षणलक्षणः कुतः जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः इति यतः जगत् स्थापयति निरोधयति संहरति सम्भावयति उत्पादयतीति तथोक्तः। जगत्स्रष्टृत्वादिलक्षणलक्षितसार्वज्ञ्यसर्वस्वातन्त्र्य सर्वशक्तिसर्वस्वामित्वादिगुणपूर्णत्वादसर्वसत्वादिगुणविशिष्टात् जगतः भेदः अनुभवसिद्ध इति हिशब्दः। किञ्च भगवान् स्वयं तद्वैलक्षण्यं वेद जानाति। हि यस्मात्[3] ऐक्यकथनं प्रमाणविरुद्धमिति भावः। यद्यपि भवतः सर्वं सिद्धं न मया वक्तव्यांशः अस्ति, तथापि उपाध्यायपुरः बालवत् अव्याकृताकाशसदृशज्ञानवतः भवतः केवलप्रादेशाकाशपरिमितं ज्ञानं प्रदर्शितं मया इति शेष इत्यन्वयः॥ २०॥

1. B,K,M °को 2. K जगद्विलक्षण° 3 K,M यस्मात्तस्मादैक्य°

रा॰ कृ॰ स्वधर्मं स्ववर्णाश्रमादिप्राप्तं धर्मं त्यक्त्वा हरेः चरणाम्बुजं भजन् अथ अपक्वः भगवत्प्राप्तियोग्योऽपि तमलभमानः एव ततः तद्भजनात् यदि पतेत् रोगादिना म्रियेत चेत्, अथवा विषयान्तरासक्त्या कथञ्चित् भ्रश्येत् चेत् अस्य भगवद्भक्तिशीलस्य यत्र क्व वा यत्र कुत्रापि वा किमभद्रं अभूत्? न किमपीत्यर्थः। उक्तं च भगवता — "न हि कल्याणकृत्कश्चित् दुर्गतिं तात! गच्छति"। (भ. गी. 6-40) "पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः" (भ. गी. 6-44) इति। अभजतां अभजद्भिः इति यावत् स्वधर्मतः को वा अर्थः आप्तः न कोऽपीत्यर्थः।

यद्यपि स्वधर्माचरणं ईश्वरभक्तिश्च परस्परं न विरुध्यतः, तथापि तयोः भक्तिरेव गरीयसी। भक्तियुक्तस्य कर्माचरणं ईश्वराराधनतया परिणमते; तदयुक्तस्य तु बन्धकारणमेव॥ १७॥

उपरि ब्रह्मलोकपर्यन्तं अधः स्थावरपर्यन्तं भ्रमतां, भ्रमद्भिः इति यावत्। यत् न लभ्यते तस्यैव भगवदनुभवजन्यपरमानन्दस्यैव हेतोः कोविदः विवेकी प्रयतेत प्रयत्नं कुर्यात्। तत्सुखं विषयसुखं तु दुःखवत्। अन्यतः प्राकृतकर्मवशात् सर्वत्र पश्वादियोनावपि गभीरंहसा अलक्षितवेगेन कालेन लभ्यते॥ १८॥

अङ्ग! हे व्यास! मुकुन्दसेवी जनः अन्यवत् अन्यजन इव केवलकर्मनिष्ठ इव जातु कदाचित् कथञ्चन केनापि प्रकारेण संसृतिं नाव्रजेत् नाविशेत्। मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं विष्णुपादालिङ्गनं पुनः स्मरन् रसग्रहः रसनीये भगवति आग्रहवान् जनः विहातुं तदालिङ्गनं त्यक्तुं नेच्छेत्।

"न लभ्यते यद्भमतां उपर्यधः" (भाग. 1-5-18) इत्यत्र प्रज्ञामयलोकास्सूचिताः। मानवप्रज्ञायाः उपरि सप्तप्रज्ञास्सन्ति। मानवप्रज्ञा देहस्य अन्तः बहिश्च वर्तते। ऊर्ध्वलोकेषु सप्तमः ब्रह्मलोकः इति कथ्यते। एवं मानवप्रज्ञायाः अधश्च सप्तप्रज्ञामयलोकाः वर्तन्ते। तेषु सप्तमं पातालं इत्युच्यते। एतच्चतुर्दशलोकवर्तिनः जीवाः अस्मत्सहचरा एव। मानुषमनसः अधस्तनलोकेषु जान्तवप्रज्ञा, ततोऽप्यधः वृक्षादीनां प्रज्ञाः सन्ति। वृक्षखनिजादयः स्थावरा इति, जन्तुनरादयः जङ्गमा इति च कथ्यन्ते।

मानवमनसः उपरि अन्तरिक्षप्रज्ञा, तदुपरि पञ्चभूतमहदादीनां प्रज्ञाः तत्तत्प्रज्ञाचारिणः जीवाश्च विद्यन्ते। त एव देवगन्धर्वकिन्नरकिम्पुरुषसिद्धसाध्यादयः ये तावत् द्रव्यलोकधर्मप्रवर्तकाः। तैरेव द्रव्याणां वर्णगन्धादयः जायन्ते। मानवमनस्तु ऊर्ध्वाधोलोकानां द्वारायते। तस्मादेव मानवलोकस्य मध्यमलोक इति संज्ञा। मानवप्रज्ञा च कामक्रोधाद्यभ्यासवशात् अधोलोकेषु तपोब्रह्मचर्याद्यभ्यासबलेन ऊर्ध्वलोकेषु च वर्तते। सर्वेष्वेतेषु लोकेषु कार्यकारणसम्बन्धप्रयुक्तकर्मफलानुभवः अनिवार्यः येषु अन्तर्यामित्वेन ईश्वरः वर्तते। यस्मिन् कस्मिन्नपि लोके वर्तमानाः जनाः यदि भगवदर्पितमनस्काः तर्हि तेषां प्रज्ञा ब्रह्मलोकं अतीत्य वर्तते। अतीते च तल्लोके कार्यकारणसम्बन्धः तत्प्रयुक्तकर्मफलानुभवश्च नैव भवतः। ब्रह्मलोकातिक्रमपर्यन्तं साधकप्रज्ञा प्रमादवशात् पतयालुः वर्तते। अनन्तरं प्रज्ञायाः भगवन्मयत्वावस्थानेन न पुनरावृत्तिः। तदुक्तं भगवता — "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन! मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते" (भ. गी. 8-16) इति।

ननु भुवादिलोकत्रयमुक्तं इतः प्रागेव। केयं इदानीं चतुर्दशलोकोक्तिः ? उच्यते — उभयविधविभागेऽपि न कापि विप्रतिपत्तिः। तथाहि — पाटलकुसुमवर्णरुचिगन्धादिकं एकस्मिन् ग्रन्थे वर्ण्यते, अन्यस्मिन् तत्कुसुमुस्य रसायनविभागादयः कथ्यन्ते, परस्मिन् तस्य विकासनविधानानि निरूप्यन्ते, अपरस्मिन् तस्य औषधगुणाः प्रकाश्यन्ते। तथाऽपि एतत्सर्वग्रन्थगताः विषयाः न केवलं परस्पराविरुद्धाः किन्तु तत्कुसुमविज्ञानसर्वस्वप्रतिपादकाः। एवं सृष्टिरहस्यप्रकाशनाय प्राचीनैः कृताः पूर्वोक्तलोकविभागादयोऽपि अन्योन्यं न विरुध्यन्ते।

यदुक्तं — "मुकुन्दसेवी जनः अन्यवत् संसृतिं न गच्छेत्", इति तत्रापि किञ्चिदुच्यते। सर्वत्र हरिभावनया तत्सेवाभ्यसनशील एव मुकुन्दसेवी। सः जननादिकं उपेत्यापि प्राकृत इव न बध्यते संसारेण। जन्मादिकञ्च देहादेरेव, न तु नित्यस्य आत्मनः। उक्तं च भगवता — "अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्तास्शरीरिणः" (भ. गी. 2-18)। अपि च मुकुन्दसेविनः देहादीनामपि ईश्वरमयत्वात् न जननमरणरूपसंसृतिबन्धः। जातस्य तु तस्य शरीरादेरपि हरिभक्तिसाधनत्वात् जननमपि महते प्रयोजनाय कल्पते। तच्च जननं तात्कालिकमेव। उक्तं च भगवता — "मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः" (भ. गी. 8-15) इति। न खलु हरिचरणभजनपरवशः हरिमयजीवनः जनः तदन्यस्थितिं प्राप्नोति॥ १९॥

इदं च विश्वं भगवानिव भगवानेव। इवेत्येवार्थे। स भगवांस्तु इतरः, अस्मात् विश्वस्मात् इतरः। यतः भगवतः जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः जगतः स्थितिलयसम्भवाः भवन्ति स भगवान् इति पूर्वेणान्वयः। तद्धि स्वयं भवान् वेद जानाति, तथाऽपि प्रादेशमात्रं दिङ्मात्रं मे मया भवतः तव दर्शितं सूचितम्॥ २०॥

**त्वमात्मनाऽऽत्मानमवेह्यमोघदृक् परस्य पुंसः परमात्मनः कलाम्।**
**अजं प्रजातं जगतः शिवाय तन्महानुभावाभ्युदयोऽधिगण्यताम्॥ २१॥**

**इदं हि पुंसः तपसः श्रुतस्य वा[2] स्विष्टस्य सूक्तस्य[3] च बुद्धिदत्तयोः।**
**अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितः यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम्[7]॥ २२॥**

**अहं पुरातीतभवेऽभवं मुने दास्यास्तु कस्याश्चन वेदवादिनाम्।**
**निरूपितो बालक एव योगिनां शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम्[9]॥ २३॥**

**ते मय्युपेताखिलचापलेऽर्भके दान्तेऽधृतक्रीडनकेऽनुवर्तिनि[10]।**
**चक्रुः कृपां यद्यपि तुल्यदर्शनाः शुश्रूषमाणे मुनयोऽल्पभाषिणि॥ २४॥**

---

1. K,M °नु° 2. H omits वा 3. B,H,V,W पूर्तस्य 4. K,M,W च बुद्ध°; H,V सुसूक्त° 5. K,M °प्तु° 6. B ड° 7. Af °कीर्ति° 8. H,V सुतो 9. H,V °व° 10. H,N,V °न्ते धृत°; K,M °न्ते यत°

**श्रीध०** न च तवाचार्यापेक्षा[1] ईश्वरावतारत्वात् इत्याह — **त्वम्** इति। हे अमोघदृक्! त्वं आत्मना स्वयमात्मानं अजमेव सँन्तं जगतः शिवाय प्रजातमवेहि। कुतः? परस्य पुंसः कलां अंशभूतम्। तत् तस्मात् महानुभावस्य हरेः अभ्युदयः पराक्रमः अधि अधिकं गण्यतां निरूप्यताम्॥ २१॥

अनेनैव तपआदिसर्वं तव सफलं स्यात् इत्याह — **इदं हि** इति। श्रुतादयः भावे निष्ठा। इदमेव हि तपश्श्रवणादेः अविच्युतः नित्यः अर्थः फलम्। किं तत्? उत्तमश्लोकस्य गुणानुवर्णनमिति यत्॥ २२॥

सत्सङ्गतः हरिकथाश्रवणादिफलं स्ववृत्तान्तेन प्रपञ्चयति — **अहम्** इति। अहं पुरा पूर्वकल्पे अतीतभवे पूर्वजन्मनि वेदवादिनां दास्याः सकाशात् अभवं जातोऽस्मि। निरूपितः नियुक्तः। क्व? योगिनां[3] शुश्रूषणे। प्रावृषि वर्षोपलक्षिते चातुर्मास्ये निर्विवक्षतां निर्वेशं एकत्र वासं कर्तुमिच्छताम्॥ २३॥

**त** इति। अपेतानि गतानि अखिलानि चापलानि यस्मात् तस्मिन्। दान्ते नियतेन्द्रिये। अधृतक्रीडनके त्यक्तक्रीडासाधने। अनुवर्तिनि अनुकूले॥ २४॥

---

1. B,H,V add अपि 2. H,V सन्ततं 3 H,V add सन्न्यासिनां

**वीर०** नाहं जानामि इति माऽवोचः इति वक्तुं त्वं आत्मानं भगवदंशसञ्जातं जानीहि इत्याह — **त्वम्** इति। अमोघदृक् अमोघं सत्यं सर्वं यथावत् पश्यतीति अमोघदृक् त्वम्। परस्य पुंसः परमपुरुषस्य कलाम्[1] अंशम् अजं कर्मायत्तोत्पत्तिरहितं अथापि जगतः शिवाय हिताय स्वेच्छया जातं आत्मानं आत्मना स्वयमेव अवेहि। कलाशब्दस्य नित्यस्त्रीत्वात् स्त्रीपुंसयोरपि विशेषणविशेष्यभाव उपपन्नः। यतः अमोघदृक् भगवदंशसम्भूतः[2] तस्मादे-[3]वम्भूतेन त्वया महानुभावस्य भगवतः अभ्युदयः जन्मकर्मगुणादीनामप्युपलक्षणमिदं जन्मकर्मगुणादिः अधिगण्यताम्; कथ्यतां, प्रबध्यतामिति यावत्। एवं चेत् कृतकृत्यस्य तव आत्मनि असन्तोषः निश्शेषं निवर्तत इति भावः॥ २१॥

ननु महानुभावाभ्युदयाधिगणनमात्रेण कथं कृतकृत्यत्वं, कथन्तरां असन्तोषनिवृत्तिश्च इत्यत आह — **इदं** इति। उत्तमश्लोकस्य गुणानुवर्णनं इति यत् तदिदमेव कृतार्थीभवितुं इच्छतः पुंसः सम्बन्धिनां तपआदीनां अविच्युतः च्यवनरहितः प्रतिहतिरहितोऽर्थः। प्रयोजनं कविभिः निरतिशयप्रयोजनयाथात्म्यविद्भिः निरूपितः। अत्र तपः अनशनादि, मन्त्रजपो वा, श्रुतं अध्ययनं, स्विष्टं यागादि, पूर्तं वापीकूपतटाकखननादि, बुद्धिः ज्ञानं, दत्तं दानं। भारतादेः अतिविस्तृतत्वात् तत्र सारग्रहणं जलधिमथनात् सुधाग्रहणकल्पं अविचक्षणैः दुष्करम्। तस्मात् मुमुक्षूणां अतीव सेव्यं सारं अर्थजातं संङ्कल्प्य दर्शय। एतावत् कर्तव्यं इत्युक्तं भवति। उत्तमश्लोकगुणानुवर्णनश्रवणस्याप्युपलक्षणं तपआदीन् अनुतिष्ठतः पुंसः यद्युत्तमश्लोकगुणानुवर्णनश्रवणयोः रुचिः जायते तदैव तेषां साफल्यम्। अन्यथा तु तपआदीनां **वैयर्थ्यमेव इत्युक्तम्**॥ २२॥

ननु भगवद्गुणवर्णनादेरपि तपआदिवत् क्रियारूपस्य न स्वतः पुरुषार्थरूपत्वं इति कथं तस्य अविच्युतार्थत्वं इति शङ्कायां स्वतः प्रयोजनरूपत्वाभावेऽपि भगवद्भक्तियोगरुचि जननद्वारा तन्निष्पादनद्वारा च निश्श्रेयससाधनत्वात् अविच्युतार्थत्वं अस्त्येव इति वक्तुं तत्र दृष्टान्ततया स्वस्य पौर्वदैहिकं वृत्तान्तमाह — **अहं** इत्यादिना यावदध्यायसमाप्ति। हे मुने! पुरा पूर्वस्मिन् कल्पे अतीतभवे जन्मनि अहं कस्याश्चित् वेदवादिनां दास्या अभवं पुत्र आसम् इत्यर्थः। वेदवादिनां गृहेषु प्रावृषि वर्षर्तौ निर्विविक्षतां नितरां वेष्टुं प्रवेष्टुं इच्छतां चातुर्मास्यदीक्षां प्रवेष्टुं इच्छतां योगिनां सन्न्यासिनां शुश्रूषणे निमित्ते शुश्रूषणार्थं बालक एव सन् अहं वेदवादिभिः निरूपितः नियोजितोऽस्मि इत्यर्थः ॥ २३ ॥

ततः किं अत आह — **ते मयि** इति। यद्यपि ते योगिनः तुल्यदर्शनाः समदर्शिनः, तथापि मयि कृपां चक्रुः। कृपाकरणे हेतुं वदन् आत्मानं विशिनष्टि। अर्भके बाले, अथापि अपेतं त्यक्तं अखिलं चापलं जैह्म्यादिकं येन। अधृतक्रीडनके इति च्छेदः। अधृतानि अपरिगृहीतानि क्रीडनकानि बालक्रीडासाधनानि भावे वा ल्युट्। क्रीडा वा येन अनुवर्तिनि अनुकूले शुश्रूषमाणे तदनुशासनशुश्रूषापूर्वकसेवां कुर्वति अल्पभाषिणि मितभाषिणि ॥ २४ ॥

---

1. W °अंशजमपि 2. W adds च तत् 3. W °देव एतेन 4 W बुद्धं 5. W सङ्कलय्य 6. W °येत 7. A तपआदि ततक्रियारूपत्वं न स्वतः पुरुषाराधनत्वादविच्युतार्थत्वमस्येति चेत् तत्प्रतिवक्तं तत्र 8 W जैह्म्या°

**विज०** तद्धि स्वयं वेद इत्युक्तं विविच्य विज्ञापयति — **त्वम्** इति। हे अमोघदृक्! त्वं अजं आत्मानं परमात्मनः परस्य पुंसः कलां जगतः शिवाय प्रजातं आत्मना अवेहीत्यन्वयः। आदानादिकर्तुः परमपुरुषस्य अंशं अवतीर्णं स्वत एव परोपदेशमन्तरेण जानासि। अत्र लोट् लडर्थे। अन्यथा अमोघदृक्त्वमेव अनुपपन्नं स्यात्। तद्धि स्वयं वेद इति च विरुद्धं स्यात्। तन्महानुभावाभ्युदयः तस्य तव महासामर्थ्यलक्षणचरितोदयः त्रिलोकहिताय गण्यतां प्राधान्येन सङ्ख्याय कथ्यताम्। तेन जगतः शिवं भवतीत्यभिप्रायः ॥ २१ ॥

भगवन्महिमाऽभ्युदयवर्णनात् कथं जगतः शिवं स्यात् इति तत्राह — **इदम्** इति। यदुत्तमश्लोकस्य हरेः गुणानुवर्णनम्, इदं हि पुंसः तपआदे अपरोक्षज्ञानद्वारा मोक्षसाधनत्वात् कविभिः अविनष्टफलात्मकः अर्थः निरूपितः। हिशब्दः अवधारणे, हेतौ वा। तपः कायक्लेशलक्षणम्। श्रुतं शास्त्रश्रवणम्। स्विष्टं उत्तमकल्पतया यजनम्। सूक्तं अध्ययनम्। बुद्धं ज्ञातम्। दत्तं दानम्। एवं हरिमहिमानुवर्णनेन सर्वस्य शिवसम्भवात्, तदेव त्वया कर्तव्यमिति भावः ॥ २२ ॥

इदानीं हरिकथाश्रवणादि शिवकरमिति वक्तुं स्वातीतजन्मकथनपूर्वकं स्वस्य भागवतसङ्गतिप्रकारमाह — **अहम्** इति। पुराशब्दस्य अतीतकालसामान्यवाचित्वेन निश्चयानुदयात् तदर्थं अतीतेत्युक्तं अनन्तरातीतजन्मनि इत्यर्थः। तुशब्दः इतरदासीजातिवैशिष्ट्यद्योतनार्थः। योगिनां सन्नयासिनाम्। कप्रत्ययः प्रशंसायाम्, लौल्यादिदोषरहितः बालः। प्रावृषि वर्षाकाले निर्विविक्षतां एकत्र स्थितिमिच्छताम् ॥ २३ ॥

शिष्यगुणेन तेषां प्रवृत्तिमाह — **त इति**। निरस्तसमस्तचञ्चलस्वभावे जिह्वादीन्द्रियनिग्रहवति अत एव निरस्तबालक्रीडासाधने अनुकूलवर्तिनि परिचरति अत्यल्पबालविग्रहधारिणि मयि ते योगिनः अनुग्रहलक्षणां कृपां चक्रुः **इत्यन्वयः**। **किंविशिष्टाः ?** तुल्यदर्शनाः, यद्यपि तुल्यं गुणक्रियारूपैः समं ब्रह्म पश्यन्तः यथास्थितवस्तुदर्शिनो वा, तथापीति शेषः ॥ २४ ॥

1. K ज्ञानं

**रा॰ कृ॰** हे अमोघदृक्! हे अमोघदर्शन! व्यास! त्वं आत्मना स्वयं आत्मानं स्वं अजं जन्मरहितमपि जगतः शिवाय प्रजातं परस्य पुंसः परमपुरुषस्य परमात्मनः कलां अंशभूतं अवेहि जानीहि। तत् तस्मात् महानुभावाभ्युदयः महानुभावस्य हरेः अभ्युदयः पराक्रमः अधिगण्यतां अधिकं निरूप्यताम् ॥ २१ ॥

उत्तमश्लोकगुणानुवर्णनं उत्तमश्लोकस्य अज्ञाननिवर्तकयशसः भगवतः गुणानां अनुवर्णनं यद्वर्तते तदिदमेव पुंसः सम्बन्धिन इति शेषः। तपसः श्रुतस्य शास्त्रश्रवणस्य स्विष्टस्य अग्निष्टोमादेः यागस्य, पूर्तस्य तटाकादेः, सूक्तदत्तयोः अध्ययनदानयोः वा। "सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः" इति पाठे बुद्धिः नाम ज्ञानम्। अविच्युतः अविनाशः नित्य इति यावत्। अर्थः प्रयोजनमिति कविभिः याथार्थ्यवेदिभिः विद्वद्भिः निरूपितः। हि इति निश्चये ॥ २२ ॥

हे मुने! अहं पुरा पूर्वकल्पे अतीतभवे पूर्वजन्मनि वेदवादिनां ब्राह्मणानां दास्याः कस्याश्चन स्त्रियः अभवं जातोऽस्मि। तदा प्रवृषि प्रावृट्कालोपलक्षिते चातुर्मास्ये निर्विविक्षतां एकत्र निर्वेशं निवासं कर्तुं इच्छतां योगिनां शुश्रूषणे बालक एव निरूपितः नियोजितः।

स्वयं वेदं पठन्तः बहून् पाठयन्तः वेदपुरुषं स्मरन्तः स्मारयन्तश्च सन्तः भगवद्भक्तिसाधनदीक्षिताः वेदवादिनः इत्युच्यन्ते। तेषामेव 'ब्रह्मवादिसंज्ञा'। एतद्वेदवादिसम्प्रदायः नितरां प्राचीनः। "एते ब्रह्मवादिनो वदन्ति" इति श्रुतिः ॥ २३ ॥

यद्यपि तुल्यदर्शनाः ते मुनयः अपेताखिलचापले दान्ते नियतेन्द्रिये अघृतक्रीडनके अनुवर्तिनि शुश्रूषमाणे अल्पभाषिणि अर्भके मयि कृपां चक्रुः ॥ २४ ॥

**उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः सकृत् स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः ।**
**एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतसः तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते ॥ २५ ॥**

**तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायतामनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः ।**
**ताश्श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः प्रियश्रवस्यङ्ग! ममाभवद्रुचिः ॥ २६ ॥**

**तस्मिंस्तदा लब्धरुचेर्महामुने प्रियश्रवस्यस्खलिता मतिर्मम ।**
**ययाहमेतत्सदसत्स्वमायया पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे ॥ २७ ॥**

**इत्थं शरत्प्रावृषिकावृतू हरेः विशृण्वतो मेऽनुसवं यशोऽमलम् ।**
**सङ्कीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभिः भक्तिः प्रवृत्ताऽऽत्मरजस्तमोपहा ॥ २८ ॥**

1 K,M °द्य° 2. K,M °च्च 3. B,K,M °भि° 4. H °थां 5. H,K,M,V,W °सवं 6. K,M तदा° 7. B,H,V,W °द्रतिः; K,M °न्मतिः 8 H,I,V °मते 9. H,V ममै°

**श्रीध० उच्छिष्टेति ।** उच्छिष्टस्य लेपान् पात्रलग्नान् तैः द्विजैः अनुज्ञातः सन्[2] भुञ्जे स्म। तेन भोजनेन अपास्तकिल्बिषः जातोऽस्मि। तेषां धर्मे परमेश्वरभजने एव आत्मनः मनसः रुचिः प्रजायते स्म इत्यनुषङ्गः ॥ २५ ॥

**तत्रेति ।** अशृणवं श्रुतवानस्मि। मे श्रद्धया ममैव स्वतसिद्धया न त्वन्येन बलात् जनितया। अतः ममेत्यस्य अपौनरुक्त्यम्। अनुपदं प्रतिपदम्। प्रियं श्रवः यशः यस्य तस्मिन् ॥ २६ ॥

**तस्मिन्** इति। प्रियं श्रवः यस्म तस्मिन् भगवति लब्धरुचेः मम अस्खलिता अप्रतिहता मतिः अभवत् इत्यनुषङ्गः। यया मत्या परे प्रपञ्चातीते ब्रह्मरूपे मयि सदासत् स्थूलं सूक्ष्मञ्चैतच्छरीरं स्वमायया स्वाविद्यया कल्पितं, न तु वस्तुतोऽस्तीति तत्[3]क्षणमेव पश्ये पश्यामि ॥ २७ ॥

एवं शुद्धे त्वम्पदार्थे ज्ञाते देहादिकृतविक्षेपनिवृत्तेः तत्कारणभूतरजस्तमोनिवर्तिका दृढा भक्तिः जाता इत्याह — **इत्थं** इति। हरेः यशः अनुसवं त्रिकालम् ॥ २८ ॥

1. B.भिक्षापात्र° 2. H,V add भुङ्क्ष्व इत्यनुशिष्टस्सन् 3. H,V एतत्क्ष°

**वीर०** कृपाफलं वदन् आत्मानं विशिनष्टि — **उच्छिष्टेति**। द्विजैः योगिभिः अनुमोदितः तैः दत्तान् उच्छिष्टलेपान् भुक्तावशिष्टान् अन्नादीन् सकृत् भुञ्जे स्म भुक्तवान् अस्मि। तेन भोजनेन अपास्तानि किल्बिषाणि भागवत-धर्मरुचिप्रतिबन्धकानि यस्य तथाभूत आसम्। एवं भागवतशुश्रूषणे प्रवृत्तस्य अत एव विशुद्धं भागवतधर्मरुचिप्रतिबन्धरहितं चेतः यस्य तस्य मम तद्धर्म एव आत्मनि अन्तःकरणे रुचिः प्रजायते प्राजायत ॥ २५ ॥

तत्र आत्मरुचौ जातायां सत्यां अन्वहं अनुदिनं कृष्णस्य भगवतः कथाः प्रगायतां कथयताम् योगिनां अनुग्रहेण मनोहरा[2] मनोज्ञाः[3] कथाः अशृणवं श्रुतवान् अस्मि। ताः कृष्णकथाः अनुसवं त्रिकालं श्रद्धया विशृण्वतः मम अङ्ग! हे व्यास! प्रियं श्रोतॄणां प्रीत्यावहं श्रवः कीर्तिः यस्य तस्मिन् भगवति रतिः अनुरागः अभवत् बभूव ॥ २६ ॥

तदा तस्मिन् प्रियश्रवसि बद्धा रुचिः येन तस्य मम हे महामते! प्रियश्रवसि मतिः अस्खलिगा स्थिरा बभूव। अस्खलितां मतिं विशिनष्टि — यया मत्या परे ब्रह्मणि परब्रह्मधार्ये मयि वर्तमानं एतत् सदसत्कार्यकारणात्मकं जगत् स्वमायया स्वसम्बन्धिन्या प्रकृत्या कल्पितं निष्पादितं न तु स्वतः इत्यर्थः। पश्ये दृष्टवानस्मि। "तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता, एवमेवैता भूतमात्रा प्रज्ञामात्रास्वर्पिता प्रज्ञामात्रा प्राणेऽर्पिताः" (कौषी. उ. 3-9) "जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्" (भार. 6-29-5) इत्युक्तप्रकारेण प्रकृति श्चेतनधार्या, चेतनः परमात्मधार्यः इति देहात्मभेदं आत्मपरमात्मसम्बन्धञ्च ज्ञातवान् अस्मि इत्यर्थः॥ २७॥

इत्थं शरत्प्रावृषिकौ शरत्प्रावृषौ ऋतू अनुसवं अमलं महात्मभिः मुनिभिः सङ्कीर्त्यमानं हरेः यशः विशृण्वतः मम आत्मनि ये रजस्तमसी तयोर्रपहन्त्री भक्तिः प्रवृत्ता बभूव॥ २८॥

---

1. W °बन्धक° 2 W adds अति 3 W adds कृष्ण° 4. W लब्धा 5. W °मुने 6. W °रपहा

**विज०** किं तच्छुश्रूषाकर्मेति तत्राह — **उच्छिष्टेति**। ब्रह्मकुलोद्भवानामेव चतुर्थाश्रम इति प्रकाशनाय द्विजैरिति कथितम्। उच्छिष्टपात्रोद्धरणं [1] गोमयोदकेन मार्जनं वा तत्स्थले। लेपनं तत्रानुज्ञातः न हि शूद्रस्य तदनुज्ञानाभावे उच्छिष्टस्पर्शनं सुतरां तद्भक्षणं वा शक्यम्, लिप्यन्ते उपलिप्यन्ते[2] सिध्यन्ते प्राणा एतैः इति लेपाः ओदनाः तद्भुक्तोच्छिष्टानां ओदनानां अदनं प्रति अभ्यनुज्ञात इति वा। अनेन स्वशरीरयात्रानिर्वाहमाह, तदनुवर्तित्वं स्पष्टमाह — सकृदिति। चशब्दः एवार्थे। यतयः सकृदेव भुञ्जते तथा अहमपि सकृदेव भुञ्जे। तत्फलमाह — तदिति। तेन कर्मणा सकृद्भोजनेन अपास्तं निरस्तं किल्बिषं पापं यस्य स तथा। ततः किमभूत् इति तत्राह — एवमिति। एवं उक्तप्रकारेण प्रवर्तमानस्य विशेषेण शुद्धान्तःकरणस्य तेषां परमहंसानां धर्मे विषयवैराग्यलक्षणे भगवत्कथाश्रवणाद्यभ्यासलक्षणे वा अभिरुचिः उत्कण्ठा प्रजायते इत्यन्वयः। सन्ततानुवृत्तिसूचनाय लट्प्रयोगः॥ २५॥

अभिरुच्या किं जातमिति तत्राह — **तत्र** इति। तत्र तत्सकाशे मनोहरा कृष्णकथा अनुदिनं प्रातस्सवनादनन्तरं प्रगायतां कीर्तयतां परमहंसानां अनुज्ञालक्षणानुग्रहेण अशृणवं इत्यन्वयः। अङ्ग! श्रीवेदव्यास! तदा श्रद्धया अनुसवं त्रिसन्ध्यमपि ताः कथाः विशृण्वतः मे मतिः ध्यानलक्षणोपासना प्रियश्रवसि परममङ्गलकीर्तौ हरौ अभवदित्यन्वयः॥ २६॥

अखण्डस्मरणोपासनाफलामाह — **तस्मिन्** इति। रागाद्यवद्यैरनुपहतत्वादस्खलिता निरन्तरं स्थिरतया अखण्डोपासनं अभवत् इत्यन्वयः। अहं यया। अखण्डोपासनया एतत्सदसत्कार्यकारणात्मकं जगत् मयि स्थिते बिम्बभूते ब्रह्मणि पूर्णे हरौ तत्सृष्टं तत्पालितं तत्संहृतं च इति पश्ये। कथम्भूतं? स्वमायया स्वेच्छया मदनुग्रहाभिमुख्या यत्र स्थीयतां इति कल्पितं सङ्कल्पितं इत्यन्वयः। ब्रह्मणि अध्यस्तं जगत् पश्य इत्यङ्गीकारे मिथ्याज्ञानित्वं प्रसज्जते, न हि शुक्त्यध्यस्तरजतं पश्यन् यथार्थज्ञानी भवति। किन्तु नेदं रजतं शुक्तिरेवेति पश्यंस्तथा नेदं जगत् किन्तु ब्रह्मैवेति; न चात्र तथेत्यलमतिप्रसङ्गेन॥ २७॥

भक्त्युपासनयोः अन्योन्यनिमित्तकभावः अस्ति इत्यभिप्रेत्याह — **इत्थं** इति। इत्थं उक्तप्रकारेण मुनिभिः[3] सम्यक् कीर्त्यमानं अमलं हरेः यशः अनुसवनं शरत्प्रावृषिकावृतू विशेषेण शृण्वतः मम हरौ तदितरविरागवती आत्मनः मनसः रजोगुणतमोगुणनिमित्तरागाद्यन्यथाज्ञानादिदोषहरा महत्त्वज्ञानलक्षणा भक्तिः प्रवृत्ता अभूत् इत्यन्वयः ॥ २८ ॥

---

1 K adds तद्भक्षणं च 2 B,K,M °दिश्यन्ते 3 K,M add सर्वज्ञैः योगिभिः

**रा॰ कृ॰** द्विजैः अनुमोदितः भुङ्क्ष्व इति अनुज्ञातः सन् उच्छिष्टलेपान् तद्भुक्तावशिष्टस्य पात्रलग्नान् अन्नादीन् सकृत् एकवारं भुञ्जे स्म भुक्तवान् अस्मि। तत् तस्मात् अपास्तकिल्बषः निरस्तभागवतधर्मरतिप्रतिबन्धकपापः अभवं इति शेषः।

एवं प्रवृत्तस्य नित्यं तत्परिचर्यापूर्वकं तदुच्छिष्टभोजनादिरतस्य विशुद्धचेतसः निर्मलान्तःकरणस्य मम इति शेषः। तद्धर्म एव तेषां महात्मनां परमेश्वरभजनरूपे धर्म एव आत्मरुचिः मनोरतिः प्रजायते स्म इति शेषः ॥ २५ ॥

अङ्ग! व्यास! तत्र तद्देशे अन्वहं प्रतिदिनं कृष्णकथाः प्रगायतां प्रकर्षेण गायतां तेषां मुनीनां अनुग्रहेण मनोहराः ताः कृष्णकथाः अशृणवम्। अनुपदं मे श्रद्धया विशृण्वतः मम प्रियश्रवसि भगवति रतिः अभवत् ॥ २६ ॥

हे महामते! व्यास! तदा तस्मिन् प्रियश्रवसि भगवति लब्धरुचेः मम अस्खलिता अप्रतिहता मतिः अभवत् इति शेषः। यया मत्या परे प्रपञ्चातीते ब्रह्मणि ब्रह्मस्वरूपे मयि सत् स्थूलं असत् सूक्ष्मं च एतच्छरीरं स्वमायया कल्पितं न तु वस्तुतः मयि अस्तीति पश्ये पश्यामि जानामि ॥ २७ ॥

इत्थं शरत्प्रावृषिकौ ऋतू वर्षाशरदृतू अनुसवं त्रिकालं महात्मभिः मुनिभिः सङ्कीर्त्यमानं अमलं हरेः यशः विशृण्वतः मे आत्मरजस्तमोऽपहा भक्तिः प्रवृत्ता उत्पन्ना।

अत्र प्रपञ्चातीतत्वं नाम न प्रपञ्चपरित्यागः; किन्तु विश्वस्मिन् विष्णुदर्शनमेव। ब्रह्मत्वं च विश्वस्मिन् नैरन्तर्येण ब्रह्मभावनया सिध्यति। "नाहं स्थूलसूक्ष्ममयं शरीरमाश्रितवान् किन्तु तदेव मामाश्रित्य वर्तते, तच्च मायाकल्पितम्" इति नारदः ज्ञातवान्।

नन्वेतत् सर्वमपि महाभारतयुद्धानन्तरं कलियुगप्रारम्भात् प्राक् श्रीकृष्णावतारसमाप्तिसमये नारदेन व्यासाय कथितं हि! तर्हि पूर्वकल्पप्रवृत्तां स्वकथां कथयता तेनैव नारदेन "मुनयः श्रीकृष्णकथासङ्कीर्तनं अकुर्वन्" इति कथं उक्तम्? अत्रोच्यते — प्रतिवत्सरं ऋतुधर्माः यथा पुनः पुनः आवर्तन्ते। तथा भगवतः मुख्यावताराः प्रतिकल्पं पुनः आवर्तन्ते। इयं च युगानां पुनःपुनः आवृत्तिः सूतेन शौनकादिभ्यः भारतकथाप्रस्तावनायां उक्तैव। तस्मात् नारदपूर्वजन्मकथोपवर्णितः श्रीकृष्णावतारः पूर्वकल्पप्रवृत्त इति अनुमीयते ॥ २८ ॥

**तस्यैवं मेऽनुरक्तस्य प्रश्रितस्य हतैनसः ।**
**श्रद्दधानस्य बालस्य दान्तस्यानुचरस्य च ॥ २९ ॥**

**ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत् साक्षाद्भगवतोदितम् ।**
**अन्ववोचन् गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः ॥ ३० ॥**

**येनैवाहं भगवतो वासुदेवस्य वेधसः ।**
**मायानुभावमविदं येन गच्छन्ति तत्पदम् ॥ ३१ ॥**

**एतत्संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम् ।**
**यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम् ॥ ३२ ॥**

**श्रीध॰ तस्येति ।** तस्य ज्ञातशुद्धत्वम्पदार्थस्य दृढभक्तिमतः मे प्रश्रितस्य विनीतस्य ॥ २९ ॥

**ज्ञानमिति ।** गुह्यतममिति साधनभूतधर्मतत्त्वज्ञानं गुह्यं तत्साध्यं[1] विविक्तात्मज्ञानं गुह्यतरं तत्प्राप्येश्वरज्ञानं[2] गुह्यतमम् । भगवतोदितं भागवतं शास्त्रं अन्ववोचन् उपदिष्टवन्तः ॥ ३० ॥

तदेव ज्ञानं पूर्वोक्तत्वम्पदार्थज्ञानात् विवेकेन दर्शयति — **येनैव** इति । अविदं ज्ञातवानहम् ॥ ३१ ॥

तत्साधनधर्मरहस्यं च सूचितमित्याह — **एतत्** इति । तापत्रयस्य आध्यात्मिकादेः चिकित्सितं भेषजं निवर्तकं[3] तत्त्वशोधकमिति[4] यावत् । किं तत्? भगवति भावितं समर्पितं यत्कर्म तत् । कथम्भूते भगवति? ईश्वरे सर्वनियन्तरि । एवमपि च ब्रह्मणि अप्रच्युतपूर्णरूपे ॥ ३२ ॥

---

1. H,V add देहद्वय° 2. H,V add ° तत्त्व 3 B तन्निव° 4. B,H,V स°

**वीर॰** तस्य प्रवृत्तभक्तेः अनुरक्तस्य बालस्यापि प्रश्रितस्य विनीतस्य हतं एनः पापं यस्य श्रद्धायुक्तस्य दान्तस्य जितेन्द्रियस्य अनुचरस्य अनुवर्तिनः मे मह्यम् ॥ २९ ॥

यद्भगवता साक्षात् उदितं ज्ञानं तद्गमिष्यन्तः गन्तुं उद्यताः दीनवत्सलाः योगिनः कृपया अन्ववोचन् उपदिदिशुः इत्यर्थः ॥ ३० ॥

ज्ञानं विशिनष्टि — येन ज्ञानेनाहं भगवतः वेधसः विश्वविधातुः वासुदेवस्य मायानुभावं त्रिगुणात्मकप्रकृतिमहिमानं अविदं ज्ञातवान् अस्मि अनेन विरोधिस्वरूपज्ञानं उक्तम् । येन च ज्ञानेन तस्य वासुदेवस्य पदं स्थानं गच्छन्ति । अनेन प्राप्यप्रापकविषयज्ञानं उक्तम् । अर्थपञ्चकज्ञानं उपदिदिशुः इति फलितम् ॥ ३१ ॥

तदेवं स्वपूर्वजन्मवृत्तान्तदृष्टान्तेन भगवद्गुणश्रवणादेः तद्भक्तियोगसाधनत्वं उक्तम्। भक्तियोगस्य शश्वद्भद्रगर्भत्वं पूर्वमेव प्रतिपादितम्। धर्मकृतेऽनुशासतः स्वभावरक्तस्य इत्यनेन त्रैवर्गिककर्ममूलकतापत्रयाभिहतजनोद्देशेन पुनः त्रैवर्गिकधर्मानुशासनं तापत्रयनिमित्तधर्मार्थत्वेन निन्दितं इत्युक्तम्। तेन ईश्वरे न चार्पितं कर्म इत्यनेन च अनभिसंहितफलस्य कर्मणः भक्तियोगनिष्पादनद्वारा तापत्रयनिवृत्तिहेतुत्वं वदन् त्रैवर्गिकस्य कर्मणः पुनः पुनः तापत्रयहेतुत्वमेव सदृष्टान्तं उपपादयति — **एतदिति** त्रिभिः। हे ब्रह्मन्! तापत्रयचिकित्सितं तापानां आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकानां दुःखानां त्रयं तापत्रयं तच्चिकित्सितं प्रतिकृतं भवति येन तापत्रयचिकित्सितं तापत्रयप्रतीकारं[2] इत्यर्थः। तदेतदेव संसूचितं श्रुतिस्मृत्यादिभिः इति शेषः। किं यत् ब्रह्मणि ईश्वरे भगवति भावितं समर्पितं[3] कर्मैव तापत्रयचिकित्सितं इति सूचितं इत्यर्थः। "धर्मेण पापं अपनुदति" (म. ना. उ. 17-6) **"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा"** (ईशा. उ. 11) इत्यादिका **श्रुतिः**, स्मृतिश्च "यज्ञो दानं तपः कर्म पावनानि मनीषिणां" (भ. गी. 18-5) इत्यादिका। तापत्रयं हि पापमूलकं **अनभिसंहितफलेन**[4] कर्मणा पापनिवृत्ति भक्तियोगनिष्पत्तिद्वारा तापत्रयं निवर्तत इति श्रुति स्मृतिभिः सूच्यते॥ ३२॥

---

1 A,B omit तापानां ..... तापत्रयचिकित्सितं 2 W प्रतिकारकं 3 B.W add कर्मेति ईश्वरार्पितं 4 W adds धर्मेण पापे निवृत्ते भक्तियोग°

**विज°** ननु सद्गुरूपदेशमन्तरेण केवलं यशश्श्रवणेनैव कथं ज्ञानोदयः इति चेत्तत्राह — **तस्य** इति॥ २९॥

ज्ञायते[1] अनेनेति ज्ञानं **शास्त्रम्**। भगवतोदितं भगवत्सम्प्रदायात् आगतं **अन्ववोचन्** समग्रानुग्रहपूर्वकं उपदिष्टवन्तः। गमिष्यन्तः चातुर्मास्यानन्तरम्॥ ३०॥

**तदुपदिष्टशास्त्रेण**[2] किं त्वया लब्धं इति अत आह — **येनैवेति**। वेधसः **सर्वजगत्कर्तुः** मायानुभावं इच्छासामर्थ्यम्॥ ३१॥

एतत् मया उक्तं ज्ञानं तापत्रयात्मकसंसारनिवर्तकौषधं समीचीनं सूचितं लोकस्य इति शेषः। तस्मात् एतादृशं ज्ञानमेव आपाद्यं इति भावः। तर्हि कर्मकरणं व्यर्थमिति तत्राह — यदिति। यायजूकैः क्रियमाणं अग्निष्टोमादि तदपि यदि ब्रह्मणि अपरिच्छिन्नगुणे ईश्वरे ईशादपि परे हरौ भावितं अर्पितं तर्हि ज्ञानं उत्पद्यते। तेन तापत्रयचिकित्सितं एतदुक्तं भवति — ब्रह्मार्पणबुद्ध्या क्रियमाणेन कर्मणा शुद्धान्तःकरणस्य विषयविरक्तिद्वारा भगवति तीव्रया भक्त्या जनितापरोक्षज्ञानेन तापत्रयात्मकः संसारः निवर्तत इति यत् ब्रह्मणि भावितं यत्कर्म तदेतत्तापत्रयचिकित्सितं संसूचितमिति एकान्वयो वा॥ ३२॥

---

1. A,B,M omit ज्ञायते ..... मुपदिष्टवन्तः 2. A,B,M omit तदुपदिष्ट ..... सामर्थ्यम्॥ ३१॥

**रा॰ कृ॰** एवं अनुरक्तस्य मुनिसेवासक्तस्य प्रश्रितस्य विनीतस्य हतैनसः पापरहितस्य श्रद्दधानस्य श्रद्धायुतस्य बालस्य दान्तस्य जितेन्द्रियस्य अनुचरस्य स्वसेवकस्य तस्य मे गमिष्यन्तः चातुर्मास्यसमाप्त्यनन्तरं गन्तुं उद्यताः दीनवत्सलाः मुनय इति शेषः। कृपया साक्षात् भगवता यदुदितं ब्रह्मादीन् प्रयुक्तं तत् गुह्यतमं ज्ञानं ईश्वरतत्त्वज्ञानं अन्ववोचन् उपादिशन्॥ २९, ३०॥

येनैव पूर्वोक्तज्ञानेन वेधसः सर्वस्रष्टुः भगवतः वासुदेवस्य मायाऽनुभावं लीलाप्रभावं अविदं ज्ञातवान् अस्मि येन ज्ञानेन वासुदेवमायानुभावज्ञानेन तत्पदं भगवतः स्थानं गच्छन्ति भागवता इति शेषः। तन्मुनयः मह्यं अवोचन् इति पूर्वेणान्वयः॥ ३१॥

हे ब्रह्मन् यत्कर्म भगवति ब्रह्मणि ईश्वरे भावितं समर्पितं वर्तते इति शेषः। तदेतत् कर्म तापत्रयचिकित्सितं तापत्रयस्य आध्यात्मिकादेः भेषजं निवर्तकम् इति यावत् संसूचितं ज्ञापितं इत्यर्थः॥ ३२॥

**आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत।**
**तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम्॥ ३३॥**

**एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः।**
**त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे॥ ३४॥**

**यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम्।**
**ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम्॥ ३५॥**

**कुर्वाणा यत्र कर्माणि भगवच्छिक्षयाऽसकृत्।**
**गृणन्ति गुणनामानि कृष्णस्यानुस्मरन्ति च॥ ३६॥**

---

1 K,M ज्यं च  2 K,M °य° 3 K,M तत्  4 V परे

**श्रीध॰** ननु संसारहेतोः कर्मणः कथं तापत्रयनिवर्तकत्वम्? सामग्रीभेदेन घटत इति सदृष्टान्तमाह द्वाभ्यां — **आमय** इति। यश्च आमयः रोगः येन घृतादिना जायते तदेव केवलं आमयकारणभूतं द्रव्यं तं आमयं न पुनाति न निवर्तयतीत्यर्थः। किन्तु चिकित्सितं द्रव्यान्तरैः भावितं सत् पुनात्येव यथा॥ ३३॥

**एवमिति।** तथाऽऽत्मविनाशाय कर्मनिवृत्तये कल्पन्ते समर्था भवन्ति, परे ईश्वरे कल्पिता अर्पिताः सन्तः। अत्र च प्रथमं महत्सेवा ततश्च तत्कृपा तत तद्धर्मश्रद्धा ततः भगवत्कथाश्रवणं ततः भगवति रतिः तया च देहद्वयविवेकात्मज्ञानं ततः दृढा भक्तिः ततः भगवत्तत्त्वज्ञानं ततः तत्कृपया सर्वज्ञत्वादिभगवद्गुणाविर्भाव इति क्रमः दर्शितः॥ ३४॥

ननु च ज्ञानेन अज्ञानप्राप्तकर्मनाशः तच्च ज्ञानं भक्तियोगात् भवति। कथं कर्मणा कर्मनाशः स्यात् तत्राह — **यदत्र** इति॥ ३५॥

भगवदर्पणेन क्रियमाणं कर्म भक्तियोगं जनयतीति[4] सदाचारेण दर्शयति — **कुर्वाणा** इति। यत्र यदा भगवतः शिक्षया कर्माणि कुर्वाणा भवन्ति तदा श्रीकृष्णस्य गुणनामानि गृणन्ति अनुस्मरन्ति च कृष्णं इत्यर्थः। इयञ्च भगवच्छिक्षा "यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम्" (भ. गी. 9-27) इति॥ ३६॥

---

1 H समर्पि° 2 H,V °विविक्ता° 3 H,V विज्ञानं 4 H,V add तच्च

**वीर०** त्रैवर्गिककर्मणः तापत्रयहेतुत्वं वक्तुं तावत् दृष्टान्तमाह — **आमय** इति। यद्यपि उदाहृतश्रुतिस्मृतिवचोभिः पापस्यैव तापत्रयमूलत्वं सूचितं, तथापि त्रैवर्गिककर्मणः अन्ततोऽनिष्टावहत्वेन पापवत् अनिष्टसाधनत्वात् तदपि तापत्रयनिमित्तमेव। हे सुव्रत! यथा येन अपथ्यान्नादिना भूतानां यः आमयः रोगः जायते, तदामयकारणं द्रव्यं चिकित्सितमपि प्रतीकारत्वेन सेवितमपि आमयं न पुनाति न शोधयति। चिकित्सितोऽपि व्याधिः अपथ्यादिना पुनः वर्धत इत्यर्थः। चिकित्सितं इति आमयविशेषणं वा। आमयकारणेन चिकित्सितं प्रतिकृतं अपि आमयं व्याधिं तदामयकारणं द्रव्यं न पुनातीत्यर्थः॥ ३३॥

दृष्टान्तेन अभिमतं अर्थं दार्ष्टान्तिकेऽनुगमयति — **एवम्** इति। एवं अपथ्यान्नादेः आमयकारणवत् नृणां सर्वे क्रियायोगा अनभिसंहितफलकर्मव्यतिरिक्ताः सर्वे त्रैवर्गिकाः क्रियायोगाः संसृतेर्हेतवः अत एव परस्मिन् आत्मनि अकल्पिताः असमर्पिताः आत्मविनाशाय कल्पन्ते। आत्मनः अन्ततः स्थावरत्वरूपविनाशाय कल्पन्ते सम्पन्ना भवन्ति॥ ३४॥

तर्हि परस्मिन् कल्पिताः क्रियायोगाः किं वा साक्षात् निःश्रेयसहेतवः न भक्तियोगनिष्पादनद्वारा इत्याह — **यत्** इति। भगवान् परितुष्यते भक्तियोगोत्पत्तिप्रतिबन्धकनिरसनोपयुक्तपरितोषयुक्तो भवति, येन तदाराधनरूपेण कर्मणा तद्भगवत्परितोषणं यत् कर्म अत्र लोके क्रियते। अनुक्रियत इति पाठे अनुस्यूततयाऽऽशरीरपातं क्रियते। तदधीनं यत्कर्माधीनं तन्निष्पाद्यमेव भक्तियोगसमन्वितं ज्ञानम्। अत्र ध्यानसाध्यं दर्शनात्मकं विवक्षितं, "भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन! ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥" (भ. गी. 11-54) इत्युक्तत्वात्॥ ३५॥

न केवलं भगवत्परितोषणात्मकं कर्मैव भक्तियोगानुग्राहकं, अपि तु भगवद्गुणश्रवणादिकमपि इत्याह — **कुर्वाणा** इति। भगवच्छिक्षया "यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि" (भ. गी. 9-27), "मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्य" (भ. गी. 3-30) इत्याद्युक्तभगवच्छिक्षया असकृत् कर्माणि वर्णाश्रमानुरूपणि कुर्वाणाः कृष्णस्य भगवतः गुणान् नामानि च कल्याणगुणप्रकाशकानि[5] वा गायन्ति अनुस्मरन्ति च। नामानि गृणन्ति गुणान् अनुस्मरन्ति च

इत्यर्थः। भक्तियोगनिष्पत्तिकामा इति कर्तृपदं अध्याहर्तव्यम्। यथा भगवच्छिक्षया असकृत् कृतानि कर्माणि भक्तियोगानुग्राहकाणि तथा गुणानामानुस्मरणादिकमपि इति भावः॥ ३६॥

1. A,B °र्णि° 2. W °केनानु° 3. W °त्वा° 4. W तत 5. B,W add नामानि 6. W गृणन्ति

**विज०** ननु कर्मणां बन्धस्वभावात् कथं तापत्रयभैषज्यमिति तत्राह — **आमय** इति। सुखमेव व्रतं येन सः तथा तस्य सम्बुद्धिः, हे सुव्रत! सत्यसङ्कल्पादिव्रतोपेत! इति वा। येन **द्रव्येण** भूतानां आमयं आमयः श्लेष्माद्यः जायते तदेव आमयकारणं द्रव्यं चिकित्सितं औषधीकृतं तद्रोगलक्षणं पुनाति **परिहरति** हि। तदिदं अनुभवसिद्धं इति हिशब्दार्थः। एवकारस्तु तस्य प्राधान्यद्योतनार्थः न तु द्रव्यान्तरनिषेधार्थः, कुतः ? **औषधीकरणाय** द्रव्यान्तरसंयोगदर्शनात्। चशब्दः उपमार्थः, स यथा॥ ३३॥

एवं तथा नृणां संसारिणां क्रियालक्षणा योगा उपायाः **स्वतः संसारहेतवः** त एव क्रियायोगाः परे पूर्णे ब्रह्मणि कल्पिताः आत्मविनाशाय अर्पिताः। अनेकजन्मसञ्चितदुष्कर्मस्वरूपनाशाय कल्पन्ते। तस्मात् केवलं **कर्मबन्धकं** ब्रह्मार्पणेन ओषधीकृतं भक्तिज्ञानद्वारा संसाराख्यरोगनिवर्तकम् **इति** भावः॥ ३४॥

ज्ञानद्वारा कर्मणः मोचकत्वं आह — **यत्** इति। अत्र कर्मभूमौ भगवदर्पणेन भगवत्परितोषणं यत्कर्म जीवैः क्रियते यद्भक्तियोगसमन्वितं परोक्षापरोक्षोपपदं ज्ञानं, तज्ज्ञानं तस्य **कर्मणः** अधीनं हि, "कर्मणा ज्ञानमातनोति ज्ञानेनामृतीभवति अथामृतानि कर्माणि" इति श्रुतेः कर्मणा ज्ञानं जायते **हि** यस्मात् तस्मात् **कर्म ज्ञानद्वारा** बन्धनिवर्तकमिति भावः। अत्र अग्निष्टोमादिकर्मसु यत्कर्म भगवत्परितोषणं **इति वा**॥ ३५॥

कथङ्कारं कर्मणा ज्ञान उत्पद्यत इति तत्राह — **कुर्वाणा** इति। यत्र यस्य यजमानस्यार्थे यस्मिन् यज्ञे हवनादीनि **कर्माणि** कुर्वाणा वैदिका ऋत्विगादयः "स्मर्तव्यः सततं विष्णुः **विस्मर्तव्यो** न जातुचित्" **भगवच्छिक्षया** असकृत् निरन्तरं आदिमध्यावसानेषु वा कृष्णस्य गुणान् स्मरन्ति नामानि गृणन्ति॥ ३६॥

**रा० कृ०** हे सुव्रत! यः आमयः रोगः येन घृतादिना भूतानां **प्राणिनां** जायते तदेव द्रव्यं रोगकारणभूतं द्रव्यं चिकित्सितं द्रव्यान्तरैः प्रतिकृतमपि तं आमयं न पुनाति न निवर्तयतीत्यर्थः। एवं सर्वे क्रियायोगाः **फलेच्छया** कृताः यज्ञादयः संसृतिहेतवः संसारस्यैव कारणभूता भवन्तीति **शेषः**। त **एव** क्रियायोगाः परे ब्रह्मणि **कल्पिताः** समर्पिताः चेत् आत्मविनाशाय कर्मविनाशाय कल्पन्ते समर्था भवन्ति॥ ३३, ३४॥

भगवत्परितोषणं यत् कर्म अत्र क्रियते **भक्तियोगसमन्वितं** यत् **ज्ञानं** विद्यते तज्ज्ञानं इति **शेषः**। **तदधीनं** हि भगवत्परितोषककर्माधीनं हि। भक्तियोगसहितं ज्ञानं भगवत्प्रीतिजनककर्मायत्तमिति भावः॥ ३५॥

यत्र यदा भगवच्छिक्षया असकृत् कर्माणि कुर्वाणा ये तावत् वर्तन्ते इति शेषः। ते कृष्णस्य गुणनामानि गृणन्ति उच्चारयन्ति अनुस्मरन्ति च पश्चात् स्मरन्ति च॥ ३६॥

**[1]नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि।**
**प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमस्सङ्कर्षणाय च॥ ३७॥**

**इति मूर्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्तिममूर्तिकम्।**
**यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान्॥ ३८॥**

**इमं स्वनि[2]गमं ब्रह्मन्नवेत्य मदनुष्ठितम्।**
**अदान्मे ज्ञानमैश्वर्यं स्वस्मिन् भावं च केशवः॥ ३९॥**

**त्वमप्यदभ्रश्रुत! विश्रुतं विभोः समाप्यते येन विदां बुभुत्सितम्।**
**आ[3]ख्याहि दुःखैर्मुहुरर्दितात्मनां सं[4]क्लेशनिर्वाणमुशन्ति नान्यथा॥ ४०॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
प्रथमस्कन्धे व्यासनारदसंवादे पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

---

1 B,I,K,M,W add ओं 2 K,M °धर्मनियममम्वे° 3. B,H,K,M,N,V,W प्र°; I प्रा° 4. N यत्°

**श्रीध०** कीर्तनस्मरणरू[1]पभक्तिहेतुत्वं उक्तम्। ज्ञानहेतुत्वमाह द्वाभ्यां — [2]**नम** इति। नमः धीमहि मनसा नमनं कुर्वीमहि॥ ३७॥

**इति** इति। [3] अमूर्तिकं मन्त्रोक्तव्यतिरिक्तमूर्तिशून्यम्। यजते पूजयति स पुमान् सम्यग्दर्शनः भवति॥ ३८॥

एवं कृतवति मयि हरिः स्वसदृशं ज्ञानादिकं दत्तवान् इत्याह — **इमं** इति। इमं स्वनिगमं स्वोपदेशं मदनुष्ठितं मया अनुष्ठितं अवेत्य ज्ञात्वा। भावं च प्रीतिं च॥ ३९॥

अतः त्वमपि एवं कुरु इत्याह — **त्वम्** इति। अदभ्रं अनल्पं श्रुतं यस्य हे अदभ्रश्रुत! विभोः विश्रुतं यशः प्रख्याहि कथय। येन विश्रुतेन बुद्धेन विदां विदुषां बुभुत्सितं बोद्धुं इच्छा समाप्यते[4]। यत् यतः दुःखैः पीडितानां[5] [6]क्लेशशान्तिं प्रकारान्तरेण न मन्यन्ते॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

---

1 H,V °रूपयोः 2 B adds ओं 3. H,V add अमुना मन्त्रेण 4. H,V add सम्यक् प्राप्यते 5. B °तात्मनां 6. B संक्लेश°

**वीर०** गुणनामस्मरणादिपूर्वकं अनभिसंहितफलकर्मानुष्ठानप्रकारमेव दर्शयन् तथा कुर्वाण एव उत्तमाधिकारी इत्याह — **ओं** इति द्वाभ्याम्। ओं ब्रह्मणः "ओं तत्सदिति निर्देशः ब्रह्मणः त्रिविधः स्मृतः" (भार. 6-39-23) इति भगवदुक्तेः वासुदेवादिव्यूहचतुष्टयरूपेण अवस्थिताय भगवते नमो नमः इति नामोच्चारणप्रकारदर्शनं धीमहि, ओमादिशब्दप्रकाशितकल्याणगुणविशिष्टं परमात्मानं ध्यायेम स्मरेम इति गुणस्मरणप्रकार प्रदर्शनं, तत्र अवतेर्धातोः निष्पन्नेन ओं इत्यनेन सर्वरक्षकत्वं अकारोकारमकाराणां संहितावशात् निष्पन्नेन ओं इत्येनेन तु सर्वकारणत्वसर्वशेषित्वादिकं — उभयविधेन ओं इत्यनेन प्रत्यभिज्ञापितब्रह्मशब्देन स्वरूपतः गुणतः च कल्याणगुणानन्त्यं अबृहतामपि बृहत्वावहत्वं च — वासुदेवपदेन सर्वाधारत्वं सर्वान्तरात्मत्वं च प्रद्युम्नशब्देन "न तत्र सूर्यो भाति" (कठ. उ. 5-15) इत्युक्तविधनिरतिशयदीप्तियुक्तत्वं, अनिरुद्धपदेन सर्वव्यापकत्वं, सङ्कर्षणपदेन अतीन्द्रियार्थविषयकज्ञानापादकत्वं च फलितम्। उपलक्षणमिदं एतत्प्रभृतयः गुणा अनुसन्धेया इत्यर्थः। सङ्कर्षणशब्दनिरुक्तिः पञ्चमे वक्ष्यते ॥ ३७ ॥

इति इत्थं अमूर्तिकं कर्मवश्यप्राकृतमूर्तिरहितं मन्त्रमूर्तिं ओमित्याद्युक्तमन्त्रप्रकाश्या मूर्तिः अप्राकृता अकर्ममूला स्वेच्छोपात्ता च यस्य तं मन्त्रशरीरकं वा अभिध्यायन् ओमादिनामानि अनुगृणंश्च यज्ञाराध्यं परमपुरुषं यो यजते स्वधर्मेणाराधयति स एव पुमान् सम्यग्दर्शनः "ज्ञानीत्वात्मैव मे मतः" (भ. गी. 7-10) इत्युक्तविधः अधिकारी इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

एवं यजतां आशु भक्तियोगः निष्पद्यते इत्यभिप्रायेण आत्मानं दृष्टान्तयति — **इमम्** इति। हे ब्रह्मन्! मदनुष्ठितं इमं स्वस्य भगवतः निगमं अनुशासनं अवेत्य **दृष्ट्वा** केशवः स्वस्मिन् भावं भक्तिं तत्साध्यं दर्शनात्मकं ज्ञानं ऐश्वर्यञ्च देवर्षित्वोचितं अदात् ददौ इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

उत्तरमुपसंहरति — **त्वम्** इति। हे अदभ्रश्रुत! अनल्पकीर्ते! त्वं विभोः भगवतः विश्रुतं यशः प्रख्याहि प्रबध्नीहि। येन विश्रुतप्रख्यानेन विदां बोद्धॄणां बुभुत्सितं बोद्धुं इष्टं समाप्यते आपूर्यते न निरवशिष्यत इति यावत्। युक्तस्य तस्य जिज्ञासितव्यं नावशिष्यते तथाविधं आख्यानं कुरु इत्यर्थः। किञ्च दुःखैः त्रिभिः तापैः मुहुः मुहुः अर्दितः पीडितः आत्मा मनो येषां [2] क्लेशनिर्वाणं क्लेशा आध्यात्मिकादयः ते निर्वाप्यन्ते अपनोद्यन्ते येन — अन्यथा उपायान्तरेण तु न निर्वाप्यन्ते। तथाविधं यथाशान्ति अतीवाद्रियन्ते, तादृशं प्रख्याहि इत्यन्वयः ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते, प्रथमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

---

1. W °धर्मेरा° 2. B,W add तेषां 3. W यत् क्लेश°

**विज०** यो यजमानः स्वयं च नित्यं ओं नमो भगवते इत्यादिमूर्त्यभिधानेन मूर्तिवाचकेन मन्त्रेण मन्त्रप्रतिपाद्यं अमूर्तिकं प्रकृतिवैकृतिविग्रहविधुरं वासुदेवादिरूपं यज्ञपुरुषं "चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा" (ऋ. सं. 4-58-3) इत्यादि मन्त्रप्रतिपाद्याकारं भगवन्तं उद्दिश्य यजते स पुमान् यजमानः परोक्षापरोक्षज्ञानवान् भवति। ते च ऋत्विगादयः सम्यग्दर्शनाः समीचीनशास्त्रविज्ञानाः सर्वज्ञाश्च सम्यक् भगवन्तं दर्शयन्ति ज्ञापयन्तीति सम्यग्दर्शनाः। सर्वेषां हरिपरायणत्वात् ओं सर्वगुणपूर्णसर्वजनरञ्जक इति वा, ओमित्येवंरूपभगवते षड्गुणपूर्णाय तुभ्यं नमः। सर्वत्र वसति, दीव्यतीति वासुदेवः, बलज्ञानरूपत्वात्, दैत्यनिरसनशीलत्वात् क्रीडाशीलत्वाद्वा। तस्मै धीमहि स्मरेम। प्रकृष्टं द्युम्नं हिरण्यमेव रूपं यस्य सः प्रद्युम्नः "हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः" (छान्दो. उ. 1-6-6) इति श्रुतेः, तस्मै। न केनापि निरुद्ध इति अनिरुद्धः। अनः मुख्यप्राणः सोऽस्यास्तीति अनी तेन अनिना मुख्यप्राणप्रसादवता पुरुषेण रुद्धः वशीकृत इति वा, अनिरुधः संसारमुक्ताः तान् दधाति धारयति पोषयतीति वा, अनिरस्तं उदाख्यं नाम धत्त इति वा। "तस्योदिति नाम" (छान्दो. उ. 1-6-7) इति श्रुतेः, तस्मै। सम्यक् पापकर्षणशीलत्वात् सङ्कर्षणः। समीचीनं करं सनोति ददातीति वा तस्मै। चशब्दः प्रत्येकं पृथङ्नत्वद्योतनार्थः। इतिशब्दः प्रभृतिवचनः तस्मादृत्विगादिभिः वैष्णवैः यजमाना भगवन्तं ईजाना ज्ञानवन्तः भवन्तीति भावः॥ ३७, ३८॥

स्वानुभवसिद्धमेतदिति विज्ञापयति — इमम् इति। केशवः मदनुष्ठितं इमं स्वधर्मनियमं अवेत्य ऐश्वर्यं ईश्वरविषयं ज्ञानं स्वस्मिन् भावं भक्तिञ्च मे मह्यं अदात् इत्यन्वयः॥ ३९॥

इदानीं अवतारप्रयोजनालम्बुद्धिकारणविज्ञापनं उपसंहरति — त्वम् इति। हे अदभ्रश्रुत! "श्रोता मन्ता" इत्यादेः सम्पूर्णश्रोतृत्वादिगुणसम्पन्नः त्वं ईश्वरोऽपि ऐश्वर्यादि गुणसम्पन्नत्वेन आप्तव्यार्थविधुरोऽपि सज्जनवात्सल्यादेव येन तत्कीर्तिगर्भग्रन्थकरणेन, विदुषां विदन्तीति विदः ज्ञानलाभकामाः तेषां वा विचारकाणां वा बुभुत्सितं ज्ञातुं इष्टं समाप्यते सम्पूर्णं भवति तादृशं श्रीभागवतलक्षणं विभोः समर्थस्य तव विश्रुतं यशः प्रख्याहि प्रख्यापय इत्यन्वयः। तस्मात् अन्येषां भागवतकरणशक्त्यभावात् तत्कृतिरेव अलम्बुद्धिकारणमिति भावः॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
प्रथमस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

1. K,M शास्त्रीय ज्ञा°

**रा० कृ०** तुभ्यं भगवते निरतिशयैश्वर्यादिमते नमः धीमहि मनसा नमस्कुर्वीमहि। एवं वासुदेवाय प्रद्युम्नाय अनिरुद्धाय सङ्कर्षणाय च तुभ्यं नमः धीमहि। इत्येवंप्रकारेण मूर्त्यभिधानेन मूर्तिवाचकं अन्तरेण यः जनः मन्त्रमूर्तिं मन्त्रमयाकृतिं अमूर्तिकं प्राकृताकृतिरहितं यज्ञपुरुषं यजते स पुमान् सम्यग्दर्शनः सम्यग्ज्ञानवान् भवतीति शेषः॥ ३७, ३८॥

हे ब्रह्मन्! व्यास! इमं पूर्वोक्तं स्वनिगमं स्वोपदेशं मदनुष्ठितं अवेत्य ज्ञात्वा केशवः मे मह्यं ज्ञानं तत्त्वज्ञानं ऐश्वर्यं अणिमाद्यैश्वर्यं भावं च स्वस्मिन् भक्तिं च अदात् दत्तवान्॥ ३९॥

हे अदभ्रश्रुत! अनल्पज्ञानयुत! व्यास! येन ज्ञातेन विश्रुतेन विदां विदुषां बभुत्सितं बोद्धुं इच्छा समाप्यते सम्यक् आप्यते। तद्विभोः विश्रुतं यशः त्वमपि प्रख्याहि कथय। कुत इति चेत् दुःखैः आध्यात्मिकादिभिः त्रिभिः अर्दितात्मनां पीडितानां जनानां इति शेषः। सङ्क्लेशनिर्वाणं क्लेशोपशमं अन्यथा प्रकारान्तरेण न उशन्ति विज्ञाः न मन्यन्ते॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां व्याख्यायां
पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

# षष्ठोऽध्यायः

सूत उवाच

एवं निशम्य भगवान् देवर्षेर्जन्म कर्म च ।
भूयः पप्रच्छ तं ब्रह्मन् व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ १ ॥

व्यास उवाच

भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टृभिस्तव ।
वर्तमानो वयस्याद्ये ततः किमकरोद्भवान् ॥ २ ॥

स्वायम्भुव! कया वृत्त्या वर्तितं ते परं वयः ।
कथं चेदमुदस्राक्षीः काले प्राप्ते कलेबरम् ॥ ३ ॥

प्राक्कल्पविषयामेतां स्मृतिं ते सुरसत्तम!
न ह्येष व्यवधात् काल एष सर्वनिराकृतिः ॥ ४ ॥

---

1 K M वे° 2 I.W मुनि° 3 H.K.M V °व 4 H V °दा°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

व्यासस्य प्रत्ययार्थञ्च षष्ठे प्राग्जन्मसम्भवम् ।
स्वभाग्यं नारदः प्राह कृष्णसंकीर्तनोद्भवम् ॥

स्वयमपि तथा चिकीर्षुः गुरूपदेशानन्तरभावि तच्चरितं पृच्छति **भिक्षुभि** रिति त्रिभिः। विप्रवसिते दूरदेशगमने कृते सति **विज्ञानस्याऽऽदेष्टृभिः** ब्रह्मतत्त्वोपदेशं कृतवद्भिः ॥ १, २ ॥

**स्वायम्भुवेति ।** परं वय उत्तरमायुः ते त्वया कथं वर्तितं नीतम्। इदमिति दासीपुत्रभूतं कलेवरम् उदस्राक्षीः उत्सृष्टवानसि ॥ ३ ॥

**प्रागिति ।** एष कल्पान्तरलक्षणः कालः ते स्मृतिं कथं न व्यवदात् न खण्डितवान्। **अडागमाभाव-स्त्वार्षः**। हि, यत एष कालः सर्वस्य निराकृतिः अपलापो यस्मात् सः ॥ ४ ॥

---

1 A °कथनो° 2 A.H.V omit त्रिभिः 3 A.B उपदेशकर्तृभिः 4 A.B omit कृतवद्भिः 5 B adds कथं 6 A.B °धा° 7 A.H.V omit कालः 8 H V प्रलोपो

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

"अन्ववोचन् गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः" (भाग. 1-5-30) इत्युक्तम्। तत उपरितनं देवर्षिवृत्तान्त जिज्ञासुः पृच्छति व्यासः इत्याह सूतः **एव** मिति। इत्थं वर्णितं देवर्षेः जन्म कर्म च पौर्वदैहिकं निशम्य स सत्यवत्याः सुतो भगवान् श्रीव्यासः तं देवर्षिं हे ब्रह्मन्! शौनक! भूयः पुनः पप्रच्छ॥ १॥

प्रश्नमेवाऽऽह — **भिक्षुभि** रिति। ते तव विज्ञानादेष्टृभिः विज्ञानोपदेष्टृभिः भिक्षुभिः सन्न्यासिभिः विप्रवसिते चातुर्मास्यान्ते अन्यत्र गते सति ततः पश्चात् भवानाद्ये वयसि वर्तमानः किं कृतवान्?॥ २॥

हे! स्वायम्भुव! ते त्वया परं वयः भिक्षुविप्रवासप्रभृतिवयः कया वृत्त्या वर्तितं नीतम्? कथं वा प्राप्ते काले इदं कलेबरमुदस्राक्षीः उत्सृष्टवानसि? प्राक्कल्पीयमपि[1] कलेबरं वृत्तान्तकथनमुखेन प्रस्तुतत्वात् इदमिति सन्निहिततया परामृश्यते॥ ३॥

हे मुनिसत्तम! प्राक्कल्पविषयां पूर्वकल्पीयामेतां भिक्षूपदेशप्राप्तां भगवत्स्मृतिं एष कालो न व्यवधात् न तिरोहितवान्। अडभाव आर्षः। आगमशास्त्रस्यानित्यत्वाद्वा। न व्यवधात् किमिति प्रश्नो विवक्षितः। व्यवधायकत्वसूचनाय कालं विशिनष्टि। एष कालः सर्वनिराकृतिः सर्वविनाशकः॥ ४॥

---

1 A °प्तका° 2 A,B °क्कालीय°

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

इदं व्यासनारदसंवादोपाख्यानं सूतः शौनकादिभ्योऽब्रवीदिति विज्ञापयितुमाह — **एव** मिति। हे ब्रह्मन्! सत्यवतीसुतो व्यासो देवर्षेर्जन्म कर्म च एवं श्रुत्वा पुनरपि तं नारदं पप्रच्छेत्येकान्वयः॥ १॥

नारदस्नेहपाशात् तद्यशःख्यापनाय च सर्वज्ञोऽपि व्यासः तद्वयश्शेषवृत्तिं पृच्छति — **भिक्षुभि** रिति। तव विशिष्टज्ञानोपदेष्टृभिः भिक्षुभिः ज्ञानभिक्षादानशीलैः विप्रवसिते देशान्तरं गते आद्ये बाल्ये वयसि वर्तमानो भवान् तदनन्तरं किमकरोत् इत्येकान्वयः॥ २॥

तदेव विविच्य पृच्छति — **स्वायम्भुवेति**। स्वयम्भुवो ब्रह्मणः पुत्र! ते तव परं ज्ञानोपदेशोत्तरकालीनं वयः कया वृत्त्या वर्तितम्। मरणकाले प्राप्ते इदं शरीरं वा उदस्राक्षीः उत्सृष्टवानसि इत्येकान्वयः॥ ३॥

सर्वेषां पूर्वजन्मसंज्ञादीनां निराकृतिः निराकरणं यस्मात् सर्वनिराकृतिरेष कालः। सुरसत्तम! ज्ञानिश्रेष्ठ! तव अतीतब्रह्मकल्पविषयामेतां स्मरणशक्तिं नैव व्यवधात् तिरोहितां नैवाकरोत्। आश्चर्यमेतदित्यस्मिन्नर्थे हिशब्दः। एवकारस्त्ववधारणार्थः॥ ४॥

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

हे ब्रह्मन्! सत्यवतीसुतो भगवान् व्यासः एवं पूर्वोक्तदिशा देवर्षेर्नारदस्य जन्म कर्म च निशम्य श्रुत्वा भूयः पुनः तं नारदं पप्रच्छ पृष्टवान् ॥ १ ॥

तव विज्ञानादेष्टृभिः ब्रह्मज्ञानस्य उपदेष्टृभिः, भिक्षुभिः विप्रवसिते दूरदेशगमने कृते सति ततः अनन्तरमाद्ये वयसि बाल्ये वर्तमानः भवान् किमकरोत्? हे स्वायम्भुव! ब्रह्मपुत्र! ते तव परम् उत्तरं वयः कया वृत्त्या जीविकया वर्तितं नीतम्? किञ्च कालेऽन्तकाले प्राप्ते इदं कलेबरं दासीपुत्रभूतं शरीरं कथमुदस्त्राक्षीः त्यक्तवानसि? हे सुरसत्तम! देवश्रेष्ठ! सर्वनिराकृतिः सर्वविनाशहेतुः एष कालः प्राक्कल्पविषयां पुरातनकल्पसम्बन्धिनीं भिक्षूपदेशरूपिणी मेतां ते स्मृतिं न व्यवदादेव हि कथं वा न खण्डितवान्? न व्यवधादिति पाठे तु स्मृतिं न तिरोहितां चकारेत्यर्थः।

अत्र भिक्षवः सन्न्यासिन एव। तैरनुष्ठेयौ मुख्यधर्मौ द्वौ — (१) भैक्ष्येण जीवनम्, (२) अपरिग्रहश्चेति। अनयोस्तु स्वभोजनावश्यकव्ययाभ्यधिगुणलोकसेवनयाञ्चालब्धभोजनाभ्यामविरोधः ॥ २, ३, ४ ॥

**नारद उवाच**

**भिक्षुभि र्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टृभिर्मम ।**
**वर्तमानो वयस्याद्ये तत एतदकार्षम्[1] ॥ ५ ॥**

**एकात्मजा मे जननी योषिन्मूढा च किङ्करी ।**
**मय्यात्मजेऽनन्यगतौ चक्रे स्नेहानुबन्धनम् ॥ ६ ॥**

**साऽस्वतन्त्रा न कल्पाऽऽसीद्योगक्षेमं ममेच्छती ।**
**ईशस्य हि वशे लोको योषा दारुमयी यथा ॥ ७ ॥**

**अहं च तद्ब्रह्मकुले ऊषिवांस्तदपेक्षया[4] ।**
**दिग्देशकालाव्युत्पन्नो बालकः पञ्चहायनः ॥ ८ ॥**

---

1 H,K,V °रिषम्; W. °र्षम् 2 H,V °त्या° 3 H,V उ° 4 B,N,W °वे°

**श्रीध०** **भिक्षुभि** रिति। अकारिषम्[1] कृतवानहम्। रेफषकारयोः विश्लेषः छन्दोऽनुरोधेन इत्यवगन्तव्यम्[2] ॥ ५ ॥

ततः[3] तावत् किञ्चित्कालं तत्रैव मातृस्नेहयन्त्रितो न्यवसम् इत्याह त्रिभिः **एकेति**। एक एवाहमात्मजः यस्यास्सा। योषिदिति मूढेति च स्नेहानुबन्धे हेतुः ॥ ६ ॥

किङ्करी इत्यस्यार्थं प्रपञ्चयति — **सेति**। अस्वतन्त्रा सा अतो न कल्या[5] योगक्षेमविधाने न समर्था आसीत्। दारुमयी योषा इत्यतिपारवश्ये[6] दृष्टान्तः ॥ ७ ॥

तदेवं सा स्नेहं चक्रे, अहञ्च दिगादिष्वनभिज्ञः अतस्तत्रैव न्यवसमित्याह — **अह** मिति। अहं च तस्मिन् ब्रह्मकुले तस्याः मातुः स्नेहानुबन्धस्यापेक्षया[7] कदा विरमेदिति प्रतीक्षयेत्यर्थः। ऊषिवान्[8] वासं कृतवान्। पञ्चहायनः पञ्चवर्षः ॥ ८ ॥

---

1 A,B °र° 2 A,B omit इत्यवगन्तव्यम् 3 A,B तत्र 4 A,B कल्पा 5 A,B omit योगक्षेमविधाने 6 H,V °पि 7 A °वे° 8 H,V उ°

**वीर**° एवमापृष्टः यथावत् स्ववृत्तान्तं वक्तुमारेभे नारदः — **भिक्षुभि** रिति। तत इत्यन्तस्य पूर्ववदेवार्थः। एतद्वक्ष्यमाणम् अकारषम् अकार्षम् कृतवानिति ॥ ५ ॥

तदेवाऽऽह — **एकात्मे** त्यादिना कल्पान्त इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। एकोऽहम् आत्मजः पुत्रो यस्याः सा। मम जननी माता योषिदिति स्वभावोक्तिः। जननी इत्यनेनैव स्त्रीत्वोक्तेः, अत एव मूढा किङ्करी अनेन पराधीनत्वमुक्तम्। अनन्यगतौ गतिः पोषणोपायः अनन्यपोषके मय्यात्मजे स्नेहानुबन्धनं स्नेहपारवश्यं चक्रे ॥ ६ ॥

सा मम जननी अस्वतन्त्रा किङ्करीत्वात्। अत एव मम योगक्षेममिच्छत्यपि न कल्पा न समर्था बभूव। योगश्च क्षेमश्च तयोः समाहारः। योगः अलब्धलाभः, लब्धपरिरक्षणं रक्षितविवर्धनं, तस्य पात्रे प्रतिपादनं च क्षेमः ॥ ७ ॥

अहं च तदा पञ्चहायनः पञ्चवर्षवयस्को बालकः। अत एव दिग्देशकालाव्युत्पन्नः दिग्देशकालस्वभावानभिज्ञः तदवेक्षया मात्रवेक्षया तद्देहावसानप्रतीक्षणेन हेतुना इत्यर्थः। तस्मिन् ब्रह्मकुले ब्राह्मणगृहे उषितवानस्मि ॥ ८ ॥

**विज**° विज्ञातस्वकीर्तिवितरणव्यासाभिप्रायो नारदः तत्प्रश्नं परिहरति — **भिक्षुभि** रिति। उक्तार्थश्लोकोऽयम् ॥ ५ ॥

स्वस्य सन्न्ययासिनामनुगमने कारणमाह — **एकात्मजेति**। अहमेक एव आत्मजोऽपत्यं यस्याः सा, तथा योषितो मध्ये मूढा विवेकज्ञानशून्या किङ्करी दासी च एवंविधा मम जननी। नान्या गतिः आश्रयो यस्य सोऽनन्यगतिः तस्मिन् आत्मजे मयि स्नेहानुबन्धनं चक्रे इत्येकान्वयः ॥ ६ ॥

केवलं स्नेहमेव बद्धवती न तु अशनवसनादिदानपूर्वकमित्याह — **सेति**। मम योगक्षेममप्राप्तस्य प्राप्त्युपायं योगं, प्राप्तस्य परिपालनं क्षेममिच्छती अस्वतन्त्रा पराधीना कल्पा समर्था नासीत् इत्येकान्वयः। कुतो

लोकः सेवको जनः ईशस्य स्वामिनो वशे हि यस्मात्तस्मादित्यर्थः। "ईशावास्यम्"(ईश. उ. 1) इति श्रुतेः ईशस्य परमेश्वरस्येति वा। कथमिव? दारुमयी काष्ठनिर्मिता योषा यथा जडप्रवर्तकयन्त्रपुरुषाधीना तथेत्यन्वयः ॥ ७ ॥

तर्हि किमिति तत्र वास इति तत्राऽऽह — **अह** मिति। चशब्द एवार्थः, पूर्वेण समुच्चयार्थो वा। अहं तस्याः मातुरपेक्षया तस्मिन् ब्रह्मकुले एव ब्राह्मणगृहे एव ऊषिवानित्यन्वयः। "कुलं वंशे गृहे नार्थे जातिसाङ्कर्ययोरपि" इत्यभिधानात्। तत्र वासे हेत्वन्तरमाह दिगिति। दिगाद्यनभिज्ञाने कारणमाह बालक इति। पञ्च हायनाः संवत्सराः यस्य स तथोक्तः। योऽहं दिगाद्यनभिज्ञः पञ्चहायनो बालकः सोऽहमित्येकान्वयः ॥ ८ ॥

1 A.B प्रति°

**रा० कृ०** मम विज्ञानादेष्टृभिः भिक्षुभिः विप्रवसिते विप्रोषिते आद्ये वयसि वर्तमानः अहं ततः एतद्वक्ष्यमाणं कार्यमकार्षम् ॥ ५ ॥

एकात्मजा एकपुत्रा योषित् मूढा किङ्करी पराधीनवृत्तिः मे जननी अनन्यगतौ रक्षकान्तररहिते आत्मजे मयि स्नेहानुबन्धनं चक्रे कृतवती ॥ ६ ॥

मम योगक्षेमम्, अप्राप्तलाभो योगः, प्राप्तपरिरक्षणं क्षेमः, तयोस्समाहारः योगक्षेमं तदिच्छती काङ्क्षन्त्यपि अस्वतन्त्रा किङ्करीत्वात् पराधीना सा कल्पा मम योगक्षेमसम्पादनसमर्था न आसीत् नाभूत्। तथा हि दारुमयी योषिद्यथा योषेव लोकः ईशस्य वशे वर्तत इति शेषः ॥ ७ ॥

पञ्चहायनः पञ्चवत्सरः दिग्देशकालाव्युत्पन्नः दिग्देशकालेष्वनभिज्ञः, बालकः अहंच तदपेक्षया तन्मातृ-स्नेहानुबन्धदृशा तद्ब्रह्मकुले तद्ब्राह्मणगृहे ऊषिवान् वासमकरवम्। "अहं च तद्ब्रह्मकुले ऊषिवांस्तदपेक्षया" इत्यत्र बालकस्यापि तस्य विलक्षणं वैराग्यमुक्तं भवति। अत्र पुत्रप्रेमबद्धा मातैव, न तु पुत्रो मातृप्रेमबद्धः। तथाऽपि पुत्रव्यामोहं जहीहीति मातरं शासितुमपि नायमर्हति; शासनस्यापि चित्तवृत्त्यन्तर्भावेन बन्धहेतुत्वात्; विशिष्य विष्णुधर्मे निरवकाशत्वाच्च। तथा हि — सर्वत्र दृश्यमानो विष्णुः किं न दृश्यते स्वमातरि? ततश्च तां त्युक्तुं शासितुं वा नैवावसरः। काम इव तत्त्यागकामोऽपि बन्धहेतुरेव। तस्मादयं विलक्षणवैराग्यशाली बालकः मातृस्नेहानुबन्धपरित्याग-प्रयत्नमपहाय केवलं तदनुबन्धविरतिं प्रतीक्षमाणः आसीदिति ज्ञायते। अत एव च अग्रे मातृमरणमपि ईश्वरानुग्रहं मनुते ॥ ८ ॥

**एकदा निर्गतां गेहाद्दुहन्तीं निशि गां पथि ।**
**सर्पोऽदशत् पदा स्पृष्टः कृपणां कालचोदितः ॥ ९ ॥**

तदा तदहमीशस्य भक्तानां शं[1]मभीप्स[2]तः ।
अनुग्रहं मन्यमानः प्रातिष्ठं दिशमुत्तराम् ॥ १० ॥

स्फीताञ्जनपदांस्तत्र पुरग्रामव्रजाकरान् ।
खे[3]टखर्वटवाटीश्च वनान्युपवनानि च ॥ ११ ॥

चित्र[4]धातुविचित्राद्रीनिभभग्नभुजद्रुमान् ।
जलाशयाञ्छिवजलान्नलिनीस्सुरसेविताः ॥ १२ ॥

चित्रस्वनैः पत्ररथैः विभ्रमद्भ्रमरश्रियः ।
न[5]लवेणुशरस्तम्बकुशकीचकगह्वरम् ॥ १३ ॥

एक एवा[7]तियातोऽहमद्राक्षं विपिनं महत् ।
घोरं प्रतिभयाकारं व्यालोलूकशिवाजिरम् ॥ १४ ॥

परिश्रान्तेन्द्रियात्माऽहं तृट्परीतो बुभुक्षितः ।
स्नात्वा पीत्वा ह्रदे नद्या उपस्पृष्टो गतश्रमः ॥ १५ ॥

तस्मिन्निर्मनुजेऽरण्ये पिप्पलोपस्थ आस्थि[8]तः ।
आत्मनाऽऽत्मानमात्मस्थं यथाश्रुतमचिन्तयम् ॥ १६ ॥

*स्वप्नो माया ग्रहशय्या जाग्रदाभास आत्मनः ।
नाम रूपक्रियावृत्तिः संविच्छास्त्रं परं पदम् ॥

नेन्द्रियार्थं न च स्वप्नं न सुप्तं न मनोरथम् ।
न निरोधञ्चानुगच्छेच्चित्रंतद्भगवत्पदम् ॥

स एको भगवानग्रे क्रीडिष्यन्निदमात्मनः ।
सृष्ट्वा विहृत्य तज्जग्ध्वा उदास्ते केवलः पुनः ॥

---

1. B,K,M स° 2. K,M °पिसतम् 3 H,V खेटान् खर्पट°; K,M खेटान् पट्टण° 4 K,M विचित्रधातुचित्रा° 5 AF, GF रत्नरेणु° 6 AF, GF °मस्करी 7. AF,GF °भि° 8 B,H,I,K,M,V,W °श्रि° *Three additional Verses between VV.16 & 17 are found in K,M The commentary of Vijayadwaja on them is to be found in their proper place.

**श्रीध० एकदा** इति। गेहान्निर्गतां गां दुहन्तीम्। हेतौ शतृप्रत्ययः। दोग्धुं निर्गतामित्यर्थः। पदा पादेन आस्पृष्टः ईषदाक्रान्तोऽदशत् अखादत् ॥ ९ ॥

**तदेति।** तन्मातुर्मरणं भक्तानां शं कल्याणमभीप्सतः ईशस्यानुग्रहं मन्यमानः प्रातिष्ठम् प्रस्थितोऽस्मि ॥ १० ॥

**स्फीतानिति ।** स्फीतान् जनपदादीनतियातस्सन् महद्विपिनमद्राक्षमिति चतुर्थेनान्वयः । जनपदादिषु नानागुणदोषयुक्तेषु समदृष्टिस्सन् गतोऽहमिति तात्पर्यार्थः । स्फीतान् समृद्धान् जनपदान् देशान् । तत्र तस्यां दिशि । पुरग्रामव्रजाकरान् । तत्र पुराणि राजधान्यः । ग्रामाः भृंग्वादिप्रोक्ताः[2] "विप्राश्च विप्रभृत्याश्च यत्र चैव वसन्ति ते[3]। स तु ग्राम इति प्रोक्तः शूद्राणां वास एव च[4]" ॥ इति । "शूद्राश्च[5] शूद्रभृत्याश्च यत्र सर्वे वसन्ति हि । स तु ग्राम इति प्रोक्तो द्विजानां वास एव वा" ॥ इति । व्रजाः गोकुलानि आकराः रत्नाद्युत्पत्तिस्थानानि तान् । खेटाः कर्षकग्रामाः । खर्पटाः[6] गिरितटग्रामाः ; भृगुप्रोक्ता वा "एकतो यत्र तु ग्रामो नगरं चैकतः स्थितम् । मिश्रं तत्[7] खर्पटं नाम नदागिरिसमाश्रयम्" इति । वाट्यः पूगपुष्पादीनां[8] वाटिकास्ताः । वनानि स्वतस्सिद्धवृक्षाणां समूहाः । उपवनानि आरोपितवृक्षाणां समूहाः तानि च ॥ ११ ॥

**चित्रेति ।** चित्रैः धातुभिः स्वर्णरजताद्यैः विचित्रान् अद्रींश्च । इभैर्भग्नाः भुजाः शाखाः येषां ते द्रुमाः येषु तान् । शिवानि भद्राणि जलानि येषु[10] तान् जलाशयान्[11] सुरैस्सेविताः नलिनीः सरसीः ॥ १२ ॥

**चित्रेति ।** चित्राः स्वनाः येषां तैः पत्ररथैः पक्षिभिः तन्नादप्रतिबुद्धैरित्यर्थः[12] । विभ्रमद्भिः भ्रमरैः श्रीः शोभा यासां ताः नलिनीः अतियातोऽतिक्राम्य गतस्सन् महद्विपिनं वनमद्राक्षम् । कीदृशम् ? नलवेणुशराणां स्तम्बैः कुशैः कीचकैश्च गह्वर दुर्गमम् । तत्र नलानि तृणविशेषाः, सूक्ष्मरन्ध्राः वेणवः वेणुजातय एव । विपुलान्तरालगर्भाः सच्छिद्राः[13] कीचकाः । शराः दर्भविशेषाः । स्तम्बाः तृणादिगुच्छविशेषाः, तैः गह्वरं दुर्गमप्रदेशम् । घोरं दुस्सहं प्रतिभयाकारं भयङ्कररूपं व्यालादीनामजिरं क्रीडास्थानम् ॥ १३, १४ ॥

**परिश्रान्तेति ।** परिश्रान्तानि इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि[14] आत्मा देहश्च यस्य तृषा परीतो व्याप्तस्सन्[15] उपस्पृष्टः आचान्तः ॥ १५ ॥

**तस्मिन्निति ।** पिप्पलोपस्थे अश्वत्थमूले आश्रितः उपविष्टः । आत्मना बुद्ध्या मनसा वा आत्मस्थं हृदिस्थमात्मानं परमात्मानम् ॥ १६ ॥

---

1 B adds (दोहयितुं) 2 A,B भृगुप्रो° 3 H,V हि 4 H,V वा 5 A,B omit शूद्रा . . . इति 6 A,B °र्वं° 7 A,B तु खर्वटं 8 H,V पूगपुष्पोद्यानानि ताः 9 A,B रोपित° 10 A,B येषां 11 A,B omit जलाशयान् सुरैस्सेविताः 12 A,B प्रबु° 13 A,B omit सच्छिद्राः 14 A,B omit चक्षुरादीनि 15 A,B omit सन्

**वीर°** एवं स्थिते कदाचिन्निशि गेहात् निर्गतां गां दुहन्तीं दोग्धुं प्रवृत्तां कृपणां मम मातरं पथि मार्गे पदा पादेन स्पृष्टः कालचोदितः कालशरीरकेण दैवेन चोदितः सर्पः अदशत् ददंश । सा अम्रियत इत्यर्थतो द्रष्टव्यम् ॥ ९ ॥

तदाऽहं तन्मरणं भक्तानां शं सुखमभीप्सतः कामयमानस्य ईशस्य भगवतोऽनुग्रहरूपं मन्यमानः उत्तरां दिशं प्रति प्रातिष्ठं प्रस्थितवानस्मि ॥ १० ॥

तत्र प्रस्थाने स्फीतान् समृद्धान् जनपदान् देशान् द्वितीयान्तानामतियात इत्युपरिष्टादन्वयः। पुराणि पट्टणानि ग्रामान् अट्टरहितान्[1] व्रजान् गोपालनिवासान् आकरान् रत्नाद्युत्पत्तिस्थानानि खेटान् कृषीवलग्रामान् खर्वटान् निषादादिग्रामान् वाटीः पुष्पवाटिकाः वनानि अरण्यरूपाणि उपवनानि कृत्रिमवनानि च॥ ११॥

तथा चित्रैः नानाविधैः धातुभिः गैरिकादिभिः विचित्रानद्रीन् पर्वतान् इभैर्गजैर्भग्नाः भिन्नाः[2] भुजाः शाखा येषां तान् द्रुमान्, शिवानि विशुद्धानि जलानि येषु तान् जलाशयान् सरांसि, तथा सुरैस्सेविताः क्रीडिताः नलिनीः पद्माकरान् कथम्भूताः चित्राः नानाविधाः स्वना येषां तैः, पत्ररथैः पत्राणि तद्रूपात्मकाः पक्षा रथाः रथवत् गमनसाधनानि येषां तैरित्यर्थः। पक्षिभिः सङ्कुला इति शेषः। भ्रमद्भिः भ्रमरैः श्रीः शोभा यासां ताः॥ १२, १३॥

अतियातोऽतिक्रान्तः एकोऽसहाय एवाहं नलादिभिर्गह्वरं महद्विपिनं वनम् अद्राक्षं दृष्टवानस्मि। तत्र नलो ग्रन्थिपर्णी, वेणवः स्थूलवंशाः। सशब्दाः कीचकाः। सूक्ष्माः सचित्राः शरस्तम्बाः अश्ववालाः। कुशाः प्रसिद्धाः। विपिनमेव विशिनष्टि। घोरमुग्रं दुष्प्रवेशम्। अत एव व्यालानां दृष्टगजानां अजगराख्यसर्पविशेषाणां[3] वा उलूकानां घूकानां[4] शिवानां शृगालविशेषाणां च अजिरं क्रीडास्थानम्। अतीव प्रतिभयाकारं प्रतिमुखं गच्छतां भयापादकम्॥ १४॥

तत्राहं परिश्रान्तानि इन्द्रियाणि आत्मा देहश्च यस्य। तृषा पिपासया परीतः व्याप्तः बुभुक्षितः क्षुधितश्च नद्याः ह्रदे स्नात्वा उपस्पृष्टः कर्तरि क्तः आचान्तः। पीत्वा जलमिति शेषः। गतः श्रमो यस्य तथाभूतः॥ १५॥

तस्मिन्निर्मनुजेऽरण्ये पिप्पलस्य अश्वत्थस्य उपस्थे मूले आश्रितः उपविष्टः। आत्मस्थं जीवात्मनि स्थितं, हृदयकमलस्थं वा आत्मानं परमात्मानं आत्मना मनसा अचिन्तयम् ध्यातवानस्मि॥ १६॥

---

1 A,B हट्ट° 2 A,B विच्छिन्नाः 3 A,B सर्पाणां 4 A,B omit घूकानां

**विज०** कियन्तं कालमवात्सीदिति प्रश्नस्य मातृमरणपर्यन्तमवात्समिति परिहारमभिप्रेत्य आह — **एकदेति।** 'स्पृश-उपताप' इति धातोः आक्रमणेन तप्तो गां गोमतल्लिकामदशत् अभक्षयत्। कालेन मृत्युना चोदितः प्रेरितः॥ ९॥

सोऽहं तदा मातुरन्त्यं कर्म कृत्वा तन्मरणं भक्तानामभीष्टमीशस्यानुग्रहं मन्यमानः उत्तरां दिशं प्रति प्रातिष्ठमित्यन्वयः॥ १०॥

एक एव सहायरहितोऽहं तत्र उत्तरस्यां दिशि देशान् समेतानतीत्य यात इति चतुर्थश्लोकेनान्वयः। व्यालाश्च, दुष्टगजाश्च, उलूकाश्च, शिवाः शृगाल्यश्च, व्यालोलूकशिवाः, तासामजिरं क्रीडास्थानम् प्रतिभयाकारं मृत्युमाह्वयदिव स्थितम् अत एव घोरं महदपारं विपिनमद्राक्षमित्येकान्वयः। सर्वर्तुसम्पत्त्या स्फीतान् समृद्धान् पुराणि

ग्रामाश्च व्रजाश्च आकराश्च पुरग्रामव्रजाकराः। पुरं राजाश्रयो, ग्रामो बहुजनाकीर्णः। गोपालानां गवाञ्च निवासस्थानं व्रजः। रत्नाद्युत्पत्तिस्थानमाकरः। खेटान् मृगयोपजीवनप्रदेशान्। पट्टनानि वाट्यश्च तास्तथोक्ताः ताः पट्टनवाटीः जलस्थलायतिस्थिता राजधानी पट्टनम्। पुष्पोपजीविनां निवासस्थानं वाटी। वृक्षसमुदायः वनम्। आरोपितः उपवनम्॥ ११॥

इभैः गजैः भग्नाः भुजद्रुमाः भूर्जवृक्षा येषु ते तथोक्ताः। "भूर्जपत्रे भुजो भूर्जे मृदुत्वक् चर्ममल्लिकौ" (वैज. को. 3-3-45) इति यादवः। इभभग्नाः भुजाः शाखा येषां ते तथोक्ताः इभभग्नभुजद्रुमाः येषु ते तथोक्ता इति वा तान्। विचित्रधातुभिः नानाविधगैरिकहरितालादिभिः चित्रा आश्चर्यरूपाः अद्रयो गिरयः तान्, शिवजलान् गुरुत्वादिदोषरहितान् जलाशयान् सरोवरादिजलाधारान्। देवनिषेविता नलिनीः पुष्करिणीः॥ १२॥

चित्रस्वनैः नानाविधस्वरमधुरैः पत्ररथैः पक्षिभिः सह विभ्रमन्तः इतस्ततश्चलन्तो भ्रमरा भृङ्गाः विभ्रमद्भ्रमराः विभ्रमद्भ्रमराणां श्रीः शोभा समृद्धिर्वा यासु तास्तथोक्ताः ताः, शराणां स्तम्बाः शरस्तम्बाः नलानि च वेणवश्च शरस्तम्बाश्च कुशाश्च ते तथोक्ताः तैः गह्वरो निबिडोऽरण्यविशेषः। वायुना उद्धूतस्वतस्स्वनाः वेणवः कीचकाः उच्यन्ते॥ १३, १४॥

तृषा परीतः पानीयपानेच्छुः बुभुक्षितोऽत्रकामः अत एव परिश्रान्तेन्द्रियदेहोऽहं तत्र महारण्ये नद्याः ह्रदे उपस्पृष्टः कृतपादप्रक्षालनादिकः स्नात्वा तर्पणादिसकलाः क्रियाः विधाय स्वादूदकं पीत्वा तेन हेतुना गतश्रमोऽपगतालस्यो भूत्वा॥ १५॥

मनुष्यसञ्चाररहितेऽरण्ये पिप्पलोपस्थे अश्वत्थमूले आश्रितः स्वस्तिकासने उपविष्टः समाहितचित्तो भूत्वा आत्माना विषयेभ्यः आहृतेन मनसा हृदि संस्थितमात्मानं प्रत्यगात्मानं यथा परमहंसेभ्यः श्रुतं तथा अचिन्तयमित्येकाकान्वयः॥ १६॥

*यथाश्रुत मचिन्तयमित्येतद्दर्शयितुं जाग्रदाद्यवस्थास्वरूपं निरूपयति — **स्वप्न** इति। स्वप्नाद्यवस्था आत्मनः परमात्मनः सकाशादात्मनो जीवस्योत्पद्यन्ते इत्यन्वयः। तन्त्रेण उपात्तत्वादात्मशब्दस्य द्विरावृतिः कर्तव्या। जीवमनःस्थितमायाख्यदृष्टश्रुत वस्तुसंस्कारोपादानको जाग्रत्पदार्थसदृशकरितुरगाद्यनेकपदार्थदृष्टिरूपः स्वप्नः सर्वेन्द्रियोपरतिरूपत्वात् स्वप्नजागरितविषयग्रहणरहिता शब्यापरपर्यायसुषुप्तिः नामरूपक्रियासु वृत्तिर्यस्य स तथोक्तः, आभासः प्रत्ययः नामरूपक्रियाविषयप्रत्ययो जाग्रत् एतदवस्थात्रयकारणं ब्रह्म न मृदादिवत् कार्यानुस्यूतम्; किन्तु, ततो विलक्षणं तदित्यभिप्रेत्याह संविदिति। समीचीना प्रकृतिप्राकृतमिश्ररहिता वित् ज्ञानं यस्य तत्तथोक्तं, सम्यक् निर्दोषमात्मानं वेत्तीति संवित्, तदात्मानमेव "वेदाऽहं ब्रह्मास्मि" (बृह. उ. 1-4-10) इति श्रुतेः। शास्त्रं सर्वनियन्तृ। पद्यत इति पदम्, परममुत्तमं, प्राप्तव्योत्तमम्। एवं जाग्रदाद्यवस्था कर्तृत्वेन आत्मादिभ्यः अत्यन्तोपकारकम् विशिष्टज्ञानधनं सर्वान्तर्यामि प्राप्तव्योत्तमं तुर्यं ब्रह्मस्वरूपं श्रुतम्। तदेव अचिन्तय मिति भावः॥

**एतदेव** विविच्य दर्शयति **नेति**। चित्र माश्चर्यरूपं, चित्रमविमिश्रं अज्ञानात्मकं वा चित्तं चेतनं जीवं त्रायत इति वा चित् ज्ञानं, तनोति राति ज्ञानिनां बहुलीकरोति तदन्येभ्यो ददाति गुरुमुखेनेति वा चित्तरतं वा "सहि सर्वमनोवृत्ति-प्रेरक स्समुदाहृतः" इति स्मृतेः। चिनोतीति चित्। चेता स्रष्टा ब्रह्मा तं तरति अतीत्य वर्तते। चिनोति सृजति रमयति वा तस्मादुत्तममिति वा भगवदैश्वर्यादिगुणसामग्रीमत्पदं रूपं, हरेरिति शेषः। तत्ततं व्याप्तं भगवतः हरेः पदं वा। एवंविधं तत्प्रकृत्यादिसम्बन्धविधुरत्वादिन्द्रियार्थं जाग्रदवस्थां नानुगच्छेत् न स्वप्नावस्थां, न सुषुप्त्यवस्थां 'चिन्तितोऽर्थो मनोरथ' इत्यभिधानात् न मनोरथम्, अत एव न निरोधं मरणं अनुगच्छेत् इत्यस्य प्रत्येकमन्वयः। चशब्दो मिथः समुच्चयार्थे॥

ननु कालतोऽपि स्वप्राद्युत्पत्तिदर्शनात् तत्कर्तृत्वं हरेः कथमित्याशङ्क्य सकलप्रपञ्चकर्तृत्वेन मुख्यकर्तृत्वात् तदन्तःपातिस्वप्राद्यवस्थाकर्तृत्वं किं वक्तव्यमित्यभिप्रेत्य प्रपञ्चसृष्ट्यादिकर्तृत्वमाह **स** इति। सृष्ट्यग्रे स एको भगवान् आसीदिति अवान्तरान्वयः। स पुनः सिसृक्षुः अन्तर्यामितया अवतरैश्च क्रीडिष्यन् क्रीडितुमिच्छन् आत्मनः स्वस्मात् स्वोदरात् ब्रह्मादिपरमाणुपर्यन्तमिदं जगत् **सृष्ट्वा** अन्तर्यामितया प्रविश्य प्रादुर्भावैश्च विहृत्य पुनश्च तज्जग्ध्वा संहृत्य प्रलये केवल एकाकी उदास्ते जीवप्रवृत्तिं प्रति उदासीनो वर्तत इत्यन्वयः। जग्ध्वा उदास्त इति सन्ध्यभावः। प्रकृत्यादिसाधनान्तर मन्तरेणापि स्रष्टुं शक्त इति माहात्म्यं द्योतयितुं सृष्टिस्थितिसंहारकर्तृत्वमेव, न ज्ञानादिकर्तृत्वं च अस्तीति॥

---

1 A omits वनम्। आरोपितः

**रा॰ कृ॰** एकदा एवं संस्थिते कदाचित् निशि रात्रौ गां दुहन्तीं गोदोहनहेतोरित्यर्थः। गेहात् निर्गतां कृपणां मद्योगक्षेमानुषक्तां मातरमिति शेषः। पथि मार्गे पदा तस्याः पादेन स्पृष्टः कालचोदितः कालेन भगवद्रूपिणा चोदितः प्रेरितस्सर्पः अदशत् ददंश॥ ९॥

तदाऽहं तन्मातृमरणं भक्तानां शं भद्रम् अभीप्सतः अभिलषतः ईशस्यानुग्रहं मन्यमानः उत्तरां दिशं प्रातिष्ठम् प्रस्थितवानस्मि। अत्र मातृमरणमपि ईश्वरानुग्रहमेव मन्यमानेन बालकेन भगवन्भयजीवनस्य परा काष्ठा प्रदर्शिता। तस्य जीवनमरणे भगवल्लीलाविशेषौ। उक्तं च भगवता — "मृत्युस्सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्" (भ. गी. 10-34) इति। अनेनास्य मातरि न मातृत्वप्रयुक्तो व्यामोहः, किन्तु विष्णुत्वप्रयुक्तः प्रेमैव; तस्मात् मातृमरणं न दुःखकारणमभवत्॥ १०॥

तत्र तस्यां दिशि स्फीतान् समृद्धान् जनपदान् देशान् पुरग्रामव्रजाकरान् पुराणि राजधानीः, ग्रामान्, व्रजान् गोकुलानि, आकरान् रत्नाद्युत्पत्तिस्थानानि, खेटान् कर्षकग्रामान्, खर्पटान् गिरितटग्रामान्, वाटीः पुष्पोद्यानानि, वनानि स्वतस्सिद्धवृक्षसमूहान्, उपवनानि आरोपितवृक्षसमूहान्, चित्रधातुविचित्राद्रीन् चित्रैः स्वर्णरजताद्यैः धातुभिः विचित्रानद्रींश्च, इभभग्नभुजद्रुमान् गजच्छिन्नशाखान् वृक्षान्, शिवजलान् जलाशयान् सरोवरान्, सुरसेविताः चित्रस्वनैः पत्ररथैः पक्षिभिः

सङ्कुला इति शेषः विभ्रमद्भ्रमरश्रियः विभ्रमतां भ्रमराणां श्रीः शोभा यासु ताः नलिनीः सरसीः, एक एवातियातः अतिक्रम्य गतस्सन् अहं नलवेणुशरस्तम्बकुशकीचकगह्वरं, नलवेणुशराणां स्तम्बैः कुशैः कीचकैश्च गह्वरं दुर्गमं घोरं दुस्सहं प्रतिभयाकारं भयङ्कररूपं व्यालोलूकशिवाजिरं सर्पघूकसृगालानां क्रीडास्थानं महद्विपिनं काननमद्राक्षम् अपश्यम् ॥ ११, १२, १३, १४ ॥

परिश्रान्तेन्द्रियात्मा परिश्रान्तानि चक्षुरादीनि इन्द्रियाणि आत्मा देहश्च यस्य सः, तृट्परीतः तृषा व्याप्तः बुभुक्षितश्च सन् अहं नद्याः ह्रदे कुण्डे स्नात्वा पीत्वा उपस्पृष्टः कृताचमनः अत एव गतश्रमः तस्मिन् निर्मनुजेऽरण्ये पिप्पलोपस्थे अश्वत्थवृक्षमूले आश्रितः उपविष्टः आत्मना बुद्ध्या आत्मस्थं हृदृतं आत्मानं परमात्मानं यथाश्रुतं भिक्षुमुखश्रुतप्रकारानुसारेण अचिन्तयम् ध्यातवानस्मि।

अत्र बालकप्रस्थानेन जीवप्रस्थानं, क्रूरमृगसञ्चारभीकरेण दुर्गमारण्येन संसारः, परिश्रान्तेन्द्रियात्मना तेन जीवात्मा च व्यज्यन्ते।

"यथाश्रुतमचिन्तयम्" इत्यत्र ध्यानविधानं सूच्यते। साधकः प्रणवमनुश्रुत्य मनसा ध्यायेत्। आत्मस्थः आत्मा च प्राणहृदयस्पन्दनश्वासस्थानभूतः साधकावशः वशीकृतसाधकजीवनहेतुः परमात्मैव ॥ १५, १६ ॥

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः ॥ १७ ॥

प्रेमातिभरनिर्भिन्न पुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः।
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने! ॥ १८ ॥

रूपं भगवतो यत्तन्मनःकान्तं शुचापहम्।
अपश्यन् सहसोत्तस्थौ वैक्लव्याद्दुर्मना इव ॥ १९ ॥

दिदृक्षुस्तदहं भूयः प्रणिधाय मनो हृदि।
वीक्षमाणोऽपि नापश्यमवितृप्त इवातुरः ॥ २० ॥

---

1 K,M निर्वृतचेतसः 2 W °शय° 3 K,M सुखावहम् 4 A,B,G,I,N °स्थे 5 K,M कैवल्या°

श्रीध० ध्यानफलमाह — ध्यायत इति। भावेन भक्त्या निर्जितं वशीकृतं यच्चेतः तेन। औत्कण्ठ्येन अश्रुकलायुक्ते अक्षिणी यस्य ॥ १७ ॥

**प्रेमेति**। प्रेम्णोऽतिभरेण, निर्भिन्नपुलकानि अङ्गानि यस्य। आनन्दानां सम्प्लवे महापूरे परमानन्दे उभयमात्मानं परं च॥ १८॥

**रूप** मिति। मनसः कान्तमभीष्टम्। शुचा शोकः तामपहन्तीति तथा तत्। उत्तस्थौ उत्थितोऽस्मि॥ १९॥

**दिदृक्षु** रिति। हृदि मनः प्रणिधाय स्थिरीकृत्य अवितृप्तोऽहम् आतुर इव अभवमिति शेषः॥ २०॥

---

1. A,B omit ध्यानफलमाह 2. A,B °तस्थे 3 A व्युत्थितोऽस्मि; B उत्थितवानस्मि

**वीर**° भावनिर्जितेन अभ्यासवशीकृतेन चेतसा चरणाम्भोजं ध्यायतः चिन्तयतः **औत्कण्ठयात्** प्रेमपूर्वकानुध्यानाद्धेतोः अश्रूणामानन्दजनेत्रजलानां कला बिन्दवो ययोस्ते अक्षिणी यस्य तस्य मे मम हृदि शनैः हरिरासीत् आविरासीत्॥ १७॥

तदा प्रेमाधिक्येन हेतुना निर्भिन्नाः अभिव्यक्ताः पुलकाः रोमाञ्चाः यस्मिंस्तदङ्गं शरीरं यस्य सः, अतीव निर्वृतः सुखितः। आनन्दसम्प्लवे आनन्दप्रवाहे लीनो मग्नः। हे मुने! उभयं देहमात्मानं च नापश्यम् न दृष्टवानस्मि॥ १८॥

यदाविर्भूतं मनःकान्तं मनसोऽतीव प्रियम्, अत एव शुचापहं शुचायाः शोकस्यापहन्तृ भगवतो रूपं तत् पुनरपश्यन् वैक्लव्यात् अदर्शनकृतात् अधाष्टर्यात् दुःखितमनाः सहसा आशु उत्तस्थौ उत्थितवानस्मि। कैवल्यादिति पाठान्तरम्, तदाऽसहायत्वात्॥ १९॥

तद्रूपं भूयः पुनः द्रष्टुमिच्छुरहं हृदि मनः प्रणिधाय स्थिरीकृत्य वीक्षमाणः चित्तयन्नपि नापश्यम्। अत एवातुर इव विषयातुर इव वितृप्तोऽभवमिति॥ २०॥

---

1. W °परीवाहे

**विज**° इदानीमुपास्तिफलमाह — **ध्यायत** इति। भावेन भक्त्या निर्वृतं परमानन्दमाप्तं चेतो यस्य स तथा। तस्या उत्कण्ठायाः जातानामश्रूणां बाष्पाणां कलाभिः बिन्दुभिः युक्तेऽक्षिणी यस्य स तथा तस्य शनैः अव्यग्रेण स्वचरणकमलं ध्यायते मे हृदि हरिरासीत् प्रत्यक्षोऽभूदित्येकान्वयः॥ १७॥

प्रेम्णा अतिशयितभारेण निर्भिन्नः समुल्लसन् जातः पुलको रोमाञ्चः प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकोऽङ्गे यस्य म तथा आनन्दसम्प्लवे सुखप्रलयोदके मग्नोऽहं तमेवापश्यमुभयं द्वितीयं समाधिकं वा नापश्यं सर्वोत्तमत्वादित्यन्वयः॥ १८॥

ततःपरं किमभूदिति तत्राऽऽह — **रूप** मिति। मनःकान्तं मनोहरं हरेः यद्रूपमद्राक्षं तत् सहसा अपश्यन् अचक्षाणो दुर्मनाः दुःखितान्तःकरणः मुक्तिं प्राप्तः कैवल्यात् मोक्षादिव उत्तस्थौ उदतिष्ठमित्यन्वयः ॥ १९ ॥

पुनः हरेः रूपं दिदृक्षुः हृदि मनः प्रणिधाय स्थितः आतुरो रोगी वा अवितृप्तोऽसन्तुष्टो वीक्षमाणोऽप्यहं नापश्यमित्यन्वयः ॥ २० ॥

**रा॰ कृ॰** भावनिर्जितचेतसा भक्तिवशीकृतेन मनसा चरणाम्भोजं भगवतः पादपद्मं ध्यायतः **औत्कण्ठया-श्रुकलाक्षस्य** उत्कण्ठया अश्रुबिन्दुयुक्ते अक्षिणी यस्य तस्य मे मम हृदि शनैः हरिः आसीत् आविरासी दित्यर्थः ॥ १७ ॥

हे मुने! प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गः प्रेम्णः अतिभरेण आधिक्येन निर्भिन्नाः अभिव्यक्ताः पुलकाः रोमाञ्चाः यस्मिन् तदङ्गं शरीरं यस्य सः, अतिनिर्वृतः अत्यन्तं सुखितः ततश्चानन्दसम्प्लवे आनन्दप्रवाहे लीनः निमग्नः अहमिति शेषः। उभयमात्मानं परमात्मानं च नापश्यम् ॥ १८ ॥

यदाविर्भूतं शुचापहं दुःखनाशकं मनःकान्तं मनोहरं भगवतो रूपं वर्तत इति शेषः। तद्रूपमपश्यन् पुनरपश्यन् वैक्लव्यात् व्याकुलत्वात् दुर्मना इव दुःखित इव सहसा उत्तस्थौ ध्यानात् उत्थितवानस्मि ॥ १९ ॥

तत् भगवद्रूपं भूयः पुनः दिदृक्षुः द्रष्टुमिच्छुः अहं हृदि हृदये मनः प्रणिधाय स्थिरीकृत्य वीक्षमाणोऽपि ध्यायन्नपि नापश्यम्, अत एवावितृप्तः असन्तुष्टः आतुर इव व्याकुल इवाभवमिति शेषः ॥ २० ॥

**श्रीभगवानुवाच**

**एवं यतन्तं विजने मामाहागोचरो गिराम् ।**
**गम्भीरश्लक्ष्णया वाचा शुचः प्रशमयन्निव ॥ २१ ॥**

**हन्तास्मिन् जन्मनि भवान् मां मा द्रष्टुमिहार्हति ।**
**अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ॥ २२ ॥**

**सकृद्यद्दर्शितं रूपमेतत्कामाय तेऽनघ !**
**मत्कामश्शनकैस्साधुं सर्वान्मुञ्चति हृच्छयान् ॥ २३ ॥**

**सत्सेवयाऽदीर्घया ते जाता मयि दृढा मतिः ।**
**हित्वाऽवद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसि ॥ २४ ॥**

**मतिर्मयि निबद्धेयं न विपद्येत कर्हिचित् ।**
**प्रजासर्गनिरोधेऽपि स्मृतिश्च मदनुग्रहात् ॥ २५ ॥**

---

1 K.M प° 2 H.V °पि° 3 K.M न 4 B.H.N.V मा 5 W रूपं मत्कामाय तवानघ ! 6 A.B.N °धुः 7 W °च्छ° 8 G.H.K.M दीर्घया 9 B.I °ऽपि; K.M वै

**श्रीध०** **एव** मिति। गिरामगोचरः संवेदनस्याविषयभूत ईश्वरः ॥ २१ ॥

**हन्ते** ति। हन्तेति सानुकम्पसम्बोधने। मेति मां द्रष्टुं माऽर्हति नार्हति, यतः अविपक्काः अदग्धाः कषायाः मलाः कामादयो येषां तेषां कुयोगिनाम् अनिष्पन्नयोगानाम् ॥ २२ ॥

कुतस्तर्हि दृष्टोऽसि, तत्राऽऽह — **सकृ** दिति। सकृद्दर्शितं मयेति यदेतत्कामाय मय्यनुरागाय। त्वत्कामेन किमित्यत आह मत्कामः पुमान् हृच्छयान् कामान् ॥ २३ ॥

**सदि** ति। अदीर्घयाऽपि सतां सेवयाऽवद्यं निन्द्यं दोषसम्पादकमिति यावत्। इमं लोकं देहं दासीपुत्रकलेबरं मज्जनतां मत्पार्षदतां गन्ताऽसि ॥ २४ ॥

**मति** रिति। प्रजानां सर्गे सृष्टौ, निरोधे संहारेऽपि प्रजासर्गस्य निरोधे इति वा ॥ २५ ॥

---

1 H.V वेदवचसामप्यविषयसः 2 A omits माऽर्हति 3 A न वि° 4 A omits अ° 5 V °गि° 6 A.B omit दोषसम्पादकमिति यावत् 7 A.B omit दासीपुत्रकलेबरं

**वीर०** एवं द्रष्टुं पुनःपुनः यतन्तं यत्नं कुर्वन्तं मामुद्दिश्य गिरामगोचरः "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तैत्ति. उ. 2-4-5) इत्युक्तरीत्या वागविषयः, अपरिच्छेद्यत्वादिति भावः। अदृश्यस्सन् इति तात्पर्यम्। भगवान् इति विशेष्यमध्याहर्तव्यम्। गगने गम्भीरया वाचा शुचः शोकान् प्रशमयन्निवाऽऽह ॥ २१ ॥

उक्तिमेवाऽऽह — **हन्ते** ति चतुर्भिः। इह लोके अस्मिन् जन्मनि भवान् मां द्रष्टुं माऽर्हति नार्हतीति, माशब्दोऽयं नञ्पर्यायः। अतो "माङि लुङ्" (अष्टा. 3-3-175) इति लुङभावः। दर्शनानर्हत्वे हेतुं वदन् आत्मानं विशिनष्टि। अविपक्वोऽविनष्टः कषायः दर्शनप्रतिबन्धकः पुण्यपापात्मकः कषायः कषायवत् दुरपनेयः कर्मोपाधिः येषां तेषां कुयोगिनामहं दुर्दर्शः दुःखेनापि द्रष्टुमशक्यः ॥ २२ ॥

तर्हि सकृत् कथं दृष्टोऽसीत्यत्र आह — **सकृ** दिति। हे अनघ! सकृद्रूपं मदीयं दर्शितमिति यत् तत्तव मत्कामाय मद्विषयकदिदृक्षायै। एतत् कामय ते इति पाठान्तरम्। तत्र ते तुभ्यं सकृद्दर्शितं रूपं एतत्कामय, द्रष्टुमिति

**शेषः**। निवृत्तप्रेरणात् स्वार्थे[3] णिजन्तात् कर्मेर्हेतुमण्णिचि, "णिचश्च" (अष्टा. 1-3-74) इति वैकल्पिकं परस्मैपदम्। **किं** काममात्रेणेत्यत आह मत्कामः मां द्रष्टुं कामयमानः साधुः साधुचरितः पुमान् शनैः सर्वान् हृच्छ्रयान्[4] हृद्गतान् रागादिदोषान् मुञ्चति निरस्यति॥ २३॥

यतः ते तव अदीर्घया अल्पकालिक्यैव[5] सतां सेवया मयि दृढा मतिः जाता ततः[6] त्वमिममवद्यम्, लोक्यत इति लोको देहः तं शूद्रदेहमित्यर्थः। हित्वा त्यक्त्वा मज्जनतां मद्भृत्यतां गन्ता गमिष्यसि कल्पान्तरे इति **शेषः**॥ २४॥

मदनुग्रहाद्धेतोः कर्हिचित् प्रजासर्गनिरोधे प्रलयकालेऽपि तव[7] मयि निबद्धा निश्चितेयं मतिः स्मृतिश्च न विपद्येत न नश्येत्[8]। कर्हिचिन्मयि निबद्धा मतिः प्रजासर्गनिरोधेऽपि मयि[9] स्मृतिश्च न विपद्येत इति **वाऽन्वयः**॥ २५॥

---

1 A,B °क्त° 2 A omits **कषायः** 3 A,B °**र्थेण**° 4 A,B °च्छ° 5 A B °कयैव 6 A,B तस्मादिम° 7 A omits तव 8 A,B °त 9 A,B omit मयि

**विज**० हरे र्भक्तवात्सल्य माश्चर्य मिति दर्शयति — **एव** मिति। गिरां वाचामगोचरः अविषयः अदृश्यः गम्भीरया अगाधया श्लक्ष्णया मधुरया वाचा मानसीः शुचः प्रशमयन्निव नष्टाः कुर्वन्निव स्थितो हरिरेवं विजने जनसञ्चाररहिते द्रष्टुं यतमानमाह इत्येकान्वयः॥ २१॥

किमाह हरिरिति तत्राऽऽह — **हन्ते** ति। हन्त विस्मये। भवान् इह भूलोकेऽस्मिन् जन्मनि शूद्रयोनौ मां द्रष्टुं नार्हति, कुतः कषेण भोगेन अयते गच्छतीति कषायः पापम्। अभुक्तपापफलानां कुयोगिनां जन्मना अनभिज्ञानेन वा कुत्सितो योगो ध्यानादिकः एषामस्तीति कुयोगिनः। तेषां पुंसां दुर्दर्शः द्रष्टुमशक्यः॥ २२॥

तर्हि किमिति दर्शितम् इति तत्राऽऽह — **सकृ** दिति। अनघ! सांसारिकदुःखरहित! ते तव कामायाथ कदानु पश्येयमित्युत्कण्ठायै। तया किं फलमभूदिति तत्राऽऽह मत्काम इति। मद्भक्तः पुरुषः क्रमेण सर्वान् हृच्छयान् प्राकृतान् कामान् साधु मुञ्चतीत्यन्वयः॥ २३॥

परमहंससेवाफलमाह — **सदि** ति। दीर्घया बहुकालीनया सतां परमहंसानां सेवया परिचर्यया मयि दृढा मतिः मननलक्षणा भक्तिर्जाता, वै यस्मात् अतोऽवद्यं दोषरूपशूद्रजातित्वादिमं लोकं देहं हित्वा पश्चाद्ब्रह्मपुत्रत्वेन जातः **त्वं** मज्जनतां मम जनतां परमभागवतत्वं गन्ताऽसीत्यन्वयः॥ २४॥

मयि निबद्धेयं मतिः कदाचिदपि न विपद्येत न नश्येत्, प्रजानां सर्गः सृष्टिः, निरोधः संहारः एतयोः स्मृतिनाशकयोः स्मृतिः जातिस्मरणशक्तिश्च न विपद्येत। कस्मात्, मदनुग्रहात्। अनेन भगवद्भक्तसङ्गः अभिमतफल इत्युक्तं भवति॥ २५॥

रा॰ कृ॰ विजने एकान्ते एवं भगवद्दर्शनार्थं यतन्तं प्रयत्नं कुर्वन्तं मामुद्दिश्य गिरां वाचाम् अगोचरः अविषयः भगवान् गम्भीरश्लक्ष्णया गम्भीरया सुस्वरया श्लक्ष्णया मधुरया वाचा शुचः निजादर्शनजन्यशोकान् प्रशमयन्निव आह अब्रवीदित्यर्थः।

ननु "हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः" (भाग. 1-6-17) इत्यनेन हरेराविर्भावः उक्तः, तथाऽपि "नापश्यमुभयं मुने" (भाग. 1-6-18) इति तददर्शनं तत्सन्दर्भ एव कथितम्। कथमिदं सङ्गच्छते? श्रूयतां तावत्— ध्यायतो बालकस्य मनो भगवद्भक्त्या वशीकृतम्, अर्थात् भगवन्मयमभूत्। ततश्च मनसो भगवन्मयत्वावस्थानेन मनोनिरूप्यस्य आत्मनोऽपि आनन्दघने भगवति लयः। तेन ज्ञातृज्ञेययोरभावात् केवलसंविद्रूपसत्तामात्रावस्थितिः। एवं च "नापश्यमुभयम्" इत्युक्ति र्युक्तिसहैव।

नन्वेवं चेत् "वीक्षमाणोऽपि नापश्यम्" (भाग. 1-6-20) इत्युक्तिः असमाधेयैव। तथाहि — वस्तुदर्शिन एव वीक्षमाणत्वोक्तिर्युज्यते; उक्ते च वीक्षमाणत्वे अदर्शनोक्तिः दूरापास्तैव। एवमत्र अन्योऽन्याश्रयदोषो दुर्निवारः। अत्रोच्यते — पूर्वत्र ध्यायतो मनसो भक्तिवशात् भगवन्मयत्वमयत्नलब्धम्। न तत्रेच्छा न वा प्रयत्नः। अत्र तु दिदृक्षुवीक्षमाणपदाभ्यां यथाक्रमं दर्शनेच्छाप्रयत्नरूपचित्तवृत्तिप्रसङ्गात् चित्तवृत्तिनिरोधरूपयोगाप्रसङ्गः। तेन च मनोलयाप्रसङ्गः। ततश्च भगवद्दर्शनाभावः। तस्मादत्र दर्शनेच्छया वीक्षमाणस्य दर्शनप्रयत्न एव दृष्टिः; न तु दर्शनमात्रे। दर्शनञ्चात्र ज्ञानमेव। तस्मात् "वीक्षमाणोऽपि नापश्यम्" इति वचनं न केवलमदुष्टमविरुद्धञ्च, किन्तु सारवदेव।

अत्रेदमवधेयम्— विष्णोरनुग्रहेण अयत्नलब्धतन्मयीभवनदशायां देहात्मभ्रमोत्थानेन विष्णुदर्शनेच्छापरवशस्य तस्य सर्वत्र नारायणत्वज्ञानमेव। न तु तन्मयत्वानुभवः। तस्मात् सर्ववाञ्छावियोगाय केवलविष्णुभक्तिरेव विवर्धनीया॥ २१॥

हन्त! अनुकम्पापरोऽयं शब्दः। इह स्थानेऽस्मिन् जन्मनि वाञ्छापरीतेऽस्मिन् शरीरे इत्यर्थः। भवान् बद्ध इति शेषः। मां द्रष्टुं माऽर्हति नार्हति। अविपक्वकषायाणां अदग्धकामादिमलानां कुयोगिनामहं दुर्दर्शः दुःखेनापि द्रष्टुमशक्यः॥ २२॥

हे अनघ! सकृत् एकवारं यद्रूपं दर्शितं तुभ्यं मयेति शेषः। तदेतत् ते कामाय मयि अनुरागाय। मत्कामः मदनुरागवान् पुरुषः शनकैः साधुः विरक्तस्सन् सर्वान् हृच्छयान् हृद्गतान् कामक्रोधादिदोषान् मुञ्चति त्यजति।

यद्यपि कामो बन्धहेतुः तथाऽपि स एव भगवद्विषयकश्चेत् बन्धविमुक्तिहेतुरेव, तद्भक्तिजनकत्वात्॥ २३॥

अदीर्घया अल्पकालिकयाऽपि सत्सेवया साधूनां सेवनेन ते तव मयि दृढा मतिः भक्तिः जाता। अवद्य निन्द्यं दोषभूयिष्ठमिति यावत्। इमं लोकं देहं हित्वा त्यक्त्वा मज्जनतां मद्भृत्यतां गन्ताऽसि गमिष्यसि॥ २४॥

मयि निबद्धा इयं मतिः कर्हिचित् कदाऽपि न विपद्येत न विनश्येत्। च अपिच मदनुग्रहात् प्रजासर्गनिरोधेऽपि प्रलयेऽपि स्मृतिश्च मदीयस्मृतिश्च न विपद्येत इति शेषः ॥ २५ ॥

**एतावदुक्त्वोपरराम तन्महद्भूतं नभोलिङ्गमलिङ्गमीश्वरम्[1] ।**
**अहं च तस्मै महतां महीयसे शीर्ष्णावनामं[2] विदधेऽनुकम्पितः ॥ २६ ॥**

**नामान्यनन्तस्य हतत्रपः[3] पठन् गुह्यानि भद्राणि कृतानि च स्मरन् ।**
**गां पर्यटंस्तुष्टमना गतस्पृहः कालं प्रतीक्षन् विमदो[4] विमत्सरः ॥ २७ ॥**

**एवं कृष्णमतेर्ब्रह्मन्नसक्तस्यामलात्मनः ।**
**कालः प्रादुरभूत् काले तडित्सौदामनी[5] यथा ॥ २८ ॥**

**प्रयुज्यमाने[7] मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम् ।**
**आरब्धकर्मनिर्वाणो[8] न्यपतत् पाञ्चभौतिकः ॥ २९ ॥**

**कल्पान्त इदमादाय शयानेऽम्भस्युदन्वतः ।**
**शिशयिषोरनुप्राणं[9] विविशेऽन्तरहं[10] विभोः ॥ ३० ॥**

**सहस्रयुगपर्यन्ते उत्थायेदं सिसृक्षतः ।**
**मरीचिमिश्रा ऋषयः प्राणेभ्योऽहं च जज्ञिरे ॥ ३१ ॥**

**अन्तर्बहिश्च लोकांस्त्रीन् पर्येम्यस्कन्दितव्रतः ।**
**अनुग्रहान्महाविष्णो[11] रविघातगतिः[12] क्वचित् ॥ ३२ ॥**

---

1 H,V °मै° 2 W °र्षा° 3 H.K.M.V.W गा° 4 K,M अ! पटो ; AF, GF अमदो ; WF अपदो 5 AF, GF विद्युत्सौ°, H,V,W तटित्सौ° 6 K,M °मि° 7 K,M एवं मयि प्रयुञ्जाने 8 H.K.M.V प्रा° 9 K,M °ष्णो° 10 K,M विवेशा° 11 AF, GF °दहं 12 H,V °रव्याहत°

**श्रीध०** **एताव** दिति। तत् प्रसिद्धं महद्भूतम्। "अस्य[1] महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदः" (बृह. उ. 2-4-10) इत्यादिश्रुतेः। कीदृशम्? ईश्वरं सर्वनियन्तृ नभसि लिङ्गं मूर्तिः यस्य नभोलिङ्गम्, "आकाशशरीरं[2] ब्रह्म" इति श्रुतेः। सन्निहितमपि न लिङ्ग्यते इत्यलिङ्गं तस्मै अदृष्टाय अवनामं प्रणामं विदधे कृतवान् अहं तेनानुकम्पितस्सन् ॥ २६ ॥

**नामानि** इति। अनन्तस्य नामानि पठन् अनवरतं गृणन् हतत्रपः त्यक्तलज्जः विमत्सरो जातः[3] इति शेषः ॥ २७ ॥

**एव** मिति। काले स्वावसरे काले मृत्युः प्रादुरभूत् आविर्बभूव। अकस्मात् प्रादुर्भवि दृष्टान्तः तडिदिति। सौदामनीति विशेषणं स्फुटत्वप्रदर्शनार्थम्। तथाहि — सुदामा माला तत्र भवा सौदामनी मालाकारेत्यर्थः। यद्वा सुदामनामा[5] कश्चित् स्फटिकपर्वतः। ततः "तेनैकदिक्" (अष्टा. 4-3-112) इति सूत्रेणाण्। स्फटिकादिमयपर्वतप्रान्त-भवा हि विद्युदिति स्फुटा भवति तद्वदित्यर्थः। यद्वा तडिदित्यन्तिके इत्यर्थः। "तडिदित्यन्तिकबन्धयोः" इति नैरुक्तस्मरणात् ॥ २८ ॥

**प्रयुज्यमाने मयि ता** मिति। अयमर्थः — "हित्वाऽवद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसि" (भाग. 1-6-24) इति या भागवती भगवत्पार्षदरूपा शुद्धा सत्त्वमयी तनुः प्रतिश्रुता[7] तां प्रति भगवता मयि प्रयुज्यमाने नीयमाने सति[8] प्रारब्धं यत् कर्म तन्निर्वाणं समाप्तिः[10] यस्य। आरब्धकर्मणो निर्वाणं[11] एव निर्वाणं यस्येति वा, पाञ्चभौतिकः[12] पञ्चभूतात्मको देहो न्यपतत्। अनेन पार्षदतनूनाम् अकर्मारब्धत्वं शुद्धत्वं नित्यत्वमित्यादि सूचितं भवति ॥ २९ ॥

**कल्पान्त** इति। इदं त्रैलोक्यम् आदाय उपसंहृत्य उदन्वतः एकार्णवस्याम्भसि शयाने श्रीनारायणे शिशयिषोः शयनं कर्तुमिच्छोः विभोः ब्रह्मणः अन्तर्मध्यम् अनुप्राणं निश्वासेन सह विविशे प्रविष्टोऽहम्। "ततोऽवतीर्य विश्वात्मा देहमाविश्य चक्रिणः। अवाप वैष्णवीं निद्रामेकीभूयाथ विष्णुना" (कूर्म. पु. 1-10-9) इति कूर्मोक्तेः[13]। स्वायनेऽम्भसीति पाठे स्वायने स्वस्यायने आश्रयेऽम्भसि शिशयिषोः ब्रह्मण इति श्रीनारायणेन अभेदविवक्षया उक्तमित्यवगन्तव्यम् ॥ ३० ॥

**सहस्रेति।** प्राणेभ्यः इन्द्रियेभ्योऽहं मरीचिमिश्राः तन्मुख्याः ऋषयश्च जज्ञिरे ॥ ३१ ॥

**अन्त** रिति। ये कर्मिणः ते **बहिर्न** यान्ति। ये च तपआदिभिः ब्रह्मलोकं गताः ते **त्वन्तर्न** यान्ति। अहं तु महाविष्णोरनुग्रहात् अस्कन्दितव्रतः अखण्डितब्रह्मचर्यव्रतस्सन् अन्तर्बहिश्च पर्येमि पर्यटामि। क्वचिदपि अविघाता अप्रतिहता गतिः यस्य सः ॥ ३२ ॥

---

1 H,V एतस्य वा अक्षरस्य 2 A,B omit आकाश ... ..... श्रुतेः 3 B,H,V add अस्मि 4 B तटिद्विद्युदिवेति 5 A,B सुदामा नाम 6 B °वज्र°, H,V °वध° 7 H °तां 8 A,B omit सति 9 A,B आ° 10 A,B °प्तं 11 A,B °णमेव 12 A,B सः 13 A कौ°

**वीर**° अलिङ्गं कर्मकृतदेहरहितं नभोलिङ्गम् आकाशशरीरकम् ईश्वरं सर्वनियन्तृ। ऐश्वरमिति पाठे ईश्वरशब्दवाच्यं तन्महत् सर्वव्यापकं भूतं स्वाधीनसत्तादिमत्[2] ब्रह्म "तस्य ह वा, एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम्" (सुबा. उ. 2-1) इति श्रुतेः। एतावदुक्त्वा विरराम तूष्णीमास। ततो महतां तेजस्विनामपि महीयसे तस्मै महते भूताय तेनानुकम्पितोऽहमवनामं प्रणामं विदधे कृतवानस्मि ॥ २६ ॥

ततोऽनन्तस्य भगवतो नामान्यहं गतलज्जः पठन् भद्राणि लोकानां मङ्गलावहानि गुह्यानि वेदगुह्यानि जन्मानि कर्माणि च स्मरन् गां भूमिं पर्यटन् तुष्टं मनो यस्य, गता स्पृहा शब्दादिविषया यस्य, विगतो मत्सरो भूतविषयको

यस्य, विगतः मदो देहपारवश्यरूपो यस्य सः। अपद इति पाठे अनिकेतः। कालं देहावसानकालं प्रतीक्षन्, आसमिति क्रियापदम् अध्याहार्यम्। यावत् कल्पावसानं जीवितवानस्मीत्यर्थः॥ २७॥

हे ब्रह्मन्! कृष्णे भगवत्येव मतिः यस्य, अत एवामलो विशुद्धः आत्मा मनो यस्य, अत एव शब्दादिविषयेषु असक्तस्य मम काले तद्देहारम्भकप्रारब्धावसानकाले कालः मृत्युकालः प्रादुरभूदुपस्थितो बभूव। मृत्युकालस्य क्षणिकत्वद्योतनाय दृष्टान्तमाह — सौदामनी सुदाम्नः पर्वतस्य अदूरभवा सौदामनी चातुरर्थिकेऽणि "अन्" (अष्टा. 6-4-167) इति प्रकृतिभावे अ॑ण्णन्तत्वात् ङीप्। सौदामिनी इत्यपपाठः॥ २८॥

तदा तां प्रसिद्धां सर्वजीवलयाधारभूतामित्यर्थः। शुद्धामप्राकृतां भागवतीम् अनिरुद्धाख्यां तनुं प्रति मयि प्रयुज्यमाने संश्लिष्यमाणे लयं प्राप्तुमुद्युक्ते सतीत्यर्थः। आरब्धकर्मनिर्वाणः तद्देहावस्थितिनिमित्तस्य प्रारब्धकर्मणः निर्वाणम् अवसानं यस्य स पाञ्चभौतिको देहो न्यपतत्॥ २९॥

एवं प्रा॑कृतीयशरीरपातावधिवृत्तान्तः कथितः। अथ तदुपरितनवृत्तान्तमाह — कल्पान्त इत्यादिना। तदा कल्पान्ते इदं जगत् आदाय स्वस्मिन् प्रविलाप्य उदन्वतः प्रलयार्णवस्य अम्भसि शयाने अनिरुद्धाख्ये भगवति शिशयिषोः तत्राभिपद्ये शिशयिषोः विभोः चतुर्मुखस्य अन्तःप्राणम् अनुविविशे अनुप्रविष्टवानस्मि। सन्नर्थ-स्त्वविवक्षितः॥ ३०॥

सहस्रयुगावसाने उत्थाय नाभिकमलात् इति शेषः। इदं व्यष्ट्यात्मकं जगत् सिसृक्षोः चतुर्मुखस्य प्राणेभ्यः प्राणादिभ्यः मरीचिसंहिता ऋषयो वशिष्ठादयः अहं नारदश्च जज्ञिरे उद्बभूवुः। अहं च जज्ञे इति पुरुषविपरिणामेन अन्वयः॥ ३१॥

ततो महाविष्णोः अनुग्रहात् क्वचिदप्यविघाता अप्रतिहता गतिः यस्य अस्कन्दितम् अखण्डितं व्रतं ब्रह्मचर्यं यस्य सः अहं त्रिलोकान् अन्तर्बहिश्च पर्येमि परितः सञ्चरामि॥ ३२॥

---

1 A,B omit °कृत° 2. A,B °समाधिकरहितं महद्ब्रह्म 3. A,B देहा° 4 A,B °कोऽण् 5. A,B °नान्तत्वात् 6. W प्राकल्पीयवृत्तान्तः 7. A,B °मिश्रा

**विज०** ईश्वरमीशनशीलं सकलजनप्रवर्तनशक्तिमत् अलिङ्गं जडशरीररहितं रुद्रादन्यद्वा। ईश्वरमित्युक्त्या भूतविग्रहवान् हर इति शङ्कानिरासार्थं वा अलिङ्गमित्युक्तम्। नभोलिङ्गं गमकं दृष्टान्तत्वेन यस्य तत् तथोक्तम्; आकाशवत् सर्वगमित्यर्थः। तत् महत् भूतं ब्रह्म। एतावदुक्त्वा विरराम। तेनानुकम्पितः कृपापात्रीकृतः अहञ्च महतां महीयसे तस्मै महाभूताय शीर्ष्णा शिरसा अवनामं नमस्कारं विदधे कृतवानित्यन्वयः॥ २६॥

गतत्रपो लज्जारहितः अनन्तस्य हरेः कृतानि कर्माणि विक्रमलक्षणानि गां भूमिं तुष्टमनाः यदृच्छालाभेन अलम्बुद्धिमान् गतस्पृहः परवस्तुस्पृहारहितः। "पट गतौ" इति धातोः, पटो गतिः न विद्यते गतिः ईश्वरादन्यो यस्य

सः अपटः, अनन्यगतिरित्यर्थः। असङ्गतो विरक्त इति वा। कन्थादिप्रावरणरहितो वा। "अ आ अं अः पुराणर्षिः" इति वाक्यात् अ इति सम्बोधनं वा। हे व्यास! पटः समर्थः। अपटो निकेतरहित इति केचित्; तच्चिन्त्यम्। विमत्सरो विगतमात्सर्यः। एवंविधोऽहं मरणकालं प्रतीक्षमाणोऽभवमिति शेषः॥ २७॥

कृष्णे परमानन्दबलात्मके हरौ मतिः यस्य स तथा। तस्य कालो मरणाख्यः प्रावृट्काले प्राप्ते सौदामन्याख्या विद्युत् यथा सहसा पद्यते तथेत्यर्थः। "तडिद्दीप्ता[1] शतह्रदा, सौदामन्यैरावती च तद्भेदेऽप्यभिमन्त्रणम्" (वैज. को. 2-2-4,5) इति वचनात्। कुरुपाण्डववत् पृथगुक्तिः युज्यत इति भावः॥ २८॥

मयि शुद्धां निर्दोषां भागवतीं तनुं हरिमूर्तिम् एवं प्रयुञ्जाने ध्यायति सति फलदानाय प्रारब्धकर्मविनाशवान् पञ्चभिः भूतैः निर्मितो देहो न्यपतत् इत्यन्वयः॥ २९॥

हरिं ध्यायन् मुक्तस्त्वं कं लोकं गत इति तत्राऽऽह — **कल्पान्त** इति। अहं कल्पावसाने स्वसृष्टमिदं विश्वम् आदाय स्वोदरे निवेश्य उदन्वतः अम्भसि शेषपर्यङ्के शयाने हरौ शिशयिषोः[2] शयितुमिच्छोः विरिञ्चस्य अन्तः अनुप्राणम् अन्तर्गच्छच्छ्वसम् अनुविवेश प्रविष्टवानस्मीत्यन्वयः॥ ३०॥

सहस्रयुगपर्यन्ते चतुर्युगसहस्रपरिमितस्वनिशावसाने विष्णोरुत्थाय उत्पाद्यमिदं सिसृक्षतो विरिञ्चस्य अङ्कात् अहं जज्ञे मरीच्यत्रिमुख्या ऋषयश्च तस्य प्राणेभ्यो जज्ञिर इत्येकान्वयः॥ ३१॥

विष्णुनाम्नो यजमानादपि महतो विष्णोः अनुग्रहात् अप्रतिहतगमनः अस्खलितब्रह्मचर्यादिव्रतोऽहं त्रीन् लोकान् अन्तर्बहिश्च पर्येमि पर्यटामीत्येकान्वयः॥ ३२॥

---

1. A,B °प्त° 2. K,M °ष्णोः

**रा॰ कृ॰** एतावत् पूर्वोक्तमात्रमुक्त्वा महत् व्यापकं भूतं सत्तात्मकं नभोलिङ्गम् आकाशशरीरं अलिङ्गम् प्राकृतरूपरहितम् ईश्वरं सर्वनियामकं तत् ब्रह्म उपरराम तूष्णीमासीत्। अहञ्च अनुकम्पितः तस्याऽऽश्वासनेन दयाविषयीकृतः। महतां महात्मनां ब्रह्मादीनामपि महीयसे महत्तराय शीर्ष्णा मस्तकेन अवनामं प्रणामं विदधे कृतवानस्मि॥ २६॥

हतत्रपः त्यक्तलज्जः। अहमिति शेषः। अनन्तस्य अविच्छिन्नस्य भगवतो नामानि पठन् गुह्यानि रहस्यानि भद्राणि मङ्गलरूपाणि कृतानि च चेष्टितानि च स्मरन् भावयन् गां भुवं पर्यटन् गतस्पृहः विगतकामः तुष्टमनाः सन्तुष्टान्तरङ्गः विमदः मदरहितः विमत्सरः मत्सररहितः कालं भौतिकशरीरवियोगकालं प्रतीक्षन् प्रतीक्षमाणः आसमिति शेषः॥ २७॥

हे ब्रह्मन्! एवं पूर्वोक्तप्रकारेण असक्तस्य प्रापञ्चिकविषयेषु अनासक्तस्य अमलात्मनः निर्मलान्तःकरणस्य ममेति शेषः। काले वर्षाकाले सौदामनी तटित् यथा मालाकारा विद्युदिव कालः मृत्युकालः प्रादुरभूत् गोचरोऽभूदित्यर्थः॥ २८॥

तां पूर्वं भगवता प्रतिश्रुतां शुद्धां शुद्धसत्त्वात्मिकां भागवतीं भगवत्सेवानुकूलां तनुं शरीरं प्रति मयि प्रयुज्यमाने नीयमाने सति भगवतेति शेषः। प्रारब्धकर्मनिर्वाणः प्रारब्धकर्मनाशकः पाञ्चभौतिकः पञ्चभूतनिर्मितः देहः न्यपतत् भुवि पतितोऽभूत्॥ २९॥

कल्पान्ते प्रलये इदम् एतत्त्रैलोक्यम् आदाय उपसंहृत्य उदन्वतः एकार्णवस्य अम्भसि जले शयाने श्रीमन्नारायणे शिशयिषोः शेतुमिच्छोः विभोः व्यापकस्य ब्रह्मणः अन्तः मध्यम् अनुप्राणं उच्छ्वसनिश्वासात्मकप्राणवायुम् अनुसृत्य अहं विविशे प्रविष्टोऽस्मि॥ ३०॥

सहस्रयुगपर्यन्ते चतुर्युगसहस्रस्य समाप्तौ उत्थाय इदं विश्वं सिसृक्षतः स्रष्टुमिच्छतः ब्रह्मणः प्राणेभ्यः प्राणवायुभ्यः मरीचिमिश्राः मरीचिप्रभृतयः ऋषयः प्रजापतयः अहं च जज्ञिरे जाताः स्मः॥ ३१॥

अस्कन्दितव्रतः अखण्डितब्रह्मचर्यव्रतस्सन् महाविष्णोः अनुग्रहात् क्वचित् कुत्रापि अव्याहतगतिः अनिरुद्धगतिस्सन् त्रीन् लोकान् अन्तर्बहिश्च पर्येमि पर्यटामि॥ ३२॥

देवदत्तामिमां वीणां स्वरब्रह्मविभूषिताम्।
मूर्छयित्वा हरिकथां गायमानश्चराम्यहम्॥ ३३॥

प्रगायतस्स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि॥ ३४॥

एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः।
भवसिन्धुप्लवो *दृष्टो हरिचर्यानुवर्णनम्॥ ३५॥

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत् तथाऽऽत्माऽद्धा न शाम्यति॥ ३६॥

सर्वं तदिदमाख्यातं यत् पृष्टोऽहं त्वयानघ!
जन्मकर्मरहस्यं मे भवतश्चात्मतोषणम्॥ ३७॥

सूत उवाच

एवं सम्भाष्य भगवान् नारदो वासवीसुतम्।
आमन्त्र्य वीणां रणयन् ययौ यादृच्छिको मुनिः॥ ३८॥

**अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत् कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः ।**
**गायन् माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत् ॥ ३९ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
प्रथमस्कन्धे व्यासनारदसंवादे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

---

1. K,M,W °श्च 2. H,K,M,V एतदातुर° *'अदृष्ट' इति पाठः वीरराघवव्याख्यानुसारी 3 H,V °दैः 4 K,M यतिः
5. H,K,M,V,W यः की° 6 K,M माध्व्या गिरा; H,V माद्यन् गिरा

**श्रीध०** ननु किमिति पर्यटन्[1]म्? ईश्वराज्ञया लोकमङ्गलार्थमित्याह — **देवदत्ता** मिति चतुर्भिः। देवेन ईश्वरेण दत्ताम्। स्वराः "निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवतपञ्चमाः" इति सप्त। त एव ब्रह्म, ब्रह्माभिव्यञ्जकत्वात्। तेन विभूषिताम्। स्वतस्सिद्धसप्तस्वरामित्यर्थः। मूर्च्छयित्वा मूर्च्छनालापवतीं कृत्वा ॥ ३३ ॥

स्वप्रयोजनमाह — **प्रगायत** इति ॥ ३४ ॥

परप्रयोजनमाह — **एतदिति**[3]। मात्रा विषयाः तेषां स्पर्शाः भोगाः, तेषामिच्छया आतुराणि चित्तानि येषां तेषाम्। हरिचर्यानुवर्णनम् इति यत् एतदेव भवसिन्धोः[4] प्लवः पोतः। न केवलं श्रुतिप्रामाण्येन, किन्तु अन्वयव्यतिरेकाभ्यां दृष्ट एवेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

एतदेवेत्युक्तमवधारणम् अनुभवेन द्रढयति — **यमादिभिः** इति। यमादिभिः तथा न शाम्यति, यद्वत् मुकुन्दसेवया अद्धा साक्षादात्मा मनः शाम्यति। कथञ्चित् मुकुन्दसेवामात्रेण शाम्यति किं पुनः तिदुणवर्णनेनेति भावः ॥ ३६ ॥

**सर्व** मिति। भवतो मनसः[5] परितोषकरं मम जन्मकर्मरहस्यं चाख्यातम्[6] ॥ ३७ ॥

**एव** मिति। आमन्त्र्य अनुज्ञाप्य[7]। यादृच्छिकः स्वप्रयोजनसङ्कल्पशून्यः ॥ ३८ ॥

हरिकथागायकनारदभाग्यं श्लाघते — **अहो** इति। माद्यन् हृष्यन्। तन्त्र्या वीणया ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां **षष्ठोऽध्यायः** ॥ ६ ॥

---

1 A,B omit ननु 2. A,B °सि 3 A,B °द्धीति 4 A °न्धौ 5 A मनःपरितोषकं; B मनःपरितोषकारणं 6 B च व्याख्यातम् 7 B °य

**वीर०** देवेन भगवता ब्रह्मणा वा दत्ताः स्वराः निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवतपञ्चमाख्याः सप्त, ते[1] एव ब्रह्म। तेन विभूषितां स्वरैः सन्निधापितेन ब्रह्मणा भगवता वा[2] विभूषितामिमां पाणिस्थां वीणां मूर्छयित्वा वादयित्वा

मूर्छा वीणादिवादनम् "वादने मूर्छना मता" इति वैजयन्तीकोशात् (3-9-131) हरिकथां गायमानोऽहम् एवं चरामि ॥ ३३ ॥

प्रियं भक्तानां प्रीत्यावहं श्रवः यशो यस्य। तीर्थौ पवित्रौ गङ्गादितीर्थाश्रयौ वा पादौ यस्य, तीर्थ पादे यस्येति वा। स भगवान् स्ववीर्याणि यशांसि प्रगायतो मम चेतसि आहूत इव शीघ्रं दर्शनं याति दृष्टो भवतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

तदेवमापृष्टं यथावत् अनुवर्ण्य अथ सर्वथा त्वं हरिचरित्राण्येव अनुवर्णय इत्यभिप्रायेण तापत्रयातुरजनानां भगवदनुवर्णनानुश्रवणम् अन्तरेण तापत्रयविघातुकं नोपायान्तरमस्तीत्याह — **एतदिति** द्वाभ्याम्। असकृत् मात्रास्पर्शेच्छया मात्राः शब्दादिविषयाः तासां स्पर्शेच्छया अनुभवतृष्णया आतुरं पीडितं चित्तं येषां तेषां जनानां भवसिन्धोः प्लवः पूरः। स हि यस्मात् कारणात् अदृष्टो नष्टो भवति, तदेतदेव किम्? हरिचर्याया अनुवर्णनमिति ॥ ३५ ॥

मुहुः कामलोभाभ्यां हत आत्मा मनः यद्वत् यथा मुकुन्दसेवया गुणानुश्रवणादिरूपया अद्धा स्फुटं शाम्यति कामादिरहितो भवति, तथा यमादिभिः योगमार्गैः न शाम्यति ॥ ३६ ॥

प्रश्नस्य उत्तरमुपसंहरति — **सर्वमिति**। हे अनघ! त्वया अहं यत् प्रतिपृष्टः तदेतत् सर्वमाख्यातम्। आख्यातमेव सङ्गृह्य दर्शयति। मे मम जन्मकर्मणोः रहस्यं तथा भवतः तव आत्मा मनः तुष्यते येन, तच्च तत्सर्वम् आख्यातमित्यन्वयः ॥ ३७ ॥

व्यासनारदसंवादमुपसंहरति सूतः **एव** मिति। एवम् इत्थं सम्भाष्य भगवान् नारदो मुनिः वासवीसुतम् उपरिचरवसुवीर्यजायाः सत्यवत्याः सुतं व्यासं आमन्त्र्य आपृच्छ्य, वीणां रणयन् ध्वनयन् यादृच्छिकः स्वेच्छानुचारी ययौ ॥ ३८ ॥

देवर्षिं स्तौति — **अहो** इति। धन्यत्वं स्वस्य परस्य च सुखापादकत्वम्। तदेवाऽऽह यो देवर्षिः शार्ङ्गधन्वनो भगवतः कीर्तिं गायन् तन्त्र्या वीणया माद्यन् मदं प्राप्नुवन् स्वयं वीणास्वनजहर्षमग्नस्सन् इत्यर्थः; आतुरं तापत्रयातुरं जगदपि रमयति सुखयति ॥ ३९ ॥

**इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे**
**श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां श्रीभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां**
**व्याख्यायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥**

---

1. A omits ते 2. A,B omit वा 3. A,B तदेव 4. A,B omit ध्वनयन्

**विज०** तदेवाऽऽह — **देवे** ति। स्वरब्रह्मविभूषितां सप्तस्वरलक्षणां वेदेनालङ्कृतां नाम्ना देवदत्ताम् इमां वीणां मूर्च्छयित्वा स्वराणाम् आरोहणावरोहणक्रमो मूर्च्छा, मूर्च्छनां गतिं कारयित्वा हरिकथां गायमानोऽहं चरामि **इत्यन्वयः** ॥ ३३ ॥

**तीर्थं गङ्गाख्यं** पादे यस्य स तीर्थपात् तस्य। वीर्याणि चरितलक्षणानि प्रकृष्टं गायतः चशब्दः एवार्थे। **एवमुपासकस्यैव मम चेतसि प्रियश्रवाः** भगवान् आहूत इव शीघ्र मविलम्बितं दर्शनं याति अपरोक्षो **भवतीत्यन्वयः** ॥ ३४ ॥

हरिचर्यानुवर्णनं समाधिभाषया भगवच्चरितवर्णनं यत् तदेतत्, मुहुः मात्रास्पर्शेच्छया तत्प्राप्तिनिमित्तम् आतुरचित्तानां क्लिष्टमनसां पुंसां भवसिन्धुप्लवः संसारसागरतरीविशेषो दृष्टः साक्ष्यादिप्रमाणैरिति शेषः, इति यस्मात् **तस्मात् सात्त्विकहिताय सैव** वर्णनीयेति भावः ॥ ३५ ॥

**तर्हि यमादियोगानुष्ठानविधानं व्यर्थम्** इति, तत्राऽऽह — **यमादिभि** रिति। मुकुन्दकथासेवया यथा आत्मा जीवः **अञ्जसा शाम्यति** भगवन्निष्ठबुद्धिमान् भवति, तथा कामलोभाभ्यां वैरिभ्यां हतः पीडितः अनुष्ठितैः योगमार्गैः **यमादिभिः अद्धा** न शाम्यति। तस्मात् हरिकथासेवैव संसारतरी इत्येकान्वयः ॥ ३६ ॥

उपसंहरति **सर्व** मिति। अतीतजन्मविषयत्वात् रहस्यं मम जन्म, कर्म प्रत्यहं त्वया पृष्टः तदिदं सर्वमाख्यातं **तुभ्यमिति शेषः**। कीदृशम्? नित्यसन्तुष्टस्य तवापि भवतः आत्मनो मनस्तोषणं तुष्टिजनकं भवतः आख्यातमिति वा। **चशब्दो** जन्मकर्मणोः समुच्चये। **श्रोतॄणामात्मनां** जीवानां तृप्तिजनकमिति वा ॥ ३७ ॥

सूतो व्यासनारदसंवादं शौनकादीन् ब्रूत इत्याह — **एव** मिति। वासवीसुतं सत्यवत्याः पुत्रं व्यासम् एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सम्भाष्य उक्त्वा, गच्छामि इत्यामन्त्र्य, आज्ञां गृहीत्वा, वीणां रणयन् ध्वनयन् ययौ। यादृच्छिकः **अतर्कितगमनागमनो** यतिः निर्जितेन्द्रियग्रामः ॥ ३८ ॥

**शार्ङ्गधन्वनो** हरेः कीर्तिं **माध्व्या** मधुरया गिरा **तन्त्र्या** वीणया गायन् आतुरं क्लिष्टं जगत् रमयति यः, **सोयं देवर्षिः नारदो धन्यः** कृतकृत्यः। अहो आश्चर्यमेतत्, शूद्रयोनेरपि एतादृशमाहात्म्यमभूदिति। नारं ज्ञानं ददातीति नारदः। अरदो दोषदो न भवतीति वा। आरवत् अङ्गारकवत् आयुःखण्डको न भवतीति वा। दो अवखण्डने ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
प्रथमस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

---

1. A,B add तत्

**रा० कृ०** देवदत्तां भगवद्दत्तां स्वरब्रह्मविभूषितां स्वराः निषादादयः त एव ब्रह्म तेन विभूषिता मिमां वीणां सप्ततन्त्रीं मूर्च्छयित्वा स्वराणां मूर्छनाः प्रापय्य हरिकथां विष्णुकथां गायमानोऽहं चरामि ॥ ३३ ॥

**स्ववीर्याणि स्वस्य यशांसि प्रगायतः** प्रकर्षेण गायतः **मे मम चेतसि मनसि प्रियश्रवाः** भक्तप्रीतिकरकीर्तिमान् **तीर्थपादः** पादे गङ्गादितीर्थवान् भगवान् इति शेषः। आहूत इव शीघ्रं दर्शनं याति दृष्टो भवतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

मुहुः पुनःपुनः मात्रास्पर्शेच्छया विषयभोगेच्छया आतुरचित्तानां तदेकानुरक्तमनसां, जनानामिति शेषः। एतत् हरिचर्यानुवर्णनं हरिलीलानिरन्तरवर्णनं भवसिन्धुप्लवः संसारसागरतरणे पोतः इति दृष्टः ज्ञातः॥ ३५॥

मुहुः कामलोभहतः कामलोभाभ्यां मलिनीकृतः आत्मा अन्तःकरणं, यद्वत् यथा मुकुन्दसेवया शाम्यति शान्तिं प्राप्नोति, तथा यमादिभिः यमनियमादिभिः योगपथैः योगमार्गैः अद्धा साकल्येन न शाम्यति॥ ३६॥

हे अनघ! भवतः तव आत्मतोषणं मनस्सन्तोषकारणं मे मम जन्मकर्मरहस्यं जन्मकर्मणोः रहस्यं प्रति यदहं त्वया पृष्टः, तदिदं सर्वम् आख्यातं तुभ्यं कथितमित्यर्थः।

अत्र महद्भूतं ओंकारस्वरूपं ब्रह्मैव। तस्य निश्श्वसितं ऋग्वेद इति वेदे कथ्यते। यथा — "एतस्य वाऽक्षरस्य महतो भूतस्य निश्श्वसितमेतदृग्वेदः" (मैत्रा. उ. 6-32) इति, शिरसा अवनाममकरवम् इत्यनेन समीकृतजयापजयः साधनमार्गः सूच्यते। अयमेव योगः। उक्तं च भगवता — "योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय! सिद्ध्यसिद्ध्योस्समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥" (भ. गी. 2-47)। गतत्रपः इत्यनेन प्रयत्नवैफल्यजनितलज्जा गलितेति ज्ञायते। अनन्तस्य नामानीत्यनेन सृष्टिनामान्येव भगवतो नामानीत्युक्तं भवति। अन्तर्यामिणो भगवतः आनन्दमयत्वज्ञानेन स्वस्यापि तुष्टमनस्त्वं, ततश्च शुद्धसत्त्वमयात्मनः कृष्णमयबुद्धेः तस्य इन्द्रियविषयेष्वपि असङ्गः।

भागवतदेहश्च शुद्धसत्त्वमयः भगवदनुभवपरिपूर्णः अभौतिकः सर्वान्तर्यामी च। सत्यवसरे सः भौतिकोऽपि भवति। "न्यपतत् पाञ्चभौतिकः" (भाग. 1-6-29) इत्यनेन तस्य अनायासमरणं, निरन्तरभगवत्स्मृतिप्रवाहश्च सूच्येते। एकार्णवस्य जलेन प्राणिप्रज्ञासमाहारः प्रलयकालोपसंहृतः गम्यते। तादृशनरसम्बन्धिज्ञानस्य अयनत्वादेव भगवतो नारायणसंज्ञा अन्वर्था।

"अनुप्राणं विभोरन्तरहं प्राविशम्" इत्यत्र निश्श्वासः ब्रह्माविर्भावस्य, उच्छ्वासः नारायणलीनतायाश्च सङ्केतौ। तेन ब्रह्मणा सह नारदो लीनोऽभूदिति व्यज्यते। पुनरपि स नारदः अन्तर्यामिशीलभागवतदेहधारी व्यक्तसृष्टौ प्रतिव्यक्ति प्रज्ञारूपेण अन्तर्वर्तते। ब्रह्मणः प्राणेभ्यो जाताः सप्तर्षयः, जीवकण्ठनिर्गतानां सप्तस्वराणां, तदुत्पत्तिकारणान्तर्यामिप्रज्ञानां च सङ्केताः। तथा च हरिनामगानपरवशानाम् अन्तः नारदप्रज्ञया सम्बन्धः। नारदवाद्यमानवीणया जीवस्य कशेरुका (मेरुदण्डः) सूच्यते। पृष्ठास्थिसमाश्रितनाडीमण्डलजायमानाः शब्दाः सङ्कल्पतया सम्भवन्ति। उच्छ्वसनिश्श्वाससाहाय्येन कण्ठनादः उदेति। एतद्विषयसामग्रीपर्यालोचनया प्रणवोपदेशवेलायाम् उपदेशकोपदिष्टयोः अन्तः नारदो वर्तते। सर्वप्राणिषु विष्णुं पश्यताम् अन्तः नारदप्रज्ञा जागरूका वर्तते।

अस्कन्दितव्रतं च ब्रह्मचर्यमेव। तच्च ब्रह्मप्रज्ञायाः सङ्केतः। भगवतो दयया नारदः प्राणिषु ब्रह्मप्रज्ञाकारेणान्तः चरति। अन्तर्बहिश्च पर्यटति इत्यनेन अन्तस्स्फूर्त्या मनसि, भौतिकस्वरूपसन्दर्शनेन बहिश्च प्राणिनां

हरिपदं दर्शयति। त्रिषु लोकेषु महाविष्णोः कृपया अयमव्याहतगतिः इत्यनेन साधकस्य आत्मनः मनसः भौतिकदेहस्य च गोचरीभवतीति ज्ञायते। एवं नारदवीणावादनेन प्राणिनामन्तः ब्रह्मप्रज्ञाप्रबोधनं गम्यते ॥ ३७ ॥

भगवान् नारदः मुनिः एवं पूर्वोक्तप्रकारेण वासवीसुतं कृष्णद्वैपायनं सम्भाष्य कथयित्वा, आमन्त्र्य गच्छामीति आपृच्छ्य वीणां रणयन् वादयन् यादृच्छिकः स्वप्रयोजनसङ्कल्पशून्यस्सन् ययौ अगच्छत् ॥ ३८ ॥

यः नारदः शार्ङ्गधन्वनः भगवतो हरेः कीर्तिं गायन् माद्यन् स्वयं हृष्यन् आतुरं विषयव्याकुलमिदं जगत् तन्त्रा रमयति सुखयति। अहो इत्याश्चर्यम्। सोऽयं देवर्षिः नारदः धन्यः कृतकृत्यः ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां व्याख्यायां
षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

# सप्तमोऽध्यायः

## शौनक उवाच

निर्गते नारदे सूत! भगवान् बादरायणः ।
श्रुतवांस्तदभिप्रेतं ततः किमकरोद्विभुः ॥ १ ॥

## सूत उवाच

ब्रह्मनद्या[1] सरस्वत्या[2]माश्रमः पश्चिमे तटे ।
शम्याप्रास इति प्रोक्त[3] ऋषीणां सत्त्रवर्धनः ॥ २ ॥

तस्मिन् स्व[4] आश्रमे व्यासो[5] बदरीषण्ड[6]मण्डिते ।
आसीनोऽप उपस्पृश्य प्रणिदध्यौ मनः स्वयम्[7] ॥ ३ ॥

भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले ।
अपश्यत् पुरुषं पूर्व[8] मायां च तदपाश्रयाम्[10] ॥ ४ ॥

यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् ।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते ॥ ५ ॥

अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे ।
लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम् ॥ ६ ॥

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे ।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः[11] शोकमोहभयापहा ॥ ७ ॥

स संहितां भागवतीं कृत्वाऽनुक्रम्य चात्मजम् ।
शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिः[12] ॥ ८ ॥

---

1 H.K.M.V °द्याः 2 H.K.M.V °त्या आ° 3 H V ख्यात 4 H V मुख्याश्रमे 5 W रम्ये 6 K.M °ख° 7 K.M चिरम् 8 B.I.K.M °र्णं 9 B.H.N.V °दु° 10 I °यम् 11 K.M W °सां 12 H.K.M V.W °निम्

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अथ भागवतश्रोतुर्जन्म वक्तुं परीक्षितः ।
सुप्तबालवधाद्द्रौणेर्दण्डस्सप्तम उच्यते ॥

**निर्गत** इति। विभुः[1] समर्थः तस्य नारदस्य अभिप्रेतं तत्तात्पर्यविषयार्थं[2] श्रुतवान् सन् ॥ १ ॥

**ब्रह्मेति।** ब्रह्मनद्याः[3] ब्रह्मदैवत्यायाः[4] ब्राह्मणैः अन्विताया[5] वा। सत्त्वं कर्म वर्धयतीति तथा ॥ २ ॥

**तस्मिन्निति।** बदरीणां षण्डेन समूहेन मण्डिते आश्रमे[6] स्वीयाश्रमे मनः प्रणिदध्यौ स्थिरीचकार, "समाधिनाऽनुस्मर तद्विचेष्टितम्" (भाग. 1-5-13) इति नारदोपदिष्टं ध्यानं कृतवानित्यर्थः ॥ ३ ॥

**भक्तीति।** प्रणिहिते निश्चले। अत्र हेतुः — भक्तियोगेन अमले। पूर्वं प्रथमं पुरुषम् ईश्वरमपश्यत्। पूर्णमिति वा पाठः। तदुपाश्रयाम्[7] ईश्वराश्रयां तदधीनां मायां चापश्यत् ॥ ४ ॥

ईशमायाकृतां च जीवानां संसृतिमपश्यत् इत्याह — **यथेति**। यया[8] सम्मोहितः स्वरूपावरणेन विक्षिप्तः परोऽपि गुणत्रयाद्व्यतिरिक्तोऽपि[9] तत्कृतं त्रिगुणत्वाभिमानकृतम् अनर्थञ्च कर्तृत्वादिकं प्राप्नोति ॥ ५ ॥

**अनर्थेति।** अनर्थमुपशमयति यः अधोक्षजे साक्षाद्भक्तियोगः, तं च अपश्यत्। एतत्सर्वं स्वयं दृष्ट्वा एवमजानतो लोकस्यार्थे सात्वतसंहितां श्रीभागवताख्यां चक्रे। तदनेन श्लोकेन[10] भागवतार्थः संक्षेपतो दर्शितः। एतदुक्तं भवति — "विद्याशक्तिः[11] मायानियन्ता नित्याविर्भूतपरमानन्दस्वरूपः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरः तन्मायया सम्मोहितः तिरोभूतस्वरूपः तद्विपरीतधर्मा जीवः तस्य च ईश्वरभक्त्या लब्धज्ञानेन मोक्ष" इति। तदुक्तम् विष्णुस्वामिना "ह्लादिन्या संविदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः। स्वाविद्यासंवृतो जीवः स[12] क्लेशनिकराकरः ॥" तथा "स ईशो यद्वशे माया स जीवो यस्तयाऽर्दितः। स्वाविर्भूतपरानन्दः स्वाविर्भूतसुदुःखभूः ॥ स्वादृगुत्थविपर्यासभवभेदजभीशुचः। यन्मायया जुषन्नास्ते तमिमं नृहरिं नुमः" इत्यादि ॥ ६ ॥

संहितायाः अनर्थोपशामकत्वं दर्शयति — **यस्या** मिति। यस्यां वै श्रूयमाणायामेव, किं पुनश्श्रुतायामित्यर्थः ॥ ७ ॥

**स** इति। अनुक्रम्य शोधयित्वा ॥ ८ ॥

---

1 A.B omit विभुः समर्थः 2 A.B omit तत्तात्पर्यविषयार्थं 3 A.B °द्यां 4 A.B °यां 5 A आश्रितायां च; B अन्विताया वा 6 A.B omit आश्रमे स्वीयाश्रमे 7 B °द° 8 B adds मायया · 9 A.B °द्य° 10 A.B श्लोकत्रयेण 11 A B °शक्त्या 12 A.B संक्ले°

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

वासवीसुतम् आमन्त्र्य नारदो ययौ इत्युक्तम्, ततः उपरितनं व्यासवृत्तान्तं पृच्छति शौनकः — **निर्गत** इति। हे सूत! तदभिप्रेतं "किं वा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः" (भाग. 1-4-31) इत्युत्प्रेक्षितमेव। नारदस्याभिप्रेतं श्रुतवान् भगवान् मुनिः बादरायणो नारदे निर्गते सति ततः किमकरोत्? ॥ १ ॥

इत्थमापृष्ट आह सूतः — **ब्रह्मनद्या** मित्यादिभिः सप्तभिः। ब्रह्मनद्यां ब्रह्मर्षिभिः सेवितायां नद्यां सरस्वत्याख्यायां पश्चिमे तटे शम्याप्रास इति प्रसिद्धो व्यासस्याश्रमः, स[2] च ऋषीणां सत्त्ववर्धनः सत्त्वाणि वर्धन्तेऽस्मिन्निति तथा॥ २॥

तस्मिन् बदरीणां वृक्षाणां षण्डै[3]ः मण्डिते आश्रमे शम्याप्रासे व्यासः अप उपस्पृश्य आचम्य स्वयमात्मना मनः प्रणिदध्यौ, विषयान्तरेभ्यः प्रत्याहृत्य आत्मस्थमकरोदित्यर्थः॥ ३॥

भगवद्भक्तियोगेन अमले मनसि सम्यक् प्रणिहिते समाहिते पूर्वं तावत् पुरुषं परमपुरुषमपश्यत्। ततः तदपाश्रयां पुरुषापाश्रयां तदाधारां[4] तच्छरीरभूतामिति यावत्। मायामपश्यत्॥ ४॥

मायां विशिनष्टि[5] — **ययेति**। परोऽपि मायाख्यप्रकृतेः विलक्षणोऽपि जीवो यया मायया मोहितः त्रिगुणात्मकं गुणत्रयपरिणामात्मकं शरीरमेव आत्मानं मनुते मन्यते, तत्कृतं देहात्मभ्रमकृतम् अनर्थं च तापत्रयस्वरूपं प्रतिपद्यते॥ ५॥

किञ्च अनर्थोपशमं तापत्रयरूपानर्थोपशा[6]मकात्मकम् उपायम् अजानतो लोकस्य **अधोक्षजे** भक्तियोगमेवानर्थोपशमं विद्वान् सर्वज्ञानवान् व्यासः अपश्यदित्यनुषङ्गः। भगवद्भक्तियोगमेव अनर्थोपशमनोपायत्वेन निश्चितवानित्यर्थः। ततः सात्वतसंहितां श्रीभागवतरूपां संहितां चक्रे। संहिता सन्दर्भविशेषः, सात्वतशब्दस्तु पुरस्तादेव निरुक्तः॥ ६॥

तामेव विशिनष्टि — **यस्या** मिति। यस्यां सात्वतसंहितायां श्रूयमाणायां शोकाद्यपहर्तरि परमपुरुषे कृष्णे भक्तिरुत्पद्यते। तत्र मोहो नाम "अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या अस्त्वे स्वमिति या मतिः" (विष्णु. पु. 6-7-11) इत्युक्तविधः। शोको बाह्यक्लेशः, दुःखमान्तरः, भयमागामिदुःखदर्शनजं प्रतिकूलं ज्ञानम्। पूरुष इति **दीर्घश्छान्दसः**॥ ७॥

स व्यासोऽनुक्रम्य विवक्षितार्थान् क्रमविशेषेण विन्यस्य तदनुक्रमेणैव इमां संहितां कृत्वा सुतं शुकमध्यापयामास। प्रश्नावसरदानाय शुकं विशिनष्टि। निवृत्तिनिरतं सांसारिकधर्मवैमुख्यद्वारा केवलचित्तैकाग्र्यावहः[7] शमदमादिर्निवृत्तिः[1] तत्र निरतं मुनिं **परब्रह्मयाथात्म्यमननशीलम्**॥ ८॥

---

1 A.B omit ततः 2 A.B सर्वर्षी° 3 A.B ख° 4 A.B तदाधेयां 5 A.B °शमना° 6 A °वहश° 7 A.B °दिभिर्नि°

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भागवतकरणापदेशेन भगवति भक्तिः तन्माहात्म्यञ्च प्रतिपाद्यते अस्मिन्नध्याये — **निर्गत** इति। तदभिप्रेतं भागवतकारणं तस्य नारदस्य वा, ततो नारदनिर्गमनानन्तरम्॥ १॥

लकुटीकृतशम्यानामयज्ञीयतरुशाखापतितस्थले कृतशालान्तर्यज्ञकरणात् शम्याप्रास इति लोके रूढिः। सत्त्वं वर्धयति अधिकफलं करोतीति सत्त्ववर्धनः॥ २॥

ऋष्युपयोगयोग्यफलबदरीवृक्षसमूहालङ्कृते ऋषिसामान्याश्रमे अतीतानागतवर्तमानानन्तकोटि ब्रह्माण्डबाह्याभ्यन्तरवर्त्यपरिमितपदार्थान् अशेषविशेषैस्सह करतलामलकवत् सततमपरोक्षीकुर्वतश्चिरं मनः प्रणिधानमसुरजनमोहनायेति बोद्धव्यम् ॥ ३ ॥

ध्यानेन किं लब्धमभूदिति तत्राऽऽह — **भक्तीति**। भक्तियोगेन सम्यगेकाग्रतया हरौ प्रणिहिते सम्यक् स्थापिते अमले रागादिदोषरहिते सतां पुरुषाणां मनसि प्रत्यक्षीभवन्तं पूर्णं देशतः कालतो गुणतश्च अपरिच्छिन्नं पुरुषं परमात्मानं जीवानां संसारकरीं मायां बन्धकशक्तिञ्च तदपाश्रयां तस्य हरेः अधीनां अपश्यदित्येकान्वयः। प्रकृतिपुरुषौ विविक्ततया द्रष्टुं लोकानां मनसि सम्यक् प्रणिहिते सति शक्यौ इत्यपश्यदिति वा। एतदभिप्रायेण तदपाश्रयामित्युक्तम्। ततोऽपगत्य आश्रित्य स्थितां "स्थातुमीक्षापथेऽमुया" (भाग. 2-5-13) इति वक्ष्यति ॥ ४ ॥

अनिर्वाच्या अविद्या माया नाम। अतः कथं बन्धकशक्तिः इयमित्याशङ्क्य अनिर्वाच्यायाः अर्थक्रियायोगात् अस्याः तद्दर्शनादत्र बन्धकशक्तिरेवोच्यत इत्यभिप्रेत्याऽऽह — **ययेति**। परोऽपि त्रिगुणात्मकप्रकृतेरन्योऽपि यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकं त्रिगुणोपादानकदेहरूपं मनुते, तत्कृतं मायाकृतं तादृशमानकृतं वा जननमरणाद्यनर्थमहं कर्तेत्यनर्थं चाभिपद्यत इत्यन्वयः। तस्मादेवंविधमायाबन्धनिवर्तकमपरोक्षज्ञानद्वारा भक्तियोगमद्राक्षीदिति भावः ॥ ५ ॥

ततः किमकरोदिति तत्राऽऽह — **अनर्थेति**। तन्निवृत्तिसाधनमाहेति वा अनर्थेति। साक्षादाहेति इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायमजानतो लोकस्य सात्त्विकप्रकृतेः बन्धकशक्तिनिमित्तमनर्थमुपशमयति नाशयति इत्यनर्थोपशममधोक्षजे भक्तियोगं विद्वान् महत्त्वज्ञानपूर्वकप्रेमलक्षणभक्तियोगप्रदर्शनाय सात्वतसंहितां चक्रे इत्येकान्वयः ॥ ६ ॥

अनया कथं भक्तिरुत्पद्यत इति तत्राऽऽह — **यस्या** मिति ॥ ७ ॥

अनुक्रम्य संशोध्य न त्वद्यबुद्ध्या। निवृत्तिनिरतमित्यस्य फलाभिसन्धिरहितमित्यर्थः ॥ ८ ॥

---

1. K ऋषिभक्षणयो°

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

हे सूत! नारदे निर्गते स्वाश्रमात् अन्यत्र गते सति विभुः समर्थः भगवान् बादरायणः तदभिप्रेतं तस्य नारदस्य अभीप्सितं भगवल्लीलावर्णनरूपं श्रुतवान् सन् ततः तदनन्तरं किमकरोत्? ॥ १ ॥

ब्रह्मनद्याः ब्रह्मदैवत्यायाः सरस्वत्याः नद्याः पश्चिमे तटे तीरे ऋषीणां सत्त्ववर्धनः शम्याप्रास इति ख्यातः आश्रमोऽस्तीति शेषः ॥ २ ॥

बदरीषण्डमण्डिते बदरीणां षण्डेन समूहेन मण्डिते अलङ्कृते तस्मिन् स्वीयाश्रमे आसीनो व्यासः अप उपस्पृश्य स्वयं परप्रेरणं विनैव मनः प्रणिदध्यौ स्थिरीचकार ॥ ३ ॥

भक्तियोगेन अमले निर्मले विषयवासनारहिते इत्यर्थः। अत एव सम्यक् प्रणिहिते निश्चले मनसि पूर्वं प्रथमं पुरुषम् ईश्वरमपश्यत्। अनन्तरं यया मायया सम्मोहितः स्वरूपावरणेन विक्षिप्तः जीवः परोऽपि गुणत्रयात् व्यतिरिक्तोऽपि आत्मानं त्रिगुणात्मकं गुणत्रयकार्यभूतं देहेन्द्रियादिरूपं मनुते। तत्कृतं त्रिगुणत्वाभिमानकृतम् अनर्थं च कर्तृत्वादिकं चाभिपद्यते प्राप्नोति। तां तादृशीं तदुपाश्रयाम् ईश्वराधीनां मायां चापश्यत्।

शरीरेन्द्रियाणाम् उत्पत्तिविकासवयःपरिणामभावनाशतत्त्वादयः सर्वप्राणिसाधारणाः न स्वायत्ताः। न वा स्वयं जीवः तेषां कर्ता। नापि स्वाश्रयभूतः आकाशस्स्वीयः। एवं सः साकल्येन पराधीनः। सर्वमपि सर्वान्तर्याम्यधीनमेव स्वकर्तव्यकर्माण्यपि ईश्वराधीनमायाजन्यानि। स्वभुक्ताहारः शरीराङ्गेषु अभिव्याप्य शक्तिं प्रयच्छति। सा शक्तिः कार्यान्ते स्वशरीरादनुपदं बहिरागत्य, स्वनिवासमाकाशमाश्रयति। एवं स्थिते चाऽऽत्मना क्रियमाणानां कर्मणां तत्फलानां च कर्तृत्वभोक्तृत्वादेः आत्मन्यारोपणमहङ्कारविमूढत्वमेव।

लोके हि कस्यचिद्धनिनः विपणौ नियुक्तः, तत्परोक्षे क्रयविक्रयादिव्यवहारनिमित्तभूतो जनः न स्वतन्त्रः। यदि स्वातन्त्र्यमवलम्ब्य तद्व्यवहारं स्वायत्तीकरोति, तर्हि सः बध्यते बाध्यते च। एवम् आत्मजीवनाश्रयभूता सृष्टिः सर्वान्तर्यामिसम्बन्धिनी। अन्तर्यामिणश्चादर्शनात् कर्तृत्वभोक्तृत्वादेः आत्मन्यारोपणं बन्धदुःखयोः कारणं भवति ॥ ४, ५ ॥

अनर्थोपशमं पूर्वोक्तानर्थनिवर्तकम् अधोक्षजे भगवति साक्षात् भक्तियोगम् अपश्यदिति पूर्वेणान्वयः। एतत्सर्वं स्वयं दृष्ट्वा विद्वान् व्यासः एवमजानतो लोकस्यार्थे सात्वतसंहितां श्रीमद्भागवतं चक्रे ॥ ६ ॥

यस्यां भागवतसंहितायां श्रूयमाणायां सत्यामेव पुंसः शोकमोहभयापहा भक्तिः परमपूरुषे कृष्णे उत्पद्यते। एतादृशीं भागवतीं संहितां स व्यासः कृत्वा अनुक्रम्य आनुपूर्व्येण संशोध्य निवृत्तिनिरतं मुनिम् आत्मजं शुकम् अध्यापयामास ॥ ७, ८ ॥

**शौनक उवाच**

**स वै निवृत्तिनिरतस्सर्वत्रोपेक्षको मुनिः।**
**कस्य वा बृहतीमेतामात्मारामस्समभ्यसत् ॥ ९ ॥**

**सूत उवाच**

**आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।**
**कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥ १० ॥**

**हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः ।**
**अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः[1] ॥ ११ ॥**

**परीक्षितोऽथ राजर्षेर्जन्मकर्मविलापनम्[2] ।**
**संस्थां[3] च पाण्डुपुत्राणां वक्ष्ये कृष्णकथोदयम्[4] ॥ १२ ॥**

---

1. K,M निर्ग्रन्था 2. K,M °यम् 3. H,N,V °य° 4. H,V,W संस्थानं पा° 5. K,M °याम्; $W_F$ °यात्

**श्रीध्व०** स इति। कस्य वा हेतोः बृहतीं विततताम् ॥ ९ ॥

**आत्मेति।** निर्ग्रन्थाः ग्रन्थेभ्यो निर्गताः। तदुक्तम् गीतासु — "यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥" (भ. गी. 2-52) इति। यद्वा ग्रन्थिरेव ग्रन्थः, निवृत्तः[1] क्रोधाहङ्कारररूपो ग्रन्थिः येषां ते निवृत्तहृदयग्रन्थय इत्यर्थः। ननु मुक्तानां किं भक्त्या इत्यादिसर्वाक्षेपपरिहारार्थमाह इत्थंभूतगुण इति॥ १० ॥

ननु भक्तिं कुर्वन्तु नाम, एतच्छास्त्राभ्यासे शुकस्य किं कारणमित्यत आह — **हरे**रिति। अध्यगात् अधीतवान्। विष्णुजनाः प्रियाः यस्येत्यर्थः। एतद्व्याख्यानादिप्रसङ्गेन[2] तत्संङ्गाभिकाम[3] इति भावः। एतेन "तस्य पुत्रो महायोगी" (भाग. 1-4-4) इत्यादिना शुकस्य व्याख्याने प्रवृत्तिः कथमिति यत् पृष्टं तस्योत्तरमुक्तम् ॥ ११ ॥

यदन्यत्पृष्टं परीक्षितः प्रायोपवेशंश्रयणं "तस्य जन्म महाश्चर्यम्" (भाग. 1-4-9) इत्यादिना तस्योत्तरं वक्तुमाह — **परीक्षित** इति। विलयनं[4] मुक्तिं मृत्युं वा। संस्थां महाप्रस्थानं, श्रीकृष्णकथानामुदयो यथा भवति तथा॥ १२ ॥

---

1. A,H,V omit निवृत्तः ..... ग्रन्थिः येषां ते 2. A,B omit एतत् 3. A,B °त्सङ्गति° 4. A,B °शेन श्रवणं 5. B °प°

**वीर०** तत्र लब्धावसरः पृच्छति शौनकः — **स** इति। वा इत्यवधारणे। निवृत्तिनिरतः मुनिः, अत एव सर्वत्र श्रोतव्येषु अध्येतव्येषु चोपेक्षकः आदररहितः आत्मारामः परमात्मैकपरः एवंविधः। कस्य वा हेतोरिति शेषः। कस्माद्धेतोः बृहतीं विपुलामेतां संहिताम् अभ्यसत् अधीतवान्। कथमेकाग्रचित्तो भगवन्मननपरः तद्विरोधिनीमेतां बृहतीं संहितां अभ्यसदिति **प्रश्नाशयः**॥ ९ ॥

नेयं संहिता भगवन्मननविरोधिनी, प्रत्युत तदुपयुक्तभगवत्स्वरूपस्वरूपगुणविवरणरूपत्वात् अतोऽधीतवान् इत्युत्तरं वक्तुं तावद्भक्तेः[1] स्वरूपगुणविषयकतामाह सूतः — **आत्मारामा** इति। यद्यपि मुनयः आत्मारामाः परमात्मैकनिष्ठाः, अत एव निर्ग्रन्थाः लौकिकार्थप्रबन्धधारणरहिताः। अनिर्ग्राह्या इति पाठे अशिक्षणीया अपरप्रेष्याः[2]

निरपेक्षाः इत्यर्थः। तथाऽपि ते उरुक्रमे भगवति अहैतुकीम् अनन्यप्रयोजनां भक्तिं कुर्वन्ति। सविषयाया भक्तेः स्वरूपमाह — इत्थमिति। इत्थम्भूता एवंविधा गुणा यस्य तथाविधो हरिरिति, एवंविधां भक्तिं कुर्वन्तीत्यन्वयः। हरिः एवंविधगुणकैतत्स्वरूपक इति इत्थं समनुध्यानात्मकत्वात् भक्तेः तत्र भजनीयस्वरूपगुणविषयकज्ञानस्य अपेक्षितत्वात् तद्विवरणरूपामिमां संहितामधीतवानिति भावः ॥ १० ॥

तदेवाऽऽह — हरे रिति। हरेः गुणैः वेदान्तेभ्यः अवगतैः अनुभूयमानैः गुणैः आक्षिप्ता आकृष्टा मतिः यस्य स भगवान् बादरायणिः शुकः नित्यं विष्णुजनप्रियः अहर्दिवमाख्यानमध्यगात् अधीतवान्। हरेरिति हरेः गुणाक्षिप्तमतिः विष्णुजनप्रियः इतीदं विशेषणद्वयं हेतुगर्भम्। विष्णोर्जना भक्ताः प्रिया यस्येति बहुव्रीहिः। अयं भावः — यद्यपि अनुभाव्याः भगवद्गुणाः वेदान्तेभ्योऽवगताः, तथाऽपि "स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायवान् भवेत्" इत्युक्तरीत्या भगवद्गुणप्रतिपादकप्रबन्धसंशीलनस्य अवश्यापेक्षितत्वात् कार्त्स्न्येनास्य प्रबन्धस्य भगवद्गुणप्रतिपादकत्वात् सावतारतद्गुणकसविभूतिकसभक्ततद्गुणस्यैव भगवतोऽनुभाव्यत्वात् अवतारतद्गुणभक्ततद्गुणाना विशिष्य वेदान्तेभ्योऽनवगतानां वेदान्तावगतगुणेभ्योऽपि अतिशयितानाम् अस्मादाख्यानादवगमात् इदमध्यगादिति अनेन प्रबन्धप्रशस्त्यं सूचितम्॥ ११ ॥

तदेवं "कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयम्" (भाग. 1-4-3) इत्यादिप्रश्नानामुत्तरमुक्तम्। अथ "तस्य पुत्रो महायोगी" (भाग. 1-4-4) इत्यादिप्रश्नस्योत्तरं विवक्षिष्यंस्तावत् "अभिमन्युसुतं सूत! प्राहुर्भागवतोत्तमम्। तस्य जन्म महाश्चर्यं कर्माणि च गृणीहि नः॥" (भाग. 1-4-9) इत्यादि प्रश्नानामुत्तरं सोपोद्घातं वक्तुं प्रतिजानीते **परीक्षित इति**। परीक्षितो राजर्षेः जन्म कर्माणि विलापनं विलयं च तेषां समाहारः, तदुपोद्घातरूपपाण्डुपुत्राणां संस्थानं स्थितिं वृत्तान्तमिति यावत्। तदेतत्सर्वं कृष्णस्य भगवतः कथायाः उदयः अनुप्रसक्तिः यस्मिन् तद्वक्ष्ये। संस्थां च कृष्णकथोदयामिति च पाठान्तरम्। तदा कृष्णकथोदयामिति संस्थाविशेषणं, संस्थाशब्दस्य यथोक्तएवार्थः। तत्र पाण्डुपुत्राणां संस्थानं परीक्षिज्जन्मकर्माद्युपोद्घातरूपां परीक्षिज्जन्मकर्मादिकं तु इतःप्रभृति प्रधानप्रतिपाद्यम्। तदुभयानुप्रसक्ता कृष्णकथा। सर्वोऽयं स्कन्धः कृत्स्नप्रबन्धोपोद्घातरूप इति विवेकः ॥ १२ ॥

---

1 A,B omit रूप 2 A,B तद्भक्तेः 3 A,B °क्षाः 4 A,B omit निरपेक्षाः 5. A,B °गुणकचित्स्वरूप 6. A,B omit इत्थं 7 A,B महदिदमा° 8 A,B omit अनुभाव्याः *A's version सभक्ति तद्गुणभगवतोऽस्यैवानुभाव्यत्वादवतारतद्गुणानां विशिष्य वेदान्तेभ्योऽवगतानां is replaced by W's version which is more correct 9 A,B °य° 10 A,B संस्था 11 A,B °पं 12 A,B कृष्ण°

**विज**° अविद्वानिव शौनकश्चोदयति — **स वा** इति। आत्मनि रमते इति आत्मारामो मुनिः, सर्वज्ञो मौनी वा। अत एव सर्वत्र शिष्यसङ्ग्रहणादौ उपेक्षकोदासीनबुद्धिः निवृत्तिनिरतः शुकः कस्य फलस्यार्थे बृहतीं महतीमेतां समध्यसद्वा इत्यन्वयः। चतुर्षु पुरुषार्थेषु कस्य पुरुषार्थस्येति विकल्पार्थो वाशब्दः। 'शुक-गता' विति धातोः परब्रह्मणि अव्याहतबुद्धिगतित्वात् शुकः ॥ ९ ॥

परिहरतीत्याह — **आत्मारामा** इति। चशब्दोऽप्यर्थे। आत्मारामाः स्वरूपसुख एव रममाणा अपि अत एव निर्ग्रन्थाः निरुपादेयाः मुनयः उत्तमाधिकारिणः उरुक्रमे उरवः क्रमाः पादविक्षेपाः यस्य स तथा, तस्मिन्नहैतुकीं प्रयोजनविधुराम् आनन्दरूपां भक्तिं कुर्वन्ति, *किं पुनः बहुजन्मस्वपरोक्षितपरतत्त्वाः ये भक्त्या-दिसाधनातिशयेन मुक्तौ आनन्दातिशयमाकाङ्क्षमाणाः शुकादयः उरुक्रमे भक्तिं कुर्वन्तीति किं वर्णनीयमित्येकान्वयः। इत्थम्भूतगुणो निरपेक्षमुक्तमनोवशीकरणक्षमः, किमुत अमुक्तमनोवशीकरणक्षमगुण इति वाच्यमिति भावः॥ १०॥

अतः शुकेन भागवताभ्यसनं कृतमित्याह — **हरे**रिति। हरेरतिशयज्ञानानन्दादिगुणैः आक्षिप्ता आकृष्टा मतिर्यस्य स तथोक्तः बादरायणसुतो भगवान् नित्यं भागवतजनहृदयङ्गमं महदाख्यानम्। आख्यायते भगवन्महिमा अनेनेत्याख्यानं भागवतपुराणमध्यगात् अन्यांश्चाख्यापयामास च इत्येकान्वयः॥ ११॥

कस्मिन् युगे इत्यादिशौनकप्रश्नं परिहृत्य तस्य जन्मेति प्रश्नं परिहरतीत्याह — **परीक्षित** इति। अथ परीक्षितो राजर्षेः जन्म कर्म विलापनं मरणं वक्ष्ये। तदर्थे प्रथमतः पाण्डुपुत्राणां संस्थां स्वर्गारोहणं युद्धादुपरितनमहाभिषेकादिमहाप्रस्थानान्तां संस्थां स्थितिं च वक्ष्ये। कीदृशीं संस्थाम्? कृष्णकथाया उदयो यस्यां सा तथोक्ता, ताम्॥ १२॥

---

* Here किंपुनः ..... उरुक्रमे is added since this line is found in B,K and M and forms part of the original commentary 1 A,B omit परिहृत्य .... प्रश्नं

**रा॰ कृ॰** निवृत्तिनिरतः सर्वत्रोपेक्षकः आत्मारामः स वै मुनिः शुकः कस्य वा हेतोः बृहतीं विपुलामेतां भागवतसंहिताम् अभ्यसत् अधीतवान्? नित्यमुक्तस्य शुकयोगिनः प्रयोजनाभावात् भागवताध्ययने कारणं किमिति प्रश्नार्थः॥ ९॥

आत्मारामाः परमात्मन्यनुरक्ताः मुनयो मननशीलाः निर्ग्रन्था अपि निवृत्तहृदयग्रन्थयोऽपि उरुक्रमे भगवति अहैतुकीं निष्कारणां भक्तिं कुर्वन्ति। कुत इति चेत्? हरिः इत्थम्भूतगुणो विषयविरक्तजनवशीकरणनिपुणगुण इत्यर्थः।

मोक्षकाङ्क्षया भागवताध्येतॄणां न तत्प्राप्तिः। काङ्क्षयैव हि नारदो विष्णुसान्निध्यं न प्रापत् पूर्वजन्मनि। तां विना विष्णुं ध्यायतां मनः तस्मिन् लीयते स एष मनोलयो मोक्षः। विष्णुश्च निष्कामः स्वाभिलाषं विनैव स्वस्मान्निर्गतायां त्रिगुणात्मकसृष्टौ आत्मानं पश्यन् बाल इव क्रीडति।* एवमेव निष्कारणसाधनतत्परा एव भागवतोत्तमाः मुनयः इति पूर्वोक्तप्रश्नस्य समाधानम्॥ १०॥

भगवान् नित्यं विष्णुजनप्रियः विष्णुजनाः प्रियाः यस्य सः। बादरायणिः व्यासपुत्रः शुकः हरेः गुणाक्षिप्तमतिः गुणैः आक्षिप्ता आकृष्टा मतिः यस्य सः तथाभूतस्सन्, महद्विपुलमाख्यानं भागवताख्यानम् अध्यगात् अधीतवान्॥ ११॥

अथ राजर्षेः राजत्वे ऋषिवद्वर्तमानस्य परीक्षितः जन्म जननं कर्म कलिनिग्रहादिरूपं विलायनं मोक्षं कृष्णकथोदयं कृष्णकथाविर्भावसहितं पाण्डुपुत्राणां युधिष्ठिरादीनां संस्थानं महाप्रस्थानं वक्ष्ये कथयिष्यामि। अत्र राजर्षिपदेन द्रष्टा राजा गृह्यते तेन राजयोगीत्यर्थः निष्पद्यते। समदर्शनो योगी राजा भवितुमर्हतीति व्यज्यते॥ १२॥

यदा मृधे कौरवसृञ्जयानां वीरेष्वथो वीरगतिं गतेषु।
वृकोदराविद्धगदाभिमर्शभग्नोरुदण्डे धृतराष्ट्रपुत्रे॥ १३॥

भर्तुः प्रियं द्रौणिरिति स्म पश्यन् कृष्णासुतानां स्वपतां शिरांसि।
उपाहरद्विप्रियमेव तस्य जुगुप्सितं कर्म विगर्हयन्ति॥ १४॥

माता शिशूनां निधनं सुतानां निशम्य घोरं परितप्यमाना।
तदारुदद् बाष्पकलाकुलाक्षी तां सान्त्वयन्नाह किरीटमाली॥ १५॥

तदा शुचस्ते प्रमृजामि भद्रे! यद् ब्रह्मबन्धोः शिर आततायिनः।
गाण्डीवमुक्तैर्विशिखैरुपाहरे त्वाऽऽक्रम्य यत् स्नास्यसि दग्धपुत्रा॥ १६॥

इति प्रियां वल्गुविचित्रजल्पैः स सान्त्वयित्वाऽच्युतमित्रसूतः।
अन्वाद्रवद्दंशित उग्रधन्वा कपिध्वजो गुरुपुत्रं रथेन॥ १७॥

तमापतन्तं स विलक्ष्य दूरात् कुमारहोद्विग्नमना रथेन।
पराद्रवत् प्राणपरीप्सुरुर्व्यां यावदमं रुद्रभयाद्यथार्कः॥ १८॥

यदाऽशरणमात्मानमैक्षत श्रान्तवाजिनम्।
अस्त्रं ब्रह्मशिरो मेने आत्मत्राणं द्विजात्मजः॥ १९॥

अथोपस्पृश्य सलिलं सन्दधे तत् समाहितः।
अजानन्नुपसंहारं प्राणकृच्छ्र उपस्थिते॥ २०॥

---

1 B °ये 2. H,K,M,V अ° 3. M °मेतदस्य 4. N तज्जुगु° 5 K,M °त्ती 6 K,M य°; W तदा तु तद्बा° 7. W °यन् प्रा° 8 K,M तन्मा 9. H वि° 10. H,V °स्था° 11. K,M नेत्रजैर्जलैः 12 K,M अभ्यद्र° 13. K,M °लोक्य 14. K,M °द्यथाऽऽर्कः; H,N,V,W °द्यथा कः 15. H,V °मवैक्षत् 16. K.M,W °ह° 17. H,V ह्मा° 18. H,K,M,V °धेऽस्त्रं स° 19. I,K,M,W °न्नपि

**श्रीध०** तत्र परीक्षितः जन्म निरूपयिष्यन् आदौ तावत् गर्भस्थ एव अश्वत्थाम्नो ब्रह्मास्त्रात् कृष्णेन परिरक्षित इति वक्तुं कथां प्रस्तौति — यदे त्यादिभिस्त्रिभिः। यदा द्रौणिरश्वत्थामा कृष्णासुतानां द्रौपदीपुत्राणां शिरांसि उपाहरत् तदा तन्माता अरुदत्। तां च सान्त्वयन् किरीटमाली अर्जुन आहेति तृतीयेनान्वयः। किमिति? बालानां शिरांसि आनीतवानित्यपेक्षायामाह। मृधे युद्धे यद्यपि पाण्डवा अपि कौरवा एव। तथाऽपि सृञ्जयवंशजः धृष्टद्युम्नः

पाण्डवानां सेनापतिरिति सृञ्जयानामित्युक्तम्। वीरगतिं स्वर्गगतिम्। अथो अनन्तरम्। वृकोदरेण आविद्धायाः क्षिप्तायाः गदायाः अभिमर्शेन अभिघातेन भग्नौ ऊरुदण्डौ यस्य। तथाभूते धृतराष्ट्रपुत्रे दुर्योधने सति॥ १३॥

**भर्तु**रिति। भर्तुः दुर्योधनस्य। स्मेति वितर्के। इति एवं प्रियं स्यादिति पश्यन् तस्य तद्विप्रियमेवेति वाक्यान्तरम्। **विप्रियत्वे** हेतुः — जुगुप्सितमत्यन्तजुगुप्साविशिष्टमिति॥ १४॥

**मातेति**। घोरं दुस्सहं यथा भवति तथा बाष्पस्य कलाभिः बिन्दुभिः आकुले व्याप्ते अक्षिणी यस्याः सा। किरीटस्य एकत्वेऽपि तदग्राणां बाहुल्यात् किरीटमाली इत्युक्तम्॥ १५॥

**तदेति**। शुचः शोकाश्रूणि विमृजामि परिमार्जयामि यत् यदा ब्रह्मबन्धोः ब्राह्मणाधमस्य। आततायिन इति। "अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः" (वसि. स्मृ. 1-19) इति स्मरणादत्र आततायी शस्त्रपाणिः, तेन च पुत्रहन्तृत्वं लक्ष्यते। गाण्डीवात् धनुषः मुक्तैः विशिखैः बाणैः उपाहरे त्वत्समीपमानयामि। यत् शिर आक्रम्य आसनं विधाय दग्धपुत्रा स्थास्यसि। स्नास्यसीति पाठान्तरम्॥ १६॥

**इतीति**। वल्गवः रम्याः विचित्राः जल्पाः भाषणानि तैः सः अर्जुनः अच्युत एव मित्रं सूतश्च यस्य सः। दंशितो बद्धकवचः। उग्रं धनुः चापं यस्य। कपिः हनुमान् ध्वजे यस्य सः। गुरोः पुत्रं रथेन अन्वद्रवत् अन्वधावत्॥ १७॥

**तमिति**। आपतन्तम् आधावन्तं सः द्रौणिः। कुमारहा बालघाती। उद्विग्नमनाः कम्पितहृदयः। प्राणपरीप्सुः प्राणान् लब्धुमिच्छुः, न तु कीर्तिम्। **यावद्गमं यावद्गन्तुं** शक्यं तावत्। उर्व्यां पराद्रवत् पलायितः। को ब्रह्मा मृगो भूत्वा सुतां यब्धुमुद्यतस्सन् रुद्रस्य भयात् यथा पलायते स्म। अर्क इति पाठे वामनपुराणकथा सूचिता। तथाहि — विद्युन्माली नाम कश्चिद्राक्षसोऽभूत् माहेश्वरः। तस्मै रुद्रेण सौवर्णं विमानं दत्तम्। ततोऽसौ अर्कस्य पृष्ठतो भ्राम्यन् विमानदीप्त्या रात्रिं विलोपितवान्। ततोऽर्केण निजतेजोभिः द्रावयित्वा तद्विमानं पातितम्। तच्छ्रुत्वा कुपिते रुद्रे भयादर्कः पराद्रवत्। ततो रुद्रस्य क्रूरदृष्ट्या दन्दह्यमानः पतन् वाराणस्यां पतितो लोलार्कनाम्ना भुवि विख्यातः जात इति॥ १८॥

**यदेति**। अशरणं रक्षकरहितम्। ननु पलायनमेव रक्षकमस्ति? न, तस्यापि कुण्ठितत्वात् इत्याह — श्रान्ता वाजिनो यस्य तम्। ब्रह्मशिरोऽस्त्रं ब्रह्मास्त्रम्। द्विजात्मज इति अदीर्घदर्शितामाह॥ १९॥

**अथेति**। तत् ब्रह्मास्त्रम्। समाहितः कृतध्यानः। उपसंहारमजानतोऽपि सन्धाने हेतुः — प्राणकृच्छ्र इति॥ २०॥

---

1. A,H,V omit परिरक्षित 2. A,B °त्यादिना। य° 3 V अपा° 4 B उपाहृतवा° 5 A,B,V स्वर्गम् 6. A,B °मिति॥ १४॥ 7 A,B omit तथा 8. A,H,V omit व्याप्ते 9. A omits सा 10 A बहुत्वात् 11 A,B प्रमृ° 12 B °हा 13 B दारापहारी च 14 A,B सती॥ १६॥ 15. A,B omit सः 16. A,B °न्वा° 17 A,B °यत। 18 H यभितु°, B जृम्भितु° 19 A,B omit ऽभूत् 20 B भ्रमन् 21. A,B omit भुवि 22. A,B omit जात

**वीर**० तावत्परीक्षितो जन्मकर्मादिकं वक्तुं पाण्डुपुत्राणां संस्थानमाह — **यदे** त्यादिना यावत्पञ्चदशाध्यायसमाप्ति। तत्र परीक्षितो जन्म उपोद्घात एवान्तर्भाव्य उच्यते, कर्मादिकं तु ततः उपरितनग्रन्थेनेति विवेकः। यदेत्यस्य "तदा" इति तृतीयेनान्वयः। मृधे युद्धे कौरवाणां सृञ्जयानां च वीरेषु वीरगतिं वीराणां गतिं स्वर्गतिं गतेषु प्राप्तेषु सत्सु। धृतराष्ट्रपुत्रे दुर्योधने वृकोदरेण भीमेनापविद्धायाः प्रयुक्ताया गदाया अभिमर्शेन घातेन भग्नौ ऊरू एव दण्डौ यस्य तथाभूते सति॥ १३॥

द्रौणिः अश्वत्थामा स्वचिकीर्षितं भर्तुः धृतराष्ट्रस्य अप्रियमपि प्रियमिति पश्यन् मन्यमानः स्वपतां शयानानां कृष्णायाः द्रौपद्याः सुतानां शिरांसि अपाहरत् छित्त्वा आनीतवान्। इदं कर्म तस्य धृतराष्ट्रस्य विप्रियमेव। यद्वा, तस्य अश्वत्थाम्नः कर्म विप्रियमेव सर्वलोकस्यापीति शेषः। अत एव जुगुप्सितं विगर्हयन्ते अधुनाऽपि विनिन्दन्ति॥ १४॥

यदैवं तदा माता द्रौपदी शिशूनां सुतानां घोरं निधनं मरणं निशम्य दृष्ट्वा परितप्यमाना बाष्पैः आकुले अक्षिणी यस्याः तथाभूता बभूवेति शेषः। तदा तां द्रौपदीं सान्त्वयन् उपच्छन्दयन् किरीटमाली किरीटानां माला सेवमानानां अस्यास्तीति किरीटमाली अर्जुनः। व्रीह्यादेः आकृतिगणत्वात् "व्रीह्यादिभ्यश्च" (अष्टा. 5-2-116) इति मत्वर्थीय इनिः। इदं वक्ष्यमाणमाह॥ १५॥

तदेवाऽऽह — हे भद्रे! ब्रह्मबन्धोः ब्राह्मणाधमस्य आततायिनः "अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः" (वसि. स्मृ. 1-19) इति शस्त्रपाणेराततायित्वस्मरणात् आततायिन इत्युक्तम्। शस्त्रपाणिर्नाम शस्त्रधारणेन निरपराधिप्राणिघातुकः। तस्य शिरो गाण्डीवेन मुक्तैः विशिखैः बाणैः, यद्यदा आहरेयं यद्यदा च आहृतं शिरः पादेन आक्रम्य दग्धपुत्रा त्वं स्रंस्यसि। तदा ते तव शुचः विमृजामि मार्जयामि॥ १६॥

इतीत्थं वल्गुभिः सुन्दरैः विचित्रैश्च जल्पैः भाषणैः प्रियां द्रौपदीं सान्त्वयित्वा, अच्युतः कृष्णो मित्रं सूतः सारथिश्च यस्य सारथीकृताच्युत इत्यर्थः। दंशितः कवचितः उग्रं धनुः गाण्डीवं यस्य। कपिध्वजः हनुमच्चिह्नितः ध्वजो यस्य सोऽर्जुनः। रथेन साधनेन गुरोः द्रोणाचार्यस्य पुत्रमश्वत्थामानम् अन्वाद्रवत् अन्वधावत्॥ १७॥

आपतन्तं तमर्जुनं दूरादेव विलक्ष्य प्रत्यभिज्ञाय कुमारहा कुमारघाती सोऽश्वत्थामा उद्विग्नं भीतं मनो यस्य तथाभूतः प्राणपरीप्सुः प्राणान् आप्तुमिच्छुः जिजीविषुरित्यर्थः। उर्व्यां भूमौ यावदमं यावदन्तुं शक्यं तावद्रथेन साधनेन पराद्रवत् पलायितवान्। को दक्षः यथा रुद्रभयात्, तद्वत्॥ १८॥

यदाऽशरणं रक्षकरहितं श्रान्तं वाजिनो यस्य तमात्मानमैक्षत पर्यालोचितवान्। तदा स द्विजात्मजो द्रौणिः। आत्मा त्रायते अनेनेत्यात्मत्राणं स्वरक्षणोपायं ब्रह्मशिरोनामकमस्त्रं मेनेऽबुध्यत। ब्रह्मशिरोऽस्त्रेण अर्जुनं हत्वा आत्मानं रक्षिष्यामि इत्यध्यवसितवानित्यर्थः॥ १९॥

अथ सलिलमुपस्पृश्य आचम्य समाहितः अस्त्रप्रयोगोपयुक्तमनःप्रणिधानयुक्तः संहारम् अस्त्रोपसंहारमजानन्नपि प्राणकृच्छ्रे प्राणापद्युपस्थितायां तद् ब्रह्मशिरोऽस्त्रं सन्दधे प्रयुयोज॥ २०॥

---

1. A,B omit स्वर्गतिं 2 A,B विनिन्दयन्ति 3. A,B °श° 4. A,B omit शेषः 5 A,B किरीटानां राजान्तरकिरीटानां आज्ञा एव माला अस्यास्तीति 6 A,B आ° 7. A,B वा हृतं 8. A,B स्था°

**विज०** अथो कथान्तरं निरूप्यते — **यदेति**। कौरवपाण्डवानां मृधे युद्धे भीष्मादिषु वीरेषु वीरगतिं स्वर्गं गतेषु धृतराष्ट्रपुत्रे दुर्योधने वृकोदरेण आविद्धायाः भ्रान्तायाः गदायाः अभिमर्शेन सम्यक्ताडनेन भग्नः ऊरुदण्डो यस्य स तथोक्तः, तस्मिन् सति दुर्योधनपातमारभ्य ॥ १३ ॥

भर्तुः स्वस्वामिनो दुर्योधनस्य मया प्रियं कार्यम् इति स्म पश्यन् निरूपयन् द्रौणिः यदा स्वपतां निद्रां कुर्वतां कृष्णासुतानां द्रौपदीपुत्राणां शिरांसि अपाहरत् तदां ॥ १४ ॥

सुतानां माता द्रौपदी शिशूनां सुतानां निधनं निशम्य घोरं यथा भवति तथा परितप्यमाना निधनं विश्रम्भणं वा तस्य द्रौणेः जुगुप्सितं निन्दितम् एतच्छिशुनिधनाख्यं कर्म निगर्हयन्ती अरुददित्येकान्वयः। कीदृशं कर्म ? द्रौणेरेव विप्रियं न तु दुर्योधनस्य, भारते पांस्वभिषेकादिना अप्रियत्वोक्तेः। इदानीं द्रौणिना शिश्वादिवधात् पूर्वदृष्टं स्वप्नमाह — तामिति। किरीटमाली अर्जुनः सान्त्वयन् दुःखं शमयन् तां द्रौपदीमाह ॥ १५ ॥

गाण्डीवनिस्सृतैः विशिखैः विविधशिखैः शरीरं खनित्वा विशन्तीति वा शरैराततायिनो हनिष्यन् मरिष्यामीति क्रूरक्रियाकारिणो ब्रह्मबन्धोः ब्राह्मणाधमस्य द्रौणेः शिर उपाहरे छेत्स्यामि। त्वं तच्छिरः पुरतः स्थितं पदा आक्रम्य पुत्रवधदुःखनिमित्तनयनजातैः जलैः स्नास्यसि स्नानं करिष्यसीति यस्मात् तस्मात् हे भद्रे! मा शुचः शोचनं मा कुरु। अश्रु पाणिना निरुजन्, हे भद्रे! मा रुद इत्यसान्त्वयत् इत्यन्वयः। शुचो नैवेति वा। "अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः" (वसि. स्मृ. 1-19) इति "आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्" (मनु. स्मृ. 8-350) इति स्मृतेः ॥ १६ ॥

स कपिध्वज इति। वल्गवो मनोहरा विचित्रा विविधाश्चर्यभूता जल्पा वाग्विशेषा ये ते तथोक्ताः। तैः प्रियां भार्यां सान्त्वयित्वा रथेन गुरुपुत्रमध्यद्रवत् इत्यन्वयः। अच्युत एव मित्रम् अनिमित्तबन्धुः सूतो यन्ता यस्य स तथोक्तः, दंशितः कवचितः, उग्रं भयङ्करं धनुः यस्य स तथोक्तः ॥ १७ ॥

कुमारहा कुमारान् हतवान् द्रौणिः उर्व्यां भूमौ यावद्गमं यावद्गन्तुं शक्यं तावद्रथेन पराद्रवदित्यन्वयः। किं कृत्वा ? आपतन्तं तमर्जुनं दूराद्विलोक्य उद्विग्नमनाः संभ्रान्तचेताः प्राणपरीप्सुः जीवनलाभेप्सुः। क इव ? रुद्रस्य भयात् आर्किः अर्कपुत्रः शनैश्चरः। पुरा यथा रुद्रस्य तृतीयनेत्रस्य तेजसो भयादार्किः परिधावति तथेति वायुपुराणान्तरप्रसिद्धमिदम्। "यथा क" इति केचित् पठन्ति। ब्रह्मपञ्चमशिरश्छेदनाय प्रवृत्तं रुद्रं दृष्ट्वा ब्रह्मा परिधावति इत्येतदसुरजनमोहायेति ज्ञातव्यम् ॥ १८ ॥

अशरणं पालकरहितम् आत्मत्राणम् आत्मानं त्रायत इति ब्रह्मशिरोनामास्त्रम् ॥ १९ ॥

ब्रह्मास्त्रप्रयोगे इतिकर्तव्यतामाह — **अथेति**। अथ ईक्षणानन्तरमुपस्पृश्य आचम्य संहारमुपसंहारम्। अपिशब्देन विद्याया असङ्कल्पं दर्शयति। तर्हि किमर्थं सन्दध इति तत्राऽऽह प्राणेति ॥ २० ॥

**रा॰ कृ॰** कौरवसृञ्जयानां कौरवाणां पाण्डवानां च मृधे युद्धे वीरेषु वीरगतिं स्वर्गं गतेषु। अथो अनन्तरम्। धृतराष्ट्रपुत्रे दुर्योधने वृकोदराविद्धगदाभिमर्शभग्नोरुदण्डे वृकोदरेण आविद्धायाः क्षिप्तायाः गदायाः अभिमर्शेन अभिघातेन भग्नौ ऊरुदण्डौ यस्य तथाभूते सति। भर्तुः ममेति शेषः। प्रभोः दुर्योधनस्य प्रियमिति स्म पश्यन् आलोचयन् द्रौणिः अश्वत्थामा स्वपतां कृष्णासुतानां द्रौपदीपुत्राणां शिरांसि यदा उपाहरत् छित्त्वा आनीतवान्। तस्य तत्कर्म सर्वस्यापि विप्रियमेव जातमिति शेषः। अपि च तत्कर्म जुगुप्सितमिति विगर्हयन्ति। अधुनाऽपि सर्वे जनाः निन्दन्ति। तदा माता द्रौपदी शिशूनां सुतानां घोरं निधनं मरणं निशम्य श्रुत्वा परितप्यमाना बाष्पकलाऽऽकुलाक्षी बाष्पकलाभिः अश्रुबिन्दुभिः आकुले अक्षिणी यस्याः सा तथाभूता सती अरुदत् रोदनं कृतवती। तां तादृशीं द्रौपदीं सान्त्वयन् किरीटमाली अर्जुनः आह॥ १३, १४, १५॥

हे भद्रे! यत् यदा गाण्डीवमुक्तैः विशिखैः बाणैः ब्रह्मबन्धोः ब्राह्मणाधमस्य आततायिनः शस्त्रपाणेः अश्वत्थाम्नः इति शेषः। शिरः त्वा त्वां प्रति उपाहरे त्वत्समीपमानयामि; यत् शिरश्च आक्रम्य दग्धपुत्रा मृतसुता स्थास्यसि त्वमिति शेषः। तदा ते तव शुचः शोकाश्रूणि विमृजामि परिमार्जयामि॥ १६॥

सः अर्जुनः इत्येवं वल्गुविचित्रजल्पैः मनोहरैः विचित्रैश्च जल्पैः भाषणैः प्रियां द्रौपदीं सान्त्वयित्वा अच्युतमित्रसूतः अच्युत एव मित्रं सूतश्च यस्य तथाभूतः। दंशितो बद्धकवचः उग्रधन्वा कपिध्वजस्सन् रथेन गुरुपुत्रमश्वत्थामानम् अन्वाद्रवत् अन्वधावत्। अत्र पार्थसारथेः मित्रत्वकथनेन तत्कृतं सारथ्यं भारतप्रधनकालिकात् दुष्टशिक्षणशिष्टरक्षणधर्मसंस्थापनप्रयोजनकात् सारथ्यात् भिन्नमिति ज्ञेयम्॥ १७॥

आपतन्तम् आधावन्तं तमर्जुनं दूराद्विलक्ष्य प्रत्यभिज्ञाय कुमारहा बालघाती सः अश्वत्थामा उद्विग्नमनाः कम्पितमानसः प्राणपरीप्सुः प्राणान् प्राप्तुमिच्छुः रुद्रभयात् कः यथा ब्रह्मेव यावद्गमं यावद्गन्तुं शक्यं तावत्, उर्व्यां पराद्रवत् पलायितवान्॥ १८॥

द्विजात्मजः द्रौणिः यदा श्रान्तवाजिनमात्मानमशरणं रक्षकरहितमैक्षत पर्यालोचितवान् तदेति शेषः। आत्मत्राणम् आत्मरक्षकं ब्रह्मशिरः तन्नामकमस्त्रं मेनेऽबुध्यत॥ १९॥

अथ अनन्तरं प्राणकृच्छ्रे प्राणानां कष्टे उपस्थिते प्राप्ते सति उपसंहारम् अस्त्रोपसंहारम् अजानन्नपि सलिलमुपस्पृश्य आचम्य समाहितः एकाग्रमनस्कः अस्त्रं ब्रह्मशिरोनामकास्त्रं सन्दधे प्रयुक्तवान्॥ २०॥

**ततः प्रादुष्कृतं तेजः प्रचण्डं सर्वतोदिशम्।**
**प्राणापदमभिप्रेक्ष्य विष्णुं जिष्णुरुवाच ह॥ २१॥**

**अर्जुन उवाच**

**कृष्ण! कृष्ण! महाभाग! भक्तानामभयङ्कर!।**
**त्वमेको दह्यमानानामपवर्गोऽसि संसृतेः॥ २२॥**

त्वमाद्यः पुरुषस्साक्षादीश्वरः प्रकृतेः परः ।
मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि ॥ २३ ॥

स एवं जीवलोकस्य मायामोहितचेतसः ।
विधत्से स्वेन वीर्येण श्रेयो धर्मादिलक्षणम् ॥ २४ ॥

तथाऽयं चावतारस्ते भुवो भारजिहीर्षया ।
स्वानां चानन्यभावानामनुध्यानाय चासकृत् ॥ २५ ॥

किमिदं स्वित्कुतो वेति देवदेव! न वेद्म्यहम् ।
सर्वतोमुखमायाति तेजः परमदारुणम् ॥ २६ ॥

श्रीभगवानुवाच

वेत्थेदं द्रोणपुत्रस्य ब्राह्मस्त्रं प्रदर्शितम् ।
नैवासौ वेद संहारं प्राणबाध उपस्थिते ॥ २७ ॥

नह्यस्यान्यतमं किञ्चिदस्त्रं प्रत्यवकर्शनम् ।
जह्यस्त्रतेज उन्नद्धमस्त्रज्ञो ह्यस्त्रतेजसा ॥ २८ ॥

---

1. K,M प्रापतत् तदभि° 2. B °त्य 3 B,H,I,V,W °बाहो 4 H,V केवले 5. K,M °ष 6 K,M विधित्सुः 7. K,M य° 8 B,K,M °कर्षणम्; W °मर्शकम् 9. H,V °ऽस्य°

**श्रीध० तत** इति। ततः अस्त्रात् सर्वतोदिशं प्रादुष्कृतं प्रकटीभूतं तेजः अभिप्रेक्ष्य समन्ताद्विलोक्य ततः प्राणापदं चाभिप्रेक्ष्य अर्जुनः कृष्णमुवाच ॥ २१ ॥

प्रस्तुतं विज्ञापयितुं प्रथमं स्तौति — **कृष्णेति** चतुर्भिः। संसृतेर्हेतोः दह्यमानानां तस्याः अपवर्गः अपवर्जयिता नाशक इत्यर्थः ॥ २२ ॥

**त्वमिति।** यतः त्वमीश्वरस्साक्षात्। कुतः ? यतः प्रकृतेः परः पुरुषः। तत्कुतः ? यतः आद्यः कारणम्। कारणत्वेत्वविकारितामाह। मायां व्युदस्य अभिभूय कैवल्यरूपे आत्मन्येव स्थितः ॥ २३ ॥

त्रिवर्गदाताऽपि त्वमेवेत्याह — **स** इति। यस्त्वं मायामभिभूय स्थितः स एव मायाऽभिभूतस्य जनस्य धर्मादिफलमुपासितस्सन् विधत्से स्वेन वीर्येण प्रभावेण ॥ २४ ॥

तथाच अनेनावतारेण तव साधुपक्षपातो लक्षित इत्याह — **तथेति**। किं भूभारभरणं मदिच्छामात्रेण न भवति ? तत्राऽऽह — स्वानां ज्ञातीनामनुध्यानाय च तथा अनन्यभावानाम् एकान्तभक्तानां च ॥ २५ ॥

एवं स्तुत्वा प्रस्तुतं विज्ञापयति — **किमिति**। किमात्मकमिदं कुतो वा आयातीति। स्विद्वितर्के ॥ २६ ॥

**वेत्थेति।** इदं द्रोणपुत्रस्य ब्राह्ममस्त्रं तेन च प्राणबाधे उपस्थिते प्राप्ते प्रदर्शितं केवलं न तु तत्प्रयोगे कुशल इत्यर्थः। यतोऽसौ उपसंहारं न वेद। एतच्च त्वं तु वेत्थ जानासि॥ २७॥

**नहीति।** प्रत्यवकर्शनं कृशत्वकरं निवर्तकमित्यर्थः। अतः तदस्त्रतेजः उन्नद्धमुत्कण्ठं विजृम्भितमित्यर्थः। ब्रह्मास्त्रतेजसैव जहि घातय। त्वत्प्रयुक्तं चास्त्रं तदुपसंहृत्य स्वयमुपशाम्येत्; यतः त्वमस्त्रज्ञोऽसि सर्वास्त्रप्रयोगकुशलोऽसि॥ २८॥

---

1 A,B °ऽप्य° 2 A,B °क्ष्य° 3 A,B °ह° 4 B ज्ञापयति 5 A,B omit विजृम्भितमित्यर्थः 6 A °त 7 A,B omit सर्वास्त्रप्रयोगकुशलोऽसि

**वीर०** ततः सर्वतोदिशं सर्वदिक्षु प्रादुष्कृतं प्रादुर्भूतं प्रचण्डमुग्रं तेजः प्राणापदमभिप्रेक्ष्य प्राणविपत्तिकारित्वेन उत्प्रेक्ष्य जिष्णुरर्जुनो विष्णुं श्रीकृष्णमुवाच॥ २१॥

तदेवाऽऽह — **कृष्ण! कृष्णेत्यादि** पञ्चभिः। प्रादुष्कृतं तेजो याथात्म्यात् तदुपसंहारानभिज्ञः तदुभयज्ञापनाय भगवन्तं कृष्णं प्रष्टुकामो नाहमपि वेद्मीति मा वोच इत्यभिप्रायेण तावत् भगवन्तं स्वाभाविकैः धर्मैः स्तौति चतुर्भिः। हे कृष्ण! कृष्ण! "कृषिर्भूवाचकश्शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः☆" इति निरुक्तकृष्णशब्दोपस्थापित-सर्वलोकसुखावहत्वरूपगुणानुसन्धानकृतसम्भ्रमात् द्विरुक्तिः। हे महाबाहो! "बाहू राजन्यः कृतः" (पु. सू. 1-5) इत्युक्तरीत्या राजन्यकुलप्रभवबाहो! भक्तानाम् अभयं करोतीति तथाभूतः, तस्य सम्बोधनम्। दह्यमानानां तापत्रयेण दह्यमानानां जनानां संसृतेरपवर्गः पारभूतः संसारात् विमोचक इति यावत्। त्वमेक एव कृत्स्नजगत्सुखावहस्य, तत्रापि भक्तानामभयङ्करस्य संसृतिरूपमहाभयक्षेपणक्षमस्य तव कियानेतदुपस्थितभयापनयने प्रयास इति भावः॥ २२॥

नन्वेवंविधस्त्वीश्वरो नाहमित्यत आह — **त्वमिति।** त्वमेव साक्षादीश्वरः यत्किञ्चिदीशितव्यवस्त्वपेक्षया सर्वोऽपि लोक ईश्वर एवेत्यनितरसाधारणैः धर्मैः अभिप्रेतमीश्वरमितरस्मात् व्यावर्तयति। आद्यः आदौ भवः निखिलजगत्कारणत्वेनावस्थितः पुरुषः सर्वान्तरात्मतया सर्वप्रशासितृत्वेन सर्वहृदयान्तर्वर्तीत्यर्थः। अथापि प्रकृतेः परः "भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च" (भ. गी. 7-4) "अपरेयमितस्त्वन्याम्" (भ. गी. 7-5) इत्यादिश्लोकद्वयोक्तप्रकृतिद्वयाद्विलक्षणः पुरुषशब्देन "पूस्संज्ञे वै शरीरेऽस्मिन् शयनात् पुरुषो हरिः" इति निरुक्तेन सर्वान्तरात्मत्वं सर्वाधारत्वं च फलितम्। प्रकृतेः परः इत्यनेन प्रकृतिगतधर्मास्पर्शश्च। नन्वीश्वरश्च सर्वाधारकश्चेत् तस्य किं धारकम्? देहाद्विलक्षणस्यापि जीवस्य देवोऽहं मनुष्योऽहम् इति देहधर्मस्पर्शदर्शनात् कथं तस्य प्रकृतिधर्मा-स्पर्शश्चेत्यतो विशिनष्टि — चिच्छक्त्या शक्तिशब्दः सर्वत्र कार्योपयोग्यपृथक्सिद्धविशेषणवाची। चिच्छक्त्या ज्ञानशक्त्या नित्याविर्भूतापरिच्छिन्नधर्मभूतज्ञानशक्त्या मायां प्रकृतिं चेतनाचेतनात्मिकां व्युदस्य; मायाशब्दोऽत्र उपचारात् मायाधर्मपरः। मायाधर्मान् व्युदस्य मायाधर्मैरस्पृष्ट इत्यर्थः। केवल एव कैवल्यः। स्वार्थे ष्यञ्। केवले आत्मनि स्थितः "स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः" (मैत्रा. उ. 6-25) इत्युक्तरीत्या आधारान्तरानपेक्ष इत्यर्थः। जीवस्तु कर्मणा सङ्कुचितज्ञानत्वात्

देहात्मभ्रमेण देहधर्मानात्मन्यध्यस्यति। ईश्वरस्तु चिच्छक्त्या तान् व्युदस्य तत्तज्जीवान्तरात्मतया तत्तज्जीवकर्मानुरूपं फलं प्रयच्छन् अनितरधार्योऽवतिष्ठत इति भावः॥ २३॥

तदेवाऽऽह — **स एवेति**। उक्तविध ईश्वर एव त्वम्। मायया देहात्मभ्रमस्वतन्त्रात्मभ्रमादिरूपमायाकार्येण मोहितं चेतो यस्य तस्य जीवलोकस्य धर्मादिलक्षणं धर्मार्थकाममोक्षरूपपुरुषार्थचतुष्टयरूपं श्रेयः, तद्विपर्ययरूपम् अश्रेयश्च तत्तत्कर्मानुगुण्येन स्वेन स्वेन वीर्येण स्वाभाविकेनाप्रच्युतेन माहात्म्येन उपलक्षितः विधत्से प्रयच्छसि॥ २४॥

न केवलमन्तरात्मतया एवं विधत्से, अपितु अवतारमुखेनापि इत्यभिप्रायेण आह — **तथेति**। भुवो भारभूतानां दुष्कृतां जिहीर्षया संहारेच्छया अनन्यभावानाम् अनन्यप्रयोजनभक्तियोगनिष्ठानां स्वानां स्वकीयानामसकृदनुध्यानाय चायं तवावतारः॥ २५॥

एवं संस्तुत्य प्रकृतं पृच्छति — **किमिति**। इदं तेजः किंस्विदिति याथात्म्यप्रश्नः। कुतो वेति हेतुप्रश्नः। कुतो वा आगच्छति, कुतश्च शमिष्यतीत्यर्थः। स्वस्य तु एतदज्ञानमावेदयति न वेद्यहमिति। तर्हि किं जानासीत्यत्राऽऽह। सर्वतोमुखं परमदारुणं तेजः आयातीत्येतावदेव वेद्मीत्यर्थः॥ २६॥

इत्थं संस्तुतो विज्ञापितश्च भगवान् सर्वज्ञ आह — **वेत्थेति** द्वाभ्याम्। प्राणबाध उपस्थिते सति द्रोणपुत्रस्येति कर्तरि षष्ठी। तेन प्रदर्शितं प्रयुक्तं ब्राह्ममस्त्रमिदं तेजो वेत्थ जानीहि। असौ द्रोणपुत्रः संहारं प्रयुक्तब्रह्मास्त्रोपसंहारं न वेद न जानाति॥ २७॥

तर्हि कथमिदमुपसंहर्तव्यमित्यत्राऽऽह — **नेति**। अस्य द्रोणपुत्रप्रदर्शितस्य ब्रह्मास्त्रस्य प्रत्यवमर्शकं प्रतिभटमस्त्रं ततोऽन्यतमं किञ्चिदपि न विद्यते अतोऽस्त्रज्ञः ब्रह्मास्त्रप्रयोगोपसंहाराभिज्ञः त्वमस्त्रतेजसा ब्रह्मास्त्रतेजसैव उन्नद्धमुद्रितम् अस्त्रतेजः ब्रह्मास्त्रतेजः जहि, त्वमपि ब्रह्मास्त्रेणैव तदभिभावयेत्यर्थः॥ २८॥

---

* W's Version is preferred to A's Version – तदुपसंहारणामज्ञस्तदुपज्ञापनाय * भट्टविरचितविष्णुसहस्रनामभाष्ये उद्धृतः 1 A,B इत्युक्त° 2. A,B omit तापत्रयेण .... जनानां 3 A,B °व्यत्यापे° 4 A भ्रमे देह° 5. A,B °प्रेत्य 6 A,B आयाति एता° 7. A,B °कर्षकं

**विज°** ततः तस्मात् अस्त्रादुत्पन्नं सर्वतोदिशं प्रापतद्ज्वालामुवत् प्रचण्डमभिप्रेक्ष्य दृष्ट्वा जिष्णुरर्जुनः। हेत्यनेन मनस्याश्चर्यं कृत्वेति दर्शयति॥ २१॥

कृष्ण! सदानन्दात्मक! कृष्ण! दुःखकर्षणशील! संसृतेर्जातेन तापाग्निना दह्यमानानां पुंसां त्वमेक एव संसृतेरपवर्गोऽसि दुःखनाशकरोऽसीत्यन्वयः॥ २२॥

अनिष्टपरिहारसामर्थ्यं तवास्तीत्याह — **त्वमिति**। पापानि औषत् अदहदिति पुरुषः, "सर्वान् पाप्मन औषत्तस्मात् पुरुषः" (बृह. उ. 1-4-1) इति श्रुतेः। पुरुषः पुरु बहु सरतीति वा। सर्वेषामादौ भवनादाद्यः साक्षादीश्वरः निरुपचरितैश्वर्योपेतः। तत्कथमिति तत्राऽऽह — प्रकृतेरिति। चित्प्रकृतेरप्युत्तम एवंविधस्त्वं चिच्छक्त्या

स्वरूपज्ञानशक्त्या मायां बन्धकशक्तिं निरस्य कैवल्ये प्रकृतिप्राकृतबन्धरहिते आत्मनि स्वरूपे स्थितो यतोऽत इत्यन्वयः। स भगवान् कस्मिन् प्रतिष्ठित इति "स्वे महिम्नि" (मैत्रा. उ. 6-25) इति श्रुतेः॥ २३॥

स प्रकृतिप्राकृतसम्बन्धरहित एव बन्धकशक्त्या मोहितबुद्धेर्जीवलोकस्य स्वरूपवीर्येण धर्मादिलक्षणं श्रेयो विधित्सुरवतरतीत्यन्वयः॥ २४॥

भगवदवतारास्ते यथा पुंसामनुध्यानादिना मोक्षहेतवस्तथा भुवो भारजिहीर्षया कृतोऽयं चावतारश्चानन्यभक्तानां स्वानामसकृदनुध्यानाय स्यादित्यतो मोक्षं साधयतस्तव भक्तैहिकदुःखनिवारकत्वं किं वर्णनीयमिति भावः। भूभारानुध्यानयोः समुच्चये चशब्दः॥ २५॥

यत्तेजः परमं दारुणं सर्वतोमुखमायाति हे देव! तदिदं किंस्वित् कुतो वेति अहं न वेद्मि इत्यन्वयः॥ २६॥

यत्तेजः तदिदं द्रोणपुत्रस्य ब्राह्ममस्त्रं वेत्थेत्यन्वयः। कीदृशम्? प्राणबाधे जीवाधिष्ठितदेहनाशे उपस्थिते आसन्ने सति प्रदर्शितम्। प्राणबाध इत्येतत्कुतो वाऽवगतमिति तत्राऽऽह — नेति। असौ द्रौणिः अस्यास्त्रस्य संहारं न वेदेति यस्मादतो ज्ञायते प्राणबाधे मुक्तमिति॥ २७॥

अस्त्राणामन्यतमं किञ्चिदस्त्रमस्य प्रत्यवकर्षणं प्रतीकारसमर्थं निवर्तकं न हि। अतोऽस्त्रज्ञो विसर्गोपसंहारपूर्वकमस्त्रज्ञः त्वमस्त्रतेजसा उन्नद्धमुद्धतमस्त्रतेजो जहीत्यन्वयः। हिशब्दो हेतौ॥ २८॥

**रा॰ कृ॰** ततः ब्रह्मशिरोनामकास्त्रात् सर्वतोदिशं प्रादुष्कृतं प्रादुर्भूतं प्रचण्डमुग्रं प्राणापदं प्राणविपत्तिहेतुभूतं तेजः अभिप्रेक्ष्य जिष्णुः अर्जुनः विष्णुं कृष्णमुवाच॥ २१॥

महाबाहो! कृष्ण! कृष्ण! भक्तानामभयङ्कर! संसृतेः जननमरणरूपात् संसाराद्धेतोः दह्यमानानां जीवानां अपवर्गः मोक्षस्वरूपः त्वमेकोऽसि॥ २२॥

त्वं प्रकृतेः मायारूपिण्याः परः अतीतः साक्षादीश्वरः आद्यः पुरुषस्सन् चिच्छक्त्या ज्ञानशक्त्या मायाम् अहन्ताममताकारणभूताम् अविद्यां व्युदस्य तिरस्कृत्य केवले कैवल्यरूपे आत्मनि स्वरूपे स्थितः स्थितवान्॥ २३॥

स एव पूर्वोक्तः ईश्वर एव त्वं मायामोहितचेतसः मायया अविद्यया मोहितं देहेन्द्रियाद्यात्माभिमानवत् चेतः यस्य तथाभूतस्य जीवलोकस्य स्वेन वीर्येण अचिन्त्यप्रभावेण धर्मादिलक्षणं धर्मार्थकाममोक्षादिलक्षणं श्रेयः पुरुषार्थं विधत्से प्रयच्छसीत्यर्थः॥ २४॥

तथा भुवः भारजिहीर्षया भारभूतानां दुष्टानां संहारेच्छया अनन्यभावानाम् एकान्तभक्तानां स्वानां स्वाश्रितानाम् असकृत् निरन्तरम् अनुध्यानाय च अयं तेऽवतारः कृत इति शेषः॥ २५॥

हे देवदेव! सर्वतोमुखं परमदारुणं तेजः आयाति। तदिदं किंस्वित् परमार्थतः, किं रूपं कुतो वेति कुतो हेतोरायातीति अहं न वेद्मि॥ २६॥

इदं द्रोणपुत्रस्य ब्राह्ममस्त्रं, जानीहीति शेषः। प्राणबाधे उपस्थिते प्रदर्शितं तेनेति शेषः। असौ द्रौणिः संहारम् अस्त्रोपसंहारं नैव वेद नैव जानाति। वेत्थ त्वं जानासि॥ २७॥

अस्य ब्रह्मशिरोनामकास्त्रस्य प्रत्यवकर्शनं कृशत्वापादकं निवर्तकमिति यावत्। अन्यतमं ततो भिन्नं किञ्चिदस्त्रं न हि, नास्ति खलु। अस्त्रज्ञोऽसि त्वमिति शेषः। उन्नद्धमुत्कटमस्त्रतेजः ब्रह्मास्त्रतेजः अस्त्रतेजसा स्वप्रयुक्तब्रह्मास्त्रतेजसा जहि उपसंहर॥ २८॥

सूत उवाच

श्रुत्वा भगवता प्रोक्तं फल्गुनः परवीरहा।
स्पृष्टाऽपस्तं परिक्रम्य ब्राह्मं ब्राह्मायं सन्दधे॥ २९॥

संहत्यान्योन्यमुभयोस्तेजसी शरसंवृते।
आवृत्य रोदसी खं च ववृधातेऽर्कवह्निवत्॥ ३०॥

दृष्ट्वाऽस्त्रतेजस्तु तयोस्त्रीन् लोकान् प्रदहन्महत्।
दह्यमानाः प्रजास्सर्वाः सांवर्तक ममंसत॥ ३१॥

प्रजोपप्लवमालक्ष्य लोकव्यतिकरं च तम्।
मतं च वासुदेवस्य सञ्जहारार्जुनो द्वयम्॥ ३२॥

तत आसाद्य तरसा दारुणं गौतमीसुतम्।
बबन्धामर्षताम्राक्षः पशुं रशनया यथा॥ ३३॥

शिबिराय निनीषन्तं दाम्ना बद्ध्वा रिपुं बलात्।
प्राहार्जुनं प्रकुपितो भगवानम्बुजेक्षणः॥ ३४॥

मैनं पार्थार्हसि त्रातुं ब्रह्मबन्धुमिमं जहि।
योऽसावनागसस्सुप्तानवधीन्निशि बालकान्॥ ३५॥

मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं सुप्तं बालं स्त्रियं जडम्।
प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित्॥ ३६॥

---

1. A,B,G,I,K,M,N फा° 2. I °स्त्रं 3 H,I,V °द्र° 4 H,V °लोक्य 5. B,H,I,K,M,N,V,W रज्ज्वा 6 B,W नै°

**श्रीध० श्रुत्वेति।** परे शत्रवः त एव वीराः तान् हन्तीति तथाविधः। फल्गुन· अर्जुनः अपः स्पृष्ट्वा आचम्य तं श्रीकृष्णं परिक्रम्य प्रदक्षिणीकृत्य ब्राह्माय ब्रह्मास्त्रं निवर्तयितुम्॥ २९

**संहत्येति।** ततश्च उभयोः ब्रह्मास्त्रयोः तेजसी शरैः संवृते संवेष्टिते परस्परं मिलित्वा ववृधाते अवर्धेताम्। किं कृत्वा? रोदसी द्यावापृथिव्यौ खमन्तरिक्षं च आवृत्य। यथा प्रलये सङ्कर्षणमुखाग्निः, उपरि स्थितोऽर्कश्च संहत्य वर्धेते तद्वत्॥ ३०॥

**दृष्टेति।** तयोः द्रौणिफल्गुनयोः ततः तेन दह्यमानाः सांवर्तकं प्रलयाग्निम् अमंसत मेनिरे॥ ३१॥

**प्रजेति।** लोकानां व्यतिकरं व्यत्ययं नाशमित्यर्थः। वासुदेवस्य मतं च आलक्ष्य ब्रह्मास्त्रद्वयमुपसंहृतवान्॥ ३२॥

**तत** इति। गौतमवंशजा गौतमी कृपी तस्याः सुतम्। अमर्षेण कोपेन ताम्रे अक्षिणी यस्य सः। निर्घृणत्वे दृष्टान्तः — पशुं यथेति। तस्य बन्धनं धर्म इत्यत्र वा दृष्टान्तः। यथा याज्ञिकः पशुमिव रशनया रज्ज्वा बध्नाति॥ ३३॥

शोकरोषादियुक्तस्याप्यर्जुनस्य धर्मनिष्ठाख्यापनाय श्रीकृष्णवाक्यं; तदाह षड्भिः — **शिबिराय** इति। शिबिराय राजनिवेशाय नेतुमिच्छन्तम् अर्जुनं प्रकुपितः तद्वधाभावेनामर्षं प्राप्तः इवेति॥ ३४॥

**मेति।** अनागसो निरपराधान्। ब्रह्मबन्धुं ब्राह्मणाभासम्॥ ३५॥

रिपोरपि सुप्तस्य बालस्य च वधो न धर्मः इत्यन्यार्थैः दर्शयति — **मत्त** मिति। मत्तं मद्यादिना। प्रमत्तमनवहितम्। उन्मत्तं ग्रहवातादिना। जडम् अनुद्यमम्। प्रपन्नं शरणागतम्। विरथं भग्नरथम्॥ ३६॥

---

1. A,B फा° 2. A,B फा° 3. A,B omit ततः 4. A,B °ष्कृपत्ले 5 A,B omit वा 6 V °कं 7 A.B °ति 8 B,H,V omit अर्जुनं
9. A,B omit तद्वधा ... प्राप्तः

**वीर०** इत्थं भगवता प्रोक्तमस्त्रोपसंहारोपायं श्रुत्वा परवीरहा फल्गुनोऽर्जुनः अप आचम्य तं कृष्णं परिक्रम्य प्रदक्षिणीकृत्य ब्राह्मय ब्रह्मास्त्राय प्रतिभटं ब्राह्ममेवास्त्रं सन्दधे प्रयुयोज॥ २९॥

ततः तयोरुभयोरस्त्रयोः तेजसी शरैः व्याप्तेऽन्योन्यं संहत्य सङ्गत्य रोदसी द्यावापृथिव्यौ खमाकाशं च आवृत्य आवेष्ट्य अर्कवह्नी इव ववृधाते वृद्धिं गते॥ ३०॥

किञ्च ततः त्रीन् लोकान् प्रदहत् तयोः द्रौण्यर्जुनयोः अस्त्रतेजः तत्प्रयुक्तास्त्रतेजो दृष्ट्वा तेन दह्यमानाः सर्वाः प्रजाः सांवर्तकं प्रलयाग्निममंसत अमन्यन्त॥ ३१॥

लोकव्यतिकरं लोकोपमर्दनरूपं प्रजोपद्रवं वासुदेवस्य मतमभिप्रायं च आलक्ष्यार्जुनः द्वयं ब्रह्मास्त्रद्वयं सञ्जहार उपसंहृतवान्॥ ३२॥

तत आसाद्य समीपमेत्य दारुणमुग्रं गौतम्याः द्रोणपत्न्याः कृप्याः सुतं द्रौणिम् अमर्षेण क्रोधेन ताम्रे अक्षिणी यस्य सः अर्जुनः। तरसा बलेन बबन्ध यथा रज्ज्वा पशुं तद्वत्॥ ३३॥

रिपुं द्रौणिं बलात् रज्ज्वा बद्ध्वा शिबिराय राजनिवेशाय शिबिरं प्रति निनीषन्तं नेतुमिच्छन्तम् अर्जुनं भगवानम्बुजेक्षणः कृष्णः प्रकुपित आह धर्मपरीक्षार्थमिति भावः ॥ ३४ ॥

तदेवाऽऽह — **नैनमिति** पञ्चभिः। हे पार्थ! इमं ब्रह्मबन्धुं त्रातुं जीवयितुं नैवार्हसि किन्तु जहि। "आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्" (मनु. स्मृ. 8-350) इति स्मृतेरिति भावः। तदेवाऽऽह — योऽसौ ब्रह्मबन्धुः निशि बालकान् तत्रापि सुप्तानवधीत् ॥ ३५ ॥

धर्मवित् पुमान् मत्तादिरूपं रिपुं न हन्ति। एवं तु धर्मस्थितिरित्यर्थः। तत्र मत्तं मधुना, प्रमत्तमनवहितं, उन्मत्तं पित्तादिना, जडं केवलमज्ञम् ॥ ३६ ॥

---

1 A.B फा° 2 A.B °शमयं

**विज०** परेषां शत्रूणां सम्बन्धिनो वीरान् हन्तीति परवीरहा, शत्रुवीरानिति वा। तं कृष्णं परिक्रम्य प्रदक्षिणीकृत्य ॥ २९ ॥

उभयोः शरसंवृते तेजसी अन्योन्यं संहत्य सङ्घट्टनं कृत्वा रोदसी द्यावापृथिव्यौ खमाकाशं च आवृत्य अर्कवह्निवत् ववृधाते इत्यन्वयः ॥ ३० ॥

सांवर्तकं प्रलयकालीनदाहममंसत न्यरूपयन् ॥ ३१ ॥

व्यतिकरो नाशोऽस्त्रोपसंहारलक्षणं वासुदेवमतम् ॥ ३२ ॥

गौतमीसुतं कृपीपुत्रं, रशनया रज्ज्वा ॥ ३३ ॥

शिबिराय स्कन्धावाराय सेनानिवेशनस्थानायेति यावत्। निनीषन्तं नेतुमिच्छन्तम् ॥ ३४ ॥

हे पार्थ! ब्रह्मबन्धुं ब्राह्मणाधममेनमश्वत्थामानं त्रातुं नार्हसि, किन्तु योऽसौ निशि रात्रौ सुप्तान् बालकान् अवधीदितीमं जहि हनेत्यन्वयः। अनागसोऽकृतापराधान्। तत्राश्वत्थाम्नो वध्यत्वेऽनागस्त्वं सुप्तत्वं बालकत्वमिति हेतुत्रयमनादृत्य तद्धननं कारणमिति ज्ञातव्यम् "अनागसं प्रसुप्तं च बालकं हन्ति यो नरः। स खण्डशो विधातव्य इत्येवं मनुरब्रवीत्" इति स्मृतेः ॥ ३५ ॥

रिपुणा नैते हन्तव्या इत्याह — **मत्त** मिति। मत्तं मद्यादिपानेन मदान्धं, प्रमत्तं विस्मृतिमन्तम्, उन्मत्तं ग्रहग्रस्तं, जडं स्वतो विवेकज्ञानशून्यं, सुप्तं निद्रितं, बालं विशेषानभिज्ञं, स्त्रियं, बाल्ये तारुण्ये वार्धके च पराधीनवृत्तिं, प्रपन्नं शरणागतं, विरथं रथादिसाधनरहितम्। विपथं युद्धमार्गादपक्रान्तमिति केचित् पठित्वा व्याचक्षते; तत्, भयचलनयोः इति धातोः भीतं चलितं युद्धमार्गादपसृतमित्यनेन पुनरुक्तम्। न च कम्पितार्थत्वं, पाठविरोधात्। अतोऽनुपासितगुरुचरणैः उत्प्रेक्षितमुपेक्षणीयम् ॥ ३६ ॥

---

1. B.K.M निशातव्य

रा० कृ० भगवता श्रीकृष्णेन प्रोक्तम् अस्त्रोपसंहारोपायं श्रुत्वा परवीरहा शत्रुवीरहन्ता फल्गुनः अर्जुनः अपः स्पृष्ट्वा आचम्य तं श्रीकृष्णं परिक्रम्य प्रदक्षिणीकृत्य ब्राह्माय ब्रह्मास्त्रोपसंहाराय ब्राह्ममस्त्रं सन्दधे प्रयुयोज ॥ २९ ॥

उभयोः ब्रह्मास्त्रयोः तेजसी शरसंवृते शरैस्संवेष्टिते अन्योन्यं संहत्य रोदसी द्यावापृथिव्यौ खमन्तरिक्षं च आवृत्य अर्कवह्निवत् ववृधाते वृद्धिं गते ॥ ३० ॥

तत स्त्रीन् लोकान् प्रदहत् महत् तयोः अश्वत्थामार्जुनयोः अस्त्रतेजः दृष्ट्वा तेनेति शेषः। दह्यमानाः सर्वाः प्रजाः सांवर्तकं प्रलयाग्निं अमंसत अमन्यन्त ॥ ३१ ॥

लोकव्यतिकरं लोकनाशरूपं तं प्रजोपप्लवं प्रजानामुपद्रवं वासुदेवस्य मतम् आशयं च आलक्ष्य विलोक्य अर्जुनः द्वयं ब्रह्मास्त्रद्वयं सञ्जहार उपसंहृतवान्।

ब्रह्मास्त्रं तत्प्रयोक्तृभिः अनुध्याता संकल्पिता च आत्मशक्तिः या तेजोरूपेण व्याप्नोति, अश्वत्थामा तद्यथाविधि प्रयुक्तवान्। अर्जुनस्तु कृष्णं प्रदक्षिणीकृत्य तमनुस्मृत्य च तत् प्रायुङ्क्त। प्रयोगभेदेन प्रयुक्तयोरस्त्रयोः तारतम्यम्। तथाहि — द्रौणिप्रयुक्तमस्त्रं सूर्यसमम्, अर्जुनप्रयुक्तमस्त्रं वह्निसमम्। ते द्वे परस्परं प्राहरताम्। परमात्मना सृष्टो बहिर्व्यक्तरूपो भानुः तदन्तर्यामिरूपोऽग्निरिति ऋग्वेदोक्तिः। ब्रह्मास्त्रतेजोमयं कृष्णमनुस्मरता परिक्रमता च किरीटिना प्रयुक्तेऽस्त्रे तदनुषक्तं द्वितीयमस्त्रं द्रौणिप्रयुक्तं प्रशमं प्रापत्। सेयमर्जुनकृता अस्त्रद्वयोपसंहारप्रक्रिया ॥ ३२ ॥

ततः अस्त्रोपसंहारानन्तरम् अमर्षताम्राक्षः पुत्त्रवधजातेनासहनेन रक्ताक्षः अर्जुन इति शेषः। तरसा वेगेन दारुणं क्रूरं गौतमीसुतं कृपीसुतं द्रौणिम् आसाद्य समीपं गत्वा रशनया रज्ज्वा पशुं यथा पशुमिव बबन्ध बद्धवान् ॥ ३३ ॥

रज्ज्वा रिपुं बलात् बद्ध्वा शिबिराय निनीषन्तं नेतुमिच्छन्तमर्जुनं प्रति प्रकुपितः प्रकोपं गतो भगवानम्बुजेक्षणः प्राह अवोचत् ॥ ३४ ॥

हे! पार्थ! योऽसौ द्रौणिरनागसः निरपराधान् सुप्तान् निद्रितान् तत्रापि बालकान् तानपि निशि रात्रौ अवधीत् तमेनं ब्रह्मबन्धुं ब्राह्मणाधमं त्रातुं रक्षितुं माऽर्हसि। इमं जहि। अत्र "प्रकुपितः अम्बुजेक्षणः" इति कथनेन भगवतो दुष्टचेष्टासु प्रकोप एव न तु आत्मविकारहेतुः रोषः। अत एव सोऽन्तः कृपामय इति अम्बजेक्षणपदेन व्यज्यते। एतेन भगवत्कृतं दुष्टशिक्षणं प्रेममूलकं न तु द्वेषकृतमित्युन्नेयम् ॥ ३५ ॥

धर्मवित् धर्मज्ञः मत्तं मद्यादिना विवशं, प्रमत्तं कार्यान्तरव्यग्रतया अनवहितम्, उन्मत्तं पिशाचादिभिः पीडितं, सुप्तं बालं जडं प्रयत्नरहितं, स्त्रियं, प्रपन्नं शरणागतं विरथं भग्नरथं भीतं भयेन पलायमानम् एतादृशं रिपुं न हन्ति न हन्यादित्यर्थः। अयं तावत् राजसामान्यधर्मः। तेन लोकक्षेमार्थं कृष्णकृतः पूतनावधः निर्दोष एव ॥ ३६ ॥

स्वप्राणान् यः परप्राणैः प्रपुष्णात्यघृणः खलः ।
तद्वधस्तस्य हि श्रेयो यद्दोषाद्यात्यधः पुमान् ॥ ३७ ॥

प्रतिश्रुतं च भवता पाञ्चाल्यै शृण्वतो मम ।
आहरिष्ये शिरस्तस्य यस्ते मानिनि! पुत्रहा ॥ ३८ ॥

तदसौ वध्यतां पाप आतताय्यात्मबन्धुहा ।
भर्तुश्च विप्रियं वीर! कृतवान् कुलपांसनः ॥ ३९ ॥

सूत उवाच

एवं परीक्षता धर्मं पार्थः कृष्णेन चोदितः ।
नैच्छद्धन्तुं गुरुसुतं यद्यप्यात्महनं महान् ॥ ४० ॥

अथोपेत्य स्वशिबिरं गोविन्दप्रियसारथिः ।
न्यवेदयत्तं प्रियायै शोचन्त्या आत्मजान् हतान् ॥ ४१ ॥

तथाऽऽहृतं पशुवत् पाशबद्धमवाङ्मुखं कर्मजुगुप्सितेन ।
निरीक्ष्य कृष्णापकृतं गुरोस्सुतं वामस्वभावा कृपया ननाम च ॥ ४२ ॥

उवाच चासहन्त्यस्य बन्धनानयनं सती ।
मुच्यतां मुच्यतामेषं ब्राह्मणो नितरां गुरुः ॥ ४३ ॥

---

1. H,V °ल्याः 2. W अप्यात्मजहनं 3 H,V ततोऽप्येत्य 4 K,M omit च 5 H °व

**श्रीध० स्वेति**। तद्वधो दण्डरूपः तस्यैव श्रेयः पुरुषार्थः। यत् यतः दण्डप्रायश्चित्तरहितात् दोषात् स पुमान् अधो यातीति नरकादिकं प्राप्नोति। तथा च स्मृतिः — "राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः। विधूतकल्मषा यान्ति स्वर्गं सुकृतिनो यथा।" (मनु. स्मृ. 8-318) इति ॥ ३७, ३८, ३९ ॥

**एवमिति**। यद्यपि चोदितः; तथाऽपि हन्तुं नैच्छत्। आत्महनं पुत्रहन्तारमपि "आत्मा वै पुत्रनामासि।" इति श्रुतेः। आत्मशब्देन पुत्रपरामर्शः। यतः महान् ॥ ४० ॥

**तत** इति। गोविन्दः प्रियः सारथिः च यस्य सः। आत्मजान् शोचन्त्यै ॥ ४१ ॥

**तथेति**। तथा परिभवेन आहृतमानीतम्। कर्मणः जुगुप्सितेन दोषेण अवाङ्मुखम्। अपकृतम् अपकारिणम्। कृपया निरीक्ष्य। वामः शोभनः स्वभावः यस्यासा ॥ ४२ ॥

ननाम चोवाच चेति चकाराभ्यां सम्भ्रमसूचितः — **उवाचेति।** बन्धनेन आनयनमसहमाना ॥ ४३ ॥

1. A,B omit नरकादिकं प्राप्नोति 2. A,B स्मरन्ति 3. A,B omit आत्मा वै ... पुत्रपरामर्शः 4. H omits आत्मश ... परामर्शः 5. A omits च

**वीर०** योऽघृणः निष्कृपावान् अत एव खलो दुरात्मा यः पुमान् परेषां प्राणैः स्वप्राणान् प्रपुष्णाति तस्य वधः तस्यैव श्रेयस्करः अन्यथा यस्मात् अकृतप्रायश्चित्तात् दोषात् पुमान् अधः नरके पतति ॥ ३७ ॥

किञ्च मम शृण्वतस्सतो भवता पाञ्चाल्यै द्रौपद्यै प्रतिश्रुतं प्रतिज्ञातं किमिति ? हे मानिनि! यस्तव पुत्रहन्ता तस्य शिर आहरिष्ये आहरिष्यामीति ॥ ३८ ॥

तत् तस्मादसौ पापात्मा आततायात्मनस्तव बन्धुहा कुमारघाती हे वीर! भर्तुः धृतराष्ट्रस्य विप्रियमिदं कर्म कृतवान्। कुलपांसनः कुलदूषकश्चातो वध्यताम् ॥ ३९ ॥

इत्थं धर्म परीक्षता धर्मपरीक्षार्थमेवं ब्रुवता कृष्णेन चोदितोऽपि इत्यर्थः पार्थोऽर्जुन आत्मजहनमपि सुतहनमपि तं गुरुसुतं द्रौणिं हन्तुं नैच्छत्। यतोऽर्जुनो महान् गुरुकृतोपकाराभिज्ञः ॥ ४० ॥

ततो गोविन्दः प्रियः सारथिश्च यस्य सोऽर्जुनः स्वशिबिरमागत्य हतानात्मजान् प्रति शोचन्त्यै प्रियायै द्रौपद्यै तं द्रौणिं न्यवेदयत् ॥ ४१ ॥

तथा आहृतमानीतं पशुना तुल्यं पशुवत् पाशेन बद्धम्। पशुर्यथा पाशेन बध्यते तद्वद्बद्धम्। कर्मणः स्वकृतस्य जुगुप्सितेन जुगुप्साशब्दात् स्वार्थसन्नन्तात् भावे क्तः। निन्दया हेतुना अवाङ्मुखम्। अधोमुखम् अपकृतमपकारिणम् अर्जुनेनापकृतं वा, गुरोस्सुतमश्वत्थामानं निरीक्ष्य दृष्ट्वा द्रौपदी वामस्वभावा हेतुगर्भमिदं सुस्वभावत्वात् ननाम ॥ ४२ ॥

अस्य गुरुसुतस्य बन्धनेन आनयनं बन्धनपूर्वकमानयनं बन्धनमानयनं च वा अस्य अर्जुनस्य वा अर्जुनकर्तृकबन्धनानयनमिति वा। असहन्ती सती द्रौपदी उवाच। उक्तिमेवाऽऽह — मुच्यतामित्यादिभिः सार्धैः पञ्चभिः। एष द्रौणिर्मुच्यतां मुच्यताम्; त्वरया द्विरुक्तिः। मोचनीयत्वे हेतुं दर्शयन्ती विशिनष्टि। ब्राह्मणस्तत्रापि गुरुः ॥ ४३ ॥

1. A,B कृतवता 2 A,B omit इत्यर्थः 3 A,B omit अधोमुखं

**विज०** खल इन्द्रियारामोऽघृणो दयारहितः तद्वधः तस्य हिंसकस्य हननं श्रेयः साधु, कुतो येषां हिंसादिदोषादधो नरकं यातीति यस्मात्तस्मादिति ॥ ३७ ॥

प्रतिज्ञा च रक्षणीयेत्याह — **प्रतिश्रुतमिति।** हे मानिनि! मानार्हे! यः ते तव पुत्रान् हतवान् तस्य शिर आहरिष्य इति मम शृण्वतः सतः पाञ्चाल्यै द्रौपद्यै प्रतिज्ञातञ्च यस्मात्तस्मादित्यन्वयः ॥ ३८ ॥

आत्मबन्धुस्सुतस्तोकः पुत्रोऽङ्गज उदाहृतः" इत्यभिधानात् आत्मबन्धून् सुतान् हतवानित्यन्वयः। तस्मादसौ पापः। विप्रियं तु लोकदृष्ट्येति ज्ञातव्यम् ॥ ३९ ॥

हरिणा अर्जुनं प्रति द्रौणिवधप्रतिपादनमर्जुनस्य धर्मपरीक्षणाभिप्रायमेव, न तु वधाभिप्रायमिति कथनपूर्वकमर्जुनस्य भक्त्यतिशयं कथयति — **एव** मिति। पार्थो गुरुसुतं हन्तुं नैच्छदित्यन्वयः। कथम्भूतः? यद्यप्येवं धर्मं परीक्षता कृष्णेन चोदितः, तथाऽपि नैच्छत्। कथम्भूतम्? आत्मानं हतवन्तम् अयमपि कश्चिद्धेतुः। पुनरपि कथम्भूतः? महान् महापुरुषः महत्त्वात् नैच्छदिति भावः ॥ ४० ॥

अथ गोविन्दः प्रियश्च सारथिश्च यस्य स तथोक्तः; स पार्थः स्वशिबिरमुपेत्य द्रौणिना हतान् आत्मजान् पुत्रान् प्रति शोचन्त्यै प्रियायै द्रौपद्यै तं न्यवेदयदित्येकान्वयः ॥ ४१ ॥

वामस्वभावा मृदुस्वभावा चारुतरशीलेति यावत्। कृष्णा तथाऽऽहृतं, तदेवाऽऽह पशुत्वात् पाशेन बद्धं, कर्मजुगुप्सितेन, कर्मणा लज्जया अवाङ्मुखम् अपकृतं पुत्रहत्यया अपकर्तारमपि गुरोः सुतं निरीक्ष्य कृपया ननामेत्येकान्वयः ॥ ४२ ॥

न केवलं नत्वा तूष्णीमभूत्, किन्तु वचनं चोवाचेत्याह — **उवाचेति।** अस्य द्रौणेः बन्धनेन नयनमसहमाना सती प्रशस्तसौशील्यादिगुणवती ब्राह्मण एव वर्णानां गुरुः अयञ्च नितरां युष्माकं गुरुः ॥ ४३ ॥

**रा॰ कृ॰** यः अघृणः दयारहितः खलः दुष्टः परप्राणैः स्वप्राणान् पुष्णाति रक्षति, तद्वधः तादृशदुष्टस्य वधः तस्य हि तस्यैव श्रेयः श्रेयस्करः। अन्यथा यद्दोषात् यतो दोषात् पुमान् स इति शेषः। अधः नरकादिकं याति प्राप्नोति ॥ ३७ ॥

हे मानिनि! द्रौपदि! यः ते पुत्रहा पुत्रान् हतवान् तस्य शिरः आहरिष्ये त्वत्समीपमानेष्यामीति मम शृण्वत एव सतः भवता पाञ्चाल्यै प्रतिश्रुतं प्रतिज्ञातम् ॥ ३८ ॥

हे वीर! हे अर्जुन! पापः आततायी निष्कारणमन्यघातुकः आत्मबन्धुहा तव पुत्रघाती कुलपांसनः ब्राह्मणकुलदूषकः अश्वत्थामा भर्तुश्च दुर्योधनस्यापि विप्रियमप्रियं कृतवान्। तत् तस्मादसौ वध्यताम् हन्यताम् ॥ ३९ ॥

एवं धर्मं परीक्षता कृष्णेन चोदितः प्रेरितः महान् पार्थः आत्महनं यद्यपि आत्मभूतपुत्रघातिनमपि गुरुसुतमश्वत्थामानं हन्तुं नैच्छत् ॥ ४० ॥

अथ अनन्तरं गोविन्दप्रियसारथिः गोविन्दः प्रियः सारथिश्च यस्य सः अर्जुनः स्वशिबिरमुपेत्य आगत्य हतान् आत्मजान् उद्दिश्येति शेषः। शौचन्त्यै विलपन्त्यै प्रियायै द्रौपद्यै तमश्वत्थामानं न्यवेदयत् प्रादर्शयत् ॥ ४१ ॥

तथा अवमानेन आहृतमानीतं पशुवत् पाशबद्धं कर्मजुगुप्सितेन निन्दितकर्मणा अवाङ्मुखमधोमुखम् अपकृतं कृतापकारमपि गुरोस्सुतमश्वत्थामानं वामस्वभावा शोभनस्वभावा कृष्णा द्रौपदी कृपया निरीक्ष्य ननाम च

नमस्कृतवती। अत्र द्रौपद्याः परिणतमातृवात्सल्यातिशयः सूचितः। कृप्यपि पुत्रदुःखपीडिता माभूदिति पुत्रघातिन्यपि अश्वत्थामनि द्रौपदी दयां प्रदर्शितवती ॥ ४२ ॥

किञ्चास्य द्रौणेः बन्धनानयनं बन्धनेनानयनं असहमाना सती द्रौपदी "ब्राह्मणो नितरां गुरुश्च एष मुच्यतां मुच्यताम्।" सम्भ्रमे द्विरुक्तिः। इति अर्जुनमुवाच ॥ ४३ ॥

सरहस्यो धनुर्वेदः सविसर्गोपसंयमः।
अस्त्रग्रामश्च भवता शिक्षितो यदनुग्रहात् ॥ ४४ ॥

स एष[1] भगवान् द्रोणः प्रजारूपेण वर्तते।
तस्यात्मनोऽर्धं पत्न्यास्ते नान्वगाद्वीरसूः कृपी ॥ ४५ ॥

तद्धर्मज्ञ! महाभाग! भवद्भिर्गौरवं कुलम्।
वृजिनं नार्हति प्राप्तुं पूज्यं वन्द्यमभीक्ष्णशः ॥ ४६ ॥

मा रोदीदस्य[2] जननी गौतमी पतिदेवता।
यथाऽहं मृतवत्साऽऽर्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहुः ॥ ४७ ॥

यैः कोपितं ब्रह्मकुलं राजन्यैरजितात्मभिः[3]।
तत्कुलं प्रदहत्याशु सानुबन्धं शुचार्पितम्[4] ॥ ४८ ॥

सूत उवाच

धर्म्यं न्याय्यं सकरुणं निर्व्यलीकं समं महत्।
राजा धर्मसुतो राज्ञ्याः प्रत्यनन्दद्वचो द्विजाः! ॥ ४९ ॥

नकुलसहदेवश्च युयुधानो धनञ्जयः।
भगवान् देवकीपुत्रो ये चान्ये याश्च योषितः ॥ ५० ॥

---

1. B °च 2 H,V °त्त° 3 K,M,N °कृ° 4 AF,GF °र्दि°

**श्रीध० सरहस्य** इति। सरहस्यः गोप्यमन्त्रसहितः। विसर्गः अस्त्रप्रयोगः, उपसंयमः उपसंहारः, ताभ्यां सहितः अस्त्रसमूहश्च यदनुग्रहात् यस्य द्रोणस्यानुग्रहात् प्रसादात् ॥ ४४ ॥

**स** इति। किञ्च, तस्य द्रोणस्य आत्मा देहः तस्यार्धं कृपी आस्ते। अर्धत्वे हेतुः — पत्नी। "अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी" (तैत्ति. ब्रा. 3-3-3) इति श्रुतेः। "जायापती अग्निमादधीयाताम्" इति श्रुतेरुभयोरेकाकारत्वावगमाच्च। ननु भर्तरि मृते सा कथं जीवति? तत्राऽऽह — नान्वगाद्भर्तारम् यतः वीरसूः पुत्रवती ॥ ४५ ॥

**तदिति।** ततस्मात् गौरवं गुरोः कुलं कौरवं वा भवद्भिः कर्तृभिः वृजिनं दुःखं प्राप्तुं नार्हति। किन्तु पूज्यं वन्द्यञ्च ॥ ४६ ॥

**मा रोदीत्** इति। मृतवत्सा मृतपुत्रा ॥ ४७ ॥

विपक्षे दोषमाह — **वैरिति।** तेषां राजन्यानां कुलम्। कर्म कथम्भूतम्? सानुबन्धं सपरिवारम्। शुचा शोकेन अर्पितं व्याप्तं च ब्रह्मकुलं कर्तृ प्रदहति ॥ ४८ ॥

**धर्म्यमिति।** धर्म्यमित्यादयो वचसः षड्गुणाः पूर्वश्लोकषट्के द्रष्टव्याः। तत्र धर्म्यं धर्मादनपेतम्। मुच्यतां मुच्यतामिति। न्याय्यं न्यायादनपेतम्। सरहस्य इत्यादि। सकरुणं तस्यात्मनोऽर्धमित्यादि। निर्व्यलीकं तद्धर्मज्ञेति। समं मा रोदीदिति दुःखसाम्योक्तेः। महत् यैः कोपितमिति निष्ठुरोक्त्या हितोपदेशात्। एवम्भूतं राज्ञ्याः वचो हे द्विजाः। प्रत्यनन्दत् अनुमोदितवान् ॥ ४९ ॥

**नकुल** इति। नकुलादयश्च प्रत्यनन्दन्। युयुधानः सात्यकिः ॥ ५० ॥

---

1. A,B omit यदनुग्रहात् ... प्रसादात् ॥ ४४ ॥ 2 A,B omit कौरवं वा 3 A °नोऽर्धमिति; B नोऽर्धं पत्नीति।

**वीर०** न ह्येष गुरुः अपित्वस्यायं पितेत्यत्र आह — **सरहस्य** इति। भवता यस्यानुग्रहात् रहस्येन सहितो धनुर्वेदः सविसर्गोपसंयमः प्रयोगोपसंहारसहितोऽस्त्रग्रामः अस्त्रसमुदायश्च शिक्षितः ॥ ४४ ॥

स भगवान् द्रोण **एवैष** प्रजारूपेण वर्तते। एतच्छब्दो द्रोणस्यैवाकारान्तरेण अवस्थितिपरामर्शकः "आत्मा वै पुत्रः" (कौषी. उ. 2-11) इति श्रुतेरिति भावः। पुत्रविषयापकारेण पितैवापक्रियते इति भावः। ननु स स्वर्गतः इत्यत्राऽऽह — **तस्येति।** तस्य द्रोणस्यात्मनः शरीरस्यार्धम् अर्धांशरूपा तत्पत्नी कृपी वीरसूः पुत्रवती सती आस्ते, नान्वगात् न साऽनुमरणं कृतवती। अर्धमिति। समांशाभिप्रायेण नपुंसकनिर्देशः। "अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी" (तैत्ति. ब्रा. 3-3-3) इति श्रुत्यभिप्रायेणार्धमित्युक्तम्। द्रोणस्य स्वर्गतत्वेऽपि तदर्धशरीरभूता तत्पत्न्यपक्रियत एवेति भावः ॥ ४५ ॥

तत् तस्मात् हे धर्मज्ञ! मदुक्तधर्माभिज्ञ! हे महाभाग! गुर्वपमानराहित्यरूपमहाभाग्ययुक्त! भवद्भिः गुरूणां बहुमन्तृभिः गौरवं कुलं गुरोः सम्बन्धि कुलं वृजिनं दुःखं प्राप्तुं प्रापयितुं, भवद्भिर्हेतुभिः वृजिनं प्राप्तुमिति वा नार्हति, किन्त्वभीक्ष्णशः पौनःपुन्येन पूज्यं वन्दनीयं च भवद्भिरित्यनुषङ्गः ॥ ४६ ॥

एतद्विषयापकृत्या कृपी नितरामहमिव दुःखिता स्यात्, तत्तवानुचितमित्यभिप्रायेण आह। मृता वत्साः पुत्रा यस्यास्सा अत एव आर्ताऽहं मुहुर्मुहुरश्रुमुखी यथा रोदिमि तथाऽस्य ब्राह्मणस्य जननी पतिरेव देवता यस्यास्सा गौतमी गौतमस्य दुहिता कृपी मा रोदीत् ॥ ४७ ॥

किञ्च इदं कर्म अस्मत्कुलस्याप्यनर्थकारीत्याह — **यैरिति**। अजितात्मभिः अजितः क्रोधपरवश आत्मा मनो येषां तैः यै राजन्यैः ब्रह्मकुलं विप्रकुलं कोपितं, कोपविषयीकृतम्, अत एव शुचा शोकेन अर्पितं प्रापितं दुःखितं सदित्यर्थः। तेषां राजन्यानां कुलं सानुबन्धमनुबन्धसहित माशु दहति। अत्र प्रदहनक्रियाकर्तृ ब्रह्मकुलं, कर्म तु राजन्यकुलम् ॥ ४८ ॥

हे द्विजाः! इत्थं धर्म्यं धर्मादनपेतं, न्याय्यं न्यायात् नीतेः अनपेतं, सकरुणं करुणायुक्तं निर्व्यलीकम् अनृताप्रियरहितं समम् अविषममनुरूपं महत् आशयगम्भीरं च राज्ञ्या द्रौपद्या वचो निशम्य धर्मसुतो युधिष्ठिरः प्रत्यनन्दत् ॥ ४९ ॥

तथा नकुलादयः ये चान्ये तद्व्यतिरिक्ताः पुरुषाः, याश्च स्त्रियः सर्वे ते प्रत्यनन्दन्निति वचनविपरिणामेन पूर्वेणान्वयः ॥ ५० ॥

---

1. A,B °त 2. A,B omit सती 3 A,B °क्रियेतैवेति 4. A,B °यात् कृत्यात्।

**विज०** अतिशयितगुरुत्वमाह — **सरहस्येति**। सरहस्यः सकीलको धनुर्वेदः सविसर्गोपसंयमः प्रयोगोपसंहारसहितः अस्त्रग्रामो ब्रह्माद्यस्त्रसमूहो यस्य द्रोणस्यानुग्रहात् भवता शिक्षितः अभ्यस्तः ॥ ४४ ॥

स एष द्रोणो भगवान् प्रजारूपेण "आत्मा वै पुत्रनामासि" (कौषी. उ. 2-11) इति श्रुतेः पुत्ररूपेण वर्तते यतो गुरुपुत्रस्य गुरुवत्पूजार्हत्वादिति भावः। किन्तु अन्योऽपि हेतुरस्तीत्याह — **तस्येति**। तस्य द्रोणस्यात्मनः शरीरस्यार्धमर्धाङ्गी सती वीरसूः वीरपुत्त्रवती कृपी सम्प्रत्यास्ते, पतिं नान्वगात् अनुगमनं न कृतवती यतः, अतो गुरुपत्नीभक्त्या च मुच्यतामिति भावः ॥ ४५ ॥

न केवलं गुरुभक्तिरेवात्र हेतुः अन्योऽप्यस्तीत्याह — **तदिति**। गुरौ गुरुपुत्रेषु वा आचारनमनलक्षणो यो धर्मः तं जानातीति धर्मज्ञः। हे धर्मज्ञ! भगानां भाग्यानां समुदायो भागः। महान् भागो यस्य स तथा, तस्य सम्बुद्धिर्महाभाग! अश्वत्थाम्नो दुःखे सति तन्मातुरपि दुःखं स्यात् तेन तत्कोपे न अस्मत्कुलस्यापि पापं भवेदिति। यस्मात्तस्मादभीक्ष्णशः सर्वदा सर्वैः पूज्यं वन्द्यं गौरवं कुलं भवद्भिर्वृजिनं पापं तन्निमित्तं दुःखं वा प्राप्तुं नार्हति योग्यं न भवति ॥ ४६ ॥

यथा अश्रुमुखी मृतवत्सा मृतपुत्रा अत एव आर्ताऽहं मुहुरनिशं रोदिमि तथा पतिरेव देवता यस्यास्सा तथा गौतमी कृपी अस्याश्वत्थाम्नो जननी माता मा रोदीदित्येकान्वयः। तस्मादस्मत्कुलहिताय वा मुच्यतामयं गुरुपुत्त्र इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

विपक्षे बाधकमाह — **यैरिति**। अकृतात्मभिः अशिक्षितबुद्धिभिः यै राजन्यैर्ब्राह्मणकुलं कोपितं तत्कुपितं शुचाऽर्पितं प्राप्तशोकं सानुबन्धं समूलभूतं तेषां राज्ञां कुलं तत्क्षणमेव प्रदहतीत्यन्वयः ॥ ४८ ॥

धर्म्यं धर्मादनपेतं, न्याय्यं न्यायादनपेतं, दयासहितं निर्व्यलीकं समं शत्रुमित्रभावशून्यं सर्वशास्त्रानुसृतं वाऽर्थतो महत् ॥ ४९ ॥

एते नकुलादयश्च प्रत्यनन्दन् इत्यध्याहृत्य अन्वयः। युयुधानः सात्यकिः ये चान्येऽनुजीविनः ते च, याश्च स्त्रियः ताश्च ननन्दुरिति भावः ॥ ५० ॥

---

1. A मा

**रा॰ कृ॰** सरहस्यः रहस्यमन्त्रसहितः धनुर्वेदः सविसर्गोपसंयमः प्रयोगोपसंहारसहितः अस्त्रग्रामश्च यदनुग्रहात् यस्य द्रोणस्यानुग्रहात् प्रसादात् भवता शिक्षितः अधीतः, स एष भगवान् द्रोणः प्रजारूपेण "आत्मा वै पुत्रनामासि" (कौषी. उ. 2-11) इति श्रुतेः वर्तते। अपि च तस्य द्रोणस्य आत्मनः देहस्य अर्धं पत्नी वीरसूः वीरमाता कृपी आस्ते नान्वगात् सा पतिं नान्वगच्छत् ॥ ४४, ४५ ॥

तत्तस्मात् धर्मज्ञ! महाभाग! अर्जुन! गौरवं गुरोस्सम्बन्धि कुलं भवद्भिः वृजिनं दुःखं प्राप्तुं नार्हति। अभीक्ष्णशः पुनः पुनः पूज्यं वन्द्यं च भवतीति शेषः ॥ ४६ ॥

मृतवत्सा मृतपुत्रा अत एव आर्ता दुःखिता अश्रुमुखी अहं यथा मुहुः रोदिमि तथाऽस्याश्वत्थाम्नो जननी पतिदेवता गौतमी कृपी मा रोदीत् रोदनं न कुर्यात् ॥ ४७ ॥

अजितात्मभिः अनिगृहीतमनस्कैः यैः राजन्यैः ब्रह्मकुलं ब्राह्मणकुलं कोपितं भवति तत् ब्रह्मकुलमिति शेषः। शुचा शोकेनार्पितं व्याप्तं सत् सानुबन्धं सपरिवारं तत्कुलं राजन्यकुलम् आशु दहति भस्मसात्करोति। अत्र श्रीकृष्णं प्रपन्नायाः कृष्णायाः संसारातीतचित्तवृत्तिः सूचिता ॥ ४८ ॥

हे द्विजाः! धर्मसुतो राजा युधिष्ठिरः राज्ञ्याः द्रौपद्याः धर्म्यं धर्मादनपेतं, न्याय्यं न्यायसहितं, सकरुणं, निर्व्यलीकम् अनृताप्रियरहितं समं दुःखसाम्यसूचकं महत् निष्ठुरोक्त्या हितोपदेशात् पूज्यं वचः वचनं प्रत्यनन्दत् अनुमोदितवान् ॥ ४९ ॥

एवं नकुलः सहदेवः युयुधानः सात्यकिः धनञ्जयः अर्जुनः भगवान् देवकीपुत्रः श्रीकृष्णः ये चान्ये पुरुषाः, याश्च योषितः, ते सर्वे, ताः सर्वाश्च द्रौपदीवचनं प्रत्यनन्दन्निति शेषः ॥ ५० ॥

**तत्राऽऽहामर्षितो भीमस्तस्य श्रेयान् वधः स्मृतः ।**
**न भर्तुर्नात्मनश्चार्थे योऽहन् सुप्तान् शिशून् वृथा ॥ ५१ ॥**

**निशम्य भीमगदितं द्रौपद्याश्च चतुर्भुजः ।**
**आलोक्य वदनं सख्युरिदमाह हसन्निव ॥ ५२ ॥**

श्रीकृष्ण उवाच

ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्यं आततायी वधार्हणः ।
मयैवोभयमाम्नातं परिपाह्यनुशासनम् ॥ ५३ ॥

कुरु प्रतिश्रुतं सत्यं यत्तत्सान्त्वयता प्रियाम् ।
प्रियञ्च भीमसेनस्य पाञ्चाल्या मह्यमेव च ॥ ५४ ॥

सूत उवाच

अर्जुनस्सहसाऽऽज्ञाय हरेर्हार्दमथासिना ।
मणिं जहार मूर्धन्यं द्विजस्य सहमूर्धजम् ॥ ५५ ॥

विमुच्य रशनाबद्धं बालहत्याहतप्रभम् ।
तेजसा मणिना हीनं शिबिरान्निरयापयत् ॥ ५६ ॥

वपनं द्रविणादानं स्थानान्निर्यापणं तथा ।
एष हि ब्रह्मबन्धूनां वधो नान्योऽस्ति दैहिकः ॥ ५७ ॥

पुत्रशोकातुरास्सर्वे पाण्डवास्सह कृष्णया ।
स्वानां मृतानां यत्कृत्यं चक्रुर्निर्हरणादिकम् ॥ ५८ ॥*

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
प्रथमस्कन्धे द्रौणिनिग्रहो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

---

1 H V.W °रा° 2 W स्मय° 3 B °व्यो ह्या° 4 AF.GF °कः 5 AF.GF ज्ञात्वा 6 B °स° 7 H.V °बन्धं 8. K.M बन्धनं

* This comes at the beginning of VIII chapter in K&M

**श्रीध० तत्रेति ।** तस्य तथाविधस्य द्रौणेः वध एव श्रेष्ठः । अन्यथा अस्य नरकपातप्रसङ्गात् । तदाह — न भर्तुरिति । अहन् जघान ॥ ५१ ॥

**निशम्येति ।**. चतुर्भुज इत्युक्तेः अयं भावः — भीमे तं हन्तुं प्रवृत्ते, द्रौपद्यां च अनिच्छत्यां सहसा तन्निवारणे प्रवृत्तायाम् उभयोः सन्निवारणाय आविष्कृतचतुर्भुज इति । सन्दिहानस्य सख्युरर्जुनस्य ॥ ५२ ॥

**ब्रह्मबन्धु** रिति । वधार्हणः वधार्हः । मयैव शास्त्रकृता "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" तथा, "आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगम् । जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत्" ॥ (भार. 4-651* 3 post) इति च वदता । तदुभयमप्यनुशासनं परिपालय ॥ ५३ ॥

तव च प्रतिज्ञां पूरयेत्याह — **कुर्विति**। प्रियां सान्त्वयता त्वया यत् प्रतिश्रुतं हनन तच्च सत्यं कुरु प्रियं च कुरु। मह्यं मम तत्र वधे भीमस्य प्रियं भवति, अवधे द्रौपद्याः प्रियं द्वये श्रीकृष्णस्य प्रियमिति च ॥ ५४ ॥

**अर्जुनमिति**। हरेः श्रीकृष्णस्य हार्दमभिप्रायमाज्ञाय ज्ञात्वा न ह्यशक्यमुभयं विदध्यात्; अतोऽस्यायमभिप्राय इति ज्ञात्वेत्यर्थः। असिना खड्गेन। मूर्धन्यं मूर्धनि जातम्। सहमूर्धजं सकेशम् ॥ ५५ ॥

**विमुच्येति**। मणिना च हीनं निरयापयन्निस्सारितवान् ॥ ५६ ॥

अनेन श्रीकृष्णोक्तं सर्वं सम्पादितमित्याह — **वपनमिति** ॥ ५७ ॥

**पुत्रेति**। निर्हरणं दाहार्थं नयनम् ॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

---

1 B प्रसङ्गः स्यात् 2 A,B °जोक्तेः 3 A,B omit अनिच्छन्त्यां 4 A,B सवरणाय 5 A,B omit प्रिय 6 A V omit प्रियमिति च 7 B °दितवानि°

**वीर**° तत्र भीमस्त्वमर्षित आह — **किमिति**। तस्य ब्रह्मबन्धोः द्रौणेः वध एव श्रेयान् स्मृतः। कुतः? यतोऽयं भर्तुः धृतराष्ट्रस्य आत्मनः स्वस्य चार्थे प्रयोजनाय न सुप्तान् शिशून् हतवान्, किन्तु वृथैव हतवानिति ॥ ५१ ॥

भीमस्य द्रौपद्याश्च गदितं वचः श्रुत्वा चतुर्भुजो भगवान् श्रीकृष्णः सख्युरर्जुनस्य वदनमालोक्य स्मयन् ईषद्धसन्निवेदं वक्ष्यमाणमाह ॥ ५२ ॥

तदेवाऽऽह — **ब्रह्मबन्धुरिति** द्वाभ्याम्। ब्रह्मबन्धुरिति हेतुगर्भम्। ब्रह्मबन्धुत्वादयं न हन्तव्यः। आततायीत्यपि हेतुगर्भम्। आततायित्वादयं वधार्हणः वधमर्हतीति वधार्हणः। नन्द्यादित्वात् कर्तरि ल्युः। मयैवमुभयमाम्नातं वधार्हत्वमनर्हत्वं चेत्युभयमपि सहेतुकमिति अनुशासनं मदनुशासनम्। न ब्राह्मणं हन्यात्। "आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्" (मनु. स्मृ. 8-350) इत्यादिशास्त्रानुमतमिदमुभयं पाहि, पालय नातिक्रमस्व, यथैतदुभयं पालितं स्यात्तथा कुर्वित्यर्थः ॥ ५३ ॥

तत्रान्यतरकरणेऽन्यदकृतं स्यात्, तत् तवानुचितमित्यभिप्रायेणाऽऽह — **कुर्वति**। प्रियां द्रौपदीं सान्त्वयता त्वया यत्प्रतिश्रुतं प्रतिज्ञातं शिरश्छिन्द्यामिति तदपि सत्यं यथार्थं कुरु; भीमादीनां प्रियं च कुरु ॥ ५४ ॥

तत एवमुक्तोऽर्जुनो भावज्ञो हरेर्हार्दं हृद्गतमभिप्रायमाज्ञाय असिना खड्गेन साधनेन द्विजस्य द्रौणेः मूर्धन्यं मूर्ध्नि धारितं मणिं मूर्धजैः केशैः सहितं यथा तथा जहार हृतवान् ॥ ५५ ॥

ततो रशनां विमुच्य पूर्वमेव बालानां हत्यया हता प्रभा यस्य तं तेजसा तेजःपदेन मणिना च हीनं रहितं सुतरां हतप्रभं शिबिरान्निरयापयत् बहिः निस्सारयामास ॥ ५६ ॥

नन्वेवमपि स्वप्रतिश्रुतं भीमगदितं च न कृतमेवेत्याशङ्कमानं शौनकं प्रत्याह सूतः — **वपन** मिति। वपनं मुण्डनं द्रविणादानं धनापहरणं स्थानान्निर्यापणं चेत्येष एव हि ब्रह्मबन्धूनां वधः, अन्यो दैहिकः शिरःपाण्यादिच्छेदरूपः नास्ति हि। तत्तैतत् त्रयमपि कृतमेव, तेनैव वधोऽपि कृतप्राय एवेति भावः ॥ ५७ ॥

ततस्सर्वे पाण्डवा युधिष्ठिरादयः कृष्णया द्रौपद्या सह शोकपीडिताः सन्तो मृतानां स्वानां पुत्रबन्धूनां यत् कर्तव्यं निर्हरणादिकं तच्चक्रुः ॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

---

1. A.B वाक्यं 2 A B omit स्मयन् 3 B °स°

**विज**° तत्र तस्यामवस्थायाममर्षितो भीम आहेत्यन्वयः। यो भर्तुः दुर्योधनस्यात्मनः स्वस्य च नार्थे सुप्तान् शिशून् वृथा अहन् हतवान्। वृथाशब्दोऽवध्यविषयो वध्यानामर्थे च न भवति, तस्य वधस्तस्यैव श्रेयान् स्मृतो नास्माकं पापमिति भावः ॥ ५१ ॥

चतुर्भुजो भीमगदितं श्रुत्वा द्रौपद्याश्च वचनमिति शेषः। सख्युरर्जुनस्य वदनमवलोक्य मन्दस्मितं कुर्वन्निदमाहेत्येकान्वयः ॥ ५२ ॥

हन, न हनेत्युभयं मयैव आम्रातमभिहितं यस्मात्तस्मादनुशासनम् आत्मवचनं परिपाहीत्यन्वयः ॥ ५३, ५४ ॥

अर्जुनः सहसा झटिति हरेर्हृदि स्थितमाज्ञाय सम्यक् ज्ञात्वा क्षुरधारेणासिना द्विजस्य सहमूर्धजं केशैस्सहितं मूर्धन्यं मूर्ध्ना सहोत्पन्नं मणिं जहारेत्यन्वयः ॥ ५५ ॥

तेजसा सामर्थ्येन शरीरकान्त्या वा रत्नेन च रहितं शिशूनां वधेन हतप्रभम् अलक्ष्मीनिधानं रज्ज्वा बद्धं विमुच्य शिबिरान्निरयापयत् शवनिर्गमनवत् निष्कासयामासेत्येकान्वयः ॥ ५६ ॥

ब्रह्मबन्धूनां प्राणत्यागलक्षणमरणप्रतिनिधिरयं वध इत्याह — **बन्धन** मिति। ब्रह्मबन्धूनामेष एव वधो वधप्रतिनिधिः। अन्यो दैहिको नेत्रोत्पाटनादिको नास्तीत्यन्वयः। शास्त्रविहितो नास्तीति भावः। कोऽसाविति तदाह बन्धनमिति। पाशेन करौ पृष्ठे कृत्वा बन्धनं, द्रविणादानं हिरण्याहरणं, स्थानान्निर्यापणं स्वदेशान्निर्यापणम्। तथाशब्दः प्रत्येकमभिसम्बन्धयितव्यः। सान्वयन्नित्यारभ्य नान्योऽस्ति दैहिक इत्यन्तं यदुक्तं तदिदं द्रौणिना स्वप्ने दृष्टं सङ्कथितम्। अन्यथा ग्रन्थान्तरविरोधः। तत्र भीमेन कृतमित्युक्तत्वादिति ज्ञातव्यम् ॥ ५७ ॥

*भक्तिविधानार्थं भक्तवात्सल्याद्यचिन्त्यमाहात्म्यं मुरारे निरूप्यतेऽस्मिन्नध्याये। तदर्थं मृतानां यत्कर्तव्यं लौकिकं तदुच्यते — **पुत्रशोकेति**। सर्वे पाण्डवाः मृतानां प्राणवियोगं प्राप्तानां स्वानां बन्धूनां यत्कृत्यं निर्हरणादिकं तच्चक्रुरित्यन्वयः ॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
प्रथमस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

---

1 A omits मूर्धन्यं *This comes at the beginning of the VIII Chapter in K & M

**रा॰ कृ॰** तस्मिन् समयेऽमर्षितः तत्कृतं प्रतिनन्दनमसहमानः भीमः न भर्तुरर्थे न दुर्योधनप्रयोजनाय वा, न चात्मनोऽर्थे नाप्यात्मप्रयोजनाय वा, यो वृथा सुप्तान् शिशून् अहन् अवधीत्; सुप्तशिशुवधः न प्रभुप्रयोजनसाधकः नापि स्वप्रयोजनसाधक इत्यर्थः। तस्य द्रौणेर्वधः श्रेयानित्याह ॥ ५१ ॥

भीमगदितं भीमस्य वचनं द्रौपद्याश्च वचनमिति शेषः। निशम्य श्रुत्वा चतुर्भुजो भगवान् सख्युरर्जुनस्य वदनमालोक्य हसन्निवेदं वक्ष्यमाणमिति शेषः। आह ॥ ५२ ॥

ब्रह्मबन्धुः ब्राह्मणाधमोऽपि न हन्तव्यः, किन्तु आततायी वधार्हणः वधार्हः इति मयैवोभयमाम्नातं, तदनुशासनं ममेति शेषः। परिपाहि परिपालय। प्रियां द्रौपदीं सान्त्वयता अनुनयता त्वयेति शेषः। यत्प्रतिश्रुतं प्रतिज्ञातं तत्सत्यं कुरु। किञ्च भीमसेनस्य पाञ्चाल्याः मह्यमेव मम च प्रियं कुरु।

नन्वश्वत्थामा आततायी ब्रह्मबन्धुरिति प्रत्यक्षतः प्रमाणीकृतोऽयमर्थः, तथाऽपि मुच्यतां मुच्यताम् एष ब्राह्मणो नितरां गुरुः, "यैः कोपितं ब्रह्मकुलं ..... प्रदहत्याशु" (भाग. 1-7-48) इत्यादिना तद्वधो द्रौपद्या बहुधा प्रतिषिद्धः। तद्वचनं धर्मराजादयः प्रत्यनन्दन्। अनन्तरं भगवता च "ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्यः" इत्यादिकं कथयता तदेव समर्थितम्। तथा सति दण्ड्यानामदण्डने लोकरक्षणव्यवस्था कथं सुप्रतिष्ठिता भवति? तर्हि ब्राह्मणत्वमात्रप्रयुक्तोऽयं द्रौणिवधनिषेध इति चेत्, मैवम् "आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्" (मनु. स्मृ. 8-350) इति, "आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगम्। जिघांसन्तं जिघांसीयान्नतेन ब्रह्महा भवेत्॥" (भार. 4-651 3 pr.) इति चोक्तत्वात्। सत्यम्। अत्रोच्यते — ब्राह्मणैः क्षत्रियैः अन्योऽन्यरक्षकैः अवशिष्टाः सर्वाः प्रजाः सुरक्षिता भवेयुरिति भागवताशयः। किञ्च ब्राह्मणापेक्षया भागवतोत्तमेषु क्षत्रियेष्वेव नैसर्गिको भक्तियोगः। वेदशास्त्राध्ययनपरब्रह्मज्ञानपरायणेभ्योऽपि भक्तिरहितेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो नारदादिभिः कृतो मोक्षसाधनसामग्र्यां गरीयस्याः भक्त्याः समुपदेशो दरीदृश्यते। तथा भागवते च राजर्षीणामेव कथाः प्रायशो दृश्यन्ते। तस्मात् कृतापराधेऽपि ब्राह्मणे तत्कोपनं लोकरक्षादीक्षादक्षेण राज्याश्रममुनिना राजर्षिणा समाहितचेतसा परिहर्तव्यम्। कुपितात् क्षत्रियादपि ब्राह्मणादेव महीयान् लोकव्युत्क्रमः। तथाहि — पुरा परशुरामेण क्षत्रियाणामविनयं निजिघृक्षता क्षत्रिया अपि निश्शेषं निर्मूलिताः। ततश्च आश्रीरामावतारं नानाराष्ट्रप्रजाः धर्मपालनप्रच्युताः अशरणाश्च बभूवुः। ईदृशदुरवस्थातो लोकमुद्धर्तुकामो रामः प्रथमं परशुरामगर्वभङ्गं विधाय पश्चात् लोके वेदधर्मं प्रतिष्ठापितवान्॥ ५३, ५४ ॥

अर्जुनस्सहसा झटिति हरेः हार्दमभिप्रायमाज्ञाय सम्यक् ज्ञात्वा अथ अनन्तरम् असिना खड्गेन मूर्धन्यं मूर्ध्नि जातं, सहमूर्धजं केशसहितं द्विजस्य द्रौणेः मणिं जहार छित्वा आहृतवानित्यर्थः ॥ ५५ ॥

ततः रशनाबन्धं रज्जुकृतं बन्धं विमुच्य बालहत्याहतप्रभं तेजसा मणिना हीनं द्रौणिमिति शेषः। शिबिरात् स्वकीयात् निरयापयत् निष्कासयामास ॥ ५६ ॥

वपनं मुण्डनं, द्रविणादानं धनापहरणं तथा स्थानात् निवासस्थानात् निर्यापणं निस्सारणं च इत्येष एव हि ब्रह्मबन्धूनां वधः ; अस्मादन्यः दैहिकः शिरश्छेदनादिरूपः वधः नास्ति ॥ ५७ ॥

कृष्णया द्रौपद्या सह पुत्रशोकातुराः पुत्रशोकेन पीडिताः सर्वे पाण्डवाः मृतानां स्वानां बन्धूनां निर्हरणादिकं दाहार्थनयनादिकं यत्कृत्यं वर्तते तत्सर्वं चक्रुः ॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां व्याख्यायां
सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

# अष्टमोऽध्यायः

## सूत उवाच

*अथो निशामयामास कृष्णायै भगवान् पुरा ।
पतितायाः पादमूले रुदन्त्या यत् प्रतिश्रुतम् ॥

पश्य राज्ञ्यरिदारांस्ते रुदतो मुक्तमूर्धजान् ।
आलिङ्ग्य स्वपतीन् भीमगदाभग्नोरुवक्षसः ॥

अथ ते[1] सम्परेतानां स्वानामुदकमिच्छताम् ।
दातुं सकृष्णा गङ्गायां पुरस्कृत्य ययुः स्त्रियः ॥ १ ॥

ते निनीयोदकं सर्वे विलप्य च भृशं पुनः ।
आप्लुता हरिपादाब्जरजःपूतसरिज्जले[2] ॥ २ ॥

तत्रासीनं कुरुपतिं धृतराष्ट्रं सहानुजम् ।
गान्धारीं पुत्रशोकार्तां पृथां कृष्णां च माधवः ॥ ३ ॥

सान्त्वयामास मुनिभिः हतबन्धून्[3] शुचार्पितान्[4] ।
भूतेषु कालस्य गतिं दर्शयन्नप्रतिक्रियाम् ॥ ४ ॥

---

*These two following verses are found in K & M and commented upon by विजयध्वजतीर्थ । The commentary is to be found in its proper place 1 AF.GF तेषां प° 2 W °पूते 3 K,M °पुत्रान् 4 H,V °र्दि°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अष्टमे कुप्तिद्रौणेरस्त्राद्रक्षा परीक्षितः ।
श्रीकृष्णेन स्तुतिः कुन्त्या राज्ञश्शोकश्च कीर्त्यते ॥

**अथेति ।** ते पाण्डवाः सम्परेतानां मृतानां गङ्गायां उदकं[2] दातुं सकृष्णाः कृष्णेन सहिताः स्त्रियः स्त्रीः पुरस्कृत्य अग्रतः कृत्वा । तस्मिन् कार्ये स्त्रीपुरस्सरत्वविधानात् ॥ १ ॥

**त** इति। उदकं निनीय[3] दत्वा। हरिपादाब्जरजोभिः पूता या सरित् गङ्गा तस्या जले। पुनर्ग्रहणात् आदावपि स्नाता इति गम्यते ॥ २ ॥

**तत्रेति** । कुरुपतिं युधिष्ठिरं सहानुजं भीमादिभिः सहितम् । पुत्रशोकार्ता इति तिसृणां विशेषणम् ॥ ३ ॥

**सान्त्वयामासेति** । मुनिभिः सहितः ॥ ४ ॥

---

1 B कृष्णेन तत्स्तुतिः ; H.V श्रीकृष्णसंस्तुतिः 2 H.V add निवापोदकं 3 H.V add निवापोदकं

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ ते पाण्डवाः सम्परेतानां[1] स्वानां उदकं तिलोदकम् । एतच्छ्राद्धादीनामप्युपलक्षणम् । इच्छतां प्रेतरूपेण कामयमानानां दातुं उदकं दातुं स्त्रियः द्रौपद्यादिस्त्रीः पुरस्कृत्य कृष्णेन सहिताः गङ्गां ययुः ॥ १ ॥

तत्र ते सर्वे पाण्डवादयः भृशं पुनः पुनः विलप्य सम्परेतानां उदकं निनीय प्रदाय हरेः कृष्णस्य पादाब्जयोः रजसा पूते सरितः गङ्गायाः जले आप्लुताः स्नात्वा[2] विशुद्धा बभूवुः इत्यर्थः ॥ २ ॥

तत्र गङ्गातीरे आसीनं उपविष्टं सहानुजं कुरूणां पतिं धृतराष्ट्रं पुत्रशोकार्तामिति गान्धारीकृष्णयोः विशेषणम् । तत्र गान्धारी धृतराष्ट्रभार्या, पृथा कुन्ती, कृष्णा द्रौपदी, माधवः कृष्णः सान्त्वयामास इत्युत्तरेण अन्वयः । सहानुजम् इत्यत्र अनुजशब्दः पाण्डुसुतधर्मराजादीनां उपलक्षकः । तेषामपि अत्र शोकार्तत्वेन सान्त्वनीयत्वात्, न तु विदुरपरः तस्य पूर्वमेव धृतराष्ट्रेण निर्यापितत्वात् । यादवक्षयानन्तरं आगामिनः तदा अवस्थानासम्भवात्, एतच्च अस्मिन् तृतीये स्कन्धे स्फुटीभविष्यति ॥ ३ ॥

हता बन्धवः येषां तान् अत एव शुचा शोकेन अर्पितान् अर्दितान् धृतराष्ट्रादीन् बन्धून् भूतेषु लोकेषु न विद्यते प्रतिक्रिया प्रत्युपायः यस्याः तां कालस्य गतिं जन्ममरणाद्युत्पादनरूपां दर्शयन् मुनिभिः सह सान्त्वयामास । माधव इति कर्तृपदं अनुषङ्गेण योजनीयम् । एव मुत्तरत्राऽपि ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

---

1 W adds मृतानां 2 W स्नाताः आप्लुत्य शुद्धा बभूः 3 W °द्यापादन°

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

*भीमहतान् दर्शय इति पुरा यत् प्रतिश्रुतं तदस्यै द्रौपद्यै निशामयामास दर्शयाञ्चकारेत्वन्वयः ॥

हे राज्ञि! ते तव अरिदारान् शत्रुभार्याः मुक्तमूर्धजान् मुक्तकेशीः । भीमस्य गदया भग्नाः ऊरवः उत्सङ्गाश्च वक्षांसि च येषां ते तथोक्ताः । उरूणि विस्तीर्णानि वक्षांसीति वा ॥

स्त्रियः पुरस्कृत्य सम्परेता युद्धे मृताः सकृष्णाः द्रौपद्या सहिताः कृष्णेन यादवेन्द्रेण सहिता वा ॥ १ ॥

ते पाण्डवाः तिलोदकं निनीय दत्वा भृशं विलप्य परिवेदनलक्षणं रोदनं कृत्वा पश्चात् हरेः पादपद्मपरागेण पूते शुद्धे सरितः गङ्गायाः जले आप्लुताः स्नाताः अभूवन् इत्यन्वयः ॥ २ ॥

अनुजेन सञ्जयेन सह वर्तमानम् ॥ ३ ॥

मुनिभिः सह। हताः पुत्राः येषां ते तथा तान्। भूतेषु प्राणिषु कालरूपस्य हरेः गतिं विक्रमप्रतिक्रियां अपरिहार्यां दर्शयन् ॥ ४ ॥

1. M °देवन° ° Commentary on additional V

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

अथ अनन्तरं ते पाण्डवाः सम्परेतानां मृतानां, अत एव उदकं इच्छतां स्वानां स्वबन्धूनां तदुदकं गङ्गायां दातुं सकृष्णाः कृष्णेन सहिताः सन्तः, स्त्रियः स्त्रीः पुरस्कृत्य ययुः जग्मुः ॥ १ ॥

ते सर्वे उदकं निवापोदकं निनीय मृतेभ्यः दत्वा भृशं विलप्य पुनश्च हरिपादाब्जरजःपूतसरिज्जले विष्णुपादपद्मपरागैः पवित्रीकृते गङ्गाजले आप्लुताः स्नाताः बभूवुः इति शेषः ॥ २ ॥

तत्र गङ्गातीरे आसीनं सहानुजं कुरुपतिं युधिष्ठिरं धृतराष्ट्रं पुत्रशोकार्तां गान्धारीं कृष्णां द्रौपदीं च अनन्तरं पृथां कुन्तीं च माधवः श्रीकृष्णः मुनिभिः सह सान्त्वयामास। ततः हतबन्धून् अत एव शुचा दुःखेन अर्दितान् पीडितान् गान्धारीधृतराष्ट्रादीन् भूतेषु लोकेषु अप्रतिक्रियां प्रतीकाररहितां कालस्य गतिं दर्शयन् माधवः सान्त्वयामासेति पूर्वेण अन्वयः ॥ ३, ४ ॥

**साधयित्वाऽजातशत्रोः स्वं[1] राज्यं कितवैर्हृतम् ।**
**घातयित्वाऽसतो रङ्गः[3] कचस्पर्शक्षतायुषः[4] ॥ ५ ॥**

**याजयित्वाऽश्वमेधैस्तं त्रिभिरुत्तमकल्पकैः ।**
**तद्यशः पावनं दिक्षु शतमन्योरिवातनोत् ॥ ६ ॥**

**आमन्त्र्य पाण्डुपुत्रांश्च शैनेयोद्धवसंयुतः ।**
**द्वैपायनादिभिर्विप्रैः पूजितैः प्रतिपूजितः ॥ ७ ॥**

**गन्तुं कृतमतिर्ब्रह्मन्! द्वारकां रथमास्थितः ।**
**उपलेभेऽभिधावन्तीमुत्तरां भयविह्वलाम् ॥ ८ ॥**

**उत्तरोवाच**

**पाहि पाहि महायोगिन् देव देव जगत्पते !**
**नान्यं[5] त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम् ॥ ९ ॥**

**अभिद्रवति मामीश! शरस्तप्तायसो विभो !**
**कामं दहतु मां नाथ! मा मे गर्भो निपात्यताम् ॥ १० ॥**

सूत उवाच

उपधार्य वचस्तस्या भगवान् भक्तवत्सलः ।
अपाण्डवमिदं कर्तुं द्रौणेरस्त्रमबुध्यत ॥ ११ ॥

तर्ह्येवाथ मुनिश्रेष्ठ! पाण्डवाः पञ्च सायकान् ।
आत्मनोऽभिमुखान् दीप्तानालक्ष्यास्त्राण्युपाददुः ॥ १२ ॥

---

1 K.M.N.W स्व° 2 H.V अर्जोहनद्याज्ञसेन्याः 3 W राज्ञ्याः 4 K.M °ह° 5 AF.GF नान्यत्र त्वभयं 6 AF.GF °ति 7. B.W °व च 8 H.K.M.V भृगु°

**श्रीध० साधयित्वेति ।** कितवैः धूर्तैः दुर्योधनादिभिः । द्रौपद्याः कचग्रहणादिना क्षतं नष्टं आयुः येषां तान् ॥ ५ ॥

**याजयित्वेति ।** याजयित्वेत्यादि भाविकथासङ्क्षेपः । शतमन्योः शतक्रतोरिव ॥ ६ ॥

**आमन्त्र्येति ।** शैनेयः शिनेः नप्ता सात्यकिः तेन चोद्धवेन च संयुतः ॥ ७ ॥

**गन्तुमिति ।** रथमास्थितः सन् उत्तरां परीक्षिन्मातरं भयेन विह्वलां व्याकुलां अभिमुखं धावन्तीं उपलेभे ददर्श ॥ ८ ॥

उत्तरा श्रीकृष्णं प्रार्थयते — **पाहि पाहीति** द्वाभ्याम् । अन्यस्तु प्रार्थनायोग्यो नास्तीत्याह — नेति । त्वत् त्वत्तः अन्यं अभयं भयरहितं न पश्यामि । यत्र लोके । परस्परं अन्योन्यं मृत्युः भवति ॥ ९ ॥

तत्र प्रस्तुतं भयं आवेदयति — **अभिद्रवतीति** । अभिद्रवति अभिमुखमायाति । तप्तं आयसं लोहमयं शल्यं यस्य सः । अतिकार्पण्येनाह — काममिति । कामं यथेच्छं, मा निपात्यतां न भ्रश्यतु ॥ १० ॥

**उपधार्येति ।** पराभवेन अतिकुपितस्य द्रौणेः अस्त्रं अपाण्डवं पाण्डवशून्यं इदं विश्वं कर्तुं प्रवृत्तं ब्रह्मास्त्रं अबुध्यत ॥ ११ ॥

अत एव बहुमुखं [2]तदागतं इत्याह — **तर्ह्येवेति** । तर्ह्येव तदानीमेव ॥ १२ ॥

---

1 B °त्यादिना 2 B adds ब्रह्मास्त्र

**वीर०** कितवैरक्षद्यूताद्युपायेन वञ्चकैः दुर्योधनादिभिः हृतं अजातशत्रोः युधिष्ठिरस्य स्वं[1] राज्यं साधयित्वा राज्ञ्या द्रौपद्याः कचस्पर्शेन केशपाशग्रहणेनैव क्षतं क्षीणं आयुः येषां तान् असतः दुष्टान् दुश्शासनादीन् घातयित्वा अर्जुनादिभिरिति शेषः ॥ ५ ॥

उत्तमकल्पकैः मुख्यकल्पैः अन्यूनमन्नदक्षिणैः त्रिभिः अश्वमेधैः [2]युधिष्ठिरं याजयित्वा पावनं पवित्रं तस्य युधिष्ठिरस्य यशः शतमन्योः शक्रस्य यश इव व्यतनोत् विस्तारयामास ॥ ६ ॥

ततः पाण्डुपुत्रान्, चशब्दात् अन्यांश्च। आमन्त्र्य आपृच्छ्य शैनेयः शिनेः नप्ता सात्यकिः शैनेयोद्धवाभ्यां सात्यक्युद्धवाभ्यां सहितः आत्मना पूजितैः द्वैपायनः आदिः मुख्यः येषां तैः विप्रैः प्रतिपूजितः ॥ ७ ॥

द्वारकां प्रति गन्तुं कृतमतिः निश्चितमतिः हे ब्रह्मन्! रथं आस्थितः अधिष्ठितः तदा अभिधावन्तीं [3]भयेन विह्वलां उत्तरां अभिमन्युपत्नीं इत्थं विज्ञापयन्तीं इति शेषः। उपलेभे पथि ददर्श इत्यर्थः। यद्वा अभिधावन्तीं विज्ञापनपूर्वकं अनुवर्तमानां उपलेभ इत्यन्वयः ॥ ८ ॥

विज्ञापनमेवाह — **पाहीति** द्वाभ्याम्। हे देवानामपि देव! हे जगत्पते निखिलजगत्तातः! हे महायोगिन् सूक्ष्मार्थदर्शिन्! पाहि पाहि। न विद्यते भयं यस्मात् तथाभूतं त्वत् त्वत्तः अन्यं न पश्ये। अदर्शने हेतुं वदन्ती अन्यान् विशिनष्टि — यत्र त्वद्व्यतिरिक्तेषु परस्परं मृत्युः मृत्युग्रस्ता इत्यर्थः। न हि स्वयं मृत्युवश्यः अन्यं मृत्योः त्रातुं प्रभुः इति भावः ॥ ९ ॥

ननु किं तव भयमुपस्थितं, यस्मात् त्वं मया रक्षणीया इत्यत्राह — **अभिद्रवतीति**। हे ईश! विभो! तप्तश्च असौ आयसः। अयसः विकारः शरः मां अभिद्रवति। अभिमुखं आगच्छति। हे नाथ! स शरः मां कामं यथेच्छं दहतु। मे मम गर्भश्च यथा मा निपात्यतां तथा अनुगृह्णाण इत्यर्थः ॥ १० ॥

तस्या उत्तरायाः वचः अवधार्य आकर्ण्य भक्तवत्सलः भगवान् अबुध्यत अध्यवस्यत्। किमिति? अपाण्डवं पाण्डवाभावं कर्तुं इदं शररूपेण द्रवत् द्रौणेः अस्त्रं द्रौणिप्रयुक्तं ब्रह्मास्त्रं इति ॥ ११ ॥

यथा भगवान् एवं अबुध्यत तर्हि तथैव हे भृगुश्रेष्ठ! शौनक! पाण्डवा अपि आत्मनः अभिमुखान् अभिमुखं आगच्छतः दीप्तान् पञ्च सायकान् शरान् आलक्ष्य अस्त्राणि उपाददुः जगृहुः ॥ १२ ॥

---

1 W स्व° 2 W adds तं 3 W adds अनुधावन्तीं 4 W मदभि° 5 W यदा 6 W °ऐ°

**विज०** घातयित्वा वधं कारयित्वा पाण्डवैः इति शेषः। कचानां केशानां स्पर्शेन हतानि नष्टानि आयूंषि येषां ते तथा तान्। अजातः सुयोधनः शत्रुः यस्य सः तथोक्तः। तथाचोक्तं — "सुयोधनादयस्सर्वे त्वजाता जज्ञिरे घटात्। व्यासेनानन्तवीर्येण मार्तण्डाधिकतेजसा" ॥ इति प्रयोगात्। न जातः शत्रुः यस्य स तथोक्त इति केचित्। कितवैः चोरप्रायैः दुर्योधनादिभिः ॥ ५ ॥

मध्यमाधमकल्पयोरुत्तमकल्पकैः। शतं मन्यवः क्रतवः यस्य सः तथा, तस्य इन्द्रस्य यशः वामनावतारं हरिः यथा ततान तथा अतनोत्। तनु विस्तारे ॥ ६, ७ ॥

भगवान् यदा द्वारकां गन्तुं कृतमतिः रथं आस्थितः तदा पाहि पाहि इत्यादिवादिनीं भयेन विवशां आत्मानं उद्दिश्य आगच्छन्तीं उत्तरां उपलेभे ददर्श इत्यन्वयः । यत्र मर्त्यलोके परस्परं मृत्युः तत्र त्वदन्यं अभयप्रदञ्च न पश्ये। स्वस्याभिमतप्रकाशनाय आत्मनेपदप्रयोगः ॥ ८, ९ ॥

अयसः विकारः आयसः तप्तश्चासौ आयसश्च इति तथोक्तः। शरः हननशीलः बाणः। शरीरविनाशनशक्तिप्रकाशनाय आयस इति। अपरिच्छिन्नस्य तव गर्भरक्षणं शक्यसाधनं इति द्योतनाय विभो! इति, नाथ! ऐश्वर्यशक्तियुक्त! मां यथेष्टं दहतु। किं तर्हि, मम गर्भः मा निपात्यतामिति ॥ १० ॥

भगवान् अस्याः उत्तरायाः वचः उपधार्य श्रुत्वा निश्चित्य इदं अवनिमण्डलं अपाण्डवं पाण्डुपुत्ररहितं कर्तुं मुक्तं द्रौणेः अस्त्रं अबुध्यत इत्यन्वयः ॥ ११ ॥

हे भृगुश्रेष्ठ! अथ तर्ह्येव तदानीमेव पञ्च पाण्डवाः आत्मनः अभिमुखान् ज्वलितान् पञ्च सायकान् अन्तकरान् बाणान् आलक्ष्य अनन्तरमेव अस्त्राणि उपाददुः इत्येकान्वयः । षो अन्तकर्मणि इति धातोः समन्तं कुर्वन्तीति सायकाः ; ण्वुल् आयादेशश्च ॥ १२ ॥

**रा० कृ०** अपि च माधवः कितवैः धूर्तैः दुर्योधनादिभिः हृतं अपहृतं राज्यं अजातशत्रोः साधयित्वा राज्ञ्याः द्रौपद्याः कचस्पर्शक्षतायुषः केशाकर्षणपापेन नष्टायुषः असतः दुश्शसनादीन् दुष्टान् घातयित्वा तं युधिष्ठिरं उत्तमकल्पकैः अन्यूनमन्नदक्षिणैः मुख्यकल्पैः त्रिभिः अश्वमेधैः याजयित्वा पावनं तद्यशः युधिष्ठिरयशः शतमन्योः इव शतमन्योः यश इव दिक्षु अतनोत् विस्तारयामास।

ननु बन्धुमरणातुरान् धृतराष्ट्रादीन् उद्दिश्य प्राणिषु कालस्य अप्रतिक्रियां गतिं दर्शयन् भगवान् श्रीकृष्णः अनन्तरं युधिष्ठिरस्य राज्यं साधयित्वा पाञ्चालीकचाकर्षणनष्टायुषः दुष्टान् घातयित्वा पुनः तं धर्मराजं अश्वमेधैः याजयित्वा तत्कीर्तिं दिक्षु विस्तारितवान् इत्युक्तम् । प्राणिकोट्यनुभूयमानसुखदुःखादीनां कारणं किं कालः वा आहोस्वित् भगवान् वा ? नाद्यः, राज्यसाधनादीनां भगवत्कर्तृत्वोक्तेः। नापि द्वितीयः बन्धुमरणादिदुःखस्य कालकृतत्वकथनात् । घटादीनामिव निमित्तादिकारणबाहुल्यं इष्टमेव इति चेत् मैवम् । कारणशब्देन प्रधानकारणस्यैव विवक्षितत्वात् । तस्मात् एकस्य कार्यस्य कारणद्वयकल्पना नोपपद्यते। अत्रोच्यते — भगवान् कालस्वरूप एव "कालः कलयतामहम्" (भ. गी. 10-30) इति, "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः" (भ. गी. 11-32) इति च भगवतैव गीतासु उक्तत्वात् । अतः नात्र कारणद्वयकल्पना। वस्तुतस्तु भगवान् ईश्वरः जीवकृतकर्मफलेषु न व्याप्रियते "नादत्ते कस्यचित्पापं नचैव सुकृतं विभुः" (भ. गी. 5-15) इत्युक्तत्वात् प्रकृतिगुणैः क्रियमाणानि कर्माणि आत्मनि आरोप्य तैः अहङ्कृतः जीवः बद्धः भवति। बद्धजीवस्य कर्मफलप्राप्तिरेव दैवगतिरिति, कालगतिरिति च व्यवह्रियते। ईदृशकर्मफलप्राप्तिं निमित्तीकृत्य कृष्णः दुष्टशिक्षणशिष्टरक्षणधर्मरक्षणव्यूहं प्रावर्तयत् । दुष्कर्मबद्धाः धार्तराष्ट्राः महाभारतयुद्धे क्षयमापुः । प्रकृतिरहस्यवेदिनः अथवा भगवन्मायातत्त्वज्ञाः पाण्डवाः कृष्णं शरणं गताः विजयं आपुः। एवं प्रकृतिनियामकस्य ईश्वरस्य अनुध्यानेन लोकयात्रां कुर्वन् अपि जनः बन्धविमुक्तः भवति। यद्यपि

कृतकर्मफलानुषङ्गः अनुभवैकक्षयिष्णुः तथापि तत्त्ववित् न तत्कर्मभिः बध्यते; तदिदं कौशलं योग इत्युच्यते इति सर्वं अनवद्यम् ॥ ५, ६ ॥

हे ब्रह्मन्! अथ च माधवः पाण्डुपुत्रान् आमन्त्र्य शैनेयोद्धवसंयुतः सात्यकिना उद्धवेन सहितः पूजितैः आत्मना इति शेषः। द्वैपायनादिभिः विप्रैः प्रतिपूजितस्सन् द्वारकां गन्तुं कृतमतिः रथं आस्थितः अधिष्ठितः सन् भयविह्वलां भयेन व्याकुलां अभिधावन्तीं अभिमुखं आगच्छन्तीं उत्तरां उपलेभे ददर्श ॥ ७, ८ ॥

हे महायोगिन्! योगीश्वर! देवदेव! जगत्पते! श्रीकृष्ण! पाहि पाहि! सम्भ्रमे द्विरुक्तिः। मां रक्ष। यत्र लोके परस्परं मृत्युः भवतीति शेषः। तत्र लोके त्वत् त्वत्तः अन्यं अभयं भयरहितं भयनिवर्तकमिति यावत्। न पश्ये न पश्यामि ॥ ९ ॥

ईश! सर्वेश्वर! विभो! सर्वव्यापक! तप्तायसः तप्तं लोहमयं शल्यं यस्य सः शरः मां अभिद्रवति मम अभिमुखं आयाति। हे नाथ! हे रक्षक! स शरः कामं यथेच्छं मां दहतु; मे गर्भः मा निपात्यतां न भ्रंशं नीयताम् ॥ १० ॥

भक्तवत्सलः भगवान् श्रीकृष्णः तस्याः उत्तरायाः वचः उपधार्य सम्यग्विचार्य इदं विश्वं अपाण्डवं पाण्डवरहितं कर्तुं प्रयुक्तमिति शेषः। द्रौणेः अश्वत्थाम्नः अस्त्रं ब्रह्मास्त्रं अबुध्यत अवगतवान् ॥ ११ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ! अथ अनन्तरं तर्ह्येव तदानीमेव। पाण्डवाः आत्मनः अभिमुखान् अभिमुखमागतान् दीप्तान् दीप्यमानान् पञ्च सायकान् आलक्ष्य विलोक्य अस्त्राणि स्वीयास्त्राणि उपाददुः परिजगृहुः ॥ १२ ॥

**व्यसनं वीक्ष्य तत्तेषां अनन्यविषयात्मनाम् ।**
**सुदर्शनेन स्वास्त्रेण स्वानां रक्षां व्यधाद्विभुः ॥ १३ ॥**

**अन्तस्थः सर्वभूतानां आत्मा योगेश्वरो हरिः ।**
**स्वमाययाऽऽवृणोद्गर्भं वैराट्याः कुरुतन्तवे ॥ १४ ॥**

**यद्यप्यस्त्रं ब्रह्मशिरस्त्वमोघं[1] चाप्रतिक्रियम् ।**
**वैष्णवं तेज आसाद्य समशाम्यद्भृगूद्वह! ॥ १५ ॥**

**मा मंस्था ह्येतदाश्चर्यं[2] सर्वाश्चर्यमयेऽच्युते ।**
**य इदं मायया देव्या[3] सृजत्यवति हन्त्यजः ॥ १६ ॥**

---

1 B °शिर अमो° 2 H.V ए° 3 H.V दै°

**श्रीध० व्यसनमिति।** ब्रह्मास्त्रस्य अस्त्रान्तरैः अनिवर्त्यत्वात् तत् दुष्परिहरं व्यसनं वीक्ष्य अनन्यविषयः आत्मा येषां स्वैकनिष्ठानां इत्यर्थः ॥ १३ ॥

**अन्तस्थ** इति। वैराट्याः उत्तरायाः अन्तस्थस्सन् गर्भं आवृतवान्। तत्र हेतुः, यतः आत्मा अन्तर्यामी। योगेश्वर इति बहिःस्थस्यापि प्रवेशघटनार्थं उक्तम्। कुरूणां तन्तवे सन्तानाय पाण्डवानामपि कुरुवंशजत्वात् एवं उक्तम् ॥ १४ ॥

**यदीति**। अमोघं अप्रतिक्रियञ्च समशाम्यत् संशान्तं आसीत् ॥ १५ ॥

**मेति**। एतद् ब्रह्मास्त्रशमनं आश्चर्यं मा मंस्थाः मा मन्यस्व। इदं जगत् ॥ १६ ॥

1 H °हा° 2 B न अन्यविषयः

**वीर**° तदा अनन्यविषयः आत्मा मनः येषां तेषां अनन्यरक्षकाणां पाण्डवानां तद्व्यसनं दुःखं आलोक्य विभुः कृष्णः स्वासाधारणेन सुदर्शनेन अस्त्रेण स्वानां पाण्डवानां रक्षां व्यधात् अकरोत्। सुदर्शनेन तान् सायकान् निरस्य पाण्डवान् ररक्ष इत्यर्थः ॥ १३ ॥

ततः अन्तस्थः सर्वान्तरात्मतया अवस्थितः आत्मा अन्तः प्रविश्य धारकश्च भगवान् अत एव योगेश्वरः निरतिशयसूक्ष्मार्थदर्शी उत्तरागर्भप्रविष्टपाण्डवास्त्रदर्शीत्यर्थः। हरिः कृष्णः। कुरुतन्तवे कुरुवंशविस्तारार्थं वैराट्याः विराटपुत्र्याः उत्तराया गर्भं स्वयं आत्मनैव आवृणोत् वैराट्या उदरं स्वयं प्रविश्य तद्गर्भो यथा ब्रह्मास्त्रेण न हन्येत् तथाऽऽवृणोत्। गर्भमासाद्य सुदर्शनेन अस्त्रं चिच्छेद इत्यर्थः ॥ १४ ॥

कथं अप्रतिभटं ब्रह्मास्त्रं सुदर्शनेनापि निरस्तं इति शौनकाभिप्रेतं दोषं अनूद्य तं प्रतिक्षिपति — **यद्यपीति**। ब्रह्मशिरोनामास्त्रं अप्रतिक्रियं केनापि अनिवार्यम्। अत एव अमोघं अप्रतिहतं, तथापि हे भृगूद्वह! वैष्णवं विष्णोः सम्बन्धि तेजः तेजोरूपं सुदर्शनं आसाद्य सम्यक् अशाम्यत् सुदर्शनेतराप्रतिक्रियं ब्रह्मास्त्रम्। सुदर्शनमेव सर्वाप्रतिक्रियमिति भावः ॥ १५ ॥

तत्र विस्मयः न कार्य इत्याह — **मेति**। सर्वेभ्यः अपि आश्चर्येभ्यः आश्चर्यमये आश्चर्यशक्तिप्रचुरे अच्युते स्वाश्रितास्त्रभूषणगुणविभूत्यादीन् न च्यावयति न पृथक् करोतीत्यच्युतः। तथाभूते भगवति एतत्सुदर्शनेन ब्रह्मास्त्रं निरस्तं इत्येतदाश्चर्यं मा मंस्थाः न मन्यस्व। सर्वाश्चर्यमयत्वमेव व्यञ्जयितुं विशिनष्टि — यः भगवान् अच्युतः अजः स्वयं कर्मयितोत्पत्त्यादिषड्भावविकाररहितः। इदं चिदचिदात्मकं कृत्स्नं जगत् मायया देव्या देवस्य स्वस्य सम्बन्धिन्या मायया आश्चर्यशक्त्या सृजति अवति हन्ति च कृत्स्नजगत्सृष्टिस्थितिलयलीलस्य कियदेतत् सुदर्शननिरस्तं ब्रह्मास्त्रं इत्यतः नाश्चर्यं कार्यमित्यर्थः ॥ १६ ॥

1. A,B अत्र च 2 W हन्येत 3. W °च्छा° 4. W चोद्यं 5. W तत् प्रतिवक्ति 6. W विहतां

**विज**° न अन्यः विषयः आत्मा येषां ते अनन्यविषयात्मानः तेषां अन्येषु भगवद्वातरहितेषु विषयेषु शब्दादिषु आत्मा मनः न गच्छति येषां ते तथोक्ताः तेषां इति वा। पाण्डवानां तद्व्यसनं वीक्ष्य विभुः सुदर्शनाख्यस्त्रेण स्वानां पाण्डवानां रक्षां व्यधात् इत्येकान्वयः ॥ १३ ॥

सर्वप्राणिनां अन्तः हृदि संस्थितः आत्मा आदानादिकर्ता योगैश्वर्यवान् सहजाणिमादियोगैश्वर्यवान् सर्वोपायानां ईश्वरः वा हरिः संसारदुःखहरणशीलः कुरूणां सन्तत्यविच्छेदाय वैराट्याः विराटपुत्र्याः उत्तरायाः गर्भं स्वमायया स्वयोगसामर्थ्येन यथा ब्रह्मास्त्रं न दहेत् तथा आवृणोत् आत्मना गूहितं अकरोत् इत्येकान्वयः ॥ १४ ॥

यद्यपि ब्रह्मशिरोस्त्रं त्वमोघं अव्यर्थं अप्रतिक्रियं प्रतिकाररहितञ्च[1], तथाऽपि वैष्णवं तेजः आसाद्य सम्यक् अशाम्यत् इत्येकान्वयः ॥ १५ ॥

यो मायया देव्या दीप्यमानया इच्छया ब्रह्मादिजगत् सृजति रक्षति संहरति स्वयं जन्मादिरहितः तस्मिन् सर्वाश्चर्यस्वरूपे अच्युते विनाशरहिते हरौ एतत् ब्रह्मास्त्रोपशमनलक्षणं आश्चर्यं मा मंस्था न चिन्तय इत्येकान्वयः॥ १६ ॥

---

1. B,K,M °ती°

**रा॰ कृ॰** विभुः भगवान् श्रीकृष्णः अनन्यविषयात्मनां अनन्यायत्तमनस्कानां भगवदेकचित्तानां इत्यर्थः। स्वानां स्वभक्तानां तेषां पाण्डवानां तत् ब्रह्मास्त्रजन्यं व्यसनं दुःखं वीक्ष्य स्वास्त्रेण सुदर्शनेन रक्षां व्यधात् अकरोत्। शत्रुप्रयुक्तबाणान् निरस्य पाण्डवान् अरक्षत् इत्यर्थः ॥ १३ ॥

सर्वभूतानां अन्तस्थः आत्मा आत्मस्वरूपः योगेश्वरः हरिः कृष्णः कुरुतन्तवे कुरूणां सन्तानाय वैराट्याः विराटपुत्र्याः उत्तरायाः गर्भं स्वमायया स्वशक्त्या आवृणोत् आवृत्य ररक्ष ॥ १४ ॥

हे भृगूद्वह! भृगुवंशतिलक! यद्यपि ब्रह्मशिरः तन्नामकं अस्त्रं अमोघं अप्रतिक्रियं प्रतीकाररहितं च। तथापि तदस्त्रं वैष्णवं तेजः सुदर्शनरूपं आसाद्य समशाम्यत् सम्यक् शान्तं अभूत् ॥ १५ ॥

यः अजः जन्मरहितः दैव्या देवसम्बन्धिन्या। देव्या इति पाठे स्वयं प्रकाशमानया इत्यर्थः। मायया स्वशक्त्या इदं जगत् सृजति अवति रक्षति हन्ति संहरति, तस्मिन् यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् सर्वाश्चर्यमये सर्वेषामपि आश्चर्यजनके अच्युते भगवति कृष्णे एतत् सुदर्शनेन ब्रह्मास्त्रशमनं आश्चर्यं आश्चर्यकरं मा मंस्थाः न मन्यस्व ॥ १६ ॥

**ब्रह्मतेजोविनिर्मुक्तै रात्मजैस्सह कृष्णया।**
**प्रयाणाभिमुखं कृष्णमिदमाह पृथा सती ॥ १७ ॥**

**कुन्त्युवाच**

**नमस्ये पुरुषं त्वाऽऽद्यमीश्वरं प्रकृतेः परम्।**
**अलक्ष्यं सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितम्[2] ॥ १८ ॥**

मायाजवनिकाच्छन्नमज्ञाधोक्षजमव्ययम् ।
न लक्ष्यसे मूढदृशां नटो नाट्यधरो यथा ॥ १९ ॥

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः ॥ २० ॥

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः ॥ २१ ॥

नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने ।
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ॥ २२ ॥

यथा हृषीकेश! खलेन देवकी कंसेन रुद्धातिचिरं शुचार्पिता ।
विमोचिताहं च सहात्मजा विभो! त्वयैव नाथेन मुहुर्विपद्गणात् ॥ २३ ॥

विषान्महाग्नेः पुरुषाददर्शनात् असत्सभायाः वनवासकृच्छ्रतः ।
मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो द्रौण्यस्त्रतश्चास्म हरेऽभिरक्षिताः ॥ २४ ॥

---

1 K.M °भावाना° 2 K.M °रपि ध्रुवम् 3 H.V.W °य° 4 K.M °च्छन्नो मयाऽधोक्षज! मर्त्यया 5 H.V °शां 6. K.M °व° 7 B.H.V सु° 8 K.M °दंशना°

**श्रीध०** **ब्रह्मेति** । कृष्णया च सह ॥ १७ ॥

**नमस्य** इति । त्वा त्वां नमस्ये नमस्करोमि । ननु कनिष्ठं मां कथं नमस्करोषि तत्राह — आद्यं पुरुषं कुतः प्रकृतेः परम् । तत्कुतः? ईश्वरं प्रकृतेरपि नियन्तारम् । अत एव सर्वभूतानां अन्तर्बहिश्च पूर्णत्वेनावस्थितं, तथाप्यलक्ष्यम् ॥ १८ ॥

तत्र हेतुः **मायेति** । मायैव जवनिका तिरस्करिणी तयाऽऽच्छन्नं प्रतिच्छन्नम् । अतोऽहं अज्ञा भक्तियोगानभिज्ञा केवलं नमस्यामि । अधोक्षजं अधःकृतं इन्द्रियजं ज्ञानं यस्मात् तम् । अव्ययं अपरिच्छिन्नम् । तत्प्रपञ्चयति नेति । नटः यथा नट इव मूढदृशां देहाभिमानिनां पुंसां न त्वं लक्ष्यसे ॥ १९ ॥

किञ्च **तथेति** । परमहंसानां आत्मानात्मविवेकिनां ततो मुनीनां मननशीलानामपि ततश्च अमलात्मनां निवृत्तरागादीनामपि तथा तेन निजमहिम्ना न लक्ष्यसे अतः भक्तियोगं विधातुं त्वां वयं स्त्रियः कथं हि पश्येम । यद्वा परमहंसादीनामपि भक्तियोगविधानार्थं त्वाम्, आत्मारामाणामप्यचिन्त्यनिजगुणैः आकृष्य भक्तियोगं विधातुं कारयितुमवतीर्णमित्यर्थः ॥ २० ॥

ज्ञानभक्त्योः अशक्यत्वं उक्त्वा पुनः केवलं नमस्करोति — **कृष्णाय** इति द्वाभ्याम् ॥ २१ ॥

**नम** इति। पङ्कजं नाभौ यस्य, पङ्कजानां माला अस्ति यस्य, पङ्कजवत् प्रसन्ने नेत्रे यस्य, पङ्कजाङ्किते अङ्घ्री यस्य तस्मै ॥ २२ ॥

तत्कृतोपकारान् अनुस्मरति — **यथेति** द्वाभ्याम्। अयमर्थः — मातृतोऽपि मय्यधिका तव प्रीतिः। तथाहि — हे हृषीकेश! यथा देवकी कंसेन रुद्धा त्वया विमोचिता अहं च तथैव किं विमोचितेतिते काका महान् विशेष उक्तः। तं दर्शयति साऽतिचिरं रुद्धा सती तस्मादेव[11] सकृद्विमोचिता। तथा शुचार्पिता च सती। न च तस्याः पुत्राः रक्षिताः। अस्ति चान्यः नाथः तस्याः। अहं तु विपद्गणात् तत्रापि मुहुः शीघ्रं च सात्मजा च त्वयैव च नाथेन इति ॥ २३ ॥

विपद्गणमेव दर्शयति — **विषादिति**। विषात् भीमस्य विषमोदकदानात्। महाग्नेः जतुगृहदाहात्। पुरुषादाः हिडिम्बादयः राक्षसाः तेषां दर्शनात्। असत्सभायाः द्यूतस्थानात्। अभितः रक्षिता आस्म अभवाम ॥ २४ ॥

---

1 H.V add प्रकृतेः 2 B °स्करिणीरूपा 3 H त्वद्भक्ति° 4 H.V °शां 5 H.V °नां 6 H.V °सां 7 H.V °रागादिदोषाणामपि
8. H.V add अयं भावः 9 B °रामान् मुनीनप्य° 10 H.V °मवतीर्ण त्वां स्त्रियो वयं कथं पश्येमेत्यर्थः। 11 H.V °देकस्मादेव

**वीर०** ततः ब्रह्मतेजसा ब्रह्मास्त्रेण विनिर्मुक्तैः आत्मजैः युधिष्ठिरादिभिः कृष्णया द्रौपद्या च सह सती पृथा कुन्ती प्रयाणाभिमुखं कृष्णमिदं वक्ष्यमाणमाह ॥ १७ ॥

तदेवाह — **नमस्ये** इति षड्विंशत्या। प्रयाणाभिमुखं कृष्णं आलोक्य तद्विश्लेषं असहमाना तं ततः निवर्तयितुं लौकिकोऽपि कश्चिद् गुणाढ्यः पुमान् आश्रितान् न हातुं उत्सहते। परमकारणस्य सर्वान्तरात्मनः अचिन्त्यविविधविचित्रशक्तेः स्वेच्छोपात्ताप्राकृताश्चर्यदिव्यतनोः आश्रितवात्सल्यजलधेः आश्रितार्तिहरस्य निरतिशयसुखदस्य योगपरिशुद्धमनसैव गोचरस्य अविज्ञातचिकीर्षितस्य सर्वशरीरकस्य सर्वसुहृदः अचिन्त्यविविधविचित्रचेष्टितस्य अवितर्क्यावतारस्य तव पदाम्बुजं अन्तरेण नास्माकं शरणमस्ति। अतः कथं अनन्यात्मनः अस्मान् विहाय गन्तुं उद्युङ्क्षे इति विज्ञापयति। तत्र तावत् लौकिकपुरुषवैजात्यज्ञापनाय अनितरसाधारणैः धर्मैः विशिष्टं नमस्करोति नमस्य इति। आद्यं सर्वजगत्कारणं प्रकृतेः परं पुरुषं ईश्वरं त्वां नमस्ये नमस्करोमि नमस्कारेण पूजयामीत्यर्थः। नमश्शब्दात् "शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे" (अष्टा. 3-1-17) इत्यतः करण इत्यनुवर्तमाने "नमो वरिवश्चित्रङः क्यच्" (अष्टा. 3-1-19) इति करोत्यर्थे क्यचि आर्षत्वादात्मनेपदम्। साङ्ख्याभिमतपुरुषव्यावृत्त्यर्थं ईश्वरमित्युक्तम्। सापेक्षं ईश्वरत्वं ब्रह्मादिसाधारणमिति तद्व्यावृत्त्यर्थं सर्वभूतानां अन्तर्बहिश्च अवस्थितं इत्युक्तम्। अनेन "यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः" (म. ना. उ. 9-5) इति श्रुतिरुपबृंहिता भवति। अनेन देवताविशेषत्वं च फलितम्। सर्वभूतानां ब्रह्मादिस्थावरान्तानां अन्तर्बहिश्च व्याप्य नियन्तृतया अवस्थितं इत्यर्थः। प्रकृतेः परत्वे हेतुः अलक्ष्य इति प्रकृतिवन्न लक्ष्यते न दृश्यते इत्यलक्ष्यम्। यद्वा अन्तर्बहिश्च अवस्थितमपि अलक्ष्यमदृश्यम् ॥ १८ ॥

तत्र हेतुः मायाजवनिकाच्छन्नं मायैव जवनिका नेपथ्यं तद्वत् तिरोधायकत्वात्। तया जीवाज्ञानरूपया हेतुभूतया छन्नं तिरोहितं इन्द्रियाविषयं इति यावत्। किं सर्वेषामप्यतीन्द्रियम्? नेत्याह—**अज्ञेति**। अक्षजा इन्द्रियवृत्तयः अधः अक्षजा यस्मात् सः अधोक्षजः इन्द्रियवृत्त्यविषयः अज्ञानां अनुपासकानां अधोक्षजं अज्ञाधोक्षजम्। तत्र हेतुः अव्ययं इति — न व्येति विविधं विकारं गच्छतीत्यव्ययम्। विविधविकारभागेव ह्यज्ञाक्षजविषयः त्वं त्वव्ययत्वात् अज्ञाधोऽक्षज इत्यर्थः। अनेन एतत् सूच्यते योगविशुद्धमनसा अनुग्राह्य इति; तथा च श्रूयते "न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनं" (कठ. उ. 6-9), "न मांसचक्षुरभिवीक्षते तम्" "दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" (कठ. उ. 3-12) "हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तय एनं विदुः" (कठ. उ. 6-9) इत्यादि। तदेवाऽऽह न लक्ष्यसे मूढदृशेति योगापरिशुद्धधिया न लक्ष्यसे न दृश्यसे। ननु सर्वैरपि दृश्य एवासौ इत्यत्राह — नटो नाट्यधरो यथा। नटो यथा दृश्यते तथा दृश्यसे इत्यर्थः। यद्वा मूढदृशा अजानता पुंसा नाट्यधरः नटः यथा न लक्ष्यते अयं एवंविध इति न ज्ञायते। किन्तु नाट्योपयुक्तवेषविशिष्टतयैव दृश्यते, तद्वत्। अनेनाज्ञाधोक्षज इत्यनेन च योगपरिशुद्धमनोग्राह्यः अपरिशुद्धमनसा त्वग्राह्यः इति तत्र न लक्ष्यसे इत्यनेन अग्राह्यत्वं उपपादितम्॥ १९॥

अथ परिशुद्धमनोग्राह्यत्वं वदन्ती, योगानधिकारिण्यः अपरिशुद्धमनसः स्त्रियः वयं कथं जानीम इत्याह — **तथेति**। तथा तथापीत्यर्थः। मुनीनां सदा त्वत्स्वरूपमननशीलानां अमलात्मनां विशुद्धमनसां परमहंसानां भक्तियोगविधानार्थम्। अर्थशब्दोऽत्र विषयीभूतपदार्थवाची। भक्तियोगविधानस्य भक्तियोगप्रपञ्चस्यार्थं विषयभूतं भक्तियोगदृश्यं त्वां स्त्रियो वयं कथं पश्येम हि जानीम हि। तर्हि किं जानासीत्यपेक्षायां नटं नाट्यधरं नाट्योपयुक्तनामरूपादिविशिष्टतयैव जानते न तु तत्त्वतः अयमेतज्जातिनामरूपगुणक इति। तद्वत् अस्मिन्नवतारे यानि कृष्णवासुदेवदेवकीनन्दनादिनामानि, यच्च पङ्कजनाभाद्यवयवोपेतं तान्येतान्येव सर्वेषां अवभासमानानि केवलं जानीम इत्यभिप्रायेण उक्तनामरूपविशिष्टं नमस्करोति कृष्णायेति। श्लोकद्वयं निगदेनैव व्याख्यातम्॥ २०, २१, २२॥

नन्वतारदशायां अयोगपरिशुद्धमनोभिः अपि सर्वैः दृश्यमानस्य भगवतः कथं अलक्ष्यत्वं अज्ञाधोक्षजमव्ययं, न लक्ष्यसे मूढदृशा इत्युक्तम्। "न मांसचक्षुरभिवीक्षते तं", "न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनं" (कठ. उ. 6-9) इत्यादिभिः श्रुतं चादृश्यत्वं इति चेन्न, सर्वैः देवमनुष्यादिसाजात्येन दृश्यमानत्वेऽपि त्वद्विलक्षणत्वेन अदृश्यत्वात्। विलक्षणदर्शनमेव हि अलक्ष्यं इत्यादिभिः प्रतिषिध्यते नटदृष्टान्तेनापि तदेवावगन्तव्यम्। जानन्त्या अपि कथं पश्येम हि स्त्रिय इत्युक्तिः लोकपरिपाट्यभिप्रायिका। यतस्त्वं साक्षात् प्रकृतेः परः परमपुरुष ईश्वरः तत एवास्यां अवतारदशायामपि स्वभावमजहत् स्वासाधारणान् धर्मान् दर्शयसीत्यभिप्रायेणाह — **यथेति**। हे हृषीकेश! खलेन दुरात्मना कंसेन चिरं शुचा शोकेनार्पिता निधापिता शोकं प्रापिता इति यावत्। रुद्धा या च देवकी यथा विमोचिता तथा अहमपि सपुत्रा हे विभो! सर्वशक्ते! त्वयैव नाथेन विपदां गणात् मुहुः विमोचिता किं, किमित्यस्य नेत्यादिः विमोचितैवेत्यर्थः। अनेन स्वार्थनिरपेक्षपरदुःखनिराचिकीर्षारूपं कृपालुत्वं, आश्रितानिष्टपरिहर्तृत्वं, निम्नोन्नतानादरेण आश्रित-मात्रपक्षपातित्वञ्च प्रदर्शितमिति फलितम्॥ २३॥

**कोऽसौ विपद्गणः यस्मात् त्वं विमोचिता इत्यत्राह — विषादिति।** महाग्रेः लाक्षागृहाग्रेः पुरुषादानां राक्षसानां दर्शनात् [17]दर्शनजात् भयात् वनवासकृच्छ्रतः वनवासक्लेशात् मृधे मृधे प्रतियुद्धं महारथानां अस्त्रेभ्यः द्रौण्यस्त्रतः ब्रह्मास्त्रात् हे हरे! रक्षिताः स्म अभवाम। विषादिभ्यः रक्षणप्रकारः महाभारतात् अवगन्तव्यः, विस्तरभयात् नात्र लिख्यते॥ २४॥

---

1 W °क्ष्यः 2 W °य° 3 W य° 4 W अधः अधोभूताः 5 A,B विविधविकारभाज एवाज्ञाक्षजविषयत्वात् अज्ञाधोक्षज इत्यर्थः 6 W °प्तो य 7. W adds नटयाथात्म्यं 8 B.W °ही° 9 W °य° 10 W तान्येव सर्वेषां समानानि 11 W °व्यत्वादि° 12 W त° 13 W एतदेवावगतम् 14 W ·स्वस्वधा° 15 A,B नित्यार्पिता 16 A,B किमेतस्य नेत्यादि 17 A,B omit दर्शनजात्

**विज०** ब्रह्मास्त्रतेजोमुक्तैः आत्मजैः युधिष्ठिरादिभिः पुत्रैस्सह। सती साध्वी॥ १७॥

संसारव्यावृत्तये आद्यं पुरुषमिति, हिरण्यगर्भव्यावृत्तये ईश्वरमिति, जगत्सृष्ट्याद्यैश्वर्यवत्त्वं न ततः व्यावृत्तं इत्यतः प्रकृतेः परमिति। एतत्सर्वं कुत इत्युक्तमलक्ष्यं इति, लक्षणया वृत्त्यापि ज्ञातुं अशक्यं; तर्हि शून्यप्रायं इत्यत उक्तं सर्वभावनां "अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं" (म. ना. उ. 9-5) इति श्रुतेः। आद्यस्य कथं अन्तर्बहिश्च व्याप्य स्थितत्वं इत्यत उक्तं भूतप्रलयेऽपि ध्रुवं नित्यं अविनाशिनम्॥ १८॥

त्वां नमस्ये इत्यपरोक्षतया उक्तस्य कथं अलक्ष्यत्वं इति तत्राह — **मायेति।** हे अधोऽक्षज! वशीकृतेन्द्रिय! जीवगुणाच्छादकपरमाच्छादकोभयविधमायाख्यतिरस्करिण्या छन्नः त्वं मूढदृशा विपरीतज्ञानया मर्त्यया मया लक्ष्यमणोऽपि न लक्ष्यसे; यथा नाट्यधरो नटः दृश्यमानोऽपि तदङ्गुल्याद्यभिनयलक्षितकथाविशेषाज्ञेन नरेण न लक्ष्यते तथा। तस्मात् अलक्ष्यः त्वं इत्यर्थः॥ १९॥

इतोऽपि मादृशीनां त्वद्दर्शनं असुशकं इत्याह — **तथेति।** अमलात्मनां अविद्याकामकर्मादिमलरहितमनसां मुनीनां सर्वज्ञानां परमहंसानां सनकादीनां भक्तियोगविधानार्थं भक्तियोगकरणविषयं त्वां तेऽपि पश्यन्ति। तथा रागादिमत्यः स्त्रियः वयं कथं त्वां पश्येमहीत्येकान्वयः। स्त्रीषु तारतम्यविशेषद्योतनार्थं आत्मनेपदप्रयोगः॥ २०॥

तर्हि स्त्रीणां भगवदुपासनाभावेन तज्ज्ञानाभावात् मोक्षाभाव इत्याशङ्क्य तत्स्तुतिरेव अपरोक्षज्ञानजनकतया मोक्षसाधिकेत्यभिप्रेत्य कृष्णं स्तौति — **कृष्णेति।** कृषति विलिखति दारयति मोहपटलमिति कृष्णः। तस्मै नमो नमः। नीलोत्पलदलश्यामलाय वा। वसुना दीव्यतीति वसुदेवः आनकदुन्दुभिः तस्य पुत्रः वासुदेवः तस्मै इति। वस आच्छादने इति धातोः इदं जगत् आच्छाद्य दीव्यतीति वासुदेवः तस्मै इति वा। बलात् दैत्यनिरसनशीलक्रीडादिगुणसम्पन्नाय वासुदेवायेति वा। देवकी लक्ष्मीः तां नन्दयितुं शीलमस्येति देवकीनन्दनः तस्मै। नन्दगोपनाम्नः राज्ञः कुत्सितं कुष्ठं मारयति नाशयतीति नन्दगोपकुमारः तस्मै। पुराणान्तरसिद्धार्थं अवलम्ब्य कथितः अयं अर्थः। अन्यः प्रसिद्धः। गवां विदः लाभः यस्य स तथा तस्मै; गवा वेदेन लभ्यत इति गोविन्द इति वा॥ २१॥

पङ्कजं नाभौ यस्य स तथा तस्मै। पङ्काज्जनं जननं यस्य तत्पङ्कजनं पद्मं तत् आभवति अभिभवति आभातीतिवा पङ्कजनाभः तस्मै। पङ्कजैः रचिता माला अस्यास्तीति पङ्कजमाली तस्मै। पङ्कजदलवन्नेत्रे यस्य स तथा तस्मै। पङ्कजैः रचिता रेखा तद्युक्तः अङ्घ्रिः यस्य स तथोक्तः तस्मै॥ २२॥

हृषीकेश! इन्द्रियगणनाथ! कसि हिंसायां इति धातोः कंसेन हिंसाशीलेन[4] इन्द्रियारामेण अतिचिरं कारागृहे रुद्धा शुचार्पिता देवकी त्वया यथा विमोचिता हे विभो! सहात्मजा पुत्रैः सहिताऽहं त्वयैव नाथेन विपद्गणात् मुहुः विमोचिता इत्येकान्वयः॥ २३॥

विपद्गणं विविच्याह — **विषादित्या**दिना। हे हरे! वयं भीमाय दत्तात् कालकूटविषात्, जतुगृहदाहप्रयुक्त-महाग्नेः, पुरुषादानां हिडिम्बबककिर्मीरादीनां दंशनात् भक्षणात्, असतां दुर्योधनादीनां द्रौपदीकेशग्रहणादिनिन्दितकर्मणां सभायाः, वनवाससङ्कटात्, मृधे मृधे रणे रणे अनेकेषां महारथानां नागाद्यस्त्रतः, तथा अश्वत्थाग्नेः ब्रह्मास्त्राच्च त्वया अभिरक्षिता आस्म इत्येकान्वयः। तस्मात् अहमद्य त्वां शरणं गतास्मीति वाक्यशेषः॥ २४॥

---

1. B,K,M °स्कारिण्या 2. K,M °व° 3 B,K,M अञ्जिता 4. B,K,M add खलेन

**रा० कृ०** ब्रह्मतेजोविनिर्मुक्तैः ब्रह्मशिरोनामकास्त्रतेजसः विमुक्तैः आत्मजैः कृष्णया द्रौपद्या च सह सती पृथा कुन्ती प्रयाणाभिमुखं कृष्णं इदं वक्ष्यमाणं आह॥ १७॥

ईश्वरं सर्वनियामकं प्रकृतेः परं अतीतं सर्वभूतानां अन्तर्बहिरवस्थितं तथापि अलक्ष्यं मायायवनिकाच्छन्नं मायैव यवनिका तिरस्करिणी तया छन्नं आच्छादितं अधोक्षजं अधःकृतेन्द्रियज्ञानं अव्ययं नित्यं आद्यं पुरुषं त्वा त्वां अज्ञा अहमिति शेषः। नमस्ये नमस्करोमि। अपि च त्वं नाट्यधरो नटो यथा नट इव मूढदृशा देहाभिमानिना पुंसा न लक्ष्यसे न ज्ञायसे॥ १८, १९॥

तथा परमहंसानां आत्मानात्मविवेकिनां मुनीनां मननशीलानामपि अमलात्मनां निवृत्तरागादिदोषतया निर्मलान्तःकरणानां भक्तियोगविधानार्थं भक्तियोगविधानमेव अर्थः प्रयोजनं यस्य तथाभूतं भक्तियोगविधानाय अवतीर्णं इत्यर्थः। त्वां इति शेषः। स्त्रियः वयमिति शेषः। कथं पश्येमहि पश्येम॥ २०॥

वासुदेवाय वसुदेवतनयाय देवकीनन्दनाय देवकीहर्षवर्धनाय नन्दगोपकुमाराय नन्दगोपस्य कुमाराय गोविन्दाय नमो नमः॥ २१॥

पङ्कजनाभाय ते नमः। पङ्कजमालिने नमः। पङ्कजनेत्राय नमः। पङ्कजाङ्घ्रये नमः।

"तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनां भक्तियोगविधानार्थम्" (भाग. 1-8-20) इत्यत्र किञ्चिदुच्यते। भक्तियोगविरहिताश्चेत् साधकाः विष्णुं साकारं न पश्यन्ति। ततः तेषां कृष्णेऽपि विष्णोः अदर्शनं सम्भाव्यम्।

संसारिणस्तु जीवाः आर्तिपीडिताः कृष्णं भजन्ते, येन तेषां मध्ये स भगवान् नृत्यन् वर्तते। ततश्च अमुकरूपो देवः सहायः अस्माकं अभवत् इति वदतां संसारिणां वचनस्य याथार्थ्यं केवलयोगसाधकैः भक्तियोगविरहितैः नावगम्यते।

नन्वेवं चेत् रागद्वेषादिरहितानां आत्मानात्मविवेकिनां मननशीलता व्यर्थैव ? न, तेऽपि अव्यक्तोपासकाः भगवन्तं प्राप्नुवन्ति; किन्तु अधिकतरः तेषां क्लेशः। उक्तं च भगवता — "क्लेशोऽधिकतरस्तेषां अव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते" (भ. गी. 12-5) इति। ये तावत् अनन्यमनस्काः स्वसंस्मरणपरायणाः तेषां स भगवान् सुलभः। तथा चोक्तं भगवता — "ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः, अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते" (भ. गी. 12-6) इति। ततश्च "कथं पश्येमहि स्त्रियः" (भाग. 1-8-20) इति कुन्त्याः प्रश्नः 'कथमपि पश्येम' इति समाधानगर्भित इति व्यज्यते। एवमत्र कुन्तीस्तुत्या भक्तियोगपुरस्कृतसर्वसमर्पणबुद्धिसमुपलब्धं भगवद्दर्शनं मार्गान्तरैः असुलभं इत्युपदिश्यते॥ २२॥

हे हृषीकेश! इन्द्रियनियामक! विभो! खलेन कंसेन सुचिरं रुद्धा शुचा पुत्रशोकेन अर्पिता व्याप्तैव देवकी यथा त्वया विमोचिता तथा अहं च सहात्मजा सती नाथेन रक्षकेण त्वयैव मुहुः विपद्गणात् विमोचिता रक्षिताऽस्मीति शेषः।

मात्रादिसम्बन्धः जीवस्यैव; न तु देवस्य। स्वभक्तं जनं सर्वमपि समं संरक्षति भगवान्। तेन निर्गुणपरब्रह्मान्वेषणादपि वरं भगवतः रक्षणभरणादिकल्याणगुणानुकीर्तनं येन तत्सान्निध्यप्राप्तिः सुलभा। सगुणनिर्गुणविभागोऽपि जीवकृत एव। न खलु दुष्टशिक्षणशिष्टरक्षणादयः सद्गुणाः भगवद्व्यतिरेकिण इति केनापि ज्ञानिना वक्तुं शक्यते। एतन्निरूपणायैव भगवता विभूतियोगः समुपदिष्टः॥ २३॥

किञ्च हे हरे। विषात् भीमस्य विषान्नदानात् महाग्नेः जतुगृहदाहात् पुरुषाददर्शनात् पुरुषादाः नरमांसभक्षकाः हिडिम्बादयः राक्षसाः तेषां दर्शनात् असत्सभायाः द्यूतस्थानात् वनवासकृच्छ्रतः अरण्यवासक्लेशात् मृधे मृधे प्रतियुद्धं अनेकमहारथास्त्रतः अनेकेषां महारथानां भीष्मादीनां अस्त्रेभ्यः द्रौण्यस्त्रतः साम्प्रतमश्वत्थामप्रयुक्तब्रह्मास्त्रतः अभिरक्षिताः आस्म सर्वतः संरक्षिताः अभवाम॥ २४॥

*सुयोधननिसृष्टो नः शापायामर्षणो मुनिः।
पत्नैश्चातृप्यत सह त्रिलोकैश्चरतां वने॥
विपदस्सन्तु नः शश्वत्तत्र जगद्गुरो!
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥ २५॥

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम्॥ २६॥

नमोऽकिञ्चनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये ।
आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः ॥ २७ ॥

मन्ये त्वां कालमीशानमनादिनिधनं विभुम् ।
समं चरन्तं सर्वत्र भूतानां यन्मिथः कलिः ॥ २८ ॥

न वेद कश्चिद्भगवंश्चिकीर्षितं तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम् ।
न यस्य कश्चिद्दयितोऽस्ति कर्हिचित् द्वेष्यश्च यस्मिन् विषमा मतिर्नृणाम् ॥ २९ ॥

जन्म कर्म च विश्वात्मन्नजस्याकर्तुरात्मनः ।
तिर्यङ्नृषिषु यादस्सु तदत्यन्तविडम्बनम् ॥ ३० ॥

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावत् या ते दशाऽश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम् ।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति ॥ ३१ ॥

केचिदाहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्तये ।
यदोः प्रियस्यान्ववाये मलयस्येव चन्दनम् ॥ ३२ ॥

अपरे वसुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात् ।
अंजस्त्वमस्य क्षेमाय वधाय च सुरद्विषाम् ॥ ३३ ॥

---

*This additional verse is found in H & V and not commented by any commentator 1. H,I,V ताः 2. K,M जगत्पते 3. N °ति° 4. H,V न चार्हत्यभि° ; K,M नार्ह इत्यभि° 5 K,M परम् 6. H,V तिर्यङ्नरर्षि° ; W तिर्यग् ऋषिनृ° ; K,M तिर्यङ्नृपशु; AF,GF तिर्यङ्नृषूवपि 7. AF,GF मृषाऽश्रु° 8. K,M यं बि° 9. W अर्भत्व°

**श्रीध० विपद** इति। यत् यासु विपत्सु कीदृशं दर्शनं? नास्ति पुनरपि भवदर्शनं यस्मात्[2] ॥ २५ ॥

सम्पदस्तु श्रेयःपरिपन्थिन्य इत्याह — **जन्मेति**। जन्म सत्कुले। जन्मादिभिरेधमानः मदः यस्य सः अभिधातुं श्रीकृष्ण! गोविन्द! इति वक्तुमपि अकिञ्चनानां गोचरं विषयभूतम् ॥ २६ ॥

प्रस्तुतमनोरथपूरणाय पुनः प्रणमति — **नम** इति। अकिञ्चनाः भक्ता एव वित्तं सर्वस्वं यस्य तस्मै। ततः किं? निवृत्ताः गुणवृत्तयः धर्मार्थकामविषयाः यस्मात् तस्मै। तत्कुतः? आत्मारामाय। तत्कुतः? शान्ताय रागादिरहिताय। किञ्च कैवल्यपतये कैवल्यं दातुं समर्थाय ॥ २७ ॥

ननु देवकीपुत्रं मां कथं एवं स्तौषि, तत्राह — **मन्य** इति। मन्ये त्वां कालं न तु देवकीपुत्रम्। तत्र हेतवः — ईशानं नियन्तारं, अनादिनिधनं आद्यन्तशून्यं, विभुं प्रभुं, समं यथा भवति तथा सर्वत्र चरन्तम्। ननु

पार्थसारथेः मम कथं साम्यं तत्राह — यत् यतः त्वत्तः निमित्तभूतात् भूतानामेव मिथः कलिः कलहो भवति न तु स्वतः त्वयि वैषम्यम् ॥ २८ ॥

ननु निग्रहानुग्रहरूपं मयि प्रसिद्धं वैषम्यं, अत आह — **न वेदेति**। नृणां विडम्बनं अनुकरणं, ईहमानस्य कुर्वतः यस्मिन् त्वयि विषमा मतिः अनुग्रहनिग्रहरूपा भवति ॥ २९ ॥

**जन्मेति**। ते अजस्य जन्म अकर्तुः कर्म। तिर्यक्षु वराहादिरूपेण। नृषु रामादिरूपेण। **ऋषिषु** वामनादिरूपेण। यादस्सु मत्स्यादिरूपेण ॥ ३० ॥

नरविडम्बनं त्वयि अत्याश्चर्यं इत्याह — **गोपीति**। गोपी यशोदा त्वयि कृतागसि दधिभाण्डस्फोटनं कृतवति यावत् दाम रज्जुं आददे जग्राह, तावत् तत्क्षणमेव या ते दशा अवस्था सा मां विमोहयति। किंभूतस्य ? अश्रुभिः कलिलं व्यामिश्रं अञ्जनं ययोः ते च ते संभ्रमे व्याकुले अक्षिणी यस्मिन् तद्वक्त्रं निनीय अधःकृत्वा ताडयिष्यतीति भयस्य भावनया स्थितस्य। यत् यतः त्वत्तः भीरपि स्वयं बिभेति तस्य ते दशा ॥ ३१ ॥

अत एव जगन्मोहनतया दुर्ज्ञेयत्वात् तव जन्मादि बहुधा वर्णयन्तीत्याह — **केचिदिति** चतुर्भिः। पुण्यश्लोकस्य प्रियस्य युधिष्ठिरस्य कीर्तये यदोरेव कीर्तय इति वा यदोः प्रियस्यान्ववाये वंशे मलयस्य कीर्तये वने वा चन्दनं यथा ॥ ३२ ॥

**अपर** इति। तथा वसुदेवस्य भार्यायां देवक्यां अज एव त्वं अभ्यगात्। पुत्रत्वमिति शेषः। प्रथमपुरुषस्त्वार्षः। अभ्यगा इति वा पाठः सुगमः। ताभ्यामेव पूर्वं सुतपःपृश्निरूपाभ्यां याचितः सन्। अस्य जगतः क्षेमाय ॥ ३३ ॥

---

1. H,V भवस्य संसारस्य दर्शनं 2. B adds तत् 3. B नरनारायणादिरूपेण 4. A,B omit त्वयि 5. H,V सम्भ्रमेण 6 H,V °नि 7 A omits प्रियस्य 8. A,B वंशे 9. A,B अर्भत्वमिति

**वीर**० यदेतत् विपद्गणनिवारकत्वं तदेतत् तव कियत् ? अथदिव तन्निवृत्तेः इत्यभिप्रायेणाह — **विपद** इति। हे जगद्गुरो! तत्र तत्र शश्वत् सदा ताः त्वया निरसनीयाः नः आश्रितानां विपदः सन्तु असतां न तन्निरासाय यत्नः त्वया कार्यः इति भावः। यत् यदि अपुनर्भवदर्शनं भवतः दर्शनं स्यात्। न विद्यते पुनर्भवस्य संसृतेः दर्शनं यस्मात् तत् तथाभूतं भवद्दर्शनं यदि स्यात्; सम्भावनायां लिङ्। सकलापन्मूलसंसृतिपरिहारक्षमं तद्यदि स्यात्। विपदः सन्तु नाम अर्थादेव तन्निवृत्तेः इति भावः ॥ २५ ॥

नन्वहमीश्वरश्चेत् तर्हि त्वमिव सर्वेऽपि मामेवंविधं किं न वदन्तीत्यत आह — **जन्मेति**। ऐश्वर्यशब्दः धनपरः, श्रुतशब्दः विद्यापरः जन्मैश्वर्यश्रुतानां सत्कुलप्रसवधनविद्यानां श्रीभिः समृद्धिभिः एधमानः मदः यस्य स पुमांस्त्वां अभिधातुं न च अर्हति। त्रिमदोन्मत्तत्वेन स्वपरयाथात्म्यविवेकाभावादिति भावः। अनर्हतामेव सूचयितुं विशिनष्टि अकिञ्चनगोचरं नास्ति किञ्चन येषां ते अकिञ्चनाः निष्कामाः तेषां गोचरम् ॥ २६ ॥

अन्यैश्च चिदचिद्भावर्तकैः ईश्वरासाधारणधर्मैः विशिंषन्ती नमस्करोति — **नम इति**। अकिञ्चनानां वित्ताय विद्वं लाभे इति धातुः, विद्यते लभ्यते इति वित्तः तस्मै। निवृत्ताः गुणानां रजआदीनां वृत्तयः कामक्रोधादयः यस्य तस्मै। अनेन अचिद्भावावृत्तिः। शान्ताय ऊर्मिषट्करहिताय अशनायापिपासाशोकमोहजरामृत्यवः षडूर्मयः। अनेन बद्धजीवव्यावृत्तिः। तत्र हेतुः, आत्मारामाय, स्वानुभवैकपराय। कैवल्यं प्रकृतिसम्बन्धराहित्यं मोक्ष इति यावत् तस्य पतिः तस्मै. मोक्षप्रदाय। अनेन मुक्तनित्यजीवव्यावृत्तिः॥ २७॥

ननु ब्रह्मरुद्रेन्द्राद्यन्यतमः कश्चिदुक्तविधः, नत्वहं इत्यत्राह — **मन्य इति**। ईशानं ब्रह्मादीनपि च वशीकुर्वाणं कालं त्वां मन्ये कालशरीरकं त्वां मन्ये इत्यर्थः। अत एव कालकृतजन्ममरणादिरहितम्। नन्वहमपि प्राकृतवद्वैषम्यादिमानेव; ततः कालं विशिनष्टि। सर्वत्र समं चरन्तं कालयन्तं यत् यस्मात् कलनिमित्तात् भूतानां मिथः कलिः कलहः भवति। समं चरन्तं इत्यनेन कालशरीरकस्य तव न वैषम्यनैर्घृण्यादिकं अस्तीति सूचितम्, यन्मिथः कलिरित्यनेन। अथापि तत्तज्जीवकर्मानुसारेण सुखदुःखादीन् प्रति निमित्तमात्रत्वमस्तीति सूचितम्॥ २८॥

नन्वहमपि कांश्चिदनुगृह्णन् कांश्चिन्निग्रह्णन् कथं वैषम्यादिरहित इत्यत आह — **नेति**। हे भगवन्! नृणां विडम्बनं अनुकारं ईहमानस्य कुर्वाणस्य तव चिकीर्षितं न कोऽपि वेद। क्वचित् निग्रहोऽपि अन्ततः अनुग्रहरूपतया फलतीति न वैषम्यादिकमस्ति। पूतनाशकटयमलार्जुनधेनुककेशिकुवलयापीड चाणूरमुष्टिककोसलकंसादिविषयनिग्रहस्य अन्ततः तेषां निरतिशयपुरुषार्थरूपमुक्तिहेतुत्वदर्शनात् इति भावः। यत एवं अत एव त्वयि वैषम्यादिरहिते तदापादयता नृणां मतिरेव विषमेत्याह न यस्येति। कर्हिचिदपि दयितः प्रियः द्वेष्यश्च नास्ति। यस्मिन् नृणां मतिः विषमा रजस्तमोन्वयात् अयथार्था भवति। नृणां विडम्बनं ईहमानस्य इत्यनेन नरचेष्टानुकारमात्रमेव, न तु सर्वथा तत्सजातीयचेष्टितम्। "जन्म कर्म च मे दिव्यं" (भ. गी. 4-9) इति भगवतैवोक्तत्वात् इति सूचितम्॥ २९॥

बिडम्बनत्वमेव अन्यथानुपपत्त्या द्रढयति — **जन्मेति**। अजस्य जन्मरहितस्य कर्मायत्तोत्पत्तिरहितस्य अकर्तुः प्राचीनकर्मानुरूपप्रवृत्तबुद्ध्यधीनकर्मरहितस्य आत्मनः सर्वान्तरात्मनः तव तिर्यगादिषु जन्म तत्सजातीयं कर्म च इति यत् तदत्यन्तविडम्बनमेव। अन्यथा अजस्य अकर्तुः आत्मनश्च तत्र घटत इति भावः। तत्र तिर्यक्षु वराहादिषु ऋषिषु भार्गवदत्तात्रेयकार्दमादिषु नृषु राघवयादवादिषु यादस्सु मत्स्यकूर्मादिषु जलौकस्सु विडम्बनमात्रम्॥ ३०॥

विडम्बनमात्रं चेदिदं न घटते इत्यभिप्रायेणाह — **गोपीति**। तावद्यथा त्वयि कृतं आगः अपराधः येन तथाभूते सति गोपी यशोदा दाम रज्जुं आददे त्वद्बन्धनार्थं परिजगृहे, तदा अश्रुभिः कलिलं कलुषितं अञ्जनं ययोस्ते सम्भ्रमे भयसूचकाटोपयुक्ते अक्षिणी यस्य तद्वक्त्रं निनीय उन्नीय उन्नाम्य। अश्रुकलिलेत्यादिक्रियाविशेषणं वा, अश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षं यथा तथा वक्त्रं निनीय प्रापय्य इत्यर्थः। यस्माद् यतः भीरपि बिभेति तस्य तव भयभावनया भयाभिनयेन स्थितस्य या दशा सा मां विमोहयति। अत्र भीशब्देन सर्वेषां भयहेतुः मृत्युः लक्ष्यते "भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः" (तैत्ति. उ. 2-8) इत्युक्तविधस्यां सम्भावितभयस्य तवेत्यर्थः। तावद्विमोहयति मूढां करोति। पश्चात्तु नरचेष्टानुकारमात्रमिदमिति ज्ञापयतीति तावच्छब्दाशयः॥ ३१॥

यतो विडम्बनमात्रं न तु तात्त्विकं अत एव त्वदवतारप्रयोजननिमित्तं च इदमेवेति निश्चेतुं अशक्त्या[17] तत्र नाना तर्कयन्तीत्याह — **केचिदिति** पञ्चभिः। केचित्त्वेदवतारप्रयोजननिर्णयप्रवृत्तानां[18] मध्ये[19] अजमपि त्वां प्रियस्य भक्तस्य पुण्यश्लोकस्य यदोः कीर्तये तद्वंशे जातमाहुः। यदुवंशकीर्तिजननाय तत्र त्वां जातमाहुरित्यर्थः। यथा मलयस्य पर्वतस्य कीर्तये चन्दनं जातं वदन्ति तद्वत् ॥ ३२ ॥

अपरे त्वत्र[20] साधुलोकस्य क्षेमाय सुरद्विषां वधाय च जातस्त्वं[21] वसुदेवस्य देवक्याम्। ताभ्यां पूर्वजन्मनि याचितः अभ्यगात्। पुत्रत्वं प्राप्त इत्याहुः। वसुदेवस्य इत्यपादानस्यैव शेषत्वविवक्षया षष्ठी ॥ ३३ ॥

---

1. A,B omit नः 2. A,B ईश्वर° 3. W °दा° 4. W कश्चित्त्व° 5 W स्व° 6. W इत्यतः 7. W कालात्रि° 8. A,B भिन्नतया निमित्तमिति सूचितम्। 9. A,B तो° 10 W भार्गवात्रेय° 11. W omits विडम्बनमात्रं 12 A,B न चेदं घटते 13. W °जग्राह 14. A,B उत्ताम्य 15. W त्वत्तः 16. A,B °स्याभयस्य 17. W °त्तास्तत्राना 18. A,B °त्त° 19 W निर्णयाय 20. W °स्य 21. W अजरूत्वं

**विज०** भगवत्स्मरणविरोधिसम्पत्परम्परायाः भगवद्दर्शनकरविपत्परम्परैव श्रेयसी भगवद्दर्शनहेतुत्वात्। अतः सम्पद्भ्यः[1] भगवद्दर्शनकरविपद एव अस्माकं सन्त्विति विज्ञापयति — **विपद** इति। हे जगत्पते! नः अस्माकं तत्र तत्र सांसारिकव्यापारेषु निरन्तरं विपदः सन्तु, यासु यासु विपत्सु अपुनर्भवं मोक्षं दर्शयतीत्यपुनर्भवदर्शनं भवतः दर्शनं स्यादिति यत् यस्मात् तस्मात् ताः स्युः इति वाक्यशेषः[2] ॥ २५ ॥

सम्पद्भ्यो विपदां श्रेयस्व कुत इति तत्राह — **जन्मेति**। अभिजनैश्वर्यशास्त्रश्रवणजनितविद्याधनश्रीमदैः वर्धमानमदः पुमान् अकिञ्चनानां परमहंसानां विषयं ज्ञातुं योग्यं त्वां इतीत्थं त्वां अभिधातुं वक्तुम्, उपलक्षणमेतत्; स्मर्तुं वा नार्हः। वै यस्मात् तस्मात् स्मरणहेतुविपद एव श्रेयस्यः सम्पद्भ्य इति भावः ॥ २६ ॥

श्रीकृष्णादन्यत् किञ्चन उपादेयं न विद्यते येषां ते अकिञ्चनाः ते एव वित्तं यस्य स तथा तस्मै। निवृत्ताः सत्त्वादिगुणानां वृत्तयः जाग्रदाद्यवस्था यस्मात् स तथोक्तः तस्मै। अकिञ्चनैः ज्ञाताय इति वा। निरन्तरं वृत्ताज्ञानादिगुणानां वृत्तिः स्थितिः यस्मिन् सः तथोक्तः तस्मै वा। अत एव आत्मनि आरमते इत्यात्मारामः तस्मै। आत्मनां चेतनानां आरामाय क्रीडाकृत्रिमभवनाय[3] अत एव शान्ताय सुखपूर्णाय अत एव कैवल्यपतये मुक्तिनाथाय नम इत्यन्वयः ॥ २७ ॥

न विद्येते आदिनिधने यस्य स तथा तं अनादिनिधनम्, अनस्य प्राणस्य जन्मलयकर्तारं इति वा। ईशं शिवमानयति चेष्टयतीति ईशानः, तं सर्वेश्वरं वा। जगच्चेष्टाशक्तिमन्तं वा। परं सर्वस्मात् अन्यं सर्वत्र स्वपरेषु समं यथायोग्यं चरन्तं त्वां कालं संहर्तारं मन्ये। कुरुपाण्डवादिभूतानां यत् यस्मात् त्वं मिथः अन्योन्यं कलिः कलहः तं त्वामिति वाक्यशेषः ॥ २८ ॥

समं चरन्तं इत्येतत् विवेचयति — **न वेद** इति। यस्य तव योग्यतातिरेकेण कर्हिचित् कश्चिद्दयितो नास्ति, कश्चित् द्वेष्यः नास्तीति शेषः। एवमपि यस्मिन् त्वयि नृणां असुरप्रकृतीनां मतिः विषमा। अर्जुनः अनुग्राह्यः, अयं

**दुर्योधनः** द्वेष्यः इति ताभ्यां उभाभ्यां **बहूपचितपुण्यद्वेषनिचयौ** अवगणय्य **हे भगवन्!** नृणां **विडम्बनं** अनुकरणं **ईहमानस्य** चेष्टमानस्य 'द्विषन्तं नैव भोजयेत्' (भार. 5-409-1) इत्यादिवचनात्, तस्य तव कश्चित्पुरुषः चिकीर्षितं कर्तुं **इष्टं** न वेद न जानातीत्येकान्वयः। अथवा लोके यस्मिन् पुंसि योग्यतातिरेकेण स्नेहद्वेषकारिणि नृणां मतिः विषमा **अस्य** दयितोऽयं अस्य द्वेषीति, न भवांस्तादृशः इत्यतः समचारीति वैदिका इति॥ २९॥

अधुना अनादिनिधनत्वं समर्थयते — **जन्मेति**। हे विश्वात्मन्! सर्वान्तर्यामिन्! अजस्य अजातस्य अनायासेन फलानपेक्षया अकर्तुः आत्मनः स्वामिनः तव तिर्यङ्नृपशुषु यादस्सु जलजन्तुषु यज्जन्म तज्जात्यनुकारि **कर्म च** तदतिशयेन विडम्बनं अतः अनादिनिधनः असीति भावः। अजस्य आत्मनः तिर्यगादिषु यज्जन्म अकर्तुः आत्मनः तज्जात्यनुसारि यत्कर्म तदुभयं अत्यन्तविडम्बनं इति वा योजना॥ ३०॥

इदं चातिविडम्बनं विदुषामपि मोहकं इत्यभिप्रेत्याह — **गोपीति**। त्वयि कृतागसि दधिभाण्डं भित्त्वा नवनीतापहारिणि सति यदा गोपी नाम्ना यशोदा नित्यमुक्तं त्वां बद्धुं दाम आददे तावत्तदा यं त्वां प्रति भीः सर्वजनस्य भयकारिणी दुर्गापि बिभेति यस्य भयभावनया अश्रुभिः कलिलं कलुषं अञ्जनं यस्य तत् तथोक्तं अश्रुकलिलाञ्जनञ्च तत् सम्भ्रमयुक्तं अक्षि यस्य तत् तथोक्तं वक्त्रं विनम्य अवाचीनतया कृत्वा स्थितस्य ते तव या **दशा** अवस्था सा मां विमोहयति इत्येकान्वयः। तस्मात् तदनुकरणं विदुषामपि मोहकं इति भावः॥ ३१॥

इदानीं एवंविधस्य तव देवक्यां जन्मानुकरणे निमित्तं विद्वांसोऽनेकधा वदन्तीति विज्ञापयति — **केचित् इत्यादिना**। केचित् विद्वांसः पुण्यकीर्तेः भगवद्भक्तस्य यदो राज्ञः अन्ववाये तस्य कीर्तये जातं त्वां आहुः इत्यन्वयः। **नाम्ना** मलयस्य पर्वतस्य कीर्तये चन्दनमिव॥ ३२॥

अपरे बुधाः देवैः याचितः अजः त्वं अस्य सज्जनस्य क्षेमाय सुरद्विषां वधाय च वसुदेवस्य सकाशात् देवक्यां अभ्यगात् आविर्भूत इति ब्रुवते॥ ३३॥

---

1. B,K,M भवद्दर्शन° 2 K,M वाक्यविशेषः 3 K,M वनाय 4. K,M तस्य

**रा॰ कृ॰** हे जगद्गुरो! यत् यत्र, अपुनर्भवदर्शनं पुनः संसारसन्दर्शनरहितं भवतः तव दर्शनं स्यात् भवेत् ताः विपदः नः अस्माकं तत्र तत्र सांसारिकेषु व्यापारेषु शश्वत् सदा सन्तु भवन्तु।

अहङ्कारममकारमयजीवितसन्निवेशेषु निरन्तरं अन्तर्यामिणः भगवतः प्रेरणां अनुसन्दधानाः भक्ताः तदनुग्रह-भाजः संसृतिं सन्तरन्ति। भक्तियोगविकसितविवेकवतां भागवतानां हि विपदोऽपि भगवत्प्रसादायन्ते॥ २५॥

किञ्च, जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिः जन्म सत्कुले प्रसूतिः, ऐश्वर्यं धनादिसम्पत्, श्रुतं विद्या, तेषां श्रीभिः समृद्धिभिः एधमानमदः वर्धमानमदः पुमान् अकिञ्चनगोचरं श्रीकृष्णादन्यत् न किञ्चन उपादेयं वस्तु येषां ते अकिञ्चनाः भागवताः, तेषां गोचरं त्वां अभिधातुं तव नाम वक्तुं नार्हति।

आभिजात्यैश्वर्याद्यभिमानिनः जनाः तन्मयं भगवन्तं आकलय्य तदर्थमेव तं प्रार्थयन्ते। अनन्यचित्तास्तु तदाभिजात्यादिकं सर्वमपि भगवन्मयं पश्यन्तः भगवत्येव समर्प्य भक्तिं अनन्यां भजन्ते। विना स्वभावसमर्पणं भगवान् अगोचर इति कुन्त्याः परमाशयः॥ २६॥

अकिञ्चनवित्ताय अकिञ्चनाः भक्ताः एव वित्तं सर्वस्वं यस्य तस्मै, निवृत्तगुणवृत्तये निवृत्ताः गुणवृत्तयः धर्मार्थकामविषयाः यस्मात् तस्मै आत्मारामाय आत्मनि आनन्दस्वरूपे रममाणाय शान्ताय शान्तचित्ताय कैवल्यपतये कैवल्यं दातुं समर्थाय भवते इति शेषः। नमो नमः।

अनन्यया भक्त्या भगवत्सन्निधिसाधका भक्ताः एव भगवतः वित्तभूताः। भगवांस्तावत् धर्मार्थ-कामसाध्यविषयशून्यः। ततश्च तदाश्रितानां निष्कामकर्माचरणपरायणानामपि धर्मादयः मोक्षसाधनपर्यवसायिनः एवेति गम्यते। आत्मारामपदेन निर्हेतुकानन्दस्वरूपः देव इति व्यज्यते। शान्तपदेन सङ्गरहित्यं सूच्यते। कैवल्यं च देशकालादिषु सर्वेष्वपि केवलात्मभावनैव; तां दातुं भगवानेव समर्थः तस्मात् अयं कैवल्यपतिः॥ २७॥

यत् येषु भावेषु भूतानां प्राणिनां मिथः परस्परं कलिः कलहः भवतीति शेषः। तेषु सर्वत्र समं चरन्तं त्वां ईशानं सर्वनियन्तारं अनादिनिधनं जननमरणरहितं विभुं सर्वव्यापकं कालं मन्ये।

सृष्टिधर्माणां अभिव्यञ्जकः परस्परसम्बन्धनिबन्धनः भगवतः व्यक्तरूपात्मकः कालः। सः अनादिनिधनः तदभिज्ञातुः जीवस्य जननात् प्राक् मरणात् पश्चादपि तस्य विद्यमानत्वात्। नहि मानदण्डेन मध्यवर्तिना कुड्यादिकस्य प्रमात्रा सर्वाभिव्यापकः आकाशः प्रमातुं शक्यते। सर्वक्षेत्रसाधारणं वर्षाजलं यथा कृष्यनुरूपं फलं प्रयच्छति तथैव भगवानपि जीवेभ्यः स्वभावानुगुणं फलं वितरति। तस्मादयं सर्वत्र समः॥ २८॥

हे भगवन्! यस्मिन् त्वयि नृणां मतिः विषमा विभिन्ना भवति यस्य च तव न कश्चित् दयितः प्रियः, कर्हिचित् कदापि द्वेष्यश्च भवति। तादृशस्य नृणां विडम्बनं अनुकरणं ईहमानस्य कुर्वतः तव चिकीर्षितं कश्चित् कोऽपि न वेद न जानाति॥ २९॥

हे विश्वात्मन्! विश्वरूप! अजस्य जन्मरहितस्य अकर्तुः अकर्मवश्यतया पुण्यपापयोः अकर्तुः आत्मनः सर्वान्तर्यामिणः तव तिर्यङ्ऋर्षियादस्सु वराहादिरूपेण तिर्यक्षु, रामादिरूपेण नरेषु, वामनादि रूपेण ऋषिषु, मत्स्यादिरूपेण यादस्सु जन्म कर्म च यदस्ति तदत्यन्तविडम्बनं अनुकरणमात्रमेव।

यदुक्तं "न वेद कश्चिद्भगवंश्चिकीर्षितं तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम्"(भाग. 1-8-29) इति। तत्रोच्यते कार्पासं यथाक्रमं सूत्रवस्त्रकूर्पासात्मना परिणतं पूर्वपूर्वस्थितिप्रत्यभिज्ञाविरहितं च केनापि देहिना धृतं मदीयं इदं कूर्पासमिति व्यवह्रियते। तच्च जर्जरितं सत् स्वं धृतवतो मनः व्यथयति। एवं विविधभूतशक्तिसम्मेलनवशात् उद्भूतः जीवः तच्छक्तिभिन्नं आत्मानं प्रत्यभिज्ञाय, स्वभिन्नैर्जनैः सम्बन्धं व्यवस्थाप्य, सुखदुःखादिकं अनुभवति। यद्यपि इयं नानादशावैचित्रीमयी दैवी माया भगवति प्रवर्तते; तथापि द्वन्द्वव्यवहितज्ञानेन तेन जीवेन सर्वान्तर्यामी भगवान् नैव स्मर्यते, भगवतस्त्वेषा क्रीडासाधनी माया तदधीनैव।

भगवतः तिर्यङ्नरर्षियादस्सु जन्मादिकं अत्यन्तविडम्बनम् इत्यत्र किञ्चिदुच्यते। अत्र भगवदवतारतत्त्वं निरूपितम्। वराहावतारः वराहादिनानाविधभूचरजन्तूत्पत्तिं, मत्स्यावतारः मत्स्यादिविविधजलचरोत्पत्तिं च सूचयति। एवं भगवान् स्वक्रीडानुसारेण प्रकृतिं उत्पाद्य तदनुरूपप्राणित्वेन अवतरति। नित्यं च वयं पश्यामो यत् तण्डुलेषु पत्रादिषु च तदनुगुणक्रिमिकीटकादीनां आविर्भावम्। एवमेव तत्तद्बीजात् तत्तद्वृक्षादीनां आविर्भावः दृश्यते। तथैव भूदेवलोकादिषु मानवदेवादीनां उत्पत्तिः भवति। सैषा सर्वा भगवतः अवतारलीला॥ ३०॥

गोपी यशोदा त्वयि कृतागसि कृतापराधे दधिभाण्डस्फोटनरूपापराधं कृतवति सति इत्यर्थः। दाम रज्जुं यावत् आददे जग्राह, तावत् तत्क्षणे एव अश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षं अश्रुभिः कलिलं व्याप्तिम्रं अञ्जनं ययोः ते सम्भ्रमान्विते अक्षिणी यस्मिंस्तद्वक्त्रं निनीय अधःकृत्वा भयभावनया आस्थितस्य यत् यस्मात् त्वत्तः भीरपि बिभेति। भयाभिमानदेवतापि त्रस्यति तथाभूतस्य ते तव या दशा वर्तत इति शेषः। सा अवस्था मां विमोहयति अद्यापीति शेषः॥ ३१॥

अजमपि त्वां प्रियस्य पुण्यश्लोकस्य युधिष्ठिरस्य कीर्तये यदोः अन्ववाये वंशे मलयस्य तन्नामकपर्वतस्य कीर्तये चन्दनमिव जातं त्वां केचिदाहुः॥ ३२॥

अपरे वसुदेवस्य देवक्यां याचितः; ताभ्यां पुरा सुतपःपृश्निरूपाभ्यां याचितः सन् अस्य विश्वस्य क्षेमाय, सुरद्विषां राक्षसानां वधाय च अजः कालकर्माद्यधीनजन्मरहितः त्वं अभ्यगाः पुत्रत्वं स्वीकृतवानसि इत्याहुः इति पूर्वेणान्वयः॥ ३३॥

**भारावतारणायान्ये भुवो नाव इवोदधौ।**
**सीदन्त्या भूरिभारेण जातो ह्यात्मभुवार्थितः॥ ३४॥**

**भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानां अविद्याकामकर्मभिः।**
**श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन॥ ३५॥**

**शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।**
**त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकम् भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्॥ ३६॥**

**अप्यद्य नस्त्वं स्वकृतेहितं! प्रभो! जिहाससि स्वित् सुहृदोऽनुजीविनः।**
**येषां न चान्यद्भवतः पदाम्बुजं परायणं राजसु योजितांहसाम्॥ ३७॥**

**के वयं नामरूपाभ्यां यदुभिस्सह पाण्डवाः।**
**भवतोऽदर्शनं यर्हि हृषीकाणामिवेशितुः॥ ३८॥**

**नेयं शोभिष्यते तत्र यथेदानीं गदाधर!**
**त्वत्पदैरङ्किता भाति स्वलक्षणविलक्षितैः॥ ३९॥**

**इमे जनपदाः स्फीताः सुपक्वौषधिवीरुधः ।**
**वनाद्रिनद्युदन्वन्तो ह्योधन्ते तव वीक्षितैः ॥ ४० ॥**

---

1. H,N,V °त° 2. AF,GF °ष्य इति 3. AF,GF वदन्त्य° 4. K,M,W °तः 5. W यज्जि° 6. K,M ते 7. K,M,W दर्शनं 8. H,V धात्री; W भूमिः 9. K,M °ताः

**श्रीध० भारेति** । आत्मभुवेति ब्रह्मप्रार्थनस्य प्राधान्यविवक्षया ॥ ३४ ॥

मतान्तरं **भव** इति । परमानन्दस्वरूपाज्ञानं अविद्या । ततो देहाद्यभिमानात् कामः, ततः कर्माणि तैः क्लिश्यमानानां तन्निवृत्तये श्रवणाद्यर्हाणि कर्माणि करिष्यन् ॥ ३५ ॥

अस्य पक्षस्य सिद्धान्ततां अभिप्रेत्य श्रवणादिफलमाह — **शृण्वन्तीति** । नन्दन्ति अन्यैः कीर्त्यमानं अभिनन्दन्ति ये जनाः तव ईहितं चरितं तावकं त्वदीयं पदाम्बुजं, त एव पश्यन्त्येव अचिरेणैव इति च सर्वत्र अवधारणम् । कीदृशम्? भवप्रवाहस्य जन्मपरम्पराया उपरमः यस्मिंस्तत् ॥ ३६ ॥

इदानीं तव अस्मत्परित्यागः अनुचितः इत्याशयेनाह — **अपीति** चतुर्भिः । हे प्रभो! सुहृदः अतिस्निग्धान् अनुजीविनश्च नः अस्मान् अद्यापि स्वित् किंस्वित् त्वं जिहासिसि येषां अस्माकं अन्यत् परायणं नैवास्ति । तत्कुतः । राजसु योजितं अंहो दुःखं यैस्तेषां स्वानां कृतं ईहितं अपेक्षितं येन तस्य सम्बोधनम् । विसर्गान्तपाठे त्वम्पदविशेषणम् ॥ ३७ ॥

ननु तव बन्धवः यदवः पुत्राश्च पाण्डवाः शूराः समर्थाश्च तत्किं कार्पण्यं भाषसे अत आह — **के वयम्** इति । यर्हि भवतोऽदर्शनं यदा त्वं अस्मान् न पश्यसि तदा नामरूपाभ्यां नाम्ना विख्यात्या रूपेण समृद्ध्या च यदुभिः सहिताः पाण्डवाः नाम के वयम्? न केऽपि; अतितुच्छा इत्यर्थः । हृषीकाणां इन्द्रियाणां ईशितुः जीवस्य अदर्शने यथा न किञ्चित् नाम च रूपं च तद्वत् ॥ ३८ ॥

**नेति** । किञ्च, यथेदानीं इयं अस्मत्पाल्या भूमिः स्वैः असाधारणैः वज्राङ्कुशादिभिः लक्षणैः विलक्षितैः चिह्नितैः त्वत्पदैः अङ्किता सती भाति तत्र तदा त्वयि निर्गते सति न शोभिष्यते ॥ ३९ ॥

**इमे** इति । अपि च इमे जनपदा देशाः स्फीताः सुसमृद्धाः सन्तः तव वीक्षितैः एधन्ते ॥ ४० ॥

---

1. H,V °नायाः 2. H,V श्रवणसङ्कीर्तनादिभिरेव त्वत्पदाम्बुजप्राप्तिरित्याह 3. H,V add किञ्च 4. H,V add निवारणं 5. H,V add हातुमिच्छसि 6. H,V add स्वाश्रितकृतसर्वापीष्ट इत्यर्थः । 7 B,H,V यादवाः

**वीर०** अन्ये तु उदधौ अर्णवे नाव इव भूरिभारेण सीदन्त्याः क्लिश्यन्त्याः भुवः भारापहाराय आत्मभुवा च चतुर्मुखेनार्थितः भगवान् जातः इत्याहुः ॥ ३४ ॥

केचन तु अस्मिन् लोके अविद्यादिभिः क्लिश्यमानानां जनानां श्रवणस्मरणाद्यर्हाणि चेष्टितानि करिष्यन् कर्तुं जात इत्याहुरित्यर्थः। अविद्या देहात्मभ्रमादेः निमित्तं अज्ञानम्। कामः तन्मूलकशब्दादिविषयाभिलाषः, कर्माणि तत्तदनुष्ठेयव्यापारात्मकानि ॥ ३५ ॥

अविद्यादिभिः क्लिश्यमानानां जनानां श्रवणाद्यर्हाणि इत्यनेन भगवच्चेष्टितानां क्लेशापहर्तृत्वं[2] सूचितम्। तच्च न साक्षात्, किन्तु संसृतिनिवर्तकभगवच्चरणारविन्दसाक्षात्कारावहभक्तियोगनिष्पादनद्वारा इत्यभिप्रायेण भगवच्चेष्टितश्रवणादिपराणां एतच्चरणाम्बुजसाक्षात्कारः नान्येषां इत्याह **शृण्वन्तीति**। ये जनाः तव ईहितं चेष्टितं शृण्वन्ति वक्तृसान्निध्ये गृणन्ति श्रोतृसान्निध्ये तदुभयासन्निधौ च स्वयं गायन्ति स्मरन्ति नन्दन्ति। त एव भवप्रवाहस्य संसारप्रवाहस्य उपरमः यस्मात् तत्तावकं[3] त्वदीयं पदाम्बुजं अचिरेण पश्यन्ति ॥ ३६ ॥

तदेवं संस्तुत्य अधुना प्रयाणं उपसंहर इति सूचयितुं त्वत्पदाम्भोजैकशरणान्[4] अस्मान् हातुं उत्सहसे किम्? इति काकाऽऽह — **अपीति** षड्भिः। स्वकृते स्वार्थे त्वमपीहितः ईहितः किम्? प्रवृत्तः किम् इत्यर्थः। यत् यस्मात् हे प्रभो! सुहृदः अनुजीविनः मृत्यांश्च नः अस्मान् अधुना जिहाससि स्वित् हातुं इच्छसि हि। त्यागानर्हतां सूचयितुं आत्मनो विशिनष्टि। येषां भगवतः पदाम्बुजात् अन्यत् परायणं श्रेयः प्रापकं प्राप्यं च नास्ति। अत एव राजसु राज्ञां मध्ये योजितहंसां[5] योजितदुःखानां[6] येषां अन्यत् परायणं नास्ति तानस्मानित्यन्वयः ॥ ३७ ॥

सर्वमिदं निर्हेतुकया त्वत्कृपयैव सम्पन्नं, नत्वस्मद्गतगुणनिरीक्षणेन इत्यभिप्रायेणाह — **क** इति। नामरूपाभ्यां उपलक्षितस्य इति शेषः। मनुष्यसजातीयनामरूपाभ्यां उपलक्षितस्य तव दर्शनं हृषीकाणां इन्द्रियाणां ईशितुः करणाधिपस्य क्षेत्रज्ञस्य दर्शनमिव यर्हि यदा येषां जातं ते पाण्डवा वयं यदुभिस्सह के? न केऽपि। न केनापि त्वद्दर्शनहेतुना गुणेन युक्ताः, किन्तु त्वत्कृपयैव इत्थं जातमिति भावः। ते वयं नामरूपाभ्यां क इति वा अन्वयः। *न त्वद्दर्शनहेतुना ऋष्यादिनाम्ना तापसादिरूपेण चान्विता इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

हे गदाधर! अधुना इयं भूमिः स्वैः स्वासाधारणैः लक्षणैः चिह्नैः ध्वजवज्राङ्कुशादिरेखारूपैः विलक्षिता[7] अभिज्ञैः त्वत्पदैः अङ्किता सती भाति तथा तत्र त्वद्गमनानन्तरकालेन शोभिष्यते हि ॥ ३९ ॥

तव वीक्षितैरेव इमे जनपदा देशा अधुना स्फुद्धाः सुसमृद्धाः। स्फुद्धत्वमेवाह सुपक्वौषध्यो[9] वीरुधः गुल्मानि च येषु तथा वनानि च अद्रयश्च नद्यश्च उदन्वन्तः कमलाकराश्च[8] तद्वत् वर्धन्ते हि ॥ ४० ॥

---

1. W जज्ञे 2. W °हन्तृत्वं 3. W तस्माता° 4. W °म्बु° 5. W जितांहसां 6. W जितदुःखानां *A,B किन्त्वदर्शना ऋष्यादिनाम्ना तापसादिरूपेण वा अन्विता इत्यर्थः। Here W's version is adopted as shown above 7. W °विलक्षितानि तैः 8. W सुपक्वा ओषध्यः 9. W जला°

**विज०** अन्ये प्राज्ञा उदघौ हिरण्याक्षादिभूरिभारेण[1] सीदन्त्या आसन्नमज्जनाया नाव इव दुस्सहासुरजनभारेण परिखिन्नायाः भुवः आत्मभुवा[2] प्रार्थितः भारावतारणाय जातोऽसि इत्याचक्षते ॥ ३४ ॥

केचन पण्डिताः अस्मिन् भवे संसारे आविद्याकामकर्मभिः क्लिश्यमानानां दुःखेन परिभूयमानानां श्रवणार्हाणि नामानि स्मरणार्हाणि रूपाणि करिष्यन् अवातरत् इति वदन्ति ॥ ३५ ॥

कर्मणां श्रवणस्मरणैः किं फलं इति तत्राह — **शृण्वन्तीति**। ये जनाः तव ईहितं चेष्टितं अभीक्ष्णशः शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति स्मरन्ति नन्दन्ति ते एवाचिरेण क्षिप्रं भवप्रवाहोपरमं संसारप्रवाहस्य उपरमः निवृत्तिः विनाशः यस्मिन् तत् तावकं पदाम्बुजं पश्यन्तीत्येकान्वयः। तस्मात् त्वत्कर्मश्रवणादिफलं मुक्तिरेव इति भावः ॥ ३६ ॥

स्वात्मादिभ्यः अत्यन्तहितकरत्वात् त्वद्विरहः अस्माकं अतिदुस्सहः इत्यभिप्रेत्याह — **अप्यद्योति**। प्रभो! राजसु योजितांहसां कृतापराधानां येषां अस्माकं भवतः पदाम्बुजात् अन्यत् परायणं नास्ति, त्वं ता[1] सुहृदः अनुजीविनः किङ्करान् त्वद्भुक्तभोजनसिक्थसेविनः नोऽस्मान् जिहाससि अपिस्वित् द्वारकागमनव्याजेन त्यक्तुमिच्छसि किंस्वित्? कीदृशस्त्वं? स्वकृतेहितः स्वतन्त्रचेष्टितः स्वार्थे भृत्यार्थे हितो वा भृत्यप्रयोजनाय कृतचेष्टो वा। चशब्दः एवार्थे ॥ ३७ ॥

तत्कुत इति तत्राह — **त** इति। यदा ईशितुः इन्द्रियस्वामिनः दर्शनं तदैव हृषीकाणां इन्द्रियाणां दर्शनादिशक्तिः अन्यदा नास्तीति यथा तथा यदूनां अस्माकं यर्हि यदा भवतः दर्शनं यदा ते तव सकाशात् यदुभिः सह पाण्डवाः कथं नामरूपाभ्यां युधिष्ठिरादिनाम्ना शुक्लादिरूपेण च युक्ता इति शेषः इत्यन्वयः। यदा येषां यदूनां अस्माकं च भवतः दर्शनं तदा ते यादवाः वयं पाण्डवाश्च ते वयं नामरूपवन्त इति वा। के वयं इति केचित् पठन्ति। यर्हि भवतः अदर्शनं तदा नाम्ना यशसः बलेन रूपेण बलकोशाद्यात्मना यदुभिस्सह वयं के, असत्कल्पा एवेति। तस्मात् त्वद्विरहः अस्माकं मरणकल्पः इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

भो गदाधर! इयं राजधानी इदानीं ध्वजादिलक्षणैः विशेषेण चिह्नितैः त्वत्पदैः अङ्किता यथा भाति, त्वयि द्वारकां गते तथा न शोभिष्यत इत्येकान्वयः। अथवा इयं भूः त्वत्पदैरङ्किता यथा भाति त्वयि वैकुण्ठं गते तथा न शोभिष्यते इति वा। न केवलं अस्माकमेव त्वद्गमनं दुःखकरं, एषां जनपदादीनामपीत्याह — **इम** इति। इमे जनपदादयः तव सन्निधानात् सुष्ठु रुद्राः त्वत्कारुण्यामृतदृष्ट्या वीक्षिता एधन्ते हि यस्मात् इत्येकान्वयः ॥ ३९,४० ॥

---

1. K,M हिरण्यादि ° 2. K,M add ब्रह्मणा

रा० कृ० आसन्नमज्जनायाः नाव इव भूरिभारेण दुष्टजनभारेण सीदन्त्याः, अन्ये, भूरिभारेण उदधौ समुद्रे सीदन्त्याः भुवः भारावतरणाय आत्मभुवा ब्रह्मणा अर्थितः प्रार्थितस्सन् भवान् जातो हीति आहुरिति पूर्वेणान्वयः ॥ ३४ ॥

केचन अस्मिन् भवे संसारे अविद्याकामकर्मभिः अज्ञानमूलककामकृतपुण्यपापरूपकर्मभिः क्लिश्यमानानां पीड्यमानानां श्रवणस्मरणार्हाणि तादृशसंसारक्लेशनिवर्तकश्रवणस्मरणयोग्यानि कर्माणीति शेषः। करिष्यन् भवान् जातः इत्याहुरिति पूर्वेणैवान्वयः।

पञ्चेन्द्रियपरितृप्तिसाधनानि अविद्याकामकर्माणि, यदनुष्ठानेन प्राणिनः यज्ञार्थकर्मभ्रष्टाः स्वार्थैकपरायणाः पापिनः भवन्ति। निष्कामकर्मरूपं यत् ज्ञानादिकमपि स्वर्गादिफलेच्छया पशुबलिप्राधान्येन च परिणामविरसमेव। ईदृशकर्मानुष्ठानविपदः लोकमुद्धर्तुं समर्थानि भगवता कृतानि श्रवणाद्यर्हाणि कर्माणीति भावः॥ ३५॥

ये जनाः अभीक्ष्णशः नैरन्तर्येण तवेहितं चरितं वक्तरि सति शृण्वन्ति गायन्ति रसाविभविन स्वयं गायन्ति। गृणन्ति श्रोतरि सति कीर्तयन्ति स्वयं स्मरन्ति। नन्दन्ति अन्यैः कीर्त्यमानं अभिनन्दन्ति। त एव जनाः अचिरेण शीघ्रमेव भवप्रवाहोपरमं जननमरणादिपरम्परानिवर्तकं तावकं त्वदीयं पदाम्बुजं पश्यन्ति।

भक्तियोगेनैव भौतिकशरीरधारिण्यपि भगवति दिव्यत्वमनुभवितुं शक्यते। तदैव जन्मकर्मबन्धच्छेदः। न खलु मार्गान्तरैः प्रत्ययविषयीभवति परमेश्वरस्य भौतिकी तनुः॥ ३६॥

राजसु दुर्योधनादिषु योजितांहसां कृतपापानां येषां अस्माकमिति शेषः। भवतः पदाम्बुजात् अन्यत् परायणं च शरणं च नैवास्ति। तादृशान् सुहृदः अनुजीविनः तवेति शेषः। नः अस्मान् स्वकृतेहित! स्वाश्रितेभ्यः कृतसर्वाभीष्ट! हे प्रभो! त्वं अद्य अपिस्वित् किमिति हेतोः जिहाससि हातुमिच्छसि?॥ ३७॥

हृषीकाणां इन्द्रियाणां ईशितुरिव प्राणभूतस्य जीवस्येव भवतः अदर्शनं दर्शनाभावः यर्हि यदा भवतीति शेषः। तदा नामरूपाभ्यां यदुभिश्च सह सहिताः पाण्डवाः वयं के? न केऽपि। व्यर्था इत्यर्थः॥ ३८॥

हे गदाधर! इयं अस्मत्पालनीया भूमिः स्वलक्षणविलक्षितैः स्वीयैः असाधारणैः वज्राङ्कुशादिभिः लक्षणैः विलक्षितैः चिह्नितैः त्वत्पदैः तव चरणविन्यासैः अङ्किता सती यथा इदानीं भाति तत्र तदा त्वयि निर्गते सति न शोभिष्यते॥ ३९॥

तव वीक्षितैः इमे जनपदाः सुपक्वौषधिवीरुधः सुष्ठु पक्वाः ओषधयः व्रीह्यादयः वीरुधः द्राक्षादिलताश्च येषां ते तथोक्ताः स्वृद्धाः सुसमृद्धाः सन्तः एधन्ते वर्धन्ते। तथा वनाद्रिनद्युदन्वन्तः वनपर्वतनदीसमुद्राश्च वर्धन्ते॥ ४०॥

**अथ विश्वेश! विश्वात्मन्! विश्वमूर्ते! स्वकेषु मे।**
**स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढं पाण्डुषु वृष्णिषु॥ ४१॥**

**त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत्।**
**रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति॥ ४२॥**

**श्रीकृष्ण! कृष्णसख! वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य!**
**गोविन्द! गोद्विजसुरार्तिहरावतार! योगेश्वराखिलगुरो! भगवन्नमस्ते॥ ४३॥**

**सूत उवाच**

**पृथयेत्थं कलपदैः परिणूताखिलोदयः।**
**मन्दं जहास वैकुण्ठो मोहयन्निव मायया॥ ४४॥**

तां बाढमित्युपामन्त्र्य प्रविश्य गजसाह्वयम् ।
स्त्रियश्च स्वपुरं यास्यन् प्रेम्णा राज्ञा निवारितः* ॥ ४५ ॥

व्यासाद्यैरीश्वरेहाज्ञैः कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ।
प्रबोधितोपीतिहासैर्नाबुध्यत शुचार्पितः ॥ ४६ ॥

आह राजा धर्मसुतश्चिन्तयन् सुहृदां वधम् ।
प्राकृतेनात्मना विप्राः स्नेहमोहवशं गतः ॥ ४७ ॥

---

1. AF,GF °तां तद्वत् 2. K,M वृष्णिवृष्ण्यवनि° 3. H,V °हु° 4. K,M °नामस्वन्द्य° 5. H,V °गी° 6. K,M °गी° 7. K,M मोहयन् योग°
8. W प्रविशत् * Here this chapter ends in K & M. 9. W °र्नाबुध्यत् 10. AF,GF °र्दि°

**श्रीध०** गमने पाण्डवानामकुशलम् अगमने च यादवानां इत्युभयतः व्याकुलचित्ता सती तेषु स्नेहनिवृत्तिं प्रार्थयते **अथेति**। विश्वेश! इत्यादीनि सम्बोधनानि स्नेहपाशच्छेदे सामर्थ्यख्यापनाय। दृढं संन्तम् ॥ ४१ ॥

ततः किं, अत आह **त्वयीति**। अनन्यविषया सती मे मतिः रतिं उद्वहतात्। अनवच्छिन्नां प्रीतिं करोत्वित्यर्थः। ओघं पूरम्। यथा गङ्गा प्रतिबन्धं न गणयति एवं मतिरपि विघ्नान् मां गणयत्विति भावः ॥ ४२ ॥

एवं अभ्यर्थ्य पुनः प्रणमति **श्रीकृष्णेति**। हे श्रीकृष्ण! ते नमः। उपकारान् अनुस्मरन्ती बहुधा सम्बोधयति। कृष्णसख! अर्जुनस्य सखे! वृष्णीनामृषभ! श्रेष्ठ! अवन्यै भूम्यै द्रुह्यन्ति ये राजन्याः तेषां वंशस्य दहन! एवमपि अनपवर्गवीर्य! अक्षीणप्रभाव! गोविन्द! प्राप्तकामधेन्वैश्वर्य! गोद्विजसुराणां आर्तिहरः अवतारः यस्य इति ॥ ४३ ॥

**पृथयेति**। कलानि मधुराणि पदानि येषु तैः वाक्यैः परिणुतः स्तुतः अखिलः उदयः महिमा यस्य सः। णु स्तुतौ इत्यस्मात्। परिणुत इति वक्तव्ये दीर्घः छन्दोऽनुरोधेन। मन्दं ईषत्। तस्य हास एव माया। वक्ष्यति हि "हास्यो जनोन्मादकरी च माया" (भाग. 2-1-31) इति ॥ ४४ ॥

**तामिति**। त्वयि मे अनन्यविषया मतिः इति यत् प्रार्थितं तद् बाढं इत्यङ्गीकृत्य रथस्थानात् गजसाह्वयमागत्य पश्चात् तां च अन्याश्च सुभद्राप्रमुखाः स्त्रियः उपामन्त्र्य अनुज्ञाप्य स्वपुरं यास्यन् राज्ञा युधिष्ठिरेण प्रेम्णा अत्रैव कञ्चित्कालं निवसेति सम्प्रार्थ्य निवारितः ॥ ४५ ॥

अथ भीष्मनिर्याणोत्सवं वक्तुं उपोद्घातकथां प्रस्तौति **व्यासेति**। व्यासाद्यैः प्रबोधितोऽपि शुचा व्याप्तस्सन् नाबुध्यत विवेकं न प्राप। कुतः? ईश्वरेहाया: अज्ञैः स्वभक्तभीष्मनिर्याणमहोत्सवाय राज्ञा सह कुरुक्षेत्रं गन्तव्यं तत्र तन्मुखेनैवायं प्रबोधनीय इति ईश्वराभिप्रायः कार्यद्वयविधायकः तं अजानद्भिः इत्यर्थः। श्रीकृष्णेनापि प्रबोधितः नाबुध्यत। अत्र हेतुः अद्भुतकर्मणेति। यथा कुरुपाण्डवसन्धानार्थं गतोऽपि यथोचितमेव वदन्नपि विग्रहमेव दृढीकृतवान् एवमत्रापि प्रबोधयन् अबोधमेव दृढीचकार इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

अबोधमेव प्रपञ्चयति — **आहेति** षड्भिः। प्राकृतेन अविवेकव्याप्तेन आत्मना चित्तेन हे विप्राः! ॥ ४७ ॥

---

1. H,V °माकुलम् 2. H,V सततम् 3. B,H,V न 4. H,V °ति; बहु° 5. H,V प्रकटीकृतः 6. H,V add इति ज्ञेयः 7. H,V add पश्चात् 8. H,V °हया

**वीर०** मदभिप्रायं जानास्येव इत्यभिप्रायेण सम्बोधयन्तीत्याह। अथशब्दः प्रश्नद्योतकः। हे विश्वेश! सर्वान्तःकरणनियन्तः! हे विश्वात्मन्! सर्वान्तरात्मन्! विश्वशरीरक! स्वकेषु पाण्डवेषु मे मयि विभक्तिव्यत्यय आर्षः। वृष्णिषु यादवेषु चेमं दृढं स्नेह एव पाशः तं छिन्धि[1]। यद्वा वृष्णिषु पाण्डवेषु च त्वत्सनेहपाशः[2] इत्यभिप्रायेण मे इत्युक्तम् ॥ ४१ ॥

तदेवं[3] व्यञ्जयन्ती प्रार्थयते **त्वयीति**। हे मधुपते! यादवानामेव माधवा इति नामान्तरं तच्च नवमे स्फुटीभविष्यति। त्वय्यनन्यविषया त्वदितराविषया मम मतिः असकृत् अद्धा[4] उदन्वति समुद्रे गङ्गाजलौघमिव उद्वहतात्। यथा गङ्गा समुद्रमप्राप्यैव[5] स्वजलौघं वोढुमक्षमा समुद्रं प्राप्यैव स्वजलौघं वहति, एवं त्वां अप्राप्य रन्तुं अक्षमा मे मतिः त्वय्येव रतिं उद्वहतात् इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

स्वाभिप्रेतविज्ञप्त्यनुमता "अञ्जलिः परमा मुद्रा क्षिप्रं देवप्रसादनी" (भा. सं.) इत्युक्तविधाञ्जलिरेव उपायः, न ततोऽन्यः अस्तीत्यभिप्रायेण केवलमितरसाधारणगुणविशिष्टं[7] सम्बोध्य नमस्करोति — **श्रीकृष्णेति**। हे श्रीकृष्ण! सर्वलोकसुखकर! कृष्णोऽर्जुनः तस्य सखा कृष्णसखः। तत्सम्बोधनम्। वृष्णीनामृषभ! श्रेष्ठ! अवनिद्रुहां अवन्युपलक्षितलोकोपद्रवकारिणां राजन्यानां वंशस्य दहनः यथा वेणूनां दहनः अग्निः नाशकः तद्वद्राजन्यकुलनाशकः! अनपवर्ग अनन्त वीर्य यस्य हे गोविन्द! गवां द्विजानां सुराणां च आर्तिहरः अवतारः यस्य योगेश्वर! सूक्ष्मदर्शिन्! अखिलगुरो! हितोपदेष्टः! ॥ ४३ ॥

इत्थं कलानि मधुराणि पदानि वचांसि तैः पृथया कुन्त्या कर्त्र्या परिणूतः परिगीतः अखिलः उदयः महिमा यस्य स वैकुण्ठः श्रीकृष्णः मायया हासात्मिकया आश्चर्यशक्त्या लोकं मोहयन्निव मन्दं ईषत् जहास हसितवान् मन्दमिति क्रियाविशेषणम् ॥ ४४ ॥

तावत् स्वपुरं यातुमुद्युक्तो भगवांस्तां पृथां अन्यः स्त्रीश्च बाढं ओं इत्युपामन्त्र्य अङ्गीकारपूर्वकं अनुज्ञाप्य प्रेम्णा राज्ञा युधिष्ठिरेण च निवारितः गजसाह्वयं हस्तिनापुरमेव पुनः प्राविशत्। प्रविश्येति पाठे प्रविश्य तत्रैव कञ्चित्कालं उवासेति शेषः ॥ ४५ ॥

तदा ईश्वरेहाज्ञैः ईश्वरचेष्टाभिज्ञैः व्यासाद्यैः अद्भुतं कर्म चेष्टितं यस्य तेन श्रीकृष्णेन भगवता च इतिहासैः प्रतिबोधितोपि धर्मसुतः अत एव शुचार्पितः[10] नाबुध्यत[11] कालस्य गतिः ईदृशीति न विजज्ञे ॥ ४६ ॥

किन्तु हे विप्राः! बन्धुषु स्नेहमोहयोः वशं प्राप्तः। अत एव प्राकृतेन देहे तदनुबन्ध्यादिप्रवणेन आत्मना मनसा सुहृदां वधमेव चिन्तयन् धर्मसुतः राजा युधिष्ठिरः अब्रवीत् ॥ ४७ ॥

---

1. W adds अथ छिन्धि किम्? 2. W adds त्वयि तु मत्स्नेहपाशः 3. W °व 4. W adds तत्त्वतः 5. W adds न 6. W °दुं क्षमा 7. W °मनितरसाधा° 8. W °नं 9. W °कं 10. W adds बन्धुनाशजशुचार्पितः 11. W नान्वबुध्यत्

**विज०** पाण्डवयादवेषु भागवतत्वेन स्नेह आवश्यक इति जानन्त्यपि पुत्रमित्रादिस्नेहः संसारहेतुत्वात् हेयः इति ज्ञापयितुं आह **अथेति**। अथ अनन्तरं एतदनुगृहाण। किं तदिति, हे विश्वेश! विश्वात्मन्! विश्वव्यापिन्! विश्वमूर्ते! अनन्तविग्रह! स्वकेषु स्वीयत्वेनाभिमतेषु पाण्डवेषु पाण्डवसम्बन्धिषु यादवेषु च मम गाढं पुत्रमित्रादिस्नेहपाशं छिन्धीत्यन्वयः। पुत्रादिस्नेह एव च्छेद्यो न तु भागवतस्नेहः, तस्य शास्त्रे कर्तव्यत्वेन विहितत्वात् इत्यभिप्रेत्य उक्तं इममिति॥ ४१॥

न केवलं विषयविरक्त्या अलं किन्तु त्वयि अनपायिनीं रतिं त्वं वितरेत्याह **त्वयीति**। हे मधुपते! आनन्दनाथ! नान्यविषया रुद्रादिविषया अनन्यविषया ओघं जलप्रवाहवेगं उदन्वति समुद्रे॥ ४२॥

स्तुतिमुपसंहरति — **श्रीकृष्णेति**। श्रिया अतसिकाकुसुमसदृश्या कृष्ण! नीलवर्ण! कृष्णसख! अर्जुनसख! वृष्णिवृषभ! वृष्णिकुलश्रेष्ठ! वृष्णिवत् मेघवत् भक्ताभिमतवर्षण! "वृष्णिः कुलविशेषेतु वर्षन्मेघेऽपि कथ्यते" इत्यभिधानम्। अवनिद्रुहां भूकण्टकानां राज्ञां वंशं अन्वयं दहतीति अवनिधुग्राजन्यवंशदहन! अवनिधुग्राजन्याख्यवेणु-दाहक! इति वा तस्य सम्बुद्धिः। अवनिधुग्राजन्यवंशदहन! अमरवन्द्यवीर्य! देवस्तुत्यपराक्रम! गोविन्द! वेदवाणीलब्धविभव! गवां द्विजानां सुराणां आर्तिहरः अवतारः यस्य स तथोक्तः, तस्य सम्बुद्धिः गोद्विजसुरार्तिहराव-तार! योगैश्वर्ययुक्ताखिलगुरो! यथायोग्यं ज्ञानोपदेशकर्तः! ते तुभ्यं नम इत्यन्वयः॥ ४३॥

विकुण्ठा नाम काचिदृषिपत्नी। तत्पुत्रत्वेन जातः। वैकुण्ठपुरनाथोऽपि वैकुण्ठ इति वा। पृथया कुन्त्या कलपदैः स्त्रीत्वाव्यक्तवर्णमधुरपदैः योगमायया स्वरूपशक्त्या॥ ४४॥

यत्त्वदभीष्टं तत् तथास्त्विति बाढमिति तामुक्त्वा द्रौपदीपूर्वाः स्त्रियश्च द्वारकां गमिष्यामीत्युपामन्त्र्य गङ्गातीरात् गजसाह्वयं प्रविश्य स्वपुर द्वारकां यास्यन् गमिष्यन् प्रेम्णा सम्प्रति न गन्तव्यमिति राज्ञा निवारितः पाण्डववात्सल्यात् तत्रैवावात्सीदित्येकान्वयः ॥ ४५॥

स्वानन्दानुभवलक्षणो मोक्षः सकलपुरुषार्थोत्तमः। स च भगवदपरोक्षज्ञानलब्धविष्णुप्रसादलभ्य इत्ययमर्थः प्रतिपाद्यते अस्मिन्नध्याये। तत् ज्ञापयितुं उपोद्घातं रचयति **व्यासाद्यै** रित्यादिना। स्वराज्ये अभिषिक्तोऽपि ज्ञातितदनुबन्धिव-धात् पापबुद्ध्या राज्यानिच्छुः युधिष्ठिरो राजा नाबुध्यत अयं धर्म इति ज्ञानं नावैदित्यन्वयः कथम्भूतः? ईश्वरस्य ईहां सृष्ट्यादिलक्षणां चेष्टां जानन्तीति ईश्वरेहाज्ञाः तैः व्यासाद्यैः मुनिभिः अद्भुतपराक्रमेण कृष्णेन च इतिहासैः पुरावृत्तकथाविशेषैः प्रकर्षेण बोधितोऽपि ज्ञात्यादिमरणनिमित्तशुचा आविद्धः॥ ४६॥

इत्थं बोधितोऽपि धर्मेऽधर्मबुद्धिः किं चकारेति तत्राह **आहेति**। हे विप्राः! शृणुतेति शेषः। प्राकृतेनात्मना धर्माधर्मविवेकविधुरेण मनसा तत्कारणमाह — स्नेहात् जातः मोहः भ्रमः स्नेहमोहः तस्य वशङ्गतः। तस्मात् तन्निमित्तमाह सुहृदां ज्ञातितदनुबन्धिना वधमहर्निशं चिन्तयन् धर्मसुतः इत्थं आह इत्येकान्वयः स्नेहमोहवशङ्गतः इत्यनेन धर्मात्मनः धर्मसुतस्य कथं धर्मे हरिविमुखदुष्टतदनुबन्धिवधलक्षणे तु अधर्मत्वशङ्का अभूदित्येतत् दूरतोऽपास्तम्॥ ४७॥

---

1. K,M °दव्यक्त° * Here ends the 8th Chapter in K & M

रा० कृ० अथ अस्या दशायां हे विश्वेश! सवजगन्नियामक! विश्वात्मन्! सर्वान्तरात्मन्! विश्वमूर्ते! विश्वरूप! स्वकेषु स्वीयेषु पाण्डुषु पाण्डवेषु वृष्णिषु दृढं इमं मे स्नेहपाशं छिन्धि मंहर।

स्वपुत्रानुभूतक्लेशस्मारकस्य स्नेहपाशस्य कृष्णचरणकमलध्यानान्तरायत्वेन तच्छेदं प्रार्थयते कुन्ती। इयं च कुन्तीप्रार्थना स्थिरजीवनसुखितसन्ततीनां अपि संसारसक्तचेतसां प्राणिनां भगवद्भक्तिसूचनैव॥ ४१॥

हे मधुपते! यादवविभो! अनन्यविषया अनन्यंगामिनी गङ्गा उदन्वति सागरे ओघमिव प्रवाहमिव अनन्यविषया विषयान्तरसङ्कल्परहिता मे मतिः अद्धा साक्षात् त्वयि असकृत् निरन्तरं रतिं प्रीतिं उद्वहतात् उत्कर्षेण वर्धमानां करोतु।

यथा गङ्गा यत्र कुत्रापि सञ्चरिता अन्ते सागरेण सङ्गता भवति तथा ममापि मतिः त्वयि भगवति लग्ना भवत्विति कुन्त्याशयः॥ ४२॥

श्रीकृष्ण! कृष्णसख! अर्जुनमित्र! वृष्ण्यृषभ! वृष्णिश्रेष्ठ! अवनिधुग्राजन्यवंशदहन! भूमिद्रोहिराजवंशवैश्वानर! अनपवर्गवीर्य! अक्षीणप्रभाव! गोविन्द! सम्प्राप्तकामधेन्वैश्वर्य! गोद्विजसुरार्तिहरावतार! योगीश्वर! अखिलगुरो! भगवन्! ते नमः।

गोधान्यादिग्रामसहजसम्पदं कृत्रिमधनाधिकारबलेन विनाशयितुं कंसः प्रायतत। तस्मात् तस्य तदाश्रयात् जरासन्धशिशुपालादीनां अपि अवनीद्रोहित्वम्। ततश्च कृष्णः तेषां अवनीधुग्राजन्यानां संहाराय निमित्तमभूत्। भगवतः वंशदहनत्वरूपेण न तत्कृतकंसादिदुष्टवधः तज्जीवितसन्निवेशैः कार्यकारणसम्बन्धानुगत इति व्यज्यते। तथाहि वेणुवनप्रविष्टः अग्निः इतस्ततः विजृम्भमाणः सर्वमेव काननं दहति॥ ४३॥

पृथया कुन्त्या कलपदैः मधुरशब्दैः इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण परिणूताखिलोदयः संस्तुताखिलमहिमा वैकुण्ठः श्रीकृष्णः मायया मोहयन्निव मन्दं जहास हसितवान्।

अत्र भगवतो मन्दहासः तन्मायायाः जगन्मोहिन्याः सूचकः। माया लोकव्यवहारहेतुभूता परमेश्वरक्रीडासाधनी नैव दुष्टा। सा च स्वस्याः ईश्वरपरतन्त्रतां अभिजानतां अकिञ्चित्करा। अन्येषां तु बाधिका। यैश्चापि इयं लोके बान्धव्यादिबन्धकारणम्। तथापि विना परस्परानुबन्धं जीवानां न भगवत्प्रेमतत्त्वास्वादावकाशः। ततश्च भगवान् वासुदेवः नानाविधानुभवमाधुर्यमहितस्वसर्वान्तर्यामित्वज्ञानप्रदानेन जीवान् अनुग्रहीतुं तेषु मायां विस्तारयति॥ ४४॥

स्वपुरं यास्यन् भगवान् वासुदेवः तां इत्थं कथयन्तीं कुन्तीं स्त्रियश्च अन्या महिलाश्च बाढं इत्युपामन्त्र्य अङ्गीकारपूर्वकं अनुज्ञाप्य गजसाह्वयं हस्तिनापुरं प्रविश्य राज्ञा धर्मराजेन प्रेम्णा निवारितः अभवदिति शेषः॥ ४५॥

ईश्वरेहाज्ञैः भगवदभिप्रायानभिज्ञैः व्यासाद्यैः महर्षिभिः अद्भुतकर्मणा कृष्णेन इतिहासैः पुरावृत्तैः प्रबोधितोऽपि धर्मजः शुचार्पितः शोकेन व्याप्तस्सन् नाबुध्यत विवेकं न प्राप ॥ ४६ ॥

हे विप्राः! प्राकृतेन अविवेकपूरितेन आत्मना मनसा सुहृदां मित्रबान्धवादीनां वधं चिन्तयन् स्नेहमोहवशं गतः तेषु सुहृत्सु स्नेहप्रयुक्तकिङ्कर्तव्यतामौढ्ययुक्तस्सन् धर्मसुतो राजा युधिष्ठिरः आह वक्ष्यमाणरीत्या जगाद ॥ ४७ ॥

**अहो मे पश्यताज्ञानं हृदि रूढं दुरात्मनः ।**
**पारक्यस्यैव देहस्य बह्वो मेऽक्षौहिणीर्हताः ॥ ४८ ॥**

**बालद्विजसुहृन्मित्रपितृभ्रातृगुरुद्रुहः ।**
**न मे स्यान्निरयान्मोक्षो ह्यपि वर्षायुतायुतैः ॥ ४९ ॥**

**नैनो राज्ञः प्रजाभर्तुर्धर्मयुद्धे वधो द्विषाम् ।**
**इति मे न तु बोधाय कल्पते शासनं वचः ॥ ५० ॥**

**स्त्रीणां मद्धतबन्धूनां द्रोहो योऽसाविहोत्थितः ।**
**कर्मभिर्गृहमेधीयैर्नाहं कल्पो व्यपोहितुम् ॥ ५१ ॥**

**यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम् ।**
**भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति ॥ ५२ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
प्रथमस्कन्धे कुन्तीस्तुतियुधिष्ठिरानुतापो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

---

1 K,M °धर्मो; H,V °धर्मे 2. K,M शाश्वतं 3. K,M °हान्वितः 4 K,M °हय° 5 H,V,W °ल्यो 6. AF,GF पङ्कोत्थं; W पङ्कानां; WF पङ्कङ्कं, पङ्कङ्कः 7 H,V °वैनां; K,M °वैतां 8. H,K,M,V यज्ञो मा°

**श्रीध० अहो** इति। पारक्यस्यैव श्वशृगालाद्याहारस्यैव देहस्यार्थे। मे मया। अक्षौहिणीः अक्षौहिण्यः। [1]अक्षौहिणीप्रमाणन्तु व्यासेनोक्तम्— "अक्षौहिणी प्रसङ्ख्याता रथानां द्विजसत्तमाः। सङ्ख्यागणनतत्त्वज्ञैः सहस्राण्येकविंशतिः॥ शतान्युपरि चैवाष्टौ तथा भूयश्च सप्ततिः। गजानाञ्च प्रसङ्ख्यानमेतदेव प्रकीर्तितम्॥ ज्ञेयं शतसहस्रन्तु सहस्राणि नवैव तु। नराणामपि पञ्चाशच्छतानि त्रीणि चैव हि॥ पञ्च षष्टिसहस्राणि तथाश्वानां शतानि च। दशोत्तराणि षट्प्राहुः सङ्ख्यातत्त्वविदो जनाः॥ एतामक्षौहिणीं प्राहुः यथावदिह सङ्ख्यया" इति ॥ ४८ ॥

**बालेति।** सुहृदः सम्बन्धिनः। मित्राणि सखायः। पितरः [2]पितृव्याः ॥ ४९ ॥

स्मृत्याद्यनुशासनाद्धर्मयुद्धे न दोष इति चेत्तत्राह **नैनो राज्ञ** इति। द्विषां वधः एनः पापं न भवतीति यच्छासनं शिक्षारूपं वचः कुतः न[2] कल्पते? यतस्तद्वचः प्रजाभर्तुरेव। अयं भावः स्वप्रजानामन्यतो[4] बाधे प्रसक्ते तद्बधोऽनुज्ञातः। दुर्योधनेन तु प्रजायां पाल्यमानायां मया केवलं राज्यलोभेन हतत्वात् पापमेवेदमिति॥ ५०॥

**स्त्रीणामिति**। किञ्च, युद्धे पुंसां वधो भवतु नाम धर्मः, **स्त्रीणां** तु मया हता बन्धवः यासां तासां योऽसौ द्रोहः अनुद्दिष्टोर्युत्थितः[5] तं व्यपोहितुं अपाकर्तुं कल्पः[6] समर्थो नाहम्[7]। गृहमेधीयैः गृहाश्रमविहितैः॥ ५१॥

ननु "सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद" (तैत्ति. सं. 5-3-12) इति श्रुतेः पापमश्वमेधेन नश्येदेवेत्याशङ्क्याविवेकविजृम्भितं हेतुवादमाश्रित्य निराकरोति **यथेति**। यथा घनपङ्केन[8] पङ्काम्भो न मृज्यते, यथा वा सुरालेपवृतं[9] अपवित्रं[10] बह्व्या सुरया न मृज्यते तथैव भूतहत्यामेकां[11] प्रमादतः जातां बुद्धिपूर्वहिंसाप्रायैर्यज्ञैः[12][13] मार्ष्टुं शोधयितुं नार्हतीति॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां अष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

---

1 H,V add आर्षत्वात् प्रथमार्थे द्वितीया। 2 H.V add अत्र 3. H,V नु 4. H,V °मप्यन्यतो 5. H.V °प्युपस्थितः 6. H.V °त्यः 7 H,V न भवामि। 8 B,H,V omit घन° 9. A,B °शं° 10. H,V अपवित्रत्वं 11. H,V °नां 12. B °पूर्वक° 13. H °प्रायो यज्ञो

**वीर०** तदेवाह यावत्समाप्ति। अहो दुरात्मनः मम हृदि रूढं अज्ञानं पश्यत। तदेव दर्शयति पारक्यस्य शृगालादिभक्ष्यस्य देहस्यैव देहसुखार्थमेव मे मया बह्व्यः अक्षौहिणीः अक्षौहिण्यः हताः॥ ४८॥

बालादिद्रुहः बालादिहन्तुः मम वर्षायुतानां अयुतैरपि निरयान्मोक्षः न हि भवेत्॥ ४९॥

ननु "शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्" (भ. गी. 18-43) "धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते" (भ. गी. 2-31) इत्यादिशास्त्रैः धर्म्ययुद्धस्य धर्मत्वावबोधनात् त्वं[1] हतान् प्रति किं शोचसे इत्यत आह **नेति**। प्रजाभर्तुः प्रजापोषणाधिकृतस्य राज्ञः युद्धे द्विषां वधः धर्मादनपेतः नैनः न पापं, किन्तु धर्म एवेति यदनुशासनात्मकं वचः भगवद्वचः तन्मम बोधाय विवेकाय न कल्पते विवेकं जनयितुमसमर्थमित्यर्थः। धर्म्ययुद्धस्य[2] धर्मत्वेऽपि तदनुबन्धितया महतः पापस्यैव प्राप्तत्वात् इति भावः॥ ५०॥

ननु धर्मार्थं यतमानस्यावर्जनीयतया प्रसक्तमपि पापं वर्णाश्रमधर्मैरपोहितुं शक्यमेव। "धर्मेण पापमपनुदति" (म. ना. उ. 17-6) इति शास्त्रात् इत्यत आह **स्त्रीणामिति**। मया हता बन्धवः पतयः यासां तासां **स्त्रीणां** योऽसौ द्रोहः[3] पापात्मकः इह धर्मयुद्धे प्रवृत्ते मय्युत्थितः तमहं गृहमेधीयैः गृहाश्रमिणः कर्तव्यैः धर्मैः व्यपोहितुं न कल्पः[4] न प्रभुः। बहुकालानुभाव्यफलो विपुलो द्रोहः अल्पकालनिर्वर्त्यैः गृहमेधीयैः कर्मभिः नापोहितुं कल्पः[5] कर्मणा कर्मनिर्हारश्च अयुक्त इति भावः॥ ५१॥

एतदेव सदृष्टान्तमुपपादयति **यथेति**। पङ्काङ्गं सपङ्कमङ्गं पङ्केनैव यथा मार्ष्टुं शोधयितुं नार्हति लोकः, यथा च सुराकृतं सुराकृतदोषदूषितं भाण्डं पुनः सुरयैव मार्ष्टुं नार्हति तथा यज्ञैरेकामपि भूतहत्यां न मार्ष्टुमर्हति। पङ्काङ्क इति पाठे पङ्काङ्कितपादाद्यवयवः पुमान् पङ्केनैव आत्मानं मार्ष्टुं नार्हति तद्वदित्यर्थः। पङ्काङ्कमिति द्वितीयान्तपाठे पङ्कस्याङ्को यस्मिंस्तदङ्गं पङ्केन मार्ष्टुं नार्हति तद्वत् ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

---

1 W तत्र 2 B,W °र्म्य° 3 W adds तद्विषयको यो द्रोहः 4 W °त्यः 5 W °त्यः 6 W °कलित° 7 A,B यतः

**विज°** किमाहेति तत्राह **अहो** इति। मे हृदि रूढं अङ्कुरितं अज्ञानं तत्तु पश्यत। अहो आश्चर्यम्। कथं मे पारक्यस्य परकीयस्य श्वशृगालभोग्यस्य मे देहस्यार्थे बह्व्यः अक्षौहिणीः अक्षौहिण्यः हता एव यस्मात्तस्मात् इति शेषः ॥ ४८ ॥

तत्फलमाह **न मे** इति। मे निरयान्मोक्षः वर्षाणामयुतायुतैः न स्याद्धि। कथम्भूतस्य मे? बालान् सौभद्रादीन् द्विजान् द्रोणादीन् सुहृदः द्रुपदादीन् मित्राणि धनदानेनेष्टान् भटविशेषान् पितॄन् भूरिश्रवःप्रभृतीन् भ्रातॄन् दुर्योधनादीन् गुरून् भीष्मादीन् द्रोहितवान् हिंसितवानिति बालद्विजसुहृन्मित्रपितृभ्रातृगुरुधुक् तस्य ॥ ४९ ॥

प्रजाभर्तुः प्रजापालकस्य राज्ञः हरिद्विषां वधो नैनः पापं न भवति, प्रत्युत युद्धे वैरिणां राज्ञां वधो धर्मः धर्मसाधनं इति यत् "यः पदातिं हन्ति स भवति चातुर्मास्ययाजी" इत्यादि शाश्वतं नित्यं वेदवचः मे बोधाय भ्रमं निरस्य यथार्थज्ञानाय न कल्पत इत्यन्वयः। तुशब्द एवार्थे ॥ ५० ॥

कुतो न कल्पत इति तत्राह **स्त्रीणामिति**। मद्धतबन्धूनां मया हता बन्धवो यासां ताः तथा तासां मन्निमित्तहता बन्धवो यासामिति वा स्त्रीणाम्। योऽसौ द्रोहो हिंसालक्षणः वैधव्यप्राप्त्या मय्यन्वितः सम्पृक्तः तमहं हयमेधीयैः अश्वमेधसम्बन्धिभिः कर्मभिः व्यपोहितुं न कल्पो न समर्थ इत्येकान्वयः ॥ ५१ ॥

तत्र दृष्टान्तमाह — **यथेति**। पङ्काम्भः कर्दमजलं पङ्केन कर्दमेन युक्तं द्रव्यं शोधयितुं यथा न शक्नोति, यथा सुरा सुरया मिश्रीकृतं दोषं व्यपोह्य, शुद्धं कर्तुं न शक्ता स्वयमशुद्धत्वात्, तथैव यज्ञः हिंसादिरूपत्वात् एतां भूतहत्यां मार्ष्टुं मार्जयितुं नार्हतीत्येकान्वयः। ज्ञानपक्षमाश्रित्य युधिष्ठिरेण यज्ञः निन्दितः न तु अकर्तृकत्वबुद्ध्या, "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः" (भ. गी. 4-24) इत्यादौ ब्रह्मार्पणबुद्ध्या कर्तव्यत्वेन विहितत्वात्, "कर्मणा ज्ञानमातनोति" इत्यादेश्च ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां प्रथमस्कन्धे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

रा० कृ० अहो दुरात्मनः मे हृदि रूढं अज्ञानं पश्यत, यत् पारक्यस्य परकीयस्य शृगालादिभक्ष्यस्ये-त्यर्थः। देहस्य कृते बह्व्यः अक्षौहिणीः अक्षौहिण्यः मे मया हता निहताः॥ ४८॥

बालद्विजसुहृन्मित्रपितृभ्रातृगुरुद्रुहः बालादीनां घातुकस्य मे मम वर्षायुतायुतैरपि निरयात् नरकात् मोक्षः निस्तारः न स्यात्॥ ४९॥

धर्मयुद्धे द्विषां वधः राज्ञः एनः पापं न भवतीति यत् शासनं शिक्षारूपं वचः, तन्मे बोधाय विवेकाय न कल्पते समर्थं न भवति। कुत इति चेत् तद्वचः प्रजाभर्तुरेव प्रजाभरणशीलस्यैव विषये सार्थकं भवतीति शेषः॥ ५०॥

मद्धतबन्धूनां मया हता बन्धवः यासां तासां स्त्रीणां योसौ द्रोहः इह उत्थितः अनुद्दिष्टोप्युपस्थितः तं तद्द्रोहजन्यं कलुषं गृहमेधीयैः गृहस्थाश्रमविहितैः हिंसाप्रायैः कर्मभिः व्यपोहितुं दूरीकर्तुं अहं न कल्पः न समर्थः॥ ५१॥

यथा पङ्केन पङ्काम्भः कर्दमजलं न मृज्यते, सुरया वा सुराकृतं अपवित्रत्वं न मृज्यते तथैव एनां भूतहत्यां यज्ञैः हिंसामयैः मार्ष्टुं शोधयितुं न कोऽप्यर्हति योग्यो भवति।

गीतोपदेशात् प्राक् अर्जुनेन यः विषादः अनुभूतः सोऽयं मोहजातः अधुना धर्मजेनाप्यनुभूयते। उक्तं च भगवता "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।" (भ. गी. 3-27) इति॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां व्याख्यायां
अष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

# नवमोऽध्यायः

## सूत उवाच

इति भीतः प्रजाद्रोहात् सर्वधर्मविवित्सया ।
ततो विशनं[3] प्रागाद्यत्र देवव्रतोऽपतत् ॥ १ ॥

तदा ते[4] भ्रातरस्सर्वे सदश्वैस्स्वर्णभूषितैः ।
अन्वगच्छन् रथैर्विप्रा व्यासधौम्यादयस्तथा ॥ २ ॥

भगवानपि विप्रर्षे! रथेन सधनञ्जयः ।
स तैर्व्यरोचत नृपः कुबेर इव गुह्यकैः ॥ ३ ॥

दृष्ट्वा निपतितं भूमौ दिवश्च्युतमिवामरम् ।
प्रणेमुः पाण्डवा भीष्मं सानुगास्सह चक्रिणा ॥ ४ ॥

तत्र ब्रह्मर्षयस्सर्वे देवर्षयश्च सत्तम[7]!
राजर्षयश्च तत्रासन् द्रष्टुं भरतपुङ्गवम् ॥ ५ ॥

पर्वतो नारदो धौम्यो भगवान् बादरायणः ।
बृहदश्वो भरद्वाजस्सशिष्यो रेणुकासुतः ॥ ६ ॥

वसिष्ठ इन्द्रप्रमदस्त्रितो गृत्समदोऽसितः ।
कक्षीवान् गौतमोऽत्रिश्च कौशिकोऽथ सुदर्शनः ॥ ७ ॥

अन्ये च मुनयो ब्रह्मन्! ब्रह्मरातादयोऽमलाः ।
शिष्यैरुपेता आजग्मुः कश्यपाङ्गिरसादयः ॥ ८ ॥

---

1. W °बुभुत्सया 2 H.K.M.V.W विशसनं 3. K.M.W °या° 4 H.K.M.V तद्° 5. W °जाः 6 H.V तथा देवर्षिसत्तमाः 7 B °माः 8 H.V °त्स्व° 9. H.V का°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

युधिष्ठिराय भीष्मेण सर्वधर्मनिरूपणम् ।
कृष्णस्तुतिश्च मुक्तिश्च नवमे तस्य वर्ण्यते ।[1]

यदर्थं तस्य विवेकः श्रीकृष्णेन संवर्धितः तद्दर्शयति — **इति** इति । सर्वेषां धर्माणां विवित्सया वेदितुमिच्छया[2] विशसनं[3] कुरुक्षेत्रं देवव्रतो भीष्मः ॥ १ ॥

**तदेति**। सन्तः श्रेष्ठाः अश्वाः येषु तैः रथैः ॥ २, ३ ॥

**दृष्टेति**। सानुगाः परिवारसहिताः ॥ ४ ॥

**तत्रेति**। तत्र तदा तत्रासन्। तत्क्षणं एव आगता इत्यर्थः। भरतपुङ्गवं भीष्मम् ॥ ५ ॥

**पर्वत** इति। रेणुकासुतः परशुरामः ॥ ६ ॥

**वशिष्ठ** इति। कौशिको विश्वामित्रः ॥ ७ ॥

**अन्य** इति। ब्रह्मरातः शुकः आङ्गिरसो बृहस्पतिः ॥ ८ ॥

---

1 H.V श्रीकृष्णस्य स्तुतिर्मुक्तिः 2 H.V वेतु° 3 A.B विनशनं 4 A.B °णमेव

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ततः इतीत्थं प्रजाद्रोहाद्भीतो युधिष्ठिरः स्वर्म्यान् धर्मान् बोद्धुमिच्छया विशसनं विशसिता हिंसिता यत्र बन्धवः तद्विशसनं कुरुक्षेत्रं, प्रायात् प्रतस्थे। विशसनं विशिनष्टि यत्र देवव्रतो भीष्मोऽपतत् भीष्मात् धर्मान् बोद्धुं प्रययावित्यर्थः ॥ १ ॥

तदा तस्य युधिष्ठिरस्य भ्रातरो भीमादयस्सर्वे सन्तोऽश्वा येषां तैः, स्वर्णभूषितै रथैरन्वगच्छन्। तथा हे विप्राः! व्यासधौम्यादयश्च अन्वगच्छन् ॥ २ ॥

हे विप्रर्षे! सधनञ्जयः सार्जुनो भगवान् श्रीकृष्णोऽपि रथेनान्वगच्छत् तदा स नृपो युधिष्ठिरो व्यरोचत यथा गुह्यकैर्यक्षैः कुबेरस्तद्वत् ॥ ३ ॥

दिवः स्वर्गात् च्युतममरमिव स्थितं भूमौ निपतितं भीष्मं दृष्ट्वा सानुगाः सभृत्याः पाण्डवाः चक्रिणा श्रीकृष्णेन सह प्रणेमुः ॥ ४ ॥

तत्र भरतपुङ्गवं भरतवंशश्रेष्ठं देवर्षिप्रभृतय आसन् आगत्य स्थितवन्तः ॥ ५ ॥

तानेव कांश्चिदाह — **पर्वत** इति द्वाभ्याम्। रेणुकासुतो भार्गवो रामः। कौशिको विश्वामित्रः ॥ ६, ७ ॥

हे ब्रह्मन्! अन्ये च, ब्रह्मरातः आदिर्येषां ते अमला मुनयः शिष्यैरुपेताः कश्यपादयश्च आजग्मुः ॥ ८ ॥

---

1 A.B स्वाज्ञातधर्मान् 2 A.B °श्य°

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

**प्रजाद्रोहात्** इति। भीतो युधिष्ठिरः सर्वधर्मज्ञानेच्छया ततो हस्तिनपुरात् विशसनं युद्धस्थानं कुरुक्षेत्रं प्रायात्, तत्रापि यत्र देवव्रतो भीष्मोऽपतत् इत्येकान्वयः ॥ १ ॥

तस्य युधिष्ठिरस्य भ्रातरो भीमादयः सन्तः प्रशस्ता अश्वा येषां ते तथा तैः। तथा व्यासादयो विप्राः अन्वगच्छन्नित्यन्वयः ॥ २ ॥

सधनञ्जयः सार्जुनो गुह्यकैर्यक्षैः कुबेरो वैश्रवणः। व्यरोचत अराजत। रुच दीप्तौ ॥ ३ ॥

सह चक्रिणा कृष्णेन सहिताः दिवः स्वर्गात् च्युतं समागतं देवमिव द्योतमानम् ॥ ४ ॥

तत्र तदा सर्वे देवर्षयो नारदादयो ब्रह्मर्षयो व्यासादयः राजर्षयो विश्वामित्रादयः। भरतपुङ्गवं भीष्मं द्रष्टुमायाता आसन्नित्यन्वयः ॥ ५ ॥

तेषां नामान्याह — **पर्वत** इत्यादिना। रेणुकासुतः श्रीपरशुरामः ॥ ६ ॥

कौशिको विश्वामित्रः ॥ ७ ॥

ब्रह्मरातः शुकः, पर्वताद्या आङ्गिरसान्ता मुनयः आजग्मुरित्यन्वयः ॥ ८ ॥

---

1 A.B द्विजाः 2 A.B स्व°

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

इति पूर्वोक्तप्रकारेण प्रजाद्रोहात् द्रोहजनितात् पापादित्यर्थः। भीतः युधिष्ठिरः सर्वधर्मविवित्सया सर्वेषां धर्माणां वेदितुमिच्छया, ततो हस्तिनापुरात् यत्र देवव्रतो भीष्मः अपतत् तत् विनशनम्, विशसनमित्यपि पाठः। कुरुक्षेत्रं प्रागादगच्छत् ॥ १ ॥

तदा तद्भ्रातरस्तस्य युधिष्ठिरस्य भ्रातरस्सर्वे सदश्वैः योग्याश्वैः स्वर्णभूषितैः सुवर्णालङ्कृतैः रथैः अन्वगच्छन् युधिष्ठिरमिति शेषः। तथा व्यासधौम्यादयः विप्रा अन्वगच्छन् ॥ २ ॥

हे विप्रर्षे! भगवानपि श्रीकृष्णोऽपि सधनञ्जयः अर्जुनसहितः रथेन धर्मजम् अन्वगच्छदिति शेषः। स नृपः युधिष्ठिरः तैः भ्रात्रादिभिस्सहितः गुह्यकैः यक्षैस्सहितः कुबेर इव व्यरोचत व्यराजत ॥ ३ ॥

भूमौ निपतितमत एव दिवः स्वर्गात् च्युतं निपतितममरमिव स्थितं भीष्मं दृष्ट्वा सानुगाः सानुचराः पाण्डवाः चक्रिणा श्रीकृष्णेन सह प्रणेमुः प्रणामं चक्रुः ॥ ४ ॥

तत्र तदा सर्वे ब्रह्मर्षयः भृग्वादयः, तथा देवर्षिसत्तमाः नारदादयः, राजर्षयश्च भरतपुङ्गवं भरतकुलश्रेष्ठं भीष्मं, द्रष्टुं तत्र आसन् समागता इत्यर्थः ॥ ५ ॥

हे! ब्रह्मन्! पर्वतः, नारदः, धौम्यः भगवान् बादरायणो व्यासः, बृहदश्वः, भरद्वाजः सशिष्यः रेणुकासुतः परशुरामः, वशिष्ठः, इन्द्रप्रमदः, त्रितः, गृत्स्नमदः, असितः, कक्षीवान्, गौतमः, किञ्च अत्रिः कौशिकः अथ सुदर्शनः अपि चान्ये ब्रह्मरातादयः अमला मुनयः शिष्यैरुपेताः। काश्यपाङ्गिरसादयः तत्रऽऽजग्मुरागताः ॥ ६, ७, ८ ॥

तान् समेतान् महाभागानुपलभ्य वसूत्तमः ।
पूजयामास धर्मज्ञो देशकालविभागवित् ॥ ९ ॥

कृष्णं च तत्प्रभावज्ञ आसीनं जगदीश्वरम् ।
हृदिस्थं पूजयामास माययोपात्तविग्रहम् ॥ १० ॥

पाण्डुपुत्रानुपासीनान् प्रश्रयप्रेमसङ्गतान्[2] ।
अभ्यांचष्टानुरागास्रैरन्धीभूतेन चक्षुषा ॥ ११ ॥

भीष्म उवाच

अहो कष्टमहोऽन्याय्यं यद्यूयं धर्मनन्दनाः[5] ।
जीवितुं नार्हथ क्लिष्टं[6] विप्रधर्माच्युताश्रयाः ॥ १२ ॥

संस्थितेऽप्रतिरथे[7] पाण्डौ पृथा बालप्रजा वधूः ।
युष्मत्कृते बहून्[8] क्लेशान् प्राप्ता तोकवती मुहुः[9] ॥ १३ ॥

सर्वं कालकृतं मन्ये भवतां च यदप्रियम् ।
सपालो[10] यद्वशे लोको वायोरिव घनावलिः ॥ १४ ॥

यत्र धर्मसुतो राजा गदापाणिर्वृकोदरः ।
कृष्णोऽस्त्री गाण्डिवं[11] चापं सुहृत्कृष्णस्ततो विपत् ॥ १५ ॥

नह्यस्य कर्हिचिद्राजन्! पुमान् वेद विधित्सितम्[12] ।
यद्विजिज्ञासया युक्ता मुह्यन्ति[13] कवयोऽपि हि ॥ १६ ॥

---

1 K M °ग उ° 2 K.M °त्र° 3 H.V °भ्य° 4 I °श्रै° 5 H.K.M.V.W °न! 6 AF.GF कृच्छ्रं 7 AF.GF विरथे 8. K,M बहुक्ले° 9 K.M यथा 10 H.K.M.V.W का° 11 H.V °वक्षापः 12 B चिकित्सितम् 13 N °न्ते

**श्रीध० तानिति**। वसूत्तमो भीष्मः देशकालविभागवित् इत्युत्थातुमशक्यत्वात् शयान एव मनसा वाचा च पूजयामासेत्यभिप्रायः ॥ ९ ॥

**कृष्ण** मिति। हृदिस्थं सन्तं पुरतश्चासीनं पूजयामास ॥ १० ॥

**पाण्डुपुत्रानिति**। उपासीनान् समीप उपविष्टान् प्रश्रयो विनयः, प्रेम स्नेहः, ताभ्यां सङ्गतान् उपपन्नान्[2] पाठान्तरे ताभ्यां सत्रतान् अवनतान् अभ्यंचष्ट[3] अभ्यभाषत। अनुरागास्रैः स्नेहाश्रुभिः, अन्धीभूतेन चक्षुषा उपलक्षितो ददर्शेति वा ॥ ११ ॥

अभिभाषणमाह — **अहो** इत्येकादशभिः। हे धर्मनन्दन! विलष्टं यथा भवत्येवं जीवितुं नार्हथ यूयमिति यदेतदहो कष्टं जुगुप्सितम्। अहो अन्याय्यं चैतत्। यतो यूयं विप्राः धर्मोऽच्युतश्चाश्रयो येषां ते॥ १२॥

**किञ्च, संस्थितेति**। पाण्डौ संस्थिते मृते बालाः प्रजाः पुत्राः यस्यास्सा। वधूश्चेति दैन्यं दर्शितम्। तोकान्यपत्यानि तद्वती। अपत्यैस्सह क्लेशान् प्राप्तेत्यर्थः॥ १३॥

कालकृतत्वेन शोकं वारयति — **सर्व**मिति द्वाभ्याम्। भवतामपि। यद्वशे यस्य वशे वर्तते॥ १४॥

अहो दुर्घटघटनापटुः काल इत्याह — **यत्रेति**। कृष्णोऽर्जुनः। अस्त्री धन्वी। ततः तत्रापि विपत्। पुष्पशारीरबलास्त्रनैपुण्यशस्त्रदैवसम्पत्तावपि दुर्वारा विपदित्यर्थः॥ १५॥

ननु श्रीकृष्णं कथं कालोऽतिक्रमेत् इत्यपेक्षायामाह — **नहीति**। न ह्यस्य श्रीकृष्णस्य इत्यङ्गुल्या निर्दिशति। विधित्सितं कर्तुमिष्टम्। यत् यस्य विधित्सितस्य विजिज्ञासया॥ १६॥

---

1. B,H,V omit देश ..... प्रायः 2 A,B °स° 3. A,B °ध्या° 4. A,B °नाः 5 A,B वशवर्ती॥ १४॥ 6 A °देव°; B °देवता° 7. B दर्शयति

**वीर**० तान् ब्रह्मर्षिप्रभृतीन् समेतान् समुदितानुपलभ्य अभिज्ञाय धर्मज्ञो देशकालाभिज्ञश्च वसूत्तमो भीष्मः यथार्हं पूजयामास पूर्वजन्मनि वसुत्वात् वसूत्तम इत्युक्तम्॥ ९॥

तथा कृष्णं च तत्प्रभावाभिज्ञो हृदिस्थं पूजयामास ध्यानेन हृदिस्थं कृत्वा मानसैरुपचारैः पूजयामासेत्यर्थः। कथम्भूतम्? आसीनमग्रत उपविष्टं जगदीश्वरं मायया सङ्कल्परूपज्ञानेन उपात्तो विग्रहो यस्य तम्॥ १०॥

तत्र उपासीनान् उपविष्टान् अनुवर्तमानान् प्रश्रयेण विनयेन प्रेम्णा च सङ्गतान् पाण्डुपुत्रान् अनुरागास्रैः अनुरागजैरश्रुबिन्दुभिः अन्धीभूतेन चक्षुषा अध्याचष्ट ददर्श, उवाच च। चक्षेरुभयार्थकत्वात् अत्र तन्त्रेणोभयमपि विवक्षितम्॥ ११॥

तत्रोक्तिमाह — **अहो** इति द्वादशभिः। हे धर्मनन्दन! अहो इदं कष्टं जीवनमन्याय्यमिति च्छेदः। सन्धिरार्षः। "ओत्" (अष्टा. 1-1-15) इति प्रकृतिभावौचित्यात्। यद्यस्माद्विप्रा धर्मोऽच्युतो भगवांश्चाश्रयो येषां ते। विप्राद्यनुवर्तिनो यूयं विलष्टं कृच्छ्रं यथा तथा जीवितुं नार्हथ॥ १२॥

अतिरथे पाण्डौ संस्थिते प्रेते सति बालाः प्रजाः पुत्राः यस्यास्सा वधूश्च पृथा कुन्ती तोकवती अपत्यवती सत्यपि युष्मदर्थे बहून् मुहुर्मुहुः क्लेशान् प्राप्ता हि॥ १३॥

भवतां यदप्रियं दुःखमभूत् एतत्सर्वं कालकृतं कालोद्बुद्धदैवकृतं मन्ये। कोऽसौ कालः, यत्कृतं मदप्रियम् तत्राऽऽह — वायोर्वशे मेघपङ्क्तिरिव यस्य वशे सर्वो लोको वर्तते स एव कालः॥ १४॥

अत्यन्तासम्भावितमिदमभवदिति विस्मयते — यत्रेति। यत्र धर्मसुतादयः तत्र विपदिति तत् चित्रमित्यर्थः। आद्यः कृष्णशब्दोऽर्जुनपरः, द्वितीयस्तु भगवत्परः; तद्विशेषणं सुहृदिति। धर्मसुतादीनां सुहृत् स्त्रीशब्देन कृष्णा स्त्री द्रौपदी विवक्षिता। धर्मसुतादीनामन्यतम एव सर्वविपक्षक्षपणक्षमे सति सम्भूय सर्वेषामवस्थानेऽपि विपदभवदिति एतदतिचित्रमिति, इदं सर्वं कालकृतमेवेति भावः। सुहृत् कृष्ण इत्यनेन सुहृदपि कृष्णः कालमेव अन्ववर्ततेति सूचितम्। "द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च। यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया॥" (भाग. 2-10-12) इत्युक्तविधस्य तत्रापि भवतामतीव सुहृदः कृष्णस्य विपन्निमित्तकर्मोद्बोधकालानुवर्तित्वादिवोपेक्षा सङ्गता नान्यथेत्याशयः॥ १५॥

ननु यद्वशे लोकः सं कालोऽपि श्रीकृष्णायत्तसत्तादिमांश्चेत्तर्हि कालानुवृत्त्या किमस्य चिकीर्षितमित्यत्राह — नेति। हे राजन्! अस्य कृष्णस्य विधित्सितं चिकीर्षितं न कोऽपि पुमान् वेद। अवेद्यत्वज्ञापनाय विधित्सितं विशिनष्टि, यस्य विधित्सितस्य जिज्ञासया युक्ताः सहिताः विधित्सितं ज्ञातुं प्रवृत्ताः कवयो ब्रह्मादयोऽपि मुह्यन्ति॥ १६॥

---

1 A.B ह्यभिसंपू' 2. A.B 'वत्वात् 3. A.B 'श' 4. A.B omit तत् 5. W सकलोऽपि

विज० महाभागो वसूत्तमो भीष्मः समेतान् सङ्गतान् नृपादीनुपलक्ष्य दृष्ट्वा मनसा प्रतिगम्य वा पूजयामास। कथम्भूतः? देशकालविभागवित् देशः कुरुक्षेत्रं कालः शरतत्पशयनलक्षणः तयोर्विभागमौचित्यं वेत्तीति प्रत्युत्थानादिवन्दनादिपूजायाम् अशक्तत्वात् मानसीं वाचिकीं आञ्जलिकीं वा पूजां कृतवानित्यर्थः। अन्यत्र तद्देशकालविभागं जानातीति धर्मज्ञः, आपत्सम्पद्धर्मौ जानातीति धर्मज्ञः। धर्मशब्दवाच्यं भगवन्तं जानातीति वा धर्मज्ञः॥ ९॥

कृष्णं च पूजयामासेत्येकान्वयः। कथम्भूतः? तस्य कृष्णस्य प्रभावं सामर्थ्यं जानातीति तत्प्रभावज्ञः। कथम्भूतम्? तत्रासीनं जगत ईश्वरं मायया स्वेच्छया पितृत्वेनाङ्गीकृतवसुदेवशरीरं हृदि मनसि स्थितं ध्यानलक्षणोपासनया शरीरमध्ये पुण्डरीककर्णिकायां दीपवद्दीप्यमानं वा॥ १०॥

प्रश्रयगुणेन प्रेमगुणेन सम्यक् तान् समीपे निषण्णान् पाण्डोः पुत्रान् तेषु अनुरागयुक्तैरस्त्रैः बाष्पैः अन्धीभूतेन चक्षुषा युक्तः "इत्थम्भूतलक्षणे तृतीया" (अष्टा. 2-3-27) इति सूत्रात्। अभ्याचष्ट आह आभिमुख्येन अपश्यदित्यन्वयः॥ ११॥

भो! धर्मनन्दन! युधिष्ठिर! यूयं क्लिष्टं क्लेशयुक्ततया जीवितुं नार्हथ। विप्रादिष्वेकोऽपि सुखजीवनाय अलं किमु बहुत्वमित्यभिप्रायेणोक्तं विप्रधर्माच्युताश्रया इति यत् क्लिष्टं जीवथ, तत् कष्टमन्याय्यमहो आश्चर्यादप्याश्चर्यम्। 'अहोऽन्याय्यमि'ति प्रगृह्यसंज्ञाभङ्गः। लोकदृष्टिमपेक्ष्यैवोक्तो न तु पाण्डवानां दुःखमस्तीति तेषां भूभारावतारणाय अवतीर्णानाम् असुरजननिधनेन वनवासादिष्वपि नित्यसुखित्वादिति विशेषद्योतनार्थः। धर्मस्य नन्दनो, धर्मं नन्दयतीति वा, धर्म एव नन्दनो यस्य स तथेति वा, धर्मेण सुखक्रीडा यस्य स तथेति वा, तस्मात् नन्दनं सुखनन्दनं यस्य स तथेति वा॥ १२॥

अतिरथे पाण्डौ संस्थिते स्वर्गं गतवति सति अतोकवती पुत्ररहिता यथा बहुक्लेशवती भवति तथा बालप्रजा युष्मन्माता पृथा पुत्रवत्यपि युष्मत्कृते युष्मत्पोषणपालनाद्यर्थात् बहुक्लेशान् प्राप्ता। पुत्रबाहुल्येन मतुप्प्रत्ययः। पुत्रवती पुत्रपोषणादावतिक्लेशं प्राप्नोति यथा तथेत्यन्वयदृष्टान्तो। वा इत्येकान्वयः ॥ १३ ॥

एवंविधयुष्मदप्रिये भवदारब्धकर्म नियामको हरिरेव हेतुरित्यभिप्रेत्य आह — **सर्वमिति**। भवतां यदप्रियं दुःखादि तत्सर्वं युष्मत्प्रारब्धकर्म नियामककालाख्य हरिकृतं मन्ये; वायोर्वशंगता घनावलिरिव जडाजडलोको यस्य भगवतो वशे वर्तते स नारायणः सर्वगुणपूर्णत्वात् काल इत्युच्यत इत्येकान्वयः ॥ १४ ॥

अन्यथानुपपत्तितोऽप्ययं हेतुः सिद्ध्यतीत्याह — **यत्रे** ति। यत्र राजा रञ्जको धर्मस्य सुतो यत्र च तस्य राज्ञः कनिष्ठः **क्षितिभारायितदितिसुतशोणितदिग्धां** गदां पाणौ **बिभ्रत्** भक्त्या वशीकृतपरब्रह्मा वृकोदरः तथा यत्र च इन्द्रावतारः कृष्णोऽर्जुनोऽस्त्री द्रोणादुपात्तास्त्रग्रामः तस्य च करे रिपूणां पूयशोणितवमनकारि गाण्डीवाख्यं धनुर्यत्र चैषां सर्वसुपर्वाधिराजो राजपक्षः अनन्तबलवीर्याद्यनन्तगुणार्णवः श्रीमान् वासुदेवो वसुदेवपुत्रः कृष्णः सुहृत् अनिमित्तबन्धुः ततस्तत्र विपत् तेषां प्रारब्धकर्माभावे विपत् कुतः **स्यात्**, अस्ति च तस्मादित्येकान्वयः ॥ १५ ॥

सुहृदस्तस्य विपत्करत्वं कथमिति तत्राऽऽह — **न हीति**। अपरिच्छिन्नत्वाद्यस्य स्वरूपजिज्ञासया युक्ताः कवयोऽपि मुह्यन्ति अयमित्थंभूत इति निर्देष्टुं न जानन्ति। हे राजन्! तस्यास्य विधित्सितं कर्तुमिष्टं कश्चिदपि पुमान् कदाचित्र वेद। हि यस्मात्तस्मात्सर्वेषां स्वकृतादृष्टानुसारिफलदातुरस्य **भवत्सुहृत्त्वेऽपि प्रारब्धकर्मानुकूल्येन विपत्करत्वं** युक्तमित्येकान्वयः ॥ १६ ॥

---

1. K.M add तथाऽपि 2. K.M °ज्ञाभावः।

**रा॰ कृ॰** धर्मज्ञः देशकालविभागवित् वसूत्तमः भीष्मः महाभागान् महात्मनः तान् मुनीन् समेतान् समागतानुपलभ्य अभिज्ञाय पूजयामास ॥ ९ ॥

**तत्प्रभावज्ञः** तस्य कृष्णस्य प्रभावज्ञः भीष्मः आसीनं पुरतः उपविष्टं हृदिस्थं मायया उपात्तविग्रहं स्वीकृतमानुषदेहं जगदीश्वरं कृष्णं च पूजयामास ॥ १० ॥

अनुरागास्रैः प्रेमाश्रुभिः अन्धीभूतेन चक्षुषा उपलक्षितः भीष्मः उपासीनान् स्वसमीपे उपविष्टान् प्रश्रयप्रेमसङ्गतान् प्रश्रयप्रेमभ्यां विनयस्नेहाभ्यां उपपन्नान् पाण्डुपुत्रान् अभ्यचष्ट अभ्यभाषत ॥ ११ ॥

हे धर्मनन्दन! युधिष्ठिर! विप्रधर्माच्युताश्रयाः विप्राः धर्मः अच्युतः एते सर्वे आश्रयः येषां ते यूयं यद्यतः क्लिष्टं यथा तथा जीवितुं नार्हथ, तथाऽपि युष्माकं जीवनमहो कष्टम्! अहोऽन्याय्यम् ॥ १२ ॥

अतिरथे महारथसहस्रजेतरि पाण्डौ संस्थिते मृते सति बालप्रजा बालपुत्रा वधूः पृथा कुन्ती तोकवती **अपत्यसहिता युष्मत्कृते बहून् क्लेशान् मुहुः प्राप्ता** ॥ १३ ॥

वायोर्वशे घनावलिरिव यद्वशे लोको वर्तते सः काल इति कथ्यते। किञ्च, भवतां यदप्रियं दुःखमभूत् तत्सर्वं कालकृतं मन्ये॥ १४॥

यत्र पाण्डवपक्षे धर्मजः राजा वृकोदरो गदापाणिः कृष्णः अर्जुनः **अस्त्री अस्त्रवान्** गाण्डीवः चापः सुहृत् कृष्णः भगवान् वासुदेवः ततः तत्पक्षे विपत् आपदिति चित्रमेतदिति शेषः॥ १५॥

राजन्! यद्विजिज्ञासया यस्य कृष्णविधित्सितस्य जिज्ञासया युक्ताः ज्ञातुमुद्युक्ताः कवयोऽपि ब्रह्मादयोऽपि मुह्यन्ति हि मोहं प्राप्नुवन्ति हि। अस्य पुरतो दृश्यमानस्य कृष्णस्य भगवतः विधित्सितं चिकीर्षितं कर्हिचित् कदाऽपि पुमान् पुरुषः न वेद न कोऽपि वेदैवेत्यर्थः।

अनेन **सर्वशास्त्रविदोऽपि** कदा किं भविष्यतीति नैव जानन्तीति ज्ञायते। तस्मात् ज्ञानिनः **शास्त्रज्ञानमधिगत्यापि** स्वातन्त्र्यमनवलम्ब्य स्थितगतिमनुसन्धाय शनैर्जीवितं नयन्ति। ततश्चानुपदं कर्तव्यज्ञानाय ज्ञातेन कर्तव्येन च भगवदाराधनाय जनेन भगवत्समर्पितधिया भवितव्यम्॥ १६॥

**तस्माद्दिं दैवतन्त्रं व्यवस्य भरतर्षभ!**
**तस्यानुविहितोऽनाथा नाथ! पाहि प्रजाः प्रभो!॥ १७॥**

**एष वै भगवान् साक्षादाद्यो नारायणः पुमान्।**
**मोहयन् मायया लोकं गूढश्चरति वृष्णिषु॥ १८॥**

**अस्यानुभावं भगवान् वेद गुह्यतमं शिवः।**
**देवर्षिर्नारदस्साक्षाद्भगवान् कपिलो नृप॥ १९॥**

**यं मन्यसे मातुलेयं प्रियं मित्रं सुहृत्तमम्।**
**अकरोस्सचिवं दूतं सौहृदादथ सारथिम्॥ २०॥**

**सर्वात्मनः समदृशो ह्यद्वयस्यानहङ्कृतेः।**
**तत्कृतं मतिवैषम्यं निरवद्यस्य न क्वचित्॥ २१॥**

**तथाऽप्येकान्तभक्तेषु पश्य भूपानुकम्पितम्।**
**यन्मेऽसूंस्त्यजतस्साक्षात् कृष्णो दर्शनमागतः॥ २२॥**

**भक्त्याऽऽवेश्य मनो यस्मिन् वाचा यन्नामकीर्तयन्।**
**त्यजन् कलेबरं योगी मुच्यते कामकर्मभिः॥ २३॥**

**स देवदेवो भगवान् प्रतीक्षतां कलेवरं यावदिदं हिनोम्यहम् ।**
**प्रसन्नहासारुणलोचनोल्लसन्मुखाम्बुजो ध्यानपथश्चतुर्भुजः ॥ २४ ॥**

---

1 K,M °जगद्देव° 2. AF,GF वि° 3 AF,GF मुनिः 4 H,V कृष्णं 5. K,M °शोऽप्यद्य° 6 AF,GF °ता° 7. AF,GF सर्व°

**श्रीध० तस्मादिति**। इदं सुखादि। दैवतन्त्रमीश्वराधीनं व्यवस्य निश्चित्य तस्येश्वरस्य अनुविहितोऽनुवर्ती सन्। कर्तरि क्तः। हे नाथ! कुलपरम्परागत! स्वामिन्! प्रभो! समर्थ! अनाथाः असमर्थाः प्रजाः पाहि ॥ १७ ॥

अनुविधेयः परमेश्वरश्च श्रीकृष्ण एवेत्याह — **एष** इति। एष एव भगवान् सर्वेश्वरः। यतः आद्यः पुमान्। तच्च कुतः? यतो नारायणस्साक्षात् ॥ १८ ॥

तदुपपादयति — **अस्येति**। अनुभावं प्रभावम् ॥ १९ ॥

**यमिति**। त्वमज्ञानाद्यमेवं मन्यसे। मातुलेयं मातुलान्याः देवक्याः सुतम्। प्रियं प्रीतिविषयम्। मित्रं प्रीतिकर्तारम्। सुहृत्तमम् उपकारान् अनपेक्ष्य उपकारकञ्च। सौहृदात् स्नेहात्। अकरोः कृतवानसि। सचिवं मन्त्रिणं च ॥ २० ॥

ननु ईश्वरश्चेत् कथं नीचे सारथ्यादौ प्रवृत्तस्तत्राऽऽह — **सर्वेति**। तत्कृतं नीचोच्चकर्मकृतं मम योग्यमयोग्यमिति मतेर्वैषम्यं क्वचिदपि नास्ति। कुतः निरवद्यस्य रागादिशून्यस्य तत्कुतोऽनहङ्कृतेः। तच्च कुतोऽद्वयस्य। तदपि कुतः समदृशः। तत्रापि हेतुः सर्वस्यात्मनः। यथेष्टं वा हेतुहेतुमद्भावः ॥ २१ ॥

**तथेति**। तथाऽपि समत्वेऽपि। हे भूप! अनुकम्पितमनुकम्पाम् ॥ २२ ॥

इदानीं स्वदेहत्यागपर्यन्तं श्रीकृष्णावस्थानं प्रार्थयते — **भक्त्येति** द्वाभ्याम् ॥ २३ ॥

**स इति**। यावदिति विलम्बं द्योतयति। अहं हिनोमि त्यजामीति **स्वातन्त्र्यम्**। इदमित्यनात्मत्वेन ज्ञातम्। प्रसन्नहासेन अरुणलोचनाभ्यां च उल्लसद्रुचिरं मुखाम्बुजं यस्य। ध्यानस्य पन्थाः विषयः। योऽन्यैश्चिन्त्यते केवलं सोऽग्रतः स्थितःस्सन् मां प्रतीक्षतामित्यर्थः ॥ २४ ॥

---

1. A omits समर्थ! 2. A,B omit मातुलान्याः 3. A,B विश्वासात् 4 A,B omit च 5 B °च्छोभमानं 6 B °न्यैरन्तश्चिन्त्यते

**वीर० अस्त्वेवं**, प्रकृते किमित्यत्राऽऽह — **तस्मा** दिति। तस्मात् सर्वलोकस्य कालायत्तसुखादिमत्त्वात् **कर्मादेश्च** कृष्णायत्तत्वात् कृष्णस्य कालाद्यनुवर्तितत्वाच्च, हे भरतर्षभ! इदं सुखदुःखादिकं सर्वं दैवतन्त्रं दैवायत्तं व्यवस्य निश्चित्य दैवमत्र कालकर्माद्युद्बोधयिता। तदनुवर्ती चेश्वरः कृष्णो विवक्षितः। तस्य दैवस्यानुविहितः, तस्येति कर्तरि षष्ठी। तेन प्रवर्तितस्त्वं हे प्रभो! नाथ! अनाथाः प्रजाः पाहि पालय ॥ १७ ॥

एवं तमनुशास्य, लोकानुग्रहकाम्यया श्रीकृष्णयाथात्म्यमावेदयति — **एष** इति। एष श्रीकृष्णः साक्षात् **भगवान् षाड्गुण्यपरिपूर्णः** आद्यो जगत्कारणभूतः परमपुरुषो नारायण एव सन् मायया लोकं मोहयन् गूढः तिरोधापितस्वकीयवेषः वृष्णिषु यादवेषु चरति कश्चित् यादव इवानुकरोति॥ १८॥

त्वमेव इममित्थं जानासि, किमन्येऽपीत्यत्र आह — **अस्येति**। अस्य कृष्णस्य गुह्यतममनुभावं माहात्म्यं हे नृप! भगवान् उत्पत्तिप्रलयाद्यभिज्ञः शिवो वेद। तथा देवर्षिर्नारदो भगवान् कपिलश्च वेद॥ १९॥

शिवादयस्त्वेवं विदुः त्वं तु अन्यथा जानासि। तथाऽपि न तस्य तत्कृतं वैषम्यमस्तीत्याह — **यमिति** द्वाभ्याम्। यं कृष्णं मातुलेयं मातुलपुत्रं प्रियं प्रीतिविषयं च मित्रं स्वतुल्यं च, सुहृत्तमम् महोपकारकञ्च मन्यसे। यं च त्वं सचिवं मन्त्रिणं च कदाचिद्दूतं कदाचित् सौहृदातिशयात् सारथिं च अकरोः कृतवानसि। तस्यानुभावं भगवान् शिवो वेदेति पूर्वेणान्वयः॥ २०॥

यद्यप्येवं मन्यसेऽकरोश्च तत्कृतं दौत्यसारथ्यादिक्रियाकृतं मतिवैषम्यं कदाचिदप्यस्य न विद्यते। मतिवैषम्याभावे हेतुं वदन् विशिनष्टि — **सर्वात्मन** इति। सर्वात्मनः मातुलेयादीन् **मन्वानस्य दूतं** सारथिञ्च कुर्वतः तवाप्यन्तरात्मतया यद्दूतत्वादिकारणाय त्वामप्यचोदयदिति भावः। अथाऽप्यनवद्यस्य नियाम्यगतावद्यासंस्पृष्टस्य। तत्र हेतुः **अनहङ्कृतेर्देहात्मभ्रान्तिरहितस्य**। किञ्चाद्वयस्य द्वितीयवस्तुरहितस्य स्वव्याप्यस्वतन्त्रवस्तुरहितस्येत्यर्थः। अत एव समदृशः सर्वमपि प्रकृतिपुरुषाद्यात्मकम् उच्चावचं स्वशरीरतया स्वनियाम्यतया चैकरूपं पश्यतः। उक्तगुणविपरीतस्यैव हि पुंसो मतिवैषम्यमिति भावः॥ २१॥

सर्वात्मन इत्यनेन सर्वस्य **तत्प्रीतिविषयत्वमवगतं शरीरं** ह्यात्मनः प्रीतिविषयं यद्यपि सर्वं चिदचिदात्मकं जगच्छरीरभूतं प्रियं कृपाविषयं च, तथाऽपि क्षेत्रज्ञानुजिघृक्षया जगद्व्यापारे प्रवृत्तस्य स्वस्य वैषम्यनैर्घृण्यादिपरिहाराय व्यजमात्रापेक्षिणः स्वानुवर्तिनो नितरां प्रियाः कृपाविषयाश्चेति तदेव दर्शयितुं भक्तस्य मुमूर्षोर्मम चक्षुर्विषयतां गत इत्याह — **तथाऽपीति**। यद्यपि सर्वात्मा समदर्शी च तथाऽपि हे भूप! एकान्तभक्तेषु अनन्यप्रयोजनभक्तेषु अनुकम्पितं अनुकम्पाऽस्य सञ्जातेत्यनुकम्पितः। तारकादिवादितच्। अनुकम्पायुक्तं पश्य अवेहि। तत्र **लिङ्गमाह-यद्यस्मात्** कृष्णोऽसून् प्राणान् त्यजतः त्यक्तुमुद्युक्तस्य मम साक्षाद्दर्शनं प्राप्तः॥ २२॥

किं तव तद्दर्शनजं फलमित्यत्राऽऽह — **भक्त्येति**। यस्मिन् भक्त्या मनो निवेश्य वाचा यस्य भगवतो नाममात्रमेव कीर्तयन् कलेबरं त्यजन् योगी कामकर्मभिः काम्यन्त इति कामाः, शब्दादिविषयास्तेषां निमित्तभूतैः कर्मभिः **पुण्यपापात्मकैः** कामैः कर्मभिश्चेति वा मुच्यते संसृतिबन्धान्मुच्यत इत्यर्थः। यच्छब्दस्य स कृष्ण **इत्यध्याहृततच्छब्दवता पूर्वेणान्वयः**, स देव इत्युत्तरेण वा। नामकीर्तनमेव कामकर्मविमोचनद्वारा निःश्रेयसफलकं; किमु साक्षाद्दर्शनमिति भावः॥ २३॥

यत एवमतो **यावन्मत्प्रयाणं** तावद्भगवान् प्रतीक्षतामिति प्रार्थयते — **स** इति। यावदिदं कलेबरं शरीरं हिनोमि त्यजामि यावत् बिभर्मीति भावः। **तावत्प्रसन्नेन** प्रहासेन अरुणलोचनाभ्यां उल्लसत् मुखाम्बुजं यस्य **स**

**चतुर्भुजो भगवान् श्रीकृष्णः देवानामपि देवो ध्यानपथः ध्यानविषयभूतस्सन् प्रतीक्षतां चक्षुष्पथत्वं प्राप्त एव ध्यानपथोऽपि भवत्वित्यभिप्रायेण, ध्यानपथ इत्युक्तम्। यद्वा द्विभुजत्वेन ध्यानपथो भवतु इत्यभिप्रायेण तदुक्तिः। तत्रत्यानां द्विभुजत्वेन। चक्षुष्पथोऽपि स्वस्य चतुर्भुजत्वेन चक्षुष्पथः तेनैव रूपेण ध्यानपथोऽस्त्वित्यभिप्रायेण वा ध्यानपथश्चतुर्भुज इत्युक्तम्** ॥ २४ ॥

---

1. W **अवस्थाय दूतत्वादिकरणाय त्वामपि चोदयत इति भावः।** 2. A,B omit **स्व°** 3 A,B **कर्ममात्रा°** 4. W **°यं** 5 A,B **तत् यद्दर्शनजं फलमाह** 6. A,B omit **कामैः** 7 A,B **विमुक्तो भवामीति भावः।**

**विज°** विवक्षितकथनं निगमयति — **तस्मादिति।** तस्मादुक्तहेतुभ्यो देवस्य हरेस्तन्नमधीनं जगन्निश्चित्य तस्य हरेरनुकूलया श्रुतिस्मृतिलक्षणया आज्ञया **भगवद्भिट्टतदनुबन्धिनिग्रहशिष्टजनपरिपालनाख्यं** स्वकर्मविहितं विधिमनुवर्तमानः तत्राधर्मबुद्धिमपहाय हे भरतकुलश्रेष्ठ! प्रभो! समर्थ! नाथ! अनाथाः त्वदन्यनाथरहिताः प्रजाः पाहीत्येकान्वयः ॥ १७ ॥

एतावत्कालमीश्वरं परोक्षतया अभिधाय इदानीमपरोक्षतया हस्तग्राहेण निर्दिशन्निव निर्दिशति — **एष वा** इति। यः साक्षादाद्यो नारायणो भगवान् स एष पुमान् लोकमज्ञजनं यथार्थज्ञानाच्छादिकया मायया मनुष्य इति मोहयन् गूढोऽविज्ञातो वृष्णिषु चरति। वै यस्मात्तस्मादयमेव कालाख्य इत्येकान्वयः ॥ १८ ॥

तर्हि क एनं यथावद्वेदेति तत्राऽऽह — **अस्येति।** हे नृप! सदाशिवो भगवानस्य हरेर्गुह्यतममनुभावं वेद **तथा** देवर्षिर्नारदः साक्षात्कपिलो भगवानपि जानातीत्येकान्वयः ॥ १९ ॥

त्वं यं कृष्णं मातुलस्य वसुदेवस्यापत्यं प्रियं बन्धुं मित्रं सङ्कटेषु मित्वा ज्ञात्वा रक्षितारं **सुहृत्तमम् अतिशयेन** सुहृदं मन्यसे, यञ्च त्वं सौहार्दात् सचिवं मन्त्रिणं दूतं सन्देशहरं सारथिं यन्तारमकरोः तस्यास्येति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ २० ॥

*तथाऽप्यस्याहो सर्वोत्तमोऽहमनेन सारथित्वादिषु विहित इति विषमा बुद्धिर्नास्तीत्याह — **सर्वात्मन** इति। सर्वान्तर्यामिणः पिता माता सुहृत् बन्धुरित्यादिवाक्यात् **बन्ध्वादिषु** स्थित्वा **बन्ध्वादीनां बन्ध्वादित्वापादकत्वेन मुख्यबन्ध्वादित्वात् बन्ध्वादिसर्वरूपत्वात्** सर्वात्मनो वा समदृशः यथा वस्तु तथा सर्वपदार्थान् जानतः अद्वयस्य समाधिकरहितस्य अनहङ्कृतेः प्राकृतवैकृतशरीररहितत्वात् देहाद्यहम्बुद्धिरहितस्य अत एव निरवद्यस्य रागादिदोषरहितस्य इत्येतैः हेतुभिः अस्य कृष्णस्य तत्कृतं सारथित्वादिकृतिनिमित्तं त्वयि मतिवैषम्यं क्वचिदपि नास्ति अनेकविधानां जीवानां हि तत् इत्येकान्वयः ॥ २१ ॥

एवंविधविषममतिषु अस्मासु अस्य संसर्गकारणं किमित्याशङ्क्य युष्मद्विधभक्तभक्त्या द्रवीकृतमनोऽनुकम्पैव कारणमित्याह — **तथाऽपि** इति। हे! भूप! तथाऽपि एवमुक्तप्रकारेण कृतकृत्यस्यापि अस्य एकान्तभक्तेषु अव्यभिचीर्णभक्तिमत्सु युष्मासु अन्येषु मयि चानुकम्पितम् अनुकम्पां कृपां पश्य! कुत इति तत्राऽऽह यदिति।

प्राणत्यागकाले प्रायः स्वेन पुष्टाः पुत्रादयोऽपि पूर्वमेव विमुखा गच्छन्ति। अहो असून् प्राणांस्त्यजतो मे मम स्वामी श्रीकृष्णः साक्षाद्दर्शनं दृष्टिविषयमागत इति यद्यस्मात् तद्भक्तानुकम्पैव संसर्गकारणमित्येकान्वयः ॥ २२ ॥

प्राणत्यागकाले हरिदर्शनफलमाह — **भक्त्या** इति। भक्त्या हरौ मन आवेश्य वाचा यस्य हरेर्नारायणादिनाम कीर्तयन् कलेबरं शरीरं त्यजन् योगी कामकर्मभिर्मुच्यते मुक्तः स्यात्, तं प्रत्यक्षतो दृष्ट्वा म्रियमाणस्य मे मुक्तिः किं वर्णनीयेति वाक्यशेषः। तस्मात् **तत्प्रीतिकृत्** धर्मोऽतः तदुक्तप्रकारेण स्वधर्मेऽधर्मबुद्धिं हित्वा त्वं राज्यं कुर्विति परमतात्पर्यार्थः ॥ २३ ॥

युधिष्ठिरं प्रत्यभिधाय इदानीं स्वच्छन्दमृत्युर्भीष्म उत्तरायणसमयपर्यन्तं भगवतोऽवस्थानं प्रार्थयते — **स** इति। अहं यावदिदं पञ्चभूतरचितं कलेबरं हिनोमि त्यजामि तावदुत्तरायणपर्यन्तं स देवो भगवान् प्रतीक्षताम्, मयि कृपयाऽनुग्रहं कुर्यादिति प्रार्थये **इत्यन्वयः**। कथम्भूतः? प्रसन्नहासश्च अरुणे लोचने नेत्रे प्रसन्नहासारुणलोचनानि तैः उल्लसत् मुखमेवाम्बुजं यस्य स तथा ध्यानपथः उपासनाविषयो द्रष्टुं ध्यानमेव पन्था मार्गो यस्य स तथा चत्वारो भुजा यस्य स यथा इदमेव ध्यानविषयं वपुः पुरतः स्थितस्य द्विभुजत्वादयमेव स इति परोक्षतया निर्देशः ॥ २४ ॥

---

1. K हितत्वात् इ °

*According to A and B, the commentary on VV 21, 22 is as follows :

बन्धुरित्यादिवाक्यात् बन्धादिषु स्थित्वा बन्धादीनां बन्धादित्वापादकत्वेन मुख्यबन्धादित्वात् बन्धादिसर्वरूपत्वात् सर्वात्मनो वा समदृशो यथा वस्तु तथा सर्वपदार्थान् जानतोऽद्वयस्य समाधिकरहितस्य अनहङ्कृतेः प्राकृतवैकृतशरीररहितत्वात् देहाद्यहम्बुद्धिरहितस्य अत एव निरवद्यस्य रागादिदोषरहितस्य इत्येतैर्हेतुभिः अस्य कृष्णस्य तत्कृतं सारथित्वादिकृतिनिमित्तं त्वयि मतिवैषम्यं क्वचिदपि नास्ति अनेकविधानां जीवानां हि तदित्येकान्वयः. ॥ २१ ॥

तथाऽप्यस्य अहो सर्वोत्तमोऽहमनेन सारथित्वादिषु विहित इति विषमा बुद्धिर्नास्तीत्याह — सर्वात्मन इति। सर्वान्तर्यामिणः पिता माता सुहृत् एवंविधविषममतित्वमात्मस्य संसर्गकारणं किमित्याशङ्क्य युष्मद्विधभक्तभक्त्या द्रवीकृतमनोनुकम्पैव कारणमित्याह - — तथाऽपीति। हे भूप! तथाऽपि एवमुक्तप्रकारेण कृतकृत्यस्याप्यस्य एकान्तभक्तेषु अव्यभिचीर्णभक्तिमत्सु युष्मासु अन्येषु मयि चानुकम्पितम् अनुकम्पां कृपां पश्य। कुत इति तत्राऽऽह — यदिति। प्राणत्यागकाले प्रायस्त्वेन पुष्टाः पुत्रादयोऽपि पूर्वमेव विमुखा गच्छन्त्यहो! असून् प्राणांस्त्यजतो मे मम स्वामी श्रीकृष्णः साक्षाद्दर्शनं दृष्टिविषयमागत इति यत् यस्मात् त्वद्भक्तानुकम्पैव संसर्गकारणमित्येकान्वयः ॥ २२ ॥

**रा॰ कृ॰** तस्मात् हे भरतर्षभ! भरतकुलश्रेष्ठ! युधिष्ठिर! इदं सुखदुःखादिकं दैवतन्त्रं दैवाधीनं व्यवस्य निश्चित्य तस्य दैवस्यानुविहितः अनुगतस्सन् त्वं हे नाथ! कुलपरम्परागतस्वामिन्! प्रभो! समर्थ! अनाथाः प्रजाः पाहि ॥ १७ ॥

एष वै अयं दृश्यमानः कृष्ण एव भगवान् आद्यः पुमान् साक्षान्नारायणस्सन् मायया स्वमायया लोकं मोहयन् गूढः अनवगतः वृष्णिषु चरति ॥ १८ ॥

हे नृप! अस्य श्रीकृष्णस्य गुह्यतमम् अनुभावं प्रभावं भगवान् शिवो वेद, देवर्षिर्नारदो वेद, साक्षाद्भगवान् कपिलो वेद ॥ १९ ॥

यं कृष्णं मातुलेयं मातुलपुत्रं मित्रं सुहृत्तमं मन्यसे, अथ यं सचिवं दूतं सौहृदात् सारथिमकरोः तस्यानुभावं भगवान् शिवो वेदेत्यादिपूर्वेणान्वयः ॥ २० ॥

सर्वात्मनः समदृशः अद्वयस्य अनहङ्कृतेः निरवद्यस्य रागादिशून्यस्य अस्य भगवतः तत्कृतं नीचोच्चकर्मकृतं मतिवैषम्यं क्वचित् न, नास्ति ॥ २१ ॥

तथाऽपि तस्य समदर्शित्वेऽपि हे। भूप! एकान्तभक्तेषु अनन्यचित्तेषु भक्तेषु अनुकम्पितम् अनुकम्पां दयामिति यावत्। पश्य। यत् यस्मात् असून् प्राणान् त्यजतो मे मम साक्षात् कृष्णो दर्शनमागतः दर्शनविषयीभूतः ॥ २२ ॥

यस्मिन् श्रीकृष्णे भक्त्या मनः आवेश्य निवेश्य वाचा यन्नाम यस्य नाम कीर्तयन् कलेवरं त्यजन् योगी कामकर्मभिः पुण्यपापात्मकैः संसारबन्धरूपैः कर्मभिः मुच्यते ॥ २३ ॥

अहं यावदिदं कलेबरं हिनोमि त्यजामि, तावत्पर्यन्तं सः देवदेवः भगवान् कृष्णः प्रसन्नहासारुणलोचनोल्लसन्मुखाम्बुजः प्रसन्नहासैः अरुणलोचनाभ्यां च उल्लसन्मुखमेव अम्बुजं यस्य तथाभूतः चतुर्भुजः ध्यानपथः मम ध्यानविषयीभूतस्सन् प्रतीक्षतां ममाग्रतः स्थित्वा मां प्रतीक्षतामित्यर्थः।

अन्ये देहान्तसमये भगवतो दिव्यमङ्गलविग्रहमुत्प्रेक्षन्ते। भीष्मस्तु भगवन्तं श्रीकृष्णं स्वलोचनाभ्यां पुरत एव पश्यति। अहो तस्य भाग्यगरिमा। भक्तिमार्गे भगवत्कल्याणगात्रदर्शनमेव हि परमं प्रयोजनम् ॥ २४ ॥

**सूत उवाच**

**युधिष्ठिरस्तदाकर्ण्य शयानं शरपञ्जरे ।**
**अपृच्छद्विविधान् धर्मान् ऋषीणाञ्चानुशृण्वताम् ॥ २५ ॥**

**पुरुषस्वभावविहितान् यथावर्णं यथाश्रमम् ।**
**वैराग्यरागोपाधिभ्या माम्नातोभयलक्षणान् ॥ २६ ॥**

**दानधर्मान् राजधर्मान् मोक्षधर्मान् विभागशः ।**
**स्त्रीधर्मान् भगवद्धर्मान् समासव्यासयोगतः ॥ २७ ॥**

**धर्मार्थकाममोक्षाश्च सहोपायान् यथा मुने!**
**नानाख्यानेतिहासेषु वर्णयामास तत्त्ववित् ॥ २८ ॥**

**धर्मं प्रवदतस्तस्य स कालः प्रत्युपस्थितः ।**
**यो योगिनश्छन्दमृत्योर्वाञ्छितस्तूत्तरायणः ॥ २९ ॥**

**तदोपसंहृत्य गिरस्सहस्रणीर्विमुक्तसङ्गं मन आदिपूरुषे ।**
**कृष्णे लसत्पीतपटे चतुर्भुजे पुरःस्थितेऽमीलितदृग्व्यधारयत् ॥ ३० ॥**

**विशुद्धया धारणया हताशुभस्तदीक्षयैवाऽऽशु गतायुधव्यथः ।**
**निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिविभ्रमस्तुष्टाव जन्यं विसृजञ्जनार्दनम् ॥ ३१ ॥**

**श्रीभीष्म उवाच**
**(श्रीभीष्मकृतश्रीकृष्णस्तुतिः)**

**इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा भगवति सात्वतपुङ्गवे विभूम्नि ।**
**स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्तुं प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः ॥ ३२ ॥**

---

1. H आ° 2. B,H,K,M,N,V,W °मनु° 3. AF,GF मुनिः 4 B,H,V धर्म° 5 H,K,M,V,W धर्मान् 6. K,M °रं स° 7. AF,GF °ङ्गो 8. AF,GF हृ° 9 I °श्रमः 10. K,M जल्पं 11. K,M सुख उप°

**श्रीध० युधिष्ठिर** इति। तत्सानुकम्पं वाक्यमाकर्ण्य ॥ २५ ॥

**पुरुष** इति। पुरुषस्वभावेन विहितान् नरजातिसाधारणान्[1] वर्णयामासेति तृतीयेनान्वयः। यथावर्णं वर्णधर्मान्। यथाश्रमम् आश्रमधर्माश्च। वैराग्यरागाभ्यामुपाधिभ्यां क्रमेणाप्तातमुभयं निवृत्तिप्रवृत्तिरूपं लक्षणं येषां तान् ॥ २६ ॥

पुनस्तत्रैव[2] विशेषमाह — **दानेति**। मोक्षधर्मान् शमदमादीन् भगवद्धर्मान् हरितोषणान्[3] द्वादश्यादि-नियमरूपान्। समासव्यासौ सङ्क्षेपविस्तारौ। तावेव योगावुपायौ। ततस्ताभ्याम् ॥ २७ ॥

**धर्मेति**। धर्मादींश्च यथा यथाधिकारं प्रतिनियतोपायसहितान्। यथा यथावत्। नानाख्यानेषु य इतिहासास्तेषु यथा सन्ति तथा वर्णयामास इति ॥ २८ ॥

**धर्मान्** इति। छन्देन इच्छया मृत्युर्यस्य ॥ २९ ॥

**तदेति**। सहस्रणीर्युद्धे समीपस्थान् सहस्रं रथिनो नयति पालयतीति सहस्रणीर्भीष्मः। सहस्रगीरिति पाठे सहस्रार्थवतीर्गिरः। लसन्तौ पीतौ पटौ यस्य तस्मिन्। अमीलितदृगेव मनो व्यधारयत् ॥ ३० ॥

**विशुद्धयेति**। अनयैव विशुद्धया धारणया ध्यानविशेषेण[5] हतमशुभं यस्य सः। तस्य श्रीकृष्णस्य ईक्षया कृपादृष्ट्यैव गता आयुधव्यथा यस्य सः। अत एव निवृत्तः सर्वेन्द्रियवृत्तीनां विभ्रमो विविधं भ्रमणं यस्मात् सः। जन्यं देहम् ॥ ३१ ॥

परमफलरूपां श्रीकृष्णे रतिं प्रार्थयमानः[7] स्वकृतमर्पयति — **इतीति**। इति नानाधर्माद्युपायैः मतिः मनोधारणलक्षणा उपकल्पिता समर्पिता। क्व? सात्वतानां पुङ्गवे श्रेष्ठे भगवति। वितृष्णा निष्कामा। अवितृष्णेति वा च्छेदः, कृष्णेऽवितृप्तेत्यर्थः। विगतो भूमा यस्मात् तस्मिन् यमपेक्ष्यान्यत्र महत्त्वं नास्तीत्यर्थः। तदेव परमैश्वर्यमाह।

स्वसुखं स्वस्वरूपभूतं परमानन्दमुपगते प्राप्तवत्येव। क्वचित् कदाचित् विहर्तुं क्रीडितुं प्रकृतिं योगमायामुपेयुषि स्वीकृतवति। न तु स्वरूपतिरोधानेन जीववत्पारतन्त्र्यमित्यर्थः। विहर्तुमिति यदुक्तं तत्प्रपञ्चयति। यद्यतः प्रकृतेः भवप्रवाहः सृष्टिपरम्परा भवति॥ ३२॥

---

1. B adds धर्मान् 2. B °मे° 3 B °कान् 4. H,V यथाप्रतिपादिताः 5. A,B omit ध्यानविशेषेण 6 A,B गत आयुधश्रमो यस्य
7. A,B प्रार्थयितुं प्रथमं स्व° 8. A,B omit कृष्णे 9. B यदपेक्षया°

**वीर०** तद्भीष्मवचो निशम्य युधिष्ठिरः शरपञ्जरे शयानं भीष्ममृषीणां शृण्वतां सतां नानाविधान् धर्मानपृच्छत्॥ २५॥

धर्मान् विशिनष्टि। पुरुषस्वभावः ज्ञत्वाज्ञत्वशक्तत्वाशक्तत्वादिरूपः तदनुरूपेण विहितान् कर्तव्यतया विधिचोदितान् यथावर्णं यथाश्रमं ब्राह्मणादिवर्णानां ब्रह्मचर्याद्याश्रमाणां च योग्यान् योग्यार्थकयथाशब्दस्याव्ययीभावः। वैराग्यरागावकामकामौ तावेवोपाधी, ताभ्यामाम्नातानुभयलक्षणान् उभयविधान् प्रवृत्तिनिवृत्तिभेदभिन्नान् यथैकस्यैवाग्निहोत्रादिकर्मणः "अग्निहोत्रं जुहोति, जुहुयात् स्वर्गकामः, यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्" इति स्वर्गाधिकारजीवनाधिकाररूपाभ्यामुपाधिभ्यामेव भेदः, एवं वैराग्यरागोपाधिभ्यां प्रवृत्तिधर्मत्वेन निवृत्तिधर्मत्वेन च आम्नातान् वस्तुत एकरूपान् वर्णाश्रमादिधर्मानित्यर्थः॥ २६॥

आम्नातानित्यनेन वैदिकधर्मानपृच्छदिति सूचितम्। तथा स्मार्तधर्मानपृच्छदित्यभिप्रायेणाऽऽह — **दानधर्मान् इति**। राजधर्मा नीतिशास्त्रोक्ताः, मोक्षधर्माः पाञ्चरात्रादितन्त्रोक्ताः। तत्राप्यवान्तरभेदाभिप्रायेण पुरुषस्वभावभेदाभिप्रायेण च विभागश इत्युक्तम्। भगवद्धर्माः तच्छ्रवणकीर्तनादयः समासव्यासयोगतः सङ्क्षेपविस्ताराभ्यां युक्ताः शास्त्रेषु प्रतिपाद्यतयेति समासव्यासयोगाः। सार्वविभक्तिकस्तसिः। समासव्यासयोगान्। यद्वा, समासव्यासयोगात् सङ्क्षेपयोगात् विस्तरयोगात् च अपृच्छत्। सङ्क्षिप्तत्वेन विस्तृतत्वेन चापृच्छदित्यर्थः॥ २७॥

द्वितीयान्तानां वर्णयामास इत्युत्तरत्रान्वयः। हे मुने! सहोपायान् ससाधनान् धर्मार्थकाममोक्षानपि यथावत् नानाविधेष्वाख्यानेष्वितिहासेषु च यत्तत्वं तद्विद्वद्भीष्मो वर्णयामास॥ २८॥

एवं पृष्टान् धर्मान् प्रवदतः योगिनः छन्दमृत्योः स्वच्छन्दानुसारी मृत्युर्यस्य तस्य भीष्मस्य यो वाञ्छित उत्तरायणः स कालः प्रत्युपस्थितः। यद्वा तस्य स कालः प्रत्युपस्थितः यश्छन्दमृत्योर्योगिनः वाञ्छितः स चापि कः? उत्तरायण इत्यन्वयः॥ २९॥

**तदेति**। यदा सः कालः प्रत्युपस्थितः तदा सहस्रणीः सहस्राणां कुरुपाण्डवादिरूपाणां नायकः सहस्रं स्ववंश्यानां नयति सद्गतिं प्रापयतीति वा स भीष्मः गिर उपसंहृत्य विरम्य मुक्तः सङ्गो देहतदनुबन्ध्यादिसङ्गो यस्य तत् मनः पुरःस्थिते लसन्तौ विलसन्तौ पीतौ पिशङ्गौ पटौ यस्य तस्मिन् कृष्णे व्यधारयत्। कथम्भूतः? निमीलिते दृशौ दृष्टी येन सः निमेषणमप्यकुर्वन् कृष्णमेव पश्यन्, तद्विग्रहध्यानैकप्रवणं चित्तमकरोदित्यर्थः॥ ३०॥

विशुद्धया धारणया भगवद्विग्रहानुध्यानात्मिकया हतं निरस्तमशुभं भगवत्प्राप्तिविलम्बावहं प्रारब्धं यस्य तदीक्षयैव भगवद्दर्शनेनैवाऽऽशु गता निरस्ता आयुधप्रहारजा व्यथा यस्य निवृत्ताः सर्वेषामिन्द्रियाणां वृत्तयो विभ्रमः देहात्मादिभ्रमश्च यस्य स भीष्मः जन्यं जननयोग्यं देहं विसृजन् त्यक्ष्यन् जनार्दनं सर्वजनदुःखहरं श्रीकृष्णं तुष्टाव ॥ ३१ ॥

स्तुतिमेवाऽऽह — **इति** इत्यादिभिरेकादशभिः। तावत्परमव्योमस्थं वेदान्तवेद्यं दिव्यात्मस्वरूपं प्रकृतावताररूपं तत्प्रयोजनं चानुसन्धाय तस्मिन् स्वमतिदार्ढ्यं प्रार्थयते इतीति। वक्ष्यमाणप्रकारेण मम मतिर्भगवति वितृष्णा अलम्बुद्धिरहिता सती उपकल्पिता प्रतिष्ठिता भवतु। यद्वा, इतिर्हेतौ। मतिर्वितृष्णा इति। यस्मात्तस्माद्भगवत्युपकल्पिता भवत्वित्यर्थः। कथम्भूते? सात्वतपुङ्गवे सात्वतानां यादवानां पुङ्गवे श्रेष्ठे भागवतानां नायके वा विभूम्नि विलक्षणे भूम्नि वागादिभ्यः प्राणशब्दवाच्याज्जीवाच्च विलक्षणेऽपरिच्छिन्ने भूमशब्दवाच्य इत्यर्थः "भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति" (छान्दो. उ. 7-23-1) इति हि श्रूयते। तदाह — **स्वसुखमुपगत** इति। **स्वं स्वाभाविकं** सुखमुपगतवत्यपरिच्छिन्नस्वाभाविकानन्दशालिनीत्यर्थः। **क्वचिद्देशे** विहर्तुं प्रकृतिं विग्रहमुपेयुषि यस्माद्भवप्रवाहः संसारप्रवाहो भवति यत्सङ्कल्पमूला क्षेत्रज्ञानां संसारप्रवृत्तिस्तस्मिन्नित्यर्थः ॥ ३२ ॥

---

1 A,B °बोधि° 2. A,B तद्भी° 3. A,B व° 4 A,B omit पिशङ्गौ 5. A,B इति

**विज०** अथ युधिष्ठिरो भीष्मोक्तमाकण्य शरतल्पे शयानं भीष्मं विविधान् धर्मानपृच्छदित्यन्वयः। पृच्छतेर्द्विकर्मकत्वाद्भीष्मं धर्मानिति युज्यते ॥ २५ ॥

धर्माणां तत्त्ववित् भीष्म एतान् धर्मान् नानाख्यानात्मकेष्वितिहासेषु वर्णयामासेत्यन्वयः। **तान् कथम्भूतान्?** वर्ण्यपुरुषस्यैते निजत्वेन विहिता धर्मास्तदाश्रमिपुरुषस्यैते विहिता[2] इति विविच्य यथावर्णं यथाश्रमं वर्णिनामाश्रमिणां पुरुषाणां स्वभावविहितान्निजत्वेन विहितान् धर्मान् वैराग्योपाधिना रागोपाधिना चैते निवृत्तिधर्मा एते प्रवृत्तिधर्मा इति निष्कामज्ञानपूर्वमित्यादिवचनैः प्रतिपादितोभयविधलक्षणान् ॥ २६ ॥

विभागशः पृथक् पृथक् भगवतः सर्वजगत्स्रष्टृत्वादिधर्मान् ॥ २७ ॥

तथा धर्मार्थकाममोक्षांश्च तत्तत्साधनसहितान् समासव्यासयोगतः सङ्क्षेपविस्ताराभ्यां यथा यथावत् तात्त्विकदेवोत्तमयुधिष्ठिरादिबोधने भीष्मस्यासामर्थ्यात् भीष्मस्य कीर्त्यर्थं तस्मिन् तत्काले विशेषाविष्टश्रीकृष्णश्च पाण्डवप्रश्नान् व्याचख्यावित्यस्यार्थे यथेति ॥ २८ ॥

स्वच्छन्दमृत्योः स्वेच्छया मरणं कुर्वतो योगिनो वाञ्छित उत्तरायणाख्यः कालो यः स भीष्मस्य प्रत्युपस्थित इत्यन्वयः। उत्क्रमिष्यतो ज्ञानिनः काले अनुगुणे किञ्चित्सुखाधक्यं भवति नान्यथा मुक्त्यभाव इत्यतमर्थं तुशब्दो वक्ति ॥ २९ ॥

तदा उत्तरायणे प्राप्ते सति सहस्रणीः स्वमुक्तिसमये स्वोपदिष्टानेकजननेता। एकादशाक्षौहिणीनायकस्य बलवतां सहस्रसङ्ख्यावतां नायकत्वकथनमनित्यत्वात् उपेक्षणीयम्। अमीलितदृक् प्रफुल्ललोचनः। विशेषत उच्छ्वसितज्ञानो वा। भीष्मो गिरं विषयसम्बन्धिनीमुपसंहृत्य विमुक्तो विषयसङ्गो येन तत्तथोक्तं तन्मनः पुरःस्थिते प्रत्यक्षे चतुर्भुजे उपलब्धे शोभमानपिशङ्गवस्त्रे आदिपुरुषे नारायणावतारे श्रीकृष्णे व्यधारयत् विशेषेणाचलतयाऽधारयदित्येकान्वयः। मीलितदृक् अर्धमुकुलितचक्षुर्वा॥ ३०॥

विशुद्धया फलरागादिदोषरहितया हरौ निरन्तरमनोधारणया हताशुभः निरस्तपापः तस्य कृष्णस्येक्षया निरीक्षणेनैव नान्येन आशु तत्क्षणं विनष्टा युधि निमित्तव्यथा अत एव तदितरो निवृत्तो निरस्तः सर्वेषामिन्द्रियाणां वृत्तीनां व्यापाराणां विभ्रमो विलासो यस्य स तथोक्तः, निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिश्चायं विगतभ्रमश्चायमिति वा पद्यमयं जल्पं वचनं विसृजन् रचयन् व्यर्थवचनं मुञ्चन् वा जनं जननमर्दयति विनाशयतीत्युपलक्षणमेतत्। मरणञ्च [4]जननमरणनाशकत्वेन नित्यमुक्तिदातृत्वात् जनार्दनः तं तुष्टाव इत्येकान्वयः॥ ३१॥

ननु किमियं स्तुतिर्मानसी वाचिकी वा? नाद्यः, परार्थे जीविनः स्वप्रयोजनाय स्तुतेः अनुपपन्नत्वात्। द्वितीयो युक्त इत्यभिप्रेत्य आह — **इति मति** रिति। इतिशब्दो हेत्वर्थः, प्रकरणार्थो वा समाप्तिवचनो वा। यत एवं भगवान् सकलप्रवर्तकः तस्मात् तस्मिन् मतिर्मननशीलबुद्धिरुपकल्पिता तद्विषयीकृता सकलशास्त्रप्रकरणे वक्ष्यमाणप्रकरणे वा। समाप्तौ मरणकाले। किंविशिष्टे? विभूम्नि परिपूर्णे अपरिच्छेदलक्षणपूर्णत्वं देशकालयोरप्यस्तीति, अत उक्तं भगवतीति। निरवधिकैश्वर्यादिगुणवति यः कश्चिदृषिसत्तमो निर्दिश्यते इति शङ्का मा भूदित्याह, सात्वतपुङ्गवे यादवेश्वरे स्वसुखे स्वरूपानन्दे उपगते आगते अतिनिकटवर्तिनीति वा "निलीनो हि प्रकृतौ संसारमेति" इति श्रुतेः। यस्याः सकाशात् जीवानां संसारप्रवाहो भवति। क्वचित् सृष्टिकाले नानावताररूपैः विहर्तुं महदहङ्कारादिजगत् स्रष्टुकामां तां प्रकृतिं श्रियं जडात्मिकां च उपेयुषि प्राप्तवति, कीदृशी मतिः? वितृष्णा विषयतृष्णारहिता। वौ हरौ तृष्णा यस्याः सा तथा वा। "विः पक्षिपरमात्मनोः" (वैज. को. 8-1-60) इत्यभिधानम्॥ ३२॥

---

1. A,B °र्ण्य 2. K,M add धर्मा 3. K,M °चणबलतया 4. K,M add जननं च

**रा॰ कृ॰** युधिष्ठिरः तत् भीष्मस्य प्राणत्यागविषयकं वचनमाकर्ण्य शरपञ्जरे शयानं भीष्मं ऋषीणा मनुशृण्वतां विविधान् धर्मानपृच्छत्॥ २५॥

हे मुने! पुरुषस्वभावविहितान् पुरुषस्वभावेन विहितान् मानवजातिसाधारणान् यथावर्णं ब्राह्मणादिवर्णयोग्यान् धर्मान् यथाऽऽश्रमं ब्रह्मचर्याद्याश्रमयोग्यान् धर्मान् वैराग्यरागोपाधिभ्यां वैराग्यरागरूपोपाधिभ्यां आम्नातोभयलक्षणान् आम्नातं क्रमेण विहितम् उभयं प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपं लक्षणं येषां तान् धर्मान् दानधर्मान् गोदानादीन् राजधर्मान् कार्तिकव्रतादीन् मोक्षधर्मान् स्त्रीधर्मान् पातिव्रत्यादीन् भगवद्धर्मान् हरितोषणान् द्वादश्यादिनियमरूपान्, विभागशः विभागानुसारेण समासव्यासयोगतः सङ्क्षेपतो विस्तरतश्च सहोपायान् ससाधनान् धर्मार्थकाममोक्षांश्च नानाख्यानेतिहासेषु धर्मवित् भीष्मः वर्णयामास।

रागः कामो, वैराग्यं कामाभावः उपाधयः तदुभयाधाराः रागस्योपाधयो विषया ये इन्द्रियार्थाः इति व्यवह्रियन्ते। एतेचानुभूयमानाः उत्तरोत्तरं प्रीतिजनकाः स्वविरहेऽसह्यवेदनां जनयन्ति। तस्मात् आवैराग्योदयमिन्द्रियाणां विषयलाभालाभप्रयुक्ते सुखदुःखे भवतः। स्पष्टीकृतं चैतत् भगवता — "ध्यायतो विषयान् पुंसस्सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥ (भ. गी. 2-62) "क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ (भ. गी. 2-63) इति वैराग्योपाधयस्तु सत्सङ्गसद्ग्रन्थाध्ययनसत्कर्माचरणेश्वरप्रणिधानादयः।

रागसहकारिणः प्रवृत्तिधर्माः इन्द्रियसुखदुःखहेतवो विषयभोगाः वैराग्यदोहदकारिणो निवृत्तिधर्माः तपोदानभूतदयानिर्व्याजानन्दादयो मनश्शान्तिहेतवः॥ २६, २७, २८॥

छन्दमृत्योः स्वच्छन्दमरणस्य योगिनो यः उत्तरायणो वाञ्छितः सः कालः धर्मान् प्रवदतस्तस्य भीष्मस्य प्रत्युपस्थितः सम्प्राप्तः॥ २९॥

तदा देहान्तकाले प्राप्ते सति सहस्रणीः युद्धे सहस्ररथिनेता भीष्मः गिरः वाचः उपसंहृत्य विरम्य विमुक्तसङ्गं विमुक्तः देहादिविषयसङ्गः येन तन्मनः पुरःस्थिते चतुर्भुजे लसत्पीतपटे आदिपुरुषे कृष्णे अमीलितदृक् अनिमीलितनयनस्सन् व्यधारयत्॥ ३०॥

विशुद्धया निर्मलया धारणया भगवन्मूर्तिध्यानात्मिकया हताशुभः हतमशुभं भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धकं पापं यस्य सः तदीक्षयैव तस्य कृष्णस्य करुणादृष्ट्यैव आशु गतायुधव्यथः गता निवृत्ता आयुधव्यथा आयुधप्रहारजन्यवेदना यस्य तथाभूतः। निवृत्तसर्वेन्द्रियविभ्रमः निवृत्तः सर्वेन्द्रियाणां सर्वेन्द्रियवृत्तीनां विभ्रमः विषयान्तरभ्रमणं यस्य सः भीष्मः जन्यं शरीरं विसृजन् त्यक्ष्यन् जनार्दनं श्रीकृष्णं तुष्टाव स्तुतवान्॥ ३१॥

इत्येवं नानाविधसाधनैः निर्मला वितृष्णा फलाभिसन्धिरहिता मतिः मम बुद्धिः विभूम्नि अनन्यमहिमाश्रये स्वसुखं स्वरूपभूतं परमानन्दं उपगते प्राप्तवति तथाऽपि क्वचित् कदाचित् विहर्तुं क्रीडितुं यत् यस्याः प्रकृतेः भवप्रवाहः सृष्टिपरम्परा भवति तां प्रकृतिं स्वमायाशक्तिमुपेयुषि स्वीकृतवति भगवति सात्वतपुङ्गवे यादवश्रेष्ठे श्रीकृष्णे उपकल्पिता प्रतिष्ठिता भवत्विति शेषः।

विशुद्धया धारणया इत्यत्र धारणापदेन धारणातीतस्थितिरुच्यते, उत्तमकक्ष्याचेयमष्टाङ्गयोगे। योगस्य यम-नियम-आसन-प्राणायामाः पूर्वाङ्गानि, प्रत्याहार-धारण-ध्यान-समाधयः उत्तराङ्गानि। उच्छ्वासनिःश्वाससहायेन शरीर मनइन्द्रियेषु पूर्वाङ्गसिद्धिः। प्रत्याहारश्च प्रत्यानयनं पश्चादानयनमित्यर्थः। प्राणे लीनं मनः प्रज्ञेत्युच्यते। स्वप्रज्ञायाः स्वस्मिन्नानयनं प्रत्याहारः। अत्र साध्या प्रज्ञा, साधकः आत्मा च परस्परं सन्निदधाते। धारणा चान्यस्मिन्नन्यस्य द्रुतिः — यथा वारिणि निहिता शर्करा द्रुता वारितामेति। अनया भगवन्मूर्तिध्यानपर्यवसायिन्या धारणया देवव्रतस्य भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धक्षयः। तेन तस्य सर्वेन्द्रियवृत्तिनिवृत्तिरूपयोगसिद्धिः। एतद्योगसान्तत्यसन्धायिनी तत्कृता श्रीकृष्णस्तुतिश्च॥ ३२॥

त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं रविकरगौरवराम्बरं दधाने ।
वपुरलककुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या ॥ ३३ ॥

युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्कचलुलितश्रमवार्यलककृतास्ये ।
मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा ॥ ३४ ॥

सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य ।
स्थितवति परसैनिकायुरक्ष्णा हृतवति पार्थसखे रतिर्ममाऽस्तु ॥ ३५ ॥

व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या ।
कुमतिमहरदात्मविद्यया यश्चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु ॥ ३६ ॥

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः ।
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गुर्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः ॥ ३७ ॥

शितविशिखहतो विशीर्णदंशः क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे ।
प्रसभमभिससार मद्वधार्थं स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः ॥ ३८ ॥

---

1. B °ग° 2. H,V,W °ब्जे 3. AF,GF म° 4. K,M विध्यत्कच° 5. H,K,V प्र° 6. AF,GF न° 7. K,M °सि° 8. AF,GF धर्म° 9. K,M °य° 10. K,M °दुबलाग्रे हरि° 11. K,M मुदे मु°

**श्रीध०** इदानीं श्रीकृष्णमूर्तिं वर्णयन् रतिं प्रार्थयते — **त्रिभुवनकमनम्** इति। त्रिभुवनकमनं त्रिलोक्यामेकमेव कमनीयं यत्तद्वपुर्दधाने रतिर्मेऽस्तु। कथम्भूतं वपुः ? तमालवत् नीलो वर्णो यस्य तत्। प्रातःकालिका रवेः करा इव स्वत एव गौरे पीते वरे निर्मले चाम्बरे यस्मिंस्तत्। अलककुलैरुपर्यावृतमाननाब्जं यस्मिंस्तत्। विजयसखे पार्थसारथौ। अनवद्याऽहैतुकी फलाभिसन्धिरहिता रतिरस्तु॥ ३३॥

विजयसखित्वमेवानुवर्णयन् रतिं प्रार्थयते — **युधि** इति। युधि युद्धे तुरगाणां खुररजस्तुरगरजस्तेन विधूम्रा धूसरास्ते च ते विष्वञ्च इतस्ततश्चलन्तः कचाः कुन्तलाः तैर्लुलितं विकीर्णं श्रमवारि स्वेदबिन्दुरूपं तेन भक्तवात्सल्यद्योतकेन अलङ्कृतमास्यं यस्य तस्मिन् श्रीकृष्णे ममात्मा मनोऽस्तु रमतामित्यर्थः। पुनः कथम्भूते ? मदीयैर्निशितैः तीक्ष्णैः शरैः विभिद्यमाना त्वक् यस्य तस्मिन्। शरैरेव विलसत् त्रुट्यत् कवचं यस्य तस्मिन्॥ ३४॥

किं च **सपदि** इति। "सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत! यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्" (भ. गी. 1-21) इति सख्युरर्जुनस्य वचो निशम्य सपदि तत्क्षणमेव स्वपरयोर्बलयोः सैन्ययोर्मध्ये रथं प्रवेश्य स्थिते पार्थसखे मम रतिरस्तु। तत्र स्थित्वा कृतं सख्यं दर्शयति। परस्य दुर्योधनस्य सैनिकानामायुरक्ष्णा कालरूपेण हृतवति। असौ द्रोणः असौ भीष्मः असौ कर्ण इति तत्तत्प्रदर्शनव्याजेन दृष्ट्यैव सर्वेषामायुरकृष्यार्जुनस्य जयं कृतवति॥ ३५॥

न केवलमर्जुनस्य सपत्नायुर्हरणेनैव जयमावहतु किन्तु अविद्याहरणेनापीत्याह — **व्यवहिता** इति। व्यवहिता दूरे स्थिता या पृतना तस्या मुखमिव मुखम् अग्रे स्थितान् भीष्मादीन् निरीक्ष्येत्यर्थः। स्वजनवधाद्विमुखस्य निवृत्तस्य। तदुक्तं गीतासु — "एवमुक्त्वाऽर्जुनस्सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्। विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः" (भ. गी. 1-46) इति। कुमतिम् अहं ममेत्यादिकुबुद्धिम् ॥ ३६ ॥

मम तु पहान्तमनुग्रहं कृतवानित्याह **स्वनिगमम्** इति द्वाभ्याम्। स्वनिगममशस्त्र एवाहं साहाय्यमात्रं करिष्यामीत्येवंम्भूतां स्वप्रतिज्ञां हित्वा श्रीकृष्णं शस्त्रं ग्राहयिष्यामीत्येवंरूपां मत्प्रतिज्ञां ऋतं सत्यं यथा भवति तथा अधि अधिकां कर्तुं यो रथस्थः सन्नवप्लुतः सहसैवावतीर्णस्सन् यो माम् अभ्ययात् अभिमुखमधावत्। इभं हन्तुं हरिः सिंह इव। किम्भूतः? धृतो रथचरणश्चक्रं येन सः तथा च सरम्भेण मानुष्यनाट्यविस्मृते रुदरस्थसर्वभूतभुवन-भारेण प्रतिपदं चलद्भूः चलन्ती गौः पृथ्वी यस्मात् सः। तेनैव संरम्भेण पथि गतं पतितमुत्तरीयं वस्त्रं यस्य सः मुकुन्दो मे गतिर्भवतु इति उत्तरेणान्वयः ॥ ३७ ॥

**शितविशिखेति**। एवं यदाऽभ्ययात्तदा स्मयमानस्याततायिनो धन्विनो मे शितैः तीक्ष्णैः विशिखैः हतोऽतो विशीर्णदंशो विध्वस्तकवचः अत एव क्षतजेन रुधिरेण परिप्लुतो व्याप्ताङ्गस्सन् प्रसभं बलात् वारयन्तमर्जुनमप्यतिक्रम्य मद्वधार्थमभिससार अभिमुखं जगाम। एवं यो लोकप्रतीत्याऽर्जुनपक्षपातीव लक्षितो वस्तुतस्तु मय्येवानुग्रहं कृतवान् यन्मद्भक्तेनोक्तं वचो मा मृषाऽस्त्विति स भगवान् मे गतिर्भवत्वित्यर्थः ॥ ३८ ॥

---

1. A,B किम्भूते 2 A,B नि° 3 A,B °दृष्ट्या 4. A,B हन्तेत्या° 5. H,V °वं रूपां 6 A,B omit माम् 7. A B तदा 8. H,V बहुशः 9 H,V च्युतमु° 10. A,B omit अत एव 11 A,B व्याप्तास्सन् 12. A,B ममैवा° 13 H,V तत्तथा अस्त्विति 14. B adds मम

**वीर०** प्रकृतं रूपमनुभूय मतिदार्ढ्यं प्रार्थयते — त्रिभुवनकमनं त्रिभुवनकमनीयं त्रिभुवनसुन्दरमिति यावत्, तद्वपुर्दधाने विजयसखेऽर्जुनसखे श्रीकृष्णेऽनवद्या निर्दुष्टा अनन्यप्रयोजनेति यावत्। मम रतिरनुरागोऽस्तु। कथम्भूतं वपुः? तमालस्येव वर्णो नीलो यस्य। रवेः करः किरणसमुदाय इव गौरं वरं चाम्बरं यस्मिन् अलककुलै कुन्तलजालैरावृतमाननाब्जं यस्य तथाभूतम् ॥ ३३ ॥

युद्धदशावस्थितमनुसन्धाय प्रार्थयते — **युधि** इति। कृष्णे भगवति ममात्मा मनः अस्तु दृढं भवतु तिष्ठतु। कथम्भूते? युधि युद्धे तुरगरजोभिः अश्वशफोत्थितरजोभिः विधूम्रैः विधूसरैः विष्वग्विलम्बमानैः कचैरलकैः लुलितैः स्रवद्भिः श्रमवारिभिः श्रमस्वेदबिन्दुभिश्चालङ्कृतमास्यं यस्य निशितैश्शरैः विभिद्यमाना त्वक् यस्य, अत एव विलसन् क्षतजेन विलसन् कवचो यस्मिन् ॥ ३४ ॥

युद्धप्रारम्भदशावस्थं रूपमनुसन्धाय प्रार्थयते — **सपदि** इति। युद्धप्रारम्भसमये सख्युरर्जुनस्य वचः "सेनयोरूभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत! यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ॥" (भ. गी. 1-21) इत्यादिरूपं

वचो निशम्य निजपरयोः पाण्डवकौरवयोः बलयोर्मध्ये रथं निवेश्य स्थापयित्वा स्थितवति, अक्षणैव दृष्टिमात्रेणैव परसैनिकानां दुर्योधनादीनामायुर्हृतवति, पार्थस्यार्जुनस्य सखा तस्मिन् मम रतिरस्तु ॥ ३५ ॥

गीतोपनिषदुपदेशावस्थं रूपमनुसन्धाय प्रार्थयते — **व्यवहिता** इति। व्यवहितायाः नातिदूरस्थायाः पृतनायाः शत्रुसेनायाः मुखं पुरोभागमवलोक्य दोषबुद्ध्या स्वजनवधाद्विमुखस्यार्जुनस्येति विशेष्यमध्याहर्तव्यम्। कुमतिं "दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण!" (भ. गी. 1-28) इत्यादिना तेनैवाविष्कृतां बन्धुहत्यया पापमाशङ्कमानां कुमतिमात्मविद्यया गीतोपनिषदुपदेशेन योऽपहृतवान् तस्य परमस्य परो मा यस्मात् सः परमः, सर्वाभ्यधिकस्य भगवतश्चरणयो रतिर्ममास्तु ॥ ३६ ॥

जिघांसया स्वस्योपर्याधावनदशायाम् अवस्थितं रूपमनुसन्दधानः तमेव तत्प्राप्त्युपायमध्यवस्यति। स्वनिगममित्यादिश्लोकद्वयमेकान्वयम् आततायिनः प्रहरतो मे मम तावत् शितैः विशिखैः बाणैः हतः ताडितः अत एव विशीर्णः शिथिलः दंशः कवचो यस्य सः। क्षतजेन रुधिरेण परिप्लुतः व्याप्तगात्रस्सन् स्वनिगम् आयुधं न गृह्णामीति स्वप्रतिज्ञामपहाय आयुधं ग्राहयामीत्येवंविधां मत्प्रतिज्ञां ऋतं सत्यं कर्तुं स्वप्रतिज्ञामुपेक्ष्य भक्तप्रतिज्ञामेव यथार्थं कर्तुमित्यर्थः। रथस्थः ततोऽवप्लुतः धृतः रथचरणः सुदर्शनाख्यं चक्रं येन सः, चलन्ती गौः भमिर्यस्मात्। भूमिं चालयन् गतं गच्छदुत्तरीयं यस्य सः। इभं गजं हन्तुं हरिः सिंह इव बलात् मद्वधार्थमभिससार मदभिमुखमागतवान् स मुकुन्दो मोक्षदो भगवान् मम गतिः स्वप्राप्त्युपायो भवतु ॥ ३७, ३८ ॥

---

1. W अव° 2 A,B °वशात् 3. A,B गीतोपदेशेन 4. A,B सत्या 5. A,B °र्थां 6. A,B omit मोक्षदो

**विज०** विजयोऽर्जुनः सखा यस्य सः तथा, तस्मिन् कृष्णे मम अनवद्या रागाद्यवद्यविधुरा रतिरस्तु रतिरनवद्या निर्दुष्टा अस्त्विति वाऽन्वयः। कथम्भूते? त्रिभुवनेषु कमनं कमनीयं, त्रिभुवनानां कमनमिच्छा यस्मिंस्तत्तथोक्तमिति वा। तमालपुष्पवद्वर्णो यस्य तत्तथा तमालवर्णं, वरञ्च तत् अम्बरं च वराम्बरम्। नवस्य रवेरादित्यस्य करः किरण इव गौरमरुणं वराम्बरं यस्य वपुषः तत्तथोक्तम्। 'गौरोऽरुणे सिते पीते स्वच्छे च परिकीर्त्यते" इत्यभिधानम्। अलककुलैः कुन्तलकुलैः आवृतमाच्छन्नमाननाब्जं यस्य तत् तथा एवंविधं वपुर्दधाने ॥ ३३ ॥

ममात्मा मनः कृष्णे अस्त्वित्यन्वयः।। कथम्भूते? विलसच्छोभमानं कवचं यस्य स तस्मिन्। वि(बि)लसत् सर्पोऽनन्तः कवचं शय्यास्थानीयं यस्य स तथा तस्मिन्निति वा, अच्छेद्यत्वाभेद्यत्वेऽप्यसुरमोहनाय। मम निशितैश्शरैर्वीभिद्यमानेव त्वग्यस्य स तथोक्तः तस्मिन्। वीत्युपसर्गाद्भिद्यमानत्वगप्यभिद्यमानैवेति ज्ञातव्यम्। निशितशरैरप्यविभिद्यमानत्वमिति तात्पर्यार्थः, विप्रिय इतिवत्। युद्धे तुरगाणां खुरनिपातोत्थितै रजोभिर्विशेषेण धूम्रवर्णैश्च तैर्विध्यद्भिः परस्परमाघ्नद्भिः कचैः केशैर्तुलितैः कलुषितैः श्रमवारिभिः श्रमनिमित्तस्वेदोदबिन्दुभिः अलङ्कृतमास्यं मुखं यस्य स तथोक्तः तस्मिन् ॥ ३४ ॥

पार्थसखे कृष्णे मम रतिरस्त्वित्यन्वयः । "सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत!" (भ.गी. 1-21) इति सख्युरर्जुनस्य वचो निशम्य सपदि वचःश्रवणानन्तरं निजपरयोः पाण्डवकौरवसम्बन्धिबलयोः सैन्ययोर्मध्ये रथं प्रवेश्य स्थितवति। अक्ष्णा निरीक्षणेन परसैन्यानाम् कौरवसैन्यानां आयुर्जीवनलक्षणं हृतवति ॥ ३५ ॥

यः परमो वीरः स्वर्गं प्राप्तुं युद्धाय व्यवस्थितयोः पृतनयोः सेनयोः मुखं भीष्मादिकं निरीक्ष्य "हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव" (भ. गी. 2-5) इति दोषबुद्ध्या "न योत्स्ये" (भ. गी. 2-9) इत्युक्त्वा स्वजनहननात् विमुखस्यार्जुनस्य कुमतिं दुष्टनिग्रहशिष्टपरिपालनलक्षणव्यापारबुद्धेः विपरीतबुद्धिम् "अशोच्यानन्वशोचस्त्वम् " (भ.गी. 2-11) इत्यादिरूपया आत्मविद्ययाऽहरत्, "करिष्ये वचनं तव" (भ. गी. 18-73) इति दुष्टनिर्हरणे धर्मे बुद्धिं कारितवान् मे तस्य परमस्य चरणयोः स्मरणेन ज्ञानसाधनयोरवयवविशेषयोः रतिरस्त्वित्यन्वयः ॥ ३६ ॥

अथ युद्धे आयुधं न ग्रहीष्यामीति स्वनियमं प्रतिज्ञालक्षणं विहाय यो भक्तानुकम्पी, आयुधं ग्राहयिष्यामीति मत्प्रतिज्ञां ऋतमधि सत्ये स्थितां कर्तुं धृतरथचरणः उद्धृतसुदर्शनचक्रो रथस्थो रथावप्लुतोऽवतीर्णो गतोत्तरीयः श्लथितोत्तरीयवासाः हरिः सिंहः इभं गजमिव बलाग्रे उभयोः सेनयोः पुरतो मां हन्तुमभ्ययात् ॥ ३७ ॥

यश्च आततायिनो मे निशितैस्तेजितैः विशिखैः बाणैः हतो विद्धो विशीर्णदंशः खण्डितकवचः क्षतजेन रुधिरेण परिप्लुतः स्नात इव प्रसभं 'रथा न्नावतर, भीष्मं न प्रतिहर' इत्यर्जुनवाक्यमनादृत्य बलात्कारात् मम वधार्थमभिससार, स मुकुन्दो भगवान् मम मुदे भवत्विति श्लोकान्वयः ॥ ३८ ॥

---

1. A °मिति 2 A,B omit कौरवसैन्यानां 3. B,K,M °र्जीवलक्षणं 4. K,M निग्रहणे

रा॰ कृ॰ त्रिभुवनकमनं त्रिजगन्मोहनं तमालवर्णं तमालवन्नीलवर्णो यस्य तत्, रविकरगौरवराम्बरं रवेः कराः किरणा इव गौरे पीते वरे निर्मले अम्बरे यस्मिंस्तत्, अलककुलावृताननाब्जं अलकजालैरुपरि आवृतम् आननाब्जं यस्मिंस्तत् वपुः शरीरं दधाने विजयसखे अर्जुनस्य मित्रे पार्थसारथौ मे अनवद्या निर्मला फलाभिसन्धिरहितेति यावत्, रतिरस्तु।

सर्वोत्पत्तिहेतुराकाशो निराकारोऽपि पश्यतो जनस्य नीलवर्णभ्रमं जनयन् नयनमोहनो भवति। एवं भगवान् श्रीकृष्णोऽपीति द्योतयितुं तस्य नीलवर्णत्वमभिवर्ण्यते कविभिः ॥ ३३ ॥

युधि युद्धे तुरगरजोविधूम्रविष्वक्कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये तुरगाणामश्वानां रजः खुररजः तेन विधूम्राः धूसराः विष्वञ्चः इतस्ततश्चलन्तः कचाः कुन्तलाः तैः लुलितं व्याप्तं, श्रमवारि स्वेदबिन्दुरूपं तेन अलङ्कृतमास्यं मुखं यस्य तथाभूते। अपि च मम निशितशरैः तीक्ष्णबाणैः विभिद्यमानत्वचि ईषद्भिन्नगात्रे विलसत्कवचे विराजमानकवचे कृष्णे आत्मा मम मनः अस्तु समर्पितं भवतु।

यद्यपि सर्वसृष्टिनियामकः ईश्वरः सङ्कल्पमात्रेणैव सकलधार्तराष्ट्रकुलं नाशयिष्यति, किं बहुना, नैव भारतयुद्धावश्यकता च तत्सङ्कल्पेन। तथाऽपि विश्रान्तः कविर्यथा अविश्रान्तपात्रोपचितं नाटकं करोति, तथा भगवान् स्वयं कर्तव्यविरहितोऽपि लीलार्थं कर्मसु प्रवृत्तः स्वसृष्टान् जीवानपि तेषु नियोजयतीति ज्ञेयम् ॥ ३४ ॥

सखिवचः सख्युरर्जुनस्य वचः योद्धुकामान् द्रष्टुं सेनाद्वयमध्ये रथं स्थापय इत्याकारकं निशम्य श्रुत्वा सपदि तत्क्षणमेव निजपरयोः बलयोः सैन्ययोर्मध्ये रथं प्रवेश्य स्थापयित्वा स्थितवति स्थिते परसैनिकायुः परस्य दुर्योधनस्य सैनिकानामायुः अक्ष्णा-दर्शनेन-कालस्वरूपेण, हृतवति पार्थसखे भगवति मम मतिरस्तु।

परसैनिकायुः यद्यपि अर्जुनादय एव हृतवन्तः तथाऽपि ते तत्र निमित्तहेतव एव। कृष्णस्य सङ्कल्पात्मकं दर्शनमेव परेषां मरणे प्रधानं कारणम्। अनन्तरमर्जुनादिभिर्निहता अपि ते पूर्वमेव हतप्रायाः। तथा हि — विपणौ क्रीतं वस्तु सौकर्याय तत्रैव निक्षिप्तमपि क्रेतुरेव न तु विक्रेतुः। अत एव भगवताऽप्युक्तम् — "मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्!" (भ. गी. 11-33) इति॥ ३५॥

व्यवहितपृतनामुखं व्यवहितायाः दूरे स्थितायाः पृतनायाः कौरवसेनायाः मुखमग्रभागं निरीक्ष्य दोषबुद्ध्या पापाचरणधिया स्वजनवधात् भीष्मादिवधात् विमुखस्य अर्जुनस्येति शेषः। कुमतिम् 'अहं हन्ता, मदीया इमे हन्यमानाः' इत्यकारिकां बद्धबुद्धिं यो देवः आत्मविद्यया गीतोपदेशेन अहरत् न्यवारयत् तस्य परमस्य पुरुषोत्तमस्य चरणरतिः पादभक्तिः मे ममास्तु॥ ३६॥

स्वनिगमम् अशस्त्र एव सहायो भविष्यामीति स्वप्रतिज्ञामपहाय त्यक्त्वा मत्प्रतिज्ञां श्रीकृष्णं शस्त्रं ग्राहयिष्यामीति मम प्रतिज्ञां कृतं यथार्थं यथा भवति तथा अधिकर्तुं अधिकां कर्तुं रथस्थस्सन् अवप्लुतः हठादवतीर्णः धृतरथचरणः उद्धृतचक्रायुधः गतोत्तरीयः पथि गलितोत्तरीयः चलद्दुः कुक्षिस्थसकलजगद्भारेण प्रतिपदं चलद्भूमिः इभं गजं हन्तुं हरिरिव सिंह इव यः अभ्ययात् ममाभिमुखम् अघावत्। अपि च आततायिनः प्रहरतः मे शितविशिखहतः तीक्ष्णबाणैः प्रहतः विशीर्णदंशः विध्वस्तकवचः क्षतजपरिप्लुतः रक्तसिक्ताङ्गस्सन् प्रसभं बलात् स्वं निवारयन्तमपि अर्जुनमविगणय्य इत्यर्थः। मद्वधार्थं यो मामभिससार अभिजगाम सः तादृशः भगवान् मुकुन्दः मे गतिः भवतु॥ ३७, ३८॥

विजयरथकुटुम्ब आत्ततोत्रे धृतहयरश्मिनि तच्छ्रियेक्षणीये।
भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षोर्यमिह निरीक्ष्य हता गतास्सरूपम्॥ ३९॥

ललितगतिविलासवल्गुहासप्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः।
कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः॥ ४०॥

मुनिगणनृपवर्यसङ्कुलेऽन्तःसदसि युधिष्ठिरराजसूय एषाम्।
अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो मम दृशिगोचर एष आविरात्मा॥ ४१॥

*क्षितिभरमवरोपितुं कुरूणां श्वसन इवासृजदक्षवंशवह्निम्।
तमिममजमनुव्रतार्तिहार्हिं हृदि परिरभ्य जहामि मर्त्यनीडम्॥

तमिममहमजं शरीरभाजां हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम्।
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः॥ ४२॥

सूत उवाच

कृष्ण एवं भगवति मनोवाग्दृष्टिवृत्तिभिः ।
आत्मन्यात्मानमावेश्य सोऽन्तःश्वास उपारमत् ॥ ४३ ॥

सम्पद्यमानमाज्ञाय भीष्मं ब्रह्मणि निष्कले ।
सर्वे बभूवुस्ते तूष्णीं वयांसीव दिनात्यये ॥ ४४ ॥

---

1. K,M °जितश्रमेक्षणीये 2 B,I,K,M,W °स्वस्व° 3. K,M °गुः 4. K,M °मभि° * This additional V is found in H & V between VV 41 & 42 but it appears in K & M between VV 42 & 43 and the commentaries on it, by Sridhara and Vijayadhvaja will appear at their proper places. 5 AF, GF विदधे स्थित° 6. K,M वि° 7. AF, GF °दि° 8. AF, GF °वा°

**श्रीध०** तदेवमन्यायैरपि भृत्यरक्षाव्यग्रे कृष्णे रतिमाशास्ते — **विजयेति**। विजयोऽर्जुनः तस्य रथ एव कुटुम्बमकृत्यशतैरपि रक्षणीयं यस्य तस्मिन्। आत्तं तोत्रं प्रतोदो येन तस्मिन्। धृताश्च ते हयानां रश्मयः प्रग्रहास्ते सन्ति यस्य तस्मिन्। । "व्रीह्यादिभ्यश्च" (अष्टा. 5-2-113) इत्यनकारान्तादपि रश्मिशब्दादिनिः। तच्छ्रिया तां-दृक्सारथ्यकरणोपयोगिविषेषेणक्षणीये शोभमाने। मुमूर्षोर्मर्तुमिच्छोः। नन्वन्यायवर्तिनि किमिति रतिः प्रार्थ्यते ? अत आह भगवत्यचिन्त्यैश्वर्ये तदाह। इह युद्धे हतास्सर्वे यं निरीक्ष्य संरूपं तत्समानं रूपं गताः प्राप्ता इति दिव्यदृष्ट्या पश्यन्नाह ॥ ३९ ॥

क्षत्रधर्मेण युध्यमानास्तत्सरूपं प्रापुरित्येतत्र चित्रं यतो मदान्धाः अपि प्रापुरित्याह — **ललितेति**। ललितगतिश्च विलासश्च वल्गुहासादिश्च मञ्जुगत्यादिभिरात्मीयैः तदीयैर्वा कल्पित उरुर्मानः पूजा यासां ताः। अत उत्कटेन मदेनान्धाः विवशाः अत एव तदेकचित्तत्वेन तस्य कृतं कर्म गोवर्धनोद्धरणादिकमनुकृतवत्यो गोपवध्वो यस्य प्रकृतिं स्वरूपभगन् अगमन्। मकारलोपस्त्वार्षः। किल प्रसिद्धौ। तस्मिन् मे रतिरस्त्विति पूर्वेणान्वयः ॥ ४० ॥

जगत्पूज्यतामनुस्मरन्नाह — **मुनीति**। मुनिगणैः नृपवर्यैश्च सङ्कुले व्याप्तेऽन्तस्सदसि सभामध्ये युधिष्ठिरस्य राजसूये एषां मुनिगणादीनामीक्षणीयः अहो रूपमहो महः इत्याश्चर्येण विलोकनीयस्सन् अर्हणमुपपेदे प्राप। एष जगतामात्मा मम दृशि गोचरो दृष्टिविषयः सन् आविः प्रकटो वर्तते अहो मे भाग्यमिति भावः ॥ ४१ ॥

* **किञ्च क्षितीति**। वंशानां वह्निः यथा अक्ष एव वंशवह्निः यः तमसृजत्। तं परिरभ्य मर्त्यनीडं जहामि ॥

सोऽहं कृतार्थोऽस्मीत्याह — **तम्** इति। तमिममजं सम्यगधिगतः प्राप्तोऽस्मि। **सम्यक्त्वमाह** — विधूतभेदमोहः तदर्थं भेदस्योपाधिकत्वमाह। आत्मकल्पितानां स्वनिर्मितानां शरीरभाजां प्राणिनां हृदि हृदि प्रतिहृदयं धिष्ठितमधिष्ठितमधिष्ठाय स्थितमिति यावत्। अकारलोपस्त्वार्षः। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, जजान जातानन्नुविवेश" इति श्रुतेश्च। नैकधा अनेकधा। अधिष्ठानभेदादनेकधा भान्तमित्यर्थः। अत्र दृष्टान्तः "एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति" इति श्रुतेः। सर्वप्राणिनां दृशं दृशं प्रत्येकमेवार्कमनेकधा प्रतीतमिवेति ॥ ४२ ॥

**कृष्ण** इति मनोवाग्दृष्टीनां वृत्तिभिः परमात्मनि श्रीकृष्णे। अन्तरेव विलीनः श्वासो यस्य सः ॥ ४३ ॥

**सम्पद्यमान** मिति। निष्कले निरुपाधौ सम्पद्यमानं मिलितमाज्ञाय आलक्ष्य। वयांसि पक्षिण इव ॥ ४४ ॥

---

1. A,B तया सारथ्यश्रियेक्षं° 2 V स्व° 3. B क्षा° 4. B उन्मदान्धाः 5 H,V वल्गुहासादिमञ्जु°; B रासादिः 6 B उरुर्महान् मानः 7 B °द्धा° 8. A,B महिमेत्येवमाश्च° 9. H,V महा° 10. A,B स्वयंनिर्मि° 11. A,B omit तत्सृष्टा ..... श्रुतेश्च 12 A,B omit एकं..... श्रुतेः

**वीर**° सारथ्यदशावस्थितं रूपमनुसन्धायास्मिन् रतिदार्ढ्यं प्रार्थयते — **विजयेति**। विजयस्य अर्जुनस्य रथः कुटुम्बः कुटुम्बवद्रक्षणयोग्यो यस्य, आत्तं तोत्रं वेत्रं येन, धृता हयानामश्वानां रश्मयः प्रग्रहा येन तस्मिन् तच्छ्रिया तोत्रहयरश्मिग्रहणजशोभया ईक्षणीये अतीवेक्षितुमर्हे च भगवति मुमूर्षोर्मर्तुमुद्यतस्य मम रतिरस्तु। द्वन्द्वयुद्धे यं निरीक्ष्य ये हतास्ते च स्वरूपं स्वाभाविकं रूपमपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकविशिष्टं रूपं मुक्तिमिति यावत्। गताः प्राप्ताः तस्मिन् भगवतीत्यन्वयः। सरूपमिति पाठे समानरूपं साधर्म्यमिति यावत् ॥ ३९ ॥

न केवलं तन्निरीक्ष्य युद्धे हता एव स्वरूपं गता अपि तु तत्कामेन तमनुवर्तमाना अपीत्याशयेन आह — **ललितेति**। ललितया सुन्दरया गत्या विलासेन वल्गुहासेन सुन्दरतरहासेन मन्दस्मितेन प्रणयनिरीक्षणेन च कल्पितः उरुः अधिकः मानः बहुमानः यासां ता गोपवध्वः उन्मदेन उद्रिक्तकामेन अन्धाः स्वपरविवेकरहिताः कृष्णमात्मानं मन्यमाना इत्यर्थः। अत एव कृतं भगवत्कृतं भगवतश्चेष्टितं पूतनानिरासादिकमिति यावत्। अनुकृतवत्यः अनुकुर्वत्यः सत्यः एवञ्च स्फुटीभविष्यति। यस्य प्रकृतिं स्वभावं साधर्म्यमगन् अगमन् किलेति प्रसिद्धिर्द्योत्यते, तस्मिन् भगवति रतिरस्त्विति पूर्वेणान्वयः ॥ ४० ॥

युधिष्ठिरराजसूयसभास्थं रूपमनुसन्धाय तस्य स्वचक्षुर्विषयतां प्रार्थयते — **मुनीति**। युधिष्ठिरराजसूये मुनीनां गणैः नृपश्रेष्ठैश्च सङ्कुलेऽन्तस्सदसि सभामध्ये य एषां युधिष्ठिरकृतं मुनिगणाद्यभिमतं चार्हणमग्रपूजादिकम् उपपेदे प्राप्तः एष ईक्षणीयो मदन्तरात्मा श्रीकृष्णः मम दृश्य गोचरो दृष्टिविषयस्सन् आविर्भवतु; यावत्तनुत्यागमवतिष्ठत्विति भावः। यद्वा आविरात्मा प्रकाशस्वरूपः दृशि गोचरोऽस्त्वित्यन्वयः ॥ ४१ ॥

अथ सर्वान्तरात्मानमनुसन्धाय उक्तविधं भगवन्तं प्राप्तोऽस्मीत्याह — **तम्** इति। तमुक्तविधमात्मना भगवता स्वेनैव तत्तत्कर्मानुरूपं कल्पितानां देहभाजां हृदि हृदि प्रतिहृदयं वस्तुत एकमेव प्रतिदृशं नैकधा अनेकधा अवस्थितमर्कं सूर्यमिव धिष्ठितमधिष्ठितं समधिगतोऽस्मि संप्राप्तोऽस्मि। कथम्भूतः? विधूतः भेदमोहः अब्रह्मात्मकस्वतन्त्रवस्तुभेदज्ञानात्मको मोह एकरूपे आत्मनि देवमनुष्यादिभेदमोहश्च यस्य तथाभूतः यथा दिविष्ठः सूर्यः एक एव सन् प्रतिदृशं दृशा दृशा वारिगतेनापि नयनेनात्माभिमुखं जलादौ भासमानः जलादिगतमृद्धिह्रासादिदोषागोचरः व्याप्यवस्तुगतदोषसङ्गरहितोऽर्कस्तमिव हृदि हृदि धिष्ठितमिति दृष्टान्तार्थः। अन्यथार्कदृष्टान्तो न घटते। अतोऽयं निर्दोषत्वे दृष्टान्तः "वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवं दर्शनाच्च" (ब्र. सू. 3-2-20) इति हि सूत्रम्। तत्र हि — "न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गम्" (ब्र. सू. 3-2-11) इत्यनेन पृथिव्यादिष्वन्तरात्मतयाऽवस्थितस्यापि परमात्मनो निरस्तनि-

खिलदोषत्वसमस्तकल्याणगुणाकरत्वरूपोभयलिङ्गश्रवणात् पृथिव्यादिगतदोषसंस्पर्शाभावमभिधाय "अत एव तूपमा सूर्यकादिवत्" (ब्र. सू. 3-2-18) इत्यनेन यतो नानाविधेषु स्थानेषु स्थितस्यापि परस्य ब्रह्मणो न तत्प्रयुक्तदोषसंस्पर्शत्त्वमत एव जलदर्पणादिप्रतिबिम्बितसूर्यादिवत् परमात्मा तत्र तत्रावस्थितोऽपि निर्दोष इति शास्त्रेणोपमा क्रियते। "आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत्। तथाऽत्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारेष्विवांशुमान् ॥ एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥" इत्यादिष्वित्यभिधाय पुनः "अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्" (ब्र. सू. 3-2-19) इत्यनेन सूत्रेण अम्बुदर्पणादिषु यथा सूर्यमुखादयो गृह्यन्ते न तथा पृथिव्यादिषु स्थानेषु परमात्मा गृह्यते। अम्ब्वादिषु हि सूर्यादयो भ्रान्तया तत्रस्था इव गृह्यन्ते न परमार्थतः तत्रस्थाः। इह तु "यः पृथिव्यां तिष्ठन् योऽप्सु तिष्ठन् य आत्मनि तिष्ठन्" *(बृह. उ. 3-7-22) इत्येवमादिना परमार्थत एव परमात्मा पृथिव्यादिषु स्थितो गृह्यते। अतः सूर्यादिरम्बुदर्पणादिप्रयुक्तदोषाननुषङ्गः तत्र तत्र स्थित्यभावादेव अतो न तथात्वं दार्ष्टान्तिकस्य न दृष्टान्ततुल्यत्वमिति परिचोद्य "वृद्धिह्रासभात्त्वम्" (ब्र. सू. 3-2-20) इत्यादिसूत्रेण पृथिव्यादिस्थानान्तर्भावात् स्थानिनः परब्रह्मणः स्वरूपतो गुणतश्च पृथिव्यादिस्थानगतवृद्धिह्रासादिदोषभात्त्वमात्रं सूर्यादिदृष्टान्तेन निरस्यते। कथमित्यवगम्यते उभयदृष्टान्तसामञ्जस्यादेवमिति निश्चीयते। "आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत्... ॥ जलाधारेष्विवांशुमान्" इति दोषवत्स्वनेकेषु[10] अवस्थितेस्तस्य आकाशस्य वस्तुतोऽनवस्थितस्यांशुमतश्च[11] उभयस्य दृष्टान्तस्य उपादानं हि परमात्मनः पृथिव्यादिगतदोषभात्त्वनिवर्तनमात्रे प्रतिपाद्ये समञ्जसं भवति। घटकरकादिषु यथा वृद्धिह्रासभाक्षु[12] पृथक् पृथक् संयुज्यमानमप्याकाशं वृद्धिह्रासादिदोषैः न स्पृश्यते। यथा च जलाधारेषु विषमेषु दृश्यमानोऽप्यंशुमान् तद्गतवृद्धिह्रासादिभिः न स्पृश्यते, तथाऽयं परमात्मा पृथिव्यादिषु नानाकारेषु अचेतनेषु चेतनेषु च स्थितः तद्गतवृद्धिह्रासादिदोषैरसंस्पृष्टः सर्वत्र वर्तमानोऽप्येक एव अस्पृष्टदोषगन्धः[13] कल्याणगुणाकर[14] एव। यथा जलादिषु वस्तुतः अनवस्थितस्याप्यंशुमतो हेत्वभावात् जलादिदोषानभिष्वङ्गः तथा पृथिव्यादिषु अवस्थितस्यापि परमात्मनो दोषप्रत्यनीकाकारतया दोषहेत्वभावाच्च न दोषगन्ध इति भाषितम् ॥ ४२ ॥

इत्थं भगवति कृष्णे परमात्मनि मनोवाग्दृष्टीनां वृत्तिभिः व्यापारैरात्मानं प्रत्यगात्मानमावेश्य तेन संयुक्तमनुसन्धायेत्यर्थः स भीष्मोऽन्तःश्वासः अन्तर्लीनः प्राणवायुः यस्य सः तथाभूतः उपारमत् शरीरं विहाय अर्चिरादिगत्या परमपुरुषं प्राप्त इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

तदा भीष्मं निष्कले निर्दोषे ब्रह्मणि सम्पद्यमानं सर्वोपाधिविधूननपूर्वकं ब्रह्म प्राप्नुवन्तं[15] प्रत्यभिज्ञाय[16] सर्वे तत्रत्यास्तूष्णीं बभूवुर्यथा दिनात्यये रात्रौ वयांसि पक्षिणस्तद्वत् ॥ ४४ ॥

---

1. A,B इह युद्धे 2. W कृष्णं सामान्यं 3. A,B एतच्च 4. A,B omit अनेकधा 5. A,B omit सम्प्राप्तोऽस्मि 6. A,B नयनेनाधि°
* Here W's version is preferred to A's version तत्त्वादौ 7. B सूर्यकाशादिवत् 8. A,B भात्त्वमपि तत एव 9. A,B omit तिष्ठन् योऽप्सु *काण्वपाठसम्बन्धिविज्ञानपर्यायस्थाने इदं वाक्यम् उपलभ्यते। बृह. उ. 3-7-22 10. W वस्तुतोऽस्थितस्य आ° 11. A,B omit उभयस्य 12. A,B पृथग्युज्य° 13. A,B गन्ध° 14. A,B °गुणक° 15. A,B °प्त° 16. A,B अभिज्ञाय

**विज०** इह युद्धे यं निरीक्ष्य हताः, संरूपं वैष्णवं धाम गताः मुमूर्षोः म्रियमाणस्य मे तस्मिन् भगवति रतिरस्त्वित्यन्वयः । कथम्भूते ? विजयस्य अर्जुनस्य रथ एव कुटुम्बं रक्षणीयवर्गो यस्य स तथा तस्मिन् । आत्ततोत्रे गृहीतप्रतोदे धृता हयरश्मयः कविकामुखरज्जवो येन स तथा। जितश्रम इति भावप्रधानो निर्देशः। जितश्रम इति कृष्णविशेषणं वा स्वरूपं मूलरूपं वा ॥ ३९ ॥

यस्य ललितानि गतिविलासादीनि तथोक्तानि ललितगतिश्च विलासश्च वल्गुहासो मन्दस्मितञ्च प्रणयेन निरीक्षणञ्च तथोक्तानि तैः कल्पितमुरु पृथु मानं यासां ताः तथोक्ताः ललितगत्यादिभिः कृष्णे कल्पितं समर्पितमुरुमानं महापूजा याभिस्ताः तथोक्ता इति वा, अत एव उत्कृष्टेन मदेन अन्धाः, कृतं पूतनावधादिपराक्रममनुकृतवत्यः कृष्णायमानत्वेनानुकुर्वाणाः गोपवध्वो गोपस्त्रियो यस्य प्रकृतिं जडशरीरं विहाय स्वभावाविर्भावलक्षणं मोक्षमगुः किल, तस्मिन् कृष्णे रतिरस्त्विति पूर्वेणान्वयः ॥ ४० ॥

मुनीनां गणैः नृपाणां वर्यैश्च सङ्कुले निबिडे युधिष्ठिरराजसूये यज्ञे अन्तस्सदसि येषां ऋष्यादीनां मध्ये योऽर्हणमग्रपूजामभिपेदे प्राप्तवान्, युधिष्ठिरपृष्टभीष्ममुखेन अयमेवाग्रपूज्य इति शास्त्रतः उपपाद्यादत्तेति वा; स एष आत्मा मत्कारुण्यान्भरणसमये मम दृशि गोचरो दृष्टिविषय आविरभूदहो मम भाग्यमिति शेषः। आविरात्मा प्रकाशरूप इति वा ॥ ४१ ॥

आत्मत्वविवरणपूर्वकं स्तौति — **तमिममिति**। चक्षुरभिमानित्वेन प्रतिदृशं दृशं दृशं प्रति नैकधा चक्षुरिन्द्रियनियामकतया अनेकरूपं स्थितमर्कं यथैकमेव समधिगच्छति ज्ञानी तथा अहमप्यात्मना कल्पितानां सृष्टानां शरीरभाजां जीवानां हृदि हृदि धिष्ठितं विविधं बहुरूपं स्थितं तमिममजं कृष्णमेकत्वसङ्ख्याविशिष्टं न द्वित्वोपेतं समधिगतोऽस्मि ज्ञातवानस्मि। कीदृशोऽहम्? विधूतभेदमोहोऽवतारगुणादिषु निरस्तभेदभ्रमबुद्धिः, यथास्थितवस्तुविज्ञानी वा अधिगन्त्रधिगमनाधिगम्यानां भेदस्याबाधितानुभवसिद्धत्वादन्योऽहं कृष्णोऽन्य इति भेदमोहनिरासवचनं निजदर्शनदुराग्रह-विजृम्भितैः अविद्याकल्पितमात्मपदप्रयोगेण निरस्तम्। अन्यथा तस्य वैयर्थ्यं स्यात्। शरीरभाजामित्यनेन चेतनबहुत्वसि-द्धेश्च "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" (श्वेता. उ. 6-13) इति श्रुतेः ॥ ४२ ॥

* स्तुतिमुपसंहरति **क्षितिभरमिति**। श्वसन इव, वायुर्यथा वंशेषु वेणुषु मिथस्सङ्घर्षणात् वह्निं सृजति तथाऽयं श्रीकृष्णः क्षितिभरं भूभारम् असुरबललक्षणमवरोपितुम् अवतारयितुं कुरूणामक्षवंशे वह्निं द्युताख्यदहनम् असृजत्। तमिममनुव्रतानां भक्तानामार्तिं हतवान् आर्तिहा अङ्घ्रिर्यस्य स तथोक्तः, तमजं श्रीकृष्णं हृदि परिरभ्य मर्त्यनीडं मरणधर्मशरीरं जहामि। स कृष्णः अत्रानुग्रहं करोत्विति वाक्यशेषः ॥

कथङ्कारं शरीरमत्याक्षीदिति तत्राऽऽह — **कृष्ण** इति। एवमुक्तप्रकारेण मनसो वाचो दृष्टेर्वृत्तिभिर्हृदि परिरभ्येत्युक्तत्वादात्मनि हृदि स्थिते बहिस्स्थिते च श्रीकृष्णे भगवत्यात्मानं स्वजीवचैतन्यलक्षणमन्तःकरणं नाहं स्वतन्त्रः तदधीन एवेत्यावेश्य निधाय स भीष्मोऽन्तःश्वासो रेचकपूरकैः कृत्वा श्वासोच्छ्वासरूपप्राणापानौ कुम्भके कृत्वा मूलाधारात् ब्रह्मनाड्या नाभिचक्रादिक्रमेण उदानवायुमूर्ध्वं नीत्वा उपारमत्। शरीरमजहदित्येकान्वयः ॥ ४३ ॥

समागतास्ते सर्वे निष्कले षोडशकलावर्जिते ब्रह्मणि हरौ सम्पद्यमानं प्राप्तवन्तं भीष्ममाज्ञाय तूष्णीं बभूवुः। कथमिव? दिनात्यये सन्ध्याकाले वयांसि पक्षिण इव इत्यन्वयः ॥ ४४ ॥

---

1 B,K,M स्व° § Here M' s version is preferred to A' s version 'बलादि' 2 K,M पूजार्हः 3 B,K,M add परमात्मा 4 B,K,M वि°

**रा० कृ०** इह युद्धे यं भगवन्तं निरीक्ष्य हतास्सर्वे तत्सरूपं तत्समानरूपं गताः प्राप्ताः तादृशे विजयरथकुटुम्बे रक्षणीयार्जुनरथे इत्यर्थः। आत्ततोत्रे गृहीतप्रतोदे धृतहयरश्मिनि धृताश्वप्रग्रहे तच्छ्रिया रथसारथ्यशोभया ईक्षणीये दर्शनीये भगवति श्रीकृष्णे रतिः मुमूर्षोर्मर्तुमिच्छोः मे मम अस्तु भवतु।

अत्र विजयरथकुटुम्बपदेन भगवतः शरणागतरक्षणैकपरायणत्वं, धृतहयरश्मिपदेन इन्द्रियमनोधारणाव्यञ्जकेन राजयोगसाधनमार्गश्च सूच्यते ॥ ३९ ॥

ललितगतिविलासवल्गुहासप्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः ललितगतिः सुन्दरगमनं, विलासः रासादिः वल्गुहासः मनोहरहासः प्रणयः स्नेहः तत्पूर्वकनिरीक्षणमेतैस्सर्वैः कल्पितः उरुः मानः सत्कारः यासां ताः उन्मदान्धाः उत्कटमदेनान्धाः स्वपरविवेकरहिताः कृतं तस्य भगवतः गोवर्धनोद्धरणादिकम् अनुकृतवत्यः गोपवध्वः यस्य प्रकृतिं स्वरूपं अगन् अगमन्।-अगुरिति श्रीविजयध्वजस्वीकृतपाठः समुचिततरः-तस्मिन् देवे मे रतिरस्त्विति पूर्वेणान्वयः।

लौकिकास्तावदन्यानपि लौकिकान् याभिः क्षोभयन्ति ताभिरेव चेष्टाभिः लोकातीतोऽपि भगवान् भक्तानां मनांस्यावर्ज्य स्वायत्तीकरोतीति ज्ञेयम् ॥ ४० ॥

युधिष्ठिरराजसूये धर्मराजस्य राजसूययागसन्दर्भे मुनिगणनृपवर्यसङ्कुले अन्तस्सदसि सभामध्ये एषां पूर्वोक्तमुनिगणादीनाम् ईक्षणीयः दर्शनीयः अर्हणमग्रपूजाम् उपपेदे प्राप, स एष आत्मा सकलजगदन्तर्यामी मम दृशि गोचरः दृष्टिविषयः आविः प्रकटो वर्तत इति शेषः ॥ ४१ ॥

प्रतिदृशं सर्वप्राणिनां दृशं दृशं प्रति नैकधा अनेकधा प्रतीतमपि वस्तुतः एकमर्कमिव आत्मकल्पितानां स्वसृष्टानां शरीरभाजां प्राणिनां हृदि हृदि प्रतिहृदयं धिष्ठितमधिष्ठितम् अन्तर्यामिणमिति यावत्। अतः अजं जन्मादिविकाररहितं तमिमं वासुदेवं विधूतभेदमोहः निवृत्तजीवजडान्तर्यामिभेदः अहं समधिगतोऽस्मि सम्यक् प्राप्तोऽस्मि।

प्रतिदृशं भिन्नत्वेन दृश्यमानोऽप्यर्को यथा एक एव भवति तथा प्रतिदेहं विभिन्नोऽप्यात्मा एक एव सर्वान्तर्यामी। तादृशसर्वान्तर्यामिस्वरूपं वासुदेवं भेदबुद्धिविरहितो भीष्म स्सम्यक् ज्ञातवानिति भावः ॥ ४२ ॥

एवमात्मनि सर्वजगदन्तरात्मनि भगवति श्रीकृष्णे मनोवाग्दृष्टिवृत्तिभिः मनोवाग्दृष्टीनां वृत्तिभिः आत्मानं प्रत्यगात्मानमावेश्य एकीकृत्य अन्तश्श्वासः अन्तर्लीनश्वासः सः भीष्मः उपारमत् उपरतोऽभूत् देहं त्यक्तवानित्यर्थः ॥ ४३ ॥

निष्कले बन्धरहिते ब्रह्मणि श्रीकृष्णाख्ये परब्रह्मणि भीष्मं सम्पद्यमानमैक्यं प्राप्तमाज्ञाय विदित्वा ते तत्रत्यास्सर्वे जनाः, दिनात्यये रात्रौ वयांसीव पक्षिण इव तूष्णीं बभूवुः निश्शब्दा अभवन् ॥ ४४ ॥

**तत्र दुन्दुभयो नेदुर्देवमानववादिताः ।**
**शशंसुस्साधवो राज्ञां खात्पेतुः पुष्पवृष्टयः ॥ ४५ ॥**

**तस्य निर्हरणादीनि सम्परेतस्य भार्गव!**
**युधिष्ठिरः कारयित्वा मुहूर्तं दुःखितोऽभवत् ॥ ४६ ॥**

**तुष्टुवुर्मुनयो हृष्टाः कृष्णं तद्गुह्यनामभिः ।**
**ततस्ते कृष्णहृदयाः स्वाश्रमान् प्रययुः पुनः ॥ ४७ ॥**

**ततो युधिष्ठिरो गत्वा सहकृष्णो गजाह्वयम् ।**
**पितरं सान्त्वयामास गान्धारीं च तपस्विनीम् ॥ ४८ ॥**

**पित्रा चानुमतो राजा वासुदेवानुमोदितः ।**
**चकार राज्यं धर्मेण पितृपैतामहं विभुः ॥ ४९ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे
युधिष्ठिरराज्यप्रलम्भो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

---

1 B °दानव , K.M °गन्धर्व° 2 AF. GF राजन्!; K.M ब्रह्मन्!

**श्रीध० तत्रेति**। देवैः मानवैश्च वादिताः राज्ञां मध्ये ये साधवोऽनसूयवः ॥ ४५ ॥

**तस्येति**। निर्हरणादीनि दाहसंस्कारादीनि सम्परेतस्य सम्यक् परं परमात्मानं इतस्य प्राप्तस्य मुक्तस्यापीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

**तुष्टुवु**रिति। तस्य गुह्यनामभिर्वेदोक्तैः कृष्ण एव हृदयं येषां ते कृष्णहृदयाः ॥ ४७ ॥

**तत** इति। पितरं धृतराष्ट्रम्। तपस्विनीं पुत्रशोकजनितसन्तापवतीम् ॥ ४८ ॥

**पित्रेति**। विभुः राजा युधिष्ठिरः अनुमतोऽनुज्ञातः ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकाया
व्याख्यायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

---

1 A.B सम्यक् परेतस्य 2 A.B omit पुत्रशोकजनित°

**वीर०** तत्र तदा देवैर्मानवैश्च वादिता दुन्दुभयो नेदुः दध्वनुः साधवो भागवताश्शशंसुरहो भीष्मस्य भाग्यं माहात्म्यं चानितरसाधारणमिति तुष्टुवुः। राज्ञां पुष्पवृष्टयः राजभिः कारिताः पुष्पवृष्टयः खादुपरिदेशात् पेतुः पतिता इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

हे भार्गव! सम्परेतस्य परलोकं प्राप्तस्य भीष्मस्य निर्हरणादीनि दाहादिकर्माणि कारयित्वा युधिष्ठिरो मुहूर्तं दुःखितो बभूव ॥ ४६ ॥

तथा मुनयो हृष्टाः कृष्णं तस्य कृष्णस्य गुह्यं स्वरूपरूपयाथात्म्यं वेदान्तवेद्यं तत्प्रकाशकैः नामभिस्तुष्टुवुः। ततस्ते मुनयः कृष्ण एव हृदयं येषां तथाभूताः पुनराश्रमान् प्रययुः ॥ ४७ ॥

ततः कृष्णेन सहितो युधिष्ठिरो हस्तिनापुरं गत्वा पितरं धृतराष्ट्रं तपस्विनीं पतिव्रतां गान्धारीं च सान्त्वयामास ॥ ४८ ॥

ततः पित्रा धृतराष्ट्रेणानुज्ञातः वासुदेवेन भगवताऽनुमोदितश्च विभुर्युधिष्ठिरः पित्रादिक्रमप्राप्तं राज्यं धर्मेण चकार शशास ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीवीराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

---

1 W पतितवत्यः 2 A,B स्वरूपया°

**विज०** तत्र भीष्मस्य निर्याणसमये खात् आकाशात् भीष्ममूर्ध्नीति शेषः ॥ ४५ ॥

सम्परेतस्य मृतस्य निर्हरणादीनि शवसंस्कारपुरस्सराणि कर्माणि कृत्वा भीमादिभिश्च कारयित्वा ॥ ४६ ॥

भगवन्महिम्ना हृष्टरोमाञ्चितसर्वाङ्गाः तस्य कृष्णस्य गुह्यनामभिः वेदशिरोगतात्यन्तरहस्यनामभिः कृष्णहृदयाः कृष्णो हृदये येषां ते तथा, कृष्णे हृदयं मनो येषामिति वा ॥ ४७ ॥

गजाह्वयं गजसमाननामानं हस्तिनापुरम्। पितरं धृतराष्ट्रम् ॥ ४८ ॥

अनुमोदितोऽनुज्ञातः पित्रा धृतराष्ट्रेण च पितृपैतामहं पितृपितामहागतं धर्मेण शास्त्रोक्तवर्त्मना विभू राज्यकरणशक्तिमान् ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां प्रथमस्कन्धे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

**रा० कृ०** तत्र तदा भीष्मनिर्याणसमये देवमानववादिताः दुन्दुभयो नेदुः दध्वनुः। राज्ञां मध्ये साधवः शशंसुः तुष्टुवुः स्तुतिमकुर्वन्। खात् आकाशात् पुष्पवृष्टयः पेतुः अपतन् ॥ ४५ ॥

हे भार्गव! सम्परेतस्य मृतस्येति सामान्यार्थः। सम्यक् परं परमेश्वरम् इतस्य प्राप्तस्येति विशेषार्थः। तस्य भीष्मस्य निर्हरणादीनि दाहादीनि कर्माणि युधिष्ठिरः कारयित्वा मुहूर्तं क्षणकालं दुःखितोऽभवत् ॥ ४६ ॥

ततो हृष्टाः मुनयः तद्गुह्यनामभिः तस्य रहस्यनामभिः गूढार्थनामभिरिति यावत्। कृष्णं तुष्टुवुः स्तुतवन्तः। पुनश्च ते मुनयः कृष्णहृदयाः कृष्णमयहृदयाः स्वाश्रमान् प्रययुरगच्छन् ॥ ४७ ॥

ततोऽनन्तरं युधिष्ठिरः सहकृष्णः कृष्णसहितस्सन् गजाह्वयं हस्तिनापुरं गत्वा पितरं धृतराष्ट्रं तपस्विनीं पुत्रशोकेन दयनीयां गान्धारीं च सान्त्वयामास विनयोक्तिभिरनुनीतवान् ॥ ४८ ॥

पित्रा धृतराष्ट्रेणानुमतः अनुज्ञातः वासुदेवानुमोदितश्च वासुदेवेन चानुज्ञातः राजा विभुः युधिष्ठिरः पितृपैतामहं पित्रादिपरम्पराप्राप्तं राज्यं धर्मेण चकार शशास ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां व्याख्यायां
नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

# दशमोऽध्यायः

## शौनक उवाच

हत्वा स्वरिक्थस्पृध[1] आततायिनो युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः[2] ।
सहानुजैः प्रत्यवरुद्धभोजनः कथं प्रवृत्तः किमकारषीत्ततः[3] ।। १ ।।

## सूत उवाच

वंशं कुरोर्वंशदवाग्निनिर्हृतं[4] संरोहयित्वा भवभावनो[5] हरिः ।
निवेशयित्वा निजराज्य ईश्वरो युधिष्ठिरं प्रीतमना बभूव ह[6] ।। २ ।।

* याजयित्वाश्वमेधैस्तं त्रिभिरुत्तमकल्पकैः ।
तद्यशः पावनं दिक्षु शतमन्योरिवातनोत् ।।

निशम्य भीमोक्तमथाच्युतोक्तं[7] प्रवृत्तविज्ञानविधूतविभ्रमः ।
शशास गामिन्द्र इवाजिताश्रयः परिध्युपान्तामनुजानुवर्तितः[8] ।। ३ ।।

कामं ववर्ष पर्जन्यः सर्वकामदुघा मही ।
सिषिचुः स्म व्रजान्[10] गावः पयसोधस्वतीर्मुदा[11] ।। ४ ।।

नद्यस्समुद्रा गिरयः सवनस्पतिवीरुधः[12] ।
फलन्त्योषधयस्सर्वाः कामम[13]न्वृतु तस्य वै ।। ५ ।।

नाऽऽधयो व्याधयः क्लेशा दैवभूतात्महेतवः[14] ।
अजातशत्रावभवन् जन्तूनां राज्ञि कर्हिचित् ।। ६ ।।

उषित्वा हास्तिनपुरे[15] मासान् कतिपयान् हरिः ।
सुहृदां च[16] विशोकाय स्वसुश्च प्रियकाम्यया ।। ७ ।।

आमन्त्र्य[17] चाभ्यनुज्ञातः परिष्वज्याऽभिवाद्य तम्[18] ।
आरुरोह रथं कैश्चित्परिष्वक्तोऽभिवादितः ।। ८ ।।

---

1 H,V,W °ह 2 K,M गवि स्थिरः 3 H,V °कारुषी°. K,M,W कार्षी° 4 W °र्हं° 5 K,M °तापनो 6. B omits ह * This additonal verse is shown in Vijayadhvaja's commentary, under foot note in K & M The commentary is to be found in its proper place 7 H,K,M,V °तोदितं 8. W °च्यु° 9 K,M प्रणिध्युपात्ता° 10 K,M °जं 11 K,M पयसाल्यूधसो मुदा 12. B °हुः 13. AF. GF कामता मृत्युस्त्र वै 14 AF GF °ता इहेतयः 15 H,K,M,V ह° 16 H,V शोकनाशाय 17 H,V °न्याथाभ्य° 18 AF. GF तान्; K,M ताम्

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

दशमे कृतकार्यस्य हस्तिनापुरतो हरेः।
स्त्रीभिस्संस्तूयमानस्य वर्ण्यते द्वारकागमः॥

[1]राज्यं चकारेत्युक्तं, तत्र पृच्छति शौनकः — **हत्वेति**। स्वस्य रिक्थे धने स्पर्धन्ते स्म ये ते तथा। यद्वा, स्वरिक्थाय स्पृत् सङ्कामो येषामत एव धनादिहरणादाततयिनः, तान् हत्वा प्रत्यवरुद्धभोजनो बन्धुवधदुःखेन सङ्कुचितभोगो राज्यलाभेन प्राप्तभोगो वा कथं राज्ये प्रवृत्तः, प्रवृत्तो वा ततः **किमकार्षीत्**?[7]॥१॥

राज्यप्राप्तौ श्रीकृष्णस्य प्रीतिं पर्यालोच्य प्रवृत्त इत्याशयेन उत्तर माह — **वंशमिति**। वंशं कुरोः संरोहयित्वा परीक्षिद्रक्षणेन संरोह्य अङ्कुरितं कृत्वा। कथम्भूतम्? वंशदवाग्निर्हृतं, वंश एव दवो वनं, तस्मादुद्भूतो यः क्रोधरूपोऽग्निः, तेन निर्हृतं दग्धम्। निजराज्ये निवेश्य च॥२॥

प्रवृत्तौ **हेतुमुक्त्वा, किमकार्षी**[8]दित्यस्य उत्तरमाह — **निशम्येति**। प्रवृत्तं यद्विज्ञानं परमेश्वराधीनं, जगत् न स्वतन्त्रम् इत्येवंभूतं तेन **विधूतो** विभ्रमः, अहं कर्तेत्येवम्भूतो मोहो यस्य सः। अनुजैरनुवर्तितः सेवित स्सन्, अजितः श्रीकृष्ण एव आश्रयो यस्य सः। परिधिः समुद्रः। उपान्तां तत्पर्यन्तां गां पृथ्वीं पालयामास॥३॥

तस्य राज्यमनुवर्णयति — **काममिति** त्रिभिः। मही सर्वकामदुघा[9] बभूव। व्रजान् गोष्ठानि। ऊधस्वती रूधस्त्यः। ऊधः क्षीराशयः। **तद्वत्यः**,[10] स्थूलोधस इत्यर्थः। सिषिचुः अभ्यषिञ्चन्॥४॥

**नद्य** इति। अन्वृतु ऋतावृतौ॥५॥

**नेति**। **आधयो मनोव्यथाः**। **व्याधयो** रोगाः। क्लेशाः शीतोष्णादिकृताः। दैवञ्च **भूतानि** च आत्मा च हेतुर्येषां ते, आधिदैविकाधिभौतिकाध्यात्मिकाः जन्तूनां नाभवन्॥६॥

**इदानीं द्वारकागमनं निरूपयितुमाह — उषित्वेति**। स्वसुः सुभद्रायाः, सुहृदां युधिष्ठिरादीनाम्॥७॥

**आमन्त्र्येति** तं युधिष्ठिरम्॥८॥

---

1 H.V add तत्र हस्तिनापुरे 2. H.V धनेऽपि स्पर्धया स्पृहां कुर्वतः, यद्वा 3 H.V स्पृत् **सङ्कामो**; B स्पृधः (स्पृत्) **सङ्कामो** 4 H.V येषां ते अत एव तद्धरणीहरणा दात° 5 H.V प्राप्ताधिकभोगो 6 H.V °कारुषीत् 7. H.V add किमकरोत्? अत्र रेफादुडार्षः 8 B रूपं 9. H.V add **सर्वाभीष्टदोग्ध्री** 10 H.V add **प्रथमार्थे द्वितीया**

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

धर्मेण राज्यं चकारेत्युक्तम्, तदेव विस्तरतो बुभुत्सुः उक्तानुवादपूर्वकं पृच्छति शौनकः — **हत्वेति**। **स्वरिक्थस्पृधः** स्वदायलिप्सून्। स्पृहं इति पाठेऽपि स एवार्थः। हकारस्य धकार आर्षः। अत एवाऽऽततायिनो दुर्योधनादीन् हत्वा प्रत्यवरुद्धं प्रत्यधिगतं प्रतिप्राप्तं भोजनं राज्यं येन स धर्मभृतां वरिष्ठो युधिष्ठिरः। गविष्ठिर इति

पाठे, गवि वचसि स्थिरो युधिष्ठिरः अनुजैर्भीमादिभिस्सह कथं **प्रवृत्तः?** राज्यशासन इति शेषः। ततो राज्यशासनानन्तरं किमकार्षीदिति प्रश्नद्वयम्। रेफविश्लेष आर्षः॥ १॥

तत्र तावत् कथं प्रवृत्त इति **प्रश्नस्योत्तरं विवक्षुरुपोद्घातत्या भगवतः कृतकृत्यत्वमाह — वंशमिति।** वंशदवाग्निना वेणुवनसङ्घर्षणजदवाग्नितुल्येन कुलकलहेन दग्धं विनष्टं कुरोर्वंशं संरोहयित्वा, परीक्षिद्रूपेणोत्पादयित्वा भवभावनः, भवो जगत् तं भावयति वर्धयतीति भवभावनः। हेतुगर्भं इदं, भवभावनत्वात्संरोहयित्वा। हरिः ईश्वरः श्रीकृष्णो युधिष्ठिरं निजराज्ये निवेशयित्वा प्रीतमना बभूव। कृतकृत्यत्वादिति भावः॥ २॥

प्रश्नस्योत्तरमाह — **निशम्येति** चतुर्भिः। भीष्मोक्तम् अच्युतोक्तञ्च निशम्य प्रवृत्तेन सुप्रतिष्ठितेन विज्ञानेन देहात्मविवेकादिरूपेण विधूतः विभ्रमो देहात्मादिभ्रमो यस्य। अनुजैर्भीमादिभिः अनुवर्तितो युधिष्ठिरः। इन्द्र इवाच्युत एवाश्रयो यस्य। अच्युतमाश्रयते सेवते भजत इति वा तथाभूतः। परिध्युपान्तां दिगन्तावधिं चतुस्समुद्रान्तां पृथिवीं शशास॥ ३॥

अजातशत्रौ राज्ञीत्येत त्काममित्यादि पूर्वश्लोकद्वयेऽपि अपकर्षणीयम्। अजातशत्रौ युधिष्ठिरे राज्ञि सति पर्जन्यः कामं यथेष्टं ववर्ष। सर्वान् कामान् दोग्धि प्रपूरयतीति तथा, मह्यभूत्। गावः पयसा क्षीरेण ऊधस्वतीरूधस्वत्यः। भूम्न्यत्र मतुप्। पृथूधस इत्यर्थः। मुदा व्रजान् व्रजस्थान् प्रति सिषिचुः क्षीरं दुदुहुः॥ ४॥

तस्य युधिष्ठिरस्य सम्बन्धिन्यः नद्यादयः स्वधर्मान्, न तत्यजुः इति शेषः। वनस्पतिभिः वीरुद्भिश्च सहिताः सर्वा ओषधयः। अन्वृतु ऋत्वनुकूलं फलानि फेलुः॥ ५॥

अजातशत्रौ राज्ञि सति, जन्तूनां प्राणिनां कदाचिदप्याधयो मानसिका, व्याधयो दैहिकाश्च, क्लेशाः तानेवाह दैवभूतात्महेतवः। आधिदैविका आधिभौतिका आध्यात्मिका नाभवन्॥ ६॥

किमकार्षीत्तत इत्यस्योत्तरं विवक्षिष्यन् पूर्वं प्रस्तुतस्य निवृत्तप्रयाणस्य भगवतो वृत्तान्तमाह — **उषित्वा** इत्यादिना यावदेकादशाध्यायसमाप्ति। सुहृदां युधिष्ठिरादीनां विशोकाय शोकाभावाय। स्वसुश्च स्वभगिन्याः सुभद्रायाः प्रियकाम्यया च हास्तिनपुरे कतिपयान् मासानुषित्वा अवस्थाय॥ ७॥

तं युधिष्ठिरमामन्त्र्य पृष्ट्वा तेनाऽभ्यनुज्ञातः तं परिष्वज्याभिवाद्य च कैश्चिन्न्यूनवयस्कैः परिष्वक्तः आलिङ्गितोऽभिवादितश्च हरिः श्रीकृष्णो रथमारुरोह॥ ८॥

---

1 w °घ 2 w विवक्षुस्तदुपो° 3 w °द्य 4 w पूर्वोक्तश्लो° 5. w फलन्ति पफलुः

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हास्तिनपुरात् द्वारकायात्राकथनपूर्वकं भगवत्प्रसादलब्धयुधिष्ठिरराज्यसमृद्धिकथनेन हरेर्महिमैव वर्ण्यते अस्मिन्नध्याये। तत्र हरितद्भक्तकथायां अवितृप्तमनाश्शौनकः पुनरपि पृच्छतीत्याह — **हत्वेति। स्वरिक्थं** स्वराज्याख्यद्रव्यम-

स्माकमिति स्पर्धन्त इति स्वरिक्थस्पृधः, तान् आततायिनः प्रतिवीरं हत्वा मर्तुकामान् दुर्योधनादीन् हत्वा अनुजैस्सह प्रत्यवरुद्धभोजनः संक्षिप्तभोगो धर्मभृतां धर्मप्रवर्तकानां व्यासादीनां गवि वाचि स्थिरो निश्चलो युधिष्ठिरः कथं केन प्रकारेण राज्यपालने प्रवृत्तः किं कर्माकार्षीत्? अथ कृष्णश्च तेन सह हस्तिनपुरमागतः किमकृत, तदस्माकं ब्रूहीत्येकान्वयः ॥ १ ॥

पाण्डवानां निरतिशयहरिकृपयैव राज्यादिलाभ इति ज्ञापयन् पाण्डवस्थापनादिकृष्णमहिमानं तावदाह — **वंश** मिति। ईश्वरो जगच्चोष्टायां समर्थः हरिः वंशलक्षणदवात् वनात् उत्पन्नाग्निना नितरां हृतं कुरो राज्ञो वंशं संरोहयित्वा परीक्षिदङ्कुरेण जनयित्वा, युधिष्ठिरं निजराज्ये निवेशयित्वा प्रीतमना बभूवेत्येकान्वयः। नित्यप्रीतस्य कादाचित्कप्रीत्युक्तिः लौकिकापेक्षयेत्येतमर्थं हशब्देन प्रसिद्धद्योतनेनाह। भवभावन इति पाठे सृष्टिवर्धनं अनेन संरोहणशक्तिरदर्शि। ईश्वर इत्येनेन राज्यस्थापनमाहात्म्यमसूचि। भवतापन इत्येनेन संसारोन्मूलनकर्तुः हरेः पाण्डवरिपुनिबर्हणं किमु वक्तव्यमिति न्यायो दर्शितः ॥ २ ॥

* **याजयित्वा** — इत्ययमुक्तार्थः ॥

किमकार्षीदिति प्रश्नं परिहरति — **निशम्येति**। अथ युधिष्ठिरो भीष्मोक्तं धर्मसर्वस्वं तथाऽच्युतस्य कृष्णस्योदितं वाक्यञ्च निशम्य तदुभयं श्रुत्वा प्रवृत्तमुत्पन्नं यद्विज्ञानं तेन विशेषेण धूतो निरस्तो विविधो भ्रमः तत्त्वे नानासंशयो यस्य स तथोक्तः श्रीकृष्णाश्रयोऽनुजैर्भीमादिभिरनुवर्तितः अमात्यादिसप्तप्रणिधिभिः उपात्तां प्राप्तां, गाम् अवनिं स्वर्गमिन्द्रो यथा शशासेत्येकान्वयः। भूमिं स्वर्गसमानां अपालयदिति द्योतनाय गामित्युक्तम्। "अमात्या मन्त्रिणो दूताः श्रेणयश्च पुरोहिताः। पुरं जनपदश्चेति सप्त प्रणिधयः स्मृताः॥" (वैज. को. 3-6-197) इति वचनात् परिधिः समुद्रः स एव उपान्तेऽवसाने यस्याः सा। परिध्युपान्तामिति पाठो बादरायणमतपरिज्ञानात् उच्छ्वसित इति ज्ञातव्यम् ॥ ३ ॥

कृष्णाश्रयफलमाह — **काम** मिति। पर्जन्यो मेघाभिमनी देवः। सर्वेषामभीष्टं दोग्धीति सर्वकामदुघा, गावः सौरभेय्यः पयसा क्षीरेण गोष्ठं सिषिचुः सिक्तवत्यः। अतिस्थूलं ऊधः क्षीरपात्रं यासां ताः अत्यूधसः ॥ ४ ॥

नद्यादयो रत्नानि फलन्ति। वनस्पतयः वीरुधो मातुलिङ्गादयः, ओषधयो व्रीह्यादयः। पर्जन्यादयः तस्य युधिष्ठिरस्य काममिच्छानुसारेण अन्वृतु ऋतावृतौ वृष्ट्यादिमन्तः अभूवन्नित्यन्वयः ॥ ५ ॥

न केवलं इष्टप्राप्तिरनिष्टनिवृत्तिश्च सुतरामित्याह — **नाऽऽधय** इति। अजातशत्रौ युधिष्ठिरे जन्तूनां राज्ञि रञ्जके सति कदाचिदप्याधिदैविकादिहेतवः क्लेशा नाऽऽसुरित्येकान्वयः आधिः मानसी पीडा। व्याधिः भगन्दरादिः। कथम्भूताः? दैवानि भूतानि च आत्मा च हेतुः निमित्तं येषां ते तथोक्ताः अधिदैवहेतुः अनावृष्ट्यादिः, अधिभूतहेतुः उन्मादादिः, अध्यात्महेतुः कुष्ठादिः ॥ ६ ॥

इदानीं कुरुपुरं प्रविष्टः कृष्णः किमकार्षीदित्यभिप्रायिकं प्रश्नं परिहरति — **उषित्वेति**। सुहृदां पाण्डवानां विशोकाय स्वसुः सुभद्रायाश्च प्रियकाम्यया कतिचिन्मासान् हस्तिनापुरे उषित्वा ॥ ७ ॥

आमन्त्र्य च द्वरकां गमिष्यामीति युधिष्ठिरायोक्त्वा शिष्टाचाररक्षणाय युधिष्ठिरं परिष्वज्याभिवाद्य कैश्चिदर्जुनादिभिः आलिङ्गितो वन्दितश्च रथ मारुरोहेत्यन्वयः ॥ ८ ॥

---

1. K,M ह° 2. A,B °वारं 3. B,K,M °नः 4. K adds पनसादयः 5. K,M °प्यधिदैवका° * Commentary on addl V.

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

स्वरिक्थस्पृहः स्वधने स्पर्धया स्पृहां कुर्वतः आततायिनः दुर्योधनादीन् हत्वा प्रत्यवरुद्धभोजनः पुनस्स्ववशीकृतभोगः धर्मभृतां वरिष्ठः युधिष्ठिरः अनुजैर्भीमदिभिस्सह कथं प्रवृत्तः ? राज्यपालने इति शेषः। ततोऽनन्तरं च कि अकारुषीत्, अकरोत् ? ॥ १ ॥

वंशदवाग्निर्निर्हृतं वंशदवाग्निना वेणुवनसङ्घर्षणजन्य दवानलतुल्येन कुलकलहेन दग्धं कुरोः वंशं संरोहयित्वा परीक्षिद्रक्षणेनाङ्कुरितं कृत्वा, भवभावनः, भवं भक्तानामभ्युदयं भावयति उत्पादयतीति भवभावनः ईश्वरो हरिः श्रीकृष्णः युधिष्ठिरं निजराज्ये निवेशयित्वा प्रीतमना बभूव ह अभवत् खलु ॥ २ ॥

भीष्मोक्तं, अथानन्तरं अच्युतोदितञ्च वचः निशम्य प्रवृत्तविज्ञानविधूतविभ्रमः, प्रवृत्तेन प्ररूढेन विज्ञानेन विधूतो विभ्रमो यस्य सः। अनुजानुवर्तितः सोदरै स्सेवितः युधिष्ठिरः इन्द्र इव अजिताश्रयः अच्युताश्रयस्सन् परिध्युपान्तां समुद्रपर्यन्तां गां पृथिवीं शशास।

प्रथमं भगवता प्रतिबोधितस्याऽपि धर्मराजस्य पापविषयकः संशयो नैव निवृत्तः। अनिवृत्ते च तस्मिन् सर्वाण्यपि शास्त्राणि श्रुतानि नैव रक्षन्ति। उक्तञ्च गीतासु — "संशयात्मा विनश्यति" (भ. गी. 4-40) इति भगवत्कल्पितभीष्मोपदेशेन विगतसंशयस्य तु युधिष्ठिरस्य अभिमतोऽभूत् श्रीकृष्णोपदेशः।

इन्द्रस्य स्वर्गभ्रंश नारायणाश्रय राक्षससंहार पुनस्स्वर्गलाभाः श्रूयन्ते ह्यस्माभिः इतिहासेषु। तत्र देवराजत्वाभिमानी इन्द्रः स्वर्गात् भ्रश्यति अहङ्कारमयराक्षसाक्रान्तत्वात्। नारायणसमर्पितबुद्धेस्तस्य तु तद्राक्षसापगमेन पुनः स्वर्गप्राप्तिः। अयमर्थो वामनावतारादभिज्ञायते। वेदोपवर्णितः इन्द्रः इन्द्रियनियामकप्रज्ञायाः सङ्केतः। विगलितविष्णुस्मृतिः सा देहेन्द्रियजालं आश्रित्य तदधिदेवताप्राभवप्रमत्ता सती स्वर्गसुखानुभवाय प्रयतते। तदा सा व्यवह्रियते अहङ्कार इति यं परिवृत्य कामक्रोधादिरक्षोगणः तमिन्द्रमानन्दमयस्वर्गात् पातयन्ति। तथापीश्वरे शरणं गता हीन्द्रप्रज्ञा प्रणष्टमानन्दमयं स्वर्गं सर्वसमर्पणजन्यं भजते। एवं भगवता निजराज्ये निवेशितो धर्मजोऽपि भगवत्समर्पितबुद्धिः प्रध्वस्ताहङ्कृतिः परं प्रशान्तचित्तः स्वर्ग मनुबभूवेति तत्त्वम् ॥ ३ ॥

धर्मजे राज्यं शासति सति पर्जन्यो वर्षाभिमानी देवः कामं यथेच्छं ववर्ष। मही सर्वकामदुघा सर्ववाञ्छादात्री अभूदिति शेषः। ऊधस्वतीः स्थूलोधस्वत्यः गावः मुदा सहिताः पयसा क्षीरेण व्रजान् गोष्ठानि सिषिचुः स्म बहुक्षीरं दुदुहुरित्यर्थः ॥ ४ ॥

धर्मजे राज्यं शासति नद्यः समुद्राः गिरयः सवनस्पतिवीरुधः वृक्षलतासहितास्सर्वा ओषधयः तस्य युधिष्ठिरस्य काममिच्छाम् इच्छानुसारेणेत्यर्थः॥ अन्वृतु ऋतावृतौ। फलन्ति। नदीनां फलं सस्यादिवृद्धिः, समुद्रफलं रत्नादिसम्पत्तिः, गिरीणां फलं धातुसमृद्धिः। वनस्पतिवीरुधां फलं फलपुष्पादिसमृद्धिः। ओषधीनां फलञ्च व्रीहियवगोधूममुद्गमाषादिसमृद्धिः ॥ ५॥

अजातशत्रौ धर्मजे राज्ञि सति कर्हिचित् कदाचिदपि जन्तूनां प्राणिनाम् आधयो मनोव्यथाः। व्याधयो रोगा दैवभूतात्महेतवः, दैवं, भूतानि, आत्मा च हेतुर्येषां ते तथाभूताः आधिदैविकाधिभौतिकाध्यात्मिकाः इत्यर्थः। क्लेशाः नाऽभवन्।

यत्र तावत् जनाः दानधर्मपरस्परसम्भावनासहकारादिसल्लक्षणलक्षिताः यज्ञार्थं कर्माऽऽचरन्ति, तत्र वर्षसस्यादिसमृद्धिः सम्पद्यते। अपि च ते स्वयं सुखिताः परेषां सुखसम्पिपादयिषवो यदि स्युः, पञ्चभूतान्यपि सुखाधायकानि भवन्ति। यत्र पुनः शेमुषीविभवाधिकारबलादयः प्राधान्येनाऽऽराध्यन्ते, प्रजाश्च स्वार्थसम्पादनैकपरायणाः भवन्ति, तत्र पञ्चभूतप्रकोपेन अतिवृष्ट्यनावृष्टिदुःखदारिद्र्यरोगादिबाधाः सम्भवन्ति। सार्वकलिकीचेयं व्यवस्था। केचित्तु विप्रतिपन्नमतयः कलियुगे नेयमुपपद्यते, सत्यदूरेति च विवदन्ति। प्रत्यक्षामपीमां द्रष्टुमनिच्छन्तो निमीलितनयनाः केचन वर्तन्ते। किन्त्वयमद्याप्यनुभवसिद्धो विषयः, यत् यज्ञार्थकर्माचरणपराः प्रशान्तसुखमयजीवनाः, तदन्ये दुःखमयजीवना वर्तन्त इति। तस्मा द्भगवन्नियुक्तकर्माचरणपरस्य युधिष्ठिरस्य राज्यं सुखसमृद्धिमयं अभूदिति भावः। आधिदैविकादि-क्लेशास्तु सुगमा एव॥ ६॥

हरिः सुहृदां युधिष्ठिरादीनां मित्राणां शोकनाशाय स्वसुश्च सोदर्यास्सुभद्रायाश्च प्रियकाम्यया कतिपयान् मासान् हास्तिनपुरे उषित्वा, अथ तं युधिष्ठिरमामन्त्र्य पृष्टोऽभ्यनुज्ञातः, तेनानुमतः, परिष्वज्य तं आलिङ्ग्य अभिवाद्य प्रणम्य कैश्चित् परिष्वक्तः आलिङ्गितः अभिवादितः नमस्कृतश्च सन् रथमारुरोह।

सर्वनमस्कार्यो भगवान् नारायणावतारः श्रीकृष्णोऽपि युधिष्ठिरमभ्यवन्दत इत्यत्र किञ्चिदुच्यते — युधिष्ठिरः वयसा कृष्णादपि ज्यायान्। कनिष्ठाः वृद्धान् नमस्कुर्वन्ति। वृद्धाश्च कनिष्ठानाशासत इति शिष्टाचारः। आचारस्य धर्महेतुत्वात् धर्मस्य प्रभुत्वात् अच्युतस्य भगवदवतारस्य च धर्मसंस्थापनार्थत्वात् धर्ममूलमाचारं स्वयमनुसृतवान् भगवान् श्रीकृष्ण इति ज्ञेयम्। तदुक्तं महाभारते — "आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः (भार. 13-107-147) इति॥ ७, ८॥

सुभद्रा द्रौपदी कुन्ती विराटतनया तथा।
गान्धारी धृतराष्ट्रश्च युयुत्सु र्गोतमो यमौ॥ ९॥
वृकोदरश्च धौम्यश्च स्त्रियो मत्स्यसुतादयः।
न सेहिरे विमुह्यन्तो विरहं शार्ङ्गधन्वनः॥ १०॥

**संसङ्गान्मुक्तदुस्सङ्गो हातुं नोत्सहते बुधः ।**
**कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृदाकर्ण्य रोचनम् ॥ ११ ॥**

**तस्मिन् न्यस्तधियः पार्थाः सहेरन् विरहं कथम् ।**
**दर्शनस्पर्शसंलाप शयनासनभोजनैः ॥ १२ ॥**

**सर्वे तेऽनिमिषैरक्षै स्तमनुद्रुतचेतसः ।**
**वीक्षन्तः स्नेहसम्बद्धा विचेलुस्तत्र तत्र ह ॥ १३ ॥**

**न्यरुन्धन्नुद्गलद्बाष्प मौत्कण्ठ्याद्देवकीसुते ।**
**निर्यात्यगारान्नोऽभद्रमिति स्याद्बान्धवस्त्रियः ॥ १४ ॥**

**मृदङ्गशङ्खभेर्यश्च वीणापणवगोमुखाः ।**
**धुन्धुर्यानकघण्टाद्या नेदुर्दुन्दुभयस्तथा ॥ १५ ॥**

**प्रासादशिखरारूढाः कुरुनार्यो दिदृक्षया ।**
**ववृषुः कुसुमैः कृष्णं प्रेमव्रीडास्मितेक्षणाः ॥ १६ ॥**

---

1 H,K,M,V विदुरोऽथ युधिष्ठिरः 2 K,M त° 3 K,M तस्याध्यस्त° 4 B,H,V °स्पर्शना° 5 B °नेत्रै° • W °द्धाद्धि° 6. K,M °रु° 7 AF GF निर्यात्यागारतोऽभद्र° 8 K,M,W °न्नाभद्र°, H,V °न्याभद्र° 9 H,V हृ° 10 AF,GF °वाः स्त्रियः 11. H,V चर्चर्या 12. B °स्तदा ; H,V °स्समम् 13 H,V °वः 14 AF. GF ववर्षुः 15 K,N,M,W °ष्णो 16 K,M °ड°

**श्रीध० सुभद्रेति ।** युयुत्सुः धृतराष्ट्रद्रेश्यायां जातः । गौतमः कृपः । यमौ नकुलसहदेवौ ॥ ९ ॥

**वृकोदर** इति । अन्याश्च स्त्रियः, मत्स्यसुता उत्तरा । तस्याः पुनर्ग्रहणं गर्भरक्षककृष्णविरहे मोहाधिक्यात् । यद्वा मत्स्यसुता सत्यवती ॥ १० ॥

तेषां [2]कृष्णविरहासहनं कैमुत्यन्यायेनाऽऽह — **सत्सङ्गादिति** द्वाभ्याम् । सतां सङ्गाद्धेतोः मुक्तः पुत्तादिविषयो दुस्सङ्गो येन सः । सद्भिः कीर्त्यमानं रोचनं रुचिकरं [3]यस्य यशः सकृदप्याकर्ण्य सत्सङ्गं त्यक्तुं न शक्नोति ॥ ११ ॥

**तस्मिन्निति ।** दर्शनादिभिः तस्मिन् श्रीकृष्णे न्यस्ता अध्यस्ता धीर्येषां ते ॥ १२ ॥

**सर्व** इति । अत एवानिमिषैः अक्षैः नेत्रैः तमेव वीक्षमाणः तत्रतत्रार्हणानयनाद्यर्थं चलन्ति स्म । यतः स्नेहेन सम्यग्बद्धाः । अत एव तमनुद्रुतानि गतानि चेतांसि येषां ते ॥ १३ ॥

**न्यरुन्धन्निति ।** [6]अगारान्निर्याति निर्गच्छति सति । बान्धवस्त्रियः औत्कण्ठ्यात् आसक्त्यतिशयाद्धेतोः उद्गलत् स्रवत् बाष्पम् अश्रु न्यरुन्धन् नेत्रेष्वेव स्तम्भितवत्यः । तत्र हेतुः अभद्रं नो [7]स्यात्, अमङ्गलं माभूदित्येतदर्थम् ॥ १४ ॥

**मृदङ्गेति।** मृदङ्गादयो दश वाद्यभेदाः[9] ॥ १५ ॥

**प्रासादेति।** प्रेमव्रीडास्मितपूर्वकं[10] ईक्षणं[11] यासां ताः ॥ १६ ॥

---

1 B °द्वै° 2 B adds पुनः श्री° 3 H,V add मनोहरमित्यर्थः 4 H,V °णाद्यानयनार्थं 5 B H V अनुग° 6 B adds देवकी सुते 7 H,V मा 8 H,V मा भवेदि° 9 H,V add समं एककालम् 10 H,V °व्रीडाभ्यां स्मितपूर्व 11 H,V add अवलोकन

---

**वीर०** तदा सुभद्राप्रभृतयः विमुह्यन्तो मोहिताः[1]। शार्ङ्गधन्वनः श्रीकृष्णस्य विरहं विश्लेषं न सेहिरे नासहन्त। मत्स्यसुता सत्यवती ॥ ९, १० ॥

युक्तश्चैतदित्यभिप्रायेणाऽऽह — **सत्सङ्गादिति** द्वाभ्याम्। सतां साधूनां सङ्गाद्धेतोर्मुक्तः दुस्सङ्गो दुरात्मसंयोगो[2] येन स बुधः पुमान् अस्य रोचनं रुचिकरं कीर्त्यमानं यश एव सकृदाकर्ण्य हातुं नोत्सहते ॥ ११ ॥

तस्मिन् भगवति कृष्णे दर्शनादिभिर्निहिता धीः येषां ते पार्थाः तस्य विरहं कथं सहेरन्? न सहेरन्नेवेत्यर्थः ॥ १२ ॥

ते पार्थादयस्सर्वे स्नेहश्च सम्बन्धश्च तयोस्समाहारः, तस्मात् स्नेहात् शरीरसम्बन्धाच्च, अनुद्रुतं अनुसृतं चेतो येषां, तथाभूतास्सन्तोऽनिमिषैर्निमेषरहितैः अनन्यपरैरक्षैः अक्षिभिः। अक्षशब्दः इन्द्रियवाच्यप्यौचित्यात्[3] चक्षुःपरः। तमेव वीक्षन्तः तत्र तत्र चेलुः परिबभ्रमुः ॥ १३ ॥

तदा बान्धवाः कुन्तीप्रभृतयः स्त्रियः, अगारात् गृहात् देवकीसुते निर्याति निर्याते सति, अभद्रं न स्यादिति बुद्ध्या[5] प्रेमपूर्वकानुध्यानात् उद्गलदपि बाष्पं न्यरुन्धन् ॥ १४ ॥

मृदङ्गादयः समं युगपत् नेदुः दध्वनुः ॥ १५ ॥

कुरूणां नार्यः कृष्णं द्रष्टुमिच्छवः प्रासादशिखरारूढाः। प्रेमादीन्यासां सन्तीति तथा। द्वन्द्वान्मत्वर्थीयः अर्श आद्यच्[6] ॥ १६ ॥

---

1 W मोह गताः 2 W °सङ्गो 3 B W य° 4 W °त्रौ° 5 W adds औत्कण्ठ्यात् 6 W adds प्रेमादिपूर्वकमीक्षणं यासा वा इति वा। कृष्णे कुसुमैर्ववर्षुः

---

**विज०** सुभद्रादयः शार्ङ्गधन्वनो हरे र्विरहं न सेहिरे इत्यन्वयः। युयुत्सुः धृतराष्ट्रद्वैश्यायां जातो दुर्योधनानुजः। गौतमः कृपाचार्यः। यमौ नकुलसहदेवौ। मत्स्यसुतादय उत्तराप्रभृतयो विमुह्यन्तः कर्तव्यतामजानन्तः ॥ ९, १० ॥

पार्था मुकुन्दविरहं न सेहिर इत्येतदाश्चर्यं न भवतीत्याह — **तत्सङ्गादिति**। तस्य हरेः सङ्गात् सेवालक्षणात् मुक्तो दुस्सङ्गोऽन्यत्र पुत्रदारादिषु सङ्गो येन स मुक्तदुस्सङ्गो बुधो विवेकी जनः तं हातुं नोत्सहते

तस्मादित्यन्वयः। तत्र कैमुत्यन्यायमाह — कीर्त्यमानमिति। भागवतैः कीर्त्यमानं यस्य कृष्णस्य यशः सकृदाकर्ण्य पुंसां रोचनं रुचिजनकम्॥ ११॥

दर्शनस्पर्शनादिभिः अभ्यस्तधियः पार्थास्तस्य विरहं कथं सहेरन्, नैव सहेरन्निति किमु वक्तव्यमिति भावः॥ १२॥

विरहमसहमानानां तेषां भक्तिप्रसरसम्प्लवातिरेकमाह — **सर्व** इति। अनिमिषैः पक्ष्मव्यापाररहितैः अक्षैर्नेत्रैस्तं वीक्षमाणाः कृष्णानुगतहृदयाः ते सर्वे स्नेहात् तत्र तत्र विचेरुरित्यन्वयः। यावद्यावत् दूरङ्गतः तावत्तावदुत्तुङ्गं भूपृष्ठमारुह्य वीक्षमाणाः तस्थुः। अदर्शनं याते तस्मिन् चेतसा तमनूद्रुतुरित्यर्थं हशब्दः सूचयति॥ १३॥

**पाण्डवस्त्रियः** देवकीसुते अगारात्, न गारो निगरणं नाशलक्षणं यस्मात् सोऽगारः। अगाः वृक्षा एव अराणि **वंशवंश्यलक्षणानि** यस्येति वा। अगम् अगमनम् **कान्त्यतिशयादेः** अरं अलं यस्मादिति वा। अगानां स्वर्णात्मकानां पर्वतानां आरः प्रवेशलक्षणं गमनं यस्मिन्निति वा। तस्मात्पुरात् निर्याति सति, अभद्रममङ्गलं न स्यादिति भावेनौत्कण्ठ्याद्रुदुतं बाष्पं नेत्रजलं न्यरुन्धन्[1] स्तम्भितवत्य इत्येकान्वयः॥ १४॥

मार्दङ्गिकादिभिराहता **मृदङ्गादयो** नेदुरित्यन्वयः। भेरी नाम **चर्मपिहिता**, दीर्घमहद्दारुकृतो वाद्यविशेषः। **धुन्धुरिकाख्यात्मकं वाद्यं दुन्दुभिः तिरश्चीनवाद्यविशेषः**। आनकः पटहः। पणवो **ढक्काविशेषः**॥ १५॥

**प्रेम्णा** व्रीडेन स्मितेन च सहितमीक्षणं, दर्शनं यासां तास्तथोक्ताः। व्रीडाशब्द उभयलिङ्गः। **प्रेमव्रीडाभ्यां यत्[2] स्नेहपूर्वमीक्षणं यासामिति वा कुसुमैः कुसुमानि**, व्यत्ययो भक्त्यतिशयद्योतनर्थम्[3]। पुष्पैः करणैरिति वा॥ १६॥

---

1 B K M न्यरुन्धयन् 2 B.K M यत् स्मित तत्पूर्व° 3 B.K.M °र्थः

**रा० कृ०** अथ सुभद्रा, द्रौपदी, कुन्ती, विदुरः, युधिष्ठिरः, गान्धारी, **धृतराष्ट्रः**, युयुत्सुः, गौतमः कृपः, यमौ नकुलसहदेवौ, वृकोदरो भीमः, धौम्यः पुरोहितः, मत्स्यसुतादयः सत्यवत्यादयः **स्त्रियः** विमुह्यन्तः मोहं गताः सन्तः शार्ङ्गधन्वनः कृष्णस्य विरहं न सेहिरे। नासहन्त॥ ९, १०॥

सत्सङ्गात् मुक्तदुस्सङ्गः बुधः ज्ञानी कीर्त्यमानं, सद्भिरितिशेषः। **रोचनं** रुचिकरं यस्य भगवतो यशः सकृत् एकवारमप्याकर्ण्य श्रुत्वा हातु सत्सङ्गं त्यक्तु नोत्सहते न शक्नोति; तस्मिन् श्रीकृष्णे दर्शनस्पर्शनालापशयनासनभोजनैः न्यस्तधियः **समर्पितबुद्धयः** पार्थाः कुन्तीपुत्राः युधिष्ठिरादयः विरह श्रीकृष्णस्य वियोगं कथं सहेरन्? न कथमपीति भावः॥ ११, १२॥

ते पार्थादयस्सर्वे स्नेहसम्बद्धाः अनुद्रुतचेतसः कृष्णमनुसृतार्चनाः अनिमिषैः अक्षैः नेत्रैः तं श्रीकृष्णं वीक्षन्तस्तत्र तत्र विचेलुः सञ्चरन्ति स्म॥ १३॥

देवकीसुते श्रीकृष्णे अगारात् भवनात् निर्याते निर्गच्छति सति, अभद्रममङ्गलं मा स्यात् मा भवेदिति बान्धवस्त्रियः कुन्तीद्रौपद्यादयः औत्कण्ठ्यात् प्रेमातिशयात् उद्गलत् प्रस्रवत् बाष्पं अश्रुजलं न्यरुन्धन् स्तम्भितवत्यः ॥ १४ ॥

श्रीकृष्णप्रयाणकाले मृदङ्गशङ्खभेर्यः वीणापणवगोमुखाः चर्चर्यानकघण्टाद्याः दुन्दुभयः एते सर्वे वाद्यविशेषाः समं युगपत् नेदुः दध्वनुः ॥ १५ ॥

कुरुनार्यो दिदृक्षवः कृष्णं द्रष्टुकामाः प्रासादशिखरारूढाः सौधाग्रमधिरुढास्सत्यः प्रेमव्रीडास्मितेक्षणाः प्रेमलज्जासूचकं यत् स्मितं हासः तेन युक्तमीक्षणमवलोकनं यासां ताः तथाभूतास्सत्यः कृष्णं कुसुमैः ववृषुः ॥ १६ ॥

**सितातपत्रं जग्राह मुक्तादामविभूषितम् ।**
**रत्नदण्डं गुडाकेशः प्रियः प्रियतमस्य ह ॥ १७ ॥**

**उद्धवस्सात्यकिश्चैव व्यजने परमाद्भुते ।**
**विकीर्यमाणैः कुसुमैरेजे मधुपतिः पथि ॥ १८ ॥**

**अभ्रूयन्ताऽऽशिषस्सत्या स्तत्र तत्र द्विजेरिताः ।**
**नानुरूपानुरूपाश्च निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥ १९ ॥**

**अन्योन्यमासीत्सञ्जल्प उत्तमश्लोकचेतसाम् ।**
**कौरवेन्द्रपुरस्त्रीणां सर्वश्रुतिमनोहरः ॥ २० ॥**

---

1 K,M °णैः 2 H.V पौ°

**श्रीध० सितेति** । गुडाका निद्रा । तस्या ईशो जितनिद्रोऽर्जुनः ॥ १७ ॥

**उद्धव** इति । व्यजने चामरे जगृहतुः । मधुपतिः श्रीकृष्णः ॥ १८ ॥

**अभ्रूयन्तेति** । सत्याः श्रीकृष्णे तासामव्यभिचारात्, किन्तु, नानुरूपाश्च ताः अनुरूपाश्च आशिषः निर्गुणस्य परमानन्दस्य सुखी भवेत्यादयो नानुरूपाः । गुणात्मनो मानुष्यनाट्यावतारे अनुरूपाश्चेत्यर्थः । सन्धिरार्षः ॥ १९ ॥

**अन्योन्य** मिति । सर्वासां श्रुतीनां मनोहरः उपनिषदोऽपि मूर्तिमत्यस्तं समजल्पन् अभ्यनन्दन्नित्यर्थः ॥ २० ॥

---

1 B adds (गुडाका धनुर्विद्या तस्या ईश इति वा धनुर्वेदपारग इत्यर्थः) 2 H.V मधूनां देशानां पतिः 3 H.V मानुष्यवतोऽनु°. B मनुष्यनाट्या°

**वीर०** प्रियः प्रीतिविषयः । गुडाकेशः अर्जुनः प्रियतमस्य कृष्णस्य सितातपत्रं श्वेतच्छत्रं जग्राह । कथम्भूतम् ? मुक्तानां दामभिस्सरैः विभूषितं, रत्नमयो दण्डो यस्य तत् ॥ १७ ॥

उद्धवस्सात्यकिश्चोभौ परमे श्रेष्ठेऽद्धुते च व्यजने जगृहतुः। पथि कुसुमै र्विकीर्यमाणो मधुपति र्यदुपतिः। यदूना मेव मधव इति नामान्तरम्। तच्च नवमे स्फुटीभविष्यति। रेजे रराज॥ १८॥

निर्गुणस्य सत्त्वादिप्राकृतगुणरहितस्य गुणात्मनः ज्ञानादिषाड्गुण्यस्वभावस्य "सत्त्वादयो न सन्तीशे" (विष्णु. पु. 1-9-44), "तेजोबलैश्वर्य" (विष्णु. पु. 6-5-85) इत्यादिवचनात् नानुरूपाः अवाप्तसमस्तकामत्वात् अनुरूपाः भक्तिस्नेहकारितत्वात्, तत्र तत्र द्विजेरिताः, अत एव सत्या आशिषः अश्रूयन्त॥ १९॥

उत्तमश्लोके कृष्णे एव चेतांसि यासां तासां, कौरवेन्द्रपुरस्त्रीणां अन्योन्यं सर्वेषां श्रुतिमनोहरः सुखकरः श्रोत्राणि मनांसि च हरति वशीकरोतीति तथा वा सञ्जल्पः संवादः आसीत्॥ २०॥

---

1 W ज्ञानशक्त्यादि°

**विज०** गुडाका निद्रा। "निद्रा गुडाका सम्प्रोक्ता (सुप्तश्च) प्रमीला (प्रमीया) मृत्युरुच्यते" (वैज. को. 3-6-197) इत्यभिधानम्। तस्या ईशो गुडाकेशो जितनिद्रोऽर्जुन इन्द्रकीलके विनिद्रो भूत्वा तप्ततपाः पशुपतेरेतन्नाम लब्धवान्। गुडवत् रक्तकेशो वा। दीर्घस्तु छान्दसः। मुक्तादामविभूषितं मौक्तिकमालालङ्कृतप्रान्तमण्डलं रत्नखचितदण्डं सितातपत्रं श्वेतच्छत्रं जग्राहेत्यन्वयः। हरेरात्मादेरतिशयेन प्रियत्वं "तदेतत् प्रेयः" (बृह. उ. 1-4-7) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं हशब्देनाह। अर्जुनस्य कैङ्कर्यातिशयदर्शी वा, स्वसारथ्यकरणलक्षणापराधपरिहारार्थो वा॥ १७॥

उद्धवसात्यकी च व्यजने जगृहतुरिति पूर्वेण सम्बन्धः। एवशब्दः स्वहस्ताभ्यामेव जगृहतुः, न त्वन्याभ्यां स्वदासाभ्यामित्यस्मिन्नर्थे। मधूनां यादवगोत्रविशेषाणां पतिः; मुक्ताधीशो वा। कुसुमैः कुरुपुरन्ध्रिकरकमलमुक्तैरिति शेषः पथि राजमार्गे॥ १८॥

कुरुपुरे तत्र तत्र तत्तन्मार्गे द्विजवरमुखनिस्सृताः "दुष्टान् जहि, साधून् पालय पालय, अस्माननुगृहाण" इत्यादिकाशिषः शुभवाक्यप्रबन्धाः अश्रूयन्तेत्यन्वयः। कीदृश्यः? सत्याः यथार्थविषयाः, निर्गुणस्य सत्त्वादिगुणप्रवृत्त्युदासीनस्य अण्डाद्बहिःस्थितस्य नानुरूपा अननुकूला इति सत्त्वादिगुणकार्याण्डे स्थित्वा सत्त्वादिगुणान् आतयति, सततं प्रवर्तयतीति गुणात्मा। अत सातत्यगमने इति धातोः उणादिप्रत्ययनिमित्तमेतद्रूपम्। तस्य पालनादिकर्तुरनुरूपाः पालनानुग्रहादिगुणात्मनो वा। चशब्दस्समुच्चये, इवार्थे वा॥ १९॥

न केवलं कुरुपुरस्त्रियो हरौ पुष्पावकिरणमकुर्वन्, किन्तु स्तुतिमपीति भावेनाह — **अन्योन्यमिति**। उत्तमश्लोकचेतसां कौरवेन्द्रपुरस्त्रीणां सर्वश्रुतीनां वेदाभिमानिनीनां देवतानां मनोहरः सर्वेषां जन्तूनां श्रुतीः श्रवणानि मनांसि च हरतीति वा। परस्परं सञ्जल्पः स्तुतिलक्षणः संलाप आसीदित्येकान्वयः॥ २०॥

**रा० कृ०** प्रियः हरेरिष्टः गुडाकेशः गुडाकायाः निद्राया ईशः जितनिद्रः प्रियतमस्य हरेः कृते मुक्तादामविभूषितं मौक्तिकमालालङ्कृतं रत्नदण्डं रत्नखचितदण्डं सितातपत्रं श्वेतच्छत्रं जग्राह गृहीतवान्॥ १७॥

उद्धवस्सात्यकिश्च परमाद्भुते परमश्रेष्ठे अद्भुते च व्यजने, जगृहतुरिति शेषः। मधुपतिः मधूनां यादवानां पतिः श्रीकृष्णः पथि मार्गे कुसुमैः विकीर्यमाणः रेजे बभासे॥ १८॥

भगवतो निर्गुणस्य नानुरूपाः अननुरूपाः गुणात्मनः तस्य अनुरूपाश्च सत्याः द्विजेरिताः ब्राह्मणोक्ता आशिषः तत्रतत्र अश्रूयन्त श्रुताः॥ १९॥

उत्तमश्लोकचेतसां उत्तमश्लोके पुण्यकीर्तौ भगवति सक्तं चेतः यासां तासां कौरवेन्द्रपुरस्त्रीणां अन्योन्यं सञ्जल्पः संवादः सर्वश्रुतिमनोहरः सर्वेषां श्रोत्रचित्ताकर्षकः. अथवा सर्वश्रुतीनां मनोहरस्सन् आसीत् वक्ष्यमाणप्रकारेण प्रावर्तत॥ २०॥

**स्त्रिय ऊचुः**

**स वै किलाऽयं पुरुषः पुरातनो य एक आसीदविशेष आत्मनि ।**
**अग्रे गुणेभ्यो जगदात्मनीश्वरे निमीलितात्मन्निशि सुप्तशक्तिषु ॥ २१ ॥**

**स एव भूयो निजवीर्यचोदितां स्वजीवमायां प्रकृतिं सिसृक्षतीम् ।**
**अनामरूपात्मनि रूपनामनी विधित्समानोऽनुससार शास्त्रकृत् ॥ २२ ॥**

**स वा अयं यत्पदमत्र सूरयो जितेन्द्रिया निर्जितमातरिश्वनः ।**
**पश्यन्ति भक्त्युत्कलितामलात्मना नन्वेष सत्त्वं परिमार्ष्टुमर्हति ॥ २३ ॥**

**स वा अयं सख्यनुगीतसत्कथो वेदेषु गुह्येषु च गुह्यवादिभिः ।**
**य एक ईशो जगदात्मलीलया सृजत्यवत्यत्ति न तत्र सज्जते ॥ २४ ॥**

**यदा ह्यधर्मेण तमोधियो नृपा जीवन्ति तत्रैष हि सत्त्वतः किल ।**
**धत्ते भगं सत्यमृतं दयां यशो भवाय रूपाणि दधद्युगे युगे ॥ २५ ॥**

**अहो अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुलं अहो अलं पुण्यतमं मधोर्वनम् ।**
**यदेष पुंसामृषभः श्रियः पतिः स्वजन्मना चङ्क्रमणेन चाञ्चति ॥ २६ ॥**

---

1. W °षोऽद्वितीयो 2. K,M °तात्मा निशि 3. K,M °स्ति° 4. H,V नह्येष; M नत्वेष 5 K,M वेद° 6. K,M तमोऽधिका; WF तमोजुषो 7. K,M सा° 8. H,K,M,V °र्मं 9. H,V बत 10. K,M त्व° 11 H,K,M,V प्रियश्रवाः 12. N प्रियः 13 AF,GF सु°

**श्रीध०** तत्र तेजस्सौन्दर्याद्यतिशयेन विस्मिताभ्यस्सखीभ्योऽन्याः स्त्रियः कथयन्ति; नात्र विस्मयः कार्यः साक्षादीश्वरात्मत्वादस्येति — **स वै** इत्यादिभिः चतुर्भिः। वै स्मरणे। किलेति प्रसिद्ध्या प्रमाणद्योतकम्। य एक एवाद्वितीयः पुरुषः आसीत् सएवाऽयं श्रीकृष्णः। कुत्राऽऽसीत् अविशेषे आत्मनि निष्प्रपञ्चे निजस्वरूपे कदा अग्रे गुणेभ्यो गुणक्षोभात्पूर्वम्। तथा निशि प्रलये च तस्य लक्षणं जगतामात्मनि जीवे निमीलितात्मनि। निमीलितात्मन् इति

लुप्तसप्तम्यन्तं पदम्। जातावेकवचनम्। ईश्वरे लीनरूपेषु जीवेषु सत्त्वित्यर्थः। ननु जीवानां ब्रह्मत्वात् कथं लयः, तत्राऽऽह — सुप्तासु शक्तिषु सतीषु जीवोपाधिभूतसत्त्वादिशक्तिलय एव जीवलय[2] इत्यर्थः॥ २१॥

तदेवं सृष्टेरादौ प्रलयानन्तरञ्च निष्प्रपञ्चावस्थानं उक्त्वा सृष्टिप्रलययोर्मध्ये सप्रपञ्चावस्थानमाहुः — **स** इति। स एवाप्च्युतस्वरूपस्थितिरेव प्रकृतिमनुससार अधिष्ठितवान्। भूयः पुनः सृष्टिप्रवाहस्य अनादित्वात्। कीदृशीम्? निजवीर्यचोदितां स्वकालशक्तिप्रेरितां स्वांशभूतानां जीवानां मायां मोहिनीम्। अत एव सिसृक्षतीं, स्रष्टुमिच्छतीम्। किमर्थम् अनुससार? अनामरूप आत्मनि जीवे रूपनामनी विधातुमिच्छन् उपाधिसृष्ट्या जीवानां भोगायेत्यर्थः। कर्माणि च विधातुं वेदान् कृतवानित्याहुः शास्त्रकृदिति॥ २२॥

अस्य दर्शनमतिदुर्लभमस्माभिः लब्ध मित्याहुः — **स** इति। स वै अयम्। यस्य पदं स्वरूप मह्निं वा। निर्जितो मातरिश्वा प्राणो यैः। ह्रस्वत्वमार्षम्। ते सूरय एव पश्यन्ति। केन? भक्त्योत्कलित उत्कण्ठितोऽमलो य आत्मा बुद्धिस्तेन। 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' (कठ. उ. 3-12) इति श्रुतेः। बुद्धिवैमल्यस्याऽपि अयमेव हेतुरित्याहुः। ननु हे सखि! एष एव नः सत्त्वं बुद्धिं परिमार्ष्टु सम्यक् शोधयितुमर्हति, न तु योगादय इत्यर्थः। यद्वा नुं[5] अहो एष[5] सत्त्वं ज्ञानं परिमार्ष्टु नाशयितुं दूरगमनेन अप्रत्यक्षीभवितुं नार्हति। किन्त्वनेन सहैव[6] गन्तव्यमित्यर्थः॥ २३॥

पुण्यश्लोकतामाहुः — **स** इति। हे सखि! यो वेदेषु रहस्यागमेषु च रहस्यनिरूपकैः अनुगीतसत्कथः, अनुगीताः[7] सत्यः कथा यस्य स एवायम्। गानप्रकारमाहुः य एक ईश इत्यादिना॥ २४॥

एवम्भूतस्य नानावतारे[8] कारण माहुः — **यदा हीति**। तमोव्याप्ता धी येषां ते नृपाः यदाऽधर्मेण जीवन्ति केवलं प्राणान् पुष्णन्ति तत्र तदैष एव भवाय स्थित्यै सत्त्वतो विशुद्ध[9] सत्त्वेन रूपाणि दधत् भगादीनि धत्ते प्रकटयति युगे युगे तत्तदवसरे। भगमैश्वर्यम्। सत्यं सत्यप्रतिज्ञत्वम्। ऋतं यथार्थोपदेशकत्वम्। दयां भक्तकृपाम्। यशोऽद्भुतकर्मत्वम्॥ २५॥

विशेषतः श्रीकृष्णावतारसौभाग्यं वर्णयन्ति[10] — **अहो** इत्यादिभिः पञ्चभिः। यत् यस्मादेष पुरुषोत्तमः श्रियः पतिः स्वजन्मना यदोः कुलमञ्चति पूजयति सत्करोति, अतः श्लाघ्यतमं तत्। चङ्क्रमणेन च मधोर्वनं मधुरां[11] सत्करोत्यतः तत्पुण्यतममिति तमबर्थस्यापि[12] अत्यन्तातिशये अलमिति। तत्राप्याश्चर्ये अहो इत्युक्तम्॥ २६॥

---

1. B,H,V °नम् 2. H,V add इव लक्ष्यते 3. H,V omit स 4. B,H,V हे सखि एष 5 H,V add एव नः 6. B adds (अस्माभिः) 7. H,V सत्कथाः 8. H,V °तारकारणत्व° 9. H,V add °रूपेण 10. H,V °ति 11. B adds अञ्चति 12. B तमप्रत्ययार्थस्या°; H,V तमप्रत्ययस्यात्यन्तातिशयेन

**वीर**० सङ्कल्पमेवाह — **स वै किल** इत्यादिभिर्दशभिः। तावत् प्रलयदशायां कृत्स्नजगदुपादानत्वेन निमित्तत्वेन च य एकोऽवस्थितः, यश्च ततो "बहु स्यां प्रजायेय", (तैत्ति. उ. 2-6) "नामरूपे व्याकरवाणि" (छान्दो. उ. 6-3-2) इति सङ्कल्पपूर्वकं नामरूपव्याकर्ता यश्च "तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य

निश्वसितमेतद्यदृग्वेदः, यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" (सुबा. उ. 2-1) इति वेदादिभिः कर्तृत्वेन, तत्प्रवर्तकत्वेन च प्रसिद्धः, यश्च मुमुक्षुभिः ध्येयो दृश्यश्च वेदान्तवेद्यस्वरूपस्वभावः, यश्च जगत्सर्गस्थितिलय-लीलः स एवाऽयं कृष्ण इति जल्पन्ति चतुर्भिः। निशि प्रलयदशायां गुणेभ्यः सत्त्वादिगुणोन्मेषादग्रे पूर्वं सुप्तशक्तिषु सतीषु कर्मरूपशक्तिषु सुप्तासु फलप्रदानाय अप्रवृत्तास्वित्यर्थः। आत्मनि स्वस्मिन् जगदात्मनि सूक्ष्मचिदचिद्रूपजगच्छरीरके कार्यदशायां जगदन्तरात्मनीति वा ईश्वरे नियन्तरि निमीलितात्मन् आत्मा मतिः निवृत्तसर्गादिसङ्कल्पे स्वस्मिन्नविशेषे सति विशेषाः पृथिव्यादिभूतानि "महदाद्या विशेषान्ता" इति प्रयोगात् तच्च प्रदर्शनार्थं कार्यवर्गरहिते सति नामरूपविभागरहिते सतीति वा एकोऽद्वितीयः एक अविभक्तचिदचिच्छरीरकतया एकः उपादानभूतः। अविभक्तनामरूपता हि उपादानता। अद्वितीयः निमित्तान्तररहितः। एक इत्यनेन उपादानत्वोक्त्या निमित्तस्यैव धीस्थत्वात् अद्वितीय इत्यनेन निमित्तान्तरनिषेधः। एवंविधो य आसीत् स एवायं किल श्रीकृष्ण इत्यनेनान्वयः ॥ २१ ॥

**स एव भूय** इति। य एकोऽद्वितीयो भूत्वा भूयः निजवीर्यचोदितां "बहु स्याम्" (तैत्ति. उ. 2-6) इत्यादिस्वसङ्कल्पप्रेरितां स्वजीवमायां स्वशेषभूतजीवतिरोधायिकां प्रकृतिं, प्रति सिसृक्षतीं स्रष्टुमुन्मुखीं अनुससार। अन्तरात्मतया प्रविश्य नामरूपे व्याकरोदित्यर्थः। कथम्भूतः ? अनामरूपात्मनि, न विद्येते नामरूपे यस्य तस्मिन्नात्मनि जीवे रूपनामनी नामरूपे विधित्समानश्चिकीर्षुः शास्त्रकृद्वेदप्रवर्तको यः, स एवाऽयं श्रीकृष्णे वर्तते इत्यर्थः ॥ २२ ॥

**स वा** इति। निर्जितानीन्द्रियाणि अन्तर्बाह्यानि यैः निर्जितः मातरिश्वा प्राणो यैस्ते सूरयः भक्तबोत्कलितं संयुक्तं अत एवाऽमलं चेतस्तेन यस्य पदं स्वरूपं पश्यन्ति योऽयञ्च सत्त्वमन्तःकरणं परिमार्ष्टुं शोधयितुं अर्हति, स एवाऽयं कृष्णः ॥ २३ ॥

**स** इति। हे सखि! गुह्येषु वेदेषु वेदान्तेषु, गुह्येष्विति विशेषणात्, वेदवादिभिः वेदान्तगुह्यरूपस्वरूपगुणयाथात्म्योपदेष्टृभिश्च अनुगीतासु गीयमाना सती विशुद्धा कथा यस्य यश्चैक एव सन्नात्मनः स्वस्य लीलया लीलार्थं जगत् सृजति अवति रक्षति अत्ति संहरति, तत्र जगति न सज्जते। जगदन्तरात्मतया स्थितः तद्गतदोषैः न सज्जते च, न पक्षपातीति स एवाऽयं कृष्णः ॥ २४ ॥

**नन्वेवंविधश्चेत् किमर्थं यादवान्यतमरूपेण अवतिष्ठत इत्याशङ्कायां दुष्कृद्विनाशाय साधुपरित्राणाय च प्रतियुगमवतीर्यावतीर्य, अधुना एवंरूपेणावतीर्ण इत्यभिप्रायेण जल्पन्ति — यदेति।** यदा तमोधियो नृपाः। तमोजुष इति च पाठः। तत्र तामसा अत एवाधर्मेण जीवन्ति तत्र तदैव उक्तविधो भगवान् भवाय दुष्कृद्विनाशपूर्वकं साधूनां अभ्युदयाय सत्त्वतः शुद्धसत्त्वमयानि रूपाणि युगे युगे दधद्बिभ्राणः। भगमैश्वर्यं, सत्यं वाचिकं ऋतं पुण्यं कर्म दयां यशश्च धत्ते। स्वाभाविकैर्धर्मैरनपेत एव अवतिष्ठत इत्यर्थः। ऋतशब्दः पुण्यशब्दवाची। "एवं पुण्यस्य कर्मणो दूरादृग्धो वाति" (म. ना. उ. 9-7) इत्यत्र, "एवमनृतादात्मानं जुगुप्सेत्" (म. ना. उ. 8-2) इति पुण्यप्रतियोगित्वेन अनृतशब्दप्रयोगात् भगवत्कर्मणां पुण्यं, तन्नाम वदतां भावृणाञ्च पुण्यावहत्वम् ॥ २५ ॥

**यतो भगवानुक्तविधः श्रीमन्नारायण एव श्रीकृष्णरूपेण यदुकुलेऽवतीर्य मधुवने विहृत्य द्वारकामधिवसन् प्रजाः पालयन् अष्टभिर्महिषीभिरन्याभिश्च विहरति। अतो यदुकुलमधुवनद्वारकामहिष्यादीनां भाग्यं तपश्चैतावदिति वाचा**

मनसा वा अवगन्तुम् अशक्यमित्यभिप्रायेण जल्पन्ति — **अहो** इत्यादिभिः षड्भिः। **यदोः कुलं**, अलं नितरां श्लाघ्यतमं, मधोः वनं अलं नितरां पुण्यतमञ्च। कुतः? यद्यस्मात् पुंसां सौत्त्वता[10] ऋषभो नायकः श्रियो लक्ष्म्याः पतिरेष भगवान् श्रीकृष्णः स्वजन्मना यदुकुलं चङ्क्रमणेन पुनः पुनः सञ्चारेण मधुवनञ्चाञ्चति प्रशस्तं करोतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

---

1. W वेदाविष्कर्तृ° 2. W adds यश्च 3. W प्राक् 4. W adds यः 5. W adds विकृतिं 6. W गुह्य° 7. W यश्चेश्वर एक 8 W °त्कर्मणः पुण्यत्वं नाम 9. A,B °कायाम° 10. W सात्वतानां

**विज०** कोऽसाविति तत्राह — **स वै** इति। हर्यपेक्षया अप्रधानत्वात् गुणशब्दवाच्येभ्यो महदादि-तत्त्वेभ्योऽग्रे निशि महाप्रलये सुप्तशक्तिषु, शक्यत्वात् तदधीनत्वात् शक्तिशब्दवाच्यासु सत्त्वादिगुणाभिमानिनीषु श्रीभूदुर्गासु सुप्तासु जगद्व्यापारान् विहाय हरौ रममाणासु सतीषु य एकः प्रधानो जगदात्मनि जगदादानकर्तरि जगत्संहर्तरि न विशेषोऽधिको यस्मात्सोऽविशेषः। तस्मिन् ईश्वरे ईशानादिशक्तिमति "स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः" (छान्दो. उ. 7-24-1) इति श्रुतेः स्वरूपाधारे स्थितो निमीलितात्मा "तुच्छेनाभ्यपिहितं यदासीत्" इति श्रुतेः गुणतोऽल्पतया तमआदिरूपया प्रकृत्या निगूहित आसीत्स पुरातनः पुरुषो विष्णुरयं कृष्णः किल परमार्थः सत्यम्। नैगनयोः कश्चिद्विशेष इत्यन्वयः ॥ २१ ॥

स परमपुरुष एव भूयः पुनः सृष्टिदशायां स्वजीवमायां प्रकृतिं स्वभार्यां महालक्ष्मीमनुससार। तस्यां वीर्यमधादित्यन्वयः। कथम्भूताम्? निजवीर्यचोदितां स्वसामर्थ्येन प्रेरितां सिसृक्षतीं सृष्टीच्छावतीम्। कथम्भूतः सः? अप्रसिद्धगुणत्वात् अप्राकृतरूपत्वाच्च अनामरूपात्मरूपात्मनि स्वस्मिन्नाधारे रूपनामनी विधित्समानो रूपनामात्मकं प्रपञ्चं स्रष्टुमिच्छन् शास्त्रकृत्[1] सकलनियमनकर्ता य एवंविधः स हरिरयं किलेत्यन्वयशेषः ॥ २२ ॥

अत्र कर्मभूमौ जितेन्द्रियाः प्राणायामेन निर्जितमातरिश्वानो वशीकृतप्राणाः सूरयो भक्त्या उत्कलितेन विकसितेन उत्कण्ठितेन वाऽमलेन रागादिमलरहितेन आत्मना स्वरूपान्तःकरणेन यत्पदं यस्य स्वरूपं पश्यन्ति, सवाऽयं कृष्णः किलेत्यन्वयः। एष कृष्णः सात्त्विकानामनुग्राहकः अस्माकं सत्त्वं स्वविषयकं ज्ञानं परिमार्ष्टुं नाशयितुं नार्हति। परिपूर्वोमार्ष्टिर्वर्जनार्थः। नन्वित्यनेन "अपपरी वर्जने" (अष्टा. 1-4-88) इति सूत्रं प्रमाणयति। न त्विति पाठः सुगमः। कर्मणा अन्तःकरणशुद्धिः किं न स्यादिति तत्राह — **न त्विति**। एष कर्मणा सत्त्वं अन्तःकरणं परितः सर्वतो मार्ष्टुं शोधयितुं नार्हति, किन्तु भक्त्या श्रवणाद्युपायसंस्कृतया यावदन्तःकरणं शुध्यति, तावन्न कर्मणेति भावः ॥ २३ ॥

यो वेदवादिभिरनन्तवेदेषु गुह्येषु उपनिषत्सु च अनुगीतसत्कथः निरन्तरोदितसच्चरितो यश्चैक एव ईशः, यश्चात्मलीलया जगत् सृजति, सृष्टमवति, तत्तद्योग्यकर्मफलभुक्तये, अत्ति संहरति, यश्च जगति न सज्जते आप्तकामत्वात्फलं नाऽऽदित्सति। हे सखि! स एवाऽयं कृष्ण इत्येकान्वयः। गुह्यवादिभिरिति पाठे उपनिषद्विचारकुशलै-रित्यर्थः ॥ २४ ॥

तमोधिकास्तामसा असुरप्रकृतयो नृपा अधर्मेण धर्मविरुद्धेन श्रुतिस्मृत्यविहित प्राणिहिंसादिकर्मणा यदा जीवन्ति स्वशरीरयात्रां कुर्वन्ति, तत्र तदैष हरिः सात्त्वतः सात्त्विकान् देवादीन् अनुगृह्णन् धर्मादिनामवन्ति रूपाणि युगे युगे दधत् दधानो वर्तते इति शेषः। वराहमत्स्यादिरूपस्य भूम्युद्धरणकर्मणा धर्माख्या, कपिलादेः अणिमाद्यष्टैश्वर्ययोगात् षड्गुणपूर्णत्वात् भगाख्या, कल्क्यादेः तमो विनाश्य सत्त्वगुणमभिसम्बध्यानन्तगुणाभिव्यञ्जकतया विशेषानन्दरूपत्वात् सत्याख्या, व्यासादेः ज्ञानप्रवर्तकत्वेन ज्ञानविशिष्टत्वादृताख्या, किमर्थं भवाय चरणप्रणतजनाभिवृद्धये। तस्मादिदानीं अधर्मप्रवर्तकान् जरासुतादीन्निगृह्णन् देवावतारान् युधिष्ठिरादीन् अनुगृह्णन् कृष्णात्मना अवतीर्णः किलेत्यर्थः॥ २५॥

प्रियश्रवाः मनोहरकीर्तिः पुंसामृषभः पुरुषोत्तम एष कृष्णो यदोः श्लाघ्यं स्तुत्यं मधुवनं च अलमत्यर्थमतिशयेन पुण्यमहो अहो आश्चर्यादाश्चर्यम्। चशब्दः समुच्चये॥ २६॥

---

1 K.M °स्ति°

**रा॰ कृ॰** यः एकः अद्वितीयः पुरातनः सर्वहेतुनिदानभूतः पुरुषः गुणेभ्यः गुणक्षोभात् अग्रे सृष्टिप्रारम्भात् पूर्वमित्यर्थः। सुप्तशक्तिषु सुप्तासु शक्तिषु सतीषु सत्त्वादिशक्तिलये सति निशि प्रलये च जगदात्मनि सर्वजगज्जीवे ईश्वरे सकलजगदन्तर्यामिणि निमीलितात्मनि प्रसुप्ते मति अविशेषे निष्प्रपञ्चे सत्त्वादिगुणविशेषरहिते आत्मनि निजस्वरूपे आसीत्, स वै किलायं स एवाऽयं श्रीकृष्णः किल।

सृष्टिप्रारम्भात् पूर्वं जीवनोपाधिभूतसत्त्वादिशक्तिलये सति प्रलये च सकलजीवेष्वीश्वरे लीनरूपेषु सत्सु निष्प्रपञ्चे निजरूपे यः पुराणपुरुषः अद्वितीयः एवाऽऽसीत् स एवायं कृष्ण इति भावः॥ २१॥

शास्त्रकृत् श्वासनिष्क्रमक्षण एव वेदशास्त्राद्याविर्भावकारी स एव अप्रच्युतस्वरूपस्थितिरेव भगवान् अनामरूपात्मनि नामरूपरहिते आत्मनि जीवे रूपनामनी व्यत्ययेन नामरूपे विधित्समानः विधातुमिच्छन् भूयः पुनः निजवीर्यचोदितां निजवीर्येण स्वकालशक्तिरूपेण चोदितां प्रेरितां स्वजीवमायां निजांशभूतानां जीवानां मोहिनीं सिसृक्षतीं स्रष्टुमिच्छन्तीं प्रकृतिमनुससार अनुगतवान्॥ २२॥

अत्र संसारे निर्जितमातरिश्वनः निर्जितात् मातरिश्वनः प्राणवायोः, प्राणजयादित्यर्थः। जितेन्द्रियास्सूरयः ज्ञानिनः भक्त्युत्कलितामलात्मना भक्त्या उत्कलितः उत्कण्ठितः अत एव अमलः रागादिमलरहितः आत्मा बुद्धिः तेन यत्पदं यस्य भगवतः स्वरूपं पश्यन्ति जानन्ति स वा अयं स एवायं श्रीकृष्णः। ननु हे सखि, एष भगवान् सत्त्वं नः अन्तःकरणं परिमार्ष्टुं शोधयितुं अर्हति, न तु योगादिः॥ २३॥

हे सखि! वेदेषु गुह्येषु वेदानुसारिरहस्यागमेषु गुह्यवादिभिः तत्त्वनिरूपकैः महर्षिभिः अनुगीतसत्कथः अनुगीताः अनवरतगानविषयीकृताः सत्कथाः यस्य सः, यः ईशः एक एव सन् आत्मलीलया आत्मनः स्वस्य लीलया मायया जगत् सृजति, अवति रक्षति, अत्ति संहरति। किन्तु तत्र जगत्सृष्ट्यादौ न सज्जते न सक्तो भवति। अहंममेत्यभिमानं न करोति, स वा अयं स एवायं श्रीकृष्णः॥ २४॥

यदा हि तमोधियः तमसा श्रद्धाजाड्येन व्याप्ता धीर्येषां ते तथोक्ताः। 'श्रद्धा चास्तिक्यबुद्धि' रिति अभिज्ञैर्निरुक्ता। नृपाः अघर्मेण जीवन्ति प्रजापरिरक्षणरूपराज्योपासनं परित्यज्य स्वप्राणान् केवलं पुष्णन्ति। तत्र तदा एष हि पूर्वोक्तो भगवान् वासुदेवो भवाय लोकस्थित्यै सत्त्वतः नियमसङ्ग्रहाहित्यधृत्युत्साहादिरूपेण शुद्धसत्त्वेन रूपाणि नानाविधानि दधत् युगे युगे प्रतियुगं भगमैश्वर्यं सत्यं सत्यसन्धत्वं ऋतं शिष्टाचारं दयां दीनेष्वनुकम्पां यशोऽद्भुतकर्मत्वं धत्ते।

अत्र भगवदवतारकारणकथनव्याजेन सामान्यतो मानवजात्यै विशिष्य पालकेभ्यश्च भगवद्दिव्यगुणानुवर्णनोपबृंहितयज्ञार्थकर्माचरणप्राशस्त्यमुपदिश्यते व्यङ्ग्यमर्यादया ॥ २५ ॥

यत् यस्मात् पुंसां ऋषभः पुरुषोत्तमः एष पुरो दृश्यमानः श्रियः पतिः लक्ष्मीनाथः। प्रियश्रवाः इति पाठे श्रोतृप्रियकीर्तिः श्रीकृष्णः यथाक्रमं स्वजन्मना निजावतारेण चङ्क्रमणेन सञ्चारेण च अञ्जति सत्करोति। तस्माद्धेतोः यदोः कुलं श्लाघ्यतमम्। अहो बताश्चर्यकरम्। एवं मघोर्वनञ्च अलमतिशयेन पुण्यतमं, भवतीति शेषः ॥ २६ ॥

**अहो बत स्वर्यशसस्तिरस्करी कुशस्थली पुण्ययशस्करी भुवः ।**
**पश्यन्ति नित्यं यदनुप्रहेषितं स्मितावलोकं स्वपतिं स्म यत्प्रजाः ॥ २७ ॥**

**नूनं व्रतस्नानहुतादिनेश्वरः समर्चितो ह्यस्य गृहीतपाणिभिः ।**
**पिबन्ति याः संख्यधरामृतं मुहुर्व्रजस्त्रियः सम्मुमुहु र्यदाशयाः ॥ २८ ॥**

**या वीर्यशुल्केन हतास्स्वयंवरे प्रमथ्य चैद्यप्रमुखान् हि शुष्मिणः ।**
**प्रद्युम्नसाम्बाम्बसुतादयोऽपरा याश्चाऽऽहृता भौमवधे सहस्रशः ॥ २९ ॥**

**एताः परं स्त्रीत्वमपास्तपेशलं निरस्तशौचं बत साधु कुर्वते ।**
**यासां गृहात्पुष्करलोचनः पतिर्नजात्वपैत्याहृतिभिर्हृदि स्पृशन् ॥ ३० ॥**

**एवं विधा गदन्तीनां स गिरः पुरयोषिताम् ।**
**निरीक्षणेनाऽभिनन्दन् सस्मितेन ययौ हरिः ॥ ३१ ॥**

---

1 H,W °होषितं, K,M °हे क्षित° 2 AF,GF सख्यमृताधरं 3 K,M °या 4 H,K,M,V वि° 5 H,V,W °साम्बप्रसवादयो°, K,M °साम्बप्रमुखात्मजाः परा 6 K,M पुरा 7 K,M °मवाप्तये समं 8 K,M °शोकं 9 W गृहान् पु ° 10 K,M °कृ°, W °हु° 11 H,V व° 12 K,M पुण्य °

**श्रीध०** द्वारकां श्लाघन्ते — **अहो** इति। अहो बताश्चर्यम्। किं तत्? कुशस्थली द्वारका। स्वर्गं उत्कृष्टं इति यद्यशस्तस्य तिरस्करी परिभवकर्त्री। भुवश्च पुण्ययशस्करी पुण्ययशःकर्त्री भवति। यत् यतः यत्प्रजा यत्रत्यास्सर्वाः प्रजाः स्वानुग्रहेणेषितं प्रेषितम्। स्मितपूर्वकः अवलोकः यस्य तम्। यद्वा अनुग्रहार्थमिषितमिष्टम्।

अनुग्रहोषितमिति पाठे स्वानुग्रहार्थं उषितं कृतनिवासम्। ऐकपद्य पाठे तु अनुग्रहेणेषितं प्रेषितं यत् स्मितं तत्पूर्वकोऽवलोको यस्य तम्। स्वस्याऽऽत्मनः पतिं श्रीकृष्णं न त पित्रादिवद्देहमात्रपतिं नित्यं पश्यन्ति स्म। नैतत् स्वर्गे अस्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥

**नून** मिति। हे सखि! अस्य गृहीतपाणिभिः पत्नीभिरीश्वरोऽयमेव नूनं जन्मान्तरेषु समर्चितः। यस्मिन्नधरामृते आशयश्चित्तं यासां ताः सम्मुमुहुः। सम्मोहं प्राप्ता इति मनोहरत्व मुक्तम् ॥ २८ ॥

एतत् प्रपञ्चयति — **या** इति द्वाभ्याम्। वीर्यं प्रभाव एव शुल्कम् मूल्यं येन शुष्मिणो बलिष्ठान्। प्रद्युम्नश्च साम्बश्च अम्बश्च सुता यासां रुक्मिणी-जाम्बवती-नाग्नजितीनां ता आदिर्यासां सत्यभामादीनां ताः, याश्चापराः। अस्य श्लोकस्य उत्तरश्लोकेनान्वयः ॥ २९ ॥

**एता** इति। एताः स्त्रीत्वमेव परं केवलं साधु शोभनं कुर्वते। किम्भूतम्? अपास्तं गतं पेशलं भद्रं स्वातन्त्र्यं यस्मात् तत्। निरस्तं शौचं शुचित्वं यस्मात्तथाभूतमपि जातु कदाचिदपि नापैति न निर्गच्छति। आहृतिभिर्व्याहारैः। यद्वा पारिजातादिप्रियवस्त्वाहरणैः हृदि स्पृशन् आनन्दयन् ॥ ३० ॥

**एवंविधा** इति। एवंविधा विचित्रा गिरः सस्मितेन निरीक्षणेनाभिनन्दन् स हरिर्ययौ ॥ ३१ ॥

---

1 B स्मितपूर्वावलोकम्; H.V स्मितपूर्वावलोकनम्। 2. H.V °भी° 3 H.V °मात्रस्य पतिं 4 H.V विशुष्मि° 5 B °र्व्यवहारैः

**वीर॰ अहो बतेति।** कुशस्थली द्वारका। स्वर्यशसः कर्मणि षष्ठी। स्वर्लोकयशसः तिरस्करी। भुवो भूमेः पुण्यं यशश्च करोत्यावहतीति तथा। तदेव व्यञ्जयितुं विशिंषन्ति। यत्प्रजाः यद्यस्यां कुशस्थल्यां प्रजा, यत् यस्मात् अनुग्रहेणोषितं अधिवसन्तं स्मितयुक्तोऽवलोको यस्य तं स्वपतिं आत्मनायकं नित्यं पश्यन्ति स्म। यदनुग्रहार्थं यत्प्रजाविषयकानुग्रहार्थं उषितमिति वा अन्वयः ॥ २७ ॥

**नूनमिति।** अस्य कर्तरि षष्ठी। अनेन कृष्णेन गृहीताः पाणयो यासां ताभिः कर्त्रीभिर्व्रतैः उपवासादिभिः स्नानैः पुण्यजलस्नानहोमैः आदिशब्देन दानादिभिश्च। व्रतादीनां समाहारद्वन्द्वेन एकत्वम्। एभिस्साधनैः नूनं ईश्वरः समर्चितः, पूर्वजन्मनीति शेषः। कुत एतदनुमीयत इत्यतो विशिंषन्ति। या अस्य गृहीतपाणयः स्त्रियः हे सखि! अधरामृतं मुहुर्मुहुः पिबन्ति अनाराधितेश्वराणां एतदुर्लभमिति भावः। कस्याधरामृतम्? यस्मिन्नाशयो मनो यासां ता व्रजस्त्रियः सम्मुमुहुः। तस्य श्रीकृष्णस्य अधरामृतमित्यन्वयः ॥ २८ ॥

**या** इति। या इत्यस्यैताः इत्युत्तरेणान्वयः। शुष्मिणो मत्तान् चैद्यप्रमुखान् शिशुपालप्रभृतीन् स्वयंवरे प्रमथ्य मथनपूर्वकं विजित्य वीर्यमेव शुल्कमुपायनत्वेन देय तेन या आहृताः प्रद्युम्नसाम्बप्रसवादयः स्त्रियः। तत्र प्रद्युम्नप्रसवा रुक्मिणी। साम्बप्रसवा जाम्बवती। आदिशब्देन सत्यभामादिसङ्ग्रहः। तथाऽपरा अन्याश्च याः स्त्रियः भौमवधे नरकासुरवधे सहस्रशः षोडशसहस्रसङ्ख्याका आहृताः ॥ २९ ॥

एता स्सर्वाः निरस्तं शौचं पवित्रता येन अपास्तपेशलं मार्दवं येन तथाभूतमपि स्त्रीत्वं परं केवलं साधु यथा तथा कुर्वते कुर्वन्ति। बत इत्याश्चर्ये। तदेव दर्शयितुं विशिंषन्ति। यासां स्त्रीणां गृहात्पतिर्जन्ममरणक्लेशात् रक्षणकर्ता पुष्करलोचनः कमलनयनः श्रीकृष्णः कदाचिदपि नापैति न त्यजति। कथम्भूतस्सन्? आहूतिभिः हे रुक्मिणि! एहीत्यादिभिर्[1]हृतैः हृदि स्पृशन् हृदयङ्गमस्सन्। सोऽयं श्रीकृष्णो यातीत्यर्थः॥ ३०॥

वदन्तीनां जल्पन्तीनां पुरयोषितां एवंविधाः गिरः उक्तीः सस्मितेन निरीक्षणेनैवाभिनन्दन् स हरिर्ययौ॥ ३१॥

---

1. W °यशः तिरस्करेतीति तथा 2. W °जलानां हुतैः होमैः 3 B,W add द्रव्यं 4 W गृहान् प° 5 W °हु° 6. W °राह्वानैः

**विज०** अनुग्रह इति तादर्थ्ये सप्तमी भक्तानुग्रहार्थे क्षितं उषितं मुखे स्थितं यत् स्मितं तेन युक्तोऽवलोको यस्य स तथोक्तः, तम्। क्षि-निवासगत्योरिति धातुः। भक्तेष्वनुग्रहेण यदीक्षितं गोपवधूरुद्दिश्य स्मितयुक्तावलोकश्च यस्य सः तथोक्तस्तं वा। स्वपतिं स्वस्वामिनं श्रीकृष्णं यत्प्रजाः यत्रत्याः प्रजा नित्यं पश्यन्तीति यत् यस्मात्, तत् तस्मात् कुशस्थली द्वारावती स्वर्यशसस्तिरस्करी स्वर्गकीर्तिनिरासिनी भुवो यशस्करी चेत्यन्वयः। तदैक्षत इति ईक्षणव्यपदेशात् ईक्षितं इच्छा। भक्तानुग्रहेच्छया सहितौ स्मितावलोकौ यस्य स तथा, तमिति वा॥ २७॥

अस्य श्रीकृष्णस्य पाणिना गृहीताः पाणयो यासां ताः, तथा ताभिरस्य भार्याभिः नूनं निश्चयेन व्रतस्नानादिनेश्वरः पूर्वं सम्यगर्चितः सत्कृतः याः व्रजस्त्रियो यदाशया यस्याऽधरामृतमाधुर्यस्य आस्वादनेच्छया सम्यक् मुमुहुः। हे सखि! तदधरामृतं मुहुः पिबन्तीति यत्तस्मादित्येकान्वयः। हे सखि! याः स्त्रियोऽस्याधरामृतं पिबन्ति। अनेन गृहीतपाणिभिः ताभिः नूनं व्रतादिनेश्वरः समर्चितो यदाशया व्रजस्त्रियो मुमुहु रिति वाऽन्वयः॥ २८॥

ताः का इति तत्राऽऽहुः — **या** इति। विशुष्मिणो विशिष्टबलान् चैद्यप्रमुखान् शिशुपालादीन् प्रमथ्य विलोड्य पराजित्य स्वयंवरे वीर्यमेव शुल्कमुत्कोचं, तेन याः स्त्रियो हृता आनीतास्ताः। प्रद्युम्नश्च साम्बश्च तौ प्रमुखौ येषान्ते तथा प्रद्युम्नसाम्बप्रमुखाः, ते आत्मजा यासां ता स्तथोक्ताः रुक्मिण्याद्या, याश्चापराः सहस्रशः कशेर्वादिशतोत्तरषोडशसहस्रसङ्ख्याः भौमवधे आहृताः॥ २९॥

एताः पुरा अग्निपुत्रत्वे कृष्णभार्यात्वाय स्त्रीत्वमवाप्तये आप्तुं समं सम्भूय साधु शोभनं तपआख्यं कुर्वतेऽकुर्वत। बत हर्षे। निरस्तशोकमिति क्रियाविशेषणं वा। कुतः पुष्करलोचनः पुण्डरीकाक्षः पतिराकृतिभिराकारैः चेष्टाविशेषैः हृदि स्पृशन् यासां गृहाज्जातु कदाचिदपि नापैति यस्मात्तस्मादित्यन्वयः॥ ३०,३१॥

---

1 K adds भिन्नं पदं

**रा० कृ०** यत् यस्मात् यत्प्रजाः यत्पुरीवासिन्यः प्रजाः अनुग्रहेषितं स्वानुग्रहार्थं इषितं इष्टं स्मितावलोकं स्मितपूर्वावलोकनं स्वपतिं स्वस्य आत्मनः पतिं श्रीकृष्णं नित्यं पश्यन्ति स्म। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् तस्मात्, सा

कुशस्थली द्वारका स्वर्यशस्तिरस्करी उत्कृष्टस्य स्वर्गस्याऽपि यशसः तिरस्करी परिभवकर्त्री। अपि च भुवः भूलोकस्य पुण्ययशस्करी भवतीति शेषः ॥ २७ ॥

हे सखि! याः भगवता गृहीतपाणयः स्त्रियः अधरामृतं भगवतः अधरसुधां मुहुः पिबन्ति। व्रजस्त्रियश्च यदाशयाः यदधरामृतासक्तचित्ता एव सत्यः सम्मुमुहुः सम्मोहं प्रापुः। ताभिः अस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य गृहीतपाणिभिः अनेन श्रीकृष्णेन गृहीताः पाणयो यासां ताभिः, पत्नीभिरित्यर्थः। ईश्वरः अयमेव भगवान् व्रतस्नानहुतादिना नूनं जन्मान्तरेषु समर्चितः। अन्यथा कथमेताः स्त्रियो जगदीश्वरस्य वाल्लभ्यमनुभवितुं अर्हन्तीति भावः।

अधरामृतपदेन वाक्सुधा व्यज्यते। सम्मुमुहुरित्यनेन भगवल्लीनमनस्कतापरपर्यायात्मविस्मृतिर्गम्यते। तथा च कौरवेन्द्रपुरस्त्रीभिः व्रजस्त्रीपर्यालोचनया भगवद्गृहीतपाणीनां स्त्रीणाम् आधिक्यकथनेऽपि सूक्ष्मेक्षिकया परिशीलने व्रजस्त्रीणामाधिक्यमेव व्यज्यते। तथाऽहि — "पिबन्ति यास्सख्यधरामृतं मुहुः" इत्यनेन तासां तद्गृहीतपाणीनां तदधरामृतपानज्ञानस्फुरणमास्ते। व्रजस्त्रीणान्तु भगवदधरामृतास्वादभावनयैव आत्मविस्मृतिः जायते। अहो व्रजाङ्गनानां भक्तिरसावेशः! किञ्च पूर्वत्र सुखपारवश्यं विषयेन्द्रियसन्निकर्षजन्यम्। अत्र तु भावनामात्रजन्यम्। भक्तिश्च भावप्रधाना। अत एव व्रजस्त्रीभक्तिः नारदादीनामपि भागवतोत्तमानां प्रशंसापात्रमास्ते ॥ २८ ॥

प्रद्युम्नसाम्बाम्बसुतादयः। प्रद्युम्नः, साम्बः, अम्बः सुताः यासां ताः रुक्मिणी जाम्बवती नाग्नजित्यः। ताः आदिर्यासां ताः सत्यभामादयः याः स्त्रियः वीर्यशुल्केन स्वयंवरे विशुष्मिणः प्रमत्तान् चैद्यप्रमुखान् शिशुपालादीन् प्रमथ्य विजित्य हृताः आहृताः। किञ्च अपराः याः स्त्रियः, भौमवधे भौमस्य नरकासुरस्य वधे कृते सति सहस्रशः हृतास्सन्ति। ता एतास्सर्वास्स्त्रियः अपास्तपेशलं विगतस्वातन्त्र्यं निरस्तशौचं अपाकृतशुचित्वमपि स्त्रीत्वं परम् अत्यन्तं साधु कुर्वते। कुत इति चेत् — आहृतिभिः प्रेयसीजनोचितव्याहारैः हृदि स्पृशन् हृदये आनन्दं जनयन् पुष्करलोचनः कमलाक्षः पतिः यासां तासां स्त्रीणां गृहात् जातु कदाचिदपि नापैति।

अत्रापि श्रीकृष्णा दानन्दम् इच्छन्तीभ्यः स्त्रीभ्यः व्यतिरेकेण व्रजस्त्रीणाम् आधिक्यं व्यज्यते ॥ २९, ३० ॥

ग (व)दन्तीनां पुरयोषितां पुरस्त्रीणामेवंविधाः गिरः वाचः सस्मितेन निरीक्षणेन विलोकनेन अभिनन्दन् सः हरिः ययौ द्वारकामगच्छत् ॥ ३१ ॥

**अजातशत्रुः पृतनां गोपीथाय मधुद्विषः।**
**परेभ्यश्शङ्कितस्स्नेहात्प्रायुङ्क चतुरङ्गिणीम् ॥ ३२ ॥**

**अथ दूरागतान् शौरिः कौरवान् विरहातुरान्।**
**संनिवर्त्य दृढं स्निग्धान् प्रायात् स्वनगरीं प्रियैः ॥ ३३ ॥**

**कुरुजाङ्गलपाञ्चालान् शूरसेनान् सयामुनान्।**
**ब्रह्मावर्तं कुरुक्षेत्रं मत्स्यान् सारस्वता नथ ॥ ३४ ॥**

**मरुधन्वमतिक्रम्य सौवीराभीरयोः[7] परान्।**
**आनर्तान् भार्गवोपागाच्छ्रान्तवाहो[8] मनाग्विभुः ॥ ३५ ॥**

**तत्र तत्र हं तत्रत्यैर्हरिः[10] प्रत्युद्यतार्हणः।**
**सायं भेजे दिशं पश्चाद्गविष्ठो गां गत स्तदा ॥ ३६ ॥ ***

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने श्रीकृष्णद्वारकागमनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

---

1. K,M विदुरान्वितान् 2 H,V °वृत्य 3. H,K,M,V,W दृढ° 4 H,V °रं हरिः 5 K,M मा° 6 H,V °धन्वाव° 7. H,K,M,V °सैन्धवान् 8 H,V °व! प्रागा° 9. H,K,M,V च; W हि 10. W °स्थै° *This chapter does not end here in K&M.

**श्रीध०** **अजातशत्रुरिति।** मधुद्विषोऽपि गोपीथाय रक्षणाय स्नेहात् परेभ्यः शत्रुभ्यः शङ्कितस्सन् प्रायुङ्क्त। "हस्त्यश्वरथपादातं सेनाङ्गं स्याच्चतुर्विधम् (चतुष्टयम्)" (अम. को. 2-33) इत्येवं चतुरङ्गिणीम्, पृतनाम् सेनाम् ॥ ३२ ॥

**अथेति।** पाण्डोः कुरुवंशजत्वात् पाण्डवा अपि कौरवा एव; तान् प्रियैः उद्धवादिभिस्सह ॥ ३३ ॥

**कुर्विति।** कुरुक्षेत्रं कुरुदेशान्तर्गतमेव। क्रमोऽत्र न विवक्षितः ॥ ३४ ॥

**मर्विति।** मरुर्निरुदको देशः। धन्वोऽल्पोदकः[1]। आनर्ताख्यो द्वारकादेशः। स विभुरुपागात्[2], प्राप्तः। हे भार्गव![3] मनागीषच्छ्रान्ताः वाहाः यस्य सः ॥ ३५ ॥

**तत्रेति।** तत्र तत्र देशे तत्रत्यैर्जनैः प्रत्युद्यतानि निवेदितानि अर्हणानि उपायनानि यस्मै सः। सायम् अपराह्णे पश्चाद्दिशं पश्चिमां दिशं भेजे प्राप्तः। तदा च गविष्ठः स्वर्गस्थः[4] सूर्यः गामुदकं गतः प्रविष्टोऽस्तङ्गत इत्यर्थः। "अद्भ्यो वा एष प्रातरुदेत्यपस्सायं प्रविशति" इति श्रुतेः। यद्वा, तदा सायङ्काले जाते रथादवतीर्य गविष्ठो भूमौ स्थितः ततो गां जलाशयं गतस्सन् पश्चात् दिशं सन्ध्यां भेजे उपासितवानित्यर्थः ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

---

1 H,V °कदेशः 2 H,V °भुः प्रागात् 3 H,V add शौनक! 4 H,V आकाशस्थः

**वीर०** तदा अजातशत्रुः परेभ्यः शत्रुभ्यः शङ्कितः स्नेहान्मधुद्विषः श्रीकृष्णस्य गोपीथाय रक्षणाय चतुरङ्गिणीं हस्त्यश्वरथपदातिरूपाण्यङ्गान्यस्याः सन्तीति तथा तां सेनां प्रायुङ्क्त समयुङ्क्त ॥ ३२ ॥

अथ विरहेण विश्लेषेणातुरान् दुःखितान् अत एव दूरमागतान् कौरवान् युधिष्ठिरादीन् दृढं स्निग्धमनुरागो येषां तान् सम्यक् सान्त्वनेन निवर्त्य प्रियैस्सह स्वनगरीं द्वारकां प्रायात् प्रययौ ॥ ३३ ॥

कुर्वादिमरुधन्वान्तान् देशानतिक्रम्य ततः सौवीराभीरयोः परान् पश्चादवस्थितान् आनर्तान् द्वारकाक्षेत्रजनपदान्[1] विभुर्हरिः श्रीकृष्णः उपागात्। कथम्भूतः? हे भार्गव! मनाक् ईषत् श्रान्ता वाहा अश्वा यस्य ॥ ३४, ३५ ॥

तत्रत्यैस्तदा[2] देशस्थैः तत्र तत्र प्रत्युद्यतं शिरसि आधाय अभिमुखमानीतमर्हणं पूजासाधनं यस्य तथाभूतः यावत्[3] आनर्तानुपागात्, तदा गविष्ठस्सूर्यः, गोभिः किरणैस्तिष्ठतीति व्युत्पत्तेः। पश्चाद्दिशं प्रति सायं भेजे प्राप्तः। गां भूमिं गतश्च, उदकं गतश्च — "सायमप्सु प्रविशति" इति श्रुतेः ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रिकायां
व्याख्यायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

---

1. W °सत्र° 2 W °स्थै° 3 W °स्तद्दे° 4 W यदा

**विज०** परेभ्यो गोपीथाय रक्षणाय चतुरङ्गिणीं हस्त्यश्वरथपदातिमतीं पृतनां सेनां स्नेहात् स्नेहमात्रात् तदानीं माहात्म्यज्ञानं नास्तीति भावः ॥ ३२ ॥

स्वनगरीं द्वारवतीं प्रियैः पुरुषैस्सह ॥ ३३, ३४ ॥

हे भार्गव! शौनक! कुरुजाङ्गलप्रभृत्येकादशदेशानतिक्रम्यागात्। श्रान्ताश्वो विभुरानर्तान् स्वाधिकृतान् देशान् उपागादित्यन्वयः ॥ ३५ ॥

यदा हरिस्सायं सन्ध्यासमये पश्चाद्दिशं[2] भेजे। कथम्भूतः? तत्र तत्र च स्वराष्ट्रे प्रतिपदं तत्रत्यैर्जनैः प्रत्युद्यताहर्णः प्रदत्तप्राज्यधनः[3] तदा गविष्ठः दिवि स्थितः आदित्यः गां समुद्रोदकं गतः, अस्तङ्गत इत्यर्थः। "असौ वा गविष्ठोऽप्सूदेत्यप्स्वस्तमेति" इति श्रुतेः ॥ ३६ ॥*

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां प्रथमस्कन्धे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

---

1. K,M °व° 2. B,K,M add पश्चिमां दिशं 3 K,M °प्राहृत° *This chapter does not end here in K&M

**रा० कृ०** तदा अजातशत्रुः धर्मजः स्नेहात् कारणात् परेभ्यः हतबन्धुभ्यः शत्रुभ्यः शङ्कितस्सन् मधुद्विषः श्रीकृष्णस्य गोपीथाय रक्षणाय चतुरङ्गिणीं चतुरङ्गसहितां पृतनां सेनां प्रायुङ्क्त प्राहिणोत् ॥ ३२ ॥

अथ शौरिः श्रीकृष्णः विरहातुरान् भाविकृष्णवियोगेन दुःखितान् अत एव दूरागतान् दृढं नितान्तं स्निग्धान् अनुरक्तान् कौरवान् युधिष्ठिरादीन् पाण्डवान् सन्निवर्त्य ससान्त्वनं निवर्त्य प्रियैरुद्धवादिभिस्सह स्वनगरीं द्वारकां प्रायात् अगच्छत्॥ ३३ ॥

हे भार्गव! कुरुजाङ्गलपाञ्चालान् सयामुनान् शूरसेनान् ब्रह्मावर्तं कुरुक्षेत्रं मत्स्यान् अथ सारस्वतान् मरुधन्वौ निर्जलदेशमल्पजलदेशञ्च अतिक्रम्य सौवीराभीरयोः परान् आनर्तान् एतान् सर्वान् देशान् मनाक् ईषत् श्रान्तवाहः विभुः कृष्णः प्रागात् प्रययौ॥ ३४, ३५॥

अपि च तत्रत्यैः तत्तद्देशीयैर्जनैः तत्र तत्र द्वारकामार्गे प्रत्युद्यतार्हणः समर्पितोपायनः हरिः सायं सायंसमये पश्चाद्दिशं पश्चिमां दिशं द्वारकाप्रदेशं भेजे। तदा गविष्ठः सूर्योऽपि गां पश्चिमसमुद्रजलं गतः प्रविष्टः॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां व्याख्यायां
दशमोऽध्यायः॥ १०॥

# एकादशोऽध्यायः

## सूत उवाच

आनर्तान् स उपव्रज्य स्वृद्धाञ्जनपदान् स्वकान्।
दध्मौ दरवरं[1] तेषां विषादं शमयन्निव ॥ १ ॥

स उच्चकाशे धवलोदरो दरोऽप्युरुक्रमस्याधरशोणशोणिमा।
दध्मायमानः[2] करकञ्जसम्पुटे यथाऽब्जखण्डे[3] कलहंस उत्स्वनः ॥ २ ॥

तमुपश्रुत्य निनदं जगद्भयभयावहम्[4]।
प्रत्युद्ययुः प्रजा सर्वा भर्तृदर्शनलालसाः ॥ ३ ॥

तत्रोपनीतबलयो[5] रवे र्दीप मिवाऽऽदृताः[6]।
आत्मारामं पूर्णकामं निजलाभेन नित्यदा ॥ ४ ॥

प्रीत्युत्फुल्लमुखाः प्रोचु र्हर्षगद्गदया गिरा।
पितरं सर्वसुहृदं[7] मवितार मिवार्भकाः ॥ ५ ॥

नताः स्म ते[8] नाथ सदाङ्घ्रिपङ्कजं[9] विरिञ्चवैरिञ्चसुरेन्द्रवन्दितम्[10]।[11]
परायणं क्षेम मिहेच्छतां परं न यत्र कालः प्रभवेत् परः[12] प्रभुः[13] ॥ ६ ॥

भवाय नस्त्वं भव विश्वभावन! त्वमेव माताऽथ[14] सुहृत्पतिः पिता।
त्वं सद्गुरुर्नः परमञ्च दैवतं यस्यानुवृत्त्या कृतिनो बभूविम ॥ ७ ॥

---

1 AF GF शङ्ख° 2 H,V द° 3 B,H,N,V,W °ष° 4. H,K,M °द्भवभयापहम्; V °द्भवभयावहम् 5 K,M नत्वोप° 6 H,V °मिवोद्यताः 7 AF,GF °दंस° 8 H,V हे 9 H,V,W तवा° 10 H,V,W °ङ्घि° 11 A,B,G,I,N,W °ङ्घ्र्य° 12 B,K,M,N °र° 13 AF GF भो! 14 H,K,M,V °ऽऽत्म°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

आनर्तैः स्तूयमानस्य पुरीं निर्विश्य बन्धुभिः।
एकादशे रतिः सम्यग्यादवेन्द्रस्य वर्ण्यते ॥

उत्सवै रुच्चलत्पौर मुदञ्चद्भजतोरणम्[1]।[2]
उल्लस द्रत्न दीपालि स्वपुरं प्रभु राविशत्[3] ॥

**आनर्ता निति।** स्वृद्धान् समृद्धान् दरवरं पाञ्चजन्यं शङ्खम्। दध्मौ वादितवान्॥ १॥

**स इति।** दरः शङ्खः दाध्मायमानो भगवता आपूर्यमाण उच्चकाशे अतिशयेन शुशुभे इत्यन्वयः। कथम्भूतो दरः? धवल मुदरं यस्य सः धवलोदरः। तथाप्युरुक्रमस्य कृष्णस्याधरस्य यः शोणगुण स्तेन शोणिमा यस्य सः, अधरशोणशोणिमा। स्वार्थे वा इमन्। करकञ्जे करकमले, तयो सम्पुटे मध्ये वर्तमानः कथमुच्चकाशे? अब्जखण्डे रक्तकमलसमूहे कलहंसो राजहंसः उत्स्वनः उच्चशब्दो यथा तद्वत्॥ २॥

**तमिति।** जगतो यद्भयं, तस्य भयावहम्। प्रत्युद्ययुः प्रत्युजग्मुः। भर्तु र्दर्शने लालसा औत्सुक्यं यासां ताः॥ ३॥

तत्र तस्मिन् श्रीकृष्णे उपनीताः समर्पिताः बलयः उपायनानि याभिस्ताः। निरपेक्षेऽपि तस्मिन्नादरेण समर्पणे दृष्टान्तः रवेः दीपमिवेति॥ ४॥

**प्रीतीति।** पितरमर्भका इव तं सर्वसुहृद मवितारं प्रोचु रित्युत्तरेणान्वयः। सुहृत्त्वेनैव अवितारं न तु कामेन। अत्र हेतुः आत्मारामम्। तत्रापि हेतुः परमानन्दनिजस्वरूपलाभेनैव पूर्णकामम्॥ ५॥

**कि मूचु** रिति तदाह — **नताः स्मेति।** विरिञ्चो ब्रह्मा। वैरिञ्चाः सनकादयः। इह संसारे परं क्षेम मिच्छतां परायणं परमं शरणम्। कुतः? परेषां ब्रह्मादीनां प्रभुरपि कालो यत्र प्रभुर्न भवेत्॥ ६॥

**भवायेति।** अतो भवायोद्भवाय नोऽस्माकं त्वं भव हे विश्वभावन! अनुवृत्त्या अनुगमनेन कृतिनः कृतार्थाः बभूविम जाता वयम्॥ ७॥

---

1. H,V °रुल्लसत 2. H,V°वा° 3 H,V °दि 4 H,V ना° 5 H,V द° 6. H,V add शोणीभावः 7 B,H,V °ष° 8 H,V add 'जगद्भवभयापहम्' इति पाठे जगतां जीवानां भवात् संसारात् यद्भयं तदपहन्तीति जगद्भवभयापहम्। 9. H,V add तत्रेत्यादिश्लोकद्वय मेकं वाक्यम्। 10 H,V add स्वसंरक्षकं 11. H,V °ञ्चिः 12. A,B °ञ्चयः

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

स भगवान् स्वृद्धान् समृद्धान् स्वका नानर्तान् जनपदा नुपव्रज्य तत्रत्यानां विषादं स्वविश्लेषजं शमयन्निव दरवरं शङ्खश्रेष्ठं पाञ्चजन्यं दध्मौ ध्वनयामास॥ १॥

तदा स दाध्मायमानो दरवरः स्वतो धवल मुदरं यस्य तथाभूतोऽपि दामोदरस्य भगवतोऽधरशोणेन शोणिमा यस्य सः। स भगवत्करकमलयो स्सम्पुट उच्चकाशे यथाऽब्जखण्डे रक्तकमलसमूहे उत्स्वन उच्चैस्स्वनो यस्य स हंस स्तद्वत्॥ २॥

जगतो भयं येभ्यः तेषां भय मावहतीति तथा, तं निनदमुपश्रुत्य सर्वाः प्रजाः भर्तु र्भगवतो दर्शने लालसाः आसक्तचित्ताः प्रत्युद्ययुः प्रत्याजग्मुः॥ ३॥

तत्राऽऽदृता आदरयुक्ता रवे र्दीप मिवात्मानं जगच्च प्रकाशयतः प्रकाशान्तरानपेक्षस्य सूर्यस्य दीप मिव उपनीतः बलिः पूजार्थं द्रव्यं याभि स्ताः ॥ ४ ॥

प्रीत्या उत्फुल्लानि विकसितानि मुखाम्बुजानि यासां तथाभूताः प्रजाः हर्षेण गद्गदया कुण्ठितया गिरा तं प्रोचुः। रविदृष्टान्ताभिप्रेतं व्यञ्जयन् विशिनष्टि। निजलाभेन नित्यनिरवधिकस्वानन्दानुभवलाभेन पूर्णकाम मवाप्त-समस्तकाम मात्मारामं स्वानुभवैकनिष्ठं, बल्यनपेक्ष मिति भावः। के क मिवोचुः। सर्वेषु पुत्रेषु सुहृदं सौहार्दयुक्त-मवितारं रक्षितारं पितर मर्भकाः शिशवः पुत्रा इव ॥ ५ ॥

उक्त मेवाहुः — **नता** इति चतुर्भिः। हे नाथ! तवाङ्घ्रिपङ्कजं प्रति नताः स्म। कथम्भूतम्? विरिञ्चिना ब्रह्मणा, वैरिञ्चैः सनकादिभिः सुरेन्द्रै रिन्द्रादिभिश्च वन्दितं नमस्कृतं इह क्षेमं निश्श्रेयस मिच्छतां पर मुत्कृष्टं परायणं क्षेमसाधनभूतं, पर मिति क्षेमविशेषणं वा। यत्र पदारविन्दे परेषां ब्रह्मादीनामपि प्रभुः तानपि वशीकुर्वन्, कालोऽपि न प्रभवेत् न समर्थो भवेत्, यत्र त्वयि विषये परः प्रभुः कालोऽपि न प्रभवेत् तस्य तव पदाम्बुजमिति वाऽन्वयः। "सर्वस्य वशी, सर्वस्येशानः" (बृह. उ. 4-4-22), "न तस्येशे कश्चन" (म. ना. उ. 1-10) इत्यादि श्रुत्यर्थो-ऽत्रानुसन्धेयः ॥ ६ ॥

हे विश्वभावन! विश्वं जगत् भावयति सत्तास्थितिप्रवृत्तिमत्करोतीति तथाभूत! त्वं नोऽस्माकं भवायाभ्युदयाय भव। "माता पिता भ्राता निवासः शरणं सुहृद् गतिर्नारायणः" (सुबा. उ. 6-1), "तं देवतानां परमञ्च दैवतम्" (श्वेता. उ. 5-7), "पतिं पतीनां परमं परस्तात्" (श्वेता. उ. 6-7), "न तस्य कश्चि त्पति रस्ति लोके नचेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्" (श्वेता. उ. 6-9), "यो वै वेदांश्च प्रहिणोति" (श्वेता. उ. 6-18) इत्यादिश्रुत्यर्थ मनुसन्धायोचुः। त्वमेव मातेत्यादि लौकिकस्तु बन्धु रेक एव, त्वं तु सर्वविधबन्धुरिति भावः। यस्य तवाऽनुवृत्त्या सेवया वयं कृतिनः[6] कृतकृत्या बभूविम, स त्वं नो भवाय भवेत्यन्वयः ॥ ७ ॥

---

1 W °रे 2 W adds नितरां चकाशे 3 W °ष° 4 W विरिञ्चेन 5 W चतुर्मुखेन 6 W adds कृतार्थाः

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

स कृष्णः स्वृद्धान् सुष्ठु सम्पन्नान् स्वकान् स्वीयान् नाम्ना आनर्तान् जनपदा नुपगम्य इति दरत्नरं शङ्खश्रेष्ठं दध्मौ पूरयामास। तेषां विषादं राजकं भयं शमयन् परिहरन्निवेत्यन्वयः ॥ १ ॥

सः दरः पाञ्चजन्याख्यः उच्चकाशे। धवलं शुक्ल मुदरं यस्य स धवलोदरोऽतिधवलोदरोऽपि उरुक्रमस्य श्रीकृष्णस्य अधरोष्ठस्य शोणेन रागेण शोणिमा रक्तभावो यस्य स तथोक्तः। दाध्मायमानः पुनः पुनः पूर्यमाणः करावेव कञ्जे हस्तकमले तयोः सम्पुटे मध्ये वर्तमान इति शेषः। करकञ्जसम्पुटे निधाय दाध्मायमान इति वा। तत्र दृष्टान्तः — अब्जखण्डे करकमले स्थितः उत्स्वनः उच्चध्वनिः कलहंसो राजहंसो यथा तथेत्यन्वयः ॥ २ ॥

भर्तृदर्शनलालसाः श्रीकृष्णस्य दर्शनोत्सुकाः सर्वाः प्रजाः जगतो भवः संसारः तस्मात् भयं हन्तीति

जगद्भवभयापहः, तं जगद्भयभयापह मिति पाठे, जगद्भयानां दैत्यानां सकाशात् यद्भयं तस्य नाशनः तं निनदं शङ्खध्वनिं श्रुत्वा तं कृष्णं प्रत्युद्ययु रित्यन्वयः ॥ ३ ॥

नित्यदा निजलाभेन स्वतो लब्धेन पूर्णकामम् अतएवाऽऽत्मारामं, आ समन्तात् रममाणं कृष्णं नत्वा हर्षेण गद्गदया स्खलन्त्या गिरा ताः प्रजाः प्रोचु रित्यन्वयः। कीदृश्यः? प्रीत्युत्फुल्लं विकसितं मुखं यासां ता स्तथोक्ताः। उपनीतः समर्पितो बलि र्भागधेयो याभि स्ता स्तथा। बलिः पूजासाधनं वा। कथमिव? तेजःपुञ्जस्य स्वदीप मिव, आत्मारामस्य बलिं दत्वेति शेषः। आदृताः परमादरयुक्ताः अर्भकाः बालाः पितर मिव। कथम्भूतं हरिम्? अन्नादिदानेन पातृत्वात्पितरं सर्वस्मा दात्मादेः सुहृद मनिमित्तबन्धुं ज्ञानादिदानेन अवनकर्तृत्वा दवितारम् ॥ ४, ५ ॥

हे नाथ! तवाङ्घ्रिपङ्कजं सदा नताः स्मेत्यन्वयः। कीदृशम्? विरिञ्चिवैरिञ्चसुरेन्द्रै[1] श्चतुर्मुखशङ्करदेवेन्द्रैर्वन्दितम्, इह चेतनराशिमध्ये परं क्षेमं मोक्ष मिच्छतां भक्तानां परायणम् उत्तमाश्रयं, परस्य हिरण्यगर्भस्य प्रभुः समर्थो जननमरणधर्मापादकोऽपि कालः यत्र पदारविन्दे भक्तानां न प्रभवेत् जरादिधर्मापादको न भवति। परेषां भक्तानां प्रभुः कालः यत्र भक्तानां न प्रभवेदतस्तस्याङ्घ्रिपङ्कजस्थे[2] न समर्थ इति किं वाच्य मिति वा ॥ ६ ॥

हे विश्वभावन! जगत स्सत्तादिप्रदत्वं नोऽस्माकं भवाय ज्ञानभक्त्यादिकल्याणाय भव, यस्य तवानुवृत्त्या सेवालक्षणेनानुवर्तनेन कृतिन स्सुकृतिनो बभूविम। स त्वं नः परमं दैवतम् इष्टदेवता। नः सद्गुरुः निर्दोषगुरुस्थानीयश्च त्वमेव माताऽभीष्टदानेन आत्मना त्वयैव नास्मत्प्रयत्नेन सुहृत् पिता पतिः स्वामी ॥ ७ ॥

---

1 B,K,M °ङ्र° 2 K,M °स्य

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

स भगवान् स्वृद्धान् समृद्धान् स्वकान् स्वकीयान् आनर्तान् तन्नामकान् जनपदान् देशा नुपव्रज्य समीपं गत्वा तेषां तत्रत्यजनानां विषादं स्वियोगजन्यं दुःखं शमय न्निव दरवरं शङ्खश्रेष्ठं पाञ्चजन्यं दध्मौ वादितवान् ॥ १ ॥

दाध्मायमानः उच्चैर्वाद्यमानः स दरः शङ्खः धवलोदरोऽपि उरुक्रमस्य कृष्णस्य अधरशोणशोणिमा, अधरस्य शोणेन रागेण शोणिमा रक्तिमा यस्य सः, केवलरक्त इत्यर्थः। करकञ्जसम्पुटे भगवतः करकमलयोः सम्पुटे स्थितः अब्जषण्डे स्थितः उत्स्वनः कलहंसो यथा राजहंस इव उच्चकाशे अत्यन्तं शुशुभे ॥ २ ॥

जगद्भयभयावहं जगद्भयहेतूनां राक्षसादीनां भयङ्करं तं निनदं शङ्खनादं उपश्रुत्य समीपे श्रुत्वा सर्वाः प्रजाः भर्तृदर्शनलालसाः भर्तुः श्रीकृष्णस्य दर्शने आसक्ताः प्रत्युद्ययुः अभिजग्मुः ॥ ३ ॥

तत्र श्रीकृष्णे आदृताः आदरयुक्ताः प्रजाः स्वेः सकलजगत्प्रकाशकस्य द्वीपमिवोपनीतबलयः समर्पितपूजाः तथा प्रीत्युत्फुल्लमुखाः निजलाभेन परमानन्दनिजस्वरूपलाभेन नित्यदा निरन्तरं पूर्णकामम् अत एवाऽऽत्मारामम् आत्मनि आनन्दस्वरूपे रमणशीलं सर्वसुहृदम् अवितारं संरक्षकं तं भगवन्त मर्भकाः पितर मिव हर्षगद्गदया गिरा वाचा प्रोचुः अवोचन् ॥ ४, ५ ॥

हे नाथ! यदङ्घ्रिपङ्कजे परः श्रेष्ठः प्रभुः ब्रह्मादीनां प्रभुरपि कालः न प्रभवेत्, न समर्थो भवति। विरिञ्चिवैरिञ्चिसुरेन्द्रवन्दितं, विरिञ्चिः ब्रह्मा, वैरिञ्चाः ब्रह्मात्मजाः सनकादयः सुरेन्द्रः देवेन्द्रः तैर्वन्दितं इह संसारे परं क्षेम मिच्छतां परायणं परमं शरणं तव तत् अङ्घ्रिपङ्कजं पादपद्मं नतास्स्मः, नमस्कुर्मः ॥ ६ ॥

हे विश्वभावन! विश्वपालक! नः अस्माकं भवाय पुरुषार्थचतुष्टयरूपाभ्युदयाय त्वं भव। अस्माकं माता आत्मसुहृत् पिता पतिस्त्वमेव। यस्य भवतः अनुवृत्या अनुवर्तनेन सेवयेत्यर्थः। वयं कृतिनः कृतार्था बभूविम। सः त्वं नः सद्गुरुः परमं दैवतञ्चासि इति शेषः ॥ ७ ॥

अहो सनाथा भवता स्म यद्वयं त्रैविष्टपाना[1] मपि दूरदर्शनम्।
प्रेमस्मितस्निग्धनिरीक्षणाननं पश्येम रूपं तव सर्वसौभगम् ॥ ८ ॥

यर्ह्यम्बुजाक्षाप[2]ससार भो[3] भवान् कुरून् मधून् वाऽथ सुहृद्दिदृक्षया।
तत्राब्दकोटिप्रमितः क्षणो[4] भवेत् रविं विनाक्षणो रिव नस्तवाच्युत ॥ ९ ॥

* कथं वयं नाथ चिरोषिते त्वयि प्रपन्नतृष्णाखिलतापशोषणम्[5]।
जीवेम ते सुन्दरहासशोभिन मपश्यमाना वदनं मनोहरम् ॥

सूत उवाच

इति चोदीरिता वाचः प्रजानां भक्तवत्सलः[6]।
शृण्वानोऽनुग्रहं दृष्ट्या[7] वितन्वन् प्राविशत्पुरीम्[8] ॥ १० ॥

मधुभोजदशार्हार्ह कुकुरान्धकवृष्णिभिः।
आत्मतुल्यबलै र्गुप्तां नागै र्भोगवती मिव ॥ ११ ॥

सर्वर्तु सर्वविभव[10] पुण्यवृक्षलताश्रमैः।
उद्यानोपवनारामै र्वृतपद्माकरश्रियम्[12] ॥ १२ ॥

गोपुरद्वारमार्गेषु कृतकौतुकतोरणाम्।
चित्रध्वजपताकाग्रै रन्तःप्रतिहतातपाम् ॥ १३ ॥

सम्मार्जितमहामार्ग रथ्यापणकचत्वराम्।
सिक्तां गन्धजलै रुप्तां फलपुष्पाक्षताङ्कुरैः ॥ १४ ॥

द्वारि द्वारि गृहाणाञ्च दध्यक्षतफलेक्षुभिः।
अलङ्कृतां पूर्णकुम्भै र्बलिभि र्धूपदीपकैः ॥ १५ ॥

---

1. B °पि° 2 K.M °क्षाञ्जति माधवो 3 H नो 4 H.V °णोऽभवत् 5 H.K.M.V.W रवे विनाक्षणामिव *This additional verse is found in B.I. 5 I प्रसन्नदृष्ट्या 6 H.V °पालकः 7 H.V शृण्वन्नु° 8 I.W °रम् 9 W-भो° 10 H.K.M.V.W °वैः 11 K.M °धृत; H.V °वृतां

**श्रीध०** कृतार्थत्व मेवाऽऽहुः — **अहो** इति। अहो भवता वयं सनाथाः स्म। यद्यस्मात् तव रूपं पश्येम। त्रैविष्टपानामपि दूरदर्शनं दूरे दर्शनं यस्य तत्। देवानामपि दुर्लभदर्शन मित्यर्थः। प्रेम्णा यत् स्मितं तद्युक्तं स्निग्धं निरीक्षणं यस्मिं स्तदाननं यस्मिं स्तद्रूपम्। सर्वेषु चाङ्गेषु सौभगं यस्मिं स्तत्॥ ८॥

अर्भका इव सकरुण माहुः — **यर्हीति**। यर्हि यदा भो अम्बुजाक्ष! नो भवानिति पाठे न इत्यनादरे षष्ठी। अस्मा ननादृत्य अपससार अपहाय जगाम। कुरून् हस्तिनापुरम्। मधून् मथुरां वा। तत्र तदा रविं विना आन्ध्या दृक्षणो यैथैकोऽपि क्षणोऽब्दकोटिप्रतिमो भवे देवं तव नः त्वदीयाना मस्माकमपीत्यर्थः॥ ९॥

**इतीति**। इति चैवंविधा अन्या उदीरिता उच्चारिता वाचः शृण्वन् दृष्ट्या साभिनन्दनावलोकेन अनुग्रहं कुर्वन् पुरीं द्वारकां प्राविशत्॥ १०॥

तां द्वारकां स्तौति — **मध्विति** पञ्चभिः। स्वतुल्यबलैः मधुभोजादिभिर्गुप्तां रक्षिताम्॥ ११॥

**सर्वेति**। सर्वेष्वृतुषु सर्वे विभवाः पुष्पादिसम्पदो येषां ते पुण्यवृक्षा लताश्रमाः लतामण्डपाश्च येषु तैरुद्यानादिभिर्वृता ये पद्माकराः सरांसि तैः श्रीश्शोभा यस्यां ताम्। उद्यानं फलप्रधानम्। उपवनं पुष्पप्रधानम्। आरामः क्रीडार्थं वनम्॥ १२॥

**गोपुरेति**। गोपुरं पुरद्वारम्। द्वारं गृहद्वारम्। कृतानि कौतुकेनोत्सवेन तोरणानि यस्यां ताम्। गरुडादिचिह्नाङ्किताः ध्वजाः जयप्रदयन्त्राङ्किताः पताकाः। चित्राणां ध्वजपताकाना मग्रैरन्तःप्रतिहत आतपो यस्यां ताम्॥ १३॥

**सम्मार्जितेति**। सम्मार्जितानि निस्सारितरजस्कानि महामार्गादीनि यस्यां ताम्। महामार्गाः राजमार्गाः रथ्याः इतरमार्गाः आपणकाः पण्यवीथयः, चत्वराण्यङ्गणानि। फलादिभि रुप्तामवकीर्णाम्॥ १४, १५॥

---

1 B °पि° 2 H V दुर्दर्शमित्यर्थः 3 B सर्व सर्वेषुवाऽङ्गेषु 4 H V add भवान् 5 H V °रान् 6 B H V °लोकनेन 7 V पुण्या° 8 H.V add या 9 H V °दिवीर°

**वीर० अहो** इति। भवता त्वया वय महो सनाथाः स्म इति यत्सुखप्रदनाथवन्तो बभूविम। कुतः? यत् यस्मात् तव रूपं पश्येम। कथम्भूतम्? त्रैविष्टपानां देवानामपि दूरदर्शनं दुर्दर्शनं प्रेमपूर्वकंस्मितंस्निग्धे सानुरागे ईक्षणे च यस्मिं स्तदाननं यस्य तत्सौभगं सुन्दरम्॥ ८॥

भो अम्बुजाक्ष! भवान् सुहृद्दृक्षया यदा कुरून् मधून् वा जनपदानपससार जगाम, तत्र तदा हे अच्युत! नोऽस्माकं त्वामपश्यतां, रवेर्विना रविं विना अक्ष्णोः क्षणकालोऽब्दकोटिप्रतिमः संवत्सरकोटिकालतुल्यो भवेत्॥ ९॥

इतीत्थं प्रजाना मुदीरिता वाचः शृण्वानो भक्तवत्सलो भगवा नवलोकनेनानुग्रहं वितन्वन्, पुरं प्राविशत्। पूश्शब्दोऽयं न तु पुरशब्दः॥ १०॥

कथम्भूतां पुरम्? मध्वादयो यादवावान्तरविशेषाः तैरात्मतुल्यबलैः कृष्णतुल्यबलैर्नागैः काद्रवेयादिभिः भोगवतीमिव गुप्तां रक्षितां भोगवतीं नाम नागानां पुरीम्॥ ११॥

सर्वर्तुषु युगपत्त्रिवृत्तेषु य स्सर्वो विभवः फलपुष्पादिसमृद्धिर्येषां ते पुष्पा वृक्षाश्च मन्दारपारिजातादयः, लताः तदधस्तनाः आश्रमाश्च येषु तैः। उद्यानोपवनारामैः वृतानां पद्माकराणां श्रीः शोभा यस्याम्। तत्रोद्यानम् राज्ञां क्रीडास्थानम्। उपवनं वनसमीपस्थम्, आरामः कृतकः॥ १२॥

गोपुराकाराणां द्वाराणां मार्गेषु कृतानि कौतुकानि मङ्गलार्थानि तोरणानि जम्ब्वाम्रपल्लवादिनिर्मितानि यस्यां चित्राणां ध्वजानां पताकानां चाग्रै रन्तःप्रतिहतो निरस्त आतपो यस्याम्॥ १३॥

सम्मार्जिता महामार्गादयो यस्याम्। महामार्गा राजवीथयः रथ्या उपवीथयः आपणकानि वणिजां क्रयविक्रयादिगृहाणि चत्वराणि गजाश्वादिशालाः। गन्धोदकैः सिक्तां, फलादिभिरुप्तां विकीर्णाम्॥ १४॥

प्रतिद्वारं दध्यादिभि र्जलपूर्णकुम्भैः धूपैः दीपैश्चालङ्कृताम्, एवम्भूतां पुर मिति पूर्वेणान्वयः॥ १५॥

---

1. W निरतिशयसुख° 2 W दुर्दर्श 3 W °कं 4 W °तं 5 W विनेव अक्ष्णां 6 W °पत्रवृत्तेषु 7 W °काः 8 W °राः

**विज०** हे नाथ! तव रूपं पश्येमेति यत् यस्मात् वयं भवता सनाथाः स्म नाथवन्तो भवाम। अहो अस्मद्भाग्य मित्यन्वयः। कभम्भूतम्? त्रैविष्टपानामिन्द्रादिदेवाना मपि दूरतः चिरकालतः चीर्णतपस्सम्पत्त्या दृश्यत इति दूरदर्शनम्। अनेन दर्शनसाधनसामग्र्येवाभिप्रेता न तु दर्शनाभावः। तैः प्रार्थितत्वेन तत्कार्यार्थमवतीर्णत्वात् दर्शनातरतम्याभिप्रायो वा, प्रेम्णा स्मितं स्निग्धं निरीक्षणं मधुरावलोकनं, ताभ्यां युक्तमाननं यस्मिं स्तत्तथोक्तम्। सर्वं पूर्णं सौभगं सौन्दर्यं यस्मिं स्तत्तथोक्तम्॥ ८॥

हे अम्बुजाक्ष! अथ यर्हि यदा माधवः श्रीवल्लभो भवान् मधुविषयेभ्यः सुहृदां पाण्डवानां दिदृक्षया दर्शनेच्छया कुरून् कुरुविषयान् कुरुविषयेभ्यो मधून् वा अञ्चति गच्छति। हे अच्युत! तत्र तस्या मवस्थायाम्। तवेति षष्ठी द्वितीयार्थे, त्वां विना। कुरूणां मधूनाञ्च नोऽस्माकं यथा रविं विना अक्ष्णां तथैकः क्षणः कालः अब्दकोटिप्रतिमः वर्षकोटिसमानः स्या दित्येकान्वयः॥ ९॥

दृष्ट्या दर्शनेन शृण्वानः शृण्वन् चशब्दात् वन्दिमागधादीनां गिरः॥ १०॥

गुप्तां रक्षिताम्। भोगवती नाम नागानां पुरी। आत्मतुल्यबलैः परस्पर मात्मना तुल्यवीर्यैः, अधिकदृष्टान्तन्यायो वा॥ ११॥

वसन्तादिसर्वर्तूनां सर्वविभवैः पूर्णपुष्पसम्पत्तिभिः पुण्यै र्वृक्षै रश्वत्थादिभि र्न्यग्रोधरुहाभिः कल्पवल्लीभिर्वा आश्रमै रुपवेश्यस्थानैः उद्यानैः प्रमदादिभिस्सह राज्ञां क्रीडाभूमिभिः उपवनै र्नगरा त्रातिदूरे आरोपितवृक्षसमुदायै रारामैः पुरद्वारैः रथ्योभयपार्श्वरोपितवृक्षसमुदायै रेतैः सर्वर्तुसर्वविभवादिभिः धृता पद्माकराणां श्रीः शोभा यया सा तथोक्ता, ताम्॥ १२॥

गोपुरेषु पुरद्वारेषु अन्यद्वारेषु मार्गेषु कृतानि कौतुकतोरणानि उत्सवतोरणानि यस्यां सा तथा ताम्। अन्तः प्रतिहतः निवारित आतपो यस्यां सा तथा, ताम्॥ १३॥

सम्मार्जितानि विधूतोपस्करांणि महामार्गरथ्यापणकचत्वराणि यस्यां सा तथा। महामार्गो राजमार्गः। रथ्या रथमार्गाः। आपणकानि पण्यविक्रयस्थानानि। चत्वरं चतुष्पथम्। गन्धजलैः चन्दनादितोयैः सिक्तां प्रोक्षितां, क्रमुकफलपुष्पाक्षताङ्कुरैः उप्ताम्॥ १४॥

गृहाणां द्वारि दध्यक्षतफलेक्षुभिः पूर्णकुम्भै र्बलिभिः पूजासाधनै र्धूपदीपादिकै रलङ्कृताम्। एवंविधां पुरीं प्राविश दिति पूर्वेणान्वयः॥ १५॥

---

1 K.M °स्मात्तस्मात् 2 K.M °रणानि

**रा० कृ०** यत् यस्मात् त्रैविष्टपानामपि देवानामपि दूरदर्शनं दुर्लभदर्शनम्। प्रेमस्मितस्निग्धनिरीक्षणाननं प्रेमपूर्वकं स्मितं स्निग्धे सानुरागे निरीक्षणे लोचने यस्मिन् तत्। सर्वसौभगं सर्वाङ्गसौन्दर्यं तव रूपं पश्येम। तस्मात् अहो वयं भवता सनाथाः स्मः॥ ८॥

भो अम्बुजाक्ष! अच्युत! यर्हि यदा भवान् सुहृद्दिदृक्षया सुहृदां धर्मजादीनां नन्दादीनाञ्च दिदृक्षया कुरून् हस्तिनापुरं, अथवा मधून् मधुरां अपससार जगाम, ) तत्र तदा तव नः त्वदीयाना मस्माकं रवेः विना अक्ष्णामिव, क्षणः अब्दकोटिप्रतिमः संवत्सरकोटिसमयसमानोऽभवत्॥ ९॥

च अनन्तरञ्च। इति पूर्वोक्तप्रकारेण। ईरिताः उक्ताः। प्रजानां वाचः भक्तपालको भगवान् शृण्वन् दृष्ट्या साभिनन्दनविलोकनेन अनुग्रहं वितन्वन् कुर्वन् पुरीं द्वारकां प्राविशत्॥ १०॥

इतःपरं पञ्चभिः श्लोकैः पुरीं विशिनष्टि आत्मतुल्यबलैः स्वसमानबलैः मधु भोज दशार्हार्ह कुकुरान्धकवृष्णिभिः नागै र्भोगवतीमिव गुप्तां रक्षिताम्। सर्वर्तुसर्वविभवैः युगपत् सर्वर्तूनां सर्वविभवैः पुष्पफलादिसम्पद्भिः सहितैः पुण्यवृक्षलताश्रमैः पावनतरुभि र्लतामण्डपैश्च समेतैः उद्यानोपवनारामैः उद्यानादिभिः वृतपद्माकरश्रियं, वृतानां पद्माकराणां सरोवराणां श्रीः शोभा यस्यां ताम्। गोपुरद्वारमार्गेषु, गोपुरे पुरद्वारे द्वारे गृहद्वारे मार्गेषु च कृतकौतुकतोरणां, कृतानि कौतुकतोरणानि उत्सवतोरणानि यस्यां ताम्, चित्रध्वजपताकाग्रैः, चित्राणां ध्वजपताकानां अग्रैः अन्तःप्रतिहतातपाम्, प्रतिहतः आतपः यस्यां ताम्, सम्मार्जितमहामार्गरथ्यापणकचत्वरां, सम्मार्जितानि महामार्गरथ्यापणकचत्वराणि, महामार्गाः रथ्याः, आपणकाः चत्वराणि च यस्यां ताम्, गन्धजलैः सुगन्धवारिभिः सिक्तां फलपुष्पाक्षताङ्कुरैः उप्तां व्याप्ताम्। किञ्च, गृहाणां द्वारि द्वारि प्रतिद्वारं दध्यक्षतफलेक्षुभिः पूर्णकुम्भैः बलिभिः नैवेद्यद्रव्यैः धूपदीपादिकै रलङ्कृताम्, ईदृशीं पुरीं प्राविश दिति पूर्वेणान्वयः॥ ११, १२, १३, १४, १५॥

निशम्य प्रेष्ठ[1] मायान्तं वसुदेवो महामनाः ।
अक्रूरश्चोग्रसेनश्च रामश्चाद्भुतविक्रमः ॥ १६ ॥

प्रद्युम्नश्चारुदेष्णश्च[2] सांम्बो[3] जाम्बवतीसुतः ।
प्रहर्षवेगोच्छ[4]शित शयनासनभोजनाः ॥ १७ ॥

वारणेन्द्रं पुरस्कृत्य ब्राह्मणैः[5] संसुमङ्गलैः ।
शङ्खतूर्यनिनादेन ब्रह्मघोषेणचाऽऽदृताः ॥ १८ ॥

प्रत्युज्जग्मू[7] रथै र्हृष्टाः[8] प्रणयागतसाध्वसाः ।
वारमुख्याश्च शतशो यानै स्तद्दर्शनोत्सुकाः ।
लसत्कुण्डलनिर्भात[10] कपोलवदनश्रियः ॥ १९ ॥

नटनर्तकगन्धर्वा स्सूतमागधवन्दिनः ।
गायन्ति[11] चोत्तमश्लोक चरितान्यद्भुतानि च ॥ २० ॥

भगवां स्तत्र बन्धूनां पौराणा मनुवर्तिनाम् ।
यथाविध्युपसङ्गम्य[12] सर्वेषां मान मादधे ॥ २१ ॥

प्रह्वा[13]भिवादनाश्लेषकरस्पर्शस्मितेक्षणैः ।
आश्वास्य चाश्वपाकेभ्यो[14] वरैश्चाभिमतै र्विभुः[15] ॥ २२ ॥

---

1 K,M कृष्णा° 2 H.V,W °धे° 3 H,V ये च साम्बगदादयः ; AF,GF चारुसाम्बगदादयः 4 H K.M V W °च्छ्रसि° 5 B पाणिभिः 6 AF,GF तु 7 AF,GF प्रतिजग्मू° 8 H,V °ब्रह्मन् ! 9 K,M चल° 10 AF,GF °निर्भिन्न° 11 AF,GF °न्त उ° 12 H,V °विधि समा° 13. AF,GF बान्धवानथ आश्लिष्य 14 K M °वन्द° 15 K,M आ°

**श्रीध०** निशम्येत्यादिश्लोकचतुष्क मेकं वाक्यम्। प्रेष्ठं[1] अन्तरात्मान मायान्तं निशम्य श्रुत्वा वसुदेवादयः प्रत्युज्जग्मुरिति चतुर्थेनान्वयः ॥ १६ ॥

**प्रद्युम्न** इति। प्रहर्षवेगेनोच्छ[2]शितानि उल्लङ्घितानि शयनादीनि यै स्ते। शं[3]श प्लुतगतौ ॥ १७ ॥

**वारणेन्द्रमिति** । वारणेन्द्रं मङ्गलार्थं पुरतः कृत्वा ससुमङ्गलैः सुमङ्गलं पुष्पादि, तद्युक्तपाणिभिः। ब्रह्मघोषो मन्त्रपाठः[4] ॥ १८ ॥

**प्रत्युज्जग्मु** रिति सार्धश्लोक मेकं वाक्यम्। प्रणयेन स्नेहेन आगतं साध्वसं सम्भ्रमो येषां[5] ते[6]। वार[7]मुख्या नटादयश्च प्रत्युज्जग्मुः। लसत्कुण्डलैर्निर्भातानि यानि कपोलानि तैर्वदनेषु श्रीः शोभा यासां ताः। वारमुख्या नर्तक्यो वेश्या इति यावत् ॥ १९ ॥

**नटेति**। अद्भुतानि चेति चकारस्य वन्दिनश्चेत्यन्वयः। नटा नवरसाभिनयचतुराः। तालाद्यनुसारेण नृत्यन्तो नर्तकाः। गन्धर्वा गायकाः। "सूताः पौराणिकाः प्रोक्ता मागधा वंशशंसकाः। वन्दिनस्त्वमलप्रज्ञाः प्रस्तावसदृशोक्तयः"। ते सर्वे गायन्ति चेत्यन्वयः। उत्तमश्लोकस्य अद्भुतानि चरित्राणि भक्तवात्सल्यादीनि॥ २०॥

**भगवानिति**। यथाविधि यै स्सह यथोचितं तैस्तथा समागम्य समागमं कृत्वा सर्वेषां मान मादधे, कृतवानित्यर्थः॥ २१॥

तदाह — **प्रह्वेति**। प्रह्वं प्रह्वत्वं शिरसा नतिः, अभिवादनं वाचा नतिः। आश्वास्य अभयं दत्वा, आश्वपाकेभ्यः श्वपाकानभिव्याप्य, आचण्डाल मित्यर्थः। वरै रभीष्टदानैश्च मानं कृतवान्[10]॥ २२॥

---

1. H,V add अत्यन्तप्रीतिविषयं 2. H,V °च्छ्वसि° V श्वस 4. H,V add च 5. H,V यासां 6. H,V omit ते 7. H,V omit वारमुख्याः नटादयश्च प्रत्युज्जग्मुः 8. H,V यथोक्तम् 9. B °कादीनभि°; H,V कानप्यभि° 10. H,V add इत्यर्थः॥

---

**वीर**° प्रेष्ठं निरतिशयप्रियतमं भगवन्तमायान्तं निशम्याऽऽकर्ण्य महामना वसुदेवः अक्रूरादयश्च॥ १६॥

प्रकृष्टो हर्ष स्तस्य वेगेन औत्कण्ठ्येन उच्छ्वसितानि व्युदस्तानि त्यक्तानि इति यावत्। शयनादीनि यै स्तथाभूतास्सन्तः॥ १७॥

वारणेन्द्रं गजेन्द्रं पुरस्कृत्य पुरोऽवस्थाप्य ससुमङ्गलैः स्वस्तिवाचनसहितैः ब्राह्मणैः शङ्खानां तूर्याणाञ्च निनादेन ब्रह्मघोषेण[1] च सह आदृताः आदरयुक्ताः॥ १८॥

हे ब्रह्मन्! प्रणयेन हेतुना आगतं साध्वसं भयं येषां तथाभूता स्सन्तो रथै र्गमनसाधनैः प्रत्युज्जग्मु रभिमुखं ययुः। तथा वारमुख्याः गणिकाश्रेष्ठाश्च लसद्भ्यां कुण्डलाभ्यां निर्भातौ कपोलौ येषु तेषां वदनानां श्रीः शोभा यासां ताः तद्दिदृक्षया यानै र्गमनसाधनैः प्रत्युज्जग्मुः॥ १९॥

नटादयोऽद्भुतानि उत्तमश्लोकस्य भगवतश्चरितानि जगुः। तत्र नटा अभिनेतारः। नर्तकाः स्त्रीणां नृत्यशिक्षकाः। गन्धर्वा गायकाः। सूताः पौराणिकाः। मागधा वंशावलिपाठकाः। वन्दिनः मङ्गलवादिनः, स्तोत्रपाठकाश्च॥ २०॥

तत्र भगवान् यथाविधि नमस्कारालिङ्गनकरस्पर्शस्मितावलोकनादिभि र्यथायोग्यं वसुदेवादिभि रुपसङ्गम्य सर्वेषां पौराणा मनुवर्तिनां भृत्यानाञ्च मान मादधे, सम्मानं चकार। विभुः भगवान् श्वपाकपर्यन्तेभ्यः — चतुर्थ्यन्त मिदं — आश्वास्योपच्छन्द्य, अभिमतैर्वरै र्मानमादधे इत्यन्वयः॥ २१, २२॥

---

1. W adds वेदघोषेण

---

**विज**° वसुदेवाक्रूरादय आयान्तं कृष्णं निशम्य श्रुत्वा करधृतमौक्तिकपूर्णघटं वारणेन्द्रं पुरस्कृत्य पुरस्कृतैः ब्राह्मणैश्च सार्धं रथैः साधनैः प्रत्युज्जग्मु रित्यन्वयः। किंविशिष्टाः? प्रहर्षवेगेन उच्छ्वसितानि सहसा परित्यक्तानि

शयनासनभोजनानि यैस्ते तथा। तूर्यं काहलम्। ब्रह्मघोषः वेदघोषः। मय्यासन्नेऽपि मां नाभिजग्मु रिति हार्दो भावः। साध्वसं प्रणयेनाऽऽगतं साध्वसं येषां ते। पौरा वारमुख्याः नर्तकीषु गणिकासु श्रेष्ठाः तस्य कृष्णस्य दर्शनोत्कण्ठावत्यः चलद्भिः कुण्डलै र्निर्भातानि कपोलानि येषां तानि तथोक्तानि चलत्कुण्डलनिर्भातकपोलानि च तानि वदनानि चलत्कुण्डलनिर्भातकपोलवदनानि, तेषां श्रीः यासां ता स्तथोक्ताः॥ १६, १७, १८, १९॥

अभिनयेन शृङ्गारद्यनुकरणकर्ता नटः। गीतवाद्यानुसारेण नृत्यकर्ता नर्तकः। षड्जादिकुशलाः गन्धर्वाः। पुराणाद्यर्थानुसारेण स्तावकाः सूताः। पराक्रमाङ्कितस्तुतिकतरि मागधाः। मङ्गलपाठका वन्दिनः॥ २०॥

तत्र तेषु वसुदेवादि ष्वागतेषु सत्सु श्रीकृष्णो भगवान् सर्वेषां बन्ध्वादीनां यथाविध्युपसङ्गम्य मानमादधे, चकार इत्यन्वयः॥ २१॥

कैः प्रह्लादिभिः॥ २२॥

---

1. K,M °च्छ्वसि°

**रा० कृ०** हे ब्रह्मन्! प्रेष्ठं प्रियतमं श्रीकृष्णं आयान्तं आगच्छन्तं निशम्य श्रुत्वा। महामनाः हृष्टमानसः। इदं विशेषणं अक्रूरादीनामपि सम्बध्यते। वसुदेवः, अक्रूरः, उग्रसेनः, अद्भुतविक्रमो रामः, प्रद्युम्नः, चारुदेष्णः, किञ्च साम्बः, जाम्बवतीसुतः एते सर्वेऽपि प्रहर्षवेगोच्छ्वसितशयनासनभोजनाः प्रहर्षेण हर्षाधिक्येन वेगेन त्वरया च उच्छ्वसितानि त्यक्तानि शयनासनभोजनानि यैस्ते तथाभूताः आदृताः आदरसहिताः प्रणयागतसाध्वसाः स्नेहसञ्जातसम्भ्रमाश्च सन्तः वारणेन्द्रं गजेन्द्रं पुरस्कृत्य पुरतः कृत्वा ससुमङ्गलैः पुष्पाक्षतादिमङ्गलद्रव्ययुक्तैः ब्राह्मणैः शङ्खतूर्यनिनादेन ब्रह्मघोषेण वेदघोषेण च सह रथैः यानसाधनैः प्रत्युज्जग्मुः प्रत्युद्ययुः।

किञ्च, लसत्कुण्डलनिर्भातकपोलवदनश्रियः लसत्कुण्डलैः प्रकाशमानकुण्डलैः निर्भाताः नितरां विराजिताः कपोलाः येषां तेषां वदनानां श्रीः शोभा यासां ताः वारमुख्याः वेश्याः तद्दर्शनोत्सुकाः भगवद्दर्शनोत्सुकाः यानैः यानसाधनैः शतशः तदभिमुखं ययुः॥ १६, १७, १८, १९॥

नटनर्तकगन्धर्वाः सूतमागधवन्दिनः अद्भुतानि आश्चर्यवहानि उत्तमश्लोकचरितानि, उत्तमश्लोकस्य उत्तमयशसः श्रीकृष्णस्य चरित्राणि गायन्ति च। चकारेण अभिमुखं जग्मुरित्यपि व्यज्यते तत्र तदा विभुः भगवान् उपसङ्गम्य बान्धवादिभिः समागम्य प्रह्लाभिवादनाश्लेषकरस्पर्शस्मितेक्षणैः, प्रह्वं प्रह्वत्वं, नतशिरस्कत्व मिति यावत्। अभिवादनं वाचा नमस्कारः। आश्लेषः आलिङ्गनम्। करस्पर्शः, स्मितेक्षणं स्मितपूर्वकावलोकनम् एतै रभिमतैः वरैः वस्तुदानैश्च आश्वास्य सान्त्वयित्वा सर्वेषां बन्धूनां पौरवाणाञ्च आ श्वपाकेभ्यः श्वपचा नभिव्याप्य आचण्डाल मिति यावत्। अनुवर्तिनां सेवकानाञ्च यथाविधि यथोचितं मानं सत्कारं आदधे अकरोत्॥ २०, २१, २२॥

**स्वयञ्च गुरुभि र्विप्रैः सदारैः स्थविरै रपि।**
**आशीर्भि र्युज्यमानोऽन्यै र्वन्दिभिश्चाविशत्पुरम्॥ २३॥**

राजमार्गं गते कृष्णे द्वारकायाः[1] कुलस्त्रियः ।
हर्म्याण्यारुरुहु र्विप्र! तदीक्षणमहोत्सवाः ॥ २४ ॥

नित्यं निरीक्षमाणानां यदपि द्वारकौकसाम् ।
न वितृप्यन्ति हि दृशः श्रियो धामाङ्ग मच्युतम् ॥ २५ ॥

श्रियो निवासो यस्योरः पानपात्रं मुखं दृशाम् ।
बाहवो लोकपालानां सारङ्गाणां पदाम्बुजम् ॥ २६ ॥

सितातपत्रव्यजनै रुपस्कृतः प्रसून वर्षै रभिवर्षितः पथि ।
पिशङ्गवासा वनमालया बभौ घनो यथार्कोडुपचापवैद्युतैः ॥ २७ ॥

प्रविष्टस्तु गृहं पित्रोः[7] परिष्वक्तः स्वमातृभिः ।
ववन्दे शिरसा सप्त देवकीप्रमुखा मुदा[8] ॥ २८ ॥

ताः पुत्र मङ्क मारोप्य स्नेहस्नुतपयोधराः ।
हर्षविह्वलितात्मानः सिषिचु र्नेत्रजैर्जलैः ॥ २९ ॥

अथाविशत् स्वभवनं[10] सर्वकाम मनुत्तमम् ।
प्रासादा यत्र पत्नीनां सहस्राणि च षोडश ॥ ३० ॥

* शत मष्टोत्तरञ्चैव वज्रवैदूर्यमण्डिताः ॥

---

1 K,M °र्बन्धुभिः 2. Af,Gf °रीम् 3. H,V °यां 4. B,H,K,M,V °प्राः 5 K,M °द्या° 6. B नैव 7.Af,Gf कृष्णः 8. K,M,W च 9. B,H,V °स्त° 10. M स *An additional half verse with पदरत्नावली is found in K,M. in between VV 30 & 31.

**श्रीध०** स्वयञ्चेति। अन्यैश्च वन्दिभिश्च ॥ २३ ॥

**राजमार्ग** मिति। हे विप्र! शौनक! तस्येक्षणेन महान् उत्सवो यासां ताः ॥ २४ ॥

**नित्यमिति**। यत् यस्मात् नित्यं सदा अच्युतं निरीक्षमाणानामपि दृशो नैव तृप्यन्ति अत आरुरुहुः। कथम्भूतम्? श्रियः शोभाया धाम स्थानमङ्गं यस्य तम् ॥ २५ ॥

एतदेवाभिनयेनाऽऽह — **श्रिय** इति। श्रियो लक्ष्म्याः यस्य उरो वक्षः निवासः। यस्य मुखं सर्वप्राणिनां दृशां सौन्दर्यामृतपानाय पानपात्रम्। यस्य बाहवो लोकपालानां निवासः सारं श्रीकृष्णं गायन्तीति सारङ्गा भक्ता स्तेषां यस्य पदाम्बुजं निवासः तं निरीक्षमाणानां दृश इति पूर्वेणान्वयः ॥ २६ ॥

**सितेति**। सितै रातपत्रव्यजनै रुपस्कृतो मण्डितः। अर्कश्चोडुपो नक्षत्रसहितश्चन्द्रश्च। चाप मिन्द्रधनुश्च। वैद्युतं विद्युत्तेजश्च, तैः। अर्कश्छत्रस्योपमानम्। नक्षत्राणि पुष्पवृष्टेः। चन्द्रः परिभ्रमकृतमण्डलाकारयोः चामरव्यजनयोः।

चापं वनमालायाः। विद्युत्तेजः पिशङ्गवाससोः[1]। अभूतोपमेयम्। यदि घनस्योपरि सूर्यबिम्ब मुभयतः चन्द्रौ, सर्वतो नक्षत्राणि, मध्ये च मिलितं चापद्वयं, स्थिरं विद्युत्तेजश्च भवे त्तर्हि, स घनो यथा भाति तथा हरिर्बभा वित्यर्थः॥ २७॥

**प्रविष्ट** इति। देवकी प्रमुखा स्सप्त वव्न्द इति मातृसोदर्या दादरविशेषज्ञापनार्थ मुक्तम्। अष्टादश अपि वसुदेवभार्याः मातृतुल्यत्वान्नमस्कृता एव॥ २८॥

**ता** इति। नेत्रजैर्जलै र्हर्षाश्रुभिः॥ २९॥

स्वगृहप्रवेश माह — **अथेति**। अनुत्तमं यस्मा दुत्तमं नास्ति तदनुत्तमम्। सर्वोत्तम मित्यर्थः। सहस्राणि च षोडशेति चकारा दष्टोत्तरशताधिकानीति ज्ञेयम्॥ ३०॥

---

1. B,H,V, omit हे विप्र! शौनक! 2 H,V omit ए 3 H,V हरिं 4 H,V °सः 5 H,V °णां 6 B पितुर्वसुदेवस्य; H,V वसुदेवस्य

**वीर**° स्वयञ्च सदारै र्गुरुभिः स्थविरै र्वृद्धै र्विप्रै रन्यैर्वन्दिभिश्च कृताभि राशीर्भिश्च युज्यमानः पुर माविशत्॥ २३॥

द्वारकायाः राजमार्गं कृष्णे गते सति तत्र तत्र स्त्रियः तस्य कृष्णस्येक्षणे महानुत्सवो हर्षो यासां ताः। हे विप्र! हर्म्याणि सौधान्यारुरुहुः॥ २४॥

नित्यं निरीक्षमाणानामपि कुतो दिदृक्षा बभूवेत्यत्राह — **नित्यमिति**। यत् यस्मात् नित्यं श्रियो धामाङ्गं लक्ष्मीनिवासदेहम्। 'श्रियो धामान' मिति च पाठः। अच्युतं नित्यं निरीक्षमाणाना मपि द्वारकौकसां, द्वारका ओकः स्थानं यासां, तासां स्त्रीणां दृशो न वितृप्यन्ति। तस्मा त्तदीक्षणमहोत्सवा हर्म्याणि आरुरुहु रित्यर्थः। हिशब्देन अतृप्तेः प्रसिद्धि र्द्योत्यते॥ २५॥

उचिता चैषा ह्यतृप्ति रित्यभिप्रायेणाह — **श्रिय** इति। यस्येत्यस्य उरोमुखबाहुपदाम्बुजैः प्रत्येक मन्वयः। यस्योरः श्रियो निवासः स्थानम्, उरोलावण्यानुभवाय तदेवं[2] वास माश्रितवती श्रीरित्यभिप्रायः। यस्य मुखं, दृशां पश्यज्जनचक्षुषां पानपात्रं, तल्लावण्यरसपानपात्रं, यस्य च हि बाहवो लोकपालानां पानपात्रं, तल्लावण्यरसपानपात्र, यस्य च पदाम्बुजं, सारङ्गाणां, सारं गच्छतां सारग्राहिणां मुनीनां तल्लावण्यपानपात्रं, सारं गायन्तीति सारङ्गाः, सारतमार्थवक्तार इति च। तमच्युतं नित्यं निरीक्षमाणानामपि दृशो न वितृप्यन्तीति युक्त मेवेत्यर्थः॥ २६॥

**सितेति**। पथि सितातपत्रञ्च व्यजने च तैरुपस्कृतः सितातपत्रेणावृतः, व्यजनाभ्याञ्च वीज्यमान इत्यर्थः। पिशङ्गे वाससी यस्य स भगवान् वनमालया बभौ। कथम्? यथा अर्कादिभिः युगपत्समुदितैः घनो नीलाम्बुद स्तद्वत्। अभूतोपमैषा। नर्ह्यर्कोडुपयोः सहावस्थान मस्ति। तत्रार्कादिस्थानीया मुकुटवनमालावस्त्रभूषणादयः[3], विद्युदेव वैद्युतम्। उडुपश्चन्द्रः। यद्वा उडुपग्रहणं गुरुशुक्रयोः, अन्येषां नक्षत्राणा मप्युपलक्षणम्। तत्रोडुपस्थानीयं सितातपत्रं

गुरुशुक्रस्थानीये व्यजने नक्षत्रस्थानीयानि प्रसूनानि, इन्द्रमणिस्थानीया वनमाला, विद्युत्स्थानीयं पिशङ्गवस्त्रम्, अर्कस्थानीयं तु मुकुट मिति सितातपत्राद्युपस्कृतत्वादि विशेषणसामर्थ्यात्॥ २७॥

ततस्तु पित्रो देवकी वसुदेवयो र्गृहं प्रविष्टो भगवान् मातृभि र्देवकीरोहिण्यादिभिः परिष्वक्तः आलिङ्गितः देवकीप्रमुखा मातृर्मुदा शिरसा मनसा ववन्दे॥ २८॥

ता देवक्यादयः पुत्रं कृष्ण मङ्कमारोप्य स्नेहेन स्रुतौ पयोधरौ स्तनौ यासां, हर्षेण विह्वलित आत्मा मनो यासां तथाभूताः नेत्रजलै रानन्दबाष्पैः सिषिचुः॥ २९॥

अथ ततः, स्वभवनं स्वगृहं प्राविशत्। कथम्भूतम्? सर्वे कामाः काम्यमानाः भोग्यभोगोपकरणस्थानादयो यस्मिन्, नास्त्युत्तमं यस्मात् यत्र पत्नीनां षोडशसहस्राणि प्रासादा स्तथाभूतम्॥ ३०॥

---

1. W कर्तृभिः 2. W °वा° 3. W म° 4. W °धनुः° 5. W म° 6 W adds प्रस्रवन्तौ 7. W °णभोगस्था°

**विज०** हर्म्याणि सौधानि तदीक्षणं तस्य श्रीकृष्णस्य दर्शनमेव महानुत्सवो यासां ताः तथोक्ताः॥ २३, २४॥

दृष्टचरस्य अदृष्टपूर्वदर्शनवत् दर्शने किमि त्युत्कण्ठातिशय इति तत्राह — **नित्य** मिति। श्रियो धाम स्थानं अङ्गं वपुर्यस्य स तथा। तमच्युतं नित्यं निरीक्षमाणानां द्वारकानिवासिनामपि दृशो न वितृप्यन्ति, पुनः पुनः दृष्ट्वापि अलं दर्शनेनेति भावं न प्राप्नुवन्ति, यस्मा त्तस्मा द्युक्त उत्कण्ठातिशयो हीत्यन्वयः॥ २५॥

नैतदाश्चर्य मित्याह — **श्रिय** इति। यस्य हरेः उरः वक्षस्स्थलं श्रियो लक्ष्म्याः निवासः स्थानं, यस्य मुखं द्रष्टॄणां लावण्यं पातुं पानपात्रम्, यस्य बाहवो लोकपालानां बलस्थानम्, यस्य पदाम्बुजं सारङ्गाणां सारग्राहिणां ब्रह्मादीनां परायणम्॥ २६॥

सितातपत्रव्यजनादिभि रलङ्कृतो भगवांस्तथा बभौ यथार्कादिभि रन्वितो मेघो भातीत्यन्वयः। अत्रायं विभागः — मध्याह्नार्कस्थानीयं श्वेतच्छत्रम्, उडुपस्थानीयं व्यजनम्, इन्द्रचापस्थानीया माला, पीतवस्त्रं विद्युत्स्थानीयम्, मेघस्थानीयो भगवान्। अर्कस्थानीयं किरीटम्, उडुपस्थानीयं श्वेतच्छत्रं, मन्दारादिप्रसूनमाला इन्द्रचापस्थानीया विद्युत्स्थानीयं व्यजन मिति वा॥ २७॥

पित्रोः मातापित्रोः। स्वमातृभिः देवक्यादिभिः परिष्वक्तः आश्लिष्टः॥ २८॥

ता मातरः पुत्राम्नो नरकात् त्रायत इति पुत्रः, तं कृष्णं सिषिचुः अभ्यषिञ्चन्। हर्षेण विह्वलीकृतो विवशीकृतः आत्मा अन्तःकरणं यासां तास्तथोक्ताः॥ २९॥

यत्र यस्मिन् भवने वज्रवैदूर्यमणिमण्डिताः षोडशसहस्राणि पुनरष्टोत्तरशतं पत्नीनां प्रासादाः सन्ति तदनुत्तमं सर्वकामं स्वभवन माविश दित्येकान्वयः। काम्यन्त इति कामाः इच्छाविषया स्ते सर्वे यत्र सन्ति तत्तथोक्तम्॥ ३०॥

**रा॰ कृ॰** अपिच भगवान् स्वयं सदारैः गुरुभि र्विप्रादिभिः विप्रैः स्थविरैः वृद्धै रपि अन्यैः पौरैश्च वन्दिभिश्च कृताभि रिति शेषः। आशीर्भि र्युज्यमानः पुर माविशत्। हे विप्र! कृष्णे द्वारकाया राजमार्गं गते कुलस्त्रियः तदीक्षणमहोत्सवाः हर्म्याणि सौधानि आरुरुहुः। यस्य उरः श्रियो निवासः मुखं दृशां विलोकिजननेत्राणां पानपात्रं सौन्दर्यामृतपानपात्रम्। बाहवः लोकपालानां निवास इति शेषः। पदाम्बुजं सारङ्गाणां भक्तानां निवासः, तं श्रियोधाम अङ्गम्, श्रियः स्थानं अङ्गं यस्य तम्, अच्युतं श्रीकृष्णं, नित्यं यदपि निरीक्षमाणानां वीक्षमाणाना मपि द्वारकौकसां द्वारकानिवासानां जनानां दृशः नयनानि न वितृप्यन्ति तृप्तिं न प्राप्नुवन्ति॥ २३, २४, २५, २६॥

पथि मार्गे सितातपत्रव्यजनैः श्वेतच्छत्रण व्यजनाभ्यां च उपस्कृतः क्रमेण आच्छादितः वीजितः। प्रसूनवर्षैः पुष्पवृष्टिभिः अभिवर्षितः वनमालयोपलक्षितः पिशङ्गवासाः पीताम्बरो भगवान् अर्कोडुपचापवैद्युतैः सूर्यचन्द्रेन्द्रचापविद्युत्तेजोभिः उपलक्षितः, घनो यथा मेघ इव बभौ विरराज॥ २७॥

अनन्तरं तु पित्रोः देवकीवसुदेवयोः गृहं प्रविष्टः स भगवान् स्वमातृभिः परिष्वक्तः आलिङ्गितः मुदा हर्षेण देवकीप्रमुखा स्सप्त मातृः इति शेषः। शिरसा ववन्दे॥ २८॥

ता मातरः पुत्रं श्रीकृष्णं अङ्कमारोप्य स्नेहस्रुतपयोधराः स्नेहेन प्रस्रवत्कुचाः हर्षविह्वलितात्मान स्सत्यः नेत्रजैः जलैः आनन्दबाष्पैः सिषिचुः।

तदा भगवतो वासुदेवस्य तरुणवयस्कत्वात् स्नेहेनापि तन्मातॄणां स्रुतपयोधरत्व मस्वाभाविक मिव यद्यपि स्थूलदृशां भाति तथापि लोकोत्तरलीलस्य तस्य विषये कि मसाहजिकं भवति। यद्वा, वात्सल्यभक्तिभरितान्तरङ्गानां भगवन्मातृत्वभाग्यशालिनीनां तासां नारीशिरोमणीनां दृक्पथे सः श्रीकृष्णः सर्वदा स्तनन्धय एव भवेत्॥ २९॥

अथ अनन्तरं स भगवान् यत्र भवने षोडशसहस्राणि पत्नीनां प्रासादा स्सन्ति तत्सर्वकामं सर्वभोगसमेतं अनुत्तमं सर्वोत्तमं स्वभवन मविशत् प्रविष्टः॥ ३०॥

**पत्न्यः पतिं[1] प्रोष्य गृहा नुपागतं विलोक्य सञ्जातमनोमहोत्सवाः।**
**उत्तस्थु रारात् सहसाऽऽसनाशयात्[2] साकं[3] व्रतै र्व्रीडितलोचनाननाः॥ ३१॥**
**तमात्मजै र्दृष्टिभि रन्तरात्मना दुरन्तभावाः परिरेभिरे पतिम्।**
**निरुद्धम प्यास्रवदम्बु नेत्रयो र्विलज्जतीनां[4] भृगुवर्य वैक्लवात्[5]॥ ३२॥**
**यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगत स्तत्राऽपि[6] तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम्।**
**पदे पदे का विरमेत तत्पदाच्चलापि यं[7] श्री र्न जहाति कर्हिचित्[8]॥ ३३॥**
**एवं नृपाणां क्षितिभारजन्मना मक्षौहिणीभिः परिवृत्ततेजसाम्।**
**विधाय वैरं श्वसनो यथाऽनलं मिथो वधे[10] नोपरतो निरायुधः॥ ३४॥**

---

1. W प्रियं 2. AF,GF °श्रया°, K,M °श्रयाः 3 K,M साकम्पितव्रीडित°; AF,GF सकञ्चुका व्रीडित° 4. K,M °प्य° 5 H,V लज्जितानां 6. H,V वि° 7 H,K,M,V तासां तथाप्यङ्घ्रि; WF °स्तदा° 8 H,K,M,V यं श्री° 9. AF,GF °द्ध° 10 AF,GF °धायो°

**श्रीध० पत्नयः** इति। देशान्तरे उषित्वा आरात् दूरा देव विलोक्य सञ्जातो मनसि महोत्सवो यासां ताः। आसना दाशयाच्च- आसनात् देहेनोत्तस्थुः, आशयोऽन्तःकरणं, तस्मादप्यात्मना उत्तस्थुः। श्रीकृष्णेनाऽऽत्मनः संश्लेषे अन्तःकरणव्यवधानमपि ता नासहन्तेत्यर्थः। क्रीडितानि लोचना न्याननानि च यासां ताः अपाङ्गै रेव वीक्षणात् व्रीडितलोचनाः अवनतमुखत्वात् व्रीडिताननाः साकं व्रतै रिति हास्यक्रीडावर्जनादिनियमा अपि ताभ्य उत्तस्थु रित्यर्थः। धृतव्रता एवोत्तस्थु रिति वा। व्रतानि च याज्ञवल्क्येनोक्तानि — "क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम्, हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका" (याज्ञ. स्मृ. 1-84) इति॥ ३१॥

**तमिति**। [3]आयान्तं तं पतिं दर्शनात्पूर्व मात्मना इव बुद्ध्यान्तर्हृदये परिरेभिरे, ततो दृष्टिभिः, तत स्समीप-मागत मात्मजैः पुत्रैः गृहीतकण्ठ मालिङ्गयन्त्य इव स्वय मालिङ्गितवत्य इत्यर्थः। अत्र हेतुः — दुरन्तभावा गम्भीराभिप्रायाः। तदां च तासां नेत्रयो र्निरुद्ध मप्यम्बु बाष्पं वैक्लवा द्वैवश्या दास्रवत् ईषत्सुस्राव। अत एव धैर्यहान्या विलज्जतीनाम्। हे भृगुवर्य! चित्रं शृण्विति[8]॥ ३२॥

**यदिति**। पार्श्वगतः समीपस्थ स्तत्रापि रहोगत एकान्ते प्रवर्तते स्म। पदे पदे प्रतिक्षणं नवं नवमेव। अत्र कैमुत्यन्यायः का विरमेतेति, चला चञ्चलस्वभावाऽपि श्रीः न जहाति॥ ३३॥

उक्तं श्रीकृष्णचरितं संक्षिप्याह — **एव** मिति द्वाभ्याम्। क्षिते र्भाराय जन्म येषाम्। पापातिशयेन केवलं भूभारायोत्पन्नानामित्यर्थः। अक्षौहिणीभिः कृत्वा परिवृत्तं सर्वतः प्रसृतं तेजः प्रभावो योषाम्[9]। श्वसनो वायु र्वेणूना मन्योन्यसङ्घर्षणेनानलं विधाय मिथो दाहेन यथोपशाम्यति, तद्वत्॥ ३४॥

---

1 H.V °नात्मनाऽऽत्मनः 2 H.V न सहन्त इ° 3 B adds आरात् 4 H.V omit इव 5 H.V पुत्रानुदूह्य तत्कण्ठ° 6. H.V °था 7 V °लज्जितानां 8 B adds अर्थः 9 H.V add परिवृद्धतेजसामिति वा

**वीर०** तदा प्रोष्य प्रवासं कृत्वा गृहा नुपागतं प्रियं दूराद्विलोक्य पत्न्यो रुक्मिण्यादयः सञ्जातो मनसि महान् उत्सवो हर्षो यासां, व्रीडिते लोचने येषु तान्याननानि यासां तथाभूताः व्रतैः सहासनाशयात् सहसा आशु उत्तस्थुः। तत्र व्रतेभ्यः उत्थानं नाम भर्त्रागमनार्थं व्रतत्यागः, आसना दुत्थानं प्रसिद्धम्। आशया दभिप्राया दुत्थानं दिदृक्षौत्कण्ठ्यत्यागः दर्शनस्य जातत्वात्॥ ३१॥

**तमिति**। दुरन्तोऽगाधो भावः स्नेहो यासां ताः पत्न्यः समागतं तं पतिम् आत्मजै र्दृष्टिभि रन्तरात्मना च परिरेभिरे आलिङ्गितवत्यः। शरीरपरिरम्भस्य रहःकालिकत्वा त्तं न साक्षात् चक्रुः, अपितु पुत्रैः प्रद्युम्नादिपुत्रद्वारेणे त्यभिप्रायेण पुत्रै रित्युक्तम्। मनसा चक्षुषा च समं साक्षादेव चक्रु रित्यभिप्रायेण अन्तरात्मना दृष्टिभि श्चेत्युक्तम्। हे भृगुवर्य! विलज्जतीनां तासाम्, अत एव नेत्रयोः अम्बु निरुद्ध मपि विक्लबादघाष्टर्यात् अस्रवत्॥ ३२॥

व्रतै स्साक मासनाशया दुत्तस्थुः तमात्मजै रित्यादिना च तासां तद्विरहासहिष्णुत्वं सूचितम्। तदेवोपपादयति — **यद्यपि** इति। यद्यप्यसौ भगवान् कृष्ण स्तासां पार्श्वगतः, रहोगतश्च, तथाऽपि तस्याङ्घ्रियुगं तासां

नवं नव मेवाभूत्। यंत स्तत्पदात्तस्य पदारविन्दात् का विरमेत ? विश्लिष्यावस्थातु मुत्सहेत ? न कापीत्यर्थः। तदेव दर्शयितुं विशिनष्टि। चला, इतरत्र चञ्चला श्रीर्लक्ष्मीरपि कदापि यँत् यदङ्घ्रिं न जहाति, तत्पदात्का विरमेतेत्यन्वयः। तदापीति पाठान्तरम्। तत्र यद्यपि पार्श्वगतो रहोगतश्च, तदाऽपि तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवं, किं पुनः कदाचि दन्तरितं नवं नवमिति कैमुत्यन्यायसिद्धमिति भावः। उत्तरार्धं तु यथोक्तार्थमेव॥ ३३॥

अथोपरितनं वृत्तान्तं सङ्गृह्य विवक्षु रुक्तवृत्तान्तं समासतोऽनुवदति **एवम्** इति। क्षिते र्भूमे र्भारस्य जन्मादयो येभ्यः अक्षौहिणीभिः परिवृतं परितो व्याप्तं तेजः शौर्यं येषां तेषां नृपाणां कौरवाणां पाण्डवानाञ्च मिथः वैरं श्वसनो वायु रनलमग्निं विधाय वर्धयित्वा स्वयं निरायुध एव तेषां मिथो वधेन वधाद्य उपरतः उपरराम उपसंहृतवान् स एष इत्युत्तरेणान्वयः स्वयं निरायुध एव सन् तेषां मिथो वधं कारयन् यः स्वयं तूष्णीम् अवस्थित इत्यर्थः॥ ३४॥

---

1 w शा° 2 w वै° 3. w °दाढ्यर्यात् 4 w यत एव मतस्त° 5 w यं

**विज०** पत्न्यः आरात् दूरा देव विलोक्य सञ्जातो मनसि महोत्सवो यासां ता स्तथोक्ताः। सहसा झटिति उत्तस्थु रित्यन्वयः। कथम्भूतम्? प्रोष्य प्रवासं कृत्वा गृहा नुपागतम्। कीदृश्यः पत्न्यः ? साकम्पिताश्च व्रीडितलोचनाननाश्च साकम्पितव्रीडितलोचनाननाः, सहित माकम्पितं याभि स्ता स्तथा व्रीडितानि लोचनानि आननानि च यासां ता स्तथा॥ ३१॥

दुरन्तभावाः वेलातीतस्नेहाः अनन्तशृङ्गारा वाऽन्यैरज्ञाताभिप्राया वा। दृष्टिभि रात्मजै रन्तरात्मना मनसा च तं पतिं परिरेभिरे। वैक्लव्यात् पारवश्या द्विलज्जितानां तासां नेत्रयोः निरुद्ध मप्यम्बु अस्रव दित्यन्वयः॥३२॥

नैतत्तासां स्नेहकार्यं किमित्याह — **यदि** इति। यद्यप्यसौ कृष्णो रहोगतः एकान्तगतः सदा तासां पार्श्वगतः समीपस्थः, तथाऽप्यनुपदं तासां तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवं नूतनान्नूतनम्। तथाहि — का स्त्री तस्य पादकमलात् अलमिति विरमेत विरामं कुर्यात्? अन्यत्र चञ्चलविभवप्रदायिनी श्रीः यं भगवन्तं कर्हिचित् न जहाती त्येकान्वयः॥ ३३॥

वायु र्यथा वनदहनाय वेणूनां मिथ स्सङ्घट्टनेनाग्निं मुत्पादयति, तथाऽक्षौहिणीभिः क्षितिभारजन्मनां भूमे र्भारं भूतं जन्म येषां ते तथोक्ता स्तेषां परिवृत्तं परिवृद्धं तेजो येषां ते तथोक्ता स्तेषा मसुराणां विनाशाय कुरुपाण्डवपक्षपातिनां नृपाणां मिथो वैरं विधाय स्वयं निरायुधः परस्परवधेन विनाशं विधाय चोपरत उदास्त इत्यन्वयः॥ ३४॥

---

1 K,M °बा°

**रा० कृ०** प्रोष्य देशान्तरे उषित्वा गृहानुपागतं पतिं आरात् दूरा द्विलोक्य पत्न्यः रुक्मिण्यादयः सञ्जातमनो महोत्सवाः सञ्जातहृदयानन्दाः व्रीडितलोचनाननाः लज्जितनयनास्याः व्रतै स्साक मासनाशयात् आसना दाशयाच्च अन्तःकरणाच्च सहसोत्तस्थुः उत्थितवत्यः॥ ३१॥

हे भृगुवर्य! दुरन्तभावाः दुर्ज्ञेयाभिप्रायाः ताः पत्न्य इति शेषः। त मायान्तं पतिं प्रथम मात्मना बुद्ध्या अन्तः हृदये अनन्तरं दृष्टिभि स्तत आत्मजैः पुत्रैः पुत्रद्वारेत्यर्थः। परिरेभिरे आलिङ्गितवत्यः। तदा च विलज्जितानां तासां नेत्रयोरम्बु बाष्पं निरुद्धमपि वैक्लबात् वैवश्या दास्रवत् ईषत् स्रुतमभूत्॥ ३२॥

यद्य प्यसौ श्रीकृष्णः तासां पत्नीनां पार्श्वगतोऽन्तिकस्थः, रहोगतश्च एकान्ते वर्तमानश्च तथाप्यङ्घ्रियुगं श्रीकृष्णस्य चरणयुगलं पदे पदे अनुक्षणं नवं नवं भवतीति शेषः। अतः यत्पदकमलं चलाऽपि श्रीः लक्ष्मीः कर्हिचित् कदाऽपि न जहाति न त्यजति, तत्पदात् तस्य पदकमलात् का विरमेत? का वा सती वियुज्य स्थातुं प्रभवेत्? न कापीत्यर्थः॥ ३३॥

क्षितिभारजन्मनां भूभारकारणभूतजन्मनां अक्षौहिणीभिः परिवृत्ततेजसां सर्वतोव्याप्ततेजसां, नृपाणां राज्ञां एवं मिथः परस्परं वैरं श्वसनो मारुतः अनलं यथा अग्निमिव विधाय निरायुधः स्वय मायुधरहित एव वधेन तेषां वधात् उपरतः स भगवान् निवृत्तो बभूव।

कानने हि निबिडगुल्माकारतया प्रवृद्धेषु पवनेन च प्रचलितेषु कीचकेषु परस्परसङ्घर्षेण प्रभवति वह्निः। स च दावाग्निः पुन र्मरुतैव सहकृतः स्वाविर्भावहेतुभूतैः कीचकै स्सह सर्वमेव गहनं दहति। एवं धरणीभरकारणभूताः लोकभीकरलक्षणलक्षिताः राजानश्च समेधितसम्पदः सैन्यसहायेन जनान् यदा पीडयन्ति तदा भगवान् तदूतान् कामक्रोधादी नासुरगुणान् सम्बध्य तेषु प्रधनप्रणय मुत्पाद्य स्वयञ्च मरुदिव निमित्तीभूय युद्धसारथि र्निरायुध एव सन् तान् दुष्टभूनेतॄन् अन्योन्यप्रहारेण मारयित्वा भुवो भार मपाकरोति, तदिदं श्रीकृष्णावतारप्रयोजने ष्वन्यतमम्॥ ३४॥

स एवं नरलोकेऽस्मिन् अवतीर्णः स्वमायया।
रेमे स्त्रीरत्नकूटस्थो भगवान् प्राकृतो यथा॥ ३५॥

उद्दामभावपिशुनामलवल्गुहास व्रीडावलोकनिहतो मदनोऽपि यासाम्।
सम्मुह्य चाप मजहात् प्रमदोत्तमास्ता यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकै र्न शेकुः॥ ३६॥

तमयं मन्यते लोको ह्यसङ्गं मपि सङ्गिनम्।
आत्मौपम्येन मनुजं व्यापृण्वानं यतोऽबुधः॥ ३७॥

एतदीशन मीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः।
न युज्यते सदाऽऽत्मस्थै र्यथा बुद्धि स्तदाश्रया॥ ३८॥

तं मेनिरेऽबला मूढाः स्त्रैण ञ्चानुव्रतं रहः।
अप्रमाणविदो भर्तु रीश्वरं मतयो यथा॥ ३९॥*

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे नैमिशोपाख्याने
श्रीकृष्णद्वारकाप्रवेशो नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

---

1. H,V °वं 2. K,M °वि° 3. B °तोऽमद° 4 K,M मन्यते तन्मयं; W तमिमं 5 B,H,V °सक्त° 6 K,M प्रावृष्वान मतोऽ°, H,V,W व्यावृष्वान मतोऽ° 7 K,M यत्तदी° 8 K,M °रे खलाः 9 B,H.V मौक्ष्यात् *Here ends the 10th chapter of the 1st Skandha in K&M

**श्रीध° स** इति। स्त्रीरत्नकूटस्थः उत्तमस्त्रीकदम्बस्थः ॥ ३५ ॥

नन्वेवं स्त्रीसङ्गादिभिः संसारप्रतीतेः कथं भगवानवतीर्ण इत्युच्यते? तत्राऽऽह — **उद्दामेति** द्वाभ्याम्। यासामुद्दामो गम्भीरो यो भावोऽभिप्राय स्तस्य पिशुन स्सूचकोऽमलो वल्गुः सुन्दरो हासो व्रीडावलोकश्च ताभ्यां निहतोऽमदनः महादेवोऽपि सम्मुह्य लज्जया चापं पिनाक मजहात्। एवम्प्रभावा याः स्त्रियः इत्येताव द्विवक्षितम्। यद्वा भगवतो मोहिनीरूपेण महेशोऽपि मोहितः, एवमेताश्च तादृग्विलासा एवेति तथोक्तम्। ताः कुहकैः कपटै र्विभ्रमैः यस्येन्द्रियं मनो विमथितुं क्षोभयितुं न शेकु र्न शक्ताः। अथवा निहत स्ताडितो मदनोऽपि जगद्विजयी सम्मुह्य तत्तत्कर्तव्यतामूढः सन् चापं धनुर्लजयाऽजहा ज्जहौ। ताश्च प्रमदोत्तमाः कामविजयिन्योऽपीत्यादि पूर्ववत्॥ ३६ ॥

**तम्** इति। तं श्रीकृष्ण मयं प्राकृतो लोकः आत्मौपम्येन स्वसादृश्येन सङ्गिनं मनुजं मन्यते। अत्र हेतुः — व्यावृष्वानं व्याप्रियमाणम्। यतोऽय मबुधोऽतत्त्वज्ञः ॥ ३७ ॥

कुत इत्यपेक्षाया मैश्वर्यलक्षण माह — **एतत्** इति। ईश स्येशन मैश्वर्य नामैत देव। किं तत्? प्रकृतिस्थोऽपि तस्या गुणैः सुखदुःखादिभिः सदा न युज्यते इति यत्, यथाऽऽत्मस्थै रानन्दादिभि रात्माश्रयाऽपि बुद्धिर्न युज्यते, तद्वत्। वैधर्म्ये दृष्टान्तो वा। आत्मस्थैः सत्ताप्रकाशादिभि र्यथा बुद्धिर्युज्यते इति एवं वा। असदात्मा देह स्तत्रस्थै र्गुणै स्तदाश्रया बुद्धि स्तदुपाधि जीवो यथा युज्यते, एवं प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैर्न युज्यते इति यदेत दीशन मीशस्येति ॥ ३८ ॥

तत्पत्न्योऽपि तस्य तत्त्वं न जानन्तीत्याह — **तम्** इति। तं स्त्रैण मात्मवश्यं रह एकान्तेऽनुव्रत मनुसृतञ्च मेनिरे। भर्तुरप्रमाणविदः प्रमाण मियत्तां महिमान मजानत्य इत्यर्थः। ईश्वरं क्षेत्रज्ञं मतयोऽहंवृत्तयो यथा स्वाधीनं स्वधर्मयोगिनं मन्यन्ते तद्वत्। यद्वा, यथा तासां मतयः कल्पनाः स्तथा तथा त मीश्वरं स्त्रैणादिरूपं मेनिरे इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

---

1. V मन्दहा° 2. H;V एव एताश्चलाः दृग्विलासा 3 H.V अ° 4 H.V °नारता स्तथा

**वीर० स एष** इति। स एषः स्वमायया आत्मीयसङ्कल्पेन अस्मिन्नरलोकेऽवतीर्णो भगवान् स्त्रिय एव रत्नानि तेषां कूटस्थः समुदायस्थितः रेमे चिक्रीडे। यथा प्राकृतः स्त्रीवश्य स्तद्वत्। प्राकृतो यथेत्यनेन स्त्रीवश्यत्वानुकारमात्रमेव न तु परमार्थत स्तदस्तीति सूचितम्॥ ३५॥

तदेव व्यञ्जयितुं विशिनष्टि — **उद्दामेति**। ताः प्रमदोत्तमाः कुहकै र्वञ्चनोपायै र्यस्येन्द्रियं प्रमथितुं न शेकुः न प्राभवन् तमपीत्युत्तरेणान्वयः। सुतरां पारवश्यत्वाभावसूचनायास्य प्रमदोत्तमा विशिनष्टि। यासां उद्दामभावादिभि र्निहत स्सन् मदनोऽपि सम्मुह्य मोहं प्राप्य स्वयं चापं धनु रजहात्तत्याज, ताः प्रमदोत्तमाः इत्यन्वयः। उद्दाम उदारोऽगाध इति यावत्। भावोऽभिप्राय स्तेन पिशुनः चित्ताकर्षसूचकः अमलः सुन्दरश्च हास स्तेन च व्रीडापूर्वकावलोकनेन च निहतः अभिभूतः॥ ३६॥

एवंविधं तं यः स्त्रीवश्यं मन्यते सोऽज्ञ इत्याह — **तम्** इति। मनुजं व्यापृण्वानं मनुजवच्चेष्टमानं मनुष्यभावेन स्वयाथात्म्य माच्छादयन्त मित्यर्थः। वस्तुतो निस्सङ्गमपि सङ्गिन मिव भासमानं तमिमं भगवन्तं यो लोको जन आत्मौपम्येन स्वतुल्यत्वेन मन्यते, सोऽयं लोकः अतो हेतो रबुधः नितरा मज्ञः॥ ३७॥

अथ विषयैरनाकृष्टत्व मीश्वरस्य नाश्रय मित्यभिप्रायेणेश्वरत्वं निर्वक्ति — **एतत्** इति। प्रकृतिस्थोऽपि मूलप्रकृतिव्यापकोऽपि तद्गुणै स्सत्त्वादिभि रात्मस्थै र्जीवगतै रविद्यास्मितारागद्वेषादिभिश्च गुणै स्सदा न युज्यते इति, यदेतदेव ईश्वर स्येशन मित्यन्वयः। सदेत्यनेन मुक्तव्यावृत्तिः, स हि पूर्व तैर्युक्तः। हेयगुणास्पर्शोदाहरण माह यथेति। तदाश्रया ईश्वराश्रया बुद्धिस्तज्ज्ञानं यथा सत्त्वादिभिर्न युज्यते। नहि "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इत्युक्तविधं स्वत स्सर्वगतस्य [1]ज्ञानं सत्त्वजस्तमोन्वयाधीन सम्यक्त्वासम्यक्त्वयुक्तं स एवं सर्वप्रकारेण [2]चिदचिद्गुणहेयरहित इति [3]यत्तदेव हि ईश्वरस्येश्वरत्व मित्यर्थः॥ ३८॥

यथैवमज्ञो लोक स्त मुक्तविध मीश्वर मात्मतुल्यं मन्यते तथा ताः स्त्रियोऽप्यज्ञाना दात्मवश्य ममन्यन्तेत्याह — **तम्** इति। संसारिणा मिन्द्रियप्रसूता मतयो यथेश्वरं न जानन्ति, किन्तु मौढ्यादन्यथा [4]मेनिरे। एवं मूढा स्ता अबलाः स्त्रियोऽपि तं भगवन्तं रहः स्त्रैणं स्त्रीसमूह मनुव्रतं स्त्रीसमूहानुवर्तिनं मेनिरे। तत्र हेतुः भर्तु रप्रमाणविदः। प्रमीयत इति प्रमाणं स्वरूपम्। तत्स्वरूप मजानन्तः॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीवीराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

---

1. W adds तस्य 2 W adds अपि 3. W एतदेव 4. W मन्वते

**विज०** स्वमायया स्वेच्छया प्राकृतः स्त्रीजितः स्त्रीरत्नकूटस्थः स्त्रीश्रेष्ठसमूहस्थः॥ ३५॥

स्त्रीश्रेष्ठसमूहगतः स्त्रीजिता ननुकरोत्येव परं न स्वयं स्त्रीजित इत्याह — **उद्दामेति**। यासा मुद्दामभावस्य उत्कृष्टशृङ्गारचेष्टितस्य पिशुनः सूचकः अमलः निर्व्यलीकः वल्गुः कोमलः हासः स्मितं व्रीडयाऽवलोकः

कटाक्षवीक्षणम्। उद्दामभावपिशुनामलवल्गुहासेन व्रीडावलोकनेन च विहतः ताडितो मदनोऽपि सम्मुह्य पुष्पाख्यं चाप मजहात् मुक्तवान्, ताः प्रमदोत्तमाः कुहकै रुद्दामभावादिभि र्यस्य श्रीकृष्णस्येन्द्रियं प्रमथितुं वशीकर्तुं न शेकुः, तस्य कुतः स्त्रीजितत्व मित्यन्वयः ॥ ३६ ॥

तस्य स्त्रीजितत्वपरिवादोऽज्ञसम्मत्येत्याह — **मन्यते** इति। अज्ञलोकः स्वसुखानुभवेन अवाप्तकामतया स्त्रीष्वसक्तमपि आत्मौपम्येनाऽऽत्मानं दृष्टान्तीकृत्य स्त्रीसङ्गिनं तन्मयं स्त्रीमयं मन्यते। हि यस्मा त्तस्मा दयं जनोऽबुधः अज्ञः। कथम्भूतं मनुजम्? प्रावृण्वानम् आच्छादयन्तम् ॥ ३७ ॥

तर्हि ज्ञानिप्रवादः कीदृश इति तत्राह — **यत्तत्** इति। प्रकृतिस्थोऽपि सदात्मस्थैः स्वसाधारणै स्तद्गुणैः प्रकृतिगुणैः सत्त्वादिभिः शब्दादिभिश्च न युज्यते न सम्बध्यत इति यत्तदीशस्येशन मीश्वरत्वम्। तत्र व्यत्यासदृष्टान्त माह — यथेति। यथा प्रकृतिस्थानां ज्ञानिनां तदाश्रया तस्य कृष्णस्याश्रया बुद्धिः प्रकृतिगुणैः न बध्यते किमु? तस्य प्रकृतिगुणसम्बन्धेनेत्यतोऽबुधजनप्रवाद इति भावः ॥ ३८ ॥

तथाऽविदोऽसुरा इति सोदाहरण माह — **तम्** इति। खला इन्द्रियारामा मूढाः शास्त्रार्थाविदः तामसराजसप्रकृतयः, अत एवाप्रमाणविदोऽनन्तगुणत्वादिप्रमाणाविद स्तं कृष्ण मनुव्रतं भृत्यव दनुगतं स्त्रैणं स्त्रीजितं मेनिरे, वैशेषिकादिवादिनां मतयो यथेश्वरं यथामति मेनिरे तथा तस्मात्र तस्याप्तकामस्य स्त्रीजितत्व मिति भावः ॥ ३९ ॥*

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां प्रथमस्कन्धे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

---

1 B,K,M स्वाधारैस्त° *Here ends 10th chapter of 1st Skandha in K&M

**रा० कृ०** स एष भगवान् स्वमायया अस्मिन्नरलोके अवतीर्णस्सन् स्त्रीरत्नकूटस्थः स्त्रीरत्नसमुदाये स्थितः प्राकृतो यथा स्त्रीवश्यः सामान्यपुरुष इव रेमे चिक्रीड ॥ ३५ ॥

यासा मुद्दामभावपिशुनामलवल्गुहास व्रीडावलोकनिहतः, उद्दामस्य गम्भीरस्य भावस्य प्रेम्णः पिशुन स्सूचकः अमलः वल्गुः सुन्दरः हासः व्रीडावलोकः लज्जासहितावलोकश्च ताभ्यां हासावलोकाभ्यां निहतः विस्मितः मदनोऽपि मन्मथोऽपि सम्मुह्य सम्मोहं प्राप्य चापं स्वीयं धनुः अजहात् अत्यजत्। ताः प्रमदोत्तमाः रमणीमणयः यस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य इन्द्रियं मनः कुहकैः कपटविभ्रमैः विमथितुं न शेकुः न समर्था बभूवुः। तं श्रीकृष्णं असक्तमपि सङ्गिनं सङ्गसहितं आत्मौपम्येन आत्मनः स्वस्य, औपम्येन सादृश्येन व्यापृण्वानं व्याप्रियमाणं मनुजं मनुष्यमात्रं अयं लोकः मन्यते। अतोऽयं लोकः अबुधः अनभिज्ञः।

यथाऽऽत्मस्थै रानन्दादिभिः गुणै स्तदाश्रया आत्माश्रयापि बुद्धिः न युज्यते, तथा भगवान् श्रीकृष्णः प्रकृतिस्थोऽपि प्रकृतिकार्येषु स्त्रीपुत्रादिषु स्थितोऽपि तद्गुणैः प्रकृतिगुणैः सत्त्वादिगुणैः गुणकार्यभूतैः सुखदुःखादिभिश्च सदा नित्यमेव न युज्यते इति यत् तदेतदेव ईशस्य ईशनं ईश्वरत्वं नाम।

मदनमोहिनीनामपि प्रमदोत्तमानां विभ्रमाः यस्य मनः स्प्रष्टु मपि नाऽल मित्यहो तस्य कृष्णस्य निर्विकारता निस्सङ्गता च। अथवा मदनजनके अष्टोत्तरशतोत्तरषोडशसहस्रस्त्रीवल्लभे तस्मिन् भगवति किं न युज्यते?

य दुक्तम् "एतदीशन मीशस्य ... बुद्धि स्तदाश्रया" (भाग. 1-11-38) इति, तत्रोच्यते — आत्माऽत्र शरीरादिसर्वान्तर्यामी। तदाश्रिता बुद्धिः यदा शरीरेन्द्रियाण्याश्रित्य मनोरूपेण परिणमति, तदा नैवानन्दमाप्नोति। सर्वान्तर्यामिसम्पादित शरीराद्याश्रयेऽपि तात्कालिकशारीरकत्वयोगात्। एवं जीवेष्वपि तज्जीवभूतो भगवानपि अनाकलित-जीवभावः देवभावेनैव अवतिष्ठते। तथाहि — सुवर्णं भूषणरूपेण अवस्थितमपि तत्रामरूपाभ्यां अस्पृष्टं सत् सुवर्ण मेवाऽऽस्ते। तथाच स्वतोऽसङ्गो भगवान् स्त्रीणां वाल्लभ्यं प्राप्यापि तद्वाल्लभ्यबन्धस्यातन्त्रस्सन् असङ्ग एव वर्तते॥ ३६, ३७, ३८॥

मतयः शास्त्रकृताः बुद्धिवृत्तयः ईश्वरं यथा ईश्वरमिव भर्तुः श्रीकृष्णस्याप्रमाणविदः स्वरूपानभिज्ञाः मूढाः अबलाः स्त्रियः रहः एकान्ते अनुव्रतं स्ववशवर्तिनं तं श्रीकृष्णं स्त्रैणं स्त्रीष्वनुरक्तं मेनिरे।

यथा शास्त्रज्ञानां बुद्धिवृत्तयः ईश्वरतत्त्वनिरूपणे प्रवृत्ता ईश्वरं जगतः उपादानं निमित्तमात्रं सगुणं निर्गुणमिति बहुधा यथारुचि मन्यन्ते तथा स्त्रियोऽपि श्रीकृष्णतत्त्वानभिज्ञा स्तद्वशगा स्तं स्वाधीनं मन्यन्त इति भावः॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां व्याख्यायां
एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

# द्वादशोऽध्यायः

## शौनक उवाच

अश्वत्थाम्नोपसृष्टेन[1] ब्रह्मशीर्ष्णोरुतेजसा[2]।
उत्तराया हतो गर्भ[3] ईशेनाजीवितः[4] पुनः ॥ १ ॥

तस्य जन्म महाबुद्धेः[5] कर्माणि च महात्मनः[6]।
निधनं च यथैवासीत् स प्रेत्य गतवान् यथा ॥ २ ॥

तदिदं श्रोतुमिच्छामो गदितुं[8] यदि मन्यसे।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां यस्य ज्ञानमदाच्छुकः ॥ ३ ॥

## सूत उवाच

अपीपलद्धर्मराजः[10] पितृवत् रञ्जयन् प्रजाः।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो कृष्णपादाब्जसेवया[11] ॥ ४ ॥

सम्पदः क्रतवो लोका[12] महिषी[13] भ्रातरो मही।
जम्बूद्वीपाधिपत्यं[14] च यशश्च त्रिदिवं गतम् ॥ ५ ॥

किं ते कामाः[15] सुरस्पार्हा[16] मुकुन्दमनसो द्विजाः[17]।
अधिजह्रुर्मुदं[18] राज्ञः क्षुधितस्य यथेतरे[19] ॥ ६ ॥

---

1. K,M °म्ना विसृष्टेन 2. W °युक्ते° 3. H,V °र्षो 4 H,V °र्भः कृष्णे° 5 K,M °नोज्जी° 6 W °द्धे! 7 K,M गृणीहि नः 8. H,K,M,N,V,W °मि 9. AF,GF स त्वं वा; K,M वक्तुं वा 10. AF,GF अपालय° 11. B,H,I,K,M,V,W °नु° 12 K,M विप्रा 13. H,V महिष्यः 14. B,K,M,N °म्बु°15 K,M कामातुरस्यार्थाः 16. H,V °स्पृहा; W °स्यार्हा 17 B,H,V,W °ज! 18 K,M नाधि° 19. H,V °था परे

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पुरोक्तं यत्प्रसङ्गाय[1] द्रौणिदण्डादिविस्तरात्।
द्वादशे तु तदेवाथ[2] परीक्षिज्जन्म वर्ण्यते ॥

"परीक्षितोऽथ राजर्षेर्जन्म कर्म विलापनम्[3]। संस्था च पाण्डुपुत्राणां वक्ष्ये कृष्णकथोदयम्"॥ (भाग. 1-7-12) इति प्रतिज्ञाय पाण्डवानां राज्यस्थितिः उपोद्घातरूपा[4] सप्रसङ्गं सप्तमाध्यायं आरभ्य निरूपिता[5]। इदानीं औपोद्घातिकं उक्तानुवादपूर्वकं पृच्छति शौनकः — **अश्वत्थाम्नेति**। उपसृष्टेन विसृष्टेन। तस्य जन्मादि ब्रूहीत्युत्तरेणान्वयः ॥ १ ॥

**तस्येति**। स परीक्षित्। प्रेत्य देहं त्यक्त्वा निधनं विनाशश्च॥ २॥

**तदिति**। प्रार्थये न तु आज्ञापयामीत्याह। गदितुं यदि मन्यसे अनुग्रहेण तर्हि नः ब्रूहीति। "यस्य ज्ञानमदाच्छुकः" इति श्रवणेच्छायां कारणम्॥ ३॥

निस्पृहस्यापि राज्ञः श्रीकृष्णानुग्रहात् तादृक् पौत्र[7] समजनीति वक्तुं तस्य श्रीकृष्णे भक्त्युद्रेकमाह — **अपीपलदिति** त्रिभिः। पितृवत् अपीपलत् पालयामास॥ ४॥

**सम्पद** इति। क्रतवः तदुपार्जिता लोकाश्च॥ ५॥

**किमिति**। सुरस्पार्हाः[8] सुराणां स्पृहणीयाः ते सम्पदादयः कामाः विषयाः राज्ञः किं मुदं प्रीतिं अधिजह्रुः कृतवन्तः, न कृतवन्त इत्यर्थः। अत्र हेतुः मुकुन्दे एव मनो यस्येति क्षुधितस्य अन्नैकमनसः यथेतरे स्रक्चन्दनादयः प्रीतिं न कुर्वन्ति तद्वत्॥ ६॥

---

1 H,V °द्यत् 2 H,V °थै° 3 H,V °य° 4 H,V °रूपप्रसङ्गः 5 H,V °तः 6 H,V जन्मेत्यादिना 7. H,V पात्रं 8. H,V °स्पृह्याः

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

यद्यपि परीक्षिज्जन्मकर्मादिकं पुरस्तादेव पृष्टम्, यद्यपि च, तदुक्तमेव तदुपोद्घातरूपोऽयं वचःक्रमः किमकार्षीत् तत इति। प्रकृतप्रश्नस्य उत्तरं चाश्रुतम्। एवञ्च अन्तरा पुनस्तत्प्रश्नानुपपत्तिः, तथाऽपि किमकारिषीत्तत इति पृष्टस्य राज्यशासनानन्तरभाविनः युधिष्ठिरवृत्तान्तस्य परीक्षिज्जन्मानन्तरकालिकत्वात् तदनन्तरमेव तच्छ्रुशूषुः तावत् "स्वयमेवाऽऽवृणोद्गर्भं वैराट्याः कुरुतन्तवे" (भाग. 1-8-14) इति प्रक्रान्तापरिसमापितं सावशेषं शुश्रूषुः पृच्छति शौनकः — **अश्वत्थाग्नेति**। अश्वत्थाग्नोपयुक्तेन प्रयुक्तेन उरु अधिकं दुस्सहं प्रभूतञ्च तेजो यस्य तेन ब्रह्मशीर्ष्णा ब्रह्मशिरोनामकेन अस्त्रेण तावत् उत्तरायाः गर्भः हतः। ततः पुनः ईशेन कृष्णेन आजीवितः इत्युक्तानुवादः॥ १॥

तत उपरितनं तस्य उत्तरातनयस्य महात्मनः यज्जन्मादि तदिदं हे महाबुद्धे! श्रोतुमिच्छामि निधनं मरणं यथैवासीत् प्रेत्य मृत्वा यथा गतवान् यां गतिं प्राप्तवान् तदिदमित्यन्वयः॥ २॥

यदि गदितुं मन्यसे वक्तुमिष्टं योग्यं च मन्यसे चेत् तर्हि श्रद्दधानानां नः अस्माकं ब्रूहि। कुतः वः तज्जन्मादिशुश्रूषा श्रद्धा बभूव इत्यतः तं विशिनष्टि। यस्य परीक्षितः शुकः ज्ञानं परमात्मयाथात्म्यज्ञानं अदात् उपदिष्टवान्। महाभागवतत्वात् तज्जन्मादिशुश्रूषा नः समभवदिति भावः। अत्र जन्मैव प्राधान्येन पृच्छ्यते। तस्य कर्मादिकं तु युधिष्ठिरादिवृत्तान्तानन्तरकालिकत्वात् तच्छ्रवणानन्तरमेव विशेषतः प्रष्टव्यमपि जन्मकालिकजातकद्वारा सामान्यतः बुभुत्सुना जन्मना सहोपात्तम्। अत एवोत्तरेऽपि जातकद्वारैव तत्कर्मादिकं प्रदर्श्यत इत्यवगन्तव्यम्॥ ३॥

परीक्षितः जन्मप्रकारं वक्तुं तावत् तादात्विकं युधिष्ठिरावस्थानप्रकारमाह — **अपीपलदिति** त्रिभिः। अपीपलत् अपालयत् कथम्भूतः? कृष्णस्य पादयोरनुसेवया अनुध्यानेन हेतुना सर्वेभ्यः कामेभ्यः निर्गता स्पृहा यस्य तथाभूतः कृष्णपादानुसेवकत्वात् निस्पृहः सन्नित्यर्थः॥ ४॥

तत्सेवया स्पृहाभावहेतुत्वमेव सदृष्टान्तमाह — **सम्पद** इति द्वाभ्याम्। यथा क्षुधितस्य अशनायायुक्तस्य पुंस इतरे स्रक्चन्दनादयः न मुदमावहन्ति किन्त्वशनमेव। तथा हे द्विज! ये सम्पदादयः ते ते कामाः सुरस्पार्हाः सुराणामपि स्पृहणीया अपि मुकुन्द एव मनो यस्य तस्य राज्ञो युधिष्ठिरस्य मुदमधिजह्रुः किम्? सम्पादितवन्तः किम्? न सम्पादितवन्त एवेत्यर्थः। तत्र सम्पदः भोग्यभोगोपकरणादिसमृद्धयः स्वर्गादिसुखसाधनानि अश्वमेधादीनि, लोकाः करप्रदाः जनाः, महिष्यः पत्न्यः, भ्रातरः दिग्विजयिनो भीमादयः, मही निष्कण्टका पृथ्वी त्रिदिवं गतं त्रिदिवपर्यन्तव्याप्तं यशश्च॥ ५, ६॥

---

1. W प्रपञ्चः प्रवृत्तः 2 B.W °क्रम्या° 3 W °स्वृ° 4 W °स्या° 5. W °मेधराजसूया°

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

वैराग्यप्रकारः हरेः भक्तानुकम्पित्वं च अस्मिन्नध्याये प्रतिपाद्यते। "उपलेभेऽभिधावन्तीं उत्तरां" इत्यादि श्रुतानुवादपूर्वकं परीक्षिज्जन्मादिप्रवृत्तिं पृच्छति शौनक इत्याह — **अश्वत्थाम्नेत्यादिना**। उरुतेजसा अश्वत्थाम्ना विसृष्टेन ब्रह्मास्त्रेण उत्तरायाः हतः गर्भः पुनः ईशेन उज्जीवितः इत्येकान्वयः॥ १॥

मरणं निधनं यथाकथं प्रेत्य मृत्वा गतवान् कं लोकमिति शेषः॥ २॥

वक्तुं वा यदि मन्यसे इत्यनेन वक्तव्यस्यातिगोप्यत्वं सूचयति॥ ३॥

अपीपलत् अरक्षत्। निस्पृहः सर्वकामेभ्यः इत्यनेन कृष्णपादसेवायाः अतिस्वादुत्वं दर्शितं; कामानां तिक्तत्वञ्च॥ ४॥

एतदेव स्पष्टमाह — **सम्पद** इति॥ ५॥

कामातुरस्यार्थाः विषयाः विषयविरक्तस्य मुकुन्दमनसः युधिष्ठिरस्य अर्थाः किं पुरुषार्थत्वेन नार्थाः कुतः इति तत्राह — **नेति**। यथा क्षुधितस्य इतरे वीणादयः न तृप्तिं कुर्वन्ति, तथा अन्ते दुःखहेतुत्वात् ते मुदं नाकुर्वन्नित्यर्थः। अनेन वैराग्यातिशयः मोक्षे सुखातिशयो दर्शितः॥ ६॥

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

अश्वत्थाम्नोपसृष्टेन प्रयुक्तेन उरुतेजसा ब्रह्मशीर्ष्णा ब्रह्मशिरोनामकास्त्रेण उत्तरायाः गर्भः तद्गतशिशुः हतः पुनः कृष्णेन आजीवितः इति त्वत्तः पूर्वं श्रुतमिति शेषः॥ १॥

शुकः यस्य ज्ञानमदात् उपदिष्टवान् महाबुद्धेः परमविवेकिनः महात्मनः तस्य परीक्षितः जन्मकर्माणि निधनञ्च एतत्सर्वं यथैव येन प्रकारेणासीत्, सः प्रेत्य मरणं प्राप्य यथा गतवान् तदिदं सर्वं तद्वृत्तान्तं श्रोतुमिच्छामि। गदितुं वक्तुं युक्तं इति यदि मन्यसे तर्हि श्रद्दधानानां नः अस्मान् ब्रूहि कथय॥ २, ३॥

धर्मराजः कृष्णपादाब्जसेवया सर्वकामेभ्यः निस्पृहः प्रजाः रञ्जयन् पितृवत् पितेव अपीपलत् अपालयत्॥ ४॥

हे द्विज! सम्पदः भोगसाधनसम्पत्तयः क्रतवः अश्वमेधादयः लोकाः स्वर्गादयः महिषी द्रौपदी भ्रातरः भीमसेनादयः, मही निष्कण्टका पृथिवी जम्बूद्वीपाधिपत्यञ्च त्रिदिवं गतं स्वर्गपर्यन्तव्याप्तं यशश्च — ते पूर्वोक्तास्सर्वे सुरस्पार्हाः सुराणामपि स्पृहणीयाः कामाः विषयाः मुकुन्दमनसः श्रीकृष्णसंलग्नचित्तस्य राज्ञः धर्मराजस्य क्षुधितस्य अन्नासक्तस्य परे यथा स्रक्चन्दनादय इव मुदं प्रीतिं किं अधिजह्रुः? चक्रुः? नैवेति भावः।

क्षुधा देहपोषकाहारावश्यकतां ज्ञापयति। आवश्यकवस्तूपलब्धिरेव तृप्त्यै भवति। इन्द्रियाकर्षकाः स्रक्चन्दनादयः न खलु आवश्यकतानिरूपकाः। एवं आत्मावश्यकवस्तुज्ञानिनः तदन्यानि न तृप्तिं आवहन्ति। तथा च वैराग्याभ्यसनोपयोगिराजयोगमार्गोऽत्र सूचितः। अपरिणतप्रकृतेः जनस्य विनाभ्यासं केवलं इन्द्रियनिग्रहः न प्रयोजकः वैराग्यानुदयात्। उक्तञ्च भगवता "सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेः ज्ञानवानपि। प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति?" (भ. गी. 3-33) इति॥ ५, ६॥

मातुर्गर्भगतो वीरः स तदा भृगुनन्दन!
ददर्श पुरुषं कञ्चिद्दह्यमानोऽस्त्रतेजसा॥ ७॥

अङ्गुष्ठमात्रममलं स्फुरत्पुरटमौलिनम्।
अपीच्यदर्शनं श्यामं तडिद्वाससमच्युतम्॥ ८॥

श्रीमहीर्धचतुर्बाहुं तप्तकाञ्चनकुण्डलम्।
क्षतजाक्षं गदापाणिमात्मनः सर्वतोदिशम्।
परिभ्रमन्तमुल्काभां भ्रामयन्तं गदां मुहुः॥ ९॥

अस्त्रतेजः स्वगदया नीहारमिव गोपतिः।
विधमन्तं सन्निकर्षे पर्यैक्षत क इत्यसौ॥ १०॥

विधूय तदमेयात्मा भगवान् धर्मगुप् विभुः।
मिषतो दशमासस्य तत्रैवान्तर्दधे हरिः॥ ११॥

**ततः सर्वगुणोदर्के सानुकूलग्रहोदये।**
**जज्ञे वंशधरः पाण्डो र्भूयः पाण्डुरिवौजसा ॥ १२ ॥**

---

1. AF,GF °था 2. AF,GF °नस्तु 3. AF,GF °कम् 4 M आ° 5 H,V,W °टि° 6 AF,GF शङ्खचक्रगदा° 7 W °मात्मानं परि° 8 W °तिम् 9. H,V पश्यतो 10. B,H,K,M,N,V,W °स्य° 11. W °ल्य°

**श्रीध०** प्रस्तुतमाह — **मातुरिति**। स परीक्षित्॥ ७॥

**अङ्गुष्ठमात्रमिति।** पुरटं सुवर्णं स्फुरन् पुरटमौलिः यस्यास्ति तम् अधिकप्रकाशहेमकिरीटधारिणमित्यर्थः। "व्रीह्यादिभ्यश्च" (अष्टा. 5-2-113) इति इनिप्रत्ययः। अपीच्यं अतिसुन्दरं दृश्यत इति दर्शनं रूप यस्य तम्। तडिद्वत् वाससी यस्येति श्याममिति च पदाभ्यां विद्युद्युक्तमेघोपमा सूचिता। अच्युतं अविकारम्॥ ८॥

**श्रीमदिति।** तप्तं दाहोत्तीर्णं यत्काञ्चनं तन्मये कुण्डले यस्य। क्षतजाक्षं अंहो मद्भक्तस्यापि गर्भे अस्त्रपीडेति संरम्भादत्यारक्तनेत्रम्॥ ९॥

**अस्त्रतेज** इति। अस्त्रतेजो विधमन्तं विनाशयन्तम्। नीहारं हिमं गोपतिः सूर्य इव। [5]सन्निकर्षे समीपे ददर्श। दृष्ट्वा चासौ क इति पर्यैक्षत वितर्कितवान्॥ १०॥

**विधूयेति।** अमेयात्मा कथं तद्विधूतवान् इत्यवितर्क्यरूपः। धर्मं गोपायतीति धर्मगुप्। यद्वा धर्मं गोपायन्तीति धर्मगुपः राजानः तत्प्रभुः तेषामपि पालकत्वात्। [6]दशमासपरिच्छेद्यस्य तस्य मिषतः पश्यतः यत्र दृष्टः तत्रैव गर्भ एव अन्तर्दधे अन्तर्हितः। न तु अन्यत्र गतः। यतो विभुः सर्वगतः॥ ११॥

**तत** इति। उदर्क[7] उत्तरफलम्। सर्वगुणानां उत्तरोत्तराधिक्यसूचके लग्ने। तत्र हेतुः अनुकूलैः अन्यैर्ग्रहैः सहितानां शुभग्रहाणां उदयः यस्मिन्॥ १२॥

---

1 A,B omit अधिक .... इत्यर्थः। 2 H,V तडिद्विद्युत्तद्वत् 3 H,V °द्भूषित° 4 A omits अहो··· पीडेति 5 B adds (एवंविधं गर्भगतो बालः) 6 H,V add दशमास्यस्य 7 B °र्क

**वीर०** अथ परीक्षितः जन्म वक्तुं तावत् तस्य मात्रुदरावस्थानदशामाह — **मातुरिति** साधैः पञ्चभिः। हे भृगुनन्दन! वीरः उत्तरातनयः मातुः गर्भगतः उदरगतः ब्रह्मास्त्रतेजसा दह्यमानः कञ्चित्पुरुषं ददर्श॥ ७॥

कथम्भूतम्? अङ्गुष्ठपरिमिता मात्रा उन्नाहः यस्य, न विद्यते मलं देहजं यस्य, स्फुरत्पुरटः हिरण्मयः मौलिः किरीटं यस्य, अपीच्यं हृष्टपुष्टाङ्गतया स्पृहणीयं दर्शनं यस्य, तटिदिव आम्बरं वस्त्रं यस्य, आश्रितान् न च्यावयतीति तथा, श्रीमन्तः वृत्तत्वादिगुणैः शोभावन्तः दीर्घाः आजानुलम्बिनः चत्वारः बाहवः यस्य, अग्निातापनिर्मली-कृतकाञ्चनमये कुण्डले यस्य, क्षतजे रक्ते अक्षिणी यस्य, गदा पाणौ यस्य तं परिभ्रमन्तं उल्कस्य अङ्गारस्येव आभा यस्यास्तां गदां मुहुर्मुहुः परितोदिशं सर्वतोदिशं भ्रामयन्तं आत्मानं धारकम्॥ ८, ९॥

*गोपतिः सूर्यः नीहारमिव स्वगदया ब्रह्मास्त्रतेजो विधमन्तं नाशयन्तं सन्निकर्षे स्थितं एवंविधं पुरुषं* कोसाविति पर्यैक्षत पर्यालोचितवान्। यतः पर्यैक्षत तत एव प्रवृत्तिनिमित्तात् परीक्षिच्छब्दवाच्यश्च सर्वभूतैरिति भावः ॥ १० ॥

तदुह्यास्त्रतेजो विधूय निरस्य अमेयात्मा अपरिच्छिन्नस्वरूपस्वभावः धर्मगोप्ता विभुः भगवान् हरिः दशमे मासि तस्य गर्भस्थशिशोः मिषतः पश्यतः सः तत्रैवान्तर्हितवान् ॥ ११ ॥

ततः सर्वगुणोदर्के सर्वगुणाधिके, तदेवाह सानुकूलग्रहोदये आनुकूल्येन सहितानां ग्रहाणां भृग्वङ्गिरआदीनां उदयः यस्मिन् लग्ने इति विशेष्यं अध्याहर्तव्यम्। सानुकूला ग्रहा यस्मिन् तस्मिन्नुदये लग्ने वा पाण्डोः वंशधरः वंशवर्धनः पुनः ओजसा पाण्डुरिव पाण्डुसदृशो जज्ञे ॥ १२ ॥

---

1. W गोपतिं सूर्यमिव नीहारं 2 W बभूवेति 3 W °त्य° 4 W °त्या°

**विज०** कश्चित् लोकविलक्षणम् ॥ ७ ॥

स्फुरत्पुरटमौलिनं देदीप्यमानस्वर्णमुकुटम्। अपीच्यदर्शनं षोडशवर्षवत् दृश्यमानं मेघश्यामम् ॥ ८ ॥

क्षतजवत् अरुणे अक्षिणी यस्य स तथा तं, आत्मनः स्वस्य सर्वतोदिशं पूर्वादिदिक्षु विदिक्षु परिभ्रमन्तं परितो वर्तमानं उल्काभां गगनात्पतत्तारकाविशेषसदृशीं गोपतिः सूर्यः नीहारं हिमं विधमन्तं शमयन्तं पुनः सन्निकर्षे समीपे दृष्ट्वा च कोऽयं परुष इति पर्यैक्षत आलोचनं अकरोत् ॥ ९, १० ॥

धर्मं गोपायति रक्षतीति धर्मगुप् अमेयात्मा अनन्तरूपो दशमास्यस्य दशमासारम्भस्य कुमारस्य पश्यतः सत इति शेषः। विभुः समर्थः हरिः सर्वपापकर्षणशीलो भगवान् षड्गुणोपेतः ॥ ११ ॥

ततः हरेरदर्शनानन्तरं सर्वगुणोदर्के सकलगुणोत्तरफले सानुकूला ये ग्रहाः तेषां उदयः यस्मिन् सः तथोक्तः तस्मिन् काले पाण्डोः वंशधरः सन्तानानुच्छेदकर्ता ओजसा भूयः पुनः उत्पन्नः पाण्डुरिव स्थितः ॥ १२ ॥

**रा० कृ०** हे भृगुनन्दन! शौनक! यदा सः वीरः परीक्षित् मातुः गर्भगतः तदाऽस्त्रतेजसा ब्रह्मास्त्रस्य तेजसा दह्यमानः कञ्चिद्विलक्षणं पुरुषं ददर्श ॥ ७ ॥

अङ्गुष्ठमात्रं अङ्गुष्ठप्रमाणं अमलं गर्भप्रवेशेऽपि तद्गतमलरहितं, स्फुरत्पुरटमौलिनं प्रकाशमानकाञ्चनकिरीटसहितं अपीच्यदर्शनं मनोहरदर्शनं श्यामं तटिद्वाससं तटिदिव पीतं वासो यस्य तं, अच्युतं अविनाशं श्रीमद्दीर्घचतुर्बाहुं तप्तकाञ्चनकुण्डलं तापनिर्मलीकृतसुवर्णकुण्डलं क्षतजाक्षं रक्तनयनं गदापाणिं आत्मनः सर्वतो दिशं स्वरक्षणार्थं सर्वासु दिक्षु परिभ्रमन्तं उल्काभां तप्ताङ्गाराभां गदां मुहुः भ्रामयन्तं चालयन्तं नीहारं हिमं गोपतिरिव सूर्य इव स्वगदया अस्त्रतेजः ब्रह्मास्त्रतेजः विधमन्तं विनाशयन्तं एतादृशं पुरुषं सन्निकर्षे समीपे क इति को वाऽयं भवेदिति असौ गर्भगतो वीरः पर्यैक्षत पर्यालोचितवान् ॥ ८, ९, १० ॥

अमेयात्मा अचिन्त्यस्वरूपः धर्मगुप् धर्मरक्षकः विभुः सर्वव्यापकः भगवान् हरिः तदस्त्रतेजः विधूय नाशयित्वा दशमासस्य दशमासवयस्कस्य तस्य शिशोः मिषतः पश्यतः तत्रैव यत्र दृष्टः तस्मिन्नेव प्रदेशे अन्तर्दधे अन्तर्धानमगच्छत्।

अत्र उत्तरागर्भे विष्णोः दर्शनं असङ्गतमिति केषाञ्चित्कथनमेव असङ्गतम्। भगवन्तं केचन ध्यानेन आत्मनि पश्यन्ति। मातुः सत्सङ्गवशात् तच्छिशुरपि तं द्रष्टुं प्रभवतीति ये तावन्न जानन्ति ते महाग्रन्थान् न विवृण्वन्तु। अपि च भौतिकसुखदुःखमात्राभिज्ञाः लोकातीतसत्यविमर्शं कर्तुं अनर्हाः ॥ ११ ॥

ततोऽनन्तरं सर्वगुणोदर्के सर्वे गुणाः उदर्काः उत्तरफलानि यस्मिन् तस्मिन् सानुकूलग्रहोदये अनुकूलग्रहोदयसहिते लग्ने इति शेषः। पाण्डोः पाण्डुमहाराजस्य वंशधरः वंशवर्धनः ओजसा तेजसा भूयः पाण्डुरिव पाण्डुः जात इव दृश्यमानः परीक्षिदिति शेषः। जज्ञे जातः ॥ १२ ॥

तस्य प्रीतमना राजा विप्रैर्धौम्यकृपादिभिः[1]।
जातकं कारयामास वाचयित्वा च[2] मङ्गलम् ॥ १३ ॥

हिरण्यं गां महीं ग्रामान् हस्त्यश्वान्नृपतिर्वरान्[3]।
प्रादात् स्वन्नं[4] च विप्रेभ्यः प्रजातीर्थे स तीर्थवित् ॥ १४ ॥

तमूचुर्ब्राह्मणास्तुष्टाः राजानं प्रश्रयान्वितम्[5]।
एष ह्यस्मिन् प्रजातन्तौ पुंरूणां[6] पौरवर्षभः[7] ॥ १५ ॥

दैवेनाप्रतिघातेन शुक्ले[8] संस्थामुपेयुषि।
रातो वोऽनुग्रहार्थाय[10] विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ १६ ॥

तस्मान्नाम्ना विष्णुरात इति लोके बृहच्छ्रवाः[11]।
भविष्यति[12] न सन्देहो महाभागवतो[13] महान् ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अप्येष वंश्यान् राजर्षीन्[14] पुण्यश्लोकान् महात्मनः।
अनुवर्तिता स्विद्यशसा साधुवादेन सत्तमाः[15] ॥ १८ ॥

---

1. AF,GF °जतिक्रिया° 2. W सु° 3. H,V हयांश्च नृप° 4. AF,GF °यं 5. B,K,M,W °न° 6. B,K,M कु°; W पू° 7. B कौ° 8. AF,GF °भः 9. K,M कुले 10. AF,GF योऽ° 11. I भविष्यति 12. I महाभाग! 13. H,V °तोत्तमः 14. AF,GF °र्षिः 15. H,V °मः

श्रीध० तस्येति। जातकं जातकर्म। मङ्गलम् पुण्याहम् ॥ १३ ॥

**हिरण्यमिति।** वरान् श्रेष्ठान्। स्वत्रं शोभनं अन्नञ्च तीर्थवित् दानार्हपात्रदेशकालादिज्ञः "यावत्र च्छिद्यते नालं तावत्राप्नोति सूतकम्। छिन्ने नाले ततः पश्चात् सूतकन्तु विधीयते" इति वचनात् ततः पूर्वं प्रादात्। आमान्नं वा। प्रजातीर्थे पुत्रोत्पत्तिपुण्यकाले "पुत्रे जाते व्यतीपाते दत्तं भवति चाक्षयम्" इति स्मृतेः "देवाश्च पितरश्चैव पुत्रे जाते द्विजन्मनाम्। आयान्ति हि नृपश्रेष्ठ! पुण्याहमिति चाब्रुवन्" इति च[3]॥ १४॥

**तमिति।** हे पौरवर्षभ! पुरूणां पुरुवंश्यानां शुक्ले शुद्धे अस्मिन् प्रजातन्तौ। दैवेन कथम्भूतेन अप्रतिघातेन दुर्वारेण संस्थां नाशं उपेयुषि गते सति वः अनुग्रहार्थाय यस्मात् प्रभविष्णुना प्रभवनशीलेन श्रीविष्णुना रातः दत्तः, बृहच्छ्रवाः महाकीर्तिः तस्माल्लोके विष्णुरात इति नाम्ना भविष्यति महाभागवतश्च गुणैश्च महान् भविष्यति नात्र सन्देहः इति तं राजानं ब्राह्मणा ऊचुरिति त्रयाणामन्वयः॥ १५, १६, १७॥

महाभागवतो भविष्यतीत्युक्ते हृष्टः पृच्छति राजा **अपीति।** अपिस्वित् किंस्वित् साधुवादेन यशसा तत्कीर्त्या चानुवर्तिता भविष्यतीति पूर्वस्यैव अतः परमपि अनुषङ्गः॥ १८॥

---

1. H,V add सु° 2. B,H,V गृहं तस्मात् सूर्यग्रहशताधिकम् 3. B,H,V add स्मृतेः स नृपतिः 4. B,H,V स°

**वीर°** ततः प्रीतं हृष्टं मनः यस्य स राजा युधिष्ठिरः धौम्यकृपादिभिः विप्रैः [1]सुमङ्गलं स्वाऽऽशिषं वाचयित्वा जातकं जातकर्म कारयामास॥ १३॥

ततः नृपतिः युधिष्ठिरः हिरण्यादीन् अन्यांश्च वरान् कामान् यथायोग्यं यथाभिलाषं च कामं प्रादात् अर्थिभ्यः प्रायच्छत्। स तीर्थवित् दानपात्रवित् राजा प्रजातीर्थे पौत्रोत्पत्तिनिमित्तदानकाले स्वत्रं सुमृष्टं अन्नं च विप्रेभ्यः प्रादात्॥ १४॥

हिरण्यादिभिः तुष्टाः ब्राह्मणाः तं प्रश्रयेण विनयेन अवनतं नम्रं राजानं ऊचुः॥ १५॥

तदेवाऽऽह — **एष** हीति सार्धद्वयेन। पुरूणां भवतां प्रजातन्तौ प्रजासन्ताने निमित्ते शुक्ले गर्भपिण्डे संस्थां[2]मुपेयुषि सति हि यस्मात् एषः जातः अप्रतिघातेन प्रतिहतिरहितेन दैवेन प्रभविष्णुना समर्थीभवनशीलेन विष्णुना वोऽनुग्र[3]हार्थोऽयं रातः रक्षितः॥ १६॥

तस्मात् विष्णुना रातत्वरूप[4]प्रवृत्तिनिमित्त[5]नाम्ना वाचकेन शब्देन लोके विष्णुरात इति प्रसिद्धः बृहच्छ्रवाः विपुलकीर्तिः गुणैः महान् महाभागवतश्च भविष्यति नात्र सन्देहः॥ १७॥

विप्रैः एवं उक्तः युधिष्ठिरः तस्य भाविनः गुणान् बुभुत्सुः पृच्छति — **अपीति।** अपि स्वित् इत्येतद्वयं समुदितं प्रश्नद्योतकं हे सत्तमाः! एष जातः शिशुः साधुवादेन साधूनां उपदेशेन हेतुना महात्मनः पुण्यश्लोकान्

वंश्यान् राजर्षीन् पाण्डवादीन् अनुवर्तिता स्वित् यशसा अनुवर्तिष्यति किम्? पाण्डवादिवत् यशस्वी भविष्यति? इति प्रश्नः। साधूनां वादः यस्मिन्विषयभूते तेन यशसा अनुवर्तिता स्वित् इति वान्वयः ॥ १८ ॥

1. w adds समं 2. W पू° 3. W °स्थामन्तमु° 4. W वो युष्माकमु° 5 W °प्रहार्थाय 6 W °पात् 7 W °त्तात्

**विज०** जातकं जातकर्म मङ्गलं पुण्याहम् ॥ १३ ॥

तीर्थं शास्त्रं पात्रं वा वेत्तीति तीर्थवित् प्रजातीर्थे पुत्राख्यशुद्धजले पुत्रजन्मकाले वा सतीर्थवित् इत्येकं वा पदम् संतीर्थ इत्यर्थः ॥ १४ ॥

प्रश्रयानतं प्रावण्यगुणावनतं कुरूणां कुरुवंशजातानां अस्मिन् कुले प्रजातन्तौ पुत्राख्यसन्ताने संस्थां विनाशं उपेयुषि गच्छति सति वः युष्माकं अनुग्रहाख्यप्रयोजनाय प्रभविष्णुना विष्णुना रातः दत्तः इति यस्मात् तस्मात् लोके नाम्ना विष्णुरात इति बृहच्छ्रवाः विख्यातयशाः भविष्यति ॥ १५, १६, १७ ॥

ब्राह्मणवचनानन्तरं युधिष्ठिरः तान् अप्राक्षीत् इत्याह — **अपीति**। हे सत्तमाः! अपिशब्दस्य स्विदित्यनेनान्वयः। साधुषु वादः यस्य स तथा। साधुरिति वादेन वा ॥ १८ ॥

---

1 K सतीर्थज्ञः

**रा० कृ०** प्रीतमनाः सन्तुष्टान्तरङ्गः राजा युधिष्ठिरः धौम्यकृपादिभिः विप्रैः मङ्गलं पुण्याहं वाचयित्वा तस्य शिशोः जातकं जातकर्म कारयामास ॥ १३ ॥

तीर्थवित् पात्रज्ञः सः नृपतिः धर्मराजः प्रजातीर्थे पुत्रोत्पत्तिपुण्यसमये हिरण्यं गां धेनुं महीं भूमिं वरान् श्रेष्ठान् हस्त्यश्वान् स्वत्रं शोभनं अन्नं च विप्रेभ्यः प्रादात् प्रदत्तवान् ॥ १४ ॥

हे पौरवर्षभ! पुरुवंशश्रेष्ठ! पुरूणां पुरुवंशीयानां अस्मिन् शुक्ले निर्मले प्रजातन्तौ सन्तानतन्तौ अप्रतिघातेन दुर्निवारेण संस्थां नाशं उपेयुषि गते सति वः युष्माकं अनुग्रहार्थाय अनुग्रहप्रयोजनाय यस्मात् कारणात् प्रभविष्णुना विष्णुना एष शिशुः रातः दत्तः तस्मात् कारणात् नाम्ना विष्णुरात इति लोके प्रसिद्ध इति शेषः। बृहच्छ्रवाः विपुलकीर्तिः महान् महाभागवतः अत्यन्तं भगवद्भक्तश्च भविष्यति अत्र न सन्देह इति तुष्टाः ब्राह्मणाः प्रश्रयान्वितं विनयसमेतं तं राजानं धर्मराजं ऊचुः उक्तवन्तः ॥ १५, १६, १७ ॥

हे सत्तमाः! हे पूज्याः! एष शिशुः साधुवादेन सज्जनप्रशंसापात्रेण यशसा कीर्त्या महात्मनः पुण्यश्लोकान् पवित्रकीर्तीन् वंश्यान् अस्मद्वंशीयान् राजर्षीन् पाण्डुप्रभृतीन् अपिस्वित् अनुवर्तिता अनुसरिष्यति किम्? ॥ १८ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

पार्थ प्रजाविता साक्षादिक्ष्वाकुरिव मानवः ।
ब्रह्मण्यः सत्यसन्धश्च रामो दाशरथिर्यथा ॥ १९ ॥

एष दाता शरण्यश्च यथा ह्यौशीनरः शिबिः ।
यशोवितनिता स्वानां दौष्यन्तिरिव यज्वनाम् ॥ २० ॥

धन्विनामग्रणीरेष तुल्यश्चार्जुनयोर्द्वयोः ।
हुताश इव दुर्धर्षः समुद्र इव दुस्तरः ॥ २१ ॥

मृगेन्द्र इव विक्रान्तो निषेव्यो हिमवानिव ।
तितिक्षुर्वसुधेवासौ सहिष्णुः पितराविव ॥ २२ ॥

पितामह समस्साम्ये प्रसादे गिरिशोपमः ।
आश्रयस्सर्वभूतानां यथा देवो रमाश्रयः ॥ २३ ॥

सर्वसद्गुणमाहात्म्ये[2] एष कृष्णमनुव्रतः ।
रन्तिदेव इवोदारो[3] ययातिरिव धार्मिकः ॥ २४ ॥

धृत्या[4] बलिसमः कृष्णे प्रह्लाद इव सद्रुहः[5] ।
आहर्तैषोऽश्वमेधानां वृद्धानां पर्युपासकः ॥ २५ ॥

राजर्षीणां जनयिता शास्ता चोत्पथगामिनाम् ।
निग्रहीता कलेरेष[6] भुवो धर्मस्य कारणात् ॥ २६ ॥

तक्षकादात्मनो मृत्युं द्विजपुत्रोपसर्जितात्[7] ।
प्रपश्यत उपश्रुत्य मुक्तसङ्गः पदं हरेः ॥ २७ ॥

जिज्ञासितात्मयाथात्म्यो[8] मुनेर्व्यासस्तदासौ ।
हित्वेदं नृप! गङ्गायां यास्यत्यद्धाऽकुतोभयम् ॥ २८ ॥

---

1 AF,GF यथोचितविधाता च 2 AF,GF °त्म्यं 3. B,H,V °वौदार्ये 4. K,M °त्वां 5. AF,GF निर्भरः 6. H,V °द्धौ° 7. B,W °र्पि° 8. B,I °थ्यौ°

श्रीध० पार्थेति । प्रजानामविता रक्षकः । मानवः[1] मनोः पुत्रः । ब्रह्मण्यः ब्राह्मणेषु हितः सत्यप्रतिज्ञश्च श्रीरामो यथा ॥ १९ ॥

**एष** इति। औशीनरः उशीनरदेशाधिपतिः **शिबिः**[3] येन स्वमांसं श्येनाय दत्वा शरणागतः कपोतः रक्षितः। स्वानां ज्ञातीनां यज्वनां च यशोविस्तारकः दौष्यन्तिः भरत इव॥ २०॥

**धन्विनामिति**। अर्जुनयोः पार्थकार्तवीर्ययोः॥ २१॥

**मृगेन्द्र** इति। हिमवानिव सतां निषेव्यः अनन्यगतिकत्वेन। वसुधेव तितिक्षुः क्षन्ता। प्रीत्या पितरौ मातापितराविव सहिष्णुः॥ २२॥

**पितामह** इति। पितामहः ब्रह्मा तेन समः। साम्ये[5] समत्वे रमाश्रयः हरिः[6]॥ २३॥

**सर्वेति**। सर्वैः सद्गुणैः माहात्म्यं यत् तस्मिन् श्रीकृष्णतुल्यः॥ २४॥

**धृत्येति**। धृत्या धैर्येण सद्गृहः सन् भद्रः ग्रहः अभिनिवेशः यस्य सः। आहर्ता कर्ता॥ २५॥

**राजर्षीणामिति**। राजर्षीणां जनमेजयादीनाम्॥ २६॥

**तक्षकादिति**। द्विजपुत्रेण[7] उपसर्जितात् प्रेरितात् तक्षकात् आत्मनः मृत्युं उपश्रुत्य विरक्तस्सन् हरेः पदं प्रपत्स्यते भजिष्यति॥ २७॥

**जिज्ञासितेति**। ततश्च जिज्ञासितं आत्मनः याथात्म्यं[8] येन सः। इदं शरीरं गङ्गायां हित्वा अकुतोभयं हरेः पदं यास्यति। **अद्धा** निश्चयेन॥ २८॥

---

1 H,V add **वैवस्वत**° 2 H,V **औ**° 3 H,V add **शिबिचक्रवर्ती** 4 B **क्षान्त्या**; H **क्षान्तौ**; V **क्षान्तः** 5 H,V add **सर्वभूत**° 6 B adds **इव** 7. H,V add **शृङ्गिनाम्ना** 8 B °**र्थं**

**वीर**° एवं आपृष्टाः जातककोविदाः ब्राह्मणाः तस्य भाविनः गुणान् वर्णयन्ति — **पार्थेत्यादिभिः** दशभिः। न केवलं अनितरसाधारणैकगुणं एकमेवानुवर्तिता अपितु तत्तदसाधारणगुणान् सर्वानपीत्याहुः। हे पार्थ! मानवः मनोः वैवस्वतस्य सुतः इक्ष्वाकुरिव साक्षात् प्रजाविता प्रजानां अविता रक्षिता। यथा दाशरथिः दशरथपुत्रः श्रीरामः तद्वत् ब्रह्मण्यः ब्रह्मकुले साधुः सत्ये वाचिके सन्धा दृढाभिरुचिः यस्य तथाभूतश्च॥ १९॥

एष दाता आत्मपर्यन्तदाता शरण्यः शरणं रक्षणोपायं अर्हतीति शरण्यः। यथौशीनरः उशीनरसुतः शिबिः चक्रवर्ती, तद्वत् दाता शरण्यश्च। दौष्यन्तिरिव भरत इव यज्वनां यष्टॄणां यशोवितनिता यशसो विस्तारयिता॥ २०॥

धन्विनां धनुष्मतां अग्रणीः श्रेष्ठः तत्र द्वयोरपि अर्जुनयोः कार्तवीर्यपार्थयोः तुल्यः[3] इत्यर्थः। हुताशः अग्निरिव दुर्धर्षः प्रसोढुं अशक्यः समुद्र इव दुस्तरः अगाधाशयः॥ २१॥

सिंह इव विक्रान्तः। कर्तरि क्तः। पराक्रमी पादविक्षेपवान् वा। हिमवानिव निषेव्यः भूतानां उपजीव्यः। असौ शिशुः वसुधेव भूमिरिव तितिक्षुः प्रसहिष्णुः पितराविव मातापितराविव सहिष्णुः परापराधसहिष्णुः॥ २२॥

साम्ये सर्वभूतसमत्वे पितामहेन ब्रह्मणा समः तुल्यः प्रसादे ज्ञानप्रसादे अनुग्रहे वा गिरिशोपमः रुद्रतुल्यः। सर्वभूतानां पुरुषार्थलिप्सूनां आश्रयः आश्रयितुं योग्यः। यथा रमाश्रयः श्रीनिवासः देवः तद्वत्॥ २३॥

सर्वे सद्गुणाः निर्दुष्टगुणाः तत्कृतं यत्[5] माहात्म्यं यस्मिन् कृष्णं भगवन्तं अनुव्रतः अनुवर्तिता कृष्णतुल्यसद्गुणमाहात्म्ययुक्त इत्यर्थः। रन्तिदेव इव उदारः त्यागी॥ २४॥

धृत्या धैर्येण बलिसमः वैरोचनितुल्यः प्रह्लाद इव कृष्णे भगवति भक्त इति शेषः। सद्ग्रहः सतां ग्राहकश्चैष शिशुः अश्वमेधानां आहर्ता अनुष्ठाता वृद्धानां ज्ञानेन वयसा स्थानेन वृद्धानां पर्युपासकः यथोचितसेवकः॥ २५॥

राजर्षीणां जनमेजयादीनां जनयिता उत्पथगामिनां धर्ममार्गातिवर्तिनां शास्ता। भुवः पृथिव्याः हेतोः धर्मस्य कारणात् निमित्तात् धर्मार्थं चेत्यर्थः। एष कलेः निग्रहीता कलिं[7] निग्रहीष्यति॥ २६॥

द्विजपुत्रेण उपसर्पितात् शापद्वारा नियोजितात् तक्षकात् आत्मनः स्वस्य मृत्युं मरणं उपश्रुत्य आकर्ण्य मुक्तः देहतदनुबन्धिषु सङ्गः येन तथाभूतः हरेः पदं स्थानं प्रपत्स्यते प्राप्स्यति॥ २७॥

मुक्तसङ्गः हरेः पदं प्रपत्स्यति इत्येतदेवोपपादयति। व्याससुतात् मुनेः शुकात् जिज्ञासितं विचारितं निर्णीतमिति यावत्। आत्मयाथात्म्यं प्रत्यगात्मपरमात्मस्वरूपस्वभावतत्त्वं, देहतदनुबन्ध्यसङ्गहेतुभूतं येन सोऽसौ परीक्षित्। हे नृप! इदं शरीरं गङ्गायां त्यक्त्वा नास्ति कुतश्चित् भयं यस्मात् तद्धरेः पदं धाम अद्धा स्फुटं यास्यति॥ २८॥

---

1 W °सन्धिः 2 A,B omit शरण्यः 3 W adds ताभ्यां तुल्यः 4 W omits पर° 5 A,B omit यत् 6 A,B omit कलिं 7 A,B omit मुक्तसङ्गः हरेः पदं प्रपत्स्यति इति

**विज०** हे पार्थ! पृथायाः सुत! युधिष्ठिर! मानवः मनुपुत्रः प्रजानामविता दाशरथिः दशरथपुत्रः सत्यसन्धः सत्यप्रतिज्ञः॥ १९॥

औशीनरः उशीनरपुत्रः दौष्यन्तिः दुष्यन्तपुत्रः इव यज्वनां यथा विस्तारकर्ता तथा अयमपि स्वानां स्ववंशजन्यानां यशोवितनिता॥ २०॥

द्वयोः अर्जुनयोः कार्तवीर्यपाण्डवयोः तुल्यः दुर्धर्षः दुस्सहः॥ २१॥

तितिक्षुः क्षमावान् पितरौ इव सहिष्णुः सहनशीलः॥ २२॥

साम्ये सामञ्जस्ये पितामहस्य विरिञ्चस्य समः प्रसन्नतायां शिवसमः। रमायाः आश्रयः पतिः॥ २३॥

सर्वैः सतां गुणैः माहात्म्यं महात्मत्वं यस्य तथोक्तः अथवा सर्वसद्गुणमाहात्म्यविषये कृष्णं यादवेन्द्रं अनुगतः तथाभूतः कृष्णं अर्जुनं वा॥ २४॥

धृत्यां धैर्ये गृह्णातीति ग्रहः भक्तिः सती भक्तिः यस्य स तथोक्तः "अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वं" (ब्र. सू. 3-2-19) इति सूत्रात्॥ २५॥

राजर्षीणां कुमाराणां जनयिता उत्पादकः उत्पथगामिनां अशास्त्रविहितमार्गवर्तिनां शास्ता। धर्मस्य भगवतः दुःखापादनकारणात् कलेः निग्रहीता निगृह्य शिक्षाकर्ता॥ २६॥

द्विजपुत्रोपसर्जितात् द्विजकुमारप्रेरितात् तक्षकात् मुक्तसङ्गः पुत्रादिसङ्गरहितः॥ २७॥

व्याससुतात् श्रीशुकात् मुनेः जिज्ञासितं विचारितं आत्ममः परमात्मनः यथास्वरूपसम्बन्धिगुणाधिक्यं येन स तथोक्तः। इदं शरीरं अद्धा समीचीनम्। अकुतोभयस्वरूपानन्दाविर्भावलक्षणं मोक्षं यास्यतीत्यन्वयः॥ २८॥

---

1. K,M °न्य°

**रा॰ कृ॰** हे पार्थ! हे पृथापुत्र! युधिष्ठिर! एष जातः मानवः वैवस्वतमनोः पुत्रः इक्ष्वाकुरिव साक्षात् स्वयं न मन्त्रिद्वारा इत्यर्थः। प्रजाविता प्रजानां अविता रक्षकः भविष्यति। दाशरथिः रामो यथा दशरथपुत्रः श्रीराम इव ब्रह्मण्यः ब्राह्मणभक्तः, सत्यसन्धश्च सत्यप्रतिज्ञश्च भविष्यति। औशीनरः उशीनरदेशाधिपतिः शिबिः यथा दाता स्वदेहपर्यन्तदाता शरण्यश्च शरणागतपोषकश्च भविष्यति। दौष्यन्तिरिव दुष्यन्तपुत्रो भरत इव स्वानां स्वकीयानां यज्वनां यष्टॄणां च यशसः वितनिता विस्तारयिता भविष्यति। अपि च एषः अर्जुनयोः पार्थकार्तवीर्ययोः तुल्यः एष धन्विनां धनुर्धराणां अग्रणीः श्रेष्ठः भविष्यति। किञ्च हुताशः अग्निरिव दुर्धरः धर्षितुं अभिभवितुं अशक्यः। समुद्र इव दुस्तरः अनुल्लङ्घ्यशासन इत्यर्थः। मृगेन्द्रः सिंह इव विक्रान्तः पराक्रमवान् हिमवानिव निषेव्यः देवादीनामप्युपजीव्यः भविष्यति। किञ्चासौ वसुधा भूमिरिव तितिक्षुः क्षमाशीलः। पितराविव मातापितराविव सहिष्णुः अपराधसहिष्णुः साम्ये सर्वभूतसमत्वे पितामहसमः ब्रह्मणा तुल्यः, प्रसादे अनुग्रहे गिरिशोपमः शिवसदृशः, रमाश्रयः लक्ष्म्याः आश्रयः देवः यथा महाविष्णुरिव सर्वभूतानां आश्रयः भविष्यति।

अपि चैष सर्वसद्गुणमाहात्म्ये सर्वसद्गुणप्रयुक्ते प्रभावे कृष्णमनुव्रतः कृष्णतुल्य इत्यर्थः। रन्तिदेव इव पुल्कसाय जलं दत्वा सन्तुष्टः राजेव, उदारः युक्तायुक्तविचारं विना परोपकारपारीणः, ययातिरिव धार्मिकः धर्माचरणतत्परो भविष्यति। किञ्च धृत्या धैर्येण बलिसमः बलिनामकराक्षसराजतुल्यः, प्रह्लाद इव कृष्णे सद्गृहः सदभिनिवेशवान् भविष्यति। अपि च एषः अश्वमेधानां अश्वमेधयागानां आहर्ता अनुष्ठाता वृद्धानां ज्ञानवयोवृद्धानां पर्युपासकः सेवकः भविष्यति। किञ्चैषः राजर्षीणां जनयिता जनकः उत्पथगामिनां अधर्ममार्गगामिनां शास्ता शासकः भविष्यति। भुवः धरण्याः धर्मस्य कारणात् कलेः कलिपुरुषस्य निग्रहीता निग्राहकः भविष्यति।

अथ द्विजपुत्रोपसर्जितात् द्विजपुत्रेण ब्राह्मणपुत्रेण उपसर्जितात् शापद्वारा नियोजितात् तक्षकात् तक्षकनाम्नः सर्पात् आत्मनः स्वस्य मृत्युं मरणं उपश्रुत्य आकर्ण्य मुक्तसङ्गः परित्यक्तदेहादिसङ्गस्सन् हरेः विष्णोः पदं पादारविन्दं प्रपत्स्यते रक्षकत्वेन प्राप्स्यति हे नृप! असौ बालकः मुनेः व्याससुतात् श्रीशुकात् जिज्ञासितात्मयाथात्म्यः जिज्ञासितं

विचारितं आत्मयाथात्म्यं प्रत्यगात्मपरमात्मनोः स्वरूपस्वभावतत्त्वं येन सः तथाभूतस्सन् इदं शरीरं गङ्गायां हित्वा त्यक्त्वा अद्धा साक्षात् अकुतोभयं सर्वात्मना भयरहितं परमपदं यास्यति गमिष्यति ॥ १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८ ॥

इति राज्ञ उपादिश्य विप्रा जातककोविदाः ।
लब्ध्या[1]पचितयस्सर्वे प्रतिजग्मुः स्वकान् गृहान् ॥ २९ ॥

स एष लोके[2] विख्यातः परीक्षि[3]दिति यत्प्रभुः ।
गर्भे[5] दृष्टमनुध्यायन् परीक्षेत[7] नरेष्विह ॥ ३० ॥

स राजपुत्रो ववृधे आंशु[8] शुक्ल इवोडुपः[9] ।
आपूर्यमाणः पितृभिः काष्ठाभिरिव सोऽन्वहम् ॥ ३१ ॥

* बाल एव स धर्मात्मा कृष्णभक्तो निसर्गतः ।
प्रीतिदः सर्वलोकस्य महाभागवतस्सुधीः ॥

यक्ष्यमाणोऽश्वमेधेन ज्ञातिद्रोहजिहा[10]सया ।
रा[11]जाऽलब्धधनो दध्[12]यावन्यत्र करदण्डयोः ॥ ३२ ॥

तदभिप्रेतमालक्ष्य भ्रातरोऽच्युतचोदिताः[13] ।
धनं प्रहीणमाजह्रुरुदीच्यां[14] दिशि भूरिशः ॥ ३३ ॥

तेन सम्भृतसम्भारो धर्मपुत्रो[15] युधिष्ठिरः ।
वाजिमेधैस्त्रिभि[16]र्भीतो यज्ञैः[17] समयजद्धरिम् ॥ ३४ ॥

आहूतो भगवान् राज्ञा याजयित्वा द्विजैर्नृपम् ।
उवास कतिचिन्मासान् सुहृदां[18] प्रियकाम्यया ॥ ३५ ॥

ततो राज्ञाभ्य[19]नुज्ञातः कृष्णया सह बन्धुभिः ।
ययौ द्वारवतीं ब्रह्मन्[20] सार्जुनो यदुभिर्वृतः ॥ ३६ ॥*

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
प्रथमस्कन्धे नैमिषोपाख्याने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

---

1 B °ब्धो° 2. K,M,N,W °क° 3 W °क्ष° 4 K,M यः प्रभुः 5 H,N,V गर्भे°, I पूर्वं ; W पूर्व°; K,M सर्पदृष्टि° 6. H,V °भि° 7. W पर्येक्षत 8. H,V ह्या° 9 H,V °राट् * The additional verse is found only in B 10. H,V °र्घां° 11. B,H,I,V राजा लब्ध°

12. B,H,I,V दध्यौ नान्यत्र 13 K,M °नो° 14 K,M °च्याः भूरिशो दिशः 15. B,H,K,M,V,W लब्धकामो 16 AF,GF °विभीराजा 17. B यज्ञेशमय° 18. K,M °दः प्रिय°; W °दः प्रीति° 19 K,M ह्य° 20. B कृष्णः * Here ends XI Chapter in K&M

**श्रीध०** **इतीति**। जातककोविदाः जातकशास्त्रसमर्थाः लब्धा अपचितिः पूजा यैस्ते ॥ २९ ॥

परीक्षिदिति नाम निर्वक्ति— **स एष** इति। यत् यस्मात् प्रभुः समर्थस्सन् गर्भे दृष्टं पुरुषं अनु[1]ध्यायन् इह दृश्यमानेषु नरेषु मध्ये सर्वमपि नरं परीक्षेत अयमसौ भवेन्नवेति विचारयेत् अतः परीक्षिदिति विख्यातः। पूर्वदृष्टमिति वा पाठः। तदा मातृगर्भे पूर्वं दृष्टं इत्यर्थः ॥ ३० ॥

**स** इति। शुक्ले शुक्लपक्षे सः प्रसिद्धः उडुपः चन्द्रः अन्वहं यथा काष्ठाभिः पञ्चदशकलाभिः आपूर्यमाणः वर्धते एवं पितृभिः युधिष्ठिरादिभिः कामैः चतुष्षष्टि[3]कलाभिश्च आपूर्यमाणो ववृधे ॥ ३१ ॥

पूर्वम[4]पकृष्योक्तान् अश्वमेधान् स्वावसरे सप्रकारं कथयति — **यक्ष्यमाण** इति। ज्ञातिद्रोहस्य हा[5]नेच्छया यक्ष्यमाणः करदण्डयोरन्यत्र करः षष्ठांशग्रहणं। दण्डः दुष्टनिग्रहजनिततदीयधनलाभः। ताभ्यां विना अलब्धधनः दध्यौ चिन्तयामास क[6]रदण्डार्जितधनस्य परिजनभरणमात्रो[7]पलक्षणत्वात् ॥ ३२ ॥

**तदिति**। प्रहीणं मरुत्तस्य यज्ञे त्यक्तं सुवर्णपात्रादिकं आनीतवन्तः ॥ ३३ ॥

**तेनेति**। सम्भृतसम्भारः सम्पादितयज्ञोपकरणः। भीतो ज्ञातिद्रोहात् ॥ ३४, ३५, ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

---

1. H,V °भि° 2 B,H,V पूर्वं 3 H,V °कलादिभिश्च 4 H,V °माकृष्यो° 5 H,V हनने° 6 A,B करदण्डजस्य 7 A,B °पक्षीणत्वात्

**वीर०** इत्थं राज्ञे युधिष्ठिराय तद्गुणकर्मादिकं उपादिश्य आवेद्य [1]जातकं [2]अधिकृत्य प्रवृत्ते ज्योतिश्शास्त्रे कोविदाः अतिनिपुणा विप्रास्सर्वे लब्धा अपचितिः बहुमतिः यैस्तथाभूताः स्वकान् गृहान् प्रति जग्मुः ॥ २९ ॥

स जातककोविदैः अनुवर्णितभावि[3]गुण एष उत्तरासुतः परीक्षिदिति लोके विख्यातः। कुतः यत् यस्मात् प्रभुः अयं उत्तरासुतः गर्भे मातुः उदरे दृष्टं पुरुषं ध्यायन् इह लोके नरेषु तं पुरुषं पर्यैक्षत परीक्षितवान् अन्वेषितवान् इति यावत्। परीक्ष्य श्रीकृष्णं अध्यवस्यत् इत्यर्थः। ततः प्रवृत्तिनिमित्तात् परीक्षिच्छब्दवाच्यः विख्यात इत्यर्थः। पूर्वं पर्यैक्षत क इत्यसाविति गर्भावस्थायां परीक्षणमपि तच्छब्दुप्रवृत्तिनिमित्तमिति सूचितम्। परिपूर्वात् ईक्षतेः शतरि परीक्षदिति रूपम्। परीक्षिदिति च प्रायिकः पाठो दृश्यते। तदा "हृसृरुहियुषिभ्यः इति" (उणादि. 1-97) इत्यौणादिकसूत्रे ईक्षतेर्ग्रहणाभावेऽपि बाहुलकात् इत्प्रत्यये हरित्सरिदादिशब्दवत् साध्यः ॥ ३० ॥

स परीक्षिदिति प्रसिद्धः राजपुत्रः। एकः तच्छब्दः प्रसिद्धिद्योतकः अपरस्तु प्रकृतपरामर्शक इत्यतः न पौनरुक्त्यम्। पितृभिः वर्धयितृभिः हेतुभूतैः अन्वहं आशु ववृधे यथा शुक्ले पक्षे आपूर्यमाणाभिः वृद्धिं गताभिः काष्ठाभिः कलाभिः उडुपः चन्द्रः वर्धते तद्वत् इत्यर्थः॥ ३१॥

अथ किमकार्षीदिति प्रश्नस्योत्तरं सोपोद्घातमाह — **यक्ष्यमाण** इत्यादिना यावत्पञ्चदशाध्यायसमाप्ति। ज्ञातिद्रोहजिहासया ज्ञातिवधप्रयुक्तदोषपरिजिहीर्षया अश्वमेधेन "तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते" (तैत्ति. सं. 5-3-12) इति ब्रह्महत्यादीनामपि परिहारकतया श्रुतेन "ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्यां नं परं पुण्यपापयोः" इति निरतिशयपुण्यत्वेन च प्रसिद्धेन अश्वमेधेन यक्ष्यमाणः भगवन्तं आराधयितुकामः राजा युधिष्ठिरः अन्यत्र करदण्डयोः करः स्वामिग्राह्यः, दण्डः प्रसिद्धः तयोरन्यत्र ताभ्यां विना इत्यर्थः। अलब्धधनः उपायान्तरेण अप्राप्तधनः मनो दध्यौ चिन्तितवान्। करदण्डाभ्यां लब्धं धनं न यागार्हम्। उपायान्तरेण तु न प्राप्तं धनं अतः कथं यक्ष्यामीति चिन्तव्याकुलो बभूवेत्यर्थः॥ ३२॥

तस्य युधिष्ठिरस्य अभिप्रेतं आलक्ष्य अच्युतेन आहूतेन श्रीकृष्णेन चोदिताः आदिष्टाः आहूतो भगवानिति वक्ष्यमाणत्वात् भ्रातरः भीमादयः उदीच्यां दिशि प्रहीणं पराजितैः राजभिः त्यक्तं धनं भूरिशः आजह्रुः॥ ३३॥

तेन धनेन सम्भृताः सञ्चिताः सम्भाराः यागसाधनानि यस्य स अत एव लब्धकामो युधिष्ठिरः त्रिभिः वाजिमेधैः भीतः मन्त्रतन्त्रद्रव्यलोपादिभ्यः भीतः निश्छिद्रं यथा तथेति भावः। हरिं सम्यगाराधितवान्॥ ३४॥

भगवान् कृष्णोऽपि राज्ञा आहूतः द्विजैः नृपं युधिष्ठिरं याजयित्वा सुहृदां प्रीतिं कर्तुं इच्छया कतिचित् मासानुवास॥ ३५॥

ततो बन्धुभिस्सह राज्ञा युधिष्ठिरेण कृष्णया द्रौपद्या चानुज्ञातः अर्जुनेन सहितः यदुभिः च परिवृतो हे ब्रह्मन्! द्वारवतीं ययौ॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रिकायां
व्याख्यायां द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

---

1 W adds जातके 2 W adds उत्पन्नं 3 W स्वगृहान् 4. W व्युत्पाद्यः 5. W यदकार्षीत्तत इत्यस्य 6. W नापरं 7. W यागानर्हं

**विज०** लब्धा प्राप्ता अपचितिः पूजा यैस्ते तथोक्ताः॥ २९॥

यः प्रभुः सर्पदृष्टिं तक्षकाख्यसर्पदर्शनं अनुध्यायन् निरन्तरं चिन्तयन् इह नरेषु समीपे आगच्छत्सु परीक्षेतेति यस्मात् तस्मात् स एष लोके परीक्षितिति विख्यात इति परीक्षित्रामनिरुक्तिः इत्यन्वयः॥ ३०॥

उडुपः चन्द्रः शुक्लपक्षे काष्ठाभिः दिग्देवतासरस्वतीगोभिः अन्वहं यथा तथा स राजपुत्रोपि पितृभिः युधिष्ठिरादिभिः अन्वहं अन्नपानादिभिः पूर्यमाणः ऐधतेत्यर्थः॥ ३१॥

ज्ञातिद्रोहजिहासया भीष्मादिवधनिमित्तपापहननेच्छया अश्वमेधयज्ञे भगवन्तं यष्टुकामः राजा करदण्डयोरन्यत्र करं दण्डं च वर्जयित्वा न लब्धं धनं येन सोऽलब्धधनः दध्यावित्यन्वयः ॥ ३२ ॥

उदीच्याः उत्तरायाः दिशः भूरिशः बहुलं प्रहीणं यज्ञशिष्टं मरुत्तेन पूर्वजेन स्थापितं धनम् ॥ ३३ ॥

तेन द्रव्येण सम्भृतः सम्पन्नः सम्भारः यज्ञसाधनं येन स तथोक्तः ॥ ३४ ॥

सुहृदः युधिष्ठिरस्य प्रियेच्छया ॥ ३५ ॥

बन्धुभिस्सह कृष्णया द्रौपद्या चाभ्यनुज्ञातः सार्जुनः अर्जुनेन सहितः यदुभिश्च परिवृतः कृष्णः द्वारवतीं ययौ इत्यन्वयः * ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां प्रथमस्कन्धे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

---

1 K,M °यज्ञेन * Here ends XI Chapter in K&M

**रा० कृ०** लब्धापचितयः लब्धा युधिष्ठिरात् प्राप्ता अपचितिः पूजा यैस्ते तथाभूताः जातककोविदाः ज्योतिश्शास्त्रविशारदाः सर्वे विप्रा इति पूर्वोक्तप्रकारेण राज्ञे धर्मजाय उपादिश्य निवेद्य स्वकान् स्वकीयान् गृहान् प्रतिजग्मुः ययुः ॥ २९ ॥

यत् यस्मात् कारणात् गर्भे दृष्टं पुरा अनुभूतं पुरुषं अनुध्यायन् अभिध्यायन् इह अस्मिन् लोके नरेषु मानवेषु परीक्षेत सोऽयं भगवान् भवेन्नो वेति परीक्षेत यो विचारयेत् स एष भगवता रक्षितः प्रभुः परीक्षिदिति लोके विख्यातः प्रसिद्धस्सञ्जातः ॥ ३० ॥

सः पूर्वोक्तः राजपुत्रः परीक्षिन्नामकः पितृभिः धर्मराजादिभिः आपूर्यमाणः भोगैस्सम्पूर्यमाणः शुक्ले शुक्लपक्षे काष्ठाभिः कलाभिः आपूर्यमाणः स उडुपः इव चन्द्र इव अन्वहं प्रतिदिनं आशु शीघ्रं ववृधे वृद्धिं प्राप ॥ ३१ ॥

ज्ञातिद्रोहजिहासया ज्ञातिवधप्रयुक्तपापस्य जिहासया परिजिहीर्षया अश्वमेधेन यक्ष्यमाणः भगवन्तं आराधयितु-कामः राजा धर्मराजः करदण्डयोरन्यत्र उचितकरदण्डाभ्यां विना अलब्धधनः अप्राप्तवित्तस्सन् दध्यौ धनं विना यज्ञानुष्ठानं कथं वा स्यादिति चिन्तयामास ॥ ३२ ॥

तदभिप्रेतं तस्य धर्मराजस्य अभिप्रेतं अभिमतं आलक्ष्य ज्ञात्वा भ्रातरः भीमादयः अच्युतचोदिताः श्रीकृष्णेन प्रेरितास्सन्तः उदीच्यां उत्तरस्यां दिशि भूरिशः प्रहीणं मरुत्तस्य राज्ञः यज्ञे सन्तुष्टैः ब्राह्मणैः परित्यक्तं धनं आजह्रुः आनीतवन्तः ॥ ३३ ॥

तेन सोदरानीतेन धनेन सम्भृतसम्भारः सम्पादितयागसाधनः धर्मपुत्रः धर्मतनयः युधिष्ठिरः भीतस्सन् ज्ञातिद्रोहात् भीतस्सन् त्रिभिः वाजिमेधैः अश्वमेधनामकैः यज्ञैः हरिं विष्णुं समयजत् सम्यक् पूजितवान्॥ ३४॥

भगवान् श्रीकृष्णः राज्ञा युधिष्ठिरेण आहूतः द्विजैः ब्राह्मणैः नृपं धर्मजं याजयित्वा यज्ञं कारयित्वा सुहृदां मित्राणां धर्मजादीनां प्रियकाम्यया प्रीतिं कर्तुमिच्छया कतिचिन्मासान् उवास तत्र हस्तिनापुरे न्यवसत्॥ ३५॥

हे ब्रह्मन्! ततोऽनन्तरं बन्धुभिस्सह राज्ञा युधिष्ठिरेण कृष्णया द्रौपद्या च अभ्यनुज्ञातः सार्जुनः अर्जुनसहितः यदुभिः वृतः परिवृतः द्वारवतीं द्वारकापुरीं ययौ जगाम॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां व्याख्यायां
द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

# त्रयोदशोऽध्यायः

## सूत उवाच

विदुरस्तीर्थयात्रायां मैत्रेयादात्मनो गतिम्।
ज्ञात्वाऽगाद्धास्तिनपुरं तयावाप्तविविक्तितः[1] ॥ १ ॥

यावतः कृतवान् प्रश्नान् क्षत्ता कौषारवाग्रतः।
जातैकभक्तिर्गोविन्दे तेभ्यश्चोपरराम ह ॥ २ ॥

तं बन्धुमागतं दृष्ट्वा धर्मपुत्रः सहानुजः[2]।
धृतराष्ट्रो युयुत्सुश्च सूतश्शारद्वतः पृथा ॥ ३ ॥

गान्धारी द्रौपदी ब्रह्मन्! सुभद्रा चोत्तरा कृपी।
अन्याश्च जामयः[3] पाण्डोर्ज्ञातयस्ससुताः स्त्रियः ॥ ४ ॥

प्रत्युज्जग्मुः प्रहर्षेण प्राणं[4] तन्व इवागतम्[5]।
अभिसङ्गम्य विधिवत् परिष्वङ्गाभिवादनैः ॥ ५ ॥

मुमुचुः प्रेमबाष्पौघं विरहौत्कण्ठ्यकातराः[7]।
राजा तमर्हयाञ्चक्रे कृतासनपरिग्रहम् ॥ ६ ॥

तं भुक्तवन्तं[8] विश्रान्तमासीनं सुखमासने।
प्रश्रयावनतो राजा प्राह तेषां[9] च शृण्वताम् ॥ ७ ॥

## युधिष्ठिर उवाच

अपि स्मरथ नो युष्मत्पक्षच्छायासमेधितान्।
विपद्गणाद्विषाग्न्यादेर्मोचिता यत्समातृकाः ॥ ८ ॥

---

1. W °धि° 2. AF,GF °गः 3. B या° 4. K,M °णान् 5 K,M °तान् 6 K,M °वन्द° 7 K,M मिथ औ° 8 AF,GF सत्कृतं तु 9. K,M स्वानां च; H,V स्वानां वि°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

निर्गमो धृतराष्ट्रस्य विदुरोक्त्या त्रयोदशे।
उक्तः पौत्राभिषेकेन वक्तुं राज्ञो महापथम्॥

इदानीं परीक्षितः कलिनिग्रहादिकर्माणि कथयिष्यन् विदुरागमनेन धृतराष्ट्रप्रस्थानं ततोऽर्जुनागमनं ततः श्रीकृष्णान्तर्धानं निशम्य पाण्डवप्रस्थानं च निरूपयति त्रिभिरध्यायैः — **विदुर** इति। आत्मनो गतिं हरिं तया आत्मगत्या अवाप्तं विविक्षितं ज्ञातुमिष्टं सर्वं येन॥ १॥

तदेवाऽऽह — **यावत** इति। यावतः कर्मयोगज्ञानादिविषयान् प्रश्नान् प्रथमं कृतवान्। कौषारवस्य मैत्रेयस्य पुरतः पश्चात् त्रिचतुःप्रश्नार्थज्ञानमात्रेण गोविन्दे जातैकभक्तिः कृतार्थस्सन् तेभ्यः प्रश्नेभ्यः मैत्रेयोक्तताद्दशप्रतिवचनेभ्य इत्यर्थः। उपरराम। ततः परं न विजिज्ञासितवान्॥ २॥

**तमिति**। सूतः सञ्जयः। शारद्वतः कृपः। पृथा कुन्ती॥ ३॥

**गान्धारीति**। कृपी द्रोणभार्या जामयो ज्ञातिभार्याः अन्याश्च स्त्रियः॥ ४॥

**प्रत्युज्जग्मुरिति**। प्राणं तन्व इवेति कुतश्चिन्मूर्च्छादिदोषतः प्राणेऽवसन्ने सति तन्वः कराङ्घ्र्यादयो निश्चेष्टा भवन्ति। पुंनस्तस्मिन्नाविर्भूते यथोत्तिष्ठन्ति तद्वत्॥ ५॥

**मुमुचुरिति**। विरहेण यदौत्कण्ठ्यं तेन कातरा विवशाः॥ ६॥

**तमिति**। तं विदुरम्॥ ७॥

**अपीति**। पक्षिणो ह्यपत्यानि यथाऽतिस्नेहेन पक्षच्छायया वर्धयन्ति तद्वद्युष्मत्पक्षच्छायया समेधितान् वर्धितान् नोऽस्मान् अपि स्मरथ? किं स्मरथ? समेधितत्वमेवाऽऽह विपद्गणाद्यस्मान्मोचिताः स्मः॥ ८॥

---

1. A,B °व्रतादि° 2. A,B omit मैत्रेयोक्त ..... इत्यर्थः। 3. B या° 4 H,V पुनश्च तस्मि° 5. A,B °त्पक्षपातच्छा°

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

कुरुपाण्डवयुद्धात् प्रागेव मन्त्राय धृतराष्ट्रेण आहूतः तत्पुत्रेण पराभूतो विदुरः तीर्थयात्रायां निमित्तभूतायां सत्यां गतः तत्रात्मनः परमात्मनो गतिं याथात्म्यं मैत्रेयादृषेर्ज्ञात्वा तया आत्मगत्या ज्ञानविषयभूतया अवाप्तविधित्सितः कृतकृत्यः। विविक्षितः इति पाठे विदितवेद्यः "येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विदिते इदं सर्वं विज्ञातं भवति" (छान्दो. उ. 6-1-3) इति श्रुतेः। पुनर्हास्तिनपुरं प्रागात् प्राप्तः॥ १॥

तयाऽवाप्तविधित्सित इत्येतदेवोपपादयति। यावतः क्षत्ता विदुरः कौषारवो मैत्रेयः कुषारवगोत्रप्रसूतत्वात्। तस्याग्रतः यावतः प्रश्नान् कृतवान् तत्र कतिपयानामेव प्रश्नानामुत्तरैः गोविन्दे जाता एका अव्यभिचारिण्यनन्यप्रयोजना भक्तिर्यस्य तथाभूतः तेभ्योऽवशिष्टप्रश्नेभ्य उपरराम। अवशिष्टप्रश्नानामुत्तराणि न शुश्रावेत्यर्थः। जातैकभक्तिरित्यनेन कृतकृत्यत्वमुक्तम्॥ २॥

तमागतं बन्धुं विदुरं ज्ञात्वा सहानुजो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः धृतराष्ट्रादयः सूतः सञ्जयः शारद्वतः कृपः॥ ३॥

अन्याश्च जामयः अन्तःपुरस्त्रियः ससुताः पाण्डोः ज्ञातयश्च हे ब्रह्मन्॥ ४॥

प्रहर्षेण प्रत्युज्जग्मुः अभिमुखं ययुः। यथा आगतं प्राणं तन्वः शरीराणि तद्वत् प्राणमागतमिव तं प्रत्युज्जग्मुरित्यर्थः। परिष्वङ्गाभिवादनैः विधिवत् यथोचितम् अभिसङ्गम्य॥ ५॥

विरहप्रयुक्तौत्कण्ठ्येन कातराः प्रेमबाष्पौघमानन्दाश्रुसमूहं मुमुचुः। कृतः आसनपरिग्रहो येन तं विदुरं राजा युधिष्ठिरोऽर्हयामास पूजयामास॥ ६॥

ततो भुक्तवन्तं विश्रान्तमासने सुखमासीनं तं विदुरं स्वानां शृण्वतां सतां प्रश्रयेणावनतः प्राह॥ ७॥

तदेवाऽऽह — **आपीत्या** दिभिश्चतुर्भिः। युष्मत्पक्षयोः परिग्रहरूपयोः छायायां समेधितान् नोऽस्मानपि स्मरथ स्मरथ किम्? आत्मनां तत्पक्षच्छायासमेधितत्वं स्मारयति। समातृकाः मात्रा सहिता वयं विषाम्यादिरूपात् विपद्गणाद्यघेन त्वया विमोचिताः॥ ८॥

---

1. A,B omit याथात्म्यं 2. A,B omit विदुरं 3. A,B °णात्त्वया

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

विषयरागः संसाराय, तदभावो विमुक्तये इत्यतो मुमुक्षुणा स्वतो वैराग्यं परतो वा सम्पादनीयमित्ययमर्थः प्रतिपाद्यतेऽस्मिन्नध्याये। तत्र शुद्धान्तःकरणस्यैव विषयविरागस्सुदृढ इति, स च कर्मणा तीर्थसेवया वा स्यादित्यभिप्रेत्य विदुरस्य तीर्थसेवां कृत्वा युधिष्ठिरादिबन्धुदिदृक्षया हास्तिनपुरागतिमाह — **विदुर** इति। विदुरो हास्तिनपुरमगादित्यन्वयः। किं कृत्वा तीर्थयात्रायां कृष्णादिष्टात् मैत्रेयादात्मनः परमात्मनो गतिं ज्ञानं जीवस्य गतिं स्वर्गनरकादिविषयामिति वा तया परमात्मविद्यया अवाप्तं विवित्सितं ज्ञातुमिष्टं येन स तथोक्तः॥ १॥

"नापृष्टः कस्यचित् ब्रूयात्" (भार. 12-276-34) इति वचनात् प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां तत्त्वमवगम्य अलम्बुद्धिरभूदित्याह — **यावत** इति। क्षत्ता विदुरः कुषारवस्यापत्यस्य मैत्रेयस्याग्रतो यावतः प्रश्नान् कृतवान् तेभ्यः प्रश्नेभ्यो मैत्रेयेण परिहृतेभ्य उपरराम ज्ञातत्वादलम्बुद्धिमानभूत्। हशब्दः तृप्तिसूचकः। चशब्द एवार्थे। तत्त्वज्ञानेन फलमाह — जातेति। ततो ज्ञानातिशयेन जाता एका प्रधाना भक्तिर्यस्य स तथोक्तः कुत्र गोविन्दे श्रीकृष्णे अनेन भक्तिज्ञानयोरन्योऽन्यहेतुत्वम् असूचि॥ २॥

सूतः सञ्जयः शारद्वतः कृपः॥ ३॥

अन्याः पाण्डोर्जामयः पुत्रभार्याः अन्या त्वा प्रसिद्धनामानो जामयः स्वसारो वा॥ ४॥

आगतान् प्राणान् दृष्ट्वा तन्वः भोगायतनानि शरीराणीव "तत्प्राणे प्रपन्न उदतिष्ठत्" इति श्रुतेः॥ ५॥

मिथः प्रेमबाष्पौघं प्रेमनिमित्तनेत्रजलप्रवाहम्। अर्हयाञ्चक्रे पूजयामास औत्कण्ठ्यकातराः औत्कण्ठ्येन परवशाः। कृतः आसनस्य पीठस्य परिग्रहः स्वीकारो येन स तथोक्तः तम्॥ ६॥

स्वकीयानां च शृण्वतां सताम्॥ ७॥

नोऽस्मान् स्मरथ? यूयमिति शेषः। मात्रा सह वर्तमानाः समातृकाः विषाग्न्यादेः विपद्गणान्मोचिताः यद्वेन, तस्मादिति शेषः॥ ८॥

1. K तत्त्वज्ञानादतिशयेन

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

विदुरस्तीर्थयात्रायां मैत्रेयात् तत्राग्नो ऋषेः आत्मनः परमात्मनो गतिं तत्त्वं ज्ञात्वा तया आत्मगत्या अवाप्तविविसितः अवाप्तं प्राप्तं विविसितं ज्ञातुमिष्टं येन सः विदितवेदितव्य इत्यर्थः। हास्तिनपुरं हस्तिनापुरम् अगात् अगच्छत्।

धार्ताराष्ट्रपाण्डवयुद्धात् प्रागेव मन्त्राय धृतराष्ट्रेणाऽऽहूतः तत्पुत्रेण पराभूतो विदुरः तीर्थयात्रार्थं हस्तिनापुरान्निर्जगाम। युद्धानन्तरं हस्तिनगरात् द्वारकामागतः कृष्णः विदुरस्य यात्रानन्तरं हस्तिनगरप्रत्यागमनात् प्रागेव निर्याणमयासीत्। आनिर्याणमात्मना सहावस्थितं मैत्रेयं लोकाय भागवतरहस्यमुपदिशेति भगवान् श्रीकृष्णः समादिदेश स्वनिर्याणसमये।

श्रीकृष्णनिर्याणानन्तरं विदुरो मैत्रेयमुपगम्य तस्मादात्मतत्त्वं जग्राह। महात्मानः केचिदत्र कथयन्ति — "श्रीकृष्णो भौतिकदेहत्यागानन्तरं मैत्रेयं प्राविशत्, तदारभ्य अद्य यावत् आध्यात्मिकविद्याविषये मैत्रेयो जगद्गुरुरिति व्यवह्रियते।" तथा हि — "काले काले सः सिद्धपुरुषशरीराण्याश्रित्य लोकाय ब्रह्मविद्यां प्रयच्छति। जीसस् प्रभुरपि अनेनैव मैत्रेयतेजसा अनुगृहीतः। मैत्रेयाविष्टेन हि तेन प्रभुणा सनातनब्रह्मविद्यैव क्रैस्तवबोधस्वरूपेण लोके प्रकटीकृता" इत्ययमभिप्रायश्च "यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥" (भ. गी. 10-41) इति भगवदुक्त्या संवदति॥ १॥

क्षत्ता विदुरः कौषारवाग्रतः कौषारवस्य मैत्रेयस्य अग्रतः पुरतो यावतः प्रश्नान् कृतवान् गोविन्दे जातैकभक्तिः तत्र कतिपयानामेव प्रश्नानां समाधानैः भगवति सञ्जातभक्तिः तेभ्यः शिष्टप्रश्नेभ्यः उपरराम उपरतवान्॥ २॥

हे ब्रह्मन्! आगतं तं बन्धुं दृष्ट्वा सहानुजः धर्मपुत्रः धृतराष्ट्रः, युयुत्सुः, सूतः सञ्जयः, शारद्वतः कृपः पृथा कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा, उत्तरा, कृपी द्रोणभार्या, पाण्डोर्जामयः ज्ञातिभार्याः ससुताः ज्ञातयः अन्याश्च स्त्रियः आगतं प्राणं तन्व इव करचरणाद्यवयवा इव प्रहर्षेण प्रत्युज्जग्मुः, अभिमुखं ययुः। किञ्च परिष्वङ्गाभिवादनैः आलिङ्गननमस्कारैः विधिवत् यथाविधि अभिसङ्गम्य अभिमुखं गत्वा विरहौत्कण्ठ्यकातराः वियोगजेनौत्कण्ठ्येन विह्वलाः प्रेमबाष्पौघं स्नेहजन्यमश्रुपूरं मुमुचुः तत्यजुः। कृतासनपरिग्रहं आसनोपविष्टं तं विदुरं राजा युधिष्ठिरः अर्हयाञ्चक्रे पूजितवान्॥ ३, ४, ५, ६॥

ततश्च भुक्तवन्तं विश्रान्तं आसने सुखमासीनं तं विदुरं स्वानां स्वकीयानां शृण्वतां स्वकीयेषु शृण्वत्सु सत्सु प्रश्रयावनतः प्रश्रयेण विनयेन अवनतः राजा धर्मजः प्राह वक्ष्यमाणप्रकारेणावोचत्॥ ७॥

यत् यस्मात् कारणात् विषाग्न्यादेः विषान्नवह्निदाहादेः विपद्गणात् आपत्समूहात् समातृकाः मातृसहिता वयमिति शेषः। मोचिताः भवद्भिः रक्षिताः स्मः, तान् युष्मत्पक्षच्छायासमेधितान् युष्माकं पक्षपातेन प्रवर्धितान् नः अस्मानपि स्मरथ? यूयं स्मरथ किम्?॥ ८॥

कया वृत्त्या वर्तितं वंश्यरद्भिः क्षितिमण्डलम्।
तीर्थानि क्षेत्रमुख्यानि सेवितानीह भूतले॥ ९॥

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूतास्स्वयं विभो!।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥ १०॥

अपि नस्सुहृदस्तात! बान्धवाः कृष्णदेवताः।
दृष्टाः श्रुता वा यदवः स्वपुर्यां सुखमासते॥ ११॥

इत्युक्ते धर्मराजेन सर्वं तत् समवर्णयत्।
यथाऽनुभूतं क्रमशो विना यदुकुलक्षयम्॥ १२॥

नन्वप्रियं दुर्विषहं नृणां स्वयमुपस्थितम्।
नावेदयत् सकरुणो दुःखितान् द्रष्टुमक्षमः॥ १३॥

कञ्चित्कालमथावात्सीत् सत्कृतो देववत्सुखम्।
भ्रातुर्ज्येष्ठस्य श्रेयस्कृत् सर्वेषां प्रीतिमावहन्॥ १४॥

अबिभ्रदर्यमा दण्डं यथावदघकारिषु।
यावद्धार शूद्रत्वं शापाद्वर्षशतं यमः॥ १५॥

श्रीसूत उवाच

युधिष्ठिरो लब्धराज्यो दृष्ट्वा पौत्रं कुलंधरम्।
भ्रातृभिर्लोकपालाभैर्मुमुदे परया श्रिया॥ १६॥

---

1. K,M वै चर° 2. N °र्थी° 3. H,K,M,V प्र° 4. K,M °त्म° 5. K,M °स्तावत् 6. K,M °दै° 7 K,M भ्रमता 8 K,M तत्व° 9. AF,GF °ह्मं 10. AF,GF न्य° 11. B,H,K,V °त्स्वकैः 12. I सुख° 13. B,H,K,M,V °घमघ° 14 K,M °द्वभा° 15. AF,GF कुलोद्वहम् 16. W °म°

**श्रीध० कथेति**। वो युष्माभिः कया वृत्त्या वर्तितं देहवृत्तिः कृता। कानि च तीर्थादीनि सेवितानीति ॥ ९ ॥

भवतां च तीर्थाटनं न स्वार्थं कृतं[1] किन्तु तीर्थानुग्रहार्थमित्याह — **भवद्विधा** इति। मलिनजनसम्पर्केण[2] तीर्थानि मलिनानि सन्ति। सन्तः पुनः स्वान्तं मनः, तत्र स्थितेन स्वस्यान्तःस्थितेनेति वा पुनः तानि तीर्थान्यपि तीर्थीकुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

**अपीति**। अपि किं सुखमासते? भवद्भिः क्वापि दृष्टाः श्रुता वा? ॥ ११, १२ ॥

यदुकुलक्षयावर्णने कारणमाह — **नन्विति** ॥ १३ ॥

**कमिति**। श्रेयस्कृत्तत्त्वमुपदिशन् ॥ १४ ॥

ननु शूद्रोऽसौ कथं[3] तत्त्वमुपदिशेत्। न ह्यसौ शूद्रः किन्तु यमस्तद्रूपेणासीत्। किं तत्र कारणम्? यमे चात्रागतेऽमुत्र को दण्डधर इत्यपेक्षायामाह — **अबिभ्रत्** इति। अबिभ्रत् धृतवानित्यर्थः। माण्डव्यस्य शापात्। तथाहि — क्वचिच्चोराननुधावन्तो राजभटा माण्डव्यस्य ऋषेस्तपश्चरतः आश्रमसमीपे[4] तान् सम्प्राप्य तेन सह निबध्य आनीय राज्ञे निवेद्य तदाज्ञया[5] सर्वान् शूलमारोपयामासुः। ततो राजा तं ऋषिं ज्ञात्वा शूलादवतार्य प्रसादयामास। ततो मुनिर्यमं गत्वा कुपित उवाच कस्मादहं शूलमारोपित इति। तेनोक्तं त्वं बाल्ये शलभं कुशाग्रेणाविध्य क्रीडितवानिति। तच्छ्रुत्वा माण्डव्यस्तं शशाप बाल्ये अजानतो मे महान्तं दण्डं यतस्त्वं कारितवानतः शूद्रो भवेति ॥ १५ ॥

इदानीं राज्यापकर्षणं[6] निरूपयितुमुत्कर्षं निगमयति — **युधिष्ठिर** इति। कुलंधरं वंशधरम् ॥ १६ ॥

---

1. A,B omit कृतं 2. A,B मलिनजनसम्पर्केण मलिनानि तीर्थानि सन्तः पुनस्स्वयं तीर्थीकुर्वन्ति स्वान्तं मनः तत्रस्थेन, स्वस्यान्तस्थितेनेति वा ॥ १० ॥ 3. A,B कथमुप° 4. A,B omit आश्रम° 5. B adds तान् 6. A,B राज्यस्यापकर्षं

**वीर०** क्षितिमण्डल चरद्भिः कया वृत्त्या वर्तितम्? इह भूतले कानि तीर्थानि भगवत्क्षेत्रमुख्यानि च भवद्भिस्सेवितानि? ॥ ९ ॥

कृतकृत्यानां भवतां न तीर्थयात्रया स्वप्रयोजनमस्तीत्यभिप्रायेण आह — **भवद्विधा** इति। हे विभो! भवादृशाः भागवताः स्वयमेव तीर्थभूताः पवित्रभूताः। अतस्तीर्थयात्राकृतं पवित्रत्वं नापेक्षितमिति भावः। तर्हि किमर्थं तीर्थान्यटन्ति? तत्राऽऽह — तीर्थीकुर्वन्तीति। स्वान्तःस्थेन गदाभृता भगवता तीर्थान्यपि तीर्थीकुर्वन्तीति तीर्थान्यपि तीर्थीकर्तुं तानि पर्यटन्तीति भावः। वस्तुतः परिशुद्धान्येव गङ्गादितीर्थानि। तथाऽपि पापिभिः तेषु परिहृतानि पापान्यादाय तान्यपि पवित्रीकुर्वन्ति स्वगतानि तु स्वान्तरात्मतयाऽवस्थितो गदाभृत् क्षपयति। तस्य त्वघप्रतिभटत्वान्न तस्मिन् पापसमावेशप्रसक्तिरिति भावः। एतदभिप्रायेणैव गदाभृतेत्युक्तम्। तथा च नवमे "किञ्चाहं न भुवं यास्ये नरा मय्यामृजन्त्यघम्। मृजामि तदघं क्वाहं राजंस्तत्र विचिन्त्यताम्" (भाग. 9-9-5) इति गङ्गयोक्तो भगीरथ आह "साधवो न्यासिनश्शान्ता धर्मिष्ठा लोकपावनाः। हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात्तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः" (भाग. 9-9-6) इति ॥ १० ॥

**अपीति**। हे तात! कृष्ण एव देवता येषां ते नोऽस्माकं सुहृदो बान्धवाश्च यदवः दृष्टाः अथवा स्वपुरा द्वारकायां सुखमासत इति श्रुताः किम्? ॥ ११ ॥

इतीत्थं धर्मराजेनोक्तः विदुरो यदुकुलक्षयं विना अन्यत्सर्वं यथानुभूतं दृष्टं श्रुतं चानतिक्रम्य क्रमशः समवर्णयत्॥ १२ ॥

यदुकुलक्षयं कुतो नावर्णयदित्यत्राऽऽह — **नन्विति**। **भो** हे शौनक! दुर्विषहं सोढुमशक्यं स्वयमुपस्थितं स्वयमेवोपस्थास्यदप्रियं यदुकुलक्षयात्मकं नावेदयत्। कुतः? यतस्सकरुणः दयावानत एव दुःखितान् दुःखिष्यमाणान् द्रष्टुमक्षमः असहिष्यमाणः ॥ १३ ॥

अयं देववदीश्वरवत्सत्कृतो बहुमतः कञ्चित्कालं ज्येष्ठस्य भ्रातुः धृतराष्ट्रस्य श्रेयस्कृत् सर्वेषां धर्मराजादीनां प्रीतिमावहन् सुखमवात्सीत् उवास। श्रेयः कर्तुं प्रीतिं वोढुं चावात्सीदित्यर्थः। भ्रातुः श्रेयस्कारणमत्र तस्य मरणज्ञापनपूर्वकं मुक्त्युपायप्रवर्तनरूपं विवक्षितम्॥ १४ ॥

कथं तस्य तद्भावनसामर्थ्यमिति शङ्काव्युदासाय सर्वप्राणिमृत्युकालज्ञः तद्दण्डधरश्च यो यमः स एवायं विदुर इति वदन् शङ्कान्तरं च निराह — **अबिभ्रदिति**। शापात् माण्डव्यशापाद्धेतोः यमः यावच्छूद्रत्वं विदुररूपं शूद्रभावं दधार तावद्वर्षशतमर्यमा सूर्योऽघकारिषु पापिषु यथाऽघं तत्पापानुरूपं दण्डमबिभ्रत् कारयामास। अनेन यम एव विदुरश्चेत् यमाधिकारं कः कृतवान् इत्याशङ्का व्युदस्ता। यमाधिकारं स्वाधिकारं च अर्यमैवाकरोदिति भावः॥ १५॥

भ्रातुः श्रेयस्क्रियामेव प्रपञ्चयितुं तावत् तादात्विकं युधिष्ठिरादिसंस्थानप्रकारमाह — **युधिष्ठिर** इति द्वाभ्याम्। लब्धं राज्यं येन स युधिष्ठिरः कुलन्धरं कुलनिर्वाहकं पौत्रं परीक्षितं दृष्ट्वा इन्द्रादिलोकपालसदृशैः भ्रातृभिः परमया श्रिया च मुमुदे॥ १६ ॥

---

1. A,B चानुक्रमशः 2. A,B अथ 3. A,B कुर्वन् 4. A,B परया

**विज०** एकभुक्तादिव्रतेन किमिति शेषः। इह भूतले क्षेत्रप्रधानानि तीर्थानि यानि तानि सर्वाणि च सेवितानीत्यन्वयः ॥ ९ ॥

हे प्रभो! स्वात्मस्थेन गदाभृता हरिणा तीर्थभूताः भवादृशाः भागवताः गङ्गादितीर्थानि तीर्थीकुर्वन्ति, न स्वयमात्मशुद्ध्यपेक्षया तीर्थानि गच्छन्तीति शेषः॥ १० ॥

कृष्णो दैवतं येषां ते तथोक्ताः॥ ११ ॥

भ्रमता परिवर्तमानेन क्षितितलमिति शेषः। स्वेन यथानुभूतं तथा तत्सर्वमवर्णयत्, किन्तु यदुकुलक्षयं विना तीर्थयात्रायां यमुनायां भगवदाज्ञया बदरीं गच्छन्तमुद्धवं दृष्ट्वा तस्मात् विप्रशापाद्धेतोः षड्विंशद्वर्षादुपरि वाशमेष्यद्यदुकुलं श्रुत्वा तन्नावर्णयदिति भावः॥ १२ ॥

तत्किमिति नावर्णयदिति तत्राऽऽह — **तत्त्विति** ॥ १३ ॥

विदुरः किमकार्षीदिति तत्राऽऽह — **कच्चिदिति**। सुखलक्षणं श्रेयः ज्येष्ठस्य भ्रातुर्धृतराष्ट्रस्य ॥ १४ ॥

एवं भगवद्भक्तिज्ञानादिमानयं विदुरो देवेषु कस्यावतार इति तत्राऽऽह — **अबिभ्रदिति**। योऽर्यमा वैवस्वतोऽघकारिषु पापकृत्सु यथाऽघं पापमनतिक्रम्य दण्डमबिभ्रत् शिक्षामकरोत् पापफलमभोजयदित्यर्थः। स यमो माण्डव्यशापात् यावद्वर्षशतं तावच्छूद्रत्वं बभारेत्यन्वयः। माण्डव्यो नाम कश्चिदृषिः कस्मिंश्चिन्नदीतीरे तपश्चरंस्तत्र कस्माच्चिन्नगरात् चौर्यं गृहीत्वा गतैश्चोरैस्सहानुधावद्भिः नगरपालैः अज्ञानात् गृहीत्वा राज्ञे निवेद्य तदनुज्ञया शूले समारोपितोऽभूत्। तत्रापि शूले तपः कुर्वन्तमपि जाज्वल्यमानं दृष्ट्वा जनैर्निवेदितो राजा ससम्भ्रममुपागम्य शूलादवरोप्य प्रसाद्य प्रस्थापयामास। कोपेन जाज्वल्यमानेन यमसमीपं गतेन मुनिना कस्मादहं शूलमारोपित इति पृष्टो यमः तस्मात् शापमादातुकामो बाल्यावस्थायां काचित् मक्षिका शूले समारोपिता तेन दोषेणायमवस्थाविशेषः प्राप्त इति प्राह। तस्मै क्रुद्धो मुनिः शूद्रो भवेति शशाप तमिति माण्डव्यशापः ॥ १५ ॥

अथ युधिष्ठिरः किं चकारेति तत्राऽऽह — **युधिष्ठिर** इति। इन्द्रादिलोकपालसमानैः भीमादिभ्रातृभिः लब्धराज्यो युधिष्ठिरः कुलंधरं पौत्रं दृष्ट्वा परमया श्रिया सम्पदा मुमुद इत्येकान्वयः कुलं धारयतीति कुलन्धरः ॥ १६ ॥

---

1. A,B परमसम्पदा

**रा॰ कृ॰** क्षितिमण्डलं भूमण्डलं चरद्भिः पर्यटद्भिः वः युष्माभिः कया वृत्त्या कया जीविकया वर्तितम् देहपोषणं कृतम्? इह भूतले कानि तीर्थानि क्षेत्रमुख्यानि च युष्माभिस्सेवितानि? हे विभो! भवद्विधाः त्वत्तुल्याः भागवताः भगवद्भक्ताः स्वयमेव तीर्थभूतास्सन्तः स्वान्तःस्थेन स्वकीयहृदयस्थेन गदाभृता विष्णुना तीर्थानि तीर्थान्यपि तीर्थीकुर्वन्ति पवित्रीकुर्वन्ति ॥ ९, १० ॥

हे! तात! कृष्णदेवताः नः अस्माकं सुहृदः हितचिन्तकाः बान्धवाः यदवश्च अपि दृष्टाः? अथवा स्वपुर्यां सुखमासते इति श्रुता वा श्रुताः किम्? ॥ ११ ॥

इत्येवम्प्रकारेण धर्मराजेनोक्तः पृष्टः विदुरः विना यदुकुलक्षयं तत्सर्वमन्यत्सर्वं यथानुभूतं यथाज्ञातं क्रमशस्समवर्णयत् ॥ १२ ॥

नृणां स्वयमुपस्थितं प्रारब्धवशात् प्राप्तं, ननु निश्चयेन दुर्विषहमप्रियं यदुकुलक्षयरूपं सकरुणः दुःखितान् द्रष्टुमक्षमोऽसमर्थो विदुरः नाऽऽवेदयन्नाकथयत् अप्रियस्यापि सत्यस्याकथने "सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मस्सनातनः।" इति प्राचां वचनमेव प्रमाणम् ॥ १३ ॥

अथानन्तरं देववत् सत्कृतस्सविदुरः सर्वेषां धर्मराजादीनां प्रीतिभावहन् कुर्वन् ज्येष्ठस्य भ्रातुः धृतराष्ट्रस्य श्रेयस्कृत् ज्ञानवैराग्योपदेशेन श्रेयस्करस्सन् कञ्चित्कालं सुखमवात्सीत् तत्रैवावसत् ॥ १४ ॥

शापात् माण्डव्यमुनिशापात् यमो यावद्वर्षशतं वर्षशतपर्यन्तं शूद्रत्वं दधार तावत्पर्यन्तमर्यमा सूर्यः अघकारिषु पापकृत्सु यथाघं पापमनुसृत्य दण्डमबिभ्रत् अघारयद्विहितवानित्यर्थः। समवर्ती यमोऽपि माण्डव्येन शप्त इत्यहो धर्मसूक्ष्मविनिर्णयस्य दुष्करता! अपि च यमनिष्ठधर्मदण्डयोरंशयोः पूर्वस्मिन् विदुरभावमागते अपरः कालरूपी पापिनोऽशिक्षयदित्यवसेयम्॥ १५॥

लब्धराज्यो युधिष्ठिरः कुलन्धरं वंशप्रवर्तकं पौत्रं परीक्षितं दृष्ट्वा लोकपालाभैरिन्द्रादिलोकपालतुल्यैः भ्रातृभिस्सोदरैः परया श्रिया च सहितस्सन् मुमुदे मुदितवान्॥ १६॥

* अथाऽऽमन्त्र्याच्युतो बन्धून् निर्वर्त्यानुगतान् विभुः।
अर्जुनोद्धवशैनेयैः ययौ द्वारवतीं हयैः॥

एवं गृहेषु सक्तानां प्रमत्तानां तदीहया।
अत्यक्रामदविज्ञातः कालः परमदुस्तरः॥ १७॥

विदुरस्तदभिप्रेत्य धृतराष्ट्रमभाषत।

विदुर उवाच

राजन्निर्गम्यतां शीघ्रं पश्येदं भयमागतम्॥ १८॥

प्रतिक्रियां न यस्येह कुतश्चित्कर्हिचित् प्रभो!
स एव भगवान् कालः सर्वेषां नस्समागतः॥ १९॥

येन चैवाभिपन्नोऽयं प्राणैः प्रियतमैरपि।
जनस्सद्यो वियुज्येत किमुतान्यैर्धनादिभिः॥ २०॥

पितृभ्रातृसुहृत्पुत्रा हतास्ते विगतं वयः।
आत्मा च जरया ग्रस्तः परगेहमुपाससे॥ २१॥

△ अन्धः पुरैव बधिरो मन्दप्रज्ञश्च साम्प्रतम्।
विशीर्णदन्तो मन्दाग्निः संरोगः कफमुद्वहन्॥

अहो महीयसी जन्तोर्जीविताशा यथा भवान्।
भीमापवर्जितं पिण्डमादत्ते गृहपालवत्॥ २२॥

अग्निर्निसृष्टो दत्तश्च गरो दाराश्च दूषिताः।
हृतं क्षेत्रं धनं येषां तद्दत्तैरसुभिः कियत्॥ २३॥

**तस्यापि तव देहोऽयं कृपणस्य जिजीविषोः ।**
**परैत्यनिच्छतो जीर्णो जरया वाससी इव ॥ २४ ॥**

*An additional verse is found in H,K,M,V between VV 16 & 17 The commentary of Vijayadhvaja Teertha on this verse is to be found in its proper place. 1. H,V °व° 2. H,V °र्वृतो 3 H,V ययौ 4 K,M गृहे° 5. H,V,W °म° 6 AF GF °यां न पश्येऽहं 7. B,H,I,K,M,V,W °ष 8. AF,GF व° 9. H,K,M,V चेहा° 10 H,V,W °मुच्ये° △ An additional verse is found in B,H,I,N,V between VV. 21 & 22. This verse is not commented by any commentator 11 B,I सरागः 12 I °था 13 N,W भीमेनाव° 14 B °स्तु 15. K,M तदन्नै°

**श्रीध० एवमिति** । तदीहया गृहव्यापारेण प्रमत्तानाम् । अत्यक्रामदायुष्कालोऽतिक्रान्तः । यद्वा आयुश्च तान्[2] अभ्यभवदित्यर्थः ॥ १७ ॥

**विदुर इति** । अभिप्रेत्य ज्ञात्वा ॥ १८ ॥

ननु तत्प्रतीकारः क्रियतां किं निर्गमनेन ? तत्राऽऽह — **प्रतिक्रियेति** । सर्वेषामिति यैः प्रतिकर्तव्यं तेषामपीत्यर्थः ॥ १९ ॥

कथं धनादिवियोगः सोढुं शक्योऽत आह — **येन च** इति । अभिपन्नोऽभिग्रस्तः ॥ २० ॥

अत्रावस्थानमतिदैन्यमिति दर्शयन् वैराग्यमुत्पादयति — **पितृभ्रात्रिति** सप्तभिः । आत्मा च देहः ॥ २१ ॥

**अहो** इति । येन पुत्रा हतास्तेन भीमेन दत्तं पिण्डं[3] गृहपाल इव । गृहपालः श्वा ॥ २२ ॥

**अग्निरिति** । निसृष्टः[4] क्षिप्तः गरो विषम् । दूषिताः अवमताः । तद्दत्तैरन्नादिभिः लब्धैरसुभिः कियत् प्रयोजनम् ? न किञ्चिदित्यर्थः ॥ २३ ॥

**तस्येति** । तस्यापि तवैवं दैन्यमनुभवतोऽपि परैति क्षीयते अत एव धीरो भवेति ॥ २४ ॥

1. A,B omit आयुश्च 2. B adds कालः 3 B adds अन्नं 4. A,B प्रक्षिप्तः

**वीर०** एवं गृहेष्वासक्तानां तदीहया गार्हीयचेष्टया प्रमत्तानाम् अविदितमृत्युकालानाम्, कर्तरि षष्ठी । तैः अविज्ञातः परमस्सर्वं वशीकुर्वन् अत एव दुस्तरः । कस्याप्यवश्यः कालोऽत्यक्रामत् अतिक्रान्तवान् । तदीहया अविज्ञात इति वाऽन्वयः । युधिष्ठिरादीनां विषयानुभवकालो व्यतिक्रान्तो बभूवेत्यर्थः ॥ १७ ॥

भ्रातुः श्रेयस्क्रियाप्रकारं प्रपञ्चयति — **विदुर** इत्यादिभिः दशभिः । तं कालातिक्रममभिप्रेत्य विदुरः धृतराष्ट्रमभाषत । तदेवाऽऽह — राजन्नित्यादिसार्धैर्नवभिः । हे! राजन्! इतः शीघ्रं निर्गम्यताम् त्वयेति शेषः । आगतमुपस्थितमिदं भयं पश्य आलोचय ॥ १८ ॥

किं तत् तत्राऽऽह — **प्रतिक्रियेति**। कुतश्चिदपि हेतोः कदाचिदपि यस्य भयस्य प्रतीकारः निवारणं नास्ति स एष भगवान् भगवन्नियाम्यः सर्वेषां नः अस्माकं कालः मृत्युकालः समागतः संमुपस्थितः ॥ १९ ॥

गृहासक्तिं त्याजयितुं कालं विशिंषन्नाह — **येन** इति। अयं परिदृश्यमानो जनः येन मृत्युकालेन अभिपन्नः अभिपद्यमानः प्रियतमैः निरतिशयप्रियैः प्राणैरपि सद्यो विमुच्येत त्यज्येत। अन्यैः प्राणानुबन्धिभिः धनादिभिः मुच्येत इति किं वक्तव्यम्? स कालस्समागत इत्यन्वयः ॥ २० ॥

विरक्तिमुत्पादयितुं तस्यावस्थां वर्णयति — **पित्रि**त्यादिभिश्चतुर्भिः। तव पित्रादयो हता मृताः। वयो यौवनञ्चापगतम्। आत्मा देहो जरया च ग्रस्तः। तथाऽपि परेषां शत्रूणां गेहमुपाससे जीवनार्थमिति शेषः ॥ २१ ॥

जीविताशां त्याजयितुं विस्मयमान आह। अहो जन्तोः जीविताशा महीयसी बलीयसी, यया जीविताशया भवान् भीमेनावर्जितं परिभूय दत्तं पिण्डं कबलमादत्ते स्वीकरोति अंत्तीति यावत्। गृहपालः श्वा तद्वत् ॥ २२ ॥

पिण्डस्य भीमापवर्जितत्वख्यापनाय भीमादीनां शत्रुत्वं प्रख्यापयन् तदपवर्जितपिण्डेन प्राणधारणमतिही-नमित्याह — **अग्निरिति**। येषाम् इत्यस्याग्न्यादिभिः प्रत्येकमन्वयः। येषामग्निः निसृष्टः लाक्षागृहेष्विति शेषः। येषां गरो विषं दत्तम्, येषां च दाराः द्रौपदी दूषिताः, कचग्रहणवस्त्रापहरणादिभिः दूषिताः, येषां च धनं क्षेत्रं राज्यं च अपहृतं, सर्वं त्वयेति बोद्धव्यम्। तत्र त्वत्पुत्रैरिति कर्तृपदं बोध्यम्। तद्दत्तैः तदपवर्जितैः पिण्डदानायत्तत्वात् तद्दत्तैरित्युक्तम्। असुभिः प्राणैः कियत् नकिञ्चित् अतिहीनमिदं जीवनमित्यर्थः ॥ २३ ॥

विधिविधेयं प्रारब्धमनुभोव्यमेवेति, तत्र जीविताशां त्याजयितुमेव विशिंषन्नाह — **तस्येति**। तस्य तद्दत्तासोः कृपणस्य जीवितुमिच्छोरप्यनिच्छतः देहत्यागमनिच्छतोऽपि तव देहः इति शेषः। जीर्णे वाससी इव जरया देहः परैत्यपगमिष्यत्येव ॥ २४ ॥

---

1. A omits समुपस्थितः 2 A,B omit मृत्यु° 3 A,B omit अत्ति 4 W °मत्यत्तं निही° 5 A,B °नायित° 6 W निहीन° 7 W जीवित° 8 W किं विधे° 9 A,B °भूय° 10 A,B हृदः

**विज**° * ययौ द्वारवतीं इत्युक्तश्रीकृष्णप्रयाणशेषमाह — **अथेति**। अथ विभुः व्याप्तः अच्युतः आगमिष्यामीति आमन्त्र्य सम्भाष्य यान्तमनुगतान् बन्धून् निर्वर्त्य अर्जुनादियुक्तो हयैः युक्तेन रथेन द्वारवतीं ययावित्येकान्वयः ॥

अधुना धृतराष्ट्रस्य स्वर्गप्राप्तिप्रकारं वक्तुमुपक्रमते — **एवमिति**। एवमुक्तप्रकारेण हरिपरायणानां पाण्डवादिवत् यः काल एकमपि क्षणमवन्ध्यतां नेतुं शक्यस्स कालो हरिविमुखानां गृहेषु पुत्रमित्रादिलक्षणेषु केवलं शिश्नोदरम्भरतया सक्तानां गृहपोषणधनान्वेषणप्रयत्नैः प्रमत्तानां विस्मृतपरमात्मतत्त्वानाम् अत एव अविज्ञातोऽत्यक्रामत् अतिक्रान्तोऽभूदित्येकान्वयः ॥ १७ ॥

तत्कालस्यातिक्रमणं, विदुर इति नाम सार्थं साधयन्, निर्गम्यतां गृहादिति शेषः। प्राप्तमिदं मरणभयं पश्येत्यन्वयः ॥ १८ ॥

यस्य कालस्य कुतश्चित्कारणात् कर्हिचिदपि प्रतिक्रिया निवर्तनक्रिया नास्ति स एष भगवान् कलरूपो[1] नः सर्वेषां समागतः शरीरवियोगकारणाय प्राप्त इत्यन्वयः ॥ १९ ॥

इतोऽपि निर्गमनमुचितमित्याह — **येन** इति। इह जीवलोके येन कालरूपिणा हरिणाऽभिपन्नो ग्रस्तोऽयं जनोऽतिशयेन हृदयङ्गमैः प्राणैरपि वियुज्येत अन्यैः धनादिभिर्वियुज्येत इति किमुतेत्यन्वयः ॥ २० ॥

अस्तु ममापि मरणं, ततः किमिति तत्राऽऽह — **पित्रिति**। तव पित्रादयो हता वयश्च विगतम् आत्मा देहश्च जरया ग्रस्त इति यत् तथाऽपि त्वं परगेहमुपाससे न श्रेयस्साधनाय ईहसे मृतस्य तव अतः परलोके न सुखावाप्तिरित्यर्थः ॥ २१ ॥

परलोके सुखं नेतिचेदिहैव दीर्घजीवितमस्त्वित्यभिप्रायश्चेत्[2] तर्हि त्वं निरपत्रप इत्यभिप्रेत्याह — **अहो** इति। जन्तोर्जीविताशा बहुकालं जीवामीत्याशा इच्छा महीयसी महत्तरा। अहो अज्ञानातिरेको, यया जीविताशया भवान् **भीमापवर्जितं** भीमेन तिरश्चीनहस्तेन दत्तं पिण्डमादत्ते; क इव गृहपालवत् सारमेय इव ॥ २२ ॥

ननु विषम उपन्यासः, कनिष्ठपुत्रत्वेन मत्पुत्रत्वात् तद्दत्तान्नेन शरीरपोषणमुचितमिति चेत् सत्यम्, विषदानादिना त्वया अपराद्धत्वात्तद्दत्तं विषोपममित्यभिप्रेत्य आह — **अग्निरिति**। अग्निदाहाद्यपराधाः त्वया येषां कृताः तेषामन्नैः पुष्टैरसुभिः कियत् प्रयोजनं, लज्जाकरत्वात् मृतिरेव गरीयसी अतो निर्गम्यतामित्यन्वयः ॥ २३ ॥

युधिष्ठिरादीनां मयि तात्पर्यात् न निर्जिगमिषामीति[3] चेत्, तत्राऽऽह — **तस्येति**। जरया ग्रस्ते वाससी इव वस्त्रे इव यथा तथाऽनिच्छतो जिजीविषोः[4] जीवितुं इच्छोः कृपणस्य परान्नाद्ननिरतस्यापि तवायं जीर्णो देहः परैति निरस्तासुः स्यात् अतो देहस्य अनित्यत्वात् निर्गच्छ त्वम् इति वदामीति भावः ॥ २४ ॥

---

* Commentary on additional V. 1. K,M °पी 2. B,K,M °जीवन° 3 B,K,M °ष्या° 4. B,K,M °च्छत्विति

**रा० कृ०** एवमुक्तप्रकारेण गृहेषु सक्तानां तदीहया गृहेच्छया प्रमत्तानां विस्मृतकर्तव्यानां जनानामिति शेषः। परमदुस्तरः कालः अविज्ञातः केनाप्यविदितः अत्यक्रामत् अतिक्रान्तवान् ॥ १७ ॥

तं कालातिक्रममभिप्रेत्य मनसि निधाय विदुरः धृतराष्ट्रमभाषत वक्ष्यमाणप्रकारेण **अवोचत्** हे राजन्! आगतमुपस्थितमिदं भयं पश्य जानीहि शीघ्रं निर्गम्यतां इतस्त्वया बहिर्गम्यताम् ॥ १८ ॥

हे प्रभो! इह अस्मिन् संसारे कुतश्चित् कस्मादपि ब्रह्मादेरपि इति यावत्। कर्हिचित् कदाऽपि यस्य कालस्य प्रतिक्रिया प्रतीकारः न, नास्ति, स एष भगवान् भगवत्स्वरूपः कालः अन्तकालः नः अस्माकं सर्वेषां समागतः सम्प्राप्तः ॥ १९ ॥

किञ्च येन कालेनाभिपन्नः आक्रान्तः अयं दृश्यमानो जनः प्रियतमैरपि प्राणैः सद्यः विमुच्येत वियुज्येत। अन्यैः प्राणानुबन्धिभिः धनादिभिः किमुत? विमुच्येतेति किमु वक्तव्यम्। सः कालः समागत इति पूर्वेणान्वयः ॥ २० ॥

ते तव पितृभ्रातृसुहृत्पुत्राः हता निहताः वयः यौवनं विगतम्। आत्मा च देहश्च जरया वार्धक्येन ग्रस्तः कबलितः। तथाऽपि परगेहं परेषां गृहमुपाससे जीवनार्थमिति शेषः॥ २१ ॥

△केवलं दाक्षिणात्यपुस्तकेषु दृश्यमानोऽप्ययं श्लोकः व्याख्यायते।

पुरैव प्रागेव अन्धस्त्वमिति शेषः। साम्प्रतं बधिरः मन्दप्रज्ञः विशीर्णदन्तः मन्दाग्निः मन्दीभूतजठराग्निः सरोगः रुग्णः कफमुद्वहन् उद्वमन् एवम्भूतस्सन्नपि जीवनार्थं परगृहमाश्रयसे इति भावः॥

जन्तोः प्राणिनः जीविताशा अहो! महीयसी अतिशयेन महती, यया जीविताशया भवान् भीमापवर्जितं भीमेन शत्रुभूतेनापवर्जितं निसृष्टं पिण्डं कबलं गृहपालवत् गृहरक्षणे नियुक्तश्शुनक इव आदत्ते स्वीकरोति॥ २२ ॥

येषां पाण्डवानामग्निः निसृष्टः दत्तः दहनार्थमिति शेषः। गरश्च विषं च दत्तः भोजनार्थम् दत्तम्। दाराश्च पत्नी द्रौपद्यपि दूषिताः कचग्रहणवस्त्रापकर्षणादिना अवमानिता। क्षेत्रं धनं चापहृतम् त्वयेति शेषः। तद्दत्तैः तैः भीमादिभिः दत्तैः अन्नादिभिस्संरक्षितैः असुभिः प्राणैः कियत् किं फलम्? न। न किमपि इत्यर्थः॥ २३ ॥

तस्य तादृशस्य कृपणस्य दीनस्य जिजीविषोः जीवितुमिच्छतः अनिच्छतोऽपि देहत्यागमनिच्छतोऽपि तवायं देहः जरया जीर्णस्सन् वाससी इव वस्त्रे इव परैति क्षीयते॥ २४ ॥

**गतस्वार्थमिमं[1] देहं विरक्तो[2] मुक्तबन्धनः।**
**अविज्ञातगतिर्जह्यात् स वै धीर उदाहृतः॥ २५ ॥**

**यः स्वकात्परतो[3] वेह जातनिर्वेद आत्मवान्।**
**हृदि कृत्वा हरिं गेहात्[4] प्रव्रजेत् स नरोत्तमः॥ २६ ॥**

**अथोदीचीं दिशं यातु स्वैरज्ञातगतिर्भवान्।**
**इतोऽर्वाक् प्रायशः कालः पुंसां गुणविकर्षणः॥ २७ ॥**

**एवं राजा विदुरेणानुजेन प्रज्ञाचक्षुर्बोधितं[5] आजमीढः।**
**छित्त्वा स्वेषु स्नेहपाशान् द्रढिम्नो निश्चक्राम भ्रातृसन्दर्शिताध्वा॥ २८ ॥**

**पतिं प्रयान्तं सुबलस्य पुत्री पतिव्रता चानुजगाम[6] साध्वी।**
**हिमालयं न्यस्तदण्डप्रहर्षं मनस्विनामिव सत्समग्रहारः[10]॥ २९ ॥**

अजातशत्रुः कृतमैत्रो[11] हुताग्निर्विप्रान् नत्वा तिलगोभूमिरुक्मैः[12]।
गृहं प्रविष्टो गुरुवन्दनाय नैं[14] चापश्यत् पितरौ सौबलीं च ॥ ३० ॥

तत्र सञ्जयमासीनं पप्रच्छोद्विग्नमानसः।
गावल्गणे[15] क्व नस्तातो[16] वृद्धो हीनश्च नेत्रयोः ॥ ३२ ॥

अम्बा च[17] हतपुत्राऽऽर्ता पितृव्यः क्व गतस्सुहृत्[18]।
अपि मय्यकृतप्रज्ञे हतबन्धुस्सभार्यया[19]।
आशंसमानश्शमलं गङ्गायां दुःखितोऽपतत् ॥ ३२ ॥

---

1. W °दं 2. K,M °मुं° 3. AF,GF °म° 4. K,M स्वतः प° 5. AF,GF सम्यक् प्र° 6. H,V °तश्चा°; W °तो ह्या° 7. W °गता च 8. K,M °मवसत् संविहारम् 9 B सन् स° 10. AF,GF °सारम् 11. AF,GF °त्रसत्क्रियो वि° 12. AF,GF वसु° 13. H,K,M,V °वस्त्र° 14 AF,GF परं न पश्यत् 15 K,M °दृ° 16. AF,GF यातोऽसौ 17. B,H,K,M,V,W वा 18. K,M गतो इतः ; AF,GF गत स्सुकृत् 19. H,K,M,V °स्स्व°

**श्रीध०** किंलक्षणो धीर इत्यपेक्षायामाह — **गतेति**। गतस्वार्थं यशोधर्मादिशून्यं मुक्तबन्धनस्त्यक्ताभिमानः क्व गत इत्यविज्ञाता गतिर्यस्य स धीरः प्राप्तदुःखस्य स्वयं सहनेन मुक्तिं प्राप्तः ॥ २५ ॥

**य** इति। नरोत्तमस्तु ततः प्रागेव कृतप्रतीकारः स्वकात् स्वत एव परतः परोपदेशतो वा ॥ २६ ॥

त्वन्तु नरोत्तमो नाभूः अत इदानीं धीरो भवेत्याह — **अथेति**। अर्वागर्वाचीनः। एण्यन्नित्यर्थः। गुणान् धैर्यदयादीन् विकर्षत्याच्छिनत्तीति तथा ॥ २७ ॥

**एवमिति**। आजमीढः अजमीढवंशजः। प्रज्ञाचक्षुरन्धः। एवं बोधितस्सन्। द्रढिम्नश्चित्तदार्ढ्यात्। भ्रात्रा सन्दर्शितोऽध्वा बन्धमोक्षयोः मार्गो यस्य सः ॥ २८ ॥

**पतिमिति**। सुबलस्य पुत्री गान्धारी साध्वी सुशीला हिमालयं प्रयान्तं पतिमनुजगाम। ननु कथं सा सुकुमारी हिमादिदुःखबहुलं हिमवन्तं गता अत आह। न्यस्तदण्डानां संन्यासिनां प्रहर्षो यस्मिंस्तम्। दुःखदमपि केषाञ्चित् प्रहर्षहेतुर्भवतीत्यत्र दृष्टान्तः मनस्विनां शूराणां युद्धे सन् तीव्रः सम्प्रहारो यथा। पाठान्तरे सत्सम्प्रहारं युद्ध यथेति ॥ २९ ॥

**अजातशत्रुरिति**। कृतं मैत्रं मित्रदैवत्यं सन्ध्यावन्दनं येन। नत्वा सम्पूज्य पितरौ विदुरधृतराष्ट्रौ सौबलीं गान्धारीं नापश्यत् ॥ ३० ॥

**तत्रेति**। हे गावल्गणे ) गावल्गणस्य पुत्र! सञ्जय! ॥ ३१ ॥

**अम्बेति**। सार्धश्लोकमेकं वाक्यम्। अकृतप्रज्ञे सन्दमतौ शमलमपराधमाशंसमानः आशङ्कमानः। **भार्यया सह** ॥ ३२ ॥

---

1. A मुक्तिप्राप्तेः ॥ २५ ॥ ; B मुक्तिप्राप्तेः वै निश्चितम् ॥ २५ ॥ 2. B adds पूर्वं 3. B मा° 4. H,V कालः उत्तरकालः **अर्वाक्** निकृष्ट इति वा गुणविकर्षणः 5 H,V वन° 6 A,H,V omit **सन्यासिनां** 7 B adds कथञ्चित् 8 A ग°

**वीर**° तर्हि ज्ञातिसन्निधावत्रैव परैत्वित्यत्राऽऽह — **गतेति**। गतः स्वार्थः स्वापेक्षितपुरुषार्थो यस्मात् **तमिमं** देहं यो जह्यात् त्यजेत्। कथम्भूतः विरक्तः देहादिषु स्पृहारहितः। मुक्तानि बन्धनानि संसृतिबन्धकानि पुण्यपापात्मकानि येन अविज्ञाता ज्ञातिभिरज्ञाता गतिः देहत्यागलोकान्तरप्राप्तिरूपा यस्य सः स एव धीरः योगी उदाहृतः ॥ २५ ॥

किञ्च, स्वकात् स्वस्मात् परतः अन्यस्मात् अन्योपदेशाद्वा इह जातो निर्वेदो वैराग्यं यस्य सः यः **पुमान्** आत्मवान् जितेन्द्रियः हरिमाश्रितानां संसृतिबन्धहरं भगवन्तं हृदि कृत्वा विधाय ध्यानेन सन्निधाप्य गेहात् **प्रव्रजेत्** निर्गच्छेत् स एवं नरेषूत्तमः। त्वमेवं कुर्विति भावः ॥ २६ ॥

तदेवाऽऽह — **अथ** इति। अतः स्वैर्ज्ञातिभिः अज्ञाता गतिर्यस्य स भवानुदीचीं दिशं यातु। **तत्र** हेतुमाह — इतोऽर्वाक् इतोऽनन्तरं कालः प्रायशः पुंसां गुणानात्मगुणान् अक्रोधादीन् विकर्षत्यपनुदत इति **तथाभूतः**। नन्द्यादित्वाल्ल्युः। यद्वा इतोऽनन्तरकालात् अर्वागधरः निकृष्टः कलिकाल इति यावत्। अर्वाक्त्वमेवाह गुणविकर्षण इति। गुणविकर्षणः उक्तार्थः ॥ २७ ॥

एवमित्थम् अनुजेन विदुरेण बोधित आजमीढः अजमीढवंशजः एतच्च नवमे स्फुटम्। प्रज्ञैव **चक्षुर्यस्य** अन्ध इति भावः। यद्वा अन्धत्वेऽपि प्रज्ञया चक्षुःस्थानीयया सर्वं साक्षात्कुर्वाणः राजा धृतराष्ट्रः, भ्रात्रा **विदुरेण** सन्दर्शितः अध्वा गन्तव्यदेशाध्वा यस्य सः अनेन विदुरोऽपि तेनैव सह निरगादिति सूच्यते। द्रढिम्नः नितरां **दृढान्** दृढमूलान् स्वेषु देह-तदनुबन्ध्यादिषु स्नेहा अनुरागाः त एव पाशाः पाशवत् बन्धहेतुत्वात् तान् छित्वा **निश्चक्राम** गृहादिति शेषः ॥ २८ ॥

**पतिमिति**। सुबलस्य पुत्री गान्धारी न्यस्तः त्यक्तो दण्डो भूतद्रोहो यैः तेषां सर्वभूतसुहृदां योगिनां **प्रहर्षं** हर्षकरं हिमालयं प्रति यान्तं गच्छन्तं पतिमनुजगाम। युक्तं चैतदित्यभिप्रायेण तं विशिनष्टि पतिव्रता साध्वी चेति। मनस्विनामिवेति स धृतराष्ट्रनिर्गम इत्यध्याहारः। स निर्गमः मनस्विनां विवेकिनां सम्प्रहार इव सन् अवस्थितः। मनस्विनामुद्बोधक इवावर्ततेत्यर्थः ॥ २९ ॥

ततोऽजातशत्रुर्हता अग्नयः आहवनीयादयो येन तथाभूतः अनेन रात्रावेव धृतराष्ट्रो निरगादिति सूचितम्। तिलादिभिः सत्कृत्य विप्रान् नत्वा पित्रोः कृतं मैत्रं येन सः अत एव गुर्वोः गान्धारीधृतराष्ट्रयोः वन्दनाय तयोर्गेहं प्रविष्टः। पितरौ धृतराष्ट्रविदुरौ सौबलीं गान्धारीं नापश्यत् न ददर्श। पितराविति द्विवचनेन विदुरो विवक्षितः, सौबल्याः गान्धार्याः पृथगुपादानात् ॥ ३० ॥

ततस्तत्र धृतराष्ट्रगृहेष्वासीनम् उपविष्टं सञ्जयं धृतराष्ट्रस्य गीतोपदेष्टारं अजातशत्रुः पप्रच्छ। कथम्भूतः? उद्विग्नं भीतं मानसं यस्य तथाभूतः। प्रश्नमेवाह — गावल्गणे इत्यादिभिस्त्रिभिः। हे गावल्गणे! सञ्जय! नः अस्माकं तातः पिता नेत्रयोः नेत्राभ्यां हीनः रहितः वृद्धश्च क्व गतः? हताः पुत्राः यस्याः सा अत एवाऽर्ता दुःखिता च माता[12] गान्धारी च क्व गता तथा पितृव्यः पितृभ्राता सुहृच्च विदुरः क्व गतः? अपीत्यपिशब्दः सम्भावनाद्योतकः, प्रश्नद्योतको वा॥ ३१॥

हताः मया हताः बन्धवः पुत्रा यस्य सः अत एव दुःखितः भार्यया सहाकृतप्रज्ञे विवेकरहिते[13] मयि दोषं शमलमपराधमिति यावत्। आशंसमानः चिन्तयन् गङ्गायां अपतत् पतितवान् स्यात् पतितवान् किमिति वाऽर्थः॥ ३२॥

---

1 W राग° 2 W °बन्धाधायकानि 3 W °प्राप्तिप्रकाररूपा 4 A,B omit स्वस्मात् 5 A,B omit निर्गच्छेत् 6 W °ष 7 W °कालः 8 W बन्धन° 9 A,B तां 10 A,B omit सन् अव° 11 A,B omit पित्रोः 12 W अम्बा 13 W °हीने

**विज०** ननु प्रथममेव पतिष्यतीति देहमुपेक्षमाणस्य आत्महननाख्यदोषानुषङ्ग इति तत्राऽऽह — **गतेति**। गतः **स्वार्थः** ऐहिकामुष्मिकसुखसाधनो यस्मात् स तथोक्तः तमिमं देहं देहाभिमानम्। मुक्तः तदनु भार्यादिस्नेहानुबन्धात् मुक्तोऽविज्ञातगतिरन्यैर्जनैः अनवबुद्धारण्यादिगतिः जह्यात् स वै एव धीरो विवेकज्ञान्युदाहृतः। तस्मात् पुरुषार्थसाधनायोग्यदेहहानौ दोषाभावात् निर्जनवनं गत्वा तपश्चर्यया शरीरमिदं साधितस्वार्थं कुर्विति भावः॥ २५॥

इतोऽपि प्राप्तवनस्य तव तपस्साधनमेव श्रेयस्करमिति वक्तीत्याह — **य** इति। यः स्वतः स्वबुद्ध्या परतः परबोधनेन वा जातनिर्वेद उत्पन्नवैराग्यः, आत्मवान् वशीकृतमना हरिं हृदि कृत्वा गेहात् प्रव्रजेत् स नरोत्तमः पुरुषश्रेष्ठ इत्येकान्वयः॥ २६॥

अथ तस्मात् भवानुदीचीं दिशं यातु। कथम्भूतः? स्वैरज्ञातगतिः[2] न तु स्वैः पाण्डवैः अविज्ञातगतिः पाण्डवानुज्ञयैव तस्य वनवासाय गत्युक्तेः। कथं तर्हि शब्दयोजना? स्वैरिणीशब्दार्थवत् स्वेच्छानुसारेण ज्ञाता गतिर्यस्य, न परेच्छातः स तथोक्त इति विवरणोपपत्तेः। अन्यथा अविज्ञातगतिरित्येतदपहसितं स्यात्। इतोऽर्वाक् पूर्वतनः कालः पुंसामधिकारिणां ज्ञानभक्त्यादिगुणसामग्र्यापादकः, इत उपरितनः कालः प्रायेण गुणेषु विषयेषु विकृष्य नाशयतीति गुणविकर्षणो विविच्य दर्शयतीति वा वेदस्य वा विकर्षणमित्युक्तेः॥ २७॥

एवमुक्तप्रकारेणानुजेन विदुरेण बोधितोऽतः प्रज्ञानमेव चक्षुर्यस्य स तथा, स्वतो जात्यन्धः। प्रज्ञया चष्टे पश्यति न तु मांसदृष्ट्येति वा आजमीढः अजमीढवंशोद्भवः आजेन ज्ञानेन मीढः सिक्त इति वा, मिह सेचन इति धातोः। द्रढिम्नो दृढतरान् स्वेषु स्नेहाख्यपाशान् छित्वा भ्रात्रा विदुरेण सम्यग्दर्शित उभयविधो वैदिकलौकिकाख्योऽध्वा मार्गो यस्य स तथोक्तो राजा धृतराष्ट्रो निश्चक्राम निर्गतो बभूवेत्येकान्वयः। गृहादिति शेषः॥ २८॥

सुबलस्य पुत्री गान्धारी पतिशुश्रूषैव व्रतं यस्याः सा तथोक्ता। प्रयान्त पतिमनुजगामेत्यन्वयः। चकारात् कुन्ती च गत्वा कुत्रावसदिति तत्राऽऽह — **हिमालयमिति**। कायवाङ्नोभिर्न्यस्तः परित्यक्तो भूतद्रोहलक्षणो दण्डो यैः

तेषां प्रकर्षेण हर्षं जनयतीति न्यस्तदण्डप्रहर्षम्। अत एव मनस्विनां वशीकृतेन्द्रियग्रामाणां सन्न्यासिनां सम्यग्विहारं क्रीडास्थानं हिमालयं हिमवन्तं पर्वतं गत्वा तत्र बदरिकाश्रमे अवसदित्यन्वयः ॥ २९ ॥

इदानीं युधिष्ठिरस्य मनसि तपस्तपतो धृतराष्ट्रस्य प्रायेण मृतिरभूत् तथाविधशकुनप्रतिभासादित्यभिप्रेत्याह — **अजातशत्रुरिति**। मित्रः सूर्यः तद्विषयं कर्म मैत्रं सन्ध्योपासनादि तत्कृतं येन स कृतमैत्रः। गार्हपत्याद्यग्निषु हुतं येन स हुताग्निः। तिलगोवस्त्ररुक्मैः विप्रांस्तर्पयित्वा रुक्मं सुवर्णं च दत्वा पित्राद्युपवेशनस्थले पित्रादिगुरुवन्दनाय पितृगृहान् प्रविष्टोऽजातशत्रुस्तदायतनं नमस्कुर्वन् पितरौ कुन्तीधृतराष्ट्रौ सौबलीं गान्धारीं मनसा जीवन्तौ नापश्यत्; सम्प्रति ते मृता इति तस्य मनसि तथा प्रत्यभादित्यन्वयः पितरावित्यत्र पितृशब्देन विदुरोऽत्र नाभिप्रेतः, तस्य शूद्रजातित्वेन अवन्द्यत्वात्। धृतराष्ट्रादिमृतेः पूर्वं युधिष्ठिरेणैकीभूतत्वाच्च न चापश्यत् इत्यस्यानुक्त्वा धृतराष्ट्रगमनार्थाङ्गीकारे भारतादौ युधिष्ठिराद्यनुज्ञया गत्युक्तेः तद्विरोधो दुर्वारः ॥ ३० ॥

मनसि प्रतीतपितृस्वर्याणस्य युधिष्ठिरस्य तन्मरणानन्तरं तदवसरे तत्र आगत्य आसीनं सञ्जयं प्रति पारलौकिकगतिप्रश्नमाह — **तत्रेति**। गवल्गणस्यापत्यं गावल्गणिः, तस्य सम्बुद्धिः हे गावल्गणे! नस्तातः क्व कं लोकं प्रति गतः? कथम्भूतः? नेत्रयोरिति तृतीयार्थे षष्ठी, नेत्राभ्यां हीनो नेत्रयोर्योगेन वा। वृद्धः जरया च ग्रस्तोऽम्बा कुन्ती वा, हतपुत्रत्वादार्ता गान्धारी च परत्र लोकं कम्प्रति गते? पितृव्यो धृतराष्ट्रः क्व गत इति पुनः प्रश्नस्तात्पर्यातिशयात् ॥ ३१ ॥

धृतराष्ट्रस्य मरणकाले स्वस्मिन् प्रियाप्रियविवेकं तस्य मरणप्रकारं च पृच्छति — **अपीति**। अकृतप्रज्ञे अशिक्षितबुद्धौ मयि स्वभार्यया सह शमलं पापमपराधमाशंसमानो हतबन्धुः दुःखितस्सन् गङ्गायामपतदपि? बन्धून् मारयित्वा स्वयं राज्यमादाय मां निष्कासितवानिति शमलबुद्धिर्नाभवत् किम्? तद्दुःखातिशयादेव गङ्गायां पतित्वा मृतो नन्विति भावः ॥ ३२ ॥

---

1. B,K,M °क्ष्य° 2 K,M add विविक्तगतिः 3 K,M °द्व° 4 K,M °द्व° 5 K,M °द्व° 6 B,K,M add सर्वान्

**रा॰ कृ॰** विरक्तो मुक्तबन्धनः, अत एव पुत्रदारादिषु आसक्तिरहितः अविज्ञातगतिः अज्ञातप्रयाणः यः इह गतस्वार्थं नष्टपुरुषार्थं इमं देहं जह्यात् त्यजेत्, स वै स एव धीरः उदाहृतः कथितः ॥ २५ ॥

यः स्वकात् स्वत एव परतो वा अन्यस्माद्वा परोपदेशादिति यावत्। इहास्मिन् संसारे जातनिर्वेदस्सं-जातवैराग्यः आत्मवान् विदितात्मपरमात्मतत्त्वः हरिं विष्णुं हृदि मनसि कृत्वा निधाय गेहात् गृहात् प्रव्रजेत् निर्गच्छेत् स नरोत्तमः नरश्रेष्ठः भवतीति शेषः ॥ २६ ॥

अतः भवान् स्वैः ज्ञातिभिरज्ञातगतिः अज्ञातगमनः अथानन्तरं, शीघ्रमेवेति यावत्। उदीचीं उत्तरां दिशं यातु गच्छतु। इतोऽर्वाक् इतोऽनन्तरं कालः प्रायशः पुंसां गुणविकर्षणः गुणानां विवेकादीनां विकर्षणः विनाशकः भविष्यतीति शेषः ॥ २७ ॥

एवमित्थमनुजेन विदुरेण बोधितः प्रबोधितः आजमीढः अजमीढवंशसञ्जातः प्रज्ञाचक्षुः बहिरन्धोऽपि तदा अन्तर्यामिणा भगवता सम्पादितप्रज्ञालोकनः राजा धृतराष्ट्रः स्वेषु स्वकीयेषु धनदारादिषु द्रढिम्नः अतिदृढतरान् स्नेहपाशान् अनुरागबन्धान् छित्त्वा भ्रातृसन्दर्शिताध्वा भ्रात्रा विदुरेण सन्दर्शितः अध्वा निवृत्तिमार्गः यस्य तथाभूतस्सन् निश्चक्राम गृहात् निर्जगाम ॥ २८ ॥

पतिव्रता साध्वी सुशीला सुबलस्य पुत्री गान्धारी न्यस्तदण्डप्रहर्षं न्यस्तदण्डानां त्यक्तभूतद्रोहाणां सर्वभूतसुहृदामिति भावः। प्रहर्षं अधिकहर्षदायकं हिमालयं प्रयान्तं पतिमनुजगाम अनुससार। किञ्च मनस्विनां शूराणां सत्संप्रहार इव युद्धे तीव्रः प्रहार इव तस्याः धृतराष्ट्रानुगमः न दुःखावहः, किन्तु हर्षहेतुरेवाभवदिति शेषः।

अत्र गान्धार्या साधकस्यावश्यकं वैराग्यं मृत्युतिरस्कारिधैर्यं च सूचिते ॥ २९ ॥

कृतमैत्रः विहितसन्ध्यावन्दनः हुताग्निः अजातशत्रुः युधिष्ठिरः तिलगो (वस्त्र) भूमिरुक्मैः तिलैः धेनुभिः भूम्या सुवर्णैश्च सत्कृत्येति शेषः। विप्रान् ब्राह्मणान् नत्वा नमस्कृत्य गुरुवन्दनाय गुरूणां पूज्यानां धृतराष्ट्रादानां वन्दनाय नमस्काराय गृहं धृतराष्ट्रगृहं प्रविष्टः, पितरौ धृतराष्ट्रविदुरौ, सौबलीं गान्धारीं च नापश्यत् ॥ ३० ॥

अनन्तरं धर्मजः उद्विग्नमनाः भीतचित्तः तत्र धृतराष्ट्रगृहे आसीनमुपविष्टं सञ्जयं पप्रच्छ — हे गावल्गणे! गवल्गणपुत्र! सञ्जय! नेत्रयोः नेत्राभ्यां हीनः रहितः वृद्धश्च नस्तातः क्व? कुत्र गतः? हतपुत्रा अत एव आर्ता दुःखिता अम्बा वा माता गान्धारी वा क्व गता? सुहृत्पितृव्यः पितृभ्राता विदुरश्च क्व गतः? हतबन्धुः मया निहतपुत्रः अत एव भार्यया सहेति शेषः। दुःखितः सः धृतराष्ट्रः अकृतप्रज्ञे विवेकहीने मयि शमलमपराधं मम पुत्रान् अयं हतवान् मामपि हनिष्यतीत्याकारकमाशंसमानः गङ्गायाम् अप्यपतत्?, अपतत् किम्? ॥ ३१, ३२ ॥

पितर्युपरते पाण्डौ सर्वान्नः सुहृदः शिशून्।
अरक्षतां व्यसनतः पितृव्यौ क्व गतावितः ॥ ३३ ॥

सूत उवाच

कृपया स्नेहवैक्लव्यात् सूतो विरहकर्शितः।
आत्मेश्वरमचक्षाणो न प्रत्याहातिपीडितः ॥ ३४ ॥

विमृज्याश्रूणि पाणिभ्यां विष्टभ्यात्मानमात्मना।
अजातशत्रुं प्रत्यूचे प्रभोः पादावनुस्मरन् ॥ ३५ ॥

सञ्जय उवाच

नाहं वेद व्यवसितं पित्रोर्वः कुलनन्दन!
गान्धार्या वा महाबाहो मुक्तोऽस्मि महात्मभिः ॥ ३६ ॥

*II अथाऽऽजगाम भगवान् नारदस्सह तुम्बुरुः ।
प्रत्युत्थायाभिवाद्याऽऽह सानुजोऽभ्यर्चयन्निव ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

*III नाहं वेद गतिं पित्रोर्भगवन् क्व गतावितः[10] ।
अम्बा वा हतपुत्राऽऽर्ता क्व गता च[11] तपस्विनी ॥ ३८ ॥

*IV दिष्ट्या नो भगवान् दृष्टो मग्नानां व्यसनार्णवे ।
कर्णधार इवापारे भगवान्[12] पारदर्शकः[13] ॥

*V इत्थं पृष्टस्सदेवर्षिः धर्मपुत्रेण भार्गव ।

सूत उवाच

अथाऽऽब्रभाषे[14] भगवान्नारदो मुनिसत्तमः ॥ ३९ ॥

नारद उवाच

मा कञ्चन शुचो राजन् यदीश्वरवशं जगत् ।

*VI लोकास्सपाला यस्येमे वहन्ति बलिमीशितुः ॥

*VII स संयुनक्ति भूतानि स एव वियुनक्ति च ॥ ४० ॥

---

1. B °र्वि° 2. H,V °ज्य पाणिनाऽश्रूणि 3. H,V भर्तुः 4 H,V अहं व्यवसितं राजन् ! ; K.M अहं च व्यंसितो राजन् 5 B वेद्मि
6. H,V °रु° 7. H,V न वेद्मि साध्व्या गान्धार्या; K.M न वेद साध्व्या गान्धार्या 8 W °श्च

*I AF,GF अहं व्यवसितं रात्रौ पित्रोस्ते कुलनन्दन !
न वेद साध्व्या गान्धार्या भुषितोऽस्मि महात्मभिः ॥

9. B,I,W °न्मुनिम् *II Instead of this verse, the following two verses are seen in K & M

सूत उवाच

एतस्मिन्नन्तरे विप्रा[△1] नारदः प्रत्यदृश्यत ।
वीणां त्रितन्त्रीं ध्वनयन् भगवान् सहतुम्बुरुः ॥ १ ॥

राज्ञाऽऽदरोपनीतार्घ्यं[△2] प्रत्युत्थानाभिवन्दितम्[△3] ।
परमासन आसीनं कौरवेन्द्रोऽभ्यभाषत[△4] ॥ २ ॥

△1 AF,GF विप्रा! △2 AF,GF राजा नत्वोपनीतार्घ्यः △3 AF GF °त्थाया° △4 AF GF पौ°

Commentary of these two verses by Vijayadhwaja Teertha runs as follows —

एतस्मिन्नन्तरे युधिष्ठिरसञ्जयसंवादमध्ये त्रितन्त्रीं तन्त्रीत्रयमेलनोपेतां वीणां ध्वनयन् वादयन् तुम्बुरुणा सह वर्तमानः भगवान् हरेः
शृणुवेत्ता पूज्यो वा ॥ १ ॥

राज्ञाऽऽदरेण उपनीतं दत्तं अर्घ्यं यस्मै स तथा तं प्रत्युत्थानं कृत्वाऽभिवन्दितं परमासने सिंहासनसमानपीठे आसीनमुपविष्टं नारदं
कौरवेन्द्रो युधिष्ठिरः अभ्यभाषत इत्यन्वयः ॥ २ ॥

*III AF,GF नाहं वेद गतिं पित्रोर्भगवन्! क्व गतावितिः।
कर्णधार इवापारे सीदतां पारदर्शकः॥

10 H,V गतः पिता 11. W सा
*IV H,V & W add this line and it is commented by **श्रीवीरराघव**
12 H,V पाहि मां; K,M सीदतां 13 H,K,M,V °नः।
*V W adds this line and it is commented by **श्रीवीरराघव**
14 W तमाब°, M omits this line and it is not commented by **श्रीविजयध्वजतीर्थ**
*VI K & M omit this line and it is not commmented by **श्रीविजयध्वजतीर्थ**
*VII This line (with in brackets in N) is not commented by **श्रीवीरराघव.**

**श्रीध० पितरीति**। यावरक्षतां तौ। इतः स्थानात्॥ ३३॥

**कृपयेति**। कृपया स्नेहवैक्लव्याच्चातिपीडितः आत्मेश्वरं धृतराष्ट्रमपश्यन् विरहकर्शितश्च सूतः सञ्जयः न प्रत्युत्तरमाह॥ ३४॥

**विमृज्य** इति। आत्मना बुद्ध्या आत्मानं मनः विष्टभ्य धैर्ययुक्तं कृत्वा प्रभोः धृतराष्ट्रस्य॥ ३५॥

**नाहम्** इति। गान्धार्याश्च व्यवसितं निश्चयम्[1]। यतः मुषितो वञ्चितोऽस्मीति॥ ३६॥

**अथ** इति। एवं कञ्चित्कालं शोचति तस्मिन् अथ नारद आजगाम। अत्रास्ति[2] क्वचित्पुस्तके पाठान्तरं, तदुल्लङ्घ्य यथासम्प्रदायं व्याख्यायते। शोकवेगादभ्यर्चयन्निवाह राजा नत्वाऽभ्यर्च्येत्यर्थः[3]। "शोकाक्रान्तः क्रुधाविष्टः श्रद्धया रहितः पुमान्। गुरुदेवद्विजातीनां पूजनं न समाचरेत्॥" इति श्रुतेः॥ ३७॥

**नाहम्** इति। नाहं वेद न वेद्मि। तपस्विनी दुःखयुक्ता॥ ३८॥

**कर्णधार** इति। अपारे शोकार्णवे भगवांस्त्वमेव कर्णधारः नाविक इव पारदर्शकः। अतो ब्रूहीति शेषः॥ ३९॥

आदावेव यथावृत्तकथने शोकेन मूर्च्छितः पतेदिति प्रथमं तावच्छोकमुपशमयति — **मेति**। कञ्चन मा शुचो मा शोचः। न केवलं तानेव। यद्यस्मादीश्वराधीनं जगत् तदेवाऽऽह लोका इति। स एव भूतानि संयुनक्ति संयोजयति वियुनक्ति वियोजयति च॥ ४०॥

---

1 A निश्चितम् 2 H,V 'एतस्मिन्नन्तरे' इत्यादिपाठान्तरं कतिषुचित् पुस्तकेषु दृश्यते। मया यथासम्प्रदायमेव व्याख्यायते 3 A,B नत्वाऽभ्यर्चयत्॥ ३७॥ 4 B °मपनयति

**वीर०** वात्सल्ययुक्तत्वात् सापराधेष्वपि दोषमनवेक्ष्य अपकारमप्युपकारत्वेन चिन्तयन् पृच्छति। पितरि पाण्डौ उपरते मृते सति सर्वान् नः अस्मान् सुहृदः पुत्रान् शिशून् व्यसनतः आपन्नः यावरक्षतां तौ पितृव्यौ पितृभ्रातरौ धृतराष्ट्रविदुरावितः क्व गतौ? छत्रिन्यायेन विदुराभिप्रायाद्वा व्यसनतोऽरक्षतामित्युक्तम्॥ ३३॥

एवमुक्तस्सूतः सञ्जयः आत्मनः स्वस्य ईश्वरं प्रभुं धृतराष्ट्रमचक्षाणः अपश्यन् अत एव अतीव पीडितो दुःखितः तद्विरहेण कर्शितः क्षणादेव कृशीभूतस्सन् कृपया स्नेहवैकृतवैक्लव्यात् अधाष्टर्यात् च तावत्र प्रत्याह प्रत्युत्तरं वक्तुं न प्रबभूवेत्यर्थः ॥ ३४ ॥

ततश्शनैः पाणिभ्यामश्रूणि विमृज्य आत्मना विवेकात्मिकया धिया आत्मानं सङ्कल्पविकल्पात्मकं मनो विष्टभ्य प्रतिबद्ध्य स्थिरीकृत्य प्रभोः धृतराष्ट्रस्य पादावनुस्मरन्नजातशत्रुं प्रत्यूचे ॥ ३५ ॥

उक्तिमेवाऽऽह — **नेति**। हे कुरुनन्दन! वो युष्माकं पित्रोः विदुरधृतराष्ट्रयोः गान्धार्याश्च व्यवसितं निश्चितं नाहं वेद्मि। हे! महाबाहो! त्वमिव अहमपि महात्मभिः तैः मुषितोऽस्मि वञ्चितोऽस्मि ॥ ३६ ॥

अथ तस्मिन्नेव समये तुम्बुरुणा सहितो भगवान्नारदः तत्राऽऽजगाम। तमवलोक्य सानुजो युधिष्ठिरः प्रत्युत्थायाभिवाद्य अभ्यर्चयन्नेवाऽऽह ॥ ३७ ॥

उक्तिमेवाऽऽह — **नाहमिति** द्वाभ्याम्। भगवन्! पित्रोर्गतिं नाहं वेद अहं न जाने। तावितः क्व गतौ? तथा हतपुत्रा आर्ता च तपस्विनी पतिव्रता च अम्बा क्व गता? ॥ ३८ ॥

दिष्ट्येत्यानन्दद्योतकमव्ययम्। चादेः आकृतिगणत्वात् निपातसंज्ञायां "स्वरादिनिपातमव्ययम्" (अष्टा. 1-1-37) इत्यव्ययसंज्ञा। व्यसनार्णवे पितृविश्लेषदुःखार्णवे मग्नानामस्माकम्। कर्तरि षष्ठी, नः अस्माभिः भगवांस्त्वं दिष्ट्या दृष्टः। त्वद्दर्शनेन व्यसनमपगतमेव, आनन्दश्च भविष्यतीति भावः। कथं दृष्टः? अपारे दुष्प्रापतीरे समुद्रे तत्तारयिता कर्णधार इव नाविक इव नस्त्वं पित्रोर्गतिं ब्रूहि। न वेद्मीति मावोच इत्यभिप्रायेण तं विशिनष्टि। पारदर्शनः सर्वस्यापि अवधिदर्शनः सर्वज्ञ इति यावत्। हे भार्गव! इत्थं धर्मपुत्रेण युधिष्ठिरेण पृष्टः सर्वज्ञः भगवान् मुनिश्रेष्ठो नारदः तमाबभाषे ॥ ३९ ॥

भाषणमेवाऽऽह — **मा कञ्चनेति** विंशत्या। यत्पृष्टं पित्रोर्गतिं ब्रूहि त्वमिति तस्योत्तरं विवक्षुः तावत्तत्तज्जीवकर्मानुगुणसुखदुःखादिफलप्रदानप्रवृत्तेश्वरायत्तत्वात् कृत्स्नस्य जगतः तदन्तर्गतस्त्वं कर्मायत्तत्वादिह तदनुबन्ध्यादि संश्लेषविश्लेषनिमित्तं शोकं माकुर्विति वैराग्योत्पादनाय आह चतुर्भिः। हे राजन्! कञ्चन देहं तदनुबन्धिनं वा कञ्चिदपि मा शुचः शोकं मा कार्षीः। कुतः? यत् यस्मात् इदं जगत् ईश्वरवशं कर्मानुगुणफलदानप्रवृत्तेश्वरायत्तं तन्नियाम्यमित्यर्थः। कोऽसावीश्वर इत्यत्राऽऽह — सपाला इन्द्रादिलोकपालैः सहिताः लोकाः विरिञ्चिप्रभृत्यकिञ्चनपर्यन्ता इमे जनाः यस्य ईशितुः बलिं पूजां वहन्ति किङ्करा भवन्तीत्यर्थः ॥ ४० ॥

---

1. A.B अपश्यमानः 2 W अत° 3. W कर्मायत्तदेह°

**विज०** स्वस्य अकृतप्रज्ञत्वमुपपादयति — **पितरीति**। नः अस्माकं पितरि पाण्डौ उपरते स्वर्गं गते सति गान्धारीधृतराष्ट्रौ शिशून् सर्वान् व्यसनतः अरक्षताम्। सुहृत्त्वं शिशुत्वं च रक्षणीयत्वे हेतुः। तौ पितृव्यौ

**गान्धारीधृतराष्ट्रौ** मृत्वा इतः अस्मात् लोकात् परत्र कं लोकं गतावित्यन्वयः। तयोरनवरतशुश्रूषणादेव कृतप्रज्ञता, **तदभावात्** अकृतप्रज्ञत्वमिति भावः॥ ३३॥

अतिपीडितो दुःखेनेति शेषः। आत्मनः स्वस्य ईश्वरं स्वामिनं धृतराष्ट्रमचक्षाणो मृतत्वादेव अपश्यन् अत **एव** विरहेण वियोगेन कर्शितः कृशतरः कुतः स्नेहपारवश्यात् दाक्षिण्याच्च सञ्जयो युधिष्ठिरचोद्योत्तरं वक्तुं, नाशकत् **इत्यन्वयः**॥ ३४॥

आत्मना मनसा आत्मानं विष्टभ्य संस्थाप्य प्रभोः धृतराष्ट्रस्य॥ ३५॥

प्रजा रञ्जयित्वा कुलं नन्दयति न तु अन्यथा इत्यतः पदद्वयं प्रायोजि। न केवलं त्वमेव व्यसितोऽहं वियोजित इति चार्थः, पित्रोः कुन्तीधृतराष्ट्रयोः परलोकगतिमिति शेषः। मुषितो वञ्चितोऽस्मि॥ ३६॥

हे भगवन्! मृतयोः पित्रोः परलोकगतिं न वेद तां भवन्तं पृच्छामि तौ मृत्वा इतः कं लोकं प्रति **गताविति** अपारे संसारे सीदतां बिभ्यतां कर्णधारो नाविक इव तस्मात् त्वं दुःखार्णवे मग्नानां पारं परं तीरं दुःखशमनोपायं दर्शयतीति पारदर्शनः॥ ३७, ३८॥

धृतराष्ट्रादिषु कञ्चन मा शुचः शोकं मा कार्षीः। कुतः जगदीश्वरवशमिति यद्यस्मात् स एवेश्वरो भूतानि संयुनक्ति स्वकर्मानुसारेण संयोजयति, स एव स्वकर्मावसाने वियुनक्ति वियोजयति। एतस्मात् अस्ववशत्वान्मा शुच इति भावः॥ ३९, ४०॥

---

1 A.B omit कृशतर· . . . चोद्योत्तरं

**रा॰ कृ॰** पितरि पाण्डौ उपरते मृते सति सुहृदः शिशून् सर्वान् नः अस्मान् व्यसनतः आपदः यौ अरक्षतां तौ पितृव्यौ पितृभ्रातरौ धृतराष्ट्रविदुरौ इतो देशात् क्व गतौ?॥ ३३॥

सूतस्सञ्जयः आत्मेश्वरं स्वप्रभुं धृतराष्ट्रं अचक्षाणः अवीक्षमाणः विरहकर्शितस्सन् कृपया स्नेहवैक्लव्यात् अतिपीडितश्च सन् न प्रत्याह प्रत्युत्तरं न दत्तवान्॥ ३४॥

ततस्स सञ्जयः पाणिभ्यामश्रूणि विमृज्य आत्मना विवेकात्मिकया बुद्ध्या आत्मानं मनः विष्टभ्य स्थिरीकृत्य प्रभोः धृतराष्ट्रस्य पादावनुस्मरन् अजातशत्रुं धर्मराजं प्रत्यूचे प्रत्युक्तवान्॥ ३५॥

हे कुलनन्दन! कुलपालक! महाबाहो! वः युष्माकं पित्रोः धृतराष्ट्रविदुरयोः गान्धार्या वा व्यवसितं निश्चितमहं न वेद न जानामि। त्वमिव अहमपि तैर्महात्मभिः मुषितोऽस्मि वञ्चितोऽस्मि॥ ३६॥

अथ अनन्तरं सहतुम्बुरुः भगवान् नारदः आजगाम तत्रागतवान्। ततश्च सानुजः धर्मज इति शेषः। प्रत्युत्थाय नारदमिति शेषः। अभिवाद्याभ्यर्चयन्निव आह — वक्ष्यमाणप्रकारेणोक्तवान॥ ३७॥

हे भगवन्! पित्रोः धृतराष्ट्रविदुरयोः गतिं नाहं वेद, इतः स्थानात् क्व गतौ ताविति शेषः। हतपुत्रा आर्ता तपस्विनी दयनीया अम्बा वा क्व गता? ॥ ३८ ॥

अपारे दुःखसागरे इति शेषः। भगवान् त्वमेव कर्णधार इव नाविक इव पारदर्शकोऽस्माकं गतिप्रदर्शकोऽसि। अथ धर्मजप्रश्नानन्तरं मुनिसत्तमः भगवान्नारदः आबभाषे प्रत्युत्तरं ददौ ॥ ३९ ॥

हे राजन्! यत् यस्मात् जगत् ईश्वरवशं ईश्वराधीनं वर्तत इति शेषः। तस्मात् कञ्चन कमपि जनमुद्दिश्य मा शुचः शोकं मा कार्षीः। यस्य ईशितुः परमेश्वरस्य बलिं पूजां सपालाः इन्द्रादिलोकपालसहिताः इमे लोकाः त्रैलोक्यस्था जनाः वहन्ति पालयन्ति। स ईशिता भूतानि प्राणिनः संयुनक्ति संयोजयति, स एव वियुनक्ति च वियोजयति च ॥ ४० ॥

**यथा गावो नसि प्रोतास्तन्त्यां[1] बद्धाः[2] स्वदामभिः।**
**वाक्तन्त्यां[3] नामभिर्बद्धा वहन्ति बलिमीशितुः ॥ ४१ ॥**

**यथा क्रीडोपस्कराणां संयोगविगमाविह।**
**इच्छया क्रीडितुस्स्यातां तथैवेशेच्छया नृणाम् ॥ ४२ ॥**

**यन्मन्यसे ध्रुवं लोकमध्रुवं वा[4] न चोभयम्।**
**सर्वथा[5] न हि शोच्यास्ते स्नेहादन्यत्र मोहजात् ॥ ४३ ॥**

**तस्माज्जह्यङ्ग[6]! वैक्लव्यमज्ञानकृतमात्मनः।**
**कथं त्वनाथाः कृपणा वर्तेरंस्ते[7] च मां विना ॥ ४४ ॥**

**कालकर्मगुणाधीनो देहोऽयं पाञ्चभौतिकः।**
**कथमन्यांस्तु गोपायेत् सर्पग्रस्तो यथापरम् ॥ ४५ ॥**

**अहस्तानि सहस्तानामपदानि[8] चतुष्पदाम्।**
**फल्गूनि[9] तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम् ॥ ४६ ॥**

---

1. H,V,W °न्त्र्यां 2 B,I,W बद्धाश्च; H,V बद्धोप° 3. H,V,W °न्त्र्यां 4 K,M चाथ वोभयम् 5 H,V सर्वथाऽपि न 6 B ह्य°
7. H,V वर्तेरन् बत मामृते; B,K,M वर्तेरन् वनमाश्रिताः; W जीवेरन् बत मां विना 8. K,M °दो द्वि° 9. K,M अणूनि तात!

**श्रीध० यथेति।** गावो बलीवर्दा नसि नासिकायां प्रोतास्तन्त्यां[1] दीर्घतन्त्र्यां[2] दामभिः बद्धाः स्वामिनो बलिं वहन्ति यथा एवं वाक्तन्त्र्यां[3] कर्तव्याकर्तव्यविधायकवेदलक्षणायां नामभिः ब्राह्मणो ब्रह्मचारीत्यादिवर्णाश्रमलक्षणैः बद्धाः परमेश्वरस्य बलिं तेन प्रेरितास्सर्वे वहन्तीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

प्रवृत्तौ पारतन्त्र्यमुक्त्वा संयोगवियोगयोरप्याह[4] — **यथेति।** क्रीडोपस्कराणां क्रीडासाधनानाम्[7] ॥ ४२ ॥

ईश्वराधीनत्वात् न शोकः कार्य इत्युक्तम्। लोकतत्त्वे च विचार्यमाणे निर्विषयोऽयं शोक इत्याह — **यदिति**। यद्यदि लोकं जनं ध्रुवं जीवरूपेण अध्रुवं देहरूपेण न चेति न ध्रुवं, नाप्यध्रुवम्। शुद्धब्रह्मरूपेण अनिर्वचनीयत्वेन वा उभयं वा चिज्जडांशतः। सर्वथा चतुर्ष्वपि पक्षेषु ते पित्रादयो न शोच्याः। स्नेहादन्यत्र। स्नेह एव केवलं शोकहेतुः, स च अज्ञानमूल इत्यर्थः॥ ४३॥

**तस्मादिति**। तस्मान्मां विना कथं ते वर्तेरन् इत्यात्मनः मनसः वैक्लब्यं व्याकुलतां त्यज॥ ४४॥

तत्र त्वद्देहतः तेषां वृत्तिरित्येतत्तावत् नास्तीत्याह — **कालेति**। कालो गुणक्षोभकः कर्म जन्मनिमित्तं गुणा उपादानं तदधीनः पाञ्चभौतिकोऽयं जडः तद्विभागे नाशवांश्च। सर्पग्रस्तः अजगरगिलितः यथा अन्यं मुमूर्षुं न रक्षति तद्वत्॥ ४५॥

ईश्वरेण विहिता वृत्तिश्च सर्वतः सुलभैव इत्याह — **अहस्तानीति**। अहस्तानि पश्वादीनि अपदानि तृणादीनि। तत्र तेष्वहस्तादिष्वपि फल्गून्यल्पानि। एवं जीवः सर्वोऽपि जीवस्य सर्वस्य जीवनं जीविका। एतेनैव सर्वतः मृत्युग्रस्तत्वं चोक्तम्॥ ४६॥

---

1 A,B °न्त्यां 2 A,B °न्त्यां 3 A,B °न्त्यां 4 H,V विप्रः 5 H,V प्रेरितां वह° 6. H,V °भा° 7. B adds (दारुरचितमेषादीनाम्) 8. B वेति 9. B ° स्वरूपत्वेन 10. A वृत्तिरेत° 11 A,B omit मुमूर्षुं 12. A,B °ग्रास°

**वीर०** बलिवहनमेव सदृष्टान्तमुपपादयति — **यथेति**। तन्त्री[1] तिरश्चीना महती रज्जुस्तत्र[2] बद्धाः क्षुद्ररज्जव उपदामानि यद्वा तन्त्री[3] नासारज्जुः तत्सम्बद्धा आकर्षणपाशा दामानि। यथा गावः चतुष्पादः नसि रन्ध्रीकृतायां नासिकायां प्रोताः संयुक्तरज्जवः तत्तन्त्यामुपदामभिः[4] बद्धाः द्विपदे किं कुर्वन्ति। तथा वाक्तन्त्यां[5] वेदाख्यतन्त्यां[6] नामभिः वर्णाश्रमविशेषान्वयात्मकनामभिः उपदामस्थानीयैः बद्धाः सपाला लोकाः ईशितुः ईशस्य बलिं वहन्ति॥ ४१॥

किं देहतदनुबन्ध्यादीन् नित्यान् मत्वा शोचसि, किं वाऽनित्यान्, अथवा उभयथा अपि? तथापि न ते शोकविषया इति वक्तुं तावत् देहादिश्लेषविश्लेषौ क्रीडार्थं जगद्व्यापारे प्रवृत्तेश्वरस्येच्छया[7] तत्तत्कर्मानुगुण्येन सम्पद्येते इति सदृष्टान्तमाह। यथेह लोके कस्यचित् क्रीडितुः पुंस इच्छया क्रीडोपस्कराणां क्रीडासाधनानां संयोगवियोगावन्यथा च भवतः यथा क्रीडोपस्कराः क्रीडितुरिच्छया कदाचित् संश्लिष्य पुनस्तदिच्छयैव विश्लिष्टाश्च भवन्ति। तथा ईश्वरेच्छया नृणामपि संयोगवियोगौ स्याताम्॥ ४२॥

उक्तं शिरस्त्रयमनुवादपूर्वकं प्रतिक्षिपति। यदि लोकं ध्रुवं स्थिरं मन्यसे यद्वा अध्रुवं अथवा उभयं; तत्र तावत् तृतीयः कल्पोऽसम्भवादेव निरस्त इत्यभिप्रायेणाऽऽह — **न चोभयमिति**। न हि द्व्यात्मकं वस्तु दृष्टं श्रुतं वेत्यर्थः[8]। परस्परविरुद्धयोः ध्रुवत्वाध्रुवत्वयोः एकत्र समावेशोऽसम्भवनिरस्त इति भावः तदभ्युपगम्यापि तेन सह इतरच्छिरोद्वयं प्रतिक्षिपति, सर्वथेति ध्रुवत्वेऽध्रुवत्वे च उभयविधत्वे च ते देहादयः तत्त्वमेवेति न शोच्याः; तत्त्वादेव[9] न शोच्याः। न हि वस्तुतो[10] यावदात्मभाविधर्मः[11] केनाप्यपनेतुं शक्य इति भावः। एवं सति तच्छोकहेतुः केवलं

देहात्मभ्रममूलकः देहादिषु अनुराग एव इत्यभिप्रायेण स्नेहादन्यत्र मोहजादिति। मोहजात् देहात्मभ्रमजात् स्नेहात् अन्यत्र अन्यस्मिन् शोकमोहहेतुत्वं नास्तीति शेषः॥ ४३॥

तस्मात् अङ्ग! हे राजन्! अज्ञानकृतं देहात्मभ्रमकृतं आत्मनः स्वस्य स्वमनसो वा वैक्लव्यं दैन्यं जहि अपनय। तदभिप्रेतं प्रश्नान्तरं सर्वज्ञत्वात् स्वयमेव आविष्कृत्य प्रतिवक्ति — **कथमिति** सार्धद्वयेन। तत्र कथमित्यर्धेन प्रश्नाविष्कारः, ततः श्लोकद्वयेन तस्य प्रतिवचनमिति विवेकः। मां विना अनाथा रक्षितृहीना, अत एव दीनास्ते कथं वर्तेरन् जीवेरन्निति शब्दोऽत्र अध्याहर्तव्यः। कथं जीवेरन्निति पृच्छसि चेदित्यर्थः॥ ४४॥

तावत् तत्तुल्ययोगक्षेमे स्वस्मिन् तद्रक्षकत्वाभिमानं त्यजेत्यभिप्रायेणाऽऽह — **कालेति**। कर्मदृष्टं, गुणाः सत्त्वादयः, पृथिव्यादिपञ्चभूतारब्धोऽयं देहः कालाद्यधीनः। अयमित्यनेन त्वद्देहोऽप्येवंविध एव इति सूचितम्। स्वयमेवंविधदेहः कथमन्यान् गोपायेत् रक्षेत्? न रक्षेदेवेत्यर्थः। यथा स्वयं सर्पग्रस्तः अन्यान् तद्ग्रस्तान् न गोपायति तद्वत्॥ ४५॥

अस्त्वेवमथाऽपि जीविकावति गृहे स्थितानामस्माकं जीवनं सुशकम्। कथमितः गतानां तेषां **जीवनं** स्यादित्यत आह — **अहस्तानीति**। अहस्तानि भूतानि सहस्तानां तेषां जीवनं यथालाभं यथायोग्यं औषधिफलमूल-पशुमृगादीनि जीवनमित्यर्थः। तथा हस्तरहितानामपि चतुष्पदां अपदान्यविद्यमानपादादिभूतानि[12] जीवनं, तत्रापि अपदेष्वपि महतामजगरादीनां भूतानां फल्गूनि क्षुद्राणि भूतानि जीवनम्। किं बहुना जीवस्य सजीवस्य भूतस्य जीव एव जीवनम्। जीवनशब्दः भक्ष्यपरः॥ ४६॥

---

1. W °न्नी 2. W °स्तद् 3. W °न्नी नाम ना° 4 W सन्तस्तन्त्र्या° 5 W °न्त्र्यां 6 W °न्त्र्यां 7. W °त्तस्येश्व° 8 W चे° 9 A,B omit तत्त्वादेव न शोच्याः 10 A,B °नो 11. W °षी 12 W °नि

**विज०** ईश्वरजीवस्वातन्त्र्यपारतन्त्र्ये सोदाहरणं दर्शयति — **यथेति**। यथा गावः बलीवर्दाः नसि नासिकायां त्रिवृत्कृततन्तुदामभिः प्रोताः स्यूताः नासिकाच्छिद्रस्यूतह्रस्वदामभिः आधारभूतायां दीर्घायां तन्त्यां बद्धाः ईशितुः स्वामिनः ब्रीह्यादिगोर्णीर्वहन्ति तथा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थयतय इति नामात्मकदामभिः वाक्तन्त्यां विधिनिषेधात्मकवेदलक्षणायां बद्धाः स्ववर्णाश्रमविहितकर्मभिः ईश्वरस्य बलिं यज्ञादिलक्षणपूजां वहन्ति कुर्वन्ति। तस्मात् स एव स्वतन्त्रः। जीवास्तदधीना इति शोकपरिहाराय स ईशः स्वविहितकर्मणा पूज्य इति भावः॥ ४१॥

वेदस्यानेकार्थत्वेन तात्पर्यस्य दुर्ज्ञेयत्वात् धौरेयाणां च गोण्यादिपातनेन स्वामिकार्यावज्ञानदर्शनात् विषमोऽयमुप-न्यास इत्यतो निदर्शनान्तरमाह — **यथेति**। यथा क्रीडोपस्कराणां लीलासाधनानां संयोगविगमौ क्रीडितुः पुरुषस्येच्छया

तथैव ईशेच्छया पितृपुत्रादिरूपाणां नृणां मिथः संयोगवियोगौ स्यातामित्यन्वयः। अनेन वेदस्य मुख्यार्थः श्रीनारायण एवेति निरणायि। तस्मात् पराधीनत्वात् न शोकेन प्रयोजनं तवेति भावः॥ ४२॥

"यस्तर्केणानुसन्धत्ते सधर्मं वेद नेतरः" इति स्मृतेः उक्तार्थनिर्णये केयं युक्तिरिति तत्राऽऽह — बद्धिति। तत् यदि लोकं शरीरं ध्रुवं मन्यसे अध्रुवमनित्यं वाऽथवा उभयं नित्यानित्यं, मनुषे इति विकल्प्य परिहरति सर्वथेति। सर्वप्रकारेण ते पितरः न शोच्याः। तथा हि — नित्यत्वे नाशाभावात्तस्य चादर्शनात् अनित्यमिति वक्तव्यम्। तस्यापरिहार्यत्वात्तृतीयोऽनुपपन्नः व्याहतत्वात्। तर्हि शोके किं कारणमिति तत्राऽऽह — स्नेहादिति। अहं, मम इति मोहः बुद्धिभ्रमः तस्मात् जातस्नेहादन्यत्र ऋते शोककारणं नास्ति, तस्मात् भ्रमजन्यस्नेह एव तस्य हेतुरिति भावः॥ ४३॥

ननु "यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ" (श्वेता. उ. 6-23) इति श्रुतेः गुरुविषयस्नेहलक्षणभक्तेः पुरुषार्थहेतुत्वेनोपयोगात् कथं तस्य मोहजन्यत्वमित्याशङ्क्य तस्य वैलक्षण्यात् मम तत्पोषणकर्तृत्वेन मन्नाथत्वात् मदृते जीवनमेव नास्ति तेषां ईशरक्ष्यत्वादिज्ञानाभावादित्यात्मनि यथाऽभिमाननिमित्तकातर्यं त्वया त्यक्तव्यमित्याह — तस्मादिति। आत्मनः परमात्मनः अज्ञानेन जातं वैक्लव्यं जहि त्यजेत्यन्वयः। परमात्मनः स्वातन्त्र्यपरामर्शेनेति शेषः॥ ४४॥

किञ्च तवायं देहः स्वाधीनः पराधीनो वा, स्वाधीनत्वे भोगयोग्यदुःखनिवारणाक्षमता कथम्? न हि कश्चिद्दुःखं मे स्यात् इत्याकाङ्क्षति विचक्षणः। तस्मात् पराधीन इति च वक्तव्यम्। तथा च तस्य पररक्षणसामर्थ्यं न घटत इत्याह — कालेति। कालः पक्षमासादिलक्षणः कर्मफलपाचकं पुण्यपापलक्षणमदृष्टं, गुणाः सत्त्वादयः, निमित्तोपादानकारणजन्यत्वेन कालाद्यधीनः सजीवोऽयं देहः पञ्चभिर्भूतैरारब्धः स्वव्यतिरिक्तान् कथं गोपायेत् रक्षेत्? तत्र दृष्टान्तः सर्पग्रस्तः मण्डूकः सर्पग्रस्तं परं रक्षितुं न समर्थः तथेति। तुशब्देन अनुभवसिद्धमेवेदमिति द्योतयति, तस्मादहं पित्रादिरक्षाकर्तेति अज्ञानं त्यजेति भावः॥ ४५॥

ननु भगवन्! सत्यमेतत्; तथाऽपि वृद्धानामन्धानां च अन्नादिदौस्थ्यात् तज्जीवने मम सन्देह इति चेत् तत्राऽऽह — अहस्तानीति। हे तात! वत्स! अहस्तानि शशपारावतपक्षिप्रभृतीनि सत्त्वानि, सहस्तानां मनुष्याणां जीवनं देहधारणसाधनं द्विचतुष्पदां च अन्नं तृणादयः तत्र द्विपत्स्वपि अणूनि मनुष्यादीनि महतां राक्षसादीनां जीवनमित्यनुवर्तते। एवं जीवस्य जीवनं विधात्रा विहितमतो न तान् प्रति चिन्ता कर्तव्येत्यर्थः॥ ४६॥

---

1. K,M °ताः 2. K,M °र्णां व° 3. K,M गौ°

रा० कृ० नसि प्रोताः संयुक्तरज्जवः गावः बलीवर्दाः तन्त्यां तिग्मशीनायां महत्यां स्वदामभिः स्वप्रग्रहैः बद्धास्सन्तः यथा स्वामिनः भारं वहन्ति तथा वात्तन्त्यां कर्तव्याकर्तव्यनिर्देशकश्रुतिलक्षणायां नामभिः ब्राह्मणब्रह्मचर्यादिरूपैः बद्धाः जीवाः ईशितुः परमेश्वरस्य बलिमाज्ञारूपां पूजां वहन्ति पालयन्ति॥ ४१॥

इहास्मिन् लोके यथा क्रीडितुः क्रीडापरस्य इच्छया क्रीडोपस्कराणां क्रीडासाधनानां संयोगविगमौ संयोगवियोगौ भवत इति शेषः। तथैव ईशेच्छया परमेश्वरस्येच्छया नृणां संयोगवियोगौ स्यातां भवेताम्॥ ४२॥

यत् यदि लोकं ध्रुवं शाश्वतं मन्यसे अथवा अध्रुवमशाश्वतं मन्यसे, अथवा न च उभयं न ध्रुवं, नाप्यध्रुवमिति यदि मन्यसे, सर्वथा त्रिधाऽपि ते धृतराष्ट्रादयः न शोच्याः न शोचनीयाः। मोहजात् शरीरेन्द्रियादिषु आत्मभ्रममूलकात् स्नेहादन्यत्र शोककारणत्वं नास्ति। अयं भावः — लोकस्य ध्रुवत्वे; तस्मादेव शोको व्यर्थः। अध्रुवत्वे शोकेनापि अध्रुवत्वपरिहाराभावात् शोको न कार्यः। उभयत्वाभावे मिथ्यारूपत्वेन तदाऽपि शोकस्याकिञ्चित्कर-त्वात् निरर्थक एव॥ ४३॥

तस्मादङ्ग! हे धर्मराज! अनाथाः अशरणाः कृपणाः दीनास्ते धृतराष्ट्रादयः मां धर्मराजं विना कथं वर्तेरन् जीवेयुः? इत्यज्ञानकृतं मोहकृतं आत्मनः वैक्लब्यं व्याकुलतां जहि त्यज॥ ४४॥

सर्पग्रस्तः परम् अन्यं सर्पग्रस्तं यथा सर्पग्रस्तमिव कालकर्मगुणाधीनः कालो गुणपरिणामहेतुः कर्माणि पुण्यपापादीनि, गुणास्सत्त्वादयः एतत्तितयाधीनः पाञ्चभौतिकः पञ्चभूतकार्यस्वरूपः अयं देहः अन्यांस्तथाभूतान् अन्यदेहान् कथं गोपायेत् रक्षेत्? न कथमपीति भावः॥ ४५॥

अहस्तानि हस्तरहितानि मत्स्यफलादीनि सहस्तानां मनुष्यादीनां जीवनं भवन्तीति शेषः। अपदानि पदरहितानि चतुष्पदां गवादीनां जीवनं भवन्ति। तत्र तेष्वहस्तादिषु मध्ये फल्गूनि अल्पानि महतां जीवनं भवन्ति। एवं जीवः जीवस्य अन्यजीवस्य जीवनं जीविका भवति॥ ४६॥

**तदिदं भगवान् राजन्नेक आत्माऽऽत्मनां स्वदृक्।**
**अन्तरोऽनन्तरो भाति पश्य तं मायया परम्॥ ४७॥**

**सोऽयमद्य महाराज! भगवान् भूतभावनः।**
**कालरूपोऽवतीर्णोऽस्यामभावाय सुरद्विषाम्॥ ४८॥**

**निष्पादितं देवकृत्यमवशेषं प्रतीक्षते।**
**तावद्यूयमवेक्षध्वं भवेद्यावदिहेश्वरः॥ ४९॥**

**धृतराष्ट्रः सह भ्रात्रा गान्धार्या च स्वभार्यया।**
**दक्षिणेन हिमवत ऋषीणामाश्रमं गतः॥ ५०॥**

**स्रोतोभिस्सप्तभिर्या वै स्वर्धुनी सप्तधा व्यधात्।**
**सप्तानां प्रीतये नाना सप्तस्रोतः प्रचक्षते॥ ५१॥**

**स्नात्वाऽनुसवनं तस्मिन् हुत्वा चाग्नीन् यथाविधि ।**
**अब्भक्ष उपशान्तात्मा स आस्ते विगतैषणः ॥ ५२ ॥**

1. H,V पश्य त्वं; K,M पश्यंस्त्वं 2. K,M °तां 3. AF,GF सु° 4. H,V वै; AF,GF हिमवत्पार्श्वे 5. H,V °र्याऽत्र; B,K,M °र्यत्र 6. K,M °ऽभ्यगात्; AF,GF °ऽभवत् 7. B,K,M,W नाम्ना 8. AF,GF °ताः 9. K,M त्रिषवणं 10. B तत्रास्ते 11. W °तेषणः; K,M °तेक्षणः

**श्रीध०** मोहनिवृत्त्यर्थं द्वैतस्यावस्तुत्वमाह — **तदिति**। तदिदम् अहस्तसहस्तादिरूपं जगत् स्वदृक् भगवानेव, न ततः पृथक्। स चैक एव न तु नाना। ननु सजातीयविजातीयभेदे प्रत्यक्षे कुत एतत्? तत्राह आत्मनां भोक्तॄणाम् आत्मा स्वरूपम्। अतः न सजातीयभेदः। अन्तरोऽनन्तरश्चान्तर्बहिश्च भोक्तृभोग्यरूपश्च भाति। अतो न विजातीयभेदोऽपि। नन्वेकः कथं तथा प्रतीयते? तत्राऽऽह — मायया उरुधा बहुधा भातीति तं पश्येति ॥ ४७ ॥

क्वासावास्ते स ईश्वरो महामायावी द्वारकायामित्याह — **सोऽयमिति**। अस्यां भूम्याम् अभावाय नाशाय ॥ ४८ ॥

तर्हि श्रीकृष्णोऽत्रास्तीत्यत्रैवाऽऽस्थाम् मा कृथा इत्याह — **निष्पादितमिति**। तच्च देवानां कर्तव्यं कार्यं तेन निष्पादितम्। केवलमवशेषं प्रतीक्षते। यदुकुलक्षयमिति हृदिस्थम्। ततो निजं धाम यास्यति ततो यूयमपि गच्छतेत्यर्थः। तच्च भूतमपि विदुरवदसौ नावर्णयत् ॥ ४९ ॥

तदेवं शोकावस्थानं च निवार्य जिज्ञासमानाय तस्मै यथावृत्तं कथयति — **धृतराष्ट्र** इति षड्भिः। हिमवतो दक्षिणे भागे ॥ ५० ॥

तदपि कुत्रेत्याह — **स्रोतोभिरिति**। या वै प्रसिद्धा स्वर्धुनी गङ्गा सा आत्मानं यत्र सप्तधा व्यधात्। किमर्थम्? नाना पृथक् सप्तभिः स्रोतोभिः प्रवाहैः सप्तानामृषीणां प्रीतये। अत एव तत्तीर्थं जनाः सप्तस्रोतो वदन्ति ॥ ५१ ॥

तत्र तेन कृतमष्टाङ्गयोगमाह — **स्नात्वेति** चतुर्भिः। तत्र स्नानं होमोऽब्भक्षणं चेति नियमा उक्ताः। भक्षणस्थाने अपां स्वीकारादब्भक्षणः उपशान्त आत्मा यस्य सः विगताः पुत्राद्येषणा यस्मादिति। यमा उक्ताः ॥ ५२ ॥

1 B, प्रतीयेत 2 A अत आह 3 H,V भान्तं 4 A,B कासावस्तीदृशो 5 H,V पृथिव्यां 6 H,V अत्र 7 A,B omit कर्तव्यं 8 A,B °देव 9 A,B °वं 10 A B शोकमास्थां 11 A,B °वे 12 A,B omit गङ्गा 13 A,B भक्षस्था° 14 A,B °क्षः

**वीर०** सर्वत्र वने गृहे वा भगवानेव रक्षिता इत्यभिप्रायेण तदुपयुक्ततया भगवतः सार्वात्म्यं कृत्स्नजगतः तदात्मकतया तदनन्यत्वं चाह — **तदिति**। हे राजन्! तदीश्वरवशत्वेनोक्तमिदं परिदृश्यमानं चिदचिदात्मकं जगत् भगवानेक एव मृदयं घट इतिवत् स्वरूपाभेदशङ्कां वारयितुं विशिनष्टि। आत्मनां देवमनुष्यादिदेहभृतां

जीवानामात्माऽन्तः प्रविश्य प्रशासनधारकत्वाभ्यामवस्थितः। आत्मशब्दस्यैतदेव हि प्रवृत्तिनिमित्तम्। यदन्तः प्रविश्य प्रशासनधारकत्वाभ्यामवस्थानम्। अनेन शरीरात्मभावनिबन्धनं जगदुद्भाणोः अनन्यत्वमित्युक्तं भवति। शरीरात्मभावनिबन्धनश्च अनन्यत्वव्यपदेशो दृष्टचरः। आत्मा देवो जातः मनुष्यो जात इति व्याप्यवस्तुगतदोषसंस्पर्शशङ्कां निराकुर्वन् विशिनष्टि। स्वदृक् आत्मनामात्मतयाऽवस्थितोऽपि स्वात्मयाथात्म्यदर्शी, अतः नास्य दोषसंस्पर्श इति भावः। तथा च श्रूयते — "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" (मुण्ड. उ. 3-1-1) इति न केवलमन्तरात्मैव, अपि तु अन्तरोऽप्यनन्तरो भाति। बहिश्च भाति। नन्वेकस्य कथं देवमनुष्यादिरूपेण बहुधाऽवस्थानमित्यत्राऽऽह पश्य तं माययोरुधेति। मायया देवमनुष्यादिरूपेण परिणतया शरीरभूतया जीवसंसृष्टया[1] प्रकृत्या तं भगवन्तं उरुधा बहुधा पश्य चिदचिदात्मकदेवादिशरीरभेदेन एक एव स्थित इति विजानीहीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

न केवलं त्वत्पितरः स्वार्थमेव निर्गता, अपि तु युष्माभिरपि एवमेव निर्गन्तव्यमिति भवतां प्रदर्शनार्थमपि इत्यभिप्रायेणाऽऽह — **सोऽयमिति** द्वाभ्याम्। हे! महाराज! सः निखिलजगदन्तरात्मा वशीकृतलोकत्रयः कालशरीरकोऽयं भगवान् श्रीकृष्णः भूतानि स्वाज्ञानुवर्तीनि भावयत्यभ्युदययुक्तानि करोतीति तथा; हेतुगर्भमिदं साधुपरित्रातृत्वात् इति भावः। सुरद्विषां दुष्कृतामभावाय नाशाय कालरूपो मृत्युरूपोऽस्यां भुव्यवतीर्णः कालरूपत्वेनावतीर्णः[2] ॥ ४८ ॥

तेन च देवकृत्यं देवार्थं कर्तव्यं कृत्यं प्रयोजनं तद्विपक्षक्षपणरूपं निष्पादितं अधुना त्वयं भगवानवशेषं कर्तव्यप्रयोजनावशेषं स्वकुलविनाशात्मकमिति गूढाभिसन्धिः प्रतीक्षते। अतो यावदिह भूलोके[3] भगवानीश्वरः कृष्णः भवेद्वर्तते[4] तावदेव यूयमपि अवेक्षध्वम्, तथा पितृवन्निर्गच्छतेति भावः ॥ ४९ ॥

ब्रूहि त्वमिति प्रकृतप्रश्नस्योत्तरमाह — **धृतराष्ट्र** इति द्वाभ्याम्। स्वभार्यया गान्धार्या भ्रात्रा वा विदुरेण च सह धृतराष्ट्रो हिमवतो दक्षिणेन ऋषीणामाश्रमं गतः। हिमवतः दक्षिणपार्श्वनिन्तरवर्तिनमाश्रमं गत इत्यर्थः। "एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः" (अष्टा. 5-3-35) इत्यवध्यवधिमतोः सामीप्ये एनप्रत्यये व्युत्पन्नमिदं दक्षिणेनेत्यव्ययम् ॥ ५० ॥

कोऽसावाश्रम इत्यत्राऽऽह — **स्रोतोभिरिति**। यं सप्तस्रोत इति प्रचक्षते तमाश्रमं गत इत्यन्वयः। तत्र तत्राग्नेः प्रवृत्तौ निमित्तमाह — **यत्रेति**। प्रसिद्धा स्वर्धुनी स्वर्गनदी गङ्गा सप्तानामृषीणां प्रीतये यतः सप्तभिः स्रोतोभिः प्रवाहैर्नाना बहुधा तदेवाऽऽह सप्तधा व्यधात्। सुविभक्ता बभूव। अतस्तं देशं सप्तस्रोत इत्याचक्षते। यमेवमाचक्षते तं गता इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

तत्र किं करिष्यति, कथं वा वर्तिष्यते इत्यत्राऽऽह — तत्रानुसवनं त्रिसन्ध्यं स्नात्वा अग्नीन् यथाविधि हुत्वा चाम्भक्षः अप एव भक्षयन् उपशान्तः रागाद्यकलुषित आत्मा मनो यस्य विगता ईषणाः दारेषणा धनेषणा पुत्रेषणा यस्य तथाभूत आस्ते आसिष्यते ॥ ५२ ॥

---

1 A,B °सृ° 2 A,B omit कालरूपत्वेनावतीर्णः 3 W भूमौ 4 A,B °द्वर्तते 5 A,B ततः 6. W या वै 7 A,B omit तदेवाऽऽह सप्तधा व्यधात्. 8 W कामा°

**विज०** इतोऽपि न शोकः कर्तव्यः, किन्त्वखिलस्य हर्यधीनत्वात् तद्भजनमेवावश्यं कर्तव्यमित्याह — **तदिति**। एवमिदं हरेरितरत् सर्वमनित्यमस्वतन्त्रं चेति तत् तस्मात् हे राजन्! भगवानात्मनां जीवानामात्मा आदानादिकर्ता एकोऽद्वितीयः स्वदृक् स्वयंप्रकाशः विवेकज्ञानिनामन्तरः अस्य जगतोऽन्तः स्थित्वा रतिकृत् अनन्तरो गुणगुण्यादिभेदरहितो भाति। तस्मात्त्वमपि देवोत्तमावतारत्वेन बिम्बेन विवेकित्वात् मायया स्वेच्छया कृतामुरुतामनेकावतारताम् अन्तर्याम्याद्यात्मिकां निर्भेदां हरेर्विभूतिं पश्यंश्च तमेव भजेति वाक्यशेषः। स्वदृक् भगवानात्मा स एक एवेदं जगत् भाति कथं भोक्तृरूपेणान्तरो भोग्यरूपेणानन्तरः। नित्यस्यानेकत्वं कथं तत्राऽऽह — **पश्येति**। तं परमेश्वरं मायया बहुधा वर्तमानं पश्येति केचिद्योजयन्ति। एकस्य भोक्तृभोग्यरूपत्वानुपपत्तेरनिर्वाच्यमायाया अप्रामाणिकत्वेनानङ्गीकार्यत्वात् अनादरणीयमेव तदिति॥ ४७॥

ननु भगवता ईश्वरवशं जगदित्युक्तं, तमीश्वरं वयं कथं बुद्ध्यामह इति तत्राऽऽह — **सोऽयमिति**। ग्रस्सकलं स्ववशं विधायाऽऽस्ते सोऽयमद्य देवैः प्रार्थितोऽस्यामुर्व्यां यदुकुलेऽवतीर्ण इत्यन्वयः। कथम्भूतः भूतानां भावनो वर्धनः, कालरूपः संहाररूपः। किमर्थम्? सुरद्विषामभावाय विनाशाय॥ ४८॥

अवतारप्रयोजनं च सम्पन्नप्रायमिति ब्रूत इत्याह — **निष्पादितमिति**। भूभारदैत्यसंहाराख्यं देवकार्यं तेन निष्पादितं स पुनरवशेषमवशिष्टं यदुकुलक्षयं प्रतीक्षते पश्चाद्वैकुण्ठमेष्यतीति शेषः। श्रीकृष्णः इह भूतले यावन्तं कालं तिष्ठति यूयमपि तावन्तं समयमनुवर्तध्वमित्यन्वयः॥ ४९॥

"नाहं वेद गतिम्" (भाग. 1-13-38) इति प्रश्नं परिहरिष्यन् धृतराष्ट्रस्य तपश्चरणाश्रमतीर्थनाम वक्तीत्याह — **धृतराष्ट्र** इति। भ्रात्रा विदुरेण, चशब्दात् कुन्त्या सह गतः। हस्तिनपुरान्निर्गम्य हिमवतः पर्वतस्य दक्षिणेन दक्षिणदिशि गतमृषीणामाश्रमं सप्तस्रोतो नाम गतोऽभूदित्यन्वयः॥ ५०॥

कस्मात् सप्तस्रोतस्त्वं तस्येति तत्राऽऽह — **स्रोतोभिरिति**। यत्र यस्मिन्नाश्रमे स्वर्धुनी भागीरथी सप्तानामृषीणां प्रीतये, सप्तभिः स्रोतोभिः जलस्यन्दनधाराभिः सप्तधा सप्तभिः द्रोणिभिरभ्यगात्, समुद्रमिति शेषः। इति यस्मात् तेन विचक्षणाः सप्तस्रोत इति संज्ञां प्रचक्षत इत्यन्वयार्थः॥ ५१॥

उपशान्त आत्मा अन्तःकरणं यस्य स तथोक्तो विगतेक्षणः नष्टमांसदृष्टिः वौ परमात्मनि गतं प्राप्तमीक्षणं निरन्तरचिन्तनं यस्येति वा। अब्भक्षः कृतजलाहारः स धृतराष्ट्रः तस्मिन्नाश्रमे स्नात्वा यथाविधिं अग्नींश्च हुत्वा आस्ते इत्यन्वयः। आस्ते इति लट् भूतार्थे। अन्यथा उक्तार्थविरोधः स्यात्॥ ५२॥

---

1. K,M यस्मात्तस्मात् 2 K,M °तारान्त°

**रा० कृ०** हे राजन्! तत् ईश्वरवशत्वेन उक्तमिदं दृश्यमानं स्थावरजङ्गमात्मकं जगत् आत्मनां जीवानामात्मा स्वरूपभूतः। स्वदृक् स्वप्रकाशरूपः। अन्तरं भोक्तृरूपोऽनन्तरं भोग्यरूपः भगवान् एक एव भाति। मायया स्वेच्छया उरुधा बहुधा जातमिति शेषः। तं भगवन्तं पश्य॥ ४७॥

हे महाराज! धर्मज! भूतभावनः सकलप्राणिपालकः कालरूपस्सोऽयं भगवान् अद्याधुना सुरद्विषां राक्षसानामभावाय विनाशायास्यां भूम्यामवतीर्णः श्रीकृष्णत्वेनावतीर्णवान्॥ ४८ ॥

अपि च, देवकृत्यं देवानां कार्यं निष्पादितं निर्वर्तितं तेन भगवतेति शेषः। सः केवलमवशेषं कार्यशेषं प्रतीक्षते। ईश्वरः स भगवान् यावदिह लोके भवेत् वर्तते तावत् यूयमवेक्षध्वं प्रतिपालयत॥ ४९ ॥

धृतराष्ट्रः स्वभार्यया गान्धार्या भ्रात्रा विदुरेण च सह हिमवतो दक्षिणेन ऋषीणामाश्रमं गतः॥ ५० ॥

तमाश्रमं विशिनष्टि — या वै प्रसिद्धा स्वर्धुनी गङ्गा नाना पृथक् सप्तभिः स्रोतोभिः प्रवाहैः सप्तानां ऋषीणामिति शेषः प्रीतये यत्र सप्तधा व्यधात्, आत्मानमिति शेषः। अत एव यं सप्तस्रोतः प्रचक्षते प्रवदन्ति, तमाश्रममगादिति पूर्वेणान्वयः ॥ ५१ ॥

स धृतराष्ट्रः तस्मिन्नाश्रमेऽनुसवनं त्रिकालं स्नात्वा यथाविधि अग्नीन् गार्हपत्यादीन् हुत्वा अब्भक्षः जलाशनः उपशान्तात्मा कामक्रोधादिवेगविरहितान्तःकरणः विगतेषणः ईषणात्रयरहितश्च सन् आस्ते वर्तते॥ ५२ ॥

जितासनो जितश्वासः प्रत्याहृतषडिन्द्रियः।
हरिभावनया ध्वस्तरजस्सत्त्वतमोमलः॥ ५३ ॥

विज्ञानात्मनि संयोज्य क्षेत्रज्ञे प्रविलाप्य तम्।
ब्रह्मण्यात्मानमाधारे घटाम्बरमिवाम्बरे॥ ५४ ॥

ध्वस्तमायागुणोदर्को निरुद्धकरणाशयः।
निवर्तिताखिलाहार आस्ते स्थाणुरिवाचलः।
तस्यान्तरायो मैवाभूः संन्यस्ताखिलकर्मणः॥ ५५ ॥

स वा अद्यतनात् राजन्! परतः पञ्चमेऽहनि।
कलेवरं हास्यति स्वं तच्च भस्मीभविष्यति॥ ५६ ॥

दह्यमानेऽग्निभिर्देहे पत्युः पत्नी सहोटजे।
बहिःस्थिता पतिं साध्वी तमग्निमनुवेक्ष्यति॥ ५७ ॥

विदुरस्तु तदाश्चर्यं निशम्य कुरुनन्दन!
हर्षशोकयुतस्तस्मात् गन्ता तीर्थनिषेवकः॥ ५८ ॥

सूत उवाच

**इत्युक्त्वाऽथारुहत् स्वर्गं नारदसहतुम्बुरुः ।**
**युधिष्ठिरो वचस्तस्य हृदि कृत्वाऽजहाच्छुचः ॥ ५९ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

---

1 K,M °द्रेको 2. B,H,K,M,V,W °धुना 3 H,K,M,V °भूत् 4. K,M राजा 5. K,M ह; W वै 6 K,M,N °श° 7 AF,GF चा° 8 K,M °ह°

**श्रीध० जितासन** इति। जितासन इत्यादिना आसनप्राणायामप्रत्याहारा उक्ताः। हरिभावनयेति धारणोक्ता। ध्वस्ता रजस्सत्त्वतमोरूपा मला यस्येति फलतो ध्यानमुक्तम् ॥ ५३ ॥

समाधिमाह — **विज्ञानेति** द्वाभ्याम्। आत्मानं मनोऽहङ्कारास्पदात् स्थूलदेहाद्वियोज्य विज्ञानात्मनि बुद्धौ संयोज्य एकीकृत्य तं च विज्ञानात्मानं दृश्यांशाद्वियोज्य क्षेत्रज्ञे द्रष्टरि प्रविलाप्य तं च क्षेत्रज्ञं द्रष्टृंशाद्वियोज्य आधारे आश्रयसंज्ञे ब्रह्मणि प्रविलाप्य घटाम्बरं घटोपाधेर्वियोज्य यथा महाकाशे प्रविलाप्यते तद्वत् ॥ ५४ ॥

व्युत्थानाभावमाह — **ध्वस्तेति**। तद्धि अन्तर्गुणक्षोभाद्वा बहिरिन्द्रियविक्षेपाद्वा व्युत्थानं भवेत्, तदुभयं तस्य नास्ति यतो ध्वस्तो मायागुणानामुदर्क उत्तरफलं वासना येस्य सः। निरुद्धानि करणानि चक्षुरादीन्याशयो मनश्च यस्य सः। अत एव निवर्तितोऽखिल आहारो भोज्यमिन्द्रियैर्विषयाहरणं वा येन सः स्थाणुरिव निश्चल आस्ते ॥ ५५ ॥

तथाभूतमप्यानेतुमुद्यतं प्रत्याह — **तस्येति**। अन्तरायो विघ्नः मैवाभूरित्यडागमश्छान्दसः। दर्शनमपि तावत्कुर्यामित्युद्यतं प्रत्याह। स वा अद्यतनादह्नः परत उत्तरत्र। स्वं स्वाधीनम्। तर्हि तद्दाहार्थं गमिष्यामि नेत्याह तच्चेति ॥ ५६ ॥

तर्हि गान्धार्यानयनार्थं गमिष्यामि! नेत्याह — **दह्यमान** इति। पत्युर्देहे सहोटजे पर्णशालासहिते योगाग्निना सह गार्हपत्यादिभिः दह्यमाने तस्य पत्नी बहिःस्थिता सती तं पतिमनु अग्निं वेक्ष्यति प्रवेक्ष्यति ॥ ५७ ॥

तर्हि विदुरानयनार्थं गन्तव्यमेव! नेत्याह — **विदुर** इति। विदुरस्तु तन्निशाम्य दृष्ट्वा भ्रातुः सुगत्या हर्षः तन्मृत्युना शोकश्च ताभ्यां युक्तः तस्मात् स्थानात् तीर्थानि सेवितुं गन्ता गमिष्यति ॥ ५८ ॥

**इतीति**। शुचः शोकान् ॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

---

1 A,B °दं 2. A,B omit तद्धि 3. H,V °क्षोभाद्वा 4. H,V add वा 5. H,V °र्थं 6. B °निषेवितुं

**वीर०** जितमासनं येन सः चिरम् आसीनोऽपि क्लमरहित इत्यर्थः। जिताः श्वासाः प्राणादिवायवो **येन** सः। प्रत्याहृतानि शब्दादिविषयेभ्यो नियमितानि षडिन्द्रियाणि येन। हरिभावनया भगवद्रूपानुस्मृत्या ध्वस्तानि निरस्तानि रजआदिगुणत्रयकार्याणि मुक्तिप्रतिबन्धकानि पुण्यापुण्यादिरूपाणि मलानि यस्य तथाभूतः॥ ५३॥

विज्ञानात्मनि विज्ञानस्वरूपे क्षेत्रज्ञे प्रत्यगात्मनि अभिसंयोज्य पूर्वं प्रस्तुतानि इन्द्रियाणि इत्यर्थात् सिद्धम्। इन्द्रियाणि संयोज्य इन्द्रियैः अनाकृष्टचित्त इत्यर्थः। तमात्मानं क्षेत्रज्ञमाधारे धारके ब्रह्मणि विलाप्य विलीनं कृत्वा उपाधिविधूननेन ब्रह्मसमानाकारतया अनुसन्धायेति यावत्। तत्र दृष्टान्तमाह — घटाम्बरमिवाम्बरं इति। महाकाशे घटाकाशमिव ब्रह्मण्यंज्ञानं प्रविलाप्य स्थाणुरिव आस्त इत्युत्तरेणान्वयः। अम्बरदृष्टान्तेन जीवब्रह्मणोः स्वरूपैक्यमनुसन्धायेति न भ्रमितव्यम्। घटाद्युपाध्यपगमेन घटाकाशस्य महाकाशसंश्लेषेऽपि स्वरूपभेदसद्भावात्। पञ्चीकरणस्मरणात् आकाशेऽप्यंशभेदस्य वेदान्तिभिरवश्यमङ्गीकृतत्वात् यदि आकाशेंऽशभेदो नाभ्युपगम्येत तदा कृत्स्नस्याप्याकाशस्य घटाद्युपहितत्वप्रसङ्गः। न चेष्टापत्तिः, घटाकाशमहाकाशयोर्व्याप्यव्यापकतायाः वैपरीत्यापातात् कार्त्स्न्येन आकाशस्य घटोपहितत्वे हि तत्परिच्छिन्नस्य आकाशस्य व्याप्यत्वं सुस्पष्टम्। अतः संश्लेषदशायामपि घटाकाशमहाकाशयोः प्रदेशभेदः अस्त्येव। उपाध्यपगमेन समानाकारत्वमात्राभिप्रायक एवायं दृष्टान्त इत्यवगन्तव्यम्॥ ५४॥

ध्वस्तः मायागुणानां रजआदीनां उदर्को रागद्वेषादिकार्यद्वारा उत्तरोदयो यस्य। निरुद्धानि करणानि इन्द्रियाणि आशयो वासना अन्तःकरणं वा येन। निर्वर्तिता अखिलाः सर्वे आहाराः अब्भक्षणादयोऽपि येन तथाभूतः स्थाणुरिवाचलो निश्चल आस्ते आसिष्यते। "प्रत्याहृतषडिन्द्रिय" इत्यनेन इन्द्रियाणां विषयेभ्य आकर्षणमात्रमुक्तम्। "निरुद्धकरणाशय" इत्यनेन तु पुनर्विषयेषु प्रवृत्तिप्रतिबन्ध उक्तः। अतो न पौनरुक्त्यम्। तथा ध्वस्तरजस्तमोमल इत्यनेन पुण्यपापाद्यभाव उक्तः। "ध्वस्तमायागुणोदर्क" इत्यनेन पुण्यापुण्यमूलकरागद्वेषाद्यभाव उक्तः। तथा तावदब्भक्षस्ततो निर्वर्तिताखिलाहार इति॥ ५५॥

कथं चित्तमानयिष्यामीति युधिष्ठिराभिप्रायमालक्ष्य आह — **तस्येति**। संन्यस्तानि त्यक्तान्यखिलानि देहधारणार्थान्यपि कर्माणि येन तस्य धृतराष्ट्रस्यान्तरायो विघ्नभूतः त्वं मा भूः न भव। हे राजन्! स धृतराष्ट्रः अद्यतनाद्वर्तमानदिनादारभ्य परतः पञ्चमेऽहनि स्वं कलेवरं हास्यति वै नूनं त्यक्ष्यति। तच्चकलेबरं योगाग्निनैव भस्मीभविष्यतीति॥ ५६॥

तदा सहोटजे पर्णशालासहिते भर्तुः देहे अग्निभिर्दह्यमाने सति तस्य पत्नी साध्वी पतिव्रता गान्धारी बहिःस्थिता तमग्निमनुवेक्ष्यत्यनुप्रवेक्ष्यति॥ ५७॥

हे कुरुनन्दन! ततस्तदाश्चर्यं निशाम्य दृष्ट्वा विदुरः हर्षशोकाभ्यां भ्रातुः मुक्तिविश्लेषजाभ्यां युक्तः तस्माद्देशात् तीर्थनिषेवकः सेवितुमिच्छन् गन्ता गमिष्यति॥ ५८॥

इतीत्थम् उक्त्वा सहतुम्बुरुः भगवान् नारदः स्वर्गमारुहत् स्वर्गं प्रति ऊर्ध्वं जगामेत्यर्थः। युधिष्ठिरस्तु तस्य नारदस्य वचः हृदि कृत्वा निधाय शुचः शोकान् अजहात् तत्याज॥ ५९॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

---

1. W °द्रुप धुवानु° 2 A,B omit पुण्या° 3 A,B °प्यात्मानं 4 A,B °करणात् आका° 5 W °श्याङ्गीकार्यत्वात् 6. W °दा 7 B °तायां; W °ता भाव° 8 W °क्षण° 9 W °तः 10 W तीर्थानि निषेवकः

**विज**° अपि मयीति मृत्युकालीनवैमनस्यविषयं प्रश्नं परिहरतीत्याह — **जितासन** इति। धृतराष्ट्र उक्तविधिना तपः कुर्वन् अभ्यासपाटवेन जितासनः स्वस्तिकाद्यासनजयवान् निर्जितश्वासः प्राणजयवान् विषयेभ्यः प्रत्याहृतश्रोत्रादिषडिन्द्रियस्सन् हरिभावनया हरिनिरन्तरध्यानेन ध्वस्तं सत्त्वरजस्तमोनिमित्तं मनोमलं येन स तथा॥ ५३॥

स्वरूपज्ञानेन स्वस्वरूपमारभ्य परतत्त्वपर्यन्तानि अशेषतत्त्वानि अपरोक्षीकृत्य सर्वं जगत् विज्ञानात्मनि विज्ञानतत्त्वाभिमानिनि विरिञ्चे संयोज्य तत्र प्रविलाप्य लयमेष्यतीति ध्यात्वा तं विरिञ्चं क्षेत्रज्ञे स्वहृदि स्थिते हरावन्तर्यामिणि प्रविलाप्य घटाम्बरमम्बर इव उत्पद्यमानघटवर्ति महाकाशस्वरूपतद्भिन्नजायमानाकाशयो र्मध्ये महाकाशस्वरूपघटाकाशो महाकाशे घटे भिन्ने यथा एकीभवति तथा आत्मानं स्वान्तर्यामिणं हरिमाधारे सर्वाधारे ब्रह्मणि सर्वगते प्रविलाप्य एकीभावेन चिन्तयन्॥ ५४॥

अत एव ध्वस्तमायागुणोद्रेक इति हेतुगर्भं निरस्तप्रकृतिसत्त्वादिगुणोद्रेकत्वात् हरावेव निरुद्धाशेषकरणमना अत एव निवर्तिताखिलाशनोऽधुना स्थाणुरिवाचल आस्ते। तदा मृतिकाले आसीदित्येकान्वयः। तस्मान्न त्वयि शमलमाशंसमानो नापि दुःखितो गङ्गायाम् अभ्यपतदिति भावः। ब्रह्मार्पणबुद्ध्या संन्यस्तसमस्तकर्मणः तस्य धृतराष्ट्रस्य तपोविघ्नो माभूरित्यन्वयः॥ ५५॥

इदानीं धृतराष्ट्रमृतिकालं वक्तीत्याह — **स वा** इति। स धृतराष्ट्रः अद्यतनादह्नः परतः पूर्वस्मिन् पञ्चमेऽहनि कलेबरं हास्यति जहौ। तच्च भस्मीभविष्यति भस्मसादभूत्। हशब्देन "सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणाम्" इति व्याकरणसूत्रमत्र प्रमाणीकरोति, इतिहासं वा सूचयति। वा इत्यनेन "तांस्तदा नारदो विद्वाञ्छमयामास धर्मवित्। उक्त्वोत्तमां गतिं तेषां निष्ठां तात्कालिकीं तथा।" इति स्कन्दपुराणोक्तं वाक्यं सूचयति। च शब्द एवार्थे। तत्कलेवरमेव भस्मीभविष्यति। न तु सः स्वयं शून्यतामेष्यति चेतनस्य नित्यत्वात्॥ ५६॥

उटजेन पर्णशालया सह वर्तमानः सहोटजः तस्मिन् प्रवेक्ष्यति प्राविशत्। साध्वीशब्देन कुन्ती च। सा चाग्निमाविशत् तस्मादुत्तरगतिं प्राप्तान् प्रति परलोकमुद्दिश्य न शोचितव्यमिति भावः॥ ५७॥

एष्यज्ञस्य विदुरस्य धृतराष्ट्रवनप्रवेशात् पूर्वतनाचरणप्रकारमाह — **विदुर** इति। सर्वज्ञो विदुरो दिव्यज्ञानेन भविष्यदाश्चर्यं धृतराष्ट्रपाण्डवयादवानां स्वर्नियाणं निशम्य हरिसामर्थ्यस्मरणेन बन्धुमरणस्मरणेन च हर्षशोकान्वितः,

सर्वमनित्यम्, ईश एव नित्यः ततः तीर्थयात्रादितत्सेवैव पुरुषार्थप्रदेत्यतः कारणात् तीर्थनिषेवणकः गन्ता गङ्गादितीर्थानां भागवतादिशास्त्राणां च सेवामानो[2] ययौ। तुशब्दो, गन्तेति लुट् भूतार्थत्वभेदमाह; "तुः स्याद्भेदेऽवधारणे" (अम. को. 3-243) इत्यभिधानात्। स च पुनः धृतराष्ट्रपरिसरमागतोऽभवत्। धृतराष्ट्रं[3]दिदिदृक्षया वनं गतेषु भवन्तं प्रवश्यि एकत्वमागतो हि, तस्मात् न तस्य गतिर्मया वर्णनीयेति भावः। पुरा दिदृक्षार्थं वनमागतेषु पाण्डवेषु राजानं प्रविश्य एकत्वमागत इति स्कान्दकथितार्थभेदे वा वर्तते तुशब्दः ॥ ५८ ॥

सतुम्बुरुरिति वक्तव्ये सहतुम्बुरुरिति नारदः सर्वदा तुम्बुरुणा सहैव वर्तते न तं विहायेति द्योतनार्थः। कुन्त्यादिविषयाः शुचः ॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां प्रथमस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः * ॥ १३ ॥

---

1. K,M °दि° 2. B,K,M सेवनः 3. A,B ° ष्टदिदृ ° *In K & M 12th Chapter ends here

**रा॰ कृ॰** अपि च स धृतराष्ट्रः जितासनः जितश्वासः प्रत्याहृतषडिन्द्रियः हरिभावनया ध्वस्तरज-स्तत्वतमोमलः आत्मानमहङ्कारास्पद विज्ञानात्मनि बुद्धौ संयोज्य तं विज्ञानात्मानं क्षेत्रज्ञे द्रष्टरि प्रविलाप्य संयुक्तं विभाव्य तं च क्षेत्रज्ञमाधारे आश्रयभूते ब्रह्मणि घटाम्बरं घटाकाशं अम्बरे आधारभूते महाकाशे इव विलाप्य संयुक्तं विभाव्य ध्वस्तमायागुणोदर्कः निरुद्धकरणाशयः निवर्तिताखिलाहारः स्थाणुरिवाचलः आस्ते। संन्यस्ताखिलकर्मणः तस्य धृतराष्ट्रस्य अन्तरायः मैवाभूस्त्वं मा भूः।

मनुष्यैः अभ्यसनीयानां विद्यानां मध्ये योगेन देहत्यागरूपा उत्तमोत्तमा विद्या। श्रीमद्भागवते प्रधानभूतया परीक्षित्कथया इयमेवोपदिश्यते। मानवप्राप्यं शाश्वतं दिव्यजीवनं च अनिवार्यमृत्युघटनाग्रहण, विनियोगायत्तं यद्धि पुरा नियमबद्धवैयक्तिकजीवितलक्ष्येष्वन्यतममभवत्। प्रायिकं चैतत् यद्भागवतोत्तमाः राजानः ऋषयश्चानेनैव पथा देहं त्यजन्ति स्मेति।

मानवजन्मनः सार्थक्यं तत्कर्तव्यनिर्वहणायत्तम्, न तु विषयानुभवायत्तमिति, देहाभिमानश्च दुःखहेतुरिति जानन्ति विवेकिनः। ते हि स्वशरीरबन्धुगृहजन्यं सुखदुःखादिकं सर्वमप्यसत्यमिति, कर्तव्यमेकमेव सत्यमिति विज्ञाय तत्करणसमनन्तरमेव क्रमशः लघूकृताहारविहारादिकाः तापत्रयविरहिताः प्रशान्तात्मानश्च यथावसरं देहं त्यजन्ति। एतद्विवेकविरहिताः देहाभिमानिनस्तु परकृतपुरस्कारतिरस्कारजातसुखदुःखादि नानादशाऽऽग्रहपरवशाः चिरायुस्सम्पादनपराश्च प्रव्यथन्ते। अत एव सम्प्रति परमकर्तव्यज्ञानविरहिते अज्ञानोपहते जगति जनाधिक्याहारन्यूनतादिक्षुद्रविवादैः प्रायेण मानवो निपीड्यते। यदि प्रागुक्ता योगसहकृतदेहत्यागविद्या समधिगता भवति तर्हि नैवोदेत्यद्यापि तत्क्षुद्रविवादक्लेशः। एतत्सर्वविवादपरिष्कारः श्रीमद्भागवततत्त्वप्रकाशितो विराजते इत्यलमतिविस्तरेण।

प्रकृते च जलप्रायमाहारं भुञ्जानः क्रमशः प्रक्षीणाभ्यवहारः धृतराष्ट्रः मनःप्रशमाय विष्णुमन्तर्यामिणं दध्यौ। तेन तस्य सर्वेन्द्रियाणां विष्णुनिष्ठया रजस्तमोहानिः। तदा देहात्मबन्धहेतुः प्राणः परिपक्वः तद्देहमपहाय आत्मानमाश्रितवान्। तथा च आत्मानमाकाशगतं सम्भाव्य तदाकाशं च विष्णुमयं विज्ञाय सः स्वयं सश्वासं बहिरागत्य आकाशे लीनोऽभवदिति पिण्डितार्थः ॥ ५३, ५४, ५५ ॥

हे राजन्! युधिष्ठिर! स धृतराष्ट्रः अद्यतनात् वर्तमानादह्नः आरभ्य परतः अनन्तरं पञ्चमेऽहनि दिने स्वं कलेबरं हास्यति त्यक्ष्यति। तच्च कलेबरं भस्मीभविष्यति; योगाग्निनेति शेषः ॥ ५६ ॥

सहोटजे उटजसहिते पत्युर्देहे अग्निभिर्दह्यमाने सति बहिःस्थिता साध्वी पतिव्रता तस्य पत्नी गान्धारी तं पतिमनु अनुसृत्य अग्निं वेक्ष्यति प्रवेक्ष्यति।

अत्र योगेन देहत्यागविधानमुक्तम्। एतेन च विधानेनाभ्यस्तेन केचिदेकस्मिन्नेवजन्मनि बहुवारं देहं त्यजन्तः प्रविशन्तः तत्प्रक्रियासमधिगतान् विविधानुभवान् अभ्यासवशात् वासनाकारतया मनसि मुद्रितानेकत्र क्रोडीकृत्य (समाहृत्य) शास्त्रत्वेन निबध्नन्ति। अन्ये केचन देहं विहायापि स्वस्वस्मृतिसमारूढाः भाविभवपरम्परामेकाकारतयाऽनुभवितुं प्रभवन्ति। एतत्स्मृतिसाहाय्येन संवत्सराणां शतानि सहस्राणि च यावत् तेषाम् एकैकमहाकार्यसाधनदीक्षा सिध्यति। बहवो ऋषयः सहस्रसंवत्सरसत्रयागनिर्वहणाय नैमिशारण्ये सम्मिलिताः महात्मानश्च ईदृशा एव। एते च प्रायशः सङ्कुशः कार्याचरणपरायणाः परस्परमभिजानन्ति। एतत्प्रत्यभिज्ञासौलभ्याय च सर्वेष्वेव जन्मसु एकमेव सङ्केतनाम स्वीकुर्वन्ति। नारदविश्वामित्रवसिष्ठशक्तिपराशरादयः ऋषयः युगे युगे वर्तमानाः ब्रह्मविद्यापरिव्याप्तये प्रयतमानाः पुराणेषु गीयन्ते। एतादृशा एव चिरञ्जीविन इति कथ्यन्ते ॥ ५७ ॥

हे कुरुनन्दन! युधिष्ठिर! विदुरस्तु दुराचारतत्परस्य धृतराष्ट्रस्यापि मोक्षरूपं तत् आश्चर्यं निशाम्य विलोक्य हर्षशोकयुतः भ्रातृमुक्तिमृत्युप्रयुक्तहर्षशोकान्वितः तीर्थनिषेवकः तीर्थानि सेवितुकामः तस्मात् प्रदेशात् गन्ता गमिष्यति ॥ ५८ ॥

इति पूर्वोक्तप्रकारेण उक्त्वा अथ सहतुम्बुरुः नारदः स्वर्गमारोहत्। युधिष्ठिरः तस्य नारदस्य वचो हृदि कृत्वा निधाय शुचः शोकान् अजहात् त्यक्तवान् ॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां व्याख्यायां
त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

# चतुर्दशोऽध्यायः

सूत उवाच

सम्प्रस्थिते द्वारकायां जिष्णौ बन्धुदिदृक्षया ।
ज्ञातुं[1] च पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य च विचेष्टितम् ।। १ ।।

व्यतीताः कतिचिन्मासास्तदा[2] नाऽऽयात्ततोऽर्जुनः[3] ।
ददर्श घोररूपाणि निमित्तानि कुरूद्वहः[4] ।। २ ।।

कालस्य च गतिं रौद्रां[5] विपर्यस्तर्तुधर्मिणः[6] ।
पापीयसीं[7] नृणां वार्तां क्रोधलोभानृतात्मनाम् ।। ३ ।।

जिह्मप्रायं व्यवहृतं शाठ्यमिश्रं[8] च सौहृदम् ।
पितृमातृसुहृद्भ्रातृदम्पतीनां च कल्कनम्[9] ।। ४ ।।

कन्याविक्रयिणां[10] तातं सुतं पित्रोरपोषकम् ।
ब्राह्मणान् वेदविमुखान् शूद्रान् वै[11] ब्रह्मवादिनः ।।

निमित्तान्यत्यरिष्टानि[12] काले त्वनुगते नृणाम् ।
लोभाद्यधर्मप्रकृतिं[13] दृष्ट्वोवाचानुजं नृपः ।। ५ ।।

युधिष्ठिर उवाच

संप्रेषितो[14] द्वारकायां जिष्णुर्बन्धुदिदृक्षया[15] ।
ज्ञातुं च पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य च विचेष्टितम् ।। ६ ।।

गतास्सप्ताऽधुना मासा भीमसेन तवानुजः ।
नायाति कस्य वा हेतोः नाहं वेदेदमञ्जसा[16] ।। ७ ।।

अपि देवर्षिणाऽऽदिष्टः स कालोऽयमुपस्थितः ।
यदाऽऽत्मनोऽङ्गमाक्रीडं[17] भगवानुत्सिसृक्षति ।। ८ ।।

---

1 K.M ज्ञातुं मायामनुष्यस्य वासुदेवस्य चेहितम्; AF GF ज्ञातुं मायामनुष्यस्य वासुदेवस्य चेष्टितम्। 2 K.M स्तदा तु शतशो नृपः 3 AF GF पाण्डुसुतो नृपः 4 K.M भृगूद्वह! 5. W °द्रीं 6 W विपरीतर्तुधर्मणः 7 AF GF °धर्मणः 8 K.M साध्य 9 K.M कल्कितां *This additional verse is found in H.N.V.W and the commantaries of Sridhara and Veeraraghva on the same are to be found at their proper places 10 W °कं 11 W °च 12 K.M °ष्य° 13 H.V °भृ° 14 H.V सम्प्रेषितो; K.M सम्प्रेषिते 15 V विष्णु; K.M जिष्णौ 16 H.V °द्धी° 17 K.M यदात्म°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुर्दशे त्वरिष्टानि दृष्ट्वा राजा विशङ्कितः।
अशृणोदर्जुनात्कृष्णतिरोधानमितीर्यते॥

**सम्प्रस्थित** इति। श्रीकृष्णस्य चेति चकारेणाभिप्रायं च ज्ञातुम्॥ १॥

**व्यतीता** इति। कतिचित् सप्त मासाः। तदा कालातिक्रमेऽपि ततः द्वारकातः नाऽऽयात् नाऽऽगतः। निमित्तानि उत्पातान् कुरूद्वहः युधिष्ठिरः॥ २॥

**कालस्येति**। रौद्रां घोराम्। तदेवाऽऽह — विपर्यस्ताः ऋतुधर्माः यस्मिन् तस्य वार्तां जीविकाम्। क्रोधलोभानृतैर्युक्तः आत्मा मनः येषाम्॥ ३॥

**जिह्मप्रायमिति**। जिह्मप्रायं कपटबहुलं, व्यवहृतं व्यवहारं, शाठ्यं वञ्चनं तन्मिश्रं सौहृदं सख्यम्। पित्रादीनां स्वप्रतियोगिभिः कल्कनं कलहादि॥ ४॥
*कन्याविक्रयिणमिति तात जनकम्॥

**निमित्तानि** इति। अत्यरिष्टानि अत्यन्तं अशुभानि दृष्ट्वा नृणां लोभाद्यधर्मप्रकृतिं लोभादिकं मानसिकदुर्गुणं अधर्मानुष्ठानप्रभृतिं च कायिकदुर्गुणं दृष्ट्वा अनुजं भीमम्। नृपः युधिष्ठिरः॥ ५, ६॥

**गता** इति। वेति वितर्के। कस्माद्धेतोः नायातीत्यहं न वेद्मि॥ ७॥

**अपीति**। अपि किं यदा आत्मनः आक्रीडं क्रीडासाधनमङ्गं मनुष्यनाट्यविग्रहं उत्सृष्टुं इच्छति स कालः प्राप्तः[2]॥ ८॥

---

1. H,V °भृ° 2 H,V add किम् Commentary on addl V

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

**सम्प्रस्थित** इति। बन्धूनां यदूनां दिदृक्षया पुण्यश्लोकस्य पुण्ययशसः श्रीकृष्णस्य विचेष्टितं ज्ञातुं च जिष्णौ अर्जुने द्वारकायां सम्प्रस्थिते प्रस्थानपूर्वकं द्वारकायां प्रविष्टे सति। द्वारकायां बन्धूनां दिदृक्षया इति वा अन्वयः॥ १॥

कतिचिन्मासाः व्यतिक्रान्ताः बभूवुः। तथापि ततो द्वारकातः अर्जुनो नाऽऽगच्छत्। तदा कुरूद्वहः युधिष्ठिरः घोररूपाणि निमित्तानि दुःखनिमित्तानि अरिष्टानि ददर्श॥ २॥

विपरीताः ऋतूनां वसन्तादीनां धर्मा यस्य तस्य कालस्य रौद्रां घोरां गतिं च द्वितीयान्तानां ददर्शेति पूर्वेण दृष्टेत्युत्तरेण वा अन्वयः। क्रोधादिप्रवण आत्मा मनो येषां नृणां पापीयसीं वार्तां जीवनार्थप्रवृत्तिम्॥ ३॥

जिह्मप्रायं कौटिल्यप्रचुरं व्यवहृतं व्यवहारं शाठ्यमिश्रं मौर्ख्ययुक्तं सौहृदं च पित्रादीनां परस्परं कल्कनं रागादिदोषं च ॥ ४ ॥

*कन्यां विक्रीणातीति तथा तातं पितरं पित्रोरपोषकं सुतं च वेदेभ्यो विमुखान् ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनो वेदपाठकान् शूद्रांश्च ॥

तथा अत्यरिष्टानि निमित्तानि दुःखसूचकानि काले तु अनुगते निमित्ते निमित्तभूतविपरीतकालानुसारमित्यर्थः। नृणां लोभाद्यधर्मस्वभावं च दृष्ट्वा। लोभादीत्यादिशब्देन क्रोधादिसङ्ग्रहः। नृपः युधिष्ठिरः, अनुजं भीमं प्रोवाच ॥ ५ ॥

तदेवाऽऽह — **सम्प्रेषित** इति षोडशभिः। द्वारकायां ये बान्धवाः तेषां दिदृक्षया कृष्णस्य विचेष्टितं ज्ञातुं च जिष्णुः **सम्प्रेषितः** प्रस्थापितः ॥ ६ ॥

हे भीमसेन! सप्त **मासाः** व्यतिक्रान्ताः अधुनापि कस्माद्धेतोः तव अनुजः अर्जुनः नायाति? इदं अनागमननिमित्तं अहं अञ्जसा न वेद[2]। 'अञ्जसा' इत्यव्ययं तत्त्वशीघ्रार्थयोर्वर्तते ॥ ७ ॥

अपीत्यपिशब्दः सम्भावनाद्योतकः। देवर्षिणा नारदेन आदिष्टः सूचितः सः कालः अधुना उपस्थितोऽपि? उपस्थितः स्यात् किमित्यर्थः। कोऽसौ यस्मिन् काले भगवान् कृष्णः आत्मनः स्वस्य आक्रीडं क्रीडार्थमङ्गं उत्सिसृक्षति त्यक्तुमिच्छति, स कालः आक्रीडं क्रीडार्थं मनुष्यसंस्थानमङ्गं शुद्धसत्त्वमयं अप्राकृतं शरीरं उत्सिसृक्षति भूमेः विश्लेषयितुं इच्छतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

---

1 W °द्रीं 2.A,B°सारिणीत्य° 3 W °धि Commentary on addl. V

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

दुर्निमित्तादिसंसारयात्राप्रतिपादनात् तस्य अनित्यत्वज्ञापनेन हरौ परा भक्तिः जायत इत्यर्थः निरूप्यते अस्मिन्नध्याये। तत्र अवशेषं प्रतीक्षत इत्युक्तयदुकुलसंहारकथनपूर्वकं श्रीकृष्णस्य स्वधामप्राप्तिं वक्तुं उपक्रमते — **सम्प्रस्थित** इति। नारदोक्तपरामर्शेन वीतशोकतया राज्यं पालयन् नृपः स्वानुमतेन विष्णौ अर्जुने द्वारकायां **स्थितानां** बन्धूनां दर्शनेच्छया मायया इच्छया गृहीतमनुष्यवेषस्य वासुदेवस्य ईहितं चेष्टितं च ज्ञातुं द्वरकां प्रति सम्प्रस्थिते गते ॥ १ ॥

यदा कतिचिन्मासाः दिवसाः व्यतीताः अतिक्रान्ताः, तदा शतशः सहस्राणि घोररूपाणि भयङ्कराणि निमित्तानि आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकान् उत्पातान् ददर्श इत्यन्वयः। "अहस्तु मासशब्दोक्तं यत्र चिन्तायुतं व्रजेत्" इत्यभिधानं तुशब्देन गृहीतम् ॥ २ ॥

उत्पातं दृष्ट्वा किं चकार नृप इति तत्राऽऽह — **कालस्येति**। कालगत्यादिकं दृष्ट्वा नृपः अनुजं भीमसेनं इत्यभाषत इत्यन्वयः। विपर्यस्ताः [1]वसन्तादीनां ऋतूनां धर्माः पुष्पोद्गमाः अस्य सन्तीति विपर्यस्तर्तुधर्मस्य कालस्य। रौद्रामिति पाठात् गतेरपरिहार्यत्वं वक्ति। क्रोधादिष्वात्मा मनो येषां ते तथोक्ताः, तेषां नृणां वार्तां श्रुत्वा जीवनोपायं प्रवृत्तिं पापीयसीं पापभूयिष्ठां दृष्ट्वा ॥ ३ ॥

व्यवहृतं दानोपादानादिव्यवहारं जिह्मप्रायं कापट्यप्रचुरं सौहृदं स्नेहं शाठ्यमिश्रं स्वप्रयोजनोपेतं पित्रादीनां कल्कितां कलङ्कितां कलहं वा ॥ ४ ॥

अरिष्टानि अशुभानि "अरिष्टं पापशुभयोः, अरिष्टमशुभेऽपि च" इत्यभिधानं अपिशब्देन अग्राहि। पूर्वकालवैलक्षण्यद्योतकः तुशब्दः। लोभादिना अधर्मस्वभावम्॥५, ६॥

अत्रापि मासाः दिवसाः अहमज्ञसेदं कारणं न वेद। त्वमिदं वेत्थ। किमिति वाक्यशेषः॥ ७॥

आत्मनः स्वस्य आक्रीडं क्रीडास्थानं अङ्गं निजां भूमिं "यस्य पृथिवी शरीरम्" (बृह. उ. 3-7-3) इत्यादेः। यत् यदा देवर्षिणा नारदेन "यूयं तावदवेक्षध्वं" इति निर्दिष्टः सः कालः प्रत्युपस्थितः आसन्नोऽपि किम्? ॥ ८ ॥

---

1 K.M add व्यत्यस्ताः 2 K रौद्रीमित्यपाठात् 3 K.M साध्य° 4 K.M °दे°

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

बन्धुदिदृक्षया बन्धूनां यादवानां दर्शनेच्छया पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य विचेष्टितं ज्ञातुं च जिष्णौ अर्जुने द्वारकायां सम्प्रस्थिते हस्तिनापुरात् गते सति कतिचित् सप्तसङ्ख्याकाः मासाः व्यतीताः गताः। ततो द्वारकायाः अर्जुनो नाऽऽयात् नाऽऽगच्छत् तदा कुरूद्वहः कुरुकुलनिर्वाहकः धर्मजः घोररूपाणि भीकराणि निमित्तानि ददर्श दृष्टवान्॥ १, २ ॥

विपर्यस्तर्तुधर्मिणः विपरीतऋतुधर्मवतः कालस्य रौद्रां गतिं क्रोधलोभानृतात्मनां क्रोधादिपरीतमानसानां नृणां पापीयसीं हिंसाबहुलां वार्तां प्रवृत्तिं जिह्मप्रायं व्याजबहुलं व्यवहृतं व्यवहारं शाठ्यमिश्रं वञ्चनोपेतं सौहृदं मित्रत्वं च पितृमातृसुहृद्भ्रातृदम्पतीनां पित्रादीनां परस्परं कल्कनं कलहञ्च कुरूद्वहो ददर्शेति पूर्वेणान्वयः ॥ ३, ४ ॥

काले तु काले च अनुगते अनुकूले सर्वदोषानुकूले सति निमित्तानि इत्थं उक्तानि अनुक्तान्यपि दुःखनिमित्तानि अत्यरिष्टानि तीव्रोत्पातरूपाणि तथा नृणां नराणां लोभाद्यधर्मप्रकृतिं लोभादिभिः अधर्मैः सहितां प्रकृतिं स्वभावञ्च दृष्ट्वा नृपो धर्मजः अनुजं भीमं उवाच॥ ५॥

युधिष्ठिरोक्तमेव दर्शयति — द्वारकायां बन्धुदिदृक्षया पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य विचेष्टितं ज्ञातुं च जिष्णुः अर्जुनः सम्प्रेषितः प्रस्थापितः॥ ६॥

अधुना सप्त मासा गताः। हे भीमसेन! तवानुजः अर्जुनः कस्य वा हेतोर्नायाति? नागच्छति? इदं अनागमनकारणं अञ्जसा तत्त्वेनाहं न वेद न वेद्मि॥ ७॥

यदा यस्मिन् काले भगवान् श्रीकृष्णः आत्मनः स्वस्य आक्रीडं क्रीडासाधनं अङ्गं मानवदेहं उत्सिसृक्षति उत्स्रष्टुं त्यक्तुं इच्छति। देवर्षिणा नारदेन आदिष्टः सूचितः सोऽयं कालः अपि उपस्थितः? प्राप्तः किम्? ॥ ८ ॥

यस्मान्नः सम्पदो राज्यं दाराः प्राणाः कुलं प्रजाः ।
आसन् सपत्नविजयो लोकाश्च यदनुग्रहात् ॥ ९ ॥

पश्योत्पातान्नरव्याघ्र! दिव्यान् भौमान् सदैहिकान् ।
दारुणान् शंसतोऽदूरात् भयं नो बुद्धिमोहनम् ॥ १० ॥

ऊर्वक्षिबाहवो मह्यं स्फुरन्त्यङ्ग! पुनः पुनः ।
वेपथुश्चापि हृदये आराद्दास्यन्ति विप्रियम् ॥ ११ ॥

शिवैषोद्यन्तमादित्यं अभिरौत्यनलानना ।
मामङ्ग! सारमेयोऽयं अभिरेभत्यभीरुवत् ॥ १२ ॥

शस्ताः कुर्वन्ति मां सव्यं दक्षिणं पशवोऽपरे ।
वाहांश्च पुरुषव्याघ्र! लक्षये रुदतो मम ॥ १३ ॥

मृत्युदूतः कपोतोऽयमुलूकः कम्पयन्मनः ।
प्रत्युलूकश्च कुह्वानैरनिद्रौ शून्यमिच्छतः ॥ १४ ॥

धूम्रा दिशः परिधयः कम्पते भूः सहाद्रिभिः ।
निर्घातश्च महानासीत् साकं च स्तनयित्नुभिः ॥ १५ ॥

वायुर्वाति खरस्पर्शो रजसा विसृजंस्तमः ।
असृक् वर्षन्ति जलदा बीभत्समिव सर्वतः ॥ १६ ॥

---

1. K,M येषां नः 2. H,K,M,V घोरमाशंसतो 3. AF,GF मे 4. AF,GF ममाग्रे 5. H,K,M,V,W °रोदि° ; N °रौति ह्य° 6. K,M,W °त° 7. K,M °तोग्रायु° 8. K,M हुङ्कारैः; AF,GF कुह्वानो रौद्रोऽसौ शून्यमिच्छति 9. B,I °विश्वं वै; H,V °विश्वं द्राक् 10 AF,GF दीप्ताः 11. K,M कुः 12. AF,GF °स्सु° 13. A,B,G,I महांस्तात 14. W °म°

**श्रीध०** अस्माकं सर्वपुरुषार्थहेतुः श्रीकृष्णः, अतस्तद्वियोगं विना अनिष्टं न स्यात् इत्याशयेनाऽऽह — **यस्मादिति**। यस्माच्छ्रीकृष्णात् हेतोः। एतच्च उपरिष्टात् अर्जुनः स्पष्टीकरिष्यति। लोकाश्च यज्ञकरणरूपात् यस्यानुग्रहात् ॥ ९ ॥

**पश्येति**। अदूरात् सन्निहितं नः अस्माकं भयं शंसतः उत्पातान् ॥ १० ॥

**दैहिकानाह — ऊर्विति**। ऊर्वादयः वामाः स्फुरन्ति। वेपथुः कम्पश्च हृदये वर्तते। एते मह्यं आराद् सन्निहितं विप्रियं दास्यन्ति ॥ ११ ॥

भौमानाह सार्धैस्त्रिभिः — **शिवेति**। शिवा क्रोष्ट्री उद्यन्तं आदित्यं अभिरौति उद्यत्सूर्याभिमुखं क्रोशति। अनलानना अग्निं मुखेन वर्मन्ती[3]। अङ्ग! हे भीम! मामभिलक्ष्य सारमेयः श्वाऽभिरेभति प्लुतं भषति। अभीरुवन्निरशङ्कम्॥ १२॥

**शस्ता** इति। शस्ता गवादयः मां सव्यं वामं कुर्वन्ति। अपरे गर्दभाद्याः प्रदक्षिणं कुर्वन्ति। वाहान् अश्वान्॥ १३॥

**मृत्युदूत** इति। अयं कपोतः मृत्युदूतः मृत्युसूचकः उलूकः घूकः प्रत्युलूकः तत्प्रतिपक्षो घूंकः काको वा कुह्वानैः कुत्सितशब्दैः विश्वं शून्यं कर्तुमिच्छतः॥ १४॥

**धूम्रा** इति। धूम्राः धूसराः दिशः परिधयः[7] अग्निमिव लोकमावृण्वन्ति। दिव्यानाह सार्धाभ्याम्। निर्घातः निरभ्रवज्रपातः स्तनयित्नवोऽत्र[10] गर्जितानि तैस्सह॥ १५॥

**वायुरिति**। तमो विसृजन् विशेषेण सृजन् असृक् रक्तम्॥ १६॥

---

1. B,H,V आशंसतः 2. H,V °ह° 3 B adds इत्यर्थः 4. H,V रोदिति 5. B °ङ्कवत् 6. B बकः 7. H,V add परिवेषाः 8. H.V अमं 9. H,V निर्घातादिसार्धाभ्याम् 10 B °भ्र°

**वीर०** भगवन्तं विशिनष्टि — यस्मात् भगवतः हेतोः नः अस्माकं सम्पदादयः बभूवुः, यस्य चानुग्रहात् लोकाः पुण्यलोकाः भविष्यन्ति स भगवान् उत्सिसृक्षतीत्यन्वयः। सम्पदः भोग्यभोगोपकरणादिसमृद्धयः। सपत्नविजयः शत्रुविजयः॥ ९॥

हे नरव्याघ्र! दिव्यान् दिवि भवान्, भौमान् भूमौ भवान् देहे च भवान् दारुणान् घोरान् अदूरात् समनन्तरमेव नः अस्माकं बुद्धिं मोहयतीति तथाभूतं भयं शंसतः सूचकान् उत्पातान् पश्य॥ १०॥

तावत् दैहिकान् उत्पातान् दर्शयति — **ऊर्विति**। अङ्ग! हे भीम! मम वामोर्वादयः पुनः पुनः स्फुरन्ति चलन्ति। हृदये वेपथुः कम्पश्च भवति। तान्येतानि ऊर्वादिस्फुरणानि आरात् समनन्तरकालमेव मह्यं अप्रियं दास्यन्ति मम विप्रियसूचकानि भवन्तीत्यर्थः॥ ११॥

एषा शिवा शृगालविशेषः अनलवत् ज्वलदाननं यस्यास्सा आदित्यमभि आदित्याभिमुखं रौति। अङ्ग! हे भीम! अयं सारमेयः श्वा मम अभिमुखं अभीरुवत् अभीतवत् रोदिति रोदनं करोति॥ १२॥

शस्ताः प्रशस्ताः गवाश्वादयः पशवः मां सव्यं आत्मनां सव्यपार्श्वस्थं कुर्वन्ति। अपरे अप्रशस्ताः खरमहिष्यादयः तु दक्षिणं कुर्वन्ति। हे पुरुषव्याघ्र! मम वाहान् गजाश्वादीन् रुदतः रोदनं कुर्वाणान् लक्षये॥ १३॥

अयमुलूको मृत्योर्दूतः तद्वदनिष्टकरः स च प्रत्युलूकश्च मंदभिमुखं अन्यश्च उलूकश्चानावेतौ अनिद्रौ निद्रारहितौ कुह्वानैः कुकुइत्येवंविधैः ह्वानैश्शब्दैः किति तच्छब्दानुकारः। इमं देशं शून्यमिच्छतः सूचयतः॥ १४॥

दिशः धूम्राः परिधयश्च दृश्यन्ते इति शेषः। अद्रिभिः सह भूः पृथिवी कम्पते। स्तनयित्नुभिः मेघैः अकालिकैस्सह महान् निर्घातः अशनिनिर्घातश्च आसीत्॥ १५॥

खरः कठिनः स्पर्शः यस्य स वायुः धूल्या तमः विसृजन् विशेषेण सृजन् वाति। जलदाः मेघाः सर्वतो बीभत्समिव असृक् रुधिरं वमन्ति मुञ्चन्ति॥ १६॥

---

1. W विप्रियप्रतिसू° 2. W °स्तानं 3. W °चा° 4. W adds धूकः 5. W त° 6. W उलूकः तावेतौ 7. W आ°

---

विज्ञ० यस्य कृष्णस्य अनुग्रहात् येषां अस्माकं सम्पदादयः आसंस्तेषां नः स कालः आसन्न इत्यन्वयः। दाराः भार्याः सपत्नानां शत्रूणां विजयः। लोकाः स्वर्गादयः। प्रजाः पुत्राः॥ ९॥

कुतः आशङ्कसे इति तत्राऽऽह — पश्येति। दिव्यान् सूर्यप्रकाशादीन् भौमान् भूकम्पादीन् देहभवाः दैहिकाः तत्र ऊरुस्फुरणादयः तैस्सह वर्तमानाः सदैहिकाः तान् इति त्रिविधान् द्रष्टव्यतिरिक्तकारणशून्यान् अशुभसूचकान् उत्पातान् पश्य इत्यन्वयः। कीदृशान् बुद्धिमोहनं भयं अदूरात् इदानीमेव आशंसतः कथयतः तस्मादाशङ्के इति भावः॥ १०॥

दैहिकान् वक्तीत्याऽऽह — ऊर्वक्षीति। ममोत्सङ्गादयः पुनः पुनः स्फुरन्ति कम्पन्ते। एते आरात् क्षिप्रं विप्रियं मह्यं दास्यन्तीत्यन्वयः॥ ११॥

अनलोऽग्निः आनने यस्यासा तथोक्ता मुखात् अग्निज्वालां उद्गिरन्तीत्यर्थः। एषा शिवा शृगाली उपगच्छन्तं अरुणमादित्यं अभिमुखं रौति रटति। रटं शृगालाक्रोशे काकाह्वाने च। सारमेयः श्वा॥ १२॥

शस्ता भरद्वाजादयः मां सव्यं अप्रदक्षिणं, अपरे पशवो बस्तगर्दभादयः मां प्रदक्षिणं कुर्वन्ति। वाहान् अश्वादींश्च रोदनं कुर्वतः मनसा निरूपयामि॥ १३॥

मृत्युदूतः मरणसूचकः कपोतः शिलाकणाशनपक्षी अग्रौ पदं करोति। यत् करोति "यत्कपोतः पदमग्रौ कृणोति" इति मन्त्रादिदं स्वप्ने दर्शनमिति ज्ञातव्यम्। मे मनः कम्पयन् उलूकः प्रत्युलूकश्च मिथो हुङ्कारैः जगत् शून्यमिच्छतः। सर्वनाशे यथा तथा आह्वानं कुरुत इत्यर्थः। कुह्वानमिति केचित्पठन्ति। कुह्वानं नाम तज्जातिध्वनिविशेषः॥ १४॥

परिधयः दिशः धूम्राः धूम्रवर्णाः ज्वलिताः परिवेषा वा स्तनयित्नुभिः अशनिभिः अकालमेघैर्वा साकं महान् निर्घातः निर्मेघगर्जितम्॥ १५॥

वायुः शंसति अपकर्षकालं इत्याह — वायुरिति। रजसा धूल्या तमः अन्धकारं विसृजन् निष्ठुरस्पर्शः वायुः वाति। अथ दिव्यानाह असृ गिति। जलदाः सर्वतोदिशं बीभत्समिव भीषकमिव असृक् रुधिरं वर्षन्ति॥ १६॥

---

1. B,K,M रटः

रा० कृ० यस्माच्छ्रीकृष्णाद्धेतोः नः अस्माकं सम्पदः, राज्यं दाराः, प्राणाः, कुलं परीक्षिद्रक्षणेन सन्ततिः प्रजाः सपत्नविजयः शत्रुविजयः आसन्, यदनुग्रहात् यस्य श्रीकृष्णस्य अनुग्रहात् लोकाश्च पुण्यलोकाश्च आसन् स भगवान् अङ्गं उत्सिसृक्षति इति पूर्वेणान्वयः ॥ ९ ॥

हे नरव्याघ्र! दिव्यान् भौमान् सदैहिकान् दारुणम् अदूरात् नः बुद्धिमोहनं भयं शंसतः कथयतः उत्पातान् पश्य ॥ १० ॥

अङ्ग भीम! ऊर्वीक्षिबाहवः मम वामाः इति शेषः। पुनः पुनः स्फुरन्ति। हृदये वेपथुश्चापि भवतीति शेषः। एतानि ऊर्वादिस्फुरणानि मह्यं आरात् समीपे विप्रियं दुःखं दास्यान्ति ॥ ११ ॥

अङ्ग! अनलानना अनलवज्ज्वलदाननं यस्यास्सा एषा शिवा उद्यन्तमादित्यं अभिरौति सूर्याभिमुखं आक्रोशति। अयं च सारमेयः मामभि अभिलक्ष्य अभीरुवत् रोदिति ॥ १२ ॥

हे पुरुषव्याघ्र! शस्ताः प्रशस्ताः पशवः गवादयः मां सव्यं आत्मनां सव्यपार्श्वस्थं कुर्वन्ति। अपरे अप्रशस्ताः खरमहिषादयः दक्षिणं मां दक्षिणपार्श्वस्थं कुर्वन्ति। मम वाहान् अश्वान् रुदतः लक्षये पश्यामि ॥ १३ ॥

अयं कपोतः मृत्युदूतः विपरीतरवत्वात् मृत्योः दूत इव प्रतिभाति। उलूकः घूकः प्रत्युलूकः काकश्च अनिद्रौ कुह्वानैः कुत्सितस्वनैः मनः कम्पयन्तौ शून्यं विश्वमिति शेषः। इच्छतः ॥ १४ ॥

दिशः धूम्राः धूसराः परिधयः सूर्यचन्द्रपरिवेषाः दृश्यन्त इति शेषः। भूः अद्रिभिः सह कम्पते। हे तात! भीम! स्तनयित्नुभिः गर्जितैस्साकं सह महान् निर्घातः निर्मेघाशनिपातश्च आसीदिति शेषः ॥ १५ ॥

खरस्पर्शः वायुः रजसा धूल्या तमः अन्धकारं विसृजन् प्रवर्तयन् वाति जलदाः मेघाः सर्वतः सर्वत्र बीभत्समिव असृक् रक्तं वर्षन्ति ॥ १६ ॥

**सूर्यं हतप्रभं पश्य ग्रहमर्दं मिथो दिवि।**
**संसृष्टैर्भूतगणैः ज्वलिते इव रोदसी ॥ १७ ॥**

**नद्यो नदाश्च क्षुभिताः सरांसि च मनांसि च।**
**न ज्वलत्यग्निराज्येन कालोऽयं किं विधास्यति ॥ १८ ॥**

**न पिबन्ति स्तनं वत्सा न दुह्यन्ति च मातरः।**
**रुदन्त्यश्रुमुखा गावो न हृष्यन्त्यृषभा व्रजे ॥ १९ ॥**

**दैवतानि रुदन्तीव स्विद्यन्ति ह्युच्चलन्ति च।**
**इमे जनपदा ग्रामा पुरोद्यानाकराश्रमाः।**
**भ्रष्टश्रियो निरानन्दाः किमघं दर्शयन्ति नः ॥ २० ॥**

मन्य एतैर्महोत्पातैः नूनं भगवतः पदैः ।
अनन्यपुरुषश्रीभिः हीना भूर्हतसौभगा ॥ २१ ॥

इति चिन्तयतस्तस्य दृष्टारिष्टेन चेतसा ।
राज्ञः प्रत्यागमद्दुह्यन् यदुपुर्याः कपिध्वजः ॥ २२ ॥

तं पादयोर्निपतितं अयथापूर्वमातुरम् ।
अधोवदनमब्बिन्दून् सृजन्तं नयनाब्जयोः ॥ २३ ॥

विलोक्योद्विग्नहृदयो विच्छायमनुजं नृपः ।
पृच्छति स्म सुहृन्मध्ये संस्मरन्नारदेरितम् ॥ २४ ॥

---

1. H,V,W सु°; K,M सुसङ्कुले तु भगणे 2 W वने 3 K,M खि° 4 W °त्तीवोच्च° 5. B,H,V प्रच° 6. K,M ° स्त्री ° 7 H,V,W °र्ग° 8. K,M,N,W मुञ्चन्त 9 H,V °यं

**श्रीध० सूर्यमिति** । ग्रहाणां मर्दं युद्धम् । भूता रुद्रानुचराः तेषां गणैः सङ्कुलैः व्यामिश्रैः प्राणिभिः सहितैः रोदसी द्यावापृथिव्यौ ज्वलिते प्रदीप्ते इव च पश्येति ॥ १७ ॥

पुनर्भीमानाह — **नद्य** इति सार्धैः त्रिभिः । प्राणिनां मनांसि च ॥ १८ ॥

**नेति** । न दुह्यन्तीति कर्मकर्तर्यार्षम् । न प्रस्रुवन्तीत्यर्थः ॥ १९ ॥

**दैवतानीति** । दैवतानि प्रतिमाः । अघं दुःखम् ॥ २० ॥

**मन्य** इति । एतैः महोत्पातैः कृत्वा न विद्यते अन्येषु पुरुषेषु श्रीः वज्राङ्कुशादिशोभा येषां तैः भगवतः पदैः हीना भूरिति अहं मन्ये ॥ २१ ॥

**इतीति** । तस्य राज्ञः इत्येवं दृष्टानि अरिष्टानि येन तेन चेतसा चिन्तयतः सतः ॥ २२ ॥

**तमिति** । अयथापूर्वं निपतितं तदेवाऽऽह आतुरं इत्यादिविशेषणैः । अपां बिन्दून् अश्रूणि नेत्राभ्यां विसृजन्तमित्यर्थः ॥ २३ ॥

**विलोक्येति** । उद्विग्नं कम्पितं हृदयं यस्य सः । विच्छायं विगतकान्तिम् नृपः युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥

---

1. H,V भूतानि 2. H,V सुसङ्कुलैः 3. H,V omit सः

**वीर०** हता प्रभा यस्य सः तथाभूतं सूर्यं पश्य । दिवि ग्रहाणां भृग्वङ्गारकादीनां परस्परं विमर्दं कलहं पश्य । सु नितरां सङ्कुलैः भूतानां पिशाचानां गणैः रोदसीत्यव्ययम् द्यावापृथिव्योर्वर्तते ज्वलिते इव दृश्येते ॥ १७ ॥

नद्यः प्राक्स्रोतसः, नदाः प्रत्यक्स्रोतसः। सरांसि भूतानां मनांसि च क्षुभिताः सञ्चलिताः भवन्ति, शुष्का भवन्ति इति वा। अग्निः आहवनीयादिः आज्येन न ज्वलति। अयं कालः किं दुःखं विधास्यति, अहं तु न वेद्मीति भावः॥ १८॥

वत्साः स्तनं स्तन्यं न पिबन्ति मातरश्च वत्सान् प्रति न दुह्यन्ति स्तन्यमिति शेषः। गावः अश्रूणि मुखे यासां ताः रुदन्ति व्रजे गोष्ठे ऋषभा न हृष्यन्ति च॥ १९॥

दैवतानि देवप्रतिमा रुदन्तीव स्विद्यन्ति गात्रप्रस्वेदं मुञ्चन्ति। उच्चलन्तीव उत्प्लुत्य पतन्तीव दृश्यन्ते। पुरादीनामाश्रमाः इमे जनपदा देशाः ग्रामाश्च भ्रष्टा श्रीः येभ्यः, निर्गतः आनन्दः येभ्यः तथाभूता दृश्यन्ते। नः अस्माकं किमघं[2] दुःखं दर्शयिष्यन्ति वयं तु न विद्म इति भावः॥ २०॥

इदं तु अहमुद्भावयामि इत्याह — **मन्य** इति। एतैः महोत्पातैः इदं त्वहं मन्ये उद्भावयामि। किम्? अनन्यपुरुषश्रीभिः न विद्यते अन्यपुरुषेषु श्रीः येषु तैः अन्यपुरुषेषु असम्भावितकान्तिभिः भगवतः श्रीकृष्णस्य पदैः पादविन्यासैः हीना रहिता अत एव हतं सौभगं सौन्दर्यं यस्यां तथाभूता भूः पृथ्वी नूनं भविष्यतीति॥ २१॥

इति इत्थं दृष्टानि ज्ञातानि अरिष्टानि येन तेन चेतसा राज्ञः तस्य युधिष्ठिरस्य चिन्तयतः सतः हे ब्रह्मन्! कपिध्वजः अर्जुनः यदुपुर्याः द्वारकायाः प्रत्यागमत् आगतवान्॥ २२॥

तमागतं पादयोर्निपतितं अनुजं अर्जुनं नृपः युधिष्ठिरः विलोक्य उद्विग्नं भीतं हृदयं यस्य तथाभूतो नारदोक्तं संस्मरन् सुहृदां मध्ये पृच्छति स्म अपृच्छत्। कथम्भूतं? अयथापूर्वं पूर्ववत् अनवस्थितं आतुरं दुःखितं अधोवदनं अवाङ्मुखं नयनाब्जयोः अश्रुबिन्दून् सृजन्तं मुञ्चन्तं विच्छायं विगतकान्तिम्॥ २३, २४॥

---

1. W adds ते 2. W adds अघमूलकं 3. W गतं

**विज०** दिवि व्योम्नि परस्परं ग्रहमर्दं ग्रहयुद्धं भगणे नक्षत्रसमूहे ससङ्कुले साङ्कर्यसहिते भावप्रधानत्वद्योतनाय ससङ्कुल इत्युक्तम्। तेनापि भयप्रापकत्वमाह। तुशब्देन एवं चेदेवं स्यात् इति ज्योतिश्शास्त्रं प्रमाणीकरोति। रोदसी द्यावापृथिव्यौ ज्वालाकुले इव भातः॥ १७॥

पुनश्च भौमानाऽऽह — **नद्य** इति। स्वर्नद्यादीनां दिव्यत्वसङ्ग्रहार्थमत्र नापाठि। नदाः पुत्रद्यः शोणादयः। क्षुभिताः निमित्तमन्तरेण कलुषाः। नित्यमाज्येन ज्वलनस्वभावः वह्निः आज्येन न ज्वलतीति यस्मात् अतोऽयं कालः किं शमलं विधास्यति?॥ १८॥

व्रजे गोष्ठे अश्रु मुखे यासां ताः तथोक्ताः न हृष्यन्ति, नाविष्किरन्ति तटाघातं न कुर्वन्तीत्यर्थः। दैवतानि प्रतिमाः रोदनादौ यो भावः तं कुर्वन्ति॥ १९॥

भ्रष्टश्रियः अत एव निरानन्दाः समृद्धिरहिताः सुखमुक्ता वा अघं व्यसनम्॥ २०॥

एषां उत्पातानां फलं स्वयमेवानुमिनोमि इत्याह — **मन्य** इति। एतैर्महोत्पातैः प्रायेण यादवेन्द्रस्य भगवतः पदैः हीना त्यक्ता अत एव हतसौभगा भूः महीति मन्ये। कथम्भूतैः पदैः? अनन्यपुरुषस्त्रीभिः नान्ये पुरुषाः स्त्रियश्च सौन्दर्ये साम्ये आधिक्ये च वर्तन्ते येषां तानि अनन्यपुरुषस्त्रीणि तैः। दीर्घः छान्दसः। अनन्यैः भगवदेकशरणैः पुरुषैः स्त्रीभिश्च हीनेति वा॥ २१॥

दृष्टारिष्टेन दृष्टाशुभेन व्यसनं अनुमिमानेन चेतसा तस्य युधिष्ठिरस्य राज्ञः इति चिन्तयतः अनुज प्रति कथयतश्च सतः इति शेषः। कपिध्वजः अर्जुनः यदुपुर्याः द्वारकायाः हस्तिनपुरं प्रत्यागमदित्य-**वयः**॥ २२॥

अयथापूर्वं पूर्वं यथा तथा न भवतीति आतुरं सम्भ्रान्तं रोगिकल्पं वा अधोवदनं अवाङ्मुखं अब्बिन्दून् जलबिन्दून्॥ २३॥

विच्छायं विगतश्रीकं अनुजं निरीक्ष्य उद्विग्नहृदयः त्वरितमनाः पृच्छति स्म अपृच्छदित्य-**वयः**॥ २४॥

**रा॰ कृ॰** दिवि अन्तरिक्षे हतप्रभं सूर्यं पश्य। मिथः परस्परं ग्रहमर्दं ग्रहाणां कलहं पश्य। सुसङ्कुलैः **प्राण्यन्तरसहितैः भूतगणैः** पिशाचगणैः। ज्वलिते इव प्रदीप्ते इव स्थिते रोदसी द्यावापृथिव्यौ च पश्य॥ १७॥

नद्यो नदाश्च क्षुभिताः क्षोभं प्राप्ताः त्यक्तमर्यादा इत्यर्थः। एवं सरांसि च मनांसि च प्राणिनामिति शेषः। क्षुभितानीति शेषः। लिङ्गव्यत्ययेना-**वयः**। अग्निः आहवनीयादिः आज्येन **घृतेनापि** न ज्वलति अतोऽयं विपरीतधर्मवान् कालः किं दुःखं विधास्यति करिष्यति, इत्यहं न वेद्मीति शेषः॥ १८॥

वत्साः स्तनं न पिबन्ति मातरश्च न दुह्यन्ति वत्सान् स्तन्यं न पाययन्ति। अश्रुमुखा गावः धेनवः रुदन्ति। व्रजे गोष्ठे **ऋषभाः** न हृष्यन्ति हर्षं न प्राप्नुवन्ति॥ १९॥

दैवतानि देवताप्रतिमाः रुदन्तीव रोदनं कुर्वन्तीव। स्विद्यन्ति गात्रस्वेदनं कुर्वन्ति। किञ्च प्रचलन्ति उत्**प्लुत्य** पतन्ति। अपि च भ्रष्टश्रियः **निरानन्दा इमे** जनपदाः ग्रामाः पुरोद्यानाकराश्रमाः पुराणि राजधान्यः, उद्यानानि उपवनानि, आकराः सुवर्णाद्युत्पत्तिप्रदेशाः खनयः, आश्रमाः मुनीनां निवासाः। नः अस्माकं किमघं दुःखं दर्शयन्ति दर्शयिष्यन्तीति वयं न जानीम इति यावत्॥ २०॥

एतैः **पूर्वोक्तैः** महोत्पातैः नूनं निश्चयेन अनन्यपुरुषश्रीभिः भगवतः श्रीकृष्णस्य पदैः हतसौभगा नष्टसौभाग्या भूः हीना शून्या भविष्यतीति शेषः मन्ये तर्कयामि॥ २१॥

हे ब्रह्मन्! इति इत्थं दृष्टारिष्टेन चेतसा मनसा तस्य राज्ञः युधिष्ठिरस्य चिन्तयतः सतः कपिध्वजः अर्जुनः यदुपुर्याः द्वारकायाः प्रत्यागमत् प्रत्यागतवान्॥ २२॥

पादयोः निपतितं अयथापूर्वं आतुरं अधोवदनं नयनाब्जयोः अब्बिन्दून् अश्रुबिन्दून् सृजन्तं विमुञ्चन्तं विच्छायं कान्तिहीनं अनुजं अर्जुनं विलोक्य नृपः धर्मजः उद्विग्नहृदयः नारदेरितं नारदोक्तं संस्मरन् सुहृन्मध्ये पृच्छति स्म अर्जुनं वक्ष्यमाणप्रकारेण अपृच्छत्॥ २३, २४॥

युधिष्ठिर उवाच

कच्चिदानर्तपुर्यां नः स्वजनाः सुखमासते ।
मधुभोजदशार्हार्ह[1] सात्वतान्धकवृष्णयः ॥ २५ ॥

शूरो मातामहः कच्चित् स्वस्त्यास्ते वाऽथ मारिषः[2] ।
मातुलस्तानुजः कच्चित् कुशल्यानकदुन्दुभिः ॥ २६ ॥

सप्त स्वसारस्तत्पत्न्यो मातुलान्यः सहात्मजाः ।
आसते सस्नुषाः क्षेमं देवकीप्रमुखाः स्वयम्[3] ॥ २७ ॥

कच्चिद्राजाऽऽहुको जीवत्यसत्पुत्रोऽस्य चानुजः ।
हृदीकः ससुतोऽक्रूरः जयन्तगदसारणाः ॥ २८ ॥

आसते कुशलं कच्चिद्ये च शत्रुजिदादयः[6] ।
कच्चिदास्ते सुखं रामो भगवान् सात्वतां प्रभुः[7] ॥ २९ ॥

प्रद्युम्नः सर्ववृष्णीनां सुखमास्ते महारथः ।
गम्भीररयोऽनिरुद्धो वर्धते[11] भगवानुत ॥ ३० ॥

सुषेणश्चारुदेष्णश्च[12] साम्बो जाम्बवतीसुतः ।
अन्ये च कार्ष्णिप्रवराः सपुत्रा ऋषभादयः ॥ ३१ ॥

तथैवानुचराश्शौरेः श्रुतदेवोद्धवादयः[13] ।
सुनन्दनन्दशीर्षण्या ये चान्ये सात्वतर्षभाः ॥ ३२ ॥

अपि स्वस्त्यास्ते सर्वे रामकृष्णभुजाश्रयाः ।
अपि स्मरन्ति कुशलं अस्माकं बद्धसौहृदाः[14] ॥ ३३ ॥

---

1. H,V °भोजकदशार्हार्ह°; B,N,W °भोजदशार्हार्ह; A F G °भोजदशार्हास्ते कुकुरान्धक° 2 K,M चाथ; H,V पार्थ! 3 W °प! 4 H,V °ह्ना 5 K,M स्त्रियः 6 H,V,W हृदिकस्य सुतो° 7 B शुक्र°. H,V सत्य° 8 H,V सुखी 9 H,V,W पतिः 10 H,V यो गम्भीररवो युद्धे 11 K,M °र्त° 12 H,V °धे° 13 K,M °सेनो° 14 H,V बन्धु°

**श्रीध०** **कच्चिदिति** । स्वजनाः बान्धवाः ॥ २५ ॥

किं वक्ष्यतीति शङ्कया व्यवहितक्रमेण पृच्छति — **शूर** इत्यादिना । मारिषः मान्यः मातामहः शूरो नाम यादवः कुन्त्याः पिता । आनकदुन्दुभिः वसुदेवः ॥ २६ ॥

**सप्तेति** । स्वसारः परस्परम् । वसुदेवक्षेमेण तासामपि क्षेमं पृष्टमेव तथापि पृथक् पृच्छति स्वयमिति ॥ २७ ॥

**कच्चिदिति**। आहुकः उग्रसेनः। असन् पुत्रो यस्य। अत एव जीवनमात्रमेव पृष्टम्। अनुजश्च देवकः हृदीकः। सुतः कृतवर्मा जयन्तादयः कृष्णभ्रातरः॥ २८, २९॥

**प्रद्युम्न** इति। सर्ववृष्णीनां मध्ये महारथः गम्भीररयः युद्धे महावेगः वर्धते मोदते इत्यर्थः॥ ३०॥

**सुषेण** इति। कृष्णस्य अपत्यानि कार्ष्णयः तेषु प्रवराः॥ ३१॥

**तथैवेति**। सुनन्दनन्दौ शीर्षण्यौ मुख्यौ येषां ते॥ ३२, ३३॥

---

1. B °क्षेमात्; H,V °क्षेमतः 2 H,V हृदिकस्य

**वीर**० प्रश्नमेवाऽऽह — कच्चिदित्यादिना यावदध्यायसमाप्ति। कच्चिदिति इष्टप्रश्नद्योतकं अव्ययम्। तावत् सामान्यतः सर्वान् इष्टान् बन्धून् पृच्छति — **कच्चिदिति**। मध्वादयः यादवान्तरविशेषाः। तच्च नवमे स्फुटम्। नः अस्माकं स्वजनबन्धवः आनर्तपुर्यां द्वारकायां सुखं यथा तथा आसते कच्चित् आसते किम्? तच्च मदिष्टमिति कच्चिच्छब्दं प्रयुञ्जानस्य भावः। एवं उत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्॥ २५॥

अथ उक्तविधार्जुनदर्शनेन कृष्णनिर्याणं सम्भाव्य तच्छ्रवणजो विषादः पश्चादेव भवत्वित्यभिप्रायेण तावत् क्रमशः विशेषेण पृच्छति — **शूर** इत्यादिना। अस्माकं मातामहः शूरः हे पार्थ! हे मारिष! सविसर्गपाठे शूरविशेषणं मारिषशब्दः सौम्यशब्दपर्यायः। स्वस्ति यथा तथा आस्ते कच्चित्? तथा नो मातुल आनकदुन्दुभिः वसुदेवः सानुजः कुशली कुशलमस्यास्तीति तथाभूतः आस्ते कच्चित्? वसुदेवस्यानुजास्तु देवभागो, देवश्रवाः, आनकः, सञ्जयः, शामकः, कङ्कः, समिको, वत्सरो, वृकश्च इति नव॥ २६॥

सप्तेति स्वसारः उग्रसेनस्येति शेषः। सप्त भगिन्यः। तस्य आनकदुन्दुभेः पत्न्यः मातुलान्यः अस्मन्मातुलस्य वसुदेवस्य स्त्रियः "इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्र" (अष्टा. 4-1-49) इत्यानुगागमे ङीषि च मातुलानीति शब्दः व्युत्पादितः। आत्मजैस्सहिताः स्नुषाभिः सुतभार्याभिः सहिता देवकीप्रभृतयः देवकी, श्रुतदेवा, शान्तिदेवा, उपदेवा श्रीदेवा देवरक्षिता सहदेवाख्याः स्वयं क्षेमं यथा तथा आसते कच्चित्?॥ २७॥

असन् दुरात्मा कंसः पुत्रो यस्य स आहुकः उग्रसेनो राजा जीवति कच्चित्? अस्य आहुकस्य चानुजो देवकश्च जीवति कच्चिदित्यन्वयः। हृदीकस्य श्वफल्कस्य सुतः अक्रूरः, जयन्तादयो ये च सत्यजिदादयः वसुदेवपुत्राः ते सर्वे कुशलमासते कच्चित्?॥ २८॥

सात्वतां भक्तानां पतिः। सात्वच्छब्दः भक्तवाचकः। सात्वतशब्दस्तु यादववाचक इति विवेकः। भगवान् बलरामः सुखमास्ते कच्चित्?॥ २९॥

अथ श्रीकृष्णपुत्रान् पृच्छति सर्ववृष्णीनां महारथः प्रद्युम्नः सुखमास्ते कच्चित्? तथा भगवान् गम्भीरवेगः अनिरुद्धश्च वर्धते उत?॥ ३०॥

जाम्बवतीसुत इति साम्बस्य विशेषणम्। सुषेणादयः अन्ये च ऋषभादयः कार्ष्णिप्रवराः श्रीकृष्णसुतश्रेष्ठाः सपुत्राः अपि सुखमासते इत्युपरिष्टादन्वयः ॥ ३१ ॥

तथैव शौरेः भगवतोऽनुचराः श्रुतदेवोद्धवादयः ये चान्ये सात्वतर्षभाः यादवश्रेष्ठाः सुनन्दादयः ॥ ३२ ॥

कृष्णरामभुजा[7] एव आश्रयाः येषां ते सर्वेऽपि स्वस्ति आसते? बद्धसौहृदाः[8] ते सर्वे अस्माकमपि कुशलं स्मरन्ति किं इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

---

1. W °वावान्तर° 2 W शमीको 3 W वत्सको 4 W adds उग्रसेनस्य 5 B स्व° 6 W भगवद्भक्त° 7 W कृष्णरामयोः भुजावेव आश्रयौ 8 W adds दृढसौहृदाः

**विज०** आनर्तपुर्यां द्वारवत्यां मधवश्च भोजाश्च दाशार्हाश्च अर्हाश्च सात्वताश्च अन्धकाश्च वृष्णयश्च मधुभोजदशार्हार्हसात्वतान्धकवृष्णयः ॥ २५ ॥

मारिषः आर्यः मातामहः मातुः पिता, मातुलः मातुः सहोदरः आनकदुन्दुभिः वसुदेवः। कच्चिच्छब्दः प्रश्नार्थे। कुशली सुखी ॥ २६ ॥

वसुदेवस्य सप्त स्वसारः सहोदर्यः कुशलवत्यः किम्? तस्य वसुदेवस्य पत्न्यः अस्माकं मातुलान्यः मातुलभार्याः आत्मजैस्सह वर्तमानाः। अनेन तत्पुत्राणां च कुशलप्रश्नः कृत इति ज्ञातव्यम्। स्नुषाभिः पुत्रभार्याभिः सहिताः ॥ २७ ॥

असन् दुष्टः पुत्रः कंसनामा यस्य सः असत्पुत्रः आहुकः उग्रसेनः अस्यानुजो देवकः ससुतः कृतवर्माख्यपुत्रसहितः हृदीकः पुत्रैः सहितः अक्रूरो वा ॥ २८ ॥

ये शत्रुजिदादयः ते च सुखमासते किम्? रामो बलभद्रः ॥ २९ ॥

सर्ववृष्णीनां मध्ये महारयः गम्भीररयः उग्रवेगः अगाधज्ञानो वा। रय गतौ, गतिः ज्ञानम् ॥ ३० ॥

कार्ष्णीनां कृष्णसुतानां प्रवराः कार्ष्णिप्रवराः ॥ ३१ ॥

श्रुतसेनोद्धवादयः शौरेः अनुचराः भृत्याः सुनन्दनन्दौ शीर्षण्यौ प्रधानौ येषां ते सुनन्दनन्दशीर्षण्याः सुनन्दनन्दप्रधाना इत्यर्थः। नन्दशीर्षाद्या इति पाठे सुनन्दो नन्दशीर्षश्च आद्यौ येषां ते तथोक्ता इति योजनीयम्। शीर्षशब्दः प्रधानवाची। पार्षदेषु प्रधानौ सुनन्दनन्दौ आद्यौ येषां ते तथोक्ता इति वा ॥ ३२, ३३ ॥

**रा० कृ०** मधुभोजदशार्हार्हसात्वतान्धकवृष्णयः नः अस्माकं स्वजनाः बान्धवाः आनर्तपुर्यां द्वारकायां सुखमासते कच्चित्? सन्ति किम्? ॥ २५ ॥

मारिषः मान्योऽस्माकं मातामहः शूरः स्वस्ति सुखं आस्ते वा कच्चित्? अथ सानुजोऽस्माकं मातुलः आनकदुन्दुभिः वसुदेवः कुशली कच्चित्? ॥ २६ ॥

तत्पत्न्यः तस्य वसुदेवस्य भार्याः स्वसारः परस्परं भगिन्यः देवकीप्रमुखाः अस्माकं सप्त मातुलान्यः सहात्मजाः सस्नुषाश्च स्वयं क्षेममासते कच्चित्? ॥ २७ ॥

असत्पुत्रः दुष्टपुत्रः राजा आहुकः उग्रसेनः जीवति कच्चित्? अस्य उग्रसेनस्य अनुजश्च जीवति कच्चित्? ससुतः हृदीकः हृदीकस्य सुतः कृतवर्मा, अक्रूरः जयन्तगदसारणाः कुशलं आसते कच्चित्? ॥ २८ ॥

ये च शत्रुजिदादयः वर्तन्ते तेऽपि कुशलं आसते कच्चित्? सात्वतां भक्तानां प्रभुः भगवान् रामः बलरामः सुखमास्ते कच्चित्? ॥ २९ ॥

सर्ववृष्णीनां मध्ये महारथः प्रद्युम्नः सुखमास्ते कच्चित्? उत तथा गभीररयः भगवान् अनिरुद्धः वर्धते कच्चित्? ॥ ३० ॥

सुषेणः चारुदेष्णश्च जाम्बवतीसुतः साम्बः अन्ये च ऋषभादयः कार्ष्णिप्रवराः श्रीकृष्णपुत्रश्रेष्ठाः सपुत्राः स्वस्ति आसते अपि? वर्तन्ते किम्? ॥ ३१ ॥

तथैव शौरेः श्रीकृष्णस्य अनुचराः सेवकाः श्रुतदेवोद्धवादयः ये चान्ये सुनन्दनन्दशीर्षण्याः सुनन्दनन्दप्रमुखाः सात्वतर्षभाः सन्ति तेऽपि स्वस्ति आसते किमिति शेषः ॥ ३२ ॥

रामकृष्णभुजाश्रयाः बलरामश्रीकृष्णभुजाश्रयाः सर्वे स्वस्ति अप्यासते? किञ्च ते बद्धसौहृदाः अस्माकं कुशलं अपि स्मरन्ति? ॥ ३३ ॥

**भगवानपि गोविन्दो ब्रह्मण्यो भक्तवत्सलः ।**
**कच्चित्पुरे सुधर्मायां सुखमास्ते सुहृद्वृतः ॥ ३४ ॥**

**मङ्गलाय च लोकानां क्षेमाय च भवाय च ।**
**आस्ते यदुकुलाम्भोधावाद्योऽनन्तसखः पुमान् ॥ ३५ ॥**

**यद्बाहुदण्डगुप्तायां स्वपुर्यां यदवोऽर्चिताः ।**
**क्रीडन्ति परमानन्दं महापौरुषिका इव ॥ ३६ ॥**

**यत्पादशुश्रूषणमुख्यकर्मणा सत्यादयो द्व्यष्टसहस्रयोषितः ।**
**निर्जित्य सङ्ख्ये त्रिदशांस्तदाशिषो हरन्ति वज्रायुधवल्लभोचिताः ॥ ३७ ॥**

**यद्बाहुदण्डाभ्युदयानुजीविनो यदुप्रवीरा ह्यकुतोभया मुहुः ।**
**अधिक्रमन्त्यङ्घ्रिभिराहृतां बलात् सभां सुधर्मां सुरसत्तमोचिताम् ॥ ३८ ॥**

**कच्चित्तेऽनामयं तात भ्रष्टतेजा विभासि मे।**
**अलब्धमानोऽवज्ञातः किं वा तात! चिरोषितः ॥ ३९ ॥**

1 H.V हि 2 B.K.M °दण्डैर्गु° 3 A.F.G.H °जि° 4 H.V °दण्डप्रभवोपजी°. W °दण्डप्रभवोऽनु° 5 H.V °भि° 6 H.V तत्र

**श्रीध० भगवानिति**। भगवान् सुखमास्ते इति प्रश्नस्यानौचित्यमाशङ्क्य आह — पुर इत्यादि ॥ ३४ ॥

भगवतः अत्रावस्थाने हि लोकानां मङ्गलं, नान्यथेत्याशयेनाऽऽह — **मङ्गलायेत्यादि** चतुर्भिः। मङ्गलाय शुभाय क्षेमाय लब्धपालनाय भवाय उद्भवाय अनन्तसखः बलभद्रसहायः ॥ ३५ ॥

**यदिति**। अर्चिताः सर्वैः पूजिताः परमानन्दं यथा भवति तथा। महापुरुषः विष्णुः तदीया महापौरुषिका वैकुण्ठनाथानुचराः इव ॥ ३६ ॥

**यदिति**। यस्य पादशुश्रूषणमेव मुख्यं तपआदिभ्यः श्रेष्ठं यत्कर्म तेन सत्यभामादयः, सङ्ख्ये युद्धे श्रीकृष्णबलेन त्रिदशान् देवान् निर्जित्य तदाशिषो देवभोग्यान् पारिजातादीन्। वज्रायुधस्य वल्लभा शची। तस्या उचिताः ॥ ३७ ॥

**यदिति**। यदुहुदण्डप्रभवोपजीविनः सुधर्मां अङ्घ्रिभिः अभिक्रमन्ति स गोविन्दः सुखमास्ते इति गतपञ्चमश्लोकेनान्वयः ॥ ३८ ॥

इदानीं तस्यैव कुशलं पृच्छति — **कच्चिदिति** षड्भिः। अनामयं आरोग्यम्। न लब्धः मानः येन बन्धुभ्यः सकाशात्। किं वा तैः प्रत्युत अवज्ञातः तिरस्कृतः यतः चिरोषितः बहुकालं तत्र स्थितः ॥ ३९ ॥

1 A.B भगवति 2 A.B °भा° 3 A.B °धि°

**वीर०** अथ भगवतः कुशलं पृच्छति भगवान् कृष्णोऽपि **पुरे** सुधर्मायां सुहृद्भिः वृतः सुखमास्ते कच्चित्? ॥ ३४ ॥

**ब्रह्मण्यो** भक्तवत्सल इति विशेषणद्वयाभिप्रेतं व्यञ्जयन् पृच्छति — **मङ्गलायेति**। लोकानां जनाना मङ्गलार्थं अनन्तस्य सखा आद्यः पुमान् परमपुरुषः यदुकुलाम्भोधावास्ते कच्चित्? अनन्तसख इत्यनेन बलरामसहितः आस्ते किमिति पृष्टं भवति। क्षेमः लब्धसुखपरिपालनम्। भवः योगः सचालब्धसुखलाभरूपः। तदुभयविधाय मङ्गलायेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

तदेव प्रपञ्चयति — **यदुह्विति** त्रिभिः। यस्य कृष्णस्य भगवतः बाहुदण्डगुप्तायां स्वपुर्यां द्वारकायां अर्चिताः सर्वैः लोकैः बहुमताः यदवः परमानन्दं यथा तथा क्रीडन्ति। महापौरुषिका इव यक्षा इव ॥ ३६ ॥

यस्य भगवतः पादयोः शुश्रूषणं परिचरणं मुख्यं कर्म तेन हेतुना सत्यभामादयः षोडशसहस्रयोषितः सङ्ख्ये युद्धे त्रिदशान् देवान् निर्जित्य, [1]वज्रमायुधं यस्य स इन्द्रः वल्लभः प्रियः यासां तासां शच्यादीनां उचिताः आशिषः अभीष्टार्थाः पारिजातादयः भगवता आहृता इति शेषः। तदित्यव्ययम्। सामान्याभिप्रायमेकत्वं नपुंसकत्वं वा। ता आशिषः हरन्ति स्वीकुर्वन्ति ॥ ३७ ॥

यस्य भगवतः बाहुदण्ड एवाभ्युदयो येषां ते तदुपजीविनः तद्भृत्याः यदुप्रवीराः न विद्यते कुतोऽपि भयं येषां तथाभूतास्सन्तः सुरसत्तमानां इन्द्रादीनां उचितां[2] तां निर्जित्य बलादाहृतां सुधामाख्यां सभां अङ्घ्रिभिः मुहुर्मुहुरधिक्रमन्ति [3]अध्याक्रमन्ति ॥ ३८ ॥

[4]ततः तस्य निस्तेजस्कत्वादिहेतून् विकल्पयन् पृच्छति — हे **तात**! तव अनामयं आरोग्यं कच्चित्? मे मम [5]भ्रष्टं तेजः यस्मात् तथाभूतो विभासि लक्ष्यसे। हे तात! त्वं तत्र चिरमुषितः। हेतुगर्भमिदम्। चिरमुषितत्वादलब्धो मानः सम्मानः येन तथाभूतः किम्? अथवा तैरवज्ञातः अवमतः किम्? ॥ ३९ ॥

---

1. A,B omit व्यञ्जयन् 2. A,B add भक्त° 3 W मङ्गलाद्यर्थं 4 W adds याः 5 W एव प्रभुः 6 A °ता 7 A,B omit अध्याक्रमन्ति 8 A,B omit ततः 9. W adds तु

**विज०** सुधर्मायां सभायां ब्रह्मणा वेदेन गम्यत इति ब्रह्मण्यः विप्रप्रियः वा। नित्यसुखस्य हरेः कुशलोद्देशे न मे प्रश्नः किन्तु लोकसुखकरत्वोद्देशः इत्ययमर्थः अपिशब्देन दर्शितः ॥ ३४ ॥

एतमेवार्थं दर्शयति — **मङ्गलायेति**। सः अनन्तः शेषः सखा यस्य सः अनन्तसखः आद्यः पुमान् लोकानां मङ्गलाय शुभाय क्षेमाय प्राप्तपरिपालनाय, भवाय वृद्धये यदुकुलसमुद्रे आस्ते कच्चिदित्यन्वयः। चशब्दाः मिथः समुच्चयार्थाः, मङ्गलाद्यनेकप्रयोजनार्थाः ॥ ३५ ॥

यदवः यस्य कृष्णस्य बाहुदण्डैः रक्षितायां स्वपुर्यां क्रीडन्तीत्यन्वयः। क इव परमानन्दं प्राप्य महापौरुषिका इव मुक्ता इव परमानन्दापरपर्यायं वा। वैश्रवणबाहुदण्डगुप्तं चैत्ररथं प्राप्य महापौरुषिका यक्षा इव वा ॥ ३६ ॥

यस्य हरेः पादयोः शुश्रूषणं सेवालक्षणं तदेव मुख्यं कर्म तेन साधनेन सत्यादयः सत्यभामापुरस्सराः द्व्यष्टसहस्रयोषितः षोडशसहस्रसङ्ख्याः स्त्रियः सङ्ख्ये युद्धे त्रिदशान् इन्द्रादीन् निर्जित्य वज्रायुधस्य इन्द्रस्य वल्लभायाः शच्याः उचिताः तदाशिषः तेषां इन्द्रादीनामाशिषः पारिजातादिकाः हरन्ति आच्छिद्य स्वीकुर्वन्तीत्यन्वयः ॥ ३७ ॥

यस्य हरेः बाहुदण्डानां अभ्युदयः दिग्विजयश्रीः तां अनुजीवितुं शीलाः, अत एव अकुतोभयाः यदुप्रवीराः सुरसत्तमस्य इन्द्रस्य उचितां बाहुबलाहृतां आनीतां सुधर्माख्यां सभां अङ्घ्रिभिरनुदिनं अधिक्रमन्ति आक्रम्य तिष्ठन्तीत्यन्वयः ॥ ३८ ॥

तव किमेतादृशदुःखनिमित्तमिति पृच्छतीत्याह — **कच्चिदिति**। हे तात! ते तव अनामयं कच्चित् सुखं किम्? कुतः कुशलप्रश्नः इति तत्राऽऽह — भ्रष्टतेजा इति। भ्रष्टतेजस्त्वे कारणं पृच्छति — अलब्धेति। अलब्धः मानः येन स तथोक्तः न केवलं मानाभावः किन्तु अवज्ञातश्च किं इत्याह — अवज्ञात इति। पूर्वं चिरोषितः अद्य किं वा क्षिप्रमागतः तद्ब्रूहीत्यन्वयः ॥ ३९ ॥

**रा॰ कृ॰** ब्रह्मण्यः ब्राह्मणभक्तः भक्तवत्सलः भगवान् गोविन्दोऽपि सुहृद्वृतः पुरे द्वारकायां सुधर्मायां तन्नाम्न्यां सभायां सुखमास्ते कच्चित्? ॥ ३४ ॥

लोकानां मङ्गलाय क्षेमाय लब्धेष्टरक्षणाय, भवाय अलब्धाभिमतलाभाय च अनन्तसखः शेषावतारबलराम-सखः आद्यः पुमान् परमपुरुषः श्रीकृष्णः यदुकुलाम्भोधौ सुखमास्ते कच्चित्? ॥ ३५ ॥

इतः परं रक्षितारं भगवन्तं त्रिभिः वर्णयति — यद्बाहुदण्डगुप्तायां स्वपुर्यां द्वारकायां अर्चिताः यदवः महापौरुषिका इव भगवतः अनुचरा इव परमानन्दं क्रीडन्ति। सत्यादयः सत्यभामादयः **द्व्यष्टसहस्रयोषितः** षोडशसहस्रयोषितः यत्पादशुश्रूषणमुख्यकर्मणा **सङ्ख्ये** युद्धे त्रिदशान् निर्जित्य वज्रायुधवल्लभोचिताः इन्द्रप्रेयसीनां शच्यादीनां उचितास्तदाशिषः तेषां देवानामाशिषः भोग्यान् पारिजातादीन् **गृह्णन्ति**। यद्बाहुदण्डाभ्युदयानुजीविनः यस्य भगवतः बाहुदण्डयोः अभ्युदयः प्रभावः तदनुजीविनः यदुप्रवीराः अकुतोभयास्सन्तः सुरसत्तमोचितां इन्द्रादीनामुचितां बलात् आहृतां भगवता स्वप्रभावेण आनीतां सुधर्मां तदाख्यां सभां अङ्घ्रिभिः मुहुर्मुहुः अधिक्रमन्ति। स भगवान् गोविन्दः सुखमास्ते कच्चित्? इति पूर्वेणान्वयः ॥ ३६, ३७, ३८ ॥

हे तात! अर्जुन! मे मम भ्रष्टतेजाः नष्टकान्तिः विभासि। अतः ते तव अनामयं कच्चित् आरोग्यमस्ति किम्? अथवा तत्र द्वारकायां चिरोषितः चिरकालं निवासं कृतवान् त्वं अलब्धमानः अप्राप्तसम्मानः अवज्ञातः किम्? तैर्यादवैः तिरस्कृतः किम्॥ ३९ ॥

**कच्चिन्नाभिहतोऽभावैः शब्दादिभिरमङ्गलैः ।**
**न दत्तमुत्तमर्थिभ्यः आशया यत्प्रतिश्रुतम् ॥ ४० ॥**

**कच्चित्त्वं ब्राह्मणं बालं गां वृद्धं रोगिणं स्त्रियम् ।**
**शरणोपसृतं सत्त्वं नात्याक्षीः शरणप्रदः ॥ ४१ ॥**

**कच्चित्त्वं नागमो गम्यां गम्यां वाऽसत्कृतां स्त्रियम् ।**
**पराजितो वाऽथ भवान् नोत्तमैर्नासमैः पथि ॥ ४२ ॥**

**अपिस्वित्पर्यभुङ्क्थास्त्वं सम्भोज्यान् वृद्धबालकान् ।**
**उपेक्ष्यातिथिभृत्यांश्च गर्भिण्यातुरकन्यकाः ।**
**जुगुप्सितं कर्म किञ्चित् कृतवान्न यदक्षमम् ॥ ४३ ॥**

**कच्चित्प्रेष्ठतमेनार्थं हृदयेनात्मबन्धुना।**
**शून्योऽस्मि रहितो नित्यं मन्यसे तेऽन्यथा न रुक्॥ ४४॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
प्रथमस्कन्धे युधिष्ठिरवितर्को नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

1. K,M भावैः 2 K,M दत्तं युक्त° 3 AF.GF रुदन्तं 4 K,M °णूयो° 5 K,M °र्नाधमैः; W °र्वाधरैः * This additional half verse is found in H,N,V 6 N सु° 7 AF.GF °कृतं वा यत्; K,M कृतवानसद°. W कृतवात्रः किम° 8. H,V °ङ्क! 9. K,M °सि 10. K,M हि

**श्रीध० कच्चिदिति**। अभावैरिति छेदः। प्रेमशून्यैः अमङ्गलैः परुषैः शब्दादिभिः नाभिहतः न ताडितोऽसि किम्? यद्वा अर्थिभ्यः अपि दास्यामीत्युक्तं न दत्तं किम्? यद्वा आशया सह यथा आशा भवति तथा दास्यामीति प्रतिश्रुतं यत् तन्न दत्तं किम्?॥ ४०॥

**कच्चिदिति**। अन्यद्वा शरणागतं सत्त्वं प्राणिमात्रं नात्याक्षीः न त्यक्तवानसि किम्? यतस्त्वं पूर्वं शरणप्रदः आश्रयप्रदः॥ ४१॥

**कच्चिदिति**। अगम्यां इति छेदः। निन्दितां स्त्रियं नागमः किम्? न गतवानसि किम्? असत्कृतां मलिनवस्त्रादिकां गम्यां नागमः किम्? न उत्तमैः अनुत्तमैः समैः इत्यर्थः। असमैरधमैर्वा किं न पराजितोऽसीत्यर्थः॥ ४२॥

**अपीति**। सुभोजनार्हान् वृद्धान् बालकांश्च किंस्वित्पर्यभुङ्क्थाः त्यक्त्वा भुक्तवानसि किम्? अक्षमं कर्तुमयोग्यं यत्तत्र कृतवानसि किम्?॥ ४३॥

**कच्चिदिति**। नित्यं सदा प्रेष्ठतमेन हृदयेन अन्तरङ्गेण स्वबन्धुना श्रीकृष्णेन रहितः शून्योस्मीति आत्मानं मन्यसे। यद्वा हृदयेन शून्योस्मीति मन्यसे इत्यर्थः। अन्यथा ते रुक् मनःपीडा न घटेत?॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

1 H,V प्रिय° 2 A,B किमपि दास्यामीति नोक्तं किम्? 3 A,B सम्भोज° 4 H,V add पर्यभुङ्क्थाः तानसम्भोज्य भुक्तवानसि। परित्र वर्जनार्थः। 5 H,V अत्यन्तान्त° 6. A,B omit आत्मानं 7 A,B omit यद्वा ..... इत्यर्थः। 8 H,V घटते।

**वीर०** अभावैरिति च्छेदः। न विद्यते भावः सद्भावः येषान्तैः अमङ्गलैर्वा शाब्दादिविषयैः नाभिहतः। आशया अर्थिभ्यः याचकेभ्यः यत्प्रतिश्रुतं दास्यामीति प्रतिज्ञातं तत् तेभ्यः किं वा न दत्तम्?॥ ४०॥

ब्राह्मणादीन् अन्यं च शरणोपसृतं शरणागतं सत्त्वं जन्तुं शरणप्रदः रक्षकस्त्वं नात्याक्षीः कच्चित्? ॥ ४१ ॥

अगम्यां स्त्रियं त्वं नागमः न गतवान् कच्चित्? गम्यामप्यसत्कृतां वा नागमः कच्चित्? अथ ननु भवान् पथ्युत्तमैः अधमैर्वा जनैः पराजितो वा किम्? ॥ ४२ ॥

सम्भोज्यान् सह भोक्तुं योग्यान् वृद्धान् बालकांश्च। परित्यव्ययं वर्जनार्थम्। परित्यज्य **त्वमभुङ्क्थाः अपि,** भुक्तवान् किम्? नः अस्माकं अक्षमं असह्यं किञ्चित् निन्दितं कर्म कृतवान् किम्? ॥ ४३ ॥

हृदयेन हृदयङ्गमेन नित्यं प्रियतमेन आत्मबन्धुना श्रीकृष्णेन रहितः अत एव शून्यो निरानन्दोऽस्मीति मन्यसे कच्चित्? अन्यथा उक्तहेतूनां अन्यतमस्याप्यभावे ते तव रुक् रोगः आधिः न स्यात्। यद्वा रुक् दीप्तिः अन्यथा न प्रागिव **नास्ति**। अतः केनचित् उक्तान्यतमेन हेतुना भवितव्यमित्यर्थः ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रिकायां
व्याख्यायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

---

1. W याचमानेभ्यः 2 W पञ्च 3 W °रै°

**विज०** अवज्ञा च इङ्गितैः क्रियया वाचा वा **स्यात्**, तत्र तव एकेन सर्वैः किं वा इत्यभिप्रेत्य पृच्छति — **कच्चिदिति**। आदिशब्देन इङ्गितक्रिये गृहीते। शब्दादिभिरवज्ञाने कारणं स्वदोषः परदोषो वा? तत्र स्वदोषो नास्ति हीति पृच्छति — न दत्तमिति। वित्ताशया प्राप्तेभ्यः अर्थिभ्यः युक्तं योग्यं दास्यामीति प्रतिज्ञातं तत्र दत्तं किं, इतीयं वै स्वदोषात्; दत्वापि तदाशापूर्तिपर्यन्तं न दत्तं इतीयं परदोषात्; उभयं च न प्राप्तं हीति वा वाक्यार्थः ॥ ४० ॥

ब्राह्मणादि सत्त्वं जीवजातं **शरण्योपसृतं** शरणार्थितया प्राप्तं शरणप्रदः त्वं नात्याक्षीः रक्षामकृत्वा त्यक्तवानसि किम्? अरक्षितैः तैः अवज्ञातः इति वाक्यार्थः ॥ ४१ ॥

अगम्यां विधवां परस्त्रियं वा, गम्यां असत्कृतां वा स्नानादिसंस्काररहितां प्रदानकर्मरहितां वा स्त्रियं नागमः न गतवानसि किम्? इयं च पार्थ! एवंविधं कर्म करोतीति काचित् स्वदोषनिमित्तावज्ञा ॥ ४२ ॥

आवृद्धबालकान् बालावधि सर्वान्, अभोज्यान् भोजयित्वा पर्यभुङ्क्थाः भुक्तवानसि किम्? सम्भोज्यानिति पाठे सह भोक्तुं योग्यान् वर्जयित्वा भुक्तवानसीत्यर्थः अक्षमं कर्तुमशक्यं तादृशं किञ्चित् शास्त्रे निषिद्धं कर्म कृतवान् किम्? एकादशीभोजनं स्वर्णस्तेयं निधानोद्धरणमित्यदिजुगुप्सितं कर्म ॥ ४३ ॥

उक्तं सर्वं विच्छायत्वे न पूर्णमिति मत्वा कारणान्तरं पृच्छति — **अथेति**। अथ यं नित्यं प्रेष्ठादिगुणत्वेन मन्यसे तेन सर्वतः प्रेष्ठेन प्रियतमेन हृदयेन मनोहारिणा आत्मबन्धुना स्वाभाविकबन्धुना कृष्णेन रहितः वियुक्तः सन् शून्यः अमङ्गलोऽसि कच्चित्? ते तव रुक् शरीरकान्तिः तु अन्यथा न पूर्ववत् हि यस्मात् तस्मात् तेन वियुक्तः

अमङ्गलो भवितुमर्हसीति मन्ये, नित्यं प्रेष्ठतमेन रहितः शून्यः अस्मीत्यात्मानं हृदयेन मन्यसे। सर्वथा तव शरीरकान्तिस्त्वन्यथा, न पूर्ववदिति वा। प्रेष्ठेन तेन रहितः शून्योऽस्मीति मन्यसे, अन्यथा तथा मननाभावे रुक् रोगः मनोव्यथा कथमिति वा। त्वं मन्निष्ठत्वात् आत्मैकनिष्ठत्वाच्च कृष्णप्रेष्ठत्वाच्च लोकशास्त्रनिषिद्धे न करोषि हि। तस्मात् तेन कृष्णेन वियुक्तत्वात् तव विच्छायत्वं इति मन्ये इति हिशब्दार्थः ॥ ४४ ॥*

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां प्रथमस्कन्धे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

---

1. K,M add असत् 2. B,K,M प्रधा अन्यथा 3. B,K,M °द्धं * Here ends 13th Chapter in K & M

रा॰ कृ॰ अभावैः सद्भावशून्यैः अमङ्गलैः शब्दादिभिः कच्चिन्नाभिहतः ? असीति शेषः। अथवा आशया यत् अर्थिभ्यः प्रतिश्रुतं दास्यामीति प्रतिज्ञातं उक्तं तत् तेभ्यः न दत्तं कच्चित् ? ॥ ४० ॥

शरणप्रदः रक्षणदाता त्वं ब्राह्मणं बालं गां धेनुं वृद्धं रोगिणं स्त्रियं अथवा शरणोपसृतं शरणागतं सत्त्वं प्राणिमात्रं नात्याक्षीः कच्चित् ? नात्यजः किम् ? ॥ ४१ ॥

त्वमगम्यां निन्द्यां स्त्रियं नागमः कच्चित् ? गम्यां वा योग्यां अप्यसत्कृतां मलिनवस्त्रादिसहितां नागमः कच्चित् ? अथवा भवान् पथि मार्गे नोत्तमैः अनुत्तमैः समैः इत्यर्थः। असमैः अधमैर्वा न पराजितोऽसि कच्चित् ? ॥ ४२ ॥

सम्भोज्यान् सहभोजनार्हान् वृद्धबालकान् अपिस्वित् पर्यभुङ्क्थाः ? परित्यज्य भुक्तवानसि किम् ? अक्षमं कर्तुमयोग्यं यत्किञ्चित् जुगुप्सितं कर्म, न कृतवानसि किम् ? इति शेषः ॥ ४३ ॥

अथ नित्यं प्रेष्ठतमेन प्रियतमेन आत्मबन्धुना श्रीकृष्णेन रहितः अत एव हृदयेन शून्योऽस्मि शून्यहृदयोऽस्मीति कच्चिन्मन्यसे ? अन्यथा ते धीरस्य न रुक् मनःपीडा न भवति ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां व्याख्यायां
चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

# पञ्चदशाऽध्यायः

## सूत उवाच

एवं कृष्णसखः कृष्णो भ्रात्रा राज्ञाऽऽविकल्पितः
नानाशङ्कास्पदं रूपं कृष्णविश्लेषकर्शितः ॥ १ ॥

शोकेन शुष्यद्वदनहृत्सरोजो हतप्रभः ।
विभुं तमेवानुध्यायन्नाशक्नोत्प्रतिभाषितुम् ॥ २ ॥

कृच्छ्रेण संस्तभ्य शुचः पाणिनाऽऽमृज्य नेत्रयोः ।
परोक्षेण समुन्नद्ध प्रणयौत्कण्ठ्यकातरः ॥ ३ ॥

सख्यं मैत्रीं सौहृदं च सारथ्यादिषु संस्मरन् ।
नृपमग्रजमित्याह बाष्पगद्गदया गिरा ॥ ४ ॥

## अर्जुन उवाच

वञ्चितोऽहं महाराज! हरिणा बन्धुरूपिणा ।
येन मेऽपहृतं तेजो देवविस्मापनं महत् ॥ ५ ॥

यस्य क्षणवियोगेन लोकोह्यप्रियदर्शनः ।
उक्थेन रहितो होष मृतकः प्रोच्यते यथा ॥ ६ ॥

यत्संश्रयात् द्रुपदगेहमुपागतानां राज्ञां स्वयंवरमुखे स्मरदुर्मदानाम् ।
तेजो हृतं खलु मयाऽभिहतश्च मत्स्यः सज्जीकृतेन धनुषाऽधिगता च कृष्णा ॥ ७ ॥

यत्सन्निधावहमु खाण्डवमग्नयेऽदाम् इन्द्रं च सामरगणं तरसा विजित्य ।
लब्धा सभा मयकृताद्भुतशिल्पमाया दिग्भ्योऽहरन्नृपतयो बलिमध्वरे ते ॥ ८ ॥

---

1 B.H.I.K.M.V.W °ज्ञा वि° 2 AF.GF न शशाकास्य गदितुं 3 K.M.W °र्षि° 4 K.M शोकाग्नि° 5 K.M °जं 6. K.M °भम् 7. I °स्मर° 8 K.M °जम् 9. K.M पारोक्ष्येण 10 AF.GF सुसन्नद्धं 11. H.V सुहृत्वं 12 W °य° 13 K.M.W °गेह उपा° 14. B °या नि°; K.M °या वि° 15. W °ज्यी° 16. AF.GF विजिता

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

कलिप्रवेशमालक्ष्य धुरं न्यस्य परीक्षिति।
आरुरोह नृपस्वर्गं इति पञ्चदशेऽब्रवीत्॥

**एवमिति।** कृष्णोऽर्जुनः। आविकल्पित[1] इति च्छेदः। नानाशङ्कास्पदं रूपमालक्ष्य विकल्पित इत्यर्थः। प्रतिभाषितुं नाशक्नोदित्युत्तरेणान्वयः। तत्र हेतवः[2] कृष्णविश्लेषेण कर्शितः कृशः कृतः॥ १॥

**शोकेन** इति। शोकेन हेतुना वदनं च हृच्च ते एव सरोजे शुष्यती तापातिशयेन[3] शुष्के वदनहृत्सरोजे यस्य सः। हता प्रभा तेजो यस्य सः॥ २॥

**कृच्छ्रेणेति।** शुचः शोकाश्रूणि यान्युच्छ्वसितानि तानि नेत्रयोरेव संस्तभ्य गलितानि च पाणिनाऽऽमृज्य परोक्षेण दर्शनागोचरेण श्रीकृष्णेन हेतुना समुन्नद्धमधिकं यत्प्रेमौत्कण्ठ्यं तेन कातरो व्याकुलः सन् नृपमित्याहेत्युत्तरेणान्वयः॥ ३॥

**सख्यमिति।** सख्यं हितैषिताम्। मैत्रीम् उपकारितां सौहृदं[5] सुहृत्त्वं भ्रात्[6] सम्बन्धितां च। बाष्पेण कण्ठावरोधात् गद्गदया गिरा॥ ४॥

**वञ्चित** इति। येन मां वञ्चयता। देवान् ब्रह्मरुद्रादीन्[6] विस्मापयतीति यत् महत् सर्वोत्कृष्टम्॥ ५॥

**यस्येति।** यस्य क्षणवियोगेन इत्यादिश्लोकस्थयच्छब्दानाम् अन्ते[7] "तेनाहमद्य मुषितः" (भाग. 1-15-13) इति इतः सप्तमश्लोकस्थेन तच्छब्देन सम्बन्धः। प्रियस्याप्यप्रियत्वे दृष्टान्तः। उक्थेन प्राणेन। रहित एव पित्रादिः॥ ६॥

श्रीकृष्णोपकाराननुस्मरति — **यत्संश्रयात्** इति दशभिः। यस्य संश्रयात् बलात् स्मरेण कामेन दुर्मदानामतिमत्तानां तेजः प्रभावो हृतं धनुर्ग्रहणेनैव पञ्चात्तद्धनुः सज्जीकृतं ज्यासहितं[7] च तेन च मत्स्यो वेधः[8] परिभ्रमन् विद्धः ताडितः[9] ततस्तान् विजित्य कृष्णा द्रौपदी प्राप्ता च॥ ७॥

**यदिति।** उ इति विस्मये। खाण्डवमिन्द्रस्य वनं काण्डवमिति[10] वा पाठः। अग्नये अदां दत्तवानस्मि। खाण्डवदाहे रक्षितेन मयेन कृता च सभा लब्धा। अद्भुतशिल्परूपा माया यस्यां सा। निखिलजगदाश्चर्यकरशिल्पनिर्माणेन[11] जगन्मोहिनीत्यर्थः। ते अध्वरे यागे राजसूये बलिं धनादिरूपमर्हणद्रव्यजातम्॥ ८॥

---

1. H,V विकल्पितः 2. H,V हेतुः 3 A,B omit तापातिशयेन शुष्के 4. H,V omit सौहृदं 5. A,B omit ब्रह्मरुद्रादीन् 6. A,B omit अन्ते 7. A,B omit ज्यासहितं 8. A,B यन्त्रोपरि भ्र° 9. A,B omit ताडितः 10. A,B omit काण्डवमिति वा पाठः। 11. A,B omit निखिल ... त्यर्थः।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

**एवमिति**। इत्थं कृष्णस्य भगवतः सखा कृष्णोऽर्जुनो भ्रात्रा राज्ञा युधिष्ठिरेण नानाविधानां शङ्कानामास्पदं निमित्तं रूपं तेजोहीनं स्वकीयं रूपं प्रति विकल्पितः कृष्णस्य भगवतो विश्लेषेण वियोगेन कर्षितः॥ १॥

तद्विश्लेषजशोकेन शुष्यद्वदनं हृदयकमलं च यस्य सः, अत एव हता प्रभा यस्य तथाभूतः तमेव विभुं श्रीकृष्णमभिध्यायन् प्रतिभाषितुं प्रतिवक्तुं नाशक्नोत् न शशाक॥ २॥

ततः कृच्छ्रेण महता प्रयत्नेन शुचः शोकान् संस्तभ्य, नेत्रयोः नेत्रे। कर्मणि षष्ठी। पाणिना आमृज्य। यद्वा, संस्तभ्य मन इति शेषः। नेत्रयोश्शुचः शोकाश्रूणि पाणिना संमृज्य, परोक्षेणातिसमुन्नद्धः उत्कटः प्रणयः स्नेह औत्कण्ठ्यं प्रेमपूर्वकानुध्यानं विरहासहत्वदशा वा; ताभ्यां कातरः अधीरः॥ ३॥

**बाष्पैः गद्गदया** कुण्ठीभूतया गिरा अग्रजं नृपतिम्, इतीत्थं वक्ष्यमाणया रीत्या आहेत्यन्वयः। कथम्भूतस्सन्? साध्व्यादिषु कर्मसु सख्यादीन् संस्मरन्। तत्र सौहृदं हितैषित्वं मित्रत्वं प्रियैषिता समानशीलत्वं सखित्वम्। नियोगादिकरणार्हत्वं वा मित्रत्वम्॥ ४॥

उक्तिमेवाऽऽह — **वञ्चित** इति त्रयोविंशत्या। हे महाराज! अहं बन्धुरूपिणा बन्धुरूपतां प्राप्तेन हरिणा आश्रितार्तिहरेण साक्षाद्भगवता वञ्चितोऽस्मि, रहितोऽस्मीत्यर्थः। येनेत्यादीनां यच्छब्दानां "तेनाहमस्मि मुषितः पुरुषेण भूम्ना" (भाग. 1-15-13) इत्युपरिष्टादन्वयः। देवानामपि विस्मापनम् आश्चर्यकरं यन्महत् मत्तेजो येनापहृतं, देवेति युधिष्ठिरस्य सम्बोधनं वा॥ ५॥

यस्य च भगवतः क्षणमात्रवियोगेनापि अप्रियं दर्शनं यस्य तथाभूतोऽयं मत्प्रभृति लोको भवति, तथैव लोकः उक्थेन प्राणेन रहितः मृतकः शवः प्रोच्यते। अपिशब्दाद्दर्शनायोग्यश्च प्रोच्यते, तद्वत्॥ ६॥

**यत्संश्रयात्** इति। अस्मदीयशौर्यवीर्यादिकं यदधीनं तेन वञ्चितोऽस्मीति समुदायार्थः। द्रुपदगेहे द्रौपद्याः स्वयंवरमुखे स्वयंवरप्रारम्भे स्मरेण कामेन हेतुना दुष्टो मदो येषां तेषामुपागतानां राज्ञां तेजो मया यस्य भगवतः संश्रयाद्धेतोः अपहृतं खलु। तथा सज्जीकृतेन समारोपितज्यागुणकेन धनुषा मत्स्यो मत्स्याकारो यन्त्रविशेषश्चाभिहतः छिन्नः। कृष्णा द्रौपदी चाधिगता लब्धा च॥ ७॥

**यत्सन्निधौ** इति। यस्य भगवतः सन्निधौ हेतुभूते अमरगणैस्सहितं इन्द्रं जवेन विजित्य, खाण्डवाख्यं वनमहमग्नये अदां दत्तवानस्मि। अहमु इति च्छेदः। उशब्दः निपातो विस्मयद्योतकः। अत्याश्चर्यमयं एवंविधं कर्म कृतवानस्मीति भावः। तथा मयकृतानि मयेन निर्मितानि अद्भुतानि आश्चर्यभूतानि शिल्पानि प्रतिमादीनि माया अन्यान्यप्याश्चर्याणि यस्यां सा सभा मया लब्धा अद्भुतानि शिल्पानि पाणिपादादिनैपुण्यानि यासु ता माया

आश्चर्यरूपाः प्रतिमादयो यस्यामिति वा, तथा यत्सन्निधौ ते तव अध्वरे अश्वमेधे नृपतयो दिग्भ्यो बलिमुपाहरन्नाहृत्य समर्पयामासुः ॥ ८ ॥

---

1 A,B omit इत्यं 2 A °र्शि° 3 W adds वा 4 W °पि 5 W °य°. 6 W मम तेजो 7 A,B राज्ञः 8. A,B °दर्शनयो° 9 A,B °शौर्यादिकं 10 W °ज्यी° 11 W °बा° 12 A,B omit °नि 13 A,B omit °नि

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

*भगवति भक्तिविधानार्थं दुःखकथनव्याजेन तन्महिमा प्रतिपाद्यतेऽस्मिन्नध्याये। कृष्णस्य विश्लेषेण वियोगेन कर्षितः उक्तनानाशङ्काया आस्पदं शोकाग्निना शुष्यती वदनहृत्सरोजे यस्य तत्तथोक्तः। अत एव हतप्रभं नष्टकान्तिरूपमाकारं दृष्ट्वा भ्रात्रा राज्ञा विकल्पित एवं वा एवं वेति बहुकोटिविषयीकृतः तमेव विभुमनुध्यायन् निरन्तरं चिन्तयन् कृष्णस्य सखा अर्जुनः प्रतिभाषितुं नाशक्नोदित्येकान्वयः ॥ १, २ ॥

शोकहेतूनामनेकत्वात् बहुवचनम्। शुचः शोकान् कृच्छ्रेण संस्तभ्य पाणिना नेत्रजमश्रु आमृज्य कृष्णस्य पारोक्ष्येणाप्रत्यक्षत्वेन समुन्नद्धेन प्रणयेन कदा नु पश्येयम् इत्यौत्कण्ठ्येन कातरः विवशः ॥ ३ ॥

सारथ्यादिषु कर्म सख्यादिकं सम्यक् स्मरन्नर्जुनः बाष्पेन निमित्तेन गद्गदया स्खलन्त्या गिरा अग्रजं नृपमिति वक्ष्यमाणप्रकारेण आहेत्येकान्वयः ॥ ४ ॥

देवानपि विस्मापयतीति देवविस्मापनम्। महतेजः सामर्थ्यलक्षणं येन कृष्णेनापहृतं सहैव नीतं तेन बन्धुरूपिणा प्रधानबन्धुना हरिणा अर्जुनोऽहं वञ्चित इत्येकान्वयः। वञ्चित इति हरौ न दोषः आरोप्यते, किन्तु तेन वियुक्त इति तद्वियोगमात्रम्। वियोगोऽपि गृहीतमानुषाकारेण, न साक्षात् सर्वहृदि सन्निहितत्वात् तस्य इत्यभिप्रायेण बन्धुरूपिणा इत्युक्तम्। तस्मात् शोकात् शून्योऽस्मीति भावः ॥ ५ ॥

एतमर्थं सदृष्टान्तमाह — यस्येति। यथोक्तेन प्राणेन रहित एष देहो मृतकः कुणप इति प्रोच्यते। तथा यस्य कृष्णस्य क्षणवियोगेन लोकोऽप्यप्रियममङ्गलं पश्यतीति अप्रियदर्शनः यस्मात् तस्मात् शून्यत्वमित्यर्थः। प्राणत्यागे पित्रादिशरीरमपि पुत्रादेरप्रियत्वात् बहिर्भूमौ निक्षिप्यते यथा, तथाऽहमपि बन्धुभिरप्रियत्वात् अवज्ञात इव दृष्ट इति भावः। ममायं लोकः देहः अप्रियदर्शनः जात इति वा। प्रथम'हि'शब्देन प्राणवियुक्तदेहस्य कुणपत्वं श्रुतिसिद्धमिति दर्शयति। न केवलमहमेव अप्रियदर्शनः किन्त्वयं लोकः बन्धुजनः द्वारवत्यादिप्रदेशो वा उक्तेन पित्रादिना वियुक्त एवं बन्धुजनोऽपीति दृष्टान्तयोजना ॥ ६ ॥

यत्संश्रयात् सन्निधावित्यादि यदनुभावनिरस्तचित्ता इत्यन्तानां श्लोकानां तेनाहमद्यामुषित इति मध्यगतेन श्लोकेन मध्यकुलकन्यायेन अन्वयः। यत्संश्रयात् यस्य कृष्णस्य सेवाबलात् द्रुपदगृहे पाञ्चालपुरे स्वयंवरमुखे स्वयंवरश्रेष्ठे उपागतानां मिलितानां स्मरकारणेन जातः दृष्टः मदो येषां ते तथोक्ताः। तेषां राज्ञां जरासन्धादीनां

तेजोऽभिमानलक्षणं मया ईदृशेन हृतम्। किञ्च सज्जीकृतेन धनुषा यन्त्रविहितः मत्स्यः विहतः पातितश्च; किञ्च मया कृष्णा द्रौपदी चाधिगता वेदाध्ययनवत् आदरेण प्राप्तेत्येकान्वयः ॥ ७ ॥

यस्य सन्निधौ अहमेवामरगणैस्सह वर्तमानमिन्द्रं च तरसा वेगेन बलेन च विजित्य खाण्डवाख्यं वनमपि याचमानायाग्नये अदां दत्तवानस्मि। अद्भुतानि शिल्पानि स्थले जलप्रत्ययादीनि मायाश्च यस्यां सन्ति सा तथोक्ता मयनाम्ना तक्ष्णा कृता सभा मया लब्धा; यत्सन्निधानविशेषादिति योज्यम्। ते तव अध्वरे यज्ञे राजसूयलक्षणे दिग्भ्य आगतनृपतयः बलिं ते तुभ्यमहरन् ददुरित्यन्वयः ॥ ८ ॥

*Here begins 14th Chapter in K&M

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

भ्रात्रा राज्ञा युधिष्ठिरेण एवं नानाशङ्कास्पदं रूपं स्वकीयं रूपं आलक्ष्येति शेषः। विकल्पितः विकल्पेन पृष्टः कृष्णसखः श्रीकृष्णस्य मित्रं कृष्णः अर्जुनः कृष्णविश्लेषकर्शितः श्रीकृष्णविरहेण पीडितः शोकेन शुष्यद्वदनहृत्सरोजः अत एव हतप्रभः तमेव विभुं श्रीकृष्णमनुध्यायन् प्रतिभाषितुमुत्तरं वक्तुं नाशक्नोत्, समर्थो नाभवत्॥ १, २ ॥

अथार्जुनः कृच्छ्रेण प्रबलप्रयत्नेन शुचः शोकाश्रूणि उद्वृच्छन्त्यश्रूणि नेत्रयोः संस्तभ्य प्रागेव उद्वृतान्यश्रूणि पाणिना आमृज्य। परोक्षेण श्रीकृष्णेनेति शेषः। समुन्नद्धप्रणयौत्कण्ठ्यकातरः सख्यं मैत्रीं सौहृदं सारथ्यादिषु यद्भगवता कृतं तत्सर्वं च संस्मरन् बाष्पगद्गदया गिरा नृपं राजानं अग्रजं युधिष्ठिरम् इति वक्ष्यमाणप्रकारेणाऽऽह अब्रवीत्॥ ३, ४ ॥

हे महाराज! बन्धुरूपिणा मातुलपुत्ररूपेण हरिणाऽहं वञ्चितः। इतः परं येनेत्यादियच्छब्दानां "तेनाहमद्य मुषितः" (भाग. 1-15-13) इति त्रयोदशश्लोकस्थेन तच्छब्देनान्वयः — येन हरिणा देवविस्मापनं देवानामप्याश्चर्यकरं मे महत्तेजोऽपहृतम्॥ ५॥

उक्थेन प्राणेन रहितः एष पित्रादिः यथा हि मृतकः प्रोच्यते तथा यस्य हरेः क्षणवियोगेन सर्वो हि लोकः अप्रियदर्शनो भवतीति शेषः॥ ६ ॥

यत्संश्रयात् यस्य भगवतः आश्रयात् स्वयंवरमुखे द्रौपद्याः इति शेषः। स्मरदुर्मदानां द्रुपदगेहमुपागतानां राज्ञां तेजः मया सज्जीकृतेन धनुषा हृतं खलु। मत्स्यः मत्स्ययन्त्रश्च अभिहतः, कृष्णा च द्रौपदी चाधिगता लब्धा॥ ७ ॥

यत्सन्निधौ यस्य भगवतस्सन्निधौ कारणभूते सत्यहं तरसा बलेन सामरगणं देवगणसहितं इन्द्रं च विजित्य खाण्डवं वनमग्नये अदां दत्तवानस्मि। अनन्तरं मयकृता अद्भुतशिल्पमाया सभा मया लब्धा। तथा च ते तव अध्वरे राजसूयाख्ये नृपतयः दिग्भ्यः बलिं उपहारमहरन् आनीय समर्पितवन्तः॥ ८ ॥

यत्तेजसा नृपशिरोऽङ्घ्रिमहन्मखार्थं आर्योऽनुजस्तव गजायुतसत्त्ववीर्यः ।
तेनाहृताः प्रमथनाथमखाय भूपा यन्मोचितास्तदनयन् बलिमध्वरे ते ॥ ९ ॥

पत्न्यास्तवाधिमखकृत्तमहाभिषेकश्लाघिष्ठचारुकबरं कितवैस्सभायाम् ।
स्पृष्टं विकीर्य पदयोः पतिताश्रुमुख्यां यत्सत्त्रियोऽकृत हतेशविमुक्तकेशाः ॥ १० ॥

यो नो जुगोप वन एत्य दुरन्तकृच्छ्राद्दुर्वाससोऽरिरचितादयुताग्रभुग्यः ।
शाकान्नशिष्टमुपयुज्य यतस्त्रिलोकीं तृप्ताममंस्त सलिले विनिमग्नसङ्घः ॥ ११ ॥

यत्तेजसाऽथ भगवान् युधि शूलपाणिः विस्मापितस्सगिरिजो ऽस्त्रमदाद्गिरिं मे ।
अन्येऽपि चाहममुनैव कलेबरेण प्राप्तो महेन्द्रभवने महदासनार्धम् ॥ १२ ॥

तत्रैव मे विहरतो भुजदण्डयुग्मम् गाण्डीवलक्षणमरातिवधाय देवाः ।
सेन्द्राः श्रिता यदनुभावितमाजमीढ! तेनाऽहमद्य मुषितः पुरुषेण भूम्ना ॥ १३ ॥

यद्भ्रान्यवः कुरुबलाब्धिमनन्तपारमेको रथेन ततरेऽहमतीर्यसत्त्वम् ।
प्रत्याहृतं बहुधनं च मया परेषां तेजःपदं मणिमयं च हृतं शिरोभ्यः ॥ १४ ॥

यो भीष्मकर्णगुरुशल्यचमूष्वदभ्राजन्यवर्यरथमण्डलमण्डितासु ।
अग्रेचरो मम विभो रथयूथपानामायुर्मनांसि च दृशा सह ओज आर्च्छत् ॥ १५ ॥

यद्योधु मां प्रणिहितं गुरुभीष्मकर्ण नप्तृत्रिगर्तशलसैन्यवबाहिकाद्यैः ।
अस्त्राण्यमोघमहिमानि निरूपितानि नोपस्पृशुर्नृहरिदासमिवासुराणि ॥ १६ ॥

---

1. H,K,M,V यत्सत्रियौ 2 B,H,I,V,W °र्थं 3 K,M गदायुध° 4 H,V °स्समनयन्; K,M °भ्युदनयन् 5 K,M °पि 6 K,M °ख्यो 7 H,K,M,N,V,W यै° 8 K,M न्यकृत तत्सविमुक्तकेश्यः *K,M omit this verse 9 H,N,V,W °मे° 10 N,W °विहि° 11 W °भु° 12 AF,GF °गात्रः 13 H,V स; W च 14 W °यि° 15 K,M,W °शो° 16 AF,GF °वरं ददन्मे 17 B °न° *"तेनाहमस्मि" इति वीरराघवाङ्गीकृतः पाठः । 18 H,V कु° 19 K,M तरस्ता तरमार्यसत्त्वः 20 H °राह° 21 B,I,N °ती°, W °वा° 22. B,H,V पुरु°, K,M पुर° 23 K,M तेजः परं 24 AF,GF °कृप° 25 K,M रथे 26 K,M सहसा य आर्च्छत्; AF,GF सह उज्जहार 27. V °र्षु 28. W मां 29 H,K,M,N,V,W °द्रौणि° 30 H,V °क° 31 K,M °मेय° 32 W नोपासृशन् नृ°, N नो पस्पशुर्नृ°

**श्रीध०** अनन्तरश्लोको विगीतः तथाऽपि व्याख्यायते — **यदिति** । नृपशिरस्सु अङ्घ्रिर्यस्य तं जरासन्धं तवानुजो भीमः मखार्थमहन् हतवान् । तन्निर्जयं विना राजसूयमखानुपपत्तेः । गजायुतस्येव सत्त्वमुत्साहशक्तिः वीर्यं बलं यस्य सः । तं हत्वा प्रमथनाथो महाभैरवः तस्य मखाय ये राजानः तेनाहृताः ते च यद्यस्मान्मोचितास्तत्तस्मात्तेऽध्वरे बलिं पुष्कलधनोपहारादिरूपम् आनीतवन्तः ॥ ९ ॥

**पत्न्या** इति। यैः कितवैः दुश्शासनादिभिः तव पत्न्याः कबरं विकीर्य उन्मुच्य स्पृष्टमाकृष्टं तेषां दुश्शासनादीनां स्त्रियो हतेशा अत एव वैधव्याद्विमुक्तकेशाः [6]अकृत चकार। कथम्भूतं कबरम्? अधिमखं राजसूयमधिकृत्य कृप्तो रचितो यो महाभिषेकः [7]मन्त्रपूर्वाभिषेकः तेन [8]अभिषेकेण श्लाघिष्ठं [9]श्लाघ्यतमम् चारु [10]रम्यम्। तच्च कबरं केशपाशः धम्मिल्ल इत्यर्थः। यत्स्मरणात् तदानीमेव अस्मत्कृपया प्राप्तस्य श्रीकृष्णस्य नमने पदयोः पतितान्यश्रूणि मुखाद्यस्याः [11]तस्याः पत्न्याः। पदशब्दसापेक्षस्यापि पतितशब्दस्याश्रुपदेन समासो नित्यसापेक्षत्वात्॥ १०॥

**य** इति। शिष्याणाम् अयुतस्याग्रे तत्पङ्क्तौ भुङ्क्ते। यः तस्माद्दुर्वाससो हेतोररिणा दुर्योधनेन रचितं यदुरन्तं कृच्छ्रं शापलक्षणं तस्मात् सकाशात् नः अस्मान् [12]वनमेत्य जुगोप [13]रक्षितवान्। किं कृत्वा? शाकमेवात्रं शिष्टं तस्मिन्नेव पात्रे अवशिष्टमुपयुज्य [14]जग्ध्वा। यत उपयोगात्सलिले विनिमग्नो मुनीनां सङ्घः त्रिलोकीं तृप्ताममंस्त। एवं हि भारते कथा — कदाचिद्दुर्वाससो दुर्योधनेन आतिथ्यं कृतम्। तेन च परितुष्टेन वरं वृणीष्वेत्युक्ते दुर्वाससः शापात् पाण्डवा नश्येयुरिति मनसि निधाय दुर्योधनेनोक्तं युधिष्ठिरः अस्मत्कुलमुख्योऽतः तस्यापि [15]भवने भवता एवमेव शिष्यायुतसहितेनातिथिना भवितव्यं, किन्तु द्रौपदी यथा [16]क्षुधा न सीदेत् तथा तस्यामपि भुक्तवत्यां [17]तदहं गन्तव्यमिति। ततश्च तथैव दुर्वाससि प्राप्ते परमादरेण युधिष्ठिरेण माध्याह्निकं कृत्वा आगम्यतामिति विज्ञापितो मुनिस्समुनिसङ्घः अघमर्षण[18]स्नानाय जले निममज्ज। तत्र चिन्तातुरया द्रौपद्या स्मृतमात्रः श्रीकृष्णोऽङ्कस्थां रुक्मिणीं हित्वा तत्क्षणमेव भक्तवत्सलतया चागतः। तया [20]चोवदिते वृत्तान्ते भगवतोक्तं हे द्रौपदि! अहं च बुभुक्षितोऽस्मि प्रथमं मां भोजयेति। तया चातिलज्जितयोक्तम्[21] — स्वामिन्! मद्भोजनपर्यन्तं अक्षयमप्यत्रं सूर्यदत्तस्थाल्याम्। मया च सर्वान् सम्भोज्य भुक्तमतो नास्त्यत्रमिति [22]। तथाऽप्यतिनिर्बन्धेन स्थालीमानाय्य तत्कण्ठलग्नं किञ्चिच्छाकान्न[23] प्राश्योक्तम् "अनेन विश्वात्मा भगवान् प्रीयताम्। अथ भोक्तुं मुनिसङ्घमाह्वय" इति भीमं प्रहितवान्। भीमेन[24] गत्वोक्तम् — "स्वामिन्! भोजनार्थमागम्यताम्! कथं विलम्बः क्रियते। स च तावता अतितृप्तो वृथा पाकभयेन पलायित[25] इति॥ ११॥

**यदिति**। सगिरिजः गिरिजासहितो विस्मापितस्सन् निजं पाशुपतमस्त्रमदात्। अन्येऽपि लोकपालाः निजान्यस्त्राणि [26]ददुः। अन्यदप्याश्चर्यमाह — अमुनेति। महतः इन्द्रस्य आसनार्धम्॥ १२॥

**तत्रेति**। तत्रैव स्वर्गे क्रीडितः। गाण्डीवं लक्षणं चिह्नं यस्य तत्। अरातयो निवातकवचाः[27] दैत्याः तेषां [28]वधार्थमाश्रितवन्तः। येनानुभावितं प्रभावयुक्तं कृतम्। हे आजमीढ! युधिष्ठिर! तेन मुषितो वञ्चितोऽस्मि। कथम्भूतेन? भूम्ना निजमहिमावस्थानेन॥ १३॥

**यदिति**। यद्बान्धव इत्यादि श्लोकत्रयस्यापि तेन मुषितोऽहमिति पूर्वेणैव[29] सम्बन्धः। श्रीकृष्णबान्धव एक एवाहं कौरवसैन्याब्धिं नास्ति अन्तो गाम्भीर्येण पारं च देशतो यस्य। अथवा अन्तः समाप्तिः पारं समाप्तस्योत्तरतीरं तदुभयरहितं तं [30]तेतरे तीर्णवानुत्तरगोग्रहणे। [31]अतार्याणि दुस्तराणि सत्त्वानि तिमिङ्गिलादीनि भीष्मादिरूपाणि यस्मिन्। परैः नीतं गोधनं प्रत्याहृतम्। परेषां च शिरोभ्यः सकाशात् [33]तेजास्पदं प्रभावस्यास्पदम् उष्णीषरूपं मणिमयं [34]मकुटरत्नरूपं च [35]पुरुधनं बहुधनं [36]तावन्मोहनास्त्रेण मोहयित्वा [37]हृतं [38]यः कृष्णः बान्धवः सर्वविधबन्धुः यस्य तेन यद्बान्धवेन मया॥ १४॥

**य** इति। अदभ्रा अनल्पा ये राजन्यवर्याः तेषां रथमण्डलैः मण्डितासु भीष्मादीनां चमूषु सारथिरूपेण [39]रथिकस्य ममाग्रेचरस्सन् [40]सारथिरूपेण वर्तमानस्सन् हे विभो! तेषां रथयूथपानाम् आयुरादीनि यो दृशा दृष्ट्यैव आर्च्छत् हृतवान्। मनांसीत्युत्साहादि[41]शक्तिः। सहो [42]मनोबलम्। ओजः [43]अस्त्रादिकौशलम्॥ १५॥

**यदिति**। यस्य दोष्षु[44] भुजेषु मा मां प्रणिहितं स्थापितं [45]गुप्तमित्यर्थः। तैरेव गुर्वादिभिः निरूपितानि प्रयुक्तान्यस्त्राणि न स्पृशन्ति स्म। गुरुः द्रोणः। नप्ता भूरिश्रवाः। त्रि[46]गर्तः त्रि[47]गर्तदेशाधिपतिः सुशर्मा। शलः शल्यः [48]मद्राधिपतिः, सैन्धवः सिन्धुदेशाधिपतिः जयद्रथः। बाह्लिकः शन्तनोः भ्राता। अमोघो महिमा येषां, तथाभूतान्यपि। महितानीति पाठान्तरेऽपि स एवार्थः। प्रतीकाराकरणेऽपि अस्पर्शे दृष्टान्तः। आसुराणि हिरण्यकशिपुप्रेरितानि अस्त्राणि नृहरिदासं प्रह्लादमिवेति॥ १६॥

---

1 H,V विगलितः 2 H,V तद्विजयं 3 H,V पशुरूपेणानीता यस्मा° 4 A,B omit पुष्कल ... रूपम् 5 A,B omit दुशासनादीनां 6. H,V add च 7. A,B omit मन्नपूर्वाभिषेकः 8 A,B omit अभिषेकेण 9 H,V अतिशयितश्लाघाविषयीभूतं 10 H,V अतिमनोहरं 11. A,B omit तस्याः 12 B वने आगत्य 13 A,B omit रक्षितवान् 14 B भुक्त्वा 15 A,B omit भवने 16 B क्षुधया 17 B °हे 18. A,B °णाय 19 H,V °वात्सल्यात् प्राप्तः 20 H,V निवेदिते 21 A लज्जयोक्तं, B लज्जया अहो मदीयमभाग्यं भाग्यं च यतस्त्रैलोक्यनाथो यज्ञपुरुषो भगवान् मद्गृहमागतः भोजनं प्रार्थयतीति मनसि विधायोक्तं 22 B adds अश्रुपातं चकार 23 H,V °न्नमात्रं 24. A,H,V omit भीमेन गत्वा ..... क्रियते 25 B प्रपलाय्य गत 26 A अदुः 27 B °कवचादयो 28 H,V युद्धार्थ° 29. H,V °णान्वयः। 30 H ततर 31 A,B °ग्रहे 32 A °ती° 33 H,V तेजःपदं 34 A,B मु° 35 A,B omit पुरुधनं 36 A,B तान्भो° 37. H,V नीतं 38. A,B omit यः कृष्णः ... तेन 39 A,B omit रथिकस्य 40 A,B omit सारथिरूपेण ... स्सन् 41 A,B शक्तिं 42. A,B omit मनो 43 H,V कायिकबलं शस्त्रादिकशलमित्यर्थः। 44 V °र्षु 45 A,B omit गुप्तमित्यर्थः 46 H,V °क° 47. H,V °क° 48 A,B omit मद्राधिपतिः

**वीर**° तवानुजो ममार्योऽग्रजः गजानामयुतस्य सत्त्वं बलं [1]तत्तुल्यं वा वीर्यं च यस्य सः भीमः तव मखार्थं यज्ञार्थं यस्य भगवतः संश्रयाद्धेतोः नृपस्य जरासन्धस्य शिरोऽङ्घ्रिमिति प्राण्यङ्गत्वात् समाहारद्वन्द्वैक्येन[2] शिरोऽङ्घ्री[3] चाहनत्। तेन नृपेणाहृताः नृपाः ततो विमोचितास्सन्तो यत्प्रमथनाथस्य रुद्रस्य भैरवस्य वा मखाय मखार्थं संभृतं धनं [4]तवाध्वरे बलिं करमनयन्नानीतवन्तः। नृपाणां शिरस्सु अङ्घ्रिर्यस्य तं जरासन्धमिति वा॥ ९॥

**पत्न्या** इति। तव पत्न्याः द्रौपद्याः अधिमखं राजसूयाख्ये यज्ञे। विभक्त्यर्थे अव्ययीभावः। कृप्तः कारितो यः महाभिषेकः तेन श्लाघिष्ठमत्यन्तश्लाघ्यम् चारु सुन्दरं कबरं धम्मिल्लं विकीर्य विक्षिप्य यैः दुश्शासनादिभिः स्पृष्टं तेषां स्त्रियः स्त्रीः हताः मृताः ईशाः पतयः यासां ताश्च विमुक्ताः केशाः यासां ताश्च तथाभूताः। यः अकृत कृतवान् स तवानुजो नृपशिरोऽङ्घ्रिमहन्निति पूर्वेणान्वयः। कथम्भूतायाः पत्न्याः? पदयोर्दुश्शासनस्य भगवतो वा स्वस्य वा पदयोः पतितान्यश्रूणि मुखाद्यस्याश्च तथाभूतायाः॥ १०॥

**यो न** इति। यः अयुताग्रभुक् अयुतेन विप्राणामयुतेन सह अग्रे भुङ्क्ते इति तथा; अयुतस्याग्रे वा। तस्मादरिणा दुर्योधनेन विहितात् प्रेषितात् दुर्वाससः हेतोरागतात् दुरन्तकृच्छ्रात् अपारसङ्कटाद्यो भगवान् नः अस्मान् शाकात्मकान्नावशिष्टमवलेपमुपयुज्य भुक्त्वा जुगोप। यतः शाकावशिष्टमुपभुक्तवतो भगवतो हेतोः सलिले विनिमग्नः

सङ्घः भूतसङ्घरूपो देहो यस्य स दुर्वासाः त्रिलोकीमपि[8] तृप्ताममंस्त अमन्यत। तेन भगवता मुषितोऽस्मीत्यन्वयः। एषा चात्र कथा सूच्यते "दुर्वासा मुनिवर्योऽथ दुर्योधनगृहं गतः। तं राजा पूजयामास, सार्घ्यपाद्यासनादिभिः॥ निमन्त्रयामास स तं भोजनाय नराधिपः। तं बाढमिति चामन्त्र्य कृत्वा नित्यादिकाः क्रियाः॥ बुभुजेऽन्नं बहुगुणं ब्राह्मणैस्सह धर्मवित्। अब्रवीच्च स राजानं भुक्त्वा तुष्टमना मुनिः॥ वरं वरय भद्रं ते वरदोऽस्मि नराधिप! याचयाम्यद्य किमहं वरमेतं मुनीश्वरम्॥ इति चिन्तां समापन्नो राजा दुर्योधनस्तदा। मुहूर्तं चिन्तयित्वाऽथ प्रतिपेदे मनोगतम्॥ वनवासं गता ये तु पाण्डवाश्शंसितव्रताः। तेषामस्य मुनेश्शापं[10] जनयेयं लवान्नृपः। मद्गृहे भुक्तवान्[11] सर्वं यदा वाञ्छति भोजनम्। तत्र दातुं शक्नुवन्ति ते वने क्लेशभागिनः। तदा कोपपरीतात्मा शापं दास्यत्यसंशयम्[12]। इत्येवं दुरभिप्रायो वरं वव्रे सुदारुणम्। वने मे भ्रातरस्सन्ति पाण्डवा दुःखभागिनः। भोक्तव्यं तद्गृहं गत्वा मद्गृहे भुक्तवान् यथा। तथेति मुनिरुक्त्वा तं गत्वाऽयाचत भोजनम्। अयुतब्राह्मणाग्रे मां भोजयाऽऽशु युधिष्ठिर! श्रुत्वैतद्वचनं राजा हृदि सञ्जातवेपथुः। भुक्तमस्माभिरधुना शिष्टमन्नं न विद्यते। तथा न ब्राह्मणास्सन्ति सामग्री च कदाचन। यद्यहं न ददाम्यन्नं शापं दास्यति कोपतः[14]। तथाऽप्येनं निमन्त्र्यैवमुपायं मृगयेऽधुना। इत्येवं मनसा ध्यायन्[15] राजा मुनिमथाब्रवीत्। भगवन्नित्यकर्मादि कृत्वा स्नानादि कर्म च। शीघ्रमागमनं कार्यं सिद्धं सर्वं तथा मम। तत ओमित्यनुज्ञाय गत्वा चाऽऽशु विवेश ह। तत्राघमर्षणं कुर्वन् दध्यौ तद्ब्रह्म निष्कलम्। एतस्मिन्नेव काले तु भगवान् यदुनन्दनः आजगाम कुरुश्रेष्ठ सन्निधौ क्लेशनाशनः। विषण्णवदनान् दृष्ट्वा पाण्डवान् मधुसूदनः। उवाच राजन्! किं दीर्घं ध्यायसे क्लेशभागिव। सोऽसौ[16] न्यवेदयत्सर्वं मुनेरागमनादिकम्। श्रुत्वैतत् भगवान्[17] कृष्णो दुर्योधनविचेष्टितम्। श्रुत्वोवाचावशिष्टं तदन्नं किं किञ्चिदस्ति वै[18]। शाकमात्रावशिष्टो मे पाक इत्यब्रवीन्नृपः। उवाच भगवान् शिष्टं पाकमानीयतामिति। आनीतं भक्षयामास राज्ञो दुःखोपशान्तये। दुर्वासास्तु मुनिर्मेने तृप्तं स्थावरजङ्गमम्॥" इत्यादिका कथा वर्तते॥ ११॥

**यत्तेजसेति।** यस्य भगवतः तेजसा मया हितेन हेतुना सः[19] भगवान् शूलपाणिः शम्भुः किरातरूपो युद्धे विस्मापितः मयेति शेषः। विस्मयं प्रापितः। स च गिरिशो रुद्रः मे मह्यमस्त्रं पाशुपताख्यं ददौ। तथाऽप्यन्ये च शक्रादयो विस्मापिता इत्यर्थः। तथाऽहममुनैवाधुना तेजोहीनकलेबरेणैव महेन्द्रस्य भवने महदासनस्यार्धं प्राप्तः। इन्द्रासनस्यार्धं अधिष्ठितवानस्मीत्यर्थः। महदिति पृथक्पदम्। अन्यथा 'आन्महत' (अष्टा. 6-3-46) इत्यात्वापत्तिः। आर्षत्वात्, तदभावे महत्यासने इत्यप्यन्वेतुं शक्यम्॥ १२॥

तत्रैव महेन्द्रभवने विहरतो मम गाण्डीवलक्षणं गाण्डीवेन सह लक्ष्यते इति तथा येन भगवता अनुभावितं प्रभावं प्रतिनीतं भुजदण्डयोर्युग्मं सेन्द्रा देवा अरातिवधाय कालकेयनिवातकवचाद्यसुरवधार्थं श्रिताः सहायत्वेन आश्रिताः हे! आजमीढ! तेन भूम्ना अपरिमितानन्दरूपेण परमपुरुषेण श्रीकृष्णेनाहं मुषितोऽस्मि, वञ्चितोऽस्मि। मां विहाय स्वलोकं जगामेत्यर्थः॥ १३॥

यद्बान्धव इति यच्छब्दानां अध्याहृततच्छब्दवता लुठन्ति हृदयं मम माधवस्य इत्यनेन अन्वयः। यो भगवान् बान्धवः यस्य सः। अहमेक एवावार्य[20] दुस्तरं सत्त्वं बलं यस्य तमनन्तपारं निरवधिकं कुरूणां बलरूपमब्धिं

**रथेन** साधनेन ततरे तीर्णवानस्मि। आर्षत्वात्— 'तृफलभजत्रपश्च' (अष्टा. 6-4-122) इति एत्वाभ्यासलोपाभावः, आत्मनेपदञ्च। तथा यदृन्धवेन मया परेषां शत्रूणां बहुधनं प्रत्याहृतं, तथा तेषां शिरोभ्यः तेजःपदं तेजसः पदं आश्रयं मणिमयं मण्यात्मकं च धनं प्रत्याहृतम्॥ १४॥

**य** इति। **हे विभो!** अदभ्राणाम् अनल्पवीर्याणां बहूनां राजन्यश्रेष्ठानां रथजालैः मण्डितासु भीष्मादीनां सेनासु यो भगवान् ममाग्रेचरः अवस्थितः दृशा दृष्टिमात्रेण रथयूथपानामोजसा सह आयुर्मनांसि च आर्च्छत् हृतवान्। तेनाहं मुषितोऽस्मीति सम्बन्धः॥ १५॥

**यद्दोष्विति** । यस्य भगवतः **दोष्षु** बाहुषु प्रणिहितं प्रणिधापितं, त्वयेति शेषः। त्वया यद्भुजैकशरणत्वेन कृतं तं मामित्यर्थः। गुरुः द्रोणः तत्प्रभृतिभिः निरूपितानि प्रयुक्तानि अप्रतिहतमहिमानि अस्त्राणि नोपास्पृशन्। यथा आसुराण्यसुरेण कशिपुना कारितान्यस्त्रघातादीनि नृसिंहदासं प्रह्लादं नास्पृशंस्तद्वत्॥ १६॥

---

1 W तत्तुल्यवीर्य 2. W °कत्वे 3 A,B °ह्नि 4 W adds तत् 5 W मखे 6 W पतितायाः अश्रूणि मुखे यस्याश्च 7 W °शिष्टलेपमुपभुज्य 8 W °घि° 9 W चात्र 10 W °शापजनने यज्ञवाग्नृपः 11 W सदृशं 12 W °यः 13 B तदृहे गत्वा; W तदृहे ब्रह्मन्! 14 W °नः 15 W ध्यात्वा 16 W सोऽसौ 17 W कृत्वं 18 W वा 19 A,B omit सः 20 A,B एवातीर्य अतार्य स°

**विज०** गदाख्यमायुधं च सत्त्वं च हृदयसारश्च वीर्यं वीरभावश्च सत्त्वं मानसबलं च वीर्यं कायबलं च वा यस्य स गदायुधसत्त्ववीर्यः। तवानुजो मम ज्येष्ठो भीमसेनो नृपशिरस्सु अङ्घ्रिः यस्य स तथोक्तः तं जरासन्धं यत्सन्निधावहन् हतवानित्यन्वयः। किमर्थम्? मखार्थे राजसूययज्ञमुद्दिश्य जरासन्धेन तेन प्रमथनाथमखाय रुद्रमुद्दिश्य पुरुषमेधाख्ययज्ञायाहृता गृहीता येन कृष्णेन मोचिताः जरासन्धबधेनेति शेषः। भूयस्ते तव अध्वरे बलिं ध्युदनयन् अभिगम्य आनीतवन्तः इत्यन्वयः। "वष्टिभागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः" (सि. कौ. 'अव्ययादाप्सुपः" 2-4-82) इत्यत्र "अभेरप्युपसङ्ख्यानं कर्तव्यम्"॥ ९॥

कुरुसभायां तव पत्न्या द्रौपद्या अपि राजसूयनाम्नि मखे कृप्तेन कृतेन महाभिषेकेण श्लाघिष्ठं अतिशयेन श्लाघ्यतमं अत एव चारु रुचिरं कबरं केशबन्धनं यैरक्षकितवैः दुश्शासनादिभिः स्पृष्टं यत्तत्कबरं विकीर्य यत्पदयोः पतितायाः अश्रुमुख्याः अश्रुप्रधानो यः सः तत्पदयोः पतितत्वादेव तत्स्त्रियः तेषां कितवानां स्त्रियो भार्याः विमुक्तकेश्यः भीमाविद्धगदाभग्नोरुदण्डान् स्वपतीनालिङ्ग्य रुदतीः विकीर्णकेशपाशा न्यकृत नितराम् अकार्षीदित्येकान्वयः। अश्रुशब्दः उभयलिङ्गोऽप्यस्ति धनुश्शब्दवत्॥ १०॥

यस्य तेजसा युधि वराहनिमित्तयुद्धे विस्मापितो विस्मयं गमितः शूलं पाणौ यस्य सः शूलपाणिः स गिरिशः निजमस्त्रं पाशुपताख्यं मे मह्यमदादित्यन्वयः। अन्ये लोकपाला अपि स्वं स्वमस्त्रं ददुरिति शेषः। अपि चार्जुनोऽहम् अमुनैव कलेवरेण मान्येन महेन्द्रभवने अमरावत्यां महतो देवेन्द्रस्यासनार्धं प्राप्त इत्येकान्वयः। अथान्यच्च श्रीकृष्णमाहात्म्यं वक्ष्यामि विशेषत इत्यथशब्दार्थः॥ ११, १२॥

येन कृष्णेनानुभावितं प्रवृद्धबलवत्कृतं गाण्डीवज्याऽऽघातलाञ्छनभुजदण्डयुग्मं श्रिताः[1] इन्द्रेण सह वर्तमाना देवाः अरातिवधाय निवातकवचनाम्नां शत्रूणां हननाय कस्य भुजदण्डयुग्मं तत्र महेन्द्रभवन एव विहरतः क्रीडमानस्य मे मम ॥ १३ ॥

येषां बान्धवोऽहं कुरुभिः विराटगोग्रहणे अनन्तपारमदृश्यतीरान्तरं अनन्तोऽपरिच्छिन्नः पारः पूर्तिर्यस्य स तथा तं कुरुसेनासमुद्रं रथेन तरसा वेगेनातरम्, तीर्णवानस्मीत्यन्वयः। कथम्भूतः? एकोऽसहायः आर्यसत्त्वः पूज्यबलः किञ्च यद्बान्धवेन मया विराटपुरे गोधनञ्च प्रत्याहृतं पुनरानीतम्। तथा परेषां शत्रुभूतानां भीष्मादीनां शिरोभ्यः मणिमयं धनमुष्णीषलक्षणं न केवलं हृतम्; किन्तु परं केवलं तेजः अभिमानलक्षणं सामर्थ्यमेव अपहृतमित्यन्वयः ॥ १४ ॥

राजन्यवर्याणां श्रेष्ठानां रथानां मण्डलैः समूहैः मण्डितासु अलङ्कृतासु, भीष्मश्च कर्णश्च गुरुश्च शल्यश्च ते तथोक्ताः तेषां सेनापतीनां चमूषु सेनासु मध्ये मम यो रथः तस्मिन् रथे यः अग्रेचरः सारथित्वात् पुरोभागवर्ती तेषामेव रथयूथपानां भीष्मादीनाम् आयुर्मनांसि च सहसा शीघ्रं दृशा दर्शनेन आर्च्छत्, अपाहरदित्येकान्वयः। चशब्दः एवार्थे। यदा आर्च्छत् तद्वशैव, न आयुधादिना। समुच्चये वा ॥ १५ ॥

गुरुभीष्मादिभिः निरूपितानि प्रयुक्तानि अमेयमहिमानि अचिन्त्यसामर्थ्यान्यस्त्राणि यस्य दोष्षु भुजेषु प्रणिहितं निक्षिप्तं मां नोपस्पृशुः न तापं चक्रुरित्यन्वयः। 'स्पृश उपतापे' इति धातुः। कानि कमिव आसुराणि हिरण्यकशिपुप्रेरितानि असुरप्रयुक्तानि नृहरिदासं प्रह्लादं यथा न व्यथयन्ति तथेति ॥ १६ ॥

---

1 K.M add के

रा॰ कृ॰ यत्तेजसा यस्य हरेः तेजसा हेतुना गजायुतसत्त्ववीर्यः गजानामयुतस्य सहस्रदशकस्य सत्त्वं वीर्यं यस्य सः तवानुजः आर्यः मम पूज्यो भीमः नृपशिरोऽङ्घ्रिं राजमस्तकन्यस्तपादं महाबलपराक्रमं जरासन्धं मखार्थं तव राजसूययागार्थम् अहन् अवधीत्। तं जरासन्धं हत्वा तेन प्रमथनाथमखाय आहृताः बलादानीताः भूपाः राजानः यत् यस्माद्विमोचिताः तत् तस्मात् कारणात् ते तवाध्वरे बलिम् अध्वरसाधनभूतं द्रव्यम् अनयन् समर्पितवन्तः ॥ ९ ॥

पदयोः स्वसंस्मरणात् तदैव प्राप्तस्य श्रीकृष्णस्य चरणयोः पतिताश्रुमुख्याः पतितान्यश्रूणि मुखे यस्याः तस्यास्तव पत्न्याः द्रौपद्याः अधिमखकृप्तमहाभिषेकश्लाघिष्ठचारुकबरं सभायां कुरुसभायां विकीर्य आकृष्य यैः कितवैः दुश्शासनादिभिः धूर्तैः स्पृष्टं आकृष्टमभूत् तस्त्रियः तेषां कितवानां स्त्रियः स्त्रीः हतेशविमुक्तकेशाः हतः ईशः नाथः यासां ताः विधवाः अत एव विमुक्तकेशाः यो भगवान् अकृत कृतवान्। लोकदृष्ट्या यद्यपि दुश्शासनादयो भीमादिभिर्निहताः तथाऽपि — "मयैवैते निहताः पूर्वमेव। निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्!" (भ. गी. 11-33) इति भगवदुक्तेः तस्मिन्नेव हन्तृत्वव्यपदेशः ॥ १० ॥

यः अयुताग्रभुक् अयुतस्य शिष्याणामयुतस्याग्रे तत्पङ्क्तौ भुनक्ति तस्माद्दुर्वाससः कारणात् अरिरचितात् अरिणा दुर्योधनेन रचितात् दुरन्तकृच्छ्रात् शापरूपात् अपारसङ्कटात् यो भगवान् वनमेत्य आगत्य शाकान्नशिष्टमुपयुज्य

नोऽस्मान् जुगोप, रक्षितवान्। यतः शाकान्नभोजनात् सलिले स्नानार्थं जले विनिमग्नसङ्घः विनिमग्नः मुनीनां सङ्घः त्रिलोकीं तृप्ताममंस्त अमन्यत। तच्छाकान्नशिष्टं उपयुज्येतिपूर्वेणान्वयः ॥ ११ ॥

अथ यत्तेजसा यस्य हरेस्तेजसा हेतुना सगिरिजः पार्वतीसहितः भगवान् शूलपाणिश्शिवः युधि युद्धे विस्मापितो मया विस्मयं प्रापितस्सन्निजमस्त्रं पाशुपताख्यं मे मह्यमदात् दत्तवान्। तथाऽन्येऽपीन्द्रादयो लोकपालाः इत्यर्थः। निजान्यस्त्राणि दत्तवन्तः। किञ्चाहममुनैव कलेबरेण मनुष्यशरीरेण महेन्द्रभवने महदासनार्धं महतः इन्द्रस्य यदासनं तदर्धं प्रापमिति शेषः ॥ १२ ॥

हे आजमीढ! युधिष्ठिर! तत्रैव महेन्द्रभवने एव विहरतो मे मम यदनुभावितं येन भगवता सप्रभावं कृतं गाण्डीवलक्षणं भुजदण्डयुग्मं सेन्द्राः इन्द्रसहिताः देवाः अरातिवधाय अरातीनां शत्रूणां कालकेयादिदैत्यानां वधाय श्रिताः सहायत्वेनाश्रिताः तेन भूम्ना परिपूर्णतमेन पुरुषेण श्रीकृष्णेनाहं अद्य मुषितो वञ्चितोऽस्मि ॥ १३ ॥

यदान्धवः यः भगवान् बान्धवस्सहायभूतः यस्य सोऽहमेकः अनन्तपारमार्यसत्त्वं दुस्तरभीष्मादितिमिङ्गिलमुख्यजलजन्तुसहितं कुरुबलाब्धिं रथेन ततरे तीर्णवान्। किञ्च मया बहुधनं परैर्नीतं गोधनं प्रत्याहृतं प्रत्यानीतम्, अपि च परेषां शत्रूणां शिरोभ्यः सकाशात्तेजःपदं प्रभावव्यञ्जकं मणिमयं धनं च हृतमानीतं "यदान्धव" इत्यादीनां त्रयाणां श्लोकानां "तेनाहमद्य मुषितः पुरुषेण भूम्ना" (भाग. 1-15-13) इति पूर्वेणैवान्वयः ॥ १४ ॥

हे विभो! युधिष्ठिर! अदभ्रराजन्यवर्यरथमण्डलमण्डितासु भीष्मकर्णगुरुशल्यचमूषु यो भगवान् ममाग्रेचरः सारथिरूपेण मम पुरतः स्थितस्सन् दृशा दृष्टिमात्रेण रथयूथपानां रथयूथपालकानाम् आयुर्मनांसि सहः बलं ओजः अस्त्रशस्त्रादिकौशलं च आर्च्छत् अहरत् ॥ १५ ॥

यद्दोष्षु यस्य भगवतः दोष्षु प्रणिहितं स्थापितं भगवता कृपया रक्षितमित्यर्थः। मा मां गुरुभीष्मकर्णद्रौणित्रिगर्तशलसैन्धवबाह्लिकाद्यैः निरूपितानि प्रयुक्तानि अमोघमहिमान्यस्त्राणि नृहरिदासं प्रह्लादं आसुराणीव हिरण्यकशिपुप्रयुक्तानि अस्त्राणीव नोपस्पृशुः न स्पृष्टवन्तः तेन पुरुषेण अहमद्य मुषितोऽस्मीति पूर्वेणान्वयः ॥ १६ ॥

* यन्मे नृपेन्द्र! तदतर्क्यविहार ईशो यो लब्धरूपमवदद्रणमूर्ध्नि दर्शी।
यन्माययाऽऽवृतदृशो न विदुः परं तम् सूत्रादयोऽहमहमस्मि ममेति भव्याः ॥

सौत्ये वृतः कुमतिनाऽऽत्मद ईश्वरो मे यत्पादपद्ममभवाय भजन्ति भव्याः।
मां श्रान्तवाहमरयो रथिनो भुविष्ठं न प्राहरन् यदनुभावनिरस्तचित्ताः ॥ १७ ॥

नर्माण्युदाररुचिरस्मितशोभितानि हे! पार्थ! हेऽर्जुन! सखे! कुरुनन्दनेति।
सञ्जल्पितानि नरदेव! हृदि स्पृशानि स्मर्तुर्लुठन्ति हृदयं मम माधवस्य ॥ १८ ॥

शय्यासनाटनविकत्थनभोजनादिष्वैक्याद्वयस्य ऋतवानिति विप्रलब्धः।
सख्युस्सखेव पितृवत्तनयस्य सर्वं सेहे महान्महितया कुमतेरघं मे ॥ १९ ॥

सोऽहं नृपेन्द्र! रहितः पुरुषोत्तमेन सख्या प्रियेण सुहृदा हृदयेन शून्यः।
अध्वन्युरुक्रमपरिग्रहमङ्ग! रक्षन् गोपैरसद्भिरबलेव विनिर्जितोऽस्मि ॥ २० ॥

तद्वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति।
सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं भस्मन् हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्र्याम् ॥ २१ ॥

राजंस्त्वयाऽभिपृष्टानां सुहृदां नः सुहृत्पुरे।
विप्रशापविमूढानां निघ्नतां मुष्टिभिर्मिथः ॥ २२ ॥

वारुणीं मदिरां पीत्वा मदोन्मथितचेतसाम्।
अजानतामिवान्योऽन्यं चतुःपञ्चावशेषिताः ॥ २३ ॥

प्रायेणैतद्भगवत ईश्वरस्य विचेष्टितम्।
मिथो निघ्नन्ति भूतानि भावयन्ति च यन्मिथः ॥ २४ ॥

---

*The additional verse is found in K & M The commentary of Sri Vijayadhvaja is at its proper place 1 K.M सं° 2 G कर्मा° 3 W °चरित° 4. K.M.W शोभनानि 5 K.M.W ऋभुमा° 6 H.K.M.V.W °म° 7 H.K.M.V.W आमनन्ति 8 K.M.W °षे 9 B.I.K.M °नु° 10.B °पाव° 11 K.M °वात्मानं

**श्रीध०** स्वापराधमनुस्मरन् सन्तप्यमान आह — **सौत्य** इति। सौत्ये सारथ्ये कुमतिना मे मया स वृतः कुमतित्वमेवाऽऽह — आत्मद इत्यादिना। आत्मदः ज्ञानप्रदः। अभवाय मोक्षाय। भव्याः श्रेष्ठाः। श्रान्ता वाहा अश्वा यस्य तं माम्। जयद्रथवधे हि जलपानं विना अश्वाः श्रान्ताः ततो रथादवतीर्य भुविष्ठमपि बाणैः भुवं भित्त्वा मया जलं सम्पादितम्। तदा यस्यानुभावेन निरस्तचित्ता अरयो मां न प्रहृतवन्तः स सौत्ये वृत इति कुमतित्वम्॥ १७॥

**नर्माणि** इति। हे नरदेव! उदारं गम्भीरं रुचिरं च यत् स्मितं तेन शोभितानि नर्माणि परिहासवाक्यानि तथा कार्यप्रस्तावेषु हे पार्थेत्यादीनि मधुराक्षराणि सञ्जल्पितानि च हृदि स्पृशानि मनोज्ञानि च माधवस्य यान्येतानि तानीदानीं स्मर्तुर्मम हृदयं लुठन्ति, लोठयन्ति, क्षोभयन्ति। णिजभाव आर्षः॥ १८॥

**शय्येति**। विकत्थनं स्वगुणश्लाघनं विरुद्धसम्भाषणं वा। शय्यादिष्वैक्यात् अव्यतिरेकाद्धेतोः ऐक्यं मानसिकव्यापाराभेदः कदाचित् व्यभिचारं दृष्ट्वा हे वयस्य! ऋतवान् सत्ययुक्तस्त्वमिति वक्रोक्त्या विप्रलब्धः तिरस्कृतोऽपि। ऋभुमानिति पाठे ऋभवो देवाः सेवकास्सन्ति यस्य सः। असौ महानपि मया वयस्य इति मत्वा विप्रलब्धः तिरस्कृत इत्यर्थः। ऋतमानिति पाठे वत्वाभाव आर्षः। मेऽघमपराधं सेहे असहत, महामहितया महत्त्वेन ऐकपद्ये अतिमहत्त्वेनेत्यर्थः। सख्युरघं सखेव, तनयस्याघं पितेव॥ १९॥

त्वया शङ्कितं पराजयं चापि प्राप्तोऽहमित्याह — **स** इति। तेन सख्या रहितोऽतो हृदयेन शून्यः। अङ्ग! हे राजन्! उरुक्रमस्य परिग्रहं षोडशसहस्रस्त्रीलक्षणं रक्षन् असद्भिः नीचैः। अबला योषेव॥ २०॥

श्रीकृष्णवियोग एवात्र हेतुः नान्य इत्याह — **तदिति**। यतो येभ्यो हेतुभ्यः नृपतय आमनन्ति। ईशेन रिक्तं शून्यम् **असत्कार्यार्क्षमं** सर्वमपि क्षणेन श्रीकृष्णवियोगाव्यवहितक्षण एव सन्नन्नविधानैरपि भस्मन्निति लुप्तसप्तमीकं पदम्। भस्मनि हुतं[1] वा अतिप्रीतादपि कुहकान्मायाविनः सकाशाद्राद्धं लब्धमिव[2] अथवा कुहके वञ्चके असत्पात्रे राद्धं दत्तमिव **सम्यक्कर्षणादप्यूष्यां** ऊषरभूमौ उप्तं प्रकीर्णं बीजमिव॥ २१॥

**राजन्निति**। सुहृत्पुरे त्वयाऽभिपृष्टानां नः सुहृदां मध्ये चत्वारः पञ्च वा अवशेषिताः। तत्र हेतुः विप्रशापेत्यादि। वारुणीम् अन्नमयीम्। अजानतामिवाऽन्योऽन्यम् अजानतामिव[9] स्वपितृपुत्रभ्रातृप्रभृतीन् कदाऽप्यजानतामिव एरकामुष्टिभिः निघ्नताम् अवशेषिता[10] इत्यनेनोक्तः॥ २२, २३॥

अवशेषिता इत्यनेनोक्तं **हेतुकर्तारमाह त्रिभिः — प्रायेणेति**। भावयन्ति पालयन्ति॥ २४॥

---

1. A,B °नादि। श° 2. H.V °मु° 3 A महिताया महत्त्वेन ऐकपद्ये अति°, B महिताया महत्त्वेन महामहितया इतिपाठे एकपदे अति° 4 H.V °°क्षीः 5 A,B आनमन्ति 6 H.V add भस्माहुतिं 7 A,B लब्धं यथाऽसत् सम्यक्कर्षणादिनाऽपि ऊषरभूमावुप्तं बीजमिव 8. H.V °दिना 9 A,B omit अजानतां ... तामिव 10 A,B omit अव .... नोक्तः॥

**वीर० सौत्य** इति। यस्य भगवतः पादपद्मं भव्याः साधवोऽभवाय मुक्तये भजन्ति। य आत्मद आत्मपर्यन्तवदान्यः "य आत्मदो बलदायक", "एको बहूनां यो विदधाति कामान्" (श्वेता. उ. 6-13) इति श्रुतेः। ईश्वरः सर्वनियन्ता कुबुद्धिना मे मया सौत्ये सारथ्ये निमित्ते वृतः श्रान्तैः वाहैस्सहितम् अत एव भुविष्ठमपि मां यस्य भगवतः प्रभावेण निरस्तं विमोहितं चित्तं येषां ते नृपा न प्राहरन् न प्रहृतवन्तः॥ १७॥

**नर्माणीति**। हे नरदेव! तस्य माधवस्य श्रीकृष्णस्य उदारेण रुचिरेण सुन्दरेण च स्मितेन शोभितानि नर्माणि परिहासवाक्यानि हे पार्थेत्यादिरूपाणि सम्बोधनात्मकानि जल्पितानि च स्मरतो मम हृदयं लुठन्ति छिन्दन्ति॥ १८॥

**शय्येति**। शय्यादिव्यापारेषु ऐक्यं साधारण्यं साम्यमिति यावत् तेन न विद्यते द्वयं द्वैविध्यम्। अन्यतरस्य व्यापारान्तरं यस्य तस्य **कुमतेर्मे** मम सख्युरघं सखेव तनयस्याघं पितृवत् पितेवेत्युक्तप्रकारेण विप्रलब्धोऽधिक्षिप्तः। **ऋभुमान् ऋभवो** देवाः तद्वान् धनवानितिवत् देवानां स्वामीत्यर्थः। महामहितया महामहिमत्वात् महान् महितयेति पाठे महिता माहात्म्यं तेन महान् सर्वमधमपराधं सेहे सोढवान्। **ऋतवानिति** पाठे ऋतं सत्यं वाचिकं काकुगर्भं विवक्षितं तत्[7] त्वं सत्यवादी किलेत्येवमादिरूपेण विप्रलब्धोऽपीत्यर्थः॥ १९॥

**सोऽहमिति**। स ऐक्याद्वयोऽहं हे नृपेन्द्र! सख्या मित्रेण प्रियेण निरतिशयप्रीतिविषयेण हृदयते गच्छतीति हृदयः अय गताविति धातुः। हृदयङ्गमेन सुहृदा हितैषिणा पुरुषोत्तमेन शून्यो रहितः अङ्ग! हे राजन्! अध्वनि उरुक्रमस्य श्रीकृष्णस्य परिग्रहं कलत्रमण्डलं रक्षन् गोपैरप्यसद्भिः दुर्जनैरबलेव योषिदिव निर्जितोऽस्मीति॥ २०॥

**तदिति**। ये भगवता सह अवस्थानदशायां धनुरादयः त एव अधुनाऽपि रथी चाहं स एवाधुनाऽपि यतो येभ्यो धनुरादिभ्यो नृपतय आमनन्ति बलिष्ठं रथिनं मां मन्यन्त इत्यर्थः। यद्यप्येवं तथाऽपि तत्सर्वं धनुरादिकमीशरिक्तं

श्रीकृष्णरहितं सत् क्षणेन असत् असत्प्रायमभूत्। यथा भस्मनि हुतं यथा च कुहकराद्धं दोषवद्विप्रस्य राद्धं राधनं दानादिसत्कारः यथा च ऊषे ऊषरभूमौ उप्तं बीजं तद्वत्॥ २१॥

हे राजन्! सुहृत्पुरे द्वारकायां त्वयाऽभिपृष्टानां नोऽस्माकं सुहृदां मध्ये चतुःपञ्चावशेषिताः, चत्वारः पञ्च वाऽवशिष्टाः। अन्ये तु सर्वेऽपि नष्टा इत्यर्थः। तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि। विप्राणां ऋषीणां शापेन विमोहितचित्तानाम्॥ २२॥

वारुणीं मदिरां सुरां पीत्वा, तेन उन्मथितं विभ्रान्तं चेतो येषाम्, अत एवान्योऽन्यं अजानतामिव मिथो मुष्टिभिर्निघ्नताम्॥ २३॥

तन्मिथो निहननमपि प्रायशः ईश्वरस्य कृष्णस्य विचेष्टितम् एतत्सङ्कल्पमूलकमेवेति भावः। तदेव सदृष्टान्तमाह — यत् यथा यत्सङ्कल्पान्मिथो भूतानि भावयन्ति वर्धयामासुः तथा तत्सङ्कल्पादेव मिथो निघ्नन्ति विनिर्जघ्नुः॥ २४॥

---

1. W °वेति धीस्थ° 2. A,B omit तत्

**विज०*हे नरेन्द्र!** दर्शी सर्वज्ञो य ईशो रणमूर्ध्नि अलब्धरूपं केनाप्यज्ञातपूर्वरूपं मे अवदत्। सूत्रादयः मुख्यप्राणमुखाः देवाः तं न विदुरिति यत् यस्मात् तत् तस्मात् ईशो अतर्क्यविहारः अचिन्त्यक्रीड इत्यन्वयः। लब्धरूपमानन्दरूपमिति वा। कथम्भूताः सूत्रादयः? यस्य मायया मोहकशक्त्या आवृतदृशः पिहितनेत्राः नष्टज्ञाना इति यावत्। कथमावृतदृश इति तत्राऽऽह — अहमहमिति। भव्याः ज्ञातुं योग्यतावन्तः सकलमङ्गलरूपा इति वा॥

भव्या मुमुक्षवो यत्पादपद्ममभवाय भजन्ति, यस्य श्रीकृष्णस्यानुभावेन महिम्ना निरस्तं मुग्धं चित्तं येषां ते तथोक्ता अरयः कर्णादयो मां न प्राहरन्नायुध्यन्। कथम्भूताः रथिनः? रथादियुद्धसाधनोपेताः, किंविशिष्टं माम्? भुविष्ठं भूमौ स्थितं सम्यक् श्रान्ताः वाहा अश्वा यस्य सः तथोक्तः तं, श्रान्तानां वाहानां जलपानाय रथादवरुह्य युद्धसाधनमन्तरेण भूमितले स्थितमित्यर्थः। सोऽयमीश्वरः कुमतिना मया मे मत्सम्बन्धिनि सौत्ये सारथ्यकर्मणि वृतः। किंविशिष्टः? आत्मानं ददातीत्यात्मदः "य आत्मदा बलदा" (तैत्ति. सं. 4-1-8) इति श्रुतेः। अद्य तेन भूम्ना पुरुषेण मुषितोऽस्मीति परमोऽन्वयः॥ १७॥

हे नरदेव! माधवस्य हृदिस्पृशानि मनोहराणि हे पार्थ! अर्जुनेत्यादीनि गोष्ठ्यां सञ्जल्पितानि नर्माणि परिहासलक्षणानि स्मर्तुर्मम हृदयं लुठन्ति, परिवर्तन्ते, हृदयात् न निर्गच्छन्ति। कथम्भूतानि? उदारं गम्भीरं रुचिरं यत्स्मितं तेन शोभनानि मङ्गलानि॥ १८॥

ममायं कृष्णो वयस्यः अहमेतादृशेन कृष्णेन समानवयस्कत्वात् ऋभुमान् सदैव इति भावेन परमेष्टदेवेन श्रीकृष्णेन शय्यादिषु ऐक्यात् तेन वञ्चितः तादृशबुद्धेः तदधीनत्वात् परदेवतया शय्याद्यैक्यमपराधो हि यस्मात् तस्माद्वञ्चितोऽस्मि। शय्या शयनम् विकत्थनं गालीवचनं स्तवनं वा। तथाऽपि स कृष्णो महतो महत्त्वेन

सख्युरघमपराधं सखेव पुत्रस्याघं पितेव कुत्सितबुद्धेर्मेऽघं मया विप्रलब्धोऽपि संवञ्चितोऽपि महामहितया कुमतेर्मेऽघं सेह इति वा। शय्यादिषु क्रमुमान् महात्मा मया विप्रलब्धस्तिरस्कृतः; किमिति, वयस्यः सखेत्यैक्यव्यवहारात्, तथाऽपि महामाहात्म्येन ममापराधं सेह इति वा॥ १९॥

शून्योऽस्मीति विकल्पं पुनः स्पष्टं परिहरतीत्याह — सोऽहमिति। हे नृपेन्द्र! सख्या जन्मप्रभृति-सहवर्तमानेन प्रियेण विषयादिसुखप्रापकेण सुहृदा अनिमित्तबन्धुना हृदयेनातिस्निग्धेन अतिक्रान्तेन वा पुरुषोत्तमेन क्षराक्षरमतीत्य वर्तमानेन कृष्णेन रहितः शून्योऽस्म्यल्पः अस्मीत्येकान्वयः येन मे अपहृतं तेज इत्येतद्विवृणोति — अध्वनीति। अङ्ग! राजन्! उरुक्रमस्य हरेः परिग्रहं कलत्रं रक्षन्नागच्छन्नसद्भिः असाधुभिर्गोपैः अबला योषेव विनिर्जितोऽस्मि। तस्मात् तेन मे मम तोजोऽपहृतमिति भावः॥ २०॥

तदेव स्पष्टयतीत्याह — तदिति। धनुस्तद्वै तदेव त इषवः तादृशाः शराः स रथः तादृशो रथः ते हयाः तादृशा अश्वाः रथी सोऽहं नान्यो यतो यस्मै नृपतय आमनन्ति तत्सर्वमीशरिक्तं श्रीकृष्णतेजसा विहीनं क्षणेन असत् नाशवत् अप्रयोजकमभूत्। कथमिव? भस्मनि हुतमिव कुहकेन राद्धं चौरेण सिद्धमिव ऊषे ऊषरे उप्तमिव भस्मनि हुतस्य मन्त्रोच्चारणादिना किञ्चित्फलं स्यादित्यतः, कुहकेति ऐन्द्रजालिकेन कुटुम्बभरणमुद्दिश्य द्रव्याऽऽहरणात् तज्जीवनेन ऐहिकफलदर्शनादित्यत उक्तमुप्तमूष इति। न तत्र किञ्चिद्बीजं प्ररोहतीत्यभिप्रायेण निदर्शनत्रयम् उक्तमिति वेदितव्यम्॥ २१॥

कच्चिदानर्तपुर्यामित्यादिबान्धवकुशलप्रश्नं परिहरतीत्याह — राजन् इति। सुहृत्पुरे द्वारवत्याम्॥ २२॥

नाम्ना वारुणीं वरुणनिर्मिततां मदिरां मदकरीं सुरां पीत्वा। अन्यच्च निमित्तमस्तीत्याह विप्रशापेति। ब्राह्मणशापेन विमूढानां कृत्याकृत्यज्ञानरहितानाम् अत एव आत्मानमजानताम्॥ २३॥

इदं यादवनिधनमपि श्रीकृष्णकृतमित्यभिप्रेत्य ब्रूत इत्याह — प्रायेणेति। भूतानि मिथो निघ्नन्ति भावयन्ति उत्पादयन्ति चेतीति यत्तदीश्वरस्य भगवतो विशिष्टचेष्टितमिति मन्ये। प्रायशब्दस्य प्राचुर्यार्थवाचित्वेऽपि अत्रावधारणार्थ एव। चशब्दः समुच्चयार्थः॥ २४॥

रा० कृ० भव्याः श्रेष्ठाः भक्ताः अभवाय संसारदुःखनिवृत्तिपूर्वक परमानन्द-प्राप्तिलक्षणमोक्षाय यत्पादपद्मं यस्य भगवतः पादपद्मं भजन्ति, यदनुभावनिरस्तचित्ताः यस्य भगवतोऽनुभावेन प्रभावेण निरस्तं मोहितं चित्तं येषां ते अरयश्शत्रवो रथिनोऽपि रथस्थिता अपि श्रान्तवाहं श्रान्ताश्वमत एव भुविष्ठं भूतलगतं मां न प्राहरन् न प्रहृतवन्तः, सः आत्मदः ज्ञानदाता ईश्वरः कुमतिना कुबुद्धिना हेतुना मे मम सौत्ये सारथ्ये वृतो नियुक्तः॥ १७॥

हे नरदेव! युधिष्ठिर! माधवस्य उदाररुचिरस्मितशोभितानि नर्माणि परिहासवचनानि हे पार्थ! हेऽर्जुन! हे सखे! हे कुरुनन्दन! इति हृदिस्पृशानि मनोहराणि सञ्जल्पितानि वचनानि स्मर्तुर्मम हृदयं लुठन्ति क्षोभयन्ति॥ १८॥

शय्यासनाटनविकत्थनभोजनादिषु शय्या, आसनम्, अटनं विहरणं, विकत्थनम् आत्मश्लाघा — एतेषु शय्यादिषु ऐक्यात् हे वयस्य! ऋतवान् सत्यवान् ऐक्ये सत्यपि कदाचित् व्यभिचारदर्शनात् हे सखे! सत्यवचनोऽसि! इति विप्रलब्धः तिरस्कृतोऽपि महान् स भगवान् महितया महत्त्वेन कुमतेर्मे मम अघमपराधं सर्वमपि सख्युरघं सखेव तनयस्याघं पितृवत् सेहे सोढवान्॥ १९॥

अङ्ग! नृपेन्द्र! हे राजेन्द्र! सः हरिकरुणापात्रभूतः अहं सख्या मित्रेण सुहृदा हितैषिणा प्रियेणाभिमतेन पुरुषोत्तमेन श्रीकृष्णेन रहितः हृदयेन शून्यः शून्यहृदयस्सन् अध्वनि मार्गे उरुक्रमपरिग्रहं उरुक्रमस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य परिग्रहं षोडशसहस्रभार्यागणं रक्षन् असद्भिः दुष्टैः गोपैः अबलेव विनिर्जितोऽस्मि। अत्र विश्वनाथचक्रवर्ती स्वसारार्थदर्शिन्याम् एवं कथयति — पुरा देव्यः अष्टावक्रमुनिं स्तुत्वा, 'विष्णुर्वः पतिर्भविष्यतीति' तस्माद्वरं प्राप्य तदङ्गवक्रिमदर्शनोत्थात् उपहासात् 'दस्युहस्ता भविष्यथ' इत्यभिशापं च प्राप्य पुनः प्रसादिताच्च तस्मात् शापान्तञ्च प्रापुः। अतो भर्तरं प्राप्य दस्युहस्तं गता इति मुनेः शापप्रसादयोः अमोघत्वात् दस्युहस्तगतत्वं भर्तुः प्राप्तिश्च तासां तन्नैणैवाभूत् स्वभर्तुः कृष्णस्यैव दस्युरूपत्वात्॥ २०॥

यतो येभ्यो धनुरादिभ्यो नृपतयो मां आनमन्ति प्रणमन्ति। आमनन्तीति पाठे मां बलिनं मन्यन्त इत्यर्थः। तद्वै धनुः तदेव धनुः, त एव इषवः बाणाः, स एव रथः, त एव हयाः स एवाहं रथी च। तथापीशरिक्तं श्रीकृष्णरहितं तद्धनुरादिकं सर्वं भस्मन् भस्मनि हुतं घृतमिव कुहकराद्धमिव कुहकात् मायाविनः सकाशात् प्राप्तं वस्त्विव ऊष्यां ऊषरक्षेत्रे उप्तं बीजमिव क्षणेन असत् असत्प्रायं कार्यासमर्थमित्यर्थः अभूत्। एवमत्र सर्वेषामपि कार्यक्षमत्वं ईश्वराधीनमेवेति निरूपितम्। तदुक्तं भगवता — "ईश्वरस्सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥" (भ.गी. 18-61) इति॥ २१॥

हे राजन्! सुहृत्पुरे द्वारकायां त्वयाऽभिपृष्टानां पुरा विप्रशापविमूढानाम् अत एव वारुणीं मदिरां च पीत्वा मदोन्मथितचेतसां मदविह्वलमानसानां अत एव अन्योऽन्यमजानतामिव स्थितानामिति शेषः। ततश्च मुष्टिभिर्मिथः परस्परं निघ्नतां प्रहरतां नः सुहृदां मध्ये चतुःपञ्च चत्वारः पञ्च वाऽवशेषिताः अवशिष्टाः कृताः॥ २२, २३॥

अवशेषिता इत्यनेनोक्तः कारणकारणभूतोऽत्र निरूप्यते — भूतानि गोव्याघ्रादीनि पितृपुत्रादीनि मिथः परस्परं निघ्नन्ति, मिथः भावयन्ति, पालयन्ति च इति यत् तदेतत्सर्वमपि भगवतः ईश्वरस्य श्रीकृष्णस्यैव चेष्टितं लीला ईश्वरस्य सर्वप्रेरकत्वात्॥ २४॥

**जलौकसां जले यद्वन्महान्तोऽदन्त्यणीयसः।**
**दुर्बलान् बलिनो राजन् महान्तो बलिनो मिथः॥ २५॥**
**एवं बलिष्ठैर्यदुभिर्महद्भिरितरान् विभुः।**
**यदून् यदुभिरन्योऽन्यं भूभारान् सञ्जहार ह * ॥ २६॥**

देशकालार्थयुक्तानि हृत्तापोपशमानि च ।
हरन्ति स्मरतश्चित्तं गोविन्दाभिहितानि मे ॥ २७ ॥

सूत उवाच

एवं चिन्तयतो जिष्णोः कृष्णपादसरोरुहम् ।
सौहार्देनातिगाढेन शान्ताऽऽसीद्विमला मतिः △ ॥ २८ ॥

वासुदेवाङ्घ्र्यनुध्यानपरिबृंहितरंहसा ।
भक्त्या निर्मथिताशेषकषायधिषणोऽर्जुनः ॥ २९ ॥

गीतं भगवता ज्ञानं यत्तत् सङ्गममूर्धनि ।
कालकर्मतमोरुद्धं पुनरध्यगमत् प्रभुः ॥ ३० ॥

विशोको ब्रह्मसम्पत्त्या संछिन्नद्वैतसंशयः ।
लीनप्रकृतिनैर्गुण्यादलिङ्गत्वादसम्भवः ॥ ३१ ॥

निशम्य भगवन्मार्गं संस्थां यदुकुलस्य च ।
स्वःपथाय मतिं चक्रे निभृतात्मा युधिष्ठिरः ॥ ३२ ॥

---

1 H,V °रपरान् 2 K,M °रं * कण्टकं कण्टकेनैव द्वयं चापीशितुस्समम् । This is the second half of V 34 and it is commented upon by श्रीविजयध्वजतीर्थ In M, it is a part of V 26, consisting 6 Pādas △ Here ends 14th Chapter in K & M 3 K,M °भि° 4 N °ध्या° 5. B,H,K,M,N,V,W विभुः 6 K,M °वृत्तात्मा

**श्रीध० जलौकसाम्** इति । जलौकसां मत्स्यादीनां मध्ये महान्तः स्थूला अणीयसः सूक्ष्मान् यथा अदन्ति भक्षयन्ति ॥ २५ ॥

**एवमिति ।** एवं बलिष्ठैर्महद्भिः पाण्डवैः दुर्योधनजरासन्धादीन्निहत्य यदुभिः इतरान् साल्वादीन्निहत्य यदून् यदुभिरन्योऽन्यं निहत्य भगवान् भूभारान् भुवो भारभूतान् यदून् संहृतवान् ॥ २६ ॥

अतः परं वक्तुं न शक्नोमीति सूचयन्नाह — **देशकालेति** । देशकालोचितार्थयुक्तानि मनःपीडोपशमकराणि च गोविन्दस्य वचनानि स्मरतो मे मम चित्तं हरन्ति आकर्षन्ति ॥ २७ ॥

**एवमिति** सूतोक्तिः । अतिदृढेन स्नेहेन कृष्णपादसरोरुहं चिन्तयतोऽर्जुनस्य मतिश्शान्ता भगवत्स्मरण-जनिताऽऽनन्दातिशयेन शान्तिरसयुक्ता विशोका विमला विरक्ता च आसीत् ॥ २८ ॥

मतिवैमल्यफलमाह — **वासुदेवेति** । वासुदेवाङ्घ्र्यनुध्यानेन परिबृंहितं संवर्धितं रंहो वेगो यस्यास्तया **भक्त्या** निर्मथिताः उन्मूलिताः अशेषाः कषायाः कामादयः यस्यास्सा धिषणा बुद्धिर्यस्य सः ज्ञानं पुनरध्यगमदित्युत्त-रेणान्वयः ॥ २९ ॥

**गीतमिति।** कालेन कर्मभिस्तमसा भोगाभिनिवेशेन च रुद्धमावृतं सत्॥ ३०॥

ज्ञानफलमाह — **विशोक** इति। एतदेव शोकहेत्वभावेन उपपादयति। शोकस्य हि[2] हेतुः द्वैतभ्रमः तस्य देहः तस्य लिङ्गं तस्य गुणाः तेषामविद्या। तत्र ब्रह्मसम्पत्त्या वेदान्तश्रवणेन ब्रह्माहमिति ज्ञानेन लीना प्रकृतिरविद्या यस्मिंस्तत्रैर्गुण्यं भवति, न तु सुषुप्तिप्रलययोरिव अविद्याशेषः। तस्मात् नैर्गुण्यात् गुणकार्यलिङ्गनाशः। अलिङ्गत्वाच्च असम्भवः। **सम्यग्भोगाय** भवति पुनः पुनरिति सम्भवः स्थूलदेहः तद्रहितः। ततश्च तत्परिच्छेदाभावात् सञ्छिन्नो द्वैतलक्षणः संशयो भ्रमो यस्य स विशोको जात इति॥ ३१॥

**निशम्येति** भगवतो[1] मार्गमालक्ष्य यदुकुलस्य संस्थां नाशं श्रुत्वा नारदोक्तं चानुसृत्य स्वःपथाय स्वर्गमार्गाय निभृतात्मा निश्चलचित्तः नियमितान्तःकरण[4] इत्यर्थः॥ ३२॥

---

1 A,B omit भगव ..... युक्ता 2 H,V अपि 3 H,V ततश्च 4 A,B omit नियमितान्तःकरण इत्यर्थः

**वीर०** युक्तं चैतत् तस्य भूभारावतारायावतीर्णस्य इत्यभिप्रायेण स्वयमुदासीन एव सन् भूभारं सञ्जहारेत्याह — **जलौकसाम्** इति द्वाभ्याम्। तत्र विवक्षितार्थोपयोगितया दृष्टान्तमाह — जले जलौकसां मत्स्यादीनां मध्ये यथाऽणीयसः सूक्ष्मान् जलौकसो महान्तस्ते अदन्ति, भक्षयन्ति। यथा च दुर्बलांस्तान् बलिनो घ्नन्ति यथा च हे राजन्! महान्तो बलिनश्च ते मिथो निघ्नन्ति॥ २५॥

एवं विभुः बलिष्ठैः महद्भिश्च यदुभिरितरान् दुर्बलानन्यांश्च भूतान् ततोऽन्योन्यं युदभिर्यदूनेव मिथो भुवो भाररूपान् सञ्जहार संहृतवान्॥ २६॥

देशकालार्थः देशकालानुगुणं कर्तव्यं प्रयोजनं तद्युक्तानि तत्प्रकाशकानि शृण्वतां हृदयगतदुःखोपशमानि गोविन्दस्याभिहितानि। भावे क्तः। भाषणानि गीतादिरूपाणि स्मरतो मम चित्तं हरन्ति॥ २७॥

इत्थमतिगाढेनापरेण सौहार्देन कृष्णस्य पादसरोरुहं चिन्तयतोऽर्जुनस्य अत एव विमला शान्ता रागाद्यकलुषिता च मतिर्बभूव॥ २८॥

वासुदेवस्य अङ्घ्रेरनुध्यानेन परिबृंहितं वर्धितं रंहो वेगः प्रावण्यं यस्यास्तया वासुदेवभक्त्या अविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपया प्रीत्यात्मिकया निर्मथिताः निरस्ताः अशेषाः कषायाः कषायवत् दुर्मोच्या रागादयो यस्यास्सा धिषणा बुद्धिर्यस्य सोऽर्जुनः॥ २९॥

सङ्ग्राममूर्धनि युद्धारम्भे यद्भगवता गीतं गीतोपनिषद्रूपेणोपदिष्टं ज्ञानं स्वात्मपरमात्मतत्त्वाप्तिसाधनादियाथात्म्य-गोचरं ज्ञानं तन्महता कालेन कर्मणा तमोगुणेन चावरुद्धं तिरोहितमपि विभुः तत्त्वावधारणसमर्थः। अत्र निर्मथिताशेषकषायत्वं हेतुः। पुनरप्यध्यगमत् अध्यवस्यत्॥ ३०॥

ब्रह्मसम्पत्त्या पंङ्गुगतौ। गत्यर्थो बुद्ध्यर्थः। ब्रह्मविषयकसम्यग्ज्ञानेन ह्यर्जुनः तदानीं मुक्तः तेनोपलक्षितः यद्वा, तेन हेतुना छिन्नद्वैतसंशयः आत्मनि देहगतदेवादिभेदभ्रमरहित इति। गीतोपनिषत्पूर्वपट्टोक्तबुद्ध्युपेक्षः

ब्रह्मसम्पत्त्या इति मध्यमषट्कार्थज्ञानोन्मेष उक्तः। यद्वा ब्रह्मसम्पत्त्या सञ्छिन्नद्वैतसंशयः ब्रह्मज्ञानेन सञ्छिन्नदेवादिद्वैतस्वनिष्ठद्वैतसंशयः इत्यर्थः। अलिङ्गत्वादिति स्थूलदेहविरहानुसन्धानमुक्तम्, लीनप्रकृतिनैर्गुण्यात् विनष्टसूक्ष्मप्रकृतितया गुणत्रयविरहात्तदननुसन्धानादित्यर्थः। देहे वर्तमानत्वात् अर्जुनस्यासम्भवः। अत एव पुनर्जन्मरहितः ततो विशोकः अभवदित्यर्थः। विशोकग्रहणम् अपगतपाप्मत्वादि गुणाष्टकयुक्तस्वरूपोपलक्षणम्॥ ३१॥

भगवतो मार्गं स्वर्लोकगमनप्रकारं यदुकुलसंस्थाम् अन्तं नाशं चेति यावत्। तत् श्रुत्वा युधिष्ठिरः निभृतात्मा समाहितचित्तः स्वःपथाय स्वशब्दः सुखपरः — निरतिशयसुखरूपलोकमार्गाय मतिं चक्रे॥ ३२॥

---

1 W °पहा° 2 W °चा 3 W पद° 4 W यु° 5 A.B omit °म° 6 W °त्तदनु° 7 A.B omit तत् 8 A.B omit °चित्त°

**विज०** इममर्थं सोदाहरणं स्पष्टयतीत्याह — **जलौकसाम्** इति। जलौकसां यादसां मध्ये महान्तोऽणीयसोऽणुतरान् अदन्ति बलिनो दुर्बलान् भक्षयन्ति। ये महान्तः ये च बलिनः ते **मिथोऽन्योन्यं** भक्षयन्ति यथा॥ २५॥

एवं विभुः बलिष्ठैः महद्भिर्यदुभिरितरान् हत्वा यदुभिरेव **यदून्योन्यं** हत्वा भूभारं दैत्यकुलं सञ्जहारेत्येकान्वयः। भूभारहरणमेवावतारप्रयोजनमित्येतत् हशब्देन आह! यद्वाहुदण्डाभ्युदयानुजीविनः। यदून् **यदुभिरन्योन्यमित्याद्युक्तं** पालनं संहरणञ्च हरेर्विषममिति चेत् तन्नाऽऽह द्वयमिति। तत्तत्कर्मानुसारिफलदातुः ईश्वरस्याप्तकामस्य तेषां सञ्जीवनं मरणं चेति द्वयं समभेव जीवनेनोपादेयाभावात् मरणेन हान्यभावाच्च अतो द्वयं न विषममिति भावः॥ २६॥

स्वदुःखकारणं ब्रूत इत्याह — **देशेति**। देशकालार्थयुक्तानि तत्तद्देशतत्तत्कालतत्तद्वस्तूचितानि हृत्तापोपशमनानि अहङ्काराश्रितसंसारसमुद्रशोषणकारणानि गोविन्दस्याभिहितानि वचनानि स्मरतो मम चित्तं हरन्तीति यस्मात्तस्मात्तद्रहितत्वेन शोचामीत्येकान्वयः॥ २७॥

**बान्धवनिमित्तस्नेहलक्षणभक्त्यतिशयेन** तच्चरणस्मरणमाह — **एवमिति**। अतिगाढेनातिशयेन दृढेन तत्रैवातिशयेन मग्नेन वा सौहार्देन प्रेमलक्षणभक्तिसाधनेन कृष्णपादपद्मम् एवमुक्तप्रकारेण स्मरतो जिष्णोः निर्मला **मतिर्मननसमर्था बुद्धिः शान्ता** सुखपूर्णा पूर्वस्मादतिशयेन भगवन्निष्ठावती आसीदित्येकान्वयः *॥ २८॥

ननु अर्जुनस्य नानाविधक्षत्रहत्यापापोपरक्तायाः तामस्याः बुद्धेर्नैर्मल्यं कथं युज्यते इत्याशङ्क्य जीवन्मुक्तेष्वेकत्वात् भगवदर्पणबुद्ध्या कृतदुष्टक्षत्रहत्यस्य तस्य मतेः नैर्मल्यं युक्तमिति दर्शयति — **वासुदेवेति**। **ब्रह्मसम्पत्त्या** ब्रह्मणोऽवगत्या ब्रह्मपरोक्षज्ञानेन विशोकः तस्मादेव छिन्नौ निवृत्तौ द्वैतसंशयौ यस्मात् स तथोक्तः, द्वे इतं द्वीतं द्विधा गतं ज्ञानं तस्य भावो **द्वैतम्, अन्यथाज्ञानमिति** यावत्। संशयः इदं वाऽदो वा इत्युभयकोटिविषयम् ज्ञानम्, **विच्छिन्नो** जीवब्रह्मभेदविषयः संशयो येनेति वा लीना अपसारिता प्रकृतिरहङ्कारात्मिका यस्मात् स तथोक्तः, भावप्रधानो निर्देशः, तस्मात् लीनप्रकृतित्वान्निर्गतानि सत्त्वादिगुणकार्याणि यस्मात् स तथोक्तः तस्य भावो नैर्गुण्यं तस्मादलिङ्गत्वात् सूक्ष्मशरीररहितत्वात् न सम्भवोऽनारब्धकर्ममूला या पुनरुत्पत्तिः तया वर्जितः, अनारब्धकर्मणां

ज्ञानोदयेन नाशादारब्धकर्मणामेव उर्वरितत्वाज्ज्ञानोदयकाले एवम्भूतसन्नर्जुनो रणमूर्धन्यारब्धकर्मणा स्वधर्मे अधर्मबुद्धये स्वात्मने भगवता यज्ज्ञानं गीतम् उपदिष्टम् तदारब्धकर्ममूलैः कालकर्मतमोभिः रुद्धं, कालेन कर्मणा तमसा चाऽऽवृतं पुनरध्यगमत् अवगतवान् आवर्तितवानित्यन्वयः। कीदृशः? वासुदेवस्याङ्घ्रिरेभिरतः सम्यग्ध्यानेन परितो बृंहितं वृद्धं रंहो वेगो यस्याः सा तथोक्ता, तया भक्त्या निर्मथिताः अशेषाः समूलाः कषायाः पापलक्षणाः रागलक्षणा वा यस्याः सा तथोक्ता निर्मथिताशेषकषाया धिषणा बुद्धिर्यस्य स तथा। अत्र न सर्वारब्धकर्मणां निर्मथनमभिप्रेतं किन्तु महता भगवत्कारुण्यादिना कारणेन केषाञ्चिदेव। अन्यथा "भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पत्स्यते" (ब्र. सू. 4-1-19) "तस्य तावदेव चिरम्" (छान्दो. उ. 6-14-2) इत्यादिसूत्रश्रुतिविरोधः स्यात्। "महता कारणेनैव प्रारब्धान्यपि कानिचित्। कर्माणि क्षयमायान्ति ब्रह्मदृष्टिमतः क्वचित्"॥ इत्युक्तत्वाच्च। अतोऽत्राशेषशब्दो निर्मथनयोग्याशेषप्रारब्धविषय इति भावः॥ २९, ३०, ३१॥

एवं यादवसंस्थां श्रीकृष्णस्वधामप्राप्तिञ्चाभिधाय, पाण्डवस्वर्याणमुपक्रमते — निशम्य इति। भगवतः श्रीकृष्णस्य स्वधामगमनप्रकारं यदुकुलस्य संस्थां विनाशञ्च श्रुत्वा निवृत्तात्मा राज्यादिभ्यः व्यावृत्तमनाः नितरां वृत्ते सदाचारे आत्मा यस्येति वा। युधिष्ठिरः कामक्रोधादिजयलक्षणयुद्धे स्थिरः स्वःपथाय स्वर्गमार्गाय वीराध्वने मतिं चक्र इत्यन्वयः॥ ३२॥

---

* Here ends 14th Chapter in K & M 1 A °रंभितः 2 A उपावृत्त°

रा० कृ० हे राजन्! जले जलौकसां जलजन्तूनां मध्ये यद्वत् यथा महान्तः स्थूलाः महामत्स्यादयः अणीयसोऽल्पीयसो मत्स्यादीन् अदन्ति भक्षयन्ति, यद्वत् बलिनः दुर्बलान् घ्नन्ति महान्तो बलिनश्च यद्वत् मिथः घ्नन्ति च, एवं विभुस्सर्वव्यापकः श्रीकृष्णः बलिष्ठैः महद्भिश्च यदुभिर्निमित्तभूतैः इतरान् दुर्बलान् दुष्टान् सञ्जहार संहृतवान्। यदूंस्तु यदुभिरेव अन्योन्यं सञ्जहार। एवं भूभारान् भुवो भारभूतान् सञ्जहार॥ २५, २६॥

देशकालार्थयुक्तानि देशकालप्रयोजनसमुचितानि हृत्तापोपशमानि गोविन्दाभिहितानि गोविन्दस्य वचनानि गीतादिरूपाणि कर्तृणि स्मरतो मम चित्तं हरन्ति रञ्जयन्ति॥ २७॥

एवमतिगाढेन सौहार्देन प्रेम्णा कृष्णपादसरोरुहं चिन्तयतः ध्यायतः जिष्णोरर्जुनस्य मतिरशान्ता विमला च आसीत्॥ २८॥

वासुदेवाङ्घ्र्यनुध्यानपरिबृंहितरंहसा भक्त्या निर्मथिताशेषकषायधिषणोऽर्जुनः सङ्ग्रामम्मूर्धनि कौरवपाण्डवयुद्धप्रारम्भे भगवता श्रीकृष्णेन गीतं भगवद्गीतारूपेणोपदिष्टं यत् ज्ञानं वर्तत इति शेषः। कालकर्मतमोरुद्धं तज्ज्ञानं प्रभुस्समर्थस्सन् पुनरध्यगमत् अधिगतवान्॥ २९, ३०॥

ततश्च ब्रह्मसम्पत्त्या ब्रह्मात्मज्ञानेन लीनप्रकृतिनैर्गुण्यात् अविद्यालयप्रयुक्तात् गुणराहित्यात् ततः अलिङ्गत्वात् गुणकार्यलिङ्गनाशात् असम्भवः स्थूलदेहाभिमानरहितः अर्जुनः देहपरिच्छेदाभावात् सञ्छिन्नद्वैतसंशयस्सन् विशोकश्शोकरहितः सञ्जात इति शेषः।

लिङ्गमत्र त्रिगुणकार्यभूतं नामरूपाद्यभिमाननिदानं वासनामयं सूक्ष्मशरीरम् तन्तूनां कार्पासमिव त्रिगुणानामाधारभूता प्रकृतिः। प्रकृतिरविद्यैव दृश्यप्रपञ्चात्मिका। ब्रह्मात्मज्ञाननिष्ठया तु सर्वप्रपञ्चस्य ब्रह्मत्वावस्थितेः प्रकृतिप्रभावाभावरूपः प्रकृतिलयस्सञ्जायते, प्रकृतिलयात् प्रकृतिकार्यगुणलयः तेन गुणकार्यवासनामयसूक्ष्मशरीरलयः। तेन स्थूलदेहावस्थितस्यापि जीवस्य ब्रह्मनिष्ठया द्वैतभ्रमनिवृत्तेः विशोकत्वमुपपद्यते॥ ३१॥

भगवन्मार्गं भगवतः श्रीकृष्णस्य मार्गं वैकुण्ठगमनं यदुकुलस्य संस्थां च विनाशं च निशम्य निभृतात्मा युधिष्ठिरः स्वःपथाय स्वर्गमार्गाय मतिं चक्रे॥ ३२॥

**पृथाऽप्यनुश्रुत्य धनञ्जयोदितं नाशं यदूनां भगवद्गतिं च ताम्।**
**एकान्तभक्त्या भगवत्यधोक्षजे निवेशितात्मोपरराम संसृतेः॥ ३३॥**

**ययाऽहरद्भुवो भारं तां तनुं विजहावजः।**
**कण्टकं कण्टकेनेव द्वयं चापीशितुस्समम्॥ ३४॥**

**यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद्यथा नटः।**
**भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम्॥ ३५॥**

**यदा मुकुन्दो भगवानिमां महीं जहौ स्वतन्वा श्रवणीयसत्कथः।**
**तदाऽहरेवाप्रतिबुद्धचेतसामधर्महेतुः कलिरन्ववर्तत॥ ३६॥**

**युधिष्ठिरस्तत्परिसर्पणं बुधः पुरे च राष्ट्रे च गृहे तथाऽऽत्मनि।**
**विभाव्य लोभानृतजिह्महिंसनाद्यधर्मचक्रं गमनाय पर्यधात्॥ ३७॥**

**स्वराट् पौत्रं विनयिनमात्मनः सुसमं गुणैः।**
**तोयनीव्याः पतिं भूमेरभ्यषिञ्चद्गजाह्वये॥ ३८॥**

**मथुरायां तथा वज्रं शूरसेनपतिं ततः।**
**प्राजापत्यां निरूप्येष्टिमग्नीनपिबदीश्वरः॥ ३९॥**

**विसृज्य तत्र तत्सर्वं दुकूलवलयादिकम्।**
**निर्ममो निरहङ्कारः सञ्छिन्नाशेषबन्धनः॥ ४०॥**

**वाचं जुहाव मनसि तत्प्राण इतरे चे तम्।**
**मृत्यावपानं सोत्सर्गं तं पञ्चत्वे ह्यजोहवीत्॥ ४१॥**

---

* The three verses No. 33,34 & 35, excepting the second half of V 34 already commented at V.26, are omitted in K & M, and not commented by **श्रीविजयध्वजतीर्थ** 1 B.H.V °प्युप° 2 K.M तदा हरावप्रति° 3 B.H.I.K.M.V.W °भद्र° 4 AF GF स 5 H.N.V °दा° 6 H.V विलोक्य 7 B सम्राट् 8 B विनियत°, WF विनिमय°, K.M विनीतं त° 9 K.M °नेऽनवमं 10 H.K.M.V.W °धु° 11 K.M ततो 12 H.V सुतं 13 H.V निर्मोह° 14 K.M परम् 15 K.M धृत्या ह्यपानं 16 K.M तत्परत्वे; WF तत्पञ्चत्वे

**श्रीध० पृथा** इति। तां भगवद्गतिं दुर्विज्ञेयाम्। वक्ष्यति ह्येकादशे "सौदामन्या यथाऽऽकाशे यान्त्या हित्वाऽभ्रमण्डलम्। गतिर्न लक्ष्यते मर्त्यैस्तथा कृष्णस्य दैवतैः॥" (भाग. 11-31-9) इति **एकान्तभक्त्या** अव्यभिचरितभक्त्या संसृतेरुपरराम, जीवन्मुक्तो बभूव। देहं जहाविति वा॥ ३३॥

तदेवमुक्तमपि यादवेभ्यो भगवतो वैलक्षण्यमबुद्ध्वा तत्साम्यं वदतो मन्दमतीन् प्रति वैलक्षण्यं स्पष्टयति द्वाभ्याम्— **यथा** इति। यया यादवरूपया **तन्वा** भुवो भारं कण्टकेन कण्टकमिव कण्टकोद्धरणसाधनीभूतं कण्टकमिवाहरत्। यादवतनुर्भूभारतनुश्चेति द्वयमपि ईश्वरस्य संहार्यत्वेन सममेव॥ ३४॥

श्रीकृष्णमूर्तेर्विशेषमाह— **यथा** इति। तान्यपि यथा धत्ते जहाति च। तदाह— यथा नटो निजरूपेण स्थितः एवं रूपान्तराणि धत्तेऽन्तर्धत्ते च तथा येन कलेबरेण क्षपितः तदपि कलेबरं जहौ अन्तर्धादित्यर्थः॥ ३५॥

युधिष्ठिरस्य स्वगरिहणप्रसङ्गाय कलिप्रवेशमाह— **यदा** इति। **स्वतन्वा** जहौ सतनोरेव वैकुण्ठारोहात्। श्रवणार्हा सती कथा यस्य तदा यदहः तस्मिन्नेव अहरिति लुप्तसप्तम्यन्तं पदम्। अप्रतिबुद्धचेतसामविवेकिनामिति विवेकिनां तु न प्रभुरित्युक्तम्। अन्ववर्ततेतिं पूर्वमेवांशेन प्रविष्टस्य स्वेन रूपेणानुवृत्तिरुक्ता॥ ३६॥

**युधिष्ठिर** इति। बुधो युधिष्ठिरः आत्मनि मनसि च तस्य कलेः परिसर्पणं प्रसरणं विलोक्य। कथम्भूतम्? लोभाद्यधर्मचक्रं यस्मिन्। जिह्मं कौटिल्यम्। पर्यधात्तदुचितं परिधानमकरोत्॥ ३७॥

**स्वराट्** इति। आत्मनः स्वस्य गुणैः सुसमं स्वेनात्यन्तसदृशं नियतं नियमवन्तं तोयं सर्वतः स्थितं समुद्रोदकमेव। नीवी परिधानविशेषो यस्यास्तस्याः भूमेः पतित्वेनाभिषिक्तवान्॥ ३८॥

**मथुरायाम्** इति। वज्रं **अनिरुद्धस्य पुत्रम्**। प्राजापत्येष्टिं निरूप्य **कृत्वेत्यर्थः**। अपिबत् आत्मन्यारोपयामास। ईश्वरः समर्थः॥ ३९॥

**विसृज्य** इति। **सञ्छिन्नान्यशेषाणि बन्धनान्युपाधयो** येन॥ ४०॥

तदेव दर्शयति द्वाभ्याम्— **वाचम्** इति। वाचमित्युपलक्षणम्। सर्वेन्द्रियाणि मनसि प्रविलापितवानित्यर्थः। तच्च मनः प्राणे प्राणाधीनवृत्तित्वात्। तं च प्राणमितरे इतरस्मिन्नपाने, तेनाकर्षणात्। अपानव्यापार उत्सर्गः तत्सहितमपानं मृत्यौ तदधिष्ठातृदेवतायाम्। अनेनैव वागादिष्वपि तत्तत्कर्मसाहित्यं ज्ञेयम्। तं मृत्युं पञ्चत्वे

पञ्चभूतानामैक्ये देहे देहस्यैव मृत्युः न आत्मन इति भावितवानित्यर्थः। अजोहवीदिति यङ्लुगन्तात् लुङि रूपम्॥ ४१॥

---

1 A,B omit कण्टकमिव .... भूतं 2 A omits एव 3 H,V °र्दधावि° 4 A °रोहप्र° 5 H,V स्वोय° , B स्व° 6 H,V अहनीति 7. H,V °मज्ञानाविष्टचित्तानां वि° 8 A तेन 9 A,B अतिसदृशं 10 B adds एव 11 H,V °षु° 12 H,V अपानेनाऽऽ° 13 H,V °न° 14 H,V °दीनामपि

**वीर**० अर्जुनोदितं यदूनां नाशं, तां भगवतो गतिं च श्रुत्वा कुन्त्यपि भगवत्यधोक्षजे अनन्यप्रयोजनया भक्त्या निवेशित आत्मा मनः यया तथाभूता संसृतेरुपरराम। विरक्ता बभूव॥ ३३॥

भगवन्मार्गमिति। **भगवदुतिमित्यनेन** चोक्ता भगवतः स्वलोकं प्रति गतिः किं कृष्णाख्यतनुत्यागपूर्विका उत तयैवेति शौनकाभिप्रेतं विशदयति — **यया** इति। अजो भगवान् यया **तन्वा** भुवो भारमहरत् तां तनुं विजहौ। मनुष्यसंस्थानं विजहौ। स्वासाधारणया चतुर्भुजादिमत्या **तन्वा** अवतीर्य पित्रोः प्रार्थनया यां मनुष्यसंस्थानस्थितां तनुं भूभारमपनेतुं जग्राह। तां तनुं तिरोधाय स्वासाधारणत**न्वा** जगामेत्यर्थः। मनुष्यसंस्थानस्य भूभारापनोदनौपाधिकत्वेन यावदुपाधितत्संस्थानापनोद्यमपनुद्य, स्वासाधारणयैव जगामेति भावः। मनुष्यसंस्थानेनैव किं न जगामेत्याकाङ्क्षायां, तत्र दृष्टान्तमुखेनोत्तरमाह। यथा कण्टकविद्धचरणः पुमान् यावत्तदपनोदककण्टकान्तरं परिगृह्य तेन तदपनुद्य, ततः अपनुत्तमपनोदकमपि कण्टकद्वयं जहाति, तद्वत् ईशितुः भगवतः द्वयमपि, **सममपनोद्यम्।** दुष्कृतत्तच्छरीरजालमपनोदकं मनुष्यसंस्थानं चोभयमपि समं हातव्यत्वेन समम्, अपनोदकशरीरस्यापि **यावदुपाधि धार्यत्वादिति** भावः। ईशितुरुभयमित्यनेन दुष्कृच्छरीरे**ष्वपि** अन्तः प्रविश्य नियन्तुर्भगवतः तान्यपि शरीराणि भगवत एव स्वस्यैवेति सूचितम्। कण्टकदृष्टान्तेन चैतदभिप्रेतम् यथा उभयोः कण्टकयोः कण्टकत्वमविशिष्टम्; एवमुभयोरपि शरीरयोः **स्वशरीरत्वमविशिष्टमिति**॥ ३४॥

इदमेव प्रसिद्धदृष्टान्तान्तरेणाप्याह — **यथा** इति। यथा नटः नाट्योपयुक्तानि वेषान्तराणि परिगृह्य, **नाट्यानन्तरं स्वेनरूपेणैवावतिष्ठते**, तथा च भगवानपि तत्तत्प्रयोजनाय **मत्स्यादिरूपाणि** यावत्प्रयोजनं धत्ते, तदन्ते पुनर्जह्यात्। हित्वा स्वकीयरूपेणैवावतस्थे, तथा येन शरीरेण भूभारः क्षपितः निरस्तः, तत्कलेबरं जहौ। तत्तिरोधाय स्वासाधारणेनैव जगामेत्यर्थः॥ ३५॥

**यदा** इति। श्रोतव्याः सत्याः कथाः यस्य सः भगवान् मुकुन्दः स्वत**न्वा** स्वासाधारणदिव्यमङ्गलविग्रहेणोपेतः महीं यदा यस्मिन्नहनि जहौ, तदाऽहरेव तस्मिन्नहन्येव अविवेकिनामभद्रहेतुः अशुभहेतुः कलिरन्ववर्तत॥ ३६॥

ततो युधिष्ठिरः पुरे राष्ट्रे गृहे आत्मनि जनानां देहेषु च तस्य कलेः परिसर्पणम् अनुवर्तनं बुधः जानन् तन्मूलकं लोभाद्यधर्माणां चक्रं जालमवलोक्य गमनाय गृहात् निर्गमनाय पर्यधात् परिहितः उद्युक्तो बभूव इत्यर्थः॥ ३७॥

ततः स्वराट् राजा युधिष्ठिरः गुणैः आत्मनः स्वस्य समं तुल्यं विनयिनं च पौत्रं परीक्षितं हस्तिनपुरे तोयनीव्याः समुद्रमेखलायाः भूमेः पतिमभ्यषिञ्चत् अभिषिक्तवान्। विनिमयमात्मनोऽनवमं इति पाठे विनिमयं विनिमयार्हं सदृशमनवममन्यूनमित्यर्थः ॥ ३८ ॥

तथा मथुरायां वज्राख्यं यदुकुलकुमारं शूरसेनानां जनपदानां पतिमभ्यषिञ्चत्। ततः प्राजापत्यां प्रजापतिदेवताकामिष्टिं निरूप्य कृत्वा ईश्वरः युधिष्ठिरः अग्नीन् आहवनीयादीन् अपिबत्। आत्मन्यारोपितवान् ॥ ३९ ॥

तत्र स्वगृह एव तत् प्रसिद्धं दुकूलादिकं त्यक्त्वा वाचं जुहावेत्यन्वयः। कथम्भूतः? निर्ममो देहाद्यनुबन्धिषु स्वकीयत्वाभिमानरहितः निरहङ्कारः, देहात्मभ्रमरहितः सञ्छिन्नान्यशेषाणि बन्धनानि प्रकृत्यादीनि येन तथाभूतः प्रकृत्यादिमोक्षमनुसंहितवानित्यर्थः ॥ ४० ॥

तत्प्रकारमाह — वाचम् इत्यादिना। वाचं वागादिकर्मज्ञानोभयेन्द्रियव्यापारं मनसि जुहाव, मनोऽधीनममन्यत। मनसः इन्द्रियप्रकृतित्वाभावादित्यर्थः। तन्मनः प्राणे जुहाव; मनःप्रवृत्तिं प्राणाधीनां मेने, तथा प्राणसंवादादिषु दर्शनात् अत एव हि तस्य मुख्यप्राणत्वम्। प्राणादीनां लयानुसन्धानप्रकारमाह। इतरे च तं मृत्यावपानं सोत्सर्गमिति तं प्राणमितरे इतरस्मिन्नपाने तं सोत्सर्गमपानमुदान इति शेषः। उत्सर्गशब्दो वृत्तिपञ्चकप्रदर्शनार्थः। स्वस्ववृत्तिविशिष्टानामेव तेषु तेषु लयमनुसंहितवानित्यर्थः। ततस्तूदानं मृत्यौ मृत्युसंज्ञके समाने तं समानं पञ्चत्वे प्राणादिपञ्चककारणे वायावित्यर्थः। तदिति पाठे वस्तुजामित्यर्थः, अवस्थाविशेषवायुर्हि प्राणः। न वायुमात्रम्, स चैकोऽपि प्राणनादिवृत्तिपञ्चकविधः। अतः वृत्तिपञ्चकनिरोधेन प्राणस्य तत्कारणे वायौ लयानुसन्धानप्रकार उक्तः ॥ ४१ ॥

---

1 A.B कृष्णस्य 2 A.B °स्थानमपनुद्य 3 W दुष्कृच्छ° 4 W हास्तिन° 5. W °स्तु तमुदानं 6 A.B omit तदिति ..... मित्यर्थः
7. W प्राणादिवृत्तिपञ्चकभेदात् पञ्चविधः

विज० * स्वर्याणनिर्णये कारणमाह — यदा इति। यदा श्रवणीयसत्कथो मुकुन्दः स्वतन्त्रा स्वाभिमतया मूर्त्या इमां महीं जहौ त्यक्तवान्। तदा हरौ अप्रतिबुद्धचेतसां हरिविषयबोधरहितबुद्धीनां पुंसामभद्रहेतुः पापकारणं कलिरन्ववर्ततेत्यन्वयः ॥ ३६ ॥

बुधो विवेकज्ञानी युधिष्ठिरो राज्ये पुरे च गृहे भार्यादौ च तथा आत्मनि स्वस्मिन् तस्य कलेः परितः सर्पणं व्याप्तिं विभाव्य ज्ञात्वा कलिव्याप्तिमूलं लोभाद्यधर्मसमुदायं च विज्ञाय गमनाय वीराध्वगमनाय पर्यधात्रिश्चितवान् इत्येकान्वयः, "परिधानं तु निश्चयः" इत्यभिधानम्। लोभश्चानृतं च जिह्मं कौटिल्यं च हिंसनं च लोभानृतजिह्महिंसनानि आदिः यस्य पुरुषादेः तत्तथोक्तम् ॥ ३७ ॥

स्वराट् चक्रवर्ती। स्वपौत्रं तं गुणैरनवमं योग्यं पौत्रमभिमन्योस्सुतं परीक्षितं तोयमेव नीवी वसनं यस्यास्सा तथोक्ता तस्याः ॥ ३८ ॥

मधुपुर्यामनिरुद्धपुत्रं नाम्ना वज्रं शूरसेनविषयपतिमध्यषिञ्चदिति शेषः। प्राजापत्यां प्रजापतिदैवत्यामिष्टिं, निरूप्य सर्वस्वदक्षिणामिष्टिं कृत्वा श्रौताग्नीनपिबत् आत्मनि समारोपयामास। स कीदृशः? ईश्वरो राज्यादिषु निर्विद्य संन्यसने समर्थः ॥ ३९ ॥

तदेवाऽऽह — **विसृज्य** इति। सञ्छिन्नाशेषपापादिबन्धनः ॥ ४० ॥

स्वमरणकाल एतच्च चिन्तनीयमित्यभिप्रेत्य तत्कृतमित्याह — **वाचम्** इति। वाचं च वागभिमानिनीमुमां मनसि मनोऽभिमानिनि रुद्रेऽजुहोत्। अस्या अस्मिन् लयः भवतीत्यचिन्तयत् न तु तदानीं कृतवानित्यर्थः। तन्मनः प्राणे मनःकारणे जुहाव। मनसः परमुत्तमं प्राणमितरे इतरस्मिन्नपाने उत्सर्गकर्माभिमानिनि जुहाव। धृत्या मनस एकाग्रतया सोत्सर्गं सवृत्तिकमपानं तत्परत्वे तस्मादपानात् पूर्वभाविनि व्याने अजोहवीत् हि। तथा हि ग्रन्थान्तरप्रसिद्धिः ॥ ४१ ॥

---

1 K.M त्रेताग्नी° * VV. 33,34 & 35 are not commented However, the 2nd half of V 34 is commented at V 26

रा० कृ० पृथाऽपि कुन्त्यपि धनञ्जयोदितं अर्जुनोक्तं यदूनां नाशं, तां च भगवतः श्रीकृष्णस्य गतिं स्वधामगमनमुपश्रुत्य आकर्ण्य भगवत्यधोक्षजे श्रीकृष्णे एकान्तभक्त्या परमया भक्त्या फलाभिसन्धिरहितया भक्त्येत्यर्थः। निवेशितात्मा संसृतेः संसारात् उपरराम उपरतिं प्रापत्। महाभारते कुन्त्यपि गान्धारीधृतराष्ट्राभ्यां सह वनं गत्वा देहं तत्याजेति अभ्यधायि। तदयं श्लोकः प्रक्षिप्त इव प्रतिभाति। ततश्च प्रायेण केषुचिल्लिखितग्रन्थेष्वयं नैव दृश्यते। श्रीविजयध्वजतीर्थैरप्ययं न व्याख्यातः ॥ ३३ ॥

अजः श्रीकृष्णः यया यादवतन्वा भुवो भारं कण्टकेन कण्टकमिवाहरत् तां तनुं विजहौ त्यक्तवान्। ईशितुः परमेश्वरस्य द्वयं चापि यादवशरीरं भूभारशरीरं चेति द्वयमपि सममेव समानमेव ॥ ३४ ॥

स भगवान् नटो यथा नट इव यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते स्वीकरोति यथा च, पुनस्तानि रूपाणि जह्यात् त्यजति तथा येन भूभारः क्षपितो निवर्तितः तच्च कलेबरं जहौ तिरोहितं चकार ॥ ३५ ॥

श्रवणीयसत्कथः भगवान् मुकुन्दः यदा स्वतन्वा इमां महीं जहौ त्यक्तवान् तदाऽहरेव तस्मिन्नेवाहनि अप्रतिबुद्धचेतसाम् अविवेकिनाम् अधर्महेतुः कलिरन्ववर्तत, सर्वतः प्रसृतवान्। कलियुगारम्भे सर्वे ग्रहाः एकं राशिं प्रविश्य पुनः पृथगवस्थातुं विभिन्नप्रमाणवेगाः मण्डलाऽऽवृत्तिं प्रारभन्ते। तदा च भूतले महान्तः परिणामास्सम्भवन्नीति च वदन्त्यभिज्ञाः। तथा हि — कलियुगारम्भे समेषामेव ग्रहाणां कूटस्समभवत्। अद्य प्रभृति ग्रहाणां पश्चाद्गणनायां प्रागुक्तः सर्वग्रहकूटः क्रैस्तवशकात् प्राक् त्रिसहस्रपूर्वकद्व्युत्तरशततमे वत्सरे 'फिब्रवरी' अष्टादशतमदिने सञ्जात इति ज्ञायते। बृहत्संहितायाम् श्रीवराहमिहिराचार्योक्तिमनुश्रुत्य युधिष्ठिरपट्टाभिषेकः शकारम्भसंवत्सरात् प्राचीनेभ्यः षड्विंशत्युत्तरपञ्चशतोत्तरद्विसहस्रवर्षेभ्यः प्रागेवाभवत्। इदं च प्रागुक्तेन संवदति। तस्मात् श्रीमद्भागवतमनुसृत्य श्रीकृष्णनिर्याणदिवसोऽयमेवेति निश्चेतुं शक्यते। अथ 'यत्संश्रयात् .... मयाऽभिहतश्च मत्स्यस्सञ्जीकृतेन धनुषा' (भाग. 1-15-7) इत्यत्रार्जुनस्य दुःखवचसा श्रीकृष्णो मीनमासे देहं तत्याजेति गम्यते। अपि च सप्तर्षिमण्डलं

सप्तविंशतिनक्षत्रेषु प्रत्येकमेकशताब्दीमध्यास्ते तथा च "आसन् मखासु मुनयः युधिष्ठिरे शासति पृथिवीम्" इति वराहमिहिरवचनमनुसृत्य धर्मजपट्टाभिषेकसमये सप्तर्षिमण्डलं मखानक्षत्रमधितस्थौ। एतदनुनयाऽपि कलियुगारम्भकालः उपर्युक्तकालेन संवदति॥ ३६॥

बुधः विवेकी युधिष्ठिरः पुरे च राष्ट्रे च गृहे च तथा आत्मनि जनस्य मनसि च लोभानृतजिह्महिंसनाद्यधर्मचक्रं लोभो विषयलाभेऽपि तृष्णाधिक्यम्, अनृतमसत्यभाषणम्, जिह्मं कुटिलत्वम्, हिंसनं पीडनम् लोभाद्यधर्मसमुदायसमेतं तत्परिसर्पणं तस्य कलेः परितः प्रसरणं विलोक्य गमनाय पर्यधात् निश्चितवान्॥ ३७॥

स्वराट् स्वतन्त्रो राजा युधिष्ठिरः विनयिनं विनयसहितं गुणैः भागवतत्वादिगुणैः आत्मनः स्वस्य सुसममतिसदृशं पौत्रं परीक्षितं तोयनीव्याः भूमेः पतिं गजाह्वये हस्तिनापुरे अभ्यषिञ्चत् अभिषिक्तवान्॥ ३८॥

ईश्वरस्समर्थो युधिष्ठिरः तथैव मथुरायां वज्रमनिरुद्धपुत्रं शूरसेनपतिं शूरसेनदेशप्रभुम् अभ्यषिञ्चत्। ततः प्राजापत्यां परिव्राजकोचितां इष्टिं निरूप्य कृत्वा अग्नीन् गार्हपत्यादीन् अपिबत् आत्मन्यारोपितवान्। गृहस्थस्य गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निपूजा वेदविहिता। तदग्नित्रयम् आन्तरं बाह्यं चेति द्विविधम्। बहुजनहिताय यज्ञार्थसत्कर्माचरणपरायणाः बाह्यं यजन्ते। अनन्तरं च ते ज्ञानमार्गेण देहं त्यक्तुमिच्छन्तः परित्यज्य बाह्यमन्तर्विद्योतमानमग्नित्रयमुपासते। प्रकृते च धर्मजः आन्तराग्नित्रयोपासनां कृतवानिति ज्ञायते॥ ३९॥

धर्मजस्तत्र गृहे तद्राजोचितं दुकूलवलयादिकं सर्वं विसृज्य निर्ममः निरहङ्कारः सञ्छिन्नाशेषबन्धनस्सन् वाचं मनसि जुहाव समर्पितवान्। ततश्च तन्मनः प्राणे, तं प्राणमितरे अपाने सोत्सर्गम् अपानं मृत्यौ च जुहाव। तं मृत्युं च पञ्चत्वे पञ्चमहाभूतानामैक्यरूपे देहे अजोहवीत्, भावितवानित्यर्थः॥ ४०, ४१॥

**त्रित्वे हुत्वाऽथ पञ्चत्वं तच्चैकत्वेऽजुहोन्मुनिः।**
**सर्वमात्मन्यजुहवीद्ब्रह्मण्यात्मानमव्यये॥ ४२॥**

**चीरवासा निराहारो बद्धवाङ्मुक्तमूर्धजः।**
**दर्शयन्नात्मनो रूपं जडोन्मत्तपिशाचवत्॥ ४३॥**

**अनवेक्षमाणो निरगादशृण्वन् बधिरो यथा।**
**उदीचीं प्रविवेशाशां गतपूर्वां महात्मभिः।**
**हृदि ब्रह्म परं ध्यायन्नावर्तेत यतो गतः॥ ४४॥**

**सर्वे तमनु निर्जग्मुर्भ्रातरः कृतनिश्चयाः।**
**कलिनाऽधर्ममित्रेण दृष्ट्वा स्पृष्टाः प्रजा भुवि॥ ४५॥**

**ते साधुकृतसर्वार्था ज्ञात्वाऽऽत्यन्तिकमात्मनः ।**
**मनसा धारयामासुर्वैकुण्ठचरणाम्बुजम् ॥ ४६ ॥**

1 B,I,W च 2 A,B,G,K,M °पे° 3 AF,GF °स्वरिताः 4. H,V दृष्टाः 5 W तेऽसा° 6 AF,GF ° त्वा °

**श्रीध०** **त्रित्व** इति। त्रित्वे गुणत्रये पञ्चत्वं देहम्। तच्च त्रित्वमेकत्वे अविद्यायाम्। **सर्वं** सवरिपहेतुमविद्याम् आत्मनि जीवे। अजोहवीदिति वक्तव्ये अजुहवीदित्यार्षम्। एवं त्रित्वादिभिः शोधितमात्मानं जीवात्मानं ब्रह्मणि अव्यये कूटस्थे न तु तस्यान्यत्र लय इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

**तदेवमात्मप्रतिपत्तिमुक्त्वा बाह्यस्थितिमाह — चीरवासा** इति द्वाभ्याम्। **बद्धवाङ्गौनी** ॥ ४३ ॥

**अनवेक्षमाण** इति। अनवेक्षमाणोऽनुजादिप्रतीक्षामकुर्वन्। आशां दिशं गतपूर्वां पूर्वं प्रविष्टाम्। महात्मभिर्विवेकवद्भिः। यतो यां दिशं गतः पुनर्नावर्तेत संसारे न प्रवर्तते ॥ ४४ ॥

**सर्वे** इति। अधर्मो मित्रं यस्य तेन ॥ ४५ ॥

**त** इति। साधुकृताः सर्वेऽर्थाः धर्मादयो यैः। अत एव वैकुण्ठस्य चरणाम्बुजमेव आत्यन्तिकं शरणं ज्ञात्वा मनसा धारयामासुः ॥ ४६ ॥

1 A,B omit त्रित्वादिभिः 2 A,B omit जीवात्मानं 3 A,B omit तु 4 B adds सार्थ° 5 B °पे° 6 H,V °दिषु प्रती° 7 H,V ° भिदुरधृतराष्ट्रादिभिः ।

**वीर०** एवं इन्द्रियवर्गप्राणतद्वृत्तिनिरोधानुसन्धानमुक्तम्। अथ वायुना सहितानि पञ्चभूतानि इन्द्रियवर्गश्च अहङ्कारकार्यमिति तदुभयं त्रित्वे सात्त्विकराजसतामसरूपत्रिविधाहङ्कारे जुहावेत्यर्थः। सर्वत्र त्वप्रत्ययः स्वार्थिकः। यथायथमिन्द्रियाणां सात्त्विकाहङ्कारे लयः। भूतानां तामस इति विवेकः। तच्चाहङ्कारत्रयमेकत्वे एकस्मिन् प्रकृतितत्त्वे महत्तत्त्वद्वारा जुहावेत्यर्थः। सर्वं वागादिप्रकृत्यन्तमात्मनि जीवेऽजुहवीच्चेतनाधीनाह्यचेतनप्रवृत्तिः, अत एव मुक्तम् न हि जीवः प्रकृतेः उपादानमात्मानं जीवमव्यये ब्रह्मण्यजुहोत्। जीवस्य ब्रह्माधीनवृत्तित्वात् तस्मिंस्तं स्थापितवानित्यर्थः ॥ ४२ ॥

ततः चीरं वल्कलं वासो वस्त्रं यस्य सः, निराहारः बद्धवाङ्गौनी, मुक्ताः विक्षिप्ताः मूर्धजाः केशाः येन सः। जडादिवत् आत्मनः स्वस्य रूपमाकारं दर्शयन् लोकस्येति शेषः ॥ ४३ ॥

यथा बधिरः तद्वदशृण्वन्, अन्ध इवानवेक्षमाणः निरगात्। गृहादिति शेषः। पूर्वं गतां गतपूर्वां, यतो यां गतः पुनर्नावर्तेत तां, महात्मभिर्विरक्तैः गतपूर्वामुदीचीम् आशां दिशं हृदि परं ब्रह्म ध्यायन् प्रविवेश ॥ ४४ ॥

तं युधिष्ठिरमनुसृत्य तद्भ्रातरस्सर्वे कृतनिश्चया- गमनाय कृतो निश्चयो यैस्ते कृतविवेका वा निर्जग्मुः। ते भ्रातरः युधिष्ठिरादयो वा अधर्मः मित्रं यस्य तेन कलिना स्पृष्टाः प्रजाः भुवि दृष्ट्वा ॥ ४५ ॥

असाधुकृताः तुच्छीकृताः सर्वेऽर्थाः देहतदनुबन्ध्यादयो यैः तथाभूताः आत्मनो देहस्यात्यन्तिकं मरणं ज्ञात्वा भगवच्चरणाम्बुजं मनसा धारयामासुः युधिष्ठिरादयः ॥ ४६ ॥

---

1 W °गण° 2 A.B °च्चेतनो ह्यचेतनप्रकृतिः 3 W समर्पित°

**विज०** अथ व्यानापानचित्तनानन्तरम् अवशिष्टावुदानसमानौ त्रित्वे त्रित्वसङ्ख्याविशिष्टेषु स्वकारणेषु प्राणापानव्यानेषु हुत्वा लयं विचिन्त्य तच्च पञ्चत्वं पञ्चत्वसङ्ख्याविशिष्टान् प्राणापानव्यानोदानसमानांश्चैकत्वे एकत्वसङ्ख्या विशिष्टे पञ्चानां कारणे मूलप्राणे अजुहोत्। मुनिर्मौनी तत्पूर्वोक्तं सर्वं तस्य मूलप्राणस्यापि कारणे आत्मनि स्वहृदि स्थिते विष्णावजुहोत् तं चात्मानमव्यये विनाशरहिते ब्रह्मणि सर्वगते तदभिव्यक्तिकारणे विष्णावजुहोदित्येकान्वयः। अत्र वागादीन्द्रियाणां तदभिमानिदेवानां देवशरीराणां च अग्नौ आज्यलयवत् स्वकारणेषु विलय एवेति ज्ञातव्यम्॥ ४२ ॥

चीरवासाः वल्कलवस्त्रो निराहारो मनुष्यान्नवर्जितो बद्धवाग्वचनवृत्तिविधुरो, मूर्धजाः केशाः जडादिवत् आत्मनो रूपं दर्शयन् बधिरो यथा तथाऽशृण्वन् अत एव अनपेक्षमाणः स्वयं गेहात् निरगादित्येकान्वयः ॥ ४३ ॥

यावच्छरीरपातं भुवं प्रदक्षिणीकृत्य निरन्तराटनमेव सङ्कल्प्य हृदि परं ब्रह्म ध्यायन् क्षत्तियैर्महात्मभिः गतपूर्वामुदीचीमाशामुत्तरां दिशं प्रविवेश। वीरगतिं गमिष्यन् यतो गतो नावर्तेत यां वीरगतिं गतः पुनर्नावर्तेत ताम् इत्यन्वयः ॥ ४४ ॥

भ्रातरो भीमसेनादयोऽधर्ममित्तेण अधर्मप्रधानेन ॥ ४५ ॥

आत्मनः परमात्मनः स्वरूपमात्यन्तिकं सर्वातिशयमथवा आत्मनः स्वस्य आत्यन्तिकमन्तकाले कर्तव्यं ज्ञात्वा साधु सम्यक्कृतोऽनुष्ठितः सर्वार्थो धर्मादियैस्ते तथा साधुना कर्मणा पुण्यलक्षणेन कृताश्छिन्नाः निरस्ताः सर्वेऽर्थाः शब्दादिविषया यैस्ते तथोक्ता इति वा। 'कृती-च्छेदने' इति धातुः। अत्र हरौ मनोधारणं नामाखण्डस्मरणमिति ज्ञातव्यम्॥ ४६ ॥

**रा० कृ०** मुनिर्मननशीलो युधिष्ठिरः अथ पञ्चत्वं पृथिव्यादिभूतपञ्चकं त्रित्वे सत्त्वादिगुणत्रये हुत्वा तच्च त्रित्वमेकत्वे तत्कारणभूते प्रधाने अजुहोत् हुतवान्। तच्च सर्वं सर्वकारणभूतं प्रधानमात्मनि जीवेऽजुहवीत्, अजोहवीत्। तं च शोधितमात्मानमव्यये ब्रह्मणि सर्वव्यापके सर्वाधिष्ठाने सर्वनियन्तरि परमात्मनि अजोहवीत्। उच्छ्वासनिश्वासकारकशक्तिस्वरूपौ प्राणापानौ। धर्मजः स्वयोगसाधनविधानमनुसृत्य उच्छ्वासं निश्वासे लीनमकरोत्। देहबन्धशैथिल्यावहशक्तिस्वरूपो मृत्युः "ब्रह्मण्यात्मानमव्यये" इत्यनेन देहत्यागसाधनं ध्यानमुपदिष्टम्॥ ४२ ॥

अनन्तरं स धर्मजः चीरवासाः अनेन बाह्यविषयभोगराहित्यं सूचितम्। निराहारः बद्धवाक्— अत्र वाचोपलक्षणीभूतया सर्वेन्द्रियोपरतिः दर्शिता। मुक्तमूर्धजः जडोन्मत्तपिशाचवत् जडो मनश्शून्यः, उन्मत्तः इन्द्रियविकलः — जडादिवत् आत्मनो रूपं दर्शयन् लोकायेति शेषः। अनवेक्षमाणः अनुजादिकमप्रतीक्षमाणः बधिरो

यथा कस्यापि वचनमशृण्वन् निरगात् गृहान्निर्गतवान्। पश्चात् हृदि परं ब्रह्म श्रीकृष्णाख्यं ध्यायन् यतो यां दिशं गतः पुनस्संसारे नावर्तते। महात्मभिः विदुरादिभिः गतपूर्वां पूर्वं गतां तामुदीचीमाशां दिशं प्रविवेश प्रविष्टवान्। पुरा किल वृद्धाः अन्ये वयसि विसृज्य गृहम्, अपुनरावृत्तिं पादयात्रां कुर्वन्ति स्म, हिमालयं प्रति यत्र बहवः पवित्रप्रदेशास्सन्ति। तेषु केषाञ्चित् आश्रयमात्रेण समाधिसिद्ध्यति। अपरेषु महात्मनां दर्शनं लभ्यते। तस्मादियमुत्तरदिग्यात्रा प्राचामादरणीया अभवदिति तर्क्यते। अपिचास्मिन् भूतले प्रथमतो मानवसृष्टिः हिमालये समजायत। तत्सृष्टिसहकारिणो महाशक्तिस्वरूपाः देवाः महर्षयश्च सौरकिरणद्वारा भूतलेऽवतीर्य मानुषदेहधारिणस्सन्तो भविष्यन्मानवपरम्परायाः मार्गदर्शकाः गुरवश्च अवर्तन्त। तेषु केचन अद्यापि बहूनां जनानां स्वदिव्यस्थितिमापादयन्तः तत्रैव हिमाचले वसन्ति। तस्मादेष समुदाचारः अभवद्यदुत्तमपथजिगमिषवः सर्वेऽपि पुनरावृत्तिरहितां हिमालययात्रां कुर्वन्ति स्मेति। तदेतन्महाप्रस्थानमिति कथ्यते। कृतमहाप्रस्थानैः पुनर्यत्राप्यते लोकान्तरजीवितं तदभिधीयते स्वर्गारोहणमिति। प्रकृते च युधिष्ठिरो महाप्रस्थानं विधाय स्वर्गमारूढवान्॥ ४३, ४४॥

भ्रातरः धर्मजस्य भ्रातरस्सर्वे भुवि अधर्ममित्रेण कलिना स्पृष्टाः प्रजाः दृष्ट्वा कृतनिश्चयास्तं युधिष्ठिरमनु अनुसृत्य निर्जग्मुः गृहान्निर्गतवन्तः॥ ४५॥

ते युधिष्ठिरादयो भ्रातरः साधुकृतसर्वार्थाः आत्मनः आत्यन्तिकं तापत्रयनिवर्तकं शरणं वैकुण्ठचरणाम्बुजं ज्ञात्वा तन्मनसा धारयामासुः निरन्तरं चिन्तयामासुरित्यर्थः॥ ४६॥

तद्ध्यानोद्रिक्तया भक्त्या विशुद्धधिषणाः परे।
तस्मिन्नारायणपदे एकान्तमतयो गतिम्॥ ४७॥

अवापुर्दुरवापां ते असद्भिर्विषयात्मभिः।
विधूतकल्मषास्थानं विरजेनात्मनैव हि॥ ४८॥

* विदुरोऽपि परित्यज्य प्रभासे देहमात्मवान्।
कृष्णावेशेन तच्चित्तः पितृभिः स्वक्षयं ययौ॥ ४९॥

द्रौपदी च तदाऽऽज्ञाय पतीनामनपेक्षताम्।
वासुदेवे भगवति ह्येकान्तमतिराप तम्॥ ५०॥

यः श्रद्धयैतद्भगवत्प्रियाणां पाण्डोस्सुतानामिति सम्प्रयाणम्।
शृणोत्यलं स्वस्त्ययनं पवित्रं लब्ध्वा हरौ भक्तिमुपैति सिद्धिम्॥ ५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
प्रथमस्कन्धे पाण्डवस्वर्गारोहणं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

---

1 AFGF °ग° 2 K,M °ऽपतन् 3 K,M °पं 4 H,V °षास्थाने ; K,M °षस्थानं * K,M omit this verse and it is not commented upon by श्रीविजयध्वजतीर्थ 5. I °नः 6 WF कृष्णोपवेशे 7 K,M °तत् 8 H यच्छ्रद्ध° 9. H,K,M,V,W °त्रयाणं 10. H,K,M,V °मपि 11 K.M शान्तिम्

**श्रीध° तदिति।** एकान्तमतयः भगवदेकप्रवणबुद्धयः विषयात्मभिः असद्भिः दुरवापां, कथम्भूते पदे? विधूतकल्मषाणां योगिनाम् आस्थानं निवासस्थानं यत् तस्मिन्। विरजेन आत्मनैव गतिमवापुः प्रापुः न तु षोडशकलेन लिङ्गेन। अस्थानमिति पाठे गतेर्वा विशेषणम्। विरजेनात्मनैव आस्थानरूपां गतिं ते विधूतकल्मषाः प्रापुरिति वा ॥ ४७, ४८ ॥

**विदुर** इति। विदुरोऽपि आत्मवान् ज्ञानवान् तीर्थान्यटन् प्रभासे श्रीकृष्णावेशेन कृष्णे चित्तमावेश्य देहं परित्यज्य तच्चित्त एव सन् तदानीं नेतुमागतैः पितृभिस्सह स्वक्षयं स्वाधिकारस्थानं ययौ ॥ ४९ ॥

**द्रौपदी** इति। आत्मानं प्रत्यनपेक्षतां तदा ज्ञात्वा तमाप प्रापं ॥ ५० ॥

**यं** इति। एवं यत्सम्प्रयाणम्। भगवतो दिव्यपदप्राप्तिम्। अलमतिशयेन स्वस्त्ययनं मङ्गलास्पदम्। अलं पवित्रं च ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्याया पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

---

1 A,B omit योगिनाम् 2. H,V ययुः 3 A,B omit प्राप 4. H,V यत् 5. A,B omit भगवतो ..... प्राप्तिम्।

**वीर°** तस्य वैकुण्ठपदाम्बुजस्य ज्ञानेन उद्रिक्तया उत्कटया भक्त्या विशुद्धा धिषणा बुद्धिर्येषां ते नारायणपदवाच्ये परमपुरुषे एकान्ता गतिः मतिः येषां मतेरेकान्तत्वं नाम विजातीयप्रत्ययाव्यवधानं विषयेषु शब्दादिषु प्रवण आत्मा मनः येषां तैः असद्भिः दुरात्मभिः दुःखेनाप्यवाप्तुमशक्यां गतिं मुक्त्यात्मिकामवापुः। तदेवोपपादयति — विधूतानि निरस्तानि कल्मषाणि भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धकानि पूर्वोत्तराघानि येषां ते विरजेन रजस्तमोरहितेन आत्मना स्वरूपेण स्थानं श्रीनारायणस्य पदमवापुरित्यनुषङ्गः ॥ ४७, ४८ ॥

विदुरोऽपि कञ्चित्कालं तीर्थान्यटित्वा पाण्डवादीनां गतिमाकर्ण्य आत्मवान् भगवति समाहितचित्तः प्रभासे देहं परित्यज्य कृष्णावेशेन कृष्णसमाधानेन तच्चित्तः कृष्णैकविषयकचित्तः पितृभिः पितृदेवताभिस्सह स्वक्षयं स्वस्थानं

**ययौ**। पुनर्यम एव भूत्वा स्वलोकं ययावित्यर्थः। 'कृष्णोपवेश' इति पाठे यदुकुलसंहाराय यत्र श्रीकृष्णः प्रविष्टः **तस्मिन् देशे प्रभासे इत्यर्थः**। पुनः अधःपतनाभावात् पाण्डवादीनां मुक्तत्वकथनं ते हि प्रारब्धकर्मावसाने विमोक्ष्यन्ते **एव अतो न विरोधः** ॥ ४९ ॥

**तदा द्रौपद्यपि पतीनामनपेक्षतामाज्ञाय ज्ञात्वा वासुदेवे भगवति एकान्ता विजातीयप्रत्यग्रान्तराव्यवहिता मतिर्यस्याः तथाभूता तं वासुदेवमवाप** ॥ ५० ॥

श्रीकृष्णादीनां प्रयाणश्रवणादिफलमाह — **य** इति। **इतीत्थम् अंतितरां स्वस्त्ययनं शृण्वतां** पठतां च **शुभावहं** पवित्रं च भगवतः प्रयाणं पाण्डोस्सुतानां सम्प्रयाणं च यः पुमान् **श्रद्धया शृणोति** सः हरौ **भगवति भक्तिं लब्ध्वा** सिद्धिं मुक्तिमुपैति ॥ ५१ ॥

इति **श्रीमद्भागवते** प्रथमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

---

1. W °ष्ठस्य पदा° 2 A,B omit उत्कटया 3 W omits गतिः 4 A,B °रैक्यं 5. W स्थान° 6 W °ष्ण एव समा° 7 W नितरां
8. A,B omit भगवति

**विज०** इत्थं नारायणचरणाम्बुजं हृदि संविधाय **तद्ध्यानेन** उद्रिक्तया भक्त्या विशुद्धमतयोऽहोभिः सप्तभिः भुवं प्रदक्षिणीकृत्य गन्धमादनगिरिविवरे बदर्याख्यं नारायणाश्रमं प्राप्य तस्मिन् परे मनोहरे नारायणपदे नारायणाश्रमे एकान्तमतयः एकान्तं नारायणं ध्यायन्तः ते पाण्डवा अपतन् शरीराणि तत्यजुरित्य**न्वयार्थः**, एकमनस्का वा ॥ ४७ ॥

शब्दादिविषयमनस्कैः असद्भिः अमङ्गलैः पुरुषैः दुरवाप गन्तुमशक्यं निरस्तजरामरणादिकल्मषस्थानं स्वस्वमूलरूपं विरजेन रजआदिगुणात्मकलिङ्गशरीराभिमानरहितेन आत्मना मनसा उपलक्षितास्ते प्राप्ता इत्येका**न्वयः**। एवकारस्तु देवदूतदर्शितमायया युधिष्ठिरदृष्टभीमादिरोदनापादकलोकं नापुरित्यस्मिन्नर्थे, न तु रजोमिश्रितात्मनेत्यत्र हिशब्दस्तु न तु दोषात् देहपातः न तु प्रारब्धकर्मनाशादित्यस्मिन्नर्थे श्रुतिप्रसिद्धिं द्योतयति। श्रुतिरपि सकलसुरोत्तमालिपुरस्सरगणैः आराधितचरणैः श्रीभगवत्पादैः सकलपुराणसारसङ्ग्रहगृहे श्रीमहाभारततात्पर्यनिर्णये उदाहृता, नास्माभिस्त्रोदाह्रियते ग्रन्थबाहुल्यभयादिति। "विदुरोऽपि परित्यज्य" इति प्रक्षेपश्लोकः ॥ ४८, ४९ ॥

अनपेक्षतां देहाद्यनभिमानतामेकान्तमतिः एकाग्रचेताः ॥ ५० ॥

श्रीकृष्णपाण्डवानां स्वधामप्रवेशश्रवणादिना किं प्रयोजनम्? येन अत्रावश्यं वक्तव्यं स्यादिति तत्राऽऽह — **य** इति। य एतद्भगवत्**स्वधामप्रयाणं** भक्तानां च पाण्डवानां च प्रयाणादिकं **च शृणोति**, सः हरौ भक्तिं **लब्ध्वा** शान्तिं मुक्तिं उपैतीत्य**न्वयः**। अलं त्रिकरणशुद्ध्या ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां प्रथमस्कन्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

---

1 A omits मनोहरे 2 K M °चित्ताः

रा० कृ० तद्ज्ञानोद्रिक्तया भक्त्या विशुद्धधिषणाः विनिर्मलबुद्धयः परे सर्वोत्कृष्टे तस्मिन् सर्वशास्त्र-समन्वयगोचरे नारायणपदे विष्णुचरणे एकान्तमतयो निश्चलमानसास्ते भ्रातरः विषयात्मभिः नश्वरविषयासक्तचित्तैश्च असद्भिः दुष्टैः दुरवापां विधूतकल्मषास्थानं विधूतकल्मषाणां निवासभूतां गतिं नारायणपदस्वरूपां विरजेन विशुद्धेन आत्मनैव अवापुर्हि प्रापन् खलु। एवमत्र समासतो निरूपितं युधिष्ठिरादिमहाप्रस्थानं महाभारतोक्तेन तन्महाप्रस्थानेन विपुलेन न विरुद्ध्यते परमार्थसाम्यात्। तथा हि महाभारते द्रौपदी भीमादयश्चत्वारोऽपि युधिष्ठिरमनुजग्मुः; किन्तु एकैकशः एकस्मिन् काले मध्येमार्गं भौतिकदेहं तत्यजुः। धर्मजस्तु यावदवसानमवशिष्टः। अन्ते च सर्वेऽप्येकत्रैव सम्मिलिताः। अत्रान्तरे भीमादीनां पापमनेकेषु लोकेषु प्रक्षालितमभूत्। धर्मजेन दृष्टाः द्रौपदीभीमादिभिः अनुभूयमानाः नानाविधनरकयातनाः ततजीवप्रकृतिपरिशुद्ध्यैकप्रयोजनाः। एते च विशेषाः सविस्तरं महाभारते समुपवर्णिताः। अत्र तु श्रीमद्भागवते समेषामेव तेषां शाश्वतविष्णुपदप्राप्तिमात्रं उक्तमिति सर्वमनवद्यम् ॥ ४७, ४८ ॥

आत्मवान् ज्ञानवान् विदुरोऽपि तीर्थाटनं कुर्वन् कृष्णावेशेन कृष्णस्यावेशेन स्वान्तःप्रवेशेन तच्चित्तः तन्मयचित्तः प्रभासे तन्नाम्नि तीर्थे देहं परित्यज्य पितृभिस्सह स्वक्षयं स्वाधिकारस्थानं ययौ ॥ ४९ ॥

तदा द्रौपदी च पतीनामनपेक्षतां स्वापेक्षाराहित्यम् आज्ञाय विदित्वा भगवति वासुदेवे एकान्तमतिः निश्चलबुद्धिस्सती तं वासुदेवमाप प्राप्तवती। महाप्रस्थानसमये मार्गमध्ये पतितां द्रौपदीमनादृत्य पाण्डवाः पुरो जग्मुरित्युक्तं महाभारते। अनादरकारणमत्र भागवते सूचितम्। तथाहि — देहत्यागाय नारायणैकान्तमतयः ते परस्परनिरपेक्षाः सञ्जाताः। अत एव पाण्डवानां न केवलं द्रौपदीपतने किन्तु परस्परपतनेऽपि अनादरः ॥ ५० ॥

अलमतिशयेन स्वस्त्ययनं शुभास्पदं पवित्रं पापहरं च इति एतदित्थं पूर्वोक्तं भगवत्प्रियाणां भगवतः श्रीकृष्णस्य प्रियाणाम्। भगवत्प्रयाणमिति पाठे तु भगवतः प्रयाणमित्यर्थः। पाण्डोस्सुतानां धर्मराजादीनां सम्प्रयाणं यः श्रद्धया शृणोति सोऽपि हरौ भक्तिं लब्ध्वा सिद्धिं पूर्वोक्तां पाण्डवानां गतिमुपैति प्राप्नोति ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीराघाकृष्णप्रणीताया सुधासुधायां व्याख्यायां
पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

# षोडशोऽध्यायः

## सूत उवाच

ततः परीक्षित् द्विजवर्यशिक्षया महीं महाभागवतः शशास ह[1]।
यथा हि सूत्यामभिजातकोविदाः समादिशन् विप्र! महद्गुणस्तथा[2] ॥ १ ॥

स उत्तमस्य तनयामुपयेम इरावतीम्।
जनमेजयादींश्चतुरस्तस्यामुत्पादयत् सुतान् ॥ २ ॥

आजहाराश्वमेधांस्त्रीन् गङ्गायां भूरिदक्षिणान्।
शारद्वतं गुरुं कृत्वा देवा यत्राक्षिगोचराः[4] ॥ ३ ॥

निजग्राहौजसा वीरः[5] कलिं दिग्विजये क्वचित्।
नृपलिङ्गधरं शूद्रं घ्नन्तं गोमिथुनं पदा ॥ ४ ॥

## शौनक उवाच

कस्य हेतोर्निजग्राह कलिं दिग्विजये नृपः।
नृदेवचिह्नधृक्[6] शूद्रकोऽसौ[7] गां यः पदाऽहनत् ॥ ५ ॥

तत्कथ्यतां महाभाग! यदि कृष्णकथाश्रयम्।
अथवाऽस्य पदाम्भोजमकरन्दलिहां सताम् ॥ ६ ॥

किमन्यैरसदालापैरायुषो यदसद्व्ययः।
क्षुद्रायुषां नृणामङ्ग! मर्त्यानामृतमिच्छताम्[8] ॥ ७ ॥

इहोपहूतो भगवान् मृत्युश्शामित्रकर्मणि।
न कश्चिच्चियते तावत् यावदास्त इहान्तकः ॥ ८ ॥

एतदर्थं हि भगवानाहूतः[10] परमर्षिभिः।
अहो नृलोके पीयेत हरिलीलामृतं वचः ॥ ९ ॥

---

1. W सः 2 H,V महा° 3 K,M °गुणांस्त° 4 N °क्ष° 5 K,M धीरः 6 H,V °रूप° 7. H,K,M,N,V,W शूद्रः कौऽसौ 8. H,K,M,V,W विष्णु° 9. K,M °नां मृति° 10. AF,GF °नुपहूतो महर्षिभिः

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ततश्च षोडशे भूमिधर्मयोः कलिखित्रयोः।
संवादे वर्ण्यते प्राप्तिः पालकस्य परीक्षितः॥

**तत** इति। द्विजवर्याणां शिक्षया सूत्यां जन्मनि अभिजातिकोविदा जातकर्मविदः हे विप्र! महतां गुणाः यस्मिन् सः॥ १॥

**स** इति। जनमेजयादीनित्यक्षराधिक्यं छान्दसम्। उत्पादयदिति अडागमाभाव आर्षः। उत्पादयन्निति पाठे हेतौ शतृप्रत्ययः। सुतानुत्पादयितुं इरावतीमुपयेम इति वाक्ययोजना॥ २॥

**आजहार** इति। आजहार कृतवानित्यर्थः। शारद्वतं कृपम्। यत्र येष्वश्वमेधेषु देवा दृष्टिगोचरा बभूवुः॥ ३॥

**निजग्राह** इति। निजग्राह निगृहीतवान् कलिमेव निर्दिशति नृपेति। नृपलिङ्गधरं राजवेषधारिणम्॥ ४॥

**कस्य** इति। कस्य हेतोरिति अयमर्थः। कलिं कस्माद्धेतोः केवलं निजग्राह, न तु हतवान्। यतोऽसौ शूद्रः कोऽतिकुत्सितः यो गां पदाऽहनत् अहन्निति॥ ५॥

**तत्** इति। तत् कलिनिग्रहरूपं कर्म। अस्य विष्णोः पदाम्भोजयोर्यो मकरन्दस्तं लिहन्ति आस्वादयन्ति ये तेषां सतां महतां वा कथाश्रयमिति समासान्निष्कृष्टस्यानुषङ्गः तर्हि कथ्यताम्॥ ६॥

**किम्** इति। नोचेत्किमन्यैरसद्विरालापैर्यद्वैरायुषो वृथाक्षयः। अस्माकमयं सत्रप्रयत्नोऽपि हरिकथामृतपानार्थ एवेत्याह सार्धाध्याम्। क्षुद्रमल्पमायुर्येषाम्, अतो मर्त्यानां मरणधर्मवताम्। तथापि ऋतं सत्यं मोक्षमिच्छताम्॥ ७॥

**इह** इति। यो मृत्युः स इह सत्रे, शमितुरिदं शामित्रं कर्म पशुहिंसनं तदर्थमुपहूतः ततः किमत आह न कश्चिदिति॥ ८॥

**एतद्** इति। ततोऽपि किम् अत आह। अहो नृलोके हरिलीलामृतं वचः पीयेतेत्येतदर्थम्। हरिलीलैवामृतं यस्मिंस्तम्॥ ९॥

---

1 H.V °दो 2 H जातकविदः 3 H.V महान्तो 4 B °दीनित्यर्थे एकाक्षराधिक्यं; H.V °दीनित्यत्राक्षरा° 5 B °ष्कृष्यानु° 6. H नचे° 7 B.H.V सार्धद्वाभ्याम् 8 B.H.V omit धर्म 9 H यस्मिन् तत्कथाप्रचुरमित्यर्थः; V यस्मिन् तं तत्कथाप्रचुरमित्यर्थः

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदेवं सम्प्रस्थानं पाण्डुपुत्राणां 'वक्ष्ये कृष्णकथोदय' मिति प्रतिज्ञातं पाण्डुपुत्रसंस्थानं परीक्षिज्जन्मोपेतमुपपाद्य [2]"परीक्षितोऽथ राजर्षेर्जन्मकर्मविलापनम्" (भाग. 1-7-12) इति प्रतिज्ञातं निर्वर्णयति। तत्र तज्जन्म पाण्डवपुत्रवृ-

**तान्ते** एवान्तर्भाव्याभिहितं विलापनं द्वादशे स्कन्धे वक्ष्यति। इतः परं **चतुरध्यायैः कर्माणि वर्ण्यन्ते** इति विवेकः। **तत** इति। ततः पितृनिर्गमनानन्तरं महान्तो गुणा यस्य स परीक्षित्। हे द्विज! जन्मसूत्यां जन्मदिने जातककोविदाः विप्राः यथा समादिशन् तथैव द्विजवर्यशिक्षया महाभागवतस्सन् महीं शशास पालयामास॥ १॥

स परीक्षिदुत्तरस्य मातुलस्य तनयामिरावतीमुपयेमे उदुवाह। [5]तस्यामिरावत्यां जनमेजयादींश्चतुरः **सुतानुदपादयत्।अडभाव** आर्षः, आगमशास्त्रस्यानित्यत्वाद्वा॥ २॥

शारद्वतं कृपं गुरुं कृत्वा वृत्वा गङ्गायां गङ्गातीरे त्रीनश्वमेधानाजहार, यत्र **येष्वश्वमेधेषु** देवा इन्द्रादयोऽक्षिगोचरा बभूवुः, तथाविधा नाजहारेत्यर्थः॥ ३॥

कदाचित् दिग्विजये निमित्ते चरन् वीरः परीक्षित् क्वचिद्देशे यदा पादेन गोमिथुनं स्त्रीपुंसयोर्गवोर्युग्मं घ्नन्तं [6] **शूद्रमपि** नृपचिह्नधरं कलिमोजसा पराभिभवसामर्थ्यात्मकेन निजग्राह निगृहीतवान्॥ ४॥

तत्र लब्धप्रश्नावसरः पृच्छति शौनकः — **कस्य हेतोरिति**। नृपः परीक्षिद्दिग्विजये कस्माद्धेतोः कलिं निजग्राहेत्येकः प्रश्नः। यो गां पदाऽहनत् तताड, असौ नृपचिह्नधारी शूद्रः कः? इत्यपरः। यद्यपि नृपलिङ्गधरं शूद्रं कलिमिति सामानाधिकरण्यनिर्देशेनैव कलिरेव नृपदेवचिह्नधृक् शूद्र इति ज्ञात एवेति **प्रश्नानुपपत्तिः** तथाऽपि क इत्यस्य किंगुणक इत्यभिप्रायः। अतः **प्रश्नोपपत्तिः**॥ ५॥

तत्कलिविनिग्रहादिकं केवलमस्माभिः पृष्टमित्येव न[10] वर्णय; [11]किन्तु हे महात्मन्! यदि विष्णुकथाश्रयं भगवत्कथोपेतम्। अथवा अस्य विष्णोः पदाम्बुजमकरन्दास्वादिनां साधूनां कथाश्रयं स्यात्तर्हि कथ्यताम्॥ ६॥

तत्र हेतुं वदन् **विष्णुतद्भक्तकथानाश्रयाणामश्रोतव्यत्वमवर्णनीयत्वञ्चाह — किमन्यैः** इति। अङ्ग! हे सूत! यत् येभ्य आयुषोऽसद्व्ययो निरर्थकः क्षयो भवति तैः क्षुद्रायुषामल्पायुषामृतं कर्मफलमिच्छतां मर्त्यानां मरणशीलानां नृणां सम्बन्धिभिरन्यैर्विष्णुतद्भक्तजन[12]कथानाश्रयैरतोऽत एवासद्विरालापैः किं वर्णितैः [13]वा न किञ्चित्प्रयोजनं, किन्तु केवलमायुर्व्यय एवेति भावः। यद्वा, ऋतं सत्यं परं ब्रह्म इच्छतां तत्प्राप्तिं कामयमानानां मरणशीलानामल्पायुषां नृणामस्माकमन्यै रसदालापैः किम्? न किञ्चित्प्रयोजनमस्ति, यतो येभ्यः केवल मायुषोऽसद्व्ययो भवतीत्यन्वयः॥ ७॥

ननु क्षुद्रायुषां मर्त्यानामस्माकं यावत् त्वत्प्रश्न[14]वर्णनश्रवणं जीवनम[15]प्यवसातुं शक्यमित्यत्राह — **इहेति**। इह नैमिषक्षेत्रे शामित्रकर्मणि सत्रकर्मणि। शमितृशब्दः पशुसंज्ञपयितृवाची "शमयिता च भगवानस्तु" इति श्रुतेः। सचेह पापापनोदकभगवद्गुणानुभवितृपरः। तत्सम्बन्धे कर्मणि सत्रकर्मणि भगवद्गुणवर्णनश्रवणात्मकब्रह्मसत्र इत्यर्थः। भगवान् मृत्यु राहूतः। स चान्तको यावदिहास्ति तावदत्र न **कश्चिन्म्रियते** न मरणमेति॥ ८॥

किमर्थमाहूत इत्यत्राह — एतदर्थमत्रावस्थितानामस्माकम् अमरणार्थमेव हि **परमर्षिभिर्भगवान्** मृत्युराहूत इत्यर्थः। [17]मृत्युरपि स्वव्यापारं विहाय भगवद्गुणश्रवणायेह न किञ्चिदपि हन्यादित्यभिप्रायेणाऽहूत इति भावः। **"तत्कथ्यतां महाभाग!"** इत्यादि श्लोकद्वयेन तद्भक्तकथाश्रवणस्यैव वर्णनीयत्वं **श्रोतव्यत्वञ्चोक्तं**, तदेव सहेतुकमुपपादय-

ति अहो इति सार्धेन। नृलोके हरेर्लीला यस्मिन् प्रतिपाद्याः तद्धरिलीलं तदमृततुल्यं वचः पीयते पाँवकं श्रोतव्यमिति यावत्। ये पिबन्ति तानभिनन्दति अहो इति। तेषां भाग्यमेतावदिति वक्तुमशक्यमिति भावः ॥ ९ ॥

---

1. W °वं संस्थानं 2. W adds अथ परीक्षितः कर्माणि 3 W °ज्ञातानि वर्णयति 4 W °ध्याय्या 5 W adds ततः 6 W adds ताडयन्तम् 7 W °धरः 8 W नृदेव° 9 W धृतकलिनिग्र° 10 A omits न 11 A किं 12. A °जनाकथाश्रय°; W °जन्मकथानाम्र° 13 W adds श्रुतैः 14 W °त्पृष्ट° 15 W °मध्यवस्थातुं न शक्य° 16 A भगवद्गुणात्मक° 17 A मृत्यवर्थः; W omits मृत्यर्थः 18 W पातव्यं

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अत्र भगवति भक्तिविधानार्थं भगवद्भक्तपरीक्षितः कलिबन्धनादिमाहात्म्यवर्णनेन हरिमहिमैव प्रतिपाद्यत इति तन्महिमा प्रतिपाद्यतेऽस्मिन्नध्याये। तत्र प्रथमे राज्यपालनादिमहिमोच्यते इत्याह — **तत** इति। ततः पाण्डवस्वर्याणानन्तरं द्विजवर्यशिक्षया कृपादिब्राह्मणश्रेष्ठसदुपदेशेन। शिक्षा विद्योपादानम्। अभिजातकोविदाः जातकज्ञानपटवः सूत्यामुत्पत्तौ यथा महदुणानुपादिशंस्तथा तदनुसारेण महीं शशासेत्यन्वयः ॥ १ ॥

उत्तरस्य विराटपुत्रस्य पुत्रीं नाम्ना इरावतीं उपयेमे। उपयमनं विवाहः। उत्पादयत्, उदपादयत्, अजनयत्। चतुर इति पाठः ॥ २ ॥

शारद्वतं कृपं यत्र येषु अश्वमेधेषु, देवा इन्द्रादयोऽक्षिगोचराः प्रत्यक्षास्तादृशानिति शेषः ॥ ३ ॥

सः धीरः दिशां जये ओजसा स्वाभाविकशक्त्या कलिं निगृहीतवानित्यन्वयः। नृपाणां लिङ्गं लक्षणं धारयतीति नृपलिङ्गधरः, तं कर्मणा शूद्रं, तदेवाह — पदेति। पदा गोमिथुनं घ्नन्तं ताडयन्तं क्वचिदेकान्त-प्रदेशे ॥ ४ ॥

नृपलिङ्गधृग्यः शूद्रः पदा गामहनत् तं कलिं दिग्विजये निजग्राह, असौ कः, कष्टकर्मा इत्याक्षेपो न प्रश्नः कलिमित्युक्त्या ज्ञातत्वेन सिद्धप्रश्नत्वापातात् ॥ ५ ॥

विष्णुकथा आश्रयो यस्य तत्, एतादृशं कलिबन्धनञ्चेत्तर्हि कथ्यताम्। अथ पक्षान्तरे वा। यदि अस्य हरेः मकरं मदकरं भावं ददतीति मकरन्दः। तं लिहन्ति आस्वादयन्ति तेषां कथाऽश्रयं, तर्हि कथ्यताम् इत्यन्वयः ॥ ६ ॥

किमिति विष्णुवैष्णवकथाकथनमिति तत्राह — **किमन्यैः** इति। असदालापैः अमङ्गलप्रसङ्गैः किं प्रयोजनम्? न किमपि। कुतः? आयुषोऽसद्व्यये व्यर्थक्षय इति, यत् यस्मात् अत इत्यर्थः। यत् यैः असदालापैः आयुषोऽसमीचीनो व्यय इति वा। इतोऽपीतरप्रसङ्गो नापेक्षित इति ब्रूत इत्याह — क्षुद्रायुषां अल्पायुषां मर्त्यानां मरणधर्माणाम्, अतएव मृतिमिच्छतां नृणां मारकः मृत्युः भगवान् नरसिंहः शामित्रकर्मणि, पशुसंज्ञपनकर्मकर्ता शमिता तस्य कर्म शामित्रम्। तादर्थ्ये सप्तमी शामित्रकर्मार्थमृषिभिर्नैमिषारण्यवासिभिरिहोपहूतः आहूय प्रसाद्य स्थापितः। अन्तं करोतीत्यन्तकः स भगवान् यावदिहाऽऽस्ते न तावत् कश्चिन्म्रियत इत्यन्वयः ॥ ७, ८ ॥

अनेन प्रकृते किमायातमिति तत्राह — **एतदर्थम्** इति। अतः सम्प्रति नृलोके मृत्युभयविधुरतया स्थितैर्मर्त्यैः, लीलामृतं वचः पीयेत, एतदर्थं हि परमऋषिभिरिहाहूतः। अहो आश्चर्यम्। मरणधर्मिणामपि हरिलीलामृतत्वपदं हि यस्मात्तस्मात् विष्णुवैष्णवकथाश्रयं चेत्, तत् कथ्यतामिति भाव.॥ ९॥

1. K,M °मं

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

हे विप्र! सूत्यां जन्मदिनेऽभिजातकोविदाः **जातककर्माभिज्ञाः**, यथा हि समादिशन्, तथा महागुणः महाभागवतः भगवद्भक्तेषु श्रेष्ठः परीक्षित्, ततः पितृनिर्गमनानन्तरं द्विजवर्यशिक्षया भक्तब्राह्मणश्रेष्ठानां शिक्षया महीं शशास पालयामास॥ १॥

सः परीक्षित् उत्तरस्य तनयामिरावतीं उपयेमे परिणीतवान्। तस्यामिरावत्यां जनमेजयादीन् चतुरस्सुतान् उत्पादयत्, उदपादयत् अजनयदिति भावः॥ २॥

किञ्च सः परीक्षित् शारद्वतं कृपं गुरुं कृत्वा गङ्गायां गङ्गातीरे यत्र **येष्वश्वमेधेषु** देवा इन्द्रादयः अक्षिगोचराः प्रत्यक्षाः बभूवुरिति शेषः। साक्षात्कृतदेवानित्यर्थः। तान् भूरिदक्षिणान् त्रीनश्वमेधान् आजहार चकार॥ ३॥

वीरः परीक्षित् दिग्विजये निमित्ते सतीति शेषः। क्वचित्कुत्रचिद्देशे पदा पादेन गोमिथुनं घ्नन्तं ताडयन्तं नृपलिङ्गधरं राजलक्षणधरं शूद्रं कलिमोजसा सामर्थ्येन निजग्राह निगृहीतवान्।

अत्र शूद्रपदस्य शूद्रधर्मवानित्यर्थः। शूद्रधर्मश्च स्वस्य स्वकीयानाञ्चोदरपोषणमेव परमार्थं भावयता जनेन विधीयमानो नानाकर्मनिर्वहणात्मकः। स हि जनो लोकसेवया जीवनोपाधिरयलसिद्ध इत्यविज्ञाय लोकसेवां जीवनोपाधये करोति, **तादृशजनाधिकारस्य** कलहकारणत्वात् **कलिस्तमाविष्टो** वर्तते॥ ४॥

यो गां पदाऽहनत् अताडयत् सोऽसौ नृदेवचिह्नधृक् राजलक्षणधारी शूद्रकः कुत्सार्थे कप्रत्ययः। अतिकुत्सितः शूद्रः। तस्मात्तादृशं कलिं नृपः परीक्षित् दिग्विजये कस्य हेतोः कस्मात्कारणात् निजग्राह, केवलं निगृहीतवान्, न तु हतवान्?॥ ५॥

हे महाभाग! सूत! तत्कलिनिग्रहादिकं यदि कृष्णकथाश्रयं भगवत्कथाविषयकं भवति। अथवा अस्य कृष्णस्य पदाम्भोजमकरन्दलिहां पदपद्ममकरन्दास्वादिनां सतां सज्जनानां कथाश्रयं यदि भवति, तर्हि कथ्यताम्॥ ६॥

अङ्ग सूत! **ऋतं** सत्यं परं ब्रह्म इच्छतां क्षुद्रायुषां अल्पायुषां मर्त्यानां मरणशीलानां नृणां अस्माकमिति शेषः। यत् येभ्यः आयुषः असद्व्ययः निरर्थकः क्षयः भवतीति शेषः। तैरन्यैरसदालापैः श्रीकृष्णतद्भक्तकथाश्रयव्यतिरिक्तैः दुरालापैः वर्णितैराकर्णितैर्वा किम्? किं प्रयोजनमित्यर्थः॥ ७॥

इह अस्मिन् नैमिशक्षेत्रे शामित्रकर्मणि सत्रयागकर्मणि भगवान् मृत्युरुपहूतः, आकारितोऽस्तीति शेषः। स च अन्तकः यमः यावदिहास्ते तावदत्र न कश्चिन्म्रियते मृतो न भवति॥ ८॥

अहो नृलोके मानुषलोके हरिलीलामृतं श्रीकृष्णलीलाप्रतिपादकं अमृतमयं वचः पीयेत कर्णपुटाभ्यां आस्वाद्येत इत्येतदर्थं हि भगवान्मृत्युः महर्षिभिराहूतः इहाऽऽकारितः। अत्र सत्रकर्मवाचकं शामित्रकर्मपदं पशुहिंसनार्थकं व्याचख्युः श्रीधराद्याः प्राज्ञः। तथाहि — सर्वान्तर्यामिविष्णुमययज्ञकर्माचरणवशात् सर्वत्र देवभावानुभवसिद्ध्या जीवभावरूपपशुविनाशः। तेन शामित्रकर्मणः पशुहिंसनार्थकत्वं युक्तमेव।

ननु सत्रकर्मणि सर्वहरस्य मृत्योराह्वानं कथं सङ्गच्छते? उच्यते — "मृत्युस्सर्वहरश्चाऽहम्" (भ. गी. 10-34) इति गीतावचनेन सर्वव्यापकस्य भगवतो मृत्युरूपत्वाविरहात् मृतेरपि हरिलीलान्तर्भावेन, तदभावे लीलायास्सामग्र्यसिद्धेः। युज्यतेऽत्र मृत्योराह्वानम्। अत एवोक्तं, 'भगवान् मृत्यु' रिति।

नन्वेवञ्चेत् अन्तकस्य सद्भावे मृतेरनिवार्यत्वात् "न कश्चिन्म्रियते तावत् यावदास्त इहान्तकः" इत्युक्तिः कथं नाम सङ्गच्छते? श्रूयताम् — अन्तको यद्यपि देहमात्रात्मजीवितवतो जनान् देहेन सह संहरति, तेषां जीवितस्य प्रतिजन्मभिन्नत्वात्, किन्तु ये तावत्सर्वान्तर्यामिनारायणप्रज्ञामयजीविनस्तेहि प्रकृत्यनियतस्थितयः नानाविधदेहत्यागस्वीकारसद्भावेऽपि स्वात्मस्मृतिशालिनस्सन्तो विराजन्ते त एव चिरञ्जीविनो यज्ञमयजीविताः महानुभावाः सहस्रसमसत्रयज्ञमारभन्ते। तस्मादीदृशानामन्तको देहान्तरापादको नतु मृतिप्रापकः इति सर्वमनवद्यम्॥ ९॥

**मन्दस्य मन्दप्रज्ञस्य वयोमन्दायुषश्च वै।**
**निद्रया ह्रियते नक्तं दिवा च व्यर्थकर्मभिः॥ १०॥**

**सूत उवाच**

**यदा परीक्षित् कुरुजाङ्गलेऽशृणोत् कलिं प्रविष्टं निजचक्रवर्तिते।**
**निशम्य वार्तामनतिप्रियां ततः शरासनं संयुगशौण्डिराददे॥ ११॥**

**स्वलङ्कृतं श्यामतुरङ्गयोजितं रथं मृगेन्द्रध्वजमाश्रितः पुरात्।**
**वृतो रथाश्वद्विपपत्तियुक्तया स्वसेनया दिग्विजयाय निर्गतः॥ १२॥**

**भद्राश्वं केतुमालञ्च भारतञ्चोत्तरान् कुरून्।**
**किम्पुरुषादीनि वर्षाणि विजित्य जगृहे बलिम्॥ १३॥**

**तत्र तत्रोपशृण्वानः स्वपूर्वेषां महात्मनाम्।**
**प्रगीयमाणं च यशः कृष्णमाहात्म्यसूचकम्॥ १४॥**

**आत्मानं च परित्रातमश्वत्थाग्नेरुरुतेजसः।**
**स्नेहञ्च वृष्णिपार्थानां तेषां भक्तिञ्च केशवे॥ १५॥**

तेभ्यः परमसन्तुष्टः प्रीत्युज्जृम्भितलोचनः ।
महाधनानि वासांसि ददौ हारान् महामनाः ॥ १६ ॥

सारथ्यपारषदसेवनसख्यदौत्यवीरासनानुगमनस्तवनप्रणामान् ।
स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत्प्रणतिञ्च विष्णोर्भक्तिं करोति नृपतिश्चरणारविन्दे ॥ १७ ॥

1. K,M प्रायो 2 H V यत् 3 K M चाप्यर्थ° 4 I °ऽवसत्; H.K.M N.V W °वसन् 5 H.V.W °शौण्ड आ°. K M °रोविरा° 6 H.V °धे 7 H.K.M.V.W °स्थि° 8 K.M W सर्वाणि 9 A F G F गीयमानं च पुरतः 10 K.M पुरतः 11 H V W °नम् 12 H.V.W °सा 13 H.V °त्यो° 14 K.M °पार्षद°. H.V.W °पारिषद° 15 H V °नानि शृण्वन्; K M °न प्रणामैः; N °न प्रणामम् 16 K.M ° त्प्रणतस्य, H.V ° त्प्रणतिं स्म

**श्रीध०** तदभावे वृथैव जीवनमित्याह — **मन्दस्य** इति। मन्दस्यालसस्य नक्तं रात्रौ यद्वय आयुः तन्निद्रया ह्रियते। दिवा अह्नि च यद्वयः तत् व्यर्थकर्मभिरपह्रियते ॥ १० ॥

तत्र तावत्कलिनिग्रहप्रसङ्गमाह — **यदा** इति। यदा निजचक्रवर्तिते स्वसेनया पालिते देशे कलिं प्रविष्टं शुश्राव तदा तामनतिप्रियां वार्तां किञ्चित्प्रियाञ्च युद्धकौतुकसम्पत्तेर्निशम्य ततः शरासनं दुष्टनिग्रहार्थमाददे। संयुगे शौण्डिर्युद्धे प्रगल्भः। संयुगशौरिरिति पाठे युद्धे शौरिः कृष्णतुल्यः ॥ ११ ॥

**स्वलङ्कृतम्** इति। ततश्च दिग्विजयाय निर्गतः ॥ १२ ॥

**भद्रेति**। भद्राश्वादीनि पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरतः समुद्रलग्नानि वर्षाणि मेरोः सर्वतः इलावृतम्। तत उत्तरतो रम्यकं हिरण्मयञ्च। दक्षिणतो हरिवर्षं, किम्पुरुषञ्च। तानि विजित्य। किम्पुरुषेत्यत्र वर्णाधिक्यमार्षम्। बलिं पुष्कलधनप्रदानपूर्विकां सपर्याम् ॥ १३ ॥

**तत्र** इति। प्रगीयमाणं यशः, यशआदीनि शृण्वस्तेभ्यो ददाविति तृतीयेनान्वयः ॥ १४, १५, १६ ॥

**सारथ्येति**। किञ्च, स्निग्धेषु पाण्डवेषु विष्णोर्यानि सारथ्यादीनि कर्माणि शृण्वन् तथा विष्णोः जगत्कर्तृकां प्रणतिञ्च शृण्वन्, नृपतिः परीक्षित् विष्णोः चरणारविन्दे भक्तिं करोति स्म। सारथ्यादीनि विवेचयति। सारथ्यं नियन्तृत्वम्। पारषदमिति रेफषकारयोर्विश्लेषश्छान्दसः। तत्र पार्षदं सभापतित्वम्। सेवनं चित्तानुवृत्तिः। वीरासनं रात्रौ खड्गहस्तस्य तिष्ठतो जागरणम्। सेवनं पाण्डवचोदितकार्यकरणम्। स्तवनं वन्दिमागधादिवत् तेषां वैभवप्रख्यापनम् ॥ १७ ॥

1. H,V add तस्य 2. H तदा तत्कलि° 3. B परिपालिते 4. H,V कलिमिति युद्धे कौ° 5. H,V °धे 6. H,V °ण्डः यु° 7 A पाठान्तरे 8. H,V तदा 9. A,B omit सारथ्या ..... यन्तृत्वम्। 10. H,V omit पारषद ..... शश्छन्दसः। 11 H,V पारिषदं 12. A,B omit सेवनं ..... ख्यापनम्।

**वीर०** कुतः? यत् यस्मात् मन्दस्य मन्दचेष्टस्य मन्दा प्रज्ञा बुद्धिर्यस्य, मन्दमल्पमायुर्यस्य तस्य हरिलीलामृतं वचोऽशृण्वतः, वयः कौमारादि। केवलं नक्तं रात्रौ निद्रया ह्रियते हृस्यते। दिवाऽहनि तु व्यर्थैः पुरुषार्थशून्यैः कर्मभिः सांसारिककर्मभिः ह्रियते। हरिलीलामृतं वचः पिबतस्तु वयः सफलमिति भावः॥ १०॥

इत्यमापृष्टः सहेतुकं कलिनिग्रहादिकं वर्णयति सूतः — यदा इत्यादिना यावत्सप्तदशाध्यायसमाप्ति। यदा परीक्षित् विजयार्थं गतः कुरुजाङ्गलेषु च जनपदेषु वसन् निजचक्रेण स्वाज्ञाचक्रेण वर्तितेऽनुशिष्टे देशे स्वसेनाधिष्ठिते देशे वा प्रविष्टं कलिं तत्प्रवेशरूपामत्यन्तमप्रियां वार्तां निशम्याकर्ण्य ततः संयुगे युद्धे शौण्डिः प्रवीणो राजा शरासनं धनुरददे जग्राह। निजचक्रवर्तिते कुरुजाङ्गले वसन्निति वान्वयः॥ ११॥

ततः सुष्ठुलङ्कृतं श्यामैस्तुरङ्गैः संयोजितं, मृगेन्द्रः सिंहाङ्कितो ध्वजो यस्मिंस्तं रथमास्थितोऽधिष्ठितः रथादिचतुरङ्गयुक्तया सेनया परिवृतो दिग्विजयाय निर्गतः। कुरुजाङ्गलादिष्विति शेषः॥ १२॥

भद्राश्वादिवर्षाणि निर्जित्य बलिं करं जगृहे॥ १३॥

तत्र तत्र देशेषु स्वपूर्वेषां युधिष्ठिरादीनां महात्मनां कृष्णस्य भगवतो माहात्म्यस्य सूचकं प्रगीयमाणं यशः॥ १४॥

अश्वत्थाम्नो ब्रह्मास्त्रतेजसा परित्रातमात्मानं च वृष्णीनां पार्थानाञ्च केशवे कृष्णे स्नेहमनुरागञ्च तथा तेषां तस्मिन् भक्तिञ्चोपशृण्वानः॥ १५॥

नितरां हृष्टः प्रीत्या उज्जृम्भिते लोचने यस्य सः महामना उदारबुद्धिर्वदान्यो राजा तेभ्यः श्रावयितृभ्यः महाधनानि बहुमूल्यद्रव्याणि वासांसि, हारान् मुक्ताहारांश्च ददौ॥ १६॥

स्निग्धेष्वनुरक्तेषु पाण्डुषु युधिष्ठिरादिषु विष्णोः श्रीकृष्णस्य सारथ्यादिकं जगत्कृतं प्रणामञ्च स्मृत्वेति शेषः, नृपतिः परीक्षित् विष्णोः चरणारविन्दे भक्तिं करोति स्म चकारेत्यर्थः। तत्र सारथ्यं प्रसिद्धम्। पारषदं सभ्यत्वं, सेवनं भृत्यकर्म, दौत्यं दूतकर्म, वीरासनानुगमनं नृपासनाधिष्ठितं प्रत्यनुवर्तनम्, स्तवनं स्तुतिकर्म, प्रणामो नमस्कारः विष्णुकर्तृकान्यविषयानेतान् स्मृत्वेत्यर्थः॥ १७॥

---

1. A कुरूणां जाङ्गलेषु च जनपदे 2. W 'ण्डः 3 A तथा चतु' 4 B.W 'रि' 5. W 'कर्तृकान् पाण्डुविषया'

**विज०** यथा मर्त्यस्य असत्यसङ्गादायुषो वैयर्थ्यं तथा निद्रार्थादिपरस्यापीत्याह — मन्दस्य इति। अल्पस्यापि प्रज्ञाबाहुल्यादनेकवेदशास्त्रतदर्थग्रहणं स्यादित्यतो मन्दप्रज्ञस्य इति। मन्दप्रज्ञस्य कल्पायुषस्ततस्यादित्यतो मन्दायुष इति। अल्पायुषोऽपि भाग्यवशात्तस्यात् इत्यतो मन्दस्येति। मन्दस्य निर्भाग्यस्य एवंविधस्य मर्त्यस्य नक्तं रात्रिः निद्रया ह्रियते। हिरण्याद्यर्थान्वेषणकर्मभिर्दिवा दिनमपि ह्रियते। चशब्दो हेत्वर्थे। तस्मान्निद्रादिजयेन हरितत्परायणकथाऽत्र त्वया कथ्यतामिति भावः। वै इत्यनेन अनुभवसिद्धमेतदिति दर्शयति सत्रदिदृक्षया अत्रागतैर्मर्त्यैश्चाकर्ण्यताम्। मृत्यावत्रसद्धिर्वेत्यस्मिन्नर्थे आद्यश्चशब्दः॥ १०॥

कुरुजाङ्गले कुरुविषये हस्तिनापुरे वसन् परीक्षित् यदा निजचक्रवर्तिते निजचक्रेण स्वानुज्ञया निजानां पाण्डवानां आज्ञया वर्तिते राष्ट्रे प्रविष्टं कलिं शुश्रावेति शेषः। ततस्तदा संयुगरोचिर्युद्धेच्छुः राष्ट्रविप्लवरूपामनतिप्रियां वार्तां निशम्य शरासनमाददे इत्यन्वयः। संयुगं रोचयतीति धनुर्विशेषणं वा॥ ११॥

श्यामैर्नवसु वीथीषु विशिष्टगतिभिः नीलवर्णैर्वा तुरङ्गैर्योजितं, मृगेन्द्रो ध्वजे यस्य स तथा तं सिंहलाञ्छनध्वजं, रथाश्च अश्वाश्च द्विपाश्च पत्तयश्च रथाश्वद्विपपत्तयः तैर्युक्तया पुरान्निर्गतोऽभूदित्यन्वयः॥ १२॥

स परीक्षित् भद्राश्वादिवर्षाणि उत्तरकुर्वादिजनपदांश्च विजित्य बलिं करं जगृहे इत्यन्वयः॥ १३॥

स महामनास्तत्र तत्र वर्षेषु विषयेषु च स्वपुरतो गायकैरुपगीयमानं कृष्णमाहात्म्यसूचकं महात्मनां स्वपूर्वेषां पाण्डवानां माहात्म्यमुपशृण्वानः उपशृण्वन्॥ १४॥

कथं माहात्म्यं सूच्यत इति तत्किञ्चिदाह— **आत्मानम्** इति। अश्वत्थाम्नोऽस्त्रतेजसः कृष्णेन परिरक्षितमात्मानञ्च वृष्णीनां पाण्डवानां मिथः स्नेहञ्च उभयेषां कृष्णे भक्तिञ्च शृण्वन्॥ १५॥

तेभ्यो गायकेभ्यः परमसन्तुष्टोऽतएव प्रीत्या उज्जृम्भिते विकसिते लोचने यस्य स तथोक्तो महाधनानि अनर्घ्याणि वस्त्राणि हारान् मौक्तिकमालास्तेभ्यो ददावित्यन्वयः॥ १६॥

नृपतिः परीक्षित् कृष्णे स्निग्धेषु पाण्डुपुत्रेषु मुक्तामुक्तप्रपञ्चप्रणतस्य विष्णोः सारथ्यादिना अहो! हरिश्चरणनतजनतासु करुणार्णवो नन्विति तस्य चरणारविन्दे विशेषतो भक्तिं करोतीत्येकान्वयः। सारथेः कर्म सारथ्यं, पार्षदं सभापतिकर्म। द्वाःस्थत्वं वा, परिषदां कर्मेति वा। सेवनमुक्तकर्मकरणम्। सख्युः कर्म सख्यम्। दूतस्य कर्म सन्देशहरत्वं दौत्यम्। वीरासनं रात्रौ खड्गपाणिः स्थित्वा स्वामिरक्षार्थं जागरणम्। वीरोचितासनम्। गच्छतः पृष्ठतो गमनमनुगमनम्। स्तवनं स्तुतिः। प्रणामो नमस्कारः प्रह्वत्वं वा। वीरासनानुगमनं सिंहासनोपसर्जनतया उपवेशनं वा॥ १७॥

---

1. K मृत्या च त्रसद्भि° 2 K.M. पदानि च 3 B.K.M °क°

**रा० कृ०** मन्दस्य मन्दभाग्यस्य, मन्दप्रज्ञस्य मन्दबुद्धेः मन्दायुषः अल्पायुषः, जनस्येति शेषः। नक्तं निद्रया ह्रियते। व्यर्थं नीयते। एवं व्यर्थकर्मभिः दिवा दिनसमयश्च ह्रियते।

अत्र रजस्तमोभिभूताः देहात्मप्रज्ञाजीविनो मन्दप्रज्ञा इत्युक्ताः। केवलदेहार्थकार्यनिर्वहणव्यग्रतया तेषां जीविनां वयो मन्दमसत्प्रायं भवति। ततश्च तज्जीवनं व्यर्थमेव। एतेन हरिलीलामृतपायिनो हरिमयजीवनस्य तु वयस्सफलमिति सिध्यति॥ १०॥

परीक्षित् निजचक्रवर्तिते निजसैन्यरक्षिते कुरुजाङ्गले कुरुजाङ्गलविषये कलिं प्रविष्टं यदाऽशृणोत् श्रुतवान् ततस्तदा अनतिप्रियां तां वार्तां निशम्य श्रुत्वा संयुगशौण्डः युद्धे प्रगल्भः सः परीक्षिदिति शेषः। शरासनं धनुराददे स्वीचकार ॥ ११ ॥

ततः स परीक्षित् स्वलङ्कृतं सम्यगलङ्कृतं श्यामतुरङ्गयोजितं मृगेन्द्रध्वजं सिंहध्वजं रथमाश्रितोऽधिष्ठितः रथाश्वद्विपपत्तियुक्तया चतुरङ्गसहितया स्वसेनया वृतः दिग्विजयाय पुरात् हस्तिनापुरात् निर्गतः निरगच्छत्॥ १२ ॥

निर्गत्य स राजा भद्राश्वं केतुमालं, उत्तरान् कुरून्, एतन्नामकवर्षाणि किम्पुरुषादीनि वर्षाणि च विजित्य बलिं करं तद्वर्षपालकेभ्यः इति शेषः। जगृहे गृहीतवान्।

परितः उत्तरधुवं भुवः प्रदेशान् नव द्वीपानिति हिमालयस्योत्तरा किञ्चन केन्द्रमादाय तत्परितो वर्तिनः प्रदेशान् अष्टवर्षाणीति प्राचीनाः विभक्तवन्तः। एतानि वर्षाणि च इलावृतरम्यकहिरण्मयहरिवर्षकिम्पुरुषभद्राश्वकेतुमालभारताख्यानि। साम्प्रतिको भारतदेशो भारतवर्षान्तर्गतः ॥ १३ ॥

तत्र तत्र विषयेषु प्रगीयमानं स्वपूर्वेषां धर्मराजादीनां महात्मनामन्येषाञ्च भागवतानां कृष्णमाहात्म्यसूचकं यशः कीर्तिमश्वत्थाम्नः अस्त्रतेजसः ब्रह्मास्त्रतेजससकाशात् आत्मानं परित्रातं कृष्णेन परिरक्षितञ्च, वृष्णिपार्थानां यादवपाण्डवानां परस्परं स्नेहञ्च तथा तेषां यादवपाण्डवानां केशवे कृष्णे भक्तिं च उपशृण्वानः शृण्वन् परमसन्तुष्टः प्रीत्युज्जृम्भितलोचनः आनन्दप्रफुल्लनयनः महामना उदारमानसः परीक्षित् तेभ्यः गायकेभ्यः महाधनानि अधिकधनानि वासांसि हारान् मुक्तादिहारांश्च ददौ दत्तवान्॥ १४, १५, १६ ॥

स्निग्धेषु पाण्डुषु धर्मराजादिषु विष्णोः श्रीकृष्णस्य सारथ्यपारषदसेवनसख्यदौत्यवीरासनानुगमनस्तवनप्रणामान् जगत्प्रणतिं श्रीकृष्णे जगत्कर्तृकां प्रणतिं च शृण्वन् नृपतिः परीक्षित् विष्णोश्चरणारविन्दे भक्तिं करोति स्म ॥ १७ ॥

**तस्यैवं वर्तमानस्य पूर्वेषां वृत्तिमन्वहम्[2]।**
**नातिदूरे किलाश्चर्यं यदासीत्तन्निबोध मे ॥ १८ ॥**

**धर्मः पदैकेन चरन् विच्छायामुपलभ्य गाम्।**
**पृच्छति स्माश्रुवदनां विवत्सामिव मातरम् ॥ १९ ॥**

**धर्म उवाच**

**कच्चिद्भद्रेऽनामयमात्मनस्ते[3] विच्छायासि म्लायतेषन्मुखेन[4]।**
**आलक्षये भवतीमन्तराधिं दूरे बन्धुं शोचसि कञ्चनाऽम्ब! ॥ २० ॥**

**पादैर्न्यूनं[5] शोचसि मैकपादमात्मानं[6] वा वृषलैर्भोक्ष्यमाणम्।**
**आहो[7] सुरादीन् हृतयज्ञभागान् प्रजा उतस्विन्मघवत्यवर्षति ॥ २१ ॥**

अरक्ष्यमाणाः स्त्रिय उर्वि बालान् शोचस्यथो[1] पुरुषादैरिवार्तान्।
वाचं देवीं ब्रह्मलोके कुकर्मण्यब्राह्मण्ये राजकुले कुलाग्र्यान्॥ २२॥

किं क्षत्रबन्धून् कलिनोपसृष्टान् राष्ट्राणि वा तैरवरोपितानि।
इतस्ततो वाऽशनपानवासः[10] स्नानव्यवायोन्मुखजीवलोकम्[11]॥ २३॥

यद्वाऽम्ब[12]! ते भूरिभरावतारकृतावतारस्य हरेर्धरित्रि!
अन्तर्हितस्य स्मरती विसृष्टा कर्माणि निर्वाणविलम्बितानि॥ २४॥

इदं ममाऽऽचक्ष्व तवाधिमूलं वसुन्धरे! येन विकर्शितासि।
कालेन वा ते बलिनां[13] बलीयसा सुरार्चितं किं हृतमम्ब[14]! सौभगम्॥ २५॥

---

1. H.V तस्यानु° 2 K.M °त्त° 3 H.V °य आत्म° 4 H K.M.V.W °ता यन्मु° 5 H पादन्यूनं 6 AF GF °युतात्मानं वृष°, B.H.K.M.V.W °मुतात्मानं वृष° 7 K.M अथो; N अहो 8 H.V °हो 9 H.V वा शयनासनात्रपानव्यवा° 10 AF GF वाससोत व्यवा° 11 K.M °त्सुख° 12 K.M °थ 13 K.M बलिनाऽवलोढं 14 K.M प्रभुणाद्य

**श्रीध०** **तस्य** इति। पूर्वेषां वृत्तिमनुवर्तमानस्य सतः। नातिदूरे शीघ्रमेव॥ १८॥

**धर्म** इति। धर्मो वृषरूपः। विच्छायां हतप्रभाम्। गां गोरूपां पृथ्वीम्। विवत्सां नष्टापत्याम्॥ १९॥

**कच्चित्** इति। ते आत्मनो देहस्य यद्यपि बहिरामयो न लक्ष्यते, तथाप्यन्तर्मध्ये आधिः पीडा यस्यास्तां त्वामालक्षये। केन यतो विच्छायाऽसि। अत ईषत् म्लायता वैवर्ण्यं भजता मुखेन लिङ्गेन तत्र कारणानि कल्पयन् पृच्छति दूरे बन्धुमित्यादि पञ्चभिः। दूरे स्थितं बन्धुं देशान्तरवर्तिनं वत्सम्॥ २०॥

**पादैः** इति। त्रिभिः पादैः न्यूनं[3] अतएवैकपादं मा मां मल्लक्षणं जनमित्यर्थः। वृषलैः धर्मशून्यैः कुत्सितराजन्यैरित ऊर्ध्वं भोक्ष्यमाणम्। पुंस्त्वमात्मपदविशेषणत्वात्। मन्त्रादिलोपपूर्वकयज्ञाद्यनुष्ठानेनासुरैः हृता यज्ञभागाः येषां तान् यज्ञाद्यकरणात्॥ २१॥

**अरक्ष्यमाणा** इति। हे उर्वि! पृथ्वि! भर्तृभिररक्ष्यमाणाः स्त्रियः, पितृभिररक्ष्यमाणान् बालान्[7] प्रत्युत तैरेव पुरुषादैरिव निर्दयैरार्तान् क्लिष्टान्। वाचं देवीं सरस्वतीं कुकर्मणि दुराचारे स्थिताम्। कुलाग्र्यान् ब्राह्मणोत्तमान् सेवकान्॥ २२॥

**किम्** इति। कलिना उपसृष्टान् व्याप्तान् अवरोपितान्युद्भासितानि। व्यवायो मैथुनम्। इतस्ततो विधिनिषेधानादरेण सर्वतोऽशनादिषून्मुखं[10] प्रवर्तमानं जीवलोकं वा॥ २३॥

**यद्वा** इति। हे अम्ब! मातः हे धरित्रि! ते तव यो भूरिभरस्तस्यावतारणार्थं[11] कृतावतारस्य कर्माणि स्मरन्ती[12] तेन विसृष्टा सती शोचसि निर्वाणं विलम्बितं आश्रितं[13] येषु तानि। पाठान्तरे निर्वाणं विडम्बितमुपहसितं यैः मोक्षादप्यधिकसुखानीत्यर्थः ॥ २४ ॥

**इदम्** इति। हे अम्ब! ते[14] सौभगं सौभाग्यं कालेन वा हृतम् ॥ २५ ॥

---

1 H,V विकल्पयन् 2 V °वर्तिवत्सं 3 H,V add शून्यं 4 H,V omit मल्लक्षणं जनमित्यर्थः। 5 H,V °मात्मनूशब्दविशेषणत्वात्; B °मात्मनो विशेषणत्वात् 6 H,V अथवा; B omits तान् 7 H adds तत् 8 H,V °तान्। कुत्सा° 9 H,V omit इतस्ततो 10 H,V °तश्शयनादि° 11 H,V °त° 12 H,V °ती 13 H,V add स्थितं 14 H,V add तव

**वीर**° तस्य परीक्षितः पूर्वेषां युधिष्ठिरादीनां वृत्तिमन्वहं वर्तमानस्य[1] सतः तस्य नातिदूरे सन्निकृष्टदेशे यन्महदाश्चर्यमासीत् तत्कथयिष्यतो मे मत्तो निबोध शृणु ॥ १८ ॥

**धर्म** इति। धर्मः धर्माधिदेवो वृषरूपधरः एकेन पदेन[2] चरन् विच्छायां निस्तेजस्कां गां गोरूपधरां वत्सरहितां मातरमिव अश्रूणि वदने यस्यास्तां पृच्छति समापृच्छत् ॥ १९ ॥

प्रश्नमेवाह — **कच्चित्** इत्यादिभिः षड्भिः। हे भद्रे! तवात्मनो देहस्यानामयमारोग्यमस्ति कच्चित्? ईषन्म्लायता हर्षक्षयमुपगतेन मुखेन विच्छाया निस्तेजस्का भवसि। अहन्तु भवतीं त्वामन्तरा हृदयमध्ये आधिः क्लेशो यस्यास्तथाभूतामालक्षये। म्लानविच्छायामुत्पश्यामि। हे अम्ब! कञ्चन दूरस्थं बन्धुं शोचसि ॥ २० ॥

किं वा पादैस्त्रिभिर्न्यूनं एकः पादो यस्य तं माम्प्रति शोचसि? उत वृषलैः शूद्रप्रायैः राजभिर्भोक्ष्यमाणं स्वात्मानं प्रत्येव शोचसि? आहोस्वित् हृतः शून्यो यज्ञीयहविर्भागो येषां तान् देवान् प्रति? उतस्वित् मघवतीन्द्रेऽवर्षति सति दुर्भिक्षपीडिताः प्रजाः प्रति? ॥ २१ ॥

यद्वा हे उर्वि! पुरुषादैराक्षसैरिव नृशंसैरार्तान् पीडितान् बालकान्, अरक्ष्यमाणाः स्त्रियः स्त्रीः प्रति शोचसि किम्? ब्रह्मकुले कुकर्मणि दुर्वृत्ते सति देवस्य विष्णोस्सम्बन्धिनीं वाचं त्रयीं प्रति? उत राजकुलेऽब्रह्मण्ये ब्राह्मणेष्वसाधुनि सति कुलाग्र्यान् ब्राह्मणान् प्रति? ॥ २२ ॥

किं वा कालेन उपसृष्टान् क्षत्रियाधमान् प्रति? यद्वा तैः क्षत्रबन्धुभिरवरोपितान्युपद्रुतानि राष्ट्राणि प्रति? उत इतस्ततः निषिद्धदेशे जनेष्वशनाद्युन्मुखमशनाद्यभिलाषिणं जीवलोकं प्रति? ॥ २३ ॥

यद्वा हे अम्ब! हे धरित्रि! तव भूरिभरस्यावताराय हरणाय कृतोऽवतारो येन तस्य हरेरधुना अन्तर्हितस्य श्रीकृष्णस्य। हरेरिति कर्तरि षष्ठी। तेन विसृष्टा त्यक्ता सती तस्य कर्माणि चेष्टितानि निर्वाणविलम्बितानि स्मरती त्वं शोचसि? निर्वाणे मोक्षे विशेषेण लम्बितानि सन्निहितानि, साक्षात्कृतानीति यावत्। यद्वा निर्वाणं सुखं, विलम्बितं अधुनान्तरितं येभ्यस्तानि ॥ २४ ॥

हे वसुन्धरे! तवाऽऽघेर्मूलमिदमुपस्थितं मह्यमाचक्ष्व आख्याहि, येन त्वं विकर्शिता कृशत्वं प्राप्तासि, तस्याऽऽघेर्मूलमित्यर्थः। हे अम्ब! सुरैरपि बहुमन्तव्यं तव सौभगं स्पृहणीयं सौन्दर्यं बलिनामपि बलीयसा कालेन किं वाऽपहृतम्? ॥ २५ ॥

---

1. W adds अनुवर्तमानस्य 2 W adds पादेन 3. W म्लानिविच्छायाभ्या° 4 W किञ्च 5 A,W यज्ञिय° 6 W दुर्भिक्षे पीडिताः 7 W adds विप्रकुले 8 W °देशजने° 9. W अपहरणाय

**विज०** पूर्वेषां पित्रादीनां वृत्तमाचरितमनुदिनमेवं वर्तमानस्य नातिदूरे अस्मद्दृष्टिगोचरे यदाश्चर्यमासीत् तन्निबोधेत्येकान्वयः ॥ १८ ॥

किं तदिति तत्राह — **धर्म** इति। सत्याख्येनैकेन पादेन चरन् धर्मो वृषभो भूत्वा वत्सरहितां मातरमिवाश्रुवदनामत एव विच्छायां विगतकान्तिं गोरूपिणीं गां भूमिं उपलभ्य अपृच्छदित्येकान्वयः ॥ १९ ॥

"भद्रा गौर्गोमतल्लिका" (वैज. को. 3-4-46) इत्यभिधानम्। हे भद्रे! ते तव आत्मनो देहस्य अनामयमारोग्यं कच्चित्? किं म्लायता म्लानिं गच्छता मुखेन विच्छाया विगतकान्तिरसीति यत् यस्मात् तस्मात् भवतीमन्तराधिं मनःपीडावतीमालक्षये पश्यामि। किञ्च, कञ्चन दूरे बन्धुं परोक्षप्रदेशे स्थितं बन्धुं प्रति शोचसि वेति ॥ २० ॥

अपि च, त्रिभिः पादैर्न्यूनं हीनमेकपादं मा मां प्रति शोचसि? उत पक्षान्तरे। आहोस्वित् वृषं धर्मं लीनं नष्टं कुर्वन्तीति वृषलाः राजाभासाः शूद्रप्रायास्तैर्भोक्ष्यमाणमात्मानं शोचसि? अथो अथवा हृतो यज्ञे भागो येषां ते तथोक्तास्तान् सुरादीन् शोचसि किम्? मघवतीन्द्रेऽवर्षति, यज्ञाभावाद्वर्षमकुर्वति सति सस्यादिसंवृद्ध्यभावेन दरिद्राः प्रजा उद्दिश्य शोचस्युतस्वित्, अपिस्वित्? ॥ २१ ॥

अथवा हे उर्वि! भूः! राजकुले अब्रह्मण्ये अरक्ष्यमाणाः स्त्रिय उद्दिश्य शोचसि? अथवा पुरुषादैर्मनुष्यभक्षकैरिव स्थितैरुपद्रवकरैरार्तान् दुःखितान् बालांश्च शोचसि किम्? ब्रह्मकुले ब्राह्मणकुले कुत्सितकर्मणि दुष्प्रतिग्रहोल्लेखनादिकर्म कुर्वति सति राजकुलेऽब्रह्मण्ये ब्राह्मणबहुमानमकृत्वा, तस्मात्करादीनाददाने सति च कुलाग्र्यां श्रेष्ठां कुलीने वर्तमानामिति वा देवीं द्योतमानां वाचं देववाणीमाचारकुलहीना अध्येष्यन्तीति शोचसि स्वित्? "बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति" (भार. 1-1-204) इति वचनात् ॥ २२ ॥

कालेनोपसृष्टानुपहतान् क्षत्तबन्धून् शोचसि? तैः क्षत्तबन्धुभिः अवरोपितानि विनाशितानि राष्ट्राणि वा शोचसि? यद्वा एवं वा इतस्ततः अनियमेनाशनञ्च पानञ्च वासः स्थानञ्च व्यवायो ग्राम्यधर्मश्च, ते तथोक्ताः, तेषूत्सुकमुत्कण्ठावन्तं जीवलोकं प्राणिसमूहं किं शोचसि? ॥ २३ ॥

अथेति पक्षान्तरारम्भः। ते तव भूपेर्महतो भरस्यावतारोऽवरोपणं तस्मै भूरिभरावताराय कृतोऽवतारः स्वरूपप्रकाशो येन स तथोक्तः। तस्यान्तर्हितस्य निर्वाणं स्वस्वयोग्यं मोक्षं विशेषेण लम्बयन्ति पुरःस्थितं कारयन्तीति

निर्वाणविलम्बितानि। निर्वाणं विलम्बयन्ति अपहरन्तीति वा हरेः कर्माणि चरितानि स्मरन्ती [3]हरिणाऽहमद्य विसृष्टा नन्विति शोचस्यपि किम्? ॥ २४ ॥

येन मनोदुःखेन विकर्शिता कृशतराऽसि, हे वसुन्धरे! तदिदमाधेः मनःपीडायाः मूलं ममाख्याहीत्यन्वयः। अथवा सम्प्रति प्रभुणा समर्थेन बलिना सर्वाङ्गपुष्टेन कालेन तव सुरार्चितं सौभाग्यमवलीढं ग्रस्तञ्चेत्यन्वयः ॥ २५ ॥

---

1 K.M वेद° 2 B.K.M °चलि° 3 K.M add इति

रा० कृ० पूर्वेषां युधिष्ठिरादीनां वृत्तिमेवमन्वहं वर्तमानस्यानुसरतः तस्य परीक्षितो नातिदूरे यदाश्चर्य-मासीत्किल तन्मे कथयतो मत्तः निबोध शृणु ॥ १८ ॥

धर्मः वृषरूपधरो धर्माधिदेवः एकेन पदा पादेन चरन् इतस्ततः सञ्चरन् गां गोरूपधरां धरित्रीं विच्छायां निस्तेजस्कामुपलभ्य विलोक्य विवत्सां वत्सरहितां मातरमिव अश्रुवदनां रुदन्तीमित्यर्थः। तां गां पृच्छति स्म वक्ष्यमाणप्रकारेणापृच्छत्।

गोवृषभौ सस्यसम्पत्कृषिकर्मणोस्सङ्केतौ। तदुभयदशाज्ञाने राज्यव्यवस्था स्फुटीभविष्यति। अपि च गोवृषभौ भूसूर्ययोस्सङ्केतत्वेन वेदे समुपवर्णितौ। वृषभरूपस्य धर्मस्य सत्यदानदयाशौचाख्याः चत्वारः पादाः। समायाते कलौ दानैकपादो धर्मो भवति तच्च दानं स्वार्थैकदृष्टिभिः कलुषितमास्ते। सर्वमिदं परीक्षिदपश्यदिति ध्वनिः ॥ १९ ॥

हे भद्रे! ते आत्मनो देहस्य अनामयं आरोग्यं कच्चित्? अस्ति किम्? कुत इति चेत्? ईषत् म्लायता म्लानिं गतेन मुखेन विच्छाया तेजोविहीनाऽसि। भवतीं त्वां अन्तराधिं मानसिकव्यथासहितां आलक्षये तर्कयामि। हे अम्ब! दूरे स्थितं कञ्चन बन्धुं शोचसीति काकुः। शोचसि किमिति भावः ॥ २० ॥

पादैस्त्रिभिः पादैः न्यूनं हीनमत एवं एकपादं मा मां मत्तुल्यं जनमपीति ध्वनिः। शोचसि किम्? अथवा वृषलैश्शूद्रधर्मभिः राजभिः भोक्ष्यमाणं पात्यमानं आत्मानं प्रति शोचसि किम्? अहो अथवा, हृतयज्ञभागान् सुरादीन् देवादीन् प्रति शोचसि किम्? उतस्वित् अथवा मघवति पर्जन्याधिदेवे अवर्षति सति प्रजाः दुर्भिक्षपीडितान् जनान् प्रति शोचसि किम्? ॥ २१ ॥

हे उर्वि! अरक्ष्यमाणाः भर्तृभिरपात्यमानाः स्त्रियः स्त्रीः प्रति पुरुषादैरिव राक्षसैरिव स्थितैः पित्रादिभिरार्तान् पीडितान् बालान् प्रति शोचसि किम्? अहो अथवा ब्रह्मकुले ब्राह्मणकुले कुकर्मणि कुत्सितकर्माचरणपरायणे सति सदध्येत्रभावात् देवीं वाचं देवस्य निःश्वासरूपां वेदलक्षणां सरस्वतीं प्रति अब्रह्मण्ये ब्राह्मणभक्तिहीने राजकुले लोभहेतुना भृत्यत्वेन स्थितान् कुलाग्र्यान् ब्राह्मणान् प्रति च शोचसि किम्? ॥ २२ ॥

कलिना उपसृष्टान् व्याप्तान् क्षत्रबन्धून् क्षत्रियाधमान्। अथवा तैः राजाधमैः अवरोपितानि पीडितानि राष्ट्राणि देशान् प्रति शोचसि किम्? अथवा इतस्ततः निषेधमनादृत्येत्यर्थः। अशनपानवासस्नानव्यवायोन्मुखजीवलोकं सर्वतोऽशनादिषु प्रवर्तमानं जीवसमुदायं प्रति शोचसि किम्? ॥ २३ ॥

यद्वा अथवा, हे अम्ब! हे धरित्रि! ते तव भूरिभरावतारकृतावतारस्य तव भूरिभारापनोदनार्थं स्वीकृतजन्मनः, अन्तर्हितस्य अधुना तिरोहितस्य हरेः श्रीकृष्णस्य विसृष्टा दूरीकृता तेन त्यक्ता सतीति भावः। निर्वाणविलम्बितानि मोक्षाश्रितानि कर्माणि हरेः कर्माणि स्मरती स्मरन्ती शोचसि किम्? ॥ २४ ॥

हे वसुन्धरे! येनाऽऽधिना विकर्शितासि कृशतां नीताऽसि, तवाधिमूलं तस्याऽऽधेर्मूलं इदं कारणं मम आचक्ष्व कथय। अथवा हे अम्ब! सुरार्चितं देवैरपि बहुमतं ते तव सौभगं सौन्दर्यं बलिनां बलवतां मध्ये बलीयसा कालेन हृतं किम्? अपहृतं किम्? ॥ २५ ॥

## धरण्युवाच

भवान् हि वेद तत्सर्वं यन्मां धर्मानुपृच्छसि।
चतुर्भिर्वर्तसे येन पादैर्लोकसुखावहैः ॥ २६ ॥

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागस्सन्तोष आर्जवम्।
शमो दमस्तपस्साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम् ॥ २७ ॥

ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च ॥ २८ ॥

प्रागल्भ्यं प्रश्रयश्शीलं सह ओजो बलं भगः।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहङ्कृतिः ॥ २९ ॥

एते चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित् ॥ ३० ॥

तेनाऽहं गुणपात्रेण श्रीनिवासेन साम्प्रतम्।
शोचामि रहितं लोकं पाप्मना कलिनेक्षितम् ॥ ३१ ॥

आत्मानञ्चानुशोचामि भवन्तञ्चामरोत्तमम्।
देवान् पितॄनृषीन् साधून् सर्वान्वर्णांस्तथाऽऽश्रमान् ॥ ३२ ॥

ब्रह्मादयो बहुतिथं[10] यदपाङ्गमोक्षकामास्तपस्समचरन्[11] भगवत्प्रपन्नाः[12]।
सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता ॥ ३३ ॥

तस्याऽहमब्जकुलिशाङ्कुशकेतुकेतैः श्रीमत्पदैर्भगवतस्समलङ्कृताङ्गी।
त्रीनत्यरोच उपलभ्य[13] ततो[14] विभूतिं लोकान् स मां व्यसृजदुत्स्मयतीं तदन्ते ॥ ३४ ॥

**यो वै ममातिभरमासुरवंशराज्ञामक्षौहिणीशतमपानुददात्मतन्त्रः ।**
**त्वां दुःस्थमूनपदमात्मनि पौरुषेण सम्पादयन् यदुषु रत्नमबिभ्रदङ्ग ॥ ३५ ॥**

**का वा सहेत विरहं पुरुषोत्तमस्य प्रेमावलोककलिरस्मितवल्गुजल्पैः ।**
**स्थैर्यं समानमहरन्मधुमानिनीनां रोमोत्सवो मम यदङ्घ्रिविडम्बितायाः ॥ ३६ ॥**

**श्रीसूत उवाच**

**तयोरेवं कथयतोः पृथिवीधर्मयोस्तदा ।**
**परीक्षिन्नाम राजर्षिः प्राप्तः प्राचीं सरस्वतीम् ॥ ३७ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
प्रथमस्कन्धे पृथ्वीधर्मसंवादो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

---

1 AF GF भवानेवहि तद्वेद यन्मां ; W भवान्तु वेद 2 W धर्मान् हि पृ° 3 K.M दानं त्या° 4. K.M धृतिः 5. A1 G1 कान्ति सौभाग्यं मार्दवं क्षमा; K.M कान्तिः सौभगं मार्दवं क्षमा 6 K M इमे 7 H.V बहवो यस्मिन् नित्या महा° 8 K M च यन्ति स्म 9 H.K.M °म! 10 AF GF यदनिशं 11 AF GF °कामास्तपोव्रतधरा भग° K M °कामा यथोक्तविधिना भग 12 B.H N V W °न्ना 13 H °मुपलभ्य; K.M °मुपलब्ध° 14 AF GF °तपोविभूति°. K.M तपो विभूतिः 15 H.V रोमोद्गमो

**श्रीध० भवानिति ।** भवान् जानात्येव तथाऽपि वक्ष्यामीत्याह । येन हेतुभूतेन त्वं चतुर्भिः पादैर्वर्तसे यत्र च सत्यादयो महागुणाः न वियन्ति न क्षीयन्ते तेन श्रीनिवासेन रहितं लोकं शोचामीति षष्ठेनान्वयः ॥ २६ ॥

**सत्यम्** इति । सत्यं यथार्थभाषणम् । शौचं शुद्धत्वम् । दया परदुःखासहनम् । क्षान्तिः क्रोधप्राप्तौ चित्तसंयमनम् । त्यागोऽर्थिषु मुक्तहस्तता । सन्तोषोऽलम्बुद्धिः । आर्जवमवक्रता । शमो मनोनैश्चल्यम् । दमो बाह्येन्द्रियनैश्चल्यम् । तपः स्वधर्मः । साम्यम् अरिमित्राद्यभावः । तितिक्षा परापराधसहनम् । उपरतिर्लाभप्राप्तावौदासीन्यम् । श्रुतं शास्त्रविचारः ॥ २७ ॥

**ज्ञानम्** इति । ज्ञानमात्मविषयम् । विरक्तिर्वैतृष्ण्यम् । ऐश्वर्यं नियन्तृत्वम् । शौर्यं सङ्ग्रामोत्साहः । तेजः प्रभावः । बलं दक्षत्वम् । स्मृतिः कर्तव्याकर्तव्यार्थानुसन्धानम् । स्वातन्त्र्यम् अपराधीनता । कौशलं क्रियानिपुणता । कान्तिः सौन्दर्यम् । धैर्यमव्याकुलता । मार्दवं चित्ताकाठिन्यम् ॥ २८ ॥

**प्रागल्भ्यम्** इति । प्रागल्भ्यं प्रतिभातिशयः । प्रश्रयो विनयः । शीलं सुस्वभावः । सह ओजो बलानि मनसो ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणाञ्च पाटवानि । भगो भोगास्पदत्वम् । गाम्भीर्यमक्षोभ्यत्वम् । स्थैर्यमचञ्चलता । आस्तिक्यं श्रद्धा । कीर्तिर्यशः । मानः पूज्यत्वम् । अनहङ्कृतिः गर्वाभावः ॥ २९ ॥

**एत इति ।** एते एकोनचत्वारिंशत् अन्ये च ब्रह्मण्यशरण्यत्वादयो महान्तो गुणाः यस्मिन्नित्याः सहजाः न वियन्ति न क्षीयन्ते स्म ॥ ३० ॥

**तेन** इति। तेन गुणपात्रेण गुणालयेन पाप्मना पापहेतुना॥ ३१, ३२॥

तस्य विरहो दुस्सह इत्याह चतुर्भिः — **ब्रह्मादय** इति। ब्रह्मादयो यस्याः श्रियोऽपाङ्गमोक्षः स्वस्मिन् दृष्टिपातस्तत्कामास्सन्तो बहुतिथं बहुकालं तपः समचरन् सम्यक् चरन्ति स्म। भवद्भिरुत्तमैः प्रपन्ना आश्रिताऽपि सा श्रीः यस्य पादलावण्यमलमनुरक्ता सती सेवते॥ ३३॥

**तस्य** इति। तस्य भगवतः श्रीमद्भिः पदैः केतुर्ध्वजः, अब्जादयः केतोश्चिह्नानि येषां तैः। यद्वा अब्जादीनामाश्रयैः सम्यगलङ्कृतमङ्गं यस्याः साऽहं ततो भगवतो विभूतिं सम्पदमुपलभ्य प्राप्य त्रीन् लोकानतिक्राम्यारोचे शोभितवत्यस्मि। पश्चात्तस्याः विभूतेरन्ते नाशकाले प्राप्ते सति उत्स्मयन्तीं[7] गर्वं कुर्वाणां मां स व्यसृजत् त्यक्तवान्॥ ३४॥

**य** इति। किञ्च। यो वै आसुरो वंशो येषां तेषां राज्ञामक्षौहिणीशतरूपं ममातिभरं भारमपनीतवान्। त्वाञ्जोनपदत्वात् दुःस्थं सन्तं पौरुषेण पुरुषकारेणात्मनि स्वस्मिन् सम्पूर्णपदं सुंस्थं सम्पादयन्। "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" (अष्टा. 3-2-126) इति हेतौ शतृप्रत्ययः। सम्पादयितुमित्यर्थः। अबिभ्रत् धृतवानित्यर्थः॥ ३५॥

**का** इति। तस्य विरहं का वा सहेत? प्रेमावलोकश्च रुचिरस्मितञ्च वल्गुजल्पश्च तैः मधुमानिनीनां सत्यभामादीनां समानं गर्वसहितं स्थैर्यं स्तब्धत्वञ्च योऽहरत्। यस्याऽङ्घ्रिणा रजस्युत्थितेन विटङ्कितायाः अलङ्कृतायाः संस्यादिमिषेण[10] रोमोत्सवो[11] भवति॥ ३६॥

**तयोः** इति। कथयतोस्सतोः प्राचीं पूर्ववाहिनीं सरस्वतीं कुरुक्षेत्रे॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

---

1 V °भा° 2 B,H,V कर्तव्यार्थानु° 3 H,V स्वभावः 4 H,V ज्ञानकर्मेन्द्रियाणा 5 B °ण्यत्वशर° 6 B आश्रिता अपि। 7 H,V add उत्स्मयमानां 8 H,V स्व° 9 H,V °स्यङ्कि° 10 B शष्पादि° 11 V °द्गमो

**वीर**° एवमुक्ता धरण्याह — **भवान्** इत्यादि दशभिः। तन्ममाधिमूलं सर्वं[1] नूनं भवान् वेद जानास्येव। कुतो यद् यस्मात् धर्मान् पृच्छसि अजानतो धर्मप्रश्नः नोपपन्न[2] इति भावः। अथाऽपि किं तदिति चेद्येन[3] त्वं लोकानां सुखावहैश्चतुर्भिः पादैर्वर्तसे अवर्तथाः। अधुना येन कारणेन विनैकपादेन वर्तसे तदेव ममापि आधिमूलमित्यर्थः॥ २६॥

कारणविशेषजिज्ञासायां तदुपपादयति — **सत्यम्** इत्यादि पञ्चभिः। सत्यादन्योऽन्ये च बहवो महत्त्वमिच्छद्भिर्जनैः प्रार्थनीया गुणाः नित्याः कदाचिदपि यस्मिन्न वियन्ति न व्ययन्ति तेन गुणानां पात्रेण मुख्याश्रयेण श्रीनिवासेन श्रीकृष्णेन साम्प्रतमधुना रहितमतएव पाप्मना पापेन कलिना ईक्षितं लोकं प्रत्यहं शोचामीत्यन्वयः। तत्र सत्यं

भूतहितत्वं वाचिकं वा। शौचं हेयप्रतिभटत्वम्। दया परदुःखासहिष्णुत्वम्। क्षान्तिः परापराधसहिष्णुता। त्यागः अनादरः पूर्णकामत्वप्रयुक्तः। तथा च श्रूयते "सर्वमिदमभ्यापतो वाक्यानादरः" (छान्दो. उ. 3-14-2) इति आत्मपर्यन्तवदान्यत्वम् वा त्यागः। सन्तोषः कर्हिचिदपि क्लेशराहित्यम्। आर्जवं मनोवाक्कायानामैक्यरूपम्। शमो मनोनिग्रहः। दमो बाह्येन्द्रियनिग्रहः। तप आलोचनम्, जगद्व्यापारोपयुक्तम्। साम्यमरिमित्रादिराहित्यम्। तितिक्षा द्वन्द्वाप्रतिहतत्वम्। उपरतिर्वृथाव्यापारोपरतिः, श्रुतं सर्वशास्त्रार्थयाथात्म्यवित्त्वम्॥ २७॥

ज्ञानमाश्रितानिष्टपरिहारेष्टप्रापणोपयुक्तम्। विरक्तिर्विषयेषु निस्पृहत्वम्, विषयानाकृष्टचित्तत्वं वा। ऐश्वर्यं स्वातिरिक्तसर्वनियन्तृत्वम्। शौर्यं युद्धेष्ववैमुख्यम्। तेजः अप्रधृष्यता। बलं प्रसिद्धम्। स्मृतिः सत्स्वपि विपुलेषु अपराधेषु उपकारस्मरणम्। स्वातन्त्र्यमन्यानपेक्षत्वम्। कौशलं नैपुण्यम्। कान्तिः "न तत्र सूर्यो भाति" (कठ. उ. 5-15) इति श्रुत्युक्तविधा दीप्तिः। धैर्यं वीर्यं, तच्च युद्धे स्वगृहे इव प्रवेशसामर्थ्यम्। मार्दवमक्रूरत्वम्। "स्वातन्त्र्यं सौभगं कान्तिः" इति पाठे सौभगं "स्पृहणीयम्॥ २८॥

प्रागल्भ्यम् सभासु धार्ष्ट्यम्। प्रश्रयो महत्सु विनयः। शीलं सद्वृत्तिः। सहः प्राणस्य स्वाभाविकसामर्थ्यम्। ओजः अन्नादिजनितम्, बलं धारणासामर्थ्यम्। भगो ज्ञानाद्युत्कर्षः। गाम्भीर्यं दुःखग्राह्याभिप्रायत्वम्। स्थैर्यं क्रोधनिमित्तैरविकारः। आस्तिक्यं शास्त्रार्थविश्वासः। कीर्तिर्यशः। मानः पूजार्हता। अनहङ्कृतिर्देहात्माभिमानराहित्यम्॥ २९, ३०॥

श्रीयते ब्रह्मादिभिरिति श्रीः लक्ष्मीः, तस्याः निवासः श्रीनिवासः तेन इत्यभिप्रेतम्॥ ३१॥

आत्मानं मां भवन्तञ्च अनुशोचामि इत्यर्थः॥ ३२॥

तदेव विशदयति ब्रह्मादय इति। चतुर्मुखप्रभृतयो यस्याः अपाङ्गमोक्षः ईषत् तिर्यक् प्रसारः तद्विषयत्वमात्मानं कामयमानाः बहुतिथं बहुकालं तपः समचरन् चक्रुः सा श्रीरपि कमलवनं स्वनिवासं विहाय भगवन्तमेव प्रपन्ना च सती यस्य पादयोः सौभगं सौन्दर्यमेवालं नितरां भजते सेवते॥ ३३॥

तस्य भगवतः अब्जादीनां केतूनां चिह्नानां केतैराश्रयभूतैः पदैः पादविन्यासैरलङ्कृतमङ्गं यस्यास्सा, अहं ततः अत एव विभूतिं लक्ष्मीमप्युपलभ्य त्वयाप्येवं भाग्यं न लब्धमित्याक्षिप्य विभूतिं सर्वसमृद्धिं प्राप्येति वा। त्रीनपि लोकानत्यरोचे त्रिलोकीमतिक्रम्य ततोऽप्यधिकं दीप्तिमत्यस्मि। एवमुत्स्मयन्तीं गर्वितां मां स भगवान् तदन्ते अवतारप्रयोजनान्ते व्यसृजत् तत्याज॥ ३४॥

यो वा इति ममातीव भाररूपमासुरवंशेऽसुरसम्पद्युक्तवंशे जातानां राज्ञामक्षौहिणीनां शतमपानुदत् अपनीतवान्। तथा यश्चाऽऽत्मतन्त्रः स्वतन्त्रः ऊनपदमूनं पदं पादद्वयं यस्य तमतएव दुःस्थं दुःखितं त्वामात्मनि स्वस्मिन्यत्पौरुषं सामर्थ्यं तेन सम्पादयन् पादचतुष्टयसम्पन्नं कर्तुमिच्छुर्यदुषु रमणीयमङ्गं शरीरमबिभ्रद्धृतवान्॥ ३५॥

यश्च प्रेमपूर्वकावलोकनेन रुचिरेण सुन्दरेण स्मितेन सुन्दरैर्भाषणैश्च मधुमानिनीनां यादवस्त्रीणां स्थैर्यमितरावश्यत्वं सम्यक् हृतवान् यस्य चाङ्घ्रिभ्यां विटङ्किताया अलङ्कृताया मम रोमोत्सवो रोमोद्गमो बभूव। तस्य पुरुषोत्तमस्य श्रीकृष्णस्य विरहं का वा मादृशी सहेत? न कोपीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

इत्थं तयोः पृथिवीधर्मयोः कथयतोर्मिथः सम्भाषमाणयोस्सतोः तदा परीक्षिन्नाम राजर्षिः प्राचीं सरस्वतीं प्रभासतीर्थं प्राप्तो गतः ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

---

1 W adds नु 2 W अनुपपन्नः 3 B,W add कारणेन 4 W च्यवन्ति 5 W सापराध° 6 W °ऽवाक्या° 7 W ऐकरूप्यं 8 W स्वव्यतिरिक्त° 9 A.B धृष्टता 10 A.B अहं प्रजापतीनाञ्च सर्वेषामीश्वरः प्रभुः,, मम विष्णुरचिन्त्यात्मेति ब्रह्मवचनं उपकारविषयस्मरणम् 11. W adds सौभाग्यं 12 A.B इन्द्रियादिजनितबन्धनधारणसामर्थ्यं 13 W दुरवगाहाभि° 14 W °त्यधिक्षिप्य; B °त्यभिक्षिप्य 15 W आसुर° 16 W काऽपि सहेतेत्यर्थः

**विज०** धर्मेण पृष्टा भूमिः तं प्रतिब्रूत इत्याह — **भवान्** इति। हे धर्म! यदाधिमूलं त्वं मामनुपृच्छसि तत्सर्वं भवान् वेद हि तथाऽपि वक्ष्ये इति शेषः। येन श्रीकृष्णेन त्वं लोकसुखावहैः तपश्शौचदयासत्याख्यैश्चतुर्भिः पादैः कलावपि वर्तसे अवर्तथा इत्यर्थः ॥ २६ ॥

यत्र यस्मिन् श्रीकृष्णे इमे उक्ताः सत्यादयोऽनुक्ता अन्ये च महागुणाः प्रत्येकमनन्तास्सन्ति। कीदृशाः? महत्त्वमिच्छद्भिः पुरुषैः प्रतिबिम्बे तादृशगुणलाभाय प्रार्थ्या उपास्याः ते कर्हिचिद्यतो न यान्ति च अभिन्नत्वादित्येतमर्थं स्मेत्यनेन श्रुतिसिद्धं दर्शयति। हे देवोत्तम! तेन गुणपात्रेण श्रीनिवासेन साम्प्रतं रहितं पाप्मना कलिनेक्षितं दृष्टमात्मानं माञ्च भवन्तञ्च शोचामीत्यन्वयः। सत्यं निर्दुःखानन्दानुभवो, भूतहितयथार्थभाषणं वा। शौचं नित्यशुद्धिः। प्रकृतिसम्बन्धाभावान्नित्यं बाह्याभ्यन्तरशुद्धिता। हरेरेवाऽन्यत्र मृज्जलाभ्यां रागराहित्येन। दया सज्जनेष्वार्तप्राणिषु चित्तद्रवत्वं वा उभयत्र समम्। दानं भक्ताभक्तमध्यमेषु सुखदुःखमिश्रफलवितरणम्। अन्यत्र धर्मार्थं पात्रे वित्तविश्राणनम्। त्यागोऽस्वकीये स्वकीयताबुद्ध्यपरपर्यायमिथ्याभिमानोत्सन्नता। अन्यत्र सन्न्यासः। सन्तोषः स्वरूपानन्दपानेनाऽन्यत्राऽलम्बुद्धिः, अन्यत्र यदृच्छया प्राप्तभोगेष्वलम्प्रत्ययः। आर्जवं व्यवहारेष्ववक्रता, मनसि वचसि चैकविधता उभयत्र समानम्। शमः स्वतः प्रियरूपत्वादिदं प्रियमिदमप्रियमिति बुद्धिविधुरता; शंरूपतया मीयत इति वा। अन्यत्र बुद्धेर्भगवन्निष्ठता। दम इन्द्रियाणां स्ववशत्वमुभयत्र समानम्। स्वतः परत इति विशेषः शत्रुनिग्रहो वा। तप आलोचनं, मुक्तिज्ञानम्। अन्यत्र कृच्छ्रचान्द्रायणाद्युपवासनियमः। साम्यं सर्वावतारान्तर्यामिरूपेषु निर्दोषगुणपूर्णत्वेन समता, यथास्थितवस्तुदर्शनं वा उभयत्र समानम्, न तु सर्वत्र शत्रुमित्रभावराहित्यम्। तितिक्षा महापराधसहनं, यथा भृगोः पादाहत्यपराधम्। अन्यत्र द्वन्द्वसहिष्णुता। उपरतिः स्वरूपरतिः। उपः मुख्यप्राणः तस्मिन् रतिर्वा। ऊ रुद्रः।

अन्यत्र काम्यकर्मनिवृत्तिः कृतकृत्यता व्यर्थसर्वव्यवहारोपरमो वा। श्रुतं सर्वत्र श्रवणशक्तिः, श्रोतेत्यादेः श्रुतिप्रसिद्धता वा। अन्यत्र शास्त्रार्थतात्पर्यावधारणं श्रुत्यर्थविचारो वा॥ २७॥

ज्ञानं सर्वज्ञता, अन्यत्र परोक्षापरोक्षभेदेन परमार्थविषयम्। विरक्तिः स्वेतरविषये असारताबुद्धिः। अन्यत्र शब्दादिविषयरागराहित्यम्। ऐश्वर्यं समस्तजगदीशितृत्वसामर्थ्यम्। अन्यत्राणिमादिकम्। शौर्यं सङ्ग्रामेष्वपलायित्वमुभयत्र समानम्। तेजः परैरप्रधृष्यत्वम्। अन्यत्र ब्रह्मवर्चसम्। धृतिः सर्वधारणम्। "एष सेतुर्विधृतिः" (बृह. उ. 4-4-22) इति श्रुतेः। विकारहेतावविकारित्वं वा। अन्यत्र जिह्वोपस्थजयः। स्मृतिरतीतानागतानन्तब्रह्माण्डादिस्मरणम्। अन्यत्रावगत-पदार्थानुसन्धानम्। स्वातन्त्र्यमपराधीनत्वम्। अन्यत्र स्वतन्त्रो विष्णुः तदधीनत्वं, कुमारीकङ्कणवदेकाकित्वं वा। कौशलं सर्वकर्मणि वैचित्र्यकरणबुद्धिः। अन्यत्र शिल्पविद्यावैशारद्यम्। कान्तिर्देहगता दीप्तिः। अन्यत्र भगवद्भक्तिकामनम्। सौभगं शुभैकभागित्वम्। अन्यत्र लोकमनोहरत्वम्। मार्दवं भक्तेषु मृदुत्वम्। उभयत्र समानम्। क्षमा क्रोधासमुत्थितिः उभयत्र समम्॥ २८॥

प्रागल्भ्यमुभयत्र समम्। प्रश्रयो विनयः। समम्। शीलं लोकमनोहरस्वभावं समम्। सहः सहनशक्तिः। प्राणस्य स्वाभाविकसामर्थ्यं वा समम्। ओजः पराभिभवशक्तिः, अन्यत्र मानसबलम्। बलं स्वेच्छाकरणशक्तिः अन्यत्र शरीरादिधारणसामर्थ्यं वा। भगः षड्गुणवत्त्वं, भाग्यं वा, अन्यत्रोत्पत्त्यादिज्ञानम्। गाम्भीर्यं परैरनवगाह्यत्वम्। अन्यत्र स्तिमितत्वम्। स्थैर्यं नित्याकम्पनम्। अन्यत्र धर्मादचलनम्। आस्तिक्यं वेदाद्युक्तमस्तीति बुद्धिः। अन्यत्र गुरुवाक्येषु श्रद्धानता। कीर्तिर्दिक्षु ख्यातिः, अन्यत्र हरिनामकीर्तनम्। मानः परेषां माननम्। अन्यत्राऽभिमानः। अनहङ्कृतिः स्वरूपभेदादहमिति बुद्धिराहित्यम्। अन्यत्र नाऽहं कर्ता, हरिरेव मयि स्थित्वा सर्वं करोतीति बुद्धिः॥ २९, ३०, ३१॥

न केवलं भवन्तं शोचामि, किन्तु देवादीनपि॥ ३२॥

श्रीकृष्णविरह एव ममाधिमूलमित्याख्याति — ब्रह्मादय इति। यस्याः श्रियोऽपाङ्गः कटाक्षः तस्य मोक्ष उन्मीलनविशेषः। तं कामयन्त इति यदपाङ्गमोक्षकामाः स्वेषु श्रियः कटाक्षनिपातमाकाङ्क्षमाणा इत्यर्थः। शास्त्रोक्तप्रकारेण भगवत्प्रपन्नाः ब्रह्मादयो बहुतिथं बहुकालं भगवतीमभजन्निति शेषेणान्वयः। सा श्रीरनुरक्ता सद्भक्तिमती स्वनिवासमरविन्दवनं पद्मवनं विहाय यस्य श्रीकृष्णस्य पादयोः सौभगं सौभाग्यम्, अलं भजत इत्यन्वयः॥ ३३॥

उपलब्धा तपोविभूतिर्यया सा तथा। तपसा विविधफलं प्राप्ता सती तस्य भगवतोऽब्जञ्च, कुलिशञ्चाङ्कुशश्च केतुर्ध्वजश्च अब्जकुलिशाङ्कुशकेतवो रेखारूपा एते केताश्चिह्नानि येषां तानि तैः श्रीमद्भिः पदैः सम्यगलङ्कृतसर्वाङ्गाहं त्रीन् लोकान् अतिक्रम्यारोचं शोभितवती। सः श्रीकान्तः तदन्ते तपोविभूतेरवसाने उत्सृजन्तीं का नु मत्सदृशी स्त्री इत्यहङ्कुर्वाणां मां व्यसृजदित्यन्वयः। तदन्त इति त्वितरपेक्षयोक्तं न तु भूमेः पुण्यावसानमस्ति भगवत्पत्नीत्वात्॥ ३४॥

**यो वै** असुराणां सम्बन्धी वंशः आसुरवंशः, **तस्मिन्** जातानां राज्ञामक्षौहिणीशतं ममातिभारमपानुददपाहरत्। शतमितिशब्दः सहस्रादिवाची। त्वयि चतुष्पदत्वेन पूर्णपदं सम्पादयन् आत्मतन्त्रो यदुषु रम्यं रमणीयमङ्गमबिभ्रत्॥ ३५॥

यश्च प्रेम्णाऽवलोकश्च, रुचिरं स्मितञ्च वल्गुर्मधुरो जल्पश्च ते तथोक्तास्तैर्मधुमानिनीनां समानमभिमानेन सह वर्तमानं स्थैर्यमहरत्। यस्याङ्घ्रिभ्यां विटङ्कितायाश्छिह्नितायाः अलङ्कृताया वा मम रोमोत्सवो रोमाञ्चोऽभूदिति शेषः। तस्य पुरुषोत्तमस्य विरहं का वा स्त्री सहेत? न कापीत्यन्वयः॥ ३६॥

तदवसरे तत्र परीक्षितो गमनमाह — **तयोरिति**। परीक्षिन्नाम राजश्रेष्ठः कुरुक्षेत्रे प्राचीं दिशमुद्दिश्य स्यन्दमानां नाम्ना सरस्वतीं नदीं प्राप्त इत्यन्वयः॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां प्रथमस्कन्धे षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

---

1 K,M पापात्मना 2 K,M °भेदादावह°

**रा॰ कृ॰** हे धर्म! यत् ममाऽऽधिकारणं मामनुपृच्छसि, तत्सर्वं भवान् वेद हि जानाति हि। अथ आधिकारणं विशदीकरोति — येन हेतुभूतेन भगवता लोकसुखावहैश्चतुर्भिः पादैः वर्तसे अवर्तथाः। किञ्च हे भगवन्! धर्म! सत्यं शौचं दया क्षान्तिः त्यागस्सन्तेष आर्जवं, शमो दमस्तपस्साम्यं तितिक्षा उपरतिः श्रुतं ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजः बलं स्मृतिः स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिः धैर्यं मार्दवं प्रागल्भ्यं प्रश्रयशीलं सहः ओजः बलं भगः गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिः मानः अनहङ्कृतिः — एते पूर्वोक्ता गुणाः महत्त्वमिच्छद्भिः प्रार्थ्याः। अन्ये च महागुणाः यत्र भगवति नित्याः अनपायिनस्सन्तः कर्हिचित् कदाऽपि न वियन्ति स्म न क्षयं यान्ति स्म। तेन तादृशेन गुणपात्रेण श्रीनिवासेन साम्प्रतं अद्य रहितं शून्यं तथा पाप्मना पापहेतुना कलिना ईक्षितं व्याप्तं लोकं प्रति अहं शोचामि॥ २६, २७, २८, २९, ३०, ३१॥

आत्मानं वृषलैर्भोक्ष्यमाणत्वात् आत्मानं प्रति एकपादत्वात् अमरोत्तमं देवश्रेष्ठं भवन्तं प्रति हृतयज्ञादिभागत्वात् देवान् प्रति दुष्टपीडितत्वात् पितॄन् ऋषीन् साधून् प्रति तथा नष्टधर्मत्वात् सर्वान् वर्णान् ब्राह्मणादिवर्णान् आश्रमान् ब्रह्मचर्याद्याश्रमांश्च प्रति शोचामि॥ ३२॥

भगवत्प्रपन्नाः भगवति शरणं गता अपि ब्रह्मादयो देवाः यदपाङ्गमोक्षकामाः यस्याः श्रियः अपाङ्गमोक्षकामास्सन्तः बहुतिथं बहुकालं तपस्समचरन्। सा श्रीरपि स्ववासं अरविन्दवनं विहाय यत्पादसौभगं यस्य भगवतः पादसौन्दर्यमलं भृशं अनुरक्ता सती भजते, सेवते, तस्य भगवतः अब्जकुलिशाङ्कुशकेतुकैः पद्मवज्राङ्कुशध्वजचिह्नैः श्रीमत्पदैः समलङ्कृताङ्घ्री अहं ततो भगवतो विभूतिं सम्पदमुपलभ्य प्राप्य त्रीन् लोकान्

अत्यरोचे अतिशयेन शोभितवत्यस्मि। अनन्तरं तदन्ते तस्या विभूतेरन्ते उत्स्मयन्तीं गर्वं प्राप्नुवन्तीं मां स भगवान् व्यसृजत् त्यक्तवान्।

भगवत्प्रपन्ना अपि सकामाश्चेत् प्राप्यवस्तुसद्भावात् दरिद्रा एव। विषयतृष्णाविरहितास्तु नित्यतृप्तत्वात् प्राप्यवस्त्वभावेन श्रीमन्त एवेति भावः।

एवं भगवत्पदसेवानुरक्तानां विभूतिः, तत्सेवागर्वितानान्तु च्युतिरिति भावः। कृष्यादिकर्मणां यज्ञार्थत्वाभावे स्वार्थदोषदूषितत्वात् पतनफलकगर्वहेतुत्वमिति परमार्थः॥ ३३, ३४॥

यो वै श्रीकृष्णः ममातिभरं अतिभारावहं आसुरवंशराज्ञां आसुरसम्पद्युक्ते वंशे सञ्जातानां राज्ञां अक्षौहिणीशतमपानुदत् अपनीतवान्। अपि च आत्मतन्त्रः स्वतन्त्रो यो भगवान् ऊनपदं लुप्तपादं द्वापरयुगे पादद्वयोपेतमित्यर्थः। दुःस्थं दुःखितं त्वां आत्मनि स्थितेनेति शेषः। पौरुषेण सामर्थ्येन सम्पादयन् पादचतुष्टयसहितं चिकीर्षुः यदुषु रम्यमङ्गं अबिभ्रत् यदुवंशे सञ्जात इत्यर्थः। किञ्च यः प्रेमावलोकरुचिरस्मितवल्गुजल्पैः मधुमानिनीनां मधुकुलस्त्रीणां पत्यभामादीनां समानं गर्वसहितं स्थैर्यमहरत् हृतवान्। यदङ्घ्रिविटङ्कितायाः यस्य पादरजसाऽलङ्कृतायाः मम रोमोत्सवः सस्यादिरूपेण रोमोद्गमः भवति तस्य पुरुषोत्तमस्य विरहं का वा सहेत, न कापीति भावः॥ ३५, ३६॥

एवमुक्तप्रकारेण तयोः पृथिवीधर्मयोः कथयतोर्मिथः सम्भाषमाणयोः सतोः तदा तस्मिन्नेव काले परीक्षिन्नाम राजर्षिः प्राचीं पूर्ववाहिनीं सरस्वतीं प्राप्तः आगतः॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां व्याख्यायां
षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

# सप्तदशोऽध्यायः

सूत उवाच

तत्र गोमिथुनं राजा हन्यमानमनाथवत्।
दण्डहस्तं च वृषलं ददृशे[1] नृपलाञ्छनम्॥ १॥

वृषं मृणालधवलं मेहन्तमिव बिभ्यतम्।
वेपमानं पदैकेन सीदन्तं शूद्रताडितम्[2]॥ २॥

गां च धर्मदुघां[3] दीनां भृशं शूद्रपदाहताम्।
विवत्सां साश्रुवदनां क्षामां[4] यवसमिच्छतीम्॥ ३॥

पप्रच्छ रथमारूढः कार्तस्वरपरिच्छदम्।
मेघगम्भीरया वाचा समारोपितकार्मुकः॥ ४॥

राजोवाच

कस्त्वं मच्छरणे लोके बलाद्धंस्यबलान् बली।
नरदेवोऽसि वेषेण[6] नटवत् कर्मणाऽद्विजः॥ ५॥

यस्त्वं[7] कृष्णे गते दूरं सह गाण्डीवधन्वना।
शोच्योऽस्यशोच्यान् रहसि प्रहरन् वधमर्हसि॥ ६॥

त्वं वा मृणालधवलः[8] पादैर्न्यूनः पदा चरन्।
वृषरूपेण किं कश्चित् देवो नः परिखेदयन्॥ ७॥

न जातु कौरवेन्द्राणां[9] दोर्दण्डपरिरम्भिते।
भूतलेऽनुपतन्त्यस्मिन्[10] विना ते[11] प्राणिनां शुचः॥ ८॥

---

1. H.V ददर्श K.M पीडितम् 3 H घ° 4 B.K.M W अ°. I आ° 5 K.M W कृशां 6 B वेशेन 7 A कस्त्वं; K M स° त्वं 8 W °ल! 9 A.G पौ° 10 K.M निपत° W न पत° 11 K.M त्वां

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ततस्सप्तदशे राज्ञः कलेर्निग्रह उच्यते।
तस्यैव वीर्यभाजोऽपि वैराग्यं वक्तुमद्भुतम्॥

**तत्रेति।** हन्यमानं ताड्यमानम्॥ १॥

***वृषमिति।** मृणालं पद्मकन्दः तद्वद्धवलम्। भयात् मेहन्तं मूत्रयन्तम्। इवेत्यनेन पादावशेषो धर्मः भयात् मूत्रयन्निव प्रतिक्षणं क्षीयमाणांशः तस्याप्यनिर्वाहात् कम्पमान इवेति दर्शितम्॥ २॥

**गामिति।** धर्मदुघां हविर्दोग्ध्रीम्। क्षामां कृशाम्। यवसं तृणम्। अत्र सस्यादिप्रसवक्षयात् विवत्सेव यज्ञाद्यभावात् कृशा। अत एव यज्ञभागं इच्छन्ती पृथिवीति सूचितम्॥ ३॥

**पप्रच्छेति।** कार्तस्वरं सुवर्णं तन्मयः परिच्छदः परिकरो यस्य स्वर्णनिबद्धमित्यर्थः। सज्जीकृतकार्मुकः॥ ४॥

**क** इति। हंसि घातयसि। राजाऽहमिति चेत् तत्राह — नट इव वेषमात्रेण नरदेवोऽसि, कर्मणा तु अद्विजः शूद्रः॥ ५॥

**य** इति। अशोच्यान् निरपराधान् रहसि यस्त्वं प्रहरन् प्रहरसि स शोच्यः सापराधोऽसि अतो वधमर्हसि॥ ६॥

वृषं प्रत्याह — **त्वमिति।** त्वं वा कः? स्वयमेव सम्भावयति — किं कश्चिद्देवो वृषरूपेण नः अस्मान् परिखेदयन् वर्तसे? ॥ ७॥

**नेति।** दोर्दण्डैः परिरम्भिते परिरम्भितवत् सुरक्षिते ते शुचः अश्रूणि विना अन्येषां अश्रूणि नानुपतन्तीति खेदहेतुत्वं दर्शितम्॥ ८॥

---

1 B °ज्ञा 2 H.V °क्ष्यतेऽद्धु° 3 H.V omit this commentary 3 B omits इव 4 H घ° 5 H.V °त्रापि 6 B यज्ञाभा°, H.V यज्ञभागाभा° 7. B.H.V °ती 8 H.V add सा 9 H.V add तव

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

**तत्रेति।** तत्र प्राच्यां सरस्वत्यां पूर्वोक्तं अनाथवत् हन्यमानं गोमिथुनं नृपस्येव लाञ्छनानि यस्य, दण्डो हस्ते यस्य तं वृषलं च राजा परीक्षित् ददर्श॥ १॥

तत्र गोमिथुने पुमांसं विशिनष्टि — **वृषमिति।** वृषं मृणालवत् धवलं, मेहन्तमिव मूत्रं मुञ्चन्तमिव बिभ्यतं उद्विजन्तं एकेन पादेन कम्पमानं शूद्रेण ताडितं अतः सीदन्तं क्लिश्यन्तम्॥ २॥

स्त्रियं विशिनष्टि — **गामिति।** धर्मदुघां घृतपयोरूप क्षरणद्रव्यदोग्ध्रीं शूद्रस्य पादेन ताडितां अत एव भृशं दीनां वत्सरहितां अश्रुवदनां अश्रुसहितं वदनं यस्यास्तां, क्षामां कृशां यवसं तृणं इच्छन्तीं कामयमानां गां च, चकारात् वृषलञ्च पप्रच्छेत्यन्वयः॥ ३॥

कार्तस्वराः स्वर्णमयाः परिच्छदाः परिकराः यस्मिंस्तं रथमारूढः। समारोपितं सज्जीकृतं कार्मुकं धनुः येन सः परीक्षित् मेघगर्जितवत् गभीरया गिरा पप्रच्छ॥ ४॥

प्रश्नमेवाह — **कस्त्वं** इत्यादिभिरेकादशभिः। तावत् वृषलं प्रति प्रश्नमाह द्वाभ्याम्। कस्त्वं त्वं कः इति प्रश्नः। किमर्थं पृच्छसीत्यत्राह अहमेव शरणं रक्षिता यस्य तस्मिन् अस्मिन् लोके बली सन् त्वं अबलान् दुर्बलान् बलात् हंसि अतः पृच्छामीति भावः। नृपोऽहमित्यत्राह — नटवत् वेषेण नरदेवोऽसि कर्मणा तु अद्विजः शूद्रः॥ ५॥

गाण्डीवधन्वना अर्जुनेन सह श्रीकृष्णे दूरं स्वर्लोकं प्रति गते सति त्वमेव अशोच्यान् शोकानर्हान् रहसि प्रहरन् वधमर्हसि अतः शोच्योऽसि स्वजनेनेति शेषः॥ ६॥

अथ वृषभं पृच्छति — **त्वमिति**। हे मृणालधवल! पादैः त्रिभिः न्यूनः चरन् त्वं वा कः? नः अस्मान् वृषरूपेण परिखेदयन् किं वा कश्चित् देवः?॥ ७॥

कौरवेन्द्राणां दोर्दण्डैः परिरम्भिते आश्लिष्टे पालिते इति यावत्। अस्मिन् भूतले विना ते त्वां विना, केषाञ्चिदपि प्राणिनां शुचः शोकाश्रुबिन्दवः कदाचिदपि न पतन्ति॥ ८॥

1. W वामपादेन 2 W कृषां 3 W कर्शितां 4 W त्वं 5 W स्वर्लोकं 6 A,B °ण्डप°

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अत्रापि भगवद्भक्तप्रधानस्य परीक्षितः कलिबन्धनादिमाहात्म्यवर्णनेन हरेः महिमैव वर्ण्यत इति तन्महिमोच्यते। तत्र नातिदूरं इति कथितमाश्चर्यमाह — **तत्रेति**। तत्र कुरुक्षेत्रे प्राच्याः सरस्वत्याः तीरे अनाथवत् नाथः स्वामी तेन रहिता यथा हन्यन्ते तथा ताड्यमानं गोमिथुनम्॥ १॥

मिथुनं विविच्याह — **वृषमिति**। मृणालधवलं कमलनालसूत्रवद्धवलं शुक्लवर्णं बिभ्यतं भीतमिव मेहन्तं शकृन्मुञ्चन्तं वेपमानं एकेन पदा स्थितत्वात् सीदन्तं भग्नाङ्गवत् तिष्ठन्तं शूद्रेण कलिना पीडितं वृषं अद्राक्षीत्॥ २॥

यवसं तृणं आकाङ्क्षमाणां अत एव कृशां अश्रुवदनां अश्रुमुखीं विवत्सां वत्सरहितां इव स्थितां शूद्रस्य पदा ताडितां भृशं अत्यर्थं दीनां कृपणां धर्मदुघां यज्ञयोग्यपयोदोग्ध्रीं गां चैवंविधां अपश्यदित्यन्वयः॥ ३॥

दृष्ट्वा तां राजा पप्रच्छेत्यन्वयः। कथम्भूतः? कार्तस्वरपरिच्छदं सुवर्णपरिकरपरिष्कृतं रथं आरूढः समारोपितकार्मुकः सज्जीकृतधन्वा॥ ४॥

तत्र प्रथमं शूद्रं प्रति प्रश्नप्रकारमाह — **कस्त्वमिति**। यस्त्वं नटवत् वेषेण नरदेवोऽसि, न तु राजा; कर्मणा अद्विजः शूद्रोऽसि। अद्विज इत्युक्त्या शूद्रत्वं कथं ज्ञातं इति चेत् कर्मणेत्यनेन क्षत्रियवैश्ययोः परिहृतत्वात् मच्छरणे अहमेव रक्षको यस्य स तथा तस्मिन् "शरणं गृहरक्षित्रोः" (अम. को. 3-209) इत्यभिधानम्। बली त्वं अबलौ दुर्बलौ गोवृषौ बलात् प्रसह्य हंसि पीडयसि त्वं कः?॥ ५॥

गाण्डीवधन्वना सह कृष्णे दूरङ्गते सति यः शोच्यः रहसि अशोच्यान् प्रहरन् असि, सः त्वं वधमर्हसीत्यन्वयः ॥ ६ ॥

इदानीं वृषभं पृच्छति — **त्वं वेति**। हे वृषभ! पादैः न्यूनः यथा चरसि तथा त्रिभिः पादैः न्यूनः एकेन चरन् मृणालवत् धवलः त्वं को वा वृषभरूपेण अस्मान् परिखेदयन् **अस्मद्बुद्धेः** परिघातं कुर्वन् गतस्त्वं कश्चिद्देवः किम्? ॥ ७ ॥

कुतः परिखेदकत्वमिति तत्राह — **न जात्विति**। **कौरवेन्द्राणां दोर्दण्डैः** परिरम्भिते रक्षिते अस्मिन् भूतले प्राणिनां शुचः शोकनिमित्ताश्रुबिन्दवः जातु क्वचिदपि न निपतन्ति। **त्वां** विना त्वन्तु बाष्पकलाक्षः शोचसि यस्मात्तस्मात् परिखेदयसीति भावः ॥ ८ ॥

---

1 K,M रहितो यथा हन्यते

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

तत्र सरस्वतीतीरे राजा परीक्षित् अनाथवत् हन्यमानं वृषलेनेति शेषः। गोमिथुनं दण्डहस्तं नृपलाञ्छनं वृषलं च ददर्श ॥ १ ॥

अनन्तरं कार्तस्वरपरिच्छदं सुवर्णमयपरिकरं रथं आरूढः समारोपितकार्मुकः सज्जीकृतचापः सः परीक्षित् मेघगम्भीरया पर्जन्यगर्जितवद्गम्भीरया वाचा शूद्रताडितं अत एव सीदन्तं क्लेशमनुभवन्तं एकेन पदा पादेन वेपमानं कम्पमानं बिभ्यतं त्रस्यन्तं अत एव मेहन्तमिव मूत्रं मुञ्चन्तमिव स्थितं मृणालधवलं बिसविशदं वृषं उद्दिश्येति शेषः। तथा भृशं शूद्रपदाहतां, अत एव दीनां दयनीयां विवत्सां वत्सरहितां साश्रुवदनां क्षामां कृशीभूतां यवसं यज्ञभागाख्यं घासं इच्छतीं इच्छन्तीं धर्मदुघां धर्मदोग्ध्रीं गां गोरूपधारिणीं पृथिवीं वृषलं चोद्दिश्य पप्रच्छ पृष्टवान् ॥ २, ३, ४ ॥

प्रथमं तावत् वृषलं पृच्छति — त्वं कः? मच्छरणेऽस्मिन् लोके बली सन् त्वं अबलान् बलात् हंसि। नटवत् नट इव वेषेण नरदेवः प्रभुः असि। गोताडनरूपेण कर्मणा तु अद्विजः द्विजेतरोऽसि ॥ ५ ॥

कृष्णे गाण्डीवधन्वना अर्जुनेन सह दूरं गते सति अशोच्यान् शोकानर्हान् धर्मिष्ठान् रहसि एकान्ते प्रहरन् ताडयन् शोच्यः शोचनीयोऽसि। अत एव वधमर्हसि ईदृशस्त्वं कः? ॥ ६ ॥

अनन्तरं परीक्षित् वृषभं पृच्छति — पादैः त्रिभिः चरणैः न्यूनः हीनः एकपदा चरन् मृणालधवलः त्वं वा कः? वृषरूपेण नः अस्मान् परिखेदयन् कश्चिद्देवोऽसि किम्? कौरवेन्द्राणां दोर्दण्डपरिरम्भिते **भुजदण्डैः परिरक्षिते** अस्मिन् भूतले ते तव शुचः अश्रूणि विना **प्राणिनां अन्येषां** प्राणिनां शुचः भूतले **जातु कदापि नानुपतन्ति न** पतन्ति ॥ ७, ८ ॥

मा सौरभेयानुशुचो व्येतु ते वृषलाद्भयम्।
मा रोदीरम्ब! भद्रं ते खलानां मयि शास्तरि ॥ ९ ॥

यस्य राष्ट्रे प्रजाः सर्वास्त्रस्यन्ते साध्व्यसाधुभिः।
तस्य मत्तस्य नश्यन्ति कीर्तिरायुर्भगो गतिः ॥ १० ॥

एष राज्ञां परो धर्मः ह्यार्तानामार्तिनिग्रहः।
अत एनं वधिष्यामि भूतह्रुहमसत्तमम् ॥ ११ ॥

कोऽवृश्चत् तव पादांस्त्वीन् सौरभेय चतुष्पदः।
मा भूवंस्त्वादृशां राष्ट्रे राज्ञां कृष्णानुवर्तिनाम् ॥ १२ ॥

आख्याहि वृष! भद्रं वः साधूनामकृतागसाम्।
आत्मवैरूप्यकर्तारं पार्थानां कीर्तिदूषणम् ॥ १३ ॥

जनेऽनागस्यघं युञ्जन् सर्वतोऽस्य च मद्भयम्।
साधूनां भद्रमेव स्यादसाधुदमने कृते ॥ १४ ॥

अनागस्स्विह भूतेषु य आगस्कृन्निरङ्कुशः।
आहर्ताऽस्मि भुजं साक्षादमर्त्यस्यापि साङ्गदम् ॥ १५ ॥

राज्ञां हि परमो धर्मः स्वधर्मस्थानुपालनम्।
शासतोऽन्यान् यथाशास्त्रमनापद्युत्पथानिह ॥ १६ ॥

---

1. B,I °त्र° 2. H °शोचो 3. K,M मातर्हिस्यन्ते साध्वसा° 4 B,K,M,W राज्ञः 5. H,V आ° 6. H,V हनि° 7 A,G,I, °द! 8 B °शो 9. K,M गले° 10. K,M त° *The second half of the 14th verse is not seen in K,M,V & W

**श्रीध०** एवमुक्ते पुनरपि शोचन्तं प्रत्याह — **मेति**। भोः सुरभेः पुत्र! मा अनुशुचः शोकं मा कुरु। व्येतु अपयातु। गां प्रत्याह। अम्ब! मातः! शास्तरि मयि जीवति सति ते भद्रमेव अतो मा रोदीः ॥ ९ ॥

मद्धितार्थमेवैनं हनिष्यामि न तवोपकाराय इत्याह — **यस्येति** द्वाभ्याम्। हे साध्वि! सर्वाः याः काश्चिदपीत्यर्थः। असाधुभिः त्रस्यन्ते पीड्यन्ते इत्यर्थः। भगो भाग्यम्। गतिः परलोकः ॥ १०, ११ ॥

पुनरपि शोचन्तं वृषं प्रत्याह — **क** इति। कोऽवृश्चत् चिच्छेद। त्वादृशाः त्वद्विधाः दुःखिताः ॥ १२ ॥

**आख्याहीति**। वः भद्रमस्तु। आत्मनः तव पादच्छेदेन वैरूप्यं कृतवन्तं कीर्तिं दूषयतीति तथा तमाख्याहि ॥ १३ ॥

ननु तदाख्याने कृते कथं भद्रं स्यादित्यतः आह — **जन** इति। यस्तावत् अनागसि जने[1] अघं दुःखं युञ्जन् कुर्वन् भवति अस्यैवाभूतस्य मत् मत्तः सकाशात् सर्वत्रापि भयं भवति, ततः साधूनां भद्रं भवेदेवेति॥ १४॥

एतस्य दण्डे अहमसमर्थः[10] इति मा शङ्कीरित्याह — **अनागस्स्विति**। आगस्कृत् अपराधकर्ता। तस्य अमर्त्यस्य देवस्यापि भुजं आहर्ता अस्मि आहरिष्यामि। साङ्गदमित्यनेन मूलतः उत्पाट्य आहरिष्यामीति दर्शितम्॥ १५॥

**नन्वेकस्य** निग्रहेऽन्यस्यानुग्रहे[11] तव किं प्रयोजनम्? तत्राह — **राज्ञो हीति**। अन्यान् अधर्मिष्ठान् शासतः दण्डयतः॥ १६॥

---

1 B अत्र मा शुचः 2 H V °शो° 3 H.V कुरुष्व 4 H.V मम हितार्थ° 5 B वृषभं 6. B तत्र 7. H.V add वद 8 A यस्मादना° 9 A adds यः 10 H V °य° 11 A °णा°

**वीर**० हे सौरभेय! माऽनुशुचः शोकं मा कार्षीः। ते तव वृषलात् अस्मात् शूद्रात् भयं व्येतु[2] नश्यतु। गामाश्वासयन्नाह — **मेति**। हे अम्ब! खलानां दुरात्मनां शास्तरि दण्डधरे मयि तिष्ठति सति त्वं मा रोदीः। रोदनं मा कार्षीः। ते तव भद्रं सुखमेव भविष्यति॥ ९॥

हे साध्वि! यस्य[3] राष्ट्रे दुरात्मभिः सर्वाः प्रजाः त्रस्यन्ते बिभ्यति। असाधुभिरिति करणत्वविवक्षया तृतीया प्रयुक्ता, अतो न "भीत्रार्थानाम्" (अष्टा. 1-4-25) इत्यपादानत्वम्। तस्य मत्तस्य राज्ञः कीर्त्यादयो नश्यन्ति। भगो भाग्यं, गतिः पुण्यलोकगतिः॥ १०॥

आर्तानां दुःखितानां आर्तिपरिहार इति यदेष राज्ञां परः उत्कृष्टो धर्मः। यतः एवं अतः भूतद्रोहकारिणं अत एव असत्तममेनं वधिष्यामि॥ ११॥

पुनः वृष पृच्छन् आश्वासयति — **क** इति साधैश्चतुर्भिः। हे सौरभेय! चतुष्पदः[5] तव त्रीन् पादान् कोऽवृश्चत् अभिनत् कृष्णानुवर्तिनां राज्ञां अस्माकं राष्ट्रे त्वादृशा दुःखिता मा भूवन् न सन्तु॥ १२॥

हे वृष! वः भद्रमेव भविष्यति। किं त्वकृतागासां निरपराधिनां साधूनां युष्माकं आत्मवैरूप्यकारिणं पार्थानां कीर्तिं दूषयतीति तथा तं आख्याहि॥ १३॥

यः अनागसि निरपराधे जने द्रोहं युञ्जन्नास्ते तस्य सर्वतः सर्वत्र मत् मत्तः भयं भविष्यति॥ १४॥

योऽनागस्सु भूतेषु जनेषु निरङ्कुशः उत्पथः सन् आगस्कृत् द्रोहकृत् भवति, तस्य साक्षात् अमर्त्यस्य देवस्याप्यङ्गदयुक्तं भुजं आहर्ता अस्मि आहरिष्यमाणोऽस्मि॥ १५॥

**स्वधर्मस्थानां** अनुपालनमेव राज्ञः परमः धर्मः। कथम्भूतस्य ? **इह** लोके अनापदि उत्पथान् दुर्वृत्तान् अन्यान् असाधून् शासतः दण्डयतः। अनापद्युत्पथान् इत्यनेन आपदि दुर्वृत्तिः न दोषावहेति सूचितम्॥ १६॥

---

1 W adds वृष! 2 W अत्येतु 3 W adds राज्ञः 4 A,B °द! 5 W °च्छि°

**विज०** हे सौरभेय! सुरभिवंशोद्भव! मा शुचः शोकं मा कार्षीः। ते तव वृषलात् भयं व्येतु नश्यतु इत्यन्वयः। इदानीं सौरभेयीं पृच्छति — **मा रोदीरिति**। हे सौरभेयि! त्वमपि काऽसीत्यध्याहारः कर्तव्यः। कस्त्वमित्युक्तत्वात्। हे अम्ब! मा रोदीः। अश्रुविमोक्षणं मा कार्षीः। ते तुभ्यं भद्रमस्तु। कुतः ? मयि दुष्टानां शास्तरि सति॥ ९॥

यस्य राष्ट्रे राज्ये असाधुभिः दुष्टैः प्रजाः साधु हिंस्यन्ते पीड्यन्ते मत्तस्य तस्य कीर्त्यादयो नश्यन्तीत्यन्वयः। गतिः परलोकः॥ १०॥

यः आर्तानां आर्तिनिग्रहः एष राज्ञः परो धर्मः हि यस्मात् आर्तिनिग्रहस्य स्वधर्मत्वात् असत्तमं भूतद्रुहमेनं वृषलं वधिष्यामीत्यन्वयः। अनेन "कस्य हेतोः निजग्राह" इति चोद्यं परिहृतम्॥ ११॥

हे सौरभेय! चतुष्पदः तव त्रीन् पादान् कोऽवृश्चत् छेदितवान् सः कः ? ज्ञातश्चेत् परिहरिष्यामीति शेषः। कुत इति तत्राऽऽह — **मा भूवन्निति**। त्वादृशाः त्वद्विधाः॥ १२॥

अकृतागासां अकृतापराधानां साधूनां निर्दोषाणां वः युष्माकं भद्रमस्तु। पार्थानां **कीर्तिदूषणं**[2] **आत्मवैरूप्यकर्तारं पुरुषमाख्याहीत्यन्वयः।** हे गले! सुरभि! योऽनागसि अघं अपराधं युञ्जन् प्रयुञ्जानो वर्तते अस्य तत् तस्मात् अपराधात् सर्वत इह परलोके च भयं भवत्येवेति शेषः। "सौरभेयी गला धेनुः भद्रा नन्दाऽमृतस्रवा" इत्यभिधानम्॥ १३॥

निरङ्कुशः अनिवारितः अङ्गदेन बाहुभूषणेन सह वर्तमानम्। अमर्त्यस्य देवस्यापि आहर्तास्मि छेत्तास्मि॥ १४, १५॥

कुत इति तत्राऽऽह — **राज्ञ** इति। स्वविहितधर्ममनुतिष्ठतां अनुपालनं तत्तद्योग्यतया रक्षणं राज्ञः परो धर्मो हि। किंविशिष्टस्य ? इह अनापदि आपदभावेऽपि उत्पथान् मार्गमुत्सृज्य वर्तमानान् अन्यान् दुष्टान् यथाशास्त्रं शासतः॥ १६॥

---

1 B.K.M सौरभीं 2 K.M add यशोदूषणं

**रा० कृ०** हे सौरभेय! हे सुरभिपुत्र! वृषभ! मा अनुशुचः शोकं मा कुरु। वृषलात् अस्मात् शूद्रात् ते भयं व्येतु अपगच्छतु। अधुना गां प्रति ब्रवीति। हे अम्ब! खलानां शास्तरि शिक्षके मयि सति ते भद्रं भविष्यति, मा रोदीः रोदनं मा कार्षीः ॥ ९ ॥

हे साध्वि! धेनो! यस्य राज्ञः राष्ट्रे देशे सर्वाः प्रजाः सर्वे जनाः असाधुभिः खलैः त्रस्यन्ते पीडिता भवन्ति, मत्तस्य दुष्टदमनरूपस्वकर्तव्यानुसन्धानरहितस्य तस्य राज्ञः कीर्तिः आयुः भगः ऐश्वर्यं गतिः पुण्यलोकप्राप्तिः नश्यन्ति ॥ १० ॥

आर्तानां दुःखितानां आर्तिनिग्रहः दुःखपरिहारः इत्येषः राज्ञां परो धर्मः, अतः भूतद्रुहं प्राणिद्रोहिणं असत्तमं अतिनीचं एनं वृषलं वधिष्यामि संहरिष्यामि ॥ ११ ॥

हे चतुष्पद! सौरभेय! तव पादान् त्रीन् कः अवृश्चत् अच्छिनत्? कृष्णानुवर्तिनां श्रीकृष्णानुयायिनां राज्ञां अस्माकं राष्ट्रे त्वादृशाः दुःखिताः मा भूवन् मा सन्तु ॥ १२ ॥

हे वृष! भद्रं शुभमस्तु। अकृतागसां अकृतापराधानां साधूनां वः युष्माकं आत्मवैरूप्यकर्तारं शरीरवैरूप्यकर्तारं तथा पार्थानां पार्थवंशजानां अस्माकं कीर्तिदूषणं जनं आख्याहि कथय ॥ १३ ॥

अनागसि निरपराधे जने अघं दुःखं युञ्जन् कुर्वन् यो वर्तते अस्य सर्वतः सर्वत्र मत् मत्तः भयं भविष्यतीति शेषः। असाधुदमने दुष्टनिग्रहे कृते सति साधूनां भवादृशां भद्रमेव स्यात् ॥ १४ ॥

यः इह लोके निरङ्कुशः निर्भयः अनागस्सु निरपराधेषु भूतेषु जनेषु आगस्कृत् द्रोहकारी भवति, तस्य साक्षात् अमर्त्यस्यापि साङ्गदं भुजं आहर्तास्मि आहरिष्यामि ॥ १५ ॥

इह लोके अनापदि आपदभावेऽपि उत्पथान् उन्मार्गगामिनः अन्यानसाधून् यथाशास्त्रं शासतः दण्डयतः राज्ञः पालकस्य स्वधर्मस्थानुपालनं स्वधर्मावलम्बिनां निरन्तरपालनं परमः धर्मो हि उत्कृष्टः धर्मः खलु।

अत्र तृणजलादिभिः जीवता गोमिथुनेन नदीजलतरुफलसस्यादिप्रकृतिसम्पत् सूच्यते। तां जन्तवो यथेच्छमनुभूय जीवन्ति, मानवस्तु लोभवशात् स्वायत्तीकृत्य क्रूरो भवति। तथा च सकलजनजीवनहेतुभूतायाः सम्पदः स्वायत्तीकरणे यः स्वाधिकारमुपयुनक्ति सोऽवश्यं दण्ड्यः। ईदृगधिकारविपदः प्रजाः परिरक्षितुमेव राजानः उद्दिष्टाः न तु तास्वधिकारं प्रदर्शयितुम्। अत्र कलिपरीक्षितावीदृगधिकारपरिरक्षणयोः सङ्केततया सूचितौ। एवमिह राजधर्मतत्त्वं व्यज्यते ॥ १६ ॥

**धर्म उवाच**

**एतद्वः पाण्डवेयानां युक्तमार्ताभये वचः।**
**येषां गुणगणैः कृष्णः दौत्याद्यै भगवान् कृतः ॥ १७ ॥**

न वयं क्लेशबीजानि यतः[1] स्युः पुरुषर्षभ! ।
पुरुषं तं विजानीमो वाक्यभेदविमोहिताः ॥ १८ ॥

केचिद्विकल्पवसना[3] आहुरात्मानमात्मनः[4] ।
दैवमन्ये परे कर्म स्वभावमपरे प्रभुम्[6] ॥ १९ ॥

अप्रतर्क्यादनिर्देश्यादिति केऽप्यपि निश्चयः ।
अत्रानुरूपं[7] राजर्षे! विमृश स्वमनीषया ॥ २० ॥

सूत उवाच

एवं धर्मे प्रवदति स सम्राट् द्विजसत्तमं[8]! ।
समाहितेन मनसा विखेदः[9] पर्यचष्ट[10] तम् ॥ २१ ॥

धर्मं ब्रवीषि धर्मज्ञ! धर्मोऽसि वृषरूपधृक्[11]।
यदधर्मकृतः[12] स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत् ॥ २२ ॥

अथवा देवमायाया नूनं गतिरगोचरा ।
चेतसो[13] वचसश्चापि भूतानामिति निश्चयः ॥ २३ ॥

तपः शौचं दया सत्यं इति पादाः कृते[14] कृताः ।
अधर्माशैस्त्रयो[15] भग्नाः स्मयसङ्गमदैस्तव ॥ २४ ॥

---

1 B.K.M.W वृतः 2 AF.GF यतस्त्व 3 K.M °द्वैकल्पवचसा 4 AF.GF °ना 5 AF.GF विभुम् 6 K.M °दनिर्वाच्या° 7 H.V तत्रा° 8 H.I.V °माः! 9 K.M विदित्वा 10 H.K.M.V प्रत्यचष्ट 11 H.V° °धृत् 12 AF.GF °तं 13 AF.GF वचसो मनसश्चापि 14 N.W प्रकीर्तिताः 15 H.K.M.V °र्मांशै°

**श्रीध०** **एतदिति।** आर्तानां अभयं यस्मात् तद्वचः वः युष्माकं युक्तं उचितमेव ॥ १७ ॥

**नेति।** वयं तु यतः पुरुषात् प्राणिनां क्लेशहेतवः भवेयुः तं पुरुषं न विजानीमः। यतः वादिनां वाक्यभेदैः विमोहिताः ॥ १८ ॥

वाक्यभेदानेवाऽऽह — **केचिदिति।** विकल्पं भेदं वसते आच्छादयन्ति ये योगिनः ते आत्मानमेव आत्मनः प्रभुं सुखदुःखप्रदमाहुः। तदुक्तं "आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः" (भ. गी. 6-5) इति। यद्वा विकल्पैः कुतर्कैः वसनाः प्रावृताः नास्तिकाः। एवं हि ते वदन्ति — न तावद्देवतादीनां प्रभुत्वं, कर्माधीनत्वात्। न च कर्मणः, तस्यास्वाधीनत्वादचेतनत्वाच्च। अतः स्वयमेव प्रभुः न चान्यः कश्चिदिति। अन्ये दैवज्ञाः दैवं ब्रह्मादिरूपां देवताम्। परे तु मीमांसकाः कर्म। अपरे लोकायतिकाः स्वभावम् ॥ १९ ॥

**अप्रतर्क्यादिति**। केष्वपि सेश्वरेषु मध्ये केष्वपीति दुर्लभत्वं दर्शितम्। निश्चय इति सिद्धान्तत्वम् अप्रतर्क्यान्मनोऽगोचरादनिर्देश्यात् वचनागोचरात् परमेश्वरात् सर्वं भवतीति विमृश विचारय स्वबुद्ध्या॥ २०॥

**एवमिति**। विखेदः गतमोहः पर्यचष्ट प्रत्यभाषत ज्ञातवानिति वा॥ २१॥

**धर्ममिति**। अनिर्धारितमिव ब्रुवन् घातकं जानन्नपि न सूचयेदित्येवंरूपं धर्मं ब्रवीषि अतः धर्मोऽसि। ननु घातकस्य सूचने को दोष इत्यत आह — यदिति। स्थानं नरकादि॥ २२॥

यद्वा, अज्ञानादप्यकथनं भवतीत्याह — **अथवेति**। देवस्य मायाया गतिः वध्यघातकलक्षणा वृत्तिः भूतानां चेतसो वचसश्च अगोचरा सुज्ञेया न भवतीति निश्चयः॥ २३॥

धर्मोऽसाविति ज्ञात्वा तस्य पादानुवादेन व्यवस्थामाह — **तप** इति द्वाभ्याम्। अधर्मपादैः तव त्रयः पादाः त्रिभिरंशैः भग्नाः। स्मयः विस्मयः॥ २४॥

---

1 H.V add ये 2 H.V °कृ° 3 H.V वा 4 H.V °धि° 5 H.V अपरे 6 H.V स्वकर्म 7 B.H.V omit मध्ये 8 H.V °दमनोगो° 9 B °सोऽगो° 10 H.V प्रत्य° 11 H.V °नित्यर्थः 12 H.V °तु° 13 H.V संभव° 14 H.V °तु° 15 H.V °रंशैर्भग्नाः रुग्णाः 16 H.V गर्वः

**वीर०** एवमुक्तवन्तमाह — **वृष एतदिति त्रिभिः**। तावद्वचोऽभिनन्दति एतदिति। पाण्डुवंशजानां युष्माकं एतत् आर्तानां न भयं यस्मात्तद्वचः युक्तमेव। पाण्डवेयान् विशिनष्टि — येषां पाण्डवेयानां गुणगणैः हेतुभिः भगवान् कृष्णः दौत्यादौ कर्मणि वृतः दौत्यादिकमर्थि वृत इत्यर्थः। येषां इति कर्तरि षष्ठी। यैः वृत इत्यर्थः। एवंविधगुणगणाश्रयाणां एतद्वचः युक्तमेवेति भावः॥ १७॥

गाण्डीवधन्वना अर्जुनेन सह श्रीकृष्णे दूरं स्वलोकं प्रति गते सति त्वमेव शोकानर्हान् रहसि प्रहरन् वधमर्हसि। अतः शोच्योऽसि। स्वजने कोऽवृश्चदिति यत्पृष्टं तत्रोत्तरमाह हे पुरुषभ! यस्मात् पुंसः क्लेशबीजानि दुःखकारणानि स्युः तं पुरुषं वयं न जानीमः। तत्र हेतुं वदन् आत्मनो विशिनष्टि वाक्यभेदविमोहिताः क्लेशकारणानि वदतां वाक्यभेदैः नानाविधवाक्यैः विमोहिताः॥ १८॥

वाक्यभेदानेव दर्शयति — **केचिदिति** सार्धेन। क्लेशकारणवादिनां मध्ये केचिदेवं वा, एवं वा इत्येवंविधः विकल्प एव वसनं वसनवत् निर्णेतव्यार्थापादकं येषां तथाभूता आत्मनः स्वस्य आत्मानमेव क्लेशकारणमाहुः। अन्ये तु दैवं अपरे तु कर्म प्राक्तनं कृतम्। इतरे तु स्वभावम्। अपरे तु प्रभुम् तत्र दैवम् जीवादृष्टस्वभावः प्रकृतेः परिणामस्वभावः प्रभुः ईश्वरः॥ १९॥

केचित्तु अप्रतर्क्यात् तर्कागोचरात् अनिर्देश्यात् वक्तुमशक्यात् कस्माच्चित्कारणात् क्लेश इत्याहुः इति इत्थं केष्वपि निश्चयः नेत्यध्याहारः। यद्वा तत्तदभिमानानुसारेणैव निश्चय इत्यर्थः। तत्रैवं क्लेशकारणेषु विकल्पितेषु हे राजर्षे! यदनुरूपं प्रकृतक्लेशानुगुणकारणं तत् स्वमनीषया सूक्ष्मया धिया विमृश विचारय॥ २०॥

इत्थं धर्मे प्रवदति सति हे द्विजसत्तमाः! स सम्राट् सार्वभौमः परीक्षित् विगतखेदः समाहितेन मनसा तं धर्मस्याभिप्रायं प्रत्यचष्ट। चक्षिङ् दर्शनेऽपि वर्तते दृष्टवान् आलोच्य निर्णीतवान् इत्यर्थः॥ २१॥

निर्णीतमेव तदभिप्रायं प्रत्याह — **धर्ममित्यादिभिः** षड्भिः। तत्र क्लेशबीजावहे पुरुषे सन्निहितेऽपि यदुक्तं क्लेशबीजानि यतः स्युः तं पुरुषं न जानीम इति तत्र तदभिप्रायं निर्णीतमाह धर्ममिति। हे धर्मज्ञ! साक्षात् त्वं वृषरूपधृक् धर्म एवासि। अत एव आपद्यपि पुरुषं तं न विजानीम इति धर्ममेव ब्रवीषि। अधर्मकारिणि पुरुषे सन्निहिते यत् अधर्मसूचकं वचः तद्धर्म्यमेव इत्यर्थः। यत् यस्मात् अधर्मकृतः अधर्मकारिणः स्थानं प्राप्यं स्थानं यत् सूचकस्यापि तत् स्थानं भवेत्; 'पतितः पतितः' इत्युक्त्वा पतिष्यतीति शास्त्रादिति भावः॥ २२॥

अथ "विमृश स्वमनीषया" इति यदुक्तं तदभिप्रायमाह — **अथवेति**। देवमायायाः ईश्वरसङ्कल्पस्य "माया वयुनं ज्ञानम्" (वे. नि. 3-9) इति ज्ञानपर्यायोऽत्र मायाशब्दः "मायया सततं वेत्ति प्राणिनां च शुभाशुभम्" (भार. 13 Appn. 15. 2805 pr) इति प्रयोगाच्च। गतिः भूतानां चेतसो वचसश्च अगोचरा अविषयीभूतेति वा निश्चयः। न जानीम इति विमृशस्वेति च वदता त्वया अयं पापकृदिति सूचनं अधर्मः ईश्वरसङ्कल्पश्च वाङ्मनसयोरगोचर इति वा दर्शितमित्यर्थः॥ २३॥

धर्मोऽसीत्यनेन त्वं साक्षात् धर्माधिदेवता एवेत्युक्तं यत एवं अत एव तव पादा अपि न लौकिकवृषभपादसजातीयाः, अपि तु विशिष्टा एवेति वदंस्तद्व्यञ्जकान् दर्शयति **तप** इति। धर्माधिदेवस्य तव पादाः तप आदयश्चत्वारः प्रकीर्तिताः। तत्र त्रयः पादाः अधर्मस्यांशैः त्रिभिः स्मयादिभिर्भग्नाः। तत्र स्वस्मिन् उत्कर्षधीः स्मयः। स च तपोनाशहेतुः, सङ्गः शौचविरोधी, मदः दयाविरोधी, चित्तविकारः विवेकाक्षमत्वरूपः। मदेनार्तानां आर्तिमपश्यन्त्र दयां कुरुते॥ २४॥

---

1 W °दृष्टमिति भावः 2 W गुणं कारणं 3 W चक्षिः 4 W °तेऽप्यधर्म° 5 A,B °द्धर्म° 6 W adds धर्मसूचकस्यापि 7 W वाङ्मनसागोचरः 8 W °क्षेति 9 W °स्याङ्गैः

**विज०** श्रीकृष्णो भगवान् येषां पाण्डवानां ज्ञानभक्तिविरक्त्यादिगुणगणैः दौत्यादौ वृतः तेषां पाण्डवेयानां पाण्डुवंशोद्भवानां वः एतत् आर्तानां अभयङ्करं वचः युक्तमुचितमित्यन्वयः॥ १७॥

हे पुरुषर्षभ! यतो जीवानां क्लेशबीजानि स्युः, वयं तं पुरुषं अय मेवेति न जानीमः अनेक शोकबीज-प्रतिपादकवेदवाक्यविमोहिताः॥ १८॥

वाक्यभेदमेवाह — **केचित्** इत्यादिना। केचित् वैकल्पं विकल्पसमूहोपेतं वचः येषां ते तथोक्ताः सन्दिग्धवचस इत्यर्थः। आत्मनः स्वस्य क्लेशबीजं आत्मानं स्वयमेवाहुः। केचित् साङ्ख्याः आत्मानं अन्तःकरणं तत्कारणमाहुः। वैकल्पवचसः प्रकृतिपुरुषयोः विवेकाग्रहवचनाः एके सम्यक् ज्ञानिनः दैवं सर्वदेवप्रधानं हरिं

क्लेशबीजमाहुः। अपरे प्रभुं स्वभावं कालं क्लेशबीजमाहुः। "सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषात्" (म. ना. उ. 1-8) इति श्रुतेः। स्वशब्दवाच्यात् विष्णोः भावः यस्य स स्वभावः॥ १९॥

अनन्तत्वात् सर्वात्मना अप्रतर्क्यात् तर्काविषयात् अनिर्वाच्यात् प्रधानात् क्लेशपरम्परात् सर्वेषां जीवानां प्रकृत्या पिहितत्वात् इति केष्वपि निश्चयः। अथवा अप्रतर्क्यात् प्रकर्षेण तर्कयोग्यात् सत्त्वेनासत्त्वेन वा निर्वक्तुं अशक्यात् भावरूपाज्ञानादिति केषु मायावादिषु निश्चयः। भो राजश्रेष्ठ! एषु पक्षेषु अनुरूपं श्रुतिस्मृत्यनुकूलं विमृश स्वबुद्ध्या आलोच्य निश्चिनु इति॥ २०॥

धर्मे एवं प्रवदति सति स सम्राट् समाहितेन एकाग्रेण मनसा आलोच्य स्वाधीनैः कर्मकालप्रधानैः दैवमेव अस्वतन्त्राणां जीवानां दुःखादिबीजं न त्वावान्तरम्, स्वातन्त्र्येण कर्मादीनां दुःखबीजपक्षः हेय एव इत्येवं धर्मान् विदित्वा तं प्रत्यचष्टेत्येकान्वयः। आत्मादिशब्दवाच्यं परमात्मानं क्लेशबीजं विदित्वेति वा, आदानादिकर्तृत्वात् आत्मा देवोत्तमत्वात् दैवम् क्रियाविषयत्वात् सकलकारणशक्तिमत्त्वाच्च कर्म। स्वस्मात् भावः प्रकाशो यस्य स स्वभावः स्वभां स्वरूपभूतां भां प्रकाशं वाति गच्छति, न परप्रकाशमिति स्वभावः स्वयम्प्रकाश इत्यर्थः। अप्रतर्क्यात् दुस्तर्काविषयत्वात् अप्रसिद्धत्वात् अनिर्वाच्यात् "अप्रसिद्धेरवाच्यं तत्" इति स्मृतेः इति। सर्वेषु पक्षेषु हरिरेवोच्यते क्लेशबीजत्वेन "अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते। इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः" (भ. गी. 10-8), "बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः। सुखं दुःखं भवोऽभावः भयञ्चाभयमेव च" (भ. गी. 10-4), "अहिंसा समता तुष्टिः तपो दानं यशोऽयशः। भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः" (भ. गी. 10-5) इत्यादेश्च। "अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च। न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते" (भ. गी. 9-24) इति स्मृतेः पृथक्कल्पनायाः अज्ञानिविषयत्वात् इत्यादिकं समाहितेन सम्राडिति पदद्वयेनोक्तमिति ज्ञातव्यम्। सम्यक् राजते प्रकाशते सर्वं अस्येति सम्राट्। अत एव "आत्मवैरूप्यकर्तारं न विजानीम" इति वदन्तं धर्मं अब्रवीदित्यन्वयः। समाहितचेतसा ज्ञानेन तं धर्मं भगवन्तं प्रत्यचष्ट दृष्टवान्। अपरोक्षदर्शनेन तस्य निजरूपमद्राक्षीत् इत्यर्थः। दृष्ट्वा चाब्रवीदिति शेषः॥ २१॥

किमब्रवीदिति तत्राह — **धर्ममिति**। हे धर्मज्ञ! धर्मं ब्रवीषि यस्मात् तस्मात् सधर्मोऽसि न वृषः अपितु अज्ञजनमोहनाय वृषरूपं धत्से। यदुक्तं "आत्मवैरूप्यकर्तारं न विजानीम" इति तत्राह यदिति। "असत्कृतमधर्मं तु वदन् धर्ममवाप्नुयात्" इति वचनात् अस्य वृषलस्य आत्मवैरूप्यकर्तृत्वात् सूचने च दोषाभावेऽपि "यद्यधर्मः कृतः सद्भिः न स वाच्यः कथञ्चन" इति वाक्यात् सज्जनेषु अधर्मकृतः यत् स्थानं नरकादिलक्षणं तत्सूचकस्यापि तत् स्थानं भवेदिति ज्ञापनात् त्वया आत्मवैरूप्यकर्ता न ज्ञापित इत्यतः धर्मं ब्रवीषीत्यर्थः॥ २२॥

यतः क्लेशबीजानि तं न विजानीमः इति वदतः तव अभिसन्धिरयं वेति वक्तीत्याह — **अथवेति**। मादृशानां गोचरापि नूनं प्रायेण भूतानां चेतसः वचसश्च देवमायायाः सर्वजीवानां मुख्यामुख्यक्लेशबीजस्य देवस्य हरेः इच्छया गतिस्थितिरधर्मेण धर्मं शोचामीत्यादिका अगोचरेति ज्ञापयितुं सर्वज्ञेन भवता न विजानीम इत्युक्तमिति भावः अभिप्रायनिश्चय इति॥ २३॥

तव तपआदिचत्वारः ये पादाः कृतयुगे कृताः पूर्णाः अवर्तन्त तेषां मध्ये त्रयः पादाः तपश्शौचदयाख्याः अधर्माङ्गैः अधर्मपादैः स्मयसङ्गमदैः भग्नाः। स्मयेन तपोभङ्गः, स्त्रीसङ्गेन शौचभङ्गः मदेन दयाभङ्गः ॥ २४ ॥

---

1 K adds इति वा 2 K.M add सदसत्त्वेन 3 K.M °नाय

**रा॰ कृ॰** येषां पाण्डवेयानां धर्मजादीनां गुणगणैः हेतुभूतैः बद्धः भगवान् कृष्णः दौत्यादौ कृतः नियुक्तोऽभूत्। तादृशानां पाण्डवेयानां वः युष्माकं एतदभयं वचः युक्तं अनुरूपमेव।

बन्धच्छेदिनः बन्धातीतस्य भगवतः भक्त्यादिगुणगणबद्धत्वं नैव विस्मयावहम्। तथाहि वैतुष्यार्जनव्रतयज्ञ-होमदानादिनानानियमाः भक्तिं विना प्रयोजनापेक्षया विधीयमानाः शृङ्खलादिवत् बन्धहेतवः, न भगवत्प्राप्तिहेतवः। नियमास्तावत् अनुष्ठातुरेव न तु भगवतः। तथा च नियमोल्लङ्घनबुद्धिरिव नियमैकपरायणोपि बद्ध एव उभयोरपि कामक्रोधदूषितत्वात्। भक्तिमतां तु नियमाः त्रिगुणात्मकप्रकृतिप्रक्षालनोपयोगिनः। ते हि भक्ताः नियमैः न बद्ध्यन्ते न वा तान् अतिक्रमन्ति। वस्तुतः तेषां नियमाश्च भगवदाराधनोपयोगिमार्गाः एव, ये तावत्तदाराधनाविरोधेन समाद्रियन्ते।

पुरा किल बृन्दावने ब्राह्मणबालकैः सह क्रीडनावसरे तरोः भुवि लङ्घितस्य श्रीकृष्णस्य कटिपीडा सञ्जाता। तदा भगवान् तत्पीडापनोदनार्थं स्वकटिं पद्भिः मर्दयतेति तान् बालकान् आदिदेश। ते तु भगवद्भक्तिभरविवशाः तथा कर्तुं न प्रबभूवुः। अत्रान्तरे गोपबालकः कश्चन तत्रागतः विदितकृष्णपीडः धरामालिङ्ग्य शयानस्य श्रीकृष्णस्य कट्यां स्वपादं निधाय तत्पादाकर्षणेन कटिपीडां दूरीचकार। अत्र भगवदाधापनोदने भगवति स्वकल्पिताः नियमाः ब्राह्मणबालकानां अन्तराया अभवन्। श्रीकृष्णसन्तोषणैकप्रवणबुद्धिः गोपबालकस्तु भक्तिनिमित्तकनियमनिरपेक्षस्सन् चरणस्पर्शेनापि भगवदाधापनोदनाय प्रायतत। ईदृश्या भक्त्या भगवान् बध्यत इति किमत्र चित्रम्? ॥ १७ ॥

हे पुरुषर्षभ! राजन्! यतः यस्मात् पुरुषात् क्लेशबीजानि पादच्छेदादीनि क्लेशकारणानि स्युः भवेयुः तं पुरुषं वाक्यभेदविमोहिताः नानाविधैः वाक्यैः विमोहिताः वयं न विजानीमः नावगच्छामः ॥ १८ ॥

केचिद्विकल्पवसनाः भेदाच्छादिनः भेदानङ्गीकारिणः अद्वैतवादिन इत्यर्थः। आत्मानं आत्मनः प्रभुमाहुः। अन्ये ज्योतिर्विदः दैवं ग्रहादिरूपं आत्मनः प्रभुमाहुः। परे मीमांसकाः कर्म आत्मनः प्रभुमाहुः। अपरे लोकायतिकाः स्वभावं आत्मनः प्रभु माहुः। अप्रतर्क्यात् मनोऽगोचरात् अनिर्देश्यात् वागगोचरात् ईश्वरादेव सुखदुःखादिकं सर्वं भवतीति केष्वपि भागवतेषु निश्चयः। हे राजर्षे! अत्र अस्मिन् विचारे. अनुरूपं सुखदुःखादिदाने समुचितं कारणं स्वमनीषया स्वबुद्ध्या विमृश विचारय।

एतत्सिद्धान्तप्रतिपादकाः प्राज्ञाः सुखमार्गं न निर्दिशन्ति अनुभवज्ञानाधानाकुशलत्वात्। प्रागुक्ताश्च आत्मग्रहक-र्मस्वभावाः पण्डितपरिभाषिताः सुखदानादानयोरसमर्था एव। ततश्च तत्कल्पनाजीविनि मानवे एव सुखदुःखतत्त्वमस्ति। सदसद्विवेकशाली मानव एव स्वसुखदुःखयोः कारणीभवति। परेभ्यः प्राप्तेऽपि दुःखे तेषु कारणत्वापादनं अकिञ्चित्करमेव, सर्वस्यापि जगत्प्रवृत्तेः भगवदधीनत्वात्। स खलु सर्वान्तर्यामी सकलतर्कनिर्णयातीतः। तादृशं

परमात्मानं स्वनिर्वचननिरूपितं समाकलय्य तस्मिन् स्वबुद्धिकृतकर्मफलसमर्पणेन वञ्चितः जनः दुःखादिकमनुभवति, न त्वन्यैरिति भावः ॥ १९, २० ॥

हे द्विजसत्तम! शौनक! धर्मे एवं पूर्वोक्तप्रकारेण प्रवदति सति स सम्राट् सार्वभौमः परीक्षित् विखेदः दुःखरहितः समाहितेन सावधानेन मनसा तं धर्मं पर्यचष्ट प्रत्यभाषत ॥ २१ ॥

हे धर्मज्ञ! धर्मं घातुकं वृषलं जानन्नपि तं न सूचयेदिति धर्मं ब्रवीषि। अतस्त्वं वृषरूपधृत् धर्मः। धर्मदेवतासि। अधर्मकृतः अधर्मकारिणः यत् नरकादिकं स्थानं भवति तत् सूचकस्यापि भवेत्।

सुखदुःखादिसकलावस्थानां दैवमूलकत्वात् पापकृति पापोद्घाटनमपि पापायैव भवति। परान् निन्दता न तत्कृतपापानि परिहियन्ते प्रत्युत निन्दकस्यापि मनो रागद्वेषदूषितं भवति। तस्मात् अखिलेश्वरं नियन्तारं अनुध्यायन् यः कर्तव्यमाचरति सः सर्वकर्मबन्धैः विमुच्यत इति परमार्थः ॥ २२ ॥

अथवा देवमायायाः देवस्य भगवतः सङ्कल्परूपायाः मायायाः गतिः भूतानां चेतसो वचसश्चापि नूनं अगोचरा अज्ञेया अनिर्देश्येति निश्चयः ॥ २३ ॥

धर्माधिदेवस्य तव "तपः शौचं दया सत्यं" इति चत्वारः पादाः कृते कृतयुगे कृताः शास्त्रे निरूपिता इत्यर्थः। तत्र चतुर्षु पादेषु त्रयः तपश्शौचदयाख्याः पादाः अधर्मांशैः स्मयसङ्गमदैः स्मयः बुद्धिविमोहात्मकः, सङ्गः विषयासक्तिः, मदः गर्वः एतैस्त्रिभिः भग्नाः विनाशिताः ॥ २४ ॥

इदानीं धर्म! पादस्ते सत्यं निर्वर्तयेद्यतः।
तं जिघृक्षत्यधर्मोऽयं अनृतेनैधितः कलिः ॥ २५ ॥

इयं च भूर्भगवता न्यासितोरुभरा सती।
श्रीमद्भिस्तत्पदन्यासैः सर्वतः कृतकौतुका ॥ २६ ॥

शोचत्यश्रुकला साध्वी दुर्भगेवोज्झितार्थाधुना।
अब्रह्मण्या नृपव्याजाः शूद्रा भोक्ष्यन्ति मामिति ॥ २७ ॥

सूत उवाच

इति धर्मं महीञ्चैव सान्त्वयित्वा महारथः।
निशातमादधे खड्गं कलयेऽधर्महेतवे ॥ २८ ॥

तं जिघांसुमभिप्रेत्य विहाय नृपलाञ्छनम्।
तत्पादमूलं शिरसा समगात् भयविह्वलः ॥ २९ ॥

**पतितं पादयोर्वीरः कृपया दीनवत्सलः ।**
**शरण्यो नावधीच्छ्लोक्य आह चेदं हसन्निव ॥ ३० ॥**

1. K,M °से यतः 2 K,M °न्य 3 B,H,I,V °ता सती 4 K,M °क्ष्य 5 H,V °र्धी°

**श्रीध० इदानीमिति ।** इदानीं कलौ हे धर्म! ते पादः चतुर्थांशः तत्रापि सत्यमेवाऽस्ति यतः सत्यात् भवान् आत्मानं निर्वर्तयेत् कथञ्चित् धारयेत्। यद्वा पुरुषस्त्वां साधयेत्। तमपि पादं अनृतेन संवर्धितः कलिरूपोऽयं अधर्मो ग्रहीतुमिच्छति तत्रेयं स्थितिः। कृतयुगे प्रथमं सम्पूर्णः चतुष्पाद्धर्मः, त्रेतायां चतुर्णामपि पादानां मध्ये स्मयेन तपः, सङ्गेन शौचं, मदेन दया, अनृतेन सत्यं इत्येवं चतुर्थांऽशो हीयते। द्वापरे त्वर्धम्। कलौ चतुर्थांऽशोऽवशिष्यते सोप्यन्ते नङ्क्ष्यतीति ॥ २५ ॥

**इयमिति ।** न्यसितः अन्योन्यद्वारेणावतारितः उरुः भरः भारः यस्याः। कृतं कौतुकं मङ्गलं यस्यास्सा ॥ २६ ॥

**शोचन्तीति ।** अश्रूणि कलयति मुञ्चतीत्यश्रुकला तेन त्यक्ता सती शूद्रा भोक्ष्यन्ति मामिति शोचति ॥ २७ ॥

**इतीति ।** निशातं निशितं खड्गम्। अधर्मस्य हेतुः यः कलिः तं हन्तुं इत्यर्थः ॥ २८ ॥

**तमिति ।** अभिप्रेत्य ज्ञात्वा ॥ २९ ॥

**पतितमिति ।** शरण्यः आश्रयार्हः। श्लोक्यः सत्कीर्त्यर्हः ॥ ३० ॥

1 H V add तव 2 B H V °र्थांश 3 V य. 4 B H V °र्थांश 5 B H V °र्थांशोऽ 6 H V नश्येदिति 7 H V शरणार्हः 8 B सुकी°

**वीर०** अथ वृषलं तच्चिकीर्षितं च निश्चित्याह — **इदानीमिति** । हे धर्म! यस्तव तुरीयपादः सत्यं तद्यतो निर्वर्तयेत् यस्माद्धेतोः निष्पद्येत तमिदानीं अनृतेनैधितः प्रवृद्धोऽयं अधर्मरूपः कलिः जिघृक्षति ग्रहीतुमिच्छति। तप-आदीनां क्रमेण निर्वर्तकाः स्मयसङ्गमदानृतानां अभावाः। सन्त्यपि हि तपआदीनि विस्मयादिभिर्भज्यन्ते ॥ २५ ॥

अथ गां तत्क्लेशहेतुञ्च निश्चित्याऽऽह — **इयमिति** द्वाभ्याम्। इयं गौः साक्षात् भूः पृथ्वी भगवता श्रीकृष्णेन न्यासित अपनीतः उरुभरः यस्यास्तथाभूता श्रीमद्भिः अब्जादिविग्रहैः श्रीः शोभा येषामस्तीति तैः तस्य भगवतः पादन्यासैः सर्वत्र कृतं कौतुकं उत्सवः यस्यास्सा बभूव ॥ २६ ॥

अधुना तु भगवतोज्झिता त्यक्ता सती साध्वी भूः अत एव भाग्यहीनेव अब्रह्मण्या ब्रह्मकुलासाधवो नृपव्याजाः नृपवेषमात्रधराः शूद्राः मां भोक्ष्यन्तीतिहेतोः अश्रूणां कलाः बिन्दवः यस्याः तथाभूता शोचति ॥ २७ ॥

इति इत्थं, धर्मं महीं च सान्त्वयित्वा महारथः परीक्षित् अधर्महेतवे कलये तद्वधार्थं निशातं तीक्ष्णं खड्गं आदधे उद्धृतवान्॥ २८॥

तं परीक्षितं जिघांसुं हन्तुं इच्छुं अभिप्रेत्य आलक्ष्य कलिः नृपलाञ्छनानि किरीटादीनि विहाय अपनीय भयेन विह्वलगात्रः[12] शिरसा तस्य परीक्षितः पादयोर्मूलं समगात् पपातेत्यर्थः॥ २९॥

पादयोः पतितं[13] कलिं वीरः दीनवत्सलः शरणमर्हति[14] शरण्यः श्लोक्यः प्रशस्तो[15] राजा कृपया नावधीत् न हतवान् किन्तु हसन्निव इदं वक्ष्यमाणमाह॥ ३०॥

---

1 W यत्तव 2 W तुरीयं 3 W पादं 4 W यद्यतो 5 W °व्याद्ये° 6 W °त्तोऽ° 7. W °धर्मं° 8. W निवर्तकाः 9 W भावाः 10 W °धिः न व्यज्यन्ते 11 W °चिह्नैः 12 W adds चलद्गात्रः 13 W adds तं 14 A.B °मर्हः 15 W प्रशस्यः

**विज०** इदानीं अस्मिन् युगे यतः येन पादेन निर्वर्तसे हे धर्म! ते स पादः सत्यं सत्यात्मकस्त्ववशिष्टः अनृतेन अधर्मपादेन एधितः वर्धितः अधर्मात्मकः कलिः तं सत्याख्यं पादं जिघृक्षति तं ग्रहीतुमिच्छति ग्रसितुमाकाङ्क्षते इत्यन्वयः॥ २५॥

इयं भूश्च भगवता न्यासितः अवरोपितः उरुः महान् भरः भारः यस्यास्सा तथोक्ता श्रीमद्भिः तस्य हरेः पदन्यासैः पदपरिक्रमणैः सर्वतः कृतकौतुका रचितालङ्कारा रचितरोमाञ्चेति वा सती निर्मलाऽभूत्॥ २६॥

सेयं साध्वी अधुना तत्पदन्यासैः उज्झिता दुर्भगेव भाग्यहीना स्त्रीव शोचन्ती अश्रुकला सन्ततस्रुतनेत्रजलधारा आस्ते इत्यन्वयः। किङ्कृत्वा अब्रह्मण्या ब्राह्मणभक्तिरहिता नृपव्याजाः शूद्रा मां भोक्ष्यन्ति पालकव्याजेन भुञ्जते इति॥ २७॥

अधर्महेतवे अधर्मकारणाय निशातं तेजितं हन्तुमिति शेषः॥ २८॥

जिघांसुं हन्तुमिच्छुं[1] पादमूलं समगात् अष्टाङ्गविशिष्टतया आसीदित्यन्वयः॥ २९॥

श्लोक्यः कीर्तिकामः॥ ३०॥

---

1 B.K.M हन्तुकामं

**रा० कृ०** हे धर्म! इदानीं कलौ ते पादः सत्यं चतुर्थोऽशः सत्यमेवास्ति, यतस्स आत्मानं कथञ्चित् धारयति। तमपि पादं अनृतेन असत्येन एधितः संवर्धितः कलिः कलिरू ग्रहीतुमिच्छति॥ २५॥

इयं च भूः गोरूपधरा भूमिः भगवता श्रीकृष्णेन न्यासितोरुभरा सती परस्परयुद्धेन अपनीतभूरिभारा सती श्रीमद्भिः पद्मादिशोभासहितैः तत्पदन्यासैः भगवतः पादन्यासैः सर्वतः सर्वत्र कृतकौतुका कृतमङ्गला च सती,

अधुना उज्झिता तेन भगवता त्यक्ता अश्रुकला अश्रुबिन्दुसहिता साश्रुनयनेति यावत्। तथा सती अब्रह्मण्याः ब्राह्मणभक्तिहीनाः नृपव्याजाः नृपवेषधारिणः शूद्रा मां भोक्ष्यन्ति अनुभविष्यन्तीति दुर्भगा भाग्यहीना पाध्वीव पतिव्रतेव शोचति दुःखिता भवति॥ २६, २७॥

इति पूर्वोक्तप्रकारेण महारथः परीक्षित् धर्मं महीं च सान्त्वयित्वा अधर्महेतवे कलये निशातं तीक्ष्णं खड्गं आददे गृहीतवान्॥ २८॥

तं परीक्षितं जिघांसुं हन्तुं इच्छुं अभिप्रेत्य आलक्ष्य कलिः नृपालच्छनं किरीटादिकं राजचिह्नं विहाय त्यक्त्वा भयविह्वलः भयव्याकुलः शिरसा तत्पादमूलं तस्य परीक्षितः पादयोः मूलं समगात् अपतत्॥ २९॥

दीनवत्सलः शरण्यः श्लोक्यः प्रशंसनीयः वीरः राजा पादयोः पतितं कलिं कृपया नावधीत्। किञ्च हसन्निव इदं वक्ष्यमाणं वचनं आह अब्रवीत्॥ ३०॥

राजोवाच

न ते गुडाकेशयशोधराणां बद्धाञ्जलिर्वै भयमस्ति किञ्चित्।
न वर्तितव्यं भवता कथञ्चन क्षेत्रे मदीये त्वमधर्मबन्धुः॥ ३१॥

त्वां वर्तमानं नरदेवदेहेष्वनुप्रवृत्तोऽयमधर्मपूगः।
लोभोऽनृतं चौर्यमनार्यमंहो ज्येष्ठा च माया कलहश्च दम्भः॥ ३२॥

न वर्तितव्यं तदधर्मबन्धो धर्मेण सत्येन च वर्तितव्ये।
ब्रह्मावर्ते यत्र यजन्ति यज्ञैः यज्ञेश्वरं यज्ञवितानविज्ञाः॥ ३३॥

यस्मिन् हरिर्भगवानिज्यमान इज्यामूर्तिर्यजतां शं तनोति।
कामानमोघान् स्थिरजङ्गमानां अन्तर्बहिर्वायुरिवैष आत्मा॥ ३४॥

सूत उवाच

परीक्षितैवमादिष्टः स कलिर्जातवेपथुः।
तमुद्यतासिमाहेदं दण्डपाणिमिवोद्यतम्॥ ३५॥

कलिरुवाच

यत्र क्वचन वत्स्यामि सार्वभौम! तवाज्ञया।
लक्षये तत्र तत्रापि त्वामात्तेषुशरासनम्॥ ३६॥

---

1. AF.GF °स्ते; K.M °र्भो! 2. K.M कथञ्चित् 3 H.V.W °ऽस्मदीये 4. H.K.M.V °यूथः 5 K.M यदधर्म°. V तव धर्म° 6. K.M ब्रह्मवितानयज्ञाः 7. B.I.W इज्यात्ममूर्ति°; K इष्टात्ममूर्ति°; M इच्छात्ममूर्ति° 8. K.M °रिवेश आ°, W-°रिवैक आ° 9 AF GF कचाथ°; B.H.I.K.M.V कचाथ

**श्रीध० नेति।** गुडाकेशोऽर्जुनः तस्य यशोधरा ये वयं तेषां तान् प्रति बद्धः अञ्जलिः येन तस्य ते। किञ्चित् कथञ्चन केनाप्यंशेन न वर्तितव्यम्। यस्मात् त्वं अधर्मस्य बन्धुः॥ ३१॥

तदेवाऽऽह — **त्वामिति।** राजदेहेषु वर्तमानं त्वामनु सर्वतः प्रवृत्तः। अनार्यं दौर्जन्यं अंहः स्वधर्मत्यागः। ज्येष्ठा अलक्ष्मीः। माया कपटम्॥ ३२॥

**नेति।** तत् तस्मात् धर्मेण सत्येन च वर्तितव्ये वर्तितुमर्हे ब्रह्मावर्ते देशे। यज्ञस्य वितानं विस्तारः तत्र विज्ञा निपुणाः॥ ३३॥

**यस्मिन्निति।** इज्या यागः तद्रूपा मूर्तिः यस्य शं क्षेमं कामांश्च। ननु इन्द्रादयः देवा इज्यन्ते न तु हरिः। तत्राऽऽह — एषः स्थावरादीनां **आत्मेति।** तथापि जीववत् न परिच्छिन्न इत्याह **अन्तर्बहिरिति।** यथा वायुः प्राणरूपेण अन्तस्थोऽपि बहिरप्यस्ति तद्वत् सर्वान्तर्यामी ईश्वरोऽपि इति॥ ३४॥

**परीक्षितेति।** उद्यतासिं उद्धृतखड्गम्। दण्डपाणिं यमम्। उद्यतं उद्युक्तम्॥ ३५॥

**यत्रेति।** अत्र न वस्तव्यमिति या तवाऽऽज्ञा तया यत्र क्वापि वत्स्यामि किन्तु तत्र तत्रापि आत्तो गृहीतः इषुः शरासनञ्च येन तं **त्वामेव** लक्षये॥ ३६॥

---

1 A,B किन्तु 2 B तत्रापि 3 B स्थितोऽपि

**वीर०** तदेवाह — नेत्यादिभिश्चतुर्भिः। गुडाकेशयशोधराणां अर्जुनकीर्तिवर्धनानां अस्माकं **सन्निधाविति** शेषः बद्धाञ्जलेस्ते तव किञ्चिदपि भयं नास्ति, अस्मदीये क्षेत्रे कथञ्चन भवता न वर्तितव्यं, कुतः यतः **त्वं अधर्मस्य बन्धुः** अनुबन्धी॥ ३१॥

तदेव प्रपञ्चयति — **त्वामिति।** नरदेवानां देहेषु वर्तमानं त्वां अनुसृत्य प्रवृत्तः भवति अयमधर्मसमुदायः, कोऽसावधर्मयूथः इत्यत्राह — **लोभ** इति। अनार्यं शाठ्यं अंहः पापं, ज्येष्ठा अलक्ष्मीः, माया मायागुणकार्यम् रागद्वेषादिकं अपह्नवो वा, दम्भः वञ्चनम्॥ ३२॥

तत् तस्मात् हे अधर्मबन्धो! धर्मेण सत्येन च वर्तितव्ये अस्मिन् ब्रह्मावर्ते क्षेत्रे त्वया न वर्तितव्यम्। "सरस्वतीदृषद्वत्योः देवनद्योर्यदन्तरं तद्ब्रह्मावर्तम्"। तथा यत्र यज्ञवितानविज्ञाः यज्ञानुशासनकोविदाः यज्ञैः यज्ञेश्वरं परमपुरुषं आराधयन्ति तत्र ब्रह्मावर्ते न वर्तितव्यम् भवतेत्यर्थः॥ ३३॥

किम्बहुना! यस्मिन् देशे हरिः भगवान् इज्या आराध्या इन्द्रादयः ते मूर्तिः शरीरं यस्य सः। यज्ञैः इज्यमानो वायुरिव स्थावराणां जङ्गमानाञ्च भूतानामन्तर्बहिश्च व्याप्य इति शेषः। आत्मा अन्तः प्रविश्य प्रशासनधारणे कुर्वन् यजतां आराधयितॄणां अमोघान् कामान् इष्टार्थांश्च शं सुखं मोक्षाख्यं च तनोति प्रयच्छति। तत्र सर्वत्रापि न भवता वर्तितव्यम्॥ ३४॥

इत्थं परीक्षिता अनुशिष्टः कलिः जातवेपथुः सञ्जातगात्रकम्पः उद्यतः उद्धृतः असिः खड्गः येन तं दण्डपाणिं यममिवोद्यन्तं उक्तं इदं वक्ष्यमाणमाह ॥ ३५ ॥

तदेवाह — **यत्रेति** द्वाभ्याम्। हे सार्वभौम! तवाऽज्ञया यत्र क्वचित् वत्स्यामि यत् स्थानं भवान्निर्दिशति, तत्र क्वचित् वत्स्यामि। किन्तु तत्र त्वामेव गृहीतशरासनं आलक्षये ॥ ३६ ॥

---

1. W °धर्मि° 2 W °नुष्ठान° 3 W °धारणे 4 W क्वापि

**विज०** गुडाकेशयशोधराणां अर्जुनकीर्तिं बिभ्रतां कौरवाणां अस्माकमर्थे बद्धोऽञ्जलिः येन सः तथोक्तः तस्य गुडाकेशयशोधराणां सकाशात् भयं नास्तीति वा। किन्तु हे कले! त्वया मदीये क्षेत्रे कथञ्चिदपि न वर्तितव्यं इत्यन्वयः। देहमारभ्य राष्ट्रपर्यन्तस्थानविवक्षया क्षेत्र इत्युक्तम्। कुत इति तत्राह — **त्वमिति**। अधर्म एव बन्धुः यस्य स तथोक्तः अधर्मबन्धुत्वादिति भावः ॥ ३१ ॥

ततश्च किमिति तत्राऽऽह — **त्वामिति**। नरदेवानां धर्मपालकानां राज्ञां देहेषु वर्तमानं सन्निदधानं त्वां अनु अनन्तरं अयं लोभाद्यधर्मयूथः प्रवृत्तो भवतीति यस्मात् तस्मात् अधर्मबन्धो! हे कले! सत्येन धर्मेण च वर्तितव्ये ब्रह्मावर्ते विन्ध्यहिमवत्पर्वतयोः मध्ये पुण्यदेशे न वर्तितव्यं इत्यन्वयः। लुभ गाध्य इति धातोः लोभः परवित्ताभिलाषः सद्व्यये प्राप्ते स्ववित्तापरित्यागो वा। ज्येष्ठा अलक्ष्मीः, माया निकृतिः यत्र यस्मिन् ब्रह्मावर्ते स्वाध्यायादिः ब्रह्मयज्ञः चरुपुरोडाशादिद्रव्यलक्षणवितानयज्ञश्च येषान्ते ब्रह्मवितानयज्ञाः मुनयः यज्ञैः यज्ञेश्वरं यजन्ति ॥ ३२, ३३ ॥

यस्मिन् इच्छात्ममूर्तिः इच्छातनुः इज्यमानः हरिः भगवान् यजतां पुंसां शं सुखं तनोति प्रपञ्चयति अमोघान् कामानपि — तनोतीति। किंविशिष्टो हरिः ? स्थिरजङ्गमानां अन्तर्बहिश्च वर्तमानः क इव वायुरिव आत्मा व्याप्तः ईशः प्रवर्तकः ॥ ३४ ॥

उद्यतं सन्नद्धं दण्डपाणिं यममिव स्थितं उद्यतासिं उद्धृतखड्गम् ॥ ३५ ॥

यत्र क्व वा त्वदुक्तस्थले वत्स्यामीत्यन्वयः। लक्षये पश्यामि ॥ ३६ ॥

**रा० कृ०** गुडाकेशयशोधराणां अर्जुनकीर्तिवर्धनानां अस्माकमिति शेषः। पुरतः बद्धाञ्जलेः ते किञ्चिदपि भयं नैवास्ति। तथापि यतः त्वं अधर्मबन्धुः अधर्मस्य सहकारी असि, ततः मदीये क्षेत्रे मत्पालिते देशे कथञ्चन केनाप्यंशेन भवता त्वया न वर्तितव्यम् ॥ ३१ ॥

नरदेवदेहेषु नरदेवानां राज्ञां देहेषु वर्तमानं त्वां लोभः परवित्ताद्यभिलाषः, अनृतं असत्यभाषणं, चौर्यं गुप्ततया परधनाद्यपहरणं, अनार्यं दौर्जन्य, अंहः पापाचरणं, ज्येष्ठा अलक्ष्मीः दारिद्र्यमिति यावत्। माया कपटं,

कलहः विरोधः, दम्भो वञ्चनादिकं— इत्ययं एवमादिकः अयं अधर्मपूगः अधर्मयूथः अनुप्रवृत्तः अनुसृत्य व्याप्तः ॥ ३२ ॥

हे अधर्मबन्धो! तत् तस्मात् यत्र यज्ञवितानविज्ञाः यज्ञानुष्ठानकोविदाः यज्ञैः यज्ञेश्वरं भगवन्तं यजन्ति धर्मेण कायिकेन धर्मेण, सत्येन वाचिकेन सत्येन चकारात् मानसेन ध्यानेन च वर्तितव्ये तत्र मदीये ब्रह्मावर्ते त्वया न वर्तितव्यम् ॥ ३३ ॥

किञ्च यस्मिन् ब्रह्मावर्ते इज्यामूर्तिः यज्ञस्वरूपः इज्यमानः यज्ञैः पूज्यमानः स्थिरजङ्गमानां स्थावरजङ्गमानां अन्तर्बहिश्च व्याप्य वायुरिव स्थितः आत्मा सर्वात्मा एषः भगवान् हरिः यजतां निष्कामानां पूजकानां शं आत्मसुखं अपि च सकामानां यजतां अमोघान् कामान् उत्तमान् विषयांश्च तनोति तत्र ब्रह्मावर्ते त्वया न वर्तितव्यमिति पूर्वेणान्वयः ।

यज्ञार्थसत्कर्माचरणेन हि भवति सर्वजीविनां सन्तृप्तिः, यैव सर्वान्तर्यामिसन्तृप्तिरिति व्यपदिश्यते। तया परिसरप्रदेशः शान्तिसुखविलसितः विनिर्मलो भवति। प्रजाः प्रयत्नं विना प्राप्तकामाः भवन्ति। तथा च अधिकारेण कार्यसाधनावश्यकता नैवास्ते। तस्मात् प्रभवः नाधिकारप्रदर्शिनः, किन्तु प्रजासेवापरायणाः भवन्ति।

ईदृशानां महतां मध्ये अधिकारैकदृष्टेः जनस्य वर्तनेन सः परिसरः कलुषितो भवति। तस्मादयं परीक्षित् ब्रह्मावर्तं परित्यजेति कलिपुरुषमादिशतीति ज्ञेयम् ॥ ३४ ॥

एवं उक्तप्रकारेण परीक्षिता आदिष्टः आज्ञप्तः सः कलिः जातवेपथुः भयेन सञ्जातकम्पः उद्यतासिं उद्धृतखड्गं दण्डपाणिं यममिव उद्यतं हन्तुमुद्युक्तं तं परीक्षितं इदं वक्ष्यमाणं वचनमाह अवोचत् ॥ ३५ ॥

हे सार्वभौम! तवाऽऽज्ञया यत्र क्वचन यत्र कुत्रापि वत्स्यामि निवासं करिष्यामि, परन्तु तत्र तत्रापि आत्तेषुशरासनं गृहीतबाणचापं त्वामेव लक्षये पश्यामि ॥ ३६ ॥

**तन्मे धर्मभृतां श्रेष्ठ! स्थानं निर्देष्टुमर्हसि ।**
**यत्रैव नियतो वत्स्य आतिष्ठंस्तेऽनुशासनम् ॥ ३७ ॥**

**सूत उवाच**

**अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ ।**
**द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः ॥ ३८ ॥**

**पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात्प्रभुः ।**
**ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरञ्च पञ्चमम् ॥ ३९ ॥**

**अमूनि पञ्च स्थानानि ह्यधर्मप्रभवः कलिः ।**
**औत्तरेयेण दत्तानि न्यवसत्तन्निदेशकृत् ॥ ४० ॥**

अथैतानि न सेवेत बुभूषुः पुरुषः क्वचित्।
विशेषतो धर्मशीलः राजा लोकपतिर्गुरुः ॥ ४१ ॥

वृषस्य नष्टांस्त्रीन् पादान् तपश्शौचं दयामिति।
प्रतिसंदध आश्वस्य महीं च समवर्धयत् ॥ ४२ ॥

स एष एतर्ह्यध्यास्त आसनं पार्थिवोचितम्।
पितामहेनोपन्यस्तं राज्ञाऽरण्यं विविक्षता ॥ ४३ ॥

आस्तेऽधुना स राजर्षिः कौरवेन्द्रश्रियोल्लसन्।
गजाह्वये महाभागश्चक्रवर्ती बृहच्छ्रवाः ॥ ४४ ॥

इत्थंभूतानुभावोऽयं अभिमन्युसुतो नृपः।
यस्य पालयतः क्षोणीं यूयं सत्राय दीक्षिताः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
प्रथमस्कन्धे कलिनिग्रहो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

---

1. H,V °द्विषुः 2. A.F,G.F आस्थाय 3. A.F,G.F एतदध्यास्त° 4. H,V °ऽथ 5. K,M ° न्द्रः श्रि° 6 I क्षोणीं

**श्रीध° तदिति**। तत् तस्मात् नियतः निश्चलः वत्स्ये वत्स्यामि ॥ ३७ ॥

**अध्यर्थित** इति। पानं मद्यादि। सूनाः प्राणिवधाः। द्यूते अनृतम्। पाने मदः, पूर्वं मदः दयानाशकत्वेनोक्तः अत्र तु गर्वद्वारा तपोनाशकत्वेन। स्त्रीषु सङ्गः। हिंसायां क्रौर्यं दयानाशकमिति ज्ञेयम्। यद्यपि सर्वं सर्वत्र सम्भवति तथापि प्राधान्येन अनृतादीनां द्यूतादिषु यथासंख्यं ज्ञेयम्। द्वादशस्कन्धे तु "सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप!" (भाग. 12-3-18) इत्यत्र दानशब्देन शौचमेवोक्तम्। मनश्शुद्धिरूपत्वात् भूताभयदानस्य। "त्रेतायां धर्मपादानां तुर्यांशो हीयते शनैः। अधर्मपादैरनृतहिंसासन्तोषविग्रहैः" (भाग. 12-3-20) इत्यत्र चासन्तोषशब्देन तस्य हेतुर्गर्वो लक्ष्यते, विग्रहशब्देन च तद्धेतुः स्त्रीसङ्गः इत्यविरोधः ॥ ३८ ॥

**पुनरिति**। चतुर्विधस्यापि एकत्रैवावस्थानं देहीति पुनः याचमानाय जातरूपं सुवर्णं अदात् दत्तवान्। ततस्सुवर्णदानात् अनृतम्, मदम्, कामिमिति स्त्रीषु सङ्गम्, रज इति रजोमूलां हिंसाम्-एतानि चत्वारि, पञ्चमं वैरञ्च अदादिति ॥ ३९ ॥

**अमूनीति**। औत्तरेयेण परीक्षिता अमूनि अमीषु स्थानेषु न्यवसदित्यर्थः ॥ ४० ॥

**अथेति**। अथ इति हेतोः। एतानि बुभूषुः भवितुमिच्छुः। स्त्रीसुवर्णयोरसेवनं नाम तयोरनासक्तिः ॥ ४१ ॥

**वृषस्येति**। एवं कलिं निगृह्य वृषस्य पादान् प्रतिसन्दधे; तपआदीनि प्रवर्तितवानित्यर्थः ॥ ४२ ॥

युष्मदीयसत्रप्रवृत्तिरपि तत्प्रभावादेवेत्याह त्रिभिः — **स** इति। एतर्हि इदानीं युधिष्ठिरेण अरण्यं प्रवेष्टुमिच्छता उपन्यस्तं समर्पितं आसनं अध्यास्ते। अधुना आस्ते पालयत इति [12] वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवन्निर्देशः। स्मेत्यध्याहारो वा ॥ ४३, ४४ ॥

**इत्थमिति**। सत्राय सत्रं कर्तुं दीक्षिताः दीक्षां कृतवन्तः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

---

1. A,B °देः 2 H,V °नोक्तः 3 B adds च 4 H,V add अपि 5. B adds तत् 6. H,V दानमित्यर्थः 7. B एकत्रावस्थानं 8 B स्त्रीसङ्गम्; H,V omit स्त्रीषु 9 B °तौ 10. A,B उद्भवि° 11. B °दित्याह 12. B adds च

**वीर०** अतः त्वामेवंविधं न यत्र लक्षये हे धर्मभृतां श्रेष्ठ! तव अनुशासनं आतिष्ठन् अनुपालयन् नियमेन वत्स्ये, तत्स्थानं निर्देष्टुं त्वमर्हसि ॥ ३७ ॥

इत्थं अभ्यर्थितो राजा ततः तस्मै कलये वासस्थानानि ददौ। तान्येवाऽऽह — **द्यूतमिति**। येषु स्थानेषु द्यूतादिरूपः चतुर्विधः अधर्मः तानि ददौ इत्यर्थः। तत्र द्यूतं अक्षैः देवनं, पानं मद्यपानं, स्त्रियः स्त्रीणां सङ्गः, सूना भूतहिंसा ॥ ३८ ॥

पुनश्च स्थानान्तरं याचमानाय कलये प्रभुः परीक्षित् जातरूपं सुवर्णं स्थानमदात्। ततः पुनरपि स्थानान्तराणि याचमानाय अनृतादीनि पञ्च येषु तानि स्थानानि ददौ रजः क्रोधः ॥ ३९ ॥

प्रभवति अस्मात् इति प्रभवः अधर्मप्रभवः कलिः औत्तरेयेण परीक्षिता दत्तानि अमूनि पञ्च स्थानानि अनृतादीनि पूर्वोक्तानि द्यूतादीनि च तस्यौत्तरेयस्य आज्ञानुवर्ती सः कलिः न्यवसत् ॥ ४० ॥

यतो द्यूतादीनि कलेरावासस्थानानि अथ अतः बुभूषुः भवितुमिच्छुः आत्मसत्तां लब्धुमिच्छुः पुमान् एतानि द्यूतादीनि न सेवेत। बुभूषुरित्यनेन एतानि सेवमानोन्ततः स्थावरतां प्राप्नुवन् असत्प्रायो भवेदिति सूचितम्। राजा तु विशेषतः एतानि न सेवेत। कुतः? यतोऽयं धर्मशीलः धर्म एव शीलं वृत्तं यस्य सः। तच्च कुतः लोकपतिः लोकानां [1] पतिः पालयिता, अन्यथा राजानमवलोक्य प्रजा अपि तथा कुर्वत्यः नश्येयुरिति भावः। एतच्च राज्ञः अनुचितमित्यभिप्रायेण विशिनष्टि। गुरुः हितोपदेष्टा ॥ ४१ ॥

ततः वृषस्य वृषरूपधर्मस्य नष्टान् तपआदिरूपान् त्रीन् पादान् प्रतिसन्दधे संयोजयामास परीक्षिदिति शेषः। तथा महीं चाश्वास्य सान्त्वयित्वा सम्यगवर्धयत् पुपोष ॥ ४२ ॥

**स** इति। स उक्तविधप्रभावः एष परीक्षित् एतर्हि अधुना अनतिकाले विप्रकृष्टकाले अरण्यं विविक्षता प्रवेष्टुमिच्छता पितामहेन राज्ञा युधिष्ठिरेण उपन्यस्तं प्रदत्तं पार्थिवस्य सार्वभौमस्योचितं सिंहासनं अध्यास्ते। "वर्तमानवद्वे" ति भूते लट्॥ ४३॥

कौरवश्रेष्ठः श्रिया सार्वभौमश्रिया उल्लसन् प्रकाशमानः विपुलकीर्तिः चक्रवर्ती चक्रं भूमण्डलं वर्तयति पालयतीति तथाभूतः। राजर्षिः महाराजः परीक्षित् गजाह्वये पुरे अधुना वर्तमानसन्निकृष्टे भूतकाले आस्ते आस्त॥ ४४॥

न केवलं उक्त एव तस्य प्रभावः, किन्तु इत्थंभूता अन्ये च प्रभावाः यस्य, तथाभूतोऽयमभिमन्योः सुतः नृपः परीक्षित् अत एवाधुना तस्याभावेऽपि तद्भयात् कलेः अत्र देशे प्रवेशाभावादेव भवतां इदं सत्रं प्रवर्तत इत्याह — **यस्येति**। यस्य परीक्षितः क्षोणीं पालयतः अत्रापि वर्तमानसामीप्ये भूते लटः शत्रादेशः, पालितवतः सतः। अपनीतेऽपि घनसारे तत्पेटिकायां तद्वासनानुवृत्तिवत् तदाज्ञाचक्रानुवृत्तेरेव हेतोः यूयं सत्राय कृतसङ्कल्पाः वर्तध्वे, अन्यथा कलिना अभिभूतं सत्रमिदं न प्रवर्तेत इत्यर्थः॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

---

1. W adds जनानां 2. A,B कुर्वन्त्यः

**विज०** हे धर्मभृतां श्रेष्ठ! तत् स्थानं निर्देष्टुमर्हसि इत्यन्वयः। आतिष्ठन्[1] वत्स्ये वसामि॥ ३७॥

कानि तानि स्थानानि इति तत्राऽऽह — **द्यूतमिति**। द्यूतं देवनं, पीयत इति पानं मद्यं, सूना प्राणिहिंसनं, यत्र येषु स्थानेषु चतुर्विधः अधर्मः पापं स्यादिति शेषः॥ ३८॥

जातरूपं सुवर्णं तत्फलमाह — **तत** इति। ततो द्यूतादिभ्यः अनृतादीनि पापसाधनानि भवन्तीति शेषः॥ ३९॥

तस्य राज्ञः निदेशकृत् आज्ञाकृत् अधर्मप्रभवः अधर्मोत्पादकः अमूनि द्यूतादीनि पञ्च स्थानानि॥ ४०॥

बुभूषुः पुरुषार्थकामः लोकपतिः लोकपालः गुरुः उपदेष्टा धर्मस्येति शेषः॥ ४१॥

वृषस्य धर्मस्य॥ ४२॥

एतर्हि तदानीं पार्थिवानां राज्ञां उचितं आसनं सिंहासनं अध्यास्ते इति लट् लङर्थः। अरं प्राप्तं रक्षतीत्यरण्यं वनं विविक्षता प्रवेष्टुकामेन पितामहेन पितुः पित्ता युधिष्ठिरेण उपन्यस्तं दत्तं आसनं अध्यास्ते इति "अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म" (अष्टा. 1-4-46) इति सप्तम्यर्थे द्वितीया। बृहच्छ्रवाः महाकीर्तिः॥ ४३, ४४॥

यस्य क्षोणीं पालयतः सतः यूयं सत्राय यज्ञविशेषाय दीक्षिताः सोऽयमभिमन्युसुतो नृपः इत्थम्भूतानुभावः, कल्यादिबन्धनलक्षणसामर्थ्योपेत इत्यन्वयः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां प्रथमस्कन्धे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

---

1 K,M add अनुतिष्ठन्

**रा॰ कृ॰** तत् तस्मात् हे धर्मभृतां श्रेष्ठ! ते अनुशासनं आतिष्ठन् यत्रैव नियतः निर्भयः वत्स्ये तत्स्थानं मे निर्देष्टुं नामग्रहणेन सूचयितुं अर्हसि ॥ ३७ ॥

अभ्यर्थितः एवं कलिना सम्प्रार्थितः राजा तदा तस्मै कलये द्यूतं, पानं, स्त्रियः स्त्रीसङ्ग इत्यर्थः। सूना हिंसा इत्येवं चतुर्विधः अधर्मः यत्र वर्तते तानि स्थानानि ददौ दत्तवान् ॥ ३८ ॥

पुनश्च याचमानाय कलये प्रभुः परीक्षित् जातरूपं काञ्चनमदात् दत्तवान्। ततः काञ्चनदानात् अनृतं, मदः, कामः, रजश्च, इत्येतानि चत्वारि स्थानानि पञ्चमं स्थानं वैरं चादात् ॥ ३९ ॥

अधर्मप्रभवः अधर्मकारणभूतः कलिः तन्निदेशकृत् तस्य परीक्षितः निदेशकृत् आज्ञाकारी सन् औत्तरेयेण उत्तरातनयेन परीक्षिता दत्तानि अमूनि पूर्वोक्तानि पञ्चस्थानानि न्यवसद्धि निश्चयेन तेषु निवासमकरोत्।

काञ्चनगोपनेन असत्यमदकलहप्राणिवधादि पापबुद्धिः प्रजासु प्रतन्यते। परजीवितावश्यकतानुसन्धाननिरपेक्षप्रवृत्तिः, स्वार्थसम्पादनाय निष्किञ्चनानां नियोजनं, अस्पृश्यतायोग्यतानैरपेक्ष्येण कस्मिंश्चित्कुले जातानां वृत्तिप्रकल्पनादयश्च 'मद'पदेन व्यवह्रियन्ते। मिथ्यागणनं अन्येष्वविभक्तस्य धनकाञ्चनादेः गोपनं असत्येऽन्तेर्भवति। प्रयोजनानपेक्षया विलासार्थं अन्नवस्त्रगृहाद्यनुभवेच्छा कामे पर्यवस्यति। अल्पतरवेतनदानेन अनल्पकार्यकरणदुर्भरभारवहनादिषु भृत्यानां प्रवर्तनादिकं च हिंसात्वेन व्यपदिश्यते। तथा च केषुचित् स्थानेषु कलिधर्मप्रवर्तनया दुष्टपीडनात् साधारणप्रजासंरक्षणं साध्यं भवति। तथाहि — मक्षिकापिपीलिकादिबाहुल्योपद्रवसमये गृहकोणेषु गुडशर्करादिमिश्रितरज्जुतण्डुलचूर्णादिनिक्षेपेण तदुपद्रवतीव्रतां यथा निवारयितुं वयं शक्नुमः तथा राष्ट्रे च राजापि दुष्टान् तच्चित्ताकर्षकस्थानप्रवृत्तिनिरतान् विधाय शिष्टजनसंरक्षणं कुर्यादिति भावः।

तदेवं परीक्षिदपि कलिं निगृह्य धर्मं पादचतुष्टयपूर्णमकरोदिति ज्ञायते ॥ ४० ॥

अथ बुभूषुः भवितुमिच्छुः आत्मस्थितिं कामयमानः इत्यर्थः, पुरुषः क्वचित् कस्मिन्नपि देशे काले वा एतानि कलिस्थानानि पूर्वोक्तानि न सेवेत। विशेषतः विशिष्य धर्मशीलः धर्मस्वभावः लोकपतिः लोकपालकः, गुरुः लोकाय हितोपदेष्टा राजा एतानि नैव सेवेतेति पूर्वेणान्वयः ॥ ४१ ॥

अनन्तरं परीक्षित् वृषस्य वृषरूपधर्मस्य नष्टान् भग्नान् तपः शौचं दया चेति त्रीन् पादान् प्रतिसन्दधे प्रतिसंयोजयामास। एवं महीं चाश्वास्य समवर्धयत् सम्यगपालयत् भक्तिमार्गप्रवर्तनेन, पाषण्डमतदूरीकरणेन, कृष्यादिना च प्रजापालनमकरोदिति भावः॥ ४२॥

सः पूर्वोक्तप्रभावः एषः परीक्षित् एतर्हि सम्प्रति अरण्यं विविक्षता प्रवेष्टुमिच्छता पितामहेन राज्ञा युधिष्ठिरेण उपन्यस्तं दत्तं पार्थिवोचितं सार्वभौमस्य उचितमनुरूपं आसनं सिंहासनं अध्यास्ते अधिष्ठितवान्॥ ४३॥

महाभागः बृहच्छ्रवाः अधिककीर्तिः चक्रवर्ती स राजर्षिः परीक्षित् कौरवेन्द्रश्रिया कौरवेन्द्राणां युधिष्ठिरादीनां श्रिया शोभया उल्लसन् प्रकाशमानः सन् गजाह्वये हस्तिनापुरे अधुना आस्ते आसीदित्यर्थः॥ ४४॥

यस्य परीक्षितः क्षोणीं पालयतस्सतः यस्मिन् राज्ञि भूमिं शासति सतीति यावत्। यूयं सत्राय दीक्षिताः प्रवृत्ताः अभवत। सोऽयमभिमन्युसुतो नृपः इत्थंभूतानुभावः पूर्वोक्तमहिमोपेतः॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां व्याख्यायां
सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

# अष्टादशोऽध्यायः

सूत उवाच

यो वै द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टो न मातुरुदरे मृतः ।
अनुग्रहाद्भगवतः कृष्णस्याद्भुतकर्मणः ॥ १ ॥

ब्रह्मकोपोत्थिताद्यस्तु तक्षकात्[1] प्राणविप्लवात्[2] ।
न सम्मुमोहोरुभयात् भगवत्यर्पिताशयः ॥ २ ॥

उत्सृज्य सर्वतस्सङ्गं विज्ञाताजितसंस्थितिः[3] ।
वैयासकेर्जहौ[4] शिष्यो गङ्गायां स्वं कलेवरम् ॥ ३ ॥

नोत्तमश्लोकवार्तानां जुषतां[5] तत्कथामृतम् ।
स्यात्सम्भ्रमोन्तकालेऽपि स्मरतां तत्पदाम्बुजम् ॥ ४ ॥

तावत्कलिर्न प्रभवेत् प्रविष्टोऽपीह सर्वतः ।
यावदीशो महानुर्व्यामभिमन्यव[7] एकराट् ॥ ५ ॥

यस्मिन्नहनि यर्ह्येव भगवानुत्ससर्ज गाम् ।
तदैवेहानुवृत्तोऽसौ अधर्मप्रभवः कलिः ॥ ६ ॥

नानुद्वेष्टि[8] कलिं सम्राट् सारङ्ग इव सारभुक् ।
कुशलान्याशु सिद्ध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत् ॥ ७ ॥

किं नु[9] बालेषु शूरेण कलिना धीरभीरुणा[10] ।
अप्रमत्तः प्रमत्तेषु यो वृको[11] नृषु वर्तते ॥ ८ ॥

---

1 H.K.M.V °शापो° 2 K.M °वे 3 K.M °नार्जित° 4 H.V °सि° 5 B °मः श्लो° 6 AF GF कुर्वतां 7 H.V °र्व्यां आ° 8. AF GF नाभि° 9 K.M किमु बा° 10 K.M शूर° H.V °ऽधीर° 11 AF GF नृपोः W वृकोऽविषु

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

राज्ञस्त्वष्टादशे तस्य ब्रह्मशापो निरूप्यते ।
स चानुग्रह एवास्य जातो वैराग्यमावहन् ॥

परीक्षितः निर्याणं अत्याश्चर्यं वक्तुं तत्सम्भावनाय जन्माश्चर्यमनुस्मारयति — **यो वा** इति। विप्लुष्टो निर्दग्धस्सन्॥ १॥

**ब्रह्मेति।** ब्रह्मकोपादुत्थितात्[1] तक्षकात् यः प्राणविप्लवः प्राणनाशः तस्मात् यत् उरुभयं तस्मात् न सम्मुमोह। तत्र हेतुः यस्तु भगवत्येव अर्पिताशय इति॥ २॥

**उत्सृज्येति।** किन्तु वैयासकेः शुकस्य शिष्यस्सन्। विज्ञाता अजितस्य श्रीहरेः संस्थितिः तत्त्वं येन सः॥ ३॥

न[3] चैतच्चित्रमित्याह — **नेति**। उत्तमश्लोकस्यैव वार्ता येष्वत[4] एव नित्यं तत्कथारूपममृतं जुषतां[5] सम्भ्रमः मोहः न स्यात्॥ ४॥

तस्मिन् राज्ञि सुतरां तत्र चित्रमित्याशयेन आह — **तावदिति**। अभिमन्योः पुत्रः एकराट् चक्रवर्ती ईशः पतिः यावत्[6]॥ ५॥

ननु तदा कलेः अप्रवेश एवास्तु प्रविष्टोऽपि न प्राभवदिति[7] कुतस्तत्राह — **यस्मिन्निति**। यस्मिन्नहनि यर्हि यस्मिन्नेव क्षणे गां पृथ्वीं अनुवृत्तः प्रविष्टः। अधर्मस्य प्रभवः यस्मिन्॥ ६॥

ननु अधर्महेतुं कलिं सर्वथा किं न हतवान् तत्राह — **नानुद्वेष्टीति**। सारङ्गः भ्रमर इव सारभुक् सारग्राही। सारमाह — यत् यस्मिन् कुशलानि पुण्यानि आशु सङ्कल्पमात्रेण फलन्ति। इतराणि पापानि आशु न सिद्ध्यन्ति; यतः तानि कृतान्येव सिद्ध्यन्ति न तु सङ्कल्पितमात्राणीति॥ ७॥

ननु दोषाधिक्याद्द्वेष एव युक्तः। न धीरेषु तस्याकिञ्चित्करत्वात् इत्याह — **किन्तु** इति। किं नु तेन भवेत्। बालेषु अधीरेषु अप्रमत्तः अवहितः[8] सन् यो वृक इव वर्तते॥ ८॥

---

1. H,V °शापोत्थि° 2 H,V °सि° 3 H,V नैतच्चि° 4 V येषु तत 5 H,V जुषमाणानां 6 B,H,V ता° 7 H,V प्रभवेदि° 8 B सावधानः

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथैतत्प्रबन्धपिपृच्छिषां उद्बोधयितुं पारीक्षितं वृत्तान्तं समासतः वदन्नुपसंहरति — **य** इति दशभिः। यो वै परीक्षित् मातुरुदरे द्रौण्यस्त्रेण विप्लुष्टः दग्धोऽपि अद्भुतकर्मणः कृष्णस्य भगवतोऽनुग्रहात् न मृतः॥ १॥

यश्च ब्रह्मकोपेन ब्राह्मणशापात्मकेन उत्थितात् समुत्थितात् प्राणानां विप्लवः नाशः यस्मात्, उरुभयं यस्मात् तक्षकात् न सम्मुमोह मोहं न प्राप्तः, नाबिभेदित्यर्थः। कथम्भूतः? भगवत्येव अर्पितः आशयः अन्तःकरणं येन तथाभूतस्सन्॥ २॥

स राजा सर्वतः सर्वत्र देहतदनुबन्ध्यादिषु सङ्गमुत्सृज्य वैयासकेः शुकस्य शिष्यो भूत्वा विज्ञातेऽजिते भगवति संस्थितिः निष्ठा यस्य सः स्वकलेबरं गङ्गायां जहौ तत्याज ॥ ३ ॥

मोहाभावमेव सहेतुकमुपपादयति — **नेति**। उत्तमश्लोकस्य भगवतः वार्ता येषां तेषां न भयं मोहः वा अस्तीत्यर्थः। किमु तस्योत्तमस्य उत्तमश्लोकस्य कथामृतं जुषतां सेवमानानां तत्पदाम्बुजं स्मरतां अन्तकालेऽपि सम्भ्रमः[2] स्यात् ॥ ४ ॥

सिंहावलोकनन्यायेन यस्य पालयतः क्षोणीं इत्यनेन अभिप्रेतमुपपादयति — **तावदिति**। इह लोके सर्वत्र प्रविष्टोऽपि कलिः यावदुर्व्यां अभिमन्युसुत एकराट् स्वतुल्यराजान्तररहितः ईश्वरः अधिपतिः बभूव तदाज्ञा वा यावदनुवृत्ता बभूव तावत् कलिः न प्रभवेत् न समर्थो बभूव ॥ ५ ॥

कदा प्रविष्टः इत्यत्राह — यस्मिन्नहनि यर्ह्येव क्षणे भगवान् कृष्णः गां भूमिं उत्ससर्ज तत्याज, तस्मिन्नेवाहनि क्षणे चासावधर्मप्रभवः कलिः अनुप्रवृत्तः प्रविष्टो बभूव ॥ ६ ॥

ननु कलिं कुतो न हतवानित्यत्राह — **नेति**। सम्राट् सार्वभौमः परीक्षित् कलिं नानुद्वेष्टि तन्मरणपर्यन्तं द्वेषं न कृतवानित्यर्थः। वर्तमानसामीप्ये लट्। कुतः यतः सारङ्गः इव भृङ्गवत् सारभुक् सारानुभविता सारग्राहीति यावत् सारङ्गो यथा कमलगतं सारं मकरन्दं गृह्णाति न तु तन्नाशयति तद्वत् कलिगतसारग्राहित्वात् न तं जघानेत्यर्थः। कोऽसौ तद्गतसारः यज्जिघृक्षुस्तं नानुद्वेष्टीत्यत्राह — कुशलानीति। यत् यस्मिन् कलौ कृतानि कुशलानि भगवन्नामकीर्तनादिरूपाणि पुण्यकर्माणि आशु सिद्ध्यन्ति भगवत्प्राप्तिमावहन्ति इतराणि अकुशलकर्माणि पापानीति यावत्। तान्याशु न सिद्ध्यन्ति, न फलदानि भवन्ति। एतत्सारभुक् नानुद्वेष्टि। अनेन कृतादियुगेषु कुशलानां चिरेण फलदत्वं इतरेषां तु आश्विति सूचितम् ॥ ७ ॥

ननु कलिना अभिभूतैः जनैः कुशलानि न कृतान्येव स्युः, येनाऽऽशु सिद्ध्येयुरित्यत्राह — **किन्नु** इति। बालेषु मूर्खेषु विषयभूतेषु शूरेण धीरेषु विवेकिषु तु भीरुणा कलिना किन्नु कृतं स्यात्? न कोऽप्यनर्थः कृतः स्यादित्यर्थः। तदेव दृष्टान्तेन दर्शयन् विशिनष्टि — यः कलिरविषु वृक इव प्रमत्तेष्वेव जनेषु अप्रमत्तो वर्तते ॥ ८ ॥

---

1 A.B किमुत्तमस्योत्तम° 2 A.B add एव 3 W वा° 4 W °तः सारः 5 W नाद्वेडित्य° 6 A.B °रधीरेषु वृक इव प्रमते तेष्विव जनेषु सर्वतः वर्तते ॥ ८ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

पुनरपि भगवति भक्तिविधानार्थं तन्माहात्म्यमुच्यतेऽस्मिन्नध्याये। तदर्थं पारीक्षितं स्वर्याणमुपक्रमते — **य** इति। यः अद्भुतकर्मणः श्रीकृष्णस्य अनुग्रहात् द्रौण्यस्त्रदग्धोऽपि मातुः उत्तराया उदरे न मृतः ॥ १ ॥

यश्च ब्रह्मशापोत्थितात् ब्राह्मणशापप्रेरितात् तक्षकनागात् प्राणविप्लवे विनाशे प्राप्ते सति भगवत्यर्पितचित्तत्वात् मरणाख्योरुभयात् न सम्मुमोह ॥ २ ॥

सः परीक्षित् सर्वतः सर्वेषु राज्यादिषु स्नेहलक्षणं सङ्गं उत्सृज्य वैयासकेः श्रीशुकस्य शिष्यो भूत्वा तदुपदेशेन आत्मयोग्यं विज्ञानं स्वरूपबिम्बपरतत्त्वापरोक्षज्ञानं तेन आर्जिता सम्पादिता संस्थितिः मुक्तिः येन स तथोक्तः गङ्गायां प्रासादे स्वकलेवरं जहौ इत्यन्वयः ॥ ३ ॥

नैतदाश्चर्यं इत्याह — **नेति**। उत्तमश्लोकस्य वार्ता प्रसङ्गः येषां ते तथा उत्तमश्लोकस्य वार्ता जीविका येषां ते तथेति वा। तेषां श्रवणपुटेन तस्य हरेः कथामृतं जुषतां श्रवणव्याजेन सेवमानानां तस्य पादपद्मं च स्मरतां अन्तकाले सम्भ्रमो न स्यादित्यन्वयः। निरन्तरं हरिचरणनिषेवणेन आत्यन्तिकप्रलये सर्वदेहविरहमिच्छतां दैनन्दिनमरणभयं नास्तीति किं वर्णनीयमित्यपिशब्दार्थः। उत्तमश्लोकवार्तादिष्वेकमेवालं, मिलितं किमु वर्णनीयमिति वा ॥ ४ ॥

मदीये राष्ट्रे न वर्तितव्यमित्यस्य अभिप्रायः कलेः सामर्थ्यप्रकटनाभावः, न तु प्रवेशाभाव इत्यभिप्रेत्याऽऽह — **तावदिति**। आभिमन्यवः अभिमन्योः पुत्रः परीक्षित् एकराट् चक्रवर्ती यावत् यावन्तं कालं उर्व्यां आस्त इत्यन्वयः। कीदृशः? महान् ईशः सप्तद्वीपवत्याः भूमेः अधिपतिः न मण्डलेश इत्यर्थः। तावत् तावन्तं कालं इह सम्प्रविष्टोऽपि कलिः न प्रभवेत् स्वशक्तिप्रकटनसमर्थो नाभूदित्यन्वयः ॥ ५ ॥

कदा नु उर्व्यां कलिः प्रविष्टः इति तत्राऽऽह — **यस्मिन्निति** ॥ ६ ॥

सारङ्गः मधुकर इव सारभुक् सारग्राही सम्राट् कलिं न द्वेष्टीत्यन्वयः। कुत इति तत्राऽऽह — कुशलानीति। कुशलानि सुकृतानि इतराणि पापानि यत् यस्मात् ॥ ७ ॥

इतोऽप्युदास्त इत्याह — **किमु** इति। धर्मज्ञानादिकं वृणोतीति आवृणोति नाशयतीति वृकः शूरेषु भीरुणा बालेषु शूरेण कलिना किमु? किं प्रयोजनम् ॥ ८ ॥

---

1 K,M जीवनाशे

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

यो वै परीक्षित् मातुः उदरे द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टः द्रौणेः अश्वत्थाम्नः अस्त्रेण ब्रह्मास्त्रेण दग्धोऽपि अद्भुतकर्मणः भगवतः कृष्णस्यानुग्रहात् न मृतः। यस्तु यो वा परीक्षित् भगवति अर्पिताशयः भगवदर्पितान्तःकरणः ब्रह्मकोपोत्थितात् प्राणविप्लवात् प्राणनाशकात् उरुभयात् तक्षकात् न सम्मुमोह सम्मोहं न प्राप्तवान्। स राजा सर्वतः देहतदनुबन्धिपुत्रादिषु सङ्गं उत्सृज्य वैयासिकेः व्यासपुत्रस्य शुकस्य शिष्यो भूत्वा विज्ञाताजितसंस्थितिः विज्ञातहरितत्त्वस्सन् [illegible] कलेबरं जहौ त्यक्तवान् ॥ १, २, ३, ॥

उत्तमश्लोकवार्तानां भगवद्वार्तानां अत एव तत्कथामृतं भगवत्कथासुधां जुषतां पिबतां अत एव च तत्पदाम्बुजं भग[illegible] स्मरतां जनानामिति शेषः। अन्तकालेऽपि सम्भ्रमो न स्यात् न भवतीति भावः ॥ ४ ॥

महान् भगवत्सम्पादितोत्कर्षवान् एकराट् एकैकः प्रभुः आभिमन्यवः अभिमन्युपुत्रः परीक्षित् यावत् यावत्पर्यन्तं उर्व्यां ईशः अधिपतिः अभूदिति शेषः, तावत् तावत्पर्यन्तं कलिरिह परीक्षित्पालिते राज्ये सर्वतः प्रविष्टोऽपि न प्रभवेत् स्वप्रभावं दम्भानृतादिदोषं प्रकटयितुं न समर्थोऽभूत्॥ ५॥

यस्मिन्नहनि दिने यर्हि एव यस्मिन् एव क्षणे भगवान् श्रीकृष्णः गां भुवं उत्ससर्ज त्यक्तवान् तदैव तस्मिन् दिने तस्मिन्नेव क्षणे अधर्मप्रभवः अधर्मकारणभूतोऽसौ कलिरिह भुवि अनुप्रवृत्तः प्रविष्टः॥ ६॥

सारङ्ग इव भ्रमर इव सारभुक् सारग्राही स सम्राट् परीक्षित् कलिं नानुद्वेष्टि। तन्मरणपर्यन्तं तस्मिन् कलौ द्वेषं न कृतवानित्यर्थः। दोषसत्त्वेऽपि कलेरनिग्रहे कारणमाह — यत् यस्मिन् कलौ कृतानि कुशलानि भगवन्नामसङ्कीर्तनादीनि पुण्यकर्माणि आशु शीघ्रमेव सिद्ध्यन्ति फलप्रदानि भवन्ति। इतराणि पापानि तु आशु न सिद्ध्यन्ति न फलन्ति। यथा भ्रमरः कुसुमगतं सारं मकरन्दं गृह्णाति न तु कुसुमं नाशयति तथा परीक्षिदपि कलिगतं सारं गृहीत्वा न कलिं हतवान्। कलिसारो यथा — लोके हि धर्मात्मानः कलिप्रवर्तिताधर्मव्यतिकरसन्त्रस्ताः स्वयं सत्प्रवर्तनादृतमतयः भवन्ति। सत्स्वपि दुरूहेषु तदाचरणपरायणाः एव बध्यन्ते बाध्यन्ते च, यानवलोक्य शिष्टाः जनाः तदाचरणात् बिभ्यति। एवमधर्मभीताः यथाकथञ्चित् जीवितं नयन्तस्ते कदाचिद्भगवति भगवत्प्रीणनकर्मस्वपि बद्धबुद्धयः भवन्ति। तदा प्रभृति च ते क्रमशः सुपरिणतमतयो विराजन्ते। अनया दृशा विचार्यमाणे यत्र कुत्रचित्कलेः अवस्थानमपि वरमेव॥ ७॥

वृकः वृकतुल्यः यः कलिः प्रमत्तेषु अनवहितेषु नृषु जनेषु अप्रमत्तः अवहितस्सन् वर्तते, बालेषु अविवेकिषु शूरेण धीरभीरुणा धीरेषु विवेकिषु भीरुणा तेन कलिना किं नु? किं वा अनिष्टं स्यात्? न किमपीति भावः।

अनवधानेनाजाविकात् अविं पृथग्भूतं वृको यथा निगृह्य निहन्ति, तथा धीरभीरुः कलिरपि प्रमत्तमेव जनं स्वायत्तीकरोति। प्रमत्तता चात्र त्रिगुणव्यापारप्रवर्तिता माया। सैषा सर्वजीवेषु सर्वान्तर्यामिणः प्रकृत्यतीतस्य परमात्मनः दर्शनात् निवर्तते। तद्व्यतिरेकेण जीवेषु जीवत्वदर्शनात् द्रष्टा तत्तज्जीवस्वसम्बन्धानुबन्धिप्रयोजनसिद्ध्यसिद्धिप्रयुक्तरागद्वेषाभ्यां अनुभवति सुखदुःखादिद्वन्द्वम्। ईदृशप्रमादभरितबुद्धिमेव कलिः निग्रहीतुं प्रभवति। तथा च विश्वं विष्णुमयं पश्यत्सु भागवतेषु कलिः अकिञ्चित्कर एवेति पर्यवस्यति॥ ८॥

**उपवर्णितमेतद्वः पुण्यं पारीक्षितं मया।**
**वासुदेवकथोपेतं आख्यानं यदपृच्छत॥ ९॥**

**या याः कथा भगवतः कथनीयोरुकर्मणः।**
**गुणकर्माश्रयाः पुम्भिः संसेव्यास्ता बुभूषुभिः॥ १०॥**

ऋषय ऊचुः

सूत! जीव! समास्सौम्य! शाश्वतीर्विशदं यशः।
यस्त्वं शंससि कृष्णस्य मर्त्यानाममृतं हि नः ॥ ११ ॥

कर्मण्यस्मिन्नना[3]श्वासे धूमधूम्रात्मनां भवान्।
आपाययति गोविन्दपादपद्मासवं मधु ॥ १२ ॥

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताऽऽशिषः ॥ १३ ॥

को नाम तृप्येद्रसवित्कथायां महत्तमैकान्तपरायणस्य।
नान्तं गुणानामगुणस्य जग्मुः योगेश्वरा ये भवपाद्यमुख्याः ॥ १४ ॥

तं[4]नो भवान् वै भगवत्प्रधानः महत्तमैकान्तपरायणस्य।
हरेरुदा[7]रं चरितं विशुद्धं शुश्रूषतां नो वितनोतु विद्वन्[8] ॥ १५ ॥

स वै महाभागवतः परीक्षित् येनापवर्गाख्यमदभ्रबुद्धिः।
ज्ञानेन वैयासकिशब्दितेन भेजे खगेन्द्रध्वजपादमूलम् ॥ १६ ॥

---

1 AFGF °द्धि 2 H.V °श्रिताः 3 H.K.M.V सेव्यास्तास्ता 4 B शौनक उवाच 5 H.V °स्ये 6 H.K.M.V ततो 7 B.W °राच°
8 AFGF विद्वान् 9 H.V °सि°

**श्रीध० उपवर्णितमिति**। पारीक्षितं आख्यानं अपृच्छत पृष्टवन्तो यूयम् ॥ ९ ॥

किं बहुना, नरैः एतावदेव कर्तव्यमिति सर्वशास्त्रार्थसारं कथयति — **या या** इति। कथनीयानि उरूणि कर्माणि यस्य तस्य गुणकर्मविषयाः बुभुषुभिः सद्भावमिच्छद्भिः ॥ १० ॥

पुनः विस्तरेण कथनार्थं सूतोक्तिं तत्सङ्गञ्च अभिनन्दति — **सूतेति** त्रिभिः। शाश्वतीः समाः अनन्तरान् वत्सरान् जीव। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। विशुद्धं यशः कीर्तयसि। तच्चास्माकं मर्त्यानां अमृतं मरणनिवर्तकम् ॥ ११ ॥

**कर्मणीति**। किञ्च अस्मिन् कर्मणि सत्रे अनाश्वासे अविश्वसनीये वैगुण्यबाहुल्येन फलनिश्चयाभावात् धूमेन धूम्रः विवर्णः आत्मा शरीरं येषां तान् अस्मान् कर्मणि षष्ठी। आसवं मकरन्दम्। मधु मधुरम् ॥ १२ ॥

**तुलयामेति**। भगवत्सङ्गिनः विष्णुभक्ताः तेषां सङ्गस्य यो लवः अत्यल्पः कालः तेनापि स्वर्गं न तुलयाम समं न पश्याम। न च अपवर्गम्। सम्भावनायां लोट्। मर्त्यानां तुच्छा आशिषः राज्याद्या न तुलयामेति किमु वक्तव्यम् ॥ १३ ॥

एवं सत्सङ्गमभिनन्द्य श्रवणौत्सुक्यमाविष्कुर्वन्ति — **को नामेति**। रसवित् रसज्ञः। महत्तमानां एकान्तेन परं अयनं आश्रयः यैः तस्य कथायां अगुणस्य प्राकृतगुणरहितस्य। कल्याणगुणानां अन्तं ये योगेश्वराः तेऽपि न जग्मुः। एतावन्त इति न परिगणयाञ्चक्रुः। भवः शिवः। पाद्मः ब्रह्मा च मुख्यौ येषां ते॥ १४॥

**तदिति**। नः अस्माकं मध्ये भगवान् प्रधानं सेव्यः यस्य सः भवान् नः शुश्रूषतां उदारं परमपुरुषार्थप्रदं हरेः चरितं विस्तारयतु॥ १५॥

तच्च शुकपरीक्षित्संवादेन कथयेत्याहुः — **स वा** इति द्वाभ्याम्। वैयासकिना श्रीशुकेन शब्दितेन कथितेन येन ज्ञानेन ज्ञानसाधनेन अपवर्ग इत्याख्या यस्य तत्। खगेन्द्रध्वजस्य हरेः पादमूलं भेजे॥ १६॥

---

1. B,H,V °स्त्रसारं 2 H,V °र्क्तं 3 H,V °स्ये 4 H,V यस्य 5 H,V तत इति 6. H,V तच्छुकपरीक्षित्संवादं नः

**वीर०** यत् यूयं मामपृच्छत तदेतत् वासुदेवस्य कथोपेतं अत एव शृण्वतां वदतां च पुण्यावहं एतत्परीक्षितः सम्बन्ध्याख्यानं मया वः युष्मभ्यं उपवर्णितम्॥ ९॥

पिपृच्छिषां उद्बोधयितुमेव साकल्येन भगवत्कथानां श्रोतव्यतामाह — **या** इति। कथनीयान्यनुरूपाणि बहूनि कर्माणि चेष्टितानि यस्य तस्य भगवतो गुणाः कर्माणि च आश्रयाः विषयाः यासां ताः या या कथाः ताः बुभूषुभिः पुम्भिः संसेव्याः॥ १०॥

यदुक्तं "उत्सृज्य सर्वतस्सङ्गं विज्ञाताजितसंस्थितिः। वैयासकेर्जहौ शिष्यः" (भाग. 1-18-3) इति शुकोपदिष्टैतत्पुराणजज्ञानेन मुक्तः बभूवेति तद्वैयासक्युपदिष्टपुराणश्रवणद्वारा तज्जन्यज्ञानलिप्सुः पृच्छति शौनकः — **सूतेति** सप्तभिः। तावज्जन्ममरणाद्यनन्तदुःखावहदुस्सहसंसृतिक्षपणद्वारा निरतिशयानन्दरूपपरब्रह्मप्राप्तिहेतुं तत्कथामृतं पाययन्तं महोपकर्तारं सूतमाशास्ते सूतेति। हे सूत! हे सौम्य! त्वं शाश्वतीः समाः वत्सरान् जीव। "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" (अष्टा. 2-3-5) इति द्वितीया। कुत एवमाशास्य इत्यत्र तं विशिनष्टि — यस्त्वं कृष्णस्य विशदं विपुलं अमृततुल्यं यशः मर्त्यानां नः अस्मभ्यं शंससि कथयसि अतो हर्षातिशयादशास्य इति भावः॥ ११॥

तदेव व्यनक्ति — **कर्मणीति**। अनाश्वासे अविश्वसनीये निर्भयत्वानिमित्ते अस्मिन् यज्ञादिकर्मणि निष्ठानामिति शेषः धूमधूम्रात्मनां अज्ञानावृतमनसां यद्वा धूमेन यज्ञियेन धूम्रः आत्मा शरीरं येषां केवलकर्मजडानामिति भावः। भवान् गोविन्दस्य पादपद्मयोः आसवं अमृतं मधु मधुरं पाययति॥ १२॥

यत एवमत एव स्वर्गमोक्षादयोऽपि न भगवत्सङ्गिसङ्गलेशेनापि तुल्याः इत्यभिप्रायेणाह — **तुलयाम** इति। भगवत्सङ्गिनः त्वादृशस्य यः सङ्गः तस्य लवेन लेशमात्रेणापि स्वर्गं अपुनर्भवं मोक्षं चापि न तुलयाम न तुल्यं मन्यामह इत्यर्थः। यतस्तेन स्वर्गमोक्षावेव न तुलयामः किं पुनः मर्त्यानां आशिषः अर्थकामादीन् तुलयाम इति॥ १३॥

ननु अश्रुतभगवद्गुणकर्मवत् किं पृच्छसि? तत्राह — **क** इति। महत्तमानां एकान्तं परं उत्कृष्टं अयनं प्राप्यः प्रापकः आधारश्च; ईयते इत्ययनं, यन्त्यनेन इत्ययनं, यन्त्यस्मिन्नित्ययनं इति त्रिधा व्युत्पन्नानां अयनशब्दानां तन्नेण निर्देशात् तस्य भगवतः कथायां विषयभूतायां[1] रसज्ञश्चेत् को नाम पुमान् तृप्येत न कोऽपीत्यर्थः। ननु श्रुतानामेव भगवद्गुणानां कर्मणां पुनः श्रवणेन को वा रसः निष्पद्यते इत्याशङ्कां निराकुर्वन् भगवन्तं विशिनष्टि — यस्यागुणस्य हेयगुणरहितस्य गुणानां अन्तं अवधिं रुद्रचतुर्मुखादयः योगेश्वराः[5] अपि न जग्मुः। अश्रुतानामपि गुणकर्मणां आनन्त्यात् श्रुतानामपि नवनवायमानत्वाच्च न कोऽपि तृप्येदिति भावः॥ १४॥

यत एवं अतो महत्तमैकान्तपरायणस्य हरेरुदारं विपुलमाचरितं चेष्टितं विशुद्धं शृण्वतां वदताञ्च विशुद्ध्यावहं भगवानेव प्रधानः मुख्याश्रयः[6] यस्य स भवान् हे विद्वन्! भगवद्गुणकर्मयाथात्म्याभिज्ञ! हरेरुदारं चरितं श्रोतुमिच्छतां नः अस्मभ्यं वितनोतु विस्तरतः[7] कथयतु इति यावत्॥ १५॥

सम्प्रति प्रष्टव्यं पृच्छति — **स वा** इति द्वाभ्याम्। स उक्तविधो महाभागवतः अनल्पबुद्धिः परीक्षित् येन वैयासकिशब्दितेन शुकोपदिष्टपुराणजेन ज्ञानेन गरुडध्वजस्य भगवतः पादमूलं भेजे प्राप्तः[8]॥ १६॥

---

1 W बहुलानि 2 A,B omit विषयाः 3 W °जन्य° 4 W °श्री° 5 W °गी° 6 A,B मुख्य श्रेष्ठः 7 A,B विस्तारयतु 8 W प्राप

**विज०** उपसंहरति — **उपवर्णितमिति**॥ ९॥

यथेयं पारीक्षिती कथा भगवतः गुणकर्माश्रयत्वात् सेव्याऽऽसीत् तथा अन्या अपि तादृशः कथाः मुमुक्षुभिः सेव्या इत्याह — **या या** इति। कथनीयानि उरूणि कर्माणि यस्य स तथोक्तः। तस्य बुभूषुभिः मोक्षैककामैः॥ १०॥

सूत! यस्त्वं श्रीकृष्णस्य विशदं यशोऽमृतं मरणधर्मिणामस्माकं शंससि हि यस्मात्तस्मात् आशीर्लक्षणम्। सोमार्ह! भद्रेति वा, सुमायाः वत्सेति वा, सुमा महर्षिभार्या, शाश्वतीः समाः बहुवर्षान् जीव शतवर्षान् उपर्यपि प्राणान् धारयेत्येकान्वयः॥ ११॥

"कर्मणा ज्ञानमातनोति" इत्यादिश्रुतिप्रत्ययात् अन्तःकरणशुद्धिद्वारा हरिज्ञानलब्धये यागपरम्पराभिः अनाश्वासे श्वासमोक्षानवसरे अन्यत्र सङ्गावसरविधुरे वा, अत एव हरिकथावर्णने सावसरे अस्मिन्नुपक्रान्ते सत्राख्ये कर्मणि हर्युद्देशेन सुहुतहविराज्याद्युद्भूतधूमेन धूम्र आत्मा मनआदीन्द्रियजातं येषां ते तथोक्ताः, कर्मणि षष्ठीदर्शनात् तेन धूमेन धूम्रतया पवित्रीकृतशरीरान् अस्मान् मधु मधुरं गोविन्दपादपद्मासवं आपाययतीत्यन्वयः। पादपद्मात् आसूयत इति आसवं मधु वा। अनेन सत्रयागः सफलः जात इत्युक्तं भवति॥ १२॥

दीर्घकालीनसत्रकरणमन्तरेण अल्पकालीनयज्ञकरणेन शुद्धान्तःकरणजन्यज्ञानात् मोक्षः सुकरः इत्याशङ्क्य आह — **तुलयाम** इति। भगवत्सङ्गिनां वैष्णवानां सङ्गस्य सेवालक्षणस्य सकाशात् यत्सुखं तस्य लवेनापि

लवलक्षणकालावच्छिन्नभागेन सह स्वर्गं दुःखासम्भिन्नप्रदेशं नाकलक्षणं अपुनर्भवं कैवल्यं सम्यक् स्वरूपाभिव्यक्ति जननाभावलक्षणं न तुलयामः तुलयितुं न प्रभवामः। लडर्थे लोट्; प्रार्थनायां वा। मर्त्यानां मर्त्यशरीर भोगराज्यादि सम्पदः किमुत? न तुलयामेति किं वक्तव्यम्? सायुज्यादिविशिष्टफलहेतुत्वेन अन्तरङ्गत्वात् न सम इत्यर्थः। क्षिप्रमुक्तौ तदनन्तरं पूर्वस्मादतिरिक्तफलविशेषाभावात् चिरसमयस्य सङ्कीर्णमहत्सेवादिलक्षणसङ्गस्य अतिसुखहेतुत्वेन तस्य चेह दीर्घसत्रकरणव्याजेन सम्भवादिदमेव सर्वैरनुमन्तव्यमित्युक्तमनेनेति भावः॥ १३॥

श्रुतभगवत्कथानामप्यस्माकं न तत्कथायां अलम्बुद्धिरिति आशयवन्त आहुरित्याह — **को नामेति**। ये भवपद्मप्रमुख्याः भवः शिवः पद्मो ब्रह्मा तौ मुख्यौ येषां ते तथोक्ता योगेश्वराः तत्तदधिकारियोग्यमोक्षोपायोपदेष्टृप्रधानाः ते अगुणस्य सत्त्वादिगुणरहितस्य सर्वकार्येषु प्रधानस्य वा; यस्य ज्ञानादिगुणानां अन्तं अवसानं न जग्मुः, को नाम पुमान् तस्य मुक्तामुक्तब्रह्मादीनां महत्तमानां एकान्ततः नियमेन परायणस्य उत्तमाश्रयस्य महत्तमेभ्यः परायाः उत्कृष्टायाः श्रियोऽप्ययनस्य वा हरेः कथायां तृप्येत् अलम्बुद्धिमाप्नुयादित्यन्वयः। कीदृशः? रसवित् सारज्ञानी विद्वान्॥ १४॥

ततः किमिति तत्राऽऽह — **तत इति**। अलम्बुद्धिः नास्तीति यतः ततः हे विद्वन्! भगवतां सौभाग्यवतां पुंसां प्रधानः भवान् हरेरुदारं चरितमस्माकं वितनोतु विस्तारयतु इत्यन्वयः। भगवानेव प्रधानो यस्य मते स तथेति वा। महत्तमश्च, एकान्तश्च, परायणश्चेति महत्तमैकान्तपरायणः महतां ब्रह्मादीनामतिशयेन श्रेष्ठः अन्ते प्रलये एक एव न द्वितीयोऽस्ति, पराः मुक्ताः तेषामाश्रयः शुश्रूषतामित्यनेन श्रवणशीलनं स्वाभाविकमिति दर्शयति॥ १५॥

तदिति किं तत्राऽऽह — **स वा इति**। अदभ्रबुद्धिः पूर्णज्ञानः महाभागवतः परीक्षित् वैयासकिना शुकेन शब्दितेन उपदिष्टेन श्रुतेन ज्ञानेन येन अपवर्गाख्यं खगेन्द्रध्वजस्य गरुडध्वजस्य पादमूलं भेजे इत्यन्वयः। वा इत्यनेन आख्यानस्य इष्टसाधनावबोधकत्वेन उपादेयत्वं दर्शयतीति॥ १६॥

---

1 K,M मोक्षकामैः 2 B,K,M रोमहर्षिभार्या 3 A "वसन्ती"

रा० कृ० यदपृच्छत यत् यूयं मां पृष्टवन्तः तदेतत् पारीक्षितं परीक्षित्सम्बन्धि वासुदेवकथोपेतं वासुदेवस्य कथया सहितं पुण्यं पृच्छतां शृण्वतां वदतां च पुण्यावहं आख्यानं वः युष्मभ्यं मया उपवर्णितं कथितमित्यर्थः॥ ९॥

कथनीयोरुकर्मणः वर्णनीयबहुकर्मणः भगवतः श्रीकृष्णस्य गुणकर्माश्रयाः गुणाः भक्तवात्सल्यादयः, कर्माणि गोवर्धनोद्धरणादीनि, आश्रयः विषयः यासां ताः या याः कथाः सन्तीति शेषः। तास्ताः कथाः बुभुक्षुभिः स्वरूपभूतसत्तामिच्छद्भिः पुम्भिः। अत्र 'पुम्भि'रिति पदं स्त्रीणामप्युपलक्षणम्। संसेव्याः निरन्तरं श्रोतव्या इत्यर्थः। अन्यथा स्वरूपनिराकरणेन संसारदुःखानुभवः भवतीति भावः॥ १०॥

हे सौम्य! प्रियदर्शन! सूत! यस्त्वं मर्त्यानां मरणधर्मवतां नः अस्माकं अमृतं मरणनिवर्तकं कृष्णस्य यशः कीर्तिं विशदं विशुद्धं शंससि कथयसि, तादृशस्त्वं शाश्वतीः समाः अनन्तान् संवत्सरान् जीव ॥ ११ ॥

अनाश्वासे फलनिश्चयाभावात् अविश्वसनीयेऽस्मिन् कर्मणि सत्राख्ये कर्मणि आसक्तानामिति शेषः, धूमधूम्रात्मनां धूमेन यज्ञीयेन धूम्राः विवर्णाः आत्मानः शरीराणि येषां तेषां, धूमधूम्रात्मनः इति भावः। अस्मानिति शेषः। मधु मधुवत् स्वादुं गोविन्दपादपद्मासवं गोविन्दस्य पादपद्मयोः आसवं संसारदुःखविस्मारकं मकरन्दं भवान् आपाययति सम्यक् श्रावयतीति भावः ॥ १२ ॥

भगवत्सङ्गिसङ्गस्य भगवत्सङ्गिनः भगवद्भक्तस्य भवादृशस्य सङ्गस्य लवेनापि लेशमात्रेणापि स्वर्गं नाकं वा अपुनर्भवं जन्मराहित्यं मोक्षाख्यं वा न तुलयामः सदृशं न पश्यामः। मर्त्यानां मरणशीलानां आशिषः आशीर्वादान् न तुलयाम इति किमुत? किमु वक्तव्यम्? ॥ १३ ॥

अगुणस्य हेयगुणरहितस्य गुणैः अबद्धस्येति वा यस्य भगवतः गुणानां अलौकिकगुणानां अन्तं योगेश्वराः ये भवपाद्मुख्याः शिवब्रह्मादयः न जग्मुः भगवतः गुणाः एतावन्त इति परिगणनां कर्तुं न प्राभवन्, तस्य महत्तमैकान्तपरायणस्य महत्तमाः परमविवेकिनः भागवताः तेषामेकान्तेन परमयनं उत्कृष्टः आश्रयः यः तस्य भगवतः इति शेषः। कथायां को नाम रसवित् रसाभिज्ञः तृप्येत तृप्तिं प्राप्नुयात्? ॥ १४ ॥

ततो हेतोः हे विद्वन्! सूत! भगवत्प्रधानः भगवानेव प्रधानः मुख्यतया सेव्यो यस्य सः भवान् महत्तमैकान्तपरायणस्य हरेः श्रीकृष्णस्य विशुद्धमुदारं चरितं शुश्रूषतां नोऽस्माकं वितनोतु विस्तरेण कथयतु ॥ १५ ॥

स वै प्रसिद्धः महाभागवतः विषयोपभोगवैमुख्येन निरन्तरं भगवद्भजनपरायणः अदभ्रबुद्धिः महामतिः परीक्षित् वैयासकिशब्दितेन शुकोपदिष्टेन येन ज्ञानेन ज्ञानसाधनेन आख्यानेन अपवर्गाख्यं मोक्षाख्यं खगेन्द्रध्वजपादमूलं खगेन्द्रध्वजस्य महाविष्णोः पादमूलं भेजे प्राप्तवान् तत्पारीक्षितं नः कथय ॥ १६ ॥

तन्नः परं पुण्यमसंवृतार्थमाख्यानमत्यद्भुतयोगनिष्ठम्।
आख्याह्यनन्ताचरितोपपन्नं पारीक्षितं भागवताभिरामम् ॥ १७ ॥

सूत उवाच

अहो वयं जन्मभृतोऽद्य हाऽऽस्म वृद्धानुवृत्त्याऽपि विलोमजाताः।
दौष्कुल्यमाधिं विधुनोति शीघ्रं महत्तमानामभिधानयोगः ॥ १८ ॥

कुतः पुनर्गृणतो नाम तस्य महत्तमैकान्तपरायणस्य।
योऽनन्तशक्तिर्भगवाननन्तो महद्गुणत्वाद्यमनन्तमाहुः ॥ १९ ॥

एतावताऽलं ननु सूचितेन गुणैरसाम्यानतिशायनस्य।
हित्वेतरान्प्रार्थयतो विभूतिर्यस्याङ्घ्रिरेणुं जुषतेऽनभीप्सोः ॥ २० ॥

अथापि यत्पादनखावसृष्टं जगद्विरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः ।
सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दात् को नाम लोके भगवत्पदार्थः ॥ २१ ॥

यत्रानुरक्तास्सहसैव धीरा व्यपोह्य देहादिषु सङ्गमूढम्।
व्रजन्ति तत्पारमहंस्यमन्त्यं यस्मिन्नहिंसोपशमस्स्वधर्मः ॥ २२ ॥

अहं हि पृष्टोऽर्यमणो भवद्भिराचक्ष आत्मावगमोऽत्र यावान्।
नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्रिणः तथा समं विष्णुगतिं विपश्चितः ॥ २३ ॥

एकदा धनुरुद्यम्य विचरन् मृगयां वने ।
मृगाननुगतश्श्रान्तः क्षुधितस्तृषितो भृशम् ॥ २४ ॥

---

1 A °वि° 2. K,M महात्मन् 3 AF,GF बत 4. AF,GF °म्यैरति°, K,M °म्येऽनति° 5. K °शायनेस्य; M शायितेऽस्य 6. K,M,W °य°, AF,GF ते पार° 7 K,M °सत्यं 8. K,M °रमश्च; W °रम° 9 K,M °स्य गुणान्

**श्रीध० तदिति**। तदसंवृतार्थं यथा[1] तथा आख्याहि। तदेव निर्दिशन्ति[2]। परीक्षिते कथितं पारीक्षितं आख्यानं श्रीभागवतं पुराणम्। परं पुण्यं सत्त्वशोधकम्। अत्यद्भुते योगे निष्ठा यस्य। अनन्तस्याचरितैः उपपन्नं युक्तम्। अत एव भागवतानां अभिरामं प्रियम्। एतैर्विशेषणैः कर्मज्ञानभक्तियोगप्रकाशकत्वं दर्शितम्॥ १७॥

श्रीभागवतव्याख्याने लब्धप्रसङ्गं महतामादरपात्रं आत्मानं श्लाघते द्वाभ्यां — **अहो** इति। अहो इत्याश्चर्ये। ह इति हर्षे। वयमिति बहुवचनं श्लाघायाम्। विलोमजाताः प्रतिलोमजा अपि अद्य जन्मभृतः सफलजन्मानः आस्म जाताः। वृद्धानां अनुवृत्त्या आदरेण। ज्ञानवृद्धः शुकः तस्य सेवयेति वा। यतो दुष्कुलत्वं तन्निमित्तमाधिं च मनःपीडाञ्च महत्तमानां अभिधानयोगः लौकिकोऽपि सम्भाषणलक्षणः सम्बन्धः विधुनोति अपनयति॥ १८॥

**कुत** इति। कुतः पुनः किम्पुनर्वक्तव्यं तस्य अनन्तस्य नाम गृणतः पुंसः महत्तमानामभिधानयोगः दौष्कुल्यं विधुनोतीति। यद्वा नाम गृणतः पुनः कुतः दौष्कुल्यमिति। यद्वा गृणतः पुंसः तस्य नाम दौष्कुल्यं विधुनोतीति किं वक्तव्यमिति कैमुत्यन्यायमेवाऽऽह। अनन्ताः शक्तयः यस्य। स्वतोऽप्यनन्तः। किञ्च महत्सु गुणा यस्य सः महद्गुणः तस्य भावः तत्त्वं तस्मात्। यं गुणतोऽप्यनन्तमाहुः॥ १९॥

एतत्प्रपञ्चयति त्रिभिः — **एतावतेति**। तस्य यदसाम्यं अनतिशायनं च गुणैः तत्साम्यं तदाधिक्यं च अन्यस्य नास्तीत्यस्यार्थस्य ज्ञानमेतावता सूचितेनालं पर्याप्तं कः तद्विस्तरतः वक्तुं शक्नोति[4]। तदेवाऽऽह — **इतरान्** ब्रह्मादीन् प्रार्थयतः प्रार्थयमानान् हित्वा विभूतिः लक्ष्मीः अनभीप्सोरपि यस्याङ्घ्रिरेणुं जुषते सेवते इति॥ २०॥

**अथेति**। अथेत्यर्थान्तरे। यस्य पादनखादवसृष्टं निस्सृतमपि विरिञ्चेनोपहृतं समर्पितं अर्हणाम्भोऽर्घ्यो-दकमीशसहितं जगत्पुनाति। विरिञ्चोपहृतं सेशमिति च तयोरप्युपासकत्वमुक्तम्। तस्मात् मुकुन्दव्यतिरिक्तः को नाम भगवत्पदस्य अर्थः स एव सर्वेश्वर इत्यर्थः॥ २१॥

**धत्रेति**। धीरासन्तः। ऊढं धृतं अन्त्यं परमकाष्ठापन्नम्। तदाह — **यस्मिन्नहिंसोपशमश्च स्वाभाविको धर्मः**॥ २२॥

**एवं स्वभाग्यमभिनन्द्य** पारीक्षितोपाख्यानं वक्तुमाह — **अहं हीति**। हे अर्यमाणः! हे सूर्याः! त्रयीमूर्तयः अत्र यावान् आत्मावगमः मम ज्ञानं तावदाचक्षे प्रवक्ष्यामि। तथा हि यथा पक्षिणः नभः आत्मसमं स्वशक्त्यनुरूपमेव उत्पतन्ति न तु कृत्स्नं, तथा विपश्चितोऽपि विष्णोर्गतिं लीलां समं स्वमत्यनुरूपमेव वदन्तीत्यर्थः॥ २३॥

सम्प्रति कथामुपक्षिपति — **एकदेति**॥ २४॥

---

1. B adds स्यात् 2. B,H,V °ति 3. B,V ज्ञानाय एता° 4. H,V add इत्यर्थः 5 A,V °र्घो°

**वीर०** तदाख्यानं पुराणं नः अस्मभ्यं आख्याहि कथय। कथम्भूतम्? वदतां शृण्वताञ्च परं पुण्यं निरतिशयपुण्यावहम्। यद्वा, परमुत्कृष्टं स्वतुल्याधिकपुराणान्तररहितं असंवृताः असङ्कुचिताः स्पष्टा वा अर्था मुमुक्षूणामुपादेयाः शास्त्रार्थाः प्रतिपाद्या यस्मिन्। अत्यद्भुता भगवद्भक्तियोगनिष्ठा यस्मात्। अनन्तस्य अपरिच्छिन्नस्वरूप-स्वभावस्य भगवतः आचरितैः चेष्टितैः प्रतिपाद्यैः उपपन्नं अत एव भागवतानामभिरामं श्रीभागवतमिति भावः। भागवतशब्दस्य अन्यगामित्वव्युदासाय विशिनष्टि — पारीक्षितं परीक्षिता श्रुतम्॥ १७॥

इत्थं भगवद्गुणानुवर्णने प्रवर्तितः तावत् आत्मानं कृतार्थं मन्यते — **अहो** इति। स्वभाग्यं शिरःकम्पेनाऽऽविष्करोति। किं तद्भाग्यमित्यत्र तदेव दर्शयति — वयं विलोमजाता अपि ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्जाता अपि वृद्धानां ज्ञानेन वयसा जन्मना च वृद्धानां भवतामनुवृत्त्या हेतुभूतया अधुना जन्मभृतः प्रशस्तदेहधृतःआस्म अभवाम। हेत्याश्चर्ये हर्षे वा। विलोमजानामपि हेत्वन्तरेण प्राशस्त्यमूलकः हर्षः आश्चर्यं च युक्तमेवैतदित्यभिप्रायेणाह — दौष्कुल्यमिति। महत्तमानां त्वादृशानां अभिधानयोगः श्रवणव्याख्यानसम्बन्धः दौष्कुल्यं दुष्कुलप्रभवत्वप्रयुक्तं हीनत्वं आधिं मनःक्लेशं वाऽऽशु धुनोति निरस्यति॥ १८॥

यतो महत्तमानामभिधानयोगः एव आधिं दौष्कुल्यं च विधुनोति, कुतः पुनः साक्षान्महत्तमैकान्तपरायणस्य भगवतो नाम गृणतः कीर्तयतः पुंसः दौष्कुल्यमाधिश्च सम्भाव्येत? ननु कोऽसौ महत्तमैकान्तपरायणभूतः, के तस्य महिमानः, तन्नामग्रहणमात्रस्यैव कथंतरां दौष्कुल्यादिपरिहारकत्वम्? कथन्तरां तद्भक्ताभिधानयोगस्य तत्त्वं इत्यतः तं विशिंषन्नाह — **यो भगवान् पूर्णाङ्गुण्यः यश्च अनन्तशक्तिः** अनन्ताः शक्तयः यस्य तथाभूतः पावकस्य दाहकत्वशक्तिवन्नामाभिधातृगतदौष्कुल्याद्यपनोदकशक्तिरस्तीति भावः। यश्च स्वरूपेणानन्तः यश्च महद्गुणत्वात् अनन्तगुण-

त्वात् अनन्तमाहुः "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" (तैत्ति. उ. 2-1-1) इत्यादयो वेदान्ताः। तस्य नाम गृणतः इत्यन्वयः। अनन्तः अनन्तगुणत्वाच्च इत्यनेन तस्मिन् स्वरूपतः गुणतश्च आनन्त्यं अनन्तपदप्रवृत्तिनिमित्तमिति सूचितम्। अनेन स्वभक्ताभिधानयोगस्य दौष्कुल्याद्यपनोदनोपयुक्तमनेकगुणाश्रयत्वमुक्तम्। गुणानां महत्त्वं नाम आनन्त्यं अनितरसाधारण्यं च अनितरसाधारणानवधिकगुणत्वात् इत्यर्थः॥ १९॥

महद्गुणशब्दाभिप्रेतमेव विशदयन् तत्सङ्ग्रहं दर्शयामीत्यभिप्रायेणाऽऽह — **एतावतेति**। गुणैर्न विद्यते साम्यं यस्य तैः न विद्यते अतिशायनं अतिशयः यस्य असाम्यश्चासौ अनतिशायनः तस्य निस्समाभ्यधिकगुणस्येत्यर्थः। सूचितेन दिङ्मात्रदर्शितेन एतावता महिम्ना अलं बहुना किं? तद्दर्शनीयमिति भावः। कियता विभूतिर्लक्ष्मीः प्रार्थयमानानपि इतरान् ब्रह्मादीन् हित्वा अनभीप्सोः अकामयमानस्यापि यस्य भगवतः अङ्घ्रिरेणुं जुषते सेवते इति इयता श्रियःपतित्वमेव तन्मात्रप्रदर्शनायालमित्यर्थः॥ २०॥

अन्यामपि तन्माहात्म्यदिशं दर्शयामीत्यभिप्रायेणाह — **अथापीति** द्वाभ्याम्। अथापि अपि च पुनरपि वेत्यर्थः। यस्य भगवतः वामपादाङ्गुष्ठनखावसृष्टं अर्वाक् प्रसृतं विरिञ्चेन ब्रह्मणा उपहृतं समर्पितं अर्हणाम्भः अर्घ्यजलं गङ्गात्मकं कर्तृ सेशं इन्द्रादिलोकपालैः सहितं जगत्पुनाति इत्येतावता सूचितेन महिम्ना अलमित्यर्थः। एवंविधमहागुणगणयुक्तात् श्रीनिवासात् तीर्थपदात् मुकुन्दात् अन्यः को वा लोके भगवत्पदार्थः भगवत्पदाभिधेयः ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजःप्रभृत्यसङ्ख्येयकल्याणगुणपौष्कल्यवदभिधायकेन भगवच्छब्देन प्रवृत्तिनिमित्तानामाश्रयः पुरुषोत्तमादन्यः को वा प्रतिपाद्यते? न कोऽपीत्यर्थः। एतेन योऽनन्तशक्तिः भगवानित्यत्र कोऽसौ भगवान्? इत्याकाङ्क्षा शामिता॥ २१॥

**यत्रेति**। यत्र यस्मिन् भगवति मुकुन्दे अनुरागयुक्तास्सन्तः धीराः जितेन्द्रियाः सहसा अकस्मादेव देहे आदिशब्दात्तदनुबन्ध्यादिषु चोढं रूढमूलं सङ्गमपोह्य तत्परमहंस्यं अन्त्यं तुरीयं परमहंसाश्रमं व्रजन्ति यस्मिन् पारमहंस्याश्रमे अहिंसा उपशमश्च स्वानुरूपः धर्मः दयादिरस्ति॥ २२॥

एवंविधानन्तमाहात्म्यशालिनः भगवतः माहात्म्यं वर्णयितुमहं न प्रभुः अथापि यथामति वर्णयामीत्यभिप्रायेणाऽऽह — **अहमिति**। अर्यमणः! हे ज्ञानाधिकाः! ऋगतौ गत्यर्थाः बुद्ध्यर्थाः। अत्र भगवन्माहात्म्ये भवद्भिः पृष्टोऽहम् यद्वा हे! अर्यमणः! सूर्याः! त्रयीमूर्तयः यावान् आत्मनो बुद्धेः अवगमः प्रसरः यावन्महिमा मद्बुद्धिविषयो भवति तावन्तं महिमानमाचक्षे वर्णयामि। तथाहि — यथा पतत्रिणः पक्षिणः बाणाः वा आत्मसमं स्वबलानुरूपमेव नभः प्रतिपतन्ति उद्गच्छन्ति तथा विपश्चितोऽपि समं स्वबुद्धिबलानुरूपं विष्णुगतिं भगवन्महिमानं पतन्ति विषयीकुर्वन्ति। न हि पतत्रिणः नभसि उद्गच्छन्तो नभसोऽभावान्निवर्तन्ते किन्तु स्वबलक्षयात् निवर्तन्ते एवं विपश्चितोऽपि मतिक्षयादेव निवर्तन्ते न तु भगवन्महिम्नः क्षयादित्यर्थः। तच्चोक्तमन्यत्रापि "इषुक्षयान्निवर्तन्ते नान्तरिक्षक्षितिक्षयात्। मतिक्षयान्निवर्तन्ते न गोविन्दगुणक्षयात्" इति॥ २३॥

अथ तत्पृष्टं भागवताख्यं पुराणं परीक्षिच्छुकसंवादरूपं शृण्वायिषुस्तावत् संवादप्रवृत्तिं, तदुपोद्घातरूपं परीक्षिच्छुकयोः सङ्गमं, परीक्षितः प्रायोपवेशं च तन्मूलं विप्रशापं तन्निमित्तं चाऽऽह — **एकदा** इत्यादिना

यावत्स्कन्धसमाप्ति। तावच्छापनिमित्तमाह षड्भिः एकदेति। कदाचित् परीक्षित् धनुरुद्यम्य उद्धृत्य वने मृगयां चरन् मृगान् अनुसृत्य गतः श्रान्तः नितरां तृषितः क्षुधितः तृषा सञ्जाता क्षुत् अस्य सञ्जातेति तथा तारकादित्वात् इतच्॥ २४॥

---

1 W adds युक्तम् 2 A.B भागवतानाम° 3 W °भृतः 4 A.B वेत्य 5 W चा 6 A.B कथ 7 A.B omit स्व 8 A.B °दकत्वयु° 9 A.B वा 10 A.B न तु साधारणोऽनवधिक° 11 A.B अन्य प्रति 12 A.B वस्सूचि 13 A.B omit वीर्य 14 W हंस्ये आत्र° 15 W तथा चोक्त°

**विज्ञ०** हरेरुदारचरितानां अनन्तत्वात् तेषां मध्ये किं वक्ष्यामीति प्रश्नो माभूदित्यभिलषितचरितमिदमित्याहुरित्याह — **तन्नः** इति। तदाख्यानमस्माकं आख्याहीत्यन्वयः। परं उत्कृष्टं पुण्यं पुनानं असंवृतः स्पष्टोऽर्थः पुरुषार्थः यस्मान्भवति [1]तथोक्तं तत् अत्यद्भुतानां योगानां भक्तिज्ञानादिलक्षणानां निष्ठा प्रतिपाद्यतया नितरां स्थितिः यस्मिंस्तत्तथोक्तं तत्कालतो देशतश्च अनन्तस्य अपरिच्छिन्नस्य हरेः चरितेन उपपन्नं सहितं तथा परीक्षित्सम्बन्धि भागवतानामभिरामं मनोहरं भागवताः अभिरमन्ते यस्मिन्निति वा भगवत्सम्बन्धित्वाद्वा अभिरामम्॥ १७॥

हे महात्मन्! शौनक! विलोमजाताः हीनजन्मानोपि वयं ज्ञानवृद्धानां अनुवृत्त्या सेवया जन्मभृतः सफलजन्मानः अभूम इत्यन्वयः। अहो आश्चर्यं अस्मद्भाग्यं कुतः महत्तमानां अभिधानं गोष्ठी तस्य योगः सम्बन्धः अभिधानेन नाम्ना योग इति वा दुष्कुलोत्पत्तिनिमित्तं दौष्कुल्यं आधिं मनोदुःखं शीघ्रं विधुनोतीत्येकान्वयः॥ १८॥

कैमुत्यमाह — **कुत** इति। महत्तमैकान्तपरायणस्य हरेः नाम गृणतः पुंसः आधिं विधुनोतीति कुतः पुनः किं वक्तव्यमित्यन्वयः। अनन्ताः अपरिमिताः शक्तयः यस्य सः तथा देशादितः परिच्छेदो न विद्यते यस्य सोऽनन्तः यो भगवान् अनन्तशक्तिः अनन्तश्च न केवलं ताभ्यां आनन्त्यं गुणानन्त्यमप्यस्तीत्याह महदिति। महान्तो गुणाः महद्गुणाः तेषां भावः महद्गुणत्वं तस्मात् छान्दसत्वात् महच्छब्दस्य महादेशाभावः, यं भगवन्तं अनन्तं गुणतः परिच्छेदरहितं "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" (तैत्ति. उ. 2-1-1) इत्यादिवेदान्ता आहुरित्यन्वयः॥ १९॥

प्रार्थयतः कटाक्षमोक्षमिति शेषः, इतरान् ब्रह्मादीन् हित्वा कटाक्षवीक्षामकृत्वा विभूतिः महालक्ष्मीः स्वरतत्वात् अनभीप्सोः अनिच्छोः यस्य हरेः अद्विरेणुं अनवरतं जुषते सेवते तस्यास्य हरेः असाम्ये अद्वितीये तथा गुणैरनतिशयिते अधिक्यरहिते सर्वोत्तमत्वे च सूचितेन लक्ष्मीपतिरित्येतावता अलं नन्वित्येकान्वयः। "अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः" (अम्भृणीसूक्ते) "श्रीमन्मन्दकटाक्षलब्धविभवब्रह्मेन्द्रगङ्गाधरम्" (श्री. सू.) इत्यादि श्रुतिस्मृतिशतैः इतरेषां अशेषाणां लक्ष्म्या अवतारत्वात् लक्ष्मीपतित्वं विष्णोः सर्वोत्तमत्वंयुक्तिरिति भावः॥ २०॥

अथ सर्वोत्तमत्वाद्वितीयत्वसमर्थनस्य बहुयुक्तिसन्दृष्टत्वप्रकटनाय इदमपि भवतीत्याह — **अद्यापीति**। यस्य पादनखावसृष्टं गलितं विरिञ्चेन ब्रह्मणा उपहृतं समर्पितं अर्हणाम्भोऽर्घ्यजलं श्रीपादवनेजनोदकं इति यावत्। रुद्रेण सह

वर्तमानञ्च जगत् चतुर्दशभुवनं पुनाति यस्मादथ तस्माल्लोके भुवने मुकुन्दात् मोक्षप्रदात् नारायणात् अन्यतमः अन्यः स्वार्थे तमप् प्रत्ययः। को नाम भगवत्पदार्थः निरतिशयज्ञानादिगुणवत्तया भगवानिति नामवाच्योऽस्ति सर्वेषां तदवाक्तनत्वात् न कोप्यस्तीत्यर्थः। अनेन विरिञ्चिपूज्यत्वशिवशुद्धिकरतीर्थपदत्वभगवन्नामवाच्यत्वाद्वितीयत्वानि सर्वोत्तमत्वसूचकानीति ज्ञातव्यम्॥ २१॥

मुकुन्दत्वं विवृणोति — यत्रेति। यत्र मुकुन्दे अनुरक्ताः स्निग्धाः धीराः विषयवार्तायां निवृत्तायां बुद्धौ रतासन्तः देहादिषु ऊढं प्ररूढं सङ्गं स्नेहलक्षणं सहसा विमर्शज्ञानेन व्यपोह्य निरस्य तत्परमहंसाश्रमप्राप्यं सत्यं [1]साधुगुणयुक्तं ब्रह्म मुकुन्दाख्यं व्रजन्ति, यस्मिन् परमहंसाश्रमे अहिंसा विहितातिरिक्तहिंसावर्जमं उपरमम्। उं रुद्रं पाति पिबति हिनस्तीति वा, उपो विष्णुः सर्वाधिकः तस्मिन् हरौ रमो रमणं रतिः विषयनिवृत्तिर्वा धर्मो विहित इति शेषः। अनेन मुक्तिदानमपि सर्वोत्तमत्वद्योतकमिति सूचितं भवति॥ २२॥

आख्याहीति शौनकप्रश्नोत्तरं वक्ति — अहं हीति। अस्य हरेः गुणान् वक्तुं भवद्भिः पृष्टोऽहं अत्र हरिगुणेषु यावान् आत्मावगमः आत्मनो मम अवगमः ज्ञानं तावदाचक्षे व्याकरिष्ये गुणानामनन्तत्वात् कस्यापि सर्वात्मना ज्ञातुं शक्तिः नास्ति इत्येतदर्थं हिशब्देनाऽऽह। न केवलं अहमेवाशक्तः किन्तु अतीतानागतवर्तमाना ब्रह्मादयः सर्वेप्येवमेव हरिगुणविषय इति सोदाहरणमाह — नभ इति। यथा पतत्रिणः पक्षिणः नभः आत्मसमं स्वशक्त्यनुसारेण पतन्ति शक्त्यभावादेवोपरमन्ति न नभोऽवसानात् अनन्तत्वादस्य तथा ब्रह्मादयः विपश्चितः ज्ञानिनः विष्णुगतिं विष्णुज्ञानं प्रति समं आत्मशक्त्यनुसारेण यतन्ते शक्त्यभावादुपरमन्ति, न गोविन्दगुणानां मितत्वादिति भावः॥ २३॥

पारीक्षितमाख्यानं वक्ष्यन् तस्य निर्वेदनिमित्तब्रह्मशापं वक्तुमुपक्रमते — एकदेति। धनुरुद्यम्य सज्जं कृत्वा प्रगृह्य मृगयां उद्दिश्य वने विचरन्॥ २४॥

---

1. K,M add तत् 2. K °शयने 3. K अधिकरहित्वे 4. K,M °त्वे

रा० कृ० तत् तादृशं परं पुण्यं पृच्छतां वदतां शृण्वतां च सर्वेषां अत्यन्तपुण्यावहं, असंवृतार्थं असंवृतः स्पष्टः अर्थः यस्य तत् अत्यद्भुतयोगनिष्ठं अनन्ताचरितोपपन्नं अनन्तस्य भगवतः आचरितैः अद्भुतकर्मभिः उपपन्नं सहितं अत एव भागवताभिरामं भगवद्भक्तानां मनोहरं पारीक्षितं परीक्षिते कथितं आख्यानं भागवताख्यं पुराणं नः अस्मभ्यं आख्याहि कथय।

सत्कर्माचरणजातं फलं पुण्यं, तत्कर्मफलत्यागजन्यन्तु परं पुण्यमिति विवेकः। श्रीमद्भागवतमहापुराणस्य तादृशकर्मफलत्यागबुद्धिजनकत्वात् परं पुण्यमिति विशेषणमुपपद्यते। यदुक्तं पारीक्षितमाख्यानं अत्यद्भुतयोगनिष्ठमिति तत्रोच्यते — इतरमार्गेषु दृश्यमानः त्रिगुणविजयनिर्गुणोपासनादिव्यवहारः नात्र दृश्यते। अयं तु योगस्सगुण एव। किञ्च ये तावद्भुणाः शुद्धसत्त्वप्रधानाः त्रिगुणातीतस्थितिमावहन्ति ते भूतदयादयः कल्याणगुणा इत्युच्यन्ते। अस्मिन्

योगमार्गे साधकः स्वमनसो नानाविधाभिप्रायनिरासप्रयत्नमपहाय तन्मनो नारायणकल्याणगुणपरिपूर्णं आतनुते। तेन तस्य प्रकृतिः दिव्यत्वं प्राप्य अखण्डानन्दमश्नुते। तस्मादस्मिन् मार्गे साधनाऽपि सुमधुरा सर्वेन्द्रियसमाह्लादिनी सकलकल्मषहारिणी च सती स्वस्वरूपानुसन्धानात्मिकां परां भक्तिं वितरति॥ १७॥

वयं विलोमजाता अपि ब्राह्मण्यां क्षत्रियात् जाता अपि वृद्धानुवृत्त्या वृद्धानां ज्ञानवयोवृद्धानां शुकादीनां भवतां अनुवृत्त्या सेवया अद्य जन्मभृतः सार्थकजन्मानः आस्म अभवाम। अहो आश्चर्यम्। ह! सन्तोषातिशयद्योतकमिदं पदम्। तथाहि महत्तमानां अतिशयेन महतां भवादृशानां अभिधानयोगः लौकिकोऽपि सम्भाषणसम्बन्धः दौष्कुल्यं दुष्कुलप्रभवत्वप्रयुक्तं हैन्यं आधिं तन्निमित्तां मानसिकपीडाञ्च विधुनोति निरस्यति॥ १८॥

यो भगवान् षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नः अनन्तशक्तिः स्वयमनन्तः महद्गुणत्वात् महत्सु विवेकशालिषु भक्तेषु गुणा यस्मात् भवन्ति स महद्गुणः तस्य भावः महद्गुणत्वं तस्मादपि ऋषयः यं अनन्तं आहुः तस्य महत्तमैकान्तपरायणस्य देवस्य नाम गृणतः कीर्तयतो जनस्येति शेषः। महत्तमानामभिधानयोगः दौष्कुल्यादिकं विधुनोतीति कुतः पुनः, किं वक्तव्यम्?॥ १९॥

विभूतिः लक्ष्मीः प्रार्थयतोपि इतरान् ब्रह्मादीन् हित्वा विहाय अनभीप्सोः अनभिलषतः अपि यस्य भगवतः अङ्घ्रिरेणुं जुषते सेवते इत्येतावता सूचितेन गुणैः असाम्यानतिशायनस्य समानाधिकरहितस्य भगवतः महिम्नेति शेषः अलम्॥ २०॥

अथापि अपि च यत्पादनखावसृष्टं यस्य भगवतः पादस्य नखात् निस्सृतं विरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः विरिञ्चेन ब्रह्मणा उपहृतं समर्पितं अर्हणाम्भः अर्घ्यजलं गङ्गात्मकं सेशं महादेवसहितं जगत् पुनाति पवित्रीकरोति। तस्मात् मुकुन्दात् गोविन्दात् अन्यतमः भगवत्पदार्थः भगवत्पदस्यार्थः वाच्यः को नाम लोके अस्ति इति शेषः स एव मुकुन्दः सर्वेश्वरो भगवानित्यर्थः॥ २१॥

यत्र यस्मिन् भगवति मुकुन्दे अनुरक्ताः धीराः सहसैव अकस्मादेव केनापि भाग्येन इत्यर्थः। देहादिषु देहे तदनुबन्धिपुत्रादिषु च ऊढं रूढमूलं सङ्गं आसक्तिं व्यपोह्य त्यक्त्वा यस्मिन् पारमहंस्ये अहिंसा उपशमश्च स्वधर्मः स्वाभाविको धर्मः भवति, अन्ये तुरीयं तत्पारमहंस्यं परमहंसाश्रमं व्रजन्ति, तस्मात् मुकुन्दात् अन्यतमः भगवत्पदार्थः को नाम लोके अस्ति इति पूर्वेणान्वयः।

भगवतः अनन्तशक्तित्वोक्तेः जगति शक्तिविरहितस्य वस्तुनः अभावात् शक्तेः सर्वसृष्टिहेतुत्वाच्च, भगवान् अनन्त इत्यत्र अनन्तरूप इत्यर्थः। महद्गुणत्वादित्यत्र भगवद्गुणानां महत्सङ्घान्तत्वोक्तेः महतां भागवतानां भगवद्गुणवत्त्वमुक्तं भवति। तथा च तद्गुणवतां तत्त्वाऽऽपत्तेः भगवद्भागवताभेदोपचारात् अनन्तमहद्गुणः भगवान् पुनरप्यनन्तः अनन्तगुणो भवति।

शक्तेः विभूत्युपजीव्यत्वात् विभूतिमय्याः लक्ष्म्याः सर्वशक्तिमयभगवदङ्घ्रिसेवनं निसर्गसिद्धं भवति। तस्मात् भगवान् विभुः सर्वैश्वर्यसम्पन्नोऽपि भवति। एतादृशे भगवत्यनुरक्ताः धीराः महर्षयः देहात्मभावनां परित्यज्य

सर्वभूतात्मभूतात्मानः अहिंसोपशमाख्यस्वधर्मसमुपेताश्च सन्तः निरूढ'सोऽहं'भावनया समीकृतोच्छ्वासनिश्वासाः पारमहंस्याख्या मात्मनिष्ठां भजन्ते। एते खलु महात्मानः यथावसरं शरीरमुपकरणमादाय विश्वहिते प्रवर्तन्ते॥ २२॥

हे अर्यमणः! ज्ञानातिशयेन सूर्यसदृशाः हे महर्षयः! भवद्भिः पृष्टोऽहं अत्र भगवन्महिम्नि यावान् यावन्मात्रः आत्मावगमः आत्मबुद्धेः प्रसरः भवति तावत्तमेव महिमानं आचक्षे हि वर्णयामि खलु। तथाहि पतत्रिणः पक्षिणः गरुडादयः यथा आत्मसमं स्वशक्त्यनुरूपमेव नभः पतन्ति उद्गच्छन्ति न तदन्तं प्राप्नुवन्ति तथा विपश्चितः ज्ञानिनोऽपि समं स्वबुद्धिशक्त्यनुरूपमेव विष्णुगतिं विष्णोः सर्वव्यापकस्य भगवतः महिमानं पतन्ति स्वज्ञानविषयीकुर्वन्ति वर्णयन्ति च; न तु तदन्तं लभन्ते। न हि जीवस्य भगवज्जिज्ञासा भगवत्परीक्षापर्यवसायिनी किन्तु तत्त्वप्राप्त्येकप्रयोजनेति भावः॥ २३॥

एकदा कदाचित् परीक्षित् धनुः उद्यम्य वने मृगयां विचरन् मृगान् अनुगतः भृशं श्रान्तः क्षुधितः तृषितश्च अभूदिति शेषः॥ २४॥

**जलाशयमचक्षाणः प्रविवेश तमाश्रमम्।**
**ददर्श मुनिमासीनं शान्तं मीलितलोचनम्॥ २५॥**

**प्रतिरुद्धेन्द्रियप्राणमनोबुद्धिमुपारतम्।**
**स्थानत्रयात्परं प्राप्तं ब्रह्मभूतमविक्रियम्॥ २६॥**

**विप्रकीर्णजटाच्छन्नं रौरवेणाजिनेन च।**
**विशुष्यत्तालुरुदकं तथाभूतमयाचत॥ २७॥**

**अलब्धतृणभूम्यादिरसम्प्राप्तार्घ्यसूनृतः।**
**अवज्ञातमिवात्मानं मन्यमानश्चुकोप ह॥ २८॥**

**अभूतपूर्वं सहसा क्षुत्तृड्भ्यामर्दितात्मनः।**
**ब्राह्मणं प्रत्यभूत् ब्रह्मन्! मत्सरो मन्युरेव च॥ २९॥**

**स तु ब्रह्मऋषेरंसे गतासुमुरगं रुषा।**
**विनिर्गच्छन्धनुष्कोट्या निधाय पुरमागमत्॥ ३०॥**

**एष किं निभृताशेषकरणो मीलितेक्षणः।**
**मृषासमाधिराहोस्वित् किं नु स्यात् क्षत्रबन्धुभिः॥ ३१॥**

तस्य पुत्रोऽतितेजस्वी विहरन् बालकोऽर्भकैः ।
राज्ञाऽघं प्रापितं तातं श्रुत्वा तत्रेदमब्रवीत् ॥ ३२ ॥

1. H.V तदा°, K.M स आश्र° 2 B.N °र्घ°, W °र्थ° 3 H.V राज्ञो 4 K.M तस्य ब्रह्मर्षे° 5 B.H.I.V °तः 6 K.M मुधा° 7. K.M.W नः

**श्रीध०** **जलाशयमिति** । अचक्षाणः अपश्यन्। तं प्रसिद्धं आश्रमम्। तस्मिंश्च मुनिं शमीकम्॥ २५॥

**प्रतिरुद्धेति** । प्रतिरुद्धाः प्रत्याहृताः इन्द्रियादयः येन तम्। अत एवोपारतम्। स्थानत्रयांज्जाग्रदादिलक्षणात् परं तुरीयं पदं प्राप्तम्। अत एव ब्रह्मभूतत्वादविक्रियम्॥ २६॥

**विप्रकीर्णेति** । विप्रकीर्णाभिः जटाभिः आच्छन्नम्। रुरुः मृगविशेषः तस्य चर्मणा चाच्छन्नम्। विशेषेण शुष्यत्तालु[2] यस्य सः। तथाभूतं मुनिं उदकमयाचत॥ २७॥

**अलब्धेति** । न लब्धं तृणं तृणासनं भूम्याद्युपवेशस्थानं च येन सः। न सम्प्राप्तं[3] अर्घ्यं सूनृतं प्रियवचनं च येन सः॥ २८॥

**अभूतपूर्व** इति। मत्सरः तदुत्कर्षसहनम्॥ २९॥

**स** इति। गतासुं मृतम्। धनुष्कोट्या चापाग्रेण॥ ३०॥

सर्पनिधाने राज्ञोऽभिप्रायमाह — **एष** इति। एष किं प्रत्याहृतसर्वेन्द्रियस्सन् मीलितेक्षणः[4] यद्वा क्षत्रबन्धुभिः आगतैः गतैर्वा किं नु स्यादित्यवज्ञया मृषासमाधिस्सन्निति जिज्ञासयेत्यर्थः[5]॥ ३१॥

**तस्येति** । तस्य पुत्रः शृङ्गी नाम[6] अतितेजस्वी तपोबलसम्पन्नः। अघं दुःखम्। तत्रार्भकमध्ये॥ ३२॥

1 H.V °यात् परं जाग्र° 2 H.V शुष्यन् तालुः 3 A°प्तोऽर्घः 4. A,B,V add स्थितः 5 H.V ज्ञातुमित्यर्थः 6 V नामा

**वीर०** क्वचिदपि जलाकरमपश्यंस्तमाश्रमं[1] प्रविवेश आङ्गिरसस्याश्रमं प्रविष्टवानित्यर्थः, तत्र मुनिमाङ्गिरसं ददर्श, कथम्भूतम्? आसीनं उपविष्टं, शान्तं प्रसन्नं मीलिते लोचने येन तम्॥ २५॥

प्रतिरुद्धानि निर्व्यापारितानि इन्द्रियाणि येन तं अत एवोपारतं बाह्यव्यापारादुपारतं स्थानत्रयात् जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरूपावस्थात्रयात् परं स्वात्मानं प्राप्तं अनुसन्दधतं ब्रह्मभूतं ब्रह्मविषयकभावनया अन्वितं अविक्रियं द्वन्द्वप्रयुक्तविकाररहितम्॥ २६॥

विप्रकीर्णाभिः विक्षिप्ताभिः जटाभिः छन्नं आवृतं रौरवेण रुरोर्मृगस्य सम्बन्धिना चर्मणा छन्नं एवंभूतं मुनिं विशुष्यत्[2] तालु वदनं च यस्य तथाभूतो राजा उदकं जलमयाचत॥ २७॥

न लब्धं तृणं भूमिः आदिशब्दात् अन्यच्च उपवेशार्थं येन न सम्प्राप्तं अर्घ्यं सूनृतं च मधुरवचश्च येन तथाभूतः अत एव अज्ञातं अवहेलितमिवात्मानं मन्यमानः राजा चुकोप ॥ २८ ॥

क्षुत्तृड्भ्यां अर्दितः पीडितः आत्मा शरीरं यस्य तस्य राज्ञः अत एव अभूतपूर्वः पूर्वं भूतः भूतपूर्वः न भूतपूर्वः अभूतपूर्वः कदाचिदपि पूर्वं न जात इत्यर्थः। मत्सरः मन्युश्च हे ब्रह्मन्! ब्राह्मणं मुनिं प्रत्यभूत् बभूव। मन्युः क्रोधः अमर्ष इति यावत्। मत्सरो द्रोहः अपचिकीर्षेति यावत्॥ २९ ॥

ततः स तु राजा निर्गच्छन् निर्गन्तुमुद्युक्तः रुषा ब्रह्मर्षेरंसे धनुष्कोट्या धनुषोऽग्रभागेन गतप्राणं सर्पं निधाय पुरं ययौ ॥ ३० ॥

किमर्थं निहितवान् इत्यत्र राज्ञः [1]तात्पर्यमाविष्करोति — **एष** इति। किमेष मुनिः निभृतानि नियमितानि अशेषाणि करणानि इन्द्रियाणि येन मीलिते ईक्षणे [2]लोचने येन तथाभूतः यथार्थसमाधिनिष्ठः; आहोस्वित् क्षत्रबन्धुभिरस्माकं किं प्रयोजनं विद्यते इति बुद्ध्या मृषा मिथ्याभूतः[3] समाधिः यस्य तथाभूतः एवमास्ते इत्यभिप्रायेण निधाय गत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

ततः तस्य मुनेः पुत्रः अतितेजस्वी ब्राह्मतेजस्सम्पन्नः बालकः अर्भकैस्सह क्रीडन् तातं पितरं राज्ञा अघं प्रापितं अपराधविषयीकृतं श्रुत्वा तत्रैवेदं वक्ष्यमाणमब्रवीत्॥ ३२ ॥

---

1 W °श्यमानस्त° 2 W विशुष्यन्ती तालुनी वदनं च यस्य 3 W वाक् च 4 W adds तत् 5 W मिथ्याभिभूतः

**विज०** जलाशयं जलाधारं तटाकविशेषं अचक्षाणः अपश्यन् स परीक्षित् आश्रमं आलस्यपरिहारकारणं स्थानविशेषं प्रविवेश इत्यन्वयः। शान्तं असम्प्रज्ञातसमाधिस्थं किञ्चिन्मीलितनेत्रम्॥ २५ ॥

प्रतिरुद्धाः परमात्मन्येव सन्निधापिताः श्रोत्रादीन्द्रियाणि च प्राणश्च मनश्च बुद्धिश्च येन स तथोक्तः तं प्राणरोधः कुम्भके श्वासरोधः चेष्टानिवृत्तिर्वा अत एव शब्दादिज्ञानेभ्यः उपारतं तदेव स्पष्टयति — स्थानेति। जाग्रदादिस्थानत्रयात् परं अतीतं तुरीयं हरिं प्राप्तं अत एव ब्रह्मणि भूतं, प्रयत्नमन्तरेण स्वत एव मनसा स्वबिम्बरूपं परमात्मानं अनुभवन्तं अतएव अविक्रियं निश्चेष्टं निवातस्थदीपोपमं विरुद्धक्रियारहितं वा ॥ २६ ॥

विप्रकीर्णाभिः जटाभिः छन्नं संवृतं रुरोः कृष्णमृगस्य विद्यमानेन अजिनेन च संवृतं आसीनं वा विशुष्यत् नीरसं तालु जिह्वामूलं गूढजिह्वा यस्य स तथा सः परीक्षित् तथाभूतं एवंविशिष्टं मुनिं उदकमयाचत प्रार्थितवान् इत्यन्वयः ॥ २७ ॥

स राजा चुकोपेत्यन्वयः। तस्मा इति शेषः। अलब्धं तृणभूम्यादि येन सः तथोक्तः आदिशब्देन मधुपर्कादि गृह्यते स्वागतमित्यादिप्रियवचनं सूनृतं "तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता" (भार. 3-2-52) इति स्मृतेः, आत्मानं मुनिना अवज्ञातमिव मन्यमानः क्षुधादिनिमित्तोऽयं कोपः इत्यस्मिन्नर्थे हशब्दः, इतिहासद्योतको वा ॥ २८ ॥

तस्य परीक्षितः ब्राह्मणं प्रति मन्युरभूत् न केवलं मन्युः किन्तु मत्सरश्चाभूदित्यन्वयः। मन्युरेव न प्रसादः इत्येवशब्दार्थः। मत्सरो नायं मद्वशः इत्यप्रीतिश्च कीदृशः अभूतपूर्वः इतः पूर्वमनुत्पन्नः कीदृशस्य क्षुत्तृड्भ्यामर्दितात्मनः पीडितमानसस्य ॥ २९ ॥

शापनिमित्तमाह — स इति। स राजा तस्य ब्रह्मर्षेः स्कन्धे गतासुं मृतं सर्पं धनुष्कोट्या निधाय पुरमागमदित्यन्वयः ॥ ३० ॥

पुरमागच्छतस्तस्य आलोचनप्रकारमाह — एष इति। एष मुनिः विषयेभ्यः प्रत्यङ्मुखतया निभृताशेषकरणः परतत्त्वविषयीकृतसकलेन्द्रियः मीलितेक्षणः किं नः अस्माकं क्षत्रबन्धुभिः किं स्यादिति मुधा समाधिः मीलितेक्षणः आहोस्विदिति मनसापि तर्कयन् पुरमगादिति पूर्वेणान्वयः ॥ ३१ ॥

तस्य ब्रह्मर्षेः पुत्रः शृङ्गिनामकः तत्रेदमब्रवीदित्यन्वयः। इदमिति वक्ष्यमाणं किं कृत्वा राज्ञा परीक्षिता अधमपराधं प्रापितं पितरं श्रुत्वा अशुचितां प्रापितमिति वा। अतितेजस्वीत्यनेन शापदानसामर्थ्यमस्यास्तीति दर्शितम्। अर्भकैः बालैस्सह विहरन् वयसा बालः न तु सामर्थ्येनित्येतद्दर्शितं कप्रत्ययेन ॥ ३२ ॥

रा० कृ० तत स्स राजा जलाशयमचक्षाणः अपश्यन् तं प्रसिद्धं आश्रमं शमीकाश्रमं प्रविवेश। प्रविश्यासीनं शान्तं रागलोभादिरहितं मीलितलोचनं मुनिं शमीकं ददर्श दृष्टवान् ॥ २५ ॥

प्रतिरुद्धेन्द्रियप्राणमनोबुद्धिं प्रतिरुद्धाः निर्व्यापारिताः इन्द्रियप्राणमनोबुद्धयः येन तं अत एव उपारतं बाह्यव्यापारात् उपरतं स्थानत्रयात् जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरूपात् अवस्थात्रयात् परं तुरीयं स्वात्मानं प्राप्तं अनुसन्दधानं अत एव ब्रह्मभूतं "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मुण्ड. उ. 3-2-9) इति श्रुत्या ब्रह्मत्वमुपगतं अतएवाविक्रियं द्वन्द्वप्रयुक्तविकाररहितं विप्रकीर्णजटाच्छन्नं विक्षिप्ताभिः जटाभिः आवृतं रौरवेण रुरुसम्बन्धिना अजिनेन चर्मणा आच्छन्नं च तथाभूतं एवंभूतं मुनिं राजा विशुष्यत्तालुः उदकमयाचत याचितवान् ॥ २६, २७ ॥

अलब्धतृणभूम्यादिः अलब्धतृणासनभूम्याद्युपवेशस्थानः असम्प्राप्तार्घ्यसूनृतः असम्प्राप्तार्घ्यप्रियवचनश्च स राजा आत्मानं अवज्ञातमिव अवहेलितमिव मन्यमानः चुकोप ह कुपितवान् ॥ २८ ॥

क्षुत्तृड्भ्यां क्षुधा तृषा च अर्दितात्मनः राज्ञः परीक्षितः अभूतपूर्वः पूर्वं कदापि न जातो मत्सरः तदुत्कर्षासहनरूपः मन्युरेव च क्रोधश्च ब्राह्मणं प्रति शमीकमुनिं प्रति सहसा अभूत् ॥ २९ ॥

स तु राजा विनिर्गच्छन् तस्मात् प्रदेशात् निवर्तमानः रुषा क्रोधेन गतासुं मृतं उरगं सर्पं धनुष्कोट्या धनुरग्रेण ब्रह्मर्षेः अंसे स्कन्धे निधाय पुरं स्वपट्टणं आगमत् आगतः ॥ ३० ॥

एष मुनिः निभृताशेषकरणः नियमितसर्वेन्द्रियस्सन् मीलितेक्षणः किम्? यथार्थसमाधिः किम्? आहोस्वित् अथवा आगतैर्गतैर्वा क्षत्तबन्धुभिः क्षत्रियाधमैः किन्नु स्यात् किं प्रयोजनं भवेत् इति बुद्ध्या मृषासमाधिः मिथ्याभूतसमाधिरास्ते इति मनसि विचिन्तयन् परीक्षित् पुरमगच्छत् ॥ ३१ ॥

तस्य शमीकस्य पुत्रः अतितेजस्वी बालकः अर्भकैः इतरबालकैः सह विहरन् क्रीडन् तातं जनकं राज्ञा अघं अपराधं प्रापितं श्रुत्वा तत्र बालकानां मध्ये इदं वक्ष्यमाणं वचनं अब्रवीत् अवोचत्॥ ३२॥

शृङ्गी उवाच

अहो अधर्मः पालानां पीव्नां बलिभुजामिव।
स्वामिन्यघं यद्दासानां द्वारपानां शुनामिव॥ ३३॥

ब्राह्मणैः क्षत्रबन्धुर्हि द्वारपालो निरूपितः।
स कथं तद्गृहे द्वास्थः सभाण्डं भोक्तुमर्हति॥ ३४॥

कृष्णे गते भगवति शास्तर्युत्पथगामिनाम्।
तद्भिन्नसेतूनद्याहं शास्मि पश्यत मे बलम्॥ ३५॥

इत्युक्त्वा रोषताम्राक्षः वयस्यानृषिबालकः।
कौशिक्याप उपस्पृश्य वाग्वज्रं विससर्ज ह॥ ३६॥

इति लङ्घितमर्यादं तक्षकस्सप्तमेऽहनि।
धक्ष्यति स्म कुलाङ्गारं चोदितो मे ततद्रुहम्॥ ३७॥

ततोऽभ्येत्याश्रमं बालः गले सर्पकलेवरम्।
पितरं वीक्ष्य दुःखार्तः मुक्तकण्ठो रुरोद ह॥ ३८॥

स वा आङ्गिरसो ब्रह्मन् श्रुत्वा सुतविलापनम्।
उन्मील्य शनकैर्नेत्रे दृष्ट्वा स्वांसे मृतोरगम्॥ ३९॥

विसृज्य पुत्रं पप्रच्छ वत्स! कस्माद्धि रोदिषि?।
केन वा तेऽपकृतमित्युक्तस्स न्यवेदयत्॥ ४०॥

---

1 K.M पृथ्व्या 2 B H.I.V गृह 3 H.V द्वास्थ. 4 A.F.G भङ्ग 5 K.M.W तान् भित्र 6 B संतुमद्या 7 K.M.N.W कान् 8 K.M.W वय 9 H.K.M.V इतो W इत्युल्लङ्घि . A.F.G अतो 10 A.B.G.I.N दङ्क्ष्यति 11 K.M पितृ 12 A.F.G प्रेक्ष्य 13 A.F.G वैवाङ्गि 14 K.M पितम् 15 B.H.I.K.M.V चांसे; W ऽथांसे 16 B.I तं च 17 K.M द्विरो 18 H.K.M.V ते विप्रकृतं; B तेऽप्यपकृतं; N.W ते प्रतिकृतं

**श्रीध०** अहो इति। पालानां राज्ञाम्। पीव्नां पुष्टानाम्। अधर्ममेव निर्दिशति स्वामिनि दासानां यदघं पापाचरणं बलिभुजां काकानामिव शुनामिव चेति॥ ३३॥

दासत्वं दर्शयति — **ब्राह्मणैरिति**। सभाण्डं भाण्डे एव स्थितम्॥ ३४॥

**कृष्ण** इति। तत् तदनन्तरम्। अहं शास्मि दण्डयामि॥ ३५॥

**इतीति।** इति वयस्यानुत्तत्वा रोषेण ताम्रे अक्षिणी यस्य सः कौशिकी नदी तस्याः अपः सन्धिरार्षः। वाग्वज्रं शापम्॥ ३६॥

**इतीति।** इत्येवं सर्पनिक्षेपेण दंङ्क्ष्यति भक्षयिष्यति। पाठान्तरे भस्मीकरिष्यति। स्मेति पादपूरणे। कुलस्याङ्गारतुल्यं मे मया तातद्रुहं ततेति ह्रस्वत्वमार्षम्॥ ३७॥

**तत** इति। गले सर्पकलेबरं यस्येति अलुक्समासः। मुक्तकण्ठः उच्चैरित्यर्थः॥ ३८॥

**स** इति। आङ्गिरसः अङ्गिरसगोत्रोद्भवः शमीकः। पप्रच्छ इत्युत्तरेणान्वयः॥ ३९॥

किमिति पृष्टवान् इत्यत आह — **विसृज्येति**। तं सर्पं विसृज्य कस्मांद्धेतोः रोदिषि? केन अपकारः कृतः?॥ ४०॥

1 H,V दर्शयति 2 H,V add इति 3 V °प° 4 H,V इत इति 5 H,V धक्ष्यति 6 H,V add कण्ठे

**वीर**° तदेवाऽऽह — **अहो** इति पञ्चभिः। बलिभुजां शुनां वायसानामिव वा पीव्नां वर्धितानां पालानां राज्ञां अहो अधर्मः पश्यत। कोऽसावधर्मः द्वारपानां शुनामिव दासभूतानां राज्ञां स्वामिनि ब्राह्मणे अघं अपराधं इति यदेष एवाधर्मः॥ ३३॥

तदेवोपपादयति क्षत्रबन्धुर्हि ब्राह्मणैः द्वारपालत्वेन श्वेव नियोजितः सः द्वाःस्थः क्षत्रबन्धुः तद्गृहे ब्राह्मणगृहे श्वेव कथं सभाण्डमेकपात्रं यथा तथा भोक्तुमर्हति योग्यो भवेत्॥ ३४॥

उत्पथप्रतिपन्नानां शास्तरि दण्डयितरि कृष्णे भगवति स्वलोकं प्रति गते सति तान् भित्रमर्यादान् अहमद्य शास्मि शिक्षये। मम बलं पश्यत॥ ३५॥

वयस्यान् समानवयस्कान् बालकान् प्रति इत्थं उत्तत्वा रोषेण ताम्रे अक्षिणी यस्य सः ऋषिबालकः कौशिक्याः नद्याः अपः उपस्पृश्य आचम्य वाग्वज्रं शापात्मकवाग्रूपं वज्रं विससर्ज प्रायुङ्क्त॥ ३६॥

वाग्वज्रमेव दर्शयति — इति इत्थं उल्लङ्घिता मर्यादा येन तं मे ततद्रुहं ततः तातः पिता तस्यापकारिणं कुलनाशकं राजानं इतः सप्तमेऽहनि मया चोदितः प्रेरितः तक्षकः सर्पः धंक्ष्यतीति॥ ३७॥

ततो बालः पितुराश्रममागत्य गले कण्ठे सर्पो यस्य तत्कलेबरं यस्य तं पितरं आलोक्य दुःखपीडितः मुक्तः कण्ठः येन सः उच्चैस्स्वरयुक्तः इत्यर्थः, रुरोद रोदनं कृतवान्॥ ३८॥

ततो हे ब्रह्मन्! स वै आङ्गिरसः सुतस्य विलापनं श्रुत्वा शनैर्नेत्रे उन्मील्य अंसे मृतमुरगं दृष्ट्वा॥ ३९॥

तं परिहृत्य पुत्रं पप्रच्छ। **प्रश्नमेवाऽऽह — हे वत्स! कस्माद्धेतोः त्वमिति शेषः। विरोदिषि रोदनं करोषि,** केन वा ते तव अपकृतम्? भावे क्तः। इति इत्थमुक्तो बालकः सर्ववृत्तं न्यवेदयत् कथयामास॥ ४०॥

---

1 W °थं 2 W बालान् 3 A,B दहस्यति

**विज०** किमाहेति तत्राऽऽह — **अहो** इति। बलिभुजां काकानामिव पृथ्व्याः पालानां राज्ञामधर्मः अन्यायः अद्य अस्माभिः दृष्टः। अहो कष्टं तत्कुत इति तत्राऽऽह — स्वामिनीति। शुनां स्वामिन्यघमिव ब्राह्मणदासानां तद्गृहद्वारपानां राज्ञां सम्प्रति स्वामिनि ब्राह्मणेऽघं दृष्टमिति यत् यस्मात् तस्मादिति॥ ३३॥

राज्ञां विप्रदासत्वं कथमिति तत्राऽऽह — **ब्राह्मणैरिति**। ब्राह्मणैः दासतया द्वारपालः निरूपितः स राजा तस्य विप्रस्य गृहे द्वाःस्थः द्वारपालः कथं सभाण्डं भाण्डेन सह वर्तमानं गृहं भोक्तुं नाशयितुमर्हति नार्हत्येव। हि यस्मात् तस्मात् असौ स्वामिना दण्ड्यः इत्यर्थः॥ ३४॥

तर्हि सम्प्रति को दण्डकर्ता एतेषामिति तत्राऽऽह — **कृष्ण** इति। उत्पथगामिनां विहितमार्गं परित्यज्य गच्छतां शास्तरि कृष्णे भगवति गते भिन्नसेतून् लङ्घितमर्यादांस्तानद्याहं शास्मि दण्डयामीत्यन्वयः। मे बलं सामर्थ्यं पश्यत हे बालाः! इति शेषः॥ ३५॥

स च दण्डः कीदृश इति तत्राऽऽह — **इतीति**। रोषताम्राक्षः रक्तनेत्रः कौशिकी कुशपाणिः अपः उपस्पृश्य आचम्य वाग्वज्रं शापलक्षणं विससर्ज दत्तवान् राज्ञ इति शेषः। इतिहासद्योतकेन हशब्देन कौशिकी नदी तस्या अपः उपस्पृश्य इत्यपव्याख्यानमपहस्तितमिति ज्ञातव्यम्॥ ३६॥

इतः अद्यतनात् अह्नः सप्तमेऽहनि मे मया चोदितः प्रेरितः तक्षकः सर्पविशेषः लङ्घितमर्यादं कुलाङ्गारं कुलनाशकं मम पितृद्रुहं परीक्षितं नाम राजानं धक्ष्यति स्म दग्धं कुर्यादित्येकान्वयः। धक्ष्यतीति लृट् स्मशब्दसामर्थ्यात् लोडर्थो बोद्धव्यः। भागवतप्रधानराजदहनेऽपि सामर्थ्यद्योतनाय वा अयं व्यत्ययः॥ ३७॥

आश्रमं गतः ततः गले सर्पकलेबरं कण्ठस्थितसर्पशरीरं पितरं दृष्ट्वा मुक्तकण्ठः उच्चैः रुरोद इत्यन्वयः। समाधिस्थितो वाचा नो बोधनीय इत्यतो रोदनं उच्चैः कृतं इत्यर्थद्योतकः हशब्दः॥ ३८॥

वै अपि आङ्गिरसकुलोत्पन्नः स शमीकोऽपि सुतस्य विलापितं रोदनम्॥ ३९॥

उरगं विसृज्य परिहृत्य कस्माद्धेतोः विरोदिषीति पुत्रं पप्रच्छेत्यन्वयः। विप्रकृतं विपरीतं कृतम्॥ ४०॥

**रा० कृ०** बलिभुजामिव काकानामिव द्वारपानां द्वाररक्षिणां शुनामिव पीड्नां पुष्टानां दासानां दासभूतानां पालानां राज्ञां स्वामिनि ब्राह्मणे यदघं पापाचरणं इदं वर्तते अहो सोऽयमधर्मः विलोक्यतां भवद्भिरिति शेषः॥ ३३॥

**क्षत्रबन्धुः** क्षत्रियाधमः ब्राह्मणैः द्वारपालः **श्वेव** द्वारपालत्वेन निरूपितः नियोजितः सः **द्वास्स्थः** द्वारपालः **क्षत्रबन्धुः तद्गृहे तेषां** ब्राह्मणानां गृहे सभाण्डं भाण्डस्थितं वस्तु घृतादिकं कथं भोक्तुमर्हति ? न कथमपीति भावः। पुरा तपस्विभिः ब्राह्मणैः क्षत्रियाः प्रजापरिपालने नियुक्ता इति ज्ञायते॥ ३४॥

उत्पथगामिनां अनापदि च विहितमार्गं अपहाय वर्तमानानां शास्तरि भगवति कृष्णे गते स्वलोकं गते सति तत् तदा भिन्नसेतून् भग्नमर्यादान् तान् अद्याहं शास्मि शिक्षये मे मम बलं पश्यत॥ ३५॥

वयस्यान् सवयस्कान् बालकान् प्रति इति एवं **उक्त्वा** रोषताम्राक्षः क्रोधरक्ताक्षः **ऋषिबालकः कौशिक्यपः** कौशिकीनदीजलानि उपस्पृश्य आचम्य वाग्वज्रं शापं विससर्ज प्रयुक्तवान् ह इत्याश्चर्ये। आश्चर्यद्योतकमिदं पदं **राज्ञश्शापानर्हत्वं** सूचयति॥ ३६॥

इति **इत्थं लङ्घितमर्यादं** अतिक्रान्तमर्यादं मे पितृद्रुहं पितृद्रोहकारिणं कुलाङ्गारं स्वकुलनाशकं राजानं चोदितः मया प्रेरितस्तक्षकः इतः प्रभृति सप्तमेऽहनि **दङ्क्ष्यति** भक्षयिष्यति। धक्ष्यतीति पाठे **भस्मीकरिष्यती-त्यर्थः**॥ ३७॥

**ततश्शापदानानन्तरं** बालः शृङ्गी आश्रमं पितुराश्रमं अभ्येत्य गले कण्ठे सर्पकलेबरं सर्पकलेबरसहितकण्ठं पितरं वीक्ष्य विलोक्य दुःखार्तः दुःखेन पीडितः मुक्तकण्ठः **उच्चैस्स्वरयुक्तः** रुरोद रोदनं चकार ह इत्याश्चर्ये। **क्व** शापदानम्? **क्वच** स्वयं रोदनम्? अहो **अस्याज्ञता इत्यर्थः**॥ ३८॥

ततश्च हे ब्रह्मन्! स वा आङ्गिरसः अङ्गिरोगोत्रोद्भवः सः शमीकः सुतविलापनं स्वपुत्रस्य विलापं श्रुत्वा **शनकैश्शनैः** नेत्रे उन्मील्य स्वांसे मृतोरगं मृतसर्पं दृष्ट्वा तं विसृज्य — वत्स! कस्माद्धेतोः रोदिषि ? रोदनं करोषि ? केन वा तेऽपकृतम्? अपकारः कृतः? इति पुत्रं पप्रच्छ। स च पुत्रः इत्येवमुक्तः पृष्टो न्यवेदयत् सर्वं वृत्तमकथयत्॥ ३९, ४०॥

**निशम्य शप्तमतदर्हं नरेन्द्रम् स ब्राह्मणो नात्मजमभ्यनन्दत्।**
**अहो बतांहो महदज्ञ ते कृतम् अल्पीयसि द्रोह उरुर्दमो धृतः॥ ४१॥**

**न वै नृभिर्नरदेवं पराख्यम् संम्मातुमर्हस्यविपक्वबुद्धे!।**
**यत्तेजसा दुर्विषहेण गुप्ता विन्दन्ति भद्राण्यकुतोभयाः प्रजाः॥ ४२॥**

**अलक्ष्यमाणे नरदेवनाम्नि रथाङ्गपाणावयमङ्ग! लोकः।**
**तदा हि चोरप्रचुरो विनङ्क्ष्यत्यरक्ष्यमाणोऽविवरूथवत् क्षणात्॥ ४३॥**

**तदद्य नः पापमुपैत्यनन्वयम् यन्नष्टनाथस्य वसोर्विलुम्पकात्।**
**परस्परं घ्नन्ति शपन्ति वृञ्जते पशून् स्त्रियोऽर्थान् पुरुदस्यवो जनाः ॥ ४४ ॥**

1 W नृपेन्द्रं 2 I °द्य 3 K.M °श्रमो 4 K.M °देवोऽपराध्यः 5 K.M तं शप्तुमर्हं° 6 AFGF °द्धिः 7 K.M अरक्ष° 8 H.V तथा 9 A.B.G.I.N चौ° 10 H V °माणाविवरूधवत्, AFGF °माणो हि विरुद्धलक्षणात् 11 W °त्व° 12 AF.GF नष्टस्य नाथस्य 13 K.M पशोर्विलुम्पकाः

**श्रीध० निशम्येति** । अभिनन्दनवाक्यं अहो इत्यादि। बत कष्टम्। ते त्वया महत्पापं कृतम्। अल्पीयसि द्रोहेऽपराधे। दमः दण्डः ॥ ४१ ॥

**नेति** । परो विष्णुरित्याख्या ख्यातिः यस्य। तं नरदेवं नृभिः सम्मातुं समं द्रष्टुम् ॥ ४२ ॥

**अलक्ष्यमाण** इति। अलक्ष्यमाणे अदृश्यमाने। अविवरूथवत् मेषसङ्घवत् ॥ ४३ ॥

**तदिति** । नष्टः नाथः यस्य लोकस्य तस्य वसोः वसुनः धनस्य विलुम्पकात् अपहर्तुः चोरादेः हेतोः यत्पापं भविष्यति तदस्मिन्निमित्तत्वादस्मानुपैष्यति। अनन्वयं सम्बन्धशून्यमेव। तदेव पापं दर्शयति परस्परमिति। शपन्ति परुषं वदन्ति। पश्वादीन् वृञ्जतेऽपहरन्ति। पुरुदस्यवश्चोरबहुलाः ॥ ४४ ॥

1 H.V °कम्°

**वीर०** ततो अतदर्हं शापानर्हं राजानं शप्तं आकर्ण्य ब्राह्मणः आङ्गिरसः पुत्रं नाभ्यनन्दत् तदेव दर्शयति — **अहो** इति साधैः सप्तभिः। हे अङ्ग! ते त्वया महदंहः पापं अहो कृतं बत किं तत् अल्पीयसि द्रोहे अल्पापराधे निमित्ते उरुः दमः दण्डः धृतः कृत इत्येतत् ॥ ४१ ॥

अपकृतेनापि राजा नापकार्य इत्याह — **न वा** इति। हे अविपक्वबुद्धे! नृभिः अपकृतैरपि नरदेवः नापकार्यः, अतस्त्वं नरदेवं पराख्यं परमपुरुषमिति सामर्थ्यलब्धोऽर्थः नरदेवनाम्नि रथाङ्गपाणाविति वक्ष्यमाणानुगुण्यात् नरदेव इत्याख्यामात्रमेव स तु साक्षादीश्वर एवेति भावः। तं सम्मातुमेवार्हसि न त्वपकर्तुम्। तत्र हेतुमाह यत् यस्मात् यद्विषयानपकारात् तस्य दुर्विषहेण शत्रुभिः असोढव्येन तेजसा गुप्ताः प्रजाः कुतश्चिदपि भयरहिताः भद्राणि मङ्गलानि सुखानीति यावत् विन्दन्ति लभन्ते। तस्मात् लोकसुखावहो नरदेवः न हन्तव्य इति भावः ॥ ४२ ॥

विपर्यये अनर्थमाह — **अलक्ष्यमाण** इति त्रिभिः। नरदेवाख्ये चक्रपाणौ विष्णौ अलक्ष्यमाणे अविद्यमाने सति, अङ्ग! हे पुत्र! तदा ह्ययं लोकः अरक्ष्यमाणः अत एव चोरभूयिष्ठस्सन् वृकप्रचुरावि सङ्घ इव नङ्क्ष्यति नष्टो भविष्यति ॥ ४३ ॥

नश्यतु[2] का [3]हानिः इत्यत्राऽऽह — **तदिति**। तत्पापं अनन्वयं अस्मत्सन्ताननाशकं अद्य अधुना नः अस्मान् उपैति किं तत्पापं यद्विलुम्पकात् नरदेवविच्छेदकात् त्वत्तः हेतोः वसोः धनस्य नष्टनाथस्य रक्षकरहितस्य सतः पुरवः [4]बहवः दस्यवः येषां ते जनाः परस्परं घ्नन्ति शपन्ति वाक्पारुष्यं कुर्वन्ति वृञ्जते च्छिन्दन्त्यर्थान् वृञ्जते [5]हरन्तीत्येतत्॥ ४४॥

1. W adds नरदेवाख्यं 2. W नश्यतु 3. W adds नो 4 W बहुला 5 W हरन्ति वेत्येतत्

**विज०** अतदर्हं तस्य शापस्य अर्हो योग्यो न भवतीत्यतदर्हः तं, न केवलं नाभ्यनन्दत् अनिन्दच्चेत्याह — **अहो** इति। अंहः पापं बत खेदे। अल्पीयसि अणुतरे द्रोहे अपराधलक्षणे उरुर्दमः महादण्डः॥ ४१॥

कुतः अनिन्ददिति तत्राऽऽह — **न वा** इति। नराणां देवो राजा तदधीनैः नृभिः नापराध्य इति दुर्विषहेण यस्य राज्ञः तेजसा गुप्ताः रक्षिताः न कुतोऽपि भयं यासां ताः अकुतोभयाः प्रजाः भद्राणि विन्दन्ति लभन्ते इति वै यतः बहुश्रेयोविवक्षया भद्राणीति बहुवचनम्॥ ४२॥

बाधकञ्चाऽऽह — **अरक्षमाण** इति। नरदेवान्तर्यामित्वात् नरदेवनाम्नि रथाङ्गपाणौ विष्णौ अरक्षमाणे पालनं अकुर्वाणे सति तदानीमेवायं अरक्ष्यमाणः अपाल्यमानः चोरप्रचुरः लोकः जनः अविवरूथवत् रक्षारहितसेनावत् क्षणात् विनङ्क्ष्यति हीत्येकान्वयः, "सेना रक्षा वरूथस्स्यात् अवरोधो निवेशनम्" इत्यभिधानम्॥ ४३॥

नष्टनायकस्य पालकरहितस्य पशोः राष्ट्रस्य चोरादयो विलुम्पकाः नाशका इति यत् यस्मात् अद्य नः अस्माकं अनन्वयं अनुपमं, अन्वयविरोधि सन्ततिनाशकरं वा पापमुपैतीत्यन्वयः। उक्तमेव विवृणोति — परस्परमिति। वृञ्जते अपहरन्ति छिन्दन्ति इति वा, दसु हिंसायामिति धातोः नगरनाशकाः, पुर गताविति धातोः इतस्ततो यात्राविघ्नकरा वा पशून् घ्नन्ति स्त्रियः शपन्ति उपालभन्ते धर्षयन्ति अर्थान् वृञ्जत इति विवेकः॥ ४४॥

1 K,M °श्रमो

**रा० कृ०** अतदर्हं शापानर्हं नरेन्द्रं परीक्षितं शप्तं निशम्य श्रुत्वा सः ब्राह्मणः शमीकः आत्मजं पुत्रं नाभ्यनन्दत् नाभिनन्दितवान्। हे अज्ञ! ते त्वया महदंहः पापं कृतमहो! अल्पीयसि द्रोहे निमित्ते सति उरुः महान् दमः दण्डः धृतः कृतः बतेति खेदे॥ ४१॥

हे अविपक्वबुद्धे! हे अपरिणतबुद्धे! दुर्विषहेण सोढुमशक्येन यत्तेजसा यस्य राज्ञः तेजसा गुप्ताः रक्षिताः अकुतोभयाः कुतश्चिदपि भयहीनाः प्रजाः भद्राणि श्रेयांसि विन्दन्ति लभन्ते तादृशं पराख्यं विष्ण्वाख्यं विष्ण्वंशजातं नरदेवं राजानं नृभिः अन्यैः साधारणजनैः सम्मातुं समं द्रष्टुमेव न वै अर्हसि नार्हसि किम्पुनस्तं अपकर्तुम्? अतः स्वशक्त्या सर्वव्यापके विष्णुतुल्ये राजनि कृतः द्रोहः सर्वत्र कृतो भवतीति भावः॥ ४२॥

हे अङ्ग! पुत्र! नरदेवनाम्नि राजाङ्गये रथाङ्गपाणौ विष्णौ अलक्ष्यमाणे अदृश्यमाने सति तदा हि अयं लोकः अरक्ष्यमाणः अत एव चोरप्रचुरस्सन् अविवरूथवत् वृकादिभ्यः अरक्ष्यमाणं अजाविकमिव क्षणात् विनङ्क्ष्यति विनाशं गमिष्यति ॥ ४३ ॥

नष्टनाथस्य विगतरक्षकस्य वसोः वसुनः धनस्य विलुम्पकात् अपहर्तुः चोरादेः यत्पापं भवति तत्पापं अनन्वयं सम्बन्धशून्यमेवापि अद्य नः अस्मान् उपैति प्राप्स्यति। कुत इति चेत् पुरुदस्यवः तस्करबहुला जनाः परस्परं घ्नन्ति शपन्ति परुषं वदन्ति पशून् स्त्रियः अर्थांश्च वृञ्जते अपहरन्ति च ॥ ४४ ॥

**तदाऽऽर्यधर्मश्च विलीयते नृणाम् वर्णाश्रमाचारयुतस्त्रयीमयः ।**
**ततोऽर्थकामाभिनिवेशितात्मनाम् शुनां कपीनामिव वर्णसङ्करः ॥ ४५ ॥**

**धर्मपालो नरपतिस्स तु सम्राट् बृहच्छ्रवाः ।**
**साक्षान्महाभागवतः राजर्षिर्हयमेधयाट् । क्षुत्तृट्श्रमयुतो दीनो नैवास्मच्छापमर्हति ॥ ४६ ॥**

**अपापेषु स्वभृत्येषु बालेनापक्वबुद्धिना ।**
**पापं कृतं तद्भगवान् सर्वात्मा क्षन्तुमर्हति ॥ ४७ ॥**

**तिरस्कृता विप्रलब्धाः शप्ताः क्षिप्ता हता अपि ।**
**नास्य तत्प्रतिकुर्वन्ति तद्भक्ताः प्रभवोपि हि ॥ ४८ ॥**

**श्रीसूत उवाच**

**इति पुत्रकृताघेन सोऽनुतप्तो महामुनिः ।**
**स्वयं विप्रकृतो राज्ञा नैवाघं तदचिन्तयत् ॥ ४९ ॥**

**प्रायशस्साधवो लोके परैर्द्वन्द्वेषु योजिताः ।**
**न व्यथन्ति न हृष्यन्ति यत आत्माऽगुणाश्रयः ॥ ५० ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
प्रथमस्कन्धे विप्रशापोपलम्भनं नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

---

1 AFGF °ऽऽशुधर्मस्सुवि°, I °ऽऽर्यधर्मः प्रवि° 2 K,M °श्रमान्वितो 3 H,V यद्भ° 4 B व्यथन्ते

**श्रीध० तदेति**। आर्यधर्मः सदाचारः। शुनां कपीनामिव अर्थकामयोरेव अभिनिवेशितचित्तानाम् ॥ ४५ ॥

एवं राजमात्रस्य शापानर्हत्वमुक्त्वा प्रस्तुते विशेषमाह — **धर्मपाल** इति सार्धेन। हयमेधयाट् अश्वमेधयाजी। नन्वेवम्भूतश्चेत् तत् कुतोऽपकृतवान् तत्राऽऽह — क्षुत्तृडिति। स्वागतप्रश्नाद्यभावेन अवज्ञातः प्रत्युत शापं कथमर्हतीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

अस्य महापापस्य अन्यत् प्रायश्चित्तमदृष्ट्वा पापमावेदयन् भगवन्तं [2]प्रार्थयते — **अपापेष्विति** ॥ ४७ ॥

राजा चेत् प्रतिशापं दद्यात् तर्हि निष्कृतिर्भवेत् अपि, तत्तु न सम्भवति, तस्य महाभागवतत्वात् इत्याह — **तिरस्कृता** इति। तिरस्कृताः निन्दिताः विप्रलब्धाः वञ्चिताः क्षिप्ता अवज्ञाताः। हताः ताडिताः। अस्य तिरस्कारादिकर्तुः। न तत्प्रतीकारं कुर्वन्ति, तद्भक्ताः विष्णुभक्ताः प्रभवः समर्था अपि ॥ ४८ ॥

**इतीति**। विप्रकृतः अपकृतः अघं अपराधम् ॥ ४९ ॥

युक्तं चैतदित्याह — **प्रायश** इति। **द्वन्द्वेषु** सुखदुःखादिषु। अगुणाश्रयः सुखदुःखाद्याश्रयो न भवति ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

---

1 B.H.V चार्थ° 2 H.V add हरिं

**वीर**° किञ्च तदा नरदेवनाम्नि रथाङ्गपाणौ अलक्ष्यमाणे सति वर्णाश्रमाचारयुतः त्रय्या आगतः त्रयीमयः "तत आगत" (अष्टा. 4-3-74) इत्यधिकारे "मयट् च" (अष्टा. 4-3-82) इति मयट् वैदिक इत्यर्थः। नृणां आर्यधर्मः सतां धर्मश्च विलीयते नङ्क्ष्यति ततो धर्मलयात् अर्थकामयोः निवेशितः अभिनिविष्टः आत्मा मनः येषां [1]नृणां शुनामिव च सङ्करो भविष्यति ॥ ४५ ॥

एवं सामान्यनरदेवस्य अनिग्राह्यत्वमुक्त्वा अथ प्रकृतं परीक्षितं निर्दिश्याऽऽह — **धर्मपाल** इति। स तु नरपतिः परीक्षित् धर्मपालः वर्णाश्रमधर्ममर्यादापालकः तथात्वेन विश्रुतः विपुलकीर्तिः सार्वभौमश्च तत्रापि महाभागवतः, अनेन ब्रह्मविदपकर्तॄणां नः गतिरेव नास्तीति भावः। राजर्षिः केवलं राजव्याजऋषिरेव न, [2]हयमेधयाट् हययेधेन [3]इष्टवान् ॥ ४६ ॥

**क्षुत्तृड्भ्यां** यः श्रमः तेन युतः अत एव दीनश्च तथाभूतः सर्वथा अस्मच्छापं नार्हति एवमात्मजं अनभिनन्द्य तत्कृतात् अघात् आत्मनः अनर्थमाशङ्क्य भगवन्तं क्षमापयति — **अपापेष्विति**। सर्वात्मा सर्वान्तरात्मा शप्तृशप्तयोरप्यन्तरात्मतया अवस्थितः इति भावः। भगवान् अपापेषु [4]स्वभक्तेषु अनेन अपक्वबुद्धिना विवेकरहितेन बालेन कृतं पापमिदं क्षन्तुमर्हति ॥ ४७ ॥

साक्षान्मद्विषयापराधः कथञ्चिन्मच्छरणवरणादिना सह्यः स्यात् मद्भक्तविषयापराधस्तु न कथञ्चिदपि, किन्तु तैरेव सह्यः इत्येवंविधं भगवदभिप्रायमालोच्य तानेव क्षमापयति — **तिरस्कृता** इति। तिरस्कृताः परिभूता अपि विप्रलब्धाः प्रतारिता अपि शप्ता अपि क्षिप्ता निन्दिता अपि हताः ताडिता अपि तद्भक्ताः भगवद्भक्ताः प्रभवोऽपि प्रत्यपकर्तुं समर्था अपि अस्य तिरस्कारकर्तुः न [5]तिरस्कारादिकर्तॄन् प्रतिकुर्वन्ति, किन्तु केवलं क्षाम्यन्ति ॥ ४८ ॥

इति इत्थं स महामुनिः पुत्रकृतेन अघेन अनुतप्तः [1]राज्ञां स्वयं विप्रकृतोऽपि तद्राजकृतं अघं अपराधं नैवाचिन्तयत् न चिन्तितवान्॥ ४९॥

कुतो नाचिन्तयदित्यत्राऽऽह — **प्रायश** इति। लोके परैः अन्यैः **द्वन्द्वेषु** शीतोष्णसुखदुःखादिषु योजिताः संयोजिता अपि साधवः प्रायेण न व्यथन्ति न हृष्यन्ति च यथा सुखे योजिताः न हृष्यन्ति तथा दुःखे योजिता अपि न व्यथन्तीत्यर्थः कुतः यतः आत्मा तेषां मनः गुणाश्रयः शीलाश्रयः। यद्वा अगुणाश्रय इति च्छेदः। गुणकार्यरागद्वेषाद्यनाश्रयः॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां अष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

---

1 W adds तेषां 2 W omits न 3 W omits हयमेधयाट् 4 W adds याट् 5 W °रुभयोरप्य° 6 W adds निरपराधेषु 7. W ततत्कृततिरस्कारादिकं प्रति न प्रतिकुर्वन्ति 8 W adds पश्चात्तपः 9 W °पकृतोऽपि

**विज०** तस्य परिपाकमाह — **तदेति**। यदा पश्चादिहन्तृशिक्षा न क्रियते तदा आर्याणां शिष्टानां सम्मतो धर्मः धर्मे अधिकृतानां अनुष्ठातॄणां विलीयते क्रमेण हसितः तिरोभवति च। कीदृशः त्रय्या त्रिभिः वेदैः मीयते ज्ञायते प्रतिपाद्यत इति त्रयीमयः अत एव वर्णाचारैः आश्रमाचारैश्च युतः। धर्मलयपरिपाकमाह तत इति। ततः वर्णाश्रमाचारयुतवैदिकार्थधर्मनाशानन्तरं कनकाद्यर्थेषु स्रक्चन्दनवनितादिभोगलक्षणकामेषु अभिनिवेशितः आत्मा मनः येषां ते तथोक्ताः तेषां पुंसां यथा शुनां कपीनाञ्च भक्षणभोगादावनवस्था तथा हीनजातीनामुत्तमजातिभिः उत्तमजातीनां हीनजातिभिः भोगसम्भोगादिना वर्णानां सङ्करः कलुषीभावः भविष्यतीत्येकान्वयः॥ ४५॥

परीक्षितः अदुष्टत्वे **नन्विदं** तदेव कथमिति तत्राऽऽह — **धर्मपाल** इति। अत्र धर्मपालादिविशेषणानि हेतुगर्भाणि। धर्मपालत्वात्, महाभागवतत्वात्, राजर्षित्वात्, हयमेधयाजित्वाच्च सम्राट् न दुष्टः अतः क्षुत्तृट्श्रमान्वितत्वेन बभुक्षापिपासया दीनः अस्मदाश्रममागतः अर्घ्यादिपूजायोग्यः नैव अस्मत् अस्मत्तः शापं अर्हति तस्मात् अनिवार्यमघं आपन्नमिति भावः। हयमेधैः अश्वमेधैः इष्टवान् इति हयमेधयाट्॥ ४६॥

इत्थं अघस्य सिद्धत्वं आपाद्य अनुतापपूर्वकं तदघनिष्कृतिं करोति — **अपापेष्विति**। सर्वात्मा सर्वान्तर्यामी श्रीनारायणः बालेन स्वभृत्येषु कृतं तत्पापं क्षन्तुमर्हतीत्यन्वयः॥ ४७॥

अस्मदाश्रममागतः अवज्ञातः परीक्षित् प्रभुरपि न तत्प्रतिचक्र इत्याशयेनाऽऽह — **तिरस्कृता** इति। तिरस्कृता निन्दिता विप्रलब्धाः वञ्चिताः शप्ताः उपालब्धाः क्षिप्ताः अधिक्षिप्ताः हताः ताडिताः अपिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। प्रभवोऽपि प्रतिकर्तुं समर्था अपि प्रतिशापं कर्तुं वा तद्भक्ताः तस्य भक्ताः हरेर्भक्ताः अस्य तिरस्कारादिकर्तुः सम्बन्धितत्तिरस्काराद्युद्दिश्य न प्रतिकुर्वन्ति प्रतिक्रियां नैव कुर्वन्तीत्यर्थः। हिशब्देन "क्षमा बलमशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा" इति प्रसिद्धिं दर्शयति॥ ४८॥

तदघं तेन राज्ञा कृतं अपराधं महामुनिरिति हेतुगर्भं विशेषणं सर्वज्ञत्वाच्छरीराभिमानिनः एव दुःखादिप्राप्त्या कोपोत्पत्तिः न त्वसम्प्रज्ञातसमाधेः तस्य पद्मपत्रपानीयवत् अश्लिष्टदुरितत्वात् इत्यादिविशेषत्वादित्यर्थः ॥ ४९ ॥

साधूनां अयं स्वभाव इत्याह — **साधव** इति। **द्वन्द्वेषु** सुखदुःखादिषु योजिताः साधवः **यथास्थितवस्तुदर्शिनः**। कुतः **व्यथाद्यभावः** इति तत्राऽऽह यत इति। आत्मा गुणाश्रयः इति अकारप्रश्लेषाप्रश्लेषाभ्यां पदच्छेदः कर्तव्यः। गुणस्य अगुणस्य दोषस्य वा आत्मा कर्ता जीवः स्वयमेवाश्रयः तत् तस्मात् इति ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां प्रथमस्कन्धे अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

**रा॰ कृ॰** तदा रक्षकराजाभावसमये वर्णाश्रमाचारयुतः वर्णानां आश्रमाणां च आचारैः सहितः त्रयीमयः वेदत्रयप्रतिपादितः नृणां आर्यधर्मश्च शिष्टाचारश्च विलीयते विनाशं गमिष्यति। ततः आर्यधर्मविनाशात् अर्थकामाभिनिवेशितात्मनां अर्थकामयोरभिनिवेशितः अभिनिवेशपूरितः आत्मा येषां तेषां जनानां शुनामिव कपीनामिव च वर्णसङ्करः वर्णानां सङ्करः कलुषीभावः भविष्यतीति शेषः।

साधारणजनेषु धर्माधर्मविनिर्णयशक्तिः प्रायशो मृग्यैव। तेषां ग्रासवासोगृहरक्षणादिकं प्रधानम्। तदपेक्षया जनसमाजे वर्णाश्रमाचारयुतः वेदधर्मः प्रवर्तयितव्यः।

वर्णाश्च वेदधर्मानुसारेण ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राख्याः चत्वारः एव ये तावत् अकृतबुद्धिभिः अद्य कुलत्वेन व्यपदिश्यन्ते। आजन्मसिद्धगुणान् अनुसृत्य तत्तज्जनानां तत्तद्वर्णव्यवहारः। ते च आजन्मसिद्धगुणाः पूर्वजन्मकर्मवासनानुप्राप्ताः यदनुरोधेन स्वकर्म अथवा कर्तव्यकर्म निश्चीयते। एतत्प्रतीपदिशा कर्मस्वीकाराचाराभ्यां वर्णसङ्करः। किञ्च एतद्वर्णतत्त्वप्रयोजनप्राशस्त्यानभिज्ञाः साधारणजनाः बुद्धिपूर्वं अस्मिन् वैदिके धर्मे न प्रवर्तन्ते। तदत्र निस्स्वार्थबुद्धिना सकलजनश्रेयस्साधननिरतेन परिपालकेन स्वसुखमात्रसम्पादनदृष्टिः सामान्यजनः विनेयः। तदा दुर्जनोऽपि धर्ममनुवर्तते। एष हि दुर्जनस्य स्वभावः यत् अयं प्रायशः निर्भये कर्मणि व्याप्रियते। प्रागुक्तस्य प्रभोरभावे तु दुर्जनाः प्रजोपद्रवकारिणः सञ्जायन्ते। प्रजाश्च प्रायेण स्वार्थकामसम्पादनासक्तचित्तत्वात् धर्ममोक्षमाहात्म्यान्धाः भवन्ति। धर्माचरणैकप्रयोजनौ अर्थकामौ इति भावना तासु लुप्यते। प्रत्युत ताभिः अर्थकामसाधनाय धर्मः अनुष्ठीयते। तथा हि केवलवेतनसम्पादनधिया कर्माणि आचरन्ति न तु परसुखायापि। स्त्रीपुरुषाः कामोपभोगार्थमेव मिथुनीभवन्ति न तु गृहस्थधर्मनिर्वहणायापि। अस्यां दशायां अधिकारबलसम्पत्प्रमुखप्रभावोत्कर्षशालिनः जनाः परदारधनाद्यपहरणेषु प्रवर्तन्ते। दुर्बलाः साधवश्च अशरणाः भवन्ति। तथा च जनास्सर्वे यथा कथञ्चित् लब्धं वस्तु सर्वमपि स्वायत्तीकृत्य कपय इव पलायन्ते नानावर्गत्वेन च विशकलिताः श्वान इव परस्परं कलहायन्ते बहिश्च प्रदर्शयन्ति पशुकामचेष्टाः।

एतत्सर्वानर्थपरम्परा राजर्षेः परीक्षितः मरणेन सम्भविष्यतीति शमीकमहर्षिणा सूचितम् ॥ ४५ ॥

धर्मपालः वर्णाश्रमधर्मरक्षकः सम्राट् सार्वभौमः बृहच्छ्रवाः अधिकयशस्कः साक्षात् विनैव फलाभिप्रायं महाभागवतः निरन्तरं भगवत्सेवकः राजर्षिः राजा सन्नपि ऋषिवत् विषयेषु अनासक्तया वर्तमानः हयमेधयाट् हयमेधयाजी तथापि क्षुत्तृट्श्रमयुतः क्षुधा, तृषा, श्रमेण च सहितः अत एव दीनः सः तु नरपतिः राजा परीक्षित् अस्मच्छापं नैवार्हति ॥ ४६ ॥

अपापेषु अपराधरहितेषु स्वभृत्येषु निजसेवकप्रायेषु राजसु अपक्वबुद्धिना अपरिणतबुद्धिना बालेन यत् शापदानलक्षणं पापं कृतं तत्पापं सर्वात्मा भगवान् क्षन्तुमर्हति। शमीकः स्वमनसि कल्पितसान्निध्यं सर्वात्मानं भगवन्तं इत्थं प्रार्थितवान् इति ज्ञेयम् ॥ ४७ ॥

तिरस्कृता परिभूता अपि विप्रलब्धाः वञ्चिताः अपि शप्ताः शापविषयीकृता अपि क्षिप्ताः निन्दिता अपि हताः ताडिता अपि तद्भक्ताः भगवद्भक्ताः प्रभवोऽपि प्रतिकर्तुं समर्था अपि अस्य तिरस्कारादिकर्तुः विषये तत्कृततिरस्कारादिकं न हि प्रतिकुर्वन्ति प्रतीकारं नैव कुर्वन्ति हि ॥ ४८ ॥

इति पूर्वोक्तप्रकारेण पुत्रकृताधेन निजपुत्रकृतेन पापेन अनुतप्तः पश्चात्तप्तः स महामुनिश्शमीकः स्वयं राज्ञा परीक्षिता विप्रकृतोऽपकृतोऽपि तद्राजकृतं अघं अपराधं नैवाचिन्तयत् न चिन्तितवान् ॥ ४९ ॥

लोके जगति परैः इतरैः द्वन्द्वेषु सुखदुःखादिद्वन्द्वेषु योजिताः संयोजिता अपि साधवः प्रायशः न व्यथन्ति दुःखे सति व्यथां नानुभवन्ति न हृष्यन्ति सुखे सति न हर्षं प्राप्नुवन्ति यतः यस्मात् कारणात् तेषां आत्मा अगुणाश्रयः गुणकार्यरागद्वेषाद्यनाश्रयः इति भावः।

शुभाशुभे तत्तद्भक्तिपुराकृतकर्मानुगते तन्मनः स्पृशतः। सुखदुःखे तु तन्मनः परिणामविशेषस्वरूपे शुभाशुभविचारणासापेक्षे। तद्विचारणापरित्यागपटवः साधवः। तेषां मतं अनुसृत्य सुखदुःखादिसङ्घटनानां इतरे न हेतवः किन्तु द्वारभूताः तत्तद्भक्तिपुराकृतकर्मफलानुभवरूपत्वात्। सुखदुःखे च केवलं अनुभवितुः भावनासापेक्षे — एतत्तत्त्वविदः भयोद्वेगादिभिः न विचाल्यन्त इति भावः ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां व्याख्यायां
अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

# एकोनविंशोऽध्यायः

## सूत उवाच

महीपतिस्त्वथ तत्कर्म गर्ह्यं विचिन्तयन्नात्मकृतं सुदुर्मनाः ।
अहो [1]मया नीचमनार्यवत्कृतं निरागसि ब्रह्मणि गूढतेजसि ॥ १ ॥

ध्रुवं ततो मे कृतदेवहेलनात् दुरत्यय[2] व्यसनं नातिदीर्घात् ।
तदस्तु कामं त्व[3]घनिष्कृताय मे यथा न कुर्यां पुनरेव[4]मद्धा ॥ २ ॥

अद्यैव राज्यं बलमृ[5]द्धकोशं प्रकोपितब्रह्मकुलानलो मे ।
दहत्वभद्रस्य पुनर्न मे[6]ऽभूत् पापीयसी धीर्द्विजदेवगो[7]भ्यः ॥ ३ ॥

सं चिन्तयन्नित्थ[8]मथाऽशृणोद्यथा मुनेः सुतोक्तो[10] निर्[9]ऋतिस्तक्षकाख्यः[11] ।
स साधु मेने न चिरेण तक्षकानलं[12] प्रसक्तस्य विरक्तिकारणम् ॥ ४ ॥

अथो विहायेममसुञ्च लोकं[13] विमर्शितौ[14] हेयतया पुरस्तात् ।
कृष्णाङ्घ्रिसेवामधि[15]मन्यमान उपाविशत् प्रायममर्त्यनद्याम् ॥ ५ ॥

या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्रकृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्याधिकाम्बुनेत्री ।
पु[16]नाति लोकानुभयत्र सेशान् कस्तां न सेवेत मरिष्यमाणः ॥ ६ ॥

---

1 W मयाऽमीवम° 2 V °य° 3 B.H.I V ह्यघ°. K.M अघ° 4 AF GF °व सद्यः 5 AF GF °मूर्ज°. V °मृद्धि° 6 AF GF मेऽस्तु 7 K.M °तासु 8 H.V सञ्चिन्त° 9 AF GF °ष्ट° 10 K.M °क्तद्विकृतिं त° 11 H.K.M.V °ख्यात् 12 K.M °द° 13 H.V लोकौ 14 K.M विमृश्य तौ. N विमर्शितो 15 H.K.M.V °भि° 16 K.M पुनात्यशेषानुभयत्र लोकान्

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

प्रायोपविष्टे गङ्गायां राज्ञि योगिजनावृते ।
शुकस्यागमनं तत्र प्रोक्तमेकोनविंशके ॥

**महीपतिरिति** । स्वकृतं तत्कर्म मुनिस्कन्धे सर्प[1]क्षेपणं गर्ह्यं निन्द्यं विचिन्तयन् सुदुर्मना जातः । चिन्तामेवाऽऽह साधार्धाभ्यां अहो इति । नीचम् पापम् । अमीवमिति पाठे स एवाऽर्थः । ब्रह्मणि ब्राह्मणे गूढं गुप्तं तेजो यस्य तस्मिन् ॥ १ ॥

**ध्रुवमिति**। कृतं यद्देवहेलमीश्वरावज्ञापापमित्यर्थः। तस्मान्नूनं मे व्यसनं भविष्यति। तत्तु नातिदीर्घात्कालादचिरादेवाऽस्तु, तत्राप्यद्धा साक्षान्ममैव[2] न पुत्रादिद्वारेणेति प्रार्थना। काममसङ्कोचतः। एवं प्रार्थनायाः प्रयोजनमघस्य निष्कृताय प्रायश्चित्ताय, यथा पुनरेवं न कुर्यामिति च॥ २॥

एवं साक्षात्स्वस्यैव व्यसनं सम्प्रार्थ्य ततः प्रागेव किञ्चित्प्रार्थयते — **अद्य** इति। अद्यैव मे राज्यादि दहतु प्रकोपितं ब्रह्मकुलमेवाऽनलः। पुनर्द्विजादीन् पीडयितुं[4] धीर्मे नाऽभूत्र भवेदित्यर्थः॥ ३॥

**सं** इति। इत्थं चिन्तयन् स राजा मुनेस्सुतेनोक्तः सप्तमेऽहनि निर्ऋतिर्मृत्युर्यथा भविष्यति तथाऽशृणोत्। शमीकप्रेषितशिष्याच्छ्रुत्वा च स तक्षकस्य विषाग्निं साधु मेने, यतो विषयेषु प्रसक्तस्य विरक्तिकारणम्॥ ४॥

**अथो** इति। अथो अनन्तरम्। उभौ लोकौ पुरस्तात् राज्यमध्य एव हेयतया विचारितौ विहाय श्रीकृष्णाङ्घ्रिसेवामेव अधिमन्यमानः सन् सर्वपुरुषार्थाधिकां जानन्[7] प्रायमनशनं तस्मिन्नित्यर्थः। तत्सङ्कल्पेनोपाविशत् इति यावत्। यद्वा, प्रायं प्रकृष्टमयनं मरणं[8] यथा भवति तथा॥ ५॥

अमर्त्यनद्यामिति विशेषणस्य फलमाह — **या** इति। या गङ्गा लसन्ती श्रीर्यस्यास्तुलस्यास्तया विमिश्रा ये कृष्णाङ्घ्रिरेणवस्तैरभ्यधिकं सर्वोत्कृष्टं यदम्बु तस्य नेत्री तद्वाहिनी उभयत्रान्तर्बहिश्च सेशान्[9] लोकपालैस्सहितान् लोकान् पुनाति। मरिष्यमाणः आसन्नमरणः मरणस्यानियतकालत्वात् सर्वोऽपि तथा। अतस्तां को न सेवेत?॥ ६॥

---

1 B.H.V सर्पनिक्षे° 2. H.V add अस्तु 3. B °कुलं तदेवा° 4 B adds सा 5. A,B मा° 6. H,V सञ्चिन्तयन्निति 7. H,V add नृपः 8 A.B श° 9 B adds ईशैः

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

**महीपतिरिति**। अथ स्वपुरप्रवेशानन्तरं महीपतिः परीक्षिदात्मकृतं[1] तदुरगनिधानरूपं गर्ह्यं कर्म चिन्तयन् सुदुर्मनाः आत्मनिन्दापरो बभूवेत्यर्थः। तदेव दर्शयति सार्धद्वयेन। अहो मया मूर्खवन्निरागसि[2] निरपराधिनि गूढमनभिव्यक्तं तेजः सामर्थ्यं यस्मिन् ब्रह्मणि ब्राह्मणविषयेऽमीवं निकृष्टं कर्म कृतम्। अमीवं पापम्॥ १॥

ततो नीचात्कृतात्[3] देवहेलनरूपात् कर्मणो निमित्तात् न केवलं मया ब्राह्मणोऽवहेलितः, किन्तु साक्षाद्देवो भगवानेवेत्यभिप्रायेण देवहेलनादित्युक्तं, मे मम नातिदीर्घात् समनन्तरकालमेव दुरत्ययमतिवर्तितुमशक्यं व्यसनं दुःखं ध्रुवं नूनं भविष्यति। तत् स्वस्य हितमेव मन्यते तदिति तद्व्यसनं ममाघनिष्कृताय पापविशुद्धये कामं प्रकाममस्तु। किमनिष्टं प्रार्थयसे इत्यत्राह — यथा पुनरेवंविधमघं न कुर्याम्, अद्धा न कुर्यामेव। अद्धेति स्फुटावधारणयोर्द्योतकमव्ययं शिक्षार्थमस्त्विति भावः। अस्त्वद्धा अस्त्वेवेति वाऽन्वयः॥ २॥

**अद्य** इति। प्रकोपितं कोपं प्रापितं यत् ब्रह्मकुलं ब्राह्मणकुलं तत्कर्तृकनिग्रहात्मकोऽनलोऽग्निरद्यैव मम राज्यं बलं सैन्यं प्रभूतधनकोशञ्च दहतु। यथा पुनरभद्रस्य मम द्विजेभ्यो देवेभ्यो गोभ्यश्चापचिकीर्षायुक्ता चैवंविधा पापीयसी बुद्धिर्माभूत्तथा शिक्षार्थं दहत्विति भावः॥ ३॥

इत्थं सञ्चिन्तयन् राजा यथा येन प्रकारेण तक्षकाख्यो निर्ऋतिर्मृत्युर्मुनेः सुतेनोक्त. शापात्मकोक्त्या प्रचोदितस्तथैव शुश्राव, ततस्स राजा प्रसक्तस्य विषयेष्विति शेषः, विषयासक्तस्य स्वस्य विरक्तिकारणं हेतुगर्भमिदं विरक्तिकारणत्वात्तमचिरेण तक्षकरूपमनलं साधु यथा तथा मेने॥ ४॥

अथो ततः इमममुञ्च लोकं विहाय। लोक्यत इति लोकः फलम्, सुखमिति यावत्, ऐहिकामुष्मिकसुख-स्पृहां विहायेत्यर्थः। इमममुञ्च लोकं विशिनष्टि। स्वेन पुरस्तात्पूर्वमेव हेयतया विमर्शितौ विचारपूर्वकं हेयत्वेन निश्चितौ विचारपूर्वकम् इमममुञ्च लोकं विहायेत्यन्वयः। ततः कृष्णस्य भगवतोऽङ्घ्रिसेवामधिमन्यमानो निरवधिकपुरुषार्थसाधनतया मन्यमानोऽमर्त्यनद्यां देवनद्यां गङ्गायां प्रायमनशनव्रतमुपाविशत् अनशनव्रतेन दीक्षितो बभूवेत्यर्थः॥ ५॥

स्वगृहेऽन्यत्र वा प्रायमुपविशतु, किं विशेषेण अमर्त्यनद्यामेव तदुपाविशदित्यत्र तां विशिंषन्नाह — **या वा** इति। लसन्त्या श्रीतुलस्या विमिश्रो यः कृष्णस्याङ्घ्रिरेणुस्ततोभ्यधिकस्य प्रशस्तस्याम्बुनोऽम्भसो नेत्री प्रवहन्ती याऽमर्त्यनदी उभयत्र इहामुत्र च सेशान् लोकपालैः सहितान् लोकान् जनान् पुनाति तां नदीं मरिष्यमाणः को वा पुमान् सेवेत? अपि तु सर्व इत्यभिप्रायेण तस्यामेव प्रायमुपाविशदित्यर्थः। लसच्छ्रीतुलसी श्रीकृष्णाङ्घ्रिरेणुना हेतुनाऽभ्यधिकं स्वाधिकरहितमम्बु तस्य नेत्रीति वाऽर्थः॥ ६॥

---

1. W adds स्वकृतं 2 W निरपराधे 3 W अमीवाकृ° 4 W °मनुपविश्य

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

विमुक्तिसाधनेषु प्रथमापाद्यसाधनत्वेन वैराग्यमवश्यमापाद्यं मुमुक्षुणेति परीक्षिच्चिन्ताकथनापदेशेन तत्प्रतिपाद्य-तेऽस्मिन्नध्याये। ननु परीक्षितो धर्मपालत्वादिकं न युज्यते। नृशंसवन्नीचकर्मकरणात् पश्चात्तापानुदयाच्चेत्याशङ्कापरिहार-त्वेनाह — **महीपतिरिति**। मुनेः स्कन्धे मृतसर्पशरीरार्पणलक्षणमात्मना अनुष्ठितं यत्कर्म तच्चिन्तयन् सुदुर्मनाः सुष्ठु दुःखितमना अभूदिति शेषः। तुशब्द ईश्वरेच्छाधीनत्वं दर्शयति "श्वपचादपि कष्टत्वं ब्रह्मेशानादयः सुराः" इति स्मृतेः। कस्मिन्विषये अनुष्ठितं येन महती चिन्ता सम्भाव्यत इति तत्राह — अहो इति। मया निरागसि निरपराधे गूढतेजसि अप्रकाशिततेजोलक्षणमहिम्नि ब्रह्मणि ब्राह्मणे अनार्यवत् मूर्खवत् नीचं कर्म कृतम् अहो कष्टमिति। महीपतेः कर्मणो गर्ह्यत्वद्योतनाय ब्रह्मणीति; सोऽप्यपराधी चेत्कथञ्चित् घटत इत्यतो निरागसीति। प्रतिक्रियासामर्थ्यप्रकटनाय गूढतेजसीति। "ब्रह्म वेदस्तपस्तत्त्वं ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः" (अम. को. 3-271) इत्यभिधानात्; "ब्राह्मणो नाऽवमन्तव्यो निरागास्तु विशेषतः" (भार. 1-179-13) इति वचनात्॥ १॥

तच्च दुष्कृतमपरिहार्यविपत्तिकरमिति चिन्तयतीत्याह — **धुमिति**। ब्राह्मणस्यास्य अवज्ञा विष्णोरवज्ञैव। यतस्तस्माद्देवस्य हरेर्हेलनादवज्ञानात् ध्रुवमवश्यं दुरत्ययमत्येतुमशक्यं व्यसनं दुःखं नातिदीर्घादचिराम्मे मम भविष्यति इत्यन्वयः। तद्व्यसनं मनसाऽभ्युपगच्छतीत्याह तत् इति। अघनिष्कृताय पापप्रायश्चित्ताय तद्व्यसनं काममस्तु, कुतोऽद्धा निरङ्कुशतयाऽहं पुनरेवंविधमघं यथा न कुर्यां तथाऽस्त्विति शेषः॥ २॥

नौपचारिकमिदम्, आन्तरमेवेत्यभिप्रेत्य तदेवाऽऽह — अद्यैव इति। प्रकोपितब्रह्मकुलमेवानलो बहुदाहेऽप्यलम्बुद्धिर्नास्तीत्यनलः। मे मदीयत्वेन अभिमतं राज्यदिकमद्यैव कालक्षेपमन्तरेण दहतु। भूयः अभद्रस्य मे द्विजदेवतासु पापीयसी बुद्धिर्नाभूत्, न भूयादित्यन्वयः। अभूदिति व्यत्ययो राज्ञो महानुतापसूचनायेति ज्ञातव्यम्। द्विजाश्च देवताश्च द्विजदेवताः द्विजेषु सन्निहिता देवता वा द्विजरूपदेवता वा। तासु न विद्यते भा दीप्तिर्येषां तेऽभास्तान् द्राति कुत्सयतीति अभद्रः। द्रा कुत्सायामिति धातुः। तद्वत् द्राणमज्ञानं यस्य स तथेति वा, द्रा निद्रायामिति धातुस्तस्य ॥ ३ ॥

अथेत्थं चिन्तयन् स परीक्षित् तक्षकाख्यान्मुनेः सुतोक्तात् सुतेन प्रेरितात् विकृतिकृतापराधपरिहारं देहवियोगलक्षणं यथावदशृणोदित्यन्वयः। आकर्ण्य किमकार्षीदिति तत्राऽऽह — **स** इति। सचाऽऽकर्ण्य तक्षकादचिरेण मरणं राज्यादिषु अलं प्रसक्तस्य विरक्तिकारणमभूदिति साधु मेने इत्यन्वयः ॥ ४ ॥

'स सम्राट् कस्य वा हेतो' रिति शौनकप्रश्नं परिहरति — **अथो** इति। अथो ब्रह्मशापाकर्णनसमनन्तरमेव ममायं शापोऽपि विरक्तिहेतुत्वात् साधुरिति मन्वानः पुस्तात्प्रथमं ताविहलोकपरलोकावनित्यत्वदुःखमिश्रत्वादिना हेयतया विमृश्य अधिराट् श्रीयुतमिमं भूलोकं तथा अमुं स्वर्गलोकं निर्विद्य विहायाऽस्मिन् संसारे कृष्णाङ्घ्रिसेवैव आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिसुखसाधनत्वात् कर्तव्येति च विमृश्य तामेव म्रियमाणस्य आत्मनः कर्तव्यामभिमन्यमानः परीक्षित् अमर्त्यनद्यां गङ्गायां प्रायमुपाविशत्, यावज्जीवमनशनव्रतं चकारेत्यन्वयः ॥ ५ ॥

किमिति गङ्गायामेव प्रायोपवेशः, अन्यत्राऽपि किं न स्यादिति तत्राह — **या वा** इति। लसन्ती श्रीमती तुलसी लसच्छ्रीतुलसी ब्रह्मज्ञानेन तुलां सिनोतीति तुलसी ब्रह्मज्ञानसदृशी। ब्रह्मज्ञानस्य संसारनिवर्तकत्वं यन्माहात्म्यं तदस्या अप्यस्तीति तत्सदृशी। तनोति करोति मोक्षादिपुरुषार्थमिति तुर्विष्णुः, तत्र लसतीति वा तुलसी। तस्या मञ्जरीरजोभिः विमिश्राः कृष्णस्याङ्घ्रिरेणवः, तैः सहाधिकानि यान्यम्बूनि जलानि तेषां नेत्री लसच्छ्रीतुलसीमञ्जरीरजोविमिश्रश्रीकृष्णचरणरेणुसमधिगत माहात्म्याभ्यधिकसलिलप्रवाहाऽऽकुलेत्यर्थः। या चाऽत एव अशेषान् लोकान् उभयत्र अन्तर्बहिश्च पुनातीति उभयत्र इह लोके शिष्टव्यवहारयोग्यतालक्षणां शुद्धिं, परलोके नरकप्राप्त्यादिनिवर्तनलक्षणां करोतीति वाऽतो मरिष्यमाणः पुमान् कस्तां गङ्गां न सेवेत? ॥ ६ ॥

---

1 K,M विकृतिं

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

अथ हस्तिनापट्टणगमनानन्तरं महीपतिः परीक्षित् आत्मकृतं तन्मुनिस्कन्धे सर्पकलेबरनिक्षेपणरूपं गर्ह्यं निन्द्यं कर्म विचिन्तयन् सुदुर्मनाः अत्यन्तं दुःखितमनस्कोऽभूदिति शेषः। तच्चिन्ताप्रकारमेवाह — अहो! मयाऽनार्यवत् अज्ञवत् निरागसि निरपराधे गूढतेजसि गुप्तसामर्थ्ये ब्रह्मणि ब्राह्मणे विषये नीचं पापं कृतम्।

ततस्तस्मात् कृतदेवहेलनात् कृतात् देवस्य भगवतो हेलनात् अवहेलनात्— अनेन ब्रह्मनिष्ठे शमीकमहामुनौ कृतोऽपराधः भगवत्येव कृत इति परीक्षिद्भावयतीति गम्यते। मे मम नातिदीर्घात् शीघ्रमेव दुरत्ययं दुर्निवारं व्यसनं दुःखं ध्रुवं निश्चितमेव भविष्यतीति शेषः। यथा पुनः एवं एवंविधं पापं अद्धा निश्चयेन न कुर्यां तथा तद्व्यसनं तु मे अघनिष्कृताय पापपरिहाराय कामं यथेष्टमेवाऽस्तु, भवतु।

प्रकोपितब्रह्मकुलानलः प्रकोपितं सर्पकलेबरप्रक्षेपेण कोपं प्रापितं यत् ब्रह्मकुलं ब्राह्मणकुलं तदेवाऽनलः कुपितब्राह्मणकर्तृकनिग्रहरूपोऽनल इत्यर्थः। अद्यैव मे राज्यं बलं सैन्यं ऋद्धकोशं समृद्धं धनागारञ्च दहतु। अभद्रस्य दुष्टस्य मे पुनः द्विजदेवगोभ्यः पापीयसी एवंविधा अपचिकीर्षायुक्ता धीर्बुद्धिः न अभूत् मा भूदिति भावः। न मेऽस्तु इति पाठस्साधीयान्।

स्वपापाचरणानुतप्तः परीक्षित् मुनिपुत्रदत्तशापमङ्गीकृत्य तच्छापफललमनुभवितुं संसिद्धोऽभवत्। यद्यपि राजर्षिस्सः प्रतिशापप्रदानाय प्रभुस्तथापि स्वजीवनस्य सप्तदिनमात्रपरिमितत्वात् अपकारिष्वपि सहिष्णुतायाः परमभागवत-शीलत्वात् भागवतोत्तमस्स राजा तथा न कृतवान्।

अपि च परीक्षिताऽनुभूयमानायाः मनोव्यथायाः शृङ्गिशापो न कारणम्। किन्तु स्वपापाचरणनिदानभूतः दुष्टसङ्कल्प एव। तस्मादयं राजा भविष्यत्यपि तादृशः पापसङ्कल्पः आत्मनो माभूदिति प्रार्थयते।

एवं भागवतोत्तमाः विपत्परम्पराभ्यः अविचलिताः परमप्रयोजनप्राप्तिप्रयत्नशीलाः भवन्तीत्येषा परीक्षिच्छापक-था महते प्रबोधाय कल्पते। एतदेव अग्रे विशदयति — ॥ १, २, ३ ॥

इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण सञ्चिन्तयन् स राजा अथानन्तरमेव यथा तक्षकाख्यः निर्ऋतिः मृत्युः मुनेस्सुतोक्तः सुतेन कथितः शापरूपेण प्रचोदितः तथा शमीकप्रेषितशिष्यादशृणोत्। किञ्च सः प्रसक्तस्य विषयासक्तस्य आत्मन इति शेषः। विरक्तिकारणं तक्षकानलं तक्षकस्य विषाग्निं साधु मेने ॥ ४ ॥

अथो ब्राह्मणशापश्रवणसमनन्तरमेव पुरस्तात् शापश्रवणात् प्रागपि राज्यशासनसमयमध्य एव इत्यर्थः। हेयतया दुःखमिश्रत्वात् त्याज्यतया विमर्शितौ विचारितौ इमं लोकं भूलोकं, अमुञ्च लोकं स्वर्लोकं च विहाय कृष्णसेवां श्रीकृष्णपादसेवां अधिमन्यमानः सर्वसाधनेभ्यः अधिकां मन्यमानः अमर्त्यनद्यां गङ्गायां गङ्गातटे इति यावत् प्रायमनशनं निमित्तीकृत्येति शेषः। उपाविशत् प्रायोपवेशं कृतवानित्यर्थः। असमये बलवत् देहत्यागाभिलाष इव प्राणिनामासन्नेऽपि मृत्यौ वैराग्यानुदयो दोषावहः। तस्मादासन्नमृत्युः परीक्षित् विरक्तः श्रीकृष्णपादसेवासक्तः गङ्गातटे प्रायोपवेशमकरोदिति ज्ञेयम् ॥ ५ ॥

लसच्छ्रीतुलसीविमिश्रकृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री लसन्त्या श्रीतुलस्या विमिश्राः ये कृष्णाङ्घ्रिरेणवः तैरभ्यधिकं सर्वोत्कृष्टं यदम्बु तस्य नेत्री वाहिनी या वै गङ्गा सेशान् लोकपालसहितान् लोकानुभयत्राऽन्तर्बहिश्च पुनाति पवित्रीकरोति तां गङ्गां मरिष्यमाणः आसन्नमृत्युः को वा न सेवेत? सर्वोऽपि सेवेतेति भावः ॥ ६ ॥

इति व्यवच्छिद्य[1] स पाण्डवेयः प्रायोपवेशं प्रति विष्णुपद्याम्।
दध्यौ[2] मुकुन्दाङ्घ्रिमनन्यभावो मुनिव्रतो मुक्तसमस्तसङ्गः ॥ ७ ॥

तत्रोपजग्मुर्भुवनं पुनाना महानुभावा मुनयः सशिष्याः।
प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः[3] स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः ॥ ८ ॥

अत्रिर्वसिष्ठश्च्यवनश्शरद्वानरिष्टनेमिर्भृगुरङ्गिराश्च।
पराशरो गाधिसुतोऽथ राम उतथ्य[4] इन्द्रप्रमदेध्मवाहौ[5] ॥ ९ ॥

मेधातिथिर्देवल आर्ष्टिषेणो[6] भारद्वाजो[7] गौतमः पिप्पलादः।
मैत्रेय और्वः कवषः[8] कुम्भयोनिर्द्वैपायनो भगवान्नारदश्च ॥ १० ॥

अन्ये च देवर्षिब्रह्मर्षिवर्या राजर्षिवर्या अरुणादयश्च।
नानार्षेयप्रवरान्[10] समेतानभ्यर्च्य[11] राजा शिरसा ववन्दे ॥ ११ ॥

सुखोपविष्टेष्वथ तेषु भूयः कृतप्रणामः स्वचिकीर्षितं यत्[12]।
विज्ञापयामास विविक्तचेता उपस्थितोऽग्रेऽभिगृहीतपाणिः[13] ॥ १२ ॥

---

1 K.M °स्थाय 2 I दधौ 3 K.M °धि° 4 H.V.W उचथ्य 5 AF GF °प्रमतिः सुबाहुः; K.M °प्रमतीध्मवाहौ 6 H °र्ष्णि°, V °र्षि° 7 B.H.V भ° 8 AF GF °यः 9 AF GF °महर्षि° 10 AF GF नानर्षिसङ्घान् पुरतः स° 11 H.V.W रांस्तान् स° 12 AF GF महत् 13 K.M °र्च्य°

**श्रीध० इति** इति। इत्येवं विष्णुपद्यां गङ्गायां प्रायोपवेशं प्रति व्यवच्छिद्य निश्चित्य पाण्डवेय इति तत्कुलौचित्यं दर्शयति। नास्त्यन्यस्मिन् भावो यस्य सः। कुतः? मुनिव्रतः उपशान्तः। तत्कुतः? मुक्तसमस्तसङ्गो येन सः ॥ ७ ॥

**तत्र** इति। तत्र तदा तद्दर्शनार्थं, मुनयः उपागताः न तु तीर्थस्नानार्थं कृतार्थत्वात्। ननु तादृशानामपि तीर्थयात्रा दृश्यन्ते, तत्राह प्रायेणेति। तीर्थयात्राव्याजैः ॥ ८, ९, १० ॥

**अन्य** इति। अरुणादयः काण्डर्षित्वविशेषेण पृथङ्निर्दिष्टाः। नाना[1] यान्यार्षेयाणि ऋषीणां गोत्राणि तेषु प्रवरान् श्रेष्ठान् शिरसा भुवं स्पृष्ट्वा ववन्दे ॥ ११ ॥

**सुखोपविष्टेषु** इति। विज्ञापनार्थं पुनः कृतप्रणामः। विविक्तं शुद्धं चेतो यस्य। अभिगृहीतौ संयोजितौ पाणी येन सः, स्वचिकीर्षितं प्रायोपवेशनादि युक्तमयुक्तं वेति विज्ञापयामास ॥ १२ ॥

---

1 H.V नानाविधान्यार्षे°

**वीर०** स पाण्डवेयः परीक्षित् इत्थं विष्णुपद्यां गङ्गायां प्रायोपवेशं प्रति व्यवच्छिद्य विनिश्चित्य सङ्कल्प्य मुक्तः समस्तेषु देहतदनुबन्ध्यादिषु सङ्गो येन, मुनीनां व्रतं यस्य, न विद्यतेऽन्यो भावः [1]चिन्ता यस्य सः मुकुन्दाङ्घ्रिं दध्यौ ध्यातवान्॥ ७॥

तदा तत्र राज्ञस्सन्निधौ महानुभावास्सशिष्या मुनयः लोकं पुनानाः पवित्रीकुर्वन्तः आजग्मुः। भुवनं पुनाना इत्येतदेवोपपादयति — प्रायेण सन्तः साधवः तीर्थयात्राव्याजैः स्वयमेव तीर्थानि पुनन्ति। हि यथा च पुनन्ति तथोपपादितं पुरस्तात् "तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि" (भाग. 1-13-10) इत्यत्र [2]॥ ८॥

केचैते मुनय इत्यत्र [4]दर्शयति — **अत्रिरिति** सार्धद्वयेन। गाधिसुतो विश्वामित्रः रामो भार्गवः, कुम्भयोनिरगस्त्यः॥ ९, १०॥

अन्ये च देवर्षिश्रेष्ठा, ब्रह्मर्षिश्रेष्ठा, राजर्षिवर्या अरुणादयश्च ऋषयः। तानागतान्नानाविधार्षेयप्रवरान् समेतान् सङ्घीभूतानभ्यर्च्य राजा परीक्षित् शिरसा ववन्दे॥ ११॥

अथ तेषु सुखं यथा तथा उपविष्टेषु सत्सु पुनरपि कृतः प्रणामो येन स राजा उपस्थितस्तेषां समीपे तिष्ठन्नभिगृहीतपाणिः बद्धाञ्जलिः विवेकयुक्तं चेतो यस्य तथाभूतः स्वचिकीर्षितं कर्तुमिष्टं यत्तद्विज्ञापयामास॥ १२॥

---

1 W adds भावना 2 W adds इत्यर्थः 3 W च ते 4 W adds तान्।

**विज०** अतो मरिष्यमाणोऽहं तीर्थोत्तमत्वाद्विष्णुपद्यां गङ्गायामनशनव्रतं करिष्य इति प्रायोपवेशं प्रति व्यवस्थाय निश्चित्यानन्यभावोऽनन्यचेता राज्यभारादिचिन्तारहितान्तःकरणो विष्ण्वेकचेता वा मुनीनां निवृत्तानां ज्ञानिनां व्रतमिव व्रतं यस्य स मुनिव्रतो, वाचालत्वरहितो वा। अत एव मुक्ताः समस्तास्सङ्गाः पुत्रादिविषयस्नेहा यस्य स मुक्तसमस्तसङ्गः [2]। श्रोत्रादीन्द्रियैरन्यप्रसङ्गमन्तरेण तत्कथाश्रवणादिप्रसङ्गो यस्य स तथेति वा। स पाण्डवेयः परीक्षित् विष्णुपद्यां प्रायोपवेशं प्रति स्थितो मुकुन्दं तदङ्घ्रिञ्च एवं दध्यावित्येकान्वयः। चः समुच्चये अवधारणे वा॥ ७॥

यत्र परीक्षित्तिष्ठति तत्रोपजग्मुः॥ ८॥

मुनीनां नामानि निर्दिशतीत्याह — **अत्रिरिति**। गाधिसुतो विश्वामित्रो, रामः परशुरामः, इन्द्रप्रमतिश्च इध्मवाहश्च इन्द्रप्रमतीध्मवाहौ॥ ९॥

कुम्भयोनिरगस्त्यः॥ १०॥

अन्ये च प्रसिद्धाः प्रसिद्धनामानो नारदादयो देवर्षयो, रामादयो ब्रह्मर्षयो, विश्वामित्रादयो राजर्षयः जातिभेदकथनार्थं पुनर्वचनम्। अरुण आदिर्येषां तथोक्ताः ऋषीणां समूहः आर्षेयं तस्मिन् प्रवराः नानार्षेयप्रवराः, तानभ्यर्च्य, अर्घ्यपाद्यादिभिरिति शेषः। शिरसा वन्दनं नाम नमस्कार एवात्राऽभिप्रेतः, कृतप्रणाम इत्युत्तरवचनात्॥ ११॥

ऋषीणामग्रे उपस्थितोऽर्घ्यं गृहीतं पाणौ येन स तथा यत् स्वेन कर्तुमिष्टं तदेभ्यो विज्ञापयामासेत्यन्वयः ॥ १२ ॥

---

1. B,K,M °ष्वै° 2. K,M add मुक्ते हरौ समस्तसङ्गः

रा० कृ० इति हेतोस्स पाण्डवेयः पाण्डुवंशजः परीक्षित् विष्णुपद्यां गङ्गायां प्रायोपवेशं प्रति व्यवच्छिद्य निश्चित्य मुक्तसमस्तसङ्गः त्यक्तदेहतदनुबन्धिसङ्गः मुनिव्रतः अनन्यभावः न विद्यतेऽन्यस्मिन् भावो भावना यस्य तथाभूतस्सन् मुकुन्दाङ्घ्रिं श्रीहरिपदं दध्यौ ध्यातवान्।

अत्र 'मुकुन्दाङ्घ्रि'पदेन विष्णुपदमभिधीयते। सर्वव्यापकस्य विष्णोः पदेन विश्वाकाशमभिव्यज्यते। विष्णुपदस्य आकाशार्थकत्वे "वियद्विष्णुपदम्" (अम. को. 1-73) इत्यादिकोशोऽपि प्रमाणीभवति। आकाशेन च शब्दगुणकेन सर्वशब्दादिभूतः प्रणवो गम्यते। 'ओम्' इत्याकारकः प्रणवः प्राण्युच्छ्वासनिश्वासात्मकसोऽहंपरिणामेन हंसमन्त्रेण सिध्यति। तथा च तन्मन्त्रनिरन्तरस्मरणेन श्वासे मनोलयं गमिते सति तच्छ्वासान्तर्लीनप्रणवत्वेनावतिष्ठते साधकः। तन्मन्त्रनिरन्तरस्मरणञ्च अनन्यभावपदेन गम्यते। सैषा स्थितिः विष्णुपदप्राप्तिरित्युच्यते ॥ ७ ॥

तदा महानुभावाः मुनयस्सशिष्याः भुवनं पुनानाः तत्र परीक्षित्समीपे आजग्मुरागताः। प्रायेण सन्तस्साधवः तीर्थाभिगमापदेशैः तीर्थयात्राव्याजैः स्वयं हि स्वयमेव तीर्थानि पुनन्ति पवित्रीकुर्वन्ति ॥ ८ ॥

अत्रिर्वसिष्ठश्चयवनः शरद्वानरिष्टनेमिः भृगुरङ्गिराः पराशरो विश्वामित्रः परशुरामः उतथ्यः, इन्द्रप्रमदः इध्मवाहः, मेधातिथिः, देवलः, आर्षिषेणः, भारद्वाजः, गौतमः, पिप्पलादः, मैत्रेयः, और्वः, कवषः, अगस्त्यः, व्यासः, भगवान् नारदः किञ्चान्ये देवर्षिवर्याः ब्रह्मर्षिवर्याः राजर्षिवर्याः अरुणादयश्च काण्डर्षयः इति शेषः। तत्रोपजग्मुरिति पूर्वेणान्वयः। नानार्षेयप्रवरान् नानाऋषिगोत्रेषु श्रेष्ठान् समेतान् स्वसन्निधिमागतान् तान् मुनीन् राजा अभ्यर्च्य शिरसा ववन्दे, वन्दनं कृतवान् ॥ ९, १०, ११ ॥

अथ तेषु मुनिषु सुखोपविष्टेषु भूयः पुनरपि कृतप्रणामः उपस्थितस्तेषां समीपे स्थितः अग्रे पुरतः अभिगृहीतपाणिः संयोजिताञ्जलिः परीक्षिदिति शेषः। विविक्तचेताः विशुद्धमनस्कस्सन् चिकीर्षितं स्वेन आत्मना कर्तुमिष्टं यद्वर्तते तद्विज्ञापयामास निवेदितवान् ॥ १२ ॥

**राजोवाच**

**अहो! वयं धन्यतमा नृपाणां महत्तमानुग्रहणीयशीलाः।**
**राज्ञां कुलं ब्राह्मणपादशौचात् दूराद्विसृष्टं बत गर्ह्यकर्म ॥ १३ ॥**

**तस्यैव मेऽघस्य परावरेशो व्यासक्तचित्तस्य गृहेष्वभीक्ष्णम्।**
**निर्वेदमूलो द्विजशापरूपो यत्र प्रसक्तो भयमाशु धत्ते ॥ १४ ॥**

तं मोपयातं प्रतियन्तु विप्रा गङ्गा च देवी धृतचित्तमीशे।
द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः ॥ १५ ॥

पुनश्च भूयाद्भगवत्यनन्ते रतिः प्रसङ्गश्च तदाश्रयेषु।
महत्सु यां यामुपयामि सृष्टिं मैत्र्यस्तु सर्वत्र नमो द्विजेभ्यः ॥ १६ ॥

इति स्म राजाऽध्यवसाययुक्तः प्राचीनमूलेषु कुशेषु धीरः।
उदङ्मुखो दक्षिणकूल आस्ते समुद्रपत्न्याः स्वसुतन्यस्तभारः ॥ १७ ॥

विहाय सर्वं नरदेवचिह्नं केयूरहाराङ्गदमौलिरत्नान्।
रत्नाङ्गुलीयान् विमलान्निरस्य पवित्रपाणिर्मुनिवेष आस्ते ॥

एवं च तस्मिन्नरदेवदेवे प्रायोपविष्टे दिवि देवसङ्घाः।
प्रशस्य भूमौ व्यकिरन् प्रसूनैर्मुदा मुहुर्दुन्दुभयश्च नेदुः ॥ १८ ॥

---

1 K,M °शौचमारात्; B,W °शौचादारात् 2. K,M मेऽस्त्वद्य परावरेशे 3 K,M °विष्टं 4 K,M °यान्तु 5 H,V °काख्यो 6 V °त्य° 7 H,V रतिप्रस° 8 H,K,M,V राजा व्यवसाय° 9 B,K,M,W °सुते न्यस्त° * This additional verse is found in K & M, between vv 17 and 18 It was commented upon by Vijayadhvaja Theertha and the commentary is to be found in its proper place
10. H,V तु तस्मिन्न°; W बतास्मिन्न° 11 W °र्मुहुर्मुहु°

**श्रीध०** अनुमोदनेनाऽनुग्रहमालक्ष्याऽऽत्मानं श्लाघते — **अहो** इति। नृपाणां मध्ये महत्तमैरनुग्रहणीयं शीलं वृत्तं येषां ते। एतच्च राज्ञामतिदुर्लभमित्याह। ब्राह्मणानां पादशौचात्पादक्षालनोदकात् "दूरादुच्छिष्टविण्मूत्रपादाम्भांसि समुत्सृजेत्" इति स्मृतेः, दूरे हि तैस्तद्विसृज्यते। ततोऽपि दूरादेव विसृष्टं क्षिप्तम्। तत्राऽपि स्थातुमयोग्यमित्यर्थः। गर्ह्यं कर्म यस्येत्यात्मानमुद्दिश्योक्तम् ॥ १३ ॥

आस्तां तावदनुग्रहो ब्रह्मशापोऽपि भगवत्प्रसादादेव जात इत्याह — **तस्येति**। तस्य गर्ह्यकर्मण एव। अतोऽघस्य पापात्मनो गृहेष्वसक्तचित्तस्य मे स्वप्राप्तये परावराणामीश एव द्विजशापरूपो बभूव। यत्र यस्मिन् शापे सति गृहेषु प्रसक्तो भयं धत्ते निर्विण्णो भवति। यतो निर्वेदमूलो निर्वेदो वैराग्यमूलम् प्राप्तिकारणं यस्मिन्। स्वस्य वैराग्यप्राप्त्यर्थं तस्य च भयमूलत्वात्तदर्थं द्विजशापं कारितवानित्यर्थः ॥ १४ ॥

तान् प्रार्थयते — **तम्** इति द्वाभ्याम्। तं मामुपयातं शरणागतं प्रतियन्तु जानन्तु। देवी देवतारूपा गङ्गा च प्रत्येतु। वाशब्दः प्रतिक्रियानादरे। गाथाः कथाः गायत ॥ १५ ॥

**पुनरिति**। स आश्रयो येषां तेषु प्रकृष्टः सङ्गो भूयात्। अहं यां यां सृष्टिं जन्म उपयामि तस्यां तस्यां सृष्टौ जन्मनि ॥ १६ ॥

**इति** इति। अध्यवसायो निश्चयः। प्राचीनानि प्रागग्राणि मूलानि येषां तेषु प्राग्रेषु कुशेषु आस्ते स्म। स्वसुतन्यस्तभारः स्वसुते जनमेजये न्यस्तो भारो राज्यं येन सः॥ १७॥

**एवमिति**। मुदा व्यकिरन् देवसङ्घैः वादिता दुन्दुभयो नेदुः॥ १८॥

---

1 B,H,V °दप्रक्षा° 2. H,V add पापस्य 3. A,B °तया 4. B,H,V add स्वथम् 5 H,V प्रत्येतु वा। चशब्दः

**वीर**° तदेवाह — **अहो** इति चतुर्भिः। नृणां मध्ये वयमहो धन्यतमाः उत्तमाः खलु। धन्यतमत्वे हेतुं वदन्नात्मनो विशिनष्ट। महत्तमैर्भवद्भिरनुग्रहणीयमनुग्रहीतुं योग्यं शीलं येषाम्। यद्वा, महत्तमानुग्रहणीयं महत्तमानुग्रहलभ्यं शीलं येषां तथाभूताः। अनेवम्भूतं राजकुलं निन्दति राज्ञामिति। ब्राह्मणानां भवतां पादशौचात्पादसेवामूलकविशुद्धेर्दूराद्विसृष्टं दूरात् त्यक्तं यद्राज्ञां कुलं तत् गर्ह्यं निन्द्यं कर्म यस्य तथाभूतं भवति। बत इति खेदे॥ १३॥

ननु महत्तमानुग्रहणीयशीलस्य तव कथमधुना तन्निग्रहप्रवृत्तिरित्यत्र, तन्निग्रहोऽप्यनुग्रहरूप एवेत्याह — **तस्य** इति। तस्यैव महत्तमानुग्रहणीयशीलस्यैव अभीक्ष्णं पुनः पुनः गृहेषु व्यासक्तं चित्तं यस्य तस्य ममाऽघस्य प्रकृतब्रह्मविदपचारूरूपस्य परिहास्क इति शेषः। निर्वेदमूलः देहतदनुबन्ध्यादिषु वैराग्ये च मूलो हेतुः द्विजशापरूपः परावरेशो भगवानेव प्रसक्तः प्रवृत्तः मामनुग्रहीतुं भगवत्सङ्कल्प एव द्विजशापव्याजेन प्रवृत्त इत्यर्थः। कथं तस्यानुग्रहरूपतेत्यत आह — यत्र यस्मिन्मयि प्रसक्तो द्विजशापरूपः परावरेशः आशु अभयं धत्ते आदधाति। ब्रह्मविदपचारपरिहारहेतुत्वान्निर्वेदमूलत्वात् सत्सङ्गद्वारा मुक्त्याधायकत्वाच्चानुग्रहरूप एवेत्यर्थः॥ १४॥

अस्त्वेवं प्रकृतं किं इत्याह — **तम्** इति। हे विप्राः! भवन्तः इयं देवी गङ्गा च ईशे भगवति धृतं चित्तं येन तथाभूतं तमुक्तविधं मां उपयान्तमनुवर्तिनं प्रतियन्तु हेयोपादेयशुश्रूषुं जानन्त्वित्यर्थः। द्विजेनोपसृष्टः प्रचोदितः तक्षकः कुहकः विस्मापकः मा वञ्चयत्रलं नितरां दशतु नाऽहं बिभेमीति भावः। किन्तु यूयं विष्णोर्गाथाः कथाः गायत कथयत अलं गायतेति वाऽन्वयः॥ १५॥

पुनश्च किञ्च। मम भगवत्यनन्ते अतिभक्तिस्तदाश्रयेषु भगवद्भक्तेषु सङ्गश्च स्यात्। एवमनुगृह्णीतेति भावः। किञ्च यां यां सृष्टिं यद्यज्जन्म प्राप्नोमि तत्र सर्वत्र जन्मनि महत्सु भवादृशेषु मैत्री आनुकूल्यमस्तु। द्विजेभ्यो वो नमः॥ १६॥

इतीत्थं निश्चययुक्तो राजा धीरः स्वसुते जनमेजये न्यस्तो निहितो राज्यभारो येन तथाभूतः समुद्रपत्न्या गङ्गायाः दक्षिणकूले दक्षिणतीरे प्राचीनमूलेषु प्राचीनाग्रेषु कुशेष्वास्ते स्म उपविष्टवान्॥ १७॥

इत्थं तस्मिन्नरदेवानां देवे परीक्षिति प्रायोपविष्टे सति दिवि सर्वदेवसङ्घाः तं प्रशस्य प्रस्तूय मुदा प्रसूनैः कुसुमैः मुहुर्मुहुः पुनःपुनः भूमौ व्यकिरन्; दुन्दुभयश्च नेदुः दध्वनुः॥ १८॥

---

1. W प्रकृते 2 W °त्यत्राऽऽह 3. A,B °त्व° 4. W adds तस्मिन्

**विज०** महत्तमैः महापुरुषैरनुग्रहणीयं शीलं येषान्ते तथोक्ताः वयं नृपाणां मध्ये धन्यतमाः। अहो अस्मद्भागधेयम्! कुतः ? राज्ञां कुलं गर्ह्यकर्म निन्द्यकर्मवत् तत्कष्टं येन राजकुलेन ब्राह्मणपादशौचमारात् दूराद्विसृष्टं विरहितं तदिति शेषः ॥ १३ ॥

स्वचिकीर्षितमाह — **तस्य** इति। परावरेशे मुक्तामुक्तप्रपञ्चनाथे हरौ व्यासक्तचित्तस्य अनुरक्तबुद्धेः मे तेषु गृहेषु अयं द्विजशापरूपो दण्डोऽभीक्ष्णं अलं निर्वेदमूलो वैराग्यहेतुरस्तु। यत्र येषु गृहेषु प्रसक्तः संसारभयमेव धत्ते, यत्र यस्मिन् भगवति प्रसक्तोऽभयं मोक्षमेव धत्ते प्राप्नोति तस्मिन् हराविति वा ॥ १४ ॥

योऽहमेवं महत्तमानुग्रहणीयशीलः तं मा मां द्विजोपसृष्टः द्विजकुमारेण प्रेरितः वेषान्तरधारी यथा तथा कुहकः कपटी सर्पजातिविशिष्टो वा तक्षकः दशतु भक्षयतु युष्माभिरेतत्कर्तव्यमित्याह — अलम् इति। यूयं देवकीनन्दनमित्यादिका विष्णुविषया गाथाश्चरणत्रयाद्युपलक्षितान् श्लोकान् अलं देहवियोगपर्यन्तं गायत, षड्गादिस्वरैरिति शेष इत्यन्वयः ॥ १५ ॥

न केवलमस्मिन् जन्मन्येव हर्यादौ मनो रतिप्रसङ्गोऽपितु जन्मान्तरेऽपीति प्रार्थय इत्याह — **पुनश्च** इति। तदाश्रयेषु भगवद्भक्तेषु युष्मद्विधेषु[1] मैत्री अस्तु[2] मदीयोऽयमिति चित्तवृत्तिलक्षणा। सृष्टिं जन्म ॥ १६ ॥

कुत्र गङ्गायां स्थित इति तत्राऽऽह — **इति स्म** इति। स्वसुते जनमेजये न्यस्तो निहितो राज्यभारो येन स तथोक्तः। इत्युक्तप्रकारेण व्यवस्य[3] निश्चित्य मनोयोगयुक्तो निश्चययुक्तो वा राजा परीक्षित् समुद्रपत्न्या गङ्गाख्यायाः नद्याः उदक एव किञ्चिद्दक्षिणकूले दक्षिणतीरभागे प्रासादे प्राचीनाग्रेषु कुशेषु उदङ्मुख आस्त इत्यन्वयः। मृत्युचिन्तारहितत्वात् धीर इत्युक्तम्। कूलशब्दस्य लक्षणार्थमनाश्रित्य मुख्यार्थाङ्गीकारे भारतविरोधः स्यात्। यथा[5] गङ्गापदेन तीरं लक्ष्यते कूलपदेनाऽपि जले लक्षणोपपत्तेः। आस्त इति लडप्येवं विधिविशेषद्योतनार्थः ॥ १७ ॥

*श्वेतच्छत्रचामारादिनरदेवचिह्नं न केवलं तावदेव। किन्तु केयूरादींश्च निरस्य त्यक्त्वा चर्म कृष्णाजिनादि मुनिवेषः।

व्यकिरन् वर्षितवन्तः ॥ १८ ॥

---

1 K,M add मम 2 K,M अस्मदीयोऽयमिति चि° 3 K,M व्यवसायं 4. K पृष्ठ° 5. K,M add गङ्गायां कटकमास्त इति

**रा० कृ०** महत्तमानुग्रहणीयशीलाः, अतिशयेन महद्भिः भवादृशैरनुग्रहणीयं शीलं चारित्रं येषाम् ते तथाभूता वयं नृपाणां मध्ये इति शेषः। धन्यतमाः अत्यन्तं कृतार्थाः। अहो! आश्चर्यम्! ब्राह्मणपादशौचात् ब्राह्मणानां पादशौचात् पादसेवानिमित्तकविशुद्धेः दूराद्विसृष्टं विक्षिप्तं राज्ञां कुलं गर्ह्यकर्म निन्द्यकर्मसहितं भवतीति शेषः। बतेति खेदे ॥ १३ ॥

तस्यैव निन्द्यकर्मण एवाघस्य पापस्वरूपस्य गृहेषु इदमुपलक्षणं दारादेरपि। तथा च गृहदारधनादिषु अभीक्ष्णमत्यन्तं व्यासक्तचित्तस्य संलग्नमनस्कस्य मे, ममानुग्रहार्थमिति शेषः। परावरेशः सर्वेश्वरः एव निर्वेदमूलः

निर्वेदकारणभूतः द्विजशापरूपोऽभवदिति शेषः। यत्र यस्मिन् शापे सति प्रसक्तः गृहादिष्वासक्तः जनः भयं वैराग्यकारणं भयं आशु शीघ्रमेव धत्ते प्राप्नोति निर्विण्णो भवतीत्यर्थः॥ १४॥

हे विप्राः! तमुक्तविधं ईशे भगवति धृतचित्तं च मा मां उपयातं शरणागतं प्रतियन्तुं भवन्तोऽवगच्छन्तु। देवी गङ्गा च तथा मां प्रत्येतु। द्विजोपसृष्टः, द्विजेन ब्राह्मणबालकेन उपसृष्टः प्रेरितः कुहकः वेषान्तरधारी तक्षको वा मां दशतु। यूयन्तु विष्णुगाथाः अलं पर्याप्तं देहवियोगपर्यन्तमिति यावत् गायत कथयत॥ १५॥

पुनश्च अपि च अनन्ते भगवति रतिर्भक्तिः तदाश्रयेषु महत्सु च प्रसङ्गः प्रकृष्टस्सङ्गश्च भूयात्। किञ्च यां यां सृष्टिं यद्यज्जन्मोपयामि प्राप्नोमि तत्तज्जन्मनि सर्वत्र सर्वभूतेषु मम मैत्री अस्तु भवतु। द्विजेभ्यः ब्राह्मणेभ्यः वः नमः।

महत्तमानुग्रहणीयशीलमात्मानं धन्यं मन्यमानेन भगवत्प्राप्त्युपायवैराग्यापादकं विप्रशापमपि भगवत्स्वरूपमेव भावयता परीक्षिता सर्वात्मनाऽहङ्कारः परित्यक्तः; तस्मादयमीशे धृतचित्तोऽभवत्; भगवद्भक्ति भागवतप्रसङ्गभाग्यबन्धुरं जननपरम्परां च स्वीकर्तुमायत्तोऽभवत्। तथा च मोक्षपदस्य अर्थः न जन्माभावः, किन्तु जननमरणशीलदेहबद्धभावनाविमुक्तिरेवेति, तस्यास्साधनत्वेन च देहोपयोग इति जन्मस्वीकरणनिराकरणयोर्जीवोऽस्वतन्त्र इति च ज्ञायते। अपि चानेन सन्दर्भेण विष्णुभक्त्याऽनन्यया मानवजन्म अन्वर्थं भवतीति पर्यवस्यति॥ १६॥

इति एवं अध्यवसाययुक्तः निश्चयोपेतः धीरो राजा स्वसुतन्यस्तभारः स्वसुते जनमेजये निहितराज्यभारः समुद्रपत्न्याः गङ्गायाः दक्षिणकूले प्राचीनमूलेषु प्रागग्रेषु कुशेषु दर्भेषु उदङ्मुखः आस्ते स्म उपविष्टोऽभूत्॥ १७॥

एवञ्च तस्मिन्नरदेवदेवे राजश्रेष्ठे परीक्षिति प्रायोपविष्टे सति दिवि वर्तमानाः देवसङ्घाः भूमौ स्थितं तं राजानं प्रशस्य संस्तुत्य मुदा हर्षेण प्रसूनैर्व्यकिरन् पुष्पवृष्टिं व्यतन्वन्। दुन्दुभयश्च देवैर्वादिताः दुन्दुभयश्च नेदुः॥ १८॥

**महर्षयो वै समुपागता ये प्रशस्य साध्वित्यनुमोदमानाः।**
**ऊचुः प्रजानुग्रहशीलसारा यदुत्तमश्लोकगुणाभिरूपम्॥ १९॥**

**न वा इदं राजर्षिवर्य! चित्रं भवत्सु कृष्णं समनुव्रतेषु।**
**येऽध्यासनं राजकिरीटजुष्टं सद्यो जहुर्भगवत्पार्श्वकामाः॥ २०॥**

**सर्वे वयं तावदिहास्महेऽद्य कलेवरं यावदसौ विहाय।**
**लोकं परं विरजस्कं विशोकं यास्यत्ययं भागवतप्रधानः॥ २१॥**

**आश्रुत्य तद्ऋषिगणवचः परीक्षित् समं मधुच्युद्गुरुचांव्यलीकम्।**
**आभाषतैनानभिनन्द्य युक्तान् शृण्वन्नमाणश्चरितानि विष्णोः॥ २२॥**

राजोवाच

समागतास्सर्वत एव सर्वे वेदा यथा मूर्तिधरास्त्रिपृष्ठे।
नेहाथवाऽमुत्र च कश्चनार्थ ऋते परानुग्रहमात्मशीलम्॥ २३॥

ततश्च वः पृच्छ्यमिमं विपृच्छे विस्रभ्य विप्रा! इतिकृत्यताथाम्।
सर्वात्मना प्रियमाणैश्च कृत्यं शुद्धञ्च तत्रामृशताभियुक्ता॥ २४॥*

1 AF,GF °यस्ते समु°, B,H,V °यस्तं समु° 2 H,K,M,V °नु° 3 AF,GF भवेत् ध्रुवं कृष्णमनु° 4 B,I,K,M °थ 5 K,M अजं 6. AF,GF °त्य तदृषिगणस्य वचः; B °त्यर्षिगण°, H,V °त्य तदृषिवचः 7 I,K, °श्रुद् °8 K,M शापव्य° 9 V,W अभाष° 10 N °ता° 11 B,K,M,W °व° 12 B,K,M,W युक्तः; H,N,V युक्तम् 13 K,M देवा 14 AF,GF °पिष्टे 15 B,I नामुत्र; K,M वोऽमुत्र 16. K,M शीलाः 17 K,M प्रश्न° 18 B °दं 19 H,V हि पृच्छे 20 A,B °श्र° 21 K,M °स्तु * Here ends the 19th Chapter and the remaining Slokas form the 20th chapter in K & M

**श्रीध० महर्षय** इति। प्रजानुग्रहे शीलं स्वभावः सारो बलञ्च येषाम्। उत्तमश्लोकगुणैरभिरूपम् सुन्दरम्॥ १९॥

**नेति**। भवत्सु पाण्डोर्वंश्येषु। ये जहुरिति युधिष्ठिराद्यभिप्रयेण॥ २०॥

परस्परं सम्मन्त्रयन्ते — **सर्व** इति। परं श्रेष्ठं लोकम्। तत्र हेतुः। विरजस्कं निर्मायं विशोकञ्च यास्यतीति कुतस्तत्राऽऽह — अयम् इति॥ २१॥

**आश्रुत्य** इति। आश्रुत्य आकर्ण्य। समं पक्षपातशून्यम्। मधुच्युत् अमृतस्रावि। गुरु गम्भीरार्थम्। अव्यलीकम् सत्यम्॥ २२॥

**समागता** इति। त्रयाणां लोकानां पृष्ठे उपरि सत्यलोके वेदा यदा मूर्तिधरा भवन्ति ततुल्याः। ज्ञानातिशयमुक्त्वा कृपालुतामाह नेहेति। भवतां प्रयोजनं परानुग्रहं विना नास्ति। तर्हि स एवाऽर्थः स्यात्। न आत्मशीलं स्वस्वभावम्॥ २३॥

**तत** इति। पृच्छ्यम् प्रष्टव्यम्। विस्रभ्य विश्वासं कृत्वा। एवंकर्तव्यमित्यस्य भावः इतिकृत्यता, तस्मिन् विषये। सर्वात्मना सर्वावस्थासु यत्कृत्यं विशेषतश्च प्रियमाणैस्तच्च शुद्धं पापसंम्पर्करहितमामृशत विचारयत॥ २४॥

1. H,V omit न 2: H,V °सङ्कल्प°

**वीर०** ये समागता महर्षयस्ते सर्वे। उत्तमैः श्लोक्याः प्रशंसनीया गुणास्तैरभिरूपं राजानं प्रशस्य साधु साध्वित्यनुमोदमानाः ऊचुः। कुतो, यद्यतस्ते प्रजास्वनुग्रह एव शीलं स्वभावः स एव सारो येषान्ते तथाभूतत्वात्प्रशस्यानुमोदमाना ऊचुरित्यर्थः॥ १९॥

उक्तिमेवाह — **न वा** इति। हे राजर्षिवर्य! नित्यं श्रीकृष्णमनुव्रतेषु अनुवर्तिषु भवत्स्विदं विचित्रं न वै न भवति[2] किं तत्, ये भवन्तो भगवतः पार्श्वे सामीप्यं कामयमानाः सन्तो राज्ञां किरीटैर्जुष्टं सेवितमध्यासनं सार्वभौमसिंहासनं सद्यो जहुस्तत्यजुरित्येतत्॥ २०॥

एवं राजानमुक्त्वाऽथ मिथ[3] आहुः — **सर्व** इति। यावत् भागवता एव प्रधाना नितरां सेव्या यस्य सोऽसौ राजा कलेबरं विहाय विरजस्कं शुद्धसत्त्वमयं; विशोकम्, इदमुपलक्षणम्। अपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकप्रादुर्भावदेशं परं लोकं नित्यबिभूत्याख्यं यास्यति; तावत्सर्वे वयमिहैव राज्ञः सन्निधावेव आस्महे आसीमहि॥ २१॥

तत्समं वैषम्यरहितममृतस्राविगुर्वाशयगम्भीरमव्यलीकं निष्कपटञ्च मुनीनां वचनमाकर्ण्य एतान् युक्तान् हितानात्महिताचरणोद्युक्तानृषीनभिनन्द्य[4] विष्णोश्चरितानि श्रोतुकामः परीक्षिदभाषत॥ २२॥

तदेवाऽऽह — **समागता** इति। त्रिपृष्ठे सत्यलोके यथा मूर्तिधरा वेदाः तद्वदवभासमानाः सर्वे यूयं सर्वतः सर्वाभ्यो दिग्भ्यः इह समागताः। मदनुग्रहार्थं समागता इति भावः। तदेव व्यनक्ति। समागतानां वः परानुग्रहमात्मशीलं विना इहाऽमुत्र च लोकेऽर्थः प्रयोजनं कञ्चिदपि नाऽस्ति हि। परेषु मादृशेषु अनुग्रहरूपमात्मशीलं स्वस्वभावं, स्ववृत्तं वा विनाऽन्यदागमनकारणं[6] नास्ति हीत्यर्थः॥ २३॥

यतो भवदागमनमस्मदनुग्रहैकप्रयोजनम्। ततो हे विप्राः! वो युष्मान् विस्रब्ध्य[9] विश्वस्य इतिकृत्यतायां इतिकर्तव्यतायां प्रष्टव्यमिमं वक्ष्यमाणं पृच्छामि। कर्तव्यव्यापारप्रकारः इतिकृत्यता तस्यां निमित्तभूतायामितिकर्तव्यताज्ञानार्थं प्रष्टव्यं पृच्छामीत्यर्थः। पृच्छां[7] दर्शयंस्तत्सम्यक् निर्णीय कथयतेत्याह। म्रियमाणैर्मुमूर्षुभिर्जनैः सर्वात्मना सर्वप्रकारेण करणत्रयेण कर्तव्यं शुद्धं संसृत्यनिमित्तं च यत्तत्कर्म तत्राऽभियुक्ताः तद्विमर्शनाभिमुख्ययुक्तास्सन्तो यूयमामृशत विमृश्य[8] उपदिशत हेऽभियुक्ता! इति सम्बोधनं वा॥ २४॥

---

1. W °वर्तितेषु 2 W adds हि 3 W इदं 4 W °व° 5 A,B °था° 6 A,B add पृच्छामि 7 A,B °श्र° 8 W पृच्छयमेव 9 W adds तत्

**विज०** यदुत्तमश्लोकस्य हरेर्गुणानुरूपं गुणप्रकटतानुकूलं तत् ऋषय ऊचुरित्यन्वयः। प्रजानुग्रहमन्तरेण अन्यस्वभावो नाऽस्ति येषां ते तथोक्ताः॥ १९॥

अध्यासनं सिंहासनम्, राज्ञां मण्डलपतीनां किरीटैर्जुष्टं सेवितम्। कालक्षेपराहित्यद्योतनार्थः सद्यश्शब्दः॥ २०॥

असावयं विशोकं नित्यनिर्दुःखं; कुतः? विरजस्कम् अंशोभने शोभनाध्यासबुद्धिरहितम्। कुतः परं त्रिगुणातीतं पूर्णं वा कुतोऽजं जन्मजरामरणरहितं हरिं यास्यतीत्यन्वयः॥ २१॥

मधु अमृतं च्युतं श्रवणसुखमत एव गुरोर्ब्राह्मणकुमारस्य शापं व्यलीकयति अनृतं करोति फलत इति गुरुशापव्यलीकम्। अनेन दुर्मरणदोषपरिहारो लक्ष्यते, न तु तक्षकदंशनाभावः, तत्कृतदंशनदर्शनात्। ऋषिगणवच आश्रुत्य एतान् ऋषीनाभाषतेत्यन्वयः॥ २२॥

त्रिपृष्ठे सत्यलोके शील समाधाविति धातोः परमात्मसमाधिमन्तो वा। युष्माकमिह लोके अथवा अमुत्र च परलोके कञ्चनाऽर्थः साध्यं प्रयोजनं नाऽस्तीति यतस्ततः परानुग्रहकरणस्वभावात् वो युष्मानिमं प्रश्नं विपृच्छे पृच्छामीत्यन्वयः। किं कृत्वा ? इतिकृत्यतायामित्थंकर्तव्यतायां विप्राः विशिष्टज्ञानिनः अकुटिलबद्धयः सात्त्विकप्रकृतय इति विस्रब्ध विश्वस्य। कोऽसाविति तत्राऽऽह सर्वात्मना इति। तत्र कृत्यशतेषु प्रियमाणैः पुरुषैः सर्वप्रकारेण शुद्धं निर्दोषं पुरुषार्थपर्यवसायि कृत्यं कर्तव्यञ्चाभियुक्ता आग्रहयुक्ताः तात्पर्योपेता आमृशत आलोचयत। अलोच्य वाऽस्माकं ब्रूतेति तुशब्दः॥ २३, २४॥

---

1 K नित्यशोभनं 2. K,M अप्योततीति मधुच्युत् 3 K °दंशनात्। ऋषि°

**रा० कृ०** ये वै महर्षयस्तत्र समुपागताः यत् यस्मात् प्रजानुग्रहशीलसाराः प्रजासु राजादिसर्वजनेषु अनुग्रहस्वभावसाराः अभवन्, तस्मात्ते उत्तमश्लोकगुणाभिरूपं उत्तमश्लोकैः उत्तमकीर्तिभिः गुणैरभिरूपं सुन्दरं राजानं परीक्षितं प्रशस्य प्रस्तुत्य साधु! इति अनुमोदमानाः ऊचुः वक्ष्यमाणप्रकारेणोक्तवन्तः॥ १९॥

हे राजर्षिवर्य! ये भवन्तः भगवत्पार्श्वकामाः भगवतस्सान्निध्यं कामयमानास्सन्तः राजकिरीटजुष्टं राजकिरीटैर्जुष्टं सेवितमध्यासनं सार्वभौमसिंहासनं सद्यो जहुः त्यक्तवन्तः, तेषु कृष्णं समनुव्रतेषु अनुवर्तमानेषु भवत्सु इदं भगवत्कथाप्रार्थनं न वा चित्रं नैवाश्चर्यकरं भवति।

प्रतिज्ञाबद्धाः पाण्डवाः विष्णोरवतारस्य श्रीकृष्णस्य सन्निधिमेव महानिधिं मन्यमानाः वनमगच्छन्। तस्मात्ते सिंहासनादप्युच्चतरं स्थानमलभन्त। तथाप्यन्त एव वैराग्योदयेन महाप्रस्थानमकुर्वन्। परीक्षित्तु राज्यपरिपालनावसर एव विरक्तः प्रायोपवेशं कृत्वा नारायणध्याननिमग्नोऽभवत्। ततोऽयं स्वपितृभ्योऽपि महत्तर इति व्यज्यते॥ २०॥

भागवतप्रधानः भगवद्भक्तेषु श्रेष्ठः अयमसौ राजा यावत्कलेबरं शरीरं विहाय, विरजस्कं रजोरहितं, शुद्धसत्त्वमयमिति यावत्। विशोकं आध्यात्मिकादितापत्रयशून्यं परं सर्वोत्कृष्टं लोकं वैकुण्ठाख्यं यास्यति तावदद्य वयं सर्वे इहाऽऽस्महे।

मृतोरगकलेबरनिक्षेपेण महर्षेरवमाननाकारणभूतात् रजोगुणात् परीक्षिद्विमोचितो भवेदिति स्वापराधजन्य-बाधाऽऽविलस्थितिमतीत्य नारायणध्यानमग्नमानसस्स भवेदिति, तथा चावसानवेलायां स भागवतोत्तमो दिव्यतेजोमयं धाम प्राप्नुयादिति च ते महर्षयस्सङ्कल्पितवन्त इति ज्ञायते॥ २१॥

परीक्षित्समं पक्षपातरहितं मधुच्युत् अमृतस्रावि गुरु गम्भीरार्थं अव्यलीकञ्च यथार्थञ्च तत्पूर्वोक्तं ऋषिगणस्य वचः आश्रुत्य आकर्ण्य विष्णोश्चरितानि शुश्रूषमाणः श्रोतुकामः युक्तान् स्वहिताचरणे सावधानान् एतानृषीन् अभिनन्द्य संस्तुत्य अभाषतावोचत्॥ २२॥

त्रिपृष्ठे त्रयाणां लोकानामुपरि सत्यलोके यथा मूर्तिधरास्सशरीराः वेदासन्तीति शेषः। तद्वत्सर्वे यूयमित्यध्याहार्यम्। सर्वत एव सर्वाभ्यो दिशाभ्य एव समागताः। परानुग्रहं परेषु अनुग्रहरूपं आत्मशीलं स्ववृत्तं ऋते विना इहाऽस्मिन् लोके अथवा अमुत्र च स्वर्गादिलोके वा भवतां कश्चन अर्थः प्रयोजनं न नास्ति।

त्रयाणां लोकानां मध्ये भूलोको द्रव्यात्मकः, भुवर्लोकश्शक्त्यात्मकः, सुवर्लोकश्चेतनात्मकश्च। एतत्त्रयातीतः सत्यलोकोऽथवा ब्रह्मलोकस्सत्यात्मकः। अस्मात्सत्यलोकादन्येषां लोकानां सर्गस्थितिप्रलयास्सम्प्रवर्तन्ते। ततश्चात्र शाश्वतास्सृष्टिधर्माः सर्वेऽवतिष्ठन्ते, ये हि वेदा इत्यभिधीयन्ते। तादृशवेदमूर्तय इव तत्रागता ऋषयो व्यराजन्तेति भावः॥ २३॥

ततश्च तस्माद्धे विप्राः! विस्रब्ध भवत्सु विश्वासं कृत्वा इतिकृत्यतायां इतिकर्तव्यतायां निमित्तभूतायां सत्यां वो युष्मान् पृच्छ्यं प्रष्टव्यमिमं वक्ष्यमाणं विपृच्छे विशेषतः पृच्छामि। म्रियमाणैरासन्नमृत्युभिः सर्वात्मना च सर्वप्रकारेण च शुद्धं निर्मलं यत्कृत्यं कर्तव्यमस्ति तत्र विषयेऽभियुक्ताः सर्वज्ञा भवन्तः आमृशत सविमर्शमुपदिशत॥ २४॥

सूत उवाच

तत्राभवद्भगवान् व्यासपुत्रो यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्षः।
अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टो वृतश्च बालैरवधूतवेषः॥ २५॥

तं द्व्यष्टवर्षं सुकुमारपादकरोरुबाह्वंसकपोलगात्रम्।
चारुस्मिताक्षोन्नसतुल्यकर्णसुभ्रवाननं कम्बुसुजातकण्ठम्॥ २६॥

निगूढजत्रुं पृथुतुङ्गवक्षसमावर्तनाभिं वलिवल्गूदरञ्च।
दिगम्बरं वक्त्रविकीर्णकेशं प्रलम्बबाहुं स्वमरोत्तमाभम्॥ २७॥

श्यामं सदापीच्यवयोऽङ्गलक्ष्म्या स्त्रीणां मनोज्ञं रुचिरस्मितेन।
प्रत्युत्थितास्ते मुनयः स्वासनेभ्यस्तल्लक्षणज्ञा अपि गूढवर्चसम्॥ २८॥

स विष्णुरातोऽतिथयं आगताय तस्मै सपर्यां शिरसाऽऽजहार।
ततो निवृत्ता ह्यबुधाः स्त्रियोऽर्भका महासने सोपविवेश पूजितः॥ २९॥

स संवृतस्तत्र महान् महीयसां ब्रह्मर्षिराजर्षिदेवर्षिसङ्घैः।
व्यरोचताऽलं भगवान्यथेन्दुर्ग्रहर्क्षताराणिकरैः परीतः॥ ३०॥

प्रशान्तमासीनमकुण्ठमेधसं मुनिं नृपो भागवतोऽभ्युपेत्य।
प्रणम्य मूर्ध्नाऽवहितः कृताञ्जलिर्नत्वा गिरा सूनृतयाऽन्वपृच्छत्॥ ३१॥

**परीक्षिदुवाच**

**अहो अद्य वयं ब्रह्मन्! सत्सेव्याः क्षत्रबन्धवः।**
**कृपयाऽतिथिरूपेण भवद्भिस्तीर्थकाः कृताः॥ ३२॥**

---

1. H,V °गम° 2. K,M °रुणाक्षो° 3. K,M °कर्ण शुभ्रा° 4. B,H,K,M,N,V,W वक्र° 5. I सदाऽपीव्य°, Af,Gf सदा पीन° 6 H,V रुचिरं स्मयेन 7. K,M °ता मुनयश्चासने°, W °ता मुनयः स्वासने° 8. Af,Gf मुनये 9 K,M °येऽभ्यागताय 10 B,I,N,W जहार 11. H,V °सुर°

**श्रीध०** **तत्र** इति। तत्र तेषु यागयोगतपोदानादिभिर्विवदमानेषु सत्सु यदृच्छया गां पर्यटन् व्यासपुत्रस्तत्राभवत् प्राप्तः। न लक्ष्यमाश्रमादिलिङ्गं यस्य अवधूतोऽवज्ञया जनैस्त्यक्तो यस्तस्येव वेषो यस्य सः॥ २५॥

**तम्** इति। तमित्यादीनां प्रत्युत्थिता इति तृतीयश्लोकेनाऽन्वयः। द्विगुणान्यष्टौ वर्षाणि यस्य सुकुमारौ पादौ करावूरू अंसौ बाहू कपोलौ गात्रञ्च यस्य तम्। चारुणी आयते अक्षिणी यस्मिन्, उन्नता नासा यस्मिन् लम्बह्रस्वादिवैषम्यं विना तुल्यौ कर्णौ यस्मिन्, शोभने च भ्रुवौ यस्मिन् एवम्भूतमाननं यस्य तम्। कम्बुवत् रेखात्रयाङ्कितः सुष्ठुजातः कण्ठो यस्य॥ २६॥

**निगूढेति**। कण्ठस्याधोभागयोः स्थिते अस्थिनी जत्रुणी, मांसेन निगूढे जत्रुणी यस्य। पृथु विस्तीर्णं तुङ्गमुन्नतञ्च वक्षो यस्य, आवर्तवन्नाभिर्यस्य, वलिभिस्तिर्यङ्भिरेखाभिर्वल्गु रम्यमुदरं यस्य। दिश एवाऽम्बरं यस्य। वक्रा विकीर्णाश्च केशा यस्य, प्रलम्बौ बाहू यस्य, स्वमरेषु श्रेष्ठदेवेषूत्तमो हरिस्तद्वदाभा यस्य तम्॥ २७॥

**श्यामम्** इति। सदा अपीच्यमत्युत्तमं यद्वयो यौवनं तेन या अङ्गलक्ष्मीर्देहकान्तिस्तया रुचिरस्मितेन च। गूढवर्चसमपि प्रत्युत्थिताः तं दृष्ट्वा प्रत्युद्गमं कृतवन्त इत्यर्थः॥ २८॥

**स** इति। शिरसैव सपर्यामाजहार आत्मनिवेदनं कृतवान्। तेन सहाऽऽगताः स्त्र्यर्भकादयः ततो निवृत्ताः, स चोपविवेश। सन्निधाविः॥ २९॥

**स** इति। स भगवान् ब्रह्मर्ष्यादिसङ्घैः संवृतः सन् अलं व्यरोचत। ग्रहाः शुक्रादयः। ऋक्षाण्यश्विन्यादीनि। अन्यास्ताराः॥ ३०॥

**प्रशान्तमिति**। न कुण्ठाः सर्वार्थेषु मेधा यस्य तम्। प्रणम्य प्रश्नार्थं पुनर्नत्वा॥ ३१॥

सूतानां गिरमाह — **अहो** इति पञ्चभिः। सतां सेव्या जाताः यतोऽतिथिरूपेण हेतुना तीर्थका योग्याः कृताः॥ ३२॥

---

1 H,V °स्यै° 2 B,H,V °भागे 3. B,H,V °त्यन्तोत्तमं 4 H,V रुचिरं स्मयेन 5 H,V °द्गमं

**वीर०** तत्रैवं पृच्छतो राज्ञः सन्निधौ भगवान् व्यासस्य पुत्रः श्रीशुकोऽभवदागत्य तस्थौ। कथम्भूतः? यदृच्छया गां भूमिमटमानः तत्र हेतुरनपेक्षः कृत्यपेक्षारहितः। तत्र हेतुः निजलाभेन ब्रह्मात्मकस्वात्मानुभवेनैव तुष्टः अलक्ष्यमृषिरिति ज्ञातुमशक्यलिङ्गं रूपं यस्य सः। तत्र हेतुः अवधूतवेषः; अभिभाव्यवेशः, अत एव बालैर्वृतः परिवृतः॥ २५॥

**तम्** इति। तमागतं गूढं मषीसंवृतमणिवत् तिरोहितं वर्चो यस्य तथाभूतमपि तस्य शुकस्य चिह्नाभिज्ञा मुनयः स्वासनेभ्यः प्रत्युत्थिता बभूवुरित्यन्वयः। कथम्भूतम्? द्व्यष्टवर्षं षोडशवर्षवयस्कमिव स्थितं, द्विरावृत्ता अष्टौ वर्षाणि यस्य तमिति समासः, सुकुमाराः पादादयो यस्मिंस्तद् गात्रं यस्य, चारुणी सुन्दरे आयते विशाले अक्षिणी यस्मिन्, उदग्रा नासिका यस्मिन्, तुल्यौ समौ कर्णौ यस्मिन्, शोभने भ्रुवौ यस्मिन्, ततस्तेषां कर्मधारयः, तदाननं यस्य, कम्बुवत् शङ्खवत् वर्तुलः रेखात्रयोपेतश्च कण्ठो यस्य॥ २६॥

निगूढे मांसलत्वेनाप्रकाशे जत्रुणी अंसद्वयसन्धिगतास्थिनी यस्य, पृथु विशालं तुङ्गमुन्नतं वक्षो यस्य, आवर्ता आवर्तवद्वर्तुला विक्तिर्रन्ध्रयुक्ता च नाभिर्यस्य, वलिभिस्त्रिभिर्वल्गु सुन्दरमुदरं यस्य, दिगम्बरं दिगेवाम्बरं वस्त्रं यस्य, चीरधरत्वेन प्रशस्ताम्बररहितमित्यर्थः। उपरिवाससा रहितं वा। अन्यथा मोक्षधर्मादिषूक्तप्रकारविरोधात्। वक्रा विकीर्णाश्च। केशा यस्य, प्रलम्बौ आजानुलम्बौ बाहू यस्य, स्वमरोत्तमस्य अमरश्रेष्ठस्येव आभा यस्य॥ २७॥

अपीच्यं कमनीयं वयो यस्मिंस्तस्याङ्गस्य लक्ष्म्या कान्त्या सुन्दरस्मितेन च सदा स्त्रीणां मनोज्ञं स्पृहणीयम्॥ २८॥

अथ स विष्णुरातः परीक्षित् आगतायातिथये तस्मै श्रीशुकाय शिरसा, नम्रेणेति शेषः। सपर्यां पूजां जहार चकार; शिरसा प्रणामपूर्वकं पूजां चक्रे इत्यर्थः। तदा तमनुसृत्य आगता अज्ञा बालकाः प्रतिनिवृत्ता बभूवुः। ततः स पूजितः शुकः महासने महति राज्ञा समर्पिते आसने उपविवेश॥ २९॥

तत्र आसने उपविष्टस्स महीयसामपि महान् माहात्म्ययुक्तो भगवान् शुको ब्रह्मर्षिप्रभृतीनां सद्भिरलं नितरां व्यरोचत। यथा ग्रहादीनां निकरैः समूहैः परिवृतश्चन्द्रस्तद्वत्। ग्रहा अङ्गारकादयः। ऋक्षाण्यश्विन्यादीनि नक्षत्राणि। तदुभयेतराणि नक्षत्राणि ताराः॥ ३०॥

प्रशान्तं सात्त्विकवेषम् अकुण्ठा आवरणरहिता मेधा धीर्यस्य तम्। यद्यपि "नित्यमसिच् प्रजामेधयोः" (अष्टा. 5-4-122) इत्यत्र " नञ् दुस्सुभ्य एव" (अष्टा. 5-4-121) इति नियमः तथापि आर्षत्वादसिच्। आसीनमुपविष्टं मुनिं शुकमभिमुखं समीपमागत्य महाभागवतो नृपः परीक्षित् मूर्ध्ना प्रणम्य बद्धाञ्जलिरवहितः तदुक्तिश्रवणोपयुक्तावधानयुक्तः सूनृतया मधुरया गिराऽन्वपृच्छत्॥ ३१॥

तदेवाऽऽह — **अहो** इति। यावत्समाप्ति तावत् तत्समागमनेनात्मनः कृतार्थतामाविष्करोति अहो इति। हे ब्रह्मन्! वयं क्षत्रबन्धवोऽप्यद्याहो! सत्सेव्यास्सन्तः, सन्तः सेव्याः येषां तथाभूताः अभूम। यद्वा सतां [10] सेव्या अनुग्राह्या अभूम। तत्र हेतुमाह — कृपया भवद्भिरतिथिरूपेण अतिथिव्याजेन वयं तीर्थकाः कृताः पवित्रीकृताः॥ ३२॥

---

1 W °त्या° 2 W °स्वानुभवे° 3 W °षः 4 A,B गूढमपि सं° 5 W अष्ट द्व्यष्ट 6 B,W add शरीरं 7 W °क्तः° 8 W चीवर° 9 W adds शरीरस्य 10 W adds वः

**विज०** ज्ञानादिनैव सत्सङ्गत्या सकलपापक्षयो भवतीति प्रतिपाद्यतेऽस्मिन्नध्याये। तत्रादौ शुकागमनं वक्ति — **तत्र** इति। यत्र परीक्षिता मुनिभिश्च स्थितं तत्र तस्यामवस्थायां वा व्यासपुत्रः शुको भगवान् यदृच्छया दैवेच्छयाऽभवदित्यन्वयः। पूर्वस्मात्कान्तिविशेषद्योतनाय अभवदित्युक्तम्, आगमनस्य तावता चरितार्थत्वात्। अटनस्य स्वाधीनत्वप्रकाशनाय अटमान इति शानच् प्रत्ययः। तर्हि अर्थाभिलाषी किमटतीत्यत उक्तमनपेक्ष इति। बाह्यविषयापेक्षारहितः। तत्कुत इत्यस्यापि तदेवोत्तरम्। अनपः प्राणनाथः श्रीविष्णुः तद्विषये ईक्षा ईक्षणं दर्शनं यस्य स तथोक्तः। नहि करतलामलकवत् सततमपरोक्षीकुर्वाणस्य तस्य बाह्यपदार्थापेक्षा भवतीति वा। बाह्यपदार्थापेक्षाभावे शरीरयात्रा कथमित्यस्याप्येतदेवोत्तरम्। अनं प्राणं पिबतीत्यनपा ईक्षा दर्शनम्। कांकचञ्चुपुटेन वायुपानज्ञानं यस्यास्ति स तथा कथित इति वा। श्रीप्रसादाभावादशनदारिद्यं किमित्यस्येदमुत्तरम्। शश्वदपगता न भवतीत्यनपा लक्ष्मीः, तस्या ईक्षणं यस्यास्ति स तथेति वा। तत्कटाक्षस्य पात्रीभूत इत्यर्थः। सन्ततगमनागमनस्वभावेन वायुना तृप्तिः कथं स्यादिति तत्राह — निजेति। स्वरूपानन्देन अलंबुद्धिमान् यदृच्छालाभेन तृप्तः किमाश्रम इति तत्राह — अलक्ष्येति। न लक्ष्याणि आश्रमादिलिङ्गानि यस्य स तथोक्तः। तत्कुत इति तत्राह अवधूतेति। अवधूतानां दिगम्बराणां वेषो यस्य स तथोक्तः। अवधूतः परित्यक्तः वेषोऽलङ्कारो येन स तथेति वा। अत एव बालैश्च वृतः॥ २५॥

मुनयस्तं दृष्ट्वा आसनेभ्यः प्रत्युत्थिता इत्यन्वयः। चशब्दादन्ये च तत्रास्थिता उत्तस्थुरिति ग्राह्यम्। गूढवर्चसं आच्छादितनिजतेजोलक्षणमहिमानमपि तल्लक्षणज्ञाः। किंविशिष्टम्? द्व्यष्टवर्षं द्विः कृत्वाऽष्टवर्षाणि यस्य स तथोक्तः तं षोडशवर्षं सुकुमाराणि कोमलानि पादादीनि यस्य स तथोक्तस्तम्। पादौ च करौ च ऊरू च बाहू च अंसौ च कपोलौ च गात्रञ्च तानि तथोक्तानि। चारुणी ईषदरुणे रक्ते च अक्षिणी यस्य स तथा। उन्नता नासिका यस्य स तथा। तुल्यौ परस्परसमौ कर्णौ यस्य स तथा तम्। शुभ्रं शोभनं आननं यस्य स तथा तम्। कम्बुवत् त्रिरेखाङ्कितशङ्खवत् सुजातो लक्षणवत्तमः कण्ठो यस्य स तथा तम्॥ २६॥

अंसवक्षःस्थलयोर्मध्यं जत्रु, निगूढं पूरितविवरं पीवरं जत्रु यस्य स तथा तम्। पृथु विस्तीर्णं तुङ्गमुन्नतं वक्षो यस्य स तथा तम्। आवर्तः पयसां भ्रमः तद्वन्निम्ना वृत्ता नाभिर्यस्य स तथा तम्। वलिभिः रेखाभिः वल्गु सुन्दरं उदरं यस्य स तथा तम्॥ २७॥

अपीच्यं षोडशवर्षीयं वयो यस्य तदापीच्यवयः तच्चाङ्गं तस्य, लक्ष्म्या स्त्रीणां मनोज्ञं मनोहरं रुचिरस्मितेन च मनोहरमिति शेषः॥ २८॥

विष्णुरातो विष्णुदत्तः। न तिथिर्दिनविशेषो यस्य स तथा तस्मै, आजहार चकार। हिशब्दो बुधत्वे हेतुः। अनेन कथमालक्षितः पौरैः, कथं वा पाण्डवेयस्य इति प्रश्नः परिहृत इति ज्ञातव्यम्॥ २९॥

स परीक्षित् महीयसां महत्तराणाम् मध्ये महान् संवृतो गूढो महत्त्वप्रकाशनाय राजा ब्रह्मर्ष्यादिभिः परीतो व्यरोचतेत्युक्तम्, तक्षकान्मरिष्ये इति मरणभिया मुखाङ्गकान्तिग्लानिर्नास्तीति यस्मात्तस्मादित्यर्थः॥ ३०॥

सूनृतया गिरा प्रियवचनेन॥ ३१॥

हे ब्रह्मन्! ब्रह्मज्ञानिन्! क्षत्रबन्धवो वयमद्य सद्भिस्सेव्या अभूम, अहो भाग्यम्! कुतः? अतिथिरूपेण आगतैर्भवद्भिस्तीर्थकाः तीर्थेषु प्रशस्ताः तीर्थाः कृताः। यथा भवन्तो निष्कलुषत्वाय तीर्थानि भवन्ति तथा वयमपि, युष्मत्सङ्गत्येत्यर्थः। तत्र कृपैव कारणमित्यतः कृपयेत्युक्तम्॥ ३२॥

---

1 K काकोदरवत् चक्षु°

**रा० कृ०** यदृच्छया गां भुवमटमानः पर्यटन्ननपेक्षः प्राकृतवस्तुभोगापेक्षारहितोऽलक्ष्यलिङ्गः अज्ञेयाश्रमादिचिह्नः निजलाभतुष्टः निजस्वरूपपरमानन्दलाभेन तृप्तः। बालैः, अत्र बालपदेन न केवलमर्भकसमुदायः किन्तु शुकयोगिप्रभावानभिज्ञः सर्वोऽपि जनो लक्ष्यते। अज्ञैर्वृतो वेष्टितः अवधूतवेषः भगवान् व्यासपुत्रः शुकः तत्र परीक्षित्समीपे, अभवत् आगच्छदिति भावः॥ २५॥

अथ शुकयोगिनं विशिनष्टि तमित्यादिभिस्त्रिभिः श्लोकैः — द्व्यष्टवर्षं द्विगुणिताष्टवर्षं षोडशवत्सरवयस्कमित्यर्थः। सुकुमारपादकरोरुबाह्वंसकपोलगात्रम् — सुकुमारौ कोमलौ पादौ करौ ऊरू बाहू अंसौ कपोलौ यस्मिंस्तद्गात्रं यस्य तथाभूतं चार्वायताक्षोन्नसतुल्यकर्णसुभ्रुवाननम् — चारुविशालनेत्रं उन्नतनासिकासहितं समकर्णं शोभनभ्रूयुतं च आननं यस्य तथाभूतम्। कम्बुसुजातकण्ठम् शङ्खचारुगलं निगूढजत्रुम् पृथुतुङ्गवक्षसम्, विशालोन्नतोरस्कम्, आवर्तनाभिं वलिवल्गूदरं वलिभिस्सुन्दरोदरम् दिगम्बरं वक्रविकीर्णकेशम्, प्रलम्बबाहुं दीर्घबाहुम्, स्वमरोत्तमाभम् श्रेष्ठेषु देवेषु इन्द्रतुल्यं श्यामं नीलवर्णं सदा अपीच्यवयोङ्गलक्ष्म्या अपीच्यमतिकमनीयम्, यद्वयो यौवनं, तत्कृतयाऽङ्गलक्ष्म्या देहकान्त्या रुचिरस्मितेन च स्त्रीणां मनोज्ञं मनोहरं गूढवर्चसं गुप्ततेजोयुतमपि तं शुकं दृष्ट्वा तल्लक्षणज्ञास्ते मुनयः स्वासनेभ्यः प्रत्युत्थिताः, प्रत्युत्थानमकुर्वन्नित्यर्थः॥ २६, २७, २८॥

अनन्तरं स विष्णुरातः परीक्षित् आगताय तस्मै अतिथये शुकाय शिरसा सपर्यामाजहार आहृतवान् प्रणामेनैव तत्पूजां कृतवानित्यर्थः। ततस्तदनन्तरं अबुधाः स्त्रियः अर्भका निवृत्ता हि। स च शुकः राज्ञा पूजितः महासने उपविवेश॥ २९॥

तत्रासने उपविष्टः महीयसां मध्ये महान् सः भगवान् शुकः ब्रह्मर्षिराजर्षिसुरर्षिसङ्घैः संवृतस्सन् ग्रहर्क्षतारानिकरैः परीतः इन्दुर्यथा चन्द्र इव अलमत्यन्तं व्यरोचत विराजितोऽभवत्। चन्द्रौपम्येन शुकस्य सन्निधिः प्रशान्त्याह्लादादिजनक इति गम्यते॥ ३०॥

भागवतो नृपः प्रशान्तमकुण्ठमेधसं अकुण्ठबुद्धिमासीनं मुनिमभ्युपेत्य मूर्ध्ना प्रणम्यावहितस्सावधानः कृताञ्जलिः पुनरपि नत्वा सूनृतया गिरा अनूवपृच्छत्॥ ३१ ॥

हे ब्रह्मन्! यस्मात् कृपया भवद्भिरतिथिरूपेण वयं तीर्थकाः कृताः पवित्रीकृताः तस्मादहो! अद्य क्षत्रबन्धवोऽपि वयं सत्सेव्याः सतामादरणीयाः अभूमेति शेषः॥ ३२ ॥

येषां संस्मरणात्पुंसां[1] सद्यश्शुध्यन्ति वै गृहाः।
किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः॥ ३३ ॥

सान्निध्यात्ते महायोगिन्! पातकानि महन्त्यपि।
सद्यो नश्यन्ति वै पुंसां विष्णोरिव सुरेतराः॥ ३४ ॥

अपि मे भगवान् प्रीतः कृष्णः पाण्डुसुतप्रियः।
पैतृष्वसेयप्रीत्यर्थं तद्गोत्रस्यात्तबान्धवः[2]॥ ३५ ॥

* अभिप्रस्थापितो नूनं कारुण्याविष्टचेतसा।
कृष्णेनैवेत्यहं मन्ये भक्तानां शमभीप्सता॥

अन्यथा तेऽव्यक्तगतेर्दर्शनं नः कथं नृणाम्।
नितरां म्रियमाणानां संसिद्धस्य वनीयसः॥ ३६ ॥

अतः पृच्छामि संसिद्धिं[3] योगिनां परमं गुरुम्।
पुरुषस्येह यत्कार्यं म्रियमाणस्य सर्वथा[4]॥ ३७ ॥

यच्छ्रोतव्यमथो जप्यं[5] यत्कर्तव्यं नृभिः प्रभो[6]!
स्मर्तव्यं भजनीयं वा ब्रूहि यद्वा विपर्ययम्॥ ३८ ॥

नूनं भगवतो ब्रह्मन्! गृहेषु गृहमेधिनाम्।
न लक्ष्यते ह्यवस्थानमपि गोदोहनं क्वचित्॥ ३९ ॥

सूत उवाच

एवमाभाषितः पृष्टः स राज्ञा श्लक्ष्णया गिरा।
प्रत्यभाषत धर्मज्ञो भगवान् बादरायणिः॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
प्रथमस्कन्धे शुकागमनं नाम एकोनविंशोऽध्यायः॥ १९ ॥
*॥ इति प्रथमः स्कन्धः समाप्तः ॥*

---

1. K पुंसः 2. K,M,W °त्त° * This additional verse is found in N within brackets between vv 35 & 36 3. K,M °दी° 4. K,M °र्द्धं
5. H,K,M,V °दा 6. K,M,N जाप्यं 7. K,M सदा

**श्रीध० येषाम्** इति ॥ ३३ ॥

**सान्निध्यात्** इति। श्रीविष्णोस्सान्निध्यात् सुरेतराः असुराः मयादय इव ॥ ३४ ॥

**अपि इति**। पाण्डुसुतानां प्रियः। अतस्तेषां पैतृष्वसेयानां प्रीत्यर्थं तद्गोत्रस्य मे आत्तं स्वीकृतं बान्धवं बन्धुकृत्यं येन सः ॥ ३५ ॥

**अन्यथा** इति। अन्यथा श्रीकृष्णप्रसादं विना अव्यक्ता गतिर्यस्य म्रियमाणानां नितरां कथं स्यात्? वनयिता याचयिता। वनयितृतमो वनीयान् तस्य वनीयसः। अत्युदारतया मां याचेथा इति प्रवर्तकस्येत्यर्थः ॥ ३६ ॥

**अत** इति। सम्यक् सिद्धिर्यस्मात्तम्। कार्यं कर्तुं योग्यम्, कर्तव्यन्त्वावश्यकमिति भेदः। अत एव सर्वथा म्रियमाणस्य पुरुषस्य यस्मिन् कृते संसिद्धिर्मोक्षलक्षणा सिद्धिर्भवति त त्त्वां योगिनां गुरुं पृच्छामि ॥ ३७ ॥

**यत्** इति। यच्छ्रोतव्यं यज्जाप्यं यत्कर्तव्यं, यत् स्मर्तव्यं, यदाराध्यं तद्गृहि। विपर्ययमश्रोतव्यादि ॥ ३८ ॥

तव दर्शनस्य पुनर्दुर्लभत्वात् इदानीमेव कथनीयमित्याशयेनाह — **नूनम्** इति। गोदोहनमात्रकालमपि अस्माकं भाग्यवशात् त्वद्दर्शनं जातमिति भावः ॥ ३९ ॥

**एवम्** इति। एवमहो इत्यादिकया श्लक्ष्णया मधुरया गिरा आभाषितोऽभिमुखीकृतः पृष्टश्च ॥ ४० ॥

* आर्यं धर्मजमाहतारिमवनौ कृत्वा परीक्षित्नृपम्
ब्रह्मास्त्रादभिरक्षितं कलिजयख्यातञ्च कृत्वा भुवि।
अन्ते यश्शुकरूपतः स्वपरमज्ञानोपदेशेन तम्
शापादावदमुं नमामि परमानन्दाकृतिं माधवम् ॥ §

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥
*॥ प्रथमः स्कन्धः समाप्तः ॥*

---

1 H.V गोदोहनकालमात्रमपि * H.V omit this verse § B adds प्रथमस्कन्धगूढार्थपदभावार्थदीपिका। सद्भिरुद्दीपनीयेयं यथास्यात्तत्त्वदीपिका ॥

**वीर०** कथमतिथिरूपेणास्मदागमनरूपेण व स्तीर्थीभूतता इत्यत्र तत्कैमुत्यन्यायेन दर्शयति — **येषाम्** इति। येषां भवतां स्मरणादेव सद्यः पुंसां स्मर्तॄणां गृहाः शुध्यन्ति, किं पुनर्भवतां दर्शनादिभिः शुद्ध्यन्तीति वक्तव्यम्! पादशौचं पादजलम् ॥ ३३ ॥

यत एवमतो हे महायोगिन्! तव सान्निध्यादेव हेतोः पुंसां मादृशानां महान्त्यपि सर्वाणि पातकानि सद्य एव नश्यन्ति, यथा विष्णोः सुरेतरा असुरा नश्यन्ति तद्वत् ॥ ३४ ॥

किञ्च भगवतः श्रीकृष्णस्य अनुग्रहकारितं भगवद्दर्शनादिकमन्यथा तदुर्लभमित्याह — **अपि** इति द्वाभ्याम्। तावत्तदनुग्रहस्त्वस्माकं सुलभ इति सम्भावयामीत्यभिप्रायेणाह — अपि इति। अपिशब्दः सम्भावनाद्योतकः। मे भगवान् कृष्णः प्रीतः प्रसन्नः स्यात्। तत्र हेतुं वदन् तं विशिनष्टि। पाण्डुसुताः प्रिया यस्य सः पाण्डुसुताना[1]ञ्च प्रियः। अस्तु पाण्डुसुतप्रियः त्वत्प्रियस्तु कथमित्यत्रोभयत्रानुगतं हेतुं वदन् विशिनष्टि पितुर्भगिनी पितृष्वसा कुन्ती, तस्या अपत्यानि पितृष्वस्रेयाः तेषां प्रीत्यर्थं तद्गोत्रस्य पैतृष्वस्रेयसन्तानस्य आप्तबान्धवः पितृष्वसुः प्रियस्तत्प्रीत्यर्थं तत्पुत्रेषु पुनस्तत्प्रीत्यर्थं तत्पुत्रादिष्वित्येवं यावत्सन्तानं[2]प्रिय इत्यर्थः। आत्तबान्धव इति पाठे आत्ता उपात्ताः परिगृहीताः बान्धवाः येन इष्टबान्धव इत्यर्थः। भगवत्प्रसादेन त्वद्दर्शनं जातं, तत्प्रसादस्तु तत्पितृष्वसुः सन्तानप्रभवत्वादिति भावः ॥ ३५ ॥

अन्यथा भगवतः प्रीत्यभावे[3]ऽव्यक्तगतेः सांसारिकैः अलक्ष्यगतेर्वनीयसः अतिशयेन वनवासिनः संसिद्धस्य कृतकृत्यस्य ते तव दर्शनं नृणां संसारिणां तत्रापि नितरां म्रियमाणानां नोऽस्माकं कथं स्यात्। वनमस्यास्तीति वनी, वनवान् वनवासी प्रकृतऋषिसङ्घापेक्षयाऽतिशयेन वनीति वनीयान् तस्य वनीयसः ॥ ३६ ॥

यतो दुर्लभमपि त्वद्दर्शनमभूदतो योगिनामपि परमं गुरुं त्वां संसिद्धिं पृच्छामि। संसिद्धिशब्दो मुक्तिसाधनोपचरितः। मुक्तिसाधनं पृच्छामीत्यर्थः। तदेव विशदयति। इह लोके पुरुषस्य मुमुक्षोः सर्वदा तत्रापि म्रियमाणस्य यत्कर्तव्यं मनोवाक्कायैः कर्तव्यं, मुक्तिसाधनतयेति शेषः। तत्पृच्छामीत्यन्वयः। तत् ब्रूहीत्युत्तरेणान्वयः ॥ ३७ ॥

कर्तव्यमेव विभज्य पृच्छंस्तद्विपर्ययमकर्तव्यं च ब्रूहीत्याह — **यत्** इति। हे प्रभो! नृभिर्मुमुक्षुभिः, तत्रापि मुमूर्षुभिः यच्छ्रोतव्यादिक, यच्च विपर्ययमश्रोतव्यादि च तत्सर्वं ब्रूहि कथय। यत्कर्तव्यमित्युपात्ततं[4]च्छ्रोतव्यादिकरणं[5] व्यतिरिक्तकर्करणाभावे प्रश्नः स्मर्तव्यं मन्तव्यं भजनीयं प्रीतिपूर्वकमनुध्येयम्, अतो न पौनरुक्त्यम्। अथो अपिचेत्यर्थः ॥ ३८ ॥

यावत्तनुत्यागं एतत्पृष्टं प्रतिवदताऽनियतावस्थानेनापि त्वया अवस्थातव्यमित्यभिप्रायेण तदवस्थानमनियतत्वेन स्तौति — **नूनम्** इति। हे ब्रह्मन्! गृहमेधिनां गृहाश्रमिणां गृहेषु क्वचिदपि भगवतस्तवावस्थानं गोदोहमपि गौर्दुह्यते यावता कालेन तावान् कालो गोदोहनशब्देन विवक्षितः। तावत्कालमपि न लक्ष्यते हि[7] ॥ ३९ ॥

**एवम्** इति। इत्थं राज्ञा आभाषितः। अहो अद्य वयं ब्रह्मन्नित्यादिनोक्तः पृष्टः, अतः पृच्छामि संसिद्धिमित्यादिना पृष्टश्च स भगवान् धर्मज्ञः मुमुक्षूणां मुमूर्षूणां कर्तव्यधर्मयाथात्म्याभिज्ञो बादरायणिः श्रीशुकः श्लक्ष्णया विशुद्धया संमृद्धया[8] गिरा प्रत्यभाषत प्रश्नानामुत्तराण्युवाचेत्यर्थः ॥ ४० ॥

इति श्रीवत्सान्वयपयःपारावाराकासुधाकरस्य सर्वविद्यानिधेः चक्रवर्तिनः श्रीशैलगुरोस्सुतेन तच्चरणकमलपरिचर्याप्रसादिततत्सूक्तिसमधिगत श्रीमद्भागवतार्थहृदयेन श्रीवैष्णवदासेन श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां श्रीमद्भागवतचन्द्रिकाख्यायां श्रीमद्भागवतव्याख्यायां प्रथमस्कन्धे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

*॥ प्रथमः स्कन्धः समाप्तः ॥*

---

1. W पैतृष्वसेया 2. W °नं प्रियः 3 B प्रीतत्वाभावे° 4 W °श्रोत्रादि° 5 W °णं° 6 W °करणव्यापारप्रश्नः 7 W adds न दृश्यते हि 8 W मृद्धया

**विज०** तीर्थीकरणमेव विशिनष्टि। येषां भवतां संस्मरणात् पुंसो गृहास्सद्यः शुध्यन्ति वै यस्मात्, अतो दर्शनादिना शुध्यन्तीति किं पुनर्वक्तव्यमित्यन्वयः ॥ ३३ ॥

भवत्सङ्गत्या विशेषोऽप्यस्तीत्याह — **सान्निध्यात्** इति। अनेन ब्रह्महत्यादिपापपरिहारो भवतीत्युक्तं भवति ज्ञानात्पूर्वतनानि भस्मीभवन्ति। पश्चात्तनानि न श्लिष्यन्तीति शास्त्रनिश्चितं वैशब्देनाऽऽह न केवलमस्मत्पापहानिरेव किन्तु अस्मत्सङ्गतानामपीति ॥ ३४ ॥

पाण्डुसुतानां प्रियः, पाण्डुसुताः प्रियाः यस्येति वा। कृष्णो भगवान् मे मह्यं प्रीतोऽपि प्रीत एव। कुतः? पिता वासुदेवः, तस्य स्वसा कुन्ती तस्याः पुत्राः पैतृष्वस्रेयाः[1] युधिष्ठिरादयः तेषां प्रीतये तेषां गोत्रं यस्य सोऽहं तद्गोत्रः तस्य मे आप्तबान्धवो जात इति यस्मादत इति ॥ ३५ ॥

अन्यथा तत्प्रीत्यभावे अव्यक्तगतेरज्ञातगमनस्य संसिद्धस्य ब्रह्मज्ञानितया कृतकृत्यस्य वरीयसो वरणीयेषु पूज्यस्य ते दर्शनं नृणां नः कथं घटते? म्रियमाणानां नितरां न घटत इति शेषः ॥ ३६ ॥

भवद्दर्शनं दुर्लभमिति यतोऽतो दैवात्प्राप्तं योगिनां परमगुरुं संसिद्धं कैवल्यभूतं भवन्तमिह म्रियमाणस्य पुंसः सदा यत्कार्यं, यच्च श्रोतव्यम्, अथ यच्च जाप्यम्, अथवा[2] नृभिर्यत्कर्तव्यम्, भजनीयं वा, यद्वा विपर्ययम् अकर्तव्यं स्मर्तव्यादि तच्च पृच्छामि। तदस्माकं ब्रूहीत्येकान्वयः ॥ ३७, ३८ ॥

गृहमेधिनां गृहस्थानां गृहेषु क्वचिदेकत्राऽपि गोदोहनक्षणमपि भवतोऽवस्थानं न लक्ष्यते। नूनं निश्चितो हि यस्मात्तस्मात् ज्ञानिनि स्वतः प्राप्ते सति कर्तव्याद्यज्ञाने अस्माकं महासुरत्वं स्यादिति भवन्तं पृच्छामीति भावः ॥ ३९ ॥

एवमाभाषितः पृष्टः सम्बोध्य कृतप्रष्टव्यो गुरुशिष्यसंवादलक्षणधर्मज्ञो बादरायणिः शुकः श्लक्ष्णया मधुरया गिरा राजानं प्रत्यभाषतेत्येकान्वयः ॥ ४० ॥

भागवतविवरणमिदं तुलसीदलमिव समर्पयामि हरेः।
चरणनलिनयुगलेऽहं प्रथमस्कन्धोपगं सतां प्रीत्यै ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां प्रथमस्कन्धे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥
***॥ प्रथमः स्कन्धः समाप्तः ॥***

---

1 K,M °से° 2. K adds अन्यैः

**रा० कृ०** येषां भवतां संस्मरणादेव सद्यः पुंसाम्, इदमुपलक्षणम्। स्मरणभाजां सर्वेषां जनानामित्यर्थः। गृहाश्शुध्यन्ति, तेषां दर्शनस्पर्शनपादशौचाऽऽसनादिभिः शुध्यन्तीति किं पुनर्वक्तव्यम् ॥ ३३ ॥

हे महायोगिन्! ते सान्निध्यात् पुंसां महान्त्यपि पातकानि विष्णोस्सान्निध्यात् सुरेतराः राक्षसा इव सद्यो नश्यन्ति। अत्र महायोगिनश्शुकस्य विष्णुसादृश्यकथनेन विष्णुमयजीवनत्वं सूच्यते॥ ३४॥

पाण्डुसुतप्रियः पैतृष्वस्रेयप्रीत्यर्थं तद्गोत्रस्याऽऽत्तबान्धवः भगवान् कृष्णो मे प्रीतोऽपि प्रीत एवेत्यर्थः॥ ३५॥

अन्यथा श्रीकृष्णप्रीत्यभावे अव्यक्तगतेः वनीयसः 'चतुर्विधपुरुषार्थान् दास्यामि मां याचत इति मुहुर्यो याचकान् प्रेरयति। स वनीयान्' तस्य संसिद्धस्य कृतकृत्यस्य ते तव दर्शनं नृणां तत्रापि नितरां म्रियमाणानां नोऽस्माकं कथं भविष्यतीति शेषः॥ ३६॥

अतो योगिनां परमं गुरुं, त्वामिति शेषः। संसिद्धिं मोक्षलक्षणामुद्दिश्य पृच्छामि। किञ्च, इह लोके म्रियमाणस्य पुरुषस्य सर्वथा यत्कार्यं करणीयं वर्तते, तदपि पृच्छामीति पूर्वेणान्वयः॥ ३७॥

हे प्रभो! नृभिः यच्छ्रोतव्यम् अथो अथ यज्जप्यं, यत्कर्तव्यं, यत् स्मर्तव्यं, यद्वा भजनीयं वर्तते, यद्वा अथवा विपर्ययं — यानि श्रोतव्यजप्यकर्तव्यस्मर्तव्यभजनीयानां विरुद्धानि वर्तन्ते, तानि सर्वाणि ब्रूहि कथय॥ ३८॥

हे ब्रह्मन्! गृहमेधिनां गृहेषु क्वचिदपि भगवतो भवतोऽवस्थानं, गोदोहनं यावता कालेन गोदोहः क्रियते तावत्कालमात्रमपि नूनं न लक्ष्यते हि। तस्मात् दुर्लभो भवान् कर्तव्यमवश्यमुपदिशत्विति भावः॥ ३९॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण राज्ञा परीक्षिता श्लक्ष्णया मधुरया गिरा वाचा आभाषितः पृष्टश्च धर्मज्ञो भगवान् बादरायणिश्शुकः प्रत्यभाषत प्रत्युत्तरं दत्तवानित्यर्थः॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां व्याख्यायां
एकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥
***॥ प्रथमः स्कन्धः समाप्तः॥***

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **अ** | | | |
| अकरो दुश्चरं तपः | ३ | ९ | d |
| अकरो स्सचिवं दूतं | ९ | २० | c |
| अकर्तु रजनस्य च | ३ | ३५ | b |
| अकृतार्थ इव प्रभो | ५ | ४ | d |
| अक्रूर श्चोग्रसेनश्च | ११ | १६ | c |
| अक्षौहिणीभिः परिवृत्ततेजसाम् | ११ | ३४ | b |
| अक्षौहिणीशत मपानुद दात्मतन्त्रः | १६ | ३४ | b |
| अग्नि र्निसृष्टो दत्तश्च | १३ | २३ | a |
| अग्नी नपिब दीश्वरः | १५ | ३९ | d |
| अग्रे गुणेभ्यो जगदात्मनीश्वरे | १० | २१ | c |
| अग्रेचरो मम विभो रथयूथपानां | १५ | १५ | c |
| अङ्गुष्ठमात्र ममलं | १२ | ८ | a |
| अज स्त्वमस्य क्षेमाय | ८ | ३३ | c |
| अजस्या कर्तुरात्मनः | ८ | ३० | b |
| अजं प्रजातं जगत शिशवाय तत् | ५ | २१ | c |
| अजातशत्रा वभवन् | १० | ६ | c |
| अजात शत्रुं प्रत्यूचे | १३ | ३५ | c |
| अजातशत्रुः कृतमैत्रो हुताग्निः | १३ | ३० | a |
| अजातशत्रुः पृतनां | १० | ३२ | a |
| अजानता मिवान्योन्यं | १५ | २३ | c |
| अजान त्रुपसंहारं | ७ | २० | c |
| अज्ञाधोक्षज मव्ययम् | ८ | १९ | b |
| अज्ञानकृत मात्मनः | १३ | ४४ | b |
| अत एनं वधिष्यामि | १७ | ११ | c |
| अतः परं यदव्यक्तं | ३ | ३२ | a |
| अतः पुंभि र्द्विजश्रेष्ठाः | २ | १३ | a |
| अतः पृच्छामि संसिद्धिं | १९ | ३७ | a |
| अतस्साधोऽत्र यत्सारं | १ | ११ | c |
| अतिमर्त्यानि भगवान् | १ | २० | c |
| अतो वै कवयो नित्यं | २ | २२ | a |
| अत्य क्राम दविज्ञातः | १३ | १७ | c |
| अत्रानुरूपं राजर्षे | १७ | २० | c |
| अत्रिर्वसिष्ठ श्च्यवनः शरद्वान् | १९ | ९ | a |
| अथ तं सुख मासीनः | ५ | १ | a |
| अथ ते सम्परेतानां | ८ | १ | a |
| अथ दूरगतान् शौरिः | १० | ३३ | a |
| अथर्वाङ्गिरसा मासीत् | ४ | २२ | a |
| अथवा देवमायायाः | १७ | २३ | a |
| अथवाऽस्य पदाम्भोज | १६ | ६ | a |
| अथ विश्वेश विश्वात्मन् | ८ | ४१ | a |
| अथाऽऽख्याहि हरे र्धीमन् | १ | १८ | a |
| अथाऽऽजगाम भगवान् | १३ | ३० | a |
| अथापि यत्पादनखावसृष्टं | १८ | २१ | a |
| अथापि शोच स्यात्मानं | ५ | ४ | c |
| अथाऽऽबभाषे भगवान् | १३ | ३९ | c |
| अथाविशत्स्वभवनं | ११ | ३० | a |
| अथाऽसौ युगसन्ध्यायां | ३ | २५ | a |
| अथेह धन्या भगवन्त इत्थं | ३ | ३९ | a |
| अथैतानि न सेवेत | १७ | ४१ | a |
| अथोदीचीं दिशं यातु | १३ | २७ | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अथोपस्पृश्य सलिलं | ७ | २० | a |
| अथोपेत्य स्वशिबिरं | ७ | ४१ | a |
| अथो महाभाग भवा नमोघदृक् | ५ | १३ | a |
| अथो विहायेम ममुं च लोकं | १९ | ५ | a |
| अदा न्मे ज्ञान मैश्वर्यं | ५ | ३९ | c |
| अदृष्टश्रुतवस्तुत्वात् | ३ | ३२ | c |
| अद्यैव राज्यं बल मृद्धकोशं | १९ | ३ | a |
| अद्राक्षं विपिनं महत् | ६ | १४ | b |
| अद्वय स्यानहंकृतेः | ९ | २१ | b |
| अधर्मचक्रं गमनाय पर्यधात् | १५ | ३७ | d |
| अधर्मप्रभवः कलिः | १७ | ४० | b |
| अधर्मप्रभवः कलिः | १८ | ६ | d |
| अधर्महेतुः कलि रन्ववर्तत | १५ | ३६ | d |
| अधर्मांशै स्त्रयो भग्नाः | १७ | २४ | c |
| अधिक्रमन्त्यङ्घ्रिभि राहृतां बलात् | १४ | ३८ | c |
| अधिजह्रु र्मुदं राज्ञः | १२ | ६ | c |
| अधोवदन मब्बिन्दून् | १४ | २३ | c |
| अध्यगा न्महदाख्यानं | ७ | ११ | c |
| अध्यात्मदीप मति तितीर्षतां तमोन्धं | २ | ३ | b |
| अध्रुवं वा न चोभयम् | १३ | ४३ | b |
| अध्वन्युरुक्रमपरिग्रह मङ्ग रक्षन् | १५ | २० | c |
| अनन्तपारस्य निवृत्तितः सुखम् | ५ | १६ | b |
| अनन्य पुरुषश्रीभिः | १४ | २१ | c |
| अनन्यविषयात्मनां | ८ | १३ | b |
| अनपेक्षमाणो निरगात् | १५ | ४४ | a |
| अनर्थोपशमं साक्षात् | ७ | ६ | a |
| अनलं प्रसक्तस्य विरक्तिकारणं | १९ | ४ | d |
| अनाग स्स्विह भूतेषु | १७ | १५ | a |
| अनादिनिधनं विभुम् | ८ | २८ | b |
| अनादृत्याधिराट्श्रियम् | ४ | १० | d |
| अनापद्युत्पथा निह | १७ | १६ | d |
| अनामरूपात्मनि रूपनामनी | १० | २२ | c |
| अनिद्रौ शून्य मिच्छतः | १४ | १४ | d |
| अनुग्रहं मन्यमानः | ६ | १० | c |
| अनुग्रहाद्भगवतः | १८ | १ | c |
| अनुग्रहा न्महाविष्णोः | ६ | ३२ | c |
| अनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः | ५ | २६ | b |
| अनुध्यानाच्चासकृत् | ७ | २५ | d |
| अनुप्रवृत्तोऽय मधर्मपूगः | १७ | ३२ | b |
| अनुवर्तिता स्विद्यशसा | १२ | १८ | c |
| अनृतेनैधितः कलिः | १७ | २५ | d |
| अन्तःप्रतिहतातपाम् | ११ | १३ | d |
| अन्तः प्रविष्ट आभाति | २ | ३१ | c |
| अन्तःस्थस्सर्वभूतानां | ८ | १४ | a |
| अन्तरोऽनन्तरो भाति | १३ | ४७ | c |
| अन्तर्बहि रवस्थितम् | ८ | १८ | d |
| अन्तर्बहिर्वायुरिवैष आत्मा | १७ | ३४ | d |
| अन्तर्बहिश्च लोकां स्त्रीन् | ६ | ३२ | a |
| अन्तर्हितस्य स्मरती विसृष्टा | १६ | २३ | c |
| अन्तश्चरोघ्रायु रिवात्मसाक्षी | ५ | ७ | b |
| अन्धीभूतेन चक्षुषा | ९ | ११ | d |
| अन्यत्र करदण्डयोः | १२ | ३२ | d |
| अन्यथा तेऽव्यक्तगतेः | १९ | ३६ | a |
| अन्याश्च जामयः पाण्डोः | १३ | ४ | c |
| अन्ये च कार्ष्णि प्रवराः | १४ | ३१ | c |
| अन्ये च देवर्षिब्रह्मर्षि वर्याः | १९ | ११ | a |
| अन्ये च मुनय स्सूत | १ | ७ | c |
| अन्ये च मुनयो ब्रह्मन् | ९ | ८ | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अन्येऽपि चाह ममुनैव कलेवरेण | १५ | १२ | c |
| अन्योन्य मासीत्सञ्जल्पः | १० | २० | a |
| अन्वगच्छन् रथै र्विप्राः | ९ | २ | c |
| अन्ववोचन् गमिष्यन्तः | ५ | ३० | c |
| अन्वाद्रवत् दंशित उग्रधन्वा | ७ | १७ | c |
| अपदानि चतुष्पदाम् | १३ | ४६ | b |
| अपरे वसुदेवस्य | ८ | ३३ | a |
| अपवर्गोऽसि संसृतेः | ७ | २२ | d |
| अपश्यत् पुरुषं पूर्वं | ७ | ४ | c |
| अपश्यन् सहसोत्तस्थे | ६ | १९ | c |
| अपाण्डव मिदं कर्तुं | ८ | ११ | c |
| अपात्स्वायम्भुवान्तरम् | ३ | १२ | d |
| अपा द्वैवस्वतं मनुं | ३ | १५ | d |
| अपापेषु स्वभृत्येषु | १८ | ४७ | a |
| अपाययत् सुरा नन्यान् | ३ | १७ | c |
| अपि गोदोहनं क्वचित् | १९ | ३९ | d |
| अपि ते मह दद्भुतम् | ५ | ३ | b |
| अपि देवर्षिणाऽऽदिष्टः | १४ | ८ | a |
| अपि न स्सुहृद स्तात | १३ | ११ | a |
| अपि मय्यकृतप्रज्ञे | १३ | ३२ | c |
| अपि मे भगवान्प्रीतः | १९ | ३५ | a |
| अपि वर्षायुतायुतैः | ८ | ४९ | d |
| अपि स्मरथ नो युष्मन्- | १३ | ८ | a |
| अपि स्मरन्ति कुशलं | १४ | ३३ | c |
| अपि स्वस्त्यासते सर्वे | १४ | ३३ | a |
| अपि स्वित्पर्यभुङ्क्था स्त्वं | १४ | ४३ | a |
| अपीच्यदर्शनं श्यामम् | १२ | ८ | c |
| अपीपलद्धर्मराजः | १२ | ४ | a |
| अपुनर्भवदर्शनम् | ८ | २५ | d |
| अपृच्छद्विविधान्धर्मान् | ९ | २५ | c |
| अप्रतर्क्या दनिर्देश्यात् | १७ | २० | a |
| अप्रमत्तः प्रमत्तेषु | १८ | ८ | c |
| अप्रमाणविदो भर्तुः | ११ | ३९ | c |
| अप्यद्यनस्त्वं स्वकृतेहित प्रभो | ८ | ३७ | a |
| अप्येष वंश्यान् राजर्षीन् | १२ | १८ | a |
| अबिभ्र दर्यमा दण्डं | १३ | १५ | a |
| अब्भक्ष उपशान्तात्मा | १३ | ५२ | c |
| अब्रह्मण्या नृपात्मजाः | १७ | २७ | c |
| अब्रह्मण्ये राजकुले कुलाभ्यान् | १६ | २१ | d |
| अभावाय सुरद्विषां | १३ | ४८ | d |
| अभिद्रवति मा मीश | ८ | १० | a |
| अभिमन्युसुतं सूत | ४ | ९ | a |
| अभिमन्युसुतो नृपः | १७ | ४५ | b |
| अभिरेभत्यभीरुवत् | १४ | १२ | d |
| अभिरौत्यनलानना | १४ | १२ | b |
| अभिसङ्गम्य विधिवत् | १३ | ५ | c |
| अभूत पूर्वस्सहसा | १८ | २९ | a |
| अभ्यर्च्य राजा शिरसा ववन्दे | १९ | ११ | d |
| अभ्यर्थित स्तदा तस्यै | १७ | ३८ | a |
| अभ्यषिञ्चद्जाह्नये | १५ | ३८ | d |
| अभ्याचष्टानुरागाश्रैः | ९ | ११ | a |
| अमर्त्यस्यापि साङ्गदम् | १७ | १५ | d |
| अमूनि पञ्च स्थानानि | १७ | ४० | c |
| अमोघ ञ्चाप्रतिक्रियं | ८ | १५ | b |
| अम्बा च हतपुत्राऽऽर्ता | १३ | ३२ | a |
| अम्बा वा हतपुत्राऽऽर्ता | १३ | ३८ | c |
| अयथापूर्व मातुरम् | १४ | २३ | b |
| अरक्षतां व्यसनतः | १३ | ३३ | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अरक्ष्यमाणः स्त्रिय उर्वि बालान् | १६ | २१ | a |
| अरक्ष्यमाणोऽविवरूथवत्क्षणात् | १८ | ४३ | d |
| अरिष्टनेमिर्भृगुरङ्गिराश्च | १९ | ९ | b |
| अरूपस्य चिदात्मनः | ३ | ३० | b |
| अर्जुनः सहसाऽऽज्ञाय | ७ | ५५ | a |
| अर्हण मुपपेद ईक्षणीयो | ९ | ४१ | c |
| अर्हस्यङ्गानुवर्णितुं | १ | १३ | b |
| अलक्ष्यमाणे नरदेवनाम्नि | १८ | ४३ | a |
| अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टः | १९ | २५ | c |
| अलक्ष्यं सर्वभूतानां | ८ | १८ | c |
| अलङ्कृतां पूर्णकुम्भैः | ११ | १५ | c |
| अलब्धतृणभूम्यादिः | १८ | २८ | a |
| अलब्धमानोऽवज्ञातः | १४ | ३९ | c |
| अलिङ्गत्वा दसम्भवः | १५ | ३१ | d |
| अल्पीयसि द्रोह उरुर्दमो धृतः | १८ | ४१ | d |
| अवज्ञात मिवात्मानं | १८ | २८ | c |
| अवतारकथा श्शुभाः | १ | १८ | b |
| अवतारा ह्यसङ्ख्येयाः | ३ | २६ | a |
| अवतारे षोडशमे | ३ | २० | a |
| अवतीर्ण स्वमायया | ११ | ३५ | b |
| अवधी न्त्रिशि बालकान् | ७ | ३५ | d |
| अवशेषं प्रतीक्षते | १३ | ४९ | b |
| अवाङ्मुखं कर्म जुगुप्सितेन | ७ | ४२ | b |
| अवापु र्दुरवापां ते | १५ | ४८ | a |
| अविघातगतिः क्वचित् | ६ | ३२ | d |
| अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितः | ५ | २२ | c |
| अविज्ञातगति र्जह्यात् | १३ | २५ | c |
| अवितार मिवार्भकाः | ११ | ५ | d |
| अवितृप्त इवा तुरः | ६ | २० | d |
| अविद्ययाऽऽत्मनि कृते | ३ | ३३ | c |
| अविद्या कामकर्मभिः | ८ | ३५ | b |
| अविपक्वकषायाणां | ६ | २२ | c |
| अवेक्षते महाभागः | ४ | ८ | c |
| अवेत्य मदनुष्ठितं | ५ | ३९ | b |
| अवैति जन्तुः कुमनीष ऊतीः | ३ | ३७ | b |
| अव्यूढ गुणव्यूहितं | ३ | ३२ | b |
| अशृण्वन्बधिरो यथा | १५ | ४४ | b |
| अश्रद्दधाना निस्सत्वात् | ४ | १७ | c |
| अश्रूयन्ताशिष स्सत्याः | १० | १९ | a |
| अश्वत्थाग्नोपसृष्टेन | १२ | १ | a |
| अश्वत्थाग्नोऽस्त्रतेजसः | १६ | १४ | b |
| अष्टमे मेरुदेव्यान्तु | ३ | १३ | a |
| असक्तस्यामलात्मनः | ६ | २८ | b |
| असङ्गमपि सङ्गिनं | ११ | ३७ | b |
| असत्पुत्रोऽस्य चानुजः | १४ | २८ | b |
| असत्सभाया वनवास कृच्छ्रतः | ८ | २४ | b |
| असद्भि र्विषयात्मभिः | १५ | ४८ | b |
| असम्पन्न इवाभाति | ४ | ३० | c |
| असम्प्राप्तार्थ्यसूनृतः | १८ | २८ | b |
| असाधुदमने कृते | १७ | १४ | d |
| असृग्वर्षन्ति जलदाः | १४ | १६ | c |
| असौ गां यः पदाऽहनत् | १६ | ५ | d |
| असौ गुणमयै र्भावैः | २ | ३३ | a |
| अस्त्येव मे सर्व मिदं त्वयोक्तम् | ५ | ५ | a |
| अस्त्रग्रामश्च भवता | ७ | ४४ | c |
| अस्त्रज्ञो ह्यस्त्रतेजसा | ७ | २८ | d |
| अस्त्रतेजस्त्वगदया | १२ | १० | a |
| अस्त्रं प्रत्यवकर्शनं | ७ | २८ | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अस्त्रं ब्रह्मशिरो मेने | ७ | १९ | c |
| अस्त्रा ण्यमोघमहिमानि निरूपितानि | १५ | १६ | c |
| अस्माकं बद्धसौहृदाः | १४ | ३३ | d |
| अस्यानुभावं भगवान् | ९ | १९ | a |
| अहस्तानि सहस्तानां | १३ | ४६ | a |
| अहञ्च त दुह्यकुले | ६ | ८ | a |
| अहञ्च तस्मै महतां महीयसे | ६ | २६ | c |
| अहञ्चाध्यगमं तत्र | ३ | ४४ | a |
| अहं पुरातीतभवेऽभवं मुने | ५ | २३ | a |
| अहं हि पृष्टोऽर्यमणो भवद्भिः | १८ | २३ | a |
| अहैतुक्यप्रतिहता | २ | ६ | c |
| अहो अद्य वयं ब्रह्मन् | १९ | ३२ | a |
| अहो अधर्मः पालानां | १८ | ३३ | a |
| अहो अलं पुण्यतमं मधोर्वनम् | १० | २६ | b |
| अहो अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुलं | १० | २६ | a |
| अहो कष्ट महोऽन्याय्यं | ९ | १२ | a |
| अहो देवर्षिर्धन्योऽयं | ६ | ३९ | a |
| अहो नृलोके पीयेत | १६ | ८ | c |
| अहो बत स्वर्यशस स्तिरस्करी | १० | २७ | a |
| अहो ब ताहो महदज्ञ ते कृतं | १८ | ४१ | c |
| अहो मया नीच मनार्यव त्कृतं | १९ | १ | c |
| अहो महीयसी जन्तोः | १३ | २२ | a |
| अहो मे पश्यताज्ञानं | ८ | ४८ | a |
| अहो वयं जन्म भृतोऽद्य हास्म | १८ | १८ | a |
| अहो वयं धन्यतमा नृपाणा | १९ | १३ | a |
| अहो सनाथा भवता स्म य द्वयं | ११ | ८ | a |
| **आ** | | | |
| आक्रम्य यत्त्वास्यसि दग्धपुत्रा | ७ | १६ | d |
| आख्याता न्यप्यधीतानि | १ | ६ | c |
| आख्यान मत्यद्भुत योगनिष्ठं | १८ | १७ | b |
| आख्यानं यदपृच्छत | १८ | ९ | d |
| आख्याहि दुःखै र्मुहु रर्दितात्मनां | ५ | ४० | c |
| आख्याहि वृष भद्रं वः | १७ | १३ | a |
| आख्याह्यनन्ता चरितोपपन्नं | १८ | १७ | c |
| आचक्ष आत्मावगमोऽत्र यावान् | १८ | २३ | b |
| आजहाराश्वमेधां स्त्रीन् | १६ | ३ | a |
| आततायी वधार्हणः | ७ | ५३ | b |
| आतता व्यात्मबन्धुहा | ७ | ३९ | b |
| आतिष्ठं स्तेऽनुशासनं | १७ | ३७ | d |
| आत्मजैः सह कृष्णया | ८ | १७ | b |
| आत्मतुल्यबलै र्गुप्तां | ११ | ११ | c |
| आत्मत्राणं द्विजात्मजः | ७ | १९ | d |
| आत्मन सर्वतोदिशं | १२ | ९ | d |
| आत्मन स्सुगमं गुणैः | १५ | ३८ | b |
| आत्मनाऽऽत्मान मात्मस्थं | ६ | १६ | c |
| आत्मनोऽभिमुखान्दीप्तान् | ८ | १२ | c |
| आत्म न्यात्मान मावेश्य | ९ | ४३ | c |
| आत्मवैरूप्य कर्तारं | १७ | १३ | c |
| आत्मा च जरया ग्रस्तः | १३ | २१ | c |
| आत्माचैवाऽऽत्मना विभुः | ४ | ३० | b |
| आत्मानञ्च पत्रितातं | १६ | १४ | a |
| आत्मान ञ्चानुशोचामि | १६ | ३१ | a |
| आत्मानं त्रिगुणात्मकं | ७ | ५ | b |
| आत्मानं वा वृषलै र्भोक्ष्यमाणं | १६ | २० | b |
| आत्मा मानस एव वा | ५ | २ | d |
| आत्मा योगेश्वरो हरिः | ८ | १४ | b |
| आत्माराम स्समभ्यसत् | ७ | ९ | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| आत्मारामं पूर्णकामं | ११ | ४ | c |
| आत्मारामाश्च मुनयः | ७ | १० | a |
| आत्मारामाय शान्ताय | ८ | २७ | c |
| आत्मेश्वर मचक्षाणः | १३ | ३४ | c |
| आत्मौपम्येन मनुजं | ११ | ३७ | c |
| आदत्ते गृहपालवत् | १३ | २२ | d |
| आदौ लोकसिसृक्षया | ३ | १ | d |
| आद्योऽनन्तसखः पुमान् | १४ | ३५ | d |
| आद्यो नारायणः पुमान् | ९ | १८ | b |
| आनन्द सम्प्लवे लीनः | ६ | १८ | c |
| आनर्तान् भार्गवोऽपागात् | १० | ३५ | c |
| आनर्तान् स उपव्रज्य | ११ | १ | a |
| आन्वीक्षिकी मलर्कार्य | ३ | ११ | c |
| आपन्न स्संसृतिं घोरां | १ | १४ | a |
| आपाययति गोविन्द | १८ | १२ | c |
| आपूर्यमाणः पितृभिः | १२ | ३१ | c |
| आप्लुता हरिपादाब्ज- | ८ | २ | c |
| आभाषतैना मभिनन्द्य युक्तान् | १९ | २२ | c |
| आभिमन्यव एकराट् | १८ | ५ | d |
| आमन्त्र्यचाध्यनुज्ञातः | १० | ८ | a |
| आमन्त्र्य पाण्डुपुत्तांश्च | ८ | ७ | a |
| आमन्त्र्य वीणां रणयन् | ६ | ३८ | c |
| आमयो यश्च भूतानां | ५ | ३३ | a |
| आम्नातो भयलक्षणान् | ९ | २६ | d |
| आम्नायार्थश्च दर्शितः | ४ | २९ | b |
| आयु र्मनांसि च दृशा मह ओज आर्च्छत् | १५ | १५ | a |
| आयुषो यदसद्व्ययः | १६ | ६ | d |
| आरब्धकर्मनिर्वाणः | ६ | २९ | c |
| आरा हास्यन्ति विप्रियं | १४ | ११ | d |
| आरुरोह रथं कैश्चित् | १० | ८ | c |
| आरोपित मबुद्धिभिः | ३ | ३१ | d |
| आर्ताना मार्तिनिग्रहः | १७ | ११ | b |
| आर्योऽनुजस्तव गजायुतसत्त्ववीर्यः | १५ | ९ | b |
| आलक्षये भवती मन्तराधिं | १६ | १९ | c |
| आलक्ष्याञ्जाण्युपाददुः | ८ | १२ | d |
| आलोक्य वदनं सख्युः | ७ | ५२ | c |
| आवर्तनाभिं वलिवल्गूदरञ्च | १९ | २७ | b |
| आवृत्य रोदसी खञ्च | ७ | ३० | c |
| आशया यत्प्रतिश्रुतं | १४ | ४० | d |
| आशंसमानश्शमलं | १३ | ३२ | e |
| आशीर्भिर्युज्यमानोऽन्यैः | ११ | २३ | c |
| आशु शुक्ल इवोडुपः | १२ | ३१ | b |
| आश्रमं प्रागुदाहृतं | ४ | ३२ | d |
| आश्रमः पश्चिमे तटे | ७ | २ | b |
| आश्रय स्सर्वभूतानां | १२ | २३ | c |
| आश्रुत्य तदृषिगणवचः परीक्षित् | १९ | २२ | a |
| आश्वास्य चाश्वपाकेभ्यः | ११ | २२ | c |
| आसते कुशलं कच्चित् | १४ | २९ | a |
| आस्ते सस्नुषाः क्षेमं | १४ | २७ | c |
| आसनं पार्थिवोचितं | १७ | ४३ | b |
| आसन् सपत्न विजयः | १४ | ९ | c |
| असीनं जगदीश्वरं | ९ | १० | b |
| आसीनं सुख मासने | १३ | ७ | b |
| आसीना दीर्घसत्रेण | १ | २१ | c |
| आसीनोऽप उपस्पृश्य | ७ | ३ | c |
| आस्तेऽधुना स राजर्षिः | १७ | ४४ | a |
| आस्ते यदुकुलम्भोधौ | १४ | ३५ | c |
| आस्ते स्थाणु रिवाचलः | १३ | ५५ | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| आह चेदं हसन्निव | १७ | ३० | d |
| आह राजा धर्मसुतः | ८ | ४७ | a |
| आहरिष्ये शिर स्तस्य | ७ | ३८ | c |
| आहर्तास्मि भुजं साक्षात् | १७ | १५ | c |
| आहर्तैषोऽश्वमेधानां | १२ | २५ | c |
| आहु रात्मान मात्मनः | १७ | १९ | b |
| आहूत इव मे शीघ्रं | ६ | ३४ | c |
| आहूतः परमर्षिभिः | १६ | ८ | d |
| आहूतो भगवान् राज्ञा | १२ | ३५ | a |
| आहो सुरादीन् हृत यज्ञभागान् | १६ | २० | c |
| **इ** | | | |
| इक्ष्वाकु रिव मानवः | १२ | १९ | b |
| इच्छया क्रीडितुः स्यातां | १३ | ४२ | c |
| इज्यामूर्तिर्यजतां शं तनोति | १७ | ३४ | b |
| इत स्ततो वाशनपानवासः | १६ | २२ | c |
| इति केष्वपि निश्चयः | १७ | २० | b |
| इति चिन्तयतस्तस्य | १४ | २२ | a |
| इति चोदीरिता वाचः | ११ | १० | a |
| इति तद्दुह्यदर्शनं | ३ | ३३ | d |
| इति धर्मं मही चैव | १७ | २८ | a |
| इति पादाः कृते कृताः | १७ | २४ | b |
| इति पुत्रकृताघेन | १८ | ४९ | a |
| इति प्रियां वल्गुविचित्रजल्पै | ७ | १७ | a |
| इति ब्रुवाणं संस्तूय | ४ | १ | a |
| इति भारत माख्यानं | ४ | २५ | c |
| इति भीतः प्रजाद्रोहात् | ९ | १ | a |
| इति मति रुपकल्पिता वितृष्णा | ९ | ३२ | a |
| इति मूर्त्यभिधानेन | ५ | ३८ | a |
| इति मे न तु बोधाय | ८ | ५० | c |
| इति राज्ञ उपादिश्य | १२ | २९ | a |
| इति लङ्घित मर्यादं | १८ | ३७ | a |
| इति लोके बृहच्छ्रवाः | १२ | १७ | b |
| इति व्यवच्छिद्य स पाण्डवेयः | १९ | ७ | a |
| इति सम्प्रश्नसम्पृष्टः | २ | १ | a |
| इति स्म राजाध्यव साय युक्तः | १९ | १७ | a |
| इति स्या द्दान्धवस्त्रियः | १० | १४ | d |
| इति हासपुराणञ्च | ४ | २० | c |
| इति हास पुराणानां | ४ | २२ | c |
| इतोऽर्वाक्प्रायशः कालः | १३ | २७ | c |
| इत्थम्भूतगुणो हरिः | ७ | १० | d |
| इत्थम्भूतानुभावोऽयं | १७ | ४५ | a |
| इत्थं शरत्प्रावृषिका वृतू हरेः | ५ | २८ | a |
| इत्युक्तः स न्यवेदयत् | १८ | ४० | d |
| इत्युक्तो धर्मराजेन | १३ | १२ | a |
| इत्युक्त्वाथाऽऽरुहत्स्वर्ग | १३ | ५९ | a |
| इत्युक्त्वा रोषताम्राक्षः | १८ | ३६ | a |
| इद माह पृथा सती | ८ | १७ | d |
| इद माह हस न्निव | ७ | ५२ | d |
| इदं प्रोवाच धर्मवित् | ४ | २७ | d |
| इदं भागवतं नाम | ३ | ४० | a |
| इदं ममाऽऽचक्ष्व तवाधिमूलं | १६ | २४ | a |
| इदं हि पुंस स्तपसःश्रुतस्य वा | ५ | २२ | a |
| इदं हि विश्वं भगवानिवेतरः | ५ | २० | a |
| इदानीं धर्मपारस्ते | १७ | २५ | a |
| इन्द्रञ्च सामरगणं तरसा विजित्य | १५ | ८ | b |
| इन्द्रारि व्याकुलं लोकं | ३ | २८ | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| इभभग्नभुज द्रुमान् | ६ | १२ | b |
| इदं स्वनिगमं ब्रह्मन् | ५ | ३९ | a |
| इमे जनपदा ग्रामाः | १४ | २० | c |
| इमे जनपदाः स्वृद्धाः | ८ | ४० | a |
| इयञ्च भू र्भगवता | १७ | २६ | a |
| इहोपहूतो भगवान् | १६ | ७ | c |
| **ई** | | | |
| ईशस्य हि वशे लोकः | ६ | ७ | c |
| ईशे नाजीवितः पुनः | १२ | १ | d |
| ईश्वरस्य विचेष्टितम् | १५ | २४ | b |
| ईश्वरस्यात्म मायया | १ | १८ | d |
| ईश्वरं प्रकृतेः परं | ८ | १८ | b |
| ईश्वरं मतयो यथा | ११ | ३९ | d |
| ईश्वरः प्रकृतेः परः | ७ | २३ | b |
| **उ** | | | |
| उक्थेन रहितो ह्येषः | १५ | ६ | c |
| उच्छिष्टलेपा ननुमोदितो द्विजैः | ५ | २५ | a |
| उतथ्य इन्द्रप्रमदेध्मवाहौ | १९ | ९ | d |
| उत्तमश्लोक चरितं | ३ | ४० | c |
| उत्तमश्लोक चेतसां | १० | २० | b |
| उत्तमश्लोक विक्रमे | १ | १९ | b |
| उत्तमै र्नसमैः पथि | १४ | ४२ | d |
| उत्तराया हतो गर्भः | १२ | १ | c |
| उत्तरां भयविह्वलां | ८ | ८ | d |
| उत्तस्थु रारा त्सहसाऽऽसनाशयात् | ११ | ३१ | c |
| उत्थायेदं सिसृक्षतः | ६ | ३१ | b |
| उत्सृज्य सर्वत स्सङ्गं | १८ | ३ | a |
| उदङ्मुखो दक्षिणकूल आस्ते | १९ | १७ | c |
| उदिते रविमण्डले | ४ | १५ | d |
| उदीचीं प्रविवेशाशां | १५ | ४४ | c |
| उदीच्यां दिशि भूरिशः | १२ | ३३ | d |
| उद्दामभावपिशुनामलवल्गुहास | ११ | ३६ | a |
| उद्यानोपवनारामैः | ११ | १२ | c |
| उद्धरिष्य न्नुपादत्त | ३ | ७ | c |
| उद्धव स्सात्यकि श्चैव | १० | १८ | a |
| उन्मत्तमूकजडवत् | ४ | ६ | c |
| उन्मील्य शनकै र्नेत्रे | १८ | ३९ | c |
| उपधार्य वच स्तस्याः | ८ | ११ | a |
| उपयेम इरावतीं | १६ | २ | b |
| उपलभ्य वसूत्तमः | ९ | ९ | b |
| उपलेभेऽभिधावन्तीं | ८ | ८ | c |
| उपवर्णित मेतद्वः | १८ | ९ | a |
| उपस्थितोऽग्रेऽभिगृहीतपाणिः | १९ | १२ | d |
| उपस्पृश्य जलं शुचि | ४ | १५ | b |
| उपस्पृष्टो गतश्रमः | ६ | १५ | d |
| उपाविशत्प्राय ममर्त्यनद्यां | १९ | ५ | d |
| उपासितो य त्पुरुषः पुराणः | ५ | ६ | b |
| उपासीनं बृहच्छ्रवाः | ५ | १ | b |
| उपाहर द्विप्रियमेव तस्य | ७ | १४ | c |
| उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये | ५ | १३ | c |
| उरुक्रमस्याधरशोणशोणिमा | ११ | २ | b |
| उलूकः कम्पय न्मनः | १४ | १४ | b |
| उवाच चाऽसहन्त्यस्य | ७ | ४३ | a |
| उवास कति चिन्मासान् | १२ | ३५ | c |
| उषित्वा हास्तिनपुरे | १० | ७ | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **ऊ** | | | |
| ऊचुः प्रजानुग्रहशीलसाराः | १९ | १९ | c |
| ऊर्वीक्षिबाहवो मह्यं | १४ | ११ | a |
| ऊषिवांस्तदपेक्षया | ६ | ८ | b |
| **ऋ** | | | |
| ऋग्यजुस्सामाथर्वाख्याः | ४ | २० | a |
| ऋतमधिकर्तु मवप्लुतो रथस्थः | ९ | ३७ | b |
| ऋते परानुग्रह मात्मशीलं | १९ | २३ | d |
| ऋषय श्शौनकादयः | १ | ४ | b |
| ऋषयो मनवो देवाः | ३ | २७ | a |
| ऋषिभि र्याचितो भेजे | ३ | १४ | a |
| ऋषीणा ञ्जानुशृण्वतां | ९ | २५ | d |
| ऋषीणा माश्रमं गतः | १३ | ५० | d |
| ऋषीणां सत्त्ववर्धनः | ७ | २ | d |
| **ए** | | | |
| एक आत्माऽऽत्मनां स्वदृक् | १३ | ४७ | b |
| एक एवाति यातोऽहं | ६ | १४ | a |
| एकदा धनु रुद्यम्य | १८ | २४ | a |
| एकदा निर्गतां गेहात् | ६ | ९ | a |
| एकात्मजा मे जननी | ६ | ६ | a |
| एकान्त भक्त्या भगवत्यधोक्षजे | १५ | ३३ | c |
| एकान्तमतयो गतिं | १५ | ४७ | d |
| एकान्तमति राप तं | १५ | ५० | d |
| एकान्तमति रुन्निद्रः | ४ | ४ | c |
| एकोनविंशे विंशतिमे | ३ | २३ | a |
| एक्ये रथेन ततरेऽह मतार्यसत्त्वं | १५ | १४ | b |
| एतत्कामाय तेऽनघ | ६ | २३ | b |
| एतत्संसूचितं ब्रह्मन् | ५ | ३२ | a |
| एतदर्थं हि भगवान् | १६ | ८ | c |
| एत दीशन मीशस्य | ११ | ३८ | a |
| एत द्रूपं भगवतः | ३ | ३० | a |
| एतद्वः पाण्डवेयानां | १७ | १७ | a |
| एतद्धातुरचित्तानां | ६ | ३५ | a |
| एतन्नानावताराणां | ३ | ५ | a |
| एतावताऽलं ननु सूचितेन | १८ | २० | a |
| एतावदुक्त्वोपरराम तम्महत् | ६ | २६ | a |
| एताः परं स्त्रीत्व मपास्तपेशलं | १० | ३० | a |
| एते चाऽन्ये च भगवन् | १६ | २९ | a |
| एते चांशकलाः पुंसः | ३ | २८ | a |
| एधन्ते तव वीक्षितैः | ८ | ४० | d |
| एधमान मदः पुमान् | ८ | २६ | b |
| एकां कटकृद्यथा | ३ | १८ | d |
| एव माभाषितः पृष्टः | १९ | ४० | a |
| एवं कृष्णमते ब्रह्मन् | ६ | २८ | a |
| एवं कृष्णसखः कृष्णः | १५ | १ | a |
| एवं गृहेषु सक्तानां | १३ | १७ | a |
| एवं चकार भगवान् | ४ | २४ | c |
| एवञ्च तस्मि न्नरदेव देवे | १९ | १८ | a |
| एवं चिन्तयतो जिष्णोः | १५ | २८ | a |
| एवं जन्मानि कर्माणि | ३ | ३५ | a |
| एवं द्रष्टरि दृश्यत्वं | ३ | ३१ | c |
| एवं धर्मे प्रवदति | १७ | २१ | a |
| एवं निशम्य भगवान् | ६ | १ | a |
| एवं नृणां क्रियायोगाः | ५ | ३४ | a |
| एवं नृपाणां क्षितिभारजन्मनां | ११ | ३४ | a |
| एवं परीक्षता धर्मं | ७ | ४० | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतसः | ५ | २५ | c |
| एवं प्रवृत्तस्य सदा | ४ | २६ | a |
| एवं प्रसन्नमनसः | २ | २० | a |
| एवं बलिष्ठै र्यदुभिः | १५ | २६ | a |
| एवं यतन्तं विजने | ६ | २१ | a |
| एवं राजा विदुरेणानुजेन | १३ | २८ | a |
| एवं विधा गदन्तीनां | १० | ३१ | a |
| एवं सम्भाष्य भगवान् | ६ | ३८ | a |
| एष किं निभृताशेष | १८ | ३१ | a |
| एष कृष्ण मनुव्रतः | १२ | २४ | b |
| एष दाता शरण्यश्च | १२ | २० | a |
| एष राज्ञां परो धर्मः | १७ | ११ | a |
| एष वै भगवान् साक्षात् | ९ | १८ | a |
| एष सर्वनिराकृतिः | ६ | ४ | d |
| एष हि ब्रह्म बन्धूनां | ७ | ५७ | c |
| एष ह्यस्मिन् प्रजातन्तौ | १२ | १५ | c |
| **ऐ** | | | |
| ऐक्या द्वयस्य ऋतवानिति विप्रलब्धः | १५ | १९ | b |
| ऐक्षत श्रान्तवाजिनं | ७ | १९ | b |
| **औ** | | | |
| औत्कण्ठ्या देवकीसुते | १० | १४ | b |
| औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य | ६ | १७ | c |
| औत्तरेयेण दत्तानि | १७ | ४० | c |
| **क** | | | |
| कक्षीवान् गौतमोऽत्रिश्च | ९ | ७ | c |
| कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये | ९ | ३४ | b |
| कचस्पर्शक्षतायुषः | ८ | ५ | d |
| कच्चित्तेऽनामयं तात | १४ | ३९ | a |
| कच्चित्त्वं नाऽगमोऽगम्यां | १४ | ४२ | a |
| कच्चित्त्वं ब्राह्मणं बालं | १४ | ४१ | a |
| कच्चित्श्रेष्ठतमेनाथ | १४ | ४४ | a |
| कच्चिदानर्तपुर्यां नः | १४ | २५ | a |
| कच्चि दास्ते सुखं रामः | १४ | २९ | c |
| कच्चिद्राजाऽऽहुको जीवति | १४ | २८ | a |
| कच्चिन्नाभिहतोऽभावैः | १४ | ४० | a |
| कच्चित्पुरे सुधर्मायां | १४ | ३४ | c |
| कच्चिद्भद्रेऽनामय मात्मनस्ते | १६ | १९ | a |
| कञ्चित्काल मथाऽवात्सीत् | १३ | १४ | a |
| कण्टकं कण्टकेनेव | १५ | ३४ | c |
| कथञ्चेद मुदस्राक्षीः | ६ | ३ | c |
| कथनीयोरु कर्मणः | १८ | १० | b |
| कथन्त्वनाथाः कृपणाः | १३ | ४४ | c |
| कथ मन्यांस्तु गोपायेत् | १३ | ४५ | c |
| कथ मालक्षितः पौरैः | ४ | ६ | a |
| कथं पश्येम हि स्त्रियः | ८ | २० | d |
| कथं प्रवृत्तः किमकारषीत्ततः | १० | १ | d |
| कथं वा पण्डवेयस्य | ४ | ७ | a |
| कथं स वीरः श्रिय मङ्ग!दुस्त्यजां | ४ | ११ | c |
| कथायां सक्षणां हरेः | १ | २१ | d |
| कथां भागवतीं पुण्यां | ४ | २ | c |
| कपिध्वजो गुरुपुत्रं रथेन | ७ | १७ | d |
| कपोलवदनश्रियः | ११ | १९ | d |
| कम्पते भूः सहाद्रिभिः | १४ | १५ | b |
| कया वृत्त्या वर्तितं वः | १३ | ९ | a |
| करणो मीलितेक्षणः | १८ | ३१ | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| करस्पर्शस्मितेक्षणैः | ११ | २२ | b |
| करिष्य त्रिति केचन | ८ | ३५ | d |
| करोरुबाह्वंसकपोलगात्रं | १९ | २६ | b |
| कर्णधार इवापारे | १३ | ३९ | a |
| कर्णधार इवार्णवम् | १ | २२ | d |
| कर्मग्रन्थिनिबन्धनं | २ | १५ | b |
| कर्मण्यस्मिन्नरनाश्वासे | १८ | १२ | a |
| कर्म ब्रह्मणि भावितं | ५ | ३२ | d |
| कर्मभि र्गृहमेधीयैः | ८ | ५१ | c |
| कर्मश्रेयसि मूढानां | ४ | २५ | c |
| कर्माणि च गृणीहि नः | ४ | ९ | d |
| कर्माणि च महात्मनः | १२ | २ | b |
| कर्माणि निर्वाणविलम्बितानि | १६ | २३ | d |
| कलयेऽधर्महेतवे | १७ | २८ | d |
| कलावस्मिन् युगे जनाः | १ | १० | b |
| कला स्सर्वे हरे रेव | ३ | २७ | c |
| कलिनाऽधर्ममित्रेण | १५ | ४५ | c |
| कलिना धीरभीरुणा | १८ | ८ | b |
| कलिमागत माज्ञाय | १ | २१ | a |
| कलिं दिग्विजये क्वचित् | १६ | ४ | b |
| कलिं दिग्विजये नृपः | १६ | ५ | b |
| कलिं प्रविष्टं निजचक्रवर्तिते | १६ | १० | b |
| कलिं सत्त्वहरं पुंसां | १ | २२ | c |
| कलेवरं यावदसौ विहाय | १९ | २१ | b |
| कलेवरं यावदिदं हिनोम्यहं | ९ | २४ | b |
| कलेवरं हास्यति स्वं | १३ | ५६ | c |
| कलौ नष्टदृशा मेषः | ३ | ४५ | c |
| कल्पते शासनं वचः | ८ | ५० | d |
| कल्पन्ते कल्पिताः परे | ५ | ३४ | d |
| कल्पन्ते येऽनु तानिह | २ | २५ | d |
| कल्पान्त इद मादाय | ६ | ३० | a |
| कल्पितो लोकविस्तरः | ३ | ३ | b |
| कश्यपाङ्गिरसादयः | ९ | ८ | d |
| कषायधिषणोऽर्जुनः | १५ | २९ | d |
| कस्तां न सेवेत मरिष्यमाणः | १९ | ६ | d |
| कस्त्वं कृष्णे गते दूरं | १७ | ६ | a |
| कस्त्वं मच्छरणे लोके | १७ | ५ | a |
| कस्मिन्युगे प्रवृत्तेयं | ४ | ३ | a |
| कस्य वा बृहती मेतां | ७ | ९ | c |
| कस्य हेतो र्निजप्राह | १६ | ५ | a |
| कंसेन रुद्धातिचिरं शुचार्पिता | ८ | २३ | b |
| काम मन्वृतु तस्य वै | १० | ५ | d |
| कामलोभहतो मुहुः | ६ | ३६ | b |
| कामलोभादयश्च ये | २ | १९ | b |
| कामस्य नेन्द्रिय प्रीतिः | २ | १० | a |
| कामं दहतु मां नाथ | ८ | १० | c |
| कामं ववर्ष पर्जन्यः | १० | ४ | a |
| कामानमोघान् स्थिरजङ्गमानां | १७ | ३४ | c |
| कामा स्तपः समचरन्भगवत्प्रपन्नाः | १६ | ३२ | b |
| कामो लाभाय हि स्मृतः | २ | ९ | d |
| कार्तस्वरपरिच्छदं | १७ | ४ | b |
| कालकर्मगुणाधीनः | १३ | ४५ | a |
| काल कर्मतमो रुद्धं | १५ | ३० | c |
| कालरूपोऽवतीर्णोऽस्यां | १३ | ४८ | c |
| कालस्य च गतिं रौद्रां | १४ | ३ | a |
| कालं प्रतीक्षन् विमदो विमत्सरः | ६ | २७ | d |
| काल परमदुस्तरः | १३ | १७ | d |
| कालः प्रादु रभूत्काले | ६ | २८ | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| काले त्वनुगते नृणाम् | १४ | ५ | b |
| कालेन वाते बलिनां बलीयसा | १६ | २४ | c |
| कालेन सर्वत्र गभीररंहसा | ५ | १८ | d |
| कालेनाव्यक्तरंहसा | ४ | १६ | b |
| काले प्राप्ते कलेवरं | ६ | ३ | d |
| कालोऽयं किं विधास्यति | १४ | १८ | d |
| का वा सहेत विरहं पुरुषोत्तमस्य | १६ | ३५ | a |
| काष्ठाभिरिव सोऽन्वहं | १२ | ३१ | d |
| किमघं दर्शयन्ति नः | १४ | २० | f |
| किमन्यै रसदालापैः | १६ | ६ | c |
| किमिदं स्वित् कुतो वेति | ७ | २६ | a |
| किमुतान्यै र्धनादिभिः | १३ | २० | d |
| किम्पुरुषादीनि वर्षाणि | १६ | १२ | c |
| किं क्षत्तबन्धून् कलिनोपसृष्टान् | १६ | २२ | a |
| किन्ते कामाः सुरस्पार्हाः | १२ | ६ | a |
| किं नु बालेषु शूरेण | १८ | ८ | a |
| किं नु स्या त्क्षत्तबन्धुभिः | १८ | ३१ | d |
| किं पुनर्दर्शनस्पर्श | १९ | ३३ | c |
| किं वा तात चिरोषितः | १४ | ३९ | d |
| किं वा भागवता धर्माः | ४ | ३१ | a |
| कीकटेषु भविष्यति | ३ | २४ | d |
| कीर्तिं रायु र्भगो गतिः | १७ | १० | d |
| कीर्तिं मनोऽनहङ्कृतिः | १६ | २८ | d |
| कीर्त्यमानं यशो यस्य | १० | ११ | c |
| कुकुरान्धकवृष्णिभिः | ११ | ११ | b |
| कुत श्चित्कर्हिचि त्प्रभो | १३ | १९ | b |
| कुत स्सञ्चोदितः कृष्णः | ४ | ३ | c |
| कुतः पुन र्गृणतो नाम तस्य | १८ | १९ | a |
| कुतः पुन श्शश्वद्भद्र भीश्वरे | ५ | १२ | c |
| कुबेर इव गुह्यकैः | ९ | ३ | d |
| कुमति महर दात्मविद्ययायः | ९ | ३६ | c |
| कुमारहोद्विग्रमना रथेन | ७ | १८ | b |
| कुरुजाङ्गल पाञ्चालान् | १० | ३४ | a |
| कुरुनार्यो दिदृक्षया | १० | १६ | b |
| कुरु प्रतिश्रुतं सत्यं | ७ | ५४ | a |
| कुरून्मधून्वाथ सुहृद्दिदृक्षया | ११ | ९ | b |
| कुर्वन्ति सर्वात्मक मात्म भावं | ३ | ३९ | c |
| कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिं | ७ | १० | c |
| कुर्वन्त्यात्म प्रसादनीं | २ | २२ | d |
| कुर्वाणा यत्र कर्माणि | ५ | ३६ | a |
| कुश कीचक गह्वरं | ६ | १३ | d |
| कुशलान्याशु सिध्यन्ति | १८ | ७ | c |
| कुशल्यानकदुन्दुभिः | १४ | २६ | d |
| कुशस्थली पुण्ययशस्करी भुवः | १० | २७ | b |
| कृच्छ्रेण संस्तभ्य शुचः | १५ | ३ | a |
| कृतकैतुकतोरणां | ११ | १३ | b |
| कृतप्रणाम स्वचिकीर्षितं यत् | १९ | १२ | b |
| कृत मनुकृतवत्य उन्मदान्धाः | ९ | ४० | c |
| कृतवान् किल वीर्याणि | १ | २० | a |
| कृतवान् कुलपांसनः | ७ | ३९ | d |
| कृतवा न्न यदक्षमं | १४ | ४३ | d |
| कृतवान् भारतं यस्त्वं | ५ | ३ | c |
| कृतवा न्संहितां मुनिः | ४ | ३ | d |
| कृतावतारस्य हरे र्धरित्रि | १६ | २३ | b |
| कृतासन परिग्रहं | १३ | ६ | d |
| कृत्वागादध्वरं बलेः | ३ | १९ | b |
| कृत्वानुक्रम्य चात्मजं | ७ | ८ | b |
| कृपणस्य जिजीविषोः | १३ | २४ | b |
| कृपणां कालचोदितः | ६ | ९ | d |
| कृपयातिथिरूपेण | १९ | ३२ | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| कृपया दीनवत्सलः | १७ | ३० | b |
| कृपया दीनवत्सलाः | ५ | ३० | d |
| कृपया मुनिना कृतं | ४ | २५ | f |
| कृपया स्नेह वैक्लव्यात् | १३ | ३४ | a |
| कृष्ण एवं भगवति | ९ | ४३ | a |
| कृष्ण कृष्ण महाभाग | ७ | २२ | a |
| कृष्ण पाद सरोरुहं | १५ | २८ | b |
| कृष्णपादाब्जसेवया | १२ | ४ | d |
| कृष्ण माहात्म्य सूचकं | १६ | १३ | d |
| कृष्णया सह बन्धुभिः | १२ | ३६ | b |
| कृष्णविश्लेषकर्शितः | १५ | १ | d |
| कृष्णस्तु भगवा न्स्वयं | ३ | २८ | b |
| कृष्णस्य च विचेष्टितं | १४ | १ | d |
| कृष्णस्य च विचेष्टितं | १४ | ६ | d |
| कृष्णस्य नारदोऽभ्यागात् | ४ | ३२ | c |
| कृष्णस्याद्भुतकर्मणः | १८ | १ | d |
| कृष्णस्यानुस्मरन्ति च | ५ | ३६ | d |
| कृष्णश्च त त्प्रभावज्ञः | ९ | १० | a |
| कृष्णं तदुद्धनामभिः | ९ | ४७ | b |
| कृष्णः पाण्डुसुतप्रियः | १९ | ३५ | b |
| कृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री | १९ | ६ | b |
| कृष्णाङ्घ्रिसेवा मधि मन्यमानः | १९ | ५ | c |
| कृष्णाय वासुदेवाय | ८ | २१ | a |
| कृष्णावेशेन तच्चित्तः | १५ | ४९ | c |
| कृष्णासुतानां स्वपतां शिरांसि | ७ | १४ | b |
| कृष्णे गते भगवति | १८ | ३५ | a |
| कृष्णेनाद्भुतकर्मणा | ८ | ४६ | b |
| कृष्णे परमपूरुषे | ७ | ७ | b |
| कृष्णे लसत्पीतपटे चतुर्भुजे | ९ | ३० | c |
| कृष्णे स्वधामोप गते | ३ | ४५ | a |
| कृष्णो दर्शन मागतः | ९ | २२ | d |
| कृष्णोऽस्त्री गाण्डिवं चापं | ९ | १५ | c |
| केचि दाहु रजं जातं | ८ | ३२ | a |
| केचि द्विकल्प वसनाः | १७ | १९ | a |
| केन वा तेऽपकृतं | १८ | ४० | c |
| के वयं नामरूपाभ्यां | ८ | ३८ | a |
| कैवल्यपतये नमः | ८ | २७ | d |
| कैवल्ये स्थित आत्मनि | ७ | २३ | d |
| को न कुर्यात्कथारतिम् | २ | १५ | d |
| को नाम तृप्येत् रसवित्कथायां | १८ | १४ | a |
| को नाम लोके भगवत्पदार्थः | १८ | २१ | d |
| को वा भगवतस्तस्य | १ | १६ | a |
| को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः | ५ | १७ | d |
| कोऽवृश्चत्तव पादां स्त्रीन् | १७ | १२ | a |
| कौमारं सर्ग मास्थितः | ३ | ६ | b |
| कौरवान् विरहातुरान् | १० | ३३ | b |
| कौरवेन्द्रपुरस्त्रीणां | १० | २० | c |
| कौरवेन्द्रश्रियोल्लसन् | १७ | ४४ | b |
| कौशिकोऽथ सुदर्शनः | ९ | ७ | d |
| कौशिक्याप उपस्पृश्य | १८ | ३६ | c |
| क्रीडन्ति परमानन्दं | १४ | ३६ | c |
| क्रोधलोभानृतात्मनां | १४ | ३ | d |
| क्व गता च तपस्विनी | १३ | ३८ | d |
| क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे | ९ | ३८ | b |
| क्षतजाक्षं गदापाणिं | १२ | ९ | c |
| क्षत्ता कौषारवाग्रतः | १३ | २ | b |
| क्षामां यवस मिच्छतीं | १७ | ३ | d |
| क्षीयन्ते चास्य कर्माणि | २ | २१ | c |
| क्षुत्तृट् श्रमयुतो दीनो | १८ | ४६ | e |
| क्षुत्तृष्ण्या मर्दितात्मनः | १८ | २९ | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| क्षुदायुषां नृणा मह्न | १६ | ७ | a |
| क्षुधित स्तृषितो भृशम् | १८ | २४ | d |
| क्षुधितस्य यथेतरे | १२ | ६ | d |
| क्षेत्रज्ञे प्रविलाप्य तं | १३ | ५४ | b |
| क्षेत्रे मदीये त्व मधर्मबन्धुः | १७ | ३१ | d |
| क्षेत्रेऽस्मि न्वैष्णवे वयं | १ | २१ | b |
| क्षेमाय च भवाय च | १ | १३ | d |
| क्षेमाय च भवाय च | १४ | ३५ | b |
| **ख** | | | |
| खलानां मयि शास्तरि | १७ | ९ | d |
| खा त्पेतुः पुष्पवृष्टयः | ९ | ४५ | d |
| खेट खवट वाटीश्च | ६ | ११ | c |
| **ग** | | | |
| गङ्गा च देवी धृतचित्तमीशे | १९ | १५ | b |
| गङ्गायां दुःखितोऽपतत् | १३ | ३२ | f |
| गङ्गायां भूरि दक्षिणान् | १६ | ३ | b |
| गङ्गायां स्वं कलेवरं | १८ | ३ | d |
| गङ्गेवौघ मुदन्वति | ८ | ४२ | d |
| गजाह्वये महाभागः | १७ | ४४ | c |
| गतपूर्वां महात्मभिः | १५ | ४४ | d |
| गतस्वार्थ मिमं देहं | १३ | २५ | a |
| गतासु मुरगं रुषा | १८ | ३० | b |
| गता स्सप्ताधुना मासाः | १४ | ७ | a |
| गदापाणि र्वृकोदरः | ९ | १५ | b |
| गदितुं यदि मन्यसे | १२ | ३ | b |
| गन्ता तीर्थनिषेवकः | १३ | ५८ | d |
| गन्ता मज्जनता मसि | ६ | २४ | d |
| गन्तुं कृतमति र्ब्रह्मन् | ८ | ८ | a |
| गम्भीरस्लक्ष्णया गिरा | ६ | २१ | c |
| गम्भीररयोऽनिरुद्धः | १४ | ३० | c |
| गम्यां वासत्कृतां स्त्रियम् | १४ | ४२ | b |
| गरो दाराश्च दूषिताः | १३ | २३ | b |
| गर्भे दृष्ट मनुष्यायन् | १२ | ३० | c |
| गले सर्पकलेवरं | १८ | ३८ | b |
| गविष्ठो गां गत स्तदा | १० | ३६ | d |
| गाश्च धर्मदुघां दीनां | १७ | ३ | a |
| गाण्डीवमुक्तै र्विशिखै रुपाहरे | ७ | १६ | c |
| गाण्डीवलक्षण मरति वधाय देवाः | १५ | १३ | b |
| गान्धारीञ्च तपस्विनीं | ९ | ४८ | d |
| गान्धारी द्रौपदी ब्रह्मन् | १३ | ४ | a |
| गान्धारी धृतराष्ट्रश्च | १० | ९ | c |
| गान्धारीं पुत्रशोकार्ताँ | ८ | ३ | c |
| गान्धार्या च स्वभार्यया | १३ | ५० | b |
| गान्धार्या व महाबाहो | १३ | ३६ | c |
| गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं | १६ | २८ | c |
| गायन्तिवोत्तमश्लोक | ११ | २० | c |
| गायन्माद्य त्रिदं तन्त्र्या | ६ | ३९ | c |
| गायमानश्चराम्यहं | ६ | ३३ | d |
| गावल्गणे क्व न स्तातः | १३ | ३१ | c |
| गां पर्यटन् तुष्टमना गतस्पृहः | ६ | २७ | c |
| गां वृद्धं रोगिणं स्त्रियम् | १४ | ४१ | b |
| गीतं भगवता ज्ञानं | १५ | ३० | a |
| गुणकर्मत्रियाः पुम्भिः | १८ | १० | c |
| गुण मय्यागुणो विभुः | २ | ३० | d |
| गुणेषु गुणवा निव | २ | ३१ | b |
| गुणै रसाम्या नतिशायनस्य | १८ | २० | b |
| गुरवो गुह्यम प्युत | १ | ८ | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| गुह्यानि भद्राणि कृतानि च स्मरन् | ६ | २७ | b |
| गूढश्चरति वृष्णिषु | ९ | १८ | d |
| गूढः कपटमानुषः | १ | २० | d |
| गूढो मूढ इवेयते | ४ | ४ | d |
| गृणन्ति गुणनामानि | ५ | ३६ | c |
| गृहं प्रविष्टो गुरुवन्दनाय | १३ | ३० | c |
| गृहीतज्ञानुशासनं | ४ | २८ | d |
| गृहेषु गृहमेधिनां | ४ | ८ | b |
| गोपीथाय मधुद्विषः | १० | ३२ | b |
| गोपुरद्वार मार्गेषु | ११ | १३ | a |
| गोपै रसद्भि रबलेव विनिर्जितोऽस्मि | १५ | २० | d |
| गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावत् | ८ | ३१ | a |
| गोविन्द गोद्विजसुरार्तिहरावतार | ८ | ४३ | c |
| गोविन्दप्रियसारथिः | ७ | ४१ | b |
| गोविन्दाभिहितानि मे | १५ | २७ | d |
| गोविन्दाय नमो नमः | ८ | २१ | d |
| गौतमी पति देवता | ७ | ४७ | b |
| ग्रहमर्दं मिथो दिवि | १४ | १७ | b |
| ग्रहर्क्षतारा निकरैः परीतः | १९ | ३० | d |
| **घ** | | | |
| घटाम्बर मिवाम्बरे | १३ | ५४ | d |
| घनो यथार्कोडुपचाप वैद्युतैः | ११ | २७ | d |
| घातयित्वा सतो राज्ञः | ८ | ५ | c |
| घोरं प्रतिभयाकरं | ६ | १४ | c |
| घ्नन्तं गोमिथुनं पदा | १६ | ४ | d |
| **च** | | | |
| चकार भगवा नृषिः | ३ | ४० | d |
| चकार राज्यं धर्मेण | ९ | ४९ | c |
| चक्रवर्ती बृहच्छ्रवाः | १७ | ४४ | d |
| चक्रुः कृपां यद्यपि तुल्यदर्शनाः | ५ | २४ | c |
| चक्रुर्निर्हरणादिकं | ७ | ५८ | d |
| चक्रे वीर्या ण्यतःपरं | ३ | २२ | d |
| चक्रे वेदतरो श्शाखाः | ३ | २१ | c |
| चक्रे सात्वतसंहितां | ७ | ६ | d |
| चक्रे स्नेहानुबन्धनं | ६ | ६ | d |
| चचार दुश्चरं ब्रह्म | ३ | ६ | c |
| चतुःपञ्चावशेषिताः | १५ | २३ | d |
| चतुर्दशं नारसिंहं | ३ | १८ | a |
| चतुर्भिर्वर्तसे येन | १६ | २५ | c |
| चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु | ९ | ३६ | d |
| चरद्भिः क्षितिमण्डलं | १३ | ९ | b |
| चरितान्यद्भुतानि च | ११ | २० | d |
| चलाऽपि यच्छ्री र्नजहाति कर्हिचित् | ११ | ३३ | d |
| चाक्षुषोदधिसम्प्लवे | ३ | १५ | b |
| चातुर्होत्रं कर्म शुद्धं | ४ | १९ | a |
| चार्वायताक्षोन्नसतुल्यकर्ण- | १९ | २६ | c |
| चित्रधातुविचित्राद्रीन् | ६ | १२ | a |
| चित्रध्वजपताकाग्रैः | ११ | १३ | c |
| चित्रस्वनैःपत्ररथैः | ६ | १३ | a |
| चिन्तयन् सुहृदां वधं | ८ | ४७ | b |
| चीरवासा निराहारः | १५ | ४३ | a |
| चेत एतै रनाविद्धं | २ | १९ | c |
| चेतसो वचसश्चाऽपि | १७ | २३ | c |
| चोदितो मे ततद्रुहं | १८ | ३७ | d |
| **छ** | | | |
| छन्दांसि गुरवोऽग्रयः | ४ | २८ | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| छित्त्वा स्वेषु स्नेहपाशान्द्रढिम्नः | १३ | २८ | c |
| छिद्यन्ते सर्वसंशयाः | २ | २१ | b |
| छिन्दन्ति कोविदा स्तस्य | २ | १५ | c |
| **ज** | | | |
| जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित् | ५ | १० | b |
| जगद्भय भयावहं | ११ | ३ | b |
| जगद्भिरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः | १८ | २१ | b |
| जगृहे पौरुषं रूपं | ३ | १ | a |
| जज्ञे वंशधरः पाण्डोः | १२ | १२ | c |
| जडोन्मत्तपिशाचवत् | १५ | ४३ | d |
| जनमेजयादींश्चतुरः | १६ | २ | c |
| जनयत्याशु वैराग्यं | २ | ७ | c |
| जनस्सद्यो वियुज्येत | १३ | २० | c |
| जनिता विष्णुयशसः | ३ | २५ | c |
| जनेऽनागस्यघं युञ्जन् | १७ | १४ | a |
| जन्तूनां राज्ञि कर्हिचित् | १० | ६ | d |
| जन्मकर्म च विश्वात्मन् | ८ | ३० | a |
| जन्मकर्म रहस्यं मे | ६ | ३७ | c |
| जन्म कर्म विलापनं | ७ | १२ | b |
| जन्म गुह्यं भगवतः | ३ | २९ | a |
| जन्माद्यस्य यतोऽन्वया दितरत श्चार्थे ष्वभिज्ञः स्वराट् | १ | १ | a |
| जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिः | ८ | २६ | a |
| जम्बूद्वीपाधिपत्यञ्च | १२ | ५ | c |
| जयन्तगद सारणाः | १४ | २८ | d |
| जरया वाससी इव | १३ | २४ | d |
| जलाशय मचक्षाणः | १८ | २५ | a |
| जलाशया ञ्छिवजलान् | ६ | १२ | c |
| जलौकसां जले यद्वत् | १५ | २५ | a |
| जहौ तच्च कलेवरं | १५ | ३५ | d |
| जहौ स्वतन्वा श्रवणीयसत्कथः | १५ | ३६ | b |
| जह्यस्वतेज उन्नद्धं | ७ | २८ | c |
| जातकं कारयामास | १२ | १३ | c |
| जातनिर्वेद आत्मवान् | १३ | २६ | b |
| जातरूपमदात्प्रभुः | १८ | ३९ | b |
| जातः पराशरा द्योगी | ४ | १४ | c |
| जाता मयि दृढा मतिः | ६ | २४ | b |
| जातैकभक्ति र्गोविन्दे | १३ | २ | c |
| जातो यस्य चिकीर्षया | १ | १२ | d |
| जातो ह्यात्मभुवार्थितः | ८ | ३४ | d |
| जायते येन सुव्रत | ५ | ३३ | b |
| जिज्ञासित मधीतञ्च | ५ | ४ | a |
| जिज्ञासितं सुसम्पन्नं | ५ | ३ | a |
| जिज्ञासितात्म याथात्म्यः | १२ | २८ | a |
| जितासनो जितश्वासः | १३ | ५३ | a |
| जितेन्द्रिया निर्जितमातरिश्वनः | १० | २३ | b |
| जिष्णु र्बन्धुदिदृक्षया | १४ | ६ | b |
| जिष्णौ बन्धुदिदृक्षया | १४ | १ | b |
| जिहाससि स्वित्सुहृदोऽनुजीविनः | ८ | ३७ | b |
| जिह्माप्रायं व्यवहृतं | १४ | ४ | a |
| जीवन्ति तत्रैष हि सत्त्वतः किल | १० | २५ | b |
| जीवन्ति नात्मार्थमसौ परश्रयं | ४ | १२ | c |
| जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा | २ | १० | c |
| जीविताशा यया भवान् | १३ | २२ | b |
| जीवितुं नार्हथ क्लिष्टं | ९ | १२ | c |
| जीवो जीवस्य जीवनं | १३ | ४६ | d |
| जुगुप्सितं कर्म किञ्चित् | १४ | ४३ | c |
| जुगुप्सितं कर्म विगर्हयन्ति | ७ | १४ | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः | ५ | १५ | a |
| जुषतां तत्कथाऽमृतं | १८ | ४ | b |
| ज्ञातयः ससुताः स्त्रियः | १३ | ४ | d |
| ज्ञातिद्रोहजिहासया | १२ | ३२ | b |
| ज्ञातुञ्च पुण्यश्लोकस्य | १४ | १ | c |
| ज्ञातुञ्च पुण्यश्लोकस्य | १४ | ६ | c |
| ज्ञात्वागाद्धास्तिन पुरं | १३ | १ | c |
| ज्ञात्वा त्यन्तिक मात्मनः | १५ | ४६ | b |
| ज्ञानवैराग्ययुक्तया | २ | १२ | b |
| ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत् | ५ | ३० | a |
| ज्ञानञ्च यदहैतुकं | २ | ७ | d |
| ज्ञानं यत्तदधीनं हि | ५ | ३५ | c |
| ज्ञानं विरक्ति रैश्वर्यं | १६ | २७ | a |
| ज्ञानेन वैयासकिशब्दितेन | १८ | १६ | c |
| ज्येष्ठा च माया कलहश्च दम्भः | १७ | ३२ | d |
| ज्वलिते इव रोदसी | १४ | १७ | d |
| **त** | | | |
| त एकदा तु मुनयः | १ | ५ | a |
| त एत ऋषयो वेदं | ४ | २३ | a |
| त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं | ८ | ३६ | c |
| त एव वेदा दुर्मेधैः | ४ | २४ | a |
| त एव ह्यच्युतप्रियाः | ४ | ३१ | d |
| त एवाऽऽत्मविनाशाय | ५ | ३४ | c |
| तक्षक स्सप्तमेऽहनि | १८ | ३७ | b |
| तक्षकात्प्राणविप्लवात् | १८ | २ | b |
| तक्षकादात्मनो मृत्युं | १२ | २७ | a |
| तच्च भस्मीभविष्यति | १३ | ५६ | d |
| तच्चैकत्वेऽजुहोन्मुनिः | १५ | ४२ | b |
| तच्छ्रद्दधाना मुनयः | २ | १२ | a |
| तडित्सौदामनी यथा | ६ | २८ | d |
| तडिद्वासस मच्युतं | १२ | ८ | d |
| तत आसाद्य तरसा | ७ | ३३ | a |
| तत एत दकारषं | ६ | ५ | d |
| ततश्च वः पृच्छ्य मिमं विपृच्छे | १९ | २४ | a |
| तत स्ते कृष्णहृदयाः | ९ | ४७ | c |
| तत स्सद्यो विमुच्येत | १ | १४ | c |
| तत स्सप्तदशे जातः | ३ | २१ | a |
| तत स्सप्तम आकूत्यां | ३ | १२ | a |
| तत स्सर्वगुणोदर्के | १२ | १२ | a |
| ततः कलौ सम्प्रवृत्ते | ३ | २४ | a |
| ततः किमकरोत् भवान् | ६ | २ | d |
| ततः किमकरो द्विभुः | ७ | १ | d |
| ततः परीक्षि द्द्विजवर्यशिक्षया | १६ | १ | a |
| ततः प्रादुष्कृतं तेजः | ७ | २१ | a |
| ततो जयमुदीरयेत् | २ | ४ | d |
| ततो निवृत्ता ह्यबुधाः स्त्रियोऽर्भकाः | १९ | २९ | c |
| ततोऽनृतं मदं कामं | १७ | ३९ | c |
| ततोऽन्यथा किञ्चन यद्विवक्षतः | ५ | १४ | a |
| ततो भवान् दर्शय चेष्टितं विभोः | ५ | १६ | d |
| ततोऽध्येत्याश्रमं बालो | १८ | ३८ | a |
| ततो युधिष्ठिरो गत्वा | ९ | ४८ | a |
| ततो राज्ञाभ्यनुज्ञातः | १२ | ३६ | a |
| ततोऽर्थकामाभिनिवेशितात्मनां | १८ | ४५ | c |
| ततो विनशनं प्रागात् | ९ | १ | c |
| तत्कथ्यतां महाभाग | १६ | ५ | e |
| तत्कुलं प्रदहत्याशु | ७ | ४८ | c |
| तत्कृत ञ्चाभिपद्यते | ७ | ५ | d |
| तत्कृतं मतिवैषम्यं | ९ | २१ | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तत्पादमूलं शिरसा | १७ | २९ | c |
| तत्प्राण इतरे च तं | १५ | ४१ | b |
| तत्र कीर्तयतो विप्राः | ३ | ४३ | c |
| तत्र गोमिथुनं राजा | १७ | १ | a |
| तत्र तत्र जगद्गुरो | ८ | २५ | b |
| तत्र तत्र द्विजेरिताः | १० | १९ | b |
| तत्र तत्र ह तत्रत्यैः | १० | ३६ | a |
| तत्र तत्राञ्जसाऽऽयुष्मन् | १ | ९ | a |
| तत्र तत्रोपशृण्वानः | १६ | १३ | a |
| तत्र दुन्दुभयो नेदुः | ९ | ४५ | a |
| तत्र ब्रह्मर्षय स्सर्वे | ९ | ५ | a |
| तत्र श्वेदधरः पैलः | ४ | २१ | a |
| तत्र सञ्जयमासीनं | १३ | ३१ | a |
| तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायतां | ५ | २६ | a |
| तत्राब्दकेटिप्रतिमः क्षणो भवेत् | ११ | ९ | c |
| तत्राऽभवद्भगवान् व्यासपुत्रो | १९ | २५ | a |
| तत्राऽऽसीनं कुरुपतिं | ८ | ३ | a |
| तत्राऽऽहामर्षितो भीमः | ७ | ५१ | a |
| तत्रैव मे विहरतो भुजदण्डयुग्मं | १५ | १३ | a |
| तत्रैवान्तर्दधे हरिः | १२ | ११ | d |
| तत्रोपजग्मु र्भुवनं पुनानाः | १९ | ८ | a |
| तत्रोपनीत बलयः | ११ | ४ | a |
| तत्त्वग्रामविनिर्णयं | ३ | १० | d |
| तत्त्वतस्तदनुग्रहात् | १ | ८ | b |
| तत्त्वं यज्ज्ञान मद्वयं | २ | ११ | b |
| तत्सर्वं न समाचक्ष्व | ४ | १३ | b |
| तथाऽऽत्माऽद्धा न शाम्यति | ६ | ३६ | d |
| तथा परमहंसानां | ८ | २० | a |
| तथाऽपि तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवं | ११ | ३३ | b |
| तथाऽपि नाऽऽत्मा परितुष्यते मे | ५ | ५ | b |
| तथाऽपि बत मे दैद्याः | ४ | ३० | a |
| तथाऽप्येकान्तभक्तेषु | ९ | २२ | a |
| तथाभूत मयाचत | १८ | २७ | d |
| तथाऽयञ्चावतार स्ते | ७ | २५ | a |
| तथा समं विष्णुगतिं विपश्चितः | १८ | २३ | a |
| तथाऽऽहृतं पशुवत्पाशबद्धं | ७ | ४२ | a |
| तथैवानुचरा श्शौरेः | १४ | ३२ | a |
| तथैवेशेच्छया नृणां | १३ | ४२ | d |
| तद्रत्यन्त विडम्बनं | ८ | ३० | d |
| तदद्य नः पाप मुपैत्यनन्वयं | १८ | ४४ | a |
| तदभिप्रेत मालक्ष्य | १२ | ३३ | a |
| तदसौ वध्यतां पापः | ७ | ३९ | a |
| तदस्तु कामं त्वघनिष्कृताय मे | १९ | २ | c |
| तदा तदह मीशस्य | ६ | १० | a |
| तदा ते भ्रातर स्सर्वे | ९ | २ | a |
| तदा नाऽऽया ततोऽर्जुनः | १४ | २ | b |
| तदा रजस्तमोभावाः | २ | १९ | a |
| तदाऽरुददृष्यकलाकुलाक्षी | ७ | १५ | c |
| तदाऽऽर्यधर्मश्च विलीयते नृणां | १८ | ४५ | a |
| तदा शुचस्ते प्रमृजामि भद्रे | ७ | १६ | a |
| तदाहरेवाप्रतिबुद्ध चेतसां | १५ | ३६ | c |
| तदा हि चौरप्रचुरो विनङ्क्ष्यति | १८ | ४३ | c |
| तदिदं ग्राहयामास | ३ | ४१ | c |
| तदिदं भगवान् राजन् | १३ | ४७ | a |
| तदिदं श्रोतु मिच्छामः | १२ | ३ | a |
| तदीक्षणमहोत्सवाः | ११ | २४ | d |
| तदीक्षयैवाऽऽशु गतायुधव्यथः | ९ | ३१ | b |
| तदेव ह्यामयं द्रव्यं | ५ | ३३ | c |
| तदैवेहानुवृत्तोऽसौ | १८ | ६ | c |
| तदोपसंहृत्य गिरःसहस्रणीः | ९ | ३० | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तद्गोत्रस्यात्त बान्धवः | १९ | ३५ | d |
| तद्दत्तै रसुभिः कियत् | १३ | २३ | d |
| तद्धर्म एवाऽऽत्मरुचिः प्रजायते | ५ | २५ | d |
| तद्धर्मज्ञ महाभाग | ७ | ४६ | a |
| तद्धि स्वयं वेद भवां स्तथाऽपि वै | ५ | २० | c |
| तद्ध्यानोद्रिक्तया भक्त्या | १५ | ४७ | a |
| तद्भक्ताः प्रभवोऽपि हि | १८ | ४८ | d |
| तद्भिन्नसेतू नद्याहं | १८ | ३५ | c |
| तद्यशः पावनं दिक्षु | ८ | ६ | c |
| तद्वधः तस्य हि श्रेयः | ७ | ३७ | c |
| तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो | ५ | ११ | a |
| तद्वायसं तीर्थ मुशन्ति मानसाः | ५ | १० | c |
| तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवस्ति | ४ | ५ | c |
| तद्वैधनुस्त इषव स्सरथो हयास्ते | १५ | २१ | a |
| तद्वै भगवतो रूपं | ३ | ३ | c |
| तन्नं सात्वत माचष्ट | ३ | ८ | c |
| तन्त्रां बद्धाः स्वदामभिः | १३ | ४१ | b |
| तन्त्रः परं पुण्य मसंवृतार्थम् | १८ | १७ | a |
| तन्न श्शंसितु मर्हसि | १ | ९ | d |
| तन्न श्शुश्रूषमाणानां | १ | १३ | a |
| तन्नो भवान् वै भगवत्प्रधान· | १८ | १५ | a |
| तन्मूल मव्यक्त मगाधबोधं | ५ | ५ | c |
| तन्मे धर्मभृतां श्रेष्ठ | १७ | ३७ | a |
| तप श्शौचं दया मिति | १७ | ४२ | b |
| तप श्शौचं दया सत्यं | १७ | २४ | a |
| तप्तकाञ्चनकुण्डलं | १२ | ९ | b |
| तमग्नि मनुवेक्ष्यति | १३ | ५७ | d |
| तमनुद्रुतचेतसः | १० | १३ | b |
| तमभिज्ञाय सहसा | ४ | ३३ | a |
| तमयं मन्यते लोको | ११ | ३७ | a |
| तमस स्तु रज स्तस्मात् | २ | २४ | c |
| तमात्मजै र्दीप्तिभि रन्तरात्मना | ११ | ३२ | a |
| तमापतन्तं स विलक्ष्य दूरात् | ७ | १८ | a |
| तमिम महमजं शरीभाजां | ९ | ४२ | a |
| तमुद्यतासि माहेदं | १७ | ३५ | c |
| तमुपश्रुत्य निनदं | ११ | ३ | a |
| तमूचु र्ब्राह्मणा स्तुष्टाः | १२ | १५ | a |
| तयावाप्तविविलितः | १३ | १ | d |
| तया विलसिते ष्वेषु | २ | ३१ | a |
| तयो रेवं कथयतोः | १६ | ३६ | a |
| तर्ह्येवाऽथ मुनिश्रेष्ठ | ८ | १२ | a |
| तल्लक्षणज्ञा अपि गूढवर्चसं | १९ | २८ | d |
| तल्लभ्यते दुःखव दन्यत स्सुखं | ५ | १८ | c |
| तवेहमानस्य नृणां विडम्बनं | ८ | २९ | b |
| तस्मा ज्जह्याङ्ग वैक्लव्यं | १३ | ४४ | a |
| तस्मा दग्नि स्त्रयीमयः | २ | २४ | b |
| तस्मा दिदं दैवतन्नं | ९ | १७ | a |
| तस्मा देकेन मनसा | २ | १४ | a |
| तस्मा न्नाम्ना विष्णुरातः | १२ | १७ | a |
| तस्मि न्नारायणपदे | १५ | ४७ | c |
| तस्मिन्निर्मनुजेऽरण्ये | ६ | १६ | a |
| तस्मिन्न्यस्ताधियः पार्थाः | १० | १२ | a |
| तस्मिन् स्व आश्रमे व्यासः | ७ | ३ | a |
| तस्मिं स्तदा लब्धरुचे र्महामुने | ५ | २७ | a |
| तस्मै सपर्यां शिरसाऽऽजहार | १९ | २९ | b |
| तस्य कर्मा ण्युदाराणि | १ | १७ | a |
| तस्य जन्म महाबुद्धेः | १२ | २ | a |
| तस्य जन्म महाश्चर्यं | ४ | ९ | c |
| तस्य निर्हरणादीनि | ९ | ४६ | a |
| तस्य पुत्रोऽतितेजस्वी | १८ | ३२ | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तस्य पुत्तो महायोगी | ४ | ४ | a |
| तस्य प्रीतमना राजा | १२ | १३ | a |
| तस्य मत्तस्य नश्यन्ति | १७ | १० | c |
| तस्य श्रेयान् वधः स्मृतः | ७ | ५१ | b |
| तस्याऽऽत्मनोऽर्धं पत्न्या स्ते | ७ | ४५ | c |
| तस्या नुविहितोऽनाथा | ९ | १७ | c |
| तस्यान्तरायो मैवाभूः | १३ | ५५ | e |
| तस्यापि तव देहोऽयं | १३ | २४ | a |
| तस्या मुत्पादय त्सुतान् | १६ | २ | d |
| तस्या हमब्ज कुलिशाङ्कुशकेतुकेतैः | १६ | ३३ | a |
| तस्यैव भेऽघस्य परावरेशः | १९ | १४ | a |
| तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदः | ५ | १८ | a |
| तस्यैव खिल मात्मानं | ४ | ३२ | a |
| तस्यैवं भेऽनुरक्तस्य | ५ | २९ | a |
| तस्यैवं वर्तमानस्य | १६ | १७ | a |
| तं जिघांसु मभिप्रेत्य | १७ | २९ | a |
| तं जिघृक्षत्यधर्मोयं | १७ | २५ | c |
| तं द्व्यष्टवर्षं सुकुमारपाद- | १९ | २६ | a |
| तं पञ्चत्वे ह्यजोहवीत् | १५ | ४१ | d |
| तं पादयो र्निपतितं | १४ | २३ | a |
| तं बन्धु मागतं दृष्ट्वा | १३ | ३ | a |
| तंभुक्तवन्तं विश्रान्तं | १३ | ७ | a |
| तं मेनिरेऽबला मूढाः | ११ | ३९ | a |
| तं मोपयातं प्रतियन्तु विप्राः | १९ | १५ | a |
| तं व्याससूनु मुपयामि गुरुं मुनीनां | २ | ३ | d |
| तं सर्वभूत हृदयं मुनि मानतोऽस्मि | २ | २ | d |
| तान्समेतान्महाभागान् | ९ | ९ | a |
| तापत्रयचिकित्सितं | ५ | ३२ | b |
| ताव त्कलिर्न प्रभवेत् | १८ | ५ | a |
| ताव द्यूय मवेक्षध्वं | १३ | ४९ | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तां तनुं विजहा वजः | १५ | ३४ | b |
| तां बाढ मित्युपामन्त्र्य | ८ | ४५ | a |
| तां सान्वय भ्राऽऽह किरीटमाली | ७ | १५ | d |
| ताः पुत्र मङ्क मारोप्य | ११ | २९ | a |
| ताः श्रद्धया भेऽनुपदं विशृण्वतः | ५ | ३६ | c |
| तितिक्षु र्वसुधवाऽसौ | १२ | २२ | c |
| तितिक्षोपरतिः श्रुतं | १६ | २६ | d |
| तिरस्कृता विप्रलब्धाः | १८ | ४८ | a |
| तिर्यङ्ऋषिषु यादस्सु | ८ | ३० | c |
| तीर्थपादः प्रियश्रवाः | ६ | ३४ | b |
| तीर्थभूताः स्वयं विभो | १३ | १० | b |
| तीर्थानि क्षेत्रमुख्यानि | १३ | ९ | c |
| तीर्थीकुर्व स्तदाश्रमं | ४ | ८ | d |
| तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि | १३ | १० | c |
| तुर्ये धर्मकलासर्गे | ३ | ९ | a |
| तुलयाम लवेनापि | १८ | १३ | a |
| तुल्यश्चार्जुनयो र्द्वयोः | १२ | २१ | b |
| तुष्टाव जन्यं विसृजञ्जनार्दनं | ९ | ३१ | d |
| तुष्टुवुं र्मुनयो हृष्टाः | ९ | ४७ | a |
| तृट्परीतो बुभुक्षितः | ६ | १५ | b |
| तृतीय मृषिसर्गञ्च | ३ | ८ | a |
| तृतीये युगपर्यये | १४ | १४ | b |
| तृप्ता ममस्त सलिले विनिमग्नसङ्घः | १५ | ११ | d |
| तेजसा मणिना हीनं | ७ | ५६ | c |
| तेजसी शरसंवृते | ७ | ३० | b |
| तेजः परमदारुणं | ७ | २६ | d |
| तेजः पदं मणिमयं च हृतं शिरोभ्यः | १५ | १४ | d |
| तेजो वारि मृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा | १ | १ | c |
| तेजो हृतं खलु मयाभिहतश्च मत्स्यः | १५ | ७ | c |
| तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः | १ | १ | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तेन सम्भृत सम्भारः | १२ | ३४ | a |
| तेनाऽयं स उशत्तमः | ३ | १४ | d |
| तेनाऽहमद्य मुषितः पुरुषेण भूम्ना | १५ | १३ | d |
| तेनाऽहं गुणपात्रेण | १६ | ३० | a |
| तेनाऽऽहृताः प्रमथनाथमखाय भूपाः | १५ | ९ | c |
| ते निनीयोदकं सर्वे | ८ | २ | a |
| तेभ्यश्चोपरराम ह | १३ | २ | d |
| तेभ्यः परम सन्तुष्टः | १६ | १५ | a |
| ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके | ५ | २४ | a |
| तेषां भक्तिश्च केशवे | १६ | १४ | d |
| ते साधुकृत सर्वार्थाः | १५ | ४६ | a |
| तोयनीव्याः पतिं भूमेः | १५ | ३८ | c |
| त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेः | ५ | १७ | a |
| त्यजन् कलेबरं योगी | १ | २३ | c |
| त्यागः सन्तोष आर्जवं | १६ | २६ | b |
| त्रयी न श्रुतिगोचरा | ४ | २५ | b |
| त्रयोदशममेव च | ३ | १७ | b |
| त्रस्यन्ते साध्व्य साधुभिः | १७ | १० | b |
| त्रितो गृत्समदोऽसितः | ९ | ७ | b |
| त्रित्वे हुत्वाऽथ पञ्चत्वं | १५ | ४२ | a |
| त्रिभि रुत्तमकल्पकैः | ८ | ६ | b |
| त्रिभुवन कमनं तमाल वर्णं | ९ | ३३ | a |
| त्रिसप्तकृत्वः कुपितः | ३ | २० | c |
| त्रीनत्यरोच उपलभ्यततो विभूतिं | १६ | ३३ | c |
| त्रील्लोँकान् प्रदहन्महत् | ७ | ३१ | b |
| त्रैविष्टपाना मपि दूरदर्शनं | ११ | ८ | b |
| त्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा | ९ | ३४ | d |
| त्वत्पदैरङ्किता भाति | ८ | ३९ | c |
| त्वमप्यदभ्रश्रुतविश्रुतं विभोः | ५ | ४० | a |
| त्वमात्मनात्मान मवे ह्यमोघदृक् | ५ | २१ | a |
| त्वमाद्यः पुरुषः साक्षात् | ७ | २३ | a |
| त्वमेको दह्यमानानां | ७ | २२ | c |
| त्वमेव माताथ सुहृत्पतिः पिता | ११ | ७ | b |
| त्वया खलु पुराणानि | १ | ६ | a |
| त्वयि मेऽनन्यविषया | ८ | ४२ | a |
| त्वयैव नाथेन मुहु र्विपद्गणात् | ८ | २३ | d |
| त्वं न स्सन्दर्शितो धात्रा | १ | २२ | a |
| त्वं पर्यटन्नर्क इव त्रिलोकीं | ५ | ७ | a |
| त्वं वा मृणालधवलः | १७ | ७ | a |
| त्वं सद्गुरुः परमञ्च दैवतं | ११ | ७ | c |
| त्वा मकिञ्चनगोचरं | ८ | २६ | d |
| त्वा मातेषुशरासनं | १७ | ३६ | d |
| त्वां दुःस्थ मूनपद मात्मनि पौरुषेण | १६ | ३४ | c |
| त्वां वर्तमानं नरदेव देहेषु | १७ | ३२ | a |
| **द** | | | |
| दक्षिणं पशवोऽपरे | १४ | १३ | b |
| दक्षिणेन हिमवतः | १३ | ५० | c |
| दण्डपाणि मिवोद्यतं | १७ | ३५ | d |
| दण्डहस्तञ्च वृषलं | १७ | १ | c |
| ददर्श घोररूपाणि | १४ | २ | c |
| ददर्श पुरुषं कञ्चित् | १२ | ७ | c |
| ददर्श मुनि मासीनं | १८ | २५ | c |
| ददार करजै र्वक्षसि | ३ | १८ | c |
| ददृशे नृपलाञ्छन | १७ | १ | d |
| ददौ हारा न्महामनाः | १६ | १५ | d |
| दध्नौ दरवरं तेषां | ११ | १ | c |
| दध्यक्षतफलेक्षुभिः | ११ | १५ | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| दध्यौ मुकुन्दाङ्घ्रि मनन्यभावः | १९ | ७ | c |
| दध्यौ हित ममोघदृक् | ४ | १८ | d |
| दधे कमठरूपेण | ३ | १६ | c |
| दम्पतीनाञ्च कल्कनं | १४ | ४ | d |
| दर्शन स्पर्शसंलाप- | १० | १२ | c |
| दर्शनं नः कथं नृणां | १९ | ३६ | b |
| दर्शनं याति चेतसि | ६ | ३४ | d |
| दर्शयन्न प्रतिक्रियां | ८ | ४ | d |
| दर्शयन्नात्मनो रूपं | १५ | ४३ | c |
| दर्शयन् वर्त्म वीराणां | ३ | १३ | c |
| दशत्वलं गायत विष्णु गाथाः | १९ | १५ | d |
| दस्युग्रस्तेषु राजसु | ३ | २५ | b |
| दहत्वभद्रस्य पुन र्नमेऽभूत् | १९ | ३ | c |
| दह्यमानाः प्रजा सर्वाः | ७ | ३१ | c |
| दह्यमानेऽग्निधि र्देहे | १३ | ५७ | a |
| दह्यमानोऽञ्जतेजसा | १२ | ७ | d |
| दातुं सकृष्णा गङ्गायां | ८ | १ | c |
| दाध्मायमानः करकञ्जसम्पुटे | ११ | २ | c |
| दानधर्मान् राजधर्मान् | ९ | २७ | a |
| दान्तस्यानुचरस्य च | ५ | २९ | d |
| दान्तेऽधृतक्रीडनकेऽनुवर्तिनि | ५ | २४ | b |
| दाम्ना बद्ध्वा रिपुं बलात् | ७ | ३४ | b |
| दारः प्राणाः कुलं प्रजाः | १४ | ९ | b |
| दारुणं गौतमीसुतं | ७ | ३३ | b |
| दारुणान् शंसतोऽदूरात् | १४ | १० | c |
| दारुष्वेकः स्वयोनिषु | २ | ३२ | b |
| दास्या स्तु कस्याञ्चन वेदवादिनां | ५ | २३ | b |
| दिगम्बरं वक्रविकीर्णकेशं | १९ | २७ | c |
| दिग्देशकालव्युत्पन्नः | ६ | ८ | c |
| दिग्भ्योऽहरन्नृपतयो बलिमध्वरे ते | १५ | ८ | d |
| दिदृक्षु स्तदहं भूयः | ६ | २० | a |
| दिवञ्चयुत मिवापरं | ९ | ४ | b |
| दिवा च व्यर्थकर्मभिः | १६ | ९ | d |
| दिव्यान् भौमान् स दैहिकान् | १४ | १० | b |
| दुकूल वलयादिकं | १५ | ४० | b |
| दुःखाग्रमा द्विमुच्यते | ३ | २९ | d |
| दुःखितान्द्रष्टु मक्षमः | १३ | १३ | d |
| दुग्धेमा मोषधी र्विप्राः | ३ | १४ | c |
| दुरत्ययं व्यसनं नातिदीर्घात् | १९ | २ | b |
| दुरन्तभावाः परिरेभिरे पतिं | ११ | ३२ | b |
| दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः | ३ | ३८ | b |
| दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनां | ६ | २२ | d |
| दुर्बलान् बलिनो राजन् | १५ | २५ | c |
| दुर्भगांश्च जनान् वीक्ष्य | ४ | १८ | a |
| दुर्भगेवोज्झितांऽधुना | १७ | २७ | b |
| दुर्मेधान् हसितायुषः | ४ | १७ | d |
| दुर्वाससोऽरिरचिता दयुताग्रभुग्यः | १५ | ११ | b |
| दुस्तरं निस्तितीर्षतां | १ | २२ | b |
| दुहन्तीं निशि गां पथि | ६ | ९ | b |
| दूरा द्विसृष्टं बत गर्ह्य कर्म | १९ | १३ | d |
| दूरे बन्धुं शोचसि कञ्जनाभ | १६ | १९ | d |
| दृढं पाण्डुषु वृष्णिषु | ८ | ४१ | d |
| दृश्यते यत्र धर्मादि | ४ | २९ | c |
| दृष्ट एवात्मनीश्वरे | २ | २१ | d |
| दृष्टाश्रिते चेतसा | १४ | २२ | b |
| दृष्टा श्रुता वा यदवः | १३ | ११ | c |
| दृष्टा निपतितं भूम्यौ | ९ | ४ | a |
| दृष्ट्वाऽनुवान्त मृषि मात्मज मध्य नाम | ४ | ५ | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः | ३ | २१ | d |
| दृष्ट्वा पौत्रं कुलन्धरं | १३ | १६ | b |
| दृष्ट्वास्तेजस्तु तयोः | ७ | ३१ | a |
| दृष्ट्वा स्पृष्टाः प्रजा भुवि | १५ | ४५ | d |
| दृष्ट्वा स्वांसे मृतोरगं | १८ | ३९ | d |
| दृष्ट्वोवाचाऽनुजं नृपः | १४ | ५ | d |
| देवकी नन्दनाय च | ८ | २१ | b |
| देवकी प्रमुखा मुदा | ११ | २८ | d |
| देवकी प्रमुखा स्वयं | १४ | २७ | d |
| देवक्यां याचितोऽभ्यगात् | ८ | ३३ | b |
| देवक्यां वसुदेवस्य | १ | १२ | c |
| देवतिर्यङ्नरादयः | ३ | ५ | d |
| देवतिर्यङ्नरादिषु | २ | ३४ | d |
| देवदत्ता मिमां वीणां | ६ | ३३ | a |
| देव देव जगत्पते | ८ | ९ | b |
| देव देव न वेद्म्यहं | ७ | २६ | b |
| देवमानववादिताः | ९ | ४५ | b |
| देवर्षयश्च सत्तम | ९ | ५ | b |
| देवर्षित्व मुपेत्य सः | ३ | ८ | b |
| देवर्षि र्नारद स्साक्षात् | ९ | १९ | c |
| देवर्षिः प्राह विप्रर्षिं | ५ | १ | c |
| देवर्षे र्जन्म कर्म च | ६ | १ | b |
| देवविस्मापनं महत् | १५ | ५ | d |
| देवान् पितॄनृषीन् साधून् | १६ | ३१ | c |
| देवा यत्राक्षिगोचराः | १६ | ३ | d |
| देवो नः परिखेदयन् | १७ | ७ | d |
| देवीं सरस्वतीं व्यासं | २ | ४ | c |
| देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रं | ४ | ५ | b |
| देशकालविभागवित् | ९ | ९ | d |
| देशकालार्थयुक्तानि | १५ | २७ | a |
| देहोऽयं पाञ्चभौतिकः | १३ | ४५ | b |
| दैत्यादौ भगवान् कृतः | १७ | १७ | d |
| दैवतानि रुदन्तीव | १४ | २० | a |
| दैवभूतात्महेतवः | १० | ६ | b |
| दैवमन्ये परे कर्म | १७ | १९ | c |
| दैवेनाप्रतिघातेन | १२ | १६ | a |
| दोर्दण्डपरिरम्भिते | १७ | ८ | b |
| दौष्कुल्य माधिं विधुनोति शीघ्रं | १८ | १८ | c |
| दौष्यन्ति रिव यज्वनां | १२ | २० | d |
| द्यूतं पानं स्त्रिय स्सूना | १७ | ३८ | c |
| द्रष्टुं भरतपुङ्गवं | ९ | ५ | d |
| द्रोहो योऽस्रा विहोत्थितः | ८ | ५१ | b |
| द्रौणे रस्त्र मबुध्यत | ८ | ११ | d |
| द्रौण्यस्त्रतश्चात्म हरेऽभिरक्षिताः | ८ | २४ | d |
| द्रौपदी च तदाऽऽज्ञाय | १५ | ५० | a |
| द्रौपद्याश्च चतुर्भुजः | ७ | ५२ | b |
| द्वयञ्चापीशितु स्समं | १५ | ३४ | d |
| द्वापरे समनुप्राप्ते | ४ | १४ | a |
| द्वारकायाः कुलस्त्रियः | ११ | २४ | b |
| द्वारकां रथ मास्थितः | ८ | ८ | b |
| द्वारपानां शुना मिव | १८ | ३३ | d |
| द्वारपालो निरूपितः | १८ | ३४ | b |
| द्वारि द्वारि गृहाणाञ्च | ११ | १५ | a |
| द्विजपुत्रोपसर्जितात् | १२ | २७ | b |
| द्विजस्य सह मूर्धजं | ७ | ५५ | d |
| द्विजोपसृष्टः कुहक स्तक्षको वा | १९ | १५ | c |
| द्वितीयन्तु भवायास्य | ३ | ७ | a |
| द्वेष्यश्च यस्मिन् विषमा मति र्नृणां | ८ | २९ | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| द्वैपायनादिभि र्विप्रैः | ८ | ७ | c |
| द्वैपायनो भगवा न्नारदश्च | १९ | १० | d |
| द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव | २ | २ | b |
| **ध** | | | |
| धक्ष्यति स्म कुलाङ्गारम् | १८ | ३७ | c |
| धत्ते जह्या द्यथा नटः | १५ | ३५ | b |
| धत्ते भगं सत्य मृतं दयां यशः | १० | २५ | c |
| धनं प्रहीण माजह्रुः | १२ | ३३ | c |
| धन्यं स्वस्त्ययनं महत् | ३ | ४१ | b |
| धन्विना मग्रणी रेषः | १२ | २१ | a |
| धर्म ज्ञानादिभि स्सह | ३ | ४५ | d |
| धर्मपालो नरपतिः | १८ | ४६ | a |
| धर्मपुत्त स्सहानुजः | १३ | ३ | b |
| धर्मपुत्तो युधिष्ठिरः | १२ | ३४ | b |
| धर्मयुद्धे वधो द्विषां | ८ | ५० | b |
| धर्मशास्त्राणि यान्युत | १ | ६ | d |
| धर्मस्य ह्यापवर्गस्य | २ | ९ | a |
| धर्मं प्रवदत स्तस्य | ९ | २९ | a |
| धर्मं ब्रवीषि धर्मज्ञ | १७ | २२ | a |
| धर्मः कं शरणं गतः | १ | २३ | d |
| धर्मः पदैकेन चरन् | १६ | १८ | a |
| धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्रपरमो निर्मत्सराणां सतां | १ | २ | a |
| धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां | २ | ८ | a |
| धर्मार्थकाममोक्षांश्च | ९ | २८ | a |
| धर्मेण सत्येन च वर्तितव्ये | १७ | ३३ | b |
| धर्मोऽसि वृषरूपधृक् | १७ | २२ | b |
| धर्म्यं न्याय्यं सकरुण | ७ | ४९ | a |
| धान्वन्तरं द्वादशमं | ३ | १७ | a |
| धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि | १ | १ | d |
| धार्यन्ते पुरुषै र्यथा | ४ | २४ | b |
| धुन्धु र्यानक घण्टा द्याः | १० | १५ | c |
| धूम्र धूम्रात्मनां भवान् | १८ | १२ | b |
| धूम्रा दिशः परिधयः | १४ | १५ | a |
| धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलदुः | ९ | ३७ | c |
| धृतराष्ट्र मभाषत | १३ | १८ | b |
| धृतराष्ट्रं सहानुजं | ८ | ३ | b |
| धृतराष्ट्रः सह भ्रात्रा | १३ | ५० | a |
| धृतराष्ट्रो युयुत्सुश्च | १३ | ३ | c |
| धृतव्रतेन हि मया | ४ | २८ | a |
| धृतहयरश्मिनि तच्छ्रिये क्षणीये | ९ | ३९ | b |
| धृत्या बलिसमः कृष्णे | १२ | २५ | a |
| धैर्यं मार्दव मेव च | १६ | २७ | d |
| ध्यायत श्चरणाम्भोजं | ६ | १७ | a |
| ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा | २ | १४ | b |
| ध्रुवं ततो मे कृतदेवहेलनात् | १९ | २ | a |
| ध्वस्त माया गुणोदर्कः | १३ | ५५ | a |
| **न** | | | |
| न कश्चि न्म्रियते तावत् | १६ | ८ | a |
| न कुत्रचित्क्वापि च दुःस्थिता मतिः | ५ | १४ | c |
| नकुल स्सहदेवश्च | ७ | ५० | a |
| न चापश्यत्पितरौ सौबलीञ्च | १३ | ३० | d |
| न चार्पितं कर्म यदप्यकारणं | ५ | १२ | d |
| न चास्य कश्चि न्निपुणेन धातुः | ३ | ३७ | a |
| न जातु पौरवेन्द्राणां | १७ | ८ | a |
| न जात्वपै त्याहृतिभि र्हृदि स्पृशन् | १० | ३० | d |
| न ज्वलत्यग्नि राज्येन | १४ | १८ | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| नट नर्तकगन्धर्वाः | ११ | २० | a |
| नटवत्कर्मणा द्विजः | १७ | ५ | d |
| नटो नाट्यधरो यथा | ८ | १९ | d |
| न तथा वासुदेवस्य | ५ | ९ | c |
| नताः स्म ते नाथ सदङ्घ्रिपङ्कजं | ११ | ६ | a |
| न ते गुडाकेश यशोधराणां | १७ | ३१ | a |
| न त्वा गिरा सूनृतया न्वपृच्छत् | १९ | ३१ | d |
| न दत्त मुक्त मर्थिभ्यः | १४ | ४० | c |
| न दुह्यन्ति च मातरः | १४ | १९ | b |
| नद्यः समुद्रा गिरयः | १० | ५ | a |
| नद्यो नदाश्च क्षुभिताः | १४ | १८ | a |
| नन्दगोपकुमाराय | ८ | २१ | c |
| नन्वप्रियं दुर्विषहं | १३ | १३ | a |
| नन्वेष सत्त्व परिमार्ष्टु मर्हति | १० | २३ | d |
| न पिबन्ति स्तनं वत्साः | १४ | १९ | a |
| न पुनाति चिकित्सितं | ५ | ३३ | d |
| नप्तृत्रिगर्तशल सैन्धव बाह्लिकाद्यैः | १५ | १६ | b |
| न प्रत्याहातिपीडितः | १३ | ३४ | d |
| न प्रायेण निरूपिताः | ४ | ३१ | b |
| न प्राहरन् यदनुभावनिरस्तचित्ताः | १५ | १७ | d |
| न भर्तुर्नात्मन श्चार्थे | ७ | ५१ | c |
| नभः पत न्त्यात्मसमं पतत्रिणः | १८ | २३ | c |
| नमन्ति यत्पादनिकेत मात्मनः | ४ | ११ | a |
| न मन्यते तस्य निवारणं जनः | ५ | १५ | d |
| नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये | ८ | २२ | d |
| नमस्ये पुरुष न्त्वाद्यं | ८ | १८ | a |
| नमस्सङ्कर्षणाय च | ५ | ३७ | d |
| नमः पङ्कजनाभाय | ८ | २२ | a |
| नमः पङ्कजनेत्राय | ८ | २२ | c |
| नमः पङ्कजमालिने | ८ | २२ | b |
| न मातु रुदरे मृतः | १८ | १ | b |
| न मे स्या न्निरया न्मोक्षः | ८ | ४९ | c |
| नमोऽ किञ्चनवित्ताय | ८ | २७ | a |
| नमो भगवते तुभ्यं | ५ | ३७ | a |
| न यज्ञैर्मर्तु मर्हति | ८ | ५२ | d |
| न यत्र कालः प्रभवेत् परः प्रभुः | ११ | ६ | d |
| न यत्र भूयः परिवर्त उग्रः | ३ | ३९ | d |
| न यत्र हंसा निरम न्युशिक्षयाः | ५ | १० | d |
| न यद्वचः चित्रपदं हरे र्यशः | ५ | १० | a |
| न यस्य कश्चि द्दयितोऽस्ति कर्हिचित् | ८ | २९ | c |
| न युज्यते सदाऽऽत्मस्थैः | ११ | ३८ | c |
| नर ञ्चैव नरोत्तमं | २ | ४ | b |
| नरदेवत्व मापन्नः | ३ | २२ | a |
| नरदेवोऽसि वेषेण | १७ | ५ | c |
| नरनारायणा वृषी | ३ | ९ | b |
| न रिपुं हन्ति धर्मवित् | ७ | ३६ | d |
| नर्माण्युदाररुचिरस्मित शोभितानि | १५ | १८ | a |
| न लभ्यते यत् भ्रमता मुपर्यधः | ५ | १४ | b |
| न लक्ष्यते ह्यवस्थानं | १९ | ३९ | c |
| न लक्ष्यसे मूढ दृशा | ८ | १९ | c |
| नल वेणुशरस्तम्ब- | ६ | १३ | c |
| नलिनीः सुरसेविताः | ६ | १२ | d |
| नवमं पार्थिवं वपुः | ३ | १४ | b |
| न वयं क्लेशबीजानि | १७ | १८ | a |
| न वर्तितव्यं तदधर्मबन्धो | १७ | ३३ | a |
| न वर्तितव्यं भवता कथञ्चन | १७ | ३१ | c |
| न वा इदं राजर्षिवर्य चित्रं | १९ | २० | a |
| न वितृप्यन्ति हि दृशः | ११ | २५ | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| न विपद्येत कर्हिचित् | ६ | २५ | b |
| न वियन्ति स्म कर्हिचित् | १६ | २९ | d |
| न वेद कश्चिद्भगवं श्चिकीर्षितं | ८ | २९ | a |
| न वै जनो जातु कथञ्चनाऽऽव्रजेत् | ५ | १९ | a |
| न वै नृभि र्नरदेवं पराख्यं | १८ | ४२ | a |
| न व्यथन्ति न हृष्यन्ति | १८ | ५० | c |
| न शोभते ज्ञानमलंनिरञ्जनं | ५ | १२ | b |
| नष्टप्राये ष्वभद्रेषु | २ | १८ | a |
| न सम्मुमोहोरुभयात् | १८ | २ | c |
| न सेहिरे विमुह्यन्तः | १० | १० | c |
| न स्वर्गं नापुनर्भवं | १८ | १३ | b |
| न हृष्यन्त्यृषभा व्रजे | १४ | १९ | d |
| न ह्यस्य कर्हिचि द्राजन् | ९ | १६ | a |
| न ह्यस्यान्यतमं किञ्चित् | ७ | २८ | a |
| न ह्येष व्यवधात् कालः | ६ | ४ | c |
| नागै र्भोगवती मिव | ११ | ११ | d |
| नातिदूरे किलाश्चर्यं | १६ | १७ | c |
| नातिप्रसीदद्धृदयः | ४ | २७ | a |
| नातुष्यद्धृदयं ततः | ४ | २६ | d |
| नात्याक्षीः शरणप्रदः | १४ | ४१ | d |
| नाथ पाहि प्रजाः प्रभो | ९ | १७ | d |
| नाऽऽधयो व्याधयः क्लेशाः | १० | ६ | a |
| नानाख्यानेतिहासेषु | ९ | २८ | c |
| नानार्षेयप्रवरान् समेतान् | १९ | ११ | c |
| नानाशङ्कास्पदं रूपं | १६ | १ | c |
| नानुद्वेष्टि कलिं सम्राट् | १८ | ७ | a |
| नानारूपानुरूपाश्च | १० | १९ | c |
| नानेव भाति विश्वात्मा | २ | ३२ | c |
| नान्तं गुणाना मगुणस्य जग्मुः | १८ | १४ | c |
| नान्यं त्वदभयं पश्ये | ८ | ९ | c |
| नान्वगा द्वीरसूः कृपी | ७ | ४५ | d |
| नापश्य मुभयं मुने | ६ | १८ | d |
| नाबुध्यत शुचार्पितः | ८ | ४६ | d |
| नाभिह्रदाम्बुजा दासीत् | ३ | २ | c |
| नाभे र्जात उरुक्रमः | ३ | १३ | b |
| नामानि रूपाणि मनोवचोभिः | ३ | ३७ | c |
| नामान्यनन्तस्य यशोङ्कितानि यत् | ५ | ११ | c |
| नामान्यनन्तस्य हतत्रपः पठन् | ६ | २७ | a |
| नाम्ना कल्कि र्जगत्पतिः | ३ | २५ | d |
| नायाति कस्य वा हेतोः | १४ | ७ | c |
| नारदं सुरपूजितं | ४ | ३३ | d |
| नारद स्सहतुम्बुरुः | १३ | ३७ | b |
| नारद स्सहतुम्बुरुः | १३ | ५९ | b |
| नारदो मुनिसत्तमः | १३ | ३९ | d |
| नारदो वासवीसुतं | ६ | ३८ | b |
| नारायणकला श्शान्ताः | २ | २६ | c |
| नारायणं नमस्कृत्य | २ | ४ | a |
| नार्थस्य धर्मैकान्तस्य | २ | ९ | c |
| नाऽर्थोऽर्थायोपकल्पते | २ | ९ | b |
| नाऽर्थो यश्चेह कर्मभिः | २ | १० | d |
| नावर्तेत यतो गतः | १५ | ४४ | f |
| नावेदयत् सकरुणः | १३ | १३ | c |
| नाव्यारोप्य महीमय्यां | ३ | १५ | c |
| नाऽशक्नो त्प्रतिभावितुं | १५ | २ | d |
| नाशं यदूनां भगवदुतिश्च तां | १५ | ३३ | b |
| नास्य तत्प्रतिकुर्वन्ति | १८ | ४८ | c |
| नाहं कल्पो व्यपोहितुं | ८ | ५१ | d |
| नाऽहं वेद गतिं पित्रोः | १३ | ३८ | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| नाऽहं वेद व्यवसितं | १३ | ३६ | a |
| नाऽहं वेदेद मञ्जसा | १४ | ७ | d |
| निगमकल्पतरो र्गलितं फलं | १ | ३ | a |
| निगूढजत्रुं पृथुतुङ्गवक्षसं | १९ | २७ | a |
| निग्रहीता कले रेषः | १२ | २६ | c |
| निघ्नतां मुष्टिभि र्मिथः | १५ | २२ | d |
| निःक्षत्ता मकरोन्महीं | ३ | २० | d |
| निजग्राहौजसा वीरः | १६ | ४ | a |
| निजपरयो र्बलयो रथं निवेश्य | ९ | ३५ | b |
| निजलाभेन नित्यदा | ११ | ४ | d |
| नितरां म्रियमाणानां | १९ | ३६ | c |
| नित्यं निरीक्षमाणानां | ११ | २५ | a |
| नित्यं भागवतसेवया | २ | १८ | b |
| नित्यं विष्णुजनप्रियः | ७ | ११ | d |
| नित्या यत्र महागुणाः | १६ | २९ | b |
| निद्रया ह्रियते नक्तं | १६ | ९ | c |
| निघनञ्च यथैवाऽऽसीत् | १२ | २ | c |
| निधानं बीज मव्ययं | ३ | ५ | b |
| निधाय पुर मागमत् | १८ | ३० | d |
| निभृतात्मा युधिष्ठिरः | १५ | ३२ | d |
| निमित्तानि कुरूद्वहः | १४ | २ | d |
| निमित्ता न्यत्यरिष्टानि | १४ | ५ | a |
| निमीलितात्म त्रिशि सुप्तशक्तिषु | १० | २१ | d |
| निरवद्यस्य न क्वचित् | ९ | २१ | d |
| निरस्तशौचं बत साधु कुर्वते | १० | ३० | b |
| निरागसि ब्रह्मणि गूढतेजसि | १९ | १ | d |
| निरीक्षणेनाभिनन्दन् | १० | ३१ | c |
| निरीक्ष्य कृष्णापकृतं गुरो स्सुतं | ७ | ४२ | c |
| निरुद्धकरणाशयः | १३ | ५५ | b |
| निरुद्धमत्यास्रव दम्बु नेत्रयोः | ११ | ३२ | c |
| निरूपितो बालक एव योगिनां | ५ | २३ | c |
| निर्गते नारदे सूत | ७ | १ | a |
| निर्गुणस्य गुणात्मनः | १० | १९ | d |
| निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे | ७ | १० | b |
| निर्घातश्च महांस्तात | १४ | १५ | c |
| निर्जित्य सङ्ख्ये त्रिदशां स्तदाशिषः | १४ | ३७ | c |
| निर्ममो निरहङ्कारः | १५ | ४० | c |
| निर्यात्यगाराज्जो भद्रं | १० | १४ | c |
| निर्वेदमूलो द्विजशापरूपः | १९ | १४ | c |
| निर्व्यलीकं समं महत् | ७ | ४९ | b |
| निवर्तिताखिलाहारः | १३ | ५५ | c |
| निविष्ट स्तदनुग्रहात् | ३ | ४४ | b |
| निवृत्तगुणवृत्तये | ८ | २७ | b |
| निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिविभ्रमः | ९ | ३१ | c |
| निवृत्तिनिरतं मुनिः | ७ | ८ | d |
| निवेशयित्वा निजराज्य ईश्वर | १० | २ | c |
| निवेशितात्मोपरराम संसृतेः | १५ | ३३ | d |
| निशम्य घोरं परितप्यमाना | ७ | १५ | b |
| निशम्य श्रेष्ठ मायान्तं | ११ | १६ | a |
| निशम्य भगवन्मार्गं | १५ | ३२ | a |
| निशम्य भीमगदितं | ७ | ५२ | a |
| निशम्य भीष्मोक्त मथाच्युतोक्तं | १० | ३ | a |
| निशम्य वार्ता मनतिप्रियां ततः | १६ | १० | c |
| निशम्य शप्त मतदर्ह नरेन्द्रं | १८ | ४१ | a |
| निशात माददे खड्गं | १७ | २८ | c |
| निशाम्य कुरुनन्दन | १३ | ५८ | b |
| निश्चक्राम भ्रातृसन्दर्शिताध्वा | १३ | २८ | d |
| निषेव्यो हिमवानिव | १२ | २२ | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| निष्णातो यजुषा मुत | ४ | २१ | d |
| निष्पादितं देवकृत्यं | १३ | ४९ | a |
| निश्श्रेयसाय लोकस्य | ३ | ४१ | a |
| निःस्पृह स्सर्वकामेभ्यः | १२ | ४ | c |
| नीहार मिव गोपतिः | १२ | १० | b |
| नूनं गति रगोचरा | १७ | २३ | b |
| नूनं भगवतः पदैः | १४ | २१ | b |
| नूनं भगवतो ब्रह्मन् | १९ | ३९ | a |
| नूनं व्रतस्नानहुतादिनेश्वरः | १० | २८ | a |
| नृणां स्वय मुपस्थितं | १३ | १३ | b |
| नृदेवचिह्नधृक् शूद्रकः | १६ | ५ | c |
| नृप मग्रज मित्याह | १५ | ४ | c |
| नृपलिङ्गधरं शूद्रं | १६ | ४ | c |
| नेतराणि कृतानि यत् | १८ | ७ | d |
| नेदु र्दुन्दुभय स्तदा | १० | १५ | d |
| नेयं शोभिष्यते तत्र | ८ | ३९ | a |
| नेहाथवाऽमुत्र च कश्चनार्थः | १९ | २३ | c |
| नैच्छद्धन्तुं गुरुसुतं | ७ | ४० | c |
| नैनो राज्ञः प्रजाभर्तुः | ८ | ५० | a |
| नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे | १ | ४ | a |
| नैवाघं तदचिन्तयत् | १८ | ४९ | d |
| नैवार्हत्यभिधातुं वै | ८ | २६ | c |
| नैवाऽसौ वेद संहारं | ७ | २७ | c |
| नैवास्मच्छाप मर्हति | १८ | ४६ | f |
| नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं | ५ | १२ | a |
| नैष्कर्म्य कर्मणां यतः | ३ | ८ | d |
| नोत्तमश्लोकवार्तानां | १८ | ४ | a |
| नोत्पादये द्यदि रतिं | २ | ८ | c |
| नो पस्पृशु र्नृहरिदास मिवासुराणि | १५ | १६ | d |
| न्यपत त्पाञ्चभौतिकः | ६ | २९ | d |
| न्यरुन्धन्नुदुल द्वाष्पं | १० | १४ | a |
| न्यवसत्तन्निदेशकृत् | १७ | ४० | d |
| न्यवेदयत्तं प्रियायै | ७ | ४१ | c |
| न्यासितोरुभरा सती | १७ | २६ | b |
| **प** | | | |
| पक्षच्छायासमेधितान् | १३ | ८ | b |
| पञ्चदशं वामनकं | ३ | १९ | a |
| पञ्चमः कपिलो नाम | ३ | १० | a |
| पञ्चमो वेद उच्यते | ४ | २० | d |
| पतितं पादयो र्वीरः | १७ | ३० | a |
| पतिव्रता चानुजगाम साध्वी | १३ | २९ | b |
| पतिं प्रयान्तं सुबलस्य पुत्री | १३ | २९ | a |
| पतीना मनपेक्षतां | १५ | ५० | b |
| पत्न्यः पतिं प्रेष्य गृहानुपागतं | ११ | ३१ | a |
| पत्न्या स्तवाधिमखकृप्त महाभिषेक- | १५ | १० | a |
| पत्युः पत्नी सहोटजे | १३ | ५७ | b |
| पदत्रयं याचमानः | ३ | १९ | c |
| पदे पदे का विरमेत तत्पदात् | ११ | ३३ | c |
| पप्रच्छ रथ मारूढः | १७ | ४ | a |
| पप्रच्छु रिद मादरात् | १ | ५ | d |
| पप्रच्छोद्विग्नमानसः | १३ | ३१ | b |
| पयसोधस्वती र्मुदा | १० | ४ | d |
| परगेह मुपाससे | १३ | २१ | d |
| परतः पञ्चमेऽहनि | १३ | ५६ | b |
| परस्परं घ्नन्ति शपन्ति वृञ्जते | १८ | ४४ | c |
| परस्य पुंसः परमात्मनः कलां | ५ | २१ | b |
| पराजितो वाऽथ भवान् | १४ | ४२ | c |
| पराद्रवत्प्राणपरीप्सुरुर्व्यां | ७ | १८ | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| परायणं क्षेममिहेच्छतां परं | ११ | ६ | c |
| परायणं राजसु योजितांहसां | ८ | ३७ | d |
| परावरज्ञः स ऋषिः | ४ | १६ | a |
| परावरविदो विदुः | १ | ७ | d |
| परावरे ब्रह्मणि धर्मतो व्रतैः | ५ | ७ | c |
| परावरेशो मनसैव विश्वं | ५ | ६ | c |
| पराशरो गाधिसुतोऽथ रामः | १९ | ९ | c |
| परिगीतानि सूरिभिः | १ | १७ | b |
| परिणूताखिलोदयः | ८ | ४४ | b |
| परितुष्यतिशारीरः | ५ | २ | c |
| परिध्युपान्तामनुजानुवर्तितः | १० | ३ | d |
| परिपाह्यनुशासनं | ७ | ५३ | d |
| परिबृंहितरंहसा | २५ | २९ | b |
| परिभ्रमन्त मुल्काभां | १२ | ९ | c |
| परिश्रान्तेन्द्रियात्माहं | ६ | १५ | a |
| परिष्वक्तः स्वमातृभिः | ११ | १८ | b |
| परिष्वक्तोऽभिवादितः | १० | ८ | d |
| परिष्वङ्गाभिवादनैः | १३ | ५ | d |
| परिष्वज्याभिवाद्य तं | १० | ८ | b |
| परीक्षितैवमादिष्टः | १७ | ३५ | a |
| परीक्षितोऽथ राजर्षेः | ७ | १२ | a |
| परीक्षिदिति यत्प्रभुः | १२ | ३० | b |
| परीक्षिन्नाम राजर्षिः | १६ | ३६ | c |
| परीक्षेत नरेष्विह | १२ | ३० | d |
| परीतं परमर्षिभिः | ३ | ४३ | b |
| परेभ्य श्शङ्कितः स्नेहात् | १० | ३२ | c |
| परै त्यनिच्छतो जीर्णः | १३ | २४ | c |
| परै द्वन्द्वेषु योजिताः | १८ | ५० | b |
| परोक्षेण समुन्नद्ध- | १५ | ३ | c |
| परोऽपि मनुतेऽनर्थ | ७ | ५ | c |
| पर्येम्यस्कन्दितव्रतः | ६ | ३२ | b |
| पर्यैक्षत क इत्यसौ | १२ | १० | d |
| पर्वतो नारदो धौम्यः | ९ | ६ | a |
| पशुं रशनया यथा | ७ | ३३ | d |
| पशून् स्त्रियोऽर्थान्पुरुदस्यवो जनाः | १८ | ४४ | d |
| पश्य तं माययोरुधा | १३ | ४७ | d |
| पश्यन्ति नित्यं यदनुग्रहेषितं | १० | २७ | c |
| पश्यन्ति भक्त्युत्कलितामलात्मना | १० | २३ | c |
| पश्यन्त्यदो रूप मदभ्रचक्षुषा | ३ | ४ | a |
| पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं | २ | १२ | c |
| पश्यन् ब्रह्मद्रुहो नृपान् | ३ | २० | b |
| पश्येदं भय मागतं | १३ | १८ | d |
| पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे | ५ | २७ | d |
| पश्येम रूपं तव सर्वसौभगं | ११ | ८ | d |
| पश्योत्पाता न्नरव्याघ्र | १४ | १० | a |
| पाञ्चाल्या मह्यमेव च | ७ | ५४ | d |
| पाञ्चाल्यै शृण्वतो मम | ७ | ३८ | b |
| पाणिनाऽऽमृज्य नेत्रयोः | १५ | ३ | b |
| पाण्डवाः पञ्च सायकान् | ८ | १२ | b |
| पाण्डवाः सह कृष्णया | ७ | ५८ | b |
| पाण्डुपुत्रा नुपासीनान् | ९ | ११ | a |
| पाण्डूनां मानवर्धनः | ४ | १० | b |
| पाण्डोस्सुताना मिति सम्प्रयाणं | १५ | ५१ | b |
| पातकानि महान्त्यपि | १९ | ३४ | b |
| पादपद्मासवं मधु | १८ | १२ | d |
| पादशौचासनादिभिः | १९ | ३३ | d |
| पादैर्न्यूनं शोचसि मैकपादं | १६ | २० | a |
| पादैर्न्यूनः पदा चरन् | १७ | ७ | b |
| पादै र्लोकसुखावहैः | १६ | २५ | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| पानपात्रं मुखं दृशाम् | ११ | २६ | b |
| पापं कृतं तद्भगवान् | १८ | ४७ | c |
| पापीयसी धी र्द्विजदेवगोभ्यः | १९ | ३ | d |
| पापीयसीं नृणां वार्तां | १४ | ३ | c |
| पाप्मना कलिनेक्षितं | १६ | ३० | d |
| पारक्यस्यैव देहस्य | ८ | ४८ | c |
| पाराशर्य महाभाग | ५ | २ | a |
| पारीक्षितं भागवताभिधानं | १८ | १७ | d |
| पार्थ प्रजाविता साक्षात् | १२ | १९ | a |
| पार्थः कृष्णेन चोदितः | ७ | ४० | b |
| पार्थानां कीर्तिदूषणं | १७ | १३ | d |
| पार्थिवा द्दारुणो धूमः | २ | २४ | a |
| पाहि पाहि महायोगिन् | ८ | ९ | a |
| पितरं वीक्ष्य दुःखार्तः | १८ | ३८ | c |
| पितरं सर्वसुहृदं | ११ | ५ | c |
| पितरं सान्त्व यामास | ९ | ४८ | c |
| पितर्युपरते पाण्डौ | १३ | ३३ | a |
| पितामहसम स्साम्ये | १२ | २३ | a |
| पितामहेनोपन्यस्तं | १७ | ४३ | c |
| पिता मे रोमहर्षणः | ४ | २२ | d |
| पितृपैतामहं विभुः | ९ | ४९ | d |
| पितृभिः स्वक्षयं ययौ | १५ | ४९ | d |
| पितृभूत प्रजेशादीन् | २ | २७ | c |
| पितृभ्रातृ गुरुद्रुहः | ८ | ४९ | b |
| पितृभ्रातृसुहृत्पुत्राः | १३ | २१ | a |
| पितृ मातृ सुहृद्भ्रातृ | १४ | ४ | c |
| पितृव द्रञ्जयन् प्रजाः | १२ | ४ | b |
| पितृव्यः क्व गतः सुहृत् | १३ | ३२ | b |
| पितृव्यौ क्व गता वितः | १३ | ३३ | a |
| पित्राचानुमतो राजा | ९ | ४९ | a |
| पित्रो र्वः कुलनन्दन | १३ | ३६ | b |
| पिप्पलोपस्थ आस्थितः | ६ | १६ | b |
| पिबत भागवतं रस मालयं | १ | ३ | c |
| पिबन्ति याः सख्यधरामृतं मुहुः | १० | २८ | c |
| पीत्वा बलिभुजा मिव | १८ | ३३ | b |
| पिशङ्गवासा वनमालया बभौ | ११ | २७ | c |
| पुण्यतीर्थनिषेवणात् | २ | १६ | b |
| पुण्यवृक्षलताश्रमैः | ११ | १२ | b |
| पुण्यश्रवणकीर्तनः | २ | १७ | b |
| पुण्यश्लोकस्य कीर्तये | ८ | ३२ | b |
| पुण्यश्लोका न्महात्मनः | १२ | १८ | b |
| पुण्यश्लोकेड्यकर्मणः | १ | १६ | b |
| पुण्यं पारीक्षितं मया | १८ | ९ | b |
| पुत्रशोकातुरास्सर्वे | ७ | ५८ | a |
| पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुः | २ | २ | c |
| पुन रध्यगम त्प्रभुः | १५ | ३० | d |
| पुनश्च भूया द्भगवत्यनन्ते | १९ | १६ | a |
| पुनश्च याचमानाय | १७ | ३९ | a |
| पुनाति लोकानुभयत्र सेशान् | १९ | ६ | c |
| पुमा न्वेद विधित्सितं | ९ | १६ | b |
| पुरग्राम व्रजा करान् | ६ | ११ | b |
| पुरस्कृत्य ययुः स्त्रियः | ८ | १ | d |
| पुरःस्थितेऽमीलितदृ ग्व्यधारयत् | ९ | ३० | d |
| पुराणं ब्रह्मसम्मितं | ३ | ४० | b |
| पुराणार्कोऽधुनोदितः | ३ | ४५ | d |
| पुरुषस्येह यत्कार्यं | १९ | ३७ | c |
| पुरुषस्वभाव विहितान् | ९ | २६ | a |
| पुरुषं तं विजानीमः | १७ | १८ | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| पुरूणां पौरवर्षभ | १२ | १५ | d |
| पुरे च राष्ट्रे च गृहे तथाऽऽत्मनि | १५ | ३७ | b |
| पुरोद्यानाकराश्रमाः | १४ | २० | d |
| पुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः | ६ | १८ | b |
| पुंसा मेकान्ततःश्रेयः | १ | ९ | c |
| पुंसां गुणविकर्षणः | १३ | २७ | d |
| पूजयामास धर्मज्ञः | ९ | ९ | c |
| पूजयामास विधिवत् | ४ | ३३ | c |
| पूजितैः प्रतिपूजितः | ८ | ७ | d |
| पूज्यं वन्द्य मभीक्ष्णशः | ७ | ४६ | d |
| पूर्वेषां वृत्ति मन्वहं | १६ | १७ | b |
| पृच्छति स्म सुहृन्मध्ये | १४ | २४ | c |
| पृच्छति स्माश्रुवदनां | १६ | १८ | c |
| पृच्छामहे त्वाऽऽत्मभवात्मभूतं | ५ | ५ | d |
| पृथगुदृशस्तत्कृतरूपनामभिः | ५ | १४ | b |
| पृथयेत्थं कलपदैः | ८ | ४४ | a |
| पृथा प्यनुश्रुत्य धनञ्जयोदितं | १५ | ३३ | a |
| पृथा बाल प्रजा वधूः | ९ | १३ | b |
| पृथां कृष्णाञ्च माधवः | ८ | ३ | d |
| पृथिवी धर्मयो स्तदा | १६ | ३६ | b |
| पृष्टो यदिह किञ्चन | ४ | १३ | b |
| पृष्ठ एकादशे विभुः | ३ | १६ | d |
| पैतृष्वसेय प्रीत्यर्थं | १९ | ३५ | c |
| पौराणा मनुवर्तिनां | ११ | २१ | b |
| प्रकृति मगन्किल यस्य गोपवध्वः | ९ | ४० | d |
| प्रकृति मुपेयुषि यद्भवप्रवाहः | ९ | ३२ | d |
| प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः | ११ | ३८ | b |
| प्रकोपितब्रह्मकुलानलो मे | १९ | ३ | b |
| प्रगायतस्स्ववीर्याणि | ६ | ३४ | a |
| प्रगीयमाणञ्च यशः | १६ | १३ | c |
| प्रचण्डं सर्वतो दिशं | ७ | २१ | b |
| प्रजा उतस्विन्मघवत्यवर्षति | १६ | २० | d |
| प्रजातीर्थे सतीर्थवित् | १२ | १४ | d |
| प्रजानां भक्तवत्सलः | ११ | १० | b |
| प्रजानां वीक्ष्य वैदिकं | ४ | १९ | b |
| प्रजारूपेण वर्तते | ७ | ४५ | b |
| प्रजासर्गनिरोधेऽपि | ६ | २५ | c |
| प्रजोपप्लवमालक्ष्य | ७ | ३२ | a |
| प्रज्ञाचक्षुर्बोधित आजमीढः | १३ | २८ | b |
| प्रणम्य मूर्ध्नाविहितः कृताञ्जलिः | १९ | ३१ | c |
| प्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः | ९ | ४० | b |
| प्रणयागतसाध्वसाः | ११ | १८ | f |
| प्रणयौत्कण्ठ्यकातरः | १५ | ३ | d |
| प्रणिदध्यौ मनः स्वयं | ७ | ३ | d |
| प्रणिधाय मनो हृदि | ६ | १० | b |
| प्रणेमुः पाण्डवा भीष्मं | ९ | ४ | c |
| प्रतिक्रिया न यस्येह | १३ | १९ | a |
| प्रतिजग्मुः स्वकान् गृहान् | १२ | २९ | d |
| प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं | ९ | ४२ | c |
| प्रतिपूज्य वच स्तेषां | २ | १ | c |
| प्रतिरुद्धेन्द्रियप्राण- | १८ | २६ | a |
| प्रतिश्रुतञ्च भवता | ७ | ३८ | a |
| प्रतिषिद्धे स्वसंविदा | ३ | ३३ | b |
| प्रतिसन्दध आश्वस्य | १७ | ४२ | c |
| प्रत्यनन्द द्वचो द्विजाः | ७ | ४९ | d |
| प्रत्यभाषत धर्मज्ञः | १९ | ४० | c |
| प्रत्यादित्सुः त्रिविष्टपं | ३ | १९ | d |
| प्रत्याहृतषडिन्द्रियः | १३ | ५३ | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्रत्याहृतं बहुधनञ्च मया परेषां | १५ | १४ | c |
| प्रत्युज्जग्मुः प्रहर्षेण | १३ | ५ | a |
| प्रत्युज्जग्मू रथै र्हृष्टाः | ११ | १८ | e |
| प्रत्युत्थायाऽऽगतं मुनिः | ४ | ३३ | b |
| प्रत्युत्थायाभिवाद्याऽऽह | १३ | ३७ | c |
| प्रत्युत्थिता स्ते मुनय स्वासनेभ्यः | १९ | २८ | c |
| प्रत्युद्ययुः प्रजा स्सर्वाः | ११ | ३ | c |
| प्रत्युलूकश्च कुह्वानैः | १४ | १४ | c |
| प्रद्युम्नश्चारुदेष्णश्च | ११ | १७ | a |
| प्रद्युम्न साम्बाम्बसुतादयोऽपराः | १० | २९ | c |
| प्रद्युम्न स्सर्ववृष्णीनां | १४ | ३० | a |
| प्रद्युम्नायानिरुद्धाय | ५ | ३७ | c |
| प्रपत्स्यत उपश्रुत्य | १२ | २७ | c |
| प्रपन्नं विरथं भीतं | ७ | ३६ | c |
| प्रपुष्णात्यघृणः खलः | ७ | ३७ | b |
| प्रबोधितोपीतिहासैः | ८ | ४६ | c |
| प्रभासे देह मात्मवान् | १५ | ४९ | b |
| प्रभोः पादा वनुस्मरन् | १३ | ३५ | d |
| प्रमत्तानां तदीहया | १३ | १७ | b |
| प्रमथ्य चैद्यप्रमुखान् हि शुष्मिणः | १० | २९ | b |
| प्रयाणाभिमुखं कृष्णं | ८ | १७ | c |
| प्रयुज्यमाने मयि तां | ६ | २९ | a |
| प्रलम्बबाहुं स्वमरोत्तमाभं | १९ | २७ | d |
| प्रवक्तु मुपचक्रमे | २ | १ | d |
| प्रवर्तमानस्य गुणै रनात्मनः | ५ | १६ | c |
| प्रविवेश तमाश्रमं | १८ | २५ | b |
| प्रविश्य गज साह्वयं | ८ | ४५ | b |
| प्रविष्टस्तु गृहं पित्रोः | ११ | २८ | a |
| प्रविष्टोपीह सर्वतः | १८ | ५ | b |
| प्रवृत्तविज्ञान विधूत विभ्रमः | १० | ३ | b |
| प्रव्रजेत्स नरोत्तमः | १३ | २६ | d |
| प्रशस्य भूमौ व्यकिर न्प्रसूनैः | १९ | १८ | c |
| प्रशस्य साध्वित्यनुमोदमानाः | १९ | १९ | b |
| प्रशान्त मासीन मकुण्ठमेधसं | १९ | ३१ | a |
| प्रश्रयप्रेमसङ्गतान् | ९ | ११ | b |
| प्रश्रयावनतो राजा | १३ | ७ | c |
| प्रश्रितस्य हतैनसः | ५ | २९ | b |
| प्रसन्नहासारुणलोचनोल्लसत् | ९ | २४ | c |
| प्रसभ मभिससार मद्वधार्थं | ९ | ३८ | c |
| प्रसादे गिरिशोपमः | १२ | २३ | b |
| प्रसूनवर्षै रभिवर्षितः पथि | ११ | २७ | b |
| प्रहरन्वध मर्हसि | १७ | ६ | d |
| प्रहर्षवेगोच्छसित- | ११ | १७ | c |
| प्रह्लाद इव सदुहः | १२ | २५ | b |
| प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान् | ३ | ११ | d |
| प्रह्लाभिवादनाश्लेष- | ११ | २२ | a |
| प्राकृतेनाऽऽत्मना विप्राः | ८ | ४७ | c |
| प्राक्कल्प विषया मेतां | ६ | ४ | a |
| प्रागल्भ्यं प्रश्रय श्शीलं | १६ | २८ | a |
| प्राचीन मूलेषु कुशेषु धीरः | १९ | १७ | b |
| प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं | १५ | ३९ | c |
| प्राणकृच्छ्र उपस्थिते | ७ | २० | d |
| प्राणबाध उपस्थिते | ७ | २७ | d |
| प्राणं तन्व इवागतं | १३ | ५ | b |
| प्राणापद मभिप्रेत्य | ७ | २१ | c |
| प्राणेभ्योऽहं च जज्ञिरे | ६ | ३१ | d |
| प्राणैः प्रियतमै रपि | १३ | २० | b |
| प्रातर्हुत हुताग्नयः | १ | ५ | b |
| प्रातिष्ठं दिशमुत्तरां | ६ | १० | d |
| प्रादा स्स्वन्नञ्च विप्रेभ्यः | १२ | १४ | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितं | ५ | २० | d |
| प्राप्तं भुवि युगे युगे | ४ | १६ | d |
| प्राप्तः प्राचीं सरस्वतीं | १६ | ३६ | d |
| प्राप्ता तोकवती मुहुः | ९ | १३ | d |
| प्राप्तो महेन्द्रभवने मह दासनार्धं | १५ | १२ | d |
| प्रायश स्साधवो लोके | १८ | ५० | a |
| प्राया त्वनगरीं प्रियैः | १० | ३३ | d |
| प्रायुङ्क्त चतुरङ्गिणीं | १० | ३२ | d |
| प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः | १९ | ८ | c |
| प्रायेणाल्पायुषः सभ्य | १ | १० | a |
| प्रायेणैतन्द्रगवतः | १५ | २४ | a |
| प्रायोपविष्टं गङ्गायां | ३ | ४३ | a |
| प्रायोपविष्टे दिवि देवसङ्घाः | १९ | १८ | b |
| प्रायोपविष्टो गङ्गायां | ४ | १० | c |
| प्रायोपवेशं प्रति विष्णुपद्यां | १९ | ७ | b |
| प्रार्थ्या महत्त्व मिच्छद्भिः | १६ | २९ | c |
| प्रासादशिखरारूढाः | १० | १६ | a |
| प्रासादा यत्र पत्नीनां | ११ | ३० | c |
| प्राह तेषाञ्च शृण्वतां | १३ | ७ | d |
| प्राहार्जुनं प्रकुपितः | ७ | ३४ | c |
| प्राहु र्भगवतोत्तमं | ४ | ९ | b |
| प्रियश्रवस्यङ्ग ममाऽभवद्रुचिः | ५ | २६ | d |
| प्रियश्रवस्यस्खलिता मति र्मम | ५ | २७ | b |
| प्रियञ्च भीमसेनस्य | ७ | ५४ | c |
| प्रियं मित्रं सुहृत्तमं | ९ | २० | b |
| प्रियः प्रियतमस्य ह | १० | १७ | d |
| प्रियाः परमहंसानां | ४ | ३१ | c |
| प्रीत्युज्जृम्भितलोचनः | १६ | १५ | b |
| प्रीत्युत्फुल्लमुखाः प्रोचुः | ११ | ५ | a |
| प्रेमव्रीडास्मितेक्षणाः | १० | १६ | d |
| प्रेमस्मितस्निग्ध निरीक्षणाननं | ११ | ८ | c |
| प्रेमातिभर निर्भिन्न- | ६ | १८ | a |
| प्रेमावलोकरुचिरस्मितवल्गुजल्पैः | १६ | ३५ | b |
| प्रेम्णा राज्ञा निवारितः | ८ | ४५ | d |
| प्रोवाचाऽऽसुरये साङ्ख्यं | ३ | १० | c |
| **फ** | | | |
| फलन्त्योषधय स्सर्वाः | १० | ५ | c |
| फलपुष्पाक्षताङ्कुरैः | ११ | १४ | d |
| फल्गूनि तत्र महतां | १३ | ४६ | c |
| फाल्गुनः परवीरहा | ७ | २९ | b |
| **ब** | | | |
| बदरीखण्डमण्डिते | ७ | ३ | b |
| बद्धवाङ्मुक्तमूर्धजः | १५ | ४३ | b |
| बद्धाञ्जले वैं भयमस्ति किञ्चित् | १७ | ३१ | b |
| बन्धनानयनं सती | ७ | ४३ | b |
| बबन्धाऽमर्षताम्राक्षः | ७ | ३३ | c |
| बलाद्धं स्यबलान् बली | १७ | ५ | b |
| बलिभि र्धूपदीपकैः | ११ | १५ | d |
| बाहवो लोकपालानां | ११ | २६ | c |
| बहिःस्थिता पतिं साध्वी | १३ | ५७ | c |
| बह्वृचः शौनकोऽब्रवीत् | ४ | १ | d |
| बह्वयो मेऽक्षौहिणी र्हताः | ८ | ४८ | d |
| बान्धवाः कृष्णदेवताः | १३ | ११ | b |
| बालकः पञ्चहायनः | ६ | ८ | d |
| बालद्विज सुहृन्मित्र- | ८ | ४९ | a |
| बालहत्या हतप्रभं | ७ | ५६ | b |
| बालेनापक्व बुद्धिना | १८ | ४७ | b |
| बाष्पगद्गदया गिरा | १५ | ४ | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| बिभ्रद्दैत्येन्द्र मूर्जितं | ३ | १८ | b |
| बीभत्स मिव सर्वतः | १४ | १६ | d |
| बुद्धो नाम्ना जनसुतः | ३ | २४ | c |
| बुभूषुः पुरुषः क्वचित् | १७ | ४१ | b |
| बृहू, दश्वो भरद्वाजः | ९ | ६ | c |
| ब्रह्मकोपोत्थिता द्यस्तु | १८ | २ | a |
| ब्रह्मघोषेणचाऽऽदृताः | ११ | १८ | d |
| ब्रह्मचर्य मखण्डितं | ३ | ६ | d |
| ब्रह्मण्य स्सत्य सन्धश्च | १२ | १९ | c |
| ब्रह्मण्यात्मान मव्यये | १५ | ४२ | d |
| ब्रह्मण्यात्मान माधारे | १३ | ५४ | c |
| ब्रह्मण्ये धर्मवर्मणि | १ | २३ | b |
| ब्रह्मण्यो भक्तवत्सलः | १४ | ३४ | b |
| ब्रह्मतेजोविनिर्मुक्तैः | ८ | १७ | a |
| ब्रह्मनद्यां सरस्वत्यां | ७ | २ | a |
| ब्रह्मबन्धु मिमं जहि | ७ | ३५ | b |
| ब्रह्मबन्धु र्न हन्तव्यः | ७ | ५३ | a |
| ब्रह्मभूत मविक्रियं | १८ | २६ | d |
| ब्रह्मरातादयोऽमलाः | ९ | ८ | b |
| ब्रह्मर्षि राजर्षि देवर्षि सङ्घैः | १९ | ३० | b |
| ब्रह्मवर्चस्यसत्तमः | ४ | ३० | d |
| ब्रह्मशीर्ष्णोरुतेजसा | १२ | १ | b |
| ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्ष- | १६ | ३२ | a |
| ब्रह्मावर्तं कुरुक्षेत्रं | १० | ३४ | c |
| ब्रह्मावर्ते यत्र यजन्ति यज्ञैः | १७ | ३३ | c |
| ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः | ३ | २ | d |
| ब्रह्मेति परमात्मेति | २ | ११ | c |
| ब्राह्मणं प्रत्यभू द्ब्रह्मन् | १८ | २९ | c |
| ब्राह्मणै स्ससुमङ्गलैः | ११ | १८ | b |
| ब्राह्मणैः क्षत्रबन्धु र्हि | १८ | ३४ | a |
| ब्राह्मणो नितरां गुरुः | ७ | ४३ | d |
| ब्राह्म मस्त्रं प्रदर्शितं | ७ | २७ | b |
| ब्राह्मं ब्राह्माय सन्दधे | ७ | २९ | d |
| ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य | १ | ८ | c |
| ब्रूहि नः श्रद्दधानानां | १ | ११ | e |
| ब्रूहि नः श्रद्दधानानां | १ | १७ | c |
| ब्रूहि नः श्रद्दधानानां | १२ | ३ | c |
| ब्रूहि वद्वा विपर्ययं | १९ | ३८ | d |
| ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे | १ | २३ | a |
| **भ** | | | |
| भक्तप्रना मभयङ्कर | ७ | २२ | b |
| भक्तानां शमभीप्सतः | ६ | १० | d |
| भक्तिङ्करोति नृपतिश्चरणारविन्दे | १६ | १६ | b |
| भक्तियोग मधोक्षजे | ७ | ६ | b |
| भक्तियोग विधानार्थं | ८ | २० | c |
| भक्तियोगसमन्वितं | ५ | ३५ | d |
| भक्तियोगः प्रयोजितः | २ | ७ | b |
| भक्तियोगेन मनसि | ७ | ४ | a |
| भक्ति रुत्पद्यते पुंसः | ७ | ७ | c |
| भक्ति र्भवति नैष्ठिकी | २ | १८ | d |
| भक्तिं परमया मुदा | २ | २२ | b |
| भक्तिः प्रवृत्ताऽऽत्मरजस्तमोपहा | ५ | २८ | d |
| भक्त्या निर्मथिताशेष- | १५ | २९ | c |
| भक्त्याऽऽवेश्य मनो यस्मिन् | ९ | २३ | a |
| भक्त्या श्रुतगृहीतया | २ | १२ | d |
| भगवच्छिक्षया सकृत् | ५ | ३६ | b |
| भगवति रति रस्तु मे मुमूर्षोः | ९ | ३९ | c |
| भगवति सात्त्वतपुङ्गवे विभूम्नि | ९ | ३२ | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भगवत्तत्त्वविज्ञानं | २ | २० | c |
| भगवत्परितोषणं | ५ | ३५ | b |
| भगवत्यर्पिताशयः | १८ | २ | d |
| भगवत्युत्तमश्लोके | २ | १८ | c |
| भगवत्सङ्गिसङ्गस्य | १८ | १३ | c |
| भगवद्भक्तियोगतः | २ | २० | b |
| भगवन् क्व गता वितः | १३ | ३८ | b |
| भगवन्त मधोक्षजं | २ | २५ | b |
| भगवान् कपिलो नृप | ९ | १९ | d |
| भगवान्देवकीपुत्रो | ७ | ५१ | c |
| भगवान्धर्मगु ह्विभुः | १२ | ११ | b |
| भगवान् पारदर्शकः | १३ | ३९ | b |
| भगवान् प्राकृतो यथा | ११ | ३५ | d |
| भगवान् बादरायणः | १ | ७ | b |
| भगवान् बादरायणः | ७ | १ | b |
| भगवान् बादरायणः | ९ | ६ | b |
| भगवान् बादरायणिः | ७ | ११ | b |
| भगवान् बादरायणिः | १९ | ४० | d |
| भगवान् भक्तवत्सलः | ८ | ११ | b |
| भगवान् भूतभावनः | १३ | ४८ | b |
| भगवान् महदादिभिः | ३ | १ | b |
| भगवान् सात्वतां पतिः | १ | १२ | b |
| भगवान् सात्वतां पतिः | २ | १४ | b |
| भगवान् सात्वतां प्रभुः | १४ | २९ | d |
| भगवानपि गोविन्दो | १४ | ३४ | a |
| भगवानपि विप्रर्षे | ९ | ३ | a |
| भगवा नम्बुजेक्षणः | ७ | ३४ | d |
| भगवा नहरद्धरं | ३ | २३ | d |
| भगवा नात्म मायया | २ | ३० | b |
| भगवा निति शब्द्यते | २ | ११ | d |
| भगवा नुत्ससर्ज गां | १८ | ६ | b |
| भगवा नुत्सिसृक्षति | १४ | ८ | d |
| भगवां स्तत्र बन्धूनां | ११ | २१ | a |
| भग्नोरुदण्डे धृतराष्ट्रपुत्रे | ७ | १३ | d |
| भजन्ति ह्यनसूयवः | २ | २६ | d |
| भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि | ५ | १७ | b |
| भजेत तत्पादसरोजगन्धं | ३ | ३८ | d |
| भद्राश्वं केतुमालञ्च | १६ | १२ | a |
| भयं नो बुद्धिमोहनं | १४ | १० | d |
| भर्तुश्च विप्रियं वीर | ७ | ३९ | c |
| भर्तुः प्रियं द्रौणि रिति स्म पश्यन् | ७ | १४ | a |
| भर्तृदर्शनलालसाः | ११ | ३ | d |
| भवतश्चात्मतोषणं | ६ | ३७ | d |
| भवतः कच्चिदात्मना | ५ | २ | b |
| भवताञ्च यदप्रियं | ९ | १४ | b |
| भवतानुदितप्रायं | ५ | ८ | a |
| भवता यद्विनिश्चितं | १ | ९ | b |
| भवतो दर्शनं यत् स्यात् | ८ | २५ | c |
| भवतोऽदर्शनं यर्हि | ८ | ३८ | c |
| भवत्सु कृष्णं समनुव्रतेषु | १९ | २० | b |
| भवन्तश्चामरोत्तमं | १६ | ३१ | b |
| भवद्भि र्गौरवं कुलं | ७ | ४६ | b |
| भवद्भिर्लोकमङ्गलं | २ | ५ | b |
| भवद्भि स्तीर्थकाः कृताः | १९ | ३२ | d |
| भवद्विधा भागवताः | १३ | १० | a |
| भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजं | ८ | ३६ | d |
| भवसिन्धु प्लवो दृष्टः | ६ | ३५ | c |
| भवाय न स्त्वं भव विश्व भावन | ११ | ७ | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भवान् हि वेद तत्सर्वं | १६ | २५ | a |
| भवाय रूपाणि दधद्युगे युगे | १० | २५ | d |
| भविष्यति न सन्देहः | १२ | १७ | c |
| भवेद्याव दिहेश्वरः | १३ | ४९ | d |
| भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानां | ८ | ३५ | a |
| भस्मन् हुतं कुहकराद्ध मिवोप्त मूष्यां | १५ | २१ | d |
| भारतव्यपदेशेन | ४ | २९ | a |
| भारतं चोत्तरान् कुरून् | १६ | १२ | b |
| भारद्वाजो गौतमः पिप्पलादः | १९ | १० | b |
| भारावतारणायान्ये | ८ | ३४ | a |
| भावनिर्जितचेतसा | ६ | १७ | b |
| भावयत्येष सत्त्वेन | २ | ३४ | a |
| भावयन्ति च यन्मिथः | १५ | २४ | d |
| भिक्षुभि र्विप्रवसिते | ६ | २ | a |
| भिक्षुभि र्विप्रवसिते | ६ | ५ | a |
| भिद्यिते हृदयग्रन्थि. | २ | २१ | a |
| भीमसेन तवानुजः | १४ | ७ | b |
| भीमापवर्जितं पिण्ड | १३ | २२ | c |
| भीष्मं ब्रह्मणि निष्कले | ९ | ४४ | b |
| भुङ्क्ते भूतेषु तद्गुणान् | २ | ३३ | d |
| भुवो धर्मस्य कारणात् | १२ | २६ | d |
| भुवो नाव इवोदधौ | ८ | ३४ | b |
| भुवो भारजिहीर्षया | ७ | २५ | b |
| भूतद्रुह मसत्तमं | १७ | ११ | d |
| भूतलेऽनुपत न्यस्मिन् | १७ | ८ | c |
| भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः | २ | ३३ | b |
| भूतहत्यां तथैवैकां | ८ | ५२ | c |
| भूतं नभोलिङ्ग मलिङ्ग मीश्वरं | ६ | २६ | b |
| भूताना मिति निश्चयः | १७ | २३ | d |
| भूतानां चन्मिथः कलिः | ८ | २८ | d |
| भूतानां श्रेयसि द्विजाः | ४ | २६ | b |
| भूतेषु कालस्य गतिं | ८ | ४ | c |
| भूतेषु च तथा पुमान् | २ | ३२ | d |
| भूतेषु चान्तर्हित आत्मतन्त्रः | ३ | ३६ | c |
| भूत्वाऽनोपशमोपेतं | ३ | ९ | c |
| भूभारः क्षपितो येन | १५ | ३५ | c |
| भूभारान् सञ्जहार ह | १५ | २६ | d |
| भूयः पप्रच्छ तं ब्रह्मन् | ६ | १ | c |
| भूयः पाण्डु रिवौजसा | १२ | १२ | d |
| भूरीणि भूरिकर्माणि | १ | ११ | a |
| भृशं शूद्रपदाहतं | १७ | ३ | b |
| भेजिरे मुनयोऽथाग्रे | २ | २५ | a |
| भेजे खगेन्द्रभगवान्मधुमूलं | १८ | १६ | d |
| भौतिकानाञ्च भावानां | ४ | १७ | a |
| भ्रष्टतेजा विभासि मे | १४ | ३९ | b |
| भ्रष्टश्रियो निरानन्दाः | १४ | २० | c |
| भ्रातरः कृतनिश्चयाः | १५ | ४५ | b |
| भ्रातरोऽच्युतचोदिताः | १२ | ३३ | b |
| भ्रातुर्ज्येष्ठस्य श्रेयस्कृत् | १३ | १४ | c |
| भ्रातृभिर्लोकपालाभैः | १३ | १६ | c |
| भ्रात्रा राज्ञाऽभिकल्पितः | १५ | १ | b |
| भ्रामयन्तं गदां शुद्धः | १२ | ९ | f |
| **म** | | | |
| मकरन्दलिहां सतां | १६ | ६ | b |
| मङ्गलाय च लोकानां | १४ | ३५ | a |
| मणिं जहार मूर्धन्यं | ७ | ५५ | c |
| मतञ्च वासुदेव त्व | ७ | ३२ | c |
| मति र्मधुपतेऽसकृत् | ८ | ४२ | b |
| मति र्मयि निबद्धेयं | ६ | २५ | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| मत्कामशशनकै स्साधु | ६ | २३ | c |
| मत्तं प्रमत्त मुन्मत्तं | ७ | ३६ | a |
| मत्सरो मन्यु रेवच | १८ | २९ | d |
| मत्स्यान् सारस्वता नथ | १० | ३४ | d |
| मथुरायां तथा वज्रं | १५ | ३९ | a |
| मथ्नतां मन्दराचलं | ३ | १६ | b |
| मदोन्मथितचेतसां | १५ | २३ | b |
| मधुभोजदशार्हार्ह- | ११ | ११ | a |
| मधुभोजदशार्हार्ह- | १४ | २५ | c |
| मनसा धारयामासुः | १५ | ४६ | c |
| मनस्विनामिव सत्सम्प्रहारः | १३ | २९ | d |
| मनःकान्तं शुचापहं | ६ | १९ | b |
| मनुपुत्त्रा महौजसः | ३ | २७ | b |
| मनोबुद्धि मुपारतं | १८ | २६ | b |
| मनोवागृदृष्टिवृत्तिभिः | ९ | ४३ | b |
| मन्त्रमूर्ति मम्मूर्तिकं | ५ | ३८ | b |
| मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः | १ | १० | d |
| मन्दस्य मन्दप्रज्ञस्य | १६ | ९ | a |
| मन्दं जहास वैकुण्ठः | ८ | ४४ | c |
| मन्दा स्सुमन्द मतयः | १ | १० | c |
| मन्य एतै र्महोत्पातैः | १४ | २१ | a |
| मन्यमानश्चुकोप ह | १८ | २८ | d |
| मन्यमानस्य खिद्यतः | ४ | ३२ | b |
| मन्यसे तेऽन्यथा न रुक् | १४ | ४४ | d |
| मन्ये तद्दर्शनं खिलं | ५ | ८ | d |
| मन्ये त्वां काल मीशानं | ८ | २८ | a |
| मन्ये त्वां विषये वाचां | ४ | १३ | c |
| मम दृशि गोचर एष आविरात्मा | ९ | ४१ | d |
| मम निशितशरैः विभिद्यमान- | ९ | ३४ | c |
| मयैवोभय माप्नातं | ७ | ५३ | c |
| मय्यात्मजेऽनन्यगतौ | ६ | ६ | c |
| मरीचिमिश्रा ऋषयः | ६ | ३१ | c |
| मरुधन्व मतिक्रम्य | १० | ३५ | a |
| मर्त्याना ङ्किमुताऽऽशिषः | १८ | १३ | d |
| मर्त्याना ममृतं हि नः | १८ | ११ | d |
| मर्त्याना मृतमिच्छतां | १६ | ७ | b |
| मलयस्येव चन्दनं | ८ | ३२ | d |
| महत्तमाना मभिधानयोगः | १८ | १८ | d |
| महत्तमानुग्रहणीयशीलाः | १९ | १३ | b |
| महत्तमैकान्तपरायणस्य | १८ | १४ | b |
| महत्तमैकान्तपरायणस्य | १८ | १५ | b |
| महत्तमैकान्तपरायणस्य | १८ | १९ | b |
| महत्सु यां या मुपयामि सृष्टिं | १९ | १६ | c |
| महदादिभि रात्मनि | ३ | ३० | d |
| महद्गुणत्वाद्यमनन्त माहुः | १८ | १९ | d |
| महद्भि रितरा न्विभुः | १५ | २६ | b |
| महर्षयो वै समुपागता ये | १९ | १९ | a |
| महाघनानि वासांसि | १६ | १५ | c |
| महानुभावा भ्युदयोऽधिगम्यतां | ५ | २१ | d |
| महानुभावा मुनय स्सशिष्याः | १९ | ८ | b |
| महान्तोऽदन्त्यणीयसः | १५ | २५ | b |
| महान्तो बलिनो मिथः | १५ | २५ | d |
| महापौरुषिका इव | १४ | ३६ | d |
| महाभागवतो महान् | १२ | १७ | d |
| महाराजं परीक्षितं | ३ | ४२ | d |
| महासने सोपविवेश पूजितः | १९ | २९ | d |
| महिमा ह्यनुवर्णितः | ५ | ९ | d |
| महिम्नि स्वे महीयते | ३ | ३४ | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| महिषी भ्रातरो मही | १२ | ५ | b |
| महीञ्च समवर्धयत् | १७ | ४२ | d |
| महीपति स्त्वथ तत्कर्म गर्ह्यं | १९ | १ | a |
| महीं महाभागवतः शशास ह | १६ | १ | b |
| मा कञ्चन शुचो राजन् | १३ | ४० | a |
| माता शिशूनां निधनं सुतानां | ७ | १५ | a |
| मातु र्गर्भगतो वीरः | १२ | ७ | a |
| मातुल स्सानुजः कच्चित् | १४ | २६ | c |
| मातुलान्य स्सहात्मजाः | १४ | २७ | b |
| मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः | ६ | ३५ | b |
| मानिना निर्व्यलीकेन | ४ | २८ | c |
| माभूवं स्त्वादृशा राष्ट्रे | १७ | १२ | c |
| मा भङ्ग सारमेयोऽयं | १४ | १२ | c |
| मा मंस्था ह्येतदाश्चर्यं | ८ | १६ | a |
| मा माहागोचरो गिरां | ६ | २१ | b |
| मा मां द्रष्टु मिहार्हति | ६ | २२ | b |
| मा मे गर्भो निपात्यतां | ८ | १० | d |
| माययोपात्तविग्रहं | ९ | १० | d |
| मायागुणै र्विरचितं | ३ | ३० | c |
| मायाजवनिकाच्छन्नं | ८ | १९ | a |
| मायाञ्च तदपाश्रयां | ७ | ४ | d |
| मायानुभाव मविदं | ५ | ३१ | c |
| माया मोहितचेतसः | ७ | २४ | b |
| माया वैशारदी मतिः | ३ | ३४ | b |
| मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या | ७ | २३ | c |
| मा रोदी दस्य जननी | ७ | ४७ | a |
| मा रोदी रम्ब भद्रं ते | १७ | ९ | c |
| मासान् कतिपयान् हरिः | १० | ७ | b |
| मा सौरभेयानुशुचः | १७ | ९ | a |
| मां श्रान्तवाह मरयो रथिनो भुविष्ठं | १५ | १७ | c |
| मिथो निघ्नन्ति भूतानि | १५ | २४ | c |
| मिथो वधेनोपरतो निरायुधः | ११ | ३४ | d |
| मिषतो दशमासस्य | १२ | ११ | c |
| मुकुन्दमनसो द्विजाः | १२ | ६ | b |
| मुकुन्दसेवया यद्वत् | ६ | ३६ | c |
| मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिं | ५ | १९ | b |
| मुक्तकण्ठो रुरोद ह | १८ | ३८ | d |
| मुक्तसङ्गस्य जायते | २ | २० | d |
| मुक्तसङ्गः पदं हरेः | १२ | २७ | d |
| मुक्तादामविभूषितं | १० | १७ | b |
| मुखाम्बुजो ध्यानपथश्चतुर्भुजः | ९ | २४ | d |
| मुच्यतां मुच्यता मेषः | ७ | ४३ | c |
| मुच्यते कामकर्मभिः | ९ | २३ | d |
| मुदा मुहुर्दुन्दुभयश्च नेदुः | १९ | १८ | d |
| मुनयः प्रशमायनाः | १ | १५ | b |
| मुनयः साधु पृष्टोऽहं | २ | ५ | a |
| मुनिगणनृपवर्यसङ्कुलेऽन्तः | ९ | ४१ | a |
| मुनिर्दिव्येन चक्षुषा | ४ | १८ | b |
| मुनिवर्यानुकीर्तिताः | ५ | ९ | b |
| मुनिव्रतो मुक्तसमस्तसङ्गः | १९ | ७ | d |
| मुनिं नृपो भागवतोऽभ्युपेत्य | १९ | ३१ | b |
| मुनीना ममलात्मनां | ८ | २० | b |
| मुनीनां दीर्घसत्रिणां | ४ | १ | b |
| मुनेर्व्यासिसुता दसौ | १२ | २८ | b |
| मुने स्सुतोक्तो निर्क्रीति स्तक्षकाख्यः | १९ | ४ | b |
| मुमुक्षवो घोररूपान् | २ | २६ | a |
| मुमुचुः प्रेमबाष्पौघं | १३ | ६ | a |
| मुमुदे परया श्रिया | १३ | १६ | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| मुमोच निर्विद्य कुतः कलेवरं | ४ | १२ | d |
| मुषितोऽस्मि महात्मभिः | १३ | ३६ | d |
| मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः | १ | ३ | d |
| मुहूर्तं दुःखितोऽभवत् | ९ | ४६ | d |
| मुह्यन्ति कवयोऽपि हि | ९ | १६ | d |
| मूर्छयित्वा हरिकथां | ६ | ३३ | c |
| मृगाननुगतः श्रान्तः | १८ | २४ | c |
| मृगेन्द्र इव विक्रान्तो | १२ | २२ | a |
| मृडयन्ति युगे युगे | ३ | २८ | d |
| मृतकः प्रोच्यते यथा | १५ | ६ | d |
| मृत्या वपानं सोत्सर्गं | १५ | ४१ | c |
| मृत्युदूतः कपोतोऽयं | १४ | १४ | a |
| मृत्युश्शामित्रकर्मणि | १६ | ७ | d |
| मृदङ्गशङ्खभेर्यश्च | १० | १५ | a |
| मृधे मृधेऽनेक महारथास्त्रतः | ८ | २४ | c |
| मृषासमाधि राहोस्वित् | १८ | ३१ | c |
| मेघगम्भीरया वाचा | १७ | ४ | c |
| मेघातिथि र्केवल आर्ष्टिषेणः | १९ | १० | a |
| मेहन्त मिव बिभ्यतं | १७ | २ | b |
| मैत्रेय और्वः कवषः कुम्भयोनिः | १९ | १० | c |
| मैत्रेया दात्मनो गतिं | १३ | १ | b |
| मैत्र्यस्तु सर्वत्र नमो द्विजेभ्यः | १९ | १६ | d |
| मैनं पार्थार्हसि त्रातुं | ७ | ३५ | a |
| मोक्षधर्मान् विभागशः | ९ | २७ | b |
| मोचिता यत्समातृकाः | १३ | ८ | d |
| मोहयन्निव मायया | ८ | ४४ | d |
| मोहयन्मायया लोकं | ९ | १८ | c |
| मोहिन्या मोहयन् स्त्रिया | ३ | १७ | d |
| म्रियमाणस्य सर्वथा | १९ | ३७ | d |

य

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| य आगस्कृन्निरङ्कुशः | १७ | १५ | b |
| य इदं मायया देव्या | ८ | १६ | c |
| य उत्तमश्लोकपरायणा जनाः | ४ | १२ | b |
| य एक आसी दविशेष आत्मनि | १० | २१ | b |
| य एक ईशो जगदात्मलीलया | १० | २४ | c |
| य एतत्प्रयतो नरः | ३ | २९ | b |
| यक्ष्यमाणोऽश्वमेधेन | १२ | ३२ | a |
| यच्छृण्वतां रसज्ञानां | १ | १९ | c |
| यच्छ्रोतव्य मथो जप्यं | १९ | ३८ | a |
| यजेत यज्ञपुरुषं | ५ | ३८ | c |
| यज्ञेशः सौकरं वपुः | ३ | ७ | d |
| यज्ञेश्वरं यज्ञवितानविज्ञाः | १७ | ३३ | d |
| यज्ञै स्समयजद्धरिं | १२ | ३४ | d |
| यत आत्माऽगुणाश्रयः | १८ | ५० | d |
| यतस्स्युः पुरुषर्षभ | १७ | १८ | b |
| यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः | ५ | २० | b |
| यतो भक्ति रघोक्षजे | २ | ६ | b |
| यत्कर्तव्यं नृभिः प्रभो | १९ | ३८ | b |
| यत्कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः | ६ | ३९ | b |
| यत्कृतः कृष्ण सम्प्रश्नः | २ | ५ | c |
| यत्तत्सङ्गाभमूर्धनि | १५ | ३० | b |
| यत्त त्सान्त्वयता प्रियां | ७ | ५४ | b |
| यत्तद्वह्न सनातनं | ५ | ४ | b |
| यत्तेजसाऽथ भगवान् युधि शूलपाणिः | १५ | १२ | a |
| यत्तेजसा दुर्विषहेण गुप्ताः | १८ | ४२ | c |
| यत्तेजसा नृपशिरोऽङ्घ्रिमहन्म खार्थे | १५ | ९ | a |
| यत्पादपद्मभवाय भजन्ति भव्याः | १५ | १७ | b |
| यत्पादशुश्रूषण मुख्यकर्मणा | १४ | ३७ | a |
| यत्पादसंश्रया स्सूत | १ | १५ | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता | १६ | ३२ | d |
| यत्पृष्टोऽहं त्वयाऽनघ | ६ | ३७ | b |
| यत्र क्वचन वत्स्यामि | १७ | ३६ | a |
| यत्र क्वा भद्रमभूदमुष्य | ५ | १७ | c |
| यत्र देवव्रतोऽपतत् | ९ | १ | d |
| यत्र धर्मसुतो रजा | ९ | १५ | a |
| यत्र प्रसक्तो भय माशु धत्ते | १९ | १४ | d |
| यत्र मृत्युः परस्परं | ८ | ९ | d |
| यत्राधर्मश्चतुर्विधः | १७ | ३८ | d |
| यत्रानुरक्ता स्सहसैव धीराः | १८ | २२ | a |
| यत्रेमे सदसद्रूपे | ३ | ३३ | a |
| यत्रैव नियतो वत्स्ये | १७ | ३७ | c |
| यत्रैषा सात्वती श्रुतिः | ४ | ७ | d |
| यत्सन्निधावहमु खाण्डव मग्नयेऽदाम् | १५ | ८ | a |
| यत्संश्रया हुपदगेह मुपागतानां | १५ | ७ | a |
| यथा क्रीडोपस्करणां | १३ | ४२ | a |
| यथा गावो नसि प्रोताः | १३ | ४१ | a |
| यथा देवो रमाश्रयः | १२ | २३ | d |
| यथा धर्मादयश्चार्थाः | ५ | ९ | a |
| यथाऽधीतं यथामति | ३ | ४४ | d |
| यथा न कुर्यां पुन रेव मद्धा | १९ | २ | d |
| यथा नभसि मेघौघः | ३ | ३१ | a |
| यथाऽनुभूतं क्रमशः | १३ | १२ | c |
| यथा पङ्केन पङ्काम्भः | ८ | ५२ | a |
| यथा बुद्धि स्तदाश्रया | ११ | ३८ | d |
| यथाऽब्जखण्डे कलहंस उत्स्वनः | ११ | २ | d |
| यथा मत्स्यादिरूपाणि | १५ | ३५ | a |
| यथाव दघकारिषु | १३ | १५ | b |
| यथावर्णं यथाश्रमं | ९ | २६ | b |
| यथा विदासिनः कुल्याः | ३ | २६ | c |
| यथा विष्वुपसङ्गम्य | ११ | २१ | c |
| यथाऽहमेत त्सदसत्स्वमायया | ५ | २७ | c |
| यथाऽहं मृतवत्साऽऽर्ता | ७ | ४७ | c |
| यथाश्रुत मचित्तयं | ६ | १६ | d |
| यथा हि सूत्या मभिजातकोविदाः | १६ | १ | c |
| यथा हृषीकेश खलेन देवकी | ८ | २३ | a |
| यथा ह्यवहितो वह्निः | २ | ३२ | a |
| यथा ह्यौशीनरः शिबिः | १२ | २० | b |
| यथेदानीं गदाधर | ८ | ३९ | b |
| यदत्र क्रियते कर्म | ५ | ३५ | a |
| यदधर्मकृतः स्थानं | १७ | २२ | c |
| यदनुध्यासिना युक्ताः | २ | १५ | a |
| यदपि द्वारकौकसां | ११ | २५ | b |
| यदाऽऽत्मनोऽङ्गमाक्रीडं | १४ | ८ | c |
| यदा परीक्षि त्कुरुजाङ्गलेऽशृणोत् | १६ | १० | a |
| यदा मुकुन्दो भगवा निमां महीं | १५ | ३६ | a |
| यदा मृधे कौरवसृञ्जयानां | ७ | १३ | a |
| यदाऽशरण मात्मानं | ७ | १९ | a |
| यदासी त्तन्निबोध मे | १६ | १७ | d |
| यदाह भगवान् शुकः | ४ | २ | d |
| यदा ह्यधर्मेण तमोधियो नृपाः | १० | २५ | a |
| यदि कृष्ण कथाश्रयं | १६ | ५ | f |
| यदीश्वरवशं जगत् | १३ | ४० | b |
| यदीश्वरे भगवति | ५ | ३२ | c |
| यदुत्तमश्लोक गुणानुवर्णनं | ५ | २२ | d |
| यदुत्तमश्लोक गुणभिरूपं | १९ | १९ | d |
| यदुपुर्याः क्वपिध्वजः | १४ | २२ | d |
| यदु प्रवीरा ह्यकुतोभया मुहुः | १४ | ३८ | b |
| यदुभिस्सह पाण्डवाः | ८ | ३८ | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| यदून् यदुभि रन्योन्यं | १५ | २६ | c |
| यदृच्छया गा मटमानोऽनपेक्षः | १९ | २५ | b |
| यदेष पुंसा मृषभः श्रियः पतिः | १० | २६ | c |
| यदोः प्रियस्यान्ववाये | ८ | ३२ | c |
| यद्दोषाद्यात्यधः पुमान् | ७ | ३७ | d |
| यद्दोष्सु मा प्रणिहितं गुरुभीष्मकर्ण- | १५ | १६ | a |
| यद्दाम्भवः कुरुबलाब्धि मनन्तपारं | १५ | १४ | a |
| यद्बाहुदण्डगुप्तायां | १४ | ३६ | a |
| यद्बाहुदण्डाभ्युदयानुजीविनः | १४ | ३८ | a |
| यद्बिभेति स्वयं भयं | १ | १४ | d |
| यद्ब्रह्मबन्धोश्शिर आततायिनः | ७ | १६ | b |
| यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगतः | ११ | ३३ | a |
| यद्यप्यस्त्रं ब्रह्मशिरः | ८ | १५ | a |
| यद्यप्यात्महनं महान् | ७ | ४० | d |
| यद्यूयं धर्मनन्दनाः | ९ | १२ | b |
| यद्योषोपरता देवी | ३ | ३४ | a |
| यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितः | ५ | १५ | c |
| यद्वाम्ब ते भूरिभरावतार- | १६ | २३ | a |
| यद्वासुदेवेऽखिललोकनाथे | ३ | ३९ | b |
| यद्विजिज्ञासया युक्ता | ९ | १६ | c |
| यत्रष्टनाथस्य वसो र्विलुम्पकात् | १८ | ४४ | b |
| यन्नाम विवशो गृणन् | १ | १४ | b |
| यन्मन्यसे ध्रुवं लोकं | १३ | ४३ | a |
| यन्मां धर्मानुपृच्छसि | १६ | २५ | b |
| यन्मेऽसूंस् त्यजतः साक्षात् | ९ | २२ | c |
| यन्मोचिता स्तदनयन् बलि मध्वरे ते | १५ | ९ | d |
| यमादिभि र्योगपथैः | ६ | ३६ | a |
| य मिह निरीक्ष्य हता गता स्सरूपं | ९ | ३९ | d |
| ययाति रिव धार्मिकः | १२ | २४ | d |
| ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति | २ | ६ | d |
| यया सम्मोहितो जीवः | ७ | ५ | a |
| ययाऽहरद्भुवो भारं | १५ | ३४ | a |
| ययौ द्वारवतीं ब्रह्मन् | १२ | ३६ | c |
| ययौ यादृच्छिको मुनिः | ६ | ३८ | d |
| यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान् | ११ | ९ | a |
| यशश्च त्रिदिवं गतं | १२ | ५ | d |
| यशः कलिमलापहं | १ | १६ | d |
| यशो भगवतोऽमलं | ५ | ८ | b |
| यशोवितनिता स्वानां | १२ | २० | c |
| यश्श्रद्धयैत द्भगवत्प्रियाणां | १५ | ५१ | a |
| यस्तत्स्त्रियोऽकृत हतेशविमुक्तकेशाः | १५ | १० | d |
| यस्ते मानिनि पुत्तहा | ७ | ३८ | d |
| यस्त्वं शंससि कृष्णस्य | १८ | ११ | c |
| यस्मान्न स्सम्पदो राज्यं | १४ | ९ | a |
| यस्मिन्नहनि यर्ह्येव | १८ | ६ | a |
| यस्मिन्नहिंसोपशमः स्वधर्मः | १८ | २२ | d |
| यस्मिन्प्रतिश्लोक मबद्धवत्यपि | ५ | ११ | b |
| यस्मिन्हरि र्भगवा निज्यमानः | १७ | ३४ | a |
| यस्य क्षणवियोगेन | १५ | ६ | a |
| यस्य ज्ञान मदाच्छुकः | १२ | ३ | d |
| यस्य पालयतः क्षोणीं | १७ | ४५ | c |
| यस्य राष्ट्रे प्रजा स्सर्वाः | १७ | १० | a |
| यस्याङ्घ्रिरेणुं जुषतेऽनभीप्सोः | १८ | २० | d |
| यस्यानुवृत्त्या कृतिनो बभूविम | ११ | ७ | d |
| यस्याम्भसि शयानस्य | ३ | २ | a |
| यस्यावतारो भूतानां | १ | १३ | c |
| यस्यावयवसंस्थानैः | ३ | ३ | a |
| यस्यां वै श्रूयमाणायां | ७ | ७ | a |
| यस्यां शांशेन सृज्यन्ते | ३ | ५ | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकै र्न शेकुः | ११ | ३६ | d |
| यस्त्वकात्परतो वेह | १३ | २६ | a |
| यस्त्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेकं | २ | ३ | a |
| यं प्रव्रजन्त मनुपेत मपेत कृत्यं | २ | २ | a |
| यं मन्यसे मातुलेयं | ९ | २० | a |
| याजयित्वा द्विजैर्नृपं | १२ | ३५ | b |
| याजयित्वाऽश्वमेधै स्तं | ८ | ६ | a |
| या ते दशाऽश्रुकलिलाञ्जन सम्भ्रमाक्षं | ८ | ३१ | b |
| यानि वेदविदां श्रेष्ठः | १ | ७ | a |
| यानै स्तद्दर्शनोत्सुकाः | ११ | १९ | b |
| या याः कथा भगवतः | १८ | १० | a |
| यावतः कृतवान् प्रश्नान् | १३ | २ | a |
| यावदास्त इहान्तकः | १६ | ८ | b |
| याव दीशो महा नुर्व्यां | १८ | ५ | c |
| यावद्भयं रुद्रभयाद्यथाऽर्कः | ७ | १८ | d |
| याव द्दधार शूद्रत्वं | १३ | १५ | c |
| या वीर्यशुल्केन हृता स्वयंवरे | १० | २९ | a |
| या वै लसच्छ्री तुलसीविमिश्र- | १९ | ६ | a |
| याश्चाहृता भौमवधे सहस्रशः | १० | २९ | d |
| यासां गृहात्पुष्कर लोचनः पतिः | १० | ३० | c |
| यास्य त्यद्धाऽकुतोभयं | १२ | २८ | d |
| यास्य त्ययं भागवत प्रधानः | १९ | २१ | d |
| युक्त मार्तभयं वचः | १७ | १७ | b |
| युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते | २ | २३ | b |
| युगधर्म व्यतिकरं | ४ | १६ | c |
| युधि तुरगरजो विधूम्रविष्वक् | ९ | ३४ | a |
| युधिष्ठिर स्तत्परिसर्पणं बुधः | १५ | ३७ | a |
| युधिष्ठिर स्तदाकर्ण्य | ९ | २५ | a |
| युधिष्ठिरं प्रीतमना बभूव ह | १० | २ | d |
| युधिष्ठिरः कारयित्वा | ९ | ४६ | c |
| युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः | १० | १ | b |
| युधिष्ठिरो लब्धराज्यः | १३ | १६ | a |
| युधिष्ठिरो वचस्तस्य | १३ | ५९ | c |
| युयुत्सु र्गौतमो यमौ | १० | ९ | d |
| युयुधानो धनञ्जयः | ७ | ५० | b |
| युवैषतोत्स्रष्टु महो सहासुभिः | ४ | ११ | d |
| युष्मत्कृते बहून् क्लेशान् | ९ | १३ | c |
| यूयं सत्राय दीक्षिताः | १७ | ४५ | d |
| ये च शत्रु जिदादयः | १४ | २९ | b |
| येचाऽन्ये याश्च योषितः | ७ | ५० | d |
| येचाऽन्ये सात्वतर्षभाः | १४ | ३२ | d |
| येऽध्यासनं राजकिरीटजुष्टं | १९ | २० | c |
| येन गच्छन्ति तत्पदं | ५ | ३१ | d |
| येन चैवाभिपन्नोऽयं | १३ | २० | a |
| येन मेऽपहृतं तेजः | १५ | ५ | c |
| येनाऽऽत्मा सम्प्रसीदति | १ | ११ | f |
| येनाऽऽत्मा सुप्रसीदति | २ | ५ | d |
| येनापवर्गाख्य मदभ्रबुद्धिः | १८ | १६ | b |
| येनैवाऽसौ न तुष्येत | ५ | ८ | c |
| येनैवाहं भगवतः | ५ | ३१ | a |
| येषां गुणगणैः कृष्णः | १७ | १७ | c |
| येषां न चान्यद्भवतः पदाम्बुजात् | ८ | ३७ | c |
| येषां संस्मरणा त्पुंसां | १९ | ३३ | a |
| यैः कोपितं ब्रह्मकुलं | ७ | ४८ | a |
| योगक्षेमं ममेच्छती | ६ | ७ | b |
| योगनिद्रां वितन्वतः | ३ | २ | b |
| योगिनां परमं गुरुं | १९ | ३७ | b |
| योगेश्वराखिल गुरो भगवन्नमस्ते | ८ | ४३ | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| योगेश्वरा ये भवपाशमुक्ताः | १८ | १४ | d |
| योऽनन्तशक्ति र्भगवाननन्तः | १८ | १९ | c |
| यो नो जुगोप वन एत्य दुरन्तकृच्छ्रात् | १५ | ११ | a |
| यो भीष्मकर्ण गुरुशल्यचमूष्वदभ्र- | १५ | १५ | a |
| योऽमायया सन्ततयाऽनुवृत्त्या | ३ | ३८ | c |
| यो योगिन-श्छन्दमृत्योः | ९ | २९ | c |
| यो वृको नृषु वर्तते | १८ | ८ | d |
| यो वै द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टः | १८ | १ | a |
| यो वै ममातिभर मासुरवंश राज्ञां | १६ | ३४ | a |
| योषा दारुमयी यथा | ६ | ७ | d |
| योषिन्मूढा च किङ्करी | ६ | ६ | b |
| योऽसावनागस स्सुप्तान् | ७ | ३५ | c |
| योऽहन् सुप्तान् शिशून् वृथा | ७ | ५१ | d |
| रजसा विसृजं स्तमः | १४ | १६ | b |
| रज स्तमः प्रकृतयः | २ | २७ | a |
| रज स्सत्त्वतमो मलः | १३ | ५३ | d |
| रजःपूतसरिज्जले | ८ | २ | d |
| रजो वैरञ्च पञ्चमं | १७ | ३९ | d |
| रति मुद्वहता दद्धा | ८ | ४२ | c |
| रतिः प्रसङ्गश्च तदाश्रयेषु | १९ | १६ | b |
| रत्नदण्डं गुडाकेशः | १० | १७ | c |
| रथं मृगेन्द्रध्वजमाश्रितः पुरात् | १६ | ११ | b |
| रथाङ्गपाणा वय मङ्ग लोकः | १८ | ४३ | b |
| रथेन स धनञ्जयः | ९ | ३ | b |
| रथ्यापणकचत्वरां | ११ | १४ | b |
| रन्तिदेव इवोदारः | १२ | २४ | c |
| रमय त्यातुरं जगत् | ६ | ३९ | d |
| रविकरगौरवराम्बरं दधाने | ९ | ३३ | b |
| रविं विनाऽक्ष्णोरिव न स्तवाच्युत | ११ | ९ | d |
| रवे र्दीप मिवादृताः | ११ | ४ | b |
| रसातलगतां महीं | ३ | ७ | b |
| राज न्निर्गम्यतां शीघ्रं | १३ | १८ | c |
| राजन्यवर्यरथमण्डलमण्डितासु | १५ | १५ | b |
| राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य- | ८ | ४३ | b |
| राजन्यै रजितात्मभिः | ७ | ४८ | b |
| राजमार्गं गते कृष्णे | ११ | २४ | a |
| राजर्षयश्च तत्राऽऽसन् | ९ | ५ | c |
| राजर्षि र्हयमेधयाट् | १८ | ४६ | d |
| राजर्षिवर्या अरुणादयश्च | १९ | ११ | b |
| राजर्षीणां जनयिता | १२ | २६ | a |
| राजर्षे र्मुनिना सह | ४ | ७ | b |
| राजं स्त्वयाभिपृष्टानां | १५ | २२ | a |
| राजा तमर्हयाञ्चक्रे | १३ | ६ | c |
| राजा धर्मसुतो राज्ञाः | ७ | ४९ | c |
| राजानं प्रश्रयान्वितं | १२ | १५ | b |
| राजा लब्धधनो दध्यौ | १२ | ३२ | c |
| राजा लोकपति र्गुरुः | १७ | ४१ | d |
| राज्ञः प्रत्यागम दृह्यन् | १४ | २२ | c |
| राज्ञाघं प्रापितं तातं | १८ | ३२ | c |
| राज्ञाऽरण्यं विविक्षता | १७ | ४३ | d |
| राज्ञां कुलं ब्राह्मणपादशौचात् | १९ | १३ | c |
| राज्ञां कृष्णानुवर्तिनां | १७ | २२ | d |
| राज्ञां स्वयंवरमुखे स्मरदुर्मदानां | १५ | ७ | b |
| राज्ञो हि परमो धर्मः | १७ | १६ | a |
| रातो बोऽनुग्रहार्थाय | १२ | १६ | c |
| रामकृष्णभुजाश्रयाः | १४ | ३३ | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| रामकृष्णा विति भुवः | ३ | २३ | c |
| रामश्चाद्भुतविक्रमः | ११ | १६ | d |
| रामो दाशरथि र्यथा | १२ | १९ | d |
| राष्ट्राणि वा तै रवरोपितानि | १६ | २२ | b |
| रुचे र्यज्ञोऽभ्यजायत | ३ | १२ | b |
| रुदन्त्यश्रुमुखा गावः | १४ | १९ | c |
| रूपं भगवतो यत्तत् | ६ | १९ | a |
| रूपं स जगृहे मात्स्यम् | ३ | १५ | a |
| रेजे मधुपतिः पथि | १० | १८ | d |
| रेणुर्वा पार्थिवोऽनिले | ३ | ३१ | b |
| रेमे स्त्रीरत्नकूटस्थः | ११ | ३५ | c |
| रोदिम्यश्रुमुखी मुहुः | ७ | ४७ | d |
| रोमोत्सवो मम यदङ्घ्रिविटङ्कितायाः | १६ | ३५ | d |
| रौरवेणाजिनेन च | १८ | २७ | b |

**ल**

| | | | |
|---|---|---|---|
| लक्षये तत्र तत्राऽपि | १७ | ३६ | c |
| लक्षये रुदतो मम | १४ | १३ | d |
| लब्धापचितय स्सर्वे | १२ | २९ | c |
| लब्धा सभा मयकृताद्भुतशिल्पमाया | १५ | ८ | c |
| लब्ध्वा हरौ भक्ति मुपैति सिद्धिं | १५ | ५१ | d |
| लभेत वाताहतनौ रिवास्पदं | ५ | १४ | d |
| ललितगति विलास वल्गुहास- | ९ | ४० | a |
| लसत्कुण्डलनिर्भात- | ११ | १९ | c |
| लाभो जीवेत यावता | २ | १० | b |
| लीन प्रकृति नैर्गुण्यात् | १५ | ३१ | c |
| लीलया दधतः कलाः | १ | १७ | d |
| लीलावतारानुरतः | २ | ३४ | c |
| लीलां विदधतः स्वैरं | १ | १८ | c |
| लोकव्यतिकरञ्च तं | ७ | ३२ | b |
| लोकस्याजानतो विद्वान् | ७ | ६ | c |
| लोकं परं विरजस्कं विशोकं | १९ | २१ | c |
| लोका न्वै लोकभावनः | २ | ३४ | b |
| लोकान्स मां व्यसृज दुत्स्मयतीं तदन्ते | १६ | ३३ | d |
| लोकाश्च यदनुग्रहात् | १४ | ९ | d |
| लोका स्सपाला यस्येमे | १३ | ४० | c |
| लोको ह्यप्रियदर्शनः | १५ | ६ | b |
| लोभाद्यधर्मप्रकृतिं | १४ | ५ | c |
| लोभोऽनृतं चौर्य मनार्य मंहः | १७ | ३२ | c |

**व**

| | | | |
|---|---|---|---|
| वक्तुं निनीय भयभावनया स्थितस्य | ८ | ३१ | c |
| वक्ष्ये कृष्णकथोदयं | ७ | १२ | d |
| वञ्चितोऽहं महाराज | १५ | ५ | a |
| वत्स कस्माद्धि रोदिषि | १८ | ४० | b |
| वद नो वदतां वर | ४ | २ | b |
| वदन्ति तत्तत्त्वविदः | २ | ११ | a |
| वधाय च सुरद्विषां | ८ | ३३ | d |
| वधो नाऽन्योऽस्ति दैहिकः | ७ | ५७ | d |
| वनाद्रिनद्युदन्वन्तो | ८ | ४० | c |
| वना न्युपवनानि च | ६ | ११ | d |
| वन्दिभिश्चाविशत्पुरीं | ११ | २३ | d |
| वपनं द्रविणादानं | ७ | ५७ | a |
| वपुरलककुलावृताननाब्जं | ९ | ३३ | c |
| वयस्या नृषिबालकः | १८ | ३६ | b |
| वयं तु न वितृप्याम | १ | १९ | a |
| वयांसीव दिनात्यये | ९ | ४४ | d |
| वयो मन्दायुषश्च वै | १६ | ९ | b |
| वरैश्चाभिमतै र्विभुः | ११ | २२ | d |
| वर्णयन्ति स्म कवयः | ३ | ३५ | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| वर्णयामास तत्त्ववित् | ९ | २८ | |
| वर्णाश्रम विभागशः | २ | १३ | |
| वर्णाश्रमाचारयुत स्त्रयीमयः | १८ | ४५ | b |
| वर्तमानो वयस्याद्ये | ६ | २ | c |
| वर्तमानो वयस्याद्ये | ६ | ५ | c |
| वर्तितं ते परं वयः | ६ | ३ | b |
| वर्तेरंस्ते च मां विना | १३ | ४४ | d |
| वर्धते भगवा नुत | १४ | ३० | d |
| ववन्दे शिरसा सप्त | ११ | २८ | c |
| ववृधातेऽर्कवह्निवत् | ७ | ३० | d |
| ववृषुः कुसुमैः कृष्णं | १० | १६ | c |
| वसिष्ठ इन्द्रप्रमद. | ९ | ७ | a |
| वसुदेवो महामनाः | ११ | १६ | b |
| वसुन्धरे येन विकर्शितासि | १६ | २४ | b |
| वहन्ति बलि मीशितुः | १३ | ४० | d |
| वहन्ति बलि मीशितुः | १३ | ४१ | d |
| वंशं कुरोर्वंशदवाग्निनिर्हृतं | १० | २ | a |
| वाक्तन्त्यां नामभिर्बद्धाः | १३ | ४१ | c |
| वाक्यभेदविमोहिताः | १७ | १८ | d |
| वाग्वज्रं विससर्ज ह | १८ | ३६ | d |
| वाचयित्वा च मङ्गलं | १२ | १३ | d |
| वाचं जुहाव मनसि | १५ | ४१ | a |
| वाचं देवीं ब्रह्मकुले कुकर्मणि | १६ | २१ | c |
| वाचा यन्नाम कीर्तयन् | ९ | २३ | b |
| वाञ्छित स्तूत्तरायणः | ९ | २९ | d |
| वाजिमेधै स्त्रिभि र्भीतः | १२ | ३४ | c |
| वामस्वभावा कृपया ननाम च | ७ | ४२ | d |
| वायुर्वाति खर स्पर्शः | १४ | १६ | a |
| वायो रिव घनावलिः | ९ | १४ | d |
| वारणेन्द्रं पुरस्कृत्य | ११ | १८ | a |
| वारमुख्याश्च शतशः | ११ | १९ | a |
| वारुणीं मदिरां पीत्वा | १५ | २३ | a |
| वासव्यां कलया हरेः | १ | १४ | d |
| वासुदेवकथारुचिः | २ | १६ | b |
| वासुदेवकथोपेतं | १८ | ९ | c |
| वासुदेवपरं ज्ञानं | २ | २९ | a |
| वासुदेवपरं तपः | २ | २९ | b |
| वासुदेवपरा गतिः | २ | २९ | d |
| वासुदेवपरा मखाः | २ | २८ | b |
| वासुदेवपरा योगाः | २ | २८ | c |
| वासुदेवपरा वेदाः | २ | २८ | a |
| वासुदेपराः क्रियाः | २ | २८ | d |
| वासुदेवपरो धर्मः | २ | २९ | c |
| वासुदेवस्य वेधसः | ५ | ३१ | b |
| वासुदेवाह्वयनुध्यान- | १५ | २९ | a |
| वासुदेवानुमोदितः | ९ | ४९ | b |
| वासुदेवाय धीमहि | ५ | ३७ | b |
| वासुदेवे भगवति | २ | ७ | a |
| वासुदेवे भगवति | २ | २२ | c |
| वासुदेवे भगवति | १५ | ५० | c |
| वाहांश्च पुरुषव्याघ्र | १४ | १३ | c |
| विकीर्यमाणः कुसुमै· | १० | १८ | c |
| विखेदः पर्यचष्ट तं | १७ | २१ | d |
| विचक्षणोऽस्यार्हति वेदितुं विभोः | ५ | १६ | a |
| विचरन् गजसाह्वये | ४ | ६ | d |
| विचिन्तय न्नात्मकृतं सदुर्मनाः | १९ | १ | b |
| विचरन्मृगयां वने | १८ | २४ | b |
| विचेलु स्तत्रतत्र ह | १० | १३ | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| विच्छायमनुजं नृपः | १४ | २४ | b |
| विच्छाया मुपलभ्य गां | १६ | १८ | b |
| विच्छायासि म्लायतेषन्मुखेन | १६ | १९ | b |
| विजयरथकुटुम्ब आत्ततोत्रे | ९ | ३९ | a |
| विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या | ९ | ३३ | d |
| विजित्य जगृहे बलिं | १६ | १२ | d |
| विज्ञाताजितसंस्थितिः | १८ | ३ | b |
| विज्ञानात्मनि संयोज्य | १३ | ५४ | a |
| विज्ञानादेष्टृभि र्मम | ६ | ५ | b |
| विज्ञानादेष्टृभि स्तव | ६ | २ | b |
| विज्ञानेन विजृम्भितः | २ | ३१ | d |
| विज्ञापयामास विवित्तुचेताः | १९ | १२ | c |
| वितन्वन् प्राविशत्पुरी | ११ | १० | d |
| वितर्कय न्निवित्तस्थः | ४ | २७ | c |
| विदुर स्तदभिप्रेत्य | १३ | १८ | a |
| विदुर स्तीर्थयात्रायां | १३ | १ | a |
| विदुर स्तु तदाश्चर्य | १३ | ५८ | a |
| विदुरोऽपि परित्यज्य | १५ | ४९ | a |
| विधत्से स्वेन वीर्येण | ७ | २४ | c |
| विधमन्तं सन्निकर्षे | १२ | १० | c |
| विधाय वैरं श्वसनो यथानलं | ११ | ३४ | c |
| विधित्समानोऽनुससार शास्त्रकृत् | १० | २२ | c |
| विधुनोति सुहृत्सतां | २ | १७ | d |
| विधूतकल्मषास्थानं | १५ | ४८ | c |
| विधूय तदमेयात्मा | १२ | ११ | a |
| विना ते प्राणिनां शुचः | १७ | ८ | d |
| विना यदुकुलक्षयं | १३ | १२ | d |
| विनिर्गच्छन्धनुष्कोट्या | १८ | ३० | c |
| विन्दन्ति भद्राण्यकुतोभयाः प्रजाः | १८ | ४२ | d |
| विपदस्सन्तु न शश्वत् | ८ | २५ | a |
| विपदुणा द्विषाग्न्यादेः | १३ | ८ | c |
| विपर्यस्तर्तुधर्मिणः | १४ | ३ | b |
| विप्रकीर्णजटाच्छत्रं | १८ | २७ | a |
| विप्रधर्माच्युताश्रयाः | ९ | १२ | d |
| विप्रर्षेर्भूरितेजसः | ३ | ४३ | d |
| विप्रशापविमूढानां | १५ | २२ | c |
| विप्रा जातककोविदाः | १२ | २९ | b |
| विप्राणां रौमहर्षणिः | २ | १ | b |
| विप्रान्नत्वा तिलगोभूमिरुक्मैः | १३ | ३० | b |
| विप्रैर्धौम्यकृपादिभिः | १२ | १३ | b |
| विभाव्य लोभानृत जिह्महिंसनात् | १५ | ३७ | c |
| विभुं तमेवानुध्यायन् | १५ | २ | c |
| विभ्रमद्भमरश्रियः | ६ | १३ | b |
| विमर्शितौ हेयतया पुरस्तात् | १९ | ५ | b |
| विमुक्तसङ्गं मन आदिपूरुषे | ९ | ३० | b |
| विमुच्य रशनाबद्धं | ७ | ५६ | a |
| विमृज्याश्रूणि पाणिभ्यां | १३ | ३५ | a |
| विमृश स्वमनीषया | १७ | २० | d |
| विमोचिताहञ्च सहात्मजा विभो | ८ | २३ | c |
| विरक्तो मुक्तबन्धनः | १३ | २५ | b |
| विरजे नात्मनैव हि | १५ | ४८ | d |
| विरहं शार्ङ्गधन्वनः | १० | १० | d |
| विरहौत्कण्ठ्य कातराः | १३ | ६ | b |
| विराटतनया तथा | १० | ९ | b |
| विरिञ्च वैरिञ्च्यसुदेन्द्र वन्दितं | ११ | ६ | b |
| विलज्जतीनां भृगुवर्यवैक्लवात् | ११ | ३२ | d |
| विलप्य च भृशं पुनः | ८ | २ | b |
| विलोक्य सञ्जातमनोमहोत्सवाः | ११ | ३१ | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| विलोक्योद्विग्रहृदयः | १४ | २४ | a |
| विवत्सा मिव मातरं | १६ | १८ | d |
| विवत्सां साश्रुवदनां | १७ | ३ | c |
| विविक्त देश आसीनः | ४ | १५ | c |
| विविशेऽन्तरहं विभोः | ६ | ३० | d |
| विशुद्धधिषणाः परे | १५ | ४७ | b |
| विशुद्धया धारणया हताशुभः | ९ | ३१ | a |
| विशुद्धं सत्त्व मूर्जितं | ३ | ३ | d |
| विशुष्यत्तालु रुदकं | १८ | २७ | c |
| विशृण्**वतो** मेऽनुसवं यशोऽमलं | ५ | २८ | b |
| विशेषतो धर्मशीलः | १७ | ४१ | c |
| विशोको ब्रह्मसम्पत्त्या | १५ | ३१ | a |
| विश्रम्य विप्रा **इतिकृत्यतायां** | १९ | २४ | b |
| विश्वमूर्ते स्वकेषु मे | ८ | ४१ | b |
| विषादं शमय त्रिव | ११ | १ | d |
| विषान्महाग्नेः पुरुषाद दर्शनात् | ८ | २४ | a |
| विष्टभ्याऽऽत्मान मात्मना | १३ | ३५ | b |
| विष्णुना प्रभविष्णुना | १२ | १६ | d |
| विष्णुं जिष्णु **रुवाच** ह | ७ | २१ | d |
| विष्णोरिव सुरेतराः | १९ | ३४ | d |
| **विष्वक्सेनकथासु** यः | २ | ८ | b |
| विसृज्य तत्र तत्सर्वं | १५ | ४० | a |
| विसृज्य पुत्रं पप्रच्छ | १८ | ४० | a |
| विस्मापितः सगिरिजोऽस्त्र मदात्रिजं मे | १५ | १२ | b |
| विहरन् बालकोऽर्भकैः | १८ | ३२ | b |
| विहातु मिच्छेत्र रसग्रहो यतः | ५ | १९ | d |
| विहाय नृपलाञ्छनं | १७ | २९ | b |
| वीक्षन्त **स्नेहसम्बद्धाः** | १० | १३ | c |
| वीक्षमाणोऽपि नापश्यं | ६ | २० | c |
| वीणापणवगोमुखाः | १० | १५ | b |
| **वीणापाणिः** स्मय त्रिव | ५ | १ | d |
| **वीरासनानुगमनस्तवनप्रणामान्** | १६ | १६ | b |
| **वीरेष्वथो** वीरगतिं गतेषु | ७ | १३ | b |
| वृकोदरश्च धौम्यश्च | १० | १० | a |
| **वृकोदरविद्धगदाभिमर्श-** | ७ | १३ | c |
| वृजिनं नार्हति प्राप्तुं | ७ | ४६ | c |
| वृतपद्माकरश्रियं | ११ | १२ | d |
| वृतश्च बालैरवधूतवेषः | १९ | २५ | d |
| वृत प्राप्तोऽनसूयया | ३ | ११ | b |
| वृतो रथाश्वद्विपपत्तियुक्तया | १६ | ११ | c |
| वृद्ध कुलपति स्सूतं | ४ | १ | c |
| वृद्धानां पर्युपासकः | १२ | २५ | d |
| **वृद्धानुवृत्त्याऽपि** विलोमजाताः | १८ | १८ | b |
| वृद्धो हीनश्च नेत्रयो | १३ | ३१ | d |
| वृषरूपेण किं **कश्चित्** | १७ | ७ | c |
| वृषस्य **नष्टांस्त्रीन्** पादान् | १७ | ४२ | a |
| वृषं मृणालधवलं | १७ | २ | a |
| वृष्णिषु **प्राप्य जन्मनी** | ३ | २३ | b |
| वेत्थ त्वं सौम्य तत्सर्वं | १ | ८ | a |
| वेत्थेदं द्रोणपुत्रस्य | ७ | २७ | a |
| वेद गुह्यतमं शिवः | ९ | १९ | b |
| वेद गुह्यानि हृत्पते | ३ | ३५ | d |
| वेद मेकं चतुर्विध | ४ | १९ | d |
| वेदा यथा मूर्तिधरा स्त्रिविष्टपे | १९ | २३ | b |
| वेदाश्चत्वार उद्धृता | ४ | २० | b |
| वेदास्ते शाखिनोऽभवन् | ४ | २३ | d |
| वेदेषु गुह्येषु च गुह्यवादिभि | १० | २४ | b |
| **वेद्य** वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलन | १ | २ | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| वेपथुश्चापि हृदये | १४ | ११ | c |
| वेपमानं पदैकेन | १७ | २ | c |
| वैकुण्ठचरणाम्बुजं | १५ | ४६ | d |
| वैक्लव्या दुर्मना इव | ६ | १९ | d |
| वैयासके र्जहौ शिष्यः | १८ | ३ | c |
| वैराग्यरागोपाधिभ्यां | ९ | २६ | c |
| वैराट्याः कुरुतन्तवे | ८ | १४ | d |
| वैशम्पायन एवैको | ४ | २१ | c |
| वैष्णवं तेज आसाद्य | ८ | १५ | c |
| व्यजने परमाद्भुते | १० | १८ | b |
| व्यतीताः कतिचिन्मासाः | १४ | २ | a |
| व्यदधा द्यज्ञसन्तत्यै | ४ | १९ | c |
| व्यपोह्य देहादिषु सङ्गमूढं | १८ | २२ | b |
| व्यरोचतालं भगवान्यथेन्दुः | १९ | ३० | c |
| व्यवस्य भरतर्षभ | ९ | १७ | b |
| व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य | ९ | ३६ | a |
| व्यसनं वीक्ष्य तत्तेषां | ८ | १३ | a |
| व्यापृण्वानं यतोऽबुधः | ११ | ३७ | d |
| व्यालोलूकशिवाजिरं | ६ | १४ | d |
| व्यासक्तचित्तस्य गृहेष्वभीक्ष्ण | १९ | १४ | b |
| व्यासधौम्यादय स्तथा | ९ | २ | d |
| व्यासः कृपणवत्सलः | ४ | २४ | d |
| व्यासः सत्यवतीसुतः | ६ | १ | d |
| व्यासाद्यै रीश्वरेहाज्ञैः | ८ | ४६ | a |
| व्येतु ते वृषलाद्भयं | १७ | ९ | b |
| व्रजन्ति तत्पारमहंस्य मन्त्यं | १८ | २२ | c |
| व्रजस्त्रियः सम्मुमुहुर्यदाशयाः | १० | २८ | d |
| व्रीडावलोकनिहतो मदनोऽपि यासां | ११ | ३६ | b |

**श**

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| शक्तिह्रासञ्च तत्कृतं | ४ | १७ | b |
| शङ्खतूर्यनिनादेन | ११ | १८ | c |
| शतमन्यो रिवातनोत् | ८ | ६ | d |
| शप्ताः क्षिप्ता हता अपि | १८ | ४८ | b |
| शब्दादिभि रमङ्गलैः | १४ | ४० | b |
| शमो दम स्तपः साम्यं | १६ | २६ | c |
| शम्याप्रास इति प्रोक्तः | ७ | २ | c |
| शयनासनभोजनाः | ११ | १७ | d |
| शयनासनभोजनैः | १० | १२ | d |
| शयानं शरपञ्जरे | ९ | २५ | b |
| शयानेऽम्भस्युदन्वतः | ६ | ३० | b |
| शय्यासनाटन विकत्थनभोजनादिषु | १५ | १९ | a |
| शरणोपसृतं सत्त्वं | १४ | ४१ | c |
| शरण्योनावधीच्छ्लोक्यः | १७ | ३० | c |
| शर स्तप्तायसो विभो | ८ | १० | b |
| शरासनं संयुगशौण्डि राददे | १६ | १० | d |
| शशंसु स्साधवो राज्ञां | ९ | ४५ | c |
| शशास गामिन्द्र इवाजिताश्रयः | १० | ३ | c |
| शस्ताः कुर्वन्ति मां सव्यं | १४ | १३ | a |
| शाकान्नशिष्टमुपयुज्य यतस्त्रिलोकीं | १५ | ११ | c |
| शाठ्यमिश्रञ्च सौहृदं | १४ | ४ | b |
| शान्तं मीलितलोचनं | १८ | २५ | d |
| शान्ताऽऽसी द्विमला मतिः | १५ | २८ | d |
| शापा द्वर्षशतं यमः | १३ | १५ | d |
| शारद्वतं गुरुं कृत्वा | १६ | ३ | c |
| शाश्वती र्विशदं यशः | १८ | ११ | b |
| शासतोऽन्यान् यथाशास्त्रं | १७ | १६ | c |
| शास्तर्युत्पथगामिनां | १८ | ३५ | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| शास्ताचोत्पथगामिनां | १२ | २६ | b |
| शास्मि पश्यत मे बलं | १८ | ३५ | d |
| शिक्षितो यदनुग्रहात् | ७ | ४४ | d |
| शितविशिखहतो विशीर्णदंशः | ९ | ३८ | a |
| शिबिरात्रिरयापयत् | ७ | ५६ | d |
| शिबिराय निनीषन्तं | ७ | ३४ | a |
| शिवाय लोकस्य भवाय भूतये | ४ | १२ | a |
| शिवाय हानीय धनानि शत्रवः | ४ | ११ | b |
| शिवैषोद्यन्त मादित्यं | १४ | १२ | a |
| शिशयिषोरनुप्राणं | ६ | ३० | c |
| शिष्यै रुपेता आजग्मुः | ९ | ८ | c |
| शिष्यैः प्रशिष्यै स्तच्छिष्यैः | ४ | २३ | c |
| शीर्ष्णाविनामं विदधेऽनुकम्पितः | ६ | २६ | d |
| शुकमध्यापयामास | ७ | ८ | c |
| शुकमुखादमृतद्रवसंयुतं | १ | ३ | b |
| शुक्ले संस्थामुपेयुषि | १२ | १६ | b |
| शुचः प्रशमयत्रिव | ६ | २१ | d |
| शुचिश्रवास्सत्यरतो धृतव्रतः | ५ | १३ | b |
| शुद्धश्च तत्रामृशताभियुक्ताः | १९ | २४ | d |
| शुद्धां भागवतीं तनुं | ६ | २९ | b |
| शुद्धिकामो न शृणुयात् | १ | १६ | c |
| शुनां कपीनामिव वर्णसङ्करः | १८ | ४५ | d |
| शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षतां | ५ | २३ | d |
| शुश्रूषतां नो वितनोतु विद्वन् | १८ | १५ | d |
| शुश्रूषमाणश्चरितानि विष्णोः | १९ | २२ | d |
| शुश्रूषमाणे मुनयोऽल्पभाषिणि | ५ | २४ | d |
| शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य | २ | १६ | a |
| शूद्रा भोक्ष्यन्ति मामिति | १७ | २७ | d |
| शून्योऽस्मि रहितो नित्यं | १४ | ४४ | c |
| शूरसेनपतिं ततः | १५ | ३९ | b |
| शूरसेनान् सयामुनान् | १६ | ३४ | b |
| शूरो मातामहः कच्चित् | १४ | २६ | a |
| शृणोत्यलं स्वस्त्ययनं पवित्रं | १५ | ५१ | c |
| शृण्वतां स्वकथां कृष्णः | २ | १७ | a |
| शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः | ५ | ११ | d |
| शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः | ८ | ३६ | a |
| शृण्वानोऽनुग्रहं दृष्ट्या | ११ | १० | c |
| शैनेयोद्धवसंयुतः | ८ | ७ | b |
| शोकमोहभयापहा | ७ | ७ | d |
| शोकेन शुष्यद्वदन- | १५ | २ | a |
| शोचत्यश्रुकला साध्वी | १७ | २७ | a |
| शोचन्त्या आत्मजान् हतान् | ७ | ४१ | d |
| शोचस्यथो पुरुषादैरिवार्तान् | १६ | २१ | b |
| शोचामि रहितं लोकं | १६ | ३० | c |
| शोच्योऽस्यशोच्यान् रहसि | १७ | ६ | c |
| शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः | १६ | २७ | b |
| श्यामं सदापीच्यवयोऽङ्गलक्ष्म्या | १९ | २८ | a |
| श्रद्दधानस्य बालस्य | ५ | २९ | c |
| श्रम एवहि केवलं | २ | ८ | d |
| श्रवणस्मरणार्हाणि | ८ | ३५ | c |
| श्रान्तवाहो मना विभुः | १० | ३५ | d |
| श्रियैश्वर्यप्रजेप्सवः | २ | २७ | d |
| श्रियो धामाङ्ग मच्युतं | ११ | २५ | d |
| श्रियो निवासो यस्योरः | ११ | २६ | a |
| श्री कृष्ण कृष्ण सख वृष्णयृषभावनिध्रुक् | ८ | ४३ | a |
| श्रीनिवासेन साम्प्रतं | १६ | ३० | b |
| श्रीमत्पदैर्भगवतः समलङ्कृताङ्गी | १६ | ३३ | b |
| श्रीमद्दीर्घचतुर्बाहुं | १२ | ९ | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः | १ | २ | c |
| श्रीमद्भिस्तत्पदन्यासैः | १७ | २६ | c |
| श्रुतदेवोद्धवादयः | १४ | ३२ | b |
| श्रुतवां स्तदभिप्रेतं | ७ | १ | c |
| श्रुत्वा तत्रेद मब्रवीत् | १८ | ३२ | d |
| श्रुत्वा भगवता प्रोक्तं | ७ | २९ | a |
| श्रुत्वा सुतविलापनं | १८ | ३९ | b |
| श्रेय एवं भवे दिह | ४ | २५ | d |
| श्रेयांसि तत्र खलु सत्वतनोर्नृणां स्युः | २ | २३ | d |
| श्रेयो धर्मादिलक्षणं | ७ | २४ | d |
| श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च | २ | १४ | c |
| श्रोतव्यानि विभागशः | १ | ११ | b |
| श्लाघिष्ठ चारुकबरं कितवैः सभायां | १५ | १० | b |
| **ष** | | | |
| षष्ठे अत्रेरपत्यत्वं | ३ | ११ | a |
| षाड्गुर्गिकं जिघ्रति षड्गुणेशः | ३ | ३६ | d |
| **स** | | | |
| स आस्ते विगतैषणः | १३ | ५२ | d |
| स उच्चकाशे धवलोदरो दरोऽपि | ११ | २ | a |
| स उत्तमस्य तनयां | १६ | २ | a |
| स एव जीवलोकस्य | ७ | २४ | a |
| स एव प्रथमं देवः | ३ | ६ | a |
| स एव भगवान् कालः | १३ | १९ | c |
| स एव भूयो निजवीर्यचोदितां | १० | २२ | a |
| स एव वियुनक्ति च | १३ | ४० | f |
| स एवेदं ससर्जाग्रे | २ | ३० | a |
| स एष एतर्ह्यध्यास्ते | १७ | ४३ | a |
| स एष नरलोकेऽस्मिन् | ११ | ३५ | a |
| स एष भगवान् द्रोणः | ७ | ४५ | a |
| स एष लोके विख्यातः | १२ | ३० | a |
| स कथं तदुहे द्वाःस्थः | १८ | ३४ | c |
| स कदाचित्सरस्वत्या | ४ | १५ | a |
| स कलिर्जातवेपथुः | १७ | ३५ | b |
| स कालः प्रत्युपस्थितः | ९ | २९ | b |
| स कालोऽय मुपस्थितः | १४ | ८ | b |
| सकृत् स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः | ५ | २५ | b |
| सकृदाकर्ण्य रोचनं | १० | ११ | d |
| सकृद्यद्दर्शितं रूपं | ६ | २३ | a |
| सख्यं मैत्रीं सौहृदञ्च | १५ | ४ | a |
| सख्या प्रियेण सुहृदा हृदयेन शून्यः | १५ | २० | b |
| सख्युस्सखेव पितृवत्तनयस्य सर्वं | १५ | १९ | c |
| स गिरः परयोषितां | १० | ३१ | b |
| स गोदोहनमात्रं हि | ४ | ८ | a |
| सङ्कीर्त्यमानं मुनिभि र्महात्मभिः | ५ | २८ | c |
| सङ्कृशनिर्वाण मुशन्ति नान्यथा | ५ | ४० | d |
| स चिन्तय न्नित्थमथाशृणोद्यथा | १९ | ४ | a |
| स जीवो यत्पुनर्भवः | ३ | ३२ | d |
| सज्जीकृतेन धनुषाधिगता च कृष्णा | १५ | ७ | d |
| सञ्छिन्नद्वैतसंशयः | १५ | ३१ | b |
| सञ्छिन्नाशेषबन्धनः | १५ | ४० | d |
| सञ्जल्पितानि नरदेव हृदि स्पृशानि | १५ | १८ | c |
| सञ्जहारार्जुनो द्वयं | ७ | ३२ | d |
| स तदा भृगुनन्दन | १२ | ७ | b |
| स तु ब्रह्मऋषेरंसे | १८ | ३० | a |
| स तु सम्राट् बृहच्छ्रवा | १८ | ४६ | b |
| स तु संश्रावयामास | ३ | ४२ | c |
| स तैर्व्यरोचत नृपः | ९ | ३ | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सत्कृतं सूत मासीनं | १ | ५ | c |
| सत्कृतो देववत् सुखं | १३ | १४ | b |
| सत्त्वं यदृद्यदर्शनं | २ | २४ | d |
| सत्त्वं रज स्तम इति प्रकृतेर्गुणा स्तैः | २ | २३ | a |
| सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय | २ | २५ | c |
| सत्यवत्यां पराशरात् | ३ | २१ | b |
| सत्यं निर्वर्तयेद्यतः | १७ | २५ | b |
| सत्यं शौचं दया क्षान्तिः | १६ | २६ | a |
| सत्यादयो द्वयष्टसहस्रयोषितः | १४ | ३७ | b |
| सत्रं स्वर्गाय लोकाय | १ | ४ | c |
| सत्सङ्गान्मुक्तदुस्सङ्गः | १० | ११ | a |
| सत्सेवया दीर्घया ते | ६ | २४ | a |
| सत्सेव्याः क्षत्रबन्धवः | १९ | ३२ | b |
| सदश्वैःस्वर्णभूषितैः | ९ | २ | b |
| सदसद्रूपया चाऽसौ | २ | ३० | c |
| सदसि युधिष्ठिर राजसूय एषां | ९ | ४१ | b |
| सदारैः स्थविरै रपि | ११ | २३ | b |
| स देवदेवो भगवान् प्रतीक्षतां | ९ | २४ | a |
| सद्यः पुनन्त्युपस्पृष्टाः | १ | १५ | c |
| सद्यः शुध्यन्ति वै गृहाः | १९ | ३३ | b |
| सद्यो जहुर्भगवत्पार्श्वकामाः | १९ | २० | d |
| सद्यो नश्यन्ति वै पुंसां | १९ | ३४ | c |
| सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् | १ | २ | d |
| सन्तन्वतो नटचर्या मिवाज्ञः | ३ | ३७ | d |
| सन्दधे तत्समाहितः | ७ | २० | b |
| सान्निध्यात्ते महायोगिन् | १९ | ३४ | a |
| सन्निवर्त्य दृढं स्निग्धान् | १० | ३३ | c |
| सन्न्यस्ताखिलकर्मणः | १३ | ५५ | f |
| सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये | ९ | ३५ | a |
| सपालो यद्वशे लोकः | ९ | १४ | c |
| सप्तर्षा ऋषभादयः | १४ | ३१ | d |
| सप्तस्रोतः प्रचक्षते | १३ | ५१ | d |
| सप्तस्वसार स्तत्पत्न्यः | १४ | २७ | a |
| सप्तानां प्रीतये नाना | १३ | ५१ | c |
| सप्रजापतय स्तथा | ३ | २७ | d |
| स प्रेत्य गतवान्यथा | १२ | २ | d |
| स ब्राह्मणो नात्मज मध्यनन्दत् | १८ | ४१ | b |
| स भवतु मे भगवान्गति र्मुकुन्दः | ९ | ३८ | d |
| सभाण्डं भोक्तु मर्हति | १८ | ३४ | d |
| सभां सुधर्मां सुरसत्तमोचितां | १४ | ३८ | d |
| समगाद्भयविह्वलः | १७ | २९ | d |
| समं चरन्तं सर्वत्र | ८ | २८ | c |
| समदृङ्निर्विकल्पकः | ४ | ४ | b |
| समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः | ९ | ४२ | d |
| समर्चितो ह्यस्य गृहीतपाणिभिः | १० | २८ | b |
| समशाम्यद्भृगूद्वह | ८ | १५ | d |
| समशीला भजन्ति वै | २ | २७ | b |
| समं मधुच्युदुरु चाव्यलीकं | १९ | २२ | b |
| समागतास्सर्वत एव सर्वे | १९ | २३ | a |
| समादिश न्विप्र महदृण स्तथा | १६ | १ | d |
| समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितं | ५ | १३ | d |
| समाप्यते येन विदां बुभुत्सितं | ५ | ४० | b |
| समारोपित कार्मुकः | १७ | ४ | d |
| समासव्यासयोगतः | ९ | २७ | d |
| समाहितेन मनसा | १७ | २१ | c |
| समुद्धृत्य मनीषया | १ | ११ | d |
| समुद्र इव दुस्तरः | १२ | २१ | d |
| समुद्रनिग्रहादीनि | ३ | २२ | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| समुद्रपत्न्याः स्वसुतन्यस्तभारः | १९ | १७ | d |
| सम्पदः क्रतवो लोकाः | १२ | ५ | a |
| सम्पद्यमान माज्ञाय | ९ | ४४ | a |
| सम्पन्न एवेति विदुः | ३ | ३४ | c |
| सम्परेतस्य भार्गव | ९ | ४६ | b |
| सम्पादयन्यदुषु रम्य मबिभ्रदङ्गं | १६ | ३४ | d |
| सम्प्रस्थिते द्वारकायां | १४ | १ | a |
| सम्प्राप्तः कुरुजाङ्गलान् | ४ | ६ | b |
| सम्प्रेषितो द्वारकायां | १४ | ६ | a |
| सम्भूतं षोडशकलं | ३ | १ | c |
| सम्भोज्यान् वृद्धबालकान् | १४ | ४३ | b |
| सम्मातु र्महस्यविपक्वबुद्धे | १८ | ४२ | b |
| सम्मार्जितमहामार्ग- | ११ | १४ | a |
| सम्मुह्य चाप मजहात्प्रमदोत्तमास्ताः | ११ | ३६ | c |
| सम्मोहाय सुरद्विषां | ३ | २४ | b |
| सम्यक्प्रणिहितेऽमले | ७ | ४ | b |
| स यामाद्यै स्सुरगणैः | ३ | १२ | c |
| सरसः स्यु स्सहस्रशः | ३ | २६ | d |
| सरस्वत्या स्तटे शुचौ | ४ | २७ | b |
| सरहस्यो धनुर्वेदः | ७ | ४४ | a |
| स राजपुत्रो ववृधे | १२ | ३१ | a |
| स राज्ञा श्लक्ष्णया गिरा | १९ | ४० | b |
| सरांसि च मनांसि च | १४ | १८ | b |
| सर्पग्रस्तो यथापरं | १३ | ४५ | d |
| सर्पोऽदशत्पदा स्पृष्टः | ६ | ९ | c |
| सर्वकामदुघा मही | १० | ४ | b |
| सर्वकाम मनुत्तमं | ११ | ३० | b |
| सर्वतः कृतकौतुका | १७ | २६ | d |
| सर्वतोमुख मायाति | ७ | २६ | c |
| सर्वतोऽस्य च मद्भयं | १७ | १४ | b |
| सर्वत्रोपेक्षको मुनिः | ७ | ९ | b |
| सर्वथा नहि शोच्या स्ते | १३ | ४३ | c |
| सर्वधर्मविवित्सया | ९ | १ | b |
| सर्वमात्मन्यजुहवीत् | १५ | ४२ | c |
| सर्वर्तुसर्वविभव- | ११ | १२ | a |
| सर्ववर्णाश्रमाणां यत् | ४ | १८ | c |
| सर्ववेदेतिहासानां | ३ | ४२ | a |
| सर्वश्रुति मनोहरः | १० | २० | d |
| सर्वसद्गुणमाहात्म्ये | १२ | २४ | a |
| सर्वं कालकृतं मन्ये | ९ | १४ | a |
| सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं | १५ | २१ | c |
| सर्वं तत्समवर्णयत् | १३ | १२ | b |
| सर्वं तदिद माख्यातं | ६ | ३७ | a |
| सर्वात्मकेनाऽपि यदा | ४ | २६ | c |
| सर्वात्मन स्समदृशः | ९ | २१ | a |
| सर्वात्मना प्रियमाणैश्च कृत्यं | १९ | २४ | c |
| सर्वात्मा क्षन्तु मर्हति | १८ | ४७ | d |
| सर्वान्त्र स्सुहृद श्शिशून् | १३ | ३३ | b |
| सर्वान्मुञ्चति हृच्छयान् | ६ | २३ | d |
| सर्वान्वर्णाँ स्तथाऽऽश्रमान् | १६ | ३१ | d |
| सर्वार्थपरिबृंहितं | ५ | ३ | d |
| सर्वाश्चर्यमयेऽच्युते | ८ | १६ | b |
| सर्वाश्रमनमस्कृतं | ३ | १३ | d |
| सर्वे तमनु निर्जग्मुः | १५ | ४५ | a |
| सर्वे तेऽनिमिषै रक्षैः | १० | १३ | a |
| सर्वे बभूवुस्ते तूष्णीं | ९ | ४४ | c |
| सर्वे वयं ताव दिहाऽऽस्महेऽद्य | १९ | २१ | a |
| सर्वेषां न स्समागतः | १३ | १९ | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सर्वेषां प्रीति मावहन् | १३ | १४ | d |
| सर्वेषां मान मादधे | ११ | २१ | d |
| सर्वे संसृतिहेतवः | ५ | ३४ | b |
| सवनस्पतिवीरुधः | १० | ५ | b |
| स वा अद्यतना द्राजन् | १३ | ५६ | a |
| स वा अयं यत्पदमत्र सूरयः | १० | २३ | a |
| स वा अयं सख्यनुगीतसत्कथः | १० | २४ | a |
| स वा आङ्गिरसो ब्रह्मन् | १८ | ३९ | a |
| स वा इदं विश्व ममोघलीलः | ३ | ३६ | a |
| स विष्णुरातोऽतिथय आगताय | १९ | २९ | a |
| सविसर्गोपसंयमः | ७ | ४४ | b |
| स वेद धातुः पदवीं परस्य | ३ | ३८ | a |
| स वै किलाऽयं पुरुषः पुरातनः | १० | २१ | a |
| स वै धीर उदाहृतः | १३ | २५ | d |
| स वै निवृत्तिनिरतः | ७ | ९ | a |
| स वै पुंसां परो धर्मः | २ | ६ | a |
| स वै भवान्वेद समस्तगुह्यं | ५ | ६ | a |
| स वै महाभागवतः परीक्षित् | १८ | १६ | a |
| सशिष्यो रेणुकासुतः | ९ | ६ | d |
| ससङ्कुलैः भूतगणैः | १४ | १७ | c |
| स सम्यग्दर्शनः पुमान् | ५ | ३८ | d |
| स सम्राट् कस्य वा हेतोः | ४ | १० | a |
| स सम्राट् द्विजसत्तम | १७ | २१ | b |
| स संयुनक्ति भूतानि | १३ | ४० | e |
| स संवृत स्तत्र महान्महीयसां | १९ | ३० | a |
| स संहितां भागवतीं | ७ | ८ | a |
| स साधु मेने न चिरेण तक्षका- | १९ | ४ | c |
| स सान्त्वयित्वाच्युतमित्रसूतः | ७ | १७ | b |
| सस्मितेन ययौ हरिः | १० | ३१ | d |
| सह ओजो बलं भगः | १६ | २८ | b |
| सहगाण्डीवधन्वना | १७ | ६ | b |
| सहकृष्णो गजाह्वयं | ९ | ४८ | b |
| सह रामेण केशवः | १ | २० | b |
| सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतं | ३ | ४ | b |
| सहस्रमूर्धश्रवणाक्षिनासिकं | ३ | ४ | c |
| सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् | ३ | ४ | d |
| सहस्रयुगपर्यन्ते | ६ | ३१ | a |
| सहस्रसम मासत | १ | ४ | d |
| सहस्राणि च षोडश | ११ | ३० | d |
| सहानुजैः प्रत्यवरुद्धभोजनः | १० | १ | c |
| सहिष्णुः पितरा विव | १२ | २२ | d |
| सहेरन् विरहं कथं | १० | १२ | b |
| सहोपायान्यथा मुने | ९ | २८ | b |
| संयोगविगमा विह | १३ | ४२ | b |
| संरोहयित्वा भवभावनो हरिः | १० | २ | b |
| संवादस्समभूतात | ४ | ७ | c |
| संसारिणां करुणयाऽऽह पुराणगुह्यं | २ | ३ | c |
| संसिद्धस्य वनीयसः | १९ | ३६ | d |
| संसिद्धिर्हरितोषणं | २ | १३ | d |
| संसेव्या स्ता बुभूषुभिः | १८ | १० | d |
| संस्थाञ्च पाण्डुपुत्राणां | ७ | १२ | c |
| संस्थां यदुकुलस्य च | १५ | ३२ | b |
| संस्थितेऽतिरथे पाण्डौ | ९ | १३ | a |
| संस्मरन्नारदेरितं | १४ | २४ | d |
| संहत्यान्योन्य मुभयोः | ७ | ३० | a |
| साकञ्च स्तनयिनुभिः | १४ | १५ | d |
| साकं व्रतै र्व्रीडितलोचनाननाः | ११ | ३१ | d |
| साक्षाद्भगवतोदितं | ५ | ३० | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| साक्षान्महाभागवतः | १८ | ४६ | c |
| सात्वतान्धकवृष्णयः | १४ | २५ | d |
| साधयित्वाऽजातशत्रोः | ८ | ५ | a |
| साधुवादेन सत्तमाः | १२ | १८ | d |
| साधूना मकृतागसां | १७ | १३ | b |
| साधूनां भद्रमेव स्यात् | १७ | १४ | c |
| सानुकूलप्रहोदये | १२ | १२ | b |
| सानुगा स्सह चक्रिणा | ९ | ४ | d |
| सानुजोऽभ्यर्चयन्निव | १३ | ३७ | d |
| सानुबन्धं शुचार्पितं | ७ | ४८ | d |
| सान्त्वयामास मुनिभिः | ८ | ४ | a |
| सान्त्वयित्वा महारथः | १७ | २८ | b |
| सामगो जैमिनिः कविः | ४ | २१ | b |
| सा मां विमोहयति भीरपि य द्बिभेति | ८ | ३१ | d |
| साम्बो जाम्बवतीसुतः | ११ | १७ | b |
| साम्बो जाम्बवतीसुतः | १४ | ३१ | b |
| सायम्प्रात र्गृणन्भक्त्या | ३ | २९ | c |
| सायं भेजे दिशं पश्चात् | १० | ३६ | c |
| सारङ्ग इव सारभुक् | १८ | ७ | b |
| सारङ्गाणां पदाम्बुजं | ११ | २६ | d |
| सारथ्यपारषदसेवनसख्यदौत्य- | १६ | १६ | a |
| सारथ्यादिषु संस्मरन् | १५ | ४ | b |
| सारं सारं समुद्धृतं | ३ | ४२ | b |
| सार्जुनो यदुभिर्वृतः | १२ | ३६ | d |
| सार्वभौम तवाज्ञया | १७ | ३६ | b |
| सा श्रीः स्ववास मरविन्दवनं विहाय | १६ | ३२ | c |
| सा स्वतन्त्रा न कल्पाऽऽसीत् | ६ | ७ | a |
| सांवर्तक ममंसत | ७ | ३१ | d |
| सिक्तां गन्धजलै रुप्तां | ११ | १४ | c |
| सितातपत्रव्यजनै रुपस्कृतः | ११ | २७ | a |
| सितातपत्रं जग्राह | १० | १७ | a |
| सिद्धेशः कालविप्लुतं | ३ | १० | b |
| सिषिचु र्नेत्रजै र्जलैः | ११ | २९ | d |
| सिषिचुः स्म व्रजान् गावः | १० | ४ | c |
| सीदन्तं शूद्रताडितं | १७ | २ | d |
| सीदन्त्या भूरिभारेण | ८ | ३४ | c |
| सुख मास्ते महारथः | १४ | ३० | b |
| सुख मास्ते सुहृद्वृतः | १४ | ३४ | d |
| सुखोपविष्टेष्वथ तेषु भूयः | १९ | १२ | a |
| सुत मात्मवतां वरं | ३ | ४१ | d |
| सुदर्शनेन स्वास्त्रेण | ८ | १३ | c |
| सुनन्दनन्दशीर्षण्याः | १४ | ३२ | c |
| सुपक्वौषधि वीरुधः | ८ | ४० | b |
| सुपुतं बालं स्त्रियं जडं | ७ | ३६ | b |
| सुभद्रा चोत्तरा कृपी | १३ | ४ | b |
| सुभद्रा द्रौपदी कुन्ती | १० | ९ | a |
| सुभ्रवाननं कम्बुसुजातकण्ठं | १९ | २६ | d |
| सुमन्तु र्दारुणो मुनिः | ४ | २२ | b |
| सुरकार्यचिकीर्षया | ३ | २२ | b |
| सुरया वा सुराकृतं | ८ | ५२ | b |
| सुरार्चितं किं हृतमम्ब सौभगं | १६ | २४ | d |
| सुरासुरणा मुदधिं | ३ | १६ | a |
| सुषेणश्चारुदेष्णश्च | १४ | ३१ | a |
| सुहृत्कृष्ण स्ततो विपत् | ९ | १५ | d |
| सुहृदाञ्च विशोकाय | १० | ७ | c |
| सुहृदां न स्सुहृत्पुरे | १५ | २२ | b |
| सुहृदां प्रियकाम्यया | १२ | ३५ | d |
| सूचकस्यापि तद्भवेत् | १७ | २२ | d |
| सूत जानासि भद्रन्ते | १ | १२ | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सूत जीव समा स्सौम्य | १८ | ११ | a |
| सूत मागधवन्दिनः | ११ | २० | b |
| सूत सूत महाभाग | ४ | २ | a |
| सूतः शारद्वतः पृथा | १३ | ३ | d |
| सूतो विरहकर्शितः | १३ | ३४ | b |
| सूर्यं हतप्रभं पश्य | १४ | १७ | a |
| सृजत्यवति हन्त्यजः | ८ | १६ | d |
| सृजत्यक्त्यत्ति गुणै रसङ्गः | ५ | ६ | d |
| सृजत्यवत्यत्ति न तत्र सज्जते | १० | २४ | d |
| सृजत्यव त्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन् | ३ | ३६ | b |
| सृजन्तं नयनाब्जयोः | १४ | २३ | d |
| सेतिहासानि चानघ | १ | ६ | b |
| सेन्द्राः श्रिता यदनुभावित माजमीढ- | १५ | १३ | c |
| सेविता नीह भूतले | १३ | ९ | d |
| सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दात् | १८ | २१ | c |
| सेहे महान्महितया कुमते रघं मे | १५ | १९ | d |
| सोऽनुतप्तो महामुनिः | १८ | ४९ | b |
| सोऽन्तःश्वास उपारमत् | ९ | ४३ | d |
| सोऽय मद्य महाराज | १३ | ४८ | a |
| सोऽहं नृपेन्द्र रहितः पुरुषोत्तमेन | १५ | २० | a |
| सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति | १५ | २१ | b |
| सोऽहं वः श्रावयिष्यामि | ३ | ४४ | c |
| सौत्ये वृतः कुमतिनात्मद ईश्वरो मे | १५ | १७ | a |
| सौरभेय चतुष्पद | १७ | १२ | b |
| सौवीराभीरयोः परान् | १० | ३५ | b |
| सौहार्देनातिगाढेन | १५ | २८ | c |
| सौहृदा दथ सारथिं | ९ | २० | d |
| स्त्रियश्च स्वपुरं यास्यन् | ८ | ४५ | c |
| स्त्रियो मत्स्यसुतादयः | १० | १० | b |
| स्त्रीणां मद्धतबन्धूनां | ८ | ५१ | a |
| स्त्रीणां मनोज्ञं रुचिरस्मितेन | १९ | २८ | b |
| स्त्रीधर्मन्भगवद्धर्मान् | ९ | २७ | c |
| स्त्रीपुंभिदा न तु सुतस्य विवित्तदृष्टेः | ४ | ५ | d |
| स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां | ४ | २५ | a |
| स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत | ४ | २९ | d |
| स्त्रैणञ्चानुव्रतं रहः | ११ | ३९ | b |
| स्थानत्रयात्परं प्राप्तं | १८ | २६ | c |
| स्थानं निर्देष्टु मर्हसि | १७ | ३७ | b |
| स्थानानि कलये ददौ | १७ | ३८ | b |
| स्थानान्निर्यापणं तथा | ७ | ५७ | b |
| स्थाने वा केन हेतुना | ४ | ३ | b |
| स्थितवति परसैनिकायु रक्षणा | ९ | ३५ | c |
| स्थितं सत्त्वे प्रसीदति | २ | १९ | d |
| स्थित्यादये हरिविरिञ्चि हरेति संज्ञाः | २ | २३ | c |
| स्थैर्यं समान महरन्मधुमानिनीनां | १६ | ३५ | c |
| स्नात मन्यत्र छान्दसात् | ४ | १३ | d |
| स्नातस्य मेन्यून मलं विचक्ष्व | ५ | ७ | d |
| स्नात्वानुसवनं तस्मिन् | १३ | ५२ | a |
| स्नात्वा पीत्वा ह्रदे नद्याः | ६ | १५ | c |
| स्नानव्यवायोन्मुखजीवलोकं | १६ | २२ | d |
| स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत्प्रणतिञ्च विष्णोः | १६ | १६ | c |
| स्नेहपाश मिमं छिन्धि | ८ | ४१ | c |
| स्नेहमोहवशं गतः | ८ | ४७ | d |
| स्नेहस्नुतपयोधराः | ११ | २९ | b |
| स्नेहञ्च वृष्णिपार्थानां | १६ | १४ | c |
| स्नेहा दन्यत्र मोहजात् | १३ | ४३ | d |
| स्पृष्टं विकीर्य पदयोः पतिताश्रुमुख्या | १५ | १० | c |
| स्पृष्ट्वाऽपस्तं परिक्रम्य | ७ | २९ | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| स्फीताञ्जनपदांस्तत्र | ६ | ११ | a |
| स्फुरत्पुरटमौलिनं | १२ | ८ | b |
| स्फुरन्त्यङ्ग पुनः पुनः | १४ | ११ | b |
| स्मयत्कङ्कमदै स्तव | १७ | २४ | d |
| स्मरतां तत्पदाम्बुजं | १८ | ४ | d |
| स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः | ८ | ३६ | b |
| स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुनः | ५ | १९ | c |
| स्मर्तव्यं भजनीयं वा | १९ | ३८ | c |
| स्मर्तुर्लुठन्ति हृदयं मम माधवस्य | १५ | १८ | d |
| स्मितावलोकं स्वपतिं स्म यत्प्रजाः | १० | २७ | d |
| स्मृतिं ते सुरसत्तम | ६ | ४ | b |
| स्मृतिञ्च मदनुग्रहात् | ६ | २५ | d |
| स्यात्सम्भ्रमोऽन्तकालेऽपि | १८ | ४ | c |
| स्यान्महत्सेवया विप्राः | २ | १६ | c |
| स्रोतोभि स्सप्तभिर्या वै | १३ | ५१ | a |
| स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या | ९ | ३६ | b |
| स्वजनाः सुखमासते | १४ | २५ | b |
| स्वजन्मना चङ्क्रमणेन चाञ्चति | १० | २६ | d |
| स्वजीवमायां प्रकृतिं सिसृक्षतीं | १० | २२ | b |
| स्वधर्मस्थानुपालनं | १७ | १६ | b |
| स्वनिगम मपहाय मत्प्रतिज्ञां | ९ | ३७ | a |
| स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो | २ | ३३ | c |
| स्वपुर्यां यदवोऽर्चिताः | १४ | ३६ | b |
| स्वपुर्यां सुख मासते | १३ | ११ | d |
| स्वपूर्वेषां महात्मनां | १६ | १३ | b |
| स्वप्राणान्यः परप्राणैः | ७ | ३७ | a |
| स्वभाव मपरे प्रभुं | १७ | १९ | d |
| स्वभावरक्तस्य महान्व्यतिक्रमः | ५ | १५ | b |
| स्वमाययाऽऽवृणो द्दुर्भं | ८ | १४ | c |
| स्वयञ्च गुरुभि र्विप्रैः | ११ | २३ | a |
| स्वयं विप्रकृतो राज्ञा | १८ | ४९ | c |
| स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः | १९ | ८ | d |
| स्वरब्रह्मविभूषितां | ६ | ३३ | b |
| स्वराट् पौत्रं विनयिनं | १५ | ३८ | a |
| स्वर्धुनी सप्तधा व्यधात् | १३ | ५१ | b |
| स्वर्धु न्यापोऽनुसेवया | १ | १५ | d |
| स्वलक्षणविलक्षितैः | ८ | ३९ | d |
| स्वलङ्कृतं श्यामतुरङ्गयोजितं | १६ | ११ | a |
| स्वसुख मुपगते क्वचिद्विहर्तुं | ९ | ३२ | c |
| स्वसुश्च प्रियकाम्यया | १० | ७ | d |
| स्वसेनया दिग्विजयाय निर्गतः | १६ | ११ | d |
| स्वस्त्या स्ते वाऽथ मारिष | १४ | २६ | b |
| स्वस्मिन् भावञ्च केशवः | ५ | ३९ | d |
| स्वं राज्यं कितवै र्हृतं | ८ | ५ | b |
| स्वं स्वं व्यस्यन्ननेकधा | ४ | २३ | b |
| स्वःपथाय मनश्चक्रे | १५ | ३२ | c |
| स्वाङ्कष्ठा मधुनोपेते | १ | २३ | c |
| स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिः | १६ | २७ | c |
| स्वादु स्वादु पदे पदे | १ | १९ | d |
| स्वानाञ्चानन्यभावानां | ७ | २५ | c |
| स्वाना मुदकमिच्छतां | ८ | १ | b |
| स्वानां मृतानां यत्कार्यं | ७ | ५८ | c |
| स्वानां रक्षां व्यधा द्विभुः | ८ | १३ | d |
| स्वानुष्ठितस्य धर्मस्य | २ | १३ | c |
| स्वान्तस्थेन गदाभृता | १३ | १० | d |
| स्वामिन्यघं यद्दासानां | १८ | ३३ | c |
| स्वायम्भुव कया वृत्त्या | ६ | ३ | a |
| स्वाश्रमान् प्रययुः पुनः | ९ | ४७ | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| स्विद्यन्ति ह्युच्चलन्ति च | १४ | २० | b |
| स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः | ५ | २२ | b |
| स्वृद्धाञ्जनपदान् स्वकान् | ११ | १ | b |
| स्वै रज्ञातगतिर्भवान् | १३ | २७ | b |
| **ह** | | | |
| हतबन्धुः सभार्यया | १३ | ३२ | d |
| हतबन्धून् शुचार्पितान् | ८ | ४ | b |
| हत्वा स्वरिक्थस्पृध आततायिनः | १० | १ | a |
| हन्तास्मिञ्जन्मनि भवान् | ६ | २२ | a |
| हन्यमान मगाथवत् | १७ | १ | b |
| हरन्ति वज्रायुधवल्लभोचिताः | १४ | ३७ | d |
| हरन्ति स्मरतश्चित्तं | १५ | २७ | c |
| हारंचर्यानुवर्णनं | ६ | ३५ | d |
| हरिणा बन्धुरूपिणा | १५ | ५ | b |
| हरिभावनया ध्वस्त- | १३ | ५३ | c |
| हरिं रिव हन्तु मिभं गतोत्तरीयः | ९ | ३७ | d |
| हरिलीलामृतं वचः | १६ | ८ | f |
| हरिः प्रत्युद्यतार्हणः | १० | ३६ | b |
| हरे रुदारं चरितं विशुद्धं | १८ | १५ | c |
| हरे र्गुणाक्षिप्तमतिः | ७ | ११ | a |
| हरे र्हार्दं मथासिना | ७ | ५५ | b |
| हरे स्सत्त्वनिधे र्द्विजाः | ३ | २६ | b |
| हर्म्याण्यारुरुहु र्विप्र | ११ | २४ | c |
| हर्षगद्गदया गिरा | ११ | ५ | b |
| हर्षविह्वलितात्मनः | ११ | २९ | c |
| हर्षशोकयुत स्तस्मात् | १३ | ५८ | c |
| हस्त्यश्वान्नृपति र्वरान् | १२ | १४ | b |
| हातुं नोत्सहते बुधः | १० | ११ | b |
| हित्वा भूतपती नथ | २ | २६ | b |
| हित्वावद्य मिमं लोकं | ६ | २४ | c |
| हित्वेतरान् प्रार्थयतो विभूतिः | १८ | २० | c |
| हित्वेदं नृप गङ्गायां | १२ | २८ | c |
| हिमालयं न्यस्तदण्डप्रहर्ष | १३ | २९ | c |
| हिरण्यं गां महीं ग्रामान् | १२ | १४ | a |
| हीना भू र्हतसौभगा | १४ | २१ | d |
| हुताश इव दुर्धर्षः | १२ | २१ | c |
| हुत्वा चाग्नीन्यथाविधि | १३ | ५२ | b |
| हृतवति पार्थसखे रति र्ममाऽस्तु | ९ | ३५ | d |
| हृतं क्षेत्रं धनं येषां | १३ | २३ | c |
| हतास्ते विगतं वयः | १३ | २१ | b |
| हृत्तापोपशमानि च | १५ | २७ | b |
| हृत्सरोजो हतप्रभः | १५ | २ | b |
| हृदये नाऽऽत्मबन्धुना | १४ | ४४ | b |
| हृदि कृत्वा जहाच्छुचः | १३ | ५९ | d |
| हृदि कृत्वा हरिं गेहात् | १३ | २६ | c |
| हृदि ब्रह्म परं ध्यायन् | १५ | ४४ | e |
| हृदि रूढं दुरात्मनः | ८ | ४८ | b |
| हृदिस्थं पूजयामास | ९ | १० | c |
| हृदि हृदि धिष्ठित मात्मकल्पितानां | ९ | ४२ | b |
| हृदीक स्ससुतोऽक्रूरः | १४ | २८ | c |
| हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि | २ | १७ | c |
| हृद्यासीन्मे शनै र्हरिः | ६ | १७ | d |
| हृषीकाणामिवेशिनुः | ८ | ३८ | d |
| हे पार्थ हेऽर्जुनसखे कुरुनन्दनेति | १५ | १८ | b |


★★★

# श्रीमद्भागवत प्रथमस्कन्धस्थ प्रक्षिप्तश्लोक पादानुक्रमणिका

| | Adhyāya | Before V | Pāda |
|---|---|---|---|
| अथामन्त्र्याच्युतो बन्धून् | 13 | 17 | a |
| अथो निशामयामास | 8 | 1 | a |
| अन्धः पुरैव बधिरः | 13 | 22 | a |
| अपश्यमाना वदनं मनोहरम् | 11 | 10 | d |
| अभिप्रस्थापितो नूनम् | 19 | 36 | a |
| अर्जुनोद्धवशैनेयैः | 13 | 17 | c |
| आलिङ्ग्य स्वपतीन् भीम | 8 | 1 | c |
| इत्थं पृष्टस्स देवर्षिः | 13 | 39 | a |
| उदास्ते केवलः पुनः | 6 | 17 | d |
| उपेक्ष्यातिथिभृत्यांश्च | 14 | 2nd half of V. 43. | a |
| उभाभ्यां भाष्यते साक्षात् | 2 | 12 | c |
| कथं वयं नाथ चिरोषिते त्वयि | 11 | 10 | a |
| कन्याविक्रयिणं तातम् | 14 | 5 | a |
| कारुण्याविष्ट चेतसा | 19 | 36 | b |
| कृष्णभक्तो निसर्गतः | 12 | 32 | b |
| कृष्णायै भगवान् पुरा | 8 | 1 | b |
| कृष्णेनैवेत्यहं मन्ये | 19 | 36 | c |
| केयूरहाराङ्गदमौलिरत्नम् | 19 | 18 | b |
| क्रीडिष्यन्निदमात्मनः | 6 | 17 | b |
| क्षितिभरमवरोपितुं कुरूणाम् | 9 | 42 | a |
| गदाभग्नोरुवक्षसः | 8 | 1 | d |
| गर्भिण्यातुरकन्यकाः | 14 | 2nd half of V. 43. | b |
| चित्रं तद्भगवत्पदम् | 6 | 17 | d |
| जाग्रदाभास आत्मनः | 6 | 17 | b |
| जिज्ञासायां च निष्ठिताः | 3 | 2nd half of V. 44. | b |
| जीवेम ते सुन्दरहाससशोभितम् | 11 | 10 | c |
| तद्यशः पावनं दिक्षु | 10 | 3 | c |
| तमिममजमनुव्रतार्तिहाङ्घ्रिम् | 9 | 42 | c |
| त्रिभिरुत्तमकल्पकैः | 10 | 3 | b |
| त्रिलोकैश्वरतां वने | 8 | 25 | d |
| दिष्ट्या नो भगवान् दृष्टः | 13 | 39 | a |
| दूरे हरिकथामृतात् | 2 | 9 | b |
| धर्मपुत्रेण भार्गव! | 13 | 39 | b |
| न निरोधञ्चानुगच्छेत् | 6 | 17 | c |
| न सुप्तं न मनोरथम् | 6 | 17 | b |
| नामरूपक्रियावृत्तिः | 6 | 17 | c |
| निर्वर्त्यानुगतान् विभुः | 13 | 17 | b |
| नेन्द्रियार्थं न च स्वप्नम् | 6 | 17 | a |
| पतितायाः पादमूले | 8 | 1 | c |
| पत्रैश्चातृप्यत सह | 8 | 25 | c |
| पवित्रपाणिर्मुनिवेष आस्ते | 19 | 18 | d |
| पश्य राज्यरिदारांस्ते | 8 | 1 | a |
| प्रपन्नतृष्णाखिलतापशोषणम् | 11 | 10 | b |
| प्रीतिदः सर्वलोकस्य | 12 | 32 | c |
| प्रेमाश्रुपुलकोद्गमाः | 2 | 9 | d |
| बाल एव स धर्मात्मा | 12 | 32 | a |
| ब्राह्मणान् वेदविमुखान् | 13 | 5 | c |
| भक्तानां शमभीप्सता | 19 | 36 | d |
| भगवान् केवलस्स्मृतः | 2 | 12 | d |

| | Adhyaya | Before V | Pada |
|---|---|---|---|
| मग्नानां व्यसनार्णवे | 13 | 39 | b |
| मन्दप्रज्ञश्च साम्प्रतम् | 13 | 22 | b |
| महाभागवतस्सुधीः | 12 | 32 | d |
| यत्र सन्ति द्रवच्चित्त | 2 | 9 | c |
| यन्मायया ऽऽवृतदृशः | 15 | 17 | c |
| यन्मे नृपेन्द्र! तदतर्क्यविहार ईश! | 15 | 17 | a |
| ययौ द्वारवतीं हयैः | 13 | 17 | d |
| याजयित्वाऽश्वमेधैस्तम् | 10 | 3 | a |
| यूयं व्यवसिता विप्राः | 3 | 2nd half of V. 44. | a |
| यो लब्धरूपमवदद्रणमूर्ध्नि दर्शी | 15 | 17 | b |
| रत्नाङ्गुलीयान्विमलान्निरस्य | 19 | 18 | c |
| रुदतो मुक्तमूर्धजान् | 8 | 1 | b |
| रुदन्त्या यत्प्रतिश्रुतम् | 8 | 1 | d |
| वज्रवैदूर्यमण्डिताः | 11 | 31 | b |
| विशीर्णदन्तो मन्दाग्निः | 13 | 22 | c |
| विहाय सर्वं नरदेवचिह्नम् | 19 | 18 | a |

| | Adhyaya | Before V | Pada |
|---|---|---|---|
| शतमन्योरिवातनोत् | 10 | 3 | d |
| शतमष्टोत्तरञ्चैव | 11 | 31 | a |
| शापायामर्षणो मुनिः | 8 | 25 | b |
| शूद्रान् वै ब्रह्मवादिनः | 13 | 5 | d |
| श्रुतमप्यौपनिषदम् | 2 | 9 | a |
| श्वसन इवासृजदक्षवंशवह्निम् | 9 | 42 | b |
| स एको भगवानग्रे | 6 | 17 | a |
| सत्तामात्रन्तु यत्किञ्चित् | 2 | 12 | a |
| सदसच्चाविशेषणम् | 2 | 12 | b |
| सरोगः कफमुद्वहन् | 13 | 22 | d |
| संविच्छास्त्र परं पदम् | 6 | 17 | d |
| सुतं पित्रोरपोषकम् | 14 | 5 | b |
| सुयोधननिसृष्टो नः | 8 | 25 | a |
| सूत्रादयोऽहमहमस्मि ममेति भव्याः | 15 | 17 | d |
| सृष्ट्वा विसृज्य तज्जग्ध्वा | 6 | 17 | c |
| स्वप्नो मायामहश्शय्या | 6 | 17 | a |
| हृदि परिरभ्य जहामि मर्त्यनीडम् | 9 | 42 | d |

## प्रथमः स्कन्धः

| Sl. No. | Adhyāya No. | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc. | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | **अ** | | | |
| 1 | 6 | 27 | अ आ अं अः पुराणर्षिः | विज | | 203 |
| 2 | 2 | 8 | अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य | श्रीध | आप. श्रौ. सू. 8-1-1 | 58 |
| 3 | 8 | 48 | अक्षौहिणी प्रसङ्ख्याता | श्रीध | व्यासोक्तिः | 273 |
| 4 | 7 | 16 | अग्निदो गरदश्चैव | विज | वसि. स्मृ. 1-19 | 220 |
| 5 | 2 | 23 | अग्नि रवमो देवतानाम् | वीर | तैत्ति. सं. 5-5-1 | 73 |
| 6 | 9 | 26 | अग्निहोत्रं जुहोति | वीर | | 291 |
| 7 | 2 | 2 | अग्नीत्प्रेषणे परस्य च | वीर | अष्टा 8-2-92 | 54 |
| 8 | 2 | 32 | अग्रे रापः, अद्भ्यः पृथिवी | वीर | तैत्ति. उ. 2-1 | 81 |
| 9 | 1 | 1 | अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां | वीर | म ना. उ. 8-4 | 7 |
| 10 | 2 | 23 | अजायमानो बहुधा विजायते | वीर | पु सू. 2-1 | 73 |
| 11 | 3 | 35 | अजायमानो बहुधा विजायते | वीर | पु. सू. 2-1 | 111 |
| 12 | 8 | 43 | अञ्जलिः परमा मुद्रा | वीर | भा. स | 270 |
| 13 | 9 | 42 | अत एव तूपमा सूर्यकादिवत् | वीर | ब्र सू. 3-2-18 | 302 |
| 14 | 3 | 11 | अत्रे रपत्य मभिकाङ्क्षत | श्रीध | भाग 2-7-4 | 94 |
| 15 | 1 | 1 | अथ परा यथा तदक्षर | वीर | मुण्ड उ. 1-5 | 10 |
| 16 | 5 | 17 | अथ वा योगिना मेव | वीर | भ. गी 6-42 | 164 |
| 17 | 3 | 1 | अथाऽऽख्याहि हरे धीमन् | श्रीध | भाग 1-1-18 | 87 |
| 18 | 1 | 1 | अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा | विज | ब्र. सू. 1-1-1 | 18 |
| 19 | 1 | 1 | अथैन माहु स्सत्यकर्मेति | विज | | 20 |
| 20 | 2 | 23 | अद्भ्य स्सम्भूतः | वीर | तैत्ति. आ. 3-13 | 73 |
| 21 | 10 | 36 | अद्भ्यो वा एष प्रात रुदेति | श्रीध | | 328 |
| 22 | 17 | 43 | अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म | विज | अष्टा. 1-4-46 | 505 |
| 23 | 6 | 28 | अन् | वीर | अष्टा. 6-4-167 | 202 |
| 24 | 1 | 4 | अनन्ते स्वर्गे लोके | वीर | केन. उ. 4-9 | 34 |

| Sl No. | Adhyāya No. | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 25 | 2 | 23 | अनपहतपाप्मा वा | वीर | | 73 |
| 26 | 1 | 1 | अनर्थोपशमं साक्षात् | वीर | भाग. 1-7-6 | 5 |
| 27 | 13 | 47 | अनश्न न्न्यो अभि | वीर | मुण्ड. उ. 3-1-1 | 399 |
| 28 | 7 | 35 | अनागसं प्रसुप्तञ्च | विज | स्मृतिः | 229 |
| 29 | 7 | 7 | अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या | वीर | विष्णु. पु. 6-7-11 | 212 |
| 30 | 4 | 7 | अनुपसर्गा ल्लिम्पविन्द | वीर | अष्टा. 3-1-138 | 127 |
| 31 | 8 | 18 | अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं | विज | म. ना. उ. 9-5 | 255 |
| 32 | 5 | 19 | अन्तवन्त इमे देहाः | रा. कृ. | भ. गी. 2-18 | 168 |
| 33 | 4 | 13 | अन्यत्र छान्दसात् | रा. कृ. | भाग. 1-4-12 | 134 |
| 34 | 6 | 1 | अन्ववोचन् गमिष्यन्तः | वीर | भाग. 1-5-30 | 185 |
| 35 | 10 | 23 | अप परी वर्जने | विज | अष्टा. 1-4-88 | 322 |
| 36 | 1 | 1 | अपरस्परसम्भूतं | विज | भ. गी. 16-8 | 23 |
| 37 | 7 | 23 | अपरेयमितस्त्वन्यां | वीर | भ. गी. 7-5 | 224 |
| 38 | 17 | 21 | अप्रसिद्धे रवाच्यं तत् | विज | स्मृतिः | 494 |
| 39 | 5 | 18 | अप्रार्थितानि दुःखानि | श्रीध | | 163 |
| 40 | 7 | 12 | अभिमन्युसुतं सूत | वीर | भाग. 1-4-9 | 216 |
| 41 | 15 | 9 | अभे रप्युपसङ्ख्यानम् | विज | | 437 |
| 42 | 10 | 3 | अमात्या मन्त्रिणो दूताः | विज | वैज. को.. 3-6-197 | 311 |
| 43 | 1 | 2 | अमृतस्यैष सेतुः | वीर | मुण्ड. उ. 2-2-5 | 27 |
| 44 | 2 | 23 | अमृतस्यैष सेतुः | वीर | मुण्ड. उ. 2-2-5 | 72 |
| 45 | 1 | 1 | अम्बरीष शुकप्रोक्तम् | श्रीध | पद्म. पु. | 3 |
| 46 | 1 | 1 | अम्बरीष शुकप्रोक्तम् | वीर | पद्म. पु. | 5 |
| 47 | 1 | 3 | अम्बरीष शुकप्रोक्तम् | विज | पद्म. पु. | 32 |
| 48 | 9 | 42 | अम्बुव दग्रहणात्तु न | वीर | ब्र. सू. 3-2-19 | 302 |
| 49 | 12 | 25 | अम्बुव दग्रहणात्तु न | विज | ब्र. सू. 3-2-19 | 365 |
| 50 | 1 | 1 | अय मात्मा ब्रह्मा | वीर | माण्डू. उ. 2 | 7 |
| 51 | 14 | 5,6 | अरिष्टं पाप शुभयो रिष्टम् | विज | | 410 |
| 52 | 1 | 1 | अर्थोऽयं ब्रह्मसू | विज | गरु. पु. | 21 |
| 53 | 3 | 9 | अर्घो वा एष आत्मनो | श्रीध | तैत्ति. ब्रा. 3-3-3 | 94 |

| Sl. No. | Adhyāya No. | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc. | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 54 | 7 | 45 | अर्धो वा एष आत्मनो | श्रीध | तैत्ति. ब्रा. 3-3-3 | 234 |
| 55 | 7 | 45 | अर्धो वा एष आत्मनो | वीर | तैत्ति. ब्रा. 3-3-3 | 235 |
| 56 | 2 | 13 | अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा | वीर | ईश. उ. 11 | 66 |
| 57 | 5 | 32 | अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा | वीर | ईश. उ. 11 | 176 |
| 58 | 3 | 6 | अविद्यान्तर्गता स्सर्वे | वीर | वि. ध. पु. 104-25 | 91 |
| 59 | 3 | 32 | अव्यक्तोऽय मचिन्त्योऽयम् | वीर | भ. गी. 8-20 | 108 |
| 60 | 9 | 36 | अशोच्या नन्वशोचस्त्वम् | विज | भ. गी. 2-11 | 298 |
| 61 | 17 | 22 | असत्कृत मधर्मन्तु | विज | व्या. स्मृ. | 494 |
| 62 | 3 | 33 | असद्वा इद मग्र आसीत् | वीर | तैत्ति. उ. 2-7 | 111 |
| 63 | 1 | 1 | असा वादित्यो ब्रह्म | रा. कृ. | सूर्य. उ. 5 | 26 |
| 64 | 10 | 36 | असौ वा गविष्ठोऽप्सूदेति | विज | माध्यन्दिनायनश्रुतिः | 329 |
| 65 | 6 | 26 | अस्य महतो भूतस्य | श्रीध | बृह. उ. 2-4-10 | 200 |
| 66 | 2 | 23 | अस्येशाना जगतो विष्णु | वीर | तैत्ति. सं. 4-4-12 | 73 |
| 67 | 18 | 20 | अह मेव स्वय मिदं | विज | अम्भ्र. सू. | 521 |
| 68 | 14 | 2 | अह स्तु मासशब्दोक्तं | विज | भारते | 409 |
| 69 | 16 | 28 | अहं प्रजापतीनाञ्च | वीर | | 479 |
| 70 | 1 | 1 | अहं सर्वस्य प्रभवः | विज | भ. गी. 10-8 | 18 |
| 71 | 17 | 21 | अहं सर्वस्य प्रभवः | विज | भ. गी. 10-8 | 494 |
| 72 | 2 | 28 | अहं हि सर्वयज्ञानां | वीर | भ. गी. 9-24 | 78 |
| 73 | 17 | 21 | अहिंसा समता तुष्टिः | विज | भ. गी. 10-5 | 494 |

## आ

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 74 | 9 | 42 | आकाश मेकं हि यथा | वीर | | 302 |
| 75 | 10 | 8 | आचारप्रभवो धर्मो | रा. कृ. | भार. 13-107-147 | 313 |
| 76 | 7 | 53 | आततायिन मायान्तमपि | श्रीध | | 238 |
| 77 | 7 | 16 | आततायिन मायान्तं हन्या | विज | मनु. स्मृ. 8-350 | 221 |
| 78 | 7 | 35 | आततायिन मायान्तं हन्या | वीर | मनु. स्मृ. 8-350 | 229 |
| 79 | 7 | 53 | आततायिन मायान्तं हन्या | वीर | मनु. स्मृ. 8-350 | 239 |
| 80 | 7 | 53 | आततायिन मायान्तं हन्या | रा. कृ. | मनु. स्मृ. 8-350 | 241 |

| Sl. No. | Adhyāya No. | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc. | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 81 | 7 | 39 | आत्मबन्धु स्सुतस्तोकः | विज | | 233 |
| 82 | 1 | 3 | आत्मारामाश्च मुनयो | श्रीध | भाग. 1·7-10 | 31 |
| 83 | 7 | 45 | आत्मा वै पुत्रनामाऽसि | विज | कौषी. उ. 2-11 | 236 |
| 84 | 7 | 45 | आत्मा वै पुत्रनामाऽसि | रा. कृ. | कौषी. उ. 2-11 | 237 |
| 85 | 17 | 19 | आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः | श्रीध | भ. गी. 6-5 | 491 |
| 86 | 2 | 23 | आनन्दादयः प्रधानस्य | विज | ब्र. सू. 3-3-11 | 75 |
| 87 | 1 | 1 | आनन्दो ब्रह्म | वीर | तैत्ति. उ. 3-6 | 8 |
| 88 | 15 | 12 | आन्महतः | वीर | अष्टा. 6-3-46 | 436 |
| 89 | 5 | 19 | आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः | रा. कृ. | भ. गी. 8-16 | 167 |
| 90 | 3 | 6 | आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ताः | वीर | वि. ध. पु. 104; 23-25 | 91 |
| 91 | 2 | 23 | आभूतसम्प्लवे प्राप्ते | वीर | भार. 2 App. 21-51 P | 73 |
| 92 | 1 | 1 | आरभ्य यत्र | वीर | मत्स्य. पु. | 5 |
| 93 | 2 | 2 | आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि | वीर | श्वेता. उ. 5-8 | 54 |
| 94 | 1 | 1 | आशी र्नमस्क्रिया वस्तु | वीर | काव्या. 1-14 | 14,9 |
| 95 | 15 | 36 | आसन् मखासु मुनयः | रा. कृ. | | 454 |
| | | | **इ** | | | |
| 96 | 5 | 7 | इज्याचारदमाहिंसा | श्रीध | याज्ञ. स्मृ. 1-8 | 149 |
| 97 | 4 | 25 | इतिहासपुराणाभ्यां वेदं | विज | भार. 1-1-204 | 142 |
| 98 | 9 | 11 | इत्थम्भूतलक्षणे | विज | अष्टा. 2-3-21 | 282 |
| 99 | 1 | 1 | इदं भागवतं नाम | वीर | भाग. 2-1-8 | 5 |
| 100 | 1 | 1 | इदं भागवतं नाम | रा. कृ. | भाग. 2-1-8 | 25 |
| 101 | 14 | 27 | इन्द्र वरुण भव शर्व | वीर | अष्टा. 4-1-49 | 419 |
| 102 | 18 | 23 | इषुक्षया न्निवर्तन्ते | वीर | | 520 |
| 103 | 2 | 28 | इष्टापूर्ते बहुधा | वीर | म. ना. उ. 1-6 | 77 |
| | | | **ई** | | | |
| 104 | 1 | 1 | ईक्षते र्नाशब्दम् | श्रीध | ब्र. सू. 1-1-5 | 2 |
| 105 | 1 | 1 | ईदूदेद्द्विवचनम् | वीर | अष्टा. 1-1-11 | 6 |
| 106 | 6 | 7 | ईशावास्य मिदं सर्वम् | विज | ईशा. उ. 1 | 188 |

| Sl. No. | Adhyāya No. | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc. | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 107 | 3 | 35 | ईश्वर स्सर्वभूतानाम् | रा. कृ. | भ. गी. 18-61 | 114 |
| 108 | 15 | 21 | ईश्वर स्सर्वभूतानाम् | रा. कृ. | भ. गी. 18-61 | 444 |
| | | | **उ** | | | |
| 109 | 1 | 1 | उत्तमश्लोकचरितम् | वीर | भाग. 1-3-40 | 5 |
| 110 | 18 | 11 | उत्सृज्य सर्वत स्सङ्गम् | वीर | भाग. 1-18-3 | 514 |
| | | | **ऋ** | | | |
| 111 | 5 | 11 | ऋदो रप् | वीर | अष्टा. 3-3-57 | 154 |
| | | | **ए** | | | |
| 112 | 6 | 11 | एकतो यत्र तु ग्रामो | श्रीध | भृगुवचनम् | 190 |
| 113 | 1 | 1 | एक मेवाद्वितीयं | वीर | छान्दो. उ. 6-2-1 | 7 |
| 114 | 2 | 23 | एक स्तिष्ठति विश्वात्मा | वीर | भार. 12 App. 17B 45 pr. | 73 |
| 115 | 15 | 17 | एको बहूनां यो विदधाति | वीर | श्वेता. उ. 6-13 | 441 |
| 116 | 2 | 33 | एको व्रीहिः सुसम्पन्नः | वीर | | 82 |
| 117 | 2 | 23 | एको ह वै नारायणः | वीर | महा. उ.1-1 | 72 |
| 118 | 1 | 4 | एत न्मनोमयं चक्रं | श्रीध | वायु. पु. | 33 |
| 119 | 6 | 37 | एतस्य वाऽक्षरस्य | रा. कृ. | मैत्रा. उ. 6-32 | 208 |
| 120 | 1 | 2 | एतावानेव लोकेऽस्मिन् | विज | भाग. 6-3-22 | 29 |
| 121 | 5 | 23 | एते ब्रह्मवादिनो वदन्ति | रा. कृ. | | 171 |
| 122 | 2 | 23 | एतौ द्वौ विबुधश्रेष्ठौ | वीर | भार. 12-328-17 | 72 |
| 123 | 13 | 50 | एनबन्यतरस्याम् | वीर | अष्टा. 5-3-35 | 399 |
| 124 | 10 | 25 | एव ममृता दात्मानं | वीर | म. ना. उ. 8-2 | 321 |
| 125 | 9 | 36 | एव मुक्त्वार्जुन स्सङ्ख्ये | श्रीध | भ. गी. 1-47 | 296 |
| 126 | 1 | 1 | एव मेवाऽमुत्र पुण्य | वीर | छान्दो. उ. 8-1-6 | 8 |
| 127 | 1 | 4 | एवं कृत्वा ततो देवो | श्रीध | | 33 |
| 128 | 10 | 25 | एवं पुण्यस्य कर्मणो | वीर | मना. उ 9-7 | 321 |
| 129 | 1 | 2 | एष मे सर्वधर्माणाम् | विज | भार. 13-135-8 | 29 |
| 130 | 1 | 1 | एष सर्वेश्वर एष | विज | बृह. उ. 4-4-21 | 22 |
| 131 | 16 | 28 | एष सेतु र्विधृतिः | विज | बृह. उ. 4-4-22 | 480 |
| 132 | 2 | 2 | एषोऽणुरात्मा | वीर | मुण्ड. उ. 3-1-9 | 54 |

| Sl. No. | Adhyāya No. | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc. | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | **ऐ** | | | |
| 133 | 1 | 1 | ऐतदात्म्य मिदं सर्वं | वीर | छान्दो. उ. 6-8-7 | 7 |
| | | | **ओ** | | | |
| 134 | 9 | 12 | ओत् | वीर | अष्टा. 1-1-15 | 281 |
| 135 | 5 | 37 | ओं तत्स दिति निर्देशो | वीर | भार. 6-39-23 | 181 |
| | | | **क** | | | |
| 136 | 1 | 20 | क इत ब्रह्मणो नाम | वीर | ह. वं. | 47 |
| 137 | 8 | 22 | कथं पश्येम हि क्षियः | रा. कृ. | भाग. 1-8-20 | 257 |
| 138 | 18 | 12 | कर्मणा ज्ञान मातनोति | विज | | 515 |
| 139 | 5 | 35 | कर्मणा ज्ञान मातनोति | विज | | 179 |
| 140 | 8 | 52 | कर्मणा ज्ञान मातनोति | विज | | 275 |
| 141 | 18 | 12 | कर्मणा ज्ञान मातनोति | विज | | 515 |
| 142 | 5 | 18 | कर्मणा पितृलोकः | श्रीध | बृह. उ. 1-5-16 | 163 |
| 143 | 1 | 1 | कवि र्यः पुत्रस्स ईमा | विज | ऋ. सं. 1-164-16 | 19 |
| 144 | 3 | 35 | कवीनां उशना कविः | रा. कृ. | भ. गी. 10-37 | 114 |
| 145 | 2 | 31 | काठिन्यवान् यो बिभर्ति | वीर | | 81 |
| 146 | 3 | 20 | कामः क्रोध स्तथा लोभः | विज | भ. गी. 16-21 | 100 |
| 147 | 1 | 1 | कारणं तु ध्येयः | वीर | अथ. शिखा. उ. 3 | 8 |
| 148 | 2 | 33 | कारणं तु ध्येयः | वीर | अथ. शिखा. उ. 3 | 82 |
| 149 | 8 | 5,6 | कालः कलयता महं | रा. कृ. | भ. गी. 10-30 | 248 |
| 150 | 3 | 1 | कालश्च पञ्चभूतानि | विज | | 89 |
| 151 | 18 | 11 | कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे | वीर | अष्टा. 2-3-5 | 514 |
| 152 | 3 | 28 | कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् | रा. कृ. | भ. गी. 11-32 | 106 |
| 153 | 8 | 5,6 | कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् | रा. कृ. | भ. गी. 11-32 | 248 |
| 154 | 13 | 10 | किञ्चाऽहं न भुवं यास्ये | वीर | भाग. 9-9-5 | 376 |
| 155 | 1 | 11 | किमलभ्यं भगवति | वीर | भाग. 10-39-2 | 41 |
| 156 | 5 | 7 | किं वा भागवता धर्माः | रा. कृ. | भाग. 1-4-31 | 152 |
| 157 | 5 | 8 | किं वा भागवता धर्माः | वीर | भाग. 1-4-31 | 150 |

| Sl. No. | Adhyāya No. | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc. | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 158 | 7 | 1 | किं वा भागवता धर्माः | वीर | भाग. 1-4-31 | 211 |
| 159 | 5 | 17 | कुतः पुनः शश्वदभद्रम् | वीर | भाग. 1-5-12 | 164 |
| 160 | 6 | 8 | कुलं वंशे गृहे नाऽर्थे | विज | | 188 |
| 161 | 1 | 23 | कृषि र्भूवाचक शब्दो | विज | भार. 5-68-5 | 50 |
| 162 | 7 | 22 | कृषि र्भूवाचक शब्दो | वीर | भार. 5-68-5 | 224 |
| 163 | 1 | 2 | कृष्णद्वैपायनं व्यासम् | विज | विष्णु. पु. 3-4-5 | 29 |
| 164 | 2 | 23 | केवलो निर्गुणश्च | विज | श्वेता. उ. 6-11 | 75 |
| 165 | 1 | 2 | को धर्म स्सर्वधर्माणां | विज | भार. 13-135-3 | 29 |
| 166 | 9 | 26,27,28 | क्रोधाद्भवति सम्मोहः | रा. कृ. | भ. गी. 2-63 | 294 |
| 167 | 11 | 31 | क्रीडां शरीरसंस्कारं | श्रीध | याज्ञ. स्मृ. 1-84 | 346 |
| 168 | 8 | 22 | क्लेशोऽधिकतर स्तेषां | रा. कृ. | भ. गी. 12-5 | 257 |
| 169 | 1 | 13 | क्विप् च | विज | अष्टा. 3-2-76 | 45 |
| 170 | 18 | 48 | क्षमा बल मशक्तानाम् | विज | | 536 |
| 171 | 1 | 1 | क्षरं प्रधान ममृताक्षरं | वीर | श्वेता. उ. 1-10 | 10 |
| 172 | 5 | 17 | क्षिप्रं भवति धर्मात्मा | विज | भ. गी. 9-31 | 166 |
| 173 | 1 | 4 | क्षेत्रेऽस्मिन् वैष्णवे वयम् | श्रीध | भाग. 1-1-21 | 34 |
| | | | **ख** | | | |
| 174 | 1 | 1 | खं ब्रह्म | वीर | बृह. उ. 5-1-1 | 8 |
| | | | **ग** | | | |
| 175 | 3 | 42 | गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ | वीर | अष्टा. 1-4-52 | 120 |
| 176 | 2 | 23 | गुणा स्सर्वेऽपि वेत्तव्या | विज | | 75 |
| 177 | 2 | 2 | गुरो रनृतोऽनन्त्यस्याऽपि | वीर | अष्टा. 8-2-86 | 54 |
| 178 | 3 | 34 | गौ रनाद्यन्तवती | वीर | मन्त्रि. उ. 4 | 111 |
| 179 | 9 | 33 | गौरोऽरुणे सिते पीते | विज | | 297 |
| 180 | 1 | 1 | ग्रन्थोऽष्टादश | श्रीध | स्कन्द. पु | 3 |
| 181 | 1 | 1 | ग्रन्थोऽष्टादश | वीर | स्कन्द. पु. | 5 |
| 182 | 1 | 1 | ग्रन्थोऽष्टादश | विज | स्कन्द. पु. | 21 |
| 183 | 5 | 11 | ग्रामजनबन्धुभ्यस्तत् | वीर | अष्टा. 4-2-42 | 154 |

| Sl. No. | Adhyāya No. | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc. | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | **ङ** | | | |
| 184 | 3 | 40 | ङमो ह्रस्वा दचि ङमुट् | वीर | अष्टा. 8-3-32 | 117 |
| | | | **च** | | | |
| 185 | 1 | 1 | चक्षो स्सूर्यो अजायत | विज | पु. सू. 1-6 | 20 |
| 186 | 1 | 1 | चतुर्विंशत्साहस्रं | विज | | 21 |
| 187 | 5 | 37,38 | चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य | विज | ऋ. सं. 4-58-3 | 182 |
| 188 | 4 | 20 | चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं | रा. कृ. | भ. गी. 4-13 | 136 |
| 189 | 1 | 4 | चित्रकृतिमिशो नेमिः | विज | वैज. को. 3-3-46 | 35 |
| | | | **ज** | | | |
| 190 | 1 | 1 | जनिकर्तुः प्रकृतिः | वीर | अष्टा. 1-4-30 | 6 |
| 191 | 3 | 35 | जन्म कर्म च मे दिव्यं | रा. कृ. | भ. गी. 4-9 | 114 |
| 192 | 8 | 29 | जन्म कर्म च मे दिव्यं | वीर | भ. गी. 4-9 | 260 |
| 193 | 1 | 1 | जन्माद्यस्य यतः | विज | ब्र. सू. 1-1-1 | 18 |
| 194 | 7 | 45 | जायापती अग्नि मादधीयाताम् | श्रीध | | 234 |
| 195 | 5 | 27 | जीवभूतां महाबाहो | वीर | भार. 6-29-5 | 173 |
| 196 | 3 | 32 | जीवो जीवेन निर्मुक्तो | श्रीध | | 107 |
| 197 | 3 | 32 | जीवो जीवं विहाय | श्रीध | | 107 |
| 198 | 1 | 1 | ज्ञातौ द्वा वजावीशानीशौ | वीर | श्वेता. उ. 1-9 | 7 |
| 199 | 2 | 13 | ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि | वीर | भ. गी. 4-37 | 66 |
| 200 | 5 | 38 | ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम् | वीर | भ. गी. 7-18 | 181 |
| | | | **ण** | | | |
| 201 | 1 | 1 | णिचश्च | वीर | अष्टा. 1-3-74 | 14 |
| 202 | 1 | 23 | णिचश्च | वीर | अष्टा. 1-3-74 | 111 |
| 203 | 6 | 23 | णिचश्च | वीर | अष्टा. 1-3-74 | 198 |
| 204 | 1 | 1 | णेरनिटि | वीर | अष्टा. 6-4-51 | 14 |
| | | | **त** | | | |
| 205 | 6 | 28 | तडिदित्यन्तिकबन्धयोः | श्रीध | | 201 |
| 206 | 6 | 28 | तडि (टि) दीप्ता शतह्रदा | विज | वैज. को. 2-2-4 | 203 |

| Sl. No. | Adhyāya No. | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc. | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 207 | 2 | 23 | तत स्स भगवान विष्णुः | वीर | | 72 |
| 208 | 2 | 23 | ततो य दुत्तरतरं | वीर | श्वेता. उ. 3-10 | 72 |
| 209 | 6 | 30 | ततोऽवतीर्य विश्वात्मा | श्रीध | कूर्म. पु. 1-10-9 | 201 |
| 210 | 1 | 1 | तत्करोति | वीर | चुरादिगणसूत्रम् 204 | 14 |
| 211 | 1 | 13 | तत्करोति तदाचष्टे | विज | चुरादिगणसूत्रम् 204 | 45 |
| 212 | 1 | 2 | तत्कर्म यत्र बन्धाय | विज | विष्णु. पु. 1-19-41 | 29 |
| 213 | 1 | 1 | ततु समन्वयात् | विज | ब्र. सू. 1-1-4 | 18 |
| 214 | 1 | 1 | तत्त्व मसि | वीर | छान्दो. उ. 6-8-7 | 7 |
| 215 | 5 | 19 | तत्र तं बुद्धिसंयोगं | वीर | भ. गी. 6-43 | 165 |
| 216 | 5 | 15 | तत्रैव शक्यते वक्तुम् | श्रीध | | 159 |
| 217 | 13 | 5 | तत्प्राणो प्रपन्न उदतिष्ठत् | विज | | 373 |
| 218 | 1 | 1 | तत्सत्यं स आत्मा | विज | छान्दो. उ. 6-8-7 | 21 |
| 219 | 8 | 22 | तथा परमहंसानां | रा. कृ. | भाग. 1-8-20 | 256 |
| 220 | 2 | 30 | तदाऽऽत्मानं स्वय मकुरुत | वीर | तैत्ति. उ. 2-7 | 81 |
| 221 | 1 | 1 | तदेतत्प्रेयः | विज | बृह. उ. 1-4-8 | 18 |
| 222 | 10 | 17 | तदेतत्प्रेयः | विज | बृह. उ. 1-4-8 | 318 |
| 223 | 1 | 1 | तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय | वीर | छान्दो. उ. 6-2-3 | 7 |
| 224 | 5 | 16 | तद्बुद्धय स्तदात्मानः | रा. कृ. | भ. गी. 5-17 | 162 |
| 225 | 5 | 27 | तद्यथा रथस्था | वीर | कौषी. उ. 3-9 | 173 |
| 226 | 2 | 8 | तद्यथेह कर्मजितो | श्रीध | छान्दो. उ. 8-1-6 | 58 |
| 227 | 5 | 17 | तद्यथेह कर्मजितो | वीर | छान्दो. उ. 8-1-6 | 164 |
| 228 | 1 | 1 | तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते | वीर | बृह. उ. 1-4-7 | 9 |
| 229 | 2 | 7 | तमेतं वेदानुवचनेन | श्रीध | बृह. उ. 4-4-22 | 58 |
| 230 | 1 | 1 | तयो रन्यः पिप्पलं स्वादु | वीर | मुण्ड. उ. 3-1-1 | 10 |
| 231 | 12 | 32 | तरति ब्रह्महत्याम् | वीर | तैत्ति. सं. 5-3-12 | 368 |
| 232 | 2 | 23 | तवान्तरात्मा मम.च | वीर | भार. 12-339-4 | 72 |
| 233 | 7 | 12 | तस्य जन्म महाश्चर्यं | श्रीध | भाग. 1-4-9 | 215 |
| 234 | 5 | 19 | तस्य ताव देव चिरं | वीर | छान्दो. उ. 6-14-2 | 165 |
| 235 | 3 | 35 | तस्य धीराः परिजानन्ति | वीर | पु. सू. 2-2 | 112 |

| Sl. No. | Adhyāya No. | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc. | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 236 | 7 | 11 | तस्य पुत्तो महायोगी | श्रीध | भाग. 1-4-4 | 215 |
| 237 | 6 | 26 | तस्य ह वा एतस्य महतो | वीर | सुबा. उ. 2-1 | 201 |
| 238 | 10 | 21 | तस्य ह वा एतस्य महतो | वीर | सुबा. उ. 2-1 | 320 |
| 239 | 5 | 37 | तस्योदिति नाम | विज | छान्दो. उ. 1-6-7 | 182 |
| 240 | 1 | 1 | तान्यहं वेद सर्वाणि | विज | भ. गी. 4-5 | 19 |
| 241 | 19 | 8 | तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि | वीर | भाग. 1-13-10 | 545 |
| 242 | 10 | 21 | तुच्छ्येनाच्चपिहितं यदासीत् | विज | | 322 |
| 243 | 1 | 4 | तुल्यश्रुततपश्शीलाः | वीर | भाग. 10-87-11 | 35 |
| 244 | 13 | 58 | तुस्याद्भेदेऽवधारणे | विज | अम. को. 3-243 | 405 |
| 245 | 18 | 28 | तृणानि भूमिरुदकं | विज | भार. 3-2-52 | 526 |
| 246 | 15 | 14 | तृफलभजत्रपश्च | वीर | अष्टा. 6-4-122 | 437 |
| 247 | 5 | 17 | ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं | वीर | भ. गी. 9-21 | 164 |
| 248 | 15 | 5 | तेनाऽह मद्य मुषितः | वीर | भाग. 1-15-13 | 430 |
| 249 | 15 | 5 | तेनाऽह मद्य मुषितः | रा. कृ. | भाग. 1-15-13 | 432 |
| 250 | 15 | 6 | तेनाऽह मद्य मुषितः | श्रीध | भाग. 1-15-13 | 429 |
| 251 | 15 | 14 | तेनाऽह मद्य मुषितः | रा. कृ. | भाग. 1-15-13 | 439 |
| 252 | 2 | 23 | तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् | वीर | श्वेता. उ. 3-9 | 72 |
| 253 | 6 | 28 | तेनैकदिक् | श्रीध | अष्टा. 4-3-112 | 201 |
| 254 | 11 | 7 | तं देवतानां परमञ्च दैवतम् | वीर | श्वेता. उ. 5-7 | 333 |
| 255 | 13 | 56 | तां स्तदा नारदो विद्वान् | विज | स्कन्द. पु. | 404 |
| 256 | 17 | 38 | त्रेतायां धर्मपादानां | श्रीध | भाग. 12-3-20 | 503 |
| | | | **द** | | | |
| 257 | 1 | 4 | दशाश्वमेधी पुन रेति जन्म | वीर | भार. 12-94-3 | 34 |
| 258 | 1 | 6 | दुःखैनोव्यसनेष्वघम् | विज | ना. र. को. द्व्य. का. 47 | 38 |
| 259 | 15 | 11 | दुर्वासा मुनिवर्योऽथ | वीर | | 436 |
| 260 | 19 | 13 | दूरादुच्छिष्टविण्मूत्र | श्रीध | | 547 |
| 261 | 2 | 2 | दूराद्भूते च | वीर | अष्टा. 8-2-84 | 54 |
| 262 | 3 | 4 | दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या | वीर | कठ. उ. 3-12 | 88 |

| Sl. No. | Adhyāya No. | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc. | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 263 | 8 | 19 | दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या | वीर | कठ. उ. 3-12 | 254 |
| 264 | 10 | 23 | दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या | श्रीध | कठ. उ. 3-12 | 320 |
| 265 | 9 | 36 | दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण | वीर | भ. गी. 1-28 | 297 |
| 266 | 1 | 1 | देवस्यैष स्वभावोऽयं | विज | | 20 |
| 267 | 5 | 15 | देवान् पितॄन् समभ्यर्च्य | रा. कृ. | मनु. स्मृ. 5-32 | 162 |
| 268 | 12 | 14 | देवाश्च पितरश्चैव | श्रीध | | 360 |
| 269 | 2 | 23 | देशतः कालतो व्याप्तिः | वीर | | 73 |
| 270 | 1 | 1 | द्योतनः सर्वभावानां | वीर | सावित्रीविवरणे | 5 |
| 271 | 9 | 15 | द्रव्यं कर्म च कालश्च | वीर | भाग. 2-10-12 | 282 |
| 272 | 1 | 2 | द्रव्यक्रियागुणादीनां | वीर | | 27 |
| 273 | 1 | 3 | द्वा सुपर्णा सयुजा | वीर | मुण्ड. उ. 3-1-1 | 32 |
| 274 | 2 | 21 | द्वा सुपर्णौ सयुजा | विज | मुण्ड. उ. 3-1-1 | 74 |
| 275 | 1 | 1 | द्वे वा ब्रह्मणो रूपे | विज | बृह. उ. 2-3-1 | 23 |
| | | | **ध** | | | |
| 276 | 2 | 9 | धर्मादर्थश्च कामश्च | श्रीध | भार. 18-5-49 | 62 |
| 277 | 2 | 13 | धर्मेण पाप मपनुदति | वीर | म. ना. उ. 17-6 | 66 |
| 278 | 5 | 32 | धर्मेण पाप मपनुदति | वीर | म. ना. उ. 17-6 | 176 |
| 279 | 8 | 51 | धर्मेण पाप मपनुदति | वीर | म. ना. उ. 17-6 | 274 |
| 280 | 1 | 1 | धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र | रा. कृ. | भाग. 1-1-2 | 25 |
| 281 | 8 | 50 | धर्म्याद्धि युद्धात् | वीर | भ. गी. 2-31 | 274 |
| 282 | 9 | 26,27,28 | ध्यायतो विषयान् पुंसः | रा. कृ. | भ. गी. 2-62 | 70 |
| | | | **न** | | | |
| 283 | 5 | 15 | न कर्मणा न प्रजया धनेन | श्रीध | म. ना. उ. 10-5 | 159 |
| 284 | 16 | 9 | न कश्चि म्रियते तावत् | रा. कृ. | भाग. 1-16-8 | 466 |
| 285 | 8 | 19 | न चक्षुषा पश्यति कश्च नैनम् | वीर | कठ. उ. 6-9 | 254 |
| 286 | 8 | 20 | न चक्षुषा पश्यति कश्च नैनम् | वीर | कठ. उ. 6-9 | 254 |
| 287 | 8 | 23 | न चक्षुषा पश्यति कश्च नैनम् | वीर | कठ. उ. 6-9 | 254 |
| 288 | 2 | 6 | न चाऽन्योऽसावन्योऽह मस्मि | विज | बृह. उ. 1-4-10 | 60 |

| Sl. No. | Adhyāya No | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc. | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 289 | 1 | 1 | न जायते म्रियते वा | वीर | कठ. उ. 1-18 | 11 |
| 290 | 19 | 31 | नम्दुस्सुध्यः | वीर | अष्टा. 5-4-121 | 556 |
| 291 | 5 | 37 | न तत्र सूर्यो भाति न | वीर | कठ. उ. 5-15 | 181 |
| 292 | 16 | 28 | न तत्र सूर्यो भाति न | वीर | कठ. उ. 5-15 | 478 |
| 293 | 2 | 23 | न तत्समश्चाभ्यधिकश्च | वीर | श्वेता. उ. 6-8 | 73 |
| 294 | 11 | 7 | न तस्य कश्चि त्पति रस्ति | वीर | श्वेता. उ. 6-9 | 333 |
| 295 | 1 | 1 | न तस्य कार्य करणञ्च विद्यते | विज | श्वेता. उ. 6-8 | 22 |
| 296 | 2 | 23 | न तस्येशे कश्चन तस्य | वीर | म. ना. उ. 1-10 | 73 |
| 297 | 11 | 6 | न तस्येशे कश्चन तस्य | वीर | म. ना. उ. 1-10 | 333 |
| 298 | 1 | 1 | न ते विष्णोः | विज | वृद्ध. हा. पं. 8-24-7 | 19 |
| 299 | 2 | 23 | न देवः केशवात्परः | वीर | भार. 3 App. 13-17. post | 73 |
| 300 | 2 | 23 | न परः पुण्डरीकाक्षात् | वीर | | 73 |
| 301 | 8 | 19 | न मांसचक्षुरभिनीक्षते तम् | वीर | | 254 |
| 302 | 3 | 35 | न मुह्या च्चिन्तयन् कविः | वीर | | 111 |
| 303 | 8 | 18 | नमो वरिवश्चित्रङः क्यच् | वीर | अष्टा. 3-1-19 | 253 |
| 304 | 9 | 36 | न योत्स्ये | विज | भ. गी. 2-9 | 298 |
| 305 | 5 | 19 | न लभ्यते यद्भमता मुपर्यधः | रा. कृ. | भाग. 1-5-18 | 167 |
| 306 | 2 | 23 | न वासुदेवं प्रणिपत्य सीदति | वीर | | 73 |
| 307 | 2 | 23 | न विष्णोः परमो देवो | वीर | भार. 2App. 21 | 73 |
| 308 | 8 | 30 | न वेद कश्चि द्भगवं श्चिकीर्षितं | रा. कृ. | भाग. 1-8-29 | 263 |
| 309 | 9 | 42 | न स्थानतोऽपि | वीर | ब्र. सू. 3-2-11 | 301 |
| 310 | 5 | 17 | न हि कल्याणकृत् कश्चित् | वीर | भ. गी. 6-40 | 164 |
| 311 | 5 | 19 | न हि कल्याणकृत् कश्चित् | वीर | भ. गी. 6-40 | 165 |
| 312 | 5 | 19 | न हि कल्याणकृत् कश्चित् | श्रीध | भ. गी. 6-40 | 167 |
| 313 | 5 | 19 | न हि कल्याणकृत् कश्चित् | विज | भ. गी. 6-40 | 166 |
| 314 | 5 | 17 | न हि कल्याणकृत् कश्चित् | रा. कृ. | भ. गी. 6-40 | 167 |
| 315 | 5 | 18 | न हि कल्याणकृत् कश्चित् | रा. कृ. | भ. गी. 6-40 | 167 |
| 316 | 1 | 4 | न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रम् | रा. कृ. | भ. गी. 4-38 | 36 |
| 317 | 3 | 35 | न हिंस्यात् भूतानि | वीर | | 112 |

| Sl. No. | Adhyāya No. | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc. | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 318 | 8 | 5,6 | नाऽऽदत्ते कस्यचि त्पापं | रा. कृ. | भ. गी. 5-15 | 248 |
| 319 | 1 | 1 | नानावीर्याः पृथग्भूताः | वीर | विष्णु. पु. 1-2-52 | 10 |
| 320 | 13 | 2 | नाऽपृष्टः कस्यचित् ब्रूयात् | विज | भार. 12-276-34 | 373 |
| 321 | 3 | 3 | नाभ्या आसीदन्तरिक्षम् | विज | पु. सू. 1-5 | 89 |
| 322 | 1 | 1 | नामरूपे व्याकरवाणीति | वीर | छान्दो. उ. 6-3-2 | 9 |
| 323 | 10 | 21 | नामरूपे व्याकरवाणीति | वीर | छान्दो. उ. 6-3-2 | 320 |
| 324 | 3 | 37 | नाम रूपञ्च भूतानां कृत्यानां | वीर | विष्णु. पु. 1-5-63 | 116 |
| 325 | 2 | 23 | नारायणादेव समुत्पद्यन्ते | वीर | नारा. उ. 1 | 72 |
| 326 | 2 | 23 | नारायणाद्ब्रह्मा जायते | वीर | नारा. उ. 1 | 72 |
| 327 | 2 | 6 | नाविष्णुः कीर्तये द्विष्णुम् | विज | स्मृतिः | 60 |
| 328 | 13 | 50 | नाहं वेद गतिं पित्रोः | विज | भाग. 1-13-38 | 400 |
| 329 | 2 | 7 | नाहं वेदै र्न तपसा | वीर | भ. गी. 11-53 | 59 |
| 330 | 4 | 4 | नाहं वेदै र्न तपसा | रा. कृ. | भ. गी. 11-53 | 125 |
| 331 | 19 | 31 | नित्यमसिच् प्रजामेधयोः | वीर | अष्टा. 5-4-122 | 556 |
| 332 | 1 | 1 | नित्यो नित्यानां | वीर | कठ. उ. 5-13 | 10 |
| 333 | 9 | 42 | नित्यो नित्यानां | विज | कठ. उ. 5-13 | 303 |
| 334 | 10 | 17 | निद्रा गुडाका सुप्तञ्च | विज | वैज. को. 3-6-197 | 318 |
| 335 | 15 | 10 | निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् | रा. कृ. | भ. गी. 11-33 | 438 |
| 336 | 3 | 3 | निरनिष्ठो निरवद्यः | विज | श्रुतिः | 90 |
| 337 | 2 | 27 | निर्दोषं हि समं ब्रह्म | विज | भ. गी. 5-14 | 78 |
| 338 | 9 | 32 | निलीनो हि प्रकृतौ | विज | | 293 |
| 339 | 1 | 1 | निश्श्रेयसाय लोकस्य | वीर | भाग. 1-3-41 | 5 |
| 340 | 1 | 1 | निष्कलं निष्क्रियं | वीर | श्वेता. उ. 6-19 | 10 |
| 341 | 3 | 35 | निष्कलं निष्क्रियं | वीर | श्वेता. उ. 6-19 | 112 |
| 342 | 1 | 2 | नृणामयं परो धर्मः | विज | भाग. 7-11-12 | 29 |
| 343 | 2 | 32 | नेह नानास्ति किञ्चन | विज | बृह. उ. 4-4-19 | 84 |
| | | | **प** | | | |
| 344 | 11 | 7 | पतिं पतीनां परमं | वीर | श्वेता. उ. 6-7 | 333 |
| 345 | 1 | 1 | पतिं विश्वस्य | वीर | म. ना. उ. 9-3 | 10 |

| Sl. No. | Adhyāya No. | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc. | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 346 | 1 | 1 | पदच्छेदः पदार्थोक्तिः | विज | | 21 |
| 347 | 2 | 23 | परात्परं यन्महतो | वीर | महा. उ. 4-71 | 73 |
| 348 | 1 | 1 | पराऽस्य शक्ति र्विविधैव | वीर | श्वेता. उ. 6-8 | 7 |
| 349 | 15 | 37 | परिधानन्तु निश्चयः | विज | | 452 |
| 350 | 12 | 1 | परीक्षितोऽथ राजर्षेः | श्रीध | भाग. 1-7-12 | 353 |
| 351 | 16 | 1 | परीक्षितोऽथ राजर्षेः | वीर | भाग. 1-7-12 | 462 |
| 352 | 1 | 2 | परोऽपरमात्मनोः | विज | वैज. को. 6-5-49 | 29 |
| 353 | 2 | 23 | परं हि पुण्डरीकाक्षात् | वीर | | 73 |
| 354 | 2 | 23 | परः पराणां सकला | वीर | विष्णु. पु. 6-5-85 | 73 |
| 355 | 3 | 35 | पशु मालभेत | वीर | | 112 |
| 356 | 3 | 6 | पश्चा (तस्मा) दुद्भूतबोधास्ते | वीर | वि. ध. पु. 104-25 | 91 |
| 357 | 12 | 14 | पुत्रे जाते व्यतीपाते दत्तं भवति | श्रीध | स्मृतिः | 360 |
| 358 | 2 | 4 | पुंयोगा दाख्यायाम् | वीर | अष्टा. 4-1-48 | 55 |
| 359 | 2 | 6 | पुंसा मेकान्ततः श्रेयः | वीर | भाग. 1-1-9 | 59 |
| 360 | 2 | 34 | पुंसा मेकान्ततः श्रेयः | वीर | भाग. 1-1-9 | 83 |
| 361 | 3 | 40 | पुंसा मेकान्ततः श्रेयः | वीर | भाग. 1-1-9 | 116 |
| 362 | 5 | 17 | पूर्वाभ्यासेन तेनैव | रा. कृ. | भ. गी. 6-44 | 167 |
| 363 | 5 | 18 | पूर्वाभ्यासेन तेनैव | रा. कृ. | भ. गी. 6-44 | 167 |
| 364 | 5 | 19 | पूर्वाभ्यासेन तेनैव | वीर | भ. गी. 6-44 | 165 |
| 365 | 7 | 23 | पूरुसंज्ञे वै शरीरेऽस्मिन् | वीर | | 224 |
| 366 | 1 | 1 | पृथगात्मानं प्रेरितारं | वीर | श्वेता. उ. 1-6 | 10 |
| 367 | 3 | 34 | प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते | वीर | | 111 |
| 368 | 2 | 30 | प्रकृतिं पुरुषञ्चैव | वीर | भ. गी. 13-12 | 81 |
| 369 | 8 | 52 | प्रकृतेः क्रियमाणानि | रा. कृ. | भ. गी. 3-27 | 276 |
| 370 | 1 | 1 | प्रकृत्यैकाच् | वीर | अष्टा. 6-4-163 | 14 |
| 371 | 1 | 1 | प्रचोदिता येन पुरा | श्रीध | भाग. 1-4-22 | 3 |
| 372 | 1 | 1 | प्रजापतिः प्रजा असृजत | वीर | तैत्ति. सं. 2-2-1 | 11 |
| 373 | 1 | 1 | प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो | विज | ऋ. सं. 10-121-10 | 19 |
| 374 | 2 | 23 | प्रजा स्ससर्ज भगवान् | वीर | विष्णु. पु. 1-4-2 | 72 |

| Sl. No. | Adhyāya No. | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc. | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 375 | 1 | 4 | प्रतर्दनो ह वै | वीर | कौषी. उ. 3-1 | 34 |
| 376 | 1 | 1 | प्रधानक्षेत्रज्ञपति र्गुणेशः | वीर | श्वेता. उ. 6-16 | 10 |
| 377 | 1 | 2 | प्रमीया हिंसा च संज्ञ | विज॰ | | 29 |
| 378 | 5 | 11 | प्रयोगशरणा वैयाकरणाः | रा. कृ. | | 157 |
| 379 | 1 | 11 | प्रसादे सर्वदुःखानां बुद्धिः | वीर | भ. गी. 2-65 | 41 |
| 380 | 5 | 17 | प्राप्य पुण्यकृतां | वीर | भ. गी. 6-41 | 164 |
| 381 | 5 | 10 | प्रियाः परमहंसानाम् | वीर | भाग. 1-4-31 | 154 |
| 382 | 2 | 27 | प्रेतान् भूत् गणां श्चान्ये | वीर | भ. गी. 17-4 | 77 |
| 383 | 1 | 1 | प्रेरणन्तु प्रचोदनम् | वीर | | 5 |
| 384 | 5 | 17 | प्लवा ह्येतेऽदृढा यज्ञ | वीर | मुण्ड. उ. 1-2-7 | 164 |
| 385 | 2 | 2 | प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् | वीर | अष्टा. 6-1-125 | 54 |
| | | | **ब** | | | |
| 386 | 10 | 21 | बहुस्यां प्रजायेय | वीर | तैत्ति. उ. 2-6 | 320 |
| 387 | 10 | 22 | बहुस्यां | वीर | तैत्ति. उ. 2-6 | 321 |
| 388 | 3 | 35 | बहूनि मे व्यतीतानि | रा. कृ. | भ. गी. 4-5 | 114 |
| 389 | 7 | 22 | बाहू राजन्यः कृतः | वीर | पु. सू. 1-5 | 224 |
| 390 | 16 | 22 | बिभेत्यल्पश्रुते वेंदो | विज | भार. 1-1-204 | 473 |
| 391 | 17 | 21 | बुद्धि र्ज्ञानं | विज | भ. गी. 10-4 | 494 |
| 392 | 1 | 1 | बृहति बृंहयति | वीर | | 13 |
| 393 | 1 | 1 | बृहत्त्वा द्बृंहणत्वाच्च | वीर | विष्णु. पु. 3-3-22 | 13 |
| 394 | 1 | 4 | ब्रह्मज्ञानेन वा मुक्तिः | विज | | 35 |
| 395 | 3 | 33 | ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम् | वीर | भ. गी. 14-27 | 111 |
| 396 | 3 | 33 | ब्रह्मभूयाय कल्पते | वीर | भ. गी. 14-26 | 111 |
| 397 | 1 | 1 | ब्रह्मविदाप्नोति परम् | विज | तैत्ति. उ. 2-1 | 18 |
| 398 | 2 | 23 | ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्राः सर्वे | वीर | अ. शिखा. उ. 2 | 72 |
| 399 | 2 | 23 | ब्रह्मविष्ण्वीशरूपाणि | विज | वाम. पु. | 75 |
| 400 | 5 | 5 | ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति | रा. कृ. | मुण्ड. उ. 3-2-9 | 152 |
| 401 | 18 | 26 | ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति | रा. कृ. | मुण्ड. उ. 3-2-9 | 527 |
| 402 | 1 | 1 | ब्रह्म वेदस्तपस्तत्त्वं | विज | अम. को. 3-271 | 19 |

| Sl. No. | Adhyāya No. | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc. | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 403 | 19 | 1 | ब्रह्म वेदस्तपस्तत्त्वं | विज | अम. को. 3-271 | 541 |
| 404 | 1 | 1 | ब्रह्मशब्देन मुख्योऽर्थः | वीर | श्रीभाष्यावतारिका on ब्र. सू. 1-1-1 | 13 |
| 405 | 12 | 32 | ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्यां | वीर | | 541 |
| 406 | 4 | 30 | ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः | वीर | अष्टा. 5-4-78 | 368 |
| 407 | 2 | 23 | ब्रह्मा दक्षादयः कालः | वीर | विष्णु. पु. 1-22-31 | 72 |
| 408 | 2 | 23 | ब्रह्मा नारायणः शिवश्च नारायणः | वीर | त्रि. म. ना. उ. 2-8 | 72 |
| 409 | 2 | 23 | ब्रह्मा नारायणाख्योऽसौ | वीर | विष्णु. पु. 1-4-1 | 72 |
| 410 | 3 | 6 | ब्रह्मा नारायणात्मकः | वीर | विष्णु. पु. 1-4-2 | 91 |
| 411 | 8 | 52 | ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः | विज | भ. गी. 4-24 | 275 |
| 412 | 7 | 53 | ब्राह्मणो न हन्तव्यः | श्रीध | | 238 |
| 413 | 19 | 1 | ब्राह्मणो नाऽवमन्तव्यः | विज | भार. 1-179-13 | 541 |
| | | | **भ** | | | |
| 414 | 2 | 20 | भक्त्याऽनन्यया शक्य | वीर | भ. गी. 11-54 | 69 |
| 415 | 3 | 38 | भक्त्याऽनन्यया शक्य | वीर | भ. गी. 11-54 | 16 |
| 416 | 4 | 4 | भक्त्याऽनन्यया शक्य | रा. कृ. | भ. गी. 11-54 | 125 |
| 417 | 5 | 35 | भक्त्याऽनन्यया शक्य | वीर | भ. गी. 11-54 | 178 |
| 418 | 16 | 20 | भद्रा गौ गोमतल्लिका | विज | वैज. को. 3-4-46 | 473 |
| 419 | 1 | 1 | भर्गस्तेजः समाख्यातम् | वीर | | 5 |
| 420 | 1 | 1 | भर्जयत्यखिलं कष्टम् | वीर | | 5 |
| 421 | 2 | 12 | भिद्यते हृदयग्रन्थिः | वीर | मुण्ड. उ. 2-2-8 | 63 |
| 422 | 17 | 10 | भीत्रार्थानां भयहेतुः | वीर | अष्टा. 1-4-25 | 488 |
| 423 | 8 | 31 | भीषास्मा द्वातः पवते | वीर | तैत्ति. उ. 2-8 | 260 |
| 424 | 6 | 12 | भूर्जपत्रे भुजो भूर्जे | विज | वैज. को. 3-3-45 | 192 |
| 425 | 9 | 32 | भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः | वीर | छान्दो. उ. 7-13-1 | 292 |
| 426 | 7 | 23 | भूमिरापोऽनलो वायुः | वीर | भ. गी. 7-4 | 224 |
| 427 | 1 | 4 | भृगुर्वै वारुणिः | वीर | तैत्ति. उ. 3-1 | 34 |
| 428 | 1 | 1 | भोक्त्ता भोग्यं प्रेरितारं | वीर | श्वेता. उ. 1-12 | 10 |
| 429 | 15 | 29,30,31 | भोगेन त्वितरे | विज | ब्र. सू. 4-1-19 | 448 |

| Sl. No. | Adhyāya No. | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc. | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | **म** | | | |
| 430 | 2 | 5 | मङ्गलाचारयुक्तानां | वीर | मनु. स्मृ. 4-146 | 58 |
| 431 | 1 | 18 | मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्न | वीर | अम. को. 3-248 | 47 |
| 432 | 4 | 33 | मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च | वीर | अष्टा. 3-2-188 | 141 |
| 433 | 1 | 3 | मतुपो लुगिष्टः | वीर | अष्टा. 1-4-19 सूत्रसम्बन्धि वार्तिकम् | 32 |
| 434 | 2 | 23 | मत्तः परतरं नाऽन्यत् | वीर | भ. गी. 7-7 | 73 |
| 435 | 1 | 11 | मनुष्याणां सहस्रेषु | वीर | भ. गी. 7-3 | 41 |
| 436 | 1 | 1 | मम योनि रपश्वन्तः | विज | देवी. उ. 4 | 19 |
| 437 | 5 | 36 | मयि सर्वाणि कर्माणि | वीर | भ. गी. 3-30 | 178 |
| 438 | 3 | 28 | मयैवैते निहताः पूर्व | रा. कृ. | भ. गी. 11-33 | 106 |
| 439 | 15 | 29,30,31 | महता करणे नैव | विज | | 448 |
| 440 | 1 | 1 | महदाद्याः | वीर | विष्णु. पु. 1-2-54 | 10 |
| 441 | 10 | 21 | महदाद्याःविशेषान्ताः | वीर | विष्णु. पु. 1-2-54 | 320 |
| 442 | 1 | 1 | मह्यं पुत्राय शान्ताय | वीर | भाग. 9-22-23 | 5 |
| 443 | 6 | 22 | माङि लुङ् | वीर | अष्टा. 3-3-175 | 197 |
| 444 | 11 | 7 | माता पिता भ्राता | वीर | सुबा. उ. 6-1 | 333 |
| 445 | 5 | 19 | मा मुपेत्य पुनर्जन्म | रा. कृ. | भ. गी. 8-15 | 168 |
| 446 | 1 | 18 | माययया सततं वेत्ति | वीर | भार. App 15 2805 pr | 47 |
| 447 | 17 | 23 | माययया सततं वेत्ति | वीर | भार App 15 2805 pr | 493 |
| 448 | 1 | 1 | माया वयुनं ज्ञानम् | वीर | वे. नि. 3-9 | 111 |
| 449 | 1 | 18 | माया वयुनं ज्ञानम् | वीर | वे. नि. 3-9 | 47 |
| 450 | 17 | 23 | माया वयुनं ज्ञानम् | वीर | वे. नि. 3-9 | 493 |
| 451 | 1 | 3 | मुक्तिः कैवल्यनिर्वाण | वीर | अम. को. 1-146 | 32 |
| 452 | 6 | 33 | मूर्छा वीणादिवादनम् | वीर | वैज. को. 3-9-131 | 206 |
| 453 | 1 | 1 | मूलं कृष्णो ब्रह्म च | वीर | भार. 1-1-66 | 9 |
| 454 | 1 | 1 | मृत्तिकेत्येव सत्यम् | विज | छान्दो. उ. 6-4-1 | 21 |
| 455 | 6 | 10 | मृत्यु स्सर्वहर श्चाऽहम् | रा. कृ. | भ. गी. 10-34 | 193 |
| 456 | 16 | 9 | मृत्यु स्सर्वहर श्चाऽहम् | रा. कृ. | भ. गी. 10-34 | 466 |

| Sl. No. | Adhyāya No. | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | **य** | | | |
| 457 | 15 | 17 | य आत्मदा बलदा | विज | तैत्ति. सं. 4-1-8 | 442 |
| 458 | 15 | 17 | य आत्मदो बलदायक | वीर | | 441 |
| 459 | 2 | 31 | य आत्मनि तिष्ठन् | वीर | बृह. उ. 3-7-22 | 81 |
| 460 | 3 | 31 | य आत्मनि तिष्ठन् | वीर | बृह. उ. 3-7-22 | 108 |
| 461 | 9 | 42 | य आत्मनि तिष्ठन् | वीर | बृह. उ. 3-7-22 | 302 |
| 462 | 8 | 18 | यच्च किञ्चि ज्जगत्सर्वं | वीर | म. ना. उ. 9-5 | 253 |
| 463 | 5 | 32 | यज्ञो दानं तपः कर्म | वीर | भ. गी. 18-5 | 176 |
| 464 | 1 | 4 | यज्ञो वै विष्णुः | रा. कृ. | तैत्ति. सं. 1-5-6 | 36 |
| 465 | 5 | 19 | यतते च ततो भूयः | श्रीध | भ. गी. 6-43 | 163 |
| 466 | 3 | 6 | यत स्ततो न ते | वीर | वि. ध. पु. 104-24 | 91 |
| 467 | 1 | 1 | यत स्सर्वाणि भूतानि | श्रीध | भार. 13-135-11 | 2 |
| 468 | 1 | 1 | यतो वा इमानि भूतानि | वीर | तैत्ति. उ. 3-1 | 5 |
| 469 | 1 | 1 | यतो वा इमानि भूतानि | विज | तैत्ति. उ. 3-1 | 18 |
| 470 | 6 | 21 | यतो वाचो निवर्तन्ते | वीर | तैत्ति. उ. 2-4 | 197 |
| 471 | 14 | 14 | य त्कपोतः पद मग्नौ | विज | | 413 |
| 472 | 1 | 2 | यत्करोषि यदश्नासि | विज | भ. गी. 9-27 | 29 |
| 473 | 5 | 36 | यत्करोषि यदश्नासि | श्रीध | भ. गी. 9-27 | 178 |
| 474 | 5 | 36 | यत्करोषि यदश्नासि | वीर | भ गी. 9-27 | 178 |
| 475 | 1 | 2 | यत्नेन चित्ते विनिवेशयन्ति | वीर | | 28 |
| 476 | 5 | 19 | यत्र क्वाऽभद्र मभूत् | वीर | भाग. 1-5-17 | 165 |
| 477 | 1 | 1 | यत्राऽधिकृत्य गायत्रीम् | श्रीध | मत्स्य. पु. | 3 |
| 478 | 1 | 1 | यत्राऽधिकृत्य गायत्रीम् | विज | मत्स्य. पु. | 21 |
| 479 | 4 | 13 | यत्रैषा सात्वती श्रुतिः | रा. कृ. | भाग. 1-4-7 | 134 |
| 480 | 5 | 36 | यत्संश्रयात् | रा. कृ. | भाग. 1-15-7 | 453 |
| 481 | 1 | 1 | यथा सोम्यैकेन | वीर | छान्दो. उ. 6-1-6 | 11 |
| 482 | 1 | 1 | य दग्रे रोहितम् | वीर | छान्दो. उ. 6-4-1 | 9 |
| 483 | 2 | 2 | यदहरेव विरजे तदहरेव | विज | जाबा. उ. 4 | 56 |
| 484 | 7 | 10 | यदा ते मोहकलिलं | श्रीध | भ. गी. 2-52 | 215 |

| Sl. No. | Adhyāya No. | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc. | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 485 | 1 | 1 | यदेत त्परमं ब्रह्म | विज | ह. वं. | 18 |
| 486 | 1 | 1 | यदेष आकाश आनन्दो | वीर | तैत्ति. उ. 2-7 | 8 |
| 487 | 3 | 35 | यद्ब्रह्मणो गुणशरीर | वीर | त. सा. 69 | 112 |
| 488 | 3 | 27 | यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं | वीर | भ. गी. 10-41 | 104 |
| 489 | 3 | 27 | यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं | रा. कृ. | भ. गी. 10-41 | 105 |
| 490 | 13 | 1 | यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं | रा. कृ. | भ. गी. 10-41 | 374 |
| 491 | 17 | 22 | यद्यधर्मकृत स्सद्भिर्न स | विज | व्या. स्मृ. | 494 |
| 492 | 2 | 23 | यमन्तस्समुद्रे कवयो | वीर | म. ना. उ. 1-3 | 73 |
| 493 | 1 | 1 | य मेवैष वृणुते तेन लभ्यः | विज | कठ. उ. 2-22 | 19 |
| 494 | 13 | 43 | य स्तर्केणाऽनुसन्धत्ते | विज | | 396 |
| 495 | 2 | 23 | यस्मात्परं ना परमस्ति | वीर | म. ना. उ. 8-13 | 73 |
| 496 | 3 | 1 | यस्मिन्नेताः षोडशकलाः | विज | प्रश्न. उ. 6-2 | 89 |
| 497 | 1 | 1 | यस्मिन् प्रयुज्यमाने तु | वीर | गरु. पु. | 14 |
| 498 | 2 | 23 | यस्मिन् ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्राः | वीर | अथ. शिखा. उ. 2 | 72 |
| 499 | 3 | 35 | यस्य चै (वै) तत्कर्म स वै | वीर | कौषी. उ. 4-18 | 112 |
| 500 | 13 | 44 | यस्य देवे परा भक्तिः | विज | श्वेता. उ. 6-23 | 396 |
| 501 | 14 | 8 | यस्य पृथिवी शरीरं | विज | बृह. उ. 3-7-3 | 410 |
| 502 | 2 | 31 | यस्य विज्ञानं शरीरं | वीर | बृह. उ. 3-7-22 | 81 |
| 503 | 3 | 31 | यस्याऽऽत्मा शरीरं | वीर | बृह. उ. 3-7-22 | 08 |
| 504 | 1 | 1 | यस्यां पराशरात् | वीर | भाग. 9-22-21 | 5 |
| 505 | 1 | 1 | य स्सर्वज्ञ स्सर्ववित् | वीर | मुण्ड. उ. 1-1-9 | 7 |
| 506 | 1 | 1 | य स्सर्वज्ञः | विज | मुण्ड. उ. 1-1-9 | 20 |
| 507 | 4 | 4 | या निशा सर्वभूतानां | श्रीध | भ. गी. 2-69 | 123 |
| 508 | 4 | 4 | या निशा सर्वभूतानां | वीर | भ. गी. 2-69 | 124 |
| 509 | 12 | 14 | याव न्न छिद्यते नालम् | श्रीध | | 360 |
| 510 | 14 | 8 | यूयं ताव दवेक्षध्वम् (तावद्यूयं) | विज | भाग. 1-13-49 | 410 |
| 511 | 1 | 2 | ये च वेदविदो विप्रा | वीर | भार. 3-86-22 | 27 |
| 512 | 1 | 1 | येति ज्ञानं समुद्दिष्टम् | विज | | 20 |
| 513 | 8 | 22 | ये तु सर्वाणि कर्माणि | रा. कृ. | भ. गी. 12-6 | 257 |

| Sl. No. | Adhyāya No. | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc. | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 514 | 1 | 1 | येनाऽश्रुतं श्रुतं | वीर | छान्दो. उ. 6-1-3 | 11 |
| 515 | 13 | 1 | येनाऽश्रुतं श्रुतं भवति | वीर | छान्दो. उ. 6-1-3 | 372 |
| 516 | 7 | 53 | यैः कोपितं ब्रह्मकुलं | रा. कृ. | भाग. 1-7-48 | 241 |
| 517 | 1 | 1 | यो ब्रह्माणं विदधाति | श्रीध | श्वेता. उ. 6-18 | 3 |
| 518 | 1 | 1 | यो ब्रह्माणं विदधाति | वीर | श्वेता. उ. 6-18 | 9 |
| 519 | 1 | 1 | यो ब्रह्माणं विदधाति | विज | श्वेता. उ. 6-18 | 19 |
| 520 | 2 | 23 | यो यो यां यां तनुं भक्तः | वीर | भ. गी. 7-21 | 71 |
| 521 | 2 | 31 | यो विज्ञाने तिष्ठन् | वीर | बृह. उ. 3-7-22 | 81 |
| 522 | 2 | 4 | यो वै भारतवर्षेऽस्मिन् | वीर | भाग. 10-87-6 | 55 |
| 523 | 11 | 7 | यो वै वेदांश्च प्रहिणोति | वीर | श्वेता. उ. 6-18 | 333 |
| 524 | 1 | 1 | यं कामये तं त मुग्रं कृणोमि | विज | अम्भ. सू. | 19 |
| 525 | 8 | 50 | यः पदातिं हन्ति स भवति | विज | | 275 |
| 526 | 1 | 1 | यः पृथिव्यां तिष्ठन् | वीर | बृह. उ. 3-7-3 | 7 |
| 527 | 9 | 42 | यः पृथिव्यां तिष्ठन् | वीर | बृह. उ. 3-7-3 | 302 |
| | | | **र** | | | |
| 528 | 1 | 19 | रसो रागे विषे वीर्ये | विज | वैज. को. 6-1-49 | 48 |
| 529 | 1 | 20 | रसो रागे विषे वीर्ये | विज | वैज. को 6-1-49 | 48 |
| 530 | 1 | 3 | रसो वै सः | श्रीध | तैत्ति. उ. 2-7 | 31 |
| 531 | 1 | 1 | रसो वै सः | वीर | तैत्ति. उ. 2-7 | 8 |
| 532 | 5 | 19 | रसो वै सः | वीर | तैत्ति. उ. 2-7 | 165 |
| 533 | 1 | 3 | रसो वै सः | रा. कृ. | तैत्ति. उ. 2-7 | 33 |
| 534 | 1 | 2 | राजन्ते तावदन्यानि | विज | | 28 |
| 535 | 7 | 37 | राजभिर्धृतदण्डा स्तु | श्रीध | मनु. स्मृ. 8-318 | 231 |
| 536 | 2 | 23 | राजाधिराज सर्वेषां | वीर | भाग. 14-43-12 | 73 |
| 537 | 2 | 23 | रुद्रः कालान्तकाद्याश्च | वीर | विष्णु. पु. 1-22-33 | 72 |
| | | | **ल** | | | |
| 538 | 16 | 35 | लक्षणहेत्वोः क्रियायाः | श्रीध | अष्टा. 3-2-126 | 477 |
| 539 | 1 | 1 | लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् | विज | ब्र. सू. 2-1-33 | 20 |

| Sl. No. | Adhyāya No. | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc. | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | व | | | |
| 540 | 1 | 1 | वक्तव्यं ब्रह्मगुरुणा | विज | | 19 |
| 541 | 5 | 20 | वद्वा यथा तथै वैवं | वीर | अम. को. 3-42-0 | 165 |
| 542 | 1 | 1 | वरैर्नेवं वरेण्यन्तु | वीर | सावित्रीविवरणे | 5 |
| 543 | 15 | 9 | वष्टि भागुरि रल्लोपं | विज | सि. कौ. on अष्टा. 2-4-82 | 437 |
| 544 | 1 | 1 | वाचारम्भणं | विज | छान्दो. उ. 6-4-1 | 20 |
| 545 | 6 | 33 | वादने मूर्छना न ना | वीर | वैज. को. 3-9-131 | 206 |
| 546 | 1 | 1 | वामं वरेण्यं परम् | विज | | 21 |
| 547 | 9 | 32 | विः पक्षिपरमात्मनोः | विज | वैज. को. 8-1-60 | 293 |
| 548 | 2 | 31 | विज्ञानं यज्ञं तनुते | वीर | तैत्ति. उ. 2-5 | 81 |
| 549 | 4 | 4 | विद्या विनयसम्पन्ने | वीर | भ. गी. 5-18 | 123 |
| 550 | 6 | 11 | विप्राश्च विप्रभृत्याश्च | श्रीध | भृगुवचनम् | 190 |
| 551 | 19 | 7 | विय द्विष्णुपदं | रा. कृ. | अम. को. 1-73 | 546 |
| 552 | 2 | 3 | विशेषणं विशेष्येण बहुलम् | वीर | अष्टा. 2-1-57 | 54 |
| 553 | 1 | 3 | विश्राणनं वितरणं | विज | अम. को. 2-428 | 32 |
| 554 | 2 | 23 | विश्वमेवेदं पुरुषः | वीर | मना. उ. 11-1 | 73 |
| 555 | 1 | 1 | विश्वं सत्यम् | विज | ऋ सं. 2-24-12 | 20 |
| 556 | 2 | 23 | विष्णु रात्मा भगवतः | वीर | भार. 8-24-85 | 72 |
| 557 | 2 | 23 | विष्णुर्मन्वादयः कालः | वीर | विष्णु. पु. 1-22-32 | 72 |
| 558 | 6 | 21 | वीक्षमाणोऽपि नाऽपश्यम् | रा. कृ. | भाग. 1-6-20 | 199 |
| 559 | 7 | 15 | व्रीह्यादिभ्यश्च | वीर | अष्टा. 5-2-116 | 220 |
| 560 | 9 | 39 | व्रीह्यादिभ्यश्च | श्रीध | अष्टा. 5-2-116 | 300 |
| 561 | 12 | 8 | व्रीह्यादिभ्यश्च | श्रीध | अष्टा. 5-2-116 | 357 |
| 562 | 9 | 42 | वृद्धिह्रासधर्मत्व | वीर | ब्र. सू. 3-2-20 | 302 |
| 563 | 8 | 43 | वृष्णिः कुलविशेषे तु | विज | | 271 |
| 564 | 1 | 2 | वेत्ता वेद्यस्य सर्वस्य | विज | | 29 |
| 565 | 1 | 1 | वेदगुप्तो मुनिः कृष्णो | वीर | भाग. 9-22-22 | 5 |
| 566 | 1 | 1 | वेदाऽह मेतं पुरुषं | विज | पु. सू. 2-1 | 19 |

| Sl. No. | Adhyāya No. | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc. | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 567 | 2 | 23 | वेदाऽह मेतं पुरुषं | वीर | पु. सू. 2-1 | 73 |
| 568 | 6 | 16 | वेदाऽहं ब्रह्माऽस्मि | विज | बृह. उ. 1-4-10 | 192 |
| 569 | 1 | 1 | वेदे भूरि | वीर | गरु. पु. | 13 |
| 570 | 1 | 1 | वेदैश्च सर्वैरह मेव वेद्यः | विज | भ. गी. 15-15 | 18 |
| 571 | 2 | 28 | वेदैश्च सर्वैरह मेव वेद्यः | वीर | भ. गी. 15-15 | 77 |
| 572 | 2 | 6 | व्यवधानं तिरोधान मपिधान | विज | | 60 |
| 573 | 5 | 14 | व्यवसायात्मिका बुद्धिः | श्रीध | भ. गी. 2-41 | 158 |
| 574 | 5 | 3 | व्यवहारे धने शास्त्रे | विज | वैज. को. 6-1-3 | 148 |
| | | | **श** | | | |
| 575 | 1 | 2 | शनकैर्भगवल्लोकान्नृलोकं | विज | भाग. 3-2-6 | 30 |
| 576 | 8 | 18 | शब्दवैरकलहाभ्रकण्व | वीर | अष्टा. 3-1-17 | 253 |
| 577 | 16 | 8 | शमयिता च भगवान् | वीर | | 463 |
| 578 | 17 | 5 | शरणं गृहरक्षित्रोः | विज | अम. को. 3-209 | 485 |
| 579 | 1 | 1 | शास्त्रयोनित्वात् | विज | ब्र. सू. 1-1-3 | 18 |
| 580 | 8 | 50 | शौर्यं तेजो धृति र्दाक्ष्यं | वीर | भ. गी. 18-43 | 274 |
| 581 | 1 | 12 | श्रवणं कीर्तनं विष्णोः | वीर | भाग. 7-5-23 | 41 |
| 582 | 18 | 20 | श्रीमन्मन्दकटाक्षलब्ध | विज | लक्ष्मीध्यानश्लोकः | 521 |
| 583 | 19 | 1 | श्वपचा दपि कष्टत्वं | विज | | 541 |
| | | | **स** | | | |
| 584 | 1 | 1 | स ईक्षत इमाँल्लोकान् | श्रीध | ऐत. उ. 1-1 | 2 |
| 585 | 7 | 6 | स ईशो यद्वशे माया | श्रीध | | 211 |
| 586 | 1 | 1 | स कारणं | वीर | श्वेता. उ. 6-9 | 10 |
| 587 | 1 | 1 | स चानन्त्याय कल्पते | वीर | श्वेता. उ. 5-9 | 13 |
| 588 | 2 | 2 | स चानन्त्याय कल्पते | वीर | श्वेता. उ. 5-9 | 54 |
| 589 | 2 | 23 | स तु नारायणः स्मृतः | वीर | भार. 2 App. 21-53 post. | 73 |
| 590 | 4 | 4 | स तु संश्रावयामास | श्रीध | भाग. 1-3-42 | 122 |
| 591 | 4 | 4 | स तु संश्रावयामास | वीर | भाग. 1-3-42 | 123 |
| 592 | 1 | 1 | सत्यकाम स्सत्यसङ्कल्पः | वीर | छान्दो. उ. 8-1-5 | 7 |

| Sl. No. | Adhyāya No. | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc. | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 593 | 1 | 1 | सत्यञ्चानृतञ्च सत्य मभवत् | वीर | तैत्ति. उ. 2-6 | 11 |
| 594 | 1 | 1 | सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म | वीर | तैत्ति. उ. 2-1-1 | 13 |
| 595 | 2 | 23 | सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म | विज | तैत्ति. उ. 2-1-1 | 75 |
| 596 | 18 | 19 | सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म | विज | तैत्ति. उ. 2-1-1 | 521 |
| 597 | 18 | 19 | सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म | वीर | तैत्ति. उ. 2-1-1 | 520 |
| 598 | 17 | 38 | सत्यं दया तपो दानं | श्रीध | भाग. 12-3-18 | 503 |
| 599 | 13 | 13 | सत्यं ब्रूया त्प्रियं ब्रूयात् | रा. कृ. | | 378 |
| 600 | 2 | 21 | सत्यमात्मा सत्यो जीवः | विज | | 74 |
| 601 | 10 | 19 | सत्त्वादयो न सन्तीशे | वीर | विष्णु. पु. 1-9-44 | 318 |
| 602 | 12 | 6 | सदृशं चेष्टते स्वस्याः | रा. कृ. | भ. गी. 3-33 | 356 |
| 603 | 1 | 1 | सदेव सोम्येद मग्र आसीत् | वीर | छान्दो. उ. 6-2-1 | 11 |
| 604 | 1 | 1 | सदेव सोम्येदं | रा. कृ. | छान्दो. उ. 6-2-1 | 25 |
| 605 | 2 | 23 | सदेव सोम्येद मग्र आसीत् | वीर | छान्दो. उ. 6-2-1 | 71 |
| 606 | 2 | 30 | सदेव सोम्येद मग्र आसीत् | वीर | छान्दो. उ. 6-2-1 | 81 |
| 607 | 1 | 1 | सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः | वीर | छान्दो. उ. 6-8-4 | 7 |
| 608 | 10 | 21 | स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः | विज | छान्दो. उ. 7-4-1 | 322 |
| 609 | 7 | 3 | समाधिनाऽनुस्मर ' | श्रीध | भाग. 1-5-13 | 211 |
| 610 | 1 | 1 | समुदाय उभयहेतुकोऽपि | विज | ब्र. सू. 2-2-18 | 18 |
| 611 | 1 | 1 | समेत्यान्योऽन्यसंयोगं | वीरं | विष्णु. पु. 1-2-53 | 10 |
| 612 | 5 | 15 | स य त्प्रमाणं कुरुते | विज | भ. गी. 3-21 | 161 |
| 613 | 17 | 33 | सरस्वतीदृषद्वत्योः देव | वीर | | 500 |
| 614 | 3 | 8 | सर्ग स्वभाव निर्मोक | विज | अम. को. 3-178 | 93 |
| 615 | 2 | 7 | सर्वत्राऽसौ समस्तं च | वीर | विष्णु. पु. 1-2-12 | 59 |
| 616 | 5 | 15 | सर्वधर्मान् परित्यज्य | रा. कृ. | भ. गी. 18-66 | 162 |
| 617 | 16 | 27 | सर्वमिद मध्यासो | वीर | छान्दो. उ. 3-14-2 | 478 |
| 618 | 11 | 6 | सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः | वीर | बृह. उ. 4-4-22 | 333 |
| 619 | 2 | 2 | सर्वः प्लुत स्साहसम् | वीर | मा. भा. on अष्टा. 8-2-92 | 54 |
| 620 | 2 | 23 | सर्वाननशिरोग्रीवः | वीर | श्वेता. उ. 3-11 | 241 |

| Sl. No. | Adhyāya No. | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc. | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 621 | 7 | 23 | सर्वान् पाप्मन औक्तस्मात् | विज | बृह. उ. 1-4-1 | 225 |
| 622 | 5 | 12 | सर्वे च्यवनधर्माणः | वीर | भार. 12-328-31 | 155 |
| 623 | 17 | 19 | सर्वे निमेषा जज्ञिरे | विज | म. ना. उ. 1-8 | 494 |
| 624 | 1 | 1 | सर्वे वेदा यत्पद मामनन्ति | विज | कठ. उ. 2-15 | 18 |
| 625 | 2 | 28 | सर्वे वेदा यत्पद मामनन्ति | वीर | कठ. उ. 2-15 | 77 |
| 626 | 1 | 2 | सर्वेषा मेव धर्माणां | वीर | | 27 |
| 627 | 1 | 1 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म | वीर | त्रि. म. ना. उ. 1-3 | 7 |
| 628 | 5 | 20 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म | श्रीध | छान्दो उ. 3-14-1 | 164 |
| 629 | 5 | 20 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म | वीर | त्रि. म. ना. उ. 1-3 | 165 |
| 630 | 8 | 52 | सर्वं पाप्मानं तरति | श्रीध | तैत्ति. सं. 5-3-12 | 274 |
| 631 | 1 | 1 | सवा एव | वीर | बृह. उ. 4-4-25 | 11 |
| 632 | 4 | 13 | स संहितां भागवतीं | रा कृ. | भाग. 1-7-8 | 134 |
| 633 | 6 | addi v. bet 16 & 17 | सहि सर्वमनोवृत्ति | विज | | 193 |
| 634 | 1 | 2 | स होवाच व्यासः पाराशर्यः | वीर | तैत्ति. आ. 1-9-2 | 28 |
| 635 | 2 | 23 | साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च | विज | श्वेता. उ. 6-11 | 75 |
| 636 | 13 | 10 | साधवो न्यासिनः | वीर | भाग. 9-9-6 | 376 |
| 637 | 10 | 36 | साय मप्सु प्रविशति | वीर | | 329 |
| 638 | 2 | 2 | साहसं शास्त्रत्यागः, त दनिच्छता | वीर | प म on अष्टा 8-2-92 | 54 |
| 639 | 13 | 56 | सुप्तिडुपग्रहलिङ्गनराणाम् | विज | सि कौ on अष्टा 3-1-85 | 404 |
| 640 | 8 | 5 | सुयोधनादयः सर्वे | विज | | 247 |
| 641 | 2 | 34 | सूत जानासि भद्रं ते | वीर | भाग. 1-1-12 | 83 |
| 642 | 11 | 20 | सूताः पौराणिकाः प्रोक्ताः | श्रीध | | 340 |
| 643 | 2 | 23 | सृष्टिं ततः करिष्यामि | वीर | वि. ध. पु. 68-52 | 72 |
| 644 | 3 | 6 | सृष्टिं ततः करिष्यामि | वीर | वि. ध. पु. 68-52 | 92 |
| 645 | 9 | 35 | सेनयो रुभयो र्मध्ये | श्रीध | भ. गी. 1-21 | 295 |
| 646 | 9 | 35 | सेनयो रुभयो र्मध्ये | वीर | भ. गी. 1-21 | 296 |
| 647 | 9 | 35 | सेनयो रुभयो र्मध्ये | विज | भ. गी. 1-21 | 298 |
| 648 | 18 | 43 | सेना रक्षा वरूथः स्यात् | विज | | 533 |
| 649 | 1 | 1 | सोऽकामयत | वीर | तैत्ति. उ. 2-6 | 11 |

| Sl. No. | Adhyāya No. | Śloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc. | Page Number |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 650 | 1 | 1 | सोऽसृजत्सर्वान् लोकान् | रा. कृ. | | 25 |
| 651 | 4 | 1 | सोऽहं वः श्रावयिष्यामि | विज | भाग. 1-3-44 | 124 |
| 652 | 15 | 33 | सौदामन्या यथाऽऽकाशे | श्रीध | भाग. 11-31-9 | 450 |
| 653 | 17 | 13 | सौरभेयी गला धेनु | विज | | 489 |
| 654 | 10 | 3 | संशयात्मा विनश्यति | रा. कृ. | भ. गी. 4-40 | 312 |
| 655 | 7 | 4 | स्थातु मीक्षापथेऽमुया | विज | भाग. 2-5-13 | 213 |
| 656 | 1 | 3 | स्नेहपूर्व मनुध्यानं भक्तिः | वीर | | 32 |
| 657 | 5 | 36 | स्मर्तव्यः सततं विष्णुः | विज | भगवच्छिक्षा | 179 |
| 658 | 12 | 1 | स्वय मेवाऽऽवृणो दूर्भ | वीर | भाग. 1-8-14 | 354 |
| 659 | 13 | 39 | स्वरादिनिपात मव्ययम् | वीर | अष्टा. 1-1-37 | 391 |
| 660 | 2 | 12 | स्वात्मन्येवात्मानं पश्येत् | विज | बृह. उ. 4-4-23 | 64 |
| 661 | 7 | 6 | स्वादृगुत्थविपर्यासभव | श्रीध | | 211 |
| 662 | 7 | 11 | स्वाध्यायाद्योग मासीत | वीर | | 216 |
| 663 | 11 | 38 | स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च | वीर | श्वेता. उ. 6-8 | 350 |
| 664 | 7 | 23 | स्वे महिम्नि | विज | मैत्रा. उ. 6-28 | 226 |

## ह

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 665 | 9 | 36 | हत्वार्थकामास्तु गुरु | विज | भ. गी. 2-5 | 298 |
| 666 | 1 | 1 | हन्ताऽह मिमा स्तिस्रो | वीर | छान्दो. उ. 6-3-2 | 9 |
| 667 | 2 | 23 | हरे र्विभूतिमात्रन्तु | वीर | | 73 |
| 668 | 2 | 23 | हरो हरति तद्वशः | वीर | | 72 |
| 669 | 10 | 32 | हस्त्यश्वरथपादातं | श्रीध | अम. को. 2-33 | 328 |
| 670 | 1 | 2 | हायनान्तयुवादिभ्योऽण् | वीर | अष्टा. 5-1-130 | 28 |
| 671 | 8 | 44 | हासो जनोन्मादकरी च माया | श्रीध | भाग. 2-1-31 | 269 |
| 672 | 6 | 29 | हित्वाऽवद्य मिमं लोकं | श्रीध | भाग. 1-6-24 | 203 |
| 673 | 1 | 1 | हिरण्यगर्भ स्सम | श्रीध | ऋ.सं. 10-121-1 | 3 |
| 674 | 5 | 37 | हिरण्यश्मश्रु हिरण्यकेश | विज | छान्दो. उ. 1-6-6 | 182 |
| 675 | 1 | 1 | हृत्स्नेहे मनसि स्निग्धे | विज | | 19 |
| 676 | 8 | 19 | हृदा मनीषा मनसाऽभिकृप्तः | वीर | कठ. उ. 6-9 | 254 |
| 677 | 6 | 21 | हृद्यासी न्मे शनै र्हरिः | रा. कृ. | भाग. 1-6-17 | 199 |
| 678 | 12 | 30 | हृ सृ रुहि युषिभ्य इतिः | वीर | उणादि. सू. 1-97 | 367 |
| 679 | 7 | 6 | ह्लादिन्या संविदाश्लिष्टः | श्रीध | विष्णुस्वामिवचनम् | 211 |

Harih Om

ŚRĪMAD

# BHĀGAVATA

## MAHĀPURĀṆAM

of Maharṣi Vēdavyāsa

### SKANDHA - II

**With the Commentaries:**
Bhavarthadipika of Sri Sridharaswami, Bhagavatachandrachandrika of SriVira Raghavacharya, Padaratnavali of Sri Vijayadhvaja Tirtha and Sudhisudha of Sri Radhakrishna Sarma

**Edited by**
**Dr. P. Radhakrishna Sarma,**
Director
S.V. Central Library & Research Centre,
T.T.Devasthanams, Tirupati.

**Published by**
**EXECUTIVE OFFICER**
**Tirumala Tirupati Devasthanams**
**TIRUPATI.**
**2005**

**Srimad Bhagavatamahapuranam - Skandha - II.**
Edited by
Dr. P. Radhakrishna Sarma

T.T.D. Religious Publications Series No. 647

First Edition 2004

Copies-1000

***Published by:***
**Sri Ajeya Kallam, I.A.S.,**
Executive Officer,
T.T.Devasthanams,
Tirupati.

Cover Design:
P. Siva Prasad, TTD

*Laser Typeset by:*
YENCY GRAPHICS,
TIRUPATI.

Printed at: Tirumala Tirupati Devasthanams Press,
Tirupati -517 507.

ओं नमो वेङ्कटेशाय

श्रीवेदव्यासमहर्षिप्रणीतम्

# श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

## द्वितीयः स्कन्धः

श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका, श्रीवीरराघवनिर्मिता श्रीभागवतचन्द्रचन्द्रिका,
श्रीविजयध्वजविलिखिता पदरत्नावली, श्री राधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा
चेति चतुर्भिः व्याख्यानैः भूषितम्

डॉ. पन्नाल राधाकृष्णशर्मणा
परिष्कृतम्

तिरुमल तिरुपति देवस्थान
कार्यनिर्वहणाधिकारिभिः
प्रकाशितम्

२००५

ईशानां जगतोऽस्य वेङ्कटपतेर्विष्णोः परां प्रेयसीं
तद्वक्षःस्थलनित्यवासरसिकां तत्क्षान्तिसंवर्धनीम्।
पद्मालङ्कृतपाणिपल्लवयुगां पद्मासनस्थां श्रियं
वात्सल्यादिगुणोज्ज्वलां भगवतीं वन्दे जगन्मातरम्।।

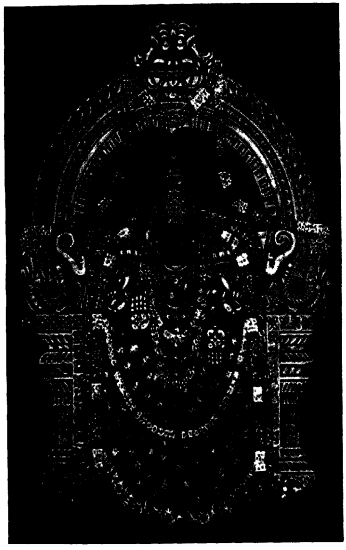

श्रीमद्वेङ्कटनायकस्य हृदये द्वेधा विधायाऽऽत्मनो
मूर्तिं शश्वदियं कृपामृतझरीस्रोतस्विनी भार्गवी।
उद्धर्तुं निखिलानगण्यविषमांहोवह्निदग्धात्मनो
जन्तून् सन्निदधाति विश्वजननी पद्मावती रक्षतात्।।

हरिः ओम्

लोकोद्धारैकदीक्षापरनिगममहाहर्म्यधर्म्यप्रदीपः
स्वाङ्घ्रिद्वन्द्वप्रपन्नाखिलदुरिततमोध्वंसिपुण्यप्रदीपः।
दिङ्मूढेभ्यो नरेभ्यः प्रकटितसरणिः स्नेहदीप्रः प्रदीपः
युष्मानस्मान्समस्तानवतु वृषगिरिस्थास्नुमङ्गल्यदीपः।।

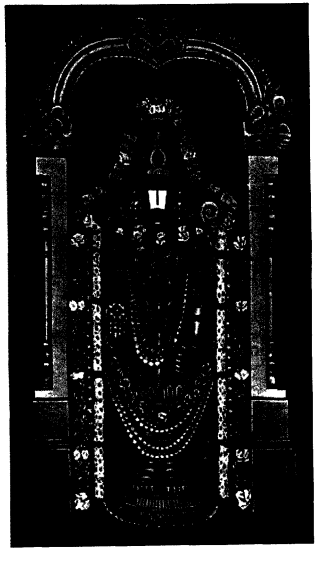

श्रीमद्भागवतं पुराणमखिलाम्नायैकसारः क्व वा?
प्रज्ञादुर्विधकिम्पचानधिषणाः शैक्षाः क्व वा मादृशाः?
भक्त्या चापलतस्तथाऽपि च परिष्कर्तुं वयं व्यापृताः
एतत् प्राभृतयाम वेङ्कटपतेः पादाब्जयोः स्वीक्रियात्।।

TIRUMALA TIRUPATI DEVASTHANAMS, TIRUPATI

# TRUST BOARD

**CHAIRMAN**

**Dr.T. Subbi Rami Reddy,** M.P.,

**MEMBERS**

**Sri Janga Krishnamurthy,** M.L.A.,

**Sri Sama Ganesh Reddy**

**Sri N. Srinivasan**

**Sri M. Navaneeswara Reddy**

**Sri Gokaraju Ramaraju**

**Dr. Chadalawada Sudha,** M.S. FRCSC.,

**Sri N. Nageswara Rao,** M.A.,

**Sri K. Prem Sagar Rao**

**Sri J.P. Murthy,** I.A.S.
Principal Secretary to Govt.
Revenue (Endts.) A.P.
Member (Ex-Officio)

**P.V. Satyanarayana Murthy,** I.A.S.,
Commissioner, Endowments, A.P.,
Member (Ex-Officio)

**Sri. B. Karunakar Reddy**
Chairman, TUDA,
Member (Ex-Officio)

**Sri Ajeya kallam, I.A.S.,**
Executive Officer
T.T.Devasthanams
Member-Secretary (Ex-Officio)

# THE CRITICAL EDITION OF SRIMAD BHAGAVATA
## THE EDITORIAL BOARD


**CHAIRMAN**

**Sri Ajeya kallam,** I.A.S.
**Executive Officer**

**MEMBERS**

**1. Dr. Medasani Mohan,**
Director,
Sri Annamacharya Project,
T.T.Devasthanams, Tirupati.

**2. Prof. H.S. Brahmananda**
Secretary,
Dharma Prachara Parishad,
T.T.Devasthanams, Tirupati.

**3. Prof.S.Sudarsana Sarma**
Professor & Head
Dept. of Sahitya,
R.S.Vidyapeetha, Tirupati.

**4. Prof. K. Pratap**
Professor & Head
Dept. of Sanskrit,
S.V.University, Tirupati.

**5. Dr. G.S.R.Krishna Murthy**
Reader,
Dept. of Sahitya,
R.S.Vidyapeetha, Tirupati.

**6. Dr. N.S. Ramamoorthy**
Editor
T.T.Devasthanams,
Tirupati

**CONVENER**

**Prof. Samudrala Lakshmanaiah**
Special Officer,
Sri Bhagavata Critical Edition Project,
T.T.Devasthanams, Tirupati.

# CONTENTS

1.Foreword.....I

2.Introduction - Englih.....II

3.Introduction - Sanskrit.....VII

4.List of Abbreviations (Editions).....XII

5.List of Abbreviations (Texts cited).....XIII

6.Contents of each canto (in prose).....XV

7.Contents of each canto (in slokas).....XVI

8.Process of Reciting Sri Bhagavata.....XVII

**9.Srimad Bhagavata Mahapuranam:-**

**Text..** **Page**

Canto.1.....1

Canto.2.....35

Canto.3.....81

Canto.4.....98

Canto.5.....121

Canto.6.....156

Canto.7.....198

Canto.8.....255

Canto.9.....274

Canto.10.....312

**Appendix-I.....1to25**

Quarter verse Index

**Appendix-II.....1to22**

Citation Index

# FOREWORD

The Puranas came into existence to explain the meaning of the Vedas to the common people. While instructing about Dharma to the people, the Veda acts like a king, who commands his subjects. The same instruction is imparted to the people by the Puranas like friends. In the process of their teaching the Puranas use various ancient stories.

We have 18 Puranas. But, the Bhagavata Purana is the most important of them all. Vedavyasa, even after completing the writing of the Maha Bharata, could not get mental peace. He composed Srimad Bhagavata, as per the instruction of sage Narada, and thereby derived the required mental peace. This holy book is considered to be the essence of all the Vedas.

Srimad Bhagavata explains the devine stories, qualities, actions and names of the Lord Srimannarayana. The story of Sri Krishna is vividly described in this scripture. Like Ramayana and Maha Bharata, Bhagavata has gained immense popularity amongst the Hindus.

The Tirumala Tirupati Devasthanams started the Sri Bhagavata Project, with the intention of bringing out the critical edition of the work. The services of eminent scholars like Dr. P. Radhakrishna Sarma, and Dr. N.C.V. Narasimhacharya were utilised in this onerous task and the editing of the work has been completed successfully by the grace of Lord Venkateswara.

This is the Second Skandha of Srimad Bhagavata. It was decided to publish the entire text with the commentaries in 14 volumes. With the present volume, 9 volumes are released. The other 5 volumes would also be released shortly.

It is hoped the readers would receive them whole-heartedly.

EXECUTIVE OFFICER
T.T.DEVASTHANAMS

TIRUPATI

# INTRODUCTION

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् is an aphorism of a Maharshi. The Vedas are authorless and eternal scriptures. All the Vedas along with their innumerable branches are looked upon as the fountain-head of the Dharmas; on which the world depends for its sustenance. But they are formed in Vedic Sanskrit language; as such they cannot be understood by the people who are acquainted with the classical language, in which the Ramayana the first and foremost sanskrit work was composed. The Rishis being aware of the linguistic drawback had composed the Itihasas (the Bharata etc.) and puranas with a compassionate view to make the people understand the spirit and purport of the Vedas. Both these texts i.e. the Itihasas and the puranas expound the vedic ideas and thus they saved the people from the ignorance of the vedic dharmas. The motto "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" will testify to the above fact. That which can not be understood from the vedas, can be understood in the light of the puranas. The puranas are very elaborate texts and they are 18 in number. Total number of verses of all the puranas is 4 lakhs. Everything contained in the Vedas can be known through puranas. So it is discerned that puranas occupy an important role in the Dharmic world.

Of all the puranas, such as Kurma, Matsya, Varaha, Vaishnava and the like, the Bhagavata Purana is the most important one for its range of subjects and its authenticity. Sri Bhagavata is rightly called पुराणरत्न, the Gem of puranas. The importance of this purana depends upon the following facts. Almost the whole of Vaishnava population of India look upon it as their main scripture on par with the Upanishads and the Bhagavadgita. It has been cited by the founder representative teachers of all sects even outside the vaishnava fold for their learned commentaries just like the Gita and Upanishads in order to prove the support to their respective teachings. Although there are 18 puranas the Bhagavata surpassed all the others and has become unique work of this class, studied reverently and interpreted and worshipped by devotees all over India. Apart from its superb poetry and

the very wide range of its devotional teachings, the reason for its forceful and ever expanding appeal lies in its elaborate exposition of the life and message of Sri Krishna.

The Word Bhagavata is very significant as it is replete with various meanings. If I quote a sloka and interpret, the importance of the purana will sufficiently be understood. The enigma to sloka is -

भक्तिर्ज्ञानञ्च वैराग्यं तत्त्वं मोक्षश्च यत्र हि।
क्षोदक्षमं निरूप्यन्ते तद्वै भागवतं स्मृतम्।।

This stanza can be expressed thus. The five letters Bha, ga, va, ta, m suggest the quintessence of the Bhagavata. The letter 'Bha' stands for Bhakti, devotion, 'ga' for Jnaana, knowledge, 'va' for Vairagya the renouncement of worldly wishes and passions, 'ta' for Tattva, the real nature of the supreme and 'm' for Moksha, the emanacipation from the worldly bonds. Hence the Bhagavata throws much light on the above five subjects. The understanding of the nature of the above subjects helps people very much. Thus this purana reveals five-fold knowledge, which leads them to salvation.

The Bhagavata is an indispensable text, because it deals with all the varieties of Bhakti, which is a must for the human beings who want to get rid of worldly troubles. The Bhagavata can be called as Bhaktibhashya.

Once upon a time Gods, the denizens of devine land, Heaven having the vessel of sudha, the Ambrosia in their hand came to the earth and approached Sri Suka, while he was about to dictate, Sri Bhagavata to Parikshit and requested him "Oh Suka muni! give us the Bhagavata taking Ambrosia pot in its stead". Sri Suka conscious of the great value of the Bhagavata turned down their request telling, where is the comparison between these two things, the worthless Ambrosia is comparable to a glass beed, whereas the Bhagavata is a real Diamond of high value. This anecdote reveals real worth of the Bhagavata. The puranas had shone well in the scholardom before the advent of Srimad

Bhagavata, but afterwards they were relegated to the background. This was said in the 13th adhyaya of 12th skandha of Bhagavata itself.

**IMPORTANCE OF THE SECOND SKANDHA:-**

The second skandha of Sri Bhagavata with only ten chapters is one of small divisons, but it is very significant from the point of view of the development of the Bhagavata literature. It may probably be the nucleus of the Bhagavata which came to be developed into the present text.

Sri. Mahavishnu gave some instructions to Brhama which he required to go on with the work of creation without any interruption. The four instructive verses are very important which are called Chatussloki Bhagavata. This famous chatussloki appears in this skandha only. The conversation between Brahma and Narada gives us a brief statement on the cosmic theories in the theological doctrines of the Bhagavata which are elaborated in the latter sections of the text.

This skandha deals with the characteristics of the Viratpurusha, who is to be neccessarily known and the meditation on the Viratpurusha leads the devotees to the salvation. The moksha, the method of creation has been elaborately described in this skandha. The sankhya theory has been discussed and the comparative study of the theory is made for the benefit of the interested scholars.

Here we find a brief description of the various avataras such as Dattatreya, Nara-Narayana, Hayagriva, Matsya, Kurma, Narasimha and Dhanvantari who promulgated the science of Medicines, which goes along to help people to have longevity of life. The reader by studying the godly deeds of avataras with rapt attention may improve his devotion towards Almighty and get final salvation. Thus this skandha abounds in such good subjects which make the skandha important.

But, as ill luck would have it, a good edition of Sri Bhagavata with scholarly commentaries is not available now a days. To ward off this scarcity T.T.Devasthanams which is ever endeavouring to publish good spiritual, devotional and philosophical texts has established "Sri Bhagavata critical edtion project and appointed personnel required. The T.T.Devasthanams is very particular about completing this work. So the management is trying to get published all the volumes as speedily as possible. The 2nd book containing the 2nd Skandha being released now will adorn the worthy hands of connoisseurs. If this book can satisfy the scholars we feel we are amply rewarded.

.....EDITOR

# ACKNOWLEDGMENTS

The Second Skandha of Srimad Bhagavata Mahapuranam written by Sri Krishnadvaipayana, critically edited by eminent scholars, is now in your hands. We think the publication of this book would gladden the readers.

The Bhagavata Project was established by TTD to bring out the critical edition of Bhagavata with useful commentaries. The editing work has been completed. The printing of the edited version is now under fast progress.

The important aspects related to this edition were already explained elaborately in the 'Introduction' to the Ist Skandha. Other points related to this Second Skandha have been mentioned by the editor in the introduction of this volume.

This volume was edited by the famous scholar Dr. P. Radhakrishna Sarma. The commentary called 'Sudhi-Sudha' which is included in this volume as 4th commentary, was also written by him. Dr. N.C.V. Narasimhacharya, the renowned scholar rendered yeoman service by helping Dr. Radha Krishna Sarma in preparing this edition. Both of them deserve the deep gratitude of the readers.

Dr. S. Sudarsana Sarma, Dr. P. Jhansi Lakshmi Bai and Dr. Nagaphani Sarma also deserve the appreciation of the readers for their services in bringing out this edition.

The Research Assistants, namely Sri S.B.S. Bhattacharya, Dr. S. Poornavalli, and Dr. S. Dasaradha also deserve our commendation. Sri I. Venkateswara Rao and others who helped immensely in proof reading of the work also deserve our gratitude.

Sri Ajeya kallam, IAS, the revered Executive officer, of the Tirumala Tirupati Devasthanams and Dr. Medasani Mohan, the Director of Annamacharya project, and other members of the Advisory Committee of Sri Bhagavata Project are offered our deep gratitude for their keen interest and co-operation in bringing out this editon.

**Samudrala Lakshmanaiah,**
Special Officer,
Sri Bhagavata Project,
T.T.Devasthanams

# आमुखम्

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' इति प्राचीनममोघं ऋषिवचनम्। ततो वेदवचनानि सम्यगधीत्य निखिलैरपि जनैः तत्प्रतिपादितरीत्या धर्मपथे वर्तितव्यम्। परन्तु वेदार्थावगमे कश्चन क्लेशोऽपरिहरणीयः समस्ति। लौकिकसंस्कृतभाषां तु कथञ्चित्किञ्चिद्वा प्रतिबुध्यामहे। वैदिकसंस्कृतभाषायाः तात्पर्यमवगन्तुं न प्रभवामः। तद्बोधायैव उपकर्तृभिर्दयालुभिः महर्षिभिः स्मृतीतिहासपुराणान्यवतारितानि। ते वेदार्थान् सकलान् प्रत्यग्दृष्ट्या सन्दृश्य स्मृत्वा तानर्थानेव स्मृतिग्रन्थैरबोधयन्। अत एव ताः स्मृतयः न तु नूतनया अकल्प्यन्त। तत एव स्मृतीनां वेदस्येव परमप्रामाणिकत्वमुररीक्रियते तज्ज्ञैः। "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" इति वचनं बोद्धव्यबोधनपरम्। ततश्चेदं पर्यवस्यति यत् श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणवचनानां ऐककण्ठ्यं ऐकवाक्यञ्च निर्णीय उभयलोकानुकूलेन वर्त्मना चरितव्यं बुद्धिमद्भिः। एवमाचरद्भिस्तैः इहपरसुखानि अनुभूयन्ते।

तत्र भारतरामायणादयः इतिहासा उच्यन्ते। मात्स्य, कौर्म, ब्राह्म, पाद्म, वैष्णव, भागवतादयः पुराणानि कथ्यन्ते। तानि च अष्टादश। "अष्टादश पुराणानां कर्ता सत्यवती सुतः" (वेदव्यासः)। अयं पुराणसन्दोहः चतुर्लक्षश्लोकात्मकः। तिरुमलतिरुपतिदेवस्थानाधिकृतैः वैदिकनैतिकधार्मिकग्रन्थानां विश्वश्रेयोनिदानानां प्रकाशनेन लोकोपकारे बद्धपरिकरैः आर्षसंस्कृतेः लोके प्रचाराय समुद्युक्तैः एषु पुराणेषु परिष्काराय मुद्रणाय प्रकाशनाय च श्रीमद्भागवतं पुराणरत्नमुपात्तम्। एतस्य पुराणस्याऽऽदाने कारणं गवेषणीयं न भवति। यतोऽस्य भागवतस्य पुराणोत्तमस्य सर्वश्रेष्ठत्वं सर्वैरभ्युपगम्यते। अस्य पुराणस्य महिमानमुद्बोधयितुं इमे श्लोकाः प्रभवन्ति।

**"भक्तिर्ज्ञानञ्च वैराग्यं तत्त्वं मोक्षश्च यत्र हि।**
**क्षोदक्षमं निरूप्यन्ते तद्वै भागवतं स्मृतम्।"**

अयमक्षरसङ्केतात्मकः श्लोकः विवृतिमपेक्षेत 'भा' (भ) कारो भक्तिं, गकारः (ग्यानं) ज्ञानं, वकारो वैराग्यं, तकारस्तत्त्वं, 'म' मकारो मोक्षञ्च सूचयन्ति। अर्थात् भक्तिज्ञानवैराग्यतत्त्वमोक्षाणां मुख्यबोद्धव्यानां विषयाणां अन्यनिरपेक्षत्वेन सम्यगवबोधकमिदं पुराणमिति तत्प्राशस्त्यं प्रस्फुटं भवति। श्रीमद्भागवतवैभवं द्वादशस्कन्धान्तर्गतत्रयोदशाध्यायस्थितेन -

**'राजन्ते तावदन्यानि पुराणानि सतां गणे।**
**यावन्न दृश्यते साक्षात् श्रीमद्भागवतं परम्।।'**

इति चतुर्दशश्लोकेनोद्घुष्यते। भागवतस्य पुरः पुराणान्तराणि दिनदीपदशां भजन्ति।

**सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते।**
**तद्रसामृततृप्तस्य नाऽन्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्।।** (12-13-14)

पुराणान्तरेष्वपि एतन्महिमा बहुधोत्कीर्त्यते। पश्यत जन्मान्तरकृतसुकृतवशादेव भागवतलाभो बोभवीति, तादृशग्रन्थलब्ध्यै कदाचित् देवा एव सुधाकुम्भं गृहीत्वा श्रीभागवतमुपदेष्टुमुद्युक्तं श्रीशुकमुपागमन्। सुधाकुम्भं गृहीत्वा तत्प्रत्याम्नायत्वेन श्रीभागवतमस्मभ्यं दीयतामिति च प्रार्थयन्त्। "क्व सुधा क्व कथा लोके क्व वाचः क्व मणिर्महान्" इति वदन् न ददौ पुराणं श्रीशुकः। "श्रीमद्भागवताख्योऽयं प्रत्यक्षः कृष्ण एव हि" इत्यपि इदम्पुराणमहिमानं पाद्मपुराणमभिष्टौति।

**"यः पठेत्प्रयतो नित्यं श्लोकं भागवतं सुत।**
**अष्टादशसहस्राणां फलमाप्नोति मानवः।।"**

भागवतश्लोकमेकं पठित्वा समग्रभागवतपुराणपारायणपुण्यं सञ्चिनोति नरः।

**"श्लोकार्धं श्लोकपादं वा वरं भागवते गृहे।**
**शतशोऽथ सहस्रञ्च किमन्यैः शास्त्रसङ्ग्रहैः।"**

अत्यल्पोऽपि भागो भागवतस्य स्थाप्यतां सद्मनि तदलं सुकृताय। शतशः सहस्रशश्च सङ्गृहीतैः शास्त्रैः प्रयोजनं नास्ति।"भागवतस्य एकः श्लोको वा, अर्धश्लोको वा एकः पादो वा अन्ततः, यदि गृहे वसेत् तदाऽहं तत्र साक्षाद्वसामि" इति श्रीकृष्णः स्वयं प्रत्यजानात्। यत्र भागवतश्लोकांशो विद्यते तत्र भगवान् गोपिकाभिस्सार्कं मोदमानस्तिष्ठेत्। श्रीभागवतस्य साक्षाच्छ्रीभगवतः अभेदमभिप्रैति स्कान्दपुराणम्,

**श्रीमद्भागवतस्याऽपि श्रीमद्भगवतस्सदा।**
**स्वरूपमेकमेवास्ति सच्चिदानन्दलक्षणम्।।**

इत्यादिप्रकारेणेदं पुराणं स्कान्दपुराणं बहुधा प्रशशंस। इयदेव न, प्रत्युत एवमन्यथा च बहुधा श्लाघ्यमानं श्रीभागवतं सकलभक्तजनसुलभं यदि न श्रूयते जनः कृतात्मघातो भवतीति भागवतविमुखो निन्द्यते।

भागवतमिदं बहुभिः हेतुभिः प्रशस्यं भवति। सर्वशास्त्रार्थसारोऽत्रावबोध्यते। स च प्ररोचनाय शतशो विरचिताख्यानकोपाख्यानादिमुखेन उपदिश्यते। एवं भङ्ग्यन्तरेण मित्रसम्मितमार्गेण क्वचित्प्रभुसम्मितरीत्या कुत्रचित्कान्तासम्मितपद्धत्या च बोध्यमाना विषयाः सुष्ठु हृदयलग्ना भवन्ति। मुख्यतः पुराणमिदं भक्तिभाष्यमिति व्यवहारमर्हति। यतोऽत्र भक्तितत्त्वं सप्रकारं साङ्गोपाङ्गं च सविस्तरं प्रतिपाद्यते।

**"मोक्षसाधनसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।**
**सर्वेशे चेतसो वृत्तिः धारावाहिकतां गता।"**

इति विब्रियते। "भक्त्या भागवतं ज्ञेय" मिति वाक्यं मननार्हम्। अतोऽपि भागवतस्य भक्तितत्त्वस्वरूपपरत्वमवगम्येत।

भक्तिरियमसंख्येयप्रकाराऽपि सङ्गृह्य स्थूलतः नवविधा कीर्त्यते -

**"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।**
**अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।"**

**"इति पुंसाऽर्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।**
**क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्।।"** (भाग. 7-5-23,24)

इति भक्ताग्रेसरप्रह्लादमुखेन भक्तितत्त्वमुपदिष्टम्। ईदृशभक्तिभाव संस्कृत चेतसैव भागवतं ज्ञातुं शक्यम्। इयञ्च नवविधा भक्तिः प्राचीनऋग्वेदादिमूलैव। यथा - 1.श्रवणम्:- "भद्रं श्लोकं श्रूयासम्" (अथर्व.16-2-4) भगवतः कल्याणगुणान् शुश्रूषे 2. कीर्तनम्:- "विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचम्" (ऋक्.1-154) श्रीमन्नारायणस्य पराक्रमगाथाः सदा प्रवच्मि 3. स्मरणम्:- "मनामहे चारुदेवस्य नाम" (ऋक्.1-24-1) परमात्मनो वैभवोत्कर्षं स्मरेयम् 4. पादसेवनम्:- "जुषाण इन्द्र सप्तभिर्न अगाहि" (ऋक्.8-13-13) प्रभो सावष्टम्भं अस्मदुपकण्ठमागच्छ यतः पादसेवनं सुशकं स्यात्। 5. अर्चनम्:- "अर्चा चक्राय शाकिने" (ऋक्.1-54-2) परात्परायेन्द्राय अर्चां समर्पयामि। 6 वन्दनम्:- वन्दामहे त्वां (ऋक्.3-8-9) त्वां वन्दामहे। 7. दास्यम्:- वैश्वानरस्य समतौ स्याम (ऋक्.1-98-1) अस्माभिः विश्वशिल्पिने प्रभवे विधेयैर्भाव्यम्। 8. सख्यम्:- "मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे" (ऋक्.1-101-6) देवाधिदेवं सख्याय अर्थयामहे। 9. आत्मनिवेदनम्:- "भर्गो देवस्य धीमहि।" (ऋक् 3-62-10) देवस्य दिव्यतेजो ध्यायामः। ततश्च ध्यानगोचरे परमात्मनि आत्मनिवेदनं कर्म इति यावत्। अतः भागवतप्रतिपादित-भक्तिपथस्य मूलं निगम एवेति निश्चप्रचम्।

ईदृशस्य बह्वर्थपुष्टस्य श्रीभागवतस्य मूलमात्रमुद्रणेन नेष्टसिद्धिर्भवेदिति देवस्थानाधिकृताः अमन्यन्त। प्रशस्यतमस्याप्यस्य ग्रन्थस्य किञ्चित् दुर्बोधत्वं वर्तते। 'प्रेक्षा' (विद्या) वतां भागवते परीक्षा' इति वचनमत्र प्रमाणम्। यस्तु भागवतं सुष्ठु बुध्येत स विद्वत्परीक्षायामुत्तीर्ण इति मन्तव्यं भवति। अतः सव्याख्यानं मुद्रयमाणोऽयं ग्रन्थः सर्वसुगमो भवेदिति विदित्वा, सव्याख्यस्य सुष्ठु परिष्कृतस्य प्रकाशनं सम्पादनीयमिति सङ्कल्पितम् अधिकृतैः। यद्यपि भागवतस्य उपत्रिंशद्व्याख्यानानि सन्ति इति जनश्रुतिरस्ति? तथाऽपि परमवैदिकानां द्वैताद्वैतविशिष्टाद्वैतसमाख्यानां मतानामनुरोधेन निर्मितानि, श्रीधरीय, श्रीवीरराघवीय, श्रीविजयध्वजीयव्याख्यानानि चेन्मुद्रयन्ते, तन्महोपकाराय भवेदिति तदेवारम्भि। भिन्नभिन्नप्रकाशनानि नैकलिपिनिबद्धानि उपदशानि समपादिषत। तानि त्रीण्यपि संशोध्य साङ्गोपाङ्गं मुद्रयन्ते। बहुविधा अनुबन्धाश्च समयोजिषत। विशिष्य श्लोकपादानामकाराद्यनुक्रमणी, बह्वायाससाध्या बहुग्रन्थगवेषणसम्पाद्या च व्याख्यापेक्षितानां संवादाद्यर्थानां उपात्तानां वेदादिकानां वाक्यानां आकरग्रन्थान्वेषणसाधिता च आकरग्रन्थसम्बन्धिन्यनुक्रमणी च संयोजिते।

अद्य द्वितीयः स्कन्धः (द्वितीयं पुस्तकं) प्रकाशाय सज्जीकृतः। अयं द्वितीयस्कन्धः आकारेण स्वल्पशरीरः न तु महिम्ना। अस्य द्वितीयस्कन्धस्य प्राशस्त्यं प्रतिपाद्यविषयपरिशीलनेन ज्ञायेत। यस्य कस्यापि स्कन्धस्य प्राधान्यं तत्प्रतिपादितविषयमहिम्नैव सुप्रतिष्ठं भवति। श्रीमद्भागवतचक्रस्य नाभिस्थानीयोऽयं द्वितीयस्कन्धः। एतत्सूचितानां विषयाणां विवृतिः तदनन्तरग्रन्थे सुष्ठु प्रतिपाद्यते।

चक्रावयवभूतानां अक्षारनेम्यादीनां आधारभूतः कुम्भाकारो नाभिनामा भागः। तथा आगमिष्यतां सर्वेषामपि वृत्तानां मूलाधारो द्वितीयस्कन्धः। अत्र मोक्षप्राप्तेः भक्तिमार्ग एक एवाऽऽश्रयणीय इति निरूप्यते। ब्रह्मा महाविष्णुं प्रार्थयते "यदाऽहं सृष्टिकार्ये प्रवर्ते तदाऽहं कथं वा विषयान्तरव्यासङ्गं परिहरिष्यामि, तद्वद" इति। तदा श्रीविष्णुः ब्रह्मणे चतुरः श्लोकानुपदिदेश। ते एव चतुश्श्लोकी भागवतनाम्ना प्रसिद्धिमियाय।

अत्र ग्रन्थे विराट्पुरुषवर्णनं वितन्यते। "भूः पादौ यस्य नाभिर्वियत्" इत्यादिध्यानश्लोक प्रतिपादितरीत्या ऋग्वेदीयपुरुषसूक्तवर्णितवैखर्या च इदं प्रतिपाद्यते। ईदृशमहापुरुषविषयक श्रवणकीर्तनध्यानादिर्मोक्षाय कल्पेत। अत्र स्कन्धे योगी भौतिकं कायमुज्झित्वा मुक्तिं कथं साधयतीत्येतदपि वर्ण्यते। सृष्टिक्रमरहस्यमत्रोद्बोध्यते। अस्मिन् भगवदवतारविशेषाः नरनारायणादिकाः मत्स्यकूर्मवराह नरसिंहादयः तत्तदवतारनिर्वर्तितविशिष्टापदानानि च प्रतिपाद्यन्ते। गजेन्द्रमोक्षणोदन्तः, वामनावतारः तत्कृत बलिदमनवृत्तान्तश्च वर्ण्यन्ते। एषा मन्येषामेतादृशानां परमपुरुषचरितानां सभक्त्यनुध्यानेन भक्ताः पापविनिर्मुक्ताः सद्गतिं लभेरन्।

अत्र निरूप्यमाणेषु प्रधानोंऽशः कश्चिदस्ति। उपपुराणस्य पञ्चलक्षणत्वेऽपि महापुराणस्य दशलक्षणत्त्वं सङ्गिरन्ते सङ्घ्यावन्तः। लक्षणदशकञ्च -

**"यत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।**
**मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः"** इति।

एषां व्याख्यानमत्र क्रियते, यत्सर्वं भागवतार्थसमन्वयेन बुध्यते चेत् पूर्णं पुराणस्वरूपज्ञानं अवगतं सम्पद्यते। एभिः अन्यैश्च बहुभिः अंशैः भागवतमूलसूत्रायमाणस्य अस्यस्कन्धस्य प्रामुख्यं प्रव्यक्तं भवति।

तथाविधोऽयं द्वितीयस्कन्धः सुष्ठु परिष्कृत्य मुद्राप्य भागवतसहृदयानां करकमलयोरुपहारीक्रियते। मनुष्यतासुलभैः व्युत्पत्तिदौःस्थ्यादिभिः जाताः बहवो दोषाः अत्र लब्धपदा भवेयुः। ते क्षन्तव्या इति प्रार्थये। कृपया सूचिता दोषाः आगामिप्रकाशने परिहृता भवेयुः।

**.....सम्पादकः**

# कृतज्ञतानिवेदनम्

व्याख्यानचतुष्टयविभूषितस्य श्रीकृष्णद्वैपायनविरचितस्य श्रीमद्भागवतस्य विद्वद्वर्यैः परिष्कृतोऽयं द्वितीयः स्कन्धः तिरुमलतिरुपतिदेवस्थानेन प्रकटितः पठितृजनस्य प्रमोदावहो भवतु।

देवस्थानेन आयोजितया श्रीमद्भागवतशोधपूर्णपरिष्करणपरिषदा सव्याख्यानस्य समग्रस्यापि भागवतस्य परिष्करणं समाप्तिं जगाम। अधुना तस्य मुद्रणकार्यं प्रचलति।

एतत्परिष्करणसम्बन्धिनः अवधेयांशास्सर्वेऽपि प्रथमस्कन्धस्य 'अवतारे' विस्तरेण प्रतिपादिता-स्सन्ति। अपि च द्वितीयस्कन्धस्यास्य 'आमुखे' सम्पादकैरेव विशिष्टांशाः केचित् निरूपिताः।

अस्य स्कन्धस्य परिष्करणं विद्वत्तल्लजैः डा. पन्नाल राधाकृष्णशर्मभिः निर्वर्तितम्। तैरेव च 'सुधीसुधाऽऽख्या' व्याख्याऽपि निर्मिता। प्रसिद्धविद्वद्भिः डा. एन्. सि. वि. नरसिंहाचार्यैः ग्रन्थपरिष्करणे महान् सहकारः प्रदत्तः। एते महानुभावाः पाठकानां कृतज्ञतामर्हन्ति।

अपि चात्र डा. सन्निधानं सुदर्शनशर्माणः, डा. पि. झान्सीलक्ष्मीबायीनाम्न्यः, डा. माडुगुल नागफणिशर्माणश्च सश्रद्धं सहकारं प्रदाय कृतकृत्या बभूवुः। तेऽपि धन्यवादान् अर्हन्ति।

अपि च अस्मिन् महत्तरे कार्ये बहुधा उपकृतवन्तः यस्. वि. यस्. भट्टाचार्यः, डा. यस्. पूर्णवल्ली, डा. यस्. दशरथश्च कृतज्ञतामर्हन्ति। मुद्रणसमये अक्षरशोधनकर्मणि सहकारं प्रदत्तवन्तः श्रीमन्तः ऐ. वेङ्कटेश्वररावुमहोदयाः, एवं अन्ये च धन्यवादान् अर्हन्ति।

किञ्च अस्य ग्रन्थस्य मुद्रणे नितरां श्रद्धां प्रदर्शितवद्भ्यः, तिरुमलतिरुपतिदेवस्थान श्रीकार्यनिर्वहणाधिकारिभ्यः श्री अजेय कल्लं महाशयेभ्यः, अन्नमाचार्य प्राजक्ट् निदेशकेभ्यः डा. मेडसानि मोहन् महाशयेभ्यः, एवं अन्येभ्यश्च भागवतसम्पादनपरिष्करणमार्गदर्शकमण्डलीसदस्येभ्यः सादरं कृतज्ञताऽञ्जलयः समर्प्यन्ते।

लोकास्समस्तास्सुखिनो भवन्तु

**समुद्राल लक्ष्मणय्य**
विशिष्टाधिकारी
श्रीभागवतपरिष्करणपरिषत्
ति. ति. देवस्थानम्

## LIST OF ABBREVIATIONS

(of the Edition of Srimadbhagavatamahapuranam being referred to)

1.A. Srimadbhagavata Mahapuranam with eleven Sanskrit commentaries and a Hindi translation, published by Sri Krishnasankarasastry and others, Nadiad, Gujarat, in 1965. This edition was obtained from the Bhagavata Vidyapitha, Ahmedabad.

2.B. Srimadbhagavata Mahapuranam with eight Sanskrit commentaries and a Hindi translation, edited by Sri Nityanandabrahmachari and printed by Sri Rangacharya at Devakinandan Press Brindavan, in 1947.

3.G. Srimadbhagavata Puranam (mere text) published by Geeta Press, Gorakhpur in 1951.

4.H. Srimadbhagavata Puranam with the commentary of Sridhara, edited, published and printed by Sri Puranam Hayagriva Sastry in Vivekananda Press,Madras, in 1948.

5.I. Srimadbhagavata Puranam with the English translation and purport by Sri A.C. Bhakti-vedanta Swami Prabhupada, published by Bhaktivedanta Book Turst of ISCON, in Bombay in 1972.

6.K. Srimadbhagavata Puranam with the commentary of Sri Vijayadhvaja Tirtha and a Kannada translation, obtained from S.V.U.Oriental Research Institute, Tirupati.

7.M. Srimadbhagavata Puranam with the commentary of Sri Vijayadhvaja Tirtha of Madhva School, obtained from Udipi.

8.Ma. Contains the commentary of Sri Vijaya Dhvaja Tirtha - printed in Devanagari Script, Another Madhva Edition.

9.N. Srimadbhagavata Puranam (mere text), edited by Sri Narayan Ram Acharya, published by Satyabhamabai Panduranga and printed by Ramachandra Yesu Shedge at Nirnayasagar Press, Bombay, in 1950

10.V. Srimadbhagavata Puranam with the commentary of Sridharacharya, printed and published by Vavilla Ramaswamy Sastrulu & sons, in 1941, at Vavilla Press, Madras.

11.W. Srimadbhagavata Puranam with the commentary of Sri Veera Raghavacharya - Printed inTelugu characters - Published by the Maharaja of Wanaparti Samsthan, Andhra. in 1885.

## LIST OF ABBREVIATIONS

Commentaries

1. **श्रीध०** श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका
2. **वीर०** श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका
3. **विज०** श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली
4. **रा.कृ.** श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

# Texts cited in commentaries and their Abbreviations

| Abbreviation | Name of the Book | Abbreviation | Name of the Book |
|---|---|---|---|
| **अथ . शिखा . उ.** | अथर्वशिखोपनिषत् | **तैत्ति . सं .** | तैत्तिरीयसंहिता |
| **अद्वै . उ.** | अद्वैतोपनिषत् | - | दत्तः |
| - | अध्यात्मे | - | नारदीये |
| - | अभिधानम् | **निरा. उ.** | निरालम्बोपनिषत् |
| **अम . को .** | अमरकोशः | - | निरुक्तम् |
| **अष्टा .** | अष्टाध्यायी | **नृ . उ . ता . उ .** | नृसिंह उत्तरतापिन्युपनिषत् |
| - | अहिर्बुध्न्यसंहिता | - | पञ्चतन्त्रे |
| **आगम . प्रा .** | आगमप्रामाण्यम् | - | परमसंहिता |
| **आप . श्रौ . सू .** | आपस्तम्बश्रौतसूत्रम् | - | पाञ्चरात्रे |
| - | आग्नेये | - | पाद्मपुराणम् |
| **ईशा . उ .** | ईशावास्योपनिषत् | **पु . सू .** | पुरुषसूक्तम् |
| **उणा . सू .** | उणादिसूत्राणि | - | प्रकाशिकायाम् |
| - | उत्पलमाला | **प्रश्न . उ .** | प्रश्नोपनिषत् |
| **ऋक् . सं .** | ऋक् संहिता | **बृह . उ .** | बृहदारण्यकोपनिषत् |
| **ऐत . उ .** | ऐतरेयोपनिषत् | - | ब्रह्मतर्के |
| **कठ . उ .** | कठोपनिषत् | - | ब्रह्मवैवर्ते |
| - | कापिलेये | **ब्र . सू .** | ब्रह्मसूत्राणि |
| **कुमार . स .** | कुमारसम्भवम् | - | ब्राह्मे |
| **कौषी . उ .** | कौषीतक्युपनिषत् | - | भद्रिकायाम् |
| - | क्रियायोगे | **भ . गी .** | भगवद्गीता |
| - | गारुडे | **भर . सं .** | भरद्वाजसंहिता |
| - | गोपालः | - | भागवततन्त्रे |
| - | चाक्रायणश्रुतिः | **भाग .** | भागवतम् |
| **छान्दो . उ .** | छान्दोग्योपनिषत् | - | भविष्यत्पुराणे |
| **जित . स्तो.** | जितन्तास्तोत्रम् | **भारते . आनु .** | भारते आनुशासनिकपर्व |
| - | तत्त्वनिर्णये | **भारते . आरण्य** | भारते आरण्यपर्व |
| - | तन्त्रभागवते | **भारते . उद्योग** | भारते उद्योगपर्व |
| **तैत्ति . आ .** | तैत्तिरीय आरण्यकम् | **भारते . शान्ति** | भारते शान्तिपर्व |
| **तैत्ति . उ .** | तैत्तिरीयोपनिषत् | **मनु . स्मृ .** | मनुस्मृतिः |

| Abbreviation | Name of the Book | Abbreviation | Name of the Book |
|---|---|---|---|
| - | महाकौर्मे | विष्णु . ध . पु . | विष्णुधर्मोत्तरपुराणम् |
| - | माहात्म्ये | विष्णु . पु . | विष्णुपुराणम् |
| म . ना . उ . | महानारयणोपनिषत् | - | विष्वक्सेनसंहिता |
| महा . उ . | महोपनिषत् | वे . नि . | वेदनिघण्टुः |
| माण्डू . उ . | माण्डूक्योपनिषत् | - | शब्दनिर्णये |
| - | माध्यन्दिनश्रुतिः | शार्ङ्ग . पद्ध . | शार्ङ्गधरपद्धतिः |
| मुण्ड . उ . | मुण्डकोपनिषत् | - | शिशुपालवधम् |
| मैत्रा . उ . | मैत्रायण्युपनिषत् | श्वेता . उ . | श्वेताश्वतरोपनिषत् |
| याज्ञ . स्मृ . | याज्ञवल्क्यस्मृतिः | सुबा . उ . | सुबालोपनिषत् |
| रामा . | रामायणम् | सुभा . | सुभाषितरत्नभाण्डागारम् |
| - | रुद्रः | सूर्य . उ . | सूर्योपनिषत् |
| - | लक्ष्मीतन्त्रे | - | स्कान्दे |
| वर . स्तवः | वरदराजस्तवः | - | षाड्गुण्ये |
| - | वामने | - | हरिवंशे |
| - | वाराहे | हला . को . | हलायुधकोशः |
| - | वररुचिः | - | हेमचन्द्रः |

# श्रीमद्भागवतद्वितीयस्कन्धीयानां अध्यायानां विषयानुक्रमणी


| अध्याय संख्या | विषयः |
|---|---|
| 1. | परीक्षित्सन्निधिं प्रति शुकमहर्षेरागमनकथा। |
| 2. | भागवतकथा-प्रारम्भघट्टः। |
| 3. | मोक्षप्राप्त्युपायकथनम्। |
| 4. | महापुरुषस्वरूपस्य ब्रह्माण्डस्वरूपत्वेन अभिवर्णनम्। |
| 5. | मुमुक्षोः भगवत्स्वरूपधारणायोगप्रकारकथनम्। |
| 6. | भगवत्स्वरूपपरिज्ञानविधिप्रतिपादनम्। |
| 7. | उपासनाभेदेनोपासकानां विभिन्नप्राप्तिप्रतिपादनघट्टः। |
| 8. | भगवद्गुणानुवर्णनपूर्वकतया आत्मतत्त्वस्वरूपकथनप्रपञ्चोद्भवाद्यभिवर्णनघट्टः। |
| 9. | भगवतो नारायणस्य विविधावतारलीलाभिवर्णनघट्टः। |
| 10. | परीक्षित्कृतपुराणार्थप्रश्नप्रकारः। |

# श्रीमद्भागवतमहापुराण
## द्वितीयस्कन्धस्थानां दशाध्यायानां
## अध्यायार्थसङ्ग्रश्लोकाः

तत्र तु प्रथमाध्याये कीर्तनश्रवणादिभिः।
स्थविष्ठे भगवद्रूपे मनसो धारणोच्यते।।१।।

द्वितीयेतु ततः स्थूलधारणातो जितं मनः।
सर्वसाक्षिणि सर्वेशे विष्णौ धार्यमितीर्यते।।

दृश्यालम्बनरूपैवमुक्ता वैराजधारणा।
इहोच्यते तु तत्सांध्यासर्वान्तर्यामिधारणा।।२।।

तृतीये विष्णुभक्तेस्तु वैशिष्ट्यं शृण्वतो मुनेः।
भक्युद्रेकेण तत्कर्म श्रवणादर ईर्यते।।३।।

तुर्ये परीक्षिता पृष्टं सृष्ट्यादिहरिचेष्टितम्।
शुकेन ब्रह्म तत्पुत्रसंवादेनोपवर्ण्यते।।४।।

पञ्चमे नारदेनाथ पृष्टः सृष्ट्यादि वक्तृयजः।
हरेर्लीलाविराट्सृष्टिं कालकार्मादिशक्तिभिः।।५।।

षष्ठे विराड्विभूतिश्च प्रोक्ताध्यात्मादिभेदतः।
दृढीकृतं तु पूर्वोक्तं सर्वं पुरुषसूक्ततः।।६।।

उच्यन्ते सप्तमे लीलावतारा ब्रह्मणोदिताः।
नारदाय तु तत्कर्म प्रयोजनगुणैस्सह।।७।।

अष्टमे देहसम्बन्धमाक्षिपत्रीशजीवयोः।
बहून् परीक्षिदापृच्छत्पुराणार्थान् बुभुत्सितान्।।८।।

राजप्रश्नोत्तरं वक्तुं ब्रह्मणे हरिणोदितम्।
कथयामास नवमे शुको भागवतं पुनः।।९।।

ततो भागवतव्याख्याद्वारैव दशमे स्फुटम्।
राजप्रश्नोत्तरं वक्तुमारेभे बादरायणिः।।१०।।

# श्रीमद्भागवतपाठविधिः

स्नातः शुचिर्भूत्वा प्राणानायम्य त्रिराचम्य च मङ्गलपाठपूर्वकं भगवन्तं प्रणमेत्। तदनु सञ्चितैः षोडशोपचारै र्मानसोपचारैर्वा व्यासं शुकं वासुदेवं श्रीमद्भागवतग्रन्थं च सादरं सक्तिकं सभक्तिभावं सम्पूजयेत्। ततः पाठारम्भात् प्राक् 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' इति द्वादशाक्षरमन्त्रम् 'ओं क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' इति गोपालमन्त्रं वाऽष्टोत्तरशतवारं जपेत्। पश्चादेवं विनियुञ्जीत -

## विनियोगः

ओं अस्य श्रीमद्भागवताख्यस्तोत्रमन्त्रस्य नारदऋषिः, बृहती छन्दः, श्रीकृष्णः परमात्मा देवता, ब्रह्म बीजम्, भक्तिः शक्तिः, ज्ञानवैराग्ये कीलकम् मम श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थं पाठे विनियोगः।

## ऋष्यादिन्यासः

'नारदर्षये नमः' शिरसि। 'बृहतीच्छन्दसे नमः' मुखे। 'श्रीकृष्णपरमात्मदेवतायै नमः' हृदि। 'ब्रह्मबीजाय नमः' गुह्ये। 'भक्तिशक्तये नमः' पादयोः। ज्ञानवैराग्यकीलकाय नमः' नाभौ। श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थकपाठविनियोगाय नमः सर्वाङ्गे। द्वादशाक्षरमन्त्रेण हृदयाद्यङ्गन्यासं करन्यासं च कुर्यात्। अथवाऽधोऽङ्कितरीत्याऽङ्गन्यासकरन्यासौ विदध्यात्-

## अङ्गन्यासः

ओं क्लां हृदयाय नमः। ओं क्लीं शिरसे स्वाहा। ओं क्लूं शिखायै वषट्। ओं क्लैं कवचाय हुम्। ओं क्लौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ओं क्लः अस्त्राय फट्।

## करन्यासः

ओं क्लां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ओं क्लीं तर्जनीभ्यां नमः। ओं क्लूं मध्यमाभ्यां नमः। ओं क्लैं अनामिकाभ्यां नमः। ओं क्लौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ओं क्लः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

## अथ ध्यानम्

कस्तूरीतिलकं ललाटफलके वक्षःस्थले कौस्तुभं नासाग्रे नवमौक्तिकं करतले वेणुं करे कङ्कणम्।
सर्वाङ्गे हरिचन्दनं च कलयन् कण्ठे च मुक्तावलिं गोपस्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपालचूडामणिः।।
अस्ति स्वस्तरुणीकराग्रविगलत्कल्पप्रसूनाप्लुतं वस्तु प्रस्तुतवेणुनादलहरीनिर्वाणनिर्व्याकुलम्।
स्रस्तस्रस्तनिबद्धनीविविलसद्गोपीसहस्रावृतं हस्तन्यस्तनतापवर्गमखिलोदारं किशोराकृति।।

इत्येवं ध्यात्वा पाठमारभेत।

## श्रीमद्भागवतसप्ताहपारायणस्य दैनन्दिनविश्रामस्थलानि निम्नाङ्कितपद्येषु निरूपितानि

मनुकर्दमसंवादपर्यन्तं प्रथमेऽहनि। भरताख्यानपर्यन्तं द्वितीयेऽहनि वाचयेत्।।
तृतीये दिवसे कुर्यात् सप्तमस्कन्धपूरणम्। कृष्णाविर्भावपर्यन्तं चतुर्थे दिवसे वदेत्।।
रुक्मिण्युद्वाहपर्यन्तं पञ्चमेऽहनि शस्यते। श्रीहंसाख्यानपर्यन्तं षष्ठेऽहनि वदेत्सुधीः।।
सप्तमे तु दिने कुर्यात् पूर्तिं भागवतस्य वै। एवं निर्विघ्नतासिद्धिर्विपर्यय इतोऽन्यथा।।

हरिःओम्

# श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

ओं नमो भगवते वासुदेवाय

# द्वितीयः स्कन्धः

## प्रथमोऽध्यायः

### श्रीशुक उवाच

वरीयानेष ते प्रश्नः कृतो लोकहितं[1] नृप!
आत्मवित्सम्मतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः।।१।।

श्रेतव्यादीनि[2] राजेन्द्र! नृणां सन्ति सहस्रशः।
अपश्यतामात्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम्।।२।।

निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन नवं[3] वयः।
दिवा चार्थेहया राजन्! कुटुम्बभरणेन वा[4]।।३।।

देहापत्यकलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वसत्स्वपि[5]।
तेषां[6] प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति।।४।।

### श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

यन्नाम कीर्तनं दानतपोयोगादि सत्फलम्। तं नित्यं परमानन्दं हरिं नरमहं[7] भजे।।
द्वितीये तु दशाध्यायैः श्रीभागवतमादितः। उद्देशलक्षणोक्तिभ्यां संक्षेपेणोपवर्ण्यते।।
तत्र तु प्रथमाध्याये कीर्तनश्रवणादिभिः। स्थविष्ठे भगवद्रूपे मनसो धारणोच्यते।।
उक्तः पूर्वमुपोद्घातः सप्रसङ्गश्शुकागमः[8]। राज्ञा पृष्टं नृणां कृत्यमथाऽऽह शुकसन्मुनिः।।

---

1. H.V.W "तो 2. M.Ma. "नीह 3. A.B.C.G.I.N.W. च वा 4. H.V.W. च 5. AF. GF. "सौख्ये"; M.Ma. "दैन्ये"; 6. M.Ma. "षु प्रसक्तो 7. H.V. "नु स्मरेत् 8. H.V. प्रसङ्गेन शु"

राज्ञः प्रश्नमभिनन्दति - **वरीयानिति**। ते त्वया पुंसां श्रोतव्यादिषु मध्ये यः परः **श्रेष्ठः**[1]**प्रश्नः कृतः** एष[2]वरीयान्। यतो लोकहितमेतत् मोक्षहेतुत्वात्। आत्मविदां ब्रह्मविदां मुक्तानां[3] सम्मतो यतः ।।१।।

तत्र तावत् स्वाभाविकक्रियाणां अनर्थहेतुतां वदन् "ब्रूहि यद्वा विपर्ययम्" (भाग 1-19-38) इत्यस्योत्तरमाह - **श्रोतव्यादीनिति** त्रिभिः। गृहेषु सक्तानाम्[4] अत एव गृहमेधिनां तद्व्रतपञ्चसूनापराणाम्। मेधीतिः[5] हिंसार्थकः।।२।।

तेषां[6] वृथैव आयुर्व्ययो भवतीत्याह - **निद्रयेति**। नक्तं रात्रौ यत् वयः आयुः तन्निद्रया, व्यवायेन रत्या वा ह्रियते। दिवा अह्नि यद्वयः तत् अर्थेहया अर्थार्थमुद्यमेन, सिद्धेऽर्थे कुटुम्बभरणेन वा[7]। चकारौ अनुक्तसमुच्चायकौ[8]।।३।।

ननु नश्वरकुटुम्बाद्यर्थं कथमायुर्व्ययं कुर्यात्? तत्राऽऽह - **देहेति**। देहादिषु आत्मनः सैन्येषु परिकरेषु असत्सु मिथ्याभूतेष्वपि प्रमत्तः प्रसक्तः तेषां पित्रादिदृष्टान्तेन नाशं पश्यन्नपि नानुसन्धत्ते।।४।।

ॐ श्रीहयग्रीवाय नमः

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भगवतचन्द्रचन्द्रिका

वेदान्तोपबृंहणपरेऽस्मिन् पुराणे उपोद्घातरूपप्रथमस्कन्धान्ते प्रसङ्गात् शुकागम उक्तः। स च शुकः श्रोतव्याद्यर्थान् अश्रोतव्यादींश्च प्रति राज्ञा पृष्टश्चेदानीं राज्ञः प्रश्नमभिनन्दति-**वरीयानिति**। हे नृप! राजन्! ते त्वया पुंसां श्रोतव्यादिषु श्रोतव्यमन्तव्यनिदिध्यासितव्येषु परः गोचरः श्रोतव्याद्यर्थतत्त्वविषयः। लोकहितमिति पाठे 'प्रति' इति शेषः। लोकहितं प्रति[9]यः प्रकृतः[10] एषः प्रश्नो वरीयान् श्रेष्ठः। कुत इत्यत आह। यद्यतः आत्मवित्सम्मतः आत्मज्ञानिनां संस्तुतः। ननु, नायमात्मविषयकश्रवणमननादिप्रश्नः "यच्छ्रोतव्यमथो जप्यं ब्रूहि यद्वा विपर्ययम्" (भाग.1-19-38) इति सामान्येन पृष्टत्वात्। अतः कथमात्मवित्सम्मत्या प्रश्नाभिनन्दनमिति चेत्, मैवम्। किमयं प्रष्टा आत्मविषयकश्रवणादीनां मुक्तिसाधनत्वं जानाति न वा? नान्त्यः[11] म्रियमाणस्य यत्कर्तव्यं यच्छ्रोतव्यमिति पुरुषविशेषकर्तृकप्रश्नायोगात्। न[12] आद्यः सुतरां प्रश्नानुपपत्तेः[13]। अतः सामान्याकारेण आत्मश्रवणादीनां मुक्तिसाधनत्वं जानतो विशेषत आत्मनः श्रवणादीनां च स्वरूपमजानतोऽयं प्रश्न इति प्रश्नस्य विशेषनिष्ठत्वात् आत्मवित्सम्मत्या[14]ऽभिनन्दनोपपत्तिः[15]।।१।।

---

1. H.V. add. तद्गोचरः 2. H.V. add. एव 3. A.B. add च 4. H.V. आस 5. H.V. °धीति 6. H.V. ततश्च 7. H.V. च 8. H.V. °ङ्चयार्थौ 9. W.adds कृतः 10. W. Omits प्रकृतः 11. W. न जानाते चेत् 12. W. जानाति चेति 13. W. °पत्तिः 14. W. °तत्त्वाभि° 15. A.B. °पत्तेः

अथ "ब्रूहि यद्वा विपर्ययम्" (भाग.1-19-38) इत्यस्य प्रश्नस्य श्लोकत्रयेणोत्तरमाह- **श्रोतव्यादीनिति**। हे राजेन्द्र! गृहमेधिनां नृणां श्रोतव्यादीनि सहस्रशः सन्ति। मुमुक्षोस्तु ब्रह्म एकमेवेत्यभिप्रायः। तदनुबन्धित्वेनोपासनादीनां[1] श्रवणम् अर्थसिद्धम्। गृहमेधिनां तद्व्रतपञ्चसूनापराणाम्। मेधः हिंसार्थः। यद्वा मेधा बुद्धिः गृहेषु मेधा[2] एषामस्तीति गृहमेधिनः गृहासक्ताः। यद्वा मेधः पशुः "उपनयनमेध्यापर अशासानामेधपतिभ्यामेधम्" (ऐत.ब्रा.2-6) इति वैदिकप्रयोगात्। तत्सम्बन्धिव्यापारोऽपि उपचारान्मेधः स एषामस्तीति गृहमेधिनः। पशुर्हि यज्ञाङ्गभूतेन्द्रादीनां प्रीतिजनकः। तद्वदेतेऽपि केवलकर्मानुष्ठानासक्ताः तप्रीतिसम्पादका इति पशुसाम्यमुच्यते। केवलैहिकामुष्मिकफलासक्ता गृहस्था इति यावत्। अत एव आत्मतत्त्वं आत्मयाथात्म्यमपश्यतामजानतां गृहेषु सहस्रशः सन्तीत्यनेन "बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्" (भ.गी.2-41) इति रीत्या[4] संसारिकफलसाधनानाम् आनन्त्यं तारतम्यं[5] चाभिप्रेतम्।।२।।

एतैश्च वृथैव आयुर्याप्यत इत्याह - **निद्रयेति**। नक्तं रात्रौ यद्वयः तन्निद्रया व्यवायेन मिथुनीभावेन वा ह्रियते याप्यते। दिवा यद्वयः तदर्थेहया अर्थार्जनानुकूलचेष्टया, सम्पादिते चार्थे कुटुम्बभरणेन कुटुम्बपोषणेन च[6]कारवाकारौ अनुक्तसमुच्चयार्थौ उक्तातिरिक्तव्यापारान्तरेणापीत्यर्थः।।३।।

ननु नश्वरकुटुम्बाद्यर्थं कथमायुर्व्ययः स्यात्? तत्राह - **देहेति**। आत्मसैन्येषु आत्मनः स्वस्य परिजनेषु असत्सु अन्तवत्स्वपि देहापत्यकलत्रादिषु प्रसक्तः। अन्येषां निधनम्। अन्तवत्वं दृष्टान्तत्वेन पश्यन्नपि तेषां देहादीनामन्तवत्वं स्वात्मनि न पश्यति नानुसन्धत्ते।।४।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली।

श्री गणेशाय नमः। श्री सरस्वत्यै नमः। श्री गुरुभ्यो नमः। श्री वेदव्यासाय नमः।

वरीयान् प्रष्टव्यो निगमविषयो योऽस्य जनको वराहाद्यात्मा[7] योऽवतरति सुराराति[8]हृदये।

अदाद्धात्रे ज्ञानं सकलविषयं यश्च विनुतस्तमङ्गोपास्व त्वं हृदय सततं स्वेष्टकृतये।।

सम्प्रति परीक्षितप्रश्नं परिहरिष्यन् स्तौति - **वरीयानिति**। श्रीभागवतसंहिताप्रारम्भकारणं सविस्तरमभिधाय, इदानीं श्रीभागवतसंहिता प्रारभ्यत इत्याह वरीयानिति। "यच्छ्रोतव्यमथो जाप्यम्" (भाग.1-19-38) इत्यादिना यस्त्वया कृतः स एष प्रश्नो वरीयान्, अङ्गीकार्यतमः सर्वोत्कृष्टत्वात्। लोकहितमिति क्रियाविशेषणम्, यथा लोकस्य हितं भवति तथा कृत इत्यनेन न केवलं तवैव हितकरोऽयं किन्तु सर्वस्येत्युक्तं भवति। उत्कृष्टत्वे हेतुगर्भविशेषणमाह - आत्मविदिति, मुख्यत आत्मविदो ब्रह्मादयः तेषामपि सम्मतत्त्वात्।

---

1.W. "न तु उपासकादीनां 2.W. "धः 3.W. "धः 4.W. नी" 5. W.Omits तारतम्यं 6. W. चकारौ अ" 7. A. "ख्या" 8. M.Ma. "इत्यतो वाऽऽह

तत्कथम् अत्राऽऽह पुंसामिति। आत्मविदित्यनुवर्तते, इह जगति नृणां सहस्रशः श्रोतव्यानि सन्ति म्रियमाणानां, अम्रियमाणानां च पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परमात्मा स एव आत्मवित्सम्मत इति यत्तस्मादित्यर्थः, "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" (बृह.उ.2-4-5) इत्यादिश्रुतेः। अनेन परमात्मविषयत्वेन अस्य वरीयस्त्वमित्युक्तं भवति।।१।।

इतोऽपि परमात्मश्रवणादिकमन्तरेण संसारस्य तदज्ञाननिबन्धनस्य दुरुच्छेद्यत्वात् स एव तेषु मुख्यत्वेन सम्मत इत्युपसंहरन्नज्ञलोकप्रवृत्तिप्रकारमाह अपश्यतामित्यादिना। दृशिरत्र ज्ञानार्थः। आत्मनः परमात्मनः तत्त्वमनारोपितं रूपं ज्ञानादिलक्षणं आत्मनां लक्ष्मीब्रह्मादि चेतनानां कदाप्यनभिभूत-तरतमभावेनावस्थितिं च अपश्यतामजानताम् 'निद्रया' इत्यत्राप्यनुसन्धेयम्। गृहमेधिनां, गृहमेधा गृहाश्रम एव कर्तुं योग्याः पञ्च महायज्ञाः। स्मृतिविहितप्रत्यवायपरिजिहीर्षया तान् कर्तुं शीलमेषामस्तीति गृहमेधिनः। तेषां गृहेषु गृहाश्रमेष्वेव वर्तमानानां पुंसाम्।।२।।

निद्रया व्यवायेन च स्त्रीभोगेन च नक्तं रात्रिर्नवं वयो ह्रियते। दिवा चाहश्च अर्थेहया श्रीनारायणा-राधनानुपयोगिहिरण्याद्यापादनायासेन "अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत्" इति वचनात् कुटुम्बभरणेन वा ह्रियत इत्यन्वयः ।।३।।

आत्मतत्त्वाज्ञाने कारणमाह **देहेत्यादिना**। अपिर्गर्हार्थः। आत्मनः स्वस्य दीनत्वं क्षीणत्वमापाद-यन्तीत्यात्मदैन्यानि तेषु 'दीङ् - क्षय' इति धातोः। यद्वा स्वत एव दीनभावो येषां ते तथा तेषु, अत एव असत्स्वभद्रेषु, तदुक्तम् "सद्भावे साधुभावे च" (भ.गी.17-26) निधनं नाशम्। प्रकर्षेण सक्तः प्रसक्तः। न पश्यति स्वस्येति शेषः। अपिनाऽसच्छब्दस्य मिथ्यार्थाभिधायित्वं गर्हितमिति दर्शयति। 'तेषु प्रमत्तो निधनमिति' पाठोऽनन्वितः।।४।।

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

हे नृप! हे परीक्षित्! पुंसां श्रोतव्यादिषु मध्ये यः प्रश्नः परः श्रेष्ठः आत्मवित्सम्मतः आत्मविदां सम्मतश्च वर्तते वरीयान् स एषः प्रश्नः लोकहितं उद्दिश्य ते त्वया कृतः।।१।।

हे राजेन्द्र! आत्मतत्वमपश्यतां, गृहेषु सक्तानामिति शेषः। गृहमेधिनां नृणां श्रोतव्यादीनि। आदिपदेन सकामजपादयो गृह्यन्ते। सहस्रशः सन्ति। ये तावत् आत्मतत्त्वं सर्वत्र पश्यन्ति, न ते गृहेषु सज्जन्ते। तथाहि-गृहादेरपि आत्ममयत्वात् तत्र गृहत्वभानविरहात् सर्वात्मदर्शिनो न व्याप्रियन्ते। तथा च तेषां सर्वात्मदर्शिनां श्रोतव्यादीनि च सहस्रशो नैव भवन्ति। कृत्स्नस्यैव वस्तुनः आत्मस्वरुपत्वात्।।२।।

1.M.Ma.Omits अम्रियमाणानां

हे राजन्! वयः नक्तं रात्रौ निद्रया व्यवायेन वा सुरतेन वा ह्रियते नीयते। किञ्च, तद्वयः दिवा अहनि अर्थेहया धनाद्याशया कुटुम्बभरणेन वा ह्रियते।।३।।

आत्मसैन्येषु देहापत्यकलत्रादिषु असत्स्वपि असत्प्रायेष्वपि प्रमत्तः एतद्विषयेऽनवहितः जनः तेषां देहापत्यादीनां निधनं नाशं पश्यन्नपि न पश्यति, तन्निधनं नानुसन्धत्ते। आत्मपरिकरभूतदेहापत्यादीनां यद्यपि व्यावहारिकसत्ता वर्तते, तथाऽपि पारमार्थिकदृशा तेषामात्मभिन्नत्वादसत्त्वम्। बृंहणशीलस्य देहापत्यादिना परिणतस्य आत्मनो ज्ञानविरह एव प्रमादः। एतादृशप्रमादव्यवहितबुद्धिर्जनः देहापत्यादीनां नश्वरत्वमविज्ञाय तेष्वासक्तः तद्विरहादौ दुःखितो भवतीति भावः।।४।।

**तस्माद्भारत! सर्वात्मा भगवनीश्वरो हरिः।**
**श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम्।।५।।**

**एतावान् साङ्ख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया।**
**जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः।।६।।**

**प्रायेण मुनयो राजन् निवृत्ता विधिषेधतः।**
**नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः।।७।।**

**इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।**
**अधीतवान् द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहम्।।८।।**

**श्रीध०** एवं विपर्ययप्रश्नस्योत्तरमुक्त्वा श्रोतव्यादिप्रश्नस्योत्तरमाह - **तस्मादिति**। हे भारत! भरतवंश्य! सर्वात्मेति प्रेष्ठत्वमाह भगवानिति सौन्दर्यम्, ईश्वर इत्यावश्यकत्वम्, हरिरिति बन्धहारित्वम्। अभयं मोक्षमिच्छता।।५।।

अतः परम् अन्यच्छ्रेयो नास्तीत्याह - **एतावानिति**। एतावानेव जन्मनो लाभः फलम्। तमाह- नारायणस्मृतिरिति साङ्ख्यादिभिः साध्य इति। स्वातन्त्र्येण तेषां लाभत्वं वारयति। साङ्ख्यम् आत्मानात्मविवेकः। योगोऽष्टाङ्गः। स्वधर्मः विहितानुष्ठानं तैः अन्ते तत्स्मृतिः। परो लाभः न तन्महिमा वक्तुं शक्य इत्यर्थः।।६।।

---

1.AF.GF. "स्वेच्छया विभुः 2. H.V. "वम् 3. H.M.Ma.V.W. निषे" 4. A. "श्रोत्त" 5.H.V. श्रेष्ठ" 6. H.V. अभवं अपुनर्भवं 7. A.B. तु स्मृ" 8. B.H.V. शक्यत" 9. H.V. "ति भावः

तत्र[1] सदाचारं प्रमाणयति **प्रायेणेति**। विधिषेधतः[2] विधिनिषेधाभ्यां निवृत्ताः।[3] नैर्गुण्ये ब्रह्मणि स्थिता अपि।[4]स्म प्रसिद्धौ।।७।।

ननु[6] किमिदमपूर्वं कथयसि? सत्यम्। अत्यपूर्वमेवेत्याह[7] - **इदमिति**। इदं भगवत्प्रोक्तं तन्नामैकप्रधानं पुराणं[8] ब्रह्मसम्मितम्, सर्ववेदतुल्यम्। यद्वा ब्रह्म[9] सम्यक् मितं येन कुतस्त्वया प्राप्तमत आह अधीतवानिति। द्वैपायनात्[10] पितुः। कदा? द्वापरादौ। द्वापर आदिर्यस्य कालस्य तस्मिन् द्वापरान्तइत्यर्थः। शन्तनु समकाले व्यासावतार[11] प्रसिद्धेः।।८।।

**वीर०** विपर्ययप्रश्नस्योत्तरमुक्त्वा श्रोतव्यादिप्रश्नस्योतरमाह - **तस्मादिति**। हे भारत! भरतवंश्य! सर्वात्मा सर्वजीवानामन्तर्यामी "अन्तःप्रविष्टश्शास्ता जनानाम्" (तैत्ति.आ. 3-11) इति श्रुतिप्रत्यभिज्ञानात्। जनशब्दस्य[12] चेतनमात्रे[13] स्वारस्यात्। हरिः आश्रितदुरितहर्ता। अनेनोपासकानां स्वप्राप्तिविरोधिदुरितनिवर्तकत्वमुक्तं भवति। भगवानित्यनेन देवताविशेष उक्तः, "भगवानिति शब्दोऽयं" इति[14] स्मरणात् ईश्वरः कार्यकारणावस्थचेतनाचेतननियन्ता। अनेन कारणत्वमभिप्रेतम् "कारणं तु ध्येयः" (अथ शिखा.उ.3) इति श्रुतेः। ईदृशो हरिः। अभयं मोक्षं इच्छता कामयमानेन श्रोतव्य इत्यादि श्रवणादिविषयीकर्तव्यः।[15] स्वरूपरूपगुणविभूतिविशिष्टपरमात्मविषयकश्रवणादिकमेव मुमुक्षुणा कार्यं नान्यविषयकमित्यर्थः। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" (बृह.उ. 4-5-6) "तमेवैकमात्मानं जानथ। अन्या वाचो विमुञ्चथ" (मुण्ड.उ.2-2-5) इति श्रुतेः। एवञ्च शारीरकशास्त्रार्थप्रतिज्ञापरा "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्र.सू.1-1-1) इति प्रथमसूत्रार्थोऽनुसंहितो भवति।।५।।

एतस्मादन्यत् कर्तव्यं नास्तीत्याह **एतावानिति**। साङ्ख्यं ज्ञानयोगः। योगः फलाभिसन्धिरहित कर्मयोगः "ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्"(भ.गी.3-3) इति भगवद्वचनात्। स्वधर्मो भगवच्छेषतैकवृत्तिः। तदुपासनमिति यावत्। तस्य परिनिष्ठया अविघ्नेन परिसमाप्या च। अन्ते देहावसाने नारायणस्मृतिः, साध्येति यत् एतावान् पर उत्कृष्टः जन्मलाभः फलम्। ज्ञानकर्मयेगानुगृहीत भगवदुपासनासाध्या[16] नारायणस्मृतिरन्तकाले सम्पाद्येत्यर्थः।।६।।

अत्र सदाचारं प्रमाणयति - **प्रायेणेति**। विधिनिषेधतः विधिनिषेधात्मकवेदबोधितात् काम्यात् कर्मणो निवृत्ताः। न त्वावश्यकात् पञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानरूपात्।[17] कलञ्जभक्षणादिनिषेधात् वा निवृत्ताः।

---

1. H.V. अ° 2. H.V. °धिनिषे° 3. H.V. add अत्र वर्णाधिक्यम् आर्षम्। 4. B. adds (हरेर्गुणानुकथने कीर्तने रमन्ते) 5. A.B. °द्धम् 6. B. Omits ननु 7. H.V. उदितपू° 8. H.V. add सत्यं 9. H.V. °मं तत्र 10. B. Omits द्वै.....सिद्धेः; H.V. Omit द्वैपायनात्पितुः। 11. H.V. °रात् 12. W. adds अ° 13. W. adds अ° 14. W. इत्यादि 15. A.B.Omit श्रवणादि° 16. W. °न° 17. W. adds निषिद्ध°

"सर्वापेक्षा च यज्ञादि श्रुतेरश्ववत्" (ब्र.सू.3-4-26) "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति" (बृह.उ.4-4-22) "क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः"(मुण्ड.उ.3-1-4) "नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः"(कठ.उ.2-24) इति विधिनिषेधानुवर्तनाभावे तदुपासनानिवृत्त्यभावप्रतिपादनात्। न च "तस्मात् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः" (बृह.उ.3-5-5-9) इति बालस्य यत्कर्मकामचारादिकं तद्विदुषः उपादेयतया श्रुतमिति वक्तुं शक्यम्। "अनाविः कुर्वन्नन्वयात्"(ब्र.सू.3-4-50) इत्यधिकरणे बालस्य यत् स्वमाहात्म्यानाविष्काररूपं कर्म तदेव विदुषः उपादेयं न तु कामचारादिकमिति सिद्धान्तितत्वात्। ब्राह्मणो विद्यावान् पाण्डित्यं निर्विद्य उपास्यं ब्रह्मतत्त्वं परिशुद्धं परिपूर्णं च विदित्वा, वेदनं प्रतिलभ्य यत् स्वभावानाविष्काररूपं कर्म तदुपाददानो वर्तेतेति तस्यार्थः। मुनयः शुभाश्रयसंशीलनपराः। नत्विदं श्रवणानन्तरभावि मननं विद्यापाण्डित्यबाल्यप्राप्त्यनन्तरभाविनो मननान्तरस्यायुक्तदशास्वपि, शुभाश्रयसंशीलनरूपस्वाङ्गान्तरस्यापि विहितत्वान्नैर्गुण्यस्थाः रजस्तमस्तत्सङ्कीर्णसत्वरहिते ब्रह्मणिस्थाः तदुपासका इत्यर्थः। हरेराश्रितदुरित-हारिणो गुणानुकथने गुणानुवादे रमन्ते स्म।।७।।

न केवलं पूर्व एव रमन्तेऽहमपि तत्रैव रम इत्याह - **इदमिति** द्वयेन। भगवत्प्रोक्तं भागवतं चतुश्श्लोक्या मूलभूतायास्तत्प्रोक्तत्वात्। यद्वा भगवत्स्वरूपरूपादिप्रतिपादकत्वेन भागवतम्। ब्रह्म वेदस्तेन संमितं तुल्यम्। यद्वा ब्रह्म सम्यक् मितं प्रमितं येन तदिदं पुराणं कर्म। पितुर्द्वैपायनात् व्यासात् द्वापरादौ द्वापर आदिर्यस्य सः द्वापरादिः कलियुगादिः। तस्मिन् शन्तनुचक्रवर्तिसमकालत्वप्रसिद्धेः व्यासावतारस्य। अहमधीतवान्।।८।।

**विज०** यतः श्रीनारायणश्रवणादिना विना न संसारनिवृत्तिः तस्मात् सर्वात्मा सर्वव्यापी सर्व मभीष्टमाददानो वा। भगवान्निरतिशयैश्वर्यादिगुणवान् ब्रह्मादि चेतनराशिपूज्यो वा, हरिः स्मरणमात्रेणा-शेषसंसारक्लेशसंहर्ता। सर्व जगदीश्वरो नित्यभयरूपादस्मात् संसारात् अभयं मोक्षमिच्छता पुरुषेण श्रवणादिविषयः कर्तव्य इत्यन्वयः। श्रवणादित्रयेणाज्ञानसंशयादिनिरासं करोति "श्रुत्वा मत्वा तथा-ध्यात्वा तदज्ञानविपर्ययौ। संशयं च पराणुद्य लभते ब्रह्मदर्शनम्" इति वचनात्। श्रवणेनाज्ञानम्। कीर्तनापरपर्यायमननेन संशयविपर्ययौ निरस्य स्मरणलक्षणध्यानेन ब्रह्मापरोक्षज्ञानं लभत इति। श्रोतव्योऽन्यो जप्तव्योऽन्य इति शङ्कानिरासार्थं श्रवणादीनां चतुर्णामेकविषयत्वं द्योतयितुं सर्वात्मेत्यादि विशेषणचतुष्टयमुपात्तम्। अहङ्काररूपेण सर्वव्यापित्वेन सर्वात्मा रुद्रः किं न स्यादित्यत उक्तं हरिर्भगवानिति। तथाऽपि सूर्याद्यन्यतमः किं न स्यादत उक्तमीश्वर इति। ईशात् रुद्रात् वर इति योगेन तस्य रुद्रप्रसिद्धिरपि निरस्तेति ज्ञातव्यम्।।५।।

---

1. W.Omits तद् 2. W. षां 3. W. °स्यां 4. W. °स्सङ्गौ 5. A.B. Omit °ना

एतदेव सर्ववेदेतिहासपुराणेषु तात्पर्येण प्रतिपादितमिति दर्शयति **एतावानिति**। अन्ते मरणकाले नारायणस्मरणं यथा स्यात् तथा बहुशास्त्राभ्यासः कर्तव्य इति भावेनेत्यतो वा आह एतावानिति। साङ्ख्यशास्त्रोक्तसांख्येन तत्त्वज्ञानेन योगशास्त्रोक्तभगवत्पूजादियोगानुष्ठानेन तथा स्वधर्मपरिनिष्ठया स्वविहितवर्णाश्रमोक्तस्वधर्मानुष्ठानेन चान्ते मरणकाले नारायणस्मृतिरिति यावानेतावान् इयानेव पुंसां पर उत्कृष्टो जन्मलाभो जन्मनः साफल्यमित्यन्वयः। अतो वेदादिशास्त्रेषु म्रियमाणेन सर्वथा नारायणस्मरणं कर्तव्यं नान्यदिति प्रतिपाद्यत इति। अतः प्रष्टुः परिहारः सुप्रसिद्ध इति सिद्धम्।।६।।

सर्वथा नारायणश्रवणादि कार्यमित्यत्र कैमुत्यन्यायमाह **प्रायेणेति**। मुनयः स्वस्वयोग्यज्ञानवन्तो विधिनिषेधाभ्यां निवृत्ताः। निर्गुणो भगवान्। तेन दीयमानत्वात् तत्सम्बन्धिनिर्वाणं नैर्गुण्यं तत्स्था मुक्ता हरेर्गुणानुकथने रमन्त इत्यन्वयः। गुणान् स्मारं स्मारं कथयन्त इत्यस्मिन्नर्थे स्मेति पदम्। कदाचिद्धया-नाभिप्रायेणोक्तं प्रायेणेति। अतो ज्ञानार्थिभिर्निरन्तरं हरिगुणश्रवणादि कार्यमिति किं वाच्यमित्यर्थः।।७।।

इदानीं भागवतप्रतिपाद्यमर्थं तस्माद्भारतेत्यादि श्लोकत्रयेणाभिधाय पुनस्तद्विस्तरेण[1] वक्तुमुपक्रमते-**इदमिति**। बुद्धिसन्निहितत्वादिदमित्युच्यते ब्रह्मसम्मितं वेदसमम्। तदर्थव्याख्यानरूपत्वात् द्वापरादौ कृष्णावतारापेक्षया द्वापर आदौ च। न तु द्वापरस्य आदाविति "व्यासः षट्शतवर्षीयो धृतराष्ट्रमजीजनत्" (स्कान्दे) इति वचनात् द्वापरान्ते भारतकथाप्रवृत्तिकथनाच्च।।८।।

**रा.कृ०** तस्मात् हे भारत! अभयमिच्छता जनेन सर्वात्मा भगवान् ईश्वरो हरिः श्रोतव्यः कीर्तितव्यः स्मर्तव्यश्च, भवतीति शेषः।

सर्वत्र आत्मत्वेन वर्तमानः सर्वात्मा भवति। बन्धुमित्रादीनां सन्दर्शनाद्यवसरे तद्गतबान्धव्याद्य-नुबन्धमविगणय्य तदन्तर्यामिणं भगवन्तं भावयेत्। तेन सर्वान्तर्यामिसम्भावना संसिध्यति। ईशश्च प्रतिशरीरं वर्तमानः "अहं प्रज्ञामयः तच्छरीरेश्वरः। सोऽयं सर्वत्र प्रत्यणुपरिगतो व्यष्टिसमष्टिमयसर्वजीवानां नानानामरूपवतामीश्वरो भवति। एतद्भावनया जीवे देवस्य देवे च सर्वजीवानां स्फूर्तिः साधकस्य हृदि सञ्जायते। सा भावना चेश्वराधीनत्वात् ईश्वरलीलैव। तथा च नानानामरूपादिभेदवति सर्वस्मिन्नेव जगति निरन्तरमन्तर्यामिणः ईश्वरस्यानुसन्धानेन स भगवान् हरिः सर्वबन्धहरो भवति।

एवमेव पितृपुत्रस्वामिसेवकभार्याभर्त्रादीनां सेवने तदन्तर्यामिसेवनमनुसन्दधानः तत्सङ्गजन्य-दोषानविगणय्य, तद्गुणाकलनानुव्रतः, स्वकर्तव्यमाचरन्, साधकः सर्वबन्धविमुक्तो भवति। सैषा सर्वा-न्तर्यामिसम्भावनानुसन्धानसारणिः भागवते समुपदिष्टा। अत एव "वरीयानेष ते प्रश्नः" (भाग.2-1-1) इति शुकः परीक्षितः प्रश्नं प्रस्तुतवान्।।५।।

---

1.M.Ma. "रणेन

साङ्ख्ययोगाभ्यां. स्वधर्मपरिनिष्ठया च अन्ते नारायणस्मृतिः भवतीत्येतावानेव पुंसां परो जन्मलाभः।।६।।

हे राजन्! नैर्गुण्यस्थाः त्रिगुणातीते ब्रह्मणि स्थिताः। अत एव विधिषेधतः विधिनिषेधात्मकाद्वेदात् निवृत्ताः तदुक्तपापपुण्यसम्बन्धरहिता अपीति भावः। मुनयः प्रायेण हरेः गुणानुकथने गुणानामनुवर्णने रमन्ते स्म।

निर्गुणब्रह्मनिष्ठाः विधिनिषेधनिवृत्ता अपि मुनयो हरिगुणानुकथने रमन्त इत्यत्र किञ्चिदुच्यते - मनःप्रवृत्तेः त्रिगुणाश्रयत्वात् नैर्गुण्यस्थितिविधिनिषेधनिवृत्त्योरपि गुणान्तर्भावात् प्रायेण मुनीनामपि निर्गुणपरब्रह्मनिष्ठा निश्चला न भवति। अतो दृश्यमानप्रपञ्चगुणेषु सर्वान्तर्यामिभगवद्गुणाः समाकलनीयाः। तथा च गुणविशेषाभिमानस्य निरवकाशत्वात् सर्वत्र समदर्शनसिद्धिः, यथा हि निर्गुणपरब्रह्मनिष्ठा सुलभा भवति। तस्मात् मुक्तसङ्गानामपि मुनीनां हरिगुणानुसन्धानमवश्यमाचरणीयमिति पर्यवस्यति। अयमेवांशो "परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये" (भाग.2-1-9) इत्याद्यव्यवहितोत्तरश्लोके विशदीकृतः। साङ्ख्ययोगादीनामपि भगवद्गुणानुसन्धानप्रवर्तकत्वेनैव सार्थक्यमिति "एतावान् साङ्ख्ययोगाभ्याम्" (भाग.2-1-6) इत्याद्यव्यवहितपूर्वश्लोकेन सूचितम्।।७।।

अहं पितुः द्वैपायनात् द्वापरादौ ब्रह्मसम्मितं भागवतं नाम इदं पुराणमधीतवान्।।८।।

**परिनिष्ठो[1]ऽपि नैर्गुण्ये[2] ह्युत्तमश्लोकलीलया।**
**गृहीतचेता[3] राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्।।९।।**

**तदहं तेऽभिधास्यामि महापौरुषिको[4] भवान्।**
**यस्य[5] श्रद्दधतामाशु स्यान्मुकुन्दे मतिः सती।।१०।।**

**एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम्।**
**योगिनां नृप! निर्णीतं[6] हरेर्नामानुकीर्तनम्।।११।।**

**किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह।**
**वरं[7] मुहूर्तं विदितं घटेत[8] श्रेयसे यतः।।१२।।**

---

1. A.B.C.G.I.M.Ma.N.W. °ष्ठितो 2. A.B.C.G.I.M.Ma.N.W. °ण्य उ° 3. M.Ma. °तो 4. M.Ma. °पु°; W.°पू° 5. H.M.Ma.V.W. °यत्र 6. AF.GF. °त्ते। मौ° 7. M.Ma. एकं 8. H.M.Ma.V. घटते; AF.GF. यतते

**श्रीध०** नंनु[1] सिद्धस्य तव[2] कुतोऽध्ययने प्रवृत्तिस्तत्राऽऽह **परिनिष्ठितोऽपीति**[3]। गृहीतचेता आकृष्टचित्तः।।९।।

**तदिति**। महापुरुषो विष्णुः तदीयः महापौरुषिकः[4]। यस्य[5] यस्मिन् श्रद्दधतां[6] श्रद्धां कुर्वतां सती अहैतुकी।।१०।।

साधकानां सिद्धानां च न अतःपरं अन्यच्छ्रेयोऽस्तीत्याह **एतदिति**। इच्छतां[7] कामिनां तत्तत्फलसाधनमेतदेव[8]। निर्विद्यमानानां मुमुक्षूणां मोक्षसाधनमेतदेव। योगिनां ज्ञानिनां अकुतोभयं[9] कुतश्चिदपि भयरहितं फलं चैतदेव निर्णीतम्। नात्र प्रमाणं प्रवक्तव्यमित्यर्थः[10]।।११।।

अल्पमेव आयुरवशिष्टं किमहं साधयेयमिति मा शुच इत्याह - **किमिति** त्रिभिः। परोक्षैः अलक्षितैः हायनैः वर्षैः[11]। किं विदितम्?वृथा यातीति विदितं[12] ज्ञातम्। यतो येन ज्ञानेन घटेत[13] यत्नं कुर्यात्[14] ।।१२।।

**वीर०** ननु सिद्धस्य तव कुतोऽध्ययने प्रवृत्तिस्तत्राऽऽह- **परिनिष्ठित** इति। नैर्गुण्ये परिनिष्ठितः काष्ठां गतः अपि[15] शास्त्रनैरपेक्ष्येण भगवदनुसन्धानप्रकारे स्थित इत्यर्थः। ईदृशोऽप्यहमुत्तमश्लोकलीलया भगवल्लीलया गृहीतचेताः आकृष्टचित्तः[16]। राजर्षे! यदाख्यानं पुराणमधीतवानस्मि। तदभिधास्यामीत्युत्तरश्लोकेनान्वयः।।९।।

आरूढानां मादृशामपि अस्य पुराणस्य उपादेयत्वात् कैमुत्यन्यायेन[17] आरुरुक्षोः तव सुतरां इदमुपादेयमिति तुभ्यमुपदिशामीत्याह- **तदहमिति**[18]। तत्पुराणं ते तुभ्यमभिधास्यामि कथयिष्यामि चिरमशुश्रूषवे मह्यं कथमभिधास्यसि इत्यत आह- महापौरुषिक[19] इति। महापुरुषो[20] भगवान् "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्" (पु.सू.1-7) इति श्रुतेः। स उपास्यत्वेन अस्यास्तीति महापौरुषिको[21] महापुरुषभक्तो भवान्। न हि भगवद्भक्तानां रहस्यार्थोपदेशने चिरं शुश्रूषापेक्षेति भावः। यत्र पुराणे श्रद्दधतां श्रद्धां कुर्वतां मुकुन्दे मोक्षप्रदे भगवति सती अहैतुकी मतिर्भक्तिः स्यात् भवेत्[22]।।१०।।

मुमुक्षूणां नातः परं अन्यत् मोक्षसाधनं इत्याह- **एतदिति**। तापत्रयादिहेतुकनिर्वेदं[23] प्राप्तानामकुतोभयं मोक्षमिच्छतां योगिनामनभिसंहितफलकर्म योगनिष्ठानां हे नृप! हरेर्नामानुकीर्तनं स्वरूपादिचिन्तनादेरप्युपलक्षणमिदं तन्नामानुकीर्तनं तत्स्वरूपादिचिन्तनं च इत्येतदेव मुक्तिसाधनं नान्यदित्यर्थः[24]।।११।।

---

1. A.B.Omit ननु 2. H.V.Omit तव 3. H.V. °ष्ठोऽपि 4. A.B.Omit महापौरुषिकः 5. H.V. यत्र 6. A.B. Omit श्रद्दधतां 7. H.V. सकामानां 8. H.V. Omit तत् 9. A.B. Omit अकुतोभयं कृतश्चदपि भयरहितं 10. B.H.V. Omit प्र° 11. A.B. Omit किं 12. A.B. Omit विदितं 13. H.V. घटते 14. H.V. करोति। 15. A.B. Omit अपि 16. W. °चेताः 17. W. °न्न 18. A.B. Omit तदहमिति 19. W. °पू° 20. W. °पू° 21. W. °पू° 22. W.Omits भवेत् 23. W. °भिहति° 24. W. °ति भावः

अल्पमेव आयुरवशिष्टं किमहं साधयेयमिति मा शुच इत्याह- **किमिति**। प्रमत्तस्य देहापत्य-कलत्रादिष्वासक्तस्य परोक्षैः अज्ञाततयैव गतैः बहुभिः हायनैः संवत्सरैः[1] किम्? किं प्रयोजनाम्? न किमपीत्यर्थः। विदितं वृथा यातीति ज्ञातं मूहर्तमेव वरम्, यतः येन विदितेन मुहूर्तेन श्रेयसे घटेत[2] यत्नं कुर्यात्।।१२।।

**विज०** नन्वस्तु भवतो भागवताध्ययनं तत्किमर्थमिति तत्राऽऽह- **परिनिष्ठित** इति। यत्र यच्छ्रद्दधतां यत्र यस्मिन् भागवते प्रतिपादितमर्थं श्रद्दधतामिति वा अहं भागवतं नाम यदाख्यानमधीतवान्। तत्ते तुभ्यमभिधास्यामीत्यन्वयः। अभिधाने निमित्तमाह- महापुरुषिक इति। पूर्णषड्गुणत्वात् पुरुषो भगवान् तद्भक्ताः पुरुषिकाः तेषां मध्ये महानिति यत्तस्मादित्यर्थः। स्थितप्रज्ञतया कृतकृत्यस्य भवतो भागवताध्ययनं किमर्थमिति तत्राऽऽह- परिनिष्ठित इति। नैर्गुण्ये मुक्तौ परिनिष्ठितः मुक्तिरस्य भवतीति निश्चयवानपि "उदरं संशयः प्रोक्तः परिनिष्ठा विनिश्चयः" इत्यभिधानात्। कथमनेनास्य परिहार आयात इति तत्राऽऽह उत्तमश्लोकेति। अनेन एवंविधमाहात्म्यात् अतिशयो भगवान् इत्युक्तं भवति ।।९,१०।।

न केवलं तवैव एतन्निर्णीतं, अपि तु सर्वयोगिनामपीत्याह- **एतदिति**। निर्विद्यमानानां विरज्यमानानां, क्लेशैरिति शेषः। अकुतोभयं मोक्षः। एवं वैराग्यादिसाधनसामग्रीमतां योगिनां हरेर्नामानुकीर्तनं यदेतत् तदन्ते हरिस्मरणकारणमित्यर्थः।।११।।

अनेन भागवताकर्णनमभिप्रेतं तदत्यान्ताल्पायुष्ट्वेन न घटत इति शङ्का मा भूदित्याह- **किमिति**। हायनैर्वत्सरैः परोक्षैः आगामिभिः यतो येन मुहूर्तेन हरिस्मरणाख्यश्रेयसे घटेत[3] तदेकं मुहूर्तं घटिकाद्वयमपि परम् उत्तमं विदितं प्रख्यातम्।।१२।।

**रा०कृ०** हे राजर्षे! नैर्गुण्ये निर्गुणपरब्रह्मणि परिनिष्ठितोऽपि निश्चितान्तःकरणोऽपि उत्तमश्लोकलीलया उत्तमकीर्तेः भगवतो लीलया गृहीतचेताः यदिदं भागवतमधीतवान्।।९।।

यत्र भागवते श्रद्दधतां श्रद्धां कुर्वतां मुकुन्दे सती मतिः आशु स्यात् तत् भागवतं यतो भवान् महापौरुषिकः महापुरुषे भगवति भक्तोऽसि ततस्तेऽभिधास्यामि कथयिष्यामि।।१०।।

हे नृप! निर्विद्यमानानां तापत्रयहेतुकं निर्वेदं प्राप्तानाम्। अत एव अकुतोभयं मोक्षं इच्छतां योगिनाम् एतद्धरेः नामानुकीर्तनं निर्णीतं मोक्षसाधनत्वेन विज्ञैः निश्चितम्।।११।।

---

1. A.B. Omit संवत्सरैः 2. M.Ma. घटते

प्रमत्तस्य कलत्रपुत्रदिष्वासक्तया कर्तव्यानुसन्धानशून्यस्य परोक्षैः अज्ञाततया गतैः बहुभिः हायनैः संवत्सरैः इह नरजन्मनि किं सिद्ध्यति? विदितं बहवो वत्सराः वृथा गता इति ज्ञातं मुहूर्तमपि वरम् श्रेष्ठमेव यतो येन विदितेन मुहूर्तेन श्रेयसे मोक्षाय घटेत जनो यत्नं कुर्यात्।।१२।।

**खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्ज्ञात्वेयत्तामिहायुषः।**
**मुहूर्तात्सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम्।।१३।।**

**तवाप्येतर्हि कौरव्य! सप्ताहं जीवितावधिः।**
**उपकल्पय तत्सर्वं तावद्यत्साम्परायिकम्।।१४।।**

**अन्तकाले तु पुरुष आगते गतसाध्वसः।**
**छिन्द्यादसङ्गशस्त्रेण स्पृहां देहेऽनु ये च तम्।।१५।।**

**गृहात् प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः।**
**शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत्कल्पितासने।।१६।।**

**अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम्।**
**मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन्।।१७।।**

**श्रीध० खट्वाङ्ग** इति। खट्वाङ्गो हि देवपक्षे स्थित्वा दैत्यानजयत्। ततः प्रसन्नैर्देवैः 'वरं वृणीष्व' इत्युक्तोऽतः तेनोक्तं प्रथमं तावन्ममायुः कथ्यतामिति। ततो देवैरुक्तं तत्तु मुहूर्तमात्रमस्तीति। ततोऽतिशीघ्रं विमानेन भुवमागत्य हरिं शरणं गत इति। यत इयं स्वर्गभूमी रजोधिका कर्मभूमिः पृथ्वी।।१३।।

**तवेति।** तव तु एतर्ह्यपि इदानीमपि। तावदिति तावता कालेन साम्परायिकं पारलौकिकं साधनं उपकल्पय सम्पादय।।१४।।

तत्र वैराग्यं तावदाह - **अन्त काल** इति। गतसाध्वसो मृत्युभयशून्यः असङ्गो नाम अनासक्तिः तेन शस्त्रेण स्पृहां सुखेच्छां तं देहमनु ये पुत्रकलत्रादयः तेष्वपि स्पृहां छिन्द्यात्।।१५।।

---

1. M.Ma. "ङ्ग" 2. H.V. "व त्वे 3. AF.GF. "लेऽपि 4. AF.GF. "हानायायिनीम्। 5. AF.GF. "परि" 6. H.M.Ma.V. "नु" 7. H.V. "ऽपि 8. H.V. तैः 9. H. "के तैं" 10. H.V.Omit तावत् 11. H.V.Omit तत्तु 12. B. adds देवैर्दत्तेन 13. H.V. Omit यतः.....पृथ्वी। 14. A.B. Omit उपकल्पय 15. H.V. Omit नाम

**गृहादिति**। [1]किञ्च गहात् प्रव्रजितो[2] निर्गतः गृहे स्थितस्य पुनर्[4]प्यासक्तिसम्भवात् तत्र अष्टाङ्ग-योगमाह। धीर इति ब्रह्मचर्यादियमोपलक्षणम्। पुण्यतीर्थेति स्नानादिनियमोपलक्षणम्। आसनमाह शुचाविति। विविक्ते एकान्ते विधिवत् कुशाजिनचेलैः क्रमेण निर्मिते।।१६।।

जपगर्भं प्राणायामं वक्तुं जप्यमाह - **अभ्यसेदिति**। त्रिवृत् त्रिभिरकारादिभिर्वर्तितं ग्रथितं ब्रह्माक्षरं प्रणवं मनसा अभ्यसेदावर्तयेत्। मनसा इन्द्रियप्रत्याहारं वक्तुं प्राणायामेन मनोनियमः माह। मनो यच्छेत् [5]वशीकुर्यात्। ब्रह्मबीजं प्रणवमा[6]विस्मरन्नेव जितश्वासस्सन्।।१७।।

**वीर०** विदितस्य मुहूर्तस्य श्रेयोघटकत्वे इतिहासमाह- **खट्वाङ्ग** इति। खट्वाङ्गो हि देवपक्षे स्थित्वा दैत्यानजयत्। ततः प्रसन्नैर्देवैः वरं वृणीष्वेत्युक्ते तेनोक्तं प्रथमं ममायुः कथ्यतामिति। ततो देवैरुक्तं मुहूर्तमात्रमस्तीति। ततः[7]शीघ्रं विमानेन भुवमागत्य हरिं शरणं गत [8]इति नवमस्कन्धे प्रसिद्धम्। खट्वाङ्गो नाम राजर्षिरायुष इयत्तां एतावत्तां ज्ञात्वा इहास्मिन् लोके सर्वं देहादिषु आत्मात्मीयत्वाद्यभि-मानमुत्सृज्य हित्वाऽभयं भयप्रतिभटं हरिं गतवान् प्राप्तः।।१३।।

कैमुत्यन्यायेन आह - **तवेति** । अपिस्त्वर्थः तव तु इत्यर्थः। हे कौरव्य! तव तु एतर्हि इदानीमपि जीविताविधिः जीवितस्यावधिः परिमाणं सप्ताहं सप्तदिनपर्यन्तं तावत् तावता सप्ताहेन कालेन साम्परायिकं परलोकहितं एतत्सर्वं उपकल्पय सम्पादय।।१४।।

तावद्वैराग्यमाह - **अन्तकाल** इति। अन्तकाले देहावसानकाले आगते प्राप्ते सति पुरुषः गतसाध्वसः निवृत्तभयः असङ्गोऽनासक्तिः। [9]स एव शस्त्रं तेन देहे तं देहमनु अनुसृत्य ये वर्तमाना अपत्यकलत्रादयो देहानुबन्धिनः तेषु च स्पृहाम् आत्मात्मीयत्वाभिमानप्रयुक्तभोगेच्छां छिन्द्यात्।।१५।।

किञ्च गृहात् प्रव्रजितः निर्गतः 'धीर' इत्यादिना "आश्रयं भद्रमीक्षतः"(भाग.2-1-21) इत्यन्तेन अष्टाङ्गयोगसंक्षेपोक्तिः। धीरः जितेन्द्रियः अनेन ब्रह्मचर्यादिलक्षणो यम उक्तः।[10]पुण्यतीर्थजलेषु [11]आप्लुतः स्नात [12]इत्यनेन [13]स्नानदानादिनियमः उक्तः। शुचौ परिशुद्धे विविक्ते एकान्ते। विधिवच्च[14]लाजिनकुशोत्तर इति व्युत्क्रमेण कल्पिते आसने विधिवदासीनः ऋजुकायत्वस्वस्तिकासनत्वादीननतिक्रम्य उपविष्टः अनेन आसनरूपाङ्गमुक्तम्।।१६।।

---

1. H.V. Omit किञ्च 2. H.V. add गृहादिकं विहाय 3. B. °निष्क्रान्तः 4. H.V. °रास° 5. B.H.V. Omit वशीकुर्यात्। 6. H.V. °नु° 7. W. adds अति° 8. W. Omits इति.....सिद्धम्। 9. W. तत् 10. W. adds पुण्यतीर्थजलाप्लुतः 11. W. Omits आप्लुतः 12. W. Omits इति 13. W. स्नानादि 14. W. °च्च°

प्राणायामस्य जपगर्भत्वात्तावज्जप्यमन्त्रमाह- **अभ्यसेदिति**। त्रिवृत् त्रयाणाम्, अकारोकारमकाराणां वृत् वर्तनं यस्मिन्नक्षरत्रयग्रथितमित्यर्थः। ब्रह्माक्षरं ब्रह्मप्रतिपादकमक्षरं प्रणवं मनसा अभ्यसेदावर्तयेत्। जितश्वासो जितप्राणो ब्रह्मबीजं प्रणवमविस्मरन् स्मरन्नेव मनो यच्छेत् नियच्छेत्[3]। इदञ्च प्राणायामरूपमङ्गं उक्तम्[4]।।१७।।

**विज०** एतमर्थमाख्यानेन द्रढयति- **खट्वाङ्ग** इति। नाम शब्दः प्रख्यात्यर्थे। इह मनुष्यलोके मुहूर्तात् पूर्वमायुष इयत्तां मर्यादां ज्ञात्वा राज्यादिसङ्गमुत्सृज्य हरिमुद्दिश्य इन्द्रियाणि च दत्वा अभयलक्षणं मोक्षं गतवान् इत्यन्वयः। 'त्यागो विहायितं दानमुत्सर्जनविसर्जने' (अम.को.2-428) पुरुषार्थरूपं हरिं गतवानिति वा ।।१३।।

तव तदपेक्षया अनेकायुष्ट्वान्न हत्तापः कार्य इत्यतः तत्सर्वं हरिचरणारविन्दस्मरणविषयत्वेन कल्पयेत्याह- **तवापीति**। एतर्हि इदानीं सप्तानामह्नां समाहारः सप्ताहम् जीवितावधिरायुष्यस्य इतत्ता यत्तावदायुः तत्सर्वमपि साम्पराय उत्तरकालो मुक्तिकालः तत्सम्बन्धि यथा भवति तथा तावन्तं कालं हरिचरणस्मरणगोचरमुपकल्पय, भागवताकर्णने तात्पर्यं कुर्वित्यर्थः। "साम्परायस्तु सङ्ग्राम आपदागामिकालयोः" (वैज.को.8-1-48) इति यादवः। मरणलक्षणापत्काले हरिचरणस्मरणं यथा भवति तथा तावन्तं कालं भागवताकर्णनं कुर्विति वा।।१४।।

मरणकालं ज्ञात्वा हरिस्मरणमिच्छतो वैराग्यं प्रथमसाधनमित्याह - **अन्तकाल** इति। आगते स्वतः परतो वा ज्ञाते सति गतसाध्वसः देहनाशप्रयुक्तभयरहितः पुत्रादिस्नेहलक्षणः सङ्गः तद्विरोधि विवेकज्ञानलक्षणोऽसङ्गः तेन शस्त्रेण तं देहमनु ये स्त्रीपुत्रादयः तेषु च स्पृहां छिन्द्यादित्यन्वयः।।१५।।

अथ किं कर्तव्यम्? अत्राऽऽह- **गृहादिति**। गृहात् प्रव्रजितः सन्यासलक्षणवैराग्यं प्राप्तः धीरः प्रतिबन्धकनिवर्तनसमर्थः पुण्यतीर्थजलाप्लुतो भागवतादिपुण्यशास्त्रजलस्नातः तथा गङ्गादिपुण्यतीर्थजलस्नातो निर्धूतबाह्यान्तर्मलस्सन् शुचौ शुद्धे विविक्ते दुर्जनसङ्गरहिते देशे "नात्युच्छ्रितं नातिनीचम्" (भ.गी.6-11) इति विधिवत्कल्पितासन आसीनो, भवेदिति शेषः।।१६।।

स्थिरासनस्य कृत्यमाह- **अभ्यसेदिति**। रेचकादिक्रमपरम्परया प्राणायामेन जितश्वासः प्राप्त - प्राणप्रसादः मनो यच्छेत् स्ववशं कुर्यात्। एवं जितमनस्कः सन् बीजं सर्वजगद्यञ्जकं शुद्धं परं ब्रह्म

---

1. W. प्यं 2. A.B. "पाद्य" 3. W. adds नियतं कुर्यात् 4.W.Omits उक्तम्। 5- -5. A.B.Omit प.....सः

अनुस्मरन् अकारादीन् त्रीन् वर्णान् विवृणोति त्रिवृदक्षरं ब्रह्मवाचकत्वात् सर्वगतं परम् उत्कृष्टम् ओङ्कारम् मनसा अभ्यसेत् आवर्तयेदित्यन्वयः।।१७।।

**रा०कृ०** खट्वाङ्गो नाम राजर्षिः आयुषः इयत्तां ज्ञात्वा मुहूर्तात् इह भुवि सर्वमुत्सृज्य अभयं भयनिवर्तकं हरिं गतवान्। शरण्यत्वेन प्राप्तवान्।।१३।।

हे कौरव्य! तव एतर्ह्यपि अधुनापि सप्ताहं सप्तदिनपर्यन्तं, जीवितावधिरस्तीति शेषः। तावत् तावता सप्तदिनपरिमितेन कालेन साम्परायिकं परलोकहितं जननमरणातीतस्थितिदायकमिति यावत् यद्वर्तते तत्सर्वमुपकल्पय कुरु।।१४।।

अन्तकाले तु आगते सति पुरुषः गतसाध्वसः वीतभयः असङ्गशस्त्रेण अनासक्तिनाम्ना शस्त्रेण देहे तं देहम् अनु अनुसृत्य ये च कलत्रपुत्रादयो वर्तन्ते तेषु च स्पृहां छिन्द्यात्।

शरीरत्यागसमये मनोविभ्रमः परिहरणीयः। विभ्रान्तं हि मनः आत्मविस्मरणाख्यं मरणमाप्नोति। देहादिषु स्पृहाच्छेदश्च तदन्तर्यामीश्वरभावनया भवति।।१५।।

गृहात् प्रव्रजितः निर्गतः पुरुषः धीरः वशीकृतमानसः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः पावनतीर्थजलास्नातः शुचौ विविक्ते निर्जनस्थले विधिवत् कल्पितासने सम्पादिते आसने असीनः शुद्धं परं सर्वमन्त्रश्रेष्ठं त्रिवृत् अकारोकरमकारात्मकं ब्रह्माक्षरं ब्रह्मप्रतिपादकं प्रणवं मनसा अभ्यसेत् जपेत्। ततो जितश्वासः सन् ब्रह्मबीजं प्रणवं अविस्मरन् मनो यच्छेत् वशीकुर्यात्। साधकः गृहान्निर्गत्य तीर्थयात्रां कुर्यात्। तेन पुत्रकलत्रादिसङ्गः च्छिन्नो न वेति ज्ञायेत। पुण्यतीर्थस्नानेन च तस्य देहात्मशुद्धिः भवति। ततश्च सः विविक्तस्थले उपविश्य परितः स्वं मनसा समबाहु त्रिभुजाकारं निर्माय, तदन्तर्वर्तुलस्थितमात्मानं मन्येत। पुनश्च स्वहृदये समबाहु त्रिभुजाकारं प्रकल्प्य तन्मध्ये केन्द्रबिन्दुभूते 'सोऽहं'-भावात्मके प्रणवे श्वासम्, अनुसन्दधीत। तेन वायुजयस्सिद्ध्यति।।१६,१७।।

**नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान्मनसा बुद्धिसारथिः।**
**नमः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद्धिया।।१८।।**

**तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा।**
**मनो निर्विषयं युक्त्वा[1] ततः किञ्चन[2] न स्मरेत्।**
**पदं तत्परमं विष्णोः मनो यत्र प्रसीदति।।१९।।**

---

1.C.H.M.Ma.N.V.W. "ड्क्त्वा 2. M.Ma.W. "ञ्चिन्न संस्म"

**रजस्तमोभ्यामाक्षिप्तं विमूढं मन आत्मनः।**
**यच्छेद्धारणया धीरो हन्ति या तत्कृतं मलम्।।२०।।**

**यस्यां[1] सन्धार्यमाणायां योगिनो भक्तिलक्षणः।**
**आशु सम्पद्यते योग आश्रयं भद्रमीक्षतः।।२१।।**

**राजोवाच**

**यथा सन्धार्यते ब्रह्मन्! धारणा यत्र सम्मता।**
**यादृशी वा हरेदाशु पुरुषस्य मनोमलम्।।२२।।**

**श्रीध०** प्रत्याहारमाह- **नियच्छेदिति**। नियच्छेत् निगृह्णीयात्[2]। अक्षान् इन्द्रियाणि निश्चयात्मिका बुद्धिः सारथिर्यस्य सः। धारणामाह मन इति। पुनश्च कर्मभिः तद्वासनाभिः आक्षिप्तमाकृष्टं शुभार्थे भगवद्रूपे।।१८।।

ध्यानमाह- **तत्रेति**। एकंमेकं[3] पादाद्यवयवम् अव्युच्छिन्नेन समग्ररूपादवियुक्तेन[4]। आश्रयविशेषे[5] सामान्यतः चित्तस्थिरीकरणं धारणा। अवयवविभावनया तद्दार्ढ्यं ध्यानमिति भेदः। तत्र[6] च मनोवृत्तेः विलयः समाधिरिति विवेकः। समाधिमाह मन इति। निर्विषयं मनो युक्त्वा[7] समाधाय स्थिरीभूते मनसि स्फुरत्परमानन्दमात्राकारं कृत्वेत्यर्थः। प्रसीदति उपशाम्यति।।१९।।

गुणवशात् पुनरपि क्षोभे सति धारणामेव स्थिरीकुर्यादित्याह- **रज** इति। रजसा आक्षिप्तं तमसा विमूढं स्वीयं मनो निरुन्ध्यात्। तत्कृतम् रजस्तमोभ्यां कृतम्।।१०।।

**यत** इति। यतः यस्यां[9] क्रियमाणायां भद्रं सुखात्मकं आश्रयं[10] विषयं पश्यतः तत्रैव प्रीतिर्भवति।।२१।।

**यथेति**। यथा यत्र यादृशीति[11] च इतिकर्तव्यताविषयतत्तद्विशेषाणां[12] प्रश्नाः[13]।।२२।।

**वीर०** इन्द्रियप्रत्याहारमाह- **नियच्छेदिति**। विषयेभ्यः शब्दादिभ्यः। अक्षान् श्रोत्रादीन्द्रियाणि बुद्धिः सारथिर्यस्य स तथा भूतः प्रग्रहभूतेन मनसा नियच्छेत् "बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च"

1. B.C.N. °तः 2. H.V. Omit निगृह्णीयात् 3. V. °ं 4. H.V. °मु 5. H.V.आत्मं 6. A. °षेण 7. A.B. Omit तत्र.....कः 8. A.H.V. °ङ्क्त्वा 9. B. adds (धारणायां) 10. H.V. Omit आश्रयं 11. A. Omits °ति 12. H.V. Omit °त्त 13. H.V. °श्नः

(कठ.उ.1-3-3) इति श्रवणात्। धारणामाह मन इति। पुनश्च कर्मभिः तद्वासनाभिः आक्षिप्तं विक्षिप्तं मनः शुभार्थे शुभाश्रये भगवद्रूपे निश्चयात्मिकया बुद्ध्या धारयेत् स्थिरं कुर्यात्। शुभाश्रये मनसोऽवस्थापनं धारणम्। शुभाश्रयस्य पुनः पुनः चिन्तनं ध्यानम्। तस्य विजातीय प्रत्ययान्तराव्यवहितत्वं समधिरिति भेदः।।१८।।

ध्यानमाह - **तत्रेति**। अव्युच्छिन्नेन समग्रशुभाश्रयावियुक्तेन[1] चेतसा चित्तेन एकावयवं प्रधानाङ्ग सुखाकारं[2] ध्यायेत्। अनेनास्य चिन्तायाः पूर्वभावित्वं सिद्धम्। पूर्णध्यानाशक्तः एकावयवं स्मरेदित्यर्थः। समाधिमाह मन इति। निर्विषयं बाह्यविषयानुभवरहितं मनो युक्त्वा समाधाय किञ्चन बाह्यविषयादिकं[3] न स्मरेदित्यर्थः। आनन्दसंप्लवे लीनत्वात् न किञ्चित् स्मर्तुं द्रष्टुं वा क्षमत इति चार्थः। शुभाश्रयरूपमाह[4] पदमिति। यत्र मनः प्रसीदति यस्मिन् स्वरूपे- चिन्त्यमाने मनो रागाद्यकलुषितं भवति तदेव विष्णोः परमं, परं[5] मा यस्मात् तत्परमं सर्वोत्कृष्टं पदं स्वरूपमित्यर्थः।।१९।।

कदचित् रागादिकालुष्य सम्भावनामाशङ्क्य आह- **रजस्तमोभ्यामिति**। रजसा आक्षिप्तं विक्षिप्तं[6] तमसा विमूढम् आत्मनः स्वस्य मनः धारणया यच्छेत्। धारणामाहात्म्यमाह- या धारणा तत्कृतं राजस्तमोभ्यां कृतं मलं रागादिकं हन्ति निवर्तयति।।२०।।

यस्यां धारणायां सन्धार्यमाणायां पाकं[7] पचतीतिवन्निर्देशः धारणायां क्रियमाणायामित्यर्थः। भक्ति लक्षणो योगः। 'प्रीतिपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्यभिधीयते' इत्युक्तलक्षणरूपो[8] योगः। भद्रं शुभमाश्रयम्। ईक्षतः ध्यातुराशु सम्पद्यते सम्पन्नो भवति एतादृशमाहात्म्यवती धारणा इत्यभिप्रायः।।२१।।

एवं सङ्ग्रहेण अष्टाङ्गयुक्ते योगे उपदिष्टे पुनर्विस्तरबुभुत्सया परीक्षित्[9] पृच्छति - **यथेति**। यत्रेति[10] धारणाविषयप्रश्नः। यादृशीति धारणादशाविशेषप्रश्नः, यथेति यत्नक्रमप्रश्नः, ननु धारणाया एव दशाविशेषादीनां विशेषेण प्रश्नः न तु प्रधानभूतस्य ध्यानस्येति चेन्न। धारणापूर्वकत्वात् ध्यानस्य, धारणानुसारेणैव ध्यानाच्च, तत्प्रश्नेनैव गतार्थत्वात् एवमुत्तरत्रानुसन्धेयम्।।२२।।

**विज०** जाप्यमुक्त्वा ध्यानप्रकारमाह- **नियच्छेदिति**। बुद्धिः सारथिः यस्य स तथा सत्पुरुषो जितेन मनसा अक्षान् इन्द्रियाणि विषयेभ्यो नियच्छेत् प्रत्याहरेत्। प्रत्याहृत्य च संस्कारवशात् बहिर्मुखतया कर्मभिराक्षिप्तं मनः स्वधिया सारथिना शुभार्थे परममङ्गलार्थे हरौ धारयेदित्यन्वयः।।१८।।

---

1. W. "हि" 2. W. "मुं" 3. W. "थानुभवा" 4. W. "यस्वरू" 5. B. "रो 6. W. Omits विक्षिप्तं 7. A.B. Omit पाकं.....शः 8. W. "णो यो" 9. W. Omits परीक्षित् 10. A.B. Omit यत्रेति 11. A.B. "रेष्व"

एवं हरौ नियतचेतसो योगिनो ध्यानाभ्यासप्रकारमाह- **तत्रेति**। तत्र युगपत् सर्वावयवध्यानाशक्तौ विषयैः अव्युच्छिन्नेन अखण्डितेन चेतसा एकावयवम् एकैकावयवं श्रीपादादिलक्षणं ध्यायेत्। एवमनायासेन स्मरणविषयं कुर्यात्। तत्परिपाकमाह मन इति। एवमभ्यासपाटवेन युगपत् सर्वावयवस्मरणसमर्थः सन् ततोऽनन्तरं निर्विषयं विषयेभ्यो निर्गत्य स्थितं मनः तस्मिन् हरौ सर्वावयवव्यापितया युक्त्वा[1], नियुज्य यत्र मनः प्रसीदति निरतिशयं सुखं लभते, तद्विष्णोः परमं समग्ररूपमेव स्मरेत्। ततोऽन्यत् किञ्चिन्न स्मरेदित्यन्वयः।।१९।।

अखण्डध्यानोपायमाह - **रजस्तमोभ्यामिति**। रजसा आक्षिप्तम् इतस्ततः विषयैराकृष्टं तमसा विमूढं कृत्याकृत्यज्ञानशून्यं आत्मनः स्वस्य मनः धारणया तैलधारावदव्युच्छिन्नया स्मृत्या यच्छेत् विषयेभ्यः आवृत्य ध्यानमग्नं कुर्यात्। या धारणा तत्कृतं रजस्तमोभ्यामाक्षिप्तं रागाविद्यादिमलं हन्ति तथेत्यन्वयः।।२०।।

न केवलं मलनाशो धारणायाः फलं किन्तु निरन्तरं भक्तिलक्षणयोगश्चेत्याह - **यस्यामिति**। यस्यां धारणायाम्। सर्वजगदाश्रयं भद्रं भगवन्तमीक्षतः चिन्तयतो योगिनो भक्तिलक्षणो योगः आशु सम्पद्यत इत्यन्वयः। 'भिदि-कल्याण' इति धातोः। कल्याणं मङ्गलं मङ्गलं भगवान् विष्णुरिति वचनम्।।२१।।

परीक्षित् विशेषबुभुत्सया शुकं पृच्छति- **यथेति**। अत्र यथा यत्र यादृशीति यच्छब्दाः प्रश्नार्थाः। यतश्चोदेति सूर्यः। "यच्छब्दस्तु परामर्शे प्रश्नार्थे चापि भण्यते" इत्यभिश्रुत्यभिधानाभ्यां निश्चितत्वात्। तथा च यथा कथं यत्र कुत्र यादृशी कीदृशीति सम्पद्यत इत्यर्थः।।२२।।

**रा०कृ०** अनन्तरं स पुरुषः बुद्धिसारथिः मनसा प्रग्रहभूतेन विषयेभ्यः शब्दादिभ्यः अक्षान् श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि नियच्छेत् निगृह्णीयात्। अपि च कर्मभिः आक्षिप्तम् आकृष्टं मनः शुभार्थे शुभाश्रये भगवद्रूपे धिया निश्चयात्मिकया बुद्ध्या धारयेत् स्थिरीकुर्यात्।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि अन्धा इव शब्दादीन् विषयाननुधावन्ति। ततः प्रज्ञा बहिर्मुखी भवति। तथा चान्तर्यामिणः ईश्वरस्य विस्मृत्या इन्द्रियार्थाः पृथक्दृश्यमानाः परस्परमनुबद्धाः भवन्ति। तस्मात् विषयेभ्यः इन्द्रियाणि निश्चयात्मकबुद्धिसहकृतेन मनसा निगृह्यात्। मनसा च इन्द्रियनिग्रहे विग्रहः आवश्यको भवति। स च भगवद्विग्रह एव। एतद्विग्रहाराधने चायं क्रमः - कमप्यभिमतं भगवतो विग्रहमाराधयन् साधकः क्रमशस्तन्मयं विश्वं पश्यन् विश्वमयभगवदाराधनपरायणो भवेत्। ततश्च अन्यथा चाञ्चल्यहेतुषु लौकिकेषु सर्वेष्वेव वस्तुषु भगवन्मयत्वभावानाभ्यासेन मनो निश्चलं भवति।।१८।।

1.M.Ma. ङ्क्त्वा

तत्र भगवद्रूपे अव्युच्छिन्नेन सम्पूर्णरूपात् अवियुक्तेन चेतसा एकावयवम् एकं पादाद्यवयवं ध्यायेत्। मनः निर्विषयम् तद्भिन्नविषयानुसन्धानरहितं युक्त्वा कृत्वा ततः अनन्तरं किञ्चन किमपि न स्मरेत्। यत्र स्थितं मनः प्रसीदति प्रसन्नं भवति, रागद्वेषादिविरहितं भवतीति भावः, तत् विष्णोः परमं सर्वोत्कृष्टं पदं स्थानमेव।।१९।।

यदा आत्मनः मनः रजस्तमोभ्यामाक्षिप्तं विमूढं च रजसा आक्षिप्तं तमसा विमूढं वा भवति, तदा साधको धीरस्सन् या धारणा तत्कृतं रजस्तमःकृतं मलं विक्षेपादिदोषं हन्ति निवर्तयति, तया धारणया तन्मनः यच्छेत् वशीकुर्यात्।।२०।।

अपि च यस्यां धारणायां सन्धार्यमाणायां क्रियमाणायां भद्रं मङ्गलात्मकमाश्रयं भगवत्स्वरूपमीक्षतः ध्यातुः योगिनः भक्तिलक्षणः भगवति नारायणे परमप्रेमरूपो योगः तत्प्राप्युपायरूपः आशु सम्पद्यते तया धारणया मनो यच्छेदिति पूर्वेणान्वयः।

भगवत्समग्ररूपायत्तेन मनसा लोके सर्वस्मिन्नेव रूपे भगवदंशमनुध्यायन् साधकः सर्वमपि भगवन्मयं भावयेत्। ततश्च सर्वत्र विष्णुमयत्वभावनया सर्वमपि मनःप्रसादनिदानं भवति। मनःप्रसादोऽपि रजस्तमःकृतमलनिवृत्तिरूपः। कर्मादिषु फलाभिसन्धिव्यामोहश्रमादयो रजस्तमःकृतमलात्मकाः। एतन्मलनिवृत्तिश्च प्रागुक्ते भगवति सर्वमये भद्राश्रये परमप्रेमरूपभक्तेः निरन्तरधारणया सिद्ध्यति। ततश्च आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपमोक्षसिद्धिः।।२१।।

हे ब्रह्मन्! धारणा यथा येन प्रकारेण सन्धार्यते सम्यक् क्रियते? यत्र यस्मिन् भगवद्रूपे सम्मता धारणा तवाभिमता? यादृशी वा धारणा आशु पुरुषस्य मनो मलं विक्षेपादिकं हरेत्? तत्सर्वं, कथयेति शेषः। अत्र यथेत्यादयः शब्दाः प्रश्नार्थकाः।।२२।।

**श्रीशुक उवाच**

**जितासनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रियः।**
**स्थूले भगवतो रूपे मनः सन्धारयेद्धिया।।२३।।**

**विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम्।**
**यत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च सत्।।२४।।**

---

1. H.V. "षय" 2. H.V. "स्य 3. I. व्यन्यते" 4. M.Ma.W. यत्"

**आण्डकोशे शरीरेऽस्मिन् सप्तावरणसंयुते।**
**वैराजः पुरुषो योऽसौ भगवान् धारणाश्रयः।।२५।।**

**पातालमेतस्य हि पादमूलं पठन्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलम्।**
**महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे।।२६।।**

**श्रीध०** यथेत्यस्य उत्तरं - **जितासन** इति। विषयमाह - स्थूल इति सार्धेन ।।२३।।

**विशेष** इति। विशेषो विराड्देहः अतिस्थूलानामतिस्थूलतरः सत् ईति कार्यमात्रम्।।२४।।

अस्य च उपलक्षणत्वेन विषयत्वम्। वस्तुतस्तु विराट् जीवनियन्ता भगवानेव विषय इत्याह- **आण्डकोश** इति। अण्डकोशे अण्डकोशान्तर्वर्तिनि कटाह एव पृथिव्यावरणं ततोऽप्तेजोवाय्वाकाशाहङ्कार-महत्तत्वानीति सप्त ।।२५।।

विराड्देहतज्जीवतदन्तर्यामिणाम् अभेदमारोप्य उपासनं कर्तव्यमित्याऽऽशयेनाह- **पातालमिति**। पातालं पादमूलं पादस्य अधोभागम्। पातालादीनां तदवयवता विधीयते। पातालादीनि अतलान्तानि अधस्तनादारभ्य सप्त भूविवराणि। पठन्ति गृणन्तीत्यादि प्रमाणप्रदर्शनम्। पार्ष्णिप्रपदे पादस्य पश्चात्पुरोभागौ।।२६।।

**वीर०** तत्र "एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात्" (पूर्व.मी.सू.2-4-9) "नानाशब्दादिभेदात्" (ब्र.सू.3-3-58) इत्यादि न्यायेन उपास्यब्रह्मरूपाणां नानात्वेन उपासनानामपि नानात्वात् प्रथमं समस्तजगच्छरीरकस्योपासनमाह मुनिः **जितासन** इति। जितासनः आसनकृतायासरहितः। जितप्राणः स्ववशीकृतप्राणः, जितसङ्गः जितान्तःकरणः, जितेन्द्रियः जितबाह्येन्द्रियः, स्थूले स्थविष्ठे भगवतो रूपे स्वीयं मनः सारथिभूतया धिया धारयेत्।।२३।।

चिदचिदात्मकप्रपञ्चस्य भगवच्छरीरकत्वकथनपूर्वकं तस्य धारणाविषयत्वमाह- **विशेष** इत्यादिना। विशेषः कार्यकारणाकारः पृथिव्यादिभूतमयप्रपञ्चः तस्य देहः स्थवीयसां स्थूलतरानामपि मध्ये स्थविष्ठः स्थूलतरः यत्र देहे विश्वं समस्तं भूतं भव्यं भवच्च भूतभविष्यद्वर्तमानकालगोचरं समष्टिव्यष्ट्यात्मकं पदार्थजातं दृश्यते अन्तर्गतत्वेनोपास्यते।।२४।।

1. H.I.V. अ" 2. AF.GF. "तः 3. M.Ma "जस्तु" 4. A.B. "पि 5. A.B.Omit इति 6. A.B. Omit अण्डकोशे 7. H.V. "गः 8. H.V. "स्या" 9. B. "ला" 10. B.H.V. Omit प्र" 11. A.B. Omit "समस्त" 12. A. Omits स्ववशीकृतप्राणः 13. A.B. Omit आदिना 14. A.B. add च

एतच्छरीरकोऽनिरुद्धांशभूतः पुरुषो विषय इत्याह - **अण्डकोश** इति। सप्तावरणसंयुते पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाहङ्कारमहत्तत्त्वानि सप्तावरणानि। तैर्युक्तेऽण्डकोशाख्यशरीरे वैराजः विराट् अनिरुद्धः तदंशभूतः पुरुषः वैराजः। न चतुर्मुखः तस्यैवं पुरा धारणया आत्मयोनिरित्येतद्रूपोपासकत्वावगमात्, असौ वैराजः पुरुषः भगवान् धारणाश्रयः धारणाविषयः।।२५।।

एवं चतुर्दश भुवनात्मकाण्डकोशस्य तच्छरीरत्वं सामान्येनोक्त्वा अण्डकोशान्तर्गतपदार्थान् विभज्य पादाद्यवयवत्वेन उपासनामाह - **पातालमिति**। एतस्य वैराजपुरुषस्य पादमूलं पादस्याधोभागं पातालं पंठन्ति वदन्ति। पादतलत्वेन पातालमुपास्यं वदन्तीत्यर्थः। एवमग्रेऽपि। पार्ष्णिश्च प्रपदञ्च पार्ष्णिप्रपदे पार्ष्णिः पादमूलं प्रपदं पादाग्रं एतदुभयं रसातलमित्यर्थः। विश्वसृजः विश्वस्रष्टुः द्वावपि गुल्फौ महातलम्। द्वे अपि जङ्घे तलातलम्।।२६।।

**विज०** तत्र प्रथमतो यथाप्रश्नं परिहरति- **जितासन** इति। यत्रेत्यनन्तरं प्रश्नं प्रत्याह स्थूल इति।।२३।।

क्रमप्राप्तत्वात् यादृशीति प्रश्नं प्रतिवक्ति - **विशेष** इति। यदिदं भूतं भव्यं भवच्च जडाजडं तद्विश्वं यत्राण्डकोशे दृश्यते सोऽयं स्थवीयसां स्थूलतराणां सकाशात् स्थविष्ठः स्थूलतमो विशेष आण्डकोशः शिलालक्षणप्रतिमावत्तस्य तदन्तस्स्थस्य हरेर्देहः न तु साक्षाद्देह इत्यन्वयः। तदुक्तम् "शिलावत्तस्य देहोऽयमण्डकोशस्तु सा वृतिः" (ब्रह्मवैवर्ते) इति।।२४।।

पृथिव्यादिपञ्चभूताहङ्कारमहत्तत्वसंज्ञैः सप्तभिः आवरणैः कवचस्थानीयैः संयुते बहिरावृते। शरीरे शीर्यमाणत्वात्। तस्मिन् आण्डकोशे योऽसौ विशेषणप्रकाशनात् विराजाख्याण्डान्तर्वर्तित्वात् सर्वतो वरत्वात् वैराजाख्यः पुरुषः, पुरु बहु कर्मफलं सनोति ददातीति पुरुषः। असौ भगवान् धारणाश्रयः तद्विषयतया कृता धारणा मनोमलं हरतीत्यन्वयः। "अण्डकोशो विराट्प्रोक्तो विशेषेण प्रकाशनात्। वैराजः तद्गतः" ( भागवततन्त्रे ) इत्यादेः।।२५।।

उपदिष्टरूपध्यानप्रकारमाह - **पातालमित्यादिना**। अण्डाख्यप्रतिमायाः पातालादिसत्यलोकपर्यन्ता लोकाः पादमूलादिशिरोन्तान्यङ्गानि न त्वण्डस्थितस्य तस्य हरेः तान्यङ्गानि। किं तर्हि? तत्पादमूलाद्यवयवेभ्यो जातानि तदाश्रितानि वा। अतो न तेषां केवलं चिदानन्दाद्यात्मकभगवदवयवैरभेदः शङ्कनीयः। एतस्य पादमूलमित्याद्यभेदोक्तिस्तु "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" (पु.सू.1-5)

---

1. A.B. आ° 2. W. °ग: 3. A.B. Omit पठन्ति

इत्यादिवत् युज्यते, एवमेव इन्द्रादिदेवादीनामत्र तदवयवेन्द्रियगोलकाद्यभेदकथनं तत्तदङ्गादिभ्यः उत्पन्नत्वात् तदाश्रितत्वात् तदधीनत्वाभिप्रायं न तु स्वरूपैक्याभिप्रायम्। तेषाः स्वतः तेभ्यो भिन्नत्वात् "प्रतिमापेक्षयाङ्गानि भूरादीनि स्वरूपतः" (ब्रह्मतर्के) इत्यादेः। तथा च अक्षरयोजना। एतस्याण्डान्तर्वर्तिनो हरेः पादमूलं पातालं पठन्तीत्यन्वयः। चिदानन्दाद्यात्मकत्वात् पादमूलाङ्गातं तदाश्रितं चेति ज्ञानिनः शिष्टेभ्य उपदिशन्ति। उपदिष्टाः तथोपासते चेत् तत्रापि एवमेवानुसन्धेयम्। हिशब्दः उक्तार्थ प्रमाणप्रसिद्धिप्रकाशकः। पार्ष्णिश्च प्रपदञ्च पार्ष्णिप्रपदे पार्ष्णिः पादस्य पृष्टभागः, प्रपदं पादाग्रं विश्वं सृजतीति विश्वसृट् तस्य गुल्फौ प्रशस्तलक्षणपिण्डकाख्यापर्वणी महातलं पठन्तीति पूर्वेणन्वयः।।२६।।

**रा०कृ०** जितासनः अभ्यासवशात् आसनकृतश्रमरहितः जितश्वासः प्राणायामाभ्यासबलेन वशीकृतप्राणः। जितासङ्गः सदसद्विवेकबलेन पुत्रकलत्रादिष्वासक्तिरहितः, जितेन्द्रियः तेनैव सदसद्विवेकबलेन शब्दादिविषयेभ्यः प्रत्याहृतेन्द्रियः साधक इति शेषः। धिया निश्चयात्मिकया बुद्ध्या भगवतः स्थूले रूपे मनः सन्धारयेत् सम्यक् धारयेत्।

अभ्याससम्पादितः आसनजयः श्वासजयसम्पादनाय कल्पते। श्वासजयश्च प्राणपञ्चकस्य क्रमानुगतो निरोध एव। सङ्कोचव्याकोचव्यापारवतां पञ्चप्राणानां मध्ये प्राणापानौ उच्छ्वासनिः-श्वासहेतुभूतौ। यद्यप्युच्छ्वासनिःश्वासौ स्वतः प्रवृत्तौ, न मनःकर्तृकौ, तथाऽपि यथायोगं मनस्समाहितौ तौ मनःकृतौ तौ भवतः यावत्पर्यन्तं प्राणापायो न स्यात्। भौतिकदेहो वा तद्गतप्राणशक्तिर्वा तदुभयसम्बन्धो वा न जीवस्य मनसा सम्बध्यते, किन्तु तस्य पूर्वजन्मकर्मणैव। तच्च जीवसम्बन्धिकर्म जगत्कर्मणो मनस्सञ्जितमेव। जगत्कर्म तु दैवायत्तम्।

प्राणदेहसम्बन्धोऽप्यापाततो जीवकर्माधीनोऽप्यन्ते जगत्कर्माधीनमेव। एतत्सर्व विषयैरनु-बद्धमस्माकं मनः अस्मदनुप्रवर्तमानप्राणापानाभ्यां सम्बध्यते। मनस्समाहितौ उच्छ्वासनिःश्वासौ सुव्यवस्थितौ सुखहेतू भवतः विपरीतौ तु सुखदुःखादिद्वन्द्वाभिभवदशायां क्रममपहाय अव्यवस्थां प्राप्नुतः। तेन हृदयस्पन्दनं क्रमविरहितं भवति। ततश्च रोगशोकाद्यनर्थपरम्परावाप्तिः दुर्निवारैव। एतदनर्थजालं परिजिहीर्षुः साधकः समाहितेन मनसा प्रशान्तं सुकुमारं मन्दगमनोपेतम् उच्छ्वासनिः श्वासव्यापारं अनुपालयेत्। अपि च मनस्समाहितप्राणायामाभ्यासमिमं कस्मिंश्चित् शुचौ प्रदेशे प्रतिदिनं निर्णीतसमये कुर्यात्। अनेनाभ्यासेन गच्छति काले प्राणापानाभ्यां सहकृतं मनः तयोर्लीनं भवति। तदेवं श्वासजयः साधनीयः।

यद्यपि 'श्वास' पदेन पञ्चापि प्राणाः विवक्षिताः भवन्ति, तथाऽपि मनसः प्राणापानाभ्यामेव सम्बन्धात् शिष्टानां प्राणानां सम्बन्धो नात्र प्रसक्तो भवति। तथा च यथा यथा श्वासानुध्यानेन मनसो लयः साध्यते, तथा तथा श्वासोऽपि सुव्यवस्थितो भवति।

अस्मन्मनसः अस्मत्परिसरस्थितैः कलत्रपुत्रमित्रादिभिः जनैः गृहारामक्षेत्रादिभिः वस्तुभिः विद्योद्योगादि नानालक्ष्यसाधनसन्निवेशैश्च अविभेद्यः अभ्यासप्रयुक्तः सङ्गो वर्तते। एतदलाभकाले दुःखमनुभवन्तो वयं विघ्ननिमित्तेषु कोपादिकं प्रदर्शयामः, न तु एतदनर्थमूलकारणभूतं सङ्गमभिजानीमहे। सङ्गश्चायं मनःकृत एव। एतदनर्थोपशमाय परिसरैर्वा परिसरस्थितैर्जनादिभिर्वा सङ्गर्षः न प्रयोजकः, किन्तु मनसः सङ्गनिवृत्तिरेव कर्तव्या। श्वासविजयेन तु सङ्गनिवृत्तिसङ्कल्पसहकृतेन मनस्सङ्गो निवर्तते। ततश्च एतत्सङ्कल्पसहकृतमनः, श्वासद्वयं समवेतं द्रुतं सत् बुद्धिरूपतां भजते। तथा हि - प्रत्येकं प्रभिन्ना अपि सिताखण्डाः सलिले विन्यस्ताः विद्रुताः तत्सलिलं च सम्भूय पानकं नाम रसायनं सम्पद्यते। लोके हि इदमित्थं भवतु, एतदेवं सम्भवतु इत्याकारको भावः कामो भवति न सङ्कल्पः। मनःश्वासबन्धसमन्वितो भावः तु सङ्कल्पो भवति न कामः - इत्येषः कामसङ्कल्पयोर्भेदः। कामवासनावासितं मनः दुःखभाजनं भवति। तथा हि - वस्त्रं यद्वस्तु सङ्गतं प्रथ्यते तद्वस्तुवासनावासितं भवति। एवं भावितवस्तुकर्मवासनाः मनसि निविष्टाः सङ्गाः सम्पद्यन्ते, तथाऽपि तदेव वस्त्रं वह्निकणेन सह सम्बद्धं सत् न केवलं वह्निवासनया स्पृश्यते अपि तु दग्धं तस्मिन् लीनं भवति। एवमेव श्वासलीनं मनश्च यदि भवेत् सङ्कल्पबद्धं तत्सङ्कल्पवासनाभिरस्पृष्टं सत् बुद्धौ लीयते। तदा बुद्धिरेकैव मनोरूपेण इन्द्रियव्यापाररूपेण च प्रवर्तते। एवं च साधकः तिरोहितेन्द्रियव्यापारः अथवा जितेन्द्रियो भवति। अयं च प्रक्रमः "मनो हृदि निरुद्ध्य च" (भ.गी.8-12) इत्यत्र भगवता श्रीकृष्णेन "येगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" (पा.यो.सू.1-1) इत्यत्र पतञ्जलिमहर्षिणा च सूचितः।

अनन्तरं साधकः भगवतः स्थूलरूपे अथवा विश्वरूपे निश्चयात्मिकया बुद्ध्या मनः सन्धारयेत्। कथम्? उच्यते--पूर्वोक्तसाधनपरिनिष्ठितस्य अहङ्कारविरहात् स्वपररूपभेदो वा दृश्यश्रव्यवस्तुशब्दरूपभेदो वा न विद्यते। सत्सु च रूपेषु तद्रूपदर्शी स साधकः पानके सिताखण्ड इव सर्वान्तर्याम्यात्मभावेन अपृथगेव वर्तते। एवञ्चायमात्मसहितमखिलमपि विश्वं विष्णुमयमेव सर्वदा सर्वत्र भावयेत्।।२३।।

यत्र भगवद्देहे इदं भूतं भव्यं भवच्च सत् समष्टिव्यष्ट्यात्मकं कार्यमात्रं विश्वं दृश्यते, सोऽयं तस्य भगवतो विशेषो देहः विराड्देहः स्थवीयसां अतिस्थूलानां मध्ये स्थविष्ठश्च स्थूलतमश्च।।२४।।

सप्तावरणसंयुते सप्तभिः आवरणैः पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाहङ्कारमहत्तत्त्वाख्यैः संयुते अण्डकोशे अण्डकोशाख्ये अस्मिन् शरीरे योऽसौ वैराजः वैराजाख्यः पुरुषो वर्तते स भगवान् धारणाश्रयः धारणाया विषयो भवतीति शेषः।

पक्षिण इव भगवतोऽपि तद्रूपसम्बन्ध्यण्डं उत्पद्यते। तस्मिन् सर्वसृष्टिः क्रमशः प्रवर्तमाना तत्प्रतिबिम्बतया च परिणता सती पुनस्तत्रैव लीयते। तदेतत् परिणामशीलं विश्वं 'विराट्' पदेन

व्यवह्रियते। तादृशविराड्देहावच्छिन्नप्रज्ञावतां भूतभविष्यद्वर्तमानभेदविलसितः कालो विद्यते। विश्वरूपस्य तु भगवतः कालातीतत्त्वात् न कालानुवृत्तिः।

विराड्देहभूतश्चाण्डकोशः केवलं विहगाण्डमिव न भवति। किन्तु सपत्रो मुकुल इव सावरणो विकसनशीलश्च विद्यते। अपि च सर्पशरीरात् कूर्पासा इव एतदण्डकोशादपि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाहङ्कारमहदाख्यानि सप्तावरणानि तत्तत्कालेषूत्पद्यते पृथक् भवन्ति च। ब्रह्माण्ड इव पिण्डाण्डेऽप्ययमेव क्रमोऽभ्युपगम्यते। एतत्सप्तावरणान्याश्रित्य जीवो विद्यते, तदन्तर्यामी तदतीतश्च ईश्वरो विद्योतते। जीवेन तत्तद्रूपान्तर्यामिणः ईश्वरस्य सम्भावनैव धारणा। तस्मात् 'भगवान् धारणाश्रयः' इति सुष्ठूक्तं भगवता व्यासेन ।।२५।।

एतस्य वैराजपुरुषस्य पादमूलं पातालं पठन्ति, अभिज्ञा इति शेषः। पार्ष्णिप्रपदे रसातलं पठन्ति। अथ विश्वसृजः पुरुषस्य गुल्फौ महातलं पठन्ति। जङ्घे वै तलातलं पठन्ति।।२६।।

**द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्तेरूरुद्वयं वितलं चातलं च।**
**महीतलं तज्जघनं महीपते! नभस्तलं नाभिसरो गृणन्ति।।२७।।**

**उरःस्थलं ज्योतिरनीकमस्य ग्रीवां[1] महर्वदनं वै जनोऽस्य।**
**तपो रराटीं[2][3] विदुरादिपुंसः सत्यं तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः।।२८।।**

**इन्द्रादयो बाहव आसुरुस्रा[4]: कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः।**
**नासत्यदस्रौ परमस्य नासे[5] घ्राणोऽस्य गन्धो मुखमग्निरिद्धः[6]।।२९।।**

**द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत्पतङ्गः पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च[7]।**
**तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यमापोऽस्य तालू रस एव जिह्वा।।३०।।**

**श्रीध० द्वे** इति। ऊरुद्वयं[8] तस्याधोभागे वितलमुत्तरभागे अतलमिति ज्ञेयम्। नभस्तलं भुवर्लोकम्। नाभिरेव सरः।।२७।।

**उरस्थलमिति**। उरस्थलं ज्योतिरनीकं, ज्योतिषां समूहं स्वर्गम्। [9]महर्लोकं ग्रीवेति गृणन्ति। तपोलोकं [10]रराटीं ललाटं सत्यं सत्यलोकम् [11]तच्छिरः।।२८।।

---

1. A.B. C.G.H.I.M.Ma.N.V. °वा 2.H.V. ललाटं, I. वराटीं 3. M.Ma °टिं,W. °टं 4. M.Ma °रस्य 5. AF. GF. °सा 6. M.Ma °णं च; W. °णश्च 7. H.V. °ऽस्य 8. A. °वस्या° 9. V. Omits म....तच्छिरः 10. H.Omits रराटीं 11. A.B. Omit तच्छिरः

**इन्द्रादय** इति। उस्रा देवाः तेजोमयशरीरत्वात्, ते बाहव इत्याहुः। दिशोऽस्मदादि श्रोत्राधिष्ठात्र्यो देवताः[1] कर्णौ श्रोत्रेस्याधिष्ठानम्[2] शब्दस्तु श्रोत्रविषयः सः तस्य श्रोत्रेन्द्रियम्[3]। एवं नासिकादिष्वपि। नासत्यदस्रौ अश्विनौ नासे नासापुटे। इद्धो दीप्तः।।२९।।

**द्यौरिति**। द्यौरन्तरिक्षं चन्द्रसूर्याधिष्ठानभूतत्वात्[4]। अक्षिणी नेत्रगोलके चक्षुरिन्द्रियं पतङ्गः सूर्यः अहनी[5] रात्र्यहनी अहश्शब्दस्यैकशेषः। पक्ष्माणि[7] नेत्ररोमाणि परमेष्ठिधिष्ण्यं ब्रह्मपदम्। भ्रूविजृम्भः[8] भ्रूविक्षेपसमकालः तालु[9] अधिष्ठानं जिह्वा इन्द्रियम्।।३०।।

**वीर०** विश्वमूर्तेः द्वे जानुनी सुतलम्। वितलमतलञ्च ऊरुद्वयम्[10]। हे[11] महीपते! महीतलं भूर्लोकं[12] तस्य जघनं कट्याः पुरोभागम्। नभःस्थलं भुवर्लोकं नाभिरेव सरस्तत्त्वेनोपास्यं गृणन्ति वदन्ति तत्तत्त्वविद[13] इति शेषः।।२७।।

अस्य वैराजस्य उरस्स्थलं उरःप्रदेशं ज्योतिरनीकं ज्योतिश्चक्रं ग्रीवात्वेन महर्लोक उपास्य इत्यर्थः। अस्य वदनं जनलोकः[14] आदिपुंसः रराटौ[15] ललाटं तपोलोकं विदुः सहस्रशीर्ष्णः सहस्रशिरसः शीर्षाणि शिरांसि सत्यं सत्यलोकं विदुरित्यर्थः।।२८।।

इन्द्रादयः उस्राः देवाः बाहव इत्याहुः अमुष्य कर्णौ श्रोत्रेन्द्रियाधिष्ठानभूतकर्णबिले दिशः तदधिष्ठेयं[16] श्रोत्रेन्द्रियं तु, शब्दः ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्च। एवमग्रेऽपि। परमस्य समाध्यधिकरहितस्य नासे[17] नासापुटे नासत्यदस्रावश्विनौ गन्धः शान्तोग्रादिरूपेण नानाविधो गन्धः तदिन्द्रियम्। इद्धः दीप्तः अग्निः तस्य मुखम्।।२९।।

द्यौः द्युलोकः अक्षिणी नेत्रगोलके[18]। तत्र चक्षुरिन्द्रियं पतङ्गः सूर्यः। विष्णोः वैराजस्य पक्ष्माणि उभेऽहनी अहोरात्रे[19]। तस्य वैराजस्य भ्रूविजृम्भः भ्रूविनाम[20]ः भ्रूविलास इति यावत्। परमेष्ठिधिष्ण्यं परमेष्ठिनः चतुर्मुखस्य स्थानम्। अस्य वैराजस्य तालु[21] आपः तदभिमानी वरुणः अस्य जिह्वा रसः एव[22]।।३०।।

**विज०** अधोभागे वितलं, उपरिभागे तु अतलमिति विभागः। जघनं कटितलम्, एतत्स्मरणं विशेषात् त्वया कार्यमित्यतो महीपते इति सम्बोधितम्। अगाधत्वब्रह्मजनकपद्मनिदानत्वाभिप्रायेण नाभिसर इत्युक्तम्। नभस्स्थलं भुवर्लोकः।।२७।।

---

1. B.Omits देवताः 2. H.V. "त्रधि" 3. B.H.V. "त्रमि" 4. A.B. Omit चन्द्र.....त्वात् 5. V. Omits अहनी.....इन्द्रियम्। 6. A.B. Omit अह....शेषः 7. B.H. Omits पक्ष्मा....रोमाणि 8. A.B. Omit भ्रू....कालः 9. B. "लुः, H. "लु 10. W. Omits वि" 11. A.B. Omit हे....ते! 12. A.B. "लौं" 13. W. Omits त.....शेषः। 14. W. "नौं" 15. W. "टं 16. A.B. "यं 17. A.B. Omit नासे 18. W. "कं 19. W. "त्रम्। 20. A.B. "तानः 21. W. "लु 22. A.B.Omit एव।

ज्योतिरनीकं ज्योतिश्चक्रस्थानं स्वर्लोकः। महर्लोकोऽस्य हरेः ग्रीवेति गृणन्ति। जनो जनलोकः। तपस्तपोलोकः ररार्टिं ललाटम्।।२८।।

इन्द्रादयो लोकपालास्तस्य बाहव इत्याहुः। दिशः कर्णौ गोलकस्थानीयौ। अमुष्य हरेः श्रोत्रमिन्द्रियं शब्द इति। नासत्यदस्रावश्विनौ नासे नासिके। गन्धो भूमेर्गुणः घ्राणं गन्धग्राहीन्द्रियं गन्ध जनकमाहुरित्यर्थः। इद्धो दीप्तः।।२९।।

द्यौ द्युलोकः अक्षिणी गोलके पतङ्गः सूर्यः मनुष्याणामहनी देवादीनामहनी इति उभे च विष्णोः पक्ष्माणि। ततो जाते तदाश्रिते च परमेष्ठिधिष्ण्यं ब्रह्मलोकः मधुरादिरसः।।३०।।

**रा०कृ०** हे महीपते! विश्वमूर्तेः द्वे जानुनी सुतलं गृणन्ति, वेदितार इति शेषः। ऊरुद्वयं अतलं वितलं च गृणन्ति। एवं पातालादीनि सप्ताधो भुवनान्युक्तानि। तज्जघनं तस्य पुरुषस्य जघनं महीतलं भूलोकं गृणन्ति, नाभिसरः नभस्तलं भुवर्लोकं गृणन्ति।।२७।।

अस्य वैराजस्य उरःस्थलं ज्योतिरनीकं नक्षत्रसमूहं स्वर्लोकं गृणन्ति। ग्रीवा महः महर्लोक इति गृणन्ति। अस्य पुरुषस्य वदनं जनः जनलोक इति वदन्ति। अस्य आदिपुंसः ललाटं तपः तपोलोकं विदुः। सहस्रशीर्ष्णः सहस्रशिरसः अस्य शीर्षाणि तु सत्यं सत्यलोकं विदुः। एवं भूलोकाद्याः सप्त ऊर्ध्वलोकाः कथिताः।।२८।।

अमुष्य पुरुषस्य बाहवः इन्द्रादयः उस्राः देवा इत्याहुः। कर्णौ दिश इत्याहुः। श्रोत्रं श्रोत्रेन्द्रियं शब्द इत्याहुः। परमस्य सर्वोत्कृष्टस्य तस्य नासे नासिकारन्ध्रे नासत्यदस्रौ अश्विनावित्याहुः। अस्य घ्राणः घ्राणेन्द्रियं गन्ध इत्याहुः। मुखं इद्धः प्रदीप्तः अग्निरित्याहुः।।२९।।

विष्णोः अक्षिणी द्यौरभूत्। चक्षुरिन्द्रियम् पतङ्गः सूर्योऽभूत्, पक्ष्माणि उभे अहनी अहोरात्रमभूत्। तद्भ्रूविजृम्भः तस्य परमपुरुषस्य भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यं चतुर्मुखब्रह्मणः स्थानं अभूत्, अस्य तालुः आपः अभूवन्। जिह्वेन्द्रियं रस एवाभूत्।।३०।।

**छन्दांस्यनन्तस्य [1]शिरो गृणन्ति दंष्ट्रा [2]यमः [3]स्नेहकला द्विजानि।**
**हासो जनोन्मादकरी [4]च माया दुरन्तसर्गो यदपाङ्गमोक्षः।।३१।।**

---

1. M.Ma. गि° 2. M.Ma. °र्यमेन्दुद्वगणा 3. AF.GF. स्वेदकला द्विजालयः 4. AF.GF. हि

**व्रीडोत्तरोष्ठोऽधर एव लोभो धर्मः स्तनोऽधर्मपथोऽस्य पृष्ठम्।**
**कस्तस्य मेढ्रं वृषणौ च मित्रौ कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घाः।।३२।।**

**नद्योऽस्य नाड्योऽथ तनूरुहाणि महीरुहा विश्वतनोर्नृपेन्द्र!**
**अनन्तवीर्यश्वसितं मातरिश्वा गतिर्वयः कर्म गुणप्रवाहः।।३३।।**

**ईशस्य केशान् विदुरम्बुवाहान् वासस्तु सन्ध्यां कुरुवर्य भूम्नः।**
**अव्यक्तमाहुर्हृदयं मनश्च स चन्द्रमाः सर्वविकार कोशः।।३४।।**

**श्रीध० छन्दांसीति**। छन्दांसि छन्दःप्रधानाः वेदाः शिरो ब्रह्मरन्ध्रं स्नेहकलाः पुत्रादिस्नेहलेशाः द्विजानि दन्ताः क्लीबत्वमार्षम्। दुरन्तोऽपारः सर्गः इति यत्सः तस्य कटाक्षः निखिलप्रपञ्चसर्गस्यापि भगवत्कटाक्षविक्षेपाधीनत्वात्।।३१।।

**व्रीडेति**। अधर्ममार्गोऽस्य पृष्ठभागः। कः प्रजापतिः मित्रौ मित्रावरुणौ।।३२।।

**नद्य** इति। अनन्तं वीर्यं यस्य वयः कालस्तस्य गमनम्। गुणप्रवाहः प्राणिनां संसारः कर्म तस्य क्रीडा।।३३।।

**ईशस्येति**। भूम्नो विभोः अव्यक्तं प्रधानम् हृदयमाहुः। स प्रसिद्धश्चन्द्रमाः तदीयं मनः सर्वेषां विकाराणां कामादीनां कोश इवाश्रयभूतम्। चन्द्रोऽपि सर्वविकारकोश उच्यते धूमादिमार्गत्वात्।।३४।।

**वीर०** अनन्तस्य त्रिविधपरिच्छेदशून्यस्य शिरः छन्दांसि गृणन्ति, दंष्ट्रा यमः द्विजानि, दन्ताः, नपुसंकत्वमार्षं स्नेहकलाः स्नेहस्य कला अंशा अस्मदादीनां स्नेहकला वैराजस्य दन्ता इत्यर्थः। तस्य हासः हसनं जनोन्मादकरी जनोन्मोहकरी। माया आश्चर्यशक्तिः। मायाशब्दस्य सर्वत्रानुगतं प्रवृत्ति निमित्तमाश्चर्यमेव।[23]तच्च विस्मयनीयत्वरूपं, तच्च नानाविधकार्यकरत्वात्। यस्यापाङ्गमोक्षः कटाक्षः दुरन्तसर्गः अपारसर्गः।।३१।।

व्रीडा लज्जा, उत्तरोष्ठः अधरः अधरोष्ठः लोभः, धर्मः स्तनः, अधर्मपथः अधर्ममार्गः, अस्य पृष्ठः पृष्ठभागः तस्य वैराजस्य मेढ्रं कः प्रजापतिः। वृषणौ मित्रौ मित्रावरुणौ, समुद्राः कुक्षिः उदरं, गिरयः तस्यास्थिसङ्घाः।।३२।।

---

1. AF.GF. "थः स्वपृष्ठः; H.V.W. "थश्च पृष्ठः 2. C.N. "ष्ठः 3. M.Ma. "त्रः 4. M.Ma. अत्रं च वीर्यं च 5. A.B.C.G.I. "र्यः 6. M.Ma.W. "न्ध्ये 7. M.Ma. "स्तु 8. A.B.Omit छन्दःप्रधानाः 9. V.Omits द्वि...त्वात्। 10. A.B. षण्ड" 11. A. Omits तस्य 12. A.B.Omit निखि....त्वात् 13. H.V. "गस्तस्य 14. H.V. अनन्तवीर्यस्य 15. B. adds सः 16. H.V. क्रिया 17. H.V. प्र" 18. A.B.Omit हृदयमाहुः 19. A.B. Omit कामादीनां 20. H.V. "धीं" 21. A.B. Omit चन्द्रो.....र्गत्वात्। 22. A.B.Omit जनोन्मादकरी 23. W. adds तस्य 24. A.B. Omit कटाक्षः 25. W. Omits पृष्ठः 26. A. Omits कः 27. A.B. Omit मित्रौ 28. W. अद्रयः

नद्यः गङ्गायमुनादयोऽस्य नाड्यः तनूरुहाणि रोमाणि महीरुहाः वृक्षाः। विश्वतनोर्विश्वशरीरकस्य। हे नृपेन्द्र! अनन्तवीर्यश्वसितम् अनन्तवीर्यस्य अपारवीर्यस्य श्वसितं प्राणः मातरिश्वा वायुः गतिर्गमनं वयः कालः तस्य कर्मगुणप्रवाहः गुणानां सत्त्वरजस्तमसां प्रवाहः कार्यं प्राणिनां संसार इत्यर्थः।।३३।।

ईशस्य भगवतः केशान् अम्बुवाहान् मेघान् विदुः। हे कुरुवर्य! भूम्नः विभोर्वासः वस्त्रं सन्ध्ये, सायंप्रातस्सन्ध्ये तस्य हृदयं हृदयकमलमव्यक्तं प्रधानमाहुः, सः प्रसिद्धः सर्वविकारकोशः सर्वौषधिविकारहेतुश्चन्द्रमाः तदीयं मनः इत्यर्थः। मनो हि सर्वविकाराश्रयभूतम्।।३४।।

**विज०** गायत्र्यादिच्छन्दांसि गिरो वचनानि गृणन्ति। अर्यमेन्दू सूर्यचन्द्रौ, दंष्ट्राद्वयाज्ञाताविति शेषः। बहुरूपत्वात् पुनर्वचनम्। " बह्वङ्गत्वं बहुत्वतः" (ब्रह्मतर्के) इति वचनात्। उडुगणा नक्षत्राणि। द्विजानि दन्ताः अत्र प्रगृह्य संज्ञाऽभावो लिङ्गव्यत्ययश्च वैलक्ष्यण्यद्योतनायेति ज्ञातव्यम्, माया मोहनशक्तिः "हासो हासादभिव्यक्ता सप्तसु प्रथमेति" सूत्रात् दुरन्तसर्गोऽनवसानविश्वसृष्टिः।।३१।।

व्रीडा लज्जा। अधरोऽधरोष्ठः। एवशब्दोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः। कः प्रजापतिः मेढ्रमिन्द्रियम्। वृषणौ बीजद्वयम्। मित्र इत्युपलक्षणम् वरुणश्च।।३२।।

विश्वा[2] तत्तत्पदार्थेषु प्रविष्टा[3] तनुर्यस्य स तथा तस्य विश्वं तनुः प्रतिमा यस्य सः तथा तस्येति वा। वीर्यं रेतोऽत्रं प्राणिभोग्यं गतिर्गमनं तस्माद्वय आयुः प्राणिनां जीवनावधिलक्षणमुत्पन्नं कर्मव्यापारः तस्मात् सत्त्वादिगुणानां प्रवृत्तिक्रमः।।३३।।

सन्ध्ये द्वे। अव्यक्तं मूलप्रकृतिम्। मनोऽभिमानत्वाच्चन्द्रस्य, कामादिनानाविकारगृहत्वमुपचारः। मनो मनसो जातः।।३४।।

**रा०कृ०** अनन्तस्य तस्य शिरः छन्दांसि गायत्र्यादीनीति गृणन्ति। दंष्ट्रा यमः द्विजानि दन्ताः स्नेहकलाः पुत्राद्यनुरागलेशाः। हासः जनोन्मादकरी माया चेति गृणन्ति। यदपाङ्गमोक्षः यस्यापाङ्गमोक्षः दुरन्तसर्गः अपारसृष्टिरिति च गृणन्ति।।३१।।

अस्य पुरुषस्य उत्तरोष्ठः उपरितनोष्ठः व्रीडा, अधरः अधरोष्ठः लोभ एव। स्तनः धर्मः, पृष्ठं

1. A.B. सर्वविकाराश्रयइत्यर्थः। 2. A. °श्वाति 3. A.B. तिष्ठति

पृष्ठभागः अधर्मपथः अभूत्। तस्य मेढ्रं कः प्रजापतिः, वृषणौ मित्रौ च मित्रावरुणौ च। कुक्षिः समुद्राः, अस्थिसङ्घाः गिरश्चाभूवन्।।३२।।

हे नृपेन्द्र! अथ विश्वतनोरस्य नाड्यो नड्यः, तनूरुहाणि महीरुहाः, श्वसितम् अनन्तवीर्यो मातरिश्वा वायुः, गतिः वयः कालः, कर्मगुणप्रवाहः सत्त्वरजस्तमोगुणप्रवाहः इति वदन्ति।।३३।।

हे कुरुवर्य! ईशस्य तस्य केशान् अम्बुवाहान् विदुः। भूम्नः महत्तमस्य तस्य वासस्तु वस्त्रं तु सन्ध्यां सायंप्रातस्सन्ध्ये विदुः। तस्य हृदयम् अव्यक्तं प्रधानं विदुः। तस्य मनश्च सर्वविकारकोशः सर्वौषध्यादिविकारहेतुभूतः चन्द्रमाः? अभवदिति शेषः।।३४।।

**विज्ञानशक्तिं महिमामनन्ति सर्वात्मनोऽन्तःकरणं गिरित्रम्।**
**अश्वाश्वतर्युष्ट्रगजानखानि सर्वे मृगाः पशवः श्रोणिदेशे।।३५।।**

**वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं मनुर्मनीषा मनुनो निवासः।**
**गन्धर्वविद्याधरचारणाप्सरः स्वरस्मृतीरसुरानीकवीर्यः।।३६।।**

**ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा विड्ढरङ्घ्रिश्रितकृष्णवर्णः।**
**नानाभिधाभीज्य गणोपपन्नो द्रव्यात्मकः कर्मवितानयोगः।।३७।।**

**इयानसावीश्वर विग्रहस्य यस्सन्निवेशः कथितो मया ते।**
**सन्धार्यतेऽस्मिन् वपुषि स्थविष्ठे मनः स्वबुद्ध्या न यतोऽस्ति किञ्चित्।।३८।।**

*** स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व आत्मा यथा स्वप्रजनेक्षितैकः।**
**तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत नान्यत्र सज्जेद्यत आत्मपातः।।३९।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
द्वितीयस्कन्धे माहापुरुषसंस्थानुवर्णने प्रथमोऽध्यायः।।१।।

---

1.M.Ma. "ति" 2. M.Ma "त्र: 3. C. "शः 4. M.Ma "चां" 5. M.Ma. "ह" 6. H.V.W. "तिर्द्धी" ; AF.GH. "तिर्वभा" 7. W. "व" 8. M.Ma. "न: 9. M.Ma स्वाहास्वधावीर्यगु 10. W. "गु" 11. M.Ma. द्रु 12. H.V. पुरुषे *This verse comes after the 6th verse in the second chapter of the second Skandha in M&Ma. स सर्वविद्धद्यनुभूश्चसर्व आत्मा यथासृग्जनेक्षितैकः। तं सत्यमानन्दनिधि भजेत सर्वात्मनातोऽन्यत आत्मघातः।। 13.M. add in foot note अत्र सर्ववित् आत्मा सत्यं आनन्दनिधिमिति पदचतुष्टयेन "आनन्दादयः प्रधानस्य" (ब्र.सू.3-3-11) इत्यत्रोक्तम् सर्वाधिकारि साधारणं उपसंहार्यं सच्चिदानन्द आत्मेति गुण चतुष्टयं सूचितमिति ज्ञातव्यम्।

**श्रीध० विज्ञानशक्तिम्** इति। विज्ञानशक्तिं [1]ज्ञानरूपां भगवच्छक्तिं चित्तम्। महिं महत्तत्त्वम्। अन्तःकरणमहङ्कारम्। गिरित्रं श्रीरुद्रम्। गर्दभाद्वडबायामुत्पन्ना अश्वतरी।।३५।।

**वयांसि** इति। वयांसि पक्षिणस्तस्य व्याकरणं "नामरूपे व्याकरवाणि" (छन्दो.उ.6-3-2) इति श्रुत्युक्तं[2]शिल्पनैपुण्यम्। यथा[3]ऽऽहुः - "येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः। मयूराश्चित्रिता येन स तं[4] वृत्तिं विधास्यति" (हितोपदेशः) इति। [5]मनुः स्वायंभुवः। मनीषा बुद्धिः। [6]मनुजः पुरुषः निवास आश्रयः। "पुरुषत्वे चाविस्तरामात्मा" इति श्रुतेः। गन्धर्वादीनां द्वन्द्वैक्यम् गन्धर्वादयः। स्वरस्मृतीः षड्जादिस्वरस्मृतयः; इत्यर्थः। असुरानीकं वीर्यं यस्य सः। स्वरः स्मृतिरसुरानीकवर्य इति पाठे गन्धर्वादयः स्वरः असुरसमूहश्रेष्ठः प्रह्लादः स्मृतिः तस्येति।।३६।।

**ब्रह्म** इति। ब्रह्मा विप्रः तस्य आननं मुखम्। क्षत्रं क्षत्रियो [8]भुजौ यस्य, विट् वैश्यः ऊरू यस्य, अङ्घ्रिश्रितः कृष्णवर्णः शूद्रो यस्य, [9]नानारूपाः अभिधाः नामानि येषां ते च तेऽभीज्या देवास्तेषां गणैः वसुरुद्रादिभिरुपपन्नो युक्तः। द्रव्यात्मको हविस्साध्यः वितानयोगो यज्ञप्रयोगः तस्य कर्म कार्यम्। आवश्यकोऽभिप्रेतः इत्यर्थः।।३७।।

**इयान्** इति। इयानेतावान् सन्निवेशोऽवयवसं[10]स्थानम्। अस्मिन् स्वबुद्ध्या मनः सन्धार्यते मुमुक्षुभिः यतो [11]यद्यतिरिक्तं किञ्चिन्नास्ति तस्मिन्।।३८।।

तदेवं चित्तस्थैर्यार्थं विराड्देहजीवेश्वराणाम् अभेदेनोपासनमुक्तम्। तत्र तु देहजीवावीश्वरे प्रविलाप्य स एव ध्येय इति [11]सदृष्टान्तं निर्धारयति **स** इति। सर्वेषां [12]धीवृत्तिभिरनुभूतं सर्वं येन स एक एव सर्वान्तर आत्मा तमेव सत्यं भजेत। अन्यत्रोपलक्षणे न सज्जेत्। यत [13]आसङ्गादात्मनः पातः संसारो भवति। एकस्य तत्तदिन्द्रियैः सर्वानुभूतौ दृष्टान्तः। [14]स्वप्ने जनानामीक्षिता यथेति स्वप्ने हि कदाचित् बहून् [15]देहान् [16]प्रकल्प्य जीवः तत्तदिन्द्रियैः सर्वं पश्यति तद्वत्। ईश्वरस्य तु विद्याशक्तित्वान्न बन्धः।।३९।।

इति श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां प्रथमोऽध्यायः।।१।।

---

1. A.B. Omit ज्ञानरूपां भगवच्छक्तिं 2. B. adds विदित्रं 3. H.V. "ल्पि" 4. H.V. "दा" 5. H.V. नो 6. H.V.Omit मनु....तस्येति 7. A. Omits मनुजः 8. H.V. "ज: 9. A.B. नानाऽपि" 10. A. व्यतिरिक्तं; H.V. अतिरिक्तं 11. A.B.H. Omit सदृष्टान्तं 12. H.V. बुद्धि" 13. H.V. Omit आ" 14. A. "प्न" 15. H.V. जीवान् 16. H.V. परि" 17. H.V. Omit "त्त"

**वीर०** तस्य विज्ञानशक्तिं व्यवसायशक्तिं तां महिं महत्तत्वम् आमनन्ति उपासते। सर्वात्मनः सर्वान्तर्यामिणः गिरित्रं रुद्रम् अन्तःकरणमहङ्कारम्। अत एव "रुद्रो वक्षसि चाभव" दिति विश्वरूपे[2] कथितम्। अहङ्कारश्च अनात्मन्यात्माभिमानहेतुरिति मोहकस्य गिरित्रस्य तदात्मकत्वं युक्तम्। रासभाद्वडबायामुत्पन्नाऽश्वतरी अश्वाश्वतर्युष्ट्रगजास्तस्य नखानीत्यर्थः। सर्वे मृगाः पशवश्च तस्य श्रोणिदेशे उपास्याः तत्त्वेनानुसन्धेयाः इत्यर्थः।।३५।।

वयांसि वेदात्मकतित्तिर्यादयः पक्षिणः तस्य व्याकरणं "नामरूपे व्याकरवाणि" (छन्दो.उ.6-3-2) इति श्रुत्युक्तं [3]शिल्पनैपुण्यं मनुर्मन्त्रः तस्य मनीषा बुद्धिः मैनुजः मनुष्यवर्गः तन्निवासस्थानं गन्धर्वादीनां द्वन्द्वैक्यं[4] गन्धर्वादि[5]रप्सरोऽन्तो वर्गः। अस्य स्वरः षड्जादिस्वरः तेषां गानाद्यन्वयात् तत्स्वरत्वं युक्तम्। असुरानीकवर्यः असुरसमूहश्रेष्ठः प्रह्लादः तस्य स्मृतिः।।३६।।

ब्रह्मा ब्रह्मणः तस्य आननं महात्मा वैराजः। क्षत्रभुजः क्षत्रं क्षत्रियो भुजो यस्य सः। विट् वैश्यः ऊरू यस्य स[7]ः तथोक्तः। अङ्घ्रिश्रितकृष्णवर्णः अङ्घ्रौ श्रितः[8] कृष्णवर्णः शूद्रो यस्य सः कृष्णवर्णस्तु[9] तदङ्घ्रित्वेनानुसन्धेय इत्यर्थः। नानाभिधाभीज्यगु[10]णाः नानानामका अभीज्या यष्टव्या वसुरुद्रादयस्तेषां गु[11]णैरुपपन्नो युक्तः यो द्रव्यात्मको हविस्साध्यः वितानयोगः यज्ञादियोगः स तस्य आराधनरूपं कर्मेत्यर्थः।।३७।।

ईश्वरविग्रहस्य वैराजविग्रहस्य यः सन्निवेश; अवयवसंस्थानं[12] मया[13] ते तुभ्यं कथितः। असौ इयानेतावानेव स्थविष्ठेऽस्मिन् वैराजसम्बन्धिनि वपुषि स्वकीयबुद्ध्या मुमुक्षुभिर्मनः सन्धार्यते यतः यस्मात् ईश्वरशरीरादन्यद्बहिर्भूतं नास्ति सर्वं तच्छरीरान्तर्भूतमित्यर्थः।।३८।।

एतदेवाऽऽह - **स** इति। "दृश्यते श्रूयतेऽपि वा" (म.ना.उ.9-5) इति श्रुत्यर्थ उच्यते। सर्वधीवृत्तिभिः प्रत्यक्षानुमानादिसर्वविधज्ञानैरनुभूताः सर्वे ते पदार्थाः तेऽन्तर्बहिश्चाधिष्ठेयतया यस्य स[14]ः तथोक्तः। एवञ्च तदधिष्ठेयपदार्थानां तच्छरीरत्वमर्थसिद्धम्। तत्र दृष्टान्तमाह- यथा एक आत्मा जीवः स्वप्रजनेक्षिता स्वप्रजनद्रष्टा ह्यात्मा स्वकीयसुकृतदुष्कृतानुसारेण परमात्मसृष्टान् स्वेनैवानुभाव्यान् तत्कालमात्रावसानान् पदार्थानधिष्ठाय राज्याभिषेकशिरच्छेदादिसुखदुःख[15]ादिकमनुभवति तथा अत्रैकस्यानेकपदार्थषु अधिष्ठातृत्वमात्रे दृष्टान्तः। एवं दृष्टश्रुतचेतनाचेतनशरीरकत्वेऽपि शरीरगतदोषा-

---

1. A.B. Omit तस्य 2. A.B. "पेण 3. W. adds अद्भुतं 4. W. Omits मनुजः 5. W. क्यम् 6. W. "द्यप्स 7. A.B. Omit सः 8. W. adds आश्रितः 9. W. Omits तु 10. W. "गु" 11. W. गु" 12. A.B. "सन्निवेशः 13. A.B.Omit मया ते तुभ्यं 14. W. Omits सः 15. A.B. "खम"

संस्पर्शित्वमाह सत्यमिति। सत्यं स्वरूपतो गुणतश्च निर्विकारम्। तस्य पुरुषार्थत्वमाह-आनन्दनिधिमिति। आनन्दाश्रयमित्यर्थः। आनन्दस्वरूपत्वस्याप्युपलक्षणं "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" (तैत्ति.उ.2-4) "विज्ञानमानन्दम्" (बृह.उ.3-9-34) इत्युभयत्रापि श्रवणात्। भजेत उपासीत। यद्वा सत्यम् इत्यचिद्व्यावृत्तिः। आनन्दनिधिमिति क्षेत्रज्ञव्यावृत्तिः अन्यत्र न सज्जेदब्रह्मात्मकं स्वतन्त्रं वस्तु किञ्चित् परिकल्प्य तत्रासक्तो न भवेत्, यतस्तदासङ्गादात्मपातः। आत्मनः स्वस्य पातः संसारः स्यात् तस्मान्न सज्जेदित्यर्थः।।३९।।

इति श्रीवत्सान्वयपयःपारावार राकासुधाकरस्य सर्वविद्यानिधेः चक्रवर्तिनः
श्रीशैलगुरोः सुतेन तच्चरणकमलपरिचर्याप्रसादिततत्सूक्तिसमधिगत
श्रीमद्भागवतार्थहृदयेन श्रीवैष्णवदासेन श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां
श्रीमद्भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां श्रीमद्भागवतव्याख्यायां
द्वितीयस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः।।१।।

**विज०** विज्ञानशक्तिं विरिञ्चं गिरिं कैलासं त्रायत इति गिरेः वायोस्त्राणं यस्य सः तथेति वा। गिरित्रो रुद्रः सर्वात्मनः सर्वस्वामिनः अन्तःकरणमहङ्कारः तस्माज्जातः नखानि नखेभ्यः। गर्दभाद्वडबायामुत्पन्ना अश्वतरी श्रोणिदेशे स्थिताः तस्माज्जाताश्च ।।३५।।

वचांसि लौकिकवैदिकानि। विचित्रं तस्य व्याहरणं शब्दः व्याहरणाश्रितानि तज्जातानि च। मनुर्वायुः तस्य मनीषा बुद्धिः "ते वायवे मनवे बाधिताय" इति श्रुतिः, मनुः स्वायंभुवो वा मनीषा विचारः भगवद्विचारशक्तिजातत्त्वात्। स्मृतिकर्तृत्वं मनोर्निवासो निवसनं कर्मजनितत्वात्। गन्धर्वादीनामुत्पादिके स्वरस्मृती यस्य स तथा। स्वरः षड्जादिलक्षणः स्मृतिरतीतादिविषया असुरानीकस्य जनकं वीर्यं यस्य स तथा।।३६।।

ब्रह्मणः ब्राह्मणजातेर्जनकमाननं यस्य स तथा। क्षत्रजातेरुत्पादकौ भुजौ यस्य स तथा। विशां जनकौ ऊरू यस्य स तथा। अङ्घ्रिश्रितः कृष्णवर्णः शूद्रजातिः यस्य स तथा। देवपितृभ्यो विनियुज्यमाना स्वाहास्वधा तयोरुत्पादको वीर्यगुणो रेतोगुणस्तेनोपपन्नः हव्यजनक आत्मा मध्यदेहो यस्य सः तथा। अग्निष्टोमादिकर्मवितानस्योत्पादको योग उपायो यस्य सः तथा। वितानं विस्तारः।।३७।।

उक्तार्थमुपसंहरति- **इयान्** इति। ईश्वरविग्रहस्य वैराजाख्यहरिदेहस्य यः सन्निवेशोऽवस्थितिविशेषः

1. W. Omits 'त्व'

सः इयान् इत्थम्भूतो मया ते तव कथितः यतोऽस्मादीश्वरविग्रहात् स्थविष्ठमुत्तमं च नास्ति। योगिभिः मनः अस्मिन् स्थविष्ठे सर्वोत्तमे वपुषि स्वबुद्ध्या सन्धार्यते, मनोनैर्मल्यायेति शेष इत्यन्वयः।।३८।।

भजनापरपर्यायोपासनं गुणोपसंहारेण कार्यमिति यदतस्तद्गुणकथनपूर्वकं तदेवोपासनं स्पष्टीकुर्वन् विपक्षे बाधकमाह - **स सर्वविदिति**। "प्राण एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति" (प्रश्न.उ.4-3) इति श्रुतेः। पञ्चावृत्तिरेको मुख्य प्राण एव यथा सुप्तजनस्येक्षिता द्रष्टा। तथा स हरिः, सर्वान्वेत्तीति सर्ववित्। हृदिं स्थित्वाऽनुभूर्यथेष्टा-नन्दानुभवनात्। सर्वो गुणपूर्णः आत्मा स्वामीत्येवं गुणानुपसंहृत्य सत्यं सर्वतः सारमानन्दनिधिं तं विष्णु-म्भजेतोपासीत। आधिव्याध्यादिसमुद्भवेऽप्युपासनं न हातव्यमित्याशयेनोक्तं सर्वात्मनेति। अतोऽन्यतः परमात्मानुपासनेऽपि आत्मघातः अहितकरणादिना स्वात्महननाख्यदोषापत्त्या नित्यदुःखतमप्राप्तिः स्यादित्यन्वयः। चशब्दस्तत्तद्योग्यतानुसारेणेत्यस्मिन्नर्थे। "यथैकस्तु बहून्सुप्तानसुप्तः पश्यति प्रभुः। यथेष्टभव-नाद्विष्णुरनुभूः परिकीर्तितः" (व्योमसंहितायां) इत्यादेरुक्त एवार्थ इति। स्वेच्छयाऽनुकूलविग्रहग्रहणाद्वाऽनुभूः अनेन प्राणेन दत्तानि चेष्टालक्षणानि कर्माणीत्यानन्दशब्देन कर्माण्युच्यन्ते। तेषां फलपर्यन्तं निधायकत्वेन निधिपालनत्वात् स्वामित्वाद्वाऽऽनन्दनिधिर्हरिस्तञ्च।।३९।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
द्वितीयस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः।।१।।

**रा०कृ०** सर्वात्मनः तस्य विज्ञानशक्तिं महिं महत्तत्त्वम्, आमनन्ति वदन्ति। अन्तःकरणं गिरित्रं रुद्रम् आमनन्ति। तस्य नखानि अश्वाश्वतर्युष्ट्रगजा इति वदन्ति। तस्य श्रोणिदेशे श्रोणिस्थानीयाः सर्वे मृगाः हरिणादयः पशवः गोमहिषादय इति वदन्ति।।३५।।

विदित्रं तव्द्याकरणं तस्य व्याकरणं वयांसि विचित्ररूपाः पक्षिण इति, मनीषा मनुरिति, निवासो मनुज इति, स्वरस्मृतिः षड्जादिस्वरस्मृतयः गन्धर्वविद्याधरचारणाप्सरः, गन्धर्वविद्याधरचारणाप्सरसां वर्ग इति च वदन्ति। अपि च सः असुरानीकवीर्यः असुरानीकं वीर्यस्थानीयं यस्य तथाभूत इत्यर्थः।।३६।।

अस्य पुरुषस्य आननं ब्रह्मा ब्राह्मणः। महात्मा स पुरुषः क्षत्रभुजः, विडूरुः वैश्योरुः अङ्घ्रिश्रित-कृष्णावर्णः पादाश्रितशूद्रः। तस्य भुजौ ऊरू वैश्याः। अङ्घ्री शूद्रा इति भावः। तस्य कर्मनानाऽभि-धाऽभीज्य गणोपपन्नः नानानामकयष्टव्यदेवगणयुक्तः द्रव्यात्मकः वितानयोगः, यज्ञादिप्रयोगः, भवतीति शेषः।।३७।।

यो मया ते तुभ्यं कथितः सोऽसौ ईश्वरविग्रहस्य सन्निवेशः अवयवसन्निवेशः इयान् एतावानेव। यतो यस्मादीश्वरविग्रहात् भिन्नं वस्तु किञ्चिदपि नास्ति। अस्मिन् स्थविष्ठे अतिस्थूले वपुषि योगिभिः स्वबुद्ध्या मनः सन्धार्यते।

पूर्वोक्तैः लक्षणैः सर्वमयस्य सर्वेश्वरस्य विराड्विग्रहो निष्पद्यते। मोक्षार्थी प्रथमं तद्विग्रहभागेषु मनो निधाय क्रमशः सर्वस्मिन्नेव शरीरे सन्धारयेत्। तथाहि- चञ्चलं मनो यत्र परिभ्रमति तत्र तत्र भगवदङ्गत्वं स्वबुद्ध्या भावयेत्। तथा च मनसः सर्वे स्वाभाविकाः विषयाः भगवदंशा एवेति धिया सर्वमपि चिन्तनं भगवच्चिन्तनत्वेन पर्यवस्येत्। एवञ्च स्पर्धावमानादयो मनोदोषाः नैवोत्पद्येरन्। स्पर्धादिदोषविषयाणां मनुष्यादीनामपि भगवदङ्गभूततया ध्येयान्तःपातित्वात् मानवजीवितचर्यायाः सर्वस्या अपि ईश्वराराधनत्वभावनायां श्रीशङ्करभगवत्पादवचनं प्रमाणम्। तद्यथा-आत्मा त्वं गिरिजा मतिः परिजनाः प्राणाः शरीरं गृहम्। पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः। सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरः। यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो! तवाराधनम्।।३८।।

स्वप्रजनेक्षिता स्वप्ने कल्पितानां जनानां ईक्षिता आत्मा तथा आत्मेव जीव इव सर्वधीवृत्त्य-नुभूतसर्वः सर्वेषां धीवृत्तिभिः अनुभूतं सर्वं भोगैश्वर्यादिकं येन तथाभूतः सः परमात्मा एक एव। सत्यम् आनन्दनिधिं तं भजेत। यतः सङ्गात् आत्मपातः आत्मनः स्वस्य पातः संसारमध्ये पातः भवति तादृशि अन्यत्र कलत्रपुत्रगृहादौ न सज्जेत् न सक्तो भवेत्।

स्वप्रजनेक्षिता जीवात्मेव सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वः परमात्मा' इत्यत्र किञ्चिदुच्यते - जीवः स्वप्ने मनः - कल्पितानां नानानामरूपप्रकृतीनां व्यक्तिविशेषाणां दर्शनस्पर्शनादिकं मनःकल्पितैरेव इन्द्रियैः कुर्वन् पुनर्जागृतिं प्राप्य स्वस्वरूपमधिगच्छति। स्वप्नदृष्टान् सर्वानप्यात्ममयानभिजानाति। तथाहि - स्वप्ने दृष्टान् व्यक्तिविशेषान् पृथक् पश्यन्नपि जीवः स्वयं स्वेनैव दर्शनस्पर्शनादिकं करोतीति सर्वेषामनुभव- सिद्धो विषयः। एवमेव ईश्वरो जीवानां हृदयेषु स्थितः तद्बुद्धिवृत्तीः प्राचोदयन् अधिगतसर्वविषयैः तैस्सह क्रीडते।

जीवस्वप्नेश्वरसृष्ट्योरियान् भेदः जीवः स्वस्वप्नबद्धः भयदुःखादिकमनुभवति। ईश्वरस्तु निद्रास्वप्नजननमरणादीनां नियामकत्वात् तैरबद्धः तज्जन्यसुखदुःखाद्यतीतः सत्यस्वरूपस्सन् सृष्टिगत वैविध्येन क्रीडतीति।

एवं संसार्यपि जीवः पुत्रकलत्रादिरूपेणावस्थितस्य ईश्वरस्य सेवनं केवलकर्तव्यधिया समाचरन् ईश्वरस्थितिमासाद्य असङ्गानन्दं भजते। तदव्यतिरेकेण केवलपुत्रकलत्रादीन् आसक्त्या सेवमानः संसारबद्धो भवति।।३९।।

इति श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां व्याख्यायां
द्वितीयस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः।।१।।

**000O000**

# द्वितीयोऽध्यायः

## श्रीशुक उवाच

एवं पुरा धारणयाऽऽत्मयोनिर्नष्टां स्मृतिं प्रत्यवरुध्य[1] तुष्टात्[2]।
तथा ससर्जेदममोघदृष्टिर्यथाप्ययात्[3] प्राक् व्यवसायबुद्धिः।।१।।

शाब्दस्य[4] हि ब्रह्मण एष पन्था यन्नामभिर्ध्यायति धीरपार्थैः।
परिभ्रमंस्तत्र न विन्दतेऽर्थान् मायामये वासनया शयानः।।२।।

अतः[5] कविर्नामसु यावदर्थः स्यादप्रमत्तो व्यवसायबुद्धिः।
सिद्धेऽन्यथार्थे न यतेत तत्र[6] परिश्रमं तत्र[7] समीक्षमाणः।।३।।

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैर्बाहौ स्वसिद्धे[8] ह्युपबर्हणैः किम्।।
सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्नपात्र्या[9] दिग्वल्कलादौ[10] सति किं दुकूलैः।।४।।

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्वितीये तु ततः स्थूलधारणातो जितं मनः। सर्वसाक्षिणि सर्वेशे विष्णौ धार्यमितीर्यते।।
दृश्यालम्बनरूपैवमुक्ता वैराजधारणा। इहोच्यते तु तत्साध्या[11] सर्वान्तर्यामिधारणा।।

तत्र तावत् पूर्वोक्तधारणायाः अवान्तरफले[12] विश्वसृष्ट्यादिकमाह - **एवमिति**। एवं या[13] धारणा तया तुष्टाद्धरेः पुरा प्रलयसमये नष्टां सृष्टिस्मृतिं प्रत्यवरुध्य लब्ध्वा ब्रह्मा[14] अप्ययात् प्रलयात्[15] प्राक् इदं विश्वं यथाऽऽसीत् तथा ससर्ज। व्यवसायात्मिका बुद्धिः यस्य सः[16]। अत एव अमोघा दृष्टिः[17] यस्य इति। अतः तया धारणया विश्वसृष्टिसामर्थ्यं[18] भवति।।१।।

उपासनाफलादपि[19] विरक्तस्य शुद्धात्मधारणायां अधिकारोऽतो वैराग्यार्थं सर्वं कर्मफलं निन्दति-**शाब्दस्येति**। शाब्दं शब्दमयं ब्रह्म वेदः तस्य एष पन्थाः कर्मफलबोधनप्रकारः[18]। कोऽसौ? अपार्थैः अर्थशून्यैरेव स्वर्गादिनामभिः साधकस्य[19] धीः[20] ध्यायति तत्तदिच्छां करोतीति यत्। अपार्थत्वमेवाऽऽह। तत्र मायामये पथि सुखमिति वासनया[21] शयानः[22] स्वप्नान् पश्यन्निव परिभ्रमन् अर्थान् न विन्दति तत्तल्लोकं प्राप्तोऽपि निरवद्यं सुखं न लभत इत्यर्थः।।२।।

---

1. M.Ma."ह्य 2. M.Ma. "ध्यन् 3. AF.G. "अ 4. M.Ma. श" 5. H.V. त" 6. M.Ma ततत् 7. AF.GF. त्वत्र 8. AF. GF. च 9. M.Ma "पर्णपात्रैः 10. M.Ma. "ब्रलाभे 11. H.V. "चाद्या 12. A.B. "लभाह 13. H.V. धारणया त" 14. B.H.V. Omit ब्रह्मा 15. A.B. Omit प्रलयात् 16. H.V. Omit सः 17. H.V. "ति" 18. A. Omits न 19. B.H.V. Omit साधकस्य 20. H.V. Omit धीः 21. H.V. Omit वासनया 22. H.V. मन्यमानः

तर्हि सर्वथा कर्मफलत्यागे सद्य एव देहपातः स्यात् इत्याशङ्क्य आह **अत**[1] इति। अतः[2] कविः नामसु[3] नाममात्रेषु नाममात्रसारेषु[4] भाग्येषु यावता अर्थेन[5] अर्थः देहनिर्वाहो यस्य सः[6] तथाभूतः स्यात्। अप्रमत्तः तावन्मात्रेऽपि अनासक्तः व्यवसायबुद्धिः नेदं सुखमिति निश्चयवान्। तदाऽपि[7] तत्र तस्मिन्नर्थे अन्यथैव सिद्धे सति तत्र यत्ने[8] परिश्रमं पश्यन् न यतेत।।३।।

अन्यथासिद्धिमाह द्वाभ्याम् **सत्यामिति**। कशिपोः शय्यायाः[9]। स्वतः सिद्धे बाहौ सति उपबर्हणैः उच्छीर्षकैः। किम्? पुरुधा बहुप्रकारया अन्नपात्र्या भोजनपात्रेण। दिक्सद्भावो नाम नग्नत्वमेव।।४।।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं वैराजधारणामुक्त्वा मुमुक्षोः हृदये उपास्यं रूपं[10] तदुपासनानिष्ठस्यार्चिरादिना गतिञ्च वक्ष्यन् उक्तायाःवैराजधारणाया एव तावत् माहात्म्यमाह मुनिः **एवमिति**। एवं या धारणा तया तुष्टाद्धरेः पुरा प्रलयसमये नष्टां पूर्वकल्पे[11] चतुर्मुखेन सह विनष्टां स्मृतिं सर्गविषयकं ज्ञानं प्रत्यवरुध्य लब्ध्वा व्यवसायबुद्धिः स्मृतिविषयव्यवसायरूपज्ञानः अत एव अमोघदृष्टिः अमोघा यथाऽवस्थिता दृष्टिः तत्तद्वस्तुविषयकज्ञानं यस्य स तथोक्तः। आत्मयोनिः चतुर्मुखः अप्ययात् प्रलयात् प्राक् यथा तथा ससर्ज। पूर्वकल्पपदार्थसजातीयानेव पदार्थान् ससर्ज इत्यर्थः। अत्र यद्यपि पूर्वकल्पे विनष्टां स्मृतिं प्रत्यवरुध्य[12] इत्यनेन पूर्वकल्पे यः चतुर्मुखः स एव अस्मिन् कल्पेऽपि[13] प्रतीयते, तथाऽपि प्रतिकल्पं चतुर्मुखानां भेद एव, न्याय्यः तत्तत्कल्प[14] चतुर्मुखस्य "ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे", "ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे" (मना.उ.10-6) इति मुक्त्यवगमेन पुनरावृत्त्य-सम्भवात् भगवत्पूर्णकृपापात्रस्य पुनः संसारायोगाच्च। तथा हि वक्ष्यति भगवान् -"ऋषिमाद्यं न बध्नाति पापीयांस्त्वां रजोगुणः नाऽऽत्मावसीदत्यस्मिंस्ते। वर्षीयान्मदनुग्रहः" (भाग.3-9-35) इति। अतः प्रतिकल्पं विभिन्ना एव चतुर्मुखाः। अत एव यद्यपि पूर्वानुभूतवस्तुविषयकज्ञानपरः स्मृतिशब्दः, तथाऽपीह सर्गविषयकज्ञानमात्रपरः, स्मृतिशब्दप्रयोगस्तु ज्ञातृज्ञेयज्ञानानाम् अत्यन्त साजात्याभिप्राय-कृतः, पूर्वदृष्टात्यन्तसजातीये गवान्तरे स एवायं गौरिति प्रत्यभिज्ञावत्। ननु वैराजधारणया[15] विश्वसृष्टिसामर्थ्ये[16] विश्वसृष्टौ च सत्यां सृष्टानां पातालादीनां वैराजपादतलादिरूपेण धारणा इति इतरेतराश्रयवदाभाति, न च स्रक्ष्यमाणपदार्थविषयकज्ञानसद्भावेन पातालादीनामवयवत्वकल्पनं युक्तम्। स्मृतिं प्रत्यवरुध्येत्यनेन ज्ञानस्यापि धारणातो लभ्यत्वावगमात्। सत्यं, भगवन्नाभिकमलाञ्चतुर्मुखे उत्पन्ने

---

1. H.V. त° 2. H.V. त° 3. B.H.V. Omit नामसु 4. A.B. Omit नाममात्रसारेषु 5. H.V. Omit अर्थेन 6. H.V. Omit सः 7. H.V. Omit तदाऽपि 8. B. adds प्र 9. A.B. Omit दिवस....मेव। 10. A.B. Omit रूपं 11. W. °ल्प 12. A.B. परिल्भय 13. W. पतिः 14. W. adds °स्य " 15. W.° णा° 16. W.° थ्यं

[1]तदीयतपश्चर्यया भगवति प्रसन्ने " भूयस्त्वं तप आतिष्ठ विद्याञ्चैव मदाश्रयाम्। ताभ्यामन्तर्हृदि ब्रह्मन् लोकान् द्रक्ष्यस्यपावृतान्। तत आत्मनि लोके च भक्तियुक्तः समाहितः। द्रष्टाऽसि मां ततं ब्रह्मन् मयि लोकांस्त्वमात्मनः" (भाग.3-9-30,31) इति वक्ष्यमाणरीत्या स्रक्ष्यमाणेषु सर्वेषु पदार्थेषु दृष्टेषु तेषां च पदार्थानां भगवदवयवत्वेन धारणया सृष्टिविषयज्ञान[2]सृष्टिसामर्थ्य[3]लाभस्याभिधानात्। दैनन्दिनकल्पाभिप्रायं वा। एवं प्रपञ्चशरीरकतदाश्रयभगवद्ध्यानात् ब्रह्मणः सृष्टिक्षमत्वलाभ उक्तः।।१।।

अथ मुमुक्षु[4]भिर्हृदि उपास्यं रूपं वक्ष्यन् " यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके" (भ.गी.2-46) इति न्यायेन वेद[5] मुमुक्षोः साकल्येन अर्थ[6]नुपादेयत्वमाह **शाब्दस्येति**। शाब्दस्य शब्दात्मकस्य ब्रह्मणो वेदस्यैष पन्था एषा दिक्। क इत्यत आह - यदिति अपाथैरपगतपरमपुरुषार्थैः नामभिः स्वर्गादिविषयशब्दैः धीः बुद्धिः ध्यायति चिन्तां करोतीति यत्स्वर्गादिफले श्रुते तत्र धीः। प्रवणा स्यात् इत्यर्थः। नाम्ना सार[7]वत्त्वं न स्वरूपत इति द्योतनार्थं नामपदप्रयोगः। तृतीया च अध्ययनेन वसति इत्यादिवत् हेत्वर्थे। नाममात्रसारभूतस्वर्गाद्यर्थकर्मणि बुद्धिप्रावण्यापादनमिति यदयं वेदमार्ग इत्यर्थः। स्वर्गादीनाम् अपार्थत्वमेवाऽऽह परिभ्रमन्निति। मायामये प्रपञ्चे वासनया अनादिकर्मवासनया शयानो वर्तमानः तत्र स्वर्गादिविषये परिभ्रमन् अर्थात् मोक्ष - तदुपायादीन् न विन्दते न लभते।।२।।

ननु मातापितृसहस्रेभ्योऽपि वत्सलतमो वेद आत्मोज्जीवने प्रवृत्तः कथं नाममात्रसारभूतस्वर्गाद्यर्थकर्म बोधयन् प्रतारयेत् इत्याशङ्कां परिहरन् मुमुक्षोः अपेक्षितांशस्योपादेयतामाह **अत** इति। अतः वेदोक्तस्य साकल्येनानुपादेयत्वात् कविः त्याज्योपादे[8]यविषय[9]विवेकवान् अनेनोक्ता शङ्का परिहृ[10]ता। वेदो हि तमःप्रचुराणां रजःप्रचुराणां सत्त्वप्रचुराणां च लोकानां वत्सलतयैव हितम् अवबोधयति। यद्येषां स्वगुणानुगुण्येन स्वर्गादिसाधनमेव हितं नावबोध[11]येत् तदा एते रजस्तमःप्रचुरतया सात्त्विकफलमोक्षविमुखाः [12]स्वेपेक्षितफलमजानन्तः कामप्रावण्य[13]विवशा अनुपाये उपायभ्रान्त्या प्रणष्टा भवेयुरिति गुणत्रयप्रचुराणां स्वर्गा[14]दिफलानि तत्साधनानि [15]वा अवबोधयति। केवलसात्त्विकस्य तु मुमुक्षोः तानि परित्याज्यानि परिगृहीतानि वा तत्त[16]त्फलानि परित्यज्य सर्वाणि कर्माणि मोक्षैकफलतया अनुष्ठेयानीति विवेकसम्पन्नः अप्रमत्तः कदाचित् देहधारणाद्यर्थतया परिग्राह्येष्वप्यन्नपश्वादिषु अनासक्तः व्यवसायबुद्धिः स्वर्गादीनां क्षयिष्णुत्वसातिशयत्वनिश्चयात्मकज्ञानवान् नामसु नाममात्रसारभूतेषु भोगे[17]षु यावदर्थः स्यात्, यावत्प्रयोजनवान् स्यात्, न तु प्रयोजनाभासेषु रतः स्यादित्यर्थः। नानाविधेषु फलेषु तत्साधनभूतेषु बहुषु कर्मसु वेदबोधितेषु सत्स्वपि यावता देहधारणमुपासनानिर्वृ[18]त्तिश्च भवति, तावत् परिग्रहवान् स्यादित्यर्थः। देहधारणार्थं क्षुद्रफलेष्वपि यतितव्यमित्यत आह - सिद्ध इति।

---

1. A.B. Omit तदीय 2. W. Omits सृष्टि 3. W. °र्थ्ययोर्ला° 4. W. °क्षोर्हृदये 5. W. °देषु 6. W. °र्थानामनु 7. W. रत्वं 8. W. adds विभाग° 9. W. °यक 10. A.B. °हृ° 11. W. °यति 12. W स्वा° 13. A.B. Omit वि 14. W. °दीनि 15. W. च 16. A.B. Omit तत् 17. W. °ग्ये 18. A.B. °ति

अर्थे अपेक्षितेऽर्थेऽन्यथा पूर्वकर्मानुरूपे सिद्धे सति तत्तत् क्षुद्रफलतदुपायादिष्वपि न यतेत कथम्भूतो न यतेत तत्र यत्ने क्रियमाणे परिश्रमं समीक्षमाणः भवितव्यमेव भवति परिश्रमस्तु फलति इत्यर्थः।।३।।

अन्यथासिद्धिं विवृणोति **सत्या**मित्यादिना द्वयेन। क्षितौ सत्यां कशिपोः शय्यायाः पर्यङ्कादेः प्रयासैः तदर्जनानुकूलप्रयत्नैः[1] किम्? न किमपि। किन्तु परिश्रम एवेत्यर्थः। स्वतस्सिद्धे बाहौ सति उपबर्हणैः उपधानैः किम्? अञ्जलौ सति पुरुधाऽन्नपात्र्या नानाविध[2] भोजनपात्रेण[3] किम्? दिग्वल्कलादौ सति दिक्षु उत्तरीयस्थानीयासु सतीषु वल्कलेषु अन्तरीयस्थानीयेषु सत्सु न तु वल्कलाभावे दिक्षु सतीषु इत्यर्थः स्वरसः, 'अपवित्रकरो नग्न' इति नग्नस्य कर्मानर्हत्वस्मरणात्, मुमुक्षोरप्यावश्यकानाम् अनुष्ठेयत्वात्। दुकूलैः क्षौमैः किम्?।।४।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

एवं वैराजाख्यस्थूलरूपस्य धारणाश्रयत्वमुक्त्वा अस्मिन्नध्याये तत्तद्धृदयकमलकर्णिकान्तर्वर्तिनो हरेरात्माख्यरूपस्य धारणाविषयत्वं तदुपासकानां फलं चोपदिशति। तत्र प्रथमतः धारणायां क्षिप्रप्रवृत्तये कुत्र कस्य दृष्टफलेयं धारणेति शङ्काशङ्कुमुन्मूलयन् "ब्रूहि यद्वा विपर्ययम्" (भाग.1-19-38) इति प्रश्नं परिहरति **एवमि**त्यादिना। आत्मा परमात्मा योनिः कारणं यस्य स तथा। सः ब्रह्मा पुरा आदिसृष्टौ कालेन नष्टां तिरोहितां प्राक्कल्पविषयां स्मृतिं एवमुक्तधारणया प्रत्यवरुह्य अङ्कुरीकृत्य प्रतिलभ्य तुष्यन् अलम्बुद्धिं गच्छन् व्यवसाये जगत्सर्जनलक्षणोद्योगे बुद्धिः यस्य स तथा तत एव धारणया एवामोघदृष्टिः। अप्ययात् प्रलयात् पूर्वं यथा अवस्थितं तथा इदं जगत् ससर्ज इत्यन्वयः। ब्रह्मणो दृष्टफलत्वादियं विश्वसनीयेति विज्ञायते।।१।।

वाङ्मनोऽगोचरस्य कथं धारणावलम्बनत्वमात्रऽऽह **शब्दस्येति**। उक्तप्रकारेण श्रोतव्यादित्वेन विपश्चितां सम्मतत्वात् स्वतन्त्रत्वात् ब्रह्मादिसर्वजगत्स्रष्टृत्वात् सर्वान्तःस्थितत्वात् सर्वस्य तदधीनत्वात् सर्वगुणसम्पूर्णत्वाच्च, शब्दस्य ब्रह्मणो वेदादिसर्वशब्दराशेः एष हरिः पन्था विषयो मुख्यवाच्य इत्यन्वयः। इन्द्रादिनाम्नां पुरन्दरादिष्वेव रूढत्वात् हरेः तन्नामवाच्यत्वे रूढेः क्वापि अप्रयोजकत्वमत्राऽऽह यन्नामभिरिति। मायामये ईश्वरेच्छानिर्मितत्वात् तदधीने संसारे शयानः परिभ्रमन् किमपि अजानन् वर्तमानः अत एव वासनया नानाकर्मवासनया नानायोनिषु परिभ्रमन् यो जीवः तस्य धीः यत्पुरन्दरादिकं इन्द्रादिनामभिः ध्यायति तत्र पुरन्दरादौ अर्थात् इन्द्रादिनाम्नामनुपहत-परमैश्वर्यादिलक्षणान् न विन्दते अलम्बुद्धिः न प्राप्नोति। किञ्च तदुपास्त्या तेभ्यः पुरुषार्थांश्च न लभते।

1. W. °दा° 2. A.B. °षये 3. W. °त्रा

कुत इत्यत उक्तम् अपार्थैरिति तत्र ऐश्वर्याद्यर्थानामसम्भवात् अतो हरिरेव परमैश्वर्यादिगुणा-कारत्वेनाभिधेय इति स एव स्मर्तव्य इति अन्यत्सर्वमस्मर्तव्यं प्राधान्येनेति भावः। अनुपसर्गेऽपि क्विप्रत्ययविधानात् ध्यायतीति धीः ज्ञानाश्रयः पुरुषो वा यदित्यस्याव्ययत्वेन अपार्थैरित्यनेन संयोज्य यदपार्थैः यस्मिन् पुरन्दरादौ अपार्थैरिन्द्रादिनामभिः पुरन्दरादिकं ध्यायति तत्र पुरन्दरादौ इति वा। "सर्वनामा यतो विष्णुः तदन्यार्थान्न तु स्मरेत्" इति स्मृतिप्रसिद्धिं हिशब्देनाऽऽह।।२।।

सर्वशब्दानां विष्ण्वैकविषयत्वे विदुषामभिवादनादि सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्ग इति तत्राऽऽह **अत** इति। एवं सर्वनामार्थतया हरिरेव ध्येयः तव्द्यवहार्यश्च यतोऽतः कविः सर्वज्ञः। अप्रमत्तो जागरणशीलो नाम्नां हरिविषयत्वमविस्मरन् इत्यर्थः। अत एव व्यवसायबुद्धिर्निश्चयबुद्धिर्नामसु हरीतरविषयेषु घटादिषु अभिवादनादिना यावदर्थः स्वप्रयोजनं यस्य स तथा स्यात्। नातोऽधिकप्रयोजन इत्यर्थः। अन्यथा घटादिलोकविषयव्यवहारमन्तरेणार्थे स्वप्रयोजने सिद्धे स्वयमेव सम्पन्नो न तत्र यततेत्यन्वयः। कुतोऽऽत्राह तत्तदिति। तत्तत्पदार्थेषु तत्तत्परिश्रमम् अर्थपूर्त्यभावेन मनःक्लेशं समीक्षमाण इत्यन्वयः।।३।।

इदानीं स्वतःसिद्धिप्रकारं दर्शयति - **सत्यामिति**। देवनिर्मितायां क्षितौ सत्यां कशिपोः शय्यायाः सम्पादने प्रयासैः किम्? न किमपि प्रयोजनम्। शरीरयात्रानिर्वाहस्य द्रव्यान्तरेण सिद्धत्वादिति भावः। बाहौ स्वसिद्धे स्वतोऽनायासेन सम्पन्ने सति उपबर्हणैः शिरःपीठैः उच्छीर्षकैः किम्? कराञ्जलौ सति पुरुभिर्विस्तीर्णैः पर्णपात्रैः किम्? " बर्हं पर्णं दलं पत्रम् " इत्यभिधानम्। दिशामेव वस्त्राणां लाभे सति दुकूलैः निष्कापाद्यक्षौमादिवसनैः किम्?।।४।।

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

एवं धारणया वैराजविग्रहधारणया तुष्टात् हरेरिति शेषः। पुरा नष्टां स्मृतिं सृष्टिस्मृतिं प्रत्यवरुध्य प्राप्य व्यवसायबुद्धिः एवमेतत् स्रष्टव्यमिति निश्चयात्मकबुद्धिः अत एव अमोघदृष्टिः यथार्थज्ञानः आत्मयोनिः ब्रह्मा अप्ययात् प्रलयात् प्राक् इदं विश्वं यथा आसीत् तथा ससर्ज।

ननु आत्मयोनेः ब्रह्मणोऽपि कथं नष्टस्मृतित्वादिकम्? उच्यते- सर्वाऽपि सृष्टिः स्वप्नतुल्या। न हि स्वप्नजगति प्रथमपात्रभूतः स्वप्नानुभविता स्वातन्त्र्येण स्वप्नं कल्पयितुं प्रभवति। तस्मिन् स्वप्नोऽनुसन्धानप्रज्ञारूपेण आरोप्यते अथवा स्मृत्याकृत्या अवतरति। एवं विश्वसृष्टौ प्रथमपात्रभूतो ब्रह्माऽपि वैराजाख्यविष्णुस्मरणमाधायैव निश्चयबुद्धिर्यथार्थज्ञानस्सन् यथापूर्वं विश्वं सृजतीति ब्रह्मणः परब्रह्माधीनप्रवृत्तित्वकथने न काऽपि विप्रतिपत्तिः।

ब्रह्मा स्वस्मात् प्रागपि विष्णाववस्थितायाः कालातीतायाः शाश्वत्याश्च स्वकर्तव्य विज्ञानादिसकलसृष्ट्याः धारणया तत्सृष्टित्वेन अभिव्यक्तोऽभिव्याप्तश्चाभूदिति परमार्थः। ब्रह्मा नाम बृंहणशीलोऽथवा व्यापनशील इत्यर्थोऽनुसन्धेयः।।१।।

अपार्थैः अपगतपरमार्थैः नामभिः स्वर्गादिनामभिः धीः साधकस्य बुद्धिः ध्यायति तत्तत्फलाभिलाषं करोतीति यत् स एषः शाब्दस्य शब्दमयस्य ब्रह्मणः वेदस्य पन्थाः कर्मफलबोधनमार्गः। मायामये भगवदिच्छया कल्पिते पुत्रकलत्रादिमये प्रपञ्चे वासनया सुखेच्छया शयानः आत्मीयतया कृताभिमानः तत्र स्वर्गादौ परिभ्रमन्नपि अर्थान् शाश्वतसुखजनकान् पदार्थान् न विन्दते न प्राप्नोति। भौतिकाध्यात्मिकादि निखिलविश्वविज्ञानं वेदेऽन्तर्भवति। शब्दप्रपञ्चेनाभिधीयमानस्य तस्य वेदस्य सकलसृष्टिनिदानभूतपरब्रह्मैकप्रभवतया शाब्दब्रह्मत्वम्। तेन दर्शितेषु बहुषु मार्गेषु अन्यतमः कर्मफलबोधनमार्गः। स च मार्गः तत्तत्फलाभिसन्धिना परमार्थविरहितस्वर्गादिनानाभोग्यवस्तुजालस्य नामान्यनुध्यायता साधकेनानुस्रियते। अन्तर्यामीश्वरभावनानैरपेक्ष्येण पुत्रकलत्रादिमयस्थूलप्रपञ्चे ममकारवासनासहितः स साधकः स्वर्गादौ भोगलोके च सुखसम्पादनप्रवृत्तिनिमित्तकनिरन्तरपरिश्रमस्सन् आत्यन्तिकसुखेन दूरीक्रियते।।२।।

अतः कविः विवेकशाली नामसु नाममात्रेषु सारहीनेषु भोग्यवस्तुषु यावदर्थः यावता वस्तुना शरीरनिर्वाहो भवति तावत्यपि वस्तुनि अप्रमत्तः अवहितः व्यवसायबुद्धिः नेदं वस्तु सुखावहमिति निश्चयबुद्धिः स्यात्। तत्र शरीरनिर्वाहरूपेऽर्थे अन्यथा लघूपायेन सिद्धे सति तत्र प्रयत्ने परिश्रमं समीक्षमाणः कविः न यतेत यत्नं न कुर्वीत।

अन्नबुभुक्षुः यथा व्रीहिमवहत्य निस्तुषं कृत्वा तण्डुलमादत्ते, तथा बुद्धिमानपि सकलविद्यासारभूतं परमात्मानं भजते। अपि च बालिशः स्वभावमनुसृत्य जीवति, न तु तं स्वानुकूलतया परिवर्तयितुं प्रभवति। विज्ञस्तु विविधजीवितसन्निवेशान् वस्तुसाधनसम्पत्तिं च यथाऽवसरमुपयुज्य अनावश्यकं वस्तूपेक्षेतेति भावः।।३।।

क्षितौ भूम्यां सत्यां कशिपोः शय्यापर्यङ्कादेः प्रयासैः किं प्रयोजनम्? बाहौ स्वसिद्धे स्वतःसिद्धे उपबर्हणैः उपधानादिभिः किं प्रयोजनम्? अञ्जलौ सति पुरुधा बहुविधया अन्नपात्र्या किं प्रयोजनम्? दिग्वल्कलादौ सति दुकूलैः सूक्ष्मपट्टवस्त्रैः किं प्रयोजनम्?।।४।।

**चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां नोवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।**
**रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान् कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्।।५।।**

**एवं स्वचित्ते स्वत एव सिद्ध आत्मा प्रियोर्थो भगवाननन्तः।**
**तं निर्वृतो नियतार्थो भजेत संसारहेतूपरमश्च यत्र।।६।।**

. A.B.C.G.I.N. नैं 2. AF.GF. फलैं 3. H.V. °तो व्यं 4. M.Ma. °वधूतसुहृत्र कृष्णः? 5. H.V.W. °पं 6. AF.GF. °यार्थो 7. AF.GF. सुं

* कस्तां[1] त्वनादृत्य परानुचिन्तामृते पशूनसतीं[2] नाम युञ्ज्यात्[3]।
पश्यन् जनं पतितं वैतरण्यां स्वकर्मजान् परितापान्[4] जुषाणम्।।७।।

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे[5] प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधरं धारणया स्मरन्ति।।८।।

**श्रीध०** ननु[6] दिक्सद्भावो नाम नग्नत्वमेव वल्कलम्, अन्नं तोयं वासः स्थानं तु[7] याच्ञा प्रयत्नं विना कथं प्राप्येत तत्राऽऽह- **चीराणीति**। चीराणि वस्त्रखण्डानि। परान् बिभ्रति पुष्णन्ति फलादिभिर्ये ते भिक्षां फलादिरूपां न दिशन्ति किम्? किं वा सरितः स्यन्दमाना नद्यः किमशुष्यन्? गुहाः[9] गिरिदर्यः रुध्याः[10] किम्? राजादिभिः निरुद्धाः किम्? ननु कदाचित्[11] एषामलाभे[12] किं कार्यं[13] तत्र[14] आह - अजितो हरिः उपसन्नान्[15] शरणागतान् किं नावति न रक्षति? किंशब्दस्य पूर्वत्रापि सम्बन्धः। उक्तं[16] च - "भोजनाच्छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः। योऽसौ विश्वम्भरो देवः कथं भक्तानुपेक्षते" इति। धनेन यो दुर्मदः तेन अन्धान्[17] नष्टविवेकवान्।।५।।

तदा[18] तेन किं कर्तव्यं हरिस्तु सेव्य इत्याह - **एवमिति**। एवं विरक्तस्सन् तं भजेत। भजनीयत्वे हेतवः। स्वचित्ते स्वत एव सिद्धः। यत[19] आत्मा अत एव[20] प्रियः। प्रियस्य[21] च सेवा सुखरूपैव। किञ्च[22] अर्थः[23] सत्यो, न त्वनात्मवन्मिथ्या। भगवान् भजनीयगुणश्च[24] अनन्तश्च[25] नित्यः य एवम्भूतः तं भजेत। नियतार्थः[26] निश्चितस्वरूपः तदनुभवानन्देन निर्वृतस्सन् इति स्वतः सुखात्मकत्वं दर्शितम्। किञ्च, यत्र यस्मिन् भजने सति संसारहेतोः अविद्याया उपरमो नाशो भवति।।६।।

एतदेवान्यचिन्तानिन्दया द्रढयति - **क** इति। तां तथाभूतां परस्य हरेः अनुचिन्तां धारणा-मनादृत्य पशून् कर्मजडान् विना। "यथा पशुरेवं[27]यं स देवानाम्"(मुण्ड.उ.1-4-10) इति श्रुतेः। असतीं विषयचिन्तां को नाम कुर्यात्? यया[28] चिन्तया वैतरण्यां पतितम्। तत्र च स्वकर्मजान् आध्यात्मिकादिक्लेशान् सेवमानं जनं[29] पश्यन्। वैतरणी यमद्वारस्था[30] नदी। तत्तुल्यत्वात् संसृतिः वैतरणी।।७।।

---

* (This V. beginning with स सर्व..... and occuring here in M&Ma is to be found along with commentary at the end of 1st Chapter of this Skandha) 1. M.Ma.W. °स्तं 2. M.Ma. °शूत्वम" 3. B.I.W. कुर्यात् 4. W. पाकान् 5. AF.GF. °हेऽन्तर्हृदो व° 6. H.V.Omit दिक्सद्भावो नाम नग्नत्वमेव 7. B.H.V. च 8.B.H.V. Omit ते....किमुशुष्यन्? 9. H.V. add सुखशयनोपवेशनाद्युपयुक्तः 10. A.B. Omit रुध्यया: निरुद्धाः किम्? 11. H.V. Omit कदाचित् 12. H.V. तैं 13. add स्यात् 14. H.V. अतः 15. H.V. प° 16. A.H.V. Omit उक्तं...इति 17. B.H.V. Omit नष्टविवेकान् 18. H.V. Omit तदा...कर्तव्यं 19. H.V. add एव 20. B. adds य: 21. B. तस्य 22. B.H.V. Omit किञ्च 23. H.V. add च 24. B. Omits च 25. Omits च 26. H.V. Omit निय...स्वरूपः 27. B. °व स; H.V. °वं सर्व दे° 28. B. तथा; H.V. तद्धिन्त 29. H.V. Omit जनं 30. A. °भस्य द्वा°

तामेव धारणां सविशेषमाह - **केचिदिति** षड्भिः। केचित् विरलाः स्वदेहस्यान्तर्मध्ये यद्धृदयं तत्र योऽवकाशः तस्मिन् वसन्तम्। प्रादेशः तर्जन्यङ्गुष्ठयोर्विस्तारः स एव मात्रा प्रमाणं यस्य इति हृदयपरिमाणं तत्रोपचर्यते। कञ्जं पद्मम्। रथाङ्गं चक्रम्।।८।।

**वीर०** ननु वल्कलमन्नं तोयं वासस्थानञ्च याच्ञादिप्रयत्नं विना कथं प्राप्येत? तत्राऽऽह - **चीराणीति**। जीर्णवस्त्रखण्डानि पथि मार्गे न सन्ति किम्? परभृतः परान् बिभ्रति पुष्णन्ति फलादिभिः ये ते अङ्घ्रिपाः भिक्षां न दिशन्ति वा किम्? न प्रयच्छन्ति किम्? इत्यर्थः। सरितो नद्यः अशुष्यन् किम्? गुहाः पर्वतबिलानि रुद्धाः निरुद्धाः किम्? ननु कदाचिदेषामलाभे किं कार्यं स्यात्? तत्राह - अजित इति। उपसन्नान् शरणागतान् अजितः सर्वेश्वरः नावति? न रक्षति किम्? कवयो धनेन यो दुर्मदः तेन अन्धान् कार्याकार्यानभिज्ञान् कस्माद्धेतोः भजन्ति? कविभिरन्नाद्यर्थमपि धनदुर्मदान्धा न भजनीया इत्यर्थः।।५।।

इतरे दुस्सेव्याः, हरिस्तु सुसेव्यः उक्तरीत्या अवस्थितस्य इतरवैतृष्ण्यात् भगवत एव प्रीतिविषयत्वादित्याऽऽह - **एवमिति**। स्वचित्ते स्वकीयचित्ते एवं सिद्धे - उक्तानुसाधनपरे सति विषयान्तरविरक्तचित्तविषयभृतो यः आत्मत्वादिगुणकः यत्र च यस्मिन् सेव्यमाने संसारहेतूपरमश्च बन्धहेतुभूताविद्यानिवृत्तिश्च भवति, तं भजेतेत्यन्वयः। भजनीयत्वौपयिकगुणानाह - आत्मेत्यादि। आत्मा अन्तःप्रविश्य धारकः, धार्यस्य शरीरस्य जीवात्मनः धारकपरमात्मानुवर्तित्वं युक्तम् इत्यभिप्रायः। यत आत्मा अत एव प्रियः निरतिशयप्रीतिविषयः। आत्मसम्बन्धादेव हि देहापत्यकलत्रादिकं सर्वं प्रियवदाभाति। आत्मनोऽप्यात्मा हरिः प्रिय इति किमु वक्तव्यम्। प्रिय इति निरतिशयसुखस्वरूपत्वस्यापि उपलक्षणम्। अत एव अर्थः निरतिशयपुरुषार्थस्वरूपः निरतिशयसुखमेव हि परमपुरुषार्थः। पुरुषार्थस्वरूपस्यापि दुर्भगत्वेऽभजनीयत्वं स्यात्।

अत आह भगवान् हेयप्रतिभटसमग्रज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजस्सम्पन्नः स्वरूपस्य ज्ञानादिगुणानाञ्च परिच्छिन्नत्वशङ्कां व्यावर्तयति अनन्त इति। तमुक्तविधं स्वप्राप्ति विरोधिभूताविद्यानिवर्तकं आत्मानं निर्वृतः इतरविषयवैतृष्ण्यात् निरतिशयसुखरूपपरमात्मोपासनाञ्च सुखितः। नियतार्थः नियमितप्रयोजनः फलान्तरनिवृत्त इत्यर्थः। भजेत उपासीतेत्यर्थः।।६।।

एतदेवार्थान्तरचिन्तानिन्दया द्रढयति - **क** इति। तं ईश्वरं अनादृत्य। तामिति पाठे ईश्वरचिन्तामनादृत्येत्यर्थः। को लोकः ऋते पशून् विना परानुचिन्ताम् अर्थान्तरचिन्ताम् असतीम् अशोभनाम्

1. A. °षणामाँ 2. A.H.V. Omit केचित् विरलाः 3. H.V. Omit इति 4. W. adds परभृतः 5. A. Omits निरुद्धाः 6. W. °पँ 7. A.B. Omit कार्या 8. A.B. Omit धनँ 9. A.B. °त्वस्य औपँ 10. A.B. °यकः। 11. A.B. Omit °मिँ

कुर्यान्नाम? पशुरेव तथा कुर्यात्, तथा कुर्वन् पशुरित्यर्थः। परानुचिन्तया वैतरण्यां यमलोकसिन्धौ तत्सदृशे संसारे इत्यर्थः। पतितं तत्र च स्वकर्मजान् आध्यात्मिकादिक्लेशान् जुषाणं सेवमानं पश्यन् कः कुर्यात् इति पूर्वेण सम्बन्धः।।७।।

एवं फलान्तर-तदुपायनिवृत्तस्य भगवद्ध्यानप्रकारमाह - **केचिदित्यादिना**। भगवदुपासना-बाहुल्येन, उपासकबाहुल्यात् केचिदित्युक्तिः, न तु स्वासम्मतत्वेन। स्वदेहस्य अन्तः मध्ये यो हृदयावकाशः तत्र वसन्तं प्रादेशमात्रं प्रादेशसम्बन्धिनी मात्रा वपुः परिमाणं यस्य तं हृदयान्तः-प्रदेशसम्बन्धिमात्रया परिच्छिन्नम्। "यस्त्वेतमेवं[1] प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते" (छान्दो.उ.5-18-1) इति त्रैलोक्यशरीरकेऽप्युपासकानुग्रहाय[2] उपासनायाः[3] प्रदेशसम्बन्धिमात्रया परिच्छिन्नत्वश्रवणात्। हृदयकमलस्याङ्गुष्ठमात्रत्वाच्च। एतेन तर्जन्यङ्गुष्ठविस्तारः प्रादेशः तत्परिमित[4]-मित्ययुक्तमिति बोद्धव्यम्। कञ्जं कमलम्। रथाङ्गं चक्रम्। दक्षिणबाहुभ्यां कञ्जरथाङ्गे[5] वामाभ्यां शङ्खगदे बिभ्रतमित्यर्थः। एवंविधं पुरुषं केचिद्योगीश्वराः धारणया स्मरन्ति धारणापूर्वकमुपासत इत्यर्थः।।८।।

**विज०** ननु भवादृशानां योगिनां क्षित्यादिना शरीरयात्रासिद्धावप्यपरिपक्वयोगिनां पुंसां कथमुपभोगः सम्पत्स्यत[6] इत्यत्राऽऽह - **चीराणीति**। " पटचीराणि गृहिभिर्देयानि पथि तोरणे। दरिद्राणाञ्च भिक्षूणामाच्छादनकराणि च" इति स्मृतेः। पथि तोरणे गृहस्थैः निहितानि चीराणि जीर्णवस्त्राणि मूषकादिप्रभिन्नानि वा। न सन्ति किं भोजनार्थमिति चेत् परान् फलपाकादिना बिभ्रतीति परभृतः अङ्घ्रिपाः वृक्षाः फलादिना नो दिशन्ति वा? दिशन्त्येव। उदकार्थमिति चेत् - सरितः स्यन्दमानाः नद्यः अशुष्यन्नपि किम्? नाशुष्यन्नित्यर्थः। शयनार्थमिति चेत् गुहाः रुद्धाः पिहिताः किम्? केनचिदिति शेषः। गुहासु सिंहादिभयेन कथं वासः सम्पद्यत इति तत्राऽऽह-किमिति। कृष्णोऽवधूतानां धूलिधूसराङ्गानां[7] योगिनां सुहृन्न किम्? सुहृदेव। अतो वस्त्राद्याश्रया कवयो धनादिदुर्मदेन अन्धान् विवेकचक्षुरहितान्[8] राजादीन् कस्माद्भजन्ति न भजन्त्येव अतो मुमुक्षुणा यदृच्छया लब्धाशनादिना भाव्यमिति भावः।।५।।

इदानीमुक्तानुष्ठानपरिपाकप्रकारमाह **एवमिति**। एवमुक्तप्रकारेण यदृच्छया लब्धाशनादिना वृत्तिं दृष्ट्वा प्रसन्नस्य स्वतः स्वतन्त्रस्य हरेः प्रसादात् स्वचित्ते स्वाधीनतया वर्तमाने सति भगवान् ऐश्वर्यादिगुणसमुद्रोऽनन्तः परिच्छेदशून्यः आत्मा परमात्मा देहपुत्रादिभ्यः अत्यन्तं प्रियोऽर्थ इति कृत्वा निर्वृतः समुद्भूतरोमाञ्चो नियतार्थः * "एतमितः प्रेत्याभिसम्भाविताऽस्मि" (छन्दो.उ.3-14-4) इति

1. W. "वं" 2. W. "ना" 3. W. "नाग्रं" 4. W. "त इत्य" 5. W. Omits कञ्जरथाङ्गे 6. Ma. "द्य" 7. A.B. Omit योगिनां 8. A.B. "क्षुं"
*A.B.M.Ma. add in foot note इतश्चरमदेहात् प्रेत्य मृत्वा एतं हरिं अभि आभिमुख्येन सम्भाविता स्मि सम्यक् यथायोग्यं प्राप्तो भविष्यामीति नियतार्थ इति

निश्चितार्थः पुरुषस्तं भगवन्तं भजेत। कदाचिदपि तद्भजनं न मुञ्चेत्। ततः किं फलमत्राऽऽह - संसारेति। यत्र यस्मिन् सेव्यमाने सेवकस्य संसारहेतूनामविद्यादीनामुपरमः। अविद्यादीनां सद्भावो सो अस्तीति शक्यशङ्का त एव न सन्ति यत इति शङ्कमानोऽसुरप्रकृतिरिति भावः। "तदेतत्प्रेत्य" (बृह.उ.1-4-8) इत्यादि श्रुतिसिद्धं हरेः प्रियार्थत्वञ्च। न केवलं संसारहेतूपरमः फलं, किन्तु निर्दुःखानन्दानुभवलक्षणमोक्षप्राप्तिश्चेति चशब्दः।।६।।

भगवदुपासनामकुर्वाणस्य पशोरपि वैलक्षण्यं नास्तीत्याह - **कस्तमिति**। नरके विगततरणत्वात् वैतरणी नाम नदी या तस्यां हरेः अनुपासनाख्यदोषात् पतितं स्वकर्मजान् स्वकृतकर्मसमुद्भूतान् परितापान् सर्वतोदिशमायातान् दुःखविशेषान् जुषाणं भुञ्जानं जनं गुरुशास्त्रोपदेशदृष्ट्या पश्यन् तुशब्दसूचिततादृशदुःखनिवर्तकालम्बुद्धिगोचरसुखप्रदं हरिं च पश्यन् को विवेकी तं भगवन्तमनादृत्य असतीम् अशुभां परानुचिन्तामितरविषयाम् उपास्तिलक्षणां स्मृतिं युञ्ज्यात् पशुत्वं विवेकबुद्धिराहित्यमृते। यदि युञ्ज्यात् तर्हि स पशुरेव, न विवेकीत्यन्वयः। " चतुर्वेद्यपि यो विप्रो वासुदेवं न विन्दति। वेदभारभराक्रान्तः स वै ब्राह्मणगर्दभः" इति।।७।।

योग्यतातारतम्येन अधिकारिणां बहुत्वात् स्थूलरूपोपासनायोग्यानां तदुपास्तिमभिधाय अधुना स्वदेहहृदयकमलकर्णिकानिकेतनात्मोपासनायोग्यानां तदुपासनां विधत्ते - **केचिदिति**। केचिदात्मोपासनायोग्याः स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे वसन्तं प्रादेशमात्रं प्रदेशपरिमाणम्। कञ्जं पद्मं रथाङ्गं सुदर्शनं शङ्खं पाञ्चजन्यं, गदां कौमोदकीं धारयतीति कञ्जरथाङ्गगदाधरः तं धारणया तैलधारवदखण्डितमनोवृत्त्या स्मरन्तीत्यन्वयः।।८।।

**रा०कृ०** चीराणि जीर्णवस्त्रशकलानि पथि मार्गे न सन्ति किम्? परभृतः फलादिभिः परान् पोषयन्तः अङ्घ्रिपाः पादपाः वृक्षा इत्यर्थः भिक्षां नैव दिशन्ति किमिति शेषः। सरितो नद्यः अपि अशुष्यन् किम्? शुष्काः अभवन् किम्? गुहाः रुद्धाः किं निरुद्धाः किम्? अजितः केनाप्यजितः अतिसमर्थः स्वतन्त्रो भगवान् उपसन्नान् शरणागतान् नावति किम्? न रक्षति किम्? एवं स्थिते कवयो विवेकिनः धनदुर्मदान्धान् धनदुर्मदेन कार्याकार्यानभिज्ञान् कस्मात् कारणात् भजन्ति?

यद्यपि पर्यङ्कोपधानदुकूलादिसुखसाधनवस्तुविस्तरस्य अप्रयत्नलब्धस्यानुभवे न कोऽपि दोषः। तथाऽपि तदनुभवाभ्यासपराधीने जने तद्वस्तुविस्तराभावप्रयुक्तः क्लेशाख्यः सङ्गदोषः सम्भाव्यते, किञ्च तदलब्धसुखसाधनवस्तुप्राप्तिप्रयत्ने क्रियमाणे क्लेशः तदप्राप्तौ दुःखं, तद्वत्स्वसूया स्वस्मिन्नसामर्थ्यदैन्यारोपणादयो दोषाः मोक्षधर्मप्रमादहेतुभूताश्च सङ्क्रामन्ति।

निस्सङ्गास्तु यदृच्छालब्धानि सुखान्यनुभवन्तोऽपि न तेष्वनुषक्ताः भवन्ति। किन्तु ये केचन सत्यामप्ययत्नलब्धपर्यङ्कादिसुखसाधनसम्पत्तौ दुराग्रहपरवशाः बुद्धिपूर्वकं भूम्यां शयानाः तपस्विताभिमानं कुर्वन्ति तेऽपि असङ्गसङ्गिन एव। तस्मात् सुखलाभालाभयोरपि समचित्तत्वमेव साधनीयम्।

अथात्र धनदुर्मदान्धभजननिरासः केवलजीवयात्रानिर्वहणैकप्रयत्नक्लेशनिरासार्थकः। तेन धनतामपि परमभागवतोत्तमानां अम्बरीषप्रभृतीनां प्रभुवर्याणामाश्रयो भगवत्प्राप्तिसाधनभूतो नैव दोषावहः इति सिध्यति। किञ्च यस्य कस्यापि वस्तुनः प्राप्त्यै कालव्ययमनस्समाधिभङ्गहेतुभूतः प्रयत्नो न कर्तव्य इति च पर्यवस्यति।।५।।

एवं स्वचित्ते स्वत एव सिद्धः अन्तर्यामितया स्थितः आत्मा सर्वात्मभूतः अत एव प्रियः अर्थः परमपुरुषार्थरूपः अनन्तः नाशरहितः भगवान्, वर्तत इति शेषः। यत्र यद्भजने कृते सति संसारहेतूपरमः संसारहेतुभूतायाः अविद्यायाः उपरमः भवति तं भगवन्तं निर्वृतः परमानन्दभरितः नियतार्थस्सन् निश्चितपरमपुरुषार्थस्सन् भजेत सेवेत। सर्वान्तर्यामिणमीश्वरं विस्मृत्य केवलजीवस्मरणमविद्या। तादृश्यविद्या सर्वान्तर्यामि स्मरण- रूपिण्या विद्यया निवर्तते।।६।।

स्वकर्मजान् स्वकीयपापकर्मजातान् परितापान् नरकसम्बन्धिनः परितापान् जुषाणं भुञ्जानं तथा वैतरण्यां यातनानद्यां पतितं जनं पश्यन् पशून् पशुप्रायान् ज्ञानशून्यानित्यर्थः तान् ऋते विना को नाम को वा पुरुषः तां तु परानुचिन्तां परस्य भगवतोऽनुचिन्तां अनादृत्य असतीं शब्दादिविषयसङ्गेन दुष्टां चिन्तां युञ्ज्यात् कुर्यात्? न कोऽपीति भावः।

अन्तर्यमीश्वरस्मरणविरहात् केवलजीवसङ्गप्रयुक्तकामक्रोधलोभाद्याविलबुद्धिना कृतो दुष्कृतसमुदायो नरकः तद्दुष्कृताचरणजन्यचित्तक्षोभनैराश्यसंशयदुःखादियातना च वैतरणीवह्निज्वालामयी। तस्मात् साधकः परिसरवर्तिव्यक्तिषु विनासङ्गमन्तर्यामिणमीश्वरमनुसन्दध्यात्। तेन नरकयातनानिवृत्तिरिह परत्र च ।।७।।

केचित् विवेकिनः स्वदेहान्तः स्वदेहस्य मध्ये हृदयावकाशे वसन्तमन्तर्यामितया कृतावासं प्रादेशमात्रं प्रादेशप्रमाणं चतुर्भुजं चत्वारो धर्मादिपुरुषार्थप्रदाः भुजाः यस्य तं कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधरं पद्मचक्रशङ्खगदाधरं पुरुषं पुरुषाकारं भगवन्तं धारणया स्मरन्ति।।८।।

**प्रसन्नवक्त्रं नलिनायतेक्षणं कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससम्।**
**लसन्महारत्नहिरण्मयाङ्गदं स्फुरन्महारत्नकिरीटकुण्डलम्।।९।।**

1. M.Ma "हार"

**उन्निद्रहृत्पङ्कजकर्णिकालये[1] योगेश्वरास्थापितपादपल्लवम्[2]।**
**श्रीलक्ष्मणं[3] कौस्तुभरत्नकन्धरमम्लानलक्ष्म्या[4] वनमालयाऽऽचितम्[5]।।१०।।**

**विभूषितं मेखलयाऽङ्गुलीयकैर्महाधनैर्नूपुरकङ्कणादिभिः।**
**स्निग्धामलकुञ्चितनीलकुन्तलैर्विरोचमानाननहासपेशलम्[6]।।११।।**

**अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसद् भ्रूभङ्गसंसूचितभूर्यनुग्रहम्।**
**ईक्षेत चिन्तामयमेनमीश्वरं यावन्मनो धारणयाऽवतिष्ठते।।१२।।**

**श्रीध० प्रसन्नेति**। नलिनं पद्मं तद्वत्प्रसन्ने आयते दीर्घे ईक्षणे यस्य। कदम्बकुसुमस्य किञ्जल्कः[8] केसरः[9] तद्वत्पिशङ्गे पीते[10] वाससी यस्य। लसन्ति महारत्नानि येषु तानि सुवर्णमयान्यङ्गदानि यस्य। स्फुरन्ति च तानि महारत्नानि[11] च तन्मयानि किरीटकुण्डलानि यस्य।।९।।

**उन्निद्रेति**। उन्निद्रं विकसितं यत् हृत्पङ्कजं तस्य कर्णिकैवाऽऽलयः स्थानं तस्मिन्। योगेश्वरैः आस्थापितौ[12] पादपल्लवौ यस्य। श्रीः लक्ष्मीः[13] एव लक्ष्म चिह्नं तद्युक्तम्। पामादिविहितो मत्वर्थीयो नप्रत्ययः। कौस्तुभरत्नं कन्धरायां यस्य। अम्लाना लक्ष्मीः शोभा यस्याः तया वनमालयाऽऽचितं व्याप्तम्।।१०।।

**विभूषितमिति**। स्निग्धत्वादिविशिष्टैः कुन्तलैः विरोचमाने आनने यो हासः तेन पेशलं सुन्दरम्।।११।।

**अदीनेति**। अदीनम् उदारं यल्लीलाहसितं तेन यदीक्षणं तस्मिन्नुल्लसन्तो ये भ्रूभङ्गा भ्रूविक्षेपाः[14] तैः संसूचितो भूर्यनुग्रहो येन चिन्तामयं चिन्तीया[15] आविर्भवन्तम्। कियन्तं[16] कालम् इत्यत्राऽऽह-यावत्समं मनोऽवतिष्ठते स्थिरीभवति तावत्।।१२।।

**वीर०** एवमेव[17] पुरुषं विशिनष्टि - **प्रसन्नवक्त्रमिति**। अनुग्रहोन्मुखं[18] मुखं नलिनं पद्मं तद्वत्प्रसन्ने आयते दीर्घे ईक्षणे यस्य। कदम्बकुसुमस्य किञ्जल्कः केसरः तद्वत् पिशङ्गे वाससी यस्य। लसन्ति महारत्नानि येषु तानि हाराङ्गदानि[19] यस्य। स्फुरन्ति महारत्नानि तन्मयानि किरीटकुण्डलानि यस्य तम् ।।९।।

---

1. AF. GF. "यं 2. W. "गौ" 3. H.V. "रं" 4. I.M.Ma. "क्ष" 5. M.Ma. "याऽङ्गि" 6. H.M.Ma.V.W. "लै: 7. H.V. "व"; AF.GF. "त" 8. A. "का: 9. A. "रा: 10. H.V. Omit पीते 11. H.V. Omit च 12. V. Omits आ" 13. A.B. Omit लक्ष्मी: 14. H.V. Omit "वि" 15. A.B. "न्त" 16. B.H.V. Omit कियन्तं.....तावत्। 17. W. "तं" 18. W. "ख" 19. W. हिरण्मया"

उन्निद्रं विकसितं यत् [1]हृत्पङ्कजं हृदयकमलं तस्य। कर्णिकैव आलयः स्थानं तस्मिन्। योगीश्वरैः[2] आस्थापितौ ध्यानविषयीकृतौ पादपल्लवौ यस्य। श्रीः लक्ष्मीरेव लक्ष्म चिह्नं अस्यास्तीति श्रीलक्ष्मणः। पामादिविहितमत्वर्थीयो नप्रत्ययः, तस्य आकृतिगणत्वात्। कौस्तुभरत्नं कन्धरायां यस्य। अत्र कन्धराशब्दः तदासन्नवक्षःपरः। अम्लाना लक्ष्मीः शोभा यस्याः तया वनमालया आचितं व्याप्तम्।।१०।।

मेखलया कटिसूत्रेण महाधनैः अनर्घैः अङ्गुलीयकैः नूपुरकङ्कणादिभिश्च विभूषितं विशेषेणालङ्कृतं स्निग्धत्वादिविशिष्टैः कुन्तलैः विरोचमाने[3] आनने[4] यो हासः तेन पेशलं सुन्दरं तत्र[5] स्निग्धाः सस्नेहा आकुञ्चिता वक्राः।।११।।

अदीनम् उदारं यल्लीलाहसितं तेन युक्तं यत्[6] ईक्षणं तेनोल्लसन्तो[7] ये भ्रूभङ्गाः भ्रूविक्षेपाः तैः संसूचितो भूर्यनुग्रहो येन तं चिन्तामयं चिन्ताविषयम्। चिन्ताप्रचुरम् ईक्षेतेति क्रियाविशेषणं वा। एवंविधमीश्वरं यावद्धारणया मनोऽवतिष्ठते तावत् ईक्षेत उपासीत इत्यर्थः।।१२

**विज०** श्लोकचतुष्टयेन तमेव विशिनष्टि - **प्रसन्नवक्त्रमित्यादिना**। नलिनवत् रक्तपद्मदलवत् आयते दीर्घे ईक्षणे यस्य स तथा तम्। कदम्बः कृष्णप्रियः तरुः तस्य पुष्पस्य किञ्जल्कमङ्कुरविशेषः तद्वात्पिशङ्गं पीतं वासो यस्य स तथा तम्। लसन्महाहारश्च हिरण्मयाङ्गदश्च लसन्महाहारहिरण्मयाङ्गदः तम्। स्फुरन्ति शोभमानानि महान्ति च रत्नानि तैर्युक्तं किरीटं कुण्डले च यस्य स तथा तम्।।९।।

उन्निद्रस्य विकसितस्य हृत्पङ्कजस्य कर्णिकाख्याऽऽलये योगेश्वरैः सनकादिभिरास्थापितौ पादपल्लवौ यस्य स तथा तम्। श्रीरेव लक्षणं चिह्नं यस्य वक्षसि स तथा तम्। श्रीरेव लक्षणं चिह्नं यस्य वक्षसि सँ[8] तथा तम्। कुस्तुभात् समुद्रात् जातं कौस्तुभं तेन रत्नेन युक्ता कन्धरा यस्य स तथा तम्। अम्लानानां नवपल्लवदलानां लक्ष्मीः यस्याः सा तथा तया।।१०।।

मेखलया काञ्च्या अङ्गुलीयकैः अङ्गुलीभूषणैः महान्ति धनानि गह्वन्तीति महाधनानि तैः स्निग्धाश्चामलाश्च ते, तैः कुञ्चिता वक्राश्च नीलाश्च ते कुन्तलाः तैः विरोचमाने आनने यो हासः तेन पेशलं सुन्दरम् ।।११।।

अदीनलीलयोद्भूताभ्यां हसितेक्षणाभ्याम् उल्लसन्त्योः भ्रुवोः भङ्गेन स्फुरणविशेषेण संसूचितो भूर्यनुग्रहो येन स तथा तम्। ईक्षेत [9]चिन्तयेत। चिन्तामयं चिन्ताप्रधानं, "यस्मात्सञ्चिन्तितो विष्णुः

1. A.B. हृदयपं 2. A.B. "रास्था" 3. W. °न 4. W. °न 5. W. Omits तत्र....वक्राः। 6. A. Omits यत् 7. A. Omits ये 8. Ma Omits सः 9. A. Omits चिन्तयेत

चिन्तितं प्रददात्यज" (बृहत्संहितायाम्) इत्यादेः। कियन्तं कालं चिन्तनमत्राऽऽह - यावदिति। यावद्धारणया समग्राङ्गे मनोऽचलमवतिष्ठते तावदिति शेषः।।१२।।

**रा०कृ०** प्रसन्नवक्त्रं सानुग्रहवदनं नलिनायतेक्षणं कमलविशाललोचनं कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्ग-वाससं कदम्बकुसुमकेसर इव पिशङ्गे पीते वाससी वस्त्रे यस्य तम्। लसन्महारत्नहिरण्मयाङ्गदं स्फुरन्महारत्नकिरीटकुण्डलम्।

उन्निद्रहृत्पङ्कजकर्णिकाऽऽलये विकसिहृदयकमलकर्णिकाऽऽलये योगेश्वरास्थापितपादपल्लवं योगेश्वरैः आस्थापितौ निजपादपल्लवौ यस्य तम्। श्रीलक्ष्मणं श्रीचिह्नं कौस्तुभरत्नकन्धरं कौस्तुभरत्नाञ्चि-तकण्ठं अम्लानलक्ष्म्या अम्लानशोभया वनमालया आचितम् सहितम्।

मेखलया महाधनैः अङ्गुलीयकैः नूपुरकङ्कणादिभिश्च विभूषितं स्निग्धामलाकुञ्चितनीलकुन्तलैः विरो-चमाननानहासपेशलम्। अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसद्भ्रूभङ्गसंसूचितभूर्यनुग्रहं चिन्तामयं चिन्तया आवि-र्भूतम् एनं ईश्वरं यावत् यावत्पर्यन्तं मनः धारणयाऽवतिष्ठते निश्चलं भवति तावत् ईक्षेत पश्येत्।।९-११।।

**एकैकशोऽङ्गानि धियानुभावयेत् पादादि यावद्धसितं गदाभृतः।**
**जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेत् परं परं शुद्ध्यति धीर्यथा यथा।।१३।।**

**यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन् विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः।**
**तावत् स्थवीयः पुरुषस्य रूपं क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत।।१४।।**

**स्थिरं सुखं चासनमाश्रितो यतिर्यदा जिहासुरिममङ्गलोकम्।**
**काले च देशे च मनो न सज्जयेत् प्राणान् नियच्छेन्मनसा जितासुः।।१५।।**

**मनः स्वबुद्ध्याऽमलया नियम्य क्षेत्रज्ञ एतां निनयेत् तमात्मनि।**
**आत्मानमात्मन्यवरुध्य धीरो लब्ध्वोपशान्तिर्विरमेतकृत्यात्।।१६।।**

**श्रीध०** अस्यैव ध्यानमाह - **एकैकश** इति। पादादि यावद्धसितं, हसितपर्यन्तम्। अनुभावयेत् ध्यायेत्। यद्यज्जितमयत्नतः स्फुरितं पादगुल्फादिस्थानमवयवः तत्तदपोह्य त्यक्त्वा परं परं जङ्घाजान्वादि धारयेत् ध्यायेत्। शुद्ध्यति तस्मिन्निश्चला भवति।।१३।।

---

1. AF.GF. "यन् 2. AF.GF. चाऽऽत्मनि 3. H.V. तं 4. H.V. "पं 5. B.I.M.Ma.W. "स्थि" 6. H.V.M.Ma.W. "ज्ञेत् 7.C.N. "णं 8. M.Ma. "नश्च बु" 9. B.H.V. तं 10. A.B. Omit पादादि...पर्यन्तम् 11. H.V. चिन्त" 12. H.V. Omit परं 13. V. चिन्त"

पूर्वोक्तवैराजधारणायाः एतद्धारणाङ्गत्वमाह - **यावदिति**। परे ब्रह्मादयो[1]ऽवरे कनिष्ठाः[2] यस्मात्। कुतः? विश्वेश्वरे तन्नियन्तरि[3] द्रष्टरि, न तु दृश्ये चैतन्यघनत्वात्। भक्तियोगः[4] प्रेमलक्षणः। क्रियावसाने आवश्यककर्मानुष्ठानानन्तरम्[5], अनेन कर्मापि भक्तियोगपर्यन्तमेवेत्युक्तम्। प्रयतो[7] नियमतत्परः।।१४।।

एवं[8] तावदासन्नमृत्योः पुंसः कृत्यम् उक्तम्। इदानीं तस्यैव स्वयं देहं त्यक्तुमिच्छतः, कृत्यमाह- **स्थिरमिति** सार्धैश्चतुर्भिः। अङ्ग! हे राजन्! एवम्भूतो यतिः यदा इमं लोकं देहं जिहासुः हातुमिच्छति, तदा देशे पुण्यक्षेत्रे काले च उत्तरायणादौ मनो न सज्जयेत्[9] सङ्गं न प्रापयेत्। न देशकालौ योगिनः सिद्धहेतू किन्तु योग एव इति दृढनिश्चयो भूत्वा स्थिरं सुखकरं च आसनमास्थितः सन्[10] प्राणान् इन्द्रियाणि[11] नियच्छेत्[12] इत्यर्थः।।१५।।

**मन** इति। तत्तत्[13] गृहीतविषयं मनः बुद्ध्या निश्चयरूपया नियम्य तन्मात्रं कृत्वा एतां[14] मनोनिग्रह[15]-साधनीभूतां बुद्धिं क्षेत्रज्ञे बुद्ध्यादि द्रष्टरि निनयेत् प्रविलापयेत्। तं च क्षेत्रज्ञमात्मनि शुद्धे तत्त्वे[16], तं च शुद्धमात्मानम्[17] आत्मैव अहमिति आत्मनि शुद्धे[18] ब्रह्मण्यवरुध्य एकीकृत्य लब्धोपशान्तिः प्राप्तनिर्वृत्ति-तिस्सन् कृत्यात् विरमेत्। ततः परं प्राप्याभावात्।।१६।।

**वीर०** युगपत् कृत्स्नशुभाश्रयगोचरध्यानाशक्तस्य[19] तदुपायभूतम्[20] उक्तरूपस्यैव ध्यानक्रमविशेषमाह- **एकैकश** इति। गदाभृतः परमात्मनः पादादि पादात्प्रभृति यावद्धसितं मन्दस्मितावधि। अङ्गानि एकैकशः प्रत्येकं धिया अनुभावयेत् चिन्तयेत्। जितं जितं भावनया स्फुरितं प्रतिष्ठितमिति यावत्, स्थानं पादगुल्फाद्यवयवमपोह्य त्यक्त्वा विशेषाकारेणेति भावः। सामान्याकारेण कृत्स्नशुभाश्रयगो-चरज्ञानस्यपेक्षितत्वात् परम्परं जङ्घाजान्वादिस्थानं धीः यथा शुद्ध्यति प्रसीदति, अनाकुलीभवति तथा धारयेत् ।।१३।।

कृत्स्नशुभाश्रयगोचरभक्तियोगोत्पत्तेः पूर्वमिदम् अवयवशो विभावनं यत्नेन कर्तव्यम्। उत्पन्नायां तु भक्तौ हानायोगात्। अतः तत्सर्वं[21] यत्नेन ध्येयम् अवयवशः इत्याह - **यावदिति**। परे[22] ब्रह्मादयोऽवरे यस्मात् स परावरः[23] तस्मिन् विश्वेषामीश्वरे नियन्तरि द्रष्टरि[24] सर्वज्ञेऽस्मिन्नुक्तविग्रहविशिष्टे[25] पुरुषे भक्तियोगः विशेषाकारेण कृत्स्नशुभाश्रयगोचरः प्रीतिपूर्वकोऽविच्छिन्नो ध्यानयोगः। यावत्र जायेत नोत्पद्येत तावत् क्रियावसाने आवश्यकानुष्ठानान्ते पुरुषस्य "प्रादेशमात्रं पुरुषं" (भाग:2-2-8) इत्युक्तस्य

---

1. H.V. "यस्तेऽपरे 2. A.H.V. Omit कनिष्ठाः 3. A.B. Omit तन्नियन्तरि 4. B. Omits भक्ति.....अनन्तरम् 5. H.V. अवश्यकर्मा" 6. H.V. add नियच्छेत् 7. B.H.V. Omit प्रयतो नियमतत्परः 8. V. एतावताऽऽस" 9. H.V. "ज्जेत् 10. A.B. Omit सन् 11. A.B. Omit इन्द्रियाणि 12. H.V. Omit इत्यर्थः 13. B. Omit तत्.....कृत्वा 14. V. Omits एतां 15. A.B. Omit मनो.....भूतां 16. A.B Omit तत्त्वे 17. B.H.V. Omit आत्मैव अहमिति 18. B.H.V. Omit शुद्धे 19. W. "स" 20. A.B. "क्तया 21. "पूं, "त्वरूपमिति साधीयान् पाठः क्वचिल्लभ्यते 22. W. परावरे 23. W. विक्षनियन्तरि 24. W. Omits द्रष्टरि 25. W. "ष्टे"

पुरुषस्य स्थविष्ठं रूपं दिव्यात्मस्वरूपापेक्षया स्थविष्ठं विग्रहं प्रयतः समाहितः अवयवशः स्मरेत् इत्यर्थः। स्थविष्ठं रूपं वैराजस्य पूर्वोक्तरूपम् इति तु मन्दं; रूपान्तरोपासनायाः एतद्रूपोपासनानुपयुक्तत्वात्।।१४।।

एवमेकैकमवयवं शिक्षयित्वा पश्चादेकैकाङ्गध्यानपूर्वकं कृत्स्नध्यानाभ्यास उक्तः। अथ ईदृशोपासनानिष्ठस्य देहत्यागप्रकारं वक्ष्यन् स्वात्मनः परमात्मनि समर्पणप्रकारमाह - **स्थिरमिति**। यतिः योगी यदा परिपूर्णभक्तियोग सम्पादकशरीरावस्थितिहेतुभूतप्रारब्धावसानकाले अङ्ग! हे राजन्! इमं लोकं प्राकृतं लोकं जिहासुः हातुमिच्छुः भवति। तदा गङ्गातीरोत्तरायणादिदेशकालादिषु मनो न सज्जेयेत् सक्तं न कुर्यात्। किन्तु, जितप्राणः जितासुः स्थिरं निर्भयदेशस्थं सुखं मृद्वासनमास्थितः मनसा प्राणानिन्द्रियाणि नियच्छेत् अनन्यपराणि कुर्यात्।।१५।।

स्वबुद्ध्या निश्चयात्मिकया बुद्ध्याऽमलया भगवदुपासनेन निर्धूतमलया मनः नियम्य बुद्धिव्यापार-मात्ररतं कृत्वा एतां बुद्धिं क्षेत्रज्ञे जीवे निनयेत् नियच्छेत्। तं क्षेत्रज्ञम् आत्मनि नियच्छेदित्यर्थः। एवम् आत्मानं जीवम् आत्मनि परमात्मनि अवरुध्य समर्प्य लब्धोपशान्तिः प्राप्तनिर्वृतिस्सन् कृत्याद्विरमेत् अन्तकाले परमात्मनि स्वात्मसमर्पणावधि कर्म न त्याज्यमिति कृत्याद्विरमेत इत्यनेनावगम्यते। "आप्रयाणात् तत्रापि हि दृष्टम्" (ब्र.सू.4-1-12) इति न्यायेन उपासनायाः आप्रयाणादनुवर्तनीयत्वेन तन्निष्पादककृत्यस्यापि आप्रयाणादनुवर्तनीयत्वात्। न हि मुमूर्षोः कृत्यविरतिः विधेया स्वत एव विरतेः। अत्र यद्यपि "यदा जिहासुरिममङ्ग! लोकम्" (भाग.2-2-15) इत्यनेन योगिनां स्वच्छन्दमरणानां कृत्यमेव प्रतीयते, तथाऽपि "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" (छान्दो.उ. 6-14-2) इति कृत्स्नयोगशरीरारम्भकप्रारब्धावसान एव परमात्मसम्पत्तिश्रवणात् न तेषामिदं कृत्यं न च मुमूर्षोः अनवहितकरणत्वेनाशक्यत्वात् "न सज्जेत् नियच्छेत् विरमेत" इत्यादि विधिविषयत्वानुपपत्त्या स्वच्छन्दमरणानां कृत्यमेव इदमिति वक्तुं युक्तं योगप्रभावातिशयेन करणानां स्वायत्तत्वात्। ये च योगमाहात्म्यादविनष्टे एव प्रारब्धे म्रियन्ते तेषां पुनः संसार एव। अत एव भीष्मादीनाम् उत्तरायणादिकालप्रतीक्षा, प्रारब्धस्याविनष्टत्वात् । अतो यदा इत्यस्य प्रारब्धावसाने इत्युक्त एवार्थः साधुः।।१६।।

**विज०** सर्वाङ्गस्मरणाशक्तस्य स्मरणप्रकारमाह - **एकैकश** इति। ध्यानेन जितमनायासेन ध्यानविषयं स्थानमवयवमपोह्य वशीकृत्य परम्परम् अजितमजितमनभ्यस्तमवयवं पादम् आरभ्य यावद्धसितं पुष्पितं वनमितिवत् हासेन विकसितं मुखं हसितमिति लक्ष्यते। मुखपर्यन्तं साङ्गोपाङ्ग प्रतिधिया मनो धारयेत्। यथा यथा धीः शुद्ध्यति सर्वाङ्गध्यानक्षमा भवति, तथा तथा अभ्यस्तं कुर्यात्।

1. W. "क्त" 2. W. "ज्जेत 3. A. "सरं मृ" B. "ख मृद्वा" 4. W. Omits नियच्छेत्.....जीवमात्मनि 5. W. "णकृ" 6. A.B. Omit "भजित"

अतः सर्वाङ्गध्यानासामर्थ्ये तावत्पर्यन्तमेकैकावयव मनुभावयेत् इत्यर्थः।।१३।।

इममेवार्थमुपसंहरति - **यावदिति**। पराः ब्रह्मादयोऽप्यवरा यस्मात् स परावरः तस्मिन्। द्रष्टरि सर्वसाक्षिणि। विश्वेश्वरे हरौ। यावत्सर्वोत्तमो मम महोपकारकः अत एव सर्वतः प्रियतम इति ज्ञानपूर्वकप्रेमलक्षणभक्तियोगः अखण्डध्यानप्रापको न जायेत, तावत्पर्यन्तं पातालमूलं इत्यादिना उक्तं सर्वलोकदेवाद्याधारम्। पुरुषस्य। स्थवीयोऽतिस्थूलं रूपम्। स्मरेत। तत्राऽपि निरन्तरध्यानासक्तस्सन् नित्यक्रियावसाने प्रयतः प्रयत्नवान् स्मरेत इत्यन्वयः।।१४।।

इदानीमुक्तविधोपासनाजनितज्ञानेनापरोक्षीकृत परमात्मतत्त्वस्य तत्प्रसादाद्विज्ञातब्रह्मादितत्त्वस्य ज्ञानिनो यदा देहत्यागेच्छा तदा स्वदेहगतेन्द्रियाद्यभिमानिदेवतालयस्मरणपूर्वकं मोक्षप्रकारमाह - **स्थिरमिति**। यतिः निर्जितेन्द्रियग्रामः अपरोक्षज्ञानी इमं लोकं देहं यदा जिहासुः त्यक्तुमिच्छति, तदा यथा सुखं भवति तथा स्थिरम् अचलम् आसनमास्थितः काले देशे च कालस्थेषु देशस्थेषु च विषयेषु च यावन्मनो न सज्जेत् सक्तं न कुर्यात्। अथ मनसा स्ववशेन प्राणान् विषयाननुधावन्तीन्द्रियाणि च नियच्छेत् तत आहरेत्। आहृत्य च प्राणान्नियच्छेत् प्राणायामान् कुर्यात्। अथ जितासुः भक्त्या प्राप्तप्राणप्रसादः इन्द्रियप्रेरकान् दिशादिदेवान् मनोऽभिमानिनि इन्द्रे नियच्छेत् इन्द्राधीनांश्चिन्तयेत् ।।१५।।

मनश्च मनोऽभिमानिनम् इन्द्रं च अमलया बुद्ध्या बुद्धिदेवतया उमया नियम्य तदधीनं स्मृत्वा एतां बुद्धिदेवताम् उमां क्षेत्रज्ञे जीवान्तर्यामिणि हरौ निनयेत् नितरां तदधीनां चिन्तयेत् तं क्षेत्रज्ञम् आत्मनि देहमध्यस्थे हरौ निनयेत् तदैक्येन चिन्तयेत् तं देहगतम् आत्मानं हरिम् आत्मनि सर्वगते हरौ अवरुध्य तदेकीभावेन सञ्चिन्त्य देहादुत्क्रम्य लब्धोपशान्तिः प्राप्तसर्वाधिकमङ्गलाख्यविष्णुरूपो धीरः कृत्यात् विधिनिषेधलक्षणात् कार्याद्विरमेदित्यन्वयः। "भक्त्या प्राणं वशे नीत्वा जितप्राणो भवत्युत। जीवस्थो भगवान् विष्णुः क्षेत्रज्ञ इति गीयते। हृद्गतस्तु स एवाऽऽत्मा व्याप्तोऽप्यात्मेति भण्यते। हरौ हरेर्भवेन्नीतिः तदेकत्वस्य चिन्तनम्। अन्यत्र तन्नियम्यादिचिन्तनं नीतिरुच्यते"। (षाङ्गुण्ये) इति प्रमाणेभ्यः उक्तः एवार्थोऽन्यो न स्वकपोलकल्पित इति भावः। मनस्तत्त्वं बुद्धितत्त्वे बुद्धितत्त्वं क्षेत्रज्ञे अधिष्ठानभूते तं क्षेत्रद्रष्टारम् आत्मनि शोधितत्वम्पदार्थे चिन्मात्रे तम् आत्मानं शोधितत्वम्पदार्थभूतम् आत्मनि शोधिततत्पदार्थभूते परमात्मन्यवरुध्य एकीकृत्य भेदहेतुम् अविद्याधिष्ठानं यथार्थज्ञानेन निरस्य कृत्यात् विरमेतेति मायावादिनः। एतां व्यष्टिरूपां बुद्धिं क्षेत्रज्ञे समिष्टिरूपहिरण्यगर्भात्मनि तं क्षेत्रज्ञं आत्मनि कारणात्मके कारणात्मानम् आत्मनि शुद्धे ब्रह्मण्यवष्टभ्य कृत्याद्विरतः स्यादिति पौराणिकं-मन्याः इति द्वयमपि प्रमाणविरुद्धत्वात् उपेक्षणीयम्। मनश्चेति चशब्देन मनश्शब्दवाच्यं रुद्रं

1. A.B. ऱ्

बुद्धिशब्दवाच्यां वाणीं विरिञ्चलक्ष्मीद्वारा क्षेत्रज्ञे लयं तत्त्वानां स्वस्वकारणेषु कल्पत इति ज्ञातव्यम् * "उपोधिके समीपेच इति", "शान्तिः प्रशममङ्गले" (वैज.को.6-2-39) इति च "मङ्गलं भगवान् विष्णुः" (भार. 3-462 1per 12 App. 6-54) इति च ।।१६।।

**रा०कृ०** गदाभृतः श्रीहरेः पादादि पादप्रभृति यावद्धसितं मन्दस्मितावधि एकैकशः प्रत्येकमङ्गानि धिया अनुभवेत् चिन्तयेत्। यथा यथा धीः शुद्ध्यति ध्यानेन निश्चला भवति तथा तथा जितं जितमनायासेन स्फुरितं स्थानं चरणाद्यङ्गमपोह्य त्यक्त्वा परं परमन्यं जङ्घाद्यङ्गं धारयेत् हृदये ध्यायेत्।।१३।।

परावरे सर्वोत्तमे विश्वेश्वरे विश्वस्य नियन्तरि द्रष्टरि सर्वसाक्षिणि अस्मिन् भगवति यावत् भक्तियोगः न जायेत तावत् क्रियावसाने अग्निहोत्रद्यावश्यकक्रियाणामन्ते प्रयतः प्रयत्नवान् पुरुषस्य भगवतः स्थवीयः स्थूलतरं पूर्वोक्तं रूपं स्मरेत्।

एवमत्र श्रीशुकयोगिना ध्येये द्वे भगवतो रूपे पृथक् समुपदिष्टे। तयोः प्रथमं तावत् विराड्रूपं द्वितीयं तु दिव्यरूपम्। प्रथमरूपध्यानेन विश्वस्मिन् जगति भगवद्भावना निश्चला भवति। इदं च विश्वरूपम् अथवा विष्णुरूपमिति च कथ्यते। किञ्च विष्णुसहस्रनामादौ "विश्वं विष्णुः" (भार.13-135-14) इति नामभ्यां इदमेव रूपं ज्ञापितम्। महाभारतयुद्धादौ च भगवता श्रीकृष्णेन दर्शितम् एतदेव विश्वरूपम्।

अपि च एतद्विराड्रूपध्यानेन अन्येषु तत्प्रवर्तनादिषु च ईश्वरस्य अन्तर्यामिता स्थिरा भवति। तदेतत् वासुदेवतत्त्वम् इत्यभिधीयते।

अनन्तरं द्वितीयं दिव्यरूपं ध्येयम्। एतद्रूपध्यानेन साधके त्रिगुणात्मकवासनाक्षयः तेन च दिव्यत्वसिद्धिः। तदिदं निर्मलं नित्यं गुणातीतं परमरमणीयमानन्दमयं नारायणतत्त्वमिति कथ्यते, यदनुप्रवेशेन साधकः सर्वात्मना दिव्यताविलसितो भवति। तथा च तस्य प्राकृतं शरीरं करुणमयम् अप्राकृतशरीरं सम्पद्यते, यदेव हि भागवतमयशरीरमिति व्यवह्रियते। एतादृशैः नारायणमूर्तिभिः अधिष्ठितो लोक एव वैकुण्ठः।

निरन्तरमात्मनः एतद्दिव्यरूपेण अवस्थानपर्यन्तं तद्रूपधारणा कार्या। केचित्तु एतद्धारणासाधनं मध्ये त्यजन्ति। स्वानुभवविषयमेव रूपं इश्वरीयं मन्यमानाः ते न ततः परां सिद्धिमधिगच्छन्ति। वस्तुतस्तु अस्मत्कर्तृकाः भगवद्विषयकाः अभिप्रायाः न भगवत्तत्त्वं गमयन्ति। साधनदशायामनुभूयमानाः स्वप्रदर्शनादयस्तु अस्मद्वाञ्छाप्रतिरूपा एवेति ज्ञेयम्। ईश्वरस्य सर्वान्तर्यामित्वात् सर्वातीतत्वाञ्च तस्य हि साक्षात्कारः जगज्जीवसाक्षात्काररूपेणैव भवति। तथा च तज्जीवसेवैव तद्देवसेवेति तद्भिन्नं सर्वमपि प्रज्ञाप्रदर्शनमात्रपरमिति विभावनीयम्। अतः एतद्दिव्यरूपतत्त्वनुसन्धाननिश्चलात्मान एव नारायणाज्ञायां वर्तन्ते। अन्ये तु तत्तल्लोकावस्थायिनः कल्पान्तपर्यन्तं दिव्यत्वं प्रतीक्षमाणाः तिष्ठन्ति।

---

* "उपाधिकेऽन्तिहीने" (वैज.को. 8-7-18)

एतेन भौतिकशरीरमेव साधनायाः सर्वोत्तममुपकरणमिति पर्यवस्यति।।१४।।

अङ्ग! हे राजन्! यतिः योगाभ्यासी यदा इमं लोकं देहं जिहासुः हातुं त्यक्तुमिच्छुः भवति तदा देशे काले च मनो न सज्जयेत् सङ्गं न प्रापयेत्। किञ्च, स्थिरं सुखं च आसनमाश्रितः, जितेन्द्रियस्सन् मनसा प्राणान् इन्द्रियाणि नियच्छेत्।।१५।।

धीरः अमलया स्वबुद्ध्या मनः नियम्य एतां बुद्धिं क्षेत्रज्ञे जीवे निनयेत् नियच्छेत्। तं क्षेत्रज्ञ मात्मनि शुद्धजीवे निनयेत्। आत्मानं तं शुद्धाजीवं आत्मनि सर्वात्मनि भगवति अवरुध्य समर्प्य लब्धोपशान्तिः लब्धा प्राप्ता उपशान्तिः कामादिसर्वदोषनिवृत्तिः येन तथाभूतस्सन् कृत्यात् प्रयत्नात् विरमेत।

ननु "स्थिरं सुखं चासनमाश्रितो यतिर्यथा जिहासुरिममङ्ग! लोकम्" (भाग.2-2-15) इत्यत्र योगिनो देहजिहासोक्ता । सा च आत्महत्यासदृशी योगिनः समचित्तस्य कथमुपपद्यते? अत्रोच्यते-- संसारबद्धजीवस्य देहवियोगो मरणं, धारणया मनः इन्द्रियाणि च प्राणे योजयतो योगिनस्तु विना मरणस्फुरणां देहत्यागः सुकरः। तदा देहसम्बन्धस्फुरणां विनैव साधको योगी जीवयात्रां कर्तुं प्रभवति। तथा च सः देहाश्रिताऽऽत्मावस्थितिभावनाम् अपहाय आत्माश्रितदेहस्थितिभावनामुपैति। तेन यदृच्छया कालवशात् देहपातेऽपि स आत्माकृतिः अवतिष्ठते। अपि चायं देहपातनिमित्त- देशकालादिभिः न व्यथते। एवञ्चात्र योगिनो देहजिहासा नाम देहसम्बन्धस्फुरणाजिहासेति सा च मुमुक्षोः आवश्यकीति न काऽप्यनुपपत्तिः।।१६।।

**न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः कुतो न देवा जगतां य ईशिरे।**
**न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च न वै विकारो न महान् प्रधानम्।।१७।।**

**परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद् यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः।**
**विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा हृदोपगुह्यार्हपदं पदे पदे।।१८।।**

**इत्थं मुनिस्तूपरमेद् व्यवस्थितो विज्ञानदृग्वीर्य सुरन्धिताशयः।**
**स्वपार्ष्णिनऽऽपीड्य गुदं ततोऽनिलं स्थानेषु षड्सूत्रमयेज्जितक्लमः।।१९।।**

**नाभ्यां स्थितं हृद्यधिरोप्य तस्मादुदानगत्योरसि तं नयेन्मुनिः।**
**ततोऽनुसन्धाय धिया मनस्वी स्वतालुमूलं शनकैर्नयेत।।२०।।**

1. AF.GF. °रः 2. H.W. °गूह्यार्हपदं ; M.Ma. °गूह्यापूरम्

**श्रीध०** तदेवाऽऽह - **न यत्र** इति। यत्र आत्मस्वरूपे कालो न प्रभुः किमपि कर्तुं न समर्थः। अत एव देवा न प्रभव इत्याह। अनिमिषां देवानां परः प्रभुः कालोऽपि यत्र न प्रभुः तत्र कुतो नु[1] देवाः प्रभवेयुः[2]। देवनियम्यानां तु जगतां प्राणिनां[4] का वार्ता इत्याह जगतामिति। कुतो न प्रभवन्तीति अपेक्षायां निरुपाधिकत्वात्[5] इत्याह।[6] यद्वा जगत्कारणान्यपि न यस्य[7] सृष्ट्यादौ[8] प्रभवन्तीत्याह - **न यत्रेति**। विकारोऽहङ्कारः।।१७।।

निरुपाधिकत्वं[9] कुत इत्यत आह - **परम्** इति। यत् यस्मात् एतत् आत्मव्यतिरिक्तं "नेति नेती" त्येवमुत्स्रष्टुमिच्छवो दौरात्म्यं देहाद्यात्मत्वं विसृज्य अर्हस्य पूज्यस्य श्रीविष्णोः पदे[10] पदे पदे क्षणे क्षणे हृदा उपगुह्य[11] आश्लिष्य न अन्यस्मिन् सौहृदं येषां तथाभूताः सन्तः तद्वैष्णवं पदम् अत एव परं सर्वतः श्रेष्ठमामनन्तीत्यन्वयः।।१८।।

**इत्थम्** इति। तस्मादित्थं[12] ब्रह्मत्वेन व्यवस्थितो मुनिः उपरमेत्। तुशब्देन "यदि प्रयास्यन्" (भाग. 2-2-22) इति वक्ष्यमाणात् सकामात्[13] विशेषः उक्तः तमाह। विज्ञायते अनेनेति विज्ञानं शास्त्रं तेन जाता दृक् ज्ञानं तस्याः वीर्यं बलं तेन सुरन्धिताः निर्दग्धाः[14] विहिंसिता[15] आशायाः विषयवासनाः यस्य सः। इदानीं तस्य देहत्यागप्रकारमाह। स्वपार्ष्णिना पादमूलेन गुदं मूलाधारम् आपीड्य निरुध्यानिलं प्राणम् उन्नमयेत् ऊर्ध्वं नयेत्। जितः क्लमो येन। षट्सु स्थानेषु नाभ्यादिषु।।१९।।

**नाभ्याम्** इति। नाभ्यां मणिपूरके स्थितं हृद्यनाहतचक्रेऽधिरोप्य उरसि कण्ठादधोदेशे स्थिते विशुद्धिचक्रे[16] मनस्वी जितचित्तः[17] स्वतालुमूलं तस्यैव चक्रस्याग्रदेशम्। ततो बहुधागमनसम्भवात् शनकैः इत्युक्तम् ।।२०।।

**वीर०** अथ प्राप्यं परमात्मस्वरूपं वक्ष्यन् तस्मिन् स्वात्मसमर्पणावधि कर्म न त्याज्यमित्याह- **न यत्र** इति। यत्र वैष्णवे पदे कालो न प्रभुः किमपि कर्तुं न समर्थः अत एव देवा न प्रभव इत्याह। अनिमिषां ब्रह्मादीनां[18] परः प्रभुः कालो यत्र न प्रभुः तत्र कुतो नु[19] देवाः प्रभवः स्युः देवनियाम्यानां जगतां प्राणिनां का वार्ता इत्याह। जगतां प्राणिनां ये ईशिरे जगन्ति ये न्ययमयन् देवाः ते कुतो नु प्रभवः तन्नियाम्यानां जगतां तु अप्रभुत्वं कैमुत्यन्यायसिद्धमित्यर्थः। सर्वैः अनियाम्यं सर्वैः[20] अनियन्त्रितमित्यर्थः किञ्च, यत्र पदे प्रधानं तद्गुणाः सत्त्वादयः प्रधानकार्यभूता[21] महदहङ्कारादयश्च स्वकीयकार्यजननक्षमा न भवन्ति।।१७।।

---

1. H.V. Omit नु 2. B.H.V. °वस्युः 3. B. Omits तु 4. H.V. add तत्र 5. A. Omits °क° 6. A. adds न यत्रेति 7. H.V. add जगत्° 8. V. adds °ते 9. A.B. Omit °क° 10. A.B. Omit पदं 11. H.V. °गू° 12. H.V. य° 13. H.V. °शा° 14. A.B. Omit निर्दग्धाः 15. A. add वा 16. H.V. °द्ध° 17. H.V. य° 18. W. °हिदेवा 19. A.B. Omit नु 20. W. सर्वनियन्त्रित्यर्थः 21. A.B. °त°

यत् विष्णोः सम्बन्धि परं सर्वोत्कृष्टं पदं प्राप्यं स्वरूपं पद्यते गम्यत इति हि व्युत्पत्तिः आमनन्ति वेदान्ताः[1] इति शेषः। किं कर्तुमिच्छवः आमनन्ति यद्यस्मिन्न तन्नेति नेतीति उत्सिसृक्षवः तद्व्यतिरिक्त-मुत्स्रष्टुमिच्छवः व्यावर्तयितुमिच्छवः अब्रह्मात्मकं स्वतन्त्रं वस्तु "नेति नेति" (भाग. 7-7-23) इति बोधयन्तः कालादिभिः अनियाम्यं कालादीनां च नियन्तृ यत् सत्त्वादिकार्यास्पृष्टं च वैष्णवं प्राप्यं स्वरूपं वेदान्ता आमनन्ति दौरात्म्यं रागाद्युपहतचित्तत्वं विसृज्य त्यक्त्वा तदर्हपदमर्हस्य आराधनीयस्य भगवतः पदं अनन्यसौहृदा अनन्यसौहृदेन[3] हृदयस्य हृदादेशः यद्वा अनन्यसौहृदा वेदान्ताः आमनन्ति इति पूर्वेणान्वयः। अनन्यतात्पर्यका इत्यर्थः। हृदा हृदयेन उपगृह्य पदे पदे क्षणे क्षणे आश्लिष्य कृत्याद्विरमेत। तदा कृतकृत्यो भवेदिति पूर्वेणान्वयः।।१८।।

अथ देहादुत्क्रान्तिप्रकारमाह - **इत्थम्** इति। मुनिः इत्थं तु उपरमेत्, देहादिति शेषः। तुशब्दः कृत्याद्विरतेः देहादुपरामस्य वैषम्यद्योतकः। इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण एतदेव उपपादयति विज्ञानेति। सर्वं ब्रह्मात्मकमिति व्यवस्थितमतिः विज्ञानं भगवदुपासनात्मकं ज्ञानं तदेव दृक् दर्शनात्मकं साक्षात्कारताऽऽपन्नं प्रत्यक्षतापन्नमित्यर्थः। तादृशस्य ज्ञानस्य यद्वीर्यं सामर्थ्यं तेन सुरन्धितः विहिंसितः निश्शेषनिवृत्तः आशयो वासना यस्य स तथोक्तः योगी स्वपार्ष्णिना स्वपादमूलेन गुदं मूलाधारम् आपीड्य निरुद्ध्य ततः आपीडनानन्तरम् अनिलं प्राणं षट्सु नाभ्यादिषु वक्ष्यमाणेषु स्थानेषु उन्नमयेत्। जितः क्लमो येन निवृत्तश्रम इत्यर्थः।।१९।।

नाभ्यां मणिपूरके स्थितं प्राणं हृद्यनाहताख्ये[8] हृदयकमले अधिरोप्य तस्मात् हृदः उदानगत्या उदानस्योदानवायोर्गत्या सञ्चारप्रकारेण उरसि कण्ठात् अधोदेशस्थिते विशुद्धचक्रे तं प्राणं नयेत। तत उरसः धिया अनुसन्धाय स्वगन्तव्यमनुसन्धाय मनस्वी यतचित्तः स्वतालुमूलं स्वजिह्वाग्रपूर्वचक्रस्यै-वाग्रभागं शनकैः ततो बहुधा गमनसम्भवात् शनकैः इत्युक्तम्। नयेत प्रापयेत्।।२०।।

**विज०** एवमुत्क्रान्तो ज्ञानी यं लोकमाप्नोति तमितरलोकेभ्यो व्यावर्तयति - **न यत्र** इति। यत्र यस्मिन् लोके अनिमिषाणां रुद्रादिदेवानां प्रभुः कालो वायुः न प्रभुः स्वशक्तेः उद्बोधकः "हरिश्च प्रकृतिश्चैव ब्रह्मवायू तथैव च" (उदारसंहितायां) इत्यादेः ये रुद्रादयो देवा जगताम् ईशिरे जगन्ति स्वस्वकार्ये प्रवर्तयामासुः ते देवा न प्रभवन्ति कुतोऽन्यावकाशो न कुतोऽपि इत्यर्थः। यत्र यस्मिन् स्थाने सत्त्वादिगुणत्रयं च स्वशक्तिप्रकाशकं न। विकारे वै[10] भूतेन्द्रियात्मकोऽहङ्कारश्च न। महान् महतत्त्वं च प्रधानं प्रकृतिश्च न। जरादिस्वधर्मापादिकाः न भवन्तीयर्थः।।१७।।

---

1. A.B. वेदा 2. W. Omits इति 3. W. "दर्थे" 4. A.B. Omit "प्रकार" 5. A.B. "रत्वेन 6. A.B. Omit साक्षात्कारताऽऽपन्नं 7. W. Omits वि" 8. A.B. "रव्य" 9. A.B. Omit स्व" 10. A. Omits वै

ननु कालादिसंसर्गाभावात् शशविषाणवत् नास्तीति तत्राऽऽह - **परम्पदम्** इति। तत् वैष्णवं विष्णोर्विद्यमानं परम्पदं प्राप्तव्योत्तमं लोकम् आमनन्ति पठन्ति इत्यन्वयः। अनेन यथा कलादिकृतोपद्रवो हरेः नास्ति, तथा लोकस्यापि इत्युक्तं भवति। यत्सम्बन्धात् लोकोऽपि तादृङ्महिमा स विष्णुः। किं महिमा? इति तत्राऽऽह यत्रेतीति। वैष्णवम् इत्यनेन प्रस्तुतो विष्णुः अयम् उच्यते। अतत् तस्मात् ब्रह्मण इतरत् संसारलक्षणं दुःखम् उत्सिसृक्षवः त्यक्तुकामाः विशिष्टाधिकारिणो यं विष्णुं "नेति नेति" (भाग. 7-7-23) पृथिव्यादिवत् न आकाशादिवच्च न तत्कारणमहदादिवच्च न तदभिमानिवच्च नेत्युपास्यत तद्दौरात्म्यं दुरात्मनाम् असुरप्रकृतीनां विद्यमानं संसारदुःखं विसृज्य अनन्यसौहृदाः अनन्यभक्ताः हृदा निरतिशयस्नेहलक्षणभक्त्या उपगुह्य पदे पदे मनसा निरन्तरं परिरभ्य अमुमापुः। एवंविधस्य हरेः विद्यमानमिति पूर्वेणान्वयः। यद्वा यत् सर्वोत्तमं परममङ्गलं विष्णुरूपम् आप्तवान्। तद्रूपम् इतरेभ्यो व्यावर्तयति न यत्रेति। अतत् तस्मात् ब्रह्मणः अन्यत् जगत् उत्सिसृक्षवः त्याजयितुकामाः स वा एष आत्मा नेति नेतीति आमनन्ति तदित्यन्वयः। वेदानामचेतनत्वेन बुद्धिपूर्वकप्रवृत्त्यसम्भवात् कथं तदुक्तं निर्णेतुं शक्यत इत्यात्राऽऽह विसृज्येति। वेदोक्तं निर्णीय, दौरात्म्यं दुष्टोपास्तिमैक्यविषयं विसृज्य पदे पदे अन्वहं हृदा उपगुह्य, अपरोक्षीकृत्य, अनन्यसौहृदा भूतभवद्भविष्यन्तोऽमुमापुः आप्नुवन्ति आप्स्यन्ति वा। अतो युक्तमुक्तमिति।।१८।।

सम्प्रति ज्ञानिनो देहादुत्क्रमणप्रकारमाह - **इत्थम्** इति। तुशब्दः प्रकरणभेदार्थः। इत्थं "स्थिरं सुखं च आसनम्" (भाग. 2-2-16) इत्युक्तप्रकारेण मुनिः उपरमेत् उत्क्रान्तो[1] भवेत्। कथमत्राऽऽह - व्यवस्थित इति। देहादुत्क्रमणे व्यवस्थितो निश्चितबुद्धिः! विज्ञानमात्मयोग्यज्ञानं स्वबिम्बविषयं तदेव दृक् तस्याः वीर्येण सुष्ठु रन्धितो दग्धः आशयः बाह्यान्तःकरणं यस्य स तथोक्तः। "विज्ञानं ब्रह्म" (तैत्ति.उ. 3-5) इति श्रुतेः "विज्ञानस्य ब्रह्मणः दृशो वीर्येण" इति वा जितक्लमः शरीरग्लानिरहितः प्रथमं स्वपार्ष्णिना गुल्फाधोभागेन गुदम् अपानद्वारमापीड्य ततेऽपानव्दारनिरोधानन्तरम्। ततो मूलाधारात् चतुर्दलपद्मात् अनिलम् उदानवायुम् उत्थाप्य नाभिहृदयोरस्तालुमूलभ्रूमध्यमूर्धसु षट्स्थानेषु क्रमात् उन्नमयेत् ऊर्ध्वं गमयेदित्यन्वयः।।१९।।

संक्षिप्य उक्तं विशिनष्टि - **नाभ्याम्** इत्यादिना। मुनिः मूलाधारात् चतुर्दलपद्मात् उन्नीय नाभ्यां स्थितं षड्दलपद्मे नीतमुदानगत्या ब्रह्मानाड्या हृदि दशदलपद्मेऽवरोप्य सन्निधाय ततो दशदलपद्मात् तम् उरसि द्वादशदलपद्मं[2] नयेत् मनस्वी मनस्समाधाननिरतः ततो द्वादशदलपद्मात् यथा नाड्यन्तरं न गच्छेत् तथा धिया अनुसन्धाय शनकैः असम्भ्रमेण स्वतालुमूलं षोडशदलकमलं नयेत्।।२०।।

---

1 A.B. °क्रमितो 2. M.Ma °चे

**रा०कृ०** यत्र ईश्वरप्राप्तौ सत्यां अनिमिषां ब्रह्मादिदेवानामपि परो नियामकः कालो न प्रभुः किमपि विधातुं न समर्थः तत्र ये देवाः जगतां प्राकृतजगत्सु ईशिरे ईशा बभूवुः ते देवाः कुतो नु? कुतो वा प्रभवः स्युः? किञ्च यत्र सत्त्वं, रजः, तमः, विकारः, अहङ्कारः, महान् महत्तत्त्वं, प्रधानं प्रकृतिश्च न प्रबभूवुरिति शेषः।

यत् यस्मात् अतत् तद्भिन्नं ब्रह्मभिन्नमित्यर्थः। "नेति नेति" (भाग. 7-7-23) इति उत्सिसृक्षवः उत्स्रष्टुं त्यक्तुमिच्छवः विवेकिनः दौरात्म्यं कलत्रपुत्रशरीरादिषु आत्मीयभावं विसृज्य त्यक्त्वा अनन्यसौहृदाः विष्णुसम्बन्धहीनवस्तुनि स्नेहरहिताः अर्हपदं अर्हस्य पूज्यस्य भगवतः पदं पादारविन्दं पदे पदे अनुक्षणं हृदा उपगूह्य आश्लिष्य तत् पूर्वोक्तं वैष्णवं विष्णुसम्बन्धि पदं स्थानं परं सर्वोत्कृष्टं आमनन्ति निरूपयन्ति।

करादेः अवयवस्य तदाधारभूतशरीरेश्वरे जीवे इव अधिकारो प्राकृतजगदीश्वरदेवनियामकस्य कालस्यापि स्वहेतुभूते परमात्मनि नैव अधिकारः। एवं सत्त्वादीनामपि घटादीनां मृदादिष्विव न परमात्मनि प्रभुता।

परमात्मभिन्नं न किमपि वस्तु विद्यते। सर्वं हि जगत् नामरूपात्मकमेव यदन्तर्यामितया आत्मा वर्तते। अन्तर्यामिताभावविरहेण ज्ञातं सर्वमपि वस्त्वात्मभिन्नमेव। तथा च दौरात्म्यविसर्जनं नाम प्रागुक्तान्तर्यामितानैरपेक्ष्येण ज्ञाते कलत्रपुत्रादिमये जगति आत्मीयभावविसर्जनमेव। तस्मात् सर्वव्यापकात्माऽपरपर्यायस्य विष्णोः सम्बन्धेन सर्वमपि पदं सर्वोत्कृष्टं वैष्णवं पदं भवतीति आमनन्ति विवेकिनः।।१७,१८।।

इत्थं प्रागुक्तप्रकारेण आत्मानं परमात्मनि समर्प्य व्यवस्थितः ब्रह्मत्वेन स्थितो मुनिस्तु मननशीलो योगी तु विज्ञानदृग्वीर्यसुरन्धिताशयः विज्ञानदृशः अनुभवज्ञानदृशः वीर्येण बलेन सुरन्धिताः विनाशिताः आशयाः विषयवासनाः यस्य तथाभूतस्सन् विरमेत् कृत्यादुपरमेत्।

अथ स्वपार्ष्णिना स्वपादमूलेन गुदं मूलाधारम् आपीड्य ततः जितक्लमः प्रागभ्यस्त-प्राणायामबलेन श्रमरहितः अनिलं प्राणवायुं षट्सु नाभ्यादिषु वक्ष्यमाणेषु स्थानेषु उन्नमयेत् ऊर्ध्वं नयेत्।।१९।।

अनन्तरं स मुनिः नाभ्यां मणिपूरकचक्रे स्थितं, प्राणमिति शेषः। हृदि अनाहतचक्रे अधिरोप्य तस्मात् अनाहतचक्रात् उदानगत्या उदानवायोः सञ्चारक्रमेण उरसि कण्ठाधोदेशस्थिते विशुद्धिचक्रे तं प्राणं नयेत् प्रापयेत्। ततः अनन्तरं तत्स्थानात् धिया स्वबुद्ध्या अनुसन्धाय विचार्य मनस्वी सः शनकैः शनैः स्वतालुमूलं पूर्वचक्रस्याग्रप्रदेशं नयेत प्राणं प्रापयेत्।।२०।।

तस्माद्भ्रुवोरन्तरमुन्नयेत निरुद्धसप्तायतनोऽनपेक्षः।
स्थित्वा मुहूर्तार्धमकुण्ठदृष्टिर्निर्भिद्य मूर्धन् विसृजेत् परं गतः।।२१।।

यदि प्रयास्यन् नृप पारमेष्ठ्यं वैहायसानामुत यद् विहारम्।
अष्टाधिपत्यं गुणसन्निवाये सहैव गच्छेन्मनसेन्द्रियैश्च।।२२।।

योगेश्वराणां गतिमाहुरन्तर्बहिस्त्रिलोक्याः पवनान्तरात्मनाम्।
न कर्मभिस्तां गतिमाप्नुवन्ति विद्यातपोयोगसमाधिभाजाम्।।२३।।

वैश्वानरं याति विहायसा गतः सुषुम्नया ब्रह्मपथेन शोचिषा।
विधूतकल्कोऽथ हरेरुदस्तात् प्रयाति चक्रं नृप शैशुमारम्।।२४।।

* योऽन्तः पचति भूतानां यस्तपत्यण्डमध्यगः।
सोऽग्निर्वैश्वानरो मार्गो देवानां पितृणां मुनेः।।
देवयानं पिङ्गलाभिरहन्येति शतायुषा।
रात्रीरिडाभिः पितृणां विषुवत्तां सुषुम्नया।।

**श्रीध० तस्मात्** इति। तस्मात् भ्रुवोरन्तरमाज्ञाचक्रम्। निरुद्धानि इन्द्रियाणि श्रोत्रे नेत्रे नासिके मुखं चेत्येवं सप्तायतनानि प्राणमार्गा येन सः। अनपेक्षः चेत् परं ब्रह्मगतः सन् मूर्धन् मूर्धनि। अत्र सप्तमीलोपः आर्षः। ब्रह्मरन्ध्रं निर्भिद्य देहमिन्द्रियाणि च विसृजेत्।।२१।।

सद्योमुक्तिमुक्त्वा क्रममुक्तिप्रकारम् आह - **यदि** इति दशभिः। यदि तु पारमेष्ठ्यं पदं ब्रह्मणः स्थानं प्रयास्यन् भवति उत वैहायसानां खेचराणां सिद्धानां यत् विहारं क्रीडास्थानम्। कीदृशम्? अष्टौ आधिपत्यानि अणिमाद्यैश्वर्याणि यस्मिन् तदपि प्रयास्यन्। कैः? गुणसन्निवाये गुणसमुदायरूपे ब्रह्माण्डे सर्वत्र इत्यर्थः। तर्हि देहत्यागावसरे मनश्च इन्द्रियाणि च न त्यजेत्। किन्तु तैः सहैव तत्तल्लोकभोगार्थं गच्छेत्।।२२।।

---

1. H.N.V. "स्वयनोऽ" ; M.Ma. "अपथोऽ" 2. AF.GF. "स्यत्रथ; M.Ma. "स्यत्यथ 3. AF.GF. "रान् 4. H.V. "पाते 5. W. "गो" 6. M.Ma. "मनन्तिब" 7. M.Ma. "त्मा; W. "त्मना। 8. AF.GF. तत् 9. AF.GF. "पे" 10. AF.GF. योऽर्चि" 11. A.B.C.G.I.M.Ma.N. शै"
* Two additional verses are found in M.Ma. between vv 24&25. The commentary of Sri Vijayadhwajatirtha on these verses is to be found in its proper place. 12. A.B. Omit इन्द्रियाणी 13. H.V. "स्वय" 14. B. adds सप्त" 15. B. adds क्रममुक्तवत् पारमेष्ठ्यादि भोगकौतुकानपेक्षः 16. B. Omits चेत्.....सन् 17. H.V. Omit सन् 18. A.B. "न्ध्रे 19. H.V. "इन्द्रि" 20. H.V. Omit सद्यो.....आह 21. B. Omits "प्रकार" 22. H.V. Omit दशभिः 23. A.B. Omit ब्रह्मणः स्थानं 24. H.V. add स्वर्गादिकं 25. B.H.V. "द 26. H.V. Omit क? 27. H.V. "पाते 28. H.V. "ह

यतः कर्मगतिवत् न योगगतिः परिच्छिन्नेत्याह - **योगेश्वराणाम्** इति। योगेश्वराणां त्रिलोक्या अन्तर्बहिश्च महर्लोकादिषु ब्रह्माण्डात् बहिश्च गतिमाहुः। अत्र हेतुः। पवनस्य अन्तः, आत्मा लिङ्गशरीरं येषाम् इति। विद्या उपासना तपो भगवद्धर्मः योगोऽष्टाङ्गः समाधिः ज्ञानं तान् ये भजन्ति तेषां या गतिः ताम्।।२३।।

तामाह - **वैश्वानरम्** इत्यष्टभिः। विहायसा आकाशेन। तत्र च[1] ब्रह्मलोकपथेन गतस्सन् प्रथमं वैश्वानरं अग्न्यभिमानिनीं देवतां याति। केनोपायेन? सुषुम्नया नाड्या। सा च देहात् बहिरपि विततताऽस्तीत्याह। शोचिषा ज्योतिर्मय्या विधूतकल्कः विधूतः त्यक्तः कल्को मलो येन सः। क्वाऽप्यसज्जमान इत्यर्थः। उदस्तात् उपरिष्टात् वर्तमानं हरेः सम्बन्धि तारारूपं,[2] नारायणाधिष्ठितमित्यर्थः। शैंशुमारं[3] चक्रं पञ्चमस्कन्धे वक्ष्यमाणं शिंशुमारकारं[4] ज्योतिश्चक्रम्। चक्रस्थानि[5] आदित्यादिध्रुवान्तानि पदानि प्रयातीत्यर्थः।।२४।।

**वीर०** तस्मात् स्वतालुमूलात्। भ्रुवोः अन्तरं भ्रूमध्यस्थाज्ञाचक्रम्। प्रत्युन्नयेत ऊर्ध्वं नयेत। कथम्भूतः? निरुद्धसप्तायतनः निरुद्धानि सप्तायतनानि श्रोत्रद्वयाक्षिद्वयनासारन्ध्रद्वयास्यरूपाणि स्थानानि येन सः, विषयान्तरनिरपेक्षः। भ्रूमध्ये मुहूर्तार्धं स्थित्वा, अकुण्ठदृष्टिः स्वगन्तव्यविषयाप्रतिहत-तज्ञानसम्पन्नः परं परमात्मानं प्राप्तः अनुसन्दधत् मूर्द्धन् मूर्द्धानं "सुपां सु लुक्" (अष्टा.7-1-39) इति सुब्लुक्। निर्भिद्य "शीर्षकपालं भिनत्ति (सुबा.उ.11) इति श्रुतिः स्मारिता। विसृजेत्, स्थूलदेह मिति शेषः ।।२१।।

अथ मुमुक्षोः गन्तव्यम् अर्चिरादिमार्गं वक्ष्यन् तस्य मुमुक्षोः धूमादिमर्गस्य हेयत्वज्ञापनाय धूमादिमार्गेण गतानां गन्तव्यलोकानाह - **यदि** इति। "एते सृती ते नृपवेदगीते" (भाग.2-2-32) इति मार्गद्वयस्य वक्ष्यमाणत्वात् अस्मिन् अध्याये धूमादिमार्गविषयग्रन्थान्तराभावाच्च। "तासां मूर्द्धानमभिनिः सृतैका तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति" (कठ.उ.6-16) इति श्रुतेः। मूर्ध्नो[7] निष्क्रान्तस्य अर्वाचीनलोकगत्यनुपपत्तेश्च। यदि इत्यादि श्लोकद्वयं धूमादिमार्गगतानां गन्तव्यलोक प्रदर्शनपरमेव। ननु "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" (कठ.उ.6-14) इति सद्योमुक्तिरेका प्रतीयते "तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरन्ह" (छान्दो.उ. 5-10-1) इत्यादिना क्रममुक्तिः अन्या प्रतीयते। अत्रापि "विसृजेत्परङ्गतः" इति सद्योमुक्तिः, "वैश्वानरं याति" (भाग.2-2-24) इति क्रममुक्तिश्च प्रतीयते अतः क्रममुक्तिसद्योमुक्तिरूपमार्गद्वयस्यैव एते सृती ते इति वक्ष्यमाणत्वात् न धूमादिमार्गगतगन्तव्यप्रदर्शनपरमिदं श्लोकद्वयम् इति चेत् उच्यते।

---

1. H.V. Omit च 2. B. "पनारायणाधिष्ठानमित्यर्थः 3. A.B. शौ" 4. A.B. शि" 5. A.B. "श्रयं; H.V. "रव्यं 6. H.V. "स्थानान्या" 7. A.B. "र्ध"

सद्योमुक्तिः तावत् अप्रामाणिकैव। "ये चेमेऽरण्ये श्रध्दातप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति" (छान्दो.उ. 5-10-1) इत्यादिना "स एतान् ब्रह्म गमयति" (छान्दो.उ. 5-10-2) इत्यन्तेन ब्रह्मोपासीनानां अर्चिरादिना गतानामेव ब्रह्म प्राप्त्यवगमात् "विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्" (ब्र.सू.3-3-59) इति न्यायेन सर्वब्रह्मविद्यानां एकफलत्वेन अर्चिरादिगतेः सर्वब्रह्मविद्यानिष्ठानां समत्वात् शास्त्रप्रतिपाद्यायाः सद्योमुक्तेः अभावात्। अथ ब्रह्मणः सर्वगतत्वात् न तत्प्राप्तये देशान्तरगमनापेक्ष इति चेत् तर्हि ब्रह्मणो नित्यत्वात् सर्वदा तत्प्राप्तिः किं न स्यात्। अथ कालविशेष एव निश्शेषाविद्यानिवृत्तिः इति मन्यसे, एवं देशविशेष एव निश्शेषाविद्यानिवृत्तिः इति विभाव्यताम्। "अत्र ब्रह्म समश्नुते" (कठ.उ.6-14) "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्मात्येति" (बृह.उ. 4-4-6) इत्यादिः कोऽर्थ इति चेदुच्यते। अत्र अस्मिन् लोके उपासनदशायां यो ब्रह्मानुभवति तस्य ब्रह्मप्रेप्सोः प्राणा नोत्क्रामन्ति तं विहाय न गच्छन्ति किन्तु उपासनफलभूतब्रह्मप्राप्तये तदधिष्ठतलोकान्तरगमनाय सहैव तिष्ठन्तीत्यर्थः। इति अतो धूमादिना गतानां गन्तव्यप्रदर्शनपरमिदं श्लोकद्वयमित्याह। यदि इति। हे नृप! पारमेष्ठ्यं चतुर्मुखलोकं वैहायसानां खेचराणां सिद्धानां यत् विहारस्थानं कीदृशम्? अष्टाधिपत्यमणिमाद्यष्टैश्वर्यसम्पन्नं यदि प्रयास्यन् गमिष्यन् भवति तदा गुणसन्निवाये मरणे मनसा इन्द्रियैश्च सहैव गच्छेत् स्थूलदेहस्यैव भस्मीभावात् सक्ष्मदेहेनैव गच्छतीत्यर्थः। अर्वाचीनलोकान् गच्छतां भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मकलिङ्गशरीरेणैव सह गमनं ब्रह्मप्रेप्सोस्तु किञ्चिद्दूरं गच्छतो मध्ये विश्लेष इति विशेषः।।२२।।

योगेश्वराणां भगवद्भक्तिव्यतिरिक्तयोगनिष्ठानां अब्रह्मात्मकस्वतन्त्रजीवोपसकानां त्रिलोक्याः अन्तः बहिः जनलोकादिषु पवनान्तरात्मना पवनस्यान्तरात्मा पवनान्तरात्मा तेन वायुभूतसूक्ष्मदेहेन गतिमाहुरित्यर्थः। यद्वा वायुमनुप्रविश्य गच्छतीति वायुतुल्यवेगो गच्छतीति आहुः इत्यर्थः। भगवद्भक्तिव्यतिरिक्तयोगनिष्ठानां गतिः इतरैः न लभ्यत इत्याह नेति। विद्या शास्त्रजन्यं ज्ञानं, तपः कर्मयोगः, योगो यमनियमादिः, समाधिः अब्रह्मात्मकस्वात्मरूपानुसन्धानम् एतान् भजन्ति ये तेषां योगीश्वराणां तां गतिं ब्रह्माण्डान्तर्गतापेक्षितलोकगतिं कर्मभिः अभिसंहितफलैः कर्मभिः न प्राप्नुवन्ति केवलकर्मिभ्योऽधिको योगी केवलयोगिभ्यः अधिको भगवदुपासक इत्यभिप्रायः। यद्वा भवद्भक्तानां गतिः कर्मभिः नावाप्यत इत्याह **योगीश्वराणाम्** इति। भगवद्भक्तियोगनिष्ठानाम् इत्यर्थः। त्रिलोक्याः त्रिलोकान्तर्भूतचतुर्दशभुवनात्मकाण्डकोशाद्बहिः समाधिः परमात्मोपासनमिति भेदः, एवं हेयत्वेन धूमादिमार्गगतिरुक्ता।।२३।।

अथ मुमुक्षोः अर्चिरादिमार्गमाह- **वैश्वानरम्** इति। छान्दोग्ये "यथा पुष्करपलाश आपो न

1. W. "दिग" 2. W. "ना" 3. W. "ना" 4. W. "दिग" 5. W. "गी" 6. A.B. Omit अन्तः 7. W. adds वा 8. W. "क्तियोगनिष्ठव्यतिरिक्तानां 9. W. "त्मस्व"

श्लिष्यन्ते एवं एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते" (छान्दो.उ.4-14-3) इत्युपक्रम्य ब्रह्मविद्यामुपदिश्य आम्नातः। "अथ यदुचास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसम्भवन्ति। अर्चिषोऽहः अह्न आपूर्यमाणपक्षम् आपूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान्" "मासेभ्यः संवत्सरम्। संवत्सरादादित्यम्। आदित्यात् चन्द्रमसम्। चन्द्रमसो विद्युतम्। तत्पुरुषोऽमानवः। स एनान् ब्रह्म गमयति। एष देवपथो ब्रह्मपथः। एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नाऽऽवर्तते नावर्तन्ते" (छान्दो.उ.4-15-5) इत्याम्नाता श्रुतिः "स वै पुनर्नेह विषज्जतेऽङ्गम्" (भाग.2-2-31) इत्यन्तेनाभिमता। अत्रानुक्तो हरादिप्रवेशस्त्वर्थसिद्धो वेदितव्यः। शीर्षकपालभेदनानन्तरमेव वैश्वानरप्राप्यसम्भवात् श्रुतावपि वरुणेन्द्रप्रजापत्यादयोऽन्यत्र श्रुताः अर्थसिद्धाः इति वेदितव्यम्। ब्रह्मपथेनेति सुषुम्नाविशेषणम्। ब्रह्मप्रेप्सोर्मार्गभूतया शोचिषा प्रकाशमानया सुषुम्नया सुषुम्नाख्यया नाड्या देहान्निर्गतः। शोचिषेत्यनेन "तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति" (बृह.उ.4-4-2) इति श्रुत्युक्तसुषुम्नासम्बन्धिहृदयकमलाग्रस्य प्रकाशनं स्मारितं "तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृति योगाच्च हार्दानुगृहीताः शताधिकया" (ब्र.सू.4-2-17) इति सूत्रकारः तदोकः तस्य ब्रह्मप्रेप्सोः जीवस्य स्थानभूतं यत् हृदयकमलं तस्याग्रं सुषुम्नाख्यनाडीद्वारं तस्य ज्वलनं प्रकाशनं भवति। अयं जीवः हार्दानुगृहीतः हृदयकमलस्थपरमात्मानुगृहीतः तेन परमात्मना प्रकाशितसुषुम्नाद्वारो विद्यायाः ब्रह्मविद्यायाः सामर्थ्यात् ब्रह्मविद्याङ्गभूतार्चिरादिगतिस्मृतियोगाच्च शताधिकया सुषुम्नया गच्छतीति सूत्रार्थः। एवम्भूतसुषुम्नया गतः विहायसा शीर्षकपालबहिष्ठाकाशेन वैश्वानरमर्चिश्शब्दवाच्यं अग्निं आतिवाहिकं दैवतं याति "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्" (भ.गी.8-24), "अर्चिषमभिसम्भवन्ति" (छान्दो.उ.5-10-1) इत्यनेन ऐकार्थ्यात् अस्यैव मोक्षमार्गत्वं सूचयति विधूतकल्क इति। "पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (मुण्ड.उ.3-1-3) "अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य धूत्वा शरीरम्" (छान्दो.उ.8-13-1) इति हि श्रूयते, न हि धूमादिमार्गगतानां पुण्यपापप्रहाणं श्रूयते विधूतकल्कः निवृत्तपुण्यपापः अत्राहरादिप्रवेश उक्तः हरेरादित्यस्य उदस्तात् उपरिष्टात् स्थितं शैशुमारं चक्रं प्रयाति। हे नृप! शैशुमारचक्रस्वरूपं तु पञ्चमे स्कन्धे वक्ष्यते।।२४।।

**विज०** तस्मात् भ्रुवोरन्तरं भ्रूमध्यस्थितं द्विदलं कमलमुन्नयेत तत्रापि इतिकर्तव्यतया भाव्यम् इत्याह निरुद्धचेति। निरुद्धाः सप्तानामध्वानां कर्णाक्षिनासिकादिसंज्ञानां पन्थानो येन स तथोक्तः। अनपेक्षो बाह्यसुखानिच्छुः अत्रापि इत्थम्भावमाह स्थित्वेति। मनसा परं गतो भ्रूमध्ये तु मुहूर्तार्धं स्थित्वा मार्गगम्यविशेषेषु अकुण्ठदृष्टिः मूर्धन् मूर्धनि शिरोमध्ये निर्भिद्य विसृजेत्, शरीरमिति शेषः। गत इत्यनेन चिन्तनमुच्यते। "अथैकयोर्ध्वमुदानः" (प्रश्न.उ.3-7) "प्राणापानाविडायां च पिङ्गलायां च वर्ततः। व्यानः सन्धिषु सर्वत्र उदानो ब्रह्मनाडिगः" (भरते) इति श्रुतिस्मृतिभ्याम् उदानगतिः

1. W. वेदितव्यः 2. A.B. शै° 3. A.B. शै° 4. W. Omits स्कन्धे

ब्रह्मनाड्यामिति सिद्धम्। इत्थं मुनिः इत्यनेन निर्गुणविद्याफलमुक्त्वा स्वपार्ष्णिनेत्यनेन सगुणविद्याविदो दोहोत्क्रमणप्रकार उच्यत इत्येतत् अनुपपन्नम्, एकवाक्यतया मुख्यार्थे सम्भवति वाक्यभेदा-योगादिति।।२१।।

एवं देहादुत्क्रान्तानां योगिनां प्राप्यस्थानं गम्यं चाऽऽह - **यदि** इत्यादिना श्लोकद्वयेन। अत्र यदि अथ उतेति शब्दाः पुनरावृत्त्या अन्वेतव्याः। तथा हि - यदि सम्यक् पक्वभक्त्यादिसाधनवान् तर्हि अथ उत्क्रमणानन्तरमेव पारमेष्ठ्यं परमेष्ठिनो ब्रह्मणो लोकं प्रयास्यति। तत्रायं किं करोतिति तत्राऽऽह- अथेति। अथ तल्लोकप्राप्त्यनन्तरं पुनरूत्पत्तिहीनो ब्रह्मसालोक्यमात्रं प्राप्य अथ भक्त्यादिलक्षण परीपाकाय योगी वसति। अनन्तरं ब्रह्मप्रलये ब्रह्मणा सह स्वयोग्यां मुक्तिं प्राप्नोतिति शेषः। उतशब्दः अप्यर्थे। यद्यदि तत उत पूर्वोक्तयोगिनोऽपि अपरिपक्व भक्त्यादिकल्याणवान् तर्हि वैहायसानां वैमानिकानां सिद्धनां विहारं क्रीडास्थानं महर्लोकादि प्रयास्यति। तत्रास्य योगफलमाह अष्टाधिपत्यम् इति। अथ महर्लोकादिस्थाने अष्टानामणिमादियोगानां आधिपत्यमवाप्य वसति।।२२।।

अथ यदि सम्यक्पक्वभक्त्यादिमान् अप्रतीकालम्बनः, तर्हि यत्र पवनस्यान्तरात्मा विकुण्ठनाथः तत्र विकुण्ठनाथलोकेऽमुक्तस्थाने अमुक्तैः देवैः उपास्यमानं हरिं प्रयास्यति; यदि प्रतीकालम्बनः, तर्हि यत्र पवनश्वासौ अन्तरात्मा चेति, वायुर्ब्रह्मा च तत्र सत्यलोके वायुं ब्रह्माणं च प्रयास्यति। किमुक्तं भवति तत्राऽऽह - **योगेश्वराणाम्** इति। त्रिलोक्याः भूम्यन्तरिक्षस्वर्गसंज्ञायाः बहिर्महर्लोकादौ योगोश्वराणां गतिम् आमनन्ति न तु अर्वाक्। तल्लोकप्राप्तौ साधनविशेषमाह विद्येति। विद्या अपरोक्षज्ञानं तदादिपुरुषार्थसाधनसामग्रीमतां पुंसां तां महर्लोकादिगतिं केवलकर्मभिः न आप्नुवन्ति, किन्तु अपरोक्षज्ञानेनैव। अत्रायं कश्चन विशेषः। गुणानां सत्त्वादीनां सन्निवायः सन्निवासो यत्र स गुणसन्निवायः तस्मिन् महर्लोकादि वैकुण्ठान्ता मुक्तस्थानात् अधिके प्रदेशे प्रयास्यन् बाह्येन्द्रियमनोभिः सहैव गच्छेत्। आविष्कृतनिजरूपस्यापि तस्य आरब्धकर्ममोक्षपर्यन्तं दग्धपटवत् तेषां स्थित्युक्तेः। पश्चात् अज्ञानादिगुणसन्निवाये मुक्तस्थाने चिन्मात्रेन्द्रियमनोभिः सहैव वसति। तदुक्तं - "चिन्मात्राणीन्द्रियाण्याहुर्मुक्तानामन्यदैव तु" (ब्रह्मे) इति, "ईयुस्त्रीन् कर्मणा लोकान् ज्ञानेनैव तदुत्तरान्। तत्र मुख्या हरिं यान्ति तदन्ये वायुमेव तु। अपक्वा येन ते यान्ति वायुं वा हरिमेव वा। स्थानमात्राश्रितास्ते तु पुनर्जनिविवर्जिता"(ब्रह्मतर्के) इति समाख्यावचनबलादध्याहारेण व्याख्यातं; न तु स्वमनीषोत्प्रेक्षाबलादिति। यदि पारमेष्ठ्यादिलोकं प्रयास्यति तर्हि मनसेन्द्रियैः सहैव गच्छेदिति वाऽन्वयः। यत्र योगेश्वराणां गतिं त्रिलोक्या बहिरामनन्ति यत्र पवनान्तरात्मा तत्र विद्यादिभाजं तां गतिं कर्मभिः न आप्नुवन्ति इति वा।।२३।।

तस्य योगिनो मार्गमाह **वैश्वानरम्** इति। सुषुम्नया नाड्या उत्क्रम्य विहायसा हृदयाकाशेन ब्रह्मपथेन सुषुम्नाख्यया शोचिषा। "रोचिः शोचिरुभे" (अम.को.1-106) इत्याद्यभिधानम्। गतो निर्गतोऽर्चिरादिदेवान् गत्वाऽथ वैश्वानरं याति। अथ वैश्वानरप्राप्त्या विधूतकल्को दग्धपापतृणः ततो वैश्वानरलोकादुदस्तादुपरि हरेः शैशमारं चक्रं शिंशुमारस्वरूपं प्रयातीत्यन्वयः। "वैश्वानरे द्युनद्यां वा सूर्ये वा देह एव वा। विधूय सर्वपापानि यान्ति किंस्तुघ्रकेशवम्" (ब्रह्माण्डे) इत्येतत् अथेति सूचितम्।।२४।।

वैश्वानरो नाम क इति तत्राऽऽह - **य** इति। यो भूतानामन्तः कोष्ठगाग्नौ स्थित्वा तद्भुक्तं चतुर्विधमन्नं पचति, यश्च ब्रह्माण्डमध्यगः स्वपुरमध्यगः तपति प्रकाशते स प्रधानवह्निः गम्यत्वात् मार्ग इतीरित इत्यन्वयः। "पितृयानं देवयानं ब्रह्मयानमिति त्रिधा। गच्छन् वैश्वानरं याति तस्मान्मार्गः स ईरितः" (भाग. 4-29-13) देवयानेन गन्तॄणां वैश्वानरात् अर्वाक् अर्चिरादयो गम्याः सन्ति। ब्रह्मदेवपितृलोकगन्तृभिः सर्वैरपि वैश्वानरः प्राप्यत इति द्योतनाय वैश्वानरं यातीति प्रथमत एव वैश्वनरप्राप्तिकथनमिति ज्ञातव्यम्।।

के तर्हि ते, इति तत्राऽऽह - **देवयानम्** इति। शरीरदक्षिणपार्श्वस्थपिङ्गलाख्यनाडीभिः शतायुषा मरणाख्योत्क्रमणादहान्यहः संज्ञदेवयानमेति। इडाभिः देहवामपार्श्वस्थेडाख्यनाडीभिः शतायुषा मरणेन रात्रीः रात्रिसंज्ञं पितॄणां यानं पितृयानमेति। देवयानपितृयानमार्गस्थानां अहरादिकालाभिमानिनीनां देवतानां प्राचुर्यात् अहानि रात्रीरिति बहुवचनम् "दक्षिणाः पिङ्गलाः सर्वाः इडा वामाः प्रकीर्तिताः। नाड्योऽथ मध्यमा प्रोक्ता सुषुम्ना वेदपारगैः" (भागवततन्त्रे) इति। "देवयानस्य मार्गस्था अहश्शब्दाभिसंज्ञिताः। पितृयानस्य मार्गस्था रात्रिशब्दाह्वया मता" (बृहत्तन्त्रे) इति वा पिङ्गलेडामध्यस्थया सुषुम्नया नाड्या शतायुषा। विशिष्टसुखवत्वात् तद्विषुवत्ताख्यं ब्रह्मयानमेति। विशिष्टं सुखं विषु, तदस्यास्तीती विषुवत्। तस्य भावो विषुवत्ता ताम्। स षयोः अभेदात् 'वि' इत्युपसर्गयोगाद्वा सकरस्य षकारः। "विषुवत्ता ब्रह्मयानं विशेषेण सुखं यतः" (ब्रह्मतर्के) इति रागोपरक्तसुखाददितृत्वात् पिङ्गलादेः देवयानादिशब्दवाच्यत्वम् तदुक्तम् -"पिङ्गला देवयानं स्यात् पिङ्गाख्यसुखदा यतः। इडाऽऽत्रदानात् पितॄणामेवं मार्गाः प्रकीर्तिताः" (ब्रह्मतर्के) इति अत्र देवयानब्रह्मयानभेदोऽवान्तरोऽवगन्तव्यः।।

**रा०कृ०** तस्मात् स्वतालुमूलात् निरुद्धसप्तायतनः निरुद्धानि श्रोत्राक्षिनासिकामुखरूपाणि सप्त आयतनानि प्राणमार्गाः येन सः तथाभूतस्सन् भ्रुवोरन्तरं भ्रूमध्यस्थितमाज्ञाचक्रं प्रति उन्नयेत प्राणं प्रापयेत्। अथ अनपेक्ष्यः वक्ष्यमाणपारमेष्ठ्यादिपदभोगनिरपेक्षश्च मुहूर्तार्थं तथैव स्थित्वा अकुण्ठदृष्टिः। अखण्डदृष्टिः अखण्डसत्यासत्यविवेकवान् इत्यर्थः। परं परमात्मानं गतः अनुसन्दधानः मूर्धन् मूर्धानं निर्भिद्य विसृजेत्, देहेन्द्रियाणि त्यजेत्।

1. A.B.M.Ma रौ° 2. A.B.M.Ma शि°

अत्र प्राणवायोः नाभ्यादि षट्स्थानेषु प्रापणं नाम तत्स्थानगतप्रज्ञाजागरणमेव। निरुद्धसप्तायतन पदेन बाह्यनासिकाश्रोत्रादीन्द्रियनिरोधो न विवक्षितः किन्तु प्राणगत्या तदिन्द्रियप्रज्ञाप्रवृत्त्यभावो ध्वन्यते। अन्यथा श्वासस्तम्भत्रासादिभिः शरीरत्यगे जीवस्य तामसलोकसञ्चारः तेन पिशाचभीरून्मत्तादि-जन्मप्राप्तिश्च प्रसज्येत। मूर्धनिर्भेदेन जीवप्रज्ञायाः अखण्डब्रह्मत्वप्राप्तिप्रयुक्तदेहेन्द्रियपरिमितबन्धविमुक्तिः गम्यते। तदा जीवप्रज्ञा परब्रह्मप्रज्ञारूपेण अवतिष्ठते।।२१।।

हे नृप! परीक्षित्! यदि साधकः पारमेष्ठ्यं ब्रह्मपदं प्रयास्यन् भवति उत अथवा अष्टाधिपत्यं अणिमाद्यष्टैश्वर्योपेतं वैहायसानां विमानैः आकाशे सञ्चरतां सिद्धानां विहारं क्रीडास्थानं यद्वर्तते तद्वा यदि प्रयास्यन् भवति अथवा गुणसन्निपाते गुणसमुदायरूपे ब्रह्माण्डे यत्र कुत्र वाऽपि यदि प्रयास्यन् भवति तदा देहत्यागसमये मनसा इन्द्रियैश्च सहैव गच्छेत्।।२२।।

पवनान्तरात्मनां पवनस्य वायोः अन्तः आत्मा लिङ्गदेहो येषां तेषां विद्यातपोयोगसमाधिभाजां योगेश्वराणां त्रिलोक्याः अन्तः स्वर्गादिमध्ये बहिश्च महर्लोकादिषु च गतिं गमनसामर्थ्यमाहुः तां गतिं कर्मभिः कर्मिणो न आप्नुवन्ति।।२३।।

हे नृप शोचिषा ज्योतिर्मय्या सुषुम्नया सुषुम्नानाड्या तद्द्वारेत्यर्थः ब्रह्मपथेन ब्रह्मलोकमार्गेण विहायसा आकाशेन गतः वैश्वानरं वह्निदेवतां याति, अथ विधूतकल्कः निरस्तमलः कुत्राप्यसक्त इत्यर्थः उदस्तात् उपरि विद्यमानं हरेः सम्बन्धि शैंशुमारं चक्रं शिंशुमाराख्यं ज्योतिश्चक्रं प्रयाति प्राप्नोति।।२४।।

**तद्विश्वनाभिं त्वतिवर्त्य[1] विष्णोरणीयसा विरजेनात्मनैकः[2]।**
**नमस्कृतं ब्रह्मविदामुपैति कल्पायुषो यद्विबुधा रमन्ते।।२५।।**

**अथो[3] अनन्तस्य मुखानलेन दन्दह्यमानं स निरीक्ष्य विश्वम्।**
**निर्याति सिद्धेश्वरजुष्टधिष्ण्यं[4] यद् द्वैपरार्ध्यं[5] तदु पारमेष्ठ्यम्।।२६।।**

**न यत्र शोको न जरा न मृत्युर्नाऽऽर्तिर्न[6] चोद्वेग ऋते[7] कुतश्चित्।**
**यच्चित्ततोऽदः[8] कृपयाऽनिदं[9] विदां दुरन्तदुःखप्रभावानुदर्शनात्।।२७।।**

---

1. M.Ma. प्रतिपद्य 2. M.Ma. °कम् 3. W. °थो 4.AF.GF. विश्रे° 5. I. °धु° 6. M.Ma. °धि° 7. W. भयं 8. M.Ma. °चित्ततोदः 9. M.Ma.W. क्रिय°

**ततो विशेषं प्रतिपद्य निर्भयस्तेनात्मनापोऽनलमूर्तिरत्वरन्।[1] [2]**
**ज्योतिर्मयो वायुमुपेत्य काले वाय्वात्मना खं बृहदात्मलिङ्गम्।।२८।।**

**घ्राणेन गन्धं रसनेन वै रसं रूपं तु[3] दृष्ट्वाश्वसनं[4] त्वचैव।**
**श्रोत्रेण चोपेत्य नभोगुणत्वं[5] प्राणेन[6] चाकूतिमुपैति योगी।।२९।।**

**श्रीध० तत्** इति। तदिष्णोः चक्रं विश्वस्य नाभिं सूर्याद्याश्रयभूतम्। आविष्टलिङ्गत्वात् नाभि-शब्दस्य न क्लीबत्वम्[7]। अतिवर्त्य अतिक्रम्य परतः स्वर्गिणां गत्यभावात्। एक एव निर्मलेन लिङ्गशरीरेण ब्रह्मविदां स्थानमन्यैर्नमस्कृतं महर्लोकम् उपैति। यत्[8] यस्मिन् विबुधाः[9] कल्पायुषो भृग्वादयः।।२५।।

**अथो** इति। अथो अनन्तरं कल्पान्ते[10] स विश्वं त्रैलोक्यमतिशयेन दन्दह्यमानं निरीक्ष्य तत्राप्यूष्मप्राप्तेः[11] यत् द्विपरार्धस्थायि तत्पारमेष्ठ्यं पदं प्रति निर्याति। सिद्धेश्वरैः जुष्टानि धिष्ण्यानि विमानानि यस्मिन् तत्। उ इति श्रैष्ठ्यं सूचितम्।।२६।।

तदेवाऽऽह- **न यत्र** इति। आर्तिः दुःखम् "उद्वेगो भयम्"। किन्तु चित्ततो हेतोः यद्दुःखमदः ऋते तदेकं विना तत्कुतो भवति? अनिदंविदाम् इदं भगवतो ध्यानम् अजानतां प्राणिनां दुरन्तदुःखो[12] यः प्रभवः जन्म तस्यानुदर्शनात् तेषां कृपया। यद्वा चित्ततो दो मनःपीडेति यत्तद्विना कुतश्चिदपि यत्र शोकादयो न सन्तीति।।२७।।

तत्र[13] ब्रह्मलोके[14] गतानां त्रिविधा गतिः। ये पुण्योत्कर्षेण गताः ते कल्पान्तरे पुण्यतारतम्ये-नाधिकारिका[15] भवन्ति। ये तु हिरण्यगर्भाद्युपासनाबलेन गताः ते ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते। ये तु[16] भगवदुपासकाः ते[17] स्वेच्छया ब्रह्माण्डं भित्त्वा[18] वैष्णवं पदम् आरोहन्ति। तत्र प्रस्तुतस्य[19] भगवद्भक्तस्य ब्रह्माण्ड-भेदनप्रकारमाह - **तत** इत्यादिना। तत्रेयं[20] प्रक्रिया। ईश्वराधिष्ठितायाः प्रकृतेः केनचिदंशेन महत्तत्वं भवति, तस्यांशेन अहङ्कारः, तस्यांशेन शब्दतन्मात्रद्वारा नभः, तस्यांशेन स्पर्शतन्मात्रद्वारा वायुः, तस्यांशेन रूपतन्मात्रद्वारा तेजः, तस्यांशेन रसतन्मात्रद्वारा आपः, तासाम्[21] अंशेन गन्धतन्मात्रद्वारा पृथ्वी तैश्च मिलितैः चतुर्दशभुवनात्मकं विराट्शरीरं, तस्य[22] पञ्चाशत्कोटियोजनविशालस्य पृथिव्येवाण्डकटाह-शब्दवाच्या कोटियोजनविशालम् प्रथमावरणम्। पञ्चाशत्कोटियोजनविशालमित्येके। ततश्च अबादीनां ये परिणता अंशाः तान्येव उत्तरोत्तरं दशगुणान्यावरणानि। अष्टमं तु प्रकृत्यावरणं व्यापकमेव। तदेवं

---

1. M.Ma. "र्मि च 2. W. "म" 3. H.V.W. च 4. M.Ma स्पर्शं 5. M.Ma. "णं तत् 6. M.Ma. "येण नाऽऽवृत्तिं" 7. A. षण्ढं; B. षण्ड" 8. A. Omits यत् 9. B. adds महान्तः 10. B. adds सति 11. B. "ष्मणा" 12. H.V. "खानां 13. B. adds च 14. B. "कं" 15. B. "णो 16. H.V. Omit तु 17. B. adds तु 18. H.V. "त्त्वैव 19. B. adds तस्य 20. H.V. अ" 21. A.B. तदंशे" 22. B. adds च 23. A.B. "हविशेषशब्द"

स्थिते पृथिव्याद्यावरणभेदनप्रकारः कथ्यते। ततो विशेषं प्रतिपद्य लिङ्गदेहेन पृथिव्यात्मतां प्राप्य इत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। निर्भयः कथं यास्यामीति शङ्काशून्यः तेनाऽऽत्मना पृथिवीरूपेण तन्निरन्तरा अपः, प्रतिपद्य अत्वरन् त्वराम् अकुर्वन् तत्तदात्मकत्वेन[1] क्लेददाहादिशङ्काभवाद्यथेष्टं भोगान् भुञ्जान इत्यर्थः। एवं ज्योतिर्मयस्सन् काले भोगावसाने बृहदात्मलिङ्गं परमात्ममूर्तित्वेन उपासनेषु उक्तम्। यद्वा। वेदशब्दात्मना[3] तस्य प्रमापकमिति।।२८।।

इन्द्रियार्थानां भूतसूक्ष्माणामतिक्रममाह - **घ्राणेन** इति। घ्राणेन अधिष्ठितेन गन्धमुपेत्य, श्वसनं स्पर्शनं[4] नभोगुणत्वं शब्दात्मतां, प्राणेन तत्तत्कमेन्द्रियेण आकूतिं तत्तत्क्रियाम्।।२९।।

**वीर०** विश्वनाभिं विश्वस्य ग्रहतारकानक्षत्रादेः कृत्स्नस्य आश्रयभूतं, विष्णोः स्थानमिति शेषः। विरजेन प्रणष्टपुण्यपापेन अणीयसा सूक्ष्मतरेण आत्मना लिङ्गशरीरेणैकः असहायः नमस्कृतं ब्रह्मविदां ब्रह्मविद्भिः नमस्कृतम् इदं शिशुमारचक्रविशेषणं तदतिवर्त्येत्यन्वयः। अनेन चन्द्रप्राप्तिरपि सिद्धा तस्याव्यवहितः शिशुमारः[6] यत् यत्र कल्पायुषः विबुधा आकल्पान्तायुषः[7] देवाः रमन्ते तं जनलोकमुपैति प्रयाति।।२५।।

अथः अधस्तात् स्थितस्यानन्तस्य मुखानलेन अवान्तरप्रलये शेषमुखोद्भूतरुद्रगणफालानलेन दंदह्यमानमिति। मस्तकस्थायी इह मृत्युरिति उक्तरीत्या सत्त्वाभिप्रायो वर्तमाननिर्देशः। निरीक्ष्य त्रिकालज्ञानबलादपरोक्षं[8] दृष्ट्वेत्यर्थः। जनलोके स्थित्वा कल्पान्ते[9] तत उपैतीति अयमर्थोऽनुपपन्नः। पुण्यपापविधूननस्योक्तत्वेन[10] तत्रावस्थितिहेतुभूतकर्माभावात् तेषु लोकेषु स्थित्ययोगात्। अतो दोषं दृष्ट्वा द्वैपरार्ध्यं द्विपरार्धस्थायि सिद्धेश्वरैः जुष्टानि धिष्ण्यानि विमानानि यस्मिन्। तत् उ श्रेष्ठं पारमेष्ठ्यं चतुर्मुखसम्बन्धिस्थानं याति निर्यातीत्यर्थः वरुणेन्द्रादिप्राप्तिस्तु अर्थसिद्धा।।२६।।

चतुर्मुखलोकस्य स्वर्गाद्यपेक्षया चिरकालस्थायित्वम् अभिप्रयन्नाह - **न यत्र** इति। यत्र इत्यस्य तत्र दुरन्तदुःखप्रभवानुदर्शनादित्युपरितनेन अन्वयः। आर्तिः दुःखम्, उद्वेगो मनःक्षोभः, भयम् आगामिदुःखदर्शनजं ज्ञानम्। कुतश्चिदित्यस्य भयमित्यनेनान्वयः। कुतश्चित् शीतातपवातवर्षादिभ्यः। एवंविधेऽपि चतुर्मुखलोके ब्रह्मविदां निर्वेदमाह यच्चित्तत इति। यत् यस्मात् इत्यर्थः। अनिर्दविदाम् इदंशब्दवाच्यपरिदृश्यमानप्रपञ्चविलक्षणपरब्रह्मविदाम्। क्रियया कर्मणा हेतुभूतेन दुरन्तदुःखप्रभवानुदर्शनात्। दुरन्तम् अपारं यद्दुःखं तस्य प्रभवः प्रभवति अस्मादिति प्रभवः दुखःहेतुभूतस्संसारः[11]। तस्य

1.A.B. Omit "क" 2. B. "ऽरि 3. B.H.V. Omit वेद" 4. A.H.V. स्पर्श 5. A.B. शि" 6. A.B. शि" 7. W. Omits आ" 11. W. "वत्त्वाद" 12. A.B. "न्तरे 10. W. "निधू" 11. A.B. "सं"

अनुदर्शनम् उत्प्रेक्षणम् तस्मात्। चित्ततः चित्तेन[1]। अदः दुरन्तदुःखमिति यच्चतुर्मुखलोकेऽपि ब्रह्मविद्भिः कर्महेतुकं दुरन्तदुःखं चित्तेन अनुमीयत इति यत्तत एव हेतोर्विशेषं प्रतिपद्येति उत्तरत्रान्वयः। अर्थान्तरपरत्वम् अनुपपन्नम् अध्याहारबाहुल्यात्। यस्य हिरण्यगर्भस्य चित्तत उपासनात् अदः तस्य स्थानम् उपासकैः लभ्यत इति शेष इति यदा योजना तदा उपासकैः लभ्यते इति अध्याहारैः[2]। अनिर्दविदां हिरण्यगर्भोपासनरहितानां दुरन्तदुःखप्रभवानुदर्शनात् तदुपासकानामेव दुःखनिवृत्तिस्थानं ब्रह्मलोकाख्यं लभ्यते इति नोपपद्यते; हिरण्यगर्भस्थानस्यापि दुःखनिवृत्तिहेतुत्वाभावात्। चतुर्मुखलोकं गतस्य श्वेताख्यस्य[3] राज्ञः पुनर्भवमागत्य प्रतिदिनं स्वीयशवभक्षणं प्रसिद्धम् ; आवृत्तेः दर्शनाच्च। ननु ब्रह्मलोकस्थ योगिनां न पुनरावृत्तिदुःखभयं तत्र मोक्ष्यमाणत्वनिश्चयादिति चेत् न। भूतलस्थयोगिनामपि मोक्ष्यमाणत्वनिश्चयात् न पुनरावृत्तिभयम् इति मुमुक्षूणां महीतलचतुर्मुखलोकयोः को विशेषः, "आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन!" (भ.गी. 8-16) इति हि स्मर्यते। तच्च द्वैपरार्ध्यमित्यनेन सूचितम् ; अतो यथोक्त एवार्थः ।।२७।।

ततो विशेषं पृथिवीमयमण्डकटाहं प्रतिपद्य व्याप्य इत्यर्थः। अनेन "पृथिवीमण्डं भिनत्ति" इति श्रुतिः व्याख्याता। विशेषशब्दः पृथिवीवाचकः "महदाद्यां विशेषान्ताः" इति प्रयोगात्। अत्रापि "विशेषस्तु विकुर्वाणादम्भसो गन्धवानभूत्" (भाग.2-5-29) इति वक्ष्यमाणत्वाच्च। विशेषं प्रतिपद्य निर्यातीति अनुषङ्गः। यद्वा उत्तरत्र उपैतीत्यनेनान्वयः। तेनाऽऽत्मना स्वरूपेणोपलक्षितः आपः आवरणजलम्। प्रतिपद्य इत्यन्वयः। आवरणाग्निव्याप्तिमाह - अनलमूर्तिमिति। मूर्ती[5]भूतावरणाग्निं प्रतिपद्य, अत्वरन् त्वरामकुर्वन्, क्लेददाहादिशङ्काभावात् इत्यभिप्रायः। ज्योतिर्मयः अग्निर्भूत्वा, अभ्रं भवतीतिवत् संश्लेषाभिप्रायो ज्योतिर्मयशब्दः। वायुम् आवरणवायुमुपेत्य काले पूर्वपूर्वावरणात्ययानन्तर-काले वाय्वात्मना वायुसंश्लिष्टरूपेण उपलक्षितो बृहत्स्वकार्यभूतवाय्वाद्यपेक्षया बृहत्। आत्मलिङ्गं स्वासाधारणशब्दलिङ्गकं स्वम् आवरणाकाशमुपेत्य आत्मलिङ्गम् इत्यत्र आत्मा स्वासाधारणगुणः शब्दः लिङ्गम् आत्मानात्मनोः प्रमाणं यस्य तत् इत्यर्थः। "लिङ्गं यद्द्रष्टृदृश्ययोः" (भाग.2-5-25) इति वक्ष्यमाणत्वात्। इदमावरणान्तरेष्वपि तत्तद्गन्धादिगुणविशिष्टपृथिव्यादिसंश्लेषप्रदर्शनार्थमुक्तम्। एवम् "आकाशं भिनत्ति" (सुबा.उ.11) इत्यन्तः श्रुत्यर्थ उक्तः।।२८।।

गच्छतो मुक्तस्य सूक्ष्मदेहस्थैः इन्द्रियैः तत्तद्भूतगुणग्रहणमाह - **घ्राणेन** इति। ब्रह्मलोकपर्यन्तेष्वेव शब्दादिषु अनादरोऽभिप्रेतः। आवरणभूतगुणानां तु अनितरभोग्यत्वात् तत्तद्गतगन्धादीन् गृह्णातीत्यभिप्रायः। घ्राणेन स्वकीयघ्राणेन्द्रियेण। गन्धमावरणपृथिवीगुणभूतं गन्धम्। एवं च[8] रसनेन्द्रियेण रसं, दृष्ट्या चक्षुरिन्द्रियेण रूपं तेजोगुणं, त्वचा त्वगिन्द्रियेण। एवकारः साङ्कर्याभावद्योतकः। श्वसनं वायुगुणं

1. A.B. चित्तनात् 2. W. °र्थम् 3. W. Omits श्वेताख्यस्य 4. A.B. °दयो 5. A.B. °र्ति 6. A.B. वायु 7. A.B. °वंका 8. W. Omits च

स्पर्शं, श्रोत्रेण श्रोत्रेन्द्रियेण, नभोगुणत्वं स्वार्थे त्वप्रत्ययः। प्राणेनान्तःकरणेन। आकूतिम् अभिप्रायं "समानीव आकूतिः" इति श्रुतिः[1]। अत्र प्राणशब्देन इन्द्रियवृत्तिहेतुभूतमुख्यप्राणो न विवक्षितः, तेन आकूतिग्रहणासम्भवात्। अतोऽन्तःकरणं विवक्षितम्। अंतः[3] अन्तःकरणप्रसूतो हि अभिप्रायः। एवं घ्राणादिभिः गन्धादीनुपेत्य तत्तद्भूतभेदनदशायां तत्तद्गुणान् गृह्णन्नुपैतीत्यर्थः।।२९।।

**विज०** अधुना शिंशुमारलोकात्[4] उपरितनमार्गप्रकारमाह - **तत्** इति। शैंशुमार[5] इत्यनेन यद्रूपमुक्तं विष्णोः तत् विश्वनाभिं विश्वाधारं रूपं प्रतिपद्य। तुशब्दसूचितां तदनुज्ञामादाय। विरजेन विगतरागादि-दोषेण, अणीयसा सूक्ष्मतरेणाऽत्मस्वरूपेण सर्वोऽपि ब्रह्मज्ञानिजनः तल्लोकमुपैति। तं विशिनष्टि कल्पायुष इति। कल्पायुषो विबुधा यत् यत्र रमन्ते क्रीडन्ति, तमिति शेषः। किंविशिष्टं रूपम्? ब्रह्मविदां समुदायेन नमस्कृतम् एकं मुख्यं केवलमिति वा। "मन्वन्तरायुषः स्वर्ग्यां महर्लोके तु कालिका" (ब्राह्मे) इति पिङ्गलाभिः उत्क्रम्य देवयानेन गतः परान्ते ब्रह्म प्रयास्यन् तत्र महर्लोकेऽष्टा-धिपत्यमित्युक्तो अणिमाद्यैश्वर्यशाली वसति कश्चन जनलोके कश्चन तपोलोके ज्ञानादिपरिपाकायाऽऽस्ते कश्चित्सत्यलोके हर्याज्ञया वसति। ब्रह्मयानेन गताः अप्रतीकालम्बनाः प्रतीकालम्बनाश्च शैंशुमारहरिणा-नुज्ञाताः तदैवानिरुद्धप्रद्युम्नसङ्कर्षणादिदेवान् प्राप्य, दिवस्पतिं वायुं प्राप्य, तेन कार्यब्रह्मप्रापिताः तदुपदेशं प्राप्य, प्रतीकोपासका निवसन्ति। अन्ये तु तेन वायुना परं ब्रह्म प्रापिताः तल्लोके निवसन्ति इत्यादिविशेषः, तुशब्देन सूचित इति ज्ञातव्यम्।।२५।।

महर्लोकादिषु विहरतां तथा ज्ञानादिसाधनपरिपाकाय च निवसतां चतुर्मुखप्राप्तिप्रकारमाह- **अथो** इति। महर्लोकादिषु वसन् स ज्ञानिसङ्घोऽथ द्विपरार्धावसाने ब्रह्मप्रलये ब्रह्मणा सह मुक्तिं यास्यन् सिद्धैः सनकादिभिः जुष्टस्य चतुर्मुखस्य धिष्ण्यं निवासस्थानं यत् द्वैपरार्ध्यं द्वयोः परार्धयोः सम्बन्धि। चतुर्मुखस्याऽऽयुषः परेति नाम। चतुर्मुखायुर्लक्षणशतसंवत्सरभोग्यम् इत्यर्थः। तत्पारमेष्ठ्यं निर्याति महर्लोकादेर्निर्गत्य सत्यलोकमाप्नोतीत्यर्थः। गन्तुं हेतुमाह-अनन्तस्येति। अनन्तस्य भगवतः मुखानलेन मुखनिर्गताग्निना पुनः पुनः दह्यमानं विश्वं निरीक्ष्य। सङ्कर्षणमुखाग्निना प्रपञ्चस्य दाहो हेतुरित्यर्थः। उशब्दो ब्रह्मलोकं प्राप्य तेनैव सह मुक्तिं प्राप्नोतीति अस्मिन्नर्थे वर्तते।।२६।।

सत्यलोकस्य इतरलोकेभ्यो वैशिष्ट्यम् आह - **न यत्र** इति। यत्र ऋते सत्यलोके शोकादयो न सन्ति। 'आधिस्तु व्यसने चित्तदुःखेऽधिष्ठानबन्धयोः' इति। व्यसनमाधिः अत्रोच्यते। यत्र अनिर्दविदाम् अब्रह्मविदां क्रियया दुःखस्य प्रभवस्य जननादिलक्षणस्य च अनुदर्शनात् जनस्य यश्चित्ततोदः सोऽपि नास्ति; तं सत्यलोकमाप्नोतीति पूर्वेणान्वयः। जनादिलोकापेक्षया सत्यलोकस्य वैशिष्ट्यं, न तु मुक्ति-

1. W. त्वः आर्षं 2. A.B. °तम् 3. A.B. Omit अतः 4. A.B.M.Ma. शि° 5. A.B.M.Ma. शै° 6. A.B.M.Ma. शै°

विशेषात्; तदुक्तम्-"सर्वदुःखविहीना ये मुक्ताः प्रायस्तु तादृशाः। अमुक्तास्तु जनाद्येषु विशेषेण तु सत्यगाः" (वाराहे) इति। ननु यदि ब्रह्मणा सहैव मुक्तिः सर्वेषां, तर्हि ततः पूर्वमायासेन साधन-सामग्रीसम्पादनं व्यर्थमिति चेत् न, योग्यताबाहुविध्यात् मुक्तिप्राप्तेरपि बाहुविध्यात्। तदुक्तम्- "विष्णोर्लोकं तदैवैके यान्ति कालान्तरे परे। आज्ञयैव हरेः केचिदपूर्तैः केचिदञ्जसा। विहृत्येवान्यलोकेषु मुच्यन्ते ब्रह्मणा सह" (वामने) इति।।२७।।

एवं देवयानेन गत्वा सत्यलोके, परब्रह्मलोके च स्थितानां ज्ञानिनां मोक्षं वक्तुं देवमुक्तिप्रकारमाह- **तत** इति। प्रतीकालम्बनाप्रतीकालम्बनसंज्ञः सः ज्ञानिसङ्घो ब्रह्मप्रलये स्वबिम्बं प्रविष्टो गरुडशेषलक्षण-मार्गद्वयेन वार्णी प्रविश्य, तया भौतिकशरीरं ब्रह्माणं प्रविश्य ततः तेन ब्रह्मणा सह विशेषं पृथिवीं प्रतिपद्य, तेन पृथिव्यात्मना सह आपः प्रतिपद्य, तेनात्मनाऽनलमूर्ध्नि प्रतिपद्य, तेन ज्योतिर्मयोऽग्निप्रधानो भूत्वा वायुमुपेत्य, मुक्तिकाले तेन वाय्वात्मना हरेः लिङ्गमाकाशवत् व्याप्तं नित्यं च इति बृहत् महत् खं प्रविशतीति अन्वयः। निर्भयः संसारभयात् मुक्तः अत एव त्वरन् त्वरमाणः। अत्रेदं तात्पर्यं चशब्दात् अवगन्तव्यम्। तथाहि-विशेषाख्याण्डे व्यवस्थिते विशेषनाम्नि विरिञ्चे स्थितं वैराजाख्यं हरिं पुनस्तद्द्वि-गुणाण्डकटाहात्मकविशेषाख्यपृथिव्यां स्थिते विरिञ्चे स्थितम् अन्ननामानं हरिं, तेन अन्ननाम्ना हरिणा अप्सु स्थिते चतुर्मुखे स्थितं अन्नाख्यं हरिं, तेन अन्नेन विष्णुना तेजोगतविरिञ्चस्थं प्राणनामानं हरिं तेना-ग्निगतेन हरिणा वायुस्थितचतुराननस्थितं प्राणाख्यं प्राप्यते। न वायुस्थविरिञ्चान्तर्यामिणाऽऽकाशस्थित विरिञ्चस्थं प्राणाख्यं हरिं प्रविशतीति पृथिव्यादिकार्याणां स्वस्वकारणेष्वबादिप्रधानानां तेषु लयः। तदभि-मानिदेवताशरीराणां च। तत्र विरिञ्चकेशवयोः तत्तत्पदार्थस्थितस्वस्वरूपैः एकीभावो, दीपानां दीपान्तरैरिव। अन्येषां द्वारमात्रमिति "ज्ञानिनः प्रलये सर्वे ब्रह्मणा सह पार्थिवम्। भूम्यपामन्ननामानं प्राणमग्न्यादि-संस्थितम्" - इत्यादिवाक्यद्वयेन चशब्दगृहीतेन निष्प्रमाणमिति शङ्का निरस्ता इति ज्ञातव्यम्।।२८।।

इदानीं पञ्चतन्मात्राप्रलयप्रकारमाह - **घ्राणेन** इति। घ्राणेन्द्रियाद्यधिष्ठितविरिञ्चस्थेन हरिणा गन्धतन्मात्राद्यधिष्ठातृविरिञ्चस्थितं हरिम् उपेत्य योगी पुनरावृत्तिं नोपैतीति अन्वयः। तत्र वाय्वादीनां पुनरावृत्तिसद्भावात् प्रायेण इत्युक्तम्। यद्वा एवमुक्तवक्ष्यमाणप्रकारेण मुक्तानां तेषां ज्ञानिनां भोगप्रकारमाह- घ्राणेन इति। एवमुक्तः केवलचिदानन्दैकदेहो योगी सः ज्ञानिसङ्घः तादृशैः इन्द्रियैः घ्राणादिभिः अत्युत्तमान् गन्धादीन् पञ्चविषयानुपेत्य श्वेतद्वीपादिस्थानेषु आश्रितः प्रलयेऽपि न पुनरावृत्तिम् उपैतीत्यन्वयः। वा इत्यनेन "पञ्चेन्द्रियैर्ये विषया द्रष्टव्याःसर्वतो वरा" (षाड्गुण्ये) इत्यादि मानसिद्धिं द्योतयति। इयमेव मुक्तिः न अद्वैतवादिकाथिता इति एवशब्दः तुना "मग्नस्य हि परे ज्ञाने किं न दुःखतरं भवेत्" इति मानं सूचयति।।२९।।

---

1. A.B. 'द्वन्'

**रा०कृ०** विश्वनाभिं विश्वस्य ब्रह्माण्डात्मकस्य - नाभिस्थानीयं केन्द्रभूतमित्यर्थः विष्णोः तत् शिंशुमारचक्रं तु अतिवर्त्य अतिक्रम्य एक एव, साधक इति शेषः। विरजेन निर्मलेन अणीयसा अतिसूक्ष्मेण आत्मना लिङ्गशरीरेण यत् यस्मिन् लोके कल्पायुषः विबुधाः ज्ञानिनो रमन्ते। नमस्कृतं स्वर्गलोकादि स्थितैः जनैः नमस्कृतं ब्रह्मविदां, स्थानमिति शेषः। तं महर्लोकमुपैति।।२५।।

अथो अनन्तरं कल्पान्ते सः अनन्तस्य शेषस्य मुखानलेन विश्वं दन्दह्यमानं निरीक्ष्य विलोक्य यद् ब्रह्मपदं द्वैपरार्ध्यं द्विपरार्धवत्सरपरिमितकालस्थायि वर्तते। सिद्धेश्वरजुष्टधिष्ण्यं सिद्धेश्वरसेवित-विमानं तत् उ श्रेष्ठं पारमेष्ठ्यं परमेष्ठिनो ब्रह्मणः पदं निर्याति प्राप्नोति।।२६।।

अनिर्दविदां इदं भगवतो ध्यानम् अजानतां प्राणिनां दुरन्तदुःखप्रभवानुदर्शनात् दुरन्तदुःख-सहितजन्मनोऽनुदर्शनात् कृपया तेषु दयया चित्ततोदः मनःपीडा भवतीति यत् तदृते तद्विना यत्र सत्यलोके कुतश्चित् कस्मादपि हेतोः न शोकः, न जरा, न मृत्युः, न आर्तिः, न च उद्वेगः भवन्ति तत् पारमेष्ठ्यं निर्यातीति पूर्वेणान्वयः।

देहत्यागसमये हि इन्द्रियानुषङ्गवशात् तदिन्द्रियगुणानुगुणलोकेषु विहरति जीवः। इन्द्रियगुणाश्च अत्र देहसद्भावे अनुभूताः रागद्वेषादिविषयवासना एव याः देहान्ते जले लवणादय इव जीवप्रज्ञायां विद्रुताः विद्यन्ते। तदा स जीवो वासनामयशरीरस्सन् ब्रह्माण्डे विचरति। वासनामयशरीरमेव लिङ्गशरीरमिति कथ्यते। जीवस्य भौतिकशरीरत्यागानन्तरं तत्सत्तास्फोरकमभिज्ञानात्मकं यद्वर्तते तल्लिङ्गशरीरमिति अन्वर्था संज्ञा।

स च लिङ्गशरीरी जीवः प्राकृतशरीरसद्भावसमयसमभ्यस्तविद्यातपोयोगादिसाधनमेव ब्रह्मलोकादिष्वपि समाचरति; अथापि इन्द्रियवासनावशात् चेतुर्मुखब्रह्मप्रज्ञामतीत्य अन्तर्यामिणमीश्वरं प्रातुं न पारयति।

एतल्लिङ्गशरीरधारिणां योगीश्वराणां गमनागमनविषयभूताः ब्रह्माण्डबहिरन्तर्भागाः न कर्ममयाः किन्तु प्रज्ञामयाः।

भौतिकदेहधारणसमये योगाभ्यासविधौ सुषुम्नामुखेन ऊर्ध्वगमनकुशलो जीवो तद्देहत्यागानन्तरमपि आत्मप्रज्ञामयीं सुषुम्नामाधाय ब्रह्मलोकं प्रयाति। एतत्प्रयाणकाले ज्ञानाग्निदग्धकर्ममलः सः कुत्रापि असक्तः केवलात्मरूपः नारायणाधिष्ठितं शिंशुमारचक्रं प्राप्नोति। द्वादशानां सौरकुटुम्बानां केन्द्रभूतमेकं ध्रुवनक्षत्रम्। तादृशैः द्वादशभिः ध्रुवनक्षत्रैः ज्योतिर्मण्डलमेकं निष्पद्यते। तादृशैः अनेकैः ज्योतिर्मण्डलैः सम्भूतैः सम्पद्यते शिंशुमारचक्रं, यदेव हरिपादमित्यभिधीयते। ततश्च सर्वान्तर्यामिप्रज्ञामयदेहः सः ब्रह्मविदामालयं महर्लोकमधितिष्ठति। अस्मिन् लोके प्रज्ञामयदेहाः जीवाः सूर्यप्रभाभासमानाः वर्तन्त इत्यस्य महर्लोकः अथवा ज्योतिर्लोक इत्यन्वर्था संज्ञा। अयं कल्पान्तस्थायी महर्लोकवासी

कल्पान्तेऽनन्तमुखाग्निना दन्दह्यमानं भूर्भुवस्सुवर्लोकत्रयं द्रव्यशक्तिप्रज्ञात्मकं पश्यति। तस्मिन् ब्रह्मप्रज्ञामये लोके द्रव्यमनस्साधारणाः जरामरणशोकभयादयो दोषा न विद्यन्ते। ब्रह्मलोकवासिभिः सर्वान्तर्यामीश्वरध्यानविरहितैः अनुभूयमानाः शोकभयादिदशाः वेद्यन्ते। तथा च भूलोकादिवासिनोऽपि यदि सर्वान्तर्यामीश्वरध्यानपराः भवेयुः तेऽपि शोकभयादिभिर्मुच्यन्ते, तदीश्वरप्रज्ञात्वेनावस्थानादिति सिद्ध्यति।।२७।।

ततः सत्यलोकभोगानन्तरं निर्भयः विशेषं प्रतिपद्य लिङ्गदेहेन पृथिवीं प्राप्य तेन आत्मना पृथिवीरूपेणात्मना अपः प्रतिपद्य अब्रूपेणात्मना अनलमूर्तिः अनलात्मना परिणतः अनन्तरं ज्योतिर्मयस्सन् काले भोगान्ते वायुमुपेत्य वाय्वात्मना खम् आकाशमुपेत्य अत्वरन् त्वरामकुर्वन् क्लेददाहादिभयाभावात् यथेच्छं भोगान् भुञ्जानः - घ्राणेन घ्राणेन्द्रियेण गन्धम् उपेत्य रसनेन रसनेन्द्रियेण रसमुपेत्य दृष्ट्या तु नेत्रेन्द्रियेण तु रूपमुपेत्य त्वचैव त्वगिन्द्रियेणैव श्वसनं स्पर्शनमुपेत्य श्रोत्रेण च कर्णेन्द्रियेण नभोगुणत्वं शब्दमुपेत्य प्राणेन च तत्तत्कर्मेन्द्रियेण च आकूर्तिं तत्तत्क्रियां योगी उपैति प्राप्नोति।।२८,२९।।

*** स भूतसूक्ष्मेन्द्रियसन्निकर्षं[1] मनोमयं देवमयं विकार्यम्।**
**संसाद्य[2] गत्या सह तेन याति विज्ञानतत्त्वं गुणसंनिरोधम्।।३०।।**

**तेनात्मनाऽऽत्मानमुपैति शान्तमानन्दमानन्दमयोऽवसाने।[3]**
**एतां गतिं भागवतीं गतो यः स वै पुनर्नेह विषज्जतेऽङ्ग[5]!।।३१।।**

**एते सृती ते नृप! वेदगीते त्वयाभिपृष्टे ह[6] सनातने च।**
**ये वै पुरा ब्रह्मण आह पृष्ट[8] आराधितो भगवान् वासुदेवः।।३२।।**

**न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः[9] संसृताविह।**
**वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत्।।३३।।**

---

* According to M&Ma editins, the three VV. beginning with सभूत.....are found in the following order:- **सभूतसूक्ष्मेन्द्रियसन्निकर्षात् सनातनोऽसौ भगवाननादिः। मनोमयं देवमयं विकार्यं संसाद्य मत्या सह तेन याति।।३०।।** विज्ञानतत्त्वं गुणसन्निरोधं तेनात्मनाऽऽत्मानमुपैति शान्तिम्। आनन्दमानन्दमयोऽवसाने सर्वात्मके ब्रह्मणि वासुदेवे।।३१।। ततां गतिं भागवतो गतो यः स वै पुनर्नेह विषज्जतेऽङ्ग! एते सृती ते नृप! वेदगीते त्वयाऽभिपृष्टेऽथ सनातने च । ये वै पुरा ब्रह्मण आह पृष्ट आराधितो भगवान् वासुदेवः।।३२।।
1. M.Ma. °र्षात् 2. M.Ma. मॅ 3. M.Ma. °न्ति 4. M.Ma. °तो 5. W. °ङ्गम् 6. H.I.V.W. च; M.Ma °ऽथ 7. AF.GF. यद् 8. I.W. तुँ 9. M.Ma.W. °शृं

**श्रीध०** तदेवं स्थूलसूक्ष्मभूतातिक्रममुक्त्वा तदावरणभूताहङ्कारप्राप्त्या महदादिप्राप्तिमाह **स** इति। स योगी विकार्यं संसाद्य [1]सम्प्राप्य विज्ञानतत्त्वं याति विविधं कार्यं यस्य इति विकार्योऽहङ्कारः। स त्रिविधः तामसो राजसः सात्त्विक [2]इति। तत्र तामसा[3]ण्डानि भूतसूक्ष्माणि जायन्ते, राजसात् बहिर्मुखानि दशेन्द्रियाणि, सात्त्विकात् मन इन्द्रियदेवताश्च, तेषां लयश्च तत्तदहङ्कारे तत्र भूतसूक्ष्माणामिन्द्रियाणां च सन्निकर्षं लयस्थानम्। तामसं राजसं च मनोमयं, देवमयं च सात्त्विकं[5] प्राप्य गत्या [6]एवं गमनेन तेन अहङ्कारेण सह विज्ञानतत्त्वं [7]महत्तत्त्वं याति। ततः गुणानां सन्निरोधो लयो यस्मिन् तत् प्रधानं याति।।३०।।

**तेन** इति। तेनाऽऽत्मना प्रधानरूपेण आनन्दमयस्सन् उपाधीनामवसाने शान्तमविकृतमानन्दं परमात्मानमुपैति। न विषज्जते नावर्तत इत्यर्थः।।३१।।

**एते** इति। सृती मार्गौ प्रकारौ इत्यर्थः। हे नृप! "अनपेक्षो...निर्भिद्य मूर्धन् विसृजेत्परं गतः" (भाग. 2-2-21) इति या सद्योमुक्तिः सैका सृतिः। "यदि प्रयास्यन्" (भाग. 2-2-22) इत्यादिना क्रममुक्तिश्च[8] द्वितीया सृतिः। एते सृती वेदेन गीते उक्ते न तु स्वोत्प्रेक्षिते। तत्र "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।" (कठ.उ. 6-14) इति सद्योमुक्तिः। "तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति" (बृह.उ. 6-2-15) इत्यादिना क्रममुक्तिश्च वेदेन उक्ता[9]। यद्वा "न कर्मभिस्तां गतिमाप्नुवन्ति" (भाग. 2-2-23) इति दक्षिणमार्गस्यापि सूचितत्वात् एते सृती इति द्विवचनम्। त्वयाऽभिपृष्टे "यच्छ्रोतव्यम्" (भाग. 1-19-38) इत्यादिप्रश्नेन अर्थात् मुक्तिविषये द्वे अपि सृती पृष्टे "ब्रूहि यद्वा विपर्ययम्" (भाग. 1-19-38) इति[10] दक्षिणमार्गोऽप्यर्थात् पृष्टः। एवं त्वया च ये[11] पृष्टे[12]यच्छ्रोतव्यमित्यादि प्रश्ने एते सृती इत्यन्वयः।।३२।।

सन्ति संसरतः पुंसो बहवो मोक्षमार्गाः [13]तैपोयोगादयः [14]तैत्र समीचीनस्तु अयमेव इत्याह - **न हि** इति। यतोऽनुष्ठितात् भक्तियोगो भवेत् अतोऽन्यः शिवः सुखरूपो निर्विघ्नश्च नास्त्येव।।३३।।

**वीर०** अथ अहङ्कारमहत्प्रकृतीनाम्[15] अतिक्रममाह - **स** इति। स योगी गत्या गमनेन विकार्यं स्वकार्यरूपेण परिणामिनम् अहङ्कारं संसाद्य इत्यन्वयः। विकार्यमेव विशिनष्टि। देवमयं दिग्वातादि-देवाधिष्ठेयेन्द्रियकारणं मनोमयं मनःकारणं भूतसूक्ष्मेन्द्रियसन्निकर्षं भूतान्याकाशादीनि तत्सूक्ष्माणि शब्दादीनि इन्द्रयाणि ज्ञानकर्मोभयेन्द्रियाणि [16]तेषां सन्निकर्षं कारणं भूतसूक्ष्मसन्निकर्षत्वेन्द्रियसन्निकर्षत्वाभ्यां

---

1. A.B. Omit सम्प्राप्य 2. H.V. °ड्डे° 3. H.V. °दज्ञातानि 4. H.V. °यं 5. H.V. add सं° 6. H.V. Omit एवं 7. H.V. Omit महत्तत्त्वं 8. B. रिति 9. H.V. °क्ते 10. B.H.V. add च 11. H.V. Omit ये 12. B. adds ते 13. H.V. Omit तपो 14. B.H.V. Omit तत्र 15. A.B. °तृत्रिवृ° 16. A.B. एतेषां

द्विविधाहङ्कारभेदौ तामससात्त्विकाहङ्कारौ उक्तौ। मनोमयं देवमयमिति च सात्त्विकाहङ्कारकार्यप्रदर्शनम्। देवमयमित्येतावतैव सिद्धे तत्कार्यप्रदर्शने इन्द्रियसन्निकर्षत्वमनोमयत्वोक्तिः इन्द्रियसृष्टौ अनुग्राहक-राजसाहङ्कारग्रहणाय। अत एव राजसाहङ्कारस्य न पृथक्कार्यप्रदर्शनं तस्य अनुग्राहकमात्रत्वेन पृथक्कार्याक्षमत्वात् एतच्चाग्रे स्फुटी भविष्यति। तेनातिक्रान्ताहङ्कारेण सह उपलक्षितः विज्ञानतत्त्वं महान्तं याति "विज्ञानसारथिर्यस्तु" (कठ.उ. 3-9) "बुद्धिंतु सारथिं" (कठ.उ. 3-3) "महान् वै बुद्धिलक्षणः" इति वचनानामैकार्थ्यात् गुणसाम्यावस्थप्रकृत्यतिक्रमणमाह- गुणसन्निरोधमिति। गुणानां सत्त्वरजस्तमसां सन्निरोधः साम्यं यस्मिन् तत्, प्रधानं याति इत्यर्थः।।३०।।

अवसाने प्रकृतेरवधौ "गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री" (मन्त्रि.उ.4) "नित्या सततविक्रया" (परमसंहिता) इति प्रकृतेः नित्यत्वात् देशावधिः अवसानशब्दोक्तः स्वकीयभूतसूक्ष्मेन्द्रियाणां स्वकारणेषु लयोऽप्यवसानशब्दविवक्षितः। तेन आत्मना विरजसा स्वरूपेण उपलक्षितः शान्त-मूर्मिषट्करहितमानन्दं निरतिशयानन्दस्वरूपम् आत्मानं परमात्मनम्। आनन्दमयः परमात्मसाम्यापत्त्या आनन्दमयः स्वयं निरतिशयानन्दप्रचुरः उपैति। आत्मानन्दशब्दाभ्यां "आत्मन आकाशः सम्भूतः" (तैत्ति.उ. 2-1-1), "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" (तैत्ति.उ. 3-6) इति उपक्रमोपसंहारगतवाक्यद्वयं स्मारितम्। एवं "क्षयन्तमस्य रजसः पराके" "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" (पु.सू. 2-1) "तदक्षरे परमे व्योमन्" (मना.उ. 1-2) इत्युक्तप्रकृतिपुरुषातीत परमाकाशस्था भगवत्प्राप्तिः अर्चिरादिना गतस्योक्ता। एवं "स एनान् ब्रह्म गमयति" (छान्दो.उ. 4-15-5) इत्यस्यार्थः उक्तः। अथ धूमाद्यर्चिरादिमार्गयोः प्रामाणिकत्वं कथयन् "एतेन प्रतिपद्यमानाः" (छान्दो.उ. 4-15-5) इत्यंशस्य अर्थमाह- एतामिति। भागवतीं भगवदुद्देश्यां गतिम् अर्चिरादिमार्गं यो गतः स पुनः इह प्रकृतिमण्डले अङ्गं कर्माधीनदेहं प्रति न निषज्जते नासक्तो भवति।।३१।।

अथ मार्गद्वयमुक्तं निगमयति **एते** इति। एते सृती इमौ मार्गौ अर्चिरादिधूमादिमार्गौ वेदगीते। "ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति" (छान्दो.उ. 5-10-1) "अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति" (छान्दो.उ. 5-10-3) इत्यादि वेदबोधिते। अत एव सनातते स्थिते। त एव सृती हे नृप! त्वयाऽभिपृष्टे च यच्छ्रोतव्यमित्यनेन अर्चिरादिमार्गस्येव धूमादि-मार्गस्यापि पृष्टत्वात् चकारात् मया कथिते चेत्यर्थः सनातनत्वं विशदयति। ये इति। ये वै ये सृती पुरा कल्पादौ ब्रह्मणे चतुर्मुखाय आराधितः सम्यगुपासनया प्रीतः वासुदेवः सर्वभूतान्तरात्मा भगवानाह उवाच तस्मात् सनातने इत्यर्थः।।३२।।

---

1. A.B. तत्र" 2. W. इ"

संसारिणोऽर्चिरादिप्राप्तौ भक्तियोगात् अन्य उपायो नास्ति अर्चिरादिगतिचिन्तापि भक्तियोगोपाय इत्याह **न हि** इति। अत अर्चिरादेः अन्यः अपरः संसृतौ संसारे शिवः पन्थाः कल्याणरूपो मार्गो न विश्रुतः विशेषेण न श्रुतः यतः अर्चिरादिमार्गचिन्तनात् वासुदेवे सर्वान्तरात्मनि भगवति परमात्मनि भक्तिः भवेत् तस्मात् तच्चिन्ता च कार्या। तथा च सूत्रकारः "योगिनः प्रतिस्मर्येते स्मार्ते चैते" (ब्र.सू. 4-2-21) इति। योगिनो योगनिष्ठान्प्रति स्मार्ते स्मृतिविषयभूते स्मर्तव्ये देवयानपितृयानाख्ये गती स्मर्येते योगाङ्गतया; अनुदिनं "नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन। तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन!" (भ.गी. 8-27) इति स्मरणादिति सूत्रार्थः।।३३।।

**विज०** उक्तमुक्तिशेषमाह - **स** इति। भूतसूक्ष्मेन्द्रियसन्निकर्षात्। भूतसूक्ष्मैः पञ्चभूतैः शब्दादि तन्मात्रादिभिः। तथाभूतसूक्ष्मैः जीवराशिभिश्चेन्द्रियैश्च तदभिमानिभिश्च सहितोऽनादिः सनातनः सोऽसौ भगवान् विकार्यं विविधकार्ययुक्तं देवमयं देवप्रधानं मनोमयं मनस्तत्त्वस्थेन्द्रियस्थितविरिञ्चगतमानसनामानं स्वात्मानं यातीति अन्वयः। नातनेन नादेन सहितत्वात्सनातनः "नादेन तेन महता सनातन इति स्मृतः" (भार. 12-202-26) इति। "मनःस्थितो हरिर्नित्यं सर्वदेवेषु संस्थितः। देवप्रधानकान् लोकान् करोत्यनुगतः सदा" (वाराहे) इति च योऽसौ अनादिः मनोमयो विष्णुः तं यातीति चोभयथाऽपि तस्यैव गम्यत्वं गन्तृत्वं च ज्ञातव्यम्। मनःस्थं मानसस्थं मानसनामानं स्वात्मानं संसाद्य स हरिरुमा-स्थितविरिञ्चस्थितस्वात्मद्वारा मतिशब्दवाच्यमहङ्कारगतवाणीस्थविरिञ्चस्थं स्वात्मानं मत्या मतिस्थेन तेन मनःस्थेन च सह विज्ञाननामानं विज्ञानतत्त्वाख्यवाणीगतविरिञ्चस्थं स्वात्मानं याति।।३०।।

तेन विज्ञानतत्त्वगतेन हरिणा गुणसन्निरोधं सत्त्वादिगुणविधुरं सर्वमूलकारणं महत्तत्त्वाख्य-विरिञ्चगतं विज्ञाननामानं याति। एवं सर्वान्तर्यामिरूपैः एकीभूतः स महत्तत्त्वान्तर्यामी। विज्ञाननामा हरिः आत्मना विशिञ्चेन सह शान्तिं चित्तप्रकृतिस्थितमानन्दनामानं हरिं याति। स आनन्दमयः पूर्णानन्दः आनन्दनामा महत्तत्त्वगतो विष्णुः श्रियाऽनुज्ञातं ब्रह्माणमादाय अवसाने द्विपरार्धावसाने सर्वात्मके सर्वान्तर्यामिणि गुणबृंहिते परिपूर्णे ब्रह्मणि वासुदेवाख्ये विहरति। जीवसङ्घः स्वस्वयोग्यतानु-सारेण बृंहितत्वाच्च ब्रह्माख्ये स्वमूलरूपे, विहरतीति शेषः। इत्येषा देवानां मुक्तिरिति भावः। एवं स्वस्वबिम्बद्वारेण हरिं प्रविष्टानां पुनरावृत्तिः नास्तीत्याह वासुदेव इति।।३१।।

यो भागवत आत्यन्तिको भक्तो वासुदेवे एतां सायुज्याख्यां गतिं मुक्तिं गतः स ब्रह्मादिसङ्घः पुनरिह संसारे न विषज्जते, संसारविषयो न इत्यन्वयः। वैशब्देन, आनन्दसंज्ञकेनापि ब्रह्मणा परस्परैक्यं समुद्रे प्रविष्टनदीवत् इत्यादि दर्शयति। ननु इतः आनन्दातिशये नेह विषज्जते इति इदं युक्तम्। तदभावे

1. W. °णा°

प्रशंसामात्रम् इदं किं न स्यात् इत्येतच्चोद्यं "वासुदेवाश्रिता देवा ब्रह्माद्या मुक्तबन्धनाः" (ब्रह्माण्डे) इत्यादिना परिहर्तव्यम्। उपसंहरति **एते** इति। पुरा चतुर्मुखेन आराधितः पृष्टः भगवान् वासुदेवो द्वे सृती ब्रह्मणे आह। ते एते सृती मया ते कथिते इत्यन्वयः। वक्तव्यत्वे हेतुम् आह त्वया इति। तत्रापि निमित्तमाह वेदेति। अथ इत्यनेन "अथ येऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति" (छान्दो.उ. 5-10-1) इत्यादि वेदं सूचयति वेदगीतत्वेऽपि अश्रद्धेयत्वेन हेयत्वं दृष्टमत्राह सनातने इति नित्यस्थितिहेतुत्वात् इत्यर्थः।।३२।।

अतोऽत्र निःश्रेयसार्थिभिः भागवतमेवाभ्यसनीयमिति भावेनाह - **न हि** इति। इह संसृतौ अतो भागवताख्यात् ग्रन्थात् अविश्रुतःशिवः पन्था नास्ति सज्जनकरुणया, भागवतोक्तत्वादिति शेषः। हेत्वन्तरमाह वासुदेव इति।।३३।।

**रा०कृ०** सः योगी भूतसूक्ष्मेन्द्रियसन्निकर्षतामसराजसाहङ्कारयोः भूतसूक्ष्माणां इन्द्रियाणां च लयेन सहितं मनोमयं देवमयं सात्त्विकाहङ्कारे मनसः इन्द्रियाणां च लयेन सहितं विकार्यं विविधकार्य-सहितमहङ्कारं संसाद्य प्राप्य तेन अहङ्कारेण सह गत्या गमनेन विज्ञानतत्त्वं महत्तत्त्वं याति, अहङ्कारं महत्तत्त्वे प्रविलापयतीति भावः। ततः तेन महत्तत्त्वेन गुणसन्निरोधं गुणलयोपेतं प्रधानं याति। महत्तत्त्वं प्रधाने प्रविलापयतीति भावः।।३०।।

अङ्ग! हे राजन्! तेन प्रधानरूपेण आत्मना वर्तमानो योगी अवसाने तस्याप्युपाधेः अन्ते आनन्दमयस्सन् शान्तं विकृतिरहितं आनन्दं आनन्दस्वरूपं आत्मानं परमात्मानमुपैति प्राप्नोति। एतां भागवतीं भगवत्सम्बन्धिनीं गतिं यो गतः सः पुनरिह संसारे न वै विषज्जते नैवावर्तते। सर्वान्तर्यामीश्वर-प्रज्ञात्वेनावस्थितो निर्भयो हि योगी पञ्चभूतेषु, पञ्चतन्मात्रासु च अन्तर्यामितामुपेत्य गन्धादिना परिणतमात्मानमेव भुनक्ति। अनन्तरमहङ्कारात्मना परिणतः ततो महत्तत्त्वे प्रज्ञारूपेण प्रविश्य तद्गतत्रिगुणान्तर्यामित्वमाप्नोति। तदनन्तरं प्रधानाभिधां मूलप्रकृतिमभिव्याप्य कृत्स्नमपि देहमात्मत्वेना-धिश्रित्य प्रकृत्यतीतः आनन्दमयश्च भूत्वा विश्वव्याप्ते वासुदेव परब्रह्मणि प्रविलीयते। अयं च मुक्तो देहधारी सन्नपि संसारबद्धो नैव भवति। एवम् अत्र सांख्यमनुसृत्य सृष्ट्यभिव्यक्तिप्रक्रिया, योगमनुसृत्य जीवस्य मोक्षसाधनप्रक्रिया च निरूपिते।।३१।।

हे नृप! पुरा आराधितो ब्रह्मणा पूजितः पृष्टश्च भगवान् वासुदेवः ये वै सृती ब्रह्मणे आह उक्तवान् वेदगीते सनातने शिष्टपरम्परागते त्वयाऽभिपृष्टे एते ते सृती सद्योमुक्तिक्रममुक्तिरूपे गती, वर्णिते इति शेषः ।।३२।।

भगवति वासुदेवे यतो यस्मात् साधनात् भक्तियोगो भवेत् अतः अस्मात् साधनात् अन्यो भिन्नः शिवः क्षेमकरः पन्थाः मार्गः इह संसृतौ संसारे विशतो जीवस्य न हि नास्ति खलु। सद्योमुक्तिः तावत् भक्तिसहकृताष्टाङ्गयोगसाधनेन सिद्ध्यति। क्रममुक्तिस्तु प्रथमतः भगवतः विश्वमयस्य विराड्विग्रहं ध्यात्वा विषयवासनाभिः विमुक्तिं च प्राप्य, पश्चात् विष्णोः दिव्यस्वरूपं अनुध्याय तत्सर्वान्तर्यामितारूढभावनया लभ्यते। गुरुशास्त्रसाध्यसाधनादौ वासुदेवं अथवा सर्वान्तर्यामिणमीश्वरम् अनुसन्धाय, तत्समर्पणधिया सत्कर्माचरणमेव भक्तियोगनाम्ना व्यवह्रियते अतः तद्योगसाधको मर्ग एव क्षेमकरः।।३३।।

**भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया।**
**तदध्यवस्यत् कूटस्थो[1] रतिरात्मन् यतो भवेत्।।३४।।**

**भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना[3] हरिः।**
**दृश्यै र्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकैः।।३५।।**

**तस्मात् सर्वात्मना राजन्! हरिः सर्वत्र सर्वदा।**
**श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान्नृणाम्।।३६।।**

**पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु[4] सम्भृतम्।**
**पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति[5] तच्चरणसरोरुहान्तिकम्।।३७।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
द्वितीयस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

**श्रीध०** कुत एतत्[6] अत आह - **भगवान्** इति। भगवान् ब्रह्मा कूटस्थो निर्विकारः एकाग्रचित्तस्सन् इत्यर्थः। त्रिः त्रीन् वारान् कार्त्स्न्येन साकल्येन ब्रह्म वेदमन्वीक्ष्य विचार्य यतः यस्मात्[7] आत्मनि हरौ रतिः भवेत् तदेव मनीषयाऽध्यवस्यत् निश्चितवान्।।३४।।

ननु अनुभूतेऽर्थे रतिः भवति अननुभूते[8] तु भगवति कथं रतिः स्यात् तत्राह - **भगवान्** इति। भगवान् लक्षितः दृष्टः। कथम्? स्वात्मना क्षेत्रज्ञान्तर्यामितया। कैः? दृश्यैः बुद्ध्यादिभिः। तदेव द्वेधा

1. M.Ma. °पश्यद्धि कूटस्थे 2. W. °स्थे 3. M.Ma. चाऽऽ° 4. AF.GF. °न 5. M.Ma. add ते 6. H.V. इति 7. A.B. Omit यस्मात् 8. H.V. °तेऽर्थे

दर्शयति। दृश्यानां जडानां दर्शनं[1] स्वप्रकाशं द्रष्टारं विना न घटत इत्यनुपपत्तिमुखेन लक्षणैः स्वप्रकाशान्तर्यामिलक्षणैः[2] तथा बुद्ध्यादीनि कर्तृप्रयोज्यानि करणत्वात् वास्यादिवत्[3] इति व्याप्तिमुखेन अनुमापकैः स्वतन्त्रश्च कर्ता इत्येवम् ईश्वरसिद्धिः।।३५।।

यच्छ्रोतव्यमित्यादिप्रश्नस्य उत्तरमुक्तमुपसंहरति - **तस्मात्** इति।।३६।।

श्रवणादिफलमभिनयेनाह - **पिबन्ति** इति। सतामात्मनः आत्मत्वेन प्रकाशमानस्य कथैव अमृतम्। विषयैः विदूषितं मलिनीकृतमाशयं पुनन्ति शोधयन्ति तस्य चरणसरोरुहान्तिकं श्रीविष्णुपदं व्रजन्ति।।३७।।

इति श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

**वीर०** कथं वासुदेवे भक्तिरेव अर्चिरादिगतौ उपायः इत्यत्राह - **भगवान्** इति। "एवमेष महाशब्दो मैत्रेय भगवानिति" (विष्णु.पू. 6-5-76) इत्यादिप्रकारेण भगवच्छब्द शब्दितो वासुदेव एव ब्रह्म जगत्कारणं तद्भक्तिरेव मोक्षोपायः कथमित्यत्राह कार्त्स्न्येन इति। मनीषया बुद्ध्या कार्त्स्न्येन त्रिः अन्वीक्ष्य कृत्स्नप्रमाणजातं मुहुर्मुहुः आलोच्य "आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनःपुनः" (भार. 13 App. 13-20) इतिवत् तदध्यवस्यत् निश्चित्य स्थितः। किमध्यवस्यत् इत्यत आह कूटस्थ इति। निर्विकारे परमात्मनि रतिः मुक्तौ आनन्दः निरतिशयानन्दपरमात्मानुभवजनितसर्वावस्थोचिताशेष-शेषतैकरतिर्यतो भक्तियोगाद्भवेत् स एव भक्तियोगो मुक्त्युपायः इति निश्चित्य निपुणतरो लोकः स्थित इत्यर्थः।।३४।।

ननु अतीन्द्रिये भगवति कथं भक्तिः उत्पद्यते कथन्तरां रतिरित्याशङ्क्य परिशुद्धमनोविषयत्वादु-भयमपि सम्भवतीत्याशयेनाह - **भगवान्** इति। स्वात्मना योगपरिशुद्धमनसा सर्वभूतेषु भगवान् लक्षितः साक्षात्काराहः "मनसा तु विशुद्धेन" (व्यासस्मृतिः) "मनसाभिक्लृप्तः" (म.ना.उ. 1-11) इति श्रुतेः। तर्हि स किं घटादिवत्[8] दृश्य एव इत्यत आह द्रष्टा सर्वज्ञः न केवलं योगपरिशुद्धमनोविषय एव, प्रमाणान्तरविषयोऽपीत्याह - [10]दृश्यैरिति। दृश्यैः बुद्ध्यादिभिः महदादिभिः "महान्वै बुद्धिलक्षणः" इति वचनात् कार्यभूतमहदादिभिः[11] द्रष्टा तत्कारणभूतोऽनुमीयते इत्यर्थः न केवलमनुमानविषय एव किन्तु

1. B. adds बुद्ध्यादीनां 2. B.H.V. °कैः 3. H.V. °त्या° 4. A. °श्रोत्त° 5. A.B. Omit °मुक्त° 6. B. °णफ° 7. A.B. °पद्मा° 8. A.B. add उपलक्षितः 9. A. °एवं 10. A.B. Omit दृश्यैरिति दृश्यैः 11. W. °तमं°

शास्त्रविषयोऽपि इत्याह लक्षणै रनुमापकैरिति पदद्वयेन। लक्षयन्तीति लक्षणानि वेदान्तवाक्यानि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति.उ. 2-1-1) "यतो वा इमानि भूतानि" (तैत्ति.उ. 3-1) इत्यादीनि। तथा तदुपजीव्यकारणत्वप्रतिपादकानि "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छान्दो.उ. 6-2-1) इत्यादीनि तैः अनुमापकैः स्मृतिवचनैः स्मृतीनां श्रुत्यनुमापकत्वात् श्रुतिस्मृतिभ्याम् उपलक्षितः अनेन केवलानुमानगम्यत्ववादिनो वैशेषिका निरस्ताः। तन्निरासप्रकारस्तु "शास्त्रयोनित्वात्" (ब्र.सू. 1-1-3) इत्यधिकरणसाध्यः। बुद्ध्यादिकार्यवर्गैः उपलक्षितः जगत्कारणतया शास्त्रैः प्रतिपन्नः तत्स्वरूपं तु योगपरिशुद्धमनसा साक्षात्कुर्वन्तीत्यागमोत्थविवेकजन्यज्ञानद्वयविषयत्वमुक्तं भवति।।३५।।

यच्छ्रोतव्यमित्यादिप्रश्नोत्तरमुपसंहरति - **तस्मात्** इति। स्पष्टोऽर्थः।।३६।।

अस्तु। योगपरिशुद्धमनोग्राह्यत्वं योगारम्भो वा कथं स्यात् इत्यतै आह - **पिबन्ति** इति। भगवत आत्मनः परमात्मनः कथामृतं ये पिबन्ति ते विषयविदूषिताशयं पुनन्तीति अन्वयः। कथामृतं वा कथं लभ्यते इत्यत आह सतामिति। सतामिति कर्तरि षष्ठी। सद्भिः कर्णपुटेषु सम्भृतं पूरितम्। अनेन सत्सेवया प्रथमं भवितव्यमित्युक्तं भवति। सत्सेवया प्राप्तहरिकथाश्रवणेन विषयैः शब्दादिभिः विदूषितं कलुषितम् आशयं अन्तःकरणं पुनन्ति। सत्सेवादि भक्तियोगान्तस्य फलमाह व्रजन्तीति तस्य भगवतश्चरणसरोरुहयोरन्तिकं समीपं व्रजन्ति प्राप्नुवन्ति। प्रथमं सत्सेवा, ततः श्रवणं, ततो योगारम्भः, ततः आगमोत्थविवेकादिसाधनसंप्तकजन्यज्ञानाभ्यासाऽनुगृहीता प्रत्यक्षतापन्ना भक्तिः इत्ययं क्रमोऽत्र उक्तः।।३७।।

इति श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां श्रीभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

**विज०** "एकस्य प्रतिभानं तु कृतकान्न विशिष्यते" इत्यत आप्तिमूलत्वेन तदुक्तं प्रमाणमेव इत्याह - **भगवान्** इति। ब्रह्म वेदमन्वीक्ष्य आलोच्य। यतो ग्रन्थात् अभ्यस्तात् आत्मन् आत्मकूटस्थे निर्विकारे हरौ भक्तिलक्षणा रतिः भवेत् तद्भागवतं पुराणमपश्यत् इत्यन्वयः। हिशब्देन नित्यज्ञानेन सिद्धश्च पुनः पुनः अवेक्षत इत्यादिकं सूचयति।३४।।

उत्तमाधिकारिणां वेदादिना भगवत्सद्भावे सिद्धेऽपि इतः एषां तदस्तित्वं कथमवगन्तुं

1. A.B. Omit "प्रकार" 2. W. Omits उप" 3. W. "त्र 4. A. "संपज्ञन्य" 5. A.B. "ने

शक्यमित्याशङ्क्याह - **भगवान्** इति। इतोऽपि इदमेव निश्श्रेयस हेतुत्वात् श्रवणादिनाभ्यसनीयमित्यतो वा आह भगवान् इति। द्रष्टा साक्षी भगवान् अनुमापकैः निश्चयज्ञानजनकैः दृश्यैः हरेः सर्वस्वातन्त्र्यादिना ब्रह्मादिजीवराशेः अस्वातन्त्र्यादिना च प्रमाणेन गृहीतव्याप्तिकैर्बुद्ध्यादिलक्षणैर्लिङ्गैः सर्वभूतेषु नियामकत्वेन स्थित इति आत्मना जीवेन अस्मिन्पुराणे लक्षितो ज्ञात इत्यतः तदस्तित्वे सिद्धे तेन प्रोक्तत्वत् वेदमूलत्वेन आप्तिमूलत्वाच्च इदमवश्यम् अभ्यसनीयमित्यायातमिति भावः। इदं बुध्येयं न चेदमित्यत्र बुद्ध्यादीनां परवश्यत्वदर्शनादन्यो नियन्ताऽस्तीत्यस्य स्वानुभवसिद्धत्वात् स च अन्यो हरिरेव इत्यस्य अवधारणाय चशब्दः। तदुक्तं "समाधावसमाधौ च निस्स्वतन्त्रस्य देहिनः" (ब्रह्मतर्के) इत्यादि।।३५।।

उक्तमुपसंहरति **तस्मात्** इति। यस्मात् सर्वज्ञेन व्यासेन एष नारायण एव वेदवेद्येषु सर्वोत्तमत्वेन द्रष्टव्यत्वेनोक्तः तस्मात् स एव श्रोतव्यः।।३६।।

श्रवणादिफलमाह - **पिबन्ति** इति। सतां सकाशात् श्रवणपुटेषु सम्भृतं पूरितं विषयैः विशेषेण दूषितम्।।३७।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
द्वितीयस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

**रा०कृ०** भगवान् ब्रह्मा कूटस्थः निर्विकारस्सन् मनीषया स्वबुद्ध्या त्रिः त्रीन् वारान् कार्त्स्न्येन साकल्येन ब्रह्म वेदं अन्वीक्ष्य विचार्य यतो यस्मात् साधनात् आत्मन् आत्मनि भगवति रतिः भक्तिः भवेत् तत् तदेव साधनं अध्यवस्यत् समीचीनतया निश्चितवान्। अत्र "त्रिरन्वीक्ष्य" इत्यनेन कर्म भक्तिज्ञानयोगाः ध्वन्यन्ते। तेषु च भक्तियोगस्यैव प्राधान्यमभिहितं तत्र सर्वेश्वरे भगवति सर्वसमर्पणस्य सुकरत्वात्। अयं च ब्रह्मणोऽध्यवसायो विष्णुमयजीवनदायी सर्वेषां संसारिणाम् उपादेयः।।३४।।

दृश्यैः ज्ञानविषयैः अनुमापकैः अनुमितिजनकैः जगत्कर्तृज्ञानशक्त्याद्यनुमितिजनकैः इति भावः। बुद्ध्यादिभिर्लक्षणैः द्रष्टा भगवान् हरिः सर्वभूतेषु स्वात्मना जीवान्तर्यामितया लक्षितः अनुभूतः।।३५।।

हे राजन्! तस्मात् भगवद्भक्तेः संसारभयनिवृत्तिनिमित्तत्वात् सर्वात्मना सर्वप्रकारैरपि सर्वत्र सर्वदा भगवान् हरिः नृणां श्रोतव्यः, कीर्तितव्यः, स्मर्तव्यश्च भवतीति शेषः।।३६।।

आत्मनः सर्वात्मनः भगवतः वासुदेवस्य सतां नारदादीनां भक्तानां च कथामृतं श्रवणपुटेषु

सम्भृतं ये पिबन्ति ते विषयविदूषिताशयं विषयवासनाभिः विदूषितं आशयं स्वान्तःकरणं पुनन्ति शोधयन्ति। किञ्च तच्चरणसरोरुहान्तिकं तस्य भगवतः पादपद्मयोः समीपं व्रजन्ति गच्छन्ति। जीवेषु जगत्कर्तृज्ञानशक्त्याद्यनुमितिबलेन तेषां लक्षणेषु बुद्ध्यादिषु निरन्तरविष्णुमयत्वभावना जागर्ति। ततः तैः लक्षणैः द्रष्टा अथवा ज्ञाता भगवान् हरिरेव भवति। तथा च स ईश्वरः सर्वभूतेष्वन्तर्यामितयाऽनुभूयते। सर्वात्मना सर्वत्र सर्वदा भगवतः श्रवणकीर्तनस्मरणानि लौकिकजीवने श्रोतव्येषु कीर्तनीयेषु स्मरणीयेषु च जनेषु विष्णुमयत्वभावनया भवन्ति। तथा च तत्तज्जनसेवननियमादयो भगवत्सेवननियमादिषु पर्यवस्यन्ति। भगवत्कथामृतश्रवणमिव तद्भक्तपावनगाथा श्रवणमपि चित्तशुद्धेः तद्द्वरा भगवत्प्राप्तेरपि च निदानं भवति। सर्वत्र भगवद्भावनया कुटिलप्रवर्तनदोषप्रदर्शनादिदुर्गुणानां साधकप्रयत्नं विनैव निरवकाशत्वात् - परिहारात्।।३७।।

इति श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां
व्याख्यायां द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

oooOooo

# तृतीयोऽध्यायः

**श्रीशुक उवाच**

**एवमेतन्निगदितं पृष्टवान् यद् भवान् मम।**
**नृणां यन्म्रियमाणानां मनुष्येषु मनीषिणाम्।।१।।**

**ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणस्पतिम्।**
**इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन्।।२।।**

**देवीं मायां तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुम्।**
**वसुकामो वसून् रुद्रान् वीर्यकामोऽथ वीर्यदान्।।३।।**

**अन्नाद्यकामस्त्वदितिं स्वर्गकामोऽदितेः सुतान्।**
**विश्वान्देवान् राज्यकामः साध्यान्संसाधको विशाम्।।४।।**

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तृतीये विष्णुभक्तेस्तु वैशिष्ट्यं शृण्वतो मुनेः। भक्त्युद्रेकेण तत्कर्मश्रवणादर ईर्यते।।

इदानीम् अन्यदेवताभजनस्यापि पुत्रादिभजनवदेव तुच्छफलत्वेन हेयत्वं वक्तुं पूर्वोक्तमनुवदति **एवम्** इति। ममेति माम्। मनुष्येषु कदाचित् दैवयोगेन मनुष्यत्वं प्राप्तेषु जीवेषु ये मनीषिणः तेषां तत्रापि ये म्रियमाणाः तेषां विशेषत एवमेतत् हरिकथाश्रवणादिकं निगदितं विहितम् इत्यर्थः।।१।।

कामफलप्राप्त्यर्थं अन्येषां देवानां भजनमाह - **ब्रह्मवर्चसेति**। ब्रह्मणस्पतिं वेदस्य पतिं ब्रह्माणं यजेत। इन्द्रियपाटवकामस्तु इन्द्रम्। प्रजाकामः प्रजापतीन् दक्षादीन्।।२।।

**देवीम्** इति। मायां दुर्गाम्। विभावसुम् अग्निम्। वसुकामो धनार्थी वसून्। वीर्यं प्रभावः तत्कामो वीर्यदान् रुद्रान् यजेत।।३।।

**अन्नाद्येति**। अन्नाद्यं भोज्यं भक्ष्यं च। अदितेः सुतान् द्वादशादित्यान् विशां देशस्थप्रजानां स्वाधीनताम् इच्छन् साध्यान् यजेत।।४।।

---

1. H.V. च म्रि 2. AF.GF. °माय 3. H.M.Ma.V.W. °मस्तु 4. A.B.C.G.I.N.W. °वान् 5. AF.GF. °तिथिं 6. M.Ma.W. °ङ्ग 7. W. °दि 8. A.B. Omit मनुष्येषु 9. B.H.V. °वेदपतिं 10. H.V.Omit यजेत 11.B.H.V.Omit प्रजाकामः 12.A.B.Omit वसून् 13.A.B. °वान् सन् 14. H.V. Omit च

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं मुमुक्षोः भगवच्छ्रवणादिकं कर्तव्यमित्युक्तम्। अथ तदेव व्यतिरेकमुखेन द्रढयितुम् अन्यदेवतानां क्षुद्रफलप्रदत्वं वक्ष्यन् पूर्वोक्तमनुवदति - **एवम्** इति। मनुष्येषु कदाचित् दैववशात् मनुष्यत्वं प्राप्तेषु जीवेषु ये मनीषिणः तेषां तत्रापि ये म्रियमाणाः तेषां विशेषतो यत्कर्तव्यं पुरा मां प्रति पृष्टवान् तद्भगवच्छ्रवणादिकमेव इत्येवं निगदितमुक्तमित्यर्थः।।१।।

कामफलप्राप्त्यर्थम् अन्येषां दैवतानां भजनमाह - **ब्रह्मवर्चसे**त्यादिना। ब्रह्मवर्चसं कामयमानः ब्रह्मणस्पतिं वेदपतिं यजेत भजेत। इन्द्रियकामः इन्द्रियसामर्थ्यकामः इन्द्रं यजेत इत्यनुषङ्गः। एवमग्रेऽपि। प्रजापतीन् दक्षादीन्।।२।।

देवीं देवस्य विष्णोः सम्बन्धिनीं मायां विस्मापनीयशक्तिम्। विभावसुम् अग्निं वसुकामः अर्थकामः वसून् यजेत वीर्यकामस्तु रुद्रान् यजेत। यजनफलमाह वीर्यवानिति। भवेदिति शेषः। इदं सर्वत्र तत्तत्फलावाप्तेः उपलक्षणम्।।३।।

अन्नं भोज्यम्। आद्यं भक्ष्यं खरं विशदम् अभ्यवहार्यं भोज्यं खरं कठिनं विशदं विविक्तावयवं, भक्ष्यमिति शेषः। तदुभयकामोऽदितिं यजेत। अदितेः सुतान् देवान् आदित्यान् वा। दिशां संसाधकः दिक्पतित्वकामः।।४।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हरेः श्रवणादिजनितभगवद्भक्तिरेवापेक्षिताशेषपुरुषार्थसाधनं नान्यदन्यदेवतायागादिकं प्रातिस्विकफलदं तदपि हर्येकायत्तम् इत्येतत् अस्मिन् अध्याये निरूप्यते। तत्र प्रथमतः वृत्तमनुवदति - **एवम्** इति। भवान् मनुष्येषु मध्ये म्रियमाणानां मनीषिणां नृणां यत्कर्तव्यत्वेन मम सकाशे पृष्टवान् तदेवं निगदितं यद्वा मनुष्येषु म्रियमाणानां नृणां यत्कर्तव्यत्वेन मनीषिणां मतं पृष्टवान् एतदिति।।१।।

इदानीं प्रातिस्विकफलप्रदं यागप्रकारमाह - **ब्रह्मे**ति। ब्रह्मवर्चसकामो वृत्ताध्ययनसम्पत्कामः। शिष्यप्रशिष्यादिषु वेदप्रणेतृत्वेन ब्रह्मणस्पतिं वेदस्य पतिं बृहस्पतिं 'बृहजातिजीवकमलासनशब्दराशिषु' इति धातोश्च यजेत। तत्तत्तन्त्रोक्ततत्तद्द्रव्यैः इति शेषः। तुना ब्रह्मणि बुद्धिं सूचयति। इन्द्रियकामः चक्षुरादीन्द्रियपाटवकामः शुक्रस्तम्भनकामो वा प्रजाकामः "प्रजा तु जनपुत्रयोः" (वैज.को.6-2-23) इति यादवः। प्रजापतीन् कश्यपादीन्।।२।।

---

. A.B. Omit भजेत 2. W. भ 3. W. 'स्मय' 4. A.B. मत्सकाशे

मायां देवीं लक्ष्मीं विभावसुम् अग्निं "तेजो बले प्रभावेऽग्ने ज्योतिर्ष्यर्चिषि रेतसि" (वैज.को. 6-3-14) इति च। वसुकामो हिरण्यकामः वीर्यकामः "वीर्यं पराक्रमे तेजस्यन्नमाहात्म्ययोरपि" (वैज.को.6-3-32) इति च।।३।।

विशां वैश्यानाम् ।।४।।

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

मनुष्येषु मनीषिणां विवेकिनां म्रियमाणानां आसन्नमरणानां नृणां यत् कर्तव्यं भवान् मम मां पृष्टवान् तदेतत् हरिकथाश्रवणादिकं एवमुक्तप्रकारेण निगदितम् अभिहितम्।।१।।

अथ सकामसाधना उच्यते - ब्रह्मवर्चसकामः वेदाध्ययनजनिततेजःकामः ब्रह्मणस्पतिं वेदप्रवर्तकं ब्रह्माणं यजेत भजेत। इन्द्रियकामस्तु इन्द्रियसामर्थ्याभिलाषी इन्द्रं यजेत। प्रजाकामः सन्तानकामः प्रजापतीन् यजेत।।२।।

श्रीकामः करितुरगादिसम्पत्तिकामः देवीं मायां भगवतः शक्तिरूपां यजेत। तेजस्कामः दुर्धर्षत्वाभिलाषी विभावसुम् अग्निं यजेत। वसुकामः केवलधनार्थी वसून् यजेत। अथ वीर्यकामः वीर्यदान् रुद्रान् यजेत।।३।।

अन्नाद्यकामः अदितिं यजेत। स्वर्गकामः अदितेः सुतान् द्वादशादित्यान् यजेत। राज्यकामः विश्वान् देवान् यजेत। विशां प्रजानां साधकः स्ववशतामिच्छन् साध्यान् यजेत।।४।।

**आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ पुष्टिकाम इलां यजेत्।**
**प्रतिष्ठाकामः पुरुषो रोदसीलोकमातरौ।।५।।**

**रूपाभिकामो गन्धर्वान् स्त्रीकामोऽप्सर उर्वशीम्।**
**आधिपत्यकामः सर्वेषां यजेत परमेष्ठिनम्।।६।।**

**यज्ञं यजेत् यशस्कामः कोशकामः प्रचेतसम्।**
**विद्याकामस्तु गिरिशं दाम्पत्यार्थ उमां सतीम्।।७।।**

---

1. H.V.W. ऊ 2. W. भू

**धर्मार्थ उत्तमश्लोकं तन्तुं तन्वन् पितॄन् यजेत्।**
**रक्षाकामः पुण्यजनान् ओजस्कामो मरुद्गणान्।।८।।**

**श्रीध० आयुष्काम** इति। इलां पृथ्वीम्। प्रतिष्ठास्थानात् अप्रच्युतिः। रोदसी द्यावाभूमी।।५।।

**रूपेति**। अप्सराश्चासौ उर्वशी च ताम् 'आधिपत्यकामः' इत्यत्र वर्णाधिक्यम् आर्षम्।।६।।

**यज्ञम्** इति। यज्ञं यज्ञोपाधिकम् विष्णुं कोशो वसुसञ्चयः वसुकाम इत्यत्र धनमात्रमिति भेदः। दाम्पत्यम् अन्योन्यप्रीतिः तदेवार्थो यस्य सः।।७।।

**धर्मार्थ** इति। धर्मार्थो धर्मकामः। उत्तमश्लोकोपाधिं विष्णुम्। तन्तुं तन्वन् सन्तानवृत्तिमन्विच्छन्। रक्षा बाधानिवृत्तिः तत्कामः पुण्यजनान् यक्षान्। ओजो बलं तत्कामो मरुद्गणान् देवान्।।८।।

**वीर०** पुष्टिः देहबलं तत्कामः इलां पृथ्वीं यजेत। प्रतिष्ठाकामः स्थानात् अप्रच्युतिकामः रोदसी द्यावापृथिव्यौ तयोः सर्वलोकाधारत्वात् लोकमातृत्वम्।।५।।

रूपमभिकामयमानः अप्सराश्चासावुर्वशी च ताम्। सर्वेषामाधिपत्यकामः प्रभुत्वकामः परमेष्ठिनं ब्रह्माणम्।।६।।

यज्ञं विष्णुं कोशो वसुसञ्चयः, वसुकाम इत्यत्र धनमात्रमिति भेदः। प्रचेतसं वरुणं विद्याकामः ज्ञानकामः। दाम्पत्यार्थं दम्पत्योः अन्योन्यप्रीत्यर्थं सतीम् इति उमाविशेषणं पतिव्रताम् उमां देवीमित्यर्थः।।७।।

उत्तमश्लोकं विष्णुं तन्तुं सन्तानं तन्वन् विस्तारयन् सन्तानवृद्धिकाम इत्यर्थः। रक्षाकामः बाधानिवृत्तिकामः पुण्यजनान् यक्षान् ओजस्कामः बलकामः।।८।।

**विज०** इलां भूमिं प्रतिष्ठाकामः स्वस्थानाभ्रंशेच्छुः लोकमातरौ लोकस्य मातापितरौ माता पृथ्वी द्यौः पिता "मधु द्यौरस्तु नः पिता" (म.ना.उ.12-2) इति श्रुतेः।।५।।

---

1. M.Ma. 'मु' 2. AF.GF. तन्तुकामःपि' 3. H.V. ऊ' 4. A.B. Omit आधि.....आर्जम् 5. A.B. Omit 'क' 6. H.V. धन' 7. B. 'म: 8. B. 'मिच्छन् 9. H.V. Omit मरु.....वान् 10. W. 'वु' 11. W. Omits प्रभुत्व.....ब्रह्माणम्। 12. W. Omits देवीम् 13. A.B. 'सृष्टि' 14. M.Ma 'ति:

अप्सराश्चासौ उर्वशी च इति अप्सरउर्वशी ताम्। परमेष्ठिनं चतुर्मुखम्।।६।।

यज्ञम् इन्द्रं फलभेदात् न पुनरुक्तिः कोशकामो निधिकामः प्रचेतसं वरुणं गिरिशं दक्षिणामूर्तिधरं दाम्पत्यार्थेऽखण्डितदाम्पत्याय।।७।।

धर्मार्थम् अक्षयपुण्यफलार्थम् उत्तमश्लोकं विष्णुम्। "अकामो धर्मकामो वा मोक्षकामोऽपि यो भवेत्। अथवा सर्वकामो यः स विष्णुं पुरुषं यजेत्" (स्कान्दे) इत्यनेन विष्णुरेव उत्तम इति निश्चीयते। अकामः पुरुषं पुमानित्यत्रापि पुरुषो विष्णुरेव अस्मात् उक्तप्रमाणात्। तन्तुं सन्तत्यविच्छेदं तन्वन् विततं कुर्वन्। पुण्यजनान् यक्षान् मणिभद्रादीन्।।८।।

**रा०कृ०** आयुष्कामः अश्विनौ देवौ देववैद्यौ यजेत्। पुष्टिकामः देहबलाभिलाषी इलां भूमिं यजेत्। प्रतिष्ठाकामः पुरुषः लोकमातरौ जीवाधारभूतौ रोदसी द्यावापृथिव्यौ यजेत्।।५।।

रूपाभिकामः सौन्दर्याभिलाषी गन्धर्वान् विश्वावसुप्रमुखान् यजेत। स्त्रीकामः सुन्दरीप्राप्तिकामः अप्सरउर्वशीं अप्सरोरूपामुर्वशीं यजेत। सर्वेषामाधिपत्यकामः परमेष्ठिनं सर्वेश्वरं ब्रह्माणं यजेत्।।६।।

यशस्कामः यज्ञं यज्ञमयं विष्णुं यजेत। कोशकामः धनागाराभिलाषी प्रचेतसं वरुणं यजेत्। विद्याकामस्तु गिरिशं शम्भुं यजेत्। दाम्पत्यार्थः दम्पत्योः अन्योन्यप्रीतिकामः उमां सतीं सत्युमाजन्म-द्वयव्यापिनीं महादेवपत्नीं यजेत्।।७।।

धर्मार्थः धर्मकामः उत्तमश्लोकं विष्णुं यजेत्। तन्तुं सन्ततिविस्तारं तन्वन् इच्छन् पुरुषः पितॄन् अग्निष्वात्तादीन् पितॄन् यजेत्। रक्षाकामः पुण्यजनान् यक्षान् यजेत्। ओजस्कामः बलकामः मरुद्गणान् देवगणान् यजेत्।।८।।

**राज्यकामो मनून् देवान् निर्ऋतिं त्वभिचरन् यजेत्।**
**कामकामो यजेत् सोममकामः पुरुषं परम्।।९।।**

**अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।**
**तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्।।१०।।**

---

1. AF.GF. नरः 2. M.Ma. पुमान्

**एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः।**
**भगवत्यचलो भावो यद्भागवतसङ्गतः।।११।।**

**ज्ञानं यदा[1] प्रतिनिवृत्तगुणोर्मिचक्रमात्मप्रसाद उत[2] यत्र गुणेष्वसङ्गः।**
**कैवल्यसम्मतपथस्त्वथ[3] भक्तियोगः को निर्वृतो हरिकथासु रतिं न कुर्यात्।।१२।।**

**श्रीध० राज्येति**। राज्यं राजत्वं तत्कामो, मनून्[4] देवान् मन्वन्तरपालकान्[5]। राज्ञः कर्म वा[7] राज्यं तत्कामो विश्वान् देवान् इति विशेषः। अभिचरन् शत्रुमरणमिच्छन्[8] निऋतिं राक्षसम्। कामकामः भोगेच्छुः, अकामो वैराग्यकामः पुरुषं परं प्रकृतिव्यतिरेकोपाधिम् ईश्वरम्। 'निऋतिं त्वभिचरन् यजेत्' इत्यत्रापि पूर्ववदेव वर्णाधिक्यम् आर्षम्।।९।।

**अकाम** इति। अकामः एकान्तभक्तः उक्तानुक्तसर्वकामो वा। पुरुषं पूर्णं[10] परं[10] निरुपाधिम्।।१०।।

पूर्वोक्तनानादेवतायजनस्यापि संयोगपृथक्त्वेन भक्तियोगफलत्वमाह - **एतावान्** इति। इन्द्रादीनपि यजतामिह तत्तद्देवातायजने[11] भागवतानां सङ्गतो 'भगवत्यचलो भावो भक्तिर्भवति' इति यदेतावानेव निःश्रेयसस्य परमपुरुषार्थस्य उदयो लाभः। अन्यत्तु स्वर्गादि[12] सर्वं तुच्छमित्यर्थः।।११।।

भागवतसङ्गतः इत्यनेन सूचितां हरिकथारतिं स्तौति - **ज्ञानम्** इति। यत्[13] यासु कथासु ज्ञानं भवति[14]। कीदृशम्? आ[15] सर्वतः प्रतिनिवृत्तम् उपरतं गुणोर्मीणां रागद्वेषादीनां[16] चक्रं समूहो यस्मात् तत्। उत[17] अनन्तरं तद्धेतुः आत्मप्रसादश्च यत्र यासु मनःप्रसादहेतुः गुणेषु विषयेष्वसङ्गो वैराग्यं च। उभयत्रेति पाठे इहामुत्र च गुणेष्वसङ्गः। अथ[18] कैवल्यमित्येव सम्मतः पन्थाः एतादृशो[19] यो भक्तियोगः। निर्वृतः श्रवणसुखेन अन्यत्रानिर्वृत इति वा। तासु हरिकथासु को रतिं न कुर्यात्।।१२।।

**वीर०** राज्यकामः मनुरूपान् देवान् अभिचरन् शत्रुमरणमिच्छन् निऋतिं राक्षसं कामकामः भोगेच्छुः अकामः वैराग्यकामः, परं पुरुषं परमपुरुषं "यो यो यां यां तनुं भक्तः" (भ.गी.7-21) इति रीत्या[20] इन्द्रादिरूपेणापि[21] परमपुरुषस्यैवान्तवत्फलदत्वात्[22] तत्तत्फलेप्सुभिः इज्यमानः परमपुरुष एवान्तवत्फलानि प्रयच्छति "अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्" (भ.गी.9-22) इति रीत्या तु भजमानस्य स एव मुक्तिं प्रयच्छति इत्यभिप्रायः।।९।।

---

1. H.V. 'तः; W. 'था 2. H.M.Ma.V.W. 'भ' 3. M.Ma. 'भृ' 4. H.V. मनूरूपान् 5. H.V. Omit मन्वन्तरपालकान् 6. B. 'राधिपान् 7. A.B. Omit वा 8. H.V. 'मन्वि' 9. A.B. Omit निऋतिं.....आर्षम्। 10. A.H.V. Omit परं 11. A.B. 'द्यजनेन 12. B.H.V. Omit स्वर्गादि 13. H.V. 'तः 14. H.V. add तासु रतिं को न कुर्यादित्यन्वयः। 15. H.V. Omit आ सर्वतः 16. H.V. रागादीनां 17. H.V. Omit उत अनन्तरं 18. H.V. Omit अथ 19. B.H.V. Omit एतादृशो 20. A. Omits रीत्या 21. A.B. 'रूपिणोऽपि 22. W. 'प्रद'

उदारधीः इति मोक्षकामविशेषणं तीव्रेण अविच्छिन्नेन भक्तियोगेन।।१०।।

एवं यजद्भिः कदा मोक्षोऽवाप्यत इत्यत आह - **एतावान्** इति। इह अस्मिन् लोके यजतां निःश्रेयसस्य मोक्षस्य उदयो लाभः एतावान् एतदवधिकः भागवतसङ्गाद्भगवत्यचलो भाव इति यत् भागवतसङ्गात् भगवत्यचले भावे सति निःश्रेयसोदयः सिद्ध एव। तस्मात् भागवतसङ्गादचलो भाव एव सम्पाद्य इति भावः।।११।।

यद्भागवतसङ्गतः इत्यनेन सूचितां हरिकथां प्रस्तौति - **ज्ञानम्** इति। यासु हरिकथासु ज्ञानादीनि सम्पत्स्यन्ते तासु हरिकथासु रतिं को न कुर्यात् इत्यन्वयः। यदा हरिकथा[1]रतिदशायां प्रतिनिवृत्ताः गुणाः सत्त्वादिकार्याणि ऊर्मयः अ[2]शनाया पिपासा शोकमोहजरामृत्यवो यस्मात् तथाभूतं ज्ञानम् आत्मप्रसादः चित्तनैर्मल्यम् उभयत्र लोकद्वये गुणेषु शब्दादिषु विषयेष्वसङ्गो वैराग्यं कैवल्ये मुक्तौ सम्मतः पन्था उपायः कैवल्यसम्मतपथः तथाभूतो भक्तियोगश्च इत्येते सम्पत्स्यन्ते तथाभूतासु हरिकथासु निर्वृतः सुखितः रतिमासक्तिं को न कुर्यात् सर्वोऽपि कुर्यादेव इत्यर्थः।।१२।।

**विज०** अभिचरन् परोपद्रवकर्म कुर्वन् निऋतिं कोणदिक्पतिं सोमं चन्द्रम् अकामो निषिद्धकामरहितः पुरुषं पूर्णषड्गुणम्।।९।।

अकामो भगवत्प्रसादमन्तरेणान्यत्राकामः सर्वकामः उक्तसर्वकामोऽन्यदेवतायजनमिच्छन् परं पुरुषं यजेत विष्णुयजने साधनमाह तीव्रेणेति।।१०।।

काम्यानुष्ठानस्य यथा मुक्तिसाधनता स्यात् तं प्रकारमाह - **एतावान्** इति। इह कर्मभूमौ यजतां काम्यानुष्ठानं कुर्वतां निःश्रेयसोदयः एतावान् भागवतानां सङ्गतः सेवालक्षणात् भगवति हरौ अचलो भावो भक्तिलक्षण इति यत् स इति।।११।।

भागवतसङ्गादचलो भावः कथं स्यात् इत्याशङ्क्य तेषां सदसि प्रसक्तानां हरिकथाऽमृतानां श्रवणलक्षणपानादिना प्रसन्नान्तःकरणस्य पुंसो हरेः इतरत्र विरक्तस्य ज्ञानसाधनं भगवति अचला-भक्तिः तया ज्ञानं भविष्यति इत्याह - **ज्ञानम्** इति। यदा सत्सभासु प्रसक्ताभिः श्रुताभिः याभिः हरिकथाभिः पुंस आत्मप्रसादो मनसः प्रसन्नता नैर्मल्यलक्षणा तदा उभयत्र इह परत्र च स्वर्गादौ गुणेषु विषयेष्वसङ्गः फलस्नेहराहित्यलक्षणवैराग्यं भवति। अथ भक्तिसाधनवैराग्यजन्मानन्तरं कैवल्यसम्भृतपथः सम्यक्सम्पादितमोक्षमार्गो भक्तियोगो जायते। तुशब्दात् तद्भक्तेष्वपि अथात्मनो हरेः प्रसादःस्यात् अनन्तरं

---

1. W. भ 2. W. 'प्य' 3. W. भ 4. W. Omits 'रति' 5. A.B. अशना

हरेः अपरोक्षज्ञानं भवति, कीदृशम्? प्रतिनिवृत्तमपक्रान्तं सत्त्वादिगुणनिमित्तानाम् 'अस्ति जायते' इत्यादिषड्ऊर्मीणां चक्रं पुनः पुनः आवर्तनं येन तत् तथोक्तं यद्वा अपसारितसत्त्वादि गुणा एव ऊर्मयः तरङ्गाः तेषां चक्रं येन तत्तथेति। यद्वा यासां हरिकथानां श्रवणात् भगवदपरोक्षज्ञानं तदा प्रतिनिवृत्तगुणोर्मिचक्रं सत्त्वादिगुणनिमित्ताशनापिपासाशोकमोहरागद्वेषलक्षणा ऊर्मयः तेषां चक्रं निरस्तं भवति तस्मात् आत्मप्रसादः तस्मादुभयत्र गुणेष्वसङ्गः तस्माद्वैराग्यात् कैवल्यं सम्प्रियतेऽनेनेति कैवल्यसम्भृतम् अपरोक्षज्ञानं तदेव पन्था मार्गो यस्य स तथोक्तः। एवंविधो भक्तियोगो जायते अथ कस्मात् को निर्वृतो रसज्ञः पुरुषः तासु हरिकथासु रतिं न कुर्यात् इत्यर्थः।।१२।।

**रा०कृ०** राज्यकामः राजत्वाभिलाषी मनून् देवान् आदिराजभूतान् मनुरूपान् देवान् यजेत्। अभिचरन् शत्रुमरणाभिलाषी निऋतिं निऋतिनामानं राक्षसं यजेत्। कामकामः मन्मथवृद्धिमिच्छन् सोमं ओषधिपोषकं चन्द्रं यजेत्। अकामः कामरहितः वैराग्यकामी इत्यर्थः परं पुरुषं भगवन्तं पुरुषोत्तमं यजेत्।

अत्र निर्दिष्टाः अष्टाविंशतिदेवताः तत्तन्मन्त्रतन्त्रविधानैः कृत्तिकादिषु नक्षत्रेषु समुपासिताः अभिलषितान् अर्थान् प्रयच्छन्ति। नक्षत्राणि च एवम् अभिजित्सहितन्याष्टाविंशतिसंख्याकानि इति ज्ञेयम्।।९।।

अकामः सर्वथा वाञ्छारहितः अथवा सर्वकामः उक्तानुक्तसर्वाभिलाषसहितः मोक्षकामः वा उदारधीः उदारबुद्धिः पुरुषं तीव्रेणाविच्छिन्नेन भक्तियोगेन परं पुरुषं पुरुषोत्तमं यजेत।

एतेन उपर्युक्तनानादेवताराधनात् परमपुरुषाराधनमेव प्रशस्ततरमिति ज्ञायते। उक्तं च भगवता श्रीकृष्णेन - "येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्वकम्" (भ.गी.9-23) इति। तर्हि किमिति तत्तद्देवताराधनम् उपदिष्टम्? उच्यते - आदौ अज्ञानवशात् तत्तत्कामावाप्त्यर्थं कृतमपि तत्तद्देवताराधनमन्ते सर्वान्तर्यामीश्वररतिप्रवर्तकत्वात् वरमेव। एतदग्रे स्फुटीभविष्यति।।१०।।

इहलोके यजतां इन्द्रादीन् भजतां यद्यपि कामानुसारेण तत्तत्फललाभः तथाऽपि तद्देवतानुसेवनबलेन निमित्तेन भागवतसङ्गतः भागवतानां भगवद्भक्तानां सङ्गतः सङ्गात् भगवति सर्वान्तर्यामिणि ईश्वरे अचलो भावः निश्चलरतिः भवतीति यत् सः एतावानेव निश्श्रेयसोदयः परमपुरुषार्थलाभः। ननु इन्द्रादीन् भजतां कथं भागवतसङ्गः? उच्यते - इन्द्रादिसेवनलब्धेनान्तवत्फलजातेन व्यथितहृदयः साधकः कदाचित् इहजन्मनि वा जन्मान्तरे वा आत्यन्तिकदुःखविमुक्तिम् अत्यन्तम् अभिलषति। तदा तदार्तिरेव तस्मै सम्पादयति भागवतसङ्गम्।।११।।

यतो याभिः हरिकथाभिः प्रतिनिवृत्तगुणोर्मिचक्रं प्रतिनिवृत्तं उपरतं गुणोर्मीणां गुणकार्यरागादीनां

तरङ्गाणां चक्रं चक्रवत्परिवर्तनं येन तत् ज्ञानं भवति। ततः आत्मप्रसादः ज्ञाननिमित्तकः मनःप्रसादः भवति। ततः उभयत्र इहलोके परलोके च गुणेषु विषयेषु असङ्गः मनःप्रसादप्रयुक्तं वैराग्यं भवति। अथ वैराग्योदयानन्तरं कैवल्यसम्मतपथः कैवल्यस्य मोक्षस्य सम्मतः साधनत्वेन सम्मतः पन्थाः मार्गः भक्तियोगश्च भवति। तासु हरिकथासु निर्वृतः भक्तिसुखनिमग्नः अथवा निर्वाणप्राप्तिकामः को वा जनो रतिम् अनुरागं न कुर्यात्? सर्वोऽपि कुर्यादेवेति भावः।।१२।।

**शौनक उवाच**

**इत्यभिव्याहृतं राजा निशम्य भरतर्षभः।**
**किमन्यत्पृष्टवान् भूयो वैयासकिमृषिं कविम्।।१३।।**

**एतच्छुश्रूषतां विद्वन्! सूत नोऽर्हसि भाषितुम्।**
**कथा हरि[1]कथोदर्काः सतां स्युः [2]सदसि ध्रुवम्।।१४।।**

**स वै भागवतो राजा पाण्डवेयो महास्थः।**
**बाल[3]क्रीडनकैः क्रीडन् कृष्णक्रीडां य आददे।।१५।।**

**वैयासकिश्च भगवान् वासुदेवपराबणः।**
**उरुगायगुणोदाराः [4]सतां [5]स्युर्हि [6]समागमे।।१६।।**

**श्रीध० इतीति**। अभिव्याहृतम् उक्तम्। ऋषिं परब्रह्मदर्शिनं कविं शब्दब्रह्मनिष्णातम्।।१३।।

**एतत्** इति। श्रवणेच्छायां हेतुः। हरिकथा एव उदर्कः उत्तरफलं यासु ताः कथाः। सतां भागवतानां [7]सदसि सभायां स्युः। [8]अतः एतच्छुश्रूषतां श्रोतुकामानां नः।।१४।।

एतत्प्रपञ्चयति **स वा** इति द्वाभ्याम्। कृष्णपूजादिरूपां क्रीडां यः स्वीकृतवान्।।१५।।

**वैयासकिः** इति। उरुगायस्य [9]भगवतः गुणैः उदारा महत्यः कथाः स्युः।।१६।।

**वीर०** एवं हरिकथाप्रभावे उक्ते पुनः जगद्व्यापार[10]रूपहरिकथाबुभुत्सया मुनिनृपयोः संवादमवतारयितुं

1. M.Ma. 'गुणो' 2. H.V.W. संसदि 3. B. 'ल' 4. H.V.W. कथाः 5. H.V. स्युस्सतत्' 6. W. 'दा' 7. H.V. संसदि 8. B.H.V. Omit अतः .....नः 9. A.B. Omit भगवतः 10. W. 'रादि'

शौनकः पृच्छति - **इति** इत्यादिना। इति पूर्वोक्तप्रकारेणाभिव्याहृतं [1]भाषितं निशम्य श्रुत्वा भरतर्षभः भरतवंशश्रेष्ठो राजा परीक्षित् ऋषिं परब्रह्मदर्शिनं कविं शब्दब्रह्मणि[2] निष्णातं वैयासकिं व्यासपुत्रं श्रीशुकं किं प्रति अन्यत् किं पृष्टवान्?।।१३।।

' [3]एतच्छुश्रूषतां श्रोतुमिच्छतां नःअस्मकं हे सूत! हे विद्वन्! भाषितुं वक्तुमर्हसि [5]तत्प्रश्नप्रश्ने तव को लाभ इति चेत् तत्राऽऽह कथा इति। हरिकथैव उदर्कः उत्तरफलं यासां ताः हरिकथोदर्काः हरिकथाप्रधाना इत्यर्थः। तथाभूताः कथाः सतां भगवद्भक्तानां संसदि सभायां [6]राजशुकयोः स्युः ध्रुवं निश्चयः। अतः[7] भगवत्कथाश्रवणमेव लाभ इति भावः।।१४।।

[8]राजशुकयोः भगवद्भक्तत्वमेव आह - **स** इति सार्द्धेन। पाण्डवेयो महारथः राजा महाभगवतः यो राजा बालक्रीडनकैः [9]बाल्यक्रीडाभिः क्रीडन् कृष्णक्रीडां श्रीकृष्णसेवारूपां[10] क्रीडाम् आददे। तस्य क्रीडाऽपि श्रीकृष्णपूजारूपा एव। अतः आबाल्यं[11] भागवत इत्यभिप्रायः।।१५।।

एवं भगवान् "उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानाम्" (विष्णु.पु.6-5-78) इत्यादिगुणविशिष्टो वैयासकिः [12]वासुदेवपरायणः वासुदेवः परमप्राप्यं परमोपायश्च यस्य स तथोक्तः। एवमुभयोरपि भागवतत्वात् तत्संवाद एव प्रष्टव्य इत्याह। हि यस्मात् सतां भागवतानां [13]आगमे सङ्गतौ उरुगायस्य भगवतः गुणैः उदारा महत्यः कथाः स्युः प्रवृत्ता भवेयुः।।१६।।

विजय: परीक्षित्पृष्टशुकोक्तभगवत्कथा तद्द्विगुणीभूतरसैव स्यात् इत्याशयवान् शौनकः सूतं पृच्छति - **इति** इति। ऋषिमात्रस्य त्रिकालदर्शित्वमस्तीत्यतः कविमिति भगवन्तमपरोक्षतो जानातीति।।१३।।

शुश्रूषतां श्रोतुकामानां सत्सभायां कदाचित् प्रसङ्गात् इतरकथाऽपि सम्भाव्यत इति नेत्याह कथा इति। ध्रुवमित्यनेन नियमो दर्शितः।।१४।।

अनयोः एकस्यापि असत्वे नियमभङ्गः स्यादिति नेत्याह **स वा** इति। तत्र हेतुमाह बाल इति।।१५।।

---

1. A.B. Omit भाषितं 2. W. Omits 'णि 3. W. Omits एतत् 4. A.B. Omit श्रोतुमिच्छतां 5. A.B. तत्प्रश्ने 6. W. Omits राजशुकयोः 7. W. 'थ 8. A.B. Omit राजशुकयोः 9. W. बालक्रीडादिभिः 10. W. 'पूजा 11. W. 'त्स्यात् 12. A.B. Omit वसुदिवपरायणः 13.A.B. समा'

अस्तु उभयोः सत्त्वं ततः किं तत्राऽऽह उरुगायेति। उरुगाय इत्यनेन हरिकथायाः अवश्यसद्भावं दर्शयति उरुभिः वेदविद्याविशारदैः महद्भिः गीयत इति उरुगायः। सतां समितौ प्राचुर्येण हरिकथासत्त्वेऽपि प्रसङ्गात् अन्यकथा स्यात् न तथा श्रीशुकपरीक्षितोः इत्येतस्मिन्नर्थे हिशब्दः। कथा इति शेषः।।१६।।

रा०कृ० इति उक्तरीत्या अभिव्याहृतं श्रीशुकेन कथितं वचनं निशम्य भरतर्षभः भरतकुलश्रेष्ठः राजा परीक्षित् ऋषिं ब्रह्मनिष्ठं कविं शब्दब्रह्मनिष्णातं वैयासकिं व्यासपुत्रं शुकं प्रति भूयः पुनः अन्यत् किं पृष्टवान्?।।१३।।

हे विद्वन्! सूत! एतत् शुकपरीक्षित्सम्भाषणं शुश्रूषतां श्रोतुमिच्छतां नः अस्माकं भाषितुं कथयितुं अर्हसि। हरिकथोदर्काः कथाः सतां भागवतानां सदसि सभायां स्युः भवेयुः ध्रुवं नात्र सन्देहः।।१४।।

यो राजा बालक्रीडनकैः बाल्ये क्रीडावस्तुभिः क्रीडन् कृष्णक्रीडां श्रीकृष्णपूजारूपां क्रीडां आददे। स्वीचकार सः पाण्डवेयः महारथः राजा परीक्षित् भागवतो वै भगवद्भक्त एव।।१५।।

भगवान् वैयासकिश्च श्रीशुकश्च वासुदेवपरायणः। सत्समागमे सतां समाजे उरुगायगुणोदाराः उरुगायस्य भगवतः गुणैः उदाराः कथाः स्युः भवेयुः।।१६।।

**आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं[1] च यन्नसौ।**
**तस्यर्ते[2] यत्क्षणो[3] नीत उत्तमश्लोपकवार्तया।।१७।।**

**तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत।**
**न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे[4]।।१८।।**

**श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः[5] पुरुषः पशुः।**
**न यत्कर्णपथोपेतो[6] जातु नाम गदाग्रजः[7]।।१९।।**

**बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।**
**जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत! न चोपगायत्युरुगायगाथाः।।२०।।**

---

1. H.V. °स्तम 2. M.Ma. यःक्ष 3. B. °मः 4. B.I. °भे; H.V.W. °भ्याः 5. M.Ma. स तुल्यः 6. H.V.W. °तं 7. H.V.W. °भृतः 8. M.Ma. चेत्र.....थाम्

**श्रीध०** किञ्च। वृथैव क्षीयमाणम् आयुः हरिकथया[1] सफलं कुरु इत्याशयेनाह त्रिभिः **आयुः** इति। असौ सूर्यः उद्यन् उद्गच्छन् अस्तमदर्शनं[2] च यन् गच्छन् यत् येन[3] क्षणो नीतः तस्य आयुः ऋते वर्जायित्वा अन्येषां[4] वृथैव हरति।।१७।।

ननु जीवनमेव तेषामायुषः फलमस्तु[5]! तत्राऽऽह - **तरवः** इति। ननु तेषां श्वासो नास्ति? तत्राऽऽह[6] - तर्हि भस्त्रा: चर्ममयकोशाः[7]। ननु तासाम् आहारादिकं नास्ति? तत्राऽऽह - न खादन्ति। नाश्नन्ति। न मेहन्ति। रेतस्सेकं मैथुनं न कुर्वन्ति किम्? उत[8] अपि तमपि[9] नराकारं पशुं मत्वाऽऽह अपरे इति।।१८।।

तदेवाऽऽह **श्वेति**। श्वादिभिः संस्तुतः सदृशः[10] पुरुषः[11] निरूपितः यस्य कर्णपथं कदाचिदपि न[12] गतः[13] सः अवज्ञास्पदत्वात् श्वभिः कश्मलविषयासक्तत्वाद्विड्वराहैः ग्रामसूकरैः[14] कण्टकवत् दुःखदविषयासक्तत्वादुष्ट्रैर्भारवाहित्वात्[15] कामुकत्वात्[16] पदा घ्नन्तीमपि[17] प्रियां त्यक्तुमसमर्थत्वाच्च खरैः तुल्य इत्यर्थः।।१९।।

तस्याङ्गानि[18] च निष्फलानीत्याह **बिले** इति पञ्चभिः। बतेति खेदे। न शृण्वतो अशृण्वतो नरस्य ये कर्णपुटे[19] ते बिले वृथारन्ध्रे, सर्पादिप्रवेशार्हरन्ध्रे[20] वा। न चोपगायति तस्य जिह्वा असती दुष्टा दर्दुरो भेकः तदीया जिह्वेव व्यर्थशब्दैव[21]।।२०।।

**वीर०** किञ्च वृथैव क्षीयमाणमायुः हरिकथायामेव सफलं कुरु इत्याशयेनह **आयुः** इति त्रिभिः। असौ सूर्यः उद्यन् उदयं प्राप्नुवन् अस्तं च यन् तिरोधानं प्राप्नुवन्[22] तिरोभवन् इत्यर्थः। उत्तमश्लोकस्य भगवतः वार्तया कथया यत्क्षणो नीतः यः क्षणो नीतः तस्य ऋते तं क्षणं विना आयुर्हतं स तु क्षणो न हतः सफलं इत्यर्थः।।१७।।

ननु जीवनमेव तदायुषः फलमस्तु। तत्राऽऽह - **तरव** इति। उत्पत्तिनाशमध्यस्थितिः जीवनम्। ननु तेषां श्वासो नास्ति? तत्राऽऽह - भस्त्रा इति। चर्मकोशा न श्वसन्ति किम्? वायुमूर्ध्वं न निस्सारयन्ति किम्? ननु तासाम् आहारादिकं नास्ति? तत्राऽऽह - ग्राम्याः[23] पशवः अपरे आयुर्व्ययं कुर्वतश्च न खादन्ति नादन्ति[24] न मेहन्ति न रेतस्सिञ्चन्ति मैथुनं न कुर्वन्ति किम्? इत्यर्थः।।१८।।

तमपि[25] नराकारं पशुं मत्वाऽऽह - **श्वेति**। विड्वराहः ग्रामसूकरः। श्वादिभिः[26] सदृशत्वेन संस्तुतो

1. H.V. 'थायामेव 2. H.V. Omit अस्त.....गच्छन् 3. B. adds पुंसां उत्तमः श्लोकस्य वार्तया 4. H.V. Omit अन्येषां 5. A.H.V. 'स्ति 6. A.B. Omit तत्राऽऽह 7. A.H.V. Omit 'मय' 8. H.V. Omit उत अपि 9. A. Omits तमपि 10. B. 'शत्वेन 11. A.B. Omit पुरुषः 12. A. नागतः 13. H.V. 'तं 14. B. 'म्य 15. B.H.V. Omit 'द' 16. H.V. 'यत्वाद्' 17. A.B. Omit कामुक.....त्वाच्च 18. H.V. Omit च 19. V. Omits ते 20. A.B. Omit सर्पा.....वा 21. A.B. Omit व्यर्थ.....वा 22. W. निम्रोच' 23. A.B. 'म' 24. W. 'ध' 25. A.B. Omit तमपि.....श्वेति 26. A.B. Omit श्वादिभिः.....इत्यर्थः

निरूपितः सः क इत्यत आह - नेति। जातु कदाचिदपि गदाभृतो भगवतो नाम न[1] यत्कर्णपथोपेतं न[2] यस्य कर्णपथमुपेतं यस्य कर्णमार्गं न प्राप्नोति स इत्यर्थः।।१९।।

तमेव[3] निन्दति **बिले** इति। उरुक्रमस्य भगवतो विक्रमान् व्यापारान् न शृण्वतो अशृण्वतो नरस्य ये कर्णपुटे ते बिले वृथारन्ध्रे। हे सूत! उरुगायगाथाः भगवत्कथाः न चोपगायति तस्य जिह्वाऽसती दुष्टा दार्दुरिकीव[4] मण्डूकजिह्वेव।।२०।।

**विज०** वासुदेवकथामन्तरेण जीवनं व्यर्थमित्याह - **आयुः** इति। उद्यन् अस्तं च यन् गच्छन् असौ आदित्यः पुंसां यदायुर्हरति वै। "आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवनम्" (सुभाषिरत्नावल्याम्) इति वचनात् तस्य आयुषो य उत्तमश्लोकवार्त्तया ऋते विना क्षणः कालविशेषः स नीत एव वृथा इत्यन्वयः।।१७।।

हन्त! लोके दीर्घकालं जीवन् पुमान् स्तूयत इति तत्राऽऽह - **तरव** इति। तरूणां श्वासाद्यभावत् इत्यत उक्तं भस्त्रा इति। भस्त्राः दृतयः। अयस्सन्तापनार्थाः चर्मविशेषाः। भस्त्राणां निश्चैतन्यात् न तत्साम्यमत्राऽऽह - नेति। ग्रामपशवः सारमेयादयो मेहन्ति रेतो मूत्रादिकमुत्सृजन्ति अपरे तिर्यग्जाति-व्यतिरिक्ताः स्त्रीपुरुषाः। अनेन हरिचरितश्रवणाभावे चेतनत्वप्रयोजकमित्युक्तं भवति।।१८।।

एतदेव विशिनष्टि - **श्वविडिति**। विड्वराहोऽमेध्यशूकरः[5] पशुः विवेकशून्यः। 'गदाभृत' इति पाठे गदांभृत इति पदार्थः, ग्रामंश्रित इतिवत्।।१९।।

हतोऽपि हरिकथां श्रावं श्रावं वर्तमानस्य पुंसः श्रोत्रादि इन्द्रियसाफल्येनायुषः साफल्यम् अन्यथा व्यर्थमित्याशयेनाऽऽह - **बिले** इति। शृण्वतः शृणुतः बिले पर्वतस्येति शेषः। उरुगायगाथां न प्रगायति चेत्तर्हि दार्दुरिका दर्दुरस्य विद्यमाना जिह्वाऽसतीव।।२०।।

**रा०कृ०** उत्तमश्लोकवार्तया उत्तमश्लोकस्य भगवतो वार्तया कथया क्षणो नीत इति यत् तस्य ऋते तं क्षणं विना उद्यन् उदयं प्राप्नुवन् अस्तं च अदर्शनं च यन् गच्छन् असौ सूर्य इत्यर्थः पुंसां आयुः हरति वृथैव नयतीति भावः। सर्वान्तर्यामिभगवत्कथया नीतस्य क्षणस्यापि परमसुखपर्यव-सायित्वात् सार्थक्यं तत्कथां विना नानाविधकष्टसुखसमस्याकलुषितया लोकवार्तया नीतं जनस्य सर्वमपि आयुः निरर्थकमेव।।१७।।

---

1. W. Omits न 2. W. Omits न 3. A.B. Omit तमेव.....बिले इति। 4. A.B. Omit च 5. M.Ma सू

तरवो वृक्षाः न जीवन्ति किम्? उत अपि च भस्त्राः चर्मकोशाः न श्वसन्ति किम्? अपरे ग्रामपशवः न खादन्ति किम्? न मेहन्ति किम्? मैथुनं न कुर्वन्ति किम्? केवलजीवनार्थं जनेन न महान् प्रयत्नः कार्य इति भावः।।१८।।

गदाभृतः श्रीकृष्णस्य नाम जातु कदाचिदपि यत्कर्णपथोपेतं यस्य जनस्य कर्णमार्गं न गतं सः पुरुषः पुरुषरूपः पशुः श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः शुनकग्रामसूकरोष्ट्रगार्दभैः तुल्यत्वेन निरूपितः।।१९।।

उरुक्रमविक्रमान् उरुक्रमस्य अत्याश्चर्यचरित्रस्य भगवतो विक्रमान् न शृण्वतः अशृण्वतो नरस्य ये कर्णपुटे वर्तेते ते बिले व्यर्थे रन्ध्रे। हे सूत! उरुगायगाथाः उरुगायस्य भगवतः गाथाः जनो यदि नोपगायति तस्य जिह्वा च दार्दुरिकेव मण्डूकजिह्वेव असती व्यर्थनिनदैः दुष्टैव।।२०।।

**भारः परं[1] पट्टकिरीटजुष्टमप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्।**
**शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा।।२१।।**

**बर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये।**
**पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणि नानुव्रजतो[2] हरेर्यौ।।२२।।**

**जीवन् शवो भागवताङ्घ्रिरेणुं[3] न जातुमर्त्योऽभिलभेत[4] यस्तु।**
**श्रीविष्णुपद्या[5] मनुजस्तुलस्याः श्वसन् शवो यस्तु न वेद गन्धम्।।२३।।**

**तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।**
**न विक्रियेताथ यदा[6] विकारो[7] नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः।।२४।।**

**अथाभिधेह्यङ्ग मनोऽनुकूलं प्रभाषसे भागवत[8]प्रधानः।**
**यदाह वैयासकिरात्मविद्याविशारदो नृपतिं साधु पृष्टः।।२५।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
द्वितीयस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः।।३।।

---

1. M.Ma. °रः 2. AF.GF. °तां 3. B. °णून् 4. M.Ma. °भे 5. AF.GF. यो 6. H.M.Ma.V.W. मुखे 7. W. °सो 8. AF.GF. °तः

**श्रीध० भार** इति। पट्टवस्त्रोष्णीषेण[1] पट्टेन[2] अभिषेककाले शिरसि निक्षिप्तेन राज्याधिकारसूचकेन वस्त्रेण[3] किरीटेन च[4] जुष्टमपि शिरो यदि न नमेत् तर्हि केवलं भार एव। शवो मृतकस्तत्कर[4]तुल्यौ लसतौ[5] काञ्चनकङ्कणे[6] ययोः तौ। अप्यर्थे वाशब्दः।।२१।।

**बर्हायित** इति। ये नयने विष्णोः मूर्तीः[7] न निरीक्षेते ते बर्हायिते मयूरपिच्छ[8]नेत्रतुल्ये शिखिपिञ्छवर्तिनेत्रस्य नेत्राकारसद्भावेऽपि यथा दर्शनायोगात् आनर्थक्यमिति भावः। द्रुमवज्जन्म भजत[9] इति तथा वृक्षमूलतुल्यौ इत्यर्थः।।२२।।

**जीवन्** इति। नाभिलभेत अभितो न स्पृशेत् न धारयेत्। श्रीविष्णुपद्याः श्रीविष्णुपदलग्नायाः[10] तुलस्याः[11] गन्धं न वेद[12] अभिघ्राय नाभिनन्दतीत्यर्थः।।२३।।

**तत्** इति। अश्मवत् सारो बलं काठिन्यं यस्य। विक्रिया लक्षणमाह[13]। अथेति। गात्ररुहेषु रोमसु हर्षः उद्गमः यस्मादभक्तस्य सर्वमेतत् व्यर्थम्।।२४।।

**अथ** इति। मनसोऽनुकूलं प्रियं च प्रभाषसे[14]। अथ अतः कारणात्[15] नृपतिना साधु पृष्टस्सन् वैयासकिः नृपतिं प्रति यदाह[16] तदभिधेहीति।।२५।।

इति श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां तृतीयोऽध्यायः।।३।।

**वीर०** यदि मुकुन्दं न नमेत् न नमस्कुर्यात् तदुत्तमाङ्गं शिरः पट्टकिरीटजुष्टं पट्टेन[17] नवोष्णीषेण किरीटेन वा जुष्टमपि परं केवलं भारः। हरेः सपर्यां[18] पूजां नो कुरुतः न कुर्वन्तौ[19] चेत् तौ करौ हस्तौ च[20] लसन्तौ काञ्चनकङ्कणौ ययोः तथाभूतौ अपि शावौ शवसम्बन्धिनौ इव अमङ्गलौ[21] इत्यर्थः।।२१।

विष्णोः लिङ्गानि मूर्तिः न निरीक्षतश्चेत् ते नयने बर्हायिते मयूरपिच्छ[22]नेत्रतुल्ये। हरेः[23] क्षेत्राणि श्रीरङ्गादीनि नानुव्रजतश्चेत् तौ नृणां पादौ द्रुमजन्मभाजौ द्रुमजन्म भजतः इति तथा वृक्षमूलतुल्यौ इत्यर्थः।।२२।।

---

1. H.V. 'स्रेणो' 2. A.B. Omit पट्टेन.....वस्त्रेण 3. H.V. वा 4. H.V. Omit 'कर 5. H.V. 'न्ति 6. H.V. 'णानि 7. H.V. श्रीमूर्ति असाधारणानि शङ्खचक्रादिचिह्नानि वा 8. H.V. 'च्छ'; B. 'च्छेन तुल्ये 9. B. 'भजे 10. B.H.V. Omit श्री' 11. A.B. Omit तुलस्याः गन्धं 12. A.B. 'वेदेति अवघ्राय नाभिनन्देदित्यर्थः 13. H.V. Omit आह 14. A.B. ब्रूषे 15. B.H.V. Omit कारणा.....तिना 16. A. 'त्रा' 17. A.B. शब्लोलेखेन (शाब्लोलेखेन?) 18. W. Omits पूजां 19. W. कुरुतः 20. W. Omits च 21. W. Omits अमङ्गलौ इत्यर्थः। 22. W. 'च्छ' 23. A.B. Omit हरेः

भागवताङ्घ्रिरेणुं जातु कदाचिदपि यस्तु मर्त्यो[1] मनुष्यः नाभिलषेत अभितो न स्पृशेत् न धारयेत् स जीवन् शवः जीवन्नपि शवतुल्यः। श्रीविष्णुपद्याः श्रीविष्णुपदलग्नायाः तुलस्याः गन्धं सुगन्धं[2] यस्तु मनुजो न वेद अभिघ्राय नाभिनन्देदित्यर्थः। सः श्वसन् शवः[3] प्राणयुक्त शवतुल्यः।।२३।।

गृह्यमाणैः स्मरणकीर्तनादिभिः[4] गृह्यमाणैः भगवन्नामभिः यदिदं[5] हृदयं न विक्रियेत विकारं न प्राप्नुयात्। अथ मुखे विकारः[6] नेत्रे जलमानन्दाश्रुबिन्दवः गात्ररुहेषु हर्षः रोमाञ्चश्च न स्यात्, तद्धृदयमश्मसारं कार्ष्णायसम्[7]। बतेति खेदे। यदा मनोविकारो भवति तदा आनन्दाश्रु, रोमाञ्चश्च स्यादित्यर्थः।।२४।।

भागवतप्रधानः त्वं मनसोऽनुकूलं प्रियं भाषसे अथ अतः आत्मविद्यायां विशारदः निपुणः वैयासकिः श्रीशुकः साधु[8] पृष्टस्सन् नृपतिं प्रति यदाह तदभिधेहीत्यन्वयः।।२५।।

इति श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां श्रीभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां तृतीयोऽध्यायः।।३।।

**विज०** वा यदि। शावौ शवस्य विद्यमानौ।।२१।।

बर्हायिते पिच्छनेत्रवदाचरिते निष्फले इत्यर्थः। लिङ्गानि प्रतिमाः द्रुमवज्जन्म भजत इति। क्षेत्राणि पुण्यस्थानानि "क्षेत्रं पुरे गृहे देहे केदारे योनिभार्ययोः। पुण्यस्थाने समूहे च घृतमाज्येऽम्बुसर्पिषोः" (वैज.को.6-3-6) इति यादवः।।२२।।

भागवतस्य भगवद्भक्तजनस्याङ्घ्र्यो रेणुं यद्वा भागवतयोः भगवतो विद्यमानयोः अङ्घ्र्यो रेणुं नाभिलषेत न काङ्क्षेत जीवन् शवो जीवन् मृतः। श्रीविष्णुपद्याः श्रीविष्णुपदप्रियायाः। श्वसन् शवः श्वासकृत्कुणपतुल्यः।।२३।।

पुरुषस्य यद्धृदयं कथारूपेण गृह्यमाणैः हरिनामधेयैः न विक्रियेत। द्रवीभावात्मकं विकारं नाप्नोति। तदिदमश्मसारवदतिकठिनं, अयोघनं वा। अथ दैवात् यदि विकारः तस्येदं लक्षणम्। मुखे विकासलक्षणो विकारः। नेत्रे जलं स्रवति। गात्ररुहेषु रोमसु हर्षो रोमाञ्चलक्षणः स्यादिति शेषः।।२४।।

यतः[9] एवं हरिकथाश्रवणाभावे जन्मादेः नैष्फल्यम् अथ तस्मात् नृपतिना साधु पृष्टः आत्मविद्याविशारदः परमात्मविद्यायां पटुतरो वैयासकिः नृपतिं यदाह तन्मामभिधेहि। हरिकथाभिधाने

1. W. Omits मर्त्यो मनुष्यः 2. W. Omits सुगन्धं 3. A.B. जीवः प्राणयुक्तोऽपि शवः शवतुल्यः 4. W. श्रवण 5. W. दीयं 6. W. सः 7. W. ला 8. A.B. Omit साधु 9. A. Omits यतः

मदन्यः किं न स्यात् अत्राह मन इति। मनोऽनुकूलं यथा भवति तथा प्रभाषसे हेत्वन्तरमाह भागवतेति। अतः त्वत्त एव श्रोतुमिच्छा प्रवर्तत इति।।२५।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
द्वितीयस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः।।३।।

**रा०कृ०** पट्टकिरीटजुष्टमपि पट्टेन पट्टवस्त्रेण किरीटेन च जुष्टमपि अलङ्कृतमपि उत्तमाङ्गं शिरः मुकुन्दं श्रीहरिं यदि न नमेत् नमस्कारं न कुर्यात् तदा परं केवलं भार एव भारभूतमेव। लसत्काञ्चन-कङ्कणौ करौ वा हस्तावपि यदि हरेः सपर्यां नो कुरुतः तदा तौ शावौ शवसम्बन्धिनौ एव ।।२१।।

नराणां ये नयने विष्णोः लिङ्गानि शङ्खचक्रादिचिह्नानि न निरीक्षितः न पश्यतः ते नेत्रे बर्हायिते मयुरपिच्छनेत्रतुल्ये। नृणां यौ पादौ हरेः क्षेत्राणि नानुव्रजतः नानुगच्छतः तौ पादौ द्रुमजन्मभाजौ वृक्षमूलसदृशौ।।२२।।

यस्तु मर्त्यः भागवताङ्घ्रिरेणुं भगवद्भक्तपादधूलिं जातु कदाचिदपि नाभिलभेत न धारयेत् सः जीवन्नपि शवो मृततुल्यः। किञ्च यस्तु जनो श्रीविष्णुपद्याः श्रीहरिपादगतायाः तुलस्याः गन्धं सुगन्धं न वेद सानन्दं न जिघ्रति सोऽपि श्वसन् श्वासक्रियां कुर्वन्नपि शव एव।।२३।।

गृह्यमाणैः स्वमन्येन वा कीर्त्यमानैः हरिनामधेयैः हरिनामभिः यत् हृदयं न विक्रियेत सन्तोषादिविकारं न प्राप्नुयात् , अथ मुखे विकारः न दृश्यते नेत्रे जलं आनन्दाश्रु न प्रभवति। गात्ररुहेषु हर्षः रोमञ्चता च न भवति तदिदं हृदयं अश्मसारं पाषाणकाठिन्यसहितं पाषाणतुल्यमिति भावः। बतेति आश्चर्ये।।२४।।

अङ्ग! हे राजन् ! भागवतप्रधानः त्वं मनोऽनुकूलं मनसो हितं प्रभाषसे। अतः अथ आत्मविद्याविशारदः ब्रह्मविद्यानिपुणो वैयासकिः शुकः साधु परीक्षिता पृष्टस्सन् नृपतिं तं परीक्षितं प्रति यदाह तदभिधेहि कथय ।।२५।।

इति श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां
व्याख्यायां तृतीयोऽध्यायः।।३।।

**000O000**

# चतुर्थोऽध्यायः

**सूत उवाच**

**वैयासकेरिति वचस्तत्त्वनिश्चयमात्मनः।**
**उपधार्य मतिं कृष्णे औत्तरेयः सतीं व्यधात्।।१।।**

**आत्मजायासुतागारपशुद्रविणबन्धुषु।**
**राज्ये चाविकले नित्यं विरूढां ममतां जहौ।।२।।**

**पप्रच्छ चेममेवार्थं यन्मां पृच्छथ सत्तमाः।**
**कृष्णानुभावश्रवणे श्रद्दधानो महामनाः।।३।।**

**संस्थां विज्ञाय संन्यस्य कर्म त्रैवर्गिकं च यत्।**
**वासुदेवे भगवति आत्मभावं दृढं गतः।।४।।**

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तुर्ये परीक्षिता पृष्टं सृष्ट्यादि हरिचेष्टितम्। शुकेन ब्रह्मतत्पुत्रसंवादेनोपवर्ण्यते।।

राज्ञः प्रश्नं कथयितुं तस्य प्राक्तनीं स्थितिमाह - **वैयासकेः** इति चतुर्भिः। वैयासकेः शुकस्य इति एवंभूतमात्मनः तत्त्वस्य निश्चयो यस्मात् तद्वचः उपधार्य आकलय्य सतीं श्रेष्ठां मतिं कृष्ण एव सेव्यो नान्य इत्येवम्भूताम्।।१।।

**आत्मेति**। आत्मा देहः। पशवो गजादयः। अविकले वैरिभिः अनुपद्रुते राज्ये च।।२।।

**पप्रच्छ** इति। इममेवार्थं हरिलीलालक्षणम्।।३।।

**संस्थाम्** इति। संस्थां मृत्युं विज्ञाय। त्रैवर्गिकं धर्मार्थकामप्रधानम्। संन्यस्य त्यक्त्वा आत्मभावं परं परप्रेम्णा भगवदात्मत्वं गतः प्राप्तस्सन् पप्रच्छ।।४।।

---

1. B.C.H.M.Ma.V.W. नि" 2. H.V. "त 3. M.Ma.W. "यशः 4. AF.GF. विन्य" 5. H.V. ह्मा"; M.Ma.W. स्वा" 6. H.V.W. परं 7. H.V. Omit चतुर्थे: वैयासके: शुकस्य 8. B. Omits भूतं 9. A. Omits श्रेष्ठां; B. शुद्धां 10. A.B. Omit मतिं 11. A.B. Omit अविकले.....च 12. B.H.V. Omit विज्ञाय 13. A.B. Omit परं 14. B.H.V. परम" 15. H.V. "त्मकत्वं

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवमापृष्टः सूतो राज्ञः प्रश्नं कथयितुं तस्य प्राक्तनीं स्थितिमाह- **वैयासकेः** इति। वैयासकेः श्रीशुकस्य आत्मनः तत्त्वनिश्चयं यथावस्थितस्वरूपनिश्चायकं वचः इत्युक्तप्रकारेण उपधार्य श्रुत्वा औत्तरेयः उत्तरापुत्रः राजा श्रीकृष्णे सतीं मतिं व्यधात् अकरोत्।।१।।

किञ्च आत्मा देहः अंगारं[1], द्रविणं धनम्, आत्मादिषु अविकले निरुपद्रवे राज्ये च निरूढां नित्यरूढां ममतां स्वत्वाभिमतिं[2] तत्याज।।२।।

हे सत्तमाः! शौनकादयः! इममेव हरिकथालक्षणमेवार्थं पप्रच्छ मां प्रति यत्पृच्छथ यूयं कथम्भूतः पप्रच्छ श्रीकृष्णानुभावश्रवणे श्रीकृष्णलीलाश्रवणे[3] श्रद्दधानः अत एव महायशाः।।३।।

संस्थां मृत्युं विज्ञाय ज्ञात्वा त्रैवर्गिकं धर्मर्थकामसाधनं कर्म सन्न्यस्य त्यक्त्वा भगवति वासुदेवे स्वात्मभाव्रं स्वस्यात्मत्वं मम आत्मा वासुदेव इति बुद्धिविशेषं परं दृढं गतः प्राप्तः[4] इत्यर्थः। एवंविधः परीक्षित्[5] पप्रच्छ इति पूर्वेणान्वयः।।४।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

सङ्क्षेपतः श्रुतहरिचरितत्वात् तस्मिन्नेव अवहितान्तःकरणस्य परीक्षितो भक्त्यतिशयात् पुनर्विशेषतः श्रोतुकामस्य हरिसङ्गनलीलाविलासविषयप्रश्नप्रकारः श्रीशुकाचार्यस्य गुरुदेवतानमस्कार-पुरस्सरं तत्प्रश्न - प्रतिवचनप्रतिज्ञाप्रकारश्च अस्मिन्नध्याये प्रतिपाद्यते। तत्र प्रथमतः शुकोपदेशात् तस्य प्रवृत्तविज्ञानविरक्ती अनुवदति **वैयासकेः** इति। आत्मनः सर्वगुणपूर्णस्य हरेः तत्त्वस्य निश्चयो येन तत् तथा उपधार्य हृदि निधाय सतीं मतिं भक्तिपरिप्लुताम्।।१।।

आत्मजायाराज्यादिचिन्तामलकलिलान्तःकरणस्य तस्य कृष्णे सन्मतिविधानं कथमत्राऽह- **आत्मेति**। स औत्तरेयः आत्मजायादौ अन्येषां नित्यं निरूढां ममतां जहौ इत्यन्वयः। हरेः सर्वस्वातन्त्र्यादिज्ञानविधुराणामहंममेति नित्यनिरूढामनेन नित्यं तद्विदुषा पुरैव त्यक्तामपि तदा विशेषतः त्यक्तवान् इत्यस्मिन्नर्थे चशब्दः। आत्मा देहः "स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ तथा सुहृत्। सप्तैतानि समस्तानि लोकेऽस्मिन् राज्यमुच्यते" * इति मनुवचनात् अविकले सप्तप्रकृतिपूर्णे।।२।।

---

1. A.B. Omit अगारं 2. A. B. अहं ममत्वा' 3. W. Omits श्रीकृष्णलीलाश्रवणे 4. W. Omit प्राप्तः 5. W. Omits परीक्षित्

* मुद्रितमनुस्मृतिपाठस्तु - स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा। सप्त प्रकृतयोह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते।। (मनु.स्मृ.9-294)

किमन्यत् पृष्टवान् इति प्रश्नं परिहरति **पप्रच्छेति**।।३।।

संस्थां मरणं यत् त्रैवर्गिकं धर्मार्थकामसाधनं यत्कर्म तच्च स्वस्यात्मा स्वामीति भावं भक्तिं गतः एवमधिकारसामग्रीमान् राजा यमर्थं यूयं मां पृच्छथ इममेवार्थं परिपप्रच्छ, शुकमिति शेषः।।४।।

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

इत्येवम्भूतं आत्मनः तत्त्वनिश्चयं तत्त्वनिश्चयदायकं वैयासकेः शुकस्य वचः उपधार्य श्रुत्वा औत्तरेयः उत्तरापुत्रः परीक्षित् कृष्णे सर्ती निर्मलां मतिं व्यधात् विशेषेणाकरोत्।।१।।

किञ्च आत्मजायासुतागारपशुद्रविणबन्धुषु आत्माऽत्र देहार्थकः तथा च देहादिषु अविकले निरुपद्रवे राज्ये नित्यं निरूढां दृढं लग्नां ममतां स्वीयत्वबुद्धिं जहौ त्यक्तवान्।।२।।

हे सत्तमाः! शौनकादिमुनयः! कृष्णानुभावश्रवणे कृष्णमहिमाकर्णने श्रद्दधानः श्रद्धावान् महामनाः परीक्षित् संस्थां मृत्युं विज्ञाय त्रैवर्गिकं धर्मार्थकामसम्बन्धि यत् कर्म वर्तते तत् सन्यस्य भगवति वासुदेवे परं दृढं आत्मभावमात्मत्वं वासुदेवात्मत्वं गतस्सन् यत् मां यूयं पृच्छथ पृष्टवन्तः तमिममेवार्थं पप्रच्छ शुकं पृष्टवान्।।३,४।।

**राजोवाच**

**समीचीनं वचो ब्रह्मन्। सर्वज्ञस्य तवानघ!**
**तमो विशीर्यते मह्यं हरेः कथयतः कथाम्।।५।।**

**भूय एव विवित्सामि भगवानात्ममायया *।**
**यथेदं सृजते विश्वं दुर्विभाव्यमधीश्वरैः।।६।।**

**यथा गोपयति विभुर्यथा संयच्छते पुनः।**
**यां यां शक्तिमुपाश्रित्य पुरुशक्तिः परः पुमान्।**
**आत्मानं क्रीडयन् क्रीडन्-करोति विकरोति च।।७।।**

---

. H.M.Ma.V.W. "थाः * H.V. add (यथाऽवतीर्णो भगवान् परिरक्षति सत्पथम्।) 2. W. "हि" 3. B. "व्यं मुनी" 4. C. विश्वं य"

**नूनं भगवतो ब्रह्मन्! हरेरद्भुतकर्मणः।**
**दुर्विभाव्यमिवाभाति कविभिश्चापि चेष्टितम्।।८।।**

**श्रीध० समीचीनम्** इति। मह्यं मम तमः अज्ञानं विशीर्यते नश्यति तव कथयतः सतः अतः समीचीनम्।।५।।

**भूय** इति। पुनश्च विवित्सामि वेदितुमिच्छामि। इदं दुर्विभाव्यम् अवितर्क्यं विश्वं यथा सृजते।।६।।

**यथा** इति। गोपयति पालयति। संयच्छते संहरते। पुरुशक्तिर्बहुशक्तिमान्। क्रीडन् यथा करोति आत्मानं ब्रह्मादिरूपिणं क्रीडयन् विकरोति विविधं करोति।।७,८।।

**वीर०** स्वबुभुत्सितमवतारयितुं मुनिवचोऽभिनन्दति राजा **समीचीनमिति**। हे ब्रह्मन्! अनघ! मह्यं हरेः कथाः कथयतः सर्वज्ञस्य तव वचः समीचीनं यतः तमः अज्ञानं विशीर्यते नश्यति।।५।।

बुभुत्सितं पृच्छति - **भूय** इति। भूयः पुनः विवित्सामि वेदितुमिच्छामि। अधीश्वरैः ब्रह्मादिभिः दुर्विभाव्यम् अप्रतर्क्यं इदं विश्वं यथा सृजति।।६।।

यथा गोपायति रक्षति यथा पुनः संयच्छते संहरति पुरुशक्तिः अनन्तशक्तिः परः पुमान् परमपुरुषः यां यां ब्रह्मादिररूपां शक्तिं शरीरं उपाश्रित्य अधिष्ठाय आत्मानं ब्रह्मरुद्रादिरूपिणं स्वात्मानं क्रीडयन् सृष्ट्यादिव्यापारविशेषाभिनिविष्टं कुर्वन् स्वयं क्रीडन् स्थित्यादिव्यापारं कुर्वन् करोति स्वयमेव तत्तदन्तरात्मतया सृष्ट्यादिव्यापारं करोति। विकरोति तत्तदन्तरतया विरुद्धं करोति। इयं जगद्व्यापाररूपा क्रिडा स्वातन्त्र्यमूला न तु बालादीनामिव कर्ममूला इत्यभिप्रायः।।७।।

उपसंहरति हे भगवन्! अद्भुतकर्मणः विस्मयनीयव्यापारस्य हरेः। विचेष्टितं कविभिः ज्ञानाधिकैः अपि दुर्विभाव्यम् अप्रतर्क्यमिव आभाति प्रतीयते।।८।।

**विज०** स्वाभीष्टं प्रष्टुं शुकवचनं स्तौति **समीचीनम्** इति। यदिष्टसाधनावबोधकं तत्प्रतिबन्धनिवर्तकं च तदेव वचनं समीचीनं दृष्टम् एतत्कथम्? अत्राऽह - तम इति। मह्यं मम तमः आन्तरमज्ञानं

---

1. W. "ह्म वि" 2. H.V. Omit विशीर्यते 3. A.B. Omit विवित्सामि 4. A.B. "ति 5. H.V. "ति 6. H.V. "रनन्त" 7. W. "मुपपाद" 8. W. "चनमभि" 9. W. Omits राजा 10. W. "त्सन् 11. A.B. "ति 12. A.B. "पेण 13. A.B. Omit तत्तदन्तरतया

विशीर्यते इत्यनेन समूलभूतमुच्छिद्यते इत्युक्तं भवति। मह्यं इत्यनेन स्वेष्टसाधनं ज्ञानं च येन दीयते इति सूचितं भवति। हेतुर्वाऽनेनोच्यते मह्यं तमः विशीर्यते इति येन तस्मात् समीचीनमिति।।५।।

आत्ममायया स्वेच्छया स्वनियतया प्रकृत्या च अन्यैः दुर्विभाव्यं दुरुत्पाद्यमिदं विश्वं यथा येन प्रकारेण सृजते।।६।।

येन प्रकारेण गोपायति रक्षति पुनः येन प्रकारेण संयच्छते संहरति तं प्रकारं भूयः पुनरपि विवित्सामि ज्ञातुमिच्छामि। पुरुशक्तिः अनन्तशक्तिः परः पुमान्।।७।।

आत्मानं जीवं संसारे क्रीडयन् अवतारैश्च क्रीडन् यां यां शक्तिमुपाश्रित्य विश्वस्य यदपेक्षितं तत्सर्वं सामान्यतः विशेषतश्च करोति तदपि विवित्सामीति चशब्देन "निर्विकारः सदा शुद्धः" इति वाक्यं प्रमाणयति। भगवच्चेष्टाविषयस्य ज्ञानस्य वक्ता ज्ञानिष्वपि दुर्लभ इति भावेनाह नूनमिति। अज्ञैः दुर्विज्ञेयमिति किं वक्तव्यं इत्यस्मिन्नर्थे चशब्दः।।८।।

**रा०कृ०** हे! अनघ! ब्रह्मन्! सर्वज्ञस्य मह्यं हरेः कथाः कथयतः तव वचः समीचीनं युक्तं, कुत इति चेत् भवद्वचनश्रवणेन मम तमः अज्ञानं विशीर्यते विनश्यति।

परीक्षित् परमात्मतत्त्वनिश्चयकं शुकवचनमाकर्ण्य सर्वान्तर्यामिणि श्रीकृष्णे रागद्वेषादिमलविरहितां बुद्धिं कृत्वा देहादिषु ममतां परित्यक्तवान्। तथा च सर्वान्तर्यामिस्मृतिव्यवधापिकायाः देहादिममताया एव मृत्युरूपत्वात् तन्ममतापरित्यागेन मृत्युतत्त्वमपि विज्ञाय एतद्विज्ञाननिदानभूतकृष्णानुसन्धाननैरन्तर्यं सिषाधयिषुः स राजा देहादिममताभिवर्धकं त्रैवर्गिकं कर्म वासुदेवे भगवति सन्न्यस्य भगवदात्मनाऽवस्थितो जीवन्मुक्तोऽभवत्। तथाहि - आत्मनः सर्वान्तर्यामितयाऽवस्थितिरेव मुक्तिः।।५।।

अधीश्वरैः ब्रह्मादिभिरपि दुर्विभाव्यं साकल्येन ज्ञातुमशक्यं इदं विश्वं भगवान् विभुः आत्ममायया यथा सृजते यथा गोपायति रक्षति पुनः यथा संयच्छते संहरति। किञ्च पुरुशक्तिः अनन्तशक्तिः परः पुमान् सः परमपुरुषः यां यां शक्तिमुपाश्रित्य क्रीडन् आत्मानं करोति ब्रह्मादिरुपिणं विदधाति ब्रह्मादिरूपिणं चात्मानं क्रीडयन् विकरोति विविधं रामकृष्णादिरूपिणं करोति तत्सर्वं भूय एव विवित्सामि वेदितुमिच्छामि।।६,७।।

हे ब्रह्मन्! नूनं निश्चयेन अद्भुतकर्मणः आश्चर्यकरव्यापारस्य भगवतो हरेः चेष्टितं कविभिश्चापि चिद्वद्भिरपि दुर्विभाव्यमिव दुर्ज्ञेयमिव आभाति प्रतीयते।।८।।

**यथा गुणांस्तु प्रकृतेर्युगपत्क्रमशोऽपि वा।**
**बिभर्ति भूरिशस्त्वेकः कुर्वन् कर्माणि जन्मभिः।।९।।**

**विचिकित्सितमेतन्मे ब्रवीतु भगवान् यथा।**
**शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परस्मिंश्च भवान् खलु।।१०।।**

**सूत उवाच**

**इत्युपामन्त्रितो राज्ञा गुणानुकथने हरेः।**
**हृषीकेशमनुस्मृत्य प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे।।११।।**

**श्रीशुक उवाच**

**नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे सदुद्भवस्थाननिरोधलीलया।**
**गृहीतशक्तित्रितयाय देहिनामन्तर्भवायानुपलक्ष्यवर्त्मने।।१२।।**

**श्रीध० यथा** इति। एकः पुरुषरूपेण युगपत् जन्मभिः ब्रह्माद्यवतारैः क्रमशो वा यथा प्रकृतेः गुणान् गृह्णाति।।९।।

**विचिकित्सितम्** इति। विचिकित्सितं सन्दिग्धम्। शाब्दे ब्रह्मणि विचारेण निष्णातः नितरां स्नातः परस्मिन्नुभवेन।।१०।।

**इति** इति। राज्ञा उपामन्त्रितः प्रार्थितः। प्रचक्रमे देवतागुरुनमस्कारादिरूपं उपक्रमं कृतवान् इत्यर्थः।।११।।

तदेवाह त्रयोदशभिः **नम** इति। परस्मै सर्वोत्तमाय। तत्र हेतुः भूयसे अपरिमितमहिम्ने तद्दर्शयति।[10]सतः प्रपञ्चस्य उद्भवादिषु निमित्तभूतौ या लीला तया गृहितं ब्रह्मादिरूपेण रजआदिशक्तित्रितयं येन तस्मै। अन्तर्भवाय अन्तर्यामिणे अत एव सर्वान्तर्गतत्वादनुपलक्ष्य वर्त्म यस्य तस्मै।।१२।।

**वीर०** अन्यदपि पृच्छति - **यथा** इति। स्वयमेकः जन्मभिः अवतारैः भूरिशः कर्माणि चेष्टितानि

1. B. त 2. M.Ma. शब्द; W. शाब्द 3. M.Ma. विधो: 4. W. प्रवक्तुमुप 5. M.Ma. °ध्वं 6. H.M.Ma.V.W. °ध्य 7. A.B. Omit नितरां स्नातः 8. A.B. Omit राज्ञा 9. H.V. Omit गुरु 10. H.V. add अ 11. B. °ती 12. H.V. °तया लीलया गृ 13. A.B. °रत्वा 14. H.V. °ध्यवर्त्मने अनुपलभ्यं ज्ञातुमशक्यं वर्त्म स्वरूपं यस्य तस्मै।।१२।। 15. A. Omits तस्मै

कुर्वन् प्रकृतेः गुणान् सत्त्वादीन् युगपत् अपि वा क्रमशः यथा बिभर्ति अत्र यथा सृजतीति निमित्तोपादानाधिकरणानां प्रश्नः। यथा गोपायति इत्यनेन रक्षितुः स्वस्य किं सृष्ट्यादाविव रक्षणेऽपि जीवान्तर्यामित्वेन, उत स्वावतारेणैव रक्षणमिति प्रश्नः। यथा संयच्छते इत्यनेन संयमाधिकरणप्रश्नः। नारदीयानां प्रश्नानां तथैव[1] अवतरिष्यमाणत्वात्। यथा गुणांस्तु इत्यनेन भगवदवतारस्य गुणत्रयात्मकत्वं अथवा त्रयाणामेव अन्यतमगुणात्मकत्वं अथवा अप्राकृतत्वमेवेति प्रश्नः। अत्र यद्यपि न तृतीयपक्षः प्रश्नारूढः तथाऽपि प्रष्टुः अभिप्रेतः तस्यैव सिद्धान्तकोटित्वात्।।९।।

एतत्पूर्वोक्तं मे मम विचिकित्सितं विचारयितुमिष्टं भगवान् भवान् यथा[2] यथावत् ब्रवीतु कथयतु[3]। त्वमेव कथयितुं समर्थ इत्याह शाब्दे[4]ति। शब्दे ब्रह्मणि शब्दात्मके ब्रह्मणि निष्णातः परिनिष्ठितः कृत्स्नशास्त्रार्थवित्। परस्मिंश्च ब्रह्मणि निष्णातः खलु इत्यन्वयः। अनेन परब्रह्मविषययोगजन्यज्ञानसम्पत्तिरुक्ता।।१०।।

हरेः गुणानुकथने इत्युक्तप्रकारेण राज्ञा[6] उपामन्त्रितः प्रार्थितः हृषीकेशं भगवन्तं सर्वेन्द्रियनियन्तारं अनुस्मृत्य प्रवक्तुं देवतागुरुनमस्कारादिरूपं उपक्रमं कृतवान्।।११।।

तदेवाऽह त्रयोदशभिः[7] **नम** इति। परस्मै प्रकृतिपुरुषविलक्षणाय पुरुषाय[8]। तत्र हेतुः भूयसे स्वरूपतो गुणतश्च अन्तर्बहिश्च व्याप्य वर्तमानाय। तदेव दर्शयति - सतः प्रपञ्चस्य उद्भवः उत्पत्तिः, स्थानं पालनं, निरोधः संहारः, त एव लीला तया गृहीतशक्तित्रितयाय गृहीतहिरण्यगर्भस्वावतारशङ्करूपशक्तित्रितयं येन तस्मै। अनेन वैलक्षण्यमुक्तं भूयस्त्वमाह अन्तर्भवाय अन्तरात्मने अनेन सर्वस्य स्वव्याप्यत्वात्[9] तदपेक्षया स्वस्य व्यापकत्वमुक्तम्। अनुपलभ्यं वर्त्म यस्य तस्मै, वर्त्मशब्दः गन्तव्यमार्गपरोऽपि अत्र उपासनारूपज्ञानविषयीभूतभगवत्स्वरूप[10]परूपादिपरः उपचारात्। अनेन प्राकृतकरणागोचरत्वमुक्तं इदमपि वैलक्षण्य[11]पादकम्।।१२।।

**विज०** अथाप्येकः प्रश्नोऽस्तीत्याह - **यथा** इति। एको हरिः जन्मभिः वासुदेवाद्यवतारैः भूरिशः सृष्ट्यादिकर्माणि कुर्वन् प्रकृतेः सत्वादिगुणान् बिभ्रत् यथाकथं बिभर्ति युगपत् क्रमशः क्रमेण वा इति। तुशब्देन गुणानां विरुद्धस्वभावत्वेन युगपद्ग्रहणे अनुपपत्तिं सूचयति। अपिपदेन क्रमशो ग्रहणं सम्भावितमिति।।९।।

---

1. A.B. Omit "त्रै" 2. A.B. Omit यथा 3. A.B. Omit कथयतु 4. A.B. Omit शाब्देति 5. W. Omits पर 6. A.B. Omit राज्ञा 7. W. Omits त्रयोदशभिः 8. W. Omits पुरुषाय 9. W. Omits स्व 10. W. Omits रूप 11. W. "ण्य सम्पा"

न केवलं विवित्सामि किन्तु वक्तव्यमिति प्रार्थये इत्याह - **विचिकित्सितम्** इति। यथावत् एतद्वक्तुं तव पाण्डित्यं च अस्ति इत्याशयेनाऽह शब्देति। अनेन अलौकिकमपि वस्तु यथा बोद्धुं शक्यं तथा वक्ता बोधयितुं त्वं समर्थ इत्युक्तं भवति।।१०।।

परिक्षित्पृष्टः किं चकार इति सूतः शौनकस्य हार्दशङ्कां परिहरति - **इति** इति। इतिशब्दः प्रकारवचनः। हृषीकेशमित्यनेन मुख्यतो वागादीन्द्रियशक्त्युद्बोधकत्वं हरेः इत्यभिप्रैति। प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे, प्रारब्धवान्, भागवतसंहितामिति शेषः।।११।।

परिक्षित्प्रश्नोत्तररूपत्वेन भातगवतपुराणं वक्तुकामः शुकः शिष्टाचारं परिपालयन् स्वेष्टदेवतां प्रणमति, **नमः** परस्मै, इत्यारभ्य, '**नमस्तस्मै**', इत्यन्तैः श्लोकैः। भूयस्त्वमुपपादयति सदित्यादिना। सतः सत्यस्य जगत उद्भवः उत्पत्तिः, स्थानं पालनरूपस्थितिः, निरोधो लयः एतन्निमित्तं लीलया गृहीतं शक्तीनां इच्छाज्ञानक्रियाख्यानां त्रितयं येन स तथोक्तः तस्मै, "इच्छा ज्ञानं क्रिया चेति नित्या शक्तय ईशितुः" (प्रकाशसंहितायाम्) इति वचनात् नित्येति पदमध्याहार्यं, नित्यं गृहीतशक्तित्रितयाय इत्यर्थः। वेदादिरेवात्र प्रमाणं न प्रत्यक्षमिति भावेनाऽह - देहिनामिति। देहिनां जीवानां चक्षुरादिना अनुपलभ्य-वर्त्मने दुर्ज्ञेयमार्गाय दूरस्थत्वादिति नेत्याह - अन्तर्ध्रुवायेति। अन्तर्यामित्वेन सततमन्तःस्थिताय "यो वै भूमा तत्सुखम्" (छान्दो.उ.7-23-1) "द्वाविमौ पुरुषौ लोके" (भ.गी.15-16) इत्यादिवाक्यमत्र प्रमाणम्।।१२।।

**रा०कृ०** स्वयं तु एको भगवान् जन्मभिः अवतारैः भूरिशः बहुशः कर्माणि लीलाः कुर्वन् प्रकृतेः गुणान् युगपद्वा क्रमशोऽपि वा यथा बिभर्ति तदेतत् प्रागुक्तं विचिकित्सितं सन्दिग्धं सर्वमपि मे मह्यं भगवान् यथा यथावत् ब्रवीतु। तथाहि भवान् शब्दे वेदात्मके ब्रह्मणि परस्मिन् ब्रह्मणि च निष्णातः विचारणया शाब्दब्रह्मणि अनुभवेन परब्रह्मणि च भवान् कोविद इति भावः।।९,१०।।

इति उक्तरीत्या राज्ञा परीक्षिता हरेः गुणानुकथने उपामन्त्रितः प्रार्थितः, शुक इति शेषः। हृषीकेशं हृषीकाणां इन्द्रियाणां ईशं नियन्तारं अनुस्मृत्य मनसि ध्यात्वा प्रतिवक्तुं समाधातुं प्रचक्रमे प्रारेभे। अत्र 'हृषीकेशमनुस्मृत्य' इति कथनात् सर्वेन्द्रियनियन्ता भगवानेव स्वयं स्ववचसि स्थितः समाधानं दास्यतीति शुकाभिप्रायो व्यज्यते।।११।।

भूयसे अनन्तमहिमोपेताय सदुद्भवस्थाननिरोधलीलया सतः प्रपञ्चस्य सृष्टिस्थितिलयरूपया लीलया निमित्तभूतया गृहीतशक्तित्रितयाय गृहीतब्रह्मविष्णुरुद्ररूपेण रजस्सत्त्वतमोरूपं शक्तित्रितयं येन

तथाभूताय देहिनां प्राणिनां अन्तर्भवाय अन्तर्यामिणे अनुपलभ्यवर्त्मने अज्ञेयमार्गाय परस्मै पुरुषाय परमपुरुषाय नमः।।१२।।

**भूयो नमः सद्वृजिनच्छिदेऽसतामसम्भवायाखिलसत्त्वमूर्तये।**
**पुंसां पुनः पारमहंस्य आश्रमे व्यवस्थितानामनुमृग्यदाशुषे।।१३।।**

**नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्।**
**निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः।।१४।।**

**यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।**
**लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः।।१५।।**

**विचक्षणा यच्चरणोपसादनात् सङ्गं व्युदस्योभयतोऽन्तरात्मनः।**
**विन्दन्ति हि ब्रह्मगतिं गतक्लमास्तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः।।१६।।**

**श्रीध०** विचित्रफलदातृत्वं अनुस्मरन् प्रणमति - **भूय** इति। भूयः पुनश्च नमः सतां धर्मवर्तिनां वृजिनच्छिदे दुःखहन्त्रे। असतां अधर्मशीलनां असम्भवाय अनुद्भवहेतवे। अखिलसत्त्वमूर्तये तत्तद्देवतादिरूपेण तत्तत्फलदात्रे इत्यर्थः। समग्रसत्त्वमूर्तये इति वा। पुनरिति पूर्वोक्तोभयवैलक्षण्यमाह। पारमहंस्ये प्रत्यङ्निष्ठारूपे आश्रमे व्यवस्थितानां पुंसां अनुमृग्यमतन्निरसनेन पुनः पुनः मृग्यं यदात्मतत्त्वं तस्य दाशुषे दात्रे। दाशृ दाने इति धातुः।।१३।।

**नम** इति। सात्वतां भक्तानां ऋषभाय पालकाय। कुयोगिनां भक्तिहीनानां विदूरा काष्ठा दिगपि यस्य दुर्ज्ञेयायेत्यर्थः। तदेवं वैषम्यप्रतीतावपि निर्दोषत्वादचिन्त्यैश्वर्यमाह। निरस्तं साम्यमतिशयश्च यस्य, यदपेक्षया अन्यस्य साम्यमतिशयश्च नास्ति तेन राधसा ऐश्वर्येण स्वधामनि स्वस्वरूपे ब्रह्मणि रममाणाय।।१४।।

सर्वसाधनेभ्यो भक्तेः श्रेष्ठ्यमनुस्मरन् प्रणमति - **यत्कीर्तनम्** इति द्वाभ्याम्। अर्हणं पूजनम्। श्रूयते सर्वैः इति श्रवः। सुभद्रं सुमङ्गलं श्रवो यशो यस्य तस्मै।।१५।।

---

1. G.H. 'ं' 2. H.V. उत्पत्तिविनाशकाय 3. B. 'वादिरू'; H.V. 'वतारू' 4. B. 'च; H.V. 'भिने 5. B. 'भेवाऽह 6. B.H.V. Omit दाशु.....धातुः 7. B. दुर्विज्ञे' 8. A.B. 'याचिन्त्यमे' 9. A.B. Omit श्रूयते.....श्रवः 10. A. Omits सु

**विचक्षणा** इति। विचक्षणा विवेकिनो यस्य चरणयोः उपसादनात् उपसत्तेर्भजनात्। अन्तरात्मनो मनसः उभयतः इह च परत्र च सङ्गं व्युदस्य निरस्य गतक्लमाः प्रयासरहिताः।।१६।।

**वीर०** अनुपलभ्यवर्त्मत्वे अनुपास्यत्वं स्यादित्यत आह - **भूयो नम** इति। सद्दुजिनच्छिदे सतां पापच्छिदे असतां दुष्कृतां असम्भवाय विनाशाय। अखिलसत्त्वमूर्त्तये अखिलं पूर्णं सत्त्वमेव मूर्तिः यस्य तस्मै उपात्तपूर्णसत्त्वदेहाय इत्यर्थः। स्वतोऽनिन्द्रियत्वेऽपि सौलभ्यातिशयेन साधुपरित्राणाय दुष्कृद्विनाशादि कुर्वन् अखिलमनुजनयनविषयतां रामकृष्णादिरूपेण [3]गताय इत्यर्थः प्रकृतिपुरुषविलक्षणत्वात् सर्वजगत्कारणत्वाद्वा [4]सत्त्वादिगुणवत्वाच्च मुमुक्षूपास्यत्वं मोक्षप्रदत्वं चाऽह पारमहंस्ये परमहंसानां सम्बन्धिनि [6]आश्रमे चतुर्थाश्रम इत्यर्थः। तस्मिन् व्यवस्थितानां इदं मुमुक्षुमात्रोपलक्षणं परमहंसानां प्रायेण मुमुक्षुत्वात् तदाश्रमनिर्देशः। ब्रह्मविद्याङ्गत्वेन तत्तत्स्वाश्रमप्रयुक्तधर्मानुष्ठानपराणां अनुमृग्यदाशुषे अनुमृग्यो लब्धुमिष्टोऽर्थः। तस्य दाशुषे दानशीलाय [9]एवम्भूताय भूयो नम इति।।।१३।।

सौलभ्यविशिष्टमेव नमस्करोति **नम** इति। सात्वतां यदूनामृषभाय श्रेष्ठायाऽश्रितवात्सल्यातिरेकात् सात्वतश्रेष्ठत्वेन अवतीर्णाय इत्यर्थः। एवम्भूतोऽपि दुर्योगिनां दुर्लभ एवेत्याह विदूरकाष्ठायेति। कुयोगिनां कुत्सितयोगिनां भगवद्भक्तिरहितयोगनिष्ठानां विदूरकाष्ठाय विदूरा[11] दूरतरा काष्ठा दिक् यस्य तस्मै दुर्योगिभिः यस्य दिगपि दुर्ज्ञेया तथाविधायेत्यर्थः। तदेवं वैषम्यप्रतीतावपि निर्दोषत्वाय अचिन्त्यैश्वर्यमाह निरस्य इति। स्वराधसा स्वतेजसा निरस्तं साम्यमतिशयश्च यस्य तेन तेजसा उपलक्षिते स्वधामनि "स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः" (छान्दो.उ.7-24-1) इति श्रुत्युक्तरीत्या स्वप्रतिष्ठिते[12] स्वयंज्योतिषि [13]ब्रह्मणि स्वस्मिन् रंस्यते रममाणाय ते तुभ्यं नमो नमोऽस्तु [14]तत्तद्गुणविशिष्टाकारोद्देशेन नमस्कृतेः पौनःपुन्यं निस्समाभ्यधिकस्वकीयतेजसा उपलक्षिते स्वस्मिन्नेव रममाणस्य न किञ्चिदपि वैषम्येण प्रयोजनमिति। न हि कल्पद्रुमस्य भजतां अभीष्टान् ददतो वैषम्य[15]मस्तीति वक्तुं युक्तम्।।१४।।

यत एव विचित्रैश्वर्यवत्त्वेन वैषम्यत एव तत्कीर्तनस्मरणादेः समस्तदुरितनिवर्तकत्वमित्याह - **यत्कीर्तनम्** इति। ईक्षणं अर्चाविग्रहादिनिरीक्षणं अर्हणं पूजनं [16]यत्कीर्तनादिकं[17] कीर्तनादिनिष्ठस्य [18]लोकस्य [19]कल्मषं दुरितं विधुनोति सद्यो विनाशयति तस्मै सुभद्रश्रवसे सुभद्रं सुमङ्गलं श्रवः कीर्तिः यस्य तस्मै नमः।।१५।।

न केवलं श्रवणादिभिः दुरितनिवृत्तिरेव, कीर्तनादिभिः विशुध्देनाऽत्मना परिपूर्णभक्तियोगं

1. A.H.V. "त्र 2. B. Omits च 3. W. गतः 4. A.B. "द्वात्सल्या" 5. W. "क्षोरुपा" 6. W. Omits आश्रमे 7. W. "यशो 8. W. "क" 9. W. Omits एवं.....इति। 10. W. "योगविधुर" 11. A.B. "रे दूरत एव 12. W. "हे 13. W. वा रंस्य" 14. W. तद्गु" 15. A.B. Omit अस्ति 16. W. Omits यत्कीर्तनादिकं 17. W. adds यत्" 18. A.B. Omit लोकस्य 19. A.B. कल्मलं

ततो ब्रह्म प्राप्नुवन्ति इत्याह - **विचक्षणा** इति। यच्चरणोपसादनात् यच्चरणयोः [1]उपसादनात् उपासत्तेः भजनादित्यर्थः। तस्मात् अन्तरात्मनो मनसः उभयतः इह अमुत्र च सङ्गं व्युदस्य गतक्लमाः निवृत्त-सांसारिकतापत्रयाः ब्रह्मगतिं ब्रह्माख्यां गतिं परमप्राप्यां विन्दन्ति प्राप्नुवन्ति। हीति प्रसिद्धं द्योतयति "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तैत्ति.उ.2-1-1) इति श्रुतिप्रसिद्धेः। तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नम इत्यर्थः।।१६।।

**विज०** सर्वस्मात् नारायणप्रसादसाधनात् भक्तिपूर्वकं पुनः पुनः नमनमेव तत्प्रीतिजनकमिति भावेनाऽह - **भूय** इति। भूयोऽपि परस्मै पुरुषाय नम इत्यन्वयः। यत इष्टावाप्तितत्प्रतिबन्धकनिवृत्ती स्यातां स एव [2]वन्द्यो दृष्टोऽस्य कथमिति तत्राऽह सदिति। सतां नमनादिप्रशस्तकर्मणां पुंसां वृजिनं दुःखकारणं पापं छिनत्ति निर्मूलयतीति सद्वृजिनच्छित् तस्मै। असतां अप्रशस्तकर्मणां असुरादीनां असम्भवाय असत्तापादकाय सुखप्रतिबन्धकजननिर्मूलकाय इत्यर्थः। एतत्करणसामर्थ्यं अस्यास्तीति भावेनाऽह अखिलेति। अखिलसत्त्वमूर्तये पूर्णसाधुभावस्वरूपाय "निश्शेषगुणपूर्णत्वात्सत्त्व इत्येव तं विदुः" (महासंहितायाम्) इति वचनात्, साधुभावो गुण इति ज्ञायते। अनेन समस्तचराचरलक्षणप्राणि-मूर्तये इत्येतन्निरस्तम्। अथापि अस्मादिष्टावाप्तिः कथमवगतेत्यत्राऽह पुंसामिति। परमहंससम्बन्धिन्या-श्रमे व्यवस्थितानां संन्यासधर्मवतां पुंसाम् अनुमृग्यदाशुषे निजानन्दानुभवलक्षणमोक्षदात्रे। दशृ दान इति धातुः। अवधारणवाचिना पुनश्शब्देन अन्ययोगं निवारयति एतेभ्य एवानुमृग्यं ददाति नान्येभ्य इत्यर्थः।।१३।।

ननु अन्यशब्देन सन्न्यासीतरज्ञानिविवक्षायां "तमेव विद्वानमृत" (पु.सू.1-7) इति इदमप्रमाणं स्यात् अज्ञविवक्षायाम् "अज्ञानां ज्ञानदो विष्णुः" इति च। अतः केऽत्र विवक्षिता इति मन्दाशङ्कां परिहरिष्यन् भागवतशास्त्रोक्तविरुद्धयोगापेत इति वक्ति **नमो नम** इति। सात्वतसंहितोक्तविधिना विष्णुमर्चयन्तः सात्वन्तः तेषां सात्वतां ऋषं ज्ञानं भासयति ऋषभः ज्ञानमुद्दीप्य मुक्तिं ददाति इत्यर्थः। तस्मै, "सत्त्वं तु शोभनत्वं स्यात्तद्युक्ताः सात्त्वता मता" इति वचनात् सात्त्वताः शोभनत्ववन्तः। तेषाम् अनुत्पन्नज्ञानानां तद्योगपुण्यवतां ज्ञानं ददातीति ऋषभः तस्मा इति वा। अनेनोक्तं वाक्यद्वयमपि प्रमाणमित्यायातमिति। यः परस्मै पुरुषाय इति प्रक्रान्तः ते तस्मै यद्वा स्वचित्तस्थं सम्बोध्यते तुभ्यं नम इति। एवंविधफलदातृत्वेन तत्स्वामीति वाक्यार्थः। भस भर्त्सनदीप्योरिति धातोः टिलोपेन सलोपः शास्त्रकृत्सितो योग ऐक्यध्यानलक्षणः स एषामस्तीति कुयोगिनः तेषां विदूरे काष्ठापरिपूर्तिः अपरिच्छिन्न-लक्षणा यस्य स तथा तस्मै भगवदधिष्ठित दिङ्मात्रमपि न जानन्तीत्यतो वा विदूरकाष्ठायेति। "*[5]आशास्तु ककुभः काष्ठा" इत्यमरः। स्वतः तृप्तत्वेन स्वप्रयोजनमपेक्ष्य ज्ञानादिदातृत्वमिति भावेनऽह निरस्तेति। निरस्तौ साम्यातिशयौ येन तथोक्तं तेन राधसा संसिद्ध्या स्वधामनि स्वयंप्रकाशे ब्रह्मणि

---

1. A.B. Omit उपसादनात् 2. W. 'न्न 3. A. वेद्यो 4. A. 'णपाशं * मुद्रितामरकोशपाठः - "दिशस्तु ककुभः काष्ठाः आशाश्च हरितश्चताः" 5. Ma दिशस्तु

अनवच्छिन्नचिदानन्दैकरसे रंस्यते रममाणाय सदातनोऽनुभवोऽयमिति शतृप्रत्ययः। लोकविलक्षणेयं रतिरिति द्योतयितुं परस्मैपदप्रयोगः। प्रतिपदं अनुसन्धेयं इति नमसां बहुत्वम्।।१४।।

कीर्तनादिना विधूतकल्मषस्य नमस्क्रिया सम्पद्यत इति भावेनाऽह **यत्कीर्तनम्** इति। सुभद्र-श्रवसे सुमङ्गल्कीर्तये सद्य इत्यनेन भक्तिपूर्वकमिति सूचयति "भद्रोऽप्यस्त्री तु मङ्गल" इति यादवः।।१५।।

वैराग्येण दृढीभूतया भक्त्या भगवच्चरणनिषेवणं ब्रह्मज्ञानसाधनं भवतीति भावेनाऽह - **विचक्षणा** इति। यच्चरणोपसादनात् यच्चरणैकशरणप्राप्तिलक्षणनिषेवणात् अन्तरात्मनोऽन्तःकरणस्य। उभयतः इह अमुत्र विषयेषु सङ्गं स्नेहं व्युदस्य निरस्य ब्रह्मगतिं ब्रह्मज्ञानं तेन मोक्षं च विन्दन्ति। यस्य गुरुरूपस्य हरेश्चरणोपसत्तेः अन्तरात्मनः क्षेत्रज्ञस्य उभयतः सङ्गं स्थूलसूक्ष्मशरीरसङ्गं व्युदस्य अपोह्य ब्रह्मगतिं ब्रह्मस्वरूपं विन्दन्ति अवगच्छन्तीति यन्मतं तद्धेतुवाचिना हिशब्देन निरस्तं यतो भेदः प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धः। अतः अनुपपन्नः ऐक्यवादः।।१६।।

**रा०कृ०** सद्वृजिनच्छिदे सतां दुःखनाशकाय असतां दुष्टानां असम्भवाय न विद्यते यस्मात् सम्भावः तस्मै भवहरायेति भावः। अखिलसत्त्वमूर्तये समस्तप्राणिस्वरूपाय पारमहंस्ये सत्यासत्यात्मा-नात्मविवेकशालिनो योगिनः परमहंसाः तत्सम्बन्धिन्याश्रमे सन्न्यासाश्रमे व्यवस्थितानां पुंसां अनुमृग्य-दाशुषे अनुमृग्यस्य अन्वेषणीयस्वरूपस्य दात्रे परमपुरुषाय भूयो नमः।

सतां हृदयेषु सत्सङ्कल्पात्मना वर्तमानो हरिः तेषां लोपान् दूरीकृत्य पापानि अपाकरोति।।१३।।

सात्वतां यादवानां ऋषभाय श्रेष्ठाय कुयोगिनां भगवद्भक्तिविरहेण विषयाकृष्टचेतसां दुष्टयोगिनां विदूरकाष्ठाय दूरदिग्वर्तिने अनधिगतस्वरूपाय इति यावत् निरस्तसाम्यातिशयेन यदपेक्षया निरस्तौ साम्यातिशयौ तौल्याधिक्ये येन तथाभूतेन रोधसा तेजसा ऐश्वर्येण वा स्वधामनि निजस्वरूपे ब्रह्मणि रंस्यते रममाणाय परमपुरुषाय ते मुहुः पुनः पुनः नमो नमोऽस्तु।।१४।।

यत्कीर्तने यस्य भगवतः कीर्तनं, यत्स्मरणं यस्य स्मरणं, यदीक्षणं यस्येक्षणं, यद्वन्दनं यस्य नमस्कारः, यच्छ्रवणं यस्य श्रवणं, यदर्हणं यस्य पूजनं, लोकस्य कीर्तनादिकर्तुः कल्मषं सद्यो विधुनोति विनाशयति सुभद्रश्रवसे सुमङ्गल्यशसे तस्मै परमपुरुषाय नमो नमः।।१५।।

विचक्षणाः विवेकिनः यच्चरणोपसादनात् यस्य भगवतः चरणयोः शरणागतेः उभयत्र इहामुत्र च अन्तरात्मनः अन्तःकरणस्य सङ्गं भोगाभिलाषं व्युदस्य त्यक्त्वा ततः गतक्लमाः निवृत्तभवतापाः सन्तः ब्रह्मगतिं भगवन्तं विन्दन्ति प्राप्नुवन्ति तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः।

इन्द्रियगोचरो नाम रूपादिमयः स्थूलप्रपञ्चः इहलोकः। प्राप्ताप्राप्तवस्तुविषयकभोगवासनामयः सूक्ष्मप्रपञ्चः परलोकः। सर्वकारणकारणभूते सर्वान्तर्यामिणि सर्वेश्वरे सर्वसमर्पणरूपशरणागत्या अन्तरात्मनः उभयलोकभोगाभिलाषश्च तदीश्वरसमर्पित एव। तथा च दुःखनिमित्तसङ्गराहित्यात् संसारनिवृत्तिः। तया च निरन्तरब्रह्मानन्दानुभवसिद्धिः। ईदृशशरणागत्या संसारिणः प्राणिनोऽपि जीवन्मुक्ता भवन्तु इति सारः।।१६।।

**तपस्विनो दानपरा यशस्विनोमनस्विनो मन्त्रविदः समङ्गलाः।**
**क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः।।१७।।**

**किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का[1] यवनाः खसादयः[2]।**
**येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः[3] शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः।।१८।।**

**स एष आत्माऽऽत्मवतामधीश्वरस्त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमयः।**
**गतव्यलीकैरजशङ्करादिभिर्वितर्क्यलिङ्गो[4] भगवान् प्रसीदताम्[5]।।१९।।**

**श्रियःपतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिः धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः।**
**पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्त्वतां प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः[6]।।२०।।**

**श्रीध०** भक्तिशून्यानां सर्वसाधनवैफल्यं दर्शयन् नमति[7] - **तपस्विन** इति। मनस्विनो योगिनः। सुमङ्गलाः सदाचाराः यस्मिन् तपआद्यर्पणं विना सुभद्रश्रवस इत्यस्यावृत्तिः यशःश्रवणादेः प्राधान्य-ज्ञापनाय ।।१७।।

भक्तेः परमशुद्धिहेतुत्वं दर्शयन्नाह - **किरातेति**। किरातादयो ये पापजातयः अन्ये च ये कर्मतः[8] पापरूपास्ते[9] यदुपाश्रया[10] भागवताः तदाश्रयास्सन्तः शुद्ध्यन्ति। असम्भावनाशङ्कां परिहरति। प्रभविष्णवे प्रभवनशीलाय[11] इति।।१८।।

सर्वोपास्यत्वं अनुस्मरन् प्रार्थयते - **स** इति। स एष अत्मवतां धीराणाम् आत्मा आत्मत्वेन उपास्यः इत्यर्थः। त्रयीमयत्वादिविशेषणैः तत्तन्मार्गेण उपास्यत्वं विवक्षितम्। गतव्यलीकैः निष्कपटैः भक्तैः वितर्क्य अत्याश्चर्येण विवक्षणीयं[12] लिङ्गं मूर्तिः यस्य सः प्रसीदतु।।१९।।

---

1. I. "शुम्भाः 2. H.V.W. कषा"; B.M.Ma. शका" 3. C.H.N.V.W. "दु" 4. AF.GF. "व्यं" 5. H.V. "तु 6. H.V. "ग" 7. H.V. "स्यति 8. H.V. "भिः 9. B.H.V. Omit ते 10. B. "द" 11. H.V. प्रभवितुं शीलं यस्येति 12. A.B. वीक्ष"

सर्वपालकत्वं अनुस्मरन् आह - **श्रिय** इति। [1]गतिश्च सर्वापत्सु रक्षकः।।२०।।

**वीर०** भक्तिशून्यानां सर्वाण्यपि साधनानि निष्फलानि इत्याह - **तपस्विन** इति। तपस्विनः कृच्छ्रचान्द्रायणादितपोनिष्ठाः मनस्विनः मन आदि इन्द्रियनिग्रहपराः मन्त्रविदः मन्त्रजापपराः सुमङ्गलाः सदाचारपराः एते सर्वे तपआदेः यदर्पणं यस्मिन् भगवति समर्पणं यदुपासनाङ्गत्वेन अनुष्ठानं विना इति यावत् क्षेमं तत्तत्तपआदेः परमं फलं न विन्दन्ति न लभन्ते यद्यपि यत्किञ्चित् दुरितनिवृत्त्यादिरूपं फलमाप्नुवन्ति तथापि नाक्षय्यं फलमाप्नुवन्ति भक्तियोगाङ्गत्वेन तपआदि कुर्वाणास्तु निरतिशयं फलं प्राप्नुवन्ति इत्यभिप्रायः। [2]तस्मै नम इत्यन्वयः।।१७।।

किं वक्तव्यं भागवता आत्मानं विशोध्य ब्रह्म प्राप्नुवन्तीति भागवताश्रिता हीनजतीया अपि प्राप्नुवन्तीत्याह - **किरातेति**। किरातादयो हीनजातयः अन्ये च ये पापाः पापजातयः यदुपाश्रयाश्रयाः यं परमपुरुषमुपाश्रिता यदुपाश्रया भागवतास्तदाश्रया भागवताश्रिताः शुद्ध्यन्ति। असम्भावनाशङ्कां परिहरति प्रभविष्णवे प्रभवनशीलाय पूर्वोक्त तपआदीनां फलप्रदाय इत्यर्थः। "अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च" (भ.गी.9-24) इति भगवद्वचनात् सर्वकर्मफलप्रदत्वेन सर्वसाधनानां तत्समर्पणमेव युक्तमिति भावः।।१८।।

एतदेव उपपादयति - **स** इति। स प्रसिद्धः एषः आत्मा परमात्मा आत्मवतां केवल[3]भक्तियोग-निष्ठानां [4]यैः अधीश्वरः योगफलप्रदः त्रयीमयः पूर्वभागोक्तकर्माराध्यः तत्फलद इत्यर्थः। धर्ममयः स्मार्तदानादि धर्माराध्यः तत्फलद इत्यर्थः। तपोमयः उपनिषद्भागोक्तोपासनात्मकज्ञानमयः तज्ज्ञान-प्राचुर्यवेद्यः तत्फल[5]प्रद इत्यर्थः। तत्तद्देव[6]तानां तत्तत्फलदातृत्वश्रवणात् कथं तस्यैव सर्वकर्माराध्यत्वं इत्यत आह। गतव्यलीकैः गतदोषैः अजशङ्करादिभिः ब्रह्मरुद्रादिभिः वितर्क्यलिङ्गः निश्चेतुमशक्यं लिङ्गं लक्षणं चिह्नं यस्य सः। ब्रह्मादयोऽपि यदीय[7]लक्षणानि वितर्कयन्ति तथाभूतः तेषामपि अन्तरात्मत्वेन उपास्य एव। तत्तद्ब्रह्मादिरूपेण फलद इति हृदयम्। एवंविधभगवत्प्रसादं स्वस्य प्रार्थयते भगवानिति। अनेन देवताविशेषश्च विवक्षितः।।१९।।

सर्वपालकत्वं [8]अनुस्मरन् आह - **श्रिय** इति। श्रियः [9]पतिः लक्ष्म्याः पतिः भर्ता इत्यर्थः। यज्ञपतिः वैदिक[10]धर्ममर्यादापालकः प्रजापतिः आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तप्रजापालकः। धियां ध्यानानां उपासनानां पतिः तन्मर्यादापालकः यज्ञपतिः धियां पतिरिति भागद्वयाभिप्रायेण उक्तम्। लोकपतिः समस्तभुवनानां

---

1. B. पतिः 2. A.B. Omit तस्मै.....न्वयः 3. A.B. Omit "भक्ति" 4. A.B. Omit यः 5. A.B. Omit प्र" 6. W. "वानां 7. B."यं लक्षणं वि" 8. A.B. प्रभोः 9. A.B. Omit पतिः 10. A.B. "क"

पालकः। भुवनानां तदन्तर्गतानां च पालनाभिप्रायेण लोकपतिः प्रजापतिः इति च उक्तम्। धरापतिः भूपालकः धरायाः लोकान्तर्गतत्वेऽपि अधर्मबाहुल्यात् पृथगुक्तिः। रामकृष्णादिरूपेण भूलोके अवतीर्य दुष्कृद्विनाशं कुर्वन् विशेषेण मर्यादापालक इत्यर्थः। अवतारप्रयोजनमाह - पतिर्गतिरिति। अन्धकादयो यादवप्रभेदाः तेषां अक्रूरोद्धवादीनां साधूनां च पतिः गतिश्च पालकः प्राप्यश्च। पतिः गतिश्च इति उभयो पादानेन साधुपरित्राणमेव अवतारकृत्यं दुष्कृद्विनाशनं तु आनुषङ्गिकमिति व्यञ्जितम्। न केवलं स्वकुलीनानामेव सतां पतिः, किन्तु अन्येषामपि सताम् इत्याह सतां पतिः। गतिश्च इत्यनुषज्यते एवंविधो भगवान् मे मह्यं प्रसीदतु।।२०।।

**विज०** सुभद्रं श्रवः श्रवणं यस्य स तथा तस्मै।।१७।।

सज्जनसेवाया अपि एतादृशमाहात्म्यं, किमुत भगवत्सेवाया इति भावेन तन्महिमविशिष्टं नमति **किरातेति**। किरातादयो ये अन्ये पापाः ते सर्वे यदपाश्रयाश्रयात् शुध्यन्तीति अन्वयः। यस्मात् अन्यः आश्रयो नास्ति येषां ते यदपाश्रयाः विप्रादयः, तेषामाश्रयात् सेवालक्षणात् शुध्यन्ति विपापा भवन्तीत्यर्थः। शबरात् पर्णशबरीजाताः किराताः? आटविकाः, वैदेहात् पुल्कसीजाताः हूणाः। वैश्यात् ब्राह्मणीजातो वैदेहकः, वैदेहकपुत्रा आन्ध्रा, पुतिम्बा अज्ञातविप्रादिभाषा मधुपायिनः। निष्ठ्यात् किरातीजाताः पुलिन्दाः, व्यभिचाराज्जातः चौरः, तस्मात् जाता वा। शूद्रात् ब्राह्मणीजातः चाण्डालः, तस्माज्जाताः पुल्कसाः। ब्राह्मणाद्वैश्यायां जातः अम्बष्ठः ब्राह्मणात् तस्याम्बष्ठस्य कन्यायां जाता आभीराः, कङ्काः, कर्पराः, नृपाद्वैश्यायां जाता यवनाः, श्मश्रुलाः, शकास्तुरुष्कविशेषाः ढौम्बुकुरुविन्दपूतिम्बपूर्वाः आदिशब्दगृहिताः तथा च अनुक्तैस्सह चतुष्षष्टिजातयः। तथाचोक्तम् "ब्राह्मणस्य त्रयः पुत्रा वर्णास्त्रिष्वनुलोमजाः शूद्रस्य च त्रयः पुत्राः तेष्वेव प्रतिलोमजाः। त्रय स्त्रयः क्षत्तविशोः प्रतिलोमानुलोमजाः। एते द्वादशवर्णानां पुत्रा एकैकशस्तु ते। चातुर्वर्ण्ये प्रसूयन्ते चतुरश्चतुरः सुतान्। ते चत्वारिंशदष्टौ च पूर्वैर्द्वादशभिस्सह। ब्राह्मणाद्यैश्चतुर्भिश्च चतुष्षष्टिर्हि जातयः। ते सर्वे दस्यवो दोषैः चौर्याद्यैः सद्बहिष्कृताः"। इति जातिविवेकाभिधाने अन्ये पापा ब्रह्महत्यादिकर्तारः। तस्मै प्रभविष्णवे प्रभवनशीलाय नम इत्यन्वयः।।१८।।

य एवंविधमहिमत्वेन प्रसिद्धः स एष आत्मा परमात्मा भगवान् प्रसीदतामित्यन्वयः। किं विशिष्टः? आत्मवतां भक्त्या अपरोक्षीकृतपरमात्मतत्वानां मुक्तानाम्। 'प्रशंसायां मतुप्' इति प्रशस्तमनसां ज्ञानिनां वा अधीश्वरः वेदधर्मतपोऽनुसारिणां पुंसां वशगत्वात्। त्रयीमयो धर्ममयः तपोमय इत्यनेन भक्तवात्सल्यं दर्शितं तदुक्तम् - "वेदानुसारिवशगः स्वेच्छया"(अध्यात्मे) इति। तत्र प्रमाणमाह गतेति। * 'व्यलीकं त्वप्रियेऽनृते' इत्यभिधानात्। गतव्यलीकैः अजशङ्करादिभिः ब्रह्मशिवादिभिः वितर्क्य विशेषेणानुमेयं लिङ्गं जगज्जन्मादिलक्षणं यस्य स तथोक्तः।।१९।।

---

1. W. Omits राम 2. M.Ma. हो * मुद्रितामरकोशपाठः - "पीडार्थेऽपि व्यलीकं स्यात् अलीकं त्वप्रियेऽनृते ' - 3-168

चित्तीकृततत्तदभीष्टसिद्धये तत्तद्गुणविशिष्टस्य हरेः प्रसादं प्रार्थयते **श्रियःपतिः** इति। श्रीधरयोः पतित्वकथनेन सर्वाधिपत्ये सिद्धेऽपि तदवान्तरदेवतानाम् आधिपत्यं निवारयति। वेदादिवाङ्मात्राभिमानित्वेन श्रीप्रसादोऽपि प्रार्थनीय इति अभिप्रायेण श्रियः पतिरिति। इतरविशेषणानि एवम् अनुसन्धेयानि इति बहुजनाश्रयत्वेन क्षमागुणनिधित्वेन स्थिरायाः धरायाः पतिः। मनआदीन्द्रियव्यापारसाध्यस्य देहान्तरभोग्यफलस्य यज्ञकर्मणः फलदातृत्वेन तत्फलपालकः। फलपालनं किमर्थमित्यत आह प्रजापतिरिति। कर्मण्यधिकृतस्य जनस्य जीवनहेतुत्वेन पतिः "प्रजा तु जनपुत्रयोः"(वैज.को.6-2-23) इति प्रजापतिशब्दवाच्यत्वं मुख्यम् अस्येति वा प्रवृत्तेः ज्ञानपूर्वकत्वेन सम्भवात् तदर्थं धियां पतिरिति लोकपतिः इत्यनेन पुरन्दरादीनां तत्पतित्वं निवारयति पतिर्गतिश्च इत्यादिना भक्तवात्सल्यातिशयत्वं दर्शयति निरपेक्षत्वेन सतां स्वामित्वापेक्षा नास्तीति शङ्कां निवारयति सतां पतिः।।२०।।

**रा०कृ०** प्रागुक्तसमर्पणप्राशस्त्यमेव विशदयति - तपस्विनः शरीरश्रमपूर्वकतपोऽनुष्ठानपराः दानपराः तत्तत्फलापेक्षया पात्रेषु धनादिकं निक्षिपन्तः, यशस्विनः वापीतटाकारामादिनिर्माणैः कीर्तिं सम्पादितवन्तः मनस्विनः सर्वभूतदयापराः मन्त्रविदः मन्त्रार्थज्ञानपूर्वककर्मानुष्ठायिनः, सुमङ्गलाः सदाचारपरायणाः - एते सर्वेऽपि जनाः यदर्पणं यस्मिन् भगवति पूर्वोक्ततपःप्रभृतीनां समर्पणं विना क्षेमं आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपं श्रेयो न विन्दन्ति न प्राप्नुवन्ति तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः। विना भगवत्समर्पणबुद्धिं यावदपि सत्कर्मकृतमहङ्कारमभिमानं च जनयत् पतनकारणं भवतीति भावः।।१७।।

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसाः किराताः मृगादिहिंसकाः वनचराः, हूणाः द्वीपविशेषवासिनः श्वेतवर्णाः, आन्ध्राः आन्ध्रदेशवासिनः केचन दुराचारपराः, पुलिन्दाः अत्यन्तहिंसाविहाराः, व्याधादिष्वन्तर्भूताः जनाः, पुल्कसाः गवादिहिंसकाः, आभीराः कैवर्ताः, कङ्काः कङ्कनामकपक्षिवधाजीवाः, यवनाः यवनजातीयाः, कषादयः शाणोल्लेखनादिकषणप्रधानजातीयाः, तत्प्रभृतयश्च, अन्ये एतद्भिन्नाश्च ये पापाः पापाचारास्सन्ति तेऽपि यदुपाश्रयाश्रयाः यो भगवान् उपाश्रयो येषां ते यदुपाश्रयाः भगवद्भक्ताः ते भागवताः आश्रयो येषां तथाभूताः भागवताश्रयास्सन्तः शुद्ध्यन्ति मोक्षप्रतिबन्धकदोषविरहिताः भवन्ति तस्मै प्रभविष्णवे कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं च समर्थाय परमपुरुषाय नमः। अत्रोक्ताः सर्वेऽपि वेदविहितधर्माचारविमुखत्वात् पापा इति शुकयोगिना निरूपिताः। एते च वेदोक्तधर्ममाचरन्तु अथवा तिरस्कुर्वन्तु तथाऽपि ते भगवदेकशरणानां भागवतानामेवाश्रयात् पूतचित्ताः मोक्षं प्राप्नुवन्तीत्यहो भागवतधर्मस्य वेदधर्मार्थविस्तारकस्य विश्वजनीनता।।१८।।

आत्मवतां धीराणां सर्वत्र ब्रह्मभेददर्शिनामिति भावः आत्मा आत्मत्वेनोपास्यः अधीश्वरः सर्वेश्वरः अथवा योगिनां परमेश्वरत्वेनोपास्यः त्रयीमयः वेदाध्येतॄणां ऋगादित्रयीरूपेणोपास्यः धर्ममयः

धार्मिकानां धर्मरूपेणोपास्यः तपोमयः तपस्विनां तपोमयत्वेनोपास्यः गतव्यलीकैः निष्कपटैः अजशङ्करादिभिः वितर्क्यलिङ्गः केवलं विचारणीयलक्षणः न तु निश्चयेन ज्ञेयलक्षण इति यावत् स एष भगवान् प्रसीदतां मम प्रसन्नो भवतु।

ब्रह्मरुद्रादयो देवाः सृष्टिलयादिकार्यनिर्वाहाय सर्वेश्वरांशसञ्ज्ञाता एव। तथा चांशभूताः तेंऽशिनो भगवतः स्वरूपं वितर्कयितुमेव प्रभवन्ति न तु तत्त्वतो जानन्ति।।१९।।

श्रियः सर्वसम्पदधिष्ठात्र्याः लक्ष्म्याः पतिः नियामकः यज्ञपतिः निष्कामकर्मरूपिणां सर्वश्रेयस्साधनानां यज्ञानां पतिः प्रवर्तकः प्रजापतिः आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तप्राणिरक्षकः धियां पतिः बुद्धीनां प्रेरकत्वेनेश्वरः लोकपतिः पातालादिचतुर्दशभुवनपालकः, धरापतिः रामाद्यवतारान् स्वीकृत्य भुवो रक्षकः अन्धकवृष्टिसात्वतां अन्धकादियादवानां प्रभुः गतिः परमप्राप्यः तथाऽपि सतां सदाचारपराणां स्वभक्तानां पतिः विशिष्यपालकः भगवान् मे मम प्रसीदताम्। अत्र श्रीपति, यज्ञपति, प्रजापत्यादि विविधविशेषणसहितो भगवान् मे प्रसीदतामित्यनेन संसारिणां प्राणिनां स्वपरिसरवर्तिषु गेहादिवस्तुषु कलत्रपुत्रादिषु च जनेषु तत्तत्सम्बन्धात्मनाऽवस्थितस्य सर्वान्तर्यामिणः अनुसन्धानेन रागद्वेषादि बन्धविमुक्तिः भवतीति सूच्यते। तथाहि - गृहस्थेन गेहे जीवरूपा देवालयभावना साध्या च स्वभर्तरि ईश्वरभावना कर्तव्येति यथायोगमवसेयम्।।२०।।

**यदङ्घ्र्यभिध्यानसमाधिधौतया[1] धियाऽनुपश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः।**
**वदन्ति चैतत् कवयो यथारुचं स मे मुकुन्दो भगवान् प्रसीदताम्।।२१।।**

**प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती वितन्वताऽजस्य[2] सतीं स्मृतिं[3] हृदि।**
**स्वलक्षणा[4] प्रादुरभूत् किलास्यतः स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम्।।२२।।**

**भूतैर्महद्भिर्य इमाः पुरो विभुर्निर्माय शेते यदमूषु पूरुषः।**
**भुङ्क्ते[5] गुणान् षोडश षोडशात्मकः सोऽलङ्कृषीष्ट[6] भगवान् वचांसि मे ।।२३।।**

**नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय[7] वेधसे।**
**पपुर्ज्ञानमयं सौम्या यन्मुखाम्बुरुहासवम्।।२४।।**

---

1. C.N. "नु" 2. AF.GF. "तोऽ" 3. M.Ma. स्थि" 4. AF.GF. त्रि" 5. B. "टाखिलवित् 6. H.V. वेदव्यासाय वेधसे; N. व्यासायामिततेजसे 7. M.Ma. "भ्यो"

**एतदेवात्मभू राजन्! नारदाय[1] विपृच्छते।**
**वेदगर्भोऽभ्यधात् साक्षाद्[2] यदाह हरिरात्मनः[3]।।२५।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
द्वितियस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

**श्रीध०** ज्ञानप्रदत्वम् अनुस्मरन् आह - **यदङ्घ्रीति** द्वाभ्याम्। यस्य अङ्घ्र्योः अभिध्यानमेव[4] समाधिः तेन धौतया शोधितया धिया[5] यथारुचं रुच्यनुसारेण सगुणनिर्गुणादिभेदैः। यद्वा रुक् वक्तृ[7] प्रतिभा यथामति इत्यर्थः।।२१।।

**प्रचोदिता** इति। किञ्च पुरा कल्पादौ अजस्य हृदि सतीं[8] सृष्टिविषयां स्मृतिं वितन्वता येन प्रचोदिता सती[9] सरस्वती वेदरूपा[10] वाक् तस्य मुखतः किल प्रादुर्भूता। स्वानि लक्षणानि शिक्षाद्युक्तानि यस्याः सा। ऋषीणां ज्ञानप्रदानाम् ऋषभः श्रेष्ठः।।२२।।

इदानीं स्ववाचां[11] श्रोतृजनाह्लादिनीं शृङ्गारकरुणादिशोभां प्रार्थयते - **भूतैः** इति। स मे वचांसि अलङ्कृषीष्ट अलङ्करोतु। अन्यस्य वचसामन्येन अलङ्कारासम्भवं आशङ्क्य तस्यान्तर्यामितां आविष्करोति। यो महद्भिः भूतैः इमाः पुरः शरीरणि सृष्ट्वा अमूषु पूर्षु अन्तर्यामितया शेते वसति। अत्र पुरुषसमाख्यां प्रमाणयति यद्यस्मात् पूरुष इति। अत एव य एकादशेन्द्रियपञ्चभूतरूपान्[12] षोडशगुणान्[13] कलाः भुङ्क्ते प्रकाशयति, पालयति इति वा। तदा[14] तु आत्मनेपदमार्षम्। अत्र[15] हेतुः। यतः षोडशानां आत्मा चेतयिता। स्वार्थे कः न तु अत्र जीवत्वं उच्यते प्रार्थनाविरोधात्।।२३।।

श्रीव्यासं नमस्करोति - **नम** इति। सौम्याः वैशम्पायनादयो[16] भक्ताः यस्य मुखाम्बुरुहे[17] आसवो मकरन्दम्।।२४।।

इदानीं प्रश्नोत्तरतया ब्रह्मनारदसंवादं प्रस्तौति[18] - **एतदिति**। उत्पत्तिसमय एव वेदा गर्भे यस्य सः[19]। साक्षात् हरिः यदाह।।२५।।

---

1. M.Ma. °चेति पृ°; V. °यानु 2. AF.GF. सर्वे; W. पूर्वं 3. AF.GF. °रीश्वरः 4. A. °नं 5. B.H.V. Omit धिया 6. H.V. °णभे° 7. A.H. V. Omit वक्तृ 8. H.V. Omit सतीं 9. H.V. Omit सती 10. B. Omits वेद.....वाक्; H.V. Omit वेद.....तस्य 11. B. °वचसः 12. B. °महाभूत°; H.V. °तन्मात्र° 13. B. °णानि 14. H.V. भुङ्क्ते इति आ° 15. B.H.V. तं° 16. B.H.V. Omit वैशम्पायनादयः 17. H.V. °जे 18. H.V. Omit प्र 19. A.B. Omit सः

इति श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

**वीर०** ज्ञानप्रदत्वेन सतां पतित्वमेव व्यक्तीकुर्वन् तत्प्रसादं प्रार्थयते[1] - **यदि**त्यादि द्वाभ्याम्। यस्याङ्घ्रोः[2] अभिध्यानमेव समाधिः तेन धौतया शोधितया धिया आत्मनः तत्त्वं याथात्म्यं कवयः स्वयं पश्यन्ति जानन्ति अन्येभ्यश्च यथारुचं यथामति रुक् प्रतिभा वदन्ति च उपदिशन्ति च इत्यर्थः। स भगवान् मुकुन्दो[3] मे मह्यं प्रसीदताम्।।२१।।

किञ्च **प्रचोदिता** इति। पुरा कल्पादौ अजस्य ब्रह्मणः हृदि स्मृतिं सृष्टिविषयां स्मृतिं वितन्वता विस्तारयता येन परमात्मना प्रचोदिता सञ्चोदिता सरस्वती त्रयीरूपा स्वलक्षणा स्वरविशेषादिस्वासाधारणचिह्नवती आस्यतः मुखतः प्रादुरभूत् प्रादुर्भूतवती स प्रचोदयिता ऋषीणां ज्ञानप्रदानाम् ऋषभः श्रेष्ठः मे प्रसीदताम्।।२२।।

इदानीं भगवानेव स्व वाचां प्रतिपाद्यः स्यादिति प्रार्थयते - **भूतैः** इति। स भगवान् मे वचांसि अलङ्कृषीष्ट अलङ्करोतु प्रतिपाद्यः स्यात् इत्यर्थः। वाचां भगवत्प्रतिपादनमेव हि अलङ्कारः यथोक्तं "तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवः"(भा.ग.1-5-11) इत्यादि। ननु भवता उच्चार्यमाणानां नानाविधशब्दानां कथं स एव प्रतिपाद्यः स्यात् इत्यत आह महद्भिः भूतैः महदादिपृथिव्यन्तैः भूतैः इमाः पुरः पुराणि शरीराणि निर्माय विभुः स्वयं तत्तज्जीवान्तर्व्यापनस्वभावः अमूषु आसु पुरीषु शेते। अत एव पूरुषः पुरि शयनात् पुरुषशब्दवाच्यः। अवतिष्ठते न केवलं शेते, किन्तु लीलारसमपि अनुभवति इत्याह। षोडशगुणान् शब्दादिविषयान् पञ्च, पञ्चवागादिव्यापारान्, प्राणादिवायुवृत्तीः पञ्च एकं मनोगुणं[4] सङ्कल्पादिं एतान् षोडश गुणान् स्वयं षोडशात्मकः एकादशेन्द्रियपञ्चभूतात्मभूतः भुङ्क्ते लीलारसं अनुभवति इत्यर्थः। जीवान्तर्यामित्वेन गुणान् गृह्णतो भगवतः गुणग्रहणं लीलारसः, जीवस्य तु कर्मायत्तो भोग इति भावः। एवञ्च देवादि नामरूपाणां परमात्मपर्यन्तत्वात् "नतास्म सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वतीति" न्यायेन मद्वचसां स एव विषयः स्यादिति युक्ता प्रार्थना।।२३।।

एवं भगवन्तं नमस्कृत्य अथ स्वगुरुं पितरं च व्यासं नस्करोति - **नम** इति। व्यासस्यापि वासुदेवावतारत्वात् वासुदेवाय इत्युक्तिः। वेधसे सर्वज्ञाय सौम्याः तच्छिष्याः ज्ञानमयं यन्मुखाम्बुरुहासवं यन्मुखाम्भोजे यो मकरन्दः तं पपुः तस्मै नम इत्यन्वयः।।२४।।

---

1. A.B. °ति 2. A.b. °घ्रेः 3. W. Omits मुकुन्दो 4. A.B. मनसो गु°

एवं गुरुदेवते नमस्कृत्य प्रकृतप्रश्नस्य उत्तरम् अवतारयितुं तस्य साम्प्रदायिकत्वसूचनाय नारदहिरण्यगर्भयोः प्रश्नोत्तरे संवादयति **एतदिति**। त्वया यत्पृष्टं एतदेव विपृच्छते पृष्टवते नारदाय वेदगर्भः वेदो यस्य गर्भः अन्तःस्थः स वेदगर्भः चतुर्मुखः अभ्यधात्। किमित्यत आह हरिः भगवान् आत्मनः स्वस्मै यदाह, भगवान् चतुर्मुखाय यदाह, स च नारदाय, तदेवाहं भवते अभिधास्यामि इत्यभिप्रायः।।२५।।

इति श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां श्रीभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

**विज०** उक्तार्थजातमिदं किंप्रमाणकं कथं वा ज्ञातुं शक्यमिति तत्राऽह - **यदङ्घ्रीति**। कार्त्स्न्येन अनिवृत्तविषयसंस्कारस्मरणम् अभिध्यानं, निवृत्तविषयसंस्कारः असंप्रज्ञाताख्यः समाधिः। यदङ्घ्रिविषयाभ्यां ताभ्यां धौतया निर्णिक्तविद्याकाममलया धिया आत्मनः परमात्मनः तत्त्वम् अनुपश्यन्ति। हि यस्मात् तस्मात् तद्दर्शनं प्रमाणम्। दृष्टा च यथारुचं यथारुचि शिष्यादिभ्यः तत्तत्त्वं वदन्ति च इत्यतः तदुपदेशशास्त्रेण ज्ञातुं च शक्यमित्यर्थः।।२१।।

ग्रन्थारम्भे सरस्वतीचतुर्मुखादिप्रसादश्च अभीष्टसाधनं भवतीति अभिप्रायेण आह - **प्रचोदिता** इति। पुरा सर्गादौ *अजस्य आत् परब्रह्मणः जातस्य चतुर्मुखस्य हृदि सर्तीं सर्वचेतनेभ्यः उत्तमां स्थितिं स नियमलक्षणां वितन्वता संस्कारोद्बोधद्वारेण विस्तारयता येन भगवता प्रचोदिता प्रेरिता स्वलक्षणा स्वरूपभूतनित्यत्वाख्यलक्षणा स्वरूपनिर्णायकषडङ्गाख्यलक्षणा वा सरस्वती वाक् ऋगादि-वेदरूपा तस्य आस्यतः आस्यचतुष्टयात् प्रादुरभूत् अभिव्यक्ताऽभूत् "चत्वारो निर्गता वेदाः तव वक्त्रचतुष्टयात्" इत्यादेश्च ऋषीणां ब्रह्मज्ञानिनाम् ऋषभो ज्ञानप्रदः परमवागीश्वरीपतिः नारायणो मे प्रसीदतां प्रसन्नो भवतु इत्यन्वयः। किल इत्यनेन सर्वश्रुत्यादिसंवादं दर्शयति "वार्तासंवादयोः (सम्भाव्ययोः) किल" (वैज.को.8-7-19) यादवः। यद्वा पुरा शास्त्रप्रबन्धे अधिकृतेन अजस्य मम पितामहस्य पराशरस्य हृदि सर्तीं ज्ञानोपदेशलक्षणां स्थितिं वितन्वता येन व्यासेन प्रचोदिता सङ्कुप्ता स्वलक्षणा स्वयोग्यसर्गादिदशलक्षणा सरस्वती भागवतसंहितारूपा यस्य आस्यतः प्रादुरभूत् स ऋषीणाम् ऋषभो व्यासो मे प्रसीदतां इत्यन्वय इति "अजः पितामहेऽनादौ"(वैज.को.6-5-4) इति "प्रबन्धे निकटेऽतीते पुराणेनागते पुरा"(वैज.को.8-7-23) इति च "छागे विष्णौ हरे ह्यज" (वैज. को. 6-5-4) इत्यतः अजस्य विष्णोः सर्तीं स्थितिं वितन्वता हृदि लोकस्येति शेष इति वा।।२२।।

---

1. W. 'तितारविषु' 2. B. अनु' 3. A.B. Omit पृष्टवते 4. W. Omits नारदाय 5. A.B. Omit वेदगर्भः * अत्र 'अः' परब्रह्मवाचकः। आत् जायत इत्यजः तस्य अजस्य - इति विजयध्वजतीर्थाभिमतव्याख्यानमिति विभाव्यते। प्रायशः मुद्रितपुस्तकेषु 'अजस्याऽऽपरब्रह्मणः' इत्यत्र अकारप्रश्लेषद्वया-नन्तरं तकारः (तृ) लुप्तःस्यादिति मन्यते।

इदानीं देहेन्द्रियादिप्रवर्तकं हरिं प्रसादयति - **भूतैः** इति। यो विष्णुः महद्भिः व्याप्तैः भूतैः पृथिव्यादिभिः पुरः शरीराणि निर्माय अमूषु पूर्षु आत्मादिरूपैः शेते इति यत्ततः एव यः पुरुषः पुरिशयनयोगेन पुरुषनामा "तस्येदमेव शिर" इति श्रुतेः गोलकात्मकदेहव्याप्तत्वात् वा, षोडशात्मकः एकादशेन्द्रियपञ्चभूतव्यापी, षोडशगुणान् शब्दादिविषयसारान् भुङ्क्ते न दुःखानि। स भगवान् स्वविषय-पुराणं व्याकर्तुकामस्य मे वचांसि अलङ्कृषीष्ट स्वप्रीतिजनकानि कुर्यात् इत्यन्वयः।।२३।।

इदानीं भक्त्यतिशयेन देवकीनन्दनं कटाक्षीकृत्य नमति - **नम** इति। सौम्याः ज्ञानसोमार्हाः ब्रह्मादयो ज्ञानात्मकं यस्य हरेः मुखाम्बुरुहात् उत्पन्नं आसवं मधु पपुः तस्मै वेधसे कर्त्रे वासुदेवाय भगवते नमः। सौम्याः उद्धवादयो ज्ञानमयं यन्मुखाम्भोरुहासवं पपुः तस्मै वेधसे कंसाद्यसुरहन्त्रे वासुदेवाय शौरये नम इति वा। सौम्याः नारदादयो ज्ञानमयं ज्ञानप्रतिपादकं भागवतपुराणं नाम यन्मुखाम्भोरुहासवं पपुः तस्मै वेधसे चतुर्मुखाय नमः। कीदृशाय वासुदेवाय? नारायणपुत्राय शौरेः पुत्रः शौरिरितिवत्। सौम्याः व्यासादयः तस्मै वेधसे विधिपुत्राय नारदाय वासुदेवाय वासुदेवभक्ताय। सौम्याः वैशम्पायनादयः तस्मै वासुदेवाय वासुदेवावताराय व्यासाय नमः वेधसे भारतादिशास्त्रकर्त्रे।।२४।।

स्वाभीष्टदेवताप्रसादं प्रार्थयित्वा साम्प्रतं परीक्षित्प्रश्नं प्रतिवक्तुम् उपक्रमते - **एतदेव** इति। हरिः आत्मनः स्वस्य यत्पुरणमाह आत्मभूः परमात्मपुत्रो वेदगर्भो ब्रह्मा तदेतत् सर्वमिति त्वत्प्रश्नप्रकारेण पृच्छते नारदाय अभ्यधात् इत्यन्वयः। अर्थव्यत्यासो नास्तीति एवशब्दः। एतदुक्तं भवति - आदौ नारायणेन ब्रह्मणे प्रोक्तं, ब्रह्मणा नारदाय, नारदेन व्यासाय, व्यासेन मह्यं, तदहं त्वत्प्रश्नपरिहारत्वेन वक्ष्यामीति।।२५।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
द्वितीयस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

**रा०कृ०** यदङ्घ्र्यभिध्यानसमाधिधौतया यस्य भगवतः अङ्घ्र्योः पादयोः अभिध्यानं निरन्तरध्यानमेव समाधिः तेन धौतया परिशोधितया धिया आत्मनः परमात्मनः तत्त्वं याथार्थ्यं पश्यन्ति योगिनः साक्षात्कुर्वन्ति। कवयश्च पण्डितास्तु एतदात्मतत्त्वं यथारुचं स्वरुच्यनुसारेण साकारनिराकारा-ण्वादिभेदैः वदन्ति तद्याथार्थ्यं नैव जानन्ति स भगवान् मुकुन्दो मे प्रसीदताम्।

"तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन!" (भ.गी.6-46) इति स्वयं भगवता प्रस्तुतो योगी जानाति आत्मतत्त्वम्, अन्ये तु पण्डिताः स्वस्वमतानुसारेण निराकारसाकारादिभेदं प्रतिपादयन्तः परस्परं विवदन्ति न तु भगवतः तत्त्वं वेत्तुं प्रभवन्ति। एतद्विवादा एव कालक्रमेण द्वैताद्वैतादिनानामतत्वेन प्रसिद्धिं प्रापन्।

वस्तुतस्तु भगवतः सर्वशक्तिमत्वात्, सर्वमयत्वात् सर्वान्तर्यामित्वाच्च एकोऽपि युगपत् साकार निराकार सगुणनिर्गुणादिभेदवान् भवत्येव। तथा च पूर्वोक्तनानामतभेदोऽपि खण्डशः वास्तविकः तन्मतभेदवादिनामनुभवश्च पाक्षिकः। अथापि भगवतस्तत्त्वं तु -

"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति" (भ.गी.6-30) इत्यदिना भगवदभिवर्णितेन योगीन्द्रेणैवाभिज्ञायते अथवा अनुभूयत इति परमार्थः।।२१।।

अपि च पुरा कल्पादौ अजस्य ब्रह्मणः हृदि सतीं पूर्वकल्पसम्बन्धिनीं सृष्ट्यनुकूलाम् इत्यर्थः स्मृतिं वितन्वता विस्तारयता येन अन्तर्यामिणा भगवता प्रचोदिता प्रेरिता स्वलक्षणा शिक्षाद्युक्त लक्षणोपेता। सरस्वती आस्यतः ब्रह्मणः मुखतः प्रादुरभूत् सः ऋषीणां ज्ञानदायिनाम् ऋषभः श्रेष्ठः मे प्रसीदताम्।

अनाद्यन्तप्रवर्तमानसृष्टिहेतोरनभिव्यक्तत्वादजसंज्ञा। अजस्य हृदि सृष्टिविषया स्मृतिर्मुकुले विकसनशक्तिरिव स्वाभाविकी वर्तते। विकसनशक्तिं निमित्तीकृत्य कालो यथा मुकुलं पुष्पाकृतिं नयति तथा सर्वान्तर्यामी ईश्वरोऽपि ब्रह्महृद्गतसृष्टिविषयां स्मृतिं सृष्ट्याकारेण विस्तारयति। तथा च तदीश्वर-प्रेरिता सृष्टिविज्ञानशक्तिरेव ब्रह्ममुखतः प्रसरन्ती सरस्वतीत्यन्वर्थसंज्ञा भवति। अस्याः सरस्वत्याः सहायेन वैखरीवागिव ब्रह्मणोऽभिव्यक्ता सृष्टिः प्रवर्धते। एवमत्र परमेश्वरः सर्वकारणकारणत्वेन ज्ञानदायिनामपि ज्ञानदायित्वेन निरूपितः।।२२।।

विभुः सर्वव्यापको यो भगवान् महद्भिः भूतैः पृथिव्यादिमहाभूतैः इमाः पुरः शरीराणि निर्माय अमूषु पूर्षु शेते अन्तर्यामितया जीवरूपेण च निवसतीति यत् तस्मात् कारणात् पूरुष इत्यन्वर्थनामकस्सन् षोडशात्मकः मनःप्रभृतीन्येकादशेन्द्रियाणि शब्दादिपञ्चविषयाश्चेत्येवं षोडशात्मकः, षोडश षोडशगुणान् मनःप्रभृतीन्येकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्ररूपान् षोडशगुणान् भुङ्क्ते अनुभवतीति स भगवान् मे मम वचांसि अलङ्कृषीष्ट श्रोतृजनाह्लादकमाधुर्ययाथार्थ्यादिगुणरूपालङ्कार विशिष्टानि कुर्यात्।

स्ववचनविन्यासः परीक्षिदुपयोगिपरमोपदेशतया पर्यवस्यतु इति श्रीशुकाभिप्रायो गम्यते।।२३।।

ज्ञानमयं यन्मुखाम्बुरुहासवं यस्य वेदव्यासस्य मुखमेवारविन्दं तदुद्गतमासवं मकरन्दं सौम्याः शान्तिप्रभृतिगुणविशिष्टाः तच्छिष्याः पपुः पीतवन्तः तस्मै वेधसे वेदादिसृष्टिप्रवर्तकाय वासुदेवाय वासुदेवावताराय भगवते वेदव्यासाय नमः।।२४।।

हे राजन्! हरिः साक्षादात्मनः स्वस्य ब्रह्मणः यदाह कथितवान् तदेतदेव वेदगर्भः वेदाः गर्भे यस्य तथाभूतः आत्मभूः ब्रह्मा अनुपृच्छते नारदाय अभ्यधात् अकथयत्।

अत्र गुरुपरम्परास्मरणरूपो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायो निरूपितः।।२५।।

इति श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां
व्याख्यायां चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

oooOooo

# पञ्चमोऽध्यायः

**नारद उवाच**

**देवदेव नमस्तेऽस्तु भूतभावन पूर्वज।**
**तद् विजानीहि यज्ज्ञानमात्मतत्त्वनिदर्शनम्।।१।।**

**यद्रूपं यदधिष्ठानं यतः सृष्टमिदं प्रभो।**
**यत्संस्थं यत्परं यच्च तत् तत्त्वं वद तत्त्वतः।।२।।**

**सर्वं ह्येतद् भवान् वेद भूतभव्यभवत्प्रभुः।**
**करामलकवद् विश्वं विज्ञानावसितं तव।।३।।**

**यद्विज्ञानो यदाधारो यत्परस्त्वं यदात्मकः।**
**एकः सृजसि भूतानि भूतैरेवात्ममायया।।४।।**

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पञ्चमे नारदेनाथ पृष्टः सृष्ट्यादि वक्तयजः। हरेर्लीलां विराट्सृष्टिं कालकर्मादिशक्तिभिः।।

"नारदाय विपृच्छते। वेदगर्भोऽभ्यधात्" (भाग.2-4-25) इत्युक्तं, तत्र नारदप्रश्नमाह - **देवदेव** इति। हे भूतभावन! अत एव सर्वेषां पूर्वज! अनादे! ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं तत्साधनं यत्तत् विजानीहि विशेषेण ज्ञापय इत्यर्थः। कथम्भूतम्? आत्मतत्त्वं नितरां दृश्यते येन तत्।।२।।

उपलक्षणभूतप्रपञ्चज्ञानमेव आत्मज्ञानसाधनम् अतः तद्विशेषं पृच्छति - **यद्रूपम्** इति। यद्रूपं, येन रूप्यते प्रकाश्यते। यदधिष्ठानं यदाश्रयम्। यतो येन सृष्टं यत्संस्थं यस्मिन् लीयते यत्परं यदधीनं, यच्च इति यदात्मकं, स्वतः कारणतो वा इत्यर्थः। तस्य तत्त्वं याथार्थ्यं तत्त्वतो वद।।२।।

न जानामीति न च वक्तव्यम् इत्याह - **सर्वम्** इति। भूतं जातं, भव्यं जनिष्यमाणं, भवत् जायमानं, तेषां प्रभुः यतः अतः विशिष्टेन ज्ञानेन अवसितं निश्चितम्।।३।।

आस्तामिदम्। आदौ तावत् त्वामेव कथय इत्याह - **यद्विज्ञान** इति। यतो यस्य विज्ञानम्।

---

1. W. विज्ञा 2. M.Ma. वि 3. W. ति 4. A.B. तं विश्वं 5. H.V. Omit इति 6. A.B. सत्का 7. H.V. यथार्थं 8. H.V. add परं 9. H.V. Omit च 10. V. Omit निश्चितम्

कः तव विज्ञानद इत्यर्थः। यदाधारः कः तव आश्रयः? यत्परो यदधीनः। यदात्मको यत्स्वरूपः। मम तु त्वमेव स्वतन्त्रः परमेश्वर इति बुद्धिः। तव तपश्चरणेन तु परशङ्कया पृच्छामीत्याह सार्धैश्चतुर्भिः। एकोऽसहायः।।४।।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

"नारदाय विपृच्छते। वेदगर्भः अभ्यदात्" इत्युक्तं तत्र नारदप्रश्नमाह - **देवदेव** इति। हे देवदेव! हे भूतभावन! भूतस्रष्टः! अत एव हे पूर्वज! आत्मतत्त्वस्य निदर्शनं नितरां प्रकाशकं यत् ज्ञानं तद्विजानीहि अन्तर्भावितणिजर्थः। विशेषेण ज्ञापय इत्यर्थः।।१।।

इदं कार्यं [1]जगद्रूपं यस्य रूपं [2]यदात्मकमित्यर्थः। अयं निमित्तप्रश्नः। यतः सृष्टं यतः उपादान-भूतात्सृष्टं, यदुपादानकमिति यावत्। यदधिष्ठानं यत्संस्लं यत्परमिति च बहुव्रीहिः। यः आधारो यस्य तद्यदधिष्ठानं यदाधारकम् इति आधारप्रश्नः। यस्मिन् संस्था लयो यस्य तत् यत्संस्थम् अयं लयाधार-प्रश्नः। यत्परं य अस्मात्परो विलक्षणः तद्यत्परं यदधीनमित्यर्थः। यच्च यदपि अन्यत् यदुपकरणत्वादि-कमस्ति, तत्तत्त्वं [3]तस्य याथात्म्यं तत्त्वतो वद इत्यर्थः।।२।।

न जानामीति न वक्तव्यम् इत्याह - **सर्वम्** इति। यत्पृष्टं तदेतत्सर्वं भवान् [4]वेद जानाति। कुत इत्यत आह - भूतभव्यभवत्प्रभुः भूतभविष्यद्वर्तमानकाल[5]गोचरकृत्स्नवस्तुजातस्य प्रभुः उत्पादकः। किञ्च तव त्वया विश्वं जगत् विज्ञानेन भगवत्प्रसादल[6]ब्धज्ञानेन अवसितं निश्चितं करस्थामलकवत्। एवं जगद्विषयः प्रश्नः कृतः।।३।।

आस्तां तावदिदम्। त्वामेव त्वं कथय इत्याह - **यद्विज्ञान** इति। यस्मिन् विषये तव विज्ञान-मस्तीति सप्तमीपूर्वपदबहुव्रीहिः। यतो विज्ञानं यस्य, यद्विज्ञानः तव विज्ञानदः क इति वा। यदाधारः य आधारो यस्य [8]सः कः तवाश्रयः। यत्परः यः परो यस्य सः कः [9]तव [10]स्वामी। यदात्मकः यः आत्मा यस्य सः "कः त्वदात्मा इत्यर्थः। मम तु त्वमेव स्वतन्त्रः परमेश्वर इति प्रति[12]भाति तपश्चरणेन तु परशङ्कया पृच्छामीत्याह सार्धैः चतुर्भिः। एकः असहायः आत्ममायया आत्मनः सङ्कल्पेन भूतैः पृथिव्यादिभूतैः भूतानि देवादीनि [13]भूतानि [14]सृजसि, [15]त्वमिति शेषः।।४।।

---

1. W. जगत् यद्रूपं 2. W. Omits यदात्मकं 3. A.B. Omit तस्य 4. A.B. एव 5. A.B. "लीन" 6. A.B. "ध्य" 7. A.B. Omit "पूर्वपद" 8. W. यदाधारः 9. W. त्वतः 10. W. स्वः, इत्यर्थः 11. W. adds यदात्मकः 12. A.B. भासि 13. W. "दिभू" 14. W. "ति 15. W. Omits त्वमिति शेषः

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अस्मिन् अध्याये वेदगर्भनारदाख्यायिकाकथनव्याजेन ग्रन्थादौ प्रतिज्ञातं जगज्जन्मादिकारणत्वलक्षणं तदेकनिष्ठमिति सप्रपञ्चं प्रतिपाद्यते। तत्राऽऽदौ नारदप्रश्नप्रकारमाह - **देवदेव** इति। यत् अज्ञानम् आत्मनः परमात्मनः तत्त्वं निदर्शयति इति आत्मतत्त्वनिदर्शनं तज्ज्ञानं मह्यं विजानीहि विज्ञापय आत्मब्रह्मणोः तत्त्वज्ञाने महान् विशेषः अस्तीति भेदस्य परमेश्वरप्रसादम् अन्तरेण वागादीन्द्रियप्रवृत्तिरपि विपरीता भवतीति तत्स्वातन्त्र्यस्य ब्रह्मा कर्ता अहंकरणमिति, कारण्स्य विवक्षया व्यत्यस्योक्तं जीवब्रह्मभेदो हरेः स्वातन्त्र्यं नारदस्य करणत्वमिति त्रयं व्यत्ययार्थः तदुक्तं 'व्यत्ययो भेदस्वातन्त्र्यकरणेषु' इति।।१।।

ज्ञेयं पृच्छति - **यद्रूपम्** इति। इदं विश्वं यस्य रूपमिव रूपं न तु साक्षाद्रूपं चित्त्वेन सत्त्वेन च सादृश्यात् तद्वशत्वाच्च, तदुक्तं - "तद्वशत्वादिदं रूपं हरेर्नैव स्वरूपतः" (मानसंहितायाम्) इति यः अधिष्ठानं मूलाधारो यस्य तद्यदधिष्ठानं न तु आरोप्यमाणसर्पस्य रज्जुवदधिष्ठानम्। "अधिष्ठानमिति प्रोक्तं मूलाधारं विचक्षणैः"(वामने) इति। इदं यतः सृष्टं सम्भूतं "यतो वा इमनि भूतानि जायन्ते" (तैत्ति.उ.3-1) इति श्रुतेः। पीठवद्यस्मिन्संस्था संस्थानं यस्य तद्यत्संस्थम्। "यत्स्थितं दृश्यते वस्तु संस्थानं तदुदीरितम्"(वामने) इति च पूर्वं पृथिवीवत् अत्र तु पीठवदिति विशेषात् न पुनरुक्तिः। यः परो यस्माज्जगतः तद्यत्परम्। "हरिः परोऽस्य जगतो ह्यव्यक्तादेश्च कृत्स्नशः"(सात्वतसंहितायाम्) इति। यस्मात् संस्था मृत्युः संहारो यस्य तद्यत्संस्थं येन परं पालनं यस्य तद्यत्परं "येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति"(तैत्ति.उ.3-1) इति वा। यश्च यदधीनं च "यदधीना यस्य सत्ता तत्तदित्येव भण्यत" (भविष्यत्पर्वणि) इति "विभेदे विद्यमानेऽपि मिथो नित्यस्वरूपतः"(भविष्यत्पर्वणि) इति च तस्य हरेः तत्त्वं तत्त्वतो यथावत् वद इत्यन्वयः।।२।।

मम वक्तव्यांशे भवतो ज्ञानसामग्री विद्यत इत्याह - **सर्वम्** इति। हिशब्देन "प्रजापते न त्वदेतान्यन्यः"(तैत्ति.सं.1-8-14-2) इत्यादि श्रुतिप्रसिद्धिं द्योतयति। सर्वमेतदिति प्रतिज्ञा, भूतादिप्रभुरिति हेतुः। हीतिव्याप्तिदर्शनं, करतलामलकवदिति निदर्शनं, विज्ञानेति निगमनम्।।३।।

नैतत्सामान्यज्ञानं किन्तु विशिष्टमेव हरिप्रसादायत्तत्वादिति भावेनाऽह - **यद्विज्ञान** इति। यस्य प्रसादात् विज्ञानं यस्य तव सत्त्वं यद्विज्ञानः, य आधारो यस्य स तथा, यः परो यस्मात् स तथा, य आत्मा स्वामी यस्य स यदात्मकः, त्वं तं वेदेति शेषः। उक्तादधिकं ज्ञातुं पूर्वपक्षं दर्शयति एकः सृजसीत्यादिना एकः त्वमेव आत्ममायया स्वेच्छया भूतानि चराचराणि पृथिव्यादिपञ्चभूतैः सृजसि।।४।।

---

1. A. र्य

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

हे पूर्वज! देवादिभ्यः सर्वेभ्योऽपि पूर्वमेव जात! हे भूतभावन! भूतानामुत्पादक! हे देवदेव! ब्रह्मन्! ते नमोऽस्तु आत्मतत्त्वनिदर्शनं परमात्मतत्त्वस्य निदर्शनं नितरां प्रकाशकं यत् ज्ञानं वर्तते तत् ज्ञानं विजानीहि विशेषेण ज्ञापय!।।१।।

हे प्रभो! ब्रह्मन्! इदं विश्वं यद्रूपं येन रूप्यते लक्ष्यते यल्लक्ष्यमिति भावः। यदधिष्ठानं यदाधारकं यतो येन सृष्टं, यत्संस्थं यस्मिन् संस्था लयो यस्य तथाभूतं, यत्परं यत्स्वामिकं यच्च यदात्मकं भवति तत्तत्वं तस्य विश्वस्य तत्त्वं तत्त्वतो यथार्थतः वद!।।२।।

भूतभव्यभवत्प्रभुः भूतभविष्यद्वर्तमानकालिकानां सर्वेषां वस्तूनां उत्पत्तिहेतुः भवान् एतत् मया पृष्टं सर्वं वेद हि जानाति हि। विश्वं सर्वं जगत् करामलकवत् करतलस्थापितमामलकफलमिव तव विज्ञानावसितं विलक्षणेन ज्ञानेन निश्चितम्।।३।।

त्वं यद्विज्ञानः यस्मात् विज्ञानं प्राप्तोऽसि? यदाधारः यदाश्रयोऽसि यत्परः यत्स्वामिकोऽसि? यदात्मकः यत्स्वरूपोऽसि? एकः त्वम् असहायस्सन् आत्ममायया स्वसङ्कल्पेन भूतैरेव पृथिव्यादि-पञ्चभूतैरेव भूतानि देवतिर्यङ्मनुष्यादीनि सृजसि।।४।।

**आत्मन् भावयसे तानि न पराभावयन्[1] स्वयम्।**
**आत्मशक्तिमवष्टभ्य ऊर्णनाभिरिवाक्लमः[2]।।५।।**

**नाहं वेद परं ह्यस्मिन्[3]नापरं[4] न समं विभो।**
**नामरूपगुणैर्भाव्यं सदसत् किञ्चिदन्यतः।।६।।**

**स[5] भवानचरद्[6] घोरं यत् तपः सुसमाहितः।**
**तेन खेदयसे नस्त्वं परांशङ्कां[7] प्रयच्छसि[8]।।७।।**

**एतन्मे पृच्छतः सर्वं सर्वज्ञ सकलेश्वर! ।**
**विजानीहि यथैवेदमहं बुद्ध्येऽनुशासितः[9]।।८।।**

---

1. M.Ma. "भावयेः 2. M.Ma. सूत्र" 3. AF.GF. तस्मिन्; B.H.V. त्वस्मिन्; M.Ma. त्वस्मात् 4.M.Ma. "त्र" 5.WF. भगवानच" 6. H.V. नाच" 7. H.M.Ma.V. "रां;W. "रं" 8. I.M.Ma. च य" 9. H. यथैवाहं त्वया; V. तथैवाहं त्वया

**श्रीध० आत्मन्** इति। [1]आत्मन् आत्मनि भावयसे पालयसि स्वयमेव पराभवं अप्रापयन् अक्लमः श्रमरहितः यथोर्णनाभिः आत्मनः एव शक्तिमवष्टभ्य सृजति यद्वत्।।५।।

**न** इति तस्मात् अहं तु अस्मिन् विश्वस्मिन् परम् उत्तमं, अपरम् अधमं, समं मध्यमं च, तत्रापि नाम मनुष्यादिरूपं द्विपदत्वादिसगुणः शुक्लादिः[2]। तैः भाव्यं साध्यं च तत्रापि सत् असत् स्थूलं सूक्ष्मं च किञ्चिदपि अन्यतो न वेद किन्तु त्वत्त एव सर्वं[3] भवतीति मन्ये।।६।।

**स** इति। [4]स तथाविधोऽपि भवान् तपः अचरदिति यत् तेन नः अस्मान् खेदयसे मोहयसि यतः पराशङ्काम् ईश्वरान्तराशङ्कां प्रयच्छसि। [5]त्वत्तपो दृष्ट्वा त्वदपेक्षया अन्यः महान् अस्तीति शङ्का भवतीत्यर्थः।।७।।

**एतत्** इति। यथैव अहं त्वया अनुशासितः [6]शिक्षितस्सन् बुद्ध्ये बुद्ध्येयं तथा विजानीहि विशेषेण ज्ञापय।।८।।

**वीर०** तानि सृष्टानि भूतानि आत्मन् आत्मनि स्वस्मिन् इत्यर्थः। स्वयं न पराभावयन् स्वात्मानं परिभवम् अप्रापयन् अमोघवाञ्छ इत्यर्थः। भावयसे पालयसि। ऊर्णनाभिः सूत्रनाभिः कीट[7]विशेषः तद्वत् आत्मनः शक्तिं प्रकृतिं अवष्टभ्य अक्लमः अस्पृष्टश्रमः सृजसि पासि संहरसीत्यर्थः।।५।।

एतदेव उपपादयति - **नाहम्** इति। अहं तु अस्मिन् कारणविषये परम् उत्कृष्टं, [8]अपरं निकृष्टं, समं मध्यमं देवादि[9]नाम, द्विपदादिरूप, शुक्लादिगुणैः भाव्यं सदसदात्मकं चेतनाचेतनात्मकं किञ्चिदपि वस्तु, अन्यतो न वेद, किन्तु त्वत्त एव जानामीत्यर्थः। यद्वा अस्मिन् कार्यावस्थं[10] नामरूपाभ्यां सत्वादिगुणैश्च उपलक्षितत्वेन [11]निष्पाद्यं चेतनाचेतनात्मकं किञ्चिदपि वस्तु इदमनेन सममिदं निकृष्टम् इदम् उत्कृष्टमिति न जानामीत्यर्थः।।६।।

यत्परः त्वम् इत्यादिप्रश्नः कुतः प्रसक्त इत्यत्रा[12]ऽह - **स** इति। घोरम् इतरैः चरितुमशक्यं महत्तपः स भवान् जगत्स्रष्टा[13]। भगवानिति पाठान्तरम्। तदा पूज्यस्त्व[14]मित्यर्थः। अचरत्[15] कृतवान्। तेन तपश्चरणेन किं अस्मादपि परमस्तीति शङ्कां प्रयच्छसि ततः त्वं नः खेदयसे परशङ्काप्रदानेन चित्तविक्षेपं जनयसि इत्यर्थः।।७।।

---

1. A.B. Omit आत्मन् 2. H.V. "ध्यत्वादि 3. A.B. "त्वादिः 4. H.V. Omit स तथाविधोऽपि.....भवतीत्यर्थः। 5. B. Omits त्वत्तपो.....भवतीत्यर्थः। 6. H.V. Omit शिक्षितः 7. W. "टक" 8. A.B. "व" 9. W. "द्युपत्यादिरू" 10. GF.W. "स्थे 11. A.B. अनि" 12. W. "त 13. B. adds भवान् 14. W. स्त्वं गुरुसम ई" 15. A.B. add अचरति

प्रश्नम् उपसंहरति - **एतत्** इति। हे सर्वज्ञ! सकलेश्वर! त्वया अनुशासितः शिक्षितः अहम् इदं भवता उपदेक्ष्यमाणं यथैव बुध्ये जाने तथैव तत्सर्वं पृच्छतो मे मह्यं विजानीहि विशेषेण ज्ञापय।।८।।

**विज०** कुलालादेः कालाद्यधिष्ठानं दृष्टं किमस्य अधिष्ठानमत्राऽह - **अस्मिन्** इति। अक्लमः त्वं तानि भूतानि सूत्रनाभिः ऊर्णनाभिरिव आत्मशक्तिं निजसामर्थ्यमवष्टभ्य आत्मन् आत्मनि भावयसे उत्पादयसि पालयसि च पराक् त्वत्तः बहिः न भावयेः।।५।।

भावयसे वर्धयसे च इति यत् तस्मात् अस्मात् भवतो विश्वस्य परम् उत्तमं कारणम् अहं न वेद अवरं हीनं समं कारणं च न वेद। तुशब्देन उक्तार्थम् अवधारयति। निगमयति नामेति। नाम्ना वाचकेन, रूपेण शुक्लादिना, गुणैः सत्वादिभिः, सत् स्थूलं, असत् सूक्ष्मं च किञ्चित् वस्तु यद्भाव्यं उत्पाद्यं तत्त्वदन्यत इत्यपि गर्हितं निन्दितं अतः त्वमेव सर्वकारणमित्यर्थः।।६।।

ज्ञाततत्त्वेन त्वया प्रश्नः किमिति कृत इति तत्कारणमाह - **स भवान्** इति। तपोऽचरदिति यत् तेन हेतुना त्वं नः अस्मान् खेदयसे त्वयि अनलम्बुद्धिं प्रापयसि त्वदितरकर्तृसद्भावे परां शङ्कां च यच्छसि इत्यन्वयः। तस्मात् प्रश्नः कृत इति भावः।।७।।

'एतन्मे पृच्छतः सर्वं सर्वज्ञ सकलेश्वर' इति विशेषणद्वयं उक्तार्थस्थिरीकरणायोक्तं यथा बुद्ध्ये जानामि तथा इति शेषः। "त्वदधीना यतः सत्ता ह्यवरस्यापि केशव"(मात्स्ये) इत्यनेन पूर्वपक्षोऽयमिति ज्ञायते।।८।।

**रा०कृ०** ऊर्णनाभिरिव तन्तुवाय इव अक्लमः श्रमरहितस्सन् आत्मशक्तिं स्वशक्तिं अवष्टभ्य अबलम्ब्य स्वयमात्मानं न पराभावयन् पराभावमप्रापयन् आत्मन् आत्मनि तानि स्वसृष्टानि भूतानि भावयसे पालयसि।

अत्र तन्तुवायोदाहरणेन विश्वतत्कर्तृस्वरूपाधारविज्ञानादिविषयकाः प्रश्नाः समाहिता इव भान्ति। तथाहि - विश्वस्य विधाता ब्रह्मा। ब्रह्मणः स्रष्टा परमात्मा। अथ किं फलमुद्दिश्य परमात्मा ब्रह्माणं ससर्ज? तं च विश्वसृष्टौ प्रवर्तयामास? स्वस्य अनवाप्तावाप्तव्ययोः अभावात्। सत्यम्। एष परमात्मनः स्वभावो यदयमकारणमेव सृष्टिकर्मणि प्रवर्तते। उक्तं च भगवता "न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि" (भ.गी.3-22) इति।

ऊर्णनाभिः आत्मनि निष्कारणं स्वशक्तिमवलम्ब्य सृष्टेन तन्तुना जालं रचयति। एवं ब्रह्माऽपि स्वशक्तिमेवावलम्ब्य जगत् सृजति। अत्र च 'स्व' पदेन स्वात्मना परिणतो परमात्मैव व्यज्यते।

---

1. A.B. 'चैतत्स' 2. A. प्रथं

परमात्मशक्तिस्तु ब्रह्मणाऽप्यव्यक्तैव विद्यते बीजे जनिष्यमाणवृक्षादिरिव। न हि कार्येण कारणं ज्ञातुं शक्यते। अत एव हि वेदा अपि परमात्मतत्त्वमनिर्वचनीयमिति कथयन्ति। तथा च तन्तुवाय इव ब्रह्मऽपि आत्मस्थामव्यक्तां स्वशक्तिम् अथवा परमात्मशक्तिमाश्रित्य आत्मन एव विश्वसृष्ट्यादिकं विदधातीति गम्यते।।५।।

हे विभो! ब्रह्मन्! अस्मिन् विश्वस्मिन् परम् उत्तमम् अपरं निकृष्टं समं मध्यमं नामरूपगुणैः नाम देवमनुष्यादि रूपं द्विपदत्वादि गुणः शुक्लादिः एतैः भाव्यं निष्पाद्यं सत् स्थूलं असत् सूक्ष्मं च यत्किमपि अन्यतः त्वदन्यतः अहं न वेद न जानामि किन्तु त्वत्त एव सर्वं भवतीति तर्कयामि।।६।।

सः पूर्वोक्तविश्वरूपो भवान् सुसमाहितः अत्यन्तमवहितस्सन् घोरमितरैः दुश्चरं तपः अचरत् अकरोदिति यत् तेन सावधानतपश्चरणेन त्वं नः अस्मिन् खेदयसे मोहयसि कुत इति चेत् पराशङ्कां परस्य ईश्वरान्तरस्य आशङ्कां वितर्कं प्रयच्छसि।।७।।

हे सर्वज्ञ! सकलेश्वर! ब्रह्मन्! अनुशासितः त्वयाऽनुशिक्षितः अहमिदं भवता उपदेक्ष्यमाणं यथैव बुद्ध्ये जाने तथैव एतत्सर्वं पृच्छतो मम विजानीहि विशेषेण बोधय।।८।।

**ब्रह्मोवाच**

**सम्यक् कारुणिकस्येदं वत्स ते विचिकित्सितम्।**
**यदहं चोदितः सौम्य भगवद्वीर्यदर्शने[1]।।९।।**

**नानृतं[3] तव[4] तद्ध्यापि यथा मां प्रब्रवीषि भोः।**
**अविज्ञाय परं मत्त एतावत्त्वं यतो हि[5] मे।।१०।।**

**येन स्वरोचिषा विश्वं रोचितं रोचयाम्यहम्।।**
**यथाऽर्कोऽग्निर्यथा सोमो यथार्क्षग्रहतारकाः।।११।।**

**तस्मै नमो भगवते वासुदेवाय धीमहि।**
**यन्माययाऽदुर्जयया[6] मां[7] ब्रुवन्ति[8] जगद्गुरुम्।।१२।।**

---

1. C.H.V. धर्मं 2. N. परधर्मंप्र" 3. H.V. "त्यन्तमनृतं तद्ध 4. M.Ma. बत 5. H.V. "ऽस्ति 6. AF.GF. "र" 7. V. (याय) 8. B.H.I.M.Ma.V. वद"

**श्रीध०** प्रश्नम् अभिनन्दति त्रिभिः **सम्यक्** इति। वत्स! हे पुत्र! तव इदं विचिकित्सितं सन्देहः तत्पूर्वकंप्रश्नोऽयं सम्यगैत्यर्थम्। यतः कारुणिकस्य तवायं प्रश्नः। अत्र हेतुः। यद्यतोऽहं भगवद्वीर्य-प्रकाशने धर्मे प्रवर्तितोऽस्मि, अतस्त्वं जिज्ञासुरपि मयि कृपामेव कृतवानित्यर्थः।।९।।

ननु त्वमेव भगवानित्युक्तं त्वया "एकः सृजसि भूतानि" (भाग.2-5-4) इत्यादिना। सत्यम्। **न** इति। यथा मां ईश्वरत्वेन प्रभाषसे तदपि तव भाषणं न अत्यन्तम् अनृतं, यतःकारणात् एतावतः एतावत्प्रभावस्य भावः एतावत्त्वं, मे अस्ति किन्तु मत्तः परं ईश्वरम् अविज्ञाय ब्रूषे। अतः सादृश्यात् तव इयं भ्रान्तिः न तु बुद्धिपूर्वकं अनृतं इत्यर्थः। यतः ईश्वरात् मम एतावत्त्वं तम् अविज्ञाय इति वा अन्वयः।।१०।।

तर्हि कः असौ ईश्वर इत्यपेक्षायां भक्त्या नमस्कुर्वन्नेव तं कथयति त्रिभिः - **येन** इति। येन स्व प्रकाशेन रोचितं प्रकाशितमेव प्रकाशयामि सृष्ट्याऽभिव्यक्तं करोमि। यथा अर्कादयः चैतन्यप्रकाश्यमेव प्रकाशयन्ति। तथा च श्रुतिः, "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"(कठ.उ.5-15) इति।।११।।

**तस्मा** इति। तस्मै नमो धीमहि चिन्तयेम मनसैव नमस्कुर्महे इत्यर्थः। यस्य मायया विमोहिताः सन्तो युष्मदादयो मां जगद्गुरुं जगत्कारणं वदन्ति तस्मै।।१२।।

**विर०** अथ ब्रह्मा यथाप्रश्नम् उत्तरिष्यन् तावत् प्रश्नम् अभिनन्दति - **सम्यक्** इति। हे वत्स! पुत्र! कारुणिकस्य मयि करुणावतः ते त्वया इदं सम्यक् विचिकित्सितं ज्ञातुमिष्टं कुत इत्यत आह यद्यस्मात् अहं भगवद्वीर्यदर्शने भगवत्प्रभावज्ञापनरूपे धर्मे प्रवर्तितः।।९।।

अभिमतार्थजिघृक्षया प्रश्नं विविनक्ति - **नानृतम्** इति। भो नारद! मां प्रति यथा प्रब्रवीषि "एकः सृजसि भूतानि" (भाग.2-5-4) इत्यादिना यत्पृच्छसि तच्चापि तव त्वदीयं वचः नानृतमतीव नासत्यं किन्तु मत्तः परं भगवन्तम् अज्ञात्वा ब्रवीषि इति। अज्ञानहेतुमाह मम एतावत्त्वं एतावन्महिमवत्त्वं यतः परमकारणात् भवति तं मत्तः परम् अज्ञात्वा ब्रवीषि इत्यर्थः।।१०।।

तर्हि कः असौ ईश्वर इत्यपेक्षायां भक्त्या नमस्करिष्यन्नाह - **येन** इति। 'अर्कादयो भगवत्तेजसा

1. A.B. Omit त्रिभिः 2. A.B. "कः 3. A.B. "गित्यर्थः 4. H.V. तं" 5. A.B. Omit अहं 6. B. परमधं" 7. H.V. मं" 8. A. Omits एतावतः 9. A.H.V. "वं 10. H.V. च 11. H.V. Omit तं 12. B.H.V. Omit चिन्तयेम.....इत्यर्थः। 13. H.V. Omit वि" 14. W. adds हे 15. W. Omits प्र" 16. W. "ति 17. W. Omits इति। 18. W. "रुणिकात्

रोचितं विश्वं तत्तेजोलेशं उपजीव्य स्वयं रोचयन्तीति स्वात्मानं अभिमन्यते एवं अहमपि इत्यर्थः। "न तत्र सूर्यो भाति" (कठ.उ.5-15) इति श्रुतिः अत्र अनुसन्धेया।।११।।

तस्मै वासुदेवाय नमो धीमहि नमः कुर्महे। यद्वा, धीमहि इत्यत्र तमिति शेषः। जेतुमशक्यया यस्य भगवतो मायया मां जगद्गुरुं वदन्ति "ब्रह्माद्याः सकला देवाः मनुष्याः पशवः तथा। विष्णुमाया-महावर्त्तमोहान्धतमसावृताः" (विष्णु.पु.5-30-17) इति न्यायेन मायया मोहिताः मां जगद्गुरुं वदन्ति; न तु तत्त्वविद इत्यर्थः।१२।।

**विज०** नारदप्रश्नं परिहरिष्यन् तज्जिज्ञासितं स्तौति - **सम्यक्** इति। अहं भगवतो हरेः वीर्यस्य सृष्ट्यादिलक्षणस्य दर्शने ख्यापने चोदित इति यत् यस्मात् अतः ते चिकित्सितं सम्यक् समीचीनमित्य-न्वयः। कारुणिकस्य इत्यनेन लोकोपकारकं च इदमिति लक्षयति।।९।।

तत्र प्रथमतः पूर्वपक्षांशम् आक्षिपति - **नानृतम्** इति। त्वं "एकः सृजसि" (भाग.2-5-4) यथा मां प्रब्रवीषि, तथा तदनृतं न किम्? अनृतमेव। बत त्वद्वचनं श्रुत्वा अहं खिन्नः। "खेदानुकम्पासन्तोष-विस्मयामन्त्रणे बत" (अम.को.3-399) इति वचनात्। यच्च, मत्तः परम् अधिकम् ईश्वरम् अविज्ञाय "नाहं वेद परं त्वस्मात्" (भाग.2-5-6) इति मां आत्थ, तच्च अनृतम्। तदप्यनृतमेव। कुत इति तत्राऽह - अपीति। अतिगर्हितत्वात्। "अपिः पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु" (अष्टा.1-4-96) इति सूत्रात्, "गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भावनास्वपि" (अम.को.3-404) इत्यभिधानाच्च। कस्मात् मदुक्तम् आक्षिपसि इति तत्राऽह एतावत्त्वम् इति। हिशब्दः एवार्थे, मे एतावत्त्वं तद्रोचिषा रोचितरोचकत्वं ह्येव; न अतः अधिकमिति यत् तस्मात् इति।।१०।।

एतदेव स्पष्टयति - **येन** इति। तत्र प्रमाणमाह यथेति। "तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्" (कठ.उ.5-15) "यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्" (भ.गी.15-12) इत्यादेः।।११।।

बुभूर्षणादुर्मतश्रवणप्राप्तापराधो भगवन्नमनेन परिहर्त्तव्य इति भावेन भगवन्तं नमति नम इति। तस्मै वासुदेवाय भगवते नमः वयं तं धीमहि इत्यन्वयः। अनेन "ओं नमो भगवते वासुदेवाय" "नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्" (मना.उ.3-8) इति द्वादशाक्षरी चतुर्विंशत्यक्षरी चेति द्वे विद्ये हिरण्यगर्भेण नित्यं सेव्ये इति दर्शितम्। यद्वा मत्तः परम् अविज्ञाय, यथा "एकः सृजसि" (भाग.2-5-4) इत्यादि[4] प्रकारं मां ब्रवीषि तच्च तत्प्रकारविषयवचनमेवानृतं नान्यत्

1. W. "गर्ता" 2. W. Omits मोहिताः 3. Ma. "भु" 4. B.M.Ma. add यं

यद्रूपमित्यादि। तदेवानृतं कुत इत्यत आह नेति प्रमाणविरोधात्। "नाभावान्यविरोधेषु"(वैज.को.8-7-5) इति वचनात्। अयं पक्षः सम्भावित इत्याह अपीति। बत सन्तोषहेतुत्वात्। कुतः अनृतमिति तत्राह एतावत्त्वमिति। यतो यस्मात् विष्णोः मे एतावत्त्वं परिच्छिन्नप्रभावत्त्वं हि प्रसिद्धम्। कथं प्रसिद्धमित्यत उक्तमेव विशिनष्टि येनेति। अनेन हरेः करणत्वं तव कर्तृत्त्वं प्रतीतं न तु हरेः स्वातन्त्र्यकर्तृत्वं इत्याशङ्क्य, दासभावकथनेन तत्स्पष्टयति नम इति। रामेण मुक्तः शरो रावणम् अवधीत् इत्यादाविव करणत्वमपि मुख्यकर्तृत्वं प्रयोजयतीत्यतः करणत्वप्रयोगो न किञ्चित्करः। ननु एवं चेत् तव कर्तृत्वप्रवादः कथम्? अत्र आह - यन्मायेति। त्रिविधा माया, एका हरेरिच्छा मुख्या, द्वितीया अमुख्या प्रकृतिः, तृतीया अमुख्यतमा जीवानां बन्धकशक्तिरिति। तत्र यस्य विष्णोः इच्छाधीनया दुर्जयया हरिभजनवर्जितैः जेतुम् अशक्यया।।१२।।

**रा०कृ०** हे वत्स! नारद! यत् यस्मात् विचिकित्सितादहं भगवद्वीर्यदर्शने भगवत्प्रभावज्ञापन-रूपे धर्मे चोदितः प्रेरितोऽस्मि तदिदं कारुणिकस्य मयि सर्वप्राणिषु च दयावतः ते विचिकित्सितं संशयः सम्यक् समीचीनो वर्तत इति शेषः। मां प्रति कृतोऽयं प्रश्नो जगदुपकारक इति भावः।।९।।

भोः! नारद! यतो हि भगवतः मे एतावत्त्वं विश्वस्रष्टृत्वादिमहिमवत्त्वम् अस्ति तं मत्तः परं परमपुरुषमविज्ञाय यथा मां प्रब्रवीषि "एकः सृजसि भूतानि"(भाग.2-5-4) इत्यादिना यन्मामेश्वरत्वनि-रूपकं वचनं वदसि तच्च तव वचनं नात्यन्तमनुतम् अज्ञात्वा कथिते अनृतव्यवहाराभावात्।।१०।।

यथाऽर्कः, यथाऽग्निः यथा सोमः यथा चन्द्रः, यथा वा ऋक्षग्रहतारकाः यथा वा अश्विन्यादीनि नक्षत्राणि, बुधादयो ग्रहाः तारकाश्च परमात्मतेजसा प्रकाशितमेव विश्वं प्रकाशयन्ति तथाऽहं येन भगवता स्वरोचिषा स्वतेजसा रोचितं प्रकाशितमेव विश्वं रोचयामि प्रकाशयामि दुर्जयया यन्मायया यस्य भगवतो मायया मोहिताः युष्मदादयः मां जगद्गुरुं ब्रुवन्ति वदन्ति तस्मै भगवते वासुदेवाय नमो धीमहि नमः कुर्महे।

यद्यपि सूर्यादयो भौतिकं प्रपञ्चं प्रकाशयन्ति, तथाऽपि तेषां प्रकाशस्य चैतन्यैकग्राह्यत्वात् चैतन्यविरहे तत्प्रकाशग्रहणायोगात् चैतन्यस्य च भगवदभिन्नत्वात् भगवत्प्रकाशितविश्वप्रकाशकत्वमुक्तम्। एवं ब्रह्माऽपि भगवत्सङ्कल्पितमेव विश्वं सृष्ट्याऽभिव्यक्तं करोति।

अपि च सङ्कल्पात्मकस्य सर्वेश्वरस्याज्ञेयत्वात् तत्सङ्कल्पनिर्वाहके ब्रह्मणि जगद्गुरुधियं जनाः कुर्वन्तीति सैषा भगवन्माया दुर्जयेति कथिता। एवं या मा सा मायेति अथवा अतस्मिन् तद्बुद्धिरिति मायापदनिर्वचनम् अपि अत्र सार्थकमेव। भगवत्सङ्कल्पनिर्वाहके स्वस्मिन् ब्रह्मणि भगवद्भावना मायेति ब्रह्मणोऽभिप्रायः।।११,१२।।

**विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया।**
**विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः।।१३।।**

**द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।**
**वासुदेवात्परो ब्रह्मन् न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः।।१४।।**

**नारायणपरा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः।**
**नारायणपरा लोका नारायणपरा मखाः।।१५।।**

**नारायणपरो योगो नारायणपरं तपः।**
**नारायणपरं ज्ञानं नारायणपरा गतिः।।१६।।**

**श्रीध०** यन्मायायेति मायासम्बन्धोक्तेः तस्याः दुर्जयत्वोक्तेश्च तस्यापि किमस्ति संसारो नैवेत्याह- **विलज्जमानया** इति। मत्कपटम् असौ जानातीति। यस्य दृष्टिपथे स्थातुं विलज्जमाना इव तस्मिन् स्वकार्यं अकुर्वत्या अमुया मायया विमोहिताः अस्मदादयो दुर्धियः अविद्याऽऽवृत्तज्ञाना एव केवलं विकथ्यन्ते श्लाघन्ते। अनेन यद्रूपमित्यस्य प्रश्नस्योत्तरम् उक्तं भवति।।१३।।

तदेवं स्वस्मादन्यं परमेश्वरं निरूप्य इदानीं यदधिष्ठानमित्यादिनवप्रश्नानां स एव अधिष्ठानादिकं सर्वमित्युत्तरं वक्तुं तद्व्यतिरेकेण अन्यस्य असत्त्वमाह - **द्रव्यम्** इति। द्रव्यं महाभूतान्युपादानरूपाणि, कर्म जन्मनिमित्तं, कालस्तत्क्षोभकः, स्वभावः तत्परिणामहेतुः, जीवो भोक्ता वासुदेवात् परः अधिकः अन्योऽर्थः नास्ति कारणाव्यतिरेकात्कार्यस्य।।१४।।

तत्प्रपञ्चयति द्वाभ्यां - **नारायणेति**। नारायणः परं कारणं येषां ते। नारायणः परः तात्पर्यविषयो येषामिति वा। अनेनैव शास्त्रयोनित्वप्रतिपादनेन ईश्वरे प्रमाणं सर्वज्ञत्वादिकं च उक्तम्। देवाश्च तदङ्गाज्जाताः। अतो न तद्व्यतिरिक्ताः। लोकाः स्वर्गादयः तदानन्दांशाः मखाः तत्साधनभूताः।।१५।।

**नारायणेति**। योगः प्राणायामादिः तपः तत्साध्यं चित्तैकाग्र्यं ज्ञानं तत्साध्यं गतिः तत्फलम्। अनेनैव सर्वं तदधीनम् इत्युक्तम्।।१६।।

---

1. M.Ma. नैवा" 2. H.V. त्व" 3. M.Ma ता" 4. A. "स्य 5. H.V. Omit केवलं 6. H.V.Omit नव 7. B.H.V. Omit अधिकः 8. B.H.V. Omit नारायण.....वा। 9. B. "खादयः 10. B. "तत्

**वीर०** इतरेषां मायायाः दुर्जयत्वं भगवतः तत् असंस्पर्शं चाह - **विलज्जमानया** इति। यस्य भगवतः ईक्षापथे दृष्टिपथे स्थातुं विलज्जमानया तस्मिन् स्वकार्यमकुर्वत्या अमुया मायया विमोहिताः सन्तो ममाहमिति दुर्द्धियः विकत्थन्ते।।१३।।

विकत्थनमेवाऽह - **द्रव्यम्** इति। द्रव्यं पृथिव्यादिभूतमेव कारणम् इति केचित्। कर्मेत्यपरे। काल इत्यन्ये। स्वभाव इत्यपरे। कर्माधीनत्वात् जीव एव कारणमिसत्यपरे। एवं यन्मायया मोहिताः विकत्थन्ते इत्यर्थः। एवं तैः स्वतन्त्रतया अभिमताः पदार्था भगवदधीना इत्याह वासुदेवादिति। हे ब्रह्मन्! द्रव्यादिष्वर्थेषु वासुदेवात् परः अन्योऽर्थो नास्ति यथा वासुदेवात् परो नास्ति तद्वत् अतदात्मकम् अतत्परतन्त्रं च नास्तीत्युक्तं वक्ष्यमाणेषु सूचितम्।।१४।।

एतदेव उपपादयति - **नारायणपरा** इति। वेदाः नारायणपराः नारायणः परं कारणं येषां ते तथोक्ताः "तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः" (बृह.उ.2-4-10) इत्यादिश्रुतेः। यद्वा नारायणः परः प्रतिपाद्यो येषां ते तथोक्ताः "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" (कठ.उ.2-15) इति श्रुतेः। देवाः इन्द्रादयः नारायणः नारायणस्याङ्गाज्जाताः तच्छरीरभूताश्च इत्यपि विवक्षितं "चन्द्रमा मनसो जातः" (पु.सू.1-6) "स आत्मा अङ्गान्यन्या देवता" (तैत्ति.उ.1-5-1) इत्यादिश्रुतेः। लोका नारायणपराः नारायणः परः स्वामी येषां ते तथोक्ता मखाः क्रतवः नारायणपराः नारायणः परः आराध्यो येषां ते तथोक्ताः।।१५।।

योगो विवेकादिजन्यः उपासनात्मको योगः नारायणपरः नारायणः परो गन्तव्यो यस्य स तथोक्तः। तपः विद्याङ्गभूतं कर्म, नारायणपरं नारायणः परः पर्यवसानभूमिः यस्य तत् तथोक्तं ज्ञानं शास्त्रजन्यंज्ञानं योगस्य पूर्वमुक्तेः तदपि नारायणः परो ध्येयो यस्य तत्तथोक्तं गतिः योगफलं अर्चिरादिका सा अपि नारायणः परो गन्तव्यो यस्याः तथाभूता।।१६।।

**विज०** यस्य हरेः ईक्षापथे दृष्टिमार्गे स्थातुं विलज्जमानया चित्प्रकृत्या अभिमन्यमानया शैवल्याख्यया जीवस्वरूपाच्छादिकया अमुया मायया मोहिता अन्यथाज्ञानमात्रा अत एव दुर्धियो जना 'मम वशे विश्वमस्ति'। 'सर्वस्याहं कर्त्तेति' विकत्थन्ते। तं धीमहि इत्यन्वयः। "मुख्या माया हरेः शक्तिरमुख्या प्रकृतिर्मता" इत्यादिना त्रैविध्यावगमात् नेन्द्रजालालक्षणा माया अत्रोच्यते।।१३।।

---

1. A.B. कर्मैव कारणमिति केचित् 2. W. adds सन्तो 3. A.B. Omit नारायणपराः 4. A.B. "रं 5. A.B. "द्यं 6. A. Omits नारायणः 7. A.B. Omit नारायणपराः 8. B.W. ध्येयो 9. A.B. Omit परः 10. A.B. Omit तत् 11.W. "न्यं

ननु विष्णोरितरत्कारणं नास्तीति कथमुच्यते। पृथिव्यादीनां प्रातिस्विककारणत्वप्रतीतेः इति तत्राऽह - **द्रव्यम्** इति। द्रव्यं पृथिव्यादि, कर्म पुण्यपापलक्षणं, पृथिव्यादीनां परिणामविशेषो वा। कालः परिणामहेतुः, त्रुटिलवात्मकः, स्वभावः सात्त्विकादिः, जीवः सुखदुःखाश्रयः द्रव्यं पुरोडाशादि, कर्म ऋत्विगादिव्यापारः, कालो वसन्तादिः, स्वभावो ब्राह्मणत्वादिः, जीवो यजमानसंज्ञ इति वा द्रव्याद्यन्यतरोऽन्योऽर्थो वासुदेवात् परः अधिकः नास्ति, तर्हि तत्समः कश्चित्स्यादत्राऽह तात्त्वत इति। नेत्यनुवर्तते तात्त्वतः तद्वदेव स्थितः समोऽपि नास्तीत्यर्थः। "तद्वदेव स्थितं यत्तु तात्त्वतं तत्प्रचक्षते" (कौर्मे) इति वचनात् अनेन द्रव्यादीनां प्रातिस्विककारणत्वस्य भगवदेकनियतत्त्वेन हरेः अखण्डकर्तृत्वं सुस्थिरमिति सिद्धम्।।१४।।

ननु "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे-भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्" (तैत्ति.उ.4-1-8) "ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता" (मुण्ड.उ.1-1) इत्यादिश्रुतयः त्वद्गुणप्रतिपादनपराः कथमन्यविषयाः स्युः इत्याशङ्क्य मदन्तःस्थस्य मन्त्राणो हरेः गुणप्रतिपादका इत्याशयेनाऽह - **नारायणपरा** इति। स्वप्रतिपाद्येषु वस्तुषु नारायण एव प्रतिपाद्यत्वेन परः अधिकः येषां ते तथोक्ताः सर्वस्मादुत्कृष्टं नारायणमेव प्रतिपादयन्तीति कुत इति तत्राऽह देवा इति। नारायणस्य चक्षुराद्यवयवेभ्यो जाता इत्यनेन देवानामवरत्वं नारायणस्योत्कृष्टत्वं उक्तमिति ज्ञायते। नारायण एव पालकत्वेन परो येभ्यः ते तथोक्तः "अहं हि सर्वयज्ञानाम्" (भ.गी.9-24) इत्यादेः इज्येषु इन्द्रादिषु अयं पर इति कृत्वा नारायणपरा मखा इत्युक्तम्।।१५।।

अष्टाङ्गयोगेन योज्यमानेष्वपि परो हरिरेव कृच्छ्रचान्द्रायणादितपसां विषयोऽपि स एव। अत्रापि तपसा युज्यमानानां पर इत्यर्थः। नारायणपरं ज्ञानं ज्ञानेन परमज्ञेयो हरिः नारायणपरा गतिः आश्रयेषु गम्येषु वा मुख्याश्रयो मुख्यगम्यश्च अयमेव। तदुक्तं "गम्येज्यज्ञेयवाच्येषु योज्येषु च परो हरिः" (वाराहे) इत्यादि। अनेन हिरण्यगर्भादिशब्दानां चतुर्मुखादिविषयत्वमपहस्तितं-"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" (कठ.उ.2-15) इति।।१६।।

**रा०कृ०** यस्य सर्वज्ञस्य भगवतः ईक्षापथे दृष्टिपथे स्थातुं विलज्जमानया अमुया मायया विमोहिताः अत एव दुर्धियः दुष्टा विषयाभिनिविष्टा धीः येषां तथाभूताः भगवत्कर्तृके भगवद्रूपे शरीरादौ मम मदीयमहमिति च विकत्थन्ते प्रजल्पन्ति।

अयमाशयः - भगवदपरोक्षज्ञाने सति माया निवर्तते। अन्यथा तन्मायामोहिताः विषयाभिनिविष्टमतयो देहादिषु भगवन्मयत्वभावनाविरहेण अहङ्कारममकारादिभिः बध्यन्ते बाध्यन्ते च ।।१३।।

---

1. A.B. Omit कुत इति 2. A. °वता

हे ब्रह्मन्! नारद! द्रव्यं पञ्चभूतात्मकं कर्म जन्मनिमित्तं सुकृतदुष्कृतरूपं कालः सकलकार्यसमुदायपरिणामसम्पादकः स्वभावः तत्परिणामहेतुः जीवः सर्वचेतनवर्गरूपः किञ्चान्योऽर्थः उक्तपदार्थव्यतिरिक्तो यः कोऽप्यर्थः वासुदेवात् परः भिन्नः तत्त्वतस्तु परमार्थतस्तु नास्ति।।१४।।

वेदाः नारायणपराः नारायणकारणकाः, देवाः नारायणाङ्गजाः नारायणस्य अङ्गात् जाताः लोकाः स्वर्गादयो नारायणपराः नारायणस्य आनन्दांशाः मखाः यज्ञाश्च नारायणपराः नारायणप्रतिपादिता इत्यर्थः। योगः नारायणपरो नारायणप्रवर्तितः तपः नारायणपरं, ज्ञानम् आत्मज्ञानं नारायणपरं, गतिः भगवत्प्राप्तिश्च नारायणपरा नारायणाधीना।।१५,१६।।

*** तस्यापि द्रष्टुरीशस्य कूटस्थस्याखिलात्मनः।**
**सृज्यं सृजामि सृष्टोऽहमीक्षयैवाभिचोदितः।।१७।।**

**सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः।**
**स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभोः।।१८।।**

**कार्यकारणकर्तृत्वे द्रव्यज्ञानक्रियाश्रयाः।**
**बध्नन्ति नित्यदा मुक्तं मायिनं पुरुषं गुणाः।।१९।।**

**स एष भगवाँल्लिङ्गैस्त्रिभिरेभिरधोक्षजः।**
**स्वलक्षितगतिर्ब्रह्मन्! सर्वेषां मम चेश्वरः।।२०।।**

**श्रीध०** तर्हि त्वं किं करोषि? इत्यपेक्षायामाह - **तस्य** इति। तस्य सृज्यमपि तेन सृष्टोऽहं सृजामि ईक्षया कटाक्षेण। तत्र हेतवो द्रष्टुः इत्यादयः।।१७।।

ननु कुतोऽयं जीवेश्वरविभागः? यतः त्वं प्रेर्यः स च प्रेरकः स्यादित्यपेक्षायां जीवेश्वर विभागहेतुमाह त्रिभिः - **सत्त्वमिति**। निर्गुणस्यापि ईश्वरस्य एते त्रयो गुणा बध्नन्तीति उत्तरेणान्वयः। ते कथम्भूताः? तेनैव स्वातन्त्र्येण स्थित्याद्यर्थं मायया गृहीताः।।१८।।

**कार्येति**। वस्तुतः सर्वदा मुक्तमपि मायिनं मायाविषयं पुरुषं जीवं बध्नन्ति। क्व? कार्यमधिभूतं

---

"तस्याभिद्रुः" :- श्रीवीरराघवाङ्गीकृतः पाठः। 1. V. "स्ततः 2. I.M.Ma.W. "ो" 3. H.V. Omit एते 4. A.B. Omit ते 5. H.V. नित्यं" 6. A. Omits क

कारणमध्यात्मं[1] कर्ताऽधिदैवं[2]तं तेषां भावः तत्त्वं तस्मिन्। द्रव्यं महाभूतानि ज्ञानशब्देन देवताः क्रियाः इन्द्रियाणि तदाश्रयाः तेषां कारणभूताः तत्तदभिमानेन बध्नन्ति।।१९।।

**स** इति। अतः स एष वक्ष्यमायः एभिः लिङ्गैः गुणैः जीवानां आवरकैः उपाधिभिः सुष्ठु अलक्षिता गतिः तत्त्वं यस्य सः, स्वैर्भक्तैरेव लक्षितागतिः तत्त्वं[4] यस्येति वा।।२०।।

**वीर०** एवं सर्वं तदधीनमिति कथनेन "नाहं वेद परं त्वस्मिन्"(भाग.2-5-6) इत्यंशस्य उत्तरमुक्तं भवति। तर्हि त्वं किं करोषि? इत्यपेक्षायाम् आह - **तस्य** इति। अखिलात्मनः सर्वान्तर्यामिणः अभिद्रष्टुः सर्वज्ञस्य ईशस्य सर्वं स्ववशीकृत्य नियन्तुः, कूटस्थस्य निर्विकारस्य ईक्षयैव सङ्कल्परूपज्ञानेनैव सृष्टः अहं, तेन चोदितः सृज्यं सृजामीत्यन्वयः। स तु प्रयोजकः अहं तु प्रयोज्य इति भावः।।१७।।

ननु कुतो[5]ऽयं नियोज्यनियोजकभावः कुतो वा तस्य सर्वज्ञत्वादयो धर्माः, स्वस्य तु तद्विपरीता इत्यपेक्षयां मायेश्वरत्वमायावश्यत्वाभ्यामित्याह - **सत्त्वमिति**। निर्गुणस्य हेयगुणरहितस्य कल्याणगुणानां समनन्तरमेव उक्तत्वात् विभोः - *व्यापकेन भगवता मायया प्रकृतिद्वारा स्थितिसर्गनिरोधेषु निमित्तेषु स्थित्याद्यर्थम् [6]इत्यर्थः। सत्त्वादयस्त्रयो गुणा गृहीताः स्वनियाम्यत्वेन परिगृहीताः सृष्टिस्थितिसंहाररूपलीलापरिकरत्वेन सत्त्वादय ईश्वरेण परिगृहीता इत्यभिप्रायः।।१८।।

एवं गुणानाम् ईश्वरलीलापरिकरत्वम् उक्त्वा जीवबन्धकत्वमाह - **कार्येति**। कार्यं शरीरं कारणम् इन्द्रियं ताभ्यां कर्तृत्वे निमित्ते पुण्यपापनिष्पादनार्थं गुणाः सत्त्वादयः स्वरूपतः अव्ययं मायिनं मायावश्यं सम्बन्धमात्रे इनिः। पुरुषं जीवं नित्यदा बध्नन्तीत्यन्वयः। गुणान् विशिनष्टि द्रव्येति। मोहनप्रकाशनप्रवर्तनस्वभावाः द्रव्यशब्दस्य मोहनवाचित्वं पारिशेष्यादवगम्यते। अत एव अस्मिन्नध्याये बहुशः प्रयोगाश्च-"सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः, निबध्नन्ति महाबाहो! देहे देहिनमव्ययम्" (भ.गी.14-5) "तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्, सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ" (भ.गी.14-6) "रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्, तन्निबध्नाति कौन्तेय! कर्मसङ्गेन देहिनम्" (भ.गी.14-7) "तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्। प्रमादालस्यनिद्राभिः तन्निबध्नाति भारत" (भ.गी.14-8) इति गीतावचनानि अत्र स्मारितानि।।१९।।

एवं गुणानां जीवबन्धकत्वम् उक्तम्। अथ स्वलीलापरिकरीकृतमायः[9] परमेश्वरः सर्वेषां मम

1. H.V. "त्मकं 2. B. "धं तें" 3. H.V. "वां" 4. B.H.V. Omit तत्त्वं 5. W. Omits अयं * "व्यापकस्य भगवतः" इति वा, "व्यापकत्वेन भगवतः" इति वा सुगमतरः पाठः। 6. A.B. Omit इत्यर्थः 7. A.B. "धं" 8. A.B. "न" 9. W. "ल्पित"

चेश्वर इत्याह - **स** इति। लिङ्गैः सत्त्वादिगुणैः शरीरभूतप्रकृतिस्थैः उपलक्षितः स्वलक्षितगतिः स्वलक्षिता स्वच्छन्दा गतिः यस्य तथोक्तः। न तु तदा दर्शितपन्थानौ इतिवत् अन्यदर्शितमार्गः। स एव एवंविधैश्वर्यसम्पन्नो भगवान् हे ब्रह्मन्! नारद! सर्वेषां मम च ईश्वरः नियन्ता।।२०।।

**विज०** ननु भवतः स्रष्टृत्वाभावे कथं त्वन्नाम लोके ख्यातं वर्तत इत्यतः तं प्रकारं दर्शयति - **तस्यापि** इति। तद्दृष्टिं प्रतिष्टब्धुं कोऽपि समर्थो नास्तीति ईशस्येति। ईशित्वं च वरादिप्राप्तं नेति निर्विकारस्येति। एतदपि बलवत्प्रतिबन्धकेन अन्यथा न भवतीति अखिलस्वामिन इति, एवंविधस्य तस्य हरेः अपिशब्दात् श्रियश्च ईक्षयैव कटाक्षवीक्षणेनैव अभिचोदितः तेन सृष्टोऽहं सृज्यं जगत् सृजामीत्यन्वयः। एवशब्देन सृष्टौ प्रयोजकान्तरं निवारयति।।१७।।

एवं हरेः मुख्यकर्तृत्वं प्रदर्श्य अधुना युगपत्क्रमशोऽपि वा इति प्रश्नं परिहरति - **सत्त्वं रजस्तम** इति। तेन हरिणा नित्यं गृहीता अपि सत्त्वं रजस्तम इति त्रयो गुणा निर्गुणस्य सततं सत्त्वादिगुणरहितस्य विभोः मायया इच्छया स्थित्यादिषु निमित्तभूतेषु क्रमशो युगपच्च गृहीता इत्यन्वयः। मायेयेति विशेषणात् मूलसृष्ट्यादिषु क्रमशो दैनन्दिनसृष्ट्यादिषु युगपत्, गृहीता इति विशेषः। तदुक्तं - "नित्यं गृहीताः सत्त्वाद्याः स्थित्यादिषु विशेषतः, युगपत् क्रमशश्चैव" (ब्रह्मवैवर्ते) इति।।१८।।

रजोगुणं उपादानीकृत्य सृष्टिं वक्ष्यन् हरेः सत्त्वादिगुणैः जीवबन्धकत्वमहिमानमाह - **कार्येति**। पुरुषमिति जातावेकवचनम्। द्रव्यज्ञानक्रियाश्रयाः द्रव्यं तामसाहङ्कारकार्यं शरीरम्, ज्ञानं वैकारिकाहङ्कारकार्यं, मनः श्रोत्रेन्द्रियाणि च, क्रिया तैजसाहङ्कारकार्यं वागादीन्द्रियजातम् आश्रयो येषां ते तथोक्ताः। एवंविधाः प्रकृतेः सत्त्वादयो गुणाः अभिमानमन्तरेण नित्यदा मुक्तं प्रकृतिसम्बन्धविधुरं मायिनं स्वतो ज्ञानिनं पुरुषं जीवसमुदायं कार्यकारणकर्तृत्वे च बध्नन्तीत्यन्वयः। तत्रायं विभागः - तमोगुणः कार्ये शरीरे तद्गतदुःखाद्यनुभवेन बध्नाति। रजोगुणः कर्मकारणैः इन्द्रियैः कारणेषु कर्मसु बध्नाति। सत्त्वगुणस्तु मनसा ज्ञानेन्द्रियैश्चान्तरं यत्सुखम् अनुभवामीति तत्र कर्तृत्वे बध्नाति। इदमुक्तं भवति - शरीरगतदुःखास्सआद्यनुभवे तमोगुणः, कर्मसु रजोगुणः, अहं सुखीति सुखानुभवे सत्त्वगुणः, कारणम्। गुणानाम् अचेतनत्वेन स्वतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेः तन्नियमने कारणम् ईश्वरेच्छति। तदुक्तं - "ज्ञानेन्द्रियैश्च मनसा सत्त्वं बध्नाति पूरुषम्। रजः कर्मेन्द्रियैः नित्यं शरीरेण तमः तथा" (पाद्मे) इत्यादि।।१९।।

न केवलमेतानि देहेन्द्रियमनांसि बन्धकानि। हरिप्रसादसामग्रीयोग्यानां मुक्तिसाधकानि च इत्याह - **स एष** इति। "यो येन स्वरोचिषा विश्वम्" (भाग.2-5-11) इत्यारभ्य "कार्यकारणकर्तृत्वे"

---

1. A.B. "चतौ"

(भाग.2-5-19) इत्यन्तेन ग्रन्थेन प्रतिपादितः स एषः अधोक्षजः भगवान् एतैः त्रिभिः देहेन्द्रियमनोभिः लिङ्गैः ज्ञानोपायलक्षणैः यमादिसाधनैः यतमानैः एतैः जीवैः स्वलक्षितगतिः प्रदर्शितस्वरूपो भवति। एतदुक्तं भवति - देहेन्द्रियमनोजयिनस्तैरेव साधनैः भगवद्विषयैः तं पश्यन्तीति "स्वप्रसादादिमं जीवः पश्येत्तेन स्वलक्षितम्" (षाड्गुण्ये) इति च। अधःकृतेन्द्रियजन्यज्ञानत्वेन मुक्तोऽप्यधोक्षजःस्यात् इत्यतः सर्वेषामिति। सर्वेषां मुक्तानां स्वस्य सर्वान्तर्भावेऽपि नारदस्य विशेषशङ्कापरिहाराय मम चेति विशिष्य उक्तम्।।२०।।

**रा०कृ०** सृष्टः सृष्ट्यर्थं तेन भगवता सृष्टोऽहं द्रष्टुः सर्वं साक्षात्कुर्वतः, ईशस्य सर्वनियामकस्य कूटस्थस्य वैषम्यनैर्घृण्यादिविकाररहितस्य, अखिलात्मनः अखिलस्वरूपस्य तस्य भगवतः ईक्षयैव सङ्कल्पात्मकेक्षणेनैव अभिचोदितः प्रेरितस्सन् सृज्यमपि भगवता सृज्यमपि विश्वं सृज्यामि।

अत्र एक एव देवः स्थितिभेदेन वासुदेवनारायणेश्वरनामभिः व्यवह्रियते। तथाहि - द्रव्यकर्मादिरूपो वासुदेव इति, वेददेवादिरूपो नारायण इति कूटस्थत्वसर्वात्मकत्वादिलक्षणोपेतः ईश्वर इति च निरूपितः। किञ्च वासुदेवो लीलामयः नारायणः तत्त्वात्मकः, ईश्वरस्तु सर्वनियामकः। तथा च सृष्टिमयवासुदेवाराधनेन नारायणतत्त्वप्राप्तिः तत्त्वप्राप्या च सर्वात्मताधिगम इति रहस्यम्।।१७।।

विभोः सृष्ट्यादिलीलासमर्थस्य निर्गुणस्य गुणपारतन्त्र्यरहितस्य भगवतो मायया इच्छाऽपरपर्यायया मनःशक्त्या स्थितिसर्गनिरोधेषु रक्षणसृष्टिलयेषु कार्येषु सत्त्वं रजस्तम इति त्रयो गुणा गृहीताः। ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपशरीरत्रयपरिग्रहार्थं स्वीकृताः। सर्वसमर्थो भगवान् निर्निमित्तया इच्छाशक्त्या स्वीयामेव प्रकृतिं रजस्सत्त्वतमोमयीं निमित्तीकृत्य सृष्टिस्थितिलयनिर्वाहार्थं यथाक्रमं ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपाणि स्वीकरोति।।१८।।

नित्यदा सर्वदा मुक्तं बन्धरहितमपि मायिनं मायावशवर्तिनं पुरुषं द्रव्यज्ञानक्रियाश्रयाः द्रव्याणां क्षित्यादिपञ्चभूतानां ज्ञानानां ज्ञानगम्यदेवतानां, क्रियाणां क्रियागम्येन्द्रियाणां च आश्रयाः कारणतया आश्रयभूताः गुणाः। अत्र ज्ञानक्रिययोः व्यत्ययेनान्वयः। कार्यकारणकर्तृत्वे कार्यमधिभूतं देहः, कारणम् अध्यात्ममिन्द्रियबृन्दम्। कर्ता अधिदैवतं देवताबृन्दं तेषां भावः तत्त्वं तस्मिन् देहाध्यासेन कार्यत्वे, इन्द्रियाध्यासेन कारणत्वे, देवताऽध्यासेन कर्तृत्त्वे च - निबन्धन्ति। ईश्वरस्वरूपः स्वतो मुक्तोऽपि पुरुषः अथवा जीवः गुणकार्यभूतैः द्रव्यक्रियाज्ञानाश्रयैः ब्रह्मप्रज्ञातः पृथक्कृतस्सन् कार्यकारणकर्तृतादात्म्यभावनया अथवा देहेन्द्रियप्रज्ञात्मकदेवतातादात्म्यभावनया बध्यते। मायाबद्धो देवो जीव इति व्यवह्रियते।।१९।।

हे ब्रह्मन्! नारद! सः पूर्वोक्तः एषः वशीकृतमायः अधोक्षजः अधःकृतेन्द्रियज्ञानः भगवान्

एभिः त्रिभिः सत्त्वादिभिः लिङ्गैः गुणैः साधनभूतैः स्वलक्षितगतिः सु सुष्ठु अलक्षितगतिः अज्ञाततत्त्वस्सन् सर्वेषां स्थावरजङ्गमादीनां मम च ईश्वरः प्रभुः।

अत्र लिङ्गशब्देन त्रिगुणकार्यभूतानि स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरणि गम्यन्ते। तथा च एतच्छरीरैरेव जीवः कश्चन अस्तीति सं च जीवः एतच्छरीरकारणभूतगुणैः असङ्गो हि ईश्वर एव इति ज्ञायते। ततश्च मायावशगो जीव इति वशीकृतमायो भगवानिति व्यज्यते। एवञ्च प्रागुक्तैः त्रिभिः लिङ्गैः अज्ञेयतत्त्वः इन्द्रियातीतः स भगवान् ब्रह्मणः तन्निर्मितानां स्थावरजङ्गमादीनां च सर्वेषां लोकानाम् ईश्वर इति भावः ।।२०।।

**कालं कर्म स्वभावं च मायेशो मायया स्वया।**
**आत्मन्[1] यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुरुपाददे।।२१।।**

**कालाद् गुणव्यतिकरः[2] परिणामस्[3]स्वभावतः।**
**कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत्।।२२।।**

**महतस्तु विकुर्वाणाद्रजः सत्त्वोपबृंहितात्।**
**तमःप्रधान स्त्वभवद् द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः।।२३।।**

**सोऽहङ्कार इति प्रोक्तो विकुर्वन् समभून्त्रिधा।**
**वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेति यद्भिदा।**
**द्रव्यशक्तिः क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिरिति प्रभो।।२४।।**

**श्रीध०** तस्य सृष्टिप्रकारमाह - **कालम्** इति। [5]कालं क्षोभकं सृष्टिकाल इति व्यवहारहेतुम्। कर्म जीवादृष्टम्। [6]स्वभावं तत्परिणामहेतुम्। आत्मन् आत्मनि यदृच्छया स्वैरतया प्राप्तम्। विबुभूषुः विविधं भवितुमिच्छुः[7]।।२१।।

**कालात्** इति। गुणानां व्यतिकरः क्षोभः साम्यत्यागः। [8]स्वभावतः परिणामो रूपान्तरापत्तिः[9]। महतो महत्तत्त्वस्य। पुरुषः ईश्वरः। तेन अधिष्ठितत्वं त्रयाणां विशेषणम्।।२२।।

**महत** इति।[10] महत्तत्त्वात् विकुर्वाणात् विक्रियमाणात्। तस्य च क्रियाज्ञानशक्तित्वात् त्रिगुणत्वेऽपि रजस्सत्त्वाभ्याम् उपबृंहितत्वम्। अहङ्कारस्य तु आवरकत्वात्[11] तमःप्रधानत्वम्। अत एव अहङ्कारकार्येषु

1. H.V. यदृच्छयाऽऽत्मनि 2. M.Ma.W. "रात् 3. M.Ma.W. "भस्व" 4. I. Omits वैका.....यद्भिदा। 5. B.H.V. Omit कालं.....व्यवहारहेतुम्। 6. B.H.V. Omit स्वभावं.....प्राप्तम्। 7. A."च्छन्; H.V. "च्छुः" सन् 8. B.H.V Omit स्वभावतः 9. H.V. "वृ" 10. adds ततः 11. H.V. "वां"

तामसम् आकाशादिकं बहु। राजसं सात्त्विकं चाल्पम्। एवं तदुपाधिकेषु जीवेष्वपि तथैव तामसयोन्याधिक्यम्। द्रव्यज्ञानक्रियात्मको महाभूताधिदैवतेन्द्रियात्मकः।।२३।।

**स** इति। स च विकुर्वन् रूपान्तरं गच्छन्। त्रैविध्यमेवाह वैकारिक इति। वैकारिकः सात्त्विकः, तैजसो राजसः, यद्भिदा यस्य भेदः। द्रव्यशक्तिरित्यादीनि प्रातिलोम्येन त्रयाणां लक्षणानि। द्रव्ये महाभूताख्ये शक्तिः यस्य, क्रियासु इन्द्रियेषु शक्तिः यस्य, ज्ञानेषु देवेषु शक्तिः यस्य, इति विग्रहः। हे प्रभो! बोद्धुं शक्त!।।२४।।

**वीर०** एवम् "एकः सृजसि भूतानि" (भाग.2-5-4) इति प्रश्नस्य उत्तरमुक्त्वा यद्रूपं इत्यादिप्रश्नस्योत्तरं वदन् तावत्सृष्टिप्रकारमाह - **कालम्** इति। मायेशो मायाधिपतिः स्वया मायया स्वसङ्कल्पेन। यद्वा, द्वारभूतया प्रकृत्या विबुभूषुः प्रकृतिद्वारा नानानामरूपभाक् भवितुमिच्छुः, यदृच्छया अहेतुकम् अपरप्रेर्यो अकर्मपरवशः आत्मन् आत्मनि प्राप्तं सङ्गतं युक्तं कालं, कर्म, स्वभावं च उपाददे। कालो गुणवैषम्यरूपगुणक्षोभहेतुः। कर्म जीवादृष्टम्। स्वभावः प्रकृतेः परिणामस्वभावः। एतेषामुपादानं नाम स्वस्वकार्यान्मुख्यापादनम्।।२१।।

कालकर्मस्वभावोपादानफलं दर्शयन् महतः सृष्टिमाह - **कालात्** इति। कालात् हेतुभूतात् गुणव्यतिकरात् कालकृतगुणवैषम्यात् इत्यर्थः। परिणामस्वभावतः प्रकृतेः परिणामस्वभावात् कर्मणो जीवादृष्टाच्च हेतोः परमपुरुषाधिष्ठितात् अव्यक्तात् महतो महत्तत्त्वस्य जन्म उत्पत्तिः अभूदित्यर्थः। तदधिष्ठितत्वं तदाहितस्वकार्यजननसामर्थ्यवत्वम्। अत्र अव्यक्तात् इत्यध्याहारः। पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च व्यक्तानुग्रहेण च इति दर्शनात् व्यतिकरः मिश्रणं समानां गुणानां विषमत्वापत्तिः। यद्वा, गुणानां व्यतिकरो यस्मिन् इति बहुव्रीहिः। अव्यक्तादित्यर्थः।।२२।।

महतोऽहङ्कारोत्पत्तिमाह - **महतस्तु** इति। विकुर्वाणात् विक्रियमाणाद्रजस्सत्त्वोपबृंहितात् महतः द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः मोहनप्रकाशनप्रवर्त्तनस्वभावः तमःप्रधानः तमोगुणप्रधानः अभवत्। महतः त्रिगुणात्मकत्वेऽपि क्रियाशक्तिज्ञानशक्तिप्रधानत्वात् रजस्सत्त्वोपबृंहितात् इत्युक्तम्। एवम् अहङ्कारस्य तमः कार्यप्रधानत्वात् तमःप्रधानः इत्युक्तिः। अत एव अहङ्कारकार्येषु तामसं बहु राजसं सात्त्विकं च अल्पम्। एवं महत्कार्येषु तामसं अल्पं, तदितरदुभयं बह्विति मन्तव्यम्।।२३।।

---

1. H.V. कामरागादिकं 2. B.H.V. धिषु 3. B.H.V. साधि 4. B.H.V. Omit द्रव्य.....न्द्रियात्मकः। 5. B.H.V. Omit इति विग्रहः 6. W. Omits एवम् 7. W. ति 8. W. श्रोत्त 9. A.B. ः 10. W. स्वया 11. W. Omits आत्मन् 12. W. स्वका 13. W. नानां 14. A.B. Omit गुणानां 15. A.B. Omit विकुर्वाणात् 16. W. adds इत्युक्तं

तमःप्रधानस्य किं नामधेयं इत्यत आह - **स** इति। तस्य त्रैविध्यमाह विकुर्वन् रूपान्तरं गच्छन्। अहङ्कारःत्रिधा समभूत् सम्यगभूत्[1]। यद्भिदा यस्य अहङ्कारस्य भिदा वैकारिकः, तैजसश्च, तामसश्चेति, सात्त्विकराजसतामसाहङ्काराणां[2] क्रमेण नामानि। तेषां प्रतिनियतस्वभावानाह द्रव्यशक्तिरिति। प्रातिलोम्येन त्रयाणां स्वभावप्रदर्शनं द्रव्यशक्तिः। विमूढमहाभूताख्यद्रव्योत्पादने शक्तिः सामर्थ्यं यस्य स तथोक्तः। सात्त्विकाहङ्कारानुग्राहकत्वरूपा[3] या क्रिया तस्यां शक्तिः यस्य स तथोक्तः। प्रवर्तनमेव हि रजःकार्यम्। ज्ञानशक्तिः शब्दादिविषयज्ञानसाधनेन्द्रियोत्पादने शक्तिः यस्य स तथोक्तः। एकादशानाम् इन्द्रियाणां सात्त्विकाहङ्कारकार्यत्वात्, राजसस्य तु तदनुग्राहकत्वात्।।२४।।

**विज०** "सृज्यं सृजामि सृष्टोऽहम्" (भाग.2-5-17) इति इममर्थं स्पष्टयितुं सृष्टिप्रकारमाह - **कालम्** इति। ब्रह्मज्ञाने मुख्यलक्षणं जगज्जन्मादिकारणत्वमेवेति ज्ञापयितुम् इत्यतो वा सृष्टिप्रकारमाह कालमिति। मायेशो लक्ष्मीपतिः परनामस्वनिमेषान्ते सृष्टिकाले प्राप्ते विबुभूषुः बहुधा भवितुकामः अनादित एव आत्मन् आत्मनि यदृच्छया स्वेच्छया प्राप्तमेव कालम्। कर्म जीवानां नानाविधादृष्टम्। स्वभावं सात्त्विकादिलक्षणम्। चशब्दात् सगुणत्रयां प्रकृतिं स्वमायया स्वशक्त्या विशेषत उपददे इत्यन्वयः। प्रकृतिं प्रविश्य स्वशक्त्या क्षोभयामास इत्युक्तं भवति। "यत्रान्यहेत्वभावस्स्यात् ईश्वरेच्छादिना विना। तदिच्छा हि यदृच्छा स्यात् अतः तत्र यदृच्छया" (ब्रह्मतर्के) इति। "कालकर्मस्वभावादिनित्ययेशेच्छया सदा। प्राप्तमेव विशेषेण सृष्ट्यादावुन्नयत्यजः" (ब्रह्मतर्के) इति च। "ईशो बह्वीः पुरस्सृष्ट्वा तत्रैव बहुरूपताम्। तत्तन्नियामकतया प्राप्तं कालाद्युपपादे" (ब्रह्मतर्के) इति वचनेभ्यो न मायामयी सृष्टिः अत्र उच्यत इति सिद्धम्।।२१।।

गुण्व्यतिकरात्मकमूलप्रकृतेः महत्तत्त्वोत्पत्तिप्रकारम् आह - **कालात्** इति। यदा सिसृक्षुः विष्णुः कालकर्मस्वभावरजोगुणान् आविश्य सृष्टये प्रेरकः तमोगुणो, रजोगुणेन च संयुक्तः अभूत्। सः गुणवैषम्यात्मकः गुणव्यतिकरः। तस्मात् कालादिति पञ्चमी तृतीयार्थे। कालेन सृष्टिहेतुना। कर्मणः कर्मणा। हिरण्यगर्भादृष्टेन तदुपकृतात् परिणामस्स्वभावत इति तसिः; स तृतीयार्थे विकारस्वभावया मूलप्रकृत्या च सहितात् पुरुषाधिष्ठितादिति पुरुषेण विष्णुना अधिष्ठाय क्षोभमाणात् महतो महत्तत्त्वस्य चरुर्मुखदेहस्थानीयस्य जन्म अभूत् इत्यन्वयः। गुणानां व्यतिकरो विषमावस्था यस्मिन् तस्मात् अव्यक्तादिति वा। तदुक्तं - "गुणकालस्वभवेभ्य ईशेनाधिष्ठितत्त्वतः। जगदादिर्महत्तत्त्वं अभूत्तस्येच्छया हरेः (षाड्गुण्ये) इति।।२२।।

तुशब्देन कालादिकमनुकर्षति। कालकर्मस्वभावेभ्यो विकुर्वाणात् रजस्सत्वोपबृंहितात् सत्त्वेन

1. W. Omits सम्यगभूत् 2. W. "सानां अह" 3. W. "रग्रा"

अनुस्यूतरजोगुणेन प्रवृद्धात् महत्तत्त्वात् तमःप्रधानः तत्त्वविशेषोऽभवत् इत्यन्वयः। द्वितीयः तुशब्दो महत्तत्त्वम् अपेक्ष्य तमःप्रधानत्त्वं, न इतरापेक्षया। तदपेक्षया सत्त्वप्रधान एव इत्यस्मिन्नर्थे इतोऽपि तमः प्रधानत्वम् औपचारिकमिति भावेनाह द्रव्येति। द्रव्याणि भूतानि, ज्ञानं ज्ञानेन्द्रियाणि, क्रिया कर्मेन्द्रियाणि च आत्मा स्वरूपं यस्य स तथा।।२३।।

किन्नामकः असौ पदार्थ इति तत्र आह - **सःअहङ्कार** इति। तद्विभागमाह विकुर्वन्निति। त्रीणि दर्शयति वैकारिक इति। यस्य अहङ्कारस्य भिदा भेदः।।२४।।

**रा०कृ०** मायेशः मायानियामकः स्वया मायया प्रकृत्यात्मिकया विबुभूषुः विविधरूपधारी भवितुमिच्छुः आत्मनि यदृच्छया अप्रयत्नेन प्राप्तं लीनं कालं गुणानां वैषम्यात्मकक्षोभकारणं, कर्म पुण्यपापरूपं जीवादृष्टं, स्वभावं परिणामहेतुं च उपाददे स्वीकृतवान्।।२१।।

पुरुषधिष्ठितात् परमेश्वरप्रेरितात् कालात् गुणव्यतिकरः सत्त्वादीनां गुणानां व्यत्यासः पुरुषाधिष्ठितात् स्वभावतः स्वभावात् परिणामः गुणानां रूपान्तरप्राप्तिः पुरुषाधिष्ठितादेव कर्मणः जीवादृष्टात् महतः महत्तत्त्वस्य जन्म अभूत्।।२२।।

विकुर्वाणात् विकारं प्राप्नुवतः अत एव रजस्सत्त्वोपबृंहितात् यजस्सत्त्वाभ्यां वर्धितात् महतः द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः पृथिव्यादिपञ्चभूतात्मकः ज्ञानेन्द्रियात्मकः कर्मेन्द्रियत्मकः तमःप्रधानस्तु यः पदार्थोऽभूत्, सोऽहङ्कार इति प्रोक्त इति उत्तरेणान्वयः।।२३।।

हे प्रभो! तत्त्वज्ञानसमर्थ! नारद! अत्र द्रव्यशक्त्यादीनां त्रयाणां पदानां प्रातिलोम्येनावयः। तथा च यद्भिदा यस्य अहङ्कारस्य भेदः द्रव्यशक्तिः, क्रियाशक्तिः, ज्ञानशक्तिरिति शक्तित्रयात्मको भवति। सोऽपि अहङ्कारः विकुर्वन् तामसः, तैजसो राजसः, वैकारिकः सात्त्विक इति त्रिधा समभूत्।।२४।।

**तामसादपि भूतादेर्विकुर्वाणादभून्नभः।**
**तस्य मात्रा गुणः शब्दो लिङ्गं यद् द्रष्टृदृश्ययोः।।२५।।**

**नभसोऽथ विकुर्वाणादभूत् स्पर्शगुणोऽनिलः।**
**परान्वयाच्छब्दवांश्च प्राण ओजः सहो बलम्।।२६।।**

**वायोरपि विकुर्वाणात् कालकर्मस्वभावतः।**
**उदपद्यत तेजो वै रूपवत् स्पर्शशब्दवत्।।२७।।**

**तेजसस्तु विकुर्वाणादासीदम्भो रसात्मकम्।**
**रूपवत् स्पर्शवच्चाम्भो घोषवच्च परान्वयात्।।२८।।**

**श्रीध० तामसात्** इति। भूतादेरिति तामसस्य विशेषणम्। ननु तामसात् [1]अहङ्कारात् प्रथमं शब्दो भवतीति प्रसिद्धम्। सत्यम्। स तु यस्य नभसो मात्रा सूक्ष्मं रूपम्। गुणश्च [2]असाधरणो व्यावर्तको धर्मः। शब्दद्वारा नभ उत्पद्यत इत्यर्थः। एवमेव स्पर्शादिष्वपि द्रष्टव्यम्। शब्दस्य लक्षणं लिङ्गमिति। कुड्याद्यन्तरितेन केनचित् उच्चैः [3]गजो गज इत्युक्ते यो गजद्रष्टा यश्च तेन दृश्यो गजः तयोः लिङ्गं बोधकम्। लिङ्गविशेषणत्वात् यच्छब्दस्य [4]क्लीबत्वम्।।२५।।

**नभस** इति। परस्य नभसः कारणत्वेन अन्वयात्। शब्दवांश्च वायुः। तस्यैव लक्षणं प्राणो देहधारणम्। ओजस्सहोबलानि, इन्द्रियमनःशरीराणां पाटवानि। तेषां हेतुः इत्यर्थः।।२६।।

**वायोः** इति। [5]उदपद्यत उत्पन्नम्। स्वभावतो विकुर्वाणात् [6]स्वयं रूपवत् तेजो वायुनभसोः कारणभूतयोः अन्वयात् स्पर्शवत् शब्दवच्च। एवम् अम्भसः [7]पृथिव्याश्च परान्वयाधिक्यात् गुणाधिक्यम्।।२७।।

**तेजस** इति। घोषः शब्दः ।।२८।।

**वीर०** एवम् अहङ्कारस्य त्रैविध्यम् उक्तम्। अथ तामसाहङ्कारात् शब्दादितन्मात्राक्रमेण आकाशादिभूतसृष्टिमाह - **तामसात्** इति। भूतादिः इति तामसाहङ्कारस्यैव नामान्तरम्। विक्रियमाणात् भूतादिनामकात् तामसाहङ्कारात् नभः अभूत्। शब्दद्वारा नभः उदपद्यतेत्यर्थः। एवमेव स्पर्शादिष्वपि द्रष्टव्यम्। एतदेव शब्दस्वभावत्त्वं कथयन् उपपादयति लिङ्गमिति। [10]द्रष्टृदृश्ययोः आत्मानात्मनोः यल्लिङ्गं प्रमाणं तस्य नभसो मात्रा सूक्ष्मं रूपं गुणः व्यावर्त्तकोऽसाधारणो धर्मश्च यः शब्दः सोऽप्यभूदित्यर्थः। यद्वा, तस्य नभसः मात्रागुणः असाधारणगुणः शब्दस्य लक्षणं द्रष्टृदृश्ययोः आत्मानात्मनोः लिङ्गं प्रमाणं यत् स शब्द इत्यर्थः। शब्दो हि शास्त्रात्मना आत्मानात्मनोः प्रमाणम्। यदाह सूत्रकारः "शास्त्रायोनित्वात्" (ब्र.सू.1-1-3) इति। यदिति नपुंसकत्वं लिङ्गापेक्षया।।२५।।

---

1. A.H.V. Omit अहङ्कारात् 2. H.V. Omit असाधारणो 3. H.V. Omit गजो 4. B. षण्ड° 5. B.H.V. Omit उदपद्यत.....विकुर्वाणात् 6. H.V. °तो 7. B. Omits पृथिव्याश्च 8. A.B. °तस्य सू° 9. W. °वं 10. A.B. Omit द्रष्टृ.....प्रमाणं

विकुर्वाणात् रूपान्तरं गच्छतः नभसः स्पर्शगुणः अनिलः वायुः अभूत् स्वर्शतन्मात्रद्वारा अभूदित्यर्थः। परान्वयात् कारणनभोगुणानुवृत्तेः, शब्दवांश्च वायुरित्यर्थः। संस्पर्शस्य वायोर्लक्षणमाह प्राणः अवस्थाविशेषोपपन्नो वायुर्हि प्राणः। 'ओजः सहो बलम्' इति धर्मिप्रधानो निर्देशः ओज आदिविशिष्ट इत्यर्थः। ओजः प्रवृत्तिशक्तिः, सहो वेगः, बलं धारणसामर्थ्यं ओजःसहोबलानि इन्द्रियमनश्शरीराणां पाटवानि तेषां हेतुः इति केचित्।।२६।।

कालकर्मस्वभावतो हेतोः विकुर्वाणात् वायोः रूपवत् कारणभूताकाशवायुगुणानुवृत्तेः रूपवत् स्पर्शशब्दवच्च तेजः उदपद्यत। कालकर्मस्वभावत इति सर्वत्र अनुसन्धेयम्।।२७।।

विक्रियमाणात् तेजसः रसात्मकं परान्वयात् रूपस्पर्शशब्दवच्चाम्भ आसीत्। घोषवत् शब्दवत्।।२८।।

**विज०** प्रकारान्तरेण तद्भेदमाह - द्रव्यशक्तिरिति। द्रव्यनामकपञ्चभूतोत्पादनशक्तिमत्वात्, क्रियानामककर्मेन्द्रियजननशक्तिमत्वात्, तथा ज्ञाननामकज्ञानेन्द्रियजननशक्तिमत्वात्, तस्य अहङ्कारात्मनः प्रभो रुद्रस्य द्रव्यशक्तिरित्यादिभेदोऽवगन्तव्यः। तथा चोक्तं - "भूतानि द्रव्यनामानि ज्ञानं ज्ञानेन्द्रियाणि च" (गारुडे) इत्यादि। द्रव्याद्युत्पादनशक्तिमत्वात् द्रव्यादिशक्तिः इत्युक्तम्। तं प्रकारमाह तामसादपि इति। अपिशब्दः कालकर्माद्यनुकर्षणार्थः। भूतादेः भूतानां मूलकारणात्।।२५।।

तस्य आकाशस्य मात्रागुणः पञ्चेन्द्रियैः मेयत्वात् मात्रागुणः शब्दः अभूत्, तस्मात् नभोऽपि अभूदिति उत्पत्तिविशेषोऽत्र ज्ञातव्यः। तथा वक्ष्यमाणत्वात् तत्प्रयोजनमाह लिङ्गमिति। यत् शब्दरूपं द्रष्टृदृश्ययोः द्रष्टुः हरेः दृश्यस्य विश्वस्य च लिङ्गं ज्ञापकं प्रमाणम्। तदुक्तं - "पञ्चेन्द्रियाभिमेयत्वान्मात्रागुण इतीरितः। शब्देनैव परो द्रष्टा ज्ञायते जगदेव च" (विष्णुसंहितायम्) इति च। शब्दः क्वचिदाश्रितो गुणत्वादिति च स्पर्शाख्यो गुणः त्वगिन्द्रियैकग्राह्यो यस्य त तथा।।२६।।

परस्य आकाशस्य अन्वयात् संसर्गात् शब्दवान् शब्दगुणोपेतः। वायोः औत्पत्तिकगूणानाह-प्राण इति। सर्वचेष्टयितृत्वात् प्राणः। अभिभवशक्तित्वात् ओजः अवष्टम्भशक्तिर्वा। अनभिभाव्यत्वात् सहः। स्वेच्छाकरणशक्तिस्वरूपात् बलम्। तदुक्तं "सर्वचेष्टयितृत्वात्तु प्राणोऽभिभवशक्तितः ओजस्तु" (भारते) इत्यादि। "ओजोऽवष्टम्भबलयोः" (वैज.को.6-3-4) इति यादवः। कालकर्मस्वभावतः विकुर्वाणात् वायोः तेजः उदपद्यत उत्पन्नमभूत्। तेजः स्वतो रूपवत् कारणमनुस्यूतत्वात् स्पर्शादिगुणवत्। उपाधिवशात् स्पर्शादिगुणवत्वं न स्वत इति वैशेषिककल्पितं स्वकपोलकल्पितमिति दर्शितं वै इत्यनेन ।।२७।।

1. W. स्पर्शवांश्च 2. A.B. Omit रूपवत् 3. A.B. घोषः शब्दः 4. A. 'क'

विकुर्वाणात् तेजस इत्यादौ कालकर्मस्वभावतः इत्येतत् अनुवर्तनीयम्। तदन्वयात् कारणपरम्परान्वयात्। रसगुण आत्मा स्वरूपं यस्य तत् तथा। रसगुणोत्पत्तिपूर्वकम् इति भावः। घोषवत् शब्दवत्।।२८।।

**रा०कृ०** भूतादेः आकाशादीनां भूतानां कारणात् विकुर्वाणात् तामसादपि तामसाहङ्कारादपि नभः आकाशमभूत् उदपद्यत। द्रष्टृदृश्ययोः यत् लिङ्गं ज्ञापकं भवति स शब्दः तस्य नभसः मात्रा सूक्ष्मं रूपं गुणो व्यावर्तको, धर्मश्च भवतीति शेषः। शब्दद्वारा नभसोऽनुभुयमानत्वात् शब्दस्य नभःकारणत्वम्।।२५।।

अथ विकुर्वाणात् नभसः स्पर्शगुणोऽनिलः अभूत्। स वायुः परान्वयात् परस्य स्वोपादान-कारणस्य नभसः अन्वयात् अनुवृत्तेः, शब्दवांश्च अभूदिति शेषः। स एव वायुः शरीरान्तःसञ्चारात् प्राणः, इन्द्रियशक्तिरूपत्वात् ओजः, अन्तः करणशक्तिरूपतया सहः देहसामर्थ्यरूपतया बलं च भवति।

स्पर्शद्वारा वायोरनुभूयमानत्वात् स्पर्शस्य वायुकारणत्वम्। स्पर्शेन जातस्य शब्दस्य नभोगुणत्वात् नभः वायोः उपादानकारणं भवति। वायोश्च देहधारणादिकारणत्वात् प्राणादिनामव्यवहारः।।२६।।

कालकर्मस्वभावतः कालकर्मस्वभावैः निमित्तभूतैः विकुर्वाणात् विक्रियमाणात् वायोरपि रूपवत् कारणभूतयोः वाय्वाकाशयोः अनुवृत्त्या स्पर्शशब्दवञ्च तेजः उदपद्यत उदभूत्।

रूपद्वारा तेजसोऽनुभूयमानत्वात् रुपस्य तेजःकारणत्वम्। सकलकार्यपरिणामाभिव्यक्तयात्मकेन कालेन स्पर्शरूपकर्मणा परिणामसम्पादकगुणविशेषात्मना स्वभावेन च वायोः रूपवत्तेजस्सम्भवः। तेजसो वायुजन्यत्वात्, वायोराकाशजन्यत्वाञ्च तेजः स्पर्शशब्दवञ्च भवति।।२७।।

विकुर्वाणात् तेजसः रसात्मकं रसगुणकं परान्वयात् परेषां कारणभूतानां तेजोवायुनभसाम् अनुवृत्तेः रूपवत्, स्पर्शवत्, घोषवत् शब्दवत् अम्भः आसीत् उदभूत्।

रसद्वारा अम्भसोऽनुभूयमानत्वात् रसस्याम्भःकारणत्वम्। किञ्च रसमुखेनैव परम्परा-कारणभूतानां तेजोवाय्वाकाशानां सम्बन्धात् जलस्य रूपस्पर्शशब्दयोगः।।२८।।

**विशेषस्तु विकुर्वाणादम्भसो गन्धवानभूत्।**
**परान्वयाद्रसस्पर्शशब्दरूपगुणान्वितः।।२९।।**

**वैकारिकान्मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश।**
**दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः।।३०**

तैजसात् तु विकुर्वाणादिन्द्रियाणि दशाभवन्।
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिः बुद्धिः प्राणश्च तैजसौ।
श्रोत्रं त्वग्घ्राणदृग्जिह्वा वाग्दोर्मेढ्राङ्घ्रिपायवः।।३१।।

यदैतेऽसङ्गता भावा भूतेन्द्रियमनोगुणाः।
यदाऽऽयतननिर्माणे न शेकुर्ब्रह्मवित्तम!।।३२।।

तदा संहत्य चान्योन्यं भगवच्छक्तिचोदिताः।
सदसत्त्वमुपादाय चोभयं ससृजुर्ह्यदः।।३३।।

वर्षपूगसहस्रान्ते तदण्डमुदकेशयम्।
कालकर्मस्वभावस्थो जीवोऽजीवमजीवयत्।।३४।।

स एवं पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः।
सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान्।।३५।।

यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः।।३६।।

**श्रीध० विशेष** इति। विशेषः पृथ्वी। पृथिव्याश्च परान्वयाधिक्यात् गुणाधिक्यम्।।२९।।

**वैकारिकादिति**। मनःशब्देनैव तदधिष्ठाता चन्द्रोऽपि द्रष्टव्यः। अन्ये च दशदेवाः वैकारिकाः सात्त्विकाहङ्कारकार्याः। तानाह - दिशश्च वातश्च अर्कश्च प्रचेताश्च अश्विनौ च। एते पञ्च श्रोत्रत्वक्-चक्षुर्जिह्वाघ्राणानाम् अधिष्ठातारः। वह्निश्च इन्द्रश्च उपेन्द्रश्च मित्रश्च कश्च प्रजापतिः एते पञ्च वाक्पाणिपादपायूपस्थानाम् अधिष्ठातारः।।३०।।

**तैजसात्** इति। यतो ज्ञानशक्तिः बुद्धिः क्रियाशक्तिः प्राणश्च तैजसाहङ्कारकार्यौ, अतो ज्ञानक्रिया-विशेषरूपाणि इन्द्रियाण्यपि तैजसात् अभवन् इत्यर्थः। तान्याह श्रोत्रमिति। दोः पाणिः। मेढ्रम् उपस्थः। क्रमस्तु अत्र न विवक्षितः।।३१।।

---

1. C.M.Ma.N.W. "स्तु 2. M.Ma. "सः;W. "सात् 3. C.H.N.V. "त्रं 4. M.Ma. एं 5. W. "संह" 6. V. "स" 7. M.Ma.W. नों 8. H.V. "र्षायुत" 9. M.Ma. "जनत् 10. M.Ma.W. "घ 11. M.Ma. "क्षिः" 12. M.Ma. ऊर्वा 13. B. "थिवी 14. H.V. Omit पृथिव्याश्च.....धिक्यम् 15. B.H.V. Omit अधिष्ठातारः 16. V. add वि 17. H.V. "स्वरू"

एवं कारणसृष्टिम् उक्त्वा कार्यसृष्टिम् आह - **यदा** इति। यदा एते असङ्गताः [1]अमिलिताः आसन् अत एव यदा आयतनस्य [2]ब्रह्माण्डाख्य शरीरस्य निर्माणे न शेकुः।।३२।।

**तदा** इति। [3]तदा सदसत्त्वं प्रधानगुणभावम् उपादाय स्वीकृत्य उभयं समष्टिव्यष्ट्यात्मकं शरीरम्।।३३।।

**वर्षेति**। कालकर्मस्वभावान् अधिष्ठाय स्थितो जीवयतीति जीवः परमात्मा अजीवम् अचेतनम् अजीवयत् चेतयति स्म।।३४।।

**स** इति। निर्भिद्य पृथक्कृत्य स्थित इत्यर्थः।।३५।।

तदवयवैः लोकरचनामाह - **यस्येति**। कटि[4]रिति ऊरुमूलयोः पश्चाद्भागः, जघनं [5]तु पुरोभागः अधःसप्तलोकान् अतलादीन् ऊर्ध्वं भूरादीन् सप्त।।३६।।

**वीर०** अथ विकुर्वाणात् अम्भसो गन्धवान् परान्वयात् रसस्पर्शशब्दरूपगुणान्वितश्च विशेषः पृथिव्यभूत्।।२९।।

सर्वेषां इन्द्रियाणां सात्त्विकाहङ्कारात् उत्पत्तिमाह - **वैकारिकादिति**। वैकारिकनाम्नः सात्विकाहङ्कारात् दिगादयः श्रोत्राद्यधिष्ठान[6]देवताः। ताभिः अधिष्ठितानि इन्द्रियाणि मनश्च जज्ञिरे इत्यर्थः। "अग्निर्वाग्भूत्वा" इत्यादिवत् अधिष्ठात्रधिष्ठेययोः अभेदोपचारात् सामानाधिकरण्यात् देवा वैकारिका इत्युक्तम्। देवताः गणयति दिगिति। दिशश्च वातश्च अर्कश्च प्रचेताश्च अश्विनौ च - एते तस्य श्रोत्र त्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानां अधिष्ठातारःवह्निश्चेन्द्रश्च उपेन्द्रश्च मित्रश्च कश्च प्रजापतिः - एते पञ्च वाक्पाणिपादपायूपस्थानां अधिष्ठातारः। मनसस्तु अधिष्ठाता चन्द्रमाः। एभिः दशभिः अधिष्ठितानि श्रोत्रादीनि जातानि इत्यभिप्रायः।।३०।।

तैजसाहङ्कारकार्यमाह - **तैजसादिति**। तैजसात् तेजस्सम्बन्धिनः राजसाहङ्कारानुगृहीतात् सात्त्विकाहङ्कारादित्यर्थः। अन्यथा पूर्वग्रन्थव्याघातात्। पूर्वग्रन्थै अभिमानिदेवतासृष्टिरिति चेत् न। इन्द्रियैर्विना देवतादेहारम्भायोगात्, चरुमुखसृष्टत्वेन अत्र वक्ष्यमाणानां आदित्येन्द्रदीनां अण्डसृष्टेः प्राक् सृष्ट्ययोगाच्च। न च असृष्टानामेव अधिष्ठातृत्वमपि अनुपपन्नमिति वाच्यम्। परमाकाशस्थानां

---

1. V. Omits अमिलिताः 2. A.B. Omit ब्रह्माण्डाख्य 3. B. Omits तदा 4. H.V. Omit इति 5. B.H.V. Omit तु 6. W. तॅ 7. A.B. Omit दिगिति

भगवत्संकल्पानुगृहीतानां अधिष्ठातृत्वोपपत्तेः। कोऽयं परमाकाश इति चेत् वैकुण्ठाख्यो लोकः अत एव "वृतं चतुःषोडशपञ्चशक्तिभि" रिति वक्ष्यते। न च परमाकाशस्थाभिः एव अधिष्ठानोपपत्तेः चतुर्मुखकर्तृका दिगादिसृष्टिर्व्यर्थेति वाच्यम्। व्यष्टीन्द्रियाधिष्ठानार्थं दिगादिसृष्टेः आवश्यकत्वात्। अतः परमाकाशे सत्येव इत्यवगन्तव्यम्। अत एव एभिः अधिष्ठातृभिः परमात्मानं प्रति क्रियमाणा स्तुतिरपि उपपद्यते। अन्यथा अण्डोत्पत्त्यनन्तरं स्रक्ष्यमाणानां एषां अण्डोत्पत्तेः पूर्वं अभावात् तत्कर्तृका स्तुतिरनुपपन्ना स्यात्। नन्वेषां सर्वेन्द्रियाधिष्ठातृत्वे तदिन्द्रियाणां केऽधिष्ठातारः इति येत्, उच्यते- तदिन्द्रियाणामपि दशानां अधिष्ठातारः सन्त्येव। एकैकमिन्द्रियं त्वधिष्ठातृशून्यं अवतिष्ठते। तत्र स्वपरकार्यनिर्वाहकत्वन्यायेन स्वेनैव वा परमात्मना वा अधिष्ठीयते इति नानवस्थाप्रसङ्ग इति। यद्वा तैजसात्त्विति पक्षान्तरोक्तिः। पक्षद्वयस्य अविरोधमाह **ज्ञानशक्तिरिति**। प्राणशब्दः इन्द्रियापरं, ज्ञानशक्तिः प्राणः, ज्ञानेन्द्रियगणः क्रियाशक्तिश्च प्राणः, कर्मेन्द्रियागणः बुद्धिरन्तः - करणचतुष्टयं च तैजसः। राजसाहङ्कारान्वितसामग्रीप्रसूतः ज्ञानकर्मेन्द्रियाणां अन्तःकरणस्य च स्वकार्ये[1] प्रवृत्तिमत्वात् तत्कारणेनापि रजोगुणान्तितेन भवितव्यं इत्येतत्तात्पर्यकत्वात् तैजसत्त्वादस्य सर्वेन्द्रियाणां राजसाहङ्कारानुगृहीतसात्त्विकाहङ्कारकार्यत्वमेवेति न पक्षद्वयविरोध इत्यर्थः। एवं भूतादेः अपि इन्द्रियसृष्टौ अनुग्राहकः तैजसः इति वेदितव्यम्। इन्द्रियाणि गणयति **श्रोत्रमिति**। दोः पाणिः मेढ्रं उपस्थः। क्रमस्त्वत्र न विवक्षितः।।३१।।

यदैते भूतानि इन्द्रियाणि मनश्च तेषां गुणाः तन्मात्राणि, विषयाः[2] शब्दादयः, एते सर्वे असंहताः अमिलिताः आसन्। अत एव यदायतनस्य ब्रह्माण्डाख्यभगवच्छरीरस्य[3] निर्माणे हे ब्रह्मवित्तम! न शेकुः नाशक्नुवन्।।३२।।

तदा भगवच्छक्त्या चोदिताः प्रेरिताः संहत्य पञ्चीकरणोक्तप्रकारेण परस्परं[4] मिलित्वा सदसत्त्वं, सत्त्वं पञ्चीकरणेन स्थूलत्त्वं, असत्त्वं सूक्ष्मत्वं न उभयं अनुभयं पूर्वोक्तकालकर्मस्वभावाँश्च उपादायादः ब्रह्माण्डं ससृजुः। यद्वा अनुभयमिति अदःशब्दनिर्दिष्टब्रह्माण्डविशेषणं अनुभयं कार्यकारणभावानन्वितं अदः[5] ब्रह्माण्डं ससृजुरित्यर्थः। कार्यमप्यण्डं हि आकाशकार्यवायुवत् न तत्त्वान्तरं; न च तत्त्वान्तरारम्भकं, अतस्तत्त्वान्तरतया कार्यं तत्त्वान्तरापेक्षया कारणं च न भवतीत्यनुभयं ब्रह्माण्डमुक्तं चतुर्मुखोत्पत्त्यादिकमन्यत्र विस्तरेण वक्ष्यमाणं अत्रापि अर्थसिद्धं अनुसन्धेयम्।।३३।।

वर्षपूगसहस्रान्ते प्रलयकालावसाने इत्यर्थः। अन्यथा "तत् क्रमेण विवृद्धं तज्जलबुद्बुदवत् समम्" (विष्णु.पु.1-2-54) इति विरोधात्। जीवः देवाद्यपेक्ष्या समष्टिपुरुषब्रह्माख्यजीवशरीरकः

1. A.B. °र्थं 2. W. adds च 3. A.B. °ण्डस्य 4. W. °रेण 5. A.B. अण्डं 6. A.B. न

परमपुरुषः, कालकर्मस्वभावाश्रितः सन् तं अजीवं अचेतनं उदकेशयं अण्डं ब्रह्माण्डं अजीवयत् चेतयति स्म। अत्रोदकेशयं इत्यनेन अण्डसृष्टेः पूर्वं गर्भोदकसंज्ञिका सृष्टिः अर्थसिद्धानुसन्धेया परोक्षनिर्देशश्च चतुर्मुखान्तरसाम्याभिप्रायः।।३४।।

स एव पुरुषः चतुर्मुखरूपेणावस्थितः परमपुरुषः अण्डं निर्भिद्य तस्मात् निर्गतः अण्डभेदनावकाशलाभात् अनुपरुद्धसंचारादिमान् अभूत् इत्यर्थः। चतुर्मुखस्य भगवदात्मकत्त्वं सामानाधिकरण्येन आह **सहस्रेति**। यः चतुर्मुखशरीरकत्त्वेन अवस्थितः स एव "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्"। (पु.सू.1-1) "सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोक" (भ.गी.13-13) इत्यादिना उक्तः सर्वतः पाणिपादादिकार्यकर्ता परमपुरुष इत्यर्थः।।३५।।

यस्य सर्वतः पाणिपादादिकार्यकर्तुः वैराजपुरुषस्य अवयवैः पादतलाद्यवयवैः लोकान् अतलादीन् मनीषिणः उपासकाः कल्पयन्ति लोकान्, यदवयवत्त्वेन रचयन्तीत्यर्थः। तत्तदवयवप्रभवानां तत्तदवयवत्त्वेन उपासनं युक्तं तदवयवैः लोकरचनां आह **कट्यादिभिरिति**। कटिरूरुमूलयोः पश्चाद्भागः, जघनं पुरोभागः अधः सप्तलोकान् अतलादीनूर्ध्वं भूरादीन् सप्त कल्पयन्तीत्यन्वयः।।३६।।

**विज०** सर्वे गुणाः पृथिव्यां विशिष्यन्त इति। विशेषः पृथिवी गन्धवानिति। गन्धतन्मात्रागुणोत्पत्तिपूर्वकं इत्यर्थः। परन्वयात् कारणसंसर्गात्।।२९।।

वैकारिकाहङ्कारात् सृष्टिप्रकारमाह **वैकारिकादिति**। वैकारिकाहङ्कारात् सात्त्विकांशात् मनोऽन्तःकरणं शब्दज्ञानादिविशीष्टकार्यशक्तित्वात् वैकारिकनामानो देवाः ते अपि तस्माज्जज्ञिर इति शेषः। तदुक्तं 'विशिष्टकार्यशक्तित्वात् देवा वैकारिकाः स्मृता' इति। न्यूनाधिकसंख्याव्यवच्छेदार्थं दर्शेति। तेषां नामसंकीर्तनं करोति दिग्वातेति। प्रचेता वरुणः अश्वी इत्यश्विनौ, उपेन्द्रो विष्णुः तस्य न पादाभिमानित्वं किन्तु पादाभिमानिनो यज्ञनाम्नो देवस्य अन्तर्यामित्त्वेन पादांगुष्ठं अधिष्ठाय शरीरधारकत्वात् तन्नामकीर्त्तनं अनाद्यनन्तोऽपि हरिः वैकारिकगुणेष्वजः अवतीर्णः पदांगुष्ठं अध्यास्ते विश्वभुग्विभुः इत्यादेः। को दक्षप्रजापतिः।।३०।।

तैजसाहङ्कारकार्याणि किमिति नोच्यन्त इति पक्वं भक्षयेति भावेनाह - **तैजसादिति**। अत्रापि कालाद्यनुकर्षः कर्त्तव्यः। तेषां शक्तिवैषम्यात् क्रोडीकारेण विभागमाह ज्ञानशक्तिरिति। अचेतनानां इन्द्रियाणां ज्ञानादिजनकत्वं कथं घटत इति तत्राह बुद्धिरिति। ज्ञानेन्द्रियाणां ज्ञाने ज्ञानजनने शक्तिः

---

1. W. Omits ब्रह्माण्डं 2. A.B. स्वरू" 3. A.B. "णीप" 4. A.B. "ङै" 5. W. पाताल

यस्याः सा ज्ञानशक्तिः, बुद्ध्यभिमानिन्युमा बुद्धिः। कर्मेन्द्रियाणां क्रियायां क्रियाजनने शक्तिः यस्य सः क्रियाशक्तिः प्राणः अहङ्कारिकश्च तैजसः तैजसाहङ्कारत् उत्पन्नौ इत्यर्थः। 'ज्ञानेन्द्रियाणां देवानां ज्ञानशक्तिः उदाहृता' इत्यदौ उदीर्यमाणदेवानां ज्ञानादिशक्तिरपि बुद्धिप्राणयोः प्रसादात् इत्यवगन्तव्यम्। इन्द्रियाणां तैजसाभिधानं अतिजाज्वल्यमानत्वात् भूतानां तामसत्त्वं च ज्ञानक्रियाशक्त्योः अभावात् तदुक्तं "अतिजाज्वल्यमानत्त्वात् तैजसानीन्द्रियाण्यपि" इत्यादि। भूतानां द्रव्यत्वं च द्रवणप्राप्यनिमित्तं अहं पूर्वं अहंपूर्वमिति विवदमानयोः इव स्थितयोः द्वयोः पृथिव्यपोः वायुतेजसोर्वा वेगलक्षणसंस्कारसंपर्कान्मिथो द्रवणं युज्यते आकाशस्य व्याप्तत्त्वेन द्रवणाभावेऽपि प्रदेशात्मना तत्सम्भवात् द्रव्यत्वं युक्तं, तदुक्तं "द्रव्यं तु द्रवणप्राप्यं द्वयोः विवदमानयोः पूर्ववेगादिसम्बन्धादाकाशश्च प्रदेशत" इति।।३१।।

इन्द्रियाणां विशेषनामान्याह - **श्रोत्रमिति**। श्रोत्रं त्वक् त्वगिन्दियं दोषौ हस्तौ। मेढ्रं गुह्येन्द्रियम्। बाह्यसृष्टिं उक्त्वा तेभ्यः तत्त्वेभ्यो ब्रह्माण्डसृष्टिप्रकारं आह **य एते** इति। य एते कथिता भूतेन्द्रियमनोगुणा इत्युपलक्षणम्। पञ्चभूतदशेन्द्रियतैजसबुद्धिप्राणमनःशब्दादिसत्त्वादिगुणं महदहङ्कारादयो भावाः पदार्थाः ते अन्योन्यं असङ्गता असंश्लिष्टाः यदायतननिर्माणे ब्रह्माण्डकरणे न शेकुः शक्तिमन्तो नासन्।।३२।।

तदा भगवन्तं अभिष्टूय शरणं गताः ततः स्तुतिप्रसन्नस्य तस्य चेष्टकरूपेण तं गणं प्रविष्टस्य हरेः शक्त्या चोदिता मिथः संहत्य संश्लिष्य सदसत्त्वं व्यक्ताव्यक्तत्वधर्मवत् पृथिव्यादिभूतत्रयमाकाशवाय्वाख्यभूतद्वयं च उपादाय उपादानीकृत्य नः अस्माकं संसारभयजनकं अदो ब्रह्माण्डं ससृजुः इत्यन्वयः। नोभयं सदसद्विलक्षणं इत्येतदयुक्तं यतः सत्यत्त्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं **अत** इति। हेतुवाचिनो हि शब्दाद् ब्रह्माण्डे संसारे नोभयकारणमिति भयहेतुत्त्वं वा प्रतीयते, तदुक्तं "ब्रह्माण्डं हि वदन्तीति जीवानां भयकारणं" तैत्राह **संसृतिरिति**। "आकाशवायू त्वव्यक्तौ इतरेऽण्डप्रकाशिता" इत्यादेर्भूतानां सदसत्वं युक्तम्।।३३।।

ब्रह्माण्डान्तसृष्टिं वक्तुं हरेस्तत्र व्यक्तिप्रकारमाह **वर्षपूगेति**। कालाद्युद्बोधकत्त्वेन कालकर्मस्वभावस्थो जीवः संसारव्यतिरिक्तः परमेश्वरः सहस्रवत्सरं उदकेशयं आवरणजलमध्येस्थितं तदण्डं वर्षपूगसहस्रान्ते तैस्तत्त्वैः सह प्रविश्य तदण्डं यदा स्वात्मानं प्रसूते तदा परिवृत्य जीवं स्वात्मानं तत्र अजीजनत् व्यञ्जयामास। "यः प्राणधारणं प्राणाप्रसादात् कुरुते अनिशं स जीव इति संदिष्ट" इत्यादेरजीव इत्येव पदच्छन्दः, "कालकर्मस्वभावस्थो वासुदेवः परः पुमान्"। "अकरोदण्डमुद्बद्धमात्मप्रसवकारणम्" इति वचनात्। अजीवमित्येव यद्वा जीवः प्राणधारकः परमात्मा जीवं तथाविधार्थं स्वात्मानं तत्र

1. M.Ma. "रेव्या 2. M.Ma. Omit ते 3. M.Ma. "ज्ञहि 4. M.Ma. "ण्डे 5. A. "ध्य"

अजीजनदिति। 'प्राणान् धारयते यस्मात् स जीवः परमेश्वर' इति च। जीवादत्युद्रिक्ततेजस्त्वादजीवो जगज्जीवहेतुत्वात् जीव इति हेतुद्वयादिदं युक्तञ्च; 'अजीवोऽपि महातेजास्त्वथवा जीवयत् जगदिति' वचनात्। यद्वा अजीवः परमेश्वरः जीवं सर्वजीवप्रधानं चतुर्मुखमुत्पाद्य तदन्तर्यामित्वेन प्राणधारकं स्वऽत्मानं अजीजनत्। विरिञ्यस्यापि विराडाख्याण्डान्तर्वर्तिरूपजननस्य अत्र अभिप्रेतत्त्वात् तदुक्तम्। 'अण्डे जातौ पुमांसौ द्वौ हरिर्ब्रह्मा तथैव चेत्यादि'।।३४।।

तामेव अभिव्यक्तिं स्फुटीकरोति **स एष** इति। अयमर्थः यो महदादितत्त्वानि सृष्ट्वा तदन्तर्विष्टः तदुपादानतया अण्डं निर्माय तदन्तः प्राविशत्, स एष पुरुषः करचरणाद्यवयवत्वेन पुरुषनामा हरिरण्डं निर्भिद्य बृंहयित्वा तस्मात् अण्डात् निर्गतः प्रकाशितः अभूत्। पुरुषत्वेऽपि लोकविलक्षणः अयमिति भावेन विशिनष्टि **सहस्रेति**। अत्र सहस्रशब्दस्य यथासम्भवमर्थो वक्तव्यः।।३५।।

पुरुषाख्यविष्णोः अवयवेभ्यः एव चतुर्दशभुवनसृष्टिः, अन्येभ्यस्तु अमुख्येति भावेनाह **यस्येति**। इह पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णब्रह्माण्डे आयामतो विस्तारतः तावद्विपुलानन्दादिदेहत्त्वेन अवतीर्णस्य चतुर्दशभुवनेभ्यः अण्डाञ्च भिन्नस्य पुरुषाख्यस्य हरेः अवयवैः निमित्तकारणैः मनीषिणः चतुर्दशलोकान् सृष्टान् कल्पयन्तीति यत् यस्मात्तस्मात् सृष्टेः ज्ञानिप्रत्यक्षसिद्धत्वात् अन्यतः सृष्टिरमुख्येति भावः। "हरेरवयवैः सृष्टा लोका इति विकल्पनम्" इत्यादेश्च तत्सृष्टिकल्पनाप्रकारमाह **ऊर्वादिभिरिति**। ऊर्वादिभिः पादतलान्तैः अवयवैः अतलादिपातालान्ताः सप्त लोकाः निर्मिताः जघनादिभिः मूर्धान्तैः अवयवैः ऊर्ध्वं पृथिव्यादिसत्यान्ताः सप्त लोकास्सृष्टा इति।।३६।।

**रा०कृ०** विकुर्वाणात् अम्भसस्तु गन्धवान् गन्धगुणकः परान्वयात् परेषां कारणभूतानां जलतेजोवायुनभसां अनुवृत्तेः रसस्पर्शशब्दरूपगुणान्वितः रसरूपस्पर्शशब्दगुणान्वितश्च विशेषः पृथिवी अभूत् उदभूत्।

गन्धद्वारा पृथिव्याः अनुभूयमानत्वात् गन्धस्य पृथिवीकारणत्वम्। किञ्च जलतेजोवायुनभसां सम्बन्धात् पृथिव्याः रसरूपस्पर्शशब्दगुणयोगः।।२९।।

वैकारिकात् सात्त्विकाहङ्कारात् मनो जज्ञे जातम्। दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः दिशः वातः वायुः, अर्कः सूर्यः, प्रचेताः वरुणः, अश्विनौ, वह्निः अग्निः, इन्द्रः, उपेन्द्रः, विष्णुः, मित्रः, कः प्रजापतिः, एते दश देवाः वैकारिकाः सात्त्विकाहङ्कारजाताः।

अत्र मनश्शब्देन तदधिष्ठाता चन्द्रो जात इति ज्ञेयः। तथा च दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विनामकाः पञ्च देवताः श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानां अधिष्ठातारः। वह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रप्रजापतयश्च पञ्चदेवताः वाक्पाणिपादपायूपस्थानां अधिष्ठातार इति ज्ञायते।।३०।।

यतो ज्ञानशक्तिः बुद्धिः, क्रियाशक्तिः प्राणश्च तैजसौ राजसाहङ्कारान्नातौ ततः श्रोत्रत्वग्घ्राण-दृग्जिह्वावाग्दोर्मेठाङ्घ्रिपायवः - अत्र इन्द्रियाणां क्रमो न विवक्षितः। दोःपाणिः। मेढ्रमुपस्थः। एतन्नामकानि दशेन्द्रियाणि, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणीति यावत्। विकुर्वाणात् तैजसात् राजसाहङ्कारात्तु अभवन् जातानि।।३१।।

हे ब्रह्मवित्तम! नारद! यदा एते भूतेन्द्रियमनोगुणाः भूतानि आकाशादिपञ्चभूतानि, इन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च, मनः गुणाः तन्मात्ररूपाः भावाः पदार्थाः असङ्गताः पृथक् विरुद्धस्व-भावत्वात् असम्मिलिता आसन् ततश्च यदा आयतननिर्माणे आयतनस्य ब्रह्माण्डाख्यस्य भोगायतनस्य समष्टिव्यष्ट्यात्मकस्य शरीरस्य निर्माणे रचनायां न शेकुः न समर्था बभूवुः। तदा भगवच्छक्तिचोदिताः भगवतः इच्छारूपया शक्त्या चोदिताः प्रेरिताः सदसत्त्वं स्थूलसूक्ष्मभावं उपादाय स्वीकृत्य अन्योऽन्यं संहत्य च पञ्चीकरणप्रकारेण परस्परं मिलित्वा चोभयं समष्टिव्यष्ट्यात्मकं अदः शरीरं ससृजुः।।३२,३३।।

वर्षपूगसहस्रान्ते संवत्सरसमूहसहस्रस्य अन्ते कालकर्मस्वभावस्लः कालकर्मस्वभावानां नियन्ता जीवः जीवयति सर्वमिति जीवो भगवान् उदकेशयं अजीवं चेतनारहितं तत् पूर्वोक्तं अण्डं ब्रह्माण्डं अजीवयत् सजीवमकरोत्।।३४।।

स एव पुरुषः भगवान् परमपुरुषः अण्डं पूर्वोक्तमण्डं निर्भिद्य शस्त्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवांश्च सन् तस्मादण्डात् निर्गतः।।३५।।

इह लोके मनीषिणः बुद्धिमन्तः यस्य भगवतः कट्यादिभिः कट्यूरुजानुजङ्घागुल्फप्रपदपादमूर्तेः सप्तभिरवयवैः अधस्सप्तलोकान् अतलवितलसुतलतलातलमहातलरसातलपातालाह्वयान् जघनादिभिः जघननाभ्युरोग्रीवावदनललाटशिरोनामकैः सप्तभिः ऊर्ध्वावयवैः ऊर्ध्वं सप्तलोकान् भूर्भुवस्स्वर्महर्जनस्त-पस्सत्याख्यान् कल्पयन्ति स परमपुरुषः तस्मादण्डान्निर्गत इति पूर्वेणान्वयः।।३६

**पुरुषस्य मुखं ब्रह्मा[1] क्षत्रमेतस्य बाहवः।**
**ऊर्वोर्वैश्यो[2] भगवतः पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत[3]।।३७।।**

**भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोको[4]ऽस्य नाभितः।**
**हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः।।३८।।**

1. A.B.C.G.I.M.Ma.N.W. °ह्म 2. H.V.W. °विशो 3.H.I.M.Ma.V.W. °द्रोव्य 4. H.V. °कक्ष; W. °कस्तु

**ग्रीवायां[1] जनलोकश्च[2] तपोलोकः[3] स्तनद्वयात्।**
**मूर्धतः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः।।३९।।**

**तत्कट्यां[5] चातलं क्लृप्तमूरूभ्यां वितलं विभोः।**
**जानुभ्यां सुतलं शुद्धं[6] जङ्घाभ्यां तु तलातलम्।।४०।।**

**महातलं तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलम्।**
**पातालं पादतलत इति लोकमयः पुमान्।।४१।।**

**भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य[7] नाभितः।**
**स्वर्लोकः कल्पितो मूर्ध्ना[8] इति वा लोककल्पना।।४२।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
द्वितीयस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

**श्रीध०** वर्णानां तत[9] उत्पत्तिं दर्शयति **पुरुषस्येति**। ब्रह्मा ब्राह्मणो मुखमिति कार्यकारण्योः अभेदविवक्षयोक्तम्। बाहव इति च[10] क्षत्तं क्षत्रियः।।३७।।

इदानीं उपासनार्थं लोककल्पनाभेदान् दर्शयन् सप्तलोकपक्षमाह द्वाभ्यां **भूर्लोकः** इत्यादि। भूर्लोकः पातलमारभ्य पद्भ्यां कटिपर्यन्ताभ्याम्।।३८।।

**ग्रीवायामिति**। स्तनद्वयात् इत्युपासनार्थत्वात्[11] ऊर्ध्वअधोभावव[12]वैपरीत्यं न दोषः। यद्वा। स्तन च्छब्दं कुर्वत् यदोष्ठद्वयं तस्मादित्यर्थः। ब्रह्मलोको वैकुण्ठाख्यः स[13] तु सनातनो नित्यः न तु सृज्यप्रपञ्चान्तर्वर्तीत्यर्थः।।३९।।

इदानीं चतुर्दशलोकपक्षं दर्शयति। तत्र जघनादिभिः भूरादयः पूर्वोक्ता एव सप्त। कट्यादिभिरधस्सप्तलोकान् आह तत्कट्यामिति द्वाभ्याम्। शुद्धं हरिभक्तनिवासत्वात्।।४०,४१।।

त्रिलोकपक्षमाह भूर्लोक इत्यादिना। भूर्लोकः पातालादिसहितः।।४२।।

---

1. W. या: 2. B.I. °कोऽस्य; H.V. °कस्तु 3. M.Ma. °कश्च नेत्रयोः 4. A.B.C.G.I.M.Ma.N.W. °भिः 5. H.M.Ma.V. °त्यामं; W. °त्या अं 6. W. सुष्टं 7. H.M.Ma.V. °कस्तु 8. M.Ma. °र्ध्नि 9. H.V. Omit तत 10. H.V. Omit च 11. B. adds (लोकयोः) 12. H.V. °र्ग° 13. H.V. Omit स तु

इति श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

**वीर०** वर्णानां तद्विभूतित्वाय चतुर्मुखरूपेण अवस्थितात् तत उत्पत्तिं दर्शयति **पुरुषस्येति**। ब्रह्म ब्राह्मणः मुखमिति। कार्यकारणयोः अभेदविवक्षया उक्तं बाहव इति च। क्षत्रं क्षत्रियः।।३६।।

इदानीं उपासनार्थं लोककल्पनाभेदं दर्शयन् चतुर्दशलोकपक्षमाह **भूरित्यादि** चतुष्टयेन। भूर्लोकः पातालं आरभ्य पद्भ्यां कटिपर्यन्ताभ्यां कल्पितः। भुवर्लोकः नाभितः नाभिं आरभ्य आ[1] स्तनद्वयात् हृदयं कमलाकारं तदूर्ध्वभागः उरः। ब्रह्मलोकः **सनातन** इति। सत्यलोकविशेषणम्। सनातनत्वं च भूराद्यपेक्षया। यद्वा ब्रह्मलोको वैकुण्ठाख्यो[2] लोकः सनातनः न तु सृज्यप्रपञ्चान्तवर्तीत्यर्थः।।३८,३९,४०,४१।।

इदानीं सङ्ग्रहेण लोकत्रयकल्पनामाह **भूर्लोकः कल्पित** इति। पादतलमारभ्य आ[3] नाभितः भूर्लोकः, नाभिमारभ्य आ[4] मूर्धतः भुवर्लोकः, मूर्धा स्वर्लोकः कल्पितः। अतलादीनां भूरादिषु अन्तर्भावात्।।४२।।

इति श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

**विज०** इदानीं पुरुषस्य मुखाद्यङ्गेभ्यो ब्राह्मणादिजातिजनिं आह **पुरुषस्येति**। 'ब्राह्मणो मुखमित्येव मुखात् जातत्वहेतुत' इत्यादेः मुखं इत्यादि प्रथमा पञ्चम्यर्थे प्रमाणान्तरगवेषणायासो न कर्तव्यः। अत्रैव दर्शनादिति भावेन आह **उर्वोरिति**। अनेन पुरुषनाम्नो हरेः यथा मुखाद्यङ्गेभ्यो ब्राह्मणादिजात्युत्पत्तिः एवं लोकसृष्टिरपि तदङ्गेभ्यः सिद्धा नान्यतः।।३७।।

तामेव सृष्टिं प्रपञ्चयति **भूर्लोक इति**। भूरिति भूमेः अव्ययं नामान्तरं भूर्लोकः पद्भ्यां जात इति। कल्पित इति अन्वेतव्यं भुव इति अन्तरिक्षलोकः इदं अव्ययं जघनपादयोः सामीप्यात् जघनादिभिः इत्यनेन न विरोधः।।३८,३९,।।

कट्योर्जघनान्तर्भावेऽप्यूर्वोस्तत्सामीप्यात् ऊर्वादिभिः इत्यस्य अविरोधः इति।।४०।।

---

1. A.B. Omit आ 2. A.B. "ख्य" 3. A.B. Omit आ 4. A.B. Omit आ

उपसंहरति **इतीति**। यत एवं हरेः लोकनिर्मातृत्वं लोकाधारत्वं लोकव्याप्तत्त्वं लोकोत्तमत्त्वं च अतो वैराजाख्यो विष्णुः लोकमय इति उपासीतेति शेषः।।४१।।

प्रकारान्तरेण पुरुषावयवेभ्यो लोकसृष्टिप्रकारमाह **भूर्लोक** इति। अत्र अतलादीनां भूम्यन्तर्भावेन महरादीनां स्वर्लोकान्तर्भावेन त्रिलोकविवक्षा ज्ञेया। अतो नोक्तविरोधः। अत्रेदं तात्पर्यमुक्तं भवति - चतुर्दशलोकपक्षस्त्वेकः, सप्तलोकपक्षस्त्वपरः, त्रिलोकपक्षस्त्वन्यः अधिकारिभेदेन ध्यानार्थत्त्वात् कल्पनायाः, ततो विकल्प उपपन्न इति।।४२।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
द्वितीयस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

**रा०कृ०** एतस्य पुरुषस्य विश्वात्मकस्य भगवतः मुखं ब्रह्मा अभूदिति शेषः, कार्यकारणयोर-भेदोपचारादेवमुक्तम्। मुखात् ब्रह्मा ब्राह्मणो अभ्यजायत। बाहवः बाहुभ्यः क्षत्रं क्षत्रियः अभ्यजायत। ऊर्वोः ऊरुभ्यां वैश्यः अभ्यजायत। पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत। अत्र कारणभूतमुखादेः कार्यभूतब्रह्मादेर्जन-नात् 'पुरुषस्य मुखात् ब्रह्मे' ति वक्तव्ये 'पुरुषस्य मुखं ब्रह्मे' ति कार्यकारणयोरभेदविवक्षया उक्तमिति श्रीधराचार्या अपि व्याख्यतवन्तः। इदमेव व्याख्यानं समीचीनतरमिव भाति। तथाहि - अनेन व्याख्यानेन न केवलमनन्तरवक्ष्यमाणोरुशब्दपञ्चमीविभक्तिवैषम्यदोष एव निरस्तः, किन्तु तत्तत् कार्योपयोगि विराट्पुरुषावयवभूतानां ब्राह्मणादीनामपि तुल्यप्राधान्यं सुव्यवस्थापितं भवति।

पूर्वोक्तां कार्यकारणयोरभेदविवक्षामनङ्गीकुर्वन्त इव श्रीवल्लभाचार्याः "ऊर्वोरिति भेदेन निर्देशो भगवद्भावापत्तिनिषेधार्थः। वैश्यशूद्रयोर्मुक्त्यभावाय" इत्यवोचन्। अत्रोच्यते - ब्राह्मणादीनां तत्तत्कार्यो-पयोगिविराट्पुरुषावयवत्वेन प्रतिपादनावसरे भगवद्भावापत्त्यनापत्त्योरप्रस्तुतत्वात् ऊर्वोरिति भेदेन निर्देशः केवलं कार्यकारणभेदप्रतिपादनार्थ एव न तु भगवद्भावापत्तिनिषेधार्थः। एवञ्च मोक्षस्याप्यप्रकृत-त्वात् वैश्यशूद्रयोर्मुक्त्यभावाय इति कथनमपि चिन्त्यमेव, अपि च वैश्यशूद्रयोर्मुक्त्यभावे "इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्। उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः" "निःश्रेयसाय लोकस्य धन्यं स्वस्त्ययनं महत्। तदिदं ग्राहयामास सुतमात्मवतां वरम्" इति लोकसामान्यनिःश्रेयसाय भगवता वेदव्यासेन ब्रह्मसम्मितस्य भागवतस्य प्रणयनात् प्रतिज्ञातार्थभङ्गप्रसङ्गः। किञ्च "ऊरू तदस्य यद्वैश्यः" इति श्रुतौ वैश्यस्य ऊर्वभेदनिर्देशात् वैस्यशूद्रयोरित्यादौ वैश्यपदग्रहणस्यापि श्रुतिविरोधापत्तिः। वस्तुतस्तु एते ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः यथाक्रमं बोधनरक्षणपोषणभारवहनाख्यधर्माणां सर्वमानवा-भ्युदयहेतुभूतानां सङ्केताः। एतेषां धर्माणां मानवमुखबाहूरुपादप्रवर्तितत्वात् ब्राह्मणादीनामापि भगवतो

1. A.B. ४

वैराजपुरुषस्य मुखाद्यवयवोत्पन्नत्वमुक्तम्। एतद्धर्मावलम्बिनश्च कालान्तरे ब्राह्मणादिनामभिः व्यवह्रयन्ते स्मेति तेषां ब्राह्मणादीनां समेषामेव तुल्यप्राधान्यमव्याहतम्।।३७।।

अस्य भगवतः पद्भ्यां भूर्लोकः कल्पितः, नाभितो भुवर्लोकः कल्पितः अस्य महात्मनः हृदा स्वर्लोकः कल्पितः, उरसा महर्लोकः कल्पितः।।३८।।

अस्य ग्रीवायां च जनलोकः कल्पितः; स्तनद्वयात् तपोलोकः कल्पितः। स्तनद्वयस्य ओष्ठद्वय-मित्यपि श्रीधराचार्याः, नासिकाद्वयमिति श्रीवल्लभाचार्याश्च व्याख्यां चक्रुः। मूर्धभिस्तु सत्यलोकः कल्पितः। ब्रह्मलोकः ब्रह्मणो भगवतो लोकः वैकुण्ठनामकः सनातनः शाश्वतः न सृज्यलोकान्तर्वर्ती इति भावः। अत्र श्रीमच्छुकदेवः - "भूरादयोऽल्पकालस्थायिनः सत्यलोकश्चिरकालस्थायीति विवेकः। यद्यपि वैकुण्ठलोकः सनातनस्तथाऽपि प्राकृतलोकगणनायां तदन्वयासम्भवात् स नेह गृह्यते"-इत्याह ।।३९।।

तत्कट्यां च तस्य कट्यां च अतलं क्लृप्तं कल्पितम्। विभोः तस्य ऊरुभ्यां वितलं क्लृप्तम्। जानुभ्यां शुद्धं सुतलं क्लृप्तम्। जङ्घाभ्यां तु तलातलं क्लृप्तम्। गुल्फाभ्यां महातलं क्लृप्तम्, प्रपदाभ्यां रसातलं क्लृप्तम्। पादतलतः पातालं क्लृप्तम् - इति पुमान् परमपुरुषः लोकमयः लोकमयत्त्वेन ध्येय इति भावः।

अत्र "लोकमय इति अवयवैः क्लृप्तानां लोकानां तत्रैव विद्यमानत्वाल्लोकमयत्वम्। पुमानिति। नेदमुपासनार्थमुक्तं किन्तु पुमानेव तादृशः" - इति श्रीवल्लभाचार्या अवोचन्। एतेन "उपासनार्थं लोक-कल्पनाभेदाः प्रदर्शिता" इति वदतां श्रीधरादीनां व्याख्यातॄणां मतमनुसृत्य सम्भाव्यमाना भगवतो लोकमयत्वाभावशङ्का निरस्ता। श्रीवल्लभाचार्याणां शुद्धाद्वैतव्याख्यानं समीचीनतरं प्रतीयते।।४०,४१।।

अथ लोकाश्रय एवेति पक्षमाश्रित्य कथयति - अस्य पुरुषस्य पद्भ्यां भूर्लोकः पातालादि-सहितः कल्पितः; नाभितः भुवर्लोकः कल्पितः, मूर्ध्ना तु स्वर्लोकः ब्रह्मलोकपर्यन्तः कल्पितः इति वा लोककल्पना वेद्या इति शेषः।।४२।।

इति श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां
व्याख्यायां पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

oooOooo

# षष्ठोऽध्यायः

**ब्रह्मोवाच**

**वाचां वह्नेर्मुखं क्षेत्रं छन्दसां सप्तधातवः।**
**हव्यकव्यामृतान्नानां जिह्वा सर्वरसस्य च।।१।।**

**सर्वासूनां च वायोश्च तन्नासे परमायने।**
**अश्विनोरोषधीनां च घ्राणो मोदप्रमोदयोः।।२।।**

**रूपाणां तेजसां चक्षुः दिवः सूर्यस्य चाक्षिणी।**
**कर्णौ दिशां च तीर्थानां श्रोत्रमाकाशशब्दयोः।**
**तद्गात्रं वस्तुसाराणां सौभगस्य च भाजनम्।।३।।**

**त्वगस्य स्पर्शवाय्वोश्च सर्वमेधस्य चैव हि।**
**रोमाण्युद्भिज्जातीनां यैर्वा यज्ञस्तु सम्भृतः।।४।।**

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

षष्ठे विराड्विभूतिश्च प्रोक्ताऽध्यात्मादिभेदतः। दृढीकृतं च पूर्वोक्तं सर्वं पुरुषसूक्ततः।।१।।

इदानीं वैराजस्य विभूतिः सप्रपञ्चं अनुवर्ण्यते। **वाचामिति**। वाचां अस्मदादिवागिन्द्रियाणां तदधिष्ठातुः वह्नेश्च, तस्य मुखं क्षेत्रं उत्पत्तिस्थानम्। छन्दसां गायत्र्यादीनां सप्तानां, तस्य सप्तधातवः त्वगादयः क्षेत्रम्, हव्यं देवानामन्नं, कव्यं पितॄणाम् अन्नं अमृतं तदुभयशेषं मनुष्याणां अन्नं एषां अन्नानां तथा सर्वरसस्य मधुरादेः षड्विधस्य च। चकारात् अस्मदादिरसनेन्द्रियस्य तदधिष्ठातुः वरुणस्य चैतस्य जिह्वा क्षेत्रं उत्पत्तिस्थानम्। एवं सर्वत्र अनुक्तमुत्रेयम्।।१।।।

**सर्वेति**। सर्वासूनां अस्मदादिप्राणानां तस्य नासे नासारन्ध्रे परमायने उत्तमक्षेत्रे मोदप्रमोदयोश्च सामान्यविशेषगन्धयोः घ्राणो घ्राणेन्द्रियं परमायनम्।२।।

**रूपाणामिति**। रूपाणां तेजसां रूपप्रकाशकानां चक्षुरिन्द्रियं अक्षिणी नेत्रगोलके सर्वत्र षष्ठ्यन्तानां प्रथमान्तं क्षेत्रं द्रष्टव्यम्। कर्णौ तस्य श्रोत्राधिष्ठाने श्रोत्रमिन्द्रियम्। तस्य गात्रं शरीरं वस्तूनां ये सारांशाः तेषां भाजनं स्थानम्।।३।।

---

1. B.M.Ma.W."चो 2. W. स्थानं 3. I. "णं" 4. W. "णं" 5. M.Ma. गन्धस्य चैव हि 6. H.M.Ma.V.W. "भाग्यं" 7. A.B.G.I.M.Ma.N. "यो" 8. M.Ma. "ज" 9. W. "ता" 10. H.V. तु 11. B.H.V. Omit सप्त 12. A. Omits अन्नं 13. A. "चो 14. A.B. Omit अन्नं 15. A.B. ते" 16. B.H.V. Omit तथा 17. A. Omits च 18. B.H.V. Omit उत्पत्तिस्थानम् 19. H.V. "दीनां " 20. B.H.V. Omit घ्राणो 21. H.V. Omit रूपाणां 22. B.H.V. Omit तस्य

**त्वगिति**। अस्य त्वक् स्पर्शस्य च[1] वायोश्चेत्यर्थः। सर्वमेधस्य[2] सर्वस्य[3] मेधस्य यज्ञस्य उद्भिज्ज-जातीनां सर्ववृक्षाणाम्। यैः अश्वत्थोदुम्बरखदिरपालाशादिवृक्षैः[4] यज्ञः सम्यक् साधितः तेषामेव वा।।४।।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भाग्वतचन्द्रचन्द्रिका

एवं कृत्स्नप्रपञ्चस्य महदादिक्रमेण सृष्टस्य वैराजविभूतित्वं अभिधाय तदेव पुरुषसूक्तसंवादेन दृढीकुर्वन् यद्रूपं इत्यादेः उत्तरमाह **वाच** इति। वाचो वागिन्द्रियस्य तदधिष्ठातृदेवताभूताग्नेश्च भगवन्मुखं स्थानमाश्रयः छन्दसां[5] गायत्र्युष्णिग्बृहतीपंक्तिजगतीत्रिष्टुबनुष्टभां सप्तानां छन्दसां, सप्तधातवः त्वगादि सप्तधातुस्थानीया भगवद्विग्रहावयवाः स्थानं, हव्यं देवानामन्नं कव्यं पितॄणाम्, अमृतं तदुभयशेषं[6] मनुष्याणां एषां अन्नानां, सर्वरसस्य च[7] मधुरादेः षड्विधस्य चकारात् अस्मदादिरसनेन्द्रियस्य तदधिष्ठातुः वरुणस्य च। तस्य जिह्वा क्षेत्रम्। एवं सर्वत्र अनुक्तमुन्नेयम्।।१।।

सर्वासूनां अस्मदादिप्राणानां वायोश्च तस्य नासे नासारन्ध्रे परमायने उत्तमक्षेत्रे[8] ओषधीनां अश्विनोः मोदप्रमोदयोश्च तद्घ्राणेन्द्रियं स्थानम्। मोदः अनुकूलवस्तुदर्शनजसुखविशेषः, प्रमोदस्तु अनुकूलवस्तुनः स्वीयत्वबुद्धिजसुखविशेष[9] इति भेदः।।२।।

रूपाणां शुक्लादीनां, तेजसां रूपप्रकाशकानां च चक्षुः[10] तच्चक्षुरिन्द्रियं स्थानम्। दिवः सूर्यस्य चाक्षिणी तन्नेत्रगोलकौ[11] स्थानम्। सर्वत्र षष्ठ्यन्तनिर्दिष्टानां प्रथमान्तनिर्दिष्टं क्षेत्रं द्रष्टव्यम्। दिशां तीर्थानां च[12] तत्कर्णौ कर्णबिले स्थानम्। आकाशशब्दयोः तच्छ्रोत्रम्। वस्तूनां ये सारांशाः तेषां सौभगस्य स्पृहणीयतायाश्च तद्गात्रं तच्छरीरं भाजनं स्थानम्।।३।।

स्पर्शवाय्वोः सर्वमेधस्य समस्तयज्ञस्य च अस्य त्वक् स्थानम्। उद्भिज्जजातीनां[13] सर्ववृक्षाणां यैर्वृक्षैः यज्ञः सम्भृतः[14] सम्यक्[15] साधितः तेषामेव वा, तद्रोमाणि स्थानम्।।४।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

आध्यात्मिकाधिदैवाधिभौतिकादिरूपस्य जगतो हरेः मुखादिभ्यः उत्पत्तिः तस्य ततो भिन्नत्वं तदुत्त प्रतिमादिस्वरूपत्वं च प्रतिपाद्यते अस्मिन्नध्याये। तत्र प्रथमं अध्यात्मेन्द्रियतदभिमानि-देवतादिसर्वपदार्थानां तदङ्गेभ्यः उत्पत्तिप्रकारमाह **वाच** इत्यादिना। वाचो वागिन्द्रियस्य वक्तव्यस्य च तदभिमानिनो वह्नेः अग्निदेवस्य च पुरुषस्य मुखं क्षेत्रं योनिः कारणं उत्पादकं इत्यर्थः। "क्षेत्रं पुरे गृहे

---

1. A.B. Omit च 2. A.B. Omit सर्वमेधस्य 3. H.V. Omit सर्वस्य मेधस्य 4. A.B. Omit अश्वत्थोदुम्बरखदिरपालाशादि 5. A.B. Omit छन्दसां 6.A.B. "षो 7. A.B. Omit च 8. A.B. "त्रे 9. W. "द्धिसु" 10. W. Omits चक्षुः तत् 11. W. "के 12. A.B. Omit च 13. W. "ता" 14.W, Omits सम्भृतः 15. A.B. Omit सम्यक्

देहे केदारे योनिभार्ययोः" (वैज.को.6-5-6) इति। "योनिः स्त्रीणां भगे स्थाने कारणे ताम्रकेप्यषण्" (वैज.को.6-5-66) इति यादवः। गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्ति त्रिष्टुब्जगतीसंज्ञानां सप्तानां छन्दसामस्य पुरुषस्य त्वङ्मांसरुधिरमेदोमज्जाऽस्थ्याख्याः सप्तधातवः। क्षेत्रं इत्यनुवर्तते। अत्र तदुत्पन्नत्वं तदाश्रितत्वं चेति तात्पर्यं उत्तरत्रापि अनुसन्धेयम्। हव्यादिसर्वान्नानां जिह्वेन्द्रियस्य च कषायमधुरादिसर्वरसस्य च तस्य पुरुषस्य जिह्वा क्षेत्रम्।।१।।

सर्वासूनां सर्वमरुतां मुख्यवायोश्च तन्नासे तस्य हरेः नासापुटे क्षेत्रे परमायने च उत्तमाश्रयणे च अभिमानिनोः अश्विनोः व्रीह्याद्यौषधीनां च घ्राणेन्द्रियस्य गन्धस्य च सुरभ्यसुरभिलक्षणस्य च तस्य घ्राणं क्षेत्रम्। नपुंसकस्य घ्राणस्य पुंशक्तिमत्त्वद्योतनाय घ्राण इत्युक्तम्। "क्लीबे घ्राणं गन्धवहः घोणा नासा च नासिक" (अम.को.2-349) इत्यमरः।।२।।

चक्षुरिन्द्रियस्य तद्विषयाणां च रूपाणां विषयप्रकाशकानां तेजसां ज्योतिषां च हरेश्चक्षुः क्षेत्रं, दिवो द्युलोकस्याभिमानिनः सूर्यस्य च हरेरक्षिणी चक्षुर्गोलके क्षेत्रमिति शेषः। दिशां दिग्देवतानां तीर्थानां शास्त्राणां च हरेः कर्णौ क्षेत्रम्। "तीर्थं मन्त्राद्युपाध्यायशास्त्रेष्वम्भसि पावने" (वैज.को.6-3-13) इत्यभिधनम्। श्रोत्रेन्द्रियस्य तद्विषयस्य शब्दस्य आकाशस्य च हरेः श्रोत्रेन्द्रियं कारणम्। वस्तुसारणां वस्तुश्रेष्ठानां वस्तुबलानां वा। सौभाग्यस्य तस्य हरेः गात्रं उत्पादकं भाजनं निधानं निधानपात्रं च ।।३।।

त्वगिन्द्रियस्य स्पर्शगुणस्य स्पर्शाभिमानिनो वायोः सर्वमेधस्य सर्वज्ञस्य च अस्य हरेः त्वगिन्द्रियं क्षेत्रम्। यैः उद्भिर्जजातिविशिष्टैः पलाशादिवृक्षैः यज्ञः सम्भृतः, सम्पादितः, यज्ञकारिभिरिति शेषः। तेषां उद्भिर्जजातीनां वृक्षाणां रोमाणि हरेः रोममूलानि क्षेत्रम्। यैः यज्ञः सम्भृतो यज्ञादन्यः कार्यविशेषः साधितः तेषां हरेः रोमान्तर्भगः। अयं विकल्पो वा शब्दसूचितात् "याज्ञिका रोममूलस्था रोमान्तःस्थास्तु तत्पराः" इति वचनात् ज्ञायते। तु शब्दः उक्तार्थावधृतौ वर्तते।।४।।

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

तस्य विराड्रूपस्य भगवतो मुखं वाचां वागिन्द्रियाणां वह्नेः तदधिष्ठातुः अग्नेश्च क्षेत्रं स्थानम्। सप्तधातवः त्वक्चर्ममांसरुधिरमेदोऽस्थिमज्जाः छन्दसां गायत्र्युष्णिग्बृहतीपङ्क्तिजगतीत्रिष्टुबनुष्टुभां सप्तच्छन्दसां क्षेत्रम्। जिह्वा हव्यकव्यामृतान्नानां हव्यं देवानामन्नं पुरोडाशादिरूपं, कव्यं पितॄणामन्नं चर्वोदनादिरूपं अमृतं तदुभयशेषं मनुष्याणामन्नं एतेषामन्नानां सर्वरसस्य च मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायभेदेन षड्विधस्य रसस्य चकारात् रसनेन्द्रियस्य तदधिष्ठातुः वरुणस्य च क्षेत्रम्।।१।।

1. A.B. Omit च 2. A.B. Omit च 3. A. 'ज्ञा' B. 'ज्जा' 4. A.B. 'ज्ञ'

तत्रासे तस्य भगवतो नासिके सर्वासूनां सर्वेषां प्राणादीनां वायोश्च तदधिष्ठातुः, परमायने उत्तमक्षेत्रे, घ्राणः अश्विनोः अश्विनीकुमारयोः ओषधीनां यवव्रीह्यादीनां, मोदप्रमोदयोः सामान्यविशेष-गन्धयोश्च क्षेत्रम्।।२।।

चक्षुः तस्य चक्षुरिन्द्रियं रूपाणां शुक्लकृष्णहरितादीनां तेजसां रूपप्रकाशकानां सोमाग्न्यादीनां च क्षेत्रम्। तस्य अक्षिणी नेत्रगोलके दिवः स्वर्गस्य सूर्यस्य च क्षेत्रम्। कर्णौ कर्णबिले दिशां तीर्थानां गङ्गादीनां च क्षेत्रम्। श्रोत्रं श्रोत्रेन्द्रियं आकाशशब्दयोः क्षेत्रम्, तद्गात्रं तस्य भगवतः शरीरं वस्तुसाराणां वस्तूनां मध्ये ये सारभूताः सुवर्णादयः तेषां सौभाग्यस्य सौन्दर्यस्य च भाजनं स्थानम्।।३।।

अस्य त्वक् चर्म स्पर्शवाय्वोः स्पर्शस्य वायोश्च सर्वमेधस्य चैव सर्वविधस्य यज्ञस्य च भाजनं हि। यै र्वा यज्ञस्तु संभृतः सम्पादितो भवति तेषां उद्भिज्जजातीनां वृक्षाणां अस्य रोमाणि स्थानम्।।४।।

**केशश्मश्रुनखान्यस्य शिलालोहाभ्रविद्युताम्।**
**बाहवो लोकपालानां प्रायशः क्षेमकर्मणाम्।।५।।**

**विक्रमो भूर्भुवःस्वश्च क्षेमस्य शरणस्य च।**
**सर्वकामवरस्यापि हरेश्चरण आस्पदम्।।६।।**

**अपां वीर्यस्य सर्गस्य पर्जन्यस्य प्रजापतेः।**
**पुंसः शिश्न उपस्थस्तु प्रजात्यानन्दनिर्वृतेः।।७।।**

**पायुर्यमस्य मित्रस्य परिमोक्षस्य नारद।**
**हिंसाया निऋतेर्मृत्योः निरयस्य गुदः स्मृतः।।८।।**

**श्रीध० केशेति।** केशाः मेघानां क्षेत्रं पूर्वं तथोक्तेः श्मश्रूणि विद्युतां पादकरनखानि शिलालोहानामिति सादृश्यात् ऊह्यम्। क्षेमकर्मणां पालनकर्तॄणाम्।।५।।

**विक्रम** इति। विक्रमः पादन्यासो भूरादिलोकानां आस्पदं आश्रयः। भूर्भुवस्स्वरिति षष्ठीबहु-वचनान्तम्। भूरादिशब्दानां अव्ययत्वात् षष्ट्याः लुक्। क्षेमो लब्धरक्षणम्, शरणं भयाद्रक्षणम्। सर्वेषां कामानां वरस्य वरणस्यापि हरेः अङ्घ्रिः आस्पदम्।।६।।

1. H.V. 'भा' 2. B.I. 'दं स्मृतम् 3. A.B. Omit भूर्भुवस्स्व.....वचनान्तम्

**अपामिति**। वीर्यस्य शुक्रस्य[1] शिश्नः अधिष्ठानं उपस्थस्त्विन्द्रियं[2] प्रजात्यानन्दः सन्तानार्थः[3] सम्भोगः तेन या[4] निर्वृत्तिः तापहानिः तस्याः।।७।।

**पायुरिति**। परिमोक्षस्य मलत्यागस्य पायुः इन्द्रियं गुदः स्थानम्। निऋतेरलक्ष्म्याः।।८।।

**वीर०** शिलालोहाभ्रविद्युतां अस्य केशश्मश्रुनखानि स्थानम्। नखानि शिलालोहयोः स्थानं, अभ्रविद्युतोः केशश्मश्रूणीति विवेकः। क्षेमकर्मणां रक्षाकारिणां लोकपालानामिन्द्रादीनां तद्वाहवः स्थानम्।।५।।

भूर्भुवःस्वरिति षष्ठीबहुवचनान्तम्। भूरादीनां त्रयाणां लोकानां विक्रमस्तस्य त्रिविधपाद-विन्यासः स्थानं, क्षेमस्य प्राप्तरक्षणस्य शरणस्य च[5] अनिष्टनिवारणस्य सर्वेषां कामानां वरस्य श्रेष्ठस्यापि हरेश्चरणः[6] पादः आस्पदं आश्रयः।।६।।

अपां वीर्यस्य शुक्रस्य[7], स्वर्गस्य सृष्टेः पर्जन्यस्य प्रजापतेश्च पुंसो भगवतः शिश्नः उपस्थेन्द्रिया-धिष्ठानं आस्पदं इत्यर्थः। प्रजात्यानन्दः सन्तानार्थं सम्भोगस्तेन या निर्वृतिः तापहानिः तस्याः तदुपस्थेन्द्रियं आश्रयः।।७।।

यमस्य मित्रस्य परिमोक्षस्य मलत्यागस्य च तस्य पाय्विन्द्रियाश्रयः हिंसादीनां तद्गुदः आश्रयः। पायुरिन्द्रियं गुदं अधिष्ठानम्।।८।।

**विज०** अस्य हरेः केशाः अभ्राणां श्मश्रूणि विद्युताम्। शिलालोहानां नखानि क्षेत्रम्। "पुनर्भवः कररुहो, नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्" (अम.को.2-343) इत्यमरः। "हरेः श्मश्राश्रया विद्युच्छिला लोहा नखाश्रया" इति वचनात् ब्राह्मणवैश्यादीन् वर्जयितुं प्रायश इत्युक्तम्।।५।।

**भूर्भुवःस्वरिति**। भुवनत्रयं, अस्य हरेः विक्रमः पादविक्षेपस्थानं क्षेमस्य मङ्गलस्य, प्राप्तरक्षाया वा, शरणस्य मोक्षस्य च सर्वकामवरस्य च सर्वाभिमतलाभस्य च हरेः चरणः[8] आस्पदं, दातृत्वेनेति शेषः। "मोक्षः शान्तिश्च शरणं निर्वाणं चाभिधीयते" इति वचनात् शरणं मोक्षः। "भेजे खगेन्द्रध्वजपा-दमूलम्" इत्यतो मोक्षोऽपि पादमूलमिति भावः। "स्वोत्पात्यङ्गेषु देवानां अन्येषां पादमूलतः। मुक्तिस्तु विहिता विष्णोः निर्दिष्टेषु यथा वचः" इति वचनात् च शब्दसूचितात् न उक्तविरोधः।।६।।

---

1. A.B. °क्र° 2. B. °स्थ इ° 3. B.H.V. °र्थं 4. H.V.Omit या 5. W. Omits च 6. A.B. °णं 7. A.B. °क्र° 8. A.B. °णं

अपां जलस्य, वीर्यस्य रेतसः, सर्गस्य सृष्टेः; जलाभिमानिनः पर्जन्यस्य, सर्गाभिमानिनो दक्षप्रजापतेः, शिश्नस्य च परस्य[1] पुंसः शिश्नं क्षेत्रम्। प्रजापतिः प्रजननम्, आनन्दः सुखं ताभ्यां सहिता या निर्वृतिः अथवा प्रजापतिः मैथुनक्रिया तन्निमित्ता वानन्दाया निर्वृतिः तस्याः हरेः उपस्थं गुह्येन्द्रियम्। तुशब्दात् गुह्येन्द्रियस्य च क्षेत्रम्।।७।।

मित्रनाम्नो देवस्य पाय्विन्द्रियस्य तद्विषयस्य परिमोक्षस्य गुदक्रियाविषयस्य यमनाम्नो देवस्य च पुंसः पाय्विन्द्रियं क्षेत्रम्, इत्येतत् मन्दमतीनां सुबोधनार्थं अन्वीयते। हिंसादीनां पुंसो गुदः गुदं अपानद्वारं क्षेत्रम्।।८।।

**रा०कृ०** अस्य भगवतः केशश्मश्रुनखानि शिलालोहाभ्रविद्युतां स्थानं केशाः अभ्राणां मेघानां स्थानं श्मश्रूणि विद्युतां स्थानम्। नखानि शिलालोहानां च स्थानमिति यथयोगमुन्नेयम्। अस्य बाहवः प्रायशः क्षेमकर्मणां लोकपालानां स्थानम्।।५।।

तस्य विक्रमः त्रिधा पादविन्यासः भूर्भुवःस्वश्च भूर्भुवस्स्वर्लोकानां आस्पदं स्थानम्। हरेः चरणः क्षेमस्य प्राप्तसंरक्षणस्य शरणस्य अनिष्टनिवारणस्य च सर्वकामवरस्यापि सर्वेषां कामानामभिलषितार्थानां वरस्य वरणस्यापि आस्पदम्।।६।।

पुसो विराट्पुरुषस्य शिश्नः अपां जलानां वीर्यस्य शुक्रस्य सर्गस्य सृष्टेः पर्जन्यस्य वर्षाभिमानिदेवस्य प्रजापतेश्च आस्पदम्। तस्य उपस्थस्तु प्रजात्यानन्दनिर्वृतेः प्रजात्यानन्देन सन्ताननिमित्तकभोगेन या निर्वृतिः तापहानिः तस्याः आस्पदम्।।७।।

हे! नारद! तस्य पायुः यमस्य मित्रस्य परिमोक्षस्य मलत्यागस्य च आस्पदम्। तस्य गुदः हिंसायाः प्राणिपीडायाः निऋतेः निऋतिनामकराक्षसस्य, मृत्योः मारकस्य देवस्य निरयस्य नरकस्य च आश्रयः स्मृतः।।८।।

**पराभूतेरधर्मस्य[1] तमसश्चापि पश्चिमः[2]।**
**नाड्यो नदनदीनां तु[3] गोत्रणामस्थिसंहतिः।।९।।**

**अव्यक्तरससिन्धूनां भूतानां विधनस्य च।**
**उदरं विदितं पुंसो हृदयं मनसः पदम्।।१०।।**

1. A. 'भ' 2. H.V. 'मम् 3. B.I.W. च

धर्मस्य मम तुभ्यं च कुमाराणां भवस्य च।
विज्ञानस्य च सत्त्वस्य परस्याऽऽत्मा परायणम्।।११।।

अहं भवान् भवश्चैव तं[2] इमे मुनयोऽग्रजाः।
सुरासुरनरा[3][4] नागाः खगा मृगसरीसृपाः।।१२।।

गन्धर्वाप्सरसो यक्षा रक्षोभूतगणोरगाः।
पशवः पितरः सिद्धा विद्याग्राश्चारणा द्रुमाः।।१३।।

अन्ये च विविधा जीवाः जलस्थलनभौकसः।
ग्रहर्क्षकेतवस्ताराः तडित[5]ः स्तनयित्नवः।।१४।।

सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत्[6]।
तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति।।१५।।

स्वधिष्ण्यं प्र[7]तपन् प्राणो बहिश्च प्रतपत्यसौ।
एवं विराजं प्रतपंस्तपत्यन्तर्बहिः पुमान्।।१६।।

**श्रीध० पराभूतेरिति**। तमसः अज्ञानस्य पश्चिमः[8] पृष्ठभागः। गोत्राणां गिरीणा, मस्थिसंघातः।।९।।

**अव्यक्तेति**। अव्यक्तं प्रधानं रसः अन्नादिसारः[9], सिन्धवः समुद्राः, तेषां निधनस्य लयस्य उदरं पदं स्थानं विदितं ज्ञानिभिः। मनसः अस्मदादिलिङ्गशरीरस्य।।१०।।

**धर्मस्येति**। तुभ्यं तव कुमाराणां सनकादीनां भवस्य श्रीरुद्रस्य आत्मा चित्तं परमयनम्[10]।।११।।

**अहं इति**। एवं तावत् परमेश्वराज्ञातं विश्वं ततो न भिन्नम्। यथा[11] कुण्डलं सुवर्णात् न पृथक्। स तु सर्वनियन्ता सर्वप्रकाशको[12] नित्यमुक्तः[13] इत्यर्थादुक्तम्। एतदेव[14] पुरुषसूक्तार्थकथनेन द्रढयति। तत्र "सहस्रशीर्षा" (तैत्ति.आ.3-32-33) इत्यर्धर्चस्य "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" (तैत्ति.आ.3-36-37)

---

1. M.Ma. W. त 2. M.Ma.W. य 3. H.V. "रा: 4. W. "गा: 5. H.V.W. "टि" 6. M.Ma.V.W. "ता 7. AF.GF. "प्रातपत्रा" 8. H.V. "मम 9. H.V. "रस: 10. H.V. "मा" 11. H.V. Omit यथा.....पृथक्। 12. H.V. "स्य नि" 13. H.V. ञो नि" 14. H.V. Omit ए"

इत्यादेश ऋक्त्रयस्यार्थः पूर्वाध्याये एव दर्शितः। "पुरुष एवेदं सर्वं" (तैत्ति.आ.3-32-33) इत्यस्यार्थं दर्शयति अहं भवानिति सार्धैस्त्रिभिः। ते अग्रजा ईमे सनकादयो मरीच्यादयश्च। [3]नागा गजाः।।१२।।

**[4]गन्धर्वेति**। भूतगणाः शिवपार्षदाः, उरगाः सर्पजातयः, सर्वेऽपि। पशवः चतुष्पादः। पितृप्रभृतयः चत्वारः देवेष्वान्तरभेदाः।।१३।।

**अन्य इति**। जलं च स्थलं च नभश्चौकांसि येषां ते। [5]जलौकसो मत्स्यादयः। नभौकस इति सन्धिरार्षः। [6]स्थलौकसः स्थलवासिनो सर्वेऽपि प्राणिनः। नभौकसः पक्षिणः। [7]ऋक्षाणि अश्विन्यादीनि केतवो धूमकेतुप्रभृतयः औत्पातिकाः[8]।।१४।।

**सर्वमिति**। सर्वं [9]इदं पुरुष एव न ततः पृथिगित्यर्थः। प्रपञ्चेन तस्य अपरिच्छेदं वक्तुं "स भूमि" मित्यस्य अर्थमाह। [10]तत्पदं विभक्तिव्यत्ययेन व्याचष्टे तेनेति। तेन पुरुषेण विश्वमिति भूमिपदस्यार्थः। वितस्तिमिति [11]दशाङ्गुलपदस्य, अधीत्यधिशब्दस्य, आवृतमिति वृत्वेत्यस्य। स च वितस्तिमधिकं व्याप्य तिष्ठतीत्याधिक्यमात्रं विवक्षितं नतु [12]परिमाणम्। अनुपयोगात् अपरिच्छिन्नत्वाच्च।।१५।।

एतत् सदृष्टान्तमाह - स्वधिष्ण्यमिति। असौ प्राण आदित्यः। "असौ वा आदित्यः प्राणः" (छन्दो.उ.3-1-1) इति श्रुतेः। स्वधिष्ण्यं मण्डलं प्रकाशयन् [13]यथा बहिश्च प्रकाशयति एवं विराड्देहं प्रकाशयन् ब्रह्माण्डं अन्तर्बहिश्च प्रकाशयति।।१६।।

**वीर०** पराभूतेः अलक्ष्म्याः अधर्मस्य [14]तमसः अज्ञानस्यापि पश्चिमः तत्पृष्ठभागः आश्रयः नदनदीनां तन्नाड्यः स्थानम्, गोत्राणां गिरीणां तदस्थिसंघः स्थानम्।।९।।

अव्यक्तं प्रधानं, रसः अन्नादिरसः, सिन्धवः समुद्राः, तेषां भूतानां निधनस्य लयस्य च तदुदरं स्थानं विदितम्। मनसः सर्वदेहिमनस्तत्त्वस्य पुंसः ईश्वरस्य यद्धृदयं तत्पदं स्थानम्।।१०।।

धर्मस्य मम चतुर्मखस्य, तुभ्यं तव कुमाराणां सनकादीनां भवस्य रुद्रस्य [15]च विज्ञानस्य च तत्त्वस्य महत्तत्त्वस्य परस्य भगवतः आत्मऽन्तःकरणं परायणं श्रेष्ठस्थानम्।।११।।

---

1. H.V. "गणा" 2. H.V. इति 3. B. Omits नागा गजाः 4. A.B. Omit गन्धर्वेति.....भेदाः। 5. A.B. Omit जलौकासा मत्स्यादयः। 6. A.B. Omit सथलौकसः.....पाक्षिणः। 7. B.H.V. Omit ऋक्षाणि अश्विन्यादीनि 8. H.V. add ताराः अश्विन्यादयः 9. A.H.V. Omit इदं 10. B. Omits तत्पदं.....तेनेति। 11. H.V. add द्वा" 12. B.H.V. प्रमा" 13. H.V. Omit यथा 14. W. तामसस्य 15. A.B. Omit च

एवं परमात्मनो जातं कृत्स्नं जगत् तद्विभूतिभूतं तच्छरीरत्त्वेन ततो[1] न विविक्तमित्युक्तम्। एतदेव पुरुषसूक्तार्थकथनेन प्रथयति तत्र[2] "सहस्रशीर्षा" (तैत्ति.आ.3-32-33) इत्यर्द्धर्चस्य "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" (तैत्ति.आ.3-36-37) इत्यादेश्च अर्थः पूर्वाध्याये कथितः। "पुरुष एवेदं सर्वं" (तैत्ति.आ.3-32-33) इत्यस्य अर्थमाह - अहं इत्यादिभिः सार्धैः त्रिभिः। अहं चतुर्मुखः भवान् नारदः भवो रुद्रः अग्रजाः मुनयः सनकादयः।।१२।।

विद्याध्रा विद्याधराः।।१३।।

जलं स्थलं नभश्च ओकांसि स्थानानि येषां ते जलस्थलनभौकसः[3]। नभौकस[4] इति सन्धिरार्षः। ग्रहाः सूर्यादयः, ऋक्षाणि नक्षत्राणि, केतवः[5] केतुसदृशानि नक्षत्राणि, तारा अपि नक्षत्रस्यैव भिदा। तडितः[6] विद्युतः स्तनयित्नवो मेघाः गर्जितानि वा।।१४।।

किं बहुना, यच्च कालत्रयवर्तिवस्तुजातं विदितं[7] सर्वं पुरुष एव परमपुरुष[8] एव कालत्रयवर्ति कृत्स्नवस्तुजातशरीरकत्वात् अपुरुषशरीरभूतं स्वतन्त्रं वस्तु नास्तीत्यर्थः। नामरूपविभागानर्हातिसूक्ष्म प्रकृतिपुरुषकालशरीरकस्य परमपुरुषस्यैव विभक्तनामरूपप्रकृतिपुरुषशरीरकपरमात्माऽऽत्मक जगदाकारेण अवस्थानात् अयं ऐक्योपदेशः उपपन्नः। सर्वत्र वेदान्तेषु एवमेव हि ऐक्यम् - "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (च्छान्दो.उ.3-14-1) "अयमात्मा ब्रह्म" (बृह.उ.6-4-5) "तत्त्वमसि" (छान्दो.उ.6-8-7) इत्यादिभिः उपदिश्यते "पुरुष एवेदं" (तैत्ति.आ.3-32-33) इति। सामानाधिकरण्यस्य व्याप्तिनिबन्धन-त्त्वमाह तेनेति। "अधोनिष्ट्या वितस्त्यांते नाभ्यामुपरि तिष्ठति हृदयं तद्विजानीयात् विश्वस्यायतनं महत्" (मना.उ.26) इति श्रुत्युक्तदिशा नाभ्या उपरि वितस्तिपरिच्छिन्नप्रदेशान्ते स्थितं हृदयं अधितिष्ठता तेन परमात्मना इदं विश्वं आवृतं व्याप्तम्।।१५।।

असौ हृदयान्तर्वर्ती प्राणः परमात्मा स्वधिष्ण्यं स्वाऽऽवासस्थानं[9] शरीरं प्रतपन् अन्तर्व्याप्या प्रशासनाधीनं कुर्वन् बहिश्च स्वधिष्ण्याद्बहिष्ठमपि वस्तुजातं प्रशासनाधीनं यथा करोति - एवं विराजं विराट्शब्दवाच्यानिरुद्धकार्यं प्रपञ्चं प्रशासनाधीनं कुर्वन् अन्तर्बहिश्च प्रशासनाधीनं करोतीत्यर्थः। अत्र कार्ये कारणोपचारात् विराट्शब्दः ब्रह्माण्डपरः, एतेन अपरिच्छन्नत्वप्रतिपादकं "स भूमिं विश्वतो वृत्वा" इत्यर्द्धर्चं व्याख्यातं भवति। सः परमात्मा भूमिं ब्रह्माण्डरूपं प्रपञ्चं विश्वतः सर्वतः वृत्त्वा व्याप्य भूमिं दशाङ्गुलमात्रं अतिक्रम्य स्थितः "अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलं" इत्याधिक्यमात्रं विवक्षितं न प्रमाणं अनुपयोगात् अपरिच्छिन्नत्वात् चेति तस्य अर्थः।।१६।।

---

1. W. "तोऽनतिरिक्तम्। 2. W. Omits तत्र 3. W. Omits जलस्थलनभौकसः 4. A.B. Omit नभौकसः 5. A.B. Omit केतवः केतुसदृशानि नक्षत्राणि 6. W. "टि" 7. A.B. तदिदं 8. W. Omits परमपुरुष एव 9. W. स्ववा"

**विज०** पराभूतेः पराजयस्य अलक्ष्म्या वा अधर्मस्य पापस्य तदभिमानिनः अधर्मस्य कलेश्च तमसः तमोगुणस्य च पश्चिमः पृष्ठभागः क्षेत्रम्। नदनदीनां शोणगङ्गादीनाम्। तुशब्दादितरनदीनां च। पुंसो नाड्यः क्षेत्रम्। गोत्राणां पर्वतानां हरेरस्थ्नां संहितः क्षेत्रम्।।९।।

अव्यक्तस्य मूलप्रकृतेः रसादीनां मधुरादीनां सिन्धूनां समुद्राणां भूतानां जीवानां निधनस्य संहारस्य च। पुसः उदरं क्षेत्रमिति विदितं मनसः परस्य हृदयं पदं क्षेत्रम्।।१०।।

धर्मस्य सुकृतस्य तदभिमानिनो धर्माख्यदेवस्य चतुर्मुखनाम्नो मम तुभ्यं तव कुमाराणां सनकादीनां चतुर्णां भवस्य रुद्रस्य च विज्ञानस्य तत्त्वस्य च तदभिमानिन्याः सरस्वत्याश्च परस्य पुंसः आत्मा मध्यदेहः परायणं 'कुमारब्रह्मरुद्राद्याहरेर्मध्यात् समुद्रता' इत्यनेन "आत्मा जीवे धृतौ देहे" (वैज.को.6-1-6) इत्यादि अभिधानेनापि सिद्धम्।।११।।

'सृजामि तन्नियुक्तोऽहम्' इति यत् सर्वस्वातन्त्र्यं हरेः उक्तं तत्पुरुषसूक्तसंवादेन विवृणोति 'अहं भवान्' इत्यादिना। अग्रजा मुनयः सनकादयः।।१२,१३।।

घटादिवत् न भातीति नभ आकाशः अकारान्तोऽप्यस्ति।।१४।।

यदेतदस्मदादिकं, आतृणं भूतं भव्यं भवत् जगत् एतस्माद्धरेरुत्पन्नं, तदिदं सर्वं पुरुष एव पुरुषाधीनसत्ताद्येव। त्रिकालमपि तदधीनमेव, न तु तेनैकीभूतम् "यदधीना यस्य सत्ता तत्तदित्येव भण्यते" इति वचनात्। यद्वा पुरुष एवेदं पुरुषेणैवेदं व्याप्तं "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं" (तैत्ति.आ.3-32-33) इति "पुरुषेणैवेदं व्याप्तमातृणादाकरीषात् सर्वं भगवानिति मिथ्यादृष्टिरेवेति" श्रुतेः। तामेव व्याप्तिं स्पष्टीकरोति तेनेदमिति। वितस्तिमात्रं जीवहृदयमधितिष्ठता तेन पुरुषेण सर्वं पुरुष एवेति भण्यते। भेदवत् जगत्। वितस्तिमात्रं हृदयमास्थाय व्याप्तुते जगदित्यादेः सर्वं सिद्धम्।।१५।।

हृदयोपाध्यवच्छिन्नस्य हरेः जीववैलक्षण्यमाह - **स्वधिष्ण्यमिति**। तप-सन्तापदर्शनयोः इति धातोः स्वधिष्ण्यं स्वस्थानं हृदयं अधिष्ठायान्तः सर्वं प्रतपन् पश्यन् असौ प्रकृष्टचेष्टायोगात् प्राणनामा परमात्मा देहाद्बहिश्च बहिष्ठान् विषयानपि प्रतपति पश्यति। एवं विराजं विराडाख्याण्डान्तःस्थान्, बहिः ब्रह्माण्डात् बहिष्ठान्, विशेषादिमूलप्रकृत्यान्तान् सर्वान् पदार्थान् अशेषविशेषाकारेण तपति पश्यति। "पश्यन् स्वधिष्ण्यं देहं स बहिष्ठान् विषयानपि। एवमण्डान्तरं पश्यन् बहिः सर्वं च पश्यति" इति वचनात्।।१६।।

**रा०कृ०** पश्चिमः तस्य पृष्ठभागः पराभूतेः पराभवस्य अधर्मस्य तमसः अज्ञानस्य अपिशब्दात् संसारस्य च स्थानम्, तस्य नाड्यस्तु नदनदीनां स्थानम्; अस्थिसंहतिः अस्थिसमूहः गोत्राणां स्थानम्।।९।।

पुंसः परमपुरुषस्य उदरं अव्यक्तरससिन्धूनां अव्यक्तं प्रधानं रसः अन्नादिसारः, सिन्धवः समुद्राः तेषां भूतनां पृथिव्यादिभूतानां प्राणिनां च निधनस्य पदं विदितं ज्ञातम्। तस्य हृदयं मनसः प्राणिनां मनसः पदं विदितम्।।१०।।

परस्य परमेश्वरस्य आत्मा अन्तःकरणं धर्मस्य मम चतुर्मुखस्य तुभ्यं तव नारदस्य कुमाराणां सनकादीनां भवस्य च रुद्रस्य च विज्ञानस्य च सत्त्वस्य सत्त्वगुणस्य च परायणं उत्तमस्थानम्।

सनकसनन्दसनत्कुमारसनत्सुजाताख्याः सर्वदा कौमारे वर्तमानाः ब्रह्ममानसपुत्राश्चत्वारो मुनयः कुमारा इत्यभिधीयन्ते। तेषु सनत्कुमारः शुक्रग्रहद्वारा भुवमवतीर्णः भूतलजीवेभ्यो ब्रह्मविद्योपदेशार्थं योगविद्याकेन्द्राणि स्थापितवानिति दिव्यज्ञानप्रवर्तकाः परमगुरवः कथयन्ति।।११।।

अहं ब्रह्मा, भवान् नारदः, भवश्चैव रुद्रश्च, इमे मरीच्यादयः ते तव अग्रजाः मुनयः, सुरासुरनरा देवदानवमानवाः नागाः गजाः खगाः पक्षिणः मृगसरीसृपाः मृगाः वृश्चिकादयश्च।

गन्धर्वाप्सरसः यक्षाः, रक्षोभूतगणोरगाः पशवः, पितरः, सिद्धाः विद्याध्राः विद्याधराः चारणाः द्रुमा वृक्षाश्च।

जलस्थलनभौकसः जलस्थलाकाशवासाः अन्ये च विविधाः जीवाः ग्रहर्क्षकेतवः ग्रहाः ऋक्षाणि, अश्विन्यदीनि नक्षत्राणि, केतवो धूमकेत्वादयः। ताराः तारकाः, तडितः विद्युतः, स्तनयित्नवो मेघाः।

यच्चेदं भूतं भव्यं भवच्च कालत्रयवर्ति वस्तु जातं विद्यते तत् सर्वं पुरुष एव परमपुरुष एव ततो भत्रं न किञ्चिदस्तीति भावः तेन पुरुषेण इदं विश्वमावृतं व्याप्तम्। स च पुरुषः वितस्तिं दशाङ्गुलं अधितिष्ठति वितस्तितोऽधिकं व्याप्य तिष्ठति।।१२-१५।।

असौ प्राणः आदित्यः यथा स्वधिष्ण्यं स्वमण्डलं प्रतपन् प्रकाशयन् बहिश्च सर्वमपि प्रतपति प्रकाशयति एवं पुमान् वैराजपुरुषः विराजं स्वविराड्देहं प्रतपन् प्रकाशयन् अन्तर्बहिः ब्रह्माण्डमन्तर्बहिश्च तपति प्रकाशयति। एतेन अस्माभिर्दिवि दृश्यमानं तेजोमयं सौरमण्डलं तदन्तर्वर्तिनः सूर्यस्य जगत्साक्षिणो देहभूतमित्युक्तं भवति।।१६।।

**सोऽमृतस्याभयस्येशो मर्त्यमन्नं यदत्यगात्।**
**महिमैष ततो ब्रह्मन् पुरुषस्य दुरत्ययः।।१७।।**

**पादेषु[1] सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो[2] विदुः।**
**अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि[4] मूर्धसु[5]।।१८।।**

**पादास्त्रयो बहिश्चासन्[6] न प्रजानां च आश्रमाः[7]।**
**अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधोऽबृहद्व्रतः[8]।।१९।।**

**सृती विचक्रमे विष्वङ्[9] साशनानशने उभे।**
**यदविद्या च विद्या च पुरुषस्तूभयाश्रयः।।२०।।**

**यस्मादण्डं विराड् जज्ञे भूतेन्द्रियगुणात्मकः[11]।**
**तद्द्रव्यमत्यगाद्विश्वं गोभिः सूर्य इवाऽऽतपन्[13]।।२१।।**

**श्रीध०** नित्यमुक्तत्वं दर्शयितुमुतामृतत्वस्येत्यस्यार्थमाह - **स इति**। अभयस्येति मन्त्रगतामृतत्व पदव्याख्या। अत्रेनेति पदं विभक्तिव्यत्ययेन व्याचष्टे। मर्त्यं मरणधर्मकमन्नं कर्मफलं यस्मादत्यगादति-क्रान्तवान्[14]। अतो न केवलं सर्वात्मकः किन्तु अमृतत्वस्य निजानन्दस्यापीश्वर इत्यर्थः। ननु प्रपञ्चा-त्मकस्य कुतो नित्यमुक्तत्वमित्याशङ्क्य तत्परिहाराय एतावानस्येत्यस्यार्थमाह महिमेति[15]। प्रपञ्चात्मक-स्याप्यमृतत्वेशत्वमित्येष महिमा दुरत्ययोऽपरः प्रपञ्चानभिभूतत्वादिति भावः[16]। मन्त्रेण च "एतावानस्य महिमा" "विभूतिः स तु ज्यायान् महत्तरः" इति वदताऽयमेवार्थः उक्तः।।१७।।

तदेवमीश्वरो नित्यमुक्त इत्यक्तम्। तदाश्रितानां भूतानां बन्धमोक्षौ व्यवस्थयेति दर्शयन् "पादोऽस्य विश्वा भूतानि" इत्यस्यार्थमाह - **पादेष्विति**। तिष्ठन्त्यत्रेति स्थितयो भूरादिलोकास्ते पादा इव पादाः अंशाः यस्य स स्थितिपात् तस्य स्थितिपदः[17] पादेष्वंशभूतेषु लोकेषु सर्वभूतानि[18] जीवान् विदुः। मन्त्रे तु "पादोऽस्य विश्वाभूतानि" इति। सामानाधिकरण्यमधिष्ठानाधिष्ठेयाभेदविवक्षया[19] पाद इत्येकवचनं च[20] सामान्याभिप्रायेणेति व्याख्यातं भवति। भूतेषु[21] फलवैचित्र्यं दर्शयन् "त्रिपादस्यामृतं दिवी"त्यस्यार्थमाह। अस्येश्वरस्य सम्बन्धि त्रिपादमृतं नित्यसुखं दिव्यूर्ध्वलोकेषु न तु[22] त्रिलोक्यामित्यर्थः।

---

1. M.Ma. "दोऽस्य 2. M.Ma. "वि" 3. W. "र्धा; AF.GF. "र्ध्नो 4. AF.GF. वाऽपि 5. W. "नि 6. H.M.Ma.V.W. "स्त्वा" 7. M.Ma.W. "याः 8. M.Ma. "धेबृहद्व्रतः; W. "धो बृहद्व्रतः; AF.GF. "धोऽमहद्व्रतम् 9. H.M.MaV. "क् 10. M.Ma.W. त" 11. M.Ma. "श्रयः 12. M.Ma. "श्रयम्; W. "श्रयात् 13. AF.GF. "त् 14. H.V. "क्रम्यास्थितः 15. H.V. Omit महिमेति 16. A.B. "तेश" 17. A.H.V. Omit स्थितिपदः 18. B. "णि भू" 19. H.V. "यथोरभेदेन वि" 20. B.H.V. Omit च 21. H.V. Omit भू 22. H.V. Omit तु

तदेव त्रिपाच्छब्दोक्तं त्रैविध्यं दर्शयन्नाह। त्रयाणां लोकानां मूर्धा महर्लोकस्तस्य मूर्धानस्तदुपरितनलोकाः[1] जनस्तपस्सत्यमिति तेषु[2] त्रिषु[3] यथाक्रमममृतादिकमधाधि निहितम्। तत्र त्रिलोक्यां नश्वरमेव सुखम्। महर्लोकस्य क्रममुक्तिस्थानत्वेऽपि कल्पान्ते तत्रत्यानां स्थानत्यागान्नाविनाशि सुखम्। जनलोकेत्वमृतमविनाशि सुखं यावज्जीवं स्वस्थानापरित्यागात्। किन्तु महर्लोकवासिनां कल्पान्ते त्रिलोकदाहोष्मपीडितानां[4] तदा तत्र गमनादक्षेमदर्शनमस्ति तपोलोके[5] तस्याभावात्क्षेममेव। वक्ष्यति हि "त्रिलोक्यां दह्यमानायां शक्त्या सङ्कर्षणाग्निना। यान्त्यूष्मणा महर्लोकाज्जनं भृग्वादयोऽर्दिताः" इति सत्यलोके त्वभयं मोक्षः। तत्प्रत्यासत्तेः।।१८।।

एतदेव वैचित्र्यमधिकारिभेदेनोपपादयन् "त्रिपादूर्ध्वं" इत्यस्यार्थमाह **पादा इति**। न प्रजायन्ते पुत्रादिरूपेणेत्यप्रजाः। नैष्ठिकब्रह्मचारिवानप्रस्थयतयस्तेषामाश्रमात्त्रिलोक्या बहिरासन् गृहमेधस्त्वन्तः यस्मादबृहद्व्रतो ब्रह्मचर्यव्रतरहितः।।१९।।

अयं चाधिकारिभेदः एकस्यैवावस्थाभेदेन[6] नत्वत्यन्तभिन्नविषय इति दर्शयन् "ततोविष्वङ् व्यक्रामत्" इत्यस्यार्थमाह **सृती** इति। विविधं सुष्ठु अंचतीति विष्वङ् पुरुषः क्षेत्रज्ञः सृती मार्गौ दक्षिणोत्तरौ। विचक्रमे चलतिस्म। कथम्भूते सृती? साशनानशने भोगापवर्गप्राप्तिसाधनभूते। अत्र[7] हेतुत्वेन पुनर्विशेषणम्। यत् यतः अविद्या कर्मरूपा एका विद्या च तत्साधनोपासनारूपाऽन्या।।२०।।

तदेव विराडन्तर्वर्तिनां फलवैचित्र्यमुक्त्वा तत्कारणस्येश्वरस्य[8] तद्वैलक्षण्यं दर्शयितुं "तस्माद्विराडजायते" त्यस्यार्थमाह - **यस्मादिति**। यस्मादण्डं जज्ञे तत्र च[9] भूतेन्द्रियगुणात्मको विराट् च[10] जज्ञे स ईश्वरस्तद्विश्वं विराड्देहं द्रव्यमण्डं चातिक्रान्तवान्। सूर्य इवेति पूर्वोक्ते[11] एव दृष्टान्तः।।२१।।

**वीर०** जीवान्तरात्मत्वेन वसतोऽपि परमपुरुषस्य[12] भोक्तृत्वं मोक्षप्रदत्वं च प्रतिपादयन्[13] "उतामृतत्वस्य" इत्यस्यार्थमाह **स** इति। न विद्यते भयं यस्मात् तस्यामृतस्य मोक्षस्येशः प्रदाता यद्यस्मात् मर्त्यमनित्यमन्नं भोग्यं कर्मफलमत्यगात् श्रुतावत्रेनेति व्यत्ययेन द्वितीयार्थे तृतीया। अतिक्रम्य स्थितः। "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" इति श्रुत्युक्तरीत्याऽसंभावितकर्मफलसम्बन्धत्वात् परमात्मा मोक्षद इत्यर्थः। शरीरान्तःस्थितिः[14] जीववैलक्षण्यं चेत्यनुपपन्नमित्याशङ्कायां[15] "एतावानस्य महिमे" त्यस्यार्थमाह महिमेति। पुरुषस्य कृत्स्नचिदचिदात्मकप्रपञ्चस्य अन्तर्बहिश्च व्याप्य सर्वं स्वप्रशासनाधीनं कुर्वतः परमात्मनः एष महिमा अमृतत्वेशानत्वरूपमहिमा[16] दुरत्ययः अपारकृत्स्नप्रपञ्चात्मकत्वेनाव-[17]

1. H.V. "नाः 2. B.H.V. Omit जनस्तपस्सत्यमिति 3. A.H.V. Omit त्रिषु 4. H.V. त्रैलोक्य" 5. B. adds तु 6. H.V. "स्थान" 7. H.V. तं 8. B. "णेश्व" 9. H.V. Omit च 10. H.V. Omit च 11. H.V. क्तमेवदृष्टान्तमाह 12. W. परस्य 13. W. "तः 14. A.B. "न्तरावाशितिः 15. A.B. चानुप" 16. A.B. "त्ये" 17. W. "पो

स्थितस्यापि प्रपञ्चगतदोषासंस्पर्शित्वममृतेशितृत्वं चेत्येतदनुपपद्यमानमपि तस्य महिम्ना उपपद्यत इत्यभिप्रायः।।१७।।

अपारमहिमत्वमेव प्रतिपादयतः "पादोऽस्य विश्वा भूतानि" इति वाक्यास्यार्थमाह **पादेष्विति**। तिष्ठन्त्यत्रेति स्थितयो भूरादयो लोकास्ते पाद इव पादाः अंशाः यस्य स स्थितिपात् तस्य पादेष्वंशभूतेषु लोकेषु सर्वभूतानि देवादिचतुर्विधभूतानि विदुः। एतेन मन्त्रेऽपि "पादोऽस्य विश्वा भूतानि" इति सामानाधिकरण्यमधिष्ठानाधिष्ठेयोरभेदविवक्षया पाद इत्येकवचनं च सामान्याभिप्रायेणेति व्याख्यातं भवति। बद्धमुक्तयोरसाङ्कर्येण प्राप्यस्थानानां तद्विभूतित्वप्रतिपादकस्य "त्रिपादस्यामृतं दिवि" इत्यादेरर्थमाह अमृतमिति। अस्येश्वरस्य सम्बन्धि त्रिपात् त्रिविधम् अमृतं अक्षय्यसुखं दिवि प्रकृतिमण्डलाद्बहिरिति श्रुत्यर्थः। अत्र त्रिपाच्छब्दोक्तत्रिविधत्वं दर्शयन्नाह - अमृतं मरणादि विकाररहित्यम्, अभयं तत्कार्यभयराहित्यं, क्षेमं इष्टप्राप्तिरूपलक्षणं निरतिशयानन्दप्रापणमित्यर्थः। अपहतपाप्मत्वादि गुणाष्टकाविर्भवरूपं मुक्तैश्वर्यं कोटित्रयेण संगृहीतम्। अमृतमिति विरजविमृत्युशब्दार्थः उक्तः। क्षेममिति सत्यकामत्वाद्यनुवृत्तिरुक्ता। अभयमित्यपहतपाप्मविशोकादिशब्दार्थः उक्तः। पाप्मा हि भयहेतुः। भयमिति च शोकादिसर्वदुःखप्रदर्शनम्। एवं त्रिमूर्धा त्रिविधं मुक्तैश्वर्यं मूर्धनि उपरिष्टादित्यर्थः। "तमसः परस्तात्" इतिवत् लीलाविभूतेः परस्तादमृतं क्षेममभयं चाधायि विहितमित्यर्थः मूर्धस्विति पाठे उपरिष्टाद्वर्तमानेषु त्रिषु पादेष्वित्यर्थः।।१८।।

बद्धेभ्यो मुक्तानां जीवानां बहुत्वम्, तत्प्राप्यस्थानानन्त्यमुभयोस्तद्विभूतित्वं, बद्धानामल्पीयस्त्वं-तत्प्राप्यस्थानं तस्यापि तद्विभूतित्वं च प्रतिपादयतः "त्रिपादूर्ध्वं" इत्यादेरर्थमाह **पादा** इति। त्रयः पादा यस्य सः त्रिपात् पुरुषः परमपुरुषः ऊर्ध्वं प्रकृतिप्राकृतेभ्यः उपरिष्टादुदेदुदयं गतः स्वेच्छोपात्तदिव्यमङ्गलविग्रहः समस्तमुक्तनित्यभोग्यः आस्त इत्यर्थः। अत्र पाच्छब्दः पादवदंशत्वेनावस्थितानां मुक्तानां तत्प्राप्यस्थानस्य च भागानाह। एवं च त्रयः पादाः मुक्तजीववर्गस्य तत् प्राप्यस्थानस्य च भागाः विभूतित्वेन यस्य स त्रिपात्। बद्धजीव-तत्प्राप्यस्थानापेक्षया मुक्ततत्प्राप्यस्थानानां त्रिभागत्वकथनं अनन्तत्वतात्पर्यकम्। अस्य परमपुरुषस्य पादः विभूतिभूतः एको भागः। इह प्रकृतिमण्डलेऽभवद्बद्धैः तत्प्राप्यस्थानानि च "एकांशेन स्थितो जगत्" तस्यायुतायुतशतैककलांशकांशे। विश्वं विचित्रचिदचित्प्रविभागवृत्तं" मित्युक्तप्रकारेण तद्विभूत्येकदेश इति श्रुत्यर्थः। एतदेव व्याचष्टे पादा इति। त्रयः पादास्तु बहिः प्रकृतेः प्राकृतेभ्यो बहिरासन्। ये तस्य पादास्तेऽप्रजानां जन्मरहितानां मुक्तानामाश्रयाः प्राप्या इत्यर्थः। एकस्य पादस्य बहिष्ठत्वमाह अन्तरिति। अपरः सांसारिक क्षेत्रज्ञवर्गप्राप्यस्थानरूपः पादः

1. W. Omits स्थितिपात् 2. W. "याधे" 3. W. Omits च 4. W. "त्यर्थः 5. W. "त्रैविधयं 6. A.B. "प" 7. A.B. "शेऽत्र 8. W. Omits च 9. W. Omits मुक्त 10. W. त्रिपा" 11. W. "क्तजी 12. W. adds त्रिपात् 13. A.B. "तमुक्ता" 14. A.B. "वत्व" 15. A.B. "द्धा: 16. W. य" 17. A.B. Omit पादस्य

त्रिलोक्याः अन्तरित्यर्थः। तमेव पादं विशिनष्टि गृहमेधः अहङ्कारममकारादिमान्वर्णाश्रमान्वितश्चेत्यर्थः। बृहद्व्रतः कर्मवश्यः उपचारात्प्राप्ते[1] प्राकृधर्मव्यपदेशः।।१९।।

एवमपारमहिमत्वमुपपाद्याथ प्रसङ्गाद्[2] बुभुक्षुमुमुक्षूणां च भगवल्लीलाविभूतित्रिपाद्विभूतिगतिहेतुमार्गद्वयप्रतिपादकं "ततो विष्वङ्" इति वाक्यं व्याचष्टे **सृती** इति। विविधं सुष्ठु अञ्चतीति विष्वङ् क्षेत्रज्ञः सृती धूमाद्यर्चिरादिमार्गौ विचक्रमे आक्रमदाक्रान्तवानित्यर्थः। कथाभूते सृती? साशनानशने अशनं भोगः भोगार्थत्वतदभावाभ्यां मार्गयोः साशनत्वानशनत्वे। साशनानशनलक्षणमार्गद्वयप्राप्युपायमाह यदिति। यत्[3] यत्र मार्गद्वयमध्ये अविद्या कर्म "अविद्याकर्मसंज्ञाऽन्या" इत्याद्युक्तेः[4] कर्मरूपाऽविद्याधूमादिमार्गप्राप्युपायभूता एका, विद्या अर्चिरादिप्राप्युपायभूता परमात्मोपासनरूपा अपरा। पुरुषो जीवस्तूभयाश्रयः साधनद्वयनिष्ठः "(ते) तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" इति श्रुतेः। समन्वारभेते संगच्छेते[5] इत्यर्थः।।२०।।

एवं बुभुक्षुमुमुक्ष्वधिकारिभेदेन तद्गन्तव्यमार्गद्वयं तदुपायं चोक्त्वाऽथ भगवतः स्वविभूतिभूतप्रपञ्चाद्वैलक्षण्यं, भगवतः[6] प्रपञ्चाकारेण परिणामं[7] तद्गतदोषासंस्पर्शित्वं च प्रतिपादयत् "तस्माद्विराडजायत" इत्यादिवाक्यं व्याचष्टे **यस्मादिति**। विराट् अण्डकारणभूतो विराट्पुरुषोऽनिरुद्धः अण्डादिति त्यब्लोपे पञ्चमी। यस्मात्स्वशरीरभूतात् प्रधानादुपादानाद्यदण्डं[9] सृष्ट्वा स्वयमपि भूतेन्द्रियगुणात्मकः देवादिव्यष्टिप्रपञ्चानुरूपो[10] जज्ञे तत्प्रधानं[11] तदण्डरूपं[12] च सर्वं[13] द्रव्यमत्यगात्र तत्र परिच्छिन्नः - बहिरपि व्याप्तवानित्यर्थः। तत्र[14] दृष्टान्तः आश्रयाद्घटपटादिपदार्थजातात् गोभिः किरणैरादित्य इवात्यगादित्यर्थः।[15] वेदान्तेषु सत्कार्यवादस्याभिहितत्वात्कारणभूतो विराडेव व्यष्टिरूपेण जज्ञे। सूक्ष्मचिदचिच्छरीरको[16] भगवानेव स्थूलचिदचिच्छरीरको[17] जातः। जातश्च स्वयं स्वशरीरभूतचेतनाचेतनगतदोषैरस्पृष्टः स्वकार्यभूतकृत्स्नप्रपञ्चमन्तर्बहिश्च व्याप्य व्यवस्थितः[18] इत्यर्थः। नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मप्रकृतिपुरुषशरीरकस्य परमपुरुषस्य जगदुपादानत्वादुपादानत्वस्यावस्थाश्रयत्वरूपत्वात्प्रकृतिपुरुषेश्वराणां त्रयाणामप्यवस्थाश्रयत्वमस्त्येव। तत्राचेतनस्यावस्थाश्रयत्वं स्वरूपान्यथाभावरूपं, चेतनस्य तु स्वभावान्यथाभावरूपं, ईश्वरस्य तु कार्यावस्थचेतनाचेतननियन्तृत्वरूपम्। नहि कारणावस्थचेतनाचेतननियमनात्कार्यावस्थाचेतनाचेतननियमनमभिन्नमिति वक्तुं शक्यम्। किञ्चेश्वरस्य सद्वारकावस्थाश्रयत्वमस्त्येव। एवमसाङ्कर्येणावस्थानां प्रतिनियतत्वाच्छुक्लनीलादितन्त्वारब्धे पटे शौक्ल्यादेस्तत्तत्प्रदेश-[19]गतत्ववच्चेतनाचेतनगताः धर्माः अज्ञत्वपरिणामित्वादयः, तत्रैवावतिष्ठन्ते न परमात्मानं स्पृशन्ति।

---

1. B. "त्राप्ये प्राप्ते" 2. W. "पङ्गा" 3. W. Omit यत् 4. A.B. "क्तम्। 5. A.B. "गते 6. A.B. "त्राप" 7. A.B. "भत" 8. W. त" 9. A.B. Omit उपादानात् 10. A.B. Omit अनु 11. W. Omit तत्प्रधानं 12. W. Omits च सर्वं 13. W. अ" 14. W. Omits पट 15. A.B. Omit इत्यर्थः 16. W. "त्स्वरूपको 17. W. "त्स्वरूपको 18. A.B. Omit व्यव" 19. W. "देश"

परमात्मा तु स्वयं निरस्तनिखिलदोषोऽनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणः स्वशरीरभूतचेतनाचेतनगतस्वपर्यन्तनामरूपनिर्वाहकः कारणावस्थ[2]चेतनाचेतनशरीरकत्वेन तद्व्याचिभिः शब्दैरभिधीयमानः सर्ववस्तुसमानाधिकृतोऽवतिष्ठत इत्ययमत्र सङ्ग्रहः। श्रुत्यर्थस्तु तस्मात्परमप्रस्तुतकारणपुरुषाद्विराडनिरुद्धो जज्ञेऽवतीर्णः। विराजोऽनिरुद्धाद्वैराजो ब्रह्माण्डशरीरकः पुरुषो जज्ञे। जातश्च स वैराजः भूमिं विश्वं पश्चादुपरिष्ठादधः अन्तश्चाऽत्यतिरिच्यते तद्विलक्षणो व्याप्तवानिति।।२१।।

**विज०** नन्वस्त्वमुक्तप्रपञ्चादवैलक्षण्यं, मुक्तप्रपञ्चवैलक्ष्यण्यं कुत इति तत्राऽऽह - **स** इति। स पुरुषः अभयस्य जननादिभयरहितस्यामृतस्यानन्तमुक्तसमुदायस्य ईशः स्वामी सर्वाभीष्टदानेनेति शेषः। आत्मनोऽन्नं भोग्यं नित्यमुक्तलक्ष्मीतत्वं तदभिमन्यमानमव्यक्तं जडं तत्कार्यं मर्त्यं देहनाशादिना विनाशिनं महदादितत्त्वाभिमानिनं ब्रह्मादिसर्वजीवसमुदायं तानि तत्त्वादीनि चानाद्यन्तकालतोऽत्यगादिति शेषः। नानैकान्तोऽयं हेतुरिति भावेनाऽऽह महिमेति। ब्रह्मादितत्त्वं पक्षान्तर्भूतमिति यत्तत इति। "अव्यक्तमात्मनोऽन्नं च महदादिविनाशि च । यदतीतः परो विष्णुः स एवातो विमोक्षदः" इति स्मृतेः।।१७।।

जीवानां परमांशत्वात्कथं दुरत्ययत्वं महिम्नः इति तत्राऽऽह - **पाद** इति। स्वरूपांशो भिन्नांश इति द्विविधोंऽशो हरेर[3]स्ति तत्र सर्वभूतानि सर्वजीवाः अस्य पुरुषस्य पादो भिन्नांशः इति स्थितिविदः सर्वस्य यथावत् स्थितिज्ञा विदुः अतः खद्योतस्य कालाग्न्यंशत्वेऽपि तन्महिमात्यत्वं यथा नास्ति प्रमाणविरुद्धत्वादेवं जीवानमपीति भावः। तर्हि स्वरूपांशाः के कुत्र सन्तीति तत्राऽऽह - अमृतमिति। अमृतमनन्तासनाख्यं, क्षेमं वैकुण्ठाख्यम्, अभयम् श्वेतद्वीपाख्यमिति पुरत्रयं त्रिमूर्ध्नो हरेस्त्रिषु मूर्धस्वधायि धृतं रूपान्तरेणेति शेषः। नन्वनेन प्रश्नपरिहारः कथमागत इत्यस्यापीदमेवोत्तरम्। तथाहि त्रिविधाः मुरो जीवास्तान् धत्त इति त्रिमूर्धा तस्य हरेरमृतमनन्तगतं रूपम् अनन्तासनमिति यावत्। अनन्ते ऋतं गतं रूपमिति। "अमनन्तं विदुर्बुदाः" इत्येकाक्षरमालायाम्। विकुण्ठनाम्नोऽपमृत्युलक्षणं क्लेशं क्षिणोतीति क्षेमं वैकुण्ठाख्यं भा दीप्तावितिं धातोर्दीप्तिनिरोधित्वादंभानि (अभानि) जलानि यात्याप्नोति आश्रयत्वेनेत्यभयम् नारायणाख्यमिति रूपत्रयम्। एषु त्रिषु मूर्धसूत्तमेषु बहुलक्षोच्छ्रितेषु परेष्वधायि निहितम्। तस्मादनन्तासनवैकुण्ठनारायणाः स्वरूपांशाः येषु लोकेषु वसन्तीति भावः। तदुक्तम् "स्वरूपांशो विभिन्नांश इति द्वेधांश इष्यते" इत्यादि "त्रिमूर्धा सन् हरिर्धत्ते द्युत्रयं मूर्धभिस्त्रिभि" रित्यादिना ब्रह्मविष्णुमहेश्वरात्मना त्रयो मूर्धानो यस्य स त्रिमूर्धा तस्य मूर्धसु सत्यवैकुण्ठकैलासाख्यस्थानेषु तेषामेव नामान्तरविशिष्टममृतमित्यादिरूपत्रयमधायीत्यपव्याख्यानमपा[4]स्तम्।।१८।।

ते च लोकास्त्रिलोक्या बहिरेवासन्नित्याह **पादा** इति। पादयन्ति प्रापयन्तीत्यात्मानमिति पादाः।

---

1. W. Omits गण 2. A.B. add कार्यावस्थ 3. A.B. °रास्ते 4. M.Ma. °पहास्तितम्

ये लोकाः ये च तेषु वसन्तः स्वरूपांशाः अप्रजानामपुत्राणां मदाद्यादीनां ब्रह्मादिदेवानाम्, आश्रयास्ते भूम्यादित्रिलोक्याः बहिरेवासन्नित्यन्वयः। अत्र तु नासूचितमिदं प्रमाणम् - "अनन्तासनवैकुण्ठनारायणपुराणि तु" इत्यदि। तस्यैव त्रिधाम्नो विष्णोस्त्रिलोक्यन्तर्गतस्वरूपांशान्तरमाह अन्तरिति। बृहदिति। भावप्रधानः स एव विष्णुः त्रिलोक्याः अन्तरपरो यज्ञपुरुषाख्यः गृहमेधैर्गृहस्थैः बृहत्त्वेन ब्रह्मत्वेन ब्रह्मार्पणबुद्ध्येति यावत्, हुतो वसतीति शेषः। तुना तस्य स्थानस्य शक्रलोकसामीप्यं सूचयति। तदुक्तं - "स एवान्यस्वरूपेण शक्रलोकसमीपगः" इत्यादि। न केवलं शक्रलोकनिकटवर्तिलोकस्थ एव पूज्यते, अपितु त्रिलोक्याः अन्तर्ध्रुवादिलोकस्थोऽपीति। इममर्थमपि तुशब्देनाह। तदुक्तं "यतीनां ध्रुवलोकस्थोऽवनिनां मेरुमध्यगः" इत्यादि।।१९।।

एतन्नयोऽपि स्वरूपांशाः इति निर्णयाय मूलरूपवद्भिन्नांशेषु देवादिसर्वजीवेषु तेषां व्याप्तिप्रकारमाह - **सृती** इति। अनन्तासनवैकुण्ठनरायणाख्यः त्रिपादभगवान्विद्या ब्रह्मविद्या तदविद्या च आश्रिते ते विरुद्धलक्षणत्वादुभे देवमनुष्यसंज्ञे सृती सरणी मार्गौ विष्वक् सर्वतो विचक्रमे आप। देवमनुष्यसंज्ञे कुतोऽवगते? इति तत्राह - साशनानशने इति। साशना मनुष्याः अनशनाः देवाः तद्विषयवत्त्वात्तथोक्ते, यद्वा "ये विद्या वाऽविद्या चैते सृती" इत्यनेन तद्वन्तः पुरुषा लक्ष्यन्ते तेषु विक्रम्य स्थितः तदुक्तं - "त्रिपात्स एव भगवान्सर्वप्राणिषु संस्थितः। निरत्रेषु च विद्वत्सु त्रिदशेष्वितरेषु च" इति। ननु हरेराधेयत्वेन पारतन्त्र्यमागतमत्राह पुरुष इति। पुरुषो विष्णुरुभयोराश्रयः आधारः। तुशब्देनान्ये मत्स्यादयः स्वरूपांशाः अपि सर्वव्याप्तिमन्त इति सूच्यते।।२०।।

अण्डव्याप्तचतुर्मुखोत्पत्तिमाह - **तस्मादिति**। पूर्वं महदादितत्त्वोत्पादनाय हरिणा यदण्डं निरमायि तस्मादण्डाद्ब्रह्मनामा विराट् जज्ञे, अण्डव्यापिनं तं विशिनष्टि भूतेति। भूतानां पृथिव्यादीनां जीवानां वा, इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां गुणानां शब्दादिविषयाणां विषयवृत्तौ सहकारिणां, दिगादिदेवानां वाऽऽश्रयः आधारः, यद्वा स्वसृष्टात्तस्मादण्डात् विश्वासौ राट् चेति विराट् विष्णुः जज्ञे शेषशायित्वेन प्रादुर्भूतः। किञ्चाण्डादभिव्यक्तात् तस्माच्छेषशायिनो हरेर्नाभिपद्मात् रूपान्तरेण भूतेन्द्रियगुणाश्रयो विराट् ब्रह्मा जज्ञे इत्यन्वयः। "तस्माद्धरेरण्डमभूदण्डादपि चतुर्मुखः" इत्यादेरुक्तार्थः, एवाऽयं श्लोकः। एतस्मात् गुणयोगात् परमेष्ठिनाम चास्य अभूदिति भावेनाऽऽह - तद्द्रव्यमिति। यदा ब्रह्माण्डात् शर्वपूर्वादि विश्वमुत्पन्नं तद्द्रव्यं गोभिर्भक्तिज्ञानादिगुणलक्षणादिभिः अत्यगात् उद्रिक्तोऽभूत्। कथमिव? यथा सूर्यो दिगन्तविश्रान्तैः रश्मिभिः, अन्तरिक्षाद्याश्रयं अत्येति तथेत्यन्वयः। तदुक्तम् - "यदोभयात्मको जज्ञे ब्रह्मा लोकपितामहः।" इत्यादि।।२१।।

**रा०कृ०** यत् यस्मात् कारणात् मर्त्यं मरणधर्मकं अन्नं कर्मफलं अत्यगात् अतिक्रान्तवान्। तस्मात् कारणात् सः परमेश्वरः अभयस्य जननमरणादिदुःखभयरहितस्य अमृतस्य परमानन्दरूपस्य

मोक्षस्य ईशः दातृत्वेन समर्थः। ततो हे ब्रह्मन्! नारद! पुरुषस्य तस्य परमपुरुषस्य एष महिमा दुरत्ययः अपारः केनापि तर्तुमशक्य इति भावः। भगवत्कर्मणां फलनिरपेक्षत्वात् भगवतो मरणधर्मककर्म-फलातीतत्त्वम्। तथा च भगवदनुयायिनां भक्तानां भगवद्गुणसिद्धेः भगवतोऽमृतत्वप्राप्तिः।।१७।।

स्थितिपदः अत्र स्थितिपदेन जीवस्थितिहेतुभूताः लोकाः उच्यन्ते। तथा च स्थितयो लोकाः पादाः पादां इव अवयवभूताः यस्य तथाभूतः स्थितिपाद् तस्य पुंसः परमपुरुषस्य पादेष्ववयवभूतेषु लोकेषु सर्वभूतानि स्थितानि विदुः, मन्त्रज्ञाः कथयन्ति। त्रिमूर्ध्नः त्रयाणां भूर्भूवस्स्वर्नाम्नां लोकानां मूर्ध भूतस्य महर्लोकस्य मूर्धसु उपरितनेषु लोकेषु जनतपस्सत्यनामकेषु यथाक्रमं अमृतं मरणाभावं, क्षेमं रोगाद्यभावः, अभयं भयाभावः, एतत्त्रयं अधायि स्थापितम्।

लोकानां भगवदवयवत्वोक्तेः लोकमयत्वेनैव भगवतो अवस्थानमुन्नेयम्। जनतपस्सत्यलोकानां भगवदभिव्यक्त्याराधना सत्तामयत्वात् यथाक्रमं अमृतक्षेमाभयप्रदायित्वम्।।१८।।

ये पूर्वोक्ताः त्रयः पादाः जनतपस्सत्यलोकाख्याः त्रिलोक्याः बहिश्चासन् ते अप्रजानां पुत्ररूपेण अजायमानानां ब्रह्मचारि, वनप्रस्थयतीनां आश्रमाः स्थानानि, अभवन्निति शेषः। अबृहद्व्रतः ब्रह्मचर्यादिव्रतरहितः अपरः ब्रह्मचर्यादिभ्यो भिन्नः गृहमेधो गृहस्थस्तु त्रिलोक्यां, अन्तः तिष्ठतीति शेषः।

प्रथमे ब्रह्मचर्याश्रमे ब्रह्माभिव्यक्तिप्रयत्नः कर्तव्यः। वानप्रस्थे लोकमयब्रह्माराधना विधेया। यत्याश्रमे तु ब्रह्ममयत्वावस्थितिनियतिः साधनीया। अतो जनतपस्सत्यलोकाः क्रमेण ब्रह्मचारि-वानप्रस्थयतीनां स्थानभूताः इत्युक्ताः। गृहस्थस्य च ब्रह्मचर्यव्रतराहित्येऽपि ब्रह्मचर्याश्रमसंस्कार-बलावाप्तलोकमयब्रह्मविहृतिविज्ञानद्वारा वानप्रस्थाश्रमानुप्रवेशादस्ति महत् प्राधान्यं साधनासान्तत्य-सम्पादकम्।।१९।।

यत् यस्मात् कारणात् अविद्या कर्मरूपा एका सृतिः विद्या च तत्साधनोपासनारूपा अपरा सृतिः स्तः। पुरुषो जीवस्तूभयाश्रयः भवति। सः विष्वक् सर्वतोमुखगतिः क्षेत्रज्ञः पुरुष; साशनानशने साशना कर्मफलभोगसहिता अनशना कर्मफलभोगरहिता ते उभे सृती दाक्षिणोत्तरमार्गौ विचक्रमे चचाल। कर्मफलभोगसाहित्यराहित्ययोः पुरुषेच्छाधीनत्वात् पुरुषस्योभयमार्गाश्रयत्वम्। कर्मफलभोग-साहित्यराहित्याभ्यां पुरुषस्य यथाक्रमं देवत्वजीवत्वसिद्धिः।।२०।।

यस्मात् परमेश्वरात् अण्डं ब्रह्माण्डं जज्ञे उद्भूव, तस्मात् भूतेन्द्रियगुणात्मकः भूतानि पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतानि, इन्द्रियाणि वागादीन्येकादशेन्द्रियाणि, गुणाः शब्दादयः पञ्च, एतदात्मकः विराट् जज्ञे। सः परमेश्वरः तत्र प्रविष्टोऽपि गोभिः किरणैः स्वमण्डलं सूर्य इव विश्वं विराट्च्छरीरात्मकं आतपन्

प्रकाशयन् तत्र विराट्च्छरीरात्मकं द्रव्यं अत्यगात् अतिक्रान्तवान् तद्द्रव्यमतिक्रम्य ततो बहिरपि व्याप्तवानिति भावः। परमेश्वरो युगपत् ब्रह्माण्डाकारो ब्रह्माण्डभिन्नश्च भवतीति भावः।।२१।।

**यदास्य नाभ्यान्नलिनादहमासं महात्मनः।**
**नाविन्दं[1] यज्ञसम्भारान् पुरुषावयवार्हते[2]।।२२।।**

**तेषु यज्ञस्य[3] पशवः सवनस्पतयः कुशाः[4]।**
**इदं च देवयजनं कालश्छोरुगुणान्वितः[5]।।२३।।**

**वस्तून्योषधयः स्नेहा[7] रसलोहमृदो जलम्।**
**ऋचो यजूंषि सामानि चातुर्होत्रं च सत्तम।।२४।।**

**नामधेयानि मन्त्राश्च दक्षिणाश्च व्रतानि च।**
**देवतानुक्रमः कल्पः सङ्कल्पस्तन्त्रमेव[8] च ।।२५।।**

**गतयो मतयः श्रद्धा[9] प्रायश्चित्तं समर्पणम्।**
**पुरुषावयवैरेते[10] सम्भाराः सम्भृता मया।।२६।।**

**श्रीध०** नन्वेवं पुरुषं एव चेत्सर्वं[11] तर्हि यज्ञस्य तत्साधनानां चापृथक्भावाद्यज्ञैः पुरुषाराधनं न सिद्धयेदित्याशङ्क्य तत्परिहाराय "यत्पुरुषेण हविषा" इत्यादिमन्त्रार्थं संगृह्य दर्शयति **यदेत्यादिना**। अस्येति विराडन्तर्यामिणः तस्यैव प्रकृतत्वात् नाभौ भवं नाभ्यं तस्मात्कमलादहमासम्। यज्ञस्य सम्भारान्[13] साधनानि पशुयूपादीनि[14] पुरुषावयवं विना नापश्यम्।।२२।।

तदा तेषु सम्भारेषु साध्येषु सत्सु "पुरुषावयवैरेते[15] सम्भाराः सम्भृता मया" (भाग.2-6-26) इति चतुर्थेनान्वयः। तानेव दर्शयति तेष्विति। वनस्पतयो यूपाः देवयजनं यज्ञभूमिः इदं चेति वचनाद्यज्ञार्हे स्थाने उपविष्टः कथयतीति गम्यते। बहुगुणान्वितो वसन्तादिकालः।।२३।।

**वस्तूनीति**। वस्तूनि पात्रादीनि ओषधयो व्रीह्यादयः स्नेहा **घृतादयः**। रसा मधुरादयः। लोहानि सुवर्णादीनि। मृदश्च चातुर्होत्रं होत्रादिकं कर्म।।२४।।

---

1. A.B.C.G.I.N. "दं 2. I.M.Ma. "नृ" 3. AF.GF. "ज्ञेषु; M.Ma. "ज्ञाह 4. W. शुभाः 5. H.V. "लो बहु" 6. M.Ma. "सू" 7. W. "ह" 8. M.Ma. "स्यूत्र" 9. B.C.I.N. चैव; H.V. शुद्धाः 10. M.Ma. "तैः 11. H.V. चेत्तत्स 12. B.H.V. Omit कमला.....आसम् 13. H.V. Omit साध.....विना 14. B. Omits पशु.....विना 15. B. "तैः ; H.V. "व

**नामधेयानीति**। नामधेयानि ज्योतिष्टोमादीनि। ऋगादीनामुक्तत्वान्मन्त्रा इति[2] स्वाहाकारादयः। देवतानुक्रम उद्देशः। कल्पो बौधायनादिकर्मपद्धतिग्रन्थः। अनेनाहं यक्ष्ये इति[3] सङ्कल्पः तन्त्रमनुष्ठान-प्रकारः।।२५।।

**गतय** इति। गतयो विष्णुक्रमाद्याः। मतयो देवताध्यानानि प्रायश्चित्तं भूर्भुवःस्वरादिकृतस्य भगवति समर्पणम्।।२६।।

**वीर०**. नन्वेवं पुरुष एव चेत् सर्वं तर्हि यज्ञस्य तत्साधनानां चापृथग्भावाद्यज्ञैः पुरुषाराधनं न सिध्येदित्याशङ्क्य तत्परिहाराय यत्पुरुषेत्यादिमन्त्रार्थं संगृह्य दर्शयति **यदेति**। महात्मनः अस्य विराडाख्यानिरुद्धस्य नाभौ भवं नाभ्यं तथाभूतान्नलिनात्कमलादहं चतुर्मुखः यदा आसमभूवं तदा पुरुषावयवाद्विना यज्ञसम्भारान् अन्यानि यज्ञसाधनानि नाविन्दम् नापश्यम्।।२२।।

तेषु पुरुषावयवेषु यज्ञस्य साधनान्यासन्निति शेषः। तान्याह **पशव** इति। वनस्पतयो यूपादयो देवयजनं देवा इज्यन्तेऽस्मिन्निति देवयजनं यागभूमिः इदं चेति वचनाद्यज्ञार्हे स्थाने उपविष्टः कथयतीति गम्यते। बहुगुणान्वितः कालो वसन्तादिः।।२३।।

वस्तूनि पुरोडाशादीनि तदर्था ओषधयः व्रीह्यादयः। स्नेह आज्यादिः। रसः सोमादिरसः। लोहः सुवर्णादिः। मृदः कपालादीनि। चातुर्होत्रं चतुर्होतृशब्दवाच्यैर्मन्त्रैः प्रकाश्यं कर्म। हे सत्तम! सतां श्रेष्ठ!।।२४।।

नामधेयानि ज्योतिष्टोमादीनि ऋगादीनामुक्तत्वान्मन्त्रः स्वाहाकारादयः। व्रतं पयोभक्षणादिकं। देवतानुक्रमः देवतानामनुक्रमः उद्देशः। यद्वा देवतेति पृथक् पदं, सा च अनुक्रम अनुपाठः आनुपूर्वी वा[7]। कल्पः प्रयोगविधिः, सङ्कल्पः कर्तव्याध्यवसायः, तन्त्रं क्रियाकलापः।।२५।।

गतयो विष्णुक्रमाद्याः, मतयः देवताध्यानानि, श्रद्धा कर्तव्यविषया त्वरा, प्रायश्चित्तं वैकल्यस-माधानं समर्पणं देवतौः[8] प्रति हविषोऽर्पणं[9][10] मया पुरुषावयवैः संभारा यज्ञसाधनानि सम्भृताः सम्पादितानि।।२६।।

**विज०** प्रथमरूपस्य विरिञ्चस्यापि स एष पुरुष इत्युक्तस्य वैराजपुरुषाभिधस्य हरेर्मुख्याधिष्ठा-

---

1. V. Omits नामधेयानि.....स्वाहाकारादयः 2. B. Omits इति 3. B. adds एवं 4. B. Omits भूर्भुवस्वरादि 5. W. "ध्यती 6. W. "भं 7. W. Omits वा 8. W. "तां 9. W. Omits हविषो 10. W. सम"

नत्वाद्यस्येहावयवैरित्याद्युक्तलक्षणं चतुर्मुखे सम्भवति तत्परिहारायाह **यदेति**। यदाऽस्य नाभ्यात् नाभिप्रदेशाज्जातात् नलिनादहमासम्। द्वितीयरूपेणोत्पन्नोऽभवम्। महात्मन इत्यनेन तन्माहात्म्यात्स्व-माहात्म्यस्यात्यन्तार्वाचीनत्वं सूचयति तदा भक्त्या तं यियक्षुरहं पुरुषावयवानृते अण्डस्य पुरुषप्रतिमा-त्वात् लोकादियागसम्भाराणामुक्तप्रकारेण तदवयवोत्पन्नत्वात्तदवयवव्याप्तत्वात्तदाश्रितत्वाच्च पुरुषाव-यवान् विहाय लोकादियज्ञसम्भारान्नाविदम्। न लब्धवानित्यन्वयः। अनेन यज्ञकर्मणा भगवद्विषयेण शुद्धान्तःकरणस्य पुंसः समुद्रिक्तभक्तिज्ञानदिभिस्तत्प्रसादातिशयो भवतीत्युक्तं भवति।।२२।।

पुनर्ब्रह्मणा किमकारीत्याशङ्क्य तदर्थत्वेन तत्सृष्टत्वेन तत्सन्निधानविशिष्टस्तैस्तैर्हरियजनाद्धरिप्रीति-र्भवतीति विमृश्य यज्ञसम्भरणप्रकारमाह - तेष्विति। तेषु पुरुषावयवेषु तदाश्रितयज्ञसम्भारो मया सम्भृतः साधित इत्यन्वयः। यज्ञाः अग्निष्टोमादयः, पशवोऽजादयः, वनस्पतयोऽश्वत्थादयः, यैररण्यादि-निर्माणं क्रियते। देवयजनं यागभूमिः। कालो वसन्तादिः। तस्य गुणाः धर्माद्याः।।२३।।

वसूनि काञ्चनादीनि, ओषधयो व्रीह्यादयः, स्नेहाः आज्यादयः, रसाः क्षीरगुडादयः, लोहाः अयःप्रभृतयः, मृदो वल्मीकमृदिष्टिकादयः, जलं गङ्गादि गतम्। नियतपादबद्धा ऋचः, अनियतच्छन्दो-बन्धोपेतानि यजूंषि, गानप्रधानानि सामानि, चतुर्भिरध्वर्य्वादिभिः क्रियमाणं कर्म चातुर्होत्रम्।।२४।।

नामधेयानीन्द्र इत्यादीन्यग्निहोत्रदर्शादीनि वा। मन्त्राः द्विविधाः बीजात्मकाः मालात्मकाः। विंशद्वर्णादर्वाग्बीजमन्त्राः, ततोऽधिकाः मालाख्याः ते च देवताद्रव्यादिप्रकाशकाः। चन्द्रकलावत् बिन्दु-मण्डितशिरसो वर्णा बीजाख्याः चतुर्थ्यन्ता इन्द्रादिनामविशिष्टाः नमःस्वाहाफडन्ताः मालामन्त्राः। उभये च जपाधिकान्यून जपाइति। कर्म दक्षयन्तीति दक्षिणाः। होत्रादिभ्यो द्रव्यदानसम्बन्धाः। व्रतानि ब्रह्म-चर्यादीनि। देवतास्तत्तन्मन्त्रवाच्या अग्न्यादिकाः। अनुक्रमस्तासां तारतम्यं पौर्वापर्यलक्षणम्। अनुपाठो वा कर्मक्रमो वा। कल्पः प्रयोगविधिप्रतिपादको बौधायनादिः। सङ्कल्पः इदं करिष्ये इति मनोवाग्भ्यां स्मरणकीर्तनलक्षणः। सूत्रं मीमांसासूत्रम्। चशब्दात् कर्मदैवमीमांसासूत्रे च गृहीते।।२५।।

गतयः स्वर्गादिफलानि। मतयो ज्ञानानि, ऋषिमतभेदभिन्नानि वा। श्रद्धा आस्तिक्यबुद्धिः, इदं सत्यमस्मात्प्रयोजनमस्तीत्येवंरूपा। प्रायश्चित्तं अन्तरालावाप्तान्तरायपरिहारत्वेन यथोक्तकर्मफलसाधनं कर्म समर्पणं, ब्रह्मणीति शेषः।।२६।।

**रा०कृ०** महात्मनः अस्य विराडन्तर्यामिणो भगवतो नारायणस्य नाभ्यात् नाभिभवात् नलिना-त्पद्मात् यदा अहमासं उदभवं तदा तं भगवन्तं यष्टुं उपक्रान्तोऽहं पुरुषावयवादृते पुरुषस्य भगवतो यज्ञ-पुरुषस्य अवयवं विना यज्ञसम्भारान् यज्ञस्य साधनभूतान् अन्यान्पदार्थान् नाविदं नाध्यगच्छम्।।२२।।

यज्ञस्य-तेषु सम्भारेषु साध्येष्विति शेषः। पशवो यज्ञपशवः; सवनस्पतयः वनस्पतयो यूपाद्यर्थाः, खदिरादयः तत्सहिताः कुशाः। इदं च देवयजनं यज्ञभूमिः। उरुगुणान्वितः कालश्च वसन्तादिकालश्च। वस्तूनि पात्रादीनि, ओषधयः व्रीहियवादयः, स्नेहाः घृतादयः, रसलोहमृद; रसाः मधुरादयः, लोहानि सुवर्णादीनि, मृदः कपालादयः, जलं, ऋचो यजूंषि सामानीति वेदत्रयप्रोक्ताः, मन्त्रः चातुर्होत्रं होत्रादिभिः चतुर्भिः अनुष्ठेयं कर्म। नामधेयानि ज्योतिष्टोमादीनि मन्त्राश्च स्वहाकारादयः, दक्षिणाश्च गवादयः व्रतानि च जलाशनादीनि च, देवतानुक्रमः देवतानां आनुपूर्व्या उद्देशः, कल्पः, बोधायनादिप्रोक्तकर्मपद्धतिग्रन्थः, सङ्कल्पः अनेन विधानैस्तदर्थमहं यक्ष्ये इति सङ्कल्पः। तन्त्रमेव च अनुष्ठानप्रकारश्च गतयो विष्णुक्रमप्रभृतयः, मतयो देवताध्यानानि, श्रद्धा आस्तिक्यबुद्धिः अथवा कर्तव्यविषयिणी त्वरा, प्रायश्चित्तं विघ्नसमाधानं, समर्पणं कृतस्य भगवति समर्पणं - सर्व एवैते सम्भाराः हे सत्तम! सज्जनश्रेष्ठ! मया पुरुषावयवैरेव भगवतो नारायणस्य अवयवैरेव सम्भृताः सम्पादिताः।।२३-२६।।

**इति सम्भृतसम्भारः पुरुषावयवैरहम्।**
**तमेव पुरुषं यज्ञं तेनैवायजमीश्वरम्।।२७।।**

**ततस्ते भ्रातर इमे प्रजानां पतयो नव।**
**अयजन् व्यक्तमव्यक्तं पुरुषं सुसमाहिताः।।२८।।**

**ततश्च मनवः काले[1] ईजिरे ऋषयो[2]ऽपरे।**
**पितरो विबुधा दैत्या मनुष्याः क्रतुभिर्विभुम्।।२९।।**

**नारायणे भगवति तदिदं विश्वमाहितम्।**
**गृहीतमायोरुगुणः सर्गादावगुणः स्वतः[3]।।३०।।**

**सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः।**
**विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक्[4]।।३१।।**

**श्रीध० इतीति** । सम्भृताः सम्पादिताः सम्भारा येन सोऽहं तेनैव यज्ञेनैव। अनेन "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः" इति मन्त्रार्थः सूचितः।।२७।।

---

1. AF.GF. 'ले 2. H.V. मुन' 3. W. स्मृ' 4. H.V.W. धृत्

"तेन देवा अयजन्त" इत्यस्यार्थं सप्रपञ्चं दर्शयति **तत इति** द्वाभ्याम्। व्यक्तमिन्द्रादिरूपेण अव्यक्तं स्वतः। अनेन "पुरुषं जातमग्रतः" इत्यस्यार्थो दर्शितः।।२८।।

**तत** इति। काले स्वस्वावसरे।।२९।।

यदधिष्ठानमित्येतत्प्रश्नोत्तरार्थमुपसंहरति **नारायण** इति। आहितमधिष्ठितम्। भगवत्वे हेतुः। यः स्वतोऽगुणः। सर्गादौ गृहीता मायया उरवो गुणा येन सः तस्मिन्।।३०।।

"यत्परस्त्वम्" (भाग.2-5-4) इत्येतत्प्रश्नोत्तरं यदुक्तं "स एष भगवान् सर्वेषां मम चेश्वर" (भाग.2-5-20) इति तदुपसंहरति। **सृजामीति**। पालनं तु स्वयमेव करोतीत्याह - विश्वमिति। पुरुषरूपेण श्रीविष्णुरूपेण त्रिशक्तिर्माया तां धारयतीति तथा सः।।३१।।

**वीर०** इति इत्थं सम्भृताः सम्पादिताः सम्भारा येन सोऽहं तमेव पुरुषं नियन्तारं "यज्ञं विष्णुं तेनैव यज्ञेनैवायजं इष्टवानस्मि" अनेन "यज्ञेन यज्ञमयजन्त" इति मन्त्रार्थ उक्तः।।२७।।

"तेन देवा अयजन्त" इत्यस्यार्थं सप्रपञ्चं दर्शयति **तत** इति द्वाभ्याम्। ते तव भ्रातरः मरीच्यादयो नव प्रजापतयः सुसमाहितचित्ताः व्यक्तं इन्द्रादिरूपेण अव्यक्तं स्वतः, पुरुषं परमपुरुषमयजन् इष्टवन्तः।।२८।।

काले स्वे स्वे कालेऽवसरे मन्वादयः क्रतुभिर्विभुं विष्णुं ईजिरे इत्यर्थः।।२९।।

एवं यद्रूपमित्यादिप्रश्नानां पुरुषसूक्तसंवादेनोत्तराण्यभिधाय यदधिष्ठानमित्येतत्प्रश्नस्योत्तरार्थमुपसंहरति **नारायण** इति। आहितमवस्थितं एवं स्वस्मिन्नेव सूक्ष्मरूपेणावस्थितं विश्वं स्वशरीरभूतेन मया सृजति, रुद्ररूपेण हरति, पुरुषरूपेण तं पातीत्युपसंहरति गृहीतेत्यादिना। स्वत अगुणः सत्त्वादिगुणरहितः; प्रत्यगात्मस्वरूपं हि स्वतः सत्त्वादिरहितं अगुणोऽप्यहं गृहीता मायया उरवो गुणा येन तथा भूतः सर्गादौ तन्नियुक्तस्तन्नियोज्यस्सन् तं सृजामि हरो रुद्रः तद्वशः तदधीनः विश्वं हरति पुरुषरूपेण स्वावताररूपेण पाति। अत्र तन्नियुक्तः तद्वश इत्यनेन ब्रह्मरुद्रयोः तन्नियाम्यत्वप्रतीतेः पुरुषरूपेणेत्यत्र तदप्रतीतेश्च सृष्टिसंहारौ ब्रह्मरुद्राख्यजीवान्तर्यामित्वेन करोति पालनं तु स्वयमेव करोतीति वेदितव्यम्। अत त्रिशक्तिधृत् सृष्टिस्थितिसंहारसामर्थ्यरूपशक्तित्रययुक्त एक एवेत्यर्थः।।३०,३१।।

---

1. B. धरतीं 2. A.B. 'श्रो' 3. A.B. Omit स्वं 4. A.B. तु 5. A. Omits प्रत्य.....अगुणो 6. A.B. Omit स्वाव.....रूपेणो' 7. W. Omits करोति 8. A.B. 'भृक् 9. A.B. Omit सामर्थ्य'

**विज०** इति शब्दः आदिवचनः, एवमादिसम्पादितयज्ञसाधनोऽहं पुरुषावयवैः कल्पितैः पश्वादिभिस्तमेव यज्ञपुरुषं तेन मय्यनुविष्टेन प्रेरितो देशकालपश्वादिसाधनेषु चाहितेन मद्दृष्टिविषयेण वाऽयजमित्यन्वयः। ईश्वरमित्यनेन स्वेन यष्टव्यमाहात्म्यं सूचयति।।२७।।

तत्र[1] स्वकृतयज्ञस्य व्याप्तिं कथयति **तत** इति। अनेन स्वस्य सर्वस्मात् श्रेष्ठयं स्वकर्मणः प्रामाण्यं च दर्शितम्। ते तव भ्रातरो मरीच्यादयः न सनकादय इति परिच्छिनत्ति। प्रजानां पतय इति। व्यक्तं गम्यमव्यक्तमगम्यम्। अनेन साधनसामग्र्यसामग्रीभ्यां हरेः कश्चन स्वभावो दर्शितः। पुरुषं बहुफलप्रदं समाहिता इदमेव श्रेयो नातोऽन्यदित्येकाग्रचित्तगुणाः।।२८।।

काले वसन्तादिसमये अपरे मरीच्यादिव्यतिरिक्ताः पितरो अग्निष्वात्तादयः, विबुधा इन्द्रादयः, दैत्याः प्रह्लादादयः, मनुष्याः प्रियव्रतप्रभृतयः, क्रतुभिर्यागैः। अत्राहं भवानित्यारभ्य ततश्च मनव इत्यन्तैर्ग्रन्थैः पुरुषसूक्तार्थो विवृत इति ज्ञातव्यम्। तथाहि "सर्वं पुरुष" इत्यनेन "पुरुष एवेदं सर्वं" इत्यस्यार्थः प्रदर्शितः। "तेनेद"-मित्यनेन "सहस्रशीर्षे"-त्यस्य, "सोऽमृतस्ये"-त्यनेन "उतामृतत्वस्येशानः" इत्यस्य "महिमैष" इत्यनेन "एतावानस्ये"-त्यस्य, "पादास्त्रय" इत्यनेन "त्रिपादूर्ध्वं" इत्यस्य, "सृती" इत्यनेन "ततो विष्वङ्" इत्यस्य, "तस्मादण्डा"-दित्यनेन "तस्माद्विराडजायत" इत्यस्य 'तद्द्रव्यम्' इत्यनेन "सजात" इत्यस्य तेषु यज्ञादय इत्यनेन "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" इत्यस्य "इति सम्भृत" इत्यनेन 'यत्पुरुषेण' इत्यस्य 'ततस्ते भ्रातरः' इत्यनेन 'यज्ञेन यज्ञः' इत्यादेः।।२९।।

तद्द्रव्यमत्यगादित्यनेन भक्त्यादिभिरेवोत्तमत्वमुच्यते न तु स्वरूपत इत्युक्तमेवार्थं स्फुटयन्नुपसंहरति नारायण इति। श्रीमत्पुण्डरीकाक्षकटाक्षप्रेक्षणप्राप्तसर्वप्रभावोऽहं तमेव नारायणं यज्ञादिभिरयजमिति यस्मात्तस्मादिदमस्मदादिविश्वं तस्मिन्नारायणे एवाऽऽहितं तदाधारतया तदधीनतया तद्व्याप्ततयाऽवस्थितमित्यन्वयः। आहितत्त्वे हेतुमाह गृहीतेति। सत्त्वादिगुणाधीनं सर्वम्, ते चानेन गृहीताः, अतः सर्वं तस्मिन्नाहितम् 'ग्रह उपादाने' इति धातोः सर्गादावुपादानीकृत प्रकृत्युरुगुणे अन्यदा समीपावाप्तमायोरूगुणे। ननु हरेर्जीवजडवद्गुणसम्बन्धः किं न स्यादिति तत्राऽऽह - अगुण इति। जीवस्य स्वतो गुणराहित्येऽपि मिथ्याभिमानाज्जडस्य तु तन्मयत्वाद्गुणित्वं युक्तं हरेस्तदुभयाभावादगुणत्वं गुणस्वातन्त्र्यात् बहिः समीप एव सदाऽवस्थनात् गृहीतगुणत्वं युक्तम्। उर्वित्यनेन हरेरतिशयितमाहात्म्यं सूचयति। 'नित्यं गृहीताः सत्त्वाद्याः जीववज्जडवन्न तु। मिथ्यामानात् स्वरूपत्वात्स्वातन्त्र्याद्बहिरेव तु' इत्येतदत्र मानम्।।३०।।

---

[1] M.Ma. Omit तत्र

"येन स्वरोचिषा विश्वम्" (भाग.2-5-11) इत्याद्युक्तमुपसंहरन् हरस्य संहारस्वातन्त्र्यं मन्दमतीनां प्रतीयमानं परिहरति सृजामीति। पुरुषरूपेण विष्णुरूपेण त्रिशक्तिधृक् सृष्टिपालनसंहार-शक्तिधरो ज्ञानबलक्रियाशक्तिधरो वा।।३१।।

**रा०कृ०** इति पुर्वोक्तप्रकारेण पुरुषावयवैः सम्भृतसम्भारः सम्पदितयज्ञसाधनः अहं तेनैव सम्भृतसम्भारेण यज्ञेन तमेव यज्ञं यज्ञमयं ईश्वरं पुरुषं अयजं इष्टवान्।

शब्दाविर्भावस्य नाभिमूलकत्वात् शब्दमयस्य ब्रह्मणोऽपि नारायणनाभिसम्भवः। किं च तद्ब्रह्मणो बृंहणशीलत्वात् तदुत्पत्तिस्थानभूतनाभेर्विकसनशीलेन नलिनेनौपम्यम्।

नारायणनाभिसम्भवस्य ब्रह्मणो यज्ञकरणसङ्कल्पो नारायणाज्ञातः। यज्ञसम्भाराश्च सर्वे पूर्वोक्ताः नारायणावयवसम्भूताः। तथा च सर्वं नारायणमयम्। एवमत्र "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः" इति पुरुषसूक्तोक्तार्थः प्रतिपादितः। तथा च भगवत्समर्पणधिया कृतं कृत्स्नमेव कर्म 'यज्ञ' पदव्यपदेश्यं भवतीत्युक्तं भवति। तथाहि - पश्यन्तीति पशव इति व्युत्पत्त्या पशुशब्देन मानवमनोनियताः प्रज्ञाः गम्यन्ते। पाणिपादं यूपात्मकम्। यज्ञभूमिर्मानवदेहः यज्ञपात्राणि शिरःप्रभृतिगात्राणि। तथा च नररूपी नारायणः स्वप्रज्ञाशरीरपाटवादिकं विश्वमानवजीवनाधारभूतानां फलपाकान्तानां औषधीनां परिवर्धनो-पयोगयोरेव चरितार्थतां प्रापयेदिति, तेन तच्छरीरं निष्कामकर्मरूपयज्ञायतनं भवतीति च व्यज्यते। एवमन्येषां च सम्भाराणां निष्कामकर्मैकप्रयोजनकत्वमवसेयम्। इदं च यज्ञार्थजीवनं नित्यनिष्काम कर्माचरणपरायणेन नारायणेनैव प्रागुक्तदिशा लोकायोपदिश्यते।।२७।।

ततः अनन्तरं इमे ते तव भ्रातरः मरीच्यादयो नव प्रजानां पतयः सुसमाहिताः सावधानचित्ताः सन्तः व्यक्तं इन्द्रादिरूपेण व्यक्तं अव्यक्तं पुरुषं भगवन्तं अयजन्।।२८।।

ततश्च तदनन्तरं च काले समुचितेऽवसरे मनवः अपरे मुनयः पितरः विबुधाः देवाः दैत्याः मनुष्याः क्रतुभिः यज्ञैः विभुं सर्वेश्वरं नारायणं ईजिरे इष्टवन्तः। मन्वादयस्सर्वेऽपि निष्कामकर्मरूपैः यज्ञैः सर्वव्यापकं नारायणमर्चितवन्त इत्यर्थः। ततश्च प्रकृतिः विना फलाभिसन्धिं जीवेभ्यः स्वसम्पदं प्रयच्छतीति व्यज्यते। अपि च मानवः प्रकृतिमनुसृत्य निष्कारणमेव लोकहिते प्रवर्तेतेति रहस्यम्।।२९।।

यः स्वतः अगुणोऽपि सर्गादौ सृष्ट्यादौ गृहीतमायोरुगुणः मायया स्वेच्छया स्वीकृतनानागुणो भवति तस्मिन् भगवति नारायणे तत् पूर्वोक्तं इदं दृश्यमानं विश्वं आहितं अवस्थितम्।।३०।।

तन्नियुक्तः तेन भगवता नियुक्तः प्रेरितोऽहं विश्वं सृजामि तद्वशः तस्य भगवतोऽधीनः हरः रुद्रः विश्वं हरति उपसंहरति, पुरुषरूपेण विष्णुरूपेण विश्वं परिपाति स्वयमेव परिरक्षति। एवमेष भगवान् त्रिशक्तिधृक् सर्गार्थं रजोगुणमाधाय ब्रह्मा भवति। स्थित्यर्थं सत्त्वगुणमाधाय विष्णुर्भवति। संहारार्थं तमोगुणमाधाय रुद्रो भवतीति भावः ।।३१।।

**इति तेऽभिहितं तात! यथेदमनुपृच्छसि।[1]**
**नान्यद्भगवतः किञ्चिद्भाव्यं सदसदात्मकम्।।३२।।**

**न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः।[2]**
**न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः।।३३।।**

**सोऽहं समाम्नायमयस्तपोमयः प्रजापतीनामभिवन्दितः पतिः।**
**आस्थाय योगं निपुणं समाहितस्तं नाध्यगच्छं यत आत्मसम्भवः।।३४।।**

**नतोऽस्म्यहं तच्चरणं समीयुषां[3] भवच्छिदं स्वस्त्ययनं सुमङ्गलम्।**
**यो ह्यात्ममायाविभवं[4] स्म[5] पर्यगात् यथा[6] नभः[7] स्वान्तमथापरे कुतः।।३५।।**

**नाहं न यूयं यदृतां[8] गतिं विदुर्न वामदेवः किमुतापरे सुराः।**
**तन्मायया[9] मोहित बुध्दयस्त्विदं विनिर्मितं चात्मसमं[10] विचक्ष्महे।।३६।।**

**श्रीध०** यच्चेदं विश्वं यदात्मकश्च त्वमित्येवमादिसर्वप्रश्नानां सामान्योत्तरम्[11]। यदुक्तम् - "वासुदेवात्परो ब्रह्मन्न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः" (भाग.2-5-14) इति 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इति श्रुत्या[12] च यद्दृढीकृतं तदुपसंहरति **इतीति**। सदसदात्मकं कार्यकारणात्मकं भाव्यं सृज्यं भगवतः सकाशादन्यत् पृथक्[13] न भवतीत्यभिहितम्[14]।।३२।।

यदुक्तं "यथा[15] मां प्रब्रवीषि भोः अविज्ञाय परं मत्तः एतावत्त्वं यतोऽस्ति मे" इति तदुपपाद्योपसंहरति **न भारतीति**। यद्यस्मान्मे मया औत्कण्ठ्यं[16] भक्त्युद्रेकः। तद्युक्तेन हृदा हरिर्धृतो ध्यातः। अङ्ग!

---

1. H.V. "ैतद "; W. "ैतद " 2. H.M.Ma.V.W. "कर्हि " 3. B. "त" 4. M.Ma. यस्स्वा; AF.GF. यस्त्वा 5. H.V. सु पर्यगात्; M.Ma.W. स्वयं गतो 6. M.Ma. नाहं नभस्वांस्तं 7. "भस्वन्त" 8. M.Ma. WF. बत तद्" 9. H.M.Ma.V. यन्मा" 10. AF.GF. त्वा"; H.M.Ma.V.W. "स्वा" 11. B. "न्येनों" 12. H.V. add आदि 13. H.V. Omit पृथक् 14. H.V. "त्युक्तम्; B. "ति तेऽभिहितम् 15. A.B. "एतावत्त्वं यतो हि मे तमविज्ञाय मामीश्वरं प्रब्रवीषि" 16. B. adds तत्

हे नारद! अतो मे वाङ्मनसेन्द्रियाणां वृत्तयः सत्यार्था न तु मत्प्रभावेनेत्यर्थः।।३३।।

अत्र स्वानुभवमेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रमाणयति द्वाभ्याम् - **स इति**। सोऽहं समाम्नायादिभिः सर्वोत्कृष्टोऽपि योगमाश्रित्यापि यत आत्मनो मम सम्भवो जन्म तमेव न ज्ञातवान् कुतोऽन्यस्य वार्ता। एतच्च तृतीयस्कन्धे पद्मोद्भवे वक्ष्यते।।३४।।

**नतोऽस्मीति**। तदा समीयुषां शरणागतानां भवच्छिदं संसारनिवर्तकं स्वस्त्ययनं मङ्गलावहं सुमङ्गलं सुसेव्यं च तस्य चरणं नतोऽस्मि। ततोऽचिन्त्यमहिमत्वेन न ज्ञातवानस्मीति कैमुत्यन्न्यायेनाह। यो हीति। स्वमायाविस्तारं यः स्वयमपि पर्यगात्। परिशब्दो निषेधे, एतावानिति न ज्ञातवानित्यर्थः। अपरे कुतो जानीयुः। तस्य चरणं नतोऽस्मीति पूर्वेण सम्बन्धः। ननु सर्वज्ञः कथं न जानाति अन्ताभावादिति दृष्टान्तेनाह। यथा स्वस्यान्तं नभो नाप्नोति तद्वत्। नहि खपुष्पादर्शनं सार्वज्ञ्यं निहन्तीति भावः। तथा च वक्ष्यति "द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः" (भाग.10-87-41) इत्यादि। श्रुतिश्च- "यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद" इति।।३५।।

एतत्प्रपञ्चयति - **नाहमिति** द्वाभ्याम्। वामदेवो रुद्रः यस्य ऋतां गतिं परमार्थस्वरूपम्। किन्तु इदं प्रपञ्चरूपं तस्य मायया विनिर्मितं विचक्ष्महे विद्मः। तदपि आत्मसमं स्वज्ञानानुरूपमेव न तु कृत्स्नम्। मोहितबुद्धय इत्ययं तदज्ञाने प्रपञ्चज्ञाने च हेतुः।।३६।।

**वीर०** यद्रूपमित्यादिप्रश्नानां यदात्मकस्त्वमित्येवमादि - सर्व प्रश्नानां च सामान्येनोत्तरम्, यदुक्तं- "वासुदेवात्परो ब्रह्मन्न चान्योर्थोऽस्ति तत्त्वतः" (भाग.2-5-14) इति, 'पुरुष एवेदं सर्वं' इति श्रुत्या च तद्दृढीकृतं तदुपसंहरति - **इतीति**। हे तात! इदं विश्वं प्रति यथा अनुपृच्छसि विश्वविषयप्रश्नं करोषि तस्य प्रश्नस्योत्तरं चेतनाचेतनात्मकं कृत्स्नं जगत्किञ्चिदपि भगवतः अन्यत्पृथगिति न भाव्यम्, नानुसन्धेयमिति ते तुभ्यमभिहितं कथितमित्यर्थः।।३२।।

यदुक्तम् - "एतावत्त्वं यतो हि मे" (भाग.2-5-10) तमविज्ञाय मामीश्वरं प्रब्रवीषीति तदुपपादयितुमुपसंहरति **न भारतीति**। मे भारती वाक् मृषा मिथ्या न दृश्यते मे मनसो गतिः वृत्तिः न मृषा। हृषीकाणि इन्द्रियाणि असत्पथे असद्विषये न पतन्ति न प्रवर्तन्ते यस्मात् मयौत्कण्ठ्यं आशा, तद्वता

1. A.B. "न इन्द्रि" 2. H.V. त" 3. B. "गं समा" 4. B. "ति 5. H.V. "था; B. "दाऽह" 6. H.V. Omit स्वस्त्ययनं 7. H.V. Omit च तस्य 8. B. य" 9. H.V. "तिक" 10. H.V. "तोऽस्य 11. H.V. न प्रा" 12. H.V. सर्वज्ञत्वं 13. A.B. वि" 14. H.V. Omit यस्य 15. B. "ञ्चित् 16. A.B. "त्यादि प्र" 17. W. Omits कथितं

हृदयेन हरिर्धृतः ध्यातः। अङ्ग! हे नारद! अतो मे वाङ्मनसेन्द्रियाणां वृत्तयः सत्यार्था नतु मत्प्रभावेनेत्यर्थः।।३३।।

अतो ममापि ज्ञानप्रदो मदचिन्त्यस्वरूपस्वभावः सर्वेश्वरो मत्तोऽन्योऽस्तीत्याह - **सोऽहमिति**। समाम्नायमयः समाम्नायप्रचुरः तपोमयः तपःप्रचुरः विद्यातपोभ्यां सर्वोत्कृष्ट इत्यर्थः। प्रजापतीनां मरीच्यादीनामभिवन्दितः तैर्नमस्कृतः तेषां पतिश्चात्मनः परमात्मनः सम्भव उत्पन्नः तत्कृपालब्ध ज्ञानसम्पन्नोऽहं समाहितः सन्निपुणं निर्विघ्नं योगं समास्थाय यः स्वमायाविभवं स्वयं गतस्तं परमात्मानं यैतो नाध्यगच्छं स्वरूपतो गुणतश्चैतावानिति न ज्ञातवान्।।३४।।

अतस्तच्चरणं प्रति केवलं नतोऽस्मि। कथम्भूतं चरणं समीयुषां शरणागतानां भवच्छिदं संसृतिनिवर्तकं स्वस्त्ययनं मङ्गलानामाश्रयं सुमङ्गलं सुसेव्यम्। अनवगमे दृष्टन्तः यथेति। दोषास्पर्शाय दुर्ग्रहत्वाय च नभस्स्वद्दृष्टान्तः "दुःस्पर्शः पाणिना वायु" रिति। महाभारतोक्तेः 'स्वमायाविभवं स्वयंगत' इत्यनेन यैवनिकां गत इतिवत् अन्यानुपलभ्यत्वमुक्तं न तु मायावश्यत्वम्, आत्ममायाविभवेनान्या-नुपलभ्यत्वं गत इत्यर्थः। एवंविधं परमात्मानम् उक्तविधोऽप्यहमेव नाध्यगच्छमन्ये नाधिगच्छन्तीति, किमु वक्तव्यमित्याह अथेति। अपरे जीवाः कुतो हेतोर्विदुरित्यर्थः।।३५।।

एतदेवोपपादयति - **नेति**। यूयमिति सनकाद्यभिप्रोयण बहुवचननिर्देशः। वामदेवो नाम कश्चिदृषिः शङ्करो वा, न चाहं न च शङ्करश्च जानन्तीति। श्रीवैष्णवीयचतुर्मुखवाक्यान्तरात् यदतां यस्य परमात्मनः ऋतां सत्यां गतिं स्वरूपरूपयथावस्थितिम्। बत तद्गतिं इति पाठान्तरम्। अस्मदादयो न विदुः कैमुत्यन्यायेनाह किमुतेति। कुतो न विदुरित्यत आह - तन्माययेति। तस्य भगवतो मायया 'दैवी ह्येषा गुणमयी' इत्युक्तविधमायया मोहिता बुद्धिर्येषां ते तन्मायया मोहितबुद्धित्वादेते न विदुरित्यर्थः। तर्हि किं विदुरित्यत आह - तेनैव विनिर्मितमिदमचेतनं शरीरं स्वात्मसममात्मानं देहाकारं मन्यामहे इत्यर्थः। देहात्मविभागमप्यजानतां कथं परमात्मवेदनमिति भावः।।३६।।

**विज०** प्रश्नप्रतिवचनमुपसंहरति - **इतीति**। अथ कुत्रापि कदाचिदपि मे जगतः स्वातन्त्र्यबुद्धिं न कुर्विति भावेनाह - नान्यदिति। सदसदात्मकं व्यक्ताव्यक्तात्मकं ज्ञेयाज्ञेयस्वरूपत्वात्तत्तत्स्वभावं भाव्यमुत्पाद्यं महदहङ्कारादि यज्जगत् किञ्चिदपि हरेरन्यत् स्वतन्त्रं न भवति। किन्तु तदधीनसत्ताकमतो युज्यते तदनन्यदित्यर्थः। तदुक्तम् "सदिति व्यक्तमुद्दिष्टमसदव्यक्तमुच्यते" इत्यादि।।३२।।

---

1. A.B. 'न इ' 2. A.B. Omit यतः 3. A.B. 'णा' 4. A.B. ज'

एवंविधमाहात्म्यस्य हरेः प्रसादः कस्य स्यादित्याशङ्क्य भक्तिनदीस्नानेन विधूतमनोमलस्य सदा भगवदेकविषयेन्द्रियव्यापारस्य स्यादिति भावेनाह - **नेति**। हृषीकाणीन्द्रियाणि। अत्र हेतुमाह - यन्म इति। औत्कण्ठ्यं प्रियवस्तुनि मनोवृत्तिविशेषः स्नेहलक्षणभक्तिस्तद्वता हृदा मनसा धृत इति यत्तस्मादित्यर्थः। अनेन भगवत्प्रसादसामग्रीसम्पादने भक्तिरङ्गमित्युक्तं भवति।।३३।।

इतोऽपि पुंसां भक्तिरेव साध्या तत्प्रसादजननी अन्यथाऽसौ दुर्ज्ञेय इति भावेनाह-**सोऽहमिति**। मद्भक्तिविषयो यो विष्णुस्तस्यानुग्रहेण तमन्तरेणाम्नायमयो वेदप्रतिपाद्येषु प्रधानः समीचीनज्ञानसम्प्रदाय-प्राचुर्यो वा तपोमयस्तपस्विषु प्रधानः दक्षादिप्रजापतीनां पतिस्तैरभिवन्दितश्च समाहितः एकाग्रतया निश्चलमनाः भूत्वा निपुणं चतुरतमं योगध्यानलक्षणमुपायमास्थाय यतः आत्मनो मम सम्भवस्तं भगवन्तं नाध्यगच्छम्। अधीतिविशोषणादनन्तत्वेनाधिगतविशेषस्याधिक्यात् नाज्ञासिषमित्यर्थः।।३४।।

नारादायैर्वविधं हरिमहिमानं व्याचक्षाणः स्मारं स्मारं भक्तिप्रसरसिन्धुनिमग्नः तन्नतिं करोति - **नतोऽस्मीति**। यो विष्णुः स्वात्ममायायाः स्वरूपभूतमहिम्नो विभवं विविधभवनमनन्ततां स्वयंगतः स्वयमेव जानाति, विशेषोक्तौ निमित्तमाह नाहमिति। नभस्वान्वायुः। अपरे वाणीशेषाद्याः। 'अथ' शब्दात्साकल्यज्ञानमेव निषिध्यते, न तु तद्विषयज्ञानमात्रम्। "सर्वजीवनिकायेषु ब्रह्मवायू हरेर्विदौ" इत्यादिवाक्यसूचकादयं विशेषो बोद्धव्यः प्रेक्षावतेति। "मङ्गलानन्तरारभ्य प्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ" इत्यमरः। (अम.को.) "अथातोऽनन्तराप्यर्थ विकल्पारम्भमङ्गले" इति च। समीयुषां शरणं प्राप्तानां स्वस्त्ययनमलंबुद्धिगोचरस्वानन्दानुभवप्रदं सुमङ्गलं मङ्गलानां मङ्गलं तद्वरणं तस्य हरेश्चरणं नतोऽस्मीत्येतावदेव सुशकमिति भावः। "मङ्गलानां च मङ्गलम्" इति च।।३५।।

इदानीं स्वात्मानं निदर्शनीकृत्य कस्यापि साकल्यज्ञानं नास्तीत्याह - **नाहमिति**। लुप्तोपममिदं, यथाऽहं साकल्येन तद्गतिं न वेद्मि तथा यूयं भवन्तोऽपि न विदुः। अत्रापि व्यत्ययात् साकल्यज्ञानमेव निषिध्यते उत्तरखण्डेन स्वयोग्यज्ञानस्योक्तत्वादिति ज्ञातव्यम्। त्रिपुरान्तकः सर्वज्ञ इत्यज्ञरूढिरेव न विद्वद्रूढिरिति भावेनाह - न वामदेव इति। वामो निर्दोषो देवो नारायणो यस्य मते स तथोक्तः। "वामन्तु शुभं पेशलम्" इत्यभिधानम्। अनेनैवान्यस्यासद्भावं सिद्धमुद्वलयति किमुतेति। अत्र हेतुमाह-यन्मायेति। यस्य हरेर्मायया बन्धकशक्त्या मोहितबुद्धित्वात् इत्यर्थः, तत्फलमाह इदमिति। विनिर्मितमिदं जगत् स्वात्मसमं परमात्मसदृशं विचक्षते। ननु भवन्तोऽप्येष्वेके किमित्याशङ्क्य सत्यं, विशेषोऽस्तीत्याह - इदमिति। वयन्तु एनेदं निर्मितं तं स्वात्मसमं स्वयोग्यतानुसारं विचक्ष्महे, नातोऽधिकं तदपि तत् प्रसादायत्तं अतो न विदुरिति ब्रूम इत्ययं विशेषः। 'तु' शब्दादवगन्तव्य इति

1. A.B. "न्य स"

"तुः स्याद्भेदेऽवधारणे" इति। स्वाप्नसममिति पाठे स्वाप्नपदार्थवत् अनित्यमस्वतन्त्रमिदं अत एव तन्नियामकेन स्वतन्त्रेण परमनित्येन भवितव्यमिति विचक्ष्महे इति भावः।।३६।।

**रा०कृ०** हे तात! इदं विश्वं प्रति यथा येन प्रकारेण अनुपृच्छसि प्रश्नमकरोः तथा इति प्रागुक्तरीत्या ते तव अभिहितं कथितम्। सदसदात्मकं स्थूलसूक्ष्मात्मकं किञ्चिदपि वस्तु यदस्ति तत् भगवतोऽन्यत् भिन्नं न भाव्यं भगवतो भिन्नत्वेन त्वया नानुसन्धेयमिति भावः।।३२।।

हे अङ्ग! हे नारद! यत् यस्मात् कारणात् मे मम औत्कण्ठ्यवता प्रेमोद्रेकवता हृदा हृदयेन हरिः धृतः ध्यातः तस्मात् मे भारती वाणी मृषा अयथार्था क्वचित् - नोपलक्ष्यते, मे मनसो गतिः सङ्कल्पात्मिका क्वचिदपि विषये न वै मृषा भवति मे हृषीकाणीन्द्रियाणि क्वचिदपि असत्पथे निन्द्यमार्गे नैव पतन्ति।

"नान्यद्भगवतः किञ्चिद्भाव्यं सदसदात्मकम्" (भाग.2-6-32) इत्यव्यवहितपूर्वश्लोकोक्तरीत्या विश्वस्मिन् भगवन्मयतामनुसन्दधानः पुरुषः पुरःस्थितेऽपि जने भगवन्मयताऽऽकलनयाऽसत्यं वक्तुं न प्रभवति। एवं सत्यस्वरूपस्य भगवतोऽनुसन्धानेन तस्य मनःसङ्कल्पोऽपि यथार्थ एव भवति, तथा च मनसि सत्यसङ्कल्पे वशीकृतमनसस्तस्य सर्वाणीन्द्रियाणि स्वत एवासत्पथान्निवर्तन्ते। तदेवमत्र विश्वमयहरिप्रेमिणो भागवतस्य माहात्म्यं सुचितम्।।३३।।

सः भगवन्नाभिकमलादुत्पन्नः समाम्नायमयः वेदमयः तपोमयः तपोदेहः अथवा तपोनिष्ठः प्रजापतीनां कश्यपादीनां अभिवन्दितो नमस्कृतः पतिः एवंभूतोऽहं निपुणं साङ्गं योगं आस्थाय आश्रित्य समाहितः सावधानोऽपि च सन् यतः पुरुषात् आत्मसम्भवः आत्मनो मम जन्म अभवत् तं नाध्यगच्छं न ज्ञातवानस्मि। एवं स्वान् जातमात्रानेव जानन्तो जीवा अपि निजोत्पत्तिर्यथा, यत इत्यादिकं नाभिजानन्तीति व्यज्यते।।३४।।

समीयुषां शरणागतानां भवच्छिदं जननमरणादि संसारदुःखनिवर्तकं, स्वस्त्ययनं इह लोके कलत्रपुत्रगेहादिसुखकरं सुमङ्गलं, परत्र परमानन्दप्रदं तच्चरणं तस्य भगवतश्चरणं अहं नतोऽस्मि। नभः आकाशं यथा स्वान्तं स्वस्य अन्तं सुपर्यगात् स्म परिहृत्य आसीत् स्वावधिं न प्राप्तवदिति यावत्,. तथा यो हि भगवान् आत्ममायाविभवं पर्यगात् न प्राप्तवान् अथ तस्य मायाविभवं अपरे ब्रह्मादयः कुतः कथं वा, जानीयुरिति शेषः।।३५।।

यदृतां यस्य भगवतः यथार्थरूपां गतिं स्वरूपं नाहं वेद ब्रह्माऽहं न जानामि न यूयं विदुः नारदसनकादयो भवन्तो न जानन्ति न वामदेवो महादेवश्च न जानाति। अपरे सुराः देवाः किमुत!

न जनन्तीति किमु वक्तव्यम्? तन्मायया तस्य भगवतो मायया विनिर्मितं इदं च जगदपि मोहितबुद्धयः, वयमिति शेषः। आत्मसमं स्वमत्यनुरूपमेव विचक्ष्महे जानीमः न तु परमार्थतः इति भावः।।३६।।

**यस्यावतारकर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः।**
**न यं विदन्ति[1] तत्त्वेन तस्मै भगवते नमः।।३७।।**

**स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः[2]।**
**आत्मा[3]ऽऽत्मन्यात्मनाऽऽत्मानं संयच्छति[4] च पाति च।।३८।।**

**विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितम्।**
**सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम्।।३९।।**

**ऋषे[5] विदन्ति[6] मुनयः[7] प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः।**
**यदा तदेवासत्तर्कैस्तिरोधीयेत[8] विप्लुतम्।।४०।।**

**श्रीध०** ननु सर्वेऽपि तं वर्णयन्तो दृश्यन्ते तत्राऽऽह - **यस्येति**।।३७।।

अवतारकर्माणि[9] संक्षेपतो दर्शयति - **स** इति। स एष आद्यो भगवान् यैः[10] पुरुषावतारः सन् सृष्ट्यादिकं[11] करोति। आत्मा[12] आत्मनि आत्मना आत्मानं इति कर्ता अधिकरणं साधनं कर्म च स्वयमेवेत्यर्थः। पुरुषावतारसृष्ट्यादीनि[14] च[15] कर्माणीति संक्षेपोक्तिः ।।३८।।

न यं विदन्ति[16] तत्त्वेनेत्युक्तं किं तत्तत्त्वमित्यपेक्षायामाह - **विशुद्धमिति**। ज्ञानं केवलं सत्यं तत्त्वम्[18]। तत्र[19] घटाद्याकारवृत्तिज्ञानव्यवच्छेदार्थं विशेषणानि। विशुद्धं विषयाकारशून्यम्। यतः प्रत्यक् सर्वान्तरम् अत एव सम्यक् सन्देहादिरहितम् अवस्थितम्। स्थिरं यतो निर्गुणम्। गुणकार्यं हि गुणव्यतिरेकाञ्चञ्चलं[20] भवति। यद्यपि वृत्तिज्ञानमपि स्वरूपज्ञानमेवेति न चाञ्चल्यादिदोषयुक्तं तथाऽप्यन्तः करणवृत्तिदोषैस्तथा तथा भातीति[21] व्यवच्छिद्यते। एभिरेव विशेषणैः तत्सत्यत्वमपि समर्थितम्[22]। किञ्च यद्विकारवत्तदसत्यं दृष्टम्। न चास्य जन्मादयः षड्विकाराः सन्तीत्याह। अनाद्यन्तं जन्मनाशरहितम्।

---

1. H.M.Ma.V.W. "न्द " 2. AF.GF. ऽसृजत्रजाः 3. H.V. "त्मन्येवा " 4. AF.GF. सयं गच्छति; B.I.M.Ma. स संयच्छति 5. M.Ma. "तं 6. H.M.Ma.V.W. "न्द" 7. W. "कव" 8. M.Ma. "दै" 9. B. adds तु 10. V. Omits यः 11. A.B. Omit कं 12. H.V. आत्मन्यात्मानमात्मना इति कर्त्राद्याधिकरणं 13. B. "रव्योऽव" 14. H.V. "दिकर्मा 15. B. Omits च 16. H.V. "न्द" 17. H. Omits तत् 18. H.V. Omit तत्त्वम् 19. A.B. Omit तत्र 20. A.B. "कराञ्च 21. A.B. भव" 22. A.B. Omit तत्

अत एव जन्मानन्तरास्तित्त्वलक्षणोऽपि विकारो नास्ति वृद्धिविपरिणामापक्षयाश्च न सन्ति। यतः पूर्णम्। सर्वत्र हेतुः नित्यमद्वयम्। नित्यं सर्वदा द्वैतप्रतीतिसमयेऽपि परमार्थतोऽद्वयमिति।।३९।।

अत्र विद्वदनुभवं प्रमाणयति **ऋषे** इति। हे ऋषे! नारद! प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः प्रसन्नदेहेन्द्रिय-मनसो यदा भवन्ति तदा विदन्ति अन्यदा तदज्ञाने कारणमाह। यदा तु तदेव प्रकाशमानमेवासता तर्कैर्विप्लुतं स्यात्तदा तिरोधीयतेति।।४०।।

**वीर०** तर्हि मायातरणे कः उपायः इत्यत आह **यस्येति**। यस्य भगवतो अवताराणां कर्माणि चेष्टितान्यस्मदादयश्चतुर्मुखादयो गायन्ति यं तत्त्वेन याथात्म्येन न विन्दन्ति न जानन्ति किन्तु तस्मै भगवते नम्रस्कुर्वन्ति तस्य गुणकर्मानुकीर्तनमेव मायातरणोपाय इत्यभिप्रायः।।३७।।

केऽवताराः? कानि चेष्टितानि च यदनुकीर्तनेन मायां तरन्ति इत्याशङ्कायामवतारांस्तत्कर्माणि च वक्ष्यन् यद्रूपमित्यादि प्रश्नानामुत्तराण्युपसंहरति - **स एष** इति। अजः कर्माधीनजन्मरहितः एष आद्यः कारणभूतः परमपुरुषः कल्पे कल्पे प्रतिकल्पमात्मन्येवाधारे आत्मना उपकरणभूतेन आत्मानमुपादान भूतम् आत्मैव कर्ता सृजति संयच्छति संहरति पाति च।।३८।।

नन्वयं जगद्व्यापारो भगवतः किं कर्माधीन इत्याशङ्क्य नेत्याह - **विशुद्धमिति**। पुण्यपापरूप कर्मरहितमतो न जगद्व्यापारः कर्माधीन इत्यर्थः। एवञ्च कर्माधीनव्यापारजीवस्वरूपाद्वैलक्षण्यमुक्तं भवति। जीवविलक्षणं चेत्तत्किं जडमित्यतआह - केवलं ज्ञानं क्वचिदप्यजडमित्यर्थः। तर्हि किं घटपटाद्याकार वृत्तिज्ञानमित्यत आह - प्रत्यक् स्वस्मै भासमानम्। ननु जीवोऽप्येवंरूपोऽत आह - सम्यगवस्थित-मर्थान्तरानपेक्षस्थितिम्। जीवस्तु परमात्मधार्य इत्यभिप्रायः। अन्यानपि चेतनाचेतनविलक्षणाकारानाह-सत्यं स्वरूपतो धर्मतश्च निर्विकारमनेन स्वरूपतो विकार्यचेतनद्रव्यं स्वभावतो विकारी चेतनश्च। व्यावृत्तः पूर्णमवाप्तसमस्तकामं निर्गुणं सत्त्वादिरहितमनाद्यन्तमुत्पत्तिनाशरहितमत एव नित्यं कालाद्यनवच्छिन्नमद्वयं समाभ्यधिकरहितम्। एते यथासम्भवं चेतानाचेतनव्यावर्तकत्वेनानुसन्धेयाः।।३९।।

अत्र विद्वदनुभवं प्रमाणयति - **ऋषे** इति। हे ऋषे! नारद! आत्मा अन्तःकरणमाशयो वासना प्रशान्ता आत्मेन्द्रियाशया येषां ते कवयः। तत् उक्तविधं परमात्मस्वरूपं जानन्ति। कवयः समीचीनतर्कैः विविच्य तत्स्वरूपं चेतनाचेतनविलक्षणं शोधयन्ति। कुतर्कैर्दुर्ज्ञेयत्वमाह - असत्तर्कैरसतां तर्कैः, सतामेव वा हेतुवादैः यदा विप्लुतमुपद्रुतं स्यात्तदा तिरोधीयेतेत्यर्थः।।४०।।

1. H.V. Omit वि 2. H.V. Omit अत्र.....यति। 3. H.V. "था 4. H.V. Omit तदा विदन्ति 5. H.V. "था 6. W. adds ये 7. B. वि" 8. W. Omits च 9. W. "या तीर्यते 10. W. adds वि 11. W. "लान" 12. A.B. Omit तत्

**विज०** इतोऽपि तत्स्वरूपसाकल्यज्ञानमेव निषिध्यते न तु तद्विषयज्ञानमात्रम्, अन्यथा वागिन्द्रियप्रवृत्तिस्तद्विषया नोपपद्यते सा चास्ति तस्मादुक्तं युक्तमिति भावेनाह - **यस्येति**। एकदेश-ज्ञानमपि स्वातन्त्र्येणेत्यभिमाने तदपि न स्यादिति भावेन पौनःपुन्येन नमनमिति भावः।।३७।।

युक्तं चान्तस्थरूपबाहुल्यं तन्नियमनलक्षणकर्म चान्तरेणान्यावताराणां तत्कार्याणाञ्च सद्भावे किं प्रमाणमित्याशङ्क्य संक्षिप्य तदाह - **स एष** इति। योऽस्मदादिभिः सर्वैः साकल्येनाविज्ञातः स एष पुरुषः श्रीनारायणः आत्मा स्वयमेव कल्पे कल्पे आत्मना स्वेच्छया नियतमनसाऽऽत्मनि स्वाधारतयाऽऽत्मानं मत्स्यादिरूपेण सृजति दीपाद्दीपान्तरवद्व्यक्तं करोति। देवदत्तवन्न जायत इत्यज इति, आद्यः उपजीव्यः इति व्यक्तीकरणम्। उपजीव्यत्वमेवाह - स संयच्छतीति। तैरवतारैः देवादिस्वजनं पाति हयग्रीवादि-दैत्यान् संयच्छति। चशब्दः उक्तार्थसमुच्चये व्यासाद्यवतारान्तरसूचने च वर्तते। तथा च-व्यासाद्यवता-रैर्मणिमदादितामसजनवचनेन तिरोहितस्वरूपं शास्त्रप्रवर्तनेन प्रकाशयतीति ज्ञायते। तथा चोक्तं "स्वय-मेव स्वरूपाणि मत्स्यकूर्मादिकान्यजः। स्वात्मन्येवेच्छया सृष्ट्वा तैर्देवादीन्प्रपात्यसौ" इत्यादि।।३८।।

शास्त्रतः कीदृशं प्रकाशितमत्राह **विशुद्धमिति**। विशुद्धं निर्दोषत्वात् केवलमद्वितीयम्। ज्ञानं विषयनिरपेक्षसंविद्रूपम्। प्रत्यक् सर्वेषामन्तरमभिमुखत्वेन स्थितम्। स्वतः शुद्धस्यापि परतो दोषित्वं स्यादित्यतः सम्यगवस्थितं दुष्टांशरहितत्वात् सत्यं निर्दुःखनित्यनिरतिशयानन्दानुभवरूपम्। पूर्णं देशतः कालतो गुणतश्चापरिच्छिन्नम्। अनाद्यन्तमादिविनाशवर्जितम्। निर्गुणं सत्त्वादिगुणरहितम्। अत एव नित्यं परिणामस्वभाववर्जितम्, अद्वयं स्वगतभेदवर्जितम्।।३९।।

स्वतोविकाराभावेऽपि निमित्तेन स्यादित्यतः ऋतं शश्वदेकप्रकारम्। तदुक्तम् - "ऋतं तदात्मना ज्ञप्तेः सत्वं साधुत्वतः परम्" इत्यादि। एतज्ज्ञानस्य मोक्षैकफलहेतुत्वादिदमेव शास्त्रेण प्रकाशितं नान्यदित्याशयेनाह **विन्दन्तीति**। प्रकर्षेण शान्ता मङ्गलीभूतात्मानः श्रोत्रादीन्द्रियाण्याशयो बुद्धिर्येषान्ते तथोक्ताः। यदा भगवदेकनिष्ठया निर्मलीभूतमनआदीन्दियप्रवृत्तयो मुनयः सर्वज्ञा ब्रह्मादय एवंविधगुणोपेतं ब्रह्म अपरोक्षीकृत्य विन्दन्ति स्वानन्दं लभन्ते। तदेवासत्तर्कैर्विमतं मिथ्यादृश्यत्वादिकै-र्विप्लुतमुपहतमन्यथाभूतं बाह्यान्तःकरणं संसारबीजभूतं तिरोधीयेत दग्धबीजवद्भवतीत्यन्वयः। अनेना-वतारकर्मकीर्तनश्रवणादीनां किं फलमिति चोद्यमपि निरस्तम्। किञ्च मूलरूपस्य यादृशं रूपं, यादृशं कर्म, यादृशो गुणः तत्सर्वमवताराणामस्तीति। अतस्तत्स्वरूपत्वं युक्तमिति च ज्ञापितम्। यद्वाऽसत्तर्कै-र्यदि गुणवान् तर्हि दोषवान्, यदि कर्ता तर्हि श्रान्तः स्यात्, देवदत्तादौ दृष्टत्वात् इत्यादिरूपैस्तिरोहितं विरुद्धत्वादिलक्षणं रूपं व्यासादिप्रणीतशास्त्रनिशितया बुद्ध्या यदा सम्यग् विन्दन्ति मुनयस्तदैव

1. Ma. या 2. M.Ma. °त्कर्म° 3. M.Ma. °मदा° 4. A. °राभि° 5. A. दुष्टं 6. B.M.Ma. °दिना

दोषित्वादिरूपं तिरोधीयेत तत्तद्विषया बुद्धिर्निवर्तत इति। कदाऽवतारप्रसङ्ग इत्यतो वा आह - स एष इति। यदा बौद्धाद्यसत्तर्कैर्विप्लुतं धर्मशास्त्रं तिरोधीयतेऽधर्मशास्त्रमुज्जृम्भते च तदाऽऽत्मानं सृजतीत्यन्वयः। कीदृशमात्मानमित्यत उक्तं विशुद्धमित्यादि। तत्र किं प्रमाणमत्राह - विन्दन्तीति। मत्स्याद्यवतारा विष्णोः स्वरूपांशाः इत्यत्र तेषां प्रत्यक्षं प्रमाणमवतारप्रसङ्गे चेत्यर्थः।।४०।।

**रा०कृ०** यस्य भगवतः अवतारकर्माणि अवताराणां मत्स्यकूर्मादीनां सम्बन्धीनि कर्माणि अस्मदादयः ब्रह्मादयो गायन्ति हि, किन्तु यं भगवन्तं तत्त्वेन याथार्थ्येन न विदन्ति न जानन्ति तस्मै भगवते नमः। एतेन ये तावत् मत्स्यकूर्मादयो जीवाः प्रायशो ज्ञानहीना इति विभाव्यन्ते तद्रूपेणापि भगवानवतरतीति भगवदन्तर्यामिता ज्ञाननिरपेक्षेति ज्ञानिनोऽज्ञानिनोऽप्यभिव्याप्य सोऽस्तीति तथा च अन्यथा अज्ञेयं तं तद्दिव्यचरितानुसन्धानेनैव ब्रह्मादयश्च जानन्तीति गम्यते।।३७।।

स एषः पूर्वोक्तः आद्यः अजः कर्मायत्तजन्मरहितो भगवान् पुरुषः पुरुषावतारस्सन् आत्मा स्वयमेव कर्ता आत्मनि अधिकरणभूते, आत्मना साधनभूतेन, आत्मानं कर्मभूतं जगदाकारेण कल्पे कल्पे प्रतिकल्पं सृजति पाति रक्षति संयच्छति च। अन्ते संहरति च। कर्ताऽधिकरणं, साधनं कर्म च स्वयं भगवानेवेति भावः।।३८।।

हे ऋषे! नारद! यदा मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः वशीकृतशरीरेन्द्रियमनसो भवन्ति तदा ते विशुद्धं निर्मलं केवलं एकं ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं प्रत्यक् सर्वान्तर्यामिणं, सम्यक् अवस्थितं संशयादि-राहित्येन स्थितं सत्यं, सर्वकालवर्तिनं पूर्णं अखण्डाकारं अनाद्यन्तं जननमरणविरहितं निर्गुणं गुणरहितं नित्यं सर्वदा परिणामशून्यं अद्वयं सर्वात्मकतया सर्वाभेदेन स्वातिरिक्तवस्तुरहितम् एवम्भूतं वासुदेवाख्यं परंब्रह्म विदन्ति जानन्ति। किन्तु तदेव ब्रह्म असत्तर्कैः असतां ब्रह्मज्ञानविमुखानां कुतर्कैः विप्लुतं उपहतं सत् तिरोधीयेत तिरोहितं भवति न ज्ञानविषयीभवतीत्यर्थः। अत्र प्रशान्तात्मेन्द्रियाशय-पदेन भगवति सर्वसमर्पणं कृतवन्तो भागवताः व्यज्यन्ते। ते च मुनयो नित्यं मननशीलास्सन्तः विशुद्धत्वादिपूर्वोक्तलक्षण लक्षितं वासुदेवाख्यं परब्रह्म जानन्ति। यद्धि भगवत्तत्त्वज्ञानविमुखानां कुतर्कैरप्रकाशितं वर्तते। अपि च भागवतधर्ममपहाय भगवत्तत्त्वज्ञाननैरपेक्ष्येण समभ्यस्ताः सर्वा एव विद्याः अहङ्कारममकारादिदोषदूषिततर्ककर्कशज्ञानायासपङ्करेषु स्वाध्येतॄन् निगृह्य ब्रह्मानन्दपदप्रवेशा-नर्हान् विदधातीति गम्यते। तदुक्तं अध्यात्मरामायणे - "मद्भक्तिविमुखानान्तु शास्त्रगर्तेषु मुह्यताम्। न ज्ञानं न च मोक्षः स्यात् तेषां जन्मशतैरपि" इति।।३९,४०।।

---

1. A. दृष्टं 2. A. "त आ" 3. M.Ma. "येत"

**आद्योऽवतारःपुरुषःपरस्य कालः स्वभावः सदसन्मनश्च।**
**द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि विराट् स्वराट् स्थास्नु चरिष्णु भूम्नः।।४१।।**

**अहं भवो यज्ञ इमे प्रजेशा दक्षादयो ये भवदादयश्च।**
**स्वर्लोकपालाः खगलोकपाला नृलोकपालास्तललोकपालाः।।४२।।**

**गन्धर्वविद्याधरचारणेशा ये यक्षरक्षोरगनागनाथाः।**
**ये वा ऋषीणामृषभाः[1] पितॄणां दैत्येन्द्रसिद्धेश्वरदानवेन्द्राः।**
**अन्ये च ये प्रेतपिशाचभूतकूष्माण्डयादोमृगपक्ष्यधीशाः[2]।।४३।।**

**यत्किं च लोके भगवन्महस्वदोजस्सहस्वद् बलवत् क्षमावत्।**
**श्रीह्रीविभूत्यात्मवदद्भुतार्णं[3] तत्त्वं[4] परं रूपवदस्वरूपम्[5]।।४४।।**

**प्राधान्यतो या नृषु[6] आमनन्ति[7] लीलावतारान् पुरुषस्य भूम्नः।**
**आपीयतां कर्णकषायशोषाननुक्रमिष्ये त इमान् सुपेशान्[9]।।४५।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
द्वितीयस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः।।६।।

**श्रीध०** कल्पे कल्पे आत्मानं सृजतीत्युक्तं के तेऽस्य सृज्यमाना[10] अवतारास्तानवतारान् विस्तरेणाह - **आद्य** इत्यादि यावदध्यायसमाप्ति[11]। परस्य भूम्नः पुरुषः प्रकृतिप्रवर्तकः यः सहस्रशीर्षत्युक्तो लीलाविग्रहः स आद्योऽवतारः। वक्ष्यति हि एकादशे - "भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्। स्वांशेन[12] विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदिदेवः" (भाग.11-4-3) इति यथोक्तम्[13] - "विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः। प्रथमं महतः सृष्टिः[14] द्वितीयन्त्वण्डसंस्थतम्। तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते" इति। यद्यपि सर्वेषामविशेषेणावतारत्वमुच्यते। तथाऽपि कालश्च स्वभावश्च सदसदिति कार्यकारणात्मिका प्रकृतिश्चैताः शक्तयः, मन आदीनि कार्याणि, ब्रह्मादयो गुणावताराः, दक्षादयो विभूतयः, इति विवेक्तव्यम्[15]। मनो महत्तत्वं द्रव्यं महाभूतानि, क्रमोऽत्र न

1. AF.GF. "षः 2. H.M.Ma.V.W. "श्च" 3. W. "र्थे 4. M.Ma. "त्तत्व" 5. W. "तस्स्व" 6. M.Ma. "षय 7. W. "वद" 8. M.Ma. "र्भे" 9. "शलान् 10. B. Omits अवताराः 11. A. "वत्स" 12. H.V. निविष्टः 13. H.V. तत्र तथाचोक्तम् 14. A. स्रष्टृ" 15. H.V. वक्त"

सविवक्षितः। विकारोऽहङ्कारः। गुणः सत्त्वादिः। विराट् समिष्टिशरीरम्। स्वराट् वैराजः। स्थास्नु स्थावरम्। चरिष्णु जङ्गमं च व्यष्टिशरीरम्।।४१।।

अथवा[1] किं बहुना? संक्षेपेण शृणु - **अहमिति**। अहं ब्रह्मा, भवो रुद्रः, यज्ञो विष्णुः, दक्षादयो य इमे प्रजेशाः तललोकपालाः पातालाद्यधिपतयः।।४२।।

**गन्धर्वेति**। गन्धर्वादीनामीशाः यक्षादीनां नाथाः। रक्षोरगेति सन्धिरार्षः। ऋषीणां पितॄणां च श्रेष्ठाः, प्रेतादीनामधीशाः।।४३।।

**यदिति**। किं बहुना? यत्किञ्चिद्भगवदादि तत्सर्वं परमेव तत्त्वमित्यन्वयः। भगवदैश्वर्ययुक्तं महस्वत्तेजोयुक्तम् औजस्सहस्वत्[3] ओजः इन्द्रियशक्तिः सहः मनश्शक्तिः तद्युक्तं, बलं दार्ढ्यं[4] तद्युक्तम्[5], श्रीः शोभा, ह्रीः अकर्मजुगुप्सा, विभूतिः सम्पत्तिः, आत्मा बुद्धिस्तद्युक्तम्। अर्णो वर्णः अद्भुतार्णमाश्चर्य-वर्णमित्यर्थः। रूपवत्[6] अस्वरूपम्[7] रूपवत् अरूपं च यत् तत्सर्वं परमेव तत्त्वं तद्विभूतिरित्यर्थः।।४४।।

शुद्धसत्त्वावतारान्वक्तुमाह - **प्राधान्यत** इति। असत्कथाश्रवणैर्ये कर्णयोः कषायाः मलास्तान् शोषयन्तीति तथा तान्। सुपेशान् सुपेशलान्[8] सुन्दरान्। लकारलोपस्त्वार्षः[9]। हे ऋषे! नारद![10] ते[11] तुभ्यमनुक्रमिष्ये तदनुक्रमणामृतं त्वया आपीयतामित्यर्थः। यद्वा[12] आपीयतामिति शत्रन्तम्[13] आपिबतां कर्णकषायशोषानित्यर्थः।।४५।।

इति श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां षष्ठोऽध्यायः।।६।।

**वीर०** अथावतारांस्तत्कर्माणि च विवक्षुः आदिमावतारमाह[14] - **आद्य** इति। पुरुषो विराट् पुरुषः परस्य विष्णोः आद्योऽवतार इत्यर्थः। आद्यत्वं मत्स्यकूर्माद्यपेक्षया। अस्य विभूतीराह काल इत्यादिभिः। कालादयो रूपवतः स्वरूपमित्युत्तरेणान्वयः। रूपवतोऽकर्मकृतरूपस्य स्वरूपं स्वीयं रूपं शरीरं कालादयस्तन्नियाम्यवर्गरूपविभूतिरिति परं तत्त्वं कालादीनां परं याथात्म्यमित्यर्थः। स्वभावः प्रकृतिगतपरिणामस्वभावः सदसच्चेतनमचेतनं स्थूलं सूक्ष्मं वा द्रव्यं पृथिव्यादिविकारो महदहङ्कारादिः

1. H.V. Omit च 2. A.B. Omit किं बहु.....शृणु। 3. A.B. सहसीइन्द्रिय मनःशक्तीतद्यु" 4. A. ध्यं 5. A. Omits तद्युक्तं 6. A. रूपमेव स्वरूपम्। रूपवत् प्रशस्तरूपयुक्तम्।; B. रूपमेवस्वडरूपम् 7. B. अस्वरूपं 8. A.H.V. Omit सुपेशलान् 9. A. "ह्या" 10. A.B. Omit नारद 11. H.V. Omit ते 12. H.V. Omit यद्वा 13. H.V. add वा 14. W. "मम"

गुणः सत्वादिः, इन्द्रियाणि ज्ञानकर्मात्मकानि, विरांडन्तरिक्षं, स्वराट् स्वर्गः, "अयं लोकस्तुवै सम्राडन्तरिक्षं विराट् स्मृतम्, स्वराडसौ स्मृतो लोकः" इत्युक्तेः। स्थास्नु स्थावरं चरिष्णु जङ्गमं भूम्नो भूमवतो भगवतः।।४१।।

किं बहुना? संक्षेपेण शृण्वित्याह - **अहमिति**। अहं ब्रह्मा, भवो रुद्रः, यज्ञो विष्णुः यद्यप्ययं विभूतिमध्ये पठितस्तथाऽपि न विभूतिरर्थान्तराभावात्। पालनाधिकृतविष्णववतारगतपालनानुगुणं यत्सामर्थ्यं तस्य विभूतित्वद्योतनाय यज्ञोऽपि विभूतिषु पठितः। विभूतित्वं नाम नियाम्यत्वम्, सर्वभूतानां प्रवर्तनरूपम्। नियमनमात्मतयाऽवस्थानात्। आत्मा हि नाम शरीरस्य सर्वात्मना आधारो नियन्ता शेषी च। भगवतः स्वविभूतिभूतेषु सर्वेष्वात्मतयाऽवस्थानमेव क्वचित् तत्तच्छब्दसामानाधिकरण्यनिर्देशहेतुः भगवत्यात्मतयाऽवस्थिते हि सर्वे शब्दाः तस्मिन्नेव पर्यवस्यन्ति, यथा - देवमनुष्यपक्षिवृक्षादयः शब्दाः शरीराणि प्रतिपादयन्तस्तत्तदात्मनि पर्यवस्यन्ति। दक्षादयो ये इमे प्रजेशाः भवदादयो नारदप्रभृतयः सनकादयः खगलोकपालाः पक्षिश्रेष्ठाः, तललोकपालाः पातालेश्वराः।।४२।।

गन्धर्वादीनामीशाः, उरगाः सर्पाः, नागाः गजाः, यक्षादीनां ये नाथाः। रक्षोरगेति सन्धिरार्षः। ऋषीणां पितॄणां च[1] ये श्रेष्ठा, दैत्या दितिपुत्राः तेषामिन्द्राः[2] अन्ये[3] च ये प्रेतादीनामधीशाः।।४३।।

किं बहुना - **यदिति**। यत्किञ्चित् भगवदादि तत्सर्वं रूपवतः स्वरूपमित्यन्वयः। भगवत् ऐश्वर्यवत् महस्वत्, तेजस्वत्, औजस्वत्, उत्साहवत्, सहस्वत्, वेगवत्, धैर्यवत्, बलवत् धारणासामर्थ्यवत्, क्षमावत्, सहनवत्, श्रीः शोभा, ह्रीर्लज्जा, विभूतिर्नियाम्यवर्गः आत्मा बुद्धिः तद्युक्तम्, अद्भुतार्थमद्भुतशब्दवाच्यम्, एतत्सर्वं रूपवतः प्रशंसायां मतुप्। अकर्मकृत स्वेच्छोपात्तदिव्यमङ्गलास्पदविग्रहस्य भगवतो विराट् पुरुषस्य स्वीया विभूतिरित्यर्थः।।४४।।

अवताराणामानन्त्यात्तत्र प्रसिद्धान् वक्ष्यामीत्याह - **प्राधान्यत** इति। असत्कथाश्रवणैर्ये कर्णयोः कषायाः मलाः[4] तान् शोषयन्तीति तथा तान् सुपेशान् सुन्दरान्। हे ऋषे! आवदन्ति, मुनय इति शेषः। ऋषय इति पाठे ऋषयो वदन्तीत्यन्वयः। तान् ते तुभ्यमनुक्रमिष्ये क्रमेण वर्णयिष्यामि, तदनु श्रवणामृतं त्वया आपीयताम् यद्वा आपीयतामिति शत्रन्तमपिबतां कर्णकषायशोषानित्यर्थः।।४५।।

इति श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां श्रीभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां षष्ठोऽध्यायः।।६।।

1. A.B. Omit च 2. W. Omitsतेषामिन्द्राः 3. W. Omits अन्ये च ये 4. A.B. Omit मलाः 5. A. 'क्रम'; B. 'क्रम

**विज०** तत्र प्रथमावतारः क इत्याशङ्क्य तमाह - **आद्य** इति। परस्य परायणस्य हरेराद्योऽवतारः पुरुष इति, वदन्तीति शेषः। प्रलयोदके शयानः महाकृतिः नराणामाश्रयत्वेन नारायणः शून्यनामाऽभूत्। सिसृक्षोः तस्य दीपाद्दीपान्तरं यथा, तथा द्वितीयं रूपमभूत्। तत्तत्वविदो जनाः तद्रूपं नाम्ना पुरष इति संवदन्ते। स पुरुषः प्रकृतिनाम्न्या रमायाः द्वितीये रूपे स्ववीर्यमाधत्त। तस्माद्वीर्यात् नाम्ना महानभूत्, यं हिरण्यगर्भः पुरुष इति च सङ्गिरन्ते, तत्पत्नी श्रद्धेति। तौ प्रलये स्थूलशरीररहितत्त्वात् विश्लिष्टौ पुरुषाद्देहं प्राप्य संयोगं कृत्वा जगदङ्कुरं महत्तत्त्वं पुनः उदभावयताम् स्वस्यैव पुत्रतां यातात् महत्तत्त्वात् अहंतत्त्वमजीजनत् इति इतिहासमाचक्षते। "यश्शेते प्रलये विष्णुः शून्यनामा महाकृतिः" इत्यादिवाक्यसिद्धं सन्निधानविशेषाधिष्ठानत्वात् अंशत्वं ब्रह्मादीनां न साक्षादिति इममर्थं स्पष्टमाह - **काल** इत्यादिना। यद्यत्कालाद्यद्भुतार्णान्तम्। तत् परं विशिष्टं सर्वं नारायणस्य रूपवत् प्रतिमावत् अधिष्ठानम्। तत्प्रीतिहेतुत्वात् स्वतोऽस्वरूपं, प्राकृतत्वात् "पुरुषाद्या हरे रूपं ब्रह्माद्यास्तत्प्रियाः स्मृताः। प्रधानत्वेन सर्वस्मात् मत्स्यकूर्मादयो हरेः। अवताराः श्रुतौ ख्याताः स एवैते ततः स्मृताः" इत्यादेः कालः परमाण्वादि परममहदन्तः, स्वभावो वस्तुस्वभावः सत् प्राणः असत् सूक्ष्मत्वान्मूल- प्रकृतिः, मनो मनस्तत्त्वम्। "कालो वस्तुस्वभावश्च प्रकृतिः प्राण एव च"। इत्यादेः, "सदिति प्राणः" इति श्रुतेश्च। द्रव्यं पञ्चभूतानि विकारोऽण्डं, गुणः सत्त्वादिः, विराट् गरुडः, स्वराट् इन्द्रः। "द्रव्यं तु पञ्चभूतानि विकारोऽण्डमुदाहृतम्। विराजं गरुडं प्राहुः स्वराडिन्द्र उदाहृतः" इति च। स्थास्नु चरिष्णु स्थाषरं जङ्गमं च। भूम्न इत्यनेन स्थावरादिव्यापित्वं युक्तमित्याह।।४१।।

**अहमिति**। अहं चतुर्मुखः। भवः शर्वः। यज्ञो यज्ञाभिमानी रुद्रच्छिन्नः। "यज्ञशब्दोदितौ द्वौ तु देवौ लोकपुरस्कृतौ" इत्यादेः भवदादयः परमहंसाः। स्वर्लोकपालाः इन्द्रादयः। खगलोकपालाः गरुडादयः। नृलोकपालाः प्रियव्रतादयः। तललोकपालाः अनन्तबल्यादयः।।४२।।

गन्धर्वेशा विश्वावस्वादयः। विद्याधरेशाः चित्रकेत्वादयः। चारणेशाः पुष्पदन्तादयः। यक्षनायकाः कुबेरादयः। रक्षोनाथाः निऋत्यादयः उरगनाथाः वासुक्यादयः। नागनाथाः अनन्तादयः। पूर्वोक्तोऽनन्तः एककुण्डलः। ऋषीणामृषभाः वसिष्ठादयः पितॄणामृषभो यमः, दैत्येन्द्राः प्रह्लादादयः। सिद्धेशाः सनकादयः। दानवेन्द्राः वृषपर्वतादयः।।४३।।

प्रेतेशोऽपि यमः रूपान्तरविवक्षया पुनर्वचनं व्यासवासुदेववत्। पिशाचेशाः घण्टाकर्णादयः। भूतेशाः भैरवादयः। कूष्माण्डेशाः भृङ्गीरुक्मादयः। यादसामीशाः तिमिङ्गिलादयः। मृगाणामीशाः सिंहादयः। पशूनामीशाः नन्दिकेश्वसदयः। भगवत् यशोज्ञानादिमत्, महस्वत् स्वतः महत्त्ववत्, औजस्वत् अवष्ठ-

1. A.B. Omit विद्याधरेशाः चित्रकेत्वादयः।

म्भवत् सहस्वत् सहनगुणवत्, बलवत् इच्छाकरणशक्तिमत्, क्षमावत् क्रोधसमुत्थितमत् ह्रीमत् योग्यलज्जावत्, श्रीमत् लक्षणोन्नाहं, विभूतिमत्, विशेषप्राप्तियोग्यतावत्। स्वतो महत्त्वाञ्च महो विशेष-प्राप्तिशक्तिताविभूतिः लक्षणोन्नाहा लक्ष्मीशब्देन भण्यत इति। आत्मवत् धृतिमत् मनोजयवद्वा, अद्भुतार्णम् आश्चर्यसमुद्रम्, "स्वेच्छयैषां विशिष्टत्वं कुरुते तत्तथा स्मृतम्" इत्यतो मिथ्याविभूतित्वं प्रत्युक्तम्।।४४।।

पुरुषनामक एव स्वरूपांशावतारो नान्य इति शङ्कां परिहरन्निव तदवतारानुक्रमणं प्रतिजानीते-**प्राधान्यत** इति। ऋषयः ब्रह्मादिज्ञानिनः भूम्नः आनन्दादिगुणपूर्णस्य पुरुषस्य यान् लीलावतारान् आमनन्ति पठन्ति अभ्यासेनोपासते च, तान्, ते एव प्राधान्यतोऽनुक्रमिष्ये गणयिष्यामीत्यन्वयः। भवता तदनुक्रमणरसः कर्णपुटेन आपीयताम् अभिगम्यताम्। यद्वा, पीयतां गायतां ध्यायतां पश्यतां पिबतां जनानां कर्मकषायः देहारम्भहेतुः कर्माख्यरसः तस्य शोषो यैस्ते तथोक्ताः तान्। पेयत्वे गुणमाह - सुपेशलानिति। मधुरेभ्योऽप्यतिमधुरान् इमान् इति स्वमनिस प्रकाशितत्वेन कालक्षेपं क्षिपति।।४५।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
द्वितीयस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः।।६।।

**रा०कृ०** भूम्नः सर्वव्यापकस्य परस्य परमपुरुषस्य आद्योऽवतारः पुरुषः पुरुषसूक्तोक्तसहस्र-शीर्षत्वादिसहितः प्रपञ्चदेहः पुरुषः, कालः स्वभावः, सदसत् कार्यकारणात्मिका प्रकृतिश्चैताः शक्तयः। मनश्च महत्तत्वं च द्रव्यं पृथिव्यादिमहाभूतपञ्चकं विकारोऽहङ्कारः, गुणः सत्त्वादिः, इन्द्रियाणि एकादशे-न्द्रियाणि; विराट् ब्रह्माण्डात्मको देहः, स्वराट् विराडभिमानी जीवः, स्थास्नु स्थावरं चरिष्णु जङ्गमं इत्येतानि कार्याणि। अहं ब्रह्मा, भवो रुद्रः, यज्ञो विष्णुः इत्येते गुणावताराः। इमे दक्षादयः प्रजेशाः प्रजापतयः भवदादयश्च नारदादयो भक्ताश्च स्वर्लोकपालाः इन्द्रादयः, खगलोकपालाः गरुडादयः, नृलोकपालाः मान्धातृप्रभृतयो राजानः, तललोकपालाः पातालाद्यधिपतयः, अनन्तवासुकिप्रभृतयः गन्धर्वविद्याधर चारणेशाः गन्धर्वादीनां ईशाः ये यक्षरक्षोरगनागनाथाः यक्षादीनां नाथाः ये वा ऋषीणां पितॄणां च ऋषभाः श्रेष्ठाः, ये च दैत्येन्द्रसिद्धेश्वरदानवेन्द्राः अन्ये च ये प्रेतपिशाचभूतकूष्माण्डयादो-मृगपश्वधीशाः प्रेतादीनां अधीशाः, किं च लोके यत् भगवत् ऐश्वर्यवत् महस्वत् तेजःसहितं ओजस्सहस्वत् कान्तिमत् वेगवत्, बलवत् शरीरशक्तिमत् क्षमावत् परापराधसहनशीलवत्। श्रीह्रीविभूत्यात्मवत् श्रीः शोभा तद्वत्, ह्रीः अकर्माचारणशङ्का तद्वत्, विभूतिः सम्पत्तिः तद्वत्। आत्मा यथार्थ बुद्धिः तद्वत्, अद्भुतार्णं विचित्रवर्णं वस्तु। परं तत्त्वं रूपवत् रूपसहितम्। अस्वरूपं रूपरहितम्। एवं सर्वमपि वस्तु भगवत्स्वरूपमिति शेषः। हे ऋषे! नारद! भूम्नः पुरुषस्य पुरुषोत्तमस्य

1. A.B. Omit विशेषप्राप्ति.....महो

प्राधान्यतो यान् लीलाऽवतारान् आमनन्ति विज्ञाः कथयन्ति कर्णकषायशोषान् स्वकीयकथाः श्रुण्वतां कर्णदोषनिवारकान् सुपेशान् सुमधुरान् तानिमान् लीलावतारान् ते तुभ्यं अनुक्रमिष्ये अनुक्रमेण कथयिष्यामि। आपीयतां तदिदं भगवल्लीलाकथाऽमृतं भवता आतृप्तेः पीयतामिति भावः।।

अत्र पुरुषसूक्तप्रतिपादितः सहस्रशीर्षत्वादिसहितः पुरुषो दशाङ्गुलः। दशसंख्या च एकेन सर्वान्तर्यामिणं तदुत्तरवर्तिना बिन्दुना प्रकृतिं च गमयन्ती प्रकृतिसहितस्य भगवतः सङ्केतो भवति। पञ्चभूतानि, मनोबुद्ध्यहङ्काराः माया, पुरुषश्चेति दश दशाङ्गुलपदेन सूच्यन्ते। द्रव्यशक्तिप्रज्ञामयलोकाभिव्याप्तस्य भगवतो दशाङ्गुलाः दशाहतैर्दशभिराहतास्सन्तः सहस्रसंख्याकाः भवन्ति। तदेवं भगवतस्सहस्रशीर्षत्वादिसंज्ञाऽन्वर्था भवति। कालस्वभावकार्यकारणप्रकृत्याख्यास्तिस्रश्शक्तयः वैष्णवतन्त्रेषु भगवतो भार्याः श्रीभूनीला इति शाक्ततन्त्रेषु च इच्छाज्ञानक्रियाशक्तय इति समभिवर्णिताः।।४१।।

दक्षादयो नव प्रजापतयो नवानामङ्कानां अधिदेवताः प्रजाः। अङ्केषु च प्रथमस्य द्वित्र्याद्यङ्कजनन दक्षत्वात् प्रथमस्य प्रजापतेर्दक्ष इत्यन्वर्था संज्ञा। एतैरेव प्रजापतिभिः जीवशरीरेषु द्रव्यानां संयोगवियोगौ जायेते। अयं च प्राचामाशयः प्रथमे नवाङ्काः सृष्ट्याधारभूताः इति पैथागरस् (PHYTHAGAROS) नामकस्य पाश्चात्यगणितशास्त्रविदुषो वचनेन संवदति। नारदसनकसनन्दनसनत्कुमार सनत्सुजाताख्याः ब्रह्ममानसपुत्राः केवलज्ञानमयमूर्तयः भक्तियोगाचार्याः मुमुक्षूणां साधकानां मनसि स्वसान्निध्यबलेन भक्तिस्फूर्तिमाधाय ऊर्ध्वलोकप्राप्तौ सहकारिणो भवन्ति।

स्वर्लोकपालाः इन्द्रादयः इन्द्रियाधिदेवताः प्रज्ञा। ते स्वप्रेरणया फलाभिसन्धिसहितानि सत्कर्माण्याचरतो जीवन् सौख्यदानेन निबध्नन्ति फलाभिसन्धिना जीवेष्वन्तर्यामिणो मोक्षदस्य भगवतो व्यवहितत्वात्। निष्कारणसत्कर्माचरणपरायणास्तु यज्ञेश्वराङ्गभूतेन्द्रियव्यापाराः इन्द्रादिभिस्सम्मानिताः साक्षात्कृतसर्वान्तर्यामिणो बन्धैर्विमुच्यन्ते।

खगलोकपालाः गरुडादयो मण्डलचारिणस्सन्तः परितो भानुमण्डलं ग्रहाणां गमनस्य, भूभ्रमणस्य सौरकुटुम्बपरिवर्तनस्य च सहकारिणो भवन्ति। तेषु अहोरात्ररूपपक्षद्वयवान् ब्रह्माण्डस्थितिहेतुभूतो भगवान् वैनतेयः सुपर्णाऽक्ष्यो गरुत्मान् स च अखण्डकालस्वरूपः। अत एव कालसूचकस्य सूर्यस्य अग्रयायी अरुणः गरुत्मदग्रज इति दिनरूपार्धशरीरत्वात् अनूरुरिति व्यपदिश्यते। विशिष्य दिवो नता भुवं स्पृशन्तीव दृश्यमाना कलाभिव्यक्तिहेतुभूता भूम्याकाशविभागरेखा च गरुडमाता विनता इति व्यवाह्रियते।

नृलोकपालपदेन सूर्यचन्द्रकिरणमुखेन भुवमवतीर्णाः नरलोकधर्मपालकाः मनुमान्धात्रादयः प्रज्ञामयाऽऽकृतयः कदाचित् स्वेच्छया पार्थिवरूपधारिणश्च प्रभवो लक्ष्यन्ते।

पातालाद्यधोलोकाः भूगोलान्तरे मानवशरीरकशेरुकायाः अधश्च वर्तन्ते। भूगोलेतु उत्तरध्रुवं आरभ्य दक्षिणध्रुवं यावत् व्याप्ता, सर्पाकृतिः कुण्डलिनी भूस्थितिहेतुभूता अनन्तशक्तिः अनन्तः आदिशेष इति च व्यपदिश्यते। अत एव अनन्तो भुवो भारं वहतीति पुराणेषु अभिवर्णितः वासुक्यादयस्तु दिवि ग्रहाणां मध्ये परस्पराकर्षणशक्तिमार्गाणां भुवि नदीप्रवाहानां प्राणिशरीरेषु रक्तनालादीनां च निर्माणे सहकारिणो भवन्ति।।४२।।

गानविद्यासङ्केताः गन्धर्वाः। तैरेव पाणिनां उच्छ्वासनिश्श्वासप्रवृत्तिः हृदयस्पन्दनं च निर्दिष्टार्थसाधनोपयोगिशब्दार्थसङ्घटनास्वरूपाः मन्त्रतन्त्रादिनानाविधकार्यसाधनप्रज्ञाप्रकाराश्च विद्याधरा तैरेव जीवानां कार्यसिद्धिः, प्राणिनां गमनागमनादिप्रवृत्तिप्रज्ञामयाचारणाः दृश्यमानप्रपञ्चोपयोगिनो निभृतं वर्तमानाः दैर्घ्यवैशाल्यघनतादिपरिमाणकोणादिधर्ममयाः साध्याः। पर्वतनितम्बेषु महावृक्षेषु निबिडगुल्मेषु विविक्तदेशेषु शिधिलालयेषु च पार्थिवदेहं विना वर्तमानाः प्रज्ञामयाः यक्षाः। सङ्घीभूतवृश्चिकक्रिमिकीटकादिमुखेनाहारं स्वीकुर्वन्तः ते स्वस्थितिविच्छेदकान् बुद्धिजीवान् जनान् त्रासयन्तः पीडयन्तोऽपि स्वैः सख्यं कुर्वतां मानवानां भारवहनादिगुरुतरकार्यनिर्वहणेन उपकारिणो भवन्ति। पितृवीर्यबिन्दुमूलकशरीरनिर्माणकारणभूताः जीवास्तित्वरक्षिणः स्थूलशरीरकोशास्तराधिदेवताः रक्षांसि। साधारणसरीसृपादयः उरगाः नागाश्च प्रसिद्धाः जीवपिण्डोत्पत्तिकारिणः बीजाङ्कुरोत्पत्ति-कारिणश्च पितरः।

सायंसंध्यासमये गर्भधारणेच्छादितिरित्युच्यते। दितेर्जाताः जीवाः दैत्याः। सायंसंध्यायाः तमःप्रवर्तकत्वात् तमःप्रवृत्युन्मुखप्रज्ञामयाः विश्वश्रेयोदृष्टिमपहाय विनाशकरप्रवृत्तिसङ्कल्पकारकाश्च दैत्या इच्युच्यन्ते। दैत्येभ्यः ईषद्भिन्ना एव दानवाः। देहरहिताः जीवाः प्रेताः मांसऽशनाधीनजीवनाः शक्तयः पिशाचाः। देहरहिताः प्रकृतिशक्तयो भूतानि। कूष्माण्डादयः एतज्जातीया एव। भौतिकतनुत्या-गानन्तरं दहनादिसंस्कारविरहिता जीवाः भूतप्रेतादिरूपिणः सन्तः स्वसंस्काराधानविमुखान् भौतिक देहधारणकाले स्वापकृतश्च जनान् दैहिकमानसिकरोगाधानेन बाधन्ते।

एवमत्र वर्णिता आद्या जीवोत्पत्तिः महत्तत्त्वसृष्टिरित्युच्यते। अस्मिन् सन्दर्भे - "जलचरभू-चरादीनामुत्पत्तिः परिणामक्रमनिष्पन्नेति तत्परिणामचरमावतारो नरः" इति पाश्चात्यजीवशास्त्रकोविदा-नामुक्तिः अनुभवविरुद्धेव भाति। कुत इति चेत् तेषां मतमनुसृत्य आद्यजीवेषु सर्वेषु युगपत् उत्तम

जीवपरिणामं प्राप्तेषु आद्यजीवानामत्यन्ताभावप्रयुक्तः सष्ट्याभावः प्रसज्येत। तथा नैव दृश्यते प्राचीनभारतीय जीवशास्त्रेतु परिणामवादेऽभ्युपगतत्वेऽपि परिणामो निरन्तरभावी लक्ष्यते। परिणामदशाविशेषाः परिणामिनां जीवानां परिणामप्रयाणसर्गे शिबिरतुल्याः येषु सर्वेषु पथिका इव जीवाः सदा वर्तन्ते। ततश्च सर्वजीवपरिणामाः समकालीनाः सर्वकालिका एव नतु पाश्चात्य जीवशास्त्रमतानुसारेण क्रमानुगताः इति विभावनीयम्।।४३-४५।।

इति श्रीमद्भागवते द्वितियस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां
व्याख्यायां षष्ठोऽध्यायः।।६।।

oooOooo

# सप्तमोऽध्यायः

**ब्रह्मोवाच**

**यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय बिभ्रत् क्रौडीं तनुं सकलयज्ञमयीमनन्तः।**
**अन्तर्महार्णव उपागतमादिदैत्यं तं दंष्ट्रयाऽद्रिमिव वज्रधरो ददार।।१।।**

**जातो रुचेरजनयत् सुयमान् सुयज्ञ आकूतिसूनुरमरानथ दक्षिणायाम्।**
**लोकत्रयस्य महतीमहरद् यदार्तिं स्वायम्भुवेन मनुना हरिरित्यनूक्तः।।२।।**

**जज्ञे च कर्दमगृहे द्विजदेवहूत्यां स्त्रीभिस्समं नवभिरात्मगतिं स्वमात्रे।**
**ऊचे ययाऽऽत्मशमलं गुणसङ्गपङ्कमस्मिन् विधूय कपिलस्य गतिं प्रपेदे।।३।।**

**अत्रेरपत्यमभिकाङ्क्षत आह तुष्टो दत्तो मयाऽहमिति यद्भगवान् स दत्तः।**
**यत्पादपङ्कजपरागपवित्रदेहा योगर्द्धिमापुरुभयीं यदुहैहयाद्याः।।४।।**

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

सप्तमे भगवल्लीलावतारा ब्रह्मणोदिताः। नारदाय तु तत्कर्मप्रयोजनगुणैः सह।।

**यत्रेति**। यत्र यदा क्षितितलोद्धरणार्थं वाराहीं तनुं बिभ्रत् सन् उद्यतोऽनन्तः तदा तं सुप्रसिद्धं हिरण्याक्षं दंष्ट्रया ददार।।१।।

यज्ञावतारमाह - **जात** इति। रुचेः प्रजापतेः सकाशात् तद्भार्यायाः आकूतेः सूनुः सुतः सुयज्ञो नाम जातः। स च स्वभार्यायां दक्षिणायां सुयमाख्यान् देवानजनयत्। स एवेन्द्रः सन् यदा आर्तिमहरत्तदा पूर्वं सुयज्ञ इत्युक्तोऽपि अनु पश्चात् मनुना मातामहेन हरिरित्युक्तः। अनेन देवोत्पादनं लोकत्रयार्तिहरणं च तस्य कर्म दर्शितम्। एवं सर्वत्रावतारः तत्कर्म च ज्ञेयम्।।२।।

कपिलावतारमाह - **जज्ञे** इति। कर्दमस्य प्रजापतेर्गृहे च तद्भार्यायां देवहूत्यां जज्ञे नवभिः स्त्रीभिः भगिनीभिस्सह। स च स्वमात्रे आत्मगतिं ब्रह्मविद्यामुक्तवान्, ययाऽऽत्मगत्या साऽऽत्मनः शमलं मलिनीकरणं गुणसङ्गरूपं पङ्कमस्मिन्नेव जन्मनि विधूय कपिलस्य गतिं मुक्तिं प्राप्तवती।।३।।

---

1. H.V.W. "भू" 2. W. स य" 3. M.Ma. "शा: 4. V. "सु" 5. M.Ma. य आत्म" 6. H.V.W. "ङ्क सा" 7. M.Ma. "स्व" 8. M.Ma. "रम" 9. V. हे" 10. H.V. उच्यन्ते सप्तमे लीला" 11. B.H.V. Omit सुत: 12. H.V. "मान् 13. H.V. "वतो" 14. H.V. Omit तस्य 15. H.V. ततत्क" 16. H.V. "भद्र" 17. H.V. Omit च 18. H.V. Omit भगिनीभि:

दत्तात्रेयावतारमाह - **अत्रेरिति**। मया अहमेव तुभ्यं दत्त इति यद्यत आह [1]ततः स नाम्ना दत्तो जातः। स्वभक्तेभ्यो योगैश्वर्या[2]दानन्दचरित्रं दर्शयति। यस्य पादपङ्कजयोः परागः तेन पवित्राः देहाः येषां ते उभयीम् ऐहिकीमामुष्मिकीं च भुक्तिमुक्तिरूपां वा ।।४।।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचद्रिका

एवं प्रतिज्ञा[3]य अवतारान् तत्कर्माणि तत्तत्प्रयोजनानि तद्गुणांश्चाह - [4]ब्रह्मा - **यत्र** इत्यादिना। यत्र यदा काले क्षितितलोद्धरणार्थं समस्तयज्ञावयवां क्रौडीं वाराहीं तनुं बिभ्रत्सन्नुद्यतोऽनन्तोऽपरिच्छिन्न-स्वरूप[5]भावो भगवान् दंष्ट्रयाऽन्तर्महार्णवं समुद्रस्यान्तः उपागतं समागतं हिरण्याक्ष इति प्रसिद्धमादिदैत्यं दितेः प्रथमं पुत्रं ददार विदारितवान्। तत्र दृष्टान्तः वज्रधरः इन्द्रः अद्रिमेवेत्यर्थः।।१।।

सुयज्ञावतारमाह - **जातम्** इति। रुचेः प्रजापतेः सकाशात् तद्भार्यया आकूतेः सूनुः सुयज्ञो नाम जातः। स च स्वभार्यायां दक्षिणायां [6]यमान् यमाख्यगुणयुक्तान् यामान् देवानित्यर्थः। 'यज्ञस्य दक्षिणायां पुत्रा द्वादश जज्ञिरे। यामा इति समाख्याता' इति वचनात्, अजनयत् उत्पादयामास। आकूतेः सूनुः स एव इन्द्रः सन्नार्तिं यदा अहरत् तदा पूर्वं सुयज्ञ इत्युक्तोऽपि अनु पश्चान्मातामहेन मनुना हरिरित्युक्तः। अनेन देवोत्पादनं लोकत्रयार्तिहरणं च कर्म दर्शितम्। एवं सर्वत्रावतारः तत्कर्म च ज्ञेयम्।।२।।

कपिलावतारमाह - **जज्ञ** इति। कर्दमप्रजापतेः गृहे तद्भार्यायां देवहूत्यां हे द्विज! नारद नवभिः स्त्रीभिः भगिनीभिः सह जज्ञे जातः, स च स्वमात्रे आत्मगतिमात्मज्ञानं मोक्षमार्गं वा उक्तवान्। यया आत्मगत्या सा देवहूतिरात्मशमलं आत्मनो मलिनीकरणमस्मिन् देहे जातं गुणसङ्गपङ्कं गुणत्रयसङ्ग एव पङ्कः तं विधूय कपिलस्य गतिं कपिलोक्तगतिं प्राप्तवती।।३।।

दत्तात्रेयावतारमाह - **अत्रेः** इति। अपत्यं पुत्रम् [7]अभिकाङ्क्षतोऽ[8]भिकाङ्क्षमाणादत्रेः तुष्टः मयाऽहमेव तुभ्यं दत्त इति यद्यत आह, ततः स भगवान् नाम्ना दत्त इति जातः। स्वभक्तेभ्यो योगैश्वर्यदानं तच्चरित्रं दर्शयति। यस्य पादपङ्कजयोः परागः तेन पवित्रिताः देहा येषां ते हैहयाद्याः [9]सहस्रार्जुनप्रभृतयः यद्यतः दत्तात्रेयादुभयीमैहिकामुष्मिकीं योगर्द्धिं योगैश्वर्यम् अणिमाद्यष्टैश्वर्यरूपामैहिकीं मुक्तिरूपामामुष्मिकीं च योगर्द्धिमापुः प्रापुः 'उः' प्रसिद्धौ [11]यद्वा यदुः ययातिपुत्र इति।।४।।

---

1. B. अतः 2. A.B. "र्यदानं तच्चरितं; V. "र्याद्यानन्दचरित्रं 3. A.B. "ज्ञया 4. W. Omits ब्रह्मा 5. W. "स्वभा" 6. A.B. Omit यमान् 7. W. Omits अभिकाङ्क्षितो 8. W. आका" 9. W. हैहयप्रभृ" 10. W. "त्तादुभ" 11. W. Omits यद्वा.....इति

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अस्मिन्नध्याये प्रतिज्ञातवान् परमपुरुषस्य अवतारांस्तच्चरितानि च वक्ति। तत्र प्रथमतो वराह-कल्पमनुसृत्य वराहावतारं तत्कर्म चाऽऽह - **यत्रेति**। अत्र दंष्ट्राशब्देन सुदर्शनं गदा चोपलक्ष्यते। सकलयज्ञमयीं स्रुक्स्रुवादिसर्वयज्ञोपकरणजननीं तदाधारां क्रौडीं क्रोडस्य वराहस्य विद्यमानां तनुं बिभ्रत् ब्रह्मादिभिः स्तुतोऽनन्तो यत्र यदा क्षितितलोद्धरणाय उद्यतः समुद्रे निमज्ज्य रसातलगतां महीमुद्धृत्य दंष्ट्राग्रे निधाय ऊर्ध्वं गतो भवति तदा अन्तर्महार्णवे तद्रोधायोपागतं तमादिदैत्यं हिरण्याक्षं वज्रधरः इन्द्रो वज्रेणाद्रिं[2] यथा तथा दंष्ट्रया ददार। गदया विदीर्णगात्रं मुष्टिभिः कर्णमूले हत्वा गतासुमकरोदित्यर्थः। दृ विदारणे इति धातोः येनान्तर्महार्णवे भूर्नीता तमिति वा।।१।।

सुपूज्यं यशो यस्य सः सुयशाः उत्तमश्लोकशिखामणिः स्वार्पणबुद्ध्या क्रियमाणः शोभमानो यज्ञो यस्य स सुयज्ञः। क्रियाभिमानी यज्ञनामेन्द्रसूनुः शोभनो यस्मात् स इति वा। स नारायणो रुचेः प्रजापतेः सकाशात् यज्ञ इति नाम्ना आकूत्यां रुचिपत्न्यां जातोऽभूत्। अथेन्द्रपदस्य आकूतिसूनुर्यज्ञो दक्षिणायां रमावतारायां स्वपत्न्यां स्वयम्भुवमन्वन्तरे तुषिताख्यान् अमरान् अजीजनत्। यो राक्षसैरत्तुं प्राप्तेन स्वायम्भुवेन मनुना संसारक्लेश संहरणाद्धरिरिति ज्ञात्वा 'ईशावाश्य' मित्यादिनाऽनूक्तो वेदवचनेन स्तुतः "त्रयीश्रुतिः नित्यवाक्यं वेदोऽनुवचनं तथा" इत्यभिधानम्। किञ्च यश्च असुरजनादुत्पन्नां लोकत्रयस्य महतीमार्तिमहरदिति यस्मात् तस्माद्धरिरिति ज्ञात्वाऽनूक्त इति वा "क्रियाभिमानाद्यज्ञोऽसौ इन्द्रसूनुः प्रकीर्तितः। यज्ञेशत्वात् स्वयंविष्णुर्यज्ञो रुचिसुतः स्मृत" इत्यादेरयं यज्ञो हरिरेवेति।।२।।

चशब्दः आनन्तर्यार्थे। हे द्विज! अथ स विष्णुः कर्दमप्रजापतिपत्न्यां नाम्ना देवहूत्यां नवभिः मरीच्यादिपत्नीभिः समं सह कपिलनामा जज्ञ इत्यन्वयः। तच्चरितमाह आत्मगतिमिति। यः कपिलः स्वमात्रे आत्मगतिं तत्त्वसंख्यानरूपामात्मविद्यामूचे स कपिलोऽस्मिन् सात्त्विकप्रकृतिचेतनगणे विद्यमानं गुणसङ्गपङ्कं शब्दादिगुणानां सङ्गात् निरन्तरनिषेवणादुत्पन्नमविद्याकामकर्माख्यं पङ्कमात्मशमलं मनःकल्मषं सांख्यशास्त्रश्रवणजातज्ञानवारिणा विधूय प्रक्षाल्य स्वगतिं दत्त्वा स्वलोकं प्रपेदे इत्यन्वयः।।३।।

हरिणा [4]सममपत्यमभिकाङ्क्षतः इच्छतोऽत्रेर्मुनेस्तपसा तुष्टो भगवांस्तपसा प्रसन्नेन मयाऽहं तव पुत्रत्वेन दत्त इत्याहेति। यद्यस्मात् स हरिरत्रेरनसूयायामवतीर्णो नाम्ना दत्त इति प्रसिद्धोऽभूत्। यस्य दत्तस्य पादपङ्कजपरागनिषेवया पवित्रदेहाः यदुः कार्तवीर्यस्य पूर्वजः, हैहयः कार्तवीर्यार्जुनः तौ आद्यौ येषां ते तथा अमर्यां विष्णुप्रधानां योगर्द्धिमणिमादियोगसिद्धिमापुरित्यन्वयः। अ इति ब्रह्मेति श्रुतेः।

1. A. "दि 2. A. Omits स्रुक् 3. A. "द्रीन् 4. A.B. स्वयम"

मयटोऽपि प्राधान्ये[1] प्रयोगदर्शनात् उभयीमिति पाठे इहलोकपरलोकविषयां सगुणनिर्गुणविषयां चेति व्याख्यानं च नाम्ना यज्ञानामिति ज्ञातव्यम्।।४।।

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

अनन्तो दिक्कालादिपरिच्छेदरहितो भगवान् यत्र यदा क्षितितलोद्धरणाय सकलयज्ञमयीं क्रौडीं वाराहीं तनुं बिभ्रत् उद्यतः उद्योगं कृतवान् तदा अन्तर्महार्णवे महासमुद्रमध्ये उपागतं तं आदिदैत्यं हिरण्याक्षं वज्रधरः इन्द्रः अद्रिमिव दंष्ट्रया ददार विदारितवान्।।१।।

रुचेः प्रजापतेः आकूतिसूनुः रुचिभार्यायाः आकूतेः सूनुः जातः पुत्रत्वेन सम्भूतः सुयज्ञः। अथ दक्षिणायां तन्नाम्न्यां भार्यायां सुयमान् तदाख्यान् अमरान् अजनयत् सः यदा लोकत्रयस्य महतीमार्तिं अहरत् तदा स्वायम्भुवेन मनुना हरिरिति अनु पश्चात् उक्तः।।२।।

हे द्विज! नारद! किञ्च कर्दमगृहे कर्दमप्रजापतेः गृहे देवहूत्यां तद्भार्यायां नवभिः स्त्रीभिः भगिनीभिः समं सह जज्ञे कपिलो जातः। स च भगवान् स्वमात्रे देवहूत्यै आत्मगतिं ब्रह्मविद्यामूचे उपदिदेश। यया ब्रह्मविद्यया सा आत्मशमलं आत्मनो मालिन्यकारणं गुणसङ्गपङ्कं गुणसङ्गरूपं पङ्कं अस्मिन् जन्मनीति शेषः। विधूय विहाय कपिलस्य गतिं कपिलोक्तं ब्रह्मपदं प्रपेदे प्राप।।३।।

यत्पादपङ्कजपरागपवित्रदेहाः यस्य दत्तात्रेयस्य पादपङ्कजयोः यः पराग: तेन पवित्राः देहाः येषां ते तथाभूताः यदुहैहयाद्याः यदुः हैहयः कार्तवीर्यार्जुनः तदाद्याः तत्प्रभृतयः उभयीं ऐहिकीं आमुष्मिकीं च योगर्द्धिं योगसिद्धिमापुः प्राप्तवन्तः सः भगवान् अपत्यं सन्तानं अभिकाङ्क्षतः अत्रेः तुष्टः मयाऽहं दत्तः तुभ्यमिति शेषः इति यत् यस्मात् आह तस्मात् 'दत्त' इति प्रसिद्धोऽभवदिति शेषः।।४।।

**तप्तं तपो विविधलोकसिसृक्षया[2] मे आदौ सनात्[3] स्वतपसःसचतुः[4] सनोऽभूत्।**
**प्राक्कल्पसम्प्लवविनष्टमिहात्मतत्त्वं सम्यग् जगाद मुनयो यदचक्षतात्मन्।।५।।**

**धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट[5] मूर्त्यां नारायणो नर इति स्वतपः प्रभावः[6]।**
**दृष्ट्वाऽऽत्मनो[7] भगवतो नियमावलोपं देव्यस्त्वनङ्गपृतना[8] घटितं न शेकुः।।६।।**

---

1. A. "न्येन 2. AF.GF. यः 3. M.Ma.W. सुं 4. M.Ma. तपतः 5. AF.GF. "भवत्स्वमूर्त्याः ; M.Ma "जनिस्वमूर्त्यां 6. AF.GF. "गत 7. M.Ma. "ष्टात्म" 8. W. "तोऽनि"

**कामं दहन्ति कृतिनो ननु रोषदृष्ट्या रोषं दहन्तमुत ते न दहन्त्यसह्यम्।**
**सोऽयं यदन्तरमलं प्रविशन् बिभेति कामः कथं नु पुनरस्य मनः श्रयेत।।७।।**

**विद्धः सपन्त्युदितपत्रिभिरन्ति राज्ञो बालोऽपि सन्नुपगतस्तपसे वनानि।**
**तस्मा अदाद् ध्रुवगतिं गृणते प्रसन्नो दिव्याः स्तुवन्ति मुनयो यदुपर्यधस्तात्।।८।।**

**श्रीध०** कुमारावतारमाह तप्तमिति। मे मया आदौ यत्तपः तप्तं तस्मात् स्वतपसो मत्तपसो हेतोः स हरिश्चतुःसनोऽभूत्। सनत्कुमारः सनकः सनन्दनः सनत्सुजातः इति चत्वारः सनशब्दाः नाम्नि यस्य सः। कथम्भूतात् स्वतपसः सनात् अखण्डितात्। यद्वा। स्वतपसः सनाद्दानात् समर्पणादित्यर्थः। 'षणु दाने' धातुः। स च पूर्वकल्पस्य सम्प्लवे प्रलये विनष्टमुच्छिन्नसम्प्रदायमात्मतत्त्वमिहास्मिन् कल्पे सम्यग्जगाद उक्तवान्। सम्यत्त्वं दर्शयति। यद्गदितमात्रमेव मुनय आत्मन् आत्मनि मनस्यचक्षत साक्षादपश्यन् आत्मन् इत्यत्र सप्तमीलोपः आर्षः।।५।।

नरनारायणावतारमाह - धर्मस्येति द्वयेन। धर्मस्य पन्त्यां दक्षदुहितरि मूर्तिसंज्ञायां नारायणो नर इति मूर्तिद्वयेन जातः। कथम्भूतः? स्वः असाधारणस्तपः प्रभावो यस्य। तदेवाऽऽह। अनङ्गस्य पृतनाः देव्योप्सरसो भगवतः सकाशादात्मनः स्वप्रतिरूपाः उर्वश्याद्याः स्त्रीर्दृष्ट्वा तस्य नियमावलोपं व्रतभङ्गं घटितुं घटयितुं साधयितुं न शेकुः। यद्वा। आत्मनः स्वस्य यो नियमः तपोनाशरूपः तस्यावलोपं तत्र दृष्ट्वा भगवतस्तं घटयितुं न शेकुरिति। एतच्चाख्यानमेकादशे वक्ष्यति।।६।।

यत्र कामविजयी क्रोधोऽपि बिभेति तत्र वराकः कामो न प्रभवतीति किं वक्तव्यमित्याह - **काममिति**। कृतिनः श्रीरुद्रप्रमुखा रोषयुक्तया दृष्ट्या कामं दहन्ति। रोषं त्वात्मानं दहन्तमपि तेऽपि न दहन्ति क्रोधेन अभिभूयन्त इत्यर्थः। नु अहो सोऽयं रोषो यदन्तरं यन्मध्यं प्रविशन्नलं बिभेति। यद्वा। यस्यान्तर्मनः। कथम्भूतम्? अमलं निर्मलं शुद्धसत्त्वात्मकं प्रविशन्निति।।७।।

चरित्रेणैव कमप्यवतारं सूचयति - **विद्ध** इति। मातुः सपन्त्याः सुरुचेः उदितान्युक्तानि वाक्यान्येव पत्रिणो बाणाः तैः विद्धो ध्रुवो राज्ञ उत्तानपादस्य अन्ति समीपे तपसे तपस्तप्तुं ध्रुवगतिं ध्रुवपदम्। यत्

---

1. C.H.V. "मपि 2. M.Ma.N.W. नि" 3. M.Ma. "य 4. V. सन्कसनन्दनौ 5. A.B. सनातन: 6. B.H.V. Omit धातुः 7. H.V. "त्स" 8. H.V. Omit आत्मन् 9. A.B. आत्मन्.....आर्षः। 10. H.V. Omit नर 11. A.H.V. Omit द्वयेन 12. H.V. "क्षस्यदु" 13. H.V. ऊ" 14. H.V. स्त्रिय: 15. A.H.V. Omit घटयितुं 16. B.H.V. "शन" 17. V. भङ्गं घटं" 18. H.V. add तत्र 19. V. "त्यर्थः। 20. A.B. भविष्यति 21. A.H.V. Omit वराकः 22. H.V. Omit अपि 23. H.V. Omit शुद्धसत्त्वात्मकं 24. A. Omits सुरुचेः; B. सुरुच्याः 25. A.B. पदः 26. A. "ति" 27. H.V. "ञरितुं

यामुपरि स्थिताम् अधस्तात् स्थिताः। दिवि भवा दिव्याः सप्तर्षयः स्तुवन्ति। यद्वा उपरि भृग्वादयः अधस्तात्[1]सप्तर्षय इति।।८।।

**वीर०** कुमारावतारमाह - **तप्तमिति**। ननाविधलोकानां स्रष्टुमिच्छया मे मया यत्तपस्तप्तं तस्मात् सुतपसः महातपसो हेतोः स हरिः आदौ सनात् दीर्घ आर्षः सनेन्नामकः कथम्भूतः चतुःसनः चतुर्थः [4]सनः सनको यस्य स चतुःसनः अभूत्। सनातनसनन्दनौ द्वितीयतृतीयौ अभूतामित्यभिप्रायः। [5]यद्वा चतुस्सनः चत्वारः सनशब्दाः नामसु यस्य स चतुःसनः। अस्मिन् पक्षे आदौ कल्पादौ सनादिति तपोविशेषणमखण्डितादित्यर्थः। यद्वा तपस इति षष्ठ्यन्तं तपसः सनात् समर्पणादित्यर्थः। षणु दाने। स च जातो हरिः पूर्वकल्पसम्प्लवे प्रलये विनष्टं विच्छिन्नसम्प्रदायं आत्मतत्त्वं इहास्मिन् कल्पे सम्यग्जगाद उक्तवान्। सम्यक्त्वं दर्शयति यद्गदितमात्रमेव मुनयः आत्मन् आत्मनि मनसि [6]अचक्षत साक्षादपश्यन्, यद्वा यद्गदितमेवाऽत्मनि तत्त्वं मुनयः अचक्षत अन्येभ्योऽप्युक्तवन्तः [7]इत्यर्थः।।५।।

नरनारायणावतारमाह - **धर्मस्येति**। धर्मस्य पत्न्यां दक्षदुहितरि मूर्तिसंज्ञायां नारायणो नर इति मूर्तिद्वयेन स हरिरभवत् जातः। कथम्भूतः स्वः असाधारणस्तपः प्रभावो यस्य सः उपास्यान्तराभावात्। प्रभावमेवाऽऽह - अनङ्गपृतानाः मन्मथसेनाः देव्यः अप्सरसः आत्मनः परमात्मनो भगवतः अनियमावलोपं नियमलोपाभावं दृष्ट्वा घटितुं [8]तं स्ववशीकर्तुं न [9]शेकुः समर्था न बभूवः। एतदाख्यान-मेकादशे स्फुटम्।।६।।

[10]यत्र कामविजयी क्रोधोऽपि बिभेति तत्र कामोऽपि न प्रभवतीति किं वक्तव्यम् इत्याह - **काममिति**। ननु हे नारद! कृतिनो रूद्रादयः रोषदृष्ट्या [11]रोषयुक्तया दृष्ट्या कामं दहन्ति ते रोषं त्वात्मानं दहन्तमसह्यं सोढुमशक्यं न दहन्ति नाभिभवन्ति किन्तु तेनैवाभिभूयन्ते इत्यर्थः। सोऽयं रोषः यदन्तरं [12]यस्य भगवतो मनः प्रति प्रविशन्नलं बिभेति प्रवेष्टुमधिकं बिभेतीत्यर्थः। अस्य मनः कामः मन्मथः कथं नु श्रयेत न कथमपीत्यर्थः। कामजेत्राऽप्यजेयं रोषं जितवतो मनः कामः कथं श्रयेदित्यर्थः।।७।।

चरित्रेणैव[13] कमप्यवतारं सूचयति - **विद्ध** इति। राज्ञः उत्तानपादः अन्ति अन्तिके मातुः सपत्न्याः सुरुचेः उदितान्येव वाक्यान्येव पत्रिणो बाणाः तैः विद्धः ताडितः बालोऽपि सन् तपसे तपश्चर्तुं वनानि यो ध्रुवो गतः तस्मै गतवते ध्रुवाय गृणते स्तुवते प्रसन्नो [14]यो हरिः ध्रुवगतिं स्थायिपदम् अदात्।

---

1. H.V. add च 2. A. "ना" 3. W. अभूत् 4. W. Omits सनः 5. A.B. Omit यद्वा 6. A.B. Omit अचक्षत 7. W. Omits इत्यर्थः 8. A.B. Omit तं 9. A.B. शक्नुवत्यः।।६।। *- -* A. Omits 10. A.B. Omits यत्र.....रुद्रादयः 11. A.B. Omit रोष - युक्तया दृष्ट्या 12. A. Omits यस्य 13. W. "वमप्य" 14. A.B. Omit यो

सोप्येकः अवतारः इत्यर्थः। ध्रुवगतिं विशिनष्टि-यदुपरि यद्ध्रुवगतेरुपरि यतः अधस्ताच्च दिव्याः मुनयः सप्तर्षिप्रभृतयः स्तुवन्ति ध्रुवगतिप्रभावं प्रशंसन्तीत्यर्थः।।८।।

**विज०** आदौ इति उभयत्र सम्बध्यते। अत्र आदौ मया विविधलोकसिसृक्षया तपस्तप्तं कृतं तदा मे मम तपतः तपः कुर्वतः सुतपसः सर्वपूज्यतपसः सनादादौ सनोत्पत्तेः पूर्वं नोऽस्माकमर्थे स विष्णुनामाऽभूदित्यन्वयः। अवतीर्य च यत्तत्वं मुनय आत्मन्नात्मनि हृदयपद्मकर्णिकायामचक्षत। प्राक्कल्पस्य सम्प्लवेन जलीभावेन प्रलयेन इह जगति विनष्टं तिरोहितमात्मतत्त्वं सम्यग्जगाद मम उपदिदेशेत्यन्वयः। "ब्रह्मणस्तपतः पूर्वं विष्णूर्जात उरुक्रम" इत्यादि वाक्यं च इममर्थमनुवदति। सनात् सम्भाजनात् समाराधनलक्षणात् सुतपसः साधनात् ज्ञानभक्तिरूपात् करणादिति यावत्, स आराधितो देवः चतुःसनोऽभूत् सनकः सनन्दनः सनातनः सनत्कुमार इति चतुर्मूर्तिरभवदितीदं पूर्वोक्ततुल्यमिति अस्यावतारस्य [1]मुख्यप्रयोजनं, जगद्रक्षणमात्मतत्त्ववचनं प्रासङ्गिकमिति ज्ञातव्यम्। तदभिप्रायेण उक्तमाचार्यैः सर्वज्ञैः "यश्च पाति सदा लोकानजितो जयतां वर" इत्यादेः।।५।।

धर्मस्य सकाशात् दक्षदुहितरि दक्षपुत्र्यां स्वमूर्त्या सच्चिदानन्दलक्षणस्वदेहेन नारायणो नर इति नाम्नाऽजनि। कीदृशः? स्वतपसः स्वज्ञानस्य प्रभावो माहात्म्यं यस्मिन् स स्वतपःप्रभावः प्रतापवान् वा। अत्रेदं तात्पर्यं नारायणो हरिः कृष्ण इति त्रयो विष्णोः साक्षादवतारा नरनाम्न्यन्तर्यामितया नरनामाऽवतीर्ण इति तत्र लोकशिक्षार्थं तपः कुर्वाणौ बदर्यां वसन्तौ सहैव तिष्ठत इति नारायणो नर इत्येतावेवोक्ताविति ज्ञातव्यम्। "नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णस्तथैव च" इत्यादिवचनात्। स्वतपःप्रभाव इत्युक्तं विवृणोति दृष्टात्मन इति। दृष्टात्मनो नित्यमपरोक्षीभूतनिजस्वरूपस्य नरनारायणात्मनो भगवतः नियमावलोपं तप आदेर्भङ्गं अनङ्गस्य पृतनाः सेनास्थानीयाः देवस्त्रियो घटितुं कर्तुं न शेकुरित्यन्वयः। किञ्च स्वतोऽप्यधिकसौन्दर्यमन्दिराणां भगवता तत्क्षणसृष्टानां स्त्रीणां दर्शनाल्लज्जिताः ततोऽन्ववर्तन्त इत्यस्मिन्नर्थे 'तु' शब्दः यद्यप्यनङ्गपृतनाः तथाऽपीत्यस्मिन्नर्थे वा।।६।।

क्रोधवतः एव मनसि कामः पदं लभते हरेस्तु स एव पदं न प्राप्नोति नितरां कामोऽतः तत्साधनं न कार्यक्षममभूदित्याह - **काममिति**। कृतिनो महात्मनः शङ्करादयो रोषाविष्टदृष्ट्या कामं दहन्ति ननु प्रसिद्धोऽयमर्थः उतशब्दः अप्यर्थे तेऽपि दहन्तं रोषं न दहन्ति तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह असह्यमिति। सोऽयं रोषो मधुसूदने अन्तः मनो विविशन् निवेष्टुमिच्छन् अलं बिभेति। अत्र हेतुरमलमिति वा। क्रोधनिवेशनसहकारिरागद्वेषलक्षणमलविधुरत्वादित्यर्थः। कामोऽस्य हरेर्मनः कथं नु श्रयेत न कथमपि सहकारिणः क्रोधस्य प्रवेशसन्देहादित्यर्थः। कञ्चनावसरमासाद्य अपीत्यस्मिन्नर्थे पुनरिति।।७।।

---

1. A.B. Omit मुख्य

यदुत्तानपादनाम्नो राज्ञोऽन्तिके सुरुच्या सुपत्न्या उदितपत्तिभिः वाग्बाणैः विद्धः सन् बालोऽपि पुरादुपगतो निर्गतः तपसे वनाय अगमदिति शेषः। तत्र नारदोपदिष्टविधिना तपश्चरते प्रत्यक्षं दृष्ट्वा गृणते स्तुवते तस्मै ध्रुवाय तपसा प्रसन्नो हरिर्वासुदेवनामविग्रहविशेषं गृहीत्वा ध्रुवगतिं नित्यस्थानमदादित्यन्वयः। वैकुण्ठाद्यन्यतमम् अदात् किमित्याशङ्क्य तद्विशिनष्टि दिव्या इति। यदुपर्यधस्तात् यस्या ध्रुवगतेः उपर्यधस्तात् स्थिता अम्बरचारिणो मुनयः यां स्तुवन्ति तामिति शेषः। "अवतारो महाविष्णोः वासुदेव इतीरितः" इत्यादेः किं नामाऽयमवतार इति शङ्का निरस्तेति।।८।।

**रा०कृ०** विविधलोकसिसृक्षया नानाविधलोकसृष्टीच्छया आदौ कल्पादौ मे मया तपः तप्तम्। तस्य स्वतपसः सनात् दानात् तस्मिन् भगवति समर्पणात् सः हरिः चतुस्सनः - सनत्कुमारः सनकः सनन्दनः सनत्सुजात इति चत्वारः 'सन' शब्दाः नाम्नि यस्य तथाभूतः - अभूत्। किञ्च सः प्राक्क्ल्पसम्प्लवविनष्टं प्राक्कल्पस्य पूर्वकल्पस्य सम्प्लवे प्रलये विनष्टं विच्छिन्नं यत् आत्मतत्त्वं इह अस्मिन् कल्पे सम्यक् जगाद उपदिष्टवान्। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् तत् तत्त्वम् उपदिष्टमात्रमेव मुनयो मननशीलाः आत्मन् आत्मनि स्वस्मिन् अचक्षत साक्षादद्राक्षुः।

एतेन सनत्कुमारादयो भक्तियोगादिमोक्षमार्गाचार्या इति प्राक्-सूचितमत्र दृढीकृतम्।।५।।

धर्मस्य दक्षदुहितरि भार्यायां दक्षसुतायां मूर्त्यां मूर्तिनाम्न्यां स्वतपःप्रभावः स्वः स्वकीयः अनन्य इति भावः तपःप्रभावो यस्य तथाभूतो भगवान् नारायणो नर इति मूर्तिद्वयेन अजनिष्ट समभूत्। अनङ्गपृतनाः मन्मथस्य सेनारूपाः देव्यः अप्सरसः भगवतः जाता इति शेषः। आत्मनः आत्मतुल्याः ऊर्वशीमुख्याः स्त्रियो दृष्ट्वा नियमावलोपं भगवतः नियमावलोपं तपोभङ्गं घटितुं कर्तुं न शेकुः न समर्था बभूवुः। अनेन नरनारायणावतारः उक्तः।।६।।

ननु हे नारद! कृतिनः समर्थाः रूद्रादयः रोषदृष्ट्या रोषसहितया दृष्ट्या कामं दहन्ति। दहन्तमुत आत्मानं दहन्तमपि असह्यं सोढुमशक्यं रोषं तु ते कृतिनः इति शेषः। न दहन्ति दग्धुं न प्रभवन्ति निवारयितुं असमर्था इति भावः। सोऽयं शेषः अमलं यदन्तः यस्य भगवतः अन्तः मनः प्रविशन् बिभेति - निर्मले मनसि प्रवेशे मलरूपस्य स्वस्य दाहप्रसङ्गादिति भावः। अस्य तादृशस्य भगवतो मनः कामः कथं नु पुनः कथं वा श्रयेत? प्रविशेत्? न कथमपीति भावः।

कामक्रोधयोः क्रोधो नितान्तं दुर्जयः ; जिते तु क्रोधे कामो दूरापास्त एव। अपि च दुष्टानां सन्मार्गानयने क्रोधादपि प्रेममयः सात्त्विकमार्गः युक्ततर इति गम्यते।।७।।

राज्ञः पितुः उत्तानपादाख्यस्य प्रभोः अन्ति समीपे सपत्न्युदितपत्रिभिः सपन्त्याः निजमातु सपत्न्याः सुरुचेः उदितानि वचनान्येव पत्रिणो बाणाः तैः विद्धः ताडितः बालोऽपि सन् यः तपसे तपः कर्तुं

वनान्युपगतः प्राप्तः। गृणते स्तुवते तस्मै बालकाय प्रसन्नो भगवान् उपरि अधस्तात् दिव्याः मुनयः उपरिस्थिताः भृगुमुख्याः अधःस्थिताः सप्तर्षयः यत् यां गतिं स्तुवन्ति तां ध्रुवगतिं अदात् दत्तवान्। अत्र ध्रुवजननमुक्तम्।।८।।

**यद्वेनमुत्पथगतं द्विजवाक्यवज्रविप्लुष्टपौरुषभगं निरये पतन्तम्।**
**त्रात्वाऽर्थितो जगति पुत्रपदं च लेभे दुग्धा वसूनि वसुधा सकलानि येन।।९।।**

**नाभेरसावृषभ आस सुदेविसूनूर्योवै चचार समदृग् जडयोगचर्याम्।**
**यत्पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तसङ्गः।।१०।।**

**सत्रे ममाऽऽस भगवान् हयशीर्ष एव साक्षात् स यज्ञपुरुषः तपनीयवर्णः।**
**छन्दोमयो मखमयोऽखिलदेवतात्मा वाचो बभूवुरुशतीः श्वसतोऽस्य नस्तः।।११।।**

**मत्स्यो युगान्तसमये मनुनोपलब्धः क्षोणीमयो निखिलजीवनिकायकेतः।**
**विस्रंसितानुरुभये सलिले मुखान्मे आदाय तत्र विजहार ह वेदमार्गान्।।१२।।**

**श्रीध०** पृथ्ववतारमाह - **यदिति**। यद्यदा ऋषिभिः अर्थितः अवतरितुं प्रार्थितः तदा वेनदेहादवतीर्णः तं त्रात्वा अन्वर्थं तत्पुत्र इति पदं नाम लेभे। "पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् पितरं त्रायते सुतः। तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा।।" इति हि पुत्रपदव्युत्पत्तिः। कथम्भूतम्। द्विजानां शापवाक्यमेव वज्रं तेन विप्लुष्टं दग्धं पौरुषं भगः ऐश्वर्यं च यस्य तम्। चरित्रान्तरमाह - येन च जगति जगदवनाय वसूनि अन्नादिद्रव्याणि वसुधा दुग्धा।।९।।

ऋषभावतारमाह - नाभेरिति। असौ श्रीहरिः नाभेराग्नीध्रपुत्रात् सुदेव्याः सूनुरास। नभेर्भार्यायाः मेरूदेव्याः एव सुदेवी इत्यपि संज्ञा। जडवद्योगेन नित्यसमाधिना चर्याम्। यत् यां चर्यां पारमहंस्यं परमहंसप्राप्यं पदम्। तत्र हेतुः। समदृक्। तत्राऽपि हेतुः। स्वस्थः स्वस्वरूपे स्थितः। यतः प्रशान्तेन्द्रियः। तत्कुतः? यतः परितो मुक्तसङ्गः।।१०।।

श्रीहयग्रीवावतारमाह - **सत्रे** इति। अथो इत्यर्थान्तरे। स एव साक्षात् भगवान् मम ब्रह्मणः सत्रे

1. W. यो वेन 2. B. "ण" 3. W. "शाप" 4. I. "निष्लुष्ट"; M.Ma. "निष्पिष्ट" 5. M.Ma. ज्ञा" 6. M.Ma. हृदि यो 7. H.V.W. Omit म 8. AB.C.G.I.N. "शीरषायो; AF.GF. शीर्षशीर्षा 9. AG.GF. मखात्मा 10. H.V. Omit अवतरितुं प्रार्थितः 11. H.V. Omit वेनदेहादवतीर्णः 12. B.H.V. वेनं 13. B. adds (निष्लुष्टं) 14. H.V. वा 15. A. "दर्थे; B. दर्थं 16. A.B. Omit वसुधा 17. B.H.V. Omit चर्यां.....पदम्

यज्ञे हयशीर्ष[1] आस। तपनीयं सुवर्णं तद्वद्वर्णो यस्य सः। 'छन्दोमयो वेदमयस्तद्विधेया ये मखास्तन्मयः अमृतमय' इति वा पाठः। मखैर्यजनीयाः यो[2]ः अखिलो[3]ः देवतास्त[4]दात्मा च। अस्य श्वसतः श्वासं मुञ्चतो नस्तो नासापु[5]टात् उशतीः उशत्यः। अ[6]त्र आर्षत्वात् प्रथमार्थे द्वितीया। कमनीयाः वेदलक्षणाः वाचो बभूवुः।।११।।

मत्स्यावतारमाह - **मत्स्य** इति। मत्स्यो भाविना वैवस्वतेन मनुना दृष्टः क्षोणीमयः[7]पृथ्वीप्रधानः तदाश्रय इत्यर्थः। अत एव निखिलजीवनिकायानामाश्रयः मे मुखाद्विस्रंसितान्[8] [9]गलितान्[10] वेदस्य मार्गान् वेदान्[11] भगवानादाय[12] तत्र युगान्तसलिले विजहार। [13]हेति हर्षे।।१२।।

**वीर०** पृथ्ववतारमाह - **य** इति। यः पृथुः ऋषिभिः अर्थितः वेनं त्रात्वा जगति पुत्रपदं लेभे, सोऽप्येकोऽवतार इत्यर्थः। पुत्रपदम् "पुन्नम्नो नरकाद्यस्मात् पितरं त्रायते सुतः। तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भूवा" इति [14]व्युत्पत्तिस्मरणात्। 'पुत्' आख्यान्नरकात् पितरं वेनं संरक्ष्य पुत्रपदवाच्यतां प्राप्तवानित्यर्थः। कथम्भूतं वेनं? निरये नरके पतन्तम्। तत्कुतः? द्विजानां मुनीनां [15]शाप एव वज्रं तेन विप्लुष्टो[16] विशेषेण दग्धो[17] पौरुषं भगः ऐश्वर्यं च यस्य तम्। द्विजशापः कुत इत्यत आह - उत्पथगत-मसन्मार्गवर्तिनम्। एतदाख्यानं चतुर्थे स्पुटम्। एतस्यैव चरित्रान्तरमाह - येन पृथुना वसुधा भूमिः सर्वापि वसूनि अन्नादिद्रव्याणि दुग्धाऽदुह्यत दुहधातुर्द्विकर्मकः।।९।।

ऋषभावतारमाह - **नाभे**रिति। यद्ब्रह्म पारमहंस्यं [18]परमहंसप्राप्यं पदं स्वरूपं ऋषयो वेदाः आमनन्ति। तदसौ हरिः कपिलादिवत् स्वांशेन ऋषभाख्यो राजा नाभेरग्नीध्रपुत्रात् सुदेव्याः सूनुरास। मेरूदेव्या एव 'सुदेवी' इत्यपि संज्ञा। यो जातो ऋषभः जडवत् योगचर्यां चचार। तत्र हेतुः - समदृक् सर्वस्यापि स्वात्मकत्वेन समदर्शनः। तस्यान्यात्मकत्वं व्यावर्तयति स्वस्थः "स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः" इति श्रुतेः। स्वस्मिन्नेव स्थितः नत्वात्मान्तरधार्यः। जडयोगचर्याचरणे हेत्वन्तरमाह - प्रशान्तकरणः प्रशान्तेन्द्रियः। तत्कुतः परिमुक्तसङ्गः परितः शब्दादिषु मुक्तस्त्यक्तः सङ्गः आसङ्गो येन सः।।१०।।

हयग्रीवावतारमाह **सत्र** इति। स एव साक्षद्भगवान् मम ब्रह्मणः सत्रे हयशीर्षः आस [19]स कथम्भूतः? तपनीयं सुवर्णं तद्वद्वर्णो यस्य सः छन्दोमयः वेदमयः वेदोत्पादकत्वेन तत्प्रचुर इत्यर्थः। मखमयः यज्ञाराध्यः [20]अखिलदेवतात्मा अखि[21]ले देवतानामात्मा "स आत्मा अङ्गान्यन्या देवता" इति श्रुतेः। श्वसतः निश्वसतः अस्य हयग्रीवस्य नस्तः नासिकातः उसतीः शुद्धा वाचः वेदवाचः बभूवुः।

---

1. A.B. "शीर्षा 2. A. Omits या; B. ये 3. H.V. "ल" 4. B. "वास" 5. B. पुटतः 6. A.B. Omit अत्र.....द्वितीया 7. B. adds पृथ्वीमयः 8. B. adds अधःपरितान् 9. H.V. स्त्रं 10. B. "दमा" 11. H.V. भे 12. A.B. Omit भगवान् 13. A.B. ह हर्षेण 14. W. Omits व्युत्पत्ति 15. A.B. शापवाक्यमेव 16. A.B. 'ष्ट 17. A.B. "ग्धं 18. A.B. परम" 19. A.B. Omit स: 20. A.B. Omit अखिलदेवतात्मा 21. W. "लानां दे"

"तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेद" इति श्रुतेः। वेदानां तद्विहितानां कर्मणां तदाराध्यदेवतानां तत्प्रवर्तकत्वतदाराध्यत्वतदात्मकत्वान्युक्तानि इति।।११।।

मत्स्यावतारमाह - **मत्स्य** इति। मत्स्यो भाविना वैवस्वतेन[2] मनुना उपलब्धः[3] दृष्टः क्षोणीमयः आगामिसृष्ट्युपयोगिपार्थिवद्रव्यमयः पार्थिवद्रव्याश्रय इत्यर्थः। अत एव निखिलजीवनिकायानां समस्त जीवसमूहानां निकेतः निलयः। मे मम मुखाद्विस्रंसितान् वेदमार्गान् वैदिकप्रमाणान्यादाय समर्प्य मह्यमिति शेषः। वेदरूपप्रमाणप्रदानमेवास्य अवतारस्य कृत्यम्। तत्र[5] उरुभये अतिभयङ्करे युगान्त-सलिले विजहार विहितवान्, हेति हर्षे, एतदाख्यानमष्टमे स्पष्टम्।।१२।।

**विज०** अथोत्पथगतं मामेव यजध्वं मत्तोऽन्यद्दैवं नास्तीति अद्वैतमार्गवर्तिनम्। अत एव द्विजवाक्यवज्रेण निष्पिष्टपौरुषभगं विनाशितपुरुषाकारभागधेयं, मृत्वा निरये पतन्तं वेनं ज्ञात्वा परमर्षिभिर्जगत्पालनायार्थितो जगति भूलोके पुत्रपदं मथितवेनदक्षिणभुजोत्पन्नपृथ्वाख्यमहाराजस्थानं लेभे इत्यन्वयः। स्वयं च पृथुनामा तत्र विष्णुरित्यर्थं चशब्देनानुवदति। "पृथुर्नाम महाराजस्तत्र विष्णुः स्वयं विभुः" इत्यादेः तत्कर्माऽऽह - दुग्धेति। येन पृथ्वाविष्टेन पृथुनाम्ना हरिणा वसुधा भूमिः सकलानि-वसूनि अमृतादिद्रव्याणि च दुग्धेत्यन्वयः।।९।।

असौ नारायणो नाभे राज्ञः सकाशात् सुदेविसूनुरासेत्यन्वयः। मेरुदेव्याः 'सुदेवी' इति नामान्तरं राजकृतम्। तदवतारप्रयोजनमाह - **यो वा** इति। ऋषभनामा यो वै हरिः समदृक् सर्वान्तर्हृदि स्थितं समं ब्रह्म पश्यतीति नित्यापरोक्षीकृतस्वरूप इत्यर्थः। योगचर्यां परमहंसधर्मं चचार। ऋषयो यद्रूपं पारमहंस्यं परमहंसप्राप्यमामनन्ति यश्च स्वस्थः स्वाधारः प्रशान्तकरणः प्रकृष्टसुखात्मकदेहेन्द्रियः अत एव परिमुक्तसङ्गो बाह्यसुखानपेक्षः विधिनिषेधविमुक्तस्य योगचर्याकरणं किमर्थमित्याशङ्का वा इत्यनेन निरस्ता। लोकसङ्ग्रहार्थत्वेन तदाचरणप्रसिद्धेरिति। स्वस्थ इत्यादि विशेषणबाहुल्याच्च प्राप्यप्रयोजनान्तरं नास्ति।।१०।।

साक्षात्तुर्यः एव यज्ञपुरुषो मम सत्रे यज्ञे नाम्ना हयशीर्षः आसेत्यन्वयः। तिर्यग्योनित्वेऽपि ऐश्वर्यादिगुणसामग्रीमान् इत्याह - भगवानिति। "तपनीयं रूप्यहेम्नोः" इत्यभिधानात् मूलावताररूपा-पेक्षया उभयवर्णत्वं युक्तम्। अनेन साक्षान्नारायण एवेति निरणायि। "हिरण्यश्मश्रुः" इत्यादिश्रुतेः। इतोऽप्ययं नारायण एवेत्याह छन्दोमय इति। छन्द आदीनामाधारत्वात् विषयत्वादुद्देश्यत्वात् अन्तर्यामि-त्वात् तन्मयत्वं तत्कर्म चाऽऽह - वाच इति। अस्य हयग्रीवस्य श्वसतः श्वासं कुर्वतः नस्तः

1. W. इत्यादि" 2. W. त मनुना 3. W. Omits उपलब्धः 4. B. Omits पार्थिवद्रव्यमयः 5. A. Omits तत्र

नासिकायाः उशतीर्भगवद्गुणप्रतिपादकत्वेन शुद्धाः श्वासरूपाः वाचो वेदादिलक्षणाः बभूवुरित्यन्वयः। "छन्दांसि च मखाश्चैव देवा लोकाश्च सर्वशः" (महासंहिता) इत्यादिना मयटो विकारार्थत्वं प्रयुक्तम्।।११।।

मे मुखाद्विस्रंसितान् निर्गतान् वेदमार्गान् हयग्रीवदैत्येनापहतान् दृष्ट्वा मत्स्योऽवतीर्य तं हत्वा तान् समादाय स्थितः। पुनः युगान्तसमये मन्वन्तर प्रलये सप्तऋषिभिस्सह स्तुवता वैवस्वतमनुना उपलब्धो दृष्टः क्षोणीमयः। क्षोणीमयनावाश्रयत्वात्, अत एव निखिलजीवनिकायानां केतः आश्रयः। तत्र उरुभये महाभयङ्करे सलिले प्रलयसमुद्रजले विजहारेत्यन्वयः।।१२।।

**रा०कृ०** यत् यदा अर्थितः ऋषिभिः प्रार्थितः तदा उत्पथगतं असन्मार्गगतं द्विजवाक्यवज्र-विप्लुष्टपौरुषभगं द्विजानां महर्षीणां वाक्यं शापरूपं वाक्यमेव वज्रं तेन विप्लुष्टं विशेषेण दग्धं पौरुषं भगः ऐश्वर्यं च यस्य तथाभूतम्, अत एव निरये पतन्तं वेनं त्रात्वा पुत्रपदम् 'पुत्र' इति सार्थकं नाम यो लेभे येन वा जगति निमित्ते सति जगद्रक्षणायेत्यर्थः वसुधा भूमिः सकलानि वसूनि दुग्धा अदुह्यत- सोऽयं पृथुरपि भगवतः एकोऽवतार इति शेषः।।९।।

यो वै प्रसिद्धः ऋषभः समदृक् समदर्शनः स्वस्थः स्वात्मानन्दनिष्ठः प्रशान्तकरणः प्रशान्तेन्द्रियः परिमुक्तसङ्गः परितो मुक्तः कलत्रपुत्रादिसम्बन्धः येन तथाविधस्सन् जडयोगचर्यां जडवद्योगचर्यां चचार आचरितवान् यत् यां चर्यां ऋषयः पारमहंस्यं परमहंसानां सम्बन्धि पदं भगवत्प्राप्तिस्थानमामनन्ति वदन्ति सोऽसौ हरिः नाभेः आग्नीध्रपुत्रात् सुदेविसूनुः सुदेव्याः सुतः ऋषभः ऋषभाख्यः आस बभूव। एतेन ऋषभावतारः कथितः।

'सोऽहम्' इति मन्त्र एव 'हंस' मन्त्र इत्यपि कथ्यते। एतन्मन्त्रलीनमानसः विगलितजीवप्रज्ञाः साधकाः हंसमन्त्रानुभवरूपपरब्रह्मभावेन वर्तन्ते। तेषामेव स्थितिः पारमहंस्यपदनाम्ना व्यवहियते। हंस-मन्त्रात्मकश्वासगानमेव सामवेदः। तत्सहकृतेन कण्ठेन उच्चरितः स्पन्दनात्मको नादः ऋषभः। एतद्रूपस्य ओङ्कारस्य ध्यानेन ऋग्वेददर्शनसिद्धिः। एवमत्र ऋषभः ऋग्वेदमयमूर्तिः हरिरित्यवगन्तव्यम्। नादोत्पत्तिहेतु नाभिपदं, वाग्देवीस्फोरकं सुदेवीपदं च व्यत्ययेन मातापितृसूचके सती इममेवार्थं गमयत इति दिक्।।१०।।

अथ साक्षाद्यज्ञपुरुषः तपनीयवर्णः हेमवर्णः छन्दोमयो वेदमयः, मखमयो यज्ञात्मकः अखिलदेवतात्मा सकलदेवतास्वरूपः, स भगवान् नारायणः मम सत्रे सत्रयागे हयशीर्षः हयग्रीवः आस बभूव। श्वसतः श्वासान् मुञ्चतः अस्य हयग्रीवस्य नस्तः नासिकायाः उशतीः विश्वोपकारकत्वेन उशत्यः कमनीयाः वाचः वेदवाचः बभूवुः प्रवृत्ता अभवन्।

सकलविद्यास्वरूपिण्याः सरस्वत्याः देहभूताः हलः, प्राणभूतास्त्वचः। हकारोऽज्धर्मवद्यकारश्च यथाक्रमं हलामचां सङ्केतौ सन्तौ, "अक्षराणामकारोऽस्मि" (भगी.10-23) इति भगवद्गीतामनुसृत्य परमात्मसङ्केतभूतेन अकारेण च संयोजितौ अक्षराभिव्यक्तनिखिलविद्यासङ्केतभूतां हयसंज्ञां भजेते। किञ्च शीर्षस्य अथवा ग्रीवायाः सर्वाक्षरप्रपञ्चाभिव्याक्तिस्थानत्वात् नित्यस्याप्यात्मनो देहप्राणसंयोगदशा-यामेव अभिज्ञेयत्वात् निर्मलज्ञानानन्दमयस्य सर्वविद्याऽऽधारस्य परमात्मनः विज्ञानमये ब्रह्मयज्ञे हयशीर्षः अथवा हयग्रीवः इत्यन्वर्था संज्ञा। तथा च तदुच्छ्वासनिःश्वासयोः 'सोऽहं' मन्त्रापरपर्याय प्रणवकारणत्वात्, प्रणवस्य च छन्दसां सारभूतत्वात् हयग्रीवस्य नासिकातः विश्वजनीनवेदवाचामुत्पत्तिश्च युज्यते। अपि च हयशब्दस्य यदृच्छया लोके अश्ववाचित्वात् अत्र उपासकानामुपयोगाय भगवदाकारः अश्वशिरसा योजितो दृश्यते।।११।।

युगान्तसमये युगप्रलयसमये मनुना वैवस्वतमनुना उपलब्धः दृष्टः क्षोणिमयः भूरूपः निखिलजीवनिकायकेतः। सकलप्राणिसमुदायानामाश्रयभूतः मत्स्यः मत्स्यरूपी भगवान् उरुभये अतिभीकरे सलिले प्रलयसमुद्रजले मे मुखात् विस्रंसितान् विगलितान् वेदमार्गान् वेदशाखाः आदाय तत्र प्रलयसमुद्रसलिले विजहार विहृतवान्। हशब्दो हर्षसूचकः।

अत्र युगान्तपदेन जीवस्थूलरूपादर्शनमुच्यते। मत्स्यशब्देन पार्थिवतत्त्वात्मिका सकलजीव-धर्माणां बीजरूपावास्थितिर्लक्ष्यते। प्रलयसमुद्रजलपदेन निराकारस्थितिर्व्यज्यते। बृंहणशीलस्य ब्रह्मणः प्रलयसमये प्रतिसंहृतशक्तिमत्त्वात् विश्वसृष्टिविज्ञानमयवेदशाखाः निराकारस्थितिरूपजले विगलिताः निलीयन्ते। ताः पुनरपि सृष्टिसमारम्भसमये बीजत्वावस्थितिरूपमत्स्यबलेन निराकारस्थित्यात्मकजलात् समुद्धृताः बृंहणशीले ब्रह्मणि समर्पिता सकलजीवसृष्टिनिदानभूताः भवन्ति। पुराणेष्वभिवर्ण्यमानं भगवता कृतं वेदानामुद्धरणं तावदिदमेवेत्याशेरते तत्त्वविदः।।१२।।

**क्षीरोदधावमरदानवयूथपानाम् उन्मथ्नताममृतलब्धय आदिदेवः।**
**पृष्टेन कच्छपवपुर्विदधार गोत्रम् निद्राक्षणोऽद्रिपरिवर्तकषाणकण्डूः।।१३।।**

**त्रैविष्टपोरुभयहा[3] स नृसिंहरूपं कृत्वा भ्रमद्भ्रुकुटिदंष्ट्रकरालवक्त्रम्।**
**दैत्येन्द्रमाशु गदयाऽभिपतन्तमारात् ऊरौ निपात्य विददार नखैः स्फुरन्तम्।।१४।।**

**अन्तः सरस्युरुबलेन पदे गृहीतो ग्राहेण यूथपतिरम्बुजहस्त आर्तः।**
**आहेदमादिपुरुषाखिललोकनाथः तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेयः।।१५।।**

---

1. M.Ma. "ऋ" 2. B.I. "रि" 3. M.Ma.W. "हारि ; A. maintains हं in veeraraghava commentary

**श्रुत्वा[1] हरिस्तमरणार्थिनमप्रमेयश्चक्रायुधः[2] पतगराजभुजाधिरूढः।**
**चक्रेण नक्रवदनं विनिपाट्य तस्मात् हस्ते प्रगृह्य भगवान् कृपयोज्जहार।।१६।।**

**श्रीध०** कूर्मावतारमाह - **क्षीरेति**। क्षीरोदधौ कच्छपवपुस्सन्[3] गोत्रं मथनार्थं[4] मन्दरगिरिं पृष्टेन[5] विधृतवान्। कदा अमृतलब्धये क्षीराब्धिमुन्मथ्नतां[6] सताम्। निद्रायाः क्षणोऽवसरः उत्सवो वा यस्य सः। निद्रावसरः कुतः? तत्राऽऽह - अद्रेः परिवर्तः परिभ्रमः स[8] एव[9] कषाणः[10] कर्षणं[11] घर्षणं सुखप्रदो[12] यस्यां सा कण्डूर्यस्य सः। यद्वा अद्रिपरिवर्त एव कषः[13] कर्षणं[14] तेन अणति अपयातीति कषाणा कण्डूर्यस्य।।१३।।

श्रीनृसिंहावतारमाह - **त्रैविष्टपेति**। त्रैविष्टपाः देवाः तेषामुरुभयं हन्तीति तथा स भगवान्। यद्वा[15]। त्रैविष्टपाः देवाः तेषामप्युरुभयं यस्मात्तादृशो हासो यस्य तन्नृसिंहरूपम् अथवा हिरण्यकशिपोः राज्यकाले त्रैविष्टपाः दैत्याः तेषामुरुभयजनको हासो यस्मिंस्तत् त्रैविष्टपोरुभयहासं तन्नृसिंहरूपं कृत्वा। कथम्भूतम्[16] रूपम्? भ्रमन्त्यौ भ्रुकुटेया दंष्ट्राश्च यस्मिंस्तत् करालं वक्त्रं यस्मिंस्तत् दैत्येन्द्रं स्फुरन्तमारात् समीप एव गदया उपलक्षितमभिपतन्तं तं नखैर्विददार।।१४।।

हरिसंज्ञकावतारमाह - **अन्तरिति** युगलेन। गजयूथस्य पतिः तीर्थरूपं श्रवो यशो यस्य स तीर्थश्रवाः हे[17] तीर्थश्रवः। श्रवणेनैव मङ्गलं नामधेयं यस्य सः।।१५।।

**श्रुत्वेति**। तद्वचनं[18] श्रुत्वा शरणार्थिनं तं हस्ते शुण्डायां प्रगृह्य। किं कृत्वा? नक्रस्य[19] ग्राहस्य वदनं विनिपाट्य विदार्य तस्मात्[20] तद्वदनात्।।१६।।

**विर०** कूर्मावतारमाह - **क्षीरोदधाविति**। क्षीरसमुद्रेऽमृतलब्धयेऽमृतलाभार्थम् अमरदानवयूथपानां सुरासुरश्रेष्ठानां उन्मथ्नतां मथनं कुर्वतां सतामादिदेवो भगवान् कच्छपवपुः धृतकूर्मतनुः पृष्टेन पृष्टभागेन गोत्रं मन्दरपर्वतं विदधार विधृतवान्। कथम्भूतो विदधार? निद्राक्षणः निद्रायाः क्षणः अवसरः उत्सवो यस्य सः। अद्रिपरिवर्तकषाणकण्डूः अद्रेर्[21] मन्दरस्य परिवर्तः परिभ्रम एव कषाणं कषणं यस्यां सा अद्रिपरिवर्तिकषाणा तथविधा कण्डूतिर्यस्य स तथोक्तः। कषाण इति दीर्घः आर्षः। मन्दरभ्रमणसङ्घर्षितकण्डूरित्यर्थः।१३।।

1. M.Ma. स्मृत्वा 2. AF.GF. "स्त्वमरं"; H.V. "स्तु शरं"; W. "स्तदरं" 3. H.V. "द्या 4. A.B. "न्थं" 5. H.V. Omit वि 6. H.V. "ब्धिं मथ्न" 7. HV. Omit निद्रावसरः कुतः तत्राऽऽह 8. A.H.V. Omit सः 9. H.V. Omit एव 10. A.B. "णं 11. H.V. "र्षं" 12. H.V. वा 13. H.V. "द्रेः 14. H.V. "र्षं" 15. H.V. Omit यद्वा.....रूपम् 16. A.B. Omit रूपम्? 17. H.V. Omit हे तीर्थश्रवः 18. H.V. add तस्य 19. H.V. add तस्य 20. B.H.V. Omit तद्" 21. W. Omits अद्रे.....कण्डूतिः

नृसिंहावतारमाह - **त्रैविष्टपेति**। त्रिविष्टपे स्वर्गे[2] भवाः त्रैविष्टपाः देवाः तेषामुरुभयं तत् हरतीति[3] त्रैविष्टपोरुभयहरि[4] तथाविधं नृसिंहरूपं कृत्वा धृत्वा कथम्भूतं? भ्रमन्त्यो भ्रुकुट्यो दंष्ट्राश्च यस्मिंस्तथा-भूतम्। करालं भयङ्करं वक्त्रं यस्मिन् तं[5] आरात् समीपे आशु शीघ्रं गदया उपलक्षितं अभिमुखमापतन्तं दैत्येन्द्रं[6] हिरण्यकशिपुं स्फुरन्तं[7] चलन्तं ऊरौ[8]स्वस्योरौ निपात्य पातयित्वा नखैः विददार विदारितवान्[9]।।१४।।

हरिसंज्ञकावतारमाह - **अन्तरिति**[10] द्वाभ्याम्। यूथपतिः गजयूथस्य पतिः गजेन्द्रः अन्तः सरसि सरोमध्ये[11] उरुबलेन अधिकबलेन ग्राहेण मकरेण पदे गृहीतः, अत एव आर्तः दुःखितः। अम्बुजं हस्ते यस्य स धृताम्बुजोच्छ्रितहस्तः[12] सन् इदमाह। किमित्यत आह हे आदिपुरुष! कारणपुरुष! हे तीर्थश्रवः! तीर्थं विशुद्धं श्रवः कीर्तिर्यस्य सः तस्य[13] सम्बुद्धौ हे तीर्थश्रवः! हे श्रवणमङ्गलनामधेय! श्रवणेनैव मङ्गलं कल्याण सम्पादकं नामधेयं यस्य सः ईदृशस्त्वं रक्षिता भवेत्याहेत्यर्थः।।१५।।

तच्छ्रुत्वा, गजेन्द्रस्य वचः श्रुत्वा अरणार्थिनं शरणार्थिनं हस्ते शुण्डायां प्रगृह्य भगवान् कृपया तस्मात् ग्राहादुज्जहार उद्धृतवान्। किं कृत्वा? चक्रेण सुदर्शनेन नक्रस्य ग्राहस्य वदनं विनिपाट्य विदार्य। कथम्भूतो भगवान्? पतगानां पक्षिणां राजा गरूडः तस्य भुजयोरधिरूढः आरूढः[14] चक्रायुध धरः अप्रमेयः अपरिच्छिन्नस्वरूपस्वभावः।।१६।।

**विज०** अमृतलब्धये अमरदानवयूथपानां क्षीरसमुद्रमुन्मथ्नतां सतामतिभारेण क्षीरोदधौ मज्जन्तं गोत्रं पर्वतं स आदिदेवः कच्छपवपुर्भूत्वा पृष्ठेन विदधारेत्यन्वयः। उपर्यधो नेत्रगोत्रयोरित्यर्थद्योतको वीत्युपसर्गः तज्जातिस्वभावमाह निद्रेक्षण इति निद्रया[15] ईषन्मीलितनेत्रः। निद्राहेतुमाह अद्रीति। मन्दराद्रेः परिवर्तः परिभ्रमणं तेन कषाणं विलेखनं तेन जातः कण्डूः कण्डूयनं यस्य स तथा।।१३।।

त्रिविष्टपानां देवानां दैत्याद्यदुरुभयं तद्धारि तद्धननशीलं। भ्रमन्त्या स्फुरन्त्या भ्रुकुट्या दंष्ट्राभ्यां च करालं भयङ्करं च वक्त्रं यस्य तत्तथा नृसिंहयोर्नरस्य सिंहस्य च रूपमिव रूपं कृत्वा स हरिः आरात् दूरात् गदयाऽभिपतन्तं स्फुरन्तं दैत्येन्द्रं हिरण्यकशिपुं वेगेन ऊरौ निपात्य नखैर्विददारेत्यन्वयः। दृ विदारण इति धातोः।।१४।।

यदा यूथपतिर्गजेन्द्रः सरसि उरुग्राहेण पदे गृहीतः आर्तः सन् अम्बुजहस्तः, हे आदिपुरुष! अखिललोकनाथ। तीर्थश्रवः! पावनकीर्ते! श्रवणमात्रेण मङ्गलप्रदनारायणाद्यभिधानात्[16] अस्माद्रक्ष इतीदमाह।।१५।।

---

1. A.B. add सः 2. W. Omits स्वर्गे 3. A.B. "हन्ती" 4. A.B. "हं 5. A.B. add तथाविधं 6. A.B. add तं 7. A.B. परितो गच्छन्तं 8. A.B. स्वोरौ 9. A.B. add भयहासनृसिंहरूपमिति पाठे हासेनैव सर्वभयनिवर्तकमिर्यर्थः।२४।। 10. W. द्वयेन 11. W. Omits सरोमध्ये 12. W. "द्धं" 13. W. Omits तस्य.....श्रवः 14. W. Omits आरूढः 15. A.B. "द्रेव" 16. A. नत्वम्

तदा तापसो नाम[1] भगवानरणार्थिनं शरणार्थिनं स्मृत्वा तत्र आगत्य कृपया तं हस्ते प्रगृह्य उज्जहार। भगवच्छब्दवाच्यत्वं ऋष्यादीनां अप्यस्तीति ततो व्यावर्तयति अप्रमेय इत्यादिना। अप्रमेयः इयत्तारहितः, एतदाकाशस्याप्यस्तीत्यतः चक्रायुध इति नन्वनेन योद्धाऽप्युच्युते इति तत्राऽऽह पतगेति। पतगराजो गरुडः तस्य भुजमधिरूढः भुजस्कन्धयोरतिसामीप्यादेवमुक्तं किं कृत्वा? चक्रेण सुदर्शनेन नक्रस्य ग्राहस्य वदनं विनिपाट्य च्छित्वा "हरिस्तापसऽसौ जातस्तपसि वै मुनिः" इत्यादेः कोऽयमवतारो नाम इति शङ्का निरस्ता।।१६।।

**रा०कृ०** क्षीरोदधौ क्षीरसमुद्रे अमृतलब्धये अमृतप्राप्तौ अमरदानवयूथपानां सुरासुरनायकानां उन्मथ्नतां सतां देवदानवेषु मथनं कुर्वत्सु सत्सु इति भावः। अद्रिपरिवर्तनकषाणकण्डूः मन्दराद्रेः परिवर्तः परिभ्रमणं स एव कषः कर्षणं तेन निवृत्तकण्डूतिः अत एव निद्राक्षणः निद्रारूपोत्सवशालीआदिदेवः भगवान् नारायणः; कच्छपवपुः कूर्मशरीरस्सन् गोत्रं मन्दराद्रिं पृष्ठेन विदधार विशेषेण धृतवान्।

मातृगर्भे जीवप्रवेशानन्तरं जातेन आवर्तसमेन चलनेन प्रथमतः प्रभवति बुद्बुदतुल्याऽऽकारः योऽनन्तरं शिरोरूपं धत्ते। शरीरनिर्माणाय अपेक्षिताः प्रज्ञाः शक्तयश्च इतस्ततश्चलन्तः तत्र वर्तन्ते। तत्र विकासप्रज्ञाः देवताः परिमितत्वप्रापकाः अहङ्कारममकारकामक्रोधादयस्त्वसुराः। पक्षिशाबकस्याभिवृद्धये। अण्डपेशिरिव जीवस्यापि परिमितप्रज्ञानिरासपूर्वकसर्वान्तर्यामित्वपरिणामप्राप्तौ दैवासुरप्रज्ञाः आवश्यकीभवन्ति। एतदर्थमुभयविधप्रज्ञाभिः जननमरणाद्यवकाशमापकत्वेन प्रयत्नपूर्वकं अनन्त-कालविनियोजनमेव समुद्रे मन्दरमथनजन्यममृतं नानाविधप्रज्ञाविकासाधारपेशिः मस्तकः कूर्मः। एवमत्र कूर्मावतारकथापरमार्थः प्राज्ञैरुन्नेयः।।१३।।

त्रैविष्टपोरुभयहा त्रिविष्टपं स्वर्गः तत्र भवाः त्रैविष्टपाः देवाः तेषां उरुभयं हन्तीति तथाभूतः सः भगवान् भ्रमद्भ्रुकुटिदंष्ट्रकरालवक्त्रं भ्रमद्भ्रुकुटिदंष्ट्रं, अत एव करालं भीकरं वक्त्रं मुखं यस्मिन् तथाभूतं नृसिंहरूपं कृत्वा धृत्वा आरात् समीपे गदया सह अभिपतन्तं स्वसम्मुखमायान्तं दैत्येन्द्रं हिरण्यकशिपुं ऊरौ स्वस्योरौ निपात्य स्फुरन्तं इतस्ततश्चेष्टमानं तं नखैः आशु विददार विदारितवान्।।१४।।

अन्तः सरसि सरसः मध्यप्रदेशे ऊरुबलेन अधिकशक्तिना ग्राहेण नक्रेण पदे गृहीतः अत एव आर्तः यूथपतिः करियूथनाथः अम्बुजहस्तस्सन् "हे आदिपुरुष! अखिललोकनाथ! तीर्थश्रवः! पुण्यकीर्ते! श्रवणमङ्गलनामधेय! श्रवणेनैव शुभकरनामधेय" इदं इत्येवं प्रकारेण आह मां पाहीति हरिं प्रस्तुतवान्।।१५।।

अप्रमेयः तत्त्वैः प्रमातुमशक्यः चक्रायुधः चक्रधारी पतगराजभुजाधिरूढः गरुडवाहनः भगवान्

1. A. Omits नाम

हरिस्तु नारायणोऽपि श्रुत्वा गजेन्द्रप्रार्थनमाकर्ण्य, चक्रेण नक्रवदनं मकरमुखं विनिपाट्य विदार्य शरणार्थिनं गजेन्द्रमिति शेषः। हस्ते शुण्डादण्डे प्रगृह्य कृपया तस्मात् नक्रमुखात् उज्जहार उद्धृतवान्।

जीवगजो मातृगर्भसरःप्रवेशानन्तरं स्वप्रतुल्यविचित्रपरिमितप्रज्ञामयग्राहेण चिरं पीडितः प्रसवावसरे तत्पीडामसहमानः उच्छ्वसनिश्वासमयगरुत्मदधिरूढश्रीहरिसुदर्शनमहिम्ना तद्वाहदंष्ट्रा-मयजरायुबन्धात् विमुक्तः पृथिवीतले अवतरतीति भावः।।१६।।

**ज्यायान् गुणैरवरजोऽप्यदितेः सुतानां लोकान् विचक्रम इमान् यदथाधियज्ञः।**
**क्ष्मां वामनेन जगृहे त्रिपदच्छलेन याञ्चामृते पथि चरन् प्रभुभिर्न चाल्यः।।१७।।**

**नार्थो बलेरयमुरुक्रमपादशौचं' आपः शिखा धृतवतो विबुधाधिपत्यम्।**
**यो वै प्रतिश्रुतमृते न चिकीर्षदन्यदात्मानमङ्ग! शिरसा हरयेऽभिमेने।।१८।।**

**तुभ्यं च नारद! भृशं भगवान् विवृद्धभावेन साधुपरितुष्ट उवाच योगम्।**
**ज्ञानं च भागवतमात्मसतत्त्वदीपं यद्वासुदेवशरणा विदुरञ्जसैव।।१९।।**

**चक्रं च दिक्ष्वविहतं दशसु स्वतेजो मन्वन्तरेषु मनुवंशधरो बिभर्ति।**
**दुष्टेषु राजसु दमं व्यदधात् स्वकीर्तिं सत्ये त्रिपृष्ठ उशतीं प्रथयंश्चरित्रैः।।२०।।**

**श्रीध०** वामनावतारमाह - **ज्यायानिति**। अदितेः सुतानां द्वादशादित्यानां मध्ये अधियज्ञः यज्ञाधिष्ठाता श्रीविष्णुः अवरजः कनीयानपि गुणै र्जयाज्ज्येष्ठः। गुणानेवाऽऽह - यद्यतः इमान् लोकान् विचक्रमे पादन्यासैः क्रान्तवान्। अथ प्रतिश्रुतानन्तरमेव। तत्र हेतुः। बलेः क्ष्मां वामनेन रूपेण जगृहे। नन्वीश्वरः स्वयं किमिति दुर्बलवत्तथा चक्रे? तत्राऽऽह। याञ्चां विना धर्ममार्गे वर्तमानः प्रभुभिः न चाल्यः ऐश्वर्यान्न भ्रंशनीय इति।।१७।।

ननु तर्हि याच्ञयाऽपि चालनमनुचितमेवेत्याशङ्क्य ततोऽप्यधिकं स्वसालोक्यादि दास्यामीत्या-शयेन हतवानित्याह - **नार्थ** इति। यद्विबुधाधिपत्यमिदानीं बलात् प्राप्तमग्रे दीयमानं चायं बलेः पुरुषार्थो न भवति। कुत इत्यत आह - आप इति। आ अप इति पदच्छेदः। उरुक्रमस्य पादशौचं चरणक्षालनरूपाः

1. M.Ma. "थोऽपि" 2. M.Ma. अम्भशिखं 3. C. "खां 4. M.Ma. तेऽपि च शीर्षमाणमात्मन्यं" 5. I.M.Ma. विदधत् 6. H.V. "प्यर" 7. W. "पृष्ट 8. M.Ma.W. "सुं" 9. W. हसेषु 10. M.Ma. विदुघत् 11. M.Ma. विनष्ट" 12. H.V. "यान् श्रेष्ठः 13. A.B. वामनरू" 14. H.V. "र्भेण प्रव" 15. AB. Omit प्रभुभिः 16. H.V. प्रभ्रं" 17. H.V. "तोऽपि" 18. H.V. आह" 19. A.B. Omit पद 20. H.V . "गायस्य 21. H.V. Omit पादप्रक्षं"

अपः आसर्वतो धृतवतः। कं? शिखां शिखायां मूर्ध्नि इत्यर्थः। किञ्च शुक्रेण वारितः शप्तोऽपि अङ्ग! हे नारद! यः प्रतिश्रुतं विना अन्यत्र चिकीर्षत् कर्तुं नैच्छत्। अत्र अडागमाभावस्त्वार्षः। किन्तु प्रतिश्रुतं दातुमेवैच्छत्। यश्च तृतीयपादपूरणार्थं हरये आत्मानं देहमप्यभिमेने अङ्गीकृतवान्। एवं सदेहं त्रैलोक्यं श्रद्धया दत्तवतो विबुधाधिपत्यमर्थो न भवतीत्यर्थः।।१८।।

हंसावतारमाह - **तुभ्यमिति**। भृशं विवृद्धेन भावेन अत्युद्रिक्तया भक्त्या परितुष्टस्सन् भक्तियोगं साधु यथा भवति तथा उवाच ज्ञानं चेति। ज्ञानं ज्ञानसाधनम्। किं तत्? भागवतं नाम। कथम्भूतं? तत्त्वमेव सतत्त्वं तद्दीपम् आत्मतत्त्वदीपकम्। विवृद्धभावेनेति विशेषणस्य फलमाह। यदिति यस्मात्।।१९।।

तत्तन्मन्वन्तरावतारमाह - **चक्रमिति**। स्वतेजो निजप्रभावमेव चक्रं सुदर्शनं बिभर्ति। चक्रवत् अप्रतिहतं प्रभावं बिभर्तीत्यर्थः। तदेवाऽऽह - मनुवंशपालकस्सन् त्रयाणां महर्जनतपोलोकानां पृष्ठे उपरि स्थिते सत्ये सत्यलोकेऽपि कमनीयां स्वकीर्तिं विस्तारयन् दुष्टेषु राजसु दण्डं विधत्ते।।२०।।

**वीर०** वामनावतारमाह - **ज्यायानिति**। अदितेः सुतानां द्वादशादित्यानां मध्येऽधियज्ञः यज्ञाधिपतिः भगवानवरजः कनीयानपि गुणैर्ज्यायान् श्रेष्ठः। गुणानेव आह - यद्यतः इमान् लोकान् विचक्रमे पादविन्यासैः क्रान्तवान्, अथ प्रतिश्रुतानन्तरमेव। तत्र हेतुः बलेश्चक्रवर्तिनः सकाशात् पदत्रयव्याजेन क्ष्मां भूमिं वामनेन जगृहे रूपेणेति शेषः। वामनेन रूपेण गृहीतवान्। नन्वीश्वरः स्वयं दुर्बलवत् किमिति तथा चक्रे? तत्राऽऽह याञ्चामृते यच्चां विना पथि चरन् धर्ममार्गे प्रवर्तमानः प्रभुभिस्समर्थैरपि न चाल्यः ऐश्वर्यात् न भ्रंशनीय इत्यर्थः।।१७।।

ननु तर्हि याच्ञयाऽपि चालनमनुचितमेवेत्याशङ्क्य प्रबुद्धस्य बलेर्लौकिकस्वीयैश्वर्यभ्रंश इष्ट एवेत्याशयेनाऽऽह - **नार्थ** इति। उरुक्रमस्य विस्तृतपादविन्यासस्य हरेः पादक्षालनं प्रत्युपयुक्ता आपः आ अप इति च्छेदः। आसमन्तात् शिखायां मूर्ध्नि धृतवतः, "सुंप्सुपा" इति समासः। यद्वा सप्तम्या आर्षो लुक्। विबुधाधिपत्यं नार्थः न सदृशं प्रयोजनमित्यर्थः। एतदेव उपपादयति यो बलिः प्रतिश्रुतमृते प्रतिज्ञातार्थं विना अन्यत् न चिकीर्षत् कर्तुं नैच्छदडभाव आर्षः। किन्तु स्वात्मानं अङ्ग हे नारद! हरये शिरसाऽभिमेने भगवच्छेषभूतमात्मानं हरये समर्पितवान्। शुक्रेण वारितः शप्तोऽपि अन्यथा कर्तुं नैच्छत्, किन्तु तृतीयपादपूरणार्थमात्मानमपि शिरसा समर्पितवानित्यर्थः।।१८।।

---

1. H.V. स्वशिखायां मूं 2. H.V. Omit यः 3. H. Omits कर्तुं नैच्छत् 4. A.B. Omit अत्र 5. B.H.V. Omit किन्तु.....वैच्छत् 6. B.HV. Omit च 7. H.V. अं 8. V. Omit अपि 9. H.V. Omit भक्तियोगं 10. A.HV. Omit भवति 11. A.H.V. Omit ज्ञानं 12. H.V. सुं 13. A.B. Omit तद्दीपम् 14. A.B. Omit यस्मात् 15. A.B. ंजे 16. A.H.V. Omit महर्जनतपो 17. A.B. Omit सत्ये 18. A.H.V. Omit दुष्टेषु 19. W. अत्र 20. A.B. Omit पदत्रयव्याजेन 21. A.B. Omit जगृहे 22. A.B. add जगृहे 23. W. Omits अपि 24. W. ंत्याह 25. W. प्रक्षा 26. W. Omits 'सुप्सुपा' इति समासः यद्वा

हंसावतारमाह - **तुभ्यमिति**। हे नारद! भृशं विवृद्धभावेन प्रवृद्धस्नेहेन त्वया साधु परिपृष्टः साकल्येन पृष्टो भगवान् हंसरूपेणेति शेषः। योगम् अनभिसंहितफलकर्मयोगं, ज्ञानं भागवतं साधन-सप्तकानुगृहीतभगवदुपासनात्मकं ज्ञानम्। आत्मसु प्रकृतिविविक्तात्मसु यत्तत्त्वं याथात्म्यं तस्य दीपवत् प्रकाशकं ज्ञानयोगं च साधु यथा तथा तुभ्यमुवाच, एतदाख्यानमेकादशे स्फुटम्। यदेव हंसोक्तमेव योगादिकं वासुदेवशरणाः "बहूनां जन्मनामन्ते" (भा.गी.) इत्युक्तरीत्या उपायत्वेन उपेयत्वेन वासुदेवं शरणं गताः, अञ्जसा सुखेन विदुः हंसोक्तमेव ज्ञात्वाऽनुतिष्ठन्तीत्यर्थः।।१९।।

तत्तन्मन्वन्तरावतारमाह - **चक्रम्** इति। मनुवंशधरः मनुवंशपालकस्सन् मन्वन्तरेषु दशसु दिक्ष्वविहतमनभिभाव्यं स्वतेजः स्वप्रतापोपबृंहितं चक्रम् आज्ञारूपं चक्रं बिभर्ति, किञ्च दृप्तेषु गर्वितेषु राजसु दमं दण्डं व्यदधात् व्यधत्त। कथम्भूतः सन् त्रिपृष्ठे तृतीयस्यां दिवि सत्ये सत्यलोके चरित्रैः उशतीं कमनीयं स्वकीर्तिं प्रथयन् विस्तारयन् व्यदधादित्यर्थः।।२०।।

**विज०** वामनत्रिविक्रमावतारौ तत्कर्म चाऽऽह - **ज्यायानित्यादि** श्लोकद्वयेन। अत्र यत्तच्छब्दावध्याहार्यौ। तथाहि - योऽधियज्ञो भगवान् गुणैर्ज्यायानपि अदितेस्सुतानामवरजोऽभूत्। तेन भगवता दैत्यानां गर्वं वामयति उद्गारयतीति वामनः तेन वामनरूपेण त्रिपदच्छलेन क्ष्मां जगृहे इति यत्तदथो तस्मात् स एव वामन इमाँस्त्रीलोँकान् त्रिभिः पदैः विचक्रमे तस्मात् त्रिविक्रमश्चाभूदिति वाक्यशेष इत्यर्थः किमर्थमेवं हरिणा कृतमत्राऽऽह याच्ञामिति। मार्गवर्ती पुमान् प्रभुभिरप्युपायैर्विना न चाल्य इति न्यायदर्शनार्थमेवं कृतमिति भावः। यद्वा अधियज्ञः क्ष्मायामुर्व्यां वामनेन हस्वतरेण रूपेण जगृहे त्रिलोकीमिति शेषः। कथं त्रिपदच्छलेन इमाँल्लोकान् विचक्रम इति यत् तस्मात् अदितेः सुतानां जन्मना अवरजोऽपि गुणैः ज्यायान् सममन्यत्।।१७।।

त्रिपदच्छलेन त्रैलोक्यं दत्तवतो बलेर्दानफलमिन्द्रपदावाप्तिरिति संगिरन्ते केचित्, तन्न - किन्तु हरितोषणद्वारा मुक्तावानन्दोद्रेकता एव "ऐन्द्रं पदं नान्तरीयं फलं तु हरितोषणम्" इत्यादेरित्याशये-नाऽऽह **नार्थ** इति। अङ्ग नारद! प्रतिश्रुतं पदत्रयं ऋतेऽपि चात्मानं स्वसम्बन्धि शीर्षमाणं शीर्षाख्यमानं मनसा मनःपूर्वकं हरयेऽभिमेने समर्पयामास तस्यास्योरुक्रमपादशौचमंभः शिवं शिरसा धृतवतो बलेर्यद्विबुधाधिपत्यलक्षणं फलम् अयमर्थो न। साक्षात् फलं न भवति तन्नान्तरीयकमेवेत्यन्वयः वा इत्यनेन अस्यार्थस्यानन्यथात्वं वक्ति।।१८।।

महिदासनाम्नो हरेरवतारस्य चरित्रमाह - **तुभ्यमिति**। विवृद्धभावेन समुद्रिक्तभक्त्या साधुपरितुष्टो

---

1. A.B. Omit हे नारद 2. A.B. Omit साधु 3. W. °कज्ञां 4. A.B. Omit °मेव 5. A.B. Omit उपेयत्वेन 6. A.B. °प्रतिहं 7. W. °पबृहिं 8. W. °पचक्रं

नाम्ना महिदासो भगवांस्तुभ्यमस्मदादिभ्यश्च भगवद्विषयं कर्मयोगं ज्ञानयोगं च उवाचेत्यन्वयः। आत्मेत्यनेन भागवतत्वं स्पष्टयति। अत्र प्रमाणमाह यदिति। यद् ज्ञानं वासुदेवशरणाः ब्रह्मादयः अवैष्णवनिषेधार्थ एवशब्दः तदुक्तम् - "ऐतरेयो हरिः प्राह नारदाय स्वकां तनुम् यत्प्राहुर्वैष्णवा नान्ये तद्दते न सुखं परम्" इति।।१९।।

राजराजेश्वरावतारं तच्चरितं चाऽऽह - **चक्रं** चेति। राजराजेश्वर इति नाम्नाऽवतीर्णो हरिः स्वायम्भुवादिमनुवंशधरस्सन् दुष्टेषु राजसु दमं विदधत् सत्ये धर्मे सत्यसन्धाने वा निविष्टः उशतीं कमनीयां स्वकीर्तिं चरित्रैः प्रथयन् प्रख्यापयन् मन्वन्तरेषु भगवान् प्रियव्रतादिचक्रवर्तिष्वप्यास्थितो दशसु दिक्षु अविहतमप्रतिहतं तेजः स्वरूपभूतप्रभावं चक्रमाज्ञालक्षणं बिभर्तीत्यन्वयः। "मन्वन्तरेषु-भगवांश्चक्रवर्तिषु संस्थितः" इत्यादिकमत्र मानम्।।२०।।

**रा०कृ०** याच्ञां ऋते याचनां विना पथि चरन् सन्मार्गगामी जनः प्रभुभिः समर्थैरपि स्वामिभिः न चाल्यः ऐश्वर्यात् - न भ्रंशनीयः इति हेतोः त्रिपदच्छलेन त्रिपदव्याजेन वामनेन वामनरूपेण क्ष्मां भूमिं जगृहे बलेः सकाशात् यो भगवान् गृहीतवान्। किञ्च यो वा यत् यस्मात् कारणात् अथ प्रतिश्रुत-समनन्तरमेव इमान् लोकान् विचक्रमे पादप्रक्षेपैः आक्रान्तवान् तस्मादधियज्ञः यज्ञेश्वरः स नारायणः अदितेः सुतानामादित्यानां मध्येऽवरजोऽपि कनीयानपि गुणैः पूर्वोक्तैरिति शेषः। ज्यायान् ज्येष्ठः।।१७।।

अङ्ग! हे नारद! यो वै बलिः गुरुणा शुक्रेण वारितोऽपि प्रतिश्रुतं ऋते प्रतिज्ञातार्थं विना अन्यत् न चिकीर्षत् कर्तुं नैच्छत् किञ्च तृतीयपाददानप्रतिज्ञां सत्यां विधातुं शिरसा आत्मानमपि हरयेऽभिमेने समर्पितवान् उरुक्रमपादशौचमपः उरुक्रमस्य भगवतः पादप्रक्षालनात्मकं जलं आ आदरेण शिखा शिखायां शिरसीति भावः धृतवतो बलेः बलिचक्रवर्तिनः विबुधाधिपत्यं स्वर्गाधिकारः भविष्यतीत्ययं नार्थः नैव पुरुषार्थ इति भावः।

वीर्यपराक्रमादिक्षात्रगुणसम्पत् विश्वश्रेयसे भवेत् नतु दुर्बलजनपीडन येति, धर्मसाधनेऽपेक्षणी-यापि भौतिकशक्तितः स्वसेवनमात्रपरिमितव्यापारमिन्द्रियप्रज्ञामयदिव्यगुणसमाहारं दुर्बलं विधाय स्वायत्ती-करोतीति, भोगमयजीवनानां तात्कालिकस्वर्गसुखप्राप्तिः त्यागमयजीवनानां तु शाश्वतवैष्णवपदप्राप्तिः भवेदित्येवं बहवो महार्थाः वामनावतारकथया निर्मलान्तःकरणैः साधुजनैः समुन्नेयाः।।१८।।

हे नारद भृशं अत्यन्तं विवृद्धभावेन प्रवृद्धेन प्रेम्णा साधु सम्यक् परितुष्टः भगवान् तुभ्यं च योगमुवाच उपददेश। किञ्च यद्भगवदुक्तं वासुदेवशरणाः वासुदेवभक्ताः अञ्जसैव सुखेनैव विदुः जानन्ति आत्मसतत्त्वदीपं जीवात्मपरमात्मयाथात्म्यप्रकाशकं, ज्ञानं ज्ञानसाधनं तत् भागवतमुवाच।

---

1. A.B. "क्रं त्राणल"

अत्र हंसावतारो निरूपितः हंसावतारो नाम उच्छ्वसनिःश्वासमुखेन जीवेषु भगवदतारं एव। स च मातृगर्भात् भुवि पतिते जीवे अन्तर्यामी वर्तते। ततश्च परमात्मन एव जीवात्मतया वर्तमानत्वात् जीवेषु देवमवलोकमानेन साधकेन जीवसेवायां भगवद्भक्तिसाधनमेव भागवतमहापुराणरहस्यम्। प्राचीन-कल्पे दासीपुत्रो नारदोऽपि भागवतसेवापरः कल्पान्तरे सनक-सनन्दनादिभिः सह ब्रह्ममानसपुत्रत्वेन अवतीर्णः सर्वान्तर्यामिभावमुपगम्य ब्रह्ममुखेन नारायणात् भगवतोपदेशं प्रापदिति गम्यते।।१९।।

मनुवंशधरः मनुवंशरक्षकस्सन् भगवान् मन्वन्तरेषु अवतीर्येति शेषः। दशसु दिक्षु अविहतं अव्याहतम् स्वतेजः स्वतेजोरूपम् चक्रं बिभर्ति। किञ्च सः चरित्रैः स्वकीयैश्चरितैः त्रिपृष्ठे त्रयाणां लोकानां पृष्ठे उपरि वर्तमाने सत्ये सत्यलोकेऽपि उशर्ती मनोरमां स्वकीर्तिं प्रथयन् विस्तारयन् दुष्टेषु राजसु दमं दण्डं व्यधात् प्रयुक्तवान्।

धर्ममार्गे प्रजानां प्रवर्तनमेवात्र तेजोमयं चक्रम्। तादृशचक्रं धृत्वा अधर्ममार्गगामिनं जनं यो दण्डयितुं प्रभवति स मनुवंशधरो भगवदवतार इति भाव्यते।।२०।।

**धन्वन्तरिश्च भगवान् स्वयमेव कीर्तिः[1] नाम्ना नृणां पुररुजां रुज आशु हन्ति।**
**यज्ञेरुच भागममृतायुरवावचन्य[2] आयुश्च[3] वेदमनुशास्त्यवतीर्य लोके।।।२१।।**

**क्षत्रं क्षयाय विधिनोपभृतं[4] महात्मा ब्रह्मध्रुगुज्झितपथं नरकार्तिलिप्सु।**
**उद्धन्त्यसाववनिकण्टकमुग्रवीर्यः[5] त्रिःसप्तकृत्व[6] उरुधारपरश्वधेन।।२२।।**

**अस्मत्प्रसादसुमुखः[7] कलया कलेश इक्ष्वाकुवंश अवतीर्य गुरोर्निदेशे।**
**तिष्ठन् वनं सदयितानुज आविवेश यस्मिन् विरुद्ध्य दशकन्धर आर्तिमार्च्छत्।।२३।।**

**यस्मा[8] अदादुदधिरूढभयाङ्गवेपो मार्गं सपद्यरिपुरं हरवद् दिधक्षोः।**
**दूरे सुहन्मथितरोषसुशोणदृष्ट्या[9] तातप्यमानमकरोरगनक्रचक्रः।।२४।।**

**श्रीध०** धन्वन्तर्यवतारमाह - **धन्वन्तरिरिति**। लोकेऽवतीर्य धन्वन्तरिस्सन् पुररुजां महारो-गिणां[10] लोकानां स्वनाम्नैव रुजो रोगान् हन्ति। स्वयमेव कीर्तिरिति कीर्त्यतिशयोक्तिः। अमृतं मरणशून्यम्। आयुर्यस्मात् सः। अव अवसन्नं पूर्वं दैत्यैः प्रतिषिद्धं यज्ञे भागमवरुन्धेऽलभत[11]। 'अवाप[12] शब्दम्' इति पाठेप्ययमेवार्थः। आयुर्विषयं वेदं च अनुशास्ति प्रवर्तयति।।२१।।

---

1. M.Ma. °मास देवो 2. AF.GF. °प दुःखमा°; M.Ma. °प चाद्वा°; W. °प रुद्धं 3. H.I.V. ° ध्यं° 4. M.Ma. °हतं 5. AF.GF. °क्षत्रं 6. B. °य 7. M.Ma. कृत्वा° 8. M.Ma. तं° 9. M.Ma. °र्ण° 10. A.H.V. Omit लोकानां 11. A. °बद्धं; B. °रुद्धं 12. H.V. गं चाव° 13. A.B. लभेते

परशुरामावतारमाह - **क्षत्रमिति**। जगतः क्षयाय विधिना दैवेनोपभृतं संवर्धितं मृत्यवे समर्पितमिति वा ब्राह्मणेभ्यो [1]द्रुह्यतीति तथा। अतः उज्झितः पन्थाः वेदमार्गो येन सः। अत एव नरकार्तिं लिप्सतीति तथा। एवम्भूतमवनेः कण्टकतुल्यं क्षत्रमसौ महात्मा हरिरुद्धन्त्युत्पाटयति। [2]दीर्घतीक्ष्णधारेण परशुना।।२२।।

श्रीरामावतारमाह - त्रिभिः **अस्मदिति**। अस्मांकं ब्रह्मादीनां [3]प्रसादे सुमुखः कलया भरतादि-रूपया सह कला माया तस्या [4]ईशः। गुरोर्दशरथस्याज्ञायां तिष्ठन् सीतालक्ष्मणाभ्यां सहितो वनमाविवेश। यस्मिन् विरोधं कृत्वा रावणो नाशं प्राप्तः।।२३।।

**यस्मा** इति। यस्मै श्रीरामयोदधिमार्गं [5]अदात् ददौ। सपदि शीघ्रं हरो यथा त्रिपुरं दिधक्षुः तद्वदरिपुरं लङ्कां [6]दिधक्षोः दग्धुमिच्छोः। षष्ठी चतुर्थ्यर्थे यद्वा पञ्चमीयम् दिधक्षोः रामाद्वयं प्राप्तं तेन [7]अङ्गेषु कम्पो यस्येति, कथम्भूतः उदधिः ऊढं प्राप्तं यद्भयं तेनाङ्गेषु वेपः कम्पो यस्य, अत्र हेतुः। दूरे वर्तमाना सुहृत्सीता तया निमित्तभूतया मथितः क्षुभितो रोषः तेन सुशोणा अत्यरुणा दृष्टिः तयाऽत्यन्तं तप्यमानं मकराणामुरगाणां नक्राणां [8]च चक्रं यस्मिन्।।२४।।

**वीर०** धन्वन्तर्यवतारमाह - **धन्वन्तरिरिति**। भगवान् लोके धन्वन्तरिरूपेणावतीर्य पुरुरुजां भूरिदुःखानां महारोगिणां नृणां स्वनाम्नैव रुजः रोगान् हन्ति कथम्भूतः स्वयमेव कीर्तिरिति कीर्त्यतिशयोक्तिः अमृतं मरणशून्यमायुर्यस्मात् सः। रुद्धं पूर्वं [9]दैत्यैः प्रतिषिद्धं यज्ञे भागमवाप। लेभे आयुर्विषयं वेदं चानुशास्ति प्रवर्तयति।।२१।।

परशुरामावतारमाह - **क्षत्रमिति**। विधिना दैवेन क्षयाय मृत्यवे उपभृतं समर्पितं ब्रह्मधृग् ब्राह्मणेभ्यो दुह्यतीति तथा। अतः उज्झितस्त्यक्तः पन्था वेदमार्गो येन [10]तत्, अत एव नरकार्तिं नारकं दुःखं लिप्सु लब्धुमिच्छु, एवम्भूतमवनेः कण्टकं कण्टकतुल्यं क्षत्रं क्षत्रियकुलमसौ महात्मा भार्गवरामरूपो हरिरुरुधा-रपरश्वधेन दीर्घतीक्ष्णधारेण परशुना त्रिस्सप्तकृत्वः एकविंशतिवारम्। उग्रवीर्यः असह्यवीर्यः सन् उद्धन्ति उत्पाटयति।।२२।।

रामावतारमाह - **अस्मदिति** [11]त्रिभिः। अस्मदनुग्रहे सुमुखः अस्मद्दत्तवराविरोधेनावतीर्ण इति भावः। कलेशः प्रकृतिपुरुषयोराधिपतिः कलया भरतादि[12]रूपया सह त्रिभिः इक्ष्वाकुकुलेऽवतीर्य

---

1. B. adds अपि 2. B. Omits दीर्घ 3. H.V. प्रसादेन 4. V. Omits ईशः 5. A.B. Omit अदात् 6. A.B. Omit दिधक्षोः 7. A.H.V. अङ्गे 8. V. Omits च 9. W. दैतेयैः 10. A.B. Omit तत् 11. W. Omits त्रिभिः 12. A. adds "क"

गुरोर्दशरथस्य [1]पितुर्निदेशे आज्ञायां तिष्ठन्नाज्ञां पालयन्नित्यर्थः। सदयितानुजः सीतालक्ष्मणाभ्यां सहितः वनं [2]दण्डकारण्यं यः आविवेश यस्मिन् रामे विरूद्ध्य विरोधं कृत्वा दशकन्धरो रावणः आर्तिं नाशमार्च्छत् प्राप्तः।।२३।।

यस्मै श्रीरामाय उदधिः समुद्रः मार्गमदात् दत्तवान् कथम्भूतोऽदात् सपदि शीघ्रं हरो रुद्रः यथा त्रिपुरं दिधक्षुः दग्धुमिच्छुः तद्वदरिपुरं लङ्कां दिधक्षोः [3]तस्मात् श्रीरामात् हेतोः ऊढभयाङ्गवेपः ऊढं प्राप्तं यत् भयं तेनाङ्गवेपः कम्पो यस्य [4]सः हरिः [5]दूरे वर्तमाना सुहृत्सीता तया निमित्तभूतया मथितः क्षुभितः यो रोषः तेन सुशोणा दृष्टिः श्रीरामसम्बन्धिनी तया तातप्यमानं मकराणां उरगाणां नक्राणां [6]च चक्रं समूहो यस्मिन् स एवं भूतोऽ[7]ब्धिः मार्गमदादित्यर्थः।।२४।।

**विज०** देवो भगवान् स्वयमेव विशेषावेशमन्तरेण धन्वन्तरिश्चासौ अवतीर्णश्च पुरुरुजां बहुरोगाणां रुजो रोगान् नाम्नोच्चारितेन हन्ति। स एवामृतायुः नित्यमुक्तः सन्नद्धा यज्ञभागं चावाप आयुर्वेदं च वा हटं शास्त्रं चानुशास्ति कृत्वा लोके प्रवर्तयति।।२१।।

भार्गवरामावतारं तत्कर्म च संक्षिप्य आह - **क्षत्रमिति**। उं रुद्रं ग्रसतीति उग्रं वीर्यं यस्य स उग्रवीर्यः। आत्मभयः पुरुषेभ्यो महान् पुरुषोत्तमोऽसौ उर्वी धारा निशिताग्रं यस्य स उरुधारः स चाऽसौ परश्वधः परशुः तेन अवनिकण्टकम् अत एव नरकार्तिलिप्सु नरकदुःखलब्धुकामं उज्झितपथं त्यक्तसन्मार्गं ब्रह्मध्रुक् ब्राह्मणद्रोहि अतएव विधिना दैवेन क्षयाय उपहृतं समर्पितं क्षत्रं क्षत्रियकुलं उद्धन्ति उन्मूलयतीत्यन्वयः। त्रिस्सप्तकृत्वः एकविंशति[8]वारम्।।२२।।

रामावतारं तद्विक्रमं च श्लोकत्रयेणाऽऽह - **अस्मत्प्रसादेति**। दशकन्धरो रावणो यस्मिन् विरुद्ध्य आर्तिं मरणलक्षणामार्च्छत् प्राप सः क्लेशः प्राणः 'श्रद्धावायुः' इत्यादि श्रुत्युक्तानां कलानां स्वकार्यशक्तिप्रदः कृत्स्नः पूर्णः प्रसादः आनन्दो यस्य स तथा कार्येण कारणोपलक्षणं सु सुन्दरं मुखं यस्य स तथा कृत्स्न- प्रसादश्चायं सुमुखश्चेति समासः। इक्ष्वाकुवंशे कलया स्वरूपांशेनावतीर्य गुरोर्दशरथस्य निदेशे नियोगे तिष्ठन् सदयितानुजः सीतालक्ष्मणाभ्यां सहितो रामो वनमाविवेशेत्यन्वयः।।२३।।

दूरे स्थिता सुहृत्सीता यस्य सः तस्य रामस्य उज्ज्वलितो रोष एव सुशोषोऽग्निः तेन युक्तया दृष्ट्या "अग्निः सुशोषः कक्षघ्नस्तिमिरारिर्हिरण्यद" इति मकराश्च उरगाश्च नक्राश्च मकरोरगनक्राः तातप्यमानानां पुनः पुनः पच्यमानानां मकरोरगनक्राणां चक्राणि यस्मिन् स तथा ऊढं भयं येन स तथा अङ्गे वेपः

1. W. Omits पितुः 2. W. Omits दण्डकारण्यं यः 3. W. Omits तस्मात् 4. W. Omits सः हरिः 5. A.B. Omit दूरे 6. W. Omits च 7. W. Omits "ऽब्धिः 8. M.Ma. "द्धार"

कम्पो यस्य स तथा ऊढभयश्च अङ्गवेपश्च एवंविधः उदधिस्त्रिपुरं हरवदरिपुरं लङ्कां दिधक्षोः दग्धुकामाय तस्मै रामाय सपदि मार्गमदादित्यन्वयः।।२४।।

**रा०कृ०** किञ्च भगवान् धन्वन्तरिः धन्वन्तरिरूपेण लोके जगति अवतिर्य स्वयमेव कीर्तिः अधिककीर्तिसहितः सन् नाम्ना स्वनाम्नैव पुरुरुजां बहुरोगिणां नृणां रुजः रोगान् आशु शीघ्रं हन्ति निवारयति। अमृतायुः सः अव पुरा दैत्यैः प्रतिषिद्धं यज्ञे भागं च अवरुन्धे लभते। अपि च आयुः आयुर्विषयकं वेदं अयुर्वेदमिति यावत् अनुशास्ति प्रपञ्चे प्रवर्तयति।।२१।।

असौ महात्मा भगवानुग्रवीर्यः असह्यपराक्रमः परशुरामावतारस्सन् उरुधारपरश्वधेन अतितीक्ष्ण-धारेण परशुना ब्रह्मध्रुक् ब्राह्मणद्रोहि उज्झितपथं परित्यक्तवेदमार्गं नरकार्तिलिप्सु नारकं दुःखं लब्धुमिच्छु अवनिकण्टकं अवनेः कण्टकतुल्यं भुवः पीडाकरमित्यर्थः, अत एव क्षयाय मृत्यवे, विधिना तत्प्रारब्धेन उपभृतं समर्पितं क्षत्रं क्षत्रियमात्रं त्रिस्सप्तकृत्वः एकविंशतिवारं उद्धन्ति उत्पाटयति।।२२।।

अस्मत्प्रसादसुमुखः अस्माकं बह्मादीनां प्रसादे अनुग्रहे सुमुखः अनुकूलः, कलेशः कलानां ऐश्वर्यादिगुणानां ईशः भगवान् कलया भरतादिरूपया सह इक्ष्वाकुवंशे अवतीर्य गुरोः पितुर्दशरथस्य निदेशे आज्ञायां तिष्ठन् वर्तमानः सदयितानुजः दयितया सीतया अनुजेन लक्ष्मणेन च सहितः वनमाविवेश। यस्मिन् श्रीरामे विरुद्ध्य विरोधं कृत्वा दशकन्धरः रावणः आर्तिं दुःखं विनाशमिति भावः आर्च्छत् प्रापत्।।२३।।

सपदि शीघ्रमेव हरवत् अरिपुरं अरेः रावणस्य पुरं लङ्कां दिधक्षोः दग्धुमिच्छोः श्रीरामाद्धेतोः ऊढभयाङ्गवेपः ऊढं प्राप्तं यद्भयं तेन जातः अङ्गे वेपः कम्पः यस्य तथाभूतः, दूरे, सुहृन्मथितरोषसुशो-णदृष्ट्या सुहृदा सौहार्दशलिन्या सीतया निमित्तभूतया मथितेन क्षुभितेन रोषेण सुशोणया आरक्तया दृष्ट्या श्रीरामस्य दृष्ट्या तातप्यमानमकरोरगनक्रचक्रः। अत्र मकरशब्देन स्थूला मत्स्यविशेषाः, उच्यन्ते उदधिः समुद्रः यस्मै श्रीरामाय मार्गं अदात् दत्तवान्।।२४।।

**वक्षःस्थलस्पर्शरुग्णमहेन्द्रवाहदन्तैर्विडम्बितकुकुब्जुष ऊढहासम्।**
**सद्योऽसुभिस्सह विनेष्यति दारहर्तुर्विस्फूर्जितैर्धनुष उज्झरतोऽधि सैन्ये।।२५।।**

---

1. A.B. Omit अङ्ग वेपश्च 2. AF.GF. "भग्न" 3. M.Ma. "ल" 4. M.Ma.W. "ब्जयरू" 5. M.Ma. "सः 6. M.Ma. "रितैस्ससैन्यः 7. AF.GF. "रि" 8. W. "न्यम्

**भूमेः सुरेतरवरूथविमर्दितायाः क्लेशव्ययाय कलया सितकृष्णकेशः।**
**जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्यमार्गः कर्माणि चाऽऽत्ममहिमोपनिबन्धनानि।।२६।।**

**तोकेन जीवहरणं यदुलूकिकायास्त्रैमासिकस्य च पदा शकटोऽपवृत्तः।**
**यद् रिङ्गतान्तरगतेन दिविस्पृशोर्वा उन्मूलनं त्वितरथाऽर्जुनयोर्न भाव्यम्।।२७।।**

**यद् वै व्रजे व्रजपशून् विषतोयपीथान् पालांस्त्वजीवयदनुग्रहदृष्टिवृष्ट्या।**
**तच्छुद्धयेऽतिविषवीर्य विलोलजिह्वमुच्चाटयिष्यदुरगं विहरन् ह्रदिन्याम्।।२८।।**

**श्रीध० वक्ष** इति। किञ्च युद्धे रावणस्य वक्षःस्थलस्पर्शेन (अत्र छन्दो भङ्गः आर्षः) रुग्णाः भग्नाः ये महेन्द्रवाहस्य ऐरावतस्य दन्ताः तैर्विडाम्बिताः स्वधवलिम्ना धवलीकृताः तत्तद्दिक्षु पतितैः प्रकाशिता इत्यर्थः। या एवम्भूताः ककुभोः दिशः ताः जुषते सेवते पालयतीति वा तथा तस्य दारहर्तुः रावणस्य। अहो मत्समः कोऽन्योस्तीति महागर्वेण ऊढं प्राप्तं हासम् असुभिः प्राणैः सह सद्यः शीघ्रं विनेष्यत्यपनेष्यति। कैः? धनुषो विस्फूर्जितैष्टङ्कारघोषैरेव। कथम्भूतस्य? अधिसैन्ये स्वपरसैन्यमध्ये उच्चरतः उत्कर्षेण विचरतः। ककुब्जयरूढहासमिति पाठे दन्तैः उज्ज्वलितानां ककुभां जयेन यो रूढहासः सञ्जातगर्वः तमपनेष्यतीत्यर्थः।।२५।।

श्रीकृष्णावतारमाह - **भूमेरिति** दशभिः। सुरेतराः असुरांशसम्भूताः राजानः तेषां वरूथैः सैन्यैः विमर्दितायाः भारेण पीडितायाः कलया रामेण सह जातस्सन्। ननु कोऽसौ जातः। सितकृष्णौ केशौ यस्य भगवतः स एव साक्षात्। सितकृष्णकेशत्वं शोभैव, नतु वयः परिणामकृतमविकारित्वात्। यत्तूक्तं विष्णुपुराणे - "उज्जहारात्मनः केशौ सितकृष्णौ महामुने" इति। यच्च भारते "स चापिकेशौ हरिरुज्जहार शुक्लमेकमपरं चापि कृष्णम्। तौ चापि केशावाविशेतां यदूनां कुले स्त्रियौ रोहिणीं देवकीं च। तयोरेको बलभद्रो बभूव योऽसौ श्वेतस्तस्य देवस्य केशः। कृष्णो द्वितीयः केशवः सम्बभूव केशो योऽसौ वर्णतः कृष्ण उक्तः।।" इति। तत्तु न केशमात्रावताराभिप्रायं, किन्तु भूभारावतरणरूपं कार्यं कियदेतत् मत्केशावेवैतत्कर्तुं शक्ताविति द्योतनार्थं रामकृष्ण्योर्वर्णसूचनार्थं च केशोद्धरणमिति गम्यते, अन्यथा तत्रैव पूर्वापरविरोधापत्तेः। "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इत्येतद्विरोधाच्च। कथम्भूतः? परमेश्वरतया जनैरनुपलक्ष्यो मार्गो यस्य। तर्हि ईश्वरत्वे किं प्रमाणम्? अति मानुषकर्मान्यथाऽनुपपत्तिरेवेत्याह - आत्मनो महिमा उपनिबद्ध्यते अभिव्यज्यते येषु तानि।।२६।।

---

1. M.Ma. "पि" 2. W. "टापवृत्तिः 3. C. "प्र; H.V. "वि" 4. W. "यंत् 5. H.I.M.Ma.V.W. "तान् 6. M.Ma. गोपांस्तु जीव"; W. बालानजीव" 7. A.B. Omit अत्र.....आर्षः 8. A. Omits ये 9. A. "द्राविताः 10. H.V. तदा 11. H.V. "तो गं" 12. H.V. Omit सं 13. H.V. Omit सन् ननु कोऽसौ जातः 14. V. "ष्णके" 15. H.V. स्वतः 16. H.V. भारतेऽपि 17. A. "ञ्जहारे; B. "द्धवर्हे 18. H.V. "क्लं चैकं" 19. H.V. "शौ विशतां 20. H.V. वर्णितः कृष्णवर्णः 21. H.V. "भारावतरण" 22. H.V. "वपि तत्क" 23. H.V. "केशव" 24. H.V. "रः तथा

[1]एतदेव प्रपञ्चयति - **तोकेने**त्यादिना। [2]तोकेन बालेन [3]सता उलूकिकायाः पूतनाया जीवहरणं यत् रिङ्गता जानुभ्यां गच्छताऽन्तरगतेन मध्यं प्राप्तेन दिविस्पृशोरत्युच्चयोः [4]इतरथाऽनीश्वरत्वे तत्र भवितव्यम्।।२७।।

**यदिति**। विषतोयपीथान्[5] [6]विषमयतोयस्य पीथं[7] पानं येषां तान् पालान् गोपांश्च कृपादृष्टिसुधा[8]वृष्ट्या जीवयिष्यतीति यमुनायां विहरन्[9] [10]क्रीडन्नुरगं कालियमुच्चाटयिष्यदुच्चाटयिष्यति[11]। तच्छुद्धये तस्या ह्लादिन्या निर्विषत्वाय अतिविषवीर्येण विलोलां[12] अति चञ्चला जिह्वा यस्य।।२८।।

**वीर०** किञ्च युद्धे रावणस्य वक्षस्थलःस्पर्शेन रुग्णाः भग्ना ये महेन्द्रवाहस्यैरावतस्य दन्ताः तैर्विडाम्बिताः स्वधवलिम्ना धवलीकृताः तत्तद्दिक्षु पतितैः वक्षश्चूर्णितसुरगजदन्तचूर्णैः प्रकाशिता इत्यर्थः। एवम्भूताः याः ककुभः दिशः तासां यो जयस्तेन रूढः उत्पन्नः यो हासः अहो मत्समः कोऽन्योऽस्तीति गर्वेण प्राप्तहासः तं सैन्यमध्ये उत्कर्षेण चरतो दारहर्तुः रावणस्यासुभिः प्राणैस्सह सद्यः शीघ्रं विनेष्यति अपनेष्यति कैः? धनुषो विस्फूर्जितैः [13]विशेषेण स्फूर्जितैः स्फुरितैः शरैरित्यर्थः।।२५।।

कृष्णावतारमाह - **भूमे**रिति। सुरेतरा [14]आसुरसम्पत्त्या जाताः राजानः तेषां वरूथैः सैन्यैः विमर्दिताया भारेण पीडिताया भूमेः क्लेशव्यया[15]य भराप[16]हारायेत्यर्थः। सितकृष्णकेशः भगवान् कलया बलभद्रेण साकं जातः अवतीर्णः सितकृष्णौ केशौ यस्य सः[17] शोभार्थं हि भगवता सितकृष्णकेशौ धृतौ अविकारत्वेन वयः परिणामासम्भवात्। यत्तु विष्णुपुराणे - "उज्जहारात्मनः केशौ सितकृष्णौ तथा मुने" इति। भारतेऽपि "स चापि केशौ हरिरुज्जहे युक्लं चैकमपरं चापि कृष्णम्, तौ चापि केशौ विशतां यदूनां कुले स्त्रियौ रोहिणीं देवकीं च। तयोरेको बलभद्रो बभूव योऽसौ श्वेतस्तस्य देवस्य केशः। कृष्णो द्वितीयः केशवः सम्बभूव केशौ योऽसौ [18]वर्णतः कृष्ण उक्तः" इति। तत्तु न केशमात्रावताराभिप्रायं किन्तु भूभारावताररूपं कार्यं कियदेतन्मत्केशावपि [19]तत्कर्तुं शक्ताविति द्योतनार्थम्। रामकेशवयोर्वर्णस्तवनार्थं च केशोद्धरणमिति गम्यते, अन्यथा तत्रैव पूर्वापरविरोधापत्तेः। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इत्येतद्विरोधाच्च। जातश्च भगवान् जनैरनुपलक्ष्यः मार्गो गतिर्यस्य सः तथाभूतः आत्मनः स्वस्य महिमा उपनिबध्यते अभिव्यज्यते येषु तानि स्वमाहात्म्यप्रकाशकानीत्यर्थः। [20]कर्माणि चेष्टितानि करिष्यति।।२६।।

कर्मणां परमेश्वरत्वप्रकाशकत्वमेव प्रपञ्चयति - **तोके**नेत्या[21]दिनवभिः। तोकेन बालेन सता उलूकिकायाः पूतनायाः जीवहरणं यत् पूतना उलूकरूपेण आगतेति पुराणान्तरप्रसिद्धिः। त्रैमासिकस्य

---

1. H.V. तदेव 2. A.B. Omit तोकेन 3. A.B. Omit सत उलूकिकायाः 4. H.V. अन्यथा" 5. H.V. "तान् 6. H.V. विषमयं तोयं तस्य 7. H.V. "तं 8. B. "ष्ण" 9. A.B. Omit विहरन् 10. H.V. Omit क्रीडन् 11. H.V. "लीं" 12. H.V. "लाञ्चञ्च" 13. W. Omits विशेषेण स्फूर्जितैः 14. W. अ" 15. W. "नाशाय 16. W. भारापहरणार्थमित्यर्थः 17. W. adds सितकृष्णकेशः 18. W. वर्णितः कृष्णवर्णः 19. A.B. Omit तत् 20. A.B. कार्याणि: 21. W. Omits आदि नवभिः।

त्रिमासवयस्कस्य पदा पादेन [1]शकटस्य शकटरूपेणागतस्यासुरस्य [2]अपवृत्तिः परावृत्तिरिति यत् रिङ्गता [3]जानुभ्यां गच्छता [4]उलूखलमाकर्षता दिविस्पृशोः [5]अत्युच्चयोः अर्जुनयोः अर्जुनाख्यवृक्षयोः अन्तरगतेन मध्यं प्राप्तेन तयोरुन्मूलन[7]मुत्पाटनं[8] इति यत् तत्सर्वं कर्म दिव्यमित्युत्तरत्रान्वयः इतरथा दिव्यं न चेत् न भाव्यं न भवितव्यम् अनीश्वरत्वे तत्सर्वमनुपपन्नमित्यर्थः।।२७।।

किञ्च व्रजे वसन् विषतोयपीतान् विषजलस्य पीतं पानं येषां तान् [9]व्रजपशून् [10]तत्पालांश्च अनुग्रहदृष्टिः कृपादृष्टिः तस्याः वृष्ट्या सुधावर्षेणाजीवयदिति यत् ह्रदिन्यां यमुनायां विहरन् तच्छुद्धये ह्रदिन्याः निर्विषत्वाय अतिविषवीर्येण विलोला चञ्चला जिह्वा यस्य तं उरगं कालियाख्यं सर्पमुच्चाटयिष्यत् पलाययिषयतीति[11] यत्।।२८।।

**विज०** वक्षःस्थलस्पर्शेन रुग्णाः भग्नाः महेन्द्रवाहस्य ऐरावतस्य दन्ताः वक्षःस्थलस्पर्शरुग्णमहेन्द्रवाहदन्ताः तैर्विलम्बितः ककुभां जयः विलम्बितककुब्जयः तेन रूढः उत्पन्नो हासोऽट्टहासो यस्य स तथा सैन्येन सहितो रावणः तस्य दारहर्तुः दारान् सीतामाहर्तुकामस्य रामस्य धनुषः उच्चरितैः निर्गतैः विस्फूर्जितैः असुभिस्सह विनेष्यति विनयं मदविनाशमेष्यति पुनः सद्यः तत्क्षण एव राममुक्तैः शरै विनेष्यति विनाशं प्राप्नोतीत्यन्वयः। "धनुर्विस्फूर्जितैः नष्टो रावणः पूर्वमेव तु। पुनः शरैः राममुक्तैः सानुबन्धो विनेष्यती" त्यनेन धनुर्विस्फूर्जितैर्विनाशः कथमभूत्? इतीयमाशङ्का निरस्तेति। ससैन्य इत्यस्य विवरणं सानुबन्ध इति।।२५।।

कृष्णावतारमनन्यसाध्यं तत्कर्म च संङ्गृह्य कथयति - **भूमेरित्यादि** श्लोकदशकेन। स हरिः सितकृष्णकेश इति नाम कलया जातः कर्माणि करिष्यतीत्यन्वयः। कर्मणा तत्त्वज्ञानं कस्मन्नोदेति अत उक्तं जनेति। प्राकृतज्ञेयमार्गत्वादित्यर्थः। अवतारप्रयोजनमाह - सुरेतरेषामसुराणां वरूथेन समूहेन सेनया वा विमर्दितायाः पीडितायाः भूमेः क्लेशव्ययायेति। कीहदृशाशनि कर्माणि? आत्ममहिमोपनिबन्धनानि स्वमहिमनिमित्तानि पूतनवधादीनि हरेः कर्माणि परकर्मनिबन्धनानि न भवन्ति अन्येषां कर्माणि तन्महिमनिबन्धनानीति चार्थः। तदुक्तं "विष्णो र्नान्येन कर्माणि परेषां तन्निबन्धनम्" इति अत्रानन्तांशे रौहिणेये रामे शुक्ललेशात्मकरामाभिधानेन हरिस्तिष्ठन् जगद्रक्षयतीत्येतत् "राम एको ह्यनन्तांशस्तत्र रामाभिधो हरिः" इत्यादिनोक्तम् अत एव ग्राह्यमिति भावः।।२६।।

तोकेनेत्यणुना बालेनानिर्देशेनेत्यर्थ शरीरोत्थानादिप्रवृत्तिहेतुत्वाज्जीवः प्राणाः तान् लुम्पतीति

---

1. A.B. Omit शकटस्य 2. A.B. उपवृत्तिः विपरिवर्तनं 3. A.B. Omit जानुभ्यां गच्छता 4. W. Omits उलूखलमाकर्षता 5. W. Omits अत्युच्चयोः 6. W. "नवृक्ष" 7 W. Omits उत्पाटनं 8. A. तत्, तदितरथा न भाव्यं; B. यत्, तदितरथा न क्षाव्यं 9. W. Omits व्रज 10. A.B. Omit तत् 11. A.B. 'दिति

उलूपिका तस्याः स्तनपानेन जीवहरणं यत्कर्म त्रैमासिकस्य त्रयो मासा वयोलक्षणा निवृत्ता यस्य स तथा तस्य कृष्णस्योत्क्षिप्तेन पादेन शकटोऽपवृत्तः व्यत्यस्ताक्षेण शकटेन शकटाख्यो हत इति यच्च उलूखलबद्धेन रिङ्गता क्रीडताऽन्तरं गतेन मध्यगतेन बालेन दीविस्पृशोः सहस्रधनुर्मात्रोर्ध्वदेशं स्पृशतोः तावदुच्छ्रययोरित्यर्थः। यमलार्जुनयोर्वृक्षयोरून्मूलनं च यत्सर्वं कर्म इतरथा विष्णुर्न चेत् स्वमहिमोपनिबन्धनत्वेन न भाव्यम्। "सहस्रधनुषस्तूर्ध्वं द्युशब्देनापि भण्यत" इति च ।।२७।।

विषतोयपीतान् विषमिश्रजलं पीतवतः जीवयत् अजीवयत् अनुग्रहलक्षणदृष्टिवृष्ट्या तच्छुद्धये यमुनाह्रदजलशुद्धये ह्रदिन्यां यमुनानद्यां विहरन् कालीयनागमुच्चारयिष्यन् उच्चारितं करिष्यति च विषजले विहरणं दुर्गस्थानह्रदादुच्चाटनं च नान्यसाध्यं तदनेन कृतमितरथा न भाव्यमित्यर्थः।।२८।।

**रा०कृ०** अधिसैन्ये सैन्यमध्ये उच्चरतः उत्कर्षेण चरतः वक्षःस्थलस्पर्शरुग्णमहेन्द्रवाहदन्तैः युद्धे स्ववक्षस्थलस्य स्पर्शेन रुग्णाः भग्नाः महेन्द्रवाहस्य ऐरावतस्य दन्ताः तैः विडम्बितककुब्भुषः विडम्बिताः धवलीकृताः ककुभः दिशः ताः जुषति पालयतीति तथाभूतस्य दारहर्तुः सीतापहारिणो रावणस्य ऊढहासं आत्मतुल्यो नास्तीतिगर्वेण दृढमुत्पन्नं हासं असुभिः प्राणैः सह धनुषः विस्फूर्जितैः टङ्कारनादैरेव सद्यः शीघ्रं सः श्रीरामो विनेष्यति विनाशयिष्यति।।।२५।।

सुरेतरवरूथविमर्दितायाः सुरेतराः असुराः आसुरगुणोपेताः राजानः इत्यर्थः, तेषां वरूथैः सैन्यैः विमर्दितायाः पीडितायाः भूमेः क्लेशव्ययाय भारापनोदनेन क्लेशनाशाय कलया अंशभूतेन बलरामेण सह जातः अवतीर्णः सितकृष्णकेशः धवलकृष्णकेशः। अत्र 'सित' पदेन तेजोमयं दिनं कृष्णपदेन तिमिरमयी रात्रिश्च सूच्यते। तदुभयात्मककेशपदेन दिवानिशात्मकः कालः सूच्यते। तथा च कालस्वरूपः श्रीकृष्णः युगसन्ध्यासञ्ज्ञातान् असुरानुन्मूल्य भुवो भारमहरदिति व्यज्यते। भगवान् हरिः जनानुपलक्ष्यमार्गः जनैः अनुपलक्ष्यः अज्ञातः मार्गः गतिः यस्य तथाभूतस्सन् आत्ममहिमोपनिबन्धनानि स्वमाहात्म्यप्रकाशकानि कर्माणि च करिष्यति। अनेन श्रीकृष्णावतारः कथितः।।२६।।

तोकेन बालेन सता भगवता उलूकिकायाः पूतनायाः यत् जीवहरणम् त्रैमासिकस्य त्रिमासवयस्कस्य भगवतः पदा यच्च शकटः शकटासुरः अपवृतः विपर्यस्ततया पातितः मध्यगतेन रिङ्गता हस्ताभ्यां पादाभ्यां च गच्छता भगवता दिविस्पृशोः अभ्रंलिहयोः अर्जुनयोः अर्जुनवृक्षयोः यदुन्मूलनं वा उत्पाटनं वा तदेतत् सर्वं इतरथा तु, श्रीकृष्णस्य अनीश्वरत्वे, न भाव्यं न उपपन्नं भवतीति शेषः।।२७।।

---

1. A.B. Omit न भाव्यम्

किञ्च स भगवान् व्रजे विषतोयपीथान् विषपूरितजलपायिनः व्रजपशून् गोवृषभादीन् पालांस्तु तत्पालकांश्च अनुग्रहदृष्टिवृष्ट्या यद्वै अजीवयत् अपि च ह्रदिन्यां यमुनानद्यां विहरन् सः तच्छुद्धये तस्याः यमुनायाः शुद्धये अतिविषवीर्यविलोलजिह्वं अतिविषबलेन चञ्चलजिह्वं उरगं कालीयाख्यं यत् उच्चाटयिष्यत् निष्कासितवान् तच्च इतरथा न भाव्यं इति पूर्वेणान्वयः।।२८।।

**तत्कर्म दिव्यमिव यन्निशि निःशयानं दावाग्निना[1] शुचिवने परिदह्यमाने।**
**उन्नेष्यति व्रजमतोऽवसितान्तकालं[2] नेत्रे पिधाय्य[3] सबलोऽनधिगम्यवीर्यः[4]।।२९।।**

**गृह्णीत यद् यदुपबन्धममुष्य माता शुल्बं सुतस्य न तु तत् तदमुष्य माति।**
**यज्जृम्भतोऽस्य वदने भुवनानि गोपी संवीक्ष्य[5] शङ्कितमनाः प्रतिबोधिता[6]ऽऽसीत्[7]।।३०।।**

**नन्दं च मोक्ष्यति भयाद् वरूणस्य पाशात् गोपान् बिलेषु पिहितान् मयसूनुना च।**
**अह्न्यापृतं[8] निशि शयानमतिश्रमेण लोकं[9] विकुण्ठ[10] मुपनेष्यति[11] गोकुलं[12] स्म।।३१।।**

**गोपैर्मखे प्रतिहते व्रजविप्लवाय[13] देवेऽभिवर्षति पशून् कृपया रिरक्षुः।**
**धर्तोच्छिलीन्ध्रमिव सप्त दिनानि सप्तवर्षो महीध्रमनघैककरे सलीलम्।।३२।।**

**श्रीध० तदिति**। दिव्यमलौकिकमिति[14]वेति लोकोक्तिः। उन्नेष्यत्युद्धरिष्यति। शुचिः ग्रीष्म; तत्सम्बन्धिनि वने शुष्क इत्यर्थः। अतो दावाग्नेर्हेतोरवसितो[15] निश्चितोऽन्तकालो यस्य तम्। सबलः स रामः अनधिगम्यं दुर्ज्ञेयं वीर्यं यस्य सः। तत्र निशि निःशयानमिति कालियदमने रात्र्यां[16] यमुनातीरे नेत्रे पिधाय्य पिहिते कारयित्वेति मुञ्चाटव्यामिति ज्ञेयम्।।२९।।

**गृह्णीतेति**। उपबद्ध्यते अनेनेति उपबन्धः[17] तत्साधनम्। शुल्बं दाम अमुष्य माता यशोदा गृहीत[18] गृहीतवती[19]। अकारलोपस्त्वार्षः[20]। तत्तदमुष्य[21] उदरे[22] न माति बन्धनसम्मितं न भवति। न पूर्यते नालम्[23] इत्यर्थः। गोपी यशोदा संवीक्ष्य[24] दृष्ट्वा प्रतिबोधिता निजैश्वर्यं ज्ञापिता असीदिति यत्[25] तच्च[26] कर्म दिव्यमिवेति[27] सर्वत्र पूर्वेणैवान्वयः।।३०।।

**नन्दमिति**। वरूणस्य पाशात् यद्भयं तस्मात् मोचयिष्यति। मयसूनुना[28] व्योमनाम्ना अह्नि[29] दिवसे[30]

---

1. M.Ma. "नाऽऽशु विपिने 2. M.Ma. "मि" 3. AF.GF. "ले" 4. I. "य्य; N.W. "य 5. M.Ma. "द्धं" 6. H.V. "च"; W. "ल" 7. M.Ma. "तस्य 8. M.Ma. जल्प्यावृतं 9.H.V.W. "वृ" 10. B.C.M.Ma.N. "के 11. B.C.M.Ma.N. "ण्ठ उप" 12. M.Ma. "धास्यति 13. W. मख" 14. H.V. "भे" 15. H.V. दवा" 16. H.V. रात्रे 17. B. "न्ध: 18. A. Omits गृहीत 19. A. अग्रहीत; B. Omits गृहीतवती। 20. A. Omit अकारलोपस्त्वार्षः 21. A.H.V. Omit तत्तत् 22. B. Omits उदरे 23. A.B. Omit नालम् 24. H.V. "च" 25. B. तत् 26. H.V. Omit च 27. H.V. "मिति पूर्वेणान्वयः 28. B. व्योमेन; H.V. व्योमसूनुना 29. H.V. Omit अह्नि 30. A. Omits दिवसे

आपृतं[1] व्यापृतं[2] व्यापारयुक्तम्, अत[3] एव अतिश्रमेण निशि शयानमिति च[4] वैकुण्ठप्राप्तिसाधनानुष्ठानभावो दर्शितः। उपनेष्यति प्रापयिष्यति गोकुलं[5] गोकुलवासिनं जनम्। स्म इत्याश्चर्ये।।३१।।

**गोपैरिति**। देवे इन्द्रे[7] पशून् रिरक्षुः रिरक्षिषुः[8] इत्यर्थः[9]। अनघे श्रमरहिते एकस्मिन्नेव करे सलीलं यथा स्यात्[10] तथा महीध्रं गोवर्धनं धर्त्ता धारयिष्यति[11]। उच्छिलीन्ध्रं उद्गतं छत्राकमिव। सप्तवर्षाणि वयो यस्य सः।।३२।।

**वीर०** तदपि कर्म दिव्यमिव अमानुषमिव इति लौकिकोक्तिः; किञ्च दावाग्निना शुचि वने शुष्कवने परिदह्यमाने सति अतो देवाग्नेः हेतोः अवसितः निश्चितोऽन्तकालो यस्य तम् निशि रात्रौ निःशयानं नितरां स्वपन्तं व्रजं उन्नेष्यति[12] उद्धरिष्यति। नेत्रे पिधाय्य पिहिते कारयित्वा अनेन व्रजस्य पश्चात् जागरणं सूचितम्। सबलः[13] बलभद्रेण सहितः अनधिगम्यवीर्यः अनधिगम्यं दुर्विज्ञेयं वीर्यं यस्य। तथाभूतः उन्नेष्यति[14] अग्निं पीत्वा व्रजमुद्धरिष्यतीत्यर्थः।।२९।।

किञ्च **गृह्णीतेति**। अमुष्य श्रीकृष्णस्य माता यशोदा यद्यत् उपबन्धं बन्धनसाधनं शुल्बं मुञ्जादिनिर्मितरज्जुं गृह्णीत ग्रहीष्यति। तत्तच्छुल्बं अमुष्य श्रीकृष्णस्य[15] उदरे न माति न[16] व्याप्नोति न पर्याप्तमित्यर्थः। किञ्च जृम्भतोऽस्य भगवतो वदने मुखे भुवनानि चतुर्दश भुवनानि संवीक्ष्य[17] दृष्ट्वा गोपी यशोदा शङ्कितमनाः किमिदमिति[18] शङ्कितचित्ता सती पश्चात्प्रतिबोधिता ज्ञापितैश्वर्या आसीदिति यत् तच्च कर्म दिव्यमिवेति पूर्वेणान्वयः।।३०।।

अपि च वरुणस्य पाशात् यद्भयं तस्मात् नन्दं स्वपितरं मोचयिष्यति[19] मयसूनुना व्योमासुरेण बिलेषु पिहितान् तिरोधापितान् गोपांश्च मोक्ष्यतीत्यर्थः। किञ्चाह्नि दिवसे अतिश्रमेणापृतं[20] व्यापारग्रस्तं निशि शयानं गोकुलं गोकुलवासिजनं दृष्ट्वा तेषु स्वानुवृत्तिजनितकृपया विकुण्ठं नित्यं[21] लोकं निरतिशयानन्द-लोकमुपनेष्यति प्रापयिष्यतीत्यर्थः। स्म इति आश्चर्ये।।३१।।

गोपैः[22] मखे इन्द्रयागे प्रतिहते विहते[23] सति मखविप्लवाय गोवर्धनपर्वतयागनाशार्थं[24] देवे इन्द्रे अभिवर्षति सति पशून् कृपया रिरक्षुः रक्षितुमिच्छुः सप्तवर्षः सप्तवर्षणि वयो यस्य तथाभूतः अनघैककरे अनघे श्रमरहिते[25] एकस्मिन्नेव करे अनघेतिनारदसम्बोधनं वा सलीलं यथा तथा महीध्रं गोवर्धनाख्यं अद्रिं सप्तदिनानि उच्छिलीन्ध्रमिव धर्त्ता धरिष्यति। उच्छिलीन्ध्रं उद्गतच्छत्राकमिव इत्यर्थः।।३२।।

---

1. H.V. "वृ" 2. H.V. Omit व्यापृतं; B. Omits व्यापृतं व्यापारयुक्तं 3. H.V. प्रस्तं 4. A.B. Omit अत एव अतिश्रमेण 5. H.V. Omit च 6. A.B. Omit गोकुलं 7. H.V. देवेन्द्रे 8. V. Omits रिरक्षिषुरित्यर्थः 9. H. Omits इत्यर्थः 10. A.H.V. Omit स्यात् 11. H.V. धरियिष्यति 12. A.B. Omit उन्नेष्यति उद्धरिष्यति 13. A.B. Omit सबलः 14. A.B. Omit उन्नेष्यति 15. W. Omits श्रीकृष्णस्य 16. W. Omits न व्याप्नोति 17. W. "ल" 18. W. Omits किमिदमिति शङ्कितचित्ता 19. W. adds नन्दं 20. W. "वृ" 21. W. "त्यक्तो" 22. A.B. Omit गोपैः 23. A.B. Omit विहते 24. W. Omits गोवर्धन 25. A.B. अघ"

**विज०** आशु आशुना विष्वग्व्यापिना दावाग्निना विपिने दन्दह्यमाने सति निशि सर्वात्मनाऽज्ञाने "यत्तु सर्वात्मनाऽज्ञानं निशा सा परिकीर्तिता" इति वचनात्। निःशयानं नितरां शयानं कर्तव्यमूढं तर्हि अचेतनं किं नेत्याह - अवसितान्तकालं निश्चितमरणकालं व्रजं तेषां नेत्रे पिधाय्य पिहिते कारयित्वा इतो दावाग्नेरुन्नेष्यतीति यत्कर्म तदन्येषां दिव्यमेव स्तुत्यमेव कुत इति तत्रऽऽह - अनधिगम्येति। नित्यसमाहितैः ब्रह्मादिभिरप्यविज्ञेयमाहात्म्यत्वादित्यर्थः। सबल इत्यनेन बलस्याप्येतादृशी शक्तिर्नास्तीति लक्ष्यते।।२९।।

अमुष्य कृष्णस्य माता सुतमुपबद्धं यच्छुल्बं दाम गृह्णीत, गृह्णीति तत्तु दाम अमुष्य सुतस्य न माति न पूर्यते इत्यमयलक्षणं माहात्म्यं यद्गोपीप्रतिबोधितस्य निद्रायोः उत्थितस्य जुम्भतो मुखं व्यादायाऽऽलस्यं परिहरतोऽस्य कृष्णस्य वदने चतुर्दशभुवनानि सम्यग्वीक्ष्य शङ्कितमनाः भीतमनाः अभवदिति यच्च तदपि।।३०।।

पाशात् भयात् निशि अविद्यायां शयानं जल्प्या अन्यथाज्ञानहेतुवाचावृतं "अन्यथा ज्ञानहेतुर्या वाक् सा जल्पिः प्रकीर्तिता" इति च अत एव अतिश्रमेण संसारक्लेशेन पीडितं गोकुलं विकुण्ठे लोके उपधास्यतीति यत्तदपि।।३१।।

मखे आत्मोद्देशे यज्ञे देवे इन्द्रे व्रजविप्लवाय जलौघेन गोष्ठनाशाय। "गोष्ठाध्वनिवहा व्रजा" इति। रिरक्षुः रक्षितुकामः महीध्रं गोवर्धनगिरिम्। सलीलं धर्ता धारयिष्यतीति उच्छिलीन्ध्रं छत्राकम्।।३२।।

**रा०कृ०** शुचि वने शुचिः ग्रीष्मः तत्सम्बन्धिनि शुष्के इति भावः वने मुञ्जवने दावाग्निना परिदह्यमाने सति निशि रात्रौ निश्शयानं नितरां निद्राणं अतः अत एव अवसितान्तं अवसितो निर्णीतः अन्तकालः मरणसमयो यस्य तं व्रजं व्रजस्थितजनं नेत्रे पिधाय्य अक्षिनिमीलनं कारयित्वा अनधिगम्यवीर्यः अपरिज्ञेयपराक्रमः स भगवान् सबलः बलरामसहितस्सन् यत् उन्नेष्यति उद्धरिष्यतीति यत् तत् कर्म दिव्यमिव अलौकिकमेव।।२९।।

अमुष्य श्रीकृष्णस्य माता यशोदा उपबन्धं बन्धनसाधनं यद्यत् शुल्बं रज्जुं गृह्णीत गृह्णीयात् तत्तत् शुल्बं अमुष्य सुतस्य श्रीकृष्णस्य तु न माति बन्धनाय पर्याप्तं न भवति। किञ्च जृम्भतः जुम्भां कुर्वतः अस्य कृष्णस्य वदने भुवनानि चतुर्दशभुवनानि गोपी यशोदा संवीक्ष्य शङ्कितमनाः

1. B.M.Ma. 'भूरिति

सन्दिग्धचित्ता सती यत् प्रतिबोधिता आसीत् सुतेन कृष्णेन निजैश्वर्यं ज्ञापिता अभूत्। तत्सर्वं कर्म दिव्यमेवेति पूर्वेणान्वयः।।३०।।

किञ्चायं कृष्णः वरुणस्य पाशात् तन्निमित्तकात् भयात् नन्दं च पितरं मोक्ष्यति मोचयिष्यति। अपि च मयसूनुना मायाविना मयपुत्रेण बिलेषु पिहितान् आच्छादितान् गोपान् मोचयिष्यति अह्नि दिने आपृतं कृतव्यापारं, अत एव अतिश्रमेण निशि शयानं गोकुलं गोकुलनिवासिनं जनं विकुण्ठं लोकं स्वीयं वैकुण्ठलोकं उपनेष्यति स्म प्रापयिष्यति अहो।।३१।।

गोपैः नन्दादिभिः गोपालैः मखे इन्द्रयागे प्रतिहते निर्वर्तिते सति व्रजविप्लवाय व्रजस्य विनाशाय देवे इन्द्रे अभिवर्षति कृपया पशून् रिरक्षुः रक्षितमिच्छुः सप्तवर्षः सप्तवत्सरवयस्कोऽपि श्रीकृष्ण इति शेषः। अनधैककरे श्रमविरहिते एकस्मिन्नेव करे सलीलं सविलासं महीध्रं गोवर्धनगिरिं उच्छिलीन्ध्रमिव वर्षाकालोत्पन्नं छत्राकमिव (like a mushroome) सप्तदिनानि धर्ता धारयिष्यति।।३२।।

**क्रीडन् वने निशि निशाकररश्मिगौर्यां रासोन्मुखः[1] कलपदायतमेर्च्छितेन।**
**उद्दीपितस्मररुजां व्रजभृद्वधूनां[2] हर्तुर्हरिष्यति शिरो धनदानुगस्य ।।३३।।**

**ये च प्रलम्बखरदर्दुरकेश्यरिष्टमल्लेभकंसयवनाः कुजपौण्ड्रकाद्याः।**
**अन्ये च[3] शाल्वकपिबल्वलदन्तवक्त्र[4] सप्तोक्षशम्बरविदूरथरुक्मिमुख्याः[5]।।३४।।**

**ये वा मृधे समितिशालिन आत्तचापाः काम्बोजमत्स्यकुरुकैकयसृञ्जयाद्याः[7]।**
**यास्यन्त्यदर्शनमलं[10] बलपार्थभीमव्याजाह्वयेन[11] हरिणा निलयं तदीयम्।।३५।।**

**कालेन मीलितधियामवमृश्य[12] नृणां स्तोकायुषां स्वनिगमो बत दूरपारः।**
**आविर्हितस्त्वनुयुगं स हि सत्यवत्यां वेदद्रुमं विटपशो विभजिष्यति[13] स्म।।३६।।**

**श्रीध० क्रीडन्निति**। निशि रात्रौ निशाकररश्मिभिः गौर्यां धवलायाम्। वने क्रीडन् कलानि मञ्जुलानि पदानि यस्मिन् तच्च तदायतं दीर्घं मूर्च्छितमालापविशेषयुक्तं यत्[14] गीतं तेनोद्दीपितः स्मर एव रुक् (रोगो)[15] यासां तासां गोपीनां हर्तुः धनदानुगस्य[16] कुबेरानुचरस्य शङ्खचूडस्य शिरो हरिष्यति।।३३।।

---

1. H.V. "त्सवः 2. H.V. "भूवं; M.Ma. "सद्भ" 3. B.M.Ma. "न्येऽपि 4. B.H.V.W. सा" 5. H.V.W. "पं" 6. H.V.W. "दू 7. H.V. "म्भो" 8. H.V.W. "के" 9. W. "सं" 10. M.Ma. "मिता" 11. AF.GF. युधि 12. M.Ma. "दृशा" 13. W. "तीति 14. A.H.V. Omit यत् 15. A.H.V. Omit (रोगो) 16. A.B. Omit धनदा.....चरस्य

**ये चेति**। ये च प्रलम्बादयः ते सर्वे हरिणा हेतुभूतेन तदीयं अदर्शनं दर्शनायोग्यं निलयं वैकुण्ठमलं यास्यन्तीत्युत्तरेणान्वयः। खरो धेनुकः। दर्दुर[1] इव दर्दुरो बकः। इभः कुवलयापीडः। कुजो नरकः कपिर्द्विविदः।।३४।।

**ये वेति**। ये च मृधे आत्तचापाः समितौ संग्रामे शालन्ते श्लाघन्ते [2]इति समितिशालिनः। ननु प्रलम्बखरकपिबल्वलरुक्मिप्रमुखा[3] बलभद्रेण निहताः। काम्बोजादयश्च[4] भीमार्जुनादिभिः शम्बरः प्रद्युम्नेन यवनो मुचुकुन्देन न तु हरिणा। तत्राऽऽह। [5]बलो भीमः पार्थ इत्यादयो व्याजाह्वयाः कपटनामानि यस्य [6]स तेन खल[7]निग्रहार्थं तत्तदभिनिवेष्टेनेत्यर्थः सप्तोक्षाणस्तु तेन[8] दमिताः कालान्तरे यास्यन्तीति[9] भावः। एतच्च सर्वमपि कर्म दिव्यमिव[10] तच्चान्यथा[11] न भाव्यमिति पूर्वेणैव[12] सम्बन्धः।।३५।।

व्यासावतारमाह - **कालेनेति**। अनुयुगं[13] प्रतियुगं मीलिता सङ्कुचिता धीर्येषाम्। स्तोकमल्पमायुः येषां तेषां स्वनिगमः स्वकृतः[14] स्वेन संवर्धितो वा वेदराशिः बताहो सागरवत्[15] दूरे पारं यस्येति[16] दुर्गम इत्यवमृश्य विचार्य[17] सत्यवत्यामाविर्हितः[18] प्रादुर्भूतस्सन्[19] स एव श्रीहरिः विटपशः शाखाभेदेन।।३६।।

**वीर०** निशाकरश्चन्द्रः तस्य रश्मिभिः गौर्यां धवलायां रात्रौ वने कीडन् विहरन् कलानि मधुराणि पदानि यस्मिन्[20] तच्च तदायतं दीर्घं मूर्च्छितमालापविशेषयुक्तं गीतं तेन उद्दीपितः स्मरः काम एव रुक् रोगो यासां तासां व्रजभृद्वधूनां[21] व्रजं विभ्रतीति व्रजभृतः गोपाः तेषां वधूनां गोपीनां हर्तुः गोपीः[22] चोरयतो धनदानुगस्य कुबेरभृत्यस्य शङ्खचूडाख्यस्य शिरो हरिष्यति।।३३।।

ये च प्रलम्बादयः ते सर्वे हरिणा हेतुभूतेन तदीयं हरिसम्बन्धि अदर्शनं प्राकृतेन्द्रियाविषयं वैकुण्ठं[23] निलयं लोकं यास्यन्ति। अलं तद्वर्णनेन तच्चेष्टितानामनन्तत्वान्न तद्वर्णने मम सामर्थ्यमस्तीति[24] भावः। खरो धेनुकः। दर्दुरो बकः। इभः कुवलयापीडः। कुजो नरकः। कपिर्द्विविदः। सप्तोक्षाणः बलीवर्दाः।।३४।।

मृधे युद्धे ये वा आत्तचापाः धृतधन्वानो राजानः समितिशालिनः समितौ संग्रामे शालन्ते श्लाघन्ते इति समितिशालिनः काम्बोजादिदेशाधिपतयः[25]। ननु प्रलम्बादयो बलभद्रेण हताः, काम्बोजादयो[26] भीमार्जुनादिभिश्च, शम्बरः प्रद्युम्नेन, यवनो मुचुकुन्देन, न तु हरिणा। तत्राऽऽह - बलभीमपार्था इति

---

1. H.V. Omit दर्दुरइव 2. A.B. ते 3. H.V. "प" 4. H.V. "म्भो" 5. B. बलपार्थभीमेत्यादयः; H.V. बलभीमपार्थादयो 6. H.V. Omit स 7. A.B. Omit खल.....त्यर्थः। 8. A. Omits तेन 9. B. "न्तीत्यर्थः 10. H.V. दिव्यं तं" 11. B. तत्त्वितरथा 12. H.V. "णान्वयः 13. A.B. Omit प्रतियुगं 14. A.B. Omit स्वेन.....वा 15. A.B. Omit सागरवत् 16. H.V. यस्य सः 17. A.B. Omit विचार्य 18. B.H.V."माविर्भूतस्सन् 19. H.V. एवं 20. A.B. Omit तच्च 21. A.B. Omit व्रजभृद्वधूनां 22. A.B. Omits गोपीः 23. A.B. "ण्ठनि" 24. W. "मिति 25. W. "म्भो" 26. W. "म्भो"

व्याजाः कपटा आह्वयाः नामानि यस्य तेन बलभीमादिरूपेण च[1] स एव हरिः सर्वसंहर्तेत्यर्थः। सप्तोक्षाणस्तु तेन दमिताः कालान्तरे यास्यन्तीति भावः। एतच्च सर्वमपि कर्म दिव्यमेव[2] तच्चान्यथा न भाव्यमिति पूर्वेणान्वयः।।३५।।

व्यासावतारमाह - **कालेने**ति। कालेन मीलितधियां सङ्कुचितबुद्धीनां स्तोकं अल्पं आयुर्येषां तेषां नृणां स्वनिगमः स्वकृतो वेदः बत अहो! दूरपारः दूरे[3] पारं यस्य दूरपारः। दुर्गम इत्यवमृश्य विचार्य सत्यवत्यामाविर्हितः आविर्भूतः स हरिरनुयुगं युगानुरूपं वेदद्रुमं विटपशः शाखाभेदेन विभजिष्यति विभक्तं करिष्यति।।३६।।

**विज०** निशाकरस्य रश्मिभिः गौर्यां धवलत्वं प्राप्तायां निशि रात्रौ। रासक्रीडाभिमुखश्रीकृष्णः वने क्रीडन् सन् कलपदं च आयतं च मूर्च्छितं च कलपदायतमूर्च्छितं[4] तेन सप्तस्वरसमाहारवता गानेन "सप्तस्वरसमाहारो मूर्च्छितेति प्रकीर्तितः" इति उद्दीपितः उज्ज्वलितः स्मराख्यो रुक् रोगे यासां ताः उद्दीपितस्मररुजः तासां व्रजसदां व्रजनिलयानां वधूनां स्त्रीणां हर्तुर्नेतुः धनदानुगस्य शङ्खचूडाख्यस्य शिरो हरिष्यतीति इदमपि विष्णुत्वे घटते नान्यथेति।।३३।।

ये प्रलम्बादयः कृष्णाख्येन हरिणाऽदर्शनमिताः ये चान्ये मैन्दादयः[5] तथा जरासन्धादयः ये च कुरुपाण्डवसेनागताः काम्बोजादयः बलपार्थभीमद्रोणद्रौण्यादिव्याजाह्वयेन हरिणा मरणं प्रापिताः, ते सर्वे तदीयं निलयं यान्तीत्यन्वयः। द्वेषिणः उदासीनाः भक्ता इति त्रविधाः जीवाः। तत्र द्वेषिणो नितरां लीयते सुखं यस्मिन् तत् अन्धं तमो यान्ति, उदासीना निरयं नरकं, भक्ताः निष्कामस्य अभीष्टानन्दस्य प्राप्तिः यस्मिन् तं वैकुण्ठादिकं यान्तीत्यर्थः। सर्वं च स्थानं हरेर्विद्यमानम्। तदुक्तम् "विद्वेषिणोऽप्युदासीना भक्ता अपि न संशयः। हरेर्हि सदनं यान्ति व्यक्तं भक्तैस्तु गम्यते।। आरभ्यतम आमुक्तेः कृष्णस्य सदनं यतः। अव्यक्तहरिलोकत्वात् अन्येषामन्यलोकता।।" इति रामभीमादिनामानि हरेरेव मुख्यानि रमणशक्त्यभयवर्णादीनां शक्तिवृत्तिहेतूनां हरेर्मुख्यत्वात् अन्यत्रामुख्यत्वात् व्यवहारार्थः सङ्केतितत्त्वाद्याजानि। तदप्युक्तम् - "रामभीमार्जुनादीनि विष्णोर्नामानि सर्वशः। रमणाभयवर्णाद्याः शब्दवृत्तेर्हि हेतवः" इत्यादि 'रय गतौ' इति धातोः रलयोरभेदः "न्यक्भावं निरयं नीचगतिं तम" इति वा "निर्न्यग्भावनिकामयोः" इति।।३४,३५।।

कालबलेन मीलितदृशां उत्सन्नज्ञानानां स्तोकायुषां अल्पायुषां नृणां स्वनिगमः स्वविषयो वेदो दूरपार इत्यवमृश्य स विष्णुर्वत कृपया सत्यवत्यामाविर्हितोऽवतीर्णो वेदद्रुमं विटपशः शाखोपशाखा-

---

1. W. अयमेव 2. W. "भि" 3. A.B. दूरःपारः 4. A.B. Om.: कलपदायतमूर्च्छितं 5. A.B. Omits मैन्दादयः तथा

भेदेन विभजिष्यतीत्यन्वयः। कस्मिन् युगे इत्यत उक्तम् अनुयुगमिति। एतदुक्तं भवति तृतीये सप्तमे षोडशे पञ्चविंशे अष्टाविंशे च द्वापरे पूर्वेषु चान्यैर्व्यासनामभिः विभजिष्यतीत्यष्टाविंशे स्वयमेव विभजिष्यतीति। "तृतीये सप्तमे चैव षोडशे" इत्यादि वचनं च विशेषवाचिना 'तु'-शब्देन गृहीतम्। कृष्णावतारादुपरि व्यासावतारकथनं तदुपरितनमन्वन्तरेष्वपि व्यासावतारसद्भावात् अविरुद्धमित्यस्मिन्नर्थे 'हि'-शब्दः पुराणप्रसिद्धेरिति।।३६।।

**रा०कृ०** निशाकररश्मिगौर्यां निशाकरस्य चन्द्रस्य रश्मिभिः किरणैः गौर्यां धवलायां निशि रात्रौ वने रासोन्मुखः रासक्रीडां कर्तुमुद्यतः क्रीडन् कृष्ण इति शेषः कलपदायतमूर्च्छितेन कलपदैः मधुरपदैः आयतेन दीर्घेण मूर्च्छितेन आरोहणावरोहणक्रमविशिष्टेन गीतेन उद्दीपितस्मररुजां प्रवर्धितमदनवेदनानां व्रजभृद्वधूनां गोपवधूनां हर्तुः अपहारकस्य धनदानुगस्य शङ्खचूडाभिधस्य कुबेरानुचरस्य शिरः हरिष्यति संहरिष्यति। अत्र रासक्रीडायां भगवत्कलगानाकृष्टचित्ताः गोप्यः समुद्दीपितभगवत्स्मरणव्यवहितान्यस्मृतयः सञ्जाताः, तदा ताः परवशचित्ताः शङ्खचूडो नाम कुबेरानुचरोऽपाहरत्। ततश्च तद्गोपीहृदयगतः स भगवान् तासामवस्थामभिज्ञाय शङ्खचूडमवधीत्।।३३।।

अपि च ये प्रलम्बखरदर्दुरकेश्यरिष्टमल्लेभकंसयवनाः - खरो धेनुकासुरः, दर्दुरो बकासुरः, अरिष्टो वृषभासुरः, मल्लाः चाणूरादयः, इभः कुवलयापीडो नाम गजः, यवनः कालयवनः, कुजपौण्ड्रकाद्याः कुजो नरकासुरः, पौण्ड्रकः वासुदेववेषनामधारी राजा एतदाद्या, अन्ये च ये शाल्वकपिबल्वलदन्तवक्त्रसप्तोक्षशम्बरविदूरथरुक्मिमुख्याः कपिः द्विविदः सप्तोक्षाणः बलीवर्दाः, विदूरथो दन्तवक्त्रसोदरः, रुक्मी रुक्मिण्यग्रजः - एतन्मुख्याः वर्तन्ते ये वा मृधे युद्धे आत्तचापाः गृहीतशरासनाः अत एव समितिशालिनः युद्धश्लाघिनः योधाग्रेसरा इति भावः। काम्बोजमत्स्यकुरुकेकयसृञ्जयाद्याः वर्तन्ते ते सर्वेऽपि बलभीमपार्थव्याजाह्वयेन - बलरामः भीमसेनः पार्थ इत्यादिकपटनामवता हरिणा कारणभूतेन अदर्शनं दर्शनायोग्यं निलयं तदीयं वैकुण्ठं अलं यास्यन्ति। अत्र हरेः बलभीमपार्थव्याजाह्वयत्वकथनात् प्रलम्बादीनां संहारे बलरामादयो निमित्तमात्राः वस्तुतस्तु तत्संहारकर्ता श्रीकृष्ण एवेत्युक्तं भवति।।३४,३५।।

कालेन मीलितधियां सङ्कुचितबुद्धीनां स्तोकायुषां अल्पायुषां नृणां स्वनिगमः स्वकृतः वेदसमुच्चयः बत अहो दूरपारः अतिदुर्गम इति अवमृश्य विचार्य सत्यवत्यामाविर्हितः आविर्भूतस्सन् स हि हरिः अनुयुगं युगानुरूपं वेदद्रुमं वेदवृक्षं विटपशः शखाभेदेन विभजिष्यति स्म विभक्तं करिष्यति। अत्र वेदव्यासावतारः कथितः।।३६।।

**देवद्विषां निगमवर्त्मनि निष्ठितानां पूर्भिर्मयेन विहिताभिरदृश्यतूर्भिः।**
**लोकान् घ्नतां मतिविमोहमतिप्रलोभं वेषं विधाय बहु भाष्यत औपधर्म्यम्।।३७।।**

**यर्ह्यालयेष्वपि सतां न हरेः कथाः स्युः पाखण्डिनो द्विजजना वृषला नृदेवाः।**
**स्वाहास्वधावषडिति स्म गिरो न यत्र शास्ता भविष्यति कलेर्भगवान् युगान्ते।।३८।।**

**सर्गे तपोऽहमृषयो नव ये प्रजेशाः स्थाने च धर्ममखमन्वमरावनीशाः।**
**अन्ते त्वधर्महरमन्युवशासुराद्या मायाविभूतय इमाः पुरुशक्तिभाजः।।३९।।**

**विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि।**
**चस्कम्भ यः स्वरसास्खलता त्रिपृष्ठं यस्मात् त्रिसाम्यसदनादुरुकम्पयानम्।।४०।।**

**श्रीध०** बुद्धावतारमाह - **देवद्विषा**मिति। देवद्विषां दैत्यानां निगमवर्त्मनि वेदमार्गे सत्कर्मानुष्ठानादौ निष्ठितानां नितरां स्थितानाम्। तद्वलेन च पूर्भिः पुरीभिः अदृश्यतूर्भिः देवादिभिरपि अलक्ष्यवेगाभिः किञ्च अयोरजतताम्रमयीभिः लोकान् घ्नतां मतेर्विमोहो योग्यतात्यागो यस्मात् मतेः प्रलोभश्च अयुक्तस्वीकारो यस्मात् तं पाषण्डवेषं विधाय तेन औपधर्म्यं धर्मवद्भासमानमधर्मं पाषण्डधर्मम्। स्वार्थे ष्यञ्। बहु भाष्यते बहुभाषिष्यते इत्यर्थः।।३७।।

कल्क्यवतारमाह - **यर्हीति**। यर्हि यदा सतामप्यालयेषु गृहेषु हरेः कथाः न स्युः द्विजजनाः त्रैवर्णिकाः पाषण्डिनः भगवद्विरोधिनः असत्यवादरताः अधर्मशीलाश्च स्युः वृषलाः शूद्राः नृदेवाः राजानः स्युः शूद्रा एव राजानो न क्षत्रियवंश्याः इति भावः। यदा स्वाहास्वधावषडिति गिरो न स्युः यज्ञाद्यनुष्ठानाभावात् तदा कल्किरूपेण कलेः शास्ता शासिता भविष्यति। अत्र च ब्रह्मनारदसंवादात् प्राग्भाविनो वराहादयः, मन्वन्तरावतारास्तु भूता भाविनश्च। धन्वन्तरिपरशुरामौ तदा वर्तेते। श्रीरामादयस्तु भाविनः तत्र च क्वचिद्भूतादिनिर्देशश्छान्दस इति द्रष्टव्यम्।।३८।।

---

1. N. वेद" 2. M.Ma. विष्ठि" 3. H.V.W. रचिता" 4. M.Ma. "मूर्तिः 5. H.V. "भ" 6. M.Ma. यदभाषत 7. H.I. M.Ma.V.W. "ष" 8. M.Ma. तु योऽह"; W. ततोऽह" 9. H.I.M.Ma.V. "ऽथ 10. M.Ma. "शा: 11. A.B.G.N. "रहसा"; C.I. "रहसा" 12. M.Ma. "लितं 13. M.Ma. "म्मां 14. M.Ma.W. निशाम्य 15. M.Ma. "मानम्; W. मानात् 16. A. Omits दैत्यानां 17. A.B. Omit सत्कर्मानुष्ठानादौ 18. H.V. त्रिपुरैः 19. A.B. Omit देवादिभिरपि 20. A.B. Omit किञ्च.....घ्नतां 21. A. "ख" 22. H.V. Omit तेन 23. A.B. Omit धर्मवद्भासमानमधर्मं 24. A. "ख" 25. A.B. Omit बहुभाष्यते 26. A. Omits बहुभाषिष्यते 27. H.V. Omit गृहेषु 28. A.B. Omit द्विजजनाः 29. A. "ख" 30. A.B. Omit भगवद्वि.....शीलाश्च 31. A.B. Omit वृषलाः 32. A.B. "द्राश्च 33. A.B. Omit नृदेवाः 34. A.B. Omit शूद्रा.....द्यनुष्ठानाभावात् 35. H.V. Omit शास्ता 36. A.B. Omit शासिता 37. H.V. Omit च 38. A.B. तु

सृष्ट्यादिकार्यभेदेन मायागुणावतारविभूतीराह - **सर्ग** इति। सर्गे[1] सृष्टौ सर्गविषयकतपश्शालित्वात् तपोऽहम्। स्थाने स्थितौ मखः श्रीविष्णुः "यज्ञो[2] वै विष्णुः" इति श्रुतेः। धर्मश्च मखश्च मनवश्च अमराश्च अवनीशाः पृथ्वादयश्च[3], अन्ते संहारे हरो रुद्रः मन्युवशाः सर्पाः बहुशक्तिधारिणो भगवतः इमा[4] मायाविभूतयः[5] ।।३९।।

इदं मया संक्षेपेणोक्तं विस्तरेण वक्तुं[6] न कोऽपि समर्थ इत्याह - **विष्णो**-रिति। पृथिव्याः परमाणूनपि यो विममे गणितवांस्तादृशोऽपि[7] को[8] नु विष्णोर्वीर्यगणनां कर्तुमर्हति। कथम्भूतस्य यो विष्णुस्त्रिपृष्ठं सत्यलोकं चस्कम्भ धृतवान्[10]। किमिति चस्कम्भ। यस्मा त्तैविक्रमे अस्खलता प्रतिघात-शून्येन स्वरंभसा[11] स्वपादवेगेन त्रिसाम्यरूपं सदनमधिष्ठानं प्रधानं तस्मात्[12] त्रिसाम्यसदनात् आरभ्य[13] उरु अधिकं कम्पयानं कम्पमानम्। कम्पेन यानं यस्येति वा। अतः कारणाच्चस्कम्भ आ त्रिपृष्ठमिति वा छेदः। सत्यलोकमभिव्याप्य यः सर्वं धृतवानित्यर्थः। तथा च मन्त्रः[14]: "विष्णोर्नु कं वीर्याणि[15] प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि योऽस्कभायदुत्तरं संस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगाद" इति अस्यार्थः विष्णोर्नु वीर्याणि कं प्रवोचं कः प्रवोचदित्यर्थः। यः पार्थिवानि रजांस्यपि विममे सोऽपि यो विष्णुस्त्रेधा विचक्रमाणो विक्रमं[16] कुर्वन्नुत्तरं लोकमस्कभायदवष्टब्धवान्। कथम्भूतम्? सधस्थम्। सहस्य सधादेशः। तिष्ठन्तीति स्थाः तत्रस्थैर्देवैस्सहवर्तमानमित्यर्थः[17]।।४०।।

**वीर०** बुद्धावतारमाह - **देवद्विषामिति**। निगमवर्त्मनि वैदिकमार्गे, निष्ठितानां नितरां स्थितानाम् लोकान् मयेन रचिताभिः कल्पिताभिः अदृश्यतूर्भिः अलक्ष्यवेगाभिः पूर्भिः पुरीभिः, घ्नतां नाशयतां, देवद्विषां दैत्यानां मतिविमोहमतिप्रलोभम् - मतेर्विमोहो यस्मात् तत् मतेः विमोहं मतेः प्रलोभः यस्मात् तत् मतिप्रलोभम् मतिविमोहं च तत् मतिप्रलोभं च मतिविमोहकं मतिप्रलोभकं चेत्यर्थः। एवम्भूतं वेषं पाषण्डवेषं, विधाय विरचय्य, औपधर्म्यं धर्माभासं पाषण्डधर्मं, स्वार्थे ष्यञ् बहु अधिकं भाष्यते भाषिष्यते इत्यर्थः।।३७।।

कल्क्यवतारमाह - **यर्हीति**। सतामप्यालयेषु गृहेषु यर्हि यदा हरेः कथा न स्युः द्विजनाः त्रैवर्णिकाः पाषण्डिनः[18] स्युः नृदेवाः राजानः वृषलाः शूद्राः स्युः तथा यत्र त्रैवर्णिकालयेषु स्वहास्वधावषडितिगिरश्च[19] न स्युः स्वाहावषडित्यनेन[20] दैवं कर्मोपलक्ष्यते स्वधेति पित्र्यम् तदा युगान्ते कलियुगान्ते भगवान् कल्केः शास्ता भविष्यतीत्यर्थः[21]। कल्क्यवतारेणेति शेषः।।३८।।

---

1. A.B. Omit सर्गे.....तपोऽहम् 2. A.B. Omit यज्ञो.....श्रुतेः 3. A.B. Omit पृथ्वादयः 4. H.V. Omit इमा 5. B. Omits माया 6. H.V. Omit इदं 7. B. adds हि 8. B. विगं 9. B. adds अपि 10. H.V. Omit किमिति चस्कम्भ 11. A.B. "रह" 12. A.B. Omit त्रिसाम्यसदनात् 13. H.V. Omit आरभ्य 14. H.V. श्रुतिः 15. A.B. Omits वीर्याणि.....घोरुगाय 16. A.B. त्रिवि" 17. H.V. "त्थै" 18. A. "ख" 19. W. Omits च 20. W. Omits अनेन 21. W. Omits इत्यर्थः.....शेषः

अत्र च ब्रह्मनारदसंवादात् प्राज्ञो वराहादयोऽवताराः मन्वन्तरावताराश्च भूतभाविनः। धन्वन्तरि परशुरामौ तत्कालिकौ। श्रीरामादयस्तु भाविनः तत्र तु क्वचिद्भूतादिनिर्देशः आर्ष इति द्रष्टव्यम्। अत्रेदं तत्त्वम् - भगवतोऽवतारा द्विविधाः अनुप्रवेशावताराः स्वेन रूपेणावताराश्चेति। अकर्महेतुत्वाविशेषादुभयत्रावतारशब्दप्रयोगः। तथा तस्य रूपमपि द्विविधम् [2]प्रकृतिप्राकृतवस्तुजातमेकं, शुद्धसत्त्वमयमपरञ्चेति। तत्र षोडशकलम्[3]महदहङ्कारसूक्ष्मभूतेन्द्रियाभिमानिदेवताश्रयं पौरुषं रूपं तदनिरुद्धरूपं तदेव "सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्ष" "आद्योऽवतारः पुरुषः परस्ये"-त्यादिषूच्यते, अनुप्रवेशावतारो नाम जीवेषु स्वस्यानुप्रवेशेन स्वीयज्ञानशक्त्यादीनां अन्यतमाभिव्यञ्जनं स एवांशावतार इति[4]कथ्यते। स च गौणः शाक्तः, आवेशश्चे[5]त्यनेकधा उक्तेष्वे[6]वावतारेषु श्रीवराहनारायण ध्रुवानुग्राहकहयग्रीवमत्स्यकूर्मनृसिंह[7]हरिवामन[8]हंसवैकुण्ठाजितश्रीरामश्रीकृष्णकल्क्यवताराः स्वेन रूपेणावतारः इतरे तु अनुप्रवेशावतारा इति [9]ज्ञातव्यम्। किञ्च सृष्ट्यादिकार्यभेदेन भगवतो विभूतीराह सर्ग इति। तपः पूर्वजगत्पर्यालोचनम्। अहं ब्रह्मा प्रजेशाः प्रजापतयो नव ऋषयः मरीच्यादयः, मायाविभूतयः विस्मयनीयाः[10] भगवन्नियाम्यवर्गाः[11], स्थाने पालने धर्मश्च मखश्च विष्णुः विष्णोरनन्यत्वात् तद्रक्षा[12]पालनानुरूपं सामर्थ्यं मखशब्देन विवक्षितम्। मनवश्च अमराश्चेन्द्रादयः अवनीशाश्च [13]भूपा एते स्थाने भगवन्नियाम्यवर्गाः अन्ते संहारे अधर्मश्च [14]हरश्च रुद्रः मन्युवशाश्च सर्पाः असुराद्याश्च पुरुशक्तिभाजः अपरिमिताश्चर्यशक्तिधारिणो भगवतः इमाः मायाविभूतयः आश्चर्यविभूतय इत्यर्थः।।३९।।

भगवदवतारास्तच्चे[15]ष्टितानि च[16] साकल्येनाभिधातुं न कोऽप्यलमित्याह **विष्णोरिति**। यः कविः बुद्धिमान् पुरुषः पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि विममे गणितवांस्तादृशोऽपि को नु विष्णोर्वीर्यगणनां कर्तुमर्हति? [16]नार्हतीत्यर्थः। यो भगवान् यस्मादस्खलता प्रतिहतिशून्येन स्वरभसा स्वपादविन्यासवेगेन [17]हेतुना उर्वधिकं कम्पमानात् [18]कम्प्यमानात् सदनात् तत्तत्स्वनिवासस्थानात् स्खलतः[19] प्राणिनो निशाम्य दृष्ट्वेत्यर्थः। त्रिपृष्ठं सत्यलोकं चस्कम्भ स्तम्भयामास। श्रुतावपि "[20]विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रे[21]धोरुगायः" इत्यस्यायमर्थः त्रेधा त्रिप्रकारेण विचक्रमाणः पादविन्यासं कुर्वाणः य उरुगायो भगवान् तिष्ठन्तीति स्थाः देवाः। सहस्य सधादेशः। देवैः सहितमुत्तरं सत्यलोकं अस्कभायदवष्टब्धवानित्यर्थः। [22]कं कः प्रवोचं [23]प्रावोचदित्यर्थः एवंविधसर्वशक्तेरपरिच्छिन्नस्वरूपस्वभावस्य वीर्याणि साकल्येन वर्णयितुं कः प्रभवेदित्यर्थः।।४०।।

---

1. W. Omits अवताराः 2. A. Omits प्रकृति 3. W. Omits महदहङ्कारसूक्ष्म 4. W. adds अपि 5. W. Omits च 6. W. Omits एव 7. W. Omits हरि 8. W. Omits हंसवैकुण्ठाजित 9. W. Omits ज्ञातव्यम् 10. W. "य" 11. W. "र्गः 12. W. "तं 13. W. "पाला. 14. W. Omits हरश्च 15. W. Omits च 16. W. Omits नार्हतीत्यर्थः 17. W. Omits हेतुना 18. W. Omits कम्प्यमानात् 19. A.B. "लिनः 20. W. Omits विष्णोर्नु.....रजांसि 21. W. Omits त्रेधोरुगायः 22. W. Omits कं कः 23. W. प्रवच्यादि

**विज०** देवद्विषां मतिविमोहं बुद्धिमोहजनकं मतिप्रलोभं मतिवञ्चकं बालवेषं विधाय यदौपधर्म्यं उपधर्माणां पाषण्डधर्माणां प्रतिपादकं शास्त्रं तदभाषतेत्यन्वयः। नारायण इति शेषः। एते असुराः के इत्याशंक्य पूर्वजन्मकर्मपूर्वकं तान्विशिनष्टि निगमेत्यादिना। प्राग्जन्मनियमेन विहिताभिः त्रिसृभिः पूर्भिः पुरीभिः लोकान् घ्नतां नाशयतां रुद्रेण हतानां पुनर्विप्रजन्म लब्ध्वा निगमेन विहिताभिः क्रियाभिः निगमवर्त्मनि विष्ठितानां वेदमार्गे प्रतिष्ठाय यज्ञादिविशिष्टकर्मानुष्ठाने स्थिराणामदृश्या मूर्तिर्यस्य सः तथा। दैत्यैरज्ञेयस्वरूप इत्यनेन ततो वेदमार्गाञ्चलनाय देवैः प्रत्यक्षीकृत्य प्रार्थित इति ज्ञातव्यम्। बुद्धोक्तशास्त्रस्य वेदबाह्यधर्मप्रतिपादकत्वमज्ञजनदृष्ट्या "वेदोऽप्रमाणम्" इत्यादिरूपस्य तस्यैव विष्णोः प्रमाणमित्यादि वेदप्रतिपाद्यार्थत्वेन देवेभ्यः प्रशान्तसहितायां हरिणोक्तत्वादिति द्योतनायाभाषतेत्युक्तम्। स्वसूत्राणां भाष्यं च कृतवानित्यर्थः।।३७।।

यर्हि यस्मिन् युगे सतां आलयेष्वपि हरेः कथाः न स्युः द्विजजनाश्च पाषण्डिनः[2] पाषण्डवर्तिनः[3] स्युः नृदेवाः वृषलाः धर्मविनाशकाः। यत्र यस्मिन् च युगे स्वाहादिगिरो न सन्ति स्म। वचनाभावे स्मरणमपि नास्ति। इतिशब्दः आद्यर्थे। तदा तस्य कलेः युगस्यान्ते अवसाने भगवान् शास्ता भविष्यति। दुष्टानामिति शेष इत्यन्वयः। इतिशब्दः स्वरूपावतारकथनसमाप्तिवचनो वा इति।।३८।।

मायाविभूतीराह - **सर्ग** इति। योऽहं चतुर्मुखः ये च कर्दमाख्याः ऋषयः, ये च मरीच्याद्या नव प्रजापतयः ये सर्वे सर्गे सृष्टिसमये प्राप्ते पुरुशक्तिभाजः पूर्णशक्तिभाजः हरेर्मायाविभूतयः। अथ यो धर्मः यो मखः ये चतुर्दश मनवो, ये च अमरेशाः चतुर्दशेन्द्राः, ये च अवनीशाः प्रियव्रतादयः ते सर्वे स्थाने स्थितिकाले प्राप्ते पालनाय विष्णोः मायाविभूतयः, योऽधर्मो यश्च हरो रुद्रो ये च मन्युवशाः सुराद्याः क्रोधवशाः सुरपुरस्सराः ते सर्वे अन्ते तु संहारकाले च प्राप्ते संहाराय हरेः मायाविभूतयः इत्यन्वयः। सृष्टिपालनसंहारकालेषु मायया स्वेच्छया विविधो भूत्वा अस्मदादिषु स्थित्वा सृष्टिपालनसंहारान् करोति। यद्वा मायया भगवदिच्छया अस्मदादीनां सदा विभूतयः भवन्तीति, अतः अस्मदादयः हरेः मायाविभूतयः नतु स्वस्वरूपविभूतयः इत्ययं विशेषः 'तु'-शब्दसूचितया "हरीच्छया विभूतीतिर्यत् ब्रह्मादीनां सदा भवेत्। इच्छया वा बहुविधः तेषु विष्णुः स्वयं स्थितः, अतो मायाविभूतित्वं तेषां मत्स्यादयः स्वयम्" इति स्मृत्या गृहीतः इति।।३९।।

ननु स्वरूपमायया विभूतीनां एतावत्वं चेत् इदं सर्वसुलभं ज्ञानं इत्याशंक्य अनन्तायुषाऽपि विभूतीनां गणनं न सुशकं इत्याह - **विष्णोर्नु** इति। यः त्रिपृष्ठस्य सदनात् विशरणात् नाशात् उरु कम्पमानं मां निशाम्य स्वरभसा त्रिविक्रमक्रमणवेगेन स्खलितं चलितं आसन्नपतनं त्रिपृष्ठं[4] सत्यलोकं

1. A. "ख" 2. A. "ख" 3. A. "ख" 4. A. Omits त्रिपृष्ठं

चस्कम्भ स्तम्भितवान्। तस्य विष्णोः वीर्यगणनां विभूतिलक्षणमाहात्म्यप्रसंख्यानं प्रति कवीनां कतमो अर्हति न कोऽपीत्यन्वयः। आदिकविरपि न समर्थः इत्याह पार्थिवानीति। यः कविः प्रतिभाविशेष-सम्पन्नोऽपि ब्रह्मा पार्थिवानि रजांसि भूमिपरमाणून् विममे गणितवान् सोऽपि न शक्नोतीति शेषान्वयः। यदिति हेत्वर्थे। अनन्तानि यत् यस्मात् तस्मात्[1] इति।।४०।।

**रा०कृ०** निगमवर्त्मनि सत्कर्माचरणादिवेदमार्गे निष्ठितानां नितरां स्थितानां मयेन राक्षस-शिल्पिना विहिताभिः रचिताभिः अदृश्यतूर्भिः अलक्ष्यरयाभिः पूर्भिः अयोरजतताम्रमयीभिः तिसृभिः पुरीभिः लोकान् प्राणिनः घ्नतां नाशयतां देवद्विषां मतिविमोहमतिप्रलोभं मतिविमोहः वेदमार्गे अपकर्षबुद्धिः मतिप्रलोभः अन्यमार्गे प्रवृत्तिश्च यस्मात् तथाभूतं वेषं पाषण्डवेषं विधाय स भगवान् औपधर्म्यं धर्माभासं पाषण्डधर्मं बहु अधिकं भाष्यते भाषिष्यते। अनेन बुद्धावतारः उक्तः। अयं च बुद्धो भगवदवतारोऽन्य एव नतु ऐतिहासिकैः अभ्यूहितो गौतमबुद्धः।

ननु यद्यपि सन्तु देवद्विषोऽसुराः लोकघ्नाः वेदमार्गानुगामिनश्च लोके रावणादितुल्याः। किन्तु वेदवेद्येन परमपुरुषेण तेषां मतिविमोहप्रलोभजनको वेषः समाद्रियत इति, धर्माभासः पाषण्डधर्मो भाष्यत इति च न श्रद्धेयमेतत् अत्रोच्यते - वेदस्तावत् सर्वकारणकारणभूतभगवत्तत्त्वप्रतिपादको विश्वविज्ञानराशिश्च यत्र भौतिकाध्यात्मिकादिप्रयोजनसाधनानि विविधानि कर्माणि प्रतिपादितानि। तानि च यथायोगमाचरता प्राज्ञेन जनेन आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपमोक्षसाधने सावधानेन भवितव्यम्। किन्तु केचन कामात्मानः वेदोक्तकर्मसु त्रैगुण्यविषयमेव कर्मजालमनुतिष्ठन्तः स्वार्थसम्पादनेच्छया स्वेतर-प्राणिप्रपञ्चस्य बाधामप्यापादयन्तः अहिंसाभूतदयात्यागादिदिव्यगुणसम्पदं नाद्रियन्ते।

अत्र मयविहितास्तिस्रः पुरः कामहेतुकानां त्रिगुणानां सङ्केताः। ते च त्रिगुणाः कामप्रवृत्तत्वात् लोकक्षेमनिरपेक्षा एव। वेदमार्गनिष्ठया च सन्दर्भानुरोधात् काम्यकर्मानुष्ठानमेव सूच्यते। एतादृशकाम्य-कर्मानुष्ठानपरायणाः स्वार्थदूषितचित्तत्वात् प्रागुक्तहिंसाभूतदयादिदिव्यगुणविरहिताः देवद्विष इति कथ्यन्ते। एत एव जनाः भगवता श्रीकृष्णेन "अविपश्चितः। वेदवादरताः पार्थ! नान्यदस्तीतिवादिनः"।। (भ.गी.2-42) इत्यभिशस्ताः। अपि चात्रैव भागवते "यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्। हित्वाऽर्चां भजते मौढ्यात् भस्मन्येव जुहोति सः।।" (भाग.3-29-23) "द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः। भूतेषु बद्धवैरस्य न मनश्शान्तिमृच्छति।।" (भाग.3-29-24) इत्यादिभिः श्लोकैः सर्व-भूतान्तर्यामिणं देवमविगणय्य नानाविधैः द्रव्यैः मानवेन अर्चादिकरणं व्यर्थं इति च सूचितम्। ईदृशानां सर्वान्तर्यामिसन्दर्शनविमुखानां कर्मठजनानाम् उद्धरणार्थमेव बुद्धावतारेण भगवता मतिविमोहमति-प्रलोभं वेषं विधाय त्रैगुण्यवेदनिरसात्मकं औपधर्म्यं बह्वभिभाष्यते[1]ति कृतं विस्तरेण।।३७।।

---

1. A.B. Omit तस्मात्

यर्हि यदा सतां आलयेष्वपि निवासेष्वपि हरेः कथाः न स्युः न भवेयुः द्विजजनाः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याः पाखण्डिनः वेदमार्गविरोधिनो वेदार्थनिन्दकाश्च स्युः नृदेवाः प्रजापालकाः वृषलाः म्लेच्छधर्मिणः स्युः म्लेच्छधर्मश्च जीविकार्थकप्रजापालनादिकर्माचरणरूपः। यत्र यदा स्वाहा, स्वधा वषट् इति गिरः स्वाहावषडिति पदाभ्यां दैवकर्माणि, स्वधापदेन पितृकर्माणि च सूच्यन्ते - न स्युः न श्रूयन्ते देवपितृपूजा लुप्ता भवतीति भावः। तदा युगान्ते कलियुगान्ते भगवान् नारायणः कलेः शास्ता कल्क्यवतारस्सन् शासको भविष्यति।।३८।।

पुरुशक्तिभाजः अचिन्त्यानन्तशक्तिमतो भगवतः सर्गे जगत्सृष्टौ तपः अहं ब्रह्म, नवऋषयः मरीच्यादयः, ये च अन्ये प्रजेशाः दक्षादिप्रजापतयः सन्ति ते सर्वे इमाः मायाविभूतयः भगवदिच्छा-विरचितविभूतिस्वरूपाः, तस्य भगवतः स्थाने च पालने च धर्ममखमन्वमरावनीशाः धर्ममखो विष्णुः मनवः अमराः देवाः अवनीशाः राजानश्च - एते सर्वेऽपि भगवतो मायाविभूतयः, अन्ते तु जगत्संहारे तु अधर्महरमन्युवशासुराद्याः अधर्मो, हरो रुद्रश्च मन्युवशाः सर्पाश्च असुराश्च आद्यपदेन भूतप्रेतादयो गृह्यन्ते। एते सर्वे च मायाविभूतय एव।

भगवतः परमेश्वरस्य सृष्टिस्थितिलयेषु यथाक्रमं उपयुज्यमानाः तपोब्रह्मादयः धर्ममखादयः अधर्महरादयश्च तदीयमायाविभूतिस्वरूपा इति भावः। एतेन भगवन्मायावतारविभूतिरुक्ता।।३९।।

यो भगवान्। त्रिविक्रमः अस्खलता प्रतिघातरहितेन स्वरंहसा स्वचरणरयेन त्रिसाम्यसदनात् गुणत्रयसाम्यरूपं सदनं प्रधानं तस्मादारभ्य उरु अधिकं कम्पयानं कम्पेन यानं पतनं यस्य तथाभूतं आत्रिपृष्ठं सत्यलोकमभिव्याप्य सर्वमपि यस्मात् कारणात् चस्कम्भ धृतवान् तस्य विष्णोः वीर्यगणनां वीर्याणां पराक्रमाणां गणनां कर्तुमिति शेषः। इह संसारे पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांस्यपि परमाणूनपि यः कविः बुद्धिशाली पुमान् विममे गणयामास तादृशः कतमो नु को वा अर्हति? न कोऽपीति भावः।

यो भगवान् त्रिविक्रमः अस्खलितेन स्वपादवेगेन गुणत्रयसाम्यरूपप्रधानादारभ्य नितरां कम्पमानं सत्यलोकपर्यन्तं सर्वमपि विश्वं अदीधरत् तस्य विष्णोः पराक्रमान् गणयितुं पार्थिवपरमाणु-गणनाचतुरोऽपि न समर्थो भवतीति भावः।

अत्र 'विष्णुवीर्य' पदेन नानाविधभगवदवतारान्द्भुतकर्माणि सूच्यन्ते। तथाहि यदा यदा मानव-समाजः धर्मभ्रष्टः कष्टपीडितो भवति तदा तदा भगवद्गुणविभूतिमन्तो महान्तो भुवि समवतीर्य स्वकीयाद्भुतकर्मभिः तं समाजं धर्मानुगामिनं विधाय रक्षन्ति। महतां भगवदंशसम्भवत्वे च भगवद्गीता-वचनं प्रमाणम् - "यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवम्" (भ.गी.10-41) इति श्रूयन्ते च अधुनाऽऽपि श्रीरामकृष्णपरमहंसश्रीरमणमहार्षिप्रभृतयो नैकविधा

भगवदवतारविभूतयः। अतो भागवतैः स्वसमकालीनमहानुभावव्यक्तिविशेषेषु भगवद्विभूतिसन्दर्शन-बुद्धिः संवर्धनीयेति, तादृशबुद्धिप्रवर्धनेनैव भागवताध्ययनमन्वर्थं भवतीति च विज्ञेयम्।।४०।।

**नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते[1] मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये।**
**गायन् गुणान् दशशतानन आदिदेवः शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम्।।४१।।**

**येषां स एव[3] भगवान् दययेदनन्तः[4] सर्वात्मनाऽऽश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्।**
**ते दुस्तरामतितरन्ति[5] च देवमायां नैषां ममाहमिति धीः श्वशृगालभक्ष्ये।।४२।।**

**वेदाहमङ्ग परमस्य हि योगमायां यूयं भवश्च भगवानथ दैत्यवर्यः।**
**पत्नी मनोः स च मनुश्च[6] तदात्मजाश्च प्राचीनबर्हिऋभुरङ्ग[7] उत ध्रुवश्च।।४३।।**

**इक्ष्वाकुरैलमुचुकुन्दविदेहगाधिरघ्वम्बरीषसगरा गयनाहुषाद्याः।**
**मान्धात्रलर्कशतधन्वनुरन्तिदेवो[9] देवव्रतो बलिरमूर्त्तरयो[11] दिलीपः।।४४।।**

**सौभर्युतङ्कशिबिदेवलपिप्पलाद[12] सारस्वतोद्धवपराशरभूरिषेणाः।**
**येऽन्ये विभीषणहनूमदुपेन्द्रदत्तपार्थाष्टिषेणविदुरश्रुतदेव वर्याः[17]।।४५।।**

**श्रीध०** एतत्प्रपञ्चयति। **नान्तमिति**। पुरुषस्य यन्मायाबलं तस्य अन्तं न विदामि न वेद्मि दशशतानि आननानि यस्य स शेषोऽपि अस्य[18] गुणान् गायन् गायन्[19] अधुनाऽपि[20] पारं न समवस्यति सम्यगवस्थानं न गच्छति इत्यर्थः।।४१।।

[22]यदि न केऽपि विदन्ति[23] तर्हि कथं मुच्येरन्[24] तत्कृपयैवेत्याह - **येषामिति**। दययेत् दयां कुर्यात् स[25] च यदि निष्कपटम् आश्रितचरणो भवति ते दुस्तरामपि देवस्य[26] विष्णोः मायां अतितरन्ति[27] चकारात् मायावैभवं विदन्ति[28] च अथेति वा पाठः। प्रत्यक्षमेव तेषां मायातितरणमित्याह[29]। नैषामिति। श्वशृगालानां भक्ष्ये देहे।।४२।।

---

1. M.Ma. "यः प्रजेशाः 2. I. "ऽवरा 3. H.I.V.W. "ष 4. AF.GF. "याह्यनन्तः 5. M.Ma. वै विदन्त्यति" 6. M.Ma. "स्तदपत्यभूताः 7. A.C.I. "ङ्ग 8. W. "रङ्ग" 9. M.Ma.W. "न" 10. M.Ma. "वदेवव्रतः 11. H.V. "धू 12. H.M.Ma.V.W. "द 13. H.M.Ma.V.W. "दा: 14. W. "द्ध" 15. AF.GF. "त्ता: 16. H.V.W. "र्ष्णि" 17. M.Ma. "मुख्याः; AF.GF. "भूपाः 18. H.V. यस्य 19. A.H.V. Omit अधुनाऽपि 20. H.V. Omit पारं 21. A.B. न प्राप्नोति 22. H.V. add ननु 23. V. "न्द 24. H.V. विमु 25. A.B. ते च यदि निष्कपटमाश्रितचरणा भवन्ति ते 26. A.B. Omit "स्य विष्णोः 27. H.V. Omit अति 28. H.V. "न्द" 29. H.V "भेवेत्या"

अन्तर्ज्ञानाभावेऽपि माया इयमिति ज्ञानं तत्कृपया बहूनां अस्तीत्याह - **वेदाहमिति** त्रिभिः। यूयमिति सनकादीनामन्तर्भावात्[1] बहुवचनम्। दैत्यवर्यः प्रह्लादः, मनुः स्वायम्भुवः तस्य पत्नी शतरूपा च तदात्मजाः प्रियव्रतोत्तानपादौ[2] पुत्रौ तिस्रः[3] कन्याश्च प्राचीनबर्हिषो विसर्गलोपश्छान्दसः अङ्गो[5] वेनपिता।।४३।।

**इक्ष्वाकुरिति**। शतधनुः अनुश्च। सन्धिरार्षः। रन्तिदेवा इति वा[6] पाठः सुगमः। ऐकपद्ये एतैः सहितो देवव्रत इत्यर्थः।।४४।।

**सौभरीति**। उपेन्द्रदत्तः शुकः। विभीषणादयो राक्षसाश्च[7], हनुमदादयः कपयश्च वर्या मुख्याः येषां ते अपि[8] विदन्तीत्यर्थः।।४५।।

**वीर०** एवमवतारगुणप्रयोजनानि उक्त्वा "नाहं न यूयम्" इति पूर्वप्रस्तुतमुपसंहरति **नेति**। मायाबलस्य अद्भुतबलस्य बलं सेना प्रकृताख्यपरिकर इति वा पुरुषस्य परमपुरुषस्य अन्तं स्वरूप-स्वभावयोः अवधिं अहं चतुर्मुखः न विदामि। तेऽग्रजाः सनकादयः न विदन्ति अन्ये कुतो जानीयुः? किं बहुना? दशशतानि आननानि यस्य स दशशताननः सहस्रमुखः आदिदेवः शेषः द्विसहस्रजिह्वश्च अनन्तगुणान्[9] गायन् अधुनाऽपि अस्य भगवतः पारं न समवस्यति नाध्यवस्यति।।४१।।

ननु कैरप्यविज्ञातस्वरूपस्वभावावधित्वे[10] कथं तद्भजनेन मुच्येरन् इत्याशङ्क्यापरिच्छिन्नस्य[11] वस्तुनोऽपरिच्छिन्नत्वेनैव ज्ञानं मुक्तिसाधनं न तु परिच्छिन्नत्वेन तस्यान्यथाज्ञानरूपत्वात्, अतः परमात्मस्वरूपम् अपरिच्छिन्नत्वेन जानन्तो भजमाना मुच्यन्ते एव इत्याह **येषामिति**। निर्व्यलीकं निरपराधं यथा तथा येषां सर्वात्मना उपायोपेयत्वबुद्ध्या आश्रितपदः संश्रितपदो यदि भवेत् स एष भगवान् तान्[12] दययेत्[13] ते भगवद्दयाविषयाः[14] दुस्तरां तरितुमशक्यां[15] देवस्य विष्णोः मायाम् अतितरन्ति निःशेषं तरिष्यन्ति। चकारात् तत्स्वरूपस्वभावादिकमपि यथावस्थितत्वेन जानन्ति। एवं सर्वात्मना भगवत्प्रपन्नानाम् "आत्मसमं विचक्ष्महे" इत्युक्तदेहात्मभ्रमोऽपि[16] निवर्त्तत इत्याह नैषामिति। एषां सर्वात्मना भगवन्तमाश्रितानां श्वशृगालानां[17] भक्षणयोग्ये कलेबरे ममाहमिति धीः "अनात्मनि आत्मबुद्धिर्या अस्वे स्वमिति या मतिः" इति स्थानोक्तधीः नास्तीत्यर्थः।।४२।।

किमेवंविधाः भगवत्प्रपन्ना अपि[18] सन्तीत्यत आह वेदेति। अङ्ग हे नारद! अहं वेद जानामि भगवन्तमिति शेषः। परमस्य भगवतो योगमायां "दैवी ह्येषा गुणमयी" इत्युक्तप्रकारां स्वदेहेन्द्रियादि-

---

1. A.B. "नन्तर्भाव्यबहुत्वं 2. H.V. Omit प्रियव्रतो.....तिस्रः; B. Omits प्रियव्रतोतानपादौ 3. B. Omits तिस्रः 4. H.V. "र्हिः 5. A. Omits अङ्गो वेनपिता 6. H.V. Omit वा 7. A.B. Omit राक्ष.....कपयश्च 8. A.H.V. Omit अपिविदन्तीत्यर्थः 9. W. "न्तः 10. W. "य्यज्ञा" 11. W. "न्नवस्तु" 12. W. Omits तान् 13. A.B. Omit ते 14. W. "यया दुस्त" 15. A.B. तर्तुं" 16. W. विनिव" 17. W. "लादीनां 18. W. Omits अपि

रूपेण संयुज्यमानां विचित्रसर्गकर्रीं प्रकृतिं तरिष्यामि इति शेषः। यूयं इत्यादीनां विदन्ति अतितरन्ति च इत्युपरितनेन अन्वयः। यूयमिति सनकाद्यभिप्रायेण बहुवचननिर्देशः। भवो रुद्रः भगवानिति रुद्रविशेषणम्। दैत्यवर्यः प्रह्लादः मनोः पत्नी शतरूपा, स च स्वायम्भुवो मनुश्च [1]तदात्मजाः मन्वात्मजाः पुत्रौ दुहितरश्च। पुत्रौ उत्तानपादः प्रियव्रतश्च। देवहूत्यादयो दुहितरश्च। प्राचीनबर्हिः विसर्गलोप आर्षः। अङ्गो वेनस्य उत अपि च।।४३।।

**इश्वाकुरीति** [2]ऐलः पुरूरवाः। [3]गयनाहुषौ आद्यौ येषां ते। [4]नाहुषः ययातिः। [5]शतधन्वनश्चासन्धिरार्षः। देवव्रतो भीष्मः।।४४।।

**सौभरीति**। विभीषणादयश्च वर्या मुख्या येषां ते।।४५।।

**विज०** अनन्तत्वम् उपपादयति - **नान्तमिति**। विदामीति विकरणव्यत्ययेन। चतुर्मुखाद्ब्रह्मणः शेषस्य सहस्रमुखत्वकथनात् ज्ञानाधिक्यमस्तीत्यज्ञशङ्कां निवारयति न समवस्यति न निश्चिनोति "माल्याक्षतादिदाने स्त्रीशेष" इति वैजयन्तीकोशात् अक्षताद्याशीर्वचनवान् शेषः कश्चित्पुमानिति संशयं निरस्यति दशशतानन इत्यनेन। अयमपि नागेष्वन्यतमः कश्चिदित्यतआह - आदिदेव इति। अपरे अर्वाचीना अनेन श्लोकद्वयेन "विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचम्" "न ते विष्णो जायमान" इति ऋगर्थमुदाहरन्ति।।४१।।

नन्वेवं चेत्, न कस्यापि ज्ञानाभावेन पुरुषार्थप्राप्तिरित्याशङ्क्य तत्प्रसादेन सर्वं सुलभम् इत्याह- **येषामिति**। सोऽनन्तो भगवान् स्वयमेव येषां दययेत् दयां करोति ते देवरूपमायां स्वरूपशालिं विदन्ति, संसारहेतुं शैवलीं मायां तरन्ति, तत्साधनमन्तरेण दययेच्चेत्तस्य वैषम्यनैर्घृण्ये च स्याताम् इत्यत्राऽऽह सर्वात्मनेति। तत्र इत्थंभावमाह - नैषामिति। येषां सेवकानां श्वशृगालभक्षणयोग्ये देहे ममाहमिति धीः नास्ति देहाद्यभिमानशून्यत्वेन भाव्यमिति भावः। तत्तद्योग्यतानुसारेण तत्प्रसादोऽपि बहुविध इत्यस्मिन्नर्थे वैशब्दः।।४२।।

ननु तर्हि तत्प्रसादयोग्याः के इति तानाह - **वेदाहमिति**। ऋतस्य तन्तुवितं निवृत्त्य "तदपश्यदभवत्प्रजासु" इति श्रुतिद्योतको हिशब्दः प्रथमप्रक्रान्तत्वात् चतुर्मुखः सर्वस्मादधिकं वेत्ति तदन्ये यथायोग्यता वेत्तार इत्यर्थस्मारको वा भगवानिति विशेषणात् भवस्य नारदादेः ज्ञानातिशयोऽस्तीति सूचयति। अथ इत्यनेन दैत्येषु प्रह्लादस्य ज्ञाननैर्मल्यं सूचयति, अङ्गो वेनस्य पिता।।४३।।

---

1. A.B. Omit तदात्मजाः.....अपि च 2. W. Omits ऐलः पुरूरवाः 3. A.B. Omit गय.....ते 4. W. Omits नाहुषः ययातिः 5. A.B. Omit शतधन्वनश्चासन्धिरार्षः 6. A.B. त्राणां

ऐलः इलायाः पुत्रः पुरूरवाः नाहुषो ययातिः ।।४४।।

हरेः स्वरूपांशानाम् उपेन्द्रदत्तादीनां नित्यबद्धगुणेषु सहयोगो दुष्टजनमोहनार्थः।।४५।।

**रा०कृ०** पुरुषस्य परमपुरुषस्य मायाबलस्य अन्तं अहं न विदामि न जानामि, ते अग्रजाः अमी मुनयः सनकादयः, न विदुः इति शेषः। अपरे उक्तपुरुषव्यतिरिक्ताः ये सन्ति ते कुतः। कथं विदुः इति भावः। किञ्च दशशताननः सहस्रमुखः आदिदेवः शेषः अस्य भगवतो गुणान् गायन् अधुनाऽपि पारं तद्गुणगणनायाः अन्तं न समवस्यति न प्राप्नोति।

अत्र ब्रह्मादयोऽपि भगवन्मायाबलान्तं प्रातुं न प्रभवन्तीति कथनेन भगवत्तत्त्वज्ञाने न केवलजिज्ञासा प्रयोजिका इति, किन्तु तस्मिन् तदनुग्रहजन्यसर्वसमर्पणबुद्धिः एकैवेति व्यज्यते। तदेवाग्रे वक्ष्यते।।४१।।

अनन्तः स भगवान् येषां दययेत् येषु दयां कुर्यात्, स एव च तैः निर्व्यलीकं निष्कपटं सर्वात्मना यदि आश्रितपदः भवेत् तर्हि ते भगवद्दयापात्रभूताः धन्याः दुस्तरां देवमायां अतितरन्ति सामग्र्येया तरन्ति। किञ्च एषां भगवद्भक्तानां श्वशृगालभक्ष्ये शुनकजम्बुकादिभिः भक्षणीये नश्वरे कलेबरे ममाहमिति धीः आत्मीयता बुद्धिः आत्मबुद्धिश्च न भवति।

भगवदनुग्रहपात्रभूताः साधवः सर्वात्मना भगवत्समर्पितमतयः तन्मायां तर्तुं प्रभवन्ति। अपि च सर्वत्र सर्वान्तर्यामिसन्दर्शनेन परायणास्ते देहादिषु स्वीयभावनां परित्यज्य मृत्युभीतिविरहिताः मुक्ताः भवन्ति।।४२।।

अङ्ग! हे नारद! परमस्य भगवतः परमपुरुषस्य योगमायां अहं वेद हि। यूयं नारदसनकाद्याः जानीथ। किञ्च भगवान् भवः रुद्रः, अथ दैत्यवर्यः प्रह्लादः, मनोः स्वायम्भुवस्य पत्नी शतरूपाख्या स च मनुः, तदात्मजाश्च मनोः पुत्राः प्रियव्रतोत्तानपादादयः पुत्री देवहूतिश्च, प्राचीनबर्हिः ऋभुः, अङ्गः वेनस्य पिता, उत ध्रुवश्च अपि च ध्रुवः - एते सर्वेऽपि भगवतो योगमायां विदन्ति, अतितरन्ति इति च उत्तरेणान्वयः।।४३।।

किञ्च इक्ष्वाकुः ऐलः इलात्मजः पुरूरवाः, मुचुकुन्दः विदेहो जनकः गाधिः विश्वामित्रस्य पिता, रघुः अम्बरीषः सगरः, गयः, नाहुषो ययातिः - एतदाद्याः मान्धाता अलर्कः, शतधन्वा, अनुः रन्तिदेवः देवव्रतो भीष्मः, बलिः अमूर्तस्यः, दिलीपः - एते सर्वेऽपि भगवतो योगमायां विदन्ति अतितरन्तीति उत्तरेणान्वयः।।४४।।

अपि च सौभरिः, उतङ्कः शिबिः, देवलः, पिप्पलादः, सारस्वतः, उद्धवः पराशरः भूरिषेणः,

विभीषणः हनुमान् उपेन्द्रदत्तः शुकः पार्थः अर्जुनः आर्ष्टिषेणः विदुरः श्रुतदेववर्यः श्रुतदेवाख्यो महानुभावः - एतत्प्रभृतयो ये च अन्ये वर्तन्ते ते वै विदन्ति अतितरन्तीति उत्तरेणान्वयः।

अत्र उदाहृतानां महात्मनां मध्ये केचन रामायणान्तरकालिकाः, केचित्तु भारतप्राक्कालिकाः। किञ्च नारदाय ब्रह्मकृतोऽयं भागवतोपदेशः रामावतारात् प्रागेव संवृत्तः तस्मादेते श्लोकाः प्रक्षिप्ताः इति केचन कथयन्ति। अपरे तु ते महात्मानः पूर्वकल्पजीविन एवेति वदन्ति। किन्तु एते सर्वेऽपि तीर्णमायाः परमभागवतोत्तमा इत्यत्र न काऽपि विप्रतिपत्तिः।।४५।।

**ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः।**
**यद्यद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षास्तिर्यग्जनाः अपि किमु श्रुतधारणा ये।।४६।।**

**शश्वत् प्रशान्तमभयं प्रतिबोधमात्रं शुद्धं समं सदसतः परमात्मतत्त्वम्।**
**शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना।।४७।।**

**तद्वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो ब्रह्मेति यद्विदुरजस्रसुखं विशोकम्।**
**सद्म्यङ् नियम्य यतयो यमकर्तहेतिं जह्युः स्वराडिव निपानखनित्रमिन्द्रः।।४८।।**

**स श्रेयसामपि विभुर्भगवान् यतोऽस्य भावस्वभावविहितस्य सतः प्रसिद्धिः।**
**देहे स्वधातुविगमेऽनुविशीर्यमाणे व्योमेव तत्र पुरुषो न विशीर्यतेऽजः।।४९।।**

**सोऽयं तेऽभिहितास्तात! भगवान् विश्वभावनः।**
**समासेन हरेर्नान्यदन्यस्मात् सदसच्च यत्।।५०।।**

**श्रीध०** किं बहुना? सत्सङ्गेन तु सर्वेऽपि विदन्तीत्याह - **ते वा** इति। अद्भुताः क्रमाः पादन्यासा यस्य हरेः तत्परायणाः तद्भक्ताः तेषां शीले शिक्षा येषां ते। तथा यदि भवन्ति तर्हि ये स्त्रीशूद्रादयः पापजीवाः तेऽपि विदन्तीत्यर्थः। तत्र श्रुते भगवतो रूपे धारणा मनोनियमनं येषां ते विदन्तीति किमु वक्तव्यम्?।।४६।।

किं तद्भगवतः स्वरूपम्? यस्मिन् मनोधारणां विधाय मायां तरन्ति चेत्यपेक्षायामाह

1. A.W. "शी" 2. W. "गणा" 3. M.Ma. "म्यङ्निशाम्य 4. M.Ma. "लोकहेतुम्; W. कर्तृहेतुम् 5. M.Ma. सुधामिव 6. W. ततः 7. M.Ma. "द्धः 8. M.Ma. "भेतु 9. AF.GF. "तः 10.W. "तत् 11. A. ते; H.V. Omit ये 12. H.V. Omit स्त्रीशूद्रा.....जीवाः 13. H.V. सर्वेऽपि 14. H.V. Omit इत्यर्थः। तत्र

**शश्वदिति** [1]द्वाभ्याम्। यद्ब्रह्मेति विदुः मुनयः तद्वै भगवतः पदं स्वरूपम्। किं तद्ब्रह्म? तदाह। अजस्रं नित्यं च तत् सुखं च, विशोकं चेति अजस्रसुखत्वे हेतुः। शश्वत् सदा प्रशान्तमतो नित्यसुखरूपम्। विशोकत्वे हेतुः अभयम्। [2]तत्कुतः? यतः समं भेदशून्यमतोऽभयम् "द्वितीयाद्वै भयं भवति" इति श्रुतेः। तत्कुतः? यतः प्रतिबोधमात्रं ज्ञानैकरसम् ननु ज्ञानस्यापि नीलपीताद्याकारेण चक्षुरादिकरणभेदेन च भेदो दृश्यते। न शुद्धं निर्मलम्। ननु दर्शितो विषयकरणोपरागरूपो मल इत्यत आह। सदसतः परं विषयकरणसङ्गशून्यम्। वृत्तेरेव तदुपरागो न ज्ञानस्येति भावः। ननु तथाऽपि ज्ञात्रा सह भेदः स्यात्। न आत्मतत्त्वमात्मनो ज्ञातुः स्वरूपमेव [3]तन्न ततो भिन्नम्। ननु च "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इति शब्दबोध्यत्वप्रतीतेः कुतो बोधरूपत्वं तत्राऽऽह। शब्दो न यत्र इति। आरोपितनिवृत्तावेव शब्दस्य व्यापारो न [5]तु तद्बोध इत्यर्थः। ननु [6]च भवतु नाम निरस्तभेदज्ञानरूपत्वाद्विशोकत्वं सुखस्य तु नानाकारकसाध्यक्रियाफलत्वात् कथम् अजस्रसुखत्वं तस्येत्यत आह। यत्र बहुकारकसाध्यः क्रियार्थः [7]उत्पत्त्यादिचतुर्विध[8]क्रियाफलं च नास्ति इन्द्रियैः ज्ञानांशा[9]भिव्यक्तिरिव क्रियाभिः आनन्दांशा[10]भिव्यक्तिमात्रं क्रियते न उत्पत्त्यादिकमिति भावः। ननु उत्पत्त्याद्यभावे अपि मायामलो[11]पकरणेन विकार्यत्वमेव स्यात् व्रीहीणामिव [12]तुषोपकरणेन इत्याशङ्क्याऽऽह। माया अभिमुखे स्थातुं विलज्जमानेव यस्मात् परैति दूरतोऽपसरति।।४७।।

तस्मादेवम्भूते भगवति नियमितमनसां कृतार्थानां न किमपि कृत्यम् अस्तीत्याह **तदिति**। सहांचतीति सध्र्यङ् सहचरं मनो यं प्रति नियम्य यस्मिन् स्थिरीकृत्य यतयो यत्नशीलाः कर्तः [13]छेदः तन्निरासोऽकर्तः तत्र हेतिं साधनं जह्युः त्यजेयुः अनुपयोगात् तत् नाद्रियन्त इत्यर्थः। उपयोगाभावेन साधनानादरे दृष्टान्तः। निपीयतेऽस्मिन्निति निपानं कूपः तस्य खनित्रं खननसाधनम्। यथा स्वराट् स्वयमेव पर्जन्यरूपेण विरजमानः इन्द्रो नादत्ते तद्वत् इति। यद्वा स्वेनैव राजत इति स्वराट्। दरिद्रः स यथा इन्द्रः समृद्धः सन् कर्मकां[14]रदशायां गृहीतं निपानखनित्रं जहाति तद्वदित्यर्थः।।४८।।

एवं तावत् अजस्रसुखं विशोकं ब्रह्मैव भगवतः स्वरूपं तत्प्राप्तानां [15]च न प्राप्यं कृत्यं वा किञ्चिदस्तीत्युक्तम्, इदानीं ततः प्राक् स एव सर्व[16]फलदाता सर्वकर्मप्रवर्तकश्चेत्याह **स इति**। स एव श्रेयसां फलानां विभुः दाताऽपि। तत्र हेतुः। भावानां ब्राह्मणादीनां स्वभावैः शमदमादिभिः विशेषणैः विहितस्य[17]स्य सतः शुभस्य कर्मणो यतः प्रवर्तकात्प्रसिद्धिः, यद्वा भावानां महदादीनां स्वभावेन परिणामेन विहितस्य सतः कार्यस्य प्रसिद्धिः। स एव स्वर्गादीनां दाता इत्यर्थः। ननु कर्मकर्तुर्मृतस्य कथं स्वर्गादिफलं स्यात्? तत्राऽऽह - स्वारम्भकधातूनां भूतानां विगमे वियोगे सति, अनु [18]पश्चात्

1. B सार्धेन 2. B. Omits तत् 3. B. तत्तु न ततो; H.V. नत्वतो 4. B. adds भ्रम 5. H.V. Omit तु 6. H.V. Omit च 7. A. उत्पाद्याप्य-विकार्यसंस्कार्यरूपं 8. A.B. "धं 9 B. "शस्याभि" 10. B. "शस्याभि" 11. A.B. "लापाकर" 12. A.B. "षापाकर" 13. A.B. भेदः 14. H.V. "करण" 15. H.V. Omit च 16. H V. "कर्मफलप्र" 17. B.H.V. Omit अस्य 18. A.B. Omit पश्चात्

विशीर्यमाणेऽपि देहे तत्रस्थं व्योमेव यः तेन सह न विशीर्यते यतोऽजस्तेन सह न जातः तस्य पुरुषस्य श्रेयसां प्रभुः इत्यर्थः।।४९।।

अध्यायत्रयस्य अर्थमुपसंहरति - **सोऽयमिति**। सोऽयं [2]ते समासेन संक्षेपेणाभिहितः। तमेवाऽऽह - सदसत् कार्यं कारणं च हरेः अन्यत् न भवति। ननु हरेः तदव्यतिरेके तद्गतविकारप्रसङ्गः स्यात्। न अन्यस्मात्तत्कारणभूतो हरिः कार्याद्यतिरिक्तः इत्यर्थः।।५०।।

**वीर०** भवदादयो ये ते सर्वे विदन्ति परमात्मानं देवमायां देवस्य विष्णोः नियाम्यां [4]मायां अतितरन्ति [5]च। किम् बहुना? भागवतसङ्गेन तिर्यञ्चोऽपि तरिष्य[7]न्तीत्याह - अद्भुताः क्रमाः पादविन्यासाः यस्य स अद्भुतक्रमो भगवान् त्रिविक्रमः। स एव परायणं उत्कृष्टं प्राप्यं प्रापकमाधारश्च येषां तेषां भागवतानां शीले शिक्षा वासना येषां ते तथाभूता यदि भवेयुः तर्हि तिर्यग्जना अपि तरन्तीति अनुषङ्गः। श्रुतेऽर्थे धारणा येषां ते मनुष्या ब्राह्मणादयः तिरश्चां श्रुतार्थधारणा[8]ऽपि नास्तीति ज्ञापनार्थम् इदम्। ब्राह्मणादयः तरन्तीति [9]तत्र किमु वक्तव्यमित्यर्थः।।४६।।

ननु कीदृशं तत्स्वरूपं यद्भवदादयो जानन्तीत्यपेक्षायाम् - तत्स्वरूपं चिदचिद्विलक्षणत्वेन विशोध्य तत्स्वरूपानुचिन्तनपराणां स्वर्गाद्यर्थानुष्ठानोपकरणत्याग आर्थिक इत्याह श्लोकद्वयेन[10] **शश्वदिति**। विशोकं दुःखासम्भिन्नम्। अजस्रसुखं नित्यानन्दमयं यद्ब्रह्मेति विदुः "सत्यं ज्ञानमनन्तं" "विज्ञानमानन्दं" "विशोको विजर" इत्यादयो वेदान्ता आमनन्ति। तदेव परमस्य पुंसः परमपुरुषस्य भगवतः पदं स्वरूपम् इत्यर्थः। ननु किं विशेषेण वेदान्तवेद्यत्वमुच्यते न प्रमाणान्तरविषयत्वम् इत्यत आह-[11]माया जडात्मिका माया अभिमुखे, अवस्थातुं इति शेषः। विलज्जमाना सती परैति तिरो धत्ते मायाकार्याणि मन आदीन्द्रियाणि तत्स्वरूपमवगन्तुं असमर्थानि इत्यभिप्रायः। न केवलं लौकिकप्रमाणविषयत्वमेवालौकिकप्रमाणभूतवैदिकदेशपूर्वभागाविषयत्वमपि इत्याह शब्द इति। पुरुकारकः साध्यसाधनाद्यनेककारकान्वितः क्रियार्थः क्रियाप्रतिपादकः शब्दः वेदपूर्वभागोऽपि यत्र स्वरूपे न साक्षान्न बोधक इत्यर्थः। "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती"-ति तु सर्वकर्माराध्यब्रह्मरूपमपर्यवसानवृत्त्या आमनन्तीति एतत्तात्पर्यकम्। [12]अतएव "तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ती" त्युक्तं तपांसि तपःप्रधाना उपनिषद्भागा वदन्ति साक्षाद्बोधयन्तीत्यर्थः। ननु जीवस्यापि स्वरूपम् अजस्रसुखमेव इत्यत आह-परमात्मतत्त्वमिति। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति वाक्यप्रत्यभिज्ञानेन अजस्रसुखस्य अनन्तत्वेन विशेषितत्त्वात् अपरिच्छिन्नदुःखासम्भिन्ननित्यसुखस्वरूपत्वं परमात्मन एव

---

1. H.V. Omit अपि 2. H.V. Omit ते 3. A.B. Omit तत् 4. A.B. Omit मायां 5. W. Omits च 6 A.B. "नपि 7. A.B. "ती" 8. W. Omits अपि 9. W. Omits तत्र 10. W. Omits श्लोक 11. A.B. Omit माया 12. A.B. Omit अत एव

स्वरूपमित्यर्थः। ननु जीववत् अस्यापि कर्माधीनसुखदुःखसम्बन्धः स्यात् इति शङ्कां वारयति शुद्धमिति। अकर्मवश्यमित्यर्थः। अत एव सदसतोः चिदचितोः परं विलक्षणम्। अकर्मवश्यता कुत इत्यत आह सममिति, एकरूपमित्यर्थः। चिदचिदन्तर्यामित्वेन अवस्थितस्यापि तत्तद्वस्तुगतदोषासंस्पर्शात् अकर्मवश्यता उपपन्ना इति भावः। ननु आम्रादिफलानां तत्तत्प्रदेशभेदेन आम्लमधुरादिरसवत् सुखापरपर्यायानुकूलज्ञानस्वरूपस्य ब्रह्मणः प्रदेशभेदेन जडरूपता स्यात् इत्याशङ्कां वारयति प्रतिबोधमात्रमिति। प्रतिबोध एव प्रतिबोधमात्रं मात्रया क्वापि जडत्वव्यावृत्तिः विज्ञानघनएव प्रज्ञानघन एव इति श्रुतेः[1], मोक्षप्रदत्वमप्यस्यासाधारणो[2] धर्म[3] इत्याह अभयम् न विद्यते भयं यस्मात्तदभयं संसारनिवर्तकम् इत्यर्थः। तत्कुतः? शश्वत्प्रशान्तं शश्वत्सदा प्रशान्तमशनापिपासाद्यूर्मिषट्करहितमतः तदुपासकानामपि शान्तिसम्पादकमिति भावः "परमं साम्यमुपैति", "मम साधर्म्यमागता" इति हि[4] श्रुतिस्मृती।।४७।।

[5]किञ्च यतः एवम्भूतभगवत्स्वरूपचिन्तने प्रयतमानाः सध्र्यङ् सहांचतीति सध्र्यङ् सहस्य सध्र्यादेशः जीवसहचरंमनः नियम्य यद्यत्र [6]उक्तरूपे[7] नियतं कृत्वाऽकर्तृहेतुं[8] कृत्यन्ते छिद्यन्तेऽनेन संशया इति कर्तृ ज्ञानं[9] "छिद्यन्ते सर्वसंशया" इति श्रुतेः। कृती छेदेन तदितरत् अकर्तृ[10] स्वर्गादिफलसाधनं कर्म इत्यर्थः। तस्य हेतुम्[11] उपकरणं जह्युः। तत्र दृष्टान्तः-स्वराट् वर्षप्रदः इन्द्रः निपानखनित्रमिव नितरां पिबन्ति [12]अस्मिन्निति निपानं कूपः तस्य खनित्रं खननसाधनमिव स्वर्गाद्यर्थानुष्ठानोपकरणम्, अर्थादेव त्यजन्तीत्यर्थः।।४८।।

ननु स्वर्गादिफलेप्सूनां तत्साधनोपकरणोपादानम् आवश्यकम् इत्यत आह - **स श्रेयसां** इति। भावस्वभावविहितस्य भावाः ब्राह्मणादिवर्णाश्रमादयः तेषां स्वभावेनानुगुण्येन विहितस्य [13]सतः कर्मणः प्रसिद्धिः फलप्रसिद्धिः[14] यतः स भगवान् श्रेयसां स्वर्गादिफलानामपि विभुः प्रभुः तत्फलप्रदाता इत्यर्थः। अन्तरात्मतयाऽवस्थितस्य परमात्मन एव स्वर्गाद्यर्थकर्मस्वपि प्रवर्तकत्वात् तदाराध्यत्वात् तत्फलदत्वाच्च तद्भजननैव ईप्सितस्वर्गादि फलस्यापि सिद्धेः [15]कामिभिरपि स एव भजनीय इत्यर्थः। भगवतः सर्वान्तर्यामित्वे शरीरभूतचेतनाचेतनगतदोषसंस्पर्शम्[16] आशङ्क्याऽऽह देह इति। स्वधातुविगमे स्वधातूनां स्वदेहारम्भकभूतसूक्ष्माणां [17]विगमे वियोगे सति अनु पश्चात् विशीर्यमाणेऽपि[18] देहे तत्रस्थः पुरुषः परमपुरुषः गगनमिव न शीर्यते। कुतः? अजः कर्माधीनोत्पत्त्यादिशून्यः। अत्र देहशब्दः चेतनस्यापि प्रदर्शनार्थः चिदचिद्गतदोषस्पृष्ट इत्यर्थः। अस्य उत्तरार्धस्य जीवपरत्ववर्णनं तु अशोभनं कृत्स्नस्यास्य[19] प्रकरणस्य परमात्मपरत्वेन मध्ये जीवप्रसक्त्यभावात् जीवस्यापि शरीरद्वारा उत्पत्तिविनाशयोः "विज्ञानघन एव एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येव अनुविनश्यती"ति श्रुत्यैव अभिधानाच्च।।४९।।

---

1. A.B. "ति 2. A.B. Omit स्या 3. W. "णधर्म 4. A.B. Omit हि 5. W. Omits किञ्च 6. A. "ङ्ग 7. A. स्वरूपं; B. स्वरूपे 8. A.B. "र्तृहेतुं 9. A.B. "तं 10. A.B. "तं 11. A.B. "तिं 12. A.B. य" 13. W. Omits सतः 14. W. Omits "प्र" 15. W. कर्म" 16. A.B. Omit सं" 17. A.B. Omit विगमे 18. A.B. Omit "ऽपि 19. W. "पि

अध्यायत्रयार्थमुपसंहरति **सोऽयम्** इति। हे तात!नारद! सोऽयं पूर्वप्रतिपादिताकारः विश्व-भावनः विश्वकारणभूतः भगवान् ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यादिसम्पन्नो वासुदेवः समासेन सङ्ग्रहेण ते तुभ्यम् अभिहितः, मया इति शेषः। सङ्ग्रहमेवाह यत्सदसत् चिदचिदात्मकं वस्त्वन्यत् अतदात्मकं स्वनिष्ठ-मिव भाति। तद्धरेर्नान्यत् तदात्मकमेव इत्यर्थः। "हरेः नान्यदन्यत् तत्सदसच्च यदि'ति पाठः। नान्यदन्यस्मात् सदसच्च यदिति पाठे तु अन्यस्मात् सदसद्विलक्षणादपि हरेः सदसदात्मकं नान्यत् किन्तु तदात्मकमेव इत्यर्थः।।५०।।

**विज०** अत्र कैमुत्यन्यायमाह - **ते** इति। ये स्त्रीशूद्रहूणशबराः पापजीवाः तेऽपि देवस्य मायां विदन्ति संसारमतितरन्ति च किमुत अस्मदादयः इत्यन्वयः। तर्हि किमिति सर्वे निस्तीर्णाः संसारन्नाभूवन् इति तत्राह यदीति। अद्भुतक्रमो विष्णुः स एव परायणं तस्य शीलं तस्य शिक्षा च येषां ते तथोक्ताः अद्भुतं जगत्क्रमतीति अद्भुतक्रमः अत्रापि कैमुत्यन्यायमाह तिर्यगिति। बृन्दावनगताः पशुपक्ष्यादयः तिर्यग्जना अपि देवमायां विदन्ति तरन्ति च ये श्रुतधारणाः ते विदन्तीति किमु वक्तव्यमिति अन्वयः।।४६।।

अद्भुतक्रमः किं लक्षणकः इति तत्राऽह **शश्वदिति**। यत् शश्वत् सदैकप्रकारं प्रशान्तं प्रकृष्ट-पूर्णसुखम् अद्वितीयत्वात् अभयं "द्वितीयाद्वै भयं भवति" इति श्रुतेः। यच्च प्रतिबोधमात्रं निर्दोषज्ञान-स्वरूपम्। मात्रशब्दोऽवधारणार्थः प्रतिशब्दो मुख्यार्थः। अत एव शुद्धं रागादिदोषरहितं यच्च समं परमाण्वादिपरममहदन्तेषु पदार्थेषु नातिरेकेण गुणविधुरं वैषम्यादिरहितं वा सदसतः परं व्यक्ताव्यक्तजगतो विलक्षणम् आत्मतत्वम् अव्यक्तादिसर्वप्रपञ्चाहंभावरहितं पुरूणि बहूनि कारकपदानि कर्तृकर्मक्रियावाचीनि यस्मिन् सन्ति स तथा अग्रिष्ठोमाद्यनेकक्रियार्थः। शब्दो वाक्यलक्षणानन्त वेदाख्यो यत्र यस्मिन् साकल्येन वाचकत्वेन न वर्तते तदुक्तम् "अव्यक्ताद्यनहंमानात् आत्मतत्त्वं हरिः स्मृतः। अशब्दश्च अप्रसिद्धत्वात् शान्तः पूर्णसुखत्वतः" इति। हरिः स्वयं मायाधीनश्चेत् तदुपासकाः कथं तां तरन्तीति तत्राऽह मायेति। मायासंसारकारणं प्रकृतिः यस्य अभिमुखे स्थातुं विलज्जमाना यस्मात् उपासकेभ्यश्च परैति अपसरति दृष्टिमार्गं विहाय वर्तत इति।।४७।।

यच्च सर्वगुणपूर्णत्वात् ब्रह्मेति अजस्रसुखं निरन्तरसुखमिति विदुः अतीतानागतवर्तमानाः ब्रह्मादयः श्रवणादिभिः यतमानत्वात् यतः साधनपरिपाकेन यत्सम्यक् निशाम्य इन्द्रः सुधां प्राप्य निपानखनित्रं कूपखननसाधनकुद्दालादीव यमेनाधिकृतो लोको नरकाख्यः तस्य हेतुं संसारं जह्युः त्यजन्ति। परमस्य पुंसो नारायणस्य पदं स्वरूपं तद्वै तादृग्लक्षणं हि इत्यन्वयः। इन्द्र ईश्वरो धनवान् सुधां अमृतं जलं प्राप्य इति वा।।४८।।

---

1. A.B. Omit विश्वभावनः

इदानीं एवंविधभगवज्ज्ञानाधिकारी सत्पुरुष इत्याह - **स** इति। न केवलं धर्मादिसर्वश्रेयसां विभुः अपि तु फलदाता च अधर्मादिसर्वाश्रेयसामपि इति वा भगवान् अनादिकालमारभ्य हरिप्रसादेन परिवृद्धेन भावस्वभावेन भक्तिस्वभावेन विहितस्य निर्मितस्यास्य सतो जीवराशेः प्रसिद्धः करतलामलकवत् प्रत्यक्षः स्यादिति यतोऽतोऽत्र सात्त्विकप्रकृतिजीवराशिः तादृशो ज्ञानाधिकारी एतेनोक्तार्थे ज्ञानिप्रत्यक्षं प्रमाणमुक्तं भवति। "भावो भक्तिः प्रमाणञ्च प्रावण्यमपि च आदरः" इति उत्पत्तिमतोऽस्यानित्यत्वेन कथं तस्य परमात्मा प्रसिद्ध्येत इति तत्राऽह देह इति। स्वारम्भकाणां पृथिव्यादिधातूनां विगमे विनाशलक्षणविश्लेषे सति, देहे तु विशीर्यमाणे स्वकारणेषु विलीयमाने सति तत्र देहस्थः पुरुषः स्वकर्माद्यनुसारेण पुराणि सरन् स्वतोऽजो जननविधुरोऽपि केवले[1] देहाभिमानेन जायमानो यथा देहस्थितं व्योम न शीर्यते तथा जीवो न विशीर्यते अतो देहस्यैव उत्पत्तिमरणधर्मवत्वात् चेतनस्य नित्यत्वात् उचितस्य प्रसिद्धः परम इति। अनेन परमात्मापि व्याख्यातः तत्र जीववत् अभिमाननिमित्तजन्मादिमानपि न भवतीति विशेषः। अत एव दृष्टान्तेन हरेः शश्वत्प्रतिबोधादिरूपत्वं न विघटनीयमिति भावः।।४९।।

"देवदेव नमस्तुभ्यम्" इत्यारभ्य प्रश्नप्रतिवचनाभ्याम् उक्तमर्थमुपसंहरति - **सोऽयम्** इति। समासेन संक्षेपेण एतावज्ज्ञानं सर्वथा न विस्मर्तव्यमिति भावेन आह हरेरिति। चशब्दः एवार्थे। यत्सदसत् कार्यकारणात्मकं जगत्सर्वम् अस्मादन्यस्मात् विलक्षणात् हरेः नान्यत् भिन्नं न एतदुक्तं भवति स्वतो हरेः भिन्नमपि तदात्मत्वेन[3] स्वातन्त्र्याभावेनाभिन्नमिव उच्यते। न स्वतो भेदाभावात् तस्मात् स हरिः स्वतन्त्रो अन्यत् अस्मदादिकं सर्वं तदधीनमिति विजानीहि इति तदधीनसत्तादिमत्वात् तदित्युच्यते तत्र किं मानमित्येतत् चोद्यं "सत्तादिः यत् स्वतो विष्णोः तस्मादन्यः स सर्वत" इत्यादिना परिहर्तव्यम्।।५०।।

**रा०कृ०** स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः तिर्यग्जना अपि परस्परहिंसाजीविनः गजवानरपक्ष्यादयोऽपि अद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षाः अद्भुतक्रमः परमाश्चर्यचेष्टितो भगवान् परायणं परमप्राप्यं वस्तु येषां तेषां भगवद्भक्तानां शीलस्य शिक्षा अभ्यासो येषां ते तथाभूताः यदि भवन्तीति शेषः। ते वै तेऽपि देवमायां विदन्ति अतितरन्ति च। अस्यां स्थितौ ये जनाः श्रुतधारणाः वेदादिविद्यामुखेन श्रुते भगवत्तत्त्वे धारणावन्तः भवन्ति तेऽपि देवमायां विदन्ति अतितरन्ति इति किमु वक्तव्यमिति भावः।

ननु 'ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायाम्' इत्यत्र देवमायापदस्य देवसम्बन्धिनी माया इत्यर्थः। तथा च भगवान् परमेश्वरो मायावान् वञ्चक इत्यर्थः सिध्यति। एवं वैषम्यपर्यवसायिवञ्चकत्वयोगात् तस्मिन् भगवति "समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः" (भ.गी.9-29) इत्युक्तिः कथं

1. M.Ma. "मानु" 2. M.Ma. "ल" 3. A. तत्त्वेन

सङ्गच्छते? उच्यते - "अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा"(भ.गी.7-6) ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये। "मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि" (भ.गी.7-12) इत्यादिभगवद्गीताव-चनानुसारेण सकलजगदुत्पत्तिहेतुभूतात् भगवत एव सत्वरजस्तमोगुणात्मिका प्रकृतिः जायते। एतद्गुणमय्येव दैवी माया पूर्वोक्ता। 'देवमाया'। मायायाः प्रभुरपि भगवान् स्वयं न तया कमपि जनं प्रतारयितुमिच्छति। प्रत्युत संसारबद्धो जन एव मायातत्त्वमनभिज्ञाय तया प्रतार्यते। तथाहि - या मा तद्रूपा आत्मरूपा न भवति सा 'माया' गुणत्रयात्मिका प्रकृतिः। तस्याः प्रकृतेः गुणैः क्रियमाणानां कर्मणां कर्तृत्वम् आत्मन्यारोप्य जीवो बद्धो भवति। अर्थात् मायाबद्धो भवति। मायातत्त्ववेत्ता तु न बध्यते। तदुक्तं गीतासु "तत्त्ववित्तु महाभागो! गुणकर्मविभागयोः। गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते" (भ.गी.3-28) इति एवं भगवान् मायावानपि न जीवान् वञ्चयति। किन्तु जीवा एव अज्ञानवशात् प्रकृतिगुणान् आत्मन्यारोप्य बद्धाः भवन्तीति भगवति न कोऽपि दोषलेशः।

अपि च मायायाः प्रकृतिमयत्वात् प्रकृतिकारणस्य च ईश्वरत्वात् मायातरणमपि ईश्वराश्रयणायत्तमेव। उक्तं च गीतासु - "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते"(भ.गी.7-14) इति एतद्भगवत्प्रपत्तिसाधन मेव श्रीमद्भागवतम्।

किञ्च भगवत्प्रपन्नाः स्त्रीशूद्रादयोऽपि मायां तरन्तीति कथनेन मोक्षप्राप्तौ जातिलिङ्गादयो न प्रति-बन्धका इति केवलप्रपत्तिरेव प्रयोजिकेति च ज्ञायते। श्रूयते च देवालयादिषु भ्रमतां खगशुनकग-वादीनां सत्कथाश्रवणासक्तिः। श्रीकालहस्तीश्वरसन्निधौ ऊर्णनाभिप्रभृतीनां भगवदाश्रितानां मोक्षप्राप्तिरपि लोकप्रसिद्धा हि। तथा च भक्तिज्ञानादिमद्भिः भगवत्प्रपन्नेषु सर्वेषु प्राणिषु सावधानैः भवितव्यमिति तत्त्वम्।।४६।।

विशोकं स्वयं शोकरहितं स्वभक्तानां च शोकनाशकम्, अत एव अजस्रसुखं सदानन्दरूपं शश्वत् सदा प्रशान्तं सुखदुःखादिद्वन्द्वविरहितम् अत एव अभयं स्वयं भयरहितं स्वाश्रितानां च भयनिवर्तकम्, प्रतिबोधमात्रं प्रज्ञानघनं, शुद्धं पुण्यपापादि मलविरहितम् समं सर्वसमम्, सदसतः स्थूलसूक्ष्मरूपात् प्रकृतिकार्यात् परं भिन्नं, आत्मतत्त्वं आत्मनो ज्ञातुस्तत्त्वं स्वरूपं यद्ब्रह्मेति विदुः वेदविदो जानन्ति, यत्र पुरुकारकवान् कर्तृकर्मादिविविधकारकवान् क्रियार्थः यज्ञादिक्रियाप्रयोजनकः शब्दः न, न प्रवर्तते ब्रह्मप्रतिपादनसमर्थो न भवति। माया यस्य अभिमुखे विलज्जमाना सती परेति यस्मात् दूरतो याति तद्वै तदेव भगवतः परमस्य पुंसः परमपुरुषस्य पदं स्वरूपं भवतीति शेषः। इदानीं तत्परमपुरुषाश्रितानां कृतार्थतोच्यते सध्र्यङ् सहचरं मन इति शेषः। यं परमपुरुषं प्रति नियम्य यस्मिन् स्थिरं विधाय यतयः यत्नशालिनः अकर्तहेतिं कर्तो भेदः अकर्तोऽभेदः तस्य हेतिं उपकरणं स्वराट् स्वयं राजमानो दरिद्रः इन्द्रः सन् निपानखनित्रमिव कूपादिखननसाधनमिव जह्युः त्यजेयुः। विशोकत्वाजस्रसुखत्वशश्वत्प्रशान्तत्वादिलक्षणलक्षितं यत् ब्रह्मेत्युच्यते तदेव भगवतः परमपुरुषस्य

स्वरूपम्। तस्मिन् परमपुरुषे च नियमितमनस्काः यतयः, दरिद्रः इन्द्रवैभवप्राप्यनन्तरं कुपादिखननसाधनमिव भेदनिराससाधनं त्यजन्तीति भावः।।४७,४८।।

भावस्वभावविहितस्य भावानां महदादीनां स्वभावेन परिणामेन विहितस्य कृतस्य अस्य सतः नामरूपात्मकसकलप्रपञ्चस्य प्रसिद्धिः प्रवृत्तिः यतो यस्मात् भवति सः भगवान् श्रेयसामपि धर्मादि-पुरुषार्थानामपि विभुः सर्वव्यापकत्वात् सर्वात्मकत्वाच्च दातुं समर्थः। स्वधातुविगमे स्वधातूनां स्वारम्भकधातूनां पृथिव्यादिभूतानामिति भावः। विगमे वियोगे सति अनु तदनन्तरं देहे विशीर्यमाणे नाशं प्राप्तेऽपि तत्र तत्रत्यः अजः पुरुषः जीवः तत्रत्यं व्योमेव आकाशमिव न विशीर्यते न नश्यति। तादृशस्य पुरुषस्य श्रेयो विधातुं पूर्वोक्तो भगवान् समर्थ इति भावः।।४९।।

तात! हे नारद! सोऽयं विश्वभावनः सर्वजगत्कारणभूतः भगवान् वासुदेवः ते तुभ्यं समासेन सङ्ग्रहेण अभिहितः मया कथितः। सदसत् स्थूलसूक्ष्मरूपं कार्यकारणात्मकं यत् वर्तते तत्सर्वं हरेः वासुदेवादेव भवति नान्यस्मात् अन्यस्मात् न भवति, अतोऽन्यच्च ततो भगवतो भिन्नं च किमपि नास्तीति शेषः।।५०।।

**इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम्।**
**सङ्ग्रहोऽयं विभूतीनां [1]त्वमेतद्[2] विपुलीकुरु।।५१।।**

**राजोवाच**

**यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति।**
**सर्वात्मन्यखिलाधार इति सङ्कल्प्य [3]वर्णय।।५२।।**

***नृजन्मनि न तुष्येत [4]कृतेन भगवान् यदि।**
**[5]धर्मार्थकामैः किं तर्हि कार्यं सिद्ध्यति नश्वरैः।।५३।।**

**कृष्णे [6]यद्यपवर्गेशे भक्तिस्स्यादनपायिनी।**
**किं स्याद्वर्ण[7]समाचारैः[8] किं दानैः किं तपःश्रुतैः।**
**[9]सर्वाघहोत्तम[10]श्लोके नो चेद्भक्तिरधोक्षजे[11]।।५४।।**

---

1. M.Ma. तदेतत् 2. H. "तं; V. "वं 3. AF.GF. वर्ण्यताम् *A.C.G.I.N. Omit VV 53&54 and also not comamented by Sridhara 4. H.V. किं कायमनृनश्वरैः; M.Ma. किं फलंयमनश्वरे 5. H.M.Ma. V. Omit धर्मार्थ.....नश्वरैः 6. B. नचोत्तमश्लोके चेद्भक्तिरनपायिनी 7. B.H.M.Ma.V. "र्णाश्रमा" 8. B. "चारदानहोमादिभिःकृतैः 9. B. Omits सर्वाघ.....रधोक्षजे 10. H.M.Ma.V. "श्लो" 11. H.M.Ma.V. न

**मायां[1] वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदितः[2]।**
**शृण्वतः श्रद्धया नित्यं माययाऽऽत्मा न मुह्यति।।५५।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
द्वितियस्कन्धे ब्रह्मनारदसंवादो नाम सप्तमोऽध्यायः।।७।।

**श्रीध० इदमिति**। अयं च विभूतीनां सङ्ग्रहः उदितः[3]।।५१।।

**यथेति**। यथा वर्णितेन नृणां भक्तिः भविष्यतीत्येवं सङ्कल्प्य संचिन्त्य तथा हरिलीलाप्राधान्येन श्रीभागवतं वर्णय न तु भक्तिरसविघातेन[4] केवलं तत्त्वमित्यर्थः।।५२।।

ननु श्रीहरिलीला[5] मायाश्रया[6] किम् तद्वर्णनेन? इत्यत आह **मायामिति**[7]।।५३।।

इति श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वमिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां सप्तमोऽध्यायः।।७।।

**वीर०** स्वोक्तस्य[8] सङ्ग्रहस्य प्रामाणिकत्वं कथयन् त्वमप्येतत्प्रवर्तयेत्याह **इदमिति**। भगवद्विभूतीनाम् अयं संङ्ग्रह इति यत् इदं भागवतं भगवद्विषयत्वात् भगवता प्रोक्तत्वात् भागवतनामकं मे मह्यं भगवतोदितं एतत् इदं भागवतं त्वं विपुलीकुरु।।५१।।

वैपुल्यप्रकारमेवाह[9] - **यथेति**। सर्वात्मनि सर्वान्तरात्मनि अत एव सर्वाधारे भगवति नृणां भक्तिर्यथा भविष्यति यादृश वर्णनेनभविष्यति[10] तथा सङ्कल्प्य वर्णय इत्यर्थः।।५२।।

ननु त्रिवर्गे यथा भवेत् तथा वर्णयेति किं नोच्यते इत्यत[11] आह - **नृजन्मनीति**। मनुष्यजन्मनि कृतेन साधनकलापेन भगवान् न तुष्येत यदि तर्हि नश्वरैः धर्मादिभिः किं कार्यम्? किं प्रयोजनम्? न किमपि इत्यर्थः।।५३।।

"धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य[12]" (भाग.1-2-9) इति पूर्वोक्तरीत्या परस्परभगवद्भक्तौ उपयुज्यमानानामेव साफल्यं केवलानां तु वैफल्यमन्वयव्यतिरेकाभ्यामाह - **कृष्ण** इति। किं स्यादिति ग्रन्थः पूर्वोत्तरार्द्धाभ्यां

---

1. H.V. लीलां 2. H.V. दितुः 3. H.V. उक्तः 4. H.V. Omit "रस" 5. A.B. Omit श्रीहरि" 6. H.V. Omit "आश्रया 7. H.V. लीला" 8. A.B. Omit "स्य" 9. A.B. "माह 10. A. Omits भविष्यति 11. A.B. Omit इत्यत 12. W. ह्यपवर्गस्य

सम्बध्यते। अनपायिन्यव्यभिचारिणी समस्तदुरितनिवर्तके उत्तमः श्लोकः स्तवः यस्य सः तस्मिन् उत्तमश्लोके[1] अधोक्षजे भक्तिः न चेत् वर्णाश्रमाचारादिभिः किं स्यात् न किमपि इत्यर्थः।।५४।।

भगद्विभूतिवर्णनादीनां फलमाह - **मायामिति**। अमुष्य ईश्वरस्य मायां प्रकृतिं जगत्सृष्ट्यादि-प्रकारं इत्यर्थः। वर्णयतः अनुमोदतः श्रद्धया नित्यं शृण्वतश्च आत्मान्तःकरणं मायया मायागुणैस्तम-आदिभिः न मुह्यतीत्यर्थः।।५५।।

इति श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां श्रीभगवतचन्द्रचन्दिकायां
व्याख्यायां सप्तमोऽध्यायः।।७।।

**विज०** भगविद्विभूतिसङ्ग्रहरूपमिदं भागवतं पुराणं नृलोके प्रवर्तनाय त्वया व्यासाय विज्ञापनीय-मिति अभिप्रायवानाह - **इदमिति**। सर्गादौ यद्भगवतामे मम उदितं तदिदं भागवतं नाम प्रकाश्यो पदिश इति शेषः। कस्माद्भागवतमिति प्रकाश्यमिति तत्राऽह सङ्ग्रह इति। यत्रोद्यत इत्युक्तविभूतीनां सर्गे तु योऽहमित्याद्युक्तमायाविभूतीनां च सङ्ग्रहः क्रोडीकार इति हेतुगर्भः संक्षिप्योक्तमिति न श्रद्धेय-मिति तत्राह तदेतदिति। तदेतत् नृलोके ज्ञानप्रदानाय अवतीर्णव्यासरूपनारायणाय विज्ञाप्य विपुलीकुरु एतदर्थं विस्ताररूपं भागवतं पुराणं कुरु इति विज्ञापय इत्यर्थः "नाम प्राकाश्यसंभाव्यक्रोधोपगमकुत्सने" इति।।५१।।

एतदेवविशदयति - **यथेति**। यथा सात्त्विकप्रकृतीनां नृणां सर्वात्मनि सर्वस्वामिनि[2] अत एव अखिलाधारे भगवति सर्वोत्तमत्त्वज्ञानपूर्वकप्रेमलक्षणा भक्तिः भविष्यति इत्येवं हेतुपूर्वकं सङ्कल्प्य समर्थ्य समाधिभाषया सम्यक् कृत्वा शुकादिशिष्येभ्यो वर्णय इति विज्ञापय इत्यन्वयः।।५२।।

इतोऽपि हरिभक्तिजनकपुराणरचनमेव तव अवतारप्रयोजनं नान्यदिति अभिप्रेत्याह - **नृजन्मनीति**। भक्तिविषयोऽन्यस्तत्फलदोऽन्य इत्यत उक्तम् अपवर्गे शेति कृष्णे पूर्णबलप्राणात्मनि हरौ यद्यनपायिनी नित्या भक्तिः न चेत् न जायते चेत् नृजन्मा पुमान् यमनश्चरे यमात् अन्तकान्नाशं गच्छति नृजन्मनि न तुष्येत अलम्पुरुषार्थसाधनां बुद्धिं नाप्नुयात्। धर्मादि फलमस्तीत्यत्र आह किं फलमिति। धर्मादेः अनित्यस्वर्गादिफलं किं नैव फलमल्पफलत्वादित्यर्थः। तस्मात् कृष्णभक्तेरेव नृजन्मफलत्वात् तत्प्रतिपादकपुराणकरणे विज्ञापनं युक्तमिति भावः।।५३।।

---

1. W. Omits उत्तमश्लोके 2. Ma. "स्यात्म"

किं फलमित्युक्तं विवृणोति - **किं स्यादिति**। किंस्यादिति आक्षेपः। तदुक्तं "आक्षिप्यते" किमित्येतत् यत्राल्पफलता भवेदिति "प्रश्ने क्षेपे विकल्पे कि" मिति यादवः।।५४।।

भागवतपुराणोक्तप्रकारेण भगवति भक्तिं कुर्वतः पुंसः पुत्रकलत्रादिलक्षणा माया संसारहेतुः न स्यात्। अतः एतत् पुराणकरणं विज्ञापनीयमिति भावेन आह - **मायामिति**। अमुष्येश्वरस्य जगत्स्रष्टृत्वादिलक्षणं मायां माहात्म्यं सद्गुरुमुखात् श्रुत्वा मननपूर्वकं सच्छिष्येभ्यो वर्णयतः तथा तां मायां श्रद्धया अनुमोदतः अनुमोदमानस्य तथा व्याख्यानाद्यशक्तया श्रुण्वतो यावज्जीवं श्रवणैकपरायणस्य पुंसः आत्मा मनो मायया बन्धकशक्तया न मुह्यति। अहङ्कारममकाराभ्यां न भ्रमतीत्यतः सर्वसज्जनपुरुषार्थकारणं भागवतकरणविज्ञापनमिति भावः अमुष्य ईश्वरस्येति सन्ध्यकरणेन अस्य भागवतस्य वेदसाम्यं सूचयति। यद्वा ईश्वरशब्देन शिवो नोच्यते तद्विलक्षणशीला ई लक्ष्मीः तस्या ईश्वरो नारायण इति द्योतयति, अत्र सवर्णदीर्घत्वम् अनुसंन्धेयमिति।।५५।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
द्वितीयस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः।।७।।

**रा०कृ०** यत् मे मह्यं भगवता उदितं पुरा कथितं तदिदं भागवतं नाम भागवतमिति प्रसिद्धम्। अयं विभूतीनां भगवद्विभूतीनां सङ्ग्रहः संक्षेपः अत्र कथितः इति शेषः। त्वं एतत् भागवतं विपुलीकुरु वैपुल्येन वर्णय।।५१।।

सर्वात्मनि अखिलाधारे भगवति हरौ नृणां यथा येन प्रकारेण भक्तिः भविष्यति तथेति सङ्कलय्य वर्णय भगवल्लीलाप्राधान्येन भागवतं वर्णय।।५२।।

अपवर्गेशे कैवल्यदायके कृष्णे अनपायिनी अचञ्चला भक्तिः स्याद्यदि भवेद्यदि तादृशभक्तिमान् नृजन्मनि मनुष्यजन्मनि न तुष्येत तुष्टिं न प्राप्नुयात् सः नरजन्मनि नानुरज्यत इति भावः। तर्हि तस्य कायं अनु शरीरमनुस्मृत्य नश्वरैः शरीरानुबन्धिभिः क्षयिष्णुभिः कलत्रपुत्रादिभिः धर्मादिभिः वा किम्? किं प्रयोजनम्?।।५३।।

सर्वाघघ्नोत्तमश्लोके सकलकलुषनिवारकपुण्ययशश्शालिनि भगवति अधोक्षजे वासुदेवे भक्तिः न चेत् न स्याद्यदि वर्णाश्रमाचारैः किं स्यात्? दानैः किम्? तपश्श्रुतैः तपोविद्यादिभिश्च किम्? न किमपि प्रयोजनमिति भावः।

सर्वत्र सर्वान्तर्यामिसन्दर्शनपरो जनो नरजन्मनि वा तदनुबन्धिषु कलत्रादिषु, धर्मादिषु वा बन्धहेतुं रागं न करोति। एवमेव वासुदेवभक्तिविमुखोऽपि सर्वान्तर्यामिणं विस्मृत्य केवलवर्णाश्रमाचारादिषु अनुरक्तश्चेत् तैः बध्यते न तु मुच्यते। अतः सर्वात्मना सर्वान्तर्यामिणि वासुदेवे भगवति अनन्या भक्तिरेव साधनीया इति भावः।।५४।।

अमुष्य पूर्वोक्तस्य ईश्वरस्य मायां लीलां वर्णयतः, अथवा अनुमोदतः अङ्गीकुर्वतः अथवा श्रद्धया नित्यं श्रृण्वतः पुरुषस्य आत्मा अन्तःकरणं मायया बन्धकशक्त्या न मुह्यति न मोहं प्राप्नोति। विश्वस्य विष्णुमयत्वात् तन्मायां विश्वस्मिन्ननुमोदमानोऽनुसन्दधानश्च जनो न तया बध्यत इति तत्त्वम्।।४५।।

इति श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां
व्याख्यायां सप्तमोऽध्यायः।।७।।

oooOooo

# अष्टमोऽध्यायः

**राजोवाच**

**ब्रह्मणा चोदितो ब्रह्मन् गुणाख्यानेऽगुणस्य च।**
**यस्मै यस्मै यथा प्राह नारदो देवदर्शनः।।१।।**

**एतत् वेदितुमिच्छामि तत्त्वं[1] वेदविदां वर!**
**हरेरद्भुतवीर्यस्य कथा लोकसुमङ्गलाः[2]।।२।।**

**कथयस्व[3] महाभाग! यथाऽहमखिलात्मनि।**
**कृष्णे निवेश्य निस्सङ्गं मनस्त्यक्ष्ये कलेबरम्।।३।।**

**शृण्वतः श्रध्दया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम्।**
**कालेन[4] नातिदीर्घेण भगवान् विशते हृदि।।४।।**

**प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।**
**धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्।।५।।**

## श्रीश्रीधरस्वमिविरचिता भावार्थदीपिका

अष्टमे देहसम्बन्धमाक्षिपन्नीशजीवयोः। बहून्परीक्षिदापृच्छत्पुराणार्थान् बुभुत्सितान्।।

त्वमेतद्विपुलीकुर्वित्युक्तम्, तदेव विपुलीकरणं पृच्छति **ब्रह्मणेति** त्रिभिः। अगुणस्य च[5] गुणातीतस्याऽपि। देववद्दर्शनं यस्य सः।।१,२।।

**कथयस्वेति**। निस्सङ्गं विषयसङ्गरहितं[6] मनः श्रीकृष्णे निवेश्येति स्वप्रयत्नो दर्शितः।।३।।

सोऽपि श्रद्धया शृण्वतो नाऽवश्यक इत्याह - **शृण्वत** इति। स्वचेष्टितं[7] स्वीयदिव्यचेष्टितं शृण्वतः गृणतश्च कथयतश्च स्वप्रयत्नं विनाऽपि भगवान् स्वयमेव हृदि विशति।।४।।

**प्रविष्ट** इति। स्वानां[8] स्वीयभक्तानां भावसरोरुहं हृदयकमलं कर्णरन्ध्रेण[9] प्रविष्टः[10] तद्गतं सर्वं शमलं पापं[11] धुनोति क्षालयति[12]। सलिलस्येति द्रव्यान्तरव्यामिश्रणादिना कुम्भस्थे जले शोधिते तदेव

---

1. B.H.I.V.W. तत्त्वं 2. AF.GF. योगे सु" 3. M.Ma. प्र" 4. M Ma. नानति" 5. B.H.V. Omit च 6. A.B. Omit विषयसङ्गरहितं 7. A.B. Omit स्वचेष्टि.....कथयतश्च 8. A.B. Omit स्वानां स्वीयभक्तानां 9. A.B. Omit कर्णरन्ध्रद्वारेण 10. B. adds च 11. A.B. Omit पापं 12. A.B. Omit क्षालयति

केवलं शुध्यति, न तु नदीतटाकादिगतम्[1]। स च मलः कुम्भस्यान्तः तिष्ठत्येव, न तु सर्वथा विलीयते। अत एव किञ्चिज्जलनेन[2] पुनः क्षुभ्यति च। एवं तपोदानादिप्रायश्चित्तं न सर्वथा सर्वेषां सर्वं[4] पापं धुनोति[5], किन्तु सावशेषम्, तदपि[6] कस्यचिदेव किञ्चिदेव। हृदि प्रविष्टमात्रस्तु श्रीकृष्णः सर्वेषां सर्वं पापं निश्शेषं हरतीत्यनेन दृष्टान्तेनोक्तं सलिलस्य मलं[7] यथा शरदिति।।५।।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

त्वमेतद्विपुलीकुर्वित्युक्तं विपुलीकरणं[8] राजा पृच्छति **ब्रह्मणेति**। हे ब्रह्मन्! शुक! देवदर्शनः परमात्मदर्शी नारदः ब्रह्मणा चतुर्मुखेन अगुणस्य सत्त्वादिप्राकृतगुणरहितस्य भगवतः गुणाख्याने गुणानुकथने चोदितः प्रवर्तितः यस्मै यस्मै प्रश्नायेति शेषः। यद्वा पृच्छते इति। यथा प्राह, यादृशमित्यर्थः।।१।।

एतन्नारदेन विस्तरेण वर्णितं वेदितुमहमिच्छामीति तत्तस्मात् हे वेदविदां वर! त्व मद्भुतवीर्यस्य हरेः लोकसुमङ्गलाः[9] लोकस्य[10] मङ्गलकराः कथाः।।२।।

कथयस्व, हे महाभाग! बुद्धिमन्! सर्वान्तरात्मनि कृष्णे निस्सङ्गं मनो निवेश्य कलेबरं त्यक्ष्ये भगवत्कथाः शृण्वन् तमेवावसाने स्मरन् देहं त्यक्ष्यामि अतः कथयस्वेत्यर्थः।।३।।

अल्पकालकथाश्रवणेन कथमवसाने स्मृतिः सम्पद्यते इत्यत आह - **शृण्वत** इति। भगवान् स्वचेष्टितं नित्यं श्रद्धया शृण्वतो गृणतः कथयतश्च[11] पुंसः हृदये नातिदीर्घेणाल्पेन कालेन विशति शृण्वतो गृणतश्च चित्तं तत्स्मरणप्रवणमेव भवतीत्यर्थः।।४।।

भगवतो हृदयप्रवेशफलमाह - **प्रविष्ट** इति। कर्णरन्ध्रेण कथाश्रवणद्वारा स्वानां भक्तानां भावसरोरुहं हृदयकमलं प्रविष्टः श्रीकृष्णः हृदयगतं शमलं रागादिरूपं मलं धुनोति निरस्यति यथा शरत्[12] शरत्कालः सलिलस्य शमलं[13] धुनोति तद्वदित्यर्थः।।५।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अस्मिन्नध्याये परीक्षित् भागवतपुराणप्रतिपाद्यं शुकं पृच्छति। तत्र प्रथमं नारदेन विरिञ्चाज्ञापालनं कथमकारीति भावेन पृच्छति **ब्रह्मणेति**। अगुणस्य नित्यनिर्मुक्तसत्त्वादिगुणस्य सर्वत्र प्रधानस्येति वा गुणाख्यान इति तादर्थ्ये सप्तमी। व्यासादन्यस्मै यस्मै।।१।।

---

1. A.B. "डागा" 2. B. "ञ्जा" 3. H.V. Omit न 4. H.V. Omit सर्वं 5. H.V. विधु" 6. A.B. तद्ध 7. H V. Omit मलं 8. A. "ल" 9. A.B. Omit लोकसुमङ्गलाः 10. A.B. "सु" 11. W. Omits कथयतश्च पुंसः 12. A.B. Omit शरत् 13. W. मलं

नारदव्याससंवादानन्तरं व्यासमुखविगलितभागवतोक्तहरिकथाप्रथनमेव मदभीष्टमितीदमेव तत्त्वं वेदितुमिच्छामीत्युक्तमिति भावेनाऽऽह हरेरिति।।२।।

यथा प्रथितश्रुतगुणोपसंहारपूर्वकं निस्सङ्गं मनः कृष्णे निवेश्याऽहमिदं कलेवरं त्यक्ष्ये तथा प्रथयस्वेत्यन्वयः।।३।।

श्रवणादिनेदं फलं स्यादित्याह - **शृण्वत** इति।।४।।

ततः किम्, तत्राऽऽह - **प्रविष्ट** इति।।५।।

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

हे ब्रह्मन्! शुकयोगिन्! अगुणस्य प्राकृतगुणातीतस्य भगवतः गुणाख्याने दिव्यगुणवर्णने ब्रह्मणा चोदितः प्रेरितः देवदर्शनः सर्वत्र परमात्मदर्शी नारदः यस्मै यस्मै पृच्छकाय यथा येन येन प्रकारेण प्राह अब्रवीत् तदेतत् वेदितुं ज्ञातुं इच्छामि। हे वेदविदां वर! महाभाग! अखिलात्मनि कृष्णे यथा अहं निस्सङ्गं कलत्रपुत्राद्यासक्तिरहितं मनः निवेश्य कलेबरं त्यक्ष्ये विसर्जयिष्यामि। तथा अद्भुतवीर्यस्य अचिन्त्यपराक्रमस्य हरेः लोकसुमङ्गलाः लोकानां परमश्रेयोहेतुभूताः कथाः कथयस्व, मह्यं कथय।।१-३।।

स्वचेष्टितं स्वस्य लीलां श्रद्धया नित्यं शृण्वतः गृणतश्च वर्णयतश्च पुरुषस्य हृदि मनसि नातिदीर्घेण स्वल्पेनैव कालेन भगवान् विशते।।४।।

कर्णरन्ध्रेण स्वकथाऽऽकर्णनावसरे श्रवणेन्द्रियद्वारा स्वानां स्वभक्तानां भावसरोरुहं हृदयपद्मं प्रविष्टः कृष्णः शमलं स्वभक्तहृदयगतं पापं शरत् शरत्कालः सलिलस्य नद्यादिगतस्य जलस्य शमलं यथा मालिन्यमिव धुनोति निरस्यति।।५।।

**धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति।**
**मुक्तसर्वपरिक्लेशः[1] पान्थः स्वशरणं यथा।।६।।**

**यदधातुमतो ब्रह्मन् देहारम्भोऽस्य धातुभिः।**
**यदृच्छया हेतुना वा भवन्तो जानते यथा।।७।।**

---

1. AF.GF. मुक्त स्सर्वपरिक्लेशैः

**आसीद्यदुदरात् पद्मं लोकसंस्थानलक्षणम्।**
**यावानयं वै पुरुष इयत्तावयवैः[1] पृथक्।**
**तावानसाविति[2] प्रोक्तः संस्थावयववानिव[3]।।८।।**

**अजः सृजति भूतानि भूतात्मा यदनुग्रहात्।**
**ददृशे येन तद्रूपं नाभिपद्मसमुद्भवः।।९।।**

**श्रीध०** ततश्च कृतार्थो भवतीत्याह - **धौतात्मेति**। धौतात्मा निष्पापः मुक्ताः सर्वे रागद्वेषादयः परिक्लेशाः येन सः पान्थः प्रवासादागतः स्वशरणं स्वगृहं[4] यथा न मुञ्चति तद्वत्।।६।।

तदेवं[5] श्रवणौत्सुक्यमाविष्कृत्य सन्निधानार्थान् पृच्छति **यदिति**। अधातुमतः धातवो महाभूतानि तत्सम्बन्धशून्यस्याप्यलौकिकस्यात्मनो[6] जीवस्य[7] धातुभिः देहारम्भ इति यदेतत्[8] किं यदृच्छया निर्निमित्तेन[9] वा हेतुना[10] कर्मादिना वा? भवन्तो यथावत् जानते, अतः कथयन्तु इति शेषः।।७।।

यश्चासौ ईश्वरः सोऽपि एतत् तुल्यदेहवान्[11] प्रोक्तः, अतः तस्य को विशेषः इत्याशयेन पृच्छति **आसीदिति** सार्धेन। लोकानां संस्थानं रचना तदेव लक्षणं स्वरूपं[12] यस्य तत् त्रैलोक्यात्मकं पद्मं यस्य उदरात् आसीत्। असौ ईश्वरः इयत्तायुक्तैः स्वपरिमितैरवयवैः[13] अयं लौकिकः पुरुषः यावान् यत्सङ्ख्याकावयवयुक्तः तावान् संस्थावान् प्रोक्तः, अवयववानिव[14] च प्रोक्तः। संस्था[15] आकारः अवयवाश्च विद्यन्ते यस्य इति संस्थावयववानिव, न परमार्थत इति शेषः।।८।।

अतः को विशेषः तस्य? इति अवश्यं च विशेषो वाच्य इत्याह - **अज** इति। अजो ब्रह्मा-भूतानां व्यष्ट्युपाधीनामात्मा नियन्ता समष्ट्युपाधित्वात् येन च अनुगृह्णता तस्य रूपं[16] ददृशे[17] दृष्टवान्। एतच्च "तस्याऽपि[18] द्रष्टुरीशस्य कूटस्थस्याखिलात्मनः। सृज्यं[19] सृजामि सृष्टोऽहमीक्षयैवाभिचोदितः।।" इत्यादिना उक्तमनूद्यते। अग्रे तु स्पष्टं भविष्यति।।९।।

**वीर०** ततश्च कृतार्थो भवतीत्याह - **धौतात्मेति**। धौतात्मा शुद्धमनाः पुरुषः कृष्णस्य पादमूलं न मुञ्चति? तदेव स्मरतीति भावः। कथम्भूतो न मुञ्चति? मुक्तसर्वपरिक्लेशः मुक्ताः सर्वे रागद्वेषादयः परिक्लेशाः येन सः। यथा पान्थः प्रवासादागतः स्वशरणं स्वगृहं न मुञ्चति तथा इत्यर्थः।।६।।

---

1. W. "वान् 2. W. Omits तावा.....वानिव 3. M.Ma. तथाऽ" 4. A.B. Omit स्व 5. H.V. "व 6. H.V. add "भौतिकस्या" 7. B. "भौतिक" 8. B.H.V. Omit जीवस्य 9. H.V. "त् 10. A.B. "त्त हेतुना 11. H.V. "ह. प्रो" 12. H.V. Omit स्व 13. H.V. "ताव" 14. H.V. "निति प्रो" 15. A.B. Omit संस्था.....शेषः 16. V. सृ" 17. B. स्वरू" 18. H.V. "ञ्चा" 19. B. "सृष्टं

एवं श्रवणौत्सुक्यमाविष्कृत्य अज्ञातानर्थान् प्रष्टव्यान् क्रमेण प्रवक्ष्यमाणः तावत् सन्दिग्धा[2]-नर्थान् पृच्छति - **यदिति**। हे ब्रह्मन्! अधातुमतः स्वरूपतः भौतिकदोषहीनस्य अस्य जीवस्य देहारम्भश्च धातुभिरेव स्यादिति तु ज्ञातमित्यर्थः। इदन्तु संशयविषयमित्याह स च देहारम्भः किं यदृच्छयाऽ-हैतुकः[3], हेतुना वा सहेतुको वा[4] इत्यर्थः। एतद्भवन्तो यथावत् जानते। अतः कथयन्तु इति शेषः।।७।।

योऽसा वीश्वरः सोऽपि जीवदेहतुल्यदेहवान् प्रोक्तः, अतः तस्य को विशेषः? यतस्तद्भजनात् पदे पदे मोक्ष इत्युच्यते, इत्याशयेन पृच्छति **आसीदिति** सार्धद्वयेन। लोकानां संस्थानं विन्यासो यस्मिन् तत्। तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्य तत् जगदाकारं पद्ममित्यर्थः। त्रिलोक्यात्मकं[5] पद्मं यस्य उदरात् आसीत् पृथग्विभक्तैः इयत्तायुक्तावयवैः[6] अयं पुरुषः लौकिकः पुरुषः यावान् यावत्प्रमाणः तावत्परिमाण एवाऽसौ ईश्वरः प्रोक्तः स्यात् परिच्छिन्नत्वेन प्रोक्त इति भावः *'स्वसंस्थावयवानिव, "तञ्जलान्" इतिवदयं निर्देशः, स्वसंस्थानभूतैः अवयवैः अन् जीवन् संसारी परिच्छिन्नः तद्वदित्यर्थः। अतो जीवपरयोर्विशेषः कथनीयः इत्यर्थः।।८।।

अन्यदपि पृच्छति **अज** इति। भूतात्मा[8] भूतानां व्यष्टिभूतानामात्मा नियन्ता, यद्वा स्वयं भूतारब्धदेहः नाभिपद्मसमुद्भवः अजो ब्रह्मा यदनुग्रहात् यस्य अनिरुद्धस्य अनुग्रहात् भूतानि व्यष्टिभूतानि सृजति येन चतुर्मुखेन तद्रूपं तदनिरुद्धरूपं दृदृशे[9] दृष्टम्।।९।।

**विज०** तत्फलमाह **धौतात्मेति**। पान्थः पथिकः स्वशरणं स्वगृहम्। "शरणं गृहरक्षित्रोः" इत्यभिधानम्।।६।।

इत्थं भागवतार्थकथनश्रवणादेः पुरुषार्थहेतुत्वमुक्त्वा स्वतश्चिद्रूपस्यादेहस्य देहसम्बन्धहेतुं पृच्छति - **यदिति**। अधातुमतः स्वतः प्रकृत्यादिधातुसम्बन्धरहितस्य नित्यस्य जीवस्याऽस्य धातुभिः प्रकृत्यादिभिः उपादानकारणैः देहारम्भोऽस्तीति यत्, तत् किं यदृच्छया? केवलेश्वरेच्छया निमित्तभूतया, उत अन्येन हेतुना कर्मणाऽत्र हरीच्छैव हेतुः, तां विना हेत्वन्तरमप्यस्तीति प्रश्नतात्पर्यम्। भवन्तः तदेतत् यथा यथावत् जानते तदस्माकं वदन्तु इति शेषः। धातुभिः नित्ययोगो नास्तीति अधातुमतः इति उक्तम् - "धातुर्वातादिशब्दादिगैरिकादित्वगादिषु। महाभूतेष्विन्द्रियेषु शब्दयोनिस्वभावयोः" इत्याभिधानम्।।७।।

पुराणाधिकारिलब्धये जीवानां बन्धहेतुं पृष्ट्वा श्रुतार्थमनुवदति **आसीदिति**। आदौ महाप्रलये श्रीसहायतया शयानस्य तस्य नारायणस्य सिसृक्षोः परमपुरुषतयाऽवतीर्य तत्त्वसृष्टिपूर्वकमण्डं सृष्ट्वा तैः

---

1. A.B. Omit प्र' 2. W. "ग्धार्थान् 3. A.B. "हे" 4. W. "ऽपि 5. W. त्रै" 6. A.B. "त्तावं *श्रीविरराघवीय व्याख्यानानुसारेण 'स्वसंस्थावयवानिव' इति तदादतः पाठ इति मन्यते। 7. W. "निति च 8. W. Omits भूतात्मा 9. A.B. Omit दृदृशे

*सत्त्वैः सह अण्डोदं प्रविश्य अण्डोदेऽपि शेषपर्यङ्के शयानस्य तस्य उदरात् लोकसंस्थानलक्षणं* चतुर्दशभुवनसन्निवेशरूपं पद्ममासीत्। स एवाण्डान्तः वैराजाख्योऽवतीर्ण इति यावत्। अयं पुरुषोऽण्डकोशः पुरुषाकारभगवद्रूपेण अधिष्ठितत्वात् पुरुष इत्युच्यते। पातालादिभिः इयत्तावयवैः इयत्तावच्छिन्नावयवैः यावान् यावत्परिमाणः असावपि वैराजो विष्ण्वाख्यस्तावान् तावत्परिमाण इति प्रोक्तः। तथाऽवयववानिव तदन्तःस्थितत्वात् तद्भिन्नत्वेऽपि तथा तादृशावयववानिव प्रोक्त इत्यन्वयः। वै इत्यनेन प्रोक्तार्थस्य प्रमाणसिद्धिं अयमाध्यात्मिकः शिरःपाण्यादिमान्। अस्मदादिदेहः पृथगियत्तावयवैः यावत्परिमाणोऽसौ अधिदैविको विराट् देहोऽपि तावत्परिमाण इति अपव्याख्यानस्य पापहेतुत्वञ्च सूचयति "समुञ्जये वै च पापे वाक्यारम्भप्रसिद्धयोः" इति।।८।।

आसीद्यदुरादित्युक्तभगवद्रूपदर्शनप्रकारं तदवस्थितिप्रदेशं च पृच्छति **अज** इति। भूतात्मा स्वसृष्टतत्तत्कार्यव्यापी सर्वविलक्षणाद्विष्णोः जातत्वादजो ब्रह्मा भूतान्यहङ्कारादिजीवान् तदभिमन्यमानानि च तत्त्वानि सृजति। सृष्टिरपि न स्वातन्त्र्यादित्युक्तम् यदनुग्रहादिति। पाद्मकल्पे च नाभिपद्मभवो विरिञ्चः स्वकारणं पद्मनाभं दिदृक्षुः येन प्रकारेण तद्रूपं ददृशे तस्योत्तरत्रान्वयः।।९।।

**रा०कृ०** धौतात्मा निर्मलीकृतान्तःकरणः, अत एव मुक्तसर्वपरिक्लेशः मुक्तसर्वविधरागादिपरिक्लेशः पुरुषः मुक्तसर्वपरिक्लेशः पान्थः स्वशरणं यथा स्वगृहमिव कृष्णपादमूलं न मुञ्चति।।६।।

हे ब्रह्मन्! अधातुमतः धातवः त्वङ्मांसरुधिरादिरूपेण परिणताः पृथिव्यादिपञ्चभूतरूपाः तत्सम्बन्धरहितस्य अस्य पुरुषस्य देहारम्भः धातुभिः शरीरनिर्माणमिति यत् तत् किं यदृच्छया निर्निमित्तमेव वा? उत हेतुना वा, अविद्याकर्मादिना वा? भवन्तो यथा जानते अवगच्छन्ति तथा कथयन्तु इति शेषः।।७।।

पृथक् पृथग्विधैः इयत्तावयवैः, इयत्ता परिच्छेदः। तेन युक्तैः परिमितैरित्यर्थः। करचरणादिभिः अवयवैः अयं प्राकृतः पुरुषः यावान् यावत्सङ्ख्याकावयवः प्रोक्तः लोकसंस्थानलक्षणं लोकविन्यास स्वरूपं पद्मं यदुदरात् यस्य नारायणस्य उदरात् आसीत्, असौ सोऽयमीश्वरोऽपि तावान् वै तावत्परिणाम एव संस्थावयववानिव शरीरावयववानिव इति प्रोक्तः कथितः।।८।।

भूतात्मा भूतानां व्यष्टिभूतानां व्यष्ट्युपाधीनामिति यावत्। आत्मनियामकः अजो ब्रह्मा यस्य नारायणस्य नाभिपद्मसमुद्भवस्सन् येन अनुगृह्णता भगवता तद्रूपं तस्य भगवतो रूपं ददृशे ददर्श।

---

1. A. Omits प्रोक्तः

किञ्च यदनुग्रहात् यस्य अनुग्रहात् भूतानि व्यष्टिप्राणिनः सृजति। एतदादिपञ्चदशश्लोकानां "सर्वमेतच्च भगवन् पृच्छते मेऽनुपूर्वशः। तत्त्वतोऽर्हस्युदाहर्तुम्" इति वक्ष्यमाणचतुर्विंशतितमश्लोकेनान्वयः।

नाभिर्नाम केन्द्रस्थानम्। तदेवावर्तसदृशं सर्वान्तर्यामिणो नारायणस्य स्वरूपे वर्तमानं सत् ब्रह्मोत्पत्तिनिदानं भवति, यद्धि कमले नोपमीयते। तन्नाभिकमलस्य पत्राणि लोका एव। विकसनशीलमुकुल एव बृंहणशीलो ब्रह्मा। ब्रह्ममुकुलस्य विश्वत्वेन विकासः सृष्टिरिति व्यपदिश्यते। सैषा वैविध्यं प्राप्नुवन्त्या केवलप्रज्ञया भवति।

एवमत्र "यदधातुमतो ब्रह्मन् देहारम्भोऽस्य धातुभिः। यदृच्छया हेतुना वा भवन्तो जानते यथा"। इति पूर्वश्लोके परीक्षिता कृतस्य प्रश्नस्य तेनैव समाधानमुक्तप्रायमित्यवगम्यते। तथाहि - यथा मुकुलस्य विकासे तत्स्वभावो निदानं भवति तथा पञ्चमहाभूतसंसर्गशून्यस्य आत्मनोऽपि जीवदेहारम्भे तत्स्वभाव एव मूलकारणम्। एवञ्च सृष्टेः कारणं किमिति प्रश्ने भगवतः स्वभावः अथवा इच्छा अथवा लीला इति सिध्यति। तदिदमेव सृष्टिकारणं भगवदनुग्रहत्वेन ब्रह्मणाऽपि व्यपदिष्टम्।।९।।

**स चाऽपि यत्र पुरुषो विश्वस्थित्युद्भवाप्ययः।**
**मुक्त्वाऽऽत्ममायां मायेशः शेते सर्वगुहाशयः।।१०।।**

**पुरुषावयवैर्लोकाः सपालाः पूर्वकल्पिताः।**
**लोकैरमुष्यावयवाः सपालैरिति शुश्रुम।।११।।**

**यावान् कल्पो विकल्पो वा यथा कालोऽनुमीयते।**
**भूतभव्यभवच्छब्द आयुर्मानञ्च यत् सतः।।१२।।**

**कालस्यानुगतिर्या तु लक्ष्यतेऽण्वी बृहत्यपि।**
**यावत्यः कर्मगतयो यादृशी द्विजसत्तम!।।१३।।**

**श्रीध०** प्रश्नान्तरमाह - **स चापि** इति। यत्र शेते येन रूपेणावतिष्ठते। विश्वस्य स्थित्यादयो यस्मात् एवमादिप्रश्नानां "तत्त्वतोऽर्हस्युदाहर्तुम्" इति सर्वेषामन्ते क्रियासम्बन्धः।।१०।।

प्रश्नान्तरमाह - **पुरुषेति**। 'पुरुषस्यावयवैः पूर्वं कल्पिता' 'यस्येहावयवैः लोकान् कल्पयन्ति' इत्यादौ "लोकाश्चामुष्यावयवाः" इति "पातालमेतस्य हि पादमूलम्" इत्यादौ च त्वन्मुखाच्छ्रुतवन्तो वयम्।।११।।

---

1. H.M.Ma.V.W. °गुणाश्रयः 2. AF.GF. °वत्कं 3. M.Ma. कृतम् 4. AF.GF. °मतियावत् 5. M.Ma. म° 6. M.Ma. °तीः 7. A. सर्वान्ते क्रियायाः स °; B. सर्वान्तक्रियायाः स ° 8. B. °देव श्रु°

एवं सन्देहविपर्ययाभ्यां पृष्टम्। इदनीमज्ञातान् बहूनर्थान् पृच्छति **यावानित्यादिना**। कल्पो महान्, विकल्पोऽवान्तरः भूतादिशब्दो यस्मात् यस्य वाचक इति वा। सतः स्थूल देहाभिमानिनो मनुष्यपितृदेवादेरायुषः प्रमाणम्।।१२।।

*अनुमानप्रकारः पृष्टः, विशेषप्रकारं पृच्छति - **कालस्येति**। अनुगतिः प्रवृत्तिः कर्मगतयः कर्मप्राप्यानि स्थानानि। यादृशीः यादृश्यः। अत्र आर्षत्वान्नथमार्थे द्वितीया। यादृश्य इति पाठे न काऽपि क्षतिः।।१३।।*

**वीर०** स भगवान् विश्वस्थित्युद्भवाप्ययः विश्वस्य स्थित्युद्भवाप्यया यस्मात्तथाभूतः मायाया नियन्ता आत्ममायां मुक्त्वा प्रकृतिमतीत्य जगद्व्यापारादुपरतः सर्वगुणाश्रयः पूर्णषाड्गुण्यः यत्र शेते, वसति तं देशं कथयस्वेत्यन्वयः।।१०।।

"यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति", "पाताल मेतस्य हि पादमूलम्" इत्युभयथा श्रवणात्तस्य कल्पभेदेनोपपत्तिं मन्वानः आशङ्कते पुरुषेत्यादिना। पुरुषावयवैः अनिरुद्धादुत्पन्नचतुर्मुखाख्यपुरुषावयवैः सपालाः सेशाः लोकाः पूर्वकल्पिताः पूर्वस्मिन् कल्पे कल्पिताः इदानीं त्वितरथेति शुश्रुम इत्याह - सपालैरिति। सपालैर्लोकैरमुष्य पुरुषस्यावयवाः कल्पिताः इति शुश्रुम, एवञ्च "धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इति श्रुतिविरोधः इत्यभिप्रायः।।११।।

अथ अज्ञातान् अर्थान् बहून् पृच्छति **यावानित्यादिना**। कल्पो महाकल्पः यावान् यावत्परिमाणकः विकल्पः अवान्तरकल्पकालभागः यावान् भूतभव्यभवदादिशब्दवाच्यः कालः यथाऽनुमीयते ग्रहसञ्चारादिनेति भावः। सतः कार्यस्य देवपितृमनुष्यादेरायुर्मानं आयुः परिमाणञ्च यत् तदप्युदाहर्तुमर्हसीत्यन्वयः।।१२।।

कालस्य या अण्वी सूक्ष्मा निमेषादिरूपा बृहती संवत्सरादिरूपा याऽनुगतिः प्रवृत्तिः लक्ष्यते साऽपि कथनीयेत्यर्थः। कर्मगतयः कर्मणः प्राप्यानि फलानि यावत्यः यावत्सङ्ख्याकाः यादृश्यः यत्प्रकारकाः। हे द्विजसत्तम!।।१३।।

**विज०** विश्वस्य स्थित्युद्भवाप्ययाः यस्मात्स तथोक्तः लक्ष्म्या ईशः ज्ञानानन्दादिसर्वगुणाना-

---

1. H.V. एतत् 2 H.V. °मविज्ञा° 3. A. °दि: 4. H.V. °हाद्यभि° 5. H.V. °व्यस्य 6. A.H.V. °धं पृ° 7. A.B. Omit अत्र.....क्षतिः। 8. W. Omits सेशाः 9. W. °त्वतथे° 10. W. °णः

**माश्रयः सृष्ट्यादौ गुणभूतानां ब्रह्मादीनामाश्रयो वा पुरुषः पुरुषाकारवान् स पद्मनाभः आत्ममायां स्वेच्छाधीनां बन्धकशक्तिं मुक्त्वा तत्प्रवर्तकत्वं विरम्य मुक्तप्रवर्तकत्वेन यत्र यस्मिन् लोके शेते।।१०।।**

अधुना पुनरपि श्रुतार्थमनुवदति - **पुरुषेति**। अण्डस्थितस्य वैराजाख्यस्य पुरुषस्य हरेर्निजावयवैः सपाला इन्द्रादिलोकपालैस्सहिताः पातालादयो लोकाः पूर्वकल्पिताः प्रथमं सृष्टाः। पातालादिलोकैरमुष्य वैराजस्य हरेर्बाह्यावयवाः कल्पिताः प्रतिमात्मकब्रह्माण्डावयवैः क्लृप्ता इत्यन्वयः। सपालैर्लोकैरमुष्यावयवाः प्रतिमावत्सङ्कल्पिता इति वा।।११।।

श्रुतार्थमनूद्याधुना प्रस्तुतपुराणार्थं पृच्छति -**यावान्** इत्यादिना। कल्पो ब्रह्मकल्पः द्विपरार्धाख्यः ब्रह्मणो दिनं वा यावान् यावत्परिमितः। विकल्पो मन्वादिकालो वाराहादिर्वा। भूतो भव्यो भवन्निति शब्दो यस्मिन् स तथोक्तः, अतीतानागतवर्तमानाख्य इत्यर्थः। यथा यथार्थतयाऽनुमीयते ज्ञायते कथं वाऽऽयुषो मानं प्रमाणञ्च येन कालेन कृतं सकालः।।१२।।

अण्वी परमाणुलक्षणा। महती परममहत्परिमिता। कालस्य गतिः साऽपि कथं लक्ष्यते। कर्मगतयः कर्मफलानि यावतीः कतिसङ्ख्यानि, यादृशीः कीदृशानि?।।१३।।

**रा०कृ०** विश्वस्थित्युद्भवाप्ययः विश्वस्य स्थितिजन्मलयानां कारणभूतः मायेशः अचिन्त्यशक्तिरूपमायायाः ईशो नियन्ता। सर्वगुहाशयः सर्वान्तर्यामी स चाऽपि पुरुषः परमपुरुषः आत्ममायां स्वमायाशक्तिं मुक्त्वा यत्र शेते, जगत्सर्गादिव्यापारात् उपरतः कुत्र वर्तते।।१०।।

पुरुषावयवैः पुरुषस्य विराट्पुरुषस्य अवयवैः सपालाः सेश्वराः लोकाः पूर्वकल्पिताः पूर्वं कल्पिता इति। सपालैः लोकैः अमुष्य पुरुषस्य अवयवाः कल्पिता इति च शुश्रुम त्वत्त एव वयं श्रुतवन्तः।।११।।

कल्पः महाकल्पः विकल्पो वा अवान्तरकल्पो वा यावान् यावत्परिमाणकः? भूतभव्यभवच्छब्दः भूतभविष्यद्वर्तमानव्यपदेश्यः कालः यथा येन प्रकरेण अनुमीयते? सतः कार्यभूतस्य देवपितृमनुष्यादिदेहस्य आयुर्मानञ्च आयुः प्रमाणञ्च यावत्परिमाणं इति शेषः।।१२।।

हे द्विजसत्तम! शुकयोगिन्! अण्वी निमेषादिरूपा सूक्ष्मा, बृहत्यपि संवत्सरयुगादिरूपा दीर्घा च या तु कालस्य अनुगतिः प्रवृत्तिः लक्ष्यते? कर्मगतयः कर्मभिः प्राप्याः गतयः स्थानानीति यावत्। यावत्यः यावत्सङ्ख्याकाः यादृशीः यादृश्यः यत्प्रकारकाः।।१३।।

**यस्मिन् कर्मसमावायो[1] यथा येनोपगृह्यते।**
**गुणानां गुणिनाञ्चैव परिणामम[2]भीप्सताम्।।१४।।**

**भूपातालककुब्व्योमग्रहनक्षत्रभूभृताम्।**
**सरित्समुद्रद्वीपानां सम्भव[3]श्चैतदोकसाम्।।१५।।**

**प्रमाणमण्डकोशस्य बाह्याभ्यन्तर[4]भेदतः।**
**महताञ्चानु[5]चरितं वर्णाश्रमविनि[6]श्चयः।।१६।।**

**युगानि युगमानञ्च धर्मो यश्च युगे युगे।**
**अवतारानुचरितं यदाश्चर्य[7]तमं हरेः।।१७।।**

**श्रीध० यस्मिन्निति**। गुणानां सत्त्वादीनां परिणामं देवादिरूपमिच्छतां गुणिनां जीवानां मध्ये यस्मिन् परिणामे कर्मणां पुण्यपापानां समवायः समुदायः केन कथं कृतेन कर्मसमुदायेन कोऽधिकारी देवादिभावं प्राप्नोतीत्यर्थः।।१४।।

**भूपातालेति**। भूपातालादीनां सम्भवः। एतानि ओकांसि येषां तेषां प्राणिनां च सम्भवः। यथेति सर्वत्रानुषङ्गः।।१५।।

**प्रमाणमिति**। वर्णानामाश्रमाणाञ्च विनिश्चयः तत्तत्स्वभावैः निर्धार[8]णम्।।१६।।

**युगानि** इति। युगे युगे प्रतियुगं नृ[9]णां यो धर्मो यञ्च हरेरवतारानुचरितम्।।१७।।

**वीर०** यस्मिन् देशे कर्मसमा[10]वापः कर्मणां फलनिष्पादनं येन देवादिभूतेन यथा उपगुह्यते यादृशं कर्मफलं प्राप्यते, तञ्च कथयेत्यर्थः। गुणानां सत्त्वादीनां गुणिनां जी[11]वानां च परिणामं परिणामहेतुं गुणिनां परिणामो[12] देवादिशरीरपरिग्रहहेतुः सविस्तरं परि[13]णामं वक्तुमर्हसि[14]।।१४।।

ककुभः दिशः, भूभृतः पर्वताः भूपातालादीनां सम्भवः एतानि भ्[15]वादीनि ओकांसि येषां तेषां प्राणिनां च सम्भवः। यथेति सर्वत्रानुषङ्गः।।१५।।

---

1. H.M.Ma.V. °मवायो; W. °मावापो 2. M.Ma. °माणं सुविस्तरम्; W. °णामं सविस्तरम् 3. M.Ma. °वडे° 4. M.Ma.W. °वस्तुनः 5. AF.GF. °रुं° 6. M.Ma. °र्णयम् 7. AF.GF. °मयं 8. A.H.V. °रः 9. A.B. Omit नृणां 10. A. °मव्वायः; B. °भावायः 11. A.B. Omit जीवानां 12. A.B. मे.....ग्रहे हेतुं 13. A.B. Omit परिणामं 14. A.B. °सीति 15. A. भूम्यां

अण्डकोशस्य तद्बाह्याभ्यन्तरवस्तुनश्च प्रमाणम् अण्डात् बाह्यवस्त्वावरणं महतां भागवताना मनुचरितं चरित्रं वर्णानामाश्रमाणाञ्च विनिश्चयः तत्स्वभावेन[1] निर्धारः।।१६।।

हरेराश्चर्यतममवतारानुचरितञ्च यत्तदपि युगानि युगस्वरूपं युगपरिमाणं युगे युगे प्रतियुगम् यो धर्मः[2]।।१७।।

**विज०** यस्मिन् कस्मिन् जीवे किं कर्मसमवायः यथा कथं येन केन स कर्मसमवायः उपगृह्यते। कर्मसमवायकर्ता कः? सत्त्वादिगुणानां परिमाणं गुणिनां महदादिजीवानां सामर्थ्यपरिमाणं गुणानां शब्दादीनाम्। गुणिनामाकाशादीनामिति व्याख्यानं न युक्तम्, परिमाणानुक्तेः। "देवासुरेभ्यो मघवान्" इत्यादिनोक्तेश्चान्यत्र।।१४।।

भूपातालादीनाञ्च परिमाणम् एतानि भूम्यादीनि ओकांसि येषां ते तथा तेषां सम्भवं उत्पत्तिञ्च।।१५।।

ब्रह्माभ्यन्तरे च वर्तमानस्य वस्तुनो हरेः परमाण्वादि परममहदन्तानां रूपाणाञ्च परिमाणं 'सत एव' इत्यादिना वक्ष्यमाणत्वात् महतां मरीचिकर्दमादीनाम् अनुचरितं वर्णानामाश्रमाणां विशेषतो निर्णयम्।।१६।।

यदाश्चर्यतममन्येषामिति शेषः। हरेरवतारानुचरितं तञ्च कति युगानि युगमानम्। वर्षैरियत्तया परिच्छेदः। अनुयुगं यो यो धर्मः तं तं च।।१७।।

**रा०कृ०** गुणानां सत्त्वादीनां परिणामं देवादिस्वरूपमभीप्सतां न प्राप्तुमिच्छतां गुणिनां चैव जीवानां मध्येऽपि येन अधिकारिणा यस्मिन् देवादिरूपे परिणामे निमित्ते सति कर्मसमुदायः यादृशः पुण्यपापकर्मसमुदायः यथा येन प्रकारेण उपगृह्यते स्वीक्रियते।।१४।।

भूपातालककुब्व्योमग्रहनक्षत्रभूभृताम्, भूः, पातालं, ककुभो दिशः, व्योम आकाशः ग्रहाः नक्षत्राणि, भूभृतः पर्वताः एतेषां सरित्समुद्रद्वीपानां च सम्भवः। तदोकसां भूपातालादिनिवासिनां सम्भवश्च यथा भवति।।१५।।

बाह्याभ्यन्तरभेदतः अण्डकोशस्य ब्रह्माण्ड्कोशस्य प्रमाणं कियत्? महतां महात्मनां भागवतानां अनुचरितं चरित्रं च कीदृशम्? वर्णाश्रमविनिश्चयश्च कीदृशः।।१६।।

---

1. A. तु तत्स्वरूपभावेन; B. तत्तत्स्वरूपभावेन 2. A.B. Omit यो धर्मः

युगानि कानि? युगमानञ्च युगानां परिमाणञ्च कियत्? युगे युगे प्रतियुगं, यो धर्मः प्रवर्तत इति शेषः। हरेराश्चर्यतमं अवतारानुचरितञ्च यत् यादृशम्।।१७।।

**[1]नृणां साधारणो धर्मः सविशेषश्च यादृशः।**
**श्रेणीनां राजर्षीणाञ्च धर्मः कृच्छ्रेषु जीवताम्।।१८।।**

**तत्त्वानां परिसङ्ख्यानं लक्षणं हेतुलक्षणम्।**
**पुरुषाराधनविधिर्योगस्याध्यात्मिकस्य च।।१९।।**

**योगेश्वरैश्वर्यगतिर्[2]लिङ्गभङ्गस्तु[3] योगिनाम्।**
**वेदोपवेदधर्माणामितिहासपुराणयोः।।२०।।**

**सम्प्लवस्सर्वभूतानां[4] विक्रमः प्रतिसङ्क्रमः।**
**इष्टापूर्तस्य काम्यानां[5] त्रिवर्गस्य च यो विधिः।।२१।।**

**श्रीध०** **[6]नृणामिति**। सविशेषो वर्णाश्रमनिबन्धनः श्रेणीनां तत्तद्व्यवसायोपजीविनां व्यवहार नियमलक्षणो धर्मः राजर्षीणां च[7] प्रजापालनाधिकारिणां कृच्छ्रेषु आपत्सु जीवतां सर्वेषाम्।।१८।।

**तत्त्वानाम्** इति। [8]सर्वेषां तत्त्वानां प्रकृत्यादीनां परिसंख्यानं संख्यालक्षणं स्वरूपं [9]हेतुलक्षणं तत्तत्कार्यहेतुत्वेन च लक्षणमित्यर्थः। पुरुषाराधनस्य विधिर्देवपूजायाः[11] प्रकारः अष्टाङ्गयोगस्य च विधिः।।१९।।

**योगेश्वरेति**। योगेश्वराणां [12]योगाभ्यासशालिनाम् ऐश्वर्येण अणिमादिना [13]गतिः अर्चिरादिगतिः। लिङ्गशरीरस्य भङ्गः [14]प्रलयः। वेदाः ऋग्वेदादयः, उपवेदाः आयुर्वेदादयः, धर्माः धर्मशास्त्राणि, तेषा मितिहासपुराणयोश्च [15]इतिहासः पुरावृत्तः सकलार्थप्रतिपादकः। पुराणं दशपञ्चलक्षणविशिष्टम्। [16]गतिः [17]तयोः स्वरूपम्।।२०।।

**सम्प्लव** इति। सम्प्लवोऽवान्तरप्रलयः। यद्वा सम्यक् प्लवनं उद्भवः। विक्रमः स्थितिः,

---

1. V. नृणां 2. M.Ma. "ति लि" 3. M.Ma. "ङ्गं च; W. "ङ्ग ङ्ग 4. M.Ma. "भ्यः 5. W. "मां" 6. V. नृ" 7. A.B. Omit च 8. B.H.V. Omit सर्वेषां 9. V. Omits लक्षणं 10. A.B. "तु तो" 11. A.H.V. "जाः" 12. A.B. Omit योगाभ्यासशालिनां 13. A.B. Omit गतिः 14. B. लयः; H.V. प्रविलयः 15. A.B. Omit इतिहासः.....विशिष्टम्। 16. A.B. Omit तयोः 17. B. Omits स्वरूपम्

प्रतिसङ्क्रमो महाप्रलयः, इष्टं यागादिरूपं[1] वैदिकं कर्म, पूर्तं तटाकवाप्यालयादिनिर्माणरूपं[2] स्मार्तं[3] कर्म। "वापीकूपतटाकादिदेवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते" इति। तत्र च[5] काम्यानामग्निहोत्रादीनां विधिः[6] त्रिवर्गस्य धर्मार्थकामानां[7] विधिरविरोधप्रकारः[8]।।२१।।

**वीर०**[9] साधारणः मनुष्यमात्रसाधारणः सविशेषः वर्णाश्रमविशेषनिबन्धनरूपविशेषयुक्तः श्रेणीनां तत्तद्व्यवहारोपजीविनां धर्मः व्यवहारनियमलक्षणः धर्मः राजर्षीणां प्रजापालनाधिकारिणां कृच्छ्रेषु आपत्सु जीवतां[10] यो धर्मः।।१८।।

तत्त्वानां महदादीनां परिसङ्ख्यानं सङ्ख्यालक्षणं स्वरूपं हेतुलक्षणं तत्त्वकाराणलक्षणं पुरुषाराधनविधिः परमपुरुषाराधनप्रकारः आध्यात्मिकस्य प्रकृतिविविक्तात्मस्वरूपविषयस्य योगस्य ज्ञान योगस्य प्रकारः।।१९।।

योगैश्वराणामैश्वर्याणि[11] अणिमादीनि तेषां गतिः स्वरूपं योगिनां लिङ्गभङ्गः शरीरपातः। वेदाः ऋग्वेदादयः। उपवेदाः धनुर्वेदादयः, तदुक्तधर्माश्च[12] तेषामितिहासपुराणयोश्च गतिः।।२०।।

सर्वभूतानां सम्भवः अवान्तरप्रलयः उत्पत्तिर्वा, विविधः[13] क्रमः विक्रमः स्थितिः प्रतिसङ्क्रमः संहारः महाप्रलयः। इष्टं वैदिकं कर्म, पूर्तम् स्मार्तम्[14] त्रिवर्गस्य धर्मार्थकामानां विधिः प्रकारः।।२१।।

**विज०** साधारणो धर्मो जातिमात्रप्रयुक्तः, अहिंसादिलक्षणो यो धर्मो विशेषसहितः यादृशः कीदृशः श्रेणीनां अङ्गरक्षकाणां धर्मो युद्धेषूच्यते, राजर्षीणां प्रियव्रतादीनां कृच्छ्रेषु आपत्सु जीवताम्।।१८।।

तत्त्वानां महदादीनां परिसंख्यानं सामान्यविशेषसङ्ख्या तेषां लक्षणं व्यावर्तकं धर्मं हेतोः कारणस्य ब्रह्मणो लक्षणं स्वरूपं पुरुषस्य विष्णोः आध्यात्मिकस्य परमात्मसम्बन्धिनो यमादियोगस्य भक्तियोगस्य च विधिः, तञ्च।।१९।।

योगेश्वरैश्वर्यगतिं योगेश्वराणां अणिमाद्यष्टैश्वर्यप्राप्तिम्, तेषां स्वरूपञ्च योगिनां यमादियोगाभ्याससिद्धानां वेदान्तदिशास्त्राभ्याससिद्धानाञ्च योगतो लिङ्गभङ्गं सूक्ष्मशरीरनाशकप्रकारं "स्थिरं सुखञ्च" इत्यादिनोक्तोऽयं "पानेन ते देवकथासुधायाः" इत्यादि पश्चाञ्च। ऋगादिवेदानां, आयुर्वेदाद्युपवेदानां,

---

1. A.B. Omit यागादिरूपं 2. A.B. Omit तटाक.....रूपं 3. A.B. Omit कर्म 4. A.B. "डागा" 5. H.V. Omit च 6. H.V. Omit विधः 7. A. धर्मार्थकामस्य; H.V. धर्म कामार्थरूपस्य 8. H.V. "नुष्ठान" 9. A.B. add योधर्मः 10. A.B. "विनां" 11. "गी" 12. W. "क्ताः धि" 13. W. "धमु" 14. A.B. Omit स्मार्तम्

वेदादिविहित वर्णाश्रमधर्माणाञ्च यः सम्भवः उद्धारादिः। तञ्च इतिहासपुराणयोः सम्भवः उत्पत्तिः।।२०।।

विक्रमो विविधचरित्रलक्षणः प्रतिसङ्क्रमः संहारः इष्टस्य यागादेः पूर्तस्य वापीकूपादेः काम्यानां कारीर्यादीनां त्रिवर्गस्य धर्मार्थकामलक्षणस्य।।२१।।

**रा०कृ०** नृणां साधारणः मानवमात्रेण अनुष्ठेयः धर्मो यादृशः? सविशेषः वर्णाश्रमाचाररूपो धर्मश्च यादृशः? श्रेणीनां विभिन्नव्यवहारोपजीविनां धर्मः यादृशः? राजर्षीणां राजानश्च ते ऋषयः राजर्षयः, राजानो भूत्वाऽपि ये ऋषिवद्वर्तमानाः तेषां धर्मो यादृशः? कृच्छ्रेषु आपत्सु जीवतां जीवनं नयतां धर्मो यादृशः?।।१८।।

तत्त्वानां महदादीनां चतुर्विंशतितत्त्वानां परिसंख्यानं परिगणना लक्षणं तेषां लक्षणं हेतुलक्षणं तत्तत्कार्यहेतूनां लक्षणं पुरुषाराधनविधिः परमपुरुषाराधनप्रकारः आध्यात्मिकस्य प्रकृतिविविक्तात्म-विषयस्य योगस्य विधिश्च कथं वर्तते? इति शेषः।।१९।।

योगेश्वरैश्वर्यगतिः योगेश्वराणां ऐश्वर्याणि अणिमादीनि तेषां गतिः, स्वरूपं योगिनान्तु, चार्थे तुः। लिङ्गभङ्गः लिङ्गशरीरत्यागप्रकारः। वेदोपवेदधर्माणां, वेदानां ऋगादीनां, उपवेदानां आयुर्वेदादीनां, धर्मशास्त्राणां च इतिहासपुराणयोरपि च गतिः स्वरूपं कथं वर्तते?।।२०।।

सर्वभूतानां कार्यकारणरूपेण स्थितानां पञ्चभूतानां सम्प्लवः उत्पत्तिः विक्रमः स्थितिः प्रतिस-ङ्क्रमः प्रलयः, इष्टापूर्तस्य, इष्टस्य यागादेः पूर्तस्य वापीकूपतटाकादेश्च, काम्यानां तत्तत्फलकामनया विहितानां कर्मणां च, त्रिवर्गस्य, त्रयाणां धर्मार्थकामानां वर्गस्य च यो विधिः कथं विद्यते?।।२१।।

**यश्चानुशायिनां[1] सर्गः पाषण्डस्य[2] च सम्भवः।**
**आत्मनो बन्धमोक्षौ च व्यवस्थानं स्वरूपतः।।२२।।**

**यथाऽऽत्मतन्त्रो भगवान् विक्रीडत्यात्ममायया।**
**विसृज्य वा[3] यथा मायामुदास्ते साक्षिवद्विभुः।।२३।।**

---

1. I.M.Ma.W. योवा 2. A.C.G.M.Ma.N. 'ख' 3. M.Ma. च

**सर्वमेतच्च भगवन् पृच्छते मेऽनुपूर्वशः।**
**तत्त्वतोऽर्हस्युदाहर्तुं प्रपन्नाय महामुने।।२४।।**

**अत्र प्रमाणं हि भवान् परमेष्ठी यथाऽऽत्मभूः।**
**परे चेहानुतिष्ठन्ति पूर्वेषां पूर्वजैः कृतम्।।२५।।**

**न मेऽसवः परायन्ति ब्रह्मन्ननशनादमी।**
**पिबतोऽच्युतपीयूषं अन्यत्र कुपितादिद्विजात्।।२६।।**

**श्रीध० य इति**। अनुशायिनां लीनोपाधीनां जीवानाम्। आत्मनो जीवस्य व्यवस्थानं बन्धमोक्षातिरिक्तस्वरूपेणावस्थानम्।।२२।।

**यथा** इति। उदास्ते प्रलये।।२३।।

**सर्वम्** इति। चशब्दादपृष्टमपि।।२४।।

**अत्र** इति। प्रमाणं सम्यक् ज्ञाता यतस्तव ब्रह्मनारदव्यासक्रमेण सम्प्रदायोऽस्तीति सामान्यन्यायेनाऽऽह-परे चेति। यद्वा त्वदन्ये प्रायशो गतानुगतिका एव न तत्त्वविद इत्याह - परे चेति।।२५।।

ननु तव अनशनाद्विजकोपाभ्यां व्याकुलस्य कुतः श्रवणं तत्राऽह - **नेति**। न परायन्ति नापगच्छन्ति न व्याकुलीभवन्तीत्यर्थः। अच्युतकीर्तिपीयूषं पिबतः।।२६।।

**वीर०** अनुशायिनां भुक्तशेषकर्मणा सह परलोकभ्रष्टानां सर्गः उत्पत्तिप्रकारः पाषण्डस्य पाषण्ड-धर्मस्य सम्भवः उत्पत्तिः आत्मनो जीवस्य बन्धमोक्षप्रकारः स्वरूपतो व्यवस्थानं मुक्तिदशाया मवस्थानं तत्प्रकार इत्यर्थः।।२२।।

आत्मतन्त्रः स्वतन्त्रः विभुः सर्वान्तरो भगवान् आत्ममायया स्वनियाम्यमायया यथा विक्रीडति पुनश्च मायां विसृज्य यथा येन प्रकारेण साक्षिवत् साक्षाद्द्रष्टृवत् उदास्ते प्रलये उदासीन आस्ते।।२३।।

एतत्सर्वं चकारादपृष्टमपि गुह्यं यत् तच्च पृच्छते प्रपन्नाय च मे मह्यं हे भगवन्! हे महामते!

---

1. W. "मते 2. AF.GF. भगवान् पर "3. H.I.V. अपरे चानु"; M.Ma.W. अपरे हानु" 4. W. "कैः 5. H.V. त्वन्मुखाब्जविनिस्रुतम्:, I. तद्वाक्याब्धिविनिस्रुतम्; M.Ma. त्वद्वाक्याद्धि विनिस्मृतम् 6. W. "च" 7. H.V. मलिनो" 8. H.V. अपरे 9. H.V. तद्विद 10. H.V. अपरे 11. A. Omits पिबतः 12. A.B. "ख" 13. A.B. "ख" 14. W. अव"

तत्त्वतः उदाहर्तुं उत्तरं वक्तुं त्वमर्हसि। अर्हताद्योतकमिदं विशेषणद्वयं भगवन्, महामते इति च। "उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवान्" इति हि स्मर्यते। महामतित्वञ्च त्रैकालिकवस्तुविषययाथात्म्यज्ञानवत्त्वम्।।२४।।

योग्यतामेव उपपादयति **अत्र** इति। अत्र पृष्टेष्वर्थेषु भवान् प्रमाणं सम्यक् ज्ञाता। तत्र दृष्टान्तः - आत्मनः परमात्मनः भूः जातः परमेष्ठी ब्रह्मा यथा प्रमाणं तद्वत्। ब्रह्मनारदव्यासक्रमेण सम्प्रदायोऽप्यस्तीत्याह - पूर्वेषामपि पूर्वजैः कृतं परेऽर्वाञ्चः अनुतिष्ठन्ति।।२५।।

ननु तव अनशनद्विजकोपाभ्यां व्याकुलस्य कुतः श्रवणं तत्रऽऽह - **न मे** इति। अत्र त्वत्सन्निधौ अच्युतपीयूषमच्युतकीर्तनरूपममृतं पिबतो मेऽमी असवः प्राणाः कुपितात् द्विजात्, अनशनादपि हेतोः न परायन्ति नापगच्छन्ति न व्याकुलीभवन्तीत्यर्थः।।२६।।

**विज०** प्रकृतावनुशयनात् अनुशायिनः संसारिणः तेषां सर्गादेः परिभ्रष्टानां स्वभावं वा आत्मनो जीवस्य मोक्षं विशिनष्टि व्यवस्थानमिति। यद्वा तारतम्येनावस्थानम्।।२२।।

आत्मतन्त्रे भगवानात्ममायया स्वेच्छया चित्प्रकृत्या च जगत्सृष्ट्यादिना यथा येन प्रकारेण विक्रीडति द्विविधात्ममायाऽस्ति स्वरूपभूता तद्वशा च इति। तत्र तद्वशया जीवं संसारयन् स्वरूपभूतया भक्त्यादिसाधनसम्पन्नं साधयन् संसारात् विमोचयन् सुखेन रमयन् पुनः तद्वशबन्धकशक्तिं विसृज्य साक्षिरूपपुरुषवत् निर्लेपो यथोदास्ते प्रकृतिं मुक्त्वा तिष्ठति - "द्वेधा चाऽऽत्ममाया तद्रूपा तद्वशा चेति, तद्वशया संसारयति स्वरूपया विमोचयत्युदास्ते" इत्यादि श्रुतेर्नानिर्वाच्या मायाऽत्रोच्यते।।२३।।

प्रश्नराशिमुपसंहरति **सर्वम्** इति। चशब्दात् अन्यददृष्टञ्च यदनुपूर्वशः पूर्वं वक्तव्यमिति प्रतीयते तत् क्रमेण उदाहर्तुमर्हसीति प्रपन्नाय इत्यनेन "आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा। आत्मतर्पणकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।।(पाञ्चरात्रे) इत्युक्तमर्थमात्मनः सूचयति। महामुने! इत्यनेन शुकस्य स्वप्रतिवचनसामर्थ्यसद्भावं सूचयति।।२४।।

सर्वज्ञस्याऽपि केनचिन्निमित्तेन अन्यथा वचनं सम्भाव्यत इति मन्दमत्याशङ्कां परिहरति **अत्रेति**। यथाऽऽत्मभूः परमात्मन उत्पन्नः परमेष्ठी सर्वजीवोत्तमो ब्रह्मा सर्वजनानां सर्वशास्त्रेषु प्रमाणं सम्यग्वक्तव्यत्वेन आप्ततमः तथा व्यासपुत्रो भवानपि अत्र अस्मदर्थे प्रमाणं हि यस्मात् तस्मात् उक्तं युक्तमिति

1. W. च विनाशं च भू° 2. A.B. Omit विषय 3. W. "कै: 4. A.B. "सर्पा" 5. W. "तिरू" 6. A.B. Omit अमी

एतदोवोपपादयति अपर इति। अपरे अन्ये पूर्वेषां मरीच्यादीना मपि पूर्वजैः ब्रह्मभवादिभिः कृतं शास्त्रार्थम् अनुतिष्ठन्ति हि प्रसिद्धम् "यद्यदाचरति श्रेष्ठः" (भ.गी.3-21) इत्यादौ। अनेनापरेऽनुतिष्ठन्तीति यस्मात् तस्मात्[1] परमेष्ठी प्रमाणम् अतो भवानप्यत्र प्रमाणमिति वाक्यार्थः उक्तो भवतीति।।२५।।

अनश्नतस्तव मनआदीन्द्रियदौर्बल्यात् अस्मदुक्तावधारणाशक्तेः अरण्यरोदनवत् व्यर्थमापद्यत इति तत्रऽऽह - **न मे** इति। न परायन्ति न मृतप्राया भवन्ति अशनादपि अतिबलहेतुरसायनपानात् इत्याह पिबत इति। अच्युतकथापीयूषम्।।२६।।

**रा०कृ०** अनुशायिनां भुक्तशेषपुण्यपापकर्मवासनावतां यः सर्गः सम्भवप्रकारश्च पाखण्डस्य वेदव्यतिरिक्तमार्गस्य सम्भवश्च प्रवृत्तिश्च आत्मनः जीवात्मनः बन्धमोक्षौ च स्वरूपतो व्यवस्थानञ्च मोक्षदशायां स्वरूपेणावस्थानप्रकारश्च कथं वर्तते।।२२।।

आत्मतन्त्रः स्वतन्त्रः भगवान् आत्ममायया स्वस्य शक्तिरूपया मायया यथा, विक्रीडति। यथा वा विभुः सर्वव्यापकः स भगवान् मायां विसृज्य साक्षिवत् केवलद्रष्टेव उदास्ते उदासीनः आस्ते।।२३।।

हे भगवन्! महामुने! शुकयोगिन्! प्रपन्नाय शरणागताय पृच्छते मे मह्यं एतच्च सर्वं मया यत्पृष्टं तत् सर्वमपि, तत्त्वतः याथार्थ्येन अनुपूर्वशः यथाक्रमं, उदाहर्तुं वक्तुमर्हसि।।२४।।

अत्र पृष्टेष्वर्थेषु आत्मभूः परमेष्ठी यथा ब्रह्मेव भवान् प्रमाणं हि सम्यक् विज्ञाता खलु। कुत इति चेत्। इह सभायां परे च येऽन्ये सन्ति ते पूर्वेषां व्यासादीनां पूर्वजैः पूर्वजातैः कृतं विहितमेव अनुतिष्ठन्ति आचरन्ति। त्वन्तु तव्द्यतिरेकेण ब्रह्मनारदव्यासक्रमागतसम्प्रदायेन तत्त्ववेत्तेति भावः। अथवा गतानुगतिकप्राचीनसम्प्रदायानुसारिब्रह्मवादिवैलक्षण्येन भवान् आत्मभूर्ब्रह्मेव परमेश्वरप्रसादात् स्वतस्सिद्धज्ञानवत्वात् अत्र प्रमाणमस्तीति भावः।।२५।।

हे ब्रह्मन्! अच्युत! पीयूषं अच्युतस्य भगवतः पीयूषं कथामयममृतं पिबतः मे मम अमी असवः प्राणाः कुपितात् द्विजात् अन्यत्र कुपितब्राह्मणहेतुकं मरणं विनेति भावः। अनशनात् भोजनाभावात् न परायन्ति नोत्क्रामन्ति। "त्वन्मुखाब्जविनिस्स्रुतम्" इति पाठे त्वन्मुखतः कथितं अच्युतपीयूषमित्यर्थः।।२६।।

---

1. A. Omits तस्मात्

**श्रीसूत उवाच**

**स उपामन्त्रितो राज्ञा कथायामिति[1] सत्पतेः।**
**ब्रह्मरातो भृशं प्रीतो विष्णुरातेन संसदि।।२७।।**

**प्राह[2] भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।**
**ब्रह्मणे भगवत्प्रोक्तं[3] ब्रह्मकल्प उपागते[4]।।२८।।**

**यद्यत् परीक्षिदृषभः पाण्डूनामनुपृच्छति।**
**आनुपूर्व्येण तत्सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे।।२९।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्याग्र्य-पारमहंस्यां संहितायां
द्वितीयस्कन्धे प्रश्नविधिर्नाम अष्टमोऽध्यायः।।८।।

**श्रीध० स** इति। उपामन्त्रितः पृष्टः सन् चाऽसौ पतिश्च तस्य।।२७।।

**प्राह**[5] इति। ब्रह्मकल्पे सृष्ट्युपक्रमकल्पे[6] भागवताख्याननैव प्रश्नानामुत्तरं दातुं उपक्रान्तवा-[7]नित्यर्थः।।२८।।

**यत्** इति। पाण्डूनामृषभः श्रेष्ठः आनुपूर्व्येणेति प्रस्तावक्रमोऽत्र विवक्षितो न तु[8] प्रश्नक्रमः।।२९।।

इति श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां अष्टमोऽध्यायः।।८।।

**वीर०** सूतवाक्यमाह[9] **स** इति। इतीत्थं सत्पतेः[10] सतां पत्युः भगवतः कथायां राज्ञा विष्णुरातेन विष्णुना[11] रक्षितेन परीक्षिता उपामन्त्रितः प्रवर्तितः ब्रह्मरातो ब्रह्म[12] ब्रह्मविषयकज्ञानं राति ददातीति[13] ब्रह्मरातः श्रीशुकः[14] सभायाम्।।२७।।

भागवतं नाम पुराणं प्राह - कथम्भूतं पुराणम्[15] ? ब्रह्मसम्मितं वेदतुल्यं परब्रह्मप्रमापकं[16] वा। ब्रह्मकल्पे सृष्ट्युपक्रमे उपागते प्राप्ते सति ब्रह्मणे चतुर्मुखाय भगवता प्रोक्तञ्चेत्यर्थः।।२८।।

पाण्डूनां ऋषभः श्रेष्ठः परीक्षित् यद्यत् अनुपृच्छति अन्वपृच्छत् तत्सर्वमनुपृष्टं सर्वमानु-

---

1. H.V. "थया मीति 2. H.M.Ma.V.W. आह 3. AF.GF. "ता प्रोक्तं 4. W. "पास्थि 5. H.V. आ" 6. B.H.V. "मे भा" 7. H.V. प्रक्रा" 8. A.H.V. Omit तु 9. W. Omits सूत.....इति। 10. A.B. Omit सत्पतेः 11. W. Omits विष्णुना रक्षितेन 12. W. Omits ब्रह्म 13. A.B. Omit ददाति 14. W. Omits श्रीशुकः 15. A.B. Omit पुराणम् 16. A.B. प्रापकं

पूर्व्येण प्रस्तावक्रमेण न प्रश्नक्रमेण आख्यातुं भागवताख्यानेनैव प्रश्नानामुत्तरं वक्तुमुपचक्रमे उपक्रान्तवान्।।२९।।

इति श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां अष्टमोऽध्यायः।।८।।

**विज०** सूतस्तावत् मुनिसंसदि राज्ञा पृष्टः शुकः किं प्रावोचत् इति शौनकादिमुनीनां मानसीं शङ्कां परिहरति **स** इति। मुनिसंसदि विष्णुरातेन विष्णुदत्तेन परीक्षिता सतां ब्रह्मादीनां पत्युर्हरेः कथाया मित्युपामन्त्रितः सत्कृत्य व्याख्यातुं व्यापारितोऽत एव भृशं प्रीतो ब्रह्मरातः शुको भागवतं नाम पुराणं तत्प्रश्नोत्तरत्वेनाऽऽहेत्यन्वयः। "बालोऽपि स गुरुत्वेन मुनिभ्यो ब्रह्मणा यतः। दत्तोऽतो ब्रह्मरातेति नाम वैयासकेरभूत्" इति वचनात् शुकस्य ब्रह्मरातत्वं नान्यस्येति।।२७।।

आप्तिमूलत्वमाह ब्रह्मण इति। अतीतब्रह्मप्रलयानन्तरं ब्रह्मकल्पे ब्रह्मान्तरोत्पत्तिनिमित्ते प्राप्ते सति स्वपुत्राय ब्रह्मणे भगवता नारायणेन प्रोक्तमाहेति शेषः।।२८।।

परीक्षित्प्रश्नप्रतिवचनतया शुकेनोक्तम् उत अन्यद्यत्किञ्चिदिति शङ्कां परिहर्तुमाह -**यद्यत्** इति ।।२९।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्या संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
द्वितीयस्कन्धे अष्टमोऽध्यायः।।८।।

**रा०कृ०** इति पूर्वोक्तप्रकारेण सत्पतेः सतामीश्वरस्य भगवतः कथायां विष्णुरातेन भगवता विष्णुना रक्षितेन राज्ञा परीक्षिता उपामन्त्रितः प्रार्थनापूर्वकं पृष्टः सः ब्रह्मरातः भगवता ब्रह्मणा सुतत्वेन व्यासाय दत्तः शुकयोगी भृशं प्रीतस्सन् संसदि सभायां ब्रह्मसम्मितं वेदतुल्यं, ब्रह्मकल्पे सृष्टिप्रारम्भे उपागते पुरा ब्रह्मणे चरुर्मुखब्रह्मणे भगवत्प्रोक्तं भगवता उपदिष्टञ्च भागवतं नाम पुराणं प्राह प्रोक्तवान्।।२७,२८।।

पाण्डूनां पाण्डुवंश्यानां राज्ञां मध्ये ऋषभः श्रेष्ठः परीक्षित् यद्यत् अनुपृच्छति अनुपृष्टवान् तत् सर्वं तत्पृष्टं सर्वमपि आनुपूर्व्येण प्रस्तावक्रमानुसारेण आख्यातुं वक्तुं उपचक्रमे प्रारेभे।।२९।।

इति श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां
व्याख्यायां अष्टमोऽध्यायः।।८।।

oooOooo

# नवमोऽध्यायः

**श्रीशुक उवाच**

**आत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः।**
**न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्न[1]द्रष्टु[2]रिवाञ्जसा।।१।।**

**बहुरूप इवाभाति मायया बहुरूपया।**
**रममाणो गुणेष्व[3]स्या ममाहमिति मन्यते।।२।।**

**यर्हि वाव[4] महि[5]म्नि स्वे परस्मिन् कालमाययोः।**
**र[6]मेत गतसम्मोहस्त्यक्त्वोदास्ते तदोभयम्।।३।।**

**आत्मतत्त्वविशुद्ध्यर्थं यदाह भगवानृतम्।**
**ब्रह्मणे[7] दर्शयन् रूपमव्यलीकव्रतादृतः।।४।।**

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

राजप्रश्नोत्तरं व[8]क्तुं ब्रह्मणे हरिणोदितम्। कथयामास नवमे शुको भागवतं पुनः।।१।।

तत्र यत्तावदुक्तं "यदधातुमत" इत्यनेन जीवस्य कथं देहसम्बन्धः? इति तत्रोत्तरमाह - **आत्ममायामिति**। आत्मनो हरेर्मायामन्तरेण अनुभवरूपस्यात्मनोऽर्थेन दृश्येन देहादिना सम्बन्धः अञ्जसा तत्त्वतो न घटेत। [9]तत्र हेतुः - परस्येति। स्वप्नद्रष्टुर्यथा स्वप्नदे[10]हसम्बन्धो न घटते तद्वत्।।१।।

[11]तस्मात् संसारोऽपि माययैवे[12]त्यर्थः। [13]अत एव अनेकरूपत्वं भजतीत्याह - **बहुरूप** इति। बहुरूपो बालयुवादिरूपो देवनरादिरूपश्चाभाति गुणेषु देहादिषु।।२।।

अत एव भक्तियोगेन तन्निरासे सति मोक्षोऽपि घटत इत्याह - **यर्हीति**। वाव शब्दः एवार्थे। स्वे एव महिम्नि यदा रमेत तदेवाऽऽह[14]। कालमाययोः पुरुषप्रकृत्योः परस्मिन् तदा उभयम् "अहं मम" इति च त्यक्त्वा उदास्ते [15]पूर्णरूपेणावतिष्ठते। तदुक्तम्- "यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्। परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते।। अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे। लोकस्याजानतो [16]विद्वांश्चक्रे सात्वातसंहिताम्" इति।।३।।

---

1 M.Ma."प्रे 2. H.V. "यंथाञ्ज" 3. C.N. "स्यां 4. M.Ma. चायं; W. वाऽयं 5. M.Ma. "त्वे स्वे 6. M.Ma. रमते 7. M.Ma. "णेऽदर्शयद्" 8 A.B. वक्ष्यन् 9. A. अत्र 10. "हादिना स" 11. A.B. Omit तस्मात् 12. A.B. "त्याह 13. A.B. Omit अत एव.....रूप इति। 14. H.V. "भे 15. B. परिपूर्ण रू" ; H.V. पूर्णस्वरू" 16. H.V. व्यासश्च"

यच्चोक्तम् - परमेश्वरस्यापि देहसम्बन्धाविशेषात् कथं तद्भक्त्या मोक्षःस्यात्? इति "आसीद्यदुदरात् पद्मम्" इत्यादिना तत्राऽऽह - **आत्मेति**। आत्मनो जीवस्य तत्त्वविशुद्ध्यर्थं तत्त्वज्ञानार्थं तद्भवत्येव। किं तत्? यत्तप इत्यादिना स्वभजनं भगवान् ब्रह्मणे आह। किं कुर्वन्? ऋतं सत्यं चिद्घनं रूपं दर्शयन्, दर्शने हेतुः - अव्यलीकेन व्रतेन तपसा आदृतः सेवितस्सन्। भगवान् उत्पत्तिविनाशादिषङ्गुणैश्वर्यशाली यदाह तद्वक्ष्यामीति शेषः। अयं भावः - जीवस्य अविद्यया मिथ्यारूपदेहसम्बन्धः। ईश्वरस्य तु योगमायया चिद्घनलीलाविग्रहाविर्भाव इति महान् विशेषः। अतः तद्भजनात् मोक्षोपपत्तिरिति।।४।।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ राज्ञः प्रश्नानामुत्तरं वक्तुं भागवताख्यानमारप्स्यमाणः तावत् जीवस्य देहारम्भः सहेतुको निर्हेतुको वेति प्रश्नस्य जीवदेहतुल्यपरिणामावयवत्वेन जीवतुल्यत्वप्रयुक्ताभजनीयत्वामोक्षप्रदत्वप्रश्नस्य मुक्त्वा आत्ममायां यत्र शेते तं च देशं कथयस्वेति प्रश्नस्य चोत्तरं नवमेनाध्यायेनोच्यते - तत्र सहेतुकत्वनिर्हेतुकत्वप्रश्नस्योत्तरं वदन् त्रिपाद्विभूतिविशिष्टस्य भगवतः कालमायावश्यत्वाभावं वक्तुं संसारिचेतनानां कालमायावश्यत्वमाह **आत्मेति**। अनुभवात्मनः अनुभवो ज्ञानं, तदात्मा स्वरूपम् यस्य तस्य अत एव परस्य देहादिभ्यो विलक्षणस्य जीवस्यार्थसम्बन्धः। भोग्यभूतशब्दादिविषयेषु भोक्तृतया सम्बन्धः। आत्ममायां परमात्मनियाम्यां मायां प्रकृतिं ऋते विना अञ्जसा सामीचीन्येन न घटेत न सङ्गच्छेत। तत्र दृष्टान्तः - स्वप्नद्रष्टुरिवेति। यथा स्वप्नद्रष्टुः "न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति अथ रथान् रथयोगान् पथःसृजते, कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः" इति श्रुत्युक्तरथादिपदार्थसम्बन्धः तदर्थ भगवन्मायामृते नोपपद्यते तद्वदित्यर्थः। प्रकृतितिरोहितस्वपररूपत्वात् प्राकृतेषु भोग्यबुद्धिरित्युक्तं भवति। एवं च प्रकृत्या तिरोहितस्वरूपत्वमेव देहारम्भे हेतुरित्यहेतुकत्वं निरस्तं भवति।।१।।

उक्तं विवृणोति **बहिति**। बहुरूपया विचित्रपरिणामिन्या भगवन्मायया तिरोहितज्ञानानन्दस्वरूपो जीवः देवमनुष्याद्याकारमात्मन्यारोप्य, बहुरूप इव आभातीत्यर्थः। अस्या मायाया गुणेषु सत्त्वादिगुणकार्येषु शब्दादिषु रममाणः शब्दादीन् भुञ्जानो ममाहमिति मन्यते। अहङ्कारममकाराभ्यां बद्धो भवतीत्यर्थः।।२।।

जीवप्रस्तावाद्यवस्थानं स्वरूपत इति जीवविषयप्रश्नान्तरस्योत्तरं वदन् सन् स्वरूपसाक्षात्कारे सति शब्दादिप्रावण्यनिवृत्तिरित्याह - **यर्हीति**। यर्हि यदा मुक्ता वित्यर्थः। स्वे स्वाभाविके कालमाययोः

---

1. B. Omits तत् 2. A. Omits तत्त्वज्ञानार्थं 3. A.B. Omit इति 4. A. adds भजते 5. A.B. Omit भगवान्... ..शेषः। 6. A B. Omit उक्तं 7. A.B. "स्वपररूप" 8. W. Omits भवति 9. A.B. Omit आ 10. W. Omits सन्

परस्मिन् कालमायाकार्यासंसृष्ट[1] महिम्नि अपहतपाप्मत्वादि सत्यसङ्कल्पत्व[2]पर्यन्तगुणाष्टकलक्षणे परमात्मशेषतैकरसस्य स्वात्मनो महिम्नि; यद्वा कालमाययोः परस्मिन्नियन्तरि महिम्नि उक्तविधपरमात्म महिम्नि। महिम्नो नियन्तृत्वं महिमवद्द्वारा। रमेत कथं[3] रमेत? गतसम्मोहः निवृत्ताहङ्कारममकारः तदोभयं प्रकृतिकालवश्यत्वं त्यक्त्वा हित्वा उदास्ते शब्दादिषु भोग्यसिद्धार्थप्रवृत्तिशून्यो भवतीत्यर्थः। अनेन आविर्भूतगुणाष्टकविशिष्टत्वेन अवस्थितिरेव स्वरूपतो व्यवस्थानं तादृशस्वरूपस्यापि स्वात्मनः आत्मभूतनिरतिशयानन्दपरब्रह्मानुभवः परब्रह्मशरीरभूतत्वेन स्वात्मानुभवो वा शब्दादिप्रावण्यनिवर्तक इति चोक्तं भवति।।३।।

यच्चोक्तं भगवतो[4]ऽपि जीववत् देहसम्बन्धाविशेषात् कथं तद्भजनेन मुक्तिरिति तस्योत्तरम्। कालमायावश्य[5]स्य जीवस्य कर्माधीनः प्राकृतो देहः, ईश्वरस्य तु अप्राकृतस्वेच्छोपात्तदिव्य[6]मङ्गलविग्रहवत्वमित्येवं रू[7]पं वक्ष्यन् कालमायावश्यजीवविल[8]क्षण भगवत्स्वरूपविशोधनं कथं ज्ञायत इत्यत्राऽऽह - **आत्मतत्त्वेति**। अव्यलीकव्रतादृतः निर्दिष्टव्रतेन आदृतः आराधितः भगवान् ब्रह्मणे चतुर्मुखाय रूपमप्राकृतं स्वीयं रूपं दर्शयन्नात्मतत्त्वविशुद्ध्यर्थं जीवविलक्षण परमात्म याथात्म्य विशोधनार्थं ऋतं सत्यं यद्वचनमाह, तद्वक्ष्यामीति शेषः। अदर्शयद्रूपमिति पाठे यथा अदर्शयत् तथा आहेत्यर्थः।।४।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

चतुर्मुखस्य भगवदनुग्रहेण तल्लोकदर्शनं तेन विनाभूतं तत्स्वरूपदर्शनं प्रकृतिजीवयो स्तदधीनत्वमित्यादिमाहात्म्यवर्णनेन हरेः हृदयद्रवीभावहेतुः भक्तिरेवेत्यतः सा हरौ कर्तव्या इत्यस्मिन्नध्याये प्रतिपाद्यते, तत्राऽऽदौ 'यदधातुमत' इत्यस्योत्तरं वक्ति **आत्ममायामिति**। परस्य धातुशब्दवाच्यार्थेभ्यः प्रकृत्यादिभ्यो व्यतिरिक्तस्यानुभवात्मनो ज्ञानात्मनोऽत एव स्वतोऽशरीरस्य जीवस्यात्ममायां हरेरिच्छां तदधीनां सत्त्वादिगुणरूपां प्रकृतिं च ऋते विना अर्थसम्बन्धो देहादिसम्बन्धो न घटेत। तथा स्वप्ने करितुरगादिपदार्थानां द्रष्टुः जीवस्य भगवदिच्छानियतैः वासनोद्बोधकैः रजस्तमोभावैः ऋते स्वाप्नपदार्थसम्बन्धः करितुरगादिदर्शनं न युज्यते। तस्माददेहस्य जीवस्य देहसम्बन्धे भगवदिच्छा प्रथमहेतुः, द्वितीया स्वगुणैस्सह प्रकृतिरित्युत्तरम्। अञ्जसा इत्यनेन "अशरीरस्य जीवस्य शरीरोत्पत्तिकारणम्, ईश्वरेच्छा प्राथमिकी तां विना न हि किञ्चन" इत्यादिप्रमाणं सूचयति। यद्वा अञ्जसा इदमेव तत्त्वं स्वप्नस्यार्थक्रियाकारित्वेन सत्यत्वात् असत्यस्य तदयोगात् नात्र अघटितघटनापटीयसी अनिर्वाच्यलक्षणा मायोच्यते किन्त्वीश्वरेच्छैव "सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः"(ब्र.सू.3-2-4) इति सूत्राच्चेति। "अञ्जसा त्वरिते तत्त्वे" (वै.को.8-7-31) इति यादवः।।१।।

---

1. A.B. "स्पृष्टे न" 2. W. Omits "त्व" 3. A.B. Omit कथं रमेत? 4. W. "तः जी" 5. A.B. "श्यजी" 6. A.B. Omit "मङ्गल" 7. A.B. Omit "रूपं 8. W. Omits "वि"

नन्वशरीरस्य जीवस्य भगवदिच्छानियतैः प्रकृतेः गुणैः देहारम्भः कथमत्राऽऽह- **बहुरूप** इति। ईशेच्छया अनादित एवास्याः प्रकृतेर्गुणेषु मूढ्ढट इतिवत् गुणकार्येषु देहेन्द्रियेषु च रममाणः सत्त्वादि गुणात्मकलिङ्गशरीरबद्धतया वर्तमानः सृष्टिकाले महदहङ्कारादिपञ्चभूतोपादानकत्वेन मानुषदेवासुर-शरीरादिबहुरूपत्वेन बहुरूपतया विकृततया प्रकृत्या सह स्वयमविकृतोऽपि तदभिमानाद्विकृतत्वेन आत्मानं च मन्यमानो बहुरूप इव मानुषादिरूप इवाभाति "अहं मनुष्योऽहं देव" इत्यात्मानं मन्यते, देहे दैहिकेषु त्रिगुणसम्पातजया अहंमत्या 'अहं मम' इति मन्यते चेत्यर्थः। तदुक्तम् - "तेषां सम्पातजो भावो ममाहमिति या मतिः" इति, "तस्मात् प्रकृत्यैव पुमान् मानुषादिविकारया। मानुष्यादिरिवाभाति नित्यं चैतन्यरूपवान्" इति च। तस्मादीशेच्छया नियतत्रिगुणात्मकलिङ्गशरीरेऽहंमानात् तन्मूलतया धातुभिर्देहारम्भो युक्त इति भावः।।२।।

एवं बन्धप्रकारमुक्त्वा ततोऽधुना जीवस्य मुक्तिप्रकारमाह - **यर्हीति**। चशब्दः एवार्थे। यर्हि यदाऽयं जीवो वैराग्यादिसाधनसामग्र्या समुत्पन्नभगवज्ज्ञानेनापरोक्षितनिजस्वरूपः कालमाययोः काल-प्रकृत्योः परस्मिन् विलक्षणे तच्छक्तिसंसर्गरहिते स्वे महित्वे सच्चिदानन्दलक्षणस्वरूपे रमते चाव्यवधा-नेन रमत्येव। स्वस्वरूपे तदागतसम्मोहो निरस्ताविद्यातत्कार्ये। उभयं वार्धक्याद्यापादकां मायां देहार-म्भहेतुभूतां च तन्मूलं संसारं त्यक्त्वेति यावत्। उदास्ते उत्कृष्टो वर्तते, नीचत्वापादकात् संसारात् मुक्तो भवतीत्यर्थः। तदुक्तम् - "यदा स्वरूपं जानाति कालप्रकृतिवर्जितम्। वासुदेवप्रसादेन तदा मुक्तो भव-त्यसौ।।" इति। अनेन सागुण्यं त्यक्त्वा नैर्गुण्यमाप्नोतीत्यपव्याख्यानमपास्तं तत्र प्रमाणाभावादिति।।३।।

अत्रापि किं प्रमाणमित्याशङ्क्य भगवदुक्तं भागवतमेवैतादृशमोक्षप्रमाणमित्याह - **आत्मेति**। आत्मनः परमात्मनो जीवस्य वा यत्तत्त्वमनारोपितं सच्चिदानन्दलक्षणरूपं तस्य विशुद्धयर्थं निर्दोषत्वेन निश्चयार्थमनुभवार्थं वा व्यासो भवान् यद्भागवतं पुराणमाह तदृतम्। यथोक्तं मुक्तिसाधनं ज्ञानसाधनं शास्त्रम्। न व्यामोहकमतो भगवदुक्तत्वेनोक्तमुक्तौ प्रमाणत्वात् त्वत्प्रश्नानामुत्तरत्वेन वदिष्यामीति शेष इत्यर्थः। प्रथमं तावत् पाद्मकल्पं विवक्षुः "दृश्ये येन तद्रूपम्" इति प्रश्नं प्रतिवक्ति ब्रह्मण इति। अव्यलीकेन प्रियत्वेन प्रसन्नताहेतुना व्रतेन भक्तिलक्षणेनादृतोऽर्चितः स हरिः स्वनाभिपद्मात् उत्पन्नाय ब्रह्मणे चतुर्मुखाय रूपमदर्शयन्निजमिति शेष इत्यन्वयः।।४।।

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

हे राजन्! आत्ममायां परमात्मनो मायां सङ्कल्पात्मिकां ऋते विना परस्य शरीरादि विलक्षणस्य अनुभवात्मनः ज्ञानस्वरूपस्य जीवस्य स्वप्रद्रष्टुरिव स्वप्नद्रष्टुः पुरुषस्येव अर्थसम्बन्धः अर्थेन दृश्येन शरीरादिना सम्बन्धः अञ्जसा याथार्थ्येन न घटेत न सङ्गच्छेत।।१।।

बहुरूपया देवमानवादिरूपेण बालतरुणादिरूपेण च परिवर्तमानया मायया हेतुना तत्प्रविष्टो जीवोऽपि बहुरूप इव आभाति। अपि चास्याः मायायाः गुणेषु गुणकार्येषु शब्दस्पर्शादिविषयेषु रममाणः आसक्तिमान् स जीवः मम मदीयोऽयं देहादिः अहं देहादिरिति च मन्यते।।२।।

यर्हि वाव यदैव जीवः कालमाययोःपरस्मिन् नियामके स्वे महिम्नि स्वपरमार्थस्वरूपे ब्रह्मभावे रमेत तदेकरूपतया सर्वेन्द्रियव्यापारं तन्मयं कुरुते तदा गतसम्मोहः उभयम् अहङ्कारममकारद्वयं त्यक्त्वा उदास्ते उदासीनो भवति। पूर्णस्वरूपेणावस्थितत्वात् संसारविमुक्तो भवतीति भावः।।३।।

अव्यलीकव्रतादृतः अव्यलीकेन निष्कपटेन व्रतेन तपोरूपेण व्रतेन आदृतः आराधितः, ऋतं सत्यं परमार्थभूतं रूपं सच्चिदानन्दस्वरूपं दर्शयन् भगवान् आत्मतत्त्वविशुद्ध्यर्थं आत्मतत्त्वज्ञानार्थं ब्रह्मणे यत्साधनमाह तद्वक्ष्यामीति शेषः।।४।।

**स आदिदेवो [1]जगतां परो गुरुः स्वधिष्ण्यमास्थाय सिसृक्षयैक्षत।**
**तां नाध्यगच्छद्दृशमत्र सम्मताम् प्रपञ्चनिर्माणविधिर्यया भवेत्।।५।।**

**[2]स चिन्तयन् द्व्यक्षरमेकदाम्भस्युपाशृणोत् द्विर्गदितं वचो विभुः।**
**स्पर्शेषु यत्षोडशमेकविंशं निष्किञ्चनानां नृप यद्धनं विदुः।।६।।**

**निशम्य तद्वक्तृ[3]दिदृक्षया दिशो विलोक्य तत्रान्यदपश्यमानः।**
**स्वधिष्ण्यमास्थाय विमृश्य तद्धितं तपस्युपादिष्ट इवादधे मनः।।७।।**

**दिव्यं सहस्राब्दममोघदर्शनो जितानिलात्मा विजितोभयेन्द्रियः।**
**अतप्यत स्माखिललोकतापनं तपस्तपीयांस्तपतां समाहितः।।८।।**

**श्रीध०** भगवद्भजनादेव तत्त्वज्ञानमित्येतत्प्रपञ्चयिष्यन् ब्रह्मणोऽपि [4]तत्त्वज्ञानं तत्प्रसादादेवेति दर्शयितुमितिहासमाह **स** इत्यादिना। परो गुरुः भक्तिरहस्योपदेष्टा स्वधिष्ण्यम् पद्ममास्थाय [6]अधिष्ठाय तस्य अधिष्ठानान्वेषणाय पूर्वं जले निमग्नः [8]पश्चात् परावृत्य [9]स्वधिष्ण्ये स्थित्वा इत्यर्थः। ऐक्षत [10]तत्कथम् स्रष्टव्यमित्यालोचितवान्। तां दृशं प्रज्ञाम्। अत्र सृष्टिविषये सम्मतामव्यभिचारिणीम्। [11]यया दृशा विधिः प्रकारः।।५।।

---

1. H.M.Ma.V. भजतां 2. M.Ma.W. संचि" 3. C.N. "क्त्र" 4. H.V. Omit तत्त्वज्ञानं 5. H.V. "क्तेः र" 6. B. Omits आस्थाय 7. V. Omits अधिष्ठाय तस्य 8. A. Omits पश्चात् 9. B. स्वाधिश्ये 10. H.V. "एतत्क" 11. A. Omits यया दृशा

**स** इति। सृष्टिं चिन्तयन् कदाचित् द्व्यक्षरं वचोऽम्भसि उपाश्रुणोत् उप समीपे श्रुतवान्। ते अक्षरे दर्शयति। कादयो मावसानाः स्पर्शाः तेषु यत् षोडशं तकारो यश्चैकविंशं पकारः वचसो निर्देशार्थं तदर्थमाह। हे नृप! निष्किञ्चनानां त्यक्तधनानां धनं यद्विदुः येन तपोधना इति प्रसिद्धाः। तञ्च द्विर्गदितं तपतपेति लोण्मध्यमपुरुषैकवचनम्। तस्य वीप्सां[2] आदरेण साधनविधिरूपां अशृणोदित्यर्थः।।६।।

**निशम्येति**। एवं निशम्य तस्य वचसो वक्तुर्दिदृक्षया ततःप्रचलितस्सन् दिशो विलोक्य पुनः स्वधिष्ण्यमास्थाय केनचित् प्रत्यक्षं नियुक्त इव तञ्चात्मनो हितं [3]विहितं विमृश्य तपसि मनो धृतवानित्यर्थः।।७।।

**दिव्यमिति**। ततश्च स [4]ब्रह्माऽखिलानां लोकानां तापनं प्रकाशकं तपोऽतप्यतस्म[6] कृतवान्। तपतपेत्येतस्य[7] वचसोऽर्थे अमोघं दर्शनं यस्य। जितोऽनिलः आत्मा मनश्च येन विजितान्युभयेन्द्रियाणि ज्ञानकर्मात्मकानि[8] येन। तपतां तपश्चरतां मध्ये तपीयान् अतिशयेन तपस्वी।।८।।

**वीर०** आत्मतत्त्वविशोधकं भगवदुक्तमेव उपपादयितुं इतिहासमाह **स** इति। जगतां व्यष्टिभूतानां परः प्रभुः गुरुः धर्मोपदेष्टा च आदिदेवः चतुर्मुखः स्वधिष्ण्यं भगवन्नाभिपद्मरूपं स्थानमास्थाय [9]अधिष्ठाय तस्य अधिष्ठानस्यान्वेषणाय पूर्वं जले निमग्नः पश्चात् परावृत्य स्वधिष्ण्ये स्थित्वेत्यर्थः। सिसृक्षया स्रष्टुमिच्छया ऐक्षत कथं स्रष्टव्यमित्यालोचितवान्। एवमीक्षमाणे ब्रह्मा यया दृष्ट्या प्रपञ्चनिर्माणविधिः जगद्रचनाप्रकारः भवेत् ज्ञातो भवेत्। अत्र सृष्टिविषये सम्मतां तां दृशं प्रज्ञां नाध्यगच्छत् न प्राप्तवान्।।५।।

**सञ्चिन्तयन्निति**। [10]सञ्चिन्तयन् प्रज्ञाप्राप्त्युपायं चिन्तयन्नेकदा कदाचित् द्विर्गदितं द्विरुक्तं द्व्यक्षरं वचः अम्भसि जले उपाशृणोत् उप समीपे श्रुतवान्। ते अक्षरे दर्शयति - "कादयो मावसानाः स्पर्शाः" तेषु यत् षोडशं तकारः यश्चैकविंशं पकारः वचसो[11] निर्देशार्थं तदर्थमाह - हे नृप! निष्किञ्चनानां त्यक्तधनानां धनं यद्विदुः येन तपोधना इति प्रसिद्धाः, तञ्च द्विर्गदितं तपतपेति लोण्मध्यमपुरुषैकवचनम्। तस्य वीप्सां सादरविधिरूपामश्रुणोदित्यर्थः।।६।।

**निशम्येति**। तप पेति वचो निशम्य श्रुत्वा तस्य वचसो यो वक्ता [12]तस्य दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छया ततः प्रचलितस्सन् दिशो विलोक्य तत्र दिक्षु अन्यत् वस्त्वन्तरं अपश्यमानः पुनः स्वधिषण्यमास्थाय उपादिष्ट इव केनचित् प्रत्यक्षं नियुक्त इव तञ्चात्मनो हितं विमृश्य तपसि मनः चित्तमादधे धृतवान्।।७।।

---

1. B. "टो म" 2. A.B. आदर' 3. A.B. Omit विहितं 4. B. Omits च 5. B. Omits ब्रह्मा 6. B. Omits स्म 7. B.H.V. "त्यस्य 8. H.V. "मणी 9. A.B. Omit अधिष्ठाय तस्य 10. A.B. Omit संचिन्तयन् 11. W. "चो निर्दे" 12. W. तहिह"

ततश्च स ब्रह्मा अखिललोकानां तापनं प्रकाशनं यस्मात्, ,तथाभूतं तपःदिव्यं सहस्राब्दं देवमानेन सहस्रवर्षपर्यन्तं अतप्यतस्म तपःकृतवान्। कथं भूतोऽतप्यत? तपतां तपश्चरतां मध्ये तपीयान् अत्यन्ततपस्संयुक्तः अमोघदृष्टिः स्वचरितव्ये तपसि अव्यर्था दृष्टिः। सङ्कल्परूपज्ञानं यस्य सः। जितः अनिलः प्राणवायुः आत्मा मनश्च येन सः। विजितान्युभयेन्द्रियाणि ज्ञानकर्मात्मकानि येन सः। एवम्भूतोऽतप्यतेत्यर्थः। स्मेति प्रसिद्धौ।।८।।

**विज०** एतदेव विवृणोति **स** इति। भजतां सनकादीनां स्वधिष्ण्यं नाभिकर्णिकास्थानमैक्षत अचिन्तयत्। यया दृशा अत्र प्रपञ्चनिर्माणे।।५।।

ततः किम्? अत्राऽऽह - **संचिन्तयन्निति**। कथं नु सृष्टिविषया दृष्टिः स्यादिति सञ्चिन्तयन् विभुर्ब्रह्मा द्वे अक्षरे यस्मिंस्तत् द्व्यक्षरं वचः अक्षरयोः स्वरूपं लक्षयति - स्पर्शेष्विति। ककारादि मकारान्तेषु स्पर्शेषु यत् षोडशमक्षरं तकारः, एकविंशं पकारः तद्रूपं वच इति यावत् तद्वाच्यं स्पष्टं लक्षयति - निष्किञ्चनानामिति। निष्किञ्चनानां परमहंसानां यद्धनं विदुः तद्वाच्यं वचनं तपोलक्षण-मित्यर्थः। "कादयो मावसानाः स्पर्शाः"।।६।।

किमनेन निरणायि इति तत्राऽऽह - **निशम्येति**। ब्रह्मा तद्वचो निशम्य श्रुत्वा येन एतद्वच उक्तं, तद्वक्तृदिदृक्षया दशदिशो विलोक्य तत्र तासु दिक्षु अन्यदपश्यमानः पद्मनालनाडीभिराविश्य अन्विष्य दृष्ट्वा स्वधिष्ण्यं पद्ममेव आस्थाय अध्यास्य तद्वचः तच्छ्रुतम् वचः आत्मनो हितं हितसाधनं विमृश्य अहं मज्जनकेन प्रपञ्चनिर्माणोपाये तव तपो न पूर्यते, तस्मात् पुनस्त्वया तपः कर्तव्यम्। तपेति वा तपस्युपादिष्ट आज्ञप्तोऽस्मीति वा आलोच्य तपसीव तपस्येव मन आदधे इत्यन्वयः।।७।।

विमर्शफलमाह - **दिव्यमिति**। अखिललोकतापनमखिललोकप्रकाशनं तपो ज्ञानरूपं ब्रह्मातप्यत आलोचयामास दध्याविति यावत्। "तपोरूपं परं ब्रह्म ब्रह्माचिन्तयदञ्जसा"। इति जितमनस्कत्वादि सर्वसाधरणमित्यतो विशिनष्टि - तपीयानिति। तपतां तपीयान् अत्युत्तमोत्तमः "द्विवचन विभज्योपपदे तरबीयसुनौ" इत्युत्तमार्थत्वे ईयसुन्। किं प्रमाणमित्यत उक्तं स्मेति। "स्मृतौ वृत्तौ निषेधे स्म" इत्यभि-धानात्। अनेन "महान् महीयसामादिं ब्रूयादत्युत्तमोत्तमम्" इत्येतत्सूचयति। विजितोभयेन्द्रियत्वाद्यपि तपश्च्य इतरेभ्यः आधिक्यसूचनाय उक्तमिति ज्ञातव्यम्। "यत्राधिकं वदेत् किञ्चित् ज्ञेयोऽर्थस्तत्र चाधिकः" इति वचनात्। अन्यथा तपोऽतप्यत इत्येतावदेवालम्। अतः उभयेन्द्रियजयोऽपि ब्रह्मणः औत्पत्तिको गुणः "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः" (कठ.उ.2-1-1) इति श्रुतेः। हरिमन्तरेण अमोघदर्शनत्वं चास्यैवाधिकं - "प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्धा जातानि परिता बभूव" इति श्रुतेः।।८।।

---

1. W. "स्राब्दप" 2. A.B. Omit स्म 3. A.B. Omit तपः.....ऽतप्यत 4. W. Omits प्राणवायुः 5. W. "त स्मेत्यर्थः 6. W. Omits स्मेति प्रसिद्धौ

**रा०कृ०** जगतामादिदेवः आद्यः स्रष्टा परो गुरुः सर्वज्ञानोपदेशकः सः ब्रह्मा स्वधिष्ण्यं भगवन्नाभिकमलरूपं स्वस्थानम् आस्थाय प्राप्य यद्यपि भगवन्नाभिकमलरूपस्थानस्थित एव ब्रह्मा, तथाऽपि 'स्वधिष्ण्यमास्थाय' इत्युक्त्या ब्रह्मा पुरा स्वाधिष्ठानगवेषणार्थं जले निमग्नः, तत्र तदधिष्ठानमलब्ध्वा ततः परावृत्य तन्नाभिकमलरूपं स्वधिष्ण्यं प्राप्तवानिति पूर्वेतिहासोऽत्र अनुसन्धेयः। सिसृक्षया जगत्स्रष्टुमिच्छया ऐक्षत कथं वा सृष्टिः कर्तव्या - इत्यचिन्तयत्। तथाऽपि यया दृशा प्रपञ्चनिर्माणविधिः जगत्सृष्टिप्रकारो भवेत्। अत्र प्रपञ्चनिर्मणविषये सम्मतां योग्यां तां दृशं प्रज्ञां नाध्यगच्छत् न प्राप्तवान्। अनन्ता सत्ता एवात्र जलपदेन व्यपदिश्यते। तत्र स्वाधिष्ठानमन्विष्यतो ब्रह्मणः तदलभ्यमेव, सत्तायाः आदिमध्यान्तशून्यत्वात्। ततश्च तदन्वेषणप्रयत्नमपहाय ब्रह्मा स्वस्थानाय प्रतिनिवृत्तः आत्मानं सकल- सङ्कल्पनिलयभगवन्नाभिकमलस्थमेवापश्यत्। इयमेव सर्वज्ञानोपदेशकस्य ब्रह्मणः स्वधिष्ण्यप्राप्तिः इत्युच्यते।।५।।

हे नृप! यत् द्व्यक्षरं वचः निष्किञ्चनानां तपस्विनां धनं विदुः जानन्ति कथयन्तीति भावः। किञ्च यद्वचः स्पर्शेषु कादिषु मावसानेषु स्वर्शाक्षरेषु षोडशं तंरूपं, एकविंशं परूपं च तप इति लोणमध्यमपुरुषैकवचनान्तं पदं भवतीति भावः। तत् द्विर्गदितं द्विरुक्तं द्व्यक्षरं तप रूपं वचः सः विभुः ब्रह्मा चिन्तयन् प्रपञ्चनिर्माणावश्यकप्रज्ञाप्राप्युपायमालोचयन्, एकदा अम्भसि जले उपाशृणोत् समीपे श्रुतवान्।

ब्रह्मणः प्रपञ्चनिर्माणावश्यकप्रज्ञाप्राप्युपायचिन्तनमेव तपोरूपेण परिणतमभूदिति भावः।।६।।

निशम्य तप तपेति वचनमाकर्ण्य। तद्वक्तृदिदृक्षया तस्य वचसो यो वक्ता तस्य दर्शनेच्छया दिशः विलोक्य तत्र दिक्षु अन्यद्वस्तु अपश्यमानः अपश्यन् स्वधिष्ण्यमास्थाय तद्वचनं हितमात्मनो हितं विमृश्य मत्वा उपादिष्ट इव केनचिदादिष्ट इव तपसि मनः आदधे कृतवान् तपः कर्तुं निरणैषीदिति भावः।।७।।

जितानिलात्मा जितप्राणवायुमानसः विजितोभयेन्द्रियः विजितानि वशीकृतनि उभयेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च येन तथाभूतः तपतां तपः कुर्वतां मध्ये तपीयान् श्रेष्ठः तपस्वी। अमोघदर्शनो ब्रह्मा समाहितः सावधानस्सन् अखिललोकतापनं सर्वलोकानां प्रकाशकम् आ६र्भावनिदानमित्यर्थः। तपो दिव्यं सहस्राब्दं दिव्यसहस्रसंवत्सरपर्यन्तं अतप्यतस्म कृतवान्।

प्राणायामसाहाय्येन इन्द्रियवृत्तीः वशीकृत्य अवस्थानं तपः। द्वात्रिंशदुत्तरचतुश्शतकोटि मानवसंवत्सरपरिमितकालो ब्रह्मणः एकं दिनं भवति। तादृशदिनैः षष्ट्युत्तरत्रिशतपरिमितैः ब्रह्मणः संवत्सरः एकः सम्पद्यते। तादृशसंवत्सरसहस्रपर्यन्तं ब्रह्मा तपश्चक्रे।।८।।

**तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितस्सन्दर्शयामास परं न यत्परम्।**
**व्यपेतसंक्लेशविमोहसाध्वसं स्वदृष्टवद्भिर्विबुधैरभिष्टुतम्।।९।।**

**प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रमः।**
**न यत्र माया किमुतापरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः।।१०।।**

**श्यामावदाताश्शतपत्रलोचनाः पिशङ्गवस्त्रास्सुरुचस्सुपेशसः।**
**सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणिप्रवेकनिष्काभरणास्सुवर्चसः**
**प्रवालवैदूर्यमृणालवर्चसः परिस्फुरत्कुण्डलमौलिमालिनः।।११।।**

**भ्राजिष्णुभिर्यः परितो विराजते लसद्विमानावलिभिर्महात्मनाम्।**
**विद्योतमानः प्रमदोत्तमाद्युभिः सविद्युदभ्रावलिभिर्यथा नभः।।१२।।**

**श्रीध० तस्मै** इति। तस्मै ब्रह्मणे स्वलोकं वैकुण्ठाख्यं परं श्रेष्ठम्। न यत्परं यतः परं उत्कृष्टं अन्यत् नास्ति। तमेव लोकमनुवर्णयति पञ्चभिः। व्यपेताः संक्लेशादयो यस्मात्। स्वदृष्टवद्भिः सत्पुण्यवद्भिः। यद्वा स्वस्य दृष्टं दर्शनमस्ति येषां तैः। आत्मविद्भिरित्यर्थः।।९।।

**प्रवर्तत** इति। तयोरिति ताभ्यां मिश्रं सत्त्वं च न प्रवर्तते। किन्तु शुद्धमेव सत्त्वम्। कालविक्रमो नाशः, अपरे रागलोभादयो न सन्तीति किमु वक्तव्यम्। अनुव्रताः पार्षदाः।।१०।।

**श्यामेति**। श्यामाश्च ते अवदाताः उज्ज्वलाश्च पद्मनेत्राश्च। पीताम्बराः सुरुचः अतिकमनीयाः सुपेशसोऽतिसुकुमाराः। उन्मिषन्त इव प्रभावन्तो मणिप्रवेका मण्युत्तमा येषु तानि निष्काणि पदकान्याभरणानि च येषां ते। सुवर्चसोऽतितेजस्विनः। प्रवालादिवद्वर्चो वर्णो येषां ते। परितः स्फुरन्ति कुण्डलानि मौलयो मालाश्च सन्ति येषां ते।।११।।

पार्षदाननुवर्ण्य पुनरपि लोकमनुवर्णयति **भ्राजिष्णुभिरिति**। भ्राजिष्णुभिः देदीप्यमानाभिः। प्रमदोत्तमानां दिवः कान्तयः ताभिः विद्योतमानः सह विद्युद्भिः वर्तमानाः सविद्युतः ताभिरभ्रावलिभिः तत्र विद्युत इव स्त्रियः अभ्रपङ्क्तयः इव विमानावलयः। नभ इव लोकः।।१२।।

---

1 W. नृ" 2. M.Ma. संद" 3. I. "द्भिः पुरुषै" 4. W. "धिष्ठितं 5. M.Ma. न वर्त" 6. W. न 7. AF.GF. "भ्र" 8. H.V. "डू" 9. M.Ma. "सां 10 M.Ma. "णाम् 11. M.Ma. "भाभि 12. B. Omits सत्पुण्यवद्भिः 13. H.V. Omit तैः 14. H.V. "वं" 15. A.B. Omit इति 16. B. किमुत 17. A.B. Omit च 18. H.V. पद्मानि पताकान्याभ" 19. B.H.V. परिस्फु" 20. B.H.V. "नानि

**वीर०** सभाजितः तपसा सम्यगाराधितो भगवान् परमन्यत् यद्यस्मात् परमुत्कृष्टं नास्ति तथाभूतं लोकं [1]तस्मै चतुर्मुखाय सन्दर्शयामास। तमेव लोकं वर्णयति पञ्चभिः। व्यपेतसंक्लेशविमोहसाध्वसं [2]संक्लेशाः अविद्यादयः साध्वसं भयम्। व्यपेताः संक्लेशादयो यस्मात् [3]तम्। स्वदृष्टवद्भिः स्वशरीरकपरमात्मानमनुभवद्भिः विबुधैर्विशेषेण बुद्ध्यन्ते इति विबुधाः ज्ञानाधिकाः नित्यमुक्ताश्च तैरधिष्ठितम्।।९।।

क्लेशमोहाद्यभावहेतुमाह - **प्रवर्तत** इति। रजस्तमसी तयोस्ताभ्यां मिश्रं सत्वं च यत्र वैकुण्ठाख्ये लोके न प्रवर्तते अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः [4]पञ्च क्लेशाः रजस्तमोविरहात् रागद्वेषादिकं मोहनं च नास्ति तन्मिश्रसत्वाभावात् [5]कादाचित्कप्रकाशश्च नास्ति तस्मात् शुद्धसत्त्वमय इत्यर्थः। कालविक्रमः कालस्य यो विक्रमः परिणामहेतुत्वं तच्च नेत्यर्थः। माया सत्त्वरजस्तम आश्रया प्रकृतिः। यत्र न अप्राकृत इत्यर्थः। अनेन लोकस्य मायाकल्पितत्वशङ्का [6]च निरस्ता। यत्र लोके सुरासुरैरर्चिताः हरेरनुव्रताः उपासकाः दृश्यन्ते इति शेषः।।१०।।

कथम्भूताः दृश्यन्ते इत्यपेक्षायां सारूप्यमाह - **श्यामेत्यादिना**। श्यामाश्च ते अवदाताः उज्ज्वलाश्च श्यामावदाताः, शतपत्रलोचनाः पद्मदलायतेक्षणाः पिशङ्गवस्त्राः पीताम्बरधराः, सुरुचः दीप्तिमन्तः, सुपेशसः अतिसुकुमाराः उन्मिषन्तः देदीप्यमानाः मणयो येषु तानि प्रवेकानि श्रेष्ठानि निष्काणि कनकमयानि आभरणानि येषां ते। सुवर्चसः अतिलावण्यवन्तः प्रवालादिवद्वर्चो वर्णो येषां ते परिस्फुरन्ति कुण्डलानि मौलयः मुकुटानि मालाश्च येषां सन्तीति तथाभूताः व्रीह्यादित्वात् इनिः। '[7]अत इनिः' इति तपरकरणात्।।११।।

भ्राजिष्णुभिः देदीप्यमानाभिः महात्मनां नित्यमुक्तानां प्रकाशमानविमानपङ्क्तिभिः यः लोकः परितो विराजते, यश्च प्रमदोत्तमानां दिवः कान्तयः ताभिर्विद्योतमानः तं सन्दर्शयामासेति पूर्वेणान्वयः। तत्र ददर्शेत्युत्तरेण [8]वाऽन्वयः। तत्र दृष्टान्तः - विद्युद्भिः [9]तडिद्भिः सह वर्तमानाः सविद्युतः अभ्राणां मेघानामावलयः पङ्क्तयः ताभिः नभो यथा विराजते तद्वदित्यर्थः। विद्युत इव स्त्रियः, अभ्रपङ्क्तय इव विमानानि, नभ इव लोकः।।१२।।

**विज०** इदानीं स चापि यत्र पुरुष इति प्रश्नं परिहरति - **तस्मै** इति। प्रीतिजनकतपसा सभाजितः पूजितः यद्यतो लोकात् परमधिकं पदं स्थानं न तस्मात् संदृष्टवद्भिः सम्यगपरोक्षज्ञानवद्भिः विबुधैः अभिष्टुतमभितो मुख्यत्वेन स्तुतम् अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः संक्लेशाः, मौढ्यं विमोहः, व्याकुलत्वं साध्वसं, व्यपेताः संक्लेशादयो यस्मात् स तथा तम्।।९।।

---

1. W. Omits तस्मै.....लोकं 2. A.B. क्लेशाः 3. A.B. Omit तम् 4. W. हिक्लेशाः 5. A.B. कदाचित्र" 6. A.B. Omit च 7. W. अत इति तपर" 8. W. Omits अन्वयः 9. W. Omits तडिद्भिः

संक्लेशाद्यभावे कारणमाह - **नेति**। तयो रजस्तमसोर्मिश्रं सत्त्वं, सत्त्वरजसोर्मिश्रं तमः, सत्त्व तमसोर्मिश्रं रजः, केवलं चित्प्रकृतिमय एव कालविक्रमः कालकृतोत्पत्तिनाशवृद्धिक्षयादिलक्षणः। सत्त्वाद्यभावे कारणमाह - नेति। माया त्रिगुणात्मिका जडप्रकृतिः। अपरे मायाविकाराः तस्य लोकस्य मायातीतत्वात्। तर्ह्ययं शून्यागारतुल्य इति तत्राऽऽह - हरेरिति। "असनादसुर्हरिस्तस्मिन् रमन्त" इत्यसुराः। असुरत्वगुणोपेतैः सुरैरर्चितामहद्देवानामसुरत्वमेकम्" इति श्रुतेः। तं लोकमित्यन्वयः।।१०।।

श्यामवर्णाः अवदाताः निर्मलाश्च "अवदातस्सिते गौरे शुद्ध" (वैज.को.8-4-3) इति यादवः। अतस्ते इन्द्रनीलवन्निर्मलाः "दशदोषविनिर्मुक्तः श्याम इन्द्रमणिः स्मृतः" इति वा। शतपत्रं पद्मम्। सुष्ठु रुक् प्रभा येषां ते सुरुचः। सुष्ठु पेशः सौन्दर्यं येषां ते सुपेशसः। "मुदुपिण्डश्च पेशः स्यात्" इति वचनात्। सुकुमारतरशरीरा इति वा। उन्मिषन्तः चक्षुष्मन्तः मणिप्रवेकाः रत्नश्रेष्ठाः येषु ते तथा। ते च निष्कहेम निर्मिताः वक्षोऽलङ्काराः येषां ते तथा "निष्कोऽस्त्री हेम्नि दीनारे सार्ष्टे कर्षशते फले। वक्षोविभूषणे कर्षः" (वैज.को.6-5-45) इति, सुवर्चसः सुतेजसः। अनेन सारूप्यादि भाजो मुक्ता अपि सन्तीत्युक्तं भवति। पुनरपि तं लोकं विशिनष्टि - प्रवालेति। यो लोको महात्मनां भ्राजिष्णुभिः लसद्विमानावलिभिः सर्वतो विराजत इत्यन्वयः। प्रवालात् वैदूर्यवन्मृणालवद्वर्चः प्रभा येषां ते तथा, परिस्फुरन्तः कुण्डलमौ- लयः कुण्डलानि मौलयश्च कुण्डलमौलयः तेषां मालाः पङ्क्तयो येषां सन्तीति परिस्फुरत्कुण्डलमौलि- मालिनः तेषाम्। परिस्फुरन्ति कुण्डलानि मौलयः किरीटानि मालाः स्रजश्च येषां सन्तीति ते तथा तेषामिति वा। तत्र दृष्टान्तमाह सविद्युदिति।।११,१२।।

**रा०कृ०** सभाजितः तपसा सम्यगाराधितः भगवान् वासुदेवः, यत् यस्मात् परमुत्कृष्टं नास्ति, तथाभूतं व्यपेतसंक्लेशविमोहसाध्वसं निरस्तक्लेशभ्रमभयं स्वदृष्टवद्भिः स्वदर्शनवद्भिः विबुधैः विज्ञानिभिः अभिष्टुतं अभिनुतं स्वलोकं स्वस्य वैकुण्ठनामकं लोकं तस्मै बह्मणे सन्दर्शयामास सम्यग्दर्शयामास।।९।।

यत्र वैकुण्ठे रजः तमः ते द्वे न स्तः, तयोः ताभ्यां रजस्सत्त्वाभ्यां मिश्रं सत्त्वं च न प्रवर्तते। किं च यत्र कालविक्रमः कालस्य सामर्थ्यं न प्रवर्तते, यत्र च माया प्रकृत्याख्या न प्रवर्तते। ततश्च अपरे मायाकार्यभूताः रागद्वेषादयो न प्रवर्तन्ते इति किमुत? किमु वक्तव्यम्? अपि च यत्र सुरासुरार्चिताः हरेः अनुव्रताः भगवतः पार्षदाः सन्तीति शेषः। तं वैकुण्ठं दर्शयामासेति पूर्वेणान्वयः।

कुण्ठरहितो निर्मलज्ञानात्मको वैकुण्ठलोकः स च शुद्धसत्त्वमयत्वात् सर्वोत्कृष्टः। अत एव सः क्लेशभ्रमभयविरहितः। स्वज्ञानवद्भिरेवाभिनुतः। सच्चिदानन्दे स्वयंप्रकाशेऽस्मिन् लोके कालस्फुरणाभावेन कालविक्रमो न विद्यते। कालविक्रमाभावेन च कालाधीना माया, मायाकार्यभूताः रागद्वेषादयश्च न प्रवर्तन्ते। तथा च एतल्लोकवासिनो रजस्तमोभ्यामस्पृष्टत्वात् देवासुरशक्तिसमर्चिताः श्रीभगवत्पार्षदाः भवन्तीति भावः।।१०।।

हरेरनुव्रतान् विशिनष्टि - सर्वे ते हरिपार्षदाः श्यामावदाताः नीलवर्णाः निर्मलाश्च शतपत्रलोचनाः कमलायतनयनाः, पिशङ्गवस्त्राः पीताम्बरधारिणः, सुरुचः कान्तिमन्तः, सुपेशसः अतिकोमलाः, चतुर्बाहवः उन्मिषण्मणिप्रवेकनिष्काभरणाः, प्रभाशालिमणिश्रेष्ठवत् पदकभूषणवन्तः। सुवर्चसः अतितेजश्शालिनः, प्रवालवैदूर्यमृणालवर्चसः प्रवालादिवर्चस्सहिताः, परिस्फुरत्कुण्डलमौलिमालिनः भ्राजत्कुण्डलमकुटश्रेणीयुताः सन्तीति शेषः।।११।।

यो लोकः परितः सर्वतः भ्राजिष्णुभिः कान्तिमद्भिः महात्मनां भगवद्भक्तानां लसद्विमानावलिभिः लसतां प्रकाशमानानां विमानानां आवलिभिः श्रेणीभिः विराजते शोभते, यश्च प्रमदोत्तमाद्युभिः प्रमदोत्तमानां उत्तमस्त्रीणां द्युभिः सहितस्सन् सविद्युदभ्रावलिभिः विद्युत्संयुक्तमेघपङ्क्तिभिः सहितं नभो यथा आकाश इव विद्योतमानः वर्तते तं वैकुण्ठलोकं भगवान् तस्मै ब्रह्मणे सन्दर्शयामासेति पूर्वेणान्वयः।।१२।।

**श्रीर्यत्र रूपिण्युरुगायपादयोः करोति मानं बहुधा विभूतिभिः।**
**प्रेङ्खं श्रिता या कुसुमाकरानुगैर्विगीयमाना प्रियकर्म गायती।।१३।।**

**ददर्श तत्राखिलसात्त्वतां पतिं श्रियःपतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम्।**
**सुनन्दनन्दप्रबलार्हणादिभि स्स्वपार्षदमुख्यैः परिसेवितं विभूम्।।१४।।**

**भृत्यप्रसादाभिमुखं दृगासवं प्रसन्नहासारुणलोचनाननम्।**
**किरीटिनं कुण्डलिनं चतुर्भुजं पीताम्बरं वक्षसि लक्षितं श्रिया।।१५।।**

**अध्यर्हणीयासनमास्थितं परं वृतं चतुष्षोडशपञ्चशक्तिभिः।**
**युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवैः स्व एव धामन् रममाणमीश्वरम्।।१६।।**

**श्रीघ० श्रीरिति**। श्रीश्च सम्पत्। यत्र रूपिणी मूर्तिमती। मानं पूजाम्। विभूतिभिः नानाविभवैः प्रेङ्खमान्दोलनं श्रिता कुसुमाकरो वसन्तः तस्यानुगाः भ्रमराः तैः विगीयमाना विविधं गीयमाना स्वयं तु प्रियस्य हरेः कर्म गायन्तीव भवति।।१३।।

**ददर्शेति**। य एवम्भूतो लोकः तत्र तस्मिन् परिसेवितमादरेण पूज्यमानम्।।१४।।

---

1.W. विबुधा 2. H.V.W. प्रेङ्खश्रिता; M.Ma. प्रेङ्खं स्थिता 3. AF.GF. प्रमुखा" 4. AF.GF. Omit स्व 5. I. "दाप्रे: 6. B.W "षं" 7. M.Ma. "वै: 8. W. "चारुलोचनं 9. B.I.M.Ma. पीतांशुकं 10. H.V.W. "ध्य" 11. M.Ma. विभुं 12 A.B. Omit च 13. A.B. Omit यत्र 14. A. "लं 15. A. संश्रिता 16. A.B. Omit विगीयमाना 17. H.V. Omit विविधं गीयमाना 18. H.V. Omit तु 19. B.H.V. Omit इव 20. A.B. Omit परि.....मानम्

**भृत्येति**। भृत्यानां प्रसादेनाभिमुखम्। दृगेव आसव इव द्रष्टॄणां हर्षकरी यस्य तं प्रसन्नहासम् अरुणालोचनं च आननं यस्य वक्षसि स्थितया च श्रिया लक्षितं अलङ्कृतमित्यर्थः।।१५।।

**अध्यर्हणीयेति**। अध्यर्हणीयं वरिष्ठं सिंहासनम्। चतस्रः प्रकृतिपुरुषमहदहङ्काररूपाः, षोडश एकादशेन्द्रियपञ्चमहाभूताख्याः, पञ्च तन्मात्ररूपाः[5] याः शक्तयः ताभिर्वृतम्। स्वैः भगैः स्वाभाविकैरैश्वर्यादिभिः इतरत्र योगिषु अध्रुवैः आगन्तुकैः असाधारणैरित्यर्थः। एवं सत्यपि स्वे एव धामन् स्वस्वरूपे एव रममाणम् अत एवेश्वरम्।।१६।।

**वीर०** श्रीः महालक्ष्मीर्यत्र लोके रूपिणी प्रशस्तमूर्तिमती उरुगायस्य भगवतः पादयोः मानं पूजां विभूतिभिः भूनीलादिभिः सह करोति। कथम्भूता करोति? याः श्रीः प्रेङ्खं दोलां श्रिता कुसुमाकरानुगैः शुककोकिलभृङ्गादिभिः विविधं गीयमाना स्वयं तु प्रियस्य भगवतः कर्म गायती भवति सा श्रीर्मानं करोतीत्यर्थः।।१३।।

एवंभूतो लोकः तत्र श्रियःपतिं ददर्शेत्यन्वयः। कथम्भूतम्? यज्ञपतिं तप आदियज्ञानां प्रवर्तकमाराध्यं फलप्रदं वा, जगत्पतिं चिदचिदात्मकजगतः शेषिणं अखिलानां सात्वतां[7] सात्वतधर्मनिष्ठानां पतिं स्वलोकप्रापणेन रक्षकम्। सात्वतम् पञ्चरात्रम्। सुनन्दादिभिः स्वपार्षदश्रेष्ठैः परितः तं सेवितं विभुं सर्वोत्तरम्।।१४।।

भृत्येषु यः प्रसादोऽनुग्रहः तस्मिन् अभिमुखं दृगासवं दृशि चक्षुषि[10] आसवोऽमृतं यस्य तम्। यद्वा दृक् आसवमिव यस्य, अमृतकल्पकटाक्षमित्यर्थः। प्रसन्नहासम्[11] अरुणलोचनं च आननं यस्य तम्। वक्षसि स्थितया श्रिया लक्षितमलङ्कृतमित्यर्थः।।१५।।

अभ्यर्हणीयमाराधनीयं परमुत्कृष्टमासनं अधिष्ठितं चतुष्षोडशपञ्चशक्तिभिः पञ्चविंशतितत्त्वाधिष्ठातृशक्तिभिः अस्त्रभूषणाध्यायोक्तप्रकारैः[12] स्मारितः भगैरैश्वर्यवीर्ययशश्रीज्ञानवैराग्याधिष्ठातृदेवताविशेषैः स्वैः स्वभाविकैः विशेषणभूतैः[13] इत्यर्थः। इतरत्र संसारिषु कर्मतारतम्यानुगुणमध्रुवैः संसारिषु ऐश्वर्याद्यधिष्ठातॄणामधिष्ठेयद्वारा अध्रुवत्वं बोध्यम्। एवम्भूतैर्भगैर्युक्तं धामन् धामनि स्वे स्वकीये क्षेत्रज्ञे रममाणमत एवेश्वरं नियन्तारं ददर्शेत्यर्थः।।१६।।

**विज०** प्रेङ्खं स्थिता या रत्नदोलामास्थिता याः विभूतयस्ताभिः विभूतिभिः स्वमूर्तिभिः[14] सह।

---

1. A.B. "देऽभि" 2. B. Omits इत्यर्थः 3. H.V. "ध्य" 4. H.V. Omit "पञ्च" 5. B. adds च 6. W. च 7. W. Omits सात्वतां 8. A.B. सत्वं 9. A.B. "वन्तिरम् 10. W. Omits चक्षुषि 11. A.B. "सारुण" 12. A. "रस्मारितैः 13. A.B. शेषभूतैः 14. A.B. Omit स्वमूर्तिभिः

कुसुमाकरो वसन्तः तस्यानुगाः भृङ्गकोकिलादयः तदाकारमिताः ब्रह्मादयः तैः विगीयमाना प्रियस्य भर्तुः कर्माणि गायतीति।।१३।।

प्रयोजकपुरुषदर्शनं विना लोकमात्रदर्शनेन किमस्य प्रयोजनमत्राऽऽह - **ददर्शेति**। तत्रैवंविधे श्वेतद्वीपाभिधे लोके मुक्तसभामध्ये मुक्तैः सेव्यमानमात्मनो बन्धकशक्तिप्रवर्तनं विरम्य मुक्तप्रवर्तकत्वेन शयानं लक्ष्मीकान्तं ददर्शेत्यन्वयः। अनेन 'मुक्तात्ममायाम्' इत्यस्य परिहारोऽप्युक्तो भवति। "मुक्तैश्च पार्षदैः पूर्वैर्ब्रह्माद्यैश्चैव संयुतम्। ब्रह्मा ददर्श तपसा भगवन्तं हरिं प्रभुम्" इत्यनेन ब्रह्मा सगुणं ब्रह्म ददर्शेत्येतन्निरस्तम्। सतः शोभनस्य भावः सत्त्वं तेन युक्ताः सात्त्वतास्तेषां सात्त्वतां पतिं तदुक्तम् "सत्त्वं तु शोभनत्वं स्यात्तद्युक्ताः सात्त्वता मता" इति विभुं सर्वगतमिति अनेन परिच्छिन्नरूपमत्रोच्यत इति निरस्तम्। "विभुस्सर्वगते पत्यौ चन्द्रे रविकुबेरयोः" इति।।१४।।

दृगासवैः नेत्राभ्यां यानि दर्शनानि तान्येवामृतानि तैः। "दृक् स्त्री स्याद्दर्शने बुद्धौ नेत्रे द्रष्टरि च त्रिषु" इति। प्रसन्नेन हासेन अरुणाभ्यां सहितमाननं यस्य स तथा तम्। किरीटिनं कुण्डलिनमित्यस्य इन् प्रत्ययस्य मतुबादित्वादयमिन्नित्ययोगार्थः। "भूमनिन्दाप्रशंसासुनित्ययोगेऽतिशायने। संसर्गेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः" इति वचनात्। वक्षसि स्थितया लक्षितमित्येतल्लक्षणं हरेरेव इत्यभिप्रायेणोक्तम्।।१५।।

नारायणत्वनिर्णयाय लक्षणान्तरमाह **वृतमिति**। चतुष्षोडश पञ्च शक्तिभिः वृतं इच्छाज्ञानक्रिया बलाख्याभिः प्रह्वीसत्येशानानुग्रहाख्याभिः आत्माऽन्तरात्मा परमात्मा ज्ञानात्माख्याभिरिति चतुश्शक्तिभिर्वृतम्। मोचिका सूक्ष्मा सूक्ष्मामृता ज्ञानामृताप्यायिनी व्यापिनी व्योमरूपिणी अनन्तानिमामहिमालघिमाप्राप्तिप्रकाशेशित्वप्राकाम्याख्याभिः षोडशशक्तिभिश्च वृतम्। वासुदेवादिदामोदरान्ताभिः षोडश शक्तिभिश्च तथा पञ्चाङ्गाभिधाभिः विमलोत्कर्षिणी ज्ञानक्रियायोगवशित्वाख्याभिः पञ्चशक्तिभिश्च परिवृतम्। "मोचिका चैव सूक्ष्मा च तथा सूक्ष्मा परामृता। ज्ञानामृताप्यायिनी च व्यापिनी व्योमरूपिणी। अनन्ता चैव सम्प्रोक्ता मोचिकाद्याश्च शक्तयः" इति वायुप्रोक्ते "इच्छाद्या मोचिकाद्याश्च अणिमाद्याश्च शक्तयः" इत्यादेः। युक्तमित्यनेन स्वरूपभूता न भवन्तीति नाशङ्कनीयम्, योगशब्दस्य सन्नहने वृत्तेः तत्स्वरूपाश्च शक्तय इति च। इतरत्र पुरुषान्तरेषु अध्रुवैरनित्यैः स्वैः स्वरूपैः भगैः ऐश्वर्यादिभिश्च युक्तम्। स्वे एव धामन् स्वरूपानन्दे एव रममाणं नान्यत्रेति एवशब्दार्थः। ब्रह्मा एवंविधमीश्वरं ददर्शेति पूर्वत्रान्वयः।।१६।।

**रा०कृ०** या श्रीः प्रेङ्खं डोलां श्रिता कुसुमाकरानुगैः कुसुमाकरस्य वसन्तस्यानुगैः शुकपिकभ्रमरादिभिः विगीयमाना स्वयं बहुधा प्रस्तूयमानाऽपि प्रियकर्म प्रियो भगवान् तस्य कर्म गायती वर्तते। सा श्रीः लक्ष्मीः रूपिणी मूर्तिमती सती यत्र लोके विभूतिभिः बहुविधविभवैः उरुगायपादयोः उरुगायस्य

भगवतो विष्णोः पादयोः बहुधा मानं पूजां करोति तत्र लोके ब्रह्मा विभुः? ददर्शेत्युत्तरेणान्वयः।।१३।।

तत्र पूर्वोक्तवैकुण्ठलोके अखिलसात्त्वातां निखिलभक्तानां पतिं पालकं श्रियो लक्ष्म्याः पतिं, यज्ञपतिं यज्ञप्रवर्तकं, जगत्पतिं सकलजगन्नियामकं सुनन्दनन्दप्रबलार्हणादिभिः सुनन्दादिनामकैः स्वपार्षदमुख्यैः द्वारपालकैरन्यैर्भक्तैश्च परिसेवितं परितस्सेवितं विभुं सर्वव्यापकं भगवन्तं ब्रह्मा ददर्श।।१४।।

भृत्यप्रसादाभिमुखं भृत्यानां किङ्कराणां प्रसादेऽनुग्रहे अभिमुखं दृगासवं दृशोः द्रष्टृनेत्रयोः आसवम् आसववत् मादकं प्रसन्नहासारुणलोचनाननं प्रसादपूर्वकहासं अरुणलोचनं च आननं यस्य तं किरीटिनं कुण्डलिनं चतुर्भुजं पीताम्बरं, वक्षसि श्रिया लक्षितं विभूषितं विभुं ददर्शेति पूर्वेणान्वयः।।१५।।

अध्यर्हणीयासनं अध्यर्हणीयम् अत्युत्कृष्टं आसनं सिंहासनम् आस्थितम् अधिष्ठितम्, परं सर्वाधिकं चतुष्षोडशपञ्चशक्तिभिः प्रकृतिपुरुषमहदहङ्काररूपाभिः चतसृभिः एकादशेन्द्रियपञ्चमहाभूताह्वयाभिः षोडशभिः पञ्चतन्मात्राकृतिभिः पञ्चभिश्च शक्तिभिर्मूर्तिमतीभिर्वृतं सेवितमितरत्र च ब्रह्मादिषु अध्रुवैः अनित्यैः स्वैः स्वाभाविकैः भगैः ऐश्वर्यवीर्ययशःश्रीज्ञानवैराग्याधिष्ठानदेवताविशेषैः युक्तं स्वे स्वकीये धामन् परमानन्दरूपे धाम्नि रममाणमीश्वरं सकलजगन्नियन्तारं विभुं ददर्शेति पूर्वेणान्वयः।।१६।।

**तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुतान्तरो हृष्यत्तनुः प्रेमभराश्रुलोचनः।**
**ननाम पादाम्बुजमस्य विश्वसृग्[1] यत् पारमहंस्येन पथाऽधिगम्यते[2]।।१७।।**

**तं प्रीयमाणं समुपस्थितं तदा[3] प्रजाविसर्गे निजशासनार्हणम्।**
**बभाष ईषत्स्मितशोचिषा गिरा प्रियः प्रियं प्रीतमनाः करे स्पृशन्।।१८।।**

*** [कृताञ्जलिं प्रश्रयनम्रकन्धरं विलोकयन् प्रेमदृशा समेधयन्।।]**

**श्रीभगवानुवाच**

**त्वयाऽहं तोषितस्सम्यग्[4]वेदगर्भसिसृक्षया।**
**चिरं भृतेन[5] तपसा दुस्तोषः कूटयोगिनाम्।।१९।।**

**वरं वरय भद्रं ते वरेशं माभिवाञ्छितम्।**
**ब्रह्मञ्छ्रेयः[6] परिश्रामः पुंसां[7] मद्दर्शनावधिः।।२०।।**

---

1. H.V.W. "सृड् 2. H.V. "भि" 3. H.I.M.Ma.V. कविं * An addtional half-versea is found in B. Edition 4. H.V. "स्सम्य" 5. H.V. धृ" 6. M.Ma. सर्वश्रेयः 7. A.C.G.I.N. पुंसो

**श्रीध० तदिति**। तस्य दर्शनेन यः आह्लादः तेन परिप्लुतं व्याप्तमान्तरमन्तःकरणं यस्य। हृष्यन्ती रोमाञ्चिता तनुर्यस्य। प्रेमभरेण अश्रूणि लोचनेषु यस्य। विश्वसृड् ब्रह्मा। पारमहंस्येन पथा ज्ञानमार्गेण। अत्र वर्णाधिक्यमार्षम्।।१७।।

**तमिति**। सः तं ब्रह्माणं प्रियः श्रीभगवान् बभाषे। प्रजाविसर्गे कार्ये। निजशासनार्हणं स्वनियोगार्हम्। प्रजाविसर्गे समुपस्थितमिति वा अन्वयः। ईषत्स्मितेन शोचिः दीप्तिः शोभा यस्याः तया गिरा।।१८।।

**त्वयेति**। हे वेदगर्भ! इति सम्बोधयन् वेदान् सञ्चारयति। सिसृक्षया हेतुना चिरं भृतेन तपसाऽहं सम्यक् तोषितः। दुस्तोषः तोषयितुमशक्यः।।१९।।

**वरमिति**। मा इति माम्। अभिवाञ्छितं वरं वरय प्रार्थय! श्रेयसां फलानां परिश्रामः परिश्रमः साधनप्रयासः मम दर्शनमेवावधिर्यस्य स तथा। अतः अधिकं तु पुनः श्रमफलं नास्तीत्यर्थः। परिश्राम इत्यत्र दीर्घत्वं छान्दसम्।।२०।।

**वीर०** तस्य भगवतो दर्शनेन यः आह्लादः तेन परिप्लुतं समन्ततो व्याप्तमान्तरं यस्य सः। हृष्यत्तनुः पुलकिततनुः प्रेम्णो यो भरः पूरः तेनाश्रूणि लोचनेषु यस्य सः आनन्दाश्रुमन्नयनः। विश्वसृट् ब्रह्मा पारमहंस्येन परमं, हंसैरनुष्ठेयेन पथा भक्तिमार्गेण यत्पादाम्बुजमधिगम्यते प्राप्यते तदस्य भगवतः पादाम्बुजं ननाम नमस्कृतवान्।।१७।।

प्रजाविसर्गे प्रजासृष्टिरूपे कार्ये समुपस्थितं समुद्यतं निजशासनार्हणं स्वनियोगार्हणं प्रीयमाणं स्वस्मिन्निरतिशयप्रीतिमन्तं तं कविं ब्रह्माणं करे हस्ते स्पृशन् करं गृहीत्वेत्यर्थः। प्रीतमनाः तस्मिन्निरतिशयप्रीतियुक्तान्तःकरणः प्रियो निरतिशयप्रीतिविषयो भगवान् ईषत्स्मितेन मन्दहासेन शोचिर्दीप्तिः शोभा यस्यास्तया गिरा प्रियं यथा तथा बभाषे भाषितवान्।।१८।।

**त्वयेति**। हे वेदगर्भ! सिसृक्षया हेतुना चिरं भृतेन चीर्णेन तपसा साधनभूतेन त्वया कर्त्राऽहं सध्र्यक् सम्यक्तोषितः कूटयोगिनां दाम्भिकयोगिनां दुस्तोषः तोषयितुमशक्योऽहम्।।१९।।

---

1. H.V. Omit तस्य.....लोचनेषु यस्य 2. B. "म" 3. A.B. "सृग् 4. A.B. Omit अत्र ....मार्षम् 5. A.B. Omit स 6. A.B. Omit प्रियः 7. H.V. Omit वा 8. A. Omits हे वेद.....सञ्चारयति। 9. H.V. धृ" 10. H.V. सध्र्यक् 11. H.V. Omit इति 12. A.H V. Omit अभि.....प्रार्थय 13. H V. Omit परिश्रमः 14. H.V. मदर्शनम् 15 A.B Omit एव 16. B ततः 17. B H V Omit तु पुनः 18. A. Omits श्रम 19. A.B. Omit परिश्राम.....छान्दसम्। 20. A.B. "ह्रु" 21. A.B. "म" 22. W. Omits पूरः 23 A.B. "न्दाश्रुनयनः 24. W.A.B. "गार्ह 25. W. Omits तं कविं 26. W. Omits प्रियो.....विषयो 27. W. Omits सध्र्यक्

वरेशं वरप्रदं मां प्रत्यभिवाञ्छितमभीष्टं वरं वरय। ते तुभ्यं, भद्रं मङ्गलमस्त्विति शेषः। हे ब्रह्मन्! पुंसां श्रेयः परिश्रामः श्रेयसां फलानां परिश्रामः साधनप्रयासः। मद्दर्शनावधिः मम दर्शन मवधिर्यस्य सः।।२०।।

**विज०** तस्य हरेः दर्शनात् उद्भूतेन आह्लादेन परिप्लुतमार्द्रीभूतमान्तरं यस्य सः तथा। हृष्यन्ती रोमाञ्चं कुर्वती तनुर्यस्य सः तथा। प्रेमभरेण अश्रुपूर्णे लोचने यस्य सः तथा। यत्पादाम्बुजं पारमहंस्येन परमहंससम्बन्धिना पथा ज्ञानमार्गेण अहिंसादिधर्मजन्येनाधिगम्यते ज्ञायते।।१७।।

प्रीयमाणं हृष्यन्तं "कविं ब्रह्माणमादिकवय" इत्युक्तेः। "कविर्यः पुत्रः स इमाचिकेत" इति श्रुतेश्च। ईषद्भाषे इत्यनेन शब्दतोऽल्पत्वमर्थतो गुरुत्वं द्योत्यते। "प्रकृत्या मितभाषिणः" इति वचनात्। करे स्पृशन् इत्यनेन प्रीतमनस्कत्वं प्रकाशयति।।१८।।

मनसि प्रसन्ने तदितरेन्द्रियाणां प्रसन्नत्वं किं वक्तव्यमित्यर्थः। आन्तरीमन्तःकरणप्रीतिं वाचोद्गलयति **त्वयेति**। कि धनादिना इत्यत उक्तम् तपसा इति। किमर्थेन इत्यत उक्तं सिसृक्षयेति। अनुपचिताङ्गोपाङ्गेन इत्यत उक्तं चिरमिति। अहं न तपोमात्रेण तुष्यामि, किन्तु त्वादृशानामधिकारिणामेवेति भावेनाऽऽह दुस्तोष इति।।१९।।

स्वतुष्टिफलमाह - **वरमिति**। पुंसां सर्वश्रेयः परिश्रामः तप आदि सर्वकल्याणानां परिश्रामः परिपाकः मद्दर्शनावधिः मद्विषयावलोक एव अवधिः पर्यवसानं यस्य सः तथा। मद्दर्शनमेव सर्वश्रेयसां फलमिति यतः, अतो मद्दर्शनाख्यसर्वश्रेयःफलवान् त्वमिष्टं मां अपादानीकृत्य वाञ्छितं वरं वरयेत्यन्वयः। ते तुभ्यं भद्रमस्त्विति वरेशमित्यनेन याचितं दातुं समर्थ इति द्योतयति।।२०।।

**रा०कृ०** तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुतान्तरः तस्य भगवतो दर्शनेन यः आह्लादः आनन्दः तेन परिप्लुतं परिव्याप्तं अन्तरं अन्तःकरणं यस्य तथाभूतः हृष्यत्तनुः रोमाञ्चितगात्रः प्रेमभराश्रुलोचनः प्रेमातिरेकसञ्जातबाष्पपूर्णनेत्रः विश्वसृ(ट्)क् ब्रह्मा पारमहंस्येन परमविवेकिभगवद्भक्तसमाश्रितेन पथा मार्गेण भक्तिमार्गेणेति यावत्। यत्पादाम्बुजमधिगम्यते सम्प्राप्यते अस्य भगवतः तत्पादाम्बुजं ननाम प्रणतवान्।।१७।।

तदा स्वदर्शनकाले प्रियो भक्तप्रियो भगवान् प्रीतमनाः सन्तुष्टान्तरङ्गस्सन् प्रजाविसर्गे प्रजासृष्टि-

---

1 A B मद्दर्श

कार्ये निजशासनार्हणं स्वकीयानुशासनयोग्यं, प्रीयमाणं स्वस्मिन् प्रीतियुक्तं समुपस्थितं आत्मानमुपस्थितं तं ब्रह्माणं करे स्पृशन् ईषत्स्मितरोचिषा दरहासकान्तिमता गिरा वाचा प्रियं यथा भवति तथा बभाषे भाषितवान्।।१८।।

हे वेदगर्भ! सिसृक्षया स्रष्टुमिच्छया कारणभूतया चिरं भृतेन सञ्चितेन तपसा साधनभूतेन त्वया कर्त्रा कूटयोगिनां कूटं छलं फलाभिसन्धिलक्षणं तेन योगो येषां तेषां कुयोगिभिरित्यर्थः। दुस्तोषः तोषयितुमशक्यः अहं सम्यक्तोषितः सन्तोषं प्रापितः। इदमुक्तं भवति - यद्यपि "समत्वं योग उच्यते" (भ.गी.2-48) इति भगवद्वचनानुसारेण सिद्ध्यसिद्धिसमत्वमेव योगः तथाऽपि स्वार्थसम्पादनधिया सन्दर्शितं समत्वं समत्वाभासत्वात् कूटयोग एव। तादृशकूटयोगिभिः कृतं तपः भगवदनुग्रहपात्रं न भवति। अत्र तु वेदगर्भेण ब्रह्मणा विश्वसृष्टिरूपयज्ञार्थकर्मणा कारणेन कृतं स्वार्थनिरपेक्षं तपः भगवदनुग्रहपात्रं सत् तत्परितोषकमभवदिति विवेकः।।१९।।

हे ब्रह्मन्! वरेशं वराणामीशं वरप्रदाने समर्थमित्यर्थः। मा मां प्रति अभिवाञ्छितं स्वाभिलषितं वरं वरय वृणीष्व। ते भद्रं शुभमस्तु। पुंसां श्रेयः परिश्रामः धर्मादिश्रेयस्साधनपरिश्रमः मद्दर्शनावधिः मद्दर्शनपर्यन्तः। मद्दर्शनानन्तरं साध्यश्रेयोऽन्तराभावात् तत्साधनपरिश्रमो न कर्तव्य इति भावः।।२०।।

**मनीषितानुभावोऽयं मम लोकावलोकनम्।**
**यदुपश्रुत्य रहसि चकर्थ परमं तपः।।२१।।**

*** प्रत्यादिष्टं मया तत्र त्वयि कर्मविमोहिते।**
**तपो मे हृदयं साक्षादात्माऽहं तपसोऽनघ!।।२२।।**

**सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः।**
**बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः।।२३।।**

**श्रीध०** एतच्च मत्कृपयैव[3] त्वया प्राप्तमित्याह - **मनीषितेति**।· मनीषितमिच्छा तुभ्यमिदं दातव्यमिति या ममेच्छा तस्यानुभावोऽयम्, कोऽसौ? तमाह। मम लोकस्यावलोकनं यत् तत्[4]। न चेदं मयैव तपोबलेन प्राप्तमिति स्वातन्त्र्यं मन्यस्व, तत्प्रवृत्तेरपि मत्कृतत्वादित्याह। रहसि तप तपेति यद्वचः उपश्रुत्य परमं तपश्चकर्थ कृतवानसि।।२१।।

---

* According to AF&GF two verses beginning with प्रत्यादिष्टं & सृजामि are not to be found in Ancient editions.
1. W. "सा" 2. M.Ma. दुस्तरं 3. H.V. Omit एव 4. A.B. Omit तत्

**प्रत्यादिष्टमिति**। [1]तद्वचः तां प्रति मयैवादिष्टमुपदिष्टम्। कदा? तत्र तदा सृष्ट्यारम्भे त्वयि कर्मणि कार्ये[2]र्थे विमोहिते सति। किञ्च तपो नाम ममैव शक्तिरित्याह। तपो मे हृदयमन्तरङ्गशक्तिः। आत्मा स्वरूपम्। "यस्य ज्ञानमयं तपः" इति श्रुतेः।।२२।।

**सृजामि** इति। ग्रसामि संहरामि। बिभर्मि पालयामि। वीर्यं शक्तिः।।२३।।

**वीर०** मल्लोकदर्शनं मत्प्रसादादेव अभूदित्याह - **मनीषितेति**। लोकस्य वैकुण्ठा[3]ख्यलोकस्य अवलोकनमित्ययं [4]ममैव मनीषितानुभावः मत्सङ्कल्पानुभाव इत्यर्थः। अनुभावः प्रभावः ममैव तपोबलेन प्राप्तं लोकावलोकनं इत्याशङ्कायां [5]तपसः प्रवृत्तेरेव मत्कृतत्वान्न तव स्वातन्त्र्यमित्याह। रहसि यदुपश्रुत्य तप तपेति वचः उपश्रुत्य परमं [6]श्रेष्ठं तपश्चकर्थ।।२१।।

तदपि त्वयि कर्मणि [7]जगत्सर्गकर्मणि विमोहिते सति मयैव प्रत्यादिष्टं [8]त्वां प्रति आभिमुख्येन उपदिष्टमतो ममैवानुभाव इति भावः। तपः प्रशंसति तपो मे इत्यादिना।।२२।।

"तपसैव सोऽतप्यत", "यस्य ज्ञानमयं तपः" इत्यादि श्रुत्युक्तपूर्वं जगदाकारपर्यालोचन[9]ज्ञानरूपतपसैवेदं जगत् सृजामीति तेनैव तपसा ग्रसामि संहरामि बिभर्मि पालयामि विश्वं [10]दुश्चरं तपः मे वीर्यं प्रभावः।।२३।।

**विज०** तपसः कर्तव्यत्वं श्रद्धापयति **मनीषितेति**। यत् द्व्यक्षरं तप इति वचः उपश्रुत्य रहसि मद्गुणालोचनरूपं परमं तपस्त्वं चकर्थ कृतवान्, यन्मम लोकावलोकनं ममावलोकनं चायं मम मनीषितस्याभिप्रेतस्य तपसोऽनुभावो महिमेत्यन्वयः।।२१।।

तपसः स्वमनीषितत्वं कथयति - **प्रत्यादिष्टमिति**। तत्र तदा त्वयि कर्म विमोहिते इदं कर्तव्यमित्यजानति सति मया तपः कुर्विति प्रत्यादिष्टं त्वामुद्दिश्योक्तं तस्मान्मनीषितं तप इत्यन्वयः। त्वत्प्रसादजनकं तप एवेति कुतोऽन्यत् किं न स्यादिति - तत्राऽऽह - तप इति। हृदयं प्रियम्। "प्रियं हृदयमुद्रिक्तं कान्तमित्यभिधीयते" इति। तदुपपादयति - साक्षादिति। अहं साक्षात् तपसः आत्मा ज्ञानात्मेति यस्मात्।।२२।।

तस्मादिदं तपसैव सृजामि। पदार्थविषयाशेषविशेषज्ञनाभावे तदनुपपत्तेः। उपसंहरति - वीर्यमिति।

---

1. A.B तदपि 2. H.V. Omit अर्थे 3. A.B. Omit आख्य 4. W. मम मे 5. W. तपः ग्र° 6. W. Omits श्रेष्ठं 7. W. Omits जगत्सर्गकर्मणि 8 W. Omits त्वां 9. A B. Omit 'ज्ञान' 10. A B. Omit दुश्चरं

वीर्यं माहात्म्यम्। जडोपचितज्ञानत्वात् सुतरमितरेषाम्। इदं तु न तादृशम्, अतो दुस्तरमित्यर्थः। कायक्लेशसाध्येन तपसा सृष्ट्यादिकं चेत् हरेररपि क्लेशित्वमापद्यते इत्याशङ्का, "तपः प्रियं सदा विष्णोः तपसैवाप्यते हरिः" इत्यादिना परिहृतेति ज्ञातव्यम्। साक्षादात्मा वीर्यमिति कथनाच्च। न हि पूर्णानन्दस्य हरेः क्लेशात्मकत्वं युज्यते, तस्मात् तपश्शब्देन ज्ञानमेव उच्यते इत्यर्थः।।२३।।

**रा०कृ०** रहसि एकन्ते यत् तप तपेति मम यद्वचः उपश्रुत्य आकर्ण्य परममुत्कृष्टं तपः चकर्थ कृतवानसि तस्य मम लोकावलोकनं लोकस्य दर्शनं त्वया कृतमिति सोऽयं मम मनीषितानुभावः मनीषितस्य इच्छायाः प्रभावः।।२१।।

त्वयि तत्र सृष्ट्यारम्भसमये कर्मविमोहिते कर्मणि विश्वनिर्माणात्मके विमोहिते कर्तव्यज्ञानशून्ये सति मया प्रत्यादिष्टं त्वां प्रति तत्तपः उपदिष्टम्। ब्रह्मणः तपःकरणमपि भगवदिच्छायत्तमिति भावः। अतः तपःकरणावश्यकतां सूचयन् भगवान् स्वविद्याशक्तिवृत्तिमयं तपो वर्णयति - हे अनघ! तपो मे हृदयं; अहं तपसः साक्षादात्मा।।२२।।

तपसैव इदं विश्वं सृजामि, तपसा पुनः ग्रसामि संहरामि, तपसा च बिभर्मि रक्षामि अतो दुश्चरं तपो मे वीर्यं सर्वक्रियाकरणसामर्थ्यमिति यावत्।।२३।।

**ब्रह्मोवाच**

**भगवन्! सर्वभूतानामध्यक्षोऽवस्थितो गुहाम्।**
**वेद ह्यप्रतिरुद्धेन प्रज्ञानेन चिकीर्षितम्।।२४।।**

**[1]तथाऽपि नाथमानस्य[2] नाथ नाथय[3] नाथितम्।**
**परावरे[4] यथारूपे[5] जानीयां ते त्वरूपिणः।।२५।।**

**यथाऽऽत्ममायायोगेन नानाशक्त्युपबृंहितम्[6]।**
**विलुम्पन् विसृजन् गृह्णन् बिभ्रदात्मानमात्मना।।२६।।**

**क्रीडस्यमोघसङ्कल्प ऊर्णनाभिर्यथोर्णुते।**
**तथा तद्विषयां धेहि मनीषां मयि[8] माधव!।।२७।।**

---

1. M.Ma. अ" 2. M.Ma. "नाय 3. AF.GF. "जनार्धित 4. H.V. "प" 5. W. "पं 6. M.Ma.W. "त. 7. H.V. देहि 8. AF.GF. मम

**श्रीध०** वरं[1] वरयेत्युक्तं भगवता, तत्राऽऽह - **भगवन्निति**। अध्यक्षोऽधिष्ठाता। गुहां गुहायां बुद्धाववस्थितः सन्[2]। यद्यपि वेद तथाऽपीत्युत्तरेणान्वयः।।२४।।

**तथेति**। नाथमानस्य याचमानस्य उपतप्यमानस्येति वा। हे नाथ! नाथय! आशंसय प्रयच्छ नाथितं याचितम्। नाथृ नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीष्षु। नाथितमेवाऽऽह परावरे[3] इति। परं सूक्ष्ममपरं[4] स्थूलं च ते रूपं यथा जानीयाम्।।२५।।

**यथेति**। यथा च त्वं क्रीडसि तथा[5] तद्विषयां मनीषां मयि धेहीत्युत्तरेणान्वयः[6]। नानाशक्त्युपबृंहितं[7] नानाशक्तिभिरुपचितं विश्वं विलुम्पन् संहरन् विसृजन्[8] विविधं सृजन् बिभ्रत् पालयन् आत्मना स्वयमेव आत्मानं ब्रह्मादिरूपं गृह्णन् अनुगृह्णन्[9]। **क्रीडसीति**। ऊर्णुते तन्तुभिरात्मानमाच्छादयति।।२६,२७।।

**वीर०** एवं भगवताऽनुगृहीतो ब्रह्मा स्वबुभुत्सितमर्थद्वयं तस्मै निवेदयति - **भगवन्निति**। हे भगवन्! सर्वभूतानां गुहां हृदयकुहरमवस्थितोऽधिष्ठितः अत एवाध्यक्षः सर्वेन्द्रियवृत्तिद्रष्टा अत एवाप्रतिरुद्धेन प्रतिहतिशून्येन प्रज्ञानेन चिकीर्षितं साक्षात् अस्मदादिपरम्परया वा कर्तुमिष्टं यद्यपि वेद जानासि, हीति प्रसिद्धौ।।२४।।

तथाऽपि नाथमानस्य याचमानस्य हि नाथ। नाथितं प्रार्थितं नाथय पूरय! नाथितमेवाऽऽह परावर इति। परं दिव्यात्मस्वरूपम् अवरं रूपं चिदचिदात्मकम् अरूपिणः कर्मायत्तप्राकृतरूपरहितस्य ते तव परावरे रूपे यथा जानीयां तथा मनीषां बुद्धिं[10] देहीत्यन्वयः।।२५।।

द्वितीयं नाथितमाह - **यथेति**। नानाशक्त्युपबृंहितः "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इति श्रुत्युक्तज्ञानबलादिभिरुपबृंहितः युक्तः। द्वितीयान्तपाठे नानाशक्तिभिः पञ्चविंशतितत्त्वात्मकशक्तिभिः उपबृंहितमभिव्यञ्जितं विश्वमात्ममायायोगेन स्वात्मनः आश्चर्यशक्तियोगेनाऽऽत्मना निमित्तभूतेन आत्मना आत्मानं सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं उपादानम् "तदात्मानं स्वयमकुरुत" इति श्रुत्या आत्मानमित्युपादानत्वस्य अकुरुतेति निमित्तत्वस्य चाभिधानात् विलुम्पन्निति सृष्टेः पूर्वसंहारः गृह्णन्निति पाश्चात्यसंहारः विसृजन्नस्मदादिरूपेण बिभ्रत् पुष्णन्।।२६।।

अमोघसङ्कल्पः सत्यसङ्कल्पस्त्वं ऊर्णनाभिर्यथा तन्तूनूर्णुते आच्छादयति सृजति इति यावत्।

---

1. A B Omit वरं.....तत्राऽऽह 2. B.H.V. Omit सन् 3. H.V. Omit परावरे इति 4. A.B. "वं" 5. A. Omits तथा 6. H.V. देहीं" 7. B.H.V. Omit नानाशक्तिभिरुपचितं 8. A.B. Omit विसृजन् 9. H.V. Omit अनुगृह्णन् 10. W. Omits बुद्धिं

तद्वद्यथा क्रीडसि तथा तद्विषयां सृष्टिविषयां मनीषां बुद्धिं हे माधव! [1]लक्ष्मीनाथ मयि धेहि [2]निधेहि।।२७।।

**विज०** वरमादास्यतो ब्रह्मणो हरिं प्रति विज्ञापनप्रकारमाह - **भगवन्निति**। भगवता वरं वरयेति मां प्रति यदादिष्टं तद्विडम्बनं मन्ये। तथा हि सर्वभूतानां हृदयगुहामध्यक्षोऽवस्थितो भगवान-प्रतिरुद्धेनाप्रतिहतेन ज्ञानेन सर्वेषां चिकीर्षितं वेद हि यस्मात् तस्मात् मच्चिकीर्षितमपि वेत्त्येव।।२४।।

तथाऽपि वरं वरयेति त्वदाज्ञाकर्तव्यतया वरं याचे इति विज्ञापयति - **अथापीति**। नाथमानाय याचमानाय नाथितं याचितं तं वरं नाथय समर्थय "नाथृ नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीष्षु" इति धातुः। कोऽसौ चित्तीकृतो वर इति तत्राऽऽह परावरेति। अरूपिणः प्राकृतरूपरहितस्य तव चिदानन्दाद्यात्मकवैराजाख्यं परं रूपं सनवावरणाण्डाख्यमवरमप[3]रं रूपमिति द्वे परावरे रूपे यथा येन प्रकारेण जानीयां तथा तद्विषयां मनीषां मयि धेहि आधेहीत्यन्वयः। तु शब्देन ते च रूपे सत्ये इत्यवधारयति "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे" इति श्रुतिसिद्धत्वात्। अनेन कार्यकारणरूपे व्यावर्तयति।।२५।।

किञ्च यथा ऊर्णनाभिः लूताकीटः ऊर्णमूर्णुते सृजते बिभर्ति च ऊर्णामण्डलमध्ये क्रीडति अथवा आत्मन्येव लुम्पति तथा आत्ममायायोगेन स्वरूपेच्छायोगेन अवियोगिन्या श्रिया च जगत् सृजन्नात्मना स्वभावेन आत्मानमवतारं गृह्णन् बिभ्रत् पालयन् विलुम्पन् क्रीडसि च यथा तथा च तद्विषयां मनीषां धेहीति नानाशक्त्युपबृंहितोऽमोघसङ्कल्पः इत्याभ्यामूर्णनाभेः हरेर्वैशिष्ट्यं दर्शयति।।२६,२७।।

**रा०कृ०** हे भगवन्! त्वं सर्वभूतानां गुहां हृदयाकाशं अवस्थितः अधिष्ठितः अध्यक्षः सर्वेन्द्रि-याणां द्रष्टा नियामकश्च सन् अप्रतिरुद्धेन अविद्यादिप्रतिरोधरहितेन प्रज्ञानेन प्रकृष्टज्ञानेन चिकीर्षितं सर्वेषां कर्तुमिष्टमर्थं वेद हि जानासि खलु।।२४।।

तथाऽपि सर्वभूतहृदयं यद्यपि जानासि तथाऽपि त्वं हे नाथ! नाथमानस्य याचमानस्य मम नाथितं याचितं यथा तु यथा वा अहं अरूपिणः कर्माधीनरूपरहितस्य ते तव परावरे स्थूलसूक्ष्मे रूपे जानीयां तथा - तादृशं मम नाथितमित्यर्थः। नाथय देहि।।२५।।।

हे माधव! अमोघसङ्कल्पः सत्यसङ्कल्पः त्वं यथा आत्ममायायोगेन आत्मनो मायायाः

---

1. W. Omits लक्ष्मीनाथ 2. A.B. देहि अर्पयेत्यर्थः।। 3. A.B. 'पर'

सङ्कल्पात्मिकायाः योगेन आत्मना स्वयमेव आत्मानं ब्रह्मादिरूपं गृह्णन् स्वीकुर्वन् नानाशक्त्युपबृंहितं द्रव्यज्ञानक्रियाशक्तिसहितं विश्वं विसृजन् उत्पादयन्। बिभ्रत् पालयन्। विलुम्पन् संहरन् क्रीडसि; यथा च ऊर्णनाभिः तन्तुवायः ऊर्णुते तन्तून् विस्तारयति तद्वत् यथा त्वं क्रीडसि तथा तद्विषयां सृष्ट्यादि-विषयां मनीषां यथार्थबुद्धिं मयि धेहि स्थापय।।२६,२७।।

**भगवच्छिक्षितमहं करवाणि ह्यतन्द्रितः।**
**नेहमानः प्रजासर्गं बध्येयं यदनुग्रहात्।।२८।।**

**यावत्सखा सख्युरिवेश ते कृतः प्रजाविसर्गे विभजामि भो! जनम्।**
**अविक्लबस्ते परिकर्मणि स्थितो मा मे समुन्नद्धमदोऽजमानिनः।।२९।।**

**श्रीभगवानुवाच**

**ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्।**
**सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया।।३०।।**

**श्रीध०** तत्किं सृष्टेरुद्विग्न एव तत्त्वज्ञानं प्रार्थयसे नेत्याह **भगवदिति**। भगवता त्वया शिक्षित मनुशिष्टमतन्द्रितोऽनलसः सन् करिष्यामि। तर्हि किमनेन तत्त्वज्ञानेन तत्राऽऽह। यस्मादेवम्भूतात् तवानुग्रहात् प्रजासर्गमीहमानः कुर्वन्नप्यहङ्कारादिभिर्बद्धो न भवेयमिति।।२८।।

अवश्यं च मदो भविता। स तु कञ्चित्कालं माभूदिति प्रार्थयते - **याव**दिति। भो! ईश! ते त्वया लौकिकस्य सख्युः सखेवाहं कृतः। करस्पर्शनादिना समत्वेन सम्मानितस्सन् प्रजासर्गरूपे तव परिकर्मणि सेवायां स्थितोऽविक्लबोऽव्याकुल एव। यावज्जनं विभजाम्युत्तममध्यमाधमभेदेन सृजामि तावत् त्वत्सम्माननादहमप्यजः स्वतन्त्र इति मानिनो मे समुन्नद्धः उत्कटः मदो माभूत्। यद्वा, मदो मा समुन्नद्ध मा समुन्नह्यताम्। कर्मणिलुङ्। उद्रिक्तो न भवेदित्यर्थः।।२९।।

**ज्ञान**मिति। ज्ञानं शास्त्रोत्थम्। विज्ञानमनुभवः। रहस्यं भक्तिः। सुगोप्यमपि वक्ष्यामीत्यादिनि-र्देशात्। तस्याङ्गं साधनम्।।३०।।

**वीर०** अन्यदपि प्रार्थयते **भगव**न्निति। हे भगवन्! शिक्षितं त्वया प्रदर्शितप्रकारं प्रजासर्गमतन्द्रितः

1. W. "वन् शि" 2. C. त्व" 3. M.Ma. भोजनम् 4. B. Omits तत्किं.....किमनेन 5. H.V. च 6. H.V. "र्शादिना 7. A. म" 8. B.H.V. Omit कर्मणिलुङ् 9. A. "क्तम्

अनलसस्सन् करवाणि। एवमीहमानः कुर्वाणः यदनुग्रहाद्यस्य भगवतोऽनुग्रहात् न बध्येयं बद्धो न भवेयं तथाऽनुगृहीष्येत्यर्थः।।२८।।

अवश्यं प्रजाः सृजतो मे मदो भविता। स माभूदिति प्रार्थयते - **याव**दिति। भो! हे भगवन्! ते त्वया लौकिकस्य सख्युः सखेवाहं कृतः। करस्पर्शादिना सम्मानितः सन्[1] प्रजाविसर्गे प्रजासर्गरूपे परिकर्मणि परिचर्यायां अविक्लबः धीरः अव्याकुल एव यावज्ञनं विभजामि उत्तममध्यमादिभेदेन सृजामि, तावत् त्वत्परिचर्यावधिः[2] अजमानिनः जगत्स्रष्टारं मां मन्यमानस्य मे मम समुन्नद्धमदः प्रभूत-मदः मा त्वत्प्रसादान्माभूदित्यर्थः।।२९।।

एवं प्रार्थितो भगवान् तमनुगृह्णन् परावररूपप्रकाशकं चतुश्श्लोक्यात्मकं भागवतमाह - **ज्ञान-**मिति। ज्ञानं प्राधान्येन ज्ञातव्यं भगवत्स्वरूपविषयकं ज्ञानम्। तदङ्गमप्रधानतया ज्ञातव्यचिदचित्स्व-रूपविषयकं च ज्ञानं मया गदितम्। तत् मे मत्तः गृहाण कथम्भूतं ज्ञानम्? परमगुह्यमतिगोप्यम् विज्ञानसमन्वितम्। विज्ञायते अनेनेति विज्ञानं शास्त्रं तज्ज्ञन्यं[3] ज्ञानमपि[4] विज्ञानम् योगश्च। ताभ्यां सहितं सरहस्यं समन्त्रकम्।।३०।।

**विज०** तादृशमनीषाप्रयोजनमाह - **भगवच्छिक्षित**मिति। यदनुग्रहात् यस्या मनीषाया आनु-कूल्येन ग्रहणादतन्द्रितोऽहं भगवता शिक्षितं करवाणि अथ यदनुग्रहात् च प्रजासर्गमीहमानः कुर्वाणो न बध्येयम्, तादृशीं मनीषां यस्य भगवतोऽनुग्रहाच्च न बध्येयं, तेन भगवता शिक्षितमेव करवाणीति वरान्तरप्रार्थनं वा।।२८।।

इदानीं बन्धमूलाहङ्कारनाशं प्रार्थयते इत्याह - **याव**दिति। ईश! यथा सखा राजादिः स्वोक्त-कारिणः सख्युर्जनपदाद्यधिकारं ददाति, तथा ते त्वया प्रजाविसर्गे कृतः अधिकृतोऽविक्लबः त्वत्प्रसादा-दैन्यहीनस्ते तव परिकर्मणि जगत्पृष्ट्यादिशुश्रूषाकर्मणि स्थितोऽहं यावद्रुद्रादिप्रजानां त्वदाज्ञया तवेदं पदं तवायं भोग इत्यादिरूपं भोजनं विभजामि विभज्य विभज्य ददामि तावत् मच्छतायुःपर्यन्तमजमानिनः आत् सर्वविलक्षणात् त्वज्ञातोऽहं - इत्यभिमानवतो मे समुन्नद्धमदः समुत्पन्नोऽहङ्कारो जगतः स्रष्ट्राहमित्यादिलक्षणो माभूदित्यन्वयः। भोः स्वामिन्! यथा सख्युर्व्यापारेऽधिकृतस्सखा तात्पर्यात्तत्कार्यं करोति तथाऽहमपि त्वत्प्रजासर्गेऽधिकृतो यावज्ज्ञन्यत इति जनो जन्यपदार्थः तं विभजामि सुरनरतिर्य-गादिरूपेण उत्पादयामि। तावत्समुन्नद्धमदो मा भूदिति वा।।२९।।

यत्किञ्चित्पृष्टम्। यः कश्चित् परिहार इत्यतः परावरे इति प्रार्थितवरदानप्रकारं वक्ति - **ज्ञान**मिति।

---

1. A.B. Omit सन् 2. W. °वधेः 3. A.B. सः 4. A.B. Omit तज्ज्ञन्यं.....विज्ञानम्

नियतमुक्तिप्रापकेण स्वबिम्बविषयेण विज्ञानेन समन्वितं मे स्वरूपविषयं सरहस्यं उपनिषत्संवाद-सहितं यत् ज्ञानं, तस्य ज्ञानस्य यदङ्गं च तन्मया गदितं गृहाणेत्यन्वयः। उपनिषदो बाह्यार्थरूपं चेदिदं अनुपादेयं स्यादिति अत उक्तं परमेति। ज्ञानं शास्त्रार्थविषयम्। विज्ञानं स्वानुभवः इत्यपव्याख्यानं, गदितमित्यनेन सूचितया "येन येन यथा ज्ञात्वा नियतं मुक्तिराप्यते। तद्विज्ञानमिति प्रोक्तं ज्ञानं साधारणं स्मृतम्।।" इति स्मृत्या निरस्तम्।।३०।।

**रा०कृ०** भगवच्छिक्षितं भगवता भवता शिक्षितं बोधितं प्रजासर्गरूपमर्थमतन्द्रितः अनलसस्सन् करवाणि करिष्यामि, तथाऽपि यत् यस्मात् मनीषादानलक्षणात् अनुग्रहात् तवानुग्रहात् प्रजासर्गमीहमानः कुर्वन्नपि न बध्येयं अहङ्कारादिभिः न बद्धो भवेयम् तद्विषयां मनीषां मयि धेहीति पूर्वेणान्वयः।।२८।।

हे ईश! सख्युः सखेव कृतः त्वया हस्तस्पर्शादिना तुल्यत्वेन सत्कृतोऽहं यावत् विसर्गे विविधविश्वसृष्टिरूपे ते तव परिकर्मणि सेवायां स्थितः अविक्लबः अव्याकुलः जागरूकस्सन्निति भावः। प्रजाः विभजामि उत्तममध्यमाधमभेदेन सृजामि तथा भोजनं तत्प्रजानुरूपं भोग्यसमुदायं च विभजामि। तावदजमानिनः जगत्स्रष्टा स्वतन्त्रो ब्रह्माहमस्मीत्यात्मानं मन्यमानस्य मे मम समुन्नद्धमदः जगत्स्रष्टृत्वाद्यधिकारप्रयुक्तः समुत्कटो मदः मा भगवदनुग्रहात् माभूदित्यर्थः। केचित् प्रजाविसर्गे इति समस्त-पदं कृत्वा भोःजनम् इति विभज्य च पठन्ति। तदा भो इति पदं ईश इति सम्बोधनान्तेनान्वेति, जनम् इति द्वितीयान्तं तु विभजामि इति क्रियायाः कर्म।।२९।।

परमगुह्यमतिगोप्यं श्रद्धया रक्षणीयमिति यावत्, विज्ञानसमन्वितमनुभवसहितं सरहस्यं भक्ति-योगसमेतं यत् वर्तते तन्मे ज्ञानं तदङ्गं च तस्य ज्ञानस्याङ्गं साधनं च मया गदितमुपदिष्टं गृहाण अवधानेन स्वीकुरुष्व।।३०।।

**यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।**
**तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्।।३१।।**

**अहमेवासमेकोऽग्रे[1] नान्यद्यत्सदसत्परम्।**
**पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्।।३२।।**

---

1. A.B.C.G.I.M.Ma.N. "भेवाग्रे 2. M.Ma. त्वमे" 3. W. "य्य"

**श्रीध०** ननु त्वद्दर्शनेऽप्यसमर्थोऽहं कथं ज्ञानाधिकारी स्याम् तत्राऽऽह - **यावानि**ति। यावान् स्वरूपतः यथाप्रकारेण[1] भवामीति यथाभावो यादृक्[2] सत्तावान् यानि रूपाणि गुणाः कर्माणि च यस्य।।३१।।

एतदेव सम्यगुपदिशन् यावानित्यस्यार्थं स्फुटयति - **अह**मिति। अहमेक[4] एवाग्रे सृष्टेः पूर्वमासं स्थितः। नान्यत्किञ्चित्। यत् सत् स्थूलम्, असत् सूक्ष्मं परं तयोः कारणं प्रधानम्। तस्याप्यन्तर्मुखतया तदा मय्येव लीनत्वात् अहं च तदा आसमेव केवलं; न चान्यदकरवम् पश्चात् सृष्टेरनन्तरमप्यहमेवास्मि, यदेतद्विश्वं तदप्यहमस्मि। प्रलये योऽवशिष्येत सोऽप्यहमेव। अनेन चानाद्यन्तत्वात्[5] अद्वितीयत्वाच्च परिपूर्णोऽहमित्युक्तं भवति।।३२।।

**वीर०** कार्त्स्न्येन त्वद्गदितग्रहणेनाहं प्रभुरित्याशङ्कमानं प्रत्याह - **यावानिति**। अहं "सत्यं ज्ञानं", "यःसर्वज्ञः" इत्यादिश्रुत्युक्तज्ञानस्वरूपज्ञानगुणकोऽहं यावान् यत्परिमाणकः अपरिच्छिन्नः यथाभावः यादृक्स्वभावः "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इत्युक्तसार्वज्ञ्यादिगुणकः यद्रूपगुणकर्मकः रूपं चिदचिद्वस्तु गुणस्तयोर्गुणः स च सद्वारको भगवद्गुणः "काठिन्यवान् यो बिभर्ती"ति वत् कर्म जगद्व्यापारः यानि रूपगुणकर्माणि यस्य सः इति बहुव्रीहिः। तथैव तत्त्वविज्ञानं मत्स्वरूपरूपगुण[6]-विभूतियाथात्म्यविज्ञानं मदनुग्रहात् मत्प्रसादाद्धेतोः ते तव अस्तु भवतु।।३१।।

यावानित्यस्यार्थमेव स्फुटयन् प्रधानतया ज्ञातव्यपरशब्दोक्तं भगवत्स्वरूपमाह - **अह**मिति। सदसत्परं चेतनाचेतनविलक्षणं यद्वस्तु तदहमेव आसमभवम्। अन्यत् चिदचिद्विलक्षणं न भवति अन्यत्सर्वं चिदचिदन्तर्गतमहमेव तद्विलक्षण इत्यर्थः। अग्रे सृष्टेः प्राक् यद्वस्तु[7] पश्चात्सृष्टिकाले जातः त्वमेतत्कार्यजातं च तदप्यहं कारणचिदचिद्रूपः[8] कार्यचिदचिद्रूपश्चाहमित्यर्थः। पुनस्संहारकाले योऽवशिष्येत संह्रियते सोऽप्यहमेवेत्यर्थः। प्रकृतिपुरुषविलक्षणः तच्छरीरकश्चाहमेक एव यः[9] एव सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वेश्वरः सृष्टेः प्रागविभक्तनामरूपसूक्ष्मप्रकृतिपुरुषशरीरकः सृष्टिकाले विभक्तनामरूप प्रकृतिपुरुषशरीरकः स्वपर्यन्तनामरूपः आसम् संहारविषयोऽप्यहमेवेत्यर्थः। एवं कारणावस्थायामविभक्तनामरूपप्रकृतिशरीरकत्वेन कार्यावस्थायां विभक्तनामरूपप्रकृतिपुरुषशरीरकत्वेन अवस्थितस्यापि परमात्मनः स्वशरीरगतचेतनाचेतनगताज्ञत्वदुःखित्वकर्मवशगत्व[10]परिणामित्वजडत्वादिभिः विकारैः जीवात्मनः तच्छरीरगतबालत्वयुवत्वस्थविरत्वादिभिरिवास्पर्शात् चेतनाचेतनवैलक्षण्यमविहतमेवावतिष्ठते। कार्यत्वं कारणत्वं च स्वशरीरभूतप्रकृतिपुरुषद्वारकमुपपन्नमित्यत्र[11] भाष्यादिषु विस्तरो द्रष्टव्यः।।३२।।

---

1. A.B. Omit यथा प्रकारेण भवामीति 2. H.V. Omit यादृक् सत्तावान् 3. H.V. Omit ए 4. A.B. "मेवाग्रे 5. H.V. अनाद्यन्त" 6. W. Omits "रूप 7. W. यद्वस्तु 8. W. Omits कारणचिदचिद्रूपः 9.W. Omits य एव 10. B. "वशत्व";W. वश्यत्व 11 W. "द्वारा उप" 12. W. "त्यन्यत्र

**विज०** यथाऽऽत्ममायायोगेनेति याचितवरप्रदानप्रकारमाह - **यावानिति**। देशकालव्याप्त्या यावाननन्तपरिमाणोपेतोऽहं यथाभावो यादृशसत्तावान् निरुपाधिकसत्तोपेतः यद्रूपगुणकर्मकः यादृशावतारः यादृशगुणः यादृशकर्मा चाहं मदनुग्रहात् ते तव तथैव तत्त्वविज्ञानमस्त्वित्यन्वयः। एवशब्देन सोपाधिकरूपं व्यावर्तयति।।३१।।

ज्ञानोपदेशप्रकारमाह - **अहमिति**। अग्रे सृष्टेः प्राक् अहमेवाऽऽसम्। च शब्दात् सदसदासीत् कालप्रकृत्यादिकमभूत् तथाऽपि प्रलये यत्कालकर्मादिकमन्यत् हरेः भिन्नमभूत् तत्परं स्वतन्त्रं नाऽऽस। किञ्च मायावृतत्वेन मदधीनमेवाभूत्। पश्चात् सृष्ट्यनन्तरं स्थितिकाले त्वम् अहं एतद्जगच्च, आसीः, आसम्, आसीत्। फलितमाह - य इति। स्थितिकाले भोक्ताऽहं कर्ताऽहं इति स्वातन्त्र्यप्रतीतेः सृष्टेः-प्राक् लयानन्तरं चास्य जगतः स्वातन्त्र्यं स्यादिति चेत्, न - तत्प्रतीतेः बुद्धिमोहमूलत्वात्। तदुक्तम् - "विष्णोरधीनं प्राक्सृष्टेः तथैव प्रलयादनु। अस्य सत्त्वप्रवृत्त्यादि विशेषेणाधिगम्यते।।। स्वातन्त्र्यं स्थितिकाले तु कथंचित् बुद्धिमोहतः। प्रतीयमानमपि तु तस्मान्नैवेति गम्यताम्" इत्यादि। अनेन कालत्रयेऽपि स्वतन्त्रोऽहम्, त्वदादिकं सर्वं मदधीनमेवेत्युक्तं भवति।।३२।।

**रा०कृ०** अहं यावत् यावान् यत्परिणामकः यथाभावः यादृक् सत्तावान् यद्रूपगुणकर्मकः यादृशरूपगुणकर्मसहितोऽस्मि। तथैव तेनैवप्रकारेण तत्त्वविज्ञानं याथार्थ्यानुभवः। मदनुग्रहात् ते तव अस्तु भवतु।।३१।।

अग्रे सृष्टेः प्राक् सदसत्परं सदसतोः स्थूलसूक्ष्मयोः कार्यकारणयोःपरं कारणभूतं यद्ब्रह्म तदहमेव। सोऽहमासमेव तदा केवलं सत्तारूपेणाहमासम्, नकिञ्चिदकरवमिति भावः। मद्भिन्नं अन्यत् किञ्चिदपि नास्ति। पश्चाच्च सृष्टेरनन्तरं च, यदेतत् सदसदात्मकं विश्वं तदप्यहमेव। यः अवशिष्येत प्रलये योऽवशिष्यते स ईश्वरोऽपि अहमस्मि। एवमत्र भगवतः परापररूपे त्रैकालिकसत्ता च समदर्शिषत ।।३२।।

**ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।**
**तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो[1] यथा तमः।।३३।।**

**यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु[2]।**
**प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्।।३४।।**

---

1. W. यथा भासो 2. M.Ma. °षु च ; W. °ष्वपि

**श्रीध०** 'यथात्ममायायोगेन' इत्यनेन मायाया अपि पृष्टत्वात् वक्ष्यमाणोपयोगित्वाच्च मायां निरूपयति **ऋत** इति। ऋते अर्थं विनाऽपि वास्तवमर्थम्। यद्यतः किमपि अनिरुक्तं आत्मन्यधिष्ठाने प्रतीयेत। सदपि च न प्रतीयेत। तदात्मनो मम मायां विद्यात्। यथा आभासो द्विचन्द्रादिः इत्यर्थं विना प्रतीतौ दृष्टान्तः। यथा तम इति। सतोऽप्रतीतौ तमः राहुर्यथा ग्रहमण्डले स्थितोऽपि न दृश्यते तथा।।३३।।

यथाऽऽभास इत्येतत् स्पष्टयति - **यथेति**। यथा महाभूतानि भौतिकेष्वनुसृष्टेरनन्तरं प्रविष्टानि इव तेषु उपलभ्यमानत्वात् अप्रविष्टानि च प्रागेव कारणतया तेषु अविद्यमानत्वात्। तथा तेषु भूतभौतिकेषु अहं न च तेष्वहम्। एवम्भूता मम सतेत्यर्थः।।३४।।

**वीर०** एवं चिदचिद्विलक्षणस्य परमात्मनः स्वरूपमुक्तम्। अथावरशब्दोक्तं अङ्गतया ज्ञातव्यम्। चिदचिद्रूपमाह - **ऋतेऽर्थ**मिति। अर्थं निरतिशयपुरुषार्थभूतचित्तत्वं ऋते विना यदचिद्वस्तु प्रतीयेत प्रकृत्यनुसन्धानवेलायाम् आत्मस्वरूपं न यथावत् प्रकाशत इत्यर्थः। आत्मनि चेतनस्वरूपे प्रतीयमाने "सा निशा पश्यतो मुनेः" इति न्यायेन यदचेतनं न प्रतीयेत तदात्मनः परमात्मनः मायां विद्यादित्यर्थः। अन्यतरस्य प्रकाशे अन्यतरस्याप्रकाशनं विरुद्धाकारत्वात् इत्यभिप्रेत्य तत्र दृष्टान्तमाह - "यथा भासो यथा तम" इति। यथा "भासो भासनं" भाशब्दो बहुवचनान्तो वा। न हि तेजसि तमो भाति। न च तमसि तेजो भाति तद्वदित्यर्थः। स्थूलत्वसूक्ष्मत्वनित्यत्वानित्यत्वजडत्वाजडत्वादिविरुद्धाकारयोगोऽभिप्रेतः।।३३।।

एवं परस्परविलक्षणं चिदचित्स्वरूपमुक्तम्। अथ एतयोः स्वस्य अनुप्रवेशतत्प्रशासनरूपं पालनं तद्गतदोषास्पर्शनं च आह - **यथा** इति। महान्ति भूतानि आकाशवायुतेजांसि यथा उच्चावचेषु नानाविधेषु भूतेषु भौतिकेषु घटादिषु प्रविष्टान्यप्रविष्टानीव घटादिगतभेदच्छेदनाद्यस्पृष्टत्वात् तथाऽहमपि तेषु चेतनाचेतनेषु आत्मतयाऽनुप्रविष्टोऽपि तेषु न प्रविष्टः। न तद्गतदोषैः स्पृष्टः इत्यर्थः। यद्वा परिच्छिन्नचेतनाचेतनवस्त्वनुप्रवेशेऽपि स्वस्यापरिच्छिन्नत्वं सदृष्टान्तमाह - यथेति। अप्रविष्टानि बहिरपि सन्ति, तथा - "अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य" इति प्रकारेण तेषु प्रविष्टोऽहं न तेष्वेव बहिरपि व्याप्त इत्यर्थः। एवमपरिच्छिन्नत्वप्रतिपादनेन यावानहं इत्येतत् स्पष्टीकृतम्। अहमेवाऽऽसमित्यत्र जगत्कारणत्वतदाक्षिप्तचेतनाचेतनवैलक्ष्यण्यापादकसार्वज्ञ्यसर्वशक्तित्वादिप्रतिपादनेन यथाभाव इत्येतत् स्पष्टीकृतम्। ऋतेऽर्थमित्यादिना परमात्मशरीरभूतपरस्परविलक्षणचेतनाचेतनस्वरूपप्रतिपादनेन यद्रूप इति स्पष्टीकृतम्। तथा तेषु इत्यनेन चेतनाचेतनयोः परमात्मशरीरत्वप्रतिपादनात् शरीरगता धर्मा जीवात्मनः, तच्छरीरगत-

---

1. H.V. Omit च 2. B. Omits तमः.....तथा 3. H.V. Omit तथा 4. A.B. Omit इव 5. H.V. Omit च 6. A.H.V. विद्यमान 7. H.V. Omit न च तेष्वहम् 8. A.B. Omit चिद् 9. A.B. "शने नान्य" 10. A.B. Omit यथा भासो यथा तम' इति 11. W. तयो 12. A.B. "वेशेन 13. A.B. "न्येव 14. W. Omits न 15. W. अस्पृष्टः 16. A.B. "न

बालत्वयुवत्वादयः इव मच्छरीरभूतचेतनाचेतनद्वारा ममैव धर्मा इति प्रतीतेः यद्गुणक इत्यभिव्यञ्जितम्। अहमेवाऽऽसमित्यनेन स्रष्टृत्वपालकत्वसंहर्तृत्वरूपजगद्व्यापाररूपकर्मप्रतिपादनेन यत्कर्मक इत्यभिव्यक्तीकृतम्।।३४।।

**विज०** अस्वतन्त्रस्य प्रकृत्यादेः स्वरूपमुपदिशतीत्याह - **ऋतेऽर्थ**मिति। यद्वस्तु आप्तकामस्य ममार्थं प्रयोजनमृते सर्वत्र वेदादिषु प्रतीयेत यच्चाऽऽत्मनि मयि बाधकं न प्रतीयेत, नहि ईश्वरस्य जीवप्रकृतिभ्यां अर्थो बाधश्च स्तः। तत्प्रकृत्यादिवस्तु आत्मनः परमात्मनो मायां विद्यादित्यन्वयः। मायेति नेन्द्रजालमुच्यते किन्तु जीवप्रकृती एवेत्याह - यथेति। यथा यथार्थत्वेनैव सत्यत्वेनैव प्रतीयमानाभासो मम प्रतिबिम्बभूतो जीवो यथा यथार्थत्वेनैव तमो ग्लानिहेतुर्मूलप्रकृतिश्च मायेत्युच्यते "मुख्यतो विष्णुशक्तिर्हि मायाशब्देन भण्यते। उपचारतस्तु प्रकृतिर्जीवश्चैव हि भण्यते" इति वचनात्। एतदुक्तं भवति - यथा च्छत्रधराद्या रथस्था अपि रथिनो नोच्यन्ते, तथा जीवप्रकृतिकर्मकालाः सदा मयि वर्तमाना अपि जीवेन जीवनाभावत् प्रकृत्या बन्धाभावात् कर्मणा फलाभावात् कालतः परिणामाभावाच्च मयि स्थिता इति नोच्यन्ते, "सर्वं परे स्थितमपि नैव तत्रेति भण्यते" इत्यादेरिति।।३३।।

भगवान् स्वव्याप्तिं सोदाहरणमुपदिशतीत्याह - **यथा महान्तीति**। यथा महान्ति पञ्चभूतानि उच्चावचेषु भूतेषु स्वकार्यशरीरेषु प्रविष्टानि वर्तन्ते, ततोऽप्यधिकव्याप्तिसद्भावात् तेष्वप्रविष्टानि च तथाऽहमपि अनन्तदेशकालव्यापी तेषु भूतेषु प्रविष्टः, तेभ्यो बहिरपि स्थितत्वात् तेषु न प्रविष्टश्च, "यथा महान्ति भूतानि शरीरेषु बहिस्तथा" इत्यादेः।।३४।।

**रा०कृ०** आत्मनि अधिष्ठानभूते जीवे अर्थमृते कार्यकाणत्वादिदेहेन्द्रियादिधर्मरूपमर्थं विनाऽपि यत् यस्मात् कारणात् आभासो यथा द्विचन्द्रादिमिथ्याप्रतीतिरिव सः कार्यं काणत्वादिधर्मरूपोऽर्थः प्रतीयेत प्रतीयते; तथा विद्यमानोऽपि सच्चिदानन्दत्वरूपोऽर्थः यस्मात् यथा तमः ग्रहमण्डले विद्यमानो राहुरिव न प्रतीयेत। तत् तां प्रागुक्तप्रतीत्यप्रतीतिनिमित्तभूतामात्मनः परमात्मनो मम मायां विद्यात्।।३३।।

यथा महान्ति भूतानि आकाशादीनि उच्चावचेषु स्थूलसूक्ष्मादिनानाविधेषु भूतेषु स्वकार्यरूपेषु अनुप्रविष्टान्यपि अप्रविष्टानि महाभूतानां कार्यत्वप्राप्त्यनन्तरमपि उपलम्भात् भूतेष्वनुप्रविष्टत्वं, तेषु पूर्वमेव कारणत्वेनावस्थानात् पुनरप्रविष्टत्वमित्युभयमपि युज्यते। तथा तेषु कार्येषु प्रविष्टोऽप्यहं न तेषु प्रविष्ट एव। अयं भावः - यथा आकाशादिकं घटाद्युत्पत्तिविनाशनैरपेक्ष्येण विद्यमानं घटादिषु प्रविष्टमपि तत्राशादिविकारैरस्पृष्टं वर्तते, तथा भगवानपि स्वसृष्टभूतानुप्रविष्टोऽपि तद्गतजरामरणादिविकारैः नैव स्पृष्टो भवति।।३४।।

**एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।**
**अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात् सर्वत्र सर्वदा।।३५।।**

**एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना।**
**भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्।।३६।।**

**श्रीशुक उवाच**

**सम्प्रदिश्यैवमजनो जनानां परमेष्ठिनम्।**
**पश्यतस्तस्य तद्रूपमात्मनो न्यरुणद्धरिः।।३७।।**

**अन्तर्हितेन्द्रियार्थाय हरये विहिताञ्जलिः।**
**सर्वभूतमयो विश्वं ससर्जेदं स पूर्ववत्।।३८।।**

**प्रजापतिर्धर्मपतिरेकदा नियमान् यमान्।**
**भद्रं प्रजानामन्विच्छन् नातिष्ठत्स्वार्थकाम्यया।।३९।।**

**तं नारदः प्रियतमो रिक्थादानामनुव्रतः।**
**शुश्रूषमाणश्शीलेन प्रश्रयेण दमेन च।।४०।।**

**श्रीध०** साधनमाह - **एतावदिति**। आत्मनस्तत्त्वजिज्ञासुना एतावदेव जिज्ञास्यं विचार्यम्। तदेवाऽऽह - अन्वयः कार्येषु कारणत्वेनानुवृत्तिः, कारणावस्थायां च तेभ्यो व्यतिरेकः तथा जाग्रदाद्यवस्थासु तत्तत्साक्षितयाऽन्वयः। व्यतिरेकश्च समाध्यादौ एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा च। तदेवाऽऽत्मनः स्वरूपमन्वयव्यतिरेकसाधनेन आत्मा जिज्ञास्य इत्यर्थः।।३५।।

यत्प्रार्थितं 'नेहमानः प्रजासर्ग' इति तत्प्रसादीकरोति - **एतदिति**। एतन्मम मतं सम्यगनुतिष्ठ समाधिना चित्तैकाग्र्येण कल्पेषु ये विकल्पा विविधाः सृष्टयस्तेषु विमोहं कर्तृत्वाभिनिवेशं न यास्यतीति।।३६।।

**सम्प्रदिश्ये**ति। एवं सम्प्रदिश्य उपदिश्य जनानां परमेष्ठिनं परमे आधिपत्ये स्थितं ब्रह्माणम्। आत्मनस्तद्रूपं न्यरुणदन्तर्हितवान्।।३७।।

---

1. M.Ma. म 2. M.Ma. "ह" 3. M.Ma. "नः 4. H.V. "तत्सा" 5. A B. "त्मेति।।३४।। 6 A.B. "मतं 7. B "त्वाद्यभि" 8. H.V. Omit उपदिश्य

**अन्तर्हितेति**। अन्तर्हितः इन्द्रियार्थः प्रत्यक्षरूपं येन तस्मै बद्धाञ्जलिस्सन्।।३८।।

तदनन्तरं पूर्वोक्तो ब्रह्मनारदसंवादः प्रवृत्त इत्याह - **प्रजापतिरिति** पञ्चभिः। प्रजानां भद्रमन्विच्छन् विमृशन् सैव स्वार्थकाम्या[2] स्वप्रयोजनेच्छा तया यमनियमानन्वितिष्ठत्[3]।।३९।।

**तमिति**। रिक्थादानां पुत्राणां मध्ये प्रियतमस्तं पितरं सेवमानः शीलादिना परितोषयामास इत्युत्तरेणान्वयः[4]।।४०।।

**वीर०** पुनश्च प्रकृतिपुरुषविलक्षणेश्वरस्वरूपं सङ्ग्रहेण वक्ष्यन् तस्यैव जिज्ञास्यत्वमाह - **एतावदिति**। आत्मनः परमात्मनः तत्त्वं स्वरूपं जिज्ञासुना ज्ञातुमिच्छुना[5] एतावदेव परस्परविविक्तस्वभावचिदचिदन्तरात्मभूतभगवत्स्वरूपमेव अन्वयव्यतिरेकाभ्यां अयोगान्ययोगव्यवच्छेदाभ्यां जिज्ञास्यमित्यर्थः। इदं[6] जिज्ञास्यमेवेत्यन्वयः। नान्यज्जिज्ञास्यमिति व्यतिरेकः। यद्वा अन्वयात्सद्भावात् चिदचिच्छरीरकपरमात्मन एव कार्यात्मना कारणात्मना च सद्भावाद्व्यतिरेकात् चिदचिच्छरीरकपरमात्मातिरिक्तवस्त्वंतराभावात् तदेवम्भूतपरमात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानात् ज्ञातव्यान्तराभावात् एतावदेव जिज्ञास्यमित्यर्थः। प्राधान्येन ज्ञेयं भगवत्स्वरूपं चेतनमचेतनं च तद्विभूतिभूतमिति तज्ज्ञानस्य भगवज्ज्ञानेऽन्तर्भावात् आत्मनः तत्त्वमित्युक्तम्। सङ्ग्रहेण प्रकृतिपुरुषवैलक्षण्यमाह - यत्स्यादिति। यदात्मनस्तत्त्वं मत्स्वरूपं सर्वदा स्यादित्यचिद्व्यावृत्तिः। अचितः प्रतिक्षणपरिणामित्वेन पिण्डत्वघटत्वकपालत्वचूर्णत्वरजस्त्वाणुत्वाद्यवस्थासु पूर्वपूर्वावस्थानां मृद्द्रव्यस्य उत्तरोत्तरावस्थाप्राप्तावभावात् सर्वदाऽस्तिशब्दानर्हत्वात्[7] सर्वत्रेति जीवव्यावृत्तिः। तस्याधिकृतत्वेन सर्वदा स्यादिति वक्तुं शक्यत्वेऽपि "बालाग्रशतभागस्य" इत्याद्युक्तप्रकारेण जीवस्वरूपस्याणुपरिमाणत्वेन सर्वत्र स्यादिति वक्तुमशक्यत्वात्। एवमविकारित्वानन्तत्वकथनेन "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्युक्तब्रह्मस्वरूपलक्षणमभिसंहितं[8] भवति।।३५।।

एवं "परावरे यथा रूपे जानीयां ते" इत्यस्योत्तरमुक्तम् "नेहमानः प्रजासर्गं बध्येयम्" इत्यस्योत्तरमाह - **एतदिति**। परमेण समाधिना चित्तैकाग्र्येण एतन्मतं सम्यगनुतिष्ठ भवानिति संहाराद्यधिकर्तृरुद्रादेरप्युपलक्षणम्। कल्पविकल्पेषु सृष्टिसंहारेषु कल्पः कल्पनं सृष्टिः[9] विकल्पो विपरीतकल्पनं संहारः कर्हिचित् कदाचिदपि न विमुह्यति अस्मदधीनत्वमनुसन्धाय समुन्नद्धमदोपहतो[10] न भविष्यसीत्यर्थः। अनेनैव तद्विषयां धेहि मनीषां इत्यस्याप्युत्तरमुक्तं भवति।।३६।।

अजनः कर्मायत्तोत्पत्तिशून्यः हरिर्भगवान् जनानां व्यष्टिभूतानां परमे आधिपत्ये स्थितं प्रति

---

1. H.V. एव 2. A. "र्थे 3. B. "न्वा" 4. B. Omits इत्युत्तरेणान्वयः 5. W. "च्छता 6. A.B. एवं 7. W. "दा नासिशब्दर्हत्वात् 8. A.B. Omit "सं" 9. W. Omits सृष्टिः 10. A.B. "दा"

एवमुक्तप्रकारेण संप्रदिश्य तस्य परमेष्ठिनः पश्यतस्सतः तच्च चतुर्मुखाय प्रदर्शितमात्मनः सम्बन्धिरूपं न्यरुणत्तिरोभावयामास।।३७।।

अन्तर्हितः तिरोधापितः इन्द्रियार्थः स्वचक्षुरिन्द्रियविषयः प्रत्यक्षरूपं येन तस्मै हरये विहितः रचितः अञ्जलिर्येन सः सर्वभूतमयः सर्वभूतप्रचुरः स्रक्ष्यमाणदेवादिभूतानां बुद्धिस्थत्वेन भूतविषयकर्म-ज्ञानप्रचुर इत्यर्थः। स ब्रह्मा इदं विश्वं पूर्ववत् पूर्वकल्पवत् ससर्ज।।३८।।

तदनन्तरं पूर्वोक्तो ब्रह्मनारदसंवादः प्रवृत्त इत्याह - **प्रजापति**रिति पञ्चभिः। धर्मपतिर्भागवत-धर्माणां प्रवर्तनेन गोप्ता प्रजापतिः ब्रह्मा प्रजानां भद्रं मङ्गलमन्विच्छन् विमृशन् सैव स्वार्थे काम्यया स्वप्रयोजनेच्छा[3] तया कदाचिद्यमात्रियमांश्च अन्वतिष्ठदनुष्ठितवान् इत्यर्थः।।३९।।

तमनुतिष्ठन्तं पितरं रिक्थादानां दायादानां[5] मरीच्यादिपुत्राणां मध्ये प्रियतमो नारदः शीलादिभिः पर्यतोषयदित्युत्तरेणान्वयः। प्रियतमत्वमेवाह - अनुव्रतः पितरं सेवमानः शुश्रूषमाणः श्रोतुकामः शीलेन स्वभावेन प्रश्रयेण विनयेन दमेन बाह्येन्द्रियनियमेन[6] चकाराच्छमेनान्तरिन्द्रियनिग्रहेण च।।४०।।

**विज०** उक्तव्याप्तिस्फुटीकरणपूर्वकं उपदेशमुपसंहरति - **एताव**दिति। यद्वस्तु सर्वत्र सर्वदेशे सर्वदा सर्वस्मिन् काले च अन्वयव्यतिरेकाभ्यां अन्यवस्त्वन्वितानन्वितदेशकालस्वरूपाभ्यां व्याप्तं स्यात्। एतावदेव मत्स्वरूपमात्मनः परमात्मनः तत्त्वजिज्ञासुना त्वया जिज्ञास्यं विचार्यं स्यादित्यन्वयः। अनेन वस्त्वन्तरसद्भावासद्भावरूपाभ्यां अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सर्वदेशकालयोः एकप्रकारेण गुणक्रियाभि व्याप्तमिति विचार्यमित्युक्तं भवति।।३५।।

नेहमान इति प्रार्थितं वरं ददानीत्याह **एतन्मत**मिति।।३६।।

तिरोधानातिरोधानेऽपि स्वेच्छाधीने इति ज्ञापयन् हरिः स्वस्वरूपं तिरोधत्त इत्याशयेनाऽऽह - **संप्रदृश्येति**। अजनो जननरहितो जनविरुद्धलक्षणो वा हरिर्जनानां रुद्रादीनां सकाशात् परमेष्ठिन उत्तमस्य हिरण्यगर्भस्य यद्रूपं प्रादर्शयत् आत्मनस्तद्रूपं तस्य विरिञ्चस्य पश्यतस्सतो न्यरुण-दित्यन्वयः।।३७।।

भगवति इन्द्रियविषयादन्तर्हिते सति विरिञ्चेन किं कृतम्? अत्राऽऽह - **अन्तर्हित** इति।

---

1. A.B. Omit स्व° 2. A.B. °भ्या 3. W. °च्छया 4. W. Omits तया 5. A.B. Omits दायादानां 6. A.B. °दमनेन

इन्द्रियार्थः इन्द्रियविषयः तस्मादन्तर्हिताय बाह्येन्द्रियग्राह्यरूपरहितायेत्यर्थः। सर्वभूतमयः सर्वभूतप्रधानः। "सर्वस्यापि प्रधानत्वात् स सर्वमय ईर्यते" इति।।३८।।

सदा स्वेष्टदेवतां सेवमानोऽपि पुमान् विशेषप्रयोजनप्राप्तौ विशेषतः तदुपास्तिं कुर्यादिति न्यायं दर्शयितुं विरिञ्चस्य विशेषोपास्तिमाह - **प्रजापतिरिति**। धर्मपतिः सम्पदि विपदि वा तत्तद्विशेषकार्य-प्राप्तौ तत्तद्योग्यानुष्ठानं कर्तव्यमिति धर्मस्य पालकः प्रजानां भद्रान्वेषणं न स्वार्थं इत्यत उक्तं स्वार्थेति। तदपि स्वप्रयोजनमिति मनीषया मुक्तौ सुखोद्रेकार्थत्वादित्यर्थः। "अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयाऽऽ-र्जवम्। क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चैते यमा दश।। तपस्सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्। सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम्। एते तु नियमाः प्रोक्तास्तान् सर्वांश्च पृथक् श्रुणु।।" इत्यादि योगशास्त्रे।।३९।।

रिक्थं पित्र्यं धनमाददते इति रिक्थादाः पुत्ताः तेषां मध्ये नारदोऽतिशयेन प्रियः।।४०।।

**रा०कृ०** अन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्वस्वरूपानुसन्धानात्मकभक्तेरन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् आत्मस्व-रूपं सर्वत्र सर्वदा स्यात्, तदेतावदेव आत्मनः तत्त्वजिज्ञासुना जिज्ञास्यं जिज्ञासाविषयीभूतं कार्यं ज्ञातव्यमित्यर्थः। अत्रायं विवेकः - यत्र स्वस्वरूपानुसन्धानात्मकभक्तिरस्ति, तत्र आत्मस्वरूपज्ञानं विद्यते इत्यन्वयः। यत्र पुनः सा भक्तिः नास्ति, तत्र आत्मस्वरूपज्ञानाभाव इति व्यतिरेकः।।३५।।

परमेण समाधिना चित्तैकाग्र्येण एतन्मतं मदुक्तमिति शेषः। समाहिष्ठ निरन्तरमनुसन्धेहि। एवं चेत् भवान् कल्पविकल्पेषु महाकल्पेषु अवान्तरकल्पेषु च यद्वा सङ्कल्पविकल्पेषु कर्हिचित् न विमुह्यति अहङ्काराद्यभिभूतो न भविष्यति।

परमचित्तैकाग्र्येण निरन्तरस्वस्वरूपानुसन्धानात् कल्पविकल्पेष्वात्ममयेषु अहङ्कारादिविमोहो न भवतीति भावः।।३६।।

अजनः प्राकृतजनभिन्नः कर्माधीनजन्मरहित इति यावत्। हरिः भक्तशोकहर्ता भगवान् जनानां परमेष्ठिनं जायमानानां प्राणिनामुत्पादनाद्याधिपत्ये स्थितं ब्रह्माणं प्रत्येवं पूर्वोक्तप्रकारेण सम्प्रदिश्य उपदिश्य तस्य पश्यतः तस्मिन् ब्रह्मणि पश्यति सत्येव आत्मनः स्वस्य तत् तावत्पर्यन्तं प्रदर्शितं रूपं न्यरुणत् अन्तर्हितमकरोत्।।३७।।

अन्तर्हितेन्द्रियार्थाय अन्तर्हितः तिरोधापितः इन्द्रियार्थः चक्षुरादीन्द्रियगोचरस्वरूपात्मकोऽर्थः येन तस्मै हरये विहिताञ्जलिः कृताञ्जलिः सर्वभूतमयः भगवत्प्रबोधितार्थानुसन्धानेन समष्टिव्यष्टिभूतस्वरूपस्सः ब्रह्मा इदं विश्वं पूर्ववत् पुरातनकल्पवत् ससर्ज सृष्टवान्। "धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" इति श्रुतेः।

ननु चक्षुरादीन्द्रियगोचरभगवद्रूपतिरोधानानन्तरं ब्रह्मा कथं कस्मै कथं विहिताञ्जलिरभवत्? उच्यते - प्रागुक्तभगवद्रूपतिरोधानानन्तरमपि यद्रूपं जगन्मयतयाऽवशिष्यते तस्मै भगवदनुग्रहवशात् निरन्तरभगवन्मयत्वानुसन्धानेन ब्रह्मा विहिताञ्जलिरभवदिति मन्तव्यम्। एतत्तत्त्वविदः प्राज्ञाश्च सन्तत सर्वभूतात्मभूतात्मताऽनुसन्धानपरायणाः सन्तो बन्धुमित्रादिभौतिकविरहावसरे न व्यथन्त इत्यवगन्तव्यम्। तदिदं श्रीमद्भागवताध्ययनजन्यफलानां प्रधानतमम्।।३८।।

एकदा धर्मपतिः धर्माणां प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपाणां पतिः प्रवर्तकः प्रजापतिः ब्रह्मा प्रजानां भद्रं कल्याणं अन्विच्छन् स्वीयधर्माचरणसन्दर्शनेन प्रजा अपि तत्तत्कालोचितनानाधर्मेषु प्रवृत्तास्सन्तः भद्रं प्राप्नुवन्तु इति कामयमानः स्वार्थकाम्यया स्वस्य अर्थः प्रयोजनं प्रागुक्तप्रजाहितरूपमेव सर्वभूतमयस्य ब्रह्मणः प्रयोजनान्तराभावात् तस्य काम्यया इच्छया नियमान् स्नानादीन् यमान् अहिंसादींश्च आतिष्ठत् अनुष्ठितवान्।।३९।।

रिक्थादानां रिक्थं कर्मज्ञानयोगादिरूपं पैतृकं धनं तस्य आदानां स्वीकर्तॄणां पुत्रादीनां मरीच्यादीनां मध्ये प्रियतमः अनुव्रतः पितृभक्तिपरायणः शुश्रूषमाणः शासनादिश्रवणेन पितरं सेवितुकामः नारदः तं यमनियमाद्यनुष्ठानपरायणं पितरं ब्रह्माणं शीलेन सुस्वभावेन प्रश्रयेण विनयेन दमेन च बहिरिन्द्रियनिग्रहेण च पर्यतोषयदित्युत्तरेणान्वयः।।४०।।

**मायां विविदिषन्[1] विष्णोर्मायेशस्य महामुनिः।**
**महाभागवतो राजन्! पितरं पर्यतोषयत्।।४१।।**

**तुष्टं निशाम्य[2] पितरं लोकानां प्रपितामहम्।**
**देवर्षिः परिपप्रच्छ भवान् यन्मानुपृच्छति[3]।।४२।।**

**तस्मा इदं भागवतं पुराणं दशलक्षणम्।**
**प्रोक्तं भगवता प्राह प्रीतः पुत्राय भूतकृत्।।४३।।**

**नारदः प्राह मुनये सरस्वत्यास्तटे नृप!**
**ध्यायते ब्रह्म परमं व्यासायामिततेजसे।।४४।।**

---

1. H.M.Ma.V.W. 'षुः 2. M.Ma. 'ज्ञं' 3. AF.GF. यदनु'

**यदुताहं त्वया पृष्टो वैराजात् पुरुषादिदम्।**
**यथाऽऽसीत्तदुपाख्यास्ये प्रश्नानन्यांश्च कृत्स्नशः।।४५।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
द्वितीयस्कन्धे पुरुषसंस्थानुवर्णनं नाम नवमोऽध्यायः।।९।।

**श्रीध० मायामिति**। किमिच्छन्। [1]विष्णोः मायां [2]विविदिषन् [3]वेदितुमिच्छन्।।४१।।

**तुष्टमिति**। [4]लोकानां प्रपितामहं पितृपितामहप्रभृतीनामपि कारणत्वात्। निशाम्य दृष्ट्वा ज्ञात्वेत्यर्थः मा माम्।।४२।।

भगवता चतुःश्लोक्या संक्षेपेण प्रोक्तं विस्तरेण प्राह - **तस्मा** इति। दशलक्षणानि लक्षणीया अर्थाः विद्यन्ते यस्मिंस्तत्।।४३।।

[5]सत्सम्प्रदायतो भागवतं [6]मया ज्ञातव्यमित्याशयेनाऽऽह - **नारद** इति।।४४।।

भागवतव्याख्यानेनैव [7]त्वत्प्रश्नानामुत्तरं दास्यामीत्याह - **यदुतेति**। "पुरुषावयवैर्लोकाः सपालाः पूर्वकल्पिताः" इत्यादिना वैराजात् पुरुषादिदं विश्वं कथमासीदिति यदहं त्वया पृष्टो वै [8]तद्यथावदुपाख्यास्यामि श्रुणु इति।।४५।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
द्वितीयस्कन्धे नवमोऽध्यायः।।९।।

**वीर०** किमिच्छन् मायाधिपस्य विष्णोर्मायां तन्नियाम्याश्चर्यशक्तिं विविदि[9]षन् वेदितुमिच्छन्।।४१।।

लोकानां प्रपितामहं स्वस्य पितरं ब्रह्माणं तुष्टं स्वपरिचर्या[10]यां सन्तुष्टं निशाम्य ज्ञात्वा देवर्षिर्नारदः भवान् मां [11]सम्प्रति यदनुपृच्छति अनुपृष्टवांस्तदेव परिपप्रच्छ।।४२।।

---

1. H.V. Omit विष्णोः 2. H.V. Omit विविदिषन् 3. A.B. Omit वेदितुमिच्छन् 4. A.B. Omit लोका.....कारणत्वात्। 5. A.B. तत्सं ° 6. HV. Omit मया 7. H.V. तव प्र° 8. A.B. Omit 9. W. षु: 10. A.B. र्यायां 11. A.B. प्रति

तस्मै पृष्टवते पुत्त्राय[1] नारदाय इदं भागवतं भगवता चतुःश्लोक्यात्मना संक्षेपेणोक्तं दशलक्षणं उपरितनाध्यायोक्तैः दशभिरर्थैश्चिह्नितं[2] पुराणं चतुःश्लोक्यामपि सर्गादयो दशार्थाः सङ्ग्रहेण सूचिताः। तथा हि 'अहमेवासम्' इति श्लोकेन भगवतः सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वोक्त्या आश्रयसर्गपोषणनिरोधानामुक्तिः अनेनैव सर्वकारणत्वरूपसर्वातिशायित्वोक्त्या वैकुण्ठविजयरूपस्थितिरप्युक्ता। "पश्चादहं यदेतच्च" इत्यनेन कार्यचिदचिद्रूपव्यष्टिसर्गस्यापि चतुर्मुखशरीरकस्वकारणकत्वोक्त्या विसर्गोऽपि सङ्गृहीतः। परस्परविविक्तत्वेन प्रकृतिपुरुषस्वरूपशोधके "ऋतेऽर्थम्" इति श्लोके आत्मस्वरूपाप्रतीतिदशायां मायास्वरूपप्रतीतिकथनात् आत्मस्वरूपाप्रतीतिमायाप्रतीत्योः[3] रनादिकर्मवासनायत्तत्वप्रतीतेः कर्मवासानारूपा ऊतयोऽपि सूचिताः। "यथा महान्ति भूतानि" इति श्लोके सर्वान्तरात्मतया प्रशासितृत्वरूपपालकत्वोक्त्यैव पालनाधिकृतभगवदवतारकथानां भगवदनुवर्तिमन्वादिककथानामपि सूचितत्वेन मन्वन्तरेशानुकथे अपि सूचिते। परमपुरुषशरीरप्रकृतिविलक्षणजीवस्वरूपशोधनेनैव प्रकृतिविनिर्मुक्ता आविर्भूतगुणाष्टकपरमात्मात्मकस्वरूपेणावस्थितिरूपा मुक्तिरित्यपि सूचितम्। एवं दशार्थाः सङ्ग्रहेण चतुःश्लोक्यामपि सूचिताः। अत एवैतद्विवरणरूपे द्वादशस्कन्धात्मके पुराणे दशार्थानां प्रतिपादनमुपपद्यते। भूतकृत् ब्रह्मा प्रीतः प्राह।।४३।।

स च नारदः सरस्वत्याः नद्यास्तटे परमं ब्रह्म ध्यायते ध्यानं कुर्वतेऽपरिमिततेजसे मुनये वेदशास्त्रार्थतत्त्वावगन्त्रे व्यासाय प्राह प्रोक्तवान् व्यासस्तु मह्यं प्रोक्तवानित्येतत्तु "अधीतवान् द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहम्" इति पूर्वमेवोक्तम्।।४४।।

एवं सत्सम्प्रदायागतश्रीभागवतव्याख्यानेनैव[4] त्वत्कृतप्रश्नानामुत्तराण्यभिधास्यामीत्याह - **यदुतेति**। इदं विश्वं वैराजात् विराडाख्यानिरुद्धसृष्टाञ्चतुर्मुखाद्यथा आसीदिति[5] यत्त्वयाऽहं पृष्टः "अतः सृजति भूतानि भूतात्मा यदनुग्रहात्" इत्यादिना तदुपाख्यास्ये भागवतोपाख्यानेनोत्तरयामि, अन्यांश्च प्रश्नान् कार्त्स्न्येन उपाख्यास्ये इत्यर्थः। एवं यत्र शेते इत्यस्योत्तरमुक्तं भवति परमव्योमकथनात् अप्राकृतशुद्धसत्त्वमयलोकस्थैर्विग्रहकथनेन[8] ईश्वरस्य जीववद्धातुभिर्देहारम्भप्रश्नः प्रत्युक्तः। अन्यत्र व्याप्तिकथनात् परिच्छिन्नत्वमपि परिहृतम्।।४५।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां श्रीभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां व्याख्यायां
द्वितीयस्कन्धे नवमोऽध्यायः।।९।।

---

1. A.B. Omit पुत्राय 2. W. Omits अर्थैः 3. W "त्याः 4. A.B. "त्वेनैव 5. A B. "ताख्या" 6 A.B. वैराजाख्यादनि" 7 A.B. "ताख्या" 8. A.B. "स्य परिग्र"

**विज०** मायां जगत्स्रष्टृत्वादिमाहात्म्यं विविदिषुः ज्ञातुकामः। मायेशस्यान्येषां माहात्म्यानां * पतेः "मुख्यतो विष्णुमाहात्म्यं मायाशब्दोदितं भवेत्; प्रधानत्वाच्च मातृत्वान्मेयत्त्वं चैव तस्य हि" इति।।४१।।

पितृतोषणप्रयोजनमाह - **तुष्ट**मिति।।४२।।

भगवता स्वस्य प्रोक्तं भूतं सत्तावत्सत्यं जगत् करोतीति भूतकृत् ।।४३।।

नारदस्येति सङ्कल्प्य वर्णयेति स्वपित्राज्ञापालनप्रकारमाह - **नारद** इति। मुनय इत्यादि विशेषणेभ्यो व्यासस्य सार्वज्ञ्यादिप्रतीतेः नारदादिभ्यः श्रवणं मोहानर्थमिति ज्ञातव्यम्, तदुक्तम् - हरिर्व्यासादिरूपेण सर्वज्ञोऽपि स्वयं प्रभुः" इत्यादि।।४४।।

अधुना परीक्षित्प्रश्नपरिहाराय श्रीभागवतव्याख्यानं पृथक् पृथक् प्रश्नप्रतिवचनं च प्रतिजानीते **यदुतेति**। यत्पुराणपरिज्ञानं प्रति अहं त्वया पृष्टः तत् व्यासकृतं भागवतपुराणं तवोपाख्यास्ये तत्पुराणं व्याकुर्वन् प्रथमतः सर्वेशत्वाद्विराडाख्यविरिञ्चस्थितत्वात् वैराजपुरुषाख्यहरेरिदं विश्वं यथाऽऽसीत् तथोपाख्यास्ये उताथ अन्यान् प्रश्नांश्च कृत्स्नशो व्याख्यास्ये इत्यन्वयः। श्रीभागवतप्रथमकथा नारायणोद्भूतविराडभिधविरिञ्चस्थहरेरधिदेवादिसर्वजगत्सृष्टिरुतापीति वा "उताप्यर्थविकल्पयोः इत्यभिधानम्।।४५।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
द्वितीयस्कन्धे नवमोऽध्यायः।।९।।

**रा०कृ०** राजन्! हे परीक्षित्नरेन्द्र! मायेशस्य जगत्कारणभूतमायाविभोः विष्णोः मायां विविदिषन् वेदितुमिच्छन् महाभागवतः महामुनिः नारदः पितरं ब्रह्माणं पर्यतोषयत् परितुष्टमकरोत्।।४१।।

लोकानां प्रपितामहं पितरं स्वपितरं ब्रह्माणं तुष्टं निशाम्य दृष्ट्वा विज्ञायेति भावः। देवर्षिः भवान् मा मां प्रति यदनुपृच्छति तदेव परिपप्रच्छ परिपृष्टवान्।।४२।।

तस्मै पृष्टवते पुत्त्राय नारदाय प्रीतो भूतकृत् ब्रह्मा भगवता नारायणेन प्रोक्तं पुरा सङ्ग्रहेण चतुःश्लोक्या कथितम्। दशलक्षणं दशलक्षणोपेतं इदं भागवतं नाम पुराणं प्राह प्रोक्तवान्।।४३।।

---

*पत्युरिति साधीयान् पाठः

हे नृप! सोऽपि नारदः सरस्वत्याः तन्नाम्न्याः नद्याः। वाक्प्रवाहस्य सङ्केतोऽयं सरस्वतीशब्दः। तटे परमं ब्रह्म ध्यायते अमिततेजसे व्यासाय मुनये तदिदं भागवतं प्राह।।४४।।

त्वया यदुत यदपि अहं पृष्टः। इदं च विश्वं वैराजात् पुरुषात् यथा यथा वा आसीत् समभवत् तच्चान्यांश्च कृत्स्नशः प्रश्नानितरांश्च तव सर्वान् पश्नान् उपाख्यास्ये कथयिष्यामि।।४५।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां व्याख्यायां
द्वितीयस्कन्धे नवमोऽध्यायः।।९।।

oooOooo

# दशमोऽध्यायः

**श्रीशुक उवाच**

**अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।**
**मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः।।१।।**

**दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।**
**वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा।।२।।**

**भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः।**
**ब्रह्मणो गुणवैषम्यात् विसर्गः पौरुषः स्मृतः।।३।।**

**स्थितिर्वैकुण्ठविजयः पोषणं तदनुग्रहः।**
**मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासनाः।।४।।**

**अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम्।**
**सतामीशकथाः प्रोक्ताः नानाख्यानोपबृंहिताः।।५।।**

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ततो भागवतव्याख्याद्वारैव दशमे स्फुटम्। राजप्रश्नोत्तरं वक्तुमारेभे बादरायणिः।।

अतीतानन्तराध्याये दशलक्षणं पुराणं प्राह इत्युक्तं तानि दशलक्षणानि दर्शयति - **अत्रेति**। मन्वन्तराणि ईशानुकथाश्चेति द्वन्द्वः। सर्गादयः अत्र दश पदार्थाः लक्ष्यन्ते।।१।।

नन्वेवं अर्थभेदात् शास्त्रभेदः स्यात्तत्राह - **दशमस्येति**। दशमस्य आश्रयस्य विशुद्ध्यर्थं तत्त्वज्ञानार्थं नवानां लक्षणं स्वरूपकथनम्। एकस्यैव प्राधान्यात् नायं दोष इत्यर्थः। नन्वत्र नैवं प्रतीयते। अत आह - श्रुतेन श्रुत्यैव श्रुतिप्रतिपाद्यरूपेण सृष्ट्यादिस्थानेषु अञ्जसा साक्षाद्वर्णयन्ति। अर्थेन तात्पर्यवृत्त्या च तत्तदाख्यानेषु।।२।।

---

1 M Ma "र्मा 2 H V "र्" 3. AF.GF "र्णितम् 4. B.E.I.M.Ma.N.W. पुंसा"; H.V. पुंसां च सत्कथाः 5. A.B. Omit अतीति.....ये 6. B. adds च 7 A.B. "शार्थाः 8. A.B. "पम्। 9. H.V. तत्र

सर्गादीनां प्रत्येकं लक्षणमाह - **भूतमात्रेति**। भूतानि आकाशादीनि, मात्राणि च शब्दादीनि इन्द्रियाणि च। धीशब्देन महदहङ्कारौ। गुणानां वैषम्यात् परिणामात्। ब्रह्मणः परमेश्वरात् कर्तुः भूतादीनां यद्विराड्रूपेण स्वरूपतश्च जन्म सः[1] सर्गः। विसर्गमाह पौरुषः विराजः[2] तत्कृतः पौरुषः चराचरसर्गः विसर्ग इत्यर्थः।।३।।

**स्थितिरिति**। वैकुण्ठस्य भगवतः विजयः सृष्टानां तत्तन्मर्यादापालनेन उत्कर्षः भगवदवतारैः जगत्पालनमित्यर्थः। स्थितिः स्थानम्।[4] स्वभक्तेषु तस्यानुग्रहः पोषणम्। तदनुगृहीतानां सतां मन्वन्तराधिपतीनां धर्मः सद्धर्मः। ऊतयः[6] कर्मणां वासनाः। वेञ् -तन्तुसन्ताने। ऊयन्ते कर्मभिः सन्तन्यन्त इति ऊतयः। यद्वा वृद्ध्यर्थात् संश्लोषार्थाद्वा अवतेः धातोरिदं रूपम्। ऊयन्ते कर्मभिः वर्धन्ते संश्लिष्यन्त इति वा ऊतयः इत्यर्थः।।४।।

ईशानुकथनमाह[7] - **अवतारेति**। हरेः अवतारानुचरितं अस्य हरेः[8] अनुवर्तिनां च सत्कथा[9] ईशानुकथाः प्रोक्ता इत्यर्थः।।५।।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ वैराजात् पुरुषात् इदं यथासीत् तदुपाख्यास्ये इति प्रतिज्ञातं समष्टिपुरुषचतुर्मुखावयवैः देवादिक्लृप्तौ[10] रभिधास्यन् तावत् पुराणं दशलक्षणं प्रोक्तं भगवतेति प्रस्तुतान्[11] दशार्थानाह - **अत्रेति**। अत्र अस्मिन् पुराणे सर्गादयः आश्रयान्ताः दशार्थाः प्रतिपाद्या इत्यर्थः। मन्वन्तरेशानुकथा मन्वन्तरकथनं ईश्वरचेष्टाकथनं च इत्यर्थः।।१।।

नन्वेवं प्रतिपाद्यानां बहुत्वात् प्रतिपाद्यभेदात् शास्त्रभेदः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह - **दशमस्येति**। इह पुराणे दशमस्याश्रयस्य[12] परब्रह्मणः विशुद्ध्यर्थं शोधनार्थं सम्यक् प्रतिपत्त्यर्थं नवानां सर्गादीनां लक्षणं अञ्जसा सुखेन महात्मानः परापरयाथात्म्यज्ञाः[13] श्रुतेनार्थेन यथाश्रुतं वर्णयन्ति। एवञ्च दशमस्यैव प्राधान्यात् तदर्थत्वेन इतरेषां प्रतिपादनात् न शास्त्रभेदः इत्यर्थः।।२।।

प्रत्येकं दशानां लक्षणमाह - **भूतेति**। भूतानि आकाशादीनि, मात्राः तन्मात्राणि शब्दादीनि। इन्द्रियाणि ज्ञानकर्मोभयेन्द्रियाणि। धीशब्दोऽन्तःकरण भूतबुद्धिशब्दवाच्यमहत्तत्त्वपरः। महदादिपृथिव्यन्तानामित्यर्थः। एतेषां तत्त्वानां यज्जन्म उत्पत्तिः तत्सर्गः इत्युदाहृतः कथितः[14] इत्यर्थः। ब्रह्मणः परस्मात्

---

1. H.V. Omit सः 2. B. adds (ब्रह्मा) 3. A.B. Omit भग..... त्यर्थः 4. B. adds ततः स्थिरेषु 5. A.B. Omit ऊतय 6. A. वृत्यन्ते 7. A.B. Omit ईशा. ....रेति 8. B.H.V. Omit हरे: 9. B. सतां कथाः 10. W. "ग्रिम" 11. A.B. "श्रु" 12 W. "श्रय भूतस्य 13. W. "व" 14. A.B. Omit कथित इत्यर्थः।

ब्रह्मणः प्रयोजकात् कर्तुः गुणानां सत्त्वरजस्तमसां वैषम्यात् हेतोः पौरुषः चतुर्मुखसम्बन्धी प्रयोज्य-चतुर्मुखकर्तृक इत्यर्थः। एवम्भूतः सर्गः विसर्गः स्मृतः।।३।।

वैकुण्ठविजयः वैकुण्ठस्य हरेः सर्वोत्कर्षः शत्रुविजयादिरूपः स्थितिः। तस्य वैकुण्ठस्य योऽनुग्रहः जगद्रक्षणरूपः स पोषणं इत्यर्थः। सद्धर्मः सतां वैकुण्ठानुगृहीतानां मन्वन्ताराधिपतीनां यो धर्मः सः मन्वन्तरानुकथनम्। कर्मवासनाः कर्मणः वासनाः संस्काराः ऊतयः इति उच्यन्ते। क्रमस्त्वविवक्षितः।।४।।

ईशानुकथां विवृणोति - **अवतारेति**। हरेः अवतारानुचरितं तदनुवर्तिनां हर्यनुवर्तिनां पुंसां च नानाख्यानोपबृंहिताः विचित्रकथाभिः युक्ताः सत्कथाश्च ईशानुकथा इत्यर्थः।।५।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अस्मिन्नध्याये वैराजाख्यहरेः सकलजगत्सृष्टिः प्रपञ्च्यते। तत्रादौ भागवतपुराणं दशलक्षणमित्युक्तम्। दशलक्षणानि कथयतीत्याह - **अत्रेति**। अत्र श्रीभागवते सर्गादिदशलक्षणानि प्रतिपद्यन्त इति शेषः।।१।।

मुक्तामुक्तप्रपञ्चाधारस्य दशमस्य हरेर्माहात्म्यवर्णनस्यावश्यापेक्षितत्वात् सर्गादिनवानां वर्णनं क्वोपयुज्यत इति तत्राह - **दशमस्येति**। महात्मानो ब्रह्मादयः इह पुराणे दशमस्य आश्रयस्य विशुद्ध्यर्थं सर्गादिनवानां लक्षणं वर्णयन्तीत्यन्वयः। अनेन अर्थात् ब्रह्मज्ञानलब्ध्यर्थत्वमुक्तं भवति। अत्र किं प्रमाणं अत्राऽऽह श्रुतेनेति। अञ्जसा मुख्यया वृत्त्या अनन्तवेदार्थसंवादेन इत्यर्थः। ब्रह्मणः सर्वगुणपूर्णत्व सर्वोत्तमत्वादि ज्ञानार्थत्वेन तदुपयोगात् तल्लक्षणकथनं युक्तमिति भावः।।२।।

तत्र प्रथमं सर्गं लक्षयति - **भूतेति**। सृष्टिकाले परब्रह्मणः सकाशात् जातात् गुणवैषम्यात् तन्नामकान्महत्तत्वात् अहङ्कारद्वारा भूतमात्रेन्द्रियधियां पञ्चमहाभूतानां शब्दादितन्मात्राणां श्रोत्रादिदशेन्द्रियाणां धियः बुद्धेश्च अण्डपर्यन्तं यज्जन्म स सर्गः उदाहृतः इत्यन्वयः। विसर्गं लक्षयति विसर्ग इति। पौरुषः विसर्गः स्मृत इत्यन्वयः। अण्डान्तर्गतपुरुषनाम्नः हरेः भूतानां यत् द्विविधं जन्म स विसर्गः स्मृतः शास्त्रान्तरोक्त इति शेषः। तदुक्तं - "महदाद्यण्डपर्यन्तः सर्गोऽण्डे ब्रह्मणस्तु यः। अनुसर्ग इति प्रोक्तः पौरुषश्चेति कथ्यते"।। किञ्च पञ्चभूतसमूहेन जातः पुरुषः जीवः तद्विषयसर्गः पौरुषस्सर्गः इत्युच्यते। अत्राप्युक्तैव स्मृतिः प्रमाणम्। "पञ्चभूतसमूहेन जातः पुरुष उच्यते"। अण्डान्तर्हितजातानां नानाजीवानां सात्त्विकादिस्वभावानां व्यक्तिः तेषु जीवेषु तैजसाप्यादिकार्यापेक्षया भूतानां बहुत्वात्

1. W. Omits चतु.....योज्य" 2. W. Omits सः 3. A.B.M "हि जा"

भूयस्त्वात् तथा च भूतानां काठिन्यादिस्वभावव्यञ्जकत्वेन कृतार्थत्वात् जीवतत्त्वमेकस्मात् भूतसमूहाज्जातत्वादेकजमित्युच्यते। "बहुत्वात्तत्र भूतानां तावत्त्वात्तत्त्वमेकजम्" इति च।।३।।

स्थानं लक्षयति - **स्थितिरिति**। वैकुण्ठस्य हरेः दुष्टशिष्टनिग्रहानुग्रहलक्षणो विजयः स्थितिरित्युच्यत इत्यन्वयः। तस्य वैकुण्ठस्य अनुग्रहः अनुकम्पिता प्रसादविशेषः पोषणमित्युच्यते। तत्तद्भक्त्यैकविषयत्वात् पूर्वस्मात् विशेषः। मन्वन्तरं लक्षयति मन्वन्तराणीति। सद्धर्मा मन्वन्तरेषु सतां धारका धर्माः मन्वन्तराणीत्युच्यन्ते। ऊतीराह ऊतय इति। नानाजीवानां अनादिकर्माणि तत्संस्काराश्च नानासृष्टिहेतुभूता ऊतय इत्युच्यन्ते।।४।।

ईशानुकथामाह - **अवतारेति**। हरेः मत्स्याद्यवताराणां अनुचरितमस्य हरेः अनुवर्तिनां ब्रह्मादीनां पुंसामनुचरितं च नानाख्यानोपबृंहिता विविधेतिहासपूर्णा ईशकथेत्युच्यते।।५।।

## श्रीराधाकृष्णप्रणीता सुधीसुधा

अत्र श्रीमद्भागवतपुराणे सर्गः विसर्गः स्थानं पोषणं ऊतयः मन्वन्तरेशानुकथाः - मन्वन्तराणि ईशानुकथाश्च - निरोधः मुक्तिः आश्रयः एते दशार्थाः निरूप्यन्ते इति शेषः।।१।।

अञ्जसा सुखेन दशमस्य आश्रयस्य परब्रह्मणः विशुद्ध्यर्थं विस्पष्टज्ञानार्थं महात्मनो विदुरमैत्रेयप्रभृतयः विशुद्धान्तःकरणाः विवेकशालिनः इह भागवतपुराणे नवानां सर्गादीनां लक्षणं श्रुतेन स्तुत्यादिषु तद्वाचकशब्देनैव साक्षात् अर्थेन च तत्तदाख्यानेषु तात्पर्यवृत्त्या च वर्णयन्ति।।२।।

ब्रह्मणः प्रयोजकात् परमात्मनः गुणवैषम्यात् गुणानां सत्त्वादीनां वैषम्यात् भेदाद्धेतोः भूतमात्रेन्द्रियधियां भूतानां आकाशादीनां पञ्चमहाभूतानां मात्राणां शब्दादिपञ्चतन्मात्राणां इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां दशेन्द्रियाणां धियः महदहङ्कारात्मिकायाश्च जन्म उत्पत्तिः, सर्ग इत्युदाहृतः तत्त्वविद्भिरिति शेषः। पौरुषः पुरुषः वैराजः ब्रह्मा तत्कृतः चराचरसर्गः विसर्ग इति स्मृतः।।३।।

वैकुण्ठविजयः वैकुण्ठस्य भगवतो नारायणस्य विजयः दुर्जनशिक्षणेन जगत्परिपालनार्थः उत्कर्षः स्थितिः स्थानमित्युच्यते। तदनुग्रहः साधुजनेषु तस्य भगवतः अनुग्रहः पोषणं इति कथ्यते। सद्धर्मः सतां भगवदनुगृहीतानां मन्वन्तराधिपतीनां आचरणीयः धर्मः मन्वन्तराणि, स एव मन्वन्तरपदेनाभिधीयते कर्मवासनाः जीवकृतपुण्यपापरूपकर्मसंस्काराः ऊतय इत्युच्यन्ते।।४।।

हरेः अवतारानुचरितं, अस्य च हरेः अनुवर्तिनां हर्यवतारोपकरणभूतानां सतां साधूनां नानाख्यानोपबृंहिताः विविधेतिहाससहिताः कथाश्च ईशकथाः ईशानुकथाः इति प्रोक्ताः।।५।।

**निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः।**
**मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।।६।।**

**आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते।**
**स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते।।७।।**

**योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः।**
**यस्तत्रोभयविच्छेदः स स्मृतोऽथाधिभौतिकः।।८।।**

**एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।**
**त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः।।९।।**

**पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य यदाऽसौ स विनिर्गतः।**
**आत्मनोऽयनमन्विच्छन्नपोऽस्राक्षीच्छुचिः शुचीः।।१०।।**

**श्रीध०** निरोधमाह - **निरोध** इति। अस्य आत्मनः जीवस्य हरेः योगनिद्रां अनु पश्चात् शक्तिभिः स्वोपाधिभिः सह शयनं लयः निरोधः। अन्यथारूपं अविद्याध्यस्तं कर्तृत्वादि हित्वा स्वस्वरूपेण ब्रह्मतया व्यवस्थितिः मुक्तिः।।६।।

**आभास** इति। आभासः सृष्टिः, निरोधः लयश्च यतो भवति अध्यवसीयते प्रकाशते च स परं ब्रह्मेति परमात्मेति प्रसिद्धः आश्रयः कथ्यते।।७।।

आश्रयस्वरूपमपरोक्षानुभवेन स्पष्टं दर्शयितुं अध्यात्मादिविभागमाह - **य** इति। योऽयमाध्यात्मिकः पुरुषः चक्षुरादिकरणाभिमानी द्रष्टा जीवः स एवाधिदैविकश्चक्षुराद्यधिष्ठाता सूर्यादिः तत्रैकस्मिन्नेवोभयः द्विरूपः विच्छेदः यस्मात् सः आधिभौतिकश्चक्षुर्गोलकाद्युपलक्षितः दृश्यो देहः पुरुष इति पुरुषस्य जीवस्य उपाधिः। "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" इत्यादि श्रुतेः।।८।।

---

1- -1. AF.GF. तपस्तद्यत्र गीयते; I. यतो ऽस्त्व"; H.V.W. यतस्त्व"; M.Ma. यतस्ततयमीयते 2. AF GF. जप्यते 3. M.Ma.W. आध्या" 4. A.B.E.I.N. पुरुषो 5. M.Ma. एतदेकतमा" 6. W. "तु 7. W. त्वा" 8. AF.GF. "स" 9. H.V. Omit परं

**एकमिति**। एकमेकतराभाव इत्येतेषां अन्योन्यसापोक्ष सिद्धत्वेन अनात्मत्वं दर्शयति। तथाहि दृश्यं विना तत्प्रतीत्यनुमेयं करणं न सिद्ध्यति नापि द्रष्टा। न च द्रष्टारं विना करणप्रवृत्यनुमेयः तदधिष्ठाता सूर्यादिः। न च तं विना करणं प्रवर्तते, न च तद्विना दृश्यं इत्येवं एकतरस्याभावे एकं नोपलभामहे। तत्र तदा तन्त्रितयं आलोचनात्मकेन प्रत्ययेन यो वेद साक्षितया पश्यति स परमात्मा आश्रयः। तेषामपि परस्पराश्रयत्वमस्त्येवेति तद्व्यवच्छेदार्थं विशेषणम्। स्वाश्रयोऽनन्याश्रयः। स चासावन्येषामाश्रयश्चेति। तथा च भगवान् वक्ष्यति - "दृग्रूपमार्कं वपुरत्र रन्ध्रे परस्परं सिद्ध्यति यः स्वतः खे। आत्मा यदेषामपरो य आद्यः स्वयानुभूत्याखिल सिद्धसिद्धिः" इति। एतेनैव व्यभिचारित्वात्तेषां मायामयत्वमप्युक्तम्। अत एव "परुषावयवैर्लेकाः सपालाः पूर्वकल्पिताः लोकैरमुष्यावयवाः सपालैः" इत्यनेनोक्तो विरोधोऽपि परिहृतः।।९।।

उक्तमेवाध्यात्मादिविभागं प्रपञ्चयन् "यदुताहं त्वया पृष्टो वैराजात्पुरुषादिदम्, यथासीत्तदुपाख्यास्ये" इति यत्प्रतिज्ञातं तदुत्पत्तिप्रकारमाह पुरुष इत्यादिना। पुरुषः वैराजः अण्डं विनिर्भिद्य पृथक्कृत्य विनिर्गतः पृथक् स्थित इत्यर्थः। अयनं स्थानं अन्विच्छन् विमृशन् यतः शुचिः स्वयमतः एव शुचीः शुद्धाः अपो गर्भोदकसंज्ञाः अस्राक्षीत् ससर्ज।।१०।।

**वीर०** निरोधलक्षणमाह - **निरोध** इति। अस्य जीवात्मनः सह शक्तिभिः कर्मशक्तिभिः सह अनुशयनं सूक्ष्मावस्थ प्रकृतौ अवस्थितिः निरोध इत्यर्थः। मुक्तिलक्षणमाह मुक्तिरिति। अन्यथाभावं देवादिरूपं हित्वा स्वरूपेण आविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकविशिष्टेन रूपेणावस्थानमेव मुक्तिरित्यर्थः।।६।।

आश्रयलक्षणमाह - **आभास** इति। आ समान्तात् भासनं आभासः जगतः आविर्भावः निरोधः प्रलयश्च। यतः परब्रह्मणः अध्यवसीयते ज्ञायते प्रमाणेनावगम्यते "आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पवत्" इत्युक्तेः यच्च परब्रह्मादिशब्दैः शब्द्यते अभिधीयते स आश्रय इत्यर्थः।।७।।

अथ आश्रयस्य परमात्मनः कारणत्वौपयिकं सार्वज्ञ्यं वक्तुं ज्ञातृज्ञेयज्ञानकारणानां भगवदात्मकत्वं आह - **य** इति। आत्मनि जीवे ज्ञातरि नियन्तृतया वर्तमानः आध्यात्मिकः यः पुरुषः परमपुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः। देवेषु ज्ञानकारणचक्षुरादीन्द्रियाभिमानिषु आदित्यदिषु वर्तमानश्च स एव उभयविच्छेदः उभयविधः विच्छेदः भेदः यस्य स उभयविच्छेदः ज्ञातृज्ञानकारणविलक्षणः ज्ञेयः

---

1. B. तद्विना 2. H.V. "मित्यु" 3. H.V. Omit आदिना 4. A.B. Omit एव 5. A.B. "कृत्यव 6. W "तेर्ल" 7. W. Omits "लक्षण" 8. A.B. add यस्मात् 9. A.B. अध्यवसीयते 10. A.B. "त्वोपयुक्तसर्वज्ञतां 11. A.B. "क" 12. A.B. Omit परमपुरुष 13. A.B. "क" 14. A.B. "क"

शब्दादिः आकाशादिभूतेषु वर्तमानः तत्र यः शब्दादिषु अन्तरात्मतयावर्तमानः यः स अधिभौतिकः स्मृत इत्यर्थः। ज्ञाता[1] ज्ञानकरणं शब्दादिज्ञेयं च भगवदात्मकमित्यर्थः।।८।।

एवं त्रयाणां भगवदात्मकत्वमभिधाय तस्य सर्वज्ञतां वक्तुं जीवानां असर्वज्ञतामाह - **एकमिति**। यथा एकतराभावे चक्षुरादिकरणाभावे एकं विषयं नोपलभामहे न साक्षात्कुर्महे चक्षुरादिकरणाभावे सन्निहितमपि विषयं न पश्यामः क्षेत्रज्ञाः त्रिविधसन्निकर्षवत्सु पदार्थेषु करणाधीनज्ञानाः न तु सूक्ष्मव्यवहितादिज्ञानवन्तः न च करणानपेक्षज्ञानाश्च इत्यर्थः।परमात्मा तु कोटित्रयसाक्षात्कर्तेत्याह त्रितयमिति। तत्र तदा त्रितयं ज्ञातृकरणज्ञेयानां त्रयं यो वेद साक्षात्कुर्यात् स त्वात्मा आश्रयाश्रयः अचिदाश्रयजीवस्याप्याश्रयः[2] "यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्रा प्राणेऽर्पिताः" (कौ.षी.उ. 3-8) इति श्रुतेः स्वाश्रयाश्रय इति पाठे स्वस्याप्याश्रयः अन्येषामप्याश्रयः इत्यर्थः।।९।।

एवमाश्रयपर्यन्तान् दशार्थानभिधाय[3] "यथासीत्तदुपाख्यास्ये" इति प्रतिज्ञाते चातुर्मुखसृष्टिप्रकारं वक्तुमारभते - **पुरुष** इति। पुरुषश्चतुर्मुखरूपी असौ परमात्मा अण्डं ब्रह्माण्डं विनिर्भिद्य यदा विनिर्गतः अण्डभेदात् अनुपरुद्धसञ्चार इत्यर्थः। तेन बहिर्गमनमुक्तम्। यदेति निर्देशः कालानन्तर्याभिप्रायः चतुर्मुखसृष्ट्यासन्नकाले हि जलसृष्टिरित्यर्थः। तदा स अनिरुद्धः परमात्मा आत्मनः स्वस्य अयनं स्थानमिच्छन् विमृशन् यतः स्वयं शुचिः अत एव शुचीः शुद्धाः अपः जलानि असृक्षीत् सृष्टवान्।।१०।।

**विज०** निरोधं लक्षयति - **निरोध** इति। आत्मनः इति जातवेकवचनम्। अस्यात्मनो जीवसमुदायस्यानभिव्यक्तस्वरूपेच्छादिशक्तिभिः सह श्रीविष्णुमनुप्रविश्य अनुशयनं स्वापो निरोध इत्युच्यते, "अनुप्रविश्य परमं जीवस्य शयनं तु यत्।सहैव शक्तिभिः स्वीयैरिच्छाद्यैरप्रकाशितैः" इत्यादेः। मुक्तिं लक्षयति मुक्तिरिति। अन्यथा रूपं प्राकृतवैकृतसूक्ष्मस्थूलेन्द्रियादिकं हित्वा केवलचिदानन्दाद्यात्मकेन[4] स्वरूपेण व्यवस्थितिः विशेषेणावस्थानं मुक्तिरित्युच्यते।।६।।

आश्रयस्वरूपं[5] लक्षयति - **आभास** इति। यतो यस्मात् जगतः आभासः मुख्यगौणवृत्या सृष्टिः चशब्दात् स्थितिः निरोधश्च भवति। तत् त्रयमपि यदाधारतया ईर्यते वेदादिषु ज्ञायते स आश्रय इत्युच्यते। किन्नामधेयोऽयमिति तत्राऽऽह परं ब्रह्मेति। मुक्तव्यावृत्त्यर्थं परमात्मेति। "सृष्टिस्थित्यप्ययाभासा यद्वलाद्यत्र च स्थिताः" इत्यादिना लक्ष्यते इत्यर्थः।।७।।

---

1. W. Omits ज्ञान" 2. A.B. अचिदाश्रयजीवस्याप्याश्रयः 3. A.B. Omit दशा" 4. Ma. Omits "द्या" 5. A.B.M. Omit "स्व"

प्रकारन्तरेणाश्रयं लक्षयिष्यन् आध्यात्मिकादिभगवद्रूपैक्यकथनपूर्वकं जीवानामीशतन्त्रतामाह - **आध्यात्मिक** इति। आध्यात्मिकः शरीर सम्बन्धिषु चक्षुरादिषु तत्प्रेरकत्वेन स्थितः पौरुषः विष्णुः सोऽसावेवाधिदैविकः आधिदैवेष्वादित्यादिषु स्थितः यः तत्राधिभूतेषु घटादिपदार्थेषु स्थित्वा तयोरुभयोः आध्यात्मिकाधिदैविकयोः चक्षुःप्रकाशयोर्विच्छेदः सम्यक् निश्चायकः विष्णुराधिभौतिको हि स्मृत इत्यन्वयः।।८।।

हेत्वर्थवाचिना हिशब्देन सूचितहेतुं व्यनक्ति - **एतदिति**। एतेषां त्रयाणां मध्ये एकतमाभावे चक्षुराद्यभावे प्रकाशाभावे वा तद्विषयघटादिपदार्थाभावो वा नोपलभामहे घटादिविषयामुपलब्धिं ज्ञानं नाप्नुमः इति यदा यस्मात् तस्मात् ज्ञानस्वातन्त्र्याभावात् सर्वे वयं अस्वतन्त्रा इत्यर्थः। ननु कोऽसौ ज्ञाने स्वतन्त्रः इति तत्राह त्रितयमिति। तत्र तेषां अस्वतन्त्राणां जीवानां मध्ये योऽध्यात्मादित्रितयं वेद स आत्मा विष्णुराश्रयः इत्यन्वयः। ननु अन्यदैवंविधं ज्ञानमस्तु न सुषुप्त्यादाविति अस्य इदमेवोत्तरम्। तत्र सुषुप्त्यादावपि इन्द्रियप्रकाशविषयान् अनपेक्ष्यैव यो जीवानां सर्वं स्वरूपज्ञानेनैव वेत्ति स आत्माश्रयः इति। ननु प्राणस्यापि एतन्नयापेक्षाभावेन[1] ज्ञानसम्भवात् "प्राणा वा एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति" इति श्रुतेः श्रियोऽपि नित्यमुक्तत्वात् मुक्तानां निर्देहकत्वाच्च कथमेतल्लक्षणं लक्ष्यं व्यावर्तयतीति तत्राऽऽह स्वाश्रयाश्रय इति। मुक्ताश्रयाणां रमामुख्यप्राणादीनां स्वाश्रयाणां आश्रयाणामाश्रयः आधारः अनेन स्वातन्त्र्येण प्रतीयमानं सर्वज्ञत्वं लक्षयन् लक्ष्म्यादिभ्यः लक्ष्यं व्यावर्तयतीत्युक्तं भवति सुप्त्यादावीश्वरस्य सर्ववेत्तृत्वं च। "स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्या सुप्तः सुप्तानभिचाकशीति" इति श्रुतिसिद्धम्।।९।।

एवं पुराणलक्षणमभिधाय अधुना विराडाख्यविरिञ्चोत्पत्तिं वक्ष्यन् प्रथमतः तत्स्रष्टृपुरुषाख्य हरेरवतारकथनपूर्वकमस्य सृष्टिमाह - **पुरुष** इति। यदा स पुरुषः सृष्टैः तत्त्वैः सह अण्डं प्रविश्य विनिर्भिद्य विभज्य विनिर्गतः प्रकाशितः पुरुषाभिध एव प्रादुर्भूतः तदात्मन एव दीपाद्दीपान्तरवत् रूपान्तरेण शेषपर्यङ्के शयनाय अयनं आश्रयं अन्विच्छन् नित्यशुचिः स भगवान् आत्मनः अयनभूताः शुचीः स्वपूजासाधनयोग्याः अपोऽस्राक्षीदित्यन्वयः। "अण्डं प्रविष्टो यो विष्णुः सोऽण्डं भित्त्वा प्रकाशितः" (नारायणाध्यात्मे) इत्यादेश्च।।१०।।

**रा०कृ०** अस्य आत्मनः जीवात्मनः शक्तिभिः इन्द्रियान्तःकरणादिभिः सह अनुशयनं भगवति नारायणे लयः तदेकतात्पर्येण संसृतिविस्मृतिरिति भावः। निरोध इति कथ्यते। अन्यथारूपं अज्ञानेन नरदेवगन्धर्वदेहादिषु आत्माभिमानलक्षणं हित्वा त्यक्त्वा स्वरूपेण सच्चिदानन्दरूपेण व्यवस्थितिः अवस्थानं मुक्तिरित्युच्यते।।६।।

---

1. A.B. "वे ज्ञा"

आभासः जगतः आविर्भावः चकारात् स्थितिपोषणादयः गम्यन्ते निरोधश्च लयश्च यतो यत्र भगवति अध्यवसीयते निश्चीयते स आश्रयः आश्रयभूतो नारायणः परब्रह्मेति परमात्मेति च शब्द्यते कथ्यते।।७।।

योऽयं आध्यात्मिकः पुरुषः नेत्रादीन्द्रियाभिमानी द्रष्टा जीवः वर्तते स एवासौ आधिदैविकः नेत्राद्यधिष्ठाता सूर्यादिः यस्तु पुरुषः तत्र एकस्मिन्नेव उभयविच्छेदः उभयः इन्द्रियाभिमानितदधिष्ठातृदेवतारूपः विच्छेदः विभेदः यस्मात् तादृशः वर्तते चक्षुर्गोलाद्युपलक्षितः देह इत्यर्थः। स हि आधिभौतिकः पुरुष इति स्मृतः। नेत्रादीन्द्रियाभिमानी देहस्थितः पुरुषः आध्यात्मिकः नेत्राद्यधिष्ठाता सूर्यादिरूपेण वर्तमानः पुरुषः आधिदैविकः चक्षुर्गोलाद्युपलक्षित[1]देहाकारेण वर्तमानः पुरुषः आधिभौतिक इति भावः।।८।।

यदा एकतराभावे एकतरस्य दृक्दृश्यद्रष्टृरूपेषु त्रिषु अन्यतरस्याभावे एकं अन्यतरं दृगादिकं नोपलभामहे न पश्यामः तत्र तदा त्रितयं दृगादिकं त्रयं यो वेद साक्षीभावेन यः पश्यति स आत्मा परमात्मा स्वाश्रयाश्रयः स्वाश्रयः स्वः आश्रयो यस्य सः अनन्याश्रयः इत्यर्थः। आश्रयः अन्येषामाश्रयश्च इत्यर्थः।।९।।

असौ पुरुषो वैराजाख्यःअण्डं ब्रह्माण्डं विनिर्भिद्य पृथक्कृत्य यदा आदौ सृष्टेः प्राक् विनिर्गतः पृथक् स्थितः तदा आत्मनः स्वस्य अयनं स्थानं अन्विच्छन् अभिलषन् सः वैराजः पुरुषः शुचिः स्वयं शुचिस्सन् शुचीः शुद्धाः फेनादिराहित्येन निर्मलाः अपः जलानि अस्राक्षीत् सृष्टवान्।।१०।।

**तास्ववात्सीत्स्वसृष्टासु सहस्रपरिवत्सरान्।**
**तेन नारायणो नाम यदापः पुरुषोद्भवाः।।११।।**

**द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।**
**यदनुग्रहतस्सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया।।१२।।**

**एको नानात्वमन्विच्छन् योगतल्पात् समुत्थितः।**
**वीर्यं हिरण्मयं देवो मायया व्यसृजत् त्रिधा।।१३।।**

---

1. H.V.W. देहं

**अधिदैवमथाध्यात्ममधिभूतमिति प्रभुः।**
**यथैकं[1] पुरुषं वीर्यं[2] त्रिधा भिद्यत तच्छृणु।।१४।।**

**अन्तश्शरीर आकाशात्[3] पुरुषस्य विचेष्टतः।**
**ओजस्सहो बलं जज्ञे[4] ततः प्राणो महानसुः[5]।।१५।।**

**श्रीध० तास्विति**। अप्सु वासं नारायणनामनिरुक्त्या स्पष्टयति। तेन अप्सु वासेन यत् यस्मात् पुरुषः नरः तस्मात् उद्भवः यासां ता नाराः आपो अयनमस्येति नारायण इत्यर्थः। तदुक्तं "आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणस्स्मृतः" इति।।११।।

तस्य प्रभावमाह - **द्रव्यमिति**। द्रव्यमुपादानम्। कर्मादीनि निमित्तानि। जीवः भोक्ता यस्यानुग्रहात्सन्ति कार्यक्षमा भवन्तीत्यर्थः।।१२।।

**एक** इति। योग एव तल्पं शय्या तस्मात् वीर्यं गर्भरूपं देहं हिरण्मयमिव प्रकाशबहुलम्।।१३।।

अस्यैव[6] प्रपञ्चः - **अधीति**[7]। एवमधिदैवादिरूपेण त्रिधा भिन्नस्यापि कार्यस्य एकं पौरुषं पुरुषसम्बन्धि क्रियाशक्तिरूपं त्रिधाभिद्यत इति यत् तच्छृणु।।१४।।

**अन्तरिति**। अन्तश्शरीरे यः आकाशः तस्मात् क्रियाशक्त्या[8] तत्र विविधं चेष्टमानस्य सतः ओजः इन्द्रियशक्तिः सहो मनश्शक्तिः, बलं देहशक्तिः ततः क्रियाशक्त्यात्मनः[9] सूक्ष्माद्रूपात् प्राणः सूत्राख्यः महान् मुख्यः स[10] एव असुः अस्वात्मकः[11] प्राणः सर्वेषाम्।।१५।।

**वीर०** स्वसृष्टासु तासु अप्सु सहस्रपरिवत्सरान्[12] सहस्रं परिवत्सरान् बहून् संवत्सरान् अवात्सीत् उवास। एतदेव नारायणशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमित्याह - **तेनेति**। यद्यस्मात्पुरुषोद्भवाः[13] पुरुषात् परमपुरुषात्[14] नारायणात् उद्भवाः उत्पन्नाः पुरुषादुद्भवः यासामिति वा। नाराः आपः अयनं यस्येति शेषः। तेन ईदृशव्युत्पत्तिलभ्येन अयनत्वेन निमित्तेन[15] नारायणः नारायणशब्दवाच्योऽभूदित्यर्थः। नामेति स्मृत्यन्तरप्रसिद्धिं द्योतयति। तथाहि - स्मर्यते "आपो नारा इति प्रोक्ताः आपो वै नरसूनवः। अयनं तस्य[16] ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः"।। इति ।।११।।

---

1. B.I.N. अ"; H.V. यदेकं; M.Ma. पुनस्तत् 2. W. बीजं 3. M.Ma. "शे 4. AF.GF. तेजः 5. M.Ma. "भूत् 6. A.B. त" 7. A. यथेत्यादिना; B. अथेत्यादिना 8. H.V. Omit तत्र 9. A.B. शक्त्यात्मकात् 10. A.B. Omit स एव 11. A.B. Omit अस्वात्मकः 12. A.B. Omit सह.....रान् 13. W. Omits यत् 14. A.B. Omit नारायणात् 15. A.B. Omit निमित्तेन 16. A. यस्य

अस्यैव प्रभावमाह - **द्रव्यमिति**। द्रव्यादयः यदनुग्रहतः सन्ति[1] स नारायण इत्यन्वयः। द्रव्यं महदादिपृथिव्यन्तभूतवर्गः, कर्म जीवादृष्टं, कालः गुणवैषम्यहेतुः, स्वभावः प्रकृतेः परिणामस्वभावः, यदनुग्रहतः यस्यानुग्रहात्[2] सन्ति यदुपेक्षया[3] यस्य उपेक्षया[4] न सन्ति द्रव्यादयः यत्सङ्कल्पानुविधायि-सत्तास्थितप्रवृत्तिका इत्यर्थः।।१२।।

एवम्भूतो नारायणः एकः अविभक्तनामरूप सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकत्वेनैकः नानात्वमन्विच्छन् देवमनुष्यादिरूपेण नाना[5] भवितुमिच्छन् योगः स्वात्मानुभवरूपो योगः स एव तल्पं शय्या तत्स्मात् समुत्थितः देहं स्वशरीरभूतं हिरण्मयं रमणीयं वीर्यं चिदचिदात्मकं कारणद्रव्यं मायया चतुर्मुखरूपेण त्रिधा व्यष्ट्यात्मककरणज्ञातृज्ञेयरूपेण[6] व्यसृजत् मायाशब्दः तद्गुणरजःप्रचुरचतुर्मुखपरः सङ्कल्पपरो वा। सङ्कल्पेन चतुर्मुखरूपी भूत्वा वाप्यसृजदित्यर्थः।।१३।।

त्रैविध्यं विवृणोति - **अधिदैवमिति**। अधिदैवं दिगादिदेवताधिष्ठितः[7] एकादशेन्द्रियरूपकरणवर्गः अध्यात्मं ज्ञातृवर्गः, अधिभूतमिति पृथिव्यादिभूतस्थगन्धादिज्ञेयवर्गः उक्त इति त्रिधा प्रभुर्व्यसृजदित्यर्थः। ज्ञातृसृष्टिर्नाम जीवानां तत्तद्देवादिदेहयोगसम्पादनमेव। तथाहि "तोयेन जीवान् विससर्ज भूम्याम्" इति तोयशब्दोपलक्षितभूतसङ्घपरिणामदेवादिशरीरविशिष्टत्वेनाऽकारेण विससर्ज इत्यर्थः। अथ सङ्ग्रहेणोक्तं देवादिव्यष्टिशरीरस्थानां प्राणेन्द्रियादीनां चतुर्मुखस्वशरीरस्थ प्राणेन्दियादि समष्टितः उत्पत्तिप्रकारं प्रति-पादयितुं प्रतिजानीते यथेति। पौरुषे समष्टिपुरुषचतुर्मुखदेहगतं पुरुषाधिष्ठितं वा एकं समष्टिरूपेणैकं वीर्यं व्यष्टिकारणं द्रव्यं त्रेधा करणभोक्तृविषयरूपेण देवादिव्यष्टीनां यथा निरभिद्यत उदपद्यत तच्छृ-ण्वित्यर्थः मैत्त[8] इति शेषः।।१४।।

एवं प्रतिज्ञाय व्यष्टीन्द्रियसृष्टिविभागं वक्तुं इन्द्रियाश्रयप्राणव्यष्टिसृष्टिमाह - **अन्तरिति**। पुरुषस्य चतुर्मुखस्य विचेष्टतः प्राणव्यापारं कुर्वतः सतः[9] चतुर्मुखे प्राणव्यापारं कुर्वति सतीत्यर्थः। अन्तश्शरीरे तच्छरीरान्तस्स्थितादाकाशकार्यवायुविशेषात् प्राणात् ओजः सहो बलं जज्ञे। ओजः प्रवृत्तिसामर्थ्यं सहः वेगसामर्थ्यं बलं धारणसामर्थ्यं[10] एते धर्माः अभवन्नित्यर्थः। ततः चतुर्मुखस्वशरीरगतौजस्सहोबलधर्मि-प्राणात् प्राणाख्यः महान् मुख्यः असुः प्राणनहेतुः जज्ञे इतरेषां शरीरान्तर्वर्तिप्राणा अभवन्नित्यर्थः। प्राण इत्येकवचनमार्षम् जात्यभिप्रायं वा।।१५।।

**विज०** ततः किं तत्राह - **तास्विति**। स्वसृष्टासु तास्वप्सु सहस्रपरिवत्सरानवात्सीदिति यत् तेन नारायणो नामाभूदित्यन्वयः। ननु अनेन अयनमप्स्वास इति अबयनः इति वा जलायन इति च अन्तरेण

---

1. W. Omits सन्ति 2. A.B.Omit यस्यानुग्रहात् 3. A.B. Omit यदुपेक्षया 4. W. Omits यस्य उपेक्षया 5. A.B. Omit नाना° 6. A.B. Omit व्यष्ट्यात्मक° 7. A.B. °पः 8. W. Omits मत्तः.....शेषः 9. A.B. Omit सतः 10. W. °णा°

नारायण इति नाम कथमत्राह - यदिति। "अनाशात्पुरुषो नरस्तदुद्भवा आपो नारा इति यत् यस्मात् ता नारा अयनं यस्य स नारायण" इति, "सोऽपोऽसृजत्ततो नारा नरोऽनाशात्परो यत" इति च।।११।।

हरेरियं सृष्टिः स्वधीनसाधनान्तरसहकृतेत्याशयेनाऽऽह - **द्रव्यमिति**। द्रव्यं पृथिव्यादि।।१२।।

ब्रह्माण्डान्तस्त्रैविध्यमपि श्रीनारायणेनैव कृतमित्याह - **एक** इति। जले शेषपर्यङ्के शयान एको-नारायणः एव स्वसृष्टतत्तद्वस्तु नियामकतया अन्तर्यामिरूपैः नानात्वं बहुत्वसङ्ख्यागोचरत्वं आप्तुमन्वि-च्छन् योगतल्पात्समुत्थितः देवः लीललोलः हिरण्मयं स्ववीर्यमण्डं मायया स्वेच्छया अन्तः त्रिधा व्यधात्। "तत्तन्नियामकत्वेन बहुत्वं प्राप्तुमीश्वरः" इत्यादेः। किञ्च हिरण्मयं पूर्णसुखं शतानन्दवीर्यं स्वरेतो- रूपं त्रिधा व्यसृजदित्यन्वयः। "अन्तस्स्थितहरेः कामादण्डे ब्रह्मतनोर्जनिः" इत्यादेः।।१३।।

अण्डान्तस्त्रैविध्यप्रकारं कथयति - **अधिदैवमिति**। प्रभुरिति त्रिधा व्यसृजदिति शेषः। हरिवीर्य-रूपस्य विराजोऽपि त्रैविध्यमस्तीति कथयति पुनरिति। पुनर्यथा तत्पौरुषं पुरुषाख्यस्य हरेः वीर्यं विराण्णामब्रह्मात्मकं जातं त्रिधाऽभिद्यत इति त्रिविधमभवत् तथा श्रुणु इत्यन्वयः।।१४।।

तत्त्रैविध्यं विवृणोति - **अन्तरिति** विराडाख्यब्रह्मशरीरे अन्तराकाशे विचेष्टतः पुरुषस्य हरेः ओजस्सहोबलं पराभिभवसहनस्वेच्छाकरणशक्तयो जज्ञिरे। ततस्तेभ्यः ओजआदिभ्यः महान् प्राणः मुख्यप्राणः जज्ञ इत्यन्वयः। ब्रह्मान्तर्यामिहर्योजस्सहोबलानुविष्टहिरण्यगर्भौजस्सहोबलेभ्यः सर्वेन्द्रियना-यकः ओजस्सहोबलात्मको मुख्यप्राणः जात इत्युक्तं भवति। एतेन च पूर्वप्रकृताध्यात्माधिभूताधिदैवानां ब्रह्मस्थनारायणब्रह्मप्राणेभ्यः सृष्टिरिति ज्ञातव्यम्। "प्राणेन क्षिपता" इत्यादि वक्ष्यमाणत्वात्।।१५।।

**रा०कृ०** स पुरुषः स्वसृष्टासु तासु अप्सु सहस्रपरिवत्सरान् बहुसंवत्सरान् अवात्सीत् व्यवसत्। तेन कारणेन अप्सु निवासेनेत्यर्थः। यत् यतश्च आपः पुरुषोद्भवाः नरोद्भवाः नारा भवन्ति। ततश्च सः नारायणो नाम नारायण इति नाम्ना प्रसिद्धोऽभवत् आपो नरसञ्ज्ञातत्वात् 'नारा' इति कथ्यन्ते। नारा यस्य अयनं भवन्ति स नारायण इति व्यवह्रियते। एवं परमपुरुषस्य नारायणत्वकथनेन जीवानामपि शुक्राख्य-नारोद्भवो यज्यते। किञ्च तादृशनारायणाख्यस्य परब्रह्मणः प्रभावो दुरधिगमः। अत एव मान-वानामादौ ब्रह्मचर्याश्रमो विहितः। ब्रह्मचर्याश्रमनिष्ठानां च ऊर्ध्वगामि शुक्रमाराधयतां ब्रह्मतत्त्वमार्गः सुगमो भवति। अनन्तरं गार्हस्थ्यावलम्बिनः जनाः दारेषु पूर्वोक्तशुक्राधानेन सत्सन्तानवन्तः भवन्ति। ततश्च ब्रह्मविद्या वंशक्रमानुगता सुरक्षिता भवति। अयमाशयः - यथाविधि ब्रह्मचर्यव्रतावलम्बिन एव गार्हस्थ्यमर्हन्ति। एवमेकपत्नीव्रतत्वपातिव्रत्यादिभिः पावनैः नियमैः ये जनाः नाराराधनं निर्वहन्ति त एव मोक्षं भजन्ते तेषामेव च सन्ततिः ब्रह्मविद्यां गृह्णाति। अन्यथा पशुकामप्रभवैः मानवैः मानवधर्मोपेतैः क्रूराचारैः भूतलं उपद्रुतं भवति। पालकाश्च दुष्टास्सन्तः प्रजाकण्टकाः भवन्ति। इत्थं मानवसमाजः स्वदुष्कृतफलमवश्यमनुभविष्यति। अत एव नारायणतत्त्वावगमे जनैः अप्रमत्तैः भवितव्यमिति।।११।।

द्रव्यं महत्प्रभृतिपृथिव्यन्तो भूतग्रामः कर्म जीवानां अदृष्टं शुभाशुभात्मकम्। कालो गुणवैषम्य-हेतुः स्वभावः परिणामहेतुः, जीवो भोक्ता - एते सर्वे यदनुग्रहतः यस्य नारायणस्य अनुग्रहात् सन्ति सत्तां प्राप्नुवन्ति कार्यसमर्था भवन्ति च। यदुपेक्षया यस्य उपेक्षया न सन्ति सत्तामेव न प्राप्नुवन्ति किं पुनः कार्यसामर्थ्यमिति भावः।।१२।।

प्रभुः सर्वसमर्थः स देवः एकः अविभक्तनामरूपस्सन् स्वस्य नानात्वमन्विच्छन् देवमानवादि-रूपेण बहुत्वं प्राप्तुमिच्छन्, योगतल्पात् योगशय्यायाः समुत्थितश्च सन् मायया स्वसङ्कल्पात्मिकया हिरण्मयं प्रकाशाधिकं वीर्यं गर्भरूपं शरीरं अधिदैवं, अथ अध्यात्म, अधिभूतमिति च त्रिधा व्यसृजत् विभक्तवान्। एकं पौरुषं पुरुषसम्बन्धि वीर्यं यथा त्रिधाऽभिद्यत भिन्नमभवत् उत्पन्नमभवदित्यर्थः तत् श्रृणु।।१३,१४।।

पुरुषस्य विचेष्टतः क्रियाशक्त्या विविधं चेष्टमानस्य सतः अन्तश्शरीरे शरीरस्यान्तः विद्यमाना-दिति शेषः, आकाशात् ओजः इन्द्रियशक्तिः, सहः मनश्शक्तिः बलं देहशक्तिश्च जज्ञे अजायत। ततः त्रिविधशक्त्यात्मकात् सूक्ष्मरूपात् महान् श्रेष्ठः असुः जीवनव्यञ्जकः प्राणः सूत्राख्यः जज्ञे।।१५।।

**अनुप्राणन्ति यं प्राणाः प्राणन्तं सर्वजन्तुषु।**
**अपानन्तमपानन्ति नरदेवमिवानुगाः।।१६।।**

**प्राणेन क्षिपता क्षुत्तृडन्तरा जायते प्रभोः[1]।**
**पिपासतो जक्षतश्च प्राङ्मुखं निरभिद्यत।।१७।।**

**मुखतस्तालु निर्भिन्नं जिह्वा तत्रोपजायते।**
**ततो नानारसो जज्ञे जिह्वया योऽधिगम्यते।।१८।।**

**विवक्षोर्मुखतो भूम्नो वह्निर्वाक् व्याहृतं तयोः।**
**जले[2] वै[3] तस्य सुचिरं निरोधस्समजायत।।१९।।**

**नासिके निरभिद्येतां दोधूयति नभस्वति।**
**तत्र वायुर्गन्धवहो घ्राणो नसि जिघृक्षतः।।२०।।**

---

1. H.I.M.Ma.V. त्रि॰ 2. W. ग॰ 3. I.M.Ma.W चे॰

**श्रीध०** महत्वं दर्शयति - **अन्विति**। प्राणः इन्द्रियाणि यं प्राणन्तं चेष्टां कुर्वन्तं अनु पश्चात् प्राणन्ति चेष्टां कुर्वन्ति अपानन्तं चेष्टां त्यजन्तमनु अपानन्ति चेष्टां त्यजन्ति राजानमनुगाः भृत्या इव।।१६।।

**प्राणेनेति**। क्षिपता चालयता निमित्तेन। क्षुत्तृडादिकं प्रभोरिति[2] विराड्जीवाभेदेनोपासनार्थमुक्तम्। आजायते[3] स्म। ततो जक्षतः भक्षयितुमिच्छतः इत्यर्थः। प्राक् प्रथमं निरभिद्यत विभक्तमभूत्।।१७।।

**मुखत** इति। ताल्वधिष्ठानं जिह्वेन्द्रियं नानारसो विषयः। वरुणश्च देवता ज्ञातव्या। एवं सर्वत्र अधिष्ठानमिन्द्रियं देवता विषयश्च[4] इत्येतच्चतुष्टयं अनुक्तमप्यूह्यम्।।१८।।

**विवक्षोरिति**। विवक्षोर्वक्तुमिच्छोः मुखत एव वह्निःदेवता वाक् इन्द्रियं व्याहृतं भाषणम्। तयोरिति इन्द्रियदेवताधीनत्वं कर्मणो दर्शयति।।१९।।

**नासिके** इति। नभस्वति प्राणवायौ दोधूयति[5] दोधूयमाने अत्यन्तं प्रचलति सति[6] तत्र च नसि[7] च नासिकायां वायुर्देवता, गन्धं वहतीति तथा। अनेन गन्धो विषयः दर्शितः। घ्राणः इन्द्रियं जिघृक्षतः गन्धं ग्रहीतुमिच्छतः।।२०।।

**वीर०** तस्य महत्त्वमेवाऽऽह अनुप्राणन्तीति। प्राणा इन्द्रियाणि सर्वजन्तुषु यं प्राणं[8] प्राणन्तं चेष्टां कुर्वन्तं अनु पश्चात् प्राणन्ति चेष्टां कुर्वन्ति। अपानन्तं चेष्टां त्यजन्तं प्राणं अनु पश्चात् सर्वे प्राणाः अपानन्ति चेष्टां त्यजन्ति नरदेवं राजानं अनुगाः भृत्या इव सर्वाण्यपि इन्द्रियाणि प्राणाधीनवृत्तीनीत्यर्थः। यद्वा व्यष्टिप्राणानां कारणस्वभावानुवर्तित्वमाह अनुप्राणन्तीति। यं चतुर्मुखशरीरस्थं समष्टिप्राणं अनु अनुसृत्य तत्स्वभावानुवर्तिनः ओजआदिसामर्थ्ययुक्ता एव व्यष्टिप्राणाः प्राणापानादिव्यापारं कुर्वन्तीत्यर्थः ।।१६।।

अथ साधिष्ठानस्य सदेवतस्य सविषयस्य जिह्वेन्द्रियस्य उत्पत्तेः मुख्यप्राणहेतुकत्वं सूचयन्नाह - **प्राणेनेति**। क्षिपता व्याप्रियमाणेन प्राणेन[9] विभोश्चतुर्मुखस्यान्तरा जठराग्नौ दीपिते क्षुत्तृट्[10] च जायते अजायत[11] इत्यर्थः। ततः पिपासतः पातुमिच्छतः जक्षतः अत्तुमिच्छतश्च नटस्य श्रुणोतीतिवत्[12] पञ्चम्यर्थे षष्ठी बोध्या, प्राक् प्रथमं मुखं निरभिद्यत विभक्तमभूत् चतुर्मुखमुखात् व्यष्टिशरीरमुखानि उत्पन्नानीत्यर्थः।।१७।।

ताल्वधिष्ठानं जिह्वेन्द्रियं नानारसः विषयः वरुणश्च देवता ज्ञातव्याः। एवं सर्वत्र अधिष्ठानं इन्द्रियं देवता विषयः इत्येतच्चतुष्टयं अनुक्तमप्यूह्यम्। मुखाद्यङ्गैः विना जिह्वायाः उत्पत्त्ययोगात्

---

1. H.V. Omit अनु 2. H.V. Omit प्रभोरिति 3. H.V. Omit आ 4. A.B. Omit "च 5. H.V. Omit दोधूयति 6. H.V. Omit सति 7. A. Omits नसि 8. A.B. Omit प्राणं 9. W. Omits प्राणेन 10. W. क्षुत्तृडिच्छा 11. A.B. Omit अजायत 12. W. adds पक्षे

मुखेत्पत्तिरुक्ता नत्वधिष्ठानतया अधिष्ठानं तु ताल्वेव। अनेन ज्ञातृसृष्टिरप्यर्थात् उक्ता भवति वागादीन्द्रियाश्रयमुखाद्यवयवसङ्घातात्मकदेवादिदेहयोगकरणमेव हि ज्ञातृसृष्टिः। तालुः जिह्वामूलं निर्भिन्नं[1] व्यष्टिशरीरतालूत्पन्नमित्यर्थः। तत्र तालुनि जिह्वा उपजायते[2] उपजायतेत्यर्थः। नानारसः कट्वाम्लमधुरतिक्तादिरसः जज्ञे जिह्वया यः नानारसः अधिगम्यते ज्ञायते[3] इत्यर्थः।।१८।।

वाग्व्यष्ट्युत्पत्तिमाह - **विवक्षोरिति**। विवक्षोर्वक्तुमिच्छोर्भूम्नो[4] भगवतः चतुर्मुखरूपिणो[5] भगवतः मुखतः मुखात् वह्निः वागभिमानिनी देवता वागिन्द्रियं तयोरिन्द्रियतदभिमानिदेवतयोर्व्यापाररूपं व्याहृतमुक्तिश्चाभूदित्यर्थः। एवं सर्वत्र ब्रह्मशरीरात् समष्टिभूतात् व्यष्ट्यवयवविशेषविभाग उच्यते। मुखाद्यङ्गैः[6]रित्यस्य मुखमादिर्येषां कपोलादीनां तैरङ्गैः विनेत्यर्थः मुखकपोलहन्वादिसमुच्चयं विना तदन्तर्वर्तिजिह्वायाः उत्पत्त्ययोगादित्यभिप्रायः। न[7] चेयं चतुर्मुखस्यैवेन्द्रयोत्पत्तिरिति वक्तुं युक्तं "उपरि हस्तौ रुरुहतुः" (भाग.2-10-24) इति हस्तद्वयोत्पत्तिकथनेन चतुर्मुखस्य द्विबाहुत्वाभावात् देवादिशरीरस्थहस्तादिव्यष्टियुग्मविभागस्य सूचितत्वात् घ्राणेन्द्रियव्यष्ट्युत्पत्तिमाह गले इति। एतस्य ब्रह्मणः कण्ठे सुचिरं कालमित्यर्थः[8]। निरोधः वायोरिति शेषः। वायोर्निरोधः समजायतेत्यर्थः। जले इति पाठे नभस्वतीत्यन्वयः।।१९।।

निरोधात् नभस्वति वायौ **दोधूयति**। अत्यन्तं प्रचलति सति नासिके नासापुटे[9] निरभिद्येताम्। वायुव्यापारं कुर्वतः ब्रह्मणः शरीरे वायुपूरिते नासिके निरभिद्येताम्। ब्रह्मशरीरे वायोः[10] स्तैमित्यात्रासार्विवरात्[11] नासाव्यष्टयः अभवन्नित्यर्थः। घ्राणाभिमानिदेवतोत्पत्तिमाह - **तत्रेति**। "वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्" इति श्रुतेः। जिघृक्षतः गन्धमिति[13] शेषः गन्धं ग्रहीतुमिच्छतः[14] ब्रह्मणः[15] तत्र नसि नासायां[16] गन्धवहः घ्राणग्राह्यगन्धप्रापकः वायुः[18] घ्राणाधिष्ठाता घ्राण इन्द्रियं च निरभिद्यतेत्यन्वयः।।२०।।

**विज०** प्राणस्य सर्वेन्द्रियप्रभुत्वं स्पष्टयति अनु प्राणन्तीति पिङ्गलया नाड्या अपानन्तं अधश्चेष्टमानम्।।१६।।

इडापिङ्गलयोः प्राणापानचेष्टाफलमाह - **प्राणेनेति**। प्राणेन अपानेन च। विभोः विरिञ्चस्य चतुर्मुखावयवोत्पत्तिकथनपूर्वकं तेभ्यः अध्यात्मादीनामुत्पत्तिप्रकारं प्रपञ्चयति पिपासत इति। प्रागादौ मुखं निरभिद्यत व्यक्तमभवत्।।१७।।

मुखतो मुखे तत्र तालु निरभिनत् जिह्वया जिह्वेन्द्रियेण।।१८।।

---

1. W. Omits निर्भिन्नं 2. W. Omits उपजायते 3. W. Omits इत्यर्थः 4. W. °च्छतः 5. A.B. Omit चतुर्मु.....बतः 6. W. Omits मुखाद्यङ्गैः .....अभिप्रायः 7. W. न चेदं चतुर्मुखस्यैवेन्द्रियोत्पत्ति परं प्रकरणमिति 8. W. Omits कालमित्यर्थः 9. W. Omits नासापुटे 10. W. वायुस्तै° 11. A.B. Omit विवरात् नासा° 12. A.B. Omit घ्राण.....श्रुतेः 13. A.B. Omit गन्धमिति शेषः 14. A.B. आघ्रातुं° 15. W. Omits ब्रह्मणः तत्र 16. W. नासिकयां 17. A.B. Omit घ्राणग्राह्य° 18. W. Omits घ्राणाधिष्ठाता 19. W. °त्यर्थः।

वाक् वागिन्द्रियं तयोर्वह्निवाचोः अनन्तरं व्याहृतमभिधादनं शरीरान्तस्थे नभस्वति वायौ दोधूयति पुनः पुनः धुन्वति कम्पमाने सति जलेऽण्डोदके वर्तमानस्य विरिञ्चस्य वायुनिर्गमद्वारा भावेन निरोधः। क्लेशविशेषोऽभूत्।।१९।।

तदनन्तरं नासिके श्वासोच्छ्वासरूपवायुनिर्गमद्वारे व्यक्ते। वायुरित्यनेनाद्यापि निरोधः अनुभवसिद्ध इत्याह। जिघृक्षतः घ्रातुमिच्छतः धातुः तत्र नसि नासिकायां यो नासिक्यः प्राणः सः गन्धग्राही वायुः घ्राणेन्द्रियं तद्विषयो गन्धश्च जात इति शेषः।।२०।।

**रा०कृ०** सर्वजन्तुषु सर्वेषु प्राणिषु प्राणन्तं चेष्टां कुर्वन्तं यं प्राणाः इन्द्रियाणि नरदेवं राजानं अनुगाः अनुचरा इव अनुप्राणन्ति अनुसृत्य चेष्टां कुर्वन्ति, अपानन्तं चेष्टां त्यजन्तं तं अपानन्ति प्राणाः चेष्टां त्यजन्ति।।१६।।

प्रभोः वैराजस्य पुरुषस्य अन्तरा कुक्षिमध्ये क्षिपता व्यापारवता प्राणेन निमित्तभूतेन क्षुत् तृट् च जायते अजायतेति भावः। ततश्च पिपासतः पातुमिच्छतः जक्षतश्च भक्षयितुमिच्छतश्च तस्य प्रभोरिति शेषः प्राक् प्रथमं मुखं निरभिद्यत विभक्तमभूत्।।१७।।

तस्य मुखतः मुखे तालु इन्द्रियाधिष्ठानं निर्भिन्नं उत्पन्नम्। तत्र तालुनिजिह्वा जिह्वेन्द्रियमध्यात्मं उपजायते अजायतेत्यर्थः। ततः अनन्तरं जिह्वया यो रसोऽधिगम्यते सः नानारसः कट्वाम्लादिभेदेन षड्विधो रसः विषयः अधिभूतं जज्ञे अजायत। वरुणश्च देवता अधिदैवमकथितमप्यजायतेति विज्ञेयम्।।१८।।

भूम्नः व्यापकस्य विवक्षोः वक्तुमिच्छोः प्रभोः मुखतः मुखरूपाधिष्ठाने बह्निः देवता वाक् इन्द्रियं तयोः इन्द्रियतदभिमानिदेवतयोः व्याहृतं कर्मरूपं भाषणं च अभवदिति शेषः। अपि च तस्य व्याहृतस्य जले निरोधः सुचिरं समजायत।।१९।।

जिघृक्षतः तस्य विभोः गन्धं ग्रहीतुमिच्छतः सतः नभस्वति प्राणपवने दोधूयति नितरां कम्पमाने सति नासिके अधिष्ठानभूते निरभिद्येतां उत्पन्ने। तत्र नसि तस्यां च नासिकायां गन्धवहो गन्धवाहकः वायुः देवता अभवत्। अत्र गन्धो विषयवाची घ्राणः इन्द्रियं च अभवदिति शेषः।।२०।।

**यदाऽऽत्मनि निरालोकमात्मानं च दिदृक्षतः।**
**निर्भिन्ने ह्यक्षिणी तस्य ज्योतिश्चक्षुर्गुणग्रहः।।२१।।**

---

1. A. त° 2. M.Ma. °क आ° 3. H.I.M.Ma.V.W. अ°

**बोध्यमानस्य ऋषिभिः आत्मनस्त्रिजिघृक्षतः।**
**कर्णौ च निरभिद्येतां दिशः श्रोत्रं गुणग्रहः।।२२।।**

**वस्तुनो मृदुकाठिन्यं लघुगुर्वोष्णशीतताम्।**
**जिघृक्षतस्त्वङ्निर्भिन्ना तस्यां रोममहीरुहाः।**
**तत्र चान्तर्बहिर्वातस्त्वचा लब्धगुणो वृतः।।२३।।**

**हस्तौ रुरुहतुस्तस्य नानाकर्मचिकीर्षया।**
**तयोस्तु बलमिन्द्रश्च आदानमुभयाश्रयम्।।२४।।**

**गतिं जिगीषतः पादौ रुरुहातेऽभिकामिकाम्।**
**पद्भ्यां यज्ञः स्वयं हव्यं कर्मभिः क्रियते नृभिः।।२५।।**

**श्रीध० यदेति**। निरालोकं प्रकाशशून्यमासीदिति शेषः। निर्मक्षिकमितिवदव्ययीभावः। तदा आत्मानं देहं चकारादन्यच्च वस्तु दिदृक्षतः अक्षिणी स्थानम्। ज्योतिरादयः देवता, चक्षुरिन्द्रियम्। ततो गुणस्य रूपस्य ग्रहो ग्रहणम्। अनेन रूपं विषयः दर्शितः।।२१।।

**बोध्यमानस्येति**। ऋषिभिः वेदैः बोध्यमानस्य सतः[14] तत्[15] आत्मनः प्रबोधनं ग्रहीतुमिच्छतः कर्णौ[16] अधिष्ठानं दिशः देवताः श्रोत्रं इन्द्रियं ततो गुणग्रहः शब्दस्य[17] ग्रहणम्।।२२।।

**वस्तुन** इति। मृदुत्वं च काठिन्यं च लघुत्वं च गुरुत्वं च आ[18] उष्णं ओष्णं ओष्णत्वं ईषदुष्णत्वं च शीततां च इत्यर्थः। यद्यप्यत्युष्णत्वमपीन्द्रियविषय एव तथाऽपि तस्य जिघृक्षाभावात्[19] ओष्णमित्युक्तम्[20]। गुर्वुष्णेति पाठे यणादेशश्छान्दसः। वस्तुन एतान् धर्मान्[21] जिघृक्षतः त्वङ्निर्भिन्ना। त्वगिन्द्रियाधिष्ठानं चर्म जातमित्यर्थः तस्यां रोमाणि इन्द्रियं महीरुहाश्च[22] देवता जाताः। वस्तुनि हस्तेनातोलिते लघुत्वगुरुत्वयोर्ज्ञानात् तयोरपि त्वगिन्द्रियविषयत्वमिति पौराणिकाः। तत्र त्वच्यन्तर्बहिश्च वातो वायुः[23] वृतः आवृत्य स्थितः कर्तरि निष्ठा। कथम्भूतः? त्वचा लब्धो गुणः स्पर्शः येन। अयमर्थः त्वगिन्द्रियमेव बहिः कण्डूतिसहितं स्पर्शं गृह्णाति[24] लोमशब्देनोच्यते। तत्र महीरुहाणां देवत्वम्। अन्तर्बहिश्च[25]

---

1. A.H.V. °स्तं 2. M.Ma. °न्यं 3. H. °र्वौ; M.Ma. °र्वृ°; V. °र्वोष्णय° 4. E. °ता: 5. N. लो° 6. M.Ma. °व्यां° 7. M.Ma. °णा° 8. H.V. W. °त: 9. B.H.I.M.Ma.V.W. °वानिन्द्र° 10. H.V. जिघृक्षतः; M.Ma.W. चिकीर्षतः 11. M.Ma. °मिनः 12. M.Ma. यत् 13. AF.GF. त्रि° 14. A.B. Omit सतः 15. H.V. Omit तत् 16. A.B. Omit कर्णौ.....इन्द्रियं 17. B.H.V. °ब्द्ग्र° 18. A. आ उष्णत्वं ई°; H.V. उष्णत्वं शी° 19. H.V. °त्युष्ण° 20. A. उष्णत्वं; H. औष्णं; V. औष्णयं 21. H.V. गुणान् 22. H.V. लो° 23. A.H.V. Omit वायुः 24. B. °वतात्वं 25. H.V. हि स्प°

स्पर्शं गृह्णत्तदेव त्वक्शब्देनोच्यते। तत्र वातो देवता। तथा च तृतीये वक्ष्यति "त्वचमस्य विनिर्भिन्नां विविशुर्धिष्ण्यमोषधीः अंशेन लोमभिः कण्डूं यैरसौप्रतिपद्यते" (भाग.3-6-18) "निर्भिन्नान्यस्य चर्माणि लोकपालोऽनिलोऽविशत्। प्राणेनांशेन संस्पर्शं येनासौ प्रतिपद्यते" (भाग.3-6-16) इति। तत्र चर्माणीति चर्मोपलक्षिता त्वगित्यर्थः। प्राणेनांशेनेति प्राणवायुव्यामेन त्वगिन्द्रियेण इत्यर्थः। बह्वृच श्रुतौ त्वेक एवांशो निर्दिष्टः। "त्वङ्नरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य औषधिवनस्पतय" इति।।२३।।

**हस्ताविति**। रुरुहतुः निर्भिन्नौ बलं इन्द्रियं, इन्द्रो देवता तदुभयाश्रयं[1] आदानं कर्म।।२४।।

**गतमिति**। अभिकामिकां अभीष्टां विहितामित्यर्थः। पभ्द्यां सह यज्ञो विष्णुरेव स्वयं तदधिष्ठातृरूपेण स्थितः। कर्मभरिति गत्याख्या कर्मशक्तिरिन्द्रियमुक्तम्। हव्यं क्रियत इति गतिप्राप्यं यज्ञार्थं[2] द्रव्यं विषय इत्युक्तम्। नृभिरिति व्यष्टिजीवेष्वपीयमेव रीतिरिति दर्शयन् नराधिकारित्वं यज्ञादीनां[3] दर्शयति।।२५।।

**वीर०** चक्षुर्व्यष्टि[4] सृष्टिमाह - **यदेति**। यदा आत्मनि देहे निरालोकं अर्थाभावेऽव्ययीभावः। आलोकाभावः[5] आसीदिति शेषः। तदा आत्मानं देहं चकारादन्यच्च वस्तु दिदृक्षतः तस्य ब्रह्मणोऽक्षिणी अधिष्ठानं[6] निर्भिन्ने चक्षुरिन्द्रियस्य व्यष्टियुग्मान्युत्पन्नानीत्यर्थः। चक्षुःचक्षुरिन्द्रियम्। गुणग्रहो रूपगुणग्राहकं ज्योतिः आदित्यो[8]त्पन्नमित्यर्थः "स हि चक्षुरभिमानी आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्" इति श्रुतेः।।२१।।

श्रोत्रव्यष्टि[9]सृष्टिमाह - **बोध्यमानस्येति**। ऋषिभिः वेदैः बोध्यमानस्य प्रबोध्यमानस्य तत्प्रबोधं ग्रहीतुमिच्छतः आत्मनः ब्रह्मणः कर्णौ दिशः, श्रोत्राभिमानिदेवताः गुणग्रहः शब्दग्रहणहेतुः श्रोत्रमिन्द्रियं निरभिद्यत[10] इत्यर्थः। श्रोत्रेन्द्रियव्यष्टियुग्मान्यभवन्निति भावः।।२२।।

त्वगिन्द्रियव्यष्ट्युत्पत्तिमाह - **वस्तुन** इति। वस्तुनः द्रव्यस्य मृदुत्वं काठिन्यं च लघुत्वं च गुरुत्वं च औष्णं[13] औ[13] उष्णं ईषदुष्णत्वं चात्युष्णत्वस्य ग्रहणायोग्यत्वादोष्णं इत्युक्तम्। गुर्वुष्णेतिपाठे यणादेशश्छान्दसः। शीततां च एतान् गुणान् जिघृक्षतः ग्रहीतुमिच्छतः त्वगिन्द्रियव्यष्टिरुत्पन्ना इत्यर्थः। वस्तुनि हस्तेनातोलिते लघुत्वगुरुत्वयोर्ज्ञानात्तयोरपि त्वगिन्द्रियविषयत्वमिति ज्ञेयम्। अत्रेदं तत्त्वं[14] बोद्धव्यम् - त्वगिन्द्रियस्य सूक्ष्मस्थूलरूप बाह्याभ्यन्तरचर्मणी द्वे स्थाने। स्थानभेदाच्च कण्डूः स्पर्शश्चेति विषयभेदः। विषयभेदाच्च महीरुहाः वायुश्चेति देवताद्वयम्। "त्वचमस्य विनिर्भिन्नां विविशुर्धिष्ण्यमोषधीः। अंशेन लोमभिः कण्डूर्यैरसौ प्रतिपद्यते"(भाग.3-6-18) "निर्भिन्नान्यस्य चर्माणि लोकपालोऽनिलोऽविशत् प्राणेनांशेन संस्पर्शं येनासौ प्रतिपद्यते"(भा.ग.3-6-16) इति तृतीये स्पष्टमभिधास्यमानत्वात्। एवं

---

1. H V. add देवताश्रयं 2. H.V "धंदव्यं 3. H.V. ज्ञानां 4. W. ष्टिमाह 5 A. Omits आलोकाभावः 6. A.B. "ने 7. W. "गा" 8. A.B. "त्यक्षोत्पर्यः 9. W. "व्यष्टिमाह 10. A.B. "त 11. W. "यस्य व्यं' 12. A.B Omit ओष्णं 13. W. Omits आ उष्णं 14. A.B. Omit तत्त्वं

चैकमेव त्वगिन्द्रियं बाह्यचर्मगतं लोमसु व्याप्तमोषधिदेवताकं कण्डूग्राहकं एतदेवान्तर्बहिश्च स्पर्शं गृह्णद्वायुदैवतकं इति। एतदेव सङ्ग्रहेणाह तस्यामिति। तस्यां त्वचि त्वगिन्द्रिये निर्भिन्ने तदधिष्ठानं रोमाणि अधिष्ठातृदेवताम्महीरुहाश्चोत्पन्ना इत्यर्थः। अथ स्पर्शं गृह्णतः तस्यैव त्वगिन्द्रियस्य वाय्वधिष्ठितत्वमाह **तत्र चेति**। तत्र च तत्रैव त्वगिन्द्रिये वातो वायुः वृतः अधिष्ठितवान् कथम्भूतम्? त्वचा स्वाधिष्ठेय त्वगिन्द्रियेण साधनेन अन्तर्बहिश्च लब्धगुणः लब्धः स्पर्शः गुणः येन सः अन्तर्बहिश्च स्पर्शसम्पादक इत्यर्थः।।२३।।

पाणिव्यष्टिसृष्टिमाह - **हस्ताविति**। नानाकर्म आदानादिकर्म चिकीर्षतः लब्धस्पर्शं कर्तुमिच्छतः तस्य ब्रह्मणः हस्तौ रुरुहतुः ब्रह्मगतहस्तसमष्टितः हस्तयुग्मव्यष्टयोऽभूवन्नित्यर्थः। अत्र स्थानेन्द्रियाधिष्ठातृकर्माण्याह **तयोरिति**। वृत्तिस्तृतीये स्पष्टा। तयोर्हस्तयोः स्थानभूतयोः बलवान् पाणीन्द्रियापरपर्यायबलसहितः इन्द्रः अधिष्ठातेत्यर्थः उभयाश्रयं हस्तद्वयाश्रयं उपादानं कर्म। विषयस्तु इन्द्रियहस्तगतत्वादादानमपि हस्तद्वयाश्रयमित्यर्थः।।२४।।

पादेन्द्रियव्यष्टिसृष्टिमाह - **गतिमिति**। अभिकामिकां इच्छानुसारां गतिं जिघृक्षतः ग्रहीतुमिच्छतः ब्रह्मणः पादौ रुरुहाते निर्भिन्नावित्यर्थः। अथ स्थानेन्द्रियादीनाह पभ्द्यामिति। "यज्ञोविष्णुः" "यज्ञो वै विष्णुः" इति श्रुतेः। यज्ञः स्वयमेव इन्द्रियस्य पादद्वयस्थत्वात् पभ्द्यामिति द्विवचननिर्देशः। पभ्द्यां गतिसामर्थ्यापादकपादेन्द्रियेण सह पादयोरधिष्ठितवान् इत्यर्थः। नृभिः कर्मभिः गमनागमनादिभिः कर्मभिः हव्यं हविरर्थं द्रव्यं क्रियते सम्पाद्यते इत्यर्थः। गमनादिकं कर्म हव्यं विषय इत्युक्तम्।।२५।।

**विज०** यदा स विरिञ्चः आत्मनि निरालोको निष्प्रकाशः तदाऽऽत्मानं स्वशरीरं अन्यञ्च दिदृक्षतः तस्याक्षिणी गोलके व्यक्ते। ततो ज्योतिः सूर्यः रूपगुणग्रहश्चक्षुरिन्द्रियं तद्वाह्यं रूपं चोत्पन्नमिति शेषः।।२१।।

ऋषिभिः ज्ञानसाधनैः वेदादिभिरन्यादिभिर्वा बोध्यमानस्य वेदान्निबोधेति विज्ञाप्यमानस्य तस्य विरिञ्चस्यात्मनः तद्विज्ञापनं जिघृक्षतः ग्रहीतुकामस्य कर्णौ जातौ तयोर्दिशः दिग्देवता गुणग्रहः श्रोत्रेन्द्रियं च तद्विषयश्च शब्दः।।२२।।

वस्तुनो घटादिपदार्थस्य मृदुत्वादिगुणान् जिघृक्षतः ज्ञातुमिच्छतः तस्य विधेः त्वगिन्द्रियं तस्यां सत्वचि रोममहीरुहाः तत्र त्वचि च अन्तर्बहिर्व्याप्तोऽपि त्वचा त्वगिन्द्रियेण स्पर्शलब्धेन ज्ञानेन स्पर्शगुणे नावृतो वातः स्पर्शवायुः स्पर्शश्चाभवदित्यन्वयः गुर्वृष्णेति छान्दसः।।२३।।

---

1 A.B स्पर्शग्रहणाद्वायुदैवतमिति 2 W तत् स्थान 3. W. स्पर्शगुण. 4. W Omits लब्धस्पर्श 5. W. यस्याश्र" 6. W. °व्यष्टिमाह 7. A.B. Omit ग्रहीतुमिच्छत 8 A B add पभ्द्यामिन्द्रियेण

उभौ इन्द्रियाभिमानिनौ आश्रयौ यस्य तत्तथोक्तम्। आदानमुपादानहानादि कर्म च।।२४।।

गतिं गमनलक्षणं कर्म। यज्ञः इन्द्रपुत्रः स्वयं तदभिमानी गतिश्च पभ्द्यामभूताम्। तथा नृभिः यत् हव्यं हविस्सम्बन्धि हवनादिकर्म क्रियते यमुद्दिश्य स उपेन्द्रो भगवान् यज्ञान्तर्यामितयाऽभिव्यक्त इति शेषः।।२५।।

**रा०कृ०** यदा आत्मनि देहे निरालोकं प्रकाशरहितं आलोकाभाव इति भावः आसीदिति शेषः। तदा आत्मनां च देहं अन्यदपि च वस्तु दिदृक्षतः द्रष्टुमिच्छतः तस्य विभोः अक्षिणी अधिष्ठानभूते-निर्भिन्ने उत्पन्ने। तत्र ज्योतिः सूर्यो देवता अभवत् चक्षुः इन्द्रियं चाभवत्। ततश्च गुणग्रहः गुणस्य रूपात्मकस्य ग्रहः ग्रहणं अभवदिति शेषः। एतेन रूपस्य विषयत्वं दर्शितम्।।२१।।

ऋषिभिः वेदरूपैः बोध्यमानस्य तत् आत्मनः प्रबोधनं जिघृक्षतः ग्रहीतुमिच्छतः तस्य कर्णौ च अधिष्ठानभूतौ निरभिद्येताम् उद्भूतौ तत्र दिशः देवताः अभवन् श्रोत्रमिन्द्रियं च अभवत्। गुणग्रहः गुण्स्य शब्दात्मकस्य ग्रहः ग्रहणम् अभवदिति शेषः। अनेन शब्दस्य विषयत्वमुक्तम्।।२२।।

वस्तुनः मृदुकाठिन्यलघुगुर्वोष्णशीततां - मृदुत्वं, काठिन्यं, लघुत्वं, गुरुत्वं आ उष्णं ईषदुष्णत्वं शीततां च एतान् धर्मान् जिघृक्षतः ग्रहीतुमिच्छतः पुरुषस्य त्वङ्निर्भिन्ना। त्वगिन्द्रियाधिष्ठानं चर्म सञ्जातमिति भावः। तस्यां त्वचि रोममहीरुहाः रोमाणि रोमरूपमिन्द्रियं जातं, महीरुहाः वृक्षाभि-मानिन्यः देवताश्च जाता। तत्र तस्यामेव त्वचि अन्तर्बहिश्च त्वचा लब्धगुणः प्राप्तस्पर्शगुणः वातः वायुः वृतः आवृत्य स्थितः।।२३।।

नानाकर्म दानादानप्रक्षेपादिकं कर्म चिकीर्षतः कर्तुमिच्छतः तस्य पुरुषस्य हस्तौ अधिष्ठानभूतौ रुरुहतुः उद्बभूवतुः तयोस्तु हस्तयोस्तु बलमिन्द्रियं इन्द्रश्च देवता आदानं कर्म उभयाश्रयं इन्द्रियदेवतायत्तम्।।२४।।

अभिकामिकां इच्छानुरूपां गतिं जिघृक्षतः ग्रहीतुमिच्छतः पुरुषस्य पादौ रुरुहाते उत्पन्नौ। यज्ञः यज्ञ स्वरूपो विष्णुः पभ्द्यां पादरूपेन्द्रियेण सह स्वयं तदधिष्ठातृरूपेण अवस्थित इति शेषः। नृभिः कर्तृरूपैः कर्मभिः पादेन्द्रियव्यापारैः गमनागमनादिभिः हव्यं यज्ञार्थद्रव्यं क्रियते सम्पाद्यते।।२५।।

**निरभिद्यत शिश्नो वै प्रजानन्दामृतार्थिनः।**
**उपस्थ आसीत्कामानां प्रियं तदुभयाश्रयम्।।२६।।**

उत्सिसृक्षोर्धातुमलं निरभिद्यत वै गुदम्।
ततः पायुस्ततो मित्र उत्सर्ग उभयाश्रयः।।२७।।

आसिसृप्सोः पुरः पुर्या नाभिद्वारमपानतः।
तत्रापानस्ततो मृत्युः पृथक्त्वमुभयाश्रयम्।।२८।।

आदित्सोरन्नपानानामासन् कुक्ष्यन्त्रनाडयः।
नद्यस्समुद्राश्च तयोस्तुष्टिः पुष्टः तदाश्रये।।२९।।

निदिध्यासोरात्ममायां हृदयं निरभिद्यत।
ततो मनस्ततश्चन्द्रस्सङ्कल्पः काम एव च।।३०।।

**श्रीध० निरभिद्यतेति**। प्रजा अपत्यं आनन्दः रतिः, अमृतं स्वर्गादि तदर्थिनः। शिश्नः अधिष्ठानं उपस्थः इन्द्रियं प्रजापतिश्चासीदिति ज्ञेयम्। तदुभयाश्रयमिन्द्रियदेवताश्रयं कामानां स्त्रीसम्भोगानां सम्बन्धि प्रियं सुखम्।।२६।।

**उत्सिसृक्षोरिति**। धातुमलं भुक्तानां अन्नादीनामसारांशं त्यक्तुमिच्छोः गुदपायुमित्रोत्सर्गाः अधिष्ठानेन्द्रियदेवताविषयाः उभयाश्रयः पायुमित्राश्रयः।।२७।।

**आसिसृप्सोरिति**। पुर्याः देहात्पुरः देहान्तराणि आसिसृप्सोः सर्वतो गन्तुमिच्छोः नाभिद्वारं निरभिद्यतेत्यनुषङ्गः। अपानतोऽपगच्छतः पृथक्त्वं मरणम्। नाभ्यादीन्यधिष्ठानादीनि। नाभ्यां हि प्राणापानयोः बन्धविश्लेषणं मृत्युरिति प्रसिद्धम्।।२८।।

**आदित्सोरिति**। अन्नपानानामादित्सोः सङ्ग्रहीतुमिच्छोः कुक्षिश्चान्त्राणि च नाड्यश्चासन्। तत्र कुक्षिरधिष्ठानम्। अन्त्राण्यन्नसङ्ग्रहे, करणमिन्द्रियस्थानीयं, नाड्यस्तु पानसङ्ग्रहे, तयोर्नाड्यन्त्रवर्गयोः क्रमेण नद्यः समुद्राश्च देवते। तुष्टिरुदरभरणं, पुष्टिः तु रसपरिणामतः स्थौल्यं, तदाश्रये तदुभयनिमित्ते। तत्रान्नसङ्ग्रहेच्छोः कुक्ष्यन्त्रसमुद्रतुष्टयः इति चतुष्टयं प्रेयसङ्ग्रहणेच्छोः कुक्षिनाडीनदी पुष्टय चतुष्टयं इति विवेकः।।२९।।

---

1. B. "प्सो" 2. W. "त्मकः 3. M.Ma. "क्षोः 4. M.Ma.W. "रं 5. B.M.Ma. "र्या 6. M.Ma. "वृतं 7. M.Ma. ततोऽपानस्वतो 8. M.Ma. "असृक् 9. H.V.W. "ध्यां" 10. M.Ma. "डिका: 11. W. "भ्तु 12. H.I.M.Ma.V.W. "श्चन्द्र इति 13. A. Omits स्त्रीसम्भोगानां 14. A.B. भुक्तान्नादी नां 15. H.V. Omit उभयाश्रयः पायुमित्राश्रयः 16. A.B. विश्लेषे 17. A.B. "हेच्छोः 18. H.V. Omit च 19. H.V. आन्त्रा" 20. H.V. "ड्यां" 21. H.V. "ध्यां" 22. A.B. Omit चतुष्टयं

**निदिध्यासोरिति**। निदिध्यासोः नितरां चिन्तयितुमिच्छोः कामोऽभिलाषः हृदयमनश्चन्द्रसङ्कल्पाः अधिष्ठानादयः।।३०।।

**वीर०** उपस्थव्यष्टिसर्गमाह - **निरभिद्यतेति**। प्रजानन्दामृतार्थिनः प्रजाः अपत्यं आनन्दो रतिः आनन्दहेतुत्वात्तस्याः। ताभ्यां यदमृतं अमृततुल्यं सुखम्। तदर्थं यतः यद्वा प्रजां रत्यानन्दरूपममृतं वाऽर्थयतः ब्रह्मणः समष्ट्युपस्थतः व्यष्ट्युपस्थस्थानं निरभिद्यत अभूदित्यर्थः। शिश्नः शिश्नग्रहणं योषिल्लिङ्गस्याप्युपलक्षणम्। शिश्नः अधिष्ठानं उपस्थ इन्द्रियं प्रजापतिरधिष्ठाता रतिः कर्म आनन्दो विषयश्चासीत् इत्यनुक्तमप्यूह्यम्। कामानां स्त्रीसम्भोगादीनां प्रियं सुखं उभयाश्रयं इन्द्रियदेवताश्रयमित्यर्थः। यद्वा उभयाश्रयं स्त्रीपुल्लिङ्गाश्रयं इत्यर्थः। इन्द्रियतत्स्थानाश्रयमिति वा।।२६।।

पायुव्यष्ट्युत्पत्तिमाह - **उत्ससृक्षोरिति**। धातुमलं भुक्तानामन्नादीनामसारांशं त्यक्तुमिच्छोः गुदं पाय्विन्द्रियस्थानं निरभिद्यत ततो गुदतः पायुः इन्द्रियं मित्रोधिष्ठाता चाभूत् उत्सर्गः त्यागः[4] उभयाश्रयः इन्द्रियतत्स्थानाश्रयः धातुमलत्याग इत्यर्थः।।२७।।

एवं ज्ञानकर्मोभयेन्द्रियव्यष्टिसृष्टिमभिधाय[5] अन्यासामपि नाभ्यादिव्यष्टीनां तत्समष्टितः उत्पत्तिमाह - **आसिसृप्सोरिति**। पुर्याः[6] शरीरात्[7] पुरः शरीरान्तराणि आसिसृप्सोः[8] आ सर्वतः गन्तुमिच्छोः ब्रह्मणः अपानतः समष्ट्यपानवातात् अपानव्यष्टिस्थानं निरभिद्यत[9]। तत्र नाभिद्वारे[10] अपानो वायुरिन्द्रियस्थानीयः[11]। ततो[12] अपानतः मृत्युरधिष्ठाता। पृथक्त्वं शरीरत्यागः[13]। उभयाश्रयं प्राणापानाश्रयं प्राणापानवायुवियोगे मरणस्य पुराणान्तरप्रसिद्धेः।।२८।।

व्यष्टिकुक्ष्यन्त्रनाडीनां[14] सृष्टिमाह - **आदित्सोरिति**। अन्नपानानां आदित्सोः सङ्ग्रहेच्छोः कुक्ष्यन्त्रनाड्यः[15] आसन्नभूवन्[16]। कुक्षिरधिष्ठानं अन्त्राणि अन्नसङ्ग्रहे[17] करणं इन्द्रियस्थानीयानि नाड्यस्तु पानसङ्ग्रहे। तयोर्नाड्योन्त्रवर्गयोः[18] क्रमेण नद्यः समुद्राश्च देवते। तुष्टिरलम्बुद्धिः। पुष्टिर्देहपोषः तदाश्रये नदीसमुद्राश्रये सस्यादि हेतुत्वात्।।२९।।

मनोव्यष्टिसृष्टिमाह - **निदिध्यासोरिति**। आत्ममायां स्वरूपतिरोधायकप्रकृतिं निदिध्यासोः निरूपयितुं[19] इच्छतः हृदयं कमलाकारमधिष्ठानम्। ततो मन इन्द्रियं चन्द्रः अभिमानी। सङ्कल्पः[20] मनोव्यापारश्चाभूदित्यर्थः।३०।।

---

1. W. Omits तत् 2. W. चार्थं" 3. A.B. वाऽभूत् 4. W. adds उभयात्मकः 5. A.B. व्यष्टिसृष्टि माह 6. W. देहात् 7. W. पुरं देहान्तरं 8. W. व्यामुमिऽऽच्छोर्व्र" 9. W. Omits निरभिद्यत 10. W. नाभौ 11. W. Omits वायुः 12. W. तदधिष्ठाता मृत्युश्चाभूदित्यर्थः। पृथ" 13. W. मरणम् 14. W. Omits व्यष्टि.....माह 15. W."क्ष्यां"16. W."ड्यः 17. W."न्ना"18. W "ड्यां"19. W."यतः ड्ं" 20. W. "ल्पादिमं"

**विज०** प्रजा सन्ततिः तन्निमित्ता या रतिः तस्यां जातः आनन्दः स एवामृतं तदर्थयितुं शीलमस्येति प्रजानन्दामृतार्थिनः तस्य विधेः शिश्नमिन्द्रियस्थानं तस्मिन् शिश्ने कामानां प्रियं परतः प्राप्य सुखसाधनं तादृशमुपस्थेन्द्रियं तदुभयाश्रयं शिश्नोपस्थाश्रयं रतिः सुखं चासीत् कामानां भोगसाधनमिति वा।।।२६।।

धातुमलं पुरीषसंज्ञं उत्सिसृक्षोः त्यक्तुकामस्य गुदमपानद्वारं ततस्तस्मिन् गुदे वा पायुनामेन्द्रियं ततः इन्द्रियानन्तरं मित्रनामा देवः उभयाश्रयः पायुमित्राश्रयः वा इत्यनेन। "मलादिकं कदाचित्तु ब्रह्मलोकाभिपत्तये। आत्मनो निर्ममे कामात् सर्वेषामभवत्ततः" इत्यादिवाक्यं स्मारयति।।२७।।

परकायप्रवेशप्रकारमाह - **आसिसृक्षोरिति**। पुरः स्वाधिष्ठितात् देहात् पुर्यां अन्यस्मिन् देहे पुरि तन्नामनाडीविशेषमासिसृक्षोः पुवेष्टुकामस्य विरिञ्चस्य इत्युपलक्षणं योगिनाम्। नाभिद्वारमपावृतं विवृतं ततो नाभिद्वारादपानवायुस्तस्मात् मृत्युः तदुभयाश्रयं पृथक्त्वं देहान्तरप्राप्तिलक्षणं चोत्पन्नम्। अत्र मृत्युः मरणं तत्प्रापकश्च अपानः इदं ब्रह्मणो न, किन्तु देहिनामित्यनुसन्धेयम्।।२८।।

अन्नपानानां अन्नपानानि आदित्सोः आदातुकामस्य विरिञ्चस्य कुक्षिनाड्यौ अभूताम्। असृजो रुधिरस्य स्थानं कुक्षिः अन्त्रस्थानं नाडीद्वारासप्ततिभेदभिन्ना तयोः कुक्षिनाड्योः समुद्रा नद्यश्चासन् तृप्तिः पुष्टिश्च तदाश्रये तृप्तिः कुक्ष्याश्रया पुष्टिः नाड्याश्रया।।२९।।

आत्ममायां विष्णुसृष्ट्यादि महिमानं निदिध्यासोः ध्यातुकामस्य हृदयं मनः निवासस्थानमभूत्। ततो हृदयात् मनः मनसश्चन्द्रोऽधिदेवता सङ्कल्पः कामश्च मनोवृत्तिविशेषौ अभूतां इति शब्दः निरुद्धग्रहणार्थः।।३०।।

**रा०कृ०** प्रजानन्दामृतार्थिनः प्रजा सन्ततिः तस्यै यः आनन्दः रतिः स एवामृतं तदर्थिनः पुरुषस्य शिश्नः अधिष्ठानभूतः निरभिद्यत उदभूत्। उपस्थः उपस्थेन्द्रियं आसीत् प्रजापतिश्च आसीत्। किञ्च तदुभयाश्रयं इन्द्रियदेवताऽधीनं कामानां स्त्रीसम्भोगानां प्रियं सुखं च आसीत्।।२६।।

धातुमलं अत्र धातुपदेन त्वगादिपोषकाः अन्नादयो व्यज्यन्ते। तथा च धातूनां भुक्तानामन्नादीनां मलं असारमंशं उत्सिसृक्षोः त्यक्तुमिच्छोः तस्य पुरुषस्य गुदं वै गुदस्थानं निरभिद्यत। ततो गुदात् पायुः इन्द्रियमासीत्। ततः तस्य मित्रो देवता उभयाश्रयः इन्द्रियदेवताधीनः उत्सर्गःमलत्यागरूपो विषयश्चासीत्।।२७।।

पुर्याः शरीरुत् पुरः शरीरान्तरणि आसिसृप्सोः आ समन्तात् सिसृप्सोः गन्तुमिच्छोः पुरुषस्य अपानतः अपानवायोः नाभिद्वारं निरभिद्यत। तत्र नाभिद्वारे अपानः अपानेन्द्रियमासीत्। ततोऽपानात् मृत्युः देवताऽऽसीत् उभयाश्रयं इन्द्रियदेवताश्रयं पृथक्त्वं प्राणापानवियोगरूपं मरणं च आसीत्।।२८।।

अन्नपानानामादित्सोः ग्रहीतुकामस्य पुरुषस्य कुक्ष्यन्त्रनाड्यः कुक्षिः अधिष्ठानभूतः। अन्त्राणि अन्नसङ्ग्रहे करणभूतानि इन्द्रियस्थानीयानि नाड्यः पानसङ्ग्रहे करणभूताः इन्द्रियस्थानीयाः आसन्। तयोः नाड्यन्त्रवर्गयोः नद्यः समुद्राश्च देवते तदाश्रये इन्द्रियदेवतोभयाश्रये, तुष्टिः उदरभरणानन्तरं जाता अलम्बुद्धिः पुष्टिः रसपरिणामतो जाता स्थौल्यात्मिका च आस्ताम्।।२९।।

आत्ममायां आत्मनो मायां प्रकृतिकार्यात्मिकां निदिध्यासोः नितरां ध्यातुमिच्छोः पुरुषस्य हृदयं अधिष्ठानभूतं निरभिद्यत। ततो हृदयात् मनः इन्द्रियं अजायत। ततः तस्मात् मनसः चन्द्रो देवता अजायत; सङ्कल्पः तत्तत्पदार्थचिन्तनात्मकः अजायत, काम एव च तत्तद्विषयाभिलाषश्च अजायत।।३०।।

**त्वक्चर्ममांसरुधिरमेदोमज्ज्यास्थिधातवः।**
**भूम्यप्तेजोमयास्सप्त प्राणो[1] व्योमाम्बुवायुभिः।।३१।।**

**गुणात्मकानीन्द्रियाणि[2] भूतादिप्रभवा गुणाः।**
**मनस्सर्वविकारात्मा बुद्धिर्विज्ञानरूपिणी।।३२।।**

**एतद्भगवतो रूपं स्थूलं ते व्याहृतं मया।**
**मह्यादिभिश्चावरणैः अष्टभिर्बहिरावृतम्।।३३।।**

**अतः परं सूक्ष्मतमं अव्यक्तं निर्विशेषणम्।**
**अनादिमध्यनिधनं नित्यं वाङ्मनसः[3] परम्।।३४।।**

**अमुनी भगवद्रूपे मया ते ह्यनुवर्णिते[4]।**
**उभे अपि न गृह्णन्ति माया सृष्टे[5] विपश्चितः।।३५।।**

**श्रीध०** तदेवं अधिदैवादिभेदं विभज्य उक्त्वा तदंशभूतानां धात्वादीनां स्वरूपमाह - **त्वगिति**

1. W. °णा 2. AF.GF. भूतात्म° 3. M.Ma. °सोः 4. A. अ° 5. M.Ma. °ष्टेऽवि°; W. °ष्टेवि°

द्वाभ्याम्। त्वक् स्थूलं चर्म, तदुपरि स्थितं सूक्ष्मम्। त्वागादयोऽस्थ्यन्ताः द्वन्द्वैकवद्भावेन निर्दिष्टाः। सप्त ये धातवः ते भूम्यप्तेजोमयाः तेषां च[1] पाञ्चभौतिकत्वेऽपि वाय्वाकाशयोः आहारादिरूपेण[2] संवर्धकत्वाभावात् एवमुक्तम्।।३१।।

**गुणात्मकानीति**। गुणात्मकानि गुणेषु शब्दादिषु आत्मा येषाम्। विजयाभिमुखस्वभावानीत्यर्थः। भूतादिरहङ्कारः। ततः प्रकर्षेण भवन्तीति तथा[3] गुणाः शब्दादयः अहङ्कारांशकल्पित[4]शोभनस्वभावाः न तु वस्तुतः तथेति तात्पर्यम्[5]। अत्र हेतुः यतो मन एव सर्वविकाराणां आत्मा स्वरूपं बुद्धिस्तु तथा भूतार्थं विज्ञानरूपिणी न तु परमार्थं ग्राहिणीति वैराग्यार्थमुक्तम्। अनेनैव बुद्धिमनसोः स्वरूपं च उक्तम्।।३२।।।

उपसंहरति - **एतदिति**। प्रकृत्या सह अष्टभिः।।३३।।

स्थूलमुक्त्वा सूक्ष्मं समष्टिलिङ्गशरीरमाह - **अत** इति। अतः परं अस्य कारणभूतं सूक्ष्मं अतीन्द्रियं यतोऽव्यक्तं तत्कुतः? यतो निर्विशेषणम्। तत्कुतः[7] अनादिमध्यनिधनमुत्पत्तिस्थितिलयशून्यम्। नित्यं सदा एकरूपं अपक्षयादिशून्यमित्यर्थः। अत एव वाङ्मनसश्च[8] इति द्वन्द्वैक्यं तस्मात्परम्।।३४।।

उपासनार्थं भगवत्यारोपितं[9] रूपद्वयमपवदति - **अमुनी** इति। न गृह्णन्ति वस्तुतः नाङ्गीकुर्वन्ति यतो[10] मायासृष्टे।।३५।।

**वीर०** एवं ब्रह्मशरीरात् समष्टेः व्यष्ट्यवयवविशेषविभागमभिधाय तेषां सार्वभौतिकत्वेऽपि तत्तद्भूतांश भूयस्त्वनिबन्धनं तदात्मकत्वमाह - **त्वगिति**। चर्म स्थूलं अन्तस्त्वक्। तदुपरि स्थितं सूक्ष्मं चर्म त्वक् त्वगादयोस्थ्यन्ताः द्वन्द्वैकवद्भावेन निर्दिष्टाः एते सप्त धातवः भूम्यप्तेजोमयाः प्राणैस्तु[11] व्योमाम्बुवायुभिः आरब्धे[12] इति शेषः।।३१।।

**गुणात्मेति**। इन्द्रियाणि गुणात्मकानि शब्दादिगुणग्रहणस्वभावानि। गुणाः यदात्मकाः[13] ते के इत्यत आह - भूतादिरिति। भूतादिः अहङ्कारः तत्प्रभवाः शब्दादयो गुणाः इन्द्रियाण्यपि तत्प्रभवत्वात् तदात्मकान्येवेत्यभिप्रायः। मनः सर्वविकाराणां कामसङ्कल्पादीनां आत्मा आश्रयः। बुद्धिः विज्ञायते अनेनति विज्ञानं महत्तत्त्वं[14] तद्रूपिणी बुद्धिः "महान्वै बुद्धिलक्षणः" इति वचनात्।।३२।।

उपसंहरति - **एतदिति**। एतच्चेतनाचेतनात्मकं देवादिव्यष्टिवस्तुजातगर्भम्। एतच्छब्दः

---

1. H.V. Omit च 2. H.V. "रूप" 3. A. यथा 4. A.B. "रक" 5. H.V. अथः 6. H.V. तत्र 7. A. Omits तत्कुतः 8. A.B. वाक् च मनश्च 9. HV. "ततया तद्द्वय" 10. H.V. Omit यतो 11. W. "णा" 12. W. "ब्धा" 13. W. Omits ते के 14. W. महत् तद्रू"

अण्डकटाहपरः, पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाहङ्कारमहदव्यक्तरूपैः अष्टाभिः अण्डावरणैः बहिरावृतम्। [1]तोयादिभिश्चावरणैः सप्तभिः बहिरावृतम् इति पाठान्तरम्। भगवतः स्थूलं रूपं ते तुभ्यं मया व्याहृतं सम्यगभिहितम्।।३३।।

[2]ततो विलक्षणं रूपान्तरमस्तीत्याह - **अत** इति। अयं श्लोकः जीवपरः अव्यक्तस्योक्तत्वात्, अन्यथा [3]अष्टसङ्ख्यानुपपत्तेः अतः स्थूलरूपात् परं परत्वेनावस्थितं[4]सूक्ष्मतमं[5] "[6]वालाग्रशतभागस्य" इति श्रुत्युक्तं मुक्तात्मस्वरूपं रूपान्तरमपि भगवतोऽस्तीति शेषः। सूक्ष्म[7]मतमत्वं कुतः? अव्यक्तं चक्षुरादिभिः न व्यज्यते इत्यव्यक्तम्। चक्षुराद्य ग्राह्यं तत्कुतः निर्विशेषणं शब्दस्पर्शरूपादि गुणाभावात् शब्दादिविशेष वदेव चक्षुरादिग्राह्यमिति भावः। निर्विशेषत्वं कुतः? वाङ्मनसः परं देवमनुष्यादि बुद्धिशब्दागोचरम्। तदपि कुतः? अनादिमध्यनिधनम्। आदिः उत्पत्तिः, निधनं विनाशः मध्यं उत्पत्तिनिधनयोः अन्तरालावस्था एतदवस्थात्रयशून्यमित्यर्थः। तदपि वा कुतः? नित्यं कालापरिच्छिन्नमेव अवस्थात्रयवदिति भावः।।३४।।

एवं प्रकृतिमण्डलोत्तीर्णं मुक्तात्मस्वरूपं विशोध्य संसृष्टासंसृष्टयोरुभयोः संसृष्टस्य अविद्यावेष्टितत्वात् मुक्तस्वरूपस्य निष्पन्नयोगिध्येयतया योगयुङ्मनसोऽनालम्बनतया शुभाश्रयत्वं प्रतिषेधति - **अमुनी** इति। ते तुभ्यं मया अनुवर्णिते भगवतः अमुनी स्थूल[8]सूक्ष्मरूपे न गृह्णन्ति नोपासते उपासका इति शेषः। उपासकाः उपास्यशुभाश्रयत्वेन न गृह्णन्तीत्यर्थः। कुतः विपश्चितः सर्वज्ञस्य ब्रह्मणः माया सृष्टेः सङ्कल्पसृष्टेः भगवत्सङ्कल्पायत्तत्वात् बन्धमोक्षयोरित्यर्थः। मूर्तस्य संसृष्टचेतनस्य अविद्यावेष्टितत्वेन अशुद्धत्वात् मुक्तस्वरूपस्य स्वतश्शुद्धिविरहाच्च नोपासनाविषयत्वं किन्तु "आदित्यवर्णं" इत्यादि वेदान्तसिद्धं परमात्मनो मूर्तं रूपमेव उपास्यमित्यर्थः। तथा च शौनकेन चतुर्मुखसनकादीनां जगदन्तर्वर्तिनां अविद्यावेष्टितत्वेन शुभाश्रयतानर्हतामुक्त्वा बद्धानामेव पश्चाद्योगेन उद्भूतबोधानां स्वस्वरूपापन्नानां च स्वतश्शुद्धिविरहात् शुभाश्रयताप्रतिषेधः उक्तः "आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ताः जगदन्तर्व्यवस्थिताः। प्राणिनः कर्मजनितसंसारवशवर्तिनः।। यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः अविद्यान्तर्गतास्सर्वे ते हि संसारगोचराः। पश्चादुद्भूतबोधाश्च ध्याननैवोपकारकाः नैसर्गिको [9]न वै बोधः तेषामप्यन्यतो यतः।। तस्मात्तदमलं ब्रह्म निसर्गादवबोधवत्" इत्यादिना प्राधान्येन उपास्यत्वनिषेधः भगवद्विभूतित्वेन उपासनं तु इष्टमेव।।३५।।

**विज०** त्वगाद्याः सप्तधातवः शरीरस्थितिहेतुभूता जाता इति शेषः। तेषां निदानमाह - **भूमीति**।

---

1. A.B. Omit तोयादि.....पाठान्तरम् 2. W. इतो 3. A.B. सम" 4. W. adds सूक्ष्मं 5. A.B. "रं 6. A.B. वा" 7. W. "ह्मत्वं; A. B. "ह्मतरत्वं 8. W. "सूक्ष्मे 9. W. नैव

**मुख्यप्राणाभिमन्यमानजडरूपप्राणोपादानकारणमाह - प्राण** इति। मुख्यप्राणेन अभिमन्यमानजडप्राणो व्योमाम्बुवायुभिः सृष्ट इति शेषः।३१।।

इन्द्रियोपादानकारणमाह - **गुणेति**। गुणास्सत्वादयः गुणकारणमाह बुद्धिरिति। विज्ञानरूपिणी निश्चयज्ञानरूपिणी।।३२।।

ब्रह्मशरीरस्य भगवत्प्रतिमात्वं स्पष्टयति - **एतदिति**। पञ्चभूताहङ्कारतत्त्वप्रकृत्याख्याष्टावरणावृतमेतत् स्थूलं विराडाख्यं ब्रह्मशरीरं भगवतो नारायणस्य प्रतिमारूपं ते तव मया व्याहृतमित्यन्वयः तदुक्तं "स्थूलं भगवतो रूपं ब्रह्मदेह उदाहृतः तत्तन्त्रत्वाच्च" इति।।३३।।

ननु तर्हि हरेः निजरूपं कीदृशम्? अत्राऽऽह - **अत** इति। अतो ब्रह्मणः देहाच्च परं विलक्षणमपि स्थूलं किं नेत्याह सूक्ष्मतममिति। सूक्ष्माणामप्यतिशयेन सूक्ष्मम् "अणोरणीयान्" इति श्रुतेः। महत्परिमाणाभावेन अचाक्षुषत्वेन भक्तानां दिदृक्षा उपासना व्यर्थत्यत उक्तं अव्यक्तमिति। महत्परिमाणवत्वेऽपि स्वप्रसादमन्तरेण चाक्षुषं न स्यादित्यर्थः "महतो महीयान्" इति श्रुतिः। "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" इति श्रुतेः। सूक्ष्मं शङ्खचक्रगदाधरमिति च, अन्यस्य कस्यचित् अतिशयलक्षणविशेषणसम्भवे कथमेतदित्यत उक्तं - निर्विशेषणमिति। निर्गतं विशेषणं अतिशयलक्षणं यस्मात्तत्तथोक्तम्। अस्य काव्यस्य कवयः न समर्थाः विशेषण इति दर्शनात्। एवंविधस्यापि वस्तुत्वेन घटवत् आद्यन्तवत्वं किं न स्यादिति मन्दाशङ्कापरिहाराय उक्तं अनादीति। आदिमध्यान्तशून्यं नैतदौपचारिकं अत उक्तं नित्यमिति। "नित्यं अविनाशि", "नित्यो नित्यानां" इति श्रुतिः। चाक्षुषस्वभावाभावेऽपि वागादिविषयत्वं स्यात् अत उक्तं वाङ्मनसोः परमिति वाङ्मनसयोरगोचरं सरस्वती रुद्रोत्तमं वा।।३४।।

प्रेक्षावद्गृहीतत्वेन ते उभे अपि ग्राह्ये इत्याशयेनोपसंहरति - **अमुनी** इति। स्थूलसूक्ष्मे अमुनी भगवद्रूपे मया ते तव अनुवर्णिते माया सृष्टे भगवदिच्छया प्रकृत्या च विरचिते जगति येऽविपश्चितः ज्ञानदुर्बलाः ते जनाः उभे अपि रूपे न गृह्णन्ति न जानन्तीत्यन्वयः।।३५।।

**रा०कृ०** तस्य पुरुषस्य त्वक् चर्म मांसरुधिरमेदोमज्जास्थिधातवः - त्वक् उपरितना सूक्ष्मा त्वगिति कथ्यते चर्म स्थूलं अन्तस्त्वक् चर्म इत्यभिधीयते। मांसः रुधिरं रक्तं मेदःबुद्धिप्रभृतिषु प्रसिद्धम्। मज्जा अस्थ्यन्तर्गता। अस्थि एते सप्तधातवः भूम्यप्तेजोमयाः पृथिवीजलतेजसां कार्यभूताः प्राणः व्योमाम्बुवायुभिः आकाशजलमरुद्भिः आरब्ध इति शेषः।।३१।।

---

1. B.M.Ma. "तम्

तस्यैव परमपुरुषस्य इन्द्रियाणि चक्षुःप्रभृतीनि गुणात्मकानि गुणकार्यरूपादि विषयाभिमुख-स्वभावानि। गुणाः रूपादयः भूतादिप्रभवाः भूतादिः अहङ्कारः ततः सञ्जाताः। मनः सर्वविकारात्मा सर्वविकाराणां कामक्रोधादीनां आत्मा स्वरूपम्। बुद्धिः विज्ञानरूपिणी विविधज्ञानरूपिणी।।३२।।

मह्यादिभिः पृथिव्यप्तेजो वाय्वाकाशाहङ्कारमहदव्यक्तात्मकैः अष्टभिः आवरणैः बहिः आवृतं एतद्ब्रह्माण्डात्मकं भगवतः स्थूलं रूपं ते तुभ्यं मया व्याहृतं कथितम्।।३३।।

अतः स्थूलरूपात् परं अन्यत् स्थूलरूपस्य कारणभूतं सूक्ष्मतमं अव्यक्तं चक्षुरादिभिः इन्द्रियैः अग्राह्यं निर्विशेषणं सर्वव्यावर्तकधर्मशून्यं, अनादिमध्यनिलयं उत्पत्तिस्थितिलयरहितं वाङ्मनसः परं वाचां मनसश्चागोचरं निखिलव्यवहारातीतमिति भावः। तादृशं भगवतो रूपं विद्यते इति शेषः।।३४।।

अमुनी स्थूलसूक्ष्मे भगवद्रूपे भगवतः रूपे मया ते तुभ्यं अनुवर्णिते प्रतिपादिते। मायासृष्टे मायया सृष्टे प्रकृतिकार्यभूते इति भावः। ते उभे अपि रूपे विपश्चितः विवेकवन्तः न गृह्णन्ति परमार्थतो न स्वीकुर्वन्ति। उभयोरपि स्थूलसूक्ष्मरूपयोर्मायाकार्यत्वात् न तयोर्ग्रहणं ज्ञानिभिः क्रियत इति भावः। अनयोरत्र वर्णनंतु साधकानामुपासनार्थमिति ज्ञेयम्।।३५।।

**स वाच्यवाचकतया भगवान् ब्रह्मरूपधृक्[1]।**
**नामरूपक्रिया धत्ते सकर्माकर्मकः परः।।३६।।**

**प्रजापतीन् मनून् देवान् ऋषीन् पितृगणान् पृथक्।**
**सिद्धचारणगन्धर्वान् विद्याध्रासुरगुह्यकान्[2]।।३७।।**

**किन्नराप्सरसो नागान्[3] सर्पान् किम्पुरुषोरगान्[4]।**
**मातृरक्षःपिशाचांश्च प्रेतभूतविनायकान्[5]।।३८।।**

**कूष्माण्डोन्मादवेतालान्[7] यातुधानान् ग्रहानपि।**
**खगान् मृगान् पशून् वृक्षान् गिरीन् नृप! सरीसृपान्।।३९।।**

**द्विविधाश्चतुर्विधा येन्ये[8] जलस्थलवनौकसः।**
**कुशलाकुशलैर्मिश्राः[9] कर्मणां गतयस्त्विमाः ।।४०।।**

---

1. V.W. °तृ 2. H.M.Ma.V. °ध्रान् 3. W. यक्षान् 4. H.V. °षपूरुषान्; B.I. °चान्नरान्; M.Ma.W. °चानपि 5. I.N °तृ 6. H.V.W. °रुमा° 7. H.V. °भे 8. M.Ma. °ह्यान्ये 9. M.Ma. °लमिश्राणां°

**श्रीध०** यद्रूपगुणकर्मक इति यदुक्तं भगवता ब्रह्माणं प्रति तत्प्रपञ्चयितुं ब्रह्मादिरूपाणि तत्तत्कर्माणि चाऽऽह - **स** इत्यादिना इत्थं भावेन इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। स भगवान् ब्रह्मरूपधृक् सन् वाच्यवाचकतया वाच्यतया रूपाणि वाचकतया नामानि क्रियाश्च धत्ते सृजतीत्यर्थः। मायया सकर्मा सव्यापारः सन् वस्तुतस्त्वकर्मकः।।३६।।

एतत्प्रपञ्चयति - **प्रजापतीनिति** सार्धं स्त्रिभिः। द्वितीयान्तानां धत्त इत्यनेनान्वयः। तत्र प्रजापत्यादीन नामानि तत्तद्वाच्यानि रूपाणि तत्तत्कर्माणि च ज्ञेयानि पृथक् तत्तदवान्तरभेदेन।।३७,३८।।

**कूष्माण्डेति**। गिरीनित्यस्यानन्तरं नृपेति सम्बोधनम्।।३९।।

**द्विविधा** इति। द्विविधाः स्थावरजङ्गमरूपेण। तत्र चतुर्विधाः जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जरूपेण। जलस्थलनभांसि ओकांसि येषां तानपि धत्त इति पूर्वेणान्वयः। यच्च राज्ञा पृष्टं "यावत्यः कर्मगतयो यादृशी द्विजसत्तम" इति तस्यापि प्रसङ्गादनेनैवोत्तरमाह कुशलाः उत्तमाः अकुशलाः नीचाः। मिश्राः इति पदान्तरम्। मिश्रा मध्यमाः कर्मणां पुण्यपापमिश्राणां गतयः फलानि।।४०।।

**वीर०** स्थूलस्य भगवद्रूपत्वमेव उपपादयितुं भगवत एव ब्रह्मादिरूपेण स्रष्टृत्वादिकमाह - **स इति**। स भगवान् वाच्यवाचकतयाऽवस्थितः जगच्छरीरकत्वात् वाच्यतयावस्थितः आकाशशरीरकत्वाच्च वाचकाकाशगुणशब्दरूपेणावस्थितः ब्रह्मरूपधृक् नामरूपक्रियाः धत्ते। ब्रह्मरूपधृक् इत्यनेन प्रागुक्तव्यष्टिसृष्टिः चतुर्मुखशरीरकात् इत्यवगम्यते। नाम देवादिनाम, रूपं देवादिरूपं, क्रिया तेषां कृत्यानि धत्ते विधत्ते स्वपर्यन्तीः नामरूपक्रियाः। यथा "नामरूपं च भूतानां कृत्यानाञ्च प्रपञ्चनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः" इति। कथम्भूतो विधत्ते अकर्मकः अकर्मवश्यः सकर्मा सङ्कल्पमात्रव्यापारकः।।३६।।

नामरूपक्रियाधानमेव प्रपञ्चयति - **प्रजापतीनित्यादिना**। द्वितीयान्तानां धत्ते इत्यनेनान्वयः। तत्र प्रजापत्यादिनामानि तद्वाच्यानि रूपाणि तत्कर्माणि च ज्ञेयानि पृथक् तत्तदवान्तरभेदेन। गिरीनित्यस्यानन्तरं नृपेति सम्बोधनम्।।३७,३८,३९।।

चतुर्विधाः जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जरूपेण चतुर्विधाः "पुमान् न देवो न नरो न पशुः न च पादपः। चतुर्विधो विभेदोऽयं" इत्युक्तदेवादिरूपेण वा चतुर्विधाः। ये च द्विविधाः स्थावरजङ्गमरूपेण

---

1. A.B. तत्क° 2. H.V. °धृत् 3. H.V. तद्वा° 4. H.V. तत्क° 5. H.V. °मादिरु° 6. B. °ण्यापुण्यमि°; H.V. °ण्यापुण्यविमि° 7. A.B. °त्वं 8. A.B. Omit स: 9. W. °धृत् 10. W. °धृत् 11. W. Omits धत्ते 12. A.B. Omit विधत्ते 13. A.B. °न्त नामक्रियाः व्याकरोदित्यर्थः 14. W. °रः 15. W. Omits वा 16. A.B. Omit येच.....द्विविधाः

द्विविधाः। जलस्थलनभांसि ओकांसि स्थानानि येषां तान्[1] धत्ते इति पूर्वेणान्वयः। नन्वेकरूप्येणैव[4] किं न धत्ते इत्यत आह - कुशलेत्यादिना। कर्मणां क्षेत्रज्ञपुण्यापुण्यरूपाणां कर्मणां पराः प्राप्याः गतयः फलानि कुशलाः उत्तमाः, अकुशलाः नीचाः, मिश्राः मध्यमाः[5]। कर्मणां विचित्रत्वात् तत्फलानामपि वैचित्र्यमिति भावः।।४०।।

**विज०** मायामये जगति विपश्चितः उभे कार्यकारणरूपे न गृह्णन्ति नाङ्गीकुर्वन्ति इत्येतदपव्याख्यानं प्रत्याह - **स वाच्येति**। "नामैव वाचकत्वेन नामरूपक्रिया अपि।वाच्यत्वेन हरिर्देवो नियामयति चैकराट्। कर्तृत्वात्तु सकर्मासौ निष्फलत्वादकर्मकः"। इत्यनेन व्याख्यातोऽयं श्लोकः। निष्फलत्वात् कर्मफलानपेक्षत्वात्। नन्वेकस्य नानानामरूपक्रियाकारकत्वं मायामन्तरेण कथं स आघटीति अत उक्तं ब्रह्मेति। अन्तर्बहिर्व्याप्तं यद्ब्रह्मशब्दवाच्यं रूपं तस्य धारकत्वात् घटते इत्यर्थः। "ब्रह्म वेदस्तपस्तत्त्वम्" इत्यतो वेदादिशब्दराशिधृतत्वाद्वा अनेन प्रपञ्चस्य वेदादिसिद्धत्वेन सत्यत्वात् तस्य मायामयत्वे वेदादेरप्रमाणत्वेन तदुक्ततदैक्यस्यापि तथात्वेन विश्वस्यैव सत्यत्वं न्यायप्राप्तमित्युक्तं भवति।।३६।।

उक्तमेव विशदयति - **प्रजापतिरित्यादिना**। सर्वनामरूपक्रिया यतः प्रजापत्यादिनामरूपक्रियाश्च धत्त इति पूर्वेणान्वयः।।३७।।

मातरोऽदित्यादयः ब्रह्माद्या वा, पिशाचाः घण्टाकर्णादयः, भूताः भृङ्गिरुद्रानुगाः, विनायकाः विघ्नादयः।।३८।।

कूष्माण्डाः रुक्माण्ड्वादयः। उन्मदाः कालकर्णादयः। यातुधानाः रक्षोविशेषाः भृगुकुत्सादयः। ग्रहाः अष्टादश नवग्रहा वा। हे नृप! प्रियव्रतादयो वा। सरीसृपाः सहस्रपदादयः।।३९।।

सङ्ख्यातुमशक्यत्वात् सामान्यतो निर्दिशति - **द्विविधा** इति। "व्योमक्षपथमाकाशनभश्शब्द गुणोऽम्बरम्। पुष्करं गगनं विष्णोः पदं द्यौ रात्रमुच्यते" इत्यभिधानात् नभश्शब्दः उभयलिङ्गः। तेषामुत्तमादित्वे कारणमाह कुशलेति। उक्ता इमा जातयः कुशलादिकर्मणां गतयः फलानि।।४०।।

**रा०कृ०** परः प्रकृतिगुणसम्बन्धविरहितः स भगवान् अकर्मकः सकलव्यापारशून्योऽपि ब्रह्मरूपधृक् ब्रह्मरूपधारी सन् सकर्मा व्यापारसहितश्च सन् वाच्यवाचकतया नामरूपक्रियाः धत्ते वाच्यतया देवादिरूपाणि वाचकतया देवादिनमानि तत्तन्नामरूपानुगुणाः क्रियाश्च सृजति।।३६।।

---

1. A.B. Omit स्थानानि 2. W. adds अपि 3. W. "पौर्वा" 4. A.B. "न्वेकरूपे" 5. W. मध्याः

हे नृप! प्रजापतीन् दक्षप्रभृतीन् मनून् स्वायम्भुवादीन् देवान् इन्द्रादीन् ऋषीन् मरीचिमुख्यान् पितृगणान् अर्यमादीन् सिद्धचारणगन्धर्वान् कपिलादीन् सिद्धान् सुयज्ञप्रभृतीन् चारणान् चित्ररथादीन् गन्धर्वान् विद्याध्रासुरगुह्यकान् सुदर्शनादीन् विद्याधरान् नमुचिमुख्यान् असुरान् कामुकादीन् गुह्यकान् किन्नराप्सरसः किन्नरान् अप्सरसः नागान् सर्वान् किम्पुरुषोरगान् किम्पुरुषान् उरगान् शेषादयो नागाः तक्षकादयस्सर्पाः कुण्डधरादयः उरगा इति विवेकः। मातृरक्षःपिशाचांश्च ब्राह्मीमुख्या मातरः रक्षांसि पिशाचांश्च प्रेतभूतविनायकान् अत्र विनायकपदेन विघ्नविशेषास्सूच्यन्ते। कूष्माण्डोन्मादवेतालान् यातुधानान् रक्षोभेदान् ग्रहानपि बालग्रहादीन् खगान् गरुडादीन् मृगान् पशून् गवादीन् वृक्षान् अश्वत्थादीन् गिरीन् मेरुमुख्यान् सरीसृपान् सहस्रपादादीन् सः भगवान् धत्ते इति पूर्वेणान्वयः। अपि च अन्ये पूर्वोक्तेभ्यः परे ये द्विविधाः स्थावराः जङ्गमाश्च चतुर्विधाः जरायुजाः अण्डजाः स्वेदजाः उद्भिज्जाश्च जलस्थलनभौकसः जलचराः, भूचराः, खेचराश्च वर्तन्ते तानपि स भगवान् धत्ते। कुशलाकुशलाः कुशलाः उत्तमाः, अकुशलाः अधमाः,मिश्रा मध्यमाः ये जीवास्सन्ति ते सर्वेऽपि कर्मणां पुण्यपापमिश्राणां स्वकर्मणां इमाः गतयः फलानि। प्रागुक्तनानाजन्मफलकाः प्रभवन्तीति भावः।।३७,३८,३९,४०।।

**सत्त्वं रजस्तम इति तिस्रः सुरनृनारकाः।**
**तत्राप्येकैकशो राजन् भिद्यन्ते गतयस्त्रिधा।**
**यदैकैकतरोऽन्याभ्यां स्वभाव उपहन्यते।।४१।।**

**स एवेदं जगद्धाता भगवान् धर्मरूपधृक्।**
**पुष्णाति स्थापयन् विश्वं तिर्यङ्नरसुरात्मभिः।।४२।।**

**ततः कालाग्निरुद्रात्मा यत्सृष्टमिदमात्मनः।**
**संनियच्छति कालेन घनानीकमिवानिलः।।४३।।**

**इत्थम्भावेन कथितो भगवान् भगवत्तमः।**
**नेत्थम्भावेन हि परं द्रष्टुमर्हन्ति सूरयः।।४४।।**

**श्रीध०** सत्त्वादिभेदेन कर्मगतिवैचित्र्यं प्रपञ्चयति - **सत्त्वमिति** सार्धेन। सत्त्वादयः तिस्रो गतयः ता एव शृङ्गग्राहिकया दर्शयति सुरनृनारका इति। सुरादिशब्दाः उपलक्षणार्थाः। अन्याभ्यां गुणाभ्यां स्वर्गादीनां स्वभावो गुणः उपहन्यतेऽनुविध्यते। तत्रापि सत्त्वादिगतिषु एकैकशो गतयः।।४१।।

1. M.Ma. "वे' 2. M.Ma. "भो" 3. M.Ma. तदे" 4. B. "धतो 5. H.V.W. "त् 6. H.I.V.W. "हि" 7. B.H.I.M.Ma.V.W. तत्काले 8. A.B. Omit ता एव.....इति 9. A.B. ऋष्यादीनां 10. A.B. Omit तत्रापि.....गतयः

ब्रह्मरूपेण स्रष्टृत्वमुक्त्वा विष्णुरूपेण पालकत्वमाह - **स इति**। स एव भगवान् तिर्यगाद्यवतारैः इदं विश्वं स्थापयन् पालयन्[1] धर्मरूपेण पुष्णाति भोगैः संवर्धयति।।४२।।

रुद्ररूपेण संहर्तृत्वमाह - **तत इति**। आत्मनः सकाशात् यदिदं सृष्टं तत् कालादिरूपेण[2] संनियच्छति संहरति।।४३।।

कर्तृत्वाद्यनुवादेन[3] दशमस्य शुद्धिमाह - **इत्थम्भावेनेति**। भगवान्[4] अतिशयेन भगवान् भगवत्तमः इत्थम्भावेन स्रष्टृत्वादिरूपेण। "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशस्सम्भूतः। सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय" इत्यादिश्रुत्या प्रतिपादितः[5]। सूरयस्तु परं केवलमेवंरूपेणैव[6] द्रष्टुं नार्हन्ति।।४४।।

**वीर०** एतदेव प्रपञ्चयति - **सत्त्वमिति** सार्धेन। सत्त्वं सात्त्विककर्मफलरूपा देवत्वप्राप्तिरुत्तमा सुखप्राचुर्यात्। रजोगतिः मनुष्यतामिश्रा, नारकशब्दः स्थावराद्युपलक्षकः। तमोगतिर्नारकी[7] नीचेत्यर्थः। तत्रापि सात्त्विकराजसतामससुरनृनारकासु गतिष्वपि यदैकैकतरः सात्त्विकादिः स्वभावः इतराभ्यां अवशिष्टाभ्यां स्वभावाभ्यां उपहन्यतेऽनुविध्यतेऽभिभूयते इत्यर्थः। तदा एकैकशः[8] एकैकं त्रिधा गतयः भिद्यन्ते। यथा रजः प्रचुराः एव नराः केचित् केवलरजःप्रचुराः केचित्सत्त्वप्रचुराः केचित्तमःप्रचुराः एवं सात्त्विकतामसा अपि प्रत्येकं त्रिधेत्यर्थः। एतेन यावत्यः कर्मगतयः इत्यस्याप्युत्तरमुक्तं भवति।।४१।।

एवं ब्रह्मान्तर्यामित्वेन स्रष्टृत्वमभिधाय साक्षात्पालयितृत्वमाह - **स इति**। जगद्धाता जगत्स्रष्टा स एव भगवान् तिर्यङ्नरसुरात्मभिः[9] तिर्यञ्चो वराहमीनकच्छपहंसादयः, नराः रामकृष्णादयः, सुराः वामनसुयज्ञादयः एतैरवतारैरिदं विश्वं स्थापयन् पालयन् धर्मरूपधृक्[10] धर्मशरीरकः सन् पुष्णाति संवर्धयति।।४२।।

रुद्रशरीरकत्वेन संहर्तृत्वमाह - **तत** इति। कालाग्निरुद्रात्मा कालाग्निरुद्रः आत्मा शरीरं यस्य सः, कालाग्निरुद्रस्यात्मभूत इति वा। स भगवान् उपादानभूतात् आत्मनः सृष्टं यद्विश्वं तत्काले कल्पान्ते सन्नियच्छति संहरति अनिलो वायुः मेघसमूहमिवेति दृष्टान्तः।।४३।।

जगद्व्यापारस्य जीववत् भगवतः[11] कर्मायत्तत्वमाशङ्क्य नेत्याह - **इत्थमिति**। इत्थम्भावेन प्रकृतस्रष्टृत्वादिभावेन युक्तः[12] भगवत्तमः ज्ञानादिपूर्णतमः भगवान् कथितः सम्यक् प्रतिपादितः सूरयो

---

1. B. Omits पालयत् 2. A.B. Omit कालादिरूपेण 3. A.B. °प° 4. A.B. Omit भावान्.....तमः 5. B.H.V. कथितः 6. H.V. °णद्र° 7. B. °कता 8. W. Omits एकैकशः 9. W. °हि° 10. W. °धृत् 11. A.B. Omit भगवतः 12. A.B. प्रयुक्तः

ब्रह्मविदः इत्यम्भावेन चिदचिद्रूपेण परं केवलं द्रष्टुं नार्हन्ति, किन्तु तद्विलक्षणत्वेन द्रष्टुमर्हन्ति भगवान् भगवत्तम इति च विशेषणद्वयं जीववैलक्षण्यप्रतिपादकं जीवस्याभगवत्वात् तद्व्यापारः कर्मायत्तः परमात्मनः कर्तृत्वं अकर्मायत्तमिति भावः।।४४।।

**विज०** उक्तजातीः त्रिधा विभजति - **सत्त्वमिति**। सत्त्वं रजस्तम इति गुणत्रयहेतुकाः सुरनृनारकाः इति तिस्रः ज्ञेया इत्यन्वयः। सत्त्वहेतुकपुण्यफला सुरगतिः, रजोहेतुकपुण्यपापफला मनुष्यगतिः, तमोहेतुकपापफला नारकी गतिः, अनेन नरकयोग्या असुरा इत्युक्तं भवति। अवान्तर-भेदोऽपि त्रिधेत्याह तत्रापीति। गुणत्रयमूलकर्मभ्यः प्राप्तसुरनरासुरगतयः प्रत्येकं सात्त्विकराजसतामस-तया त्रिधा भवन्ति। तथाहि - कल्पादिप्रधानाः असुराः तामसतामसाः प्रधानासुरभृत्याः तामसराजसाः अप्रसिद्धासुराः तामससात्त्विकाः केवलपापचारिणः मनुष्याः राजसतामसाः मिश्रकर्मकृतो मनुष्याः राजसराजसाः। मनुष्येषु पुण्यैककर्मकृतः उत्तमाः मनुष्याः राजससात्त्विकाः पृथक्प्रसिद्धाः देवाः सात्त्विकतामसाः, अतत्त्वाभिमानिनो लोके ख्याताः सात्त्विकराजसाः, तत्त्वाभिमानिनो देवाः सात्त्विकसात्त्विकाः सात्त्विकेभ्योऽपि सत्त्विकाः गरुडादित्रिकतद्भार्याः, तेभ्योऽपि सात्त्विकी ब्रह्मभार्या सरस्वती, ततोऽपि सात्त्विको ब्रह्मेति भेदः एकैकशः इति शप्रत्ययेन ज्ञायते। तदुक्तं - "तामसास्ता-मसा दैत्या प्रधाना देवशत्रवः" इत्यादिना।।४१।।

एवं जगत्स्वरूपं निरूप्याधुना भगवदवतारावसरमाह - **यदेति**। यदैकतमस्वभावः सात्त्विकः अन्याभ्यां रजस्तमोभ्यामुपहन्यते तदैव तस्मिन्नवसर एव धाता पोषणादिकर्ता वर्णाश्रमधर्मप्रवर्तक-रूपधरः भगवान् तिर्यङ्नरसुरात्मभिः मत्स्यकूर्मवराहरामकृष्णोपेन्द्रादिरूपैः अवतीर्य इदं जगत् सत्त्वेन स्थापयन् पुष्णाति संवर्धयति स्थितं रक्षतीत्यन्वयः। तेषु त्रिष्वेकतमः भावः सात्त्विकतामसः सात्त्विकराजसः सात्त्विकसात्त्विको वा तामसराजसाभ्यामुपहन्यते तदेति वा। यद्वा तैस्तामसादिभिः ते त्रयः सात्त्विकभेदाः बाध्यन्ते तदा वराहादिरूपैरिति वा। तदुक्तं "सात्त्विकेषु त्रिषु यदा त्वेकस्य प्रतिबाधनम्" इत्यादिना।।४२।।

ननु संहारोऽनियतश्चेत्तदुपद्रवेण जगद्रक्षणं दुश्शकं इत्याशङ्क्य स्वनियतरूपभेदेन संहारस्य क्रियमाणत्वात् न तदुपरोधो जगद्रक्षणस्येति ध्वनयति - **तत** इति। ततः स्थित्यनन्तरं प्रलयकाले प्राप्ते कालाग्निरुद्राणामात्मान्तर्यामी स भगवान् आत्मनो ब्रह्मणोन्तर्यामिणः स्वोदरात् यत्सृष्टं जगत् तदिदं सर्वं नियच्छति। कथमिव? अनिलो घनानीकं मेघपटलमिवेत्यन्वयः। तदुक्तं "मत्स्यादिरूपी पोषयति नृसिंहो रुद्रसंस्थितः" इत्यादिना। कालो यमः।।४३।।

उक्तमर्थं प्रमाणयति - **इत्थम्भावेनेति**। भगवन्तो ब्रह्मादयः तेभ्यः अतिशयेनोत्तमो भगवत्तमो भगवानैश्वर्यगुणो नासर्वजगन्नेता परमपुरुषः इत्थम्भावेन सृष्टिस्थितिसंहारादिकर्तृत्वेन सर्वस्माद्भिन्नत्वेन सर्वदोषविवर्जितत्वेन कथितः प्रतिपादितः, श्रुत्यादाविति शेषः। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि। तथा कथने कारणमाह इत्थमिति। सूरयः परं परमात्मानं इत्थम्भावेन सर्ववैलक्षण्येन द्रष्टुमर्हन्ति हि नाभेदज्ञानेन, अतस्तत्कथनं युक्तमिति भावः। यद्वा भगवान् जगत्स्रष्टृत्वादिलक्षणविशिष्टत्वेन कथित इति यत् यस्मात् तस्मात्सूरयः परमार्थदर्शिनः। इत्थम्भावे अचेतसि परं द्रष्टुं नार्हन्तीति न, अर्हन्त्येवेति। अनेन ज्ञानिप्रत्यक्षमपि प्रोक्तार्थे प्रमाणमिति सूचितम्।।४४।।

**रा०कृ०** हे राजन्! सत्त्वं, रजः, तम इति हेतुभ्यः सुरनृनारकाः तिस्रो गतयः भवन्ति। तत्रापि तास्वपि यदा एकैकतरः स्वभावः सात्त्विकादिः अन्याभ्यामवशिष्टाभ्यां स्वेतराभ्यां स्वभावाभ्यां उपहन्यते अभिभूयते तदा एकैकशः त्रिधा भिद्यन्ते ताः तिस्रः गतयः प्रत्येकं त्रिधा भिद्यन्त इत्यर्थः। इदमुपलक्षणं शुद्धसत्त्वा रजोमिश्रसत्त्वा तमोमिश्रसत्त्वा शुद्धरजसी सत्त्वमिश्ररजसी इत्यादयो बह्व्यो गतयः भवन्तीति ज्ञेयाः।।४१।।

जगद्धाता जगत्कर्ता स एव भगवान् धर्मरूपधृक् - अत्र धर्मपदेन धर्मरक्षको विष्णुरुच्यते - विष्णुरूपधारीसन् तिर्यङ्नरसुरात्मभिः तिर्यञ्चो वराहदयः, नराः रामादयः, सुराः वामनादयः - एतदात्मकैः स्वावतारैः इदं विश्वं स्थापयन् स्वमर्यादायां स्थापयन् पुष्णाति पालयति।।४२।।

ततः अनन्तरं स भगवान् कालाग्निरुद्रात्मा कालाग्निः प्रलयकालाग्निः स इव यो रुद्रः तदात्मा प्रलयकालानलतुल्यरुद्ररूपधारी सन्नित्यर्थः। आत्मनः स्वस्मात् स्वेन उपादानकारणीभूतेनेति भावः। यत् सृष्टं इदं विश्वं वर्तते तद्विश्वं अनिलोवायुः घनानीकमिव मेघसमूहमिव कालेन करणभूतेन संनियच्छति उपसंहरति।।४३।।

भगवत्तमः भगवतां समग्रैश्वर्यस्य धर्मयशश्श्रीज्ञानवैराग्याख्यषडैश्वर्यवतां मध्ये उत्कृष्टः भगवान् नारायणः इत्थम्भावेन विश्वस्रष्टृत्वादिरूपेण कथितो हि निरूपितः खलु। सूरयो विवेकिनस्तु परं केवलं मायातीतं भगवन्तं इत्थम्भावेन विश्वस्रष्टृत्वादिरूपेण द्रष्टुं नार्हन्ति किन्तु विशुद्धमेव पश्यन्तीति भावः।।४४।।

**नास्य[1] कर्मणि जन्मादौ परस्यानुविधीयते[2]।**
**कर्तृत्वप्रतिषेधार्थं[3] माययाऽऽरोपितं हि तत्[4]।।४५।।**

**अयं तु ब्रह्मणः कल्पः सविकल्प उदाहृतः।**
**विधिस्साधारणो यत्र सर्गाः प्राकृतवैकृताः।।४६।।**

**परिमाणं च कालस्य कल्पलक्षणविग्रहम्।**
**यथा पुरस्ताद्व्याख्यास्ये[5] पाद्मं कल्पमथो[6] श्रुणु।।४७।।**

**श्रीध०** तत्किम्? **नेति**। यतोऽस्य विश्वस्य जन्मादौ कर्मणि परस्य ईश्वरस्य इत्थम्भावः कर्तृत्वं नास्ति श्रुत्यापि तात्पर्येण न प्रतिपाद्यते, किन्तु अनुविधीयतेऽनुवर्त्यते[7]। किमर्थम्? कर्तृत्वप्रतिषेधार्थम्। हि यतो मायया तत्[8] आरोपितं प्रकाशितम्। यथा[9] च श्रुतयः[10] - "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्", "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इत्याद्याः[11]।।४५।।

उक्तमर्थं उपसंहरति - **अयन्त्विति**। ब्रह्मणः सम्बन्धी कल्पो महाकल्पः[12] विकल्पोऽवान्तरकल्पः[13] तत्सहितः उदाहृतः[14] उदाहरणत्वेन सङ्क्षेपतः उक्तः। कथम्भूतः[15]? यत्र महाकल्पे प्राकृताः महदादिसर्गाः अवान्तरकल्पे च वैकृताः स्थावरादिसर्गाः इत्ययं विधिः प्रकारः अन्यैः महाकल्पादिभिः साधारणः।।४६।।

वक्ष्यमाणं विस्तरं प्रतिजानीते - **परिमाणमिति**। परिमाणं स्थूलं सूक्ष्मं च कल्पस्य लक्षणमियानेवंरूपं[16] इति तद्विग्रहमवान्तरकल्पं मन्वन्तरादिरूपं तद्विभागं[17] च यथावद्विस्तरेण पुरस्तात्तृतीयस्कन्धे व्याख्यास्यामि[18]। तत्र च[19] "पाद्मं कल्पमथो" इति कार्त्स्न्येन व्याख्यायमानं श्रुणु।।४७।।

**वीर०** ननु "स एव सृज्यः स च सर्गकर्ता" "यो मामजमनादिं च" "तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्" इत्यादिना सृज्यत्वमसृज्यत्वं कर्तृत्वमकर्तृत्वं चावगम्यते[20] तत्कथं घटत इत्याशङ्क्य विधिनिषेधयोः विषयव्यवस्थां[21] दर्शयति - **नेति**। अस्य जगतः कर्मणि सृष्टौ परस्य परमात्मनः जन्मादिर्नानुविधीयते परमात्मा न स्वरूपेण सृज्यः अपि तु सृज्यवस्त्वन्तरात्मतया तद्विशिष्टत्वात् सृज्य इत्युच्यते तस्मादजत्वं स्वरूपेण, सृज्यत्वं तु सद्वारकमित्यविरोधः इत्यर्थः। कर्तृत्वाकर्तृत्वविरोधं

---

1. M.Ma. न चास्य जन्मकर्माणि 2. M.Ma. °स्य न 3. M.Ma.W. °त्वं 4. W. य° 5. M.Ma.W. य° 6. M.Ma.W. °मिमं 7. A. °नुवर्ण्यते; B. °नूद्यते 8. A. Omits तत् 9. B.H.V. तथा 10. B.H.V. °तिः 11. B.H.V. °द्या 12. H.V. Omit महाकल्पः 13. A.B. °न्तरः तत्स° 14. A. Omits उदाहृतः 15. H.V. Omit कथम्भूतः 16. H.V. °णं नेह निरूपतति तद्वि° 17. A.B. विभा° 18. H.V. Omit व्याख्यास्यामि 19. A. Omits च 20. A.B. बाऽव° 21. A.B. °स्थानं च द°

परिहरति कर्तृत्वमिति। मायया प्रकृत्या जीवेष्वारोपितं प्राकृतकरणकलेबरसापेक्षं जीवगतकर्तृत्वं यत्तदेव प्रतिषेधार्थं प्रतिषेधविषयपरं[1] सङ्कल्पमात्रेण कर्तृत्वं तु विधीयते इत्यविरोध इत्यर्थः। कामाच्च नानुमानापेक्षेति प्रकृत्यधीनकर्तृत्वाभावो हि सूत्रितः प्रतिषेधार्थमित्यत्रार्थशब्दः विषयपरः "अर्थस्याद्विषये मोक्षे" इति प्रसिद्धेः। कर्मणि जन्मादौ परस्यानुविधीयते[2] कर्तृत्व प्रतिषेधार्थमित्यपि पाठः। तस्यायमर्थः - ननु जीवविलक्षणत्वेन पश्यन्तीत्युक्तं कथमेतदुपपद्यते? जीववत् अस्यापि जन्मकर्मादिदर्शनात् इत्यत आह - **नास्येति**। अस्य चिदचिदात्मकप्रपञ्चस्य जन्मादौ कर्मणि च यद्वा जन्मादिरूपे कर्मणि सत्यनुसृत्य प्रपञ्चानुसारिजन्मादिकमित्यर्थः। परस्य[3] परमात्मनो न विधीयते प्रपञ्चवत्कर्मायत्तजन्मादिकं परमात्मनो न विधीयते न प्रतिपाद्यते "अजायमानो बहुधा विजायते" इत्यादिवेदान्तवाक्यैरिति शेषः। परमात्मनो जन्मादिकं अकर्मायत्तमिति कुतोऽवगम्यते इत्यत्र[4] आह कर्तृत्वेत्यादिना। हि यस्मात्तज्जन्मकर्मादिकं मायया स्वकीयसङ्कल्परूपज्ञानेन "मायावयुनं ज्ञानम्" इति ज्ञानपर्यायोऽत्र मायाशब्दः "मायया सततं वेद्मि प्राणिनां च शुभाशुभम्" इति प्रयोगाच्च। कतृत्वप्रतिषेधार्थं कर्मायत्तकर्तृत्वस्य प्रतिषेधार्थं प्रतिषेधायारोपितं, स्वस्मिन्निति शेषः। मदीयजन्मकर्मादिकं जीववन्नकर्मायत्तमिति प्रदर्शनाय स्वेच्छयैव स्वस्मिन् दैवमानुषजन्मकर्मादिकमारोपितं परिगृहीतमित्यर्थः[5]। तथा च भगवतैव[6] गीयते "अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया" इति।।४५।।

पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य इत्यादिनोक्तमर्थमुपसंहरति - **अयन्त्विति**। ब्रह्मणः अयं कल्पः महाकल्पः सविकल्पः अवान्तरकालविभागवानुदाहृतः[7] दिङ्मात्रत्वेनोक्तः[8]। अस्मिन् कल्प इव कल्पान्तरेऽपि सृष्टिरित्याह विधिरिति। यत्र महाकल्पे प्राकृताः महदादिपृथिव्यन्ताः सर्गाः वैकृताः पृथिव्यादिविकारैरारब्धाः[9] सर्गाः इत्ययं विधिः प्रकारः अन्यैर्महाकल्पादिभिः साधारणः समानः। एतेन "पुरुषावयवैर्लोकाः सपालाः पूर्वकल्पिताः" इत्यादिनोद्भावितः "धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इत्यादिश्रुतिविरोधःपरिहृतः। पुरुषावयवानां लोकानां चोपासनार्थं मिथस्तादात्म्योपदेशेऽपि प्रतिकल्पं सृष्टैरैकरूप्ये विरोधाभावत्।।४६।।

वक्ष्यमाणं सविस्तरं प्रतिजानीते - **परिमाणमिति**। कालस्य परिमाणं सूक्ष्मं स्थूलं च परिमाणं कल्पस्य लक्षणमियानेवंरूप इत्येवं रूपं लक्षणं विग्रहमवान्तरकल्पं मन्वन्तरादिरूपं च यथा यथावत् पुरस्तात्तृतीयस्कन्धे[10] व्याख्यास्ये विस्तरेण[11] कथयिष्ये। तत्रैव[12] पाद्मं कल्पमपि[13] कार्त्स्न्येन व्याख्यायमानं श्रृण्वित्यर्थः।।४७।।

---

1. W. यः सङ्क° 2. W. "स्य न वि" 3. A.B. Omit परस्य 4. A.B. "त 5. A.B. गृहीतं 6. W. Omits भगवतैव 7. W. "र्य" 8. W. "नोदाहृतः 9. W. "कारारब्धाः 10. W. "त्स" 11. W. Omits विस्तरेण कथयिष्ये 12. A.B. Omit तत्रैव 13. A.B. "मथो

**विज०** अत्रोच्यमानं जन्मादिकर्तृत्वं मायामयं किं न स्यादत्राह - **न चेति**। अस्य परस्य कर्तृत्वं जन्मकर्माणि यथा जीवानां बन्धस्य प्रतिषेधार्थं भवन्ति, तथा न विधीयते इति न वेदादौ कर्तृत्वं जन्म कर्म च विधीयत एव। अतो मायया स्वेच्छया आरोपितं नित्यारूढम्। स्वरूपाविभिन्नत्वात् कर्तृत्वं न अनिर्वाच्यम्। "प्रतिषेधाय बन्धस्य जीवानां परमेशितुः। स्वेच्छयैव तु कर्तृत्वं नित्यारूढं चिदात्मकम्" इति वचनात् रुप उपरि इति धातोः सुभद्रां रथमारोप्येति प्रयोगाच्च। "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इति चानेन मायाशब्दस्य इच्छार्थत्वं न मिथ्यार्थत्वमित्युक्तं भवति। हिशब्देन निरस्तकुहकमिति पूर्वोक्तं सूचयति।।४५।।

**सम्प्रत्युक्तब्रह्मकल्पेन** अन्यब्रह्मकल्पानां साधारण्यमाह - **अयमिति**। अयं ब्रह्मणः प्रथमः कल्पः तवोदाहृतः, मयेति शेष इत्यन्वयः। कीदृशः? सविकल्पः मन्वन्तरादिविविधकल्पेन सहितः। यत्र ब्रह्मकल्पे अन्यब्रह्मकल्पानामन्यकल्पानां च साधारणः समानः विधिः यत्र च प्राकृतवैकृताः सर्गास्सन्तीत्यर्थः। अनेन प्राकृतादिसर्गकथनं साधारण्ये करणमित्युक्तं भवति।।४६।।

श्रोतृप्रवृत्त्यर्थमुत्तरस्कन्धार्थं प्रतिजानीते - **परिमाणमिति**। कल्पानां लक्षणानि विग्रहं इयत्तां च कल्पलक्षणस्वरूपं वा परस्तात्पश्चात् यथा यथावत् व्याख्यास्ये प्रथमत इमं पाद्मं कल्पं श्रुण्वित्यन्वयः।।४७।।

**रा०कृ०** अस्य विश्वस्य जन्मादौ सृष्टिस्थितिसंहाररूपे कर्मणि परस्य परमेश्वरस्य न प्रागुक्तः इत्थम्भावः कर्तृत्वं नास्ति। किन्तु कर्तृत्वप्रतिषेधार्थं कर्तृत्वस्य निषेधार्थं अनुविधीयते तत् कर्तृत्वं केवलं अनुवर्ण्यते। हि कुत इति चेत् तत् गुणगतं कर्तृत्वं मायया आरोपितं परमेश्वरे आरोपितम्।

ननु विश्वजन्मादौ सर्वशक्तिमतः परमेश्वरस्य कर्तृत्वं यदि नास्ति तर्हि कस्य वा अन्यस्य स्वल्पशक्तिमतः तद्भवति? कर्तृत्वप्रतिषेधार्थं कर्तृत्वमेव तस्य कथमनुविधीयते? गुणगतं च जन्मादिकर्तृत्वं मायया परमेश्वरे कथं वाऽऽरोपितं भवति? उच्यते - सर्वस्य हि जीवस्य मनोऽस्ति मनश्च बहुविधाः भावनाः कुरुते, मनःकल्पितानां भावनानां जीवः कारणं नैव भवति। तथापि मनस्समाश्रयत्त्वात् जीवस्य भावनाहेतुत्वं प्रकल्प्यते। एवमेव परमेश्वरस्य क्रीडासाधनी दृश्यादृश्योभयात्मकस्य कृत्स्नस्यैव प्रपञ्चस्य परमेश्वरत्वप्रतिपादिका मायाशक्तिः विश्वजन्मादौ कारणं भवति। तथापि मायानियामकत्वादीश्वरस्य विश्वजन्मादिकर्तृत्वं कल्प्यते।

एवं परमेश्वरस्य कर्तृत्वप्रतिषेधार्थमेव कर्तृत्वानुविधानमपि युज्यते। प्राप्तिपूर्वको हि निषेधः। मायानियामकत्वेन प्राप्ता परमेश्वरस्य विश्वजन्मादिकर्तृता च परमार्थपर्यालोचनया मायाकल्पितेत्येव निश्चीयते।

---

1. A.B. Omit यथा

किञ्च गुणगतमपि जन्मादिकर्तृत्वं मायागुणगतत्वाविशेषं सत् मायानियामके परमेश्वरे समारोपितं भवतीति सर्वमनवद्यम्। उक्तं च भगवता स्वयमेव स्वस्य सर्वातीतत्वं गीतासु "त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः एभिस्सर्वमिदं जगत्। मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्"(भ.गी.7-13) इति।।४५।।

यत्र यस्मिन् ब्रह्मकल्पे प्राकृतवैकृताः सर्गाः प्राकृताः महदादिपृथिव्यन्ताः सर्गाः वैकृताः पृथिव्यादिविकारारब्धाः स्थावरादिसर्गाश्च इत्ययं विधिः प्रकारः साधारणः। अन्यैर्महाकल्पैः साधारणः समानः सोऽयं तु सविकल्पः अवान्तरकल्पविभागसहितः ब्रह्मणः कल्पः उदाहृतः सङ्ग्रहेण कथितः।।४६।।

कालस्य परिणामं कल्पलक्षणविग्रहं च कल्पस्य लक्षणं स्वरूपं विग्रहं च मन्वन्तरादिरूपं विभागञ्च यथा याथातथ्येन पुरस्तात् अग्रे तृतीयस्कन्धे इत्यर्थः व्याख्यास्ये कथयिष्यामि। एतत्सर्वमपि पाद्मकल्पेऽस्ति। अतः पाद्मं कल्पमथो सामस्त्येन कथ्यमानं श्रुणु।।४७।।

**शौनक उवाच**

**यदाह नो भवान्[1] सूत क्षत्ता भागवतोत्तमः।**
**चचार तीर्थानि भुवस्त्यक्त्वा बन्धून् सुदुस्त्यजान्।।४८।।**

**कुत्र[3] कौषारवेस्तस्य संवादोऽध्यात्मसंश्रितः[4]।**
**यद्वा स भगवांस्तस्मै पृष्टस्तत्त्वमुवाच ह।।४९।।**

**ब्रूहि नस्तदिदं सौम्य! विदुरस्य विचेष्टितम्।**
**बन्धुत्यागनिमित्तं च यथैवागतवान् पुनः।।५०।।**

**सूत उवाच**

**राज्ञा परीक्षिता पृष्टो यदवोचन्महामुनिः[7]।**
**तद्वोऽभिधास्ये श्रुणुत राज्ञः[8] प्रश्नानुसारतः।।५१।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
द्वितीयस्कन्धे दशमोऽध्यायः।।१०।।

---

1. H.V. यथासौ भगवान्; W. यथाह भगवान् 2. AF.GF. कृत्स्नं च दुस्त्यजं 3. I. क्षत्तृ 4. AF.GF. सश्रयः; M.Ma. सम्भवः 5. N. बु" 6. A.E.G.N. तं" 7. M.Ma. "वादी" 8. H.V. "जन्न"

**श्रीध०** यदर्थं सृष्ट्यादिनिरूपणं तदेव साक्षाच्छ्रोतुकामः कथान्तरं पृच्छति - यदाहेति। क्षत्ता विदुरः भुवः सम्बन्धीनि तीर्थानि यद्वा भुवः क्षेत्रणि चेति।।४८।।

**कुत्रेति**। कौषारवेः मैत्रेयस्य तस्य क्षत्तुश्च अध्यात्मज्ञानसंश्रितः संवादः परमात्मविषयक इत्यर्थः।।४९।।

**ब्रूहीति**। पुनरागतवांस्तत्र च निमित्तं ब्रूहि।।५०।।

**राज्ञेति**। राज्ञा पृष्ट इति। अयमर्थः यत् यूयं पृच्छथ इदमेव राजाऽपि शुकं पृष्टवान् शुकोऽपि विदुरमैत्रेयसंवादं पुरस्कृत्य ये पूर्वं राज्ञा कृताः प्रश्नाः तदनुसारेणैव सर्वं पुराणार्थमवोचत् तदेवाहं वोऽभिधास्यामि। तथैव श्रुणुतेति।।५१।।

* श्रीमद्भागवतं येन स्वब्रह्ममुखतो मितम्। ब्रह्मनारदयोः प्रोक्तं तं वन्दे गुरुमीश्वरम्।।१।।
यत्सूत्रयन्त्रितं विश्वं नरीनर्ति जगन्नयम्। सन्तस्तमेव पृच्छन्तु यदत्र स्खलितं मम।।२।।
द्वितीयस्कन्धसम्बन्धि पदभावार्थदीपिका। उद्दीप्यतामियं सद्भिर्यथा स्यात्तत्त्वदीपिका।।३।।
ईक्षन्तामिच्छया सन्तः क्षमन्तां मम साहसम्। मया हि स्वीयबोधाय कृतमेतत्र सर्वतः।।४।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
द्वितीयस्कन्धे दशमोऽध्यायः।।१०।।

**वीर०** एवं स्थिते शौनकः "इत्यभिव्याहृतं राजा निशम्य भरतर्षभ" इत्यादिना स्वकृतस्य राजकृतप्रश्नस्य "वैयासकेरिति वचस्तत्त्वानिश्चयमात्मनः" इत्यादि सूतेनोक्तं शुकोक्तमुत्तरं श्रुत्वा पुनरपि राजकृतप्रश्नानामेव शुकोक्तान्युत्तराणि विदुरमैत्रेयसंवादरूपेण श्रोतुकामः पृच्छति - यथेति त्रिभिः। हे सूत! भागवतश्रेष्ठ! भगवान् "उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् वेत्ति विद्यामविद्यां च" इत्युक्त-गुणसम्पन्नो योऽसौ क्षत्ता विदुरः सुदुस्त्यजान् त्यक्तुमशक्यान् बन्धून् त्यक्त्वा भुवः पृथिव्याःसम्बन्धीनि तीर्थानि चचार।।४८।।

तस्य विदुरस्य कौषारवेर्मैत्रेयस्य च कुत्र प्रदेशेऽध्यात्मसम्मत आत्मवित्सम्मतः संवादोऽभूत्। पृष्टो विदुरेण पृष्टः स भगवान् मैत्रेयः तस्मै विदुराय यद्वा यदेव तत्त्वमुवाच तन्नो ब्रूहीत्युत्तरेणान्वयः।।४९।

1. H.V. यथेति 2. A.B. Omit क्षत्ता विदुरः 3. H.V. Omit चेति 4. A.B. Omit पर.....इत्यर्थः। 5. H.V. °ण सर्वं *H.V. Omit श्रीमद्भागवतं.....स्खलितं मम।।२।। 6. H.V. °पनम् 7. H.V. °उपि 8. H.V. ग° 9. A.B. °दिना 10. W. Omits त्रिभिः 11. W. Omits प्र° 12. W. Omits आत्मवित्सम्मतः 13. W. Omits तन्नो.....न्वयः

तदिदं तत्त्वं सौम्य! हे सूत! विदुरस्य विचेष्टितं बन्धुत्यागे निमित्तं च यत् तदपि पुनर्यथा येन प्रकारेणागतवान् तं प्रकारञ्च नोऽस्मभ्यं ब्रूहीत्यर्थः।।५०।।

सूतस्तु भवत्पृष्टमेव राज्ञा श्रीशुकं प्रति पृष्टमतः शुकोक्तमेव भवदीय प्रश्नस्याप्युत्तरमित्याह - **राज्ञेति**। परीक्षिता राज्ञा आसमन्तात्पृष्टो महामुनिः श्रीशुकः यन्मैत्रेयोक्तमवोचत्तदेव राजप्रश्नानुसारतः राजप्रश्नानुक्रमेण वो युष्मभ्यमभिधास्ये कथयिष्ये श्रुणुत श्रवणं कुरुतेत्यर्थः। यूयमिति शेषः।।५१।।

इति श्रीवत्सान्वयपयःपारावारराकासुधाकरस्य सर्वविद्यानिधेः चक्रवर्तिनः
श्रीशैलगुरोः सुतेन तच्चरणकमलपरिचर्या प्रसादिततत्सूक्तिसमधिगत
श्रीमद्भागवतार्थहृदयेन श्रीवैष्णवदासेन श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां
श्रीमद्भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां श्रीमद्भागवतव्याख्यायां द्वितीयस्कन्धे दशमोऽध्यायः।।१०।।

**विज०** अस्य ग्रन्थस्य शुकशिष्यसुतशौनकसंवादत्वं स्पष्टयन् शौनकप्रश्नप्रकारमाह - **यदाहेति**। "विदुरस्तीर्थयात्रायां मैत्रेयादात्मनो गतिम्" इत्यादिना क्षत्ता बन्धून् त्यक्त्वा भुवः तीर्थानि चचार। तत्र तीर्थसञ्चरणसमये मैत्रेयादात्मज्ञानं चापेति यद्भवानाह।।४८।।

ततः किं तत्राह - **कुत्र** इति। तस्य विदुरस्याध्यात्मसम्भवः आत्मनां पुरुषाणामधिकस्य हरेः कथायाः सम्भवो यस्मात् स तथा। यद्वा आत्मानं शरीरमधिकृत्य वर्तमानं देहेन्द्रियादितद्विषयः विदुरेण पृष्टः स भगवांस्तस्मै विदुराय यद्वा तत्त्वमुवाच ह। हेत्यनेन ग्रन्थान्तरप्रसिद्धिमाह "प्रत्यारम्भे प्रसिद्धौ ह" इति यादवः।।४९,५०।।

तत्र सूतः शौनकप्रश्नपरिहारप्रकारं प्रतिजानीते - **राज्ञेति**। यत्समाधानं राज्ञः प्रश्नानुसारत इति पुनरुक्त्या प्रश्नयोरेकविषयत्वेन परिहारोऽपि तदविनाभूत इति तत्प्रश्नप्रतिवचनमपि युष्मत्प्रश्नप्रतिवचनमेवेति दर्शयति।।५१।।

द्वितीयस्कन्धगा ह्येषा पदरत्नावलीमया। स्वर्पिता चरणाम्भोजे पद्मनाभस्य भासताम्।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
द्वितीयस्कन्धे दशमोऽध्यायः।।१०।।

---

1. A.B. "क्तिरेव 2. A. Omits राज.....रतः 3. W. "श्रुक्र" 4. W. Omits कथयिष्ये 5. W. Omits श्रव.....शेषः 6. A.B. उक्तः तत्प्रश्न"

**रा०कृ०** हे सूत! भागवतोत्तम! क्षत्ता विदुरः सुदुस्त्यजान् त्यक्तुमशक्यान् बन्धून् त्यक्त्वा भुवः भूमेः सम्बन्धीनि तीर्थानि चचार अचरत् इति भवान् यत् यं प्रति नः अस्मभ्यं आह उक्तवान् तस्य कुत्र संवाद इति अग्रिमेण श्लोकेनान्वयः।।४८।।

तस्य विदुरस्य कौषारवेः मैत्रेयस्य च अध्यात्मसंश्रितः अध्यात्मज्ञानविषयकः संवादः सम्भाषणं कुत्र कस्मिन् स्थाने, अभूदिति शेषः। भगवान् सः मैत्रेयश्च पृष्टः विदुरेण पृष्टस्सन् तस्मै विदुराय यत् तत्वं वा उवाच ह उक्तवान् तन्नो ब्रूहीत्यग्रिमश्लोकेनान्वयः।४९।।

हे सौम्य! सौम्यस्वभाव! सूत! तदिदं तत्त्वं विदुरस्य विचेष्टितं तीर्थाटनादिकं तस्य बन्धुत्यागनिमित्तञ्च बन्धुत्यागे कारणञ्च तथैव पुनः कथमागतवान् बन्धून् समागतवान्? इत्येतत् सर्वं नः अस्मभ्यं ब्रुहि।।५०।।

राज्ञा परीक्षिता पृष्टः अस्मिन् विदुरमैत्रेयसंवादविषये पृष्टः महामुनिः श्रीशुकः यदवोचत् यत्समाधानमुक्तवान् तत् राज्ञः परीक्षितः प्रश्नानुसारतः प्रश्नानुसारेण वः युष्मभ्यं अभिधास्ये कथयिष्यामि श्रुणुत सावधानमाकर्णयत।।५१।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीराधाकृष्णप्रणीतायां सुधीसुधायां व्याख्यायां
द्वितीयस्कन्धे दशमोऽध्यायः।।१०।।

**द्वितीयस्कन्धस्समाप्तः**

oooOooo

# श्रीमद्भागवत द्वितीयस्कन्धस्थश्लोकपादानुक्रमणिका

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **अ** | | | |
| अकामः पुरुषं परम् | 3 | 9 | d |
| अकामः सर्वकामो वा | 3 | 10 | a |
| अजः सृजति भूतानि | 8 | 9 | a |
| अणीयसा विरजेनात्मनैकः | 2 | 25 | b |
| अण्डं निर्भिद्य निर्गतः | 5 | 35 | b |
| अतप्यत स्माखिललोकतापनं | 9 | 8 | c |
| अतः कविर्नामसु यावदर्थः | 2 | 3 | a |
| अतःपरं सूक्ष्मतमम् | 10 | 38 | a |
| अत्र प्रमाणं हि भवान् | 8 | 25 | a |
| अत्र सर्गो विसर्गश्च | 10 | 1 | a |
| अत्रे रपत्य मभिकाङ्क्षत आहतुष्टो | 7 | 4 | a |
| अथाभिधेह्यङ्गमनोऽनुकूलं | 2 | 25 | a |
| अथो अनन्तस्य मुखानलेन | 2 | 26 | a |
| अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसत् | 2 | 12 | a |
| अधिदैव मथाऽध्यात्मम् | 10 | 14 | a |
| अधिभूत मिति प्रभुः | 10 | 14 | b |
| अधीतवान् द्वापरादौ | 1 | 8 | c |
| अध्यक्षोऽवस्थितो गुहाम् | 9 | 24 | b |
| अध्यर्हणीयासन मास्थितं परं | 9 | 16 | a |
| अनन्तवीर्यःश्वसितं मातरिश्वा | 1 | 33 | c |
| अनादिमध्यनिधनं | 10 | 34 | c |
| अनुक्तमिष्ये त इमान् सुपेशान् | 6 | 45 | d |
| अनुप्रणान्ति यं प्राणाः | 10 | 16 | a |
| अनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः | 9 | 10 | d |
| अन्तकालेतु पुरुषः | 1 | 15 | a |
| अन्तराजायते प्रभोः | 10 | 17 | b |
| अन्तर्भवायानुपलक्ष्यवर्त्मने | 4 | 12 | d |
| अन्तर्महार्णव उपागत मादिदैत्यं | 7 | 1 | c |
| अन्तश्शरीर आकाशात् | 10 | 15 | a |
| अन्तस्सरस्युरुबलेन पदे गृहितो | 7 | 15 | a |
| अन्तस्तिलोक्या स्त्वपरः | 6 | 19 | c |
| अन्तर्हितेन्द्रियार्थाय | 9 | 38 | a |
| अन्तेत्वधर्महरमन्यु वशासुराद्याः | 7 | 39 | c |
| अन्ते नारायण स्मृतिः | 1 | 6 | d |
| अन्नाद्यकाम स्त्वदिदितिं | 3 | 4 | a |
| अन्यत्र कुपितात् द्विजात् | 8 | 26 | d |
| अन्यस्मात् सदसच्च यत् | 7 | 50 | d |
| अन्ये च ये प्रेतपिशाचभूत | 6 | 43 | e |
| अन्ये च विविधा जीवा | 6 | 14 | a |
| अन्ये च शाल्वकपि बल्वलद- | 7 | 34 | c |
| अन्वयव्यतिरेकाभ्यां | 9 | 35 | c |
| अपश्यता मात्मतत्त्वं | 1 | 2 | c |
| अपानन्त मपानन्ति | 10 | 16 | c |
| अपां वीर्यस्य सर्गस्य | 6 | 7 | a |
| अपोऽस्रक्षीच्छुचि श्शुचिः | 10 | 10 | d |
| अप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दं | 3 | 29 | b |
| अप्रजानां य आश्रमाः | 6 | 19 | h |
| अभूत्स्पर्शगुणोऽनिलः | 6 | 26 | h |
| अभ्यसेन्मनसाशुद्धं | 9 | 17 | a |
| अमुनी भगवद्रूपे | 10 | 35 | a |
| अमृतंक्षेम मभयं | 6 | 18 | c |
| अम्भसोगन्धवानभूत् | 5 | 29 | b |
| अम्लानलक्ष्म्या वनमालया- | 2 | 10 | d |
| अयजन् व्यक्तमव्यक्तं | 6 | 28 | c |
| अयन्तु ब्रह्मणः कल्पः | 10 | 46 | a |
| अवतारानुचरितं(यदा०) | 8 | 17 | c |
| अवतारानुचरितं (हरे०) | 10 | 5 | a |
| अविक्लवस्ते परिकर्मणिस्थितो | 9 | 29 | c |
| अविज्ञाय परं मत्तः | 5 | 10 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अव्यक्तं निर्विशेषणम् | 10 | 34 | b | आत्मनोऽयन मन्विच्छन् | 10 | 10 | c |
| अव्यक्तमाहु हृदयं मनश्च | 1 | 34 | c | आत्मन् भावयसे तानि | 5 | 5 | a |
| अव्यक्तरससिन्धूनां | 6 | 10 | a | आत्मन् यदृच्छया प्राप्तं | 5 | 21 | c |
| अव्यलीकव्रतादृतः | 9 | 4 | d | आत्मप्रसाद उत यत्र गुणेष्वस- | 3 | 12 | b |
| अव्युच्छिन्नेन चेतसा | 1 | 19 | b | आत्मभावं दृढं गतः | 4 | 4 | d |
| अश्वाश्वतर्युष्ट्रगजा नखानि | 1 | 35 | c | आत्ममाया मृते राजन् | 9 | 1 | a |
| अश्विनो रोषधीनाञ्च | 6 | 2 | c | आत्मवित्सम्मतः पुंसां | 1 | 1 | c |
| अष्टभिर्बहि रावृतम् | 10 | 33 | d | आत्मशक्ति मवष्टभ्य | 5 | 5 | c |
| अष्टधिपत्यं गुण्सन्निबाये | 2 | 22 | c | आत्मसैन्येष्वसत्स्वपि | 1 | 4 | b |
| असम्भवायाखिलसत्त्वमूर्तये | 4 | 13 | b | आत्माऽऽत्मन्यात्मनाऽऽत्मानं | 6 | 38 | c |
| अस्तु ते मदनुग्रहात् | 9 | 31 | d | आत्मानं क्रीडयन् क्रीडन् | 4 | 7 | e |
| अस्मत्प्रसादसुमुखः कलया कले- | 7 | 23 | a | आत्मानञ्च दिदृक्षतः | 10 | 21 | b |
| अस्मिन्विधूय कपिलस्य मतिं | 7 | 3 | d | आत्मान मङ्गशिरसा हरये- | 7 | 18 | d |
| अहं बुद्धयेऽनुशासितः | 5 | 8 | d | आत्मान मातान्यवरुध्य धीरो | 2 | 16 | c |
| अहं भवान् भवश्चैव | 6 | 12 | a | आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः | 2 | 6 | b |
| अहंभवो यज्ञ इमे प्रजेशाः | 6 | 42 | a | आत्मा यथा स्वप्रजनेक्षितैकः | 1 | 39 | b |
| अहं मासं महात्मनः | 6 | 22 | b | आत्माऽहं तपसोऽनघ | 9 | 22 | d |
| अहमेवाऽऽसमेवाग्रे | 9 | 32 | a | आदान मुभयाश्रयम् | 10 | 24 | d |
| अह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमे- | 7 | 31 | c | आदाय तत्र विजहार ह वेदमा- | 7 | 12 | d |
| **आ** | | | | आदित्सो रन्नपानानाम् | 10 | 29 | a |
| आकूतिसूनुरमरानथ दक्षिणायाम् | 7 | 2 | b | आदौ सनात्स्वतपस स्स चतु- | 7 | 5 | b |
| आख्यानु मुपचक्रमे | 8 | 29 | d | आधोऽवतारः पुरुषः परस्य | 6 | 41 | a |
| आख्यानं यदधीतवान् | 1 | 9 | d | आधिपत्यकाम स्सर्वेषाम् | 3 | 6 | c |
| आगते गतसाध्वसः | 1 | 15 | b | आपीयतां कर्णकषाय शोषान् | 6 | 45 | c |
| आण्डकोशे शरिरेऽस्मिन् | 1 | 25 | a | आपोऽस्यतालूरस एव जिह्वा | 1 | 30 | d |
| अतिष्ठत् स्वार्थकाम्यया | 9 | 39 | d | आपशिखाधृतवतो विबुधाधिप- | 7 | 18 | b |
| आत्मजायासुतागार | 4 | 2 | a | आभासश्च निरोधश्च | 10 | 7 | a |
| आत्मतत्त्वनिदर्शनम् | 5 | 1 | d | आभीरकङ्कायवताः खसादयः | 4 | 18 | b |
| आत्मतत्त्वविशुद्धयर्थं | 9 | 4 | a | आयुर्मानञ्च य त्सतः | 8 | 12 | d |
| आत्मनस्तञ्जिघृक्षतः | 10 | 22 | b | आयुर्हरति वै पुंसाम् | 3 | 17 | a |
| आत्मन स्सहशक्तिभिः | 10 | 6 | b | आयुश्चवेदमनुशास्त्यवतीर्यलोके | 7 | 21 | d |
| आत्मनोन्यरुणद्धरिः | 9 | 37 | d | आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ | 3 | 5 | a |
| आत्मनो बन्धमोक्षौ च | 8 | 22 | c | आराधितो भगवान् वासुदेवः | 2 | 22 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| आविर्हितस्त्वनुयुगं सहिसत्यव- | 7 | 36 | c |
| आशु सम्पद्यते योगः | 1 | 21 | c |
| आश्रयं भद्रमीक्षतः | 1 | 21 | d |
| आसन् कुक्ष्यन्त्रनाडयः | 10 | 29 | b |
| आसिसृप्सोः पुरः पुर्याः | 10 | 28 | a |
| आसीदम्भो रसात्मकम् | 5 | 28 | b |
| आसीद्यदुदरात् पद्मं | 8 | 8 | a |
| आस्थाय योगं निपुणं समाहितः | 6 | 34 | c |
| आहेदमादिपुरुषाखिललोकनाथ | 7 | 15 | c |
| आनन्दमानन्दमयोऽवसाने | 2 | 31 | b |
| आनुपूर्व्येण तत्सर्वम् | 8 | 29 | c |
| **इ** | | | |
| इक्षवाकुरेलमुचुकुन्द विदेहगाधि | 7 | 44 | a |
| इक्ष्वाकुवंश अवतीर्यगुरोर्निदेशे | 7 | 23 | a |
| इच्छता मकुतोभयम् | 1 | 11 | b |
| इति तेऽभिहितं तात | 6 | 32 | a |
| इति लोकमयः पुमान् | 5 | 41 | d |
| इति वा लोककल्पना | 5 | 42 | d |
| इति सङ्कल्प्य वर्णय | 7 | 52 | d |
| इति सम्भृतसम्भारः | 6 | 27 | a |
| इतिहास पुराणयोः | 8 | 20 | d |
| इत्थं भावेन कथितो | 10 | 44 | a |
| इत्थं मुनिस्तुपरमेद् व्यवस्थितो | 2 | 19 | a |
| इत्यभिव्याहृतं राजा | 3 | 13 | a |
| इत्युपामन्त्रितो राजा | 4 | 11 | a |
| इदञ्च देवयजनं | 6 | 23 | c |
| इदं भगवतं नाम (पुराणं) | 1 | 8 | a |
| इदं भगवतं नाम (यन्मे) | 7 | 51 | a |
| इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु | 3 | 2 | c |
| इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः | 1 | 29 | a |
| इन्द्रियाणि दशाऽभवन् | 5 | 31 | b |
| इयत्तावयवैः पृथक् | 8 | 8 | d |
| इया नसावीश्वरविग्रहस्य | 1 | 38 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| इष्टापूर्तस्य काम्यानां | 8 | 21 | c |
| इहानिःश्रेयसोदयः | 3 | 11 | b |
| **ई** | | | |
| ईक्षयैवाभिचोदितः | 5 | 17 | d |
| ईक्षेत चिन्तामय मेन मीश्वरं | 2 | 12 | c |
| ईजिरे ऋषयोऽपरे | 6 | 29 | b |
| ईशस्य केशा न्विदुरम्बुवाहान् | 1 | 34 | a |
| ईश्वर स्यानुमोदतः | 7 | 53 | b |
| **उ** | | | |
| उच्चाटयिष्य दुरगं विहरन् हृदि- | 7 | 28 | d |
| उत्तमश्लोकलीलया | 1 | 9 | b |
| उत्तमश्लोकवार्तया | 3 | 17 | d |
| उत्सर्गं उभयाश्रयः | 10 | 27 | d |
| उत्सिसृक्षो धातुमलं | 10 | 27 | a |
| उदपद्यत तेजो वै | 5 | 27 | c |
| उदरं विदितं पुंसः | 6 | 10 | c |
| उदानगत्योरसितं नयेन्मुनिः | 2 | 20 | b |
| उदास्ते साक्षिवद्विभुः | 8 | 23 | d |
| उद्दीपितस्मररुजां व्रजभृद्वधूनां | 7 | 33 | d |
| उद्गन्त्यसाववनिवुण्टकमुग्रवीर्यः | 7 | 22 | c |
| उद्यन्नस्तञ्च यन्नसौ | 3 | 17 | b |
| उन्निद्रहृत्पङ्कज कर्णिकालये | 2 | 10 | a |
| उन्नेष्यति व्रजमतोऽवसितान्त- | 7 | 29 | c |
| उन्मग्नताममृतलब्धय आदिदेवः | 7 | 13 | b |
| उन्मूलनन्त्वितरथार्जुनयो र्नभा- | 7 | 27 | d |
| उपकल्पय तत्सर्वं | 1 | 14 | c |
| उपधार्यमतिं कृष्णे | 4 | 1 | c |
| उपस्थ आसीत्कामानां | 10 | 26 | c |
| उपाश्रृणोदिद्वर्गदितं वचो विभुः | 9 | 6 | b |
| उभे अपि न गृह्णन्ति | 10 | 35 | c |
| उरस्स्थलंज्योति रनीकमस्य | 1 | 28 | a |
| उरुगाय गुणोदाराः | 3 | 16 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **ऊ** | | | |
| ऊचे ययाऽऽत्मशमलं गुणसङ्ग | 7 | 3 | c |
| ऊतयः कर्मवासनाः | 10 | 4 | d |
| ऊरुद्वयं वितलञ्चातलञ्च | 1 | 27 | b |
| ऊरुभ्यां वितलं विभोः | 5 | 40 | b |
| ऊरौ निपात्य विददारनखैः | 7 | 14 | d |
| ऊर्णनाभिरिवाक्रमः | 5 | 5 | d |
| ऊर्ण्नाभिर्यथोर्णुते | 9 | 27 | b |
| ऊर्वो वैश्यो भगवतः | 5 | 37 | c |
| **ऋ** | | | |
| ऋचो यजूंषि सामानि | 6 | 24 | c |
| ऋते पशू नसर्ती नाम युञ्ज्यात् | 2 | 10 | b |
| ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत | 9 | 33 | a |
| ऋषीन् पितृगणान्पृथक् | 10 | 37 | b |
| ऋषे विदन्ति मुनयः | 6 | 40 | a |
| **ए** | | | |
| एकदा नियमान् यमान् | 9 | 39 | b |
| एक मेकतराभावे | 10 | 9 | a |
| एकः सृजति भूतानि | 5 | 4 | c |
| एकैकशोऽङ्गानि धियानुभावयेत् | 2 | 13 | a |
| एको नानात्वमन्विच्छन् | 10 | 13 | a |
| एतच्छुश्रूषतां विद्वन् | 3 | 14 | a |
| एतदेवात्मभू राजन् | 4 | 25 | a |
| एतद्भगवतो रूपम् | 10 | 33 | a |
| एतद्वेदितुमिच्छामि | 8 | 2 | a |
| एतन्निर्विद्यमानानां | 1 | 11 | a |
| एतन्मतं समातिष्ठ | 9 | 36 | a |
| एतन्मे पृच्छत स्सर्वम् | 5 | 8 | a |
| एतां गतिं भगवती गतो यः | 2 | 31 | c |
| एतावत्त्वं यतो हि मे | 5 | 10 | d |
| एतावदेव जिज्ञास्यं | 9 | 35 | a |
| एतावानेव यजतां | 3 | 11 | a |
| एतावान् सांख्ययोगाभ्यां | 1 | 6 | a |
| एते सृते ते नृप, वेदगीते | 2 | 32 | a |
| एवमेतन्निगदितम् | 3 | 1 | a |
| एवं पुरा धारण्याऽऽत्मयोनिः | 2 | 1 | a |
| एवं विराजं प्रतपन् | 6 | 16 | c |
| एवं स्वचित्ते स्वत एवसिद्धः | 2 | 6 | a |
| **ओ** | | | |
| ओजस्कामो मरुद्गणान् | 3 | 8 | d |
| ओजस्सहरवद् बलवत्क्षमावत् | 6 | 44 | b |
| ओजस्सहो बलं जज्ञे | 10 | 15 | c |
| **औ** | | | |
| औत्तरेयः सर्ती व्यधात् | 4 | 1 | d |
| **क** | | | |
| कटयादिन्निरधस्सप्त | 5 | 36 | c |
| कथयस्वमहाभाग | 8 | 3 | a |
| कथामृतं श्रवणपुटेषुसम्भृतं | 2 | 37 | b |
| कथायामिति सत्पतेः | 8 | 27 | b |
| कथालोकसुमङ्गलाः | 8 | 2 | d |
| कथा हरि कथोदर्काः | 3 | 14 | c |
| कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससं | 2 | 9 | b |
| करवाणि ह्यतन्द्रितः | 9 | 28 | b |
| करामलकव द्विश्वम् | 5 | 3 | c |
| करोतिमानं बहुधा विभूतिभिः | 9 | 13 | b |
| करोति विकरोतिच | 4 | 7 | f |
| कर्णोच निरभिद्येतां | 10 | 22 | c |
| कर्णोदिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः | 1 | 29 | b |
| कर्णो दिशाञ्च तीर्थानां | 6 | 3 | c |
| कर्तृत्वप्रतिषेधार्थं | 10 | 45 | c |
| कर्मणां गतय स्त्विमाः | 10 | 40 | d |
| कर्मणो जन्म महतः | 5 | 22 | c |
| कर्मत्रैवर्गिकञ्च यत् | 4 | 4 | b |
| कर्मभिःक्रियतेनृभिः | 10 | 25 | d |
| कर्माणिचात्ममहिमोपनिबन्धना- | 7 | 26 | d |
| कल्पयन्ति मनीषिणः | 5 | 36 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कल्पलक्षणविग्रहम् | 10 | 40 | b | कुर्वन् कर्माणि जन्मभिः | 4 | 9 | d |
| कल्पायुषो यद्विबुधा रमन्ते | 2 | 25 | d | कुशला कुशलामिश्राः | 10 | 40 | c |
| कल्पे कल्पे सृजत्यजः | 6 | 38 | b | कूटस्थ स्याखिलात्मनः | 7 | 17 | b |
| कविभिश्चापि चेष्टितम् | 4 | 8 | d | कृष्णाण्ड यादो मृगपक्ष्यधीशाः | 6 | 42 | f |
| कस्तस्य मेढ्रं वृषणौच मित्रौ | 1 | 32 | c | कृष्णाण्डोन्मादवेतालान् | 10 | 39 | a |
| कस्माद्भजन्ति कवयोधनदुर्मदा- | 2 | 5 | d | कृतो लोकहितो नृप | 1 | 1 | b |
| कस्त्वान्त्वनादृत्य परानुचिन्ताम् | 2 | 7 | a | कृत्वा भ्रमद्भ्रुकुटिदंष्ट्रकरालव- | 7 | 14 | b |
| कामकामो यजे त्सोमं | 3 | 9 | c | कृष्णक्रीडां य आददे | 3 | 15 | d |
| कामं दहन्तिकृतिनो ननु रोषह- | 7 | 7 | a | कृष्णानुभावश्रवणे | 4 | 3 | c |
| कामः कथमु पुन रस्य मनः श्र- | 7 | 7 | d | कृष्णे निवेश्य निस्सङ्गं | 8 | 3 | c |
| काम्बोजमत्स्य कुरुकैकयसृयायाः | 7 | 35 | b | केचित्स्वदेहान्त हृदयावकाशे | 2 | 8 | a |
| कार्य कारणकर्तृत्वे | 5 | 19 | a | केशश्मश्रुनखान्यसय | 6 | 5 | a |
| कालकर्मस्वभावतः | 5 | 27 | b | कैवल्य सम्मतपथ त्त्वथभक्ति- | 3 | 12 | c |
| कालकर्म स्वभावस्थः | 5 | 34 | c | कोनिर्वृतो हरिकथासुरतिं न | 3 | 12 | d |
| कालश्चोरुगुणान्वितः | 6 | 22 | d | कोशकामः प्रचेतसम् | 3 | 7 | b |
| काल स्यानु गतिर्यानु | 8 | 13 | a | क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत | 2 | 18 | d |
| काल स्स्वभाव स्सदसन्मनश्च | 6 | 41 | b | क्रीडन् न निशि निशाकरव | 7 | 33 | a |
| कालात् गुण्व्यतिकरः | 5 | 22 | a | क्रिडस्यमोघसङ्कल्प | 9 | 27 | a |
| कालेच देशेच मनो न सञ्जयेत् | 2 | 15 | c | क्रौडीं तनुं सकलयज्ञमयीमनन्तः | 7 | 1 | b |
| कालेन नातिदीर्घेण | 8 | 4 | c | क्लेशव्ययाय कलया सितकृष्ण- | 7 | 26 | b |
| कालेन मीलितधिया मवमृश्य- | 7 | 4 | c | क्षत्ता भागवतोत्तमः | 10 | 48 | b |
| कालं कर्मस्वभावञ्च | 5 | 21 | a | क्षत्रं क्षयाय विधिनोपभृतं महा- | 7 | 22 | a |
| किङ्ग्रामपशवोऽपरे | 3 | 18 | d | क्षत्र मेतस्य बाहवः | 5 | 37 | b |
| किन्नराप्सरसो नागान् | 10 | 38 | a | क्षीरोदधावमरदानवयूथपानाम् | 7 | 13 | a |
| किमन्यत्पृष्टवान् भूयो | 3 | 13 | c | क्षेत्रज्ञ एतां विनयेत्तमात्मनि | 2 | 16 | b |
| किम्प्रमत्तस्य बहुभिः | 1 | 12 | a | क्षेत्रणि नानुव्रजतो हरे र्यौ | 3 | 22 | d |
| किरात हूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा | 4 | 18 | a | क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं | 4 | 17 | c |
| किरीटिनं कुण्डलिनं चतुर्भुजं | 9 | 15 | c | क्षेमस्य शरण्स्य च | 6 | 6 | b |
| कुक्षिस्समुद्रागिरयोऽस्थिसङ्घाः | 1 | 32 | d | क्षोणीमयो निखिलजीवनिकाय- | 7 | 12 | b |
| कुटुम्बभरणेन वा | 1 | 3 | d | क्ष्मां वामनेन जगृहे त्रिपदच्छले- | 7 | 17 | c |
| कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे | 2 | 17 | b | **ख** | | | |
| कुत्रकौषारवे स्तस्य | 10 | 49 | a | खगान् मृगन् पशून् वृक्षान् | 10 | 39 | c |
| कुमाराणां भवस्य च | 6 | 11 | b | खगामृगसरीसृपाः | 6 | 12 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| खट्वाङ्गो नाम राजर्षिः | 1 | 12 | a |
| **ग** | | | |
| गतयो मतयःश्रद्धा | 6 | 23 | a |
| गतवानभयं हरिम् | 1 | 13 | d |
| गतव्यलीकै रजशङ्करादिभिः | 4 | 19 | c |
| गतिं जिगीषतः पादौ | 10 | 25 | a |
| गतिर्वयः कर्मगुणप्रवाहः | 1 | 32 | a |
| गदाधरं धारणया स्मरन्ति | 2 | 4 | d |
| गन्धर्वविद्याधरचारणाप्सरः | 1 | 36 | c |
| गन्धर्वविद्याधरचारणेशा | 6 | 42 | a |
| गन्धर्वाप्सरसो यक्षाः | 6 | 13 | a |
| गायन् गुणान् दशशताननः | 7 | 41 | c |
| गायन्ति ह्यस्मदादयः | 6 | 37 | b |
| गिरीन्नृप, सरीसृपान् | 10 | 39 | d |
| गुणाख्यानेऽगुणस्य च | 8 | 1 | b |
| गुणात्मकानीन्द्रियाणि | 10 | 32 | a |
| गुणानां गुणिनाञ्चैव | 8 | 14 | c |
| गुणानुकथने हरेः | 1 | 7 | d |
| गुणानुकथने हरेः (हृषि०) | 4 | 11 | b |
| गुणतश्च स्वचेष्टितम् | 8 | 4 | b |
| गृहमेधोऽबृहद्व्रतः | 6 | 19 | d |
| गृहाण गदितं मया | 9 | 30 | d |
| गृहात्प्रव्रजितो धीरः | 1 | 13 | a |
| गृहीतचेता राजर्षे | 1 | 9 | c |
| गृहीत मायोरुगुणः | 6 | 30 | c |
| गृहीतशक्तित्रितयाय देहिनाम् | 4 | 12 | c |
| गृहीता मायया विभिः | 5 | 18 | d |
| गृहेषु गृहमेधिनाम् | 1 | 2 | d |
| गृह्णीत यद्य दुपबन्ध मनुष्य माता | 7 | 30 | a |
| गोत्राणा मस्थिसंहतिः | 6 | 9 | d |
| गोपान्बिलेषु पिहितान्मयसूनुना- | 7 | 31 | b |
| गोपैर्मुखे प्रतिहते व्रजविप्लवाय | 7 | 32 | a |
| गोभि स्सूर्य इवातपन् | 6 | 21 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ग्रसामि तपसा पुनः | 9 | 23 | b |
| ग्रहनक्षत्रभूभृताम् | 8 | 15 | b |
| ग्रहर्क्षकेतव स्ताराः | 6 | 14 | c |
| ग्राहेणयूथपतिरम्बुजहस्त आर्तः | 7 | 15 | b |
| ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य | 1 | 28 | b |
| ग्रीवायां जनलोकश्च | 5 | 39 | a |
| **घ** | | | |
| घटेत श्रेयसे यतः | 1 | 12 | d |
| घनानीकमिवाऽनिलः | 10 | 43 | d |
| घोषवश्च परान्वयात् | 5 | 28 | d |
| घ्राणेन गन्धं रसनेन वै रसं | 2 | 29 | a |
| घ्राणो नसि जिघृक्षतः | 10 | 20 | d |
| घ्राणो मोद प्रमोदयोः | 6 | 2 | d |
| घ्राणोऽस्य गन्धो मुख मग्निरिद्धः | 1 | 29 | d |
| **च** | | | |
| चकर्थ परमं तपः | 9 | 21 | d |
| चक्रञ्चदिक्ष्ववहितं दशसु स्वतेजः | 7 | 20 | a |
| चक्रायुधः पतगराजभुजधिरूढः | 7 | 16 | b |
| चक्रेण नक्रवदनं विनिपाट्य | 7 | 16 | c |
| चचारतीर्थानि भुवः | 10 | 48 | c |
| चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्ख | 2 | 8 | c |
| चस्कम्भ यः स्वरंहसास्खलता | 7 | 40 | c |
| चातुर्होत्रञ्च सत्तम | 6 | 24 | d |
| चिरं भृतेन तपसा | 9 | 19 | c |
| चीराणि किं पथि न सन्ति दिश- | 2 | 5 | a |
| चोभयं ससृजु र्ह्रदः | 5 | 33 | d |
| **छ** | | | |
| छन्दसां सप्त धातपः | 6 | 1 | b |
| छन्दां स्यनन्तस्य शिरो गृणन्ति | 1 | 31 | a |
| छन्दोमयो मखमयोऽखिलदेवता- | 7 | 11 | c |
| छिन्द्या दसङ्गशस्त्रेण | 1 | 15 | c |
| **ज** | | | |
| जङ्घाभ्यान्तु तलातलम् | 5 | 40 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| जज्ञेच कर्दमगृहे द्विज देवहूत्यां | 6 | 3 | a | त | | | |
| जनानां परमेष्ठिनम् | 9 | 37 | b | त इमे मुनयोऽग्रजाः | 6 | 12 | b |
| जन्म लाभः परः पुंसां | 1 | 6 | c | तच्छुद्धयेऽतिविषवीर्य विलोल- | 7 | 28 | c |
| जन्म सर्ग उदाहृतः | 10 | 3 | b | तडितः स्तनयित्नवः | 6 | 14 | d |
| जलस्थलनभौकसः(कुशलाकुश) | 10 | 40 | b | ततश्च मनवः काले | 6 | 29 | a |
| जलस्थलनभौकसः(ग्रहर्क्ष) | 6 | 14 | b | तत स्ते भ्रातर इमे | 6 | 28 | a |
| जले वै तस्य सुचिरं | 10 | 19 | c | ततो नानारसो जज्ञे | 10 | 18 | e |
| जह्युस्स्वराडिव निपानखनित्रमि- | 7 | 48 | d | ततोऽनुसन्धाय धिया मनस्वी | 2 | 20 | c |
| जातुनाम गदाग्रजः | 3 | 19 | d | ततो मन स्ततश्चन्द्रः | 10 | 30 | c |
| जातोरुचेरजनयत् युयमान् सुय- | 7 | 2 | a | ततो विशेषं प्रतिपद्य निर्भयः | 2 | 28 | a |
| जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्य- | 7 | 26 | c | ततः कालाग्निरुद्रात्मा | 10 | 43 | a |
| जानीयां ते स्वरूपिणः | 9 | 25 | d | ततः किञ्चन न स्मरेत् | 1 | 19 | d |
| जानुभ्यां सुतलं शुद्धं | 5 | 40 | c | ततः पायु स्ततो मित्रः | 10 | 27 | c |
| जिघृक्षत स्त्वङ् निर्भिन्ना | 10 | 23 | c | ततः प्राणो महा न सुः | 10 | 15 | d |
| जितं जितं स्थान मपोह्य धारयेत् | 2 | 13 | c | तत्कट्याञ्चातलं क्लृप्तं | 5 | 40 | a |
| जितसङ्गो जितेन्द्रियः | 1 | 23 | b | तत्कर्म दिव्यमिव यन्निशि निश्श- | 7 | 29 | a |
| जितानिलात्मा विजितोभयेन्द्रियः | 9 | 8 | b | तत्तत्त्वं वद तत्त्वतः | 5 | 2 | d |
| जितासनो जितश्वासः | 1 | 23 | a | तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः | 9 | 35 | b |
| जिहासती दार्दुरिकेव सूत! | 3 | 20 | c | तत्त्वतोऽर्हस्युदाहर्तुं | 8 | 24 | c |
| जिह्वया योऽधिगम्यते | 10 | 18 | d | तत्त्वनिश्चय मात्मनः | 4 | 1 | b |
| जिह्वा तत्रोपजायते | 10 | 18 | b | तत्त्वं परं रूपव दस्वरूपम् | 6 | 44 | d |
| जिह्वा सर्वरसस्य च | 6 | 1 | d | तत्त्वं वेदविदां वर | 8 | 2 | b |
| जीवच्छवो भगवताङ्घ्रिरेणुम् | 3 | 23 | a | तत्त्वानां परिसंख्यानं | 8 | 19 | a |
| जीवोऽजीव मजीवयत् | 5 | 34 | d | तत्र चान्तर्बहिर्वातः | 10 | 23 | e |
| ज्ञात्वेयत्ता मिहायुषः | 1 | 13 | b | तत्र वायुर्गन्धवहः | 10 | 20 | c |
| ज्ञानञ्च भागवत मात्मसतत्त्वदीपं | 7 | 19 | c | तत्रापान स्ततो मृत्युः | 10 | 28 | c |
| ज्ञानं परमगुह्यं मे | 9 | 30 | a | तत्राप्येकै कशो राजन् | 10 | 40 | c |
| ज्ञानं यदा प्रतिनिवृत्तगुणोर्मिचक्रं | 3 | 12 | a | तत्रैकावयवं ध्यायेत् | 1 | 19 | a |
| ज्ञान शक्तिः क्रियाशक्तिः | 5 | 31 | c | तदण्ड मुदकेशयम् | 5 | 34 | b |
| ज्ञान शक्तिरिति प्रभो | 5 | 24 | f | तदध्यवस्य त्कूटस्थो | 2 | 34 | c |
| ज्यायान् गुणै रवरजोऽप्यदिते - | 7 | 17 | a | तदश्मसारं हृदयं बतेदं | 3 | 24 | a |
| ज्योति र्मयो वायु मुपेत्य काले | 2 | 28 | c | तदहं तेऽभिधास्यामि | 1 | 10 | a |
| ज्योतिश्चक्षुर्गुणग्रहः | 10 | 21 | d | तदा संहत्य चान्योन्यं | 5 | 33 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तदिदं विश्वमाहितम् | 6 | 30 | b | तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे | 1 | 26 | d |
| तद्गात्रं वस्तुसाराणां | 6 | 3 | e | तवा प्येतर्हि कौरव्य | 1 | 14 | a |
| तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुतान्तरः | 9 | 17 | a | तस्मा ददा दध्रुवगतिं गृणते | 7 | 8 | c |
| तद्द्रव्यमत्यगा द्विश्वं | 6 | 21 | c | तस्मा इदं भागवतं | 9 | 43 | a |
| तद्भूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यं | 1 | 30 | c | तस्मा द्भारत सर्वात्मा | 1 | 5 | a |
| तद्विजानीहि यज्ज्ञानम् | 5 | 1 | c | तस्माद् भ्रुवोरन्तरमुन्नयेत | 2 | 21 | a |
| तद्विधा दाश्रनो मायाम् | 9 | 33 | b | तस्मा त्सर्वात्मना राजन् | 2 | 36 | a |
| तद्विश्वनाभि न्त्वतिवर्त्य विष्णोः | 2 | 25 | a | तस्मै नमोभगवते | 5 | 12 | a |
| तद्वैपदं भगवतः परमस्य पुंसो | 7 | 41 | a | तस्मै भगवतेः नमः | 6 | 37 | d |
| तद्वोऽभिधास्ये शृणत | 10 | 51 | c | तस्मै सुभद्रश्रवसे नमोनमः | 4 | 15 | d |
| तथातद्विषयां धेहि | 9 | 27 | c | तस्मै सुभद्रश्रवसे नमोनमः | 4 | 16 | d |
| तथा तेषु न तेष्वहम् | 9 | 34 | d | तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः | 4 | 17 | d |
| तथाऽपि नाथमानस्य | 9 | 25 | a | तस्मै स्वलोकं भगवान् सभा- | 9 | 9 | a |
| तथा ससर्जेद ममोघदृष्टिः | 2 | 1 | c | तस्य मात्रा गुणः शब्दः | 5 | 25 | c |
| तथैव तत्त्वविज्ञानम् | 9 | 31 | c | तस्यर्ते यत्क्षणो नितः | 3 | 17 | c |
| तथैवागतवान्पुनः | 10 | 40 | d | तस्यां रोममहीरुहाः | 10 | 23 | c |
| तन्तुं तन्वन् पितॄन् यजेत् | 3 | 8 | b | तस्यापि द्रष्टुरीशस्य | 5 | 17 | a |
| तन्नासे परमायने | 6 | 2 | b | तांनाध्यगच्छत् दृशमत्र सम्मतां | 9 | 5 | c |
| तन्नायया मोहितबुद्धय स्त्विदं | 6 | 36 | c | तातप्यमानमकरोरगनक्रचक्रः | 7 | 24 | d |
| तपत्यन्तर्बहिः पुमान् | 6 | 16 | d | तामसश्चेति यद्भिदा | 5 | 24 | d |
| तपस्तपीयां स्तपतां समाहितः | 9 | 8 | d | तामसादपि भूतादेः | 5 | 25 | a |
| तपस्युपादिष्ट इवाऽऽदधेमनः | 9 | 7 | d | तावत्स्थवीयःपुरुषस्य रूपं | 2 | 14 | c |
| तपस्विनो दानपरा यशास्विनः | 4 | 17 | a | तावद् यत्साम्परायिकं | 1 | 14 | d |
| तपो मे हृदयं साक्षात् | 9 | 22 | c | तावानसाविति प्रोक्तः | 8 | 8 | e |
| तपो ररार्टी विदुरादिपुंसः | 1 | 28 | c | तास्ववात्सीत् स्वसृष्टसु | 10 | 11 | a |
| तपोलोकः स्तनद्वयात् | 5 | 39 | b | तिरोधीयेत विप्लुतं | 6 | 40 | d |
| तप्तं तपो विविधलोकसिसृक्षया- | 7 | 5 | a | तिर्यग्जना अपि किमुश्रुतधारणा- | 7 | 46 | d |
| तमसश्चापि पश्चिमः | 6 | 9 | b | तिर्यङ्नरसुरात्मभिः | 10 | 42 | d |
| तमेव पुरुषं यज्ञं | 6 | 27 | c | तिष्ठन् वनं सदयितानुज आवि- | 7 | 23 | c |
| तमोविशीर्यते मह्यं | 4 | 5 | c | तिस्रः सुरनृनारकाः | 10 | 41 | b |
| तमः प्रधान स्त्वभवत् | 5 | 23 | c | तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय ! | 7 | 15 | c |
| तयोस्तु बलमिन्दश्च | 10 | 24 | c | तीव्रेण भक्तियोगेन | 3 | 10 | c |
| तरवः किं नजीवन्ति | 3 | 18 | a | तुभ्यञ्च नारद भृशं भगवान् | 7 | 19 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तुष्टं निशाम्य पितरं | 9 | 42 | a |
| तुष्टिः पुष्टि स्तदाश्रये | 10 | 29 | d |
| तेजसस्तु विकुर्वाणात् | 5 | 28 | a |
| तेजस्कामो विभावसुं | 3 | 3 | b |
| ते दुस्तरा मतितरन्ति च देवमा- | 7 | 42 | c |
| तेन खेदयसे न स्त्वं | 5 | 7 | c |
| तेन नारायणो नाम | 10 | 11 | c |
| तेनाऽऽनाऽऽत्मान मुपेति- | 2 | 31 | a |
| तेनाऽऽत्मानाऽऽपोऽनलमूर्ति | 2 | 28 | b |
| तेनेद मावृतं विश्वं | 6 | 15 | c |
| ते वै विदन्त्यतितरन्तिच देव- | 7 | 46 | a |
| तेषां प्रमत्तो निधनं | 1 | 4 | c |
| तेषु यज्ञस्त पशवः | 6 | 23 | a |
| तैजसात्तु विकुर्वाणात् | 5 | 31 | a |
| तैनै वायजमीश्वरं | 6 | 27 | d |
| तोकेन जीवहरणं यदुलूकिकायाः | 7 | 27 | a |
| तं दंष्ट्रयाद्रिमिव वज्रधरोददार | 7 | 1 | d |
| तं नाध्यगच्छं यत आत्मसम्भवः | 6 | 34 | d |
| तं नारदः प्रियतमः | 9 | 40 | a |
| तं निर्वृतो नियतार्थो भजेत | 2 | 6 | c |
| तं प्रीयमाणं समुपस्थितं तदा | 9 | 18 | a |
| तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत | 1 | 39 | c |
| त्यक्त्वा बन्धून् सुदुस्त्यजान् | 10 | 47 | d |
| त्यक्त्वोदास्ते तदोभयम् | 9 | 3 | d |
| त्रयीमयो धर्ममय स्तपोमयः | 4 | 19 | b |
| त्रात्वर्थितो जगति पुत्रपदं च लेभे | 7 | 9 | c |
| त्रितयं तत्र यो वेद | 10 | 9 | c |
| त्रिधाऽभिद्यत तच्छृणू | 10 | 14 | d |
| त्रिभि रेभि रधोक्षजः | 5 | 20 | b |
| त्रिमूर्धोऽधायि मूर्धसु | 6 | 18 | d |
| त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया | 2 | 34 | b |
| त्रिवर्गस्य च यो विधिः | 8 | 21 | d |
| त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परं | 1 | 17 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| त्रिस्सप्तकृत्व उरुधारपरश्वधेन | 1 | 22 | d |
| त्रैमासिकस्य च पदा शकटोऽप- | 7 | 27 | b |
| तौविष्टपोरुभयहास नृसिंहरूपं | 7 | 17 | a |
| त्वक्चर्ममांसरुधिर | 10 | 31 | a |
| त्वगस्य स्पर्शवायोश्च | 6 | 4 | a |
| त्वमेत द्विपुलीकुरु | 7 | 51 | d |
| त्वयाभिपृष्टे ह सनातने च | 2 | 32 | b |
| त्वचालब्धगुणो वृतः | 10 | 23 | f |
| त्वयाऽहं तोषितः सम्यक् | 9 | 19 | a |
| त्वयि कर्मविमीहिते | 9 | 22 | b |
| द | | | |
| दक्षादयो ये भवदादयश्च | 6 | 42 | b |
| दक्षिणाश्च व्रतानि च | 6 | 25 | b |
| दत्तो मया ह मिति यद् भगवान् | 7 | 4 | b |
| ददर्श तत्राखिलसात्वतां पतिं | 9 | 14 | a |
| ददृशे येन तद्रूपं | 8 | 9 | c |
| दन्तै र्विडाम्बितककुब्जुष ऊढ- | 6 | 25 | b |
| दन्दह्यमानं स निरीक्ष्य विश्वम् | 2 | 26 | b |
| दशमस्य विशुद्धयर्थं | 10 | 2 | a |
| दाम्पत्यार्थं उमां सतीं | 3 | 7 | d |
| दावाग्निना शुचिवने परिदह्यमाने | 7 | 29 | b |
| दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः | 2 | 4 | d |
| दिग्वातार्क प्रचेतोऽश्वि० | 5 | 30 | c |
| दिव स्सूर्यस्य चाक्षिणी | 6 | 3 | b |
| दिवाचार्थेहया राजन् | 1 | 3 | c |
| दिव्यं सहस्राब्दममोघदर्शनः | 9 | 8 | a |
| दिव्याः स्तुवन्ति मुनयो यदुपर्य- | 7 | 8 | d |
| दिशः श्रोत्रं गुणग्रहः | 10 | 22 | d |
| दुग्धा वसूनि वसुधा स्कलानि - | 7 | 9 | d |
| दुरन्तदुःखप्रभवानुदर्शनात् | 2 | 27 | d |
| दुरन्तसर्गो यदपाङ्गमोक्षः | 1 | 31 | d |
| दुर्विभाव्य मधीश्वरैः | 4 | 3 | d |
| दुर्विभाव्य मिवाऽऽभाति | 4 | 8 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| दुष्टेषु राजसु दमं व्यदधात् स्व- | 7 | 20 | c | **ध** | | | |
| दुस्तोषः कूटयोगिनाम् | 9 | 19 | d | धन्वन्तरिश्च भगवान् स्वयमेव- | 7 | 21 | a |
| दूरे सुहन्मथितरोष सुशोणदृष्ट्या | 7 | 24 | c | धर्तोच्छिलीन्ध्रमिव सप्तदिनानि- | 7 | 33 | c |
| दृश्यै बुद्धयादिभिर्द्रष्टा | 2 | 35 | c | धर्मस्तनोऽधर्मपथोऽस्य पृष्ठम् | 1 | 33 | b |
| दृष्ट्वाऽग्न्मनो भगवतो नियमा- | 7 | 6 | c | धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां | 7 | 6 | a |
| देवतानुक्रमः कुल्पः | 6 | 25 | c | धर्मस्य मम तुभ्यञ्च | 6 | 11 | a |
| देवदेव, नमस्तेऽस्तु | 5 | 1 | a | धर्मः कृच्छ्रेषु जीवतां | 8 | 18 | d |
| देवद्विषां निगमवर्त्मनि निष्ठितानां | 7 | 37 | a | धर्मार्थं उत्तरश्लोकं | 3 | 8 | a |
| देव व्रतो बलिरमूर्तरयो दिलीपः | 7 | 44 | d | धर्मोयश्च युगेयुगे | 8 | 17 | b |
| देवा नारायणाङ्गजाः | 5 | 15 | b | धारणा यत्र सम्मता | 1 | 22 | b |
| देवा वैकारिका दश | 5 | 30 | b | धियाऽनुपश्यन्ति हि तत्त्व मात्म- | 4 | 21 | b |
| देवर्षिः परिपप्रच्छ | 9 | 42 | c | धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः। | 4 | 20 | b |
| देवीं मायान्तु श्रीकामः | 3 | 3 | a | धुनोति शमलं कृष्णः | 8 | 5 | c |
| देवेऽभिवर्षति पशून् कृपया | 7 | 32 | b | धौतात्मा पुरुषः कृष्णः | 8 | 6 | a |
| देव्य स्त्वनङ्गपृतजा घटितुं न - | 7 | 6 | d | ध्यायते ब्रह्मपरमं | 9 | 44 | c |
| देहापत्य कलत्रादिषु | 1 | 4 | a | **न** | | | |
| देहारम्भोऽस्य धातुभिः | 8 | 7 | b | न कर्मभिस्तां गतिमाप्नुवन्ति | 2 | 23 | c |
| देहे स्वधातुविगमेऽनुविशीर्यमाणे | 7 | 49 | c | न खादन्ति न मेहन्ति | 3 | 18 | c |
| दैत्येन्द्र माशु गदयाभिपतन्त | 7 | 14 | c | न घटेतार्थसम्बन्धः | 9 | 1 | c |
| दैत्येन्द्र सिद्धेश्वर दानवेन्द्राः | 6 | 43 | d | न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः | 5 | 14 | d |
| दोधूयति नभस्वति | 10 | 20 | b | न चोपगायत्युरुगाय गाथाः | 3 | 20 | d |
| दंष्ट्रा यमः स्नेहकलाद्विजानि | 1 | 31 | b | न जातु मर्त्योऽभिलषेत यस्तु | 3 | 23 | b |
| द्यौ रक्षिणीचक्षुरभूत् पतङ्गः | 1 | 30 | a | नतोऽस्म्यहं तच्चरणं समीयुषां | 6 | 35 | a |
| द्रव्यात्मकः कर्म वितानयोगः | 1 | 37 | d | नद्य स्समुद्राश्च तयोः | 10 | 29 | c |
| द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः | 5 | 23 | d | नद्योऽस्य नाड्योऽथ तनूरुहाणि | 1 | 33 | a |
| द्रव्यज्ञानक्रियाश्रयाः | 5 | 19 | b | ननाम पदाम्बुजमस्य विश्वसृक् | 9 | 17 | c |
| द्रव्यशक्तिः क्रियाशक्तिः | 5 | 24 | e | नन्दञ्च मोक्ष्यति भयाद् वरुणस्य- | 7 | 31 | a |
| द्रव्यं कर्म च कालश्च | 10 | 12 | a | न पराभावयन् स्वयं | 5 | 5 | b |
| द्रव्यं कर्म च कालश्च | 5 | 14 | a | न प्रतीयेत चाऽऽत्मनि | 9 | 33 | b |
| द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि | 6 | 41 | c | नभसोऽथ विकुर्वाणात् | 5 | 26 | a |
| द्रष्टु मर्हन्ति सूरयः | 10 | 44 | d | नभस्तलं नाभिसरो गृणन्ति | 1 | 27 | d |
| द्विविधाश्चतुर्विधा येऽन्ये | 10 | 40 | a | न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते | 6 | 33 | a |
| द्वेजानुनी सुतलं विश्वमूर्तेः | 1 | 27 | a | नमस्कृतं ब्रह्मविदामुपैति | 2 | 25 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नमस्तस्मै भगवते | 4 | 24 | a | नाऽन्यद्यत्सदसत्परं- | 9 | 32 | b |
| नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां | 4 | 14 | a | नाऽपरं न समं विभो | 5 | 6 | b |
| नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे | 4 | 12 | a | नाभिद्वारमपानतः | 10 | 28 | b |
| न मेऽसवः परायन्ति | 8 | 26 | a | नाभिपद्मसमुद्भवः | 8 | 9 | d |
| न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे | 6 | 33 | c | नाभेरसावृषभ आस सुदेवि सूनुः | 7 | 10 | a |
| न यत्कर्णपथोपेतः | 3 | 19 | c | नाभ्यां स्थितं हृद्यधिरोप्य तस्मात् | 2 | 20 | a |
| न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः | 2 | 17 | a | नामधेयानि मन्त्रश्च | 6 | 25 | a |
| न यत्र माया किमुताऽपरे हरेः | 9 | 10 | c | नामरूप क्रियाधत्ते | 10 | 36 | c |
| न यत्र शोको न जरा न मृत्युः | 2 | 27 | a | नामरूप गुणैर्भाव्यं | 5 | 6 | c |
| न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च | 2 | 17 | c | नाम्ना नृणां पुरुरुजां रुज आशु- | 7 | 21 | b |
| न यं विदन्ति तत्त्वेन | 6 | 37 | c | नारदाय विपृच्छते | 4 | 25 | b |
| नरदेव भिवानुगाः | 10 | 16 | d | नारदो देवदर्शनः | 8 | 1 | d |
| नवानामिह लक्षणम् | 10 | 2 | b | नारदः प्राह मुनये | 9 | 44 | a |
| न वामदेवः किमुतापरे सुराः | 6 | 36 | b | नारायणपरा गतिः | 5 | 16 | d |
| न विक्रियेताऽथ यदा विकारः | 3 | 24 | c | नारायणपरा मखाः | 5 | 15 | d |
| न विमुह्यति कर्हिचित् | 9 | 36 | d | नारायणपरा लोकाः | 5 | 15 | c |
| न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः | 6 | 33 | b | नारायणपरा वेदाः | 5 | 15 | a |
| न वै विकारो न महान् प्रधानम् | 2 | 17 | d | नारायणपरो योगः | 5 | 16 | a |
| न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य | 3 | 20 | b | नारायणपरं ज्ञानं | 5 | 16 | c |
| न शेकुःब्रह्मवित्तम! | 5 | 32 | d | नारायणपरं तपः | 5 | 16 | b |
| नष्टां स्मृतिं प्रत्यवरुध्य तुष्टात् | 2 | 1 | b | नारायणे भगवति | 6 | 30 | a |
| न सन्ति यदुपेक्षया | 10 | 12 | d | नारायणो नर इति स्वतपःप्रभावः | 7 | 6 | b |
| न ह्यतोऽन्यश्शिवः पन्थाः | 2 | 33 | a | नार्ति न चोद्वेग ऋते कुतश्चित् | 2 | 27 | b |
| नाड्यो नदनदीनां तु | 6 | 9 | c | नार्थो बलेरयमुरुक्रमपादशोचं | 7 | 18 | a |
| नाथः नाथय नाथितम् | 9 | 25 | b | नाविदं यज्ञ सम्भारान् | 6 | 22 | c |
| ननाकर्मचिकीर्षया | 10 | 24 | b | नासत्यदस्रौ परमस्य नासे | 1 | 29 | c |
| नानाख्यानोपबृंहिताः | 10 | 5 | d | नासिके निरभिद्येतां | 10 | 20 | a |
| नानाभिधाभीज्यगणोपपन्नः | 1 | 37 | c | नास्य कर्मणि जन्मादौ | 10 | 45 | a |
| नानाशक्त्युपबृंहितम् | 9 | 26 | b | नाहं न यूयं यदृतां गतिं विदुः | 6 | 36 | a |
| नाऽनृतं तव तज्ञापि | 5 | 10 | a | नाहं वेद परं ह्यस्मिन् | 5 | 6 | a |
| नान्तं विदाम्यहममीमुनयोऽग्र- | 7 | 41 | a | नित्यं वाङ्मनसः परं | 10 | 34 | d |
| नाऽन्यत्र सज्जेद्यत आत्मपातः | 1 | 39 | d | निदिध्यासोरात्ममायां | 10 | 30 | a |
| नान्यद्भगवतः किञ्चित् | 6 | 32 | c | निद्रया ह्रियते नक्तं | 9 | 3 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| निद्राक्षणोऽद्रिपरिवर्त कषाण- | 7 | 13 | d |
| नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान् | 1 | 18 | a |
| निरभिद्यत वै गुदम् | 10 | 27 | b |
| निरभिद्यत शिश्नो वै | 10 | 26 | a |
| निरयस्य गुदः स्मृतः | 6 | 8 | d |
| निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा | 4 | 14 | c |
| निरुद्धसप्ताय तनोऽनपेक्षः | 2 | 21 | b |
| निर्ऋतिं त्वभिचरन् यजेत् | 3 | 9 | b |
| निरोधो मुक्तिराश्रयः | 10 | 1 | d |
| निरोधोऽस्यानुज्ञासनम् | 10 | 6 | a |
| निरोध स्समजायत | 10 | 19 | d |
| निर्गुणस्य गुणा स्त्रयः | 5 | 18 | b |
| निर्गुणं नित्यमद्वयम् | 6 | 39 | d |
| निर्भिद्य मूर्धन् विसृजेत्परं गतः | 2 | 21 | d |
| निर्भिन्ने ह्यक्षिणी तस्य | 10 | 21 | c |
| निर्माय शेते यदमूषु पूरुषः | 4 | 23 | b |
| निर्याति सिद्धेश्वरजुष्टधिष्ण्यं | 2 | 26 | c |
| निवृत्ता विधिषेधतः | 1 | 7 | b |
| निशम्य तद्वृत्तिदृक्षया दिशः | 9 | 7 | a |
| निशम्य भरतर्षभः | 3 | 13 | b |
| निष्किञ्चनानां नृप यद्धनं विदुः | 9 | 6 | d |
| नूनं भगवतो ब्रह्मन्! | 4 | 8 | a |
| नृणां भक्तिर्भविष्यति | 7 | 52 | b |
| नृणां यन्म्रियमाणानां | 3 | 1 | c |
| नृणां सन्ति सहस्रशः | 1 | 2 | b |
| नृणां साधारणो धर्मः | 8 | 18 | a |
| नृलोकपालास्तललोकपालाः | 6 | 42 | d |
| नेत्र जलं गात्ररुहेषु हर्षः | 2 | 24 | d |
| नेत्रे पिधाय्य सबलोऽनधिगम्य- | 7 | 29 | d |
| नेत्थम्भावेन हि परं | 10 | 44 | c |
| नेहमानः प्रजासर्गं | 9 | 28 | c |
| नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म | 1 | 7 | c |
| नेवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितः | 2 | 5 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| नैषां ममाह मिति धीः श्वशृगाल- | 7 | 42 | d |
| **प** | | | |
| पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च | 1 | 30 | b |
| पठान्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलम् | 1 | 26 | b |
| पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां | 4 | 20 | c |
| पत्नी मनोस्स च मनुश्च तदत्म- | 7 | 42 | c |
| पदं तत्परमं विष्णोः | 1 | 19 | e |
| पद्भ्यां यज्ञः स्वयं हव्यं | 10 | 25 | c |
| पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत | 5 | 37 | d |
| पपुर्ज्ञानमयं सौम्याः | 4 | 24 | c |
| पप्रच्छ चेममेवार्थं | 4 | 3 | a |
| परमात्मेति शब्द्यते | 10 | 7 | d |
| परमेण समाधिना | 9 | 36 | b |
| परमेष्ठी यथाऽऽत्मभूः | 8 | 25 | b |
| परस्मिन् कालमाययोः | 9 | 3 | b |
| परस्मिंश्च भवान् खलु | 4 | 10 | d |
| परस्यात्मा परायणं | 6 | 11 | b |
| परस्यानुभवात्मनः | 9 | 1 | b |
| परस्यानुविधीयते | 10 | 45 | b |
| पराभूतेरधर्मस्य | 6 | 9 | a |
| परान्वयाच्छब्दवांश्च | 5 | 26 | c |
| परान्वयाद्रसस्पर्श | 5 | 29 | c |
| परावरे यथारूपे | 9 | 25 | c |
| पराशङ्कां प्रयच्छसि | 5 | 7 | d |
| परिणाममभीप्सतां | 8 | 14 | d |
| परिणामः स्वभावतः | 5 | 22 | b |
| परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये | 1 | 9 | a |
| परिपाति त्रिशक्तिधृक् | 6 | 21 | d |
| परिभ्रमंस्तत्र न विन्दतेऽर्थान् | 2 | 2 | c |
| परिमाणञ्च कालस्य | 10 | 47 | a |
| परिमोक्षस्य नारद | 6 | 8 | b |
| परिश्रमं तत्र समीक्षमाणः | 2 | 3 | d |
| परिस्फुरत्कुण्डलमौलिमालिनः | 9 | 11 | f |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| परे चेहानुतिष्ठन्ति | 8 | 25 | c | पिशङ्गवस्त्राः सुरुचः सुपेशसः | 9 | 11 | b |
| परोक्षैर्हायनैरिह | 1 | 12 | b | पीताम्बरं वक्षसि लक्षितं श्रिया | 9 | 15 | d |
| परं पदं वैष्णवमामनन्ति तत् | 2 | 18 | a | पुण्यतीर्थजलाप्लुतः | 1 | 16 | b |
| परं परं शुध्यति धीर्यथा यथा | 2 | 13 | d | पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं | 2 | 37 | c |
| पर्जन्यस्य प्रजापतेः | 6 | 7 | b | पुराणं दशलक्षणं | 9 | 43 | b |
| पशवः पितरः सिद्धाः | 6 | 13 | c | पुराणं ब्रह्मसम्मितम्(अधीत) | 1 | 8 | b |
| पशु द्रविणबन्धुषु | 4 | 2 | b | पुराणं ब्रह्मसम्मितम्(ब्रह्मणे) | 8 | 28 | b |
| पश्चादहं यदेतच्च | 9 | 32 | c | पुरुः शक्तिः परः पुमान् | 4 | 7 | d |
| पश्य ञ्जनं पतितं वैतरण्यां | 2 | 7 | c | पुरुषस्तूभयाश्रयः | 6 | 20 | d |
| पश्यतस्तस्य तद्रूपं | 9 | 37 | c | पुरुषस्य दुरत्ययः | 6 | 17 | d |
| पश्यन्नपि न पश्यति | 1 | 4 | d | पुरुषस्य मनोमलं | 1 | 22 | d |
| पाखण्डस्य च सम्भवः | 8 | 22 | b | पुरुषस्य मुखं ब्रह्म | 5 | 37 | a |
| पाखण्डिनो द्विजना वृषलाः | 7 | 38 | b | पुरुषस्य विचेष्टतः | 10 | 15 | b |
| पाण्डवेयो महारथः | 3 | 15 | b | पुरुषधिष्ठितादभूत् | 5 | 22 | d |
| पाण्डूना मनुपृच्छति | 8 | 29 | b | पुरुषाराधनविधिः | 8 | 19 | c |
| पातालमेतस्य हि पादमूलं | 1 | 26 | a | पुरुषावयवाद्दते | 6 | 22 | d |
| पातालं पादतलतः | 5 | 41 | c | पुरुषावयवैरहं | 6 | 27 | b |
| पादमूलं न मुञ्चति | 8 | 6 | b | पुरुषावयवैरेते | 6 | 26 | c |
| पादादि यावद्धसितं गदाभृतः | 2 | 13 | b | पुरुषावयवै लोकाः | 8 | 11 | a |
| पादास्त्रयो बहिश्चासन् | 6 | 19 | a | पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य | 10 | 10 | a |
| पादेषु सर्वभूतानि | 6 | 18 | a | पुरुषो ह्याधिभौतिकः | 10 | 8 | d |
| पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ | 3 | 22 | c | पुरुषं सुसमाहिताः | 6 | 28 | d |
| पाद्मं कल्पमथो शृणु | 10 | 47 | d | पुष्टिकाम इलां यजेत् | 3 | 5 | b |
| पान्थः स्वशरणं यथा | 8 | 6 | d | पुष्णाति स्थापयन्विश्वं | 10 | 42 | c |
| पायु र्यमस्य मित्रस्य | 6 | 8 | a | पुंसः शिश्न उपस्थस्तु | 6 | 7 | c |
| पार्थाष्टिषेण विदुरश्रुतदेववर्याः | 7 | 45 | d | पुंसं स्थितिपदो विदुः | 6 | 18 | b |
| पालांस्त्वजीवय दनुग्रहदृष्टि- | 7 | 28 | b | पुंसां पुनः पारमहंस्य आश्रमे | 4 | 13 | c |
| पितरो विबुधा दैत्याः | 6 | 29 | c | पुंसो मद्दर्शनावधिः | 9 | 20 | d |
| पितरं पर्यतोषयत् | 9 | 41 | d | पूर्भिर्मयेन विहितभिरदृश्यतूर्भिः | 7 | 37 | b |
| पितुर्द्वैपायनादहं | 1 | 8 | d | पूर्वेषां पूर्वजैः कृतं | 8 | 25 | d |
| पिपासतो जक्षतश्च | 10 | 17 | c | पृच्छते मेऽनुपूर्वशः | 8 | 24 | b |
| पिबतोऽच्युतपीयूषम् | 8 | 26 | c | पृथक्त्वमुभयाश्रयम् | 10 | 28 | a |
| पिबलि ये भगवत आत्मनस्सतां | 2 | 37 | a | पृष्टवान् यद्भवान् मम | 3 | 1 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| पृष्टस्तत्त्वमुवाच ह | 10 | 49 | d |
| पृष्ठेन कच्छपवपुर्विदधार गोतं | 7 | 13 | c |
| पोषणं तदनुग्रहः | 10 | 4 | b |
| प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती | 4 | 22 | a |
| प्रजाकामः प्रजापतीन् | 3 | 2 | d |
| प्रजात्यानन्दनिर्वृतेः | 6 | 7 | d |
| प्रजानन्दामृतार्थिनः | 10 | 26 | b |
| प्रजानां पतयो नव | 6 | 28 | b |
| प्रजापतिर्धर्मपतिः | 9 | 39 | a |
| प्रजापतीनामभिवन्दितः पतिः | 6 | 34 | b |
| प्रजापतीन्मनून् देवान् | 10 | 37 | a |
| प्रजाविसर्गे निजशासनार्हणं | 9 | 18 | b |
| प्रजाविसर्गे विभजामि भोजनं | 9 | 29 | b |
| प्रज्ञानेन चिकीर्षितं | 9 | 24 | d |
| प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे | 4 | 11 | d |
| प्रतिष्ठाकामः पुरुषो | 3 | 5 | c |
| प्रत्यक् सम्यगवस्थितं | 6 | 39 | b |
| प्रत्यादिष्टं मया तत्र | 9 | 22 | a |
| प्रपञ्चनिर्माणविधिर्यया भवेत् | 9 | 5 | d |
| प्रपदाभ्यां रसातलं | 5 | 41 | b |
| प्रपन्नाय महामुने | 8 | 24 | d |
| प्रभाषसे भागवतप्रधानः | 3 | 25 | b |
| प्रमाणमण्डकोशस्य | 8 | 16 | a |
| प्रयाति चक्रं नृप शैशुमारं | 2 | 24 | d |
| प्रवर्तते यत् रजस्तमस्तयोः | 9 | 10 | a |
| प्रवाल वैदूर्यमृणालवर्चसः | 9 | 11 | e |
| प्रविष्टान्यप्रविष्टानि | 9 | 34 | c |
| प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण | 8 | 5 | a |
| प्रवेकनिष्काभरणाः सुवर्चसः | 9 | 11 | d |
| प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः | 6 | 40 | b |
| प्रश्नानन्यांश्च कृत्स्नशः | 9 | 45 | d |
| प्रश्रयेण दमेन च | 9 | 40 | d |
| प्रसन्नवक्त्रं नलिनायतेक्षणं | 2 | 9 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्रसन्नहासारुणलोचनानां | 9 | 15 | b |
| प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः | 4 | 20 | d |
| प्राक्कल्पसंप्लवविनष्टमिहात्मतत्त्वं | 7 | 5 | c |
| प्राङ्मुखं निरभिद्यत | 10 | 17 | d |
| प्राचीनबर्हि ऋभुरङ्ग उत ध्रुवश्च | 7 | 43 | d |
| प्राणा ओज स्सहो बलं | 5 | 26 | d |
| प्राणन्तं सर्वजन्तुषु | 10 | 16 | b |
| प्राणान् नियच्छेन्मनसा जितासुः | 2 | 15 | d |
| प्राणेन क्षिपता क्षुत्तृट् | 10 | 17 | a |
| प्राणेन चाकूति मुपैति योगी | 2 | 29 | d |
| प्राणो व्योमाम्बुवायुभिः | 10 | 31 | d |
| प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तं | 2 | 8 | b |
| प्राधान्यतो या नृप आमनन्ति | 6 | 45 | a |
| प्रायशः क्षेमकर्मणां | 6 | 5 | d |
| प्रायश्चित्तं समर्पणं | 6 | 26 | b |
| प्रायेण मुनयो राजन् | 1 | 7 | a |
| प्राह भागवतं नाम | 8 | 28 | a |
| प्रियं तदुभयाश्रयम् | 10 | 26 | d |
| प्रियः प्रियं प्रीतमनाः करे स्पृश- | 9 | 18 | d |
| प्रीतः पुत्राय भूतकृत् | 9 | 43 | d |
| प्रेङ्खं श्रिता या कुसुमाकरानुगैः | 9 | 13 | c |
| प्रेतभूत विनायकान् | 10 | 38 | d |
| प्रोक्तं भगवता प्राह | 9 | 43 | c |
| **ब** | | | |
| बध्नाति नित्यदा मुक्तं | 5 | 19 | c |
| बध्येयं यदनुग्रहात् | 9 | 28 | d |
| बन्धुत्यागनिमित्तञ्च | 10 | 50 | c |
| बभाष ईषत्स्मित शोचिषा गिरा | 9 | 18 | c |
| बर्हायिते ते नयने नराणां | 3 | 22 | a |
| बहिश्च प्रतपत्यसौ | 6 | 16 | b |
| बहिस्त्रिलोक्याः पवनान्तरात्मनां | 2 | 23 | b |
| बहुरूप इवाभाति | 9 | 2 | a |
| बालक्रीडनकैः क्रीडन् | 3 | 15 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| बालोऽपि सन्नुपगतस्तपसे वनानि | 7 | 8 | b |
| बाहवो लोकपालानां | 6 | 5 | c |
| बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम्? | 2 | 4 | b |
| बाह्याभ्यन्तर भेदतः | 8 | 16 | b |
| बिभर्ति भूरिश स्त्वेकः | 8 | 9 | c |
| बिभर्मि तपसा विश्वं | 9 | 23 | c |
| बिभ्रदात्मानमात्मना | 9 | 26 | d |
| बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये | 3 | 20 | a |
| बुद्धिः प्राणाश्च तैजसौ | 5 | 31 | d |
| बुद्धिर्विज्ञानरूपिणी | 10 | 32 | d |
| बोध्यमानस्य ऋषिभिः | 10 | 22 | a |
| ब्रवीतु भगवान् यथा | 4 | 10 | b |
| ब्रह्मकल्प उपागते | 8 | 28 | d |
| ब्रह्मञ्छ्रेयः परिश्रामः | 9 | 20 | c |
| ब्रह्मणा चोदितो ब्रह्मन् | 8 | 1 | a |
| ब्रह्मणो दर्शयन् रूपं | 9 | 4 | c |
| ब्रह्मणे भगवत्प्रोक्तं | 8 | 28 | c |
| ब्रह्मणो गुणवैषम्यात् | 10 | 3 | c |
| ब्रह्मध्रुगुज्झितपथं नरकार्तिलिप्सु | 7 | 22 | b |
| ब्रह्मन्नशनादमी | 8 | 26 | b |
| ब्रह्मबीजमविस्मरन् | 1 | 17 | d |
| ब्रह्मरातो भृशं प्रीतो | 8 | 27 | c |
| ब्रह्मलोक स्सनातनः | 5 | 39 | d |
| ब्रह्मवर्चसकामस्तु | 3 | 2 | a |
| ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा | 1 | 37 | a |
| ब्रह्मेति यद्विदुरजस्रसुखं विशोकं | 7 | 44 | b |
| ब्रूहि नस्तदिदं सौम्य! | 10 | 50 | a |
| **भ** | | | |
| भक्तियोगो यतो भवेत् | 2 | 33 | d |
| भगवच्छक्तिचोदिताः | 5 | 33 | b |
| भगवच्छिक्षित महं | 9 | 28 | a |
| भगत्यचलो भावः | 3 | 11 | c |
| भगवद्वीर्यदर्शने | 5 | 9 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भगवन् सर्वभूतानां | 9 | 24 | a |
| भगवनात्ममायया | 4 | 6 | b |
| भगवानीश्वरो हरिः | 1 | 5 | b |
| भगवान् धर्मरूपधृक् | 10 | 42 | b |
| भगवान् धारणाश्रयः | 1 | 25 | d |
| भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन | 2 | 34 | a |
| भगवान् ब्रह्मरूपधृक् | 10 | 36 | b |
| भगवान् भगवत्तमः | 10 | 44 | b |
| भगवान् विशते हृदि | 8 | 4 | d |
| भगवान्विश्वभावनः | 7 | 50 | b |
| भगवान् सर्वभूतेषु | 2 | 35 | a |
| भद्रं प्रजानामन्विच्छन् | 9 | 39 | c |
| भवच्छिदं स्वस्त्ययनं सुमङ्गलं | 6 | 35 | b |
| भवन्तो जानते यथा | 8 | 7 | d |
| भवान् कल्पविकल्पेषु | 9 | 36 | c |
| भवान् यन्मानुपृच्छसि | 9 | 42 | d |
| भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत | 3 | 18 | b |
| भारः परं पट्टकिरीटजुष्टं | 3 | 21 | a |
| भावस्वभावविहितस्य सतः | 7 | 49 | b |
| भावेन साधु परितुष्ट उवाच योगं | 7 | 19 | b |
| भाव्यं सदसदात्मकं | 6 | 32 | d |
| भिद्यन्ते गतयस्त्रिधा | 10 | 41 | d |
| भुङ्क्ते गुणान् षोडशषोडशात्मकः | 4 | 23 | c |
| भुवर्लोकोऽस्य नाभितः(स्वर्लोकः) | 5 | 42 | b |
| भुवर्लोकोऽस्य नाभितः(हृदा) | 5 | 38 | b |
| भूतभव्यभवच्छब्द | 8 | 12 | c |
| भूतभव्यभवत्प्रभुः | 5 | 3 | b |
| भूतभावन पूर्वज | 5 | 1 | b |
| भूतमात्रेन्द्रियधियां | 10 | 3 | a |
| भूतात्मा यदनुग्रहात् | 8 | 9 | b |
| भूतादिप्रभवा गुणाः | 10 | 32 | b |
| भूतानां निधनस्य च | 6 | 10 | b |
| भूतेन्द्रियगुणात्मकः | 6 | 21 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भूतेन्द्रिय मनो गुणाः | 5 | 32 | b |
| भूतेषूच्चावचेष्वनु | 9 | 34 | b |
| भूतै रेवात्ममायया | 5 | 4 | d |
| भूतैर्महद्भिर्यश्चमाः पुरो विभुः | 4 | 23 | a |
| भूतं भव्यं भवच्च यत् | 6 | 15 | b |
| भूतं भव्यं भवच्च सत् | 1 | 24 | d |
| भूपाताल ककुब्व्योम० | 8 | 15 | a |
| भूमेः सुरेतरवरूथविमर्दितायाः | 7 | 26 | a |
| भूम्यप्तेजोमयाः सप्त | 10 | 31 | c |
| भूय एव विवित्सामि | 4 | 6 | a |
| भूयो नमस्स दृजिनच्छिदे सतां | 4 | 13 | a |
| भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां | 5 | 42 | a |
| भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां | 5 | 38 | a |
| भृत्यप्रसादाभिमुखं दृगासवं | 9 | 15 | a |
| भ्राजिष्णुभिर्यः परितो विराजते | 9 | 12 | a |
| भ्रूभङ्गसंसूचितभूर्यनुग्रहं | 2 | 12 | b |
| **म** | | | |
| मत्स्यो युगान्तसमये मनुनोप- | 7 | 12 | a |
| मनसा बुद्धिसारथिः | 1 | 18 | b |
| मनस्त्यक्ष्ये कलेबरं- | 8 | 3 | d |
| मनस्विनो मन्त्रविद स्सुमङ्गलाः | 4 | 17 | b |
| मन स्सन्धरये द्धिया | 1 | 23 | d |
| मन स्सर्वविकारात्मा | 10 | 32 | c |
| मन स्स्वबुद्ध्या न यतोऽस्ति | 1 | 38 | d |
| मन स्स्वबुद्ध्यामलया नियम्य | 2 | 16 | a |
| मनीषितानुभावोऽयं | 9 | 21 | a |
| मर्नाषां मयि माधव | 9 | 27 | d |
| मनुर्मनीषा मनुजो निवासः | 1 | 36 | b |
| मनुष्याः क्रतुभिर्विभुम् | 6 | 29 | d |
| मनुष्येषु मनीषिणाम् | 3 | 1 | d |
| मनो निर्विषयं युक्त्वा | 1 | 19 | c |
| मनोमयं देवमयं विकार्यम् | 2 | 30 | b |
| मनो यच्छेज्जितश्वासः | 1 | 17 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| मनो यत्र प्रसीदति | 1 | 19 | f |
| मनः कर्मभिराक्षिप्तं | 1 | 18 | c |
| मन्वन्तराणि सद्धर्मः | 10 | 4 | c |
| मन्वन्तरेशानुकथा | 10 | 1 | c |
| मन्वन्तरेषु मनुवंशधरो बिभर्ति | 7 | 20 | b |
| मम लोकावलोकनम् | 9 | 21 | b |
| ममाऽहमिति दुर्धियः | 5 | 13 | d |
| ममाऽहमिति मन्यते | 9 | 2 | d |
| मया ते अनुवर्णिते | 10 | 35 | b |
| मर्त्यमन्नं यदत्यगात् | 6 | 17 | b |
| मल्लेभकंसयवनाः कुज पौण्ड्र- | 7 | 34 | b |
| महतस्तु विकुर्वाणात् | 5 | 23 | a |
| महताञ्चानुचरितं | 8 | 16 | c |
| महर्लोको महात्मनः | 5 | 38 | d |
| महातलन्तु गुल्फाभ्यां | 5 | 41 | a |
| महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ | 1 | 26 | c |
| महाधनैर्नूपुरकङ्कणादिभिः | 2 | 11 | b |
| महापौराणिको भवान् | 1 | 10 | b |
| महाभागवतो राजन् | 9 | 41 | c |
| महिमेष ततो ब्रह्मन् | 6 | 17 | c |
| महीतलं तज्जघनं महीपते | 1 | 27 | c |
| महीरुहा विश्वतनोर्नृपेन्द्र | 1 | 33 | b |
| मह्यादिभिश्चावरणैः | 10 | 33 | c |
| मातृ रक्षः पिशाचांश्च | 10 | 38 | c |
| मान्धात्रलर्कशतधन्वनुरन्ति देवाः | 7 | 44 | c |
| मा मे समुन्नद्धमदोऽजमानिनः | 9 | 29 | d |
| माययाऽऽरोपितं हि तत् | 10 | 45 | d |
| माययाऽऽत्मा न मुह्यति | 7 | 53 | d |
| मायया बहुरूपया | 9 | 2 | b |
| मायया व्यसृजत् त्रिधा | 10 | 13 | d |
| माया परैत्यभिमुखे च | 7 | 47 | d |
| माया बलस्य पुरुषस्य कुतः | 7 | 41 | c |
| मायामये वासनया शयानः | 2 | 2 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| मायाविभूतय इमाः पुरुशक्तिभाजः | 7 | 39 | d |
| मायासृष्टे विपश्चितः | 10 | 35 | d |
| मायिनं पुरुषं गुणाः | 5 | 19 | d |
| मायेशस्य महामुनिः | 9 | 41 | b |
| मायेशो मायया स्वया | 5 | 21 | b |
| मायां वर्णयतोऽमुष्य | 7 | 53 | a |
| मायां विविदिषन् विष्णोः | 9 | 41 | a |
| मार्गं सपद्यरिपुरं हरवद्विधक्षोः | 7 | 24 | b |
| मुक्त सर्वपरिक्लेशः | 8 | 6 | c |
| मुक्तिर्हित्वाऽन्यथा रूपं | 10 | 6 | c |
| मुक्त्वाऽऽत्ममायां मायेशः | 8 | 10 | c |
| मुखतस्तालु निर्भिन्नं | 10 | 18 | a |
| मुहूर्तात्सर्वमुत्सृज्य | 1 | 13 | c |
| मूर्धभिस्सत्यलोकस्तु | 5 | 39 | c |
| मेदोमज्जास्थिधातवः | 10 | 21 | b |
| मोक्षकाम उदारधीः | 3 | 10 | b |
| मां ब्रुवन्ति जगद्गुरुम् | 5 | 12 | d |
| **य** | | | |
| यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे | 7 | 40 | b |
| यच्चित्ततोदः कृपयाऽनिर्दविदा | 2 | 27 | c |
| यच्छेद्धारणया धीरः | 1 | 20 | c |
| यजेत परमेष्ठिनं | 3 | 6 | d |
| यजेत पुरुषं परं | 3 | 10 | d |
| यजेत ब्रह्मणस्पतिम् | 3 | 2 | b |
| यज्जृम्भतोऽस्य वदने भुवनानि | 1 | 30 | c |
| यज्ञं यजेद्यशस्कामः। | 3 | 7 | a |
| यज्ञे च भागममृतायुरवावरुन्धे | 7 | 21 | c |
| यतश्चाध्यवसीयते | 10 | 7 | b |
| यत स्सृष्टमिदं प्रभो | 5 | 2 | b |
| यत्किञ्चलोके भगवन्महस्वत् | 6 | 44 | a |
| यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं | 4 | 15 | a |
| यत्तपः सुसमाहितः | 5 | 7 | b |
| यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय | 7 | 1 | a |
| यत्परस्त्वं यदात्मकः | 5 | 4 | b |
| यत्पादमपङ्कजपरागपवित्रदेहाः | 7 | 4 | c |
| यत्पारमहंस्यमृषयः पदम् | 7 | 10 | c |
| यत्पारमहंस्येन पथाऽभिगम्य ते | 1 | 17 | d |
| यत्रेदं दृश्यते विश्वं | 1 | 24 | c |
| यत्संस्थं यत्परं यच्च | 5 | 2 | c |
| यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदा | 9 | 35 | d |
| यदर्क्षग्रहतारकाः | 5 | 11 | d |
| यथा कालोऽनुमीयते | 8 | 12 | b |
| यथा गुणांस्तु प्रकृतेः | 4 | 9 | a |
| यथा गोपायति विभुः | 4 | 7 | a |
| यथाऽऽत्मतन्त्रो भगवान् | 8 | 23 | a |
| यथाऽऽत्ममायायोगेन | 9 | 26 | a |
| यथा नभः स्वान्तमथापरे कुतः | 6 | 35 | d |
| यथा पुरस्ताद्व्याख्यास्ये | 10 | 47 | c |
| यथाऽप्ययात् प्राग्व्यवसायबुद्धिः | 2 | 1 | d |
| यथाऽऽभासो यथा तमः | 9 | 32 | d |
| यथा महान्ति भूतानि | 9 | 24 | a |
| यथा मां प्रब्रवीषि भोः | 5 | 10 | b |
| यथा येनोपगृह्यते | 8 | 14 | b |
| यथाऽर्कोऽग्निर्यथा सोमः | 5 | 11 | c |
| यथा संयच्छते पुनः | 4 | 7 | b |
| यथा सन्धार्यते ब्रह्मन् | 1 | 22 | a |
| यथाऽऽसीत्तदुपाख्यास्ये | 9 | 45 | c |
| यथाऽहमखिलात्मनि | 8 | 3 | b |
| यथा हरौ भगवति | 7 | 52 | a |
| यथेदं सृजते विश्वम् | 4 | 6 | c |
| यथेदं मनुगच्छसि | 6 | 22 | b |
| यथैकं पौरुषं वीर्यं | 10 | 14 | c |
| यदङ्घ्र्यभिध्यानसमाधिधौतया | 4 | 21 | a |
| यदधातुमतो ब्रह्मन् | 8 | 7 | a |
| यदनु ग्रहतः सन्ति | 10 | 12 | c |
| यदविद्या च विद्या च | 6 | 20 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यदवोचन्महामुनिः | 10 | 51 | b | यद्वेनमुत्पथगतं द्विजवाक्यवज्र० | 7 | 9 | a |
| यदहं चोदितस्सौम्य ! | 5 | 9 | c | यद्वै परार्ध्यं तदु पारमेष्ठ्यम् | 2 | 26 | d |
| यदा जिहासुरिममङ्गलोकं | 2 | 15 | b | यद्वै व्रजे व्रजपशून् विषतोयपी- | 7 | 28 | a |
| यदा तदेवासत्तर्कैः | 6 | 40 | c | यन्मे भगवतोदितम् | 7 | 51 | b |
| यदाऽऽत्मनि निरालोकं | 10 | 21 | a | यन्मे हृदोत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः | 6 | 33 | d |
| यदा नोपलभामहे | 10 | 9 | b | यन्मायया दुर्जयया | 5 | 12 | c |
| यदापः पुरुषोद्भवाः | 10 | 11 | d | यन्मुखाम्बुरुहासवं | 4 | 24 | d |
| यदायतन निर्माणे | 5 | 32 | c | यन्मां पृच्छथ सत्तमाः | 4 | 3 | b |
| यदाश्चर्यतमं हरेः | 8 | 17 | d | यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः | 2 | 18 | b |
| यदाऽसौ स विनिर्गतः | 10 | 10 | b | यन्नामभि र्ध्यायति धीरपार्थैः | 2 | 2 | b |
| यदास्यनाभ्यान्नलिनात् | 6 | 22 | a | यर्हि वाव महिम्नि स्वे | 9 | 3 | a |
| यदाह नो भवान् सूत ! | 10 | 48 | a | यर्ह्यलयेष्वपि सतां न हरेः कथाः | 7 | 38 | a |
| यदाह भगवानृतं | 9 | 4 | b | यश्चानुशायिनां सर्गः | 8 | 22 | a |
| यादाह वैयासकि रात्मविद्या | 2 | 25 | c | यत्सृष्ट मिद मात्मनः | 10 | 43 | b |
| यदाह हरिरात्मनः | 4 | 25 | d | यस्तत्रोभयविच्छेदः | 10 | 8 | c |
| यदि प्रयास्यन्नृप पारमेष्ठ्यं | 2 | 22 | a | यस्मा अदादुदधिरूढभयाङ्गवेपः | 7 | 24 | a |
| यदुताऽहं त्वया पृष्टो | 9 | 45 | a | यस्मा न्निसाम्यसदनादुरु | 7 | 40 | d |
| यदुपश्रुत्य रहसि | 9 | 21 | c | यस्मादण्डं विराड् जज्ञे | 6 | 21 | a |
| यदृच्छया हेतुना वा | 8 | 7 | c | यस्मिन् कर्म समावायः | 8 | 14 | a |
| यदैकैकतरोऽन्याभ्यां | 10 | 41 | e | यस्मिन्विरुध्य दशकन्धर आर्ति- | 7 | 23 | d |
| यदैतेऽसङ्गता भावाः | 5 | 32 | a | यस्मै यस्मै यथा प्राह | 8 | 1 | c |
| यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः | 3 | 24 | b | यस्य श्रद्दधता माशु | 1 | 10 | c |
| यद्भागवतसङ्गतः | 3 | 11 | d | यस्यां सन्धार्यमाणायां | 1 | 21 | a |
| यद्यत्परिक्षिद्वृषभः | 8 | 29 | a | यस्यावतारकर्माणि | 6 | 37 | a |
| यद्यद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षाः | 7 | 46 | c | यस्येहावयवैर्लोकान् | 5 | 36 | a |
| यद्रिङ्गतान्तरगतेन दिवि स्पृशोर्वा | 7 | 27 | c | यस्सन्निवेशः कथितो मया ते | 8 | 38 | b |
| यद्रूपं यदधिष्ठानं | 5 | 2 | a | यां यां शक्तिमुपाश्रित्य | 4 | 7 | c |
| यद्रूपगुणकर्मकः | 9 | 31 | b | याच्ञामृते पथि चरन् प्रभुभिः | 7 | 17 | d |
| यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणं | 4 | 15 | b | यातुधानान् ग्रहानपि | 10 | 39 | b |
| यद्वा स भगवांस्तस्मै | 10 | 49 | c | यादृशी द्विजसत्तम | 8 | 13 | d |
| यद्वासुदेवशरणा विदुरञ्जसैव | 7 | 19 | d | यादृशी वा हरेदाशु | 1 | 22 | c |
| यद्विज्ञानसमन्वितम् | 9 | 30 | b | यावत्यः कर्मगतयः | 8 | 13 | c |
| यद्विज्ञानो यदाधारो | 5 | 4 | a | यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन् | 2 | 14 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| यावन्मनो धारणयाऽवतिष्ठते | 2 | 12 | d |
| यावत्सखा सख्युरिवेश ते कृतः | 9 | 29 | a |
| यावा नयं वै पुरुषः | 8 | 8 | c |
| यावा नहं यथाभावो | 9 | 31 | a |
| यावान् कल्पो विकल्पो वा | 8 | 12 | a |
| यास्यन्त्यदर्शनमलं बलपार्थभीम | 7 | 35 | c |
| युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवैः | 9 | 16 | c |
| युगपत्क्रमशोऽपि वा | 4 | 9 | b |
| युगानि युगमानञ्च | 8 | 17 | a |
| यूयं भवंश्च भगवानथ दैत्यवर्गः | 7 | 43 | b |
| ये च प्रलम्बखरदर्दुरकेश्यरिष्ट० | 7 | 34 | a |
| येन स्वरोचिषा विश्वं | 5 | 11 | a |
| येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः | 4 | 18 | c |
| येऽन्येविभीषण हनूमदुपेन्द्रदत्तः | 7 | 45 | c |
| ये यक्षरक्षोरगनागनाथाः | 6 | 43 | b |
| ये वा ऋषीणा मृषभाः पितॄणां | 3 | 42 | c |
| ये वा मृधे समितिशालिनः | 7 | 35 | a |
| ये वै पुरा ब्रह्मण आह पृष्टः | 2 | 32 | c |
| येषां स एव भगवान् दययेत् | 7 | 42 | a |
| यैर्वा यज्ञस्तु सम्भृतः | 6 | 4 | d |
| योगतत्पात्समुत्थितः | 10 | 13 | b |
| योगर्धि मापुरुभयीं यदुहैहयाद्याः | 7 | 4 | d |
| योगस्याध्यात्मिकस्य च | 8 | 19 | d |
| योगिनां नृप निर्णीतं | 1 | 11 | c |
| योगिनो भक्तिलक्षणः | 1 | 21 | b |
| योगेश्वराणां गति माहुरन्तः | 2 | 23 | a |
| योगेश्वरास्थापितपादपल्लवं | 2 | 10 | b |
| योगेश्वरैश्वर्यगतिः | 8 | 20 | a |
| योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः | 10 | 8 | a |
| योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहं | 9 | 32 | d |
| यो चचार समदृक् जडयोगचर्यां | 7 | 10 | b |
| यो वै प्रतिश्रुत मृते न चिकीर्षत् | 7 | 18 | c |
| यो ह्यात्ममायाविभवं स्म पर्यगात् | 6 | 35 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **र** | | | |
| रक्षाकामः पुण्यजनान् | 3 | 8 | c |
| रक्षोभूतगणोरगाः | 6 | 13 | b |
| रघ्वम्बरीषसगरा गयनाहुषाद्याः | 7 | 44 | b |
| रजस्तमोभ्यामाक्षिप्तं | 1 | 20 | a |
| रजस्सत्त्वोपबृंहितात् | 5 | 23 | b |
| रतिरात्मन् यतो भवेत् | 2 | 34 | d |
| रममाणो गुणेष्वस्याः | 9 | 2 | c |
| रमेत गतसम्मोह० | 9 | 3 | c |
| रसलोहमृदो जलं | 6 | 24 | b |
| राज्ञः प्रश्नानुसारतः | 10 | 51 | d |
| राज्ञा परीक्षिता पृष्टो | 10 | 51 | a |
| राज्यकामो मनून् देवान् | 3 | 9 | a |
| राज्ये चाविकले नित्यं | 4 | 2 | c |
| रासोन्मुखः कलपदायतमूर्छितेन | 7 | 33 | b |
| रिक्थादानामनुव्रतः | 9 | 40 | b |
| रुद्धा गृहाः किमजितोऽवति - | 2 | 5 | c |
| रुरुहातेऽभिकामिकम् | 10 | 25 | b |
| रूपवत्स्पर्शवञ्चाम्भः | 5 | 28 | c |
| रूपवत्स्पर्शशब्दवत् | 5 | 27 | d |
| रूपाणां तेजसां चक्षुः | 6 | 3 | a |
| रूपाभिकामो गन्धर्वान् | 3 | 6 | a |
| रूपन्तु दृष्ट्वा श्वसनं त्वचैव | 2 | 29 | b |
| रोचितं रोचयाम्यहम् | 5 | 11 | b |
| रोदसी लोकमातरौ | 3 | 5 | d |
| रोमाण्युद्भिज्जजातीनां | 6 | 4 | c |
| रोषं दहन्त मुत तेन दहन्त्यसह्य- | 7 | 7 | b |
| **ल** | | | |
| लक्षणै रनुमापकैः | 2 | 35 | d |
| लक्षणं हेतुलक्षणम् | 8 | 19 | b |
| लक्षित स्स्वात्मना हरिः | 2 | 35 | b |
| लक्ष्यतेऽण्वी बृहत्यपि | 8 | 13 | b |
| लघुगुर्वोष्णशीततां | 10 | 23 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| लब्धोपशान्ति विरमेत कृत्यात् | 2 | 16 | d |
| लसद्विमानावलिभिर्महात्मनां | 9 | 12 | b |
| लसन्महारत्नहिरण्मयाङ्गदं | 2 | 9 | c |
| लिङ्गं यद्द्रष्टृदृश्ययोः | 5 | 25 | d |
| लिङ्गभङ्गस्तु योगिनां | 8 | 20 | b |
| लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये | 3 | 22 | b |
| लीलावतारान् पुरुषस्य भूम्नः | 6 | 45 | b |
| लोकत्रयस्य महती महरद्यदार्तिं | 7 | 2 | c |
| लोकसंस्थानलक्षणं | 8 | 8 | b |
| लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं | 4 | 15 | c |
| लोकानां प्रपिता महं | 9 | 42 | b |
| लोकान् घ्नतां मतिविमोहम् | 7 | 37 | c |
| लोकान् विचक्रम इमान् यदथ- | 7 | 17 | b |
| लोकै रमुष्यावयावाः | 8 | 11 | c |
| लोकं विकुण्ठ मुपनेष्यति गोकुलं | 7 | 31 | d |
| **व** | | | |
| वक्षस्स्थल स्पर्शरुग्णमहेन्द्रवाह० | 7 | 25 | a |
| वत्स! ते विचिकित्सितं | 5 | 9 | b |
| वदन्ति चैतत्कवयो यथारुचं | 4 | 21 | c |
| वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं | 1 | 36 | a |
| वरं मुहूर्तं विदितं | 1 | 12 | c |
| वरं वरय भद्रं ते | 9 | 20 | a |
| वरीयानेष ते प्रश्नः | 1 | 1 | a |
| वरेशं माभिवाञ्छितम् | 9 | 20 | b |
| वर्णयन्ति महात्मानः | 10 | 2 | c |
| वर्णाश्रमविनिश्चयः | 8 | 16 | d |
| वर्षपूगसहस्रान्ते | 5 | 34 | a |
| वर्षा महाध्रमनधैककरे सलीलं | 7 | 32 | d |
| वसुकामो वसून् रुद्रान् | 3 | 3 | c |
| वस्तुनो मृदुकाठिन्य- | 10 | 23 | a |
| वस्तून्योषधयः स्नेहा | 6 | 24 | a |
| वह्निर्वाग्व्याहृतं तयोः | 10 | 19 | b |
| वह्निन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः | 5 | 30 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| वाग्दोर्मेढ्राङ्घ्रिपायवः | 5 | 31 | f |
| वाचां वह्नेर्मुखं क्षेत्रं | 6 | 1 | a |
| वाच्चे बभूवु रुशतीः श्वसतः | 7 | 11 | d |
| वायो रपि विकुर्वाणात् | 5 | 27 | a |
| वाय्वात्मना स्वे बृहदात्मलिङ्गं | 2 | 28 | d |
| वासस्तु सन्ध्यां कुरुवर्य भूम्नः | 1 | 34 | b |
| वासुदेवपरायणः | 3 | 16 | b |
| वासुदेवात्परो ब्रह्मन् | 5 | 14 | c |
| वासुदेवाय धीमहि | 5 | 12 | b |
| वासुदेवाय वेधसे | 4 | 24 | b |
| वासुदेवे भगवति (आत्म) | 4 | 4 | c |
| वासुदेवे भगवति (भक्ति) | 2 | 33 | c |
| विकुर्वन् समभूत्त्रिधा | 5 | 24 | b |
| विकुर्वाणा दभून्नभः | 5 | 25 | b |
| विक्रमः प्रतिसङ्क्रमः | 8 | 21 | b |
| विक्रमो भूर्भुवस्स्वश्च | 6 | 6 | a |
| विक्रीडत्यात्ममायया | 8 | 23 | b |
| विगीयमाना प्रियकर्म गायती | 9 | 13 | d |
| विचक्षणा यच्चरणोपसादनात् | 4 | 16 | a |
| विचिकित्सितमेतन्मे | 4 | 10 | a |
| विजानीहि यथैवेदं | 5 | 8 | c |
| विज्ञानतत्त्वं गुणसन्निरोधं | 2 | 30 | d |
| विज्ञानदृग्वीर्यसुरान्धिताशयः | 2 | 19 | b |
| विज्ञानवसितं तव | 5 | 3 | d |
| विज्ञानशक्तिं महिमामनन्ति | 1 | 35 | a |
| विज्ञानस्य च सत्त्वस्य | 6 | 11 | c |
| विडूरुरङ्घ्रिश्रितकृष्णवर्णः | 1 | 36 | b |
| वितन्वताऽजस्य सतीं स्मृतिं - | 4 | 22 | b |
| वितर्क्यलिङ्गो भगवान्प्रसीदतां | 4 | 19 | d |
| वितस्तिमधितिष्ठति | 6 | 15 | d |
| विदन्ति हि ब्रह्मगतिं गतक्लमाः | 4 | 16 | c |
| विदूरस्य विचेष्टितं | 10 | 50 | b |
| विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनां | 4 | 14 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| विद्धः सपल्युदितपत्रिभिरन्ति | 7 | 8 | a | विसर्गः पौरुषः स्मृतः | 10 | 3 | d |
| विद्याकामस्तु गिरिशं | 3 | 7 | c | विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदाः | 2 | 18 | c |
| विद्यातपोयोगसमाधिभाजां | 2 | 23 | d | विसृज्य वा यथा मायाम् | 8 | 23 | c |
| विद्याध्राश्चारणा द्रुमाः | 6 | 13 | d | विस्फूर्जितैर्धनुष उच्चरतोऽधिसै- | 7 | 25 | d |
| विद्याध्रासुरगुह्यकान् | 10 | 37 | d | विस्रंसितानुरुभये सलिले मुखा- | 7 | 12 | c |
| विद्योतमानः प्रमदोत्तमा द्युभिः | 9 | 12 | c | वीर्यं मे दुश्चरं तपः | 9 | 23 | d |
| विधिवत्कल्पितासने | 1 | 16 | d | वीर्यं हिरण्मयं देवः | 10 | 13 | c |
| विधिस्साधारणो यत्र | 10 | 46 | c | वीर्यकामोऽथ वीर्यवान् | 3 | 3 | d |
| विधूतकल्मोऽथ हरेरुदस्तात् | 2 | 24 | c | वृतं चतुष्षोडशपञ्चशक्तिभिः | 9 | 16 | b |
| विनिर्मितञ्चाऽऽत्मसमं विचक्ष्महे | 6 | 36 | d | वेदगर्भाससृक्षया | 9 | 19 | b |
| विप्लुष्टपौरुषभगं निरये पतन्तम् | 7 | 9 | b | वेदगर्भोऽभ्यधात्साक्षात् | 4 | 25 | c |
| विबुभूषुरुपाददे | 5 | 21 | d | वेदद्रुमं विटपशो विभजिष्यति- | 7 | 36 | d |
| विभूषितं मेखलयाङ्गुलीयकैः | 2 | 11 | a | वेद ह्यप्रतिरुद्धेन | 9 | 24 | c |
| विमूढं मन आत्मनः | 1 | 20 | b | वेदाहमङ्ग परमस्य हि योगमायां | 7 | 43 | a |
| विमोहिता विकत्थन्ते | 5 | 13 | c | वेदोपवेदधर्माणाम् | 8 | 20 | c |
| विराट् स्वराट् स्थास्नु चरिष्णु- | 6 | 41 | d | वेषं विधाय बहुभाष्यत औप- | 7 | 37 | d |
| विरूढां ममतां जहौ | 4 | 2 | d | वैकरिक स्तैजसश्च | 5 | 24 | c |
| विरोचमानाननहासपेशलं | 2 | 11 | d | वैकारिकान्मनोजज्ञे | 5 | 30 | a |
| विलङ्घमानया यस्य | 5 | 13 | a | वैयासकिं मृषिं कविं | 3 | 13 | d |
| विलुम्पन् विसृजन् गुह्यन् | 9 | 26 | c | वैयासकिश्च भगवान् | 3 | 16 | a |
| विलोक्य तत्तान्यदपश्यमानः | 9 | 7 | b | वैयासकेरिति वचः | 4 | 1 | a |
| विवक्षोर्मुखतो भूम्नः | 10 | 19 | a | वैराजः पुरुषो योऽसौ | 1 | 25 | c |
| विशतः संसृता विह | 2 | 33 | b | वैराजात्पुरुषादिदं | 9 | 45 | b |
| विशारदो नृपतिं साधु पृष्टः | 3 | 25 | d | वैश्वानरं याति विहयसा गतः | 2 | 24 | a |
| विशुद्धं केवलं ज्ञानं | 6 | 39 | a | वैहायसाना मुत यद्विहारं | 2 | 22 | b |
| विशेषस्तस्य देहोऽयं | 1 | 24 | a | व्यपेतसंक्लेशविमोह साध्वसं | 9 | 9 | c |
| विशेषस्तु विकुर्वाणात् | 5 | 29 | a | व्यवस्थानं स्वरूपतः | 8 | 22 | d |
| विश्वं पुरुषरूपेण | 6 | 31 | c | व्यवस्थितानामनुमृग्य दाशुषे | 4 | 13 | d |
| विश्वस्थित्युद्भवाप्ययः | 8 | 10 | b | व्यवायेन च वा वयः | 1 | 3 | b |
| विश्वान् देवान् राज्यकामः | 3 | 4 | c | व्याजाह्वयेन हरिणा निलयं तदी- | 7 | 35 | d |
| विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः | 2 | 14 | b | व्यासायामिततेजसे | 9 | 44 | d |
| विष्णुरातेन संसदि | 8 | 27 | d | व्योमेव तत्र पुरुषो न विशीर्यते- | 7 | 49 | d |
| विष्णोर्नु वीर्यगणानां कतमोऽर्ह- | 7 | 40 | a | व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकं | 2 | 37 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| व्रीडोत्तरोष्ठोऽधर एव लोभः | 1 | 32 | a | श्रोतव्यादिषु यः परः | 1 | 1 | d |
| **श** | | | | श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र | 1 | 2 | a |
| शब्दरूपगुणान्वितः | 5 | 29 | d | श्रोत्रमाकाशशब्दयोः | 6 | 3 | d |
| शब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्थाः | 2 | 2 | a | श्रोत्रेण चोपेत्य नभोगुणत्वं | 2 | 29 | c |
| शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् | 7 | 47 | c | श्रोत्रं त्वग्घ्राणदृग्जिह्वा | 5 | 31 | e |
| शश्वत्प्रशान्तमभयं प्रतिबोधमात्रं | 7 | 47 | a | श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः | 3 | 19 | a |
| शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः | 4 | 10 | c | श्वसच्छवो यस्तु न वेदगन्धं | 2 | 23 | d |
| शावौ करौ नो कुरतः सपर्यां | 3 | 21 | c | **स** | | | |
| शास्ता भविष्यति कलेर्भगवान् | 7 | 38 | d | स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः | 10 | 9 | d |
| शिलालोहाभ्रविद्युताम् | 6 | 5 | b | स आदिदेवो जगतां परो गुरुः | 9 | 5 | a |
| शुचौ विविक्त आसीनः | 1 | 16 | c | स आश्रयः परं ब्रह्म | 10 | 7 | c |
| शुद्धं समं सदसतः परमात्म- | 7 | 47 | b | स उपमन्त्रितो राज्ञा | 8 | 27 | a |
| शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः | 4 | 18 | d | स एव पुरुषस्तस्मात् | 5 | 35 | a |
| शुभार्थे धारयेद्धिया | 1 | 18 | d | स एवेदं जगद्धाता | 10 | 42 | a |
| शुल्बं सुतस्य न तु तत्तदमुष्य- | 7 | 30 | b | स एष आत्माऽऽत्मवताम् | 4 | 19 | a |
| शुश्रूषमाणः शीलेन | 9 | 40 | c | स एष आद्यः पुरुषः | 6 | 28 | a |
| शृण्वतः श्रद्धया नित्यं (गृणतश्च) | 8 | 4 | a | स एष भगवांल्लिङ्गैः | 5 | 20 | a |
| शृण्वतः श्रद्धया नित्यं (मायया) | 7 | 53 | c | सकर्माकर्मकः परः | 10 | 36 | d |
| शेते सर्वगुहाशयः | 8 | 10 | d | सङ्कल्पस्तन्त्रमेव च | 6 | 25 | d |
| शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य | 7 | 41 | d | सङ्कल्पः काम एव च | 10 | 30 | d |
| श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः | 9 | 11 | a | सङ्गं व्युदस्योऽभयतोऽन्तरात्मनः | 4 | 16 | b |
| श्रद्दधानो महामनाः | 4 | 3 | d | सङ्ग्रहोऽयं विभूतीनां | 7 | 51 | c |
| श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिः | 4 | 20 | a | स चन्द्रमास्सर्वविकारकोशः | 1 | 34 | d |
| श्रियः पतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम् | 9 | 14 | c | स चाऽपि यत्र पुरुषः | 8 | 10 | a |
| श्रीर्यत्र रूपिण्युरगायपादयोः | 9 | 13 | a | स चिन्तयन् द्व्यक्षरमेकदाऽम्भसि | 9 | 6 | a |
| श्रीलक्ष्मणं कौस्तुभरत्नकन्धरं | 2 | 10 | c | सतामीशकथाः प्रोक्ताः | 10 | 5 | c |
| श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः | 3 | 23 | c | सतां स्युर्हि समागमे | 3 | 16 | d |
| श्रीह्रीविभूत्यात्मवदद्भुतार्णं | 6 | 44 | c | सतां स्युस्सदसि ध्रुवम् | 3 | 14 | d |
| श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा | 10 | 2 | d | सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्नपात्र्या | 2 | 4 | b |
| श्रुत्वा हरिस्तमरणार्थिनमप्रमेयः | 7 | 16 | a | सत्यं तु शोर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः | 1 | 28 | d |
| श्रेणीनां राजर्षीणाञ्च | 8 | 18 | c | सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रया- | 2 | 4 | d |
| श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च(स्मर्तव्यश्च०) | 1 | 5 | c | सत्ये त्रिपृष्ठ उशर्ती प्रथयंश्चरित्रैः | 7 | 20 | d |
| श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च(स्मर्तव्योभग) | 2 | 36 | c | सत्रे ममास भगवान्हयशीरषाथो | 7 | 11 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सत्त्वञ्च मिश्रं न च कालविक्रमः | 9 | 10 | b |
| सत्त्वं रज स्तम इति (निर्गु०) | 5 | 18 | a |
| सत्त्वं रज स्तम इति (तिस्रः) | 10 | 41 | a |
| सदसत्किञ्चिदन्यतः | 5 | 6 | d |
| सदसत्त्व मुपादाय | 5 | 33 | c |
| सदुद्भवस्थाननिरोधलीलया | 4 | 12 | b |
| सद्योऽसुभिस्सह निनेष्यति | 7 | 25 | c |
| सध्र्यङ् नियम्य यतयो यमकतं | 7 | 48 | c |
| सन्दर्शयामास परं न यत्परम् | 9 | 9 | b |
| सन्धार्यतेऽस्मिन् वपुषि स्थविष्ठे | 1 | 38 | c |
| सपालाः पूर्वकल्पिताः | 8 | 11 | b |
| सपालैरिति शुश्रुम | 8 | 11 | d |
| सप्तावरणसंयुते | 1 | 25 | b |
| सप्ताहं जीविताविधिः | 1 | 14 | b |
| सप्तोक्षशम्बरविदूरथरुक्मिमुख्याः | 7 | 34 | d |
| सप्तोर्ध्व जघनादिभिः | 5 | 36 | d |
| स भवानचरद्धोरं | 5 | 7 | a |
| सभूतसूक्ष्मेन्द्रियसन्निकर्षं | 2 | 30 | a |
| समासेन हरेर्नान्यत् | 7 | 50 | c |
| समीचीनं वचो ब्रह्मन् | 4 | 5 | a |
| स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदतां | 4 | 22 | d |
| स मुकुन्दो भगवान् प्रसीदतां | 4 | 21 | d |
| सम्प्रदिश्यैवमजनः | 9 | 37 | a |
| सम्प्लवः सर्वभूतानां | 8 | 21 | a |
| सम्भवश्चैतदोकसां | 8 | 15 | a |
| सम्भाराः सम्भृता मया | 6 | 26 | d |
| सम्यक्कारुणिकस्येदं | 5 | 9 | a |
| सम्यक् जगाद मुनयो यदचक्षत | 7 | 5 | d |
| सरस्वत्यास्तटे नृप! | 9 | 44 | b |
| सरहस्यं तदङ्गञ्च | 9 | 30 | c |
| सरित्समुद्रद्वीपानां | 8 | 15 | c |
| सर्गादावगुणः स्वतः | 6 | 30 | d |
| सर्गाः प्राकृतवैकृताः | 10 | 46 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सर्गे तपोऽहमृष्यो नव ये प्रजेशाः | 7 | 39 | a |
| सर्पान् किम्पुरुषोरगान् | 10 | 38 | b |
| सर्वकामवरस्यापि | 6 | 6 | e |
| सर्वज्ञ सकलेश्वर | 5 | 8 | b |
| सर्वज्ञस्य तवाऽनघ | 4 | 5 | b |
| सर्वभूतमयो विश्वं | 9 | 38 | c |
| सर्वमेतञ्च भगवन् | 8 | 24 | a |
| सर्वमेधस्य चैव हि | 6 | 4 | b |
| सर्वं पुरुष एवेदं | 6 | 15 | a |
| सर्वात्मनाऽऽश्रितपदो यदि | 7 | 42 | b |
| सर्वन्तनोऽन्तकरणं गिरित्रं | 1 | 35 | b |
| सर्वात्मन्यखिलाधारे | 7 | 52 | c |
| सर्वासूनाञ्च वायोश्च | 6 | 2 | a |
| सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणि- | 9 | 11 | c |
| सर्वे मृगाः पशवः श्रोणिदेशे | 1 | 35 | d |
| सर्वेषां मम चेश्वरः | 5 | 20 | d |
| सर्वं ह्येतद्भवान् वेद | 5 | 3 | a |
| सलिलस्य यथा शरत् | 8 | 5 | d |
| स वनस्पतयः कुशाः | 6 | 23 | b |
| स वाच्यवाचकतया | 10 | 36 | a |
| स विकल्प उदाहृतः | 10 | 46 | b |
| स विद्युदभ्रावलिभिर्यथा नभः | 9 | 12 | d |
| स विशेषश्च यादृशः | 8 | 18 | b |
| स वै पुनर्नेह विषज्जतेऽङ्ग! | 2 | 31 | d |
| स वै भागवतो राजा | 3 | 15 | a |
| स श्रेयसामपि विभुर्भगवान् यत | 7 | 49 | a |
| ससर्जेदं स पूर्ववत् | 9 | 38 | d |
| स सर्वधीवृत्त्यनुभूत सर्वः | 1 | 39 | a |
| सहस्रपरिवत्सरान् | 10 | 11 | b |
| सहस्राननशीर्षवान् | 5 | 35 | d |
| सहस्रोर्वङ्घ्रि बाह्वक्षः | 5 | 35 | c |
| सहैव गच्छेन्मनसेन्द्रियैश्च | 2 | 22 | d |
| संनियच्छति कालेन | 10 | 43 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| संयच्छति च पाति च | 6 | 38 | d | स्त्रीभिस्समं नवभिरात्मगतिं | 7 | 3 | b |
| संवादोऽध्यात्मसंश्रितः | 10 | 49 | b | स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः | 7 | 46 | b |
| संवीक्ष्य शङ्कितमनाः | 7 | 30 | d | स्थविष्ठश्च स्थवीयसां | 1 | 24 | b |
| संसाद्य गत्या सह तेन याति | 2 | 30 | c | स्थातुमीक्षापथेऽमुया | 5 | 13 | b |
| संसारहेतूपरमश्च यत्र | 2 | 6 | d | स्थानं पोषणमूतयः | 10 | 1 | b |
| संस्तुतः पुरुषः पशुः | 3 | 19 | b | स्थाने च धर्ममखमन्वमरावनी- | 7 | 39 | b |
| संस्थावयववानिव | 8 | 8 | f | स्थानेषु षट्सूत्रमयेङ्गितक्लृप्तः | 2 | 19 | d |
| संस्थां विज्ञाय सन्यस्य | 4 | 4 | a | स्थितिर्वैकुण्ठविजयः | 10 | 4 | a |
| सक्षात्सयज्ञपुरुषस्तपनीयवर्णः | 7 | 11 | b | स्थितिसर्गनिरोधेषु | 5 | 18 | c |
| साध्यान् संसाधको विशां | 3 | 4 | d | स्थित्वा मुहूर्तार्धमकुण्ठदृष्टिः | 2 | 21 | c |
| सारस्वतोद्धवपराशरभूरिषेणाः | 7 | 45 | b | स्थिरं सुखञ्चासनमाश्रितो यतिः | 2 | 15 | a |
| साशनानशने उभे | 6 | 20 | b | स्थूलं ते व्याहृतं मया | 10 | 33 | b |
| सिद्धचारण गन्धर्वान् | 10 | 37 | c | स्थूले भगवतो रूपे | 1 | 23 | c |
| सिद्धेऽन्यथाऽर्थे न यतेत तत्र | 2 | 3 | c | स्थिग्धामलाकुञ्चितनीलकुन्तलैः | 2 | 11 | c |
| सुनन्दनन्दप्रबलार्हणादिभिः | 9 | 14 | c | स्पर्शेषु यत्षोडशमेकविंशं | 9 | 6 | c |
| सुरासुरनरा नागाः | 6 | 12 | c | स्पृहां देहेऽनु ये च तम् | 1 | 15 | d |
| सुषुम्णया ब्रह्मपथेन शोचिषा | 2 | 24 | b | स्फुरन्महारत्नकिरीटकुण्डलम् | 2 | 9 | d |
| सूत नोऽर्हसि भाषितुम् | 3 | 14 | b | स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम् | 1 | 5 | d |
| सृजामि तन्नियुक्तोऽहम् | 6 | 31 | a | स्मर्तव्यो भगवान्नृणाम् | 2 | 36 | d |
| सृजामि तपसैवेदं | 9 | 23 | a | स्या दप्रमत्तो व्यवसायबुद्धिः | 2 | 3 | b |
| सृज्यं सृजामि सृष्टोऽहं | 5 | 17 | c | स्यान्मुकुन्दे मतिस्सती | 1 | 10 | d |
| सृती विचक्रमे विष्वङ् | 6 | 20 | a | स्व एव धामन् रममाणमीश्वरं | 9 | 16 | d |
| सोऽमृतस्याभयस्येशः | 6 | 17 | a | स्वकर्मजान् परिताप्राञ्जुषाणम् | 2 | 7 | d |
| सोऽयं तेऽभिहितस्तात | 7 | 50 | a | स्वतालुमूलं शनकैर्नयेत | 2 | 20 | d |
| सोऽयं यदन्तरमलं प्रविशन् | 7 | 7 | c | स्वदृष्टवद्भिर्विबुधैरभिष्टुतम् | 9 | 9 | d |
| सोऽलङ्कृषीष्ट भगवान् वचांसि मे | 4 | 23 | d | स्वधर्मपरिनिष्ठया | 1 | 6 | b |
| सोऽसावेवाधिदैविकः | 10 | 8 | b | स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः | 4 | 14 | d |
| सोऽहं समाम्नायमयस्तपोमयः | 6 | 34 | a | स्वधिष्ण्यमास्थाय विमृश्य - | 9 | 7 | c |
| सोऽहङ्कार इति प्रोक्तः | 5 | 24 | a | स्वधिष्ण्यं प्रतपन् प्राणो | 6 | 16 | a |
| सौभगस्य च भाजनम् | 6 | 3 | f | स्वधिष्ण्यमास्थाय सिसृक्षयैक्षत | 9 | 5 | b |
| सौभर्युतङ्कशिबिदेवलपिप्पलाद० | 7 | 45 | a | स्वपार्षदमुख्यैः परिसेवितं विभुं | 9 | 14 | d |
| स्तोकायुषां स्वनिगमो बत दूरपा- | 7 | 36 | b | स्वपार्ष्णिनाऽऽपीड्य गुदं ततः | 2 | 19 | c |
| स्त्रीकामोऽप्सर उर्वशीं | 3 | 6 | b | स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसा | 9 | 1 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| स्वभाव उपहन्यते | 10 | 41 | f | हरेरद्भुतकर्मणः | 4 | 8 | b |
| स्वभावो जीव एव च(यदनु०) | 10 | 12 | b | हरेरद्भुतवीर्यस्य | 8 | 2 | c |
| स्वभावो जीव एव च(वासु०) | 5 | 14 | b | हरेर्नामानुकीर्तनं | 1 | 11 | d |
| स्वरस्मृतीरसुरानीकवीर्यः | 1 | 36 | d | हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा | 3 | 21 | d |
| स्वरूपेण व्यवस्थितिः | 10 | 6 | d | हरेश्चरण आस्पदं | 6 | 6 | d |
| स्वर्गकामोऽदितेस्सुतान् | 3 | 4 | b | हरेश्चास्यानुवर्णिनां | 10 | 5 | b |
| स्वर्लोकः कल्पितो मूर्ध्ना | 5 | 42 | c | हरो हरति तद्वशः | 6 | 31 | b |
| स्वर्लोकपालाः खगलोकपालाः | 6 | 42 | c | हर्तुर्हरिष्यति शिरो धनदानुगस्य | 7 | 33 | d |
| स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यतः | 4 | 22 | c | हव्यकव्यामृतान्नानां | 6 | 1 | c |
| स्वलक्षितगतिर्ब्रह्मन् | 5 | 20 | c | हस्ते प्रगृह्यभगवान् कृपयोज्झहार | 7 | 16 | d |
| स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्त- | 7 | 10 | d | हस्तौ रुरुहतुस्तस्य | 10 | 24 | a |
| स्वानां भावसरोरुहम् | 8 | 5 | b | हासो जनोन्मादकरी च माया | 1 | 31 | c |
| स्वायम्भुवेन मनुना हरिरिति- | 7 | 2 | d | हिंसया निर्ऋतेर्मृत्योः | 6 | 8 | c |
| स्वाहास्वधावषडिति स्म गिरो | 7 | 38 | c | हृदयं मनसः पदं | 6 | 10 | d |
| **ह** | | | | हृदा स्वर्लोक उरसा | 5 | 38 | c |
| हन्ति वा तत्कृतं मलम् | 1 | 20 | d | हृदोपगुह्यार्हपदं पदे पदे | 2 | 18 | d |
| हरये विहिताञ्जलिः | 9 | 38 | b | हृषीकेशमनुस्मृत्य | 4 | 11 | c |
| हरिः सर्वत्र सर्वदा | 2 | 36 | b | हृष्यत्तनुः प्रेमभराश्रुलोचनः | 9 | 17 | b |
| हरेः कथयतः कथां | 4 | 5 | d | | | | |

# व्याख्यानोद्धृतानां प्रमाणवचनानां आकरनिर्देशनी द्वितियः स्कन्धः

| S.No. | Adhyaya No. | Sloka No | TEXT QUOTED | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| | | | अ | | |
| 1. | 7 | 8 | अ इति ब्रह्म | विज | |
| 2. | 3 | 8 | अकामो धर्मकामो वा | विज | |
| 3. | 7 | 11 | अक्षराणामकारोऽस्मि | रा कृ | भ.गी. 10-33 |
| 4. | 2 | 24 | अग्निर्ज्योतिरहः | वीर | भ.गी. 8 -24 |
| 5. | 2 | 28 | अग्नि (र्वायु) भूत्वा अभ्रं | वीर | |
| 6. | 5 | 30 | अग्निर्वाग्भूत्वा | वीर | त.उ. 1-2-4 |
| 7. | 7 | 24 | अग्निः सुशोषः कक्ष | विज | |
| 8. | 10 | 45 | अजायमनो बहुधा | वीर | पु.सू. 2-1 |
| 9. | 5 | 34 | अजीवोऽपि महातेजा | विज | स्कान्दे |
| 10. | 10 | 45 | अजोऽपि सन्नव्ययात्मा | वीर | भ.गी. 4-6 |
| 11. | 4 | 22 | अजः पितामहेऽनादौ | विज | वैज.को. 6-5-4 |
| 12 | 4 | 14 | अज्ञानां ज्ञानदो विष्णुः | विज | |
| 13. | 9 | 1 | अञ्जसा त्वरिते तत्त्वे | विज | वैज.को. 8-7-31 |
| 14. | 10 | 34 | अणोरणीयान् | विज | कठ.उ. 2-20 |
| 15. | 1 | 25 | अण्डकोशो विराट प्रोक्तो | विज | |
| 16. | 5 | 34 | अण्डे जातौ पुमांसौ | विज | स्कान्दे |
| 17. | 10 | 10 | अण्डं प्रविष्टो यो विष्णुः | विज | नारायणाध्यात्मं |
| 18. | 9 | 11 | अत ईनिठनौ | वीर | अष्टा. 5-2-115 |
| 19. | 5 | 31 | अतिजाज्वल्यमानत्वात् | विज | पाद्मे |
| 20. | 9 | 45 | अतः सृजति भूतानि | वीर | भाग. 2-8-9 |
| 21. | 6 | 16 | अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् | वीर | पु.सू. 1-1 |
| 22. | 2 | 22 | अत्र ब्रह्म समश्नुते | वीर | कठ.उ. 6-14 |
| 23. | 2 | 32 | अथ य इमे ग्रामे | वीर | छान्दो.उ. 5-10-3 |
| 24. | 2 | 24 | अथ यदुचास्मिञ्छव्यं | वीर | छान्दो.उ. 4-15-5 |
| 25. | 9 | 1 | अथ रथान् रथयोगान् | वीर | छान्दो.उ. 4-3-10 |
| 26. | 1 | 5 | अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा | वीर | ब्र.सू. 1-1-1 |
| 27. | 6 | 33 | अथाऽतोऽनन्तराप्यर्थ | विज | वैज.को. 8-7-14 |
| 28. | 7 | 21 | अथैकयोर्ध्वमुदानः | विज | प्रश्न.उ. 3-7 |
| 29. | 9 | 44 | अधीतवान् द्वापरादौ | वीर | भाग. 2-1-8 |

| S.No. | Adhyaya No. | Sloka No. | TEXT QUOTED | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 30. | 6 | 15 | अधो निष्ट्या वितस्त्यान्तु | वीर | म.ना.उ.13-2 |
| 31. | 6 | 19 | अनन्तासन वैकुण्ठ | विज | मात्स्ये |
| 32. | 3 | 7 | अनन्याश्चिन्तयन्तो मां | वीर | भ.गी. 9-22 |
| 33. | 2 | 32 | अनपेक्षो निर्भिद्य मूर्धन् | श्रीध | |
| 34. | 6 | 17 | अनश्नन्यो अभिचाक | वीर | मुण्ड.उ. 3-1-1 |
| 35. | 7 | 42 | अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या | वीर | विष्णु.पु. 6-7-11 |
| 36. | 1 | 7 | अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् | वीर | ब्र.सू. 3-4-50 |
| 37. | 10 | 6 | अनुप्रविश्य परमं | विज | नारदीये |
| 38. | 9 | 34 | अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं | वीर | म.ना.उ. 9-5 |
| 39. | 10 | 13 | अन्तस्थितहरेः कामा | विज | अध्यात्मे |
| 40. | 1 | 5 | अन्तः प्रविष्टः शास्ता | वीर | तैत्ति.आ. 3-11 |
| 41. | 7 | 31 | अन्यथाज्ञानहेतुर्या | विज | त(म)न्त्रमालायाम् |
| 42. | 2 | 23 | अपका ये न ते यान्ति | विज | |
| 43. | 2 | 24 | अपवित्र करो नग्नः | वीर | |
| 44. | 5 | 10 | अपिः पदार्थसम्भावना | विज | अष्टा. 1-4-96 |
| 45. | 1 | 3 | अप्यकार्यशतं कृत्वा | विज | |
| 46. | 6 | 18 | अमनन्तं विदु र्बुधाः | विज | अक्षरमामायाम् |
| 47. | 6 | 41 | अयं लोकस्तु वै सम्राट् | वीर | |
| 48. | 6 | 15 | अय मात्मा ब्रह्म | वीर | बृह.उ. 6-4-5 |
| 49. | 2 | 24 | अर्चिषमभिसम्भवन्ति | वीर | छान्दो.उ. 5-10-1 |
| 50. | 10 | 45 | अर्थः स्याद्विषये मोक्षे | वीर | वैज.को. 6-1-3 |
| 51. | 7 | 8 | अवतारो महाविष्णोः | विज | प्रकाश संहितायाम् |
| 52. | 6 | 20 | अविद्याकर्मसंज्ञान्मा | वीर | विष्णु.पु. 6-7-61 |
| 53. | 6 | 17 | अव्यक्तमात्मनोन्नम् | विज | नारदीये |
| 54. | 4 | 47 | अव्यक्ताद्यनहम्मानात् | विज | ब्रह्मतर्के |
| 55. | 9 | 1 | अशरीरस्य जीवस्य | विज | भविष्यत्पुराणे |
| 56. | 2 | 24 | अश्व इव रोमाणि विधूय | वीर | छान्दो.उ. 8-13-1 |
| 57. | 9 | 10 | असुरत्वगुणोपेतैः | विज | |
| 58. | 6 | 16 | ससौवा अदित्यः प्राणः | श्रीध | छान्दो.उ. 3-1-1 |
| 59. | 9 | 43 | अहमेवाऽसमेवाऽग्रे | वीर | भाग. 2-9-32 |
| 60. | 7 | 46 | अहं कृत्स्नस्य जगतः | राधाकृ | भ.गी. 7-6 |
| 61. | 5 | 15 | अहं हि सर्वयज्ञानाम् | विज | भ.गी. 9-24 |

| S.No. | Adhyaya No. | Sloka No. | TEXT QUOTED | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 62. | 4 | 18 | अहं हि सर्वयज्ञानाम् | वीर | भ.गी. 9-24 |
| 63. | 9 | 39 | अहिंसा सतामस्तेयं.....शृणु. | विज | भार.14-App4-2214 Pr |
| | | | **आ** | | |
| 64. | 5 | 33 | आकाशवायू त्वव्यक्तौ | विज | मात्स्ये |
| 65. | 2 | 28 | आकाशं भिनत्ति | वीर | सुबा.उ. 11 |
| 66. | 2 | 31 | आत्मन आकाशस्सम्भूतः | वीर | तैत्ति.उ. 2-1-1 |
| 67. | 7 | 42 | आत्मसमं विचक्ष्महे | वीर | |
| 68. | 6 | 11 | आत्मा जीवे धृतौ देहे | विज | वैज.को. 6-1-6 |
| 69. | 1 | 38 | आत्मा त्वं गिरिजा मतिः | रा कृ | शिवमानस पूजा |
| 70. | 1 | 2 | आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः | विज | बृह.उ. 2-4-5 |
| 71. | 1 | 5 | आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः | वीर | बृह.उ. 2-4-5 |
| 72. | 2 | 31 | आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् | वीर | श्वेता.उ.3-8 |
| 73. | 10 | 21 | आदित्यश्चक्षुर्भुत्वा | वीर | ऐत.उ. 1-2-4 |
| 74. | 3 | 17 | आदित्यस्य गतागतैः | विज | सुभाषितावलिः |
| 75. | 7 | 39 | आद्योऽवतारः पुरुषः | वीर | भाग. 2-6-41 |
| 76. | 2 | 27 | आधिस्तु व्यसने चित्ते | विज | वैज.को. 6-1-7 |
| 77. | 2 | 31 | आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् | वीर | तैत्ति.उ. 3-6 |
| 78. | 1 | 39 | आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् | वीर | तैत्ति.उ. 2-4 |
| 79. | 8 | 24 | आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः | विज | भगवच्छास्त्रे(पाञ्चरत्रे) |
| 80. | 10 | 19 | आपो नारा इति प्रोक्ता | श्रीध | विष्णु.पु. 1-4-6 |
| 81. | 10 | 20 | आपो नारा इति प्रोक्ता | वीर | विष्णु.पु. 1-4-6 |
| 82. | 2 | 16 | आप्रयाणात् तत्राऽपि हि | वीर | ब्र.सू. 4-1-12 |
| 83. | 2 | 27 | आब्रह्मभुवनाल्लोकाः | वीर | भ.गी. 8-16 |
| 84. | 10 | 35 | आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ता | वीर | विष्णु.ध.पु.104-23to26 |
| 85. | 2 | 34 | आलोड्य सर्वशास्त्राणि | वीर | भार.13App.13-20 |
| 86. | 7 | 37 | आविपश्चितः वेदवाद | रा कृ | भ.गी. 2-42 |
| 87. | 10 | 7 | आविर्भावतिरोभाव | वीर | विष्णु.पु. 1-22-68 |
| 88. | 1 | 16 | आश्रयं भद्रमीक्षत | वीर | भाग. 2-1-21 |
| 89. | 4 | 14 | आशास्तु(दिशस्तु?) ककुभः | विज | अम.को. 1-72 |
| 90. | 9 | 4 | आसीद्यदुरात्पद्मं | श्रीध | भाग. 2-8-8 |
| | | | **इ** | | |
| 91. | 7 | 35 | इच्छया वा बहुविधः | विज | अध्यात्मे |

| S.No. | Adhyaya No. | Sloka No. | TEXT QUOTED | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 92. | 4 | 12 | इच्छाज्ञानं क्रिया चेति | विज | प्रकाशसंहितायाम् |
| 93. | 10 | 48 | इत्यभिव्याहृतं राजा | वीर | भाग. 2-3-13 |
| 94. | 10 | 45 | इन्द्रो मायाभिः | श्रीध | बृह.उ. 2-5-15 |
| | | | ई | | |
| 95. | 2 | 23 | ईयुस्त्रीन् कर्मणा लोकान् | विज | ब्रह्मतर्के |
| 96. | 7 | 2 | ईशावास्यमिदं | विज | ईशा.उ. 1 |
| 97. | 5 | 21 | ईशो वह्नी पुरः सृष्ट्वा | विज | ब्रह्मतर्के |
| | | | उ | | |
| 98. | 7 | 26 | उज्झहारात्मनः केशौ | श्रीध | विष्णु.पु. 5-1-10 |
| 99. | 7 | 26 | उज्झहारात्मनः केशौ | वीर | विष्णु.पु. 5-1-10 |
| 100. | 9 | 45 | उताप्यर्थविकल्पयोः | विज | अम.को. 3-398 |
| 101. | 6 | 17 | उतामृतत्वस्य (ईशानः) | वीर | पु.सू. 1-1 |
| 102. | 6 | 29 | उतामृतत्वश्येशानः | विज | पु.सू. 1-1 |
| 103. | 3 | 16 | उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव | वीर | विष्णु.पु. 6-5-78 |
| 104. | 8 | 24 | उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव | वीर | विष्णु.पु. 6-5-78 |
| 105. | 10 | 48 | उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव | वीर | विष्णु.पु. 6-5-78 |
| 106. | 1 | 9,10 | उदरं संशयः प्रोक्तः | विज | |
| 107. | 1 | 2 | उपनयनमेध्यापर | वीर | ऐत.ब्रा. 2-6 |
| 108. | 2 | 16 | उपोधिकेऽन्तिके हीने | विज | वैज.को. 8-7-18 |
| | | | ऋ | | |
| 109. | 7 | 43 | ऋतस्य तन्तुं विततं | विज | म.ना.उ. 2-6 |
| 110. | 9 | 43 | ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत | वीर | भाग. 2-9-33 |
| 111. | 6 | 39 | ऋतं तदात्मता ज्ञप्तेः | विज | ब्रह्मतर्के |
| 112. | 6 | 40 | ऋतं तदात्मना ज्ञप्तेः | विज | ब्रह्मतर्के |
| 113. | 2 | 1 | ऋषि माद्यं न बध्नाति | वीर | भाग. 3-9-35 |
| | | | ए | | |
| 114. | 2 | 34 | एकस्य प्रतिभानन्तु | विज | |
| 115. | 1 | 23 | एकं वा संयोगरूप | वीर | पूर्वमी.सू. 2-49 |
| 116. | 6 | 19 | एकांशेन स्थितौ जगत् | वीर | भ.गी. 10-42 |
| 117. | 5 | 10 | एकः सृजति भूतानि | श्रीध | भाग. 2-5-4 |
| 118. | 5 | 10 | एकः सृजति भूतानि | वीर | भाग. 2-5-4 |
| 119. | 5 | 10 | एकः सृजति भूतानि | विज | भाग. 2-5-4 |

| S.No. | Adhyaya No. | Sloka No | TEXT QUOTED | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 120. | 5 | 13 | एकः सृजति भूतानि | विज | भाग. 2-5-4 |
| 121. | 5 | 21 | एकः सृजति भूतानि | वीर | भाग. 2-5-4 |
| 122. | 2 | 6 | एतमितः प्रेत्याभि | विज | छान्दो.उ. 3-14-4 |
| 123. | 6 | 33 | एतावत्त्वं यतो हि मे | श्रीध | भाग. 2-5-10 |
| 124. | 6 | 33 | एतावत्त्वं यतो हि मे | वीर | भाग. 2-5-10 |
| 125. | 6 | 17 | एतावानस्य महिमा | श्रीध | पु.सू. 1-1 |
| 126. | 6 | 17 | एतावानस्य महिमा | वीर | पु.सू. 1-1 |
| 127. | 2 | 24 | एतेन प्रतिपाद्यमाना | वीर | छान्दो.उ. 4-15-5 |
| 128. | 2 | 31 | एतेन प्रतिपाद्यमाना | वीर | छान्दो.उ. 4-15-5 |
| 129. | 2 | 22 | एते सृती ते नृप देव | वीर | भाग. 2-2-32 |
| 130. | 2 | 24 | एष आत्मा निष्क्रामति | वीर | बृ.ह. 4-4-2 |
| | | | **ऐ** | | |
| 131. | 7 | 19 | ऐतरेयो हरिः प्राह | विज | ब्राह्मे |
| 132. | 7 | 18 | ऐन्द्रं पदं नान्तरीयं | विज | ब्रह्मतर्के |
| | | | **ओ** | | |
| 133. | 5 | 27 | ओजोऽवष्टम्भबलयोः | विज | वैज.को. 6-3-4 |
| 134. | 5 | 13 | ओं नमो भगवते वासुदेवाय | विज | |
| | | | **क** | | |
| 135. | 9 | 19 | कवियः पुत्रस्य इमा | विज | ऋ.वे.सं. 1-164-16 |
| 136. | 9 | 31 | काठिन्यवान् यो बिभर्ति | वीर | विष्णु.पु. 1-14-28 |
| 137. | 1 | 5 | कारणं तु ध्येयः | वीर | अथ.शिखा.उ.-2-17 |
| 138. | 5 | 20 | कार्यकारणकर्तृत्वे | विज | भाग. 2-5-19 |
| 139. | 5 | 21 | कालकर्मस्वभावादि | विज | ब्रह्मतर्के |
| 140. | 6 | 41 | कालो वस्तुस्वभावश्च | विज | ब्राह्मे |
| 141. | 6 | 11 | कुमार ब्रह्मरुद्राद्या | विज | वामने |
| 142. | 7 | 26 | कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् | श्रीध | भाग. 1-3-28 |
| 143. | 7 | 2 | क्रियाभिमानाद्यज्ञोऽसौ | विज | पाद्मे |
| 144. | 1 | 7 | क्रियावानेव ब्रह्मविदां | वीर | मुण्ड.उ. 3-1-4 |
| 145. | 6 | 2 | क्लीबे घ्राणं गन्धवहः | विज | अम.को. 2-349 |
| 146. | 2 | 31 | क्षयन्तमस्य रजसः पराके | वीर | |
| 147. | 3 | 22 | क्षेमं पुरे गृहे देहे | विज | वैज.को. 6-3-6 |
| 148. | 6 | 1 | क्षेमं पुरे गृहे देहे | विज | वैज.को. 6-3-6 |

| S No. | Adhyaya No. | Sloka No. | TEXT QUOTED | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| | | | ख | | |
| 149. | 5 | 10 | खेदानुकम्पा सन्तोष | विज | अम.को. 2-399 |
| | | | ग | | |
| 150. | 5 | 16 | गम्येज्यज्ञेयवाच्येषु | विज | वाराहे |
| 151. | 5 | 10 | गर्हासमुच्चय प्रश्न | विज | अम.को. 2-404 |
| 152. | 5 | 22 | गुण कालस्वभावेभ्य: | विज | षाड्गुण्ये |
| 153. | 7 | 33 | गोष्ठाऽध्वनिवहा व्रजा: | विज | अम.को. 3-187 |
| 154. | 2 | 31 | गौरनाद्यन्तवती सा | वीर | मन्त्रिक.उ. 4 |
| | | | च | | |
| 155. | 2 | 8 | चतुर्वेद्यपि यो विप्रो | विज | |
| 156. | 4 | 22 | चत्वारो निर्गता वेदा: | विज | |
| 157. | 5 | 15 | चन्द्रमा मनसो जात: | वीर | पु.सू. 1-6 |
| 158. | 4 | 18 | चातुर्वर्ण्ये प्रसूयन्ते | विज | |
| 159. | 2 | 23 | चिन्मात्राणीन्द्रियाण्याहु: | विज | ब्राह्मे |
| | | | छ | | |
| 160. | 7 | 11 | छन्दांसि च मखाश्चैव | विज | महासंहितायाम् |
| 161. | 4 | 22 | छागे विष्णौ हरे ह्यज: | विज | वैज.को. 6-5-4 |
| 162. | 7 | 49 | छिद्यन्ते सर्वसंशया: | वीर | भाग. 1-2-21 |
| | | | ज | | |
| 163. | 2 | 16 | जीवस्थो भगवान् विष्णु: | विज | प्रकाशसंहिता |
| 164. | 1 | 6 | ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां | वीर | भ.गी. 3-3 |
| 165. | 2 | 28 | ज्ञानिन: प्रलये सर्वे | विज | ब्रह्मतर्के |
| 166. | 5 | 31 | ज्ञानेन्द्रियाणां देवानां | विज | स्कान्दे |
| 167. | 5 | 19 | ज्ञानेन्द्रियैश्च मनसा | विज | पाद्मे |
| | | | त | | |
| 168. | 1 | 23 | तच्चैकं वा संयोगरूप | वीर | |
| 169. | 8 | 8 | तज्जलान् | वीर | छान्दो.उ. 3-14-1 |
| 170. | 2 | 1 | तत आत्मनि लोके च | वीर | भाग. 3-9-31 |
| 171. | | 45 | तत आगत: | वीर | अष्टा. 4-3-74 |
| 172. | 6 | 20 | ततो विष्वङ् व्यक्तामत् | श्रीध | पु.सू. 1-2 |
| 173. | 6 | 20 | ततो विष्वङ् व्यक्तामत् | वीर | पु.सू. 1-2 |
| 174. | 6 | 29 | ततो विष्वङ् व्यक्रामत् | विज | पु.सू. 1-2 |

| S.No. | Adhyaya No. | Sloka No. | TEXT QUOTED | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 175. | 5 | 34 | तत् क्रमेण विवृद्धं | वीर | विष्णु.पु. 1-2-54 |
| 176. | 10 | 13 | तत्तान्नियामकत्वेन | विज | अध्यात्मे |
| 177. | 5 | 19 | तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् | वीर | भ.गी.14-6 |
| 178. | 6 | 15 | तत्त्वमसि | वीर | छान्दो.उ. 6-8-7 |
| 179. | 7 | 46 | तत्त्ववित्तु महाबाहो | रा कृ | भ.गी. 3-28 |
| 180. | 7 | 47 | तत्त्वौपनिषदं पुरुषं | श्रीध | बृह.उ. 3-92-6 |
| 181. | 2 | 32 | तदक्षरे परमे व्योमन् | वीर | म.ना.उ.1-2 |
| 182. | 9 | 26 | तदात्मानं स्वय मकुरुत | वीर | तैत्ति.उ. 2-7 |
| 183. | 2 | 6 | तदेतत्प्रेत्य | विज | बृह.उ. 1-4-8 |
| 184. | 2 | 24 | तदोकोग्रज्वलनं तत्र | वीर | ब्र.सू. 4-2-17 |
| 185. | 5 | 14 | तद्वदेव स्थितं यत्तु | विज | कौर्मे |
| 186. | 5 | 2 | तद्वशात्वादिदं रूपं | विज | |
| 187. | 7 | 10 | तपनीयं रूप्यहेम्नोः | विज | |
| 188. | 9 | 23 | तपसैव सोऽतप्यत | श्रीध | |
| 189. | 6 | 18 | तपसः परस्तात् | वीर | |
| 190. | 9 | 8 | तपोरूपं परं ब्रह्म | विज | षाड्गुण्ये |
| 191. | 9 | 23 | तपः प्रियं सदा विष्णोः | विज | बृहत्संहितायाम् |
| 192. | 5 | 19 | तमस्त्वज्ञानजं विद्धि | वीर | भ.गी. 14-8 |
| 193. | 1 | 7 | तमेतं वेदानुवचनेन | वीर | बृह.उ. 4-4-22 |
| 194. | 5 | 12 | तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् | विज | कठ.उ. 5-15 |
| 195. | 4 | 14 | तमेवं विद्वानमृत | विज | तैत्ति.आ. 3-38,39 |
| 196. | 1 | 5 | तमेवैकमात्मानं जानथ | विज | मुण्ड.उ. 2-2-5 |
| 197. | 5 | 11 | तलन्तं स्त्रियाम् | वीर | पा.लि. 17 |
| 198. | 9 | 2 | तस्मान्प्रकृत्यैव पुमान् | विज | भविष्यत्पुराणे |
| 199. | 6 | 20,21 | तस्माद्धरेरण्डमभूत् | विज | गरुडे |
| 200. | 1 | 7 | तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं | वीर | बृह.उ. 3-5-1 |
| 201. | 10 | 44 | तस्माद्वा एतस्मादात्मनः | श्रीध | तैत्ति.उ.2-1-1 |
| 202. | 6 | 20 | तस्माद्विराडजायत | श्रीध | पु.सू. 1-2 |
| 203. | 6 | 21 | तस्माद्विराडजायत | वीर | पु.सू. 1-2 |
| 204. | 6 | 29 | तस्माद्विराडजायत | विज | पु.सू. 1-2 |
| 205. | 10 | 45 | तस्य कर्तारमपि मां विद्धि | वीर | भ.गी. 4-13 |
| 206. | 10 | 45 | तस्य कर्तारमपि मां विद्धि | विज | भ.गी. 4-13 |

| S.No. | Adhyaya No. | Sloka No | TEXT QUOTED | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 207. | 2 | 16 | तस्य तावदेव चिरं | वीर | छान्दो.उ. 6-14-2 |
| 208. | 5 | 15 | तस्य ह वा एतस्य | वीर | बृह.उ. 2-4-10 |
| 209. | 7 | 12 | तस्य ह वा एतस्य | वीर | बृह.उ. 2-4-10 |
| 210. | 6 | 19 | तस्यायुतायुतशतैः | वीर | |
| 211. | 7 | 16 | तापसोऽसौ जातः तपसि | विज | मात्स्ये |
| 212. | 10 | 41 | तामसास्तामसा दैत्याः | विज | स्कान्दे |
| 213. | 2 | 22 | तासां नूर्धानमभिनिस्सृ | वीर | कठ.उ. 6-16 |
| 214. | 6 | 3 | तीर्थं मन्त्राद्युपाध्याय | विज | वैज.को. 6-3-13 |
| 215. | 6 | 36 | तु स्याद्भेदेऽवधारणे | विज | अम.को. 3-397 |
| 216. | 7 | 36 | तृतीये सप्तमे चैव | विज | स्कान्दे |
| 217. | 7 | 37 | तृतीये सप्तमे चैव | विज | |
| 218. | 3 | 3 | तेजोबले प्रभावेऽन्ने | विज | वैज.को. 6-3-14 |
| 219. | 6 | 28 | तेन देवा अयजन्त | श्रीध | पु.सू. 1-4 |
| 220. | 6 | 28 | तेन देवा अयजन्त | वीर | पु.सू. 1-4 |
| 221. | 2 | 1 | ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले | वीर | म.ना.उ.10-6 |
| 222. | 2 | 22 | तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति | वीर | छान्दो.उ. 5-10-1 |
| 223. | 1 | 36 | ते वायवे मनवे बाधि- | विज | |
| 224. | 6 | 20 | ते विद्याकर्मणी सम | वीर | |
| 225. | 7 | 46 | ते वै विन्दन्त्यतितरन्ति | रा कृ | भाग. 2-7-46 |
| 226. | 9 | 2 | तेषां सम्पातजो भावो | विज | भविष्यत्पुराणे |
| 227. | 10 | 14 | तोयेन जीवान् विससर्ज | वीर | |
| 228. | 1 | 13 | त्यागो विहापितं दान | विज | अम.को. 2-428 |
| 229. | 7 | 2 | त्रयी श्रुतिर्नित्यवाक्यं | विज | |
| 230. | 6 | 18 | त्रैलोक्यां दह्यमानायां | श्रीध | |
| 231. | 6 | 18 | त्रिपादस्यामृतं दिति | वीर | छान्दो.उ. 3-12-6 |
| 232. | 6 | 19 | त्रिपादूर्ध्वं | श्रीध | पु.सू. 1-2 |
| 233. | 6 | 19 | त्रिपादूर्ध्वं | वीर | पु.सू. 1-2 |
| 234. | 6 | 29 | त्रिपादूर्ध्वं | विज | पु.सू. 1-2 |
| 235. | 6 | 20,21 | त्रिपात्स एव भगवान् | विज | अध्यात्मे |
| 236 | 10 | 45 | त्रिभिर्गुणमयै र्भावै | राकृ | भाग. 7-13 |
| 237. | 6 | 18 | त्रिमूर्धा सन् हरिर्धत्ते | विज | |
| 238 | 10 | 23 | त्वक् निरभिद्यत त्वचो | श्रीध | ऐत.उ. 1-4 |

| S.No | Adhyaya No. | Sloka No | TEXT QUOTED | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 239. | 10 | 23 | त्वचमस्य विनिर्भिन्नां | श्रीध | भाग. 3-6-18 |
| 240. | 10 | 23 | त्वचमस्य विनिर्भिन्नां | वीर | भाग. 3-6-18 |
| 241. | 5 | 8 | त्वदधीना यतः सत्ता | विज | |
| 242. | 8 | 26 | त्वन्मुखाब्जविनिस्सृतं | रा कृ | |
| | | | द | | |
| 243. | 2 | 26 | दक्षिणः पिङ्गलास्सर्वा | वीर | भागवततन्त्रे |
| 244. | 9 | 4 | ददृशे येन तद्रूपम् | विज | भाग. 2-8-9 |
| 245. | 9 | 11 | दशदोषविनिर्मुक्तः | विज | |
| | | | ध | | |
| 246. | 7 | 25 | धनुर्विस्फूर्जितैर्नष्टो | विज | स्कान्दे |
| 247. | 7 | 53 | धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य | वीर | भाग.1-2-9 |
| 248. | 8 | 12 | धाता यथापूर्वमकल्पयत् | वीर | म.ना.उ. 6-3 |
| 249. | 10 | 46 | धाता यथापूर्वमकल्पयत् | वीर | म.ना.उ. 6-3 |
| 250. | 8 | 7 | धातुवांतादि शब्दादि | विज | वैज.को. 6-1-28 |
| 251. | 6 | 35 | दुःस्पर्शः(दुर्ग्रहः ?) पाणिना | विर | भार. 5-128-39 |
| 252. | 9 | 15 | दृक् स्त्रीस्यादृर्शने बुद्धौ | विज | वैज.को. 8-5-37 |
| 253. | 10 | 9 | दृग्रूपमार्कं वपुरत्रम | श्रीध | भाग. 11-22-31 |
| 254 | 1 | 39 | दृश्यते श्रूयतेऽपि वा | वीर | म.ना.उ. 9-5 |
| 255. | 7 | 50 | देव देव नमस्तुभ्यं | विज | भाग. 5-5-1 |
| 256. | 2 | 26 | देवयानस्य मार्गस्था | विज | बृहत्तन्त्रे |
| 257. | 8 | 14 | देवासुरेभ्यो मघव | विज | भाग. 5-5-22 |
| 258. | 6 | 36 | दैवी ह्येषा गुणमयी | वीर | भ.गी. 7-14 |
| 259. | 6 | 43 | दैवी ह्येषा गुणमयी | वीर | भ.गी. 4-13 |
| 260. | 6 | 35 | द्युपतय एव ते न ययुः | श्रीध | |
| 261. | 5 | 31 | द्रव्यं तु द्रवणप्राप्यं | विज | प्रकाशसंहितायाम् |
| 262. | 6 | 41 | द्रव्यन्तु पञ्चभूतानि | विज | षाड्गुण्ये |
| 263. | 4 | 12 | द्वाविमौ पुरुषे लोके | विज | भ.गी. 15,16 |
| 264. | 7 | 42 | द्वितीयाद्वै भयं भवति | विज | बृह.उ. 1-4-2 |
| 265 | 7 | 47 | द्वितीयाद्वै भयं भवति | श्रीध | |
| 266 | 9 | 8 | द्विवचन विभज्योपपदे | विज | अष्टा. 5-3-57 |
| 267. | 7 | 37 | द्विषतः परकाये मां | राकृ | भाग. 3-29-34 |
| 268. | 8 | 24 | द्वेधा वा वाऽत्ममाया | विज | सौकरायणश्रुतिः |

| S.No. | Adhyaya No. | Sloka No. | TEXT QUOTED | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 269. | 9 | 25 | द्वे वा व ब्रह्मणो रूपे | विज | मैत्रा.उ. 6-3 |
| | | | न | | |
| 270. | 2 | 32 | न कर्मभिस्तां गति | श्रीध | भाग. 2-2-23 |
| 271. | 6 | 5 | नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम् | विज | अम.को. 2-343 |
| 272. | 9 | 1 | न तत्ररथा रथयोगा | वीर | बृह.उ. 4-3-10 |
| 273. | 5 | 11 | न तत्र सूर्यो भाति | श्रीध | कठ.उ. 5-15 |
| 274. | 5 | 11 | न तत्र सूर्यो भाति | वीर | कठ.उ. 5-15 |
| 275. | 2 | 22 | न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति | वीर | बृह.उ. 4-4-6 |
| 276. | 4 | 23 | नताः स्म सर्ववचसां | वीर | विष्णु.पु. 1-14-3 |
| 277. | 7 | 6 | नरो नारायणश्चैव | विज | षाड्ग्रण्ये |
| 278. | 1 | 16 | नात्युच्छ्रितं नातिनीचम् | विज | भ.गी. 6-11 |
| 279. | 2 | 32 | नादेन तेन महता | विज | भार. 12-202-26 |
| 280. | 6 | 33 | नाऽन्यद्भगवतः किञ्चित् | रा कृ | भाग. 2-6-32 |
| 281. | 5 | 12 | नाऽभावान्यविरोधेषु | विज | वैज.को. 6-3-14 |
| 282. | 7 | 51 | नाम प्राकाश्य सम्भाव्य० | विज | अम.को. 3-406 |
| 283. | 10 | 36 | नाम रूपञ्च भूतानां | वीर | विष्णु.पु. 1-5-64 |
| 284. | 1 | 36 | नामरूपे व्याकरावाणि | श्रीध | छान्दो.उ. 6-3-2 |
| 285. | 1 | 36 | नामरूपे व्याकरावाणि | वीर | छान्दो.उ. 6-3-2 |
| 286. | 10 | 36 | नामैव वाचकत्वेन | विज | अध्यात्मे |
| 287. | 5 | 1 | नारदाय विपृच्छते | श्रीध | भाग. 2-4-25 |
| 288. | 5 | 1 | नारदाय विपृच्छते | वीर | भाग. 2-4-25 |
| 289. | 5 | 13 | नारायणाय विद्महे | विज | म.ना.उ. 3-8 |
| 290. | 1 | 7 | नाविरतो दुश्चरितात् | वीर | कठ.उ. 2-24 |
| 291. | 7 | 41 | नाऽहं न यूयम् | वीर | भाग. 2-6-36 |
| 292. | 5 | 10 | नाऽहं वेद परन्त्वस्मात् | विज | भाग. 2-5-6 |
| 293. | 5 | 17 | नाऽहं वेद परन्त्वस्मात् | वीर | भाग. 2-5-6 |
| 294. | 10 | 34 | नित्यो निऽत्यानाम् | विज | गो.पू.उ. 3-3 |
| 295. | 6 | 30 | नित्यं गृहीतास्सत्त्वाद्या | विज | |
| 296. | 5 | 18 | नित्यं गृहीता...स्थित्यादिषु | विज | ब्रह्मवैवर्ते |
| 297. | 5 | 21 | नित्यं गृहीता...स्थित्यादिषु | विज | ब्रह्मवैवर्ते |
| 298. | 7 | 34,35 | निर्न्यग्भावनिकामयोः | विज | वैज.को. 8-7-5 |
| 299. | 10 | 23 | निर्भिन्नान्यस्य चर्माणि | वीर | भाग. 3-6-16 |

| S.No. | Adhyaya No. | Sloka No. | TEXT QUOTED | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 300. | 4 | 8 | निर्विकार स्सदा शुद्धः | विज | |
| 301. | 4 | 13 | निश्शेषगुणपूर्णत्वात् | विज | महासंहिता |
| 302. | 10 | 45 | निष्कलं निष्क्रियं शान्तं | श्रीध | श्वेता.उ. 6-19 |
| 303. | 9 | 11 | निष्कोऽस्त्री हेम्नि दीनारे | विज | वैज.को. 6-5-45 |
| 304. | 2 | 17 | नेति नेति | रा कृ | भाग. 7-7-23 |
| 305. | 2 | 18 | नेति नेति | वीर | भाग. 7-7-23 |
| 306. | 2 | 18 | नेति नेति | विज | भाग. 7-7-23 |
| 307. | 9 | 36 | नेहमानः प्रजासर्गम् | श्रीध | भाग. 2-9-28 |
| 308. | 2 | 32 | नैते सृती पार्थ जानन् | वीर | भ.गी. 8-27 |
| | | | प | | |
| 309. | 10 | 3 | पञ्चभूत समूहेन | विज | व्योमसंहितायाम् |
| 310. | 5 | 26 | पञ्चेन्द्रियाभिमेयत्वात् | विज | विष्णुसंहितायाम् |
| 311. | 2 | 29 | पञ्चेन्द्रियै र्येविषयाः | विज | पाडुण्ये |
| 312. | 2 | 5 | पटचीराणि गृहिभिः | विज | |
| 313. | 7 | 47 | परमं साम्य मुपैति | वीर | मुण्ड.उ. 3-1-3 |
| 314. | 9 | 8 | परञ्चिखानिव्यतृणत् | विज | कठ.उ. 4-1 |
| 315. | 9 | 36 | परावरे यथा रूपे | वीर | भाग. 7-7-23 |
| 316. | 9 | 26 | परास्य शक्ति र्विविधैव | वीर | श्वेता.उ. 6-87 |
| 317. | 1 | 9,10 | परिनिष्ठा विनिश्चयः | विज | |
| 318. | 9 | 43 | पश्चादहं यदेतच्च | वीर | भाग. 2-9-32 |
| 319. | 6 | 16 | पश्यन् स्वधिष्ण्यं देहञ्च | विज | वामने |
| 320. | 6 | 18 | पश्यन् स्वधिष्ण्यं देहञ्च | विज | वामने |
| 321. | 2 | 14 | पातालमूलं | विज | |
| 322. | 8 | 11 | पाताल मेतस्य हि | श्रीध | भाग. 2-1-26 |
| 323. | 8 | 12 | पाताल मेतस्य हि | वीर | भाग. 2-1-26 |
| 324. | 6 | 18 | पादोऽस्य विश्वा भूतानि | श्रीध | पु.सू. 1-2 |
| 325. | 6 | 18 | पादोऽस्य विश्वा भूतानि | वीर | पु.सू. 1-2 |
| 326. | 8 | 20 | पानेन ते देव कथा | विज | भाग. 3-5-45 |
| 327. | 2 | 25 | पितृयानं देवयानं | वीर | भाग. 4-29-13 |
| 328. | 2 | 24 | पुण्यपापे विधूय | वीर | मुण्ड.उ. 3-1-3 |
| 329. | 7 | 9 | पुत्राम्नो नरका द्यस्मात् | श्रीध | मनु.स्मृ. 9-138 |
| 330. | 7 | 9 | पुत्राम्नो नरका द्यस्मात् | वीर | मनु.स्मृ. 9-138 |

| S.No. | Adhyaya No. | Sloka No. | TEXT QUOTED | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 331. | 10 | 40 | पुमान्न देवो न नरो | वीर | विष्णु.पु.2-13-98 |
| 332. | 6 | 12,13 | पुरुष एवेदं सर्वम् | श्रीध | पु.सू. 1-1 |
| 333. | 6 | 12 | पुरुष एवेदं सर्वम् | वीर | पु.सू. 1-1 |
| 334. | 6 | 15 | पुरुष एवेदं सर्वम् | वीर | पु.सू. 1-1 |
| 335. | 6 | 15 | पुरुष एवेदं सर्वम् | विज | पु.सू. 1-1 |
| 336. | 6 | 29 | पुरुष एवेदं सर्वम् | श्रीध | पु.सू. 1-1 |
| 337. | 6 | 32 | पुरुष एवेदं सर्वम् | विज | पु.सू. 1-1 |
| 338. | 1 | 36 | पुरुषत्वेचा विस्तरात्मा | श्रीध | |
| 339. | 6 | 41 | पुरुषाद्या हरे रूपं | विज | पद्मे |
| 340. | 6 | 26 | पुरुषावयवै रेते | श्रीध | |
| 341. | 9 | 45 | पुरुषावयवै लोंकाः | श्रीध | भाग. 2-8-11 |
| 342. | 10 | 9 | पुरुषावयवै लोंकाः | श्रीध | भाग. 2-8-11 |
| 343. | 10 | 46 | पुरुषावयवै लोंकाः | श्रीध | भाग. 2-8-11 |
| 344. | 6 | 15 | पुरुषेणैवेदं व्याप्तं | विज | |
| 345. | 6 | 28 | पुरुषं जात मग्रतः | श्रीध | पु.सू. 1-4 |
| 346. | 10 | 40 | पुष्करं गगनं विष्णोः | विज | |
| 347. | 2 | 28 | पृथिवी मण्ड भिनत्ति | वीर | |
| 348. | 7 | 9 | पृथुर्नाम महाराजः | विज | महासंहितायाम् |
| 349. | 3 | 2 | प्रजा तु जनपुत्तयोः | विज | वैज.को. 6-2-23 |
| 350. | 5 | 3 | प्रजापतेन त्वदेतान्यन्यः | विज | म.न.उ. 13-16 |
| 351. | 9 | 8 | प्रजापतेन त्वदेतान्यन्यः | विज | म.न.उ. 13-16 |
| 352. | 7 | 47 | प्रसानधन एव | वीर | रामो.ता.उ. 2-4 |
| 353. | 1 | 26 | प्रतिमापेक्षयऽङ्गानि | विज | |
| 354. | 10 | 45 | प्रतिपेधाय बन्धस्य | विज | भविष्यत्पुराणे |
| 355. | 10 | 49,50 | प्रत्यारम्भे प्रसिद्धौ ह | विज | वैज.को. 8-7-8 |
| 356. | 4 | 22 | प्रबन्धे निकटेऽतीते | विज | वैज.को. 8-7-23 |
| 357. | 7 | 54 | प्रश्ने क्षेपे विकल्पे किम् | विज | वैज.को. 8-7-23 |
| 358. | 1 | 39 | प्राण एवै तस्मिन् | विज | प्रश्न.उ. 4-3 |
| 359. | 2 | 27 | प्राण एवै तस्मिन् | विज | प्रश्न.उ. 4-3 |
| 360. | 5 | 34 | प्राणान् धारयते यस्मान् | विज | स्कान्दे |
| 361. | 2 | 21 | प्राणापाना विडायाञ्च | विज | भारते |
| 362. | 10 | 9 | प्राणा वा एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति | विज | प्रश्न.उ. 4-3 |

| S.No. | Adhyaya No. | Sloka No. | TEXT QUOTED | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 363. | 10 | 15 | प्राणेन क्षिपता | विज | भाग. 2-10-17 |
| 364. | 7 | 23 | प्राणः श्रद्धा वायुः | विज | |
| 365. | 2 | 14 | प्रादेशमात्रं पुरुषं | वीर | भाग. 2-2-8 |
| 366. | 9 | 23 | प्रियं हृदय मुद्रिक्तं | विज | |
| 367. | 1 | 21 | प्रीति(स्नेह)पूर्वं मनुष्यानं भक्ति | वीर | |
| | | | ब | | |
| 368. | 2 | 6 | बर्हं पर्णं दलं पत्रम् | विज | |
| 369. | 10 | 3 | बहुत्वा त्तत्र भूतानां | विज | व्योमसंहिता |
| 370. | 1 | 2 | बहुशाखा ह्यनन्ताश्च | वीर | भ.गी. 2-41 |
| 371. | 7 | 19 | बहूनां जन्मना मन्ते | वीर | भ.गी. 7-19 |
| 372. | 1 | 31 | बह्वङ्गत्वं बहुत्वतः | विज | ब्रह्मतर्के |
| 373. | 8 | 27 | बालोऽपि स गुरुत्वेन | विज | ब्राह्मे |
| 374. | 1 | 18 | बुद्धिं तु सारथिं विद्धि | वीर | कठ.उ. 3-3 |
| 375. | 2 | 30 | बुद्धिं तु सारथिं विद्धि | विज | कठ.उ. 3-3 |
| 376. | 3 | 2 | बृहजातिजीव कमल्पत्यन | विज | |
| 377. | 7 | 5 | ब्रह्मण स्तपःपूर्वं विष्णुः | विज | स्कान्दे |
| 378. | 2 | 1 | ब्रह्मणा सह ते सर्वे | वीर | |
| 379. | 2 | 24 | ब्रह्मपथः एतेन प्रतिपाद्यमाना | वीर | छान्दो.उ. 4-15-5 |
| 380. | 4 | 16 | ब्रह्मविदाप्नोति परम् | वीर | तैत्ति.उ. 2-1-1 |
| 381. | 10 | 36 | ब्रह्म वेद स्तप स्तत्त्वं | विज | अम.को. 3-271 |
| 382. | 5 | 33 | ब्रह्माण्डं हि वदन्तीति | विज | |
| 383. | 5 | 15 | ब्रह्मादेवानां प्रथमः | विज | मुण्ड.उ. 1-1 |
| 384. | 5 | 11 | ब्रह्माद्या स्सकला देवाः | वीर | विष्णु.पु. 5-30-17 |
| 385. | 5 | 37 | ब्राह्मणो मुख मित्येव | विज | ब्राह्मे |
| 386. | 1 | 26 | ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् | विज | पु.सू. 1-5 |
| 387. | 6 | 12,13 | ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् | श्रीध | पु.सू. 1-5 |
| 388. | 6 | 12 | ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् | वीर | पु.सू. 1-5 |
| 389. | 6 | 29 | ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् | विज | पु.सू. 1-5 |
| 390. | 2 | 1 | ब्रूहि यद्वा विपर्ययम् | विज | भाग. 1-19-38 |
| 391. | 2 | 32 | ब्रूहि यद्वा विपर्ययम् | श्रीध | |
| | | | भ | | |
| 392. | 2 | 16 | भक्तया प्राणं वशे | विज | षाड्गुण्ये |

| S.No. | Adhyaya No. | Sloka No. | TEXT QUOTED | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 393. | 2 | 11 | भगवत्यचलो भावो | श्रीध | |
| 394. | 1 | 5 | भगवानिति शब्दोऽयम् | विर | |
| 395. | 4 | 15 | भद्रोऽप्यस्त्रीतु मङ्गलः | विज | |
| 396. | 5 | 25 | भूतानि द्रव्यनामानि | विज | गारुडे |
| 397. | 6 | 41 | भूतै र्यदा पञ्चभि रात्म | श्रीध | भाग. 11-4-3 |
| 398. | 9 | 15 | भूमनिन्दा प्रशंसासु | विज | वार्तिकम (318 under सूत्र 5-2-94) |
| 399. | 2 | 28 | भूम्यब्नामत्रनामानं | विज | ब्रह्मतन्त्रे |
| 400. | 2 | 1 | भूयस्त्वं तप आतिष्ठ | वीर | भाग. 3-9-30 |
| 401. | 6 | 6 | भेजे खगेन्द्रध्वजपाद | विज | भाग. 1-18-16 |
| 402. | 6 | 7 | भेजे खगेन्द्रध्वजपाद | विज | भाग. 1-18-16 |
| 403. | 2 | 5 | भोजनाच्छादने चिन्तां | श्रीध | |
| | | | म | | |
| 404. | 2 | 29 | मग्नस्य हि परे ज्ञाने | विज | |
| 405. | 6 | 35 | मङ्गलानन्तरारम्भ | विज | अम.को. 3-402 |
| 406. | 6 | 35 | मङ्गलानाञ्च मङ्गलम् | विज | भार. 3-86-23 |
| 407. | 2 | 16 | मङ्गलं भगवान् विष्णुः | विज | भार. 3-462 (1pcr12 App.6-54 pcr.) |
| 408. | 5 | 13 | मत्तः परमविज्ञाय | विज | |
| 409. | 10 | 43 | मत्स्यादिरुपी पोशयति | विज | वामने |
| 410. | 6 | 40 | मद्भक्ति विमुखानान्तु | राकृ | अध्या.रा. 1-2 |
| 411. | 3 | 5 | मधु द्यौरस्तुनः पिता | विज | म.न.उ. 12-2 |
| 412. | 2 | 35 | मनसा तु विशुद्धेन | वीर | व्यास स्मृतिः |
| 413. | 2 | 35 | मनसाऽभिक्रमः | वीर | |
| 414. | 2 | 32 | मनस्थितो हरि र्नित्यम् | विज | वाराहे |
| 415. | 2 | 27 | मनवन्तरायुषः स्वर्ग्याः | विज | ब्राह्मे |
| 416. | 7 | 20 | मन्वन्तरेषु भगवान् | विज | सत्यसंहितायाम् |
| 417. | 7 | 47 | मम साधर्म्य मागताः | वीर | भ.गी. 14-2 |
| 418. | 10 | 27 | मलादिकं कदाचित्तु | विज | अध्यात्मे |
| 419. | 10 | 34 | महतो महीयान् | विज | कठ.उ. 2-20 |
| 420. | 2 | 28 | महदादयो विशेषन्ताः | विर | |
| 421. | 10 | 3 | महदाद्यण्डपर्यन्त सर्गो | विज | व्योनसंहितायाम् |
| 422. | 9 | 8 | महान्महीयसा मादिं | विज | न्यासनिरुक्ते |
| 423. | 2 | 33 | महान्वै बुद्धिलक्षणः | वीर | |

| S.No. | Adhyaya No. | Sloka No. | TEXT QUOTED | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 424. | 2 | 35 | महान्वै बुद्धिलक्षणः | वीर | |
| 425. | 10 | 32 | महान्वै बुद्धिलक्षणः | वीर | |
| 426. | 9 | 19 | महीयांसः प्रकृत्या | विज | शिशु. 2-13 |
| 427. | 7 | 46 | मा मेव ये प्रपद्यन्ते | राकृ | भ.गी. 7-14 |
| 428. | 10 | 45 | मायया सततं वेद्मि | वीर | भार.BApp 2805 Pr. |
| 429. | 10 | 45 | मायया वयुनं ज्ञानम् | वीर | वे.नि. 3-9 |
| 430. | 7 | 41 | मायाक्षतादिदाने | विज | वैज.को. 6-5-88 |
| 431. | 9 | 14 | मुक्तैश्च पादपैः पूर्वैः | विज | गारुडे |
| 432. | 9 | 14 | मुक्तवात्म मायाम् | विज | भाग. 2-8-10 |
| 433. | 9 | 14 | मुख्यतो विष्णुमाहात्म्यं | विज | ब्रह्मतर्के |
| 434. | 9 | 34 | मुख्यतो विष्णुभक्ति र्हि | विज | ब्रह्मतर्के |
| 435. | 5 | 13 | मुख्या माया हरेः शक्ति | विज | |
| 436. | 9 | 11 | मृदुपिण्डश्च पेश स्स्यात् | विज | |
| 437. | 6 | 6 | मोक्षश्शान्तिश्च शरणं | विज | ब्राह्मे |
| 438. | 6 | 7 | मोक्षश्शान्तिश्च शरणं | विज | पाद्मे |
| 439. | 9 | 16 | मोचिका चैव सूक्ष्मा च | विज | भागवततन्त्रे |
| | | | य | | |
| 440. | 1 | 22 | यच्छब्दस्तु परामर्शे | विज | |
| 441. | 1 | 1 | यच्छ्रोतव्य मथो जप्यम् | विज | भागा. 1-19-38 |
| 442. | 2 | 32 | यच्छ्रोतव्य मथो जप्यम् | श्रीध | भागा. 1-19-38 |
| 443. | 6 | 42 | यज्ञ शब्दोदितौ द्वौतु | विज | पद्मे |
| 444. | 7 | 2 | यज्ञस्य दक्षिणायान्तु | श्रीध | |
| 445. | 6 | 27 | यज्ञेन यज्ञ मयजन्त देवाः | श्रीध | पु.सू. 1-7 |
| 446. | 6 | 27 | यज्ञेन यज्ञ मयजन्त देवाः | वीर | पु.सू. 1-7 |
| 447. | 6 | 28 | यज्ञेन यज्ञ मयजन्त देवाः | रा कृ | पु.सू. 1-14 |
| 448. | 6 | 29 | यज्ञेन यज्ञ मयजन्त देवाः | विज | पु.सू. 1-14 |
| 449. | 10 | 25 | यज्ञो वै विष्णुः | वीर | शतपथब्राह्मणम् |
| 450. | 1 | 22 | यतश्चोदेति सूर्यः | विज | |
| 451. | 2 | 35 | यतो वाइमानि भूतानि | वीर | तैत्ति.उ. 3-1 |
| 452. | 10 | 44 | यतो वाइमानि भूतानि | विज | तैत्ति.उ. 3-1 |
| 453. | 5 | 2 | यतो वा इमानि भूतानि | विज | तैत्ति.उ. 3-1 |
| 454. | 6 | 31 | यत्पर स्त्वम् | श्रीध | भाग. 2-5-4 |

| S.No. | Adhyaya No. | Sloka No. | TEXT QUOTED | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 455. | 6 | 22 | यत्पुरुषेण हविषा | श्रीध | पु.सू. 1-2 |
| 456. | 6 | 29 | यत्पुरुषेण हविषा | विज | पु.सू. 1-2 |
| 457. | 9 | 8 | यत्राधिकं वदे त्किञ्चित् | विज | न्यासनिरुक्ते |
| 458. | 5 | 21 | यत्राऽन्यहेत्वा भावः स्यम् | विज | ब्रह्मतर्के |
| 459. | 5 | 2 | यत् स्थितं दृश्यते वस्तु | विज | वामने |
| 460. | 2 | 7 | यथा पशुरेव स देवानां | श्रीध | मुण्ड.उ. 1-4-10 |
| 461. | 2 | 24 | यथा पुष्करपल्माश आपो | वीर | छान्दो.उ.4-14-3 |
| 462. | 9 | 34 | यथा महान्ति भूतानि | विज | ब्रह्मतर्के |
| 463. | 9 | 35 | यथा महान्ति भूतानि | विज | ब्रह्मतर्के |
| 464. | 9 | 43 | यथा महान्ति भूतानि | वीर | भागा. 2-9-34 |
| 465. | 10 | 9 | यथा रथ स्यारेषु | वीर | |
| 466. | 10 | 10 | यथाऽऽसी त्तदुपाख्यास्ये | वीर | भागा. 2-9-45 |
| 467. | 2 | 7 | यथेष्ट भवना द्विष्णुः | विज | बृहत्संहिता |
| 468. | 1 | 39 | यथैकस्तु बहून् सुप्तान् | विज | व्योमसंहितायाम् |
| 469. | 2 | 7 | यथैकस्तु बहून् सुप्तान् | विज | व्योमसंहितायाम् |
| 470. | 8 | 9 | यदधातुमतो ब्रह्मन् | रा कृ | भागा. 2-8-7 |
| 471. | 9 | 1 | यदधातुमतो ब्रह्मन् | श्रीध | भागा. 2-8-7 |
| 472. | 6 | 15 | यदधीनं यस्य सत्ता | विज | |
| 473. | 2 | 16 | यदा जिहासु रिम मङ्ग | वीर | भागा. 2-2-15 |
| 474 | 5 | 12 | यदादित्य गतं तेजो | विज | भ.गी. 15-12 |
| 475. | 2 | 22 | यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते | वीर | कठ.उ. 6-14 |
| 476. | 2 | 32 | यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते | श्रीध | कठ.उ. 6-14 |
| 477. | 9 | 3 | यदा स्वरूपं जानाति | विज | भविष्यत्पुराणे |
| 478. | 2 | 19 | यदि प्रयास्यन् | श्रीध | भागा. 2-2-24 |
| 479. | 2 | 32 | यदि प्रयास्यन् | श्रीध | भागा. 2-2-24 |
| 480. | 10 | 10 | यदुताऽहं त्वया पृष्टो | श्रीध | भागा. 2-9-45 |
| 481. | 6 | 22 | यदोभयात्ममोजज्ञे | विज | |
| 482. | 8 | 26 | यद्यदाचरति श्रेष्ठः | विज | भ.गी. 3-21 |
| 483. | 7 | 40 | यद्यद्विभूतिम त्सत्त्वं | राकृ | भ.गी. 10-41 |
| 484. | 10 | 34 | यमैवैष वृणुते तेन | विज | कठ.उ. 2-23 |
| 485. | 9 | 3 | यया सम्मोहितो जीवः | श्रीध | भागा. 1-7-5 |
| 486. | 2 | 8 | यस्त्वेत मेनं प्रादेश | वीर | छान्दो.उ. 5-18-1 |

| S.No. | Adhyaya No. | Sloka No. | TEXT QUOTED | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 487. | 2 | 12 | यस्मात्साङ्गीन्ततो विष्णुः | विज | बृहत्संहिता |
| 488. | 9 | 22 | यस्य ज्ञानमयं तपः | श्रीध | मुण्ड.उ. 1-1-9 |
| 489. | 9 | 23 | यस्य ज्ञानमयं तपः | वीर | मुण्ड.उ. 1-1-9 |
| 490. | 5 | 2 | यस्य सत्ता तदित्येव | विज | भविष्यत्पर्वणि |
| 491. | 8 | 11 | यस्येहावयवैः लोकान् | श्रीध | भागा. 2-5-36 |
| 492. | 8 | 12 | यस्येहावयवैः लोकान् | वीर | भागा. 2-5-36 |
| 493. | 5 | 34 | यः प्राणधारणं प्राण | विज | वायुप्रोक्ते |
| 494. | 6 | 41 | यश्शेते प्रलये विष्णुः | विज | व्योमसंहितायाम् |
| 495. | 7 | 31 | यस्सर्वज्ञः | वीर | मुण्ड.उ. 1-1-9 |
| 496. | 6 | 4 | याज्ञिका रोममूलस्था | विज | पाद्मे |
| 497. | 10 | 37 | यावत्यः कर्मगतयो | श्रीध | भागा. 2-8-13 |
| 498. | 2 | 2 | यावा नर्थ उदपाने | वीर | भ.गी. 2-46 |
| 499. | 2 | 22 | ये चेमे रण्ये श्रद्धा तपः | वीर | छान्दो.उ. 5-10-1 |
| 500. | 2 | 32 | ये चेमे रण्ये श्रद्धा तपः | वीर | छान्दो.उ. 5-10-1 |
| 501. | 7 | 46 | ये चैव सात्त्विका भावाः | राकृ | भ.गी. 7-12 |
| 502. | 5 | 2 | येन जातानि जिवन्ति | विज | तैत्ति.उ. 5-18-1 |
| 503. | 9 | 30 | येन येन यथा ज्ञात्वा | विज | वामने |
| 504. | 1 | 36 | येन शुक्लीकृता हंसाः | श्रीध | हितोपदेशः 1-183 |
| 505. | 5 | 20 | येन स्वरोचिषा विश्वम् | विज | भागा. 2-5-11 |
| 506. | 6 | 31 | येन स्वरोचिषा विश्वम् | विज | भागा. 2-5-11 |
| 507. | 3 | 10 | येऽप्यन्यदेवताभक्ताः | राकृ | भ.गी. 9-23 |
| 508. | 1 | 22 | योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः | राकृ | |
| 509. | 6 | 1 | योनिः स्त्रीणां भगे स्थाने | विज | वैज.को. 6-5-66 |
| 510. | 10 | 45 | यो मा मज मनादिञ्च | वीर | भ.गी. 10-3 |
| 511. | 10 | 46 | यो मा मज मनादिञ्च | विज | भ.गी. 10-3 |
| 512. | 7 | 37 | यो मां सर्वेषु भूतेषु | रा कृ | भाग. 3-22-23 |
| 513. | 3 | 7 | यो यो यां यां तनुं भक्तः | वीर | भ.गी. 7-21 |
| 514. | 4 | 12 | यो वै भूमा तत्सुखम् | विज | छान्दो.उ. 7-23-1 |
| 515. | 6 | 35 | योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् | श्रीध | |
| | | | र | | |
| 516. | 5 | 19 | रजो रागात्मकं विद्धि | वीर | भ.गी. 14-7 |
| 517. | 7 | 26 | राम एको ह्यनन्तांश स्तत | विज | ब्राह्मे |

| S.No. | Adhyaya No. | Sloka No | TEXT QUOTED | in commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 518. | 7 | 34 | रामभीमार्जुनादीनि | विज | स्कान्दे |
| 519. | 1 | 32 | रुद्रो वक्षसि चाऽभवत् | वीर | |
| 520. | 2 | 24 | रोचि शशोचि रुभे | विज | अम.को. 1-106 |
| 521. | 6 | 5 | रोमान्तस्थास्तु तत्परे | विज | पाद्मे |
| | | | ल | | |
| 522. | 2 | 28 | लिङ्ग्म यद्द्रष्टृदृश्ययोः | वीर | भागा. 3-22-23 |
| 523. | 8 | 11 | लोकाश्चामुष्यावयवाः | श्रीध | |
| | | | व | | |
| 524. | 6 | 36 | वामं तु शुभं पेशलं | विज | |
| 525. | 10 | 20 | वायुः प्राणो भूत्वा नासिके | वीर | ऐत.उ. 1-2-4 |
| 526. | 5 | 25 | वायु र्हि प्राणाः ओज स्सहो बलं | वीर | |
| 527. | 4 | 22 | वार्ता संवादयोः किल | विज | वैज.को. 8-7-19 |
| 528. | 9 | 35 | वालाग्रशतभागस्य | वीर | श्वेता.उ. 5-9 |
| 529. | 10 | 34 | वालाग्रशतभागस्य | वीर | श्वेता.उ. 5-9 |
| 530. | 6 | 32 | वासुदेवात्परो ब्रह्मन् | श्रीध | |
| 531. | 2 | 34 | वासुदेवाश्रिता देवा | विज | ब्रह्माण्डे |
| 532. | 2 | 22 | विकल्पो विशिष्टफलत्वात् | वीर | ब्र.सू. 3-3-59 |
| 533. | 7 | 49 | विज्ञानघन एव एतेभ्यो | वीर | बृह.उ. 2-4-12 |
| 534. | 1 | 39 | विज्ञान मानन्दं ब्रह्म | विर | बृह.उ. 3-9-34 |
| 535. | 7 | 47 | विज्ञान मानन्दं ब्रह्म | वीर | बृह.उ. 3-9-34 |
| 536. | 7 | 42 | विज्ञान मानन्दं विशोक | वीर | बृह.उ. 3-9-34 |
| 537. | 2 | 10 | विज्ञानसारथिर्यस्तु | वीर | कठ .उ. 3-9 |
| 538. | 2 | 19 | विज्ञानस्य ब्रह्मणः दृशो | विज | |
| 539. | 2 | 19 | विज्ञानं ब्रह्म | विज | तैत्ति.उ. 3-5 |
| 540. | 10 | 48 | विदुरस्तीर्थयात्रायां | विज | स्कान्दे |
| 541. | 5 | 2 | विद्यमाने विभेदेऽपि | विज | भविष्यत्पर्वणि |
| 542. | 2 | 24 | विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः | वीर | छान्दो.उ. 5-10-1,2 |
| 543. | 7 | 34 | विद्वेषिणोऽप्युदासीनाः | विज | बृहत्संहितायाम् |
| 544. | 9 | 14 | विभुः सर्वगते पत्यौ | विज | वैज.को. 6-5-87 |
| 545 | 6 | 17 | विभूति स्स तुज्यायान् | श्रीध | |
| 546. | 5 | 30 | विशीष्टकार्यशक्तित्वात् | विज | पाद्मे |
| 547 | 2 | 28 | विशेषस्तु विकुर्वा णात् | वीर | भागा. 2-5-29 |

| S.No. | Adhyaya No. | Sloka No. | TEXT QUOTED | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 548. | 2 | 14 | विश्वं विष्णुः | रा कृ | भार. 3-135-14 |
| 549. | 2 | 26 | विष्णुवत्ता ब्रह्मयानं | विज | ब्रह्मतार्कः |
| 550. | 9 | 32 | विष्णो रर्धानं प्राकृसृष्टे | विज | ब्रह्मतार्कः |
| 551. | 7 | 26 | विष्णोर्नान्येन कर्माणि | विज | मात्स्ये |
| 552. | 7 | 40 | विष्णोर्नुकम् (वीर्याणि) | श्रीध | ऋसं. 2-2-24-1 |
| 553. | 7 | 39 | विष्णोर्नुकम् (वीर्याणि) | वीर | ऋसं. 2-2-24-1 |
| 554. | 2 | 29 | विष्णोर्लोकं तदैवेते | विज | वामने |
| 555. | 6 | 41 | विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि | श्रीध | |
| 556. | 3 | 3 | विर्यं पराक्रमे तेजः | विज | वैज.को. 6-3-32 |
| 557. | 5 | 31 | वृत्तं चतुष्षोडशपञ्च | वीर | |
| 558. | 9 | 42 | वृद्धिह्रासभकत्वम् | वीर | ब्र.सू. 3-2-20 |
| 559. | 4 | 19 | वेदानुसारि वशगः | विज | |
| 560. | 1 | 10 | वेदाह मेतं पुरुषं महान्तं | वीर | तैत्ति.आर. 3-38,39 |
| 561. | 10 | 48 | वैयासके रिति वच स्तत्त्व- | वीर | भागा. 2-4-1 |
| 562. | 2 | 24 | वैश्वानरे द्युनद्यां वा | विज | ब्रह्माण्डे |
| 563. | 2 | 22 | वैश्वानरं याति | वीर | |
| 564. | 5 | 1 | व्यत्ययो भेदस्वातन्त्र्यकरणेषु | विज | |
| 565. | 4 | 19 | व्यलीकं त्वप्रियेऽनृतम् | विज | अम.को. |
| 566. | 1 | 8 | व्यायः षटशतवर्षीयः | विज | स्काद्रे |
| 567. | 10 | 40 | व्योम क्षपथ माकाश | | |
| | | | श | | |
| 568. | 8 | 6 | शरणं गृहरक्षिनोः | विज | अम.को. 3-209 |
| 569. | 10 | 9 | शरीर मभिप्रहृत्य | विज | |
| 570. | 2 | 16 | शान्तिः प्रशममङ्गले | विज | वैज.को. 6-2-39 |
| 571. | 2 | 35 | शास्त्रयोनित्वात् | वीर | ब्र.सू. 1-1-3 |
| 572. | 5 | 25 | शास्त्रयोनित्वात् | वीर | ब्र.सू. 1-1-3 |
| 573. | 1 | 24 | शिलावत्तस्य देहोऽयम् | विज | |
| 574. | 2 | 21 | शीर्षकपालं भिनत्रि | वीर | सुबाल.उ. 11 |
| 575. | 1 | 5 | श्रुत्वा मत्वा तथा ध्यात्वा | विज | |
| | | | स | | |
| 576. | 7 | 26 | स चाऽपि केशौ हरि | श्रीध | भार. 1-189-31 |
| 577. | 7 | 26 | स चाऽपि केशौ हरि | वीर | भार. 1-189-31 |

| S.No. | Adhyaya No. | Sloka No. | TEXT QUOTED | In commentary | Particulars of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| 578. | 6 | 29 | सजातः | विज | पू.सू. 1-2 |
| 579. | 5 | 15 | स आत्मा अङ्गान्यन्या | वीर | तैत्ति.उ. 1-5-1 |
| 580. | 7 | 10 | स आत्मा अङ्गान्यन्या | वीर | तैत्ति.उ. 1-5-1 |
| 581. | 2 | 22 | स एतान् ब्रह्म गमयति | वीर | छान्दो.उ. 5-10-2 |
| 582. | 2 | 31 | स एतान् ब्रह्म गमयति | वीर | छान्दो.उ. 4-15-5 |
| 583. | 6 | 20 | स एवाऽन्य स्वरूपेण | विज | ब्रह्मण्डे |
| 584. | 10 | 45 | स एव सृज्यः स च सर्ग | श्रीध | विष्णु.पु. 1-2-70 |
| 585. | 10 | 45 | स एव सृज्यः स च सर्ग | वीर | विष्णु.पु. 1-2-70 |
| 586. | 6 | 31 | स एष भगवान् | श्रीध | भागा. 2-5-20 |
| 587. | 2 | 35 | स्त्यं ज्ञान मनन्तं | वीर | तैत्ति.उ. 2-1-1 |
| 588. | 7 | 42 | स्त्यं ज्ञान मनन्तं | वीर | तैत्ति.उ. 2-1-1 |
| 589. | 9 | 31 | स्त्यं ज्ञान मनन्तं | वीर | तैत्ति.उ. 2-1-1 |
| 590. | 9 | 35 | स्त्यं ज्ञान मनन्तं | वीर | तैत्ति.उ. 2-1-1 |
| 591. | 4 | 14 | सत्त्वं तु शोभनं स्यात् | विज | अध्यात्मे |
| 592. | 9 | 15 | सत्त्वं तु शोभनत्वं स्यात् | विज | अध्यात्मे |
| 593. | 5 | 19 | सत्त्वं रज स्तम इति | वीर | भ.गी. 14-5 |
| 594. | 6 | 41 | सदिति प्राणः | विज | ऐत.उ. 1-5-3 |
| 595 | 6 | 32 | सदिति व्यक्त मुद्दिष्टं | विज | ब्रह्मतर्के |
| 596. | 2 | 55 | सदेव सौम्येद मग्रश्रासीत् | वीर | छान्दो.उ. 6-2-1 |
| 597. | 1 | 4 | सद्भावे साधुभावे च | विज | भ.गी. 17-26 |
| 598. | 7 | 33 | सप्तस्वरसमाहारो | विज | |
| 599. | 6 | 16 | स भूमिं वि श्वतो बृत्वा | वीर | पु.सू. 1-1 |
| 600. | 9 | 19 | समत्वं योग उच्यते | रा कृ | भ.गी. 2-48 |
| 601. | 2 | 37 | समाधावसमाधौ च | विज | ब्रह्मतर्के |
| 602. | 2 | 29 | समानीव आकूतिः | वीर | |
| 603. | 7 | 46 | समोऽहं सर्व भूतेषु | रा कृ | भ.गी. 9-29 |
| 604. | 5 | 27 | सर्वचेष्टयितृत्वात्तु | विज | |
| 605. | 6 | 35 | सर्वजीवनिकायेषु | विज | ब्रह्मण्डे |
| 606. | 2 | 27 | सर्वदुःख विहीना ये | विज | वाराहे |
| 607. | 2 | 29 | सर्वदुःख विहीना ये | विज | वाराहे |
| 608. | 5 | 35 | सर्वत श्श्रुतिमल्लोकः | वीर | भ.गी. 13-13 |
| 609. | 2 | 2 | सर्वनामायतो विष्णुः | विज | |

| S.No. | Adhyaya No | Sloka No. | TEXT QUOTED | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 610. | 8 | 9 | सर्वं मेतज्ज्ञ भगवन् | रा कृ | भाग. 1-8-24 |
| 611. | 9 | 38 | सर्वस्याऽपि प्रधानत्वात् | विज | ब्रह्मतर्के |
| 612. | 1 | 7 | सर्वापेक्षा च यज्ञादि श्रुतेः | वीर | |
| 613. | 5 | 15 | सर्वे वेदा यत्पद मामनन्ति | वीर | कठ .उ. 2-15 |
| 614. | 5 | 16 | सर्वे वेदा यत्पद मामनन्ति | विज | कठ .उ. 2-15 |
| 615. | 7 | 47 | सर्वे वेदा यत्पद मामनन्ति | वीर | कठ .उ. 2-15 |
| 616. | 9 | 34 | सर्वं परे स्थित मपि | विज | ब्रह्मतर्के |
| 617. | 6 | 15 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म | वीर | छान्दो.उ. 3-14-1 |
| 618. | 2 | 18 | स वा एष आत्मा नेति | विज | |
| 619. | 10 | 8 | स वा एष पुरुषोऽन्नरस- | श्रीध | तैत्ति.उ. 2-1-1 |
| 620. | 2 | 24 | स वै पुनर्नेह विषज्जते | वीर | भाग. 2-2-31 |
| 621. | 7 | 27 | सहस्रधनुषस्तूर्ध्वं | विज | त(म)न्त्रमालायाम् |
| 622. | 5 | 35 | सहस्रशिर्षा पुरुषः | वीर | पू.सू. 1-1 |
| 623. | 6 | 12-13 | सहस्रशिर्षा पुरुषः | श्रीध | पू.सू. 1-1 |
| 624. | 6 | 12 | सहस्रशिर्षापुरुषः | वीर | पू.सू. 1-1 |
| 625. | 7 | 39 | सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्ष | वीर | |
| 626. | 10 | 11 | सहैव शक्तिभिः स्वीयैः | विज | |
| 627. | 10 | 42 | सात्त्विकेषु त्रिषु यदा | विज | स्कान्दे |
| 628. | 9 | 33 | सा निशा पच्यतो मुनेः | वीर | भ.गी. 2-69 |
| 629. | 1 | 14 | साम्परायस्तु सङ्ग्रामः आपः | विज | वैज.को. 8-4-48 |
| 630. | 9 | 11 | सिते गौरे शुद्ध | विज | वैज.को. 8-4-3 |
| 631. | 7 | 18 | सुप्सुपा | वीर | अष्टा. 2-1-4 |
| 632. | 6 | 11-12 | सृजामि तन्नियुक्तोऽहम् | विज | भाग. 2-6-31 |
| 633. | 5 | 21 | सृज्यं सृजामि सृष्टोऽहम् | विज | भाग. 2-5-17 |
| 634. | 10 | 7 | सृष्टिस्थित्यप्ययाभाराः | विज | भागवततन्त्रे |
| 635. | 10 | 44 | सोऽकामयत बहुस्यां | श्रीध | तैत्ति.उ. 2-6 |
| 636. | 10 | 11 | सोपोऽसृज त्ततो नारा | विज | नायायणाध्यात्मे |
| 637. | 2 | 16 | स्थिरं सुखञ्चासनमाश्रितो | रा कृ | भाग. 2-2-15 |
| 638. | 2 | 18 | स्थिरं सुखञ्चासनमाश्रितो | विज | भाग. 2-2-15 |
| 639. | 8 | 20 | स्थिरं सुखञ्चासनमाश्रितो | विज | भाग. 2-2-15 |
| 640. | 10 | 34 | स्थूलं भगवतोरूपं | विज | अध्यात्मे |
| 641. | 5 | 21 | स्वप्रसादादिमं जीवः | विज | षाड्गुण्ये |

| S.No. | Adhyaya No. | 'Sloka No. | TEXT QUOTED | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 642. | 6 | 35 | स्वमाया विभवं स्वयं | वीर | |
| 643. | 6 | 38 | स्वयमेव स्वरूपाणि | विज | भागवततन्त्रे |
| 644. | 6 | 19 | स्वरूपांशो विभिन्नांशौ | विज | वामने |
| 645. | 9 | 5 | स्वाधिष्ण्य मास्थाय | रा कृ | भाग. 2-9-7 |
| 646. | 9 | 37 | स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया च | वीर | श्वेता.उ. 6-8 |
| 647. | 10 | 45 | स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया च | विज | |
| 648. | 4 | 2 | स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं | विज | |
| 649. | 6 | 44 | स्वेच्छयैषां विशिष्टत्वं | विज | व्योमसंहितायाम् |
| 650. | 4 | 14 | स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः | वीर | छान्दो.उ. 7-24-1 |
| 651. | 7 | 10 | स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः | वीर | छान्दो.उ. 7-24-1 |
| 652. | 6 | 7 | स्वोत्पत्त्यङ्गेषु देवानां | विज | अध्यात्मे |
| | | | ह | | |
| 653. | 9 | 45 | हरिर्व्यासादिरूपेण | विज | |
| 654. | 2 | 17 | हरिश्च प्रकृतिश्चैव ब्रह्म | विज | उदारसंहिता |
| 655. | 7 | 16 | हरि स्तापसनामाऽसौ | विज | मात्स्ये |
| 656. | 5 | 2 | हरिः परोऽस्य जगतो | विज | सात्त्वतसंहिता |
| 657. | 7 | 39 | हरीच्छया विभूतिर्यत् | विज | अध्यात्मे |
| 658. | 5 | 36 | हरे रयवैः सृष्टा लोका | विज | मात्स्ये |
| 659. | 6 | 5 | हरेः श्मश्र्वाश्रया विद्युत् | विज | आश्रये |
| 660. | 1 | 31 | हासो हासा दभिव्यक्ता | विज | |
| 661. | 5 | 15 | हिरण्यगर्भ स्समवर्तताऽग्रे | विज | तैत्ति.सं. 4-1-8 |
| 662. | 7 | 10 | हिरण्यश्मश्रुः | विज | छान्दो.उ. 1-6-6 |
| 663. | 7 | 15 | हे आदि पूरुष अखिल | रा कृ | |

Harih Om

# ŚRĪMAD
# BHĀGAVATA
# MAHĀPURĀṆAM

*of Maharṣi Vedavyāsa*

**SKANDHA - IV**

**With the Commentaries :**

*Bhavarthadipika of Sri Sridharaswami, Bhagavatachandrachandrika of Sri Vira Raghavacharya, Padaratnavali of Sri Vijayadhvaja Tirtha*

**Edited by**

Panditaraja, Sahitya Visarada, Vacaspati, Siromani Vidwan,
Recipient of President's Certificate of Honour
**Dr. N.C.V. Narasimhacharya,** MA, BOL,
**SPECIAL OFFICER**
**SRI BHAGAVATHA PROJECT**
T.T.Devasthanams, Tirupati

Published by
**EXECUTIVE OFFICER**
**Tirumala Tirupati Devasthanams**
Tirupati
**2004**

**Śrimad Bhāgavatamahāpurāṇam - Skandha-IV.**

Edited by

**Dr. N.C.V. Narasimhacharya**

T.T.D. Religious Publications Series No. 649

**First Edition - 2004**

**Price : Rs.**

Copies : 1,000

***Published by :***

**Sri Ajeya Kallam,** I.A.S.,
Executive Officer,
T.T.Devasthanams,
Tirupati.

Cover Design
P. Siva Prasad, TTD

***Laser setting by***

**Annapurna Graphics**
53/4, R.S. Gardens
TIRUPATI, ☎: 2235006

Printed at :

**Gayatri Art Printers**
# 1-8-703/6/1, Nallakunta, Adjacent to Shankermutt,
Osmania University Road, Hyderabad - 500 044.
Phone : 27670210
E-mail:gayatriartprinters2003@yahoo.com

ओं नमो वेङ्कटेशाय

श्रीवेदव्यासमहर्षिप्रणीतम्

# श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

## चतुर्थः स्कन्धः

श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका, श्रीवीरराघवनिर्मिता श्रीभागवतचन्द्रचन्द्रिका,

श्रीविजयध्वजविलिखिता पदरत्नावली चेति त्रिभिः व्याख्यानैः भूषितम्


पण्डितराजः साहित्यविशारदः वाचस्पतिः शिरोमणिः विद्वान् इति बिरुदभाजा

**राष्ट्रपति पुरस्कार ग्रहीत्रा**

**डा.एन्.सि.वि. नरसिंहाचार्येण**

(विशिष्टाधिकारी, श्रीमद्भागवत शोधपूर्ण परिष्करण परिषत्)

**परिष्कृतम्**



**तिरुमल तिरुपति देवस्थान**

**कार्यनिर्वहणाधिकारिभिः**

**प्रकाशितम्**

**2004**

हरिः ओम्

ईशानां जगतोऽस्य वेङ्कटपतेर्विष्णोः परां प्रेयसीं
तद्वक्षःस्थलनित्यवासरसिकां तत्क्षान्तिसंवर्धनीम् ।
पद्मालङ्कृतपाणिपल्लवयुगां पद्मासनस्थां श्रियं
वात्सल्यादिगुणोज्ज्वलां भगवतीं वन्दे जगन्मातरम् ॥

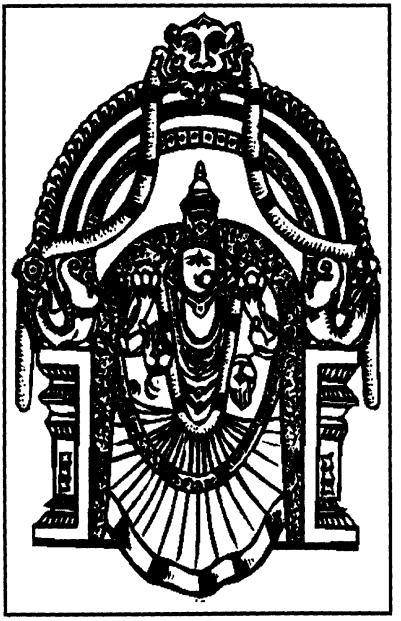

श्रीमद्वेङ्कटनायकस्य हृदये द्वेधा विधायाऽऽत्मनो
मूर्तिं शश्वदियं कृपामृतझरीस्रोतस्विनी भार्गवी ।
उद्धर्तुं निखिलानगण्यविषमांहोवह्निदग्धात्मनो
जन्तून् सन्निदधाति विश्वजननी पद्मावती रक्षतात् ॥

हरिः ओम्

लोकोद्धारैकदीक्षापरनिगममहाहर्म्यधर्म्यप्रदीपः
स्वाङ्घ्रिद्वन्द्वप्रपन्नाखिलदुरिततमोध्वंसिपुण्यप्रदीपः ।
दिङ्मूढेभ्यो नरेभ्यः प्रकटितसरणिः स्नेहदीप्रः प्रदीपः
युष्मानस्मान्समस्तानवतु वृषगिरिस्थास्नु मङ्गल्यदीपः ॥

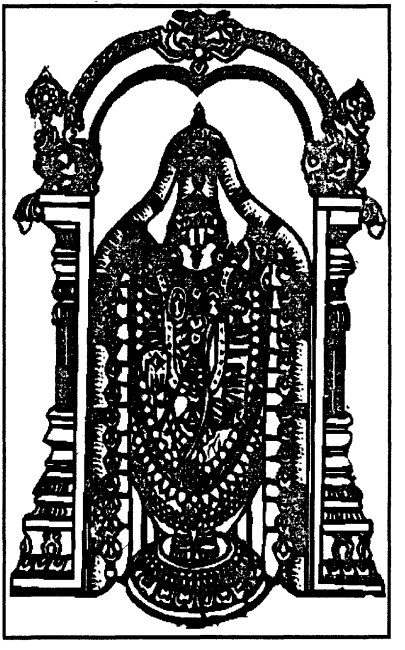

श्रीमद्भागवतं पुराणमखिलाम्नायैकसारः क्व वा ?
प्रज्ञादुर्विधकिम्पचानधिषणाः शैक्षाः क्व वा मादृशाः ?
भक्त्या चापलतस्तथाऽपि च परिष्कर्तुं वयं व्यापृताः,
एतत् प्राभृतयाम वेङ्कटपतेः पादाब्जयोः, स्वीक्रियात् ॥

TIRUMALA TIRUPATI DEVASTHANAMS

# TRUST BOARD

## Chairman

**Sri D.K. Audikesavulu**

## Members

**Dr. D. Ramanaidu Ex M.P.**

**Sri G. Ganga Reddy Ex M.P.**

**Smt. Gundu Sudha Rani**

**Sri G. Srinivasulu**

**Sri Manoj Kumar Santhalia**

**Dr. V.R. Panchamukhi**

**Sri K.V. Ramanachary**
Commissioner, Endowments, A.P.
Ex-Officio Member

**Sri Ajeya kallam, I.A.S.,**

Executive Officer,
T.T.Devasthams
Ex-Officio Member - Secretary

# The Critical Edition of Srimad Bhagavata

## The Editorial Board


**Ex-officio Chairman**

**Sri Ajeya kallam, I.A.S.**
Executive Officer,

**MEMBERS**

1. **Dr. Medasani Mohan**
   Director
   Sri Annamacharya Project.
   T.T.Devasthanams, Tirupati.
2. **Prof. H.S. Brahmananda**
   Secretary,
   Dharma Prachara Parishad,
   T.T. Devasthanams, Tirupati.
3. **Prof. S. Sudarsana Sarma**
   Professor & Head
   Dept. of Sahitya,
   R.S. Vidyapeetha, Tirupati.
4. **Prof. K. Pratap**
   Professor & Head
   Dept. of Sanskrit,
   S.V. University, Tirupati.
5. **Dr. G.S.R. Krishna Murthy**
   Reader
   Dept. of Sahitya,
   R.S. Vidyapeetha, Tirupati.
6. **Dr. N.S. Ramamoorthy**
   Editor,
   T.T. Devasthanams, Tirupati.

**Convener**

**Prof. Śamudrala Lakshmanaiah**
Special Officer
Sri Bhagavatam Project.

# Contents


1. Foreword i
2. Introduction-English ii
3. Introduction -Sanskrit iv
4. List of Abbreviations -(Editions) vi
5. List of Abbreviations (Texts cited) vii
6. Contents of each canto (in prose) viii
7. Contents of each canto (in slokas) ix
8. Process of Reciting Sri Bhagavata xi
9. Srimad Bhagavata Mahapuranam

| Text. | Page | Text. | Page |
|---|---|---|---|
| Canto.1 | 1 | Canto.18 | 288 |
| Canto.2 | 30 | Canto.19 | 401 |
| Canto.3 | 48 | Canto.20 | 420 |
| Canto.4 | 63 | Canto.21 | 446 |
| Canto.5 | 87 | Canto.22 | 478 |
| Canto.6 | 99 | Canto.23 | 514 |
| Canto.7 | 127 | Canto.24 | 532 |
| Canto.8 | 174 | Canto.25 | 574 |
| Canto.9 | 213 | Canto.26 | 609 |
| Canto.10 | 249 | Canto.27 | 625 |
| Canto.11 | 260 | Canto.28 | 640 |
| Canto.12 | 280 | Canto.29 | 672 |
| Canto.13 | 304 | Canto.30 | 725 |
| Canto.14 | 325 | Canto.31 | 748 |
| Canto.15 | 344 | Appendix-I Quarter Verse Index | |
| Canto.16 | 356 | Appendix-II Citation Index | |
| Canto.17 | 370 | | |

# FOREWORD

Vedas are the source of Sanatana Dharma. Puranas explain the meaning of the Vedas by way of narration of interesting stories. Amongst these Puranas, Vyasa's Bhagavatam is considered to be the best. It is the ripened fruit fallen from the Kalpavruksha of the Vedas.

In this Kali Yuga, devotion towards God, is said to be the easiest way of crossing the ocean of Samsara. In the books extolling 'Bhakti Tattva' there is no treatise which equals this Bhagavata.

The King Parikshit of Pandava race, was severely cursed by Srungi, due to a heinous crime committed by him to the latter's father. The king came to know that he would sure meet his death at the end of a week. At that critical juncture he was expecting a Guru who would show him a way out. At the moment, Sage Suka, the son of Vyasa, happened to come to him, by the grace of God. The Sage preached the king, the Bhagavata Purana, for a week. That is the reason why, Bhagavata Pravachanams are arranged generally for a week.

The Bhagavata Project was established by T.T.D. with the intention of bringing out a critical edition of Bhagavata. Eminent scholars have since completed the onerous task of editing the book with three famous commentaries.

The process of printing the sacred work, is under progress. So far, the first Skandha and three volumes of the tenth Skandha have been published. The present volume is the fourth Skandha. The well-known scholar, and recipient of President's award, late Dr. N.C.V. Narasimhacharya, has edited this volume. Our grateful thanks are due to him.

We are putting forth our sincere efforts to publish the remaining volumes soon. It is hoped that the readers would receive this volume with due devotion and respect.

**Ajeya Kallam,** I.A.S.
Executive Officer,

Tirupati,
2-4-2004

# INTRODUCTION

To the Vaishnavites, the most favourite treatise is the Srimadbhagavata, the best of all the Puranas. It perfectly reveals the actionless state imbued with knowledge, detachment and devotion. "One who hears or reads this holy Purana, with devotion and discrimination, is sure to attain Liberation", says Bhagavata.

While Bhagavadgita is a theoretical treatise, the Bhagavata is a treatise full of practical illustrations, according to the experts in spiritual field. What is enunciated in the Gita by way of theory is amply illustrated by interesting stories in Bhagavata. For example, Lord Krishna says in the Gita that there are four kinds of devotees worshipping Him, namely Aarta, Jijnaasu, Arthaarthi andJnaani.

The nature of all these devotees is clearly explained in Bhagavata through beautifulstories. Aarta Bhakta is Gajendra, Jijnaasu Bhakta is Uddhava, Arthaarthi Bhakta is Dhruva, while Jnaani Bhakta is Suka. The stories of Gajendra etc. are very famous in Bhagavata.

Bhagavata, in its Twelfth Canto, explains its own greatness as follows: "The other Puranas shine amongst the virtuous, so long as this Purana is not known. Srimadbhagavata is the essence of the entire Vedanta. One who is satisfied by this ambrosia of Bhagavata will not relish any other Purana. This Purana is considered as the foremost of all the other Puranas, just as the Ganga amongst the rivers, Vishnu amongst Gods and Siva amidst the devotees of Lord Vishnu."

The readers are aware that the TTD is publishing various religious books in numerous languages. In order to bring out the critical edition of Srimadbhagavata Purana, with well-known commentaries, the Bhagavata Project was established by the TTD..

Eminent scholars edited this holy book after perusing a large number of editions with three famous commentaries of Sridhara, Veeraraghava and Vijayadhwaja. All the information related to this critical edition, has already been given in the introduction of the first Skandha itself.

The first Skandha and the three volumes of the tenth Skandha have already been published by the TTD. The present volume is the fourth Skandha. The publication of the remaining volumes is under progress.

In this Skandha, the destruction of Daksha Yagna, the story of Dhruva, the account of Vena, the story of Pruthu and the Puranjanopakhyana and other subjects are vividly described. Daksha Prajapati while performing Yagna, despises Lord Siva and gets annihilated. Dhruva, on the other hand, though a child, inspired by Narada, performs penance soliciting the grace of Lord Vasudeva and becomes the Pole-star.

Vena, due to his unrighteous conduct, gets destroyed, while Pruthu with his righteous conduct becomes a glorious king. Similarly, the story of Puranjana, is pregnant with philosophical thought. These stories attract the hearts of readers and fill them with piety.

This Skandha was edited by well-known Sanskrit scholar, recipient of President's award, and our Guru, Sriman Dr. N.C.V. Narasimhacharya Swami. He reached the Lotus feet of the Lord, even before the publication of this book.

The scholars who assisted in preparing this edition are: 1. Sriman K.C. Jayachandra Sastri, 2. Sriman U. Venkatramaiah and 3. Sriman Varada Rajan, who deserve the gratitude of the readers.

The research assistants, namely, Sriman S.B.S. Bhattachaarya and Smt. S. Purnavalli also deserve our commendation. Sri I. Venkateswara Rao and Dr. S. Dasaratha and others who helped immensely in proof reading of the work also deserve our gratitude.

Sri Ajeya Kallam, IAS, the revered Executive Officer of the TTD and Dr.V.R.Panchamukhi,the well-known Sanskrit scholar; the revered Chancellor of Rashtriya Sanskrit Vidya Peeta, Tirupati and Hon. Member of the TTD Board and Dr. Medasani Mohan, the Director of Annamacharya Project and other members of the advisory committee of the Bhagavatam project are offered our deep gratitude for their keen interest and co-operation in bringing out this edition.

Tirupati,
2-4-2004

Samudrala Lakshmanaiah,
Special Officer,
Sri Bhagavata Project, T.T.D.

# निवेदनम्

*श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं*
*यस्मिन्पारमहंस्यमेक तदखिलं ज्ञानं परं गीयते।*
*यत्र ज्ञानविरक्तिभक्तिसहितं नैष्कर्म्य माविष्कृतं*
*तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः ॥* (भाग. 12-13-18)

पुराणश्रेष्ठत्वेन प्रसिद्धं श्रीमद्भागवतं विष्णुभक्तानां नितरां प्रियतमं भवति। अत्र ज्ञानवैराग्यभक्तिभिः सहितं नैष्कर्म्यं सुष्ठु प्रकटीकृतमस्ति। यस्तावत् विचारणशीलस्सन् भक्त्या पुराणमिदं श्रृणोति अथवा पठति स मुक्तो भवतीत्यत्र न संशयः।

भगवद्गीता लक्षणग्रन्थ इति, भागवतं लक्ष्यग्रन्थ इति च तत्त्वज्ञा वदन्ति। सिद्धान्तरूपेण भगवद्गीतायां प्रतिपादिता विषया भागवते अत्यन्तं रुचिराभिः कथाभिर्निरूप्यन्ते। तथाहि। गीतायां भगवता श्रीकृष्णेन भक्ताः चतुर्विधा भवन्तीति प्रत्यपादि। एतेषां चतुर्विधानामपि भक्तानां स्वरूपं भागवते कथाकथन रूपेण सम्यङ्निरूपितमस्ति। आर्तभक्तः गजेन्द्रः, जिज्ञासुभक्त. उद्धव , अर्थार्थिभक्तः ध्रुवः, ज्ञानिभक्तः शुक इत्येवं गजेन्द्रादीनां भक्तानां कथाः भागवते प्रसिद्धा एव।

अपि चास्य पुराणस्य महिमा अस्मिन्नेव ग्रन्थे द्वादशे स्कन्धे त्रयोदशाध्याये एवं परिकीर्तितः -

*राजन्ते तावदन्यानि पुराणानि सतां गणे।*
*यावन्न दृश्यते साक्षात् श्रीमद्भागवतं परम् ॥*

*सर्ववेदान्तसारं यत् श्रीभागवतमिष्यते।*
*तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित् ॥*

*निम्नगानां यथा गङ्गा देवाना मच्युतो यथा।*
*वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा ॥* (भाग- 12-13-14,15,16)

तिरुमल तिरुपति देवस्थानेन अनेकासु भाषासु धार्मिका आध्यात्मिकाश्च बहवो ग्रन्थाः प्रकटीक्रियन्त इति पाठका जानन्त्येव। पुराणश्रेष्ठं भागवतमपि सुप्रसिद्धव्याख्यानैस्सह परिष्कृत्य प्रकटीकरणीयमिति तदर्थमेव 'श्रीभागवत परिष्करण परिषत्' इति काचन संस्था स्थापिता। सुप्रसिद्धा विद्वांसः बहुग्रन्थपरिशीलनेन भागवतमिदं श्रीधरीय, वीरराघवीय विजयध्वजीयाख्यैः त्रिभिर्व्याख्यानैः सम्यक् परिष्कृत्य मुद्रणयोग्यप्रतिं सज्जीचक्रुः।

ग्रन्थस्यास्य परिष्करणमधिकृत्य ज्ञातव्याः विषयाः सर्वेऽपि प्रथमस्कन्धस्य पीठिकायामेव विशदीकृताः।

इतः पूर्वं प्रथमस्कन्धः एवं दशमस्कन्धस्य त्रयो भागाश्च देवस्थानेन प्रकाशिताः। चतुर्थः स्कन्धः अधुना पाठकानां करकमलमलङ्करोति। अवशिष्टानामपि स्कन्धानां प्रकाशनं सत्वरं सम्पत्स्यते।

अस्मिन् चतुर्थस्कन्धे, दक्षाध्वरध्वंसः, ध्रुवोपाख्यानम्, वेनचरित्रम्, पृथोश्चरितम्, पुरञ्जनोपाख्यानम् इत्येतदादयो विषयाः क्रमेण वर्ण्यन्ते।

दक्षप्रजापतिः यज्ञं कुर्वन् भगवन्तं शिवं अनादृत्य भ्रष्टो बभूव। बालोऽपि ध्रुवः नारदस्य उपदेशेन भगवन्तं वासुदेवमाराध्य ध्रुवस्थानं लेभे। अधर्मप्रवृत्तेः वेनस्य विनाशः, परमधार्मिकस्य पृथोः वैभवम्, तत्त्वार्थपूर्णं पुरञ्जनोपाख्यानं इत्येतदादयो बहवः अंशाः स्कन्धेऽस्मिन् पाठकानां हृदयानि रञ्जयन्ति, तेषु भक्तिभावमपि उपस्थापयन्ति।

विद्वद्वर्यैः राष्ट्रपतिपुरस्कारेण सम्मानितैः, बहुभाषानिपुणैः अस्मद्गुरुभिः श्रीमद्भिः डा.यन्.सि.वि. नरसिंहाचार्य स्वामिभिः व्याख्यानत्रयसमलङ्कृतोऽयं ग्रन्थः महता श्रमेण परिष्कृतः। ग्रन्थप्रकाशनात्पूर्वमेव ते महाभागाः यशश्शरीरा बभूवुः।

अस्य ग्रन्थस्य परिष्करणे सम्पादने च बहुधा उपकृतवन्तः श्रीमन्तः के.सि. जयचन्द्रशास्त्रिणः, यु. वेङ्कटरामय्यनामानः आ. वरदराजन्नाह्वयाश्च कृतज्ञताञ्जलि मर्हन्ति, एवं श्रीमान् यस्.बि.यस्. भट्टाचार्यः, श्रीमती. यस्. पूर्णवल्ली च कृतज्ञता मर्हतः।

मुद्रणसमये अक्षरशोधनकर्मणि सहकारं प्रदत्तवन्तः श्रीमन्तः श्री. ऐ.वेङ्कटेश्वररावु महोदयाः, डा.यस्. दशरथाख्यः एवं अन्येच धन्यवादान् अर्हन्ति।

किञ्च अस्य ग्रन्थस्य मुद्रणे नितरां श्रद्धां प्रदर्शितवद्भ्यः ति.ति.दे. श्रीकार्यनिर्वहणाधिकारिभ्यः श्री अजेय कल्लं I.A.S. महाशयेभ्यः एवं ति.ति.दे धर्मकर्तृमण्डलीसदस्येभ्यः विद्वद्वर्येभ्यः डा. वी. आर्. पञ्चमुखिमहादयेभ्यः, अन्नमाचार्य प्राजेक्ट्, निदेशकेभ्यः डा. मेडसानि मोहन् महाशयेभ्यः एवं अन्येभ्यश्च भागवत सम्पादन परिष्करण मार्गदर्शक मण्डली सदस्येभ्यः सादरं कृतज्ञताञ्जलयः समर्प्यन्ते।

'लोकास्समस्ता स्सुखिनो भवन्तु'

तिरुपतिः
2-4-04

***समुद्राल लक्ष्मणय्य***
विशिष्टाधिकारी
श्रीभागवतपरिष्करण परिषत्
ति.ति.देवस्थानम्

# LIST OF ABBREVIATIONS

(of the Edition of Srimad Bhagavata Mahapurana being referred to)

1.A. Edited by Sri Krishna Sankara Sastri-contains about 30 commentaries -Printed in Devanagari Script at Ahmedabad, Gujarat.

2.B. Printed in Devanagari Script at Brindavan-contains 9 commentaries.

3.G. Contains text only-Printed at Gita Press, Ghorakhpur-in Devanagari Script.

4.H. Contains Sridhara's Commentary. Edited by Sri Hayagriva Sastry. Printed in Telugu Script at Madras.

5.J. Contains Sridharacharya's Commentary-Edited by Prof. J.L. Sastri-in Devanagari Script.

6.M. Contains the commentary of Sri Vijaya Dhvaja Tirtha-Printed in Devanagari Script Madhva Edition.

7.Ma. Contains the commentary of Sri Vijaya Dhvaja Tirtha-Printed in Devanagari Script-Another Madhva Edition.

8.T. Contains the commentary of Sri Veera Raghavacharya -Printed in Telugu Characters-Published by Sri Tridandi Srimannarayana Ramanuja Jeer Swami

9.V. Contains the commentary of Sridharacharya-Printed at Vavilla Press, Madras in Telugu Script.

10.W. Contains the commentary of Sri Veera Raghavacharya- Printed in Telugu characters-Published by the Maharaja of Wanaparti Samsthan, Andhra.

# LIST OF ABBREVIATIONS

## Commentaries

1. श्रीध० श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

2. वीर० श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

३. विज० श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

# Texts cited in commentaries and their Abbreviations

| Abbreviation | Name of the Book | Abbreviation | Name of the Book |
|---|---|---|---|
| अथ.शिखा.उ. | अथर्वशिखोपनिषत् | ब्र.सू. | ब्रह्मसूत्राणि |
| अद्वै.उ. | अद्वैतोपनिषत् | - | ब्राह्मे |
| - | अध्यात्मे | - | भद्रिकायाम् |
| - | अभिधानम् | भ.गी. | भगवद्गीता |
| अम.को. | अमरकोश. | भर.सं. | भरद्वाजसंहिता |
| अष्टा. | अष्टाध्यायी | - | भागवततन्त्रे |
| - | अहिर्बुध्न्यसंहिता | भाग. | भागवतम् |
| आगम.प्रा. | आगमप्रामाण्यम् | - | भविष्यत्पुराणे |
| आप.श्रो.सू. | आपस्तम्ब श्रौतसूत्रम् | भारते.आनु. | भारते आनुशासनिकपर्व |
| - | आग्नेये | भारते.आरण्य | भारते आरण्यपर्व |
| ईशा.उ. | ईशावास्योपनिषत् | भारते. उद्योग | भारते उद्योगपर्व |
| उणा. सू. | उणादिसूत्राणि | भारते.शान्ति | भारते शान्तिपर्व |
| - | उत्पलमाला | मनु.स्मृ. | मनुस्मृतिः |
| ऋक्.सं. | ऋक् संहिता | - | महाकौर्मे |
| ऐत.उ. | ऐतरेयोपनिषत् | - | माहात्म्ये |
| कठ.उ. | कठोपनिषत् | म.ना.उ. | महानारायणोपनिषत् |
| - | कापिलेये | महा.उ. | महोपनिषत् |
| कुमार.स. | कुमारसम्भवम् | माण्डू.उ. | माण्डूक्योपनिषत् |
| कौषी.उ. | कौषीतक्युपनिषत् | - | माध्यन्दिनश्रुतिः |
| - | क्रियायोगे | मुण्ड.उ. | मुण्डकोपनिषत् |
| - | गारुडे | मैत्रा.उ. | मैत्रायण्युपनिषत् |
| - | गोपालः | याज्ञ.स्मृ. | याज्ञवल्क्यस्मृतिः |
| - | चाक्रायण श्रुतिः | रामा. | रामायणम् |
| छान्दो.उ. | छान्दोग्योपनिषत् | - | रुद्रः |
| जित.स्तो | जितन्ता स्तोत्रम् | - | लक्ष्मीतन्त्रे |
| - | तत्त्वनिर्णये | वर.स्तवः | वरदराजस्तवः |
| - | तन्त्रभागवते | - | वामने |
| तैत्ति.आ. | तैत्तिरीय आरण्यकम् | - | वाराहे |
| तैत्ति.उ. | तैत्तिरीयोपनिषत् | - | वररुचिः |
| तैत्ति.सं. | तैत्तिरीयसंहिता | विष्णु.ध.पु. | विष्णुधर्मोत्तरपुराणम् |
| - | दत्तः | विष्णु.पु. | विष्णुपुराणम् |
| - | नारदीये | - | विष्वक्सेनसंहिता |
| निरा.उ. | निरालम्बोपनिषत् | वे.नि. | वेदनिघण्टुः |
| - | निरुक्तम् | - | शब्दनिर्णये |
| नृ.उ.ता.उ. | नृसिंह उत्तरतापिन्युपनिषत् | शार्ङ्ग.पद्ध. | शार्ङ्गधरपद्धतिः |
| - | पञ्चतन्त्रे | - | शिशुपालवधम् |
| - | परमसंहिता | श्वेता.उ. | श्वेताश्वेतरोपनिषत् |
| - | पाञ्चरात्रे | सुबा.उ. | सुबालोपनिषत् |
| - | पाद्मपुराणम् | सुभा. | सुभाषितरत्नभाण्डागारम् |
| पु.सू. | पुरुषसूक्तम् | सूर्य.उ. | सूर्योपनिषत् |
| - | प्रकाशिकायाम् | - | स्कान्दे |
| प्रश्न.उ. | प्रश्नोपनिषत् | - | षाड्गुण्ये |
| बृह.उ. | बृहदारण्यकोपनिषत् | - | हरिवंशे |
| - | ब्रह्मतर्के | हला.को. | हलायुधकोशः |
| - | ब्रह्मवैवर्त्ते | - | हेमचन्द्रः |

# श्रीमद्भागवतमहापुराण - चतुर्थस्कन्धस्थ -
# विषयानुक्रमणी


१. मनुकन्यानां वंशवर्णनम्, यज्ञदत्तयो रवतारश्च।
२. विश्वसृजां सत्रे दक्षशिवयो र्वैरकारण मुभयपक्षतोऽन्योन्यं शापप्रयोगश्च।
३. पितुर्यज्ञोत्सवं द्रष्टुं जिगमिषन्त्याः सत्याः शिवात्स्वीकृतिप्रार्थनं शिवद्वारा तत्र गमननिषेधश्च।
४. सत्याः स्वेच्छयैव यज्ञे गमनं तत्र पत्यवमानदर्शनात् पितरं निर्भर्त्स्य योगेन देहत्यागश्च।
५. वीरभद्रकृतयज्ञविध्वंसः, दक्षवधश्च।
६. ब्रह्मसहितानां देवानां कैलासगमनं रुद्रस्य स्तवनञ्च।
७. रुद्रवरदानं दक्षजीवनं यज्ञसन्धानं सर्वदेवकृत विष्णुस्तुतिश्च।
८. प्रतिसर्गवर्णने ध्रुवोपाख्यानम्, विमातुर्दुरुक्त्या विद्धस्य ध्रुवस्य वनगमनं, तत्र नारदोपदेशेन भगवदाराधनञ्च।
९. ध्रुवस्य भगवद्दर्शनं, भगवत्स्तवनं वरं लब्ध्वा पुरप्रत्यागमनं राज्यप्राप्तिश्च।
१०. स्वभ्रातुरुत्तमस्य यक्षद्वारा वधं श्रुत्वा क्रुद्धस्य ध्रुवस्य युद्धं यक्षाणां संहारारम्भः।
११. स्वायम्भुवमनुकृतं ध्रुवस्य सान्त्वनं युद्धविरामश्च।
१२. ध्रुवाय कुबेरस्य वरदानं ध्रुवस्य गङ्गाद्वारे तपश्चरणं भगवत्पदारोहणञ्च।
१३. ध्रुवस्य वंशस्तत्रोत्पन्नस्य अङ्गस्य स्वतनय वेनकृतदुराचारेण निर्वेदाधिक्याद् गृहत्यागश्च।
१४. पितू राज्येऽभिषिक्तस्य वेनस्याधर्मवर्तित्वात् ऋषिभिर्वधः, तद्रूमथना न्निषादोत्पत्तिश्च।
१५. वेनभुजाभ्यां पृथो रर्चिषश्च प्रादुर्भावः, पृथो राज्याभिषेकश्च।
१६. मागधवन्दिजन कृतं महाराजपृथोः स्तवनम्।
१७. क्षुत्पीडितप्रजानां अन्नदानार्थे ग्रस्तबीजां पृथिवीं हन्तुमुद्यतस्य पृथो स्तया स्तवनम्।
१८. पृथिवी वचनात् पृथक् पृथक्वत्सपात्रादिकल्पनया पृथिव्या दोहनम्।
१९. स्वकीयेऽश्वमेधयज्ञे विघ्नकारिण मिन्द्रं हन्तुकामस्य पृथोः ब्रह्मसान्त्वनया यज्ञाद्विरतिः।
२०. भगवतो दर्शनं भगवत्पृथुसंवादश्च।
२१. स्वकीय प्रजापरिषदि महाराजपृथुकृत भगवद्धर्मोपदेशः।
२२. महाराजाय पृथवे सनत्कुमारकृतो ज्ञानोपदेशः।
२३. पृथोर्वनं गत्वा तपश्चरणं, योगधारणया त्यक्तदेहस्य पृथोः चितायां दग्धतनो रर्चिषश्च सहैव वैकुण्ठप्राप्तिः।
२४. पृथुवंशः, रुद्रप्राचेतससमागमः, रुद्रगीतञ्च।
२५. प्राचीनबर्हिर्नारदसंवादः, पुरञ्जनोपाख्यानारम्भश्च।
२६. पुरञ्जनस्य मृगयावर्णनं, तत्प्रियायाः प्रणयकोपश्च।
२७. पुरञ्जनपुरे चण्डवेगस्या ऽऽक्रमणं कालकन्याचरित्र वर्णन ञ्च।
२८. पुरध्वंसे पुरञ्जनस्य शोकः, भयादिकृतयातनानुभवः, जन्मान्तरे स्त्रीभावापत्तिः अविज्ञातनाम्नः सख्यु रुपदेशान्मुक्तिश्च।
२९. पुरञ्जनोपाख्यानस्य तात्पर्यं, नारदोपदेशः, प्राचीनबर्हिषो मुक्तिश्च।
३०. दशप्रचेतसां भगवद्दर्शनं वरप्राप्तिश्च। तेभ्यो मारिषागर्भात् दक्षोत्पत्तिश्च।
३१. गृहात्प्रव्राजितानां प्रचेतसां नारदोपदेशा न्मुक्तिः।

# श्रीमद्भागवतमहापुराण चतुर्थस्कन्धीय अध्यायार्थसङ्ग्रहश्लोकाः

तत्रतु प्रथमाध्याये मनुकन्यान्वयाः पृथक्। वर्ण्यन्ते यत्र यज्ञादिमूर्तिभिः प्रभवा हरेः ॥ १ ॥

द्वितीये प्रथमाध्यायोपक्षिप्त भव दक्षयोः। विद्वेषे वर्ण्यते हेतु र्विश्वसृड्यज्ञसम्भवः ॥ २ ॥

तृतीये तु सती तात यज्ञोत्सवदिदृक्षया। गमिष्यन्ती महेशेन वारिता नीतिहेतुभिः ॥ ३ ॥

चतुर्थे तु पतिं हित्वा गता पित्राऽवमानिता। रुषा निर्भत्स्र्य तं यज्ञे जहौ देहमितीर्यते ॥ ४ ॥

पञ्चमे तु सती देहत्याग माकर्ण्य शङ्करः। वीरभद्रं रुषोत्पाद्य तेन दक्षमजीघनत् ॥ ५ ॥

षष्ठे तु देवसङ्घेन सह गत्वा भवं विधिः। सान्त्वयामास दक्षादि जीविताद्यर्थ मादरात् ॥ ६ ॥

सप्तमे विष्णु रुद्भूत स्स्तुतो दक्षभवादिभिः। यज्ञं प्रवर्तयामास दक्षेनेति निरूप्यते ॥ ७ ॥

मनुकन्यान्वये प्राप्ता दक्षयज्ञ कथोदिता। मनुपुत्रान्वये प्राप्ता ध्रुवचर्याऽथ पञ्चभिः।
अष्टमे गुरुदारोक्ति रोषमत्सरतः पुरात् निर्गतेन ध्रुवेणाऽऽह तपसा तोषणं हरेः ॥ ८ ॥

नवमे तु हरिं स्तुत्वा लब्ध्वा तस्मा द्वरान् ध्रुवः। प्रत्यागत्याऽकरो द्राज्यं पित्रा दत्तमितीर्यते ॥ ९ ॥

दशमे भ्रातृ हन्तॄणां यक्षाणामकरो द्वधम्। एक एवाऽलकां गत्वे त्यस्य विक्रम ईर्यते ॥ १० ॥

एकादशे तु यक्षाणां दक्षं दृष्ट्वा मनुः स्वयम्। आगत्य वारयामास ध्रुवं तत्त्वोपदेशतः ॥ ११ ॥

द्वादशे धनदेनाभिनन्दितः पुर मागतः। यज्ञे रिष्ट्वा हरेः स्थान मारुरोहेति कीर्त्यते ॥ १२ ॥

एवं पञ्चभिरध्यायै र्ध्रुवचर्याऽनुवर्णिता। अथैकादशभि श्चित्रं पृथुचारित्र मुच्यते ॥
तत्र त्रयोदशे वक्तुं पृथोर्जन्म ध्रुवान्वये। अङ्गो वेनपितापुत्रक्रौर्याद्गत इतीर्यते ॥ १३ ॥

चतुर्दशे तु दुष्पुत्रभया दङ्गे गते द्विजैः। अभिषिक्तस्य वेनस्य रोषा त्तै र्वध उच्यते ॥ १४ ॥

ततः पञ्चदशे विप्रै र्मथना द्वेन बाहुतः। जातस्य तु पृथो रुक्त मभिषेकार्हणादिकम् ॥ १५ ॥

षोडशे सर्वलोकेशै स्सत्कृतं भार्यया युतम्। मुनिप्रयुक्ता स्सूताद्याः स्तुवन्ति स्मेति वर्ण्यते ॥ १६ ॥

तत स्सप्तदशे लोके क्षुधः प्रशमयन् पृथुः। ग्रस्त बीजां महीं हन्तुं यत्तो भीत्या तया स्तुतः ॥ १७ ॥

आलोलतुलसीमाल मारूढविनतासुतम्। ज्योति रिन्दीवरश्याम माविरस्तु ममाऽग्रतः ॥
अष्टादशे महीवाक्या द्वत्सपात्रादि भेदतः। पृथ्वादिभि स्तु क्रमश स्सा दुग्धेति निरूप्यते ॥ १८ ॥

ऊनविंशेऽश्वमेधाङ्ग हयापहरणात्पृथोः। इन्द्रं हन्तुं प्रवृत्तस्य धात्रा वारण मुच्यते ॥ १९ ॥

विंशे तु विष्णुना साक्षात्पृथो र्यज्ञेऽनुशासनम्। वरदान प्रसङ्गेन प्रीतिश्चाऽन्योन्य मीर्यते॥ २०॥

एकविंशे तु पृथुना प्रजाना मनुशासनम्। महासत्रे सुरादीनां महासदसि वर्ण्यते॥ २१ ॥

द्वाविंशे तु परंज्ञानं पृथवे हरिशासनात्। सनत्कुमारो भगवानुपादिशदितीर्यते॥ २२॥

त्रयोविंशे सभार्यस्य वने नित्यसमाधितः। विमान मधिरुह्याऽथ वैकुण्ठगति रीर्यते॥ २३॥

एकादशभिरध्यायैः पृथो श्चरितमीरितम्। प्रचेतसा मथाऽष्टाभि स्तन्मध्ये पञ्चभिः पितुः।
(चतुर्विंशे प्रपौत्रात्तु पृथोः प्राचीनबर्हिषः प्रचेतसां जनि स्तेभ्यो रुद्रगीतञ्च वर्ण्यते॥) ॥ २४॥

प्रचेतस्सु तपस्यत्सु तत्पित्रे नारदो घृणी। प्राचीनबर्हिषेऽध्यात्मं परोक्षेणाऽऽह पञ्चभिः॥
(पुरञ्जनकथाव्याजा त्पञ्चविंशे तु नारदः। आत्मनो बुद्धिसङ्गेन विविधा माहसंसृतिम्।
प्रचेतस्सु तपस्तीव्रं तप्यमानेषु नारदः। पुरञ्जनकथा कूटं प्राह प्राचीनबर्हिषे॥) ॥ २५॥

षड्विंशे मृगयाव्याजा त्स्वप्नजागरणोक्तिभिः। सद्बुद्धित्यागयोगाभ्यां संसृति स्सा प्रपञ्च्यते॥ २६ ॥

सप्तविंशेप्रियापुत्रा द्यासक्त्या विस्मृतात्मनः। काल कन्या द्युपाख्यानै र्जरारोगा द्युदीर्यते॥ २७ ॥

अष्टाविंशे तु वैदर्भ्या ध्यानेन स्त्रीविचिन्तया। स्त्रीत्वं प्राप्तस्य दैवेन कदाचि न्मुक्तिरुच्यते॥ २८॥

ऊनत्रिंशे परोक्षार्थव्याख्याने नोपसंहृतम्। स्त्रीसङ्गतो भवस्त्वीश सङ्गा न्मुक्ति रुदीर्यते॥ २९॥

प्रसङ्गात्पञ्चभिः प्रोक्तं वृतं प्राचीनबर्हिषः। वर्ण्यते त्र पुनर्द्वाभ्यां प्रस्तुतञ्च प्रचेतसाम्॥
(तत्र त्रिंशे तप स्तुष्टा देवा ल्लब्धवरा स्ततः। आगत्य वार्क्षी मुद्वाह्य राज्यं चक्रु रितीर्यते॥ ३० ॥

एकत्रिंशे सुते दक्षे धुरं न्यस्य प्रचेतसः। नारदोक्तेन मार्गेण गता मुक्ति रितीर्यते॥ ३१ ॥

# श्रीमद्भागवतपाठविधिः

स्नातः शुचिर्भूत्वा प्राणा नायम्य त्रिराचम्य च मङ्गलपाठपूर्वकं भगवन्तं प्रणमेत्। तदनु सञ्चितैः षोडशोपचारैर्मानसोपचारैर्वा व्यासं शुकं वासुदेवं श्रीमद्भागवतग्रन्थं च सादरं सविनयं सभक्तिभावं सम्पूजयेत्। ततः पाठारम्भात् प्राक् 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' इति द्वादशाक्षरमन्त्रम् 'ओं क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' इति गोपालमन्त्रं वाऽष्टोत्तरशतवारं जपेत्। पश्चादेवं विनियुञ्जीत-

## विनियोगः

ओं अस्य श्रीमद्भागवताख्यस्तोत्रमन्त्रस्य नारद ऋषिः, बृहती छन्दः, श्रीकृष्णः परमात्मा देवता, ब्रह्म बीजम्, भक्तिः, शक्तिः, ज्ञानवैराग्ये कीलकम्, मम श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थं पाठे विनियोगः।

## ऋष्यादिन्यासः

'नारदर्षये नमः' शिरसि। 'बृहतीच्छन्दसे नमः' मुखे। 'श्रीकृष्णपरमात्मदेवतायै नमः' हृदि। 'ब्रह्मबीजाय नमः' गुह्ये। 'भक्तिशक्तये नमः' पादयोः। 'ज्ञानवैराग्यकीलकाय नमः' नाभौ। श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थकपाठविनियोगाय नमः सर्वाङ्गे। द्वादशाक्षरमन्त्रेण हृदयाद्यङ्गन्यासं करन्यासं च कुर्यात्। अथवाऽधोऽङ्कितरीत्याऽङ्गन्यासकरन्यासौ विदध्यात् -

## अङ्गन्यासः

ओं क्लां हृदयाय नमः। ओं क्लीं शिरसे स्वाहा। ओं क्लूँ शिखायै वषट्। ओं क्लैं कवचाय हुम्। ओं क्लौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ओं क्लः अस्त्राय फट्।

## करन्यासः

ओं क्लां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ओं क्लीं तर्जनीभ्यां नमः। ओं क्लूं मध्यमाभ्यां नमः। ओं क्लैं अनामिकाभ्यां नमः। ओं क्लौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ओं क्लः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

## अथ ध्यानम्

कस्तूरीतिलकं ललाटफलके वक्षःस्थले कौस्तुभं नासाग्रे नवमौक्तिकं करतले वेणुं करे कङ्कणम्।
सर्वाङ्गे हरिचन्दनं च कलयन् कण्ठे च मुक्तावलिं गोपस्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपालचूडामणिः॥

अस्ति स्वस्तरुणीकराग्रविगलत्कल्पप्रसूनाप्लुतं वस्तु प्रस्तुतवेणुनादलहरीनिर्वाणनिर्व्याकुलम्।
स्रस्तस्रस्तनिबद्धनीविविलसद्गोपीसहस्रावृतं हस्तन्यस्तनतापवर्गमखिलोदारं किशोराकृति॥

इत्येवं ध्यात्वा पाठमारभेत।

## श्रीमद्भागवतसप्ताहपारायणस्य दैनन्दिनविश्रामस्थलानि निम्नाङ्कितपद्येषु निरूपितानि

मनुकर्दमसंवादपर्यन्तं प्रथमेऽहनि। भरताख्यानपर्यन्तं द्वितीयेऽहनि वाचयेत्।
तृतीये दिवसे कुर्यात् सप्तमस्कन्धपूरणम्। कृष्णाविर्भावपर्यन्तं चतुर्थे दिवसे वदेत्॥

रुक्मिण्युद्वाहपर्यन्तं पञ्चमेऽहनि शस्यते। श्रीहंसाख्यानपर्यन्तं षष्ठेऽहनि वदेत्सुधीः।
सप्तमे तु दिने कुर्यात् पूर्तिं भागवतस्य वै। एवं निर्विघ्नतासिद्धिर्विपर्यय इतोऽन्यथा॥

हरिः ओम्

# श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

ओं नमो भगवते वासुदेवाय

# चतुर्थः स्कन्धः

## प्रथमोऽध्यायः

### मैत्रेय उवाच

मनोस्तु शतरूपायां तिस्रः कन्याश्च जज्ञिरे।
आकूतिर्देवहूतिश्च प्रसूतिरिति विश्रुताः[1] ॥ १ ॥

आकूतिं रुचये प्रादादपि भ्रातृमतीं नृपः।
पुत्रिका धर्ममाश्रित्य शतरूपानुमोदितः ॥ २ ॥

प्रजापतिस्स भगवान् रुचिस्तस्यामजीजनत्।
मिथुनं ब्रह्मवर्चस्वी[2] परमेण समाधिना ॥ ३ ॥

यस्तयोः पुरुषस्साक्षाद्विष्णुर्यज्ञस्वरूपधृत्[3]।
या स्त्री सा दक्षिणा भूतेरंशभूताऽनपायिनी ॥ ४ ॥

### श्री श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

*श्री भागवतगूढार्थ पदभावार्थ दीपिका। मनोवर्तिं हरौ वृत्तिं दत्वा सन्दीप्यतां बुधैः ॥

यत्कृपारससंसिद्ध भिषङ्कूकमपीह माम्। वाचालयति तं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥

अथैकत्रिंशदध्यायैर्विसर्गस्तुर्य ईर्यते। स[4] सर्गस्त्वीश्वराधीनैर्ब्रह्ममन्वादिभिः कृतः ॥

1. Af, Jf सुव्रताः 2. W तेजस्वी 3. G.M धृक्; W भृत् * These Two Verses beginning with 'श्रीभागवत' and 'यत्कृपा' are not found in A&J
4. A, J. वि

तत्र तु प्रथमेऽध्याये मनुकन्यान्वयाः पृथक्। वर्ण्यन्ते यत्र यज्ञादिमूर्तिभिः प्रभवा हरेः ॥

मनुकन्यान्वयं विस्तरेण वक्तुमाह-**मनोरिति**[1]। चकारात् द्वौ पुत्रौ च। तुशब्दात् अन्यतोपि पुत्रलाभस्सूचितः ॥ १ ॥

तद्दर्शयितुमाह - **आकूतिमिति**। पुत्रिकाधर्ममाश्रित्येति[2] - "अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलङ्कृताम्। अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भविष्यति[3]" (मनु. स्मृ. 9-3 अधिकपाठः) इति[4] भाषाबन्धेन[5] कन्यादानं पुत्रिकाधर्मः। स च अभ्रातृकायां कन्यायां पुत्रार्थिन एव प्रसिद्धः। तथापि पुत्रबाहुल्यकामः तथा कृतवान् इत्याह - भ्रातृमतीमपीति ॥ २ ॥

**प्रजापतिरिति**। मिथुनं पुरुषं स्त्रियञ्च। परमेण[6] समाधिना ईश्वरध्यानेन ॥ ३ ॥

**य इति**। भूतेः लक्ष्म्याः अंशभूतः अतः तयोर्विवाहः न विरुद्ध इति भावः ॥ ४ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तृतीये "स्वायम्भुवस्य च मनोर्वंशः परमसम्मतः" (भागः 3-21-1) इति स्वायम्भुवचरित्रतत्सन्तती पृष्टे। तत्र स्वायम्भुवचरितमभिधाय "एतत्त आदिराजस्य मनोश्चरितमद्भुतम्। वर्णितं वर्णनीयस्य तदपत्योदयं शृणु ॥" (भाग 3-22-39) इति तत्सन्ततिकथनं प्रतिज्ञाय तावत् देवहूतिसन्ततिं प्रक्रम्य कलानसूयादयो नव पुत्रिकाः कपिलाऽऽख्यः पुत्रः तच्चरितमित्येतानि कथितानि। इदानीमस्मिन् स्कन्धे मनुपुत्रस्योत्तानपदः सन्ततिं विस्तरेण वक्ष्यमाणः तत्रादौ आकूतिप्रसूत्योर्वंशं देवहूतिदुहितृसन्ततिं चाह मैत्रेयः - **मनोस्त्विति**। हे *सुव्रत! विदुर! आकूत्यादयः तिस्रः कन्याः मनोः स्वायम्भुवात् तद्भार्यायां[7] शतरूपायां[8] जज्ञिरे। चकारात् द्वौ पुत्रौ च जज्ञात इत्यर्थः ॥ १ ॥

मनोस्त्विति[9] तुशब्दादन्योऽपि पुत्रलाभः सूचितः, तद्दर्शयितुमाह - **आकूतिमिति**। नृपो मनुः भ्रातृमतीं प्रियव्रतोत्तानपाद-भ्रातृमतीमपि स्वदुहितरं आकूतिं पुत्रिकाधर्ममाश्रित्य "अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलङ्कृताम्। अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भविष्यति" (मनु. स्मृ. 9-3 अधिकपाठः) इति भाषाबन्धनपूर्वकप्रदानं पुत्रिकाधर्ममाश्रित्य पुत्रबाहुल्यकामः उक्त भाषाबन्धनं कृत्वा रुचये प्रादात् दत्तवान् ॥ २ ॥

---

1. A,J *स्त्विति। 2. V omits पुत्रिकाधर्ममाश्रित्येति - 3. A,J *भवेदिति 4. J omits इति 5. V प्रबन्धेन 6. A,J omit परमेण
7. A याः 8. A या 9. A omits मनोस्त्विति। *विश्रुताः इत्यस्य स्थाने सुव्रत इति वीरराघवादृतः पाठः।

स लब्धभार्यः ब्रह्मतेजस्वी ब्रह्मवर्णोचित धर्मानुष्ठानजनिततेजोविशेषयुक्तः भगवान् प्रजापतिः रुचिः सर्वोत्कृष्टेन समाधिना भगवन्तमाराध्य तस्यामाकूत्यां मिथुनं स्त्रीपुंमिथुनं अजीजनत् उत्पादयामास॥ ३॥

किं तन्मिथुनं यदजीजनत् तत्राह - **यस्तयोरिति**। तयोरपत्ययोर्मध्ये यः पुरुषः सः यज्ञाः क्रतवः त एव स्वं स्वीयं[1] रूपं शरीरं तद्बिभर्तीति तथा साक्षाद्विष्णुः विष्णोरंशः। अयमपि कपिलवदंशावतारः। यज्ञस्वरूपभृत् इत्यनेन यज्ञनामकत्वं सूचितम्। तयो र्या स्त्री सा नाम्ना दक्षिणा भूतेः लक्ष्म्याः अंशभूता विष्णोः अनपायिनी। अतस्तयोर्मिथोविवाहः न विरुद्धः इति भावः॥ ४॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

पशुपतिरपि प्रेक्षादक्षो यतोऽगमदुन्नतिं सकलजनतावन्द्यं स्थानं ध्रुवो यदनुग्रहात्।

पृथुरथमहीदोहात्कीर्तिं शुभां समपीपलत् तमिममजितं वन्दारूणाममन्दमुदं नुमः॥

अभिनवरविप्रद्योताली विभासि वपुश्श्रियं हरिहयहरब्रह्मश्लाघ्य प्रभूत सदाशिषम्।

कमलनयन स्वानन्त्येक्षादयादरसत्क्रियां शरणमनिशं विश्वस्यास्योदयां श्रियमीमहे॥

तृतीयस्कन्धजलधेरुन्मग्नोऽहं कथञ्चन। चतुर्थस्कन्धसरसीमवगाढुं पुनर्यते॥

मानेतिहाससङ्घातैरच्युताङ्घ्रि सरोरुहे। आत्मप्रद्योतनी भक्तिः पुनश्च प्रतिपाद्यते॥

अत्रादौ हरौ निरतिशयप्रेमलक्षणभक्तिविधानाय पशुपतेर्दक्षाध्वरध्वंसलक्षणचरित्रं वक्तुं स्वायम्भुवमनुचरितमनुवदति - **मनोस्त्विति**। "पुनः पुनः कथां प्राहुरभ्यासादुत्तमं फलम्। विज्ञापयितुकामास्तु विद्वांसस्तत्र तत्र तु" (आग्नेये) इति वचनात् पुनरुक्तकथानुवादो न दोषायेति ज्ञातव्यं, विशेषवाचिना तुशब्देनापि फलाधिक्यं विशिनष्टि द्वौ पुत्रौ चेति। पुत्रानुकर्षणार्थश्चकारः॥१॥

भ्रातृमतीमपि आकूतिं पुत्रिकाधर्ममाश्रित्य रुचये प्रादादित्यन्वयः। अस्या यः पुत्रो भवेत् स मत्पुत्र एवेति प्रतिज्ञाय प्रदानं पुत्रिकाधर्मः राजार्थं न पुत्राभावात् मनुना दौहित्रः पुत्रत्वेन वृतः। किन्तु स साक्षाद्विष्णुरिति जानता तत्पितृत्वे ज्ञानातिशयवान् मुक्तौ सुखातिशयवान् स्यामिति, भ्रातृमतीमित्यनेन पुत्रवत्त्वप्रतीतेः। प्रियव्रतोत्तानपादाविति वक्ष्यमाणत्वाच्च॥ २॥

---

1. A omits स्वीयं

प्रजापतिशब्दस्यानेकाभिधेयवृत्तित्वेन कोऽत्र विवक्षित इत्यत उक्तं - **रुचिरिति**। राजपुत्रीत्वेन परिचर्यादौ अहङ्कारसम्भवेन प्रेमाभावेन तत्त्यागसम्भवेनापत्यानुत्पत्त्या मनोराशा निष्फलाऽभूदिति लोकापवादः परिहृतोऽनेन, अत एव भगवानिति॥ ३॥

मिथुनं विवेचयति - **यस्तयोरिति**। नाम्ना यज्ञ इति स्वरूपधृक् औत्पत्तिकसौन्दर्यधारी। यज्ञस्वरूपधृगित्येकं वा पदं "यज्ञो विष्णुर्देवता" इति श्रुतेः। अनेन विष्णुनामानं यजमानं व्यावर्तयति। भूतेर्लक्ष्म्याः "भूतिः श्रीभस्मजन्मसु" (वैज. को. 6-2-27) इत्यभिधानम्। अनपायिनी जन्ममरणरहितेत्यनेनास्याः श्रीनारायणवदाविर्भाव एवेति ध्वनयति॥ ४॥

**आनिन्ये स्वगृहं पुत्र्याः पुत्रं विततरोचिषम्।**
**स्वायम्भुवो मुदा युक्तः रुचिर्जग्राह दक्षिणाम्॥ ५॥**

**तां कामयानां भगवानुवाह यजुषां पतिः।**
**[1]तुष्टायां तोषमापन्नोऽजनयत् द्वादशाऽऽत्मजान्॥ ६॥**

**तुष्टयोरभवन् देवा यामा नाम महाबलाः।**
**तोषः प्रतोषस्सन्तोषो भद्रशान्तिरिडस्पतिः।**
**[2]इध्मः कविर्विभु[3] र्वह्निः[4] सुदेवो रोचनो द्विषट्॥ ७॥**

**तुषिता नाम ते देवा आसन् स्वायम्भुवान्तरे।**
**मरीचिमिश्रा ऋषयो यज्ञस्सुरगणेश्वरः॥ ८॥**

**श्रीध० [5-]आनिन्ये** इति। पुत्र्या आकूतेः पुत्रं यज्ञम्[-5]॥ ५॥

**तामिति**। यजुषां यज्ञानां मन्त्राणां वा। पतिर्विष्णुः॥ ६॥

**तुष्टयो**रिति। द्विषट् द्वादश॥ ७॥

प्रसङ्गात् स्वायम्भुवमन्वन्तरगतं षट्कमाह - **तुषिता** इति द्वाभ्याम्। "मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्रास्सुरेश्वरः। ऋषयोंऽशावतारश्च

---

1. This half-verse is not found in A G, J & M 2. M इन्द्रः 3. M र्भुवः 4. A. G, J स्वह्न. ; M स्वाह 5--5. V omits

हरेष्षड्विधमुच्यते'' **(भागः 12-7-15)** इति वक्ष्यति। तत्र स्वायम्भुवो मनुः, तुषिता देवताः। मरीचिप्रमुखाः सप्त ऋषयः। यज्ञः हरेरवतारः। स एव सुरगणेश्वरः इन्द्रः॥ ८॥

**वीर०** स्वायम्भुवो मनुः मुदा युक्तः मिथुनजन्मनिमित्तहर्षयुक्तः स्वपुत्र्याः आकूत्याः पुत्रं विततितेजस्कं विष्णवंशसम्भूतं यज्ञं[1] पूर्वकृतभाषाबन्धनाद्धेतोः स्वगृहं प्रति आनिन्ये आनीतवान्। रुचिस्तु दक्षिणां स्वकन्यां जग्राह पुत्रिकामेव पुत्रत्वेनाऽपालय दित्यर्थः॥ ५॥

कामयानां पतिं कामयमानां तां दक्षिणां यजुषां यज्ञानां मन्त्राणां वा पतिः यज्ञाख्यः भगवान् उवाह उपयेमे[2]। पश्चात् यस्यां[3] तुष्टायां स्वस्मिन् प्रीतियुक्तायां दक्षिणायां स्वयमपि प्रीतियुक्तः द्वादशपुत्रानजनयत्। अत्र 'तुष्टयोरभवन् देवा द्वादशैते महाबलाः' इति पाठान्तरम्। तदा तुष्टयोः परस्परं सन्तोषयुक्तयोः यज्ञदक्षिणयोः द्वादशपुत्राः अभवन्नित्यर्थः॥ ६॥

तानाह - **तोष** इति। तोषादयो द्विषट् द्वादशपुत्राः॥ ७॥

सर्वे तुषिता नाम तुषिता इति प्रसिद्धाः। परस्परतुष्टाभ्यां पितृभ्यां जातत्वादिति भावः। ते तुषिताः देवाः मरीचिप्रभृतयः ऋषयः सुरगणेश्वरो यज्ञश्च स्वायम्भुवमन्वन्तरे आसन् स्वस्वसन्तानवर्धनेन लोकमर्यादापालनेन चासन्। अनेन स्वायम्भुवमन्वन्तरगतं षट्कं कथितम्। ''मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्रा महौजसः। ऋषयोंऽशावतारश्च हरेष्षड्विधमुच्यते'' (भाग. 12-7-15) इति। तत्र स्वायम्भुवो मनुः, तुषिताः देवाः, मरीचिमुख्याः ऋषयः। यज्ञः हरेरवतारः, स एव सुरगणेश्वरः इन्द्रः॥ ८॥

**विज०** स्वायम्भुवेन विवाहकाले यदुक्तं तत्सत्यं कर्तुं कार्यान्तराऽऽसक्त्या न विस्मृतं तेनेति भावेनाह - **आनिन्ये** इति॥५॥

यजुषां पतिः सकलवेदप्रतिपाद्यत्वेन तदनुसारिहेतुत्वेन तत्प्रवर्तकत्वेन वेदपतिरित्यर्थः। हरिणा यदर्थमवतीर्णं तत्प्रयोजनमाह - तुष्टायामिति। तुष्टायां दक्षिणायाम्॥ ६॥

द्विषट् द्वादश॥ ७॥

तोषादीनां समुदितं नामाह - **तुषिता** इति। अदित्यामुत्पन्नत्वात् यथा आदित्या नाम देवाः तथा तुष्टायामुद्भूतत्वात् तुषिता नाम देवाः मरीचिमिश्राः मरीचिमुख्याः सुरगणेश्वरः इन्द्रः यज्ञः स्वयमिन्द्रः अभूत्॥ ८॥

---

1. A omits यज्ञं  2. A omits उपयेमे। पश्चात्  3. W omits यस्यां

**प्रियव्रतोत्तानपादौ मनुपुत्रौ महौजसौ।**

**तत्पुत्रपौत्रनप्तॄणामनुवृत्तं तदन्तरम्[1]॥ ९॥**

**देवहूतिमदात्तात[2] कर्दमायाऽऽत्मजां मनुः।**

**तत्सम्बन्धि श्रुतप्रायं भवता गदतो मम॥ १०॥**

**दक्षाय ब्रह्मपुत्राय प्रसूतिं भगवान् मनुः।**

**प्रायच्छद्यत्कृतस्सर्गः त्रिलोक्यां विततो महान्॥ ११॥**

**याः कर्दमसुताः प्रोक्ताः नव[3] ब्रह्मर्षिपत्नयः।**

**तासां प्रसूतिप्रसवं[4] प्रोच्यमानं निबोध मे॥ १२॥**

**श्रीध० प्रियव्रतेति**। प्रियव्रतोत्तानपादौ मनुपुत्रौ पृथ्वीपालकौ[5]। तदेवं यज्ञस्य द्वैरूप्येण षड्विधत्वम्। तयोः पुत्रपौत्रनप्तॄणां वंशैरनुवृत्तं व्याप्तं पालितं तत् मन्वन्तरम्॥ ९॥

**देवहूतिमिति**। श्रुतप्रायं बाहुल्येन श्रुतम्। तत्कन्यावंशानामश्रुतत्वात् प्रायग्रहणम्॥ १०, ११॥

**या** इति। प्रसूतिप्रसवं पुत्रपौत्रादिभिर्विस्तारम्॥ १२॥

**वीर०** प्रियव्रतोत्तानपादौ मनुपुत्रौ पृथ्वीपालकौ तयोः प्रियव्रतोत्तानपदोः[6] पुत्रपौत्रनप्तॄणां वंशैरनुवृत्तं व्याप्तं पालितञ्च तत् मन्वन्तर मित्यर्थः॥ ९॥

एवमाकूतिसन्ततिः कथिता। अथ देवहूतिदुहितृसन्ततिं कथयिष्यन् देवहूतिचरित्रन्तु विस्तरेण तृतीये त्वया श्रुतमित्याह - **देवहूतिमिति**। तत्सम्बन्धि[7] देवहूतिसम्बन्धि चरितं गदतः मम मत्तः भवता श्रुतप्रायं बाहुल्येन श्रुतत्वात् श्रुतप्रायमित्युक्तम्[8]॥१०॥

प्रसूतिसन्ततिस्तु[9] तत्प्रसङ्गानुप्रसङ्गेन[10] महता प्रबन्धेन कथनीयेति सापि पश्चात् वक्ष्यते इति अभिप्रायेणाऽत्र सङ्गृह्णाति दक्षायेति। यत्कृतः दक्षप्रसूतिभ्यां कृतः सर्गः त्रिलोक्यां महान् विततः। आकूत्यादिसन्तत्यपेक्षया प्रसूतिसन्ततेः वैपुल्यमनेन कथितम्॥ २१॥

अथ देवहूतिदुहितृसन्ततिरुच्यते इत्याह - **या** इति। हे **क्षत्तः**! कर्दमस्य सुताः कलादयः मरीच्यादीनां पत्नयः पत्न्यः याः उक्ताः तृतीये, तासां कर्दमसुतानां प्रसूतेः प्रभवं पुत्रपौत्रादिसन्तानविस्तरं मे मया प्रोच्यमानं कथ्यमानं निबोध॥ १२॥

---

1. AF य. 2. V, W तात 3. V, W आसन्; AF क्षत्तः। 4. M प्रसरं 5. V पृथिवी 6. A omits प्रियव्रतोत्तानपदोः 7. A omits देवहूतिसम्बान्धि 8. A इति भावः 9. A तत्प्रसङ्गेन 10. W ग्रन्थेन

**विज०** स्वायम्भुवमन्वन्तरं कैरनुवृत्तमिति तत्राह - **प्रियव्रतेति**। नप्तारः पौत्रपुत्राः ॥ ९ ॥

देवहूतिकथामनुवदति - **देवहूतिमिति**। तत्सम्बन्धि चरितं श्रुतप्रायं प्राचुर्येण श्रुतं किञ्चिदवशिष्टमस्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

प्रसूतिं कस्मै अदात् इति तत्राह - **दक्षायेति** ॥ ११ ॥

एवमनूद्य वक्तव्यांशमाह - **याः कर्दमेति**। पत्नयः पत्न्यः प्रसूतिप्रसरं प्रसूतिप्रपञ्चम् ॥ १२ ॥

**पत्नी मरीचेस्तु कला सुषुवे कर्दमात्मजा।**

**कश्यपं[1] पूर्णिमानञ्च ययोरापूरितं जगत् ॥ १३ ॥**

**पूर्णिमाऽसूत विरजं विश्वगं[2] च[3] परन्तप !**

**देवकुल्यां हरेः पादशौचाद्याभूत्सरिद्दिवः ॥ १४ ॥**

**अत्रेः पत्न्यनसूया त्रीन् जज्ञे[4] सुयशसस्सुतान्।**

**दत्तं दुर्वाससं[5] सोममात्मेशब्रह्मसम्भवान् ॥ १५ ॥**

**विदुर उवाच**

**अत्रेर्गृहे सुरश्रेष्ठाः स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः[6]।**

**किञ्चिच्चिकीर्षवो[7] जाता एतदाख्याहि मे गुरो ॥ १६ ॥**

**श्रीध० पत्नीति**। ययोः वंशेन[8] आपूरितम् ॥ १३ ॥

कश्यपस्य वंशं षष्ठे वक्ष्यति। द्वितीयस्य वंशं तावदाह[9] - **पूर्णिमेति**। देवकुल्यां नाम कन्याञ्च। श्रीहरेः पादप्रक्षालनात्[10] जन्मान्तरे या दिवः सरित् गङ्गा अभूत् ॥ १४ ॥

**अत्रेरिति**। आत्मेशब्रह्मसम्भवान् विष्णुरुद्रब्रह्मणामंशैः सम्भवान्[11] उत्पन्नान् ॥ १५ ॥

**अत्रेरिति**। किञ्चित् किं स्वित्, किं कर्तुमिच्छवः[12] इत्यर्थः ॥ १६ ॥

---

1. A f यज्ञं च 2. M विश्वगां 3. W चापि सत्तम। 4. V, W सुषुवे सुयशस्सुतान् 5. V, W दूं 6. M स्थित्यन्तोत्पत्ति 7. A, G, J किंस्विं 8. A adds पुत्रयोः 9. J, V omit तावत् 10. A, J omit प्र 11. A, J सम्भूतान् ॥ 17 ॥ 12. V किंस्वित् किञ्चित्, किं कर्तु मिच्छव इति वा ॥ 16 ॥

**वीर०** तदेवाऽऽह - **पत्नीति**। कर्दमसुता मरीचेः पत्नी कला कलानाम्नी कश्यपं पूर्णिमानञ्च द्वौ पुत्रौ सुषुवे। पुत्रौ विशिनष्टि - ययोः कश्यपपूर्णिम्नोः वंशजैर्जगदापूरितं व्याप्तम्॥ १३॥

हे सत्तम! पूर्णिमा मरीचिपुत्रः विरजं विश्वगं चापि पुत्रं देवकुल्यां कन्यां च असूत उत्पादयामास। देवकुल्यां विशिनष्टि हरेः भगवतः पादशौचात् पादप्रक्षालनात् या दिवः सरित् गङ्गा अभूत्। सैवेयं देवकुल्या दिवस्सरिदभिमानिनी देवतेत्यर्थः॥ १४॥

अत्रेः या पत्नी अनसूया कर्दमस्य द्वितीया दुहिता सा[2] सुयशसः निर्मलकीर्तिसम्पन्नान् त्रीन्[3] सुतान् जज्ञे। तानाह - दत्तं[4], दुर्वाससं, सोमञ्चेति। तान् विशिनष्टि - आत्मेशब्रह्मसम्भवान् आत्मा परमपुरुषः[5], ईशः[6] रुद्रः, ब्रह्मा चतुर्मुखः तेभ्यः सम्भवान् तदंशभूतान् इत्यर्थः। यद्वा आत्मेश ब्रह्मणां सम्भवः अभिव्यक्तिः येषु तान्। अत्र आत्मशब्देन "ममान्तरात्मा तव च" (म.भा. 12-339-4) इत्यादिना प्रसिद्धं विष्णोः परमात्मत्वं, इतरयोः जीवत्वञ्च सूच्यते। ननु परमात्मनः सर्वान्तर्यामिनः जीवद्वारा ज्ञानशक्त्या द्यन्यतमगुणाविर्भावरूपांशावतारत्वं युक्तं, कथं पुनः परमात्मांशभूतयोः अणुस्वरूपयोः जीवविशेषयोः ब्रह्मरुद्रयोः पुनर्जीवान्तरानुप्रवेशरूपांशावतारत्वम्? सत्यम् - "अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते। यया क्षेत्रज्ञशक्तिस्सावेष्टिता नृप सर्वगा॥ संसारतापानखिलान् अवाप्नोत्यतिसन्ततान्। तया तिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञिता॥ सर्वभूतेषु भूपाल! तारतम्येन वर्तते॥" (विष्णु. पु. 6-7-61 to 63) इत्युक्तरीत्या जीवस्य यद्धर्मभूतं ज्ञानं तदविद्याकर्मणा तिरोहितं सत् तारतम्येनावतिष्ठते। तत्र परमात्मप्रसादात् अविद्याख्यावरणस्य निवृत्तौ असङ्कोचेन प्रसृत्तं भवति। अत एव मुक्तौ निश्शेषमावरणनिवृत्तौ "स चानन्त्याय कल्पते" (श्वेता - उ. 5-9) इति धर्मभूतज्ञानस्यासङ्कोचेन प्रसरादानन्त्यं जीवस्य श्रुतं सूत्रितञ्च। "प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति" (ब्र.सू. 4-4-15) इत्यणोरप्यात्मनः एकदेहस्थितस्यापि असङ्कुचित धर्मभूतज्ञानद्वारा स्वल्पपरिमाणस्य दीपस्य स्वधर्मभूतप्रभा द्रव्यद्वारेणानेक घटपटादिप्रकाशकत्ववदनेकशरीरपरिग्रह इति सूत्रार्थः। एवञ्च ब्रह्मरुद्रयोः परमपुरुषप्रसादादज्ञानावरणनिवृत्तिः अस्मदाद्यपेक्षया ज्ञानप्रसरबाहुल्यात् तद्धर्मभूतज्ञानस्य दुर्वासस्सोमयोरनुप्रवेशात् तदंशावतारत्वं तयोरुपपन्नम्। एवमन्यत्रापि यत्र क्वचिज्जीवस्य जीवान्तरांशत्वमुच्यते तत्र अयमेव न्यायः वेदितव्यः॥ १५॥

एवं दत्तादीनामात्माद्यंशावतारत्वमुक्तं तत्रान्तरेण निमित्तं परमात्मादीनामवतरणसम्भवात् तत्कारणं पृच्छति विदुरः - अत्रेरिति। स्थित्यादिकर्तारः सुरश्रेष्ठाः आत्मादयः अत्रेर्गृहे किं स्विच्चिकीर्षवः किं कर्तुमिच्छवः जाताः तज्जननप्रयोजनं[7] हे गुरो! मे मह्यमाख्याहि कथय॥ १६॥

---

1. A तौ 2. W omits सा 3. W omits त्रीन् सुतान् 4. A दत्तमित्यादिना तान् 5. A परमात्मा 6. A adds विष्णुः 7. A एतज्जन्म प्र०

**विज०** चन्द्रकलाव्यावृत्यर्थं कर्दमात्मजेति। ययोः सन्तत्या॥ १३॥

विश्वगां विशिनष्टि - देवकुल्येति। दिवः सरित् स्वर्गनदी देवकुल्या देवकुलप्रिया॥ १४॥

जज्ञे जनयामास। आत्मा विष्णुः ईशः रुद्रः, ब्रह्मा चतुर्मुखः। ब्रह्मणः सोमे विशेषाऽऽवेश एव, न तु पृथग्जननम्॥ १५॥

विदुरः श्रुतदत्ताद्यवतारः विशेषजिज्ञासया पृच्छतीत्याह - **अत्रेरिति**। गृहे भार्यायां स्थित्यन्तोत्पत्तिहेतवः पालनसंहारसृष्टीनां कारणभूताः॥ १६॥

## मैत्रेय उवाच

**ब्रह्मणा चोदितः[1] सृष्टौ अत्रिर्ब्रह्मविदां वरः[2]।**
**सह पत्न्या ययावृक्षं[3] कुलाद्रिं तपसि स्थितः॥ १७॥**

**तस्मिन् प्रसूनस्तबकपलाशाशोककानने।**
**वार्भिस्स्रवद्भिरुद्धुष्टे निर्विन्ध्यायाः समन्ततः॥ १८॥**

**प्राणायामेन संयम्य मनो[4] वर्षशतं तपः[5]।**
**अतिष्ठदेकपादेन निर्द्वन्द्वोऽनिलभोजनः॥ १९॥**

**शरणं तं प्रपद्येऽहं य एव जगदीश्वरः।**
**प्रजामात्मसमां मह्यं प्रयच्छत्विति चिन्तयन्॥ २०॥**

**श्रीध० ब्रह्मणेति**। ऋक्षं नाम कुलाद्रिम्। तपसि स्थितस्सन्॥ १७॥

**तस्मिन्निति**। स[6] च तस्मिन् कुलाद्रौ। प्रसूनानां स्तबकाः येषु पलाशाशोकेषु तेषां कानने। निर्विन्ध्या नाम नदी तस्याः स्रवद्भिः वार्भिः उद्धुष्टे नादिते॥ १८-२०॥

**वीर०** तत्र निमित्तं कथयन्नाह - **ब्रह्मणेति**। ब्रह्मण चतुर्मुखेन सृष्टौ निमित्तभूतायां सृष्ट्यर्थमित्यर्थः। चोदितः आदिष्टः ब्रह्मविदग्रेसरः अत्रिः पत्न्या अनसूयया सह ऋक्षाख्यं कुलाचलं तपसे तपश्चर्तुं स्थितः आस्थितः॥ १७॥

---

1. A, G, J नो° 2. M वर! 3. M ययौ ऋक्षं 4. M मनोः 5. A, G, J, M, V मुनिः 6. A, J omit स च

स च मुनिः तस्मिन् कुलाद्रौ प्रसूनानां स्तबका येषु पलाशाशोकेषु तेषां कानने। निर्विन्ध्याख्यायाः नद्याः स्रवद्भिः वार्भिः समन्तादुद्धुष्टे नादिते॥ १८॥

प्राणायामेन मनो नियम्य शीतोष्णादि सहः वायुभक्षः संवत्सर शतमेकपादेन भुवमवष्टभ्य तप आतिष्ठत्॥ १९॥

तस्यात्रेरभिसन्धिविशेषमाह - **शरणमिति**। य एव "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तैति.उ.3-1) इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध एव जगदीश्वरः जगत्सृष्टिस्थितिप्रलयप्रवर्तकः तं शरणम् अहं प्रपद्ये, मह्यमात्मसमां स्वतुल्यां प्रजां प्रयच्छत्विति चिन्तयन् अतिष्ठदिति पूर्वेणान्वयः॥ २०॥

**विज०** परमभागवतस्य अत्रेः प्रियचिकीर्षैव प्रथमं प्रयोजनम्। द्वितीयं योगप्रवर्तनाय अवतारः इति भावेन मैत्रेयः प्रश्नं वक्तीत्याह- **ब्रह्मणेति**। ऋक्षं ऋक्षनामानम्। किमर्थं यात इति तत्राऽऽह - तपसीति। गत्वा तपसि स्थितोऽभूदित्यन्वयः॥१७॥

तस्मिन् ऋक्षनाम्नि। प्रसूनानां स्तबकः येषां ते प्रसूनस्तबकाः तेषां पलाशाशोकानां काननं यस्मिन् स तथा तस्मिन्। नाम्ना निर्विन्ध्यायाः नद्यः स्रवद्भिः स्यन्दमानैः वार्भिः जलैः समन्ततोप्युद्धुष्टे गर्जिते॥ १८॥

**वर्षशत**मिति। द्वितीयया एकस्मिन् क्षणेऽपि पादद्वयेन नातिष्ठदिति द्योतयति॥ १९॥

तपोविषयमाह - **शरणमि**ति। किं मनोगतं तव इति तत्राऽऽह - प्रजामिति॥ २०॥

**तप्यमानं त्रिभुवनं प्राणायामैधसाग्निना।**[1]
**निर्गतेन मुनेर्मूर्ध्नः समीक्ष्य प्रभवस्त्रयः॥ २१॥**

**अप्सरोमुनिगन्धर्वसिद्धविद्याधरोरगैः।**
**वितायमानयशसः तदाऽऽश्रमपदं ययुः॥ २२॥**[2]

**तत्प्रादुर्भावसंयोगविद्योतितमना मुनिः।**[3]
**उत्तिष्ठन्नेकपादेन ददर्श विबुधर्षभान्॥ २३॥**[4] [5]

**प्रणम्य दण्डवद्भूमौ उपतस्थेऽर्हणाञ्जलिः।**[6]
**वृषहंससुपर्णस्थान् स्वैस्स्वैश्चिह्नैश्च चिह्नितान्॥ २४॥**

---

1. M "मैधिता" 2. M मुदाऽऽ" 3. W तदाविर्भाव 4. उत्तिष्ठदेक 5. M ददृशे 6. Af कृताञ्जलिः

**श्रीध० तप्यमानमिति**। प्राणायाम एव एधः सन्दीपकं[1] काष्ठं[2] यस्य तेन, मुनेर्मूर्ध्नः निर्गतेनाग्निना तप्यमानं समीक्ष्य तदाश्रमपदं ययुरित्युत्तरेणान्वयः[3] ॥ २१ ॥

**अप्सर** इति। अप्सरः प्रमुखैः वितायमानं[4] विस्तारेण गीयमानं यशो येषां ते ॥ २२ ॥

**तदिति**। तेषां प्रादुर्भावः प्राकट्यं तस्य संयोगः सन्निधिस्तेन विद्योतितं मनो यस्य। उत्तिष्ठन्नुत्कर्षेण तिष्ठन् ॥ २३ ॥

**प्रणम्ये**ति। अर्हणं पुष्पादिकमञ्जलौ यस्य सः। उपतस्थे पूजयामास। वृषाद्यारूढान् स्वैस्स्वैश्चिह्नैः त्रिशूलकमण्डलु चक्रादिभिः ॥ २४ ॥

**वीर०** प्राणायाम एव एधः दारुनिचयः यस्य तेन मुनेरत्रेर्मूर्ध्नः शीर्षकपालान्निर्गतेन अग्निना तपोऽग्निना सन्तप्यमानं त्रैलोक्यं समीक्ष्य त्रयः प्रभवः आत्मेशब्रह्माणः ॥ २१ ॥

अप्सरोमुनिप्रभृतिभिः प्रस्तूयमानकीर्तय. तदाश्रमस्थानं ययुः। अत्र य एव जगदीश्वरः तं शरणं प्रपद्ये इति सृष्टिस्थिति-प्रलयप्रवर्तकत्वेन आकारेण परमात्मनः उपासितत्वात् तस्य ब्रह्मरुद्रान्तर्यामितया तादूप्येण सृष्टिसंहारकारणत्वात् तयोः ब्रह्मरुद्रयोरपि तत्रागमनमुपपन्नमिति वेदितव्यम् ॥ २२ ॥

तेषाम् आत्मेशब्रह्मणामाविर्भावः प्राकट्यं तस्य संयोगः सान्निध्यं, तेन विद्योतितं मनो यस्य स मुनिः अत्रिः एकपादेनोत्तिष्ठन् विबुधश्रेष्ठान् आत्मेशब्रह्मणो ददर्श ॥ २३ ॥

ततो भूमौ दण्डवत्प्रणम्य अर्ह्यते पूज्यते अनेनेत्यर्हणं पुष्पादिकमञ्जलौ यस्य सः, उपतस्थे समीपे स्थित्वा तुष्टाव। एतदेव प्रपञ्चयति गरुडवृषाद्यारूढान् स्वैः स्वैश्चिह्नैः शङ्खचक्रत्रिशूलकमलकमण्डल्वादिभिर्लक्षितान्[5] ॥ २४ ॥

**विज०** अत्रेः तपोमाहात्म्यं, तेन प्रसन्नानां त्रयाणां देवानां तदाश्रमगमनं वक्ति - **तप्यमान**मिति ॥ २१ ॥

अप्सर आदिभिर्वितायमानं प्रपञ्चीक्रियमाणं यशो येषां ते तथा ॥ २२ ॥

तत्प्रादुर्भावः तेषां प्रकाशः तस्य सम्बन्धः तेन विद्योतितमतिप्रकाशितं मनो यस्य स तथा ॥ २३ ॥

अर्हणं अर्घ्यादिसाधनं अञ्जलिश्च यस्य स तथा। शूलकमण्डलुचक्रादिभिः चिह्नितान् अङ्कितान् ॥ २४ ॥

---

1. J, V सन्दीपको  2. J, V काष्ठं  3. V रित्यन्वयः  4. V विस्तार्यमाणं  5. A omits कमल

कृपावलोकन[1] हसद्वदनेनोपलम्भितान्[2]।
तद्रोचिषा[3] प्रतिहते निमील्य मुनिरक्षिणी॥ २५॥

चेतस्तत्प्रवणं युञ्जन्नस्तावीत् संहताञ्जलिः।
श्लक्ष्णया सूक्तया वाचा सर्वलोकगरीयसः॥ २६॥

## अत्रिरुवाच

विश्वोद्भवस्थितिलयेषु विभज्यमानै र्मायागुणैरनुयुगं[4] विगृहीतदेहाः[5]।
ते ब्रह्मविष्णुगिरिशाः प्रणतोस्म्यहं व स्तेभ्यः क एव भवतां[6] म इहोपहूतः॥ २७॥

एको मयेह भगवान् विविधप्रधान[7] श्चित्तीकृतः प्रजननाय कथं नु यूयम्।
अत्राऽऽगतास्तनुभृतां मनसोऽपि दूरा ब्रूत प्रसीदत महानिह[8] विस्मयो मे॥ २८॥

## मैत्रेय उवाच

इति तस्य वचश्श्रुत्वा त्रयस्ते विबुधर्षभाः।
प्रत्याहुः[9] श्लक्ष्णया वाचा प्रहस्य[10] तमृषिं प्रभो!॥ २९॥

## देवा ऊचुः

यथा कृतस्ते सङ्कल्पो भाव्यं तेनैव नान्यथा।
सत्सङ्कल्पस्य[11] ते ब्रह्मन् यद्वै ध्यायति[12] तद्वयम्[13]॥ ३०॥

श्रीध० कृपेति। कृपया अवलोकनं यस्मिन्, हसच्च तद्वदनञ्च तेनोपलम्भितान् प्रसन्नत्वेन ज्ञापितान्, तेषां रोचिषा दीप्त्या॥ २५॥

चेत इति। श्लक्ष्णया मधुरया। सूक्तया गम्भीरार्थया॥ २६॥

---

1. A, G, J, M लोकेन 2. M लसत् 3. M तच्छोचिषा 4. M गुणं 5. M, W प्र° 6. V, W भगवान् 7. A, J प्रधानैः 8. M °नति 9. M प्रत्यूचुः 10. M प्रहसन्तो मुनिं 11. M तत् 12. Af ध्यायसि 13. A ते व°

**विश्वे**ति। अनुयुगं कल्पे कल्पे, विभज्य गृहीतो देहो यैस्ते। प्रसिद्धाः ब्रह्मविष्णुगिरिशाः यूयम्। वो युष्मान् प्रणतोऽस्मि। तेभ्यः सकाशात् क एव मे मया उपहूतः, 'शरणं तं प्रपद्ये' इति एकस्यैव निर्दिष्टत्वात् स च युष्मासु क इति युष्माभिरेव कथ्यतामित्यर्थः ॥ २७ ॥

अस्य प्रपञ्चः - **एक** इति। विविधैः प्रधानैरुपचारैः। विविधप्रधान इति वा पाठः। प्रजननाय पुत्रोत्पत्त्यै चित्तीकृतःचित्तैक्यं नीतः। मनसोऽपि दूरा अगोचराः सन्तः कथं नु त्रयोऽप्यत्राऽऽगताः ॥ २८, २९ ॥

**यथे**ति॥ ते त्वया यथा कृतः सङ्कल्पः तेन तथैव भाव्यं नान्यथा। यतः सत्सङ्कल्पस्य[1] सत्यसङ्कल्पस्य ते तव[2] सङ्कल्पः। तर्हि कथं एकस्मिन् ध्यायमाने त्रयः प्रतीताः स्थ। तत्राहुः - यदेकं जगदीश्वराख्यं तत्त्वं भवान् ध्यायति त एते वयं त्रयोऽपि हि[3] तदेवैकं तत्त्वं नास्माकं भेदोऽस्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥

**वीर०** कृपया अवलोकः यस्मिन् हसच्च तद्वदनञ्च तेन उपलम्भितान् प्रसन्नत्वेन ज्ञापितान् तेषां शोचिषा दीप्त्या प्रतिहते अक्षिणी नेत्रे निमील्य॥ २५ ॥

चेतः चित्तं तत्प्रवणं विबुधर्षभाऽऽसक्तं कृत्वा बद्धाञ्जलिःसन् मुनिः अत्रिः मधुरया वाचा सर्वलोकेभ्यः श्रेष्ठान् विबुधर्षभान् अस्तावीत् स्तुतवान्॥ २६ ॥

स्तुतिमेवाऽऽह - **विश्वेति** द्वाभ्याम्। विश्वस्योद्भवादिषु निमित्तभूतेषु विश्वसर्गाद्यर्थमित्यर्थः। अनुयुगं प्रतिकल्पं विभज्यमानैर्मायाया गुणैः रजस्सत्त्वतमोभिः उपलक्षिता गृहीता देहा यैस्ते, यूयं ब्रह्मविष्णुगिरिशाः अतः तेभ्यो वः युष्मभ्यं प्रणतोऽस्मि। युष्माकं मध्ये क एव भगवान् जगदीश्वरः उपहूतः शरणं तं प्रपद्ये इत्येकस्य निर्दिष्टत्वात्, स एष युष्मासु कतम इति युष्माभिरेव कथनीय[4] इत्यर्थः ॥ २७ ॥

एतदेव प्रपञ्चयति - **एक** इति। प्रधानः सर्वोत्कृष्टः एक एव भगवान् सर्वेश्वरः विविधैरुपचारैः मया प्रजननाय सर्वेश्वरतुल्यपुत्रलाभाय चित्तीकृतः चित्तविषयीकृतः उपासित इति यावत्। अतः तनुभृतां देहिनां मनसोऽपि दूराः मनसापि ग्रहीतुमशक्याः यूयं त्रयोऽपि कथमत्रऽऽगताः तत्र कारणं ब्रूत कथयत। प्रसीदत मह्यं प्रसन्ना भवत। अत्र त्रयाणामागमने मम महान् विस्मयो वर्तते ॥ २८ ॥

---

1. J. V omit सत्यसङ्कल्पस्य  2. A. J omit तव  3. A. J omit हि  4. A °यम्°

इत्येवं तस्यात्रेः वचः श्रुत्वा त्रयो ब्रह्मविष्णुशिवाः प्रहस्य श्लक्ष्णया गम्भीरया वाचा हे प्रभो ! वश्येन्द्रिय ! विदुर ! तमृषिं अत्रिं प्रत्याहुः ॥ २९ ॥

उक्तिमेवाह[1] द्वाभ्याम्[2]। ते त्वया यथा कृतः सङ्कल्पः तेनैव तथा भाव्यं नान्यथा असत्यः। सत्सङ्कल्पस्य ते सङ्कल्प । कथमेकस्मिन् ध्याते त्रय आगताः तत्राहुः - हे ब्रह्मन् ! त्वं यदेकं जगदीश्वराख्यं तत्त्वं ध्यायसि तद्वयं तदेव तत्त्वं सद्वारकमद्वारकं च त्रिमूर्तिरूपेणावस्थितमित्यर्थः। मूर्तिविशेषनिर्धारणमन्तरेण जगत्सृष्टिस्थितिलयहेतुरीश्वरः इति हि त्वत्सङ्कल्पः। अतो वयमागताः इत्यभिप्रायः। ननु यद्वै ध्यायसि तद्वयमित्यनेन[3] त्रिमूर्त्यैक्यं प्रतीयते। सत्यमैक्यमस्त्येव, ततः किम् ? ब्रह्मशिवयोः भगवत्पारतन्त्र्यमस्मिन् पुराणे पूर्वापरग्रन्थेषु श्रूयमाणं विरुध्यत इति चेन्न "सर्वगतत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः। मत्तस्सर्वमहं सर्वं मयि सर्वं सनातने" (विष्णु. पु. 1-19-85) इति वत् ब्रह्मात्मकत्वबुद्ध्या चतुर्मुखशिवयोः अभेदव्यवहारोपपत्तेः। तथा हि तयोर्ब्रह्मात्मकत्वं स्फुटमुच्यते महाभारते - तवान्तरात्मा मम च ये चान्ये देहिसंज्ञिताः। सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित्कचित् (म.भा. 12-339-4) इति सद्वारकं चावस्थितं तद्वह्यैव वय मित्यर्थः। अत्रेदमवधेयम् - यद्यपि क्वचित्कचित् "ब्रह्मा-नारायणः शिवश्च नारायणः" (त्रि.म.ना.उ. 2-8) "ब्रह्मा नारायणाख्योऽसौ कल्पादौ भगवान् यथा। प्रजास्ससर्ज भगवान् ब्रह्मा नारायणात्मकः। (विष्णु.पु. 1.4.1) ततस्स भगवान्विष्णूरुद्ररूपधरोऽव्ययः। ततः कालाग्निरुद्रोऽसौभूत्वा सर्वहरो हरिः॥ सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्। ससंज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः" (विष्णु.पु. 1-2-66) इत्यादिषु त्रिमूर्त्यैक्यं प्रतीयते। तथापि "नारायणाद्ब्रह्मा जायते नारायणाद्रुद्रो जायते नारायणात् द्वादशादित्याः रुद्राः वसवः सर्वाणि च्छन्दांसि च", (नार - 1) "एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः। (महा. उ.1-1) "यन्नाभिपद्मादभवत् स महात्मा प्रजापतिः" (महा.उ.1-1) "तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखः अजायत सोऽग्रे भूतानां मृत्युमसृजत्, त्र्यक्षं त्रिशिरस्कं त्रिपादं खण्डपरशुम्" (म.हा.उ. 1-4) "ब्रह्मा दक्षादयः कालस्तथैवाखिलजन्तवः। विभूतयो हरेरेताः जगतस्सृष्टिहेतवः" (विष्णु. पु. 1-22-31) इत्यादिषु भगवतः तयोश्च भेदावगमात् सामानाधिकरण्यस्य च "सृष्टिं ततः करिष्यामि त्वामाविश्य प्रजापते !", (विष्णु धर्मे, 68-52) "हरो हरति तद्वशः" (भाग 2-6-31) इत्याद्यानुगुण्येन अन्तर्यामित्वेनाप्युपपत्तेः अभेदो न युक्तः। ननु एवमपि ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्राः "ते सर्वे सम्प्रसूयन्ते" इति ब्रह्माद्यविशेषेण विष्णोरप्युत्पत्ति श्रवणात् त्रिमूर्त्युत्तीर्णं तत्त्वान्तरमेष्टव्यं तदेवैतत् त्रिमूर्त्याकारेणावस्थितमिति, मैवम् - सदेवेत्यादिवाक्येषु कण्ठोक्त्या "सर्वं वाक्यं सावधारणम्" इति न्यायाच्च सावधारणेषु प्रत्येकमेकैकस्य स्वव्यतिरिक्तसमस्तकारणत्वबोधनात् समुच्चित्यकारणत्वानुपपत्तेः

1. W उक्ति° 2. A omits द्वाभ्याम् 3. A ते व°

कारणत्वोपास्यत्वबोधकवाक्यस्थित सामान्यशब्दानां विशेषवाचिपदे सति तत्पर्यवसानस्याऽऽपच्छागपशुन्यायसिद्धत्वात् अचितः सर्वकारणत्वानुपपत्तेः ईक्षणाद्यर्थविरोधाच्च विशेष्यव्यवस्थापकत्वानुपपत्तेः चिद्विशेषाणां साधारणब्रह्मरुद्रेन्द्रवैश्वानरादिपदवाच्यानां पुरोवादप्रसिद्धेन्द्रादीनां कार्यत्वकर्मवश्यत्वयोः श्रुत्यैव प्रतिपन्नत्वात् तद्वाचिनां तेषां विशेष्यव्यवस्थापकत्वानुपपत्ते. श्रीपतेरसाधारणपुरुषनारायणादिपदवाच्यस्य कुत्रापि कर्मवश्यत्वा श्रवणात् तदुत्पत्तेश्च "अजायमानो बहुधा विजायते" (पुसू. 2-1) इति अवतारत्वस्य श्रवणेन कर्मकृतत्वस्यापोदितत्वात् इतरोत्पत्तेः तदपवादाभावात् तस्य सर्वकारणत्वोपपत्तेः तस्य सकलजगत्कारणत्वबोधकश्रुत्यैकार्थ्यात् नारायणस्यैव सर्वोत्कृष्टत्वमेष्टव्यमित्यन्यत्र विस्तरः ॥ ३० ॥

**विज०** कृपया प्रयुक्तेनावलोकेन लसता वदनेन उपलम्भितान् उपलक्षितान् तच्छोचिषा तेषां वपुस्तेजसा । प्रतिहते प्रतिबद्धदर्शनशक्तिनी ॥ २७ ॥

तत्प्रवणं तेषु मग्नं संहताञ्जलिः बद्धाञ्जलिः श्लक्ष्णया मधुरया सूक्त्या वैदिक्या ॥ २६ ॥

कान् गुणानुपसंहृत्य तुष्टावेति तत्राऽऽह - **विश्वेति** ॥ विश्वस्योद्भवस्थितिलयेषु विभज्यमानैः पृथक् पृथक् क्रियमाणैः मायायाः प्रकृतेः गुणैः रजस्सत्त्वतमस्संज्ञैः अनुगुणं कार्यानुकूलं सृष्टये रजोगुणप्रवर्तकत्वेन, रक्षणाय सत्त्वगुणप्रवर्तकत्वेन, संहाराय तमोगुणप्रवर्तकत्वेन प्रगृहीतो देहो यैस्ते प्रगृहीतदेहाः स्वीकृतावताराः हे ब्रह्मविष्णुगिरिशाः ! अहं व. प्रणतोऽस्मि "प्रजापते ! "न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव ।" (मना.उ. 13-16) "आस्यजानन्तो नाम चिद्विविक्तनमहस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ।", "इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः । क्षिपेषवे देवाय स्वधाम्ने" इत्यादिसूक्तोक्ता ये यूयं तेभ्यो वो युष्मभ्यं भूयो भूयः प्रणतोस्मीत्यन्वयः । भक्तिरोमाऽऽश्लिष्टमनाः ब्रह्मस्थः रुद्रस्थः पृथक् स्थितः स्वयमपि विष्णुः त्रिपुरुषसमाः प्रजाः प्रयच्छत्विति यः पूर्वसङ्कल्पः तं विस्मरन् इव अत्रिः दुष्टमोहनार्थं विज्ञापयति - क एवेति । भवतां मध्ये मया इह क एव स्वित् कोनूपहूतः इत्यन्वयः ॥ २७ ॥

एतदेव विवृणोति - **एको मयेति** । इह वने तपः कुर्वता मया विबुधप्रधानः सर्वदेवोत्तमः ब्रह्मस्थः रुद्रस्थः स्वयं विष्णुरेकः भगवानेन प्रजननाय पुत्रतयोत्पत्तये त्रिपुरुषसमानान् पुत्रान् मह्यं ददात्विति चित्तीकृतो ध्यात इत्येवं स्थिते तनुभृतां देहिनां मनसोऽपि दूरविषया यूयं कथं न्वत्राऽऽगताः ? तद्भूत, सम्भाषणेन प्रसीदत । मे इह अस्मिन्नर्थे एकस्मिन् ध्याते त्रयाणामागमनलक्षणे महान्

1. M त्वत्र०

विस्मय इति ॥ ''ब्रह्मस्थश्चैव रुद्रस्थः स्वयञ्चापि हरिः प्रभुः । प्रजां त्रिपूरुषसमां यच्छत्वित्यत्रिरैच्छत । तस्मात्स ब्रह्मरुद्राभ्यां सह विष्णुर्जगत्पतिः । आगत्य तु त्रिमूर्त्यंशान् प्रादात्पुत्रान् जनार्दनः । भावित्वाच्चैव कार्यस्य लोकानां मोहनाय च'' (ब्रह्मवैवर्ते) इति वचनात् लोकमोहनार्थमत्रिणा विकल्पितं न तत्त्वार्थत्वेन ॥ २८ ॥

तत्त्वं त्विदं, कार्यस्य भावित्वात् सङ्कल्पोपेतत्वात् यथा सङ्कल्पः तथा कार्यमपि भविष्यति । सङ्कल्पस्त्वेक एव तस्माज्झटिति प्रत्यवमर्शनेन तं त्रिलोकमोहनार्थं उक्तविकल्पाभिप्रायं जानन्तः तत्त्वगूहनं विज्ञाय प्रहसन्तः त्रयो देवा आहुरित्याह- इतीति ॥ २९ ॥

कर्माप्रतीतेः किमाहुरिति तत्राऽऽह यथेति । तपश्चरता त्वया यथा सङ्कल्पः कृतः तेन सङ्कल्पेन तथैव भाव्यं कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थानां भवतां मनीषितं मम दुरवगाहमिति तत्राऽऽह - नान्यथेति । स चासौ सङ्कल्पः तत्सङ्कल्पः तत्सङ्कल्पम्यान्यथाभावो; नैव त्वप्सङ्कल्पानुसारेण अस्मत्सङ्कल्पोऽपि व्याख्यात इति भावेनाऽऽहुः - यद्वै इति । ब्रह्मस्थः रुद्रस्थः तथा विष्णुः स्वयञ्च त्रिपुरुषसमानान् पुत्रान् प्रयच्छत्विति यत्सङ्कल्पं ध्यायसि ते वयं ब्रह्मविष्णुरुद्रा इति त्रयः तुभ्यं पुत्रान् दास्याम इति सङ्कल्प्य अत्राऽऽगता इति शेषः । निपातद्वयेन प्रमाणान्तरप्रसिद्धिं द्योतयति ॥ ३० ॥

**अथास्मदंशभूतास्ते आत्मजा लोकविश्रुताः ।**
**भवितारोऽङ्ग भद्रं ते विस्रप्स्यन्ति[1] च ते यशः ॥ ३१ ॥**

**एवं कामवरं दत्वा प्रतिजग्मुः सुरेश्वराः ।**
**सभाजितास्तयोस्सम्यग्दम्पत्योर्मिषतोस्ततः ॥ ३२ ॥**

**सोमोऽभूद्ब्रह्मणोंऽशेन दत्तो विष्णोस्तु योगवित् ।**
**दुर्वासाः शङ्करस्यांशो निबोधाङ्गिरसः प्रजाः ॥ ३३ ॥**

**श्रद्धा त्वङ्गिरसः पत्नी चतस्रोऽसूत कन्यकाः ।**
**सिनीवाली कुहू राका चतुर्थ्यनुमतिस्तथा ॥ ३४ ॥**

**तत्पुत्रावपरावास्तां ख्यातौ स्वारोचिषेऽन्तरे[2] ।**
**उचथ्यो[3] भगवान् साक्षाद्ब्रह्मिष्ठश्च बृहस्पतिः ॥ ३५ ॥**

---

1. M वितरिष्यन्ति ते 2. M.V,W षान्तरे 3. A,G,J उतथ्यो

**श्रीध० अथेति**। विस्रप्स्यन्ति विस्तारयिष्यन्ति। अन्तर्भूतणिजर्थस्य सृप्लृ गतौ इत्यस्य रूपम्॥ ३१॥

**एवमिति**। ताभ्यां सम्यक् सभाजिताः। पूजिताः सन्तः ततः स्थानात्[1] प्रतिजग्मुः॥ ३२॥

**सोम इति**। अङ्गिरसो[2-] ब्रह्मणः तृतीयपुत्रस्य[-2]। निबोध बुध्यस्व॥ ३३॥

(**श्रद्धेति**।) ताः कन्यकाः[3] निर्दिशति - सिनीवालीति॥ ३४, ३५॥

**वीर०** अथ हे मुने ! अस्मदंशेन सम्भूताः सुताः लोकविश्रुताः भविष्यन्ति ते तव यशः विस्रप्स्यन्ति विस्तृतं करिष्यन्ति। ते भद्रमस्तु॥ ३१॥

एवमभीष्टं वरं दत्वा तयोः दम्पत्योः अत्र्यनसूययोः सम्यङ्निषतोः पश्यतोस्सतोः सम्यक् पूजिताः सुरेश्वराः प्रतिजग्मुः॥३२॥

ततो ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्यांशेन सोमः विष्णोरंशेन दत्तात्रेयः शम्भोरंशेन दुर्वासाश्च जाताः। अथाङ्गिरसः अङ्गिरसः[4] उत्पन्नाः प्रजाः मया कथ्यमानाः शृणु॥ ३३॥

अङ्गिरसः पत्नी श्रद्धाऽऽख्या कर्दमस्य तृतीया दुहिता, चतस्रः कन्यकाः प्रसूतवती। कन्याः निर्दिशति - सिनीति॥ ३४॥

अपरावपि तत्पुत्रौ अङ्गिरसःपुत्रौ उचथ्यः[5] बृहस्पतिरिति ख्यातौ प्रसिद्धौ स्वारोचिषे मन्वन्तरे आस्ताम्। भगवान् ब्रह्मिष्ठः इति पुत्रद्वयविशेषणम्॥ ३५॥

**विज०** तर्हि प्रसन्नाश्चेत् प्रजा ददत इत्यत्रेः जिह्वाग्रसञ्चलनावकाशमददानाः आहुः - **अथास्मदिति**। अथ ब्रह्मरुद्रस्थो विष्णुः स्वयमित्येते वयमित्युक्त्यनन्तरं व्यवहारान्तरं विरम्यते। तवात्मजा भवितारो भविष्यन्तीति वरं ददुः इत्यर्थः। यद्वा यत एवं च सङ्कल्पोऽथ तस्मादिति लोके ते यशो विस्तृत्य तुभ्यं भद्रं कल्याणं सुखं वितरिष्यन्तीति अन्वयः॥ ३१॥

किमन्यद्दुरिति तत्राऽऽह - **एवमिति**। कामवरं कामितपुत्रवरं नान्यमिति शेषः। मिषतोः पश्यतोः सतोः, ततोऽत्रेराश्रमात्॥ ३२॥

अंशेनेति तृतीयया सोमः साक्षात् ब्रह्मणोंऽशो न भवति किन्तु तेन विशेषेण सन्निहित एव। तथात्वे विष्णोरंशो दत्तः, शङ्करस्यांशो दुर्वासा इतीव प्रयोगः स्यात् "ब्रह्मणो नावतारोस्ति सन्निधानन्तु केवलम्। ऋते विष्णोरात्मनस्तु तदंशोक्तिः प्रवेशतः॥" (ब्रह्मवैवर्ते) इति वचनात् आत्मनो जीवस्य तदंशोक्तिः विष्ण्वंशवचनं प्रवेशत इति ज्ञेयमित्यर्थः। कथं तर्हि ब्रह्मसम्भवानिति प्रत्यक्षोक्तिरिति चेन्न।

1. V तदाश्रमात् 2--2. V omits 3. A,J कन्याः 4. A omits अङ्गिरसः 5. A उतथ्यः

सृष्टिविशेषान्मानान्तर विरुद्धवदुक्तेः। तथा चोक्तं "सृष्टिभेदाद्विरूपन्तु कथा पञ्चोत्तरं शतम्। वैरूप्यमन्यद्विज्ञेयं तात्पर्यान्मोहनाय च" (स्कान्दे) इति। अत्र ग्रन्थे कथा पञ्चोत्तरं शतं सृष्टिभेदाद्विरूपं विपरीतमिव प्रतीयते इति शेषः। अन्यद्वैरूप्यं तात्पर्याज्ञानान्मोहनायोक्तं इति ज्ञेयमित्यर्थः। कल्पादिभेदादपि कथाभेदो भवतीत्यतोऽपि विरोधो नास्ति। "ऋते तु पाण्डवकथां क्रमात् व्यत्यस्तशक्तिताम्। एतदापादकं चान्यदृते कल्पादिभेदतः। कथाभेदस्तु विज्ञेयो मोहायै तेषु भिन्नता" (वाराहे) इति वचनात्। विदि कृताविति धातोः योगवित् योगशास्त्रकृत् अणिमादियोगज्ञो वा, बोधतेः शब्विकरणे पठितत्वात् परस्मैपदम्। प्रजाः सन्ततीः॥ ३३॥

कन्यकानामान्याह - सिनीवालीति। कृष्णचतुर्दश्यभिमानिनी सिनीवाली, तत्पञ्चदश्यभिमानिनी कुहूः, शुक्लचतुर्दश्यभिमानिनी अनुमतिः, तत्पञ्चदश्यभिमानिनी राका॥ ३४॥

तत्पुत्रौ तस्याः श्रद्धायाः पुत्रौ स्वारोचिषनाममनोः पुत्रयोर्नामाऽऽह - उचथ्य इति। उचितुं स्थापयितुमस्येति उचथ्यः। साक्षात् भगवान् प्रत्यक्षपूज्यः, बृहत्याः वाचः पालकत्वात् स्वामित्वाद्वा बृहस्पतिः, "तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट्तलोपश्च" (वार्तिक. 15-32 under अष्टा 6-1-157) इति सूत्रात्तकारलोपः सुडागमश्चेति। "ब्रह्मिष्ठो वैदिकतमः"। "बृहस्पतेः न परः साम्नो विदुः" (ऐत.उ.1-5-4) इति श्रुतेः॥ ३५॥

**पुलस्त्योऽजनयत्पत्न्यां अगस्त्यं च हविर्भुजि[1]।**
**सोऽन्यजन्मनि दह्राग्निः[2] विश्रवाश्च महातपाः॥ ३६॥**

**तस्य यक्षपतिर्देवः कुबेरस्त्विलबिलासुतः[3]।**
**रावणः कुम्भकर्णश्च तथान्यस्यां विभीषणः॥ ३७॥**

**पुलहस्य गतिर्भार्या त्रीनसूत सती सुतान्।**
**कर्मश्रेष्ठं वरीयांसं सहिष्णुं च महामते॥ ३८॥**

**क्रतोरपि क्रिया भार्या वालखिल्यानसूयत।**
**ऋषीन्षष्टिसहस्राणि ज्वलतो ब्रह्मतेजसा॥ ३९॥**

**ऊर्जायां जज्ञिरे पुत्राः वसिष्ठस्य परन्तप।**
**चित्रकेतुप्रधानास्ते सप्तब्रह्मर्षयोऽमलाः॥ ४०॥**

1. A,G,J भुंवि 2. M दह्रोऽग्निः 3. A.G.J° स्त्विडबिडा, M स्त्विडिबिला

चित्रकेतुः सुरोचिश्च विरजा[1] मित्र एव च।

उल्बणो वसुभृद्यानः द्युमान् शक्त्यादयोऽपरे॥ ४१॥

चित्तिस्त्वथर्वणः[2] पत्नी लेभे पुत्रं धृतव्रतम्।

दध्यञ्चमश्वशिरसं[3] भृगोर्वंशं निबोध मे॥ ४२॥

भृगुः ख्यात्यां महाभागः पत्न्यां पुत्रानजीजनत्।

धातारञ्च विधातारं श्रियञ्च भगवत्परां[4]॥ ४३॥

आयतिं नियतिञ्चैव सुते मेरुस्तयोरदात्।

ताभ्यां तयोरभवतां मृकण्डः[5] प्राण एव च॥ ४४॥

मार्कण्डेयो मृकण्डस्य[6] प्राणाद्वेदशिरा मुनिः।

कविश्च भार्गवो यस्य भगवानुशनासुतः॥ ४५॥

श्रीध० पुलस्त्य इति। पुलस्त्यो हविर्भुजि[7] पत्न्यामित्यन्वयः। सोऽगस्त्यः जन्मान्तरे[8] दहाग्निः जाठराग्निः[9]। विश्रवाश्च पुलस्त्यस्य, सुतः इति शेषः॥ ३६॥

तस्येति। तस्य विश्रवसः इलबिलायां[10] पत्न्यां[11] जातः सुतः कुबेरः। अन्यस्यां भार्यायां कैकस्यां[12] रावणादयस्त्रयः जाताः[13] सुताः॥ ३७,३८॥

क्रतोरिति। ज्वलतः प्रकाशमानान्॥ ३९॥

ऊर्जायामिति॥ चित्रकेतुप्रमुखाः जज्ञिरे। ते च सप्तर्षयः जाताः॥ ४०॥

तानेवाऽऽह - चित्रकेतुरिति। वसुभृद्यानो नामैकः। शक्त्यादयः अपरे अन्यस्याः जाताः[14] पुत्राः॥ ४१,४२॥

भृगुरिति। ख्यात्यां पत्न्याम्। पुत्रान् पुत्रौ पुत्रीं च। तानेवाऽऽह धातारमिति॥ ४३॥

आयतिमिति। त्रयो धातृविधात्रोः॥ ४४॥

---

1. M विरजो 2. M शान्तिस्त्व°, W शान्ता त्व° 3. A दधीच° 4. M° त्रियाम् 5. M मृकण्डुः 6. M मृकण्डोस्तु 7. A,J° र्भुवि 8. J. V omit जन्मान्तरे 9. A ज° 10. A,J इडबिडायां 11. J,V omit पत्न्यां 12. A,J केशिन्यां 13. A,J omit जाताः 14. J, V omit जाताः

**मार्कण्डेय** इति। कविश्च भार्गवः भृगोः पुत्रः यस्य[1] कवेः सुत उशना[1]॥ ४५॥

**वीर०** पुलस्त्यः पत्न्यां स्वभार्यायां हवि[2]र्भुगाख्यायां कर्दमस्य चतुर्थ्यां दुहितरि अगस्त्यम् अजनयत्। अगस्त्यं विशिनष्टि-योऽगस्त्यः अन्यजन्मनि दहाग्निः जाठराग्निरभूत् तथा महातपाः विश्रवाश्च पुलस्त्यसुत इत्यर्थः॥ ३६॥

तस्य विश्रवस इति इलविलासुतः इलबिलायां जातः यक्षाणां पतिः प्रभुः देवः कुबेरः तथा अन्यस्यां भार्यायां कैकस्यां रावणादयः त्रयः पुत्राः विश्रवस एव जाताः॥ ३७॥

पुलहस्य भार्या रत्याख्या कर्दमस्य पञ्चमी दुहिता। सती पतिव्रता त्रीन् सुतान् असूत प्रसूतवती। पुत्रा[3]न्निर्दिशति कर्मश्रेष्ठमिति। हे महामते!॥ ३८॥

क्रतोरपि भार्या क्रियाख्या, कर्दमस्य षष्ठी सुता ब्रह्मतेजसा ज्वलतः प्रकाशमानान् षष्टिसहस्राणि वालखिल्यान् वानप्रस्थान् ऋषीन् असूयत॥ ३९॥

तथा वसिष्ठस्य भार्यायामूर्जायां कर्दमस्य नवम्यां सुतायां हे परन्तप! चित्रकेतुप्रभृतयः सप्तमहर्षयः निर्मलाचाराः जज्ञिरे। अरुन्धत्या एव नामान्तरमूर्जेति वेदितव्यम्॥ ४०॥

पुत्रान्निर्दिशति - **चित्रकेतुरिति**। द्युमान् तेजस्वीत्यर्थः। शक्त्यादयः अपरे अन्यस्यां भार्यायां जाताः इत्यर्थः॥ ४१॥

अथर्वणः पत्नी कर्दमस्याष्टमी सुता शान्ताऽऽख्या। चित्तिरिति पाठान्तरं, तदा तत्तस्या एव नामान्तरम्। धृतव्रतं दध्यंचमश्वशिरसं च पुत्रं लेभे लब्धवती, अथ मे मत्तः भृगोर्वंशं निबोध शृणु॥ ४२॥

हे महाभाग! [4]ख्यात्यां ख्यातिनाम्न्यां[4] कर्दमस्य सप्तम्यां दुहितरि भृगुः धातृविधातारौ पुत्रौ। पुत्रानित्यार्षं बहुवचनम्। भगवत्परां भगवानाश्रयो यस्यास्तां श्रियं लक्ष्म्यंशभूतां कन्याञ्च अजीजनत्॥ ४३॥

मेरुः स्वस्य सुते आयतिं नियतिञ्च तयोः धातृविधात्रोः अदात् दत्तवान्। ताभ्यां धातृविधातृभ्यां तयोः मेरुदुहित्रोः आयतिनियत्योः यथाक्रमं मृकण्डुः (मृकण्डः) प्राणश्चाभवत्॥ ४४॥

ततः मृकण्डोः (मृकण्डस्य) मार्कण्डेयः प्राणात् वेदशिरा मुनिरभवत्। उशना शुक्रः यस्य वेदशिरसः सुतः सः कविः शुक्रश्च भार्गवः भृगुवंशसम्भूतः इत्यर्थः॥ ४५॥

---

1. V omits 2. A° र्भुवा° 3. A तान् 4--4. A ख्यात्याख्यायां

विज० त्यक्त्वागादगस्त्यः, 'स्त्यै ष्ट्यै शब्दसङ्घाते' इत्यतः शब्दादिविषयजातं प्रतिगतः न भवतीति वा[1] सः अगस्त्यः अन्यजन्मनि अग्निषु दग्धो नामाग्निः दग्धोऽग्निरल्पाग्निः इत्यर्थे अन्यजन्मनीति विशेषणं व्यर्थम्, अत्र पूर्णाग्निः[2] पूर्वत्राल्पाग्निरिति विवेकस्तु गवेषणीयः इति॥ ३६॥

तस्य विश्रवसः। कोऽयं यक्षपतिः इत्यत उक्तं देवः कुबेरः इति। 'कुबि आच्छादने' इति धातोः धनदानेन दारिद्र्यं कुम्बति आच्छादयतीति कुबेरः। अयमर्थः - कस्मिंश्चिद्यक्षेऽपि अतिव्याप्तः स्यात् इत्यत उक्तं इडबिलासुत[3] इति। अन्यस्यां पत्न्याम्॥ ३७, ३८॥

वालखिल्याः अल्पाः येषां ते तथा सन्ततिविधुराः ऊर्ध्वरेतस इत्यर्थः। तान् ब्रह्मतेजसा ब्रह्मनिमित्ततेजसा॥ ३९, ४०॥

अन्येषां नामानि अप्रतिषिद्धत्वात् किमिति नोक्तानीति शङ्का माभूत् इत्याह - **चित्रकेतुरिति**। अपरे सप्तभ्यः अन्ये ते के, शक्त्यादयः शक्तिमुनिप्रमुखाः॥ ४१-४३॥

तयोः आयतिनियंत्योः॥ ४४॥

यस्य कवेः॥ ४५॥

**नवैते[4] मुनयः क्षत्तर्लोकान्सर्गैर भवायन्।**
**एष कर्दमदौहित्रसन्तानः कथितस्तव॥**
**शृण्वतः श्रद्दधानस्य सद्यः पापहरः परः॥ ४६॥**

**प्रसूतिं मानवीं दक्ष उपयेमे ह्यजाऽऽत्मजः।**
**तस्यां ससर्ज दुहितॄः षोडशामललोचनाः॥ ४७॥**

**त्रयोदशाऽदाद्धर्माय तथैकामग्नये विभुः।**
**पितृभ्य एकां युक्तेभ्यः भवायैकां भवच्छिदे॥ ४८॥**

**श्रद्धा मैत्री दया शान्तिः तुष्टिः पुष्टिः क्रियोन्नतिः।**
**बुद्धिर्मेधा तितिक्षा ह्रीर्मूर्तिर्धर्मस्य पत्नयः॥ ४९॥**

---

1. A यः  2. A पूर्णः  3. A° बिडा  4. A,G,J त एते, M सर्वे ते

**श्रद्धाऽसूत शुभं[1] मैत्री प्रसादमभयं दया।**

**शान्तिः सुखं मुदं तुष्टिः स्मयं पुष्टिरसूयत॥ ५०॥**

**श्रीध०** (प्रसूतिमिति।) अजात्मजः ब्रह्मपुत्रः न[2] तु प्राचेतसः॥ ४६, ४७॥

(त्रयोदशेति।) युक्तेभ्यः[3] संयतेभ्यः[4] मिलितेभ्यो वा॥ ४८,५०॥

**वीर०** देवहूतिदुहितृसन्ततिमुपसंहरति **नवेति**। हे क्षत्तः! एते नव मरीच्यादयः सर्गैः स्ववंशैः लोकानभावयन् उत्पादयामासुः। कर्दमदुहितृसन्ततिश्रवणफलमाह - एष इति। कर्दमदौहित्रः कर्दमदुहितृसम्बन्धी सन्तानः मया कथितः श्रद्धापूर्वकं शृण्वतः पापनिवर्तकः॥ ४६॥

एवं देवहूतिसन्ततिमाभिधाय अथ मनोः तृतीयायाः दुहितुः प्रसूतेः सन्तानमाह - **प्रसूति**मिति। अजाऽऽत्मजः ब्रह्मपुत्रः- दक्षः मानवीं स्वायम्भुवमनुदुहितरं प्रसूतिमुपयेमे उवोढ तस्यां प्रसूत्यां अमललोचनाः सौन्दर्यशालिनीः षोडशदुहितृः ससर्ज॥ ४७॥

तत्र त्रयोदशदुहितृः विभुः तत्तदभिप्रायविज्ञानसमर्थः दक्षः धर्माय ददौ एकां दुहितरं अग्नये, एकां युक्तेभ्यः मिलितेभ्यः पितृभ्यः, एकां भवच्छिदे भवाय रुद्राय अदात्। ज्ञानप्रदत्वात् रुद्रस्य भवच्छित्त्वं विवक्षितम्॥ ४८॥

तत्र धर्मपत्नीः त्रयोदश दुहितृः निर्दिशति - **श्रद्धे**ति॥ ४९॥

तासां प्रत्येकं सन्ततिमाह - **श्रद्धे**ति। आसां श्रद्धादिनामत्वं तदपत्यानां शुभादिनामत्वञ्च श्रद्धादिधर्मयुक्तत्वेन श्रद्धादि-कार्यशुभादि धर्मयुक्तत्वेन च बोध्यं, नाम्नामन्वर्थत्वात्। यद्वा, श्रद्धा शुभाद्यभिमानिदेवतात्वाद्वा तासां तेषाञ्च तन्नामत्वम्॥५०॥

**विज०** अभावयन् अवर्धयन्॥ ४६॥

कर्दमदौहित्रकथाश्रवणफलमाह - **शृण्वत** इति। अजात्मजो दक्षः॥ ४७, ४८॥

युक्तेभ्यः योगेभ्यः हरौ मनोयोगसहितेभ्यः इति वा। भवच्छिदे ज्ञानोपदेशेन संसारनिर्मूलनाय॥ ४९॥

तासां सन्ततिं स्वनामानुगुणमाह - **श्रद्धेत्या**दिना॥ ५०॥

---

1. V, W श्रुतं 2. V omits न तु प्राचेतसः 3. V adds संयुक्तेभ्यः 4. V 'यु'

योगं क्रियोन्नतिर्दर्पं मर्थं बुद्धिरसूयत।
मेधा स्मृतिं तितिक्षा[1] तु क्षेमं ह्रीः प्रश्रयं[2] सुतम्॥ ५१॥

मूर्तिस्सर्वगुणोत्पत्ती[3] नरनारायणावृषी।
ययो र्जन्मन्यदो विश्वमभ्यनन्दत्सुनिर्वृतम्॥ ५२॥

मनांसि ककुभो वाताः प्रसेदुस्सरितोऽब्धयः[4]।
दिव्यवाद्यन्त तूर्याणि पेतुः कुसुमवृष्टयः॥ ५३॥

मुनयस्तुष्टुवुस्तुष्टा जगुर्गन्धर्वकिन्नराः।
नृत्यन्ति स्म स्त्रियो दिव्य[5] आसीत्परममङ्गलम्।
देवा ब्रह्मादयस्सर्वे उपतस्थुरभिष्टवैः॥ ५४॥

देवा ऊचुः

यो मायया विरचितं निजयाऽऽत्मनीदं[6] खे रूपभेदमिव तत्प्रतिचक्षणाय।
एतेन धर्मसदने ऋषिमूर्तिनाद्य प्रादुश्चकार पुरुषाय नमः परस्मै॥ ५५॥

सोऽयं स्थितिव्यतिकरोपशमाय सृष्टान् सत्त्वेन नः सुरगणाननुमेयतत्त्वः।
दृश्याददभ्रकरुणेन विलोकनेन यच्छ्रीनिकेतममलं क्षिपतारविन्दम्॥ ५६॥

एवं सुरगणैस्तात! भगवन्तावभिष्टुतौ।
लब्धावलोकैर्ययतुरर्चितौ गन्धमादनम्॥ ५७॥

ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ।
भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ॥ ५८॥

स्वाहाभिमानिनश्चाग्नेरात्मजांस्त्रीनजीजनत्।
पावकं पवमानञ्च शुचिञ्च हुतभोजनम्॥ ५९॥

---

1. V, W च 2. V, W तथा 3. A, G, J °त्तिर्न° 4. A, G, J °ऽद्रयः; M °ऽग्रयः 5. V दिव्याः 6. M °मा°

**श्रीध० मूर्तिरिति**। सर्वेषां गुणानाम् उत्पत्तिः यस्यां सा॥ ५१-५३॥

**(मुनय)** इति। उपतस्थुः भेजुः॥ ५४॥

**य** इति। निजया मायया यस्मिन् आत्मनि खे गगने रूपभेदं गन्धर्वनगरमिवेदं विश्वं विरचितम्। तस्यात्मनः प्रतिचक्षणाय प्रकाशनाय आत्मानं योऽद्य प्रादुश्चकार[1] प्रकटीकृतवान् तस्मै पुरुषाय नमः। केन रूपेण प्रादुश्चकार। ऋषेः मूर्तिः आकारः यस्मिन् तेन रूपेण॥ ५५॥

**स** इति। सोऽयं नः अस्मान् सुरगणान् अनल्पकरुणायुक्तेन विलोकनेन विशिष्टनेत्रेण दृश्यात् पश्यतु। कथम्भूतेन? यच्छ्रीनिकेतममलमरविन्दं तत्क्षिपता तिरस्कुर्वता। कथम्भूतः? अनुमेयं शास्त्रतो वेद्यं[2] न त्वस्माकमपरोक्षं तत्त्वं यस्य। कथम्भूतान् अस्मान्? स्थितेः जगन्मर्यादायाः व्यतिकरः अन्यथात्वं तस्योपशमाय सत्त्वेन गुणेन सृष्टान्॥ ५६॥

**एवमिति**। लब्धोऽवलोकः यैस्सुरगणैः तैः अभिष्टुतावर्चितौ चं सन्तौ थयतुः॥ ५७॥

**ताविति**। भुवो भारस्य व्ययाय नाशाय। चकारः[3] एकवाक्यत्वार्थः। तौ च साम्प्रतमिह आगतौ इत्यर्थः। तदुक्तं तन्त्रे "अर्जुने तु नरावेशः कृष्णो नारायणस्स्वयम्" (तत्त्वविवेके) इति। यदूद्वहः श्रीकृष्णः कुरूद्वहोऽर्जुनः उभावपि कृष्णनामानौ॥५८॥

**स्वाहेति**। अग्न्यभिमानिनो देवान्। स्वाहा नाम तस्य भार्या। हुतभोजनमिति त्रयाणां विशेषणम्॥ ५९॥

**वीर०** त्रयोदशानां मध्ये मूर्त्याख्या धर्मपत्नी सर्वेषां गुणानां[4] कल्याणगुणानां उत्पत्तिः अभिव्यक्तिः ययोस्तावृषी नरनारायणौ भगवदवतारभूतौ असूत। ययोः नरनारायणयोः जन्मनि जन्मकाले अदः एतत् विश्वं सुखितं सत् अभ्यनन्दत्॥५१,५२॥

सर्वेषां मनांसि दिशः सरितः समुद्राः वाताश्च प्रसन्ना अभूवन्। तूर्याणि वाद्यानि देवैरवाद्यन्त[5] ध्वनितानि॥ ५३॥

देव्यः देवानां सम्बन्धिन्यः स्त्रियः अवतीर्णौ नरनारायणौ द्रष्टुकामाः[6] सर्वे ब्रह्मादयः देवाः अभिष्टवैः उपतस्थुः। आगत्य समीपे अभितः स्थित्वा स्तोत्रैः तुष्टुवुरित्यर्थः॥ ५४॥

स्तुतिमेवाऽऽह - **य** इति द्वाभ्याम्। निजया आत्मीयया मायया सङ्कल्पेन स्वात्मन्येवाऽऽधारभूते खे आकाशे रूपभेदं सितनीलादिरूपभेदमिव विरचितुं यदिदं विश्वं रचितं तत्राऽऽकाशदृष्टान्तेन स्वस्यास्पृष्टसृज्यवस्तुदोषत्वमुच्यते। यद्वा यस्मिन्[7] आत्मनि

1. A, J प्रकटितवान् 2. A, J विचार्यं 3. A, J एवकारार्थः 4. W omits कल्याणगुणानां 5. W ध्वानितानि 6. A द्रष्टुं 7. A स्वभिन्नात्मनि

जीवे आकाशे रूपभेदमिव इदं देवतिर्यगादिरूपभेदं विरचितं तत्राऽऽकाशदृष्टान्तेन सितनीलादिरूपभेदः मेघादिकृतः, वस्तुतः[1] आकाशादतिरिक्तोपि भ्रान्तदृष्टीनामाकाशाभिन्नत्वेन प्रतीतः[2] तद्वद्देवादिरूपभेदात् विलक्षणे ह्यात्मस्वरूपे तदभिन्नत्वेनैव भ्रान्तदृष्टीनां[3] प्रतीयमानो देवादिरूपभेद इति विवक्षितम्। यथोक्तम्[4] - "सितनीलादिभेदेन यथेदं दृश्यते नभः। भ्रान्तदृष्टिभिरात्मापि तथैकस्सन् पृथक् पृथक्" (विष्णु.पु. 2-16-22) इति। अस्मिन् पक्षे यो मायया आत्मनि रचित मित्युक्त्या भगवतः सङ्कल्पादेव जीवस्य बन्धः इत्युक्तं भवति तत् प्रतिचक्षणाय तस्य देवादिरूपसंसृष्टस्य आत्मनः प्रतिचक्षणाय प्रतिबोधनाय देवादिरूपभेदाद्विलक्षण-ब्रह्मात्मकप्रत्यात्मस्वरूपबोधनाय तद्द्वारा संसारमोचनाय इत्यभिप्रायः। एतेन देवमनुष्यादिसजातीयेन स्वसङ्कल्पोपात्तेन अप्राकृताकर्मवश्येन ऋष्याकारेण[6] धर्मवश्ये गृहे यो भगवान् प्रादुश्चकार प्रादुर्भूतः तस्मै परमपुरुषाय ते नमः ॥५५॥

सोऽयं स्वसङ्कल्पकृतजगद्बन्धमोक्षः भगवान् अनुमेयतत्त्वः शास्त्रैकवेद्यविविधविचित्रशक्तिमत्त्वरूपः स्थितिव्यतिकरो पशमाय स्थितिः पालनं व्यतिकरः सृष्टिः उपशमः संहारः तेषां समाहारे द्वन्द्वः तस्मै जगत्पालनाद्यर्थं पालनाधिकृतभगवदंशभूते न्द्राद्यभिप्रायेण स्थितिपदं प्रयुक्तम्। सत्त्वेनेति गुणत्रयोपलक्षणम्। स्थित्याद्यनुगुणसत्त्वादिगुणविशिष्टत्वेन सृष्टान् अस्मान् सुरगणान् अदभ्रकरुणेन अनल्पदयायुक्तेन विलोकनेन दृश्यात् आशीर्लिङ आर्धधातुकत्वात् पश्यादेशाभावः। दृश्यान् इति द्वितीयान्तपाठे तु पश्यत्विति क्रियापदमध्याहर्तव्यं, दृश्यान् कृपावलोकनविषयत्वयोग्यान् अस्मान् पश्यत्वित्यर्थः। कथम्भूतेन विलोकनेन ? यच्छ्रियो लक्ष्म्याः निकेतं स्थानम् अरविन्दं कमलं तत्क्षिपता तिरस्कुर्वता॥ ५६॥

हे तात ! एवं लब्धः कृपावलोकः यैस्तैस्सुरगणैः अभिष्टुतौ भगवन्तौ नरनारायणौ गन्धमादनाऽऽख्यं पर्वतं प्रति ययतुः गतवन्तौ॥ ५७॥

तावेव हरेरंशतया अवतीर्णौ इमौ नरनारायणौ भुवः भारव्ययाय भारक्षपणाय यदुकुरुकुलश्रेष्ठौ इमौ कृष्णार्जुनौ इहागतौ तावेव कृष्णार्जुनरूपेण अवतीर्णावित्यर्थः॥ ५८॥

एवं धर्मपत्नीनां दक्षदुहितॄणां त्रयोदशानां सन्ततिः कथिता। अथ चतुर्दश्या दक्षदुहितुः सन्तानमाह - **स्वाहेति**। अभिमानिनः स्वाहां भार्यां स्वस्यात्यन्तमनुकूलां मन्यमानात् अग्नेः तद्भार्यां स्वाहा स्वाहाख्या त्रीन् पुत्रान् प्रसूतवती। अभिमानिन इत्यात्मजविशेषणं वा, त्रेताग्न्यभिमानिनः देवानित्यर्थः। तानाह - पावकमिति। हुतभोजनमिति त्रयाणां विशेषणम्। हुतं देवतोद्देशेन व्यक्तं चरुपुरोडाशादिकं भुङ्क्ते इति हुतभोजनस्तम्॥ ५९॥

---

1. A adds तु 2. A भ्रान्ति 3. A भ्रान्ति 4. W त 5. A भ्रान्ति 6. A धर्मस्य

**विज०** शमदमादिसर्वगुणानां उत्पत्तिः ययोस्तौ तथा॥ ५१-५३॥

अभिष्टवैः स्तोत्रैः॥ ५४॥

यो विष्णुर्निजमायया स्वेच्छया। खे रूपभेदमिव यथाकाशे वाय्वादिरूपभेदः आकाशाऽऽधारतया प्रतीयते तथाऽऽत्मनि स्वाधारतया विरचितं इदं विश्वम्। तत्प्रतिचक्षणाय तस्य जगतः स्वस्य च आधाराऽऽधेयभावज्ञापनायाद्य धर्मसदने मूर्त्याख्य धर्मभार्यायां एतेनास्मद्दृष्टिगोचरेण ऋषिमूर्तिना ऋषिवेषधारिणी मूर्तिः यस्य तत्तथा तेन रूपेण। प्रादुश्चकार तस्मै परस्मै पुरुषाय नम इत्यन्वयः। ''यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्'' (तत्त्वविवेके) ''यथाकाशे विमानादिरूपभेदः प्रतीयते तथा हरौ जगदिदं तत्सामर्थ्यात् प्रतीयते'' (ब्राह्मे) इत्यादेः॥ ५५॥

किमिदानीं विशेषाभीष्टं इत्यतः तत्प्रार्थयन्ते - **सोऽय**मिति। यो भगवान् भक्ताभीष्टैकचिन्तामणि. सोऽयमवलोकनेन कटाक्षनिरीक्षणेन सुरगणप्रन्नो दृश्यात् अवलोकयतु इत्यन्वयः। द्रष्टव्यत्वे स्वमुणान् लक्षयन्ति-स्थितीति। स्थितिव्यतिकरोपशमाय स्थितिविघ्नपरिहाराय सत्त्वेन गुणेन सृष्टान्। अस्माभिरपि न साकल्येन ज्ञातुं शक्यत इति भावेनाऽऽहुः - अनुमेयतत्त्व इति। प्रत्यक्षागमानुगृहीतव्याप्तिकेन लिङ्गज्ञानेन ज्ञेयं तत्त्वं अनारोपितज्ञानस्वरूपं यस्य स तथा। अवलोकनस्य स्वविषये जने गुणार्पकगुणोस्ति चेत् प्रार्थनीयतामर्हति, तत्कथमत्राऽऽहुः अदभ्रेति। अदभ्रा अनल्पा पूर्णा करुणा यस्य तत्तथा तेन न केवलमनुग्रहगुणः किन्तु कान्तिगुणोऽप्यस्तीत्याहुः क्षिपतेति। अरविन्दं क्षिपता। स्वकान्तिगुणेन पद्मकान्तिं निरस्यता इत्यर्थः। पद्मस्य कोऽयं माहात्म्यातिशयः इति तत्राहुः - यच्छ्रीनिकेतमिति। यदरविन्दं श्रियो निकेतं निवासस्थानम्। श्रियः निवासस्थानीयत्वं केनचिद्गुणेन भाव्यं। स क इति तत्राऽऽहुः - अमलमिति॥ ५६॥

ततः किं भगवन्तौ अकार्ष्टामिति तत्राऽऽह - **एव**मिति॥ ५७॥

तौ करतलामलकवत् ज्ञापयति - **ताविमाविति**। यदूद्वहः यादवेश्वरः कृष्णः। कुरूद्वहः अर्जुनः। अस्मिन्नरस्य विशेषावेशात् हरेरंशत्वं न तु साक्षात्, तदुक्तं ''नरे विष्णुस्समाविष्टः स्वयं नारायणो हरिः। अर्जुने च नरावेशः कृष्णो नारायणस्स्वयम्'' (तत्त्वविवेके) इति॥ ५८॥

अग्न्यभिमानिनो देवान् अग्नेः स्वाहा नाम्नी। हुतभोजनमिति त्रयाणां विशेषणम्॥ ५९॥

**तेभ्योऽग्नयस्समभवन् चत्वारिंशच्च पञ्च च।**

**त एवैकोनपञ्चाशत्साकं पितृपितामहैः॥ ६०॥**

**वैतानिके कर्मणि यत्रामभिर्ब्रह्मवादिभिः ।**

**आग्नेय्य इष्टयो यज्ञे निरूप्यन्तेऽग्नयस्तु ते ।। ६१ ।।**[1]

**अग्निष्वात्ता बर्हिषदः सोम्याः पितर आज्यपाः ।**[2]

**साग्नयोऽनग्नयस्तेषां पत्नी दाक्षायणी स्वधा ।। ६२ ।।**

**तेभ्यो दधार कन्ये द्वे त्रयुनां धारिणीं स्वधा ।**[3][4]

**उभे ते ब्रह्मवादिन्यौ ज्ञानविज्ञानपारगे ।। ६३ ।।**

**भवस्य पत्नी तु सती भवं देवमनुव्रता ।**

**आत्मनस्सदृशं पुत्रं न लेभे गुणशीलतः ।। ६४ ।।**[5]

**पितर्यप्रतिरूपे स्वे भवायानागसे रुषा ।**

**अप्रौढैवाऽऽत्मनात्मानमजहाद्योगसंयुता ।। ६५ ।।**[6]

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां

चतुर्थस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः ।। १ ।।

**श्रीध० तेभ्य** इति । पितरः त्रयः पितामहः एकः तैः, साकं सह ।। ६० ।।

**वैतानिक** इति । वैतानिके[7] कर्मणि यज्ञे येषां नामभिः आग्नेय्यः[8] अग्निदेवताका इष्टयः निरूप्यन्ते क्रियन्ते त एते अग्नयो[9] न लौकिकाः । अतः बहूनां न वैयर्थ्यमिति भावः ।। ६१

**अग्निष्वात्ता** इति । सौम्याः सोमपाः येषामग्नौ करणमस्ति ते साग्नयः । तद्रहितास्त्वनग्नयः[10] ।। ६२ ।।

**तेभ्य** इति । तयोस्तु सन्ततिः ना भवत् जीवन्मुक्तत्वादित्याह - उभे ते इति ।। ६३ ।।

**भवस्येति** । गुणशीलतः आत्मनः सदृशं देवं अनुव्रतापि सती पुत्रं न लेभे ।। ६४ ।।

---

1. W °रु 2. G. J. M. V सौम्याः 3. M मेनां वैतरणीं 4. W धरणी 5. M शालिनम् 6. V. W °ढैना° 7. A. J add वैदिके 8. A. J omit आग्नेय्यः 9. V अ° 10. V श्चा

तत्र हेतुः - **पितरीति**। स्वे पितरि दक्षे अप्रतिरूपे असदृशे प्रतिकूले सतीत्यर्थः। आत्मना स्वयमेवाऽऽत्मानं देहमजहात् त्यक्तवती। योगसंयुता योगमाश्रित्येति। ६५॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

**वीर०** तेभ्यः पावकादिभ्यः पञ्चचत्वारिंशदग्नयः समभवन् त एव पञ्चचत्वारिंशदग्नयः पितृपितामहैस्साकंसह एकोनपञ्चाशत्। तत्र पितरस्त्रयः, पितामह एकः॥ ६०॥

पञ्चचत्वारिंशदग्नीन् विशिनष्टि - **वैतानिक** इति। यन्नामभिः येषामग्नीनां नामभिः वैतानिके वैदिके कर्मणि तथा यज्ञे यद्वा यज्ञरूपे वैतानिके कर्मणि आग्नेय्यः अग्निदेवताका इष्टयः यागाः ब्रह्मवादिभिः वैदिकैर्निरुप्यन्ते[1] त एते अग्नय इत्यर्थः॥६१॥

अथ पञ्चदश्या दक्षदुहितुः सन्ततिं वर्णयन्[2] तत्पतीन् पितॄन्विभजति - **अग्निष्वात्ता** इति। अग्निष्वात्ता अयज्वान ते अनग्नय. येषामग्नौ करणं नास्ति ते अनग्नयः ते च आज्यपा ये च बर्हिषदः यज्वानस्ते साग्नयः अग्नौ करणवन्तः सोम्याः सोमपाश्च। तथा च श्रुतिः "ये वै यज्वानस्ते पितरः बर्हिषदः ये वा अयज्वानो गृहमेधिनस्ते पितरोऽग्निष्वात्ता" इति तेषामुभयविधपितॄणां[3] पत्नी दाक्षायणी दक्षदुहिता स्वधाख्या॥ ६२॥

तेभ्यः पितृभ्यः स्वधा[4] मेधां वैतरिणीञ्च द्वे कन्ये दधार गर्भे धृतवती प्रसूतवतीत्यर्थः। तयोः सन्ततिर्नास्तीत्याह - उभ इति। **ते उभे मेधावैतरण्यौ ब्रह्मवादिन्यौ ब्रह्मोपदेष्ट्र्यौ ज्ञानं शास्त्रजन्यं, विज्ञानं विवेकादिजन्यं, तयोः पारं अन्तं गतवत्यौ सनकादिवदूर्ध्वरेतस्के ते इति भावः॥ ६३॥**

भवस्य रुद्रस्य या[5] पत्नी सतीनाम्नी सापि गुणशीलादिभिरात्मनः स्वस्याः सदृशं देवं भवं नित्यं[6] सेवमानापि पुत्रं न लेभे॥६४॥

तत्र हेतुः - स्वे पितरि दक्षे अनागसे निरपराधिने भवाय रुद्राय रुषा क्रोधेनाप्रतिरूपे असदृशे प्रतिकूले सति आत्मना स्वयमेव आत्मानं देहं अप्रौढैव बालैव सती योगसंयुता अजहात् तत्याज योगाग्निना देहं ददाह इत्यर्थः॥ ६५॥

**विज०** तेभ्यः त्रिभ्यः पितरः पावकादयः पितामहः स्वाहापतिः अग्निः॥ ६०॥

---

1. A 'रू' 2. A वक्ष्यन् 3. A विधानां 4. A omits स्वधा 5. W omits या पत्नी 6. A omits नित्यं

इति श्रीमद्भगवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

वैतानिके कर्मणि यज्ञकर्मणि ब्रह्मवादिभिर्येषामग्नीनां नामभिः आग्नेय्यः अग्निदैवत्या इष्टयः निरूप्यन्ते ते अग्नयः एतादृशमहिमानः इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

तेषां जातिनामान्याह - **अग्निष्वात्ता** इति। तेषामग्नीनाम् ॥ ६२ ॥

ब्रह्मवादिन्यौ वेदविचारविचक्षणे ॥ ६३ ॥

भवपत्न्याः सत्याः कति अपत्यानि ? इत्याशङ्कां परिहरति - **भवस्येति** ॥ ६४ ॥

आत्मस्म।पत्यालाभात् तया सत्या किमकारीति तत्राऽऽह - **पितरीति**। पितरि दक्षे अनागसे भवाय अप्रतिरूपे अननुकूले विरोधिनि सति अप्रौढेव[1] अस्वीकृतेव[2] योगसंयुता प्राणोत्क्रमणनिमित्तयोगनिरतात्मना मनसा आत्मानं हरिं ध्यायन्ती आत्मानं देहं अजहात् अत्याक्षीदित्यन्वयः ॥ ६५ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीविजयध्वजतीर्थकृतायां पदरत्नावल्यां

टीकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

1. A "ढैव"  2. A "तैव"

# द्वितीयोऽध्यायः

## विदुर उवाच

भवे शीलवतां श्रेष्ठे दक्षो दुहितृवत्सलः।
विद्वेषमकरोत्कस्मात् अनादृत्याऽऽत्मजां सतीम्॥ १॥

कस्तं चराचरगुरुं निर्वैरं शान्तविग्रहम्।
आत्मारामं कथं द्वेष्टि जगतो दैवतं महत्॥ २॥

एतदाख्याहि मे ब्रह्मन् जामातुश्श्वशुरस्य च।
विद्वेषस्तु यतः प्राणान् त[1]त्यजे दुस्त्यजान् सती॥ ३॥

## मैत्रेय उवाच

पुरा विश्वसृजां सत्रे समेताः परमर्षयः।
त[2]थाऽमरगणस्सर्वे सानुगा मुनयोऽग्नयः॥ ४॥

तत्र प्रविष्ट[3]मृषयः दृष्ट्वार्कमिव रोचिषा।
भ्राजमानं वितिमिरं कुर्वन्तं तन्महत्सदः॥ ५॥

उदतिष्ठन् सदस्यास्ते स्वधिष्ण्येभ्यस्सहाग्नयः।
ऋते विरिञ्चं[4] शर्वञ्च तद्भासाक्षिप्त चेतसः॥ ६॥

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्वितीये प्रथमाध्यायोपक्षिप्ते भवदक्षयोः। विद्वेषे वर्ण्यते हेतुर्विश्वसृड्यज्ञसम्भवः॥

**भव** इति। सतीं सतीनाम्नीम्॥ १॥

---

1. M अत्यजद्दु° 2. V,W तदा 3. M° ष्टं मुनयः 4. M, V °ञ्चि°

न चासौ कस्यचिद्द्वेषार्ह इत्याह - क इति। चराचरगुरुं जगतो दैवतञ्च तं को द्वेष्टि ? न कोऽपि द्वेष्टीत्यर्थः[1-1]। कथञ्च[2-2] निर्वैरं द्वेष्टि[2-2] ? निर्वैरत्वे हेतुः। शान्तमिति[3] भावे क्तः[4]। शान्तं[5] शान्तिरेव विग्रहो यस्य। कुतः ? आत्मन्येवाऽऽरामः रतिर्यस्य न तु[6] विषये, तम्। यद्वा कः प्रजापति : दक्षः कथं द्वेष्टि ? एवम्भूते तस्मिन् द्वेषोऽयुक्तः अशक्यश्चेत्यर्थः॥ २॥

**एतदिति**। यतो हेतोर्विद्विषः यतो विद्वेषात् प्राणान् तत्याज एतदाख्याहि॥ ३॥

एतदेवाऽऽख्यातुमितिहासं[7] प्रस्तौति - **पुरेति**। समेता आसन्॥ ४॥

**तत्रेति**। प्रविष्टं दक्षमिति शेषः। तत्[8] महत्सदः महतीं सभाम्॥ ५॥

उदतिष्ठन्निति। स्वधिष्ण्येभ्यः स्वीयाऽऽसनेभ्यः॥ ६॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

भवाय पितर्यप्रतिरूपे सति आत्मानं तत्याजेति सङ्गहेणोक्तं देहत्यागनिमित्तं[9] त्यागं चाश्रुत्य तद्विस्तरबुभुत्सया पृच्छति **भव** इति त्रिभिः। शीलवतां निर्वैरत्वसमदर्शनत्वादिरूप स्वभाववतां मध्ये[10] श्रेष्ठे भवे रुद्रे दुहितृषु वत्सलः[11] दक्षः सतीनाम्नीमात्मजामनादृत्य कस्मद्धेतोः विद्वेषमकरोत् ? न च दुहितृजामातरौ विद्वेषार्हाविति भावः॥ २॥

इतश्च न भवो विद्वेषार्हः इत्याह - **क** इति। को ब्रह्मा दक्षः चराचराणां गुरुं ज्ञानोपदेष्टारं अचराणामपि ज्ञानसम्पादनसमर्थं[12] किमुत चराणामिति कैमुत्यकन्यायद्योतनायाचरपदं प्रयुक्तम्। जगतः जिज्ञासोर्लोकस्य महदैवतं आराध्यं "रुद्रः तारकं ब्रह्म व्याचष्टे" (जाबालि.उ.) "शङ्करात् ज्ञानमन्विच्छेत्" (ब्रह्माण्ड. पु. ) इति श्रुतिस्मृतिभ्यां ज्ञानार्थं जिज्ञासुभिः आराध्यमिति भावः। निर्वैरं[14] तं भवं कथं[15] द्वेष्टि अद्वेषीत् इत्यर्थः। निर्वैरत्वे हेतुः - शान्तविग्रहं शान्तिरेव विग्रहः यस्य शान्तिप्रचुरमित्यर्थः। आत्मनि सर्वभूतान्तरात्मनि परमपुरुषे आरामो रतिर्यस्य तं "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" (छान्दो. उ. 3-14-1 ) इति श्रुत्युक्तरीत्या शमदमादिभिः सर्वात्मकं ब्रह्मैवोपासीते त्यर्थः॥ २॥

जामातुः भवस्य श्वशुरस्य दक्षस्य च यतो हेतोः विद्वेषोऽभवत् यतश्च विद्वेषात् दक्षस्य दुहिता सती प्राणान् तत्याज एतन्मह्यं हे ब्रह्मन्! आख्याहि कथय॥ ३॥

---

1- -1. A,J omit  2- -2. A omits  3. A omits शान्तमिति  4. J omits इति  5. J omits शान्तं  6. J, V omit न तु विषये  7. A, J तदें  8. A, J omit तत्  9. A omits त्यागनिमित्तं  10. A omits मध्ये  11. A च सती°  12. W समर्थः  13. A °त्य  14. A omits तं  15. A omits कथं

एवमापृष्टो मैत्रेयः भवदक्षयोः मिथः[1] विद्वेषनिमित्तं तन्निमित्तसतीदेहत्यागञ्च सप्रपञ्चमुपपादयिषुः औपोद्धातिकीं कथां प्रस्तौति**पुरेति**। विश्वसृजां मरीच्यादिप्रजापतीनां सत्रे, बहुयजमानकर्तृकः यागः सत्रं तस्मिन् परमर्षयः तथा सभृत्याः इन्द्रादयः सुरगणाः अग्नयः अग्न्यभिमानिन्यो देवताश्च समेताः सङ्घीभूता आसन्॥ ४॥

तत्र यज्ञि[2]ये देशे प्रविष्टं दक्षमिति शेषः, दृष्ट्वा चतुर्मुखं शिवञ्च विना सर्वे तस्य दक्षस्य भासा आक्षिप्तमभिभूतं तेजः येषां ते सहाग्नयः अग्न्यभिमानिदेवतासहिताः सदस्याः सदसि संस्थिताः स्वासनेभ्यः उदतिष्ठन् उत्थितवन्तः। दक्षं कथम्भूतम् ? शोचिषा देहकान्त्या आदित्यमिव भ्राजमानं महत्सदः महतीं सभां वितिमिरं यथा तथा कुर्वन्तम्॥ ५,६॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अत्र कतिपयैरध्यायैः हरेः भक्तिविधानार्थं तन्माहात्म्यातिशयज्ञापनाय तन्माहात्म्यातिशयाविनाभूतं दक्षाध्वरध्वंसलक्षणं रुद्रस्य माहात्म्यं कथयति। तत्राऽऽदौ विदुरः "सत्यात्मानमजहात्" इति श्रुतसतीदेहवियोगविशेषं जिज्ञासुर्मैत्रेयं पृच्छति भवे शीलवतामिति विद्वेषाकरणे हेतवः शीलवत्त्वादिना ज्ञापनायोक्ताः॥ २॥

स्वस्य गुरुत्वेऽपि स्वकर्म निन्दितमिति भावेनाऽऽह - **कस्तमि**ति। आत्मनि परमात्मन्येव आरामः रतिर्यस्य स तथा तम्॥ २॥

तथा च किमिति तत्राऽऽह - एतदिति। विद्वेषः[3] विद्वेषकारणम्॥ ३॥

विद्वेषनिमित्तं वक्तुं उपोद्धातं रचयति **पुरेति**। न केवलं महर्षय एव किन्तु मुनिमात्रमप्यत्र समवेतं इत्यतो - मुनयः इति पुनर्वचनम्॥ ४॥

किमनेन प्रकृत इति तत्राऽऽह - **तत्रे**ति। प्रविष्टं दक्षमिति शेषः॥ ५॥

ब्रह्मपुत्रत्वात् रुद्रस्य श्वशुरत्वाच्च नायं प्राकृतः पुरुषः इति भावेनास्मिन् सभाबहुमानं वक्ति - **उदतिष्ठन्निति**। तस्य दक्षस्य भासा॥ ६॥

**सदसस्पतिभिर्दक्षो भगवान् साधु सत्कृतः।**
**अ[4]र्जं लोकगुरुं नत्वा निषसाद तदाज्ञया॥ ७॥**

---

1. W omits मिथः 2. W यज्ञीये 3. A omits विद्वेषः 4. A अथ

**प्राङ्निषण्णं मृडं दृष्ट्वा नामृष्यत्तदनादृतः ।**

**उवाच वामं चक्षुर्भ्यां अभिवीक्ष्य दहन्निव ॥ ८ ॥**

**दक्ष उवाच**[1]

**श्रूयतां ब्रह्मर्षयो मे सहदेवास्सहाग्नयः ।**[2]

**साधूनां ब्रुवतो वृत्तं नाज्ञानान्न च मत्सरात् ॥ ९ ॥**

**अयं तु लोकपालानां यशोघ्नो निरपत्रपः ।**

**सद्भिराचरितः पन्थाः येन स्तब्धेन दूषितः ॥ १० ॥**

**श्रीध. प्रागिति** । प्राक् स्वोपवेशनात् पूर्वमेव निषण्णं उपविष्टं मृडं शिवम् । तदनादृतः तेन अभ्युत्थानादिभिरकृतादर.[3] दक्षः[4] नामृष्यत् नासहत । वामं वक्रं यथा भवति तथा अभिवीक्ष्य ॥ ७, ८ ॥

**श्रूयतामिति** । मे वचनं श्रूयताम् । अज्ञानात् मत्सरात् च न ब्रुवतः ॥ ९ ॥

**अयमिति** । स्तब्धेन उचितक्रियाशून्येन । ध्वस्तेनेति पाठे भ्रष्टेन ॥ १० ॥

**वीर.** ततः स भगवान् दक्षः सदसस्पतिभिः साधु यथा तथा सत्कृतः पूजितः लोकगुरुं अजं ब्रह्माणं प्रणम्य तस्याजस्याऽऽज्ञया निषसाद उपविष्टवान् ॥ ७ ॥

प्राक् स्वोपवेशात् पूर्वमेवाऽऽगत्य निषण्णमुपविष्टं मृडं शिवं दृष्ट्वा तेन मृडेन अनादृतः प्रत्युत्थानादिभिरसत्कृतः दक्षः नामृष्यत् न सेहे । वामं वक्रं यथा तथा दहन्निव चक्षुर्भ्यामभिवीक्ष्य उवाच ॥ ८ ॥

उक्तिमेवाऽऽह - श्रूयतामित्यादिना यज्ञभागं न लभतामित्यन्तेन । हे सहाग्नयो ! महर्षयः ! साधूनां वृत्तमाचारं ब्रुवतः कथयतः मे[5] मम[6] वाक्यं वक्ष्यमाणं श्रूयतां युष्माभिरिति शेषः । इदं वक्ष्यमाणं वचः अज्ञानात् मत्सराच्च न कथ्यत इत्याह अज्ञानादिति । अज्ञानात् मत्सराच्च न कथयिष्यामीत्यर्थः ॥ ९ ॥

अयं रुद्रः नाम्नापि निर्देष्टुम् असहमानोऽयमिति सर्वनाम्ना निर्दिष्टवान् । एवमुत्तरत्रापि लोकपालानां यशोनाशकः निरपत्रपः

---

1. A. G. J, V. W omit दक्ष उवाच  2. M सभ्याः  3. V° रसत्कृत  4. A. J omit दक्ष  5. W omits मम  6. W adds वचः

लज्जारहितः स्तब्धेन[1] विहितधर्मपरित्यागिना मूर्खेण वा येन रुद्रेण सद्भिः आचरितः अनुष्ठितः पन्थाः वैदिकाचारः दूषितः दोषं प्रापितः। विनाशित इति यावत्॥ १०॥

**विज.** सर्वोत्थानलक्षणसत्काराभावात् अतः निर्गमनम्, इतरजन बहुमानेनोपवेशनं च सम्भावितमनयोर्दक्षेण किमकारीति तत्राऽऽह- सदसस्पतिभिरिति॥ ७॥

उपविष्टश्चेद्रुद्रविषयकोपोप्युपविष्टः किम्? तत्राऽऽह- **प्राङ्निषण्णमिति**। नामृष्यदित्यस्य किं लिङ्गं तत्राऽऽह - उवाचेति॥८॥

वृत्तं सदाचारम्॥ ९॥

किमिदानीं वृत्तं वक्तुं प्राप्तम्? अत्राह - **अयन्त्विति**॥ १०॥

**एष मे शिष्यतां प्राप्तो यन्मे दुहितुरग्रहीत्।**
**पाणिं विप्राग्निमुखतः सावित्र्या इव साधुवत्॥ ११॥**

**गृहीत्वा मृगशाबाक्ष्याः पाणिं मर्कटलोचनः[2]।**
**प्रत्युत्थानाभिवादार्हं वाचाप्यकृत नोचितम्॥ १२॥**

**लुप्तक्रियायाशुचये मानिने भिन्नसेतवे।**
**अनिच्छन्नप्यदां बालां शूद्रायेवोशतीं गिरम्॥ १३॥**

**प्रेतावासेषु यो घोरैः[3] प्रेतैः[4] भूतगणैर्वृतः।**
**अटत्युन्मत्तवन्नग्नो व्युप्तकेशो हसन् रुदन्॥ १४॥**

**चिताभस्मकृतस्नानः प्रेतस्रङ्नस्थिभूषणः[5]।**
**शिवापदेशो ह्यशिवो मत्तो मत्तजनप्रियः।**
**पतिः प्रमथभूतानां तमोमात्रात्मकात्मनाम्॥ १५॥**

**तस्मा उन्मादनाथाय[6] नष्टशौचाय दुर्हृदे।**
**दत्ता बत मया साध्वी चोदिते[7] परमेष्ठिना[8]॥ १६॥**

1. W स्तब्धशब्देनत्र 2. Af अर्केन्दु 3. A. G. J, M घोरेषु प्रे° 4. M घोरैः 5. M प्रेतास्थिग्रन्थि 6. V °दुन्माद
7. V चोदनात्; W चोदितः 8. V °नः

**मैत्रेय उवाच**

**विनिन्द्यैवं स गिरिशमप्रतीपमवस्थितम्।**
**दक्षो[1]ऽथाप उपस्पृश्य क्रुद्धः शप्तुं प्रचक्रमे॥ १७॥**

**दक्ष[2] उवाच**

**अयं तु देवयजन इन्द्रोपेन्द्रादिभिर्भव :।**
**सह भागं न लभतां दैवैर्देवगणाधमः॥ १८॥**

**श्रीध.** तदेवाऽऽह - **एष** इति। यत् यस्मात् विप्राग्निसमक्षं सावित्रीतुल्यायाः मे दुहितुः पाणिमग्रहीत्॥ ११॥

**गृहीत्वेति**। मृगशाबस्य हरिणपोत[4]स्य अक्षिणी इव अक्षिणी यस्याः। प्रत्युत्थानाभिवादार्हे मय्युचितं सम्मानं वाचापि नाकरोत्॥ १२॥

अनर्हाय कन्या दत्ता इत्यनुतप्यमान आह - **लुप्तक्रियाय** इति सार्धैश्चतुर्भि :। उशतीं शु[5]द्धां, वेदलक्षणां गिरम्॥ २३॥

**प्रेतावासेष्विति**। प्रेतावासेषु श्मशानेषु व्युप्ता विकीर्णाः केशाः यस्य॥ १४॥

**चितेति**। चिताभस्मना कृतं स्नानं येन। प्रेतानां स्रजः माल्यानि यस्य स प्रेतस्रक्। नृणामस्थीनि भूषणानि यस्य। शिव इत्यपदेशः नाममात्रं यस्य। तमोमात्रात्मकः केवलतमोरूप आत्मा स्वभावो येषाम्॥ १५॥

**तस्मै** इति। उन्मादाः भूतविशेषाः तेषां नाथाय दुर्हृदे दुष्टचित्ताय। बतेति खेदे। [6-]पूर्वोक्तश्लोकचतुष्क[-6]स्य वास्तवस्त्वयमर्थः - लुप्ताः क्रिया यस्मिन् परब्रह्मरूपत्वात्, अत एव नास्ति शुचिः यस्मात्। अमानिने अभिन्नसेतवे इति च च्छेदः। तस्य परमेश्वरस्य मदीया मानुषी कन्या कथं - योग्या स्यादिति लज्जादिना दातुमनिच्छन्नपि तत्सम्बन्धलोभेन दत्तवान्। शूद्राय इत्यनर्हत्वमात्रे दृष्टान्तः - न हीनत्वे[7]। पूर्वापरस्ववचनविरोधापत्तेः। एतदुक्तं भवति - यथा कश्चित् शूद्राय वेदमर्थलोभेन ददाति तद्वत् इति। प्रेताऽऽवासेष्वित्यादिसर्वं विडम्बनमात्रमिति स्वयमेवाऽऽह - उन्मत्तवदिति। अन्यथा उन्मत्त इत्येव वदे[8]त्। अशिवः नास्ति शिवो यस्मात्। अमत्तोऽमत्तजनप्रिय इति च च्छेदः। पति : प्रमथभूतानामिति भक्तवात्सल्यमाह - तामसानामपि[9] दोषमपनीय, पातीति

---

1. M दक्षोह्यपः 2. A, G, J, M omit दक्ष उवाच 3. M यज्ञभागं; Af यज्ञे भागं 4. A, J बालस्य 5. J, V omit शुद्धां 6--6. A, J omit 7. V adds यद्वा शोकं द्रावयतीति शोकः आत्मनिष्ठः तस्य वेदवार्णी कर्मविद्याभिव 8. A, J अवक्ष्यत् 9. A, J° नपि

[1]पतिः। नष्टानामपि शौचं शुद्धिः यस्मात्। दुष्टेष्वप्येते मया अनुकम्प्या इति हृत् मनः यस्य सः दुर्हृत् तस्मै। बतेति हर्षे। ब्रह्मणो वाक्यात् लज्जाभयादिकं परित्यज्य दत्तेत्यर्थः॥ १६॥

**विनिन्द्येति**। अप्रतीपं अप्रतिकूलं यथा भवति एवं अवस्थितमपि विनिन्द्य॥ १७॥

**अयमिति**। देवानां यजनसमये देवैस्सह [2]यज्ञे भागं न लभतां किन्तु तेभ्यः पूर्वमेव लभतां अग्रभोजित्वात्। यद्वा तेषु भुक्तवत्सु लभतां सर्वपोषकत्वात्। तत्र हेतुः - देवगणः अधमः यस्मात्सः॥ १८॥

**वीर.** स्तब्धतामेव प्रपञ्चयति - **एष** इति द्वाभ्याम्। एषः रुद्रः यत् यस्मात् मे मम शिष्यतां उपगतः मे दुहितुः सत्याः पाणिं विप्राग्निसाक्षिकं साधुवदग्रहीत्, साधुवदिति वतिप्रत्ययेन वस्तुतोऽसाधुरिति व्यञ्जितम्॥११॥

मर्कटस्येव लोचने यस्य सोऽयं रुद्रः मृगशाबस्य हरिणबालकस्य अक्षिणीव अक्षिणी यस्यास्तस्याः सत्याः पाणिं गृहीत्वा ऊढ्वा प्रत्युत्थानाभिवादनादियोग्ये मयि वाङ्मात्रेणापि उचितं सत्कारं नाकृत नं कृतवान्॥ १२॥

अनर्हाय कन्यां दत्तवानहं इत्यनुतप्यमान आह - **लुप्तक्रियायेति** सार्धैश्चतुर्भिः। लुप्तक्रियाय लुप्ता क्रिया सदाचारो येन अत एव अशुचये मानिने दुरहङ्कारिणे भिन्नसेतवे भिन्नः भ्रंशितः सेतुः धर्ममर्यादा येन तस्मै अनिच्छन्नपि दातुमिति शेषः, अहं बालां कन्यामदां दत्तवान्; यथा शूद्राय उशतीं निर्दुष्टां वेदलक्षणां गिरं तथेत्यर्थः॥ १३॥

प्रेतावासेषु श्मशानेषु घौरैः विकृतैः [3]प्रेतैः भूतगणैश्च, वृतः [4]वेष्टितः नग्नः विवसनः, व्युप्तकेशः विकीर्णकेशः, उन्मत्त इव हसन् रुदंश्च अटति पर्यटति॥ १४॥

चिताभस्मना श्मशानभस्मना कृतं स्नानं येन, प्रेतानां स्रजः माल्यानि यस्य सः, व्रस्थिभूषणः नृणामस्थीनि भूषणानि यस्य सः, स्वयमशिवः अमङ्गलोऽपि शिवापदेशः शिव इति व्यवहारमात्रं यस्य, स्वयं मत्तः मत्तानां जनानां प्रियश्च, तमोमात्राऽऽत्मकः केवलतमोरूपः आत्मा स्वभावो येषां तेषां प्रमथभूतानां प्रमथाख्यभूतविशेषाणां पतिः॥ १५॥

तस्मै उन्मादानां भूतविशेषाणां नाथाय दुर्हृदे दुष्टचित्ताय नष्टशौचाय आचारहीनाय साध्वी सती कन्या मया दत्ता। परमेष्ठिना चोदितः आदिष्टोऽहं दत्तवानित्यध्याहारः, चोदित इत्यार्षत्वात् व्यत्ययेन तृतीयार्थे प्रथमा वा। बतेति खेदे। केचिदत्र लुप्तक्रियायाशुचये इत्यादिग्रन्थं रुद्रनिन्दापरं यथाश्रुतं व्याख्याय वास्तवस्त्वयमर्थः इत्युपक्रम्य लुप्ता क्रिया यस्मिन् परब्रह्मरूपत्वात् अत एव न शुचिः

1. A, J omit पतिः 2. A, J omit यज्ञे 3. A omits प्रेतैः 4. A omits वेष्टितः

यस्मात् अमानिने अभिन्नसेतवे इति च च्छेदः। तस्य परमेश्वरस्य मदीया मानुषी कन्या कथं योग्या स्यादिति लज्जया दातुमनिच्छन्नपि तत्सम्बन्धलोभेन दत्तवान्। शूद्राय इति अनर्हत्वमात्रे दृष्टान्तः - न हीनत्वे; अन्यथा[1] पूर्वापरस्वग्रन्थविरोधापत्तेः। एतदुक्तं भवति -यथा कश्चित् शूद्राय वेदमर्थलोभेन ददाति तद्वदिति। प्रेतावासेष्वित्यादिसर्वं विडम्बनमात्रमिति स्वयमेवाऽऽह - उन्मत्तवदिति। अन्यथा उन्मत्त इत्येवावक्ष्यत्। अशिवः नास्ति शिवो यस्मात्। अमत्तः, अमत्तजनप्रियः इति च च्छेदः, पतिः प्रमथभूतानामिति भक्तवात्सल्यमाह - तामसानामपि[2] दोषमशेषमपनीय[3] पाति[4] इति पतिः। नष्टानामपि शौचं शुद्धिः यस्मात् दुष्टेष्वपि एते मया अनुकम्प्या इति हृत् मनः यस्य स दुर्हृत् तस्मै। बत इति हर्षे'' इति रुद्रस्य प्रशंसापरत्वेन व्याचक्षते। तत्रायं वास्तवोऽर्थः किं दक्षस्याभिप्रेतः? उत एतत्पुराणकर्तुः? उतान्यस्य त्वादृशस्य कस्यचित्? नाद्यः - ''साधूनां ब्रुवतो वृत्तं नाज्ञानात् न च मत्सरात्'' (भाग. 4-2-9) इति वास्तविकत्वमुपक्रम्य ''लोकपालानां यशोघ्नो निरपत्रपः'', (भाग.4.2.10) ''येन स्तब्धेन दूषितः''(भाग. 4-2-10)''एष मे शिष्यतां प्राप्तः'' (भाग. 4-2-11) इत्यादिना निन्दयतोऽभिप्रेतत्वासम्भवात्, निन्दायामेव तस्य तात्पर्याति शयावगमात्। अत एव हि ''दक्षो गिरित्राय विसृज्यशापं तस्माद्विनिष्क्रम्य विवृद्धमन्युः, जगाम'' (भाग. 4-2-19) इति निन्दापूर्वकशापकरणत्वविवृद्धक्रोधत्वविनिष्क्रमणादयः वक्ष्यमाणाः उपपन्नाः। न द्वितीयः - वेदान्तार्थोपबृंहणरूपत्वादस्य पुराणस्य। वेदान्तेषु च ''अनपहतपाप्मा वा अहमस्मि'', ''नारायणाद्रुद्रोजायते'' (ना.रा.उ) इत्यादिषु कर्मवश्यत्व - कार्यत्वादिश्रवणात् तद्विरुद्धार्थानामत्र निबद्धुमयुक्तत्वेन एतत्पुराणकर्त्रभिप्रेतत्वासम्भवात्। अत एव हि ''सद्योऽजायततन्मन्युः कुमारो नीललोहितः। स वै रुरोद देवानां पूर्वजो भगवान् भवः। नामानि कुरु मे धातः। स्थानानि च जगद्गुरो!'' (भाग 3-12-7,8) इति वेदान्तार्थानुसारेणैव कार्यत्वकर्मवश्यत्वचर्तुर्मुखकृतनामस्थानादिमत्वमुपबृंहितम्। क्वचित्त्रिमूर्त्यैक्यादिकं प्रतीयमानं प्रतर्दन न्यायेनान्यथाप्युपपन्नमिति पूर्वमेव प्रतिपादितम्। न तृतीयः आग्रहमूलकत्वात्। निन्दापरग्रन्थस्य यथाकथञ्चिद्विपरीतार्थपर्यवसानकरणे सर्वत्राप्येवमेव स्यादिति स्तुतिनिन्दयोः व्यवस्थानुपपत्तेश्च। यदप्युक्तं - लुप्ताः क्रिया यस्मिन् परब्रह्मरूपत्वादिति[5] तदयुक्तं परब्रह्मत्वेपि रामकृष्णाद्यवतारेषु लुप्तक्रियात्वादर्शनेन हेतोः व्यभिचारात्। अमानिने अभिन्नसेतवे इति पदच्छेद इत्यप्ययुक्तम् - ''सद्भिराचरितः पन्थाः येनस्तब्धेन दूषितः'' (भाग. 4-2-10) इति ''यज्ञ भागं न लभतां देवैर्देवगणाधम!'' (भाग. 4-2-18) इति पूर्वोत्तरव्याघातात्। तस्य परमेश्वरस्य मदीया मानुषी कन्या इत्याद्यप्ययुक्तं, भवदक्षयोरुभयोरपि चतुर्मुखात् प्रसूतत्वेव दक्षकन्यायाः मानुषीत्वासम्भवात्। ''मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च'' (अष्टा. 4-1-61) इति हि मानुषशब्दो व्युत्पादितः। तामसानामपि[6] दोषमपनीय पातीत्याद्यपि मन्दम्-

1. A omits अन्यथा 2. A °नपि 3. W omits अशेष 4. A omits इति पतिः। 5. W omits रूप 6. W° नपि

"तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु। आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय! ततो यान्त्यधमां गतिम्" (भ.गी. 16-19, 20) इति तामसानां निग्राह्यत्वगानात्। तस्मात् यथोक्त एवार्थः॥ १६॥

सः दक्षः अप्रतीपं अप्रतिक्रियं उदासीनमवस्थितं आसीनं गिरिशं एवं उक्तविधया विनिन्द्य अथ अप उपस्पृश्य आचम्य इत्यर्थः। क्रुद्धः शप्तुं प्रचक्रमे उपक्रान्तवान्॥ १७॥

अयं भवः रुद्रः तुः हेतौ। यतः देवगणाधमः सर्वेभ्यः देवेभ्यः अधमः ततः इन्द्रादिभिर्देवैस्सह देवयजने देवोद्देश्यकयागे यज्ञभागं [1]यज्ञीयभागं न लभतां न प्राप्नुयात्॥ १८॥

**विज०** स्वतः उत्तमास्य शिवस्य दक्षावमानविषयत्वं कथमत्राऽऽह - **एष** इति। गायत्रीविषये, 'पण व्यवहारे' इति धातोः पाणिं [2]व्याहरणमुच्चारणमित्यर्थः। साधुवत् योग्यवत्॥ ११॥

मृगशाबः मृगपोतः, मर्कटलोचने इव लोचने यस्य स तथा केकराक्ष इत्यर्थः॥ १२॥

भिन्नसेतवे लङ्घितमर्यादाय उशतीं गिरं पौरुषेयत्वदिदोषरहितां वेदवाणीम्॥ १३॥

अशुचिकर्मकरणात् अशुचित्वमुक्तं न तु द्वेषादित्याह - **प्रेतावासेष्विति**। व्युप्तकेशः मुक्तकेशः॥ २४॥

चिताभस्मना श्मशानभस्मना कृतं स्नानं येन सः, तथा प्रेतानां अस्थिग्रन्थयः अस्थिभिर्ग्रथितमालाः ता एव भूषणनि यस्य स तथा, शिव इति अपदेशः नाम यस्य स तथा स्वयमपि अशिवोऽशुद्धो हि। उन्मत्तत्वं स्पष्टयति - पतिरिति। केवलं तमोगुणस्वरूपं मनः येषां ते तथा तेषाम्॥ १५॥

अतः किमनुशोककारणमत्राऽऽह - **तस्मा** इति॥ १६॥

न केवलं दक्षेण दोषा एव गणिताः किन्तु स्वानर्थहेतुः शापोपि दत्त इत्याह - **विनिन्द्यैवमि**ति। अप्रतीपं अप्रतिपक्षम्॥ २७॥

इन्द्रोपेन्द्रादिभिः देवैस्साह देवयजने यज्ञभागं न लभतामित्यन्वयः॥ १८॥

**[3]मैत्रेय उवाच**

**निषिध्यमानस्स सदस्यमुख्यैः दक्षो [4]गिरित्राय विसृज्य शापम्।**
**तस्माद्विनिष्क्रम्य विवृद्धमन्युः जगाम कौरव्य निजं निकेतनम्॥ १९॥**

---

1. A omits यज्ञीयभागं 2. A व्यवहरण' 3. A, G, J, M omit मैत्रेय उवाच 4. V, W गिरीशाय

विज्ञाय शापं गिरिशानुगाग्रणीः नन्दीश्वरो रोषकषायदूषितः[1]।
दक्षाय शापं विससर्ज दारूणं ये चान्वमोदंस्तदवाच्यतां द्विजाः ॥ २० ॥

नन्दी उवाच[2]

य एतन्मर्त्यमुद्दिश्य भगवत्यप्रतिद्रुहि।
द्रुह्यत्यज्ञः पृथग्दृष्टिस्तत्त्वतो विमुखो भवेत् ॥ २१ ॥

गृहेषु कूटधर्मेषु सक्तो ग्राम्यसुखेच्छया।
कर्मतन्त्रं वितनुतां[3] वेदवादविपन्नधीः ॥ २२ ॥

बुद्ध्या पराभिध्यायिन्या विस्मृतात्मगतिः पशुः।
स्त्रीकामः सोऽस्त्वतितरां[4] दक्षो बस्तमुखोऽचिरात् ॥ २३ ॥

विद्याबुद्धिरविद्यायां कर्ममय्यामसौ[5] जडः।
संसरन्त्विह ये चेममनु[6] शर्वावमानिनम् ॥ २४ ॥

गिरश्श्रुतायाः[7] पुष्पिण्या मधुगन्धेन भूरिणा।
मथ्ना चोन्मथितात्मानः सम्मुह्यन्तु हरद्विषः ॥ २५ ॥

सर्वभक्षा द्विजा वृत्त्यै धृतविद्यातपोव्रताः।
वित्तदेहेन्द्रियारामा याचका विचरन्त्विह ॥ २६ ॥

**श्रीध० निषिध्यमान** इति। सः दक्षः तस्मात् स्थानात् विनिष्क्रम्य जगाम। हे कौरव्य! विदुर![8] ॥ १९ ॥

**विज्ञाये**ति। गिरिशस्य अनुगानां अग्रणीः मुख्यः। रोष एव कषायः तेन दूषितः आरक्तनेत्र इत्यर्थः। तस्य गिरिशस्यावाच्यतां वचनानर्हतां निन्द्यतामित्यर्थः। तेभ्योऽपि शापं विससर्ज ॥ २० ॥

---

1. V, W रूषितः 2. A, G, J omit नन्दी उवाच 3. A, G, J °ते; M, V °तात् 4. M °स्तु नितरां 5. M, W °मसावजः 6. A, G, J, M चामुमनु 7. M गिरेस्सुतायाः 8. A, J omit विदुर

दक्षं शपति - **य** इति। सार्धैः त्रिभिः। एतन्मर्त्यं दक्षशरीरमुद्दिश्य श्रेष्ठं मत्वा।

अप्रतिद्रुहि प्रतिद्रोहमकुर्वति। पृथग्दृष्टिर्भेददर्शी। तत्त्वतः परमार्थात्॥ २१॥

अज्ञत्वमेवाऽऽह - **गृहेष्विति**। कर्मतन्त्रं कर्मपरिकरम्। वेदेषु ये वादाः अर्थवादाः "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति" (आप. श्रौ.सू. 8-1-1) इत्यादयः तैर्विपन्ना विनष्टा धीर्यस्य॥ २२॥

**बुद्ध्येति**। परो देहादिः तमेवाऽऽत्मत्वेन अभितो ध्यातुं शीलं यस्यास्तया बुद्ध्या विस्मृता आत्मनः गतिः तत्त्वं येन अत एव[1] पशुतुल्यः। अतितरां स्त्रीकामः अस्त्विति द्वितीयश्शापः। बस्तस्य छागस्य[2] मुखमेव[3] मुखं यस्येति तृतीयश्शापः॥ २३॥

**विद्येति**। अयञ्च शापः अस्य अनुरूप एव इत्याह - विद्याबुद्धिः इयमेव तत्त्वविद्येति बुद्धिर्यस्य अतोऽसौ जड एव। द्विजान् शपति संसरन्त्विति सार्धद्वाभ्याम्। शर्वमवमन्यत[4] इति शर्वावमानी तममुं दक्षं ये च[5] अनुवर्तन्ते[6] ते संसरन्तु जन्ममरणाद्यनु भवन्त्विति एकः शापः॥ २४॥

**गिर** इति। श्रुतायाः वेदरूपायाः पुष्पिण्याः, पुष्पाणीवार्थवादाः मनःक्षोभकत्वात् सन्ति[7] यस्याः अर्थवादबहुलाया इत्यर्थः। मधुगन्धतुल्येन प्ररोचनेन मथ्ना मनः क्षोभकेण उन्मथितः आत्मा मनो येषां ते सम्मुह्यन्तु कर्मस्वासक्ता. भवन्त्विति द्वितीयश्शापः॥२५॥

**सर्वभक्षा** इति। सर्वभक्षाः भक्ष्याभक्ष्यविचारशून्याः वृत्त्यै देहादिपोषणाय[8-] न तु मोक्षाय[-8] धृतानि विद्यातपोव्रतानि यैः। वित्तादिष्वेवाऽऽरामः रतिर्येषां ते याचकास्सन्तः विचरन्त्विति च शापचतुष्टयम्॥ २६॥

**वीर.** हे कौरव्य! विदुर! सः दक्षः सदस्यमुख्यैः सभ्यश्रेष्ठैः निषिध्यमानः निवार्यमाणोऽपि विवृद्धः मन्यू क्रोधः यस्य सः, गिरित्राय रुद्राय शापं यज्ञभागानर्हतारूपं विसृज्य तस्मात् सत्रदेशात् बहिः विनिर्गत्य[9] स्वीयं निकेतनं गृहं प्रति जगाम॥ १९॥

गिरिशानुगानां रुद्रपार्षदानां अग्रणीर्मुख्यः नन्दीश्वरः दक्षविसृष्टं शापं ज्ञात्वा रोष एव कषायः तेन रूषितः आरक्तनेत्र इत्यर्थः। दक्षाय[10-] दारुणं शापं विससर्ज[-10]। तथा तस्य रुद्रस्य अवाच्यतां वचनानर्हतां विनिन्द्यतां ये च सदस्याः द्विजाः अन्वमोदन् अभ्यनन्दन् तेभ्यश्च शापं विससर्जेत्यर्थः॥ २०॥

तत्र दक्षं शपति सार्धैस्त्रिभिः। यो दक्षः अज्ञः देहादिविलक्षणाऽऽत्मज्ञानरहितः अत एव पृथग्दृष्टिः अब्रह्मात्मक स्वतन्त्रवस्तुदर्शी

---

1. A, J omit एव 2. J, V omit छागस्य 3. V 'मिव 4. A, J तथा 5. V adds अनुमन्यन्ते 6. J, V omit ते 7. J, V omit सन्ति यस्याः 8- -8. J, V omit 9. A निर्गत्य 10- -10. W omits

अप्रतिद्रुहि प्रतिद्रोहमकुर्वति भगवति भगवदंशावताररूपे भवे मर्त्यमुद्दिश्य मरणादि धर्मभाजमुद्दिश्य केवलनिकृष्टं ज्ञात्वेत्यर्थः। द्रुह्यति अपकरोति। एतत् एतस्मात्कारणात् एतमिति पाठे एतं भवं मर्त्यत्वेन ज्ञात्वेत्यर्थः। स दक्षः तत्त्वतः प्रकृतिपुरुषेश्वरयाथार्थ्यात्[1] विमुखः पराङ्मुखः भवेत् तत्त्वत्रयज्ञानरहितः भवेदित्यर्थः। अयं प्रथमः शापः॥ २१॥

एवं तत्त्ववैमुख्यरूपं शापं विसृज्य तत्कार्यरूपमतात्त्विकलोककर्माभिरुचिरूपं शापं विसृजति - **गृहेष्विति**। कूटधर्मेषु अविचाल्यानि कर्माणि येषु, प्राकृतगुणसङ्गात्[2] दुर्निवारकर्मसु[3] इति यावत् गृहेषु ग्राम्यसुखेच्छया सांसारिकवैषयिकसुखेच्छया सक्तः अत एव वेदवादैः अल्पास्थिरफलसाधनानि कर्माणि अनन्तस्थिरफलसाधनत्वेन प्ररोचयद्भिः "**अपाम सोमममृता अभूम**" (अथ.शिखा उ. 3-2) "**अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति**" (आप.श्रौ.सू. 8-1-1) इत्यादिभिरर्थवादैः विपन्ना विनष्टा धीः बुद्धिर्यस्य सः[4], कर्मतन्त्रं कर्मकलापं वितनुतां अल्पास्थिरफलसाधनकर्माणि कुर्यादित्यर्थः। अयं द्वितीयश्शापः॥ २२॥

परो देहादिः तमेवात्मत्वेनाभिध्यातुं शीलमस्यास्तया बुद्ध्या विस्मृता आत्मगतिः जीवात्मपरमात्मयाथार्थ्यावगतिर्येन[5] अत एव पशुः पशुतुल्यः अत एव अतितरां नितरां स्त्रीकामः सः दक्षः अचिरात् आशु बस्तमुखः बस्तस्य मेषस्य मुखमिव मुखं यस्य स अस्तु भवेत्॥ २३॥

तथा कर्ममय्यां कर्मात्मिकायां अविद्यायां इयमेव विद्येति तत्त्वविद्येति बुद्धिर्यस्य अत एवासौ दक्षः अजः अजतुल्यः पशुप्रायः अस्तु स्यादिति तृतीयश्शापः। अथ रुद्रावमानिनो दक्षानुकूलान् द्विजान् शपति संसरन्त्विति सार्धद्वयेन। शर्वं रुद्रं अवमन्यत इति शर्वावमानी तं[6], इमं दक्षमनुसृज्य ये च दक्षकृतशापाभिनन्दिनः इत्यर्थः। ते इहलोके संसरन्तु जन्मजरामरणादिभाजो[7] भवन्तु। अयं प्रथमश्शापः॥ २४॥

ये हरद्विषः ते पुष्पिण्याः पुष्पमात्रफलायाः आपातरमणीयायाः इत्यर्थः। यद्वा पुष्पवत् मनः क्षोभकत्वात् अर्थवादाः पुष्पशब्देन विवक्षिताः पुष्पिण्याः तद्बहुलायाः इत्यर्थः। अथवा पुष्पगन्धवत् क्षणमात्रोपभोग्यस्वर्गादिसुखप्रकाशिकायाः श्रुतायाः वेदपूर्वभागरूपायाः गिरः[8] इत्यर्थः। "**यामिमां पुष्पितां वाचम्**"- (भ. गी. 2-42) इत्यादिवत् मथ्ना मनः क्षोभकेण भूरिणा मधुगन्धेन मधुगन्धतुल्येन स्वर्गादिसुखप्रकाशकेन उन्मथितः क्षोभितः आत्मा मनः येषां ते हरद्विषः सम्मुह्यन्तु मोहं प्राप्नुवन्तु। नित्यानित्य धर्माधर्मादिषु सर्वत्र विपरीतज्ञाना भवन्त्विति द्वितीयश्शापः॥ २७॥

---

1. A तत्त्यात्  2. A संसर्गात्  3. A वार्य  4. W omit बुद्धिः  5. A 'त्मया'  6. A अमुं  7. A omits जरा  8. A omits गिरः

सर्वभक्षाः सर्वं अविहिताप्रतिषिद्धनिषिद्धं भक्षं भक्ष्यं येषां ते हरद्विषः द्विजा वृत्त्यै केवलशरीरापत्यकलत्रादिपोषणायैव धृतानि विद्यातपोव्रतानि यैस्ते वित्तदेहादिष्वेवऽऽरामः रतिः येषां ते याचकास्सन्तः विचरन्त्विति तृतीयश्शापः ॥ २६ ॥

**विज.** ततः किमकारि दक्षेण ? इति तत्राऽऽह - **निषिध्यमान** इति ॥ १९ ॥

एवं दक्षेण शापे शिवाय दीयमाने सति कोऽपि शिवभक्तः तमसहमानः अभूत्किम् ? तत्राऽऽह - **विज्ञायेति**। रोषनाम्ना कषायेण वह्निना दूषितः तस्य शिवस्य अवाच्यतां दोषलक्षणाम् ॥ २० ॥

कोयं शापः दत्तः इति तत्राऽऽह - **य एतदिति**। एतत् मर्त्यशरीरं अद्य श्वो वा नश्वरमुद्दिश्य अप्रतिद्रुहि दोग्धारं प्रति अद्रोहकर्तरि भगवति भक्त्यादिसौभाग्यवति द्रुह्यति वचनादिनेति शेषः। तत्त्वतः यथार्थज्ञानाद्विमुखः बहिर्मुखः भूयादित्यन्वयः ॥ २१ ॥

न केवलं बहिष्कृततत्त्वज्ञानः किन्तु श्रीनारायणाविषयकर्मव्यापारेषु मग्नश्च स्यादित्याह - **गृहेष्विति**। वेदवादेन स्वर्गादिषु पुष्पवादिवेदवाक्येन विपन्ना[1] नष्टा धीः यस्य स तथा। अत्र तत्त्वज्ञानविषयः शाप्रः तात्कालिक एव न तु चिरकालीनः विष्णुवाक्यस्यैव चिरकालीनत्वात्। तदुक्तं "ये ज्ञानविषयाश्शापा मुक्तिगाश्चाधिकारिणाम्। कादाचित्कास्ते भवन्ति नैव ते सार्वकालिकाः" (वाराहे) "तेषां ज्ञानस्य मुक्तेश्च तारतम्यस्य चैव हि। भगवन्नियतत्त्वात्तु शापादिर्नात्र कारणम्" (वाराहे) इति ॥ २२ ॥

इतोऽपि तात्कालिक एव शापः इति भावेन दक्षस्य शापविशेषं मुञ्चति - **बुद्ध्येति**। पराभिध्यायिन्या निरन्तरशब्दादिविषयचिन्ताकातरया बुद्ध्या विस्मृतात्मगतिः विस्मृतपरमात्मगतिः विस्मृतपरमात्मज्ञानः पशुः विवेकशून्यः अतितरां स्त्रीकामः सः दक्षः अचिरात् बस्तमुखोऽस्तु इत्यन्वयः ॥ २३ ॥

शापान्तरञ्चाह - **विद्याबुद्धिरिति**। अजो दक्षः अविद्यायां विद्याबुद्धिः अस्त्विति शेषः। शङ्करद्वेषिणाञ्च शापविशेषमाह - संसरन्त्विति ॥ २४ ॥

संसारे कारणमाह - **गिरेरिति**। पुष्पिण्याः स्वर्गादिपुष्पप्रतिपादिकायाः गर्भीकृतमुक्तिफलायाः कालकूटनिगरणात् दैत्याख्यपापनिगरणाच्च, गिरिः मुख्यप्राणः तेन शिष्यप्रशिष्यादिषु प्रणीतत्वेन व्याख्यातत्वेन च तस्य सुतायाः वेदवाचः भूरिणा बहुलेन मधुगन्धेन विषयसुखलक्षणमकरन्दपरिमलेन मथ्ना कामेन उन्मथितः विलोडितः आत्मा मनः येषां ते, तथोक्तास्ते हरद्विषः सम्मुह्यन्तु। मोक्षफलप्रतिपादकवेदतात्पर्यापरिज्ञानेन आत्मनः स्वर्गादिरेव परमश्रेयोस्त्विति विपरीतज्ञानं गच्छन्त्वित्यन्वयः। 'मुह

1. A नष्टप्राया

वैचित्त्ये' इति धातोः वैचित्त्यं विपरीतज्ञानं "गिरिः प्राणस्समुद्दिष्टः तत्सुता वेदवाक्स्मृता। पुष्पं स्वर्गादयः प्रोक्ताः फलं मोक्ष उदाहृतः"(वामने) इति वचनात् उक्त एवार्थो नान्यः इति। "अनङ्गो मन्मथः मन्थाः कामोऽङ्गज उदाहृतः" (शब्दनिर्णये) इत्यभिधानात्॥ २५॥

हरद्विषां शापान्तरमपि विसृजति सर्वभक्षा इति। पलाण्ड्वादिसर्वभक्षा वृत्त्यै जीवनाय। न धर्मायेति शेषः॥ २६॥

**तस्यैवं वदतश्शापं श्रुत्वा[1] ब्रह्मकुलाय[2] वै।**

**भृगुः प्रत्यसृजच्छापं ब्रह्मदण्डं दुरत्ययम्॥ २७॥**

**भृगुरुवाच[3-3]**

**भवव्रतधरा ये च ये[4] च तान्समनुव्रताः।**

**पाषण्डिनस्ते[5] भवेयुः[6] सच्छास्त्रपरिपन्थिनः॥ २८॥**

**नष्टशौचा मूढधियः जटाभस्मास्थिधारिणः।**

**विशन्तु शिवदीक्षायां यत्र दैवं सुरासवम्॥ २९॥**

**ब्रह्म च ब्राह्मणांश्चैव यद्यूयं[7] परिनिन्दथ।**

**सेतुं विधरणं[8] पुंसामतः पाषण्डमाश्रिताः[9]॥ ३०॥**

**एष एव हि लोकानां शिवः पन्थास्सनातनः।**

**यं पूर्वे चानुसन्तस्थुः यत्प्रमाणं जनार्दनः॥ ३१॥**

**तद्ब्रह्म परमं शुद्धं सतां वर्त्म सनातनम्।**

**विगर्ह्य यात पाषण्डं[10] दैवं[11] वो[12] यत्र भूतराट्॥ ३२॥**

**मैत्रेय उवाच**

**तस्यैवं वदतश्शापं भृगोस्सभगवान्भवः।**

**निश्चक्राम ततः किञ्चिद्विमना इव सानुगः॥ ३३॥**

---

1. A, G, J द° 2. A, G, J, M द्विज 3. A, G, J omit 4. M य एतान् 5. A, G, J, M °ख° 6. A, G, J, M भवन्तु 7. M ये यूयं 8. A, G, J, M विधारणं; 9. A, G, J, M °ख° 10. G, M °ख° 11. V, W °ण्डा 12. M भूतराट् सदाः

**तेऽपि विश्वसृजस्सत्रं सहस्रपरिवत्सरम्[1]।**
**संविधाय[2] महेष्वास! यत्रेज्य ऋषभो हरिः॥ ३४॥**

**आप्लुत्यावभृथं यत्र गङ्गा यमुनयान्विता।**
**विरजेनाऽऽत्मना सर्वे स्वं स्वं धाम ययुस्ततः॥ ३५॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

**श्रीध. तस्येति**। प्रत्यसृजत् प्रत्यदात्। शापरूपं ब्रह्मदण्डम्॥ २७॥

**भवेति**। सच्छास्त्रस्य परिपन्थिनः प्रतिकूलाः॥ २८॥

**नष्टशौचा** इति। सुरागौडीपैष्टीमाध्वी च आसवः तालादिसम्भवं मद्यं द्वन्द्वैक्यात् क्लीबत्वं[3] तद्यत्र दैवं पूज्यं, देवतावदादरणीयमिति वा॥ २९॥

**ब्रह्मेति**। ब्रह्म वेदं, कथम्भूतम्? सेतुं मर्यादारूपं तदेवाऽऽह - पुंसां वर्णाश्रमाचारवतां विधारणं धारकम्॥ ३०॥

सेतुत्वं प्रपञ्चयति - **एष** इति द्वाभ्याम्। एष वेदलक्षण[4] एव शिवः पन्थाः, यं पूर्वे ऋषयः अनुसन्तस्थुः आश्रितवन्तः। यत् यस्मिन् जनार्दनः प्रमाणं मूलम्॥ ३१॥

तदिति। भूतराट् भूतानां तामसानां पतिः॥ ३२॥

तस्येति। एवं[5-] तस्य वदतस्सतः[-5], अन्योन्यशापेन उभयोर्नाशात् विमना इवेति, तथापि भगवदनुगृहीतानां नाशो न स्यादिति भावः॥ ३३॥

ते इति। ऋषभः सर्वश्रेष्ठः हरिः यत्र इज्यः पूज्यः तत् सहस्रपरिवत्सरं[6] सत्रं सम्यग्विधाय हे महेष्वास! विदुर!॥ ३४॥

---

1. A, G, J, M °रान् 2. M महोत्साहात् 3. A, J षण्डत्वं 4. A omits वेदलक्षण एव 5. J, V omit 6. A, J omit सहस्रपरिवत्सरं

आप्लुप्येति। यत्र प्रयोगे अन्विता तत्र अवभृथस्नानं कृत्वा ततः स्थानात्[1-] स्वं स्वं स्थानं[-1] ययुः ॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २॥

**वीर.** एवं शपन्तं नन्दीश्वरमालोक्य[2] भृगुः प्रत्यशपदित्याह मैत्रेयः। तस्य नन्दीश्वरस्य ब्रह्मकुलाय[3] एवमुक्तरीत्या शापं ब्रुवतः सतः तं शापं श्रुत्वा भृगुर्दुरत्ययं दुरतिक्रमं ब्रह्मदण्डं ब्रह्मदण्डकल्पं शापं प्रत्यसृजत् प्रत्यदात् ॥ २७॥

तमेवाऽऽह - **भवेति**। भवस्य रुद्रस्य व्रतं पिशाचचर्यादिकं तद्धे धरन्ति ये च भवव्रतधराननुव्रताः अनुसरन्तः ते सर्वे पाषण्डिनः वेदविरुद्धकर्मनिष्ठाः सच्छास्त्राणां भगवच्छास्त्राणां पाञ्चरात्रादीनां परिपन्थिनः प्रतिकूलाः भवेयुः ॥ २८॥

पाषण्डित्वमेव विशदयति - **नष्टशौचा** इति। नष्टशौचाः दुराचाराः मूढधियः परावरतत्त्वज्ञानरहिताः जटादिधारिणः शिवदीक्षायां "मुद्रिकाषट्कतत्त्वज्ञः परमुद्राविशारदः। भगासनस्थस्तन्मानं[4] ध्यात्वा निर्वाणमृच्छति"

इत्याद्युक्तविधशिवदीक्षायां प्रविशन्तु। यत्र दीक्षायां सुरा पैष्टी आसवं तालादिसम्भवं मद्यं द्वन्द्वैक्यात् क्लीबत्वं, तद्दैवं देवमिव पूज्यं सुराकुम्भस्थापनतत्स्थदेवपूजादेः शैवागमादिष्वभिधानादेवमुक्तम्॥ २९॥

भवतामयं शापः अनुरूपः एवेति वदन् तमेव द्रढयति[5] - **ब्रह्म चेति**। यतो यूयं पाषण्डं पाषण्डधर्ममाश्रिताः[6] यत् यस्माच्च पुंसां वर्णाश्रमवतां सेतुं स्वर्गापवर्गसाधनयज्ञोपासनादिप्रकाशनेन पुरुषार्थप्रापकं मर्यादारूपं वा विधरणं मातापितृसहस्रवद्धितोपदेशादिना विशेषधारकंप्रवर्तकमिति यावत्॥ एवम्भूतं ब्रह्म वेदं ब्राह्मणांश्च परिनिन्दथ परिनिन्दितवन्तः ततो विगर्ह्यं पाषण्डं यात इत्युत्तरान्वयः ॥३०॥

वेदस्य सेतुत्वविधरणत्वे प्रपञ्चयति - **एष** इति। एष एव वेद एव लोकानां वर्णाश्रमवतां शिवः सुखकरः पन्थाः स्वप्रकाश्ययज्ञोपासनादिद्वारा स्वर्गापवर्गोपायः सनातनः अनादिनिधनः "अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा" (भार. शान्ति मोक्ष. २३१-५६) इत्युक्तत्वात् यं वेदं तदुक्तयज्ञोपासनादिरूपधर्ममित्यर्थः। पूर्वे च सात्त्विका ऋषयः चकारादपरे च अनुसन्तस्थुः अनुष्ठितवन्तः। अनेन शिष्टपरिग्रहकथनेन शैवागमानां तद्वैपरीत्यमावेदितम्। जनार्दनो भगवान् यदेव वेदाख्यं ब्रह्म प्रमाणं यस्य सः, आर्षत्वात् क्लीबत्वं 'वेदाः प्रमाणम्' इतिवद्विधेय प्रामाण्यापेक्षया वा[7]। अनेन ब्रह्मणोऽपि शास्त्रयोनित्वकथनेन सर्वापि श्रेयस्सम्पत्तिः

1- -1. A. J omit  2. A °लक्ष्य  3. W °यैव शापं  4. W °मात्मानं  5. A प्रथयति  6. A omits पाषण्ड  7. A omits वा

वेदाधीना इत्युक्तम्। यद्वा यस्मिन् वेदे जनार्दनः प्रमाणं मूलं कारणं इति यावत् "तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदः" (सुबा. उ. 2-1) इति श्रुतेः। अनेनापौरुषेयत्वकथतेन पौरुषेयत्वप्रयुक्तभ्रमविप्रलम्भादिदोषराहित्यसिद्धिः। शैवागमानां पौरुषेयत्वं तत्प्रयुक्तदोषवत्वं च सूचितम्॥ ३१॥

तत् तस्मात् परमं निरतिशयश्रेयस्साधनप्रकाशकत्वेन सर्वोत्कृष्टं, शुद्धं अपौरुषेयं सनातनं सतां वर्त्म, ब्रह्म वेदं, विगर्ह्य विगर्हणाद्धेतोः इत्यर्थः। पाषण्डं पाषण्डधर्मं यात प्राप्नुत पाषण्डधर्म एव निष्ठावन्तो भवतेत्यर्थः। यत्र यस्मिन् पाषण्डे वः युष्माकं भूतानां तामसानां पतिः रुद्रो दैवम्॥ ३२॥

अथ शापप्रतिशापौ निगमयन् अनन्तरकथां प्रस्तौति मैत्रेयः - हे साधो ! तस्य भृगोः एवं वदतः सतः भगवान् भवो रुद्रः सानुगः स भृत्यः किञ्चिद्विमना इव इवशब्देन वस्तुतः समदर्शित्वात् वैमनस्याभावः सूच्यते ततः यज्ञभूमेः निश्चक्राम निष्क्रान्तवान्॥ ३३॥

हे महेष्वास ! विदुर ! यत्र यस्मिन् सत्रे ऋषभः पुरुषोत्तमः हरिः इज्यः आराधनीयः तद्विश्वसृजः सत्रं सहस्रपरिवत्सरपर्यन्तं अनुष्ठेयं संविधाय अनुष्ठाय तेऽपि भृग्वादयः॥ ३५॥

यत्र प्रदेशे गङ्गा यमुनया सह अन्विता युक्ता तत्रावभृथं स्नानम् आप्लुत्य कृत्वा ततः स्वं स्वं धाम स्थानं ययुः प्रापुः॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

**विज.** ब्राह्मणकुलाय दीयमानं शापं श्रुत्वापि भीत्या कश्चित्प्रतिशापदानसमर्थो नाभूदिति तत्राऽऽह - तस्यैवमिति। ब्राह्मणानामिदमेवऽऽयुधं नान्यदिति द्योतनाय ब्रह्मदण्डमित्युक्तम्॥ २७, २८॥

शिवदीक्षायां चाण्डालादिजन्मनां विप्रत्वकारणलक्षणायां सुरया असूनां तर्पणं यस्मिन् तथोक्तम्। यद्वा सुरा नाम नारिकेलादिपुष्पसम्भवं मधूकपुष्पादिसम्भवं आसवं वा॥ २९॥

तीव्रशापप्रदाने निमित्तं वक्ति ब्रह्मेति। विशेषेण धारयति आश्रितानिति विधारणम्॥ ३०॥

सेतुं विशिनष्टि - एष इति। यस्य प्रमाणं सम्यक् वक्ता। "प्रमाणं बोधनेऽत्यन्तमर्यादाशास्त्रहेतुषु। सम्यग्वक्तरि वा यः स्यात्प्रमाणं मरणे गतौ" इति यादवः॥ ३१॥

ब्रह्म वेदं भूतराट् भैरवः ॥ ३२ ॥

स्वावमानं श्रुत्वापि महतां महत्त्वविरोधिविकारो न युक्त इति भावेन तस्य हरस्य ततो निर्गमनञ्च वक्ति - तस्यैवमिति ॥ ३३ ॥

एवं विवादेऽपि सत्रस्यान्तरायो ना भूदित्याह - तेऽपीति। अन्तरायानुत्पादे निमित्तमाह - यत्रेति ॥ ३४ ॥

यत्र गङ्गा भागीरथी यमुनया अन्विता सङ्गता तत्र प्रयागे इति शेषः। अस्यैव कर्मणः स्वाभीष्टफलप्राप्तिहेतुत्वात् इदं समाप्य न कर्मान्तरं प्रारब्धं तैः, किन्तु स्वगृहगमनमेवानुष्ठितमित्याह - विरजेनेति। कर्मणा निर्मलेनान्तःकरणेन, युक्ता इति शेषः ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां

टीकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

# तृतीयोऽध्यायः

## मैत्रेय उवाच

सदा विद्विषतोरेवं कालो वै[1] ध्रियमाणयोः।
जामातुः श्वशुरस्यापि सुमहानतिचक्रमे॥ १॥

यदाभिषिक्तो दक्षस्तु ब्रह्मणा परमेष्ठिना।
प्रजापतीनां सर्वेषामाधिपत्ये समयोऽभवत्॥ २॥

इष्ट्वा स वाजपेयेन ब्रह्मिष्ठानभिभूय[2] सः[3]।
बृहस्पतिसवं नाम समारेभे क्रतूत्तमम्॥ ३॥

तस्मिन् ब्रह्मर्षयस्सर्वे देवर्षिपितृदेवताः।
आसन् कृतस्वस्त्ययनाः तत्पत्न्यश्च सभर्तृकाः॥ ४॥

तदुपश्रुत्य नभसि खेचराणां प्रजल्पताम्।
सती[4] दाक्षायणीदेवी पितुर्[5]यज्ञमहोत्सवम्॥ ५॥

व्रजन्तीस्सर्वतो दिग्भ्यः उपदेववरस्त्रियः[6]।
विमानयानास्सप्रेष्ठाः निष्ककण्ठीस्सुवाससः॥ ६॥

दृष्ट्वा स्वनिलयाभ्याशे लोलाक्षीर्मृष्टकुण्डलाः।
पतिं भूतपतिं देवमौत्सुक्यादभ्यभाषत॥ ७॥

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तृतीये तु सती तातयज्ञोत्सवदिदृक्षया। गमिष्यन्ती महेशेन वारिता नीतिहेतुभिः॥

---

1. M विवदमानयोः 2. M° ष्ठो भूय एव 3. A, G, J च 4 Af दाक्षायणी महादेवी पितृयज्ञमहोत्सवे 5. W पितृयज्ञ 6. M व्रजतीः

**सदेति**। म्रियमाणयोः जामातुः[1-] श्वशुरस्यापि[-1] अवतिष्ठमानयोः धृङ् अवस्थान इत्यस्मात् निष्पन्नम्[2]॥ १॥

यद्यपि रुद्रविहीनो यज्ञो नास्त्येव तथापि दक्षस्य रुद्रपरित्यागः द्वेषात् गर्वाच्च, तत्र द्वेषे हेतुरुक्तः। गर्वे हेतुमाह - **यदेति**। यदा तु प्रजापतीनां आधिपत्ये अभिषिक्तः तदा तस्य स्मयो गर्वः अभवत्॥ २॥

**इष्ट्वेति**। गवदिव सर्वान्[3] ब्रह्मिष्ठान् सेश्वरानभिभूय तिरस्कृत्य "वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत" इति श्रुतेः वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवं[4] समारेभे॥ ३॥

**तस्मिन्** इति। कृतस्वस्त्ययनः कृतमङ्गला. सभर्तृका इति दक्षिणादिभिः प्रथमं अर्हितानामपि पत्न्यर्हणे पुनः अर्हणमुक्तम्॥४॥

**तदिति**। तत् तदा खेचराणां प्रजल्पतां सतां पितृयज्ञमहोत्सवं श्रुत्वा, तत्र व्रजन्तीरूपदेवानां गन्धर्वादीनां वरस्त्रियश्च स्वस्य[5]निलयस्य अभ्याशे समीपे दृष्ट्वा औत्सुक्यात् पतिमभ्यभाषत इति त्रयाणामन्वयः। कथम्भूताः स्त्रियो दृष्ट्वा ? विमानानि यानानि यासां ता., प्रेष्ठैस्सहिताः, निष्काणि पदकानि कण्ठेषु यासां, शोभनानि वासांसि यासाम्। लोलानि चञ्चलानि अक्षीणि यासां, मृष्टानि उज्वलानि कुण्डलानि यासां ताः॥ ५-७॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

"दक्षो दुहितृवत्सलः, विद्वेषमकरोत् कस्मात्" (भाग. 4-2-1) इति पृष्टं विद्वेषनिमित्तं[6] कथितम्। अथ "यतः प्राणान् तत्याज दुस्त्यजान् सती" इति पृष्टं प्राणत्यागनिमित्तं तत्प्रकारश्चोच्यते। तत्र प्राणत्यागनिमित्तं अरौद्रकयागारम्भः। स च गर्वात्, गर्वश्च प्राजापत्यात् अधिकारादिति वक्ष्यन् तावत् दक्षभवयोः विद्विषतोः सतोः महान् कालोऽतीतः इत्याह - **सदेति**। एवम् उक्तरीत्या सदा विद्विषतोः मिथो द्वेषं कुर्वतोः जामातुः भवस्य श्वशुरस्य[7] दक्षस्य च म्रियमाणयोः अवतिष्ठमानयोः सतोः सुमहान् भूयान् कालः अतिचक्रमे व्यतीतः॥ १॥

गर्वनिमित्तमाह - **यदेति**। परमेष्ठिना चतुर्मुखेन ब्रह्मणा यदा सर्वेषां प्रजापतीनां आधिपत्ये दक्षोऽभिषिक्तः तदा तस्य स्मयः गर्वः अभवत् उत्पद्यते[8] स्म॥ २॥

"स्मयाच्चारौद्रकं यागमारेभे" इत्याह - **इष्ट्वेति**। स दक्षः ब्रह्मिष्ठान् ब्रह्मात्मकान् सर्वेषां ब्रह्मात्मकत्वेऽपि रुद्रादेर्ब्रह्मणः

---

1--1. A, J omit  2. A, J omit निष्पन्नम्  3. A, J omit सर्वान्  4. A, J omit बृहस्पतिसवं  5. V स्वनिल°  6. A उक्तम्
7 A omits श्वशुरस्य  8. W उपपद्यते

आवेशावतारत्वात् अतिशयेन ब्रह्मत्वमिष्ठन् प्रत्ययेन विवक्षितं, रुद्रानुचरतदाराधकाभिप्रायेण बहुवचनम्। अभिभूय पराभाव्य तेभ्यो यज्ञभागं न दास्यामीत्येवं सङ्कल्प्येत्यर्थः। वाजपेयेनेष्ट्वा वाजपेयाख्यं यागं कृत्वा बृहस्पतिसवं नाम बृहस्पतिसवाऽऽख्यं क्रतूत्तममारेभे आरब्धवान् "वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत" इति श्रुतेः॥ ३॥

तस्मिन् बृहस्पतिसवे समारब्धे सर्वे ब्रह्मर्षयः[1] तथा देवर्षयः पितरो देवाश्च[2] तथा तेषां पत्न्यश्च कृतस्वस्त्ययनाः कृतमङ्गलाः सर्वालङ्कारभूषिताः सभर्तृकाश्चासन् तत्राऽऽगत्य उपविविशुरित्यर्थः। सभर्तृका इत्यनेन भर्तृसान्निध्यात् आनन्दातिशयः सूच्यते॥ ४॥

तत् तथा नभसि खेचराणां प्रजल्पतां पितृयज्ञमहोत्सवं श्रुत्वा दाक्षायणी सती तत्र सर्वाभ्यः दिग्भ्यः व्रजन्तीः उपदेवानां गन्धर्वाणां वरस्त्रियः वरस्त्रीः। "वाऽम्शसोः" (अष्टा. 6-4-80) इतीयङ्। स्वनिलयाभ्याशे स्वगृहसमीपे दृष्ट्वा, औत्सुक्यात् पतिमभ्यभाषतेति त्रयाणामन्वयः। कथम्भूताः स्त्रियाः दृष्ट्वा? विमानानि यानानि गमनसाधनानि यासां ताः, सप्रेष्ठाः प्रियैस्सहिताः, निष्काणि पदकानि कण्ठे यासां, शोभनानि वासांसि यासां, लोलानि चञ्चलानि अक्षीणि यासां, मृष्टानि उज्ज्वलानि कुण्डलानि यासां ताः॥ ५-७॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अत्र शङ्करदक्षयोः विवादकथनव्याजेन शङ्करस्य वासुदेवचरणारविन्दस्मरणकथनेन हरेरमितमाहात्म्यमेव प्रकाश्यतेऽस्मिन्नध्याये। तत्राऽऽदौ अस्य वैरस्य दीर्घकालीनत्वं दक्षस्य गर्वाधिक्यञ्च वक्ति - **सदा विद्विषतो**रिति॥ १॥

यदा दक्षः परमेष्ठिना ब्रह्मणा सर्वेषां प्रजापतीनां आधिपत्ये अभिषिक्तः तदा तस्य स्मयः मदविशेषोऽभूदित्यन्वयः॥ २॥

अरुद्रभागयज्ञकरणादस्य स्मयो लक्ष्यते इत्याशयेनाऽऽह - **इष्ट्वेति**। स दक्षः नाम्ना वाजपेयेन यज्ञेन हरिमिष्ट्वा ब्रह्मिष्ठः कर्मप्रतिपादकवेदे निष्णातोऽभूदित्यन्वयः। एतच्च कुतो ज्ञातमत्राऽऽह - भूय इति। यज्ञान्तरकरणात् सिद्धमित्यर्थः॥ ३॥

तस्मिन् यज्ञे त्रिलोक्याः सम्मेलनेन दक्षस्य स्मयातिशयो लक्ष्यते इत्याशयेनाऽऽह **तस्मिन्निति**॥ ४॥

ननु किमनेन प्रकृत इति तत्राऽऽह - **तदुपश्रुत्येति**। दाक्षायणी सती देवी। मिथः प्रजल्पतां खेचराणां यत् पितृयज्ञविषयवचनं तदुपश्रुत्य अन्तःपुरान्निर्गत्य स्वनिलयसमीपे उपदेववरस्त्रियो दृष्ट्वा अन्तःपुरं प्रविश्य पतिमभ्यभाषतेत्यन्वयः॥ ५-७॥

---

1. A महर्षयः 2. A omits देवाश्च

## सत्युवाच

प्रजापतेस्ते श्वशुरस्य साम्प्रतं निर्यापितो यज्ञमहोत्सवः किल।
वयञ्च तत्राभिसराम वाम ते यद्यर्थिताऽमी विबुधा व्रजन्ति हि॥ ८॥

तस्मिन् भगिन्यो मम भर्तृभिस्स्वकैः ध्रुवं गमिष्यन्ति सुहृद्दिदृक्षवः।
अहञ्च तस्मिन् भवताभिकामये सहोपनीतं परिबर्हमर्हितुम्[1]॥ ९॥

तत्र स्वसूर्मे ननु भर्तृसम्मिता[2] मातृष्वसूः क्लिन्नधियञ्च मातरम्।
द्रक्ष्ये चिरोत्कण्ठमना महर्षिभिरुन्नीयमानञ्च मृडाध्वरध्वजम्॥ १०॥

त्वय्येतदाश्चर्यमजात्ममायया विनिर्मितं भाति गुणत्रयात्मकम्।
तथाप्यहं योषिदतत्त्वविच्च ते दीना दिदृक्षे भव मे भवक्षितिम्॥ ११॥

पश्य प्रयान्तीरभवान्ययोषितोऽप्यलङ्कृताः[3] कान्तसखा[4] वरूथशः।
यासां व्रजद्भिश्शितिकण्ठ! मण्डितं नभो विमानैः कलहंसपाण्डुभिः॥ १२॥

**श्रीध. प्रजापतेरिति।** निर्यापितः प्रवर्तितः हे वाम! शिव! ते यद्यर्थिता इच्छा तर्हि वयञ्च तत्राभिसराम गच्छामः। न चाद्यापि यागो निवृत्तः यतोऽमी विबुधा व्रजन्ति॥ ८॥

औत्सुक्यं प्रकटयन्ती आह - **तस्मिन्निति** षड्भिः। पितृभ्यामुपनीतं दत्तं परिबर्हमलङ्कारादिद्रव्यं भवता सहार्हितुं स्वीकर्तुं अभिकामये। अर्हितमिति पाठे तत्कृतं परिबर्हमिच्छामीति॥ ९॥

**तत्रेति।** स्वसूः भगिनीः भर्तृभिः सम्मिताः सदृशीः[5] क्लिन्नधियं स्नेहार्द्रचिन्तां चिरम् उत्कण्ठं उत्सुकं मनो यस्यास्सा अहं द्रक्ष्यामि[6]। हे मृड! उन्नीयमानं[7] प्रवर्त्यमानां अध्वरेषु ध्वजमिव दृश्यं श्रेष्ठं अध्वरं, यद्वा उत्क्षिप्यमाणं[8] यज्ञे[9] केतुं यूपं वा॥ १०॥

अहो किं तत्राश्चर्यं येन तवैतदौत्सुक्यमिति चेदत आह - **त्वयीति।** हे अज! एतद्विश्वमाश्चर्यरूपं त्वय्येव त्वन्मायया रचितं[10]

---

1. Af 'मर्पितुम् 2. W सम्पताः 3. M 'श्च 4. M 'तस्स्व' 5. A adds सहिता इत्यर्थः 6. V omits द्रक्ष्यामि। 7. V adds ऊर्ध्वं क्रियमाणं 8. V adds इति पाठे 9. V यज्ञ 10. V विरचितं

विभाति अतो यद्यपि तव नाश्चर्यबुद्धिः तथाप्यहं योषित् उत्सुकस्वभावा तव तत्त्वं च न जानामि अतो दीना कृपणा सती हे भव ! मे भवक्षितिं जन्मभूमिं दिदृक्षे द्रष्टुमिच्छामि ॥ ११ ॥

दिदृक्षामेव कैमुत्यन्यायेन[1] व्यनक्ति - **पश्येति** द्वाभ्याम् । हे अभवेति सुहृद्वियोगदुःखं त्वया नास्वादितमिति[2] भावः । अन्या योषितः सम्बन्धरहिता अपि प्रयान्तीः पश्य । कान्तसखाः भर्तृसहिताः, वरूथशः सङ्घशः । कथम्भूताः ? यासां विमानैः नभो मण्डितं ताः । हे शितिकण्ठ ! नीलकण्ठेति परानुग्रहाय त्वया विषमपि[3] भक्षितमिति सूचयति ॥ १२ ॥

**वीर.** हे वाम ! हे शम्भो ! ते तव श्वशुरस्य प्रजापतेः दक्षस्य कर्तरि षष्ठी । यज्ञरूपो महोत्सवः सम्प्रति निर्यापितः प्रवर्तितः । तत्र च विबुधाः व्रजन्ति हीत्यपारोक्ष्यं द्योत्यते । यद्यर्थिता अर्थिनोभावः अर्थिता यदीच्छा[4] वर्तते इत्यर्थः । तर्हि तत्र वयमपि अभिसराम गच्छामः ॥ ८ ॥

स्वाभिप्रायं प्रकटयन्त्याह षड्भिः । तस्मिन् यज्ञे[5] महोत्सवे मम भगिन्यः स्वस्वभर्तृभिः सह सुहृद्दिदृक्षवः भगिनी- मातापित्रादीन् द्रष्टुमिच्छवः आगमिष्यन्ति ध्रुवं निश्चयः, आयान्तु, किं तव, तत्र अहं[6] अहमपि तस्मिन्नुत्सवे भवता साकं उपनीतं अस्मत्पित्रादिसमर्पितं परिबर्हं वस्त्राभरणाद्युपायनं अर्हितुं[7] ग्रहीतुं कामये इच्छामि ॥ ९ ॥

किञ्च हे मृड ! चिरौत्कण्ठ्यमनाः बहुकालमौत्सुक्याविष्टमनाः अहं मे मम, भर्तृभिः समानीताः स्वस्या भगिनीः, भर्तृसम्मता इत्यनेन स्वस्या अपि भर्त्रा अनुग्राह्यत्वं सूच्यते । तथा मातृष्वसृः मातृभगिनीः क्लिन्नधियं मद्दर्शनालाभेन क्लिन्नधियं खिन्नचित्तां, मयि प्रेमार्द्रचिन्तां वा मातरं, महर्षिभिः उन्नीयमानमूर्ध्वं क्रियमाणं अध्वरध्वजं यूपञ्च द्रक्ष्ये ॥ १० ॥

अहो किं तत्राध्वरे आश्चर्यं येन त्वं दिदृक्षसीत्यत्राऽऽह - **त्वयीति** । अजात्ममायया अजस्य कर्मायत्तजन्मादिरहितस्य आत्मनः परमात्मनः विष्णोर्मायया सङ्कल्पेन विनिर्मितं गुणत्रयात्मकं सत्त्वादिगुणत्रयात्मकप्रकृतिपरिणामात्मकं एतद्विविधविचित्रसन्निवेशं जगत् त्वयि आश्चर्यं भाति, विविधविचित्रसन्निवेशजगद्दर्शनमेव ज्ञानिनि त्वय्याश्चर्यबुद्धिजनकं न तत आश्चर्यकरं किञ्चित् तवास्तीत्यर्थः । ज्ञानिनो हि विचित्रं जगत् दृष्ट्वा आश्चर्यं प्राप्नुवन्तीति भावः । अत्र अजात्मनः तव मायया त्वय्येव विनिर्मितं जगदाश्चर्यं भाति इत्यन्वयोऽसङ्गतः, सद्ब्रह्मात्माकाशशिवेन्द्रादिशब्दानां छागपशुन्यायेन "एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः" (महा.उ. 1-1) इति नारायणरूपविशेषे पर्यवसानात् तस्यैव कारणत्वेन जगतः तन्मायया निर्मितत्वात् । युक्तञ्चैतत् "अपहतपाप्मा वा अहमस्मि" इति, "नारायणाद्रुद्रोऽजायत" (ना. रा. उ) इति कार्यत्वकर्मवश्यत्वादियुक्तस्य रुद्रस्य कारणत्वासम्भवात्, अन्यथा पूर्वापरविरोधात् । तथापि तवाश्चर्यकरस्यान्यस्याभावेप्यहं योषित् चाञ्चल्यस्वभावा अतत्त्ववित् परावरतत्त्वमजानती, अनेन विशेषणद्वयेन स्थिरचित्तानां

1. V 'तिक 2. V नानुभूत 3. V omits अपि 4. W omits इच्छा 5. W यज्ञ 6. A आह 7. A omits अर्हितुं

तत्त्वविदाञ्च भगावद्विभूतित्वेन जगदवलोकनमेवाऽऽश्चर्यजनकमिति सूचितमिति यथोक्त एवार्थः साधीयान्। अतो दीना कृपणा सती हे भव! मे भवक्षितिं जन्मभूमिं दिदृक्षे द्रष्टुमिच्छामि॥ ११॥

दिदृक्षामेव कैमुत्यन्यायेन व्यनक्ति - **पश्येति** द्वाभ्याम्। हे अभव! अन्या अपि मत्पितृसम्बन्धरहिता अपि योषितः वरूथशः सङ्घशः प्रयान्ति ताः पश्य, कथम्भूताः स्त्रियः ? कान्तः प्रियः स एव सखा यासां ताः। हे शितिकण्ठ! यासां योषितां व्रजद्भिः कलहंसवत्पाण्डुरैः शुभ्रैः विमानैः नभस्स्थलं मण्डितं भूषितम्॥ १२॥

**विज.** किमभाषतेति तत्राऽऽह - **प्रजापतेरिति**। निर्यापितः प्रवर्तितः किल किंवदन्ती। हे वाम! श्रेष्ठ! यदि तवार्थिता अस्ति तत्र तर्हि गमने हेतुमाह - अमी इति। हि यस्मात्तस्मात्॥८॥

गमने निमित्तान्तरमप्याह - **तस्मिन्निति**। मयि गतायां तस्मात् जनात् पूजाविशेषोऽपि भविष्यतीत्याह - अहञ्चेति। परिबर्हञ्च वरवध्वोः दीयमानम्॥ ९॥

न केवलमुक्तमेव प्रयोजनमर्थान्तरमप्यस्तीत्याह - **तत्रेति**। अध्वरध्वजं यज्ञश्रेष्ठं द्रक्ष्ये इत्यन्वयः। "ध्वजश्शेफासिकेतौ च श्रेष्ठे चैत्योन्नतद्रुमे" इत्यभिधानम्। "अस्त्री मेढ्राङ्कयोर्ध्वजः" (वैज.को. 6-5-43) इति। "अङ्कश्चिह्नेऽन्तिकोरसोः" (वैज. को. 6-1-6) इति "उरस्तु वक्षसि श्रेष्ठे" (वैज. को. 6-3-3) इति यादवः॥ १०॥

एवं बहुविधालापैरप्यविकृतेन्द्रियं पतिं दृष्ट्वा तन्माहात्म्यविज्ञापनपूर्वकं स्वाभीष्टमुद्गलयति - **त्वयीति**। हे अज! रुद्र! "अजा विष्णुहरच्छागाः" (अम.को. 3-187) इति यादवः। आत्मनो हरेः मायया इच्छया विनिर्मितं गुणत्रयाऽऽत्मकं रजआदिगुणत्रयोपादानकमाश्चर्यं नानावैचित्र्योपेतं एतद्विश्वं त्वयि भाति। नित्यापरोक्षितान्तस्थजगन्नारायणस्वरूपत्वात् तत्प्रसादेन करतलामलकवदेतद्विश्वं तव ज्ञानकोष्ठे वर्तते, अथापि तव द्रष्टव्यांशाभावेऽपि हे भव! मङ्गल! हर! अहं मे भवक्षितिं जन्मभूमिं दिदृक्षे इत्यन्वयः। अत्र हेतुगर्भविशेषणं योषिदिति। युष शब्दादिसेवायां, शब्दादिविषयसेवाशीलत्वादित्यर्थः। अत एव ते तव अतत्त्ववित् यथास्थितत्वत्स्वरूपाज्ञानित्वात् दीना क्षीणा ज्ञानदुर्बला॥ ११॥

इतोपि गन्तव्यमिति भावेनाऽऽह - **पश्येति**। अन्यस्त्रियोपि प्रयान्ति, किं मयेत्यतो गन्तव्यमित्यर्थः। शितिकण्ठ![1] नीलकण्ठ! कलहंसवत् पाण्डुभिः धवलैः॥ १२॥

---

1. A omits नीलकण्ठ।

कथं सुतायाः पितृगेहकौतुकं निशम्य देहस्सुरवर्य ! नेङ्गते।
अनाहुता अप्यभियन्ति[1] सौहृदं[2] भर्तुर्गुरोर्देहकृतश्च केतनम्॥ १३॥

तन्मे प्रसीदेदममर्त्यवाञ्छितं कर्तुं भवान् कारुणिको बर्ताहति।
त्वयाऽऽत्मनोऽर्धेऽहमदभ्रचक्षुषा[3] निरूपिता[4] मानुगृहाण याचितः॥ १४॥

ऋषिरुवाच[5]

एवं गिरित्रः प्रिययाभिभाषितः प्रत्यभ्यधत्त प्रहसन् सुहृत्प्रियः[6]।
संस्मारितो मर्मभिदः कुवागिषून् यानाह को विश्वसृजां समक्षतः॥ १५॥

श्रीशङ्कर उवाच[7]

त्वयोदितं शोभनमेव शोभने ! अनाहुता अप्यभियन्ति[8] बन्धुषु।
ते यद्यनुत्पादितदोषदृष्टयः बलीयसाऽनात्म्यमदेन मन्युना[9]॥ १६॥

विद्यातपोवित्तवपुर्वयः कुलैः सतां गुणैष्षड्भिरसत्तमेतरैः[10]।
स्मृतौ हतायाम्भृतमानदुर्दृशः[11] तथा[12] न पश्यन्ति हि धाम भूयसाम्॥ १७॥

**श्रीध. कथमिति**। तदा[13] हे सुरश्रेष्ठ ! पितृगेहोत्सवं निशम्य सुतायाः देहः कथं नेङ्गते द्रष्टुं न प्रचलति तथापि अनाहूताः सन्तः कथं गच्छामस्तत्राह - सौहृदं सुहृत्सम्बन्धि केतनं गृहं तथा भर्त्रादीनाञ्च गृहं अनाहूता अपि अभियन्ति[14] सन्तः। अनाहुता इत्यत्र ह्रस्वत्वमार्षम्॥ १३॥

**तदिति**। हे अमर्त्य ! तत् तस्मात् प्रसीद इदं मे वाञ्छितं कर्तुं भवानर्हति। कारुणिकत्वमेवाऽऽह - अदभ्रचक्षुषा अनल्पज्ञानेनापि त्वया आत्मनो देहस्यार्धे अहं निरूपिता घृता यतोऽर्धनारीश्वरः इति ख्यातोसि। अतः मामनुगृहाण। याचितस्सन्॥ १४॥

**एवमिति**। अभिभाषितः[15] याचितः। को दक्षः यानाह मर्म[16] हृदयं भिन्दन्तीति[17] तथा तान् कुवागिषून् दुरुक्तिबाणान् संस्मारितः सन्[18]॥ १५॥

---

1. M यान्ति 2. M °दात् 3. Af त्वया सहार्धेहम°; M त्वयाऽपि पूर्णोऽयम° 4. M° तोऽनु 5. V, W मैत्रेय उवाच 6. M सुरप्रियः 7. A, G, J श्रीभगवानुवाच; M सम्भुरुवाच 8. M °यान्ति 9. M °त्म° 10. M °मा मदैः 11. M °मधि° 12. A, G, J स्तब्धा; M तप्ता 13. V omits तदा 14. V यान्ति 15. V adds अभि 16. A, J omit हृदयं 17. A, J °न्ति ये तान् 18. J omits सन्

**त्वयेति**। 'अनाहुता अपी'ति त्वया यदुदितं उक्तं तच्छोभनमेव, किन्त्वनात्म्यं देहादौ अहङ्कारः तत्कृतेन मदेन मन्युना च ते बन्धवः यद्यनुत्पादितदोषदृष्टयः[1], न उत्पदिता[2] आरोपिता[3] दोषे दृष्टिर्येषां ते, [4]यदि भवन्ति॥ १६॥

[5]ननु विद्यादिगुणयुक्तो दक्षः त्वादृशेषु महत्सु कथं दोषदृष्टिर्भवेत् तत्राऽऽह - **विद्येति**। विद्यादिभिरेव स्मृतौ हतायां विवेकज्ञाने नष्टे सति भूयसां महत्तमानां धाम तेजो न पश्यन्ति हि। ननु गुणैः कथं विवेकनाशः तत्राऽऽह - सतां गुणैः विवेकहेतुभिः अप्यसत्तमानां इतरैः दोषभूतैः अत एव तैर्भृतो धृतः पुष्टो वा 'अहं विद्वान् तापसः' इत्यादिः मानः गर्वः तेन दुष्टा दृष्टिः येषां ते॥ १७॥

**वीर.** हे सुरवर्य! सुरश्रेष्ठ! पितृगेहे कौतुकमुत्सवं निशम्य सुताया देहः कथं नेत्रते द्रष्टुं न [6]प्रचलति? अथाप्यनाहूतास्सन्तः कथं वा गमिष्यामः, तत्राऽऽह - सौहृदं सुहृदो निकेतनं, तथा भर्त्रादीनां गृहान् अनाहूता अपि अभियन्ति गच्छन्ति सन्तः। अनाहुता इत्यत्र ह्रस्वत्वमार्षम्॥ १३॥

उपसंहरति - **तदिति**। हे अमर्त्य! देव! तत् तस्मात् प्रसीद। इदं मे वाञ्छितं कारुणिको भवान् कर्तुमर्हति। कारुणिकत्वमेवाऽऽह - अदभ्रचक्षुषा अनल्पदयादृष्ट्या त्वया आत्मनो देहस्यार्धे समेंऽशे अहं निरूपिता धृता। यतः अर्धनारीश्वर इति प्रख्यातोऽसि। अतो मया याचितस्त्वं मामनुगृहाण॥ १४॥

एवमाभाषितो भवः प्रत्यभाषतेत्याह मैत्रेयः - **एवमिति**। गिरित्रः गिरिं कैलासं त्रायत इति गिरित्रो भवः। एवम् उक्तरीत्या प्रियया सत्या अभिभाषितः तस्याः प्रियः सुहृदपि मर्मच्छिदः दक्षस्य[7] कुवागिषून् कुत्सिता निन्दापरा वाच एव इषवः तान् प्रति संस्मारितः स्मरणं प्रापितः। निवृत्तप्रेरणात् स्मरतेर्वा णिजन्तात् कर्तरि क्तः। संस्मरन्नित्यर्थः। बहिःप्रहसन्निव प्रत्यभ्यधत्त प्रत्यभाषत। के ते कुवागिषवः यान् स्मरन् प्रत्यभ्यधत्त इत्यत्राऽऽह - कः दक्षः विश्वसृजां प्रजापतीनां समक्षतः अपरोक्षं यानाह "अयं हि लोकपालानां यशोघ्नो निरपत्रपः" (भाग.4-2-10) इत्यादिना उक्तवान् तान् [8]संस्मरन्नित्यर्थः॥ १५॥

प्रिययोक्तमनूद्य प्रत्युत्तरयति भवः त्वयोदितम् इति यावदध्यायसमाप्ति। हे शोभने! यत्त्वयोदितमुक्तं अनाहुता अपि बन्धुषु अभियन्तीति तच्छोभनमेव सत्यमेव। किन्तु बलीयसा अनात्म्यं देहाभिमानः तत्कृतो यो मदः तेन मन्युना क्रोधेन च ते बन्धवः यदि अनुत्पादितदोषदृष्टयः - न उत्पादिता गुणेषु सत्स्वपि दोषेष्वेव दृष्टिः दर्शनं यैस्ते भवन्ति तर्हि अनाहूता अप्यभियन्तीति शोभनमित्यर्थः॥१६॥

---

1. A, J add भवन्ति तर्हि 2. A, J °ते 3. A, J °ते 4. A, J omit यदि भवन्ति 5. V adds ननु 6. W omits प्र°
7. A adds मनसि 8. W omits सं

ननु विद्यातप[1] आदिसम्पन्नो दक्षः तादृशे त्वयि कथमुत्पादितदोषदृष्टिः स्यात् तत्राऽऽह[2] - **विद्येति**। सतां साधूनां गुणैः विद्यातप आदिभिः षड्भिः असत्तमेषु इतरैर्दोषरूपतां प्राप्तैः विद्यादयः एव आश्रयभेदेन गुणादोषाश्च स्युरिति भावः। स्मृतौ हतायां विवेकज्ञाने नष्टे सति भृतमानदुर्दृशः भृतः पुष्टः मानः 'अहं विद्वान् अहं तापसः' इत्यादिगर्वः तेन दुष्टा दृक्[3] दृष्टिर्येषां ते, भूयसां महत्तमानां तेजः तथा यथावस्थितं[4] न पश्यन्ति। हीति असत्स्वेतत्प्रसिद्धिं द्योतयति॥ १७॥

**विज.** युक्त्यापि गन्तव्यत्वं वक्ति - **कथमिति**। नेन्नते न चलति। आह्वानाभावे कथं गमनं स्यादित्याशङ्क्य अनाह्वानेप्येषां गृहगमनमुचितं भवतीत्याह - अनाहुता इति। देहकृतः पितुः॥ १३॥

उपसंहरति - **तन्मे** इति। यत एवं गन्तव्ये बहवः हेतवस्सन्ति तत् तस्मात् भवान् पूज्यः त्वं मम प्रसीद। हे अमर्त्य! देव! इदं वाञ्छितं कर्तुमर्हसि इत्यस्मिन्नर्थे बत कृपा कर्तव्या कारुणिकत्वादित्यर्थः। त्वमेव कारुणिको नान्य इत्याशयेनाह - त्वयेति। अदभ्रचक्षुषा सर्वज्ञेन त्वया सह अयं धर्मः पूर्णः गरीयान् निरूपित इति यत् अतः कारुणिकत्वात् प्रार्थितस्त्वमनुगृहाण, वाञ्छितमिति शेष इत्यर्थः॥ १४॥

तथापि प्रियया प्रार्थितश्शङ्करः किमुत्तरमभ्यधादिति विदुरस्य मानसीं शङ्कां परिहर्तुमाह - **एवमिति**। गिरित्रो गिरिशः। कुत्सिता वाच एव इषवः शराः कुवागिषवः तान्। को दक्षः॥ १५॥

किं वा बहुना प्रलापेन? अनाहूता अप्यभियान्तीति यदुक्तं तस्योत्तरं शृण्विति भावेनाऽऽह - **त्वयोदितमिति**। किं तदुदितं इत्यत उक्तं अनाहुता इति। तर्ह्यनभियाने किं कारणमत्राऽऽह - यदीति। ते बान्धवाः अनात्म्यमदेन देहाभिमाननिमित्तदर्पेण जातेन मन्युना क्रोधेन॥ १६॥

असतां विद्यादिकमपि मदविषयजनकत्वेन अप्रयोजकम्, अहेः पयःपानमिवेति भावेनाऽऽह - **विद्या तप** इति। असत्तमा विद्यादिभिः षड्भिः सतां योग्यैर्गुणैः उत्पन्नैर्मदैः स्मृतौ हतायां शास्त्रश्रवणोत्पन्नज्ञाने नष्टे भूयसां महात्मनां धाम प्रभावं न पश्यन्ति। हि यस्मात्तस्मादित्यन्वयः। अदर्शने कारणमाह - अभिमानदुर्दृश इति। "विद्यामदो धनमदः तृतीयोऽभिजनो मदः" (भार.5-34-42) इति मदलक्षणं, कामादिदोषदुष्टेन्द्रियत्वादित्यर्थः। अत एव तप्ता अन्तरिति शेषः॥ १७॥

---

1. A omits तप आदि 2. W अत आह 3. W omits दृक् 4. W omits 'व'

**नैतादृशानां स्वजनव्यपेक्षया गृहान् प्रतीयादनवस्थितात्मनाम्।**
**येऽभ्यागतान् वक्रधियाऽभिचक्षते[1] आरोपित[2] भ्रूभिरमर्षणाक्षिभिः ॥ १८ ॥**

**तथारिभिर्न[3] व्यथते शिलीमुखैः शेतेऽर्दिताङ्गो[4] हृदयेन दूयता।**
**स्वानां यथा वक्रधियां दुरुक्तिभिः दिवानिशं तप्यति मर्मताडितः ॥ १९ ॥**

**व्यक्तं त्वमुत्कृष्टगतेः प्रजापतेः प्रियाऽऽत्मजानामसि सुभ्रु मे[5] मता।**
**अथापि मानं न पितुः प्रपत्स्यसे मदाश्रयात्कः परितप्यते यतः ॥ २० ॥**

**पापच्यमानेन[6] हृदाऽऽतुरेन्द्रियः समृद्धिभिः पूरुषबुद्धिसाक्षिणाम्।**
**अकल्प[7] एषामधिरोढुमञ्जसा पदं परं द्वेष्टि यथासुरा हरिम् ॥ २१ ॥**

**श्रीध. नैतादृशानामिति।** स्वजनव्यपेक्षया बन्धुदृष्ट्या गृहान्न प्रतीयात् नावलोकयेत्। अनवस्थितचित्तत्वमेवाऽऽह - ये वक्रधिया कुटिलया बुद्ध्या पश्यन्ति। आरोपिता उत्तम्भिता भ्रूः येषु तानि आरोपितभ्रूणि तैः, आरोपिताभिः भ्रूभिरिति वा। अमर्षणैः सक्रोधैरक्षिभिः नेत्रैः[8] ॥ १८ ॥

ननु स्वजनानां गृहं सुहृद्भिः गन्तव्यं तेषां दुश्चेष्टितञ्च विवेकिभिः[9] सोढव्यमिति[10] चेत् न, तस्य अतिदुस्सहत्वादित्याह - **तथेति**। अरिभिः[12] शत्रुभिः शिलीमुखैः बाणैः अर्दिताङ्गः खण्डितगात्रोऽपि तथा न व्यथते, यतः शेते स्वपिति, स्वानां दुरुक्तिभिः मर्मसु[13] ताडितो यथा दूयता व्यथमानेन हृदा दिवानिशं तप्यति ॥ १९ ॥

मयि तत्र गतायां नेयं शङ्केति चेत्तत्राऽऽह - **व्यक्तमिति**। व्यक्तं निश्चितं उत्कृष्टा गतिः स्थितिः यस्य तस्य आत्मजानां कन्यानां मध्ये त्वं प्रियेति मे सम्मतासि, अथापि[14] पितुः सकाशात् मानं न लप्स्यसे मदाश्रयात् मत्सम्बन्धात् ॥ २० ॥

ननु एवमपि[15] भगवन्! त्वया किमिति दक्षः तिरस्कृतः ? यतोऽसौ त्वां द्वेष्टि अत आह - **पापच्यमानेनेति**। पापच्यमानेन अलं दह्यमानेन हृदा[16] मनसा आतुरेन्द्रियः[17] दुःखितेन्द्रियः काभिः ? पुरुषो जीवः तस्य बुद्धिः चित्तं तत्साक्षिणां निरहङ्काराणामित्यर्थः। समृद्धिभिः पुण्यकीर्त्यादिभिः। एषां पदं स्थानं ऐश्वर्यं प्राप्तुमकल्पः[18] अशक्तस्सन् तान्[19] परं केवलं[20] द्वेष्टि। असुरा यथा श्रीहरिं केवलं द्विषन्ति ॥ २१ ॥

---

1. W तया 2. W ह्या° 3. M प्रधने 4. Af शेते क्षताङ्गो 5. A, G, J, M सम्मता -6. M तातप्य° 7. A, G, J, M अकल्प 8. V omits नेत्रैः 9. J, V omit विवेकिभिः 10. J, V omit इति चेत् 11. A, J omit अति 12. J, V omit शत्रुभिः 13. A adds सः 14. V त°
15. J, V omit एवमपि 16. V omits मनसा 17. A, J omit आतुरेन्द्रियः 18. A, J °ल्पः 19. A, J omit तान् 20. A, J omit केवलं

**वीर.** तस्मादेतादृशानां अनवस्थितचित्तानां गृहान् स्वजनव्यपेक्षया स्वजन इति बुद्ध्या न प्रतीयात् न गच्छेत् । अनवस्थितात्मत्वमेवाऽऽह - ये, वक्रा कुटिला तया दृष्ट्या । वक्रधियेति पाठे कुटिलबुद्ध्येत्यर्थः, आरोपिता उत्तम्भिता भ्रूर्येषां, तैः अमर्षणैः साक्रोशैरक्षिभिः गृहान् प्रति अभ्यागतान् पश्यन्ति ॥ १८ ॥

पश्यन्त्वेवमथापि सोढ्वा गन्तव्यमेव बन्धुभिस्तत्राऽऽह - **तथेति** । अरिभिः शत्रुभिः शिलीमुखैः बाणैः अर्दिताङ्गः भिन्नगात्रोऽपि तथा न व्यथते यतः शेते स्वपिति; यथा स्वानां वक्रधियां दुरुक्तिभिः मर्मसु ताडितः दूयता व्यथमानेन हृदयेन दिवानिशं तप्यति । दुरुक्तीनां सोढुमशक्यत्वात् न तद्गृहान् प्रति गन्तव्यमित्यर्थः ॥ १९ ॥

मास्तु त्वद्गमनमहमेका व्रजिष्यामीति चेत् मामनादृत्य गतायाः तवापि पितृकृतः पराभवः प्राणविपत्तये स्यादित्याह - **व्यक्तमिति** यावत्समाप्ति । हे सुभ्रु ! यद्यपि त्वमुत्कृष्टगतेः उत्कृष्टा गतिः प्राजापत्याधिकाररूपा गतिर्यस्य तस्य प्रजापतेः दक्षस्य आत्मजानां दुहितॄणां मध्ये प्रिया प्रीतिविषयासीति मे मता ज्ञाता व्यक्तं स्फुटं, तथापि मदाश्रयात् मदाश्रयणात् मत्सम्बन्धाद्धेतोः त्वं पितुः सकाशात् मानं सम्मानं न लत्स्यसे, यतः मत्सम्बन्धात् को दक्षः परितप्यते क्लिश्यति ॥ २० ॥

ननु कुतस्त्वया दक्षः तिरस्कृतः ? यतोऽसौ त्वां द्वेष्टि, तत्राऽऽह - **पापच्यमानेनेति** । पूरुषबुद्धिसाक्षिणां पूरुषो जीवः बुद्धिर्महान् ते साक्षात् पश्यन्तीति तथा तेषां ब्रह्मात्मकत्वेन प्रकृतिपुरुषयाथात्म्यविदां ब्रह्मविदामिति यावत्, तेषां समृद्धिभिः पुण्यकीर्त्यादिभिः **तेषां पूरुषबुद्धिसाक्षिणां** पदं स्थानं ऐश्वर्यं अधिकारं वा अधिरोढुं प्राप्तुमसमर्थः । अत एव पापच्यमानेन भृशं तप्यमानेन हृदयेन आतुरेन्द्रियः दुःखितेन्द्रियः तान् परं केवलं द्वेष्टि, स्वयं मूर्खः अज्ञः दुर्भगश्च महद्भिः साम्यमलभमानः तान् केवलं द्वेष्टि यथा असुरा हरिं द्विषन्ति ॥ २१ ॥

**विज.** किमत इति तत्राऽऽह - **नैतादृशानामिति** । आरोपितभ्रूभिरिति ह्रस्वत्वाभावः छान्दसः उन्नमितभ्रूभङ्गैः अमर्षणाक्षिभिः असहमानलक्षणोपेतनेत्रैः ॥ १८ ॥

दक्षाध्वरागमन कारणान्तरञ्चाह - **तथारिभिरिति** । प्रधने युद्धे शिलीमुखैः शरैः ॥ २९ ॥

किं बहुनानुलप्य त्वम् ? दक्षस्य प्रियपुत्रीत्वेपि मदाश्रयत्वेन तप्यमानात् पितुः पूजां न प्राप्नोषीत्याह - **व्यक्तमिति** । उत्कृष्टगतेः प्राप्तसर्वाधिपत्यस्य ॥ २० ॥

---

1. W त्वदागमन°

मत्पितुर्ज्ञानाधिकारिष्वेकत्वेन सत्वात् कुतो भवति द्वेषः ? इत्याशङ्क्य साम्राज्यमदलक्षणासुरावेशात् मत्पदाधिपत्यं न प्राप्तम् अतो द्वेष इति भावेनाह - **तातप्यमानेनेति**। पूरुषबुद्धिसाक्षिणां पुरुषेन्द्रियप्रेरकाणां अस्मत्सदृशानां समृद्धिभिः एषां पूरुषबुद्धिसाक्षिणां परं पदम् अञ्जसा तत्त्वेनाधिरोढुं अकल्पोऽसमर्थः यतः यस्मात् ततो द्वेष्टि। इदमसुरलक्षणमिति भावेनोक्तं यथेति॥ २१॥

**प्रत्युद्गमप्रश्रयणाभिवादनं विधीयते साधुमिथस्सुमध्यमे !**
**प्राज्ञैः परस्मै पुरुषाय चेतसा गुहाशयायैव न देहमानिने॥ २२॥**

**सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं यदीयते तत्र पुमानपावृतः।**
**सत्त्वे[1] च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो ह्यधोक्षजो मे नमसा[2] विधीयते॥ २३॥**

**तत्ते[3] निरीक्ष्यो न पितापि देहकृत् दक्षो मम द्विट् तदनुव्रताश्च ये।**
**यो विश्वसृड्यज्ञगतं[4] वरोरु मा मनागसं दुर्वचसाऽकरोत्तिरः॥ २४॥**

**यदि व्रजिष्यस्यतिहाय मद्वचो भद्रं भवत्या न ततो भविष्यति।**
**सम्भावितस्य स्वजनात्पराभवो यदा[5] स सद्यो मरणाय कल्पते॥ २५॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टदशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे उमा रुद्र संवादे तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

**श्रीध.** ननु त्वया प्रत्युत्थान विनयाद्यकरणात् अवज्ञात एवासौ दक्षः[6] तत्राऽऽह - **प्रत्युद्गमेति**। हे सुमध्यमे ! प्रत्युद्गमादिकं मिथः जनैः यत्[7] विधीयते तत्तु[8] प्राज्ञैः भागवतैः[9] साधु विधीयते। साधुत्वमेवाह - परस्मै श्रीवासुदेवाय गुहाशयाय अन्तर्यामिण एव। तच्च चेतसैव। परिपूर्णे तस्मिन् कायिकव्यापारायोगात् अतोऽन्तर्यामिदृष्ट्या मनसैव[10] सर्वं कृतमिति भावः॥ २२।

किञ्च न केवलमभ्यागतेष्वेव श्रीवासुदेवदृष्ट्या नमनं[11] क्रियते किन्तु नित्यमेव मनसि श्रीवासुदेवश्चिन्त्यते इत्याह - **सत्त्वमिति**। विशुद्धं सत्त्वमन्तःकरणं सत्वगुणो वा[12]। वसुदेवशब्दितं वसुदेवशब्देनोक्तम्। कुतः ? यत् यस्मात् तत्र तस्मिन्[13] सत्त्वे पुमान् वासुदेव

---

1. M सत्त्वं च यस्मिन् 2. M मनसा 3. M अत्वया 4. A, G, J, M सृग्यज्ञ 5. V यदाऽऽस 6. A, J omit दक्षः 7. A, J omit यत् 8. V omits तु 9. J, V omit भागवतैः 10. A, J omit एव 11. A मननं 12. V omits वा 13. A, J omit तस्मिन्

ईयते प्रकाशते, अपगतं आवृतं आवरणं यस्मात्सः। अयमर्थः - वासुदेवे भगवति प्रतीयते इति हि वासुदेवः परमेश्वरः प्रसिद्धः, स च विशुद्धे सत्त्वे ईयते[1] प्रतीयते, अतः प्रत्ययार्थेन प्रसिद्धेन प्रकृत्यर्थः निर्धार्यते। ततश्च वासयति देवमिति व्युत्पत्त्या वा, वसत्यस्मिन्निति वा वसुः, देवः दीव्यति द्योतते इति देवः। वसुभिः पुण्यैः दीव्यति प्रकाशते इति वा वसुदेवशब्दवाच्यं शुद्धं सत्त्वम्। ततः[2-] "तत्र भवः" इत्यण्। अत्र प्रतीतिर्भवतेरर्थः[-2]। ततः किमित्यत आह-सत्वे च तस्मिन् मे मया नमसा नमस्कारेण अनुविधीयते सेव्यते इत्यर्थः। मनसेति पाठे मनसा विशेषेण धीयते धार्यते चिन्त्यते इत्यर्थः। यतः अधोभूतेषु प्रत्याहृतेषु अक्षेषु इन्द्रियेषु[4] जायते प्रकाशते[5] अधोक्षजः इन्द्रियगोचर इत्यर्थः॥ २३॥

तदिति। तत्[6] तस्मात् ते[7] त्वया न निरीक्ष्यः। देहकृदपीति पोषकत्वादिभिः औपचारिकपितृत्वव्यावृत्यर्थम्। द्विट् शत्रुः। तदेवाऽऽह - हे वरोरु! यो दक्षः विश्वसृजो[8] यज्ञगतं मां निरपराधं तिरोऽकरोत् तिरस्कृतवान्॥ २५॥

विपक्षे दोषमाह - यदीति। मद्वचः अतिहाय अतिक्रम्य। यतः सम्भावितस्य[9] पूजितस्य सुप्रतिष्ठितस्य यदा पराभवः[10] भवति तदा स पराभवः तस्य मरणाय कल्पते। अतः[11-] त्वं गता सती पुनः नायासीति भावः। दक्षं दृष्ट्वा तज्जमेनं देहमपि विदारयसीति सूचितं भवति[-11]॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्री श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

**वीर.** ननु गुरुभूतो दक्षः त्वया प्रणामादिभिः असत्कृतः त्वां द्वेष्टि तत्राऽऽह - **प्रत्युद्गमेति**। हे सुमध्यमे! प्राज्ञैः अदेहमानिभिः मिथः परस्परंप्रत्युद्गमप्रश्रयणाभिवादनं प्रत्युत्थानप्रणामाभिवादनं विधीयते, मनोवाक्कायैरिति शेषः। प्राज्ञाज्ञसन्निपाते तु प्राज्ञैः गुहाशयाय अन्तर्यामिणे परस्मै पुरुषायैव चेतसैव विधीयते न तु देहाभिमानिने करणत्रयेणेत्यर्थः। "प्राज्ञैः परस्परं मनसैव विधीयते परिपूर्णे तस्मिन् कायिकव्यापारायोगात्" इत्यर्थवर्णनन्तु अशोभनम्। प्राज्ञेष्वपि मिथस्तस्य करणत्रयेण "वैष्णवो वैष्णवं दृष्ट्वा दण्डवत्प्रणमेद्भुवि" (पाद्मे) इत्यादिभिः विहितत्वात्। अन्तर्याम्युद्देशेन मानसिकं प्रत्युद्गमनादिकमस्मै देहाभिमानिने दक्षाय विहितमेव मयेति भावः॥ २२॥

---

1. A, J omit ईयते 2--2. V omits 3. A, J किमतः 4. J omits इन्द्रियेषु 5. A, J omit अधोक्षजः 6. V omits तत् 7. A, J omit ते 8. A, J सृजां 9. A, J omit पूजितस्य 10. V adds आस 11--11. A, J omit

ननु किं विशेषेण चेतसैव प्रणतिः विधीयते इत्युच्यते। न तु मनोवाक्कायानामन्यतमेनेत्यत्र कारणमाह - **सत्त्वमिति**। विशुद्धं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्त्वं सत्त्वप्रधानं चित्तं वसुदेवशब्दितं वसुदेवशब्देनोच्यते इत्यर्थः। [1]तत्र विशुद्धे सत्त्वे वसुदेवशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमाह - यदिति। यत् यस्मात् तत्र सत्त्वे पुमान् वासुदेवः अपावृतः अपगतमात्मावरणं यस्मात्सः, ईयते प्रतीयते प्रकाश्यते इति यावत्। "तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकम्" (भ.गी.14-6) इत्युक्तरीत्या वासुदेवस्[3]वरूप रूपादिप्रकाशकसत्त्वप्रधानत्वात् चित्तस्य द्योतमानत्वात् देवत्वं, भगवतः वासभूतत्वाच्च वसुत्वमिति वसुदेवशब्दितं सत्त्वमित्यर्थः। तस्मिंश्च सत्त्वाख्ये चित्ते अधोक्षजः अधःकृतेषु अक्षेषु इन्द्रियेषु जायते आविर्भवतीत्यधोक्षजः इन्द्रियान्तरागोचरः केवलपरिशुद्धचेतसैव ग्राह्यः भगवान् वासुदेवः, मे मया नमसा विधीयते नमस्क्रियत इत्यर्थः। अतश्चेतसैव भगवान् प्रणम्यत इति भावः॥ २३॥

तस्मात् त्वया पितापि देहकृदपि पालकपितृत्वादिव्यावृत्त्यर्थं देहकृदित्युक्तं, मम द्विट् मद्द्वेषी दक्षः न निरीक्ष्यः निरीक्षितुमयोग्यः तथा तं दक्षं येऽनुव्रताः तेऽपि न निरीक्ष्याः। हे वरोरु! यो दक्षः विश्वसृड्यज्ञगतं विश्वसृजां सत्रे गतं अनागसं निरपराधिनं मां दुर्वचसा दुरुक्तया तिरोऽकरोत् तिरस्कृतवान्॥ २४॥

यदि मद्वचः अतिहाय अतिक्रम्य व्रजिष्यसि तर्हि भवत्याः तव भद्रं सम्मानं [4]न भवति न भविष्यति प्रत्युत पराभव एव स्यात् इति भावः। बन्धुकृतः पराभवः न दुःखाय भवेदिति चेत् तत्राऽऽह - सम्भावितस्य सर्व सम्मानितस्य स्वजनात् यः पराभवः सः सद्यः मरणाय कल्पते भवति॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

**विज.** अभ्युत्थानाभिवादार्हः भवता न सम्मानितः अतः द्वेष इति किं न स्यात् इति तत्राऽऽह - **प्रत्युद्गमेति**। प्राज्ञैः तत्त्ववेदिभिः पुरुषैः वैष्णवेषु आगच्छत्सु मिथः प्रत्युद्गमादिकं चेतसा गुहाशयाय हृदये स्थिताय परस्मै पुरुषायैव विधीयते क्रियते देहाभिमानिने जीवाय न क्रियते इदं तु उभयोस्समत्वे। बन्धुता गुरुत्वनिमित्तेन गुरुत्वेनोक्तं अतः दक्षाय अज्ञाय ज्ञानाभावात् तन्निमित्तद्वेषो न सम्भाव्यत इति॥ २२॥

---

1. W omits तत्र 2. A °तौ 3. A omits रूप 4. A omits न भवति

किञ्च मया प्रत्युत्थानादिना मुख्यतः पूज्यस्तु ब्रह्मादिशरीरान्तःस्थितः हरिरित्याह - **सत्त्वमिति**। विशुद्धं सत्त्वं ब्रह्मादिशरीरं वसुदेवशब्दितं पृथिव्यादि[1]षु पदार्थेषु स्थित्वा विद्योतते तत्कृतमललेपाभावादिति तच्छब्देन शब्दितमित्यर्थः। तच्छब्दवाच्यत्वे निमित्तमाह - यदीयत इति। व्याप्तिक्रीडादिगुणाकरः पुमान्नारायणोऽपावृतः मायालक्षणावरणरहितः ईयते ज्ञायते इति यत् यस्मात् तस्मात् निमित्तान्तरञ्चाह - सत्वं चेति। तत्सत्वं च यस्मिन् हरौ यदधीनतया वर्तते तत्सम्बन्धात् तच्छब्दवाच्यमित्यर्थः। एवञ्च वसुदेवे निवास लक्षणसम्बन्धात् वासुदेवः सोऽधोक्षजः अतीन्द्रियज्ञानी भगवान् मम मनसा विशेषेण धीयते चिन्त्यते। तदुक्तं - ''रुद्रेण धीयते विष्णुः विष्णोर्ध्येयो न कश्चन'' (ब्रह्म वैवर्ते) इति। अनेन पुरस्थितचतुर्मुखब्रह्मणि प्रकाशमान श्रीविष्णुगुणगणोपसंहारलक्षणोपासनैकाग्रचित्तत्वेन स्थितेन मया कार्यान्तरप्रारम्भस्यानुचितत्वात् दक्षान्तस्स्थहरिस्मरणसत्कारेण तत्सत्कारोपि कृत इति द्वेषे कारणं न पश्यामीत्युक्तं भवति। यद्वा यद्विशुद्धं तमआदिगुणानुपरक्तं सत्त्वं तद्वसुदेवशब्दितं, चशब्द एवार्थे। तत्सत्त्वं गुणः यस्मिन् पुंस्येवास्ति पुमान् श्रीहरिस्तत्र तस्मिन्नेव पुंसि अपावृत ईयत इति यस्मात् त[2]स्मात् सः वासुदेवः सात्त्विकप्रियोऽधोक्षजः भगवान् मे मनसा प्रत्युत्थानादिना विशेषेण चिन्त्यत इत्यतो नास्मद्गुरुरित्यभिमानमुग्धत्वेन रजोगुणाभिभूतचित्तत्वेन चात्र हरेः विशेषेण सन्निधानाभावात्तव पिता न सत्कारयोग्यः इति कृत्वा प्रत्युत्थानादिना न मानित इति। अनेन तमआदिगुणाभिभूतत्वेन तत्त्वाज्ञानात् द्वेषोद्रेक इत्युक्तं भवति॥ २३॥

मम त्वत्पूज्यत्वात् मम द्वेषी जनकोपि त्वया द्रष्टुमेवायोग्यः गुरुध्युग्दर्शने दोषोक्तेरित्याह - **त्वयेति**। देहकृदपि न केवल मान्तरो द्वेषः अपि तु बाह्योऽपि इति भावेनाऽऽह - तदनुव्रता इति। स्थानं निर्दिशति - य इति॥ २४॥

बाधकञ्चाह - **यदीति**। मरणं नाम देहवियोगलक्षणं न त्वकीर्तिलक्षणम्॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

---

1. M omits 'षु 2. A omits तस्मात्

# चतुर्थोऽध्यायः

## मैत्रेय उवाच

एतावदुक्त्वा विरराम शङ्करः पत्न्यङ्गनाशं ह्युभयत्र चिन्तयन्।
सुहृद्दिदृक्षुः परिशङ्किता भवान्निष्क्रामती निर्विशती द्विधाऽऽस सा[1] ॥ १ ॥

सुहृद्दिदृक्षाप्रतिघातदुर्मनाः स्नेहाद्रुदन्त्यश्रुकलातिविह्वला[2]।
भवं भवान्यप्रतिपूरुषं रुषा प्रधक्ष्यतीवैक्षत जातवेपथुः ॥ २ ॥

ततो विनिःश्वस्य सती विहाय तं शोकेन रोषेण च दूयता हृदा।
पित्रोरगात्स्त्रैणविमूढधीर्गृहान् प्रेम्णाऽऽत्मनो योऽर्धमदात्सतां प्रियः[3] ॥ ३ ॥

तामन्वगच्छन् द्रुतविक्रमां सतीमेकां त्रिनेत्रानुचराः सहस्रशः।
स पार्षदयक्षा[4] मणिमन्मदादयः[5] पुरोवृषेन्द्रास्तरसा गतव्यथाः ॥ ४ ॥

तां शारिकाकन्दुकदर्पणाम्बुज[6] श्वेतातपत्रव्यजनस्रगादिभिः[7]।
गीतायनैर्दुन्दुभिशङ्खवेणुभिर्वृषेन्द्रमारोप्य[8] विटङ्किता[9] ययुः ॥ ५ ॥

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुर्थे तु पतिं हित्वा गता पित्राऽवमानिता। रुषा निर्भर्त्स्य तं यज्ञे जहौ देहमितीर्यते ॥

**एतावदिति**। उभयत्रानुज्ञाने[10] बलान्निवारणे च सुहृद्दिदृक्षुर्निष्क्रामती[11] भवात्परिशङ्किता पुनर्निर्विशती[12] च तदा[13] सा सती द्विधा[14-]आस उभयनिष्ठचित्ता बभूव। न गता न च स्थिता आन्दोलावद्गतिरभवत्[-14] ॥ १ ॥

**सुहृदिति**। सुहृदां दिदृक्षायाः प्रतिघातेन दुर्मनाः अश्रूणां कलाभिलेशैरतिविह्वला व्याकुला अप्रतिपूरुषं स्वसमानपुरुषान्तररहितम्। प्रधक्ष्यती[15] भस्मीकरिष्यतीव। रुषा जातो वेपथुः कम्पो यस्याः ॥ २ ॥

---

1. M. Ma. Ms द्विधा च 2. A. G. J. N. V. Va °त्यश्रु 3. M °मरासत 4. Af. Gf स्वपार्षदा ये 5. मुख्याः 6. A. G. J. M. Ma. N. T. Va सा° 7. M. Ma मण्डुक, Ms मड्डुक 8. M. Ma. Ms. V. W °जैः 9. M. Ma विलेम्बिता 10. V °ज्ञादाने 11. A. B. J. Va °न्ती 12. A. B. J. Va °न्ती 13. A omits सा 14--14. B. J. Va आस बभूव। न गता न च स्थिता आन्दोलावद्गतिरभवत् ॥ १ ॥ V आन्दोलितचित्ता आस बभूव ॥ १ ॥
15. B. J. Va add इव

**तत इति**। ततस्तं श्रीरुद्रं[1] विहाय पित्रोर्गृहानगात्। कथम्भूतम् ? यः प्रीत्या तस्यै आत्मनो देहस्यार्धमदात्। त्यागे हेतुः - स्त्रैणं स्त्रीस्वभावः, तेन विमूढा धीर्यस्याः सा॥ ३॥

**तामिति**। द्रुतविक्रमां शीघ्रं गच्छन्तीम्। सह पार्षदैर्यक्षैश्च वर्तमानाः मणिमान् मदश्चादिर्येषां ते। पुरः[2] पुरतो वृषेन्द्रो येषां ते। गतव्यथा निर्भयाः। रुद्रातिक्रमेण तस्याः गमनादागतव्यथा इति वा॥ ४॥

**तामिति**। तां[3] सतीं वृषेन्द्रमारोप्य शारिकादिभिः[4] क्रीडोपकरणैः श्वेतातपत्रादिभिश्च महाराजविभूतिभिः सह विटङ्किताः शोभिता ययुः। शारिकाः[5-] पठननिपुणाः पक्षिणः[-5]। गीतायनैर्गीताश्रयैः॥ ५॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

भवोक्तिमर्धेनोपसंहरन् भवान्याः स्वाभिप्रेतार्थलाभनिमित्तशोकं तन्निमितं भर्तरि क्रोधं भर्तारमनादृत्याध्वरे गमनं तत्र पितृकृतपराभवं तन्निमित्तं[7] देहत्यागप्रकारं चाह - **एतावदिति**। शङ्करः एतावदभिधाय उभयत्र पत्न्यास्तत्र गमनेऽगमने च अनुज्ञादाने बलान्निवारणे वा[8] तच्छरीरनाशं चिन्तयन् विरराम तूष्णीमास। ततः सा सती सुहृद्दिदृक्षुः मातापित्रादीन् द्रष्टुमिच्छन्ती[9] निष्क्रामती गृहाद्बहिर्निर्गच्छन्ती पुनः भवात् शङ्करात् परिशङ्किता भर्तुर्वचोऽतिहाय गमने का वा हानिः स्यादिति परिशङ्किता च तदा द्विधा आस बभूव॥ १॥

सुहृदां दिदृक्षायाः द्रष्टुमिच्छायाः यः[10] प्रतिघातः निरोधस्तेन दुर्मनाः दुःखितचित्ता बन्धुषु स्नेहाद्रुदन्ती अश्रूणां कलाभिर्लेशैरतिविह्वला व्याकुला भवानी सती अप्रतिपूरुषं समदर्शित्वेन प्रतिपक्षरहितं भवं रुद्रं रुषा जातवेपथुः उत्पन्नशरीरकम्पा प्रधक्ष्यती भस्मी कुर्वतीव ऐक्षत अपश्यत्॥ २॥

तदा ततः सती विनिश्वस्य दीर्घं निश्वासं विधाय सतां जिज्ञासूनां प्रियो यश्च प्रेम्णा आत्मनो देहस्यार्द्धमदात् दत्तवान् अनेन त्यागानर्हत्वमुक्तम्। तं रुद्रं विहाय स्त्रैणं[11] स्त्रीभावः[12] स्त्रीस्वभावः। तेन विमूढधीः नष्टमतिः शोकेन बन्धुदर्शनासम्भावनानिमित्तशोकेन रोषेण दिदृक्षाप्रतिघातनिमित्तक्रोधेन पुनर्दूयता भर्तुर्वचोऽतिक्रमनिमित्तानर्थसम्भावनापरितप्तेन हृदा[13] हृदयेन[14] च पित्रोर्गृहान् प्रत्यगात्॥३॥

---

1. A, B, J, Va omits श्रीरुद्रं 2. B omits पुरः 3. A, B, J, Va omit सतीं 4. A, B, J, Va सा° 5--5. A, B, J, Va सारिका पठननिरूपिता पक्षिणी। 6. A, B, T °क्त° 7. B, W °तदे° 8. A, B, T च 9. A °ती 10. A, B, T omit यः 11. A, B, T omit स्त्रीभावः 12. W omits स्त्रीस्वभावः 13. W omits हृदा 14. A, B, T omit हृदयेन च

द्रुतविक्रमां शीघ्रं पादविक्षेपान् कुर्वतीं एकामसहायां तां सतीं त्रिनेत्रानुचराः सहस्रशोऽनुययुः। एतदेव प्रपञ्चयति सार्धेन। पार्षदैर्यक्षैश्च सहिता मणिमान् मदक्षादिर्येषां ते। पुरः पुरतः वृषेन्द्रो येषां ते। तरसा बलेन गतव्यथा निर्भयाः। यद्वा, आगतव्यथाः इति छेदः। रुद्रगमनाभावाद् आगतव्यथाः सभयाः। तरसा बलात्॥ ४॥

तां सतीं वृषेन्द्रमारोप्य नन्दीश्वरे उपवेश्य शारिकादिभिः[1] क्रीडोपकरणैः शारिका[2] पठननिपुणः पक्षिविशेषः। श्वेतातपत्रादिभिः राजचिह्नैश्च विटङ्किता अलङ्कृताः ययुः॥ ५॥

## श्री विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हरौ भक्तिविधानार्थं गुर्वादावपि भक्तिरवश्यं कर्तव्येत्यभिप्रेयतेऽस्मिन्नध्याये। तत्र देवीमेवं बाधकं ब्रुवन् शङ्करः किं चकारेति तत्राह - **एतावदिति**। शं सुखं करे यस्य सः, शं करोतीति वा शङ्करः। उभयत्र प्रस्थापने निवारणे च पत्न्या अङ्गनाशं शरीरनाशं, हि यस्मात्तस्माद् विरराम। ततस्तु देवी किमकरोदिति तत्राह - सुहृद्दिदृक्षुरिति। सा देवी सुहृद्दिदृक्षुः स्वाधाम्नो निष्क्रामती भवात्परिशङ्किता स्वधाम निर्विशती चाभूदित्यन्वयः॥ १॥

अन्तः करणवृत्तिभेदाद् द्विधा प्रवृत्तिमती भवानी किमकृतेत्याशङ्क्य तस्या भर्तुः कामजनकमन्त्रौषधैः[3] स्त्रीस्वभावं वक्ति - **सुहृद्दिदृक्षेति**। सुहृद्दिदृक्षायाः प्रतिघातो भङ्गस्तेन दुर्मना दुःखितमनाः अप्रतिपूरुषं प्रतिपक्षपुरुषरहितम्। अनेन कोपरोदनाभ्यां वशीकरणमन्त्राभ्यां वा शिवः अभिमतानुमतिप्रदः स्यादिति भावो दर्शितः॥ २॥

अनेनापि भावेन स्तिमितसमुद्रवत् स्थितं शिवं दृष्ट्वा तद्गमनप्रकारं वक्ति - **तत इति**। दूयता तापवता, सर्वेश्वर्या एष[4] भावः कथमित्यत उक्तं - स्त्रैणेति। स्त्रीणां स्वभावः स्त्रैणं तेन विमूढा धीर्यस्याः सा तथा अज्ञस्त्रियाः स्वभाव एवायं न तु देवस्त्रियाः इति भावेनाह - प्रेम्णेति। आत्मन इति पदं द्विरावर्तनीयम्। स्वस्य शरीरस्यार्धमरासत अदत्त। 'रासृ-दान' इति धातुः॥ ३॥

स्वशरीरार्धदो हरस्तस्या एकस्या गमनं कथम् असहतेत्याशङ्क्य तद्भावविदामनुचराणां गमनप्रकारं वक्ति - **तामन्विति**। द्रुतं विक्रमः पादविक्षेपो यस्याः सा तथा तां केचनानुचरा अन्वगच्छन्, न तु मुख्या इत्यत उक्तं - मणिमन्मदादय इति। पार्षदेषु मुख्यैः सह वर्तमानाः सपार्षदमुख्याः। आगतव्यथाः स्वस्ति स्यादस्वस्ति वेति प्राप्तमनोदुःखाः॥ ४॥

शीघ्रतरं गच्छन्त्या रुद्राण्याः पाशाकृष्टैरिवाऽऽगच्छद्भिरनुचरैः किमभूदित्याशङ्क्य राज्ञी गमनवदन्वितयात्राभूदित्याह - **तां**

---

1. A, T सा॰ 2. A, T सा॰ 3. Ma कामुकजनम॰ 4. B. Ma, Ma एवं

**सारिकेति**। सारिका क्रीडाशुकी मण्डुकं जलक्रीडावद्यम्। विलम्बिताः यथा यथा सम्भूय गमनं स्यात्तथा शनैश्चरन्तः। विटङ्कितम् इति पाठे श्रृङ्गारिता इत्यर्थः॥ ५॥

**आब्रह्मघोषोर्जितयक्षवैशसं विप्रर्षिजुष्टं विबुधैश्च कृत्स्नशः।**
**मृद्दार्वयः काञ्चनदर्भचर्मभिः निसृष्टभाण्डं यजनं समाविशत्॥ ६॥**

**तामागतां तत्र न कश्चनाऽऽद्रियत् विमानितां यज्ञकृतो भयाज्जनः।**
**ऋते स्वसृः स्वां जननीञ्च सोदराः प्रेम्णाऽश्रुकण्ठ्यः परिषस्वजुर्मुदा॥ ७॥**

**सौदर्य सम्प्रश्नसमर्थवार्तया मात्रा च मातृष्वसृभिश्च सादरम्।**
**दत्तां सपर्यां वरमासनञ्च सा नाऽऽदत्त पित्राऽप्रतिनन्दिता सती॥ ८॥**

**अरुद्रभागं तमवेक्ष्य चाध्वरं पित्रा च देवे कृतहेलनं विभौ।**
**अनादृता यज्ञसदस्यधीश्वरी चुकोप लोकानिव धक्ष्यती रुषा॥ ९॥**

**जगर्ह सामर्षविपन्नया गिरा शिवद्विषं धूमपथश्रमस्मयम्।**
**स्वतेजसा भूतगणान् समुत्थितान् निगृह्य देवी जगतोऽभिशृण्वतः॥ १०॥**

**श्रीध. आब्रह्मेति**। आ समन्तात् यो वेदघोषः तेन ऊर्जितं शोभमानं यज्ञसम्बन्धिपशुविशसनं यस्मिन्। यद्वा तेन ऊर्जितम् अतिशयितं यज्ञवैशसं परस्परं स्पर्धा यस्मिन् तद् यजनं यज्ञस्थानं समाविशत् देवी। विबुधैश्च जुष्टं मृदादिभिर्निसृष्टानि निर्मितानि भाण्डानि पात्राणि यस्मिन्॥ ६॥

**तामिति**। कश्चन नाऽऽद्रियत् नाऽऽदृतवान्। यज्ञकृतः दक्षात् यद्भयं तस्मात्। तत्र हेतुः तेन विमानितां, स्वसृर्जननीञ्च ऋते विना - तास्तु सादराः परिषस्वजुः आलिङ्गितवत्यः प्रेमाश्रुभिः निरुद्धः कण्ठः यासाम्॥ ७॥

**सौदर्येति**। अप्रतिनन्दिता अनादृता सती नाऽऽदत्त न गृहीतवती। कथम्? सौदर्येण सोदरत्वेन भगिनीनां यः सम्प्रश्नः तत्र समर्था योग्या या वार्ता तया सह तां च नाऽऽदत्त नाऽश्रृणोदित्यर्थः॥ ८॥

---

1. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T सर्वशः 2. M, Ma, Ms स्वसारो; A, B, G, I, J, T स्वसृर्वै 3. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, V सादराः
4. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T प्रेमाऽ 5. M, Ma, Ms, V सौन्दर्य 6. W समस्त 7. W परं 8. Ms ऽनु 9. V शोभितं 10. V omits देवी
11. V प्रोम्णा 12. A (सम्यक्तया)

**अरुद्रेति**। न विद्यते रुद्रस्य भागः यस्मिन् तम्। देवे रुद्रे कृतं हेलनम् अवज्ञानं च आह्वानाद्यकरणात्॥ ९॥

**जगर्हेति**। जगर्ह निन्दितवती। अमर्षेण कोपेन विपन्ना अव्यक्ता तया गिरा[1] शिवं द्वेष्टीति शिवद्विट् तम्। धूमपथः कर्ममार्गः तत्र क्षमः अभ्यासः तेन स्मयो गर्वो यस्य। दक्षवधाय समुत्थितान् स्वाज्ञया निगृह्य निवार्य॥ १०॥

**वीर.** आसमन्तात् ब्रह्मघोषेण वेदघोषेण[2] ऊर्जितं व्याप्तं यज्ञसम्बन्धि वैशसं विशसनं यस्मिन् तत्। ब्रह्मघोषोर्जितं च तद्यज्ञवैशसं चेति कर्मधारयः। विप्रर्षिभिः ब्रह्मर्षिभिः जुष्टं सेवितं तथा विबुधैः देवैश्च सर्वतो जुष्टं मृदादिभिर्निसृष्टानि निर्मितानि भाण्डानि पात्राणि यस्मिन् तत्। यजनं यागस्थानं समाविशत्॥ ६॥

तत्राऽऽगतां तां सतीं जननीं स्वसृश्च ऋते विना कश्चन कोऽपि नाद्रियत् नादृतवान्। कुतः ? यज्ञकृतो दक्षात् यद्भयं तस्मात्। तत्र हेतुः - तेन विमानिताम् अवमानितां तास्तु सोदराः प्रेमाश्रुभिः निरुद्धः कण्ठो यासां तथाभूतास्तां मुदा परिषस्वजुः आलिङ्गितवत्यः॥७॥

मात्रा मातृष्वसृभिः मातृभागिनीभिश्च सौदर्यसम्प्रश्नसमस्तवार्तया सोदरीणां भगिनीनाञ्च सम्बन्धी यः कुशलप्रश्नादिस्तत्पूर्वया समस्तवार्तया सकलवृत्तान्तेन सह। समर्थवार्तयेति पाठे सौदर्येण सोदरत्वेन भगिनीनां यः सम्प्रश्नः तत्र समर्था योग्या या वार्ता तया सादरं आदरेण सहितं यथा तथा दत्तां[3] सपर्यां पूजाम् उत्कृष्टमासनं च सती नाऽऽदत्त न स्वीकृतवती। तत्र हेतुः पित्रा दक्षेण अप्रतिनन्दिता अनादृता॥ ८॥

अरुद्रभागं न विद्यते रुद्रस्य भागः यस्मिन् तमध्वरं यागं विभौ देवे रुद्रे पित्रा दक्षेण कृतं हेलनम् अपराधं चावेक्ष्य आह्वानाद्यकरणात्। तथा स्वयं यज्ञसदसि पित्रा अनादृता च रुषा लोकान् धक्ष्यती भस्मीकुर्वाणेव चुकोप क्रुद्धवती॥ ९॥

सा सती देवी अमर्षविपन्नया अमर्षेण[4] कोपेन[5] विपन्नया अव्यक्तया गिरा वाचा रुद्रावहेलनादिना समुत्थितान् दक्षं हन्तुमुद्यतान् भूतगणान् मणिमन्मदादीन् स्वतेजसा स्वबलेन निगृह्य निवार्य धूमपथश्रमस्मयं धूमपथेषु धूमादिमार्गप्रदकर्मसु परिश्रमोत्थगर्वं शिवं द्वेष्टीति शिवद्विट् तं दक्षं जगर्ह निन्दितवती निन्दावाक्यान्युक्तवतीत्यर्थः॥ १०॥

**विज.** एवं भर्तृप्रेषितानुचरसूचितस्नेहात् शान्तमनस्कत्वेन पश्चान्न गता किन्तु पुरत एव गत्वा सा यज्ञवार माविशदित्याह - **आब्रह्मेति**। आ समन्तात् ब्रह्मघोषेण वेदध्वनिना ब्रह्मलोकपर्यन्तगामिना ध्वनिना वा ऊर्जितं सङ्कुलं यज्ञार्थं वैशसं पशुसंज्ञपनं पशुहिंसनं यस्मिन् तत्तथा। मृच्च दारु च अयश्च काञ्चनं च दर्भाश्च चर्माणि च तैर्निसृष्टानि निर्मितानि भाण्डानि यस्मिंस्तथा॥ ६॥

---

1. A, B, J, Va omit गिरा 2. A, B, T omit वेदघोषेण 3. A, B, T omit दत्तां 4. A, T, omit अमर्षेण कोपेन विपन्नया 5. B क्रोधेन

तस्या अवज्ञाकरणप्रकारमाह - **तामागतामिति**। यज्ञकृतो दक्षस्य कश्चनेत्यस्य व्यावृत्तिमाह - ऋते इति, स्वसारः स्वसृः तत्स्नेहः कुतोऽवगत इति तत्राह - सादराः सानुरागा इति॥ ७॥

सती प्रत्यालिङ्गनादिकं किं कृतवती ? नेति भावेनाह - **सौदर्येति**। प्रधानावज्ञा दुस्सहेति भावेनाह - पित्रेति। अप्रतिनन्दिता अकृतमनस्सन्तोषा॥ ८॥

ततः किमकरोदिति तत्राह - **अरुद्रभागमिति**। न रुद्रस्य भागो यस्मिन् स तथा तम्। कृतहेलनं कृतावज्ञम्॥ ९॥

अधीश्वर्या कुपितमित्यत्र किं लिङ्गमत्राह - **जगर्हेति**। अमर्षेण विपन्नया गद्गदभावं प्राप्तया धूमपथः कर्ममार्गः तद्विषये श्रमः शिक्षा स्मयो गर्वो यस्य स तथा तं, कर्ममार्गेऽतिनिष्णातमित्यर्थः। स्वतेजसा स्वभावेन निगृह्य निवार्य॥ १०॥

## श्रीदेव्युवाच

**न यस्य लोकेऽस्त्यतिशायिनः प्रियस्तथाऽप्रियो देहभृतां प्रियात्मनः।**
**तस्मिन् समस्तात्मनि मुक्तवैरके ऋते भवन्तं कतमः प्रतीपयेत्[1]॥ ११॥**

**दोषान् परेषां हि गुणेष्वसाधवो[2] गृह्णन्ति केचिन्न भवादृशा द्विज[3]।**
**गुणांश्च फल्गून् बहुलीकरिष्णवो महत्तमास्तेष्वविदद्भवानघम्॥ १२॥**

**नाश्चर्यमेतद्यदसत्सु सर्वदा महद्विनिन्दा कुणपात्मवादिषु।**
**सेर्ष्यं[4] महापूरुषपादपांसुभिर्निरस्ततेजस्सु तदेव शोभनम्॥ १३॥**

**यद् द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणां सकृत्प्रसङ्गादघमाशु हन्ति तत्।**
**पवित्रकीर्तिं तमलङ्घ्यशासनं भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः॥ १४॥**

**यत्पादपद्मं महतां मनोऽलिभिर्निषेवितं ब्रह्मरसासवार्थिभिः।**
**लोकस्य यद्वर्षति चाशिषोऽर्थिनस्तस्मै भवान् द्रुह्यति विश्वबन्धवे॥ १५॥**

**श्रीध.** निन्दामेवाह - **न यस्येति** त्रयोदशभिः। मुक्तवैरके त्यक्तविरोधे तस्मिन् शिवे भवन्तमृते विना कतमः[5] प्रतीपयेत्

---

1. M, Ma, Ms प्रतीपकः 2. A, B, G, I, J, T °षु 3. M, Ma, Ms द्विजाः 4. M, Ma, Ms सेर्ष्या 5. V adds कः

प्रतिकूलमाचरेत्। वैराभावे हेतवः - यस्य लोके अतिशायिनोऽतिशयितो नास्ति। तथा प्रियश्चाप्रियश्च नास्ति। समासपाठेऽतिशयेन प्रियो नास्ति देहभृतां प्रियोऽयमात्मा[1] यस्य। समस्तस्यात्मनि कारणभूते समस्तरूपे[2] इति वा॥ ११॥

तस्य च प्रतिकूलकारणं द्वेधा महत्तमद्रोहेण साक्षात् तद्द्रोहेण च। तत्र पुरुषाणां चातुर्विध्यं वदन्ती महत्तमद्रोहमाह - **दोषानिति** द्वाभ्याम्। हे द्विजेत्यधिक्षेपः। भवादृशाः त्वद्विधाः असूयकाः परेषां गुणेषु दोषानेव गृह्णन्ति न तु गुणान्, [3-]ते अधमा उच्यन्ते[-3]। केचिन्मध्यस्था[4] परगुणेषु दोषान्न गृह्णन्ति, किन्तु यथास्थितान्[5] गुणदोषान् विवेकेन गृह्णन्ति, ते तु महान्त उच्यन्ते। साधवस्तु केवलं गुणानेव गृह्णन्ति न दोषान् ते तु महत्तरा उच्यन्ते। महत्तमास्तु दोषान्न गृह्णन्त्येव, [6]ते च प्रत्युत फल्गूंस्तुच्छानपि गुणान् बहुलीकुर्वन्तीति (बहुली) करिष्णवो भवन्ति। तेषु भवानघमविदत् विदितवान् कल्पितवानित्यर्थः। तच्च "ब्रह्मिष्ठानभिभूय" (भाग. 4-3-3) इत्यनेन सूचितम्॥ १२॥

एतच्च दुर्जनेषु युक्तमेवेत्याह - नेति। कुणपं[7] जडं शरीरं तदेवात्मेति वदन्ति ये तेषु ईर्ष्या अक्षान्तिः[8] सेर्ष्यं यथा भवत्येवं महतां विनिन्देति यदेतदाश्चर्यं न भवति। यद्वा महतां पादपांसुभिः सेर्ष्यं निरस्तं तेजः प्रभाव एषामिति। यद्यपि महापुरुषाः[9] स्वनिन्दां सहन्ते तथापि तत्पादरेणवस्तदसहमानाः तेषां तेजो निरस्यन्ति। अतोऽशक्तेषु[10] महन्निन्दनमेवोचितमित्यर्थः॥ १३॥

तदेवं महत्तमद्रोहमुक्त्वा तस्मिन्नेव कृतं द्रोहमाह - **यदिति** द्वाभ्याम्। यद्यस्य द्व्यक्षरमात्रमपि[11] शिव इति तत्प्रसिद्धं नाम नृणां सर्वेषामाशु अघं सर्वं हन्ति केवलं गिरैवेरितम् उच्चारितं[12] न तु मनः पूर्वकम्, [13]तच्च सकृदपि प्रसङ्गादपि। तं शिवं द्वेष्टि। न लङ्घ्यं शासनमाज्ञा यस्य। अहो शिवतरोऽमङ्गलरूपः॥ १४॥

पापहरत्वमुक्त्वा भुक्तिमुक्तिप्रदत्वेन शिवं वर्णयन्त्याह - **यदिति**। यस्य पादपद्मं[14] महतां मनांस्येवाऽलयः तैः, ब्रह्मरसो ब्रह्मानन्दः स एवाऽऽसवो मकरन्दस्तदर्थिभिः। यच्च अर्थिनः सकामस्य लोकस्य तास्ता आशिषो वर्षति। [15-]विश्वबन्धवे जगत्पित्रे[-15]॥१५॥

**वीर.** तान्येवाह - **न यस्येति** त्रयोदशभिः। प्रियात्मनः प्रियः निरतिशयप्रीतिविषयः आत्मा परमपुरुषः यस्य सः। "प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमहं स च मम प्रियः" (भ.गी. 7-17) इति गीतत्वात्। यस्य रुद्रस्य लोके भवने देहभृतां मध्ये अतिशायनः अतिशयितः प्रियः प्रीतिविषयः तथाऽप्रियो वा नास्ति। सर्वान्तरात्मानं परमात्मानमेव निरतिशयप्रीतिरूपापन्नया भक्त्या भजतः तस्य सर्वं

---

1. V प्रियो यः आत्मा 2. A omits रूपे 3--3. B, J, V, Va omits 4. A, B, J, Va omit पर 5. V गुणान् 6. V omits ते च 7. V मृतं 8. Va अशान्तिः 9. V महान्ताः 10. V उसत्सु 11. B, J, V, Va omit अपि 12. V °च्च° 13. A, B, J, Va तत्तु 14. A, B, J, Va omit महतां 15--15. B, J, V, Va omit

ब्रह्मात्मकतयानुसन्दधतः प्रियाप्रियादिविभागो नास्तीत्यर्थः। तस्मिन् मुक्तवैरके सर्वभूतसुहृदि समस्तात्मनि स समस्तस्यात्मा आत्मवत्प्रियः तस्मिन्। यद्वा समस्ते आत्मा ब्रह्मा पूर्णमिति चित्तं यस्य तस्मिन्। "तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं, सूर्यश्च कक्षीवानृषिर्विप्रश्च" (बृह. उ. 1-4-10) इत्यादि श्रुत्युक्तविधया सर्वात्मकं ब्रह्म सर्वात्मकत्वेन स्वस्मिन् साक्षात्कुर्वतीति वार्थः। योऽहं शरीरकः परमात्मा स एव मन्वादिशरीरक इति श्रुत्यर्थः। यद्वा ब्रह्मण आवेशावतारत्वाद् रुद्रे ब्रह्मदृष्ट्या[1] वा इदमुक्तं - समस्तात्मनीति। अस्मिन् पक्षे षष्ठीतत्पुरुषः सङ्गतः[2]। एवंविधे रुद्रे भवन्तं विना कतमः को वा प्रतीपयेत् प्रातिकूल्यमाचरेत्॥ ११॥

एवं ब्रह्मविद्योसरस्य रुद्रस्य प्रतीपाविषयत्वमुक्तम् अथैतस्मिन् साधौ ब्रह्मविदि कृतापराधात्[3] दुर्जनात् त्वत्तः उत्पन्नमिदं शरीरं त्यक्ष्यामीति वक्ष्यन्ती प्रथमं साध्वसाधुलोकौ विभजति - **दोषानिति**। हे द्विज! पितृशब्देनाऽसम्बोधनं तदधिक्षेपाय भवादृशाः केचित् त्वादृशाः दुर्जनाः परेषां स्वापेक्षया अन्येषां गुणेषु सत्स्वपि दोषानेव गृह्णन्ति तानेवोद्घाटयन्ति न तु गुणान् तेऽसाधव इत्यर्थः। ये पुनः रुद्रादयः दोषान् न गृह्णन्ति किन्तु फल्गूनपि अल्पानपि गुणानेव बहुलीकरिष्णवः वितनोतुमिच्छवो भवन्ति, ते महत्तमाः। गुणेषु साधव इति पाठे ये साधवः फल्गूनपि गुणान् बहुलीकरिष्णवस्ते महत्तमा इत्यन्वयः। तेषु च महत्तमेषु च भवानघमपराधं[4] अविदत् लब्धवान् कृतवानित्यर्थः॥ १२॥

असतां त्वादृशानामिदं[5] महत्स्वपचरणं युक्तमेवेत्याह - **नाश्चर्यमिति**। कुणपात्मवादिषु कुणपं शवप्रायं शरीरमेवात्मेति ये वदन्ति तेषु भवादृशेष्वसत्सु सर्वथा सेर्ष्यम् ईर्ष्या अक्षमा सेर्ष्यं यथा भवति तथा महद्विनिन्दा महत्तमविषयनिन्देति यदे[6] तत् तदाश्चर्यं[7] न भवति। प्रत्युत महापूरुषपादपांसुभिः महापूरुषाः महत्तमास्तेषाम् अङ्घ्रिजोभिः निरस्तं तेजः प्रभावो येषां तेषु त्वादृशेषु तदेव महद्विनिन्दनमेव शोभनम् उचितम्। यद्यपि महान्तः स्वनिन्दां सहन्ते, तथापि तत्पादरेणवस्तदसहमानास्तेषां तेजो निरस्यन्ति। अतोऽसत्सु महद्विनिन्दनमेवोचितमित्यर्थः॥ १३॥

कोऽसावपचारो महत्सु मयाकृत इत्यत्राह - **यदिति** द्वाभ्याम्। यस्य रुद्रस्य द्व्यक्षरं शिव इत्यक्षरद्वयात्मकं नाम नामधेयं प्रसङ्गादपि सकृद्गिरा वागिन्द्रियेणेरितमुच्चारितं नृणामघं पापमाशु द्राक् हन्ति निवर्तयति। सतामपि नामोच्चारणादेः भगवन्नामवदघनिवर्तकत्वादिति भावः। अलङ्घ्यम् अनतिक्रमणीयं शासनमाज्ञा यस्य तं शिवम् अशिवोऽमङ्गलो भवान् द्वेष्टि। अहो कष्टम्। अमङ्गलो द्वेष्टीत्यनेन तद्द्वेषाद्भवतोऽमङ्गलमनन्तरभावीति भावः॥ १४॥

---

1. A, B, T दृष्टैवे 2. A, B, T सम्मतः 3. A, B, T राधिनो 4. A, T °नेव° 5. A, B °शामिदं 6. W omits एतत् 7. A, B, T तवा° 8. A, B, T omit महत् 9. A, B, T °च्च°

किञ्च ब्रह्मरसासवार्थिभिः ब्रह्मरसो ब्रह्मानन्दः स एवाऽऽसवो मकरन्दस्तदर्थिभिः ब्रह्मानन्दानुभवमधुलिप्सुभिः महतां मनांस्येवालयो भृङ्गास्तैः यस्य रुद्रस्य पादपद्मं निषेवितं "ईश्वराज्ज्ञानमन्विच्छेत्" (मात्स्य.पु.67-41) इति ज्ञानप्रदत्वादिति भावः। कीदृशं तत्पादपद्मं यन्निषेवितं, तत्राह - यत्पादपद्मम् अर्थिनो लोकस्य याचमानस्य जनस्य आशिषो अभीष्टानि वर्षति ददाति तस्मै विश्वबन्धवे विश्वानुकूलाय भवान् द्रुह्यति अपकरोति। "क्रुधद्रुह" इति चतुर्थी॥ १५॥

**विज.** स्त्रीत्वेपि प्रमाणवद्युक्त्या निनिन्देत्याह - **न यस्येति**। लोके भुवने विद्यमानानां देहभृतां शरीरिणां प्रियात्मनोमनोभीष्ट-रूपस्य यस्य रुद्रस्य योग्यतातिरेकेण अतिशायनः प्रियोऽतिप्रियस्तथाऽप्रियो द्वेष्यश्च नास्ति तस्मिन् रुद्रे भवन्तमृते पुरुषाणां कतमः पुरुषः प्रतीपको न कोऽपीत्यर्थः। प्रतीपाकरणे हेत्वन्तरं चाह - समस्तात्मनीति। विष्णवादीन् षट् ऋते इन्द्रादिसमस्तस्वामिनि न हिकश्चित् विरोध्य तिष्ठति। स्वाम्यपि वैरकृच्चेत् तस्मिन् द्वेषः सम्भावित इत्यत उक्तमेव हेतुं स्मारयति - मुक्तवैरक इति। वैरेऽप्युपलक्षणं प्रेमापि विमुक्तप्रिय इत्यर्थः॥ ११॥

तत्त्वतोऽपि भवानपि भवद्वेषं कर्तुं न योग्य इत्याह - **दोषानिति**। केचिदसाधवो दुर्जनाः परेषामुत्तमानां गुणेषु दोषानेव गृह्णन्ति न गुणान्। तदुक्तं - "दोषोप्येको यदि गुणगणे तत्र मुक्त्वा गुणौघान्। दोषग्राही भवति हि खलः सल्लिकातुल्यधर्मः" इति। भवादृशाः महत्तमाः द्विजा फल्गून् अल्पान्[1] गुणान् बहुलीकरिष्णवो न दोषान् गृह्णन्ति किन्तु गुणानेव। "दोषान्मुक्त्वा गुणमनुभवन् स्वल्पमप्येति तृप्तिं साधुर्लोके सलिलमिलितक्षीरपायीव हंसः।" इति। तत्रैवं शास्त्रे स्थिते महत्तमेषु गणितो भवान् भवद्वेषाद् अघमविदल्लब्धवान्। हि अहो कष्टमिति शेषः। द्विजा इत्यनेन दक्षस्य शास्त्रविचारयोग्यतातिशयं सूचयति॥ १२॥

असतां योग्यो महत्तमेष्वेकस्य तव शिवद्वेषो ममाश्चर्यबुद्धिं जनयतीति भावेनाह - **नाश्चर्यमिति**। कुणं कर्मफलं पिबतीति कुणपो देहः स एवात्मेति वादिनस्तेषु असत्सु ईर्ष्यया सह वर्तमाना[2] महतां विनिन्दाऽस्तीति यन्नैतदाश्चर्यं किन्तु तदेव महद्विनिन्दनमेव शोभवमित्यन्वयः। कुणपात्मवादित्वं च विद्वज्जननिषेवाया अभावादित्याह - महापूरुषेति। क्वचिद् विद्वज्जनसेवया आप्तशास्त्रज्ञानेन हि तत्त्वज्ञानं स्यात् तद् द्वेषान्नास्ति अतो युक्तं कुणपात्मवादित्वेन महद्विनिन्दनं; भवान्नैतादृशोऽतो ममाश्चर्यबुद्धिरिति॥ १३॥

महद्विनिन्दनं मया न कृतमिति वक्तुं न शक्यत इत्याह - **यद् द्व्यक्षरमिति**। शिव इति द्वे अक्षरे यस्मिंस्तत् द्व्यक्षरं यस्य भगवतो यत् द्व्यक्षरं नाम तत् सकृत्कथाप्रसङ्गात् गिरा वागिन्द्रियेणेरितम् उच्चारितं नृणामघम् अन्येन हन्तुमशक्यं दुःखं वाऽऽशु हन्ति नाशयति भवांस्तं शिवं द्वेष्ट्यहो "लुप्तक्रियाया शुचये मानिने भिन्नसेतवे" (भाग. 4-2-13) इत्यतो भवान् शिवेंतरो

1. A, B omit अल्पान्  2. A °नेषु; B नाना

लुप्तक्रियोऽशुचिः। शिवस्त्वशुचीनां पुंसां शुचिहेतुदुःखनाशनान्नित्यं शुचिरिति भावेनाह - पवित्रेति। शिवनामकीर्तनादेकदा नष्टं दुःखं पुनर्न रोहतीति भावेनाह - अलङ्घ्येति। न लङ्घ्यम् अन्यथा कर्तुं शक्यं तन्नामकीर्तनादुत्पन्नं शुभं प्रनष्टमशुभं चेति शासनं शास्त्रं यस्य स तथा तम्॥ १४॥

"प्रेतावासेषु घोरेषु" (भाग. 4-2-14) "चिताभस्मकृतस्नानः" (भाग.4-2-15) इत्यादेः श्लोकद्वयेनोत्तरं ध्वनयति - **यत्पादपद्ममिति**। ब्रह्मरसः ब्रह्मज्ञानजन्य आनन्दः स एवाऽऽसव इन्द्रियतृप्तिकरं मधु तस्यार्थना शीलं येषां ते, तयोक्ताः तैर्महतां सनकादीनां मनांस्येवाऽलयः भृङ्गास्तैर्यस्य पादपद्मं नितरां सेवितं यद्देवदत्तपादवन्निष्फलं नेत्याह - लोकस्येति। आशिषः अभ्युदयलक्षणाः अनेन गुरुद्रोहित्वं तव प्राप्तमित्युक्तं भवति। "सनकादयो रुद्रशिष्यास्तेषामन्ये तु योगिनः। ब्रह्मशिष्यस्तथा रुद्रो ब्रह्मा नारायणस्य च॥" (ब्राह्मे) इति विशेषवचनान्महतामित्यनेन सनकादयो गृह्यन्ते॥ १५॥

**किं वा शिवाख्यमशिवं न विदुस्त्वदन्ये ब्रह्मादयस्तमवकीर्य जटाः श्मशाने।**
**तन्माल्यभस्मनृकपाल्यवसन्निशाचैर्ये मूर्धभिर्दधति तच्चरणावसृष्टम्॥ १६॥**

**कर्णौ पिधाय निरियाद्यदकल्प[1] ईशे[2] धर्मावितर्यसृणिभिर्नृभिरस्यमाने[3]।**
**छिन्द्यात्प्रसह्य रुशतीमसतां[4] प्रभुश्चेज्जिह्वामसूनपि ततो विसृजेत्सधर्मः॥ १७॥**

**अतस्त्वोत्पन्नमिदं कलेवरं न धारयिष्ये शितिकण्ठगर्हिणः।**
**जग्धस्य मोहाद्धि विशुद्धिमन्धसो जुगुप्सितस्योद्गिरणं[5] प्रचक्षते॥ १८॥**

**न वेदवादाननुवर्तते मतिः स्व एव लोके रमतो महामुनेः।**
**यथा गतिर्देवमनुष्ययोः पृथक् स्व एव धर्मे न परं क्षिपेत् स्थितः॥ १९॥**

**कर्मप्रवृत्तं च निवृत्तमप्यृतं[6] वेदे विविच्योभयलिङ्गमाश्रितम्।**
**विरोधि तद्यौगपदैककर्तरि[7] द्वयं तथा ब्रह्मणि कर्म नर्छति॥ २०॥**

**श्रीध.** यदुक्तं "शिवापदेशो ह्यशिव" (भाग. 4-2-15) इति, यच्चोक्तं "प्रेतावासेषु" इत्यादि, तदाक्षिपन्त्याह - **किं**

---

1. A, B, G, I, J, T, V निरया° 2. A, B, G, I, J, M, Ma, T °ल्प 3. M, Ma, Ms °घृ° 4. A, B, G, I, J, T °ती° 5. A, B, G, I, J, T °द्ध° 6. M, Ma, Ms °प्युत 7. M, Ma, Ms °दे°

**वेति**। यो[1] जरा अवकीर्य श्मशानेऽवसद् वसति स्म। तस्य श्मशानस्य माल्यानि भस्मानि नृकपालानि च भूषणत्वेन सन्ति यस्य तं त्वत्तोऽन्ये न विदुः किम् ? विदन्त्येवेति चेन्न। तथा सति तेषां तद्दास्यानुपपत्तेरित्याह - तच्चरणादवसृष्टं गलितं निर्माल्यं ये[2] मूर्धभिर्धारयन्ति॥ १६॥

इदानीं देहं त्यक्तुकामा धर्मतत्त्वमाह - **कर्णाविति**। कर्णौ पिधायाच्छाद्य[3] निर्गच्छेत् यद्यदि मर्तुं मारयितुं वा अकल्यः[4] समर्थो न भवति। कदा धर्मावितरि धर्मरक्षके ईशे स्वामिनि असृणिभिर्निरङ्कुशैः नृभिरस्यमानेऽधिक्षिप्यमाणे प्रभुः शक्तश्चेत् रुशतीमकल्याणवादिनीं जिह्वां[5] प्रसह्य बलात् छिन्द्यात्। ततोऽपि[6] स्वयं प्राणान् विसृजेदिति यत् स धर्मः॥ १७॥

**अत इति** - तव त्वत्त उत्पन्नं शरीरं[7] शितिकण्ठो नीलकण्ठः तन्निन्दकात् प्रमादादापन्नस्य अपवित्रस्य त्यागं विना न शुद्धिरिति दृष्टान्तेनाह - जग्धस्य भक्षितस्यान्नस्योद्गिरणं[8] वमनमेव पुंसो विशुद्धिं प्रचक्षते॥ १८॥

यदुक्तं "लुप्तक्रियाया शुचये" (भाग.4-2-13) इति तत्राह - **नेति**। वेदवादान् विधिनिषेधरूपान् स्व एव लोके स्वात्मन्येव रममाणस्य महतो मुनेः सम्यग् विरक्तस्य मतिर्नानुवर्तते निवृत्ताधिकारत्वात्[9]। अधिकारभेदे[10] दृष्टान्तः - यथा देवानां गतिराकाश एव मनुष्याणां पृथिव्यामेव। अतः एव धर्मे प्रवृत्तिलक्षणे निवृत्तिलक्षणे वा स्थितस्सन् परमन्यं धर्मं पुरुषं वा न क्षिपेन्न निन्देत्। व्यवस्थिताधिकारत्वेनोभयोः सत्यत्वात्। न क्षिपेदेवेति वाऽन्वयः॥ १९॥

एतदेवोपपादयन्त्याह - **कर्मेति**। यत्[11] प्रवृत्तमग्निहोत्रादि, निवृत्तं शमदमादि च ऋतं सत्यमेव, यतो वेदे आश्रितं विहितं तच्च विविच्य व्यवस्थयाऽऽश्रितं न त्वविशेषेण। व्यवस्थामेवाऽऽह - उभयं रागवैराग्यलक्षणं लिङ्गचिह्नमधिकारिविशेषणं यस्मिन् तत्। ननु "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" "शान्तो दान्तः" (सुबा.उ. 9-14) इत्यादिषु नैवं व्यवस्था प्रतीयते, सत्यम्। तथाप्युभयोरेकाधिकारविरोधात्[12] तथा पर्यवस्यतीत्याह - युगपद्भावो यौगपदं यौगपदेनैकस्मिन् कर्तरि तत्कर्मद्वयं विरोधि। ननु तर्हि निवृत्तकर्म शिवेनापि कर्तव्यमेव नेत्याह। ब्रह्मणि सदाशिवे अदः[13] उभयलक्षणं किञ्चिदपि कर्म न ऋच्छति न प्राप्नोति, अतो यथा प्रवृत्तिनिवृत्त्योः परस्परधर्माकरणे न दोषः तथेश्वरे एतदुभयधर्माकरणेऽपीति भावः॥ २०॥

**वीर.** नन्वमङ्गलाचारत्वात् तन्नामैव न स्मर्तव्यं तत्राह - **किं वेति**। यो रुद्रः श्मशाने जटाः अवकीर्य विक्षिप्य

---

1. A omits यो 2. B, J, Va omit ये 3. A, B, J, Va omit पिधाय 4. A, B, J, Va कल्पो न भवति। 5. B, J, V, Va omit जिह्वां 6. V तथा; Va सोऽपि 7. A, B, J, Va omit शरीरं 8. A, B, J, Va °द्ध° 9. V °रि° 10. V °रि° 11. A, B, J, Va omit यत् 12. V कारित्ववि° 13. A, B, J, Va omit अदः उभयलक्षणं

तन्माल्यभस्मनृकपाली श्मशानमाल्यभस्मनरकपालवान् पिशाचैः सह अवसत् तमेवमशिवममङ्गलाचारं रुद्रं, तच्चरणावसृष्टं रज इत्यध्याहारः। ये ब्रह्मादयो मूर्धभिः शिरोभिर्दधति धारयन्ति ते त्वदन्ते त्वत्तो[1]ऽन्ये ब्रह्मादयः मरीच्यादिनवब्रह्मप्रभृतयः, यद्वा अतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः, अन्यथा "अजंलोकगुरुं नत्वा" (भाग. 4-6-7) इत्यादिपूर्वापरविरोधात्। शिवाख्यं शिव इति आख्या नाम यस्य तथाभूतं न विदुः किम् ? विदुरेवेत्यर्थः। अमङ्गलाचारस्त्वनुकरणमात्रमिति भावः। ननु अस्य[2] परस्य ब्रह्मणो विष्णोः सर्वोत्तमत्वजगत्कारणत्वोपास्यत्वमोक्षप्रदत्वादिप्रतिपादकवेदान्तार्थोऽपि बृंहणपरेऽस्मिन् पुराणे मध्ये तत्र तत्र रुद्रादिजीवविशेषस्य कार्यत्वकर्मवश्यत्वादीन् प्रतिपाद्य पुनः (तस्मिन्) "समस्तात्मनि मुक्तवैरके" (भाग. 4-4-11) "ब्रह्मादयो ये मूर्द्धभिदधति तच्चरणावसृष्टं" (भाग. 4-4-16) "नाहं न यज्ञो न च यूयमन्ये। ये देहभाजो मुनयश्च तत्त्वम्। विदुः प्रमाणं बलवीर्ययोर्वा।" (भाग. 4-6-7) "त्वमेव भगवन्नेतच्छिवशक्त्योः स्वरूपयोः। विश्वं सृजसि पास्यत्सि क्रीडन्नूर्णपदो यथा। (भाग. 4-6-43) अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्"। (भाग. 4-7-50) "त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्॥ सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् ! स शान्तिमधिगच्छति।" (भाग. 4-7-54) इत्यादिषु भवानी ब्रह्म विष्ण्वादिवचनेषु सर्वोत्तमत्वजगत्कारणत्वोपास्यत्वादीन् विरुद्धान् प्रतिपादयन् भगवान् पाराशर्यः कथं विश्वसनीय इति चेन्न। अत्र पुराणे परस्परविरुद्धार्थकथनं न क्वाप्यस्ति। क्वचित् प्रतीयमानमपि देवतान्तरस्योत्तमत्वकारणत्वोपास्यत्वादिकं प्रतर्द्दनाधिकरणन्यायेन रुद्रादिशरीरकपरमात्माभिप्रायकं रुद्रादेः भगवदावेशावतारत्वाद्वा भगवद्दृष्ट्योपपन्नमेतत्। अथवा यथावस्थित भूतपूर्ववृत्तान्तस्य वा अस्मिन् पुराणे कथनात् तत्र तत्र कथासु भवानीप्रभृतिभिर्यानि वाक्यान्यभिहितानि तेषामेव अत्र निबद्धत्वात् तत्र भवान्यादिवाक्यानां पतिपारार्थ्यब्रह्मात्मकत्वप्रशंसात्मकत्वादितात्पर्यविशेषप्रवृत्तत्वान्नपाराशर्येण विरुद्धमभिहितम्। नन्वेवमपि ब्रह्मात्मकत्वेनापि रुद्राद्युपासनं[3] कर्तव्यमिति। "यद्द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणाम्। सकृत्प्रसङ्गादघमाशु हन्ति।" (भाग. 4-4-14) पवित्रकीर्तिं "ये मूर्द्धभिर्दधति तच्चरणावसृष्टम्" (भाग. 4-4-16) इत्यादिवचनेभ्यः प्रतीयते क्वचित् क्वचित्। सात्त्विकतन्त्रे "नान्यं देवं नमस्कुर्यान्नान्यं देवं निरीक्षयेत्। नान्यं प्रा[4]सादमारोहेन्नान्यदायतनं विशेत्" इत्यादिभिः देवतान्तरवन्दनादिप्रतिषेधः तथा तद्भक्तैः सहदर्शनसमानासनसंस्पर्श[5]सहसम्भाषण दृष्टिभुक्त्यादयः प्रतिषिद्धाः, प्रत्युत देवतान्तर तद्भक्तादयस्तत्र तत्र निन्द्यन्ते। अतः सात्वतैतत्पुराणयोर्विरोधः, मैवम्। ब्रह्मोपासनं हि द्विविधं सद्वारकमद्वारकं चेति। तत्र सद्वारकोपासनं नाम रजस्तमःप्रकृतिब्रह्मरुद्रादिजीवशरीरकपरमात्मोपासनम्, अद्वारकन्तु शुद्धसत्वमयस्वेच्छोपात्तदिव्यमङ्गलविग्रहविशिष्टस्य

1. A, B, T omit त्वत्तोऽन्ये 2. W omits अस्य 3. A, B, T add अपि 4. A, B, T प्र° 5. A, B, T omit सह

निरस्तनिखिलदोषस्यानन्तकल्याणगुणाकरस्य श्रियः पत्युर्नारायणस्योपासकरुच्यनुसारेण वासुदेवसङ्कर्षणरामकृष्णादि व्यूहविभवादिभेदेनोपासनम्। तत्राद्यमुपासनं तत्तत्फललिप्सुभिः कार्यम्। द्वितीयं तु मुमुक्षुभिः कामिभिश्च। एतच्च सर्वं भगवता गीताचार्येणैवाभिहितम् - यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति" (भगी. 7-21) इत्यादिना। "अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्" (भगी. 9-22) इत्यादिना, "देवान् देवयजो यान्ति" (भगी. 7-23) इत्यादिना च। अत्राप्युपक्रमे प्रथमस्कन्धेऽभिहितं "रजस्तमःप्रकृतयः समशीलान् भजन्ति वै। पितृभूतप्रजेशादीन् श्रियैश्वर्य प्रजेप्सवः"। (भाग. 1-2-27) "श्रेयांसि तत्र खलु सत्वतनोर्नृणां स्युः" (भाग. 1-2-23) इति। तथा द्वितीये "अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः। तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्।" (भाग. 2-3-10) इति। वक्ष्यते च "धर्मार्थकाममोक्षाणां(ख्यं) य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः। एकमेव हरेस्तस्य कारणं पादसेवनम्" (भाग. 4-8-41) इति। एवं स्थिते द्विविधयाप्युपासनया अव्यभिचारिण्यैव भवितव्यमिति मुमुक्षया भजतां स्वोपास्यात् देवतान्तरवैभवादिदर्शनेन नमस्कारादिकरणेन च स्वदेवताभक्तिर्व्यभिचरिता स्यादिति सर्वथा मुमुक्षूणां देवतान्तरभजनं निषिध्यते, सर्वदेवतानां ब्रह्मात्मकत्वेनानुसन्धानं त्वविरुद्धमेवेति, न सात्वतैतत्पुराणयोर्विरोधः, देवतान्तर तद्भक्तादिनिन्दा तु "न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवृत्ता, किन्तु निन्द्यादितरत्स्तोतुम्" इति न्यायेनोपपन्नेत्यवगन्तव्यम्[1]॥ १६॥

भवतु बहुधा भवः मयाऽभिभूतस्तथापि किं भवत्या भवितव्यमित्यत्राह - **कर्णाविति** द्वाभ्याम्। धर्मावितरि धर्मरक्षके ईशे ईश्वरांशभूते महत्तमे असृणिभिर्निरङ्कुशैः अनिवारितैर्नृभिर्दुर्जनैः अस्यमाने अधिक्षिप्यमाणे सति यद्यधिक्षेपं श्रृण्वन् सुजनः अकल्यः[2] विनिन्दकदुर्जनशिक्षायामसमर्थस्तर्हि कर्णौ श्रोत्रे आच्छाद्य ततो निर्यात्[3] निर्गच्छेत्, यदि प्रभुः समर्थश्चेत् रुशतीं दुष्टां जिह्वां प्रसह्य बलात् छिन्द्यात् ततः स्वयमप्यसून् प्राणान्[4] विसृजेदिति यत् स धर्मः॥ १७॥

अतः शितिकण्ठगर्हिणः शङ्करद्वेषिणस्तव - अपादानस्यैव शेषत्वविवक्षया षष्ठी - उत्पन्नं मम मदीयं कलेबरं न धारयिष्ये प्रमादादापन्नस्याऽपवित्रस्य त्यागं विना न शुद्धिरिति दृष्टान्तेनाह - मोहाज्जग्धस्य भक्षितस्य जुगुप्सितस्य दृष्टस्यान्धसोऽन्नस्य उद्गिरणं वमनमेव पुनः विशुद्धिं प्रचक्षते कथयन्ति॥ १८॥

ननु वृथा किमेवमागृह्णासि ? यतोऽसावमङ्गलो रुद्रो वैदिकं पन्थानमुल्लङ्घ्य वर्तते, अतो मया वैदिकमार्गानुवर्तिना श्रेष्ठेणाक्षिप्त इत्यत्राह - स्वे स्वात्मनि लोके लोक्यते परिशुद्धमनसा दृश्यत इति लोकः ब्रह्म तस्मिन् रममाणस्य महामुने रुद्रस्य मतिर्वेदवादान् "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति अपामसोममृता अभूम" (आप.श्रौ.सू. 8-1-1) इत्यादीन्

1. A, B, T 'त्येवाव 2. A, B, T 'त्यः 3. A, B, T निरयात् 4. W omits प्राणान्

कर्मप्ररोचकानर्थवादान्नानुवर्तते तेषु नासक्ता भवति। निवृत्तिमार्गनिष्ठस्य न प्रवृत्तिमार्गे रुचिरुत्पद्यत इति न तस्य वैदिकपथाऽननुवर्तनमिति भावः। अनयोः प्रवृत्तिनिवृत्तिधर्मनिष्ठयोराचारः पृथगेव दृश्यते, यथा देवमनुष्ययोः गतिः पृथगेव, देवानां गतिराकाश एव। मनुष्याणां गतिः पृथिव्यामेव तद्वत्। अथापि भवानेव श्रेष्ठस्तथाप्युत्कृष्टः स्वकीये धर्मे स्थितो वर्तमानः परं निकृष्टं न क्षिपेन्नाधिक्षिपेदिति यत् स एव धर्मः॥ १९॥

प्रवृत्तिधर्ममपि वैदिकत्वाविशेषात् किमिति नानुवर्तते भव इत्यत्राह - **कर्मेति**। प्रवृत्तं स्वर्गादिफलोद्देशेन प्रवृत्तं कर्म, तथा निवृत्तं फलकामनातो निवृत्तं च कर्म। उभय[1] लिङ्गं फलाभिसन्धिसहित[2]त्वासहितत्वाभ्यां चिह्नाभ्यां युक्तं यथा भवति तथा वेदे विविच्य आश्रितं "स्वर्गकामो यजेत" "शान्तो दान्त उपरतः" (सुबा.उ.9-14) "तमेतं वेदानुवचनेन ब्रह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" (बृह.उ. 4-4-22), "धर्मेण पापमपनुदति" इत्यादि वेदे असाङ्कर्येण यद्यपि विहितं तथापि तद्द्वयं प्रवृत्तिनिवृत्तिभेदेन द्विविधं कर्मयौगपद्येनैककर्तर्येकस्मिन्नधिकारिणि विरोधि परस्परविरुद्धम्। अतो ब्रह्मणि ब्रह्मज्ञाने कर्म प्रवृत्तं निवृत्तं चोभयं कर्म नर्च्छति न प्राप्नोति साधनतामिति शेषः। केवलं निवृत्तं कर्मैव ज्ञानयोगानुगुणं[3] न तु उभयमित्यर्थः। निवृत्तं कर्म शिवेनापि क्रियत इति भावः॥ २०॥

**विज.** त्वदन्ये ब्रह्मा आदिः पिता येषां ते ब्रह्मादयः ब्रह्मपुत्राः सनकादयः। यो रुद्रस्तन्माल्यभस्मनृकपाली तस्मिन् श्मशाने विद्यमानप्रेतालङ्कारमालायोग्यास्थिभस्मनरकपालवान् जटा अवकीर्य प्रसार्य पिशाचैस्सह श्मशानेऽवसदिति तं शिवाख्यमशिवं विदुः किम्? न विदुरेव, नित्यशुद्ध इत्येव विदुः। कुत इति तत्राह - ये मूर्धभिरिति। ये सनकादयः तच्चरणावसृष्टरज आदिकं मूर्धभिर्दधति। अनेन शिवस्याशिवत्वे ज्ञानपूर्वकं तच्चरणरजोधारणासम्भवस्तत्करणाच्च, अतो नित्यशुद्धं इति तर्कः सूचितः। मूर्धभिर्दधतीत्यनेन पुरुषार्थपिक्षया पादपांसुधारणं[4] न त्वन्यथेति ध्वनयति। तदुक्तं - "सुपर्ण शेषप्राणेश ब्रह्म विष्णून् श्रियं गिरम्। ऋते नमति यो रुद्रं क एव पुरुषार्थभाक्" (गारुडे) इति॥ १६॥

सभायां धर्मसङ्कटे प्राप्ते सभ्यैः कर्तव्यं धर्ममाह - **कर्णाविति**। धर्मस्यावितरि ईशे स्वामिनि अघृणिभिर्दयागुणरहितैः नृभिरस्यमानेऽधिक्षिप्यमाणे सति सभ्यो यद्यकल्पः शिक्षितुमसमर्थस्तर्हि स्वकर्णौ पिधाय निरियात् तस्माद्देशान्निर्गच्छेत् प्रभुश्चेदसतां रुशर्ती परुषभाषिणीं जिह्वां प्रसह्य छिन्द्यात्। तथा प्रभुत्वाऽसम्भवेऽसून् वा विसृजेत् स धर्म इत्यन्वयः॥ १७॥

---

1. A, B, T °योर्लिङ्गं 2. A, T रहितत्वसहि° 3. W मार्गा° 4. A °णा

अपिशब्देनेदमेव सम्भावितमिति ध्वनितं स्पष्टयति - **अतंस्तवेति**। तव वीर्यादुत्पन्नं शितिकण्ठगर्हिणो नीलकण्ठद्वेषिणः। अस्मिन्नर्थे - जग्धस्येति। जग्धस्य भुक्तस्यान्धसोऽन्नस्योद्धरणं वमनं प्रचक्षते वदन्ति[1] विद्वांस इति शेषः॥ १८॥

ननु ममापराधमेव वदसि मातुलत्वेन गुरुं मां दृष्ट्वाऽभ्युत्थानादिक्रमकुर्वतस्तस्यापराधं किं न स्मरसीति तत्राह - **न वेदवादानिति**। ज्ञानित्वेन स्वेच्छा वृत्तिविधेर्महामुनेः सर्वज्ञतमस्य शिवस्य स्व एव लोके स्वबिम्बभूते प्रकाशमाने हरौ रमतो रममाणस्य तद्दर्शनसुधापानेन नित्यतृप्तस्य मतिर्वेदवादान् वर्णाश्रमप्रयुक्तानभ्युत्थानादिवेदविधीन् नानुवर्तते नानुसरति लौकिकविलक्षणत्वात्। तत्र दृष्टान्तमाह - यथेति। यथा देवमनुष्ययोर्गतिर्मार्गः पृथक् भिन्नः तस्मात् स्व एव धर्मे स्वविहिते धर्मे स्थितः परमन्यं न क्षिपेत् न दूषयेत्, अतस्तवैवानर्गलोऽपराध इति भावः॥ १९॥

ननु ज्ञानिनः प्रवृत्तिकर्माऽसम्भवेऽपि निवृत्तिकर्मसम्भवतीति तत्राह - **कर्मेति**। वेदे प्रवृत्तं निवृत्तमित्युभयलिङ्गमुभयविधलक्षणं कर्म विविच्याऽऽश्रितं प्रतिपादितम्। "स्वर्गाद्यर्थं प्रवृत्तं स्यान्निवृत्तं मुक्तये तु यत्" (भविष्यत्पुराणे) इति विवेकं कृत्वा कथितमित्यर्थः। ततः किं तत्राह - विरोधीति। तद्द्वयं यौगपद् युगपदेककालमेककर्तरि विरोधि प्रकाशतमसोरेकत्र अवस्थानवद्विरुद्धं स्यादित्यर्थः। ततश्च प्रकृते किं तत्राह - तथेति। द्वयमित्यनुवर्तते। यथा द्वयमेकस्मिन् कर्तरि विरुद्धत्वादुपरतं तथाऽऽब्रह्मणि सम्यक् ज्ञानिनि जीवन्मुक्तेऽपि द्वयं कर्म नर्च्छति न प्राप्नोति "आब्रह्मस्थितधीर्जीवन्मुक्तश्चेत्यभिधीयते। यस्तस्य न निवृत्तं च प्रवृत्तं कर्म चेष्यते।" (भविष्यत्पुराणे) इति वचनात्। ब्रह्मण्यद्वितीये सद्वितीय कर्त्राश्रयं कर्म न घटत इत्यर्थस्य अनुपपत्तेरुक्त एवार्थः। ननु "अबध्नन् पुरुषं पशुम्"। (पु.सू. 1-3) इत्यादि श्रुतेर्देवानामपि कर्मप्रतीतेः रुद्रस्यापि देवान्तर्भावात्तस्य कथं तदनर्हत्वमुच्यत इति चेदुच्यते - नास्माभिर्देवस्य कर्ममात्राभाव उच्यते, किन्तु विष्णोराज्ञया नियताधिकारिकं नियमनामकं कर्मास्त्येव मुक्तौ सुखोद्रेकहेतुत्वात्। तदुक्तं "यत्तु देवाः प्रकुर्वन्ति स महानियमः स्मृतः। स महानियमो नाम कर्मयत्वाधिकारिकम्। महतो नियमाद्विष्णोः प्रीत्या मुक्तौ सुखोन्नतिः। केचिन्निवृत्तमित्याहुर्महानियममप्युत॥" (भविष्यत्पुराणे) इति। एतदपि उत वेदे विविच्येति ध्वनितम्। तस्मान्महानियमाख्यकर्माधिकृतस्य स्थितप्रज्ञस्य त्वन्निन्दया गुणहीनत्वं नाशङ्कनीयम्। "यदि देवश्च ऋष्याद्या निन्द्यन्ते यत्र कुत्रचित्। न तावता गुणैर्हीना स्थितप्रज्ञा हि ते मताः। यथायोग्यं तु तात्पर्यं निन्दया अन्यदेव तु।" (गारुडे) इति वचनात्॥ २०॥

**मा वः पदव्यः पितरस्मदास्थिता या यज्ञशालास्वनुधूमवर्त्मभिः[2]।**
**कदन्नतृप्तैरसुभृद्भिरीडिता[3] अव्यक्तलिङ्गा[4] अवधूतसेविताः॥ २१॥**

---

1. A adds तावत्  2. A, B, G, I, J, T शालासु न धूमवर्त्मभिः ; M, Ma, Ms शालाऽऽसनधूमवर्त्मनाम्  3. A, B, G, I, J, t, V, त°
4. M, Ma, Ms °ह°

नैतेन[1] देहेन हरे कृतागसो देहोद्भवेनालमलं कुजन्मना।
व्रीडा ममाभूत्कुजनप्रसङ्गतस्तज्जन्म धिग् यो[2] महतामहद्यकृत्[3]॥ २२॥

गोत्रं त्वदीयं भगवान् वृषध्वजो दाक्षायणीत्याह यदा सुदुर्मनाः।
व्यपेतनर्मस्मितमाशु[4] तद्ध्यहं[5] व्युत्स्रक्ष्य[6] एतत्कुणपं त्वदङ्गजम्॥ २३॥

## मैत्रेय उवाच

इत्यध्वरे दक्षमनूद्य शत्रुहन् क्षितावुदीर्ची निषसाद शान्तवाक्।
स्पृष्ट्वा जलं पीतदुकूलसंवृता निमील्य दृग्योगपथं समाविशत्॥ २४॥

**श्रीध.** "चिताभस्मकृतस्नानः" (भाग. 4-2-15) तथा नग्नः इत्यादिना यो भोगाद्यभाव उक्तस्तत्राह - **नेति**। हे पितः! अस्माभिरास्थिताः आश्रिताः पदव्योऽणिमादिसमृद्धयो वः युष्माकं मा न सन्तीत्यर्थः। यतो वः पदव्यो यज्ञशालास्वेव भवति, ताश्च तदन्नेन यज्ञगतेनान्नेन तृप्तैः केवलमीडिता धूमवर्त्मभिश्च भुज्यन्ते। या अस्मत्पदव्यस्तास्तु नैवम्भूताः किन्तु अव्यक्तलिङ्गाः न व्यक्तं लिङ्गं हेतुर्यासां ताः, इच्छामात्रप्रभवत्वात्। अवधूतैर्ब्रह्मविद्भिः सेविताः। अतोऽहमाढ्यो रुद्रो दरिद्र इति गर्वं मा कृथाः इति भावः॥ २१॥

किं बहुनोक्तेन इमं, देहं त्यक्ष्याम्येवेत्याह - **नेति** द्वाभ्याम्। एतेन नाऽलं न पूर्यते किम् अपि त्वलमेव। कथम्भूतेन कुजन्मना, तदेवाह - हरे कृतागसः[7] कृतापराधस्य तव देहादुद्भूतेन उत्पन्नेन[8]। ननु श्लाघ्योऽयं देहः कथं त्याज्यस्तत्राह - कुजनस्य कुत्सितजनकस्य[9] तव प्रसङ्गतः सम्बन्धान्मम लज्जाऽभूत्। अतो यो महताम् अहद्यकृत्[10] अप्रियकर्ता[11] तस्माद्यज्जन्म तद् धिक् त्वत्सम्बन्धादश्लाघ्यमित्यर्थः॥ २२॥

**गोत्रमिति**। किञ्च परिहासादिषु विनोदेनापि[12] दाक्षायणीति सम्बोधयन् त्वदीयं त्वत्सम्बन्धवाचकं गोत्रं नाम यदा वृषध्वज आह गृह्णाति तदाऽहं व्यपेतनर्मस्मितं यथा भवति, एवं सुदुर्मना अतिदुःखितचित्ता भवामि। तत्तस्मात् हि निश्चितमेतत्कुणपप्रायं व्युत्स्रक्ष्ये त्यक्ष्यामि॥ २३॥

---

1. M, Ma, Ms ए॰ 2. M, Ma, Ms यन्म॰ 3. A, B, G, I, J, M, Ma, T ॰व॰ 4. M, Ma, Ms ॰स्थि॰ 5. I तदाहं; 6. M, Ma, Ms तावत् Ma, Ms उत्स्रक्ष्य 7. A, B, T, J, Va omit कृतागसः 8. V omits उत्पन्नेन 9. B, J, Va omit कुत्सितजनकस्य 10. A, B, J, Va omit अहद्यकृत् 11. V वि॰ 12. V ॰नोपवाक्यादिषु

**इतीति**। दक्षं प्रत्यनुवादं कृत्वा शत्रुहन्! क्रोधादिरिपुघातिन्! उदीचीमुदीच्यां दिशि (उदीचीति) पाठान्तरे उदङ्मुखी शान्तवाक् गृहीतमौना जलं स्पृष्ट्वाऽऽचम्य दृक् दृशम्॥ २४॥

**वीर.** यत एवोभयविधं कर्माधिकारिभेदेन व्यवस्थितम् अत एव अस्मदनुष्ठितनिवृत्तिधर्मसाध्या अणिमादयः सिद्धयः प्रवृत्तिधर्मपरायणानां भवतां न सन्तीत्याह - हे पितः! अस्मदास्थिता अस्माभिराश्रिताः[1] परिगृहीताः इत्यर्थः। पदव्यः अणिमादयः सिद्धयः वः युष्माकं मा न सन्तीत्यर्थः। तर्हि अस्माकं सिद्धयो रुद्रस्य न सन्तीति चेत्तत्राह - या भवदीयाः स्वर्गादिपदव्यः ताः अनुधूमवर्त्मभिः धूमादिमार्गप्रदयज्ञादिकर्मानुयायिभिः कदन्नतृप्तैः यज्ञियेन कुत्सितेनान्नेन तृप्तैरसुभृद्भिः प्राणिभिः यज्ञशालास्वेवेडिताः स्तुताः, अस्मदास्थितास्तु पदव्यः अव्यक्तलिङ्गा दुरवगमचिह्ना दुर्विभाव्याः अवधूतैः निरस्तनिखिलजरामरणादिसांसारिकधर्मैः सेविताः परिगृहीताः, अतः फलतोऽनुष्ठानतश्च महदेव वैलक्ष्यण्यं प्रवृत्तिनिवृत्तिधर्मयोरिति न महत्तमानां प्रवृत्तिधर्मे रुचिरुत्पद्यत इति भावः॥ २१॥

किं बहुनोक्तेन, सर्वथा[2] स्वदेहं त्यक्ष्याम्येवेत्याह[3] - **नेति** द्वाभ्याम्। हरे रुद्रे कृतागसः कृतापराधस्य तव देहोद्भवेन देहादुत्पन्नेन आर्षत्वात् सापेक्षस्यापि समासः नित्यसापेक्षत्वाद्वा। एतेन कुजन्मना मदीयेन कुत्सितेन देहेन न न प्रयोजनं किन्तु अलम् अलम्। ननु श्लाघ्यमिमं देहं कथं त्यक्ष्यसि तत्राह - कुजनस्य तव प्रसङ्गात् सम्बन्धात् मम व्रीडा लज्जा अभूत्। अतो महतामहृद्यकृत् विप्रियकर्ता देहः तस्माद्यज्जन्म तद्धिक् निन्दितम्। त्वत्सम्बन्धात् अश्लाघ्यमित्यर्थः॥ २२॥

किञ्च वृषभध्वजो रुद्रः परिहासादिषु नर्मोक्तिषु मां दाक्षायणीति सम्बोधयन् त्वत्सम्बन्धबोधकं गोत्रं नाम यदा आह गृह्णाति तदाहं व्यपेतनर्मस्मितं व्यपेतम् अपगतं नर्म परिहासः स्मितं च यथा भवत्येवं सुदुर्मना अतिदुःखितचित्ता भवामि तत्तस्मात् हि निश्चितम्। एतत्कुणपप्रायं त्वदङ्गाज्जातमिदं कलेवरं व्युत्स्रक्ष्ये त्यक्ष्यामि॥ २३॥

हे शत्रुहन्! विदुर! इति उक्तप्रकारेण अध्वरे यज्ञे दक्षमनूद्य प्रत्युच्य उदीचीमुत्तरदिशं प्रविश्येति शेषः। शान्तवाक् गृहीतमौना निषसाद उपविष्टवती। तत्र जलं स्पृष्ट्वा आचम्येत्यर्थः। पीतदुकूलवस्त्रेण संवृता प्रावृता[4] दृक् दृशम्। आर्षत्वात् द्वितीयाया लुक्। निमील्य योगपथं योगिनां देहत्यागप्रकारं समाविशत् आश्रितवतीत्यर्थः॥ २४॥

**विज.** अनन्तरातीतग्रन्थेन रुद्रदक्षयोः पृथङ्मार्गत्वं ध्वनितं कण्ठोक्तीकरोति - **मा वः इति**। हे पितः! अस्मदास्थिता अस्माभिराश्रिताः अवधूतसेविताः सनकादियोगीन्द्रैरभ्यस्ताः। अव्यक्तलिङ्गा अन्यैरज्ञातलक्षणा अर्चिरादिमार्गलक्षणा याः पदव्यस्ता

1. T "स्थि" 2. W omits सर्वथा 3. B, T त्यक्ष्यत्ये" 4. A, T omit प्रावृता

वो युष्माकं मा नैव भवति। यज्ञशालायामासनेन दीक्षालक्षणेन धूमवर्त्म धूमादिमार्गो येषां ते तयोक्ताः तेषां युष्माकं कदन्नतृप्तैः पशुमांसलक्षणेनान्नेन अलम्बुद्धिं गतैरसुहृद्भिर्पशुप्राणहारिभिः पुरुषैरीडिता या धूमादिलक्षणपदव्यस्ताः अस्माकं नैवेति यदतः पृथङ्मार्गत्वात् त्वन्निन्दया न रुद्रस्य गुणहीनत्वम् अतो न तस्य दूषणमुचितमिति भावः॥ २१॥

किं बहुनोक्तेनेति स्ववैराग्यमाश्रावयति - **एतेनेति**। हरे रुद्रे कृतागसः कृतापराधस्य तव देहोद्भवेन देहाज्जातेन अत एव कुजन्मना लोके निन्दितोत्पत्तिना कस्मादीदृशं वैराग्यं तवेत्यत आह - व्रीडेति। कुत्सितश्चासौ जनःकुजनो भवादृशः तस्य प्रसङ्गतो जन्यजनकसम्बन्धकथालक्षणः तस्मात् कारणान्तरं चाह - तज्जन्मेति। यन्महताम् अवद्यकृत् मनोविप्रियकारि तज्जन्म धिक् निन्दितमित्यर्थः॥ २२॥

ततः किं फलितम्? तत्राह - **गोत्रमिति**। वृषध्वजो भगवान् दाक्षायणी दक्षपुत्रीति त्वदीयं गोत्रं त्वन्नाम्नोपेतं नामविशेषं, यदा यावत् सुदुर्मनास्त्वन्नामस्मरणमात्रेण सुतरां विषण्णमना अत एव व्यपेतनर्मस्मितमिति क्रियाविशेषणं, अपगतनर्मवचनयुक्तमन्दहासो यथा भवति तथा मां प्रत्याह वक्ष्यति - हे तात! तावत्ततः पूर्वमेव त्वदङ्गजं तव शरीरात् उत्पन्नं कुणपं कुत्सितशरीरमुत्स्रक्ष्ये इत्यन्वयः। वृषध्वजः स्नेहवशाद् यदा दाक्षायणीति त्वदीयं गोत्रमाह तावत्तदा आशु त्वदीयद्वेषस्मरणाद् व्यपेतनर्मस्मितं सुदुर्मना भवति। अतः इतःपरं तथा मा भूदिति कुणपमुत्स्रक्ष्ये इति वा। मम देहत्यागस्तृणत्यागतुल्य इति द्योतनाय आत्मनेपदप्रयोगः॥ २३॥

एवं देहत्यागस्यायत्नसाध्यत्वेऽपि इति कर्तव्यतायाः फलाधिक्यं स्यादिति सूचनाय योगिजनशिक्षणाय च देहत्यागः इति कर्तव्यतां दर्शयत्यस्मिन्नध्याये - **इतीति**। उदीचीं दिशमुद्दिश्य क्षितौ निषसादेत्यन्वयः। धूमाद्यध्वनि रमयतीत्यध्वरः, तस्मिन् यज्ञे, स्पृष्ट्वाऽऽचम्य, पीतं च तत् दुकूलं च तेन संवृता छन्ना दृक् दृशौ निमील्य निमीलनयुक्तदृग्वा योगपथं देहोत्क्रमणयोगमार्गम्॥ २४॥

**कृत्वा समानावनिलौ जितासना सोदानमुत्थाप्य च नाभिचक्रतः।**
**शनैर्हृदि स्थाप्य धियोरसि स्थितं कण्ठाद् भ्रुवोर्मध्यमनिन्दितानयत्॥ २५॥**

**एवं स्वदेहं महतां महीयसा मुहुः समारोपितमङ्कमादरात्।**
**जिहासती दक्षरुषा मनस्विनी दधार गात्रेष्वनिलाग्निधारणाम्[1][2]॥ २६॥**

---

1. V. W जहौ सती 2. M. Ma. Ms °णम्

**ततः स्वभर्तुश्चरणाम्बुजासवं जगद्गुरोश्चिन्तयती न चापरम्।**
**ददर्श देहे[1] हतकल्मषा[2] सती सद्यः प्रजज्वाल समाधिनाग्निना[3]॥ २७॥**

**तत्पश्यतां खे भुवि चाद्भुतं महद् हाहेतिवादः सुमहानजायत।**
**हन्त प्रिया दैवतमस्य[4] देवी जहावसून् केन सती प्रकोपिता॥ २८॥**

**अहो अमात्म्यं[5] महदस्य पश्यत प्रजापतेर्यस्य चराचरं[6] प्रजाः।**
**जहावसून् यद्विमताऽऽत्मजा सती मनस्विनी मानमभीक्ष्णमर्हति[7]॥ २९॥**

**श्रीध.** योगमार्गमेवाह - **कृत्वेति**। अनिलौ प्राणापानौ ऊर्ध्वाधोवृत्तिकरौ निरोधेन समानावेकरूपौ नाभिचक्रे कृत्वा तत उदानमुत्थाप्य धिया सह हृदि स्थापयित्वा कण्ठमार्गेण भ्रुवोर्मध्यमनयत्॥ २५॥

**एवमिति**। महतां पूज्यतमेन श्रीरुद्रेण[8]॥ २६॥

**तत इति**[9]। चरणाम्बुजाऽऽसवं[10] चरणारविन्दमकरन्दं भर्तुरपरं न ददर्श। देहश्च सद्यः प्रज्वलितोऽभूत्। समाधिना[11] योऽग्निस्तेन॥ २७॥

**तदिति**। खे भुवि च हाहेत्यादिवादः। तमेवाह हन्तेति विषादे। दैवतमस्य पूज्यतमस्य प्रिया केन दक्षेण प्रकोपिता सती॥ २८॥

**अहो इति**। महदनात्म्यं दौर्जन्यम्। अस्य सर्वत्र स्नेह एव न्याय्यः इत्याहुः - यस्येति। येन विमताऽवज्ञाता॥ २९॥

**वीर.** योगपथाश्रयणमेवाह - **कृत्वेति**। जितमासनं यथा सा क्लमरहिता अनिन्दिता निर्दुष्टा सती अनिलौ प्राणापानौ ऊर्ध्वाधोवृत्तिनिरोधेन समानौ समानवृत्ती नाभिचक्रे कृत्वा तत उदानवायुमुत्थाप्य धिया सह शनैर्हृदि स्थास्य स्थापयित्वा उरसि स्थितं तमुदानवायुं कण्ठात् कण्ठमार्गेण भ्रुवोर्मध्यमनयत्॥ २५॥

महतामपि मध्ये महीयसा महत्तमेन रुद्रेण आदरात्[12] मुहुः पुनःपुनः अङ्गमुत्सङ्गं प्रत्यारोपितं स्वदेहमेवं दक्ष क्रोधेन जिहासती

---

1. A, B, G, I, J, T, W देहो 2. G °षः 3. A, B, G, I, M, Ma, Ms, T °जा° 4. Ms, W दे° 5. M, Ma त्व° 6. M, Ma, Ms °राः 7. V °मजग्न° 8. V omits श्रीरुद्रेण 9. V adds ततः 10. A, B, J, Va चरणाम्बुजे आसवं भजनानन्दं 11. A °धिना जातो यो; Va °धिजो यो 12. W omits आदरात्

त्यक्तुमिच्छन्ती मनस्विनी स्वतन्त्रा स्वच्छन्दमरणेत्यर्थः। सती भवानी गात्रेषु अङ्गेषु अनिलाग्निधारणां दधार अनिलाग्निधारणाभ्या धारणां चकारेत्यर्थः। तया हि धारणया अनिलाग्न्योरुत्पत्तिः॥ २६॥

ततः जगद्गुरोः जगतां जिज्ञासूनां गुरोः स्वभर्तुः रुद्रस्य चरणाम्बुजासवं चरणाम्बुजे आसवमानन्दं चिन्तयन्ती अनुभवन्ती अत एव हतकल्मषा[1] पापरहिता भर्तुरपरं सा न ददर्श न चिन्तितवती। देहश्च सद्यस्समाधिना योऽग्निस्तेन प्रजज्वाल[2] प्रज्वलितोऽभूत्॥२७॥

तदद्भुतमाश्चर्यं पश्यतां भुवि खे आकाशे च सुमहान् उच्चैः हाहेति वादः घोषः अभूत्। तदेवाह - देवतमस्य देवश्रेष्ठस्य रुद्रस्य देवी प्रिया सती केन दक्षेण प्रकोपिता प्रकोपं प्रापिता असून् प्राणान् जहौ अत्यजत्॥ २८॥

अहो प्रजापतेः दक्षस्य महदनात्म्यं दौर्जन्यमद्य पश्यत। चराचरं विश्वं यस्य रुद्रस्य प्रजाः[3] प्रजावत् प्रीतिविषयं विश्वसुहृद इत्यर्थः। तस्य रुद्रस्य सती भार्या यद्वा यस्य दक्षस्य चराचरं प्रजाः प्रजावत् स्नेहविषयं सर्वत्र स्नेह एवास्य न्याय्य इति भावः। तेन दक्षेण विमता विमानिता असून् जहौ। न त्वियं विमानयोग्येत्याहुः, आत्मजा तत्रापि मनस्विनी प्रशस्तमनस्का गुणवतीत्यर्थः। अत एवाभीक्ष्णं पुनः पुनः मानं सम्मानं प्रत्यर्हति॥ २९॥

**विज.** तं विवृणोति - **कृत्वेति**। जितासना प्राणादिसञ्चारवेगेन देहसञ्चलनरहिताऽत्र एवानिन्दिताऽकुत्सिता सा सती प्रथमं रेचक पूरके कृत्वाऽनिलौ प्राणापानौ समानौ ऊर्ध्वाधोवृत्तिरहितौ कृत्वा एकविषयगतीविधाय मूलाधारादुत्क्रमणकर्तारं सुषुम्ना[4] सञ्चारिणमुदानमुत्थाप्योर्ध्वमुखं कृत्वा नाभिचक्रमानीय ततो नाभिमण्डलाद्धिया निश्चलया बुद्ध्या शनैरुद्वेगं विना हृदि स्थाप्य उरस्स्थितं वायुं कण्ठं नीत्वा कण्ठाद् भ्रुवोर्मध्यमनयदित्यन्वयः। यद्वा सर्वसन्धिसञ्चारिणं वायुं व्यानमूर्ध्वाधोगतिनिमित्तौ प्राणापानौ समानवायुनैकीकृत्य तं समानं वायुं सोदानमुदानगत्या सहितमुदानेनैकीकृत्य उपर्युपरि स्थानं जीवेन सह अनयदिति। अत्र द्रव्यनयनशक्तिमता वायुना जीवसंज्ञद्रव्यनयनं न तु तन्मात्रं तस्ययोगिनो नित्याभ्यस्तत्वात्॥ २५॥

एवं भ्रुवोर्मध्यमनिलमानीय स्वयमपि भ्रुवोर्मध्ये स्थिता किं चकार इति तत्राह - **एवमिति**। एवमुक्तप्रकारेण वायुं भ्रूमध्यं नीत्वा स्वयं च तत्र स्थिता मनस्विनी वशीकृतमना महतामिन्द्रादीनां महीयसा महत्तमेन रुद्रेणाऽऽदरात् मुहुः शश्वदङ्कमारोपितं स्वदेहं जिहासती त्यक्तुमिच्छती सा उमा गात्रेषु करचरणाद्यवयवेषु अनिलाग्निधारणं देहभस्मीकरणाय वाय्वग्न्युत्पत्तिलक्षणं ध्यानं दधार चकार, अनेकार्थत्वाद्धातूनाम्। दक्षरुषेत्यनेनाऽऽत्महत्यादोषं मार्ष्टि॥ २६॥

---

1. W अकल्मषा 2. T omits प्रजज्वाल 3. A, T omit प्रजाः 4. B, M, Ma सुषुम्नी

ननु वाय्वग्निध्यानं देहत्यागानन्तरं चेदुत्क्रान्तस्य वायोरनावृत्तेरग्निसंयोगाभावेनाभीष्टकार्यानुत्पत्तिः, पूर्वं चेदात्मनोऽपि नाशसम्भवात् स चानुपपन्नः, चेतनस्य नित्यत्वेन अनाशादित्याशङ्क्य समः समसमयत्वेन उपपत्तेरिति भावेनाह - **तत इति**। ततो वाय्वग्निधारणानन्तरं सा सती ज्ञानोपदेष्टृत्वेन जगतां गुरोराचार्यस्य स्वभर्तुः शिवस्य चरणयोर्ध्यानेनोत्पन्नानन्दलक्षणमासवं मधु चिन्तयती[1] आस्वादयन्ती अपरं तस्मादन्यं न चिन्तयती। चशब्दात्परं विष्णवादिकं चिन्तयती स्वदेहे विष्णवादिकं ददर्श देहं च तत्याजेति वाक्यशेषः। देहत्यागस्यान्यथानुपपत्त्या सिद्धत्वादध्याहृत्याऽन्वीयते इत्यदोषः। "रुद्रं च ब्रह्मवायू च विष्णुं चैव श्रियं गिरिम्। उमा चिन्तयती देहं तत्याजाऽन्यं न चाऽस्मरत्" (तत्त्वनिर्णये) इति वचनाच्चाध्याहारः प्रामाणिक इति प्रतीयते। तत इत्यनुवर्तते। ततो देहत्यागानन्तरं सद्यः तत्क्षण[2] एव पादादिक्रमेणैव समाधिजाताग्निना देहः प्रजज्वाल। अनेन मृतदेहसंस्कारोऽपि न पित्रादिना कार्य इति ध्वनयति। हतकल्मषेत्यनेन विष्णवादिदर्शनानन्तरं पितृकोपनिमित्तकिल्बिषमपि नष्टमिति सूचयति। यद्वा दर्शनस्य अनन्यथात्वं द्योत्यते। दोषादन्यथाज्ञानं जायते न चास्याः सोऽस्तीत्यर्थः॥ २७॥

एवं जगत्सुन्दरदेहत्यागे कस्याप्यन्तःकरणे भेदो नाभूत् किं तत्राह - **तत्पश्यतामिति**॥ २८॥

किमनेन सिद्धानुवादेन एकत्र दोषानारोपणेनेति तत्राह - **अहो** इति। अनात्म्यं मूर्खकर्म "अहो त्वनार्यमि"**ति पाठे** अन्याय्यमित्यर्थः। चराचराः प्रजाः यस्य वशे यस्य सन्ततिः[3] प्रसूता इति वा॥ २९॥

**सोऽयं दुर्मर्षहृदयो ब्रह्मबन्धुः[4] लोकेऽपकीर्तिं महतीमवाप्स्यति।**
**यदङ्गजां स्वां पुरुषद्विडुद्यतां न प्रत्यषेधन्मृतयेऽपराधतः॥ ३०॥**

*** दक्षस्तु दृष्ट्वा दुहितुस्स्वनिमित्तं विनाशनम्।**
**बह्वतप्यत घोरेण मयाऽसाधु कृतं बत॥**

**धिङ्मामविजितात्मानं निर्गुणं निरपत्रपम्।**
**योऽहं स्वीकृत्य मृतकं व्यर्थमेनो महीयसि॥**

**वदत्येवङ्गने[5] सत्या दृष्ट्वाऽसुत्यागमद्भुतम्।**
**तं[6] दक्षं पार्षदा हन्तुमुदतिष्ठन्नुदायुधाः॥ ३१॥**

---

1. M, Ma °ती 2. A, B °णम् 3. B, M °तिप्र° 4. A, B, G, I, J, T ब्रुक् च * These two additional verses are found in M, Ma, Ms.Editions
5. M, Ma, Ms °मजे 6. A, B, G, I, J, T दक्षं तत्पार्षदाः ; M, Ma दक्षं सुपार्षदाः ; Ms दक्षं तु पार्षदाः

**तेषामापततां वेगं निशाम्य भगवान् भृगुः।**

**यज्ञघ्नघ्नेन यजुषा दक्षिणाग्नौ जुहाव ह॥ ३२॥**

**अध्वर्युणा हूयमाने देवा उत्पेतुरोजसा।**

**ऋभवो नाम तपसा सोमं प्राप्ताः सहस्रशः॥ ३३॥**

**तैरलातायुधैः सर्वे प्रमथाः सहगुह्यकाः।**

**दह्यमाना[1] दिशो भेजुरुशद्भिर्ब्रह्मतेजसा॥ ३४॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टादशसाहस्र्यां

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां

चतुर्थस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

**श्रीध. स इति।** दुर्मर्षमत्यसहनं हृदयं यस्य लोके जनमध्ये च[2] शब्दान्नरकञ्च। यद्यतः स्वीयामन्नजां सुतामपराधत. स्वाऽवज्ञया मृतये मरणायोद्यतां न निवारितवान्। पुरुषद्विट् शिवद्वेषी॥ ३०॥

**वदतीति।** अद्भुतं दृष्ट्वा च॥ ३१॥

**तेषामिति।** यज्ञघ्नान् हन्तीति यज्ञघ्नघ्नं, तेन "अपहता असुरा रक्षांसि पिशाचाः" इत्यादिना॥ ३२॥

**अध्वर्युणेति।** अध्वर्युणा भृगुणा ये तपसा सोमं प्राप्तास्ते। ऋभवो नाम देवा उत्थिताः॥ ३३॥

**तैरिति।** ब्रह्मतेजसा उशद्भिः देदीप्यमानैः[3]॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्री श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

**वीर.** दुर्मर्षमत्यन्तासहमानं हृदयं यस्य सोऽयं ब्रह्मबन्धुः ब्राह्मणापदेशो दक्षः लोके असतीं कीर्तिञ्च अवाप्स्यति। चकारात्[4]

---

1. A, B, g, J, J, M, Ma, Ms, T हन्यमाना 2. W चकारात् 3. V omits दे 4. W adds अपकीर्तिं

नरकं च। यद्यतः स्वीयामङ्गजामपराधतः स्वाऽवज्ञया मृतये मरणाय उद्यतामुद्युक्तां पुरुषद्विट् शिवद्वेषी दक्षः "तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय" (मना.उ.1-5) इति प्रयोगात्, यद्वा रुद्रस्य भगवदात्मकत्वात् रुद्रं द्विषन्नपि भगवन्तं द्वेष्टीत्यर्थः। न प्रत्यषेधत् न न्यवारयत्॥ ३०॥

सत्या दाक्षायण्याः अद्भुत मसुत्यागं प्राणत्यागं दृष्ट्वा जने एवं वदति सति रुद्रपरिषदा दक्षं हन्तुमुद्यतान्यायुधानि यैस्ते, उदतिष्ठन् उत्थितवन्तः॥ ३१॥

तेषामापततताम् आ समन्तादागच्छतां पारिषदानां वेगं निशाम्य दृष्ट्वा भगवान् भृगुः यज्ञघ्नान् हन्तीति यज्ञघ्नघ्नं तेन यजुषा "अपहता असुरा रक्षांसि पिशाचाः" इति मन्त्रेण दक्षिणाग्नौ जुहाव। हेति विस्मये॥ ३२॥

अध्वर्युणा भृगुणा हूयमाने सति ये तपसा सोमं प्राप्तास्ते ऋभवो नाम देवाः सहस्रशः उत्पेतुः उत्थिताः॥ ३३॥

ब्रह्मतेजसा उशद्भिः दीप्यमानैः अलातान्येव आयुधानि येषां तैः, ऋभुभिः दह्यमानाः प्रमथाः रुद्रपारिषदाः दिशो भेजुः पलायितवन्त इत्यर्थः॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां श्रीभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

चतुर्थस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

**विज.** ननु कथमेतदनार्यमभूदित्याशङ्क्य तस्य लोकविद्विष्टफलदर्शनादित्याह - **सौऽयमिति**। य एतादृशमनार्यम् अकार्षीत् सोऽयं दुर्मर्षहृदयो दुस्सहहृदयः अत एव ब्रह्मबन्धुः द्विजाधमः ब्राह्मणानां मृदुहृदयत्वात्। अथो अद्य प्रभृति, तस्मादिति हेत्वर्थो वा। यद् यस्मादित्यनेन सम्बध्यते। पुरुषं शिवं द्वेष्टीति पुरुषद्विट् "तत्पुरुषाय" (मना.उ.1-5) इति श्रुतेः। अनेन विष्णुद्वेषमपि ध्वनयति। "पुरुषो विष्णुरुच्यते" इति श्रुतेः। मृतये मरणायोद्यतां प्रयतमानाम्॥ ३०॥

*शिवद्वेषग्रहग्रस्तो दक्षो पुत्रीमरणं दृष्ट्वा किमकृत इति तत्राह - **दक्षस्त्विति**॥

निर्गुणं शमादिगुणहीनं मृतकं देहं महीयसि महादेवे एनोऽपराधम् अकार्षमित्यन्वयः॥

---

* The commentary of Vijayadhvaja शिवद्वेषग्रहग्रस्तो.....अकार्षमित्यन्वयः is not found in A Edition

सह मरणयोग्याः भूतगणास्तदा किमकार्षुरिति तत्राह - **वदतीति**। अजे दक्षे। सत्या देव्याः असुत्यागं प्राणवियोगलक्षणम्॥३१॥

दक्षादपि भृगोः शिवे द्वेषो महानिति भावेन भूतगणशक्तिह्रासोपायं होमं वक्ति - **तेषामिति**। यज्ञघ्ना ये यज्ञविनाशकास्तान् हन्तीति यज्ञघ्नघ्नस्तेन यजुषा "येनोरसिं दुस्तरितासो हन्मतासो अनृतं वयन्तः तेषां वपूंष्यर्चिषा जातवेद शुष्कं न वृक्षमुत सन्दहस्व" इत्यादि यजुर्मन्त्रेण॥ ३२॥

ततः किमभूदत्राह - **अध्वर्युणेति**। सोमं सोमं भागम्॥ ३३॥

अत्र ब्राह्मणशक्तिरेव बलीयसीति ध्वनयन् ऐतैर्देवै भूतगणानां पराभवं वक्ति **तैरिति**। अलातान्युल्मुकान्येवायुधानि येषां ते तथोक्तास्तैः। ब्रह्मतेजसा भृगुमन्त्रप्रभावेन उशद्भिर्भृगोः सङ्कल्पं कर्तुमिच्छद्भिरित्यर्थः॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्यां
टीकायां चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

# पञ्चमोऽध्यायः

## मैत्रेय उवाच

भवो भवान्या निधनं प्रजापते रसत्कृताया अवगम्य[1] नारदात्।
स्वपार्षदसैन्यं च तदध्वरर्भुभि र्विद्रावितं[2] क्रोधमपार मादधे[3]॥ १॥

क्रुद्धः सुदष्टोष्ठपुटः[4] स धूर्जटि र्जटां तडिद्वह्नि सटोग्र रोचिषम्।
उत्कृत्य रुद्रः[5] सहसोत्थितो हसन् गम्भीरनादो विससर्ज तां भुवि॥ २॥

ततोऽतिकाय स्तनुवा स्पृशन्दिवं[6] सहस्रबाहु र्घनरुक्[7] त्रिसूर्य दृक्।
कराल दंष्ट्रो ज्वलदग्निमूर्धजः कपालमाली विविधोद्यतायुधः॥ ३॥

तं किं करोमीति गृणन्त माह बद्धाञ्जलिं भगवान् भूतनाथः।
दक्षं सयज्ञं जहि मद्भटानां त्व मग्रणी रुद्र भटांशको[8] मे॥ ४॥

आज्ञप्त एवं कुपितेन मन्युना स देवदेवं परिचक्रमे[9] प्रभुम्।
मेने तदात्मान मसह्य[10] रंहसा[11] महीयसां तात सहस्सहिष्णुम्[12]॥ ५॥

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पञ्चमे तु सती देह त्याग माकर्ण्य शङ्करः। वीरभद्रं रुषोत्पाद्य तेन दक्ष मजीघनत्[13]॥

**भव** इति। प्रजापते र्हेतो र्निधनम्। कुतः ? तेनासत्कृतायाः। तस्याध्वरे ये ऋभवो देवा स्तैः॥ १॥

**क्रुद्ध** इति। स धूर्जटिः रुद्रो घोरस्सन्, जटा मुत्कृत्य उत्पाट्य उत्थित स्सन् तां भुवि विससर्ज। सुदष्टः ओष्ठपुटो येन तटितां बह्नीनां च सटा ज्वालाः तद्वदुग्रं रोचिः यस्यास्ताम्॥ २॥

**तत** इति। ततो जटायाः सकाशादतिकायः वीरभद्रः जात इति शेषः। तनुवा तन्वा[14] देहेन दिवं स्पृशन्, अत्युच्च इत्यर्थः।

---

1. M, Ma, Ms ह्यव 2. M, Ma, Ms °रेशैर्वि° 3. Ms °ददे 4. B. I °ष्टो° 5. M, Ma, Ms रौद्रः 6. M, Ma, Ms, °दिवं 7. M, Ma. Ms रक्तसू° 8. M, Ma जटांशको; Ms जटान्तको 9. A, B, G. I, j. M, Ma, Ms, T वि° 10. A. B, G, I, j, M. Ma, Ms °ऋ 11. M, Ma. Ms °सं 12. W म° 13. A, B, J, Va मघातयत् 14. V omits तन्वा

घनरुक् कृष्णवर्णः त्रयः सूर्या इव दृशो यस्य। करालाः उदग्राः[1] तुङ्गाः दंष्ट्राः यस्य। ज्वलदग्निरिव मूर्धजाः केशाः[2] यस्य। कपालमालाः[3] विद्यन्ते यस्य[3]। विविधानि उद्यतानि आयुधानि यस्य॥ ३॥

**तमिति**। हे रुद्र! हे भट! युद्धकुशल! मद्भटानां त्वमग्रणीः सन् सयज्ञं दक्षं जहि, ब्रह्मतेजो दुर्जय मिति मा मंस्थाः यत स्त्वं मेंऽशकः॥ ४॥

**आज्ञप्त** इति। मन्युना रुद्रेण स[4] वीरभद्रः परिचक्रमे प्रदक्षिणं[5] चकार। असह्यं[6] अप्रतिघातं यद्रंहो वेगः तेन भो[7] तात! महीयसां बलीयसा मपि सह स्सहिष्णुं बलं सोढुं क्षमं मेने॥ ५॥

## श्री वीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं सत्याः प्राणत्यागनिमित्तं त्याग प्रकार श्च सप्रपञ्चमुक्तः[8]। अथ तत्प्रसंगा त्प्रसक्तं दक्षाध्वरविनाशं पुनः तत्सन्धानं च सप्रपञ्चमाह त्रिभिरध्यायैः। तत्राऽऽद्येनाध्वरविनाशप्रकार माह मैत्रेयः **भव** इति। प्रजापतेः दक्षस्य कर्तरि षष्ठी, तेनासत्कृतायाः भवान्याः सत्याः निधनं तथा[9] दक्षस्याध्वरे ये ऋभवो देवाः तैर्विद्राविते पलायितं स्वपार्षदानां सैन्यं च नारदात् मुनेः अवगम्य श्रुत्वा अपारं क्रोध मादधे कृतवानित्यर्थः॥ १॥

ततः स धूर्जटिः रुद्रः घोर स्सन् क्रुद्ध स्सन् सुष्ठु दष्टः ओष्ठपुटो येन सः। तडितां वह्नीनां च सटा ज्वालाः तद्वदुग्रं रोचिः यस्या स्तां जटां उत्कृत्य उत्पाट्य उत्थितः गम्भीरो नादो यस्य सः, हसन् तां जटां भुवि विससर्ज अपातयत्॥ २॥

ततो जटायाः सकाशात् अतिकायः वीरभद्रः आविरभूत्[10] इति शेषः। तं विशिनष्टि - तनुवा[11] तन्वा[12] देहेन दिवं स्पृशन् अत्युच्च इत्यर्थः। घनरुक् कृष्णवर्णः तिस्रः सूर्यसदृशः[13] दृशो यस्य। कराला उग्रा दंष्ट्राः यस्य, ज्वलन् अग्नि रिव मूर्धजा यस्य। कपालानां माला अस्य सन्तीति तथा, विविधानि उद्यतानि आयुधानि यस्य सः॥ ३॥

किं करोमि किं करवाणीति गृणन्तं भाषमाणं बद्धाञ्जलिं तं वीरभद्रं भूतनाथो भगवान् रुद्रः आह उवाच - हे रुद्र! हे भट! युद्धकुशल! मद्भटानां त्वमग्रणीः नायकः मे अंशभूतः स यज्ञं दक्षं जहि विनाशय॥ ४॥

कुपितेन मन्युना रुद्रेण एव माज्ञप्तो देवदेवं विभुं[14] रुद्रं परिचक्रमे प्रदक्षिणी चकार। तदा असह्यरंहसा प्रतिघातरहित वेगेन महीयसां बलीयसा मपि महः तेजो बलं तत्सहिष्णुं पारिषदैः सोढुं क्षमम् आत्मानं मेने अमन्यत॥ 5॥

---

1. A, B, J, Va V omit उदग्राः 2. B, J, V, Va omit केशाः 3--3. A, B, J, Va कपाल मालायुक्तः 4. B, J, V, Va omit स वीरभद्रः 5. A, B, J, Va °णी 6. A, B, j, Va °ह्नं 7. A भोः 8. W °क्तम्। 9. W adds तस्य 10. A, B, J, T जातः 11. A, B, j, T omit तनुवा 12. W omits तन्वा 13. A, B, J, T °शाः 14. W omits विभुं

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

विष्णुद्वेषवत् तद्भक्तद्वेषस्याऽप्यनर्थहेतुत्वात् मुमुक्षुणा स न कर्तव्य इति ज्ञाप्यते अस्मिन्नध्याये। तत्रादौ नारदश्रुतभवानीमरणात् भवा द्वीरभद्रोत्पत्तिं वक्तुमाह - **भव** इति। प्रजापते रवमानेन असत्कृताया धिक्कृतायाः तस्य दक्षस्य अध्वरस्य ईशते इति तदध्वरेशाः भृग्वादयः तैः। तदध्वरं यजन्ते इति तदध्वरे जः तैः। तदध्वरेड्भिरिति वा पाठः, क्विप् सम्प्रसारणं च॥ १॥

क्रोधफल माह - **क्रुद्ध** इति। सुदष्टे ओष्ठपुटे यस्य स तथा। धूताः जटाः अस्य सन्तीति धूर्जटिः, मत्वर्थे क्विप् प्रत्ययः। **तडिद्वह्निसटा** वैद्युताग्निज्वाला तद्वदुग्रं रोचिः यस्या स्सा तथा तां रौद्रो मध्याह्नताप इव तीक्ष्णः "आतपः कथ्यते रौद्रः" (इल.को. 1-40) इति हलायुधः॥ २॥

सा जटा किमभूदिति तत्राह - **तत** इति। ततो जटायाः कश्चित्पुरुषोऽभूदिति शेषः, तनुवा तन्वा शरीरेण घनरक्तः सान्द्रारुणः सूर्यः तद्वद्रक्ता दृशो यस्य सः तथा, कपालानां माला समूहोऽस्यास्तीति कपालमाली॥ ३॥

यदर्थ मसा वुत्पन्नः तत्कृत्य माह - **तं किमिति**। हे रुद्र! मद्भटाना मग्रणीत्वे हेतुः मे जटांशक इति। अनेन जटायाः **आत्मत्वं** सूचयति॥ ४॥

"नमस्ते रुद्रमन्यवे", (तैत्ति.सं. 4-5-1-1) इति श्रुतेः। मन्युना महादेवेन युयुत्सूनां योधानां वीरस्वभावं वक्ति - **मेने इति।** यदा सोऽन्या साध्य कर्मसाधनार्थ मुपदिष्टः तदात्मानं स्वम् असंगरं हसं काऽप्यसक्तवेगं *सहीयसां ,सहनशक्तिमत्तराणां **सहः** सहनशक्तिः तां सहिष्णुं सहनशीलं मेने इत्यन्वयः॥ ५॥

**अन्वीयमानः स तु रुद्रपार्षदैः भृशं नदद्भि र्व्यनदत्सुभैरवम्।**
**उद्यम्य शूलं जगदन्तकान्तकं स[1] प्राद्रव द्घोषण भूषणाङ्घ्रिः॥ ६॥**

**अथर्त्विजो यजमानः सदस्याः ककुभ्युदीच्यां प्रसमीक्ष्य रेणुम्।**
**तमः किमेतत्कुत एतद्रजोऽभूदिति द्विजा द्विजपत्न्यश्च दध्युः॥ ७॥**

**वाता न वान्ति नहि सन्ति दस्यवः प्राचीनबर्हि र्जीवतीहोग्रदण्डः[2]।**
**गावो न काल्यन्त इदं कुतो रजो लोकोऽधुना किं प्रलयाय कल्पते॥ ८॥**

---

* यहीयसा मिति विजयध्वज व्याख्यानुसारी पाठः।

1. J, M, Ma, V साम्प्रा° 2. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °तिहो°

**प्रसूतिमिश्राः स्त्रिय उद्विग्नचित्ता ऊचुर्विपाको वृजिनस्यै[1] व तस्य।**
**पश्यन्तीनां[2] दुहितॄणां[3] प्रजेशः सुतां सती मवदध्यावनागसम्[4]॥ ९॥**

**यस्त्वन्तकाले व्युप्तजटाकलापः स्वशूलसूच्यर्पित दिग्गजेन्द्रः।**
**वितत्य नृत्य त्युदितास्त्रदोर्ध्वजानुच्चाट्टहास स्तनयित्नुभिन्नदिक्[5][6]॥ १०॥**

**श्रीध० अन्वीयमान** इति। जगदन्तको मृत्युः तस्याऽप्यन्तकं शूलम्। घोषयन्ति शब्दं कुर्वन्तीति घोषणानि नूपुरादीनि भूषणानि ययोः तावङ्घ्री यस्य सः॥ ६॥

**अथेति**। ककुभि दिशि तमो न भवति किन्तु रज इति ज्ञात्वाऽऽहुः। रज एतत्कुतोऽभूदिति[7] दध्युः चिन्तयामासुः॥ ७॥

हेत्वन्तरासम्भवेनौत्पातिकं कल्पयन्ति - **वाता** इति। दस्यूनां अभावे हेतुः। प्राचीनबर्हिः तदानीन्तनो राजा जीवतीति। न काल्यन्ते नशीघ्रं नीयन्ते॥ ८॥

**प्रसूतीति**। प्रसूतिः दक्षपत्नी सा मिश्रा मुख्या यासां ताः। विपाकः फलम्। पश्यन्तीना[8]मपीति तस्या दुःखाधिक्ये हेतुः। अवदध्यौ अवज्ञातबान्। अनागाम् अनागसम्॥ ९॥

न चेदं सुतावज्ञामात्रं किन्तु रुद्रावज्ञा[9] च अतो नास्य भद्रं भविष्यती त्याहुः - **यस्त्विति** द्वाभ्याम्। व्युप्तो विकीर्णो जटाकलापो यस्य, स्वशूलस्य सूच्या[10] मग्रेऽर्पिताः प्रोताः दिग्गजेन्द्रा येन उदितानि उन्नमितानि अस्त्राणि यैस्ते, दोषो बाहवः एव ध्वजाः तान् वितत्य विस्तार्य[11]। हर्षेण नृत्यति उच्चोऽट्टहासः कठोरो हास एव स्तनयित्नुः घनगर्जितं[12] तेन भिन्ना विदीर्णा दिशो येन सः॥ १०॥

**वीर०** स तु वीरभद्रः भृशं[13] नदद्भिः ध्वनद्भिः[14] रुद्रपारिषदैः अन्वीयमानः परिवेष्टितः सुभैरवम् अतिभयङ्करं यथा भवति तथा व्यनदत् ननाद। ततः स वीरभद्रो जगदन्तको मृत्युः तस्याऽप्यन्तको'पमं शूल मुद्यम्य घोषणानि ध्वनन्ति भूषणानि नूपुरादीनि ययोः ता वङ्घ्री यस्य सः। प्राद्रवत् दक्षाध्वरं प्रत्यतात्॥ ६॥

अथ ततः ऋत्विजो दक्षाध्वरे ऋत्विजः, यजमानः दक्षः तथा सदस्याः सभ्याः द्विजाः तत्पत्न्यश्च उदीच्यां ककुभि दिशि रेणुं परागं समीक्ष्य तमो न[15] भवति किन्तु रज इति ज्ञात्वा आहुः रज एत त्कुतोऽभूदिति दध्युः चिन्तयामासुः॥ ७॥

---

1. A, B, G, J, T 'च 2. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T यत्प° 3. M, Ma, Ms °तीनां 4. A, B, G, I, J, T, V °गाम्; M, Ma °गसाम्
5. M, Ma, Ms, °ष्टो रूक्षादृ 6. M, Ma, Ms, दृक् 7. B, J, V, Va omit इति 8. A, B, J, Va, °मिति 9. A, B, J, Va ज्ञानं 10. V सूच्या
11. B, J, V omit विस्तार्य 12. B, J, V omit घन 13. W omits भृशं° 14. W omits ध्वनद्भिः 15. A, B, J नु

हेत्वन्तरासम्भवे नौत्पातिकं कल्पयन्त आहुः - **वाता** इति। वाताः चण्डवायवः न वान्ति न प्रसरन्ति, दस्यवः चोरादयः न सन्ति। तत्र हेतुः - हि यस्मात् उग्रः दण्डः दमनं प्रशासनं यस्य सः, प्राचीनबर्हिः तदानीन्तनो राजा जीवति, तस्मिन् जीवति न दस्यवः सन्तीति[1] भावः। हेत्याकस्मिकत्वद्योतकं, गावो न काल्यन्ते न शीघ्रं नीयन्ते अत इदं रजः कुत उत्थितम् अधुना लोकः प्रलयाय नाशाय कल्प्यते सम्भाव्यत इत्यर्थः॥ ८॥

प्रसूतिः दक्षस्य पत्नी तन्मिश्राः तत्सहिताः स्त्रियः उद्विग्नचित्ता उद्विग्नं भीतं चित्तं यासां ता ऊचुः तस्य दक्षस्य यद्वृजिनं[2] पापं तस्यैवायं विपाकः फलं, यत् यस्मात् प्रजेशो दक्षः दुहितॄणां पश्यन्तीनां सतीनाम्, अनेन तस्याः दुःखाधिक्यं सूचितम्, अनागसं निरपराधां सुतां सतीं भवानीम् अवदध्यौ अवज्ञातवान्॥ ९॥

असह्यपराक्रमं रुद्रं कोपयतो दक्षस्य अमङ्गलमवश्यम्भावीत्याहुः - **यस्त्विति** द्वाभ्याम्। यो रुद्रोऽन्तकाले प्रलयकाले व्युप्तो विकीर्णः जटाकलापो यस्य स्वशूलस्य सूच्या अग्रेण अर्पिता प्रोताः दिग्गजेन्द्रा येन उदितानि उन्नमितानि अस्त्राणि यै स्ते। दोषः बाहव एव ध्वजाः तान् वितत्य प्रसार्य, उच्चोऽट्टहासः स एव स्तनयित्नु र्गर्जितं तेन, भिन्ना विदीर्णा दिशो येन सः। हर्षेण नृत्यति॥ १०॥

**विज०** यद्यात्राविक्रम एव लोकस्योद्वेगजनकः किमुत तद्युद्धविक्रम इति भावेन तद्यात्रा प्रभावं वक्ति - **अन्वीयमान** इति। यथा सुष्ठु भैरवं भयङ्करं भवति तथा व्यनदत्। जगदन्तको जगन्मृत्युः तस्याऽप्यन्तकं संहर्तृ घोषणं शब्दनशीलं भूषणं नूपुरलक्षण मङ्घ्रौ यस्य स तथा॥ ६॥

असौ वीरभद्रो यज्ञवाट निकट मायादिति वार्तां पुरोगामिनी तत्सेना[3] धूलिरेव व्यनक्तीति भावेन ऋत्विगादीनां धूलिदर्शनेन जिज्ञासाप्रकारं वक्ति - **अथेति**। उदीच्यां ककुभि दिशि ऋत्विजो यज्ञ प्रवर्तकाः यजमानो यज्ञे दीक्षितः। सभास्थाने स्थित्वा मन्त्रतन्त्रकर्म हवि र्देवताग्निसम्बन्धं विवेचयन्तः सदस्याः॥ ७॥

न केवलं दध्युः अभिदध्युश्चेत्याह - **वाता** इति। चोराणामभावे निमित्तमाह प्राचीनबर्हिरिति। उग्रो दण्डो यस्य। उग्रेषु दण्डो यस्ये ति वा उग्रदण्डः। प्राचीनबर्हि र्नाम तत्कालभवो राजा, जीवति स प्राणो वर्तत इत्यन्वयः। हे त्यनेन तज्जीवनं सर्वेषां सिद्धमिति व्यनक्ति। तत्र केचि द्दक्षभयात् कारणं जानन्तोऽपि तूष्णीमासन्॥ ८॥

तद्भयहीनाः प्रसूतिमुख्याः कारण मूचुश्चेत्याह - **प्रसूति मिश्रा** इति। मिश्रशब्दो मुख्यार्थे वर्तते। प्रजेशो दक्षो दुहितॄणां

---

1. A, B, T omit सन्तीति भावः। 2. A, B, T add यत् 3. A °नानां

प्रपश्यन्तीनां सतीना मनागसाम्[1] अनपराधां नाम्ना सतीं सुतां अवदध्यौ अवज्ञातवानिति य द्यस्मात् तस्मात् वृजिनस्य पापस्य विपाकः फलमेवेत्यन्वयः ॥ ९ ॥

सत्यवज्ञानोत्पन्न परमेश्वरकोपा दियमनर्थद्योतिनी धूलिरिति भावेन सदाशिवमाहात्म्यं वदन्तीत्याह - **यस्त्विति** । व्युप्तजटाकपालः प्रसारितजटासमूहः वितत्य विस्तृत्य बाहूनिति शेषः । उदितान्यस्त्राणि धनुरादीनि येषुते उदितास्त्राः, दोषो भुजा एव ध्वजा दो र्ध्वजा यस्य स तथोक्तः । रूक्षाट्टहासः[2] कठोर सिंहनादः स एव स्तनयित्नुः प्रलयकालीन मेघनादः तेन भिन्ना विद्राविता दिशो यस्य स तथोक्तः । भिन्नदृगिति पाठे स्तनयित्नुवत् मेघवद्भिन्ना व्यक्ता दृक् यस्य स त थेत्यर्थः ॥ १० ॥

**अमर्षयित्वा तमसह्यतेजसं मन्युप्लुतं दुर्निरीक्ष्यं भ्रुकुट्या[3] ।**
**करालदंष्ट्राभि रुदस्तभागणं स्यात्स्वस्ति किं कोपयतो विधातुः ॥ ११ ॥**

**बह्वेव मुद्विग्न दृशोच्यमाने जनेन दक्षस्य मुहु र्महात्मनः[4] ।**
**उत्पेतु रुत्पाततमाः सहस्रशो भयावहा दिवि भूमौ च पर्यक् ॥ १२ ॥**

**तावत्स रुद्रानुचरै र्मखो महान् नानायुधै र्वामनकै रुदायुधैः[5] ।**
**पिङ्गैः पिशङ्गै र्मकरोदराननैः पर्याप्लवद्भि र्विदुरान्वरुध्यत[6] ॥ १३ ॥**

**केचि द्बभञ्जुः प्राग्वंशं पत्नीशाला[7] मथापरे ।**
**सद आग्नीध्रशालां च तद्विहारं महानसम् ॥ १४ ॥**

**रुरु जु र्यज्ञपात्राणि तथैकेऽग्नी नशामयन्[8] ।**
**कुण्डेष्वमूत्रयन् केचि द्बिभिदु र्वेदिमेखलाः[9] ॥ १५ ॥**

**श्रीध० अमर्षयित्वेति** । अमर्षयित्वा असहनयुक्तं कृत्वा मन्युप्लुतं क्रोधव्याप्तम् । उदस्तो विक्षिप्तो भागणो नक्षत्रसंघो येन सः । पुनश्च तं कोपयतो विधातु रपि किं स्वस्ति स्यात् न स्यादेव तस्य[10] चैवं सति काऽन्यस्य कथा ॥ ११ ॥

---

1. A, B °सम् 2. A रूक्षोऽ° 3. A, B, G, I J, M, Ma, Ms, T दुर्विषहं 4. M, Ma, Ms मखे म° 5. M, Ma, Ms °वि°
6. A, B, G, I, J, T °द्र° ; M, Ma, Ms °प्लु° 7. A, B, G, I, J, T शालां त° 8. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °ननाशयन्
9. M, Ma, Ms यज्ञ 10. A, B, J, Va omit तस्य चैवं सति

**बह्विति**। उद्विग्ना प्रचलिता दृक् यस्य तेन जनेन बहु यथा भवति, एवमुच्यमाने सति उत्पाततमा महोत्पाता उत्थिताः पर्यक् सर्वतश्च, कथम्भूताः ? महात्मनोऽपि दक्षस्य भयावहाः ॥ १२ ॥

**तावदिति**। नानाविधानि आयुधानि येषाम्। वामनकैः ह्रस्वैः उद्यतायुधैः, पिशङ्गैः कपिलैः[1], पिशङ्गैः पीतैः[2] मकरस्येव उदर माननं च येषां तैः। परितो धावद्भिः अवरुद्धः ॥ १३ ॥

**केचिदिति**। यज्ञशालायाः पूर्वपश्चिमस्तम्भयो रर्पितं पूर्व पश्चिमायतं काष्ठं प्राग्वंश स्तं स्तम्भम्[3]। यज्ञशालायाः पश्चिमतः पत्नीशाला ताम्। यज्ञशालायाः पुरतः स्थितं सदो मण्डपम्। सदसः पुरो[4] हविर्धानं तस्योत्तरत आग्नीध्रशालाम्। तद्विहारं यजमानगृहम्। महानसं पाकभोजनशालाम् ॥ १४ ॥

**रुरुजुरिति**। रुरुजुः बभुञ्जुः। उत्तरवेद्या मेखलाः सीमासूत्राणि "आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया[5]" (रघु) इति हेतोः न ते दोषभाजिन इति भावः[5] ॥ १५ ॥

**वीर०** तमेवम्भूतम् असह्यमप्रतिघातं तेजो यस्य तं रुद्रममर्षयित्वा असहनयुक्तं कृत्वा मन्युना क्रोधेन प्लुतं व्याप्तं अत एव दुर्निरीक्ष्यं द्रष्टु मशक्यं भ्रुकुट्या उग्रदंष्ट्राभिश्च उदस्तः उत्क्षिप्तः भागणो नक्षत्रसंघो येन तं कोपयतो विधातुरपि किं स्वस्ति स्यात् विधातुरप्येवम्, अन्यस्य का कथे त्यर्थः ॥ ११ ॥

उद्विग्ना प्रचलिता दृक् यस्य तेन जनेन बहु यथा भवति एव मुच्यमाने सति सहस्रशः उत्पाततमा महोत्पाता महात्मानः स्थिरचित्तस्यापि दक्षस्य भयावहा दिवि भूमौ च पर्यक् परितः उत्थिताः ॥ १२ ॥

तावत्ततः[6] आशु रुद्रानुचरै र्महान् मखो यागः हे विदुर ! अन्वरुध्यत प्रत्यबद्ध्यत विनाशित इति यावत्। रुद्रानुचरैः कथम्भूतैः ? नाना विचित्राणि आयुधानि येषां तैः वामनकैः ह्रस्वैः उद्यतायुधैः पिशङ्गैः पीतैः मकरस्येव उदर माननं च येषां तैः, परितो धावद्भिः ॥ १३ ॥

मखानुरोधमेव प्रपञ्चयति - केचित् रुद्रपार्षदाः प्राचीन वंशं बभञ्जुः त्रुटितवन्तः, तथा केचिदपरे पत्नीशालां बभञ्जु रित्यनुषङ्गः। प्राचीन[7] पूर्व पश्चिमस्तम्भार्पित पूर्वपश्चिमायात[8] तिर्य क्काष्ठं प्राग्वंशः। तथैके सदः यज्ञशालायाः पूर्वतः स्थितं मण्डपं सदः सदसः पुरतो हविर्धानं तस्योत्तरत आग्नीध्रशालां तद्विहारं यजमानगृहं महानसं पाकभोजनशालाम् ॥ १४ ॥

---

1. V °शैः 2. V पीतवर्णैः 3. A, B, J, Va omit स्तम्भम्। 4. पुरतः 5--5. V omits 6. A, B T °तु 7. A, B, T °नं 8. A, B, T °तं

रुरुजुः बभञ्जुः। अमूत्रयन् मूत्रं कृतवन्तः। तथोत्तरवेद्याः मेखलाः सीमासूत्राणि बिभिदुः॥ १५॥

**विज०** अनेन प्रकृते किं तत्राह - **अमर्षयित्वेति**। एवं विधं तं शिव ममर्षयित्वा विधातुः दक्षस्य स्वस्ति स्यात् किम्? न स्यादेवे त्यन्वयः। दंष्ट्रा प्रभाभि रुद्रस्तो निरस्तो भागणो नक्षत्रगणो यस्य स तथोक्त स्तम्॥ ११॥

न केवलं तर्कतो दक्षस्यैष्य दरिष्टं ज्ञायते किन्तु दुर्निमित्तै रपीत्याह-**बह्वेव**मिति। किं बहुना? पर्यक् सर्वतो दिक्षु॥ १२॥

उत्पातानां क्षिप्रं प्रत्यक्षफल मभूदित्याह - **तावदिति**। यावदुत्पाता उत्पन्नाः तावत्कालक्षेप मन्तरेण स महान्मखो रुद्रानुचरैः अन्वरुध्यत इत्यन्वयः। नानाविधत्व मेव स्पष्टीक्रियते वामनकैरित्यादिना। वामनकैः ह्रस्वैः ह्रस्वशिरोभिश्च पिङ्गैः कपिलैः पिशङ्गैः हरिद्रावर्णैः मकरवत् उदर माननं च येषां ते तथोक्ताः तैः। पर्याप्लुवद्भिः इतस्तत उत्पतद्भिः॥ १३॥

तत्र तत्र स्वस्वानुकूलं रोधं चक्रु रित्युक्तं विशिनष्टि - **केचिदिति**। प्राग्वंशम् अग्निहोत्रस्थानं यज्ञशालायाः पूर्वपश्चिमस्तम्भयोः उपर्यवान्तर वंशावलम्बनं पूर्वपश्चिमायतं दारु वा प्राग्वंशः तं, यज्ञशालायाः पश्चिमतः पत्नीशाला। यज्ञशालायाः पुरतो मण्डपः सदः। मण्डपतः पुरतो हविर्धानी। तस्योत्तरतः शालाग्नीध्रशाला। पशुविशसनस्थानम्। तस्याग्नीध्रस्याग्निस्थानं विहारः। महानसः पचनस्थानम्॥ १४॥

रुरुजुः "रुजो भङ्गे" इति धातुः। वेदिमेखला उत्तरवेदि सीमासूत्राणि॥ १५॥

**अबाधन्त मुनीनन्ये एके पत्नी रतर्जयन्।**
**अपरे जगृहु र्देवान् प्रत्यासन्नान् पलायितान्॥ १६॥**

**भृगुं बबन्ध मणिमान् वीरभद्रः प्रजापतिम्।**
**चण्डीशः[1] पूषणं देवं भगं नन्दीश्वरोऽग्रहीत्॥ १७॥**

**सर्व एव त्विजो दृष्ट्वा सदस्याः सदिवौकसः।**
**तैरर्द्यमानाः सुभृशं ग्रावभिर्नैकधाऽद्रवन्॥ १८॥**

**जुह्वतः स्रुवहस्तस्य श्मश्रूणि भगवान् भवः।**
**भृगो र्लुलुञ्चे[2] सदसि योऽहसत्[3] श्मश्रु[4] दर्शयन्॥ १९॥**

1. I चण्डेशः 2. Ma, V, W °ञ्छवे 3. यो हसन् 4. V श्मश्वदर्शयत्

**भगस्य नेत्रे भगवान् पातितस्य रुषा भुवि।**

**उज्जहार सदस्योऽक्ष्णा यः शपन्त मसूसुचत्[1]॥ २०॥**

**श्रीध०** अबाधन्तेति। प्रत्यासन्नान्[2-] पलायितान् समीपस्थान् पलायितानपि जगृहुः[-2]॥ १६, १७॥

**सर्व** इति। ग्रावभि रर्द्यमानाः नैकधा अनेकधा दुद्रुवुः॥ १८॥

**जुह्वत** इति। स्रुवो हस्ते यस्य। भवो वीरभद्रः लुलुञ्चे[3] उत्पाटितवान्॥ १९॥

**भगस्येति**। उज्जहार उद्धृतवान्। यः[4] सदस्थः सभायां स्थित स्सन् शपन्तं शिवनिन्दां कुर्वन्तं दक्षम् अक्ष्णा अक्षिनिकोचेन[5] असूसुचत्[6] प्रेरितवान्[7]॥ २०॥

**वीर०** अतर्जयन् अभर्त्सयन्। अपरे पलायितान् पुन स्नुधावनेन प्रत्यासन्नान् देवान् जगृहुः गृहीतवन्तः॥ १६॥

मणिमान् रुद्रानुचाराग्र्य भृगुं बबन्ध, वीरभद्रः प्रजापतिं दक्षं चण्डीशः पूषणं[8] पूषणाख्यं देवं भगाख्यं नन्दीश्वरः अग्रहीत्॥१७॥

सर्वे दिवौकोभिः देवै स्सहिताः सदस्याः सभ्याः ऋत्विजः रुद्रानुचरैः वध्यमानान् भृग्वादीन् दृष्ट्वा भृशं ग्रावभिः शिलाभि रर्द्यमानाः ताड्यमानाः अनेकधा दुद्रुवुः॥ १८॥

स्रुवं होमसाधनं हस्ते यस्य तस्य जुह्वतः होमं कुर्वतो भृगोः श्मश्रूणि भगवान् भवो वीरभद्रः लुलुञ्चे[9] उत्पाटितवान्। किं विशेषण श्मश्रूण्येव उत्पाटितवान्? तत्राह - यो भृगुः श्मश्रु दर्शयन् अहसत् रुद्रं परिहसितवान्। अतः श्मश्रूण्येव लुलुञ्चे[10] इत्यर्थः। **एव** मुत्तरत्राऽपि॥ १९॥

भगवान् वीरभद्रः रुषा क्रोधेन भूमौ पातितस्य भगस्य नेत्रे उज्जहार उद्धृतवान्, यो भगः सदसि सभायां स्थित स्सन् शपन्तं शिवनिन्दां कुर्वन्तं दक्षम् अक्ष्णा नेत्रेणाऽसूसुचत् सूचितवान् प्रेरितवानित्यर्थः॥ २०॥

**विज०** मणिमान् कश्चिद्गणनाथः प्रजापतिं दक्षम्। चण्डीशः चण्डेश्वरः॥ १६, १७॥

सर्वेऽप्येव मेव निगृहीताः किम्? नेत्याह - **सर्व एवेति**॥ १८॥

भवो वीरभद्रः लुलुञ्चे उत्पाटयामास। लुञ्च छेदन इति धातुः। अनेन कोऽपराधः कृतः इति तत्राह - सदसीति। **विश्वसृजां** सदसि॥ १९॥

---

1. M, Ma, Ms °मसूचयत् 2--2. V omits 3. V °ञ्छे 4. V omits यः 5. Va सङ्को° 6. V adds सूचितवान् 7. V adds इत्यर्थः। 8. A, B, T omit पूषणं 9. W °ञ्छे 10. W °ञ्छे

अत्र वीरभद्रः स्वापराधानुकूलं दण्डं करोति सर्वेषामित्याह भगस्येति ॥ २० ॥

**पूष्णश्चापातयद्दन्तान्[1] कालिङ्गस्य[2] यथा बलः ।**
**शप्यमाने गरिमणि योऽहसद्दर्शयन्दतः ॥ २१ ॥**

**आक्रम्योरसि दक्षस्य शितधारेण हेतिना ।**
**छिन्दन्नपि तदुद्धर्तुं नाशक्नोत् त्र्यम्बकस्तदा ॥ २२ ॥**

**शस्त्रै रस्त्रान्वितै रेन[3] मनिर्भिन्नत्वचं हरः ।**
**विस्मयं परमापन्नो दध्यौ पशुपतिश्चिरम् ॥ २३ ॥**

**दृष्ट्वा संज्ञपनं[4] योगं पशूनां स पति र्मखे ।**
**यजमानपशोः[5] कस्य कायात्तेनाहर च्छिरः ॥ २४ ॥**

**साधुवादस्तदा तेषां कर्म[6] तत्तस्य[7] शंसताम् ।**
**भूतप्रेतपिशाचाना मन्येषां तद्विपर्ययः ॥ २५ ॥**

**जुहावैतच्छिर स्तस्मिन्[8] दक्षिणाग्नावमर्षितः ।**
**तद्देवयजनं दग्ध्वा प्रातिष्ठद् गुह्यकालयम् ॥ २६ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

**श्रीध० पूष्णश्चेति** । कलिङ्गदेशराजस्या निरुद्धोद्वाहे बलभद्रो यथा द्यूते दन्तान् पातितवान् । गरिमणि गुरुतरे[9] रुद्रे निन्द्यमाने दतो दन्तान् दर्शयन् यो जहास । पूष्णो रिति पाठे द्विवचनम् "ऐन्द्रापौष्णश्चरु र्भवति" इत्यत्रान्वय[10] सहितस्यापि पूष्णो दन्तपात[11] प्राप्त्यर्थं सूचितवान् । तथा हि "पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तकोहितं देवा अब्रुवन्" इति विहितस्य पिष्टभाग[12]स्य द्विदैवत्याभावात् तत्र तस्य दन्ताः सन्तीति वक्तव्यं स्यात् । न चै तत्संगच्छत इत्याशङ्क्य तत्राऽपि तस्य दन्तपातोऽवस्थाभेदे प्रवृत्तेन द्विवचनेन[13] प्राप्यते । अत एव पूष्णोऽनुग्रहं द्वेधावक्ष्यति "पूषातु यजमानस्य दद्भि र्जक्षतु पिष्टभुक्" (भाग.4-7-4) इति । केवलश्चेत् प्रविष्ट[14] भुग्भविष्यति अन्यसहितश्चेत्, यजमानस्य[15] दद्भिः भक्षयिष्यतीत्यर्थः[16] ॥ २१ ॥

---

1. I पूष्णो ह्यपा° 2. M, Ma, Ms V क° 3. A, B, G, I, J, T °व 4. M, Ma, Ms °ने 5. M, Ma, Ms °शोस्तस्य 6. V तत्तत्रशं° 7. I पश्यताम् 8. M, Ma, Ms °स्य 9. Va omits रुद्रे 10. V °त्र तस्य° 11. V °तनप्रा° 12. A, B, J, Va पेषणस्य 13. B, V, ज्ञा° 14. V omits प्र 15. °न्दद्भिः 16. V omits अर्थः।

**आक्रम्येति**। छिन्दन्नपीत्यत्र शिर इत्युपरि व्यक्तीभविष्यति। त्र्यम्बको वीरभद्रः ॥ २२ ॥

**शस्त्रैरिति**। अस्त्रान्वितैः मन्त्रसहितैः शस्त्रैः[1] अनिर्भिन्ना[2] त्वग्यस्य तथाभूतं दृष्ट्वेति शेषः ॥ २३ ॥

**दृष्ट्वेति**। स पशूनां पति र्मखे संज्ञपनं योगं कण्ठनिष्पीडनादिरूपं मारणोपायं दृष्ट्वा तेनोपायेना हरत् ॥ २४ ॥

**साधुवाद** इति। अन्येषां ब्राह्मणादीनां तद्विपर्ययोऽसाधुवादः अभूदिति शेषः ॥ २५ ॥

**जुहावेति**। गुह्यकालयं कैलासं प्रतस्थे[3] ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

**वीर०** कालिङ्गस्य कलिङ्गदेशराजस्य बलः बलभद्रः यथा तथा पूष्णः दन्तान् अपातयत् पातितवान्, यः पूषा गरिमणि गुरुतरे रुद्रे शप्यमाने सति दतः दन्तान् दर्शयन् अहसत्। पूष्णो रिति द्विवचनपाठे तु "तदिन्द्रापौष्णश्चरुर्भवति" इत्यत्रान्वयसहितस्यापि पूष्णो दन्तपातन[4] प्राप्त्यर्थम् ॥ २१ ॥

त्र्यम्बको वीरभद्रः दक्षस्योरसि आक्रम्य पादं विन्यस्य शितधारेण हेतिना खड्गेन छिन्दन्नपि तदा तच्छिर इत्यपकृष्यते, उद्धर्तुं तदा नाऽशक्नोत् असमर्थोऽभवत् ॥ २२ ॥

अस्त्रान्वितैः मन्त्रसहितैः शस्त्रैः न निर्भिन्नात्वक् यस्य तथाभूत मेनं दक्षं दृष्ट्वेति शेषः। पशुपतिः हरो वीरभद्रः परं विस्मय मापन्नः प्राप्तः चिरं दध्यौ शिरस उद्धरणोपायं चिन्तितवान्।

पशूनां पतिः स वीरभद्रः मखे अध्वरे संज्ञपनं ॥ २३ ॥

मारणं योग मुपायं दृष्ट्वा यागीयपशुवदयं हन्तव्य इति दृष्ट्वा निश्चित्य तस्य यजमानो दक्षः स एव पशुः तस्य, यद्वा, यजमानस्य यः पशुः देवतोद्देशेन यजमानेन त्यक्ष्यमाणः पशुः तस्य, संज्ञपनं मारणं योग मुपायं निश्चित्य तेनैव योगेन तस्य दक्षस्य कायात् शिर अहरत् उद्धृतवान् ॥ २४ ॥

तच्छिरश्छेदनरूपं कर्म शंसतां स्तुवतां भूतादीनां साधुवादः अभवत्। अन्येषां ब्राह्मणादीनां तद्विपर्ययः असाधुवादः अभवदित्यर्थः ॥ २५ ॥

---

1. B, J, V, Va, omit शस्त्रैः  2. V न  3. B, J, V Va omit प्रसस्थे ।  4. T ०ट०

एतस्य दक्षस्य शिरः तस्मिन् तदध्वरसम्बन्धिनि दक्षिणाग्नौ अमर्षितः क्रुद्धः जुहाव तस्य दक्षस्य देवयजनमेवं दग्ध्वा नाशयित्वा गुह्यकालयं कैलासं प्रातिष्ठत् प्रययौ ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

**विज.** कालिङ्गस्य दन्तवक्त्रस्य द्यूते बलो बलभद्रः भृगुणा गरिमणि ज्ञानोपदेष्टुत्वेन गुरुतमे शिवे शप्यमाने सति यः पूषा दतः दन्तान् दर्शयन् अहसत् तस्य ॥ २१ ॥

वीरभद्रो दक्षं बद्ध्वा किमकरोदिति तत्राह - **आक्रम्येति**। शितधारेण तीक्ष्णाग्रेण त्रीणि अम्बकानि नेत्राणि यस्य ॥ २२, २३ ॥

ज्ञानफल माह - **दृष्ट्वेति**। मखे पशूनां संज्ञपने हिंसने योगं मन्त्रपूर्वकोपायं यजमन एव पशुः तस्य तेन योगेन ॥ २४ ॥

अयं हि विक्रम उभयेषाम् उभयान्तः करणवृत्ति मकार्षीदित्याह - **साधुवाद** इति। अन्येषां दक्षपक्षिणाम् ॥ २५ ॥

मन्त्रादिशक्त्यैतच्छिरस्सन्धान मपि न कार्यमिति भावेन शिरश्छेदोत्तरक्रियां वक्ति - **जुहावेति**। ततः परं किमकारीति तत्राह- तद्देवयजनमिति। देवयजनं यज्ञं दग्ध्वा विनाश्य गुह्यकालयं कैलासं प्रातिष्ठत् प्रायादिति। अत्र त्र्यम्बको हरः पशुपतिरिति विशेषनामनिर्देशात् किञ्चन तात्पर्य मस्तीति ध्वनयति। पूर्वं वीरभद्रेण स्वेन रूपेण गत्वा यज्ञशालादिकं भङ्क्त्वा पश्चात् मूलरूपेण गत्वा दक्षमवधीत्। तत्राप्युपेन्द्रेण हरिणा धर्मपुत्रेण हरिणा च जितः शिवः अन्यान् तत्र स्थितान् जित्वा कैलास मगमदिति। तदुक्तं - "वीरभद्राख्यरूपेण स्वेन पूर्वं ययौ हरः। मूलरूपेण पश्चात्तु गत्वा दक्ष मथावधीत्। तत्रोपेन्द्रेण हरिणा जितो धर्मात्मजेन च। अन्यान् जिगायं प्रययौ कैलासं स्वं निकेतनम्" (ब्राह्मे) इति ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां

टीकायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

# षष्ठोऽध्यायः

## मैत्रेय उवाच

अथ देवगणास्सर्वे रुद्रानीकैः पराजिताः।
शूलपट्टिशनिस्त्रिंशगदापरिघमुद्गरैः[1] ॥ १ ॥

सञ्छिन्नभिन्नसर्वाङ्गाः सर्त्विक्सभ्या भयाकुलाः[2]।
स्वयम्भुवे नमस्कृत्य कात्स्न्र्येनैतन्न्यवेदयन्[3] ॥ २ ॥

उपलभ्य पुरैवैतद्भगवानब्जसम्भवः।
नारायणश्च विश्वात्मा न कस्याध्वरमीयतुः[4] ॥ ३ ॥

तदाकर्ण्य विभुः प्राह तेजीयसि कृतागसाम्[5]।
क्षेमाय[6] भूयसे भूयान्न प्रायेण बुभूषताम्[7] ॥ ४ ॥

अथापि यूयं कृतकिल्बिषा भवं[8] ये बर्हिषो भागभाजं[9] परादुः।
प्रसादयध्वं परिशुद्धचेतसा क्षिप्रप्रसादं प्रगृहीताङ्घ्रिपद्मम्[10] ॥ ५ ॥

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

षष्ठे तु देवसङ्घेन सह गत्वा भवं विधिः। सान्त्वयामास दक्षादिजीविताद्यर्थमादरात् ॥

अथेति। अथ देवगणाः सर्वे[11] स्वयम्भूवे न्यवेदयन्निति द्वितीयेनान्वयः ॥ १ ॥

सञ्छिन्नेति। शूलादिभिः सञ्छिन्नानि त्रुटितानि भिन्नानि विदीर्णानि अङ्गानि येषाम्। सह ऋत्विग्भिः सभ्यैश्च वर्तमानाः ॥२॥

उपलभ्येति। कस्य दक्षस्य यज्ञे[12-] ब्रह्मा विष्णुश्च[-12] नेयतुः न जग्मतुः, यत्राऽरुद्रको[13-] यज्ञः तत्र नारायणविरिञ्चावपि नागतौ[-13] ॥ ३ ॥

---

1. Ma, V, W पट्टस 2. M, Ma, Ms °स्समा° 3. V °त्वा 4. T त° 5. A, B, G, I, J, T, V °सि 6. V पुंसि क्षेमाय सा 7. A. B, G, I, J, T तत्र सा
8. M, Ma, Ms भवे 9. V भुवं 10. M, Ma, Ms पद्माः 11. B, J, V Va omit सर्वे 12--12. V omits 13--13. V omtis

**तदिति**। विभुर्ब्रह्मा तेजीयसि अतितेजस्विनि पुरुषे कृतागसि कृतापराधे[1] सत्यपि स्वयं तत्र कृतागसां बुभूतषाम् अपराधं[2] कर्तुमिच्छतां सा तथा[3] बुभूषा तेषां क्षेमाय न भूयात्। प्रायेणेति लोकोक्तिः, न भवेदेवेत्यर्थः। यूयं[4] तु अकृतागस्यापि तस्मिन् कृतकिल्बिषाः। अतः कथं क्षेमं स्यात्[4]॥ ४॥

**अथेति**। अथापि तं[5] प्रसादयध्वं[6] क्षमापयत ये भवन्तो बर्हिषो यज्ञस्य भागभाजं[7] परादुः दूरादेव खण्डितवन्तः। प्रगृहीताङ्घ्रिपद्मं[8] पादौ प्रगृह्णेत्यर्थः॥ ५॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं दक्षाध्वरविनाश उक्तः। अथ पुनः तत्सन्धानप्रकारं विवक्षुस्तदुपोद्घातरूपं देवकृतरुद्रप्रसादनं वक्ष्यन् तावत् देवानां रुद्रपारिषदताडितानां स्वयम्भुवे विज्ञापनं वदन् तेन सह रुद्रसन्निधिं गता इत्याह मैत्रेयः - **अथेति**। अथ दक्षयज्ञविनाशानन्तरं[9] सर्त्विक्सभ्याः ऋत्विग्भिः सभ्यैश्च सहिताः सर्वे देवगणाः रुद्रानीकैः रुद्रसैन्यैः कर्तृभिः शूलादिभिः साधनैः सम्यक्[10] छिन्नानि विदीर्णानि सर्वाणि अङ्गानि येषां ते। अत एव पराजिताः भयाकुलाः सन्तः स्वयम्भुवे चतुर्मुखाय नमस्कृत्य एतद्वृतं कात्स्न्येन न्यवेदयन् विज्ञापितवन्तः॥ १, २॥

किं स्वयम्भुवे विज्ञापितवन्त इत्युच्यते। ब्रह्मापि दक्षाध्वरे आगतः तद्वृत्तं जानात्येव तत्राह - **उपलभ्येति**। अब्जसम्भवो भगवान् ब्रह्मा सर्वान्तरात्मा नारायणश्च पुरैवैतद्भाविदक्षाध्वरविनाशनमुपलभ्य ज्ञात्वा, भगवान् विश्वात्मेपि विशेषणाभ्यां तयोः सर्वज्ञत्वं सूचितं, तस्य दक्षस्याध्वरं प्रति नेयतुः न गतवन्तौ॥ ३॥

विभुः ब्रह्मा तद्देवैर्विनिवेदितमाकर्ण्य श्रुत्वा आह उवाच, उक्तिमेवाह - **तेजीयसीत्यादिना**। तेजीयसि तेजिष्ठे रुद्रे कृतमागः अपराधो यैस्तेषां बुभूषतां भवितुमिच्छतां श्रेयस्कामानामिति यावत् भूयसे क्षेमाय श्रेयसे प्रायेण प्रायशः न भूयात्। तेजीयानिति विभक्तिविपरिणामेनानुषज्यते, असत्कृतः तेजीयान् पश्चात् प्रसाद्यमानोऽपि क्षेमकृन्न स्यादित्यर्थः। प्रायेणेति लोकोक्तिः॥ ४॥

यद्यप्येवमथापि ये भवन्तो बर्हिषः यज्ञस्य भागभाजो भागं भजन्ति प्राप्नुवन्तीति तथा तान् परादुः बहिष्कृतवन्तः ते यूयं परिशुद्धचेतसा निष्कपटचित्तेन प्रगृहीताङ्घ्रिपद्मं पादावुपसङ्गृह्णेत्यर्थः। भवं रुद्रं प्रसादयध्वं, कथं पादोपसङ्ग्रहमात्रेण प्रसन्नो भवेत् तत्राह - क्षिप्रप्रःसादं पादग्रहणस्याऽनतिक्रमणीयतामालोच्य आश्वनुग्रहकारिणमिति भावः॥ ५॥

---

1. B, J, V, Va omit कृदतापराधे 2. A भवितुमिच्छता प्रत्यपराधं चिकीर्षतां सा 3. A adds विधा 4--4. B, J, V, Va omit
5. B, J, V, Va omit तं 6. V °यध्वं 7. V भुजं 8. V adds यथा भवति तथा 9. W दक्षाध्वरवि° 10. A, B, T सञ्छिन्नानि

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भगवदपरोक्षीकरणाय तत्प्रसादवत् स्वोत्तमभक्त्युत्कर्षतारतम्येन तदनुग्रहोप्यापाद्यः इत्यभिप्रायो वर्ण्यते अस्मिन्नध्याये। तत्र सर्वभक्तोत्तममहादेवप्रसादापादनाय देवानां ब्रह्माणं प्राप्य स्वसङ्कटविज्ञापनप्रकारः कथ्यते - अथ देवगणा इत्यादिना। रुद्रस्थानीकैः सैन्यैः पार्षदैरित्यर्थः॥ १॥

एतद्वृत्तम्॥ २॥

ननु विष्णुब्रह्मणोर्यज्ञागतेरावश्यकत्वेन तत्स्थितौ यज्ञविनाशो ब्रह्माणं गत्वा देवविज्ञापनं च कथं युक्तम् - "आग्नावैष्णवपुरोडाशं निर्वपति", "प्रजापते न त्वदेतान्यन्य" (मैत्र.सं.1-14-1) इत्यादि श्रुतेः इत्यत आह - उपलभ्येति। एतद्भाविकार्यं पुरै वोपलभ्य ज्ञात्वा अब्जसम्भवो ब्रह्मा विश्वात्मा विश्वान्तर्यामी त्रिमूर्तिगेन रूपेण नारायणश्च कस्य दक्षस्याध्वरं नेयतुः न जग्मतुरित्यन्वयः। अतो विष्णुब्रह्मणोः तत्रानवस्थानात् यज्ञविनाशो देवानां ब्रह्माणं गत्वा विज्ञापनं च युज्यत इति भावः॥ ३॥

विज्ञापितं सङ्कटं श्रुत्वा ब्रह्मणा शिक्षाकरं वाक्यमवादीदित्याह - **तदेति**। तेजीयसि बलिष्ठे पुंसि। विष्णुवायू विना इत्यतः प्रायेणेत्युक्तम्॥ ४॥

तर्हि तूष्णीम्भावोऽस्माकं किमुपायान्तरं वा ज्ञापयसीति तत्राह - **अथापीति**। बर्हिषो यज्ञस्य भागं स्वविहितांशं भजतीति भागभाक् तं पराकृत्यान्यस्मा अदुरित्यर्थः। अथापि कृतापराधानामपि युष्माकं शिवप्रसादनमेवोपाय इत्युक्तं भवति। प्रसादने किं साधनमित्यत उक्तं-परिशुद्धेति। राहुग्रस्तचन्द्रमण्डलवत् चेतस एकस्मिन्नर्थे विकल्मषत्वं न स्यादिति परीत्युक्तं, न केवलं चेतोनैर्मल्यमलं, किन्तु कर्म चापेक्षितमित्याह - प्रगृहीतेति। प्रगृहीते अङ्घ्रिपद्मे यैस्ते तथोक्ताः॥ ५॥

**आशासानां जीवितमध्वरस्य लोकः सपालः कुपिते न यस्मिन्।**
**तमाशु देवं प्रियया विहीनं क्षमापयध्वं हृदि विद्धं दुरुक्तैः॥ ६॥**

**नाहं न यज्ञो न च यूयमन्ये ये देहभाजो मुनयश्च तत्त्वम्।**
**विदुः प्रमाणं बलवीर्ययोर्वा तस्यात्मतन्त्रस्य क उपायं विधित्सेत्॥ ७॥**

---

1. A, B, G, I, J, T य° 2. W °नः क 3. M, Ma, Ms उद्विधित्सेत्

**स इत्थमादिश्य सुरानजस्तैः[1] समन्वितः पितृभिः सप्रजेशैः ।**

**ययौ स्वधिष्ण्यान्निलयं पुरद्विषः कैलासमद्रिप्रवरं प्रियं प्रभोः ॥ ८ ॥**

**जन्मौषधितपोमन्त्रयोगसिद्धैर्नरेतरैः[2] ।**

**जुष्टं किन्नरगन्धर्वैरप्सरोभिर्वृतं सदा ॥ ९ ॥**

**नानामणिमयैः श्रृङ्गैर्नानाधातुविचित्रितैः ।**

**नानाद्रुमलतागुल्मैर्नानामृगगणाऽऽवृतैः[3] ॥ १० ॥**

**श्रीध० आशासाना** इति । अध्वरस्य जीवितं पुनस्सन्धानं प्रार्थयमानाः सन्तः यस्मिन् कुपिते सति सलोकपालो[4] लोको न भवेन्नश्येदित्यर्थः ॥ ६ ॥

वयं तु तत्र गन्तुं बिभीमः त्वमेव कञ्चिदुपायं विधत्स्वेति चेत् अत[5] आह - **नेति** । यज्ञः तदानीन्तन इन्द्रः । यस्य तत्त्वं स्वरूपं[6] बलवीर्ययोः प्रमाणमियत्तां च न विदुः । तत्र[7] वीर्यं पराक्रमः, तस्य[8] स्वतन्त्रस्य क उपायं कर्तुमिच्छेत् । पापमिति पाठेऽपराधम् ॥ ७, ८ ॥

कैलासं वर्णयति - **जन्मौषधीत्यादि** चतुर्दशभिः । नरेतरैः देवैः जुष्टं सेवितम्[9] ॥ ९ ॥

**नानेति** । श्लोकद्वयस्य[10] एकान्वयः[10] । शृङ्गै रमणं रतिप्रदमित्युत्तरेणान्वयः । कथम्भूतैः ? नानाधातुभिः विचित्रितैः नाना द्रुमलता गुल्माश्च येषु ॥ १० ॥

**वीर०** अध्वरस्य यज्ञस्य जीवितं पुनस्सन्धानं आशासानाः प्रार्थयमानाः यूयं यस्मिन् रुद्रे कुपिते सति सपालः दिक्पालसहितो लोको नास्ति नश्येदित्यर्थः, तं दुरुक्तैः दक्षादीनां दुर्वाक्यैः हृदि विद्धं ताडितम् अधुना प्रियया भार्यया च विहीनं देवं भवमाशु क्षमापयध्वं प्रसादयध्वम् ॥ ६ ॥

वयं तत्र गन्तुं बिभीमः, त्वमेव कञ्चिदुपायं चिन्तयेत्यत्र रुद्रं प्रस्तौति - **नाहमिति** । यस्य रुद्रस्य तत्त्वं याथात्म्यं बलवीर्ययोः

---

1. M, Ma, Ms °जस्तुतैः 2. M, Ma, Ms °ध° 3. W गणाऽन्वितैः 4. A, B, J, Va सपालः 5. V तत्राह 6. B, J, V, Va omit स्वरूपं 7. B, J, V, Va omit तत्र 8--8. B, J, V, Va omit 9. B, J, V, Va omit सेवितम् 10--10. A, B, J, Va omit

प्रमाणमियत्तां च अहं न विद्याम्, यज्ञः इन्द्रः न च, न विद्यात् यूयं न च न विद्यात। तथा मुनयो येऽन्ये च देहधारिणोऽतीन्द्रियार्थदर्शिनो न विदुः, ब्रह्मदृष्ट्येदमुक्तं तस्यात्मनः परमात्मावेशावतारभूतस्य उपायं क्षमोपायं को विधित्सेत् न कोऽपि विधातुमिष्यादित्यर्थः। भवद्भिः पादोपसङ्ग्रहणमन्तरेणान्यः कः कमुपायं विधित्सेदिति भावः॥ ७॥

सोऽजः ब्रह्मा सुरान् प्रत्येवमादिश्याऽऽज्ञाप्य तैर्देवैः सप्रजापतिभिः पितृभिश्च सह स्वधिष्ण्यात् स्वस्थानात् पुरारेः प्रभो रुद्रस्य प्रियं निलयं स्थानभूतम् अद्रिश्रेष्ठं कैलासं प्रति ययौ॥ ८॥

कैलासं वर्णयति - **जन्मौषधीत्यादि**भिश्चतुर्दशभिः। जन्मना ओषध्यादिभिश्च ये सिद्धाः तैः नरेतरैः देवयोनिभिः तत्र जन्मतः सिद्धा ओषध्याद्यनपेक्षमेव सृष्टिवेलायामेव देवत्वेन सृष्टाः। ओषध्यादिसिद्धास्तु देवत्वसम्पादकौषध्याद्युपायैः देवत्वेन सिद्धाः। योगः रुद्रोपासनारूपयोगः। मन्त्रः यावज्जीवं शिवपञ्चाक्षर्यादिमन्त्रावृत्तिः। जुष्टं सेवितं, तथा च गीतं भगवता - "देवान् देवयजो यान्ति पितॄन् यान्ति पितृव्रताः" (भगी. 7-23) इति। तथा अप्सरोभिः किन्नरादिभिश्च सदा वृत्तम्॥ ९॥

शृङ्गैः शिखरैः रमणैः प्रियैस्सह विहरन्तीनां सिद्धानां या योषितः तासां रमणं रतिप्रदं, श्रृङ्गैः कथम्भूतैः ? नानाधातुभिर्गैरिकादिभिः विचित्रितैः नाना द्रुमाः लतागुल्मानि च येषु तैः॥ १०॥

**विज०** न केवलं कालान्तरभाविनः श्रेयसस्साधनं तत्प्रसादनं किन्तु अद्यतनस्यापीति भावेनाह - **आशासाना** इति। अध्वरस्य जीवितं पुनरनुसन्धानलक्षणं जीवनमाशासाना आकाङ्क्षमाणा यूयं दक्षदुर्वचनमेव न कारणम् ईश्वरस्य कोपस्य कारणान्तरमप्यस्तीति भावेनोक्तं प्रियेति। न तत्कोपेन परमध्वरस्य विनाशः अपि तु सपालस्य लोकस्यापीत्यतः तदकरणात् भवः प्रसादनेन क्षान्तो भवति क्षिप्रप्रसादमेति तत्स्वभावादिति भावेनोक्तं लोक इति॥ ६॥

बुभूषुणा विष्णुद्वेषवत्तस्य हरेः मनोनुसारितया वर्तमानस्य श्रीकण्ठस्य द्वेषः कर्तुं न योग्य इत्याशयेनाह - **नाहमिति**। अहं ब्रह्मशर्मा यस्य विष्णोस्तत्वं बलवीर्ययोरित्युपलक्षणं ज्ञानादिगुणानां च प्रमाणं[1] परिमाणं न वेद्मि तथा यज्ञ इन्द्रोऽपि न वेत्ति तथा यूयं न वित्थ तथान्ये प्रजापत्यादयो ये च देहभाजः शरीरिणो मुनयः सनकादयश्च न विदुरित्यन्वयः। तस्य विष्णोरात्मनो मनसस्तन्त्रस्य वशस्य रुद्रस्य कः पुमानपराधमुच्चैः विधित्सेत् कर्तु मिच्छेत् न कोऽपि बुभूषुरित्यर्थः। यज्ञो यज्ञपत्यादयश्च न विदुरित्यन्वयः। "यज्ञो यज्ञपतिस्त्विन्द्रः पुरुहूतः पुरुष्टुतः" इत्यभिधानात् इन्द्र एवात्र यज्ञशब्दार्थः। "नाहं नेन्द्रो न चैवान्ये यत्तत्त्वं न विदुः परम्। तस्य

1. A, B, omit परिमाणं

विष्णोर्वशो रुद्रो मम वायोरथापि वा॥ नान्यस्य कस्यचित् पुंसस्तस्येत्थं वः कुतः कृतम्'' (ब्रह्मवैवर्ते) इति वचनात् स्मृतिसमाख्यानाच्च ''न यज्ञो विष्णुर्मम वायोरथापि वा'' इत्यनेनात्मनो ब्रह्मणो वायोश्च तन्त्रस्येत्ययमर्थोऽपि ध्वनित इति ज्ञायते। उदित्यनेन संसारनदीमुत्तर्तुकामैः शिवद्वेषो न कर्तव्य इति सूचयति, मोक्षस्य शिवाद्युपदिष्टज्ञानापेक्षितत्वात्। तदुक्तं - ''मुमुक्षवो ब्राह्मणाश्च शिव इन्द्रादिभिस्तथा। श्रुत्वा ज्ञानं परं गुह्यं मुच्यन्ते ब्रह्मणा सह'' (कौर्मे) इति॥ ७॥

मया सह गतं चेत् एषां देवानाम् एष शिवः क्षिप्रप्रसादो भविष्यतीति महादयालोः ब्रह्मणः कैलासं प्रति यात्रां वक्ति - **स इत्थमिति**। अजो ब्रह्मा पुरद्विषः प्रियं ''कैलासो गिरिशो मृडः'' इत्यभिधानात्। 'तस्य निवास' इति विग्रहे यथा विहिताण्प्रत्ययेन कैलास इति रूपं सिध्यति॥ ८॥

कण्टकगुल्मखण्डैरप्रवेशस्य गण्डशैलादिपाषाणैः अनारोहस्याचलस्य किम्माहात्म्यात् रुद्रप्रियत्वम् ? इत्यतः तं पर्वतं चतुर्दशभिः श्लोकैर्वर्णयति - **जन्मेत्यादिना**। नरेतरैः नरत्वजातिरहितैः जन्मना विशिष्टकुलोत्पत्त्या, कृष्णचित्रकाद्योषधेन, कृच्छ्रचान्द्रायणादितपसाऽष्टाङ्गलक्षणयोगेन मृत्युञ्जयादिमन्त्रेण एतैः सिद्धैः अमरत्वादि सिद्धिं गतैः जुष्टमित्यनेन सुखसाधनत्वं ध्वनयति। नरेतरैः किन्नरगन्धर्वैः जुष्टमप्सरोभिः वृतमिति वा॥ ९॥

मनश्शिलादिनानाविधधातुभिः विचित्रितैः चित्राकारं गमितैरिति श्रृङ्गविशेषणम्। नानामृगगणावृतैः नानाद्रुमादिभिश्च वृतम्॥ १०॥

**नानाऽमलप्रस्रवणैर्नानाकन्दरसानुभिः।**[1]
**रमणं विहरन्तीनां रमणैः सिद्धयोषिताम्॥ ११॥**

**मयूरकेकाभिरुतं मदान्धालिविमूर्च्छितम्।**
**प्लावितै रक्तकण्ठानां कूजितैश्च पतत्रिणाम्॥ १२॥**

**आह्वयन्तमिवोद्धस्तैर्द्विजान्**[2] **कामदुघैर्द्रुमैः।**
**व्रजन्तमिव मातङ्गैर्गृणन्तमिव निर्झरैः॥ १३॥**

---

1. Ms. जल 2. M. Ma. Ms °जैः

**मन्दारैः पारिजातैश्च सरलैश्चोपशोभितम्।**
**तमालैः सालतालैश्च[1] कोविदारासनार्जुनैः ॥ १४ ॥**

**चूतैः कदम्बैर्नीपैश्च[2] नागपुन्नागचम्पकैः।**
**पाटलाशोकवकुलैः कुन्दैः कुरवकैरपि ॥ १५ ॥**

**श्रीध० नानेति**। नाना अमलानि प्रस्रवणानि येषु, नाना कन्दराः सानवश्च येषु तैः, रमणैस्सह क्रीडन्तीनाम् ॥ ११ ॥

**मयूरेति**। मयूराणां केकाभिः स्वनैः नादितम्। मदान्धैः अलिभिः भृङ्गैः[3] विमूर्च्छितं[4] विशेषेण मूर्च्छितं[5] मूर्छना रागगतिविशेषस्तद्व्याप्तं कृतम्। रक्तकण्ठानां कोकिलानां प्लावितैः प्लुतत्वं नीतैः स्वरैः अन्येषां च पतत्रिणां पक्षिणां[6] कूजितैः ॥ १२ ॥

**आह्वयन्तमिति**। उद्धस्तैरुन्नतशाखैर्द्रुमैः द्विजान् पक्षिण आह्वयन्तमिव आकारयन्तमिव[7]। लोके हि हस्तमुक्षिप्योच्चै-स्स्वरेणाह्वानमर्थिनां[8] कुर्वन्ति अद्रिश्चोत्क्षिप्तहस्ताकारैः द्रुमैः तत्रत्यपक्षिस्वनैश्च तथा लक्ष्यत[9] इत्यर्थः। व्रजद्भिः मातङ्गैः गजैः[10] व्रजन्तमिव निर्झरध्वनिभिर्गृणन्तं भाषमाणमिव ॥ १३. १४ ॥

**चूतैरिति**। चूताम्रयोः नीपकदम्बयोः[11-11] अवान्तरजातिभेदः ॥ १५ ॥

**वीर०** नाना अमलानि स्वच्छानि प्रस्रवणानि स्रोतांसि येषु, नाना कन्दराः सानूनि च येषु तैः ॥ ११ ॥

तथा मयूराणां केकास्वनैः अभितः सर्वतः रुतं नादितम्। मदेन मकरन्दपानजनितमदेन अन्धैरलिभिः भृङ्गैः विमूर्च्छितं मूर्च्छनाख्यरागगीतिविशेषेण व्याप्तं रक्तकण्ठानां कोकिलानां प्लावितैः त्रिमात्रशब्दैः तथान्येषां पतत्रिणां पक्षिणां[12] च कूजितैः ॥१२॥

उद्धस्तैः उन्नतशाखैः, कामदुघैः द्रुमैश्च द्विजान् पक्षिण आह्वयन्तमिव स्थितम्। लोके हि हस्तमुत्क्षिप्य उच्चैस्स्वरेणाह्वानमर्थिनाम्। कामधुक् अद्रिश्च उत्क्षिप्तहस्ताकारैर्द्रुमैः पतत्रिणां स्वनैश्च तथा लक्ष्यत इत्यर्थः। व्रजद्भिर्मातङ्गैः गजैः व्रजन्तमिव। निर्झराणां ध्वनिभिः गृणन्तं भाषमाणमिव स्थितम् ॥ १३ ॥

---

1. A, B, G, I, J, T शा° 2. M, Ma, Ms °म्बनी° 3. B, J, V, Va omit भृङ्गैः 4. A omits विमूर्च्छितं 5. B, J, V, Va omit विशेषेण मूर्च्छितं 6. B, J, V, Va omit पक्षिणां 7. B, J, V, Va omit आकारयन्तमिव 8. A adds द्विजानां 9. V लक्षितः 10. B, J, V, Va omit गजैः 11. V omits नीपकदम्बयोः 12. A, B, T omit V पक्षिणां

मन्दारादिभिर्वृक्षविशेषैः उपशोभितम्॥ १४॥

चूतैराम्रविशेषैः॥ १५॥

**विज०** "निर्झरः प्रस्रवोऽम्भसाम्" (हला.को.2-11) इति हलः। जलस्य नानात्वं मरकतादिस्थलसम्पर्कात्। कर्दमराहित्येनामलत्वं, न तु शौक्ल्येन। तथात्वे नानात्वं विरुद्धम्। कन्दरा गुहाः। सानूनि तटानि। रमणैस्सह विहरन्तीनां सिद्धयोषितां रमणं रतिप्रदम्॥ ११॥

मयूरकेकाभिरुतं शब्दितं विमूर्च्छितं विविधं गीतं रक्तकण्ठानां कोकिलानां प्लावितैः तारस्वरितैः अन्येषां पतत्रिणां कूजितै रुतैः॥ १२॥

किञ्च पक्षिग्राहकैः पुरुषैरुद्धस्तैः उद्वृत्तैर्द्विजैः करणैः, कामं दुहद्भिः द्रुमैः आह्वयन्तमिव स्थितम्॥ १३॥

पारिजातैः पारिभद्रकैः सरलैः देवदारुभिः, सालतालैः सर्जतृणराजैः, कोविदारैः काञ्चनारकैः असनैः पिशङ्गपुष्पैः, अर्जुनैः ककुभैः॥ १४॥

नागैः नागकेसरैः, पुन्नागैः सुरवल्लभैः कुरबकैः तिलकैः॥ १५॥

**स्वर्णार्णशतपत्रैश्च[1] वररेणुकजातिभिः।**
**कुटजैर्मल्लिकाभिश्च[3] माधवीभिश्च मण्डितम्॥ १६॥**

**पनसोदुम्बराश्वत्थप्लक्षन्यग्रोधहिङ्गुभिः।**
**भूर्जैरोषधिभिः पूगै राजपूगैश्च जम्बुभिः॥ १७॥**

**खर्जूराम्लातकाम्राद्यैः[4] प्रियालुमधुकेङ्गुदैः[5]।**
**द्रुमजातिभिरन्याभू[6] राजितं वेणुकीचकैः॥ १८॥**

---

1. M, Ma सुवर्ण; Ms, V स्वर्णार्क 2. M, Ma, Ms वीर 3. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T कुब्जकै° 4. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms T °म्रा° 5. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °ल 6. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °रन्यैश्च

**कुमुदोत्पलकल्हारशतपत्रसमृद्धिभिः।**[1]

**नलिनीषु कलं कूजत्खगबृन्दोपशोभितम्॥ १९॥**

**मृगैः शाखामृगैः क्रोडै मृंगेन्द्रैर्ऋक्षशल्यकैः।**

**गवयैः शरभैर्व्याघै रुरुभिर्महिषादिभिः॥ २०॥**[2]

**श्रीध० स्वर्णेति**। स्वर्णार्णैः[3-] स्वर्णवर्णैः[-3] शतपत्रैः[4] मण्डितम्[5]। वररेणुकजातिभिरित्यत्र[6] वराः[7] श्रेष्ठाः, रेणुकाः[8] एलाः जातिः मालती॥ १६॥

**पनसेति**। हिङ्गुभिः[9-] गुग्गुलवृक्षैः[-9]॥ १७॥

**खर्जूरिति**। द्रुमजातिभिरित्यत्र जातिस्वरान्तरभेदसामान्यम्। वेणुकीचकयोश्च नीरन्ध्रसरन्ध्रत्वेन भेदः॥ १८॥

**कुमुदेति**। कुमदादि समृद्धिभिः[10] हेतुभिः नलिनीषु सरस्सु कलं मधुरं यथा भवति एवं कूजन्ति यानि पक्षिबृन्दानि तैरुपशोभितम्॥ १९॥

**मृगैरिति**। मृगादिभिः निर्जष्टं निषेवितम्। तत्र[11-] शाखामृगैः वानरैः, क्रोडैः सूकरैः, ऋक्षैः अच्छभल्लै[-11] पूर्वं मृगगणाः शृङ्गविशेषणत्वेनोक्ताः, इदानीं तु स्वातन्त्रेणेत्यपौनरुक्त्यम्॥ २०॥

**वीर०** स्वर्णशतपत्रैः सुवर्णवर्णैः कुशेशयैः कुन्दादिभिर्लताविशेषैश्च मण्डितम्। रेणुका एला, जातिर्मालती॥ १६॥

पनसादिभिर्द्रुमैः॥ १७॥

तथान्यैश्च द्रुमजातिभिः द्रमुसामान्यैः। वेणुकीचकैश्च राजितं मण्डितं, नीरन्ध्रसरन्ध्रत्वेन वेणुकीचकयोः भेदः[12]॥१८॥

कुमुदादिसमृद्धिभिः शतपत्राणां स्वर्णवर्णानां[13] ऋद्धिभिः राजितं, नलिनीषु सरस्सु कलं मधुरं यथा भवति तथा कूजद्भिः खगबृन्दैः पक्षिसङ्घैरुपशोभितम्॥ १९॥

1. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T वनर्द्धिभिः 2. Ma नाभिभि° 3--3. V omits 4. A adds पुष्पप्रधानगुल्मभेदैः 5. V omits मण्डितम् 6. B, J, V, Va omit वर 7. B, J, V, Va omit वराः श्रेष्ठाः 8. A, B, J, V, Va रेणुका एला 9--9. A, J, V, Va omit 10. A adds वनस्य 11--11. B, J, V, Va omit 12. A, B, T add द्रुमजातिभिरित्यत्र जातिरवान्तरभेदसामान्यम्। 13. A, B, T add वनानां

मृगादिभिर्निर्जुष्टं निषेवितम्॥ २०॥

**विज०** सुवर्णः कृतमालः, वीरः करवीरं, रेणुकं केतकी, कुब्जकैः कुङ्कुमतरुभिः, माधवी वासन्ती। अत्र संस्कृताधिकारित्वात् पर्यायान्तरमेव लिख्यते, नानात्वेनापभ्रंशानां तैर्बोधनं न शक्यते॥ १६॥

हिङ्गु. रामठः भूर्जैः भूर्जपत्रैः ओषधिभिः जनवृक्षैः॥ १७॥

(काश्मीरी कृष्णवृत्तिकः) आम्रातको विडुलः, आम्रो जिह्वारसकरः, प्रियालो लवगः धनुर्वा, मधुको मधुकरसः इङ्गुदः हिङ्गुदकः तापसतरुर्वा॥ १८, १९॥

शाखामृगैः वानरैः क्रोडैर्वराहैः, ऋक्षैः भल्लूकैः शल्यकः कण्टकवराहः, गवया वनगावः, शरभोऽष्टापदः रुरुर्हरिणेषु महान्॥ २०॥

**कर्णौर्णकपदाश्वास्यैर्निर्जुष्टं मृगनाभिभिः।**
**कदलीषण्डसंरुद्धनलिनीपुलिनश्रियम्॥ २१॥**

**पर्यस्तं नन्दया सत्याः स्नानपुण्यतरोदया।**
**विलोक्य भूतेशगिरिं विबुधा विस्मयं ययुः॥ २२॥**

**ददृशुस्तत्र ते रम्यामलकां नाम वै पुरीम्।**
**वनं सौगन्धिकं चापि यत्र तन्नाम पङ्कजम्॥ २३॥**

**नन्दा चालकनन्दा च सरितौ बाह्यतः पुरः।**
**तीर्थपादपदाम्भोजरजसातीव पावने॥ २४॥**

**ययोः सुरस्त्रियः क्षत्तरवरुह्य स्वधिष्ण्यतः।**
**क्रीडन्ति पुम्भिस्सिञ्चन्त्यो विगाह्य रतिकर्शिताः॥ २५॥**

1. A, B, G, I, J, T कर्णान्त्रैक 2. V, W °द्यै° 3. A, B, G, I, J, T वृक 4. A, B, G, I, J, M, Ma, T खण्ड 5. M, Ma तमो°; W करो° 6. M, Ma तत्र 7. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T पुंस°

**श्रीध० कर्णेति** । नाभिभिः[1] कस्तूरीमृगैः[2], कदलीषण्डैः[3] कदलीनां[4] षण्डैः सङ्घातैः[4] समृद्धान्यावृतानि नलिनीनां[5] नदीनां पुलिनानि तैः श्रीः शोभा यस्मिंस्तम् ॥ २१ ॥

**पर्यस्तमिति** । नन्दया गङ्गया पर्यस्तं परिवेष्टितम् । सत्याः भवान्याः स्नानेन पुण्यतरम् अतिसुगन्धमुदकं[6] यस्यां तया ॥२२॥

**ददृशुरिति** । तत्र गिरौ वनं च ददृशुः । यत्र वने तन्नाम सौगन्धिकं पङ्कजं भवति। जातावेकवचनम् ॥ २३ ॥

पुरीं वर्णयति - **नन्दा च इति** चतुर्भिः । सरितौ[7] पुरः[8] पुरात् बाह्यतो भवतः । तीर्थपादस्य हरेः पदाम्भोजरजसा[9] ॥ २४ ॥

**ययोरिति** । ययोः नद्योः[10-] सुरतश्रमकर्शिताः[-10] विगाह्य प्रविश्य क्रीडन्ति ॥ २५ ॥

**वीर०** कर्णौर्णैः गोकर्णाख्यैः ऊर्णामृगैः एकपदैः अश्वमुख्यैश्च, मृगनाभिभिः कस्तूरीमृगैश्च नितरां जुष्टं कदलीषण्डैः संरुद्धान्यावृतानि नलिनीनां कमलाकराणां पुलिनानि तैः श्रीः शोभा यस्मिन् तम् ॥ २१ ॥

स्नानेन पुण्यकरं पुण्यसम्पादकम्[11] उदकं यस्यां तया, सत्याः निर्मलया नन्दया गङ्गया[12] परिवेष्टितम् । भूतेशस्य रुद्रस्य गिरिं कैलासं विलोक्य देवाः विस्मयं ययुः प्रापुः ॥ २२ ॥

ते देवाः तत्र गिरौ तस्य रुद्रस्य अलकां नाम अलकेति प्रसिद्धां रमणीयां पुरीं सौगन्धिकाख्यं वनं चापि ददृशुः । सौगन्धिकनाम्नोऽन्वर्थतामाह - यत्र वने सौगन्धिकं नाम पङ्कजं भवति । जातावेकवचनम् ॥ २३ ॥

पुरीं वर्णयति - **नन्दा** चेति चतुर्भिः । पुरः पुरात्[13] बाह्यतः बाह्ये नन्दा अलकनन्दा चेति द्वे सरितौ भवतः । सरितौ विशिनष्टि सार्धद्वयेन । तीर्थपादस्य हरेः पदाम्भोजरजसा अतीवात्यन्तं पावने भगवत्पदाम्भोजरजोयुक्तत्वात् अत्यन्तपावित्र्यकरे इत्यर्थः ॥ २४ ॥

हे क्षत्तः ! सुरस्त्रियः स्वधिष्ण्यतः स्वविमानेभ्यः अवरुह्य च रतिकर्शिताः विहारश्रान्ताः सत्यः ययोः सरितोर्विगाह्य स्वपुंसः स्वप्रियान् सिञ्चन्त्यः क्रीडन्ति जलक्रीडां कुर्वन्ति ॥ २५ ॥

**विज०** कर्णो गोकर्णः कर्णविहीनो वा । "कर्णः कर्णविहीनः स्यात्पण्डस्तु छिन्नपुच्छकः" (वैज.की. 3-4-59) इति

---

1. B, V नाभिः 2. B, V मृगः 3. B. खण्डैः 4--4. B, J, V, Va omit 5. B, J, V, Va omit नदीनां 6. V °न्धि उ° 7. V omits सरितौ 8. B omits पुरः 9. B °जस्य र° 10--10. B, J, V, Va omit 11. A °नम् 12. W adds परीतं 13. A, T, omit बाह्यतः

यादवः। कर्णाश्च और्णाश्च[1] एकपदाश्चाश्वास्याश्च कर्णौर्णैकपदाश्चास्यास्तैः। और्णादयोऽपि मृगविशेषाः। मृगनाभिभिः कस्तूरिकामृगैः, कदलीखण्डेन संरुद्धस्य संवृतस्य नलिनीपुलिनस्य पद्माकरसिकतामयोच्चस्थलस्य श्रीः यस्मिन् स तथा तम्॥२१॥

नन्दया गङ्गाशाखया नद्या पर्यस्तं परिवृतम्। भूतेशगिरिं श्रीकैलासम्॥ २२॥

तत्र कैलासे पुनः किं चित्रमपश्यन् इति तत्राह - **ददृशुरिति**। तन्नाम सौगन्धिकं नाम॥ २३॥

अलकाया बाह्यतो बहिर्भागे तीर्थपादः श्रीनारायणः तत्पादपद्मरजसा मिश्रितत्वात् अतीव पावने शुद्धे॥ २४॥

स्वधिष्ण्यतः स्वविमानात्॥ २५॥

**ययोस्तत्स्नानविभ्रष्टनवकुङ्कुमपिञ्जरम्[2]।**
**वितृषोऽपि पिबन्त्यम्भः पाययन्तो गजा गजीः॥ २६॥**

**तारहेममहारत्नविमानशतसङ्कुलाम्।**
**जुष्टां पुण्यजनस्त्रीभिर्यथा खं सतडिद्घनम्[3]॥ २७॥**

**हित्वा यक्षेश्वरपुरीं वनं सौगन्धिकं च तत्।**
**द्रुमैः कामदुघैर्हृद्यं चित्रमाल्यफलच्छदैः॥ २८॥**

**रक्तकण्ठखगानीकस्वरमण्डितषट्पदम्।**
**कलहंसकुलप्रेष्ठं[4] खरदण्डजलाशयम्॥ २९॥**

**वनकुञ्जरसङ्घृष्टहरिचन्दनवायुना[5]।**
**अधि पुण्यजनस्त्रीणां मुहुरुन्मदयन्मनः[6]॥ ३०॥**

**श्रीध० ययोरिति**। ययोरम्भो विगततृषोऽपि गजाः पिबन्ति। तत्र हेतुः - तासां सुरस्त्रीणां स्नानेन विभ्रष्टं गलितं यन्नवं कुङ्कुमं तेन पिञ्जरं पीतवर्णम्। गजीः करिणीः॥ २६॥

1. A omits और्णाश्च 2. M, Ma कुच 3. A, B, G, I, J, M, Ma, T °डि° 4. V श्रेष्ठं; M, Ma, Ms प्रेष्ठ° 5. M, Ma, Ms, W °ङ्घ° 6. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °थ°

**तारेति**। तारं रूप्यं तारादिमय विमानानां शतैः सङ्कुलां व्याप्तां[1] तडिद्भिः स्त्रीणां, घनैः विमानानां खेन पुर्याः सादृश्यम्॥२७॥

**हित्वेति**। यक्षेश्वरपुरीं हित्वा अतिक्रम्य तद्वनञ्च दृष्ट्वा ते देवाः[2] आराद् दूरात् वटं ददृशुरिति चतुर्थेनान्वयः। कथम्भूतं वनम्? चित्राणि माल्यानि फलानि छदाश्च पत्राणि[3] येषु तैर्द्रुमैः हृद्यं सुखकरम्॥ २८॥

**रक्तकण्ठेति**। रक्तकण्ठखगानामनीकस्य स्वरैः मण्डिताः षट्पदाः[4-] षट्पदस्वराः[-4] यस्मिन्, कलहंसानां कुलस्य प्रेष्ठम्[5]। खरदण्डानि पद्मानि तैर्युक्ताः[6] जलाशयाः यस्मिन्॥ २९॥

**वनेति**। वनकुञ्जरैः सङ्घृष्टाः ये हरिचन्दनद्रुमाः तत्सम्बन्धिना वायुना पुण्यजनस्त्रीणां मन अधि अधिकम् उन्मथयत्[7]॥३०॥

**वीर०** ययोः सरितोरम्भः वितृषोऽपि विगततृष्णा अपि गजाः गजीः करिणीः अम्भः पाययन्तः पानं कारयन्तः पिबन्ति। तत्र हेतुः - तासां सुरस्त्रीणां स्नानेन विश्रष्टं गलितं यन्नवं कुङ्कुमं तेन पिञ्जरं पीतवर्णम्॥ २६॥

पुनः पुरीं विशिनष्टि - **तारेति**। तारं रूप्यं तारादिमयविमानानां शतैः सङ्कुलां पुण्यजनैः यातुधानैः तेषां स्त्रीभिश्च जुष्टां, तत्र दृष्टान्तः - तडिद्भिः मेघैः सहितं खमाकाशं यथेति। तत्र विमानानि - खमिव, पुण्यजनाः मेघा इव, तत्स्त्रियः तडित इव॥२७॥

एवम्भूतां यक्षेश्वरस्य कुबेरस्य पुरीमलकां हित्वा अतिक्रम्य तत्सौगन्धिकाख्यं वनं च दृष्ट्वा ते देवाः आरात् वटं ददृशुरिति चतुर्थेनान्वयः। कथम्भूतं वनम्? चित्राणि माल्यानि मालायोग्यानि पुष्पकिसलयादीनि[8] *परिच्छदानि क्रीडोपकरणानि येषु तैः, कामान् वर्षद्भिः द्रुमैः हृद्यं मनोहरम्॥ २८॥

रक्तकण्ठखगानां कोकिलपक्षिणाम् अनीकस्य समूहस्य स्वरैर्मण्डिताः षट्पदा यस्मिन्, कलहंसानां कुलस्य प्रेष्ठं खरदण्डानि पद्मानि तैर्युक्ताः जलाशया यस्मिन्॥ २९॥

वनगजैः[9] सङ्घृष्टा हरिचन्दनद्रुमाः तत्सम्बन्धिना वायुना पुण्यजनस्त्रीणां मनः अधि अधिकं मुहुरुन्मदयत् परवशीकुर्वत्॥३०॥

**विज.** तासां स्नानेन विभ्रष्टं सङ्क्रान्तं कुचकुङ्कुमं तेन पिञ्जरं पीतरक्तम्॥ २६॥

तारै रजतैर्मौक्तिकैर्वा हेमभिः सुवर्णैः महारत्नैर्माणिक्यादिभिरलङ्कृतानां विमानानां शतैः सङ्कुलां निबिडां, कथमिव स्थिताम्? तडिता घनेन च सह वर्तमानं खमाकाशं यथा तथा॥ २७॥

---

1. A, J, V, Va omit व्याप्तां 2. B omits देवाः 3. V omits पत्राणि 4. B omits षट्पदस्वराः 5. B प्रेष्ठानि; V श्रेष्ठम्। 6. V तद्युक्ताः 7. A, V, Va °यन् 8. A, B, T पुष्पाणि * फलच्छदानि इत्यस्य स्थाने परिच्छदानि इति वीरराघवसम्मतः पाठः 9. W °द्रु°

अलकान्तःप्रवेशे तद्वैचित्र्यदर्शनेन तत्स्थजनसंलापेन कालक्षेपेण छिन्नदक्षदेहेन यज्ञानुसन्धानं दुष्करं स्यादिति धिया तां पुरीं तद्वनं च दृष्ट्वा हित्वा बहिरेव गच्छन्तस्ते देवा आराद् वटं ददृशुरित्यन्वयः। यक्षेश्वरपुरीं हित्वा तत्सौगन्धिकं च वनं दृष्ट्वा समीपे वटं ददृशुरिति वा। तद्वनं विशिनष्टि - द्रुमैरित्यादिना। चित्राणि माल्यानि पुष्पाणि फलानि छदाः पत्राणि येषु ते तथा तैः ॥ २८ ॥

खरो दण्डो येषां तानि तथा कलहंसकुलस्य प्रेष्ठानि प्रियतमानि खरदण्डानि पद्मानि येषु ते तथोक्ताः ते च जलाशया जलाधाराः कासारा यस्मिंस्तत्तथोक्तम् ॥ २९ ॥

वनकुञ्जरैः वनगजैः कण्डूतिनिरासार्थं संघृष्टानां निषिष्टानां हरिचन्दनानां, रजोगन्धप्रिश्रवायुनाऽधिकं पुण्यजनस्त्रीणां मनो मुहुरुन्मथयत् विलोलयत् ॥ ३० ॥

**वैदूर्य[1]कृतसोपाना वापी[2]रुत्पलमालिनीः।**
**व्याप्ताः[3] किम्पुरुषैर्दृष्ट्वा त आराद्ददृशुर्वटम् ॥ ३१ ॥**

**स योजनशतोत्सेधः पादोनविटपायतः।**
**पर्यक्[4]कृताचलच्छायो निर्नीडस्तापवर्जितः ॥ ३२ ॥**

**तस्मिन् महायोगमये मुमुक्षुशरणे सुराः।**
**ददृशुर्देव[5]मासीनं त्यक्तामर्षमिवान्तकम् ॥ ३३ ॥**

**स[6]नन्दाद्यैर्महासिद्धैः शान्तैः संशान्तविग्रहम्।**
**उपास्यमानं सख्या च भर्त्रा गुह्यकरक्षसाम् ॥ ३४ ॥**

**विद्यातपोयोगपथमास्थितं तम[7]धीश्वरम्।**
**चरन्तं[8] विश्वसुहृदं वात्सल्याल्लोकमङ्गलम् ॥ ३५ ॥**

**श्रीध० वैदूर्येति**। यत्र च उत्पलमालिन्यो वाप्यः तत्र[9] किम्पुरुषैः प्राप्तं[10] वनं[11] दृष्ट्वा। प्राप्ता[12] इति पाठान्तरे किम्पुरुषैः प्राप्ता वापीश्च दृष्ट्वेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

1. Ms, T, V °दू° 2. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T वाप्य उ° 3. A, B, G, I, J, T प्राप्तं ; M, Ma, Ms, V व्याप्तं 4. M, Ma, Ms पर्यग्गतामल 5. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °शिव° 6. M, Ma, Ms सनन्दनादिभिस्सिद्धैः 7. M, Ma, Ms, V °द° 8. M, Ma, Ms ध्यायन्त° 9. A, B, J, V, Va तत् 10. V व्याप्तं 11. V वटं 12. A, J, V, Va omit प्राप्ता इति

**स इति**। योजनशतमुत्सेध उच्छ्रायो यस्य, पादोनैः सर्वतः पञ्चसप्ततियोजनप्रमाणैः विटपैः शाखाभिरायतो विस्तृतः पर्यक् सर्वतः कृता अंचला छाया येन। निर्गतं नीडं यस्मात्॥ ३२॥

**तस्मिन्निति**। मुमुक्षूणां शरणे आश्रये त्यक्तः[2-] अमर्षो येन सः[-2] अन्तकस्तत्तुल्यम्॥ ३३॥

तं विशिनष्टि - **सनन्दाद्यैरिति** पञ्चाभिः। सख्या कुबेरेण चोपास्यमानम्॥ ३४॥

विद्येति। विद्या उपासना, तपश्चित्तैकाग्र्यं, योगः समाधिः तेषां पन्थानं प्रवर्तनद्वारा आस्थितं[3] लोकस्य मङ्गलं हितम्। तपो वात्सल्यात् स्नेहादाचरन्तम्॥ ३५॥

**वीर०** वैदूर्यैर्मणिभिः कृतानि कल्पितानि सोपानानि यासु उत्पलानां माला पङ्क्तयो यासु ताः। आर्षत्वात् व्यत्ययेन द्वितीया। वाप्यः किम्पुरुषैर्व्याप्ताः यस्मिन् वने सन्ति तद्वनं दृष्ट्वा। यद्वा वाप्य इति व्यत्ययात्प्रथमा, वनं वापीश्च दृष्ट्वा आरात् समीपे वटं ते देवाः ददृशुः॥ ३१॥

वटं विशिनष्टि - **स इति**। स वटः योजनशतमुत्सेधः[4] उच्छ्रायो यस्य पादोनैः सर्वतः पञ्चसप्ततियोजनप्रमाणैर्विटपैः शाखाभिश्च आयतो विस्तृतः पर्यक् परितः कृता अचला निश्चला छाया येन। निर्गतं नीडं कुलायं यस्मात् तापेन सूर्याद्यातपेन रहितः॥ ३२॥

महायोगमये महायोगो भगवदुपासनायोगः तत्प्रचुरे महायोगनिष्ठपुरुषप्राचुर्यात्[5] तत्स्थानस्य महायोगमयत्वम्। मुमुक्षवः अज्ञानान्मोक्तुमिच्छवः, जिज्ञासव इति यावत्। तेषां शरणे आश्रये तस्मिन् वटमूले आसीनमुपविष्टं त्यक्तामर्षो योऽन्तकस्तत्तुल्यं शिवं सुराः ददृशुः॥ ३३॥

शिवं विशिनष्टि - **सनन्दाद्यैरिति** पञ्चभिः। महासिद्धैः शान्तैः सनन्दाद्यैः गुह्यकरक्षसां भर्त्रा प्रभुणा सख्या वैश्रवणेन च उपास्यमानं सेव्यमानं संशान्तविग्रहं निर्वैरं कृतापराधेषु देवेष्वपि कृपालुमित्यर्थः॥ ३४॥

विद्या ज्ञानयोगः, तपः कर्मयोगः ताभ्यां युक्तो[6] यो योगपथः भगवद्भक्तिमार्गः तमास्थितं ज्ञानकर्मानुगृहीतभगवद्भक्तियोग-निष्ठमित्यर्थः। अधीश्वरं जितेन्द्रियम्। विश्वसुहृदं "चराचराणि सर्वाणि भूतानि भगवद्वपुः" अतः तदानुकूल्यं मे स्यात् इत्युक्तरीत्या विश्वानुकूलम्। अत एव वात्सल्यात् लोकानां मङ्गलं क्षेममेव चरन्तं कुर्वन्तम्॥ ३५॥

---

1. V अचलच्छाया 2--2. A, B, Va त्यक्तामर्षः ; J त्यक्तामर्षो योः 3. A adds स्थितं 4. A, B, T उच्छ्रयो 5. A, B, T °ष्ठा° 6. A, B, T omit यो

**विज०** उत्पलानां माला यासु विद्यन्ते इत्युत्पलमालिनीरुत्पलमालिन्यः, वैदूर्यैः कृतानि सोपानानि कृत्रिमावतारस्थलानि यासु तास्तथा। एवंविधा वाप्यो यत्र सन्तीति शेषः। तत् किम्पुरुषैः विलासार्थं व्याप्तम्॥ ३१॥

वनं विशिनष्टि - **स योजनेति**। स वटो योजनानां शतमुत्सेध उन्नतिः यस्य स तथोक्तः। चतुर्धा विभक्तशतस्य पादः चतुर्थांशः पञ्चविंशतिसङ्ख्या तयोना रहिता सङ्ख्या पञ्चसप्ततिः। तावद्भीर्घैर्विटपैः आयतो विस्तृतः पर्यक् परितो गता कृता पूर्णा अमला छाया यस्य स तथा निर्गतानि नीडानि पक्षिमन्दिराणि यस्मात् स तथा तापवर्जितः शीतोष्णरहितः॥ ३२॥

सुरा महायोगमये अष्टैश्वर्यस्वरूपे मुमुक्षूणां शरणे निवासभूते तस्मिन् वटमूले आसीनं शिवं ददृशुरित्यन्वयः॥ ३३॥

सख्या वैश्रवणेन॥ ३४॥

विद्या च तपश्च योगश्च ते तथा तेषां पन्थाः मार्गः तमास्थितमनुतिष्ठन्तं तदधीश्वरं तेषां विद्यादीनामधीश्वरं विषयमुपदेष्टारं स्वामिनं च लोकं मङ्गलयतीति लोकमङ्गलं विश्वस्य सुहृदमनिमित्तबन्धुं श्रीनारायणं वात्सल्यात् भक्त्युद्रेकाद् ध्यायन्तम्॥ ३५॥

**लिङ्गञ्च तापसाभीष्टं भस्मदण्डजटाजिनम्।**
**अङ्गेन सन्ध्याभ्ररुचा चन्द्रलेखां[1] च बिभ्रतम्॥ ३६॥**

**उपविष्टं दर्भमय्यां बृस्यां ब्रह्म सनातनम्।**
**नारदाय प्रवोचन्तं पृच्छते श्रुण्वतां सताम्॥ ३७॥**

**कृत्वोरौ दक्षिणे सव्यं पादपद्मं च जानुनि।**
**बाहुं[2] प्रकोष्ठेऽक्षमालामासीनं[3] तर्कमुद्रया॥ ३८॥**

**तं ब्रह्मनिर्वाणसमाधिमाश्रितं[4] व्युपाश्रितं[5] गिरिशं योगकक्ष्याम्[6]।**
**सलोकपाला मुनयो मुनीनामाद्यं[7] मुनिं[8] प्राञ्जलयः प्रणेमुः॥ ३९॥**

**स तूपलभ्यागतमात्मयोनिं सुरासुरेशैरभिवन्दिताङ्घ्रिम्[9]।**
**उत्थाय चक्रे शिरसाभिवन्दनं[10] महत्तमः[11] कस्य यथैव विष्णुः[12]॥ ४०॥**

---

1. M, Ma, Ms, V W °रै° 2. Ms, V W बाहुप्र 3. M, Ma, Ms माल° 4. M, Ma, Ms °मास्थितं 5. M, Ma, Ms, V व्य° 6. A, B, G, I, J कक्षाम् 7. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T मनूना° 8. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T मनुं 9. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °ङ्घ्रिः 10. V वादनं 11. A, B, G, I, J, T अर्हत्तमः कस्य; M, Ma, Ms महत्तमोऽर्कस्य 12. M, Ma, Ms विष्णोः

**श्रीध० लिङ्गमिति**। सन्ध्याभ्ररुचा रक्तवर्णेनाङ्गेन भस्मादि लिङ्गं चन्द्रलेखां च बिभ्रतम्॥ ३६॥

**उपविष्टमिति**। व्रतिनामासनं बृसी, तस्याम् उपविष्टं[1-] नारदाय[-1] ब्रह्म प्रवोचन्तं ब्रुवन्तम्[2]॥ ३७॥

**कृत्वेति**। सव्यं पादपद्मं दक्षिणे ऊरौ कृत्वा विन्यस्य सव्ये[3] जानुनि च सव्यं[4] बाहुं कृत्वा दक्षिणबाहुप्रकोष्ठे मणिबन्धस्थाने अक्षमालां च कृत्वा दक्षिणहस्तकृतया तर्कमुद्रयोपलक्षितमासीनमित्यर्थः। तदुक्तं योगशास्त्रे - ''एकपादमथैकस्मिन्विन्यसेदूरुसंस्थितम्। इतरस्मिंस्तथा बाहुं वीरासनमिदं स्मृतम्॥'' (रुद्रमामलम्) इति। तथा[5] तर्कमुद्रा चोक्ता - ''तर्जन्यङ्गुष्ठयोरग्रे मिथः संयोज्य चाङ्गुलीः। प्रसार्य बन्धनं प्राहुस्तर्कमुद्रेति मान्त्रिकाः॥'' इति॥ ३८॥

**तमिति**। ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मानन्दः तत्र समाधिरैकाग्र्यं तमाश्रितम्। योगकक्षां योगपट्टं च वामजानुदृढीकरणार्थं विशेषेणोपाश्रितवन्तम्। मननशीला मुनयः[6] तेषामाद्यं मुख्यम्॥ ३९॥

**स इति**। अर्हत्तमो पूज्यतमोऽपि[7] विष्णुर्वामनमूर्तिः यथा। कस्य[8] कश्यपस्य॥ ४०॥

**वीर०** सन्ध्याभ्ररुचा रक्तवर्णेन अङ्गेन[9] तापसानामिष्टं भस्मादि लिङ्गं चन्द्ररेखां च बिभ्रतम्॥ ३६॥

दर्भमय्यां बृस्यां ब्रुवन्तोऽस्यां सीदन्तीति बृसी, पृषोदरादित्वात् साधुः, आस्तरणविशेषः तस्यामुपविष्टं पृच्छते नारदाय सतामन्येषां सनन्दनादीनां श्रृण्वतां सतां सनातनं ब्रह्म परमात्मानं प्रणवं वा प्रवोचन्तम्॥ ३७॥

सव्यं पादं दक्षिणे ऊरौ कृत्वा विन्यस्य जानुनि सव्ये सव्यबाहुं कृत्वा दक्षिणे बाहुप्रकोष्ठे मणिबन्धस्थाने अक्षमालां कृत्वा दक्षिणहस्तकृतया तर्कमुद्रयोपलक्षितमासीनमित्यर्थः। तदुक्तं योगशास्त्रे - ''एकं पादमथैकस्मिन् विन्यसेदूरुसंस्थितम्। इतरस्मिन् तथा बाहुं वीरासनमिदं स्मृतम्॥'' (रुद्रमामलम्) तर्कमुद्रा चोक्ता - ''तर्जन्यङ्गुष्ठयोर्मध्ये[10] मिथः संयोज्यचाङ्गुलीः[11]। प्रसार्य बन्धनं प्राहुस्तर्कमुद्रेति मान्त्रिकाः॥'' इति॥ ३८॥

तं ब्रह्मनिर्वाणसमाधिम् आनन्दरूपब्रह्म विषयसमाधिमाश्रितं योगकक्ष्यां योगपथं व्युपाश्रितं विशेषेणोपाश्रितं मुनीनामाद्यं मुख्यं मुनिं गिरिशं लोकपालसहिता मुनयः बद्धाञ्जलयः प्रणेमुः नमस्कृतवन्तः॥ ३९॥

---

1--1. A, B, J, Va omit  2. A, B, J, Va omit ब्रुवन्तम्  3. A omits सव्ये  4. B, J, Va omit सव्यं  5. A, B, J, Va omit तथा
6. A, B, J, Va मनवः  7. B, J, V, Va omit पूज्यतमोऽपि  8. V का°  9. A, B, T तापसाभीष्टं  10. W °ध्ये  11. A, B, T संयुज्य

स तु गिरिशः सुरासुरेशैः अभिवन्दितौ अङ्घ्री यस्य तमागतमात्मयोनिं ब्रह्माणमुपलभ्य ज्ञात्वा तस्मै, ब्रह्मणे उत्थायेति पाठान्तरं, तदा आसनादुत्थाय शिरसा अभिवन्दनं प्रणामं चक्रे, महत्तमो विष्णुः वामनरूपः यथा। कस्य कश्यप[1]प्रजापतेः। यद्वा कस्य चतुर्मुखस्याभिवन्दनं चक्रे। कस्य रुद्राभिवन्द्यत्वं सदृष्टान्तमाह - महत्तम इति। विष्णुर्यथा रुद्रस्य महत्तमः पूज्यः तथा कोऽपीत्यर्थः॥ ४०॥

**विज०** सन्ध्याभ्ररुचा गौर्यालिङ्गनेन सङ्क्रान्ततत्कुचकुङ्कुमेन रक्तत्वात् स्वतो धवलत्वात् सन्ध्याकालभवमेघवर्णेनाङ्गेन तापसाभीष्टं भस्म च दण्डश्च जटा चाऽजिनं च यस्मिंस्तथा तल्लिङ्गं वेषं "लिङ्गं शेफसि वेषे च चिह्ने बुद्ध्यादिसंहतौ॥" इति यादवः। चन्द्रस्य लेखां कलां च बिभ्रतं भस्मोद्वर्तनेन नेत्राद्यवयवानां रक्तत्वाद्वा सन्ध्याभ्ररुचेति॥ ३६॥

बृस्यां यति योग्यासने। "यतिनामासनं बृसी" (अम.को.2-445) इति हलः। सनातनं नित्यं ब्रह्म वेदतत्त्वम्॥ ३७॥

दक्षिणे ऊरौ सव्यं पादपद्मं कृत्वा सव्ये जानुनि च सव्यबाहुं दक्षिणे जानुनि च दक्षिणबाहुं कृत्वा प्रकोष्ठे कराग्रेऽक्षमाला यस्य स तथा तं तर्कमुद्रया ज्ञानमुद्रयाऽऽसीनम्॥ ३८॥

एवंविधं शिवं दृष्ट्वा किं चक्रुः इति तत्राह - **तं ब्रह्मेति**। मनूनां मननशीलानाम् उपासकानामाद्यं मनुं ब्रह्मविषये यो निर्वाणसमाधिः शरीराभिमानत्यागलक्षणा चित्तैकाग्रता तादृशीमवस्थामाश्रितं योगकक्ष्यां योगपट्टिकाम्॥ ३९॥

**सर्वेषु** प्रणमत्सु सत्सु ब्रह्मा किमकार्षीदित्याशङ्क्य पितृत्वाद् गुणज्येष्ठत्वात् गुरुत्वात् हरेः प्रेष्ठत्वाच्चाभ्येत्य शिवशर्माहमभिवादयामीत्यभिवाद्य शिवो ब्रह्माणमस्तौषीदित्याह - **स तूपलभ्येति**। शिरसेत्यनेनाष्टाङ्गविशिष्टां नतिं ध्वनयति। नतिं विशिनष्टि-यथेति। यथा विष्णोरष्टाङ्गविशिष्टत्वेन नमनं करोति तथेत्यर्थः। सर्ववन्द्यसूर्यादपि तेजिष्ठेन रुद्रेण प्रणतस्य विरिञ्चस्य माहात्म्यातिशयोऽस्तीति किं वक्तव्यमिति भावेन शिवं विशिनष्टि - महत्तम इति। अर्कस्य सकाशादपि महत्तमः तेजस्वितम इत्यर्थः। गुणगुणिनोरभेदाभिप्रायेणायं प्रयोगः। "तेजोऽर्थ उत्तमार्थे च पूज्यार्थे च प्रयुज्यते। महच्छब्दो महशशब्दो मान्यशब्दस्तथैव च॥" (शब्दनिर्णये) इति वचनात् महच्छब्द इति सिद्धम्॥ ४०॥

**तथाऽपरे सिद्धगणा महर्षिभिर्ये वै समन्तादनु नीललोहितम्।**
**नमस्कृतः प्राह शशाङ्कशेखरं कृतप्रणामं प्रहसन्निवात्मभूः॥ ४१॥**

---

1. A, B, T °पस्य प्र°

**ब्रह्मोवाच**

**जाने त्वमीश[1] विश्वस्य जगतो योनिबीजयोः।**

**शक्तेः शिवस्य च परं यत्तद्ब्रह्म निरन्तरम्॥ ४२॥**

**त्वमेव भगवन्नेतच्छिवशक्त्योः[2] सरूपयोः।**

**विश्वं सृजसि पास्यत्सि क्रीडन्नूर्णपदो[3] यथा[4]॥ ४३॥**

**त्वमेव धर्मार्थदुधाभिपत्तये[5] दक्षेण सूत्रेण ससर्जिथाध्वरम्[6]।**

**त्वयैव लोकेऽवसिताश्च सेतवो यान्ब्राह्मणाः श्रद्दधते धृतव्रताः॥ ४४॥**

**त्वं कर्मणां मङ्गल मङ्गलानां कर्तुः[7] स्म[8] लोके[9] तनुषे स्वः[10] परं वा।**

**अमङ्गलानां च तमिस्रमुल्बणं विपर्ययः केन तदेव[11] कस्यचित्॥ ४५॥**

**श्रीध० तथेति**। महर्षिभिः सहिता ये समन्तात्[12] नीललोहितमनुवर्तन्ते तेऽपि तस्मै[13] वन्दनं चक्रुः। एवं सर्वैः नमस्कृतः प्राह - कृतः प्रणामो देवैः यस्मै तम्॥ ४१॥

यद्यपि त्वं नीचवत् मां नमस्करोषि तथापि तवैश्वर्यमहं वेद्मीत्याह - **जाने इति**। त्वां[14] विश्वस्येशं जाने। तत्र हेतुः - जगतो योनिः या शक्तिः प्रकृतिः बीजञ्च यः[15] शिवः पुरुषः तयोः[16] परं कारणं तथापि निरन्तरं[17] निर्भेदं यद्ब्रह्म निर्विकारं च तदेव त्वमिति जाने॥ ४२॥

ननु विरुद्धमेतत्तत्राह - **त्वमेवेति**। त्वमेव सरूपयोः अविभक्तयोः शिवशक्त्योः क्रीडन् विश्वसृष्ट्यादि करोषि ऊर्णपरो[18] यथा[18] ऊर्णनाभिरिव। स्वरूपयोरिति पाठे स्वांशयोः, अतो न विरोधः॥ ४३॥

**त्वमेवेति**। धर्ममर्थञ्च दोग्धि या त्रयी तस्या अभिपत्तये संरक्षणाय अध्वरं सृष्टवानसि। यद्वा हे धर्मार्थदुघ! धर्माद्यभिपत्तये तत्प्राप्तये दक्षेण सूत्रेण निमित्तेन सेतवो वर्णाश्रमाचारमर्यादाश्चावसिताः निबद्धाः निर्णीता इति वा। श्रद्दधते श्रद्धया अनुतिष्ठन्ति॥४४॥

---

1. A, B, G, I, J, T °श° 2. M, Ma, Ms स्व 3. M, Ma, Ms क्रीडयोर्ण 4. A, B, G, I, J, T पटो 5. W धागाभि 6. M, Ma, Ms विसर्जिताध्वरः 7. M, Ma, Ms, कर्ताऽसिलोके 8. I स्व 9. A, B, I, J, T, V, W लोकं 10. M, Ma, Ms स्वयं फलम्। 11. M, Ma, Ms चि°
12. A, B, J, Va omit समन्तात् 13. V adds अभिवादनं 14. V omtis त्वां 15. A, J, Va omit यः 16. B, J, Va omit परं 17. V omits निरन्तरं 18--18. B, J, V, Va omit 19. A, B, J, Va °ममा°

सर्वकर्मफलदातापि त्वमेवेत्याह - **त्वमिति**। हे मङ्गल ! त्वं[1] मङ्गलानां शुभानां कर्मणां कर्तुः स्वः स्वर्गं परं गोक्षं वा तनुषे[2]। अमङ्गलानामशुभानां निषिद्धानां[3] कर्मणां कर्तुश्च तमिस्रं नरकं तनुषे। तत्र केन हेतुना तदेव तस्मिन्नेव कर्मणि[4] कस्यचित् विपर्ययो भवति॥ ४५॥

**वीर०** नीललोहितं रुद्रं येऽपरे सिद्धगणा अनुवर्तन्ते तैर्महर्षिभिः सह नमस्कृतः आत्मभूः ब्रह्मा कृतप्रणामं कृतः चतुर्मुखविषयः प्रणामो येन तं शशाङ्कशेखरम्। कृतप्रणाम इति प्रथमान्तपाठे रुद्रेण कृतप्रणामः प्राह॥ ४१॥

रुद्रस्य भगवदात्मकत्वात् तदावेशावतारत्वाच्च रुद्रं ब्रह्मणा[5] सामानाधिकरण्येन निर्दिशन् यन्निष्कृष्टस्य[6] ब्रह्मणोऽसाधारणं प्रकृतिपुरुषशरीरकत्वजगत्कारणत्वधर्ममर्यादास्थापकत्वानुग्रहीतृत्वनिग्रहीतृत्वादि तत्सर्वं रुद्रप्रशंसायै रुद्ररूपेणाऽवस्थितस्य ब्रह्मण आह - **जाने त्वामित्यादिभिश्चतुर्भिः**। हे ईश ! रुद्र ! विश्वस्य कृत्स्नस्य चिदचिदात्मकस्य जगतः योनिबीजयोः[7] योनिबीजभूतयोः क्षेत्रे बीजवत् प्रकृतौ पुरुषस्य मिलितत्वात् तयोः योनिबीजशब्दाभ्यां निर्देशः शक्तेर्ब्रह्मण अपृथक्सिद्धविशेषणभूतायाः त्रिगुणात्मिकायाः प्रकृतेः तथा शिवस्य "निर्वाणमय एवायमात्मा" इत्यादि श्रुत्या प्रत्यगात्मनः सुखरूपत्वाभिधानात् जीवस्य शिवशब्देन निर्देशः, तस्य च यत्परं विलक्षणं "तस्य परमाग्रेडितम्" (अष्टा.8-1-2) इति निर्देशान्न परशब्देन योगे "अन्यारादितरर्तेदिक्शब्द -" (अष्टा. 2-3-29) इत्यादिना पञ्चमी। प्रकृतिपुरुषाभ्यां स्वरूपतः स्वभावतश्च विलक्षणमित्यर्थः। तद्यन्निरन्तरं निर्भेदं तत्प्रकृतिपुरुषान्तरात्मतयाऽवस्थितमपि निरस्तनिखिलहेयत्वेन समस्तकल्याणगुणात्मकत्वेन च एकरूपमित्यर्थः। यद्वा निरन्तरम् अन्तरं विच्छेदः तस्मान्निर्गतं सर्वानुस्यूतं सर्वान्तरात्मतयाऽवस्थितमिति यावत्। अथवा कार्त्स्न्येन ज्ञानस्वरूपं न तु प्रदेशभेदेन जडमित्यर्थः। तद्ब्रह्म त्वां जाने इदञ्च सामानाधिकरण्यं शरीरात्मभावनिबन्धनमावेशावतारत्व निबन्धनं च न तु तादात्म्यनिबन्धनम्। "एतौ द्वौ विबुधश्रेष्ठौ प्रसादक्रोधसम्भवौ। मया दर्शितपन्थानौ सृष्टिसंहारकारकौ" (भार. 12-328-17) "सृष्टिं ततः करिष्यामि त्वामाविश्य प्रजापते॥" (विध.पु.68-52) "नारायणाद्रुद्रो जायते" (नारा.उ.) "अनपहतपाप्मा वा अहमस्मि" इत्यादिभिः कार्यत्वकर्मवश्यत्वाद्यभिधानेन रुद्रादेः जीवत्वनिश्चयात् तादात्म्यासम्भवात्। अत एव "भवांस्तु पुंसः परमस्य मायया दुरन्तयाऽस्पृष्टमतिः समस्तदृक्" (भाग.4-6-49) इति व्यतिरेकेण निर्देक्ष्यति॥ ४२॥

एवं ब्रह्मसामानाधिकरण्येन रुद्रं निर्दिश्य ब्रह्मदृष्ट्या तस्य चिदचिच्छरीरकत्वं सृष्ट्यादिकर्तृत्वं चाह - **त्वमिति**। हे भगवन् !

---

1. B, J, V, Va omit त्वं 2. V adds तत्र इह 3. B, J, V, Va omit निषिद्धानां 4. A, J, V, Va omit कर्मणि 5. A, B, T °णः 6. A, B, T यन्निकृ° 7. A, B, T omit योनिबीजयोः

स्वांशयोः स्वस्य तव अंशयोः शिवशक्त्योः प्रकृतिपुरुषयोः । अत्र विशिष्टवस्त्वेकदेशत्वरूपमंशत्वं विवक्षितं, न तु विशेष्यवस्त्वेकदेशत्वम् । प्रकृतिपुरुषयोः विकाररूपमेतज्जगत्त्वमेव "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छान्दो.उ.3-14-1) इतिवत् सामानाधिकरण्यमिदं शरीरात्मभावनिबन्धनमेव । कथम् ? रुद्राख्यजीवविशेषस्य कृत्स्नं प्रपञ्चं प्रति आत्मत्वं जगतश्च शरीरत्वं, कथञ्चित् शरीरात्मसम्भवेऽपि शरीरवाचिपदस्य शरीरिवाचकेन कथं सामानाधिकरण्यमिति चेदुच्यते । न ह्यत्र रुद्राख्यजीव-विशेषस्यात्मत्वं जगतस्तच्छरीरत्वं चोच्यते, किन्तु ब्रह्मविदामहंत्वमादिशब्दा अहंत्वमादिबुद्धयश्च ब्रह्मपर्यन्ताः । "तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्च (बृह.उ. 1-4-10) कक्षीवानृषिश्च विप्रश्चास्मि त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते तद्योऽहं योऽसौ सोऽहम् अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनः" इत्यादि श्रुतिस्मृतिभिः तथा प्रतीतेः । एवं चात्र प्रस्तोतुश्चतुर्मुखस्य ब्रह्मविदग्रेसरत्वेन तत्प्रयुक्ता अहंत्वमादिशब्दाः तद्बुद्धयश्च ब्रह्मपर्यन्ता इति रुद्रस्य भगवदात्मकत्वेन तत्पर्यन्तत्वमवगम्य ब्रह्मसामानाधिकरण्येन स निर्दिष्ट इति, विशेष्यभूतस्य ब्रह्मणः कृत्स्नचिदचिदन्तरात्मत्वं तयोः शरीरत्वं च युक्तमेव एवमपि कथमात्मवाचिना शरीरवाचिशब्दस्य सामानाधिकरण्यमिति चेत् गवादिशब्दानां जातिगुणादिमात्रपरतया व्युत्पन्नानां शुक्लो गौरित्यादिषु व्यक्तिगुण्यादिपर्यन्तत्वमन्तरेणाऽपर्यवसन्नानां यथा व्यक्त्यादिपर्यन्तत्वेन सामानाधिकरण्यम् । एवं जातिगुणादिवत् शरीरस्यापृथक्सिद्धविशेषणत्वात् तद्वाचिमात्रपरतया लोके व्युत्पन्नः सः शरीरिपर्यन्तमभिधत्ते "आत्मा देवो जातः" इतिवत् तस्यात्मवाचिना सामानाधिकरण्यमुपपन्नमेव । न च व्यक्तेराक्षेपाल्लक्षणया वा गौः शुक्लः इत्यादि प्रयोगोपपत्तिः अपृथक्सिद्धविशेषणवाचिशब्दत्वस्य लक्षणादिप्रतिबन्धकत्वाद्, अन्यथा जात्याकृतिगोत्वगुणादिशब्दानामपि लक्षणादिना गोत्वं शुक्लमित्यादि प्रयोगापत्तेः । नन्वेवं जात्यादिशब्दानामप्यपृथक्सिद्धविशेषणवाचिनां व्यक्त्यादिपर्यन्तपर्यवसानेन सामानाधिकरण्यापत्तिरिति चेत् मैवम्[1] । नियतिनिष्कर्षवाचिनां कदाचिदपि विशेषपर्यन्तत्वाभावस्य भाष्यादिषूक्तत्वात् । अत एव शरीरदेहादिशब्दानां कदाचिदपि नात्मवाचिना सामानाधिकरण्यमिति भाष्यादिषु विस्तरः । कृत्स्नचिदचिदात्मकप्रपञ्चशरीरकस्त्वं क्रीडन्नेव विश्वं सृजसि पासि रक्षसि अत्सि संहरसि, क्रीडन्नित्यनेन जगद्व्यापारो भगवतो लीलेत्युक्तम् । ऊर्णपदः[2] ऊर्णनाभिर्यथेति दृष्टान्तः । "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च" (मुण्ड.उ.1-1-7) इति श्रुतिप्रसिद्धः ॥ ४३ ॥

एवं परब्रह्मदृष्ट्या चिदचिच्छरीरकत्वं सृष्ट्यादिकारणत्वमभिधाय पुनस्तद्दृष्ट्या प्रकृताध्वरसन्धित्सोत्पादनाय पुरुषार्थावबोधिशास्त्रप्रवर्तकत्वं धर्ममर्यादापालकत्वं चाह - **त्वमेवेति** । धर्मार्थधुक् धर्मार्थौ दोग्धीति धर्मार्थधुक् धर्मादिप्रपूरकस्त्वमेव

---

1. A, B, T न । 2. A, B, T पटः

अभिपत्तये पुरुषार्थाऽवाप्तये दक्षेण समर्थेन सूत्रेण सूचितेन शास्त्रेण अध्वरं ससर्जिथ सृष्टवानसि। पुरुषार्थसाधनभूतधर्मार्थ-सम्पादनोपायावबोधिशास्त्रप्रवर्तकस्त्वमेवेत्यर्थः। सेतवो वर्णाश्रमधर्ममर्यादाश्च त्वयैव अवसिता निबद्धाः। के ते सेतवः ? येऽवसिता इत्यत्राह - यान् सेतून् धृतव्रता व्रतनिष्ठाः सन्तो ब्राह्मणाः श्रद्दधते श्रद्धापूर्वकमनुतिष्ठन्ति॥ ४४॥

पुनर्ब्रह्मदृष्ट्यैव सर्वकर्मकारयिता तत्तत्फलप्रदश्च त्वमेवेत्याह - **त्वमिति**। हे मङ्गल ! शिव ! लोके मङ्गलानां कुशलानां कर्मणां कर्तुः कर्त्रे इत्यर्थः। स्वः स्वर्गं परं मोक्षं वा तनुषे प्रददासि, अभिसंहितफलकर्मणां कर्तुः स्वर्गम्, अनभिसंहितफलकर्मणां कर्तुस्तु मोक्षं तनुष इत्यर्थः। अमङ्गलानामकुशलानां कर्मणां कर्तुरुल्बणं तमिस्रं निरयं तनुषे। विपर्ययः अमङ्गलानां कर्मणां कर्तुः कस्यचिदपि स्वर्गमोक्षप्राप्तिरूपः विपर्ययः केन केन हेतुना भवेत् न केनापीत्यर्थः। अतस्तदेव तत्कृतं फलमेव भवति न तद्विपर्यय इत्यर्थः॥ ४५॥

**विज०** तत्र ब्रह्मा स्वगुरुत्वमभिनयन् भवं वक्तीत्याह - **तथेति**। तथा रुद्रस्य समन्तात् स्थिता अपरे ये सिद्धगणास्तैर्मह-र्षिभिस्सह नीललोहितम् अनु नमस्कृतः प्रहसन्निव आत्मभूः ब्रह्मा आत्मने कृतप्रणामं शशाङ्कशेखरं प्राहेत्यन्वयः॥ ४१॥

भक्तद्वेषमसहमानेन शिवान्तर्यामिणा दक्षयज्ञविनाशनमकारीति ध्वनयन् तद्यज्ञसन्धिकामः तस्मिंस्तुष्टे शिवोऽपि तुष्टस्स्यात् तस्य भक्तलक्षणत्वाच्छिवस्यासम्भाव्यैर्गुणैः शिवान्तर्यामिणं नरसिंहं स्तौति - **जाने त्वामिति**। हे ईश ! अखण्डैश्वर्य ! विश्वस्याखिलस्य जगतो योनिबीजयोः मातृस्थानीयायाः शक्तेः प्रकृतेरुमायाः पितृस्थानीयस्य पुरुषशब्दवाच्यस्य शिवस्य च सकाशात् यत्परमुत्तमं निरन्तरं स्वगतभेदरहितं शिवशक्त्योः स्थित्वा मातृत्वपितृत्वलक्षणशब्दप्रवृत्तिनिमित्तापादकं त्वां जाने इत्यन्वयः॥ ४२॥

शिवशक्त्योर्योनिबीजत्वम्[1]। उपचारिकं मुख्यं तु तदन्तर्यामिणो हरेरेवेत्यभिप्रेत्याह - **त्वमेवेति**। क्रीडयोर्णपदः[2] ऊर्णनाभिः यथा ऊर्णां सृजति तन्मध्ये क्रीडते च तां हरति तथा त्वं प्रतिमावत् स्वरूपयोः साक्षाद्रूपयोः शिवशक्त्योः स्थित्वा ताभ्यां करणभूताभ्यां भगवन् ! त्वमेवैतद्विश्वं सृजसि पासि रक्षसि अत्सि संहरसीत्यन्वयः। प्रसिद्धं परित्याज्याप्रसिद्धान्तर्यामिकल्पनायां किं कारणमित्यत उक्तं शक्तेः शिवस्य च परमिति। न हि शिवशक्त्योः परः शिव इति वक्तुं युक्तं, प्रतीतिविरोधात्। तर्हि त्वमित्यादिप्रयोगप्रतीतेः का गतिरिति चेन्न, अन्तर्याम्यपेक्षया चरितार्थत्वात्[3]। तदुक्तं - "क्रियन्ते स्तुतयोऽन्यत्र तदन्तर्याम्यपेक्षया। न जीवेषु गुणाः पूर्णा यथायोग्या हि तद्गताः॥" (ब्राह्मे) इति। "तद्वशत्वात्स्वरूपं तु विष्णोः सर्वमुदीर्यते। स्वरूपं स च सर्वस्य बिम्बत्वादेव तूच्यते। साक्षात्स्वरूपं

1. A, B औप° 2. A, B पटः 3. A °त्वम्

मत्स्याद्या विष्णोर्नान्ये कथञ्चन। तस्मादन्यगता दोषा न तस्मिन् पुरुषोत्तमे॥" (तत्त्वनिर्णये) इति वचनात् शिवादीनामस्वरूपत्वं मत्स्यादीनां साक्षात्स्वरूपत्वं च सिद्धं नापलपनीयमिति भावः॥ ४३॥

दक्षयज्ञविनाशनं तदन्तर्यामिणा हरिणा कृतमिति प्रमाणेन ध्वनितं स्फुटयति - **त्वमेवेति**। त्वमेव नान्यो, धर्मार्थौ दोग्धीति धर्मार्थधुक् तेन धर्मार्थदुघा सूत्रेण प्रत्युत्थानाद्यकरणनिमित्तदोषसूचकेन दक्षेण हेतुना विसर्जिताध्वरः विनाशितयज्ञो भवतीति शेषः। सोऽपि गुण एवाभूदित्याशयेनाह - अभिपत्तये इति। तस्य दोषस्याभिपत्तये प्रतीकाराय परिहाराय "पाणिं मर्कटलोचनः" (भाग. 4-2-12) इत्यादिदोषसूचकेन दक्षेण यो यज्ञ उपक्रान्तस्तं त्वद्भक्तत्वेऽपि त्वद्भक्तद्वेषित्वात् तद्दोषपरिहाराय भक्तवत्सलः त्वमेव नाशितवानित्यर्थः, दक्षोऽपि त्वद्भक्तश्चेत् तद्यागविनाशं किमकार्षीरित्यत आह - त्वयैवेति। तत्तत्कर्मसु यानि यानि व्रतानि त्वया विहितानि तानि तानि धारयन्तो ये ब्राह्मणा वेदशास्त्रपारगास्ते यान् सेतून् श्रद्दधते मद्भक्तोऽपि स्वोत्तममद्भक्तद्वेषादिकं न कुर्यादित्यादिलक्षणधर्मसेतवो लोके वेदे च त्वयैवाऽवसिता निश्चित्य निर्णीता इत्यर्थः॥ ४४॥

एवकारेण मन्वादिषु स्थित्वा वर्णाश्रमादिसंहितां विधत्स इति ध्वनितं स्पष्टयति - **त्वं कर्मणामिति**। "मङ्गेरलच्" (उणादि 759) अगिवगिमगिरगिलगि - गत्यर्थाः, मगेरलच्प्रत्ययो भवति। संज्ञाविषये नुमागमः चकारः स्वरार्थः तेन मङ्गलमिति रूपं, तस्य सम्बुद्धिः हे मङ्गलेति। हे मङ्गल ! विष्णो ! त्वं जीवलोके स्थित्वा मङ्गलानां पुण्यानाम् अमङ्गलानामशुभानां च कर्मणां कर्तासि। स्वयमन्यानपेक्षितस्तेषामुभयेषां कर्मणां फलं स्वर्गादिकमुल्बणं तमिस्रं नरकादिकं च तनुषे स्वस्वयोग्यतानुसारेण विस्तृत्यददासीत्यन्वयः। ननु नायं नियमो द्रढीयान् विपर्ययदर्शनादित्यत आह - विपर्यय इति। केनचित् भक्तद्वेषादिहेतुना कस्यचिदेव धर्मादिः फलविपर्ययः। न तु सर्वस्येत्यज्ञानां धर्मसूक्ष्मज्ञानं दुर्लभमिति भावः॥ ४५॥

**न वै सतां त्वच्चरणार्पितात्मनां भूतेषु सर्वेष्वभिपश्यतां तव।**
**भूतानि चात्मन्यपृथग्दिदृक्षतां प्रायेण रोषोऽभिभवेद्यथा पशुम्[1]॥ ४६॥**

**पृथग्धियः[2] कर्मदृशो दुराशयाः परोदयेनार्पितहृद्रुजोऽनिशम्।**
**परान् दुरुक्तैर्वितुदन्त्यरुन्तुदास्तान्मा वधीर्दैववधान् भवद्विधः[3]॥ ४७॥**

**यस्मिन् यदा पुष्करनाभमायया दुरन्तया[4] मुष्टधियः[5] पृथग्दृशः।**
**कुर्वन्ति तत्र ह्यनुकम्पया कृपां न साधवो दैवबलात्कृतेऽक्रमम्[6]॥ ४८॥**

---

1. M, Ma, Ms पशोः 2. M, Ma पृथग्दृशः 3. M, Ma °देव भवान् पृथग्विधान् 4. M, Ma, Ms दुर्लङ्घया 5. A, B, G, I, J. M, Ma, Ms, T, V स्पृष्ट 6. M, Ma, Ms °ताः कथम्; V °ते क्रमम्

**भवांस्तु[1] पुंसः परमस्य मायया दुरन्तयाऽस्पृष्टमतिः समस्तदृक्।**
**तया हतात्मस्वनुकर्मचेतस्स्वनुग्रहं कर्तुमिहार्हसि[2] प्रभो॥ ४९॥**

**कुर्वध्वरस्योद्धरणं हतस्य भो[3] त्वयाऽसमाप्तस्य मनो[4] प्रजापतेः।**
**न यत्र भागं तव भागिनो ददुः कुयज्विनो[5] येन मखो[6] निनीयते॥ ५०॥**

**जीवताद्यजमानोऽयं प्रपद्येताक्षिणी भगः।**
**भृगोः श्मश्रूणि रोहन्तु पूष्णो दन्ताश्च पूर्ववत्॥ ५१॥**

**देवानां भग्नगात्राणामृत्विजां चायुधाश्मभिः।**
**भवतानुगृहीतानामाशु मन्योऽस्त्वनातुरम्[7]॥ ५२॥**

**एष ते रुद्रभागोऽस्तु यदुच्छिष्टोऽध्वरस्य वै।**
**यज्ञस्ते रुद्रभागेन कल्प्यतामद्य[8] यज्ञहन्॥ ५३॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

**श्रीध०** त्वत्कोपोऽत्र[9] हेतुरित्यसम्भावितमिदमिति कैमुत्यन्यायेनाह[10] - **न वा** इति[11]। न[12] वै सतां सतः रोषोऽभिभवेत्। तव त्वां, द्वितीयार्थे षष्ठ्यौ। पशुमज्ञं यथाऽभिभवति न[13-] तद्वत् वैधर्म्ये दृष्टान्तः[-13]॥ ४६॥

**पृथगिति**[14]। यतः ये पृथग्धियो भेददृशोऽतः कर्मण्येव दृष्टिः येषाम्। दुष्ट आशयो येषां परेषामुदयेन सम्पदा अर्पिता हृदि रुक् येषाम् अरुन्तुदा मर्मभेत्तारः दैवेन एव[15] वधो येषां तान् मृतप्रायान्[16] भवद्विधो निरुपमः साधुः मा वधीत् न हन्यात्॥ ४७॥

प्रत्युत साधूनां वृत्तमालोक्यानुग्रहमेव कर्तुमर्हसीत्याह - **यस्मिन्निति** द्वाभ्याम्। यस्मिन् देशे यदा काले भगवन्मायया[17] स्पृष्टधियो

1. M, Ma, Ms भवान्हि 2. M, Ma, Ms °ति 3. A, B, G, I, J, T भोः 4. A, M, Ma, Ms, T मनोः 5. M, Ma, Ms कुस्पर्धिनो 6. V मधो 7. M, Ma, Ms, मन्ये त्वं 8. A, B, G, I, J, M, Ma कल्पता° 9. V omits त्वत् 10. A, B, J, Va °तमिति 11. V °तिक 12. V omits वै 13--13. A, J, V, Va तद्वत् 14. A, B, J, Va अतः 15. V omits एव 16. B, J, V, Va omit मृतप्रायान् 17. B, J, V, Va omit भगवन्मायया

मोहितचित्ताः पृथग्दृशो भेदबुद्धयो[1] भवन्ति तत्रापराधेऽपि[2] साधवो ह्यनुकम्पया अनन्तरमेव परदुःखासहिष्णुतया चित्तप्रकम्पेन[3] कृपां कुर्वन्ति न तु क्रमं पराक्रमम्। कुतः ? दैवबलात् कृतेऽनर्थे[4] सति[5] ममैव दैवम् एवम्भूतं कोऽत्रापराधः तेषामिति मत्वा तद्धननं न कुर्वन्ति[6] इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

**भवानिति**। भवांस्तु[7] मायया अस्पृष्टमतिः अत एव[8] समस्तदृक् सर्वज्ञः तया मायया हत आत्मा येषां तेष्वत एव कर्मानुगतचित्तेषु इहापराधेऽनुग्रहं कर्तुमर्हसि ॥ ४९ ॥

एवं सामान्येनोक्त्वा प्रस्तुतमाह - **कुर्विति** त्रिभिः। त्वया हतस्य अत एव असमाप्तस्य प्रजापतेरध्वरस्य। हे मनो ! यत्र अध्वरे कुयाज्ञिका भागिनोऽपि तव भागं न ददुः। भागार्हत्वमाह - येन त्वया मखो निनीयते फलं प्राप्यते ॥ ५०, ५१ ॥

**देवानामिति**। हे मन्यो ! आयुधैरश्मभिश्च भग्नगात्राणाम्[9-9] अनातुरमारोग्यमस्तु ॥ ५२ ॥

भागश्च तवास्त्वित्याह - **एष** इति। हे रुद्र ! यावदित्यर्थे यदित्यव्ययम्। यज्ञे कृते यावान् उच्छिष्टोऽवशिष्टोऽर्थः तावान् एष[10] ते[11] तव भागोऽस्तु। हे रुद्र ! तेन[12] भागेनाद्य यज्ञः[13] कल्पतां सम्पद्यताम्। सिद्धो[14-14] भवित्वित्यर्थः ॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थ दीपिकायां

व्याख्यायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

**वीर०** एवं ब्रह्मदृष्ट्या रुद्रं प्रस्तूय तस्य प्रसादोत्पिपादयिषया सतां रोषो न युक्त इति कैमुत्यनयेनाह[15] - **न वा** इति। त्वच्चरणे समर्पितः[16] आत्मा चित्तं येषां सर्वेषु भूतेषु तव द्वितीयार्थे षष्ठी त्वामित्यर्थः। अत्र त्वां त्वमिति पदद्वयं ब्रह्मपर्यन्तं भगवच्चरणारविन्दसमर्पितचित्तानां सर्वाणि भूतानि भगवदात्मकतया पश्यतामित्यर्थः। भूतानि चात्मनि परमात्मनि अपृथक्[17] अपृभक्सिद्धानि दिदृक्षतां द्रष्टुमिच्छतां पश्यतामित्यर्थः। सर्वभूतानां भगवच्छरीरतया तदपृथक्सिद्धत्वेन पश्यतामित्यर्थः। एवम्भूतानां सताम्, अत्रापि द्वितीयार्थे षष्ठी। सतः वै अनर्थकारित्वेन प्रसिद्धः, रोषः नाभिभवेत् अभिभूतान्न कुर्यात् यथा पशुं मूर्खमभिभवेत्, अतस्तव रोषो न युक्त इति किमु वक्तव्यमिति भावः ॥ ४६ ॥

---

1. B, J, V, Va omit भेदबुद्धयो 2. B, J, V, Va omit अपि 3. B कम्पनेन 4. A, B, J, Va अर्थे 5. A, B, J, Va omit सति 6. A, B, J, Va कुर्वन्ति 7. B, J, Va omit मायया 8. B, V, omit एव 9--9. B, J, V, Va omit 10. Va omits एष 11. A, J, V, Va omit ते 12. A, B, J, Va तै 13. V कल्प्यतां 14--14. B, J, Va omit 15. A, T न्या° 16. A, B, T अर्पितम् 17. A, B, T omit अपृथक्

कृतापराधेष्वपि महान्तः कृपावन्तो भवन्ति । अतः कृतापराधमपि दक्षम् अनुग्रहीतुमर्हसीत्याह त्रिभिः । पृथग्दृशः अब्रह्मात्मकस्वतन्त्रवस्तुदर्शिनः देवमनुष्यदेहात्माभिमानभिन्नधियो वा कर्मण्येव दृष्टिः येषां, दुष्ट आशयोऽन्तःकरणं येषाम्, अनिशं परेषामुदयेन सम्पदा अर्पिता हृदि रुक् व्यथा येषाम् । अरुन्तुदा मर्मच्छेत्तारः दुरुक्तैः परान् तुदन्ति व्यथयन्ति तान् एवम्भूतान् दैवेनैव वधो येषां तान्, भवद्विधो निरुपमकरुणः मा वधीत् मा हन्यात् ॥ ४७ ॥

प्रत्युत साधूनां वृत्तमालोच्यानुग्रहमेव कर्तुमर्हसीत्याह - यस्मिन् देशे यदा काले दुर्लङ्घ्यया दुरत्ययया[1] पुष्करनाभस्य पद्मनाभस्य भगवतः[2] मायया मुष्टधियः मोहितचित्ताः पृथग्दृशो भवन्ति ज्ञानैकाकारतया एकरूपेप्यात्मनि देवमनुष्यादिभेददर्शिनः, तथाऽब्रह्मात्मकत्वदर्शिनश्च भवन्तीत्यर्थः । तत्रापराधिषु साधवो ह्यनुकम्पया अनन्तरमेव परदुःखासहिष्णुतया चित्तप्रकम्पेन कृपां कुर्वन्ति, न त्वक्रमम् अप्रियं, कुतः ? दैवबलात् कृतेऽर्थे मम दैवम् एवम्भूतं कोऽत्रापराधः तेषामिति मत्वा कृपामेव कृर्वन्तीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

अतो भवान् परमस्य पुंसः परमपुरुषस्य दुरन्तया मायया अस्पृष्टमतिः भगवत्प्रपन्नत्वेन अमोहितबुद्धिः, अत एव समस्तदृक् सर्वार्थदर्शी तथा मायया हतात्मसु मोहितचित्तेषु अत एव अनुकर्मचेतस्सु कर्मानुगुणचित्तवृत्तिषु सापराधजनेषु अनुग्रहं कर्तुमर्हसि हे प्रभो ! समर्थ ! ॥ ४९ ॥

एवं सामान्येनोक्त्वा प्रस्तुतमाह - **कुर्विति** त्रिभिः । हे मनो ! रुद्र ! त्वया हतस्य अत एव असमाप्तस्य प्रजापतेः दक्षस्य अध्वरस्योद्धरणं पुनरुद्धारं कुरु कुर्याः[3] कुयाज्ञिकस्य दक्षस्य यत्राध्वरे भागिनः भागार्हस्य तव भागं न ददुः, येन त्वया हेतुना मखो न नीयते न समाप्यते । निनीयते इति पाठान्तरम् । तदा किमर्थमध्वरोद्धरणाय मां प्रार्थयसे इत्यत्राह - मखो येन त्वया हेतुना निनीयते समाप्यते, यदपचारात् मखो विनष्टः पुनस्तस्यैव भवतोऽनुग्रहात् मखः समापनीय इति भावः ॥ ५० ॥

अयं यजमानो दक्षः जीवतात् जीवतु, भगः अक्षिणी प्रपद्येत प्राप्नुयात् ॥ ५१ ॥

आयुधैः अश्मभिश्च भग्नग्राणाम् ऋत्विजां देवानां च पुनर्भवता अनुगृहीतानां हे मन्यो ! अनातुरम् आरोग्यमाशु अस्तु ॥ ५२ ॥

भागश्च तवास्त्वित्याह - **एष** इति । हे रुद्र ! यावदित्यर्थे यदित्यव्ययम् । अध्वरस्य यदुच्छिष्टः यज्ञे कृते यावानवशिष्टोऽर्थः[4] तावानेष तव भागोऽस्तु । हे रुद्र ! यज्ञहन् ! अद्य अधुना ते[5] तव भागेन यज्ञः कल्प्यतां सङ्कल्प्यताम् ॥ ५३ ॥

---

1. A, B, T omit दुरत्ययया 2. A, B, T omit भगवतः 3. A, B, T add कस्य 4. A, B, T °ष्टार्थः 5. A, B, T तनैव भा°

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवत चन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

**विज०** नन्वेवं तर्हि ब्रह्मणा हरौ रोषलक्षणदोषारोषः कृतः इत्यागतमित्याशङ्क्य त्वद्भक्तानामप्यनुचितो रोषो नास्ति किमु तवेति भावेनाह - **न वा** इति। त्वच्चरणार्पितात्मनां सर्वेषु भूतेष्वपि स्थितं तव त्वां पश्यताम् आत्मन्याधारतया भूतानि च पश्यतामेवापृथक् दिदृक्षतां यथार्थज्ञानेच्छूनां सतां प्रायेण तथा रोषो नाभिभवेत् यथा पशोः अज्ञानिनोऽभिभवेदित्यन्वयः। अनेन रोषविषयेषु रोषः कर्तव्यो, नान्यत्र, अतो न हरौ दोषारोपो ब्रह्मणा कृत इत्युक्तं भवति। "चतुर्षु षष्ठी" इति सूत्रात् द्वितीयादिचतुर्षु षष्ठी वर्तत इति विधानात् तवेत्यस्य *द्वितीयार्थेषु युज्यते "विष्णवधीना जगत्सत्ता प्रतीतिश्चेष्टितं गतिः। इति यन्निश्चितं ज्ञानमपृथग्दर्शनं स्मृतम्। मिथ्याज्ञानं पृथग्ज्ञानमिति वेदविदो विदुः। यथैवार्थस्तथा ज्ञानमपृथग्दृष्टिरुच्यते।" (गारुडे) इति वचनात् अपृथग्दर्शनं नाभेदज्ञानं किन्तु यथावस्तुविज्ञानमिति ज्ञायते॥ ४६ ॥

हननयोग्यापराधपुरुषविषये यो रोषः स कथं महतोऽपि नाभिभवेदित्याशङ्क्य सत्यं, स्वदोषेण हन्यमानान्नाऽवधीरिति प्रार्थयामहे इति ज्ञापयति - **पृथग्दृश** इति। ये पृथग्दृक्त्वादिदोषाकराः दुरुक्तैः परान् वितुदन्ति हे देव! भवान् तान् मा वधीदित्यन्वयः। पृथग्विधान् भिन्नप्रकारान् ज्ञानिलोकविलक्षणानित्यर्थः॥ ४७॥

यद्यपि ब्रह्मविज्ञापनेन प्रसन्नस्य रुद्रान्तर्यामिणो हरेः क्षान्त्या रुद्रोऽपि क्षान्तो भवति, तथापि रुद्रोऽपि पृथग्वाच्य इति धिया अधुना दक्षाय कोपो न कर्तव्य इति रुद्रं वक्ति - योऽस्मिन्निति। अस्मिन् लोके ये दक्षविधा जना दुर्लङ्घ्यया पुष्करनाभस्य मायया बन्धकशक्त्या स्पृष्टधियो यथैव पृथग्दृशोऽस्मिन् जने द्वेषादिकं कुर्वन्तीति यदा यस्मात् तस्मात् तत्र तेषु जनेषु भवादृशाः साधवोऽनुकम्पया हृदयद्रवीभावेन कृपां क्षमालक्षणोपकारं कर्तुमिच्छां कथं न कुर्वन्तीत्यन्वयः। "हृदयस्य द्रवीभावस्त्वनुकम्पेति कथ्यते। उपकारं कर्तुमिच्छा कृपेत्याहुर्मनीषिणः॥" (शब्दानिर्णये) तेऽपि साधुष्वेव केचित् कुत एवं कुर्वन्तीति तत्राह - दैवेति। तादृग्विधपूर्वकर्मप्रबोधकस्य देवस्य हरेर्बन्धकशक्तिबलात् तथाकृता इति हेतुगर्भविशेषणं, हिशब्देन योग्यताविशेषं कथयति॥४८॥

"विष्णुमाया हरेरिच्छा बन्धशक्तिश्च तद्वशा। सर्वत्रगा हरेरिच्छा बन्धशक्तिर्ज्ञवर्जिता।" (शब्दनिर्णये) इति वचनात् भवान्

---

* द्वितीयार्थेषु इत्यस्य स्थाने द्वितीयार्थे षष्ठी इत्युचितः पाठः।

**सर्वज्ञत्वेन बन्धशक्तिस्पर्शाभावात्तेष्वेको न स्यात्। अतोऽस्मिन्नज्ञानिजनेऽनुग्रहं कर्तुमर्हतीत्याह - भवान्हीति।** हिशब्दो हेत्वर्थः। ता बन्धकशक्त्या हतात्मसु नष्टबुद्धिगुणेषु अत एव अनुकर्मचेतस्सु हिंसालक्षणकर्मानुविष्टचित्तेषु दक्षादिष्विति शेषः, अस्पृष्टमतिः ॥ ४९ ॥

स्वबोधनेनान्तर्यामिहरिप्रसादेन च प्रसादाभिमुखं रुद्रं प्रति एतादृशोऽनुग्रहः कार्य इति वक्ति - **कुर्वध्वरस्येति।** हतस्य त्वया कृतान्तरायेणेति शेषः। अत एवासमाप्तस्याकृताऽवभृथस्नानादिनेति शेषः। मनोर्दक्षस्य कोऽयमध्वर इति तत्राह - न यत्रेति। येन त्वया मखो नि न्यग्भावेन नीचत्वेन नीयेत तस्य भागिनो यज्ञभागार्हस्य तव कुत्सिता स्पर्धा एषामस्तीति कुस्पर्धिन ऋत्विजो देवा यत्र यज्ञे भागं विहितहविर्भागं न ददुः तस्याध्वरस्य। यद्वा येन यज्ञभागयोग्येन त्वया मखो निकामं नीयते तस्य भागिनो देवा भागं यत्र न ददुः तस्येति "नि न्यग्भावनिकामयोः" (वैज०को.8-7-5) इति यादवः ॥ ५० ॥

यजमानसद्भावे यागोद्धारः सम्भवति। तस्य मया हतत्वात् कथं नष्टाक्षा (क्ष्या) द्यवयवादीनां स्वभागनिरीक्षणं कथं चायुधाश्मभिः भग्नगात्राणाम् ऋत्विजां होमाङ्गत्वमित्याशङ्क्य त्वदनुग्रहसुधासमुद्रमग्नाः सर्वसम्पन्ना भवन्त्वित्याह - **जीवतादित्यादिना** ॥ ५१ ॥

अनातुरमारोग्यम् ॥ ५२ ॥

सर्वं निरवद्यं स्यात् यदि मम भागोऽस्ति चेदित्याशङ्क्य तवायमनुशोको मा भूदित्याह - **एष त** इति। उच्छिष्टः स्विष्टकृद्भागः "यदग्नये स्विष्टकृते समवद्यति भागधेयेनैव तद्रुद्रं समर्द्धयति सकृत्सकृदवद्यति सकृदिव हि रुद्र उत्तरार्धादवद्यत्येषां वै रुद्रस्य दिक् स्वायामेव दिशि रुद्रं निरवद्यते ॥" इति श्रुतेः ॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां

टीकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

# सप्तमोऽध्यायः

## मैत्रेय उवाच

इत्यजेनानुनीतेन भवेन परितुष्यता।
अभ्यधायि महाबाहो प्रहस्य श्रूयतामिति॥ १॥

## श्री महादेव उवाच[1]

नाघं प्रजेश बालानां वर्णये नानुचिन्तये।
देव मायाभिभूतानां दण्डस्तत्र धृतो[2] मया॥ २॥

प्रजापतेर्दग्धशीर्ष्णो भवत्वजमुखं शिरः।
मित्रस्य चक्षुषीक्षेत[3] भागं स्वं बर्हिषो भगः॥ ३॥

पूषा तु यजमानस्य दद्भिर्जक्षतु पिष्टभुक्।
देवाः प्रकृतसर्वाङ्गा[4] ये मे उच्छेषणं ददुः॥ ४॥

बाहुभ्या मश्विनोः पूष्णोः हस्ताभ्यां कृतबाहवः।
भवन्त्वध्वर्यवश्चान्ये बस्तश्मश्रु भृगुर्भवेत्॥ ५॥

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

सप्तमे विष्णु रुद्भूतः स्तुतो दक्ष भवादिभिः। यज्ञं प्रवर्तयामास दक्षेणेति निरूप्यते॥

इतीति। अजेन योऽनुनीतः प्रार्थितो भवः तेनाभिहितम्। हे महाबाहो! विदुर!॥ १॥

नेति। अघ मपराधम्॥ २॥

प्रजापतेरिति। स्वापराधमपहृत्य[5] अनुगृह्णाति। दग्धं शीर्षं यस्य तस्य प्रजापतेः दक्षस्य[6-] अजमुखम्[-6] अजस्य मुखं यस्मिन् तत्तथाभूतं शिरोऽस्तु। बर्हिषः[7] यज्ञस्य सम्बन्धिनः[8] स्वं भागम्। मित्रनाम्नो देवस्य॥ ३॥

---

1. M, Ma, Ms रुद्र; V, W भव 2. W कृतो 3. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, V °क्षे° 4. V क्लृप्त 5. V °हुत्य 6--6. A. B, J, V, Va omit 7. B, J, V, Va omit यज्ञस्य 8. A, B, J, Va omit स्वं

**पूषेति**। प्रकर्षेण कृतानि[1] लग्नानि[2] सर्वाणि[3] अङ्गानि येषां ते भवन्तु। उच्छेषणं यज्ञावशिष्टम्॥ ४॥

**बाहुभ्यामिति**। येषां त्वङ्गानि नष्टानि[4] ते तु अश्विनोः बाहुभ्यां कृतबाहवः पूष्णो हस्ताभ्यां कृतहस्ताश्च भवन्तु। अध्वर्यवः अन्ये च ऋत्विजः बस्तस्य अजस्य[5-] श्मश्रूणी[-5] व श्मश्रूणि यस्य॥ ५॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं ब्रह्मणा प्रसादितो भवो[6] देवाननुगृह्णन् तद्विज्ञापित मङ्गीचकारेत्याह मैत्रेयः **इतीति**। अजेन ब्रह्मणा अनुनीतेन प्रार्थितेन अत एव परितुष्यता भवेन हे महाबाहो! विदुर! प्रहस्य श्रूयता मित्यामन्त्र्य अभ्यधायि अभ्यभाषि॥ १॥

तदेवाह - **नाघमिति**। हे परेश! परेषा मस्मदादीना मीश! प्रभो! भगवन्मायामोहितानां बालानां मूर्खाणाम् अघं[7] अपराधं अधुना न वर्णये एवमेवमेवमपचरितमिति न कथयामीत्यर्थः। नानुचिन्तये न स्मरामि च, किन्तु अपराधाचरणदशायां मया दण्डः कृतः शिक्षामात्रं कृतमित्यर्थः॥ २॥

तदनुग्रहप्रकार मेवाह- **प्रजापते** रित्यादिभि स्त्रिभिः। दग्धशीर्ष्णः दक्षिणाग्नौ दग्धं शिरो यस्य तस्य प्रजापते र्दक्षस्य अजमुखं कण्ठादुपरि एव अजस्य मुखं यस्मिन् तच्छिरो भवतु। मित्रस्य मित्रनाम्नो[8] देवस्य चक्षुषी नेत्रे[9] भवेतां, चक्षुषीक्षेते त्यत्रार्षत्वात् "ईदूदेद् द्विवचनं" (अष्टा. 1-1-11) इति प्रगृह्यत्वाभावः। मित्रस्य चक्षुर्भङ्गः पूर्वं कृत इत्यर्थसिद्धम्। चक्षुषेति तृतीयान्तश्च पठ्यते। तदा मित्रस्य चाजमुखं शिरो भवतु। अस्मिन् पक्षे मित्रस्य शिरोभङ्गः पूर्वमर्थसिद्धो वेदितव्यः[10]। भगो भगाख्यो देवः बर्हिषो यज्ञस्य स्वीयं भागं चक्षुषा ईक्षेत पश्यतु। भगस्य नेत्रे उत्पद्येयाता मित्यर्थः अय मेवार्थः साधुः। "भगस्य नेत्रे भगवान् पातितस्य रुषा" (भाग.4-5-20) इति पूर्वं भगस्यैव नेत्रभङ्गाभिधानात्॥ ३॥

पूषा देवः यजमानसम्बन्धि पिष्टं भुङ्क्ते इति। तथा दद्भिः दन्तैः जक्षतु अद्यात्। पूष्णो दन्ता उत्पद्येरन्नित्यर्थः। ये देवा मे मह्यं उच्छेषणं यज्ञावशिष्टं ददुः दत्तवन्तः ते सर्वे प्रकर्षेण कृतानि सम्यक्कृतानि सर्वाण्यङ्गानि येषां ते भवेयुरित्यर्थः। निकृत्तसर्वाङ्गा[11] इति पाठान्तरं[12-] तदा[-12] ये देवा प्रकृत्तसर्वाङ्गाः[13-] नितरां भिन्नसर्वावयवा ये च[-13] मह्यं उच्छेषणं ददुः दातुं मतिं कृतवन्त इत्यर्थः। अनुग्रहा त्पूर्वं उच्छेषणदानाभावात्। ते सर्वे॥ ४॥

---

1. V क्लृप्तानि 2. V omits लग्नानि 3 B, J, Va omit सर्वाणि 4. V विनष्टानि 5–5. B, J, V, Va omit 6. W रुद्रो * प्रजेश इत्यस्य स्थाने परेश इति पाठः वीरराघवादृतः। 7. T omits अघम् 8. A, B, J तन्नाम्नो 9. T omits नेत्रे 10. A, B, T ज्ञेयः 11. W प्र 12–12. A, B, T पाठे 13–13. A, B, T omit प्रकृत्तसर्वाङ्गाः

अध्वर्यव ऋत्विजश्च अश्विनोः बाहुभ्यां कृतबाहवः उत्पादितबाहवः पूष्णो हस्ताभ्यां कृतहस्ताश्च भवन्त्वित्यन्वयः। भृगुः बस्तश्मश्रुः बस्तस्य मेषस्य श्मश्रूणीव श्मश्रूणि यस्य॥ ५॥

## श्रीविजयध्वध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अत्र भगवज्ज्ञानोपचितं कर्म हरेः साक्षात्कार साधनं भवतीति तात्पर्यतो निरूप्यते। तत्र ब्रह्मोक्त माकर्ण्य तुष्टेन रुद्रेणोच्यमान[1] प्रतिवचनप्रकारं वक्ति - **इतीति**। धर्मपरिपन्थिनो बाधत इति बाहुः, महां श्चाऽसौ बाहु र्यस्य स तथा तस्य सम्बोधनं महाबाहो! "अर्जि दृशि कम्यमि पशिबाधा मृजि पसि तुक्धुक् दीर्घहकाराश्च" (उणादि-27) अर्ज अर्जने, दृशिर्-प्रेक्षणे, कमु-कान्तौ, अम-रोगे, पशि-नाशने (गत्यादौ वा) बाधृ-लोडने, एभ्यो धातुभ्यः कुप्रत्ययो भवति। एषां धातूनां यथासंख्यं ऋजि-पशि-तुक्-धुक्-दीर्घहकारश्चेत्येते आगमादेशाश्च भवन्ति। ऋजु रवक्रः अव्युत्पन्नो वा, पशु र्मन्त्रहीन श्चतुष्पाच्च, कमे स्तुगागमः कन्तुः कन्दर्पः अमेर्बुगागमः अम्बुजलं, पंसि पंसे दीर्घः पांशू रजः, बाधे र्हकारादेशः बाहुः प्राण्यङ्गम्॥ १॥

किमभ्यधायीति तत्राह - **नाथ मिति**। हे प्रजेश! सर्वजीवराश्युत्तम! अघ मपराधं न वर्णये अनेकत्वा दप्राप्तकालत्वादिति शेषः। तर्हि पश्चात्तापोऽस्ति किम्? नेत्याह - नानुचिन्तय इति। पश्चात्तापं न करोमीत्यर्थः। पश्चात्तापाकरणे कारण माह दण्ड इति। अपराधानुसारि दण्डाकरणे अनुतापः[2] स्यात्। तदनुसारिणी शिक्षा मया कृतेत्यर्थः॥ २॥

पुत्रच्छात्रादिभि र्गुरुवाक्यं सबहुमानं ग्राह्यमिति भावं दर्शयन् वक्ति - **प्रजापते रिति**। अजस्य छागस्य मुखं यस्य तत्तथोक्तं पूर्वशिरोऽनुसन्धानाकरणे कारणं दग्धशीर्ष्ण इति। स्वपौरुषजयस्तम्भस्थापनाय अज्ञजनशिक्षणाय च भगादीना मप्यन्या वयवै रेव स्वनिर्वाहः स्यादिति भावेनाह - मित्रस्येत्यादिना। बर्हिषो यज्ञस्य॥ ३॥

दद्भिः दन्तैः तत्र देवानां विशेषानुग्रहं करोति देवा इति। प्रकृतसर्वाङ्गाः पूर्वावस्थाप्राप्तसर्वावयवाः "उच्छेषण भागो वै रुद्रः" इति श्रुतेः। ये म उच्छेषणं द्दुरिति विशेषानुग्रहे हेतुः॥ ४॥

ऋत्विजां नैव मित्याह - बाहुभ्या मित्यादि। अध्वर्यव ऋत्विज स्तेषां मध्ये केचित् छिन्नबाहवः केचि च्छिन्नहस्ताः तेषु छिन्नबाहवोऽश्विनो र्बाहुभ्यां कृतबाहवः, पूर्वबाहुप्रयोजना भवन्तु। अन्ये च पूष्णो हस्ताभ्यां कृतहस्ता भवन्तु। कूर्परस्योपरिदेशो बाहुः तदधो हस्तः "देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो र्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां" (तैत्ति.सं.1-1-6-1) इति श्रुतेः। हसदानादानयोः इति धातुः। बस्तस्य श्मश्रूणि यस्य स बस्तश्मश्रुः॥ ५॥

---

1. A° नं  2. Ma शयः

## मैत्रेय उवाच

**तदा सर्वाणि भूतानि श्रुत्वा मीढुष्टमोदितम्।**
**परितुष्टात्मभि स्तात[1] साधु साध्वि त्यथाऽब्रुवन्॥ ६॥**

**ततो मीढ्वांस मामन्त्र्य शुनासीराः सहर्षिभिः[2]।**
**भूय स्तद्देवयजनं समीढ्वद्वेधसो ययुः॥ ७॥**

**विधाय कार्त्स्न्येन च तद्यथाऽऽह[3] भगवान् भवः।**
**सन्दधुः कस्य कायेन सवनीयपशोः शिरः॥ ८॥**

**सन्धीयमाने शिरसि[4] दक्षो रुद्राभिवीक्षितः।**
**सद्यः सुप्त इवोत्तस्थौ ददृशे चाग्रतो मृडम्॥ ९॥**

**तदा वृषध्वजद्वेष कलिलात्मा प्रजापतिः।**
**शिवावलोका दभव च्छरद्धद[5] इवामलः॥ १०॥**

**श्रीध० तदेति**। मीढुष्टमः शिवः तेनोक्तम्। परितुष्टै[6] श्चित्तै[7]ः॥ ६॥

**तत** इति। मीढ्वांसं शिवं त्वयागत्य सर्वं कार्य मित्यामन्त्र्य सम्प्रार्थ्य शुनासीरा देवाः, सह मीढुषा वेधसा च वर्तमानाः समीढ्वद्वेधसः॥ ७॥

**विधायेति**। कार्त्स्न्येन वक्त्र हस्त बाह्वादिना[8] साधारण्यं विधाय॥ ८, ९॥

**तदेति**। पूर्वं वृषध्वजद्वेषेण कलिलः कलुषीकृतः आत्मा यस्य सः तदा शरत्कालीनो ह्रद इवामलोऽभवत्॥ १०॥

**वीर०** एवं रुद्रेणानुगृहीता देवाः किमकुर्वतेत्यत्राह मैत्रेयः **तदेति**। मीढुष्टमोदितं मीढुष्टमः शिवतमो रुद्रः तेनोदितं गदितं श्रुत्वा सर्वाणि भूतानि परितुष्टात्मभिः परितुष्टचित्तैः हे तात! विदुर! साधु साध्विति ऊचुः॥ ६॥

1. M, Ma, Ms °स्तत्र; V, W °स्तं तु 2. Ma, सहर्भुभिः 3. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °दा° 4. M, Ma, Ms शीर्षणि 5 M, Ma °दभ्र; Ms °च्चन्द्र 6. A °पु° 7 V °ष्टचित्तैः 8. A, B, J, Va °दिसा°

ततः मीढ्वांसं रुद्रं त्वया आगत्य सर्वं कार्यं मित्यामन्त्र्य सम्प्रार्थ्य शुनासीरा[1] इन्द्रोपलक्षिता देवा ऋभुभिः भृगुणाऽऽहूयमान-दक्षिणाग्नि प्रभवैः ऋभ्वाख्यै र्देवैः सह समीढ्वद्वेधसः मीढुषा रुद्रेण वेधसा ब्रह्मणा च सहिताः भूयः पुनः तद्देवयजनं देवा इज्यन्तेऽस्मि-न्निति देवयजनं यागदेशं ययुः जग्मुः ॥७॥

भगवान् भवो रुद्रः यथाऽऽह "प्रजापते र्दग्धशीर्ष्णो भवत्वजमुखं शिरः" (भाग.4-7-3) इत्यादिना तथा कात्स्न्र्येन विधाय हस्तबाह्वादिकं विधाय सवनीयपशो रजस्य सम्बन्धि शिरः कस्य दक्षस्य कायेन शरीरेण सन्दधुः ॥ ८ ॥

सवनीयपशोः शिरसि सन्धीयमाने सति रुद्रेणाभिवीक्षितो दक्षः सुप्त इवोत्तस्थौ उदतिष्ठत् । अग्रतः पुरतः अवस्थितं मृडं रुद्रं ददृशे च ॥ ९ ॥

पूर्वं वृषध्वजे रुद्रे द्वेषेण कलिलः कलुषीकृतः आत्मा यस्य स प्रजापतिः दक्षः शिवावलोकात् शरत्कालीनह्रद इवामलोऽभवत् ॥ १० ॥

**विज०** कोऽसावुत्तरकथाप्रसङ्ग इति तत्राह - **तदेति**। "मिह सेचन" इति धातोः प्रणतजनस्याभीष्टं वर्षन्तो मीढ्वांसः तेषा मतिशयेन मीढ्वान् मीढुष्टमः तेन कथितम् । अनेन तदानी मेतन्नामोपलब्ध मिति रहस्यं ज्ञायते ॥ ६ ॥

शुनासीरा देवाः सहिता मीढ्वद्वेधोभ्यां रुद्रब्रह्मभ्यां ये तथोक्ताः ॥ ७ ॥

कस्य दक्षस्य सवनीयपशोः यज्ञियपशोः[2] ॥ ८ ॥

शीर्षणि शिरसि ॥ ९ ॥

शिवस्यावनतपुंस्यनुग्रहसामर्थ्यं व्यनक्ति - **तदेति**। "अभ्रं सलिलदे व्योम्नि शस्त्रं कोदण्ड आयुधे" (वैज० को.6-2-1) इति यादवः । शरन्मेघवत् ॥ १० ॥

**भवस्तवाय कृतधी र्नाशक्नोदनुरागतः ।**
**औत्कण्ठ्याद्बाष्पकलया[3] सम्परेतां सुतां स्मरन् ॥ ११ ॥**

**कृच्छ्रात्संस्तभ्य च मनः प्रेमविह्वलितः सुधीः ।**
**शशंस निर्व्यलीकेन भावेनेशं प्रजापतिः ॥ १२ ॥**

---

1 T सु° 2 Ma या° 3. M, Ma औत्कण्ठ्य बा°

## दक्ष उवाच

**भूया ननुग्रह अहो भवता कृतो मे दण्ड स्त्वया मयि भृतो यदपि प्रलब्धः[1]।**
**न ब्रह्मबन्धुषु च वां भगवन्नवज्ञा तुभ्यं हरेश्च कुत एव धृतव्रतेषु ॥ १३ ॥**

**विद्यातपोव्रतभृतो[2] मुखत[3] स्तु विप्रान् ब्रह्माऽऽत्मतत्त्व[4] मवितुं प्रथमं त्व मस्राक्[5] ॥**
**तद्ब्राह्मणान् परम सर्वविपत्सु पासि पालः पशूनिव विभो प्रगृहीतदण्डः ॥ १४ ॥**

**योऽसौ मयाऽविदिततत्त्वदृशा सभायां क्षिप्तो दुरुक्तिविशिखै रगणय्य तन्माम् ।**
**अर्वाक् पतन्त मर्हत्तम निन्दयाऽपात्[6] दृष्ट्याऽऽर्द्रया स भगवान् स्वकृतेन तुष्येत् ॥ १५ ॥**

**श्रीध० भूयानिति**। यदपि यद्यपि प्रलब्धः पराभूतो मया भवान् तथाऽपि त्वया दण्डो भृतः धृतः[7] शिक्षा कृता न तु उपेक्षितोऽस्मि। युक्त मेवैत दित्याह-नेति। बह्मबन्धुषु च ब्राह्मणाभासेष्वपि तुभ्यं तव हरेश्चेति वां युवयो रवज्ञा उपेक्षा नास्ति ॥ ११-१३ ॥

तत्र हेतु माह - **विद्येति**। ब्रह्मा भूत्वा त्वमस्राक् अस्राक्षीः। किमर्थम् ? आत्मतत्त्व मवितुम्। यद्वा ब्रह्मवेदमात्मतत्त्वं च अवितुं सम्प्रदायप्रवर्तनेन ज्ञापयितु मित्यर्थः। तत् तस्मात् हे परम ! उत्कृष्ट ! ॥ १४ ॥

अत्र च प्रत्युपकारो नास्तीत्याह - **योऽसाविति**। अविदिततत्त्वदृशा अप्राप्ततत्त्वज्ञानेन तदगणय्य विस्मृत्य अर्हत्तमस्य[8] तव निन्दया अर्वाक् अधः पतन्तं माम् अपात् रक्षितवान्। स्वकृतेनैव परानुग्रहेणैव तुष्येत्, न मया तत्प्रतिकर्तुं शक्य मित्यर्थः ॥ १५ ॥

**वीर०** भवस्तवाय रुद्रस्तुतये कृतधीः कृतमनाः सम्परेतां परलोकं मतां सुतां[9] सतीम् अनुरागतः स्मरन् तस्या मौत्कण्ठ्यात् वाष्पकला नेत्रजललेशः तेन नाऽशक्नोत्, स्तोतुं न समर्थोऽभूत् ॥ ११ ॥

प्रेम्णा विह्वलितः विह्वलचित्तत्वात् कृच्छ्रात् प्रयासेन मनः संस्तभ्य स्ववशं कृत्वा सुधीः स्तुतिसमर्थबुद्धिमान् प्रजापतिः दक्षः ईशं रुद्रं निर्व्यलीकेन प्रीतियुक्तेन भावेन अभिप्रायविशेषेण शशंस तुष्टाव ॥ १२ ॥

यदपि यद्यपि प्रलब्धो मया परिभूतो भवान् तथाऽपि त्वया दण्डो धृतः शिक्षा कृता न तु उपेक्षितोऽस्मि। युक्त मेवैत दित्याह-

---

1. M, Ma, Ms प्रसह्य 2. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms T °धरान् 3. A, B, G, I, J, M, Ma, T °तः स्म, Ms °तश्च 4 M, Ma, Ms °तां प्रथयितुं 5. M, Ma, Ms °स्राः 6. M, Ma, Ms °यैक्षत् 7. A, B, J, Va omit धृतः 8. B, J, Va °म निन्दया; V °मस्य निन्दया 9. A, B, T omit सुतां

ब्रह्मबन्धुषु ब्राह्मणाभासेष्वपि तुभ्यं तव हरे विष्णोश्चेति वां युवयोः अवज्ञा उपेक्षा नास्ति, धृतव्रतेषु स्ववर्णाश्रमोचितधर्मनिष्ठेषु[1] ब्राह्मणेषु कुत एवाऽवज्ञा स्यात्। न कुतः स्या दित्यर्थः। हे भगवन्!॥ १३॥

तत्र हेतुं वदन् "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" (ब्र.सू.1-1-30) इति न्यायेन परमात्मदृष्ट्या स्तौति - **विद्येति**। ब्रह्मा त्वं चतुर्मुखरूपी त्वं प्रथमं कल्पादौ आत्मतत्त्वं जीवपरयाथात्म्यं स्वानुभवोपदेशाभ्यामवितुं रक्षितुं विद्या शास्त्रजन्यं ज्ञानं, तपश्शमदमादिकृच्छ्रचान्द्रायणादि च व्रतं स्ववर्णाश्रमोचित धर्मः एतानि[2] बिभ्रतीति तान् विप्रान् मुखतः अस्राक् सृष्टवानसि। तत् तस्मात् हे परम! सर्वविपत्सु सर्वास्वापत्सु[3] ब्राह्मणान् पशून् पालः पशुपालक इव प्रगृहीतदण्डः सापराधेषु कृतशिक्षः पासि रक्षसि॥ १४॥

स्वस्याऽऽकिञ्चन्यं निवेदयन् क्षमापयति - **योऽसाविति**। अविदिततत्त्वदृशा अप्राप्ततत्त्वज्ञानेन मया अगणय्य तृणीकृत्य सभायां दुरुक्तय एव विशिखाः बाणाः तैः क्षिप्त स्ताडितो योऽसौ भवान् अर्हत्तमस्य पूज्यस्य तव निन्दया अर्वाक्पतन्तम् अधोलोकान् गच्छन्तं मां दयार्द्रया दृष्ट्या अपात् अगणय्य विस्मृत्य मत्कृतापराधमपात् अरक्षदिति वाऽन्वयः, स भगवान् भवान् स्वकृतेनोपकारेण तुष्येत्, न मया तत्प्रतिकर्तुं शक्य मित्यर्थः। अनेन स्वस्याऽऽकिञ्चन्यं निवेदितम्॥ १५॥

**विज०** बाह्यस्वच्छत्व मेव तस्य न त्वान्तरं तल्लक्षणा भावादिति तत्राह - भवस्तवायेति। औत्कण्ठ्यात् उत्पन्नबाष्पकलया आन्तरनैर्मल्याभावे रुद्रस्तव एव न युक्तः, स चानेन कर्तुं प्रयत्यते। तस्मा दान्तरी शुद्धिरप्यनुमीयत इति॥ ११॥

कायिक एव प्रयत्नो न तु वाचिक इति शङ्का माभूदित्याह - **कृच्छ्रादिति**। भावेन स्नेहेन॥ १२॥

दक्षस्य शिवे त्वान्तरो द्वेषो नास्तीति ज्ञापयितुं तदनुगुणगुणैः स्तुतिं करोति - **भूयानिति**। त्वया प्रसह्यापि मदपराधानुगुणो दण्डो धृत इति यद्यस्मात् तस्मा द्भूयाननुग्रहः कृतः। अहो मे महतां पुंसामनुकम्पा शिरश्छेदादिलक्षणोऽनुग्रहो न स्यात् किन्तु अत्यन्तापकार एवाय मामरणमेव लोके कोपदर्शना दतो न युक्त इत्याशङ्क्याऽपराधाधिक्ये नाऽयं नियम इति भावेनाह न ब्रह्मेति। ब्रह्मबन्धुषु ब्राह्मणजातिमात्रेषु तुभ्यं तव हरेश्च वां युवयो रवज्ञा नास्ति। धृतव्रतेषु दीक्षितेषु कुत एवाऽवज्ञा। अतः कृतावज्ञत्वात् मयि दण्डकरणं युक्तमन्यथा युष्मदवज्ञानेनाऽनुत्थान तमः प्राप्तिः स्यादिति॥ १३॥

अवज्ञाभावे निमित्त माह - **विद्यातप** इति। ब्रह्मात्मतां वेदरक्षकतां ब्रह्मणः पूर्णगुणस्य हरे रात्मतां विशेष सन्निधानदेहतां वा प्रथयितुं प्रख्यापयितु मस्राः अस्राक्षीः स्म। यस्मात्तत्तस्मात् त्वत्सन्निधान पात्रभूतान् ब्राह्मणान् विपत्सु पासी त्यन्वयः॥ १४॥

---

1 A, B, T °मधर्मविशिष्टेषु  2. A, B,T एतान्  3. A, B, T सर्वापत्सु

भवान् कृपासमुद्रः अहं निर्घृणो दुष्ट इत्यत्र विवेकयुक्तिमाह - **योऽसाविति**। न विदिता तत्त्वदृग्यस्य स तथा तेन अलब्ध तत्त्वज्ञाने नैक्षत् अद्राक्षीत् नास्माकं पुरुषायुषा शतेन त्वत्कृत प्रतिनिधिकरणं शक्यते। अतः स्वकर्मणा स्वयमेव च तुष्टो भवे त्याह- स भगवानिति॥ १५॥

## मैत्रेय उवाच

**क्षमाप्यैवं स मीढ्वांसं ब्रह्मणा चानुमन्त्रितः।**
**कर्मानुवर्तयामास सोपाध्यायर्त्विगादिभिः॥ १६॥**

**वैष्णवं यज्ञसन्तत्यै त्रिकपालं द्विजोत्तमाः।**
**पुरोडाशं निरवपन् वीरसंसर्गशुद्धये॥ १७॥**

**अध्वर्युणाऽऽत्त हविषा यजमानो विशाम्पते।**
**धिया विशुद्धया दध्यौ तदा प्रादुरभूद्धरिः॥ १८॥**

**तदा स्वप्रभया तेषां द्योतयन्त्या दिशो दश।**
**मुष्णंस्तेज उपानीत स्तार्क्ष्येण स्तोत्रवाजिना॥ १९॥**

**श्यामो हिरण्यरशनोऽर्ककिरीटजुष्टो नीलालकभ्रमर मण्डित कुण्डलास्यः।**
**कम्बवब्जचक्र शरचाप गदासिचर्म व्यग्रै र्हिरण्मयभुजैरिव कर्णिकारः॥ २०॥**

**श्रीध० क्षमाप्येति**। अनुमन्त्रितः अनुज्ञातः उपाध्यायसहितैः ऋत्विगादिभिः कर्म अनुवर्तयामास॥ १६॥

**वैष्णवमिति**। वीराणां प्रमथादीनां संसर्ग कृतदोषस्य शुद्धये निवृत्यर्थम्॥ १७॥

**अध्वर्युणेति**। उपात्तहविषा अध्वर्युणा सह विशुद्धया बुद्ध्या दध्यौ। हे विशाम्पते! विदुर!॥ १८॥

**तदेति**। स्वया प्रभया तेषां तेजो मुष्णन् तिरस्कुर्वन् उपानीतः समीपं प्रापितः स्तोत्रे बृहद्रथन्तरे वाजौ पक्षौ तद्वता। "बृहद्रथन्तरे पक्षौ" (शत. ब्रा. 6-7-2-6) इति श्रुतेः॥ १९॥

1. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T कर्म सन्तानया 2. B, M, Ma, Ms °गग्निभिः 3. M, Ma, Ms हूयमाने यजुष्पतौ 4. M, Ma, Ms यथा
5. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T तथा 6. M, Ma, Ms निर्जितः 7. M, Ma, Ms कुण्डलमण्डितास्यः 8. A, B, J, Va omit कर्म 9. V adds एव

तमेवानुवर्णयति - **श्याम** इति द्वाभ्याम्। हिरण्यवद्रशना यस्येति वस्त्रं लक्ष्यते। अर्कतुल्येन किरीटेन जुष्टः नीलालका एव भ्रमराः तै मंण्डितं कुण्डलयुक्तमास्यं यस्य कम्ब्वादिभिः आयुधैः भृत्यरक्षार्थं व्यग्रैः हिरण्मयैः[1] स्वर्णभूषितैः भुजैः पुष्पितः कर्णिकार इव शोभमानः। भुजानां हिरण्मयत्वं[2] केयूर कङ्कण मुद्रिकाद्यलङ्कारैः[3] लक्षितम्॥ २०॥

**वीर०** स दक्षः मीढ्वांसं रुद्रं एवं क्षमाप्य प्रसाद्य ब्रह्मणा चतुर्मुखेन चकारा द्रुद्रेण चानुमन्त्रितः अनुज्ञातः उपाध्याय सहितैः ऋत्विगादिभिः कर्म अध्वर मनुवर्तयामास प्रवर्तयामास[4]। सन्तारयामासेति पाठे[5] सन्तारयामास समापयामास॥ १६॥

कथङ्कृत्वा सन्तारित इत्यत्राह - **वैष्णवमिति**। यज्ञसन्तत्यै यज्ञविच्छेदपरिहाराय वीरसंसर्ग शुद्धये च वीराणां प्रमथानां संसर्गकृत दोषशुद्धये वीरभद्रसंसर्गशुद्धये वा वैष्णवं विष्णुदेवताकं त्रिकपालं त्रिषु कपालेषु संस्कृतं पुरोडाशं द्विजोत्तमाः ऋत्विजः निरवपन्॥ १७॥

हे विशाम्पते! विदुर! आत्तहविषा उपात्तहविषा अध्वर्युणा सह यजमानो दक्षः विशुद्धया निर्मलया बुद्ध्या दध्यौ ध्यातवान् तदा तदैव हरिः प्रादुरभूत् आविर्बभूव। तथेति पाठे यथा येन प्रकारेण दध्यौ तथा तं प्रकार मनतिक्रम्य प्रादुरभूदित्यर्थः[6]॥ १८॥

दश दिशः द्योतयन्त्या आत्मनः प्रभया तेषां सदस्यानां तेजः मुष्णन् तिरस्कुर्वन् हरिः स्तोत्रे बृहद्रथन्तरे वाजौ पक्षौ यस्य तेन। "बृहद्रथन्तरे पक्षौ" (शत.ब्रा. 6-7-2-6) इति श्रुतेः। स्तोत्रदक्षेण वा तार्क्ष्येण गरुडेन उपानीतः समीपं प्रापितः॥ १९॥

आविर्भूतं भगवन्तं वर्णयति - **श्याम** इति द्वाभ्याम्। हिरण्यवद्रशना यस्येति वस्त्रं लक्ष्यते। अर्कतुल्येन किरीटेन जुष्टं नीलालका एव भ्रमरा स्तै मंण्डितकुण्डल मास्यं यस्य। कम्बुः शङ्खः अब्जं कमलं चापः शार्ङ्गम् असिः खड्ग : चर्म खेटः कम्बुप्रभृतिभि रायुधैः भृत्यरक्षणार्थं व्यग्रैः सत्वरैः हिरण्मयैः भुजैः केयूरादिभूषितैः भुजानां हिरण्मयत्वं केयूरादिभिर्भूषितत्वात् अवगन्तव्यं, पुष्पितैः शाखाविशेषैः कर्णिकार इव शोभमानः॥ २०॥

**विज०** प्रकृत मनुसरति - **क्षमाप्येति**। सन्तानयामास अनुसंहितं चकार॥ १६॥

दुष्टस्य यज्ञस्य प्रायश्चित्तमन्तरेण कथ मनुसन्धानं घटत इति तत्राह - **वैष्णव** मिति। वैष्णवं विष्णुदैवत्यं त्रीणि कपालानि आसनानि यस्य स त्रिकपालः तं वीरो वीरभद्रस्तस्य संसर्ग उपद्रवः तस्य शुद्धये परिहाराय निर्वापणं समन्त्रपचनम्॥ १७॥

---

1. B, J, V, Va omit स्वर्णभूषितैः 2. V adds हिरण्यकृत 3. B, J, V, Va omit लक्षितम् 4. A, B, T सम्प्र° 5. W पाठान्तरम् 6. A, B, T °र्बभूर्वत्यर्थः

अध्वर्योः प्रतिपत्तिफलमाह - **अध्वर्युणेति**। यजुःपति र्मन्त्रदेवता॥ १८॥

तदा प्रत्यक्षस्य हरेः कर्मविशेषं स्वरूपविशेषं चाह - **तदेति**। तार्क्ष्येण गरुडेन स्तोत्रेण सामरूपेण निर्जितो वशीकृतः॥ १९॥

हिरण्मयी रशना काञ्ची यस्य स तथा हिरण्यवत्पीतमम्बरं यस्य स तथेति वा। अर्कवत् ज्वलता किरीटेन जुष्टः नीलाश्च ते अलकाश्च नीलालकाः त एव भ्रमरा श्च कुण्डले च नीलालकभ्रमर कुण्डलानि एतैर्मण्डितमास्यं यस्य स तथा। कम्बादिभि र्व्यग्रैः विवशैः शिक्षाभ्यासदर्शकै रिवाङ्गदादि भूषणायितत्वात् हिरण्मयै रिव स्थितै र्भुजैः लक्षितः पुष्पितः कर्णिकारो वृक्षविशेषः॥ २०॥

**वक्षस्यधिश्रितवधू र्वनमाल्युदारहासावलोककलया रमयंश्च विश्वम्।**
**पार्श्वभ्रमद्व्यजनचामरराजहंसः शुभ्रातपत्रशशिनोपरि रज्यमानः॥ २१॥**

**तमुपागत मालक्ष्य सर्वे सुरगणादयः।**
**प्रणेमुः सहसोत्थाय ब्रह्मेन्द्र त्र्यक्षनायकाः॥ २२॥**

**तत्तेजसा हतरुचः सन्नजिह्वाः ससाध्वसाः।**
**मूर्ध्ना धृताञ्जलिपुटा उपतस्थु रधोक्षजम्॥ २३॥**

**अप्यर्वाग्वृत्तयो यस्य महि त्वात्मभुवादयः।**
**यथामति गृणन्ति स्म कृतानुग्रह विग्रहम्॥ २४॥**

**दक्षो गृहीतार्हण साधनोत्तमं यज्ञेश्वरं विश्वसृजां परं गुरुम्।**
**सुनन्दनन्दाद्यनुगै र्वृतं मुदा गृणन् प्रपेदे प्रयतः कृताञ्जलिः॥ २५॥**

**श्रीध० वक्षसीति**। वक्षस्यधिश्रिता वधूर्लक्ष्मीः यस्य सः उदारो यो हासोऽवलोकश्च तयोः कलया लेशेन पार्श्वे उभयतो भ्रमती व्यजनचामरे एव राजहंसौ यस्मिन् सः रज्यमानः शोभातिशयं नीयमानः॥ २१॥

**तमिति**। ब्रह्मेन्द्रत्र्यक्षा नायका मुख्या येषां ते॥ २२॥

---

1. A. B, G, I, J, M. Ma. T श्वेतात 2. M, Ma, Ms लक्ष्यमाणः 3. M, Ma मूर्ध्नि 4. B, M, Ma कृ 5. M, Ma, Ms °त्वे स्वभु 6. B. V °त्वा 7. A. B, G. I. J °सादनो; Ms °सादरो 8. M, Ma °त्रमन् 9. M, Ma °जं 10. A, B, J, Va omit यो

**तदिति**। हतरुचः तिरस्कृतप्रभाः सन्नजिह्वाः[1-] सन्ना स्खलिताक्षरा जिह्वा येषां[-1] ते गद्गदवाच[2] इत्यर्थः। ससाध्वसाः तन्महिम्ना क्षुभितचित्ताः उपतस्थुः तुष्टुवुः ॥ २३ ॥

**अपीति**। यस्य महि[3] महिमानं प्रति तु अर्वागेव वृत्तिर्येषां तेऽपि यथामति गृणन्ति स्म अस्तुवन्। कृतः प्रकटीकृतोऽनुग्रहार्थं विग्रहो येन तम्। यद्वा तेषा मर्वाग्वृत्तित्वेहेतुः। ते तु यस्य महि महिमा विभूतिमात्ररूपा इत्यर्थः ॥ २४ ॥

तत्र तावत् दक्षस्तुतिप्रकार माह - **दक्ष** इति। गृहीत मर्हण सादनोत्तमं येन तम्। उत्तमे पात्रे आसाद्य अर्हणेषु समर्पितेषु प्रीत्या सार्हण[4] पात्रं[5] स्वय मेव येन गृहीत मित्यर्थः। यद्वा कथं प्रपेदे ? गृहीत मर्हणसादनोत्तमं यथा भवति तथा[6] तद्गृहीत्वा प्रपेदे इत्यर्थः। गृहीत्वेति पाठस्तु सुगमः। गृणन् स्तुवन् प्रपेदे शरणं जगाम। "*दक्ष ऋत्विक्सदस्येश भृगुब्रह्मेन्द्रयोषितः। ऋषयश्च तथा सिद्धा यजमानी च लोकपाः। योगिब्रह्माग्निदेवाश्च स्तुवन्ति जगदीश्वरम्। तथा गन्धर्वविद्याधब्राह्मणाश्च पृथङ्मतैः" ॥ २५ ॥

**वीर०** वक्षस्यधिश्रिता वधूः लक्ष्मीः[7] यस्य, वनमाला अस्यास्तीति वनमाली, उदारहासयुक्तो योऽवलोकः तस्य कलया अपाङ्गेन विश्वं रमयन् पार्श्वयो रुभयोःभ्रमती व्यजनचामरे एव राजहंसौ यस्य सः, शुभ्रातपत्रमेव शशी तेनोपरि रज्यमानः शोभातिशयं नीयमानः ॥ २१ ॥

उपागतं समीपे प्राप्तं तं भगवन्त मालक्ष्य दृष्ट्वा ब्रह्मेन्द्र त्र्यक्षनायका मुख्या येषां ते, सर्वे सुरगणादयः सहसा त्वरया उत्थाय प्रणेमुः नमश्चक्रुः ॥ २२ ॥

तस्य भगवत स्तेजसा हतरुचः तिरुस्कृतप्रभाः सन्नजिह्वाः गद्गदवाचः ससाध्वसाः तन्महिम्ना क्षोभितचित्ताः मूर्ध्ना धृतानि अञ्जलिपुटानि येषां ते मूर्धसु धृताञ्जलिपुटा इत्यर्थः। अधोक्षज मुपतस्थुः तुष्टुवुः ॥ २३ ॥

यस्य भगवतो महिमानं प्रति अर्वाग्वृत्तयः अधस्ता देव वृत्तयो येषां ते कार्त्स्न्येन तन्महिमानम् अवगन्तु मनर्हमनोवृत्तयोऽपि भवादयः शर्वादयः कृतानुग्रहविग्रहं कृतः प्रकटीकृतः अनुग्रहार्थं विग्रहो येन तं, यद्वा कृतोऽनुग्रह एव विग्रहो येन तं भक्तानुग्रहैक प्रधानमूर्ति मित्यर्थः, यथामति गृणन्ति स्म। स्मेति विस्मये, वाङ्मनसागोचर महिमानं वाङ्मनसवृत्तिभिः तुष्टुवु रित्याश्चर्यम् ॥ २४ ॥

तत्र तावत् दक्षस्तुतिप्रकार माह - **दक्ष** इति। गृहीतार्हणसाधनोत्तमम् अर्हति पूज्यतेऽनेनेति अर्हणम् अर्हणसाधनं गन्धपुष्पादिकं

---

1--1. B, J, V, Va omit 2. B, J, V, Va omit इत्यर्थः 3. B, J, V, Va omit महि 4. A. B, J, Va "णपा" 5. V omits स्वयम् 6. B, J, Va, omit तथा
* V श्रीधरीयश्लोकावेतौ। 7. W omits लक्ष्मीः

गृहीत मर्हणं येन स चाऽसौ साधनोत्तमस्तं साधनेषूत्तमः साधनोत्तमः[1] तम्, पुरुषार्थप्रापकाणामध्ये उत्तम मित्यर्थः। तथा च वक्ष्यति "धर्मार्थकाम मोक्षाख्यं य इच्छेत्, (भाग. 4-8-41) इत्यादि। अनेन समीहितफलसाधनप्रक्रान्ताध्वरापेक्षया सुखेन पुरुषार्थप्रापकत्वा दुत्तमोपायभूत मित्युक्तं भवति। यद्वा प्रगृहीतं कर्तव्यत्वेनोपात्तं प्रक्रान्तमिति यावत्। अर्हणं भगवदाराधनभूत यागरूपं पूजनं तस्य यानि साधनानि निर्वर्तकानि प्रयाजादीनि तेभ्य उत्तमं यागनिर्वर्तक मित्यर्थः। "इष्टापूर्तं बहुधाजातं जायमानं विश्वं बिभर्ति भुवनस्य नाभिः" (म.ना.उ. 1-6) इत्यादि श्रुतेः। बिभर्ति पोषयति निर्वर्तयतीति यावत्। अत एव हि पूर्वं तदागमनाभावा द्यागानिर्वृत्तिः। न केवलं यागनिर्वर्तक एव, अपि तु तत्फलप्रदो भोक्ता चेत्याह - यज्ञेश्वरं यज्ञानां भोक्तारं तत्फलदं चेत्यर्थः तथा च गीतम् - "अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च" (भ.गी. 9-24) इति। अत्र ईश्वरत्वाक्षिप्तं भोक्तृत्वं रक्षकत्वं च ईश्वरो हि स्वयं[3] भुङ्क्ते रक्षति च। न केवलं यज्ञस्यैव रक्षकः अपि तु यज्ञकर्तु र्यजमानस्य दक्षस्यापीत्याह - विश्वसृजां मरीच्यादीनां पतिं पालयितारं स्रष्टृत्वस्याऽप्युपलक्षण मिदं पतित्व मपि हितोपदेशेनत्याह - गुरुं हितोपदेष्टारं सुनन्दनन्द[4]प्रभृतिभिः भृत्यै रनुगैः सुरै र्वृतं परिवेष्टितम्। अनेन नित्य विभूत्यधिपतित्व मुक्तम्। एवम्भूतं भगवन्तं कृताञ्जलिः बद्धाञ्जलिः दक्षो गृणन् स्तुवन् प्रयतः समाहितचित्तः प्रपेदे शरणं गतः॥ २५॥

**विज०** वक्षस्यधिश्रिता वधूः भार्या यस्य स तथा पुत्रभार्यावत्प्रेमास्पदत्वद्योतनायाधिश्रितरम इति वक्तव्ये वधूरित्युक्तं, "वहेर्धश्च" (उणादि 1-83) वहेः धातो रुप्रत्ययो भवति। पुत्रभार्यायां गम्यमानायां चकारात् कनीयोभ्रातृभार्यायां धकारश्चान्तादेशः स्वभार्या च वधूः, साऽपि सेवार्थ मत्र वसति न त्वालिङ्गनादिसुखावाप्त्यर्थम्। अतः श्रितेति। उदार हासावलोकयोः कलया चन्द्रकलावदाह्लादिकया पार्श्वे भ्रमत् व्यजनचामराख्य राजहंसाभ्यामुपरि शुभ्रातपत्रशशिना लक्ष्यमाणो दृश्यमानः एवं विधः तार्क्ष्येणोपानीत इति पूर्वेणान्वयः॥ २१॥

ब्रह्मरुद्रौ विष्णुसमानाविति लोकप्रवादं परिहरन् तत्पूर्वं देवतानां श्रीनारायण प्रणामं वक्ति - **तमुपागत** मिति। ब्रह्मा चतुर्मुखः इन्द्रो वायुः त्र्यक्षो रुद्रः एते नायकाः येषां ते तथोक्ताः॥ २२॥

ननु न प्रणाममात्र मुत्तमत्वादिनिश्चयात्मकं समानानामपि मिथो दर्शनादिति तत्राह - **तत्तेजसेति**। सन्नजिह्वाः जिह्वाशक्तिरहिता गद्गदवाच इत्यर्थः। अत्र निमित्तं ससाध्वसा इति। ननु सन्नजिह्वत्वेन किम्? पश्चाज्जग्मु रिति तत्राह - मूर्ध्नीति॥ २३॥

स्तुतिलक्षण वागिन्द्रियादि व्यापाराभावेन केवलोपस्थाने किं प्रयोजन मत्राह - अप्यर्वागिति। यस्य महित्वे माहात्म्यविषये

---

1. A, T omit साधनोत्तमः 2. A, B, T यागादि 3. A, B, V स्वं 4. A, B,T omit नन्द

अनन्तत्वादवाग्वृत्तयोऽपि अप्राप्तवाङ्मनसव्यापारा अपि स्वभू र्ब्रह्मा तदादयः कृतानुग्रहविग्रहं भक्तानुग्रहार्थं कृतो विग्रहो येन स तथा तं श्रीनारायणं यथामति गृणन्ति स्मे त्यन्वयः ॥ २४ ॥

स्तुति प्रबन्धकथने ग्रन्थाधिक्यं स्यादिति मत्वा यदर्थं हरे राविर्भावः तस्य दक्षस्य भगवत्प्रतिपत्तिप्रकारं वक्ति - दक्ष इति ॥ २५ ॥

## दक्ष उवाच

शुद्धं स्वधाम्न्युपरताखिलबुद्ध्यवस्थं चिन्मात्र मेक मभयं प्रतिषिद्ध्य मायाम् ।
तिष्ठं स्तयैव पुरुषत्व मुपेत्य तस्या मास्ते भवानपरिशुद्ध इवा[1]ऽऽत्मतन्त्रः ॥ २६ ॥

## ऋत्विज ऊचुः

तत्त्वं न ते वय मनञ्जन रुद्रशापात् कर्मण्यवग्रहधियो भगवन्विदामः ।
धर्मोपलक्षण मिदं त्रिवृदध्वराख्यं ज्ञातं यदर्थ मधिदैव मदो[2] व्यवस्थाः ॥ २७ ॥

## सदस्या ऊचुः

उत्पत्त्यध्वन्यशरण उरुक्लेशदुर्गे[3]ऽन्तकोग्रव्यालान्वि[4]ष्टे विषय मृग तृ[5]ष्णात्मगेहोरु भारे[6] ।
द्वन्द्वश्वभ्रे खलमृगभये शोकदावेऽज्ञसार्थः पादौ[7]कस्ते शरणद कदा याति कामोपसृष्टः ॥ २८ ॥

## रुद्र उवाच

तव वरद वराङ्घ्रावाशिषे[8]हाखिलार्च्ये[9] ह्यपि मुनिभिरसक्तै रादरेणार्हणीये ।
यदि रचितधियं मा[10]विद्यलोकोऽपविद्धं जपति न गणये तत्त्व[11]त्परानुग्रहेण[12] ॥ २९ ॥

## भृगु रुवाच

यन्मायया गहनया[13]पहतात्म बोधा ब्रह्मादय स्तनुभृत स्तमसि स्वपन्तः ।
नात्मन्[14] श्रितं[15] तव विदन्त्यधुनाऽपि तत्त्वं । सोऽयं प्रसीदतु भवान् प्रणतात्मबन्धुः ॥ ३० ॥

---

1. M, Ma, Mss °मिवामनन्ति 2. M, Ma, Ms °दस्त्वमास्थाः 3. M, Ma, Mss °र्गान्त° 4. M, M, Ms °ऽऽ कृष्टे 5. J, Va तृष्यात्म 6. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T भारः 7. M, Ma, Ms शस्तौ 8. M, Ma, Ms °षा चानभिद्ये 9. A, B, G, I, J, T °लार्थे 10. M, Ma, Ms मां विद्धि लोकाप° 11. M, Ma, Ms गा° 12. M, Ma °यं त्व°; Ms °ऽन्यं त्व° 13. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °ह° 14. M, Ma, Ms नात्माश्रितं 15. V सृतं

**श्रीध०** ननु साक्षात्परमेश्वर एव रुद्रः तस्य ब्रह्मपुत्रत्वेन जीवत्व मनुकारमात्रं[1] हन्त[2] ! किमिति त्वया भेददृष्ट्याऽसाववज्ञात इति मां भगवानाक्षेप्स्यसीत्याशङ्क्य अप्रच्युतस्वरूपस्य जीवधर्मनाट्यं तवैव संगच्छते नाऽन्यस्येत्याह - **शुद्धमिति**। स्वधाम्नि स्वस्वरूपे तिष्ठन् भवान् शुद्धं चिन्मात्रं चैतन्यघनः। शुद्धत्वे हेतुः। उपरता नित्यनिवृत्ताऽखिला बुद्ध्यवस्था यस्मात्। अतः एकं भेदशून्यं अत एव अभयम्। "द्वितीया द्वै भयं भवति" (बृह.उ. 1-4-2) इति श्रुतेः। जीवस्यापि वस्तुत एवम्भूतत्वात् तद्वैलक्षण्यार्थ मुक्तम्। मायां प्रतिषिद्ध्याभिभूय स्वतन्त्र एव सन् तया मायया पुरुषत्वं मनुष्यनाट्य मुपेत्य तस्यां मायायां तिष्ठन् अपरिशुद्ध इव रागादिमानिव आस्ते। रामकृष्णाद्यवतारेषु[3] तथा प्रतीयते भवानित्यर्थः। अन्ये त्वविद्योपाधयो मायाऽभिभूताः संसरन्ति। अतः त्वमेवेश्वरो न रुद्रादयः इति भावः। अत एव इमां भेददृष्टिं[4] भगवान् वारयिष्यति। "अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्" (भाग. 4-7-50) इत्यादिना॥ २६॥

**तत्त्वमिति**। ऋत्विजोऽपि स्वस्यापराधं[5] परिहरन्तः स्तुवन्ति। भो अनञ्जन ! उपाधिमूलशून्य ! यद्यपि त्वमेव रुद्रादिदेवतारूपः तथाऽपि नन्दीश्वरशापात् कर्मण्येव दुराग्रहधियः सन्तः तव तत्त्वं न विद्मः। किन्तु धर्मस्यापूर्वस्योपलक्षणभूतं त्रिवृत् त्रयीप्रतिपाद्य[6] मध्वराख्यं तव रूप मस्माभि र्ज्ञातम्। कीदृशम् ? यदर्थं यस्य सिद्धयेऽधिदैवं देवताधि[7] कारेण अदोव्यवस्थाः अमू र्व्यवस्थाः। अत्रेय मेव देवता नान्य इत्येवम्भूता नियमाः प्रवृत्ताः[8] इत्यर्थः। यद्वा व्यवस्था इत्याख्यातम्[9]। अडागमाद्यभाव आर्षः। यदर्थमद इद मिन्द्राद्यधि दैवं रूपं विशेषेणास्थित वानसीत्यर्थः॥ २७॥

**उत्पत्त्यध्वनीति**। सदस्यास्तु निरीश्वरेऽपि दक्षाध्वरे धनलोभेन स्वप्रवृत्ति मनुचिन्त्यानुतप्ता विरक्ति माशासानाः स्तुवन्ति। हे शरणद ! आश्रयप्रद ! उत्पत्यध्वनि संसारमार्गे वर्तमानोऽज्ञानां सार्थः समूहस्ते पादौकः त्वत्पादरूपं निवासं[10] कदा[11] याति यास्यति। कथम्भूते संसारमार्गे ? अशरणे विश्रामस्थानशून्ये उरुक्लेशा एव दुर्गमस्थानानि यस्मिन् अन्तक एवोग्रो व्यालः तेनान्विष्टे लक्ष्यीकृते विषयरूपा मृगतृट्[12] मृगतृष्णिका यस्मिन् आत्माहङ्कारास्पदं शरीरं ममत्वास्पदं गेहं च स एवोरु र्भारो यस्य सः। द्वन्द्वानि सुखदुःखादीन्येव श्वभ्राणि गर्ता यस्मिन्, खला एव मृगा व्याघ्रादय स्तेभ्यो भयं यस्मिन् शोक एव दावाग्निः यस्मिन्। कामेनोपसृष्टः पीडितः॥ २८॥

श्रीरुद्रस्तु पूर्वं मम निन्दा दुस्सहाऽऽसीदिदानीं तु तां न गणयामीत्याह - **तवेति**। आशिषा कामेन असक्तैः निष्कामैः रचितधिय

---

1 V करण 2. V अतः 3. A, B, J, Va रे 4. A, B, J, Va omit भेद 5. V स्वाप° 6. B °स्योप° 7. V वाऽधि° 8. B, J, V, Va omit प्रवृत्ताः 9. इति क्रियापदत्वेन व्याख्यातम् 10. A adds ओकः 11. A, B, J, Va omit याति 12. V अविश्रमस्थाने 13. V omits मृगतृट्

मभिनिवेशितचित्तं मा माम् अविद्यो विद्याहीनो लोको यद्यपविद्धं जपति आचारभ्रष्टं जल्पति तज्जल्पनम्[1] अहं न गणये। तत्र हेतुः[1] तव यः[2] परोऽनुग्रहः तेन[3]। त्वत्पराणां वा योऽनुग्रहः तेन[4]॥ २९॥

भृगुस्तु स्वभावतः तत्त्वज्ञानहीना जीवा अतोऽज्ञान कृतं मम दुश्चेष्टितं क्षमस्वेत्याह - **यन्माययेति**। आत्मन् आत्मनि सृत[5] मनुगतं तव तत्त्वं न विदन्ति प्रणताना मात्मा बन्धुश्च भवान्[6]॥ ३०॥

**वीर०** तत्र प्रकृतिपुरुषविलक्षणं परमात्मस्वरूपं सर्वशक्तिम द्विशोध्य तमनुसन्दधानः प्रपद्यते दक्षः - **शुद्ध** मिति। शुद्ध मपापविद्धं कर्मरूपेणोपाधिरहित मकर्मवश्य मिति यावत्। अत एव स्वधाम्नि स्वस्वरूपे मायां प्रतिषिद्धय निरस्य स्वेन रूपेण अस्पृष्ट प्रकृति जन्य दोष मित्यर्थः। शुद्धत्वे हेतुः - उपरताखिलबुद्ध्यवस्थं उपरताः शश्वन्निवृत्ता अखिलाः सर्वा बुद्ध्यवस्था मनोवृत्तयो यस्य तत् नित्यनिवृत्तप्रकृतिपरिणामरूपान्तर्बाह्येन्द्रियसर्ववृत्तित्वादपापविद्धमिति भावः। यद्वा स्वधाम्नि उपरता प्रशान्ता अखिला बुद्ध्यवस्था मनोवृत्तयो यस्य तत् नित्यनिवृत्त प्रकृतिपरिणामरूपान्तर्बाह्येन्द्रिय सर्ववृत्तित्वादपापविद्धमिति भावः। यद्वा स्वधाम्नि उपरता प्रशान्ता अखिला बुद्ध्यवस्था यस्य तत् स्वस्वरूपानुभवेनैव नित्यनिवृत्त सर्वमनोवृत्ति रित्यर्थः। तत्कुतः ? एकं समाध्यधिकरहितं स्वस्वरूपस्य निस्समाध्यधिकानन्दरूपत्वात् तदेकानुभवेन नित्यनिवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तित्वाच्छुद्ध मित्यर्थः। किमेवंविधस्वरूपं जडं, नेत्याह - चिन्मात्रं ज्ञानैकरसं क्वचिदप्यजडं न केवलं स्वयमेव शुद्धमपि तु अन्येषामपि शुद्धत्वा पादक मित्याह। अभयं न विद्यते भयं यस्मात्तदभयम्। यदुपासनादशुद्धत्वापादकभयाख्यसंसारनिवृत्तिः तदभय मित्युच्यते। तथा च श्रुतिः "यदा ह्येवैष एतस्मिन्न दृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति" (तैति.उ. 2-7) इति। एवं रूपं स्वरूपं प्रति तिष्ठन् अजहदित्यर्थः। तथैव मायैव पुरुषत्वं पुरुषाकारतामुपेत्य मायां देवादिशरीररूपेण परिणमय्य तस्मिन् जीवान्तरात्मतया अवस्थायेत्यर्थः। स्वयमात्मतन्त्रः स्वतन्त्रो भवान् तस्यां मायायां अपरिशुद्धः कर्मवश्य इवास्ते। अहो मह दिदं सर्वशक्तित्व मिति भावः॥ २६॥

अथ ऋत्विजः परमात्मतत्त्वानभिज्ञतामात्मीया मावेदयन्तः तं सर्वयज्ञाराध्यत्वेन स्तुवन्ति - **तत्त्वमिति**। हे अनञ्जन! निरञ्जन! पुण्यापुण्यरूपमलरहितेत्यर्थः। वयं नन्दिकेश्वरस्य शापात् कर्मण्येव अवग्रहधियः दुराग्रहचित्तास्ते तव तत्त्वं याथात्म्यं न विदामः जानीमः[7]। किन्तु हे भगवन्! पूर्णषाड्गुण्यमूर्ते! त्रिवृत् त्रयाणां सत्वादीनां गुणानां वृत् भावे क्विप् वर्तनं यस्मिन् तत् त्रिभि र्गुणैः वर्तत

---

1–1. V omits 2. V adds ते 3. V omits तेन 4. V adds तव चाज्ञौ रचितधियं कृतबुद्धिं भक्तंमां यदि जानीषे तर्हिस्वानपि लोकान् कैलासादीन् न गणये न बहुमन्ये। त्वत्परानुग्रहेण परिपूर्ण इति शेषः। त्वत्पराणां योऽनुग्रहः तेन वा॥ २९॥ 5. A, B, J, Va श्रित° 6. B, J, V, Va omit भवान् 7. A, B, T विजा°

इति वा। "त्रैगुण्यविषया वेदाः" (भगी. 2-45) इत्युक्तरीत्या तत्तद्गुणानुसारेण ह्यध्वरादिकर्म विहितं धर्मोपलक्षणं धर्मस्य क्रियाजन्यस्य अपूर्वस्य देवताप्रसादस्यवा उपलक्षणम्। उपलक्ष्यतेऽनेनेति उपलक्षणं ज्ञापकम् उत्पादक मित्यर्थः। "तृप्त एव एनम् इन्द्रः प्रजया पशुभिः तर्पयति" इति देवताप्रसादादेः ज्ञापकत्वे हि चोदितम्। इदमध्वराख्यं कर्म ज्ञातम्। अस्माभिरिति शेषः। कीदृशं तत्कर्म ? तत्राह - यदर्थं यत्प्रयोजनाय यत्कर्मफलप्रदानाय यत्कर्माराध्यत्वाय चेत्यर्थः। अदः एतद्दैवम् इन्द्रादिदैवतम् अधिव्यवस्थाः विशेषेण अधिष्ठाय स्थितवानित्यर्थः। व्यवस्था इत्यत्राडागमाभावः आर्षः। अनेन इन्द्रादिरूपेण सर्वयज्ञाराध्यः तत्फलदश्च त्वमेवेत्युक्तं भवति॥ २७॥

अथ सदस्याः तापत्रयाभिद्यातार्ताः जननपदव्या हेयता माविष्कुर्वन्तो भगवच्चरणारविन्दशरणागतिं प्रार्थयन्त आहुः - **उत्पत्त्यध्वनीति**। हे शरणद ! उपायनिर्वर्तक शरणप्रद ! शरण्येति यावत्। उत्पत्त्यध्वनि संसार मार्गे वर्तमानः अज्ञानां सार्थः समूहः कामेनोपसृष्टः पीडितः ते तव पादौकः पादावेव ओकः विश्रान्तिस्थानं कल्पतरुमूलवद्विश्रान्ति जनकस्थान मित्यर्थः। कदा याति शरणं गच्छति। कथम्भूते उत्पत्त्यध्वनि ? अशरणे विश्रामस्थानशून्ये उरुक्लेशा एवं दुर्गमस्थानानि यस्मिन्, अन्तक एवोग्रो व्याधः तेनान्विष्टे लक्ष्यीकृते विषयमृगतृष्णात्मगेहोरुभारो विषयरूपा मृगतृष्णिका आत्माभिमानास्पदं च शरीरं गेहं ममतास्पदं[1] गृहं तान्येवोरुभारो यस्मिन्। प्रथमान्तपाठे अज्ञसार्थस्य विशेषणं विषयमृगतृष्णादेव एव उरुभारो यस्य स इति। द्वन्द्वानि सुखदुःखादीनि एव श्वभ्राणि गर्ता यस्मिन्, खला दुर्जना एव मृगा व्याघ्रादयः तेभ्यो भयं यस्मिन् शोक एव दावाग्निः यस्मिन्॥ २८॥

रुद्रस्तु मम निन्दा दुस्सहाऽऽसीत् पूर्व मिदानीं तु तां न गणयामी त्याह - **तवेति**। हे वरद ! इहाऽस्मिन् लोके आशिषा कामेन अखिलै रर्च्ये आराधनीये तथाऽसक्ते र्मुमुक्षुभिश्च आदरेणार्हणीये तव वराङ्घ्रौ निरतिशय सुकुमारत्व सुगन्धत्वादियुक्ते चरणारविन्दे रचितधियं न्यस्त चित्तं माम् अविद्यलोकोऽज्ञलोकः यदि यद्यपि अपविद्धम् आचारहीनं जपति जल्पति तथापि तज्जल्पनं न गणये न गणयामि, निन्दकान्न निगृह्णामीत्यर्थः। कुतः ? त्वत्परानुग्रहेण तव यः परानुग्रहः परेषु अनुग्रहः तेन हेतुना तव परानुग्रहैकनिरतत्वात् त्वच्चरणारविन्दासक्तचित्तानामस्माकमपि परानुग्रह एवोचित इति भावः॥ २९॥

भृगुस्त्वविद्यातिरोहितस्वरूपत्वेन देहपरवशत्वात् सर्वे ब्रह्मादयो जीवा अपराधैकपराः त्वं तु अपराधसहनैकशीलोऽसि, अतः प्रकृतोऽपराधः त्वया क्षन्तव्य इत्याह - **यन्मायेति**। ब्रह्मादयः सर्वे तनुभृतो देहिनः जीवा इति यावत्, गहनया दुरत्यययया यस्य तव मायया अपहृतः तिरोहितः आत्मनो बोधः धर्मभूतं ज्ञानं येषां ते, अत एव तमसि तमश्शब्दवाच्यसूक्ष्मप्रकृति परिणामरूपे

1. W "त्वा"

शरीरे स्वपन्तः शयाना वर्तमानाः यद्वा, तमःकार्ये जन्मजरामरणादिरूपे संसारे शयानाः आत्मन् आत्मनि श्रितं आश्रितं जीवान्तरात्मतयाऽधिष्ठितं तव तत्त्वं स्वरूपयाथात्म्य मधुनाऽपिन विदन्ति न जानन्ति। सोऽयं प्रणतानां शरणगतानां आत्मबन्धुः आत्मवन्निरतिशय प्रीतिविषयः प्रीतिर्माँश्च बन्धुः, यद्वा प्रणताना मात्मनां बन्धुः प्रसीदतु अस्माननुगृह्णातु॥ ३०॥

**विज०** प्रतिपत्तिर्नाम निर्गुणत्वेन निराकारत्वेन चेत् प्रतिपद्यमानविषयानुसारिणी[1] स्यात् "केवलो निर्गुणश्चाकाशं ब्रह्मा अनादिर्वाऽयमाकाशः शून्यो लौकिकः" इति श्रुतेः। अन्यथाप्रतिपत्तिदोषेणाऽनर्थापत्तिः स्यादिति तत्राह - **शुद्धमिति**। यद्रूपं शुद्धं निर्दोषत्वेन शोधितम्। कथं शोधितम् ? अत्राह - स्वधाम्नीति। स्वधाम्नि स्वस्वरूपे उपरता नित्यनिवृत्ता अखिला बुद्धे रवस्था जाग्रदादि जीवावस्था यस्य तत्तथा तर्हि तन्निराकारं किं नेत्याह चिन्मात्रमिति। केवलं ज्ञानात्मकं जीवस्या प्येतादृक्त्वात् किं विशिष्योच्यत इति तत्राह - एकमिति। एकं प्रधानं सर्वोत्तमम्। न हि ईदृश मन्यदस्तीत्याह - अभयमिति। "द्वितीया द्वै भयं भवति" (बृह.उ. 1-4-2) इति श्रुतेः। एतादृशस्य अन्यस्याभावात् कालत्रयेऽपि निरस्तभयम्, कुत एतत् सर्वं मित्यत्र आह - प्रतिषिध्येति। मायां जडात्मिकां प्रतिषिद्ध्य दूरीकृत्य तिष्ठन् तादृग्रूपो भवान् तया मायया उपादानत्वेन महदादि सृष्ट्वा महदाद्युपादानत्वेनाण्डं सृष्ट्वा तदन्त स्त्रिवृदहङ्कारविकृताकाशाद्युपादानत्वेन पुरुषशब्दवाच्य - शरीराणि सृष्ट्वा तदन्तःस्थितिमत्तया पुरुषत्वं पुरुषशब्दवाच्यत्व मुपेत्य तदन्तर्यामिरूपेण व्यक्तो भूत्वा तस्यां कार्यकारणलक्षणायां प्रकृतावास्ते। "तुच्छ्येनाभ्वपिहितम्" (ऋक्सं. 10-129-3) इति श्रुतेः। तत्राज्ञा मायावादिनोऽपरिशुद्ध मुपहितं जीव मिवामनन्ति। तस्मै तुभ्यं नम इति वाक्यशेषः। व्यक्तिलक्षणमेव पुरुषत्वं न तु जीवलक्षण मित्यस्मिन्नर्थे इवशब्दः। "उत्पत्ति र्हरिरूपाणां व्यक्तिरेव न संशयः। उत्पत्तिरेव जीवानां देहोत्पत्ति रुदीर्यते। (तत्त्वनिर्णये) इति वचनात्। "जडमाया न तस्याऽस्ति शरीरत्वेन कुत्रचित्। सृष्ट्वा तथा शरीराणि तस्थितेः पुरुषः स्मृतः" ॥ मायायामशरीराया मपि विष्णुः स्वयं स्थितः। तस्मात्प्राकृत इत्येवाजीववत्तं वदन्ति हि॥ अस्पृष्टत्वेऽपि तद्धर्मै स्तद्गत्वादेव कारणात्" (तत्त्वविवेके) इति वचनात् नेन्द्रजाल लक्षणा मायाऽत्रोच्यते। किन्तु जडा जगदुपादानभूता प्रकृतिरेव॥ २६॥

ऋत्विगादिवैदिकैः श्रीनारायण एव स्तुत्यो वन्द्यश्चेति भावेन तत्प्रतिपत्तिप्रकारं वक्ति - **तत्त्वं न ते** इति। अनञ्जन ! पुण्यपापलेपरहित ! ऋत्विजो वयं ते तव तत्त्वं न विदामः। कस्मात् ? अज्ञानम्, अत्राहुः - रुद्रशापादिति। यज्ञादिकर्मण्यवग्रहधियो दुराग्रहबुद्धित्वादित्यर्थः। नन्वेवं तर्हि एतस्मिन् कर्मणि भवत आविर्भावः कथं घटत इति शङ्का मा भूदित्याह - धर्मेति। सदाशिवस्य प्रसन्नदृष्ट्यवलोकनोत्फुल्लतत्त्वज्ञानैरस्माभिः क्रियमाणमिदमध्वराख्यं कर्म ज्ञातं त्वत्पूजात्वेनेति शेषः। कथमेतदवगतमित्यत उक्तं -

1 A पा°

धर्मेति। भक्त्याद्यधिधर्माणामुपलक्षकत्वादित्यर्थः। किमत्र प्रमाणमित्यतः तद्ध्वनयति - त्रिवृदिति। त्रीन् प्रत्यक्षानुमानागमानावृणोतीति तदानीन्तनैः पुरुषैः दृश्यमानत्वात् प्रत्यक्षं प्रथमप्रमाणं, द्वितीयं हरेराविर्भावलिङ्गं, तृतीयम् "एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः। यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवै रर्चेन्नरः सदा।" (भारते) इत्यागमम्। प्रत्यक्षस्य तु लोकविडम्बनार्थत्वोपपत्तेः लिङ्गस्य च विनोददर्शनाय सम्भवादागमस्य च स्तुतिरूपत्वेनार्थवादत्वोपपत्तेः। अतो निर्णायकाभावात् सिकतावनिगृहनिर्माणवत्सर्वं शिथिलमभूदिति तत्राह- यथार्थमिति। त्वं यस्याध्वरस्य भागस्वीकारार्थमदोऽधिदैवमुत्तमदैवं ब्रह्मादिदेवताशरीरे आस्था इति यदत इदं निर्णायकं प्रमाणमित्यर्थः। "भुङ्क्ते यज्ञभुजो देवानाविश्य पुरुषोत्तमः" (तत्त्व विवेके) इति वचनं चास्मिन्नर्थे मानम्। यद्वा कुतो न विदाम इति तत्राह - धर्मेति। धर्ममदृष्टमुपलक्षयतीति तथोक्तं ज्ञानिभिरिदमध्वराख्यं कर्म यदर्थं यस्त्वमर्थो विषयो यस्य तत्तथा ज्ञातं, कुतः ? कर्मणः त्वद्विषयत्वमत्राह- अधिदैवमिति। सत्त्वमधिदैवमास्था "अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता" (भ.गी. 9-24) इति यदतस्त्वद्विषयो यज्ञ इति तद्यजनमस्माभिरिन्द्रादिविषयत्वेन ज्ञातम्, अतो न विदाम इति॥ २७॥

हे शरणद! मोक्षलक्षणगृहप्रद! अशरणे रक्षितृषुरुषरहिते उरवो बाहवः "अविद्या स्मिताराग द्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः" (पातञ्जलयोगसूत्रम्) तैर्दुर्गैरन्तकाख्येनोग्रेण व्यालेनाऽजगरेण सर्पेणाऽऽकृष्टे द्वन्द्वानि सुखदुःखान्येव श्वभ्राणि गर्तानि यस्मिन् सः तथा तस्मिन्। खलाः पिशुनाः त एव मृगाः तैः भयं यस्मिंस्तथा तस्मिन्। शोको मनःपीडा स एव वनवह्निः यस्मिन्नेवंविधे। उत्पत्त्यध्वनि जननमरणादिमार्गे। अज्ञसार्थः अज्ञानिपरिषत् तव शस्तौ पादौ कदा याति न कदापीति मन्यामहे। कुत इति तत्राह - कामेति। कामेनोपहृतत्वात्, कामोपहृतत्वं स्फुटयति विषयेति। विषयमृगतृष्णा शब्दादिविषयाख्यमरीचिकाजालम् उद्दिश्यात्मा यत्नः येहं गृहम् एतद्द्वयमुरुभारो यस्य स तथा। "आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि। यत्नेऽर्केऽग्नौ मतौ वाते" (वैज.को. 6-1-,7) इति यादवः 1 यद्वा विषयमृगतृष्णैवाऽऽत्मगेहं स्वनिवासस्थानं तदेवोरुभारो यस्य स तथा॥ २८॥ 2

रुद्रस्तुत्या सर्वलोकस्य हरेः सर्वोत्तमत्वे संशयमुन्मूलयति - तवेति। हे वरद! तवाशिषा कारणेनानभिध्ये अभिध्यानाऽविषये आशीरर्थं ध्यातुमयोग्ये। असक्तैर्निस्सङ्गैर्मुनिभिः ब्रह्मादिज्ञानिभिरप्यादरेणार्हणीये पूज्ये वराङ्घ्रौ वरणीयगुणे श्रीपादे यदि रचितधियं कृतबुद्धिं मां विद्धि मां जानासि, लडर्थे लोट्, कथम्भूतं मां लोकापविद्धं लोकबाह्यम्। अनेन रुद्रस्य ज्ञान्युत्तमत्वं द्योतयति। तर्हि जगति त्वत्परानुग्रहेण न गणये यं कञ्चन पुरुषं न प्रार्थय इत्यर्थः। फलेच्छया ध्यानाभावेऽपि निष्कामत्वेन ध्यानादन्याशिषोऽपि भवन्तीत्यस्मिन्नर्थे चशब्दः। हिशब्देन 'गतिमण्वीं प्रयुङ्ग' इति वाक्यं सूचयति॥ २९॥

ब्रह्मादीनामपि श्रीनारायणतत्त्वज्ञानं दुर्लभं किमुतास्माकं ततो रुद्रे द्वेषस्तत्तत्त्वाज्ञानहेतुक इति भावं ध्वनयन् भृगुस्तं भगवन्तं

स्तौति - **यन्माययेति** श्लोकद्वयेन। गहनया गम्भीरया यस्य तव माययाऽपहृत आत्मबोधः स्वरूपज्ञानं येषां ते तथा, अत एव तमसि अविद्यायां स्वपन्तः शयानाः, ब्रह्मा आदिर्येषां देवानां ते ब्रह्मादयः तनुभृतः शरीरिणः। अनेन देहवत एव ज्ञानग्रहणयोग्यतां सूचयति। आत्मसु जीवेषु प्रेरकत्वेनाश्रितं स्थितं तव तत्त्वमधुनापीत्यनेनोत्पाद्य दीर्घकालगतिं सूचयति न विदन्ति सोऽयं प्रणतानामात्मनां जीवानां बन्धुर्भवान् प्रसीदत्वित्यन्वयः। यद्वा ब्रह्मा आदिः कारणं येषां ते ब्रह्मादयस्तनुभृतो जीवा आत्मानं हृदयमाश्रितम् अन्यत्समम्॥ ३०॥

[1] **ब्रह्मोवाच**

**नैतत्स्वरूपं भवतोऽसौ पदार्थभेदग्रहैः[2] पुरुषो यावदीक्षेत्।**
**ज्ञानस्य चार्थस्य गुणस्य चाश्रयो[3] मायामया द्व्यतिरिक्तोऽसतस्त्वम्[4]॥ ३१॥**

**इन्द्र उवाच**

**इदमप्यच्युत[5] विश्वभावनं वपुरानन्दकरं मनोदृशाम्।**
**सुरविद्विट्क्षपणै रुदायुधै र्भुजदण्डै रुपपन्न मष्टभिः॥ ३२॥**

**ऋत्विक्पत्न्य[6] ऊचुः**

**यज्ञोऽयं तव यजनाय केन सृष्टो विध्वस्तः पशुपतिनाऽद्य दक्षकोपात्।**
**तं न स्त्वं शवशयनाभशान्तमेधं यज्ञात्म न्नलिनरुचा[7] दृशा पुनीहि॥ ३३॥**

**ऋषयः ऊचुः**

**अनन्वितं[8] तव भगवन् विचेष्टितं यदात्मना चरसि हि कर्म नाऽज्यसे।**
**विभूतये[9] यत उपसेदु रीश्वरीं[10] न मन्यते स्वय मनुवर्तिनीं[11] भवान्॥ ३४॥**

**सिद्धा ऊचुः**

**अयं[12] ते कथामृष्टपीयूषनद्यां मनोवारणः क्लेशदावाग्नि दग्धः।**
**तृषार्तोऽवगाढो न सस्मार दावं न निष्क्रामति ब्रह्मसम्पन्नवन्नः[13]॥ ३५॥**

---

1 M. Ma. Ms omit ब्रह्मोवाच 2. M. Ma. Ms °हः 3. M. Ma. Ms °याद् 4. A. B. G. J. M. Ma. Ms. T यत°; I मत° 5. M. Ma. Ms °मच्युत 6. A. B. G. I. J. T. V. W omit ऋत्विक्; M. Ma. Ms यज्ञ° 7. M. Ma. °न्नखिल° 8. A. B. G. I. J. M. Ma. T ते 9. M. Ma. Ms °यो 10. M. Ma. Ms °रान् 11. A. B. G. I. J. T वर्तनीं 12. A. B. G. I. J. T त्वत् 13. M. Ma. Ms °वान्नः

**श्रीध.** *ब्रह्मादयो न विदन्तीति भृगुणोक्ते तदसहमानो ब्रह्मा तत्वज्ञान माविष्कुर्वन्निवाह - **नैतदिति**। पदार्थभेदग्राहकै रिन्द्रियैः गुणस्येन्द्रियस्य, यद्वा ज्ञानार्थयोः कारणस्य सत्त्वादेः अंत[1-] एवासतो मायामयाद्व्यतिरिक्तो भवान्[-1]॥ ३१ ॥

इन्द्रस्त्विन्द्रियविषयः सर्वोऽपि मिथ्येति। ब्रह्मणोक्त मसहमान आह - **इदमिति**। इदं तव वपुरप्युपपन्नमेव न तु प्रपञ्चवद-निर्वचनीयतया अनुपपन्नम्। सुराणां विद्विषः क्षपयन्तीति तथा तै र्भुजदण्डै रुपलक्षितम्॥ ३२॥

ऋत्विजां पत्न्यः स्तुवन्ति - **यज्ञ** इति। यज्ञोऽयं तव यजनाय त्वां यष्टुं केन ब्रह्मणा पूर्वं सृष्टः। हे यज्ञात्मन्! त्वं[2] तं[3] नः अस्माकं[4] यज्ञं नलिनकान्त्या दृशा नेत्रेण पुनीहि पवित्रं कुरु। कथम्भूतं यज्ञं? शवाः शेरते यस्मिन्निति शवशयनं[5] श्मशानं तद्वदाभा प्रतीतिः यस्य स चाऽसौ शान्तमेधश्च उपरतोत्सवः। मेधशब्देन पशुहिंसाद्युत्सवो लक्ष्यते। शव मुदकं तत्र शेते इति तथा। पद्मं तन्नाभेरिति सम्बोधनं वा॥ ३३॥

ऋषयस्तु कर्माण्यनुतिष्ठन्तः तत्पुण्येन तत्फलेन च युज्यन्ते, भगवति तु तदभाव मालक्ष्य विस्मिताः स्तुवन्ति - **अनन्वित मिति**। अनन्वित मघटमानं यद्यस्मात् आत्मना स्वयं कर्माचरसि अनुतिष्ठसि न त्वज्यसे[5] न[6] लिप्यसे यत श्चान्ये विभूतये सम्पदे ईश्वरीं लक्ष्मीम् उपसेदु र्भेजुः। यद्वा यत इति सार्वविभक्तिक स्तसिः यामित्यर्थः। भवांस्तुस्वयमेवानुवर्तमानां तां न मन्यते नाऽद्रियते॥ ३४॥

सिद्धास्तु तत्कथासुख ना भेनन्दन्तः स्तुवन्ति **अयमिति**। अयं नो मनोवारणः मनोगजः[7] त्वत्कथैव मृष्टं शुद्धं पीयूषं तन्मयी या नदी तस्या मवगाढः प्रविष्टः दावाग्नितुल्यं संसारतापं न स्मरति[8] स्म न च ततो निर्गच्छति ब्रह्मसम्पन्नवत् ब्रह्मैक्यं प्राप्त इव॥ ३५॥

**वीर०** अथ ब्रह्मा "नात्मन् श्रितं तव विदन्त्यधुनाऽपि तत्त्वम्" (भाग. 4-7-30) इति भगवत्तत्त्वस्यावेद्यत्वं यद्भृगुणोक्तं तदेव प्रपञ्चयन्नाह - **नैतदिति**। भवत एतद्वाङ्मनसागोचर स्वरूपं पुरुषो जीवः पदार्थानां भेदं स्वासाधारणं धर्मं गृह्णन्तीति पदार्थभेदग्राहः पदार्थभेदो गृह्यत एभिरिति वा पदार्थभेदग्राहः रूपस्पर्शादिग्राहकैः चक्षुरादिभि रिन्द्रियैरित्यर्थः। नेक्षेत् न साक्षात्कुर्यात्, कुतः? यावत् यावता यत इत्यर्थः। असौ पुरुषः ज्ञानस्य ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं करणे ल्युट् तस्य इन्द्रियवर्गस्य अर्थस्य शब्दादे र्विषयस्य गुणस्य च ज्ञानार्थयोः कारणस्य सत्त्वादिगुणस्य च आश्रयः त्वन्तु मायामयात् मायापरिणामरूपात् असतो देहादेः तत्संसृष्टाच्च जीवात् व्यतिरिक्तोऽत्यन्तविलक्षणः प्राकृतं हि चक्षुरादीन्द्रियं[9] प्राकृतमेव गृह्णीयात् न त्वप्राकृतं त्वत्स्वरूपमिति भावः॥ ३१॥

---

* V omits the commentary onverse 31 1–1. B omits 2. J, V, Va omit त्वं 3. B omits तं 4 B, J V, Va omit अस्माकं 5. Va omit श्मशानं 6. A.J. V, Va omit न 7. A. B.J. V. Va omit मनोवायाः 8. A, B.J, V. Va add सं 9. A.T" यादेर्विषयस्यं प्रां

इन्द्रस्तु भगवदवतारस्य धर्मसंस्थापनार्थत्व मनुसन्दधदाह - **इदमिति**। हे अच्युत ! इदं तव वपुः शरीरं विश्वभावनं विश्वं भावयति सुखिनं[1] करोतीति विश्वभावनम् । अत एव मनोदृशां मनसां दृशाञ्च आनन्दं करोतीत्यानन्दकरम् । अस्य रूपस्य धर्मसंस्थापनार्थत्वात् तस्य चाधर्मविरतिपूर्वकत्वा दधार्मिकविरत्युपयुक्तत्वं विग्रहस्या ह। सुरविद्विषः सुराणां विद्विषः असुराः तान् क्षपयन्तीति तैः उद्धृतान्यायुधानि यैस्तै रष्टभि र्भुजदण्डैः दण्डवद्दीर्घैः भुजै रुपपन्नं युक्तम्॥ ३२॥

ऋत्विक्पत्न्यस्तु भवदाराधनत्वेनोपक्रान्तं[2] विच्छिन्न मध्वरं कृपादृष्ट्या पवित्रीकुर्वित्याहुः - **यज्ञ** इति। अयं यज्ञः तव यजनाय आराधनाय केन ब्रह्मणा पूर्वं सृष्टः दक्षेण वा आरब्धः स चेदानीं पशुपतिना रुद्रेण दक्षे कोपात् विध्वस्तः, हे यज्ञात्मन् ! यज्ञः आत्मा मूर्ति र्यस्य तस्य सम्बुद्धिः । नोऽस्माकं यज्ञं नलिनकान्त्या दृशा नेत्रेण पुनीहि पवित्रं कुरु। कथम्भूतं यज्ञं ? शवाः शेरते यस्मिन्निति शवशयनं श्मशानं तद्वदाभा प्रतीति र्यस्य सः, मेधशब्देन पशुहिंसाद्युत्सवो लक्ष्यते शान्तः मेधः यस्य सः उपरतोत्सवः शवशयनाभश्चाऽसौ शान्तमेधश्चेति कर्मधारयः॥ ३३॥

ऋषयस्तु यत्परमात्मनोऽसाधारण मपहतपाप्मत्वं देवमनुष्यादिपुण्यापुण्य सजातीय चेष्टितत्वेऽपि तत्फलाननुभवितृत्वरूपं तदनुसन्दधानाः परिपूर्णत्वेन स्तुवन्ति - **अनन्वितमिति**। हे भगवन् ! ते तव चेष्टित मिद मनन्वित मघटमानं विस्मयनीय मित्यर्थः। किं तत्राह - आत्मना स्वयं कर्म पुण्यापुण्य सजातीयं कर्म चरसि अनुतिष्ठसि नाऽज्यसे तत्कृतेन[3] तत्फलेन[4] न लिप्यसे इत्यर्थः । इद मप्यन्य दनन्वितमित्याह[5] - यत इति। चतुर्थ्यर्थे तसिः, तस्य सार्वविभक्तिकत्वात् यस्यै विभूतये यद्विभूत्यर्थम् ईश्वरीं लक्ष्मीम् उपसेदुः भेजुः ब्रह्मादय इति शेषः। द्वितीयार्थे वा तसिः, विभूतये सम्पदे या मीश्वरीं भेजुः तां स्वय मनुवर्तिनीं स्वय मेवानुवर्तमानां भवान्न मन्यते नाऽद्रियते उपेक्षत इत्यर्थः। अनेन परिपूर्णत्व मुक्तम्॥ ३४॥

सिद्धास्तु तत्कथासुखमभिनन्दन्तः स्तुवन्ति - **अयमिति**। अयं नोऽस्माकं मनो वारणः मनोगजः क्लेशा आध्यात्मिकादय स्तापाः त एव दावाग्नयः तै र्दग्धः अत एव तृषा शब्दादिविषययाऽऽसक्त्या आर्तः पीडितः ते तव त्वत्कथैव मृष्टं शुद्धं पीयूषं तन्मयी या नदी तस्या मवगाढः प्रविष्टो दानं दावाग्नितुल्यसांसारिकाध्यात्मिकादितापं न सस्मार न स्मरति। न च ततो निर्गच्छति। ब्रह्मसम्पन्नवत् मुक्तवत् सुखित एवाऽवतिष्ठत इत्यर्थः॥ ३५॥

**विज०** सर्वस्य हरेः तत्त्वविषयाज्ञानमुक्त्वेदानीं तत्सत्त्व प्रमाणाभावेन शून्यप्रायं तत्स्या दित्यतोऽव्यक्तादिविशेषज्ञानि प्रत्यक्षं

1. W° तं 2. T. भगवं 3. W omits तत्कृतेन 4. A.B,J omits तत् 5. A.B,J° हुः

प्रमाणमिति भावेनाह - **नैतदिति**। एतदव्यक्तादि भवतः स्वरूपं सच्चिदानन्दात्मकं न भवति इह जगति यो वैराग्यभक्त्याद्यादिसाधन सामग्रीमान् असौ पदार्थभेदग्रहोऽव्यक्तादिपदार्थविशेषज्ञानी ब्रह्माद्यन्यतमः पुरुषो यावत्पदार्थजातं तावत् पृथगीक्षेत् पश्यतीति यस्मात्तस्मादित्यर्थः। ''भेदोऽन्तरं विशेषश्च सूक्ष्मेक्ष्यं चाऽभिधीयते'' (तत्वनिर्णये) इति वचनात् अत्र भेदो विशेषः। नन्वव्यक्तादे र्व्यतिरिक्तं चेत् तत्तद्दर्शनं प्रमाणं स्यात् तदेव कुत इति तत्राह - ज्ञानस्येति। ज्ञानस्येत्युपलक्षणं जातावेकवचनम्। ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणा मर्थस्य शब्दादितन्मात्राणां च आकाशादिभूतानां च गुणस्य सत्त्वादेश्च चशब्दात्तत्कार्ययोर्महदङ्कारयोश्चाश्रयान्मायामयात् प्रकृतिविकारात् प्रपञ्चा द्व्यतिरिक्तोऽत्यन्तविलक्षणः केवलचिदानन्दात्मकनित्यदेह स्त्वमिति यतोऽत इति तदुक्तं ''अव्यक्तादिपदार्थानां विशेषज्ञानिनाऽपि तु। न देहो वैष्णवो ज्ञेय आनन्दः प्राकृतो न हि'' (तन्त्रसारे) इति। अव्यक्तादिपदार्थानां विशेषज्ञानिना वैष्णवो देहो व्यक्तादिपदार्थानां सम्बन्धेन निर्मितो न ज्ञेयः। तत्र हेतुमाह - आनन्द इति। यद्वाऽसौ पदार्थभेदग्रहः पुरुषो यावदीक्षेत् तावदेत दव्यक्तादि भवतः स्वरूपं न भवतीति प्रत्येति ज्ञानिदर्शनस्य यथार्थत्वनियमात्। अनेनाज्ञानिपक्ष एवाव्यक्तादिस्वरूपं न ज्ञानिपक्ष इत्युक्तम्, अन्यत्समम्। असत इति पाठे अमाङ्गल्यादित्यर्थः॥ ३१॥

अनन्तरातीते श्लोके प्रत्यक्ष मतत् भवतः स्वरूपं न भवती त्यन्यथाप्रतीतिमिन्द्रस्तुतिव्याजेन निरस्याति - **इदमिति**। अच्युत! हेयोपादेयरहित! हरे! इदं दृश्यमानं तव वपु र्विश्वभावनं जगदुत्पादकं ब्रह्मैवेत्यन्वयः। वपुशब्द स्यार्थान्तर माह आनन्दकर मिति। ''शुभाकारे तनौ वपुः'' (वैज. को. 6-3-30) इत्यभिधानम्। यावद्गुणानुपसंहृत्योपास्ते तदनुसारिफलं च स्वस्याऽपि स्या दित्याशयेनाह - सुरविद्विडिति। सुरविद्विषोऽसुरा स्तान् क्षपयन्तीति सुरविद्विट्क्षपणास्तैः॥ ३२॥

अन्तरायितस्य कर्मणः पूर्वफलत्वसिद्धिः श्रीनारायणकटाक्षेणैवेत्यभिप्रायेण पत्न्यः स्तुवन्तीत्याह - **यज्ञोऽयमिति**। शवं जलं तस्मिन् शेत इति शवशयः ''अधिकरणे शेतेः'' (अष्टा. 3-2-15) इति कर्तर्यच् प्रत्ययः, कमलं नाभौ यस्य स तथोक्तः तस्य सम्बुद्धिः शवशयनाभ! कमल नाभ! शान्तमेध मुपरतयज्ञं एकपदपक्षे शवाः प्रेताः शेरतेऽस्मिन्निति शवशयः ''पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण'' (अष्टा. 3-3-118) इत्यधिकरणे घः प्रत्ययः, श्मशानं तस्य आभेव आभा यस्य सः श्मशानकान्तिश्चासौ उपरतश्चासौ अध्वरश्चेति स तथोक्त स्तं, पुनीहि शुद्धं कृत्वा पूर्णफलं कुर्वित्यर्थः॥ ३३॥

इतोऽपीदं रूप मुपनिषदेकवेद्यं न मायामय मिति भावेन ऋषयः स्तुवन्तीत्याह - **अनन्वितमिति**। भगवन्! तव विचेष्टित मनन्वितं लोककर्मविलक्षणं कुतः? त्वमात्मनाऽन्यसहाय मन्तरेण यत्कर्म चरसि करोषि तेन कर्मणा नाऽज्यसे न लिप्यसे हि यस्मात्तस्मात् ''स यत्तत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागत स्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः'' (बृह.उ. 4-3-16) इति श्रुतेः। असङ्गित्वं तवैवोचित

मित्याहुः - विभूतय इति। यतो यस्याः श्रियः प्रसादाद्विभूतयः ईश्वरान् ब्रह्मादी नुपसेदुः प्रापुः। तां श्रियं स्वय मनुवर्तिनीं स्वत एव निषेवमाणां भवान्न मन्यते। "मन ज्ञान" इति धातोः अप्राप्तफलार्थं सेवत इति न जानाति, किन्तु ऋतुधर्मवज्जलस्यन्दनवत् भक्तिकरण मस्याः स्वभाव इत्येव जानातीत्यर्थः॥ ३४॥

ते तव कथामृष्टपीयूषनद्या मवगाढो मग्नोऽयं मनोवारणः संसाराख्यं दावं न सस्मार। स्मरणाभावे निमित्त माह - ब्रह्मेति। ब्रह्मसम्पन्नस्याऽपि निर्गमने स्मृतिः सम्भवतीत्यत उक्तं - निष्क्रामतीति। कथानद्यवगाहे हेतु माह - क्लेशेत्यादिना। अनेनाऽप्यस्य रूपस्य ब्रह्मत्वं निरणायीति ज्ञायते॥ ३५॥

**यजमान्युवाच**[1]

**स्वागतं ते प्रसीदेश तुभ्यं नमः श्रीनिवास[2] श्रिया कान्तया त्राहि नः।**
**त्वामृतेऽधीश नाङ्गै र्मखः शोभते शीर्षहीनः कबन्धो यथा पूरुषः॥ ३६॥**

**लोकपाला ऊचुः**

**दृष्टः किं नो दृग्भि रसद्गहै स्त्वं प्रत्यग्दृष्ट्या[3] दृश्यते येन दृश्यम्[4]।**
**माया ह्येषा भवदीया हि भूमन् यस्त्वं षष्ठः पञ्चभिर्भासि भूतैः॥ ३७॥**

**योगेश्वरा ऊचुः**

**प्रेयान्न तेऽन्योऽस्त्यमुत[5] स्त्वयि प्रभो विश्वात्मनीक्षेन्न पृथग्य आत्मनः।**
**अथाऽपि[6] भृत्येशतयोपधावता[7] मनन्यवृत्त्याऽनुगृहाण वत्सल॥ ३८॥**

**जगदुद्भवस्थितिलयेषु दैवतो[8] बहुभिद्यमानगुणयाऽऽत्ममायया[9]।**
**रचितात्मभेदमतये स्वसंस्थया विनिवर्तित[10] भ्रमगुणात्मने नमः॥ ३९॥**

**शब्दब्रह्मोवाच**[11]

**नमस्ते श्रितसत्त्वाय[12] धर्मादीनां[13] प्रसूतये।**
**निर्गुणाय च यत्काष्ठां नाऽहं वेदाऽपरेऽपि[14] वा[15]॥ ४०॥**

---

1. Ms प्रसूतिः 2. M.Ma सः 3. A,B,G.I,J.T द्रष्टा 4. M. Ma. Ms विश्वम् 5. M, Ma. Ms मृतप्रिय प्र° 6. W त० 7. A.B,G.I,J.T.V भक्त्ये 8. M, Ma, Ms लीलया 9. M. Ma, Ms प्रविभज्य० 10. M, Ma. Ms ह्यति 11. A.B.G.I,J.T, M, Ma, Ms शब्द 12. M, Ma, Ms °ऽमिततत्त्वाय 13. A.B.G.I.J.T, M. Ma. Ms च 14. V वेदपरे 15. A.B,G.I.J,T °ऽपि च, कुतः

**श्रीध०** यजमानी दक्षपत्नी स्तौति - **स्वागत** मिति। ते स्वागतं भद्र मागमनं जातम्। हे अधीश ! यथा शिरसा हीनः कबन्धमात्रः पुरुषोऽङ्गैः करचरणाद्यवयवैः शोभमानै रपि न शोभते, तथा त्वां विना केवलं प्रयाजादि[1] यागाङ्गैः मखो न शोभतेऽतो नः[2] अस्मान्[3] श्रिया सह त्रायस्व त्वद्भक्तान् कुर्वित्यर्थः ॥ ३६ ॥

लोकपाला स्त्वीश्वरत्वाभिमानारूढा[4] भगवत स्तत्त्व मपश्यन्त ऊचुः - **दृष्ट** इति। दृष्टः किं न दृष्ट इत्यर्थः। कुतः ? असद्गुणैः, पुंस्त्व माविष्टलिङ्गत्वात्। असत्प्रकाश रूपाभिः दृग्भिः इन्द्रियैः। अयं भावः - शुद्धचित्तानां त्वं शुद्धसत्त्वमूर्ति र्भासि। अस्माकं तु बहिर्मुखेन्द्रियाणां पञ्चभूतोपलक्षितो जीवविशेष[5] इवावभासि। अत स्त्व मस्मदिन्द्रियगोचरो न भवसि। धिगस्मज्जीवित मिति ॥ ३७ ॥

योगेश्वरा स्तु[6] तदभेदेन भजता मनुग्रहभाक्त्वं मन्यमानाः स्वामिभृत्यभावेन भजता मप्यनुग्रहं प्रार्थयमानाः स्तुवन्ति - **प्रेयानिति** द्वाभ्याम्। विश्वात्मनि परब्रह्मणि त्वयि य आत्मनः पृथक्त्वं नेक्षेत्[7] अमुतोऽमुष्मा दन्यस्ते प्रेष्ठो नाऽस्ति। आत्मनो जीवान् पृथङ्नेक्षेतेति वा। हे वत्सल ! भक्तजनप्रिय[8] ! अनन्यवृत्त्याऽव्यभिचारिण्या भक्त्या भजतोऽनुगृहाणेत्यर्थः ॥ ३८ ॥

अव्यभिचारिणी भक्तिः कथं स्यात् भजनीयानां बहुत्वा दित्याशङ्क्याहुः - **जगदिति**। जगत उद्भवादिषु निमित्तेषु दैवतो जीवादृष्टात् बहुधा भिद्यमानागुणा यस्या स्तया स्वमायया आत्मनि स्वरूपे रचिता ब्रह्मादिभेदमतिः येन तस्मै स्वसंस्थया केवलस्वरूपावस्थानेन च विनिवर्तिनो भेदभ्रमो गुणाश्च तद्धेतव आत्मनि येन तस्मै ॥ ३९ ॥

शब्दब्रह्म स्तौति - **नमस्ते** इति। श्रितं स्वीकृतं सत्त्वं येनाऽतो भक्तानां[9] धर्मादिफल प्रसवित्रे। ननु सत्त्वगुणत्वं निर्गुणत्वं[10] च एकस्य[11] कथम् ? इत्याशङ्क्याह। यस्य काष्ठां तत्त्वं नाऽहं वेद्मि अपरे रुद्रादयश्च[12] न विदु स्तस्मै नमः[13] ॥ ४० ॥

**वीर०** दक्षपत्नी यजमानी स्तौति - **स्वागत** मिति। हे ईश ! ते तव स्वागतं भद्रमागमनं जातं हे श्रीनिवास ! प्रसीद ! प्रसन्नो भव ! अस्माक मिति शेषः। ते तुभ्यं नमः। हे अधीश ! यथा शिरसा हीनः कबन्धमात्रः पुरुषः अङ्गैः करचरणाद्यवयवैः शोभनै रपि न शोभते तथा त्वां विना केवलं प्रयाजाद्यङ्गै र्मखो न शोभते। अतो नः श्रिया कान्तया सह त्रायस्व पालयेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

लोकपालास्तु भगवतः सौलभ्यं तन्मायावैभवम् अनुसन्दधानाः स्तुवन्ति - **दृष्ट** इति। त्वं वाङ्मनसा गोचरस्वरूपस्वभाव

---

1. B.J.Va घङ्गैः मः, V° दिभिरङ्गैः म° 2. A omits नः 3. B.J.V, Va omits अस्मान् 4. V°राभि 5. V इवाभासि 6. A.B.J.Va omit तु 7. A.B.J.Va नेक्षेत 8. V omits जन, 9. A,B,J,V, Va omits भक्तानां 10. A omits निर्गुणत्वं 11. V omits एकस्य 12. A.J.V, Va ब्रह्मादयश्च 13. A.B.J.Va omits नमः

स्त्वं नः अस्माकं दृग्भिः मांसचक्षुर्भिः किं दृष्टः कथं दृष्ट इत्यर्थः। स्वयं वाङ्मनसाऽवेद्य स्वरूपस्वभावत्वे सति अखिलजननयनावषय-तागतत्वरूपसौलभ्येनैव दृष्ट इत्यर्थः। नो इति निपातो वा नञ्पर्यायः दृग्भिः नो दृष्टः किं दृष्ट एवेत्यर्थः। सौलभ्य मेवाऽत्र कारणमिति भावः। यद्वा एष दृग[1]विषयोऽपि दृग्विषयो जात इति एषा भवदीया माया भवदीयो विचित्रः सङ्कल्प इत्यर्थः। माया शब्दस्य विचित्रसर्गकारिशक्तिविशेषपरत्वे पूर्वोक्त एवान्वयः साधुः। इदमपि तव मायाकार्य मेवेत्याह असद्ग्रहैः। असति देहे तदनुबन्धिनि च ग्रहः आग्रहः अहम्ममताऽभिमानः येषां तै र्देहात्माभिमानिभि रित्यर्थः। दृश्यं शरीरं येन कारणेन प्रत्यग्दृष्ट्या दृश्यते प्रत्यक्त्वेन दृश्यते आत्मत्वेनाऽभिमन्यत इत्यर्थः। एषा दृश्यस्य प्रत्यक्त्वेन दृष्टिः भवदीया माया विचित्रा शक्ति रित्यर्थः। तत्कारणभूता भवदीया माये ति भावः। हि शब्दः श्रौतीं स्मार्तीं च प्रसिद्धिं द्योतयति। "अस्मान् मायी सृजते विश्वमेत त्तस्मिं श्चान्यो मायया सन्निरुद्धः। (श्वेता.उ. 4-9) नाऽसदासी न्नो सदासीत्तदानीन्तम आसीत्, तमसा गूढ मग्रे प्रकेतम्" (ऋक्सं. 10-129-1) (तैत्ति. ब्रा. 2-8-9) "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया (भ.गी. 7-14) इत्यादि श्रुतिः स्मृतिश्चाऽत्रानुसन्धेया। एतेन देहात्मभ्रमो भगवन्मायामूल एवे त्युक्तं भवति। एवं जीवेशैक्यभ्रमोऽपि त्वन्मायामूल एवेत्याहुः। हे भूमन्! अनेन जीववैलक्षण्यं सूचितं जीवस्याणुस्वरूपत्वात् यस्त्वं प्रकृतिपुरुषविलक्षण स्त्वं पञ्चभि भूतैः पृथिव्यादिभिः सहित इति शेषः। अत्र पञ्चभिः भूतै रित्यनेन तत्परिणामरूपं शरीरं लक्ष्यते, तद्विशिष्टः षष्ठोऽचिद्विलक्षणो जीवः, पञ्चभूतप्रस्तावात् षष्ठ इत्युक्तिः। भासि जीवत्वेन प्रतीयसे, एषाऽपि प्रतीतिः त्वन्मायैव मायाकार्यभूतैवेत्यर्थः। हि शब्दः स्वतन्त्रात्मभ्रमवत् पुरुषेषु प्रसिद्धिद्योतकः॥ ३७॥

लोकपालै र्भगवतो रूपसौलभ्या[3]द्यनुसन्धानपूर्वकं मायावैभवरूप जीवेशैक्य प्रतीते भ्रमत्वे चोक्ते योगीश्वराः परमपुरुषा त्स्वतन्त्रभेदं वारयन्तः तद्भेदस्य पारतन्त्र्यं तस्य च शरीरशरीरिभाव - शेषशेषिभावादिनिबन्धनत्वञ्च आविष्कुर्वन्तो वात्सल्यगुणविशिष्टत्वेन स्तुवन्ति - **प्रेयानिति**। हे प्रभो! विश्वात्मनि विश्वस्य चिदचिदात्मक प्रपञ्चस्याान्तःप्रविश्य स्वय मपरित्यक्तस्वरूप स्वभावत्वेन प्रशासनेन धारके, अनेन विश्वस्य शरीरत्व मुक्तमिति जीवानां परतन्त्रभेदोऽभ्युपगत इति वेदितव्यम्। विश्वात्मनि त्वयि विश्वस्मा द्विलक्षणे त्वयि यः पुमान् आत्मनः स्वस्य पृथक्त्वं पृथक्सिद्धत्वं स्वस्य अब्रह्मात्मकत्वमित्यर्थः। नेक्षेत् न पश्येत् स्वात्मानं परमात्मशरीरत्वे[4]न तदपृथक्सिद्धत्वेन ब्रह्मात्मकत्वेन अनुपश्येदित्यर्थः। अमुतः अमुष्मात् तत्त्वदर्शिनः अन्य स्ते तव प्रेयान् प्रीतिविषयो नाऽस्ति। तथैव हि भगवता "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः" (भ.गी. 7-17) इति गीत मिति भावः। अत्र पृथक्त्वं नेक्षे दित्यनेन तादात्म्येन दर्शनं विहित मित्यर्थवर्णनं त्वयुक्तम्। विश्वात्मनि भृत्येशतयेति

1. A.B.T अदृग्वि° 2. A.B.T तत्त्वत्वेन 3. A.B.T °भ्यानु 4. A.B.T °नाऽपृ°

पूर्वोत्तरव्याघातात्। विश्वतादात्म्यं तु सर्वसमयविरुद्धं जडाजडयो रप्यैक्यप्रसङ्गात्। अतो विश्वात्मनीति व्यतिरेकनिर्देश एव। अत आत्मनः पृथक्सिद्धत्वेनैव दर्शनं प्रतिषिध्यते। अनेन परतन्त्र भेद उक्तः। शरीरात्मभाववचनेन तदन्तर्भूताः शेषशेषिभावादयोऽप्यर्था दुक्ताः। एवं शरीरत्वेन शेषत्वेन चात्मान मनुसन्दधानो मत्प्रिय इति त्वयैवोक्तमिति सः त्वयाऽनुगृह्यत इति सिद्धमेव। किन्तु, योऽसौ शास्त्रसिद्धशरीरात्मभावादिज्ञानशून्यः केवल स्वस्वामिभावज्ञानवान्[1] सोऽपि वात्सल्यवता त्वयाऽनुग्राह्य एवेत्याहुः - तथाऽपीति। यद्यप्यात्मनोऽपृथक्त्वं न पश्यति लोकसिद्धं स्वामिभृत्यभाव मेव पश्यति तथाऽपि भृत्येशतया भृत्यस्वामिभावेन उपधावतां समीपगतिं प्रक्रान्ताना मनिष्पन्न ज्ञानाना मित्यर्थः। अनन्यवृत्त्या अनुग्रहैकदृष्ट्या अनुगृहाण प्रसीद। हे वत्सल! दोषेऽपि गुणबुद्धिर्वात्सल्यं यथा मातुः पुत्रे वत्सलस्य तव आज्ञाऽनुग्रह उचित इति भावः। यद्वा अनन्यवृत्त्या अव्यभिचारिण्या भक्त्या उपधावताम् अनुगृहाणेत्यन्वयः॥ ३८॥

ननु भगवतो विश्वात्मकत्वे विश्वगतदोषाणां परमात्मन्यापत्ति स्ततः सुखदुःखाद्यनुभवश्च जीववत् तत्राहुः - **जगदिति**। जगत उत्पत्तिस्थितिलयेषु निमित्तभूतेषु जगदुद्भवाद्यर्थमित्यर्थः, दैवतो दैवात् देवो भगवान् तत्सम्बन्धिसङ्कल्पो दैवः तस्मात् बहुभिद्यमानगुणया बहुधा भिद्यमानागुणाः ब्रह्मरुद्रादिदेहरूपेण परिणम्यमानाः सत्त्वादिगुणाः यस्याः तयाऽत्ममायया रचितात्मभेदमतये रचितः आत्मनि यो भेदः देवत्वमनुष्यादिरूपः तद्विषया मतिः बुद्धिः यस्य तस्मै देहात्माभिमानान्वित क्षेत्रज्ञ शरीरायेत्यर्थः। यद्वा बहुभिद्यमान गुणया बहुभिद्यमानाः देवमनुष्य पशुपादपादिरूपेण परिणम्यमानाः सत्त्वादिगुणा यस्याः तया आत्मनः परमात्मनो मायया तच्छरीरभूतया माययेत्यर्थः। "अजा मेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः जनयन्तीं सरूपाः"। (म.ना.उ. 8-4) "गुणैर्विचित्राः सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः" इत्यादिक मन्त्रानुसन्धेयम्[2]। एवम्भूतया मायया दैवात् भगवत्सङ्कल्पात् जगदुद्भवस्थितिलयेषु सत्सु अत्र आत्ममाययेत्यनेन आत्मसम्बन्धित्वावगमात् सम्बन्धसामान्यस्य विशेषपर्यवसानजिज्ञासायां "यस्याऽक्षरं शरीरं यस्याऽव्यक्तं शरीरम्" (सुबा.उ. 7-1) इति श्रुति व्यवस्थापित शरीरशरीरिभावरूपसम्बन्धविशेषे पर्यवसानात् ब्रह्मात्मिकायाः मायायाः जगदुपादानत्व मवगन्तव्यम्। जगदुपादानभूतया मायया जगदुत्पत्त्यादिषु सत्सु स्वसंस्थया स्वस्य संस्था सम्यगवस्थितिः तया रचितात्मभेदमतये रचिता आत्मभेदाः आत्मगता देवत्वमनुष्यत्वादयो भेदा स्तद्विषया मतिर्यस्य तस्मै। "तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत्, तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाऽभवत्" (तैत्ति.उ. 2-6) "अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि, नामरूपे व्याकरोत्" (छन्दो.उ. 6-3-2) इत्यादिश्रुत्युक्तरीत्या स्वस्य चिदचिदन्तरात्मतयाऽनुप्रवेशेन

1. T भावादिज्ञा° 2. T °मनु

चिदचिद्गतनामरूपभेदस्य स्वपर्यन्तत्वव्याचिकीर्षवे इत्यर्थः। चिदचिद्गत नामरूपभेदस्य चिदचिद्द्वारा स्वपर्यन्तत्वानुद्रष्टे इत्यर्थः। एवम्भूतायाऽपि विनिवर्तित भ्रमगुणात्मने विशेषेण निवर्तिता विनिवर्तिता नित्यनिवर्तितभ्रमः अन्यथाज्ञान विपरीतज्ञानादिरूपाः, गुणः तद्धेतवो रजस्तमआदिगुणाः आत्मनि येन तस्मै। स्वेनैव प्रकाशेन नित्यनिवर्तित हेयायेत्यर्थः। अर्नेन विश्वगतदोषापत्तिः परिहृता। एवम्भूताय ते नमः केवलं नमस्कुर्मो न तु त्वद्गुणान् वर्णयितुं शक्नुम इति भावः॥ ३९॥

योगीश्वरैः निरस्तनिखिलहेयत्वेन स्तुते भगवति स भगवान् किं निर्गुण इत्याशङ्कायां निरस्तनिखिलहेयः समस्तकल्याणगुणश्चेति स्तुवन् नमस्करोति शब्दब्रह्म **नम** इति। अत्र शब्दब्रह्मशब्देन वेदा विवक्षिताः। निर्गुणाय निर्गताः सत्त्वरजस्तमआदयो हेयगुणा यस्मात् तस्मै निरस्तनिखिलदोषायेत्यर्थः। कल्याणगुणवत्त्वमाह - धर्मादीनां धर्मार्थादीनां प्रसूतये प्रकृष्टा सूति र्यस्मात् स प्रसूतिः तस्मै प्रसवित इत्यर्थः। धर्मप्रसवितृत्वं धर्मादि प्रकाशकवेदोत्सर्जनद्वारा। तथा च श्रुतिः "तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निश्वसित मैतद्यदृग्वेदः" (सुबा.उ. 2-1) इति। "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वैदांश्च प्रहिणोति तस्मै" (श्वेता.उ. 6-18) इति च। स्मृतिश्च "अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रसूतयः" (भार.शान्ति.मोक्ष. 231-56) इति। अनेन सर्वकारणत्व तदुपयुक्तसर्वज्ञत्व सर्वशक्तित्व सहितोपदेष्टृत्व वात्सल्यादिकल्याणगुणजातं विवक्षितं, तर्हि कति कल्याणगुणा इत्यत्र तेषा मानन्त्य माह तत्काष्ठां तेषां तत्स्वरूपगुणविभूतीनां काष्ठाम् अवधि महं शब्दब्रह्म न वेद न जानामि। अपरे ब्रह्मादयो न विदुः। अह मेव न जानामि कुतोऽपरे मदायत्तसूक्ष्मदर्शिनो जानीयुरिति कैमुत्यनयोऽत्र विवक्षितः। अत्र ज्ञेयत्वनिषेधो न स्वरूपगुणादिविषयः। किन्तु-तदियत्ताविषयः। तथा च श्रूयते "यस्याऽमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः" (केन.उ. 2-3) "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्"। (तैत्ति. 3-2-4, 2-9) "अविज्ञातं विजानतां विज्ञात मविजानताम्" (केन.उ. 2-3) इति परिच्छिन्नत्वेन जानतोऽमतम्। अपरिच्छिन्नत्वेन जानतस्तु मत मित्यर्थः॥ ४०॥

**विज०** पूर्वत्र यजमानेन यथातत्त्वं स्तुतम्। अत्र लोकसंस्कारपूर्वक मौत्सुक्याच्च स्वाभीष्टसिद्धये यजमान्या प्रसूत्या स्तूयते - **स्वागत** मित्यादिना। श्रिया कान्तया सह त्राहि रक्ष। कबन्ध इत्यनेन शिरोराहित्ये सिद्धेऽपि स्पष्टत्वाच्च शीर्षहीन इत्युक्तम्। अङ्गैः ऋत्विगादिभि रन्यत्र करचरणादिभि स्सहितोऽप्यनेन सर्वोत्तमत्वं हरे र्द्योतितम्॥ ३६॥

लोकपालस्तुत्याऽपि हरे रिदं रूप मनारोपित मिति ज्ञ्यत इति आह - **दृष्टः किमिति**। येन त्वया विश्वं सर्वं दृश्यते ज्ञातं भवति स प्रत्यग्दृष्ट्या ज्ञानदृष्ट्या च दृश्य स्त्वम्। नोऽस्माकं असद्ग्रहैः शब्दाद्यमङ्गलविषयग्राहिभि र्दृग्भिः किं प्रयोजन मुद्दिश्य

1. A.B,T add मन्त्रेण

दृष्टोऽनुग्रहमन्तरेणेति शेषः। षष्ठः पञ्चभूतव्यतिरिक्तशरीर स्त्वं पञ्चभि र्भूतैः निर्मितशरीरवद्भि र्दृष्टो भासीति यदेषा भवदीया माया हि भवत्सामर्थ्यमेव। न ह्यमांसदृष्टिगोचरस्वभावस्य तद्गोचरत्वं सामर्थ्यं विना युज्यते। भगवन्महिमैवाऽसौ यत् दृश्यो भगवान् स्वयमिति वाक्यं हिशब्दगृहीतम्। भूमन्नित्यनेन पूर्णस्याऽयं स्वभाव इति दर्शयति; यद्वा प्रत्यग्दृष्ट्या दृष्ट स्त्वम् अस्माकं दृग्भि र्दृष्टः किमहो! अस्मद्भाग्यैः दिव्यदृष्टिगोचरस्य अन्यदृष्टिगोचरत्व मिति यत्पञ्चभि र्भूतैः सह षष्ठो भासीति यच्च सेयं भवदीया माया हीति॥ ३७॥

योगेश्वरस्तुत्या प्रतीतं पञ्चभूतात्मकत्वं निवारयति - **प्रेयानिति**। अमृतप्रिय! मुक्तप्रिय! प्रभो! समर्थ! विष्णो! यो जीवो विश्वात्मनि जगदन्तर्यामिनि त्वयि पृथक्त्व मन्यथात्वं नेक्षेत् न पश्येत् सुरनरतिर्यगादिषु जीवराशिषु प्रेरकत्वेन स्थितानां तव रूपाणां गुणादीनां चाऽणुमात्रं भेदं न पश्यतीत्यर्थः। तस्मा दात्मनो जीवादन्यः प्रेयान् तव नास्ति। हे भृत्येश! भृत्यानां दासानां अस्माक मीश! भक्तवत्सलतया "भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन!" (भगी. 11-54) इति प्रसिद्धा, तयाऽनन्यवृत्त्या उपधावतां सेवमानानां अस्माक मनुग्रहोऽस्त्येव, अथाऽपि पुनरनुगृहाणेत्यन्वयः "यथार्थज्ञानिनो नाऽन्यः प्रियो विष्णोस्तु कश्चन। तथाऽप्यधिकसन्तुष्ट्यै प्रसीदेत्यर्थनं पुनः।" (गारुडे) इति वचनात् उपपन्ना प्रार्थनेति। अत्राभेदज्ञानिनो हरे रधिकप्रियत्व मुच्यत इत्यय मर्थः, "पृथक् ज्ञानं तदित्याहु र्यत्किञ्चि द्वीक्ष्यतेऽन्यथा। ज्ञानं ज्ञेयाविरोधेन त्वपृथग्वस्तुनो दृशिः। केचिद्भेदं विनिन्दन्ति ह्यासुरज्ञानवृत्तयः। निराकुर्वन्त्यथो मन्दा भेदस्य परमार्थताम्। येतु तत्त्वविदो मुख्या भेदं ब्रह्मान्यवस्तुनोः। परमार्थमिति ज्ञात्वा नित्यं विष्णु मुपासते" (गारुडे) इत्यादिप्रमाणविरुद्ध इति ज्ञातव्यम्। आचार्येणाऽपि न पृथग्य आत्मनः अन्यथा यो न पश्यति इति पृथगित्येतदन्यथेति व्याख्यातं न भेद मिति॥ ३८॥

विश्वान्तर्यामित्वं तत्स्वामित्वञ्च हरेरेव मुख्य मित्याशयेनाहुः - **जगदिति**। जगदुद्भवस्थितिलयेषु जगदुत्पत्तिस्थिति संहारेषु लीलया प्रविभज्यमानगुणया सृष्टौ रजः स्थितौ सत्त्वं, संहारे तम इति प्रकारेण विभज्यमानाः पृथक्क्रियमाणाः सत्त्वादिगुणा यस्या स्सा तयाऽत्माधीनया मायया "प्रकृत्या जडया मिथ्याज्ञानं जनयतीश्वरः तस्य भ्रमश्च सत्त्वाद्या न सन्ति परमेशितुः" (गारुडे) इति वचनात्। प्रकृत्या रचिता कृताऽऽत्मनां जीवानां भेदमति र्मिथ्याज्ञानं येन स तथा तस्मै स्वसंस्थया। एवार्थे हि शब्दः। स्वरूपस्थित्यैव महिमलक्षणया अतिवर्तिता निरस्ता भ्रमो गुणाश्च सत्त्वाद्या यस्मात् स तथा स चाऽसौ आत्मा चेत्यतिधर्तितभ्रमगुणात्मा तस्मै। हे अतिवर्तित भ्रम! ज्ञानानन्दादिगुणात्मने इति भिन्नं वा पदं, हिशब्दो ज्ञानानन्दात्मनो हरे रुपाधिना भ्रमयोग्यत्वं निवारयति॥ ३९॥

हे अमित! अनन्त! ते तुभ्यं नमः। तत्त्वायाऽद्वय ज्ञानाय अमितानाऽऽरोपितरूपायेति वा[1]। धर्मादीना मस्माकं च सूतय

1. A.B °या

उत्पत्तिकारणाय, चशब्देनाऽस्मत्कारणत्वं निवारयति। कारणस्य रज आदिगुणसंसर्गो नास्तीत्याह - निर्गुणायेति। सृष्टौ प्रवर्तमानस्य तद्गुणास्पर्शो माहात्म्यातिशया द्युज्यत इतीम मर्थं च शब्देन वक्ति। अत्र प्रणतिः सम्यक् स्वरूपज्ञानाभावेऽपि सामान्यज्ञानेन घटत इति भावेनाह - यत्काष्ठामिति। ''काष्ठोत्कर्षे सीम्नि दिशि'' (वैज.को. 6-2-8) इति यादवः। अपरे मदर्वाचीनाः कुतो विदु. न कुतोऽपीत्यर्थः। अनेनाऽस्य परमात्वत्वे न कोऽपि सन्देह इति दर्शितम्॥ ४०॥

## अग्निरुवाच

**यत्तेजसाहं सुसमिद्धतेजा हव्यं वहे[1] स्वध्वर आज्यसिक्तम्।**
**तं यज्ञियं पञ्चविधं च पञ्चभिः स्विष्टं यजुर्भिः प्रणतोऽस्मि यज्ञम्॥ ४१॥**

## देवा ऊचुः

**पुरा कल्पापाये स्वकृतमुदरीकृत्य विकृतं त्वमेवाद्यस्तस्मिन् सलिल उरगेन्द्राधिशयने।**
**पुमान् शेषे सिद्धैर्हृदि विमृशिताध्यात्मपदविः स एवाद्याक्ष्णोर्यः[2] पथि चरसि भृत्यानवसि नः[3]॥ ४२॥**

## गन्धर्वा ऊचुः

**अंशांशास्ते[4] देव मरीच्यादय एते ब्रह्मेन्द्राद्या देवगणा रुद्रपुरोगाः।**
**क्रीडाभाण्डं विश्वमिदं यस्य विभूमन्[5] तस्मै नित्यं नाथ नमस्ते करवाम[6]॥ ४३॥**

## विद्याधरा ऊचुः

**त्वन्माययार्थमभिपद्य कलेवरेऽस्मिन् कृत्वा ममाहमिति दुर्मतिरुत्पथैः[7] स्वैः[8]।**
**क्षिप्तोऽप्यसद्विषयलालस आत्ममोहं युष्मत्कथामृतनिषेवक उद्व्युदस्येत्॥ ४४॥**

## ब्राह्मणा ऊचुः

**त्वं क्रतुस्त्वं हविस्त्वं हुताशः[9] स्वयं त्वं हि मन्त्रः[10] समिद्दर्भपात्राणि[11] वै।**
**त्वं सदस्यर्त्विजो दम्पती देवता[12] ह्यग्निहोत्रं स्वधा सोम आज्यं पशुः॥ ४५॥**

---

1. M, Ma, Ms वहाम्यध्वर 2. M, Ma, Ms °र्नः 3. M, Ma, Ms च 4. M, Ma, Ms आशासानाः 5. M, Ma, Ms °म्नः 6. M, Ma, Ms °मः 7. W °मु° 8. Ms खै 9. Ms °शो यजुः 10. M, Ma, Ms मन्त्राः 11. A,B,G,I,J,M, Ma, Ms च 12. A,B,G,I,J, Ma, Ms,T अ°

**श्रीध०** अग्निस्तु यज्ञमूर्तिं प्रणमति - **यदिति**। यस्य तेजसा सुष्ठु समिद्धं प्रदीप्तं तेजो यस्य सोऽहं प्रशस्तेऽध्वरे हविर्वहामि। तं यज्ञियं यज्ञाय हितं पालकम्। यज्ञं यज्ञमूर्तिम्। पञ्चविधत्वमैतरेयके उक्तम् - "स एष यज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यानि पशुस्सोमः" (ऐत.उ. 3-4-4) इति। पञ्चभिर्यजुभिः यज्ञमन्त्रैः स्विष्टं सुपूजितम्। तथा च श्रुतिः - "आश्रावयेति चतुरक्षरमस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरं, यजेति द्व्यक्षरं, ये यजामह इति पञ्चाक्षरं, द्व्यक्षरो वषट्कारः" इति। स्मृतिश्च "चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च। हूयते च पुनर्द्वाभ्यां स मे (नो) विष्णुः प्रसीदतु।" (शरभ.उ.26) इति॥ ४१॥

देवास्तु सत्यं वयमपि देवाः तथापि जगदाद्यन्तयोस्त्वमेव नान्यः कश्चिदित्याहुः[1] - **पुरेति**। कल्पापाये प्रलये विकृतं कार्यजातमुदरीकृत्य संहृत्य त्वमेवाद्यः पुमान् उरगेन्द्रः शेषः[2] एवाधिकं शयनं शय्या यस्मिन्[3] तस्मिन् शेषे शयनं करोषि। सिद्धैर्जनलोकादिवासिभि हृदि[4] विमृशिता विचिन्तिताऽध्यात्मपदवी ज्ञानमार्गो[5] यस्य स एव त्वं य इदानीमक्ष्णोः पथि चरसि प्रत्यक्षोऽसि अवसि रक्षसि॥ ४२॥

गन्धर्वाप्सरसस्तु वयं भिया केवलं सर्वानपि परमेश्वरत्वेनोपश्लोकयामः त्वमेव तु परमेश्वरः अन्ये तु त्वदंशा एवेत्याहुः - **अंशांशा** इति। हे विभूमन्! महत्तम! क्रीडाभाण्डं क्रीडोपकरणं विश्वं ब्रह्माण्डं यस्य तस्मै ते नमः[6] करवाम नमस्कुर्मः[6]॥ ४३॥

विद्याधरास्तु केवलं विद्याभिः सम्पदः प्राप्यन्ते, अहङ्कारादिव्यामोहनिवृत्तिस्तु त्वत्कथाश्रवणं विना नास्तीत्याहुः - **त्वन्माययेति**। अर्थं पुरुषार्थसाधनं कलेवरमभिपद्य प्राप्य त्वन्माययाऽस्मिन्[7] कलेवरे ममेति अहमिति चाभिमानं कृत्वा इममात्ममोहं युष्मत्कथामृतनिषेवक उदुच्चैः व्युदस्येत् परित्यजेन्नान्यः। ननु स्वैः पुत्रादिभिः अधिक्षिप्तो दुःखितस्सन् परित्यजेदेव, नेत्याहुः। क्षिप्तोऽपि दुर्मतिः असत्सु विषयेष्वेव लालसा तृष्णा यस्य सः॥ ४४॥

ब्राह्मणाः स्तुवन्ति - **त्वमिति** त्रिभिः। सदस्याश्च[8] ऋत्विजश्च[8]॥ ४५॥

**वीर०** एवं शब्दब्रह्मणि निरस्तनिखिलहेयत्वेन समस्तकल्याणगुणविशिष्टत्वेन च भगवन्तं स्तुतवति तदभिनन्द्याग्निः सर्वतेजसामाच्छादकत्वसर्वतेजः प्रकाशाऽऽपादकत्वादिकल्याणगुणान्तरविशिष्टत्वेन स्तुवन् नमस्करोति **यत्तेजसेति**। यस्य भगवतः तेजसा प्रकाशेन सुष्ठु समिद्धं प्रदीप्तं तेजो यस्य सोऽहम्, अनेन स्वस्य तत्प्रकाशेन सुसमिद्धतैजस्त्वकथनेन तत्तेजसा विना

---

1. V °दस्तीत्याहुः 2. A,B,J,Va omt दोष 3. A,B,J, Va omit यस्मिन् 4. A,B,J, Va omit हृदि 5. V आत्मतत्त्वमार्गो
6--6. A,B,J, Va नमनं कुर्मः 7. A,B,J, Va omit कलेबरे 8--8. V omits

स्वस्यासुसमिद्धतेजस्त्वमुक्तम् । एतदेव हि सर्वतेजसामाच्छादकत्वं यत्स्वायत्तं सर्वतेजसां प्रकाशनमिति, अहमिति सूर्यादीनामुपलक्षणं, तथा च श्रूयते - "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥" (कठ.उ. 5-15) इति त्वदाहितशक्तीनामेवास्माकं स्वस्वकार्यक्षमत्वमित्याह - यत्तेजसा सुसमिद्धतेजाः, अहमध्वरे आज्यसिक्तं हविर्वहामि उद्देश्यामिन्द्रादिदेवतां प्रति नयामीत्यर्थः, तं यज्ञियं हितं यज्ञोद्देश्येन्द्रादिदेवतामूर्तिमित्यर्थः । पञ्चविधं त्रेता सभ्यावसभ्यरूपेण पञ्चविधाग्निशरीरिणं पञ्चभिर्यजुर्भिः "आश्रवयेति चतुरक्षरम्" "अस्तु श्रोषडिति चतुरक्षरं, यजेति द्व्यक्षरं, ये यजामह इति पञ्चाक्षरम्", "द्व्यक्षरो वषट्कारः" इति श्रुत्युक्तैः पञ्चभिर्यजुर्भिः स्विष्टं सुष्ठु पूजितं, तथा चोक्तं "चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च । हूयते च पुनर्द्वाभ्यां स मे विष्णुः प्रसीदतु" (शरभ.उ. 26) इति नित्यं प्रणतोऽस्मि नमस्कृतवानस्मि ॥ ४१ ॥

अग्राविन्द्रादिदेवतात्मकत्वेन सर्वयज्ञमूर्तित्वेन च भगवन्तं स्तुतवति जगत्कारणस्य तवेदं सर्वमुपपन्नमिति मन्वाना देवाः सौलभ्यादिकल्याणगुणान्तरविशिष्टत्वेन स्तुवन्ति - **पुरेति** । आद्यः सर्वोपादानभूतः पुमान् पुराः अग्रे सृष्टेः प्रागित्यर्थः । कल्पापाये प्राक्तनकल्पान्ते स्वकृतं स्वसृष्टं विकृतं कार्यवर्गम् उदरीकृत्य उदरे निक्षिप्य संहृत्येति यावत् । उरगेन्द्रः शेषः स एवाधिशयनं शय्या यस्मिन् तस्मिन् सलिले शेषे शयितवानसि । सिद्धैर्जनोलोकवासिभिः[1] हृदि विमृशिता अध्यात्मपदवी स्वात्मतत्त्वज्ञानमार्गो यस्य स योगपरिशुद्धमनोग्राह्य इत्यर्थः, एवम्भूतोऽपि त्वमेव अद्य अधुना अक्षणोः पथि चरसि प्रत्यक्षोऽसि वाङ्मनसागोचरस्त्वं सौलभ्यातिरेकात् प्रत्यक्षोऽसीत्यर्थः । भृत्यान्नः अस्मान् अवसि पालयसि, अनेन भृत्यानुग्रहकातरत्वमुक्तम्[2] ॥ ४२ ॥

देवेषु सर्वकारणत्वसौलभ्यादिगुणविशिष्टत्वेन स्तुतवत्सु गन्धर्वाप्सरसः त्वत्कार्यभूतमिदं कृत्स्नं जगत् त्वल्लीलोपकरणमिति स्तुवन्तो नमस्कुर्वन्ति - **अंशांशा** इति । हे विभूमन् ! कृत्स्नं जगदन्तर्बहिश्च व्याप्य वर्तमान ! हे देव ! द्योतमान ! मरीचिरादिर्मुख्यो येषां, तथा ब्रह्मेन्द्रौ आद्यौ मुख्यौ येषां, रुद्रः पुरोगो मुख्यो येषाम्, एते देवगणास्ते तव अंशांशाः । अत्र देवगणानां मरीचिब्रह्मेन्द्ररुद्रप्रमुख्यत्वकथनं सृष्टिस्थित्याद्यधिकाराधिकृतदेवताबहुत्वाभिप्रायेण । तत्र व्यष्टिस्रष्टॄणां मध्ये चतुर्मुखस्य मरीच्यादीनां च प्रधानत्वात् ब्रह्मादयो मरीच्यादय इति चोक्तम् । तत्रापि प्राधान्याप्राधान्याभिप्रायेण ब्रह्मादयो मरीच्यादय इति च कोटिद्वयेनोक्तिः । इन्द्रपुरोगत्वकथनं पालनाधिकारिदिगीशान्तराभिप्रायेण, रुद्रपुरोगत्वकथनं तु संहाराधिकार्यभिप्रायेण, एवं सर्वेषां भगवदंशांशत्वं ज्ञानशक्तिबलादिभगवद्गुणलेशाऽभिव्यक्तिकृतमिति वेदितव्यम् । विशिष्टवस्त्वेकदेशरूपांशत्वं तु सर्वजीवसाधारणमिति तद्विशिष्य

1. A.B.T °न° 2. T कारकत्वं

न वक्तव्यम्। क्रीडाभाण्डं क्रीडापरिकरः इदं विश्वं ब्रह्माण्डं यस्य तस्मै ते तुभ्यं नमः। हे नाथ! ते करवाम कैङ्कर्यमिति शेषः॥ ४३॥

एवं दक्षादिषु गन्धर्वाप्सरोऽन्तेषु तत्तत्कल्याणगुणविशिष्टं भगवन्तं स्तुतवत्सु तावदास्तां कल्याणगुणवर्णनमसङ्ख्येयत्वात्तेषाम्। इदन्त्वद्भुतमाहात्म्यं त्वत्कथामृतमित्याहुः विद्याधराः - **त्वन्माययेति**। त्वन्मायया त्वत्सङ्कल्पेन अर्थं सर्वपुरुषार्थसाधनं नृदेहमभिपद्य अस्मिन् कलेवरे तदनुबन्धिनि च ममाहमिति दुर्मतिं दुर्बुद्धिं कृत्वापि। दुर्मतिरिति प्रथमान्तपाठेऽहमिति शेषः। अहम्ममाभिमानं कृत्वेत्यर्थः। अत एव दुर्मतिः वैषयिकसुखलाभे दुःखितचित्तोऽपि उत्पथैः लोकवेदमर्यादोल्लङ्घिभिः स्वैः पुत्रादिभिः क्षिप्तोऽपि तिरस्कृतोऽपि असद्विषयेषु प्रकृतिपरिणामरूपशब्दादिविषयेष्वासक्तोऽपि यदि युष्मत्कथामृतनिषेवकः युष्मत्कथैवामृतं तन्नितरां[1] सेवत इति युष्मत्कथामृतनिषेवकः। सेवनमत्र श्रवणश्रावणादिरूपं विवक्षितं, तर्हि आत्ममोहम्[2] आत्मनो मोहम्[2] अहङ्कारममकाररूपं मोहम् उद्व्युदस्येत् उच्चैर्व्युदस्येत् परित्यजेत् मुक्तो भवेदिति भावः। अहम्ममाभिमानग्रस्तस्य असद्विषयप्रवणस्याऽऽत्ममोहनिवर्तनद्वारा मुक्तिसाधनं त्वत्कथामृतमेव नान्य उपायोऽस्तीति इदं त्वत्कथामृतमाहात्म्यमत्यद्भुतमिति भावः॥ ४४॥

ब्राह्मणास्तु तावदास्तां कथामृतमाहात्म्यम् इदं तु अद्भुततमं त्वन्नाममाहात्म्यमिति कथयिष्यन्तः प्रकृतयज्ञनिर्वृत्यभिकाङ्क्षया यज्ञयज्ञसाधनमूर्तित्वेन स्तुवन्तस्तत्प्रसादं प्रार्थयन्ते - **त्वमिति** त्रिभिः। त्वं क्रतुर्यज्ञः हविः पुरोडाशादिः सदस्याश्च ऋत्विजश्च ते त्वमेव हुताशस्त्वेतारूपः देवता इन्द्रादयः अग्निहोत्रम्[3] अग्निहोत्राख्यकर्मविशेषः। क्रतुरित्यनेन युगात्मकत्वमुक्तम्। अग्निहोत्रमिति होमात्मकत्वम्, देवतोद्देशेन द्रव्य त्यागात्मको यागः, स एव प्रक्षेपादिको होमः। सर्वत्र सामानाधिकरण्यं शरीरात्म भाव निबन्धनम्॥ ४५॥

**विज०** अनेनापि मदाशङ्कामुन्मूलयति - **यत्तेजसेति**। यस्य हरेस्तेजसा "यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्" (भ.गी. 15-12) इति वचनात् सुसमिद्धतेजाः पूज्यत्वेन सम्यक् प्रवृद्धं तेजो बलं यस्य स तथा। अहं जातवेदा अध्वरे यज्ञे आज्यसिक्तमाज्येन श्रृतं[4] हव्यं वहामि देवान् प्राप्य विभज्यार्पयामीत्यर्थः। "ओश्रावय अस्तु श्रौषट् यज ये यजामहे। वौषट्" इति यजुर्वेदगतैर्यजुर्भिः पञ्चमन्त्रैः स्विष्टं सुष्ठु पूजितं तं पञ्चविधं पञ्चधा विभक्तविग्रहं यज्ञं यज्ञपुरुषं यज्ञेशं यज्ञभावनं यज्ञभुजमित्येवंविधं भगवन्तं प्रणतोऽस्मीत्यन्वयः। यज्ञं यज्ञेशमित्यादिपञ्चविधमिति वा योज्यम्। उक्तं च "यज्ञो यज्ञपुमांश्चैव यज्ञेशो यज्ञभावनः। यज्ञभुक् चेति पञ्चात्मा यज्ञेष्विज्यो हरिः स्वयम्।" (तन्त्रसारे) इति, "ओश्रावयास्तु श्रौषड्यजाभो ये यजामहे। वषट्कारान्तकैर्नित्यं यजुर्भिः पञ्चभिर्विभुः" (तन्त्रसारे) इति॥ ४१॥

---

1. W. omits नितरां 2--2. A,B,T omit 3. A,B,T omit अग्निहोत्रम् 4. A,B युतं

कल्पापाये प्रलये स्वेन विकृतं कार्यरूपं जगदुदरीकृत्य उदरे निधाय यज्जलं सृष्टिकाले त्वया पीतं तस्मिन् सलिले उरगेन्द्र एवाधिकं शयनम् उरगेन्द्राधिशयनं तस्मिन्नाद्यः पुमांस्त्वं शेषे। अत्र प्रमाणं चाहुः - सिद्धैर्मुक्तैर्वैदैर्वा विमृशिता विचारिता अध्यात्मनः परमात्मनः पदवी यस्य स विमृशिताध्यात्मपदविः। य एवंविधः श्रीनारायणः स एव नान्यः। अद्य नोऽक्ष्णोः पथि चक्षुर्विषये चरसि भृत्यानस्मानवसि। च शब्देन भृत्यरक्षणमेव प्रयोजनं नान्यदित्यर्थं निर्धारयति। "नैतत्स्वरूपं भवतः" (भाग. 4-7-31) इत्यादिना यदुक्तं तन्निर्धारितमनेनेति॥ ४२॥

हे देव! आशासानाः फलमाकाङ्क्षमाणा य एते मरीच्यादयो य एते ब्रह्मेन्द्राद्या देवगणा यएते रुद्रपुरोगा भूतगणा इतीदं विश्वं विभून्नो यस्य तव क्रीडाभाण्डं क्रीडोपकरणं वर्तत इत्यन्वयः। हे नाथ! तस्मै ते तुभ्यं नित्यं नमः करवाम इत्यनेनापि सर्वशङ्कोन्मूलिता॥ ४३॥

अव्यक्तादेस्त्वद्रूपकल्पनायाः त्वदिच्छाधीनत्वात् त्वत्प्रसादेनैव निरासः स्यादित्याशयेन विद्याधराः स्तुवन्तीत्याह - **त्वन्माययेति**। त्वन्मायया त्वदिच्छया त्वदधीनया प्रकृत्या च रचितमर्थं देहकलत्रादिलक्षणमभिपद्य दुर्मतिः दुःखितमतिः अस्मिन् कलेवरे ममाहमिति मतिं कृत्वाऽत एव उत्पथैः दुर्मार्गवर्तिभिः स्वैरिन्द्रियैः क्षिप्तोऽसत्स्वमङ्गलेषु विषयेषु लालस उत्कण्ठावानपि पुमान् युष्मत्कथारसनिषेवकः, आत्मा मुह्यत्यनेनेत्यात्ममोहः संसारः तमुद्व्युदस्येन्निरस्यतीत्यन्वयः॥ ४४॥

ब्राह्मणस्तुतिव्याजेन[1] हरेः सर्वस्वातन्त्र्यं द्रढयति[2] - **त्वं क्रतुरिति**। त्वं क्रतुरित्याद्यभेदेनोक्तिरन्तर्यामिविषयेति ज्ञातव्यम्। तदुक्तम् - "सर्वशब्दाभिधेयत्वं सर्वान्तर्यामिकत्वतः। न तु सर्वस्वरूपत्वात्सर्वभिन्नो यतो हरिः" (मात्स्ये) इति। अपभ्रष्टचेतनैक्याभावेऽपि ब्रह्मरुद्रादिविशिष्टचेतनैक्यं किं न स्यादिति चेत्तन्न प्रमाणविरुद्धत्वात्। तदुक्तम् - "अन्तर्यामिस्वरूपेण ब्रह्मरुद्राद्यभिन्नता। न तु जीवस्वरूपेण जीवा भिन्ना यतो हरेः॥ विशेषाभेदवचनं सन्निधानविशेषतः। सन्निधानं तु तत्प्रोक्तं सामर्थ्यव्यञ्जनं हरेः॥" (भविष्यत्पुराणे) इति॥ ४५॥

**त्वं पुरा गां रसाया महासूकरो[3] दंष्ट्रया पद्मिनीं वारणेन्द्रो यथा।**
**स्तूयमानो नदँल्लीलया[4] योगिभिर्व्युज्जहर्थ[5] त्रयीगात्र यज्ञक्रतुः॥ ४६॥**

---

1. A,B °णा 2. A,B °न्ति 3. M. Ma, Ms, महान्सू° 4. W नु° 5. V °हाथ

## सामगा ऊचुः

स[2] प्रसीद त्वमस्माकमाकाङ्क्षतां दर्शनं ते परिभ्रष्टसत्कर्मणाम्।
कीर्त्यमाने[3] नृभिर्नाम्नि[4] यज्ञेश ते यज्ञविघ्नाः क्षयं यान्ति तस्मै नमः ॥ ४७ ॥

## मैत्रेय उवाच

इति दक्षः कविर्यज्ञं भद्रं रुद्राभिमर्शितम्[5]।
कीर्त्यमाने हृषीकेशे सन्निन्ये[6] यज्ञभावने ॥ ४८ ॥
भगवान् स्वेन भागेन सर्वात्मा सर्वभागभुक्।
दक्षं बभाष आभाष्य प्रीयमाण इवानघ ॥ ४९ ॥

## श्रीभगवानुवाच

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयं दृगविशेषणः ॥ ५० ॥

**श्रीध० त्वमिति**। गां पृथ्वीं रसायाः रसातलद्दंष्ट्रया व्युज्जहर्थ[7] विशेषेणोद्धृतवानसि। योगिभिः स्तूयमानः। हे त्रयीगात्र! वेद मूर्ते! यज्ञो यागः सयूपस्तद्विशेषः क्रतुः तद्रूपी यज्ञसङ्कल्परूप इति वा, यज्ञः क्रतुः कर्म यस्येति वा ॥ ४६ ॥

**स इति**। स त्वमस्माकं त्वद्दर्शनमाकाङ्क्षतां प्रसीद अस्मद्यज्ञमप्युद्धरेत्यर्थः। न चाशक्यं तवैतत्। यतस्तव नाम्नि कीर्त्यमान एव यज्ञविघ्नाः क्षयं यान्ति एवंप्रभावो यः तस्मै नमः ॥ ४७ ॥

**इतीति**। इत्यनेन प्रकारेण सर्वैः कीर्त्यमाने[8] हे भद्र! विदुर! सन्निन्ये प्रवर्तयामास ॥ ४८ ॥

**भगवानिति**। सर्वात्मतया सर्वभागभोक्ताऽपि भगवान्[9-] निजानन्दतृप्तोऽपि[-9] स्वेन भागेन त्रिकपालपुरोडाशेन प्रीयमाण इव दक्षमाभाष्य सम्बोध्य बभाषे ॥ ४९ ॥

---

1. A,B,G,I,J, Ms,T,V,W, omit सामगा ऊचुः 2. M, Ma, Ms, V सम्प्रं 3. M, Ma ना 4. M, Ma °स्सामगीरीश 5. A,B,G,I,J, Ms,T °व° 6. M, Ma, Ms उ° 7. V °हाथ 8. B- omit कीर्त्यमाने 9. B- omit

**अहमिति**। योऽहं जगतः कारणम् आत्मा चेश्वरश्च उपद्रष्टा साक्षी च स्वयंदृक्[1] स्वयंप्रकाशश्च निरुपाधिश्च[2] स एव ब्रह्मा च शर्वश्चेत्यन्वयः ॥ ५० ॥

**वीर०** यज्ञानुष्ठानोपयुक्तपृथिव्युद्धर्ता यज्ञाऽवबोधिविध्यर्थवादादिरूपेणावस्थितवेदमूर्तिश्च त्वमेवेत्याहुः - **त्वमिति**। पुरा कल्पादौ महासूकरः श्वेत वराहरूपस्त्वं[3] वारणेन्द्रो गजश्रेष्ठः पद्मिनीं यथा सरसीमिव, अभूतोपमेयं, न हि वारणेन्द्रेण पद्मिन्युद्धरणं क्वचिद्दृष्टं, रसाया रसातलात् गां पृथिवीं द्रंष्ट्रया नुदन्[4] उत्पाटयन् योगिभिः स्तूयमानः व्युज्जहर्थ विशेषेणोद्धृतवानसि। हे त्रयीगात्र! वेदमूर्ते! अतस्त्वमेव यज्ञक्रतुः यज्ञो यागः क्रुतराराधनरूपकर्म[5] यस्य सः। यद्वा हे यज्ञ! विष्णो! "यज्ञो वै विष्णुः" (तैत्ति.ब्रा. 1-2-5) "यज्ञायाचरतः कर्म" (भगी. 4-23) इति श्रुतिस्मृतिभ्यां क्रतुः क्रतुमूर्तिरित्यर्थः ॥ ४६ ॥

स एवम्भूतस्त्वं परिभ्रष्टं सत्कर्मवैदिकं त्वदाराधनरूपं यागाख्यं कर्म येषाम्। अत एव तद्भ्रंशपरिहाराय तव[6] दर्शनमाकाङ्क्षतां कामयमानानाम् अस्माकं प्रसीद प्रसन्नो भव। हे यज्ञेश! यस्य ते तव नाम्नि नृभिः नरैः कीर्त्यमाने सति यज्ञस्य विघ्नाः क्षयं नाशं यान्ति तस्मै ते नमः ॥ ४७ ॥

दक्षादीनां स्तुतिमुपसंहरन् तैः स्तुतो भगवान् तानगृह्णन् आबभाष इत्याह मैत्रेयः - **इतीति** द्वाभ्याम्। हे भद्र! विदुर! इति अनेन प्रकारेण सर्वैर्विश्वभावने विश्वकारणे हृषीकेशे कीर्त्यमाने सति कविः कर्मसु कुशलो दक्षः रुद्राऽभिमर्शितं रुद्रेण विहतं यज्ञं सन्निन्ये प्रवर्तयामास। रुद्रेण संस्पृष्टमिति वा पूर्वं रौद्रभागाभावात् रुद्रानभिमर्शितमिदानीं तु तद्भागप्रदानात् तदभिमर्शितमित्य-वगन्तव्यम् ॥ ४८ ॥

सर्वात्मा सर्वस्यात्मा सर्वात्मतया सर्वभागभोक्ताऽपि भगवान् स्वेन भागेन त्रिकपालपुरोडाशेन प्रीयमाण एव दक्षमाभाष्या-भिमुखीकृत्य बभाषे ॥ ४९ ॥

तत्र हितोपदेष्टा भगवान् कार्यकारणरूपेणावस्थितः प्रकृतिपुरुषशरीरकोऽहमेक एव मच्छरीरभूतब्रह्मरूद्राख्यजीवाऽनुप्रवेशेन जगत् सृजामि[7] संहरामि स्वावताररूपेण पालयामि। अतो मत्तः मच्छरीरभूताच्च न व्यतिरिक्तं वस्त्वस्तीति अब्रह्मात्मकस्वतन्त्रवस्तु-दृष्टिः देहात्मभ्रान्तिस्वतन्त्रात्मभ्रान्तिमूला न तु तात्त्विकी, सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वदृष्टिस्तु तात्त्विकी मुक्त्युपायभूतेत्याह - **अहमिति** पञ्चभिः। अहं निरस्तनिखिलहेयत्वेन समस्तकल्याणगुणात्मकत्वेन च भवद्भिः स्तुतः समाभ्यधिकरहितोऽहं ब्रह्मा च सर्वश्च

---

1. B, J, V, Va, omit स्वयंदृक् 2. V omits निरुपाधिश्च 3. A,B,T वा° 4. A,B,T omit नुदन् 5. A,B,T रूपं 6. A,B,T त्वत्सन्दं 7. W स्रक्ष्यामि

मदनुप्रविष्टत्वेन मत्सृज्यत्वेन मदायत्तसृष्ट्याद्युपयुक्तज्ञानवत्त्वेन च प्रसिद्धौ मत्प्रयोज्यौ ब्रह्मरुद्रौ च जगतः परं कारणं स्थित्युद्भव लयकारणं[1] "अनेन जीवेनात्मानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" (छान्दो.उ. 6-3-2), "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" (श्वेता.उ. 6-18), "एतौ द्वौ विबुधश्रेष्ठौ प्रसादक्रोधसम्भवौ। मदादर्शितपन्थानौ सृष्टिसंहारकारकौ।" (भार. 12-328-17), "सृष्टिं ततः करिष्यामि त्वामाविश्य प्रजापते" (वि.ध.पु. 68-52) इत्यादि श्रुतिस्मृत्यनुरोधादयमर्थो लभ्यते। ननु प्रतिनियतसृष्ट्याद्यधिकारभेदेन पृथक्त्रयाणां कारणत्वेऽभिहिते कथं कृत्स्नस्य जगतः ब्रह्मैककारणत्वमुच्यते। अत एव हि तत्र तत्र "ब्रह्मणो वै सर्वा देवता नकिरिन्द्रत्वदुत्तरः अग्निः सर्वा देवता एक एव रुद्रः सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता पृथिव्या जनिताऽग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितेति विष्णोः आपो वा इदं सर्वम्" इत्यादिभिः ब्रह्मणाग्नीन्द्रादीनामपि समाभ्यधिकरहित्यप्रतीतेरर्थवत्वमव्याकुलम्। अत्रोच्यते, सर्वेषां पृथक्कारणत्वे समाभ्यधिकराहित्ये च प्रतीतेऽपि तद्व्याहतम् अन्यपरतयाधिगतं[2] चेत्यनादरणीयम्। अत एव तत्त्वप्रधानेषु सृष्टिप्रलयप्रकरणेषु यदेव स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयबृहदुक्तं तदेकमेव ब्रह्म जन्मस्थितिप्रलयसमुदायरूपेण जिज्ञास्यलक्षणेन लक्षितं सूत्रकारेण "जन्माद्यस्य यतः" (ब्र.सू. 1-1-2) इति। तत्र हि कारणभूतवस्तुपरामर्शिना 'यत' इत्यनेन कारणवाक्येषु "छागो वा मन्त्रवर्णात्" इति सौत्रन्यायात् सद्ब्रह्मादिशब्दानां सामान्यानां नारायणादिविशेषपर्यवसायित्वावश्यम्भावात् सर्वश्रुतीनां नारायण एव पर्यवसानभूमिरिति "यतो वा इमानि" (तैत्ति.उ. 3-1) इत्यादि श्रुतेः हृदयमिति सूत्राकाराभिप्रायो ज्ञायते। अतः सृष्ट्यादिभिर्लक्ष्यं कारणमेकमेव न तु नानाभूतम्। "अहं ब्रह्मा च शर्वश्च" इत्यादिभिः प्रतिनियतस्थित्यादिकारणत्वकीर्तनं तु प्रयोज्यप्रयोजकभावेन। नन्वेवमपि सृष्ट्यादीनां प्रत्येकं लक्षणत्वात् तल्लक्ष्यमपि[3] कारणं वस्तु नानाभूतमिति चेन्न, समुदायस्यैव लक्षणत्वात् सृष्टिस्थितिप्रलयानां समुदायो हि लक्षणं न त्वेकैकम्। समुदायस्य लक्षणत्वं हि श्रुतिस्वारस्यादवसीयते "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" (तैत्ति.उ. 3-1) इत्यत्र न प्रतिवाक्यं तद्ब्रह्मेत्युक्तम् अन्यथैकतरलक्षणवैयर्थ्यञ्च स्यात्। ननु समुदितं न लक्षणं व्यावर्त्याऽभावात्, न हि जगदुत्पत्तौ निमित्तोपादानभूतं स्थित्यादिकारणत्वव्यवच्छेद्यं किमपि वस्त्वस्तीति चेत् सत्यम्। व्यवच्छेद्यं नेष्यते, तथापि श्रुत्यनुरोधात् सूत्रकारेण जन्मादीत्येकवचनान्तेन समुदायवाचिना समुदायस्य लक्षणत्वमुक्तं, श्रुतिश्च "तद्विजिज्ञासस्व" (तैत्ति.उ. 3-1) इति विधित्सितोपासनोपयोगिनिरतिशयबृहत्त्वविपरीतबृहत्त्वशङ्काव्यवच्छेदार्थं समुदायमाह। शङ्कितव्यवच्छेदेनापि हि सप्रयोजनत्वं स्यात्, लक्ष्याकारविपरीताकारशङ्कानिराकरणेन विना लक्ष्याकारनिश्चयाऽयोगात्। न च जन्मादिष्वेकैककारणत्वं

1. W प्रलय 2. W °व° 3. T omits तत्

लक्ष्याकारविपरीतशङ्कानिराकरणक्षमं, तथा हि उत्पत्तिकारणत्वेऽभिहितेऽपि स्थित्यादिकारणत्वं न चेत् तदनुगुणज्ञानशक्तिविरहात् स्थितिप्रलयकारणभूतवस्त्वन्तरसद्भावाच्च जन्ममात्रकारणस्य निरतिशयबृहत्त्वं न स्यात्। मुक्तेर्लयान्तर्भावात् मोक्षप्रदतयोपास्यस्यैव प्राप्यत्वाच्च मोक्षप्रदत्वप्राप्यत्वानुगुणैश्च बृहत्त्वं न सिध्यति । अतो जन्मकारणत्वमात्रस्य समस्तवस्तुव्यवच्छेदक्षमत्वेऽपि जन्मादिसमुदायकारणत्वस्यैव निरतिशयबृहत्त्वौपयिकत्वात् सृष्टिस्थिति प्रलयसमुदायकारणत्वं लक्षणमिति ज्ञापितम् । अतः समुदायस्यैव लक्षणत्वादपि तल्लक्षणं वस्त्वेकमेव साक्षाद्ब्रह्मादीन् प्रति प्रयोजकत्वेन च कारणमिति सुस्थम् । नन्वेकस्यैव तव सद्वारकतयाऽद्वारकतया च कारणत्वेऽपि सृष्टेः प्राक् कथमवस्थितः कथं भ्रक्ष्यसि कथन्तरां ब्रह्मरुद्रादीनां संज्ञानां त्वयि पर्यवसानमित्यत्राह सार्धेन आत्मेश्वर इति। आत्मनः स्वस्य ईश्वरः आत्मेश्वरः। "पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम्" (म.ना.उ. 9-3) इति श्रुतेः। अनेन स्वस्य प्रयोजकान्तराप्रयोज्यत्वमुक्तम्। आत्मनां स्वस्मिन् लीनानां जीवानामीश्वरः अन्तः प्रविश्य नियन्तृत्वेनावस्थित इति वा उपद्रष्टा उपदृश्यदेवमनुष्यादिनामरूपाभावात् केवलं द्रष्टृत्वेनावस्थित इत्यर्थः । अनेन पदद्वयेन नामरूपविभागानर्हातिसूक्ष्मप्रकृति-[1]पुरुषशरीरकत्वं फलितम् । "यस्याक्षरं शरीरं यस्याव्यक्तं शरीरम्" । (सुबा.उ. 7-1), "असद्वा इदमग्र आसीत् । तद्धेदन्तर्ह्यव्याकृतमासीत्" (तैत्ति.उ. 2-7) इति च श्रवणात् । एवञ्च नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मचिदचिद्वैशिष्ट्येनैव कारणवस्तुस्थितिरित्युक्तं भवति। कारणत्वोपयुक्तकल्याणगुणत्वमाह - स्वयंदृगिति। नित्याविर्भूतासङ्कुचितज्ञान इत्यर्थः । स्वयम् आत्मना पश्यतीति स्वयंदृगिति व्युत्पत्तेः । अनेन निमित्तत्वोपयुक्तनिरुपाधिकसर्वज्ञत्वमुक्तम् । स्वयंदृगिति उपादानत्वोपयुक्त-सर्वशक्तित्वादेरप्युपलक्षणम् । हेयगुणराहित्यमाह - अविशेषणः विशेषणानि प्रकृतिपुरुषगतजडत्वपरिणामित्वाऽसर्वज्ञत्वदुःख-त्वादयो व्यावर्तकाकाराः तद्रहित इत्यर्थः । अविशेषेण इति न सर्वगुणनिषेधः, स्वयंदृगिति कल्याणगुणविधानात् कारणत्वोपयुक्तगुणकथनसापेक्षितत्वान्निषेधस्य विहितेतरविषयत्वाच्च॥ ५० ॥

विज० रसाया रसातलात् योगिभिः सनकादिभिः यज्ञक्रतुर्यज्ञसङ्कल्पः ॥ ४६ ॥

सामगीः सामगायनध्वनिः तया परिभ्रष्टानि विम्रस्तानि सत्कर्माणि येषां ते तथोक्ताः तेषां, यज्ञविघ्ना राक्षसाः ॥ ४७ ॥

भद्ररुद्रो वीरभद्रः । उन्निन्ये ऊर्ध्वं नीतवान् समासं कृतवानित्यर्थः ॥ ४८ ॥

सर्वात्मेति हेतुगर्भविशेषणम्। सर्वभूतान्तर्यामित्वेन सर्वभागभुक् स्वेन भागेन हेतुना सर्वभागं भुङ्क्ते इति सर्वभागभुक् पूर्वं प्रीयमाण इदानीं प्रीयमाण इत्युभयार्थाभिप्रायेणेवशब्दः "इवोभये च सादृश्ये" इत्यभिधानात् यथा प्रीयमाणः प्रियं वक्ति तथेति वा॥ ४९ ॥

1. A,B,T °र्हसू°

ननु भगवान् स्वागतं बभाष इति न युक्तं, दक्षस्य प्रागेव तत्र स्थितत्वात् अन्यद्वक्तव्यं न प्रतीयत इत्याशङ्क्य स्वात्मानं दक्षायोपदिशतीत्याह - **अहमिति**। आत्मेश्वरः आत्मनां जीवानामीश्वर ईशनशीलः उपद्रष्टा सर्वस्मादधिको द्रष्टा स्वयंदृक् स्वयंप्रकाशः अविशेषणः सर्वोत्तमोऽहं विष्णुर्जगतः परं पृ-पालनपूरणयोरिति धातुः, पालकं कारणं ब्रह्मा ब्रह्मसंज्ञोऽहं जगतः परमुत्कृष्टं कारणं, विक्षेपकं संहारकं 'कृ विक्षेप' इति धातुः[1]। मामेवंविधं जानीहीति शेषः ॥ ५० ॥

**आत्ममायां[2] समाविश्य सोऽहं[3] गुणमयीं द्विज।**
**सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां[4] क्रियोचिताम्[5] ॥ ५१ ॥**

**तस्मिन् ब्रह्मण्यद्वितीये केवले परमात्मनि।**
**ब्रह्मरुद्रौ[6] च भूतानि भेदेनाज्ञोऽनुपश्यति[7] ॥ ५२ ॥**

**यथा पुमान्न स्वाङ्गेषु शिरः पाण्यादिषु क्वचित्।**
**पारक्यबुद्धिं कुरुते एवं भूतेषु मत्परः ॥ ५३ ॥**

**त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्।**
**सर्वभूतात्मनां[8] ब्रह्मन् स शान्तिमधिगच्छति ॥ ५४ ॥**

## मैत्रेय उवाच

**एवं भगवताऽऽदिष्टः प्रजापतिपतिर्हरिम्।**
**अर्चित्वा क्रतुना स्वेन देवानुभयतोऽयजत्[9] ॥ ५५ ॥**

**श्रीध०** कुत इत्यत आह - **आत्मेति**। अहमेवाऽऽत्ममायामधिष्ठाय जगत्सृष्ट्यादि कुर्वन् स च स च सन् सर्वशक्तिः क्रियोचितां कर्मशक्तियोजितां[10-10] संज्ञां धारयामि ॥ ५१ ॥

**तस्मिन्निति**। तस्मिन् केवलेऽद्वितीये समानासमानजातीयभेदरहिते ब्रह्मणि मयि ब्रह्मरुद्रौ भूतानि च भेदेनाज्ञः पश्यतीत्यर्थः ॥ ५२ ॥

1. A,B, omit धातुः 2. M, Ma, Ms स आत्ममायामाविश्य 3. M, Ma, Ms योऽहं 4. M, Ma, Ms संज्ञाः 5. M, Ma, Ms °ताः
6. M, Ma, Ms देहात्मबुद्धिर्भूतानि 7. W °ज्ञो विप° 8. M, Ms °ना 9. M, Ma देवान्भगवतो° 10. B,J,V,Va omit

विद्वांस्तु भेदं न पश्यतीति सदृष्टान्तमाह - **यथेति**॥ ५३॥

तस्मादेवमैक्यं पश्यन् कृतार्थो भवतीत्याह - **त्रयाणामिति**। त्रयाणां[1] ब्रह्मविष्णुरुद्राणाम्[1] एको भावः स्वरूपं येषाम्॥ ५४॥

**एवमिति**। स्वेन क्रतुना त्रिकपालेष्ट्या उभयतः अग्नैः प्रधानेन च॥ ५५॥

**वीर०** सोऽहं सूक्ष्मप्रकृतिपुरुषशरीरको निरस्तनिखिलहेयः समस्तकल्याणगुणात्मकोऽहं हे द्विज ! दक्ष ! गुणमयीं त्रिगुणात्मिकाम् आत्ममायाम् आत्मीयां प्रकृतिं समाविश्य जीवद्वारा सङ्कल्परूपज्ञानेनानुप्रविश्य जगत् सृजन् ब्रह्मद्वारा सृजन् रक्षन् अद्वारा पालयन्, हरन् रुद्ररूपेण संहरन्, क्रियोचितां सद्वारकाद्वारकसर्गादिक्रियोचितां संज्ञां ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकां संज्ञां दध्रे बिभर्मि। अतः कृत्स्नचिदचिदात्मकप्रपञ्चरूपकार्यरूपेण सूक्ष्मावस्थ[2]प्रकृतिपुरुषशरीरकत्वेन कारणरूपेणावस्थितोऽहमेक एवेति न मद्व्यतिरिक्तं वस्त्वस्तीति भावः। तथा च श्रूयते "नामरूपे व्याकरवाणि" (छान्दो.उ. 6-3-2) "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्।" (तैत्ति.उ. 2-6) इति। 'नन्वनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीत्यनुप्रवेशपूर्वकत्वं सृष्टेः प्रतीयते 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इत्यनुप्रवेशस्य सृष्टिपूर्वकत्वं प्रतीयते, कथमेतद्विप्रतिषिद्धमुपपद्यते ? उच्यते, अत्र ह्यनुप्रवेशसृष्ट्योः समानकर्तृत्वमात्रमेव विवक्षितं, न तु पौर्वापर्यमपीति ज्ञापनाय विप्रतिषिद्धनिर्देशः, अत एव हि "तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति" (पु.सू. 2-7) इत्यनुप्रवेशसृष्ट्योः यौगपद्यमन्यत्र श्रुतम्[3]। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इति (तैत्ति.उ. 2-6) स्थित्यर्थानुप्रवेशो वा वेदितव्यः॥ ५१॥

एवं हि सर्वस्य मदात्मकत्वात् मद्व्यतिरिक्तस्वतन्त्रवस्त्वभावात् अमदात्मकस्वतन्त्रवस्तुदृष्टिर्देहात्मभ्रान्तिमूलेत्याह - **तस्मिन्निति**। तस्मिन् कार्यावस्थकारणावस्थप्रकृतिपुरुषेश्वरे किं नियन्तृत्वं राजादिवन्नेत्याह परमात्मनि प्रकृतिपुरुषयोरन्तःप्रविश्य तद्गतैर्दोषैरस्पृष्टे प्रशासनेन भर्तरि। एवमेव हि परमात्मशब्दार्थो गीताचार्येणोक्तः - "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः" (भगी. 15-17) इति। अत्र लोकत्रयमित्यनेन प्रकृतिपुरुषावुक्तौ तदात्मकत्वाल्लोकत्रयस्य। आविश्येत्यत्र "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्" ( तैत्ति.आ. 3-11) इति श्रुत्यन्तरानुरोधेन[4] अन्तः प्रविश्येत्यर्थः। अव्यय इत्यनेनाविकारित्ववाचिना प्रकृतिपुरुषगतदोषास्पर्शित्वमुक्तम्। ईश्वर इत्यनेन नियन्तृत्वमभिहितम्। बिभर्तीत्यनेन धारकत्वं फलितम्। किमेवम्भूतस्त्वदन्यः कश्चिदस्ति ? नेत्याह। अद्वितीये स्वसमानद्वितीयवस्त्वन्तररहित इत्यर्थः। "यथा चोलनृपः सम्राडद्वितीयोऽस्ति भूतले" इतिवत्। केवले स्वाधिकवस्त्वन्तररहिते। तथा च श्रूयते "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" (श्वेता.उ. 6-8) स्मर्यते च

---

1. W. omit अवस्थ 2. A,B,T स्फुटम् 3. A,B,T श्रुत्यनुरोधात् 4. A,B,T विसद्धर्थ°

"न त्व त्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः" (भगी. 11-43) इति। यदि ब्रूयादद्वितीय इति स्वसमानवस्तुनिषेधादेव तदधिकवस्तुनिषेधः कैमुत्न्यायसिद्ध इति। तर्हि केवले निरस्तनिखिलहेये ब्रह्मणि स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयबृहति अनन्तकल्याणगुणात्मकस्वरूप इत्यर्थः। एवम्भूते मयि भूतानि मदन्तरात्मकतया मदायत्तसत्तास्थितीनि मच्छरीरतया मदपृथक्सिद्धत्वेन स्थितानि ब्रह्मरुद्रादिभूतानि भेदेन पृथक्स्थित्यर्हत्वेन[1] स्वतन्त्राणि अज्ञो ब्रह्मात्मकत्वज्ञानरहितः देहे[2] एव आत्मबुद्धिश्च विपश्यति। अनेन देहात्मभ्रान्तिः स्वतन्त्रात्मभ्रान्तिश्च भेददर्शनमूलमित्युक्तम्॥ ५२॥

सर्वस्य मदात्मकत्वज्ञानिनस्तु न भूतानि भेदेन पश्यन्तीति सदृष्टान्तमाह - **यथेति**। पुमान् देहात्मभ्रान्तिमानपि पुरुषः स्वाङ्गेषु स्वपृथक्स्थित्यनर्हेषु शिरःपाण्याद्यवयवेषु मध्ये क्वचित् कस्मिंश्चिदप्यवयवे पारक्यबुद्धिं परस्येदं परकीयं तस्य भावः पारक्यं तेन पृथक्सिध्यनर्हत्वं लक्ष्यते, परकीयं ह्यङ्गं स्वस्मात् पृथक्स्थित्यर्हं तद्बुद्धिं न कुरुते, एवं मत्परः मदासक्तचित्तः सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वज्ञान-सम्पन्न इत्यर्थः। भूतेषु मत्पृथक्स्थित्यनर्हत्वबुद्धिं कुरुत इत्यर्थः॥ ५३॥

एवं कृत्स्नस्य जगतः स्वात्मकत्वेन स्वपृथक्स्थित्यनर्हविशेषणत्वेन[3] स्वप्रकारतामुपपाद्य पृथगीश्वरत्वेन शङ्कितयोर्ब्रह्मरुद्रयोरपि मदायत्तसत्तादिमत्वेन मत्प्रकारत्वज्ञानं मनः प्रशान्तिद्वारा मुक्तिसाधनमित्याह - **त्रयाणामिति**। हे ब्रह्मन्! दक्ष ! एकभावानाम् एको भावः सत्ता येषां तेषां, भाव इति स्थित्यादीनामप्युपलक्षणम्, एकविधसत्तादिमतां मदायत्तसत्तादिमतामित्यर्थः। एकस्मिन् भावो येषामिति व्यधिकरणबहुव्रीहिर्वा, त्रयाणां ब्रह्मविष्णुरुद्राणां, तत्र ब्रह्मरुद्रयोः परमात्मायत्तसत्तादिमत्त्वकथनेन[4] तयोः परमात्मानं प्रति अपृथक्सिद्धप्रकारतोक्ता। विष्णोस्तु विष्ण्वायत्तसत्तादिमत्वकथनेनानन्याधीनसत्तादिमत्त्वं फलितम्। तथा च श्रूयते "स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः" (छान्दो.उ. 7-24-1) "पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम्" (म.ना.उ. 9-3) इति। एकशब्देन मूर्तित्रयातिरिक्तं परं वस्तूपलक्ष्य त्रयाणां तदायत्तभावादिमत्त्वकथनं त्वसङ्गतं, परत्वस्य जगत्कारणनिष्ठत्वात्, कारणत्वस्यात्मेश्वर उपद्रष्टेत्यादिना विष्णोरेव प्रतिपादितत्वात् तदतिरिक्तोत्कृष्टवस्त्वन्तराभावात् तस्मिन् ब्रह्मण्यद्वितीये केवले परमात्मनीति विष्णोः परत्वस्यात्रैवोक्तत्वाच्च एकभावानाम् एकस्वरूपाणामिति त्रयाणां तादात्म्यवर्णनञ्चायुक्तम्[5]। ब्रह्मरुद्रयोः कर्मवश्यत्वसृज्यत्वपाल्य-त्वनियाम्यत्वादेः "अनपहतपाप्मा वा अहमस्मि", "नारायणाद्रुद्रो जायते" (नारा.उ. ) इत्यादिषु श्रुतत्वाज्जीवत्वनिश्चयात्। यद्यपि "ब्रह्मा नारायणः शिवश्च नारायणः" (त्रिपाम.ना.उ. 2-8) "ब्रह्मा नारायणाख्योऽसौ कल्पादौ भगवान् यथा। प्रजाः ससर्ज भगवान् ब्रह्मा नारायणात्मकः" (वि.पु. 1-4-1, 2) "ततः स भगवान् विष्णुः रुद्ररूपधरोऽव्ययः" (वि.पु. 6-3-16) "ततः कालाग्निरुद्रोऽसौ

1. A,B,T देहात्मबु° 2. A,B,T °णस्व° 3. A,B,T °दिक° 4. A,B,T °स्यैवो° 5. A,B,T °नन्त्वयु°

भूत्वा सर्वहरो हरिः'' (वि.पु. 6-3-24) सर्गस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्॥ ससंज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः।'' (वि.पु. 1-2-66) इत्यादिप्रमाणात् त्रिमूर्त्यैक्यमङ्गीकार्यं, तथापि, ''[1-]नारायणाद्ब्रह्मा जायते[-1], नारायणाद्रुद्रो जायते नारायणात् द्वादशादित्या रुद्रा वसवः सर्वाणि छन्दांसि नारायणादेव समुत्पद्यन्ते, (नारा.उ. 1) एको ह वै नारायण आसीत्.'' (महा.उ. 1-1) ''न ब्रह्मा नेशान एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः स मुनिर्भूत्वा समचिन्तयत् तत एते व्यजायन्त विश्वे हिरण्यगर्भोऽग्निर्यमवरुणरुद्रेन्द्राः यन्नाभिपद्मादभवत् स महात्मा प्रजापतिः तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजाय त सोऽग्रे भूतानां मृत्युमत्यसृजत् त्र्यक्षं त्रिशिरस्कं त्रिपादं खण्डपरशुं ब्रह्मणः पुत्राय ज्येष्ठाय'' (नारा.उ. 1) ''ब्रह्मा दक्षादयः कालस्तथैवाखिलजन्तवः। विभूतयो हरेरेता जगतः सृष्टिहेतवः।'' (वि.पु. 1-22-31) ''रुद्रः कालान्तकाद्याश्च समस्ताश्चैव जन्तवः'' (वि.पु. 1-22-33) इत्यादिषु भगवतस्तयोश्च परस्परभेदावगमात् सामानाधिकरण्यस्य ''सृष्टिं ततः करिष्यामि त्वामाविश्य प्रजापते। हरो हरति तद्वशः'' (वि.ध.पु. 68-52) इत्याद्यानुगुण्येनान्तर्यामित्वेनाप्युपपत्तेः, भेदनिर्देशस्य स्वाभाविकभेदाभ्युपगमेन विना अनुपपत्तेश्च न त्रिमूर्तैक्यमुपपन्नम् तस्माद्यथोक्त एवार्थः। सर्वभूतात्मनां तत्र विष्णोः सर्वभूतात्मत्वम् ''एष सर्वभूतान्तरात्मापहतपप्मा दिव्यो देव एको नारायणः'' (सुबा.उ. 7) ''अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा'' (तैत्ति.उ. 3-11) ''ममान्तरात्मा तव ये चान्ये देहिसंज्ञिताः'' इत्यादिश्रुतिस्मृत्युक्तसर्वभूतान्तरात्मत्व[2]रूपमितरयोस्त्वणोश्चेतनस्य चेतनानन्तरव्याप्यत्वासम्भवेन सर्वभूतानां ब्रह्मरुद्राख्यजीवव्याप्यत्वासम्भवात् नान्तरात्मत्वरूपं सत्वभूतात्मत्वम्, अपि तु ''तद्धैतत् पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्च (बृह.उ. 1-4-10) (अहं) ''कक्षीवानृषि (रस्मि) र्विप्रः'' (ऋक्सं. 4-26-1) ''त्वं वाहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते तद्योहं योऽसौ सोऽहम्'' (जाबा.उ. ) ''अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनः'' ''आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च'' (ब्र.सू. 4-1-3) इत्यादि श्रुतिस्मृतिसूत्रोक्तविधया सर्वभूतान्तरात्मत्वेन प्रत्यक्षितपरमात्म[3]त्वरूपं कथमेकस्य सकृदुक्तस्य सर्वभूतात्मशब्दस्यार्थद्वयपरत्वम्? उच्यते - एकस्यापि सर्वभूतात्मशब्दस्य कृतैकशेषस्य बहुवचनान्तस्य निर्देशात् भिन्नार्थकानामपि शब्दानां सरूपाणामेकशेषविधानात् यथोक्तार्थपरत्वोपपत्तिः। अनेन ब्रह्मरुद्रयोः सर्वभूतान्तरात्मत्वेन प्रत्यक्षितमत्स्वरूपत्वेन ''प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'' (भगी. 7-17) ''ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'' (भ.गी. 7-18) इति मदुक्तरीत्या निरतिशयमत्प्रीतिविषयत्वात् मच्छरीरत्वाच्च तद्विषये कृतोऽपराधो मय्येव पर्यवस्यतीत्यभिप्रेतम्। एवं च ब्रह्मरुद्रपरौ सर्वभूतात्मशब्दौ सर्वभूतेष्वात्मा परमात्मा ययोस्ताविति व्यधिकरणबहुव्रीही वेदितव्यौ। एवम्भूतानां त्रयाणां यः पुमान् भिदां न पश्यति ईश्वरास्त्रय इति

---

1--1. A,B,T omit 2. A,T स्व 3. A,B,T स्व

न पश्यति अपि त्वेक एव ब्रह्मरुद्ररूपेण स्वावताररूपेण च स्थित इति पश्यतीत्यर्थः। पूर्वापरानुगुण्यात् प्रमाणान्तरानुरोधाच्च। हे ब्रह्मन्! स सर्वात्मकब्रह्मदर्शी शान्तिं मनःप्रशान्तिम् अधिगच्छति। शान्त्यधिगमद्वारा मुक्तो भवेदित्यर्थः॥ ५४॥

दक्षाध्वरप्रसङ्गमुपसंहरति मैत्रेयः - **एवमिति**। भगवतैवमादिष्टः प्रजापतीनां पतिः, प्रजापतिः ब्रह्मा पतिर्यस्य इति वा दक्षः। स्वेन स्वकर्तृकेन क्रतुना हरिमर्चयित्वा[1] स्वेन त्रिकपालवैष्णवयागेन हरिमर्चित्वेति वा उभयतो देवान् दिविष्ठान् भूमिष्ठाश्च अयजत्। स्वस्वभागादिभिर्यथायोग्यमाराधितवानित्यर्थः॥ ५५॥

**विज०** एतदेव स्पष्टयति - **स** इति। हे द्विज! दक्ष! योऽहमेवं त्रिरूपः स एवाहं सत्त्वादिगुणमयीम् आत्ममायां मदधीनजडप्रकृतिमाविश्य रजोगुणोपादनत्वेन ब्रह्माणं सृष्ट्वा ब्रह्माख्यमद्रूपेण तं प्रविश्य जगत् सृजन्, सत्त्वगुणप्रवर्तकत्वेन विष्णुरूपेण विश्वं रक्षन्, तमोगुणोपादनत्वेन शिवं सृष्ट्वा शिवाख्यमद्रूपेण तं प्रविश्य विश्वं, हरन्, संहरन् तत्तत्क्रियोचिताः संज्ञाः अभिवृद्धिहेतुत्वात् ब्रह्मनाम। सविलासव्याप्तिहेतुत्वाद्विष्णुनाम। संहारहेतुत्वाद्धरनामेति दध्र इत्यन्वयः। अनेन ब्रह्मरुद्रस्यमद्रूपाभ्यां विष्णुरूपेण चाहमेव जगत्सृष्ट्यादित्रयकृदित्यतो ब्रह्मशिवयोः प्रसिद्धयोः सृष्टिसंहारकर्तृत्ववचनं भ्रान्तिमूलमित्युक्तं भवति॥ ५१॥

एतदेव स्पष्टयति - **तस्मिन्निति**। योऽहं विश्वस्य मुख्यकारणं तस्मिन् मयिकेवले प्रकृतिसम्बन्धरहिते। ब्रह्मणि गुणपूर्णेऽद्वितीये समाधिकरहिते परमात्मनि स्थिते सति देहात्मबुद्धिर्देहोऽहमिति बुद्धिः यस्य स तथा। जीवो भूतानि ब्रह्मादीनि भेदेन स्वातन्त्र्येण स्वत एव सृष्ट्यादिप्रवृत्तिमन्ति न केनचित्रियतानीत्यनुपश्यतीत्यन्वयः। अज्ञ इति हेतुगर्भविशेषणम्। यद्वा भेदेन स्थितानि ब्रह्मादिभूतानि परमात्मन्यनुपश्यतीत्यभेदेनेति शेषः॥ ५२॥

अज्ञानिदर्शनमुक्त्वा ज्ञानिदर्शनप्रकारमाह - **यथेति**। पुमान् जीवः शिरःपाण्यादिषु स्वाङ्गेषु क्वचिदपि पारक्यबुद्धिं यथा न कुरुते किन्तु स्वकीयबुद्धिमेव करोति, एवं मत्परो ब्रह्मादिभूतेषु मामकत्वबुद्धिं करोति न स्वातन्त्र्यबुद्धिम्॥ ५३॥

अतः फलितमाह - **त्रयाणामिति**। हे ब्रह्मन्! एवमुक्तप्रकारेण ममैव स्वातन्त्र्यादन्येषामस्वातन्त्र्यात् ब्रह्मशिवस्थत्वेन ब्रह्मशिवाख्ययोर्मद्रूपयोः पृथक्स्थितस्य विष्ण्वाख्यस्य मद्रूपस्य चेति त्रयाणां त्रित्वसङ्ख्योपेतानामेकभावनामेकरूपाणामेकैश्वर्याणां सर्वभूतात्मनां सर्वभूतान्तर्यामित्वेन यो जीवो भिदां न पश्यति, स शान्तिं मोक्षं गच्छतीत्यन्वयः। यद्वा त्रयाणां ब्रह्मविष्णुशिवाख्यानां सर्वभूतस्वामिनामेकचित्तानां भिदां मिथो विरोधबुद्धिविषयत्वं न पश्यति स शान्तिं स्वस्थबुद्धितया भगवन्निष्ठामाप्नोति। ब्रह्मादिजीवानां

1. A.B,T मर्चित्वा

हरिणा भेदवचनस्य का गतिरिति चेन्न, तद्वशत्वतत्प्रियत्वदृष्टि[1] विषयत्वात्। तदुक्तम् -. ''हरेर्वशत्वदृष्टिस्तु भूतानामपृथग्दृशिः। प्रियत्वदृष्टिरथवा ब्रह्मादीनां विशेषतः।'' (गारुडे) इति॥ ५४॥

शान्तिमधिगच्छतीत्यनेन हरेः स्वात्मोपदेशश्चेत्समाप्तः, परं दक्षेण किमकारीति तत्राह - **एवमिति**। आदिष्ट उपदिष्टः प्रजापतिः दक्षः स्वेन क्रतुना स्वयज्ञेन स्वेच्छया वा भगवतः भगवद्भक्तः स्वांशवतो वा देवानयजत् पूजयामास। उभयत इति पाठे कथमुभयतः सोमतो विष्टरादिभिश्च कथमुभयतः सोमतो हविषश्चेति वा॥ ५५॥

**रुद्रं च स्वेन भागेन ह्युपाधावत्समाहितः।**
**कर्मणोदवसानेन सोमपानितरानपि।**
**उदवस्य सहर्त्विग्भिः सस्नाववभृथं ततः॥ ५६॥**

**तस्मा अप्यनुभावेन स्वेनैवावाप्तराधसे।**
**धर्म एव मतिं दत्त्वा त्रिदशास्त्रिदिवं ययुः॥ ५७॥**

**एवं दाक्षायणी[2] देवी[3] त्यक्त्वा पूर्वकलेवरम्।**
**जज्ञे हिमवतः क्षेत्रे मेनायामिति शुश्रुम॥ ५८॥**

**तमेव दयितं भूय आवृङ्क्ते[4] पतिमम्बिका।**
**अनन्यभावैकगतिः[5] शक्तिः सुप्तेव पूरुषम्॥ ५९॥**

**एतद्भगवतः शम्भोः कर्म दक्षाध्वरद्रुहः[6]।**
**श्रुतं भागवताच्छिष्यादुद्धवान्मे बृहस्पतेः॥ ६०॥**

**इदं पवित्रं परमीशचेष्टितं[7] यशस्यमायुष्यमघौघमर्षणम्।**
**यो नित्यदाऽऽकर्ण्य[8] नरोऽनुकीर्तयेत् धुनोत्यघं कौरव भक्तिभावतः[9]॥ ६१॥**

***सतीं मेनात्मजान्तात! प्राप्य जायाम्भवः पुनः।**
**तया मैथुनमारभ्य रेमे देवः समाः शतम्॥**

---

1. A.adds स्तुति 2. A,B,G,I,J,M,Ma,Ms,T. °स्ते 3. A.B,G,I,J,M,Ma,Ms,T. हित्वा सती 4. M,Ma,Ms °स्त्ववाप 5. M,Ma,Ms °ति 6. M,Ma,Ms रहस्यं 7. M,Ma,Ms °मे° 8.M,Ma,Ms तु कीर्तयेद्बुधो 9. M,Ma,Ms भावितः W. भावनः * These four additional verses are found in vijaya only along with their commentaries.

स्ववीर्यधारणोऽकल्पां ज्ञात्वा जायां स धूर्जटिः ।

उत्ससर्जाम्बरे रेतो गङ्गा जग्राह तन्नदी ॥

पीत्वान्तरजरं वह्निश्चच्छर्द शरकानने ।

कुमारोऽभूत्ततस्तस्मै स्तंबं षट्कृत्तिका ददुः ॥

षड्भिर्मुखैस्स्तनं पीत्वा स बालः षण्मुखोऽभवत् ।

ततश्चक्रुः सैन्यपालं सर्वासुरभयङ्करम् ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अंष्टादशसाहस्र्यां

श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां

चतुर्थस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

**श्रीध०** रुद्रमिति । स्वेन भागेन यज्ञावशिष्टेन उदवस्यते समाप्यतेऽनेनेत्युदवसानं तेन कर्मणा सोमपानितरानप्युपाधावत्[1] इत्यनुषङ्गः । ततश्चोदवस्य कर्म समाप्यावभृथरूपं यथा भवति तथा स्नातवान् ॥ ५६ ॥

**तस्मै इति** । स्वेनैवानुभावेन आप्तराधसे प्राप्तसिद्धये तस्मा[2] अपि[2] ॥ ५७, ५८ ॥

**तमिति** । आवृङ्क्ते भजते स्म । अनन्यभावानां[3] स्वत्मन्येकनिष्ठानाम्[3] एकैव गतिः यस्य तम् । केवल[4]प्रलयकाले सुप्ता शक्तिरीश्वरमिव ॥ ५९ ॥

**एतदिति** । बृहस्पतेः शिष्यात् मे[5] मया श्रुतम् ॥ ६० ॥

**इदमिति** । परं पवित्रं य आकर्ण्य तथाऽनुकीर्तयेत् । हे कौरव ![6] विदुर ![6] स आत्मनः परस्याप्यघं संसारव्यसनं सर्वदा धुनोति ॥ ६१ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्री श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

---

1. A adds अयजत् 2. V omit 3. B,J,V,Va omit 4. B,J,V,Va omit केवल 5. A,J,Va omit मे 6-6. B,J,V,Va omit

वीर० तथा समाहितचित्तः रुद्रं च स्वेन भागेन उच्छेषणरूपेण भागेन उपाधावत् अन्ववर्तत अयजदित्यर्थः। उदवस्यते समाप्यते अनेनेत्युदवसानं तेन समाप्निकर्मणा[1] सोमपान् इतरानसोमपांश्च देवान् उपाधावदित्यनुषङ्गः ॥ ५६ ॥

ऋत्विग्भिः सहोदवस्य कर्मसमाप्य अवभृथरूपं यथा भवति तथा सस्नौ स्नातवान् स्वेनैवानुभावेन प्रभावेन[2] अवाप्तराधसे प्राप्तसिद्धये तस्मै दक्षायापि धर्मविषये एव बुद्धिं दत्त्वा अस्य मतिर्धर्मासक्ता स्यादित्यनृगृह्णेत्यर्थः। ते त्रिदशा देवा दिवं ययुः ॥ ५७ ॥

प्रकृतं परमप्रकृतेन सङ्गमयति - **एवमिति**। एवमुक्तरीत्या दाक्षायणी सती पूर्वशरीरं हित्वा हिमवतः क्षेत्रभूतायां मेनायां जज्ञे उद्भूवेति शुश्रुम पराशरादिभ्य इति शेषः। अनेन स्वोक्तेः प्रामाण्यं सूचितम् ॥ ५८ ॥

भूयो द्वितीये जन्मनि अम्बिका पार्वती अनन्यभावा पतिपारार्थ्यज्ञानवती एकगतिम् एका अम्बिकैव गतिः प्रवृत्युपायो यस्य तं तामेव चिन्तयन्तमत एव दयितं प्रीतिविषयं तमेव रुद्रं[3] पतिमावृङ्क्ते भजति स्म। यथा प्रलयकाले घूरुषं परमपूरुष[4] सुप्ता[5] लीना शक्तिः[6-] चिदचिदात्मिका शक्तिः[-6] चिदचिच्छक्ती[7] प्रलये लीने पुनः सृष्टिदशायां तत्प्रकारैकस्वभावे तदधीने तथा आवृङ्क्ते स्मेति भावः ॥ ५९ ॥

उक्तायाः कथायाः साम्प्रदायिकतामाह - **एतदिति**। दक्षाध्वरद्रुहः दक्षाध्वरविनाशिनः भगवतः शम्भोरेतच्चरितं बृहस्पतेः शिष्यात् भागवतात् उद्धवात् मे मया श्रुतम् ॥ ६० ॥

उक्तायाः कथायाः श्रवणश्रावणादिफलमाह[8] - **इदमिति**। परमेशचेष्टितं परो मा न यस्मात् स परमो भगवान् स एवेशो यस्य तस्य रुद्रस्य चेष्टितं परमेशयोश्चेष्टितमिति वा। यशस्यं यशस्करमायुष्यम् आयुष्करं[9] पवित्रमत एव अघौघमर्षणं पापनिचयनिवर्तकं यः पुमानाकर्ण्य तथा यथाश्रुतमनुकीर्तयेत् श्रावयेत् सर्वदा भक्तिभावनः भक्तिं भावयतीति भक्तिभावनः भगवद्भक्तिनिष्ठः। द्वितीयान्तपाठे चेष्टितविशेषणम्। हे कौरव! अघं धुनोति क्षिपति नाशयतीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीवीरराघव विदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

---

1. A.T omit समाप्ति 2. A,B,T omit प्रभावेन 3. A.B,T omit रुद्रं 4.A.B,T omit परमपुरुषं 5. W. omit सुप्ता 6--6. A.B,T omit 7. A.B,T चिच्छक्तिः 8. A,B,T omit श्रावण 9. A,B,T omit आयुष्करं

**वीज०** उपाधावदुपास्त ततो निरपराधत्वेन शुद्धश्चाभूत्, "धावु[1] गतिशुद्ध्यो"रिति धातुः। उदवसानेन समाप्तीष्टिलक्षणेन कर्मणा "आग्नेयं पञ्चकपालमुदवसानीयं निर्वपेत्" इति श्रुतेः। सोमपानिति पाणिनेरपि सर्वज्ञेन व्यासेन प्रयुक्तत्वात् विच्प्रत्ययः प्रायिक इति ज्ञातव्यम्। इतरानसोमपानित्यर्थः। उदवस्य समाप्तीष्टिं कृत्वा स्वेनानुभावेन भगवन्महिम्नैवावाप्तराधसे प्राप्तयज्ञसिद्धये॥ ५६, ५७॥

ननु दक्षकोपेन योगमुक्तदेहया दक्षपुत्र्या सत्या देव्या निवृत्तिलक्षणा मुक्तिरवापीति न युज्यते, भर्तुः शिवस्यामुक्तदेहत्वात् सतीनामङ्गनानां भर्तृभिस्सह मुक्तिश्रवणात्, अतोऽनया किमकारीत्याशङ्कां हृद्गतां परिहरति - **एवमिति**। क्षेत्रे भार्यायाम्॥ ५८॥

अत्र निमित्तमाह - **अनन्यभावेति**। एकः शङ्करो गतिः यस्यास्सा तथा। अनन्यभावत्वात् अन्यभक्तिर्हितत्वात्। अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाहशक्तिरिति। प्रलये सुप्ता हरावेव रता। सृष्टिव्यापारं विना स्थिता। शक्तिर्भार्या लक्ष्मीः पूरूषं विष्णुमिव यथा भजति तथेत्यर्थः। तदुक्तम् - "शक्तित्वाद्विष्णुशक्तिस्तु शक्तिशब्देन चोच्यते। शक्यत्वात्प्रकृतिश्चापि स्वापः सृष्टिं विना हरौ। रतिस्तस्यास्तु कथितो न ह्यन्यः स्वाप इष्यते।" (तन्त्रसारे) इति॥ ५९॥

भवतेदं कस्मात् श्रुतमिति तत्राह - **एतदिति**। बृहस्पतेः शिष्यादवताराच्च दक्षस्याध्वरं यज्ञं द्रोहितवान् हिंसितवान् नाशितवानिति। दक्षाध्वरध्रुक् तस्य॥ ६०॥

सम्प्रदायवचनमुक्त्वा तच्छ्रवणादिफलमाह - **इदमिति**॥ ६१॥

शङ्करः स्वां सतीमवाप्य किमकार्षीदिति तत्राह - **सतीमिति**। शतमित्युपलक्षणं, वह्नीः समा इत्यर्थः।

अनेन रेत उत्सर्जनावधिःसूचितः। तत्र कुत्रेदमुत्ससर्ज ? तस्यां देव्यामुतान्यत्र। न प्रथमः, प्राप्तपरित्यागे कारणाभावात्। न द्वितीयः, अनुपपत्तेरिति तत्राह - **स्ववीर्येति**। अकल्पामसमर्थाम् अनेन असामर्थ्यकारणमुक्तं भवति इयमेव वोपपत्तिः - आकाशस्य नीरूपत्वेन तद्धारणायोगात् अधः पतत्तद्रेत आकाशनदी गङ्गा जग्राहेत्याह - **गङ्गेति**॥

गङ्गाया अप्यशक्तिं निरीक्ष्य वह्निः, तत्पीत्वा स्वान्तरजीर्णं स्वाहाद्वारेण नदीतीरे शरकानने चच्छर्देत्याह - **पीत्वेति**।

---

1. M,Ma धव 2. A,B omit विष्णुम्

स्वाहाद्वारेणेति कस्मात् कल्प्यत इत्यत आचार्यैर्भारतोक्तेरित्युक्तेः भारतस्य निर्णायकग्रन्थत्वात्। अमोघरेतसो हरस्य वीर्यं निष्फलं भवितुं नार्हति। अत्र तु उपगमादि निष्फलमिव प्रतीयते इति तत्राह - कुमार इति। ततो रेतसः मातृरहितस्य कुमारस्य स्तनपानं कथमत्राह - तस्मादिति॥

एकेन मुखेन षट्कृत्तिकास्तनपानं कथं घटत इति तत्राह - षड्भिरिति। किमधिकारः कुमारे इति तत्राह - तत इति। सुरा इति शेषः। सर्वासुराणां भयं भीतिं स्वस्थानच्युतिं च करोतीति॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीविजयध्वजतीर्थकृतायां पदरत्नावल्यां

टीकायां सप्तमोऽध्यायः॥७॥

# अष्टमोऽध्यायः

## मैत्रेय उवाच

सनकाद्या नारदश्च ऋभुर्हंसोऽरुणिर्यतिः।
नैते गृहान् ब्रह्मसुता ह्यावसन्नूर्ध्वरेतसः[1] ॥ १ ॥

मृषाऽधर्मस्य भार्याऽऽसीद्दम्भं मायां च शत्रुहन्।
असूत मिथुनं तच्च[2] निर्ऋतिर्जगृहेऽप्रजः[3] ॥ २ ॥

तयोः समभवल्लोभो निकृतिश्च महामते।
ताभ्यां क्रोधश्च हिंसा च यद्दुरुक्तिः[4] स्वसा कलेः[5] ॥ ३ ॥

दुरुक्तौ कलिराधत्त भयं मृत्युं च सत्तम!
तयोश्च मिथुनं जज्ञे यातना निरयस्तथा ॥ ४ ॥

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

मनुकन्यान्वये[6] प्राप्ता दक्षयज्ञकथोदिता। मनुपुत्रान्वये प्राप्ता ध्रुवचर्याऽथ पञ्चभिः ॥

अष्टमे गुरुदारोक्तिरोषमत्सरतः पुरात्। निर्गतेन ध्रुवेणाह तपसा तोषणं हरेः ॥

एवं तावत् मनुकन्याऽन्वयोक्त्यैव मरीच्यादीनां ब्रह्मपुत्राणां वंशा वर्णिताः। तत्रावशिष्टं किञ्चिदाह - **सनकाद्या** इति। नावसन् नाश्रिताः[7] ऊर्ध्वरेतसो नैष्ठिकाः अतः[8] तेषां वंशो नास्ति ॥ १ ॥

अधर्मोऽपि ब्रह्मपुत्रः, तस्य वंशमाह - **मृषेति** चतुर्भिः। दम्भः परप्रतारणं, माया तदुचिता चेष्टा, तयोः सोदरयोरपि दाम्पत्यमधर्मांशतया। एवमुपर्यपि। अप्रजोऽपुत्रः ॥ २ ॥

---

1. A, B, G, I, J ह्या° 2. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T तत्तु 3. Ms °जाः 4. M, Ma दुरुक्तिश्च तयोः; Ms या दुरुक्तिः स्वसा 5. A, G. I. M, Ma, Ms कलि· 6. A, B, J, Va दक्ष 7. A adds किन्तु 8. A adds आसन्

**तयोरिति**। निकृतिः शठता यत् याभ्यां कलिश्च तस्य स्वसा दुरुक्तिश्चेत्यर्थः ॥ ३ ॥

**दुरुक्ताविति**। यातना तीव्रवेदना ॥ ४ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

[1]एवं "प्रसूतिं मानवीं दक्ष उपयेमे ह्यजात्मजः। तस्यां ससर्ज दुहितॄः षोडशामललोचनाः ॥" (भाग.4-1-47)

इत्यादिना प्रसूतिवंशमुपक्रम्य तत्प्रसक्तानुप्रसक्तमभिहितम्। एवं तावन्मनु कन्यान्वयो वर्णितः। अथ मनुपुत्रान्वयं विवक्षुरनुसर्गकथनेऽवशिष्टं किञ्चिदाह - **सनकाद्या** इति। यतिरिति प्रत्येकं सनकादिविशेषणम्। तन्त्रेणोपात्तं प्रत्येकाभिप्रायेणैक-वचनान्तनिर्देशः, अरुणिविशेषणं वा प्रत्यासत्तेः। एते ब्रह्मपुत्राः गृहान् गृहाश्रमान् नाऽवसन् नाऽऽश्रिताः। तत्र हेतुः - ऊर्ध्वरेतसः नैष्ठिकाः अतस्तेषां वंशो नास्तीति ॥ १ ॥

अधर्मोऽपि ब्रह्मपुत्रः तस्य वंशमाह - **मृषेति** चतुर्भिः। अधर्मस्य भार्या मृषा, दम्भः परप्रतारणं माया तदुचिता चेष्टा एतदुभयात्मकं मिथुनम् असूत प्रसूतवती। हे शत्रुहन्! सोदरयोरपि मायादम्भयोः दाम्पत्यमधर्मांशतया, एवमुपर्यपि द्रष्टव्यम्। तच्च दम्भमायात्मकं मिथुनं अप्रजोऽपुत्रो निर्ऋतिः जगृहे गृहीतवान्। दम्भे पुत्राभिमानं मायायां स्नुषाभिमानं च कृतवानित्यर्थः ॥ २ ॥

हे महामते! तयोः माया दम्भयोः लोभः निकृतिः शठता च [2]समभवत्। ताभ्यां निकृतिलोभाभ्यां क्रोधोऽमर्षो हिंसा च समभवदित्यनुषङ्गः। यत् याभ्यां क्रोधहिंसाभ्यां कलिश्च तस्य स्वसा भगिनी दुरुक्तिश्च समभवत् ॥ ३ ॥

दुरुक्तौ कलिः भयं भीतिं मृत्युं च आधत्त उत्पादयामास। हे सत्तम! ताभ्यां भीतिमृत्युभ्यां यातना स्त्री निरयः पुमान् एतदुभयात्मकं मिथुनं जज्ञे ॥ ४ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

संसारविरक्तस्य पुंसः श्रीनारायणश्रीपादपद्ममूलमेव शरणमिति निरूपयति अस्मिन्नध्याये। तत्र परमभागवतस्य ध्रुवस्य चरित्रमनुवर्णयितुं हेयत्वेनाधर्मवंशानुचरितमाह - **सनकाद्या** इति। गृहान्नावसन् गृहस्थाश्रमं नाभजन्नित्यर्थः। ऊर्ध्वरेतस इत्यनेन सन्यासाश्रमं सूचयति ॥ १ ॥

---

1. A, T omit एवं  2. A, B, T omit समभवत्

अप्रजः सन्ततिरहितः ॥ २,३,४ ॥

***एते ह्यधर्मवृक्षस्य वंश्यास्संसृतिहेतवः ।**[1]

**श्रेयस्कामो न सेवेत नितरामाश्रमोत्तमी ॥ ५ ॥**[2]

**सङ्गहेण मयाऽऽख्यातः प्रतिसर्गस्तवानघ !**[3]

**त्रिः श्रुत्वैतं पुमान् पुण्यं विधुनोत्यात्मनो मलम् ॥ ६ ॥**[4]

**अथातः कीर्तये वंशं पुण्यकीर्तेः कुरूद्वह !**

**स्वायम्भुवस्यापि मनोर्हरेरंशांशजन्मनः ॥ ७ ॥**

**प्रियव्रतोत्तानपादौ* शतरूपापतेः सुतौ ।**

**वासुदेवस्य कलया रक्षायां जगतः स्थितौ ॥ ८ ॥**

**जाये उत्तानपादस्य सुनीतिः सुरुचिस्तयोः ।**

**सुरुचिः प्रेयसी पत्युर्नेतरा यत्सुतो ध्रुवः ॥ ९ ॥**

**श्रीध० सङ्गहेणेति** । प्रतिसर्गोऽनुसर्ग एव । यद्वा प्रतिसर्गः प्रलयः, अधर्मस्य प्रलयहेतुत्वात् प्रतिसर्गत्वम्[5] । एतदन्तम्[6-6] अधर्मवंशम् । पुण्यमिति वर्जनद्वारा पुण्यहेतुत्वात् ॥ ५, ६ ॥

**अथेति** । मनोः पुत्रवंशं[7] हरेरंशो ब्रह्मा तस्यांशाद्देहार्धाज्जन्म । यस्य ॥ ७ ॥

**प्रियव्रतेति** । जगतो रक्षायां स्थितौ ॥ ८ ॥

**जाये** इति । सुनीतिः सुरुचिश्च जाये । तयोर्मध्ये इतरा सुनीतिः ॥ ९ ॥

**वीर०** अधर्मवंशमुपसंहरन् तस्य संसृतिहेतुत्वात् बुभुक्षुभिः असेव्यतामाह - **एत** इति । अधर्म एव वृक्षस्तस्य वंश्याः वंशे

* It is not found in G, I, but the same verse is printed in Edition A, B, J under foot-note. The verse in question is commented upon by both Veeraraghava and Vijaya waja. Hence the verse is taken into the text giving serial number.

1. M, Ma वंशा; Ms, V शाखा° 2. Ms, T, V °मः 3. M, Ma, अनु 4. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T, V °तत्पु°

*उत्तानपदौ इति वीरराघवव्याख्यानपाठः । 5. V adds हेतुरेतत् 6--6. V एतं 7. V °शः

भवाः शाखारूपा इति भावः । हि यस्मात् संसृतिहेतवः अतः श्रेयस्कामः स्वर्गापवर्गकामः न सेवेत अधर्मवंश्यानिति शेषः । विभक्तिविपरिणामेन अनुषङ्गो वा । आश्रमोत्तमः उत्तमः आश्रमो यस्य सः चतुर्थाश्रमनिष्ठ इत्यर्थः । आहिताग्न्यादित्वादाश्रम-शब्दस्य पूर्वनिपातः । नितरां न सेवेत ॥ ५ ॥

अथाऽधर्मवंश्यस्य प्रतिसर्गान्तर्भावं वदन् तमुपसंहरन् तच्छ्रवणफलमाह - **सङ्गहेणेति** । हे अनघ ! तव तुभ्यं मया प्रतिसर्गः सङ्गहेणाख्यातः, प्रलयहेतुत्वात् अधर्मवंशस्य प्रतिसर्गत्वम् । एतं धर्मवंशं पुण्यं वर्जनद्वारा पुण्यहेतुत्वात् पुण्यं श्रुत्वा पुमानात्मनः स्वस्य मलं पापं विधुनोति ॥ ६ ॥

एवं कन्यान्वयमभिधायाऽथ मनुपुत्रान्वयं वक्तुमुपक्रमते - **अथात** इति । हे कुरूद्वह ! अथ "मनोस्तु शतरूपायां तिस्रः कन्याः प्रजज्ञिरे" (भाग. 4-1-1) इत्युपक्रान्तमनुकन्यान्वयकथनानन्तरम् अत उपक्रान्तस्य वृत्तत्त्वाद्धेतोः स्वायम्भुवस्य मनोर्वंशं पुत्रान्वयं कीर्तये कथयामीति सम्बन्धः । अत्र मनुकन्यामनुपुत्रवंशकथनयोः पौर्वापर्ये हेतुहेतुमद्भावे च समासव्यासत्वहेतुकस्वेच्छायत्तोपक्रान्तत्वोपक्रमिष्यमाणत्वमेव निबन्धनम् । काकदन्तश्रवणवदश्राव्यत्वशङ्कामपनुदन् मनुं विशिनष्टि । पुण्यकीर्तेः पुण्याशुश्रूषतां पुण्यापादिका[1] कीर्तिर्यस्य । तत्र हेतुः - हरेः अंशांशजन्मनः स्मरणमात्रेण आश्रितदुरितहारिणो भगवतः अंशो ब्रह्मा तस्य अंशाच्छरीराज्जन्म यस्य तस्य हर्यंशांशसम्भूतत्वात् हरिभक्तत्वाच्च हरिचरित्रवन्मनुपुत्रान्वयकथनश्रवणादिकमपि दुरितविनाशनद्वारा पुण्यसम्पादकमित्यर्थः ॥ ७ ॥

प्रतिज्ञातमनुवंशं वर्णयन्ति - **प्रियव्रतोत्तानपादावित्यादिना** आभूगोलवर्णनात् । प्रियव्रतश्च उत्तानपादश्च तौ, इमे अन्वर्थनामनी[2] । प्रियं भगवत्प्रीतिकरं व्रतं यस्य स प्रियव्रतः । उत्ताने[3-] उन्नते पदे[-3] यस्येति उत्तानपदः[4] । शतरूपापतेर्मनोः सुतौ वासुदेवस्य कलया सर्वान्तरात्मभगवद्गुणविशेषाविर्भावेन जगतो रक्षायां स्थितौ ॥ ८ ॥

तयोर्मध्ये य[5] उत्तानपादः तस्य सुनीतिः सुरुचिश्चेति जाये भार्ये । तयोः सुनीतिसुरुच्योः मध्ये सुरुचिः पत्युरुत्तानपादस्य प्रेयसी नितरां प्रीतिविषया । इतरा सुनीतिस्तु न प्रेयसी । यत्सुतः यस्याः अप्रेयस्याः सुनीतेः सुतः पुत्रः ध्रुवः ॥ ९ ॥

**विज०** अत्र मायादयः स्त्रियोऽन्ये पुमांसः संसारहेतवो हि यस्मात् तस्मात् श्रेयस्कामः एतान् न सेवेतेत्यन्वयः । आश्रमोत्तमी सन्न्यासी ॥ ५ ॥

---

1. A, B, T पवित्रा 2. A, B, T नामानौ 3--3. A, B, T उत्तानौ उन्नतौ पायौ 4. A, B, T पादः । 5. A, B, T add अग्रजः

मयाऽऽख्यात अनुसर्ग इत्यत्र सन्ध्यभावः। सङ्गहोक्त्याल्पत्वं न ज्ञातव्यम्। महानयं ग्रन्थबहुलत्वाल्लोके दृश्यमानत्वाच्चेति प्रदर्शनार्थ इति ज्ञातव्यम्। अस्यानुसर्गस्य श्रवणफलमाह - त्रिः श्रुत्वेति। आत्मनो मनसो मलं विधुनोति निरस्यति॥ ६॥

वक्तव्यायाः कथायाः समाप्तत्वादतः परं किं वक्तव्यमिति तत्राह - **अथात** इति। अथेत्यनेन पूर्वस्माद्वक्ष्यमाणस्यार्थस्य मङ्गलत्वं वक्ति। यतोऽधर्मादिकं हेयमत उपादेयं कथयामीत्यत इति। अपिशब्देन वंशस्यानल्पत्वं श्रुतिस्मृतिभ्यां सम्भावितत्वमाह - हरेरिति। हरेरंशांशेन विशेषावेशेन संहितं जन्म यस्य स तथा तस्य। "आविष्टा हरिणा जीवा ब्रह्मा दक्षो मनुः पृथुः। शक्राद्या ऋषयश्चैव मात्स्यव्यासादयो हरिः" (ब्रह्मवैवर्ते) इति॥ ७॥

प्रियव्रतोत्तानपदोर्मनुपुत्त्रत्वेन पूर्वमुक्तयोः पुनरुक्तिर्वंशस्यादित्वज्ञापनाय अनुवदति - **प्रियव्रतेति**। वासुदेवस्य राजराजाख्यस्य कलया सन्निहितौ तदुक्तम् - "प्रियव्रतोत्तानपादप्रमुखेषु हरिः स्वयम्। आविष्टसर्वभूतेषु ऋषभाद्याः स्वयं हरिः॥" (हरिवंशे) इति॥ ८॥

प्रियव्रतोत्तानपदोर्मध्ये प्रियव्रत[1]विक्रमस्य प्रथमं वक्तव्यत्वे सति उत्तानपादपुत्रस्य ध्रुवस्यातिरमणीयत्वेन विरक्तिभक्ति-जनकत्वेन श्रोतुः श्रद्धाजनकत्वेन भगवदुपास्तौ क्षिप्रप्रवृत्तिजनकत्वेनाऽऽश्चर्यबुद्धिजनकत्वेन च प्रथमं तच्चरितं वक्तुमुपक्रमते - **जाये** इति। यस्याः सुनीतेः सुतः॥ ९॥

**एकदा सुरुचेः पुत्रमङ्कमारोप्य लालयन्।**
**उत्तमं नारुरुक्षन्तं ध्रुवं राजाऽभ्यनन्दत॥ १०॥**

**तथा चिकीर्षमाणं तं सपत्न्यास्तनयं ध्रुवम्।**
**सुरुचिः श्रृण्वतो राज्ञः सेर्ष्यमाहातिगर्विता॥ ११॥**

**न वत्स नृपतेर्धिष्ण्यं भवानारोढुमर्हति।**
**न गृहीतो मया यत्त्वं कुक्षावपि नृपात्मज[2]ः॥ १२॥**

**बालो[3]ऽपि बत नात्मानमन्यस्त्रीगर्भसम्भृतम्।**
**नूनं वेद भवान् यस्य दुर्लभेऽर्थे मनोरथः॥ १३॥**

---

1. Ma व्रतस्य 2. M, Ma, Ms °ज ! 3. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °ऽसि

**तपसाऽऽराध्य पुरुषं तस्यैवानुग्रहेण मे।**

**गर्भे त्वं साधयात्मानं यदीच्छसि नृपासनम्॥ १४॥**

**मैत्रेय उवाच**

**मातुः सपत्न्याः स[1] दुरुक्तिविद्धः श्वसन् रुषा दण्डहतो यथाऽहिः।**

**हित्वा मिषन्तं पितरं सन्नवाचं जगाम मातुः प्रुरुदन्[2] सकाशम्॥ १५॥**

**तं निश्वसन्तं स्फुरिताधरोष्ठं सुनीतिरुत्सङ्ग[3] उदूह्य बालम्।**

**निशम्य तत्पौरमुखान्नितान्तं सा विव्यथे यद्रुदितं सपत्न्या[4]॥ १६॥**

**श्रीध०** तयोः प्रियाप्रियत्वे प्रपञ्चयन् ध्रुवचरित्रमाह पञ्चभिरध्यायैः - **एकदेति**। सुरुचेः पुत्रमुत्तमसंज्ञं लालयन्[5]॥ १०॥

**तथेति**। तथा अङ्कारोहणं चिकीर्षमाणम्॥ ११॥

गर्वोक्तिमेवाह[6] त्रिभिः - **नेति**। नृपतेर्धिष्ण्यमासनं नृपात्मजोऽपि भवान्नारोढुमर्हति॥ १२, १३॥

**तपसेति**। पुरुषमीश्वरम्॥ १४॥

**मातुरिति**। मिषन्तं पश्यन्तम्। सन्नवाचं कुण्ठितवाचम्॥ १५॥

**तमिति**। उदूह्यऽऽरोप्य[7] अन्तःपुरजनमुखाच्छ्रुत्वा॥ १६॥

**वीर०** तत्र सुनीत्या अप्रेयस्त्वमेव प्रपञ्चयन् तत्सुतध्रुवचरित्रमाह - **एकदेत्या**दिना पञ्चभिरध्यायैः। एकदा कदाचित् राजा उत्तानपादः सुरुचेः पुत्रमुत्तमसंज्ञमारुरुक्षन्तम् अङ्कमारोढुमिच्छन्तम् अङ्कमारोप्य उत्सङ्गे निपाद्य[8] लालयन् तथा चिकीर्षमाणम् अङ्कारोहादिकर्तुमिच्छन्तं सपत्न्याः सुनीतेः तनयं तं ध्रुवं नाभ्यनन्दत्[9]। यद्वा उत्तममङ्कमारोप्य लालयन् अङ्कमारुरुक्षन्तं ध्रुवं नाभ्यनन्दतेति सम्बन्धः। सुरुचिः राज्ञोऽभिप्रायज्ञा तथा चिकीर्षमाणं तं ध्रुवं प्रति राज्ञः शृण्वतः सतः अतिगर्विता सती अत एव सेर्ष्यं क्षमारहितं यथा भवति तथा आह उवाच॥ १०, ११॥

---

1. B, J, M, Ma सु° 2. M, Ma स; Ms सु° 3. J, Ma उदुह्य 4. J सपत्न्याः 5. Va पा° 6. V °माह 7. J, Va °दु° 8. A, B, T निधाय 9. A, T °त

गर्वोक्तिमेवाह - **न वत्सेति** त्रिभिः। हे वत्स! नृपतेर्धिष्ण्यमासनमारोढुं भवान्नार्हति। नृपात्मजोऽहमारोढुमर्ह एव, तत्राह - त्वं नृपात्मजोऽपि यद्यस्मात् मया कुक्षौ न गृहीतः न धृतः मद्गर्भज एव नृपासनार्ह इत्यभिप्रायः॥ १२॥

त्वं मया कुक्षौ न गृहीत इत्यहमेव न वेद्मि अपि तु भवानपि वेदेत्याह - **बालोऽपीति**। भवान् बालोऽप्यात्मानमन्यस्त्रीगर्भ-सम्भृतं मत्सपत्नीगर्भधृतं न वेद बत न वेद किम्? अपितु वेदैवेत्यर्थः। नूनमिति निश्चये। यद्वा बालो भवान्न जानाति अहं तु वेद्मीत्याह - बाल इति। अपिस्त्वर्थकः भवानित्यनेन सम्बध्यते बाल इति हेतुगर्भं, भवांस्तु बालत्वादात्मानमन्यस्त्रीगर्भसम्भृतं न वेद अहं तु वेद्मीत्यभिप्रायः। अतो यस्य तव दुर्लभे लब्धुमयोग्ये, अर्थे नृपासनारोहणरूपेप्यर्थे मनोरथ आसीदित्यर्थः। बतेत्याश्चर्ये॥ १३॥

यदि दुर्लभोऽर्थो मया साध्य इति तवाऽऽग्रहः तर्ह्येवं साधयेत्याह - **तपसेति**। यदि त्वं नृपासनमिच्छसि तर्हि तपसा पुरुषं परमपुरुषमाराध्य तस्याराधितस्य परमपुरुषस्यानुग्रहेणैव न तु उपायान्तरेणेत्यर्थः। मे मम गर्भे आत्मानं साधय आत्मनो मद्गर्भे उत्पत्तिं साधयेत्यर्थः॥ १४॥

एवमुक्तो ध्रुवः किमकरोदित्यत्राह मैत्रेयः - **मातुरिति**। सपत्न्या मातुः दुरुक्तेन दुर्वचसा भावे क्तः। विद्धः ताडितो ध्रुवः दण्डेन हतः सर्पो यथा तथा रुषा श्वसन् श्वासं मुञ्चन् मिषन्तं पश्यन्तं सन्नवाचं कुण्ठितवाचं[1] पितरं हित्वा प्ररुदन् नितरामश्रूणि विमुञ्चन् मातुर्जनन्याः सुनीतेः समीपं[2] जगाम॥ १५॥

तं सकाशमागतं निश्वसन्तं स्फुरितः कम्पितः अधरोष्ठो येन तं बालं ध्रुवं सपत्न्या यत्[3] गदितं सा सुनीतिः उत्सङ्गम्[4] उद्वह्य अङ्कम्[5] आरोप्य पौरमुखादन्तःपुरजनमुखात् निशम्य श्रुत्वा नितान्तं नितरां विव्यथे व्यथितवती॥ १६॥

**विज०** सुनीतिः कथं पत्युः प्रेष्ठा नाभूदिति ज्ञायत इति तं प्रकारं वक्ति - **एकदेति**। नाम्नोत्तमम् आरुरुक्षन्तमङ्कमारोढुकामम्॥ १०॥

तथा चिकीर्षमाणमङ्कमारोढुमिच्छन्तं सपत्न्याः सुनीतेः सेर्ष्यमिति क्रियाविशेषणम्॥ ११॥

धिष्ण्यं सिंहासनम् अनर्हत्वे निमित्तमाह - **न गृहीत** इति॥ १२॥

नेदमाश्चार्यमित्याह - **बाल** इति। ततः किमिति तत्राह - नात्मानमिति। स्वायोग्यमिच्छन् यतिष्यतीति भावेनाह - यस्येति। यस्य तव॥ १३॥

1. A, B, T सङ्कुचितवाचं 2. A, B, T °पे 3. A, B, T omit यत् 4. A, B, T °ङ्गे 5. A, B, T °ङ्गे

तर्हि त्वत्पुत्रभावित्वे किङ्कर्तव्यमत्राह - **तपसेति**। पुरुषं विष्णुम्॥ १४॥

ध्रुवः सपत्न्याः सुरुच्याः वाक्यं श्रुत्वा किमकार्षीदिति तत्राह - **मातुरिति**। मिषन्तं पश्यन्तं सन्नवाचं तूष्णीम्भूतम्, आमिषं हित्वा मातुरिव स्थितस्य बिलस्य सकाशमहिरिवेति वा॥ १५॥

अस्यामवस्थायां सुनीत्या किमकारीति तत्राह - **तं निःश्वसन्तमिति**॥ १६॥

**सोत्सृज्य धैर्यं विललाप शोकदावाग्निना दग्धलतेव बाला।**[1] [2]

**वाक्यं सपत्न्याः स्मरती सरोजश्रिया दृशा बाष्पकलामुवाह॥ १७॥**

**दीर्घं श्वसन्ती वृजिनस्य पारमपश्यती बालकमाह बाला।**

**मा मङ्गलं तात! परेष्वमंस्था भुङ्क्ते जनो यत्पुरदुःखदस्तत्॥ १८॥**[3] [4]

**सत्यं सुरुच्याभिहितं भवान् मे यद्दुर्भगाया उदरे गृहीतः।**

**स्तन्येन वृद्धश्च विलज्जते यां भार्येति वा वोढुमिडस्पतिर्माम्॥ १९॥**

**आतिष्ठ तत्तात विमत्सरस्त्वमुक्तं समात्राऽपि यदव्यलीकम्।**[5]

**आराधयाऽधोक्षजपादपद्मं यदीच्छसेऽध्यासनमुत्तमो यथा॥ २०॥**

**यस्याङ्घ्रिपद्मं परिचर्य विश्व विभावनायात्तगुणाभिपत्तेः।**[6]

**अजोऽध्यतिष्ठत्खलु पारमेष्ठ्यं पदं जितात्मश्वसनाभिवन्द्यम्॥ २१॥**[7]

**श्रीध० स इति**। शोक एव दावाग्निस्तेन। दावाग्निगतलतेव[8] स्थिता सा बाला विलापं चकार॥ १७॥

**दीर्घमिति**। वृजिनस्य दुःखस्य अमङ्गलमपराधं परेषु मा मंस्थाः। यद्यतः परेभ्यो दुःखं ददाति यः सः[9] स्वदत्तमेव दुःखं भुङ्क्ते॥ १८॥

**सत्यमिति**। दुर्भगाया[10-] उदरे[-10] गृहीतः तस्या[11] एव स्तन्येन वृद्धश्च। दुर्भगत्वमेवाह - यां मामिडस्पतिर्भूपतिर्भार्येति वोढुं स्वीकर्तुं विलज्जते, वाशब्दात् दासीत्यपि॥ १९॥

1. A. B. G. I. J. M. Ma. Ms T दाव° 2. M. Ma दग्धा 3. T बाल! 4. A. G. I. M. Ma. Ms. T °षु मं° 5. M. Ma. सु°; Ms. V स्व° 6. M. Ma. Ms यत्पाद° 7. M. Ma. Ms °त्मा 8. Va गता 9. V omits स. 10--10. A. B. J. Va दुर्भगया मया उदरे 11. Va तया

**आतिष्ठेति**। पितृभार्यात्वेन मात्रा समा मातुः सपत्नी तयापि यदुक्तं "तपसाऽऽराध्य पुरुषम्" (भाग. 4-8-14) इत्यादि तदातिष्ठ कुरु। अध्यासनम् अधिकं[1] सर्वोत्कृष्टमासनम्[1]। यदीच्छसि॥ २०॥

**यस्येति**। परिचर्य निषेव्य विश्वस्य विभावनाय पालनायाऽऽत्ता स्वीकृता गुणाभिपत्तिः सत्त्वगुणाधिष्ठानं येन तस्य, जित आत्मा मनः श्वसनः प्राणश्च[2] यैस्तैरभिवन्द्यम्॥ २१॥

**वीर०** व्यथामेवाह - **सेति**। सा सुनीतिर्धैर्यमुत्सृज्य हित्वा विललाप। शोक एव दावाग्निस्तेन दावाग्निना दग्धा लतेव स्थिता सा बाला सुनीतिः सपत्न्याः वाक्यं स्मरन्ती सरोजश्रिया सरोजस्य श्रीरिव श्रीः शोभा यस्यास्तया दृशा बाष्पकलाम् अश्रुकणिकामुवाह दधार॥ १७॥

सपत्नीगदितव्यथया दीर्घं यथा तथा श्वासं मुञ्चन्ती वृजिनस्य दुःखस्य पारमवधिमपश्यन्ती अपारदुःखाक्रान्तेत्यर्थः, बाला सुनीतिः बालकं ध्रुवमाह - हे तात! अमङ्गलमपराधं परेषु मा मंस्थाः मा स्मार्षीः[3] यत् यूस्मात् यो जनः परदुःखदः परेभ्यो दुःखं ददातीति परदुःखदः सः तद्दुःखमेव भुङ्क्ते अनुभवति॥ १८॥

सुरुच्याभिहितं सोपालम्भमनुवदन्त्यात्मजं तपसे चोदयति - **सत्यमिति**। सुरुच्या यदभिहितं तत्सत्यमिति सम्बन्धः। किमभिहितम्? तत्राह - दुर्भगायाः भाग्यहीनायाः मे मया उदरे भवान् गृहीतः मदुदरे जात इत्यर्थः, न केवलं जात एव मद्गर्भे, अपि तु तस्या एव मम स्तन्येन स्तनयोर्भवं स्तन्यं तेन वृद्धश्च। दुर्भगत्वमेवाह - इडा भूमिः डलयोरभेदात्। पारस्करादित्वात् सुट्हस्वौ। इडस्पतिः भूपतिः मां भार्येत्यावोढुं स्वीकर्तुं वाचा वक्तुं वा विलज्ज ते॥ १९॥

हे तात! तस्मात्त्वं विमत्सरः विगतमत्सरः समात्रा समाता मातुः सपत्नी तयापि यदुक्तं - "तपसाऽऽराध्य पुरुषम्" (भाग. 4-8-14) इत्यादि, तदव्यलीकं निर्दोषं यथा भवति तथा आतिष्ठ कुरु। समात्रा यदुक्तमिति सामान्येनोक्तं विशेषनिष्ठं करोति उत्तमो यथा तथा त्वमपि[4] अध्यासनं नृपासनमिच्छसि यदि[5] तर्हि अधोक्षजपादपद्ममाराधय॥ २०॥

किं कश्चिददोक्षजपादपद्ममाराध्य अध्यासनादिस्वाभिलषितमवापेत्यत्र ब्रह्माणं मनुं च निदर्शयति - **यस्येति** द्वाभ्याम्[6]। विश्वविभावनाय विश्वस्य पालनाय आत्तगुणाभिपत्तेः आत्ता स्वीकृता गुणाभिपत्तिः कल्याणगुणाश्रयदिव्यमङ्गलमूर्तिर्येन तस्य,

---

1--1. A. B. J. Va omit 2. V adds वायु° 3. A. B, T का° 4. W omits अपि 5. A, B, T omit यदि 6. A, B. T नृपास°

यस्याधोक्षजस्य जितः आत्मा मनः श्वसनः प्राणवायुर्यैस्तैरभिवन्द्यम् अङ्घ्रिपद्मं परिचर्य आराध्य अजो ब्रह्मा पारमेष्ठ्यं पदं चतुर्दशभुवनानां मध्ये उत्कृष्टं सर्वोपरि वर्तमानं सत्यलोकरूपं स्थानमध्यतिष्ठदधिष्ठितवान् खलु॥ २१॥

**विज०** धातोरनेकार्थत्वात् कीदृशी व्यथा तयाऽकारीति तत्राह - **सोत्सृज्येति**। विलापस्योदरताडनाविनाभूतत्वेन तत्पूर्वकं तया परिदेवितमित्यर्थः। शोकदावाग्निना शोकाख्यवनवह्निना दह्यमानेति शेषः। दावलता वनवल्ली बाष्पकलां नेत्रजलधाराम्॥ १७॥

वृत्या सस्यभक्षणवद्राज्ञा कृतावज्ञानस्यापरिहार्यत्वात् सम्प्राप्तदुःखस्यावसानमाचक्षाणा आत्मनो निर्दुष्टमनस्कत्वं दर्शयन्ती बालं शिक्षयतीत्याह - **दीर्घं श्वसन्तीति**। परदुःखदो जनस्तद्दुःखं स्वयं भुङ्क्ते इति यद्यस्मात्तस्मात् परेष्वमङ्गलं मा मंस्थाः न निरूपयेत्यन्वयः॥ १८॥

परेण द्वेषादुक्तमपि गुणग्राहिणः स्वात्मनः पथ्यमेव भवतीति भावेनाह - **सत्यमिति**। चार्थो वाशब्दः। इडस्पतिः राजा यां मां भार्येति च वोढुं वक्तुं विलज्जते भवान् तस्याः दुर्भगायाः दुःखहेत्वदृष्टाया मे उदरे गृहीतोऽत एव स्तन्यैनैव वृद्धो न तु पितृदत्तरसायनेनेति यस्मात्तस्मात् सुरुच्या "तपसाऽऽराध्य" (भाग. 4-8-14) इति यदभिहितं तत्सत्यमित्यन्वयः॥ १९॥

एतदेव विवृणोति - **आतिष्ठेति**। मत्पुत्र उत्तमो यथा तथा यदि अध्यासनमिच्छसे आत्मनो हितमाकांक्षसि तर्ह्यधोक्षजपादपद्मारधयेति यत्सुमात्रा[1] सुरुच्या कथितं तदव्यलीकं कर्तुमातिष्ठ। तप इति शेषः॥ २०॥

केनचित् श्रीनारायणश्रीचरणपरिचर्याफलं निरुपममवाप्तं चेत्तर्हि श्रोतुस्तत्र क्षिप्रं प्रवृत्तिर्भवतीति तत्राह - **यत्पादेति**। परिचर्य परिपूज्य विश्वविभावनाय विश्वस्य विविधसृष्ट्यर्थम् आत्तगुणाभिपत्तेः अङ्गीकृतसार्वत्र्यादिगुणप्राप्तिहेतोः अजो ब्रह्मा जितात्मा वशीकृतमनाः श्वसनस्य वायोरपि विभागराहित्येन गन्तुं योग्यं वन्द्यम्॥ २१॥

**तथा मनुर्वो भगवान् पितामहो यमेकमत्या[2] पुरुदक्षिणैर्मखैः।**
**इष्ट्वाऽभिपेदे दुरवापमन्यतो भौमं सुखं दिव्यमथापवर्ग्यम्॥ २२॥**

**तमेव वत्साश्रय भक्तवत्सलं[3] मुमुक्षभिर्मृग्यपदाब्जपद्धतिम्।**
**अनन्यभावे निजधर्मभाविते मनस्यवस्थाप्य भजस्व पूरुषम्॥ २३॥**

---

1. A, B स° 2. M. Ma, Ms भक्त्या 3. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T भृत्य

**नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनाद्दुःखच्छिदं ते मृगयामि कञ्चन।**

**यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया श्रियेतरैरङ्ग ! विमृग्यमाणया॥ २४॥**

**मैत्रेय उवाच**

**एवं सञ्जल्पितं मातुराकर्ण्यार्थागमं वचः।**

**सन्नियम्यात्मनाऽऽत्मानं निश्चक्राम पितुः पुरात्॥ २५॥**

**नारदस्तदुपाकर्ण्य ज्ञात्वा चास्य[1] चिकीर्षितम्।**

**स्पृष्ट्वा मूर्धन्यघघ्नेन पाणिना प्राह विस्मितः॥ २६॥**

**श्रीध० तथेति**। एकमत्या सर्वान्तर्यामिदृष्ट्या॥ २२॥

**तमेवेति**। मृग्या पदाब्जयोः पद्धतिर्मार्गो यस्य तमेवाश्रय शरणं व्रज ततो[2] भजस्व। नान्यस्मिन् भावो यस्य तस्मिन्, निजधर्मैर्भाविते शोधिते॥ २३॥

तमेवेत्यनेन सूचितं सर्वोत्तमत्त्वं प्रपञ्चयति - **नान्यमिति**। हस्तेन गृहीतं दीपवत्पद्मं यया तया[3] श्रिया[3] इतरैः ब्रह्मादिभिः॥ २४॥

**एवमिति**। सञ्जल्पितं[4] विलापितं ततोऽर्थस्यागमो यस्मात्तथाभूतं वचः आकर्ण्य॥ २५, २६॥

**वीर.** तथा वः युष्माकं पितामहः पितुः पिता भगवान् मनुरपि एकमत्या अव्यभिचरितभक्त्या पुरुदक्षिणैः बहुदक्षिणैः मखैः क्रतुभिः यं भगवन्तमिष्ट्वा आराध्य अन्यतः अन्यैः दुरवापं[5] दिव्यं दिवि भवं दिव्यं सुखं स्वर्गं भौमं सुखं सार्वभौमत्वम् आपवर्ग्यं मोक्षसुखं चाभिपेदे अनेनाधोक्षजस्य कुलदैवतत्वमुक्तम्। अन्यतः एकमतिव्यतिरिक्तोपायान्तरेण दुरवापं यमिति वा[6] सम्बन्धः। अन्यतः अन्यस्माद्ब्रह्मरुद्रादेः दुरवापं सुखत्रयमिति वा सम्बन्धः॥ २२॥

भजन्तमपि मां राजद्वेषाद्यसदुणदृष्ट्योपेक्षेत तत्राह - **तमिति**। हे वत्स ! भक्तवत्सलं भक्तेषु वत्सलस्तं, सत्स्वपि दोषेषु ताननादृत्य भोग्यताबुद्धिमत्त्वं वात्सल्यं तमेवाश्रय अनेनाश्रयणसौकर्यापादकगुणसम्पत्तिरुक्ता। आश्रितकार्यापादकगुणसम्पत्तिमाह- मुमुक्षभिः संसारबन्धनात्[7] मोक्षमिच्छद्भिर्मृग्या अन्वेषणीया चिन्तनीयेति यावत्। पादाब्जयोः पद्धतिर्मार्गो यस्य तं मुक्तिप्रदमिति

---

1. A. B. G. I. J. T तस्य 2. V तथा 3--3. B, J, V, Va omit 4. A, B, J, Va विलापं 5. A, B, T दुरापं 6. W omits वा 7. W बन्धात्

भावः । अनेन नित्यसंसारिणां नित्यसूरिपरिषत्संघटनोपयोगित्वरूपाघटितघटनासामर्थ्यरूपाश्रितकार्यापादकसम्पत्तिरुक्ता । कथमाश्रयाणीत्यत्र स्ववर्णाश्रमधर्मानुगृहीतभक्तियोगेनाश्रयेत्याह - अनन्यभावे न विद्यतेऽन्यस्मिन् भावो यस्मिन् । विजातीयप्रत्ययान्तराव्यवहित इत्यर्थः । निजधर्मभाविते[1-] निजधर्मैः[-1] स्ववर्णाश्रमोचितधर्मैः भाविते निष्पादिते मनसि तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपे मनोव्यापारे विजातीयप्रत्ययान्तराव्यवहिततैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपा हि भक्तिः । अवस्थाप्य विषयीकृत्य पूरूषं पूस्संज्ञकस्वशरीरान्तः[2] स्थितदहराकुहरे वसन्तं परमपुरुषं भजस्व ॥ २३ ॥

तमेवेत्यनेन सूचितं सर्वोत्तमत्त्वं सुखत्रयप्रदत्वं च प्रतिपादयति[3-] - **नान्यमिति**[-3] । ततः[4-] तस्मात्[-4] पद्मपलाशलोचनात् पुण्डरीकाक्षादन्यं पुरुषं तव दुःखच्छिदं दुःखनिरासकं[5] न मृगयामि अन्विष्यापि न पश्यामीति भावः । अनेन तापत्रयनिरसनद्वारा सुखत्रयप्रदो भगवानेवेत्युक्तं भवति । सर्वोत्तमत्त्वमाह - यो भगवानितरैर्ब्रह्मादिभिः स्वाभिलषितसिद्धये विमृग्यमाणया मनः प्रणिधानेन चिन्त्यमानया, हस्तेन गृहीतं पद्मं यया तया श्रिया महालक्ष्म्या अङ्ग ! हे ध्रुव ! मृग्यते । अनेन लक्ष्मीपतित्वमुक्तं, तेन च सर्वेश्वरत्वं जगत्कारणत्वं च सामर्थ्यादुक्तं भवति ॥ २४ ॥

सुनीत्युक्तमुपसंहरन् ध्रुवस्य चेष्टामाह मुनिः - **एवमिति** । मातुः सङ्कल्पितं विलापनं ततः अर्थागमम् अर्थस्य स्वाभिलषितस्यार्थस्यागमो यस्मात्तथाभूतं वचश्च आकर्ण्य आत्मना स्वेनैवात्मानं मनः सन्नियम्य समाधाय पितुरुत्तानपादस्य पुरान्निश्चक्राम निर्गतः ॥ २५ ॥

तन्निष्क्रमणमुपाकर्ण्य आश्रुत्य त्रैकाल्यज्ञो नारदः अस्य ध्रुवस्य चिकीर्षितं ज्ञात्वा चागत्येति शेषः । अघघ्नेन दुरितहारिणा पाणिना शिरसि संस्पृश्य विस्मितः प्राह ॥ २६ ॥

**विज०** चतुर्मुखस्य भगवत्पुत्रत्वेन तत्प्रसादयोग्यतया तस्य तादृशैश्वर्यावाप्तिर्युक्ता अस्मत्पूर्वजेन केनापि येन श्रद्धया अस्माकमपि तत्र झटिति प्रवृत्तिस्स्यात् अतस्तदनुभावयेति तत्राह - **तथेति** । अन्यतो भक्त्यादिव्यतिरिक्त साधनेन अन्याभ्यो देवताभ्यो वा भौमं मन्वन्तराधिपत्यं दिव्यं स्वर्गसम्बन्धि आपवर्ग्यं कैवल्यसम्बन्धि, अथेत्यनेन देहत्यागानन्तरमेवापवर्गसुखावाप्तिर्न जन्मान्तरं प्राप्येत्याह ॥ २२ ॥

किं बहुनोक्तेन ? सारं वक्ष्यामीत्याह - **तमेवेति** । यत्किञ्चिद्दोषदृष्ट्या विमुखो न स्यादित्यत उक्तं - भृत्येति । न केवलं

1--1. W omits 2. A, B, T omit स्व 3--3. A, B, T कथयति 4--4. A, T omit 5. A, B, T निवारकं

विषयलोलैरेवाराध्यं किन्तु संसारमोक्षेच्छुभिरपीति भावेनोक्तं - मुमुक्षुभिरिति। अत्र प्रधानसाधनमिदमिति ध्वनयति - अनन्यभाव इति। [1]अनन्यो भावो विषयो यस्य स तथा तस्मिन्[-1], तस्य भक्तिसाधनत्वं ध्वनयति - निजधर्मेति। यमनियमादयो निजधर्माः तैर्भाविते कृततत्स्वभावे[2]॥ २३॥

कुतोऽयमेवापेक्षिताशेषपुरुषार्थावाप्ताविति नियमः अन्यः किं, न स्यादिति तत्राह - **नान्यं तत** इति। वो युष्माकं कुलदेवता लक्ष्मीकान्तः ततः तस्मात् पद्मपलाशलोचनात् अनेन आकाशवत्[3] नीरूपस्योपासनं न सङ्गच्छत इति चोद्यं परिहृतम्। त्वया नान्विष्योक्तं विचारिते कश्चित्स्यादित्यत उक्तं मृगयामीति। [4]लक्ष्मीतत्त्वं स्यादिति तत्राह - य इति। श्रीत्वं भारत्यादावप्यस्तीत्यत उक्तम् - इतरैरिति। इतरैर्ब्रह्मादिभिः सेव्यापि सम्पल्लक्षणा श्रीः किं न स्यादित्यत उक्तं - हस्तेति। अनेन श्रीः प्रिया मूर्तिमती साक्षाल्लक्ष्मीरिति ज्ञायते। मृग्यत इत्यनेन हरेर्गुणतः स्वरूपतश्चोत्तमत्त्वं ध्वनयति। विमृग्यमाणयेत्यनेन श्रीकटाक्षमोक्षस्य दुस्साधनत्वमाह॥ २४॥

बालत्वाद्रोषतोषयोः क्षणकालीनत्वेनासमत्वान्मातृवचः श्रुत्वापि गृह एवावस्थानं, हृदि सन्निधाय तत्समर्थनाय ततो निर्गमनं वा युक्तमिति ध्रुवेण द्वयोर्मध्ये किमकारीत्यान्तरीं शङ्कां परिहर्तुमाह - **एवमिति**। अर्थस्याभिप्रेतस्याऽऽगमः प्राप्तिर्यस्मात्तथा तदा आत्मानं मनः आत्मना धैर्यगुणेन॥ २५॥

ध्रुवो नाम महात्मेति द्योतयन् तस्य स्वाभीष्टसिद्धिलक्षणं नारदसंवादं वक्ति - **नारद** इति। उपाकर्ण्येत्यनेन नारदस्य दूरश्रवणशक्तिर्योगीन्द्रत्वात् स्वाभाविकीति सूचयति। सर्वप्राणिचित्तविषयं ज्ञानं वा योगसिद्धमिति। स्पृष्ट्वेत्यादिना गुरुप्रसादं ध्वनयति। अघघ्नेन सर्वदुरितविनाशकेनेति पित्रादिद्वेषनिमित्तदोषनाशं सूचयति॥ २६॥

**नारद उवाच**

**अहो तेजः क्षत्रियाणां मानभङ्गममृष्यताम्।**
**बालोऽप्ययं हृदा धत्ते यत्समातुरसद्वचः॥ २७॥**

***क्व यात्येको भवान् वत्स! हित्वा स्वगृहमृद्धिमत्।**
**लक्षये त्वाऽवमत्याऽङ्ग! सन्तप्तं स्वजनोत्थया॥ २८॥**

---

1--1. A अन्यो भावो विषयो न यस्य 2. A, B स्वात्मभावे 3. M, Ma नि° 4. Ma लक्ष्मीत्वं * Though this verse is not found in the text A, B, G, I, J, the commentary of Veera Raghava & Vijayadwaja is the same as found in A & B. Edns

ध्रुव उवाच

**[1]किमेतद्भगवन्ध्यानात् दृष्टं [2]किं योगराधसा।

नोत्सहे सुरुचेर्वाचा समाधातुं मनःक्षतम्॥ २९॥

नारद उवाच

नाधुनाप्यवमानं ते [3]सम्मानं [4]वापि पुत्रक।

[5]लक्षयामि कुमारस्य [6]सक्तस्य क्रीडनादिषु॥ ३०॥

विकल्पे विद्यमानेऽपि न ह्यसन्तोषहेतवः।

[7]पुंसां मोहमृते भिन्ना यल्लोके [8]निजकर्मभिः॥ ३१॥

परितुष्येत्ततस्तात तावन्मात्रेण पूरुषः।

दैवोपसादितं यावद्वीक्ष्येश्वरगतिं बुधः॥ ३२॥

अथ मात्रोपदिष्टेन योगेनावरुरुत्ससि।

[9]यत्प्रसादं[10] स वै पुंसां दुराराध्यो मतो [11]मम॥ ३३॥

श्रीध० विस्मित इत्युक्तं तदेवाह - अहो इति। अहो! तेजः प्रभावः॥ २७, २८, २९, ३०॥

विकल्पे मानापमानविवेके सत्यपि [12-]मोहं[-12] विना [13-]भिन्नाः[-13] व्यतिरिक्ताः न सन्ति। किन्तु मोहकल्पिता एव [14]ते इत्यर्थः। यत्सुखं दुःखं [15]लोके तन्निजकर्मभिरेव भवति यतः॥ ३१॥

[16]एतदेव उपशमोपदेशेन निवर्तयति - **परितुष्येदिति** षड्भिः। ईश्वरगतिं वीक्ष्य ईश्वरानुकूल्यं विना नोद्यमाः फलहेतव इति ज्ञात्वा परितुष्येत् सन्तोषमेव कुर्यात्॥ ३२॥

---

** Also this verse is not found in A, B, G, I, J. But in the commentary of Veera Raghava & Vijayadhwaja on the same. this verse in found in A & B. Edns.

1. M, Ma, Ms किं न ते ध्यानजातेन 2. M, Ma, Ms, V वा; T तद् 3. M, Ma, V W सन्मानं 4. M, Ma चापि 5. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms,T °म: 6. V °स्य रक्तस्य; W °स्याऽऽसक्तस्य 7. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T पुंसो 8. M, Ma, Ms °का 9. Ms यं प्र° 10. M, Ma, Ms °दात् 11. W हि मे 12--12. A, B, J, Va omit 13--13. A, B, J, Va omit 14. A, B, J, V, Va omit ते 15 A. B, J, Va omit लोके 16. A, B, J, Va omit एतदेव

दुष्करश्च तवायमुद्यम इत्याह - **अथेति** द्वाभ्याम्। यस्य प्रसादं अवरुरुत्ससि[1] अवरोढुं (द्धुं)[1] प्राप्तुमिच्छसि॥ ३३॥

**वीर०** विस्मित इत्युक्तं तदेवाह - **अहो** इति। मानभङ्गम् अभिमानविहतिम् अमृष्यताम् असहमानानां क्षत्रियाणां तेजः प्रभावः अहो विस्मयनीयः। यत् यस्मात् अयं ध्रुवः बालोऽपि समातुः मातुः सपत्न्या असद्वचः दुष्टवाक्यं यत् हृदा हृदयेन धत्ते मनसि स्थापयतीत्यर्थः॥ २७॥

नारदोक्तिमेवाह - **केति**। हे वत्स! भवान् ऋद्धिमत् समृद्धिमत् स्वगृहं हित्वा एकः असहायः क्व याति गच्छति। अङ्ग! हे ध्रुव! त्वां स्वजनादुत्थया उत्पन्नया अवमत्या पराभूत्या सन्तप्तं नितरां तप्तं लक्षये उत्प्रेक्षये॥ २८॥

अत्र क्वचित्पुस्तकेषु "किमेतद्भगवन् ध्यानात् दृष्टं[2] किं योगराधसा। नोत्सहे सुरुचेर्वाचा समाधातुं मनःक्षतम्॥" इत्यधिकः श्लोकः पठ्यते। तत्रायं ध्रुवोत्तरत्वेन व्याख्येयः। हे भगवन्! नारद! एतन्मम स्वजनोत्थपराभवसन्तापादिकं योगराधसा योगप्रभावेण यद्ध्यानं सर्ववस्तुसाक्षात्कारापादकं तस्मात् दृष्टं किम्? त्वयेति शेषः। अहन्तु सुरुचेर्वाचा क्षतं व्यथितं मनः समाधातुं नोत्सहे न शक्नोमि॥ २९॥

एवमुक्तो नारदः पुनराह - **नाधुनाप्यवमानमिति**। एतच्छ्लोकाभावे सर्वोऽपि ग्रन्थो नारदोक्तिपरंत्वेन व्याख्येयः। हे पुत्रक! कुमारस्य अत एव क्रीडनादिष्वासक्तस्य तव अधुना बाल्य दशायामपि अवमानं सन्मानं वा न पश्यामि। बालो हि मानावमानावनादृत्य परं क्रीडासक्तः अतस्तवापि मानावमानौ न स्त इति पश्यामीत्यभिप्रायः॥ ३०॥

यदि ब्रूयाः अहं वयसा बालो न बुद्ध्येति तत्राह - **विकल्प** इति। विकल्पे मानावमानविवेके विद्यमानेऽपि[4-4] सत्यपि मोहं विना भिन्ना व्यतिरिक्ताः असन्तोषहेतवो न सन्ति किन्तु मोह एवासन्तोषे हेतुरित्यर्थः। कुतः? यत्सुखं दुःखं वा लोके तन्निजकर्मभिरेव भवति, यद्वा अहं बालोऽपि मानावमानबुद्धिमानिति ब्रूयात् तर्हीयम् असन्तोषमूला बुद्धिर्देहात्मभ्रममूला न तात्त्विकीत्याह - विकल्प इति। सर्वत्र ज्ञानैकाकारतया एकरूपे आत्मनि विकल्पे देवमनुष्यादिभेदे अविद्यमाने इति च्छेदः। असत्यपि देवमनुष्यादिभेदानामात्माकारत्वाभावेऽपीत्यर्थः। पुंसां जीवानां मोहमृते देवादिशरीरेष्वात्माभिमानं विना असन्तोषहेतवो न सन्ति, देहात्मभ्रम एवासन्तोषहेतुरित्यर्थः। विद्यमान इति वाच्छेदः। अपिशब्दः उक्तसमुच्चयार्थः विकल्प इत्यनेन सम्बध्यते। विकल्पे देवमनुष्यादिभेदे अपिशब्दात् तत्प्रयुक्तमानावमानादिके च सति मोहं देहात्माभिमानमृते असन्तोषहेतुरन्यो नास्तीत्यर्थः। असन्तोषस्य

1. A, B, J, Va omit 2. A, B, T तत् 3. A, B, T omit अपि 4--4. A, B, T omit

देहात्माभिमानाधीनत्वे हेतुमाह - भिन्ना यदिति। अत्र लोका इति प्रथमान्तपाठस्सुगमः। लोकाश्चेतनवर्गाः निजकर्मभिरेव भिन्नाः कर्मकृतदेवादिदेहभिन्ना इति यत् अतो देहे सति तत्रात्मभ्रम एवावमानद्वारा असन्तोषहेतुः। असन्तुष्टस्य चेतनस्य देहात्माभिमानित्वादित्यर्थः। यद्वा सप्तम्यन्तपाठः। भिन्नेति भावे, स्त्रीत्वमार्षं भिदेत्यर्थः। देवादिदेहभेदे को हेतुस्तत्राह। लोके ज्ञानैकाकारे चेतनवर्गे भिन्ना देवमनुष्यादिभिदा यत् यतः कर्मभिर्भवति अनेन कर्मकृतो देवादिदेहभेदस्तत्कृतो मानावमानमूलो देहात्मभ्रमस्ततोऽसन्तोषरूपं दुःखमित्यभिप्रेतम्॥ ३१॥

एतदेव उपशमोपदेशेन निवर्तयति - **परितुष्ये**दिति षड्भिः। ततो देहात्मभ्रमस्यैवासन्तोषहेतुत्वाद् बुधः देहविलक्षणात्मज्ञानी पुरुषः ईश्वरगतिं वीक्ष्य ईश्वरानुकूल्यं विना नोद्यमाः फलहेतवः इति ज्ञात्वा यावत्सुखं दैवेनोपसाधितं[1] प्रापितं तावन्मात्रेण परितुष्येत् नाधिकं लिप्सेत्। अतोऽधिकसुखार्थं नोद्यमः कार्य इति भावः॥ ३२॥

दुष्करश्च तवायम् उद्यम इत्याह - **अथेति** द्वाभ्याम्। अथ ननु मात्रोपदिष्टेन भक्तियोगेन यस्य भगवतः प्रसादम् अवरोद्धुं प्राप्तुमिच्छसि स वै भगवान् पुंसां दुःखेनाप्याराधयितुमशक्य इति मे मया ज्ञातो मतः॥ ३३॥

**विज०** विस्मित इत्युक्तमभिनयति - **अहो** इति। तेजो धैर्यलक्षणम्। अमृष्यतामसहमानानां समातुः समानमातुः सुरुच्याः॥ २७॥

किं प्राहेति तत्राह - **क्व यातीति**। लक्षये लक्षणवृत्त्या जानामि॥ २८॥

अत्र ध्रुवेन किमुत्तरं दत्तमिति तत्राह - **किं न ते** इति। ध्यानेन ज्ञानं लक्षयति कार्यकारणसम्बन्धात् ते त्वया ध्यानजातेन योगराधसा अष्टाङ्गयोगजनितदूरदर्शनशक्तिलक्षणसामर्थ्येन वा किं न दृष्टं सर्वं दृष्टमेव, तथापि वक्ष्यामीति शेषः। किं तदिति तत्राह- नोत्सहे इति॥ २९॥

नारदेन किं प्रत्युत्तरमुक्तमत्राह - **नाधुनेति**॥ ३०॥

ननु क्रीडनादिषु सक्तस्य बालस्य न युक्तमन्यस्य विवेकिनः कथमित्याशङ्क्य नितरामीदृशस्य सन्तोषहेतुत्वमिति बोधयति - **विकल्प** इति। विकल्पे शत्रुमित्रादिविविधकल्पने विद्यमानेऽपि पुंसो मोहमृते भ्रममन्तरेणाऽसन्तोषहेतवो मनःखेदजनकाः न सन्ति। कुतः लोकाः **जनाः भिन्नाः स्वानुष्ठितैः** निजकर्मभिः उत्तमाधममध्यमभेदेन नानाविधा इति यस्मात्॥ ३१॥

---

1. A, B, T °दितं

तत ईश्वरगतिं बुधो विद्वान् यावत्[1] दैवोपसादितं वीक्ष्य तावन्मात्रेण परितुष्येदित्यन्वयः। ईश्वरगतिं वीक्ष्य यावद्दैवोपसादितं तावन्मात्रेणेति वा। अनेन सुरुच्या दुर्वचस्तव सन्तापकारणं न भवतीत्युक्तं भवति॥ ३२॥

हरेः प्रसादजनके तपसि स्थितां बुद्धिं दृढां विधातुं बाधकमभिधत्ते - **अथेति**। अथ यदि मात्रोपदिष्टेन योगेनोपायेन हरेः प्रसादात् यं हरिम् अवरुरुत्ससि[2] अनुग्रहोन्मुखीकर्तुमिच्छसि तर्ह्यपि स हरिर्मम पुंसां दुराराध्यो मतः कुतस्तत्प्रसादावाप्तिः[3] कुतस्तरां[4] फलाप्तिरित्यर्थः। वा इत्यनेन स्वानुभवसिद्धमिति दर्शयति॥ ३३॥

**मुनयः पदवीं यस्य निस्सङ्गेनोरुजन्मभिः।**
**न विदुर्मृगयन्तोऽपि तीव्रयोगसमाधिना॥ ३४॥**

**ततो निवर्ततामेष निर्बन्धस्तव निष्फलः।**
**यतिष्यति भवान् काले श्रेयसां समुपस्थिते॥ ३५॥**

**यस्य यद् दैवविहितं स तेन सुखदुःखयोः।**
**आत्मानं तोषयन् देही तमसः पारमृच्छति॥ ३६॥**

**गुणाधिकान्मुदं लिप्सेदनुक्रोशं गुणाधमात्।**
**मैत्रीं समानादन्विच्छेन्न तापैरनुभूयते॥ ३७॥**

**ध्रुव उवाच**

**सोऽयं शमो भगवता सुखदुःखहतात्मनाम्।**
**दर्शितः कृपया पुंसां दुर्दर्शोऽस्मद्विधैस्तु यः॥ ३८॥**

**श्रीध० मुनय** इति। निस्सङ्गेन तीव्रयोगेन युक्तेन समाधिना मृगयन्तोऽपि यस्य पदवीं मार्गं न विदुः स देवो दुराराध्यः - ॥३४॥

**तत** इति। श्रेयसां काले वृद्धत्वे॥ ३५॥

**यस्येति**। सुखदुःखयोर्मध्ये सुखे सति पुण्यं क्षीयत इति। दुःखे सति पापं क्षीयत इत्यात्मानं तोषयन् तमसः पारं मोक्षं प्राप्नोति॥ ३६॥

1. A, B यत् 2. A, B adds अत्र 3--3. A, B omit 4. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T अतो

**गुणाधिकादिति**। किञ्च गुणैरधिकात् पुंसः इति ल्यब्लोपे पञ्चमी। तं दृष्ट्वा प्रीतिं कुर्यात् न त्वसूयामित्यर्थः[1]। अनुक्रोशं कृपां लिप्सेत् न तु तिरस्कारं, समानात् मैत्रीं न तु स्पर्धाम्॥ ३७, ३८॥

**वीर०** निस्सङ्गेन देहतदनुबन्धिसङ्गान्निर्गतेन तीव्रयोगः विघ्नानुपहतो ज्ञानयोगः कर्मयोगश्च तद्युक्तेन समाधिना यस्य भगवतः पदवीं मार्गं मृगयन्तोऽपि मुनयो बहुजन्मभिरपि न विदुः स देवो भगबान् दुराराध्यो मम मत इति पूर्वेण सम्बन्धः॥ ३४॥

अतो देवस्यापि दुराराध्यत्वाद्धेतोः निवर्ततां गृहान् प्रतियातु भवान् तवैष निर्बन्धः उद्यमरूपो निर्बन्धः[2-2] निष्फलः अनर्थकः[3]। अयतमानस्य मम कथं श्रेयःप्राप्तिरित्याशङ्कमानं प्रत्याह - यतिष्यतीति। दैवात् श्रेयसां काले समुपस्थिते भवान् यतिष्यति यत्नं करिष्यतीति[4] अधुना तु उद्यमो निष्फल इति भावः॥ ३५॥

किञ्च यस्य पुंसः यत् सुखं दुःखं वा दैवेनेश्वरेण विहितं स पुमान् दैवविहितयोः सुखदुःखयोर्मध्ये तेन दैवविहितेन सुखेन दुःखेन वा आत्मानं तोषयन् सुखे सति पुण्यं क्षीयते असुखे त्वपुण्यम्। अतः पुण्यापुण्यक्षयेन संस्कृतोमोक्षः इत्यात्मानं तोषयन्नित्यर्थः। देही देहवान् तमसः पारं प्रकृतिमण्डलातीतं विष्णोः पदमृच्छति याति॥ ३६॥

अपि च यः पुमान् गुणैरधिकः स्वापेक्षयाधिकस्तस्मात्। इयं ल्यब्लोपे पञ्चमी, गुणाधिकं दृष्ट्वेत्यर्थः। मुदं लिप्सेत् लब्धुमिच्छेत् प्रीतिं कुर्यात् न त्वसूयामित्यर्थः। गुणाधमात् गुणाधमं वीक्ष्य अनुक्रोशं कृपां लिप्सेन्न तु तिरस्कारं, समान्मैत्रीं न तु स्पर्धां, सः तापैराध्यात्मिकादितापैः नाभिभूयते तापत्रयाभिहतो न भवतीत्यर्थः॥ ३७॥

एवं नारदेनोपदिष्टक्रमो ध्रुवः स्वमनीषितेऽविचाल्यमतिः तद्दर्शनं तदुक्तिं चाभिनन्दन्[5] तं प्रत्याह - **सोऽयमिति** चतुर्भिः। भगवता[6] त्वया सुखदुःखाभ्यां हतः पराभूतः आत्मा मनो येषां तेषां पुंसामस्माकं सोऽयं शमः मनः प्रशान्त्युपायः कृपया दर्शितः ज्ञापितः यो भगवान् त्वमस्मद्विधैः मादृशैः दुर्दर्शः द्रष्टुमशक्यः, यद्वा यः शमः अस्मद्विधैर्दुर्दर्शः ज्ञातुमशक्य इति शमप्रशंसा[7]॥३८॥

**विज०** मुनयोऽपि यन्मार्गं समाराध्य न जानन्ति बालकस्त्वं किमुतेत्याह - **मुनय** इति॥ ३४॥

ततः किं तत्राह - **अत** इति। तर्हि निःश्रेयसाय प्रयतमानस्य पुंसो जन्मनो निरर्थकत्वमित्याशङ्क्य नायं कालः किन्तु कालान्तर इत्याह - **यतिष्यतीति**। **काले वार्धके**॥ ३५॥

---

1. V °दि° 2--2. A, B, T omit 3. A, B, T अनर्थः 4. W omits इति 5. A, B, T omit तं 6. A, B, T omit त्वया 7. W adds वा

सुखदुःखयोर्मध्ये यत्सुखं दुःखं वा यस्य दैवेन विहितं स देही तयोरेकेन तेनात्मानं तोषयन् तमसः पारम् अज्ञानस्यान्तं मोक्षमृच्छति गच्छतीत्यन्वयः ॥ ३६ ॥

मनोदुःखाभावे उपायान्तरमाह - **गुणाधिकादिति**। शमदमादिगुणाधिकात् पुरुषादिति प्रत्येकं सम्बध्यते। अनुक्रोशं दयां मैत्रीं सौहार्दं तापैर्मनःखेदकरैर्भावैः ॥ ३७ ॥

नारदेनैवं बोधितोऽपि ध्रुवस्तं मार्गं प्रशस्य स्वहार्दं विज्ञापयति - **सोऽयमिति**। योऽस्मद्विधैर्दुर्दर्शः शास्त्रदृष्ट्या ज्ञातुमशक्यः सोऽयं शमो भगवन्निष्ठालक्षणो भगवता सुखदुःखाभ्यां हतात्मनां पीडितमनसां पुंसां कृपया दर्शितो यद्यपि ॥ ३८ ॥

**अथापि मेऽविनीतस्य क्षात्रधर्ममुपेयुषः[1]।**
**सुरुच्या दुर्वचोबाणैर्न भिन्ने श्रयते हृदि ॥ ३९ ॥**

**पदं त्रिभुवनोत्कृष्टं जिगीषोस्साधु वर्त्म मे।**
**ब्रूह्यस्मत्पितृभिर्ब्रह्मन्नन्यैरप्यनधिष्ठितम्[2] ॥ ४० ॥**

**नूनं भवान् भगवतो योऽङ्गजः परमेष्ठिनः।**
**वितुदन्नटते वीणां हिताय[3] जगतोऽर्कवत्[4] ॥ ४१ ॥**

**मैत्रेय उवाच**

***इत्युदीरितमाकर्ण्य[5] भगवान्नारदस्तदा।**
**प्रीतः प्रत्याह तं बालं सद्वाक्यमनुकम्पया[6] ॥ ४२ ॥**

**नारद उवाच**

**जनन्याभिहितः पन्थाः स वै निःश्रेयसस्य ते।**
**भगवान् वासुदेवस्तं[7] भज तत्प्रवणात्मना ॥ ४३ ॥**

---

1. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T क्षात्रं घोरं° 2. M, Ma न्नान्यै° 3. M, Ma, Ms °नु° 4. A, B, G, J, M, Ma, T °र्थं * This verse is not found in Editor V. 5. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °दाहृत° 6. M, Ma, Ms तं° 7. Ms °स्त्वं

**श्रीध० अथेति**। क्षात्रं स्वभावं प्राप्तवतोऽत एवाऽविनीतस्य दुर्वाक्यबाणैर्भिन्ने हृदि न श्रयते न तिष्ठति॥ ३९॥

**पदमिति**। अन्यैरनधिष्ठितं त्रिभुवने उत्कृष्टं पदं जेतुमिच्छोः मे साधु वर्त्म मार्गं ब्रूहि॥ ४०॥

**नूनमिति**। अङ्कज इति पाठे उत्सङ्गाज्जातो यो नारदः स भवान्[1]। तत्र लिङ्गं वीणां वितुदन् वादयन्[2] जगतो हिताय अटति॥ ४१, ४२॥

**जनन्येति**। निःश्रेयसस्याभिप्रेतार्थस्य पन्थाः कोऽसावित्यत्र आह - भगवान् वासुदेवः[3-]अत[-3] एव तं भज॥ ४३॥

**वीर०** अथापि त्वयोपदिष्टशमस्यापि मम घोरं क्षात्रं स्वभावम् उपेयुषः प्राप्तवतोऽत एवाविनीतस्य सुरुच्याः दुर्वचांस्येव बाणास्तैर्भिन्ने हृदि न श्रयते शम इत्यनुषङ्गः, शमो न तिष्ठतीत्यर्थः॥ ३९॥

अतो मन्मनीषानुसारेणैव मामनुगृह्य मनीषितोपायप्रकारं ब्रूहीत्याह - **पदमिति**। अस्मत्पितृभिस्तेभ्योऽन्यैरप्यनधिष्ठितं त्रिभुवनोत्कृष्टं पदं जेतुमिच्छोर्मे साधु वर्त्म मार्गं ब्रूहि॥ ४०॥

स्वोपदेशोल्लङ्घनान्मां निगृह्यादित्याशङ्क्य तं प्रसादयति - **नूनमिति**। भवान् परमेष्ठिनो ब्रह्मणः जगद्धितकारिणोऽङ्गजः देहजः। अङ्कज इति पाठे उत्सङ्गाज्जातः, वीणां वितुदन् ध्वनयन् जगतो हिताय सूर्यवदटति चरति, अतो मन्मनीषापादनमेव जगद्धितकारिणस्तवोचितमिति भावः॥ ४१॥

एवं दृढसङ्कल्पस्य ध्रुवस्य वच आश्रुत्य तमनुगृह्णन् आह नारदः इत्याह मैत्रेयः। इति उक्तप्रकारेण उदीरितं गदितमाकर्ण्य भगवान्नारदः दृढसङ्कल्पदर्शनेन नितरां प्रीतः तं बालकं प्रति कृपया सद्वाक्यं हितवाक्यमाह॥ ४२॥

उक्तमेवाह - **जनन्या** इत्यादिना विरक्तश्चेदिन्द्रियरतावित्यन्तेन। तत्र तावद्भगवानेव भक्त्या प्रसन्नो धर्मादिपुरुषार्थचतुष्टय-प्रदः ततः तद्भक्तिरेव कार्येति वदन्नुपासनोपयुक्तं देशमाचारं[4] ध्येयस्य भगवतो ध्यानप्रकारं जप्यं मन्त्रं भगवत्सपर्याप्रकारमाहारनियमं च कथयन्नेवमाराधितो भगवानेव त्वत्समीहितमभिनिवर्तयतीत्याह। जनन्या सुनीत्या उक्तः यः पन्था उपायः स वै स एव ते तव निःश्रेयसाय निश्चितं श्रेयः निःश्रेयसं तस्मै भवति। जनन्यभिहितोपाय[5] एव त्वदभिप्रेतार्थसाधनमित्यर्थः। कोऽसौ जनन्याऽभिहितः पन्थाः तत्राह - भगवान् वासुदेव एव। अतस्तत्प्रवणमात्मना भगवत्प्रवणचित्तेन तं भगवन्तं भज॥ ४३॥

---

1. A adds खलु 2. A, B, J, Va omit जगतो 3--3. V एव अतः 4. W तस्य 5. A, B, T °न्याऽभि°

**विज०** अथापि तथापि अविनीतस्य कुतः क्षात्रं घोरं धर्ममुपेयुषो गच्छतो मे सुरुच्या दुर्वचोबाणैर्भिन्ने हृदि स शमो न श्रयते स्थितिं न लभत इत्यन्वयः ॥ ३९ ॥

तर्हि तवाऽऽकाङ्क्षायाः कियानवधिरिति तत्राह - **पदमिति**। अनेन राजसिंहासनस्यानित्यत्वेन न तपःसाध्यत्वेनाकाङ्क्ष्यत्वमिति सूचितम्। अस्मत्पितृभिरित्यादिनोत्तमस्य मनोरथेनाप्यनवाप्यमित्यसूचि ॥ ४० ॥

भवान् लोकहितार्थाटनत्वात् मदभीष्टमुपदिशतीत्याशयेनाह - **नूनमिति** ॥ ४१ ॥

यादृच्छिकगतित्वात् तदुक्तमाकर्ण्य स्मित्वा योगित्वेनादृश्यशक्तिमत्त्वात् तूष्णीं गतमुत किमप्युक्तमिति तत्राह - **इतीति**। तद्वाक्यं प्रति प्रीतः ॥ ४२ ॥

प्राक् स्वोक्तमेव दृढीकर्तुमुक्तमन्यद्वा सम्भवादुभयोरिति तत्राह - **जनन्येति**। वा इत्येवार्थः, यो जनन्याऽभिहितः पन्था स एव ते निःश्रेयसस्य स्यान्नान्य इत्यन्वयः। कोऽसाविति तत्राह - भगवानिति। यो हरेर्विग्रहेषु वासुदेवनामा भगवांस्तं प्रवणात्मना भजेत्यन्वयः ॥ ४३ ॥

**धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः।**
**एकं ह्येव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम् ॥ ४४ ॥**

**तत्तात गच्छ भद्रं ते यमुनायास्तटं शुचि।**
**पुण्यं मधुवनं यत्र सान्निध्यं नित्यदा हरेः ॥ ४५ ॥**

**स्नात्वानुसवनं तस्मिन् कालिन्द्याः सलिले शिवे।**
**कृत्वोचितानि निविशन्नात्मनः कल्पितासनः ॥ ४६ ॥**

**प्राणायामेन त्रिवृता प्राणेन्द्रियमनोमलम्।**
**शनैर्व्युदस्याभिध्यायेन्मनसा गुरुणा गुरुम् ॥ ४७ ॥**

---

1. B, M, Ma द्रढी° 2. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T एकमेव 3. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T, V निवस° 4. M, Ma °ने
5. M, Ma, Ms गुरूणां

**प्रसादाभिमुखं शश्वत्प्रसन्नवदनेक्षणम्।**

**सुनासं सुभ्रुवं चारुकपोलं सुरसुन्दरम्[1]॥ ४८॥**

**श्रीध० तदिति**। मधुवनाख्यं[2-] यमुनायास्तटं[-2] गच्छ। यत्र मधुवने॥ ४४, ४५॥

**स्नात्वेति**। अध्ययनाद्यभावेऽप्यात्मन उचितानि योग्यानि देवतानमस्कारादीनि कृत्वेति यमनियमाः[3] उक्ताः। आसनकल्पनं च कुशादिभिः स्वस्तिकादिभिश्च॥ ४६॥

**प्राणायामेनेति**। प्राणेन्द्रियमनसां मलं चाञ्चल्यं व्युदस्येति प्राणायामप्रत्याहारौ। धारणामाह- अभिध्यायेदित्यादि[4] षड्भिः। गुरुणा धीरेण मनसा गुरुं श्रीहरिम्॥ ४७॥

**प्रसादेति**। सुरेषु सुन्दरम्॥ ४८॥

**वीर०** भगवान् वासुदेव एव इत्येतदेव प्रपञ्चयति - **धर्मेत्यादिना**[5]। यः पुमान् धर्माद्यन्यतमं श्रेयः आत्मनः स्वस्य इच्छेत् तत्र हरेः पादसेवनमेकमेव कारणमुपायः॥ ४४॥

तत्तस्माद्भगवत्पादसेवनस्यैव धर्मादिसाधनत्वात् हे तात ! यमुनायाः शुचि शुद्धं तटं तीरं गच्छ, ते तव भद्रं मङ्गलमस्तु। तटं विशिनष्टि - यत्र तटे पुण्यं पुण्यावहं मधुवनमस्ति। कथम्भूतं मधुवनम् ? सर्वदा हरेर्भगवतः सान्निध्यं सान्निध्यवत्। तटशब्दस्य तटस्थितमधुवने लक्षणा वा। तत्कथम्भूतं मधुवनम् ? यत्र मधुवने हरेः सान्निध्यमस्ति॥ ४५॥

कालिन्द्याः यमुनायाः शिवे मङ्गले सलिले त्रिषवणं स्नात्वा तत्र वने आत्मनः स्वस्य उचितानि योग्यानि देवतानमस्कारादीनि कृत्वा कुशादिभिः स्वस्तिकादिभिश्च कल्पितमासनं यस्य सः निविशन्[6] उपाविशन्॥ ४६॥

त्रिवृता त्रयाणां रेचकपूरककुम्भकानां वृत् वर्तनं यस्मिन् तेन प्राणायामेन, त्रिवृता प्रणवेन प्रणवानुसन्धानपूर्वकमिति वाऽर्थः। प्राणानामिन्द्रियाणां मनसश्च मलं चाञ्चल्यं शनैर्व्युदस्य अपोह्य गुरुणा श्रेष्ठेन प्राणायामैर्निर्मलेनेत्यर्थः, मनसा गुरुं भगवन्तं ध्यायेत्। अत्र उचितानि कृत्वेति यमनियमा उक्ताः। कल्पितासन इत्यासनम्। मलं व्युदस्येति प्राणायामप्रत्याहारौ ध्यायेत् गुरुम्[7] इति ध्यानम्। धारणाप्यनेनैवोक्ता धारणापूर्वकत्वाद्ध्यानस्य, एवमष्टाङ्गयुक्तो योग उपदिष्टः॥ ४७॥

---

1. M, Ma, Ms सुन्दरं हरिम्  2--2. V मधुवनं तदेवाख्यं तटं  3. V omits यम  4. V °दिति  5. W °त्यादि  6. A, B, T निवसन्
7. A, B, T omit गुरुम्

ध्येयं गुरुं विशिनष्टि - **प्रसादेति**। शश्वत् सदा प्रसादे अनुग्रहे अभिमुखं प्रसन्नं वदनमीक्षणे च यस्य तं, शोभना नासिका यस्य, शोभने भ्रुवौ यस्य, चारू सुन्दरौ कपोलौ यस्य, सुरसुन्दरं देववत्सुन्दरं सुरेभ्योऽपि सुन्दरमिति वा॥ ४८॥

**विज०** अस्मिन्नर्थेऽन्यः किं न स्यादिति तत्राह - **धर्मार्थेति**। कारणमितरव्यावर्तकं साधनम्॥ ४४॥

अभीष्टसिद्धिसाधनं क्षेत्रं चोपदिशति - **तत्तातेति**। यस्माद्धरेरेव प्रधानसाधनत्वं तत्तस्मान्मधोः पूर्णानन्दस्य हरेर्वनं भजनं यस्माद्भवति तन्मधुवनं नाम्ना सूचितमर्थं प्रकाशयति यत्रेति॥ ४५॥

तत्र किं कर्तव्यमिति तत्राह - **स्नात्वेति**। उचितानि तर्पणादीनि॥ ४६॥

त्रिवृता रेचकादित्रित्वसंख्योपेतेन यद्वा य-र-व इति त्र्यक्षरयुक्तेन यद्वा प्रणवयुक्तेन प्राणानामवशत्वमिन्द्रियाणां विषयाभिमुखत्वं मनसोऽनवस्थितित्वमिति[1] मलत्रयं, गुरूणां गुरुमुपदेष्टारम्॥ ४७॥

पुरुषायुषशतेनाऽप्रसन्नतादिगुणवांश्चेत् किमनेनेत्यतोऽश्रद्धा न कर्तव्येति ध्येयस्वरूपमुपदिशति - **प्रसादाभिमुख**-मित्यादिना॥ ४८॥

**तरुणं रमणीयाङ्गमरुणोष्ठेक्षणाधरम्।**[2]
**प्रणताश्रयणं नृम्णं[3] शरण्यं करुणार्णवम्॥ ४९॥**

**श्रीवत्साङ्गं घनश्यामं पुरुषं वनमालिनम्।**
**शङ्खचक्रगदापद्मैरभिव्यक्तचतुर्भुजम्॥ ५०॥**

**किरीटिनं कुण्डलिनं केयूरवलयान्वितम्।**
**कौस्तुभाभरणग्रीवं पीतकौशेयवाससम्॥ ५१॥**

**काञ्चीकलापपर्यस्तं लसत्काञ्चननूपुरम्।**
**दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम्॥ ५२॥**

**पद्भ्यां नखमणिश्रेण्या विलसद्भ्यां समर्चताम्।**[4]
**हृत्पद्मकर्णिकाधिष्ण्यमाक्रम्यात्मन्यवस्थितम्॥ ५३॥**

1. A °त° 2. M, Ma, Ms °णाब्जेक्ष° 3. M, Ma, Ms कृष्णं 4. Ms °र्चितम्

**श्रीध० तरुणमिति**। रमणीयान्यङ्गानि यस्य, [1-]ओष्ठश्च ईक्षणे च ओष्ठेक्षणम्, अरुणम् ओष्ठेक्षणमाधारयतीति[-1] तथा तम्। अरुणमोष्ठमीक्षणं चाधारयतीति वा। नृम्णं सुखरूपम्[2]। यद्वा नृम्णं, धनं, सर्वपुरुषार्थ[3]निधिमित्यर्थः। [4-]शरण्यं रक्षितारम्[-4]॥ ४९॥

**श्रीवत्सेति**। पुरुषं पुरुषलक्षणयुक्तम्॥ ५०॥

**किरीटिनमिति**। [5-]कौस्तुभस्याभरणं ग्रीवा यस्य[-5]॥ ५१॥

**काञ्चीति**। काञ्चीकलापेन पर्यस्तं परिवेष्टितम्। [6]मनोनयनयोर्वर्धनं हर्षकरम्॥ ५२॥

**पद्भ्यामिति**। हृत्पद्मकर्णिकाया[7] धिष्ण्यं मध्यस्थानं तदाक्रम्य समर्चतां भक्तानाम्[8] आत्मनि मनसि स्थितम्॥ ५३॥

**वीर०** तरुणं बालं रमणीयान्यङ्गानि यस्य तम्। अधरोष्ठेक्षणारुणम् अधरोष्ठौ ईक्षणे चारुणे यस्य तम् अरुणोष्ठेक्षणाधरमिति पाठान्तरम्। तदा अरुणमोष्ठमीक्षणे चाधारयतीति तं प्रणतैर्भक्तैराश्रयणमाश्रयणीयं नृम्णं सुखरूपं [9-]यद्वा नृम्णं[-9] धनं सर्वपुरुषार्थनिधिमित्यर्थः। शरण्यं समीहितोपायत्वेनाध्यवसनीयं करुणानिधिम्॥ ४९॥

श्रीवत्समङ्कं चिह्नं यस्य, घनश्यामं नीलाम्बुदश्यामं पुरुषं पुरुषलक्षणयुक्तं, वनमालाऽस्याऽस्तीति वनमाली तं, शङ्खादिभिरभिव्यक्ताः शोभमानाश्चत्वारो भुजा यस्य तम्॥ ५०॥

किरीटमस्यास्तीति तं कुण्डले अस्य स्तः इति तं, केयूराभ्यां वलयाभ्यां च युक्तं कौस्तुभाख्यमाभरणं ग्रीवायां यस्य तं, पीतं कौशेयं वासो वस्त्रं यस्य तम्॥ ५१॥

काञ्चीकलापेन पर्यस्तं परिवेष्टितं लसत्काञ्चने नूपुरे यस्य तम्। अतिशयेन द्रष्टुं योग्यं शान्तम् अनुग्रं ध्यातॄणां मनसो नयनयोश्च वर्धनं हर्षकरम्॥ ५२॥

नखा एव मणयस्तेषां श्रेण्या पङ्क्त्या विलसद्भ्यां [10]पद्भ्यां युक्तं समर्चतां हृत्पद्मकर्णिकायाः[11] धिष्ण्यं मध्यस्थानं तदाक्रम्य अर्चताम् आत्मनि स्थितम्॥ ५३॥

---

1--1. A, B, J, Va ओष्ठश्च ईक्षणा ईक्षणं च ओष्ठेक्षणे, अरुणे ओष्ठेक्षणे धारयतीति  2. A, B, J, Va °करम्।  3. Va °र्थः॥ ४१
4--4. B, J, V omit  5--5. V कौस्तुभाभरणं ग्रीवायां  6. V मनसो न°  7. V °यां  8. B, J, V, Va omit भक्तानाम्  9--9. T omit
10. A, B, T omit पद्म्यां  11. A, B, T °काधि°

विज० अरुणत्वलक्षणज्ञापनाय पुनरीक्षणं क्वचिद्धरिं पीतवर्णं क्वचित् कृष्णम् ॥ ४९ ॥

क्वचिद्धनवत् श्यामं नीलं पुरुषलक्षणसामग्रीसूचनाय पुरुषग्रहणम् ॥ ५०, ५१ ॥

"कलापो भूषणे बर्हे" (अम.को. 3-3-129) इति वचनात् काञ्चीकलापेन पर्यस्तं संवेष्टितम् ॥ ५२ ॥

नखमणिश्रेण्या विलसद्भ्यां पादाभ्यां[1] समर्चतां भक्तानामात्मनि मध्यदेहे हृदयपद्मकर्णिकाधिष्ण्यमाक्रम्यावस्थितम् ॥५३॥

**स्मयमानमभिध्यायेत्सानुरागावलोकनम् ।**
**नियतेनैकभूतेन[2] मनसा वरदर्षभम्[3] ॥ ५४ ॥**

**एवं भगवतो रूपं सुभद्रं ध्यायतो मनः ।**
**निर्वृत्या परया तूर्णं[4] सम्पन्नं न निवर्तते ॥ ५५ ॥**

**जप्यश्च[5] परमो गुह्यः श्रूयतां मे नृपात्मज !**
**यं सप्तरात्रं प्रपठन् पुमान् पश्यति खेचरान् ॥ ५६ ॥**

**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**

**मन्त्रेणानेन देवस्य कुर्यात् दण्डमयीं बुधः ।**
**सपर्यां विविधैर्द्रव्यैः देशकालविभागवित् ॥ ५७ ॥**

**सलिलैः शुचिभिर्माल्यैः वन्यैर्मूलफलादिभिः ।**
**शस्ताङ्कुराशुकैश्चार्चेत्[6] तुलस्या[7] प्रियया[8] प्रभुम् ॥ ५८ ॥**

**श्रीध०** ध्यानमाह - **स्मयमानमिति** । नियतेन प्रागुक्तया धारणया सुस्थिरेणात एवैकभूतेन एकाग्रेण । धारणोक्तानि विशेषणानि ध्यानेऽपि द्रष्टव्यानि । यद्वा यथोक्तमात्रमेव । तदुक्तमेकादशस्कन्धे "नान्यानि चिन्तयेद् भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम् (भाग. 11-14-43) इति ॥ ५४ ॥

1. A omits पादाभ्यां 2. M, Ma °मे° 3. W पुरुषोत्तमम् 4. M, Ma, Ms पू° 5. I जपश्च; M, Ma जप्यस्तु 6. V शस्तैर्दूर्वाङ्कुरैश्चान्यैः 7. M, Ma, Ms °रैः कुशैः° 8. W °श्चान्यैः

समाधिमाह - **एवमिति**। परया निर्वृत्त्या आनन्देन[1-1] तूर्णं शीघ्रं सम्पन्नं सत्॥ ५५॥

**जप्य** इति। जप्यो मन्त्रः॥ ५६, ५७॥

द्रव्याण्येवाह - **सलिलैरिति**। शस्तैः दूर्वाङ्कुरैः वन्यैरवांशुकैः भूर्जत्वगादिभिः॥ ५८॥

**वीर०** स्मयमानमीषद्धसन्तम् अनुरागयुक्तोऽवलोको यस्य, पुरुषोत्तमं नियतेन विजातीयप्रत्ययरहितेन एकभूतेन एकाग्रेण मनसा अभिद्यायेत्[2-2] अभितः पादादिशिरःप्रभृति ध्यायेत्[3]॥ ५४॥

एवं ध्येयमाकारमभिधायेदृशशुभाश्रयध्यानसुखितं मनः ततः तूर्णं न निवर्तयेदित्याह - **एवमिति**। सुभद्रं निरतिशयमङ्गल-गुणाकरं ध्यानविषयं भगवतो रूपमभिध्यायेदिति शेषः। परया निर्वृत्त्या निरतिशयेन सुखेन सम्पन्नं युक्तं मन इति शेषः, तूर्णं न निवर्तते। यद्वा परया निर्वृत्त्या सम्पन्नं मनस्तूर्णं यथा न निवर्तते तथा भगवतो रूपं ध्यायेदिति क्रियाविशेषणत्वानुषङ्गाभ्यां योजनीयम्॥ ५५॥

एवमष्टाङ्गयुक्तं भक्तियोगमभिधाय तदनुग्राहिकां द्रव्यमयीं सपर्यामभिधास्यन्, तदुपयुक्तं जप्यं मन्त्रं सप्रभावमाह - **जप्यश्चेति**। हे नृपात्मज! परमो निरतिशयः अत एव गुह्यो गोपनीयः मन्त्रः मे मत्तः श्रूयतां यं मन्त्रं पुमान् सप्तरात्रं प्रपठन्[4] प्रजपन् खेचरान् पश्यति॥ ५६॥

कोऽसौ मनुरित्यत्र[5] आह - **ओमिति**। अयं वासुदेवद्वादशाक्षरो मन्त्रः, अस्यार्थस्तु सम्प्रदायतोऽवगन्तव्यः। एतन्मन्त्रपूर्वकद्रव्यमयीमर्चामाह - **मन्त्रेणेति**। देवस्य अनेन मन्त्रेण नानाविधैर्द्रव्यैः द्रव्यमयीं द्रव्यप्रचुरां सपर्यां देशकालयोः सपर्योपयुक्तानुपयुक्तदेशकालयोः विभागं वेत्तीति देशकालविभागवित् कुर्यात् सपर्योपयुक्तो देशः चण्डालपतितयवनाद्यसेवितः, कालस्तु प्रातर्मध्यन्दिनसायाह्नादिरूपः, तदितरावनुपयुक्तौ देशकालौ॥ ५७॥

द्रव्याण्याह - **सलिलैरिति**। शुचिभिरिति सलिलादिभिः सर्वैरन्वेति। वन्यैः वनेषु भवैः शस्ताङ्कुरांशकैः प्रशस्तैर्दूर्वाद्यङ्कुरैर्वन्यैरवांशुकैः भूर्जत्वगादिभिश्च प्रियया भगवतः प्रीतिविषयया तुलस्या हरिमर्चयेत् आराधयेत्॥५८॥

**विज०** मनसैवंविधं भगवतो रूपं ध्यायेदित्यन्वयः। किं विशिष्टेन मनसा नियमेन[6] परिणततयाऽभ्यस्ततया प्राप्तपरिपाकत्वेन एकस्मिन्ध्येये वस्तुनि भूतेन बाह्यविषयाभिनिवेशरहितेन॥ ५४॥

निर्वृत्योद्रिक्तानन्देन सम्पन्नं पूर्णं ध्येयादितरत्र न निवर्तते न गच्छति॥ ५५॥

---

1--1. B, J, V, Va omit  2--2. A, B, T omit  3. W adds वा  4. A, T omit प्रजपन्  5. A, B, T °त  6. A, B °तेन

**विज०** अरुणत्वलक्षणज्ञापनाय पुनरीक्षणं क्वचिद्धरिं पीतवर्णं क्वचित् कृष्णम् ॥ ४९ ॥

क्वचिद्धनवत् श्यामं नीलं पुरुषलक्षणसामग्रीसूचनाय पुरुषग्रहणम् ॥ ५०, ५१ ॥

"कलापो भूषणे बर्हे" (अम.को. 3-3-129) इति वचनात् काञ्चीकलापेन पर्यस्तं संवेष्टितम् ॥ ५२ ॥

नखमणिश्रेण्या विलसद्भ्यां [1]पादाभ्यां समर्चतां भक्तानामात्मनि मध्यदेहे हृदयपद्मकर्णिकाधिष्ण्यमाक्रम्यावस्थितम् ॥५३॥

**स्मयमानमभिध्यायेत्सानुरागावलोकनम् ।**
**नियतेनैकभूतेन मनसा [2][3]वरदर्षभम् ॥ ५४ ॥**

**एवं भगवतो रूपं सुभद्रं ध्यायतो मनः ।**
**निर्वृत्त्या परया [4]तूर्णं सम्पन्नं न निवर्तते ॥ ५५ ॥**

**[5]जप्यश्च परमो गुह्यः श्रूयतां मे नृपात्मज !**
**यं सप्तरात्रं प्रपठन् पुमान् पश्यति खेचरान् ॥ ५६ ॥**

**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**

**मन्त्रेणानेन देवस्य कुर्यात् दण्डमयीं बुधः ।**
**सपर्यां विविधैर्द्रव्यैः देशकालविभागवित् ॥ ५७ ॥**

**सलिलैः शुचिभिर्माल्यैः वन्यैर्मूलफलादिभिः ।**
**[6]शस्ताङ्कुराशुकैश्चार्चेत् [7]तुलस्या [8]प्रियया प्रभुम् ॥ ५८ ॥**

**श्रीध०** ध्यानमाह - **स्मयमानमिति** । नियतेन प्रागुक्तया धारणया सुस्थिरेणात एवैकभूतेन एकाग्रेण । धारणोक्तानि विशेषणानि ध्यानेऽपि द्रष्टव्यानि । यद्वा यथोक्तमात्रमेव । तदुक्तमेकादशस्कन्धे "नान्यानि चिन्तयेद् भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम् (भाग. 11-14-43) इति ॥ ५४ ॥

1. A omits पादाभ्यां 2. M. Ma °भे° 3. W पुरुषोत्तमम् 4. M, Ma, Ms पू° 5. I जपश्च; M, Ma जप्यस्तु 6. V शस्तैर्दूर्वाङ्कुरैश्चान्यैः 7. M, Ma, Ms °ैः कुशैः° 8. W °श्चान्यैः

समाधिमाह - **एवमिति**[1-]। परया निर्वृत्त्या आनन्देन[-1] तूर्णं शीघ्रं सम्पन्नं सत्॥ ५५॥

**जप्य** इति। जप्यो मन्त्रः॥ ५६, ५७॥

द्रव्याण्येवाह - **सलिलैरिति**। शस्तैः दूर्वाङ्कुरैः वन्यैरेवांशुकैः भूर्जत्वगादिभिः॥ ५८॥

**वीर०** स्मयमानमीषद्धसन्तम् अनुरागयुक्तोऽवलोको यस्य, पुरुषोत्तमं नियतेन विजातीयप्रत्ययरहितेन एकभूतेन एकाग्रेण मनसा अभिद्यायेत्[2-] अभितः[-2] पादादिशिरःप्रभृति ध्यायेत्[3]॥ ५४॥

एवं ध्येयमाकारमभिधायेदृशशुभाश्रयध्यानसुखितं मनः ततः तूर्णं न निवर्तयेदित्याह - **एवमिति**। सुभद्रं निरतिशयमङ्गल-गुणाकरं ध्यानविषयं भगवतो रूपमभिध्यायेदिति शेषः। परया निर्वृत्त्या निरतिशयेन सुखेन सम्पन्नं युक्तं मन इति शेषः, तूर्णं न निवर्तते। यद्वा परया निर्वृत्त्या सम्पन्नं मनस्तूर्णं यथा न निवर्तते तथा भगवतो रूपं ध्यायेदिति क्रियाविशेषणत्वानुषङ्गाभ्यां योजनीयम्॥ ५५॥

एवमष्टाङ्गयुक्तं भक्तियोगमभिधाय तदनुग्राहिकां द्रव्यमयीं सपर्यामभिधास्यन्, तदुपयुक्तं जप्यं मन्त्रं सप्रभावमाह - **जप्यश्चेति**। हे नृपात्मज! परमो निरतिशयः अत एव गुह्यो गोपनीयः मन्त्रः मे मत्तः श्रूयतां यं मन्त्रं पुमान् सप्तरात्रं प्रपठन्[4] प्रजपन् खेचरान् पश्यति॥ ५६॥

कोऽसौ मनुरित्यत्र[5] आह - **ओमिति**। अयं वासुदेवद्वादशाक्षरो मन्त्रः, अस्यार्थस्तु सम्प्रदायतोऽवगन्तव्यः। एतन्मन्त्रपूर्वकद्रव्यमयीमर्चामाह - **मन्त्रेणेति**। देवस्य अनेन मन्त्रेण नानाविधैर्द्रव्यैः द्रव्यमयीं द्रव्यप्रचुरां सपर्यां देशकालयोः सपर्योपयुक्तानुपयुक्तदेशकालयोः विभागं वेत्तीति देशकालविभागवित् कुर्यात् सपर्योपयुक्तो देशः चण्डालपतितयवनाद्यसेवितः, कालस्तु प्रातर्मध्यन्दिनसायाह्नादिरूपः, तदितरावनुपयुक्तौ देशकालौ॥ ५७॥

द्रव्याण्याह - **सलिलैरिति**। शुचिभिरिति सलिलादिभिः सर्वैरन्वेति। वन्यैः वनेषु भवैः शस्ताङ्कुरांशकैः प्रशस्तैर्दूर्वाद्यङ्कुरैर्वन्यैरेवांशुकैः भूर्जत्वगादिभिश्च प्रियया भगवतः प्रीतिविषयया तुलस्या हरिमर्चयेत् आराधयेत्॥५८॥

**विज०** मनसैवंविधं भगवतो रूपं ध्यायेदित्यन्वयः। किं विशिष्टेन मनसा नियमेन[6] परिणततयाऽभ्यस्ततया प्राप्तपरिपाकत्वेन एकस्मिन्ध्येये वस्तुनि भूतेन बाह्यविषयाभिनिवेशरहितेन॥ ५४॥

निर्वृत्योद्रिक्तानन्देन सम्पन्नं पूर्णं ध्येयादितरत्र न निवर्तते न गच्छति॥ ५५॥

---

1--1. B, J, V, Va omit  2--2. A, B, T omit  3. W adds वा  4. A, T omit प्रजपन्  5. A, B, T °त  6. A, B °तेन

जप्योः मन्त्रः ॥ ५६ ॥

द्रव्यमयीं द्रव्यप्रधानाम्। "अर्चा पूजा सपर्या स्यात्" (वैज.को. 3-6-39) इत्यभिधानम्॥ ५७॥

द्रव्याण्याह - **सलिलैरिति**। वन्यैः वनभवैः ॥ ५८ ॥

**लब्ध्वा द्रव्यमयीमर्चां क्षित्यम्ब्वादिषु चार्चयेत्।**[1]
**आहृतात्मा मुनिः शान्तो यतवाङ्नितवन्यभुक्॥ ५९ ॥**[2]

**स्वेच्छावतारचरितैः अचिन्त्यं निजमायया।**[3] [4]
**करिष्यत्युत्तमश्लोकः तं ध्यायेद्धृदयङ्गमम्॥ ६० ॥**[5] [6]

**परिचर्या भगवतो यावत्यः पूर्वसेविताः।**[7]
**ता मन्त्रहृदयेनैव प्रयुञ्ज्यान्मन्त्रमूर्तये॥ ६१ ॥**[8]

**एवं कायेन मनसा वचसा च मनोगतम्।**[9]
**परिचर्यमाणो भगवान् भक्तिमत्परिचर्यया॥ ६२ ॥**

**पुंसाममायिनां सम्यग्भजतां भाववर्धनः।**
**श्रेयो दिशत्यभिमतं यद्धर्मादिषु देहिनाम्॥ ६३ ॥**

**श्रीध०** पूजाया अधिष्ठानमाह - **लब्ध्वेति**। लब्ध्वा सम्पाद्य। द्रव्यमयीं शिलादिभिर्निर्मिताम्[10] अर्चां[11-] प्रतिमाम्[-11], पूजासाद्गुण्यहेतूनाह[12] सार्धद्वाभ्याम्। आहृतात्मा[13] धृतचित्तः मितं वन्यं[14-] फलमूलादि[-14] भुङ्क्ते इति तथा[15]॥ ५९ ॥

**स्वेच्छेति**। यत्करिष्यतीति तदानीमवतारप्राचुर्याभावात्[16]॥ ६० ॥

**परिचर्या** इति। पूर्वसेविताः[17] पूर्वं सेवनं कारिताः कार्यत्वेन विहिता इत्यर्थः। मन्त्रहृदयेन द्वादशाक्षरेण॥ ६१ ॥

1. A, B, G, I, J, T वा° 2. A, B, G, I, J, T भृ° 3. M, Ma, Ms चरितं 4. T न्त्यगुण° 5. A, B, G, I, J, T तद्; M, Ma, Ms तान् 6. M, Ma, Ms °मान् 7. M, Ma, Ms °तीः 8. M, Ma, Ms °युञ्ज्या° 9. M, Ma गतः 10. A, J, Va °दिनि° 11--11. V omits 12. A, B, J, Va सार्धाभ्याम् 13. A, B, J, Va °भृ° 14--14. B, J, V, Va omit 15. V adds सन् 16. A adds लृट् 17. B, J, V, Va omit पूर्वं

**एवमिति**। एवमुक्तरीत्या मनोगतं यथा भवति तथा कायादिभिर्भक्तिमत्त्या परिचर्यया सेवया[1] परिचर्यमाणो भगवान्[2] अमायिनां[3] निष्कपटानां पुंसां[3] धर्मार्थकामेषु यदभिमतं तच्छ्रेयो दिशतीति द्वयोरन्वयः ॥ ६२, ६३ ॥

**वीर०** एवं द्रव्यमयीमर्चां लब्ध्वा सम्पाद्य क्षित्यम्ब्वादिषु चक्राब्जमण्डलादिभिरलङ्कृतायां क्षितौ गङ्गाजलादिषु आदिशब्दाद्विप्रादित्यमण्डलादिषु च अर्चयेत्। पूजासाद्गुण्यहेतूनाह सार्धाभ्याम्। *आदृतात्मा आदृतचित्तः मुनिः ध्यानानुपयुक्तदशासु शुभाश्चर्यसंशीलनपरः शान्तः जितेन्द्रियः, यतवाक् मितभाषणः मितं यथा भवति तथा वन्यं भुङ्क्त इति तथा ॥ ५९ ॥

स्वेच्छावतारचरितैः स्वेच्छयैवोपात्तैः न तु कर्मणा ये अवताराः[4] वराहादयः अवताराः तेषां चरितैः व्यापारैः निजमायया आत्मीयसङ्कल्पेन उत्तमश्लोको भगवान् यत् अचिन्त्यं कर्मवश्यदेवमनुष्यादिसजातीयत्वेन चिन्तयितुमशक्यं करोति[5] साधुपरित्राण-दुष्कृद्विनाशनादिकं करोति तं हृदयङ्गमं मनोहरं ध्यायेत्। तदानीमवताराप्राचुर्याभावात् करिष्यतीति भविष्यन्निर्देशः ॥ ६० ॥

यावत्यो भगवतः परिचर्याः पूर्वं सेविताः सेवनं कारिताः कार्यत्वेन विवक्षितास्ताः सर्वा मन्त्रहृदयेनैव द्वादशाक्षरमन्त्रानु-सन्धानयुक्तमनसैव मन्त्रः मूर्तिर्विग्रहो यस्य तस्मै भगवते प्रयुञ्ज्यात् युक्ताः कुर्यात् ॥ ६१ ॥

एवमाराधितो भगवान् आराधकानां समीहितधर्मादिश्रेयो दिशतीत्याह - **एवमिति** द्वाभ्याम्। अमायिनामवञ्चकानाम् अत एव सम्यक् भजतां कर्मायत्तदेहभृतां पुंसां मानवर्धनः सम्मानकारी भगवान् भक्तिमती या परिचर्या तया परिचर्यमाणः धर्मादिषु यदाराधकाभिमतं तच्छ्रेयो दिशतीत्युभयोरन्वयः ॥ ६२, ६३ ॥

**विज०** द्रव्यमयीमर्चां शिलादिप्रतिमां, "अर्चा तु प्रतिमा प्रोक्ता" (हला.को. 1-131) इत्यभिधानम्। क्षितौ स्थण्डिले आदिशब्दादादित्यमण्डलेऽग्नौ वा। आहृतात्मा विषयेभ्य आकृष्य वशीकृतमनाः मितं नियतादर्धं फलमूलादिवन्यं भुङ्क्ते इति मितवन्यभुक् ॥ ५९ ॥

निजमायया स्वरूपभूतमहिम्ना स्वेच्छया कृतावतारस्तस्य चरितैः कंसवधादिलक्षणैश्चरितं गुणसमूहं हृदयङ्गमान् यान् विभुविक्रमान् करिष्यति तान् ध्यायेदित्यन्वयः ॥ ६० ॥

---

1. B, J, V, Va omit सेवया 2. B, J, V, Va omit भगवान् 3--3. B, J, V, Va omit * आहृतात्मा इत्यस्य स्थाने अदृतात्मेति वीरराघवादृतः पाठः।
4. A, B, T omit अवताराः 5. A, B, T omit करोति

परिचर्यादि सङ्क्षिप्य तत्करणप्रकारं वक्ति - **परिचर्या** इति। यावतीः यावत्यः पूर्वाचार्यैः कल्पितास्ता मन्त्रहृदयेन मन्त्रेण नमश्शब्देन च "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" (भाग. 4-8-54) इत्यनेन मन्त्रमूर्तये मन्त्राक्षरप्रतिपाद्यवासुदेवाय प्रयुञ्ज्यात् कल्पयेत् इत्यन्वयः॥ ६१॥

एवंविधोपासनाफलमाह - **एवमिति**। भक्तिमन्तः सन्तस्तेषां परिचर्यया शुश्रूषया देहिनां धर्मादिषु यदभिमतं श्रेयः तद्दिशतीत्यन्वयः॥ ६२, ६३॥

**विरक्तश्चेन्द्रियरतौ भक्तियोगेन भूयसा।**

**तं निरन्तरभावेन भजेताद्धा विमुक्तये॥ ६४॥**

**मैत्रेय उवाच**[1-1]

**इत्युक्तस्तं परिक्रम्य प्रणम्य च नृपार्भकः।**

**ययौ मधुवनं पुण्यं हरेश्चरणचर्चितम्॥ ६५॥**

**तपोवनं गते तस्मिन् प्रविष्टोऽन्तःपुरं मुनिः।**

**अभ्यर्हितार्हणो राज्ञा[2] सुखासीन उवाच ह[3]॥ ६६॥**

**नारद उवाच**

**राजन् किं ध्यायसे दीर्घं मुखेन परिशुष्यता।**

**किं वा न रिष्यते कामो धर्मो वाऽर्थेन संयुतः॥ ६७॥**

**राजोवाच**[4]

**सुतो मे बालको ब्रह्मन् स्त्रैणेनाकरुणात्मना।**

**निर्वासितः पञ्चवर्षः सह मात्रा महान् कविः॥ ६८॥**

1--1. A, B, G, I, J, T, V, W omit 2. A, B, G, I, J, T, अर्हितार्हणको; M, Ma, Ms अर्हितोऽर्हणया 3. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T तम्
4. Ms उत्तानपादः

**श्रीध० विरक्त इति**। [1-]इन्द्रियरतो विषयभोगे[-1] विरक्तस्सन्[2] भजेत्[3]। किमर्थं विमुक्तये॥ ६४॥

**इतीति**। हरेश्चरणाभ्यां चर्चितं मण्डितम्॥ ६५॥

**तपोवनमिति**। अर्हितं सत्कृत्य समर्पितमर्हणम्, अर्घ्यादि[4] यस्मै॥ ६६॥

**राजन्निति**। किं वा न रिष्यते न नश्यतीति सवितर्कः प्रश्नः॥ ६७॥

**सुत इति**। मात्रा सह निर्वासितः [5-]निष्कासितः[-5] इति[6] तस्या अप्यनादृतत्वात्॥ ६८॥

**वीर०** एवं धर्मादिसाधारण्येन तत्साधनभूता भक्तिरभिहिता। तत्र मुक्तिसाधनभूतायां भक्त्यां विशेषं वदन् उपसंहरति - **विरक्त** इति। इन्द्रियरतौ इन्द्रियसाध्यक्रीडायां विरक्तः निरन्तरभावेन विजातीयप्रत्ययान्तराव्यवहितप्रत्ययेन भूयसा बह्वङ्गोपकृतेना-ऽऽप्रयाणादनुवर्तमानेन भक्तियोगेन प्रेमात्मकानुध्यानरूपेण "प्रीतिपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्यभिधीयते"[7] इति हि स्मृतिः। अत्र हि विरक्त इति। विमोकोक्त्या साधनसप्तकं विवक्षितम्। भूयसेत्यनेन ज्ञानयोगशमदमबाल्यपाण्डित्यमौनादयो विवक्षिताः। एवम्भूतेन भक्तियोगेन विमुक्तये तं भगवन्तम् अद्धा साक्षात् भजेत्। अद्धेत्यनेन सद्वारकोपासनं व्यावर्तितम्॥ ६४॥

एवमुपदिष्टभगवदाराधनप्रकारो ध्रुवो मधुवनं गतवानिति वदन् अन्तरा नारदोत्तानपादयोः संवादमाह - **इतीत्यादिना**। इत्युक्तरीत्या उक्तः नृपार्भको ध्रुवः तं नारदं परिक्रम्य प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च हरेः भगवतश्चरणाभ्यां चर्चितं सञ्चारितम् अत एव पुण्यं मधुवनं ययौ॥ ६५॥

तस्मिन् ध्रुवे तपोवनं गते सति मुनिर्नारदः अन्तःपुरं प्रविष्टः राज्ञा उत्तानपादेन अभ्यर्हितं सत्कृत्य समर्पितमर्हणमर्घ्यादिकं यस्य सः। सुखासीनः सुखावहे आसने यथासुखमासीनो नारद उवाच॥ ६६॥

हे राजन्! परितः शुष्यता मुखेन दीर्घं किं ध्यायसे? अर्थेन संयुतः सहितः कामो धर्मश्च। चशब्दो वाशब्दार्थः। धर्मो वा किं वा[8] न रिष्यते[9]? न नश्यतीति सवितर्कः प्रश्नः॥ ६७॥

एवमुक्तो राजाऽऽह - **सुत इति**। हे ब्रह्मन्! स्त्रैणेन स्त्रीषु भवः स्त्रैणः स्त्रीणामयमिति वा, स्त्र्यधीनेन स्त्रीभिर्जितेनेति[10] यावत्,

---

1--1. B, J, V, Va omit  2. V °श्च  3. V °त  4. A, B अर्घ्यादिकं; J, Va अर्घादिकं  5--5. B, J, V, Va omit  6. A मात्रेत्युक्तिः
7. W omits हि  8. A, B, T omit वा  9. A, B, T °प ति  10. A, B, T °नि°

अत एव अकरुणात्मना करुणारहितचित्तेन मया मे मम सुतः, सुतः[1] इत्यनेन अपरित्याज्यता गम्यते, पञ्चवर्ष इत्यनेन नितरां, मात्रा सह निर्वासितः। तस्या अप्यनादृतत्वेन निर्वासितप्रायत्वात् मात्रा सह इत्युक्तिः। तथा च भार्यापुत्रयोरपरित्याज्यता स्मृता "वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः। अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत्" (मनु.स्मृ. अधिक पाठ. 11-1) इति। ननु "त्यजेदेकं कुलस्यार्थे" (चाणक्यनीतिः 2-10) इत्युक्तरीत्या उत्पथश्चेत् सुतोऽपि त्याज्य एव। तत्राह महान्कविः। महान् विनयादिगुणसम्पन्नः कविर्बुद्धिमान्॥ ६८॥

**विज०** सर्वस्मात् साधनात् विरक्तिभक्ती मुक्तिसाधने इत्याशयेनाह - **विरक्तश्चेति**। तयोः अवश्यकर्तव्यत्वे च शब्दः, इन्द्रियरतौ विषयभोगे विरक्तः॥ ६४॥

उत्तरकथाप्रसङ्गमाह - **इत्युक्त** इति॥ ६५॥

नन्वस्त्वियं कथा पुनर्नारदः कुत्राऽयासीदत्राह - **तपोवनमिति**। अर्हणया पूजासाधनेन अर्हितः पूजितः॥ ६६॥

न रिष्यते न हिंस्यते॥ ६७॥

नारदेन पृष्टो राजा उत्तरमाह - **सुतो म** इति। निर्वासितः निष्कासितः। कविरित्यनेन ज्ञानित्वं द्योतयति॥ ६८॥

**अप्यनार्थं वने ब्रह्मन्मास्मादन्त्यर्भकं वृकाः।**[2]
**श्रान्तं[3] शयानं क्षुधितं परिम्लानमुखाम्बुजम्॥ ६९॥**

**अहो मे बत दौरात्म्यं स्त्रीजितस्योपधारय।**
**योऽङ्कं प्रेम्णाऽऽरुरुक्षन्तं नाभ्यनन्दमसत्तमः॥ ७०॥**

**नारद उवाच**

**मा मा शुचस्व तनयं देवगुप्तं[4] विशाम्पते।**
**तत्प्रभावमविज्ञाय प्रावृङ्क्ते यद्यशो जगत्॥ ७१॥**

**सुदुष्करं कर्म कृत्वा लोकपालैरपि प्रभुः।**
**एष्यत्यचिरतो राजन् यशो विपुलयंस्तव॥ ७२॥**[5]

---

1. A, B, T omit सुतः 2. M, Ma, Ms खादन्त्व° 3. V, W शान्तं 4. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T शुचः स्वतनयं
5. G, I ऐ°; M, Ma एष एष्यत्यचिरतो व°

## मैत्रेय उवाच

**इति देवर्षिणा प्रोक्तं विस्रभ्य[1] जगतीपतिः ।**
**राज्यलक्ष्मीमनादृत्य[2] पुत्रमेवान्वचिन्तयत् ॥ ७३ ॥**

**श्रीध० अपीति** । मा स्म अदन्ति किंस्वित्, न खादन्तीत्यर्थः ॥ ६९, ७० ॥

**मेति** । देवेन[3-] श्रीहरिणा गुप्तमात्मसात्कृत्वा रक्षितम्[-3] । यस्य यशो जगत् प्रावृङ्क्ते व्याप्नोति ॥ ७१ ॥

**सुदुष्करमिति** । विपुलयन् विस्तारयन् ॥ ७२, ७३ ॥

**वीर०** हे ब्रह्मन् ! वने क्षुधितं श्रान्तम् अत एव[4] परितः परिम्लानं मुखाम्बुजं यस्य अत एव शयानमर्भकमनाथं रक्षकहीनं वृकाः[5] मा स्मादन्त्यपि मा स्म खादन्ति किंस्विदित्यर्थः ॥ ६९ ॥

आत्मानं निन्दति - **अहो इति** । स्त्रिया जितस्य मे मम दौरात्म्यम् *अवधारय निश्चिनु । अहो बतेति खेदे । दौरात्म्यं दर्शयति - योऽहमसत्तमः अङ्कमारुरुक्षन्तम् आरोढुमिच्छन्तं सुतं प्रेम्णा नाभ्यनन्दं नाभिनन्दितवानस्मि ॥ ७० ॥

एवमुक्तो नारदः तमाश्वासयन्नाह - **मेति** । हे विशाम्पते ! मनुजपते ! दैवगुप्तमिति हेतुगर्भम् । दैवेन ईश्वरेण गुप्तत्वात् रक्षितत्वात् तनयं प्रति तस्य तनयस्य प्रभावमविज्ञाय अज्ञात्वा, अविज्ञायेत्यत्र क्त्वान्तस्य वीत्युपसर्गेण समासे क्त्वो ल्यबादेशे च पश्चात् नञा समासः अतः "अनञ्पूर्वे" इति न ल्यब्निषेधः । मा मा शुचस्व[6-] मा शुचस्व[-6] इत्यर्थः वीप्सातात्पर्येण माङो द्विरुक्तस्य प्रयोगः । प्रभावमेव विवृणोति । प्रावृङ्क्ते इति सपादेन श्लोकेन यत्[7] यस्य तव पुत्रस्य यशः जगत् प्रावृङ्क्ते व्याप्नोति ॥ ७१ ॥

प्रभुर्जितेन्द्रियो ध्रुवः लोकपालैः इन्द्रादिभिरपि सुदुष्करं कर्तुमशक्यं कर्म तपसा भगवत्तोषणपूर्वकसर्वोत्कृष्टपदसम्पादनरूपं कर्म कृत्वा अत एव च यशो विपुलयन् विस्तारयन् हे राजन् ! अचिरतः आशु एष्यति आगमिष्यति ॥ ७२ ॥

एवं नारदेनाऽऽभाषितो राजा पुत्रमेवानुचिन्तयन्नासीदित्याह मैत्रेयः - **इतीति** । इति एवं देवर्षिणा नारदेन प्रोक्तं विमृश्य सविमर्शमाश्रुत्य जगतीपतिरुत्तानपादः राज्यलक्ष्मीमनादृत्य ध्रुवमेवान्वचिन्तयत् ॥ ७३ ॥

1. A, B, G, I, J, T विश्रुत्य; W विमृश्य 2. A, B, G, I, J, Ms, T राज° 3--3. V omits 4. A, B, T omit एव 5. W omits वृकाः * उपधारय इत्यस्य स्थाने अवधारय इति वीरराघवस्वीकृतः पाठः इति ज्ञायते । 5--5. A, B शुचः मा शुचः 6. W omits यत्

**विज०** यतोऽसौ सिंहासनपदादत्युत्तमपदं[1] साधयामीति निरूप्य मात्रादीन् विहाय पुरान्निरगमदित्येवं मुनिना[2-2] बोध्यमानोऽपि राजा तद्गतं दुःखमुद्गलयति[3] - **अप्यनाथमिति** ॥ ६९ ॥

एवमनुतप्य स्वदौरात्म्यं, मुनिमपि सम्बोधयति - **अहो इति**। त्वया किमकारीति तत्राह - योऽङ्कमिति ॥ ७० ॥

प्रवक्ता नारदस्तु मदाज्ञाभिमानस्य गतत्वात् अस्य हरिरेव रक्षक इति कृत्वा पुत्रं तं मानुतपेत्याह - **मामेति**। ततोऽप्यनुतापो न गच्छतीति अतः अज्ञानमूलोऽसावित्याह-तत्प्रभावमिति। प्रावृङ्क्ते व्याप्नोति ॥ ७१ ॥

अस्मन्निमित्तवैराग्येण गतः पुत्रो न पुनरेष्यतीति खेदो मा भूदित्याह - **सुदुष्करमिति**। तत्कर्म तस्य ध्रुवस्यैव योग्यत्वात् लोकपालानां दुष्करं न तु तेषामशक्यत्वात् ''नाशक्यं देवतानां तु यदन्यैश्शङ्कितं क्वचित्। शक्ता अपि न कुर्वन्ति यदन्यविहितं बुधाः'' (ब्राह्मे) इति वचनात्, अपिपदेन सूचनात्[4] ॥ ७२ ॥

एवं विस्रब्धस्यापि राज्ञोऽनुतापपरम्परामाह - **इतीति**। अनेन संसारस्य[5] दुस्तरत्वमसूचि ॥ ७३ ॥

**तत्राभिषिक्तः प्रयतस्तामुपोष्य विभावरीम्।**
**समाहितः पर्यचरद्दिष्टादेशेन[6] पूरुषम् ॥ ७४ ॥**

**त्रिरात्रान्ते त्रिरात्रान्ते कपित्थबदराशनः।**
**आत्मवृत्त्यनुसारेण मासं निन्येऽर्चयन्हरिम् ॥ ७५ ॥**

**द्वितीयं च तथा मासं षष्ठे षष्ठेऽर्भको दिने।**
**तृणपर्णादिभिः जीर्णैः[7] कृतान्नोऽभ्यर्चयद्विभुम्[8] ॥ ७६ ॥**

**तृतीयं[10] च[11] नयन्मासं नवमे नवमेऽहनि।**
**अब्भक्ष उत्तमश्लोकमुपाधावत्समाधिना ॥ ७७ ॥**

---

1. A °दप्यु 2--2. A, B, M अनुमिमानोऽपि 3. A, B °द्गू° 4. M, Ma सूचितात् 5. A, B, add दुस्तरस्य
6. A, B, G, I, J, Ms, T °दृष्या°; M, Ma दृष्ट्या° 7. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T शीर्णैः 8. V ऽऽशो° 9. V °द्धरिम्; I, W °न्विभूम्
10. A, B, G, I, J, T, V चान° 11. M, Ma °ये°

**चतुर्थमपि वै मासं द्वादशे द्वादशेऽहनि।**

**वायुभक्षो जितश्वासो ध्यायन्देव मधारयत्[1]॥ ७८॥**

**पञ्चमे मास्यनुप्राप्ते जितश्वासो नृपात्मजः।**

**ध्यायन् ब्रह्म पदैकेन तस्थौ स्थाणुरिवाचलः॥ ७९॥**

**श्रीध०** ध्रुवो मधुवने किमकरोदित्यपेक्षायामाह - **तत्रेत्यादिना**[2]। अभिषिक्तः स्नातः यस्यां प्राप्तस्तां[3] रात्रिम्॥ ७४॥

**त्रीति**। कपित्थानि बदराणि चाशनं यस्य। आत्मवृत्तिः देहस्थितिः[4] तदनुसारेण॥ ७५, ७६॥

**तृतीयमिति**। तृतीयं मासं[5] च आनयन्नीषदिव नयन् उपाधावदित्यन्वयः। प्रतिमासमाहारसङ्कोचं[6] तपोऽतिरेकं च कृतवानित्यर्थः॥ ७७, ७८, ७९॥

**वीर०** ध्रुवो मधुवने किमकरोदित्याह[7] - **तत्रेत्यादिना**। अभिषिकः स्नातः यमुनायामिति शेषः। यस्यां प्रयतः तपसे प्रयतितवान् तां प्रथमां रात्रिं तत्र मधुवने उपोष्य विभावरीमित्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया। उपवसतेरभुक्तव्यर्थस्य[8] आधारस्तु वनमिति। तत्रेति सप्तमी बोध्या। समाहितचित्तः दिष्टादेशेन उपदिष्टमार्गेण पूरुषं परमपुरुषं[9] पर्यचरत् परिपूजितवान्॥ ७४॥

त्रिसृणां रात्रीणां समाहारः त्रिरात्रं तस्यान्ते कपित्थानि बदराणि च फलानि अशनं यस्य सः। आत्मनो देहस्य वृत्तिः स्थितिः तदनुसारेण देहधारणमात्रोपयुक्ताहारेणेत्यर्थः। हरिमर्चयन् मासं निन्ये अतिचक्रमे॥ ७५॥

अर्भको ध्रुवः षष्ठे षष्ठे दिने जीर्णैः तृणादिभिः कृतमन्नं यस्य जीर्णतृणाद्यशनः विभुमभ्यर्चयन् द्वितीयं मासं निन्य इत्यनुषङ्गः॥ ७६॥

नवमे नवमेऽहनि अब्भक्षः अप एव भक्षयन् तृतीयं च मासं नयन् उत्तमश्लोकं भगवन्तं समाधिना उपाधावत् आराधित-वान्॥ ७७॥

वायुभक्षः वायुमेव भक्षयन् चतुर्थमपि मासं नयन् जितश्वासः जितप्राणः देवं भगवन्तं ध्यायन् अधारयत् धारणं कृतवान्। प्रतिमासमाहारसङ्कोचं तपोतिरेकं च कृतवानित्यर्थः॥ ७८॥

---

1. M, Ma °पा° 2. V °ति। 3. B, J, V, Va omit रात्रिम् 4. B वृत्तिः 5. A, B, J, Va omit मासं 6. V नियमं 7. W °त्यपेक्षायामाह 8. T °सेर° 9. A, B पू°

पञ्चमे मासि त्वनुप्राप्ते जितप्राणो राजसुतः ब्रह्म भगवन्तं ध्यायन् एकेन पदा चरणेन स्थाणुरिव निश्चलो भूत्वा तस्थौ स्थितवान् ॥ ७९ ॥

**विज०** ध्रुवो मधुवनं प्राप्य किमकार्षीदत्राह - **तत्रेति**। आदेशेन उपदेशेन नारदोक्तमार्गेण कृतया सदृष्ट्या निरूपणया पूरुषं वासुदेवं पर्यचरदित्यन्वयः ॥ ७४ ॥

तस्य तप आतिष्ठमानस्याऽशनप्रकारमाह - **त्रिरात्रान्ते** इति । कपित्थबदरयोः फलमशनं यस्य स तथोक्तः फलभुक्, अशननियतिं कथयति - आत्मवृत्तीति। यावता आत्मनः शरीरस्य वृत्तिः तदनुसारेण ॥ ७५, ७६ ॥

उपाधावत् उपास्त ॥ ७७ ॥

अपारयत् अतिक्रान्तवान् ॥ ७८ ॥

अचलः स्थिरः ॥ ७९ ॥

***देवाश्चक्रुस्तपोविघ्नं त्रासयन्तः स्वमायया।**
**सर्पैर्भसिंहकूष्माण्डैस्तान्नापश्यत्परं गतः ॥**

**सर्वतो मन आकृष्य हृदि भूतेन्द्रियाशयम्[1]।**
**ध्यायन् भगवतो रूपं नाद्राक्षीत्किञ्चनापरम् ॥ ८० ॥**

**आधारं महदादीनां प्रधानपुरुषेश्वरम्।**
**ब्रह्म धारयमाणस्य[2] त्रयो लोकाश्चकम्पिरे ॥ ८१ ॥**

**यदैकपादेन स पार्थिवार्भकस्तस्थौ तदङ्गुष्ठनिपीडिता मही।**
**ननाम तत्रार्धमिभेन्द्रधिष्ठिता तरीव सव्येतरतः पदे पदे ॥ ८२ ॥**

**तस्मिन्नभिध्यायति विश्वमात्मनो द्वारं निरुध्यासुमनन्यया धिया।**
**लोका निरुच्छ्वासनिपीडिता भृशं सलोकपालाः शरणं ययुर्हरिम् ॥ ८३ ॥**

---

* It is found in M, Ma, Ms.Edn. only and the commentary of Vijayadhraja on the same can be found in its proper place

1. M, Ma, Ms °श्र° 2. M, Ma, Ms °णे तु

देवा[1] ऊचुः

**नैवं विदामो भगवन् प्राणरोधं चराचरस्याखिलसत्त्वधाम्नः ।**

**विधेहि तन्नो वृजिनाद्विमोक्षं[2] प्राप्ता वयं त्वां शरणं शरण्यम् ॥ ८४ ॥**

**श्री[3-] भगवानुवाच[-3]**

**मा भैष्ट बालं तपसो[4] दुरत्ययात्[5] निवर्तयिष्ये[6] प्रतियात स्वधाम ।**

**यतो हि वः प्राणनिरोध आसीदौत्तानपादिर्मयि सङ्गतात्मा ॥ ८५ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टादश साहस्र्यां

श्री हयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां

चतुर्थस्कन्धे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

**श्रीध० सर्वत** इति । भूतानि शब्दादीनि इन्द्रियाणि च आशेरते यस्मिन् तन्मनः आकृष्य भगवतो[7-] रूपं[-7] ब्रह्म ध्यायन् ॥ ८० ॥

**आधारमिति** । धारयमाणस्य सतः तस्य तेजः सोढुमशक्नुवन्तः सन्तः[8] कम्पिताः ॥ ८१ ॥

**यदेति** । तस्याङ्गुष्ठेन निपीडिता आक्रान्ता सती मही तत्र तदा अर्धं ननाम । समेंऽशके अर्धशब्दस्य नपुंसकत्वात् अंशांशिनोरभेदाच्च एवं सामानाधिकरण्यम् । इभेन्द्रेणाधिष्ठिता । अत्र[9-] दीर्घाभावः आर्षः[-9] । तरी नौः यथा पदे पदे सव्यतो दक्षिणतश्च नमति तद्वत् ॥ ८२ ॥

अन्यदप्याश्चर्यमाह - **तस्मिन्निति** । तस्मिन् ध्रुवे विश्वं विश्वात्मकं विष्णुम् आत्मनः सकाशादनन्यया धिया आत्माभेददृष्ट्याऽभिध्यायति[10] सति, किं कृत्वा, असुं प्राणं तद्द्वारं च निरुध्य लोका[11-] निरच्छ्वासनिपीडिता[-11] विश्वरूपं[12] विष्णुम्[13] आत्मन्येकीकृत्य स्वप्राणनिरोधे कृते[14] विश्वस्य प्राणनिरोधो जात इति भावः ॥ ८३ ॥

**नेति** । एवं विधं[15] प्राणनिरोधं कदाचिदपि न विद्मः, अखिलसत्त्वधाम्नः सर्वप्राणिशरीरस्य तत्[16] तस्मात् वृजिनात् क्लेशात् ॥ ८४ ॥

---

1. Ms लोकपालाः 2. Ms °क्षणं 3--3. वैकुण्ठः 4. W तपसा 5. W °यं 6. W निर्वर्ते 7--7. B, J, V, Va omit 8. B, J, V, Va omit सन्तः 9--9. A, B, J, Va omit 10. V स्वात्मा° 11--11. B, J, V, Va omit 12. B, J, V, Va विश्वं 13. B, J, V, Va omit विष्णुम् 14. V adds सति 15. A, B, J, Va omit विधं 16. A, B, J, Va omit तत्

**मेति**। यतो बालात्, कोऽसौ बालः ? कथं च तस्मात्प्राणनिरोध इत्यत आह। उत्तानपादस्य पुत्रो मयि विश्वरूपे सङ्गतात्मा ऐक्यं प्राप्तो वर्तत इति॥ ८५॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां अष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

**वीर०** भूतेन्द्रियाशयं भूतानि भूतसूक्ष्माणि शब्दादीनि तद्ग्राहकाणीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि शब्दादिविषयप्रवणानीन्द्रियाणी-त्यर्थः, तानि आशेरते यस्मिन्। शयनमत्र निर्व्यापारः, अव्यापारिश्रोत्रादीन्द्रियवन्मनः[1] सर्वतः सङ्कल्पविकल्पादेः आकृष्य निवर्त्य हृदि हृदयपुण्डरीके भगवतो रूपं दिव्यविग्रहं ध्यायन् भगवतो रूपात् अपरमन्यं नाद्राक्षीत् नापश्यत्। अन्यं नाद्राक्षीदित्यनेन ध्यानस्य विजातीयप्रत्ययान्तराव्यवहितत्वकथनेन ध्यानस्य परिनिष्पत्तिः फलिता, साधनस्य निष्पत्तिर्नाम फलाव्यवहित-पूर्वदशोक्ता॥ ८०॥

तामेव प्रपञ्चयिष्यन् तावत् तत्प्रभावमाह - **आधारमिति** त्रिभिः। महदादीनां महदादिपृथिव्यन्तानां[2-2] भूतानां तत्संसृष्टानां चेतनानां च आधारं धारकम् अनेन स्थूलचिदचिच्छरीरकत्वमुक्तम्। सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकत्वमाह प्रधानपुरुषेश्वरं प्रधानं सूक्ष्ममचिन्त्यत्वं पुरुषाः तत्संसृष्टाश्चेतनाः[3] तेषामीश्वरं अन्तःप्रविश्य नियन्तारं "अन्तः प्रविष्टः शास्ता" (तैत्ति. 3-11) इति श्रुतेः। अनेन यन्महदादीनां धारकत्वमुक्तं तदप्यन्तःप्रविश्य नियमनेनैवेति विशेषनिष्ठं बोध्यम्। एवम्भूतं भगवन्तं ब्रह्म धारयमाणस्य सतः तस्य तेजः सोढुमशक्नुवन्तः त्रयो लोकाः चकम्पिरे कम्पिताः॥ ८१॥

सः पार्थिवार्भको ध्रुवः एकेन पादेन यदा तस्थौ तत्र तदा[4] तस्याङ्गुष्ठेन निपीडिता नितरां पीडिता आक्रान्ता[5] सती मही भूमिः अर्धं ननाम प्रह्वीबभूव। अर्धशब्दस्यात्र समांशवाचित्वाऽभावेऽपि विधेयनमनक्रियाविशेषणत्वाभिप्रायेण क्लीबत्वनिर्देशः। इभेन्द्रेण गजश्रेष्ठेन धिष्ठिता अधिष्ठिता तरीव[6] नौर्यथा पदे पदे प्रतिपदं सव्येतरतः सव्यतो वामतः दक्षिणतश्च[7] नमति तद्वत्॥ ८२॥

किञ्च तस्मिन् ध्रुवे आत्मनः स्वस्य विश्वं द्वारं सर्वाणीन्द्रियाणि द्वारशब्दः श्रोत्रादीन्द्रियपरः असुं प्राणं च निरुध्य अनन्यया विषयान्तररहितया धिया ध्यायति सति भगवन्तमिति शेषः। यद्वा विश्वशब्दो भगवत्परः। विष्णोर्नामसहस्रमित्युपक्रम्य "विश्वं

---

1. A. B. T °रित° 2--2. A. T omit 3. A. B. T °श्चेतनाः 4. W omits तदा 5. A. B. T omit आक्रान्ता 6. W omits इव
7. A.B. T omit दक्षिणतः

विष्णुः'' (विष्णु सहस्र. 1) इत्युक्तत्वात् विश्वात्मकत्वात् वा[1] ''विश्वो विष्णुः'' लोकाः इन्द्रादिभिस्सहिताः भृशं नितरां निरुच्छ्वासेन उच्छ्वाश्वासाभावेन निपीडिताः हरिं शरणं ययुः प्रापुः ॥ ८३ ॥

शरणप्राप्तिमेव प्रपञ्चयति - **नैवमिति**। हे भगवन्! चराचरस्य एवंविधं प्राणनिरोधं न विदामः कदाचिदपि न जानीमः। अचरग्रहणं दृष्टान्तार्थम्। तेषामुच्छ्वासनिःश्वासयोरभावात् यथा अचरस्य उच्छ्वासादिर्नास्ति तथा चरस्यापि प्राप्त इति। तत्तस्मात् अखिलसत्वधाम्नः कृत्स्न[2]चिदचिच्छरीरकस्य तव नः सम्बन्धिनामस्माकं वृजिनात् प्राणनिरोधरूपात् दुःखात् विमोक्षं विधेहि कुरु। वयं शरण्यं समीहितसाधनत्वेनाध्यवसनीयं त्वां शरणमुपायं प्राप्ताः। उपायत्वेनाध्यवस्यामः इत्यर्थः ॥ ८४ ॥

एवं शरणं गतानाह शरण्यो भगवान् - **मा भैष्टेति**। मा भैष्ट भयं मा कुरुत। तपसा दुरत्ययम् अनुल्लङ्घ्यं बालं निर्वर्तयिष्ये निष्पादयिष्यामि समीहितेन संयोजयामीत्यर्थः। अतो यूयं स्वधाम स्वस्थानं प्रति यात गच्छत। कोऽसौ बालः ? कथञ्चैकस्य प्राणनिरोधात् विश्वस्य प्राणनिरोध इत्यत आह - यतो यदीयप्राणनिरोधाद्धेतोः वः युष्माकं प्राणनिरोधः आसीत् स औत्तानपादिः उत्तानपादस्य पुत्रो बालो ध्रुवो मयि विश्वप्राणिप्राणनहेतुभूते मयि '' को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् (सत्) एष आकाश आनन्दो न स्यात्'' (तैत्ति.आ. 2-7) यस्य क्षादपरीक्षाद्ब्रह्मा य आत्मा सर्वान्तरः। तन्मे व्याचक्ष्वेति यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः योऽपानेन अपानति स त आत्मा सर्वान्तरः'' (बृह.उ. 3-4-1) इति श्रुतेः। सङ्गतः आत्मा अन्तःकरणं यस्य सोऽभूत् स्वप्राणनिरोधेन उच्छ्वासनिःश्वासयोरप्यक्षममाणेन विश्वप्राणि प्राणनहेतुभूतस्य मम तेन निरुद्धत्वात् सर्वप्राणिप्राणनिरोधोऽभूदिति भावः ॥ ७५ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

**विज०** देवा ध्रुवस्य यशोविस्तृत्यर्थं तत्तपोविघ्नं चक्रुरित्याह - **देवा इति**। स्वस्वसिद्धमाययेन्द्रजालेन कूष्माण्डाः पिशाचविशेषाः तान्नापश्यदित्यनेन ध्रुवस्य देवेभ्योऽत्यधिकशक्तिमत्त्वं नाभिप्रेतं, किन्तु परमभागवतत्वेन यशोविस्तृत्यै विघ्नकरणं न तु तत्तपःखण्डनाय। तदुक्तम् ''यत्र देवैः कृते विघ्ने खण्डितो न पुमान् भवेत्। तत्र तद्यशसे विघ्नं कुर्युर्न तु विघातने ॥ यत्र खण्डितता तत्र खण्डनायैव केवलम्। सत्यकामा यतो देवास्ते चित्ताद्यभिमानिनः। अतो विमोहनायैव प्राप्नुयुस्ते पराजयम्। तेषामतिशक्तितोक्तिश्च विमोहाय सुरद्विषाम्'' (ब्रह्माण्डे) इति ॥

1. A, B, T omit वा 2. A, B, T omit कृत्स्न

नापश्यदित्येतद्विवृणोति - **सर्वत** इति। आकाशादिभूतानां तदुत्पन्नानां प्राणिनां चेन्द्रियाणाम् आश्रयं भगवतो रूपं ध्यायन् अपरं जगत्किञ्चन अल्पम् अस्वतन्त्रम् अद्राक्षीत् स्वतन्त्रं नाद्राक्षीदित्यन्वयः ॥ ८० ॥

एकाग्रमनसा तस्य वासुदेवं ध्यायतः सत इदमेकमाश्चर्यमभूदित्याह - **आधारमिति** ॥ ८१ ॥

सर्वाधारं ब्रह्म धारयमाणे ध्रुवे स्थिरत्वेन भाव्यं तत्र लोकानां कम्पनं कथमित्याशङ्क्योपपत्तिमाह - **यदैकपादेनेति**। तत्र तस्मिन् भागे तयोर्मध्ये इभेन्द्रेण गजेन गरिम्णाऽधिष्ठिता तरीव यथा नौर्नता भवति तथा। तदेव विशिनष्टि - सव्येतरत इति। सव्येतरयोः वामदक्षिणयोः पादयोः पदे पदे नुन्ना नता भवती[1]ति ॥ ८२ ॥

न केवलं चलनमेव लोकानामभूत्, किन्तु श्वासोच्छ्वासयोः प्रवृत्तिस्तम्भेन मरणाधिकक्लेशोऽभूदित्याह - **तस्मिन्निति**। तस्मिन् ध्रुवे अनन्यया ध्येयैकविषयतां गतया धिया श्वासप्रवृत्तिकारणमसुं प्राणं निरुध्य कुम्भकीकृत्य आत्मनो जीवराशेः उत्पत्त्यादेः द्वारं कारणं विश्वं विष्णुम् अभितः परितः इन्द्रियाभिमानिदेवैस्सह ध्यायति स[2]ति निरुच्छ्वासेन निरुद्धप्राणवृत्त्या निपीडिताः सलोकपालाः लोकाः हरिं शरणं ययुरित्यन्वयः। अत्र भृशमित्यनेन क्षिप्रवाचिना लोकानामेव निरुच्छ्वासो न लोकपालानां देवतानामन्यप्रवृत्तिहेतूनां स्वोत्तमानुग्रहेण स्वावरानधीनप्रवृत्तिना तास्तु लोकश्वासार्थं कृपालवो हरिं शरणं ययुरिति ध्वनयति। उक्तं च ''ध्यातुर्ध्रुवस्य कीर्त्यर्थं हरिणा सह देवताः। लोकोच्छ्वासान्निरुध्याऽथ श्वासार्थं च हरिं ययुः। अन्यप्रवृत्तयस्तेभ्यो न तेषामन्यतः क्वचित्। स्वोत्तमेभ्यस्तु देवेभ्यः तेषां स्युश्च प्रवृत्तयः'' (तत्त्वनिर्णये) इति ॥ ८३ ॥

किमर्थं शरणं गता इति तत्राह - **नैवमिति**। अखिलानां सत्त्वानां प्राणिनां धाम समूहो यत्र तत्तथोक्तं तस्य ''तेजश्शक्तिः समूहश्च गृहं धामेति कथ्यते'' (शब्दनिर्णये) इत्यभिधानात्। वृजिनात् दुःखात् ॥ ८४ ॥

हरेश्शरणं गतानां देवानां भय[3]व्यावर्तकप्रतिवचनप्रकारमाह - **मा भैष्टेति**। यतो यस्मात् वो युष्माकं सकाशात् प्राप्तप्रवृत्तीनां लोकानां प्राणनिरोध आसीत्। तं तपसो निवर्तयिष्ये इत्यन्वयः। कोऽसौ इति तत्राह - औत्तानपादिरिति। मयि सम्यक् गतः आत्मा मनः यस्य सः **तथा ध्रुव** इत्युक्ते कस्य पुत्रः ? किं जातिरयम् इति शङ्का स्यादित्यत - औत्तानपादिरिति ॥ ८५ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थकृतायां पदरत्नावल्यां
टीकायां अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

---

1. A, B, omit इति 2. A, B, omit सति 3. A °नि°

# नवमोऽध्यायः

## मैत्रेय उवाच

त एव मुत्सन्नभया ऊरुक्रमे कृतप्रणामाः प्रययु स्त्रिविष्टपम्।[1]
सहस्रशीर्षाऽपि ततो गरुत्मता मधो र्वनं भृत्यदिदृक्षया गतः ॥ १ ॥

स वै धिया योगविपाकतीव्रया हृत्पद्मकोशे स्फुरितं त टित्प्रभम्।[2]
तिरोहितं सहसैवोपलक्ष्य बहिस्स्थितं तदवस्थं ददर्श ॥ २ ॥

तद्दर्शनेनागत साध्वसः क्षिता ववन्दताङ्गं विनमय्य दण्डवत्।
दृग्भ्यां प्रपश्यन् प्रपिबन्निवार्भकश्चुम्बन्निवास्येन भुजै रिवाश्लिषन्[3] ॥ ३ ॥

स तं विवक्षन्त मतद्विदं हरिर्ज्ञात्वाऽस्य सर्वस्य च हृद्यवस्थितः।
कृताञ्जलिं ब्रह्ममयेन कम्बुना पस्पर्श बालं कृपया कपोले ॥ ४ ॥

स वै तदेव प्रतिपद्य[4] तां गिरं दैवीं परिज्ञात परात्मनिर्णयः।
तं[5] भक्तिभावोऽभ्यगृणा[6] दसत्वरः परिश्रुतोरुश्रवसं[7] ध्रुवक्षितिः[8] ॥ ५ ॥

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

नवमे तु हरिं स्तुत्वा लब्ध्वा तस्माद्वरान्ध्रुवः। प्रत्यागत्याकरो द्राज्यं पित्रा दत्त मितीर्यते ॥

त इति एवं भगवद्वाक्येन गतभयाः ॥ १ ॥

स इति। स वै ध्रुवो योगस्य विपाकेन दार्ढ्येन तीव्रया निश्चलया गरुडाधिरूढं पुरतः स्थितमपि यदाऽन्तर्दृष्टित्वा दसौ नाऽपश्यत् तदा भगवतैवान्तस्थं रूप माकृष्ट मत स्तिरोहित मुपलक्ष्य व्युत्थितस्सन् तदवस्थं यादृगन्तस्स्फुरितः तादृशम्[9] ॥ २ ॥

---

1. A, B, G, I, J, T, V कृतावनामाः 2. A, B, G, I, J, T °डि° 3. M, Ma, Ms भुजेन चा° 4. A, B, G, I, J, T, V पादितां 5. M, Ma, Ms ताद्भ° 6. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °त्वरं 7. M, Ma, Ms त्रि° 8. M, Ma, Ms क्षितिम् ॥ 9. V °स्सव°

**तदिति** । आगतसाध्वसो जातसम्भ्रमः विनमय्य आनतं कृत्वा । सम्भ्रम मेवाऽह । दृग्भ्यां प्रपिबन्निव प्रपश्यन् अवन्दत आस्येन चुम्बन्निव अवन्दत । भुजाभ्यां मा[1]श्लिषन्निवावन्दतेत्यर्थः ॥ ३ ॥

**स** इति । विवक्षन्तं तदुणान् वक्तुं मिच्छन्तं, अतद्विदं स्तुत्यादि कर्तु मजानन्तम् । अस्य ध्रुवस्य सर्वस्य[2] च हृद्यवस्थित त्वात् ज्ञात्वा ब्रह्ममयेन वेदात्मकेन शङ्खेन ॥ ४ ॥

**स वै** इति । भगवता प्रतिपादितां गिरं प्रतिपद्येति शेषः । प्रतिपद्य ता मिति पाठे तां वेदात्मिकाम् । परिज्ञातः परात्मनो रीश्वरजीवयोः निर्णयो येन सः । अत एव भक्त्या भावः प्रेम यस्य, [3-]असत्वरः त्वरारहितः[-3] परितः श्रुतं विख्यात मुरुश्रुवः कीर्ति र्यस्य तम् । ध्रुवा क्षितिः स्थानं यस्येति भाविनिर्देशः ॥ ५ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं भगवतोक्तेषु देवेषु स्वधामगतेषु भगवान् भक्तानुजिघृक्षया ध्रुवेण प्रत्यक्षितः तेन स्तुत स्तं समीहितेन संयोज्य स्वधामाऽगात् तथा ध्रुवोऽपि संसाधितसमीहितः स्वधाम जगामेत्याह नवमेन मुनिः । एवं भगवद्वाक्येन उत्सन्नभया गतभया देवा उरुक्रमे भगवति विषये कृतः प्रणामो यै स्ते त्रिविष्टपं सुरलोकं ययुः जग्मुः । [4]ततः सहम्रशीर्षा भगवानपि भृत्यदिदृक्षया भृत्यदर्शनेच्छया मधोर्वनं गरुत्मता वाहनभूतेन सह गतः जगाम ॥ १ ॥

स वै ध्रुवः योगविपाकतीव्रया योगस्य ध्यानयोगस्य विपाकः [5]आपरोक्ष्य प्रीतिरूपत्वादिविशेषणविशिष्टत्वं तेन तीव्रया विजातीय प्रत्ययान्तराव्यवहितया धिया प्रथमं हृत्पद्मकोशे स्फुरितं साक्षात्कृतं ततः सहसैव [6]आश्वेव तिरोहितं ततः पुनः बहिस्स्थितं तडित्प्रभं अन्तराविर्भूतस्य सहसा तिरोधानेन तडित्साम्य मभिप्रेत्य तडित्प्रभ मित्युक्तं तदवस्थं यादृगन्तरस्फुरत्तादृश मुपलक्ष्य प्रत्यभिज्ञाय ददर्श साक्षात्कृतवान् ॥ २ ॥

तस्य भगवतो दर्शनेन आगतसाध्वसः जातसम्भ्रमः अर्भकः ध्रुवः अङ्गं शरीरं क्षितौ भूमौ दण्डवद्विनमय्य नतं कृत्वा अवन्दत नमस्कृतवान् । सम्भ्रममेवाह - दृग्भ्यां प्रपश्यन्[7]निव पिबन्निव अवन्दत आस्येन चुम्बन्निव अवन्दत, भुजाभ्यामाश्लिषन्नालिङ्गन्निवाऽवन्दत । भुजै रिति बहुवचन मार्षम् ॥ ३ ॥

---

1. V मालिङ्गन्नि° 2. V adds लोकस्य 3--3. A, B, J, V, A असत्वरं स्थैर्येण 4. A, B, J, omit ततः 5. W अपरोक्षप्री° 6. W omits आश्वेव 7. W omits इव

तं ध्रुवं विवक्षन्तं गुणान् वक्तु मिच्छन्तं तुष्टूषन्त मित्यर्थः। पुन रतद्विदं स्तोतु मजानन्तम् अस्य ध्रुवस्य सर्वस्य लोकस्य च हृदि हृदये अवस्थितः हेतुगर्भ मिदं हृदि अवस्थितत्वात् ज्ञात्वा स हरिः ब्रह्ममयेन ब्रह्म प्रणवः वेदो वा तत्प्रचुरेण ध्वनेः प्रणवाद्यनुकारित्वात् ब्रह्ममयेनेत्युक्तम्। कम्बुना शङ्खेन कपोले गण्डे बालं ध्रुवं कृपया पस्पर्श ममार्ज॥ ४॥

स वै ध्रुवः दैवीं देवस्य सम्बन्धिनीं देवेन भगवता आविर्भावितामित्यर्थः। तां वेदार्थप्रचुरां गिरं वाचं तदैव स्पर्शोत्तरकालमेव प्रतिपद्य लब्ध्वा परितः ज्ञातः कार्त्स्न्येन विदितः परात्मनोः परमात्मजीवात्मनोः निर्णयो याथात्म्यं येन अत एव भक्तिभावः भक्त्यात्मको भावोऽभिप्रायो यस्य ध्रुवा स्थिरा शाश्वती क्षितिः स्थानं यस्य अयं भाविनिर्देशः, असत्वरः त्वरारहितः परिश्रुतं सर्वतो विख्यात मुरु निरवधिकं श्रवः कीर्तिर्यस्य तं भगवन्तम् अभ्यगृणात् अस्तौषीत्[1]॥ ५॥

**विज.** हरेः केवलं मोक्षाख्यपुरुषार्थस्य प्राप्तिरेव न किन्तु ऐहिकस्यापीतीममर्थं प्रतिपादयति अस्मिन्नध्याये। तत्रादौ देवानां स्वलोकगमनं हरेः मधुवनयात्रां च वक्ति त एव मिति। सहस्रशीर्षा श्रीवासुदेवः "गरुत्मान् गरुड स्तार्क्ष्यः" (अम.को.1-29) इत्यभिधानम्॥ १॥

ध्रुवस्य हरिदर्शनप्रकारं वक्ति - **स वा** इति। योगपरिपाकेन ध्यानपरिणत्या तीव्रया स्वत एव भगवदुन्मुख्या। तदवस्थं हृत् पद्मकोशे याऽवस्था तया विशिष्टम्॥ २॥

गुरूक्तगुणानुपसंहृत्य भगवदुपास्तौ सक्तस्य ध्रुवस्य किं पुनर्वन्दनादाविति भावेन तत्प्रावण्यप्रकार माह - तद्दर्शनेति। आगतसाध्वसः प्राप्तसम्भ्रमः बालस्वभावं दर्शयन्निव भक्त्यतिशय माह - दृग्भ्या मिति॥ ३॥

भक्तानुकम्पित्वं प्रकटयतो हरेः तदनुग्रहविशेष माह - स तमिति। विवक्षन्तं स्तुतिरूपां वाचं वक्तुकामं न तद्ब्रह्मतत्त्वं वेत्ती त्यतत्त्वविद् तं, ब्रह्ममयेन वेदमयेन "पाञ्चजन्यो वा एष आम्नाय उत्" इति श्रुतेः कम्बुना पाञ्चजन्याख्यशङ्खेन॥ ४॥

तत्फल माह - **स वा** इति। स वै सोऽपि। या गीः पूर्व मज्ञाता तां गिरं दैवीं देवः सर्वेषु देवेषु गुणै र्द्योतमानः तद्विषयां गिरम् उपलब्धिफल माह - परिज्ञातेति। यावत्स्वयोग्यं परितो ज्ञातः परमात्मन स्तत्त्वनिर्णयो येन स तथोक्तः तद्भक्त्या भावो रोमाञ्चादिक्रियाविशेषो यस्य स तथोक्तः। "भावो लीला क्रिया चेष्टा" (वैज.को. 6-1-43) इति यादवः। असत्वर मिति क्रियाविशेषणं यथा स्खलितं न भवति अनेन संग्रस्तलुप्तादिबालवचनस्वभावं व्यावर्तयति। त्वरया सह वर्तत इति सत्वरः, स न

1. W अस्तावीत्

भवतीति असत्वरः इति भाव्यम्। अत्वरया सह वर्तत इति असत्वरस्तमिति भगवद्विशेषणं वा, परिश्रुतं व्याप्त मुरु बृहत् श्रवणमङ्गलं श्रवो यशो यस्य स तथा तं ध्रुवा नित्या क्षितिः वैकुण्ठादिस्थानं यस्य स तथा तम्। ध्रुवः क्षिति मिति वा पाठः। क्षि निवासगत्यो रिति धातोः क्षितिं गति मित्यर्थः॥ ५॥

## ध्रुव उवाच

**योऽन्तः प्रविश्य मम वाच मिमां प्रसुप्ताम् सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना[1]।**
**अन्यां श्च हस्तचरण श्रवण त्वगादीन् प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥ ६॥**

**एकस्त्वमेव भगवन्निद मात्मशक्त्या मायाख्ययोरुगुणया महदाद्यशेषम्।**
**सृष्ट्वानुविश्य पुरुषस्तदसद्गुणेषु नानेव दारुषु विभावसुवद्विभासि[2]॥ ७॥**

**त्वद्दत्तया वयुनयेद मचष्ट विश्वं सुप्तप्रबुद्ध इव नाथ भवत्प्रपन्नः।**
**तस्यापवर्ग्यशरणं[3] तव पादमूलं[4] विस्मर्यते कृतविदा[5] कथ मार्तबन्धो॥ ८॥**

**नूनं विमुष्टमतय स्तव मायया ते ये त्वां[6] भवाप्ययविमोक्षण मन्यहेतोः।**
**अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्य मिच्छन्ति यत्स्पर्शजं नरकेऽपि[7] नृणाम्॥ ९॥**

**या निर्वृति स्तनुभृतां तव पादपद्म ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्।**
**सा ब्रह्मणि स्वमहिम्न्यपि नाथ मा भूत् किन्वन्तकासिलुलितात्पततां[8] विमानात्॥ १०॥**

**श्रीध०** ईशानुग्रहसम्प्राप्त वागाद्यद्भुतवृत्तिभिः। द्वादशादित्य सङ्काशैः श्लोकै रस्तौद्धरिं ध्रुवः॥

**य** इति। यो मे प्रसुप्तां[9] लीनां वाच मन्यांश्च प्राणा निन्द्रियाणि स्वधाम्ना चिच्छक्त्या सञ्जीवयति यतः अखिला श्चक्षुरादिज्ञान क्रियाशक्तीः धारयतीति तथा पुरुषायाऽन्तर्यामिणे॥ ६॥

ननु वागादीन्द्रियशक्तिधरा वह्न्यादयः प्रसिद्धा ना मित्यत आह - **एक** इति। अनुविश्य पुरुषोऽन्तर्यामी त्व मेक एव तस्या

1. W धाम्नः 2. W °स्सदस° 3. Ms ब्रह्माप° 4. W वर्ग 5. M, Ma, Ms धिया 6. V W त्वा 7. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T निरये 8. A, B, G, I, J, T किन्त्व°; M, Ma, Ms किम्व° 9. A मम

मायाया असत्सु गुणेष्विन्द्रियादिषु स्थित स्सन् तत्तद्देवतारूपो नानेव भासि न[1] तु त्वद्व्यतिरेकेण ज्ञानक्रियाशक्तिधरः[2] कश्चि दस्तीत्यर्थः ॥ ७ ॥

अपि च किं वक्तव्यं वह्न्यादयो ज्ञानादिशक्तिधरा न भवन्तीति यस्मात् ब्रह्मणोऽपि ज्ञानं त्वदधीन मेवेत्याह - त्वदिति। त्वद्दत्तया वयुनया ज्ञानेन भवन्तं शरणं प्रपन्नो ब्रह्मा इदं विश्व मचष्ट अपश्यत्। कथम् ? सुप्तः पुरुषः प्रबुद्धस्सन् यथा पश्यति तद्वत्। अत आपवर्ग्या मुक्ता स्तेषा मपि शरणम्। कृतविदा सर्वेन्द्रयजीवनेन त्वत्कृत मुपकारं जानता कथं विस्मर्यते एवम्भूतं त्वा मभजन्तः कृतघ्ना इत्यर्थः ॥ ८ ॥

ये च मादृशाः कामाद्यर्थं भजन्ति तेऽतिमूढा इत्याह - **नून** मिति द्वाभ्याम्[3]। भवाप्ययौ जन्ममरणे तद्विमोक्षे हेतुं त्वा मन्यहेतोः कामाद्यर्थं ये भजन्ति ते नूनं विमुष्टमतयो वञ्चितचित्ताः यत स्ते कल्पतरुं त्वा मर्चन्ति ततः कुणपतुल्येन[4-] शवतुल्येन[-4] देहेनोपभोग्यं सुखमिच्छन्ति न चेच्छाभोग्यं तदित्याह। यत्[5] यतः स्पर्शजं विषयसम्बन्धजन्यं सुखं तन्नरकेऽपि भवति ॥ ९ ॥

ननु स्वर्गादिसुखं सकामैः प्राप्यते निष्कामभजने[6] तु तन्न स्यादित्यत आह - **येति**। स्वमहिमनि निजानन्दरूपेऽपि माभूत् न भवतीत्यर्थः। अन्तकस्यासिना[7-] शस्त्ररूपेण[-7] कालेन लुलितात् खण्डितात् विमानात्पततां सा नाऽस्तीति किमु वक्तव्यम् ॥ १० ॥

**वीर०** तत्र स्वकीयवागादीन्द्रिय[8] सञ्जीवयितृत्वेन स्वानुभवसिद्धेन ज्ञानप्रदं चिदचिच्छरीरं निखिलजगदेककारणं निरस्तनिखिलहेयगन्धं मुक्त्युपायत्व मुक्तिप्रदत्वाश्रित दुरितौघनिवर्तकत्व निरतिशय यशस्सम्पन्नत्व निरतिशयानन्दत्वा द्यपरिमितोदारगुणसागरत्वेन भगवन्तं पञ्चभिः प्रस्तुत्य तस्मिन् स्वमनःप्रावण्यमेकेन सम्प्रार्थ्य तत्पदारविन्दध्यानासक्तचित्तस्य देह तदनुबन्धिहेतुक सुखदुःखाननुभूतिमेकेनाभिधाय ततः साधुपरित्राणाय स्वेच्छोपात्ताप्राकृत दिव्यमङ्गलविग्रहं परत्वेन शङ्कितब्रह्मादिदेवताना मपि कारणभूतं स्वावतारेण साक्षाज्जगदवितारं त्रिभिः प्रस्तुत्यैकेन तं शरण मागत्य पुरुषार्थमूर्ते स्तस्य भजनादाशिषां सत्यतां वदन् निरतिशयवात्सल्य मेकेन स्तौति - **य** इति द्वादशभिः। तत्र तावद्वागादीन्द्रियसञ्जीवयितृत्वेन स्वस्मै निदर्शितेन ज्ञानप्रदत्वं निश्चिन्वन्नमस्करोति - य इति। यो भगवान् प्रसुप्तां स्वकार्याक्षमां इमां स्तोतुं प्रवृत्तां मे स्तोतुकामस्य मम वाचं वागिन्द्रियमन्तःप्रविश्य सङ्कल्परूपज्ञानेनात्रानुप्रवेश उच्यते, पूर्वमेव प्रविष्टत्वात् सञ्जीवयति तत्र हेतुः अखिलशक्तिधरः अघटित घटनादि सर्वशक्तेस्तवेद मुपपन्न मिति भावः। तथा स्वधाम्नः स्वधामभूतान् स्वशरीरभूतानिति यावत्। तृतीयान्त पाठे स्वधाम्ना

1. A यतः त्व° 2. A adds न 3. A, B, J, Va omit द्वाभ्याम्। 4--4. B, J, V, Va omit 5. A, B, J, Va omit यतः 6. V °तेन
7--7. B, J, V, Va omit 8. A, B, J वागिन्द्रि°

स्वकीयसङ्कल्परूपज्ञानेनान्तः प्रविश्येत्यन्वयः। हस्त चरणश्रवणत्वगादीन् हस्तचरणग्रहणं पायूपस्थयोः कर्मेन्द्रिययो रुपलक्षणं, श्रवणत्वग्ग्रहण मवशिष्टज्ञानेन्द्रियाणां, आदिशब्देनान्तः करण चतुष्टयाधिष्ठातृदेवतासङ्ग्रहः अन्यान्प्राणान् इन्द्रियाणि सञ्जीवयति तस्मै भगवते पूर्णषाड्गुण्यमूर्तये पुरुषाय पुरुषान्तर्यामिणे अनेन जीवान्तर्यामित्व मुक्तम्; पूर्व मचिदन्तर्यामित्वकथनात् तुभ्यं नमः कृत्स्न चिदचिदन्तरात्मत्वेन सत्सञ्जीवयितृत्वेन ज्ञानप्रदत्वं त्वय्येवोपपन्न मिति भावः ॥ ६ ॥

ननु "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, (तैत्ति.उ. 2-6) अनेन जीवेनाऽत्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" (छान्दो.उ. 6-3-2) इति जगत्स्रष्टुरेवानुप्रवेशश्रवणात् नाऽहं चिदचिदन्तरात्मेत्यत्र जगत्स्रष्टाऽपि त्वमेवेत्याह - **एक** इति। हे भगवन्! इदं परिदृश्यमानं महदादिसमष्टि व्यष्ट्यात्मक मशेषं सर्वं जगत् उरुगुणया विविधपरिणामक्षम सत्त्वादिगुणया आत्मशक्त्याऽऽत्मनः स्वस्य सम्बन्धिन्या शक्त्या कार्योपयोग्यपृथक्सिद्धविशेषणभूतया मायाख्यया प्रकृत्या सृष्ट्वा सदसदुणेषु कार्यकारणभूतेषु सत्त्वादिगुणमय पदार्थेषु पुरुषो जीवकारकः अनुप्रविश्य त्व मेक एव सन् दारुषु ह्रस्वदीर्घ- ऋजु वक्रादिभेदभिन्नेषु दारुषु विभावसुवदग्निवन्नानेव बहुधेव विभासि। अत्र विभावसुदृष्टान्तेन स्वशरीरभूत चिदचिद्गतगुणास्पर्शो विवक्षितः। इवशब्देन वस्तुन एकत्वं देवमनुष्यादिशरीरसंसृष्ट जीवान्तरात्मकत्वकृतं बहुत्व मपि विवक्षितम्॥ ७॥

एवं निखिलजगदेककारणत्वेन कृत्स्नचिदचिदन्तरात्मत्वेन निरस्तनिखिलदोषत्वेन च वागादीन्द्रिय सञ्जीवयितृत्वा त्तस्यैव ज्ञानप्रदत्व मुक्तम्। तदेव निदर्शयन् तस्यैव निरतिशयपुरुषार्थसाधनत्वेन भजनीयता माह - **त्वद्दत्तयेति**। त्वदीयया "तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तम्" (भ.गी. 10--10) इति वदता त्वया दत्तया वयुनया ज्ञानेन स्त्रीत्व मार्षम्। हे नाथ! भवन्तं प्रपन्नः शरणं गतो ब्रह्मा चतुर्मुखः सुप्तप्रबुद्ध इव पूर्वं सुप्तः पश्चात्प्रबुद्ध इव विश्व मचष्ट अपश्यत्। विश्वरचनोपयोगिज्ञानविधुर स्त्वत्प्रपत्त्या त्वद्दत्तज्ञानेना सृजदित्यर्थः। नाऽत्र भूतार्थविवक्षा पश्यतीत्यर्थः। हे आर्तबन्धो! आर्तानां तापत्रयातुराणां बन्धो अपवर्गशरणं मुक्त्युपायं आपवर्ग्य मिति पाठे स्वार्थे ष्यञ्। अपवर्गे भव मापवर्ग्यं सुखं तत्साधनमिति वा। तव पादमूलं कृतविदा सर्वेन्द्रियोपजीवनेन ज्ञानप्रदत्वाद्युपकारज्ञेन कथं विस्मर्यते। एवं महोपकारिणं त्वा मभजन्तः कृतघ्ना एवेत्यर्थः॥ ८॥

तथा त्वां भजन्तोऽपि मादृशाः सकामा मन्दभाग्या एवेत्याह - **नून** मिति। कल्पकतरुं कल्पकतरुतुल्यम् आश्रिताभीष्टार्थ प्रदत्वेन कल्पतरुतौल्यं विवक्षितम्। ततो निरतिशयगुणवत्ता माह। भवाप्ययविमोक्षणं भवो जन्म अप्ययो मरणं तयो र्मोक्षणं मोचनं यस्मात्तं, यद्वा भवाप्ययौ विमोचयतीति ण्यन्तात्कर्तरिल्युट् बाहुलकत्वात्। मुक्तिप्रद मित्यर्थः। एवम्भूतं त्वां ये मादृशा लोका

1. A, B, J रूपेण 2. W °तार्था° 3. A,B, T °क्ष° 4. A, B, T °कात्

अन्यहेतोः अन्यस्य त्रिवर्गस्य हेतोः कारणात् भजन्ति ते जना स्तव मायया "मम मया दुरत्यया" (भ.गी. 7-14) इत्युक्तविधया विमुष्टमतयः अपहृतज्ञानाः, नून मिति निश्चये। कुत स्ते विमुष्टमतय इत्यत्राह। य द्यस्मात्स्पर्शजं विषयेन्द्रियसम्बन्धजम् अत एव "एते वै निरया स्तात ! स्थानस्य परमात्मनः" (भार. 12-191-6) इत्युक्तविधया[1] नरकप्रायेऽपि संसारे नृणां कुणपोपभोग्यं कुणपेन शवतुल्येन शरीरेणोपभोग्यं सुख मिति शेषः, इच्छन्ति॥ ९॥

ननु स्वर्गस्याऽपि सुखत्वप्रतिपत्तेः किं तदर्थं भजमानान् निन्दित्वा निष्कामान् प्रशंससीत्याकाङ्क्षायां स्पर्शजस्याल्पास्थिर-त्वान्निन्दामीत्यभिप्रेत्य किं वक्तव्यं निष्कामभक्तिसाध्यस्यापवर्गिकसुखस्य निरवधिकत्वात् न तेन स्पर्शजस्य साम्य मिति यत स्त्वच्चरणध्यान त्वद्भक्तजनकथाश्रवणजन्यसुखेनाऽपि न कैवल्यमपि समान मिति कैमुत्यनयेनाह - **येति**। तनुभृतां देहिनां तव चरणकमलध्यानात् भवज्जना भागवतास्तेषां कथाश्रवणेन वा या निर्वृतिः सुखं स्यात् सा निर्वृतिः हे नाथ ! स्वमहिमन्यपि स्वाभाविकगुणाष्टकरूप महिम्नि ब्रह्मणि शुद्धात्मन्यनुभूयमानेऽपि मा भून्नास्तीत्यर्थः। अन्तकासिलुलितात् अन्तकाख्य शस्त्रक्षतात् विमानात् पततां स्वर्गिणां निर्वृतिः स्यात्किम् ? नास्त्येवेत्यर्थः॥ १०॥

**विज०** यदि इयं स्तुति र्वेदसिद्धगुणानुरूपा तर्हि ब्रह्ममयेत्युक्तिः सफला स्या दित्यतः तत्सिद्धै र्गुणैः अभिष्टौति - **योऽन्त**रिति। प्रसुप्तां निद्रिता मिमां वैखरीं नाम वाचं सञ्जीवयति संस्कारात्मना बोधयति अन्यान् हस्तादीन् प्राणा निन्द्रियाणि स्वस्व[2]विषयाणि करोति तस्मै तुभ्यं नम इत्यन्वयः। "असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति" (बृह.उ. 4-3-11) इति श्रुतिः। ब्रह्मणो वा एतानि कारणानीति च॥ ६॥

पुरिशयनात्पुरुष श्चेत् पुराणां नानात्वात् हरे रपि नानात्वेनाद्वितीयत्वभङ्ग इति तत्राह - **एकस्त्व**मिति। एकस्याऽपि विभावसुवदग्निवन्नानात्व मविरुद्ध मित्यर्थः। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाऽभवत्" (तैत्ति.उ. 2-6) इति श्रुतिः। तस्या असन्तोऽभङ्गला गुणाः सत्त्वादयो येषु महदादिषु ते तथा तेषु अनेन स्वगतभेदराहित्यं पुरुषशब्देन प्रवृत्तिनिमित्तं चोक्तं भवति। पुरि शयनात् पुरुष इति एक मेवाऽद्वितीय मिति च॥ ७॥

अस्मिन्नर्थे किं प्रमाण मत्राह - **त्वद्दत्तयेति**। वयुनया ज्ञानेन कृ[3]तधिया कृतज्ञेन अनेन दतृदेययो र्हि भेदं दातुरेकत्वं विश्वस्य हर्यधीनत्वं च पश्यतो ज्ञानिनः प्रत्यक्षं प्रमाण मित्युक्तं भवति। अचष्टापश्यत्। "सोऽज्ञाना द्विमुक्तो ज्ञानी भवति" इति श्रुतिं सूचयति। सुप्तः प्रबुद्ध इवेत्यनेनेति॥ ८॥

---

1--1. W इति  2. Ma adds विषय  3. A, B, omit कृतधिया

भगवत्प्रसादादेव भगवद्विषयं ज्ञानं स्यात् तदेव विपक्षे बाधकप्रदर्शनेन द्रढयति - **नूनमिति**। ये अन्यस्य हेयत्वेनानित्यस्य सुखस्य हेतोः भवाप्ययविमोक्षणं जननमरणात्मकसंसारमुक्तिदं कल्पकतरु मिव भक्ताभीष्टदं त्वामर्चन्ति ते तव मायया बन्धकशक्त्या विमुष्टमतय इत्यन्वयः। विषयसुखं दुर्लभं चेत् कथं निन्द्यं स्यादित्यत उक्तं कुणपेति, निरयेऽपि सुलभ मित्यर्थः। यच्छब्दो हेत्वर्थः॥ ९॥

भवता भगवत्प्रसाद एव प्रार्थनीय इति रोचयति तस्मात् किं फलं दृष्ट्वेति तत्राह - **या निर्वृतिरिति**। सा निर्वृतिः स्वमहिमनि अनन्याधारलक्षणमाहात्म्ये ब्रह्मणि परब्रह्मणि स्थितस्य जीवस्याऽपि मा भूत् ध्यानादिक मन्तरेण न स्यात् कुतः ? "त द्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति एष आत्मेति होवाचैत दमृतं मे तदभय मेतत् ब्रह्मेति" (छान्दो.उ. 8-11-1) सह - शान्तहृदयः प्रवव्राज सह प्राप्यैव देवा नेतद्भयं ददर्श नाहंखल्वय मेवैनं सम्प्रत्यात्मानं जानात्यय महमस्मीति *"नो एवेमानि भूतानि विनाश मेवापीतो भवति नाह मत्र भोग्यं पश्यामि" (छान्दो.उ. 8-11-1,2) इति श्रुतौ सुप्तौ तस्थत्वेऽपि ध्यानाभावात् सुखानुभवाभावस्य दृष्टत्वात् इतीममर्थम् अपिपदेन ध्वनयति। स्वमहिमनि ब्रह्मणि सुखं नास्तीति योजना। अथ कस्मा दुच्यते ब्रह्मेति - बृहन्ते ह्यस्मिन् गुणाः "एष ह्येवानन्दयाति" (तैत्ति.उ. 2-7) इत्यादि श्रुतिविरुद्धत्वेन उपेक्षणीयो यतः स्थितस्ये त्यध्याहारो युक्तिसिद्धत्वा दङ्गीक्रियते। ननु तर्हि स्वर्गाद्यैश्वर्यं तत्फलं किं न स्यात् ? ज्ञानादेव "सर्वे कामा स्सम्पद्यन्ते" () इति श्रुते रिति तत्राह - किम्विति। अन्तकस्य हरेः भ्रूविभ्रमलक्षणेनासिना - विलुलिता त्पर्यस्ता द्विमानात् पततां पुंसां सानिर्वृतिः न स्यादिति किमु। एतदुक्तं भवति कर्मसाध्यज्ञानात् स्वर्गादिलक्षणविमानं प्राप्य इत स्ततो नन्दनादिषु विहारार्थं पततां गच्छतां पुंसां सा निर्वृति र्नास्तीति किमु वक्तव्य मिति। विमानात् भ्रश्यता मित्यर्थाङ्गीकारे तत्र दुःखप्राचुर्यात् सा निर्वृति र्न स्यादिति वक्तु मयुक्तत्वा दुक्त एवार्थः। अन्तकासिलुलितत्व मनित्यत्वद्योतनायोक्त मिति ज्ञातव्यम्। अत्र ध्यानं ज्ञानोत्पत्तावन्तरङ्गसाधनं कथाश्रवणं तत्साधनं श्रुतगुणानां पश्चादुपसंहारोपपत्ते रिति ज्ञातव्यम्। अधिकारिणा मनन्तत्वात् तत्तद्योग्यताविशेषा देव मुक्तमिति वा॥ १०॥

**भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो भूयादनन्त महता ममलाशयानाम्।**
**येनाऽञ्जसोल्बण मुरुव्यसनं भवाब्धिं नेष्ये भवद्गुणकथामृतपान मत्तः॥ ११॥**

**ते न स्मरन्त्यतितरां प्रिय मीश मर्त्यं[1] ये[2] चान्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः[3]।**
**ये त्वब्जनाभ भवदीय पदारविन्दसौगन्ध्य लुब्धहृदयेषु कृतप्रसङ्गाः॥ १२॥**

---

* This part being from नो एवेमानि ending with लक्षणेनासि° is missing in A & B Editions.

1. M, Ma Ms °माद्य° 2. M, Ma, Ms स्वान् सम्पदः; W ये चानुगः 3. M, Ma, Ms दारान्

**तिर्यङ्नरद्विज सरीसृप देव दैत्यमर्त्यादिभिः परिचितं सदसद्विशेषम्।**
**रूपं स्थविष्ठ मज ते महदाद्यनेकं नाऽतः परं परम वेद्मि न यत्र वादः ॥ १३ ॥**

**कल्पान्त एतदखिलं जठरेण गृह्णन् शेते पुमान् स्वदृगनन्तसख स्तदङ्के।**
**यन्नाभिसिन्धुरुह काञ्चनलोकपद्मगर्भे द्युमान् भगवते प्रणतोऽस्मि तस्मै ॥ १४ ॥**

**त्वं नित्यमुक्त परिशुद्ध विबुद्ध आत्मा कूटस्थ आदिपुरुषो भगवां स्त्र्यधीशः।**
**यद्बुद्ध्यवस्थित मखण्डितया स्वदृष्ट्या द्रष्टा स्थिता वधिमखो व्यतिरिक्त आस्से ॥ १५ ॥**

**श्रीध०** अतः ते कथाश्रवणाय सत्सङ्गतिं देहीत्याह - **भक्तिमिति**। भक्तिं त्वयि प्रवहतां सातत्येन कुर्वताम्। ननु मोक्षं किं न याचसे अत आह। येन महत्प्रसङ्गेनाञ्जसा अयत्नत ऐवोरूणि व्यसनानि यस्मिं स्तम्। नेष्ये पारं गमिष्यामि। भवद्गुणकथैवामृतं तस्य पानेन मत्तस्सन् ॥ ११ ॥

कथामृतपानस्य मादकत्व माह - **त** इति। तेऽतितरां प्रिय मपि मर्त्यं देहं न स्मरन्ति नाऽनुसन्दधते ये च सुतादयः अदः मर्त्य मनुसम्बद्धा स्तानपि। के ते न स्मरन्ति ये कृतप्रसङ्गाः। केषु भवदीयपदारविन्दसौगन्ध्ये लुब्धं हृदयं येषां तेषु। तुशब्देनान्येषां केवलयोगादिनिष्ठानां देहाद्यभिमानानिवृत्तिं दर्शयति ॥ १२ ॥

नन्वेवं विद्वानपि त्वं किमित्यात्माऽभिमानं वहसीत्यत आह - **तिर्यगिति**। तिर्यङ्नर पक्षिसर्पादिभिः परिचितं व्याप्तं सन्तोऽसन्तश्च विशेषा यस्य, महदादीन्यनेकानि कारणानि यस्य। हे परम! हे अज! ते इदं रूपं स्थविष्ठं विराड्रूपं केवलं वेद्मि। अतः पर मीश्वरस्वरूपं न वेद्मि। यत्र वादः शब्दव्यापारो नाऽस्ति तद्ब्रह्मस्वरूपं च न वेद्मि। अतोऽभिमानो न निवर्तत इति भावः ॥ १३ ॥

तदेवं भगवदनुकम्पया तद्रूपद्वयं ज्ञात्वा ईश्वररूप मनुवर्णयन्नमस्करोति - **कल्पान्त** इति। एतत् त्रैलोक्यं यः पुमान् शेते स्वस्मिन्नेव दृक् न बहि र्यस्य योगनिद्रारूढत्वात्। अनन्तसखः शेषसहायः तदङ्के शेषोत्सङ्गे। यस्य नाभि रेव सिन्धुः समुद्र स्तस्मिन् रोहतीति तथा तस्य काञ्चनलोकपद्मस्य हिरण्मयलोकरूप कमलस्य गर्भे कर्णिकायां द्युमान् तेजस्वी ब्रह्मा भवति तं प्रणतोऽस्मी त्यर्थः ॥ १४ ॥

---

1. A, B, G, I, J, M, Ma, T नग; Ms मृग 2. M, Ma, Ms विरचितं 3. M, Ma, Ms °शेषं 4. M, Ma, Ms वाचः 5. W बुद्धविशुद्ध 6. A, B, G, I, J, T, V °ति° 7. M, Ma, Ms बुद्ध्या 8. M, Ma, Ms दृष्ट्वा 9. M, Ma, Ms °तो 10. V त्वत्क° 11. V omits के 12. V °भिमानिनां निवृत्ति° 13. A, B, J, Va °त्यभि° 14. A, B, J, Va °स्यत 15--15. B, J, Va तिर्यङ्नगादिभिः; V निर्यगादिभिः 16. A, B, J, Va omit रूपं 17. A, B, J, Va omit स्व 18. A, B, J, Va तस्मिन् 19--19. B, J, V, Va omit

ननु ममापि स्वापाद्यवस्थावत्त्वे को जीवा द्विशेष इत्यत आह - **त्वमिति**। त्वं तु व्यतिरिक्तो जीवविलक्षण आस्से तिष्ठसि। वैलक्षण्य मेवाह - त्वं तु नित्यमुक्तो जीवस्तु त्वत्प्रसादान्मुच्यते। त्वं परिशुद्धः स तु मलिनः। त्वं तु विबुद्धः सर्वज्ञः[1], स तु अज्ञः[2]। त्व मात्मा स तु जडः। त्वं कूटस्थः, स तु विकारी। त्व मादिपुरुषः स त्वादिमान्। त्वं तु भगवान्, स भगहीनः। त्वं त्रयाणां गुणाना मधीशः स तु परतन्त्रः। कुत एत द्वैलक्षण्यं यद्यतो बुद्ध्यवस्थितिं बुद्धे स्तां ता मवस्था मखण्डितया स्वदृष्ट्या चिच्छक्त्या द्रष्टा पश्यति। द्रष्टेति तृन्प्रत्ययान्तः शब्दः। अतो बुद्ध्यवस्थिति मित्यत्र षष्ठ्यभावः। तथाभूत एव त्वं स्थितौ पालनेऽधिमखो यज्ञाधिष्ठाता श्रीविष्णुः॥ १५॥

**वीर०** एवं नित्यनिरतिशयानन्द साधनभूतं त्वां क्षयिष्णु सातिशयाल्पसुखसाधनत्वेन भजन्तो मादृशा मन्दभाग्या एवेत्युक्ता स्वस्य सत्सङ्गति कथाश्रवणादि प्रणाड्या भक्ति महैतुकीं प्रार्थयते[3] - **भक्तिमिति**। हे अनन्त! देशकालवस्तुपरिच्छेदरहित! त्वयि निरस्तनिखिलदोषे[4] सार्वज्ञ्य निरतिशयानन्दत्वाद्यपरिमितोदारगुणसागरे त्वयि मुहुः पुनः पुनः निरन्तर मित्यर्थः। भक्तिं प्रवहतां कुर्वतां अत एवाऽमलः आशयोऽन्तःकरणं येषां, महता मक्रोधाद्यात्मगुणयुक्तानां प्रसङ्गः प्रकृष्टः सङ्गः महता मिति सम्बन्धमात्रे षष्ठी, महत्सम्बन्धी[5] सङ्गम महत्सु सङ्गम इत्यर्थः। मे स्यात् येन महत्सङ्गेन हेतुना प्रवृत्ता या भवतो[6] गुणकथा सैव मधु तस्य पानेन मत्तः तृप्तः निरस्ततापत्रय इत्यर्थः। उरुव्यसनम् अधिकदुःखगर्भम् अत एव उत्लणं दुस्सहं भवाब्धिं[7] नेष्ये तरामि॥११॥

न केवलं सत्सङ्गतेः कथाश्रवणादि प्रणाड्याऽऽपवर्गिकसुखसाधनत्व मेव किन्तु जीवद्दशाया मपि देह तदनुबन्धि निमित्त सुखदुःखाद्यहेतुत्व मपीत्याह - **त** इति। हे ईश! मर्त्यं मरणशीलमपि अतितरां[8] नितरां प्रियं शरीरं ये च अनु मर्त्य मनुसृत्य गच्छन्ति वर्तन्ते इत्यनुगाः सुतादयः तां **श्च**[9] ते जना न स्मरति नाऽभिमन्यन्ते इत्यर्थः। के त इत्यत्राह - हे अब्जनाभ! ये जना भवदीय पदारविन्दयोः य त्सौगन्ध्यं तेन तस्मिन् वा लुब्धं हृदयं येषां तेषु भागवतेषु कृतः प्रसङ्गो यै स्ते इत्यर्थः॥ १२॥

अब्जनाभेत्यनेन निरतिशय सौन्दर्यवद्दिव्यमङ्गलविग्रह वैशिष्ट्य मुक्तं[10] महदाद्यशेषं सृष्ट्वानुप्रविश्य पुरुष इत्यनेन प्रकृति प्राकृत पुरुषशरीरकत्वं च। एवं स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वय मुक्तम्। अनन्ते त्यनेन सत्यज्ञानानन्तलक्षणं[11] दिव्यात्मस्वरूपं च एत त्त्रितय मेव यथाव द्विवेचयन् शरणं व्रजति**तिर्यगित्यादिभि श्चतुर्भिः**। तत्राऽऽद्येन स्थूलरूपं प्रपञ्चयति **तिर्यगिति**। हे परम! स्थूलसूक्ष्मरूपाभ्यां विलक्षण! निस्समाभ्यधिक! अत एव अज! स्थूलरूपगतोत्पत्तिविनाशरहित! नगाः स्थावराणि एतच्चराणामप्युपलक्षणम्।

---

1. A, J, Va omit सर्वज्ञः 2. V किञ्चिज्ञः। 3. A, B, T °ति 4. A, B, T °पसा° 5. A, B, T °न्धिस° 6. W भगवतो 7. A, B, T omit भवाब्धिं 8. A, B, T omit नितरां 9. A, B, T °स्तु 10. A, B, T सौगन्ध्य 11. A,B, T °नाऽऽनन्द°

तिर्यञ्चः पशुमृगादयः द्विजा अण्डजाः एषां तिर्यक्त्वादेव संग्रहे सिद्धे गोबलीवर्दन्यायेन पृथग्ग्रहणम्। एवं सरीसृप ग्रहणं च। आदि शब्देन स्वेदजोद्भिज्यसङ्ग्रहः, तिर्यगादिभिः परिचितं परितो व्याप्तं सदसत् चिदचिदात्मकं विशेषं, विशेषः पृथिवी सोऽस्यास्तीति विशेषम्। अर्श आदे राकृतिगणत्वात् अच् विशेषपर्यन्त मित्यर्थः। महदादि महान् आदिर्यस्य तत् अनेकं विविधविचित्रसन्निवेशं स्थविष्ठं स्थूलं ब्रह्माण्डात्मकं ते तव रूपं वेद्मि तच्छरीरत्वेन वेद्मीत्यर्थः। अतः स्थूलरूपात्परं विलक्षणं यद्दिव्य मङ्गलविग्रहात्मकं सूक्ष्मं रूपं तदपि न वेद्मीति न, किन्तु त्वत्प्रसादाद्वेद्म्येवेत्यर्थः। परं रूपं विशिनष्टि। यत्र यद्विषये वादः प्राकृतत्वाप्राकृतत्ववादः प्रवर्तत इत्यर्थः। यद्वा अवेद्मीतिच्छेदः अवेद्मीत्यकारो निपातो नञ्पर्यायः। ततश्च अतः स्थविष्ठा द्रूपात्परं विलक्षणं "न भूतसंघसंख्यानो देहोऽस्य परमात्मनः" (भार. 12-206-60) इत्युक्ताप्राकृतदिव्य विग्रहात्मकं रूपं ततः परं दिव्यात्मस्वरूपं "सत्यं ज्ञान मनन्तम्" (तैत्ति.उ. 2-1-1) इत्युक्तविधं च अवेद्मीति न,[1-] न वेद्मीति न,[-1] किन्तु त्वत्प्रसादात् जानाम्येवेत्यर्थः। रूपं स्वरूपं चोभयं विशिनष्टि यत्र वाद इति। यत्रस्वरूपे[2] रूपे च विषये[3] वादः देवतिर्यङ्मनुष्यादि जातीयवादः निर्विशेषत्ववादश्च न[4] प्रवर्तत इत्यर्थः। यत्र वादः शब्दव्यापारो नाऽस्ति तद्ब्रह्मस्वरूपं च न वेद्मीति व्याख्यानं त्वयुक्तम्। "सर्वे वेदा यत्पद मामनन्ति" (कठ.उ. 1-2-15) "शास्त्रयोनित्वात्" (ब.सू. 1-1-3) "वचसां वाच्य मुत्तमम्" (जितन्ता) "नतास्म सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती" (वि.पु. 1-14-23) "वेदैश्च सर्वै रह मेव वेद्यः" (भागी. 15-15) इत्यादि श्रुति सूत्र स्मृतिभिः शास्त्रैकवेद्यत्वाभिधानात्॥ १३॥

किञ्च यः पुमा नेतच्चिदचिदात्मकं जगत् कल्पान्ते प्रलये जठरेण गृह्णन् कुक्षौ निवेश्येत्यर्थः। स्वस्मिन् दृक् यस्य स्वानुभवैकशील इत्यर्थः। अनन्तसखः शेषसहायः तदन्ते अनन्तभोगे शेते योगनिद्रारूढो भवति। यस्य पुंसो नाभिरेव सिन्धुः तस्मिन्[5] रुहं उद्भूतं काञ्चनमयं लोकात्मकं पद्मं तस्य गर्भे कर्णिकायां द्युमान् तेजस्वी ब्रह्मा भवति तस्मै भगवते तुभ्यं प्रणतोऽस्मि॥१४॥

एवं रूपं विशिष्य पुनः स्वरूपं विशिनष्टि - **त्वमिति** द्वाभ्याम्। ननु जीववत् ममाऽपि स्थूलसूक्ष्मशरीरवत्त्वे ततः कोविशेष इत्यत्राह - **त्वमिति**। त्वमकर्मायत्त स्वच्छोपात्ताप्राकृतदिव्यमङ्गलगुणास्पदविशिष्ट स्त्वं स्थितौ निमित्तभूतायां जगत्पालनार्थ मित्यर्थः, अधिमखः यज्ञाराध्यो यज्ञ फलप्रदश्च व्यतिरिक्तः प्रकृतिपुरुषविलक्षणः आस्से तिष्ठसि। अत्र अधिमख इत्यनेन स्थितावित्यनेन च "परित्राणाय साधूनाम्" (भ गी. 4-8) इत्युक्तरीत्या सर्वयज्ञाराध्यत्वाय साधुपरित्राणाय च त्वज्जन्म, न तु जीववत्कर्मायत्त मित्यवगम्यते। अव्यतिरिक्त इति च्छेदे प्रकृतिपुरुषविलक्षण एव ताभ्या मपृथक्त्वेनावस्थित इत्यर्थः। नन्वनन्त विचित्र स्थिरचरात्मकस्य जगतो धारणपोषण भोगाद्यात्मकं पालनं कथ मेकेन मया युगपत्कर्तुं शक्य मित्यत्राह। बुद्ध्यवस्थितं

1--1. A,B, T omit 2. A, B, T omit रूपे 3. A, B, T omit विषये 4. A, B, T omit न 5. A, B, T omit रुहं

बुद्धाववस्थितं विषयीभूतं सङ्कल्परूपज्ञानविषय मिति यावत्, अखण्डितया असङ्कुचितया स्वदृष्ट्या सङ्कल्परूपज्ञानेन द्रष्टा साक्षात्कर्तासि कृत्स्नस्य जगतः सर्वदेशकालावस्थास्वनिष्टनिरसनेष्टप्रापणात्मकपरिपालनोपयोग्यसङ्कुचित स्वकीय[1] सङ्कल्परूपज्ञानाश्रयोऽसीत्यर्थः । स्थिता वधिमजो व्यतिरिक्त इत्यपि पाठः । तत्र अजः प्रकृतिपुरुषगतस्वरूपान्यथाभाव स्वभावान्यथाभाव[2-2] रूपोत्पत्त्यादिरहितः, अत एव व्यतिरिक्तः प्रकृतिपुरुषाभ्यां विलक्षणः, स्थितावधिं व्यवस्थितावधिमत् स्थावरपर्यन्तं वा यत्तत् जगत्सर्व मखण्डितज्ञानेन साक्षात्कुर्वन् आस्से इत्यर्थः । एवं त्वं नित्यमुक्तः व्याप्यवस्तुगतदोषास्पृष्टः अनेना चिद्व्यावृत्तिः । अचिद्रव्यं हि अव्यक्तमहदादिकं स्वकार्येषु पृथिव्यादिषु व्याप्तं तद्गतदोषैः स्पृष्टम् । एवं जीवव्यावृत्तिश्च, जीवोऽपि देवादिशरीरेषु व्याप्तः परमार्थतस्तद्गतदोषै रस्पृष्टोऽपि अहम्ममाभिमानाभ्यां क्लिश्यतीति अनित्य[3] मुक्तः । त्वं तु नित्यमुक्त इति भावः । तत्र हेतुः विशुद्धः अकर्मवश्यः, नित्यमुक्तशब्दा त्परस्य सुपो लोप आर्षः कर्मधारयो वा, विशुद्धत्वेहेतुः परिबुद्धः असङ्कुचितज्ञानः, जीवो हि कर्मायत्तसङ्कोचविकास रूपावस्थावज्ज्ञानाश्रयो[4] न परिबुद्ध इति भावः । तत्र हेतुः कूटस्थः निर्विकारः स्वरूपतः स्वभावतोऽपि निर्विकार स्त्वं, जीवस्तु स्वभावतो विकारी । ननु नित्यमुक्तत्व परिबुद्धत्व विशुद्धत्वानि मुक्तेषु नित्यसिद्धेषु चातिव्याप्तानि तत्राह । आत्मा तेष्वन्तः प्रविश्य धारकः । न चात्मत्व मपि अतिप्रसक्तम् अत उक्तम् आदिपुरुषो भगवान् त्र्यधीश इति । आदिपुरुष इति कर्मधारयः । आदिशब्दस्य कारणवाची कारणं हि कार्यस्यादिः, जगत्कारणभूतः पुरुष इत्यर्थः । जगत्कारणत्वञ्च न मुक्तेषूपपन्नं, "जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणा दसन्निहितत्वाच्च, भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च (ब्र.सू.4-4-17) इति मुक्तेषु जगद्व्यापाराभावस्य सूत्रितत्वात् । भगवच्छब्देन समग्रषाड्गुण्य परिपूर्णत्व मुच्यते, तदप्यनतिप्रसक्तमेव । त्र्यधीशः त्रयाणां सत्त्वरजस्तमसां तत्परिणामरूपाणां त्रयाणां लोकानां वा अधीशः, इद मप्यनतिप्रसक्तमेवेति त्रिविधचेतनव्यावृत्तिः ॥ १५ ॥

**विज०** भवज्जना भगवद्भक्ताः तेषां मुखनिस्सृताया भगवत्कथायाः श्रवणलक्षणोपासनयेत्युक्तं तत्र भवज्जनस्य चरित लक्षण कथाश्रवणेने तीममर्थ मभिप्रेत्य भवज्जनसङ्गतौ भवत्कथासु श्रवणं सुलभं स्यादिति मत्वा तत्सङ्गतिं प्रार्थयते - **भक्तिं मुहुरिति** । येन प्रसङ्गेन भवाब्धिं नेष्ये तरिष्यामि न प्राप्स्यामीति वा । "इषु-गतौ इति धातुः" ॥ ११ ॥

भक्तानां लक्षण माह - **तेनेति** । ये स्वान् सुतसुहृद्गृह वित्तदारान् सम्पदः स्मरन्ति ते अतितरां प्रिय माद्य मीशं[5] त्वां न स्मरन्ति, हे अब्जनाभ ! ये भवदीय पदारविन्दसौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु भवद्भक्तेषु कृतप्रसङ्गा भवद्भक्तभक्ताः ते स्वान् सुतादीन् सम्पदो[6] न स्मरन्तीत्यन्वयः । अनेन श्रीहरिभक्तिरेव न भवाब्धिसन्तारिणी किन्तु तद्भक्तभक्तिरपि इति सूचितम् ॥ १२ ॥

---

1. B स्वस° 2--2. A, T omit 3. A, B, T न निं 4. A, B, T °भाक् भावरूपज्ञा° 5. A °श 6. A, B °दं

ब्रह्मादीना मपि त्वत्प्रसादात् ऋते त्वद्रूपदर्शन मसुकरं किमुत मादृशाना मिति भावेनाह - **तिर्यङ्नगेति**। हे अज ! अशेषं सर्वावयवोपपन्नं महदादि महत्तत्त्व मादि र्यस्य तत्तथोक्तं सता पृथिव्यादि भूतत्रयेणासता वाय्वादिभूतद्वयेन विशेषो यस्य तत्तथोक्तं स्थविष्ठं स्थूलतमं तिर्यगादिभिः विरचितं ब्रह्माण्डाख्यं रूपं वेद्मि, हे परम ! अतः स्थूलात्परं सूक्ष्मं रूपं न वेद्मि। अत्र हेतुगर्भविशेषण माहयत्रेति। वाच इत्युपलक्षणं वेदाभिमानिनो लक्ष्म्यादयो यत्र यद्विषयज्ञानवन्तो न भवन्ति, किमुक्तं भवति लक्ष्मीब्रह्माद्या अनुदिनं पश्यन्तोऽपि किञ्चिदनन्तत्वेन जानन्ति, किम्[1]वहं तदुक्तम् - "पश्यमानोऽपि तु हरिं न तु वेत्ति कथञ्चन। वेत्ति किञ्चित्प्रसादेन हरे रथ गुरो स्तथा॥ (ब्रह्मतर्के) "द्वे वा व ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च (बृह.उ. 2-3-1) "यतोवाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तैत्ति.उ. 2,4, 2-9) इत्यादिश्रुतेः॥ १३॥

सृष्टिसंहारकर्त्रो र्ब्रह्मरुद्रयोः लोकहृद्गतां विष्णुसमत्वशङ्कां निवर्तयितु माह - **कल्पान्ते** इति। अनन्तः सखा यस्य स तथोक्तः स्वदृक् स्वयं प्रकाशः पुमान् कल्पान्ते एतदखिलं जगत् जठरेणोदरेण गृह्णन् संहरन् तस्यानन्तस्याङ्के शेते, यस्य नाभिसिन्धुरुहं नाभिसरसो जातं तदेव काञ्चनं सुवर्णवर्णं लोकात्मकं पद्मं तस्य गर्भे द्युमान् अति द्युतिमान्[2] ब्रह्मा जात इति शेषः। अनेन रुद्रस्य संहर्तृत्वं ब्रह्मणः स्रष्टृत्वं च द्वारमात्र मिति ज्ञातव्यम्। एवं विधमाहात्म्यस्य हेर स्त्वया कि मुपक्रियत इति तत्राह भगवत इति॥ १४॥

पङ्के प्रवर्तमानस्य पङ्कलेप इव सृष्ट्यादौ प्रयतमानस्य हरे रनित्यत्वं दोषबद्धत्व मशुद्धत्वं च स्यादित्याशङ्क्य योगिनोऽपि दुर्भगशरीरस्थस्य तद्गतदुःखाद्यनुभवो नाऽस्ति किमुत नित्यस्य[3] नित्यमुक्तस्य नित्यशुद्धस्य अत एवाप्रतिहतबोधस्येति **भावेनाह - त्वं नित्येति**। किमेवम्भूतः परिच्छिन्न इति नेत्याह - आत्मेति। आततत्वा दात्मा, तर्हि तत्तत्पदार्थसम्बन्धेन तत्तद्धर्माः सङ्गम्यन्ते इत्यत उक्तं कूटस्थ इति। षड्विकारशून्यः एवंविधः कोऽय मत्राह - आदिपुरुष इति। आदीत्युपलक्षणं जगत आदा वन्ते च वर्तमानः पुरुषः पूर्णषड्गुणः श्रीनारायणः। पूर्णषड्गुणत्वं स्पष्ट माह भगवानिति। "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य" (वि.पु. 3-74) इति स्मृतेः। कुतोऽस्य समग्रैश्वर्य मवगम्यत इत्यत उक्तं त्र्यधीश इति। त्रयाणां लोकानां मुक्तामुक्तसंसारिणां वर्तमानादिकालानां वा जाग्रदाद्यवस्थानाम् ऋगादिवेदानां वा इत्यादि त्रित्वसंख्यावता मधीशः इन्द्रादि व्यावृत्यर्थं मधीश इत्युक्तम्। त्व[4-] मेवं विशिष्टः[-4] इति। यद्यस्मा त्तस्मात् अखण्डितया स्वबुद्ध्या स्वरूपज्ञानेनवधिं संसारस्यवधिभूतं बुद्ध्यवस्थितं बुद्धौ स्थितं त्वां दृष्ट्वा अवस्थिता ये पुरुषा स्तै स्सह अतोऽस्मात्प्रश्नाद्व्यतिरिक्त स्त्वमास्से इत्यन्वयः। "वष्टि भागुरि रल्लोप मवाप्यो रुपसर्गयोः" (सि.को.अष्टा. 2-4-82) इति वचना दल्लोपः प्रामाणिकः॥ १५॥

---

1. A, B, किन्त्व° 2. M, Ma द्युमन् 3. A omits नित्यस्य 4--4. A, B, तमेव विशिनष्टि

यस्मिन् विरुद्धगतयोऽप्यनिशं पतन्ति विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्यात्।
तद्ब्रह्म विश्वभव मेक मनन्तमाद्य मानन्दमात्र मविकार महं प्रपद्ये ॥ १६ ॥

सत्याशिषो हि भगवं स्तव पादपद्ममाशी स्तथाऽनुभजतः पुरुषार्थमूर्तेः
अप्येव मार्य भगवान् परिपाति दीनान् वाश्रेव वत्सक मनुग्रहकातरोऽस्मान् ॥ १७ ॥

मैत्रेय उवाच

अथाऽभिष्टुत एवं वै सत्संकल्पेन धीमता।
भृत्यानुरक्तो भगवान् प्रतिनन्द्येद मब्रवीत् ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच

वेदाऽहं ते व्यवसितं हृदि राजन्यबालक।
तत्प्रयच्छामि भद्रं ते दुराप मपि सुव्रत ॥ १९ ॥

नाऽन्यै रधिष्ठितं भद्र यद्धाजिष्णु ध्रुवक्षिति।
यत्र ग्रहर्क्षताराणां ज्योतिषां चक्र माहितम् ॥ २० ॥

श्रीध० तमेव ब्रह्मरूपेण ज्ञातं नमस्करोति - **यस्मि न्निति**। पतन्त्यकस्मात् उद्भवन्ति विश्वस्य भवो जन्म यस्मात्। एक मखण्डं आद्य मनादि ॥ १६ ॥

सकामभजना दपि मोक्ष माशासान आह - **सत्येति**। हे भगवन्! पुरुषार्थः परमानन्दः स एव मूर्ति र्यस्य तस्य तव पादपद्म माशिषो राज्यादेः सकाशात् सत्या आशीः परमार्थफलं हि निश्चितं यस्य तस्य तथा तेन प्रकारेण त्वमेव पुरुषार्थ इत्येवं निष्कामतया अनुभजतः, यद्यप्येवं तथाऽपि हे आर्य! स्वामिन्! दीनान् सकामानप्यस्मान् भगवान् भवान् परिपाति संसारभया द्रक्षत्येव। यतः अनुग्रहे हिताचरणे कातरः परवशः यथा वाश्रा नवप्रसूता धेनुः वत्सं क्षीरं पाययति वृकादिभ्यो रक्षति च तद्वत् ॥ १७, १८ ॥

---

1. J नि° 2. W म° 3. A, B, G, I, J, T ह्या° 4. M, Ma, Ms °र्व्या 5. M, Ma °मविश्व° 6. M, Ma, Ms मूल° 7. M, Ma, Ms °मशिष्टयोऽनु 8. A, G, I, J, T वाश्रेव; V उश्रेव 9. Ms श्री वैकुण्ठः 10. M, Ma, Ms भूयसाम् 11. B, J, V, Va omit जन्म 12--12. A, B, J, V कस्य 13. A, J, V, Va अन्वनु 14. Va omits भवान् 15. B omits यथा 16. A, J, Va वाश्रा V उश्रा 17. B omits प्र

वेदेति। व्यवसितं सङ्कल्पितम्॥ १९॥

तत्प्रयच्छामीत्युक्तं किं तत् ? इत्यपेक्षाया माह - **नान्यैरिति** सार्धद्वाभ्याम्। हे भद्र ! ध्रुवा क्षितिः निवासो यस्मिन्। यत्र यस्मिन् आहित मर्पितम्॥ २०॥

**वीर०** ननुकथ मचेतनेषु चेतनेषु[1] च अवस्थितस्यापि तद्गतदोषास्पर्शः, न चाकर्मवश्यत्वा दुपपत्तिः पुण्यापुण्यसजातीय चेष्टितानि कुर्वतः तदवश्यत्वानुपपत्ते रित्यत्राह - **यस्मिन्निति**। विरुद्धमतयः विरुद्धा मति र्यासु ता आश्रयान्तरेषु सामानाधिकरण्यानर्हा विद्यादयो ज्ञानादयः विविधाः शक्तयः आनुपूर्व्यात्क्रमेण यस्मिन्पतन्ति आविर्भवन्ति, शक्तिर्हि कार्योपयोग्यपृथक्सिद्धविशेषणं तत्र सृष्टिस्थित्यन्तः प्रवेश नियमनसंहारादीनां क्रमिकत्वेन पौर्वापर्यात् तदुपयुक्तशक्तीना मपि तद्द्वारा पौर्वापर्य मत्र विवक्षितं, सर्वदा सर्वशक्ते स्तस्य क्रमेण शक्त्याश्रयत्वायोगात्। एवं च सर्वशक्ते स्तस्य सर्वमुक्त मुपपन्न मिति भावः। उक्ताकारं ब्रह्म जगत्कारणत्वेन लक्षणेन लक्षयन् सङ्गहेण तत्स्वरूपमपि शोधयन् शरणं व्रजति तदिति। तद्ब्रह्म विश्वभव मेक मित्यनेन ''यतो वा इमानि भूतानि'' (तैत्ति.उ. 3-1) इति वाक्यं स्मारितम्। अविकार मानन्दमात्र मनन्तमिति पदत्रयेण ''सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म'' (तैत्ति.उ. 2-1-1) इति वाक्यं स्मारितम्। तत्र हि जन्मादिवाक्ये जगत्कारणत्वेनोपलक्षितस्य ब्रह्मणः स्वरूपं सत्यादिवाक्ये शोधितम्, एव मत्राऽपि। तथा हि विद्यादयो विविधशक्तय इत्यनेन सृष्ट्याद्युपयुक्ताः ''परास्य शक्ति र्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च (श्वेता.उ. 6-8) इत्युक्तशक्तीना मभिधानेन जगज्जन्मा दयोऽप्युपस्थापिताः। सर्वशक्तिमत्त्वेन प्रसिद्धं ब्रह्म यस्मिन्निति यच्छब्देनानूद्योपस्थितानां जन्मादीनां लक्षणत्व मुच्यते विश्वभव मिति। भवत्यस्मादिति भवं विश्वस्य भवं विश्वभवं विश्वोत्पत्तिकारण मित्यर्थः। एकशब्देनोपादानत्व[2] निमित्तत्वे[3] स्थितिसंहारकारणत्वे[4] चैकस्यैवेति विवक्षितम्। तद्ब्रह्मेत्यनेन ''अधीहि भगवो ब्रह्म'' (तैत्ति.उ. 1 to 5) इत्युपक्रमे पृष्टस्य प्रतिवचनत्वसमर्थकं ''तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म'' (तैत्ति.उ. 3-1) इति वाक्यं स्मारितम्। एवं जगत्कारणत्वेनोपलक्षितं ब्रह्म स्वरूपतो लक्षयति अविकारमिति। अनेन सत्यपदं स्मारितम्। तेन हि सततपरिणामिनोऽचेतना त्तत्संसृष्टा च्चेतनाच्च वैलक्षण्य मुक्तम्। एव मत्राऽप्यविकारपदेन आनन्दमात्रं[5-] दुःखासंभिन्नज्ञानमात्रं[-5] मात्रचा क्राऽपि जडत्वव्यावृत्तिः। अनेन ज्ञानपदं स्मारितम्। अनुकूलज्ञान मेव हि आनन्दः श्रौतस्यापि ज्ञानपदस्यानन्दरूपज्ञानपर्यवसानत्व द्योतनायानन्दशब्दः प्रयुक्तः। अनेनानन्दपदेन नित्यासङ्कुचितानुकूलज्ञानाश्रयत्वं विवक्षितम्। तेन मुक्तचेतन व्यावृत्तिः, ते हि बद्धदशायां सङ्कुचितज्ञानत्वेन न नित्यासङ्कुचितज्ञानाः; अनन्तपदेन देशकालवस्तुपरिच्छेदराहित्यं विवक्षितम्, अनेन नित्यसिद्धव्यावृत्तिः। तेषां स्वरूपस्याणुपरिमाणत्वेन अनन्तत्वाभावात्।

---

1. A, T omit चेननेषु 2. A, B, T °त्वं 3. A, B, T °त्वं 4. A, B, T °त्वं 5--5. A, B, T omit

तत्र देशपरिच्छेदो नाम इद मत्र न भवतीति, कालपरिच्छेदो नाम इद मिदानीं न भवतीति एवंरूपः एतद्द्वयरहितम्। [1]वस्तु परिच्छेदो नाम सर्ववस्तुसामानाधिकरण्[2]यानर्हत्वम्, एवम्भूतं ब्रह्माऽहं प्रपद्ये शरणं गतोऽस्मि॥ १६॥

एवं ब्रह्मस्वरूपगुणान् विशोध्य तं प्रपद्य एतद्भजनस्य फलाविनाभाव[3] माविष्कुर्वन् वात्सल्यनिधे स्तस्याभिमतार्था दप्यति शयितपुरुषार्थप्रदत्व माह - **सत्याशिष** इति। हे भगवन् सत्याशिषः आशिषः सत्याः क्रियन्ते येन स सत्याशीः तस्य पुरुषार्थमूर्तेः स्वयं पुरुषार्थभूत[4]स्वरूपस्य तव पादपद्मं यथा आशीः तथा इच्छानुरूप मित्यर्थः। अनुभजतोऽत एव दीनान् त्रिवर्गनिष्ठा न प्येवम्भूतान् अस्मात् अनुग्रहकातरः अनुग्रहैकविवशः भगवान् षाडगुण्यपरिपूर्णः भवान् वत्सकं स्वार्थे कः वास्रेव नवप्रसूता धेनु रिव, हे आर्य! स्वामिन् परिपाति अभिमतप्रदानेन परिपाति। परीत्युपसर्गेण सर्वतः पाति संसारभयाच्च पातीत्यय मर्थो विवक्षितः॥ १७॥

स्तुति मुपसंहरति - **अथेति**। सत्संकल्पेन दृढसङ्कल्पेन धीमता ध्रुवेणैव मभिष्टुतः स्तुतः अनन्तरं भक्तेष्वनुरक्तो निरतिशय-प्रीतिमान् भगवान् प्रतिनन्द्य स्तुति मिति शेषः इदं वक्ष्यमाण मब्रवीत्॥ १८॥.

[5]उक्ति मेवाह - **वेदेति**। हे राजन्यबालक! ते त्वया हृदि व्यवसितम् अभिमतविषयत्वेन निश्चितम् अहं वेद जानामि, तत् त्वया व्यवसित मितरै र्दुरापं दुर्लभ मपि हे सुव्रत! ते तुभ्यं प्रयच्छामि ददामि॥ १९॥

व्यवसित मेव प्रपञ्चयति - **नाऽन्यै**रिति सार्धद्वयेन। हे भद्र! ध्रुव! [6]ध्रुवा शाश्वती क्षिति र्वासो यस्मिन् भ्राजिष्णु दीप्तिमत् अन्यैः अनधिष्ठितं यत्र स्थाने ज्योतिषां ज्योतीरूपाणां ग्रहादीनां चक्र माहित मर्पितम्॥ २०॥

**विज०** अघटित घटनाशक्तिमत्त्वा दय मेवा भीष्टसिद्धये प्रार्थनीय इत्याह - **यस्मिन्निति**। विरुद्धगतयो लोके विरुद्धविषया विद्यादयो विविधशक्तयः स्थूलत्वमणुत्वं ह्रस्वत्व मित्यादयो यस्मिन् हरा वनिशं पतन्ति वर्तन्ते। तत्र प्रमाण माह - आनुपूर्व्येति। "आनुपूर्वी श्रुतिश्चैव त्रयी चाम्नाय उच्यते" इत्यभिधानात्। "विचित्रशक्तिः पुरुषः पुराणः, अस्थूल मनण्वह्रस्वम्" इत्यादिकया श्रुत्या सिद्ध मित्यर्थः। अहं तद्ब्रह्म शरणं प्रपद्य इत्यन्वयः। जगत्कारणम् [7]एव ब्रह्माऽत्र विवक्षितं न जीव इति भावेनाह विश्वभवमिति। विश्वस्य भव उत्पत्ति र्यस्मात् तत्तथा। नैतल्लक्षणं परमाणुष्वतिव्याप्त मित्याह - एक मिति। परमाणूना मनेकत्वा दिदमेव मुख्यं कारण मित्यर्थः। कारणत्वं मृद्वन्नेत्याह - अविश्वमिति। जगतोऽन्यत् अनन्तमिति पाठे जीवाश्रितं कर्म कारण मस्ती त्याशङ्क्य कर्मणः क्षणभङ्गुरत्वेनाऽनित्यत्वात् अचेतनत्वाच्च कारणत्वानुपपत्तिरित्यर्थः। विश्वस्याद्यन्तवत्त्वेनानित्यत्वादस्य तदभावा त्कारणत्वं युक्त

1. A, B, T वस्त्व° 2. A, B, T °ण्यार्ह 3. A, B, T भूतत्व° 4. W omits स्व 5. A, B, T उक्त° 6. W omits ध्रुवा 7. A omits एव

मित्याह - आद्यमिति। आद्यमित्यु पलक्षणं विश्वस्यादावन्ते च भवतीति अनाद्यनन्तत्वं प्रधानस्यास्तीत्यत उक्तम् - आनन्दमात्रमिति। इतोऽपि प्रधानस्य कारणत्व मनुपपन्न मित्याह - अविकार मिति॥ १६॥

इतरदेवतानुग्रहा त्त्वदनुग्रह एवाभीष्ट फलप्राप्ति हेतु रित्याह - **सत्याशिष** इति। पुरुषार्थमूर्तेः आनन्दानुभवरूपस्य तव पादमूल मनुभजतः पुरुषस्याऽऽशिष्टयः आचार्यशिष्टाः सत्याशिषो यथार्थशुभफलप्रदा ह्येव, एवमपि तथाऽपि आर्य ! पूज्य[1] ! अनुग्रहकातरो भवान् दीनानस्मान् शिष्यान् विशिष्ट फलप्राप्तये पुनः वाम्रेव नवप्रसूता गौरिव वत्सं परिपातीत्यन्वयः। ''वाम्रेव विद्युन्मिमाति वत्सं न माता सिषक्ति'' (ऋक्सं. 1-38-8) इति श्रुतिः॥ १७॥

सत्सङ्कल्पेन ''सत्सत्येऽभ्यर्हिते श्रेष्ठे साधीयसि भवत्यपि'' (वैज.को. 8-4-16) इति यादवः॥ १८॥

भूयसां महतां योगिना मपि दुराप मित्यनेनायोग्यानामेव दुष्प्रापं न तु योग्यानां, तेषां साधनसामग्र्या सुलभत्वादित्यर्थः॥ १९॥

सूच्यत इत्युत्तरग्रन्थेन ज्ञायत इति भावेन विशिनष्टि - नाऽन्यैरिति। ध्रुवा नित्या क्षिति र्निवासो यस्मिं स्तत्तथोक्तम्॥ २०॥

**मेध्यां[2] गोचक्रवत्स्थास्नु परस्ता[3] त्कल्पवासिनाम्।**
**धर्मोऽग्निः कश्यपः शक्रो[4] मुनयो ये वनौकसः।**
**चरन्ति दक्षिणीकृत्य भ्रमन्तो यत्सतारकाः[5]॥ २१॥**

**प्रस्थिते तु वनं पित्रा दत्वा[6] गां धर्मसंश्रयः।**
**षड्विंशद्वर्षसाहस्रं रक्षिताऽव्याहतेन्द्रियः[7]॥ २२॥**

**त्वद्भ्रातर्युत्तमे नष्टे मृगयायां तु तन्मनाः।**
**अन्वेषन्ती[8] वनं माता दावाग्निं[9] सा प्रवेक्ष्यति॥ २३॥**

**इष्ट्वा मां यज्ञहृदयं यज्ञैः पुष्कलदक्षिणैः।**
**भुक्त्वा चेहाशिषः सत्या अन्ते माऽनुस्मरिष्यसि[10]॥ २४॥**

**ततो गन्तासि मत्स्थानं सर्वलोकनमस्कृतम्।**
**उपरिष्टा दृषिभ्य स्त्वं यतो नाऽवर्तते यतिः[11]॥ २५॥**

---

1. B, M मूज्यः 2. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T मेद्ध्यां 3. M, Ma पु° 4. A, B, G, I, J, T शु° 5. M वत्स 6. M, Ma दतां
7. A, B, G, I, J, T षट्त्रिंश 8. M, Ma °षती; Ms, V °ध्यन्ती 9. W द° 10. A, B, G, I, J, T मां सं° 11. A,B, G, I, J, V गतः; T ततः

**श्रीध० मेढ्या**मिति। धान्याक्रमणाय भ्राम्यमाणानां पशूनां बन्धनस्तम्भो मेढी, तस्यां बलीवर्दसमूहवत्, अवान्तरकल्प वासिनां परस्तादपि स्थास्नु लोकत्रयनाशेऽप्यनश्वरम्। धर्माग्न्यादयो नक्षत्ररूपाः वनौकसः सप्तर्षयो यत्प्रदक्षिणीकृत्य भ्रमन्तश्चरन्ति॥ २१॥

एतच्च राज्यानन्तरं भविष्यतीत्याह - **प्रस्थित** इति। तुभ्यं पृथ्वीं दत्वा वनं प्रस्थिते। भावे क्तः। वनं प्रति दीर्घगमने कृते सति [1-]धर्मसंश्रयः राजधर्मं समाश्रयन्नित्यर्थः। अव्याहतानि अविरुद्धार्थसेवीनि इन्द्रियाणि यस्य गां पृथ्वीं[-1] रक्षिता रक्षिष्यसि॥ २२॥

त्वया असङ्कल्पितमपि मद्भक्तस्य तव द्रोहा देवं भविष्यतीत्याह - त्वद्भ्रातरीति। सा सुरुचिः [2]दावाग्निं [3]वनवह्निं प्रवेक्ष्यति॥ २३॥

**इष्ट्वेति**। किञ्च [4]त्वमिष्ट्वा माम्। यज्ञो हृदयं प्रिया मूर्तिर्यस्य तम्॥ २४॥

**तत** इति। यतः स्थानात्॥ २५॥

**वीर०** धान्याक्रमणाय भ्राम्यमाणानां पशूनां बन्धनस्तम्भो मेढिः। तस्यां गोचक्रवद्बलीवर्दसमूहवन्निहितमित्यर्थः। कल्पवासिनामवान्तरकल्पवासिनां परस्ता दपि स्थास्नु लोकत्रयनाशेऽप्यनश्वरं धर्माग्न्यादयो नक्षत्ररूपाः वनौकसो मुनयः सप्तर्षयः यत्प्रदक्षिणीकृत्य भ्रमन्त श्चरन्ति॥ २१॥

तत्स्थानं राज्या दनन्तरं प्राप्स्यसीत्याह - **प्रस्थित** इति। तुभ्यं गां पृथिवीं दत्वा पित्रा उत्तानपादेन वनं प्रस्थिते इति भावे क्तः। वनं प्रति गमने सति धर्मसंश्रयः वर्णाश्रमधर्मपरिपालकः भवान् [5]षट्विंशद्वर्षसाहस्रं वर्षाणां सहस्राणि ततः समाहारे द्विगुः, अव्याहतेन्द्रियः अविहतेन्द्रियः रक्षिता रक्षिष्यति गामित्यनुषङ्गः॥ २२॥

त्वयाऽसङ्कल्पित मपि मद्भक्ते त्वयि द्रोहादेवं भविष्यतीत्याहैकेन **त्वद्भ्रातरीति**। उत्तमाख्ये त्वद्भ्रातरि मृगयायां नष्टे सति, तस्मिन् उत्तमे मनो यस्याः सा माता सुरुचिः वनं [6-]प्रत्यन्वेषन्ती[-6] [7]दवाग्निं प्रवेक्ष्यति॥ २३॥

किञ्च यज्ञहृदयं यज्ञस्य हृदयं तात्पर्यभूमिं यज्ञाराध्यमित्यर्थः। मां यज्ञानां प्रभुं पुष्कलदक्षिणैः [8-]समग्रदक्षिणैः यज्ञैः[-8] इह राज्ये सत्याः दृढसंकल्पजाः आशिषः इच्छाविषयान् भुक्त्वा अनुभूय अन्ते भोगानन्तरं [9]मा [10]माम् अनुस्मरिष्यसि॥ २४॥

ततः सर्वै र्लोकैः सप्तर्षिपर्यन्तैः नमस्कृत[11]मत्स्थानं मदनुग्रहाल्लब्धं [12]स्थानं गन्तासि प्राप्स्यसि। स्थानं विशिनष्टि - [13]सप्तर्षिभ्य

---

1--1. B, J, V, Va omit 2. V omits दावाग्नि° 3. B, J, V, Va omit वनवह्निं 4. B, J, V, Va omit त्वम् 5. A, B, T षट्त्रिंश° 6--6. A, B, T प्रविश्य 7. A, B, T दा° 8--8. A, B, T omit 9. W omits मा 10. A, B, T omit माम् 11. A, T omit मत्स्थानं 12. W omits स्थानं 13. W omits सप्त

उपरिष्टात् स्थितं यतिः मनः प्रयतनशीलः गत्वा यतः स्थानात् पुनः नाऽवर्तते नाऽवागवरोहति, अपि तु ततो वैकुण्ठ मेव यातीत्यर्थः ॥ २५ ॥

**विज० मेढीति**। तिलपीडोलूखलं कल्पलयेऽपि लयो नास्ती त्याशयेनाऽऽह - स्थास्न्विति। अनेन ध्रुवक्षिती त्यस्य अर्थविशेषो दर्शितः, पुरस्ता दग्रे धर्मादयो यत्स्थानं प्रदक्षिणीकृत्य चरन्ति त त्तुभ्यं दास्यामीत्यन्वयः। वनौकसो वानप्रस्थाः ॥ २१ ॥

सिंहासनाधिपति रपि भूयादिति भावेनाह - **प्रस्थित** इति। गां भूमिम् ॥ २२ ॥

उत्तमे भ्रातरि सति कथं सिंहासनाप्तिरिति तत्राह - **त्वद्भ्रातरीति**। तस्मिन्नेव मनो यस्याः सा तन्मनाः वन मन्वेषती मार्गमाणा, अनेन तन्मातृभय मपि प्रत्युक्त मिति ज्ञायते ॥ २३ ॥

पुष्कलदक्षिणैः "पुरुषं पुष्कलं पूर्णम्" इति हलायुधः। अनेन यज्ञाना मुत्तमकल्पत्वं ध्वनयति। माऽनुस्मरिष्यसी[1] त्यनेन सर्वदा स्मरन्नपि मरणकाले विशेषतो मत्स्मरणं कुर्विति विधत्ते एष्यदर्थत्वा दुभयो रिति ॥ २४ ॥

ततः कि मत्राह - **तत** इति। यतो नाऽवर्तते यतिरित्यनेन ध्रुवस्य मुक्ते र्नियतत्वं ध्वनयति ॥ २५ ॥

**मैत्रेय उवाच**

**इत्यर्चितः स भगवानतिदिश्याऽऽत्मनः[2] पदम्।**
**बालस्य पश्यतो धाम स्व[3] मगा द्गरुडध्वजः ॥ २६ ॥**

**सोऽपि सङ्कल्पजं विष्णोः पादसेवोपसादितम्[4]।**
**प्राप्य सङ्कल्पनिर्वाणं नाऽतिप्रीतोऽभ्यगात्पुरम् ॥ २७ ॥**

**विदुर उवाच**

**सुदुर्लभं यत्परमं पदं हरे र्मायाविन स्तच्चरणार्चनार्जितम्।**
**लब्ध्वाऽप्यसिद्धार्थ मिवैकजन्मना कथं स्वमात्मान ममन्यताऽऽत्मवित्[5] ॥ २८ ॥**

---

1. A, B मामनु° 2. M, Ma, Ms सृज्याऽऽ° 3. M, Ma जगाम ग°, V स्वमयाद्र° 4. Ms °पा° 5. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T, V °ताऽर्थवित्

**मैत्रेय उवाच**

**मातु स्सपत्न्या वाग्बाणै र्हृदि विद्धस्तु तान् स्मरन्।**
**नैच्छन्मुक्तिपते र्मुक्तिं[1] पश्चात्ताप[2] मुपेयिवान्॥ २९॥**

**ध्रुव उवाच**

**समाधिना[3] नैकभवेन यत्पदं विदुः सनन्दादय[4] ऊर्ध्वरेतसः।**
**मासै रहं षड्भि रमुष्य पादयो श्छाया मुपेत्यापगतः[5] पृथङ्मतिः॥ ३०॥**

**श्रीध० इतीति**। अतिदिश्य दत्वा॥ २६॥

**स** इति। सङ्कल्पजं मनोरथम्। पादसेवया प्रापितं[6] प्राप्य। सङ्कल्पस्य निर्वाणं समाप्तिः यस्मात्॥ २७॥

**सुदुर्लभ** मिति। मायाविनः सकामस्य यत्सुदुर्लभं हरेः पदं तदेकेनैव जन्मना लब्ध्वाऽपि स्वमात्मानं मनोऽसिद्धार्थमप्राप्तमनोरथ मिव कथ ममन्यत ? पुरुषार्थविदपि॥ २८, २९॥

ताप मेवाह - **समाधिनेति** सार्धैः षड्भिः। नैके अनेके भवा यस्मिन् तेन[7-] अनेकभवेन[-7] बहुजन्माभ्यस्तेन समाधिना[8] इत्यर्थः। प्रणाम स्तुत्यादिसमये गुरुडाधिरूढस्य हरेः पादच्छायायां स्थित मात्मानं स्मरन्नाह छाया मुपेत्येति। पृथङ्मतिः भेददृष्टि स्सन्। हा कष्टमिति भावः॥ ३०॥

**वीर०** भगवदुक्ति मुपसंहरन् भगवान् तिरोदधे[9] - इत्याह मैत्रेयः[10]। इति उक्तप्रकारेण अर्चितः आराधितो भगवान् आत्मनः पदं स्थानं अतिदिश्य दत्वा बालस्य ध्रुवस्य पश्यतः सतः गरुडध्वजो गरुडवाहनः तदङ्कितध्वजश्च भगवान् स्वं धाम वैकुण्ठस्थान मगात् प्रत्यपद्यत[11]॥ २६॥

सोऽपि ध्रुवोऽपि विष्णोः पादसेवया उपसादितं प्रापितं सङ्कल्पजं तपश्चर्यारम्भे फलसङ्कल्पाज्जातं[12] सङ्कल्पनिर्वाणं सङ्कल्पस्य निर्वाणं समाप्ति र्यस्मिन्। कृतकसुखं न तु स्वाभविकानन्दाविर्भावरूपमिति[13] भावः। प्राप्याऽपि नाऽतिप्रीतः नितरा महृष्टचित्तः पुर मगात्॥ २७॥

---

1. W °प्रदानु° 2. A, B, G, I, J, M, Ma, T, V तस्मात्ता° 3. M, Ma, Ms °नाऽनेक 4. J, W सु° 5. M, Ma, Ms हतः 6. B, J, V, Va omit प्राप्य 7--7. A, B, J, Va omit 8. A, B, J, Va omit समाधिना 9. A, T तिरोऽदधात् 10. A, B, T मुनिः 11. A, B, T प्रापद्यत 12. A, B, T omit सङ्कल्पा जातं 13. A, B, T °वं प्रा°

अनतिप्रीतिकारणं पृच्छति विदुरः - **सुदुर्लभमिति**। मायाविनः[1] मायाधिपतेः सम्बन्धि तेन दत्त मित्यर्थः। इतरैः सुदुर्लभम् अतिदुःखेनाप्यलभ्यं यत्पदं स्थानं तस्य[2] भगवतः चरणार्चनेनाऽऽर्जितं सम्पादितं तत्स्थानम्, एकजन्मना लब्ध्वाऽपि द्वितीये शरीरे असत्येव लब्ध्वे त्यर्थः। आत्मवित्[3] ध्रुवः[3] स्व मात्मान मसिद्धार्थ मिव अपरिपूर्णार्थमिव कथ ममन्यत॥ २८॥

मुक्त्यर्थं भगवदनाराधन मेवाप्रीतिकारणमिति वदन् तस्य परिताप माह ऋषिः मातुरिति। सपत्न्या मातुः सुरुचे र्वाच एव बाणाः ते हृदि विद्धः जातव्यथः तान् वाग्बाणान् स्मरन् मुक्तिप्रदान् भगवतः मुक्तिं नैच्छत्। तत्प्रयुक्तं पश्चात्ताप मुपेयिवान् प्राप्तः॥ २९॥

पश्चात्तापविषयां ध्रुवोक्ति माह - **समाधिनेति** सार्धैः षड्भिः। ऊर्ध्वरेतसो जितेन्द्रियाः सुनन्दादयः नैकभवेन नैके अनेके भवा यस्मिन् बहुजन्मना अभ्यस्तेने त्यर्थः। समाधिना यस्य भगवतः पदं स्वरूपं विदुः साक्षात्कृतवन्तः अमुष्य भगवतः पादयोः छाया महं षड्भि रेव मासै रुपेत्याऽपि प्रणामस्तुत्यादिसमये गरुडारूढस्य हरेः पादच्छायायां स्थित्वाऽपीत्यर्थः। पृथङ्गतिः देहात्माभिमानस्वतन्त्राभिमानग्रस्तः अपगतः भगवत्पादच्छायायाः सकाशात् दूरीकृतः॥ ३०॥

**विज०** अतिसृज्य दत्वा॥ २६॥

सोऽपि ध्रवोऽपि सङ्कल्पजं सङ्कल्पा ज्जातं विष्णोः पादसेवयोपसीदितं प्राप्तं सङ्कल्पनिर्वाणं प्रतिज्ञाफलं प्राप्य॥ २७॥

विदुरो मुक्ते रितरेषु पुरुषार्थेषु विरक्तेन भाव्यमिति जानन्नपि तत्प्रकटनाय पृच्छति - **सुदुर्लभ** मिति। मायाविनो भक्ताभीष्ट फलप्रदानसामर्थ्यवतः असिद्धार्थ मसाधितप्रयोजनं अर्थवित् तत्तत्कालोचितप्रयोजनं वेत्तीति॥ २८॥

विदुषोऽपि[4] सांसारिको निर्बन्धो दुस्त्यज इति भावेन त च्चोद्यं परिहरति - **मातुरिति**॥ २९॥

अनेकभवेनेति भवपद मावृत्य व्याख्येयं, तथा हि अनेकेषु भवेषु जन्मसु भवति समुत्पद्यते इति तेनाऽमुष्य हरेः पादयो श्छायां प्राप्य पृथङ्गतिः विषयबुद्धित्वादपहतः तिर्यक्ताडित इवाऽभूवम्॥ ३०॥

***अहो बत ममानात्म्यं मन्दभाग्यस्य पश्यत।**
**भवच्छिदः पादमूलं गत्वा[5] याचे[6] यदन्तवत्॥ ३१॥**

---

1. A, B, T omit मायाविनः  2. A, B, T omit तस्य  3--3. A, B, T omit  4. A, B °षा°

* W Reads - तत्पश्यत ममानात्म्य महो शोच्यं वतेति यत्।
गत्वा भवच्छिदः पादमूलं याचेऽन्तवत्फलम्॥ ३१॥  5. J नत्वा  6. M, Ma त°

**मति र्विदूषिता देवैः पतद्भि रसहिष्णुभिः।**

**यो नारदवच स्तथ्यं नाऽग्रहीष मसत्तमः॥ ३२॥**

***दैवीं माया मुपाश्रित्य प्रसुप्त इव भिन्नदृक्।**

**तप्ये द्वितीयेऽप्यसति भ्रातृ-भ्रातृव्यहृद्रुजा॥ ३३॥**

**मयैतत्प्रार्थितं व्यर्थं चिकित्सेव गतायुषि।**

**प्रसाद्य जगदात्मानं तपसा दुष्प्रसादनम्।**

**भवच्छिद मयाचेऽहं भवं भाग्यविवर्जितः॥ ३४॥**

**स्वाराज्यं यच्छतो मौढ्यान्मानो मे भिक्षितो बत।**

**ईश्वरात् क्षीणपुण्येन फलीकारा निवाधनः॥ ३५॥**

श्रीध० अहो इति। अनात्म्यम् आत्मशून्यत्व मज्ञत्व मिति यावत्। भवच्छेत्तुः भवत्तः यदन्तवत् अनित्यं तदयाचे याचितवानस्मि॥ ३१॥

अज्ञत्वे कारणं सम्भावयति - **मतिरिति**। पतद्भिः मदपेक्षयाऽधः स्थानं प्राप्नुवद्भिः अत एव असहिष्णुभिः असहनशीलैः "नाऽधुनाऽप्यवमानं ते" (भाग. 4-8-27) इत्यादि सत्यमपि नारदस्य वचो यो न गृहीतवानस्मि तस्य मे मतिः विदूषिता॥ ३२॥

किञ्च **दैवी मिति**। प्रसुप्तः स्वप्नानिव पश्यन् द्वितीयेऽसत्यपि भ्रातैव भ्रातृव्यः शत्रुरिति दृष्ट्या हृद्रुजा हृदय गत शोकेन तप्ये ताप मनुभवामि॥ ३३॥

**मयेति**। किञ्च मया प्रसाद्य यत्प्रार्थित तद्व्यर्थम्॥ ३४॥

---

1. M, Ma, Ms य° * दैवीं गुणमयीं माया मुपाश्रित्य दुरत्ययाम्। असत्यपि द्वितीयेऽत्र प्रसुप्त इव भिन्नदृक्। भ्रातृ भ्रातृव्येऽतिरुजा तप्येऽहमपि हृद्रुजा॥ मया प्रसाद्य तपसा दुष्प्रसादं भवच्छिदम्। याचेऽहं जगदात्मानं भावं भाग्यविवर्जितः॥ स्वराज्यं यच्छतो मानः केवलं मेऽभिभिक्षितः॥ निर्धन क्षीणपुण्येन पुलीकारा निवेश्वरात्॥

2. M, Ma, Ms तादात्म्यं 2. M, Ma, Ms मनो 4. M, Ma, Ms °तं 5. M, Ma, Ms पुलकानिव चा धनः 6--6. A, B, J, Va omit 7. A, B, J, Va omit भवत्तः 8. A, B, J, Va omit अनित्यं 9. B, J, V, Va omit स्थानं 10--10. A, B, J, Va omit 11. A, B, J, Va omit गत

एतदेव सदृष्टान्त माह - **स्वाराज्य** मिति। स्वाराज्यं निजानन्दं प्रयच्छतः सकाशात् मानः[1] अभिमानः क्षीणपुण्येन मया भिक्षितो याचितः। क्षीणेन पुण्येनेति वा दृष्टान्त एव सम्बन्धः। यथाऽधनः क्षीणपुण्यतया[2-2] ईश्वरात् चक्रवर्तिनः फलीकारान् सतुषतण्डुलकणान् याचते तद्वत्॥ ३५॥

**वीर०** अनात्मा देहः तस्य कर्म अनात्म्यं दौर्जन्य मित्यर्थः। तत् पश्यत तच्छोच्य मिति। अहो बतेति आ कष्ट मिति भावः। शोककारणं व्यनक्ति यत् यस्मात् भवच्छिदः गर्भजन्मजरामरणा[3]द्यात्मक संसार भयनिवर्तकस्य भगवतः पादमूलं गत्वा साक्षात्कृत्य अन्तवत् फलं याचे याचितवान्, न तु नित्य[4]निरतिशयानन्दापहतपाप्मत्वादि गुणाष्टकाविर्भाव पूर्वक ब्रह्मानुभवात्मकानन्द मिति भावः॥ ३१॥

स्वस्याऽल्पास्थिर सांसारिकभोगयाञ्चाकारणं निश्चिनोति - **मतिरिति**। पतद्भिः स्वस्य भोगान्ते स्वर्गात्पतद्भिः पतनशीलैः अत एवासहिष्णुभिः मदपेक्षयाऽधः पदप्राप्तत्वात् परसमृद्धि मसहिष्णुभिः देवैः मम मतिः बुद्धिः विदूषिता सांसारिकभोगलौल्यसम्पादनेन दोषं प्रापिता। स्वदौर्जन्य मेव व्यञ्जयन् परितपति योऽह मसत्तमः दुर्जनः अत एव नारदवचः "विकत्थे विद्यमानेऽपि न ह्यसन्तोषहेतवः" (भाग. 4-8-28) इत्यादिनोक्तं वचः तथ्यं नाऽग्रहीषं न गृहीतवान्॥ ३२॥

प्रसुप्त इव[5] अह मपि दैवीं गुणमयीं दुरत्ययां माया मुपश्रित्य[6] अत एव भिन्नदृक् देहात्माभिमानस्वतन्त्रात्माभिमानी द्वितीये अब्रह्मात्मकस्वतन्त्रवस्तुन्यसत्यपि भ्रातैव भ्रातृव्यः शत्रुरिति या रुक् रोगः तया तप्ये ताप मनुभवामि॥ ३३॥

किञ्च, मया यत्प्रार्थितं तद्व्यर्थमित्याह - **मयेति**। दुःखेनाऽपि प्रसादयितु मशक्यं भवच्छिदं जगदन्तरात्मानं तपसा प्रसाद्य भवं संसार मेव याचे याचितवानस्मि। हेति खेदे, यतोऽहं भाग्यविवर्जितः दुर्भगः॥ ३४॥

[7]दौर्भाग्य मेव सदृष्टान्तं व्यनक्ति। स्वाराज्यं स्वराट् अकर्म्मवश्य स्तस्य भावः स्वाराज्यं "स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" (छान्दो.उ. 7-25-2) इत्युक्तम्। मुक्तैश्वर्यं यच्छतो ददतो भगवतः सकाशात् केवलं मे मया मानः अभिमानः अभिभिक्षितः याचितः, निर्धनः क्षीणं च तत्पुण्यं तेन ईश्वरात् सार्वभौमात् फलीकारानिव सतुष तण्डुलकणानिवेति दृष्टान्तः॥ ३५॥

**विज०** राजभटादिना ताडितस्येव तस्य पश्चात्तापोद्रेकं वक्ति - **अहो बतेति**। अनात्म्यं जाड्यम्। अन्तवदित्यनेन

---

1. A, B, J, Va omit 2--2. A, B, J, Va omit न 3. A, T °णात्मक 4. A, B, T omit नित्य 5. A, B, T °वत् 6. A, B, T add तथा 7. A, T दु°

स्वस्यानित्याधिपत्यं सूचयति। तदुक्तम् "आधिपत्य मनित्यं तु ध्रुवलोकस्य यद्ध्रुवे" (भविष्यपर्वणि)। यतो नाऽवर्तते यति रित्युक्ति रपि युज्यत इत्याह, न तु तत्स्थानगन्तॄणां यतीनां स्थिति रुक्तमेति, आधिपत्य मनित्यं चेत् ततो निवृत्त्या न कदाऽपि तस्य मुक्ति रित्यत आह तस्याऽपि मुक्ति र्नियतेति। तर्हि जानता विष्णुनेदं पदं किमिति दत्तम्[1] इति तत्राह नियतं चाऽपि तत्पदं तस्य क्लृप्तत्वा द्दत्त मित्यर्थः। तर्हि ध्रुवेण किमित्यनिन्दीति तत्राह तथाऽपि कामनानिन्दा ध्रुवेण सुकृता बतेति मुमुक्षुणा विषयाभिलाषो न कर्तव्य इति शिक्षाणार्थ मित्यर्थः॥ कामना विषयाभिलाषः। तस्य निन्दा धिक्कारः॥ ३१॥

शास्त्रशिक्षितबुद्धे स्तव कथं बुद्धिव्यामोहः प्राप्त इति तत्राह - **मतिर्विदूषिनेति**। "नाऽधुनाऽप्यवमानं ते" (भाग. 4-8-27) इत्यादिनारदवचनम्॥ ३२॥

एतदेव विशदयति - **दैवीमिति**। सर्वत्र निर्मलत्वेन द्योतमानस्य देवस्य हरे र्विद्यमानां मायां बन्धकशक्तिमुपाश्रित्य स्पृष्ट्वा प्रसुप्तोऽज्ञाने शयितो यथा भिन्नदृक् यथावस्तु न पश्यति विपरीतं पश्यति च तथाऽहमपि भ्राताऽय मुत्तमो भ्रातृव्यः शत्रुरिति हृद्रुजा हृदयभेदिरोगेण तप्ये स्वतन्त्रस्य अन्यस्य हरेः द्वितीयसद्भावे सन्तापः सम्भावित इति नेत्याह - द्वितीय इति। द्वितीये स्वतन्त्रेऽन्यस्मिन्नसत्यविद्यमानेऽपि सर्वस्वातन्त्र्येण सर्वैश्वर्येणा द्वितीयत्व मीश्वरत्वं च ब्रह्मादीशितव्यस्य भावा त्परमेश्वरत्वं हरे रेव युक्त मिति इम मर्थ मपिपदेन ध्वनयति। तदुक्तम् - द्वितीयस्य स्वतन्त्रस्य त्वभावा द्द्वयवर्जितः। ईश्वरस्येशितव्यस्य भावात्स परमेश्वरः" (हरिवंशे) इति॥ ३३॥

ध्रुवलोकस्याधिपत्यस्या नित्यत्वात् सुतरां सिंहासना धिष्ठानस्य सम्प्रार्थ्य भिक्षणं व्यर्थ मित्याह - **मयैतदिति**। जगता मिति बहुवचनेन अन्येषा माधिपत्यं श्लथयति, तेन द्वितीयस्वातन्त्र्याभावो निश्चीयत इति ज्ञातव्यम्। अभीष्ट पुरुषार्थदानसामर्थ्या-भावात् न भिक्षित मिति न मन्तव्य मित्याह - *भवच्छिद मिति॥ ३४॥

त्रिभी - भयसञ्चलनयो रिति धातोः भयमात्रराहित्यं चेत् विवक्षितं लोकेऽप्यस्तीति किमित्यनुशोक इत्यत उक्तं विशिनष्टि - तादात्म्य मिति। तादात्म्यं हरिं नियतचित्ततया गृहवद्धरिप्रवेशलक्षणो मोक्षः। तदुक्तम् - "हरौ नियतचित्तत्वात् गृहवत्तत्प्रवेशनात्। मोक्षं तादात्म्य मित्याहु र्नतु तद्रूपतः क्वचित्" (भविष्यत्पर्वणि) इति। "नैकात्मनां मे स्पृहयन्ति केचित्" (भाग. 3-25-34) इत्यत्र

---

1. A omits इति

* भवच्छिद मिति प्रतीकानन्तरस्थितं त्रि भी-भयसञ्चलनयोः इत्यादिरूपे व्याख्याने परिशील्यमाने भवच्छिद मित्यस्य स्थाने 'भयच्छिद, मिति विजयध्वजादृतः पाठः इति ऊह्यते।

हरिणा कांक्षिताकांक्षितत्व मेवैकात्म्यं न तु तत्स्वरूपत्वम्। ''हरिच्छितैच्छुतैकात्मता न तु नैकस्वरूपता। (भविष्यत्पर्वणि) इति वचनात्। ''कामेन मे काम आगा दित्युपास्तिसमये प्रार्थनोक्तिश्च मे मनो बत दुःखानुभवयोग्यं वस्तु भिक्षितं क्षीणपुण्येन कारणेन। अत्र दृष्टान्तमाह - पुलकानिति। पुलकाः तुच्छधान्यानि कुलित्थादीनि भक्तसिक्थानीव ''स्यात्पुलाक स्तुच्छधान्ये संक्षेपे भक्तसिक्थके'' (अम.को. 3-161) इति यादवः॥ ३५॥

**मैत्रेय उवाच**[1-1]

**न वै मुकुन्दस्य पदारविन्दयो रजोजुष स्तात भवादृशा जनाः।**

**वाञ्छन्ति तद्दास्य मृतेऽर्थ मात्मनो यदृच्छया लब्धमनस्समृद्धयः॥ ३६॥**

**आकर्ण्यात्मज मायान्तं सम्परेत्य[3] यथाऽऽगतम्।**

**राजा न श्रद्धये भद्र मभद्रस्य कुतो मम॥ ३७॥**

**शद्धाय वाक्यं देवर्षे र्हर्षवेगेन धर्षितः।**

**वार्ताहर्तु रतिप्रीतो[3] हारं प्रादा न्महाधनम्॥ ३८॥**

**सदश्वं रथ मारुह्य कार्तस्वरपरिष्कृतम्[4]।**

**ब्राह्मणैः कुलवृद्धैश्च पर्यस्तोऽमात्यबन्धुभिः[5]॥ ३९॥**

**शङ्खदुन्दुभिनादेन[6] ब्रह्मघोषेण वेणुभिः[7]।**

**निश्चक्राम[8] पुरा त्तूर्ण मात्मजावेक्षणोत्सुकः[9]॥ ४०॥**

**श्रीध०** एवं निस्पृहत्वं तस्य युक्त मित्याह[10] - **नेति**[11-11]। रजोजुषः पराग मप्राप्ताः तस्य दास्यं विना अन्य मर्थ मात्मनो नैव[12] वाञ्छन्ति। यदृच्छयैव लब्धेन मनसः समृद्धि र्येषां ते प्राप्तमनोरथा इत्यर्थः[13-13]॥ ३६॥

[14]प्रस्तुत माह - **आकर्ण्येति**। सम्परेत्य मृत्वाऽऽगत माकर्ण्य यथा तथा[15] न श्रद्दधे विश्वासं न चकार। अभद्रस्य मम भद्रं कुत इति मत्वा॥ ३७॥

---

1--1. W omits 2. W °तमिवाऽऽ° 3. V °त्या 4. W °च्छदम् 5. W बान्धवैः 6. Ms तूर्यनि° 7. W भूयसा 8. W पुरस्तू° 9. A, B, G, I, J, M, Ma T °भी° 10. V °भेवेत्याह 11--11. A, B, J, Va omit 12. V न वै 13--13. A, B, J, Va omit 14. Va omits प्रस्तुत माह 15. V omits तथा

**श्रद्धायेति**। ''एष्यत्यचिरत'' (भाग. 4-8-69) इति देवर्षे[1] र्वाक्यं श्रद्धाय॥ ३८॥

**सदश्व** मिति। ब्राह्मणादिभिः पर्यस्तः परिवृतः॥ ३९-४०॥

**वीर०** दुर्लभ मर्थं प्राप्याऽपि कथ मेवं तप्यते[2] इति त्वया न शङ्क्य मित्याह मुनिः - **न वा** इति। मुकुन्दस्य मुक्तिप्रदस्य भगवतः पदारविन्दयोः यद्रजः परागः तज्जुषः सेवमानाः भवादृशा जनाः अस्य भगवतो दास्यं शेषत्व मृते विना अन्य मर्थ मात्मनः स्वस्य[3] नैव वाञ्छन्ति[4] नैवेच्छन्ति यत स्ते जनाः यदृच्छया दैवात् लब्धा मनसः समृद्धि र्येषां ते॥ ३६॥

प्रस्तुत माह - **आकर्ण्येति**। राजा उत्तानपादः आत्मजं ध्रुवं आयान्तम्[5] आगच्छन्तम् आकर्ण्याऽपि सम्परेत्य मृत्वा यथाऽऽगतं पुनरागत मिव न श्रद्दधे न विश्वस्तवान्। 'सम्परेत्य यथाऽऽगत, मित्या[6]गमनदौर्लभ्य मुच्यते। तच्च भाग्यहीनत्वाभिप्रायेण तदेव व्यनक्ति। अभद्रस्य भाग्यहीनस्य मम भद्रं पुत्र[7] प्रत्यागमनरूपं मङ्गलं कुतो हेतोः स्या दित्याभिप्रायेण न श्रद्दधे इत्यन्वयः॥ ३७॥

ततो देवर्षे र्नारदस्य वाक्यं ''एष्यत्यचिरतो राजन्! यशो विपुलयंस्तव'' (भाग. 4-8-69) इति वाक्यं तात्कालिकं वा श्रद्धाय विश्वस्य हर्षयोगेन पुत्रागमननिमित्तसन्तोषयोगेन[8] धर्षितः प्रगल्भितः उद्रिक्तानन्द इति यावत्, वार्ताहर्तुः[9] पुत्रागमनवार्ता[10] कथयितुः महाधन मनर्घं[11] हारं मुक्तामणिमयं प्रीत्या प्रादात्[12]॥ ३८॥

अमात्यबान्धवै रिति द्वन्द्वः ब्राह्मणादिभिः पर्यस्तः परिवृतः॥ ३९॥

ब्रह्मघोषेण स्वस्तिवाचनात्मकेन आत्मजावेक्षणोत्सुकः[13] निश्चक्राम निष्क्रान्तवान्॥ ४०॥

**विज०** मैत्रेयो ध्रुवस्यानुशोके तात्पर्य माह - न वा इति। तद्दास्यमित्यनेन तादात्म्य मित्येतद्विवृत मर्थतः। अन्यपुरुषार्थं कुतो न वाच्छन्तीति तत्राह - यदृच्छयेति। यदृच्छया भगवदिच्छया आकाङ्क्षामन्तरेणाऽपि मनोभीष्टानां प्राप्तत्वा दित्यर्थः॥ ३६॥

एव मस्तु उत्तरकथाप्रसङ्गः क इति वैदुर्रीं शङ्कां परिहरन्निवाह - **आकर्ण्येति**॥ ३७॥

नन्वश्रद्धया राज्ञः प्राक्तनो द्वेषोऽनुमीयते। अभद्रवचनं चौपचारिकं निश्चायकप्रमाणाभावादिति शङ्का माभूदित्याह[14] - **श्रद्धायेति**। **हर्षावेगेन** हर्षोद्रेकेण धर्षितो विवशीकृतः महान्ति धनानि यस्य स तथा॥ ३८॥

---

1. V °र्षिवा° 2. A, B, T तपति 3. A, T न वा° 4. A, T omit नैवेच्छन्ति; B नेच्छ° 5. A, B, T omit आगच्छन्तं 6. A, B, T तमेवो 7. W पुत्राग° 8. A, B, T प्रत्याग° 9. A, B, T add पुत्रागमनवार्ताहर्तुः 10. A, B, T °तां 11. A ,B अनर्घ्यं 12. A, B, T अदात् 13. W °जाभीक्ष° 14. Ma °दिति तत्राह

सन्तोऽभ्यर्हिता अश्वा यस्य स तथा त, पर्यस्त परिवृत ॥ ३९ ॥

इद मपि राज्ञ स्नेहोद्रेकलक्षणमिति भावेनाह - शङ्केति ॥ ४० ॥

**सुनीतिः सुरुचिश्चाऽस्य[1] महिष्यौ रुक्मभूषिते।**
**आरुह्य शिबिकां[2] सार्धं मुत्तमेनाभिजग्मतुः ॥ ४१ ॥**

**तं दृष्ट्वोपवनाभ्याश आयान्तं तरसा रथात्।**
**अवरुह्य नृप स्तूर्णं मासाद्य प्रेमविह्वलः ॥ ४२ ॥**

**परिरेभेऽङ्गजं दोर्भ्यां दीर्घोत्कण्ठमनाः[3] श्वसन्।**
**विष्वक्सेनाङ्घ्रिसंस्पर्श हताशेषाघबन्धनम् ॥ ४३ ॥**

**अथाऽजिघ्रन्मुहु र्मूर्ध्नि[4] शान्तै[5] र्नयनवारिभिः।**
**स्नापयामास तनयं जातोद्दाममनोरथः[6] ॥ ४४ ॥**

**अभिवन्द्य पितुः पादा वाशीर्भिश्चाभिमन्त्रितः ॥**
**ननाम मातरौ शीर्ष्णा सत्कृतः[7] सज्जनाग्रणीः ॥ ४५ ॥**

**श्रीध० सुनीतिरिति**। अस्य राज्ञो महिष्यौ मध्ये[8] उत्तम निधाय एकामेव शिबिकां नरविमानमारुह्य ॥ ४१ ॥

**तमिति**। उपवनस्याभ्याशे समीपे ॥ ४२ ॥

**परिरेभ इति**। विष्वक्सेनस्य[9-] विष्णोरङ्घ्रि[-9] सस्पर्शेन हतमशेष मघं बन्धन च यस्य तम् ॥ ४३ ॥

**अथेति**। जात[10] उद्दामो महान् मनोरथो यस्य ॥ ४४ ॥

**अभिवन्द्येति**। अभिमन्त्रित पितुराशीर्भि सत्कृत[11] तेन सह कृतसम्भाषण ॥ ४५ ॥

**वीर०** अस्य राज्ञो महिष्यौ भार्ये सुनीति सुरुचिश्च उत्तमेन सार्धं शिबिका नरवाहन मारुह्याभिजग्मतु ॥ ४१ ॥

---

1 A, T °थ 2 M, Ma °के 3 W दीर्घोत्कण्ठय° 4 V अवजि° 5 A, B, G, I, J, T शीतै° 6 M, Ma, Ms आप्तो° 7 M, Ma, Ms °थम् 8 V omits मध्ये 9--9. B, J, V, Va विष्वक्सेनाङ्घ्रि 10 A आप्त 11 A, B, J, Va omit सत्कृत

[1]उपवनस्य अभ्याशे समीपे[1] आयान्तं तं ध्रुवं दृष्ट्वा तरसा आशु रथा दवरुह्य तूर्णं पुत्र मासाद्य प्रेम्णा विह्वलः परवशः नृपः उत्तानपादः ॥ ४२ ॥

[2]दीर्घोत्कण्ठ्यमनाः अत एव श्वसन् श्वासं मुञ्चन् दोर्भ्याम् [3]अङ्गजं पुत्रं परिरेभे । अङ्गजं विशिनष्टि विष्वक्सेनस्य भगवतः अङ्घ्रिसंस्पर्शेन हत मशेष [4]मघात्मकं बन्धनं संसृतिकारणं यस्य तम् ॥ ४३ ॥

जात उद्दामो महान्मनोरथो यस्य सः राजा । द्वितीयान्तपाठे तनयविशेषणं मूर्ध्नि आजिघ्रन् आघ्राणं कुर्वन् [5]शान्तैः [6]शीतलैः नयनवारिभिः [7]अश्रुभिः स्नापयामास ॥ ४४ ॥

पितुरुत्तानपादस्य पादावभिवन्द्य नमस्कृत्य पितुराशीर्भिः अभिमन्त्रितः कृतसम्भाषणः सत्कृतः सम्मानितः [8-]सज्जनाग्रणीः[-8] सज्जनश्रेष्ठः ध्रुवः शिरसा मातरौ सुरुचिसुनीती ननाम ॥ ४५ ॥

**विज०** हरेः शक्ति रचिन्त्येति ध्वनयन् सुनीतिसुरुच्योः यात्रां चाह - **सुनीति रिति** । रुक्मं हेम, शिबिके आन्दोलिके ॥ ४१ ॥

दूरप्रदेशे दर्शनं सार्वजनीनं न स्या दिति हरिणा पुरनिकट एव घटित मिति भावेन पुरोपवनसमीपे कुमारदर्शनं तदनन्तरं राज्ञो माननक्रियाविशेषं चाह - **तं दृष्ट्वेति** ॥ ४२ ॥

अङ्गजं पुत्रं, विष्वक्सेनांघ्रीतिविशेषणेन आलिंगनव्याजेन तत्स्प्रष्टुरपि पापपरिहारः स्यादिति ध्वनयति ॥ ४३ ॥

किमनेनालिङ्गनमात्रेण आनन्दातिरेक क्षण ज्ञापकेनेत्यतः तद्विशिनष्टि - **अथेति** । शान्तैः सुशीतलैः सुखलक्षणतयाऽवसितै र्वा "अन्तोऽस्त्र्यवसिते मृत्यौ स्वभावे परमात्मनि" (स्वरूपे निश्चये अन्तिके) (वैज.को. 6-5-5) इति यादवः । "शर्मजोषं च शं सुखम्" (हल.को. 1-123) इति हलायुधः । अनेन राज्याभिषेक मदूरे सूचयति एत मर्थं च ध्वनयन् तं विशिनष्टि - आप्तेति । आप्तः [9]प्राप्तः उद्दामः उत्कृष्टो मनोरथो वीरासनादिलक्षणो येन स तथा तम् ॥ ४४ ॥

भगवद्भक्तस्याऽपि रागद्वेषादिदोषो नाऽस्ति, किमुत हरेः इतीम मर्थं ध्वनयन् ध्रुवोऽपि पित्राद्युचितक्रिया माचरती त्याह - **अभिवन्द्येति** । मातरावित्युक्त्या पूर्वान्तःकरणकालुष्यं दूरीकृतमिति व्यनक्ति । शीर्ष्णा ननामे त्यनेन, पितु र्मातुर्गुरुत्वाधिक्यं सूचयति ।

---

1--1. A, B, T उपवनाभ्याशे उपवनसमीपे 2. A, T दीर्घोत्कण्ठ° 3. W omits अङ्गजं पुत्रं 4. A, B, T माध्यात्मिकं 5. A, B, T शीतैः 6. A, B, T omit शीतलैः 7. W omits अश्रुभिः 8-8. W omits 9. A omits प्राप्तः

तदुक्तम् - ''दशाचार्यसमो भ्राता शतभ्रातृसमः पिता। पितु र्दशशतं माता गौरवेणाऽतिरिच्यते'' इति। सुरुच्या मुख्यमातृत्वाभावेऽपि सत्स्वभावत्वेन भेदबुद्धिः न कृतेति द्योतनाय सज्जनाग्रणीरिति विशेषितम्॥ ४५॥

**सुरुचि स्तं समुत्थाप्य पादावनत मर्भकम्।**

**परिष्वज्याह जीवेति बाष्पगद्गदया गिरा॥ ४६॥**

**यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणै र्मैत्र्यादिभि र्हरिः।**

**तस्मै नमन्ति भूतानि निम्न माप इव स्वयम्॥ ४७॥**

**उत्तमश्च ध्रुवश्चोभा वन्योन्यं प्रेमविह्वलौ।**

**अङ्गसङ्गा दुत्पलका वस्रोघं मुहु रूहतुः॥ ४८॥**

**सुनीति [1]रस्य जननी प्राणेभ्योऽपि प्रियं सुतम्।**

**उपगुह्य [2]जहावाधिं [3]तदङ्गस्पर्शनिवृता॥ ४९॥**

**पयः स्तानाभ्यां सुस्राव नेत्रजैः सलिलैः शिवैः।**

**[4]तदाभिषिच्यमानाभ्यां [5]वीर [6]वीरसुवो मुहुः॥ ५०॥**

**श्रीध०** सुरुच्वाः प्रीतिः नासम्भावितेत्याह - **यस्येति**। [7]मैत्र्यादिभिः आत्मगुणैः यस्य हरिः प्रसन्नः तस्मिन् सर्वभूतानि[7] नमन्ति [8]प्रह्वीभवन्ति। आपो यथा स्वयमेव निम्नं देशं [9]अवतरन्ति॥ ४६, ४७॥

**उत्तमेति**। ऊहतुः दधतुः॥ ४८-४९॥

**पय इति**। हे वीर![10] वीरसुवो [11]वीरजनन्याः ध्रुवमातुः अभिषिच्यमानाभ्यां [12]स्तनाभ्यां पयः तदा सुस्राव॥ ५०॥

**वीर०** सुरुचिः पादयो रवनत मर्भकं [13]तं ध्रुव मुत्थाप्य परिष्वज्यालिंग्य बाष्पैः गद्गदस्वरयुक्तया गिरा वाचा चिरं जीवेत्याह॥ ४६॥

सुरुच्याः प्रीतिः न सम्भावितेत्या[14]त्राह - यस्येति। मैत्र्यादिभि रात्मगुणैः यस्य हरिः प्रसन्नः [15]तस्मै सर्वभूतानि नमन्ति प्रह्वीभवन्ति। आपो यथा स्वयमेव निम्नं देशं प्रति प्रवहन्ति॥ ४७॥

---

1. V °र्य° 2. A, B, G, I, J, M, Ma, T, V °गू° 3. M, Ma य° 4. V तथा° 5. M, Ma, Ms °याः 6. M, Ma, Ms वीरं 7--7. A, J, V, Va omit 8. A, J, V, Va अनुसरन्ति 9. B प्रतिप्रवहन्ति॥ ४६॥ 10. V adds विदुर 11. A, B, J, Va omit वीरजनन्याः 12. B, J, Va omit 13. A, B, T omit तं 14. A, B, T °त्याह 15. A, B, T तस्मिन्

उत्तमः ध्रुव श्चोभौ भ्रातरौ प्रेमविह्वलौ अंगसंगा दालिङ्गनादुत्पलकौ उदञ्चत्पुलकौ[1-1] अस्रोघं आनन्दाश्रुकणसमूहं मुहुः पुनः पुनः ऊहतुः मुमुचतुः ॥ ४८ ॥

अस्य ध्रुवस्य जननी सुनीतिः उपगुह्यालिङ्ग्य[2] तस्य तनयस्याङ्गस्पर्शेन निर्वृता सुखिता आधिं मनःपीडां जहौ तत्याज ॥ ४९ ॥

हे वीर ! वीरसुवः[3] ध्रुवस्य जनन्याः सुनीत्याः शिवैः शान्तैर्नेत्रजैः सलिलैः अभिषिच्यमानाभ्यां स्तनाभ्यां पयः सुस्राव ॥ ५० ॥

**विज०** ध्रवप्रणामे सुरुच्या द्वेषं विहाय किमभ्यधायीति तत्राह - **सुरुचिरिति** । अर्भकमिति लुप्तोपमा अर्भकं प्रेङ्खच्छिशु मिवेत्यनेन स्नेहविशेषात् ज्ञानगुरुत्व मविगणय्य[4] समुत्थाप्येति ज्ञायते ॥ ४६ ॥

ध्रुवस्य मरण माकांक्षमाणा सुरुचिः कथं जीवेति वाण्युदस्थापीति[5] तत्राह - **यस्येति** । मैत्र्यादिभिः मैत्रीकरुणादिभिः नमन्ति प्रह्वीभवन्ति ॥ ४८ ॥

उत्तमस्य भूतेष्वेकत्वेन ध्रुवद्वेषाशङ्का दूरोत्सादितेति तयोः प्रणयोद्रेकनिमित्तक्रिया माह - **उत्तमश्चेति** । अस्रौघं बाष्पप्रवाहं "ओघः परम्परायां स्या ज्जलस्रोतसि सञ्चये" (वैज.को. 6-1-10) इति यादवः ॥ ४८ ॥

सूचीकटाहन्यायेन ध्रुवे सुरुच्यादि प्रणयक्रियां प्रोच्य अधुना सुनीतिविषय माह - **सुनीति** रस्येति ॥ ४९ ॥

अस्य जननीति विशेषणं[6] विशिनष्टि - **पय** इति । औरसपुत्रस्मरणादिना मातृस्तनयो- स्तन्यप्रस्रवणेन तज्जनकत्वानुमानं सुलभ मित्यर्थः । वीरं पुत्रं सुवतीति वीरसूः, तस्याः वीरे पुत्रे । "यशसं वीरवत्तमम्" इति श्रुतिः ॥ ५० ॥

**तां शशंसु र्जना राज्ञीं[7] दिष्ट्या ते पुत्र आर्तिहा ।**
**प्रतिलब्ध श्चिरं नष्टो रक्षिता मण्डलं भुवः ॥ ५१ ॥**

**अभ्यर्चित स्त्वया नूनं भगवान् प्रणतार्तिहा ।**
**यदनुध्यायिनो धीरा[8] मृत्युं जिग्युः सुदुर्जयम् ॥ ५२ ॥**

**लाल्यमानं[9] जनै रेवं ध्रुवं सभ्रातरं नृपः ।**
**आरोप्य करिणीं[10] हृष्टः स्तूयमानोऽविशत्पुरम् ॥ ५३ ॥**

---

1--1. W omits 2. W °गूह्या° 3. A, B, T add वीरस्य 4. B, M, Ma °गणय्य 5. A °वीति 6. A, B °षेण 7. W राजन् 8. W वीराः 9. W °नो 10. T, V °णं

**तत्र तत्रोपसंक्लृप्तै र्लसन्मकरतोरणैः ।**

**सवृन्तैः[1] कदलीस्तम्भैः पूगपोतैश्च तद्विधैः ॥ ५४ ॥**

**चूतपल्लववासः स्रङ्मुक्तादामविलम्बिभिः[2] ।**

**उपस्कृतं प्रतिद्वार मपां कुम्भैः स दीपकैः ॥ ५५ ॥**

**श्रीध० तामिति** । चिरं नष्टो दर्शन मप्राप्तः रक्षिता रक्षिष्यति ॥ ५१-५२ ॥

**लाल्यमान**मिति । एव मिति व्यवहितं पित्राद्युपलालनं परामृश्यते ॥ ५३ ॥

पुरं वर्णयति - **तत्र तत्र** इति चतुर्भिः । सवृन्दैः[3] फलमञ्जरीयुक्तैः पूगानां पोतैः बालवृक्षैः तद्विधैः सवृन्दैरुपस्कृतं[4] प्रतिद्वार मित्युत्तरेणान्वयः ॥ ५४ ॥

**चूतेति** । चूतपल्लवाश्च[5] वासांसि च स्रजश्च मुक्तादामानि च तेषां विशिष्टं लम्बन मस्ति येषु कुम्भेषु ॥ ५५ ॥

**वीर०** उत्तानपादं जनाः[6] प्रशशंसुः । प्रशंसा मेवाह - हे राजन् ! आर्तिहा दुःखापहर्ता पुत्रः चिरं नष्टो दर्शन मप्राप्तः इदानीं दिष्ट्या भाग्येन ते[7] त्वया प्रतिलब्धः प्राप्तः । अयं भुवो मण्डलं रक्षिता रक्षिष्यति ॥ ५१ ॥

प्रणतार्तिहा भक्तानां दुःखापहर्ता भगवान् त्वया नूनं जन्मान्तरेऽभ्यर्चितः, यस्य भगवतोऽनुध्यायिनो ध्यातारः सुदुर्जयं मृत्युं संसारं जिग्युः जितवन्तः ॥ ५२ ॥

एवं जनै र्लाल्यमानो[8] राजा सभ्रातरं सोत्तमं ध्रुवं हृष्टः करिणं हस्तिन मारोप्य जनैः स्तूयमानः पुर मविशत् ॥ ५३ ॥

अतः[9] पुरं वर्णयति - **तत्र तत्रेति** चतुर्भिः । उप समीपे सम्यक् कल्पितैः मकरतोरणैः सवृन्तैः[10] फलमञ्जरीयुक्तैः कदलीस्तम्भैः तद्विधैः सवृन्तैः[11] पूगानां पोतै र्बालवृक्षैः ॥ ५४ ॥

चूतपल्लवाश्च वासांसि च स्रजश्च मुक्तादामानि च तेषां विशिष्टं लम्बन मस्ति येषु कुम्भेषु[12] तैः सदीपकैः अपां कुम्भैः प्रतिद्वार मुपस्कृतम् अलङ्कृतम् ॥ ५५ ॥

---

1. A, B, G, I, J, T सवृन्दैः; M, Ma, Ms, V संवृत्तैः 2. W °म्बनैः 3. V संवृत्तैः 4. V संवृत्तै° 5. V प्रवालश्च 6. T प्रजाः
7. A, B, T omit ते 8. A, B, T °नं 9. W omits अतः 10. A, B, T °न्दैः 11. A, B, T °न्दैः 12. A, B, T omit कुम्भेषु

**विज०** सुनीति कथाऽपि श्रोतॄणां पापप्रणाशिन्यपि भवतीति भावेन तां विशिनष्टि - **तां शशंसु**रिति। "दिष्ट्या स्यान्मङ्गला दिषु" (वैज.को. 8-7-21) इत्यभिधानात् दिष्ट्या पुण्येन॥ ५१।

पुण्यमपि विशिंषन्तीत्याह[1] - **अभ्यर्चित** इति। यदि प्रणतार्तिहरो हरिः त्वया नाभ्यर्चितः तर्हि चिरं नष्टः पुत्रो न प्रतिलब्धः स्यान्न तथा। तस्मा दभ्यर्चित इति तर्कः। किं विशिष्टो भगवानिति तत्राह - यदनुध्यायिन इति। अनेन तर्कस्याप्रतिपक्षतां दर्शयति॥ ५२॥

ध्रुवस्य जनलालन[2]प्रक्रियां संक्षिप्नु रिव मैत्रेयो राज्ञः पुरप्रवेश माह - **लाल्यमान**मिति। "कलभश्चैव कन्यानां करिणी बालम[3]ङ्गले" (राजनीतौ) इति वचनात् करिणी मित्युक्तम्॥ ५३॥

सवृ[4]तैः पुष्पबन्धनसहितैः तद्विधैः पुष्पबन्धनसहितैः॥ ५४॥

विलम्बीनि चूतपल्लवादीनि येषु ते तथा तैः प्रतिद्वार मुपस्कृतम् अलङ्कृतम्॥ ५५॥

**प्राकारै र्गोपुराट्टालै[5]ः शातकुम्भ[6]परिच्छदैः।**
**सर्वतोऽलङ्कृतं श्रीमद्विमान शिखरद्युभि[7]ः॥ ५६॥**

**मृष्टचत्वररथ्याट्ट[8]मार्गं चन्दनचर्चितम्।**
**लाजाक्षतैः पुष्पफलै स्तण्डुलै र्बलिभिर्युतम्॥ ५७॥**

**ध्रुवाय पथि दृष्टाय तत्र तत्र पुरस्त्रियः।**
**सिद्धार्थाक्षत-दध्यम्बु-दूर्वापुष्पफलानि च॥ ५८॥**

**उपजह्रुः प्रयुञ्जाना वात्सल्या दाशिषः सतीः।**
**शृण्वं स्त[10]द्वल्गुगीतानि प्राविशद्भवनं पितुः॥ ५९॥**

**महामणिव्रातमये स तस्मिन् भ[11]वनोत्तमे।**
**लालितो[12] नितरां पित्रा न्यवसद्दिवि देववत्॥ ६०॥**

---

1. Ma विशिष्य शंसन्ती° 2. A, B पा° 3. Ma राजमण्डने 4. A, B सवृन्दैः 5. A, B, G, I, J, T, V °गारैः 6. W कौ° 7. W °ति 8. M, Ma, Ms °दि 9. M, Ma, °न्दु° 10. M, Ma °स्तु वल्गु 11. M, Ma, Ms कशिपूत्तमे 12. V °तोऽति°

**श्रीध० प्राकारै**रिति। गोपुरैः बहिर्द्वारैः[1] अगारैः गृहैश्च[2] शातकुम्भाः परिच्छदाः परिकरा येषु विमानानामिव[3] शिखरै[4] र्द्युतिः येषां तैः ॥ ५६ ॥

**मृष्टेति**। चत्वर मङ्गणम्। रथ्या महामार्गाः[5]। अट्टः उच्चगृहस्योपरि[6] निर्मिता भूमिका। मार्ग अवान्तरः। मृष्टाः सम्मार्जिता श्चत्वरादयो यस्मिन्॥ ५७॥

**ध्रुवायेति**। सिद्धार्थः श्वेतसर्षपः। अक्षता यवाः ॥ ५८ ॥

**उपजहु**रिति। उपजहुः व्यकिरन्। सतीः सत्यः ॥ ५९-६० ॥

**वीर०** गोपुरै रट्टालैश्च कथम्भूतैः ? शातकौम्भाः स्वर्णमयाः परिच्छदाः परिकरा येषु तैः सर्वतः परितः अलंकृतं श्रीमत् सर्वसमृद्धिमत् विमानानामिव शिखरैर्द्युतिः यस्मिन्॥ ५६ ॥

रथ्या राजमार्गः अट्टः उच्चस्य प्राकारस्योपरि निर्मिता भूमिका, मार्गोऽवान्तरः, मृष्टाः सम्मार्जिता श्चत्वरादयो यस्मिन् चन्दनचर्चितं चन्दनाम्बुभिः संसिक्तम्[7]॥ ५७॥

सिद्धार्थाः श्वेतसर्षपाः उपजहुः व्यकिरन्। सतीः सत्यः विभक्तिव्यत्यय आर्षः। तासां सतीनां वल्गूनि श्राव्याणि गीतानि शृण्वन् पितु र्भवनं गृहं प्राविशत्॥ ५८-५९ ॥

अनर्घमणिसमूहमये भवनश्रेष्ठे पित्रा नितरां लालितः दिवि देववत् न्यवसत्॥ ६० ॥

**विज०** शातकुम्भपरिच्छदैः सुवर्णालङ्कारैः श्रीमतां विमानानां शिखराणां द्युभिः द्युतिभिः अलङ्कृतम्, अनेन देवादीनां विमानानां आगमनं सूचयति॥ ५६ ॥

चत्वरं[8] चतुष्पथः, रथ्या रथमार्गः, आदिशब्देन तिर्यगाद्यवान्तरमार्गो गृह्यते॥ ५७॥

सिद्धार्थाः[9] सितसर्षपाः[10] ॥ ५८ ॥

तासां पुरस्त्रीणां वल्गूनि चारूणि गीतानि॥ ५९ ॥

---

1. B, J, V, Va omit बहिर्द्वारैः 2. B, J, V, Va omits गृहैश्च 3. V omits इव 4. A °रैर्द्यु° 5. V राजमार्गः 6. B, J, Va उच्चस्य; V उच्चस्य प्राकारस्य उपरि वि° 7. W omits सं° 8. M, Ma °रः 9. A, B °र्थः 10. A, B °पः

कशिपूत्तमे मञ्चोत्तमे भोजनाच्छादनादिना प्रेष्ठे वा ॥ ६० ॥

पयः फेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः ।
आसनानि महार्हाणि यत्र रौक्मा[1] उपस्कराः ॥ ६१ ॥

यत्र स्फटिककुड्येषु महामारकतेषु[2] च ।
मणिप्रदीपा आभान्ति ललनारत्नसंयुताः ॥ ६२ ॥

उद्यानानि च रम्याणि विचित्रै रमरद्रुमैः ।
कूजद्विहङ्गमिथुनै र्गायन्मत्तमधुव्रतैः ॥ ६३ ॥

वाप्यो वैदूर्यसोपानाः[3] पद्मोत्पलकुमुद्वतीः ।
हंसकारण्डवकुलै र्जुष्टा[4] श्चक्राह्वसारसैः ॥ ६४ ॥

*उत्तानपादो राजर्षिः प्रभावं तनयस्य तम् ।
श्रुत्वा दृष्ट्वाद्भुततमं प्रपेदे विस्मयं परम् ॥ ६५ ॥

वीक्ष्योडवयसं पुत्रं[5] प्रकृतीनां च सम्मतम् ॥
अनुरक्तप्रजं राजा ध्रुवं चक्रे भुवः पतिम् ॥ ६६ ॥

आत्मानं च प्रवयस माकलय्य विशाम्पतिः ।
वनं विरक्तः प्रातिष्ठद्विमृशन्नात्मनो गतिम् ॥ ६७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेअष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

---

1. T, W °प्या 2. Ms, T, V, W °म° 3. J, Ms, V, W °दूर्य 4. W °र्जुष्टा°

* This verse is not found in W and the same was not commented either by Sridhara or Veeraraghava. 5. A, B, G, I, J, T तं च

**श्रीध० यत्रेति**। यत्र भवनोत्तमे॥ ६१-६३॥

**वाप्य** इति। कुमुद्वतीः कुमुत् कुमुदम्। पद्मादिमत्यो वाप्यः॥ ६४,६५॥

**वीक्ष्येति**। ऊढवयसं प्राप्तयौवनम्। अनुरक्ताः प्रजा यस्मिन् तम्॥ ६६॥

**आत्मान** मिति। [1]प्रवयसं वृद्धम्[1]॥ ६७॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्री श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां नवमोऽध्यायः॥ ९॥

**वीर०** भवनं वर्णयति। यत्र भवने शय्याः दान्ताः[2] क्षीरफेनवन्मृदुलाः[3] शुभ्राश्च रुक्मपरिच्छदाः सुवर्णमयाः परिकराः अनर्घाणि आसनानि रौप्या राजता उपस्कराश्च सन्ति॥ ६१॥

यत्र भवने स्फटिकमयकुड्येषु इन्द्रनीलमणिखचितेषु प्रतिफलिता ललनाः स्त्रियः[4] एव रत्नानि तैः संयुताः। मणिप्रदीपाः उपमितसमासः, [5]आभान्ति॥ ६२॥

[6]रम्याण्युद्यानानि च यत्र सन्ती त्यनुषङ्गः। तानि विशिनष्टि विचित्रै रमरद्रुमैः सन्तानपारिजातादिभिः द्रुमैः, कथम्भूतैः ? कूजति विहङ्गानां मिथुनानि येषु गायन्तो मत्ताः मधुपान[7] मत्ता मधुव्रता भृङ्गा येषु तै र्द्रुमैः युक्तानीति शेषः॥ ६३॥

वाप्यश्च यत्र सन्तीत्यन्वयः। वापीं विशिनष्टि। [8]वैदूर्य मणिमयानि सोपानानि यासु। पद्मानि उत्पलानि कुमुदानि च आसु सन्ति ताः विभक्तिव्यत्यय आर्षः, हंसानां कारण्डवानां च कुलैः सद्भैः चक्रवाकैः सारसैश्च घुष्टाः शब्दिता *विस्मय माश्चर्यं प्रपेदे॥ ६४-६५॥

अथ कतिपयवर्षानन्तर मूढवयसं प्राप्तयौवनं प्रकृतीनां मन्त्रिणां सम्मत मनुरक्ताः अनुरागयुक्ताः प्रजा यस्मिन् तं पुत्रं ध्रुवं वीक्ष्य भुवः पतिं चक्रे राज्याभिषिक्त मकरोत्॥ ६६॥

---

1--1. V omits 2. W adds धौताः 3. A, B, T °वन्निर्मलाः 4. A. B. T omit एव 5. A. B. T omit आभान्ति॥ ६३॥
6. A. B. T add अथ अति° 7. A, B, T omit मत्ताः 8. A, B, T °दू° * विस्मयम् आश्चर्यं प्रपेदे This line is not found in W end. The verse to be the above lines pertained to sloka उत्तानपादो etc is also not found in W.

तत आत्मानं प्रवयसं वृद्ध माकलय्य आलोच्य विशाम्पतिः राजा आत्मनः स्वस्व गतिं मुक्त्युपायं विमृशन् अत एव विरक्तः वनं प्रतिष्ठत् प्रविशत् ॥ ६७ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

**विज०** कशिपूत्तम इत्युक्तं प्रपञ्चयति - पयःफेन निभा इति । दान्ता दन्तनिर्मिताः रुक्मपरिच्छदाः सुवर्णपरिच्छदाः उपर्याच्छादनपटा यासां ता स्तथा, उपस्कराः पात्राणि रौक्माणि सुवर्णनिर्मितानि ॥ ६२ ॥

"रत्नं श्रेष्ठे च निर्दिष्टम्" (मणावपि) (वैज.को. 6-3-26) इति हलायुधः । ललनारत्नैः स्त्रीरत्नैः[1] संयुताः शय्यादय आभान्ति तस्मिन्निति ॥ ६२-६३-६४ ॥

ध्रुवप्रभावो देवादीना माश्चर्यबुद्धिजनकः किन्त्वितरेषामिति भावेन उत्तानपादान्तःकरण प्रवृत्तिविशेषं वक्ति - उत्तानपाद इति ॥ ६५ ॥

विस्मयफल माह - **वीक्ष्येति** । ऊढवयसमित्यनेन राज्यपालनशक्तिं व्यनक्ति ॥ ६६ ॥

तत्र स्वयं किमकारीति तत्राह - **आत्मानं** चेति । आकलय्य ज्ञात्वा आत्मनः स्वस्य हरेश्च गतिं स्थितिं विमृशन् विचारयन्निति ॥ ६७ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीविजयध्वजतीर्थ कृतायां पदरत्नावल्यां

टीकायां नवमोध्यायः ॥ ९ ॥

---

1. A, B omit स्त्रीरत्नैः 2. M, Ma किम्वि°

# दशमोऽध्यायः

## मैत्रेय उवाच

प्रजापतेर्दुहितरं शिंशुमारस्य[1] वै ध्रुवः।
उपयेमे भ्रमिं नाम तत्सुतौ कल्पवत्सरौ ॥ १ ॥

इलायामपि[2] भार्यायां वायोः पुत्र्यां महाबलः।
पुत्रमुत्कलनामानं योषिद्रत्नमजीजनत्[3] ॥ २ ॥

उत्तमस्त्वकृतोद्वाहो मृगयायां बलीयसा[4]।
हतः पुण्यजनेनाद्रौ[5] तन्माताऽस्य[6] गतिं गता ॥ ३ ॥

ध्रुवो भ्रातृवधं श्रुत्वा कोपामर्षशुचार्पितः।
जैत्रं स्यन्दनमास्थाय गतः पुण्यजनालयम् ॥ ४ ॥

गत्वोदीचीं दिशं राजा रुद्रानुचरसेविताम्।
ददर्श हिमवद्द्रोण्यां पुरीं गुह्यकसङ्कुलाम् ॥ ५ ॥

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

दशमे भ्रातृहन्तॄणां यक्षाणामकरोद्वधम्। एक एवालकां गत्वेत्यस्य विक्रम उच्यते[7] ॥

**इलायामिति**। योषितां रत्नमिवातिमनोहरम्। कन्यारत्नं च अजीजनदिति[8] वा ॥ १, २ ॥

**उत्तमस्त्विति**। यक्षेणाद्रौ हिमवति हतः, आजाविति पाठे युद्धे। अस्य गतिं गता[9] मृतेत्यर्थः[10] ॥ ३ ॥

**ध्रुव इति**। कोपामर्षशुचां द्वन्द्वैक्यम्। तेनापितो व्याप्तः। जैत्रं जयहेतुम्। पुण्यजनालयमलकाम् ॥ ४ ॥

**गत्वेति**। रुद्रानुचरा भूतादयः ॥ ५ ॥

---

1. A, B, G, I, J, T शिशु° 2. W इडा° 3. M, Ma, Ms योगेश्वर° 4. W °सः 5. W जनादद्रौ 6. M, Ma, Ms °ता तद्गतिं 7. V ईर्यते 8. B, J, V, Va omit अजीजनन् 9. V adds इत्यर्थः 10. V मृतेति भावः।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ दशमेन ध्रुवः कृतोद्वाहः उत्पादितपुत्रो जितभ्रातृहन्तृपुण्यजन आसेत्याह मुनिः **प्रजापतेरिति**। शिंशुमाराख्यस्य[1] प्रजापतेः दुहितरं भ्रमिमुपयेमे उदवोढ। तयोः ध्रुवभ्रम्योः सुतौ कल्पवत्सराख्यौ॥ १॥

पुनरूढायां वायोर्दुहितरि इडाख्यायां भार्यायां महाबलो ध्रुवः उत्कलनामानं पुत्रं कथम्भूतम्? योषितां रत्नमिवातिमनोहरं कन्यारत्नमिति वा पुर्याम्[2] अजीजनत् उत्पादयामास॥ २॥

उत्तमस्त्वकृतोद्वाह एव कदाचित् मृगयायां बलीयसः[3] पुण्यजनात्[4] यक्षात्[5] अद्रौ हिमवति हतः। तस्योत्तमस्य माता सुरुचिः तस्य पुत्रस्य गतिं गता। मरणं प्राप्तेत्यर्थः॥ ३॥

ध्रुवः भ्रातुरुत्तमस्य वधमाकर्ण्य कोपामर्षशुगिति समाहारद्वन्द्वः, तेन। अमर्षः अक्षमा अर्पितः व्याप्तः जैत्रं जयशीलं स्यन्दनं रथमास्थायाऽधिरुह्य पुण्यजनालयम् अलकां पुरीं गतः गतवान्॥ ४॥

रुद्रानुचरा भूतादयस्तैः सेवितां गुह्यकैर्यक्षैः सङ्कुलां व्याप्तां, पुरीमलकां, हिमवतो द्रोण्यां ददर्श॥ ५॥

### श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

**विज०** अत्र न केवलं मोक्ष एव भगवत्प्रसादायत्तः किन्तु बाह्याभ्यन्तरशत्रुजयोऽपीत्यतस्तन्माहात्म्यं वर्ण्यते। तत्रादौ ध्रुवविवाहादिप्रकारः कथ्यते - **प्रजापतेरित्यादिना**। तत्सुतौ तस्याः भ्रमेः सुतौ कल्पो वत्सरश्च॥ १॥

योगेश्वरमणिमाद्यष्टाङ्गयोगानामीश्वरम्। अनेन राज्यानिच्छत्वात् पश्चादुक्तिरिति ज्ञायते॥ २॥

राजपुत्र उत्तमः किमभूत्? ध्रुवभ्रातृत्वेन तत्कथाया अपि श्रवणार्हत्वात् सापि वक्तव्येति तत्राह - **उत्तमस्त्विति**। तन्माता तस्योत्तमस्य माता सुरुचिः तस्योत्तमस्य गतिं मरणलक्षणां[6] गतिं गता॥ ३॥

अत्र प्राकृतस्वभावेन ध्रुवेण किमकारीति तत्राह - **ध्रुव** इति। कोपामर्षशुचार्पितः भागुरिन्यायेनास्य शब्दस्य टाबन्तत्वं साधु। पुण्यजनालयमलकां पुरीम्॥ ४॥

पुररक्षकानाह - **रुद्रेति**। हिमवतो गिरेर्द्रोण्यां निम्नतटे गुह्यका यक्षाः तैस्सङ्कुलां निबिडां स्तिमिताम्॥ ५॥

---

1. A, B, T शिशु° 2. A, B, T पुत्रम् 3. A, B, T °सा 4. A, B, T जनेन 5. A, B, T यक्षेण 6. B, M, Ma °णत्वल°

दध्मौ शङ्खं बृहद्बाहुः[1] खं दिशश्चानुनादयन्।
येनोद्विग्नदृशः क्षत्तरुपदेव्योऽत्रसन्भृशम्॥ ६॥

ततो निष्क्रम्य बलिन उपदेवमहाभटाः।
असहन्तस्तन्निनादमभिपेतुरुदायुधाः॥ ७॥[2]

स तानापततो वीर उग्रधन्वा महारथः।
एकैकं युगपत्सर्वानहन् बाणैस्त्रिभिस्त्रिभिः॥ ८॥

ते वै ललाटलग्नैस्तैरिषुभिः[3] सर्व एव हि।
मत्वा निरस्तमात्मानमाशंसन्[4] कर्म तस्य तत्॥ ९॥

तेऽपि चामुममृष्यन्तः पादस्पर्शमिवोरगाः।
शरैरविध्यन् युगपद् द्विगुणं प्रचिकीर्षवः॥ १०॥

**श्रीध०** दध्मौ इति। दध्मौ वादितवान्[5]। येन शङ्खवादनेन[6] हे क्षत्तः! उपदेव्यो यक्षस्त्रियः॥ ६, ७॥

**स इति**। एकैकं[7-] त्रिभिस्त्रिभिः[-7] इत्येवं सर्वान् त्रयोदशायुतानि यक्षान्युगपदहन् जघान॥ ८॥

**त इति**। निरस्तं पराजितम्। तस्य ध्रुवस्य तत्कर्म आशंसन् तुष्टुवुः॥ ९॥

**तेऽपि** इति। तेऽपि तत्कर्मासहमाना अमुमविध्यन्[8-] ध्रुवकृतविक्रमात्[-8] द्विगुणं यथा भवति एवं[9] षड्भिः[10]षड्भिः इषुभिः[11] प्रतिकर्तुमिच्छन्तः॥ १०॥

**वीर०** बृहद्बाहुः ध्रुवः[12] खमन्तरिक्षं दिशः दश दिशश्चानुनादयन् प्रतिध्वनयन् शङ्खं दध्मौ नादितवान्। येन शङ्खनिनादेन[13-] उद्विग्नाः चलिताः दृशः[-13] यासां ताः, उपदेव्यो यक्षस्त्रियः। हे क्षत्तः! भृशं नितरामत्रसन् भीतवत्यः॥ ६॥

---

1. M, Ma महाबाहुः; Ms महारावं 2. W °न्तो निनादं त° 3. W °म° 4. Ms °नं शशंसुः; W °नमशंसन् 5. V ना° 6. V नादेन
7--7. V omits 8--8. B, J, V, Va omit 9. V तथा 10. V omits षड्भिः 11. B, J, V, Va omit इषुभिः 12. A, B, T omit ध्रुवः
13--13. A, B, T उद्विग्ना चलिता दृक्

उपदेवाश्च ते महाभटास्ते बलिनः[1] बलिष्ठाः[2] ततः अलकाया निष्क्रम्य तस्य ध्रुवस्य शङ्खनिनादमसहन्तः उदायुधाः उद्यतास्त्रशस्त्राः अभितः पेतुः उपर्यागतवन्तः ॥ ७ ॥

उग्रं भीमं धनुर्यस्य सः, महारथो ध्रुवः आपततः सर्वान् वीरान् युगपदेव प्रत्येकं त्रिभिस्त्रिभिर्बाणैः अहन्, प्रत्येकं त्रिभिस्त्रिभिः बाणैः सर्वान् त्रयोदशायुतानि युगपत् निजघान ॥ ८ ॥

ते वै उपदेवाः सर्वे ललाटमग्रैस्तैस्त्रिभिः[3] स्त्रिभिः[4] इषुभिरात्मानं निरस्तं पराजितं मत्वा तस्य ध्रुवस्य[5] तत्कर्म आशंसन्[6] प्रशशंसुः ॥ ९ ॥

तेऽपि च यक्षा उरगा सर्पाः पादस्पर्शं पादासत्तिमिव अमुं ध्रुवममृष्यन्तः असहमानाः द्विगुणं यथा भवति तथा षड्भिः[7] प्रतिकर्तुमिच्छन्तः शरैः युगपदेव[8] अविध्यन् निजघ्नुः ॥ १० ॥

**विज०** उपदेव्यो यक्षस्त्रियः ॥ ६ ॥

उदतिष्ठन्निति वा पाठः ॥ ७ ॥

अहन् हतवान् ॥ ८ ॥

"पत्री रोप इषुर्द्वयोः" (अम.को. 2-8-87) इत्यमरः। ध्रुववीरकर्मस्तवनेन गुह्यकानां रणवीरत्वमसूचि ॥ ९ ॥

तत्कर्म प्रशस्य गुह्यकैः किं पृष्ठतः[9] प्रसुप्तमिति तत्राह - **तेऽपि चेति**। युगपत् सम्भूय ध्रुवकृतविक्रमात् द्विगुणं प्रकर्षेण कर्तुमिच्छन्त एव न तु कर्तुं समर्थाः ॥ १० ॥

**ततः परिघनिस्त्रिंशैः प्रासशूलपरश्वधैः।**
**शक्त्यृष्टिभिर्भुशुण्डीभिश्चित्रवाजैः शरैरपि[10] ॥ ११ ॥**

**अभ्यवर्षन् प्रकुपिताः सरथं[11] सहसारथिम्।**
**इच्छन्तस्तत्प्रतीकर्तुमयुतानां[12] त्रयोदश ॥ १२ ॥**

**औत्तानपादिः स तदा शस्त्रवर्षेण[13] भूरिणा[14]।**
**नोपादृश्यत[15] तच्छन्न आसारेण यथा गिरिः ॥ १३ ॥**

---

1. W omits बलिनः 2. A, B, T omit बलिष्ठाः 3. A, B, T ल° 4. A, B, T omit त्रिभिः 5. A, B, T omit ध्रुवस्य 6. A, B, T आ° 7. A, B, T omit षड्भिः 8. W omits एव 9. Ma वृत्तः 10. M भृशुण्डी; Ms, V र्भुसुण्ठी; T °र्भर्शुण्डी° W र्भुसुण्डी° 11. V सहयं 12. A, B, G, J, T °नि 13. Ms शर 14. M. Ma भूयसा 15. I न एवादृश्यताच्छन्न; A. B, G. J, T न उपादृश्यत च्छन्न; M, Ma नोपादृश्यत सञ्छन्न; V न चैवादृश्यत च्छन्न

**हाहाकारस्तदैवासीत्सिद्धानां दिवि पश्यताम्।**

**[1]हतोऽयं मानवः सूर्यो मग्नः पुण्यजनार्णवे॥ १४॥**

**नदत्सु यातुधानेषु जयकाशिष्वथो मृधे।**

**उदतिष्ठद्रथ[2]स्तस्य नीहारादिव भास्करः॥ १५॥**

**श्रीध० तत इति**। चित्रवाजैः विचित्रपक्षैः॥ ११, १२॥

**औत्तानपादिरिति**। [3]आसारेण धारासम्पातेन छन्नो गिरिरिव नैवादृश्यत॥ १३॥

**हाहाकार** इति। सूर्यतुल्यः॥ १४॥

**नदत्स्विति**। यातुधानेषु [4]राक्षसेषु जयकाशिषु [5]जितं जितमिति जयप्रकाशकेषु सत्सु॥ १५॥

**वीर०** ततः परिघादिभिः शस्त्रविशेषैः अविध्यन् तथा चित्रवाजैश्चित्रपक्षैः शरैरपि नितरां कुपिताः अयुतानां त्रयोदश यक्षाः तत्प्रतीकर्तुं तत्प्रतिक्रियां कर्तुमिच्छन्तः सरथं ससारथिञ्चाभ्यवर्षन्॥ ११, १२॥

तथा स च औत्तानपादिः ध्रुवः भूरिणा शस्त्रवर्षेण छन्न आवृतः आसारेण धारावर्षेण यथा गिरिः पर्वत इव नोपादृश्यत [6-]नैवादृश्यत[-6]॥ १३॥

तदैव दिवि पश्यतां सिद्धानां महान् हाहाकार आसीत्। [7]मानवः मनोर्गोत्रापत्यं पुमानयं ध्रुव एव सूर्यः, पुण्यजना एव अर्णवः [8]समुद्रः तस्मिन् मग्नः, [9]हन्त हा कष्टमित्येवंरूपो[10] हाहाकार आसीत्॥ १४॥

ततो मृधे युद्धे यातुधानेषु राक्षसेषु जयकाशिषु जितं जितं मयेति जयप्रकाशकेषु सत्सु जयशालिष्विति पाठे जयशीलेषु सत्सु नीहाराद्भास्करः सूर्यः इव तस्मात् शरवर्षात् रथात् ल्यब्लोपे पञ्चमी, रथे आस्थाय उदतिष्ठत् उत्थितः॥ १५॥

**विज०** चित्रा नानावर्णा वाजाः पक्षा येषां ते चित्रवाजास्तैः॥ ११॥

अयुतानां त्रयोदश लक्षादुपरि त्रिंशत्सहस्राणि प्राधान्यविवक्षयैतत्॥ १२॥

---

1. Ms, W हन्ताऽयं 2. M, Ma, Ms °थस्तस्मात्; W °थात्तस्मात् 3. A, B, J, Va omit आसारेण 4. W omis राक्षसेषु 5. Va omits जितं 6--6. W omits 7. A, B, T omit मानवः 8. A, T omit समुद्रः 9. A हतः 10. B, W °पहा°

तदा ध्रुवः किमभूदत्राह - **औत्तानपादिरिति**। आसारेण वेगवता वर्षेण सन्ततनिबिडवर्षधारयेत्यर्थः ॥ १३ ॥

मानवः मनोः पौत्रः सूर्यः ज्ञानप्रियः सूर्य इव सूर्यो वा ॥ १४ ॥

नन्वत्र मग्नस्य श्वासनिरोधेन मरणम्। जलं संस्थभ्यावस्थानमधोगमनमन्यत उन्मज्जनमिति पक्षेष्वेकः सम्भवति। अन्यत्र उन्मज्जने पलायमानापरपर्याये जैत्रं स्यन्दनमित्येतदनुपपन्नं स्यात्। अतः किमभूदिति तत्राह - **नदत्स्विति**। अथ मज्जनानन्तरमेव ध्रुवरथः तस्मात् युद्धात् उदतिष्ठदित्यन्वयः। जलमग्नस्य सूर्यस्यान्यत उन्मज्जनं भवतीति मत्वा यत्र निमज्जनं तत्र[1-] उन्मज्जनं[-1] तद्दृष्टान्तत्वेन नीहारादिति ॥ १५ ॥

**धनुर्विस्फूर्जयन्नुग्रं[2] द्विषतां खेदमुद्वहन्[3]।**

**अस्त्रौघं व्यधमद्बाणैर्घनानीकमिवानिलः ॥ १६ ॥**

**तस्य ते चापनिर्मुक्ता भित्त्वा वर्माणि रक्षसाम्।**

**कायानाविविशुस्तिग्मा गिरीनशनयो यथा ॥ १७ ॥**

**भल्लैः सञ्छिद्यमानानां शिरोभिश्चारुकुण्डलैः।**

**ऊरुभिर्हेमतालाभैर्दोर्भिर्वलयवल्गुभिः ॥ १८ ॥**

**हारकेयूरमुकुटैरुष्णीषैश्च[4] महाधनैः।**

**आस्तृतास्ता रणभुवो रेजुर्वीरमनोहराः ॥ १९ ॥**

**हतावशिष्टा इतरे रणाजिराद् रक्षोगणाः क्षत्रियवर्यसायकैः।**

**प्रायो विवृक्णावयवा[5] विदुद्रुवुर्मृगेन्द्रविक्रीडितयूथपा इव ॥ २० ॥**

**श्रीध० धनुरिति**। व्यधमत् सञ्चूर्णयामास ॥ १६ ॥

**तस्येति**। वर्माणि कवचानि ॥ १७ ॥

**भल्लैरिति**। शिरःप्रमुखैः अङ्गैः[6] आस्तृताः प्रकीर्णा रणभुवो[7] रेजुरिति द्वयोरन्वयः ॥ १८, १९ ॥

1--1. A, B, omit 2. W °ष्फू° 3. A, G, I, J, T न्दिव्यं 4. Ms, V, W म° 5. M, Ma निकृत्ता° 6. A, B, J, Va omit अङ्गैः 7. B, J, V, Va omit रणभुवो

**हतेति**। प्रायो बाहुल्येन विवृक्णाः सञ्छिन्ना अवयवा येषां ते॥ २०॥

**वीर०** तत उग्रं धनुः विष्फूर्जयन्[1] ज्याघोषं[2] कुर्वन् द्विषतां पुण्यजनानां खेदमुद्वहन् प्रापयन् बाणैः अस्त्रौघं द्विषत्प्रयुक्तमस्त्रसमूहम् अनिलो वायुरिव मेघपङ्क्तिं व्यधमत् चूर्णयामास॥ १६॥

तस्य ध्रुवस्य चापात् धनुषो विनिर्मुक्ताः तिग्मास्तीक्ष्णाः बाणाः गिरीन् पर्वतान् अशनयो यथा [3-]अशनय इव[-3] रक्षसां वर्माणि कवचानि छित्वा कायान् देहान् आसमन्ताद्विविशुः॥ १७॥

भल्लैः बाणैः सञ्छिद्यमानानां रक्षसां चारूणि सुन्दराणि कुण्डलानि येषु तैः, शिरोभिः स्वर्णमयतालवृक्षसदृशैः ऊरुभिः वलयैः सुन्दरैर्बाहुभिः महाधनैः अनर्घैः हारादिभिश्चाऽऽस्तृताः छन्नाः ताः रणभूमयः वीराणां मनोहराः विरेजुः बभुः॥ १८, १९॥

हतेभ्योऽवशिष्टा इतरे रक्षोगणाः क्षत्रियवर्यस्य ध्रुवस्य सायकैः बाणैः प्रायः बाहुल्येन विवृक्णाः सञ्छिन्नाः अवयवा येषां ते, रणाजिरात् रणभूमेः सिंहेन विक्रीडितगजा इव विदुद्रुवुः पलायितवन्तः॥ २०॥

**विज०** द्विषतामस्त्रौघं व्यधमत् नष्टमकरोत्॥ १६॥

एकत्र प्रयोगेण यक्षाणां गात्रधमनं तेषां चर्मभेदनं शरीरच्छेदनं चेति कार्यत्रयमभूदित्याह - **तस्य त** इति। "पविरशनिः शतधारं वज्रं कुलिशं (च भवति) दम्भोलिः" (हल.को. 1-56) इति हलायुधः। "दम्भोलिरशनिर्द्वयोः" (अम.को. 1-47) इत्यमरः॥ १७॥

वीररसमाह - **भल्लैरिति**। भल्लैरर्धचन्द्राकारैः वराहशरैर्हिमतालाभैः सुवर्णतालसमानैः ऊरुभिः उत्सङ्गैः॥ १८, १९॥

क्वापि सर्वनाशो न दृष्टश्रुतपूर्व इति किं वदन्तीमनुसरन्नाह - **हतेति**। मृगेन्द्रेण सिंहेन विगतक्रीडोपक्रमा यूथपा गजाः॥ २०॥

**अपश्यमानः स तदाऽऽततायिनं महामृधे कञ्चन मानवोत्तमः।**
**पुरीं दिदृक्षन्नपि नाविशद् द्विषां न मायिनां वेद चिकीर्षितं जनः॥ २१॥**

**इति ब्रुवंश्चित्ररथः स्वासारथिं[4] यत्तः परेषां प्रतियोगशङ्कितः[5]।**
**शुश्राव शब्दं जलधेरिवेरितं[6] नभस्वतो[7] दिक्षु रजोऽन्वदृश्यत॥ २२॥**

---

1. A, B, T °स्फू° 2. A, B, T घातं 3--3. A, B, T omit 4. M, Ma यतः 5. W शङ्कया 6. W °दै° 7. M, Ma, Ms °ता

**क्षणेन[1] च्छुरितं व्योम[2] घनानीकेन सर्वतः ।**
**विस्फुरत्तटिता[3] दिक्षु त्रासयत्स्तनयित्नुना[4] ॥ २३ ॥**

**ववृषूरुधिरौघासृक्पूयविण्मूत्रमेदसः[6] ।**
**निपेतुर्गगनादस्य कबन्धान्यतोऽनघ ॥ २४ ॥**

**ततः खेऽदृश्यत गिरिः[7] निपेतुः सर्वतो दिशम्[8] ।**
**गदापरिघनिस्त्रिंशमुसलास्साश्मवर्षिणः[9] ॥ २५ ॥**

**श्रीध० अपश्यमान** इति । आततायिनं शस्त्रपाणिम् ॥ २१ ॥

**इतीति** । इति ब्रुवन् इत्यत्रापि न मायिनामित्यादेरनुषङ्गः । चित्ररथो ध्रुवः । यत्तो यत्नवान् । प्रतियोगः पुनरुद्योगः[11] तस्माच्छङ्कितः । नभस्वतो वायोर्हेतोः ॥ २२ ॥

**क्षणेनेति** । विस्फुरन्त्यः तडितो यस्मिंस्तेन, त्रासयन्तः स्तनयित्नवोऽशनयो यस्मिंस्तेन ॥ २३ ॥

**ववृषुरिति** । ववृषुः निपेतुरित्यर्थः । न सृजति शरीरमित्यसृक् इह श्लेष्मादि । मेदसः पुंस्त्वमार्षम् । मेदांसि अस्याग्रतो निपेतुः ॥ २४ ॥

**तत इति** । साश्मवर्षिणः अश्मसहितं यद्वर्षं तद्वन्तः ॥ २५ ॥

**वीर०** तदा मानवश्रेष्ठः स ध्रुवः महामृधे महति युद्धे आततायिनं शस्त्रपाणिमपश्यमानः पुरीं दिदृक्षन्नपि द्रष्टुकामोऽपि मायिनां द्विषां पुण्यजनानां जनो न वेदेत्येवं बुद्ध्वा नाविशत् न प्रविष्टवान् ॥ २१ ॥

स चित्ररथो ध्रुवः सारथिं प्रति इति "न मायिनां वेद चिकीर्षितं जनः" (भाग. 4-10-21) इत्येवं वदन् परेषां विद्विषां प्रतियोगं प्रतिक्रियां प्रति शङ्कितः शङ्कमानः अत एव यत्तः यत्नवान् । जलदैर्मेघैरिवेरितं शब्दितं गर्जितमिवेत्यर्थः । शब्दं शुश्राव ततः समनन्तरमेव नभस्वता वायुना सह दिक्षु रजः धूलिः अन्वदृश्यत दृष्टम् ॥ २२ ॥

व्योम अम्बरं विस्फुरन्त्यः तडितो यस्मिन् त्रासयन्तः स्तनयित्नवोऽशनयो यस्मिन् तेन मेघसमूहेन सर्वतः छुरितं व्याप्तम् ॥ २३ ॥

---

1. A, B, G, I, J, M, Ma, T °नाच्छादितं; Ms °न च्छादितं 2. W मेघा° 3. W °ष्फु° 4. A, B, G, I, J, M, Ma, T °डि° 5. M, Ma, V °यं स्त° 6. M, Ma, Ms °स्थिपू° 7. M, Ma गिरेः 8. V भुवम् 9. M, Ma °शा° 10. M, Ma, Ms अश्म 11. V पुनर्योगः

रुधिरौघादयः ववृषुः निपेतुरित्यर्थः। न सृजति न त्यजति शरीरमिति असृगिह श्लेष्मादिः रुधिरस्य पृथगुपादानात्। मेदसः पुंस्त्वमार्षं मेदांसि। कबन्धानि शिरोहीनशरीराणि च गगनात् तस्य ध्रुवस्याग्रतः निपेतुः॥ २४॥

ततः खे आकाशे गिरिरदृश्यत सर्वतो दिशं सर्वासु दिक्षु साश्मवर्षिणः अश्मसहितं यद्वर्षं तद्वन्तः गदादयः निपेतुः॥ २५॥

**विज०** अस्यामवस्थायां पुरीं प्रविश्य तत्सर्वमपहृत्य गमनं तत्रावस्थानं वा इत्युभयस्मादेकं प्राप्तं तत्र ध्रुवेण किमकारीत्या-शङ्क्य उभयमपि न कृतं मायिजनकुचेष्टाशङ्कयेति भयेनाह - **अपश्यमान** इति। तथाहि जनो मायिनां चिकीर्षितं न वेद न जानाति यदत इति॥ २१॥

इदं चिन्तनमुत वाचिकमिति न ज्ञायते इति अतो विविनक्ति - **इति ब्रुवन्निति**। प्रतियोगेन पुनरुद्यमेन शङ्कितः जलधेरुत्पन्नमिव नभस्वता वायुनेरितम्॥ २२॥

पुनः किं किं शङ्काकरमभूदिति प्रपञ्चयति - **क्षणेनेत्यादिना**। छादितं छन्नं विस्फुरन्त्यस्तडितो यस्मिंस्तथा तेन स्तनयित्नुना गर्जितेन॥ २३॥

ववृषुर्मेघा इति शेषः। कबन्धानि शिरोरहितशरीराणि॥ २४॥

अश्मवर्षिणो गिरेर्गदादीनि सर्वतोदिशं निपेतुः॥ २५॥

**अहयोऽशनिनिश्श्वासा वमन्तोऽग्निं रुषाक्षिभिः।**
**अभ्यधावन् गजा मत्ताः सिंहा व्याघ्राश्च यूथशः॥ २६॥**

**समुद्र ऊर्मिभिर्भीमः प्लावयन् सर्वतो भुवम्।**
**आससाद महाह्रादः कल्पान्त इव भीषणः॥ २७॥**

**एवंविधान्यनेकानि त्रासनान्यमनस्विनाम्।**
**ससृजुस्तिग्मगतय आसुर्या माययाऽसुराः॥ २८॥**

**ध्रुवे प्रयुक्तामसुरैस्तां मायामतिदुस्तराम्।**
**निशम्य तस्य मुनयः शमाशंसन् समागताः॥ २९॥**

---

1--1. A, B, T omit  2. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °हव्या°  3. B, M, Ma, Ms, W °शा°  4. M, Ma, Ms °म°

तस्यास्त्रस्य माहात्म्यमचिन्त्यमिति भावेनाह - **सन्धीयमान** इति। अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः[1] ॥ २ ॥

आर्षास्त्रम् ऋषिच्छन्दोदेवतासहितास्त्रं ज्ञानास्त्रं वा। "ऋषि-ज्ञान" इति धातोः। सुवर्णालङ्कृताः पुङ्खा ज्यानुसन्धानप्रदेशा येषां ते सुवर्णपुङ्खाः। 'वस - आच्छादन' इति धातोः वासशब्देन पक्षा लक्ष्यन्ते। कलहंसानां वासांसि पक्षा इव पक्षा येषां ते। कलहंसवाससः शिखण्डिनो मयूराः। भीमो भयङ्करो रवो नादो येषां ते तथा ॥ ३ ॥

पुण्यजनानां वीररसमाह - **तैरिति**। तिग्मधारैरुग्राग्रैः शिलीमुखैः शरैः सुपर्णं गरुडं उन्नद्धफणा उद्धृतफणाः ॥ ४ ॥

अर्कमण्डलं निर्भिद्य यं लोकं व्रजन्ति तं परं लोकं निनायेत्यन्वयः ॥ ५ ॥

**तान् हन्यमानानभिवीक्ष्य गुह्यका ननागसश्चित्ररथेन भूरिशः[2]।**
**औत्तानपादिं कृपया पितामहो मनुर्जगादोपगतस्सहर्षिभिः ॥ ६ ॥**

**स्वायम्भुवमनुरुवाच**

**अलं वत्सातिरोषेण तमोद्वारेण पाप्मना।**
**येन पुण्यजनानेतानवधीस्त्वमनागसः ॥ ७ ॥**

**नास्मत्कुलोचितं तात कर्मैतत्सद्विगर्हितम्।**
**वधो[3] यदुपदेवानामारब्धस्तेऽकृतैनसाम् ॥ ८ ॥**

**नन्वेकस्यापराधेन तत्सङ्गाद्[4] बहवो हताः।**
**भ्रातुर्वधाभितप्तेन त्वयाङ्ग भ्रातृवत्सल ॥ ९ ॥**

**नायं मार्गो हि साधूनां हृषीकेशानुवर्तिनाम्।**
**यदात्मानमसङ्गृह्य[5] पशुवत् भूतवैशसम् ॥ १० ॥**

**श्रीध. तानिति**। ताननागसो निरपराधान् ॥ ६ ॥

**अलमिति**। तमसो नरकस्य द्वारेण येन रोषेण ॥ ७, ८ ॥

---

1. A, B, T क्लेशाः 2. W भूयसा 3. M, Ma, Ms वदोऽयम्° 4. A, B, G, I, J, T प्रस° 5. A, B, G, I, J, T °न परागृह्य

ननु मद्भ्रातृहन्तारः कथमकृतैनसः तत्राह[1] - **नन्विति**॥ ९॥

[2-]नन्वेकस्य दोषः सर्वेषां संसर्गिणां भवतीत्याशङ्क्य[-2] सत्यप्यपराधे तवैतदुचितं न भवतीत्याह - **नायमिति**। परागृह्य पराभूतं देहमात्मानं आत्मत्वेन[3] गृहीत्वा पशवो यथा देहाभिमानादन्योन्यं घ्नन्ति तथा भूतानां वैशसं हिंसेति यत्॥ १०॥

**वीर.** एवमनागसो निरपराधिनः चित्ररथेन ध्रुवेन बहुशः हन्यमानान् पीड्यमानान् गुह्यकान् यक्षान् वीक्ष्य ध्रुवस्य पितामहो मनुः स्वायम्भुवः कृपया महर्षिभिः सहोपगतः समीपं प्राप्तः औत्तानपादिं जगाद उवाच॥ ६॥

[4]उक्तिमेवाह - **अलमित्यादिना**। हे वत्स! तमोद्वारेण सम्मोहात्मकाज्ञानहेतुना[5] "क्रोधाद्भवति सम्मोहः" (भ.गी. 2-63) इति स्मरणात् पाप्मना निरयहेतुना रोषेणालं येन रोषेणानागसः एतान् पुण्यजनान् त्वमवधीः हतवानसि॥ ७॥

हे तात! सद्भिर्विगर्हितमत एव एतत्कर्मास्मत्कुलोचितं न भवति अकृतागसां यक्षाणामयं वधः ते त्वया आरब्धः॥ ८॥

ननु मद्भ्रातृहन्तार एते उपदेवाः कथमनागसस्तत्राह - **नन्विति**। अङ्ग! हे भ्रातृवत्सल! भ्रातुः उत्तमस्य यो वधः तेनाभितप्तेन त्वया एकस्य यक्षस्यापराधेन हेतुना तस्यापराधिनः सङ्गात् सम्बन्धात् बहवो हताः घातिताः॥ ९॥

आत्मानं मनः असङ्गृह्य अनियम्य। परागृह्येति पाठे पराभवविषयं देहमात्मत्वेन गृहीत्वा पशवो यथा देहात्माभिमानेनान्योऽन्यं घ्नन्ति तथा भूतनां वैशसं हिंसेति यदयं भगवद्भक्तानां साधूनां मार्गो न भवति॥ १०॥

**विज.** किमेवं ध्रुवः सर्वाननवशिष्टानकरोदित्यस्योपयोगिकथान्तरमाह - तान् **हन्यमानानिति**। अनागसो वधयोग्यापराधरहितान्। चित्ररथेन ध्रुवेण॥ ६॥

आगत्य निश्शेषं हनेत्युक्तं किम्? नेत्याह - **अलमिति**। तमोद्वारेण यथार्थज्ञानप्रतिबन्धकत्वेन नरकद्वारेण पाप्मना पापहेतुना॥ ७॥

किञ्च धर्मशास्त्रानुवर्तिनामस्माकं कुलधर्मो न भवत्ययमित्याह - **नास्मदिति**। अकृतैनसामिति पदम्॥ ८॥

अकृतापराधत्वं कथं, भ्रातृवधलक्षणापराधकरणादिति तत्राह - **नन्विति**। ननु एवार्थे वर्तते, अपराधेनेति सम्बध्यते॥ ९॥

---

1. A, B, J, Va अत आह  2--2. B, J, V, Va omit  3. B, J, V, Va omit आत्मत्वेन  4. A, B, T उक्तं  5. A, B, T °हना°

# एकादशोऽध्यायः

## मैत्रेय उवाच

निशम्य वदतामेव[1]मृषीणां धनुषि ध्रुवः।
सन्दधेऽस्त्रमुपस्पृश्य यन्नारायणनिर्मितम्॥ १॥

सन्धीयमान एतस्मिन्माया गुह्यकनिर्मिताः।
क्षिप्रं विनेशुर्विदुर क्लेशा ज्ञानोदये यथा॥ २॥

तस्यार्षास्त्रं धनुषि प्रयुञ्जतः सुवर्णपुङ्खाः कलहंसवाससः।
विनिस्सृता आविविशुर्द्विषद्बलं वनं यथा भीमरवाः शिखण्डिनः॥ ३॥

तैस्तिग्मधारैः प्रधने शिलीमुखै रितस्ततः पुण्यजना उपद्रुताः।
तमभ्यधावन् कुपिता उदायुधाः सुपर्णमुन्नद्धफणा इवाहयः॥ ४॥

स तान् पृषत्कैरभिधावतो मृधे निकृत्तबाहूरुशिरोधरोदरान्।
निनाय लोकं परमर्कमण्डलं व्रजन्ति निर्भिद्य यमूर्ध्वरेतसः॥ ५॥

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एकादशे तु यक्षाणां क्षयं दृष्ट्वा मनुः स्वयम्। आगत्य वारयामास ध्रुवं तत्त्वोपदेशतः॥

**निशम्येति**। एवं गदतां वचनम् उपदेशमिव निशम्य उपस्पृश्याऽऽचम्य यन्नारायणनिर्मितं नारायणास्त्रं तत्सन्दधे॥ १॥

**सन्धीयमान** इति। *क्लेशा [2-]अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा[-2] यथा॥ २॥

किञ्च **तस्येति**। तस्य [3]ध्रुवस्य [4-]आर्षास्त्रम्[-4] ऋषेर्नारायणादुद्भूतमस्त्रं प्रयुञ्जतः सन्दधतः सतः सुवर्णमयाः पुङ्खाः मूलप्रान्ता येषाम्। कलहंसानां वासांसि पक्षा येषां ते, शरा विनिस्सृता इति द्रष्टव्यम्। उपरिष्टाच्छिलीमुखग्रहणात्॥ ३॥

---

1. A, B, G, I, J, T. V गु° * This commentary is not found in V. 2--2. J, Va रागादयो 3. B, J, V, Va omit ध्रुवस्य 4--4. V आर्षम्

**तैरिति**। प्रधने युद्धे उन्नद्धा उच्छ्रिता फणा येषां ते, अहयः[1] सर्पाः ॥ ४ ॥

**स इति**। पृषत्कैर्बाणैः निकृत्ता बाह्वादयो येषां तान्। परं लोकं निनाय। कथम्भूतं लोकम्[2]? ऊर्ध्वरेतसः सन्न्यासिनोऽर्कमण्डलं निर्भिद्य यं व्रजन्ति तम् ॥ ५ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

मुनिभिरेवमाशंसितो ध्रुवः स्वधनुःप्रयुक्तनारायणास्त्रो विनाशितप्रतिपक्षः स्वपितामहानुनीतहृदयः स्वपुरं गत इत्याहैकादशेन मुनिः **निशम्येति**। एवं वदतामृषीणां[3] निशम्य श्रुत्वा वच इति शेषः। उपस्पृश्य अप इति शेषः। आचम्येत्यर्थः। यन्नारायणेन[4] निर्मितं तन्नारायणास्त्रं सन्दधे ॥ १ ॥

एतस्मिन्नारायणास्त्रे सन्धीयमाने प्रयुज्यमाने सति गुह्यकैर्यक्षैर्निर्मिता मायाः हे विदुर! ज्ञानोदये सति यथा क्लेशा रागद्वेषादय इव क्षिप्रमाशु विनेशुः नाशं प्राप्ताः ॥ २ ॥

आर्षम् ऋषेर्नारायणादुद्भूतमस्त्रं धनुषि तस्य ध्रुवस्य प्रयुञ्जतः सन्दधतस्सतः स्वर्णमया पुङ्खा मूलप्रान्ता येषां ते। [5-]कलहंसानां वासांसि पक्षाः येषां ते शरा विनिस्सृताः धनुषो विनिर्गताः, द्विषतां बलमाविविशुः आविष्टवन्तः, भीमः भयङ्करो रवो ध्वनिः येषां ते। शिखण्डिनः मयूरा यथा वनं विशन्ति तद्वत्। भीमरवा इति दार्ष्टान्तिकेऽप्यन्वेतव्यम् ॥ ३ ॥

तैः तिग्मधारैस्तीक्ष्णधारैः शिलीमुखैर्बाणैः प्रधने युद्धे उपद्रुताः ताड्यमानाः पुण्यजनाः इतस्ततः तं ध्रुवं प्रकुपिताश्च ते ऊर्ध्वमुद्धृतायुधास्सन्तः उन्नद्धा उच्छ्रिता[6] फणा येषां ते, अहयः सर्पा इव सुवर्णं गरुडम् अभ्यधावन् ॥ ४ ॥

मृधे युद्धे अभिमुखं धावतः पृषत्कैर्बाणैर्निकृत्ताः सञ्छिन्ना बाह्वादयो येषां तान्, पुण्यजनान् परं लोकं निनाय, कथम्भूतम्? ऊर्ध्वरेतसः सन्न्यासिनः अर्कमण्डलं निर्भिद्य यं व्रजन्ति ॥ ५ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

असुरमायाविनाशे समर्थं नारायणास्त्रमिति जानन् ध्रुवो मुनिभिरपि तदेवोपदिष्टमिति निरूप्य तदस्त्रं धनुषि सन्दध इत्याह - **निशम्येति** ॥ १ ॥

---

1. B, J, V, Va omit अहयः 2. B, J, V, Va omit लोकम्? 3. W ग° 4. A, B, T °णनि° 5--5. A, B, T omit 6. A, B, T °ताः

[1]मुनय ऊचु[1]:

**औत्तानपादे[2] भगवांस्तव शार्ङ्गधन्वा देव· क्षिणोत्ववनतार्तिहरो विपक्षान्।**

**यन्नामधेयमभिधाय निशम्य चाद्धा लोकोऽञ्जसा तरति दुस्तरमङ्ग मृत्युम्॥ ३०॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्या अष्टादशसाहस्र्या

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्याया पारमहस्या सहिताया

चतुर्थस्कन्धे दशमोऽध्याय ॥ १०॥

**श्रीध० अहय** इति। अशनिवन्निश्शवासो येषाम्॥ २६, २७॥

**एवंविधानीति**। त्रासनानि भयङ्कराणि। तिग्मा क्रूरा गति प्रवृत्ति[3] येषाम्। असुरराक्षसादिशब्दैरदूरान्तरत्वेन यक्षा एव उच्यन्ते॥ २८॥

**ध्रुव इति**। तस्य श कल्याणमाशसन् प्रार्थितवन्त ॥ २९॥

**औत्तानपाद** इति। तव विपक्षान् शत्रून् नाशयतु। अद्धा साक्षात्। अञ्जसा सुखेनैव मृत्यु तरति॥ ३०॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीधरस्वामिविरचिताया भावार्थदीपिकाया

व्याख्याया दशमोऽध्याय ॥ १०॥

**वीर०** अशनिवन्निश्श्वासो येषा ते, अहय सर्पा अक्षिभिरग्नि वमन्त उद्गिरन्त क्रुद्धा गजा सिहा व्याघ्राश्च यूथश सङ्घश अभ्यधावन् अभिमुख तूर्णमागतवन्त ॥ २६॥

ऊर्मिभि तरङ्गै भीमो भयङ्कर समुद्र सर्वत[4] समन्तात् ध्रुव प्लावयन् प्रलय इव महान् ह्राद[5] ध्वनि यस्य अत एवातिभीषण आससाद प्राप्त ॥ २७॥

उक्तविधान्यन्यानि च अमनस्विनामज्ञाना त्रासकानि भयङ्कराणि। तिग्मा क्रूरा गति प्रवृत्तिर्येषां तेऽसुरा मायया ससृजु ॥ २८॥

---

1--1 V W omit 2 I W °द 3 V omits प्रवृत्ति 4 A, B, T, omit सर्वत 5 A, B, T omit ह्राद

असुरैः ध्रुवे प्रयुक्तामतिदुस्तरां तां मायां निशाम्य[1] दृष्ट्वा आगताः सर्वे मुनयः तस्य ध्रुवस्य शं सुखं मङ्गलमाशंसन् प्रार्थितवन्तः ॥ २९ ॥

आंशसामेव विवृणोति - **औत्तानपादेति**[2]। अङ्ग ! हे औत्तानपाद[3] ! ध्रुव ! अवनतार्तिहरः भृत्यदुःखापहर्ता शार्ङ्गधन्वा[4-4] भगवान् देवः तव विपक्षान् शत्रून् क्षिणोतु नाशयतु। भगवन्तं विशिनष्टि यस्य भगवतो नामधेयं निशम्य श्रुत्वा अभिधाय उक्त्वा वा[5] लोकः अद्धा साक्षात् अञ्जसा सुखेनैव दुस्तरं मृत्युं[6] तरति ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

**विज०** "दृषद्रलयोरश्म वेश्म धामप्रवेशयोः" इत्यभिधानात् अश्मवर्षिण इति अहिविशेषणं वा, अहयश्च निपेतुः अशनिः मेघवह्निज्वाला तद्वन्निश्वासो येषां ते तथा ॥ २६ ॥

ह्रादो नादः ॥ २७ ॥

अमनस्विनां मनोबलरहितानां तिग्मगतयः तीक्ष्णप्रवृत्तयः, आसुर्या असुरजनप्रियया ॥ २८ ॥

स्वकर्तव्यतया मुनयो भगवत्प्रसादेन सर्वत्राजिताय ध्रुवाय हितपुपदिशन्तीत्याह - **ध्रुव** इथि। सं[7] सुखं "समभेदे[8] समीचीने सुष्ठु पूजा सुखेषु च" (वैज.को. 8-7-8) इति यादवः। "पवौ शसाविति प्राच्याः" इति सूत्राद्वा सं सुखमिति ज्ञायते ॥ २९ ॥

यन्नामधेयमभिधायेत्यनेन भगवन्नाम स्मृत्वाऽऽभिधाय युध्यतस्तव शत्रुजयः स्यादित्युपदिष्टमिति ज्ञातव्यम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेपारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

---

1. A, B, T निशम्य 2. A, B, T °द इति। 3. A, B, T पादे ! 4--4. T omits 5. A, T omit वा 6. A, T omit मृत्युं 7. A, B, Ma शं 8.A, Ma शं

तस्यापराधिनः सङ्गात् तदपरित्यागात् तेऽप्यपराधिन इति सूक्ष्मदर्शनं भागवतानां नोपपन्नमित्याह - **नायमिति**। आत्मानं मनः असङ्गृह्य अनियम्य पशुवत् मूढवत्॥ १०॥

**सर्वभूतात्मभावेन भूतावासं हरिं भवान्।**

**आराध्याऽऽप दुराराध्यं विष्णोस्तत्परमं पदम्॥ ११॥**

**स त्वं हरेरनुध्यातः[1] तत्पुंसामपि सम्मतः।**

**कथं त्ववद्यं कृतवाननुशिक्षन् सतां व्रतम्॥ १२॥**

**तितिक्षया करुणया मैत्र्या चाखिलजन्तुषु।**

**समत्वेन च सर्वात्मा भगवान् सम्प्रसीदति॥ १३॥**

**सम्प्रसन्ने[2] भगवति पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः।**

**विमुक्तो[3] जीवनिर्मुक्तो ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ १४॥**

**भूतैः पञ्चभिरारब्धो[4] योषित्पुरुष एव[5] हि।**

**तयोर्व्यवायात्सम्भूतिर्योषित्पुरुषयोरिह॥ १५॥**

श्रीध. त्वं[6] च बाल्ये साधुः सन्[7] इदानीं कथमन्यथा कृतवानित्याह - **सर्वभूतात्मभावेनेति** द्वाभ्याम्॥ १२॥

**स इति**। अनुध्यातो[8] हरेः हृदि स्थितो[9] विज्ञातो[10] वा तत्पुंसां हरिदासानामपि साधुत्वेन[11] सम्मतः॥ १२॥

सतां व्रतमेवाह - **तितिक्षयेति**। महत्सु तितिक्षया, नीचेषु करुणया, समेषु मैत्र्या अखिलेषु जन्तुषु समत्वेन च॥ १३॥

ततः कृतार्थो भवतीत्याह - **सम्प्रसन्ने** इति। सम्प्रसन्ने सति गुणैर्विमुक्तोऽत एव तत्कार्येण जीवेन लिङ्गशरीरेण निर्मुक्तस्सन् निर्वाणं सुखात्मकं ब्रह्म प्राप्नोति॥ १४॥

भ्रातृहन्तृत्वमङ्गीकृत्योक्तम् - इदानीं तु नात्मनो भ्रातृपुत्रादिसम्बन्धो न चान्योन्यं हन्तृत्वादिकमपीत्याह - **भूतैरिति**

---

1. M, Ma, Ms ध्याता; W ध्यानात् 2. W सुप्र° 3. W °क्तोऽजीव 4. A, B, G, I, J, T °ब्धैः 5. V च 6. V adds यः 7. V स 8. V omits हरेः 9. J, V, omit विज्ञातो 10. V omits वा 11. A, B, J, Va मतः

[1]दशभिः । भूतैः पञ्चभिरारब्धैर्देहाद्याकारेण परिणतैः योषित्पुरुषश्चेति प्रसिद्धिः[2] । तयोर्व्यवायात् मैथुनात् सम्भूतिः अन्ययोर्योषित्पुरुषयोरिह संसारे भवति ॥ १५ ॥

**वीर.** सत्यं भगवद्भक्तानामयं मार्गो न भवतीति मम तु उचितमित्यत्राह - **सर्वभूतात्मभावेनेति** । आवसन्त्यस्मिन्नित्यावासः आवसतीति वा आवासः भूतानामावासं धारकमन्तरात्मानं इतरैरब्रह्मात्मकस्वतन्त्रवस्तुदर्शिभिः दुराराध्यं हरिं सर्वभूतात्मभावेन सर्वभूतान्तरात्मत्वेनाऽऽकारेणाराध्यं परमं सर्वोत्कृष्टं तत् प्रसिद्धं विष्णोः पदं लोकम् आप प्राप्तवानसि । इतः पूर्वमप्राप्तमपि भगवता दत्तत्वात्प्राप्तप्रायमिति मत्वा आपेत्युक्तम् ॥ ११ ॥

हरेरनुध्यानात् भजनात् सः हरिभक्तस्त्वं तत्पुंसां हरिभक्तानामपि सम्मतः भागवतोत्तमत्वेन सम्मतः सतां साधूनां व्रतम् [3]अनुशिक्षन्[3] अनुशिक्षयन् लोकस्येति शेषः । कथम् अवद्यं वक्तुमप्यनर्हं पापं कृतवान् भगवद्भक्तस्य नितरामेतदनुचितमित्यर्थः ॥ १२ ॥

भूतद्रोहेण भगवद्भक्तेः को विरोध इत्यत्राह - **तितिक्षयेति** । तितिक्षया अपराधिषु सहनेन करुणया परदुःखासहिष्णुत्वेन अखिलजन्तुषु तरतमभावेन व्यवस्थितजन्तुषु[4] मैत्र्या स्वसाम्यबुद्धिकृतहिताचरणेन समत्वेन देहाकारान् प्रकृतिपरिणामत्वेन जीवान् ज्ञानैकाकारत्वेन, परमात्मानं तु सर्वान्तरात्मत्वेनेत्येवंरूपसमत्वेन वा सर्वात्मा भगवान् सम्प्रसीदति । सर्वात्मेति हेतुगर्भं, भगवतः सर्वात्मकत्वात् [5]सर्वान्तरात्मतया देवमनुष्यादिरूपेणावस्थितत्वात् सर्वेषां शरीराणामीश्वरशरीरत्वेन शरीरकृतो द्रोहः शरीरिण्यात्मन्येव भगवति पर्यवस्यतीति [6]भूतद्रोहे भगवान् न प्रसीदतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

भगवत्प्रसादफलमाह - **सुप्रसन्न** इति । पुरुषः सर्वात्मब्रह्मोपासनपरः पुमान् तितिक्षादिभिः भगवति प्रसन्ने सति प्राकृतैः [7]कामक्रोधादिभिर्जीवद्दशायां विमुक्तः अन्ते अजीवात् प्रकृतेः नितरां मुक्तः निर्वाणं निरतिशयानन्दरूपं ब्रह्म ऋच्छति प्राप्नोति ॥ १४ ॥

एवं सर्वभूतसुहृत्त्वादीन् भगवत्प्रसादहेतून् प्रसादफलभूतां ब्रह्मप्राप्तिं चाभिधाय तत्त्वोपदेशमन्तरेण भ्रातृमरणदुःखितस्यास्य न मनः प्रशाम्यतीत्यभिप्रेत्य न भ्रातृहननकर्मत्वं नापि यक्षाणां कर्तृत्वं, किन्तु दैवमेव कारणमिति वक्तुं भ्रात्रादिशरीराणामुत्पत्ति-मरणादिकं यथावद्विवेचयन् तदुपयुक्तमीश्वरस्यानन्तविविधशक्तिमत्त्वमाह - **भूतैरिति** । पञ्चभिर्भूतैः पृथिव्यादिभिः आरब्धः देवमनुष्यादिशरीररूपेण परिणतः योषित् पुरुषश्चेत्ययं द्विविधो जनः प्रसिद्धः । तयोः योषित्पुरुषयोरन्योऽन्यव्यवायान्मैथुनात् सम्भूतिरिह

1. V omits दशभिः 2. V °द्धम् । 3--3. W omits 4. A, B, T °तेषु 5. A, B, T add एतत् 6. A, B, T द्रुहे 7. A, B, T omit काम

भवति तस्मादुद्भूतं प्राणिजातमित्यर्थः। पञ्चभूतपरिणामरूपस्त्रीपुंसात्मक[1] शरीरद्वयसम्बन्धादुद्भूतमपि प्राणिजातं पञ्चभूतात्मकमेवेति भावः॥ १५॥

**विज.** इतोऽप्येकापराधेन बहूनां वधो न युक्तः, सर्वप्राणिनामन्तर्यामित्वेन हरिमुपास्य प्राप्ततत्प्रसादत्वादित्याह - **सर्वभूतेति**। सर्वभूतानामात्मभावेनान्तर्यामित्वेन भूतेषु प्राणिष्वावासो यस्य स तथा, भूतान्यावसन्त्यस्मिन्निति वा तम्॥ ११॥

प्राप्तपदत्वादद्य हरिणा किमिति भावो न तवास्तीत्याह - **सत्वमिति**। तस्य हरेः पुंसां भक्तानां सम्मतः ततः किं तत्राह - कथमिति॥ १२॥

किं तत्सतां व्रतम्? तेन किं फलम्? तत्राह - **तितिक्षयेति**। शत्रुषु शत्रुत्वदर्शनं सुहृत्सु सुहृत्त्वदर्शनं समत्वम्॥ १३॥

तत्प्रसादफलमाह - **सम्प्रसन्न** इति। ततः किं तत्राह - जीवेति। जीवत्वाभिमानात् नितरां मुक्तो भवति, तत्फलमाह - ब्रह्मेति। नित्यनिर्मुक्तशरीरं परमानन्दं वा ब्रह्म ऋच्छति आप्नोतीत्यन्वयः। ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मणि नाशमृच्छतीत्यङ्गीकारे मुक्तेः शून्यभावत्वेन न केनाप्याश्रितं[2] स्यात्॥ १४॥

सृष्टिप्रकारज्ञाने ततो विरक्तया प्रकृतिबन्धहानेच्छा स्यादतः तामाह - **भूतैरिति**। पुरुषो योषिच्चेति भावः। पञ्चभिः पृथिव्यादिभूतैरारब्धः सृष्टः। अतः परं कथं प्रारम्भ इत्यत आह - तयोरिति। इह जीवराशौ तयोर्योषित्पुरुषयोः व्यवायेन मैथुनधर्मेण सम्भूतिः करचरणादिविभागलक्षणं जन्म भवति। समित्यनेन पृथिव्यादिसंयोगेन जन्म सूचयति॥ १५॥

**एवं प्रवर्तते[3] सर्गः स्थितिः संयम[4] एव च।**
**गुणव्यतिकराद्राजन् मायया[5] परमात्मनः[6]॥ १६॥**

**निमित्तमात्रं तत्राऽऽसीत्[7] निर्गुणः पुरुषर्षभः।**
**व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं यत्र भ्रमति लोहवत्॥ १७॥**

**स खल्विदं भगवान् कालशक्त्या[8] गुणप्रवाहेण[9] विभक्तवीर्यः।**
**करोत्यकर्तैव[10] निहन्त्यहन्ता चेष्टा विभूम्नः खलु दुर्विभाव्या॥ १८॥**

---

1. A, B, T पुरुषात्मक 2. B, M, Ma °प्यर्थित्वं (तं?) 3. W वर्तितस्सर्गः 4. M, Ma, Ms प्रलय 5. W मायायाः 6. A, T °ना
7. M, Ma, Ms °त्मा 8. M, Ma, Ms योग 9. M, Ma, Ms °षु 10. M, Ms, T, V °तैव

**सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः ।**

**जनं जनेन जनयन्मारयन्मृत्युनाऽन्तकम्[1][2] ॥ १९ ॥**

**न वै[3] स्वपक्षोऽस्य विपक्ष एव वा परस्य मृत्योर्विशतः समं प्रजाः ।**

**तं धावमानमनुधावन्त्यनीशा यथा रजांस्यनिलं भूतसङ्घाः ॥ २० ॥**

**श्रीध. एवमिति** । एवं तावत् सर्गः प्रवर्तते । एवं पालकाकारेण[4] परिणतैः भूतैरेव स्थितिर्हन्तृदेहाकारेण परिणतैः संयमः संहारः । स च परमात्मनो मायया[5-] गुणानां[-5] व्यतिकरात्[6] न तु स्वतः ॥ १६ ॥

ननु जडानां देहानां गुणानां[7] वा कथं सर्गादिहेतुत्वं, तत्राह - **निमित्तमात्रमिति** । निमित्तमात्रं पुरुषर्षभः ईश्वरः यत्र यस्मिन्निमित्ते सति कार्यकारणात्मकं विश्वं भ्रमति परिवर्तते यथाऽयस्कान्ते निमित्ते सति लोहं प्रवर्तते तद्वत् ॥ १७ ॥

ननु स चेन्निमित्तं तर्हि तस्याविशेषाद्युगपदेव सर्गादित्रयं भवेदत आह - **स खल्विति** । कालशक्त्या क्रमेण गुणानां प्रवाहः क्षोभस्तेन विभक्तं सृष्ट्यादिविषयं वीर्यं शक्तिः यस्य सः । ननु कालोऽपि गुणान्युगपदेव क्षोभयतु तत्राह । चेष्टा कालशक्तिः दुर्विभाव्याऽचिन्त्या ॥ १८ ॥

ननु पित्रादिः सृजति, पालयति, राजादिः, निहन्ति च चोरादिः न तु ईश्वरस्तत्राह - **स इति** । जनेन पित्रादिना जनं पुत्रादिं जनयन् आदिकृत् अन्तकं चोरादिकं तन्मृत्युहेतुना[8-] राजादिना[-8] मारयन्नन्तकरः स्वयं त्वनन्तोऽनादिश्च अव्ययः अक्षीणशक्तिश्च । अयं भावः - पित्रादयोऽन्यत उत्पत्यादिमन्तो न स्वातन्त्र्येण कारणं किन्तु ईश्वर एव तन्नियन्ता सर्वकारणमिति ॥ १९ ॥

न चैवं कुर्वतोऽपि वैषम्यप्रसक्तिः पक्षपाताभावादित्याह - **न वा** इति द्वाभ्याम् । मृत्युरूपस्य समं यथा भवति तथा[9] प्रजाः कर्मभूता विशतः तस्य साम्येऽपि भूतेषु फलवैषम्यं तत्कर्मवशादिति सदृष्टान्तमाह । तं धावन्तम् अनु धावन्ति[10] अनीशाः कर्माधीनाः भूतसङ्घा धावन्ति अनिलं धावन्तमनु रजांसीव तत्र यथा रजसां तमःप्रकाशजलाग्न्यादि प्रवेशेऽपि[11] न अनिलस्य वैषम्यम्, एवमीश्वरस्याऽपीति भावः ॥ २० ॥

---

1. M, Ma, Ms °नात्मनः 2. W °गम् 3. W नैव 4. B, J, V, Va °रप° 5--5. V मायागुणात्मनां 6. V adds सम्बन्धात् भवति
7. Va omits गुणानां 8--8. B, J, V, Va omit 9. Va omits तथा 10. A, B, J, Va omit धावन्ति 11. V °शादपि

**वीर.** एव व्यष्टिसर्ग उक्त । अथ सर्वशरीराणा पञ्चभूतारब्धत्वेऽपि कदा [1]सर्वभूतात्मक[1] भूतसृष्टि तै शरीरारम्भस्थितिकारण सहारकारण च कि, तच्च द्वय कदा ? कदा वा ईश्वरकृत्य च, कि तद्रूपमित्यत्राह - **एवमिति**[2]। एव यथा स्त्रीपुसात्मको जन तद्व्यवायसम्भव, एव परमात्मन मायाया परमात्माधिष्ठिताया तच्छरीरभूताया मायाया गुणाना सत्त्वादीना व्यतिकरात् तारतम्येन सम्बन्धात् हे राजन् ! ध्रुव ! सर्ग सृष्टि स्थिति सहारश्च प्रवर्तते। तत्र रजसो वृद्धावितरयोर्हासे सर्ग , सत्त्वस्य वृद्धौ इतरयो हासे स्थिति , तमसो वृद्धौ तु सयम , त्रयाणा साम्ये त्रितयाभाव ॥ १६ ॥

ननु स्त्रीपुसात्मकशरीराणा वैषम्येण सम्बद्धाना गुणाना वा जडत्वेन प्रवृत्तिशून्याना व्यष्टिसमष्ट्यात्मना कथ परिणाम सामर्थ्यम् ? सामर्थ्येऽपि कथ देवमनुष्यादिवैचित्र्य, सुखदु खतारतम्य चेत्यत्राह - **निमित्तमात्रमिति**। निमित्तमेव निमित्तमात्र न त्वनिमित्तमित्यर्थ । तत्र गुणाना महदाद्याकारेण परिणाम, [3]महदादीना देहाद्याकारेण परिणामे च[3] देवादिवैचित्र्ये सुखदु खयोश्च निर्गुण सत्त्वादिगुणरहित पुरुषर्षभ ईश्वर निमित्तमात्र गुणाना परिणामस्य तेषा तत्स्वाभाव्यनिबन्धनत्वाद् देवादिवैचित्र्यस्य सुखदु खतारतम्यस्य च कर्मनिबन्धनत्वादीश्वर साधारणकारण कालाकाशादिवदित्यर्थ । निमित्तत्वमेव दृष्टान्तत्वेन विशदयति। यत्र परमात्मभि निमित्ते अयस्कान्तसन्निधौ लोहवत् इद व्यक्ताव्यक्तम् अव्यक्त प्रधान तत्कार्य महदादि व्यक्त कार्यकारणात्मक विश्व भ्रमति प्रवर्तते। अत्र लोके मृत्युकालयो विभिन्नयोरेव निमित्तत्वोपादनत्वदर्शनादुपादानस्य परमात्मनो जगत्सृष्ट्यादिनिमित्तत्वानुपपत्तिरितीमा [4]शङ्का निराचिकीर्षुणा मात्रपद प्रयुक्त, न तु उपादाननिराचिकीर्षया परमात्मनो मायाया गुणव्यतिकरादित्युपादानत्वाभिधानात् सम्बन्धसामान्याभिधायिन्या अपि षष्ठ्या "यस्याव्यक्त शरीरम्" (सुबा उ 2-7) इत्यादिश्रुत्यनुसारेण शरीरात्मभाव रुपसम्बन्धविशेषे पर्यवसानात् शरीरस्य कार्योपयोग्यपृथक्सिद्धाकारत्वात् श्लक्ष्णतादिविशिष्टमृदादिकार्यभूतघटादीनामिव महदादिकार्याणा प्रकृत्यादिशरीरकपरमात्मकार्यत्वात् । अत्र निर्गुण इत्यनेन सत्त्वादिगुणवश्यत्वायत्तकर्तृत्वसुखदु खादि-[5]भागजीववैलक्षण्यमभिप्रेतम् ॥ १७ ॥

तदेव विशदयति - **स इति**। भगवान् हेयप्रतिभटपूर्णषाड्गुण्य कालशक्त्या कालात्मिकया स्वापृथक्सिद्धकार्योपयो-गिविशेषणभूतया शक्त्या गुणक्षोभहेतुभूतया यो गुणाना सत्त्वादीना प्रवाह [6]सर्ग तेन विभक्तवीर्य विभक्त कर्मायत्तदेवमनुष्या-दिवैचित्र्येण सुखदु खतारतम्येन च व्यवस्थापित वीर्य शक्ति जगदिति यावत्। "एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा। परस्य

---

1--1 A, B T omit 2 A, B T omit तत् 3--3 A, B T omit 4 A, B T आशङ्का 5 A T भोगजीव 6 A B T omit सर्ग

ब्रह्मण शक्तिस्तथेदमखिल जगत् ॥'' (विष्णु 1-22-56) इत्युक्तत्वात्। अत्र स्यामित्यध्याहियते, विभक्तवीर्य स्यामिति। इद करोति सृजतीत्यन्वय । गुणक्षोभनिमित्तकालप्रकृतिपुरुषशरीरकोऽह जगत्सृष्ट्वाऽनन्तविविधविचित्रस्थिरत्रासरूप स्यामिति सङ्कल्पेनेद जगत्सृजतीत्यर्थ । यद्वा गुणप्रवाहेणेति हेत्वर्थे तृतीया। हेतुश्चात्र फलम्, अध्ययनेन वसतीतिवत्। ततश्च गुणप्रवाहेण गुणप्रवाहार्थ, प्रवाहशब्देन गुणकार्यसृष्ट्यादित्रय विविक्षत, सृष्ट्याद्यर्थ विभक्त वीर्य सृष्ट्याद्युपयुक्तसामर्थ्य येन स , ब्रह्म विष्णुरुद्ररूपो भूत्वेत्यर्थ । अकर्तैव देवादिवैचित्र्ये सुखदु खादौ चाकर्तैव देवादिवैचित्र्यादे तत्तज्जीवादृष्टायत्तत्वात्, इद जगत् करोति उत्पादयति तथा अहन्तैव स्वय हननाद्यनाश्रय एव हन्ति, ''चातुर्वर्ण्य मया सृष्ट गुणकर्मविभागश । तस्य कर्तारमपि मा विद्ध्यकर्तारमव्ययम्'' (भ गी 4-13) ''प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तय '' (विष्णु पु 1-4-51) इति स्मृते , ''हन्ता चेन्मन्यते हन्तु हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीत नाय हन्ति न हन्यते'' (कठ उ 2-19) इति श्रुतेश्च। अत्र कर्तृत्व, हन्तृत्व च प्रयोजकत्वरूपेण, अकर्तृत्व तु प्रयोज्यत्वरूपेणेति विवेक । नन्विदमघटमान कर्तृत्वमकर्तृत्व चैकस्मिन् कथमुपपद्यते तत्राह। विभूम्न भगवत ''भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य '' (छान्दो उ 7-23-1) इति श्रुते । चेष्टा दुर्विभाव्या अप्रतर्क्या खलु॥ १८॥

प्रयोजयितृत्वमेव विशदयति - **स इति**। स काल कालशरीरक परमात्मा जनेन पित्रादिना प्रयोज्यकर्त्रा जनमुत्पत्त्युन्मुख[1] पुत्रादि[2] जनयन् आदिकृत् अन्तग[3] विनाशोन्मुख मृत्युना प्रयोज्यकर्त्रा मारयन् स्वय त्वनादि उत्पत्तिरहित अव्यय नाशरहित अनन्त , अन्तकर । पित्रादिद्वारा जनक मृत्व्यादिद्वारा अन्तकर , न तु साक्षात्। अत साक्षादकर्तृत्व सद्वारक कर्तृत्व चैकस्मिन् विविधविचित्रानन्तशक्तिमतीश्वर उपपन्नमिति भाव ॥ १९॥

ननु प्रयोजयितृत्वमपि कथमीश्वरस्य उपपन्न वैषम्यनैर्घृण्यादिप्रसङ्गादित्यशङ्काया तत्कर्मानुरूप[4] प्रयोजयितु पक्षपाता-भावादुपपन्नमेव प्रयोजयितृत्वमित्याह - **न वा इति**। मृत्यों ससारात् परस्यास्पृष्टससारस्येत्यर्थ । यद्वा मृत्युशरीरकस्य ''यो मृत्युमन्तरे सञ्चरन् यस्य मृत्यु शरीरम्'' (सु ब उ 2-7) इति श्रुतेर्न परस्य परमात्मन सम यथा भवति तथा प्रजा कर्मभूता विशत तत्तत्कर्मानुरूपनियमनार्थमन्तरात्मतया प्रविशत न स्वपक्षेनापि विपक्षो वास्ति। पक्षपाताभाव दृष्टान्तेनोपपादयति - तमिति। यथा रजासि धावमानमनिलम् अनुसृत्य धावन्ति तथा अनीशा अनियन्तार कर्मानुरूपनियम्या इत्यर्थ । भूतसङ्घा तत्तत्कर्मानुसार धावमान नियन्तार परमात्मानमनुसृत्य धावन्ति प्रवर्तन्ते यथा हर्म्यतलश्वभ्रादिषु रजास्यनुनेतु न[5] वायो वैषम्यमस्तु इत्येव परमात्मन्यपीत्यर्थ ॥ २०॥

---

1 A, B T °खान्  2 A, B T °दीन्  3 A, B T °क  4 T गुण  5 W omits न

**विज.** न केवलमादिसर्गः किन्तु उत्तरात्राप्येवमेवेत्याह - **एवमिति**। स्थितिसंहारयोः सर्गविपरीतत्वात् कथं सर्गवदित्युच्यत इत्यत्राह - गुणव्यतिकरादिति। रज आदिगुणानां विषमसमवस्थाभेदकारणात् परप्रेरणामन्तरेण जडेभ्यो गुणेभ्यः एवं प्रवृत्तिः कथमत्राह - माययेति। परमात्मनो माययेच्छया प्रेरितेभ्य इति शेषः। इदम[1]त्राऽऽकूतम्। रजोगुणकार्यभूतारब्धदेहात् चेतनाधिष्ठितात् सर्गः पालकसत्त्वगुणकार्यभूतारब्धदेहात्[1] स्थितिः तमोगुणकार्यभूतारब्धदेहात्संयम इति च एतत्सर्वमीश्वरेच्छाधीनमिति॥ १६॥

एतदेव विशिनष्टि - **निमित्तमात्रमिति**। यत्र यस्येश्वरस्य सन्निधाने व्यक्ताव्यक्तं कार्यकारणात्मकमिदं विश्वं भ्रमति चेष्टते, किमिव ? अयस्कान्तस्य सन्निधाने लोहं सर्वं यथा, तथा सः निर्गुणः सत्त्वादिगुणशक्त्यनुपहतशक्तिरात्मा परमात्मा तत्र सृष्ट्यादौ निमित्तमात्रं न तु उपादानकारणम्॥ १७॥

तर्हि मुख्यकर्तृत्वं हरेर्गतमत्राह - **स खल्विति**। खलुशब्दोऽन्यकारणशक्तिनिषेधार्थः। स भगवान् योगशक्त्या गुणप्रवाहेषु सृष्ट्यादिषु तत्तत्क्रियानुसारेण विभक्तवीर्यो विभक्तमाहात्म्यः अक्लिष्टकर्तृत्वादकर्तेव जगत्करोति अहन्तेव शत्रुभावरहितत्वान्निहन्ति संहरति। अनेन हरेः समत्वभङ्गो निरस्त इति। एकस्य विरुद्धकर्तृत्वं कथमित्यत उक्तं - चेष्टेति। दुर्विभाव्या ज्ञातुमशक्याऽस्मादृशैरिति शेषः। कर्तृत्वसामान्यनिषेधो[2] "हरिरक्लिष्टकारित्वादयस्कान्तवदुच्यते। कामकर्मस्वभावेषु काले चावस्थितो हरिः। सर्वकारणभूतस्सन् तत्तन्नाम्नाभिधीयते॥" (सत्यसंहितायां) इति वाक्यविरुद्धं स्यादिति नायमर्थः शोभते॥ १८॥

दुर्विभाव्यत्वमाह - **सोऽनन्त** इति। य एवंविधः स हरिरस्य विश्वस्यान्तकरः स्वयमनन्तः स्वमारकमृत्युरहितः "अन्तोऽस्त्र्यवसिते मृत्यौ" (वैज.को. 6-5-5) इति यादवः। देवदत्तवत् स्वयं दण्डमादाय हन्ति किम् ? नेत्याह - काल इति। आयुरादिफलपाचकत्वात्। पूर्वापरत्वविशेषोऽपि नास्तीत्याह - अनादिरिति। न केवलमन्तकरः किन्तु आदिकृच्च। चौरवत्संवृतो न करोति अतोऽव्यय इति। अव्ययोऽसंवृतः निमित्तमात्रत्वं स्पष्टयन्नुक्तमेव द्रढयतिजनमिति। जनेन पित्रादिशरीरेण जनं पुत्रादिशरीरं जनयन् आत्मनोऽधीनेन मृत्युना कालरूपेण मारयन् शरीरवियोगं कारयन् वर्तत इत्यन्वयः॥ १९॥

एवं प्रवर्तमानस्य नैर्घृण्यादिदोषापत्तिर्नास्ति समत्वादित्याह - **न वा इति**। वा इत्यनेनावैषम्यादिसूत्रप्रसिद्धिं दर्शयति समं पुण्यपापानुसारेण। मृत्योः परस्य विलक्षणस्य। रुद्रादीनां मारकत्वादिकमेतत्कटाक्षोपक्षिप्तमिति भावेनाह - तं धावमानमिति॥ २०॥

---

1--1. A omits 2. A, B °धे

**आयुषोऽपचयं जन्तोस्तथैवोपचयं विभुः ।**

**उभाभ्यां रहितः स्वस्थो दुस्स्थस्य विदधात्यसौ ॥ २१ ॥**

**केचित्कर्म वदन्त्येनं स्वभावमपरे नृप ।**

**एके कालं परे दैवं पुंसः काममुतापरे ॥ २२ ॥**

**अव्यक्तस्याप्रमेयस्य नानाशक्त्युदयस्य च ।**

**न वै चिकीर्षितं तात को वेदाद्धा[1] स्वसम्भवम् ॥ २३ ॥**

**न[2] चैते पुत्रक भ्रातुर्[3]हन्तारो धनदानुगाः ।**

**विसर्गाऽऽदानयोस्तात पुंसो दैवं हि कारणम् ॥ २४ ॥**

**स एव विश्वं सृजति स एवावति हन्ति[4] च ।**

**तथापि[5] ह्यनहङ्कारान्नाज्यते[6] गुणकर्मभिः ॥ २५ ॥**

**श्रीध. आयुष** इति । अपचयम् अकालमृत्युम् । उपचयं कालमृत्योरपि रक्षाम् । यद्वा अपचयं मशकादौ, उपचयं देवादौ । [7]स्वस्थत्वात् [8]उभाभ्याम् उपचयापचयाभ्यां रहितोऽसौ विभुः दुस्स्थस्य कर्माधीनस्य [9-]जन्तोर्जीवस्य [-9]विदधाति [10]करोति ॥ २१ ॥

एवम्भूतश्चेश्वरः सर्ववादि[11]सम्मतो विवादस्तु नाममात्र इत्याह - **केचिदिति** । पुंसः कामं वात्स्यायनादयः । श्रुतिश्च "कामोऽकार्षीत्कामः करोति [12-]कामः कर्ता कामः कारयिता[-12]" (म.ना.उ. 14-3) [13]इत्यादिः ॥ २२ ॥

ननु कर्मादीनां [14]जडत्वात् स्वरूपतो[15]ऽपि [16]भिन्नत्वात् कथमैकमत्यं तत्राह - **अव्यक्तस्येति** । [17-]अव्यक्तस्य[-17] निर्गुणस्य अत एवाप्रमेयस्य । तथा[18]प्यस्य सत्त्वे हेतुः । नानाशक्तीनां महदादीनाम् उदयो यस्मात् । चिकीर्षितमेव तावत्कोऽपि न वेद अथ स्वस्य सम्भवो यस्मात् तमीश्वरं को [19]वेद न कोऽपि वेद । अद्धेति पाठे साक्षात् । अतः [20]तस्य तत्त्वज्ञानाभावात् विशेषांशे विवाद इत्यर्थः । तथा

---

1. A, B, G, I, J, T °थ स्व°; M, Ma, Ms °द्धाऽस्य° 2. M, Ma, Ms नैवेते 3. V °तृह° 4. W हन्त्यजः 5. A,G,I,J,M,Ma,Ms,T अ° 6. W निरह° 7. V adds स्वयं 8. B, J, V, Va omit उभाभ्याम् 9--9. B, J, V, Va omit 10. A, B, J, Va omit करोति 11. V °दीनां स° 12--12. V नाहं करोमि कामः कर्ता नाहं कर्ता कामः कारयिता नाहं कारयिता 13. B, J, V, Va °दि। 14. A, B, J, Va °त्वादिना 15. V omits अपि 16. V adds च 17-17. A,B, J, Va omit 18. B, J, V, Va omit अस्य 19. A, B, J, V, Va omit वेद 20. B, J, V, Va omit तस्य

च श्रुतिः ''को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः। अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव'' (ऋक्.सं. 10-129-6) इत्यादिः[1]॥ २३॥

ईश्वरवादस्य प्रकृतोपयोगमाह - **न चैत इति**। न चैते भ्रातुर्हन्तारः[2]। अत्रोक्तमेव[3] हेतुमनुवदति[4]। विसर्गाऽऽदानयोर्मृत्युजन्मनोः। यद्वा विसर्गः सृष्टिः आदानं संहारः। दैवमीश्वर एव हि कारणम्॥ २४॥

तथापि निर्लेपतामाह - **स एवेति**॥ २५॥

**वीर.** कर्मानुरूपनियमनमेवोपपादयति - **आयुष** इति। विभुः सर्वान्तरोऽसौ भगवान् जन्तोः कर्मवश्यस्य अत[5-] एव दुस्स्थस्य[-5] कर्मायत्तसुखदुःखादिभाजः आयुषः अपचयं ह्रासं तथा उपचयं वृद्धिं च स्वयमुभाभ्यामुपचयापचयाभ्यां रहितः अत एव स्वस्थः स्वेनैव हेयप्रतिभटकल्याणैकतानत्वस्वभावेन स्थितः विदधाति करोति, एवमुत्पत्तिमरणयोर्देवादिवैचित्र्यं[6] सुखदुःखयोश्चाद्वारकं कारणं तत्तत्कर्मैव। ईश्वरस्तु प्रयोजयितृ कारणमित्युक्तं भवति॥ २१॥

एवं सर्वभूतान्तरात्मानं स्वसङ्कल्पकृतजगदुदयविभावलयलीलं[7] सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वाद्यपरिमितोदारगुणसागरं तत्तत्कर्मानुरूपं जगन्नियन्तारं सर्वभूतसुहृदं परमात्मानमविज्ञाय एतमेव कालकर्मादिरूपेण विवदन्ते केचिदित्याह - **केचिदिति**। एवं सुखदुःखादिहेतुं केचित् कर्म पुण्यापुण्यरूपं कर्मेति वदन्ति। हे नृप ! अपरे स्वभावं प्रकृतिपुरुषयोः स्वरूपान्यथाभावस्वभावान्यथाभावरूपपरिणामस्वभावं वदन्ति। एके कालं सत्त्वादिगुणक्षोभहेतुं कालं वदन्ति। परे पुनः दैवं विधिम्। अपरे उत अपरे पुनः पुंसः परमपुरुषस्य कामं सङ्कल्पं वदन्ति। अयमेव पक्षः श्रेयान्। पुण्यापुण्यरूपस्य कर्मणः तज्जन्यादृष्टस्यापि भगवन्निग्रहानुग्रहरूपत्वेन तत्सङ्कल्पानतिरिक्तत्वात्, कालस्वभावयोरपि तत्सङ्कल्पायत्तत्वात्। पुंसो जीवस्य काम इति व्याख्यानं त्वयुक्तं, दुःखविषयस्य कामानुपपत्तेः। अतो यथोक्तार्थ एव साधुः॥ २२॥

पुंसः काममिति पक्षस्यैव साधुत्वं ज्ञापयन् कामस्य दुर्ज्ञेयत्वाह - **अव्यक्तस्येति**। हे तात ! अव्यक्तस्य व्यक्तैरिन्द्रियैर्न व्यज्यत इत्यव्यक्तः अत एवाप्रमेयस्य देशादिभिरपरिच्छिन्नस्य ऐन्द्रियकं हि सर्वं देशकालादिभिः परिच्छिद्य गृह्यते। अनेन विशेषणद्वयेन प्रकृतिपुरुषवैलक्षण्यसिद्धिः, प्रकृतेव्यक्तत्वात् पुरुषस्याणुत्वात्। उभयवैलक्षण्यापादकं विशेषणान्तरमाह नानाशक्तीनां विविधशक्तीनां ''पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'' (श्वेता.उ. 6-8) इति श्रुतेः। उदयः अभिव्यक्तिर्यस्मात्। तस्य

---

1. V °दि 2. V °र्तृह° 3. B, J, V, Va omit अत्र 4. V स्मारयति 5--5. A, B, T omit 6. A, B, T °हा° 7. A, B, T omit लीलं

भगवतः चिकीर्षितं कर्तुमिच्छाविषयं, कथम्भूतम् ? स्वसम्भवं स्वस्य लोकस्य सम्भवं जगदुत्पत्तिरूपं, सम्भवग्रहणं संहारादीनामप्युपलक्षणम्। अद्धा तत्त्वतः को लोको वेद न कोऽपीत्यर्थः। प्रकृतिपुरुषविलक्षणस्यानन्तविविधशक्तेः परमपुरुषस्य कर्तव्यतासङ्कल्पविषयं जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारादिरूपं व्यापारम्, एवंविध[1] इति तत्त्वतः कोऽपि न जानातीत्यर्थः। तथा च श्रूयते - "क इत्था वेद यत्र सः, क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः" (ऋक्.सं. 10-129-6) इत्यादिका। अत्र भगवत्स्वरूपस्यैवातीन्द्रियत्वात् तत्सङ्कल्पविषययोः सुतरां दुर्विज्ञेयत्वज्ञापनायाव्यक्तस्येत्युक्तम्॥ २३॥

एवमुपपादितं भगवत एवोत्पत्तिमरणादिनिमित्तत्वं प्रकृते उपसंहरति - **न चैत** इति। हे पुत्रक ! एते धनदस्य कुबेरस्यानुगा भृत्याः त्वद्भ्रातृहन्तारो न भवन्ति, किन्तु पुंसः कर्मवश्यस्य विसर्गाऽऽदानयोः उत्पत्तिमरणयोः दैवमीश्वर एव हि कारणम्॥ २४॥

नन्वीश्वरश्चेदुत्पत्त्यादिकारणं तर्हि जीववत्सोऽपि सत्त्वादिगुणविशिष्टत्वात् तत्प्रयुक्तजगद्व्यापाररूपक्रियाश्रयत्वाच्च गुणकर्मभिः बध्येत तत्राह - **स इति**। यद्यपि स एवेश्वर एव[2] विश्वं सृजति अवति रक्षति हन्ति च, तथापि अनहङ्कारात् देहात्मनोस्तादात्म्याभिमानोऽहङ्कारः तदभावात् गुणकर्मभिः गुणानां सत्त्वादीनां कर्मभिः गुणकार्यभूतैः कर्मभिर्नाज्यते न बध्यते। यद्यपि जगदुत्पत्त्यादीन् गुणकार्यभूतान् व्यापारान् करोति ईश्वरः, तथापि स्वशरीरभूत प्रकृतिपुरुषात्मकेषु देवादिपदार्थेषु स्वसङ्कल्पकृतोत्पत्तिस्थितिलयेषु स्वतादात्म्याभिमानाभावात्[3] स्वयमजहत्स्वभावत्वाच्च न कर्मभिर्बध्यते। जीवस्तु कर्मणा सङ्कुचितज्ञानत्वेन जहत्स्वाभाव्याद् देवादिशरीरेषु स्वतादात्म्याभिमानाच्च बध्यत इत्यर्थः॥ २५॥

**विज.** आयुरादिफलपाचकत्वेनान्तादिकर इत्युक्तं स्पष्टयति - **आयुष** इति॥ २१॥

बहवः कालकर्मादिकमस्योत्पत्त्यादेः कारणमिति सङ्गिरन्ते। तत्पदार्थतात्पर्यापरिज्ञानादिति सन्तोष्टव्यं, यतस्तत्तद्वस्तुषु स्थित्वा तत्तत्क्रियार्थप्रवर्तकत्वेन तत्तन्नाम्नाऽयमेवोच्यत इति भावेनाह - **केचिदिति**। केचिन्मीमांसकाः, अपरे चार्वाकादयः, एके पौराणिकादयः, परे मौहूर्तिकाः, अपरे वात्स्यायनकोविदाः 'कामकर्मस्वभावेषु' (सत्यसंहितायां) इति वचनात् अयमेव निश्चीयत इति॥ २२॥

कामकर्मादिशब्दानां कथं निर्वचनं, येन तेषां भगवद्विषयत्वं ज्ञायत इति तत्राह - **अव्यक्तस्येति**। प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयश्चेत् शून्यकल्पोऽयमित्यत उक्तं नानाशक्तीति। कर्मादिनानाशक्तीनामुदयो यस्मात् स तथोक्तस्तस्य। अनेन परिशेषप्रमाणसिद्धिं सूचयति चिकीर्षितं कर्तुमिष्टं कर्म अस्य सम्भवमुत्पत्तिं निरुक्तिप्रकारं[4] च को ब्रह्मा वेत्ति चेत् सोऽप्यद्धा न जानातीत्यर्थः॥ २३॥

---

1. A, B, T omit स्व  2. A, B, T omit एव  3. A, B, T omit स्व  4. A, B °क्त°

एवं सर्वत्र हरेः स्वातन्त्र्यमुपपाद्य फलितमाह - **नैवेति**। विसर्गाऽऽदानयोर्मरणजन्मनोः विसर्गस्यादानस्याङ्गीकारस्य चेति वा। हिशब्दो हेतौ॥ २४॥

किं तद्दैवमित्यतो यज्जगत्कारणं ब्रह्म तदेवात्रोक्तमिति सृष्ट्यादिविशेषणैः विशिनष्टि - **स एवेति**। कर्दमक्षेत्रप्रवृत्तदेवदत्तवत् अस्य गुणकर्मलोपो नास्ति। अहं कर्तेत्यभिमानाभावादित्याह - अथापीति॥ २५॥

**एष भूतानि भूतात्मा भूतेशो भूतभावनः।**

**स्वशक्त्या मायया युक्तः सृजत्यत्ति च पाति च॥ २६॥**

**तमेव मृत्युममृतं तात दैवं सर्वात्मनोपेहि[1] जगत्परायणम्।**

**यस्मै बलिं विश्वसृजो हरन्ति गावो यथा वै नसि दामयन्त्रिताः॥ २७॥**

**यः पञ्चवर्षो जननीं त्वं विहाय मातुः सपत्न्या वचसा भिन्नमर्मा[2]।**

**वनं गतस्तपसा प्रत्यगक्ष माराध्य लेभे मूर्ध्नि पदं त्रिलोक्याः॥ २७॥**

**तमेवमङ्गात्मनि[3] मुक्तविग्रहे[4] व्यपाश्रितं निर्गुणमेकमक्षरम्।**

**आत्मानमन्विच्छ[5] विमुक्तमात्मदृक्[6] यस्मिन्निदम्भेदमसत्प्रतीयते[7][8]॥ २९॥**

**त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ।**

**भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या ग्रन्थिं विभेत्स्यति ममाहमिति प्ररूढम्[9]॥ ३०॥**

**श्रीध.** अनहङ्कारत्वे हेतुमाह - **एष इति**॥ २६॥

सत्यमीश्वर एव कर्ता, तथापि अहङ्कारादिमत्तया[10] न त्यक्तुं शक्यमिति चेत् अत आह - तमेवेति चतुर्भिः। मृत्युमभक्तानां भक्तानां **तमेवेति** चतुर्भिः। मृत्युमभक्तानां भक्तानां त्वमृतम् उपेहि शरणं गच्छ। तमेवेत्यवधारणे हेतुः। यस्मै नसि नासिकायां दामभिर्बद्धा गाव इव विश्वसृजोऽपि नामभिर्यन्त्रिता बद्धास्सन्तो बलिं हरन्ति तत्कारितं कर्म कुर्वन्तीत्यर्थः॥ २७॥

तदाराधनं च तव सुशकमेवेत्याह[11] - **य इति**। यः पञ्चवर्षः सुशकमेवेत्याह - य इति। यः पञ्चवर्षः[12] स त्वं यमाराध्य त्रिलोक्या

---

1. M, Ma, Ms °पेहि 2. M, Ma व° 3. A, B, G, I, J, T °न° 4. M, Ma, Ms °हैः 5. M, Ma, Ms °ष्य 6. V °क्त आत्यदृक् 7. W °न्यस्मि° 8. M, Ma, Ms °दं भिन्न° 9. M, Ma °ढाम् 10. A, B, J, Va °दि मया 11. V सुकार° ; Va सुशक्य° 12. V सन्

मूर्ध्नि पदं स्थानं लेभे लब्धवानसि। इदानीं तमेव अन्विच्छ अवलोकयेत्युत्तरेणान्वयः। प्रत्यञ्चि अक्षाणि इन्द्रियाणि[1-] यस्मिन्[-1] तम्। क्रियाविशेषणं वा॥ २८॥

हरिं ध्यायन्तं प्रत्याह - **तमिति**। हे अङ्ग! ध्रुव! मुक्तविरोधे आत्मनि मनसि व्यपाश्रितम् अवस्थितं परमात्मानम्[2-] आत्मदृक् प्रत्यग्दृष्टिस्सन्[3-] अन्विच्छ[-3] अवलोकय अन्वेषणं कुर्वित्यर्थः[4-]। इदम्भेदम्[-4] इति समस्तं[5-] पदम्[-5]। अयं[6-] दृश्यमानो[-6] भेदो यस्मिंस्तदिदम्भेदमसदेव विश्वं यस्मिन् अधिष्ठाने[7] प्रतीयते॥ २९॥

तदन्वेषणफलमाह - **त्वमिति**। त्वं[8] तदा अन्वेषणकाल एव॥ ३०॥

**वीर.** एवं भ्रात्रादिशरीराणामुत्पत्तिमरणादिनिमित्तं निमित्तस्य च अनन्तविविधविचित्रशक्तियोगत्वम् अत एव नित्यमुक्तत्वं चाभिहितम्। अथ य एवम्भूतो भगवान् तमेव रागद्वेषादिभिर्विमुक्तस्त्वं सर्वात्मना भजस्वेत्याह - **एष** इत्यादिना। य एष भगवान् भूतात्मा भूतानां देवमनुष्यादीनामात्मा स किं जीवः? नेत्याह। भूतेशः "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" (भ.गी. 18-61) इत्युक्तरीत्या चिदचिदात्मकभूतानामन्तः - प्रविश्य तत्तत्कर्मानुरूपं नियन्ता न केवलं भूतेश एव, अपि तु तत्कारणं चेत्याह भूतभावनः। भूतानि भावयति उत्पादयतीति भूतभावनः, यद्वा भूतानि भावयति सृष्ट्यादिभिः सत्तादिमन्ति करोतीति भूतभावनः तथा भूतानां सत्तास्थितिप्रवृत्तिहेतुरित्यर्थः। कारणत्वमपि न निष्कृष्टस्वरूपेण अपि तु विशिष्टवेषेणेत्याह[9]। स्वशक्त्या कार्योपयोगिस्वापृथक्सिद्ध-विशेषणभूतया मायया युक्तः "माया वयुनं ज्ञानम्" (वेद.नि. 3-9) ज्ञानपर्यायोऽप्यत्र मायाशब्दो जीववाची। अनेन निर्विकारत्वश्रुतिविरोधोऽपि परिहृतः। विकाराणां प्रकृतिपुरुषगतत्वात्[10] भूतानि सृजति अत्तिसंहरति पाति रक्षति च॥ २६॥

तमुक्तविधं मृत्युमभजतां बन्धकं भजतां तु अमृतं मोचकं दैवं स्वतेजसा दीप्यमानं जगतां परमयनं प्राप्यं प्रापकमाधारं च सर्वात्मना सर्वप्रकारेण मनोवाक्कायैरित्यर्थः। सर्वात्मकपरब्रह्मभावेनेति वा। यद्वा प्राप्यं प्रापकमाधारश्चेति बुद्ध्या एतदेव जगत्परायणमित्यनेनाभिप्रेतम्। उपेहि शरणं गच्छ। युक्तं चैतदित्याह। यस्मै भगवते विश्वस्रष्टारश्चतुर्मुखमरीच्यादयः बलिं पूजां हरन्ति कुर्वन्ति। विश्वसृजो हरन्ति इत्यनेन सर्वेश्वरेश्वरत्वमुक्तं, विश्वसृजो हि सर्वेषामीश्वरास्तेषामपि पूज्य इति तत्सिद्धिः। ननु विश्वसृजो हरन्तु बलिं, तस्यापि गोब्राह्मणादिवत् पूज्यत्वादित्याशङ्कां निराकर्तुं दृष्टान्तमाह। गावो बलीवर्दाः यथा नसि नासिकायां

---

1--1. B, J, Va omit 2--2. B, J, V, Va omit 3--3. A, B, J, Va omit 4--4. B, J, Va omit 5--5. B, J, V, Va omit
6--6. B, J, , Va omit 7. B, J, V, Va omit अधिष्ठाने 8. V omits त्वं 9. A, B, T विशेषेणे° 10. A, B, T omit प्रकृति

दाम्ना सूत्रेण यन्त्रिताः प्रोताः पुरुषस्य कर्म कुर्वन्ति[1] तथा तद्वशं गता बलिं हरन्ति। अनेन सर्ववशित्वं सिद्धं, यस्य वशे सर्वं वर्तते स वशीत्युच्यते। तथा च श्रूयते "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः एष भूताधिपतिः एष भूतपालः एष सेतुर्विधरणः एषां लोकानामसम्भेदाय" (बृह.उ. 4-4-22) "न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गं स कारणं करणाधिपाधिपो, न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" (श्वेता.उ. 6-9) इति। यो यदधीनस्तस्य तदनुवर्तनं युक्तमिति भावः॥ २७॥

तव[2] तु विशिष्य तद्भजनमेव युक्तमाबाल्यं तत्रैवाभ्यस्तत्वादित्याह - **य इति**। यो भवान् पञ्चवर्षाणि अस्य, पञ्चवर्षस्सन् सपत्न्या मातुर्वचसा भिन्नं मर्म हृदयं यस्य सः, जननीं सुनीतिं विहाय वनं प्रविष्टः तत्र प्रत्यगक्षं प्रत्याञ्चि अक्षाणीन्द्रियाणि यस्मिन् कर्मणि यथा तथा अव्यापृतेन्द्रियमित्यर्थः[3]। क्रियाविशेषणमिदं यं भगवन्तमाराध्य विलोक्य मूर्ध्नि उपरिष्टात् पदं स्थानं लेभे लब्धवान्॥ २८॥

तमेवाऽऽत्मानं परमात्मानम् आत्मदृक् तच्छरीरभूतजीवात्मदर्शी अन्विच्छ अनुवर्तस्वेत्यन्वयः। अन्वेषणप्रकारमेवाह - अङ्ग ! हे ध्रुव ! यस्मिन् जीवात्मनि इदमसत् देवमनुष्यादिरूपं सततपरिणामि· वस्त्वसच्छब्दावाच्यं सततपरिणामिनो वस्तुन· उत्तरोत्तरावस्थाप्राप्तौ पूर्वपूर्वावस्थात्यागात् सर्वदा असदिति व्यपदेष्टुमनर्हत्वात्। तदुक्तं श्रीवैष्णवे पुराणे "मही घटत्वं घटतः कपाल· कपालिका चूर्णरजस्ततोऽणुः। जनैः स्वकर्मस्तिमितात्मनिश्चयैरालक्ष्यते ब्रूहि किमत्र वस्तु॥ यद्भाव एवं भवतो मयोक्तो ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्यत्। (विष्णु.पु. 2-12-42 & 45) "अनाशी परमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते॥ तत्तु नाशि न सन्देहो नाशिद्रव्योपपादितम्॥" (विष्णु.पु. 2-14-24) इति। विश्वं प्रतीयते असदित्यस्य विशेषणत्वे तु अस्मिन् जीवे इदं विश्वमसत् प्रतीयते अविद्यमानमेव प्रतीयते, स्वतो जीवे देवमनुष्याद्यात्मकं विश्वमविद्यमानमपि पुण्यापुण्यरूपकर्मणा प्रतीयते न तु मिथ्या प्रतीयते इत्यर्थः। तस्मिन् मुक्तविग्रहे निरवयवे आत्मनि जीवे व्यपाश्रितं व्यवस्थितं निर्गुणं निरस्तहेयगुणमेकं निस्समाभ्यधिकमक्षरं निर्विकारं विमुक्तं नित्यमुक्तं तमात्मानं एवमुक्तवक्ष्यमाणप्रकारेण अन्विच्छेत्यर्थः॥ २९॥

ननु उपासित एव मया भगवान् किमधुना भजस्वेत्युच्यते इत्याशङ्कायाम् अनिरस्ताहम्ममा[4]भिमानेन त्रिवर्गलिप्सुना त्वयोपासितो भगवान् अत एव प्राकृतं स्थानमगाः। इदानीं निर्हेतुकभक्तिं विधाय मोक्ष्यसीत्याह - **त्वमिति**। प्रत्यक् जीवः तस्यात्मनि जीवान्तरात्मनि प्रत्यक् आत्मा शरीरं यस्येति वा। पूर्णषाड्गुण्ये अनन्ते[5] त्रिविधपरिच्छेदरहिते आनन्दमात्रे आनन्दैकरसे न तु क्वापि जड इत्यर्थः। उपपन्नसमस्तशक्तौ उपगताशेषज्ञानबलक्रियादिशक्तौ परमपुरुषे त्वं परमाम् अहैतुकीम् अव्यवहितेत्युक्तविधां भक्तिं शनकैः समाहितचित्तः विधाय तदा ममाहमभिमानाभ्यां रूढमूलमविद्यात्मकं ग्रन्थिं विशेषेण निर्मूलं विभेत्स्यसि॥ ३०॥

1. A. B °न्तः 2. A, T भवतु 3. A, B, T °हं° 4--4. A, B, T मुनिराह ममा° 5. A, B, T omit अनन्ते

**विज.** अनेनापि गुणकर्मलेपः कथमुद्घाटित इति तत्राह - **एष इति**। स्वशक्त्या स्वाधीनया स्वरूपशक्त्या वा॥ २६॥

कार्यपदप्रयोगाभावान्नेदमनुष्ठातुं योग्यमित्याशङ्क्यैवंविधं दैवमिति गुणान्तरसमर्पणेनोपसंहरति - **तमेवेति**। अमृतं नित्यमुक्तं नसि नासिकायां, 'यन्त्र-बन्धन' इति धातुः, दम्ना यन्त्रिता बद्धाः॥ २७॥

श्रीनारायणप्रसादेनाऽवाप्तसमस्तसम्पदः तव तन्नियतभूतद्रोहो न घटत इति भावेनाह - **यः पञ्चवर्ष** इत्यादिना। सर्वप्राणिनः प्रत्यक् प्रतिगतमक्षमिन्द्रियं यस्य स तथा तम्। अनेन मया क्रियमाणं कर्म नाऽसौ पश्यतीत्येत्परिहृतम्॥ २८॥

विमुक्तविग्रहैर्योगिभिः व्यपाश्रितं निषेवितम्। अनेन भूतविग्रहोऽस्य प्रियो न भवतीत्युक्तम्। निर्गुणमावृत्तिशून्यम्। कुपितत्वात् पुनःप्रसादानभिमुखमित्यर्थः। भूतद्रोहे क्रुद्धस्यास्य तपसापि पुनःप्रसादापादनं दुष्करं तवेति ध्वनितम्। अनेन शब्दाद्यविषयं वा वागादिनापि प्रसादयितुं दुश्शकमित्यर्थः। कुतः निर्गुणमतीन्द्रियमिन्द्रियाविषयत्वादित्यर्थः। ''गुणस्त्वावृत्ति-शब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु'' (वैज.को. 6-1-20) इति यादवः। एवं केवलमक्षरं मूलकारणमात्मानं परमात्मानं विशिष्टा मुक्तिः यस्मात् स तथा तम्। एवंगुणविशिष्टं हरिम् आत्मनि हृदि अन्विष्यालोक्य भजस्वेत्यन्वयः। तत्स्वरूपं कीदृशमिति न प्रश्नार्हः इति भावेनोक्तमात्मदृगिति। पूर्वमात्मानं दृष्टवानिति यत्तस्मात् कथमित्यत उक्तं यस्मिन्निति। असदस्वतन्त्रं भिन्नं पञ्चविधभेदोपेतमिदं चेतनाचेतनात्मकं विश्वं यस्मिन् यदाधारतया प्रतीयत इति॥ २९॥

ननु आत्मदर्शिनो मम संसारपाशच्छेदः किमिति नाभूदित्यतः तादृग्गुणानुपसंहृत्य बिम्बोपास्त्यभावादतस्तथोपास्तौ स स्यादिति भावेन तदुपास्तिप्रकारं विदधान आह - **त्वं प्रत्यगात्मनीति**। प्रत्यगात्मनि तवाभिमुखे बिम्बरूपे भक्तिमुपास्तिलक्षणां सेवां अन्यत्रानुपपन्ना अत्रोपपन्ना अविरुद्धाः समस्ता अस्थूलानण्वादिलक्षणाः शक्तयो यत्र स तथा तस्मिन्॥ ३०॥

**संयच्छ शेषं भद्रं ते प्रतीपं श्रेयसां परम्।**

**श्रुतेन भूयसा राजन्नगदेन यथाऽऽमयम्॥ ३१॥**

**येनोपसृष्टात्पुरुषाल्लोक उद्विजते भृशम्।**

**न बुधस्तद्वशं गच्छेदिच्छन्नभयमात्मनः॥ ३२॥**

**हेलनं गिरिशभ्रातुर्धनदस्य त्वया कृतम्।**

**यज्जघ्निवान् पुण्यजनान् भ्रातृघ्नानित्यमर्षितः॥ ३३॥**

**तं प्रसादय वत्साशु सन्नत्या प्रश्रयोक्तिभिः।**
**न यावन्महतां तेजः कुलं नोऽभिभविष्यति॥ ३४॥**

## मैत्रेय उवाच

***इत्युक्तस्तं प्रणम्याऽऽह भगवंस्तेऽनुशासनम्।**
**आतिष्ठे भ्रातृमात्रोर्मे शोचतः क्षम्यतामिति॥**

**एवं स्वायम्भुवः पौत्रमनुशास्य मनुर्ध्रुवम्।**
**तेनाभिवन्दितः साकमृषिभिः स्वपुरं ययौ॥ ३५॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थक्सन्धे एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

**श्रीध.** उपदेशसारमाह - **संयच्छेति** द्वाभ्याम्। प्रतीपं प्रतिकूलम्। अगदेन औषधेन यथा रोगं नियच्छति॥ ३१॥

**येनेति**। येन रोषेण उपसृष्टात् व्याप्तात्॥ ३२॥

अन्यच्च त्वया कार्यमित्याह - **हेलनमिति** द्वाभ्याम्। यद्यतः पुण्यजनान्[2-2] जघ्निवान् घातितवान्॥ ३३, ३४, ३५॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे
श्री श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

**वीर.** यदर्थं तत्त्वोपदेशः तमाह - **संयच्छेति**। श्रेयसां पुरुषार्थानां परं केवलं प्रतीतं प्रतिकूलं रोषं भूयसा श्रुतेन तत्त्वश्रवणेन अगदेन औषधेन आमयं रोगं यथा तथा उपसंहरेत्यर्थः॥ ३१॥

रोषस्य श्रेयः प्रतीपत्वमेव प्रपञ्चयति - **येनेति**। येन रोषेण उपसृष्टात् व्याप्तात् पुरुषाल्लोकः भृशं नितरामुद्विजते बिभेति। लोकोद्वेजनात् अधर्मात् पुरुषार्थनाश इति भावः। आत्मनः स्वस्याभयं निश्श्रेयसमिच्छन् बुधो विद्वान् तद्वशं रोषवशं[3] न गच्छेत् न प्राप्नुयात्॥ ३२॥

किञ्च गिरिशस्य रुद्रस्य यो भ्राता तस्य कुबेरस्य[4-4] हेलनमवमानं त्वया कृतं यत् यतः पुण्यजनान् यक्षान् भ्रातृघ्नानिति बुद्ध्या

---

1. B °ण° * An additional verse is found in M, Ma, Ms only and the commentary on the same can be found at its proper place
2--2. A, B, J, Va omit 3. A, B, T omit रोषवशं 4--4. A, B, T कुबेरः तस्य

अमर्षितः क्रुद्धः जघ्निवान् घातितवान्। भ्रातृघ्नानित्यस्येतिशब्दान्वये प्रथमान्तत्वं यद्यपि न्याय्यं भ्रातृघ्ना इति बुद्ध्या जघ्निवान् इति क्रोडीकारात्, तथापि पुण्यजनविशेषणत्वदृष्ट्या द्वितीया प्रयुक्ता॥ ३३॥

तं धनदं सन्नत्या प्रणामेन[1] प्रश्रयोक्तिभिः[2] विनयवाग्भिश्च हे वत्स! आशु प्रसादय प्रसन्नं कारय। महतां धनदादीनां तेजः अस्माकं कुलं यावन्नाभिभविष्यति न नाशयति[3] ततः पूर्वमेवाशु प्रसादयेत्यर्थः॥ ३४॥

मनूक्तिमुपसंहरति मुनिः[4] - **एवमिति**। स्वायम्भुवो मनुः पौत्रं ध्रुवमेवमुक्तप्रकारेणानुशास्य आदिश्य तेन ध्रुवेणाभिवन्दितः[5] ऋषिभिस्सह स्वपुरं ययौ॥ ३५॥[6]

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवत चन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

**विज.** तत्र प्रथमसाधनमिदमित्याह - **संयच्छेति**॥ ३१॥

श्रेयसां प्रतिपत्वं कथमत्राह - **येनेति**। येन रोषेणोपसृष्टादुपरक्तात् सज्जनानुग्रहस्यापेक्षितत्वाल्लोको ज्ञानिजनोऽत्रोच्यते, 'लुक्-प्रकाश' इति धातोः॥ ३२॥

वैश्रवणस्य सत्स्वेकत्वेनास्यावज्ञाननिमित्तरोषोऽपि परिहरणीय इत्याह - **हेलनमित्यादिना**। वैश्रवणे हेलनमपि शिवावज्ञानं स्यात् तदवज्ञानेन श्रीनारायणविषयज्ञानमपि नोदेतीत्यभिप्रयेणोक्तं - गिरिशभ्रातुरिति। अत एव महतामिति बहुवचनम्॥ ३३, ३४, ३५॥

ध्रुवस्य च सत्तमत्त्वात् गुर्वनुशासनानुज्ञानं तथा मनोश्च पौत्रमभिनन्द्य स्वपुरगमनं वक्ति इत्युक्त इति। शोचत इत्यनेन पूर्व वैरानुसन्धानेन ध्रुवेण तूष्णीं स्थितं भ्रातृमातृमरणप्रतिक्रियां कर्तुं समर्थेनापीति जनश्रुतिं परिहर्तुमिव यक्षवधे प्रवृत्तमिति ध्वनयति॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीविजयध्वजतीर्थकृतायां पदरत्नावत्यां

टीकायां एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

---

1. A, B, T प्रणयेन 2. A, B, T प्रियोक्तिभिः 3. A, B, T नङ्क्ष्यति 4. A, B, T omit मुनिः 5. A, B, T नन्दितः 6. A, B, T add अभिमतः

# द्वादशोऽध्यायः

## मैत्रेय उवाच

ध्रुवं निवृत्तं प्रतिबुध्य वैशसा दपेतमन्युं[1] भगवान् धनेश्वरः ।
तत्राऽऽगतश्चारणयक्षकिन्नरैः संस्तूयमानोऽभ्यवद त्कृताञ्जलिम् ॥ १ ॥

## धनद उवाच

भो भो[2] क्षत्रियदायाद परितुष्टोऽस्मि तेऽनघ !
यस्त्वं[3] पितामहादेशा द्वैरं दुस्त्यज मत्यजः ॥ २ ॥

न भवा न्नवधी द्यक्षा न्न यक्षा भ्रातरं तव ।
काल एव हि भूतानां प्रभु रप्ययभावयोः ॥ ३ ॥

अहं त्व मित्यपार्था धीरज्ञाना त्पुरुषस्य हि ।
स्वाप्नी[4] वाऽऽभात्यतद्ध्याना द्यया बन्धविपर्ययौ[5] ॥ ४ ॥

तद्गच्छ[6] ध्रुव भद्रं[7] ते भगवन्त मधोक्षजम् ।
सर्वभूतात्मभावेन सर्वभूतात्मविग्रहम् ॥ ५ ॥

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्वादशे धनदेनाऽभिनन्दितः पुर मागतः । यज्ञै रिष्ट्वा हरेः स्थान मारुरोहेति कीर्त्यते ॥

ध्रुवमिति । वैशसात् वधात् निवृत्तं ध्रुवं[8] ज्ञात्वा ॥ १ ॥

**भो भो** इति । हे क्षत्रियदायाद ! क्षत्रियपुत्र ! अत्यजः त्यक्तवानसि ॥ २ ॥

न च वैरस्य कारण मस्तीत्याह - **न भवानिति** । अप्ययभावयोः मृत्युजन्मनोः ॥ ३ ।

---

1. M, Ma, Ms मन्युः 2. A, B, G, I, J, T भोः 3. W यत्त्वं 4. M, Ma °व 5. M, Ma, Ms भात्यनुध्या° 6. M, Ma, Ms °यः 7. W नृप 8. A, B, J, Va omit ध्रुवं

कथं तर्हि अस्य[1] अहं हन्तेत्यादि बुद्धिः तत्राह - **अहमिति**। आभाति प्रकाशते जायत इत्यर्थः। अतद्धयानात् देहानुसन्धानात्[2] यया धिया कर्मात्मको[3-] बन्धः[-3] विपर्ययो दुःखादिश्च ॥ ४ ॥

**तदिति**। तत्तस्माद्गच्छ गत्वा च भगवन्तं भजस्वेत्युत्तरेणान्वयः। सर्वभूतात्मको विग्रहो यस्य तम् ॥ ५ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं पितामहेन स्वायम्भुवेनानुशिष्टः औत्तानपादिः[4] पुण्यजनवधा न्निवृत्तः कुबेरा ल्लब्धवरः स्वधर्माराधितगोविन्दो गुप्ताखिलक्षितिमण्डलो लब्धध्रुवक्षिति र्बभूवेत्याह मुनिः द्वादशे[5] **ध्रुवमिति**[6]। स्वायम्भुवोपदेशेनापगतक्रोधम् अत एव वैशसात्[7-] पुण्यजनानां[8-] वधा न्निवृत्तं[-8] ध्रुवं[-7] प्रतिबुद्धय ज्ञात्वा भगवान् धनेश्वर स्तत्र ध्रुवसन्निधौ आगतः चारणादिभिः संस्तूयमानः बद्धाञ्जलिं ध्रुव मभ्यवदत् उवाच ॥ १ ॥

उक्ति[9] मेवाऽऽह - **भो भो** इति षड्भिः। हे क्षत्रियदायाद ! क्षत्रियपुत्र ! ध्रुव[10] ! क्रोधत्याग निमित्तहर्षातिशयात् द्विरुक्तिः, हे अनघ ! यक्षवधनिमित्तपापरहित ! ते तुभ्यं परितुष्टोऽस्मि। कुतः ? यद्यस्मात् पितामहस्य स्वायम्भुवस्यादेशा दनुशासनात् दुस्त्यजमपि वैर मत्यजः त्यक्तवानसि ॥ २ ॥

ननु नाऽह मनघः पुण्यजनहननकर्तृत्वनिमित्तपापसम्बन्धात् तत्रऽऽह - नेति। भवान् यक्षान् न हतवान्, नाऽपि यक्षा स्त्वद्भ्रातरं हतवन्तः। कुतः ? हि यस्मात् भूताना मप्ययभावयोः मरणोत्पत्त्योः कालः[11] कालशरीरक ईश्वर एव प्रभुः समर्थः[12-] कारण[-12] मित्यर्थः ॥ ३ ॥

ननु हन्तृत्वं तत्प्रयुक्तस्वेदश्रमादिकं च मया यक्षैश्चापरोक्ष मनुभूयमान मपह्नुत्य[13] ईश्वर एव कथं हन्ता इत्युच्यते तत्राह - **अहं त्वमिति**। पुरुषस्याज्ञानात् देहविलक्षणात्मयाथात्म्यज्ञानाभावात् अतत् देहः तस्य ध्यानात्। असद्ध्यानादिति पाठेऽप्यय मेवार्थः। अहं त्वमिति अत्र हन्तेत्यध्याह्रियते। सामर्थ्यात् देवादि देहेषु तत्संसृष्टेषु जीवेषु च अहं हन्ता त्वं हन्ता इत्येवंरूपा अत एवाऽपार्था अर्थशून्या। अहं त्व मिति प्रतीतौ योऽर्थो विषयः प्रत्यग्रूपः तद्रहिता हन्तेति प्रतीतौ योऽर्थो विषयः तद्रहिता च अन्यथाज्ञानविपरीतज्ञानरूपेति यावत्, "धीः[14] बुद्धिः स्वाप्नीव स्वाप्नधीरिव आभाति। धर्म्यन्तरे धर्मान्तरप्रतीति रन्यथाज्ञानं, यथा पीतः शंख इति शुक्ले पीतिम्नः प्रतीतिः। धर्म्यन्तरस्य धर्म्यन्तरत्वेन प्रतीति र्विपरीतज्ञानं - यथे दं रजत मिति। शुक्तित्वाश्रयस्य

---

1. A, B, J, Va omit अस्य 2. V देहात्मानु° 3. B, J, Va omit, V कर्मसम्बन्धः 4. A, B, T ध्रुवः 5. A मनुः 6. A, B, T °शेन 7--7. A, B, T मनूप 8--8. A, B, T यक्षाणां 9. A, B, T उक्त° 10. W omits ध्रुव ! 11. W omits क 12--12. W omits 13. A, B, T °ह्नुत्य 14. A, B, T omit धीः

धर्मिणो रजतत्वाश्रयत्वेन प्रतीतिः। हन्ताऽहमितिज्ञानं तु उभयविधमपि अहमर्थस्य देहरूपधर्मिणोऽहमर्थात्मरूपधर्म्यन्तरत्वेन प्रतीतेः विपरीत ज्ञानरूपत्वम्। अहन्तरि आत्मनि देहे च हन्तृत्वादिरूप धर्मान्तरप्रतीतेः अन्यथाज्ञानरूपत्वं च आभाति प्रतीयत इत्यर्थः। प्रतीतिः प्रमित्यप्रमितिसाधारणं ज्ञानम्। आत्मनोऽहन्तृत्वादिकं भगवता गीतं य एनं वेति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतं, उभौ तौ न विजानीतो नाऽयं हन्ति न हन्यते॥" (भ.गी. 2-19) इति यद्यपि अहन्तु रात्मनोऽज्ञाना द्धन्तृत्वा-दिप्रतीतिमात्रं तथाऽपि देहस्य तदस्त्ये वेति चेत्, मैवं, देहस्याऽपि नित्यं जातमृतस्य तदभावात्। तथा चोक्तम् - "अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्। तथाऽपि त्वं महाबाहो! नैनं शोचितु मर्हसि॥" (भ.गी. 2-26) नित्यं मृत मिति हेतुगर्भं नित्यं मृतत्वात् पुन रस्य मरणकर्तृत्वकर्मत्व[1] प्रयुक्तशोको न कार्य इत्यर्थः। एवं च हननकर्तृत्व कर्मत्वानाश्रययो र्देहात्मनो र्हन्तृत्वादिबुद्धि स्न्यथाज्ञान विपरीतज्ञान जनकानाद्य विद्यात्मकाज्ञान कार्यत्वात् स्वाप्नबुद्धिरिव बाधितविषयेति भावः। अज्ञानस्यानात्मन्यात्मबुद्धिरूप विपरीतज्ञानजनकत्व मुक्तम् - "अनात्म्यन्यात्मबुद्धि र्या अस्वे स्वमिति या मतिः। अविद्यातरुसम्भूतं बीज मेत द्विद्वधा स्थितम्॥" (विष्णु.पु. 6-7-11) इति। अत्र स्वाप्नीवापार्था भातीत्यनेन दृष्टान्तेन धियो बाधितविषयत्वं विवक्षितम्। विषयस्याऽपि बाधो नाम तत्र प्रवृत्तिप्रतिबन्ध एव न त्वसत्यत्वं दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकयो रुभयो रपि ज्ञानतद्विषययोः पारमार्थ्यात् तत्र यथा स्वाप्नानां गजतुरङ्गादीनां "न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति। अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते" (बृह.उ. 4-3-10) इति श्रुत्युक्तरीत्या[2] ईश्वरसृष्टानां स्वप्नद्रष्ट्रेकानुभाव्यानां तत्कालमात्रावसायिनां परमार्थाना मपि तेषु क्षणिकत्वेन गजतुरगाद्यर्थिनः प्रवृत्तिप्रतिबन्धरूपो बाधः। एवं देहे आत्मभ्रान्तिनिमित्तात्मोपादित्सया प्रवर्तितु मिच्छोः प्रवृत्तिप्रतिबन्धरूपो बाधः, आत्मनि देहे च हन्तृत्वादिनिमित्तशोकादौ प्रवृत्ति प्रतिबन्धरूपो बाध इत्युभयत्रानुगतोऽर्थः क्रोडीकर्तव्यः। देहात्मबुद्धिः स्वाप्नधीवन्न तात्त्विक सुखदुःखादिमात्रहेतु रपि तु उत्तरोत्तर जन्ममरणादिरूप संसृतिहेतुत्वेन महाऽनर्थकरी चेत्याह - यथेति। यथा अहं त्वमिति बुद्ध्या बन्धः जन्ममरणादिरूपः संसारः तत्प्रयुक्तो विपर्ययः स्वाभाविकापहतपाप्मत्वाद्याकार तद्विपरीतानपहतपाप्मत्वाद्याकारश्च भवति इत्यर्थः। अयं भावः - यद्यप्यपरोक्षं त्वया यक्षैश्चानुभूयते, हन्तृत्वादिकं तत्प्रयुक्तस्वेदश्रमादिकं च, तथाऽपि देहात्मनो रुभयो रपि "हन्ता चे न्मन्यते हन्तुम्" (कड.उ. 2-19) "य एनं वेत्ति हन्तारं" (भ.गी. 2-19) "अथ चैनं नित्य जातम्" (भ.गी. 2-26) इत्यादिप्रमाणैः हन्तृत्वादिबुद्धे रज्ञानमूलत्व प्रतिपादनात्। "अहं कृत्सनस्य जगतः प्रभवः प्रलय स्तथा" (भगी. 7-6) इत्यादिभि रीश्वरस्यैव कालशरीरकस्य हन्तृत्वप्रतिपादनाच्च स्वेदश्रमादेश्च सद्वारकतयापीश्वर एव "काठिन्यवान् यो बिभर्ति तस्मै भूम्यात्मने नमः" (विष्णु.पु. 1-14-28) इत्युक्तभूमिद्वारक काठिन्यवदुपपत्तेः न कोऽपि प्रमाणबाध इति॥ ४॥

---

1. A. B. T omit कर्मत्व 2. A. B. T श्रुतेः

तत्तस्मात्कालशरीरकस्य भगवत एवोत्पत्ति मरणादिहेतु त्वात् तमेव भगवन्तं सर्वाणि भूतानि पृथिव्यादीनि आत्माजीवश्च विग्रहः शरीरं यस्य त मधोक्षजम् । सर्वभूतात्मविग्रह मित्यनेन यक्षेष्वपि भगवदात्मकत्वबुद्धिः कार्येति विवक्षितम्, भजस्वे त्युत्तरत्रान्वयः । अभवाय मुक्तये हे ध्रुव ! ते तुभ्यं भद्रं मङ्गल मस्तु । गच्छ गृहान् प्रति इति शेषः । भजन प्रकार माह सर्वभूतात्मभावेन । चिदचिच्छरीरकत्वेन प्रकारेण अधोक्षजम् अधः कृताः परावृत्ताः अक्षजाः इन्द्रिय वृत्तयो यस्मात् तमिन्द्रियागोचर मित्यर्थः ॥ ५ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

साधनासाम्ग्र्यां भगवत्प्रसादात् स्वरूपानन्दानुभवलक्षणो मोक्षोऽपि तत्तद्योग्यतानुसारेण प्राप्यते पुरुषै रिति निर्दिश्यतेऽस्मिन्नध्याये । तत्रादौ ध्रुवकृतापराधं क्षान्त्वा वैश्रवणेन ध्रुवाय वरप्रदानप्रकारं वक्ति - **ध्रुवं निवृत्त** मित्यादिना । वैशसात् युद्धात् ॥ १ ॥

परितोषहेतुमाह - यस्त्वमिति ॥ २ ॥

स्वस्य मनो श्चैकमत्यं व्यनक्ति - **न भवानिति** । अप्ययभावयोः मरणजन्मनोः ॥ ३ ॥

नन्वहं मच्छत्रू नवधिषं न त्व मेतदकार्षी रिति प्रदर्शनं कथ मत्राह - **अहं त्वमिति** । पुरुषस्य परमेश्वरस्य कर्तृत्वाज्ञाना दहं त्वं कर्तेति धी रपार्था भ्रान्ता भाति ''नाऽहं कर्ता न कर्ता त्वं कर्ता यस्तु स्वयं प्रभुः'' (मोक्षधर्मे) इत्यनेन परमेश्वरकर्तृत्वस्य प्रामाणिकत्व प्रतीतेः । कथमिव ? स्वाप्नीव यथा स्वप्ने जाग्रत्त्वबुद्धिः आत्मन्यविद्यमान कर्तृत्वाभिमाना दनर्थोपि स्यादि त्याह - अनुध्यानादिति । अनुध्यानात् पुनः पुन रात्मनि कर्तृत्वस्मरणात् यथा कर्तृत्वधिया सुखादिरूपस्याऽऽत्मनो बन्धेन पुत्रमित्रादिस्नेहबन्धेन विपर्ययो दुःखादि र्भवतीत्यत स्तादृशी बुद्धिः त्वया न कार्येति भावः ॥ ४ ॥

ननु जीवकृताकार्योपक्रमोपसंहारदर्शनात् कथं तस्य जीवस्य कर्तृत्वाभाव इत्याशङ्क्य कर्तृत्वादौ नियमाभावात् तद्वत्तमेव कर्तृत्वं न मम स्वतन्त्रकर्तृत्वमिति निश्चित्य तत्क्रियाविशिष्टं भगवन्तं भजस्वेत्याह - **तद्रच्छेति** । सर्वभूताना मात्मभावेन कर्तृत्वदानादानयोः कर्ता परमात्मेति स्नेहलक्षणया बुद्धया सर्वभूतेष्वात्मा विग्रहो ज्ञानादिगुणपूर्णा मूर्ति र्यस्य स तथा तं, यद्वा सर्वभूताना मात्मनि देहे विग्रहः प्रादेशत्वादिलक्षणो यस्य स तथा तम् ॥ ५ ॥

**भजस्व भजनीयाङ्घ्रि मभवाय भवच्छिदम् ।**

**युक्तं विरहितं शक्त्या गुणमय्याऽऽत्ममायया ॥ ६ ॥**

**वृणीहि कामं नृप यन्मनोगतं मत्तस्त्वमौत्तानपदेऽविशङ्कितः ।**

**वरं वरार्होऽम्बुजनाभपादयोः अनन्तरं त्वां वय मङ्ग शुश्रुम ॥ ७ ॥**

**मैत्रेय उवाच**

**स राजराजेन वराय चोदितो ध्रुवो महाभागवतो महामतिः ।**

**हरौ स वव्रेऽचलितां स्मृतिं यथा तरत्ययत्नेन दुरत्ययं तमः ॥ ८ ॥**

**तस्य प्रीतेन मनसा तां दत्वैलबिल स्ततः**

**पश्यतोऽन्तर्दधे सोऽपि स्वपुरं प्रत्यपद्यत ॥ ९ ॥**

**अथा यजत यज्ञेशं क्रतुभि र्भूरिदक्षिणैः ।**

**द्रव्यक्रियादेवतानां कर्म कर्मफलप्रदम् ॥ १० ॥**

**श्रीध. भजस्वेति** । भजनीयौ अङ्घ्री यस्य तम् । गुणमय्या शक्त्या युक्तम् । किं तत्त्वतः ? न, आत्ममायया । अत स्तत्त्वतः तया विरहितं यद्वा शक्त्याऽऽत्ममायया युक्तं विरहितं च सगुणनिर्गुण भेदेन ॥ ६ ॥

**वृणीहीति** । काम मसङ्कोचेन अविशङ्कितो निर्भयः अनन्तरमतिनिकटम् ॥ ७ ॥

**स इति** । स वराय चोदित इत्यनुवादरूपं पृथग्वाक्यम् । अतः स वव्र इति तच्छब्दस्या पौनरुक्त्यम् ॥ ८, ९ ॥

**अथेति** । द्रव्यादिशब्दैः यज्ञादिकर्म लक्ष्यते । द्रव्य क्रिया देवतानां कर्मसाध्यं तत्फलरूपं कर्मफलप्रदं चेत्यर्थः ॥ १० ॥

**वीर.** नन्वधोक्षजश्चे त्कथं भजनीय स्तत्राह । भजनीयौ अङ्घ्री चरणौ यस्य तम् । अतीन्द्रियत्वेऽपि योगयुङ्गनसा ध्येयचरण मित्यर्थः । नन्वस्मदादिवत् तस्याऽपि संसारित्वात् कथ मभवाय भजस्वे त्युच्यते तत्राह । भवच्छिदं भवं संसारं छिनत्तीति तं न केवलं स्वय मसंसार्येव अपि तु भजता मपि भवच्छिदित्यर्थः । ननु प्रकृतिसम्बन्ध तत्कार्यादिक मेव हि संसारः । एवं च जीववत् सर्वभूतात्मविग्रहमिति प्रकृतिसम्बन्धाभिधानात् कथं तस्य भवच्छित्त्वं तत्राह । सत्त्वा दिगुणमय्या शक्त्या कार्योपयुक्तस्वा-

---

1. M, Ma वरार्हणोस्यम्बुज; W परं परार्होऽम्बुज 2. M, Ma, Ms निरन्तरं 3--3. B omits 4. A, b, G, I, J, T दत्वैडबिड°; M, Ma, दत्वै लिबिल° 5. M, Ma, Ms कर्माऽकर्म; V कर्मसाध्यं फ° 6--6. V omits 7. V omits 8. V omits निर्भयः 9--9. B, J, V, Va omit 10. B, J, V, Va omit तत् 11. A, B, T °ममुमेव 12. A, B, T °न्धविधा°

पृथक्सिद्धविशेषणभूतया आत्मनः स्वस्य सम्बन्धिन्या मायया प्रकृत्या युक्तं नियन्तृत्वेन युक्तं तया विशेषेण रहितं तादधीन्येन[1] तया विरहित मित्यर्थः। जीवस्तु मायापरवश इति संसारी, परमेश्वर स्तु तस्याः प्रभु रित्यसंसारीति भावः॥ ६॥

एवं परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधकत्वेन[2] प्रकृतिपुरुष शरीरकस्य अमृतेश्वरस्य भगवतो भक्तिं विधेही त्युपदिश्य तन्मनः परिशीलनाय त्रिवर्गे तं प्रलोभयति - **वृणीहीति**। हे! औत्तानपादे! नृप! यन्मनोगतं मनीषितं तं कामं वर मविशङ्कितः असङ्कोचेन त्वं वृणीहि वरय, धर्मादीनां त्रयाणां मध्ये यत्तवेप्सितं तद्वृणीहीत्यर्थः। त्रिवर्गवरणं तवानुचितमिति व्यञ्जयन् विशिनष्टि। अङ्ग! हे ध्रुव! परं केवलं परै र्ब्रह्मादिभिरपि अर्ह्यते[3] इत्यर्हः[3] तस्य अम्बुजनाभस्य भगवतः पादौ तयोरनन्तरम्[4] अव्यवहितं निरन्तरं भगवत्पादारविन्दसमाहितचित्तम्[4] इत्यर्थः। त्वां शुश्रुम॥ ७॥

एवं त्रिवर्गे प्रलोभितो महाभागवतो ध्रुवः त्रिवर्गमनादृत्य भगवच्चरणारविन्दभक्तिदार्ढ्य मेवाऽवृणो दित्याह मुनिः **स** इति। राजराजेन कुबेरेण वरवरणाय चोदितः प्रवर्तितः स ध्रुवः महाभागवतः भागवतश्रेष्ठः[5] महामतिः[6] धर्मादिष्वल्पस्थिर मतिः[6] हेतुगर्भ मिदं विशेषणद्वयम्। भागवतानां त्रिवर्गस्य निरयप्रायत्वा दिति भावः। हरौ भगवति अचलितां दृढां स्मृतिं वव्रे। स वशाय चोदित इत्यनुवादरूपं पृथग्वाक्यम्, अतः सवव्र इति तच्छब्दस्य न पौनरुक्त्यम्। दृढायाः स्मृतेः फल माह। यतः अचलितायाः स्मृतेः दुरत्ययं दुरतिक्रमणीय मपि तमः तमःकार्यं संसारात्मकं बन्धं तरति व्यपोहति। "स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः"[7] (छान्दो.उ. 7-26-2) इति श्रुतेः[7]॥ ८॥

ऐलबिलः कुबेरः प्रीतेन मनसा तुष्टेन मनसा तां भगवत्यचलितां स्मृतिं दत्वा तस्य ध्रुवस्य पश्यत स्सतः अन्तर्दधे अन्तर्हितवान्। सोऽपि ध्रुवोऽपि स्वपुरं प्रत्यपद्यत अगात्॥ ९॥

अथानन्तरं भूरिदक्षिणैः समग्रदक्षिणैः[8] द्रव्यं पुरोडाशादि क्रिया ऋत्विग्व्यापारः देवता इन्द्रादिः तेषां सम्बन्धमात्रे षष्ठी। द्रव्यादिसम्बन्धिभिः द्रव्यादिसमवायरूपै रिति यावत्। क्रतुभिः कर्मसाध्यम् आराध्य मिति यावत्, न केवलं कर्मैव अपि तु कर्मणां फलप्रदं यज्ञाना मीशं प्रयोजयितारं चायजत इष्टवान्। काम कर्मफलप्रदमिति पाठे विहितप्रतिषिद्धयोः फल मित्यर्थः॥ १०॥

**विज.** प्रादेशाद्याकारत्वेनाऽवस्थानं कथं गुणशक्ति मन्तरेणेत्यत उक्तं - युक्तमिति। आत्मसामर्थ्याख्यया शक्त्या युक्तं गुणमय्यात्माधीनया मायया प्रकृत्या विरहितम्॥ ६॥

---

1. A, J तदाधी° 2. A, B, T °न° 3--3. A, B, T अर्ह्यते पूज्येते इत्यर्हौ 4--4. A, B, T अव्यवहित चित्तम् 5--5. W omits 6--6. W omits 7--7. A, B, T omit 8--8. A, T, W omit

यद्यपि हरेः करुणावर्षधारापात्रत्वेनाऽन्यतः प्राप्यो वरः[1] तव नाऽस्ति तथाऽपि वैश्रवणो ध्रुवे प्रसन्नः किलेति द्योतनाय वरं वरयेति वक्ति - **वृणीहीति**। अन्यतः कथं वृणोमीत्यविशङ्कितः अम्बुजनाभस्य हरेः पादयोः सेवायां निरन्तरं सदातनं तदेकमानस मित्यर्थः ॥ ७ ॥

मुमुक्षुणाऽयमेव वरो वरणीय इति शिक्षणाय तस्य वरदानप्रकार माह - **स राजराजेनेति** ॥ ८ ॥

[2]ऐलबिलः[3] इलिबिलापुत्रो वैश्रवणः ॥ ९ ॥

ब्रह्मज्ञानोत्पत्तये यज्ञ एव कर्तव्य इति प्रकटनाय तस्य यज्ञकरणप्रकार माह - अथेति। अथ विषयासक्तिं विहाय पुरप्राप्त्यनन्तरं मङ्गलं कर्म प्रारब्धवान्। किं तदि त्यत उक्तम् अयजतेति। द्रव्य क्रिया देवतानां कर्मविषयम् अकर्मफलप्रदं मोक्षाख्य फलप्रदम् ॥ १० ॥

**सर्वात्मन्यच्युते[4] सर्वे तीव्रौघां भक्ति मुद्वहन्।**
**ददर्शाऽऽत्मनि भूतेषु तमेवाऽवस्थितं विभुम् ॥ ११ ॥**

**तमेवं[5] शीलसम्पन्नं ब्रह्मण्यं दीनवत्सलम्।**
**गोप्तारं धर्मसेतूनां मेनिरे पितरं प्रजाः ॥ १२ ॥**

**[6]षड्विंशद्वर्षसाहस्रं शशास क्षितिमण्डलम्।**
**भोगैः पुण्यक्षयं कुर्व न्नभोगै[7] रशुभक्षयम् ॥ १३ ॥**

**एवं बहुसवं[8] कालं महात्माऽविकलेन्द्रियः[9]।**
**त्रिवर्गौपयिकं नीत्वा पुत्रायाऽदान्नृपासनम् ॥ १४ ॥**

**मन्यमान इदं विश्वं मायारचित मात्मनि।**
**अविद्यारचित[10] स्वप्नगन्धर्वनगरोपमम् ॥ १५ ॥**

---

1. A, B तस्य 2. A, B ऐल° 3. A. B इल° 4. A, G, I, J °तेऽसर्वे 5. T, W °व 6. A, B, G, I, J, M, Ma, T षट्त्रिंशं 7. B °न्नशुभै° 8. Ms °तिथ° 9. A, B, G, I, J °च्च° 10. A, B. G, I, J, M, Ma, Ms, T, V °त°

**श्रीध. सर्वात्मनीति**। सर्वस्याऽऽत्मनि[1] असर्वे सर्वोपाधिविवर्जिते॥ ११-१२॥

**षडिति**। भोगै[2-]रैश्वर्यादिभिः[-2] अभोगै[3] र्यज्ञाद्यनुष्ठानैः॥ १३॥

**एवमिति**। बहवः सवा यागाः संवत्सरा वा यस्मिं स्तं कालं त्रिवर्गौ[4-]पयिकं[-4] त्रिवर्गसाधकं नीत्वा अविकलानि[5] संयतानीन्द्रियाणि यस्य॥ १४॥

**मन्यमान** इति। इदं देहादि भगवन्माययाऽऽत्मनि स्वस्मिन् रचितं मन्यमानः। अत्राविद्यासृष्टिं दृष्टान्तयति - अविद्या रचितेति॥ १५॥

**वीर.** न केवलं यज्ञै रेवायजत अपि तु पितामहा द्युपदेशानुसारेण सर्वात्मकत्वेन भगवन्त मलभत[6] चेत्याह - **सर्वात्मनीति**। सर्वेषा मात्मनि अन्तः प्रविश्य प्रशासनेन धारके अत एव सर्वे[7] सर्वशब्दवाच्ये। सत्व इति पाठे शुद्धसत्त्वमय दिव्यमङ्गल विग्रहविशिष्ट इत्यर्थः। असत्त्व इति छेदे तु सत्त्वादिगुणरहित इत्यर्थः। अच्युते आश्रितव्रातरक्षैकदीक्षे भगवति तीव्रौघामविच्छिन्नप्रसरां भक्ति मुद्वहन् कुर्वन्[8] आत्मनि स्वस्मिन् सर्वेषु भूतेषु चाऽवस्थित मात्मत्वेनाऽवस्थितं भगवन्तं तमेवाच्युतं ददर्श साक्षात्कृतवान्॥ ११॥

प्रजाः शीलसम्पन्नं सुस्वभावसद्वृत्तादियुक्तं ब्रह्मण्यं ब्राह्मणसेवापरायणं दीनेषु वत्सलं दोषानवेक्षया रक्षकं धर्म मर्यादानां पालकं तमेव ध्रुवमेव पितरं मेनिरे पितर मिवाऽमन्यन्तेत्यर्थः॥ १२॥

भोगैः सुखानुभवैः पुण्यक्षयम् अभोगै र्दुःखानुभवैः अशुभक्षयं पापक्षयं च कुर्वन् पुण्यपापयोः उभयोरपि[9] स्वफल जननद्वारा ब्रह्मप्राप्तिविरोधित्वेन अनुभवेनैव पुण्यपापे विधुन्वन्नित्यर्थः। षड्विंशद्वर्षसाहस्रं[10] वर्षाणां सहस्राण्येव साहस्राणि ततः समाहारद्विगुः षडधिकविंशतिसहस्रसङ्ख्याकवर्षपर्यन्त मित्यर्थः। क्षितिमण्डलं शशास अनुशिष्टवान्॥ १३॥

बहुसवं बहवः सवाः यागोपलक्षिताः[11-] संवत्सरा[-11] यस्मिन् तत्[12] त्रिवर्गौपयिकं त्रिवर्गसाधनं काल मविकलेन्द्रियः अव्याहतेन्द्रियः तथाऽपि महात्मा जितेन्द्रियो नीत्वा पुत्राय नृपासनमदात्॥ १४॥

तत इदं देवमनुष्याद्यात्मकं विश्व मात्मनि जीवे मायारचितं[13-] प्रकृतिसंसर्गकृतं तदपि अविद्यारचितं[-13], अविद्याशब्दः तदन्यव्युत्पत्त्या प्रकृतिवाची, प्रकृतिपरिणामरूपं स्वप्नगन्धर्वनगरोपमं स्वप्नगन्धर्वनगर मिव स्थितं मन्यमानः॥ १५॥

---

1. V सर्वात्मनि 2--2. V omits 3. V °ज्ञानु° 4--4. B, J, V, Va omit 5. A, B, J, Va °च° 6. A, B, T °मभजत 7. W omits सर्वे 8. W omits कुर्वन् 9. A, B, T omit उभयोः 10. A, B, J षड्त्रिंश° 11--11. A, B, T omit 12. A, B, T तं 13--13. A, B, T omit

विज. सर्वात्मनि सर्वान्तर्यामिणि सर्वे "पूर्णे विश्व पूर्ण स्तथा सर्व समस्त श्चाभिधीयते" इत्यभिधानात्। "सर्व शर्व शिवस्थाणु " (विष्णु.सहस्र. 17) इति नामत्वात् सर्वनामसज्ञा नाऽस्ति। आत्मनि स्वस्मिन् भूतेषु चावस्थित तं विभु व्याप्त य पुरा तपसा प्रत्यक्षीचकार तमित्यर्थ ॥ ११ ॥

तस्य प्रजानुरञ्जनविधान माह - तमेव मिति ॥ १२ ॥

पुरा कतिपयै र्मासै रेव भगवदनुग्रह मवाप्याभीष्ट माप्तवतो ध्रुवस्य किमु वक्तव्य मेतै रिति भावेन तस्य क्षितिपालन-कालावधि माह - **षट्त्रिंशदिति**। प्रारब्ध पुण्यक्षय मशुभक्षय ज्ञानसामर्थ्यात् ॥ १३ ॥

बहुसव बहुतिथ मविकलेन्द्रियो वशीकृतेन्द्रिय जरसा चक्षुरादीन्द्रियवैकल्य[1] अन्धत्वादिलक्षण न प्राप्त इति वा। त्रयाणा वर्गाणा धर्मकामार्थाना मौपयिक मुपयोगसाधन देह नीत्वा देहयात्रा विधायेत्यर्थ ॥ १४ ॥

पुत्राय सिहासन दत्वा अय किमकार्षीत्, गृह एवाऽवस्थितश्चे द्वैराग्यादिसाधनहासेन लोकोपहासविषय स्या दित्यत स्वपुर विहाय देशान्तर गत इति वक्तव्यम्। अत क देश शुचितीर्थ मगमदिति तत्राह - **मन्यमान** इत्यादिना। स ध्रुव इद विश्व कालोपसृष्ट मियता कालेन नष्ट भवतीति मन्यमानो विशाला बदरिकाश्रमे स्यन्दमाना नदी प्रययौ इत्यन्वय । "विशाला बदरी प्रोक्ता नगरी निम्नगा तथा" इत्यभिधानम्। कीदृश विश्वम् ? आत्मन्याधारतया हरेर्माययेच्छया रचितम् "अ निषेधे पुमान्विष्णौ" (वैज को 8-7-10) इत्यभिधानात्। अस्य विष्णो विद्ययेच्छया रचिते स्वप्नगन्धर्वनगरे उपमा यस्य तत्तथोक्तम् - "महामायेत्यविद्येति नियतिर्मोहिनीति च। प्रकृति र्वासनेत्येव तवेच्छाऽनन्तकथ्यते" (स्कान्धे) इत्यनेन निरुपपद मा॥शब्दस्य हरे रिच्छावाचित्व कथ मितीय माशङ्का परिहृतेति ज्ञायते ॥ १५ ॥

**आत्मस्त्र्यपत्यसुहृदो बलमृद्धकोश मन्तःपुरं परिविहारभुवश्च रम्याः।**
**भूमण्डलं जलधिमेखल माकलय्य कालोपसृष्ट मिति स प्रययौ विशालाम् ॥ १६ ॥**

**तस्यां[2] विशुद्धकरणः शिववार्विगाह्य बद्ध्वासनं[3] जितमरुन्मनसाऽऽहृताक्षः।**
**स्थूले दधार भगवत्प्रतिरूप एतद्ध्यायं स्तदव्यवहितो *व्यसृज त्समाधौ ॥ १७ ॥**

---

1 A B °त्यात् 2 M Ma. Ms तस्या 3 W बद्धासनौ * M, Ma व्यसृजन्समाधौ, व्यसृजत् इत्यस्य स्थाने व्यसृजन् इति मूलश्लोकपाठो लभ्यते। परन्तु विजयध्वजीयव्याख्यानुसारेण विसृजन्, इति भाव्यम्।

**भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्र मानन्दबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानाः ।**
**विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो[1] नात्मान मस्मर दसाविति मुक्तलिङ्गः ॥ १८ ॥**

**स ददर्श विमानाग्र्यं नभसोऽवतर द्ध्रुवः[2] ।**
**विभ्राजय[3] द्दश दिशो राकापति मिवोदितम्[4] ॥ १९ ॥**

**तत्रानु देव प्रवरौ चतुर्भुजौ श्यामौ किशोरा वरुणाम्बुजेक्षणौ ।**
**स्थिता ववष्टभ्य गदां सुनाससौ किरीट हाराङ्गद चारुकुण्डलौ ॥ २० ॥**

श्रीध. **आत्मेति** । आत्मा देहः । आत्मादि मायिकमपि पुनः कालेनोपसृष्ट मनित्य माकलय्य विचिन्त्य विशालां बदरिकाश्रमम् ॥ १६ ॥

तत्र तत्कृत मष्टाङ्गयोग माह - **तस्या मिति** । तस्यां शिवं वाः शुद्धोदकं[5] विगाह्य प्रविश्येति[6] स्नानादिनियमा उक्ताः । विशुद्धकरण इति[7] शमदमादयो यमाः । आसनादीनि स्फुट मेवोक्तानि । जितो मरुत् प्राणो येन, आहृतान्यक्षाणि इन्द्रियाणि[8-8] येन सः । भगवतः प्रतिनिधिभूते स्थूले विराड्रूपे एतन्मनो दधार ध्यायन् अव्यवहितो ध्यातृध्येय भेदशून्य स्सन् समाधौ स्थित स्तत्स्थूलं व्यसृजत् ॥ १७ ॥

**भक्तिमिति** । एव मजस्रं नित्यं हरौ भक्तिं प्रकर्षेण वहन् असौ ध्रुवोऽहमित्यात्मानं न[9-] अस्मरत्[-9] न सस्मार । यतो मुक्तलिङ्गः त्यक्तशरीराभिमानः[10-10] तत्र हेतवः - आनन्दबाष्पस्य[11] कलया बिन्दुप्रवाहेणाभिभूयमानः विक्लिद्यमानं द्रवत् हृदयं यस्य सः । पुलकै र्व्याप्ताङ्गः ॥ १८-१९ ॥

**तत्रेति** । अनु अनन्तरं देवप्रवरौ ददर्शेत्यनुषङ्गः । गदा मवष्टभ्य स्थितौ किरीटादिभिः सहिते चारुणी कुण्डले ययोः ॥ २० ॥

**वीर.** तथा आत्मा देहः, स्त्रियो दाराः अपत्यानि पुत्रादयः सुहृदश्च तान् ऋद्धं समृद्धं पूर्वोत्तरान्वयि बलं चतुरङ्गबलयुक्तम् । सैन्यं कोशं धनं रमणीयाः परिविहारभुवः परितो विहारभुवः । प्रतिविहारभुव इत्यपि पाठेऽय मेवार्थः । जलधिर्मेखला यस्य तत् जम्बूद्वीपात्मकं भूमण्डलं च सर्वं कालोपसृष्टं कालेनोपद्रुत मस्थिर मिति यावत्, आकलय्य विचार्य सः ध्रुवः विशालां बदरिकाश्रमं ययौ ॥ १६ ॥

---

1. V °ङ्गि° 2. M, Ma °द्ध्रुवः; V °द्ध्रुवम् 3. W °द्दिश स्सर्वाः 4. W °द्यतम् 5. A, B, J, Va omit शुद्ध 6. V adds अनेन 7. A, B, J, Va शमादयो 8--8. A, B, J, Va omit 9--9. A, B, J, Va omit 10--10. V शरीराभिमानरहितः 11. V बाष्पक°

तत्र कृत मष्टाङ्गयोग माह - **तस्या** मिति। तस्यां विशालायां शिवं निर्मलं पवित्रं च वाः वारि विगाह्य प्रविश्य। अनेन स्नानादिनियम उक्तः विशुद्धकरणः विशुद्धेन्द्रियः अनेन शमदमादयो यमा उक्ताः। बद्धानि आसनानि स्वस्तिकादीनि येन सः, जितो मरुत् प्राणो येन सः, मनसा आहृतानि प्रत्याहृतानि अक्षाणि श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि येन, एव मासनादीनि स्फुट मेवोक्तानि, स्थूले भगवत्प्रतिरूपे भगवद्विव्यविग्रहे दिव्यात्मस्वरूपा पेक्षया स्थौल्य मत्र विवक्षितं, दधार मनो निवेशितवान्। एवं धारणा उक्ता। एतद्भगवत्प्रतिरूपम् अव्यवहितः विजातीय प्रत्ययान्तर रहितः ध्यायन् तद्दिव्यात्मस्वरूपम् ''ओं तत्स दिति निर्देशो ब्रह्मण स्त्रिविधः स्मृतः'' (भार. 6-39-23) इति स्मरणात्। समाधौ व्यसृजत् अनुसंहितवान्। यद्वा तद्भगवत्प्रतिरूपं व्यसृजत् विसृष्टवान्, दिव्यविग्रहं विसृज्य दिव्यात्मस्वरूप मनुसंहितवानित्यर्थः। शुभाश्रये मनसो निवेशमात्रं धारणा, शुभाश्रयगतकान्ति[1] सौकुमार्यादिगुणचिन्तनं ध्यानं, तज्जनितानन्दातिशयात्पारवश्यं समाधि रिति भेदः॥ १७॥

एव मजस्रं नित्यं भगवति प्रकर्षेण भक्तिं वहन् कुर्वन् असौ ध्रुवः आत्मानं न सस्मार मनुष्यत्वादिबाह्याकार विशिष्टत्वेन न स्मृतवान्। यतो मुक्तलिङ्गः त्यक्तदेहात्माभिमानः। तत्र हेतवः - आनन्दबाष्पकलया आनन्दबाष्प[2-2] बिन्दु प्रवाहेणाभिभूयमानः विक्लिद्यमानं[3] हृदयं यस्य सः, पुलकै र्व्याप्ताङ्गः॥ १८॥

स ध्रुवः उद्यत मुदितं राकापति मिव पूर्णिमा चन्द्र मिव दश दिशः विभ्राजयत् नभसः अवतरत् अवरोहत् विमानश्रेष्ठं ददर्श॥ १९॥

अनु अनन्तरं तत्र विमानाग्रे देवप्रवरौ ददर्शेत्यनुषङ्गः। तौ विशिनष्टि किशोरौ यौवनारम्भजुषौ गदामवष्टभ्य स्थितौ किरीटादिभिः सहिते चारुकुण्डले ययोः॥ २०॥

**विज.** नन्विदमीश्वरेच्छारचित[4] मिति वक्तुं न युक्तं, तथात्वे मिथ्याभूत स्वप्नादिसाम्यकथन मनुपपन्नं, तदुच्यते तस्मात् मायाशब्देनेन्द्रजालमेवोच्यते उक्तमानस्य अनेकार्थवृत्तिगवादि शब्दव दुपपत्ते रित्यत उक्तम् - कालेति। उर्वारुकश्यामतादिव त्कालान्तरेऽन्यथा दर्शनाद्यदृष्टं तन्नष्ट मिति क्षणभङ्गुरत्वात् स्वप्नादिसाम्यं न तु मिथ्यात्वा त्तस्य चार्थक्रियाकारित्वेन सत्यत्वस्य प्रामाणिकत्वात् तदुक्तम् ''अन्यथात्वात् क्षिप्रनाशा ज्जगत्स्वप्ना दिव स्मृतम्। वर्तमानं नियत्यैव सदैव परमात्मनि'' (वाराहे)) इति आत्मनीत्युक्त्या च सत्यत्व मवगम्यते। अनादि नित्यनिरस्तकुहकस्य हरेरिन्द्रजालाश्रयत्वं न युज्यते। सदानिरस्तकुहक मिति

1. W omits कान्ति 2--2. A. B. T omit 3. A. B. T add इव 4. Ma नन्वीदृगीश्व°

स्वोक्तेश्च "निष्फलं निष्क्रियं शान्तम्" (श्वेता.उ. 6-19) इति श्रुतेः निष्क्रियब्रह्मैक्य मात्मनो जानतो ध्रुवस्य विशालागमन क्रियायोगाच्च आत्मस्त्रीपुत्रादीनां विश्वान्तर्भूतत्वेन तद्ग्रहणेन गृहीताना मपि पुनर्वचनं दुष्करं तत्याग मपि कृतवानिति ध्रुवस्य वैराग्यातिशयद्योतनायेति। परितो विहारभुवः आकलय्य निश्चित्य॥ १६॥

तत्र गतोऽपि पितापुत्रविषयस्नेहं मुक्त्वा वैराग्यद्रढीयस्तया भगवद्भक्तिरामालिङ्गितस्य मुग्धस्येव स्थितस्य तदुपास्तिप्रकारं वक्ति - **तस्या** इति। तस्याः विशालायाः शिवं वाः मङ्गलवारि स्थूले पातालादिके नैतन्निज मित्यत उक्तं प्रतिरूप इति। शिलावत् प्रतिमास्थाने तदुक्तम् "शिलावत्प्रतिमैषा हि विष्णो र्लोकचतुर्दशी" (स्कान्दे) इति समाधौ निरायासेन चित्तस्य ध्येयवस्तुविषयीकरणमतिप्रवाहे सति अभ्यस्तत्वात् स्थूलध्यानं विसृजन् स्वबिम्बोपास्ते रावश्यकत्वेन स्थूलसन्निहितरूपैक्येन सूक्ष्मरूप मस्मरदित्यर्थः। अव्यवहितः स्थूलसन्निहितसूक्ष्मरूपयो रभेदं पश्यन्नित्यर्थः॥ १७॥

तस्यासंप्रज्ञातसमाध्यवस्था माह - **भक्तिमिति**। अह मसौ ध्रुव इत्यात्मानं नाऽस्मरत्, किन्तु भगवन्त मेवास्मरदित्यनेन जीवन्मुक्तत्वं लक्षयति। मुक्तलिङ्गः सूक्ष्मशरीराभिमानरहितः॥ १८॥

ध्रुवस्य हरे रपरोक्षज्ञानोत्पन्नप्रसादचिह्न माह - **स ददर्शेति**। विभ्राजयत् दीपयत् राकापतिं पूर्णचन्द्रम्॥ २९॥

वृक्षात्पतत्पर्ण मिव स्वर्गाच्च्युतं नक्षत्र मिव विमानं ना द्राक्षीत् किन्तु सनाथ मित्याह - **तत्रेति**। अनु अनन्तरं तत्र विमाने स्थितौ॥ २०॥

**विज्ञाय ता वुत्तमगाय[1] किङ्करावभ्युत्थितः साध्वसविस्मृतक्रमः[2]।**
**ननाम नामानि गृणन्मधुद्विषः पार्षत्प्रधानाविति संहताञ्जलिः॥ २१॥**

**तं कृष्णपादाभिनिविष्टचेतसं बद्धाञ्जलिं प्रश्रय नम्रकन्धरम्।**
**सुनन्दनन्दा वुपसृत्य[3] सस्मितं प्रत्यूचतुः[4] पुष्करनाभसम्मतौ॥ २२॥**

**[5-]सुनन्दनन्दा वूचतुः[-5]**

**भो[6] भो[7] राजन्! सुभद्रं ते वचो[8] नोऽवहितः श्रुणु।**
**यः[9] पञ्चवर्ष स्तपसा भवान् देव मतीतृपत्॥ २३॥**

---

1. M, Ma, Ms भाव 2. M, Ma, Ms सन्नवि° 3. M, Ma, Ms लभ्य 4. M, Ma, Ms, V प्रीत्यो° 5--5. W omits 6. W भोराजन्नस्तु भद्रं 7. M, Ma, Ms भद्र! 8. A, B, G, I, J, T, W वाचं; Ms वाचो 9. Ms यं

**तस्याखिल जगद्धातुः आवां[1] देवस्य शार्ङ्गिणः ।**
**पार्षदा विह सम्प्राप्तौ नेतुं त्वं[2] भगवत्पदम् ।। २४ ।।**

**सुदुर्जयं विष्णुपदं जितं त्वया यत्सूरयोऽप्राप्य विचक्षते परम् ।**
**आतिष्ठ तच्चन्द्र[3] दिवाकरादयो ग्रहर्क्षताराः परियान्ति दक्षिणम् ।। २५ ।।**

**श्रीध.** विज्ञायेति । उत्तमगायः पुण्यश्लोको हरिः[4] तस्य किङ्करौ तौ विज्ञाय मधुद्विषः पार्षत्प्रधानाविति हेतोः साध्वसेन सम्भ्रमेण विस्मृतपूजाक्रमः[5-] विस्मृतः पूजाक्रमः[-5] येन, केवलं तस्य नामानि गृणन् ननाम ।। २१-२२ ।।

**भो भो** इति । सुभद्र मिति सशरीरस्यैव विष्णुपदारोहाभि[6] प्रायम् । अतीतृपत् तर्पितवान् ।। २३ ।।

**तस्येति** । आवां तस्य पार्षदौ ।। २४ ।।

**सुदुर्जय** मिति । सुदुर्जयत्वे हेतुः । सूरयः सप्तर्षयोऽपि यत्पदमप्राप्य[7] केवल मधःस्थिताः पश्यन्ति - यच्च चन्द्रा दयः दक्षिणं[8] प्रदक्षिणं यथा भवति तथा[9] एवं[10] परिक्रामन्ति तत् आतिष्ठ अधितिष्ठ ।। २५ ।।

**वीर.** उत्तमगायः पुण्यश्लोको भगवान्, तस्य किङ्करौ विज्ञाय मधुद्विषः परिषत्प्रधानाविति हेतोः साध्वसेन सम्भ्रमेण विस्मृतपूजाक्रमः केवलं तस्य नामानि गृणन् संहताञ्जलिः बद्धाञ्जलिः ननाम ।। २१ ।।

कृष्णस्य पादयोः अभिनिविष्टा चेतना चित्तं यस्य, प्रश्रयेण विनयेन नम्रा प्रह्वीभूता कन्धरा यस्य तं ध्रुवमुपसृत्य समीप मागत्य पुष्करनाभस्य[11-] पद्मनाभस्य[-11] भगवतः सम्मतौ भृत्यौ सुनन्दनन्दौ सस्मितं[12] स्मितेन सहितं यथा तथा, प्रीत्या प्रीतिपूर्वं मूचतुः ।। २२ ।।

हे राजन् ![13] ते तुभ्यं भद्र मस्तु । नोऽस्माकं वाच मवहितः सावधानचित्त स्त्वं श्रुणु । किं तत्राह । यो भवान् पञ्चवर्षः तपसा देवं भगवन्तम् अतीतृपत् तर्पितवान् ।। २३ ।।

तस्याखिलजगन्निर्माणचतुरस्य सर्वेश्वरेश्वरस्य शार्ङ्गिणो भगवतः पार्षदा वावां त्वां भगवत्पदं प्रति नेतु मिह सम्प्राप्तौ ।। २४ ।।

सुदुर्जयं त्वदितरै र्दुःखेनाप्यसाध्यं विष्णुपदं त्वया जितं साधितम् । सुदुर्जयत्व मेवाह - सूरयः सर्वेषा मुपरिष्टा दवस्थिताः

---

1. M. Ma विद्धि 23. A, T त्वा 3. W य° 4. B, J, V, Va omit हरिः 5--5. A, J, V, Va omit 6. B °हणाभि° 7. A. B, J, Va यदप्राप्य 8. B. J. V. Va omit 9. A, J. Va omit तथा 10. B omits एवं 11--11. A, T omit 12. A, B, T omit 13. W omits ते

सप्तर्षिप्रभृतयः यत्पद मप्राप्यैव परं केवलं विचक्षते पश्यन्ति, तथा यत्पदं चन्द्रादयः सोमप्रभृतिग्रहादयश्च प्रदक्षिणं यथा भवति एवं परियन्ति परितोभ्रमन्ति[1-1] तदातिष्ठ ॥ २५ ॥

**विज.** उत्पन्न निर्दोषज्ञानत्वात् सहसा विमानपुरुषदर्शनात् तदा तस्य भ्रान्तिज्ञानं नाऽभूदिति भावेन तत्सत्कारप्रकार माह - **विज्ञायेति**। प्रागदृष्टश्रुतवस्तुदर्शने साध्वसलक्षणोऽन्तःकरणवृत्तिविशेषः[2] सम्भ्रमो भवति, तेन सन्नो नष्टो विक्रमः प्रवृत्तिविशेषो यस्य स तथोक्तः, उत्तमो भावो लीला क्रिया वा विभूति र्वा यस्य स तथोक्तः, तस्य हरेः किङ्करौ सदाक्षिगतौ भृत्यौ संहताञ्जलिः बद्धाञ्जलिः ॥ २१ ॥

आत्मनो देवत्वेन हस्तादिसंज्ञया स्वागमनज्ञापनं विनैव स्वाभिप्राय मूचतु रित्याह - **तमिति**। उपलभ्य दृष्ट्वा ॥ २२ ॥

भवान् यं देव मतीतृपत् तृप्त मकार्षीत् तस्य हरेः पार्षदौ त्वां भगवत्पदं नेतु मिह प्राप्तौ विद्धीत्यन्वयः - ॥ २३-२४ ॥

वैकुण्ठं नेतुं किं नेत्याहतुरिति ब्रूते **सुदुर्जय** मिति। जितं साधितं सूरयः सप्तऋषिप्रभृतयो यदप्राप्य परं दूराद्विचक्षते पश्यन्ति तर्हि तद्गृहनं विपिनं किं नेत्यत उक्तं चन्द्र इति। चन्द्रदिवाकरादयो ग्रहा ऋक्षाणि सप्तविंशतिसंख्याता अश्विन्यादयः ताराः मेषादिराशयो व्योमतले दृश्यमाना ज्योतिर्मूर्तयो वा दक्षिणं परियन्ति प्रदक्षिणं कुर्वन्ति। तदातिष्ठे त्यन्वयः ॥ २५ ॥

**अनास्थितं ते पितृभि रन्यै रप्यङ्ग कर्हिचित्।**
**आतिष्ठ जगतां वन्द्यं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ २६ ॥**

**एतद्विमानप्रवर मुत्तमश्लोकमौलिना।**
**उपस्थापित मायुष्म न्नधिरोढुं त्व मर्हसि ॥ २७ ॥**

**मैत्रेय उवाच**

**निशम्य वैकुण्ठनियोज्यमुख्ययो र्मधुच्युतं[3] वाच मुरुक्रमप्रियः।**
**कृताभिषेकः कृतनित्यमङ्गलो मुनीन् प्रणम्याशिष मभ्यवादयत्[4] ॥ २८ ॥**

**परीत्याभ्यर्च्य धिष्ण्याग्र्यं, पार्षदावभिवन्द्य च।**
**इयेष तदधिष्ठातुं बिभ्रद्रूपं हिरण्मयम् ॥ २९ ॥**

---

1--1. A, B, T omit  2. A, B °णान्तः°  3. B, M, Ma, Ms, V, W °तां  4. V °च्च°

***तदोत्तानपदः पुत्रो ददर्शान्तकमागतम्।**
**मृत्यो र्मूर्ध्नि पदं दत्वा आरुरोहाद्भुतं गृहम्॥**
**तदा दुन्दुभयो नेदु र्मृदङ्गपणवादयः।**
**गन्धर्वमुख्याः प्रजगुः पेतुः कुसुमवृष्टयः॥ ३०॥**

**स च स्वर्लोक मारोक्ष्यन् सुनीतिं जननीं ध्रुवः।**
**अन्वस्मरदगं[1] हित्वा दीनां[2] यास्ये त्रिविष्टपम्॥ ३१॥**

**श्रीध. एतदिति**। आयुष्मन्नित्यपि[3-] सम्बोधनं[-3] सशरीर यानाभिप्रायमेव॥ २६-२७॥

**निशम्येति**। मधु[4] च्यवते स्रवतीति मधुच्युताम्। पाठान्तरे मधु च्युतं[5] स्रुतं यस्यां ता ममृतस्राविणी मित्यर्थः। कृतं नित्यं कर्म मङ्गलं चाऽलङ्करणं येन सः अभ्यवादयत्[6] वादयामास[7]॥ २८॥

**परीत्येति**। तदेव रूपं हिरण्मयं प्रकाशबहुलं[8-] बिभ्रत्सन् इयेष ऐच्छत्[-8]॥ २९॥

***तदेति**। गृहं विमानम्। अयं भावः - यदा ध्रुवो विमान मारुहु मैच्छत् मृत्युरागत्य प्रणम्योवाच। हे महाराज! मामङ्गीकुरु। उवाच ध्रुवः - स्वागतं ते क्षणं तावदुपविश एव मुक्त्वा ध्रुवो विष्णोः स्मरणं कृत्वा मृत्यो र्मूर्ध्नि पदं दत्वा विमानाग्र्यमारुरोह॥

**स** इति। दीनां जननीं[9] हित्वा कथ मगं दुर्गमं त्रिविष्टपं यास्यामी त्यन्वस्मरत्॥ ३०-३१॥

**वीर.** ते तव पितृभि र्मन्वादिभिः तथाऽन्यै रपि अङ्ग! हे ध्रुव! कदाचिदप्यनास्थितम् अनधिष्ठितमत एव जगतां वन्द्यं विष्णोः सम्बन्धि परमं सर्वोत्कृष्टं तत् त्वया जितं पदं स्थानम् आतिष्ठ अधितिष्ठ॥ २६॥

हे आयुष्मन्! उत्तमश्लोकमौलिना उत्तमश्लोकानां[10] मौलिना मुख्येन भगवता एतद्विमानश्रेष्ठ मुपस्थापितं प्रेषित मेतद्विमानाग्र्यं अधिरोढुं त्व मर्हसि। अत्र आयुष्मन्निति सम्बोधनं सशरीरयात्राभि प्रायकम्। अत्र वैकुण्ठ परमपद विष्णुपदादिशब्दा भगवत्स्थान साम्यात्परमव्योम्नीव विष्ण्वभिमानविषये ध्रुवलोके प्रयुज्यन्ते। तत्राऽपि हि भक्तानुजिघृक्षया भगवान् सर्वदा सन्निहितः। भक्तानुग्रहादेव पार्षदविमानादिप्रेषण मुपपन्नम्॥ २७॥

---

* An additional verse is found in A, B, G, I, J, T Editions only. The commentary of the same is found in A, B, J, Va only. This appears in its proper place. 1. M, Ma, Ms °हं 2. M, Ma, Ms नैनां 3--3. B, J, V, Va omit 4. V च्योतति 5. B, J, V, Va omit स्रुतं 6. V °च° 7. B, V वाच° 8--8. V omits * The commentary of Sridhar is not found in V edn. 9. B, J, V, Va omit जननीं 10. A, B, T °कमु°

वैकुण्ठनियोज्य मुख्ययोः भगवत्पार्षदप्रवरयोः मधुच्युता ममृतम्राविर्णी वाचं निशम्य भगवत्प्रियो ध्रुवः कृतमङ्गलस्नानः कृतं नित्यं कर्म मङ्गल मलङ्करणं च येन सः, मुनीन् प्रणिपत्य आशिष मभ्यवादयत् वाचयामास ॥ २८ ॥

विमानश्रेष्ठं परीत्य परिक्रम्य तदेव रूपं वपुः हिरण्मयं ज्योतिर्मयं बिभ्रत्सन् तद्विमानग्र्य मधिष्ठातु मियेष ऐच्छत् ॥ २९ ॥

पेतुः पतितवत्यः ॥ ३० ॥

स च ध्रुवः स्वर्लोकम् आरोक्ष्यन् दीनां मातरं हित्वा अगं दुर्गमं त्रिविष्टपं यास्ये इत्येवं जननी मन्वस्मरत् ॥ ३१ ॥

**विज.** इतोऽपीद मास्थेयमिति प्रतिपादयत इत्याह - **अनास्थित** मिति। अन्यै रनधिष्ठितं चेत् किं श्मशानं तदित्यत उक्तं - जगतामिति। सा किंवसति रत उक्तं तद्विष्णोरिति। "शिंशुमारो[1] ध्रुव श्चैव संस्थितो यत्पुरे सदा। तत्पश्यन्ति न यान्त्यन्ये लोकं यान्ति सुरान्विना॥" इति वचनेन तत्र तात्पर्य मवगन्तव्यम् ॥ २६ ॥

केनेदं विमानं प्रेषित मिति शङ्कां निवारयत इत्याह - **एतदिति**। उत्तमश्लोकमौलिना शिंशुमार[2]मूर्तिना हरिणा ॥ २७ ॥

मैत्रेयो विदुरायाऽऽह भगवद्भक्तमाहात्म्यं श्रुण्विति भावेन तस्य पद मारोढु मितिकर्तव्यतां वक्ति - **निशम्येति**। वैकुण्ठस्य हरेः नियोज्यानां पार्षदानां मध्ये मुख्ययोः, मधु पुष्परस मिव रसं च्योतति स्रवतीति मधु[3]च्युतं। कृतं नित्यकर्माख्यं मङ्गलं येन सः कृतनित्यमङ्गलः अभ्यवादयत् अभिवादयामास ॥ २८ ॥

नेदं ध्रुवस्यैव मङ्गलशकुनम् अन्येषा मपि महतां भवतीति ध्वनयन् तद्यात्राप्रारम्भमाङ्गल्यं वक्तिपरीत्येत्यादिना ॥ २९ ॥

यदा धिष्ण्याग्रयं विमानम् अधिष्ठातुम् इयेष तदा दुन्दुभ्यादयो नेदु रित्यन्वयः ॥ ३० ॥

नाऽह मेव सत्यसङ्कल्पशिरोमणिः, किन्तु भक्तोऽपीति भावेन हरिणा स्फुरितान्तः करणवृत्तिविशेषो ध्रुव एतादृशं पुत्रं सूतवत्याः स्वकृते त्यक्तविषयभोगायाः सुनीतेः पुत्रेण सह स्वर्लोकप्राप्ति र्नाऽभूत् स्वयं वा नाऽस्मार्षी दिति लोकापवादं मन्वान इव यदा स्वमातर मस्मार्षी त्तदा कैटभारेः सङ्कल्पं जानानौ तौ पार्षदौ तस्य पुरतो यान्तीं मातरं दर्शयामासतुरित्याह - **सचेति**। अनेन ध्रुवस्याऽपि सत्यसङ्कल्पत्वं लोके प्रकाशितमिति ज्ञायते ॥ ३१ ॥

**इति व्यवसितं तस्य व्यवसाय[4] सुरोत्तमौ।**
**दर्शयामासतु र्देवीं दैवयानेन[5] गच्छतीम्[6] ॥ ३२ ॥**

---

1. A, B शि° 2. A शि° 3. A, B °च्युत् ताम्। 4. M, Ma °सायं; T, V, W °सीय 5. A, B, G, I, J, T पुरो 6. M, Ma, Ms चाग्रगाम्

तत्र तत्र प्रशंसद्भिः पथि वैमानिकैः सुरैः ।

अवकीर्यमाणो ददृशे कुसुमैः क्रमशो ग्रहान् ॥ ३३ ॥

त्रिलोकीं देवयानेन सोऽतिव्रज्य मुनीनपि ।
परस्ता द्यत् ध्रुवगतिः[1] तद्विष्णोः[2] पद मभ्यगात्[3] ॥ ३४ ॥

यद्भाजमानं स्वरुचैव सर्वतो लोकास्त्रयो ह्यनु विभ्राजन्त एते ।
यन्नाव्रजज्जन्तुषु येऽननुग्रहा[4] व्रजन्ति भद्राणि चरन्ति येऽनिशम् ॥ ३५ ॥

शान्ताः समदृशः शुद्धाः[5] सर्वभूतानुरञ्जनाः ।

यान्त्यञ्जसाऽच्युतपद मच्युतप्रियबन्धवाः ॥ ३६ ॥

इत्युत्तानपदः पुत्रो ध्रुवः कृष्णपरायणः ।

अभूत्त्रयाणां लोकानां चूडामणि रिवामल. ॥ ३७ ॥

गम्भीरवेगोऽनिमिषं[6] ज्योतिषां चक्र मर्पितम्[7] ।

यस्मिन् भ्रमति कौरव्य ! मेध्या[8] मिव गवां गणः ॥ ३८ ॥

महिमानं विलोक्याऽस्य नारदो भगवान् ऋषिः ।

आतोद्यं वितुदन् श्लोकान् सत्रेऽगायत् प्रचेतसाम् ॥ ३९ ॥

श्रीध. इतीति । व्यवसित मभिप्राय व्यवसाय ज्ञात्वा ॥ ३२-३३ ॥

त्रिलोकी मिति । देवयानेन देवमार्गेण विमानेनेति वा । मुनीन् सप्तर्षी नपि तत परस्तात् यद्विष्णो पद तदभ्यगात् । ध्रुवा गति र्यस्य स· ॥ ३४ ॥

---

1 M, Ma, Ms पु° 2 M, Ma °ति° 3--3 A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T, V विष्णो पद मथाऽभ्यगात् 4--4 M Ma, Ms न ते खला जन्तुषु ये त्वनुग्रहात् 5 W सिद्धा 6 M, Ma, Ms वेगाऽनिमिषा, W वेगो ह्यनिश 7 A, B, G, I, J, T, V °माहितम् 8 A, B, G I J M Ma, Ms T मेढ्या°

**यदिति**। यद्भ्राजमान मनु यस्य, रुचा लोका विभ्राजन्ते[1-] [-1] जन्तुषु[2] येऽननुग्रहा निष्कृपाः ते यन्नाऽव्रजन् न गतवन्तः ॥ ३५ ॥

**शान्ता** इति। अच्युतः प्रियो बान्धवो येषां ते॥ ३६-३७॥

**गम्भीरेति**। अनिमिष मनलसं ज्योतिषां चक्रं यस्मिन्, आहित मर्पितं सत् भ्रमति। मेध्या[3] माहितो गम्भीरवेगो गवां गण इव॥ ३८॥

**महिमान** मिति। आतोद्यं वीणां वितुदन्[4] वादयन् प्रचेतसां ब्रह्मसत्रे भगवन्माहात्म्यप्रसङ्गेन ध्रुवमहिमप्रतिपादनपरान् त्रीन् श्लोकान् अगायत्॥ ३९॥

**वीर.** इत्येवम्भूतं तस्य ध्रुवस्य व्यवसित मभिप्रायं व्यवसाय[5] ज्ञात्वा सुरोत्तमौ सुनन्दनन्दौ देवयानेन देवप्रवरो पस्थापित-विमानेन गच्छन्तीं देवीं सुनीतिं दर्शयामासतुः॥ ३२॥

तत्र तत्र पथि विमानारूढैः देवैः प्रशंसद्भिः कुसुमवृष्टिभि रवकीर्यमाणो ग्रहान् आदित्यादिस्थानानि क्रमशो दृष्टवान्॥ ३३॥

देवयानेन सुनन्दनन्दनाख्य देवप्रवरोपस्थापितविमानेन त्रिलोकीं मुनीन् सप्तर्षी नप्यतिव्रज्य अतिक्रम्य ततः परस्तात् यद्विष्णोः पदं तत् ध्रुवा शाश्वती गति र्यस्य सः ध्रुवगतिः आकल्पस्थायित्वाद्गते ध्रुवत्वम् अभ्यगात् प्राप्तवान्॥ ३४॥

विष्णोः पदं विशिनष्टि - **यदिति**। स्वरुचैव यत् भ्राजमानमनुसृत्य तस्य रूचा एते त्रयो लोका भ्राजन्ते। यच्च जन्तुषु भूतेषु येऽननुग्रहा निरनुग्रहाः निष्कृपा स्ते नाव्रजन् न गतवन्तः येच जन्तुषु भद्राणि सुहृत्त्वादीनि अनिशं चरन्ति कुर्वन्ति ते व्रजन्ति तत्पद मध्यगादिति पूर्वेण सम्बन्धः। ध्रुवस्थानं प्राप्तानामपि सत्यलोकगताना मिव प्रायेण पुनरावृत्त्यभावात् कल्पान्ते मोक्ष्य माणत्वात् भूतसुहृत्त्वादीना मेव मुक्तिहेतुत्वाच्चैव मुक्तम्॥ ३५॥

किञ्च यदच्युतपदम् अच्युतः प्रियो येषां भागवतानां ते बान्धवा येषां ते, शान्ताः शमदमादियुक्ताः समदृशः देहात्मेश्वराणां प्रकृतिपरिणामरूपत्व-ज्ञानैकाकारत्व-सर्वान्तरात्मत्वादिरूप समदर्शिनः अत एव सर्वभूतानि यथायोग्यं दानमानादिभि रनुरञ्जयन्ति प्रीणयन्तीति[6-] [-6] सर्वभूतानुरञ्जनाः सिद्धाः[7] सिद्धप्राया न तु नितरां सिद्धाः, तेषा मर्चिरादिगत्या ब्रह्मलोकावाप्तेः[8], अञ्जसा सुखेन यान्ति तत्पदमध्यगादिति पूर्वेणैव[9-] सम्बन्धः[-9]। अथ मर्थः - शमदमादिभिः सर्वभूतसुहृत्त्वादिभिश्च परब्रह्मोपासननिष्ठा अपि केचित्प्रारब्धवशात् बुभुक्षावशाद्वाऽन्तराय विहताः सत्यलोकवत् ध्रुवलोकं गताः तत्रत्यभोगोत्तरं परिपूर्णयोगा मुच्यन्त इति॥ ३६॥

---

1--1. Va omits 2. A, J, V, Va omit जन्तुषु 3. A, B, J, Va मेढ्या° 4. Va °नु° 5. A, B, T omit 6--6. A, B, T प्रीतिं कुर्वन्तीति
7. A, B, T omit सिद्धाः 8. A, B, T °कप्राप्तेः 9--9. A, B, T °णान्वयः

इति उक्तप्रकारेण कृष्णो भगवान् परमयनं प्राप्यं प्रापकमाधारश्च यस्य स ध्रुवः त्रयाणां लोकानां अमलः चूडामणिः शिखामणि रिवाऽभूत्। अमल इति दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकयो रुभयोरपि विशेषणम्॥ ३७॥

हे कौरव्य ! विदुर ! मेध्यां[1] धान्याक्रमणाय बलीवर्दबन्धनस्तम्भविशेषे गम्भीरवेगो गवां गणः बलीवर्दसमूह इव ज्योतिषां सूर्यचन्द्रादि ज्योतिषां[2-2] चक्रं यस्मिन् ध्रुव आहितं सत् अनिशं भ्रमति॥ ३८॥

अस्य ध्रुवस्य महिमानं विलोक्य भगवान् नारदऋषिः आतोद्यं वीणां वितुदन् नादयन् प्रचेतसां सत्रे ब्रह्मसूत्रे[3] भगवन्माहात्म्य प्रसङ्गेन श्लोकान् ध्रुवमहिम[4]प्रतिपादनपरान् त्रीन् श्लोकानगायत्॥ ३९॥

**विज.** अग्रगा मग्रतो गच्छन्तीम्॥ ३३॥

ध्रुवा निश्चला गति र्यस्य स, तथा देवयानेन मार्गेण॥ ३४॥

तत्पदप्राप्त्यधिकारिणोऽन्वय व्यतिरेकाभ्यामाह - न त इति। ये तु जन्तुषु खलाः ते यत्र व्रजन्ति ये तु जन्तुषु अनुग्रहात् दयालक्षणात् अनिशं भद्राणि चरन्ति ते यद्व्रजन्ति एतदेव विशिनष्टि - शान्ता इति। एते खिला इति पाठे जन्तुषु ये भद्राणि चरन्ति एते खिला विष्णोरनुग्रहा व्रजन्ति। भद्राचरणं विशिनष्टियेऽनिशमिति। येऽनिशं शान्त्यादिगुणयुक्ता स्तेऽच्युतपदं यान्ती त्यन्वयः। एतत्पदं प्राप्य स्वरूपाविर्भावयोग्यान् विना पुरस्ता दन्यै रित्युक्तम्॥ ३५-३६-३७॥

चन्द्रदिवाकरादय इत्यत्र ज्योतिश्चक्रेण प्रदक्षिणीक्रियमाण मेतत् स्थान मित्युक्तं तत्कियद्दूरत इति न प्रतीतं तदिदानीं लक्षयति - **गम्भीरेति**। गम्भीरवेगानि आनिर्मीषीव गम्भीरवेगानिर्मीषि तेषाम्। मिष निमिष इति धातोः न निमिषन्ति मीलन्ती त्यनिमिषः, तेषाम्। अनस्तङ्गच्छता मित्यर्थः। यस्मिन्नित्यनेनोपरीति प्रतीतिं निवारयति मेढ्यामिति। अनेन मेढ्याः - समीपे परितो भ्रमन्तीति यथा प्रतीतं तथाऽत्रापीत्यर्थः॥ ३८॥

इति केनाऽयं महिमा लालितो येनाऽस्माक मपि तत्र श्रद्धातिशयः स्या दित्यत आह - **महिमान** मिति। आतोद्यं महद्वीणावाद्यम् "आतोद्यं वाद्य मिष्यते" (हल.को. 1-93) इति हलायुधः॥ ३९॥

---

1. A, B, T मेढ्यां 2--2. A, B, T omit 3. A, B, T omit ब्रह्मसत्रे 4. A, B, T ध्रुवस्य म°

## [1]नारद उवाच[-1]

नूनं सुनीतेः पतिदेवतायाः तपः प्रभावस्य सुतस्य तां गतिम्।

दृष्ट्वाभ्युपायानपि वेदवादिनो नैवाधिगन्तुं प्रभवन्ति किं नृपाः ॥ ४० ॥

यः पञ्चवर्षो गुरुदारवाक्शरैः भिन्नेनयातो हृदयेन दूयता।

वनं [2]मदादेशकरोऽजितं [3]प्रभुं जिगाय [4]तद्भक्तगुणैः[5] पराजितम् ॥ ४१ ॥

यः क्षत्रबन्धुर्भुवि तस्याधिरूढ मन्वारुरुक्षे दपि वर्षपूगैः।

[6]यः पञ्चवर्षो यदहोभिरल्पैः [7]प्रसाद्य वैकुण्ठ मवाप तत्पदम् ॥ ४२ ॥

## मैत्रेय उवाच

एतत्तेऽभिहितं सर्वं यत्पृष्टोऽह मिह त्वया।

ध्रुवस्योद्दाम यशसश्चरितं[8] सम्मतं सताम् ॥ ४३ ॥

धन्यं यशस्य मायुष्यं पुण्यं स्वस्त्ययनं महत्।

स्वर्ग्यं ध्रौव्यं सौमनस्यं प्रशस्य मघमर्षणम् ॥ ४४ ॥

श्रुत्वैतच्छ्रद्धयाऽभीक्ष्ण मच्युत प्रियचेष्टितम्।

भवेद्भक्ति र्भगवति यया स्यात्क्लेशसंक्षयः ॥ ४५ ॥

**श्रीध. नूनमिति**। पतिरेव देवता यस्या स्तस्याः, सुतस्य य स्तपः प्रभावः तस्य तां गतिं फलमधिगन्तुं [9]वेदवादिनः[-9] वेदवादशीला ब्रह्मर्षयोऽपि नैव प्रभवन्ति। अभ्युपायान् भगवद्धर्मान् दृष्ट्वाऽपि किं पुन र्नृपाः ॥ ४० ॥

तपः प्रभावं [10]तां गतिं च विशिनष्टि - य इति द्वाभ्याम्। गुरुदाराः पितृपत्नी सुरुचिः तस्या वाक्शरै र्भिन्नेन अत एव दूयता हृदयेन वनं यात स्सन् अजित मपि यो जिगाय वशीकृतवान् ॥ ४१ ॥

---

1--1. W omits 2. M, Ma ममाऽऽ° 3. Ms, V विभुं 4. M, Ma तद्भक्ति 5. Ms जनै 6. A, B, G, I, J, T, V षट् 7. W आसाद्य 8. W °त्रं 9--9. A, B, J, Va omit 10. A, B, J, Va omit तां

**य** इति । तस्याधिरूढं तेन प्राप्तं पदं यो भुवि क्षत्रबन्धुः क्षत्रियो भवेत्स तमनु वर्षसमूहै रप्यारोढु मिच्छेदपि किम् ? तत्सङ्कल्पोऽप्यशक्यो दूरत आरोहण मित्यर्थः । कथम्भूतं पदम् ? षड्वा पञ्च वा वर्षाणि यस्य सः अल्पै रेवाहोभिः वैकुण्ठं प्रसाद्य यत्तस्य पद मवाप तत् ॥ ४२ ॥

**एतदिति** । उद्दाम मुत्कृष्टं यशो यस्य ॥ ४३ ॥

**धन्यमिति** । [1]धन्यं धनहेतुर्निमित्तम् । ध्रौव्यं ध्रुवस्थानप्रापकम् । प्रशस्यं प्रशंसार्हम् । अघमर्षणं पापनाशनम् ॥ ४४ ॥

**श्रुत्वेति** । अच्युतप्रियस्य ध्रुवस्य चेष्टितं श्रुत्वा यो वर्तते तस्य भक्ति र्भवेत् ॥ ४५ ॥

**वीर.** श्लोकानेवाह - **नूनमिति** । पतिदेवतायाः सुनीतेः सुतस्य ध्रुवस्य यस्तपः प्रभावः तस्य फलभूतां [2]तां गतिं अभ्युपायान् गतिसाधनभूतान् भगवदाराधनरूपान् उपायानपि दृष्ट्वा वेदवादिनोऽपि ऋषयोऽपि अधिगन्तुं प्राप्तुं नैव प्रभवन्ति न समर्था भवन्ति किं पुन र्नृपाः नृपा न प्रभवन्तीति किमु वक्तव्य मित्यर्थः ॥ ४० ॥

गुरुदाराः पितृपत्नी सुरुचिः तस्या वाच [3]एव बाणाः तैः भिन्नेनात एव दूयता तप्तेन हृदयेन यो ध्रुवः पञ्चवर्ष एव वनं प्रति गतः तत्राऽपि मदाज्ञावशवर्ती अजित मपि विभुं भगवन्तं [4]तद्भक्तगुणैः भगवद्भक्तानां गुणै र्भूतमैत्र्यादिभिः पराजितं वशंगतम् "अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्रः" (भाग. 9-4-63) इति भगवदुक्तेः भक्तपराधीन मित्यर्थः । जिगाय वशीकृतवान् ॥ ४१ ॥

तस्य ध्रुवस्य अधिरूढं प्राप्तं [5]तेन पद मित्यर्थः । पदं स्थानं यो भुवि क्षत्रबन्धुः क्षत्रियाभासः वर्षसमूहै रपि अधिरोढु मिच्छेदपि किम् ? तत्सङ्कल्पोऽप्यशक्यः, दूरत आरोहण मित्यर्थः । कथम्भूतं पदं ? [6]षट् पञ्च [7]वा वर्षाणि यस्य सः । अल्पै रेव अहोभि र्दिनैः वैकुण्ठं [8]प्रसाद्य [9]प्रसन्नं कारयित्वा यत्तस्य पद मवाप ॥ ४२ ॥

तद्ध्रुवचरितं निगमयन् [10-]तच्छ्रवण-श्रावणादि[-10] फलमाह मुनिः **एतदिति** । [11]त्वया यत्प्रति पृष्टोऽहं तत्सर्वं तुभ्यं कथितं किं तत्राऽह । उद्दामयशसः उत्कृष्टकीर्तेः ध्रुवस्य चरितं सतां हरिभक्तानां सम्मतम् ॥ ४३ ॥

धन्यं धनेच्छया श्रृण्वतां श्रावयतां च धनसम्पादकं तथा यशस्यं यशस्करम् आयुष्करं स्वस्त्ययनं, मङ्गलकरं स्वर्गसम्पादकं, ध्रौव्यं ध्रुवस्थानप्रापकं सौमनस्यं मनः पीडाविनाशकं प्रशस्यं प्राशस्त्यसम्पादकम् अघमर्षणं पापनिरासकम् ॥ ४४ ॥

एतदच्युतप्रियस्य ध्रुवस्य चेष्टित मभीक्ष्णं पौनः पुन्येन श्रद्धया श्रुत्वा यो वर्तते तस्य भगवति भक्ति र्भवति । भक्तिफलमाह- यया भक्त्या क्लेशाना माध्यात्मिकादीनां संक्षयो भवति ॥ ४५ ॥

---

1. A, B, J, Va omit धन्यं 2. A, B, T omit तां 3. A, B, T omit एव 4. A,B,T omit तद्भक्त 5. A, B, T omit तेन 6. A, B, T omit षट् 7. A, B, T omit वा 8. A, B, T आसाद्य 9. A, B, T आसन्नं 10--10. A, B, T तच्छ्रवणादि 11. T यत्परि°

**विज.** तपसः प्रभावो माहात्म्यं यस्य स तथा तस्य। "प्रताप माहात्म्ययोः प्रभावः स्यात्" (वैज.को. 7-1-56) इति यादवः ॥ ४० ॥

अजितं जिगाय वशीचकार ॥ ४१-४२-४३ ॥

ध्रौव्यं ध्रुवस्य मौक्षस्य साधनम् ॥ ४४ ॥

अच्युतप्रियस्य ध्रुवस्य चेष्टितम् ॥ ४५ ॥

**महत्त्व मिच्छतां तीर्थं श्रोतुः शीलादयो गुणाः**
**यत्र तेज स्तदिच्छूनां मनो[1] यत्र मनस्विनाम् ॥ ४६ ॥**

**प्रयतः कीर्तये त्प्रातः समवाये द्विजन्मनाम्।**
**सायं च पुण्यश्लोकस्य ध्रुवस्य चरितं महत् ॥ ४७ ॥**

**पौर्णमास्यां सिनीवाल्यां द्वादश्यां श्रवणेऽथवा[2]।**
**दिनक्षये व्यतीपाते सङ्क्रमेऽर्कदिनेऽपि वा ॥ ४८ ॥**

**श्रावये च्छ्रद्धधानानां तीर्थपादपदाश्रयः।**
**नेच्छं स्तत्रात्मनाऽऽत्मानं सन्तुष्ट इति सिध्यति ॥ ४९ ॥**

**ज्ञान मज्ञाततत्त्वाय यो दद्या त्सत्पथेऽमृतम्[3]।**
**कृपालो र्दीननाथस्य देवा स्तस्यानुगृह्णते ॥ ५० ॥**

**इदं मयातेऽभिहितं कुरूद्वह ! ध्रुवस्य विख्यात विशुद्धकर्मणः।**
**हित्वार्भकः क्रीडनकानि मातु र्गृहं च विष्णुं शरणं[4] जगाम ॥ ५१ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

---

1. A. B. G. I. J. M. Ma. T. W मानो  2. W तथा  3. M. Ma. Ms °त्परमार्थवित्  4. A. B. G. I. J. M. Ma. T. V add यो

**श्रीध. महत्त्वमिति**। तीर्थं महत्त्वावाप्तिस्थानम्[1]। गुणा यत्र भवन्ति॥ ४६॥

**प्रयत** इति। समवाये[2] सभायाम्॥ ४७-४८॥

**श्रावयेदिति**। नेच्छ न्निष्कामः तत्र श्रवणे आत्मनैवाऽऽत्मानं प्रति सन्तुष्टो भवतीति हेतोः सिद्धिं प्राप्नोति॥ ४९॥

**ज्ञानमिति**। किञ्च सत्पथे भगवन्मार्गेऽमृतरूपं ज्ञानं यो दद्यात्॥ ५०॥

**इदमिति**। ध्रुवस्य चरितं मया तेऽभिहितम्[3]। मातुर्गृहं च हित्वा त्यक्त्वा[4]॥ ५१॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां द्वादशोऽध्यायः॥ ५२॥

**वीर.** महत्त्वं सर्वोत्कृष्टत्व मिच्छतां कामयमानानां तीर्थं महत्त्व[5-] प्राप्त्युपायो[-5] भवे दित्यनुषङ्गः। तथा श्रोतुः शीलादयो गुणाः भवेयु रित्यनुषक्तस्य वचनविपरिणामेनाऽन्वयः[6]। यत्र यस्मिन् ध्रुवचरिते श्रूयमाण इति शेषः। तदिच्छूनां तेज इच्छतां तेजो भवेत्। तेजसो विधेयत्वेन बुद्धिस्थत्वात् सन्निहितत्वात् प्रकृतत्वात् तच्छब्देन परामर्शा दुद्देश्यविशेषणत्वोपपत्तिः, तथा यत्र यस्मिन् चरिते मनस्विनां प्रशंसायां नित्ययोगे वा मत्वर्थीयः "अस्मायामेधास्रजो विनिः" (अष्ट. 5-2-121) इति विनि प्रत्ययः। मनः प्राशस्त्यं, भगवति मनसो नित्ययोगं वा इच्छतां मनः प्रशस्तं नित्ययुक्तं वा मनो भवेदित्यर्थः॥ ४६॥

अर्थसामर्थ्या त्प्रातः सायं च सायङ्काले च प्रयतः मनः प्रणिधानयुक्तः द्विजन्मनां ब्राह्मणानां समवाये सभायां पुण्यश्लोकस्य ध्रुवस्य महत् समीहितसाधनं चरितं कीर्तयेत्॥ ४७॥

पौर्णमास्यां सिनीवाल्यां दृष्टेन्दुकलाया ममावास्यायां श्रवण नक्षत्रयुक्ते दिने अर्कदिने सप्तमीभानुवासरादौ च कीर्तयेदिति सम्बन्धः॥ ४८॥

नेच्छन्निष्कामः तीर्थं पादेयस्य सः तीर्थपादो भगवान् तस्य पदाश्रयः भागवतः श्रद्धधानानां श्रद्धायुक्तान् प्रति इदं चरितं श्रावयेत् भागवतस्य नितरा मेतच्चरितश्रावणं युक्तमिति भावः। तत्र निष्कामनया[7] श्रावणे आत्मना स्वय मेवात्मानं श्रावयित्राद्यात्मानं प्रति

---

1. V °त्व प्राप्ति 2. V adds सत् 3. V omits ते 4. A, B, J, Va omit त्यक्त्वा 5. A, B, T महत्वं प्राप्तु मुपायो 6. W °न सम्बन्धः।
7. A, B, T °तया

सन्तुष्ट इति सन्तुष्टो भगवान् भवेदिति हेतोः सिद्धयति। निष्कामनया[1] यः श्रावयति तस्मै[2] भगवान् स्वयमेव सन्तुष्ट इति सोऽपि सिद्धयत्वेव मुक्तिं प्राप्नोत्येवेत्यर्थः॥ ४९॥

न केवलं निष्कामनया[3] श्रावयितारं भगवानेवाऽनुगृह्णीते[4], अपि तु सर्व एव देवा अनुगृह्णते इत्याह - **ज्ञानमिति**। अज्ञातं तत्त्वं तत्त्वत्रययाथात्म्यं येन तस्मै सत्पथे सतां मार्गे भगवन्मार्गे इत्यर्थः, अमृतरूपं ज्ञानं यो दद्यात् तस्य कृपालोरत एव दीननाथस्य देवा अनुगृह्णते अनुग्रहं कुर्वन्ति॥ ५०॥

हे कुरूद्वह! विख्यातं प्रसिद्धं विशुद्धं[5] श्रृण्वता मप्यघशोधकं[6] कर्म[7] चेष्टितं यस्य तस्य ध्रुवस्येदं चरितं तुभ्यं मयाऽभिहितं कथितम्। यो ध्रुवः अर्भक एव सन् मातृगृहं क्रीडनकानि बाल[8] क्रीडासाधनानि च त्यक्त्वा विष्णुं शरणं जगामेति पुनः पुनः विस्मयते[9]॥ ५१॥

**विज.** तीर्थ मुपायः साधनं मन्त्राद्युपदेष्टृवत्[10-] उपदेष्टा वा[-10] ''तेजो बले प्रभावेऽन्ने ज्योतिष्यर्चिषि रेतसि। नवनीतेऽनले धर्मे दाने हस्तिमदेऽपि च'' (वैज.को. 6-3-14-15) इत्यभिधानात्। तदिच्छूनां तेज आकाङ्क्षमाणानां यत्र यस्मिं श्चरितेऽभ्यस्यमाने तेजो भवतीत्यर्थः॥ ४६॥

''समवाये समूहे कीर्तयेत्'' इत्यतः तात्पर्यादिदमिति वक्ति - **पुण्यश्लोकस्येति**॥ ४७-४८॥

श्रावयन् फलाभिसन्धिं न कुर्यादिति भावेनाह - नेच्छन्निति। तत्र चरिते श्राविते श्रुते वा फलन्नेच्छन् वर्तते इति शेषः। कथं तर्हि फलसिद्धि रित्यत आह - आत्मनेति। तत्रे त्युत्तरत्राऽपि सम्बध्यते। तत्र चरिते श्राव्यमाणे आत्मना मनसाऽऽत्मानं परमात्मानं प्रति सन्तुष्टः सिद्धयति प्राप्तभीष्टफलो भवति॥ ४९॥

ध्रुवचरित व्याख्यानव्याजेन भागवतं ज्ञान मुपदिशतो न केवलं भगवानेवानुग्रहं करोति, किन्तु तदिन्द्रियाभिमानिनो देवा अपीत्याह - **ज्ञानमिति**॥ ५०॥

पुनरपि तन्माहात्म्यं सूचयन् उपसंहरति - **इदं मयेति**॥ ५१॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे
श्री विजयध्वजतीर्थ कृतायां पदरत्नावल्यां
टीकायां द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

---

1. A, B, T °तया 2. A, B, T तस्मिन् 3. A, B, T °तया 4. A, B, T गृह्णाति 5. A, B, T add कर्म यस्य सः 6. A, B, T add कर्मणां 7. A, B, T °नं 8. A, B, T omit बाल 9. W विस्मीयते 10--10. A, B मन्त्राद्युपदेष्टा

# त्रयोदशोऽध्यायः

## सूत उवाच[1]

निशम्य कौषारविणोपवर्णितं ध्रुवस्य वैकुण्ठपदाधिरोहणम्।
प्ररूढभावो भगवत्यधोक्षजे प्रष्टुं पुनस्तं विदुरः प्रचक्रमे ॥ १ ॥

## विदुर उवाच

के ते प्रचेतसो नाम कस्यापत्यानि सुव्रत।
कस्यान्ववाये प्रख्याताः कुत्र वा सत्रमासत[2] ॥ २ ॥

मन्ये महाभागवतं नारदं देवदर्शनम्।
येन प्रोक्तः क्रियायोगः परिचर्याविधिर्हरेः ॥ ३ ॥

स्वधर्मशीलैः पुरुषैर्भगवान् यज्ञपूरुषः[3]।
इज्यमानो भक्तिमता नारदेनेरितः किल ॥ ४ ॥

यास्ता देवर्षिणा तत्र वर्णिता भगवत्कथाः।
मह्यं शुश्रूषवे ब्रह्मन् कार्त्स्न्येनाऽऽचष्टुमर्हसि ॥ ५ ॥

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एवं पञ्चभिरध्यायैः ध्रुवचर्याऽनुवर्णिता। अथैकादशभिश्चित्रं पृथुचारित्रमुच्यते। तत्र त्रयोदशे वक्तुं पृथोर्जन्म ध्रुवान्वये। अङ्गो वेनपिता पुत्रक्रौर्यादृत इतीर्यते ॥

**निशम्येति**। प्ररूढो भावो भक्तिर्यस्य सः ॥ 1 ॥

**क इति**। अन्ववाये वंशे ॥ २ ॥

नारदेन प्रचेतसां सत्रे[4] वर्णिताः कथाः प्रष्टुं तन्महिमानमाह द्वाभ्याम्[5] - **मन्य इति**। देवस्य विष्णोः[6] दर्शनं यस्य सः। हरेः परिचर्याप्रकारः क्रियायोगः पञ्चरात्रे[7] येन प्रोक्तः ॥ ३ ॥

---

1. M, Ma, Ms श्रीशुक उवाच; Ma बादरायणिः 2. B, J, Ma, W °ते 3. M, Ma, Ms पुरुषोत्तमः 4. V omits सत्रे 5. A, B, J, Va omit द्वाभ्याम् 6. A, B, J, Va omit विष्णोः 7. V पा°

**स्वधर्मेति**। स्वधर्मशीलैः पुरुषैः[1] प्रचेतोभिः ॥ ४, ५ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं कात्स्न्येन श्रुतध्रुवचेष्टितो विदुषो "महिमानं विलोक्यास्य नारदो भगवानृषिः । आतोद्यं वितुदन् श्लोकान् सत्रेऽगायत्प्रचेतसाम् ॥" (भाग. 4-12-40) इत्युक्तप्रचेतस्सत्रे तत्र तत्र वर्णितभगवत्कथाबुभुत्सया पृच्छतीत्याह बादरायणिः[2] - **निशम्येति**। कौषारविणा मैत्रेयेणोपवर्णितं यद्ध्रुवस्य वैकुण्ठस्थानाधिरोहणं तन्निशम्य श्रुत्वा पुनरधोक्षजे भगवति प्ररूढः अभिवृद्धः[3] भावो भक्तिर्यस्य सः विदुरः[4] तं कौषारविमन्यत्प्रष्टुमुपक्रान्तवान् ॥ १ ॥

प्रश्नमेवाह - **के ते** इति। ते प्रचेतसां सत्रे इत्युक्ताः प्रचेतसः के इति जातिप्रश्नः । हे सुव्रत ! मैत्रेय ! कस्यापत्यानि पुत्रा इति योनिसम्बन्धप्रश्नः । कस्यान्ववाये वंशे[5] प्रख्याताः प्रसिद्धा इति वंशप्रश्नः । कुत्र वा सत्रमासत इति सत्रदेशप्रश्नः ॥ २ ॥

नारदेन प्रचेतसां वर्णिताः कथाः प्रष्टुं तन्महिमानमाह - **मन्य** इति। देवदर्शनं देवो भगवान् तस्य दर्शनं, दृश्यते[6-] अनेनेति दर्शनं,[-6] करणे ल्युट्। तत्त्वोपदेशेन भगवत्साक्षात्कारोपायभूत इत्यर्थः । देवस्य दर्शनं साक्षात्कारो यस्य यस्माद्वा इति बहुव्रीहिः तम् अत एव महाभागवतं मन्ये। तमेव विशिनष्टि - येन नारदेन हरेः परिचर्याविधिः पूजाप्रकाररूपः क्रियायोगः प्रोक्तः पञ्चरात्राद्युपदेशेन कथितः ॥ ३ ॥

क्रियायोगमेव विशदयन् नारदं प्रस्तौति - **स्वधर्मेति**। भक्तिमता निरतिशयभगवद्भक्तिमता नारदेन यज्ञपूरुषः यज्ञानां भोक्ता प्रभुश्च भगवान् स्वधर्मशीलैः स्वस्ववर्णाश्रमोचितभगवदाराधनरूपपञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानपरैः पुरुषैः इज्यमान आराध्यमान ईरितः कथितः किल सर्वयज्ञाराध्यभगवत्परिचर्यारूपत्वेन स्वस्ववर्णाश्रमोचितधर्मा[7] अनुष्ठेया इति पञ्चरात्रादौ नारदेन भगवता कथितमित्यर्थः ॥ ४ ॥

एवं नारदं प्रस्तुत्य प्रचेतोभ्यः तदुपदिष्टकथाः पृच्छति - **या इति**। देवर्षिणा नारदेन तत्र तत्र प्रचेतसां ब्रह्मसत्रे या भगवत्कथा वर्णिताः ताः कथाः शुश्रूषवे श्रोतुमिच्छवे[8-] मह्यं[-8] कात्स्न्येन वक्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अत्र हरितद्भक्तकथाश्रवणेन शुद्धन्तःकरणस्य बिम्बप्रतिबिम्बज्ञानादेवापवर्गः स्यादिति दीप्यतेऽस्मिन्नध्याये। तत्रादौ विदुरस्य

---

1. V omits पुरुषैः 2. A, B, T शुकः 3. A, B, T प्रवृद्धः 4. A, B, T omit विदुरः 5. A, B, T omit वंशे 6-6. A, B, T omit
7. A, B, T °ताः धर्माः 8--8. A, B, T omit

प्रचेतसां विषयप्रश्नप्रकारः तदुत्तरत्वेन मैत्रेयेणाऽस्य वंशावलिवर्णनं क्रियते - **निशम्येत्यादिना**। प्ररूढभावः प्रवृद्धभक्तिः सत्रेऽगायत् प्रचेतसामित्युक्तिः प्रश्नबीजम्॥ १॥

अन्ववाये वंशे॥ २॥

महाभागवतेन विदुरेण हरिकथाप्रश्नं विहाय प्रचेतसां प्रश्नः किमिति क्रियते इत्याशङ्क्य तेषां कथापि हरिकथाविनाभूता नारदेन प्रोच्यमानत्वात् नारदस्त्वन्यकथां न वक्ति भागवतचूडामणित्वादित्याह - **मन्य** इति। क्रियायोगः स क इति तत्राह। परिर्चाविधिः हरेरिति॥ ३॥

प्रवृत्तानां योग्यः कथं निवृत्तिविषयो भवतीत्याशङ्क्य सङ्कल्पविशेषात् स्यादित्याशयेनाह - **स्वधर्मशीलैरिति**। अयं भावः साक्षान्नारायण एव चरुपुरोडाशादिद्रव्यस्वामित्वेन तदभिमानित्वेनाग्न्यादिदेवतान्तर्यामित्वेन तच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य मुख्यत्वेन देवतात्वेन च मन्त्रमूर्तित्वेनेज्यत इति नारदेन प्रतिपादित इति॥ ४॥

ततः किं फलितमित्यत्राह - **यास्ता** इति॥ ५॥

## मैत्रेय उवाच

**ध्रुवस्य चोत्कलः पुत्रः पितरि प्रस्थिते वनम्।**
**सार्वभौमश्रियं नैच्छदधिराजासनं पितुः॥ ६॥**

**स जन्मनोपशान्तात्मा निस्सङ्गः समदर्शनः।**
**ददर्श लोके विततमात्मानं लोकमात्मनि॥ ७॥**

**आत्मानं ब्रह्मनिर्वाणं प्रत्यस्तमितविग्रहम्।**
**अवबोधरसैकात्म्यमानन्दमनुसन्ततम्॥ ८॥**

**अव्यवच्छिन्नयोगाग्निदग्धकर्ममलाशयः।**
**स्वरूपमवरुन्धानो नात्मनोऽन्यं तदैक्षत[1]॥ ९॥**

---

1. M, Ma, Ms नान्यदस्मात्त°; W नात्मनोऽन्यत्त°

**जडान्धबधिरोन्मत्तमूकाकृतिरतन्मतिः।**

**लक्षितः पथि बालानां प्रशान्तार्चिरिवानलः॥ १०॥**

**श्रीध.** ध्रुवस्य वंशे ते जाता इति वक्तुं ध्रुवस्य वंशमनुक्रामति - **ध्रुवस्येत्यादिना**। पितुः सार्वभौमश्रियं नैच्छदधिराजासनं च॥ ६॥

अनिच्छायां[1] हेतुमाह - **स इति** चतुर्भि ॥ ७॥

**आत्मानमिति**। आत्मान स्वरूपभूत ब्रह्मावरुन्धान आप्नुवन् जानन् आत्मनो[2-] नान्यं तदैक्षत[-2]। स्वयं तु सर्वस्मादन्यस्सन्। कथम्भूतं ब्रह्म ? निर्वाणं शान्तम्। प्रत्यस्तमितविग्रह[3] प्रत्यस्तमितः[4-] प्रतिसन्धानेनास्तमितः[-4] शान्तो विग्रहो भेदो यस्मिन्। अवबोधरसेनैकात्म्यं यस्य॥ ८॥

**अव्यवच्छिन्नेति**। कथम्भूत ? अव्यवच्छिन्नो[5-] निरन्तरो[-5] यो योगः स एवाग्निः तेन दग्धः कर्ममल आशयो वासना च यस्य॥ ९॥

**जडेति**। जडादीनामिवाऽऽकृतिः यस्य तथाभूतो लक्षितः अतन्मतिः न तेषामिव मतिर्यस्य सर्वज्ञत्वात्। प्रशान्तान्यर्चींषि ज्वाला यस्यानलस्य तद्वत्स्थितः॥ १०॥

**वीर.** एवमापृष्टो मुनिः प्रचेतसो ध्रुववंशे जाता इति वक्तुं ध्रुववंशमनुक्रामति[6] - **ध्रुवस्येति**। ध्रुवस्य पुत्रः उत्कलाख्यः पितरि ध्रुवे वनं प्रति गच्छति सति सार्वभौमश्रियं पितुरधिराजासनं च नैच्छत्॥ ६॥

अनिच्छायां किं कारणमित्यपेक्षायां बहुजन्मसिद्धयोगमाहात्म्यप्रत्यक्षितस्वात्मयाथात्म्यानुभवतृप्तत्वादन्यत्पुरुषार्थजातं[7] नैच्छदिति वक्तुं तस्य स्वात्मानन्दानुभवमाह - **स इति**। स उत्कलः जन्मना जन्मप्रभृति उपशान्तः[8] रागादिभिरकलुषित[9] आत्मा मनो यस्य। अत एव निस्सङ्गः रागिभिः सङ्गरहितः समदर्शनस्सन् लोके विततं व्याप्तम् आत्मानम् आत्मनि लोकं च ददर्श। लोके वितततमात्मानमिति शरीरव्यापकत्वमुक्तम्। आत्मनि लोकमित्यात्मनो धारकत्वमुक्तं, लोक्यते[10] दृश्यते इति लोकः शरीरम्॥ ७॥

आत्मानं प्रत्यगात्मानं ब्रह्म धर्मभूतज्ञानबृहत्तया ब्रह्मशब्दवाच्यं निर्वाणं सुखस्वरूपं[11] प्रत्यस्तमितविग्रहं देहविनिर्मुक्तम् "अशरीरं

---

1. Va °च्छाहे° 2--2. V अन्यद्यत् तन्नैक्षत। 3--3. B, J, V, Va omit 4--4. B, J, V, Va omit 5--5. B, J, V, Va omit 6. A, B, T श्रावयति 7. W भूतं 8. W शान्तं 9. W °तं 10. A, B, T omit दृश्यते 11. W omits °स्व°

शरीरेषु'' (कठ.उ. 2-22) इति श्रुतेः । अवबोधरसैकात्म्यं अवबोध एव रसः ऐकात्म्यमेकस्वभावत्वं यस्य तं क्वचिदप्यंशे जाड्यरहितमित्यर्थः । आनन्दं धर्मभूतानन्दगुणविशिष्टं ''गुणवचनेभ्यो मतुपो लुग्वक्तव्यः'' (वार्तिक under अष्टा 1-4-19) इत्यनुशासनात् अतिसन्ततमत्यन्तं नित्यम् ॥ ८ ॥

स्वरूपं स्वस्वरूपभूतमवरुन्धानः अनुसन्दधानः अत एव अव्यवच्छिन्नयोगाग्निदग्धकर्ममलाशयः अव्यवच्छिन्नः निरन्तरः योगः आत्मयाथात्म्यज्ञानयोगः स एवाग्निस्तेन दग्धं कर्मरूपमलं यस्य सः, आशयोऽन्तःकरणं यस्येति बहुव्रीहिगर्भो बहुव्रीहिः । अन्यत् आत्मस्वरूपादन्यत् पुरुषार्थभूतदेहतदनुबन्ध्यादिकं स्वयमन्यः देहादिभ्यो विलक्षणः नैक्षत नापश्यत् ॥ ९ ॥

जडादितुल्यवेषः अतन्मतिः जडादितुल्यमतिरहितः प्रशान्तानि अर्चींषि ज्वाला यस्य सोऽग्निरिव स्थितः बालानां पथि मार्गे स्वमाहात्म्यानाविष्काररूपे लक्षितः ॥ १० ॥

**विज.** अधिराजासनं राजासनमधिकृत्य वर्तमानां सार्वभौमश्रियं नैच्छदित्यन्वयः ॥ ६ ॥

कुतो नैच्छदिति तत्राह - **स जन्मनेति** । जन्मप्रभृति भगवन्निष्ठादिगुणयुक्तत्वात् समदर्शनत्वं स्पष्टयति ददर्शेति । आत्मानं परमात्मानं लोके विततं ददर्श लोकमात्मनि परमात्माधारतया स्थितम् अद्राक्षीदित्यन्वयः ॥ ७ ॥

तदेव विशिनष्टि - **आत्मानमिति** । ददर्शेत्यनुवर्तते । आत्मानं स्वबिम्बं हरिमेवं ददर्शेत्यन्वयः । कथं ब्रह्म ''अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेति बृहन्तो ह्यस्मिन्गुणाः'' इति श्रुतेः गुणतो देशतो व्याप्तं हृदयगुहाकाशस्यात्पत्वेन तत्स्थितस्यापि तथात्वात् कथं व्याप्तं इत्युच्यत इत्याशङ्क्य प्राकृतवैकृतरूपवत एव अनुपपत्तिः व्याप्तत्वेन हरेः तादृशशरीराभावादिति भावेनोक्तम् - निर्वाणमिति । ''एतद्वाणमवष्टभ्य'' इति श्रुतौ बाणशब्दस्य शरीरे प्रयोगात् देहविनाशे तत्रस्थस्यापि विनाशसम्भवात् कथं ब्रह्मत्वमुच्यत इत्यतो वाऽऽह निर्वाणमिति । निर्गतो नाशो यस्मात्तथोक्तम् - ''निर्वाणं निर्वृतौ मोक्षे विनाशे गजमज्जने'' (वैज.को. 7-3-20) इति यादवः । अनेन देहिनो जीवस्य देहोऽहमिति तन्निमित्तदुःखित्वेऽपि हरेस्तन्नास्तीति ज्ञापितम् । हरेः प्राकृतदेहो नास्तीति स्पष्टमाह प्रत्यस्तमितेति । ''गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्मविग्रहः'' (अम.को. 2-330) इत्यमरः । प्रतीत्युपसर्गयोगेन यानि यान्यवताररूपा-ण्यन्तर्यामिरूपाणि च तानि तानि सर्वाण्यपि प्राकृतशरीररहितानीति सूचनेन मूलरूपस्य किमु वक्तव्यमित्यायातम् । तर्हीदं शून्यकल्पमित्यत उक्तम् अवबोधेति । अवबोधरसो ज्ञानरसः स एवैकमात्मनोऽभिन्नं रूपं यस्य तत्तथोक्तं, प्राकृतज्ञानमिश्रितं न भवतीत्येकेत्युक्तम् । तस्यापि ज्ञानवाचित्वादवगच्छतीत्यादौ सिद्धत्वात् । ''ज्ञानज्ञानः सुखसुखः'' इति श्रुतिरपि सूचिता स्यात् । रूपरूपिणोर-

भेदद्योतनायैकात्म्यमित्युक्तम् ''ऐकात्म्यप्रत्ययसारम्'' इति श्रुतिश्च । एवं चेत् विज्ञानवादानुप्रवेश इति तत्राह आनन्दमिति । आनन्दयतीत्यानन्दं सुखानुभवररूपमित्यर्थः । ''विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'' (बृह.उ. 3-9-28) इति श्रुतेः । उपसंहरति अनुसन्ततमिति। अतः सर्वप्राणिष्वनुगतत्वेन तद्बहिष्ट्वेन च गुणगुणिनो रूपरूपिणोरभेदेन ततं व्याप्तमित्युपपन्नमित्यर्थः । ''समभेदे'' (वैज.को. 8-7-8) इति यादवः ॥ ८ ॥

ज्ञानाग्निना दग्धबाह्यान्तःकरणस्यैतादृशभगवद्रूपदर्शनं सङ्गच्छत इत्याह - **अव्यवच्छिन्नेति**। योगशब्देन तज्जनितज्ञानं लक्ष्यते। अव्यवच्छिन्नयोगेन निरन्तरध्यानलक्षणोपासनया जातेन ज्ञानाग्निना दग्धं भस्मीभूतं कर्ममलं पापक्रियानिमित्तं मलं किट्टं यस्य स तथा, तादृश आशयोऽन्तःकरणं यस्य स तथा, निर्मलान्तःकरणपात्रे प्रज्वलितेन ज्ञानदीपेन लोके विततमात्मानमात्मनि ततं लोकं च ददर्शेत्युक्तया द्वयोः समत्वमायातमिति मन्दाशङ्कामपनुदन् विशदयति - स्वरूपमिति । स्वरूपं जीवस्य बिम्बरूपं परमात्मानमवरुन्धानः स्वज्ञानान्तस्स्थितं कुर्वाणः साक्षात्कृतं कुर्वाणोऽस्माद्धरेरन्यत्स्वतन्त्रमनियतं तज्जगन्नैक्षत, किन्तु तत्सृष्टं तत्स्थापितं तन्नियतं तत्संहृतं तज्ज्ञापितं तद्बद्धं तन्मोचितमपश्यदित्यर्थः । तदा स्वरूपं प्रतिबिम्बमस्माद्बिम्बादन्यद्भिन्नं नैक्षतेति बिम्बप्रतिबिम्बयोरत्रैक्यमुच्यत इति वक्तुं न युक्तम्। अवरुन्धान इत्यस्य निर्विषयत्वात् तदेति कालस्य पृथङ्निर्देशानुपपत्तेश्च ददर्शेत्यत्र लोकात्मनोराधाराधेयत्वोक्तेश्च तस्य च भेदनिष्ठत्वात् । तदुक्तम् ''भिन्नस्वरूपमभिदं स्वरूपं तु द्विधा हरेः । भिन्नस्वरूपं ब्रह्माद्यं मत्स्याद्यभिदमुच्यते'' (गारुडे) इति ॥ ९ ॥

एवंविधोऽपि लोकसम्भाषणविसर्जनार्थमविवेकिनामेवं दृष्ट इत्याह - **जडेति**। अतन्मतिः तत्तद्वस्तुविषयज्ञानशून्यः विवेकिनां पक्षे एव सर्वविलक्षणे विष्णौ यया संसारं तरति सा मतिर्यस्य सोऽतन्मतिरिति प्रशान्तार्चिः भस्मगर्भितोऽग्निरिव ॥ १० ॥

**मत्वा तं जडमुन्मत्तं कुलवृद्धाः समन्त्रिणः ।**
**वत्सरं भूपतिं चक्रुर्यवीयांसं भ्रमेः सुतम् ॥ ११ ॥**

**सर्वर्द्धिर्वत्सरस्येष्टा[1] भार्याऽसूत षडात्मजान् ।**
**पुष्पार्णं तिग्मकेतुं[2] च इषमूर्जं वसुं जयम् ॥ १२ ॥**

**पुष्पार्णस्य प्रभा भार्या दोषा च द्वे बभूवतुः ।**
**प्रातर्मध्यन्दिनं सायमिति ह्यासन् प्रभासुताः ॥ १३ ॥**

---

1. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T स्ववीथि°  2. V चन्द्र

प्रदोषो निशिथो व्युष्टिः इति दोषासुतास्त्रयः ।
व्युष्टिः सुतं पुष्करिण्यां सर्वतेजसमादधे ॥ १४ ॥

स चक्षुः सुतमाकूत्यां पत्न्यां मनुमवाप ह ।
मनोरसूत महिषी विरजान्नड्वला सुतान् ॥ १५ ॥

पुरुं कुत्सं त्रितं द्युम्नं सत्यवन्तमृतं व्रतम् ।
अग्निष्टोममतीरात्रं प्रद्युम्नं शिबिमुल्मुकम् ॥ १६ ॥

उल्मुकोऽजनयत्पुत्रान्पुष्करिण्यां षडुत्तमान् ।
अङ्गं सुमनसं ख्यातिं क्रतुमङ्गिरसं गयम् ॥ १७ ॥

सुनीथाङ्गस्य या पत्नी सुषुवे वेनमुल्वणम् ।
यद्दौश्शील्यात्स राजर्षिर्निर्विण्णो निरगात्पुरात् ॥ १८ ॥

यमङ्ग शेपुः कुपिता वाग्वज्रा मुनयः किल ।
गतासोस्तस्य भूयस्ते ममन्थुर्दक्षिणं करम् ॥ १९ ॥

अराजके तदा लोके दस्युभिः पीडिताः प्रजाः ।
जातो नारायणांशेन पृथुराद्यः क्षितीश्वरः ॥ २० ॥

श्रीध. मत्वेति । यवीयांसम् उत्कलात् कनिष्ठम् ॥ ११ ॥

सर्वेति । इष्टा प्रिया भार्या ॥ १२, १३ ॥

प्रदोष इति । निशिथः निशीथः ॥ १४ ॥

स इति । स सर्वतेजाश्चक्षुस्सङ्ग मनुं सुतं पुत्रमवाप । मनोर्महिषी नाम्ना नड्वला विरजान् शुद्धान् पुरुप्रमुखान् द्वादशसुतानसूत ॥ १५-१८ ॥

---

1. A, B, G, I. J, M, Ma, Ms, T °ष्टः 2. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °ष्टः 3. M, Ma, Ms वैराजा नड्वला 4. M, Ma, Ms पुरुकुत्सं 5. M, Ma, Ms व्रतमृतव्रतम् 6. M, Ma, Ms सु 7. M, Ma सुनासमाख्यातिं 8. Ms, W स्वातिं 9. M, Ma, Ms °मा° 10. M, Ma पृथुः पृथुपराक्रमः 11. V omits पुत्रम् 12. B, J, V, Va omit नाम्ना

**यमिति**। अङ्ग ! हे विदुर ! वागेव वज्रं येषां ते ॥ १९ ॥

मथने हेतुः - **अराजक** इति। आद्यः पुरग्रामादीनां तेन रचितत्वात् ॥ २० ॥

**वीर.** तमुत्कलं मन्त्रिभिस्सहितास्सर्वे तत्कुलवृद्धाः जडमुन्मत्तं च ज्ञात्वा तं विहायेत्यर्थः। भ्रमेः सुतं यवीयांसं कनीयांसं वत्सरं भूपतिं राजानं चक्रुः ॥ ११ ॥

वत्सरस्येष्टा शीलरूपगुणादिभिः नितरामनुकूला सर्वर्द्ध्याख्या[1] भार्या पुष्पार्णादीन् षट् पुत्रानसूत सुषुवे ॥ १२ ॥

तत्र षण्णां पुत्राणां मध्ये पुष्पार्णाख्यस्य ज्येष्ठस्य प्रभा दोषेति द्वे भार्ये बभूवतुः। तत्र प्रभायाः सुताः प्रातरादयस्त्रयो बभूवुः ॥ १३ ॥

दोषासुताः प्रदोषादयस्त्रयः आसन्। अत्र व्युष्टिः[2] पुष्करिण्याख्यायां भार्यायां सर्वतेजसाख्यं[3] सुतमादधे जनयामास ॥ १४ ॥

स सर्वतेजसः[4] आकूत्याख्यायां[5] पत्न्यां चक्षुस्संज्ञं सुतं मनुमवाप। मनोः चक्षुस्संज्ञस्य नड्वाख्या महिषी भार्या विरजान् शुद्धान् सुतान् पुरुप्रमुखान् द्वादश पुत्रान् असूत ॥ १५, १६ ॥

तत्रोल्मुकः पुष्करिण्यां भार्यायाम् उत्तमान् श्रेष्ठान् अङ्गादीन् षट् पुत्रानजनयत् ॥ १७ ॥

तत्राङ्गस्य या सुनीथाख्या भार्या सा उल्बणं दुरात्मानं वेननामकं पुत्रं सुषुवे। दौरात्म्यमेव प्रपञ्चयति - यदित्यादिना। यस्य वेनस्य दौश्शील्यात् दुष्टस्वभावाद्धेतोः स राजर्षिरङ्गः निर्विण्णः नितरां दुःखितः पुरान्निरगात् निर्गतः ॥ १८ ॥

हे अङ्ग ! हे विदुर ! मुनयः कुपिताः वेनेन कोपं प्रापिताः वागेव वज्रं येषां ते यं वेनं शेपुः किल शप्तवन्तः। शापाद्गतप्राणस्य तस्य वेनस्य दक्षिणं करं हस्तं पुनस्ते मुनयो ममन्थुः मथितवन्तः ॥ १९ ॥

मथने हेतुमाह - **अराजक** इति। तदा शापानन्तरं लोके अराजके राज्ञा रहिते सति अत एव दस्युभिः पीडिताः प्रजा बभूवुः। तदा पृथुर्नाम आद्यः पुरग्रामादीनां तेन रचितत्वात् क्षितीश्वरो राजा नारायणांशेन जातः ॥ २० ॥

**विज.** अस्मिन्नेवं गते कोऽत्र राजाभूदत्राह - **मत्वेति**। कालावयवस्य वत्सरस्य राज्यार्हत्वं कथमित्यत उक्तं यवीयांसमिति। कुलवृद्धा

---

1. A, B, T स्ववीर्य्याख्या 2. A, B, T °ष्टिः 3. A, B, T आख्यं 4. A, B, T तेजा· 5. A, B, T °तिनाम्न्यां

ज्येष्ठे कल्पनाम्नि सुते स्थिते वत्सरं राजानं कथमकुर्वन्नित्येतच्चोद्यं "कल्पः कल्पाभिमानी सन् शिंशुमारानुगः स्थितः । वत्सरो राज्यमकरोत्पित्रा दत्तं महाबलः । चक्रे नारायणः साक्षात्किंस्तुष्टः कल्पमात्मजम्" (ब्राह्मे) इत्यनेन परिहर्तव्यम् ॥ ११ ॥

वत्सरोऽपि नाम्ना स्ववीथ्यां भार्यायां षट् सुतानापेत्याह[1] - **स्ववीथीति**। स्वर्गमार्गाभिमानित्वात्स्ववीथीति ॥ १२ ॥

अत्र यं यमादाय कथा प्रवर्तते स स एव वंशे हेतुभूतः, अन्ये तु अकृतोद्वाहाः योगिनोऽप्रजाश्चेति तात्पर्यं ज्ञातव्यम् । एताः स्त्रियः सुताश्च कालादितत्तद्वस्त्वभिमानिन इति च ॥ १३, १४ ॥

स सर्वतेजाश्चक्षुर्नामानं सुतं नाम्नाऽऽकूत्यां पत्न्यामवापेत्यन्वयः । मनोर्महिषी नाम्ना नड्वला वैराजा वैराजपुत्री पुरुकुत्सादीन् दशसुतानसूतेत्यन्वयः ॥ १५-१७ ॥

अङ्गस्य या सुनीथा नाम पत्नी सा उल्बणमसुरप्रकृतिं वेनं सुषुव इत्यन्वयः ॥ १८ ॥

यं वेनं अङ्ग ! विदुर ! गतासोः मृतस्य ॥ १९ ॥

ततः किमभूत्तत्राह - जात इति ॥ २० ॥

## विदुर उवाच

**तस्य शीलनिधेः साधोर्ब्रह्मण्यस्य महात्मनः ।**
**राज्ञः कथमभूत् दुष्टा प्रजा यद्विमना ययौ ॥ २१ ॥**

**किं चांहो[2] वेनमुद्दिश्य[3] ब्रह्मदण्डमयूयुजन् ।**
**दण्डव्रतधरे राज्ञि मुनयो धर्मकोविदाः ॥ २२ ॥**

**नावध्येयः प्रजापालः प्रजाभिरघवानपि ।**
**यदसौ लोकपालानां बिभर्त्योजः स्वतेजसा ॥ २३ ॥**

**एतदाख्याहि मे ब्रह्मन् सुनीथात्मजचेष्टितम् ।**
**श्रद्दधानाय भक्ताय त्वं परावरवित्तमः ॥ २४ ॥**

---

1. A °नवापे° 2. A, B, G, I, J, Ms, T वांहो 3. A, B, G, I, J, Ms, T, V वेन उ°

## मैत्रेय उवाच

**अङ्गोऽश्वमेधं राजर्षिराजहार महाक्रतुम्[1]।**

**नाऽऽजग्मुर्देवतास्तस्मिन्नाहूता ब्रह्मवादिभिः ॥ २५ ॥**

**श्रीध. तस्येति**। यद्यस्याः प्रजायाः हेतोर्विमनास्सन् ययौ ॥ २१ ॥

**किञ्चेति**। किं च[2] अंहः अपराधं वेने उद्दिश्य आलक्ष्य ॥ २२ ॥

यतोऽयमधर्म इत्याह - **नेति**। नावध्येयोऽवज्ञेयोऽपि न भवति ॥ २३ ॥

**एतदिति**। परावरविदां मध्येऽतिश्रेष्ठः त्वम्[3] ॥ २४ ॥

अभावी[4] पुत्रः काम्यकर्मणा बलादापादितोऽपि[5] न सुखाय भवेदिति द्योतयन् अङ्गस्य पुत्रोत्पत्तिक्रममाह - **अङ्ग** इत्यादिना ॥ २५ ॥

**वीर.** एवं[6-] दत्तप्रश्नावसरः क्षत्ता पृच्छति - **तस्येति**। शीलनिधेः सुस्वभावसद्वृत्त्याश्रयस्य अत एव ब्रह्मण्यस्य ब्राह्मणसेवा-परायणस्य ब्रह्मनिष्ठस्येति वा। अत एव महात्मनः सार्वात्म्यब्रह्मोपासनपरमनोयुक्तस्य साधोः परकार्यसाधनशीलस्य तस्य अङ्गस्य राज्ञः दुष्टा प्रजा पुत्रः[-6] कथमभूत् अजायत यत्[7] यतः दुष्टायाः प्रजाया हेतोर्विमनाः दुःखितमना ययौ पुरान्निर्गतः ॥ २१ ॥

दण्डः असाधुनिग्रहरूपो दण्डः स एव व्रतं तद्बिभर्तीति तत्तस्मिन् राज्ञि वेने[8] धर्मकोविदा मुनयः किं वा अंहः अपराधम् उद्दिश्याऽऽलक्ष्य वेनं ब्रह्मदण्डं प्रति[9] अयुयुजन् ब्रह्मशापेन युक्तं कृतवन्तः। प्रजापरिपालननिष्ठे राज्ञि शापकरणं मुनिभिरनुचितमिति भावः ॥ २२ ॥

तदेवाह - **नेति**। अघवानपि अपराध्यपि प्रजापालः राजा प्रजाभिर्नावध्येयः अवज्ञेयो न भवति यत् यस्मादसौ प्रजापालः लोकपालानामोजः स्वतेजसा बिभर्ति ॥ २३ ॥

हे ब्रह्मन्! एतत् सुनीथांत्मजस्य वेनस्य[10] चेष्टितं श्रद्दधानाय शुश्रूषात्वरायुक्ताय भक्ताय मे[11] मह्यम् अनेन स्वस्य श्रवणे योग्यतोक्ता। परावरवित्तमः परः परमात्माः अवरः प्रकृतिपुरुषादिः तद्विदां मध्ये श्रेष्ठस्त्वम्, अनेन श्रावणे[12] योग्यतोक्ता। आख्याहि कथय ॥ २४ ॥

---

1. W क्रतूत्तमम्  2. A, B, J, Va वा  3. B, J, V, Va omit त्वम्  4. V अथापि  5. A, B, J, Va omit अपि  6--6. A, B, T omit  7. A, B, T omit यत्  8. A, B, T omit वेने  9. A, B, T omit प्रति  10. A, B, T omit वेनस्य  11. W omits मे  12. A, B, T कथने

एवमापृष्टो मुनिः ब्रह्मवित् काम्यकर्मणि बलादापातितोऽपि तेन न सुरुयतीति[1] द्योतयन्[2] अङ्गस्य पुत्रोत्पत्तिक्रममाह - **अङ्ग** इत्यादिना । राजा चासौ ऋषिः अङ्गः क्रतूनां मध्ये उत्तममश्वमेधमाजहार आरब्धवान् । तस्मिन्नश्वमेधे क्रतौ ब्रह्मवादिभिः श्रुताध्ययनादिसम्पन्नैः ऋत्विग्भिराहूताः सत्यः देवता नाऽऽजग्मुः नाऽऽगतवत्यः ॥ २५ ॥

**विज.** श्रवणमङ्गलत्वात्सामान्यतः कथितं विशेषतो विदुरः श्रोतुं पृच्छतीत्याह - **तस्येति** । यद्विमनाः यस्या दुष्टप्रजाया विषण्णमनाः ॥ २१ ॥

दण्डव्रतं हिंसाख्यं व्रतं[3] धारयतीति दण्डव्रतधरः "दण्डोऽस्त्री शासने राज्ञां हिंसायां लकुटे गुडे" (वैज.को. 6-5-38) इति यादवः । *यद्वा शासनाख्यं व्रतं बिभ्रति । न तेष्ववज्ञानलेशः सम्भाव्यत इत्याह - धर्मकोविदा इति ॥ २२ ॥

नावध्येयः नावज्ञेयः । तत्र निमित्तमाह - यदसाविति ॥ २३ ॥

यत एवं तत्त्वं तस्मादत्र महन्निमित्तमस्ति एतन्मे आख्याहीत्यन्वयः । मम अत्र इतिहासज्ञानं नास्तीति वक्तुं न शक्यमित्यत उक्तं परावरेति ॥ २४ ॥

सूचितमर्थं विस्तरतो वक्तुमुपक्रमते - **अङ्ग** इति ॥ २५ ॥

**तमूचुर्विस्मितास्तात[4] यजमानमथर्त्विजः[5] ।**
**हवींषि हूयमानानि न ते गृह्णन्ति देवताः ॥ २६ ॥**

**राजन् हवींष्यदुष्टानि श्रद्धयाऽऽसादितानि[6] ते ।**
**छन्दांस्ययातयामानि योजितानि धृतव्रतैः ॥ २७ ॥**

**न विदामेह देवानां हेलनं वयमण्वपि ।**
**यन्न गृह्णन्ति भागान् स्वान् ये देवाः कर्मसाक्षिणः ॥ २८ ॥**

---

1. A, B, T तुष्यतीति 2. A, B, T add अत्र * यद्वा इति व्याख्यानानन्तरम् आरभमानस्य विजयध्वजस्य दण्डव्रतधरे इति मूलशब्दस्य स्थाने दण्डव्रतधराः इति पाठान्तरं सम्मतमिति सम्भाव्यते ।
3. A omits व्रतं 4. Ms, V त ऊचु° 5. A, B, G, I, J, T, V °स्तत्र 6. W °या साधि°

## मैत्रेय उवाच

**अङ्गो द्विजवचः श्रुत्वा यजमानः सुदुर्मनाः ।**
**तत्प्रष्टुं व्यसृजद्वाचं सदस्यांस्तदनुज्ञया ॥ २९ ॥**

**नागच्छन्त्याहुता देवा न गृह्णन्ति ग्रहानिह ।**
**सदसस्पतयो ब्रूत किमवद्यं मया कृतम् ॥ ३० ॥**

**श्रीध. राजन्निति** । अयातयामानि अगतवीर्याणि ॥ २६-२८ ॥

अङ्ग इति । यज्ञे गृहीतमौनोऽपि वाचं व्यसृजत् प्रायुङ्क्त ॥ २९ ॥

**नेति** । आहुता आहूताः ग्रहान् सोमपात्राणि इह यज्ञे न गृह्णन्ति । [1-]सदसस्पतयः सदस्याः[-1] ॥ ३० ॥

**वीर.** हे तात ! [2]ऋत्विजो विस्मिता यजमानमङ्गमूचुः । [3]उक्तिमेवाह ते त्वया त्वत्सम्बन्धीनि हूयमानानि देवतोद्देशेन प्रक्षेपपूर्वकं त्यक्तानि अयातयामानि अगतवीर्याणि सारवन्तीत्यर्थः । हवींषि पुरोडाशादीनि देवता न गृह्णन्ति ॥ २६ ॥

हे राजन् ! हवींषि अदुष्टानि शुद्धानि ते त्वया श्रद्धया[4] साधितानि सम्पादितानि च तथा छन्दांसि क्रत्वङ्गभूता मन्त्रा अयातयामानि स्वरवर्णादिभिरगतवीर्याणि । तत्र हेतुः-दृढव्रतैः स्वरवर्णादियुक्तत्वेन मन्त्रोच्चरणमेव दृढं व्रतं येषां तैः ऋत्विग्भिर्योजितानि प्रयुक्तानि ॥ २७ ॥

एवं यथावत् अनुष्ठीयमाने क्रतौ देवहेलनं देवान् प्रति हेलनमपराधमणु अल्पमपि वयं न विदामो न जानीमः । यत् यस्मात् हेलनात् स्वकीयान् भागान् कर्मसाक्षिणः कर्मणि[5] गुणदोषद्रष्टारो देवा न गृह्णन्ति, अतोऽवश्यं केनचित् देवहेलनेन भवितव्यं, परन्तु तद्वयं न विदाम इत्यर्थः ॥ २८ ॥

एवं ऋत्विग्भिरुक्तोऽङ्गः तानाहेत्याह मुनिः । द्विजवचः श्रुत्वा अथानन्तरं सुतरां दुःखितमना यजमानोऽङ्गः यज्ञे गृहीतमौनोऽपि सदस्यान् सदसि स्थितान् प्रति तदनुज्ञया सदस्यानुज्ञया त्यक्तमौनः तद्देवतानागमनकारणं प्रष्टुं वाचं व्यसृजत् प्रायुङ्क्त॥ २९ ॥

---

1--1. A, B, J, Va omit  2. A, B, T add ते  3. A, B, T उक्त°  4. A, B, T °याऽऽसादि°  5. A, T °णां

वाग्विसर्गमेवाह - **नागच्छन्तीति**। इह क्रतौ देवता आहूता नागच्छन्ति ग्रहान् सोमपात्राणि न गृह्णन्ति, हे सदसस्पतयः ! मया किमवद्यं हेलनं कृतं तद्यूयं ब्रूत॥ ३०॥

**विज.** न द्रव्यादिदोषादित्याहुरित्याह - **राजन्निति**। आसादितानि आपादितानि अयातयामानि अगतवीर्याणि॥ २६, २७॥

हेलनमवज्ञानम्॥ २८, २९॥

आहुता आहूताः, ग्रहान् हविःपिण्डान्॥ ३०॥

**सदसस्पतय[1-] ऊचुः[-1]**

**नरदेवेह भवतो नाघं[2] तावन्मनाक् स्थितम्।**

**अस्त्येकं प्राक्तनमघं यदिहेदृक् त्वमप्रजः॥ ३१॥**

**तथा साधय[3] भद्रं ते आत्मानं सप्रजं[4] नृप।**

**इष्टस्ते पुत्रकामस्य पुत्रं दास्यति यज्ञभुक्॥ ३२॥**

**तथा[5] स्वभागधेयानि ग्रहीष्यन्ति दिवौकसः।**

**यद्यज्ञपुरुषः साक्षादपत्याय हरिर्वृतः॥ ३३॥**

**तांस्तान् कामान् हरिर्दद्याद्यान् यान् कामयते जनः[6]।**

**आराधितो यथैवैष तथा पुंसां फलोदयः॥ ३४॥**

**इति व्यवसिता विप्रास्तस्य राज्ञः प्रजातये।**

**पुरोडाशं निरवपन् शिपिविष्टाय विष्णवे॥ ३५॥**

**श्रीध. नरदेवेति**। इह जन्मनि न तावन्मनागीषदप्यघं स्थितम्। कथञ्चिज्जातस्याघस्य सद्य एव प्रायश्चित्तैः क्षालनात्। किन्तु प्राक्तनमेकमघमस्ति यद्यस्मादीदृक् गुणाधिकोऽपि त्वं प्रजारहितः॥ ३१॥

---

1--1. M, Ma, Ms, W सदस्याः 2. M, Ma नावद्यं हि मनाक्; Ms नावद्यं किञ्चनाऽऽस्थितम् 3. M, Ma सादय 4. A, B, G, I, J, T, V सु 5. M, Ma, Ms यथा 6. V नरः

**तथेति**। अतो यथा देवा हविर्गृह्णन्ति तथाऽऽत्मानं सुप्रजं साधय। कथं साधनीयं तदाहुः - इष्ट इति॥ ३२॥

**तथेति**। तथा सति स्वभागान् ग्रहीष्यन्ति। यद्यतो हरिः साक्षात् वृतस्स्यात् अतस्तेन सह सर्वे देवा आगमिष्यन्तीत्यर्थः॥ ३३॥

नन्वतितुच्छान् कामान् हरिः कथं दद्यात् तत्राह - **तांस्तानिति**॥ ३४॥

**इतीति**। प्रजापतये पुत्रोत्पत्तये शिपिविष्टाय[1-1] शिपिषु पशुषु यज्ञरूपेण प्रविष्टाय[2-2]। तथा च श्रुतिः "यज्ञो वै विष्णुः पशवः शिपिर्यज्ञ एव पशुषु प्रतितिष्ठति" (शतपथ.ब्रा) इति॥ ३५॥

**वीर.** हे नरदेव ! इह जन्मनि भवतः ब्रह्मविद· तावन्मनागीषदप्यघं[3] न स्थितं किन्तु प्राक्तनमेकमघमस्ति यद्यस्मादघादीदृक् गुणाधिकोऽपि[4] त्वमप्रजः[5] प्रजारहितो बभूविथ[6]॥ ३१॥

अतो देवा यथा हवींषि गृह्णीयुः तथाऽऽत्मानं सप्रजं सपुत्रं साधय। कथं साधनीयं तत्राहुः[7] - इष्ट इति। यज्ञभुक् भगवान् पुत्रं कामयमानस्य ते त्वया इष्ट इज्यमानस्तुभ्यं पुत्रं दास्यति॥ ३२॥

[8]तथा तथा सति दिवौकसो देवाः स्वभागधेयानि स्वभागान् "भागरूपनामभ्यो धेयः" (वार्तिक under अष्टा 5-4-25) इति स्वार्थे धेयप्रत्ययः। ग्रहीष्यन्ति। यद्यतः यज्ञपुरुषो हरिः साक्षादपत्याय पुत्रार्थं वृतस्स्यात् अतस्तेन सह सर्वे देवा आगमिष्यन्तीत्यर्थः॥ ३३॥

नन्वतितुच्छान् कामान् हरिः कथं दद्यात् तत्राहुः[9] - **तांस्तानिति**। जनो यान् यान्[10] कामान् प्रार्थयते तांस्तान् हरिर्दद्यात् यथा येन प्रकारेण भगवानाराधितो जनैः तेषां तथा स्वस्वकामानुसारेण फलोदयः फलावाप्तिर्भवति॥ ३४॥

इत्थं व्यवसिता निश्चिन्वाना ऋत्विजः राज्ञोऽङ्गस्य प्रजातये प्रजोत्पत्यै शिपिविष्टाय शिपिविष्टत्वगुणविशिष्टाय विष्णवे पुरोडाशं निरवपन्। शिपिभिः रश्मिभिः विष्टः[11] आविष्टः शिपिविष्टः तस्मै। तथा च मन्त्रः "किमित्ते विष्णोपरि चक्ष्यं भूत्प्रयद्वक्षे शिपिविष्टोऽस्मि" (ऋक्.सं. 7-100-6) इत्यादिः, अर्थवादश्च पशोर्भूमा या पृष्टिस्तद्विष्णुः शिपिविष्ट इत्यादिः। निरुक्तं च "यदुत प्रब्रूषे शिपिविष्टोऽस्मीति प्रतिपन्नरश्मिः शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते तैराविष्टो भवतीति।" यद्वा शिपिषु पशुषु यज्ञरूपेण प्रविष्टाय। तथा च श्रुतिः - "यज्ञो वै विष्णुः पशवः शिपिर्यज्ञ एव पशुषु प्रतितिष्ठति" (शतपथ.ब्रा.) इति॥ ३५॥

---

1--1. V omits 2--2. V विशति प्रतितिष्ठतीति तथा। 3. A, B, T °प्यवद्यं 4. B, T omit अपि 5. A omits अप्रजः 6. A omits बभूविथ 7. W °ह 8. A, B, T omit तथा 9. W °ह 10. A, B, T omit यान् 11. W निविष्टः

**विज.** राज्ञा पृष्टाः यजमानकर्मगुणदोषान् विविच्य तत्परिहृत्य कर्मप्रवर्तनायाऽऽमन्त्रिताः सदस्या ऋत्विजः किम्विशेष्यमवलोक्य[1] प्रोचुरिति तत्राह - **नरदेवेति**। इहास्मिन् जन्मनि ईदृशः दृष्टोऽप्रजोऽनपत्य इति यदतः प्राक्तनं पूर्वजन्मार्जितमघं बालहत्यादिकमेकमघमस्तीत्यनुमीयते॥ ३१॥

तथा तस्मात्ते आत्मानं सप्रजं पुत्रेण सह वर्तमानं सादय[2] कुरु। ततो भद्रं भवति तत्र क उपाय इति तमाहुरित्याह - इष्ट इति॥ ३२॥

किं भद्रं स्यादित्यत्राह - **यथेति**। दिवौकसां हरेरङ्गोत्पन्नत्वेन तदाश्रितत्वेन स्थितेस्तन्मनस्कत्वेन तत्तुष्ट्या तत्तुष्टेः स्वभागादानानादानयोस्तदिच्छाऽविनाभूतत्वादधुना तदिष्टत्वात् सर्वं समञ्जसं भवतीति भावेनाहुरित्याह - यद्यज्ञपुरुष इति। अनेनापुत्रस्य लोको नास्तीति प्रायिकम्। सद्धर्मवतो धर्मबलाल्लोको भवत्येव। हरीच्छया विशिष्टपुरुषोत्पत्तये देवैः हविर्नाहृतम्। अङ्गस्यापि बालहत्यादिदोषादनपत्यत्वादि कल्प्यत इति ज्ञायते। तदुक्तम् - "अनपत्योऽपि सद्धर्मा लोकजिन्नात्रसंशयः। देवैस्तु पृथुजन्मार्थे हविरङ्गस्य नो हृतम्" (वामने) इति॥ ३३॥

न केवलं हरिपूजया पुत्रकामस्य पुत्रावाप्तिस्तत्तत्कामेन तत्तदवाप्तिरपि स्यादित्याह - **तांस्तानिति**। फलाकाङ्क्षानुसारेण पूजापि तादृशीति भावेनाहुः - आराधित इति॥ ३४॥

हितमुक्त्वा ते तूष्णीमभूवन् किम्? नेत्याह - **इतीति**। प्रजातये सन्तत्यै शिपिविष्टो नाम पुत्रकामेष्टिदेवता हरेरूपान्तरम्। अत एव "शिपिविष्टस्तु खलतौ दुश्चर्मणि महेश्वरे" (वैज.को. 8-5-24) इत्यन्यवृत्तिनिवारणाय विष्णव इति॥ ३५॥

**तस्मात्पुरुष उत्तस्थौ हेममाल्यमलाम्बरः।**
**हिरण्मयेन पात्रेण सिद्धमादाय पायसम्॥ ३६॥**

**स विप्रानुमतो राजा गृहीत्वाञ्जलिनौदनम्।**
**अवघ्राय मुदा युक्तः प्रादात्पत्न्या उदारधीः॥ ३७॥**

**सा तत्पुंसवनं राज्ञी प्राश्य[3] वै पत्युरादधे।**
**गर्भं[4] काल उपावृत्ते कुमारं सुषुवेऽप्रजा॥ ३८॥**

---

1. A °शिष्ट° 2. A, B साधय 3. M, Ma, Ms प्रश्यर्ती 4. M, Ma ततः काले; W गर्भकाले

**स बाल एव पुरुषो मातामहमनुव्रतः ।**

**अधर्मांसोद्भवं मृत्युं तेनाभवदधार्मिकः ॥ ३९ ॥**

**स शरासनमुद्यम्य मृगयुर्वनगोचरः ।**

**हन्त्यसाधुर्मृगान् दीनान् वेनोऽसावित्यरौज्जनः ॥ ४० ॥**

**श्रीध. तस्मादिति** । योग्यतयाग्नेः ॥ ३६ ॥

**स** इति । पत्न्यै प्रादात् ॥ ३७ ॥

**सेति** । पुमांसं सूतेऽनेनेति तथा तदन्नं[1] प्राश्य पत्युः सकाशात् गर्भमादधे अप्रजा सती ॥ ३८ ॥

**स इति** । मातामहं मृत्युम् । मृत्योर्हि पुत्री सुनीथा ॥ ३९ ॥

**स इति** । मृगयुः लुब्धकस्सन् तं दृष्ट्वा वेनोऽसावागच्छतीति जनः सर्वोऽप्यरौत् चुक्रोश ॥ ४० ॥

**वीर.** तस्मात् अग्नेरित्यर्थः । अर्थसामर्थ्यात् हेममयानि माल्यानि अमलाम्बराणि[2] च यस्य सः पुरुषः हिरण्मयपात्रेण सिद्धं सम्यक् पक्वं पायसान्नम् आदाय[3] गृहीत्वा उत्तस्थौ उत्थितवान् ॥ ३६ ॥

बुद्धिमान् स राजा अङ्गः विप्रानुमतः विप्रैरभ्यनुज्ञातः अञ्जलिना ओदनं पायसं गृहीत्वा स्वयमाघ्राय हर्षेण युक्तः पत्न्यै प्रादात् ॥ ३७ ॥

सा राज्ञी राज्ञः स्त्री सुनीथा पुंसवनं पुमांसं सूते अनेनेति पुंसवनं तदोदनं प्राश्य भुक्त्वा पत्युः सकाशात् गर्भमादधे धृतवती । अप्रजाः सती गर्भकाले गर्भधारणकाले उपावृत्ते अतीते सति कुमारं सुषुवे ॥ ३८ ॥

सः पुरुषः कुमारो बाल एव बाल्यात्प्रभृतीत्यर्थः, अधर्मांशोद्भवं मातामहं मृत्युं मृत्योर्हि पुत्री सुनीथा अनुव्रतः अनुसृतोऽभूत् । तेन मातामहानुसारेणाऽयमपि अधार्मिकोऽभवत् ॥ ३९ ॥

अधार्मिकत्वमेव प्रपञ्चयति - **स इति** । स आङ्गः शरासनं धनुरुद्यम्य धनुष्यारोपितशर इत्यर्थः । मृगयुर्लुब्धकस्सन् अत एव वनगोचरः असाधुः दीनान् मृगान् हन्ति अवधीत् तं दृष्ट्वाऽसौ वेन आगच्छतीति सर्वो जनः अरौत्[4] चुक्रोश ॥ ४० ॥

---

1. B, J, V, Va omit अन्नं 2. A, B, T omit अमल 3. A, B, T omit आदाय 4. W व्यरौत्

**विज.** तस्मान्निरुप्तपुरोडाशात्॥ ३६॥

अञ्जलिनोदनमिति पाठः॥ ३७॥

पुमांसं सूत इति पुंसवनं, पायसमुपावृत्ते प्राप्ते अप्रजा पुत्ररहिता॥ ३८॥

बाल एव कौमारवया एव अधर्मांशेनोद्भवो यस्य स तथा तं मातामहं मातुः पितरं मृत्युनामानमसुरवरमनुव्रत इति यत् तेन स पुरुषोऽधार्मिको धर्मविरुद्धकर्मकृदभूदित्यनेन विशेषणेन धर्मांशोद्भवो मृत्युरन्योऽस्तीति रहस्यमवगन्तव्यम्। तदुक्तम् - ''मृत्युर्देवो यमभ्राता वेनमातामहोऽसुरः'' (वामने) इति॥ ३९॥

किं नामाऽयं बाल इत्यतः तत्कर्मानुसृतं नाम लोका अरूरुवन्नित्याह - **सशरासनमिति**। वेनयति पीडयतीति वेनः। ''पीडां वेनेति च प्राहुर्वेनोऽसौ पीडनादभूत्'' इति वचनात्, असाधुर्दुर्जनः॥ ४०॥

**आक्रीडे क्रीडतो बालान् वयस्यानतिदारुणः।**[1]
**प्रसह्य निरनुक्रोशः पशुमारममारयत्॥ ४१॥**

**तं विचक्ष्य खलं पुत्रं शासनैर्विविधैर्नृपः।**[2] [3]
**यदा न शासितुं कल्यो भृशमासीत्सुदुर्मनाः॥ ४२॥**[4] [5]

**प्रायेणाभ्यर्चितो देवो येऽप्रजा गृहमेधिनः।**
**कदपत्यकृतं दुःखं ये न विन्दन्ति दुर्भरम्॥ ४३॥**[6]

**यतः पापीयसी कीर्तिरधर्मश्च महान्नृणाम्।**
**यतो विरोधः सर्वेषां यत आधिरनन्तकः॥ ४४॥**

**कस्तं प्रजापदेशं वै मोहबन्धनमात्मनः।**[7]
**पण्डितो बहु मन्येत यदर्थाः क्लेशदा गृहाः॥ ४५॥**

---

1. W °पि 2. V स 3. M, Ma, Ms विलक्ष्य 4. W यत्र शासयितुं 5. A, B, G, I, J, M, Ma, T कल्पो 6. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T भृत 7. M, Ma मोहं -

**श्रीध. आक्रीड** इति। आक्रीडे क्रीडास्थाने बालान् पशूनिवामारयत्॥ ४१॥

**तमिति**। विचक्ष्य दृष्ट्वा॥ ४२॥

दुर्मनसस्तस्य कुपुत्रनिन्दावाक्यान्याह - **प्रायेणेति** त्रिभिः। अप्रजाः ये तैरभ्यर्चितः। तत्र हेतुः। कुत्सितैरपत्यैः सम्भृतं दुर्भरं धारयितुमशक्यं दुःखं ये न निन्दन्ति॥ ४३॥

**यत इति**। सर्वेषां सर्वैस्सह आधिर्मानसी व्यथा॥ ४४॥

**क इति**। तं प्रजापदेशं पुत्रनाममात्रमप्यात्मनो मोहेन बन्धनम्। यदर्था यन्निमित्ताः क्लेशदा गृहा भवन्ति॥ ४५॥

**वीर.** आक्रीडे क्रीडास्थाने क्रीडतः[1] बालान् वयस्यान्[2] यूनोऽपि दारुणः क्रूरः अत एव निरनुक्रोशः कृपारहितस्सन् पशुमारममारयत् पशूनिवामारयत्॥ ४१॥

स नृपः अज्ञः खलं दुरात्मानं पुत्रं नानाविधैः शासनैः सामाद्युपायैः विचक्ष्यानुशास्येत्यर्थः। यदा शासितुं[3-3] न कल्यः न समर्थः तदा[3] भृशं नितरां सुदुर्मनाः दुःखितमनाः आसीत्॥ ४२॥

तस्य कुपुत्रनिन्दावाक्यान्याह त्रिभिः। ये गृहमेधिनो गृहाश्रमिणः अप्रजा अपुत्रा ये च पुत्रिणोऽपि कुत्सितापत्यकृतं दुर्भरं धारयितुमशक्यं दुःखं न विन्दन्ति न लभन्ते। तैः भगवान् देवः प्रायेणाभ्यर्चितः॥ ४३॥

यतः कदपत्यात् पापीयसी कीर्तिः अपकीर्तिः महानधर्मश्च नृणां भवेत् यथा यतः कदपत्यात् सर्वेषां विरोधः अनन्तकोऽपारः आधिः मानसी व्यथा च जायते॥ ४४॥

तं प्रजापदेशं पुत्रनाममात्रमपि आत्मनो मोहेन बन्धनं कः पण्डितो बहु मन्येत, यदर्था यत्पुत्रापदेशनिमित्ताः क्लेशसम्पादका गृहाः भवन्ति पुत्रापदेशमात्रमपि क्लेशाकर[4]गृहादिहेतुत्वेनाऽऽत्मनो बन्धकत्वात् पण्डितो न बहु मन्येतेत्यर्थः॥ ४५॥

**विज.** आक्रीडे क्रीडास्थाने। पशुमारमिति लुप्तोपमा। यथा पशुमारो गोघ्नश्चाण्डालस्तथेति॥ ४१॥

स्वशासनमुल्लङ्घ्य वर्तमानं पुत्रमवलोक्य पित्रा किमकारीति तत्राह - **तं विलक्ष्येति**। "दुरशोभनदुःखयोः" (वैज.को. 8-7-4) इत्यनेन सुष्ठु दुःखितमनाः॥ ४२॥

---

1. A, B, T omit क्रीडतः  2. T °स्थान्  3--3. A, B, T omit  4. A, B, T क्लेश°

प्रलापात् दुःखं चावगम्यत इत्याह - **प्रायेणेति**। ये गृहमेधिनोऽप्रजा एवं दुर्भरं कदपत्यकृतं दुःखं न विन्दन्ति तैस्सर्वैरपि प्रायेण देवो नारायणोऽभ्यर्चित इत्यन्वयः ॥ ४३ ॥

अपकीर्त्यादिदोषहेतुत्वात् पण्डितो नरकत्राणाहेतुत्वात् साधुरयं पुत्र इति बहुमानं न करोतीत्याह - **यत** इति ॥ ४४, ४५ ॥

**कदपत्यं वरं मन्ये सदपत्याच्छुचां[1] पदात्।**
**निर्विद्येत गृहान्मर्त्यो यत्क्लेशनिवहा गृहाः ॥ ४६ ॥**

**[2-] मैत्रेय उवाच [-2]**

**एवं स निर्विण्णमना नृपो गृहा न्निशीथ उत्थाय महोदयोदयात्।**
**अलब्धनिद्रोऽनुपलक्षितो नृभिः हित्वा गतो वेनसुवं प्रसुप्ताम् ॥ ४७ ॥**

**विज्ञाय निर्विद्य गतं पतिं प्रजाः पुरोहितामात्यसुहृद्गणादयः।**
**विचिक्युरुर्व्यामतिशोककातरा यथा निगूढं पुरुषं कुयोगिनः ॥ ४८ ॥**

**अलक्षयन्तः पदवीं प्रजापतेः हतोद्यमाः प्रत्युपसृत्य ते पुरीम्।**
**ऋषीन् समेतानभिवन्द्य साश्रवो न्यवेदयन् पौरव भर्तृविप्लवम् ॥ ४९ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

**श्रीध.** इदानीं निर्वेदहेतुत्वेन कुत्सितमेवापत्यमभिनन्दति - **कदपत्यमिति**। शुचां पदात् विरहादौ[3] शोकानां स्थानात्। वरत्वे हेतुः निर्विद्येति। तत्कुतः ? यद्यतः कदपत्यात् गृहाः क्लेशनिवहाः भवन्ति ॥ ४६ ॥

**एवमिति**। महतामुदयानां विभूतीनामुदयो यस्मिंस्तस्मात् गृहाद्गतः। या वेनं सूते स्म ताम् ॥ ४७ ॥

**विज्ञायेति**। प्रजाः पुरोहितादयश्च विचिक्युरन्वेषितवन्तः। तं तत्रैव सन्तमपि नापश्यन्निपि दृष्टान्तेनाह - यथेति ॥ ४८ ॥

---

1. M, Ma °चा° 2--2. A, B, G, I, J, M, Ma, T, W omit 3. B, J, V, Va omit विरहादौ

**अलक्षयन्त** इति। साश्रवो रुदन्तः भर्तृर्विप्लवं नाशमदर्शनमित्यर्थः ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्री श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थ दीपिकायां

व्याख्यायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

**वीर.** इदानीं निर्वेदहेतुत्वेन कुत्सितमेवापत्यमभिनन्दति - **कदपत्यमिति**। शुचां पदात् शोकानां स्थानात् उत्तरोत्तरं गृहासक्तिजननद्वारा[1] संसारदुःखहेतुत्वादिति भावः। सदपत्यात् कदपत्यं वरं श्रेष्ठं मन्ये। वरत्वे हेतुः मर्त्यो गृहान्निर्विद्येत निर्वेदं प्राप्नुयात्। तत्कुतः[2-2]? यत्[2-2] यतः कदपत्यात् गृहाः[3-3] क्लेशनिवहाः[3-3] शोकावहाः भवन्ति। कदपत्यं परमिति पाठे तस्य परत्वं वैराग्यहेतुत्वात् ॥ ४६ ॥

एवमुक्तप्रकारेण[4] निर्विण्णमनाः सः नृपः अङ्गः महतामुदयानां विभूतीनामुदयः समृद्धिर्यस्मिन् तस्मात् गृहान्निशीथे उत्थाय अलब्धनिद्रः त्यक्तनिद्रः प्रसुप्तां वेनसुवं वेनस्य जननीं सुनीथां हित्वा नरैरनुपलक्षितः[5] अदृष्टः गतः, वनं प्रतीति शेषः ॥ ४७ ॥

पुरोहितादयः सर्वाः प्रजाः पतिं राजानं निर्विद्य गतं निर्वेदं प्राप्य गतं विज्ञाय अत एव अत्यन्तशोकेन कातरास्सन्तः उर्व्यां पृथिव्यां[6] विचिक्युः अन्वेषणं चक्रुः, तं तु तत्रैव सन्तमपि नापश्यन्निति दृष्टान्तेनाह - यथेति। निगूढं हृदये वसन्तमपि तिरोहितं पुरुषं परमपुरुषं यथा कुयोगिनोऽन्वेषयन्ति तथेति ॥ ४८ ॥

प्रजापतेः राज्ञः पदवीं मार्गमलक्षयन्तोऽजानन्तः अत एव हतप्रयत्नाः ते पुरोहितादयः पुरीं प्रत्युपसृत्य आगत्य हे पौरव ! विदुर ! साश्रवः शोकाश्रुसहिताः समेतान् सङ्घीभूतानृषीन् प्रणम्य भर्तुः विप्लवं नाशमदर्शनं न्यवेदयन् विज्ञापितवन्तः ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवत चन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

**विज.** न केवलं दुःखमेव कदपत्यात् किन्तु विवेकिनः प्रयोजनं चास्तीत्याह - **कदपत्यमिति**। क्लेशसमूहेनाऽऽतुरो मर्त्यः

---

1. W °त्ति° 2--2. A, B, T omit 3--4. A, B, T omit 4. W °रं 5. W °रनव° 6. W पृथ्व्यां

स्वगृहात् निर्विद्येतेति यस्माद्वित्तैषणादिशुचापदात् सदपत्यात् कदपत्यं वैराग्यहेतुत्वात् साधु मन्ये इत्यन्वयः। ''हलन्तादपि टापञ्च'' इति वचनात् शुचेति रूपं साधु॥ ४६॥

नन्वत्र शोकान्मरणं देशान्तरगमनं वा स्यात्। तत्र किमनेनाकारीति तत्राह - **एवं स** इति। महानुदयो महती विभूतिः तस्या उदयः उद्रेको यस्मिंस्तत्तथा तस्मात्। ''लक्ष-दर्शनाङ्कनयोः'' इति धातोः अनुपलक्षितोऽदृष्टः॥ ४७॥

जलादौ मृतो दूरं गतो वेति संशये तयोरेकं निश्चित्य किमकार्षुस्तदीया इति तत्राह - **विज्ञायेति**। विचिक्युरन्विष्यादृष्टवन्तः हृदि निगूढं पुरुषं हरिम्॥ ४८॥

अन्विष्यादृष्टवन्तः किमकुर्वन्नित्यत आह - **अलक्षयन्त** इति। पौरव ! विदुर ! साश्रवः बाष्पसहिताः साधीयसो विष्णुयाजिनोऽङ्गस्यैवं दुष्टपुत्रोत्पत्तिस्तन्निमित्तेन विप्लवश्च कथमभूदितीदं चोद्यं न[1] ''अनपत्यत्वकर्मासौ बालहत्याकृतेः पुरा। अतो दुष्टोऽभवत्पुत्र इष्टो विष्णुरतः पृथुः।'' (वामने) इति॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थकृतायां पदरत्नावल्यां
टीकायां त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

1. M. Ma omit न

# चतुर्दशोऽध्यायः

## मैत्रेय उवाच

भृग्वादय स्ते मुनयो लोकानां क्षेमदर्शिनः ।
गोप्तर्यसति वै नृणां पश्यन्तः पशुसात्मताम्[1] ॥ १ ॥

वीर मातर माहूय सुनीथां ब्रह्मवादिनः ।
प्रकृत्यसम्मतं वेन मभ्य षिञ्चन् पतिं भुवः ॥ २ ॥

श्रुत्वा नृपासनगतं वेन मत्युग्रशासनम् ।
निलिल्यु र्दस्यवः सद्यः सर्पत्रस्ता[2] इवाखवः ॥ ३ ॥

स आरूढनृपस्थान उन्नद्धोऽष्टविभूतिभिः ।
अवमेने[3] महाभागान् स्तब्धः सम्भावितः स्वतः[4] ॥ ४ ॥

एवं मदान्ध उत्सिक्तो निरङ्कुश इव द्विपः ।
पर्यटन् रथ मास्थाय कम्पयन्निव रोदसी ॥ ५ ॥

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुर्दशे तु दुष्पुत्रभया दङ्गे गते द्विजैः।अभिषिक्तस्य वेनस्य रोषात्तै र्वध उच्यते ॥

**भृग्वादय** इति । क्षेमदर्शिनः क्षेमचिन्तकाः पशुसमानरूपतां पश्यन्तः ॥ १ ॥

**वीरमातरमिति** । अमात्यादीनां प्रकृतीना मसम्मतम् । पाठान्तरे प्रकृत्या स्वभावेन[5] असम्मतम् ॥ २ ॥

**श्रुत्वेति** । चोराः सर्वे लीना बभूवुः ॥ ३ ॥

**स इति** । आरूढं नृपस्थानं राजासनं येन सः, अष्टविभूतिभिः लोकपालैश्वर्यैः ॥ ४-५ ॥

---

1. A, B, G, I, J, M, Ma, T, V साम्यताम् 2. W ग्रस्ताः 3. W मेनेत्मानं महाभागं 4. M, Ma शठः 5. V स्वरूपेण

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं पुरोहितादिभि र्निवेदिता ऋषयः तमेव खलं वेन मभिषिच्य पुन स्तेन पीडिताः त[1] स्वतेजसा निहत्य तद्बाहुमथनादवतीर्णं भगवदंशभूतं पृथुं सस्त्रीक[2] मभिषिच्य राज्ये प्रतिष्ठापयामासु रित्याह चतुर्दशे[3] मुनिः **भृग्वादय** इति। लोकानां क्षेमदर्शिनः क्षेमचिन्तका स्ते विज्ञापिता भृग्वादय ऋषयः नृणां गोप्तरि त्रातरि असति अविद्यमाने सति पशुसात्मतां पशुसरूपतां[4] पश्यन्तः। पशुसाम्यता मिति पाठे पशुभिः साम्यं येषां ते, पशुसाम्या स्तेषां भावः पशुसाम्यता तां पश्यन्तः ॥ १ ॥

ब्रह्मवादिनः वीरस्य वेनस्य मातरं सुनीथा माहूय तस्यै विज्ञाप्येत्यर्थः। प्रकृतीना ममात्यादीनां असम्मत मपि वेनं भुवः पति मभ्यषिञ्चन् भुवः पतिं चक्रुरित्यर्थः ॥ २ ॥

अत्युग्रदण्डं वेनं राजासने प्रतिष्ठितं श्रुत्वा दस्यवः चोरादयः सर्पेभ्यः त्रस्ता भीताः आखवः मूषका इव सद्यः निलिल्युः लीना बभूवुः ॥ ३ ॥

स वेनः आरूढं नृपस्थानं राजासनं येन सः अष्टविभूतिभिः लोकपालैश्वर्यैः अणिमादिभिर्वा उन्नद्धः गर्वितः अत एव स्तब्धः विवेकशून्यः स्वतः स्वयं सम्भावितः न त्वितरैः इति भावः। आत्मानं महाभागं महाबुद्धिमन्तं महाभाग्यवन्तं वा मेने ॥ ४ ॥

एवं तथा ऐश्वर्यमदेन अन्धः अज्ञः निरङ्कुशो द्विपः[5] गज इव उत्सिक्तः उत्पथः[6] रथ मास्थाय अधिरुह्य रोदसी द्यावापृथिव्यौ[7] कम्पयन्निव पर्यटन् ॥ ५ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

गुरुवाक्यं श्रद्धयाऽनुष्ठिता मिहामुत्र श्रेयः स्यात्, अकुर्वता मनर्थ श्चेत्येतन्निरूप्यतेऽस्मिन्नध्याये। तत्रादौ भृग्वादिऋषिभिः क्रियमाणं राज्ये वेनस्याभिषेकं वक्ति **भृग्वादय** इति। "क्षेमो ना प्राप्तरक्षायाम्" (वैज.को. 6-5-22) इति यादवः। पशुसाम्यतां पशुसाधर्म्यं साङ्कर्यम् ॥ १ ॥

हे वीर! प्रकृत्या स्वभावेन अमात्यादिबुद्धया राज्यासम्मत मनुचितम् ॥ २ ॥

अस्मिन्नभिषिक्ते सति एकोगुणो राज्यस्य स्यादित्याह - **श्रुत्वेति**। निलिल्युः निलीनाः ॥ ३ ॥

---

1. A, B, T omit तं 2. A, B, T नप्त्रियम° 3. A, B, T °शेन 4. A, B, T समानरू° 5. A, B, T omit द्विपः 6. A, B, T उत्थितः 7. W पृथिवी

पालके राज्ञि बहवो गुणा भवन्ति, तत्रैको गुण इति विशिष्योच्यत इति चेत् सत्यम्, अस्य सर्वे दोषा एव सन्तीति वक्तु मुपक्रमते **स आरूढेति**। आरूढं नृपस्थानं सिंहासनं येन स तथा, मन्त्र्यमात्य दूत राज्य कोशदुर्गजनपदपुरोहिताख्यैः वा अणिमादिभिः वा अष्टविभूतिभिः उन्नद्धः स्तब्धः महत्सु उत्थानाद्याचारशून्यः ॥ ४ ॥

अतो लोकस्य किमवद्य मभू दत्राह - **एवं मदान्ध** इति। उत्सिक्तः उद्वृत्तः ॥ ५ ॥

**न यष्टव्यं न दातव्यं न होतव्यं द्विजाः क्वचित्।**
**एवं न्यवारयद्धर्मं भेरीघोषेण सर्वतः ॥ ६ ॥**

**वेनस्यावेक्ष्य मुनयो दुर्वृत्तस्य विचेष्टितम्।**
**विमृश्य लोकव्यसनं कृपयोचुश्च सत्रिणः ॥ ७ ॥**

**अहो उभयतः प्राप्तं लोकस्य व्यसनं महत्।**
**दारुण्युभयतो दीप्ते इव तस्करपालयोः ॥ ८ ॥**

**अराजकभया देष कृतो राजाऽतदर्हणः।**
**ततोऽप्यासी द्भयं त्वद्य कथं स्या त्स्वस्ति देहिनाम् ॥ ९ ॥**

**अहे रिव पयःपोषः पोषकस्याऽप्यनर्थकृत्।**
**वेनः प्रकृत्यैव खलः सुनीथागर्भसम्भवः ॥ १० ॥**

**श्रीध. वेनस्येति**। सत्रिणो मिलिता स्सन्तः ॥ ६, ७ ॥

**अहो** इति। मूलत श्चाग्रतश्च दीप्ते प्रज्वलिते काष्ठे तन्मध्यवर्तिनां पिपीलिकादीनां यथोभयतो व्यसनम्, एवं तस्करेभ्यः पालकाच्च दुःखं प्राप्त मित्यर्थः ॥ ८ ॥

तदेवाहुः - **अराजकेति**। अतदर्हणो राज्यानर्हः ॥ ९ ॥

---

1. A, B, G, I, J, T, V इति 2. W °यत्सर्वं 3. A, B, G, I, J, T °शः 4. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °चुः स्म
5. A, B, G, I, J, T, V भृत्; Ms °वत् 6. B, J, V, Va omit प्र

स्माक मपि अनिष्टं जात मित्याहुः - **अहेरिति**। अहे र्यथा पयःपोषः क्षीरेण पोषणं पोषकस्याप्यनर्थं विषद्वारा बिभर्ति [1-] [-1] उष्णाति। तदेवाहुः - **वेन** इति। [2-] खलत्वे हेतुः सुनीथागर्भसम्भव इति। मृत्यो दौहित्र इत्यर्थः [-2] ॥ १० ॥

**वीर.** हे द्विजाः ! क्वचि दपि यागदानहोमादिकं न कर्तव्य मित्येवंरूपं धर्मं धर्माभासं भेरीध्वनिना न्यवारयत्, यत एव मतो दुर्मदः ॥ ६ ॥

मुनयो भृग्वादयः सत्रिणः याज्ञिकाश्च [3] मिलितास्सन्तः दुर्दृप्तस्य वेनस्य चेष्टित मवेक्ष्य लोकानां व्यसनं दुःखं विमृश्य कृपया ऊचुः ॥ ७ ॥

उक्त मेवाह - **अहो** इति। मूलत श्चाग्रतश्च प्रदीप्ते ज्वलिते काष्ठे तन्मध्यवर्तिनां पिपीलिकादीनां यथोभयतो व्यसनम् एवं तस्करेभ्यः पालकात् पार्थिवाच्च दुःखं प्राप्त मित्यर्थः ॥ ८ ॥

तदेवाहुः - **अराजकभया** दिति। अतदर्हणः राज्यानर्होऽप्येष वेनः अराजकभयात् राजा कृतः। ततो राज्ञोऽप्यद्य भय मासीत्, देहिनां कथं स्वस्ति सुखं स्यात् ॥ ९ ॥

अस्माक मप्यनिष्टं जात मित्याहुः - अहेः सर्पस्य यथा पयःपोषः क्षीरेण पोषणं पोषकस्याऽप्यनर्थं करोति तथा, तदेवाहुः - सुनीथाया [5] गर्भात् सम्भूतो वेनः प्रकृत्या स्वभावेनैव खलः दुरात्मा ॥ १० ॥

**विज.** हे द्विजाः ! ॥ ६ ॥

तत्र निग्रहानुग्रह समर्थाः मुनयः किमकार्षुरिति तत्राह - **वेनस्येति**। सत्रिणो यज्वानः ॥ ७ ॥

उभयतः तस्करपालयोः। दारुणीति सप्तमी षष्ठ्यर्थे, दारुण उभयतो दीप्तो वह्निः ॥ ८ ॥

दारुण इव उभयतो व्यसनं कथम् ? अत्राह - **अराजक** इति। न तस्य राज्यस्य अर्हणो योग्यो भवतीति अतदर्हणः ॥ ९ ॥

अय मप्यस्माक मनर्थकर इत्याहु रित्याह - **अहेरिवेति**। युष्माभिः कथं पोषित इति तत्राह - **प्रकृत्येति**। सुनीथागर्भसम्भवत्वात् ॥ १० ॥

---

1--1. B, J, V, Va omit 2--2. B, J, V, Va omit 3. A, B, T °का अपि 4--4. A, B, T omit 5. A, B, T अत्रात्

निरूपितः प्रजापालः स जिघांसति वै प्रजाः ।
तथाऽपि सान्त्वयेमामुं[1] नास्मां स्तत्पातकं स्पृशेत् ॥ ११ ॥

तद्विद्वद्भि रसद्वृत्तो वेनोऽस्माभिः कृतो नृपः ।
सान्त्वितो यदि नो वाचं[2] न ग्रहीष्यत्यधर्मकृत्[3] ॥ १२ ॥

लोकधिक्कार सन्दग्धं[4] दहिष्यामः स्वतेजसा ।
एव मध्यवसायैनं मुनयो गूढमन्यवः ।
उपव्रज्याऽब्रुवन् वेनं सान्त्वयित्वाऽथ[5] सामभिः ॥ १३ ॥

[6-]मुनय ऊचुः[-6]

नृपवर्य निबोधैत द्यत्ते विज्ञापयाम[7] भोः ।
आयुः श्रीबलकीर्तीनां तव तात विवर्धनम् ॥ १४ ॥

धर्म आचरितः पुंसां वाङ्मनःकायवृत्तिभिः[8] ।
लोकान् विशोकान् वितरत्यथानन्त्य मसङ्गिनाम्[9] ॥ १५ ॥

**श्रीध. निरूपित** इति । निरूपितो नियुक्तोऽस्माभिः । सान्त्वयामोपपत्तिभिः प्रार्थयिष्यामः । तस्य पातकम् ॥ ११ ॥

स्वस्य तत्पातक स्पर्शे[10] हेतुः **तदिति** । तत् पातकित्वं विद्वद्भिः जानद्भिः[11] ॥ १२ ॥

**लोकेति** । गूढो मन्यु र्येषाम् । सामभिः प्रियोक्तिभिः ॥ १३, १४ ॥

**धर्म** इति । [12-]असङ्गिनां[-12] निष्कामानां आनन्त्यं मोक्ष मपि वितरति[13-] ॥ १५ ॥[-13]

**वीर.** अस्माभिः प्रजापालो निरूपितः नियुक्तः स एव प्रजाः जिघांसति हन्तु मिच्छति, तथाऽपि घातुकत्वेऽप्यमुं वेनं सान्त्वयेम उपपत्तिभिः प्रार्थयिष्यामः, तत स्तस्य पातक मस्मान्न स्पृशेत् ॥ ११ ॥

---

1. M, Ma °यामोऽमुं मा° 2. W याच्ञा° 3. Ms °क° 4. W निर्दग्धं 5. A, B, G, I, J, T °त्वा च 6--6. W omits 7. W °महे ।
8. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T W यबुद्धिभिः 9. Ms °त्यद्धा°; W त्यस्या° 10. A स्पर्श° 11. A, B, J, Va omit जानद्भिः
12--12. A, B, J, Va omit 13--13. A, B, J, Va omit

निषेधस्य प्रसक्तिपूर्वकत्वात् ता माहुः - तत् तस्य दौरात्म्यं विद्वद्भि र्जानद्भि रपि अस्माभि रसद्वृत्तो वेनः नृपः कृतः। अस्माभिः नृपीकरणा द्धेतो रयं **भूतानि** द्रुह्यति। अतोऽस्माभिः सान्त्वितश्चेन्न भूतद्रोहकृतं पाप मस्मान् स्पृशती त्यर्थः। सान्त्वनेन अप्रसन्ने सति कृत्य माहुः सान्त्वित इति। सान्त्वितः प्रार्थितः अधर्मकृदयं वेनोऽस्माकं याच्ञां न ग्रहीष्यति चेत्, तर्हि लोकानां धिक्कारेण निन्दया नितरां दग्धं स्वतेजसा स्वेषा मस्माकं तेजसा तपोबलेन दहिष्यामः॥ १२॥

एव मध्यवसाय निश्चित्य गूढो मन्युः येषां ते, मुनयः एव मुपव्रज्य समीप मागत्य सामभिः प्रियोक्तिभिः वेनं सान्त्वयित्वा अब्रुवन् प्रार्थनापूर्वक मब्रुवन्नित्यर्थः॥ १३॥

हे नृपवर्य वयं यद्विज्ञापयामहे तन्निबोध सावधानचित्तः आधत्स्व[1], कथम्भूतं तत् ? तव आयुरादीनां विवर्धनं विशेषेण वर्धकम्॥ १४॥

किं तत् ? इत्याहुः - **धर्म** इत्यादिभि रष्टभिः[2]। पुंसां वाङ्मनःकायानां **वृत्तिभिः** व्यापारैः धर्मः ईश्वराराधनरूपो धर्मः आचरितोऽनुष्ठितः लोकान् विशोकान् निर्दुःखान् वितरति कुरुते, असङ्गिनां विरक्ताना मानन्त्यं मोक्षसुखानन्त्यमपि वितरति॥ १५॥

**विज.** अस्माभिः प्रजापालो निरूपितः, स साम्प्रतं प्रजा[3] जिघांसति वै हन्तु मेवाकांक्षति वै। तर्हि किं क्रियत इति तत्राह - तथापीति। प्रकृत्या खलत्वा दस्मदुक्तं न श्रृणोति यद्यपि तथापि इति। सान्त्वने हेतु माह - माऽस्मानिति॥ ११॥

युष्मत्सान्त्वनाग्रहणे किं बाधकं करिष्यन्ति तदशक्तौ तत्सान्त्वनं व्यर्थ माह[4] - **तद्विद्वद्भिरिति**। असद्वृत्त इति। तस्य दौरात्म्यं विद्वद्भिः॥ १२॥

एवं जिज्ञासमानाः कालक्षेपं ना कुर्वन्नित्याह - **एव मिति**॥ २३, २४॥

आनन्त्यं मोक्षम्[5] असङ्गिनां फलाभिसन्धिरहितानाम्॥ १५॥

**स ते मा विनशेद्वीर प्रजानां क्षेमलक्षणः।**

**यस्मिन् विनष्टे नृपति रैश्वर्या दवरोहति॥ १६॥**

---

1. W °द° 2. A, B, T °ष्ट° 3. M, Ma प्रजां 4. Ma °मत्राह 5. A, B, omit मोक्षं

**राजन्नसाध्वमात्येभ्य श्चोरादिभ्यः प्रजा नृपः ।**

**रक्षन् यथा बलिं गृह्ण न्निह प्रेत्य च मोदते ॥ १७ ॥**

**यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान् यज्ञपूरुषः[1] ।**

**इज्यते स्वेन धर्मेण जनै र्वर्णाश्रमान्वितैः[2] ॥ १८ ॥**

**तस्य राज्ञो महाभाग[3] भगवान् भूतभावनः ।**

**परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतो निजशासने ॥ १९ ॥**

**तस्मिं स्तुष्टे किमप्राप्यं जगता मीश्वरेश्वरे ।**

**लोकाः सपाला ह्येतस्मै हरन्ति बलि मादृताः ॥ २० ॥**

**श्रीध. स** इति । मा विनशेत् मा[4] विनश्यतु[5] ॥ १६ ॥

**राजन्निति** । असाधवो ये अमात्या स्तेभ्यः यथा यथाशास्त्रम् ॥ १७, १८, १९, २० ॥

**वीर.** हे वीर ! सः लोकसुखकरो मोक्षसुखानन्त्यकरश्च धर्मः[6] मा विनश्येत् न नश्येत्, यस्मि न्नुक्तधर्मे विनष्टे सति नृपतिः पार्थिवः ऐश्वर्या दवरोहति भ्रश्यति ॥ १६ ॥

हे राजन् ! असाधवो ये अमात्याः तेभ्यः चोरादिभ्यः यथा यथाशास्त्रं प्रजाः पालयन् ताभ्यो बलिं पूजां गृह्णन् स्वीकुर्वत् इह लोके प्रेत्य परलोकं प्राप्य च मोदते सुखी भवति ॥ १७ ॥

यस्य राज्ञो राष्ट्रे[7] पुरे च स्थितै श्चातुर्वर्ण्य चातुराश्रम्य रूपव्यवस्थया[8] अवस्थितैः[9] जनैः यज्ञानां भोक्ता प्रभुश्च भगवान् स्वधर्मेण पञ्चमहायज्ञादिरूपेण[10] इज्यते आराध्यते ॥ १८ ॥

हे महाभाग ! तस्य निजशासने निजं स्वकीयं यच्छासनं शास्त्रविहितं प्रजापालनादिरूपं कर्म तस्मिन् तिष्ठतः राज्ञः विश्वात्मा सर्वात्मा भूतभावनः भूतानि भावयत्युत्पादयतीति भूतभावनः जगत्कारण भूतो भगवान् परितुष्यति ॥ १९ ॥

---

1. W भुक्प्रभुः 2. M, Ma, Ms, V °मात्मकैः ; W °मस्थितैः 3. M, Ma, Ms राज 4. V न 5. V omits वि 6. A, B, T omit धर्मः 7. A, B, T राज्ये 8. A, B, T रूपतया 9. A, B, T व्यव° 10. A, B, T omit महा°

तुष्यतु[1] भगवान् किं तेन ? तत्राह - **तस्मिन्निति**। जगता मीश्वरा ब्रह्मादयः तेषा मपीश्वरे तस्मिन् भगवति तुष्टे सति सपालाः पालकै स्सहिताः लोका आदृताः आदरेण युक्ता एतस्मै परितुष्टभगवते राज्ञे बलिं हरन्ति प्रापयन्ति॥ २०॥

**विज.** स धर्मो मा विनशेत् नष्टो न स्यात् बाधक माहु रित्याह - **यस्मिन्निति**। अवरोहति अधो याति॥ १६॥

कोऽसौ धर्मो यो लोकान् दधातीति तत्राहुरित्याह - राजन्निति। असाधवो दुर्जनाः अमात्याः सचिवा स्तेभ्यः "साधु स्त्रिषूचिते सौम्ये सज्जने वार्धुषौ पुमान्" (वैज.को. 6-5-96) इत्यभिधानम्। "यथा सादृश्य योग्यत्ववीप्सास्वार्थानतिक्रमे" (वैज.को. 8-7-27) इति वचनात्। यथा योग्यं षष्ठांशं बलिं करम्॥ १७, १८, १९॥

तत्तुष्ट्या किं फलं स्यादित्यत्राह - **तस्मिन्निति**॥ २०॥

**तं सर्वलोकामर यज्ञसङ्ग्रहं त्रयीमयं द्रव्यमयं[2] तपोमयम्।**
**यज्ञै र्विचित्रै र्यजतो भवाय ते राजन् स्वदेशाननुरोद्धु[3] मर्हसि। २१॥**

**यज्ञेन युष्मद्विषये द्विजातिभि र्वितायमानेन सुराः कला हरेः।**
**स्विष्टाः सुतुष्टाः प्रदिशन्ति वाञ्छितं तद्धेलनं नार्हसि वीर चेष्टितुम्॥ २२॥**

## वेन उवाच

**बालिशा बत यूयं वा[4] अधर्मे धर्ममानिनः।**
**ये वृत्तिदं पतिं हित्वा जारं पति मुपासते॥ २३॥**

**अवजानन्त्यमी[5] मूढा नृपरूपिण मीश्वरम्।**
**नानुविन्दन्ति ते भद्र मिह लोके परत्र च॥ २४॥**

**को यज्ञपुरुषो नाम यत्र वो भक्ति रीदृशी।**
**भर्तृस्नेहविदूराणां यथा जारे कुयोषिताम्॥ २५॥**

**श्रीध. तमिति**। सर्वाँल्लोकांश्च तत्पालान्[6] अमरांश्च तत्प्रापकान् यज्ञां श्च संगृह्णाति नियच्छतीति तथा तं विचित्रै [7-]द्रव्ययज्ञतपोज्ञानादिभिः[-7] भवाय समृद्धये यजतः[8-] नः जनान् स्वदेशान्[-8] तद्वासिनो जनान् अनुरोद्धु मनुवर्तितुम्॥ २१॥

---

1. A, B, T add परि 2. B वेद; W यज्ञ 3. Ms °न्न नि°; V °न्न वि° 4. M, Ma वै 5. M, Ma, Ms, V °न्ति ये 6. V °लकान्
7--7. B, J, V, Va यज्ञादिभिः 8--8. A, B, J, Va omit

**यज्ञेनेति**। युष्मद्विषये त्वद्देशे हरेः कला अंशाः सुराः तेषां सुराणां हेलनम् अवज्ञाम्॥ २२॥

**बालिशा** इति। बालिशा अज्ञाः वृत्तिद मन्नादिप्रदं मां हित्वा॥ २३, २४॥

**क** इति। भर्तृस्नेहो विदूरो यासां तासाम्॥ २५॥

**वीर.** सर्वान् लोकान् तत्पतीं श्च अमरा नमरत्वप्रापकान् यज्ञां श्च संगृह्णाति नियच्छतीति तथातं, त्रयीमयं धर्माधर्मादिबोधक त्रयीप्रचुरं वेदैकप्रमाणकत्वेन तत्प्राचुर्यं विवक्षितम्। त्रय्याः भागद्वयात्मकत्वात् किंरूपं पूर्वभागप्राचुर्यं किंरूपं चोपरितनभागप्राचुर्य मित्यत्र तद्विवेचयन् विशिनष्टि यज्ञमयं तपोमय मिति। यज्ञप्रचुरं पूर्वभागोदितानां तेषा माराधनत्वेन तत्प्राचुर्यं विवक्षितम्। आराधनप्रकार प्रकाशकत्वेन पूर्वभागस्य तस्मिन् प्रामाण्य मिति भावः। अत्र "सर्वे वेदा यत्पद मामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति" (कठ.उ. 2-15) "वेदैश्च सर्वै रहमेव वेद्यः" (भ गी. 15-15) इत्यादिक मनुसन्धेयम्। तपोमयं तपांसि उपासनानि तत्प्रचुरम् आराध्य स्वरूपरूपगुणादिप्रकाशकत्वेनो[1] परितनभागस्य प्रामाण्य मिति भावः। तं विचित्रै र्द्रव्यदेवतादिभि र्नानाविधैः यज्ञैः ते अभवाय मुक्तये। भवायेति च्छेदे ते तव समृद्धय इत्यर्थः। यजतः यागं कुर्वाणान् स्वदेशान् तद्वासिनो जनान् अनुरोद्धु मनुवर्तितुं हे राजन्! अर्हसि॥ २१॥

यस्य राज्ञो देशवासिभि र्जनैः भगवानिज्यते सोऽपि मुच्यत इत्यभिप्रायेण ते भवायेत्युक्तम्। तदेव प्रपञ्चयति - **यज्ञेनेति**। युष्मद्विषये तव देशे द्विजातिभि र्वितायमानेन निरन्तरं क्रियमाणेन यज्ञेन हरे र्भगवतः कलाः शरीरभूताः सुराः इन्द्रादयो देवाः स्विष्टाः यथाशास्त्र मिज्यमाना अत एव तुष्टा स्तव वाञ्छितं प्रदिशन्ति प्रयच्छन्ति। हे वीर! तद्धेलनं तेषां देवनां हेलनम् अवज्ञां चेष्टितुं कर्तुं[2] भवान्नार्हति॥ २२॥

एवं विज्ञापितो वेन आहेत्याह - वेन इति। यूयं बालिशा अज्ञाः वै नूनं कुतः, यतः अधर्मे धर्ममानिनः धर्मं मन्वानाः। तदेव प्रपञ्चयति। ये भवादृशा[3] जनाः वृत्तिद मन्नादिप्रदं प्रभुं हित्वा जारं पति मुपासते॥ २३॥

ये च मूढाः नृपरूपेणावस्थित मीश्वर मवजानन्ति अवज्ञां कुर्वन्ति ते जना इह परत्र च लोके भद्रं कल्याणं नाऽनुविन्दन्ति न प्राप्नुवन्ति, किन्तु दुःखिनो[4] भवन्तीत्यर्थः॥ २४॥

भर्तृस्नेहः विदूरः यासां तासां कुयोषितां निन्दितस्त्रीणां[5] यथा जारपुरुषे भक्ति स्तथा[6] यत्र यज्ञपुरुषे वः युष्माक मीदृशी भक्तिः स यज्ञपुरुषः को नाम? किंशब्दः कुत्सायाम् असम्भावनायां वा॥ २५॥

---

1. A, B, T omit रूप  2. T omits कर्तुं  3. A, B, T त्वा°  4. A, B, T °तो  5. A, B, T निज (नीच)  6. A, B, T omit यत्र

**विज.** इतोऽपि श्रीनारायण एव इज्यत इत्याहु रित्याह - **तं सर्वेति**। सर्वशब्दः प्रत्येक मभिसम्बध्यते। सर्वान् लोकान् अमरान् यज्ञान् संगृह्णातीति सर्वलोकामर यज्ञसङ्ग्रहः तम्। त्रय्या त्रिभिर्वेदैः प्रतिपाद्येषु मुख्यप्रतिपाद्यत्वात् त्रयीमयः तम्। सर्वद्रव्याणां भगवद्विषयत्वात् हरि र्द्रव्यमय स्तम्। अनेनैव तपोमय मिति व्याख्यातम्। "सर्वसङ्ग्रहणा द्विष्णुः सर्वसंग्रह उच्यते। वेदस्य तस्य वक्तृत्वात् प्राधान्यं तु त्रयीमयः॥ सर्वं तद्विषयत्वेन मुख्यं सर्वमय स्ततः॥" (स्कान्दे) इति वाक्यं चात्र मानम्। एवंविधं श्रीहरिं विचित्रै र्यज्ञै स्ते तव भवाय भद्राय यजतः स्वदेशान् स्वस्य तव देश आदेश उपदेशो येभ्यः[1] यज्विभ्यस्ते स्वदेशा स्तान्, स्वस्य देशो विसर्जनं दानं येषां ते तथा तान् विप्रान् त्व मनुरोद्धु मनुकूलीकर्तु मर्हसीत्यर्थः। "भवो भद्रे हरे प्राप्तौ" (वैज.को. 6-1-41) इति यादवः॥ २१॥

इन्द्रादिविषयेण स्वर्गादिफलप्रदेन यज्ञेन हरियजनं कथं संगच्छते प्रत्युत तद्विधानेनानर्थ एव स्यादित्याशङ्क्य इन्द्रादयो विष्णो र्मुख्यसन्निधान पात्रत्वेन तदिज्यया तत्प्रीत्या प्रीताः यजमानाय यद्यदभीष्टं तत्तद्दिशन्त्यन्यथाऽयजने तदवज्ञयाऽनर्थमेव प्रयच्छन्तीत्याहु रित्याह - **यज्ञेनेति**। "विष्णोः सन्निहितत्वात्तु सर्वे[2] देवा हरेः कलाः" (स्कान्दे) इति वचनात् मत्स्यादिवत्कला न भवन्तीति ज्ञातव्यम्। 'कल बन्धन' इति धातोः आत्मनि हरेः सन्निधानं बध्नन्तीति कला इत्यर्थः॥ २२॥

ऋषीणां वाक्यामृतं शिरसि वज्रपातोपम मिव मन्यमानो गूढाक्षेपाभिसन्धिः वेनः प्रतिवक्तीत्याह - वेन इति॥ २३॥

स्वबुद्ध्या बालिशत्व मुपपादयति - **अवजानन्तीति**॥ २४॥

पुन रपि वेनः शापयोग्यापराध मात्मनि कर्तुं वक्ति - **को यज्ञ** इति॥ २५॥

**विष्णु र्विरिञ्चो गिरिश इन्द्रो वायु र्यमो रविः।**
**पर्जन्यो धनदः सोमः क्षिति रग्नि रपाम्पतिः॥ २६॥**

**एते चान्ये च विबुधाः प्रभवो वरशापयोः।**
**देहे वसन्ति[3] नृपतेः सर्वदेवमयो नृपः॥ २७॥**

**तस्मा[illegible]भि विप्रा यजध्वं गतमत्सराः।**
**बलिं च मह्यं हरत मत्तोऽन्यः कोऽग्रभुक्पुमान्॥ २८॥**

---

1. A, B, omit येभ्यः 2. M, Ma सर्व° 3. A, B, G, I, J, T, V भवन्ति; M, Ma, Ms तिष्ठन्ति

## मैत्रेय उवाच[1--1]

**इत्थं विपर्ययमतिः पापीयानुत्पथं गतः।**

**अनुनीयमान स्तद्याञ्चां न चक्रे भ्रष्टमङ्गलः ॥ २९ ॥**

**इति तेऽसत्कृता स्तेन द्विजाः पण्डितमानिना।**

**भग्नायां भव्ययाच्ञायां[2] तस्मै विदुर चुक्रुधुः ॥ ३० ॥**

**श्रीध. एते** इति। "देहे भवन्ति नृपतेः[3--3]" अतो नृपति रेवेश्वर इतरे तदंशा इति भावः ॥ २६, २७ ॥

**तस्मादिति**। बलिं च[4--4] करादिकम्। अग्रभुक् आराध्यः ॥ २८, २९ ॥

**इतीति**। तेनासत्कृताः भग्नायां याच्ञायां[5--5] चुक्रुधुः क्रोधं चक्रुः ॥ ३० ॥

**वीर.** वरशापयो रनुग्रहनिग्रहयोः प्रभवः समर्थाः विष्णवादयोऽन्ये च देवा नृपतेः राज्ञो देहे वसन्ति; अतो नृपः सर्वदेवमयः सर्वदेवताप्रचुरः ॥ २६, २७ ॥

तस्मात् नृपस्य सर्वदेवमयत्वात् मामेव हे विप्राः ! गतमत्सरा यूयं यजध्वं मह्यमेव बलिं स्वामिग्राह्यभागादिकं हरत समर्पयत। मत्तः[6] अग्रभुक् आराध्यः कः पुमानस्ति ? ॥ २८ ॥

इत्थ मेवं विपरीतमतिः पापीयान् उत्पथं दुर्मार्गं प्राप्तः अनुनीयमानोऽपि प्रार्थ्यमानोऽपि तेषा मृषीणां याच्ञां न चक्रे यतोऽयं भ्रष्टमङ्गलः ॥ २९ ॥

इतीत्थं पण्डित मात्मानं मन्वानेन तेन वेनेन[7] असत्कृता अवज्ञाता स्ते मुनयः भव्ययाच्ञायां लोकशुभावहायां[8] याच्ञायां भग्नायां[9] सत्यां हे विदुर ! तस्मै चुक्रुधुः कुपितवन्तः ॥ ३० ॥

**विज.** अस्मद्भक्तिविषयो नाम्ना विष्णुः सृष्ट्यादिकारिण स्तदाज्ञानियता विरिञ्चादयः तत्परिवारभूता इति भ्रान्ति र्माभूत् यत एवैते विष्णुप्रभृतयो मयि सन्निहिताः, अतः तत्तच्छक्ति मत्त्वा दह मेवाखिलोत्तम इज्यतम इत्याह - **विष्णुरित्यादिना** ॥ २६ ॥

---

1--1. W omits 2. M, Ma, Ms हव्य° 3--3. Va omits 4--4. V स्वामिभागम्। 5--5. V सत्याम् ॥ ३० ॥ 6. A, B, T omit मत्तः 7. A, B, T omit वेनेन 8. A, B, T °वहया° 9. A, B, T omit भग्नायां

वरशापयो र्दाने प्रभवः सर्वदेवमयः इत्युपसंहारः ॥ २७, २८ ॥

किं फलितं तदाह - **इत्थमिति**। तेषा मृषीणां याच्ञाम् ॥ २९ ॥

आत्मनि शापसामर्थ्ये समुल्लसति कर्णौ पिधाय निर्याण मनुचित मिति पश्यन्तः शापात्पूर्वभाविकोपायुध मृषय उदाहरन्नित्याह - **इतीति**। इति शब्दः प्रकारवचनः हव्यविषययाच्ञायाम्[1] ॥ ३० ॥

**हन्यतां हन्यता मेष पापः प्रकृतिदारुणः।**
**जीवञ्जगदसा वाशु कुरुते भस्मसात् ध्रुवम् ॥ ३१ ॥**

**नाय मर्हत्यसद्वृत्तो नरदेव वरासनम्।**
**योऽधियज्ञपतिं विष्णुं विनिन्दत्यनपत्रपः[2] ॥ ३२ ॥**

**को वैनं[3] परिचक्षीत वेन मेक मृतेऽशुभम्।**
**प्राप्त ईदृश मैश्वर्यं यदनुग्रहभाजनः[4] ॥ ३३ ॥**

**इत्थं व्यवसिता हन्तु मृषयो रूढमन्यवः[5]।**
**निजघ्नु र्हुङ्कृतै र्वेनं[6] हत मच्युतनिन्दया ॥ ३४ ॥**

**ऋषिभिः स्वाश्रमपदं गते पुत्रकलेबरम्।**
**सुनीथा पालयामास विद्यायोगेन शोचती ॥ ३५ ॥**

**श्रीध. क** इति। परिचक्षीत निन्देत[7]। अशुभं वेनं विना। कृतघ्नता माहुः। यदनुग्रहविषय स्सन् ईदृश मैश्वर्यं यः प्राप्तः ॥ ३१, ३२, ३३ ॥

**इत्थमिति**। पूर्वं ये[8] गूढमन्यवः ते[9] इदानीं रूढमन्यवः प्रकटकोपाः[10-] हुङ्कृतै र्हुङ्कारैः[-10] ॥ ३४ ॥

**ऋषिभिरिति**। स्वाश्रमपदं प्रति ऋषिभि र्गते गमने कृते सति विद्यायोगेन मन्त्रसहितया युक्त्या[11-] पालयामास[-11] ॥ ३५ ॥

**वीर.** क्रोध मेव प्रपञ्चयति **हन्यतामिति**। प्रकृत्या स्वभावेन दारुणो घातुकः अत एव पापीयान् एष वेनो हन्यतां, कोपात् द्विरुक्तिः। यतोऽसौ जीवन् जगत् भस्मसात् भस्मीभूत[12] माशु कुरुते ध्रुवं नूनम् ॥ ३१ ॥

1. A भव्य 2. M, Ma यो वै; V यो हि 3. W वैतं 4. M, Ma, Ms भाजनम्; V भाग्जनः 5. W गूढ 6. M, Ma निर्ज° 7. V adds विनिन्देत 8. A, B, J, Va omit ये 9. A, B, J, Va omit ते 10--10. V omits 11--11. V omits 12. A, B, T भस्म

असद्वृत्तोऽयं वेनो राजासनं प्रति नार्हति योग्यो न भवति, हि यस्मात् यो वेनः अनपत्रपो निर्लज्जः, यज्ञपतिं विष्णुं विनिन्दति ॥ ३२ ॥

अशुभ मशुभाचारं वेन मेक मृते विना को वै पुमान् तं विष्णुं परिचक्षीत निन्देत् । वेनस्य कृतघ्नता माह - यस्य विष्णोः अनुग्रहभाजनः अनुग्रहविषय स्सन् ईदृश मैश्वर्यं प्राप्तः ॥ ३३ ॥

इत्थं व्यवसिता निश्चिन्वाना ऋषयः रूढमन्यवः पूर्वं गूढमन्यव इदानीं रूढमन्यवः सन्तः पूर्व मेव भगवन्निन्दया हतप्रायं वेनं हुङ्कारै र्निजघ्नुः ॥ ३४ ॥

एवं हुङ्कारै[1] रेव वेनं निहत्य ऋषिभिः स्वाश्रमस्थाने गते प्राप्ते सति शोचती सुनीथा पुत्रस्य वेनस्य[2] कलेबरं विद्यायोगेन मन्त्रसहितया युक्त्या पालयामास ॥ ३५ ॥

**विज.** ऊचु श्चेत्याह - **हन्यता** मिति । जीवंश्च जगत् भस्मसा त्करोति ॥ ३१, ३२ ॥

निन्द्यदोषसद्भावा न्निन्दतीति किं न स्यादत्राह - **को वेति** । "निरनिष्ठो निरवद्यः" इति श्रुते रशुभोऽय मेव निन्द्यदोषाकर इति भावः । यस्य हरे रनुग्रहस्य भाजनं यस्यानुग्रहो यस्मिन् सः यदनुग्रहः पुमान् स एव भाजमं वा तदनुग्रहरहितत्वात् अयं हन्तव्य इत्यर्थः । अत्र क्रोधवचनयोः क्रमकरण मेकैकं दृष्ट्वाऽस्मा नयं क्षमापये दिति बुद्ध्या कृत मिति ज्ञातव्यम् ॥ ३३ ॥

मरेत्युक्तिः श्रोतॄणां श्रोत्रदुस्सहेति प्रकारान्तरेण तं जघ्नु रित्याह - **इत्थ** मिति । एवं मारितो वेनः कं लोक मवाप ऋषीणां तन्मतदूषकत्वात् के तस्या नुष्ठातारः तन्मतनिरासिनः पृथोश्च क्षिप्रभावित्वा दुत्सन्नप्रायमिति च वक्तुं न युक्तम्; तत्र तत्र दृश्यमानत्वा दिति, सर्वम् "अहं ब्रह्मेति वेन स्तु ध्यायन्नापाधरं तमः । तद्राद्धान्तो महीं व्याप्तो भेर्या ख्यापयतोऽनिशम् ॥ असुरा राक्षसाश्चैव पिशाचा स्तत्पथि स्थिताः । भूमौ तत्पृथुना सर्वं निरस्तं महिमात्मना । पुनः कलियुगे प्राप्ते अष्टाविंशतिमे मनोः । वैवस्वतस्य समये जाताः क्रोधवशा भुवि । ख्यापयन्ति दुरात्मानो मणिमां स्तत्पुरस्सराः ॥" (भविष्यत्पुराणे) इत्यतोऽत्र तु ग्रन्थबाहुल्या दन्यत्र विस्तृतत्वाच्च ज्ञातु मनभ्यर्हितत्वा[3] च्च न प्रपञ्चित मिति ज्ञातव्यम् । तेषां क्रोधवशानां पुरस्सरोऽग्रगन्ता मुख्य इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

वेनस्य पुत्राभावा दृषीणां क्रोधात् पुरोहितस्य भीतत्वात् प्रेतकार्यमन्त्रवक्त्रभावा त्परं कलेबरं किं कृत मत्राह - **ऋषिभिरिति** । विद्यायोगेन मन्त्रौषधादिविद्योपायेन शोचतीत्यनेन मातृस्वभावो दर्शितः ॥ ३५ ॥

---

1. W °रणैव 2. A, B, T omit वेनस्य 3. A, B °र्थि°

एकदा मुनय स्ते तु सरस्वत्सलिलाप्लुताः[1]।
हुत्वाग्नीन् सत्कथाश्चक्रु रुपविष्टाः सरित्तटे ॥ ३६ ॥

वीक्ष्योत्थितान्[2] महोत्पातानाहुर्लोकभयङ्करान्।
अप्यभद्र मनाथाया दस्युभ्यो न भवेद्ध्रुवः ॥ ३७ ॥

एवं ब्रुवत्सु[3-] ऋषिषु[-3] धावतां सर्वतो दिशम्।
पांसुः समुत्थितो भूरि[4] श्चौराणा[5] मभिलुम्पताम्[6] ॥ ३८ ॥

तदुपद्रव माज्ञाय लोकस्य वसु लुम्पताम्।
भर्तर्युपरते तस्मि न्नन्योन्यं च जिघांसताम् ॥ ३९ ॥

चौरप्रायं[7] जनपदं हीनसत्त्व मराजकम्।
लोकान्नावारयन् शक्ता अपि तद्दोषदर्शिनः[8] ॥ ४० ॥

श्रीध. एकदेति। पुंवद्भाव आर्षः, सरस्वत्या सलिले आप्लुताः कृतस्नानाः[9-] विष्णुकथाः चक्रुः[-9] ॥ ३६ ॥

वीक्ष्येति। तदा तु उत्पातान् वीक्ष्य नृपरहितायाः[10-] भुवोऽभद्रं[-10] न भवेत्किम् ? इत्याहुश्च ॥ ३७ ॥

एवमिति। एवं मृशन्तः तर्कयन्तः ऋषयः[11-] स्थिताः[-11] तदा धावतां चोराणां भूरिः पांसुः धूलिः[12] समुत्थितः ॥ ३८ ॥

तदिति। तत्तदा तेषां, लोकस्य वसु[13] धनं लुम्पतां जिघांसतां चोपद्रव माज्ञाय ॥ ३९ ॥

चोरप्राय मिति। तथा चोरप्रायम् अराजकं हीनसत्त्वं च जनपद माज्ञाय शक्ता अपि अवारणे[14] दोषदर्शिनोऽपि[15] जना[16] लुम्पतो लोकान्नावारय न्नित्यन्वयः ॥ ४० ॥

वीर. ते मुनयः एकदा सरस्वत्याः सलिलै राप्लुताः स्नाताः, पुंवद्भाव आर्षः। अग्निं हुत्वा प्रातरग्निकार्यं कृत्वा सरितः सरस्वत्यास्तटे उपविष्टा स्सन्तः सत्कथां भगवत्कथां चक्रुः कथयामासुः ॥ ३६ ॥

---

1. M, Ma, Ms सरयूस° 2. I °तांस्तदो° 3--3. A, B, G, I, J, T, V मृशन्त ऋषयो 4. M, Ma, Ms भूमे° 5. W श्चौ° 6. M, Ma, Ms °णां वसु 7. W चौर 8. M, Ma, लोका ना° 9--9. V इत्यर्थः। 10--10. B, J, V, Va omit 11--11. B, V omit 12. B, J, V, Va omit धूलिः 13. B, J, Va omit वसु 14. V वारणे 15. V omits अपि 16. V मुनयः; Va omits जना

तदा उत्थितान् हि महोत्पातान् वीक्ष्य उत्पातै र्यल्लोकानां भयं तेनातुरा दुःखिताः अनाथाया भुवः दस्युभ्य श्चौरादिभ्योऽभद्रं न भवेत्किमित्याहुः ॥ ३७॥

एवम् ऋषिषु ब्रुवत्सु सत्सु सर्वतो दिशं सर्वासु दिक्षु धावता मभितो धनादिकं लुम्पतां हरतां चौराणां[1] भूरि र्बहुलः पांसुः समुत्थितोऽभूत् ॥ ३८ ॥

वसु धनं लुम्पतां हरतां[2] चौराणां[3] भर्तरि राज्ञि उपरते नष्टे सति अन्योन्यं जिघांसतां हन्तु मिच्छतां लोकानां च तथाविध मुपद्रवम् ॥ ३९ ॥

तथा चौरप्राय[4] मराजकं हीनसत्त्वं च जनपद माज्ञाय ज्ञात्वा शक्ता अपि वेन मिव हुङ्कारेणैव[5] चौरा[6] न्निहन्तुं शक्ता अपि ऋषयः तद्दोषदर्शिनः तस्मा च्चौरादिहनना द्यो दोषः पापं तं पश्यन्तः "घातुं (तं) न घातु (त)को विप्रः" इति स्वधर्मं पश्यन्त इति भावः, नावारयन् न निवारितवन्तः ॥ ४० ॥

**विज.** एवं वेनं शप्त्वा (किं) तपोबला दन्य मेकं राजानं चक्रुः ? (उत) तद्वंश्याभावात् तूष्णी मासुः ? कलेबरं मुनयः किमकुर्वन्निति परीक्षितः शङ्कां परिहरन् उत्तरकथाप्रसङ्गमाह - **एकदेति**। सरयूनाम्नो नद्याः सलिले आप्लुताः कृतस्नानाः सतोऽभ्यर्हितस्य विष्णोः कथा यदा चक्रुः ॥ ३६ ॥

तदा महोत्पातान् वीक्ष्याहुरित्यन्वयः। किमाहुरिति तत्राह - अपीति। अपि शब्दस्य भवेदित्यनेनान्वयः। अनाथाया[8] इति हेतुगर्भविशेषणा दभद्रं सम्भावितमिति प्रावोचन्नित्यर्थः ॥ ३७॥

वसु लुम्पतां चोराणां सकाशात् भूमेः पांसुः समुत्थित इत्यन्वयः ॥ ३८ ॥

ततः किमभूदत्राह - **तदुपद्रवमिति**। तत्तदा लोकस्य चोराणा मुपद्रव माज्ञायैव निश्चित्य मृतस्य वेनस्य महीपते रूरुं तरसा ममन्थुः इत्यन्वयः ॥ ३९ ॥

युष्मत्तोऽन्ये तन्निवारका न सन्ति किमिति तटस्थचोद्यं परिहरन्तीत्याह - **चोरप्रायमिति**। सत्यं तद्दोषदर्शिनो यद्यधर्मकर्तारं न वारयन्ति तर्हि[9] स दोष स्तानपि स्पृशेदिति दोषं पश्यन्तः, किञ्च शक्ता स्तन्निवारणे समर्था अपि लोकाः 'लुक्-प्रकाशन' इति धातोः विशिष्टज्ञाना जना हीनसत्त्वं पराक्रमविधुर मराजकंप्रजापालकरहितं जनपदं वीक्ष्य चोरान्नावारयन्निति यदत इत्यर्थः ॥ ४० ॥[10]

---

1. A, B, T चो° 2. A, B, T omit हरतां 3. A, B, T चो° 4. A, B, T चो° 5. W °रेव 6. W चो° 7. W च्चो° 8. A, B, omit इति 9. A, B, omit तर्हि 10. A, B चोरादीन्ना°

**ब्राह्मणः समदृक् शान्तो दीनानां समुपेक्षकः ।**
**स्रवते ब्रह्म तस्याऽपि भिन्नभाण्डात्पयो यथा ॥ ४१ ॥**

**नाङ्गस्य वंशो राजर्षे रेष संस्थातु मर्हति ।**
**अमोघवीर्या हि नृपा वंशेऽस्मिन् केशवाश्रयाः ॥ ४२ ॥**

**विनिश्चित्यैव मृषयो विपन्नस्य महीपतेः ।**
**ममन्थु रूरुं तरसा तत्राऽऽसीद्बाहुको नरः ॥ ४३ ॥**

**काककृष्णोऽतिह्रस्वांगो ह्रस्वबाहु र्महाहनुः ।**
**ह्रस्वपान्निम्ननासाग्रो रक्ताक्ष स्ताम्रमूर्धजः ॥ ४४ ॥**

**तं तु तेऽवनतं दीनं किं करोमीति वादिनम् ।**
**निषीदेत्यब्रुवं स्तात स निषाद स्ततोऽभवत् ॥ ४५ ॥**

**तस्य वंश्या स्तु नैषादा गिरिकाननगोचराः ।**
**येनाहरज्जायमानो वेन कल्मष मुल्बणम् ॥ ४६ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टदश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

**श्रीध. ब्राह्मण** इति । शक्तानां क्षत्रियाणा मवारणे दोष इति किं वक्तव्यम् । समदृगपि शान्तोऽपि ब्राह्मणोऽपि यदि दीनानां समुपेक्षको भवेत्तर्हि तस्याऽपि ब्रह्म तपः स्रवति ॥ ४१ ॥

**नाङ्गस्येति** । अत उपेक्षादोषपरिहाराय नाङ्गस्येत्यादि विनिश्चित्य महीपते रूरुं तरसा ममन्थु रित्यन्वयः । संस्थातुं नाशं गन्तुं, यद्वा ऋषय एव लम्पतो लोका न्नावारयन् । कथम्भूताः ? हुङ्कारेणैव वेनं निवारयितुं शक्ता अपि । तत्किम् ? तस्मिन्निवारणे

1. W भाण्डपयो 2. W वाङ्निम्न 3. M, Ma, Ms दृष्ट्वा 4. M, Ma, Ms योऽपा° 5. A adds न 6. V स्रवते 7. V adds गच्छति 8. V °रैव 9. V तत्किमर्थम् ? 10. V तान्नि°

तन्मरणादिदोषदर्शिनः न चोदासत, चोरोपद्रुते दीनोपेक्षायां तपोहानिप्रसङ्गात्। न चान्यं तन्निवारकं राजान मकुर्वन्। अंगवंशोच्छेदस्याऽनर्हत्वात्। अतो वेनस्यैव देहं ममन्थुरिति योज्यम्॥ ४२॥

**विनिश्चित्येति**। बाहुको[1] वामनः[2][3]॥ ४३॥

तमेवाह - **काकेति**। काक इव कृष्णः महत्यौ हनू कपोलप्रान्तौ यस्य। ह्रस्वौ पादौ यस्य॥ ४४, ४५॥

**तस्येति**। गिरिः काननं च गोचर आश्रयो न तु पुरादिप्रवेशो येषाम् ते। तत्र हेतुः; येन कारणेनासा वहरत्ततस्तस्य वंश्या स्तथाभूताः॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्री श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

**वीर.** नन्वेव मृषीणा मपि शक्तानां चोरोपद्रुत दीन लोकोपेक्षायां तपोनाशप्रसङ्गस्स्यादिति ब्राह्मणः समदृगित्यनेनाशङ्क्य स्वतपसो नाशाभावार्थं राजान्तरमेव सम्पाद्य तन्मुखेनैव दीनपरित्राणं कार्य मित्यभिप्रायेण राजान्तरकरणोपाय मूरुमन्थनादिकं चक्रु रित्याह - नाङ्गस्येति द्वाभ्याम्। समदृक् सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्व दर्शी तदुपयुक्तशमादिसम्पन्नोऽपि ब्राह्मणो यदि दीनानां समुपेक्षकः स्यात् तर्हि तस्य ब्रह्म ब्राह्म्यं[5] तपः इति यावत्, म्रवते[6] गच्छति यथा भिन्नभाण्डस्थं जलं तद्वत्॥ ४१॥

अत उपेक्षारूपं दोषपरिहाराय नाङ्गस्येत्यादि विनिश्चित्य महीपते रूरुं तरसा ममन्थु रित्यन्वयः। राजर्षे रङ्गस्यैष वंशः संस्थातुं अवसानं प्राप्तुं नाऽर्हति। हि यतोऽस्मिन्वंशे जाता नृपा अमोघवीर्याः, तत्र हेतुः केशवाश्रयाः॥ ४२॥

एव मित्थं विनिश्चित्य ऋषयः विपन्नस्य विपत्तिं प्राप्तस्य मृतस्येत्यर्थः। ऊरुं तरसा बलेन ममन्थुः मथितवन्तः, तत्र मथिते ऊरौ बाहुको[7] नामतो नर आसीत् उद्भूव॥ ४३॥

बाहुक मेव विशिनष्टि - **काकेति**। काक इव कृष्णः अतीव ह्रस्वाङ्गः, ह्रस्वौ बाहू यस्य, महान्तौ हनू कपोलप्रान्तौ यस्य ह्रस्वा वाक् यस्य, निम्नं नतं नासिकाग्रं यस्य, रक्ते अक्षिणी यस्य, ताम्रवर्णा मूर्धजाः केशा यस्य सः॥ ४४॥

---

1. V adds नाम 2. V °नकः 3. V adds जातः 4. A, B, T भूत 5. A, B, T omits ब्राह्म्यं 6. W म्रवति 7. A, B, T नाम

तं बाहुकं दीनं किङ्करोमीति दीनवादिनं च राज्यानर्ह मभिप्रेत्य निषीदेति उपविशेति [1]अब्रुवन् [2]उक्तवन्तः। हे तात ! ततः निषीदेति ऋषिवचनात् स [3]बाहुकः निषादोऽभवत्। [4-]स [-4]च निषादजातीयोऽभवदित्यर्थः॥ ४५॥

तस्य बाहुकस्य ये वंश्या स्ते नैषादाः। गिरिः काननं गोचरः आश्रयः न तु पुरादिप्रवेशो येषां ते अभवन्। तत्र हेतुः येन कारणेन असौ बाहुको जायमानः उल्बण मुत्कटं [5]कल्मषं पाप महरत् स्वीकृतवान् तत स्तस्य वंश्या स्तथाभूता इत्यर्थः॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवत चन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

**विज.** सामान्य मुक्त्वा जातिविशेषस्य दोषाधिक्य माहुरित्याह - **ब्राह्मण** इति। ब्रह्मेति भावप्रधानो निर्देशः। दुष्टोपद्रवेण दीनानां जनाना मुपद्रवं दृष्ट्वा समुपेक्षक स्तूष्णीम्भूतः स्यात् तस्य ब्रह्मत्वं ब्राह्मण्यं म्रवते नश्यति। तन्निदर्शयन्ति - भिन्नेति। तस्मादस्माभि रनुष्ठेयमिति भावः॥ ४१॥

इतोऽपीत्याहु रित्याह - **नाङ्गस्येति**। संस्थातुं नाशं प्राप्तुं कुत इत्यत उक्त ममोघेति॥ ४२॥

यथाऽमृतमन्थने कालकूट मादा वुदभूदेवं तत्राऽपीति भावेनाऽह - **तत्रेति**। तत्र मथ्यमाने सति बाहुको वामनः "कुब्जक्षुद्र दीर्घखर्व ह्रस्ववामन बाहुकाः" इत्याभिधानम्॥ ४३॥

विशिनष्टि - **काकेति**। महाहनुः स्थूलकपोलः निम्ननासाग्रोऽधोनतघ्राणशिराः॥ ४४॥

ततःनिषीदेति वचनात्॥ ४५॥

स क इति तं विशिनष्टि- योऽपाहरदिति। अनेन वेन श्चतुर्धा विभक्त इति ज्ञायत इति। तथा हि तामसो राजसः सात्त्विकः तामसतामस इति। तत्र तामसांशो निषादः। राजसांशः स्वर्गस्य गन्ता। सत्वांशःपृथुः। तामसतामसांशो वेनः स्वयमन्धन्तमो गतः।

---

1. A, B, T omit अब्रुवन् 2. W omits उक्तवन्तः 3. T omits बाहुकः 4--4. W omits 5. T omits कल्मषं

तदुक्तम् - ''त्र्यंशो वेनः समुद्दिष्टः सत्त्वांशः पृथुता मगात्। रजोंऽशश्च दिवं प्राप निषाद स्तामसोऽभवत्। स्वयं वेनश्चतुर्थस्तु महातमसि पातितः ॥ (कौर्मे) इति । रजोंऽशो वेनो दिवङ्गत इति केनाऽवगम्यते इति चोद्यं ''पापरूपी पृथग्जातो निषादो वेनदेहतः । यस्मात्तस्मात्पृथोः पुत्रा द्रजो वेनो दिवं ययौ (गारुडे) इत्यनेन परिहृत मिति ग्रन्थान्तर सिद्धत्वात् अत्र न विस्तृतम् ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थकृतायां पदरत्नावल्यां
टीकायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

# पञ्चदशोऽध्यायः

## मैत्रेय उवाच

अथ तस्य पुनर्विप्रैः अपुत्रस्य[1] महीपतेः ।

बाहुभ्यां मथ्यमानाभ्यां मिथुनं समपद्यत ॥ १ ॥

तद्दृष्ट्वा मिथुनं जातमृषयो ब्रह्मवादिनः ।

ऊचुः परमसन्तुष्टा[2] विदित्वा भगवत्कलाम् ॥ २ ॥

ऋषय[3] ऊचुः

एष विष्णोर्भगवतः कला भुवनपालिनी[4] ।

इयं च लक्ष्म्याः[5] सम्भूतिः पुरुषस्यानपायिनी ॥ ३ ॥

अयं[6] तु प्रथमो राज्ञां[7] पुमान् प्रथयिता यशः ।

पृथुर्नाम महाराजो[8] भविष्यति पृथुश्रवाः ॥ ४ ॥

इयं च देवी सुदती गुणभूषणभूषणा[9] ।

अर्चिर्नाम वरारोहा पृथुमेबावरुन्धती ॥ ५ ॥

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ततः पञ्चदशे विप्रैर्मथनाद्वेनबाहुतः[10] । जातस्य हि पृथोरुक्तमभिषेकार्हणादिकम् ।

किमूचुरित्यत आह - **एष** इति चतुर्भिः । लक्ष्म्याः सम्भूतिः कला ॥ १-३ ॥

**अयमिति** । अत्र यः पुमान् स तु महाराजो भविष्यति ॥ ४ ॥

**इयमिति** । सुदती शोभनदन्तवती[11] गुणानां[12] भूषणानां[12] च भूषणरूपा, अवरुन्धती भर्तृत्वेन भजन्ती भविष्यति ॥ ५ ॥

---

1. M, Ma, Ms विपत्रस्य 2. B संहृष्टाः 3. Ms विप्राः 4. B, J पालनी, M, Ma, Ms पावनी 5. M, Ma लक्ष्मीः, Ms, W लक्ष्मीस° 6. B, J, M, Ma, Ms अत्र 7. W राजा 8. M, Ma राजा 9. M, Ma भूषिता 10. J °र्मन्थ° 11. V °दन्ता 12--12. A omits

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथानन्तरं तस्य अपुत्रस्य महीपतेः वेनस्य बाहुभ्यां पुनर्विप्रैर्मथ्यमानाभ्यां मिथुनं स्त्रीपुंसात्मकं समपद्यत उद्भूव ॥ १ ॥

ब्रह्मवादिन ऋषयः तज्जातं मिथुनं दृष्ट्वा भगवत्कलां भगवदंशं विदित्वा अत एव परमसन्तुष्टा ऊचुः ॥ २ ॥

किमूचुरित्यत आह - **एष** इति चतुर्भिः । एष पुमान् भगवतो विष्णोर्भुवनपालिनी कला भुवनपालनार्थं कलयाऽवतीर्ण इत्यर्थः, इयं च स्त्री लक्ष्म्याः सम्भूतिः सम्भवः तस्याः[1] कलेत्यर्थः । तत्र हेतुः पुरुषस्यानपायिनी पुरुषमविहाय जातेति भावः । "राघवत्वेऽभवत् सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि । अन्येषु चावतारेषु विष्णोरेषाऽनपायिनी ।" (विष्णु.पु. 1-9-144) इति वचनार्थोऽत्रानुसन्धेयः ॥ ३ ॥

अयं मिथुने यः पुमान् सोऽयं राज्ञां प्रथमः मुख्यः यतोऽयं यशः कीर्तिं प्रथयिता विस्तारयिता, अतः पृथुश्रवाः[2-2] पृथुकीर्तिसम्पन्नः पृथुर्नाम महाराजो भविष्यति । नामशब्दः प्रसिद्धौ । प्रथयति यशः पृथुरिति योगरूढिभ्यां प्रख्यातो महाराजो भविष्यतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

इयं तस्मिन् मिथुने या[3-3] स्त्री सेयं सुदती शोभनदन्तवती, इतरावयवसौष्ठवस्याप्युपलक्षणमिदम्[4] । वरारोहा स्त्री यतो गुणानां भूषणानां च भूषणा भूषणवदौज्ज्वल्यविशिष्टाश्रयभूतेत्यर्थः । ततोऽर्चिर्नाम अर्च्यते उज्ज्वलतीत्यर्चिरिति योगरूढिभ्यां प्रख्याता पृथुमेवावरुन्धती भर्तृत्वेन भजन्ती[5-5] भविष्यति ॥ ५ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अथ सत्त्वांशात् पृथोरुत्पत्तिं वक्ति - **अथेति** ॥ १, २ ॥

**एष** विष्णोः कलेति लिङ्गव्यत्ययेन मत्स्यादिवत्साक्षाद्धरेरंशतावचः साक्षादंशो नायं किन्तु विशेषावेशात्तदंश इति वचनमिति ध्वनयति । तदुक्तं - "पृथुहैहयादयो जीवास्तेष्वाविष्टो हरिस्स्वयम् । विशेषावेशतस्तेषु साक्षाद्धर्यंशतावचः ॥ किंस्तुघ्नव्यासऋषभकपिला मत्स्यपूर्वकाः । आकूतिजैतरेयौ च धर्मजत्रयमेव च । धन्वन्तरिर्हयग्रीवो दत्तात्रेयश्च तापसः । स्वयं नारायणस्त्वेते नाणुमात्रविभेदिनः । बलतो रूपतश्चैव गुणैरपि कथञ्चन" (तत्त्वनिर्णये) इति । इयं च लक्ष्मीः सम्भूतिरिति विशेषणात् पृथुरपि हरेः साक्षादंशः । इतरथाऽस्य तत्पतित्वायोगादिति बुद्धिव्यामोहो न कर्तव्यः । "तत्र सन्निहिता श्रीश्च यत्र सन्निहितो हरिः । नास्य

---

1. A, B, T omit तस्याः  2--2. A, B, T omit  3--3. A, B, T omit  4. A, B, T इतरस्या°  5--5. A, B, T omit

सन्निधिमात्रेण रमा पत्नीत्वमाव्रजेत्। साक्षादेव तु साक्षाच्च हरेः सन्निधितः क्वचित्। गोप्यादिरूपा भवति विपरीतं न तु क्वचित्॥" (तत्त्वनिर्णये) इति निर्णायकवचनात्। "पुरुषोधातृपुन्नाग पुंस्त्वात्मपरमात्मनोः" (वैज.को. 7-1-46) इत्यभिधानात् प्रकरणबलाच्च पुरुषं परमात्मनमपहाय न तिष्ठतीत्यभिप्रायेणोक्तं पुरुषस्यानपायिनीति लक्ष्मी विशेषणवती कापि रमणी भर्तृवियोगशून्या जातेति तात्पर्यमिति॥ ३॥

श्रीनारायणचरणारविन्दमकरन्दनिषेविणां महतां पुरुषाणामिहामुत्रानभिमता अपि भगवदिच्छया सकलाः सम्पदो भवन्तीति निरूप्यतेऽस्मिन्नध्याये पृथुकथाकथनव्याजेन। तत्रादौ विप्राणां पृथुप्रशंसाप्रकारं वक्ति - अत्रेति। तुशब्देन भेदवाचिना पृथोर्हरेश्च महान् भेदोऽस्तीति सूच्यते। एतदर्थद्योतकप्रमाणसद्भावात्, तथा ह्युक्तम् - "ब्रह्मण्यनन्ते गरुडे रुद्रे कामे शचीपतौ। अनिरुद्धे मनौ चैव पृथौ च कृतवीर्यजे॥ नारदे चैवमाद्येषु विशेषात् सन्निधिर्हरेः। सुदर्शनादिष्वस्त्रेषु तथा सन्निहितो हरिः। नरलक्ष्मणौ बलश्चैव शेषस्यांशाः प्रकीर्तिताः। तथा भरतशत्रुघ्नौ शङ्खचक्रावुदाहृतौ॥ प्रद्युम्नश्च कुमारश्च स्कन्दः कामांशकाः स्मृताः॥" (स्कान्दे) इति। "वैन्ये पृथौ सन्निहितो राजरूपी जनार्दनः" (ब्राह्मे) इति विशेषवचनेनायं वैन्यः पृथुः श्रीनारायणांशः अन्यः, तथा कश्चित् पृथुनामा तत्रोच्यत इति शङ्का निर्मूलितेति ज्ञातव्यम्। अत्रास्मिन् वर्षे राज्ञां गणनसमये प्रथमः कथम्? यतो यशः प्रथयिता अतः प्रथयितृत्वात् पृथुर्नाम महाराजेत्यत्र टचूप्रत्ययाभावः तेभ्यो वैशिष्ट्यद्योतनार्थः॥ ४॥

सुदती शोभमानदन्ता अर्चिर्नाम गुणैरर्चितत्वात्, भूषणैर्ज्वलितत्वात्। "अर्चिर्भा ज्वाला" (वैज.को. 6-5-6) इत्यभिधानम्। वरो वरणीय आरोहो नितम्बो यस्यास्सा तथोक्ता, अवरुन्धती पतित्वेन स्वीकुर्वाणा भविष्यतीत्यर्थः॥ ५॥

**एष साक्षाद्धरेरंशो जातो लोकरिरक्षया।**

**इयं च तत्परा हि श्रीरनुजज्ञेऽनपायिनी॥ ६॥**

**मैत्रेय उवाच**[1-1]

**प्रशंसन्ति स्म तं विप्रा गन्धर्वप्रवरा[2] जगुः।**

**मुमुचुः सुमनोधाराः सिद्धा नृत्यन्ति स्वः[3] स्त्रियः॥ ७॥**

---

1--1. W omits 2. Ma प्रमुखा 3. M, Ma, Ms स्व°

**शङ्खतूर्यमृदङ्गाद्या नेदुर्दुन्दुभयो दिवि।**
**तत्र सर्व उपाजग्मुर्देवर्षिपितृणां[1] गणाः ॥ ८ ॥**

**ब्रह्मा जगद्गुरुर्देवैः[2] सहागत्य[3] सुरेश्वरैः।**
**वैन्यस्य दक्षिणे हस्ते दृष्ट्वा चिह्नं गदाभृतः ॥ ९ ॥**

**पादयोररविन्दं च तं[4] वै मेने हरेः कलाम्।**
**यस्याप्रतिहतं चक्रमंशस्य[5] परमेष्ठिनः ॥ १० ॥**

**श्रीध.** अत्र हेतुः - **एष** इति। लोकस्य रिरक्षया[6-] रिरक्षयिषया[7-] ॥ ६ ॥

**प्रशंसन्तीति**। स्वःस्त्रियः अप्सरसो नृत्यन्ति स्म ॥ ७, ८ ॥

**ब्रह्मेति**। देवैः सह आसृत्य[8] आगत्य वैन्यस्य पृथोः चिह्नं रेखात्मकं चक्रम् ॥ ९ ॥

**पादयोरिति**। अप्रतिहतं रेखान्तरैरभिन्नं चक्रं यस्य चिह्नं स परमेश्वरस्यांशः ॥ १० ॥

**वीर.** अत्र हेतुः - **एष** इति। रक्षितुमिच्छा रिरक्षा लोकस्य रिरक्षया साक्षात् हरेरंशः एष पृथुर्जातः आवेशावतारोऽयम्[9]। तत्परा तदनन्यार्हा अत एवानपायिनी श्रीः लक्ष्मीरियं जज्ञे, लक्ष्म्यंशजातेत्यर्थः ॥ ६ ॥

तं पृथुं विप्राः प्रशंसन्ति स्म प्रशशंसुः गन्धर्वश्रेष्ठा जगुः गानं कृतवन्तः, सिद्धाः सुमनोधाराः पुष्पवृष्टीर्मुमुचुः स्वःस्त्रियः स्वः स्वर्गः तत्रत्याः स्त्रियः अप्सरसः नृत्यन्ति ननृतुः ॥ ७ ॥

शङ्खादयो दुन्दुभयः[10] विनेदुः। तत्र पृथोः समीपे देवादीनां गणाः उपाजग्मुः आगताः ॥ ८ ॥

जगतां[11] गुरुः पिता हितोपदेष्टा च, ब्रह्मा चतुर्मुखः देवैस्सहागत्य वैन्यस्य वेनापत्यस्य पृथोर्दक्षिणे हस्ते गदाभृतो भगवतः, चिह्नं रेखात्मकं चक्रादिकं दृष्ट्वा ॥ ९ ॥

---

1. G, I °तृ° 2. M, Ma, Ms, V °व: 3. A, B, G, I, J, T सहाऽऽसृत्य; V उपसृत्य; W सहाऽऽश्रित्य 4. M, Ma, Ms तस्मिन्; V वैन्यं
5. A, B, G, I, J, T, V °भंशः सः 6--6. Va omits 7--7. V रक्षणेच्छया 8. V उपसृत्य 9. A, B, T omit अयम् 10. A, B, T °भ्यादयः
11. A, B, T omit जगतां

तथा पादयोररविन्दं च दृष्ट्वेत्यर्थः, हरेः कलामंशं मेने। अप्रतिहतं रेखान्तरैरभिन्नं चक्रं सुदर्शनं यस्य चिह्नं तस्य परमेष्ठिनः परमपुरुषस्यांशस्य व्यधिकरणे इमे षष्ठ्यौ। परमेष्ठिनेति तृतीयान्तपाठे तु तस्य पृथोः परमेष्ठिना ब्रह्मणा ब्राह्मणैस्सहाभिषेकः आरब्ध इत्यन्वयः। अंशः सन्निति पाठे अप्रतिहतं रेखान्तरैरसङ्कीर्णं चक्रं रेखात्मकं चक्रम् अंशस्सन् सुदर्शनांशस्सन् यस्य स्थितमिति शेषः। अंशशब्दापेक्षया सन्निति पुल्लिङ्गनिर्देशः॥ १०॥

**विज.** एष पृथुः साक्षात् हरेः श्रीनारायणस्यांश इति "सप्तसु प्रथमा" (शब्दनिर्णये) इति सूत्रात् अंशस्य सन्निधानस्य मुख्यं पात्रं, लोकरिरक्षया जनरक्षणेच्छया, यद्वा "प्रत्यक्षसदृशोः साक्षात्" (वैज.को. 286-59) इत्यभिधानात् हरेः साक्षादंशः पृथोः या जातिः तज्जातिसदृशजातिरूपेण सन्निहित इत्यर्थः। तदुक्तम् - "राजरूपी जनार्दनः" (ब्राह्मे) इति, यतो हरेः पृथौ सन्निधानविशेषात् तदंशत्वं तस्माच्छ्रियोऽपि तथा वचनमित्यस्मिन्नर्थे हिशब्दः। "हि हेतावधारणे" (वैज.को. 8-7-9) इति यादवः। अवधारणार्थत्वे उक्तस्मृतिविरोधः॥ ६॥

गन्धर्वप्रवरादयस्तत्र द्विजप्रशंसासमये गानादिकं चक्रुरित्यन्वयः॥ ७, ८॥

तत्र देवान् विशिनष्टि - **ब्रह्मेति**। तस्मिन् पृथौ सन्निहितां हरेः कलां मेन इत्यन्वयः॥ ९, १०॥

**तस्याभिषेक आरब्ध[1] ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः।**
**आभिषेचनिकान्यस्मै आजह्रुः सर्वतो जनाः॥ ११॥**

**सरित्समुद्रा गिरयो नागा[2] गावः खगा मृगाः।**
**द्यौः क्षितिः सर्वभूतानि समाजह्रुरुपायनम्॥ १२॥**

**सोऽभिषिक्तो महाराजः सुवासाः साध्वलङ्कृतः।**
**पत्न्याऽर्चिषालङ्कृतया विरेजेऽग्निरिवापरः॥ १३॥**

**तस्मै जहार धनदो हैमं वीर वरासनम्।**
**वरुणः सलिलस्रावमातपत्रं शशिप्रभम्॥ १४॥**

**वायुश्च वालव्यजने धर्मः कीर्तिमयीं स्रजम्।**
**इन्द्रः किरीटमुत्कृष्टं[3] दण्डं संयमनं यमः॥ १५॥**

---

1. Ms आरब्धे 2. V, W नगा 3. W मकुटं

**श्रीध. तस्येति**। आभिषेचनिकानि अभिषेकसाधनानि॥ ११-१३॥

**तस्मै** इति। हे वीर! विदुर[1]! वरासनम्[2-2] उत्तमासनम्[3-3]। सलिलस्य स्रावो यस्मात् तत्॥ १४॥

**वायुश्चेति**। द्वे वालव्यजने॥ १५॥

**वीर.** आभिषेचनिकानि अभिषेकसाधनानि सर्वतो दिग्भ्यो जनाः अस्मै पृथवे आजहुः आहृतवन्तः॥ ११॥

सरित समुद्राश्च गिरयो हिमवदादयः, नागाः सर्पाः, खगाः शकुनयो द्यौरादयश्चेत्येवं सर्वभूतान्युपायनं सान्मानिकं समाजहुः॥ १२॥

स महाराजः पृथुरभिषिक्तः सुवासाः कौशेयादिमहार्हवस्त्रः स्रग्वी स्रक् वैजयन्ती अस्यास्तीति स्रग्वी, अलङ्कृतः किरीटाद्याभरणैरिति शेषः, तथालङ्कृतया भार्यया अर्चिषा सह अपरोऽग्निरिव रेजे रराज॥ १३॥

सर्वभूतानि समाजहुरुपायनमित्येतदेव[4] प्रपञ्चयति - **तस्मा** इति। हे वीर! तस्मै पृथवे धनदः हैमं हिरण्मयं श्रेष्ठं सिंहासनं जहार। सलिलस्य स्रावो यस्मात्तथाभूतं शशिप्रभमातपत्रं वरुणः जहार[5] इत्यनुषङ्गः॥ १४॥

वायुर्द्वे वालव्यजने कीर्तिमयीं कीर्तिप्रचुरां कीर्तिसम्पादकत्वेन तत्प्राचुर्यमत्र विवक्षितम्। स्रजं, धर्मः, जहारेति[6] सर्वत्रानुषङ्गः। संयमनं दुष्कृद्विषयसमीचीननियमनसाधनं दण्डम्॥ १५॥

**विज.** एवं प्रशस्य ब्रह्मणैः किमकारीति तत्राह - **तस्येति**। अभिषेकसाधनानि स्वयं सम्पादितानि किं वान्यैरित्यत आह - आभिषेचनिकानीति॥ ११॥

तत्रोपायनानि के आजहुरिति तत्राह - **सरिदिति**॥ १२, १३॥

न केवलं सरिदादय उपायनं ददुः, किन्त्वन्ये लोकपालादयोऽपीत्याह - **तस्मा** इति॥ १४, १५॥

**ब्रह्मा ब्रह्ममयं वर्म भारती हारमुत्तमम्।**
**हरिः सुदर्शनं चक्रं तत्पत्न्यव्याहतां श्रियम्॥ १६॥**

---

1. B, J, Va omit विदुर! 2--2. V वरमासनम् 3--3. V omits 4. A, B, T omit एव 5. A, B, T आजहार 6. A, B, T आजहार

**दशचन्द्रमसिं रुद्रः शतचन्द्रं तथाम्बिका।**

**सोमोऽमृतमयानश्वांस्त्वष्टा रूपाश्रयं रथम्॥ १७॥**

**अग्निराजगवं चापं सूर्यो रश्मिमयानिषून्।**

**भूः पादुके योगमय्यौ[1] द्यौः पुष्पं[2] बलिमन्वहम्॥ १८॥**

**नाट्यं सुगीतं वादित्रमन्तर्धानं च खेचराः।**

**ऋषयश्चाशिषस्सत्याः समुद्रः शङ्खमात्मजम्॥ १९॥**

**सिन्धवः पर्वता नद्यो रथवीथीर्महात्मनः।**

**सूतोऽथ मागधो वन्दी तं स्तोतुमुपतस्थिरे॥ २०॥**

**स्तावकांस्तानभिप्रेत्य पृथुर्वैन्यः प्रतापवान्।**

**मेघनिर्ह्रादया वाचा प्रहसन्निदमब्रवीत्॥ २१॥**

**श्रीध. ब्रह्मेति।** ब्रह्ममयं वेदमयं वर्म कवचं तत्पत्नी श्रीः श्रियं सम्पदम्॥ १६॥

**दश चन्द्रमिति।** दश चन्द्राकाराणि बिम्बानि कोशे यस्य तम् असिं खड्गं, शतचन्द्रं चर्मरूपाश्रयमतिसुन्दरम्॥ १७॥

**अग्निरिति।** अजस्य गोश्च शृङ्गाभ्यां निर्मितं चापम्। योगमय्यौ पादस्पर्शमात्रेणाभीष्टदेशप्रापिके॥ १८॥

**नाट्यमिति।** नाट्यादिकौशलं खेचराः आत्मजं स्वप्रभवम्॥ १९॥

**सिन्धव इति।** तं स्तोतुमुपस्थिताः॥ २०॥

**स्तावकानिति।** स्तावकान् स्तोतुमुद्यतान् अभिप्रेत्य ज्ञात्वा॥ २१॥

**वीर.** ब्रह्मा चतुर्मुखः ब्रह्ममयं वेदप्रचुरं[3] ब्रह्मप्रवचनापादकसामर्थ्यवत्त्वेन ब्रह्मप्राचुर्यमत्र विवक्षितम्। वर्म कवचं, भारती सरस्वती उत्तमं महार्हं हारं, हरिः उपेन्द्रः सुदर्शनं चक्रं, यदा पृथौ भगवदंशोऽनुप्रविष्टः तदेदं चक्रमपि सुदर्शनांशेनानुप्रविष्टमिति भावः। तत्पत्नी हरेः[4] पत्नी श्रीः अव्याहतां श्रियं सम्पदम्॥ १६॥

---

1. M, Ma, Ms °मये 2. A, B, G, I, J, T पुष्पावलि°; M, Ma, Ms पुष्पबलि° 3. A, B, T °मयं 4. A, B, T हरिपत्नी

दश चन्द्राकाराणि बिम्बानि कोशे यस्य तमसिं खड्गं रुद्र आजहार। [1]रुद्रपत्नी अम्बिका [2-]शतचन्द्रं[-2] शतं चन्द्राकाराणि बिम्बानि यस्मिन् तत् [3-]शतचन्द्रं[-3] शतचन्द्राख्यं खेटापरपर्यायं चर्मेत्यर्थः। सोमः चन्द्रः अमृतमयान् अमृतस्रावित्वेन तत्प्राचुर्यमत्र विवक्षितम् अश्वानाजहार। रूपाश्रयमतिसुन्दरं रथम्॥ १७॥

अग्निराजगवमजस्य गोश्च शृङ्गाभ्यां निर्मितं चापं सूर्यः रश्मिमयान् रश्मिवत्सर्वत्र प्रवेशसामर्थ्येन तत्प्राचुर्यमत्र विवक्षितं, [4-]भूर्धरणी योगमय्यौ योगवदभीष्टदेशप्रापणसमर्थत्वेन तत्प्राचुर्यमत्र विवक्षितम्। अन्वहम्[-4] अहरहर्बलिं [5]पूजां पूजार्हं पुष्पं द्यौराजहार॥ १८।

खेचराः सिद्धसाध्यगन्धर्वादयः नाट्यादीनि [6]आजहुः प्रापयामासुः। ऋषयः सत्याः आशिषः [7]आजहुः कृतवन्त इत्यर्थः। समुद्रः आत्मजं स्वस्माद्भवं शङ्खमाजहार॥ १९॥

सिन्धवो नदाः, नद्यः पर्वताश्च महात्मनः पृथोः रथवीथीः रथमार्गान् [8]आजहुः ददुः। धातूनामनेकार्थत्वाद्दाने वृत्तिः। ततः सूतादयः तं पृथुं स्तोतुमुपतस्थिरे उप समीपे स्थितवन्तः॥ २०॥

तान् सूतादीन् स्तावकान् स्तोतुमुद्युक्तान् अभिप्रेत्य प्रतापवान् महाप्रभावः वेनस्यापत्यं पृथुः मेघनिर्ह्रादया [9-]मेघगर्जनवत्[-9] गम्भीरया वाचा प्रहसन् स्मितपूर्वमिदं वक्ष्यमाणमब्रवीत्॥ २१॥

**विज.** तस्य हरेः पत्नी लक्ष्मीः॥ १६॥

नाम्ना दशचन्द्रं खड्गं त्वष्टा विश्वकर्मा रूपाश्रयं रथम्॥ १७॥

योगमयेऽणिमादियोगसाधने॥ १८॥

अन्तर्धानमदृश्यताम् आत्मजमात्मनो जातम्॥ १९॥

रथवीथीः रथमार्गान्। यथात्मविद्यं राजा निषेवणीय इति भावेन सूतादीनामुपस्थानप्रकारं वक्ति - सूतोऽथेति॥ २०॥

पृथोर्निरहङ्कारत्वप्रकटनाय वक्ति - **स्तावकानिति**। मेघनिर्ह्रादवत् मेघध्वनिवत् ध्वनिः यस्याः सा तथा तया॥ २१॥

1. A, B, T omit रुद्र° 2--2. A, B, T omit 3--3. A, B, T omit 4--4. W omits 5. A, B, T omit पूजां 6. W जहुः 7. W जहुः 8. W जहुः 9--9. W गर्जितवत्

## पृथुरुवाच

भो[1]: सूत हे मागध सौम्य वन्दिन् लोकेऽधुनाऽस्पष्टगुणस्य मे स्यात्।
किमाश्रयो मे स्तव एष योज्यतां[2] मा मय्यभूवन् वितथा गिरो वः ॥ २२ ॥

तस्मात्परोक्षेऽस्मदुपश्रुतान्यलङ्करिष्यथ[3] स्तोत्रमपीच्यवाचः[4]।
सत्युत्तमश्लोकगुणानुवादे जुगुप्सितं न स्तवयन्ति सभ्याः ॥ २३ ॥

महद्गुणानात्मनि कर्तुमीशः[5] कः स्तावकैः स्तावयतेऽसतोऽपि।
एतेऽभविष्यन्निति[6] विप्रलब्धो जनापहासं[7] कुमतिर्न वेद ॥ २४ ॥

प्रभवो ह्यात्मनः स्तोत्रं[8] जुगुप्सन्त्यति[9] विश्रुताः।
ह्रीमन्तः परमोदाराः पौरुषं वा[10] विगर्हितम् ॥ २५ ॥

वयं त्वविदिता लोके सूताऽद्यापि[11] वरीमभिः।
कर्मभिः कथमात्मानं गापयिष्यामि[12] बालवत् ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

**श्रीध. भो** इति। लोके स्पष्टगुणस्य सतो मे स्तुतिः, अधुना तु किमाश्रयो मे स्तवो योज्यताम्। अतो वो गिरोऽधुना मयि वितथा व्यर्थाः[13] मा भूवन्। यद्वा लोकेऽधुना अस्पष्टगुणस्य[14] मे किमाश्रयः स्तवः स्यात्। अतः एष क्रियमाणः स्तवो मे मदन्यस्य योज्यतां न तु मयि[15], वितथाभिधानापत्तेरित्यर्थः ॥ २२ ॥

---

1. M. Ma. Ms हे; J, W भो 2. W यु° 3. M, Ma, Ms °पाश्रि° । V °पष्टु° 4. M, Ma, Ms °ड्य 5. M, Ma, Ms °मिच्छन 6. A. B. G. I. J. T. V तेऽस्या°; M, Ma, Ms स वै भ° 7. A, B, G, I, J, T °व° 8. V ख्यातिं 9. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °पि 10. W वाऽपि ग° 11. W °द्या विव° 12. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T, V °म 13. A, B, J, Va omit व्यर्थाः 14. A omits मे; J. °ऽमे 15. A. B. J. Va मे

**तस्मादिति**। तस्मात्परोक्षे कालान्तरे स्पष्टेषु गुणेषु[1] सत्सु अस्माकमुपश्रुतानि[2] प्रशस्तानि[3-3] यशांसि प्रतिस्तोत्रमलमत्यर्थं करिष्यथ। हे अपीच्यवाचो मधुगिरः ननु[4], सभ्यैः प्रेरिता वयं त्वामेव स्तुम इति चेत्तत्राह उत्तमश्लोकस्य गुणानुवादे कार्ये सति जुगुप्सितमर्वाचीनं न स्तावयन्ति॥ २३॥

ननु सम्भावितैरेव गुणैरात्मानं जनः स्तावयतीति चेत्तत्राह - **महद्गुणानिति**। महतां गुणानात्मनि सम्पादयितुं शक्तोऽप्यसतो गुणान् सम्भावनामात्रेण कः स्तावयते। यद्वा आदावेव सतोऽपि कः स्तावयते स्तव एव प्रख्यातिसिद्धेः। अन्यस्तु मिथ्यागुणस्तुतिश्लाघी मन्द इत्याह - त इति। यद्ययं शास्त्राभ्यासादिकमकरिष्यत्तर्ह्यस्य ते विद्यादयो गुणा अभविष्यन्निति क्रियातिपत्त्या विप्रलब्धो जनानामवहासं[5] न वेद॥ २४॥

**प्रभव** इति। किञ्च प्रभवोऽपि विश्रुता अपि ह्रीमन्तोऽपि[6] जुगुप्सन्ति। पौरुषं[7] वेति दृष्टान्ते यथाऽतिस्तुतौ क्रियमाणायां विगर्हितं ब्राह्मणवधादि पौरुषमपि[8] निन्दन्ति तथोचितामपि स्तुतिं न सहन्त इत्यर्थः॥ २५॥

**वयमिति**। वरीमभिरिति दीर्घत्वमार्षम्[9-9]। भवितृप्रधानोऽयं निर्देशः। वरिष्ठैः कर्मभिः अविदिता इत्यर्थः॥ २६॥

इति श्रीमद्भगवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीश्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

**वीर.** उक्तिमेवाह[10] - हे सूतादयः! लोकेऽधुनाऽस्पष्टगुणस्य सतो मे मम एषः युष्माभिः करिष्यमाणः स्तवः किमाश्रयो योज्यतां, लोके प्रख्याता हि गुणाः स्तोत्रविषया अप्रख्यातगुणस्य मे स्तवो विषयाभावाद्वितथः स्यात्। अतो वो युष्माकं स्तुतिगिरः मयि वितथा मा भूवन्। मम[11] युष्माकं चानिष्टापत्तिः स्यादिति भावः॥ २२॥

तस्मात्परोक्षे कालान्तरे स्पष्टेषु[12] गुणेषु सत्सु अस्मानुपाश्रितानि यशांसि प्रति स्तोत्रमलमत्यर्थं करिष्यथ। हे अपीच्यवाचः! मधुरवाचः! सूतादयः![13-13] अनवसरे समीरितानां मधुरगिरां शोभा नोपपद्यत इत्यभिप्रायः। सभ्यैः प्रेरिता वयं त्वामेव स्तुम इति चेत्तत्राह - उत्तमश्लोकस्य भगवतो गुणानुवादे कार्ये सति जुगुप्सितमनुत्तमश्लोकं मादृशं सभ्या न स्तावयन्ति न स्तुतिं कारयन्ति॥ २३॥

---

1. Va omits गुणेषु 2. V °ष्टु° 3--3. A, B, J, Va omit 4. A, B, J, Va omit ननु 5. V °प° 6. V omits अपि 7. A, B, J, Va omit पौरुषं 8. B, J, V, Va omit अपि 9--9. V दीर्घ आर्षः। 10. A, B, T उक्त° 11. A, B, T omit मम 12. A, B, T °ष्टगु° 13--13. W omits

ननु गुणानामधुनाऽस्पष्टत्वेऽपि भविष्यद्गुणैरात्मान जन स्तावयतीति[1] चेत्तत्राह - **महद्गुणानिति**। अधुनाऽसतोऽपि महता[2] गुणानात्मनि स्वस्मिन् कर्तुं सम्पादयितुमीश शक्तोऽपि स्तावकै स्तोतृभि क स्तावयते स्तुति कारयति[3], न कोऽपीत्यर्थ । यदि कश्चित्, एते गुणा अभविष्यन्निति करिष्यमाणशत्रुजयादिभि शौर्यादयो गुणा स्वस्मिन्नभविष्यन्निति बुद्ध्याऽऽत्मान स्तावयते स कुमति विप्रलब्धोऽधिक्षिप्तो जनानामपहास न वेद॥ २४॥

सुमतयस्तु[4] स्वात्मस्तुति निन्दन्तीत्याह - **प्रभव** इति। परमोदारा निरतिशयौदार्यादिगुणसम्पन्ना प्रभवोऽपि सद्गुणानात्मनि सम्पादयितु शक्ता अपि विश्रुता प्रख्याता अपि ह्रीमन्तो लज्जायुक्तास्सन्त आत्मन स्वस्यापि[5] गर्हित पौरुष तद्विषय स्तोत्र वा जुगुप्सन्ति निन्दन्ति॥ २५॥

हे सूताद्या सूतप्रभृतय लोके अविदिता अप्रख्याता वयन्तु विवरीमभि नितरा वरिष्ठै दीर्घ आर्ष । सूताऽद्यापीति पाठे सूतेति जात्यभिप्रायमेकवचन, तच्च मागधादीनामप्युपलक्षण, हे सूतादय ! अद्यापि अधुनापि वरीमभि वरिष्ठै कर्मभिर्लोके अविदिता वयमत कथम् अह[6] बालवदात्मान गापयिष्यामि,[7] गै[8] शब्दे[8] णिच्यात्वे "अर्तिह्रीव्लीरी" (अष्टा 7-3-36) इत्यादिना पुक्, तस्मात्[9] लृटि[9] उत्तमैकवचन[10] स्तावयिष्यामि इत्यर्थ ॥ २६॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखिताया भागवत चन्द्रचन्द्रिकाया

व्याख्याया पञ्चदशोऽध्याय ॥ १५॥

**विज.** हे सूताद्या ! योज्यता, स्तुति प्रयुञ्जता वो युष्माकमेष स्तवो मे किमाश्रय क गुणमाश्रित्य वर्तमान स्यादित्यन्वय । तव शौर्यादिगुणमाश्रित्य वर्तत इति तत्राह - लोक इति। अस्पष्टगुणस्याप्रकाशितपराक्रमादिगुणस्य यद्वा यद्यह प्रख्यातगुण स्या तर्ह्येष व स्तवो योज्यताम्। न च तथा तस्मात्किमाश्रयो योज्यते, यत एवमतो वो मयि प्रयुक्ता गिरो वितथा मा भूवन्नित्यन्वय ॥ २२॥

किमिदानी फलितमत्राह - **तस्मादिति**। यस्मादिदानीमनाविष्कृतगुणा वय तस्मादीड्यवाचो यूय परोक्षे कालान्तरे कृतविक्रमानन्तरमस्मदुपाश्रितान्यस्मद्विषयाणि कर्माण्याश्रित्यालमत्यर्थं स्तोत्र करिष्यथेत्यन्वय । यद्वा कथङ्कार चेद वितथा स्यु

---

1 A, B T °येदिति 2 A, B T महत 3 A, B, T °ते 4 A,B,T omit तु 5 A,B,T स्वस्य विग° 6 A,T वय 7 A, T °म
8--8 A, B T omit 9--9 A, B, T लृङुत्तमबहुवचन 10 A, B,T °म

अस्मद्गिर इति तत्राह - तस्मादिति । यतो वयमप्रकाशितगुणाः तत्र प्रवर्तमानः विषयाणामसत्वाद्वैतथ्यमालभन्ते, तस्मात्तद्दोषपरिहारार्थमस्मदपरोक्षे चास्मन्निकटेऽस्मद्दूरप्रदेशे वर्तमानो यो हरिः तस्येड्यवाचो हरेराश्रितानि चरितान्यङ्गीकृत्य स्तोत्रमलङ्करिष्यथ भूषितं कुरुत[1] । अन्यथा दूषितमेव स्यात् अतस्तस्य गुणानां नित्यत्वात् तद्विषया युष्मद्गिरः सफलाः स्यु· । "अविद्यमानकथका वन्दिनः परिकीर्तिताः इति युष्मद्दोषोऽपि परिहृतः स्यादिति भाविनो गुणान् समूह्य स्तुम इति तत्राह - सतीति । उत्तमश्लोकगुणानामनुवादे सति अभ्यर्हितेऽपि सभ्या आत्मस्तवनं जुगुप्सितमिति न स्तवयन्ति[2], "आत्मप्रशंसा मरणम्" इति स्मृतेः ॥ २३ ॥

वयं तत्र तं[3] प्रभुं स्तुत्वा ततः फलं लभामहे । तत्कथमित्याशङ्क्य तन्मूर्खविषयं न विद्वद्विषयमित्याशयेनाह - **महद्गुणानिति** । अनभिव्यक्तत्वेन बाल्येऽसतः[4] अविद्यमानानपि महतां पृथिव्यादीनां क्षमादिगुणानात्मनि कर्तुमिच्छन् प्रकाशयितुकामः को विद्वान् स्तावकैर्भवादृशैः स्तावयते न कोऽपीत्यन्वयः । कथं तन्मूर्खविषयमभूदिति तत्राह - स वा इति । यद्वा यदुक्तं हरिविषयं स्तोत्रमलं करिष्यथेति तद्गुणसन्दृब्धं स्तोत्रं निर्गुणे हरौ कथं सङ्गच्छते, तथात्वे वा अस्मद्गिरां वैतथ्यं सुलभं स्यादिति तत्राह - सतीति । उत्तमश्लोकस्य हरेर्गुणानामनुवादे सति स्तोतॄणां पापहरत्वेन प्रशस्ते, सभ्याः पण्डिताः "विण्मूत्रपूर्णं मदुपैति कन्या" इति जुगुप्सितमात्मानं न स्तावयन्तीत्यन्वयः । सभ्येष्वेकोऽपि तथाविधः किं न स्यादिति शङ्कमानो मूर्ख एवेति भावेनाह - महद्गुणानिति । आत्मन्यसतो महतः "अणोरणीयान् महतो महीयान्" (कठ.उ. 2-20) इति श्रुतिसिद्धस्य हरेः गुणानौदार्यादिकानात्मनि कर्तुमिच्छन् स्तावकैः को विद्वान् स्तावयते, अपिपदेनोक्तं जुगुप्सितमित्यनुकर्षति । किमित्याक्षेप इत्यतो लोकापवाद-विषयत्वादित्याशयेनाह - स वा इति ॥ २४ ॥

सद्गुणाः प्रभवोऽप्यात्मस्तुतिं जुगुप्सन्ते, किमुत वयमात भावेनाह - **प्रभवोऽपीति** । विद्यमानगुणसन्दृब्धस्तोत्रं प्रत्यक्षप्रमितं पारमार्थिकं पौरुषमपि निन्दन्तीत्यर्थः ॥ २५ ॥

वरीमभिर्वरणीयैः श्रेष्ठैरित्यर्थः ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थकृतायां पदरत्नावल्यां
टीकायां पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

---

1. B, M, Ma कुर्वन्तु 2. A, B, M स्ता° 3. Ma omits तत्र 4. A, B, omit असतः

# षोडशोऽध्यायः

## मैत्रेय उवाच

इति ब्रुवाणं नृपतिं गायका मुनिचोदिताः।
तुष्टुवुस्तुष्टमनसस्तद्वागमृतसेवया॥ १॥

## वन्दिनः ऊचुः

नालं वयं ते महिमानुवर्णने यो देवदेवोऽवततार मायया।
वेनाङ्गजातस्य च पौरुषाणि ते वाचस्पतीनामपि बभ्रमुर्धियः॥ २॥

अथाप्युदारश्रवसः पृथोर्हरेः कलावतारस्य कथामृतादृताः।
यथोपदेशं मुनिभिः प्रचोदिताः श्लाघ्यानि कर्माणि वयं वितन्महे॥ ३॥

एष धर्मभृतां श्रेष्ठो लोकं धर्मेऽनुवर्तयन्।
गोप्ता च धर्मसेतूनां शास्ता तत्परिपन्थिनाम्॥ ४॥
एष वै लोकपालानां बिभर्त्येकस्तनौ तनूः।
काले काले यथाभागं लोकयोरुभयोर्हितम्॥ ५॥

## श्री श्रीधरस्वामिविचरिता भावार्थदीपिका

षोडशे सर्वलोकेशैः सत्कृतं भार्यया युतम्। मुनिप्रयुक्ताः सूताद्याः स्तुवन्ति स्मेति वर्ण्यते॥

**इतीति**। गायकाः सूतादयः॥ १॥

**नालमिति**। नाऽलं न समर्थाः। यो भवान् अवतारेष्वप्यस्याधिक्यमाहुः। वेनस्य अङ्गाज्जातस्य ते पौरुषाणि प्रत्यवितर्क्यतया ब्रह्मादीनामपि धियो बभ्रमुः। कुतः पुनर्वयं तद्वर्णने समर्था भवेम॥ २॥

---

1. A, B, G, I, J, T, V omit ; M, Ma सूत उवाच 2. A, B, G, I, J, T, V वर्यो° 3. A, B, G, I, J, T °हि

**अथेति**। अथापि यथावद्वर्णयितुमशक्ता अपि कथामृते सादराः मुनिभिः[1] कृत उपदेशो[2] योगबलेन हृदि प्रकाशनं तदनतिक्रम्य[3] वितन्महे[4] विस्तारयामः ॥ ३, ४ ॥

**एष** इति। तनौ स्वदेहे लोकपालानां तनूर्मूर्तीः काले[5] काले बिभर्ति यथाभागं पालनपोषणानुरञ्जनादिकार्यानुसारेण यज्ञादिप्रवर्तनेन स्वर्गस्य हितं, वृष्ट्यादिना च भूलोकस्य हितं यथा भवति तथा ॥ ५ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवमविकत्थयित्रा पृथुनाऽऽत्मस्तुतेः वारिता अपि तुष्टमनसो[6] गायकास्तुष्टुवुरित्याह मुनिः षोडशेन[7] - **इतीति**। गायकाः सूतादयः तस्य पृथोर्वागेवामृतं तस्य सेवया तुष्टं मनो येषां ते मुनिभिः भगवदंशभूतस्य पृथोः अविकत्थयितृत्वादि-कल्याणगुणजाताभिज्ञैः मुनिभिः प्रचोदितास्सन्तः, इति उक्तप्रकारेण ब्रुवन्तमपि नृपतिं पृथुं तुष्टुवुः ॥ १ ॥

तत्र गायकाः पृथोः कल्याणगुणानुवर्णनात्मकस्तुतावात्मनामसामर्थ्यमापादयन्तः पुनः मुन्यनुगृहीताः सन्तः तत्सामर्थ्यमाहुः- **नाऽलमिति** द्वाभ्याम्। ते तव महिम्नः अनुवर्णने वयं नाऽलं न समर्थाः, कुतः यो भवान् देवदेवः देवानां सद्गुणैर्दीप्यमानानामपि ब्रह्मादीनां देवः निरतिशयानन्तकल्याणगुणजातेन दीप्यमानो भवान् मायया आत्मीयसङ्कल्परूपज्ञानेन "माया वयुनं ज्ञानम्" (वेदा.नि. 3-9) इति मायाशब्दस्य ज्ञानपर्यायत्वात् अवततार अवतीर्णः अनन्तकल्याणगुणाकरो भगवानेव त्वद्रूपेणावतीर्णः। अतः कथमनन्तानां गुणानां वर्णने वयं प्रभव इत्यर्थः। ननु सत्यम्, अनन्तानां भगवद्गुणानां वर्णने यूयमसमर्था इति। अहं तु मानुषः, तत्कथं मद्गुणानुवर्णने यूयमप्रभवः, तत्राहुः - वेनस्याङ्गाज्जातस्यावतीर्णस्यापि ते[8] अजहदनन्तकल्याणगुणजातस्य भगवदंशभूतस्य तव[9] पौरुषाणि, प्रति इति शेषः, अप्रतर्क्यतया वाचस्पतीनां ब्रह्मादीनामपि धियो बुद्धयः[10] बभ्रमुः[11] किमु वक्तव्यं वयमसमर्था इति, यतो ब्रह्मादय एव मुमुहुरित्यर्थः ॥ २ ॥

यद्यपि त्वन्महिमानुवर्णने वयं नाऽलं, तथापि विपुलकीर्तेः हरेरंशावतारभूतस्य पृथोः कथामृते आदृताः सादरा वयं मुनिभिः उपदेशो यथा भवति तथा प्रचोदिताः[12] प्रेरितास्सन्तः श्लाघ्यान्यनवद्यानि कर्माणि वितन्महे विस्तारयामः ॥ ३ ॥

विस्तरमेव[13] प्रपञ्चयति - **एष** इति। एष पृथुः धर्मभृतां वर्णाश्रमानुबन्धिधर्मानुष्ठानपराणां मध्ये श्रेष्ठः "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो

---

1. V omits कृतः 2. V adds यथा भवति तथा 3. V तदुपदेशमनतिक्रम्य 4. A, B, J, Va °हि 5. B, Va omit काले 6. W तुष्टूषवः 7. W पञ्चदशेन 8. A, B, T omit ते 9. A, B, T omit तव 10. W omits बुद्धयः 11. A, B, T omit बभ्रमुः 12. A, B °णो° 13. A, B, T °स्ता°

जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते'' (भगी० 3-21) इत्युक्तरीत्या स्वयं कृत्स्नविदप्यकृत्स्नविल्लोकसङ्ग्रहार्थं नितरां स्ववर्णाश्रमोचितधर्मानुष्ठानपर इत्यर्थः। अत एव लोकमकृत्स्नविल्लोकं धर्मे अनुवर्तयन् अनुवर्तयिता स्वस्ववर्णाश्रमोचितधर्मं अनुष्ठापयिता [1-]धर्म सेतूनां[-1] धर्मः सेतुर्येषां तेषां, सेतुर्हि तीरान्तरप्रतिलम्भकः तद्वच्छ्रौतस्मार्तधर्मः, स समीहितप्रापको येषां ते धर्मसेतवः धर्मैकशरणाः साधव इति यावत्, तेषां गोप्ता तत्परिपन्थिनां धर्मविरोधिनामसाधूनां शास्ता। यद्वा धर्मा एव सेतवः मर्यादा येषां तेषां गोप्ता केनाकारेणेत्यपेक्षायां लोकं धर्मेऽनुवर्तयन् इत्यपेक्षितप्रकारनिर्देशः॥ ४॥

एष पृथुः स्वयमेक एव लोकपालानां सूर्येन्द्रादीनां तनूः तनुवत्कार्योपयोग्यपृथक्सिद्धविशेषण[2-]भूतानितरसाधारणान् गुणान्[-2]। तनुशब्दस्य शरीरपरत्वेऽपि कार्योपयोग्यपृथक्सिद्धविशेषणत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तं, तद्गुणपरत्वेऽपि तुल्यम्। तनौ स्वदेहे काले काले यथाभागं भागमनतिक्रम्य उभयोर्लोकयोर्हितं यथा भवति तथा बिभर्ति। इहलोकस्य पालनपोषणानुरञ्जनद्वारेण अमुष्य लोकस्य यज्ञादिप्रवर्तनेनेत्येवं यथाभागं हितं यथा भवति तथा बिभर्तीत्यर्थः॥ ५॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

पृथुस्तुतिव्याजेन हरौ [3]भक्त्यवतारार्थं तन्माहात्म्यं निरूप्यते अस्मिन्नध्याये। नन्वत्र[4] सूतादयः स्तुतौ पृथुना निवारिताः। अन्ये के स्तोतारो, येन ततः स्तुत्या हरौ भक्तिः अवतार्यत इत्याशङ्क्य, मुनिप्रेरितास्त एव तुष्टुवुरिति तत्स्तुतिप्रकारमुपक्रमते - **इति ब्रुवाण**मित्यादिना॥ १॥

वयं स्तोष्याम इति प्रारम्भ एव श्रेयान्, न तु तत्र समर्था इत्याहुरित्याह - **नाऽलमिति**। अलं समर्थाः पृथुसन्निहितश्रीहरिमहिमसन्दृब्धत्वादिति भावेनोच्यते - य इति। यो देवदेवः श्रीनारायणो मायया भक्तानुकम्पेच्छया अवततार। तस्य वेना[4]ङ्गजं वेनस्याङ्गादवयवाज्जन्म, अतस्य 'अत सातत्यगमने' इति धातोः विशेषसन्निहितत्वेन प्राप्तस्य, ते त्वयि स्थितस्य हरेः पौरुषाणि वर्णयितुं वाचस्पतीनां ब्रह्मादीनामपि धियो बभ्रमुरिति यस्मात् तस्मात् वयं न समर्था इति किमु वर्णनीयम्। चशब्दः कैमुत्यार्थः, अन्यत्र [5-]देवो हरिः तस्य[-5] देवः देवनं क्रीडनं यस्मिन् पृथौ स देवदेवः पृथुः मायया भगवदिच्छोद्बोधितमुनीच्छयाऽवततार प्रकाशितोऽभूत्। तस्य ते वेनस्याङ्गात् अवयवाज्जातस्य पौरुषाणि कथयितुं वाचस्पतीनां कवीनां धियो बभ्रमुरिति यदत इति। धीशब्देन मनो लक्ष्यते ''मनसा वा अग्रे सङ्कल्पयत्यथ वाचा व्याहरति'' (ऐत.उ. 1-1-2) इति श्रुतेः। वाचो भ्रमन्तीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः॥ २॥

---

1--1. A. B. T omit 2--2. W भूतान् असाधारणगुणान् 3. B, M, Ma भक्ताव° 4. Ma omits वेनाङ्गजं 5--5. A omits

तर्हि निवर्ततामित्याहुरित्याह - **अथापीति**। असमर्था अपि कथामृतादृतत्वात् निवर्तयितुं मनो नायातीत्यर्थः। तर्हि किं नु कुर्वन्ति इति तत्राहुरित्याह - यथोपदेशमिति। साकल्येन स्तवनाशक्तौ निवर्तनं वरमित्यत उक्तं - मुनिभिरिति। आज्ञोल्लङ्घनभीरुत्वात् वितन्महे प्रपञ्चयामः॥ ३॥

किङ्गुणविशिष्टः प्रपञ्च इत्यत्रोच्यते - **एष** इति। तत्परिपन्थिनां तस्य धर्मसेतोर्विरोधिनाम्॥ ४॥

एष पृथौ सन्निहितो हरिः तनौ स्वदेहे तनूः शक्तिलक्षणा मूर्तीः यथाभागं बिभर्ति॥ ५॥

**वसु काल उपादत्ते[1] काले चायं विमुञ्चति।**
**समः सर्वेषु भूतेषु प्रतपन्[2] सूर्यवद्विभुः॥ ६॥**

**तितिक्षत्यक्रमं वैन्य उपर्याक्रमतामपि।**
**भूतानां करुणः शश्वदार्तानां क्षितिवृत्तिमान्॥ ७॥**

**देवेऽवर्षत्यसौ देवो नरदेववपुर्हरिः।**
**कृच्छ्रप्राणाः प्रजा ह्येष रक्षिष्यत्यञ्जसेन्द्रवत्॥ ८॥**

**आप्याययत्यसौ लोकं वदनामृतमूर्तिना।**
**सानुरागावलोकेन विशदस्मितचारुणा॥ ९॥**

**अव्यक्तवर्त्मैष निगूढकार्यो[3] गम्भीरमेधा[4] उपगुप्तवित्तः।**
**अनन्तमाहात्म्यगुणैकधामा प्रभुः प्रचेता इव संवृतात्मा॥ १०॥**

**श्रीध. वस्विति**। सूर्यादितनुधारणमेवाहाष्टभिः। वसु धनं करादानकाले उपादत्ते[5], दुर्भिक्षादिकाले विमुञ्चति च। अष्टौ मासान् सूर्यो यथा वसु जलमादत्ते वर्षासु विमुञ्चति तद्वत्॥ ६॥

**तितिक्षतीति**। मस्तके पादेनाक्रमतामप्यार्तानां भूतानामतिक्रमं सहिष्यते क्षितेर्वृत्तिः सर्वसहनं सा वृत्तिर्यस्यास्ति स तथा॥ ७॥

---

1. Ms °घ° 2. V प्रावर्षत् 3. M, Ma, Ms विशुद्ध 4. A, B, G, I, J °वेधा; M, Ma, Ms चेता; W वेदी 5. A, B, J, Va आदत्ते

**देव इति**। देवेऽवर्षति[1] सति एष कृच्छ्रं गताः प्राणा यासां ताः प्रजाः स्वयं वृष्टिं कृत्वा रक्षिष्यति। अत्र हेतुः - असौ नरदेववपुर्हरिरिति॥ ८॥

**आप्याययतीति**। वदनमेवामृतमूर्तिश्चन्द्रः तेन सानुरागोऽवलोको यस्मिन्। विशदं[2] शुभ्रं[3] यत् स्मितं तेन चारुणा। अत्र च क्वचिद्वर्तमाननिर्देशो "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" (अष्टा. 3-3-131) इति, भूतनिर्देशश्च "आशंसायां भूतवच्च" (अष्टा. 3-3-132) इति द्रष्टव्यः॥ ९॥

**अव्यक्तेति**। न व्यक्तं वर्त्म प्रवेशनिर्गममार्गो यस्य। निगूढं निष्पत्तेः पूर्वमविज्ञातं कार्यं यस्य तच्च कार्यं गम्भीरं, किमर्थमेतत्कृतमित्यन्यैरज्ञाताभिप्रायं विधत्त इति तथा उपगुप्तं सुरक्षितं वित्तं यस्य। अनन्तमाहात्म्यश्चासौ गुणानामेकं धाम विष्णुः यस्मिन् सः। अनन्तमाहात्म्योपेता गुणा एवैकं धाम स्थानं यस्येति वा। संवृतात्मा संयतमूर्तिः समुद्रचरत्वेन वरुणस्याप्येते गुणा द्रष्टव्याः॥ १०॥

**वीर.** तत्र सूर्यादितनुधारणमेवाहाष्टभिः। वसु धनं काले[4-] करादानकाले[-4] उपादत्ते स्वीकरोति काले दुर्भिक्षकाले विमुञ्चति। अष्टौ मासान् सूर्यो यथा प्रतपन् वसु जलमादत्ते वर्षासु विमुञ्चति तद्वत्, अत एव सर्वेषु भूतेषु समः॥ ६॥

वैन्यः[5] पृथुः उपरि मस्तके पादादिना आक्रमतामप्यार्तानां भूतानां करुणः करुणावान् अतिक्रमं तितिक्षति सहिष्यते। अतः क्षितिवृत्तिमान्[6] क्षितेः भूमेर्या वृत्तिः[7] सर्वसहनं[8] सा वृत्तिर्यस्यास्तीति तथा[9]॥ ७॥

तथा देवे अवर्षति सति कृच्छ्रङ्गताः प्राणाः यासां, ताः प्रजाः स्वयं वृष्टिं कृत्वा इन्द्रवद्रक्षिष्यति। अत्र हेतुः असौ नरदेववपुर्हरिरिति॥ ८॥

असौ पृथुः वदनामृतमूर्तिना वदनमेवामृतमूर्तिश्चन्द्रस्तेन, लोकमाप्याययति वर्धयति। वदनामृतमूर्तिना कथम्भूतेन ? अनुरागसहितोऽवलोको यस्मिन्, विशदं यत् स्मितं तेन चारु सुन्दरं तेन। अत्र क्वचित् क्वचित् वर्तमानिर्देशो "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" (अष्टा. 3-3-131) इति, भूतनिर्देशः "आशंसायां भूतवच्च" (अष्टा.3-3-132) इति द्रष्टव्यः॥ ९॥

अव्यक्तं प्रवेशनिर्गमयोरविज्ञातं वर्त्म मार्गो यस्य, निगूढं निष्पत्तेः पूर्वमपरैरविज्ञातं[10] कार्यं यस्य, गम्भीरवेदी किमर्थमेवं कृतवानिति

---

1. A. B. J, Va omit सति 2. B, J, V, Va omit शुभ्रं 3. V omits यत् 4--4. A, B, T omit 5. A, B, T प्रभुः 6. A, B, T omit क्षितेः 7. A. B. T omit सर्व 8. A, B, T तत् 9. A, B, T omit तथा 10. A, B,T प्रागवि°

परैरज्ञाताभिप्रायः, उपगुप्तं[1] सुरक्षितं वित्तं धनं यस्य सः, अनन्तमाहात्म्याद्धेतोर्गुणानामेकं मुख्यं धाम आश्रयः, प्रचेता इव संवृतात्मा समुद्रावरणेन वरुण इव चतुर्भिः समुद्रैः जलप्राकारादिभिर्वापरिवेष्टितमूर्तिः। वरुणस्याप्युक्तगुणा द्रष्टव्याः॥ १०॥

**विज.** भरणप्रकारं दर्शयति **वस्वित्यादिना**। ''वसुर्हृदेऽग्नौ योक्त्रेंशौ वसु तोये धने मणौ'' (वैज.को. 6-5-78) इत्यभिधानात् यथासम्भवं योज्यम्। करादानकाले वसु धनमुपादत्ते दुर्भिक्षादौ दानयोग्यपुरुषागमनकाले विमुञ्चति। सूर्योऽपि ग्रीष्मादिकाले वसु जलमुपादत्ते वर्षादौ मुञ्चति। समो यथायोग्यं दण्ड्यादिषु[2] प्रतपन् प्रतापं कुर्वन्नन्यत्र यथर्तु प्रतपन्॥ ६॥

उपर्याक्रमतामात्मानमतिक्रम्य वर्तमानानां सतामक्रममपराधं तितिक्षति सहते। दारिद्र्येणार्तानां क्षितिवृत्तिमान् भूमिलक्षणवृत्तिदाता, भूमार्थो मतुबर्थः॥ ७॥

देवेऽवर्षति अनावृष्टौ सत्यां बुभुक्षया कृच्छ्रप्राणाः क्लिष्टेन्द्रियचेष्टाः प्रजा रक्षिष्यतीत्यन्वयः॥ ८॥

वदनामृतमूर्तिना मुखचन्द्रेण॥ ९॥

अव्यक्तं सूक्ष्मं वर्त्म चारैः प्रवेशमार्गो यस्य स तथा अव्यक्तानां योगिनां वर्त्म यस्येति वा। नितरां शुद्धं कार्यं कर्तव्यं यस्य। उपगुप्तवित्तः सुरक्षितकोशः सुरक्षितयशा वा ''वित्तं यशो धनं वित्तो विद्वान् विश्रुत एव च'' इत्यभिधानम्। अनन्तानां माहात्म्यगुणानामेकं धाम आश्रयो यस्य स तथा, अनन्तमाहात्म्यगुणा एवैकं धाम यस्य स तथा वा, अन्यत्र शेषस्य माहात्म्यगुणैकधामा। संवृत आत्मा स्वरूपं यस्य स तथा॥ १०॥

**दुरासदो दुर्विषह आसन्नोऽपि विदूरवत्।**
**नैवाभिभवितुं शक्यो वेनारण्युत्थितोऽनलः॥ ११॥**

**अन्तर्बहिश्च भूतानां पश्यन् कर्माणि चारणैः।**
**उदासीन इवाध्यक्षो वायुरात्मेव देहिनाम्॥ १२॥**

**नादण्ड्यं दण्डयत्येष सुतमात्मद्विषामपि।**
**दण्डयत्यात्मजमपि दण्ड्यं धर्मपथे स्थितः॥ १३॥**

---

1. W omits धनं 2. A, B दण्डा°

**अस्याप्रतिहतं चक्रं पृथोरामानसाचलात्।**

**वर्तते भगवानर्को यावत्तपति गोगणैः ॥ १४ ॥**

**रञ्जयिष्यति यल्लोकमयमात्मविचेष्टितैः।**

**अथामुमाहू राजानं मनोरञ्जनकैः प्रजाः ॥ १५ ॥**

**श्रीध.** दुरासद इति। दुरासदः शत्रोर्मनसापि प्राप्तुमशक्यः दुर्विषहः, शत्रुभिः सोढुमशक्यः: विदूरवत् पौरुषेणाभिभवितुमशक्यः, वेन एवारणिस्तस्मादुत्थितः ॥ ११ ॥

**अन्तरिति**। चारणैः गुप्तभृत्यैः पश्यन्नपि स्वस्तुतिनिन्दादौ[1] उदासीन इव वर्तिष्यते यथा देहिनामध्यक्षोऽविकृत आत्मभूतो वायुः सूत्रात्मा तद्वत् ॥ १२ ॥

**नेति**। आत्मद्विषां सुतमिति सुतग्रहणं स्वात्मजसाम्यार्थम्। द्विषां[2-] सुतमपि दण्डानर्हं न दण्डयति, आत्मनः सुतमपि दण्डार्हं दण्डयत्येवेत्यर्थः[-2]। धर्मपथे यमस्य वृत्ते स्थितः ॥ १३ ॥

**अस्येति**। चक्रमाज्ञा सेना वा रथस्य वा चक्रं मानसाचलमभिव्याप्य प्रवर्तते। किंयत्पर्यन्तमित्यत आह[3]। अर्को रश्मिगणैर्यावत् तपति तावत् ॥ १४ ॥

**रञ्जयिष्यतीति**। यद्यस्मात् रञ्जयिष्यत्यथ तस्मात् मनोरञ्जनैर्हेतुभिरमुं राजानमाहुः। मनोरञ्जनकैरिति चेष्टितविशेषणं वा ॥ १५ ॥

**वीर.** दुरासदः शत्रोर्मनसाऽपि[4] प्राप्तुमशक्यः दुर्विषहः[5] शत्रुभिः सोढुमशक्यः आसन्नः सन्निहितोऽपि विदूरवत्पौरुषेणाभिभवितुमशक्यः, वेन एवारणिः तस्मादुत्थितोऽनलोऽग्निरिव। अनलस्याप्येते गुणा द्रष्टव्याः ॥ ११ ॥

चारणैर्गूढपुरुषैः अन्तर्बहिश्च भूतानां कर्माणि पश्यन्नपि स्तुतिनिन्दादावुदासीनो वर्तिष्यते, देहिनामध्यक्षो देहधारणे प्रधानहेतुभूतः, सूत्रात्मा सूत्ररूपो वायुरिव, सूत्रात्मेति ह्रस्व आर्षः, वायुरात्मेव देहिनाम् इति पाठान्तरं, तत्र आत्मा अन्तः प्रविश्य धारको[6] वायुरिवेत्यर्थः, उदासीन इव[7-] उदासीनवत्[-7] आस्त इत्यत्र दृष्टान्तः ॥ १२ ॥

एष पृथुः आत्मद्विषां शत्रूणामपि सुतमदण्ड्यं न दण्डयति, सुतग्रहणं स्वात्मजसाम्यार्थम्, आत्मजमपि दण्ड्यं दण्डयति, यतोऽसौ धर्मपथे स्थितः यमस्य वृत्तौ स्थितः ॥ १३ ॥

---

1. V °दिषु 2--2. B, J, V, Va omit 3. A, B, J, Va किम्प° 4. A, B, T omit अपि 5. A, B, T omit दुर्विषहः 6. T °णो
7--7. A, B, T omit

अस्य पृथोः[1] चक्रम् आज्ञा, रथचक्रं च अप्रतिहतं सत् मानसाचलमभिव्याप्य वर्तते। किं वक्तव्यम् आ मानसाचलादिति ? यतोऽसावर्कः सूर्यो यावद् गोगणैः किरणसमूहैस्तपति तावत् वर्तते॥ १४॥

राजशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं प्रजारञ्जनरूपम् अस्मिन्नेव पुष्कलमित्याहु :- **रञ्जयिष्यतीति**। अयं पृथुरात्मनः स्वस्य विचेष्टितै र्व्यापारैः यतो लोकं रञ्जयिष्यति। अथ ततः मनोरञ्जनैः हेतुभिरमुं राजानं प्रजाः आहुः॥ १५॥

**विज.** अग्नेः शक्तिसन्निधानस्वभावमाह - **दुरासद** इति॥ ११॥

वायुसन्निधानफलमाह - **अन्तर्बहिरिति**। अन्तश्चारणैः श्वाससञ्चारैर्बहिश्चारिगूढपुरुषैः प्रेमलम्बनत्वात् देहिनामात्मा। वायुस्तु प्राणरूपेणोदासीन उपरि स्थितोऽधो वर्तमानं सर्वमीक्षते यथा तथाऽयमप्यध्यक्षः सर्वस्मादुपरि वर्तमानावक्षौ यस्येति वा अध्यक्षः। परितो वर्तमानं जानाति तथेति वा॥ १२॥

आत्मद्विषामात्मशत्रूणां सुतमप्यदण्ड्यं[2] न दण्डयति, दण्ड्यं तमात्मजमपि दण्डयति। तत्र निमित्तमाह - धर्मपथे इति। अनेन धर्मराजसन्निधानफलमुक्तं भवति॥ १३॥

परमेष्ठ्यंशसन्निधानफलमाह - **अस्येति**। आमानसाचलात् मानसपर्वतपर्यन्तमन्तरं[3] गोगणै रश्मिगणैः॥ १४॥

चन्द्रगुणसन्निधानफलमाह - **रञ्जयिष्यतीति**। यद्यस्मात् अस्मात्॥ १५॥

**दृढव्रतः सत्यसन्धो ब्रह्मण्यो वृद्धसेवकः।**
**शरण्यः सर्वभूतानां[4] मानदो दीनवत्सलः॥ १६॥**

**मातृभक्तिः परस्त्रीषु पत्न्यामर्धं[5] इवात्मनः।**
**प्रजासु पितृवत् स्निग्धः किङ्करो ब्रह्मवादिनाम्॥ १७॥**

**देहिनामात्मवत् प्रेष्ठः सुहृदानन्दवर्धनः[6]।**
**मुक्तसङ्गप्रसङ्गोऽयं दण्डपाणिरसाधुषु॥ १८॥**

---

1. A, B, T प्रभोः 2. Ma °मथा° 3. A, B, omit अन्तरं 4. M, Ma नामानन्दो 5. M, Ma, Ms पत्न्याः स्मर इवापरः। 6. A, B, G, I, J, T, V °दां नन्दि°

***एष दोग्धा महीं वीरो गां सतीमोजसौषधीः ।**

**समां करिष्यते चेमां धनुष्कोट्या समन्ततः ॥ १९ ॥**

**अयं तु साक्षाद्भगवांस्त्र्यधीशः कूटस्थ आत्मा कलयाऽवतीर्णः ।**

**यस्मिन्नविद्यारचितं निरर्थकं पश्यन्ति नानात्वमपि[1] प्रतीतम् ॥ २० ॥**

**अयं भुवो मण्डलमोदयाद्रेः गोप्तैकवीरो नरदेवनाथः[2] ।**

**आस्थाय जैत्रं रथमात्तचापः पर्यस्यते[3] दक्षिणतो यथाऽर्कः ॥ २१ ॥**

**श्रीध. मातृभक्तिरिति** । मातरीव भक्तिर्भजनं यस्य । आत्मनो देहस्यार्थं इव पत्न्यां प्रीतिमान् ॥ १६, १७ ॥

**देहिनामिति** । नन्दिं सुखं वर्धयतीति तथा[4] । मुक्तसङ्गेषु साधुषु[5] प्रकृष्टः सङ्गो यस्य । दण्डपाणिरिवेत्यपराधानुपेक्षणमुच्यते । नादण्ड्यमित्यत्र पक्षपाताभाव उक्तः ॥ १८, १९ ॥

**अयं त्विति** । अयं[6-] साक्षाद्भगवान् षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न एव[-6] । अयंत्विति तुशब्देन निरुपमत्वं दर्शयति । कोऽसावात्मा तमाह । यस्मिन् प्रतीतमपि नानात्वमर्थशून्यं पश्यन्ति ॥ २० ॥

**अयमिति** । आ उदायाद्रेस्तत्पर्यन्तं गोप्ता गोपयिष्यति तदर्थं पर्यस्यते पर्यटिष्यति प्रदक्षिणीकरिष्यतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

**वीर.** दृढव्रतः अप्रतिहतसङ्कल्पः । सङ्कल्पोऽपि तस्य नासमीचीनविषय इत्याह[7] । सत्यसन्धः सत्यं समीचीनं सन्धत्ते सङ्कल्पते इति सत्यसन्धः, ब्रह्मण्यः ब्राह्मणेषु साधुः, वृद्धनां ज्ञानवृद्धानां सेवकः, सर्वभूतानां शरण्यः रक्षकत्वेन विश्वसनीयः, मानदः सम्मानकारः[8] दीनेषु वत्सलः ॥ १६ ॥

परस्त्रीषु परदारेषु मातरीव भक्तिर्भजनं यस्य, आत्मनो देहस्यार्थे इव पत्न्यां वर्तते । प्रजासु पितृवत् स्निग्धः दोषाऽनवेक्षणेन प्रीतिपूर्वकमनुवर्तनशीलः, ब्रह्मवादिनां[9-] ब्रह्मविदां[-9] किङ्करो दासः ॥ १७ ॥

---

* This verse is not found in G. I. J, V. This verse appears in Edn. W as follows - ओजसैष महावीरो दोग्धा गामोषधीस्सतीम् । इमां च स्वधनुःकोट्या समां परिकरिष्यते ॥ १९ ॥ 1. M, Ma, Ms °मिव 2. W लोक 3. W पर्येष्यते 4. V नन्दिवर्धनः । 5. B, J, V, Va omit साधुषु 6--6. A, B, J. Va omit 7. W °हुः 8. A, B, T °करः 9--9. W omits

देहिनामात्मवत् निरतिशयप्रीतिविषयः सुहृदां नन्दिमानन्दं[1] सुखं वर्धयतीति तथा, मुक्तसङ्गेषु वीतरागेषु[2] प्रकृष्टः सङ्गो यस्य, असाधुषु दण्डपाणिरिवेत्यपराधाक्षमोच्यते। नादण्ड्यमित्यत्र पक्षपाताभाव इत्यपौनरुक्त्यम्॥ १८॥

एष महावीरः पृथुः ओजसा बलेन सतीः गां भूमिमोषधीर्दोग्धा भूमेरोषधीर्धोक्ष्यतीत्यर्थः, "अकथितं च" (अष्टा. 1-4-51) इति दुहेः द्विकर्मकत्वात् गामिति द्वितीयानिर्देशः, तथा इमां भूमिं स्वधनुःकोट्या[3] परितः सर्वां करिष्यते॥ १९॥

किं बहुना ? अयं सद्गुणानामाश्रय इति यतोऽसावनन्तकल्याणगुणनिधिर्भगवानेवावतीर्ण[4] इत्याहुः - **अयं त्विति**। अयं त्वित्यनेन निस्समाभ्यधिकत्वमभिप्रेतं, तत्र हेतुः, साक्षाद्भगवान् भगवच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतज्ञानादिषाड्गुण्यपूर्णहेयगुणराहित्यमुच्यते। कूटस्थ इति निर्विकार इत्यर्थः। त्र्यधीशः त्रिलोकेशः त्रिविधचेतनानामीश इति वा, एवम्भूतो यः परमात्मा स कलया स्वांशेन जीवेनावतीर्ण इत्यर्थः। शरीरभूतपृथ्वाख्यजीवोपलक्षितोऽवतीर्णः, आवेशावतार इत्यर्थः। यद्वा यो भगवान् स आत्मा जीवशरीरकः विशेष्यसन्निधौ गवादिशब्दानां व्यक्तिपर्यन्तत्ववज्जीववाचिनोऽपि आत्मशब्दस्य शरीरपरमपुरुषपर्यन्तत्वस्याकृतिनयसिद्धत्वात्। कलया इत्थम्भूतलक्षणे तृतीयेयं, स्वापृथक्सिद्धज्ञानादिगुणविशेषणोपलक्षितोऽवतीर्णः। कोऽसावात्मा यच्छरीरकोऽवतीर्ण इत्यत्राह - **यस्मिन्निति**। यस्मिन् जीवे प्रतीतमपि अविद्यारचितं प्रकृतिपरिणामरूपं नानात्वं देवमनुष्यादिभेदं निर्गतम् अर्थाद्रस्तुनः[5] निरर्थकम् अवास्तविकं पश्यन्ति, तत्वदर्शिन इति शेषः। परमार्थतः आत्मनि अविद्यमानं देहात्माभिमानिनामात्मनि प्रतीतमपि नानात्वं देहविलक्षणात्मयाथात्म्यदर्शिनः प्रकृतिपरिणामरूपत्वेन तद्गतमेव पश्यन्तीत्यर्थः। यस्मिन् प्रतीतं नानात्वमित्यनेनात्मनि नानात्वस्य प्रतीतिविषयत्वं, न तु प्रमितिविषयत्वमित्युक्तम्। अनेन जीवे नानात्वमविद्यासम्बन्धकृतं न तु स्वभावतः इत्युक्तं भवति। यद्वा ननु जीवशरीरकः कलयावतीर्णश्चेत् जीवस्याविद्यासम्बन्धादाविद्यका जैवा दोषाः परस्मिन् पुरुषे प्रसजेयुः[6] तत्राहुः - यस्मिन्निति। भगवति प्रतीतमपि जीवशरीरकत्वादिना[7] हेतुना[8-] प्रतीयमानमपि[-8] अविद्याकृतं नानात्वं[9-] देवादिरूपनानात्वं[-9] निरर्थकं पश्यन्ति अर्थात् प्रयोजनान्निर्गतं निरर्थकमकार्यकरं, यद्यपि जीवशरीरकत्वादिना हेतुना[10] प्रतीयते, तथापि जीव इव बालत्वयुवत्वादिकं देवादिदेहसम्बन्धात् प्रतीयमानमपि न वास्तविकं, किन्तु देवादिदेहगतमेव[11]। एवं परस्मिन्नपि पुरुषे जीवसम्बन्धात् प्रतीतमपि जीवगतमेव, न तु परमपुरुषगतम्। न चैवं जीववत् सशरीरत्वादवास्तविकेनापि नानात्वेनार्थप्रसक्तिरिति वाच्यं, जीवस्याप्यनर्थप्रसक्तेः सशरीरत्वप्रयुक्तत्वाभावात् प्रकृतिवश्यत्वाद्यायत्तत्वात्, परमात्मनस्तु मायां स्ववशीकुर्वतः प्रकृतिवश्यत्वकर्मवश्यत्वाद्यभावेनानानर्थाप्रसक्तेः। एतदेवाभिप्रेत्य निरर्थकं पश्यन्तीत्युक्तम्॥ २०॥

---

1. W omits नन्दिम् 2. A, B, T रागिषु 3. W °नुष्को° 4. A, B,T °निहाव° 5. A, B , T °तः 6. A, B, T °ज्जे° 7. T omits 8--8. A, B प्रतीतमपि 9--9. A, B, omit 10. A, B, T omit हेतुना 11. W omits एव

अयं नरदेवनाथः पृथुः आ उदयाद्रेः उदयाद्रिपर्यन्तं भुवो मण्डलं गोप्ता रक्षिष्यति। रक्षणार्थमेकवीरः स्वसमाभ्यधिक[1]-वीरान्तरशून्यः जैत्रं जयशीलं रथमास्थाय अधिष्ठाय आत्तो धृतः चापो धनुर्येन सः अर्क इव[2] दक्षिणतः पर्येष्यते[3] प्रदक्षिणीकरिष्यतीत्यर्थः॥ २१॥

**विज.** "सन्घाऽवधौ प्रतिज्ञायाम्" (वैज.को. 6-2-44) इति यादवः॥ १६, १७॥

आनन्दवर्धनः आनन्दवृद्धिकरः मुक्तसङ्गैः परमहंसैः प्रसङ्गो यस्य स तथा। पूर्वं ध्वनितमर्थं स्पष्टयति - **दण्डपाणिरिति**॥ १८, १९॥

उक्तमिदं सर्वं श्रीनारायणसन्निधानफलमित्यभिप्रेत्याह - **अयं त्विति**। तुशब्द एवार्थे, अस्मिन् पृथौ कलयाऽवतीर्णः सन्निहितः साक्षाद्भगवांस्तु ऋष्याद्यन्यतमो न स्यात्, किन्तु नारायण एव त्विति हेतुगर्भविशेषणद्वयमाह - त्र्यधीश इति। त्रयाणाम् ईशा इन्द्रादयः तेषामप्यधिकत्वेनेशः "स्यादध्यधिक ईश्वरे" (वैज.को. 8-7-13) इति यादवः। चेतनाचेतनकूटे तिष्ठतीति कूटस्थः, स्थानदोषत्वेन लेपनमस्य नास्तीत्यत उक्तम् - आत्मेति। गुणपूर्णत्वादात्मा। तर्हि स्थानभेदान्नानात्वमायातमत्रोच्यते - यस्मिन्निति। यल्लोके निरर्थकं तद्यस्मिन् हरौ प्रतीतमविद्यया हरीच्छया रचितं कल्पितं नानात्वामिव यथा पश्यन्ति। एतदुक्तं भवति यल्लोके खपुष्पादिकमविद्यमानं तन्मत्स्यादिभगवद्रूपेषु प्रतीतं नानात्वं यथा मिथ्याभूतं पश्यन्ति योगिनस्त्वथेति। तदुक्तम् - "यल्लोके निरर्थकं तद्भगवद्रूपेषु प्रतीतनानात्वदृष्टान्तेन पश्यन्ति सन्तः।" "मत्स्यरूपादिनानात्वदृष्टिवद्यन्निरर्थकम्" (पाद्मे) इति। "एवं धर्मान् पृथक् पश्यन्" (पाद्मे) इति च। अनेन तद्धर्माणामपि पृथक्त्वदर्शनेन अनर्थ इत्युक्तं भवति॥ २०॥

राज्यावधिमाहुरित्याह - **अयमिति**। आ उदायाद्रेः उदयपर्वतपर्यन्तं पर्यस्यते पर्यटति[4]॥ २१॥

**तस्मै[5] नृपालाः किल तत्र तत्र बलिं हरिष्यन्ति सलोकपालाः।**
**मंस्यन्त[6] एषां[7] स्त्रिय आदिराजं चक्रायुधं तद्यश[8] उच्चरन्त्यः॥ २२॥**

**अयं महीं गां दुदुहेऽधिराजः प्रजापतिर्वृत्तिकरः प्रजानाम्।**
**यो लीलयाऽद्रीन् स्वशरासकोट्या[9] भिन्दन् समां गामकरोद्यथेन्द्रः॥ २३॥**

---

1. A, B, T °मानाभ्य° 2. A, B, T °वत् 3. A, B, T पर्यस्यते 4. A, B °टिष्यति 5. A, B, G, I, J, T, W अ° 6. M, Ma, Ms मंस्यन्ति; V मन्यन्त 7. Ms येषां 8 A, B, G, I, J, T उद्ध° 9. W °ग्र्य°

**विस्फूर्जयन्नाजगवं धनुः स्वयं यदाचरत् क्ष्मामविषह्यमाजौ।**[1]

**तदा निलिल्युर्दिशि दिश्यसन्तो लाङ्गूलमुद्यम्य यथा मृगेन्द्रः ॥ २४ ॥**

**एषोऽश्वमेधाञ् शतमाजहार सरस्वती प्रादुरभावि यत्र।**[2]

**अहार्षीद्यस्य हयं पुरन्दरः शतक्रतुश्चरमे वर्तमाने ॥ २५ ॥**[3] [4]

**एष स्व सद्योपवने समेत्य सनत्कुमारं भगवन्तमेकम्।**[5]

**आराध्य भक्त्याऽलभताऽमलं तज्ज्ञानं यतो ब्रह्म परं विदन्ति ॥ २६ ॥**[6]

**तत्र तत्र गिरस्तास्ता इति विश्रुतविक्रमः।**

**श्रोष्यत्यात्माश्रिता गाथाः पृथुः पृथुपराक्रमः ॥ २७ ॥**

**दिशो विजित्याप्रतिरुद्धचक्रः स्वतेजसोत्पाटितलोकशल्यः।**[7]

**सुरासुरेन्द्रैरनुगीयमानमहानुभावो भविता पतिर्भुवः ॥ २८ ॥**[8] [9] [10]

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टादश साहस्र्यां

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां

चतुर्थस्कन्धे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

**श्रीध. अस्मै** इति। अस्मै तथा प्रदक्षिणं कुर्वते। मस्यन्ते ज्ञास्यन्ति। तस्य यश उद्धरन्त्य उदाहरन्त्यः कीर्तयन्त्यः ॥ २२।[11]

**अयमिति**। इन्द्र इवाद्रीन् भिन्दन् ॥ २३ ॥[12]

**विस्फूर्जयन्निति**। लाङ्गूलमुद्यम्य उन्नमय्य यथा मृगेन्द्रश्चरति तथा धनुर्विस्फूर्जयन् यदा क्ष्मामचरत् ॥ २४ ॥[13] [14]

**एष इति**। सरस्वती यत्र प्रादुरभावि प्रादुरभूत्। कर्मकर्तरि चिण्। तत्राऽहार्षीत् हरणं करिष्यतीत्यर्थः ॥ २५, २६ ॥[15] [16-] [-16]

**तत्रेति**। विश्रुता विक्रमा यस्य सः। गाथाः प्रबन्धान् आत्माश्रिता विष्णवाश्रिताः ॥ २७ ॥[17] [18] [19-] [-19]

---

1. M, Ma, Ms आजौ; W विक्रमः 2. M, Ma, Ms °रभूद्धि 3. A, B, G, J, T अहारषी°; W आहार्षी° 4. W क्रतो° 5. W वनं 6. M, Ma, Ms वदन्ति; V व्रजन्ति 7. W विजेता° 8. M, Ma, एवं सु° 9. A, B, G, I, J, T °रूप° 10. M, Ma, Ms °मानो 11. V मन्यन्त 12. A, B, J, Va विभिन्दन् 13. A, B, J, Va omit उद्यम्य 14. V omits उन्नमय्य 15. V °र्भूता 16--16. V omits 17. V °तो 18. V °मो 19--19. V omits

**दिश इति**। उपगीयमानो महानुभावो[1] यस्य सः ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीश्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

**वीर.** तस्मै[2] तथा प्रदक्षिणं[3] कुर्वते पृथवे लोकपालैरिन्द्रादिभिः सहिता नृपाला राजानः तत्र तत्र बलिमुपायनं हरिष्यन्ति[4-] समर्पयिष्यन्ति[-4]। एषां सलोकपालानां[5-] नृपाणां[-5] स्त्रियः तस्य पृथोः यशः उच्चरन्त्यः कथयन्त्यः आदिराजं पृथुं चक्रायुधं भगवन्तं मंस्यन्ते ज्ञास्यन्ति ॥ २२ ॥

तद्यशःकथनरूपं स्त्रीणां वाक्यमाहुः - अयमित्यादिभिश्चतुर्भिः। अयमित्यादिकं न सूतादिवाक्यम्। "एष दोग्धा महावीरो गां सतीम्" इत्यनेन पौनरुक्त्याप्तेः। अत एव दुदुहे अकरोत् निलिल्युरिति भूतनिर्देशोपपत्तिः। अयमधिराजः पृथुः प्रजापतिः प्रजापालनाधिकृतः प्रजानां जीवनोपायकरः जीवनोपायं चिकीर्षुरित्यर्थे पर्यवसानं बोध्यम्। गां गोरूपधरां महीं दुदुहे। इन्द्र इव, स्वशराग्र्यकोट्या शरशब्दो धनुः[6] परः धनुः कोट्येति पूर्वमुक्तत्वात् शराग्र्यस्य धनुः श्रेष्ठस्य कोट्या अग्रेण लीलया अद्रीन् भिन्दन् गां भूमिं समामकरोत् करिष्यतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

लाङ्गूलं पुच्छमुद्यम्य उन्नमय्य यथा मृगेन्द्रः सिंहः चरति तथा आजगवं धनुः विस्फूर्जयन् शत्रुभिः सोढुमशक्यो विक्रमो यस्य सः, यदा क्ष्मामचरत् तदा असन्तो धर्मविरोधिनो दिशि दिशि निलिल्युः लीना बभूवुः ॥ २४ ॥

एष पृथुः सरस्वती सरस्वत्याख्या महानदी यत्र यस्मिन् ब्रह्मावर्ते प्रादुरभावि प्रादुरभूत्, कर्मकर्तरि चिण्, तत्र देशे शतमश्वमेधान्राजहाराकरोत्। यस्य शतक्रतोः क्रतुशतं सङ्कल्प्यानुतिष्ठतः पृथोश्चरमे शततमे क्रतौ वर्तमाने प्रवर्तमाने सति पुरन्दरः इन्द्रोऽयमश्वमहार्षीत् हृतवान् ॥ २५ ॥

एष पृथुः स्वसद्मनः स्वगृहस्य उप समीपे यद्वनं तत्समेत्य तत्रैकमसहायं भगवन्तं सनत्कुमारं भक्त्या आराध्य तदमलं ज्ञानमलभत। किं तत् यतो ज्ञानात् परं ब्रह्म विदन्ति ॥ २६ ॥

---

1. V महाननुभावो 2. A, B, T अस्मै 3. A, B, T °णी° 4--4. W हरन्ति समर्पयन्ति 5--5. A, B, T नरलोकपालानां नृणां
6. A, B, T omit धनुःपरः

विश्रुताः विक्रमाः यशांसि यस्य, पृथुः पराक्रमः प्रभावो यस्य सः पृथुः आत्माश्रयाः स्वविषया गाथाः प्रबन्धरूपा तास्ता गिरः इति[1] एवं श्रोष्यति ॥ २७ ॥

स्वतेजसा स्वबलेन उत्पाटिताः निर्मूलिताः लोकानां शल्यसदृशाः दुरात्मानो येन सः, अत एवाप्रतिरुद्धचक्रः अप्रतिहताशः दिशो विजेष्यते। सुरासुरश्रेष्ठैः उपगीयमानः महाननुभावो यस्य सः, भुवः पतिः भविता भविष्यति ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवत चन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

**विज.** अन्येषु राजसु सत्सु अस्याधिराज्यं कथमित्याशङ्क्य चक्रवर्तित्वाद्युज्यत इति उच्यते - तस्मा इति ॥ २२ ॥

कीदृशं यश उच्चरन्त्य इत्यत्राह - **अयं महीमिति** ॥ २३ ॥

निलिल्युः निलीनाः, लाङ्गूलं पुच्छम् ॥ २४ ॥

अहार्षीदित्यनेनास्य प्रतिभटः शतमख एव नान्य इति द्योतनाय कथितमिति ज्ञातव्यम्। चरमे अन्त्येऽश्वमेधे वर्तमाने सति ॥ २५ ॥

यतो ज्ञानात्परं ब्रह्म प्रत्यक्षं भवति योगिनः ॥ २६ ॥

तद्भविष्यत्कथा अतीतत्वेन कथं कथ्यते इत्यत्रोच्यते - **तत्रेति**। आत्माश्रिताः स्वविषया याः त्रिभिः षड्भिश्चरणैरुपलक्षिता यशोनिबन्धाः ॥ २७ ॥

अप्रतिरुद्धचक्रोऽप्रतिहताज्ञो भविता भविष्यतीत्युपसंहरते ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीविजयध्वजतीर्थकृतायां पदरत्नावल्या

टीकायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

1. A, B, T omit इति एवं

# सप्तदशोऽध्यायः

## मैत्रेय उवाच

एवं स भगवान् वैन्यः ख्यापितो गुणकर्मभिः ।

छन्दयामास तान् कामैः प्रतिपूज्याऽभिनन्द्य च ॥ १ ॥

ब्राह्मण प्रमुखान् वर्णान् भृत्यामात्यपुरोधसः ।

पौराञ्जानपदान् श्रेणीः प्रकृतीः समपूजयत् ॥ २ ॥

## वदुर उवाच

कस्मा द्दधार गोरूपं धरणी[1] बहुरूपिणी ।

यां दुदोह पृथु स्तत्र को वत्सो दोहनं च किम् ॥ 3 ॥

प्रकृत्या विषमा देवी कृता तेन समा कथम् ।

तस्य मेध्यं हयं देवः कस्य हेतो रपाहरत् ॥ ४ ॥

सनत्कुमारा द्भगवन्[2] ब्रह्मन् ब्रह्मविदुत्तमात् ।

लब्ध्वा ज्ञानं सविज्ञानं राजर्षिः कां गतिं गतः ॥ ५ ॥

## श्री श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ततः सप्तदशे लोकक्षुधा[3] प्रशमयन् पृथुः । ग्रस्तबीजां महीं हन्तुं यत्तो भीत्या तया स्तुतः ।

**एवमिति** । छन्दयामास तोषितवान् ॥ १ ॥

**ब्राह्मण** इति । भृत्या नमात्यान् पुरोधसः पुरोहितांश्च श्रेणीः तैलिकताम्बूलिकादीन् पौरविशेषान् प्रकृती र्नियोगिनः ॥ २ ॥

**कस्मादिति** । दोहनं पात्रम् ॥ 3 ॥

**प्रकृत्येति** । मेध्यं यज्ञार्हम् ॥ ४ ॥

---

1. A, B, G. I, J, M, Ma, Ms, T धरित्री 2. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T, V °वतो 3. V लोके क्षुधः

**सनत्कुमारादिति**। सविज्ञान मपरोक्षज्ञानसहितम्॥ ५॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं सूतादिभिः प्रख्यापितोरुगुणगणः पृथुः प्रतिपूजित सूत ब्राह्मण भृत्यामात्यादिगणः[1] क्षुत्पीडितजनैः प्राप्तशरणः आत्मनि रुद्धबीजां महीं जिघांसुः पुन स्तया प्रसादितो बभूवेत्याह मुनिष्षोडशेन - **एवमिति**। भगवान् वैन्यः पृथुः एवं गुणैः कर्मभिश्चात्मीयैः ख्यापितः प्रसिद्धिं प्रापितः तान् सूतादीन् कामैः तत्तदिच्छाविषयैः वस्त्राभरणादिभिः प्रतिपूज्य तेषां स्तुति मभिनन्द्य च छन्दयामास तोषितवान्॥ १॥

ब्राह्मणादीन् चतुरो वर्णान् भृत्या न मत्यान् पुरो धसः पुरोहितान् श्रेणीः तैलिकताम्बूलिकादीन् पौरान् पुरवासिनः जानपदान् देशवासिनो जनान् प्रकृतीः नियोगिनः[2] सम्यगपूजयत्॥ २॥

एवं सूतादिस्तुतिकथनव्याजेन समासतश्रावित पृथुचरितं मुनिं पुन स्तच्चरित विस्तर[3] शुश्रूषया क्षत्ता पृच्छति इत्याह[4] - **विदुर** इति। बहुरूपिणी कामरूपिणी धरित्री[5] कस्माद्धेतोः गोरूपं दधार ? यां धरित्रीं पृथु र्दुदोह; तत्र वत्सः कः ? दोहनं दोहनसाधनं पात्रम्॥ ३॥

प्रकृत्या स्वभावेन विषमा पर्वतादिभि र्निम्नोन्नता। देवी धरित्री कथं समा[6] कृता ? तस्य[7] पृथोः मेध्यं यज्ञार्हं हय मश्वं देवः इन्द्रः कस्मा द्धेतोः अपाहरत् ?॥ ४॥

हे भगवन् ! मैत्रेय ! ब्रह्मविदां मध्ये उत्तमात् सनत्कुमारात् ब्रह्मविषयं सविज्ञानं उपासनात्मकज्ञानसहितं, ज्ञानं श्रवणजन्यं ज्ञानं लब्ध्वा राजर्षिः पृथुः कां गतिं गतः प्राप्तः॥ ५॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अस्मिन्नध्याये सूतादिभिः श्रीहरिमहिमोपनिबद्धत्वेन पृथो र्महिम्न उक्तत्वात् तन्माहात्म्य मेवोच्यते। तत्रादौ सूतादितृप्ति करण प्रकार माह - **एवं भगवा**नित्यादिना। छन्दयामास तोषयामास॥ १॥

"राज्ञा समानवयसः श्रेणय स्त्वङ्गरक्षका" इत्यभिधानात् श्रेणयोऽङ्गरक्षकाः॥ २॥

---

1. A, T °त्यगणः 2. B,W निजयो° 3. A,B,T omit विस्तर 4. W omits इत्याह 5. A,B,T omit धरित्रीं 6. A,B,T °मीकृ° 7. A,B,Tomit तस्य

विदुरः सूतादिभिः सूचितं गोदोहनादि पृथुविक्रमं विस्तरतः श्रोतुं लोकोपकाराय पृच्छति - **कस्मादिति**। दोहनं पात्रद्रव्यम्॥ ३-५॥

**यच्चाऽन्यदपि कृष्णस्य ब्रह्मन्[1] भगवतः प्रभोः।**

**श्रवः सुश्रवसः पुण्यं पूर्वदेहकथाश्रयम्॥ ६॥**

**भक्ताय मेऽनुरक्ताय तव चाऽधोक्षजस्य च।**

**वक्तु मर्हसि योऽदुह्य द्वैन्यरूपेण गा मिमाम्॥ ७॥**

**सूत[2] उवाच**

**चोदितो विदुरेणैवं वासुदेवकथां प्रति।**

**प्रशस्य तं प्रीतमना मैत्रेयः प्रत्यभाषत॥ ८॥**

**मैत्रेय उवाच**

**यदा[3]ऽभिषिक्तः पृथु रङ्ग विप्रै रामन्त्रितो जनतायाश्च पालः।**

**प्रजा निरन्ने क्षितिपृष्ठ एत्य क्षुत्क्षामदेहाः पति मभ्य[4]वोचन्॥ ९॥**

**प्रजा ऊचुः[5-5]**

**वयं राजन्! जाठरेणाभितप्ता यथाऽग्निना कोटरस्थेन वृक्षाः[6]।**

**त्वामद्य याताः शरणं शरण्यं यस्साधितो[7] वृत्तिकरः पतिर्नः॥ १०॥**

**श्रीध. यच्चेति**। पूर्वदेवः पृथ्ववतारः तत्कथाश्रयम्। श्रवो यशः, सुष्ठु शोभनं[8] श्रवो यस्य॥ ६॥

**भक्तायेति**। अदुह्यत् दुग्धवान्॥ ७-८॥

**यदेति**। जनताया स्त्वं पाल इत्यामन्त्रितो नियुक्तः तदा निरन्ने क्षितितले सति क्षुधा क्षामाः क्षीणा देहा यासां ताः प्रजा एत्य पतिं पृथु मब्रुवन्॥ ९॥

---

1. A, B, G, I. J, T भवान्; W भगवन् 2. M, Ma श्रीशुकः ; Ms श्रीबादरायणिः 3. Ms यथाऽ 4. V °न्व° 5--5. A, B, G, I, J, T, V omit 6. M, Ma वृक्षः 7. M, Ma, Ms °शाधि नो 8. A, B, J, V omit शोभनं

**प्रजा** इति। जाठरेणाऽग्निनाऽभितप्ताः यः साधितो विप्रै मन्थनेन[1] सम्पादितः तं त्वां शरणं याताः ॥ १० ॥

**वीर.** सुश्रवसः शोभनकीर्तेः प्रभोः भगवतः कृष्णस्य। यः पूर्वदेहः प्रथमोऽवतारः पृथुः तस्य या कथा तदाश्रयं तत्प्रतिपाद्यं पुण्यं श्रृण्वतां पुण्यसम्पादकं श्रवो यशः, यच्चाऽन्यदपृष्ट मपि तत्सर्वम् ॥ ६ ॥

तव अधोक्षजस्य च भक्ताय अनुरक्ताय मे मह्यं वक्तु मर्हसि। कोऽसावधोक्षजो यस्य भक्ताये त्युक्तं - तत्राऽह - योऽधोक्षजो वैन्यरूपेण पृथुरूपेणाऽवतीर्णः इमां गां पृथ्वीम् अदुह्यत् दुग्धवान् ॥ ७ ॥

एव मापृष्टो मुनि र्विस्तरेण पृथुचरितं वक्तु मुपचक्रमे इत्याह सूतः **चोदित** इति। अस्य शुकवचनत्वं तु न्याय्यम्। विदुरेणैवं वासुदेवस्य पृथोः कथां प्रति चोदितो मैत्रेयः प्रीतमना स्सन् तं विदुरं प्रशस्य प्रस्तूय प्रत्यभाषत[2] ॥ ८ ॥

अङ्ग ! हे विदुर ! विप्रै र्यदा पृथुरभिषिक्तः जनतायाः जनसमूहस्य "ग्रामजनबन्धुभ्य स्तल्" (अष्टा. 4-2-43) इति समूहार्थे तल् प्रत्ययः। पाल इत्यामन्त्रितो नियुक्तश्च तदा क्षितिपृष्ठे भूमण्डले निरन्ने अन्नरहिते सति क्षुधा क्षामाः क्षीणाः देहाः यासां ताः प्रजाः एत्यसमीप मागत्य[3] पतिं पृथु मब्रुवन् ॥ ९ ॥

हे राजन् ! यथा कोटरगतेन वह्निना वृक्षा अभित स्तप्ता भवन्ति तथा वयं[4] जाठरेणाऽग्निना अभितप्ता स्सन्तः यो भवान् नोऽस्माकं वृत्तिकरः पतिः, विप्रैः साधितो मथनेन सम्पादितः तं शरण्यं त्वा मधुना शरणं याताः गताः ॥ १० ॥

**विज.** पूर्वदेहाः पुरातना स्तेषां कथाश्रयं सत्कथासम्बन्धं सुश्रवसो हरेः श्रवो यशः ॥ ६ ॥

योऽदुह्यदिति सर्वप्राणिनां तच्छक्तिनियतत्वात् पुन र्वचन मादौ वक्तव्यार्थम् ॥ ७ ॥

तत्र शुकोऽपि कथाप्रसङ्गं सन्दधातीत्याह - **चोदित** इति। त्वयाऽहं यथा चोदितः एवं विदुरेणेति ॥ ८ ॥

तत्र पूर्वोत्तर कथाविच्छेदपरिहारायादित एव मैत्रेयो वक्ती त्याह - **यदेति**। क्षितिपृष्ठे भूगोलके निरन्ने भोजनपदार्थरहिते सति ॥ ९ ॥

निरन्न इत्यनेन दुःखनिमित्तमिति ज्ञातं[5], तत्कीदृशमत्राह - **वय मिति**। जाठरेण जठरसम्बन्धिनाऽग्निना कोटरं वृक्षविवरं

---

1. V °थ° 2. A, B, T अभाषत 3--3. W omits 4. A, B, T omit वयं 5. Ma omits ज्ञानं

युष्माक मीदृशाग्निपरिहाराय अन्यशरणप्राप्तिः किं न स्यादत्राह - यस्साधीति। यस्त्वं नोऽस्माकं वृत्तिकरः पतिः यस्मा त्तस्मा न्नोऽस्मान् शाधि अनुशिक्षस्व - इयं बुद्धिरिति॥ १०॥

**तन्नो भवानीहतु[1] रातवेऽन्नं[2] क्षुधाऽर्दितानां नरदेवदेव।**

**यावन्नन्नङ्क्ष्यामह उज्झितोर्जा[3] वार्तापति स्त्वं किल लोकपालः॥ ११॥**

## मैत्रेय उवाच

**पृथुः प्रजानां करुणं निशम्य परिदेवितम्।**

**दीर्घं दध्यौ कुरुश्रेष्ठ निमित्तं सोऽन्वपद्यत॥ १२॥**

**इति व्यवसितो बुद्ध्या प्रगृहीतशरासनः।**

**सन्दधे विशिखं भूमेः[4] क्रुद्ध स्त्रिपुरहा यथा॥ १३॥**

**प्रवेपमाना धरणी निशाम्योदायुधं[5] च[6] तम्।**

**गौः सत्यपाद्रवद्भीता मृगीव मृगयुद्रुता[7]॥ १४॥**

**ता[8] मन्वधाव त्तद्वैन्यः कुपितोऽत्यरुणेक्षणः।**

**शरं धनुषि सन्धाय यत्र यत्र पलायते[9]॥ १५॥**

**श्रीध. तदिति**। तत् तस्मात् नोऽस्माक मन्नं रातवे रातुं दातुं ईहतु ईहताम् यत्नं करोतु। उज्झितोर्जाः त्यक्तान्नाः सत्यः वार्ताया जीविकायाः पतिः॥ ११॥

**पृथुरिति**। परिदेवितं विलापम्। निमित्तं हेतु मन्वपद्यत ज्ञातवान्॥ १२॥

**इतीति**। पृथिव्या ओषधि बीजानि ग्रस्तानीति व्यवसितो निश्चितवान् सन्॥ १३॥

**प्रवेपमाना** इति। मृगयुना द्रुताऽनुगता मृगीव॥ १४-१५॥

1. M, Ma °नर्हति 2. W दा° 3. M, Ma °ताना° 4. M, Ma, Ms भूमौ 5. M, Ma °शा° 6. Ms, V पृथुम्। 7. M, Ma °यो र्द्रुतम्। 8. M, Ma तामेवा न्व व्रजद्वैन्यः ; Ms, V तामेवाऽन्वद्रवद्वैन्यः 9. M, Ma °ति

**वीर.** तस्मात् हे नरदेव उज्झितोर्जाः त्यक्तान्ना वयं यावत् न नङ्क्ष्यामहे न नाशं यास्यामः तावदेव क्षुधा अर्दितानां पीडितानां[1] नोऽस्माकम् अन्नं दातवे[2] दातुं भवानीहतु यत्नं करोतु; यतः त्वं वार्तायाः जीविकायाः पतिः रक्षिता लोकानां पालकश्च ॥ ११ ॥

प्रजानां करुणं परिदेवितं विलापं निशम्य श्रुत्वा पृथुः दीर्घं चिरं दध्यौ चिन्तितवान् । हे कुरुश्रेष्ठ ! स पृथुः निमित्तं लोकस्य निरन्नत्वे निमित्तं हेतुं अन्वपद्यत ज्ञातवान् ॥ १२ ॥

**इतीति** । पृथिव्या ओषधिबीजानि ग्रस्तानीति व्यवसितः निश्चिन्वानः प्रगृहीतं शरासनं धनु येन सः, यथा त्रिपुरहन्ता रुद्रः तथा भूमेः हेतोः क्रुद्धः विशिखं बाणं सन्दधे ॥ १३ ॥

उदायुधं शरासने संहितशरं पृथुं निशाम्य[3] दृष्ट्वा धरणी प्रवेपमाना नितरां भयात्कम्पमाना गौ स्सती गोरूपं धृतवती मृगयुना व्याधेन[4] द्रुता अनुद्रुता भीता मृगीव हरिणीव अपाद्रवत् पलायितवती ॥ १४ ॥

[5-]वैन्यः पृथुः कुपितः कोपयुक्तः अत एव अति नितरां अरुणे ईशणे यस्य सः, धनुषि बाणं सन्धाय यत्र यत्र सा पलायते पलायितवती[-5] तत्र तत्र तामेव धृतगोरूपां धरणी मनुसृत्य गतवान् ॥ १५ ॥

**विज.** वृत्तिकर इत्यनेन ज्ञाताभिप्रायस्याऽपि राज्ञः स्वाभिप्राय मुद्गलयन्तीत्याह - **तन्न** इति । रातवे मरणाय उज्झितान्ना स्त्यक्तान्नाः पूर्व मेवेति शेषः । वार्तापतिः जनाना मन्नं दत्वा रक्षक इत्यर्थः ॥ ११ ॥

राज्ञो राजधनमदोत्सिक्तत्वसम्भवेन किमुत्तरं कार्य मभूदत्राह - पृथुरिति । करुणं दयाजनकं निमित्त मन्नाभावस्य कारण मन्वपद्यत ज्ञातवान् ॥ १२ ॥

ज्ञात्वाऽप्यशक्य मिति मत्वा साधयिष्याम इति गुडजिह्विकावाणी मुक्त्वा किं कार्यान्तरे तेनाऽस्थायीति तत्राह - **इतीति** । विशिखं शरं त्रिपुरहा हरः ॥ १३ ॥

तत्र भूम्या किमकारीति तत्राऽऽह - **प्रवेपमानेति** । वेपृ कम्पन इति धातुः । गौ स्सती गोरूपा मृगयो व्याधात् ॥ १४ ॥

अत्र पृथुना पलायन्त्याः स्त्रियाः किमिति निवृत्तं किं नेत्याह - **तामेवेति** । अन्वव्रजत् पृष्ठतो गतोऽभूत् । सारङ्ग इव कार्यसारग्राहित्वात् पृष्ठतोऽयासीदेव न बाणं मुक्त्वाऽवधीदि त्याशयेनाऽऽह - शरमिति ॥ १५ ॥

---

1. A, B, T omit पीडितानां 2. A, B, T रा° 3. A, B °शा° 4. A, B, T ad क्रुद्धेन 5--5. A, B , T omit

**सा दिशो विदिशो देवी रोदसी चान्तरं तयोः ।**

**धावन्ती[1] तत्र तत्रैनं ददर्शानूद्यतायुधम् ॥ १६ ॥**

**लोके नाविन्दत त्राणं वैन्या न्मृत्यो रिव प्रजाः ।**

**त्रस्ता तदा निववृते हृदयेन विदूयता ॥ १७ ॥**

**भूमिः[2]**

**उवाच[3] च महाभाग[4] धर्मज्ञापन्नवत्सल ।**

**त्राहि मामपि[5] भूतानां पालनेऽवस्थितो भवान् ॥ १८ ॥**

**स त्वं जिघांससे कस्मा द्दीना मकृत किल्बिषाम्[6] ।**

**अहनिष्य त्कथं योषां धर्मज्ञ इति यो मतः ॥ १९ ॥**

**प्रहरन्ति न वै स्त्रीषु कृतागस्स्वपि जन्तवः ।**

**किमुत त्वद्विधा राजन् ! करुणा दीनवत्सलाः ॥ २० ॥**

**श्रीध. सेति**[7-]। रोदसी द्यावापृथिव्यौ तयो रन्तरं अन्तरिक्षं च अनु पृष्ठतः उद्यत मायुधं येन तम् ॥ १६, १७, १८ ॥

**स इति**। यो धर्मज्ञ इति मतः, स भवान् योषां मां कथ महनिष्य द्धनिष्यति ॥ १९-२० ॥

**वीर.** सा देवी धरित्री दिशो विदिशः रोदसी द्यावापृथिव्यौ तयोः अन्तर मन्तरिक्षं च धावती[8] सती तत्र तत्र[9] दिग्विदिगादिषु एनं पृथुं अनु पृष्ठतः[10] उद्यत मुद्धृत मायुधं येन तं ददर्श ॥ १६ ॥

मृत्योः भीताः प्रजा इव वैन्यात् पृथो स्त्रस्ता सती त्राणं रक्षणोपायं लोके न अविन्दत नालभत । किन्तु तदा विदूयता नितरां उपतप्तेन हृदयेन निववृते न्यवर्तत ॥ १७ ॥

उवाच च उक्ति[11] मेवाह, हे महाभाग महाबुद्धिमन् ! परेङ्गितज्ञेत्यर्थः । धर्मज्ञ ! स्त्रीणां[12] वधानर्हत्वरूपधर्मज्ञ ! आपन्न वत्सल ! आपन्नेषु आपदं प्राप्तेषु वात्सल्यविशिष्ट[13] ! भूतानां पालने अवस्थितो भवान् । अतो भूतेष्वन्तर्भूतां मामपि त्राहि ॥ १८ ॥

---

1. B, M, Ma धावती 2. A, B, G, I, J, M, Ma, V, T omit भूमिः 3. M, Ma °चाऽथ 4. A, B, G, I, J, M, Ma, T °गं 5. V °मधि° 6. V कल्मषाम् ।
7--7. B, Va omit 8. A, T धावन्ती 9. A, T omit तत्र 10. A, B, T °प्रविष्टं 11. A, B, T °क्त° 12. A, B, T स्त्रीवधा° 13. A, B, T वत्सलत्व

स त्वं भूतपालनाधिकृत स्त्वं अकृतकिल्बिषां निरपराधां दीनां मां कथं जिघांससे[1] हन्तु मिच्छसि अनेन स्वस्याऽवध्यत्वमुक्तम्। हन्तृत्वं तवाऽनुचित मित्याह - अहनिष्यदिति। अतो न पौनरुक्त्यम्। धर्मज्ञ इति मतः ज्ञातो यो भवान् योषां मां कथ महनिष्यत् हनिष्यति॥ १९॥

हे राजन्! सामान्यजना अपि कृतागस्स्वपि कृतापराधास्वपि स्त्रीषु न वै प्रहरन्ति; किमुत दीनवत्सलाः करुणाः त्वादृशाः न प्रहरन्तीति॥ २०॥

**विज.** राजरूपिणो हरेः सन्निधानविशेषवित्त्वात् उत्तरकार्यस्याऽपि स्वाभिप्रेतत्वात् नेन्द्राद्यन्यतमोऽपि तामत्रायते त्याह - **लोकेनेति**। वैन्या दन्यस्मात् "जीवन् भद्राणि पश्यति" (भार. 3-240-36) इति बुद्धवैव[2] हरेः सर्वप्राणि प्रेरकत्वेन तच्छक्तिनियतत्वाच्च भूमे रावृत्ति माह - त्रस्तेति॥ १६-१७॥

अत्र वचन मेवानुसर्तव्यं नाऽन्यदिति भाववती वक्ति - **उवाचेति**॥ १८॥

रक्षायां नियुक्तस्य तवाऽपराधम् अन्तरेणाभिहननं न युक्त मित्याह - **स त्वमिति**। एव मपि मां हनिष्यसि चेत् तव धर्मज्ञत्वं अपहसितं स्यादित्याशयेनाह - अहनिष्यदिति। यो भवान् धर्मज्ञ इति मतोऽभविष्य त्तर्हि कथं योषां मा महनिष्य दित्यन्वयः॥ १९॥

बालिशा अपि जन्तवः स्त्रीवधं न कुर्वन्ति, किं पुन र्भवादृशा इत्याह - प्रहरन्तीति॥ २०॥

**मां विपाट्याऽजरां[3] नावं यत्र विश्वं प्रतिष्ठितम्।**
**आत्मानं च प्रजा श्चेमाः कथ मम्भसि धास्यसि॥ २१॥**

**पृथुरुवाच**

**वसुधे त्वां वधिष्यामि मच्छासनपराङ्मुखीम्।**
**भागं बर्हिषि या वृङ्क्ते न तनोषि[4] च[5] नो वसु॥ २२॥**

**यवसं जग्ध्यनुदिनं नैव दोग्ध्यौधसं पयः।**
**तस्या मेवं हि दुष्टायां दण्डो[6] नाऽत्र न शस्यते॥ २३॥**

---

1. A, B, T °सि 2. A, B, बुद्धयैव 3. M, Ma, Ms निहत्याऽ° 4. A, B, G, I, J, T °ति 5. V या 6. W दण्डोऽन्यत्र

**त्वं खल्वोषधिबीजानि[1] प्राक् सृष्टानि स्वयम्भुवा।**

**न मुञ्चस्यात्मरुद्धानि मामवज्ञाय मन्दधीः ॥ २४ ॥**

**अमूषां क्षुत्परीताना मार्तानां परिदेवितम्।**

**शमयिष्यामि मद्वाणैर्भिन्नाया स्तव मेदसा ॥ २५ ॥**

**श्रीद. मामिति**। अजरां दृढां[2-] नावं विपाट्य कथ मम्भसि[-2] धास्यसि धारयिष्यसि ॥ २१ ॥

**वसुधे** इति। बर्हिषि यज्ञे या भवती देवतारूपेण भागं वृङ्क्ते भजते। वसु धान्यादिकम् ॥ २२ ॥

**यवसमिति**। गोरूपेण तु यवसं तृणं जग्धि अत्तीत्यर्थः। औधसं[3-] ऊधस्सम्बन्धि[-3] पयस्तु नैव दोग्धि दुग्धं न प्रस्रवति[4]। अत्र अस्मिन्नपराधे ॥ २३ ॥

**त्वमिति**। आत्मनि देहे रुद्धानि ॥ २४ ॥

मद्वधे सर्वथा अन्नं न स्यादिति चेदत आह - अमूषां प्रजानां मेदसा मांसेन ॥ २५ ॥

**वीर.** किञ्च यत्र मयि विश्वं जगत् प्रतिष्ठितं तां अजरां दृढां नावं नौरूपां[5] विपाट्य विभिद्य आत्मानम् इमाः प्रजा श्चाम्भसि कथं धास्यसि धारयिष्यसि ॥ २१ ॥

एव मुक्तो धरित्र्या पृथुः तदुक्तीः प्रतिवक्ष्यन्नाह - **वसुध** इति। यत्त्वयोक्तं "स त्वं जिघांससे कस्मा द्दीना मकृतकिल्बिषाम्" (भाग. 4-17-19) इति तत्रेत्याह त्रिभिः; हे वसुधे! मच्छासन पराङ्मुखीं मदाज्ञातिवर्तिनीं त्वां वधिष्यामि; राज्ञो ममाज्ञातिलङ्घन मेवाऽयं[6] भवत्याः प्रथमोऽपराध इति भावः। किञ्च या भवती बर्हिषि यज्ञे भागं वृङ्क्ते देवतारूपेण भागं भजते या च त्वं वसु धान्यादिकं न तनोषि न ददासि; उपकारानभिज्ञाया स्तवाऽयं द्वितीयोऽपराधः इति भावः ॥ २२ ॥

ननु सापराधाया अपि गोरूपायाः मम वधोऽनुचितः तत्राऽह - **यवसमिति**। या गौः अनुदिनं यवसं तृण मेव परं[7] जग्धि अत्ति, अथ पयस्तु नैव सन्दोग्धि न प्रपूरयति, तस्यां दुष्टायां गवि दण्ड एव उचितः, अन्यत्र अदुष्टायां गवि दण्डो न प्रशस्यत इत्ययं धर्मो दृश्यत इति भावः ॥ २३ ॥

---

1. M, Ma, V °ल्वौ° 2--2. B, J, Va omit; A विपाट्य हत्वा 3--3. B, J, V, Va omit 4. A, B, J, Va omit प्र 5. A, B, T नावरूपां
6. A, B, T °ऽहं 7. A, B, T omit परं

स्वयम्भुवा ब्रह्मणा भूतानां जीवनार्थत्वे प्राक्कल्पादौ सृष्टानि ओषधिबीजानि आत्मनि स्वस्यां रुद्धानि आत्मनि ग्रस्तानीत्यर्थः। मां भूतपालनाधिकृत मवज्ञाय पराभूय अत एव मन्दधीः त्वं न मुञ्चसि; अतस्त्वद्वध उचित एवेति भावः॥ २४॥

तर्हि किं मद्वधसाध्यं ? प्रत्युत मद्वधे अन्नं न स्यात्तत्राह - **अमूषा** मिति। क्षुत्परीतानां क्षुधा परितो व्याप्तानां अत एव आर्तानां अमूषां प्रजानां परिदेवितं दुःखं मद्वाणै र्भिन्नायाः तव मेदसा मांसेन शमयिष्यामि॥ २५॥

**विज.** न केवल मदृष्टहानिः, अपि तु दृष्टहानि रपि स्यादित्याह - **मां निहत्येति**। अजरां नूतना मिव स्थितां धास्यसि धारयिष्यसि॥ २१॥

स्वोक्तकारित्वकरणाय पृथु र्भीतिकरं वाक्यं वक्ति **वसुध** इति। ननु वधयोग्यापराधः क इति तत्राह - मच्छासनेति। अनेन तव पत्यु र्मम स्त्रीवधो न दोषाय, भर्तृशासनातिक्रम एवापराधित्वा दिति ध्वनितम्। किं तत् त्वच्छासनातिलङ्घनं येन अपराधिनी स्यामत्राह - **भागमिति**। या भवती बर्हिषि यज्ञे "भूः स्वाहेति" हुतं हविर्भागं वृङ्क्ते वृणोति, सा त्वं वसु धनं योग्यं न तनोषि परिपाकेन न प्रपञ्चयसी त्यन्वयः॥ २२॥

एतदेव विशिनष्टि - **यवस** मिति। हविराख्यं यवसं पयश्शब्दस्य जलेऽपि वृत्ते रित्यत आह - औधस मिति। गोरूपत्वादेव मुक्तिः। मत्पालिताभ्यः प्रजाभ्यः या पयो न दोग्धि तस्या मेवं दुष्टाया मत्र भवत्यां दण्डो न शस्यत इति न हि; शस्यत एवेत्यर्थः॥ २३॥

आत्मनि असत्त्वात् न मुञ्चामीति ने त्याह - **त्वं खलु** इति। त्वदधिकरणत्वेन प्रजाजीवनार्थत्वेन विरिञ्चिसृष्टौषध्यदाने चौर्याख्य दोषोऽपि तव स्यादित्यर्थः। आत्मनि सत्त्वात् न दास्यामीति दुराग्रहबुद्धि रवज्ञेति॥ २४॥

मद्वध स्तव कोपनिवारणावसायी, न तु शरणागत प्रजारक्षणोपायसिद्धि रिति तत्राह - **अमूषा** मिति। अमूषां शरणागतानाम्। मेदसा मांसविशेषेण॥ २५॥

**पुमान् योषि दुत क्लीब आत्मसम्भावितोऽधमः।**[2]
**भूतेषु निरनुक्रोशो नृपाणां तद्वधोऽवधः॥ २६॥**[3]

**त्वां स्तब्धां दुर्मदां नीत्वा मायागां तिलशः शरैः।**
**आत्मयोग बलेनेमा धारयिष्याम्यहं प्रजाः॥ २७॥**[4]

---

1. A, B, T °दित्याह  2. A, B,G,T,I,T,J,M,Ma,Ms,T °वनोऽ  3. M,Ma,Ms वरः  4. W °नैव

**एवं मन्युमयीं मूर्तिं कृतान्त मिव बिभ्रतम्।**

**प्रणता प्राञ्जलिः प्राह मही सञ्जातवेपथुः ॥ २८ ॥**

**धरो[1] वाच**

**नमः परस्मै पुरुषाय मायया विन्यस्तनानातनवे गुणात्मने।**

**नमः स्वरूपानुभवेन निर्धुतद्रव्यक्रियाकारक[2] विभ्रमोर्मये ॥ २९ ॥**

**येनाऽह[3-] मात्मायतनं[-3] विनिर्मिता धात्रा यतोऽयं गुणसर्गसंग्रहः।**

**स एव मां हन्तु मुदायुधः स्वराडुपस्थितोऽन्यं शरणं क माश्रये ॥ ३० ॥**

**श्रीध.** यदुक्तं योषां कथं हनिष्यतीति[4] तत्राह - **पुमानिति**। तस्य वधः अवध एव ॥ २६ ॥

यच्चोक्तं कथ मम्भसि धास्यसीति तत्राह - **त्वामिति**। तिलश स्तिलप्रमाणानि खण्डानीत्येवं भूतामवस्थां नीत्वा ॥ २७ ॥

**एवमिति**। मन्युमयीं मूर्तिं बिभ्रतमिति[5-5] कृतान्ततुल्यत्व मुच्यते, न तु कृतान्तस्य मन्युमयी मूर्ति रिति ॥ २८ ॥

शुद्धसत्त्वतनुं देव मकस्मा दतिदारुणम्। वीक्षमाणा पृथुं पृथ्वी तुष्टाव करुणोक्तिभिः। (श्लोकोऽयं श्रीधरीयः) **नम इति**। मायया विन्यस्ताः विरचिताः नानाघोरादितनवो येन तस्मै गुणात्मने गुणमयत्वेन प्रतीयमानाय। वस्तुतस्तु निर्धुताः[6] मायया निरस्ताः द्रव्यक्रियाकारकेषु अधिभूताध्यात्माधिदेवेषु[7] विभ्रमः अहङ्कारः तन्निमित्ता ऊर्मयो रागद्वेषादयश्च यस्मिन् तस्मै ॥ २९ ॥

अहो सर्वजीवाश्रयत्वेन सृष्टां मां कथं हन्तुं प्रवर्तते इत्याह - **येनेति**। येन[8] विधात्रा आत्मनां जीवानां आयतन महं विनिर्मिता यतः यस्यां मयि गुणसर्गस्य चतुर्विधभूतग्रामस्य सङ्ग्रहः धारणम् स[9-] स[-9] एव स्वराट् स्वतन्त्रः ॥ ३० ॥

**वीर.** यदप्युक्तम् - "अहनिष्यत्कथं योषां धर्मज्ञ इति यो मतः" (भाग. 4-17-19) इति तत्राह - **पुमानिति**। पुमान् योषिद्वा क्लीबः नपुंसको वा आत्मसम्भावितः आत्मनैव सम्भावितः न तु परैः। अत एव अधमः भूतेषु निरनुक्रोशः निष्कृपः स्यात्। तर्हि पुमादिविभाग मनादृत्य तद्वध एव नृपाणा मुचित इत्यर्थः ॥ २६ ॥

यदप्युक्तं - "मां विपाट्य" (भाग. 4-17-21) इत्यदिना तत्राह - **त्वामिति**। मायागां मायाधृतगोरूपां[10] तथा दुर्मदां

---

1. J पृथिव्युवाच; M,Ma धरण्युवाच; Ms भूमिः; V मह्युवाच; W omits धरोवाच 2. T °र्धू° 3--3. M, Ma, Ms °मात्मीयतनुर्वि° 4. V °सीति 5--5. A, B, J, Va बिभ्रतः 6. A, B, J, Va omit मायया 7. A, B, J, V °दै° 8. V omits येन 9--9. B, J, V, Va omit स एव 10. A, B, T मायया

मदभावे कथ मम्भसि प्रजा धास्यती त्येवंरूपदुर्मदविशिष्टां त्वां शरै र्मद्बाणैः तिलशः तिलप्रमाणानि खण्डानि इत्येवम्भूता मवस्थां नीत्वा प्रापय्य आत्मनो मम योगबलेन योगसामर्थ्येनैव अहं प्रजा आत्मानं च धारयिष्यामि ॥ २७ ॥

एवं मन्युमयीं क्रोधप्रचुरां[1] मूर्तिं विग्रहं बिभ्रतं कृतान्त मिव स्थितं पृथु मित्यर्थः, न तु कृतान्तवत् मन्युमयीं मूर्तिं बिभ्रत मिति। कृतान्तस्य तदभावात्। प्रणता प्रह्वीभूता, मही धरित्री सञ्जातकम्पा प्राञ्जलिः प्राह ॥ २८ ॥

पृथुनैवं प्रत्युक्ता पृथ्वी साक्षाद्भगवदवतारभूतोऽयं पृथुः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः न मया वञ्चयितुं शक्य इत्यालोच्य स्वतः[2] ओषधि बीजनिर्गमोपायम् उपदिदिक्षन्ती[3-3] क्रोधा दयं स्वोपदिष्टोपायं मा ग्रहीदित्याशङ्क्य तावत् तत्क्रोधोपशमनाय आत्मनो दैन्यं आकिञ्चन्यञ्च निवेदयन्ती तं[4] चिदचिच्छरीरत्वेन[5] जगत्सृष्ट्यादिकारणत्वेन धर्मपरित्राण निमित्तावतारविशिष्टत्वेन च स्तौति - **नमः परस्मै** इति। मायया स्वापृथक्सिद्ध विशेषणभूतया मायया प्रकृत्या विन्यस्तनाना तनवे निष्पादितदेवमनुष्यादि व्यष्टि क्षेत्रज्ञ शरीराय अनेन प्रकृति पुरुषशरीरकत्वं जगत्कारणत्वं तच्च सद्वारक मिति चोक्तं भवति। सद्वारकत्व मेव व्यनक्ति - गुणात्मने इति। प्रकृतिगुणविशिष्टत्वात् तद्द्वारा सत्त्वादिगुणस्वभावाय यथा ''काठिन्यवान् यो बिभर्ति . . . . तस्मै भूम्यात्मने नमः'' (विष्णु. पु. 1-12-28) इति भूमिद्वारा काठिन्यवत्त्वं, न तु स्वरूपतो गुणात्मकत्वं, निर्गुणश्रुतिविरोधात्। प्रकृतिपुरुषशरीरकत्वेऽपि तद्वैलक्षण्येन स्थिति माह - परस्मै प्रकृतिपुरुषविलक्षणाय। वैलक्षण्ये हेतु माह - स्वरूपानुभवेन निर्धुत द्रव्यक्रिया कारकविभ्रमोर्मये स्वरूपानुभवः स्वरूप विषयं यथाऽवस्थितं ज्ञानं स्वरूपशब्देन प्रकृतिपुरुषेश्वरस्वरूपाणि त्रीण्यपि[6] विवक्षितानि। स्वरूपाणां प्रकृतिपुरुषेश्वररूपाणां अनुभवेन याथात्म्यज्ञानेन निर्धुताः निरस्ताः द्रव्यक्रियाकारक विभ्रमाः द्रव्य क्रिया कारकेति द्वन्द्वः। विभ्रमशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते, द्वन्द्वान्ते श्रुतत्वात्। तत्र द्रव्यभ्रमो नाम पृथिव्यादिद्रव्यारब्धेषु देहिष्वात्मभ्रमः, गच्छामि[7] इच्छामि इच्छामि द्वेष्मीति देहगतक्रियाणा मात्मनि भ्रमः क्रियाभ्रमः। कारकभ्रमः कर्तृत्वभ्रमः। स च ''अधिष्ठानं तथा कर्ता कारणं च पृथग्विधम्। विविधा च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्। शरीरवाङ्मनोभि र्यत्कर्म प्रारभते नरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः। तत्रैवं सति कर्तार मात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वा न्न स पश्यति दुर्मतिः॥'' इत्युक्तरीत्या कर्तृत्वस्य अधिष्ठानादिषु पञ्चस्वनुगतत्वेऽपि अननुगतत्वेनैव[8] प्रतीतिरूपः। एते त्रयो भ्रमाः तत्प्रयुक्ताः ऊर्मयः अशनाया पिपासा शोक मोह जरा मृत्व्याख्याः तस्मै सर्वदा युगपत्प्रत्यक्षित सर्ववस्तुविषय प्रमितिरूप साक्षात्कार निरस्त दोषमूल भ्रम तत्कार्यत्वा द्वैलक्षण्यसिद्धिः। गुणभेदाभि प्रायेण नमसो द्विरुक्तिः। अत्र जगत्कारणत्वकथनेन

---

1. W मन्यु 2. A, B, T स्वयम् 3--3. A. B. T विवक्षन्ती 4. A, B, T omit तत् 5. A, B, T omit तं 6. A, B, T omit त्रीणि
7. A, B , T omit गच्छामि 8. A, B, T आत्मगतत्वं°

तदुपयुक्त सार्वज्ञ्य सर्वशक्ति त्वादिमत्त्वस्याऽप्यभिप्रेतत्वा त्सर्वज्ञं सर्वशक्तिं त्वां त्वकार्यजगदन्तर्भूताऽहं वञ्चयितुं असमर्थेत्यभिप्रेतम्। अनेन स्वस्या आकिञ्चन्य म्प्युक्तम्[1]॥ २९॥

तदेव विशदयन्त्याह - **येनेति**। येन धात्रा दधाति विदधाति सृजतीति धाता, तेन त्वया आत्मायतनं आत्मनां व्यष्टि जीवानाम् आयतनं स्थानभूताऽहं विनिर्मिता सृष्टा। कथम्भूताऽहम् ? यतः यस्यां मयि गुणसर्गसंग्रहः गुणमय प्रकृति परिणामात्मक देवादिप्रपञ्चो वर्तते स एव धात्रा भवान् उदायुधः उद्धृतायुधः स्वराट् स्वतन्त्र स्सन्। स्वराडित्यनेन न ह्यन्यो निवारकोऽ त्यभिप्रेतम्। मां स्वसृष्टां भूमिं हन्तु मुपस्थितः ततः त्वत्तोऽन्यं कं शरणं रक्षणोपायम् आश्रये ? न कमपि, किन्तु त्वामेवेत्यभिप्रायः॥ ३०॥

**विज.** तथाऽपि स्त्रीवधो न शस्त इति तत्राह - **पुमानिति**। य एवं विध स्तद्वधः॥ २६॥

यदुक्तं मां निहत्याऽऽत्मान मिमाः प्रजाश्चाऽम्भसि कथं धारयिष्यसीति तत्राह - **त्वां स्तब्धा** मिति। मायागा मित्यनेन गोवधदोषोऽपि नास्तीति सूचितम्। आत्मयोगबलेनौत्पत्तिक स्वरूपधारणया शक्त्या॥ २७॥

तत्र निरुत्तरया धरया किमकारीति तत्राह - **एवमिति**॥ २८॥

स्वयं देवतास्वेकत्वेन हरे रन्यस्यैवं विधवाक्यानुदयात् इत्यादि हेतुना ज्ञातत्वात् धरा पृथ्वन्तर्यामिणं तद्योगै र्गुणैः अन्यत्रायोग्यैः श्रीनारायण मभिष्टौति - **नम इति**। मायया प्रकृत्या चित्प्रकृत्या वा। विन्यस्ताः तद्योग्यतया विरचिताः नानातनवो ब्रह्मादिजीवदेहा येन स तथोक्त स्तस्मै। "ब्रह्मादि जीव देहास्तु मायादेहाः प्रकीर्तिताः" (वाराहे) इति वचनात्। मायाशब्देन नेन्द्रजाल मत्रोच्यत इति। स्वस्याऽपि प्राकृतदेहसम्भवेन देवदत्तवत् कर्मणि श्रान्तत्वेन प्रपञ्चरचनानुपपत्ति रित्यत उक्तम् - **अगुणात्मन इति**। सत्त्वादिगुणरहित स्वरूपाय। यदि हरेः स्वरूपं प्राकृतगुणरहितं, तर्हि कीदृशम् ? येन देहित्वेन **सृष्ट्यादौ प्रवृत्तिः स्यादित्यस्यापीदमेवोत्तरं** गुणात्मन इति। ज्ञानानन्दादिगुणदेहाय। "आत्मा जीवे धृतौ देहे, (वैज.को. 6-1-6) इति यादवः। अस्तु ज्ञानादिगुणदेहत्वं, तथाऽपि प्रकृत्या प्रवर्तमानस्य कर्दममणे रिव कथित दोषानिस्तार इति तत्राह - **स्वरूपेति**। स्वरूपानुभवेन "तद्ब्रह्म वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति श्रुतिसिद्धेन स्वरूपापरोक्षेण निर्धूता निरस्ता द्रव्यक्रियाकारक निमित्तानां विभ्रमाणा मूर्मयो येन स तथा द्रव्यादयः तामस तैजस वैकारिकाऽहंकार संज्ञाः। यद्वा द्रव्यं गुणाना माधारो देहः, क्रिया कर्मेन्द्रियं, कारकं ज्ञानेन्द्रियं एतन्निमित्तानां विभ्रमाणां संशया द्यन्तः करणधर्माणा मूर्मयः परम्पराः दूरोत्सारिताः येन स तथा। "विभ्रमः संशये भ्रान्तौ शोभायां च" (वैज.को. 7-1-69) इति यादवः। तत्र किं कारणं इत्यत उक्तं स्वरूपेति। द्रव्यक्रियादिनिमित्तविभ्रमोर्मयोऽस्माकमेव न हरेरिति निरणायि॥ २९॥

---

1. w °मित्युक्तम्

यतः स्वामित्वेन पितृत्वेन गुरुत्वेन स्थितं हरिं शरणं विहाय ममाऽन्यो रक्षकोऽस्तीति भ्रान्ताऽलब्धान्य निवृत्ते त्यतः तत्स्वामित्वादिकं तवैवेति सयुक्तिक माह - **येनेति** । येन धात्रा हरिणाऽह मात्मीय तनुः स्वशरीरत्वेन निर्मिता, ''यस्य पृथिवी शरीरम्'', (बृह.उ. 3-7-3) इति श्रुतेः । यतो यस्मा त्सत्त्वादिगुणैः सर्गसंग्रहः स्यात्, स एव पितृभूतः । स्वराट् स्वामी उदायुधः शिक्षागुरु र्मां हन्तु मुपस्थित इत्यन्वयः । किमत इति तत्राह - अन्य मिति । ''किं कुर्मः कस्य वा ब्रूमो गरदायां स्वमातारि'' इति वाक्यं ध्वनयति कमित्यनेन ॥ ३० ॥

**य एतदादा वसृजच्चराचरं स्वमाययाऽऽत्माश्रययाऽवितर्क्यया ।**
**तयैव सोऽयं किल गोषु मुद्यतः कथं नु मां धर्मपरो जिघांससि[1] ॥ ३१ ॥**

**नूनं[2] बतेशस्य समीहितं जनैः त्वन्मायया[3] दुर्जययाऽकृतात्मभिः ।**
**न लक्ष्यते य स्त्वकरो दकारयत् योऽनेक एकः परत स्स[4] ईश्वरः ॥ ३२ ॥**

**सर्गादि योऽस्याऽनुरुणद्धि शक्तिभि र्द्रव्यक्रिया कारक चेतनात्मभिः ।**
**तस्मै समुन्नद्ध निरुद्धशक्तये नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे ॥ ३३ ॥**

**स वै भवानात्म विनिर्मितं जगद् भूतेन्द्रियान्तः करणात्मकं विभो !**
**संस्थापयिष्य न्नज मां रसातला दभ्युज्जहाराम्भस आदिसूकरः ॥ ३४ ॥**

**अपा मुपस्थे मयि नाव्यवस्थिताः प्रजा भवानद्य रिरक्षिषुः किल ।**
**स वीरमूर्तिः समभूद्धराधरो यो मां पयस्युग्रशरो जिघांससि[5] ॥ ३५ ॥**

**नूनं जनैरीहित मीश्वराणामस्मद्विधै स्तद्दुणसर्गमायया ।**
**न ज्ञायते मोहित चित्तवृत्तिभिस्तेभ्यो नमो वीरयशस्करेभ्यः[6] ॥ ३६ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

---

1. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °ति 2. M, Ma, Ms °ति 3. M, Ma, Ms तवेशस्य 4. A, B, G, I, J, T तन्मा°; M, Ma, Ms स्वमा°
5. A, B, G, I, J, T °ञ्च 6. A, B, G, I, J, T, V वर्त्मभि°

**श्रीध.** सृष्टिसंहार कारकोऽह मेवेति चेत्, तथाऽपि प्रजापालने प्रवृत्तस्य मद्वधोऽनुचित एवेत्याह - **य** इति। आत्माशयया जीवविषयिण्या॥ ३१॥

अतो दुर्ज्ञेय मीश्वरचेष्टित मित्याह - **नूनमिति**। अकृतात्मभिः विक्षिप्तचित्तैः यः ईश्वरः स्वतन्त्रः अकरोत् ब्रह्माणम्। परत इति तेन ब्रह्मणा चराचर मकारयत्। यश्च स्वतः एकः परतः मायया तु अनेकः॥ ३२॥

तस्मा दचिन्त्यशक्तये केवलं नम इत्याह - **सर्गेति**। सर्गादिजन्मस्थिति भङ्ग अस्य जगतः अनुरुणद्धि अनुवर्तते अनुकरोति। द्रव्याणि महाभूतानि, क्रियाः, इन्द्रियाणि, कारकाः देवाः, चेतना बुद्धिः, आत्मा अहङ्कारः तैः स्वशक्तिरूपैः समुन्नद्धाः समुत्कटाः निरुद्धाः शक्तयो यस्य॥ ३३॥

प्राणिनां धारणार्थं मां रसातला दुद्धृत्येदानीं प्रजारक्षणे प्रवृत्तस्य मद्वधो न युक्त इति सकरुण माह द्वाभ्यां - **स** इति। हे अज! यः सृष्टवान् स एव भवान् स्वनिर्मितं चराचरं जगत् सम्यक् स्थापयितु मिच्छन् आदिसूकर स्सन् मामभ्युज्जहार॥ ३४॥

**अपा मिति**। स एव धराधरः। वराहः अद्य अपा मुपस्थे उपरि मयि नावि आधारभूताया मवस्थिताः प्रजाः रक्षितु मिच्छुः वीरमूर्तिः पृथुरूपः समभूत्। य एवम्भूत स्स त्वं पयसि निमित्ते मां जिघांससीति विचित्र मित्यर्थः॥ ३५॥

तस्मा दीश्वरचेष्टितं दुर्विज्ञेय मिति कैमुतिकन्यायेनोपसंहरति - **नून मिति**। तस्य ईश्वरस्य गुणसर्गरूपया मायया मोहितं चित्त मेव वर्त्म येषां, मोहितानि चित्तवर्त्मानि येषा मिति वा, तैः जनैः ईश्वराणां हरिभक्ताना मेव ताव दीहितं न ज्ञायते, किं पुन स्तस्य परमेश्वरस्य। अत एव परमेश्वरवत् तेभ्योऽपि नम एव केवलम्। वीराणां जितेन्द्रियाणां यशः कुर्वन्ति ये तेभ्यः यथा वीराणां यशो वर्धेत तथा युक्तं चेष्टतां, न तु यथेष्टमिति भावः॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीश्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

**वीर.** ननु य एव स्रष्टा, स एव हन्ति चेत् किं त्वया विधेयम्? सत्यं, स्रष्टु रपि हन्तृरूपधारण एव हनने प्रवृत्ति रुचिता, न

---

1. V कर्ताऽ° 2. A, B, J, Va omit अनु° 3. V सकारणम् 4. A, B, J, Va omit इच्छन् 5. A adds क्षीरि 6. A, B, J, Va दुर्ज्ञेयम्
7. A, B, J, Va °त्यन्या° 8--8. V परमेश्वरायेव 9. A, B, J, Va omit युक्तं

त्ववितृरूपधारिण स्तवे त्याह - **य एतदिति**। यो भवानेव[1] एत च्चराचरात्मकं जगत्, आत्मा आश्रयो यस्या स्तया अवितर्क्यया एवं विधेति चिन्तयितु मशक्यया स्वाऽपृथक्सिद्ध विशेषणभूतया प्रकृत्या। मायाशब्दः सङ्कल्परूपज्ञानपरो वा। अवितर्क्येण स्वसङ्कल्पेनाऽसृजत्। स एव भवान् तयैव सङ्कल्पेन गोप्तुं चराचरात्मकं जगद्रक्षितु मुद्यतः उद्युक्तः। न तु कालाग्निरुद्राद्यवतारेणेव हन्तुं प्रवृत्त इत्यर्थः। अतः प्रजापालनरूप धर्मप्रवृत्त[2] स्त्वं मा[3] प्रजानां भोग्य भोगोपकरण भोगस्थानादिरूपां[4] मां कथं नु जिघांससि हन्तु मिच्छसि॥ ३१॥

विचित्रानन्तशक्ते स्तव प्रभाव मजानत्या ममेदं त्वदीयं कृत्यं अनुचित मिव प्रतीयते, त्वच्चिकीर्षितन्तु न केऽपि[5] जानीयु[6] रित्याह - **नून मिति**। अकृतात्मभिः अवशीकृतचित्तैः त्वां अप्रपन्नैः इति यावत्। दुर्जयया जेतु मशक्यया स्वमायया आत्मीय[7] मायया करणभूतया ईशस्य तव समीहितं चेष्टितं[8] द्वाभ्यां चिकीर्षितं जनै र्न लक्ष्यते न ज्ञायते[9]। यद्वा दुर्जयया स्वमायया हेतुभूतया अकृतात्मभिः मोहितचित्तैः मादृशैः जनैः ईशस्य तव समीहितं न लक्ष्यत इत्यर्थः। कोऽसा वीश्वरः यस्य समीहितं न लक्ष्यते तत्राह- यःस्वत एकोऽपि परतः ब्रह्मरुद्रादि क्षेत्रज्ञरूप शरीरभेदा दनेक स्सन् अकरोत् महदादि पृथिव्यन्त जगत्सृष्टिं अकारयतु, व्यष्टिसृष्टि मित्यर्थः। सः ईश्वरः त्व मेवेति भावः॥ ३२॥

अतोऽचिन्त्यशक्तये तुभ्यं केवलं नम इत्याह - **सर्गा दीति**। यो भवान् अस्य जगतः सर्गादि सृष्ट्यादिकं द्रव्यक्रिया कारक चेतनात्मभिः, द्रव्यं प्रधानात्मक मचिद्रव्यं, क्रिया जीवादृष्टाख्यं कर्म, कारकः करोति गुणक्षोभमिति कारकः कालः, चेतनो जीवः, एतद्रूपाभि स्स्वशक्तिभिः[10] अनुरुणद्धि अनुवर्तते करोतीति यावत्। तस्मै समुन्नद्धाः कार्योन्मुखाः विरुद्धा श्शक्तयो यस्य तस्मै। सृष्टिस्थितिसंहाराणां युगपद्विरुद्धत्वा त्तद्द्वारा तदुपयुक्तशक्तीनां विरोधः। युगपत् सृष्ट्यादीनां मिथो विरुद्धत्वेऽपि कालभेदा दुपपन्नत्वेन सृष्ट्याद्युपयुक्तशक्तिमत्त्व मुपपन्नम्। वेधसे कारणभूताय परस्मै प्रकृतिपुरुष विलक्षणाय पुरुषाय तुभ्यं नमः॥ ३३॥

तव समुन्नद्ध विरुद्धशक्तिमत्त्वं न मानान्तरगम्यम्। अपि तु अपरोक्षं मयैवाऽनुभूत मित्याह - **स वा इति** द्वाभ्याम्। हे विभो! आत्मनि आत्मना स्वयं विनिर्मितं, भूतानि पृथिव्यादीनि, इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि, अन्तःकरणं चैतदात्मकं जगत्संस्थापयिष्यन् हे अज! कर्मायत्तोत्पत्तिशून्य! तथाऽपि आदिसूकरः स्वेच्छोपात्ता प्राकृत दिव्यवराहावतारो भूत्वा स वै[11-] प्रसिद्धः[-11] भवान्मां त्वन्निमित्त जगदाधारभूतां मां अम्भसः अम्भसि प्रविश्य "त्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च" (भुवः प्रभवः (1-4-31) इतिसूत्रे 1474, 1475) इत्यधिकरणे पञ्चमी रसातलात् अभ्युज्जहार उद्धृतवान्॥ ३४॥

---

1. W omits एव 2. A, B, T प्रवर्तक° 3. A, T, omit मां 4. A, B, T, omit °नरू° 5. A, B, T omit केऽपि 6. A, B, T विजा°
7. A, B, T स्वात्मी° 8. A, B, T omit द्वाभ्यां 9. A, B, T add इति। 10. A, B, T omit स्व 11--11. A, B, T omit

स धराधरः आदिवराहः अद्य अपां मुपस्थे उपरि नावि नौकावदाधारभूतायां मयि अवस्थिताः प्रजाः रिरक्षिषुः रक्षितुमिच्छुः भवान् समभूत् भवद्रूपेण अवतीर्णः। स एव त्व मधुना वीरमूर्तिः पृथुरूपः उग्र स्तीक्ष्णः शरो यस्य। पयसि निमित्ते गां गोरूपां मां जिघांससि हन्तु मिच्छसि किल; इत्येतत् विरुद्ध शक्तिमत्त्वं मयैवोपलब्ध मित्यर्थः ॥ ३५ ॥

एव मचिन्त्यविविधशक्तिमत्त्वेन भगवन्तं स्तुत्वा तदेव पुन रनुसन्दधती सर्वानवतारान्नमस्करोति - **नूनमिति**। येषा मीश्वराणा मीश्वरावताराणां ईहितं चिकीर्षितं तदुणसर्गमायया तस्य ईश्वरस्य सम्बन्धिन्या सत्त्वादिगुणकार्यप्रपञ्चमूलया मायया मोहितं यच्चित्तं तस्य वर्त्मनि वृत्तयो येषां तैः मादृशैः अज्ञै जैनैः न ज्ञायते। नूनं निश्चये। तेभ्यः वीराणा मन्येषा मपि यशस्करेभ्यो हिरण्याक्षादयः भगवता युद्धे निहता, इत्येवंरूपकीर्तिसम्पादकेभ्यः अवतारेभ्यो नमः ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्री वीरराघवविदुषा लिखितायां भागवत चन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

**विज.** तव निर्माता ईश्वरोऽन्यः, त्वां जिघांसुः पृथुराजाचापर इति मन्दाशङ्कां परिहरन्निव पूर्वोक्तार्थं विवृणोति - **य एतदिति**। आत्मैवाश्रयो यस्याः सा आत्माश्रया तथा अत एव अवितर्क्यया विविध तर्काविषयया "अजा मेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" (म.ना.उ. 8-4) इत्यादि श्रुति सिद्धत्वात्, निर्वक्तु मशक्येति एतद् द्वैतवादितर्कागोचर मित्यर्थः। एवं विधया स्वमायया स्वप्रकृत्या स्रष्टुः पालयितु श्चैकत्वेन तस्य हन्तृत्वं न युक्तम्, अदर्शना दित्यर्थः। "वार्तासम्भाव्ययोः किल" (वैज.को. 8-7-19) इत्यभिधानम्। अत सम्भावितं न भवतीति यथा स्वस्य तर्काविषयत्वं तथा मायाया अपीति सूचितम् ॥ ३१ ॥

हरे स्तर्काविषयत्वं स्पष्टयति **नूनं तवेति**। विभो! अकृतात्मभिः अल्पबुद्धिभिः अशिक्षितबुद्धिभि र्वा जनैः दुर्जयया स्वमायया ईशस्य ऐश्वर्यादिगुणाकरस्य, समीहितं समीचीनं चेष्टितं न लक्ष्यते; नूनं तर्कयामी त्यन्वयः। "तर्क निश्चितयो र्नूनम्" (वैज.को. 8-7-22) इति यादवः। समीहितं किं तदित्यत आह - यस्त्विति। यस्त्वकरो त्कार्यं ब्रह्मणा जगद कारयच्च। अनेकः "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृह.उ. 2-5-15) इति श्रुतेः। तत्त्वत एकः "एक मेवाऽद्वितीयम्" (छान्दो.उ. 6-2-1) इति श्रुतेः। एवंविधः स परतः परेषा मीश्वरो नाऽस्माक मार्ताना मिति क्षोण्याक्षेप लक्षण मर्थविशेषं ध्वनयति अर्थान्तरासम्भवात् ॥ ३२ ॥

---

1. W क्रोध 2. A, B,T लक्षित 3. A. B, T omit अज्ञैः 4. A, B, T निश्चितम्।

कर्तृत्वेन कारयितृत्वेन सर्वस्वातन्त्र्यप्रतीतेः पृथिव्यादीनां कर्तृत्व मीश्वर शक्त्यनुस्यूतत्वा[1] दित्याह - **सर्गादीति**। द्रव्याणि पञ्चभूतानि, क्रियाः कर्मेन्द्रियाणि, कारकाः ज्ञानेन्द्रियाणि, चेतनो जीवः, एतान् व्याप्य तिष्ठन्तीति चेतनात्मानः, ताभिः शक्तिभि र्योऽस्य जगतः सर्गा द्यनुरुणद्धि तत्तद्योग्यतानुकूल्येन करोति तस्मै नम इत्यन्वयः। एकस्य युगपदनेक वैचित्र्योपेतपदार्थस्रष्टृत्वं कथ मुपपद्यते इत्यत उक्तम् - समुन्नद्धेति। तदुक्तं - ''विरुद्ध शक्तयो यस्य नित्या युगपदेव तु। तस्मै नमो भगवते विष्णवे सर्वजिष्णवे'' (वाराहे) इति। कर्तृत्वशक्तिः स्वरूपभूते त्युक्तं वेधस इति कर्तृत्वशक्तिमते। किं नामधेय मस्ये त्यत उक्तं - परस्मा इति। अनेन पुंशक्तिमत्त्वा दस्यैवोक्त मुपपन्न मित्यसूचि॥ ३३॥

पूर्वं त्वयैव भूतधात्रीत्वेन संक्लृप्तत्वात् हिरण्याक्षनीतां मां उदाहारितवान् तत्रात्मयोगबलेनैव धारयिष्यामीत्यङ्गीकारे सङ्कल्पभङ्गः स्या दित्याशयेनाह - **स वै** इति। स वै इत्यनेन य एतदित्याद्युक्तं परामृश्यते, मा माम्॥ ३४॥

भूमे रुद्धर्ता अन्यः अह मन्यः, तस्मा त्सङ्कल्पभङ्गः कथमिति मन्दशङ्कां परिहरति - **अपा मुपस्थे** इति। जलस्योपरि स्थितां मां जिघांसति, स वीरमूर्ति र्भवानद्य रक्षितुकामो धराधरो भूमेः भर्ता समभू दित्यन्वयः॥ ३५॥

स्त्री त्वं अस्मद्विचेष्टितं किं जानासी त्याशङ्क्य सत्यं, तथाऽप्यस्माकं युष्मत्प्रसादनाय नम इत्येतत् कर्तु मुचित मिति भावेनाऽऽह- **नूनं जनै** रिति। त्वद्गुणसर्गमायया तव सृष्ट्यादौ गुणकर्मभूतया सर्गमायया प्रकृत्या॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीविजयध्वजतीर्थकृतायां पदरत्नावल्यां

टीकायां सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

1. A, B शक्त्या अ°

# अष्टादशोऽध्यायः

## मैत्रेय उवाच

इत्थं पृथुमभिष्टूय रुषा प्रस्फुरिताधरम्।
पुनराहावनिर्भीता संस्तभ्यात्मानमात्मना॥ १॥

सन्नियच्छाऽभि[1] भो मन्युं निबोध श्रावितं च मे।
सर्वतः सारमादत्ते यथा मधुकरो बुधः॥ २॥

अस्मिंल्लोकेऽथवामुष्मिन् मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
दृष्टा योगाः प्रयुक्ताश्च पुंसां श्रेयः प्रसिद्धये॥ ३॥

तानातिष्ठति यः सम्यगुपायान् पूर्वदर्शितान्।
अवरः[2] श्रद्धयोपेत उपायान्[3] विन्दतेऽञ्जसा॥ ४॥

तानना दृत्य यो विद्वानर्थानारभते स्वयम्।
तस्य व्यभिचरन्त्यर्थाः आरब्धाश्च[4] पुनः पुनः॥ ५॥

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

*अष्टादशे महीवाक्याद्वत्सपात्रादिभेदतः। पृथ्वादिभिस्तु[5-] सा दुग्धा स्वं स्वं दुग्धमितीर्यते[-5]॥

सन्नियच्छेति। हे अयिभो! प्रभो! यद्वा भो देव! अभि अभयं यथा[6] भवति एवं मन्युं सन्नियच्छ श्रावितं विज्ञापितम्। न मद्वाक्ये अनादरः कर्तव्य इत्याह। बुधो हि सर्वतः सारमादत्ते॥ १, २॥

मयि जीर्णाश्चौषधीः उपायेन गृहाणेति वक्तुम् उपायेन सर्वं सिध्यति नान्यथेत्याह - **अस्मिन्निति** त्रिभिः। पुंसां श्रेयसः पुरुषार्थस्य प्रसिद्धयेऽस्मिंल्लोके कृष्यादयः, अमुष्मिंश्च लोकेऽग्निहोत्रादयो, योगा उपायाः दृष्टाः ज्ञाता[7] प्रयुक्ता अनुष्ठिताश्च॥ ३॥

1. M, Ma, Ms °च्छ विभो 2. M, Ma, Ms °प° 3. A, G, I, J, T, W °पे° 4. M, Ma प्रायशश्च; Ma, V प्रारब्धाश्च * This extra verse is found in Edn V. आलोलतुलसीमालमारूढविनतासुतम्।
ज्योतिरिन्दीवरश्याममाविरस्तु ममाग्रतः॥ 5--5. V क्रमशः सा दुग्धेति निरूप्यते। 6. V adds तथा 7. B, J, V, Va omit ज्ञाताः

**तानिति**। पूर्वैर्दर्शितान् अवरोऽर्वाचीनः ॥ ४ ॥

**तानिति**। अविद्वान् विद्वानपीति[1] वा। व्यभिचरन्ति न सिध्यन्ति ॥ ५ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं सर्वकारणत्वेन विचित्रशक्तित्वेन[2] च पृथुं प्रस्तूय तदभिमतौषधिबीजनिर्गमोपायं विवक्षन्ती तत्र तं विश्वासयितुं प्रसादयन्त्याह मही इत्याह मुनिः। इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण पृथुमभिष्टूय ततोप्यनिवृत्तरुषा प्रस्फुरितः नितरां चलितः अधरोष्ठो यस्य तं, दृष्ट्वेति शेषः, भीता सती अवनिः मही आत्मानं मन आत्मना बुद्ध्या संस्तभ्य निर्भयं कृत्वा आह ॥ १ ॥

उक्तमेवाह - भो हे पृथो! अभि अभितः कार्त्स्न्येन मन्युं क्रोधं सन्नियच्छ उपसंहर। मे मया श्रावितं विज्ञापितं निबोध जानीहि। किं तदित्यत्राह। बुधः सारासारविभागज्ञः यथा मधुकरः भृङ्गः तथा सर्वतः सर्वेभ्यो वस्तुभ्यः सारमादत्ते गृह्णाति। वक्ष्यमाणरीत्या मत्तः सारभूतक्षीरादानेनैवेष्टसिद्धौ किं वृथा मह्यं क्रुध्यसीति भावः ॥ २ ॥

मया गीर्णा ओषधीरुपायेन गृहाणेति वक्तुमुपायेन सर्वं सिध्यति नान्यथेत्याह - **अस्मिन्निति** त्रिभिः। पुंसां कामिनां श्रेयसः पुरुषार्थस्य प्रसिद्धये निष्पत्तये तत्त्वदर्शिभिः मुनिभिरस्मिंल्लोके ये उपायाः कृषिगो[3]रक्षवाणिज्यादयः जीवनोपाया दृष्टा विज्ञाता निर्णीता इति यावत्, ये चामुष्मिन् परस्मिन् लोके स्वर्गसाधनभूता अग्निहोत्रादयः उपायाः प्रयुक्ता अनुष्ठिताश्च[4], चशब्दात् दृष्टाश्च ॥ ३ ॥

तानेव पूर्वैर्मुनिभिर्दर्शितान् उपायान् योऽवरोऽर्वाचीनः सम्यक् श्रद्धया कर्तव्येषु त्वरया उपेतः युक्तस्सन् आतिष्ठति स एवाञ्जसा सुखेनोपायानुपायसाध्यान् विन्दते लभते ॥ ४ ॥

अन्यस्तु न विन्दत इत्याह - **तानिति**। यो विद्वानविद्वान् वा तान् पूर्वदर्शितानुपायान् अनादृत्य, स्वयमर्थान्[5] स्वबुद्धिमात्रेणैव[6] पुरुषार्थसाधनत्वेनावधारणीयान् अर्थान्[7] पुरुषार्थोपायाभासानारभते। तस्यार्थास्ते उपायाभासाः पुनः पुनः प्रारब्धाश्च[8] अन्तरायविहतौ पुनः पुनरनुष्ठिता अपि व्यभिचरन्ति, न फलजनका भवन्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

स्वरूपभूता गुणा हरेरपरोक्षज्ञानात् व्यज्यन्ते इत्येतदर्थसङ्ग्रहार्थं भूमेस्तत्तद्वसु दोहनं निरूप्यतेऽस्मिन्नध्याये। तत्रादौ पृथोः क्रोधशमनाय पुनर्भूमेः तं प्रति वचनप्रकारं वक्ति - **इत्थमिति** ॥ १ ॥

1. V omits इति 2. A, B, T शक्तिमत्त्वेन 3. W रक्षा 4. A, B, T omit च 5. A, B, T add स्वबुद्ध्या 6. A, B, T omit एव 7. W omits अर्थान् 8. W adds अन्तरा

कथं नियच्छामि क्रोधं येन तच्छान्तिहेतुं श्रुत्वा आर्द्रान्तःकरणो भवामीति तत्राह - निबोधेति। पुंसेह सद्धर्म एव शिक्षणीयो न सल्लिकाधर्म इत्याशयेनाह - सर्वत इति॥ २॥

कीदृशं श्राव्यते यत्प्रकृतोपयोगि स्यादत्राह - **अस्मिन्निति**। लोके कृष्यादिश्रेयःसिद्धये बीजाद्यर्जनोपायाः, अमुष्मिन् स्वर्गादौ, यागादियोगाः तत्त्वदर्शिभिर्मुनिभिर्दृष्टाः प्रयुक्ताश्चेत्यन्वयः॥ ३॥

ततः किमित्यतोऽन्वयव्यतिरेकावाह - **तानातिष्ठतीति**॥ ४॥

अविद्वानव्युत्पन्नः, व्यभिचरन्ति नियमेन न सिध्यन्ति॥ ५॥

**पुरा सृष्टा ह्योषधयो[1] ब्रह्मणा[2] या विशाम्पते।**
**भुज्यमाना मया दृष्टा असद्भिरधृतव्रतैः॥ ६॥**

**अपालितानादृता[3] च भवद्भिर्लोकपालकैः।**
**चोरीभूतेऽथ लोकेऽहं यज्ञार्थेऽग्रसमोषधीः॥ ७॥**

**नूनं ता वीरुधः क्षीणा मयि कालेन भूयसा।**
**तत्र योगेन दृष्टेन भवानादातुमर्हति॥ ८॥**

**वत्सं कल्पय मे वीर येनाहं वत्सला तव।**
**धोक्ष्ये क्षीरमयान् कामाननुरूपं च दोहनम्॥ ९॥**

**दोग्धारं च महाबाहो भूतानां भूतभावन।**
**अन्नमीप्सितमूर्जस्वद्भगवान्[4] वाञ्छते यदि॥ १०॥**

**श्रीध.** सहेतुकमुपायमाह - **पुरेति** षड्भिः॥ ६॥

**अपालितेति**। भवद्भिरिति राजसामान्याभिप्रायेण [5-]वेनादिभिरिति[-5] वा अपालिता चोराद्यनिवारणात् अनादृता च यज्ञादिप्रवर्तनाभावात्। यज्ञार्थे अग्रसं गिलितवत्यस्मि[6]। अन्यथा अधृतव्रतैर्भुक्ता न प्रसोष्यन्ते[7] ततश्च यज्ञादयो न सिध्येरन्निति भावः॥ ७॥

1. M, Ma °श्चौ°; Ms, V °स्त्वो° 2. Ms °णाऽथ 3. M, Ma, Ms °तास्ताः 4. M, Ma, Ms °मोजस्व° 5--5. V omits
6. A. B, J, Va omit अस्मि 7. V प्रसविष्यन्ते

**नूनमिति**। क्षीणा जीर्णाः ॥ ८ ॥

**वत्समिति**। दोहनं दोहपात्रम्[1]। दोग्धारं चोपकल्पय। धोक्ष्ये प्रपूरयिष्यामि ॥ ९ ॥

**दोग्धारमिति**। भूतानाम्[2] ईप्सितमन्नम्। ऊर्जस्वत् बलप्रदम् ॥ १० ॥

**वीर.** नन्वस्त्वेवं, कोऽसावोषधिबीजनिर्गमोपायः, किमर्थं च तानि त्वग्रसः इत्यत्राह - **पुरेति**। हे विशाम्पते! ब्रह्मणा पुरा या ओषधयः सृष्टाः इह जीवनार्थत्वेन यज्ञानुष्ठानद्वारा परत्र लोके स्वर्गाद्यर्थत्वेन च सृष्टाः, ता ओषधयः अधृतव्रतैः लोकपालनयज्ञाद्यनुष्ठानरूपव्रतरहितैः[3][4], अत एवासद्भिः भुज्यमानाः मया दृष्टाः असद्भिर्भुज्यमाना इमा ओषधयः समूलं[5] नश्येयुरिति आलोचिता इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अहं च भवद्भिः भवादृशैः लोकपालैरपालिता अनादृता च सती, लोके सर्वस्मिन् चौरीभूते चौरग्राये सति, यज्ञार्थे यज्ञनिमित्तम् ओषधीग्रसं गिलितवती। असद्भिर्भुज्यमाना न रोक्ष्यन्ति, ततश्च यज्ञादयो न सिध्येयुरित्यालोच्याग्रसमित्यर्थः ॥ ७ ॥

ता मया गीर्णा वीरुधः ओषधयः भूयसा महता कालेन मयि क्षीणाः जीर्णाः, नूनं निश्चये तत्र[6] जीर्णानां पुनर्निर्गमने दृष्टेन निश्चितेन योगेनोपायेन आदातुं ग्रहीतुमर्हति ॥ ८ ॥

कोऽसौ दृष्टो योगस्तत्राह - **वत्समिति** त्रिभिः। हे वीर! महाबाहो! हे भूतभावन! यदि भवान् भूतानामूर्जस्वद्बलप्रदमन्नं वाञ्छति, तर्हि मे गोरूपाया ममानुरूपं वत्सं दोहने, दुहन्त्यस्मिन्निति दोहनं पात्रं, दोग्धारं चोपकल्पय, येन वत्सादिसामग्रीसम्पादनेन अहं तव वत्सला त्वद्विषये वात्सल्यवती क्षीरमयान् क्षीरविकारान् मत्क्षीरप्रकृतिकान्[7] कामान्, काम्यन्त इति कामाः, ओषधीः छन्दस्सोमवीर्यौजोबलासवादयस्तान् धोक्ष्ये क्षीररूपेण प्रपूरयिष्यामि ॥ ९, १० ॥

**विज.** किं बहुकथाकथनेन अधुना ओषधीनामनुपलम्भः कस्मात् तन्निमित्तं कथयेति तत्राह - **पुरेति**। याः पुरा विरिञ्चेन सृष्टास्ता ओषधीरहमग्रसमित्यन्वयः ॥ ६ ॥

असत्पुरुषैर्भुज्यमानत्वं भवादृशेन क्षत्रियेणारक्षितत्वम् अगोपितत्वं, नृलोकस्य चोरग्रायत्वं, चावेक्ष्य सत्सूत्पन्नेषु श्रीनारायणपूजालक्षणयज्ञप्रयोजनस्यावश्यकत्वादिति ॥ ७ ॥

---

1. A, V दोहन 2. A, B, J, Va add अभि 3. A, B, T यज्ञानु° 4. A, B, T omit रूप 5. A, B, T °ला 6. A, B, T omit तत्र
7. A, B, T मत्तः क्षीर

तर्हि ता देहीति तत्राह - **नूनमिति**। क्षीराणामापादनं दुस्साध्यमिति तत्राह - **तत्रेति**। शास्त्रदृष्टेन, ननु स्वरूपतो नष्टा उत लघुतामापन्ना इति संशयो मा भूत्तत्तत्कार्यसाधने तच्छास्त्रदृष्टोपायेन सर्वं साध्यम्॥ ८॥

तथापि किं रामानुचराणां वानराणां वा[1], रेणुकाया वा मृतसञ्जीविन्यादिनेत्यत्र प्राप्तमुपायं वक्ति - **वत्समिति**। वत्सला वत्सप्रिया अनुरूपं तत्तद्योग्यं दोहनं दोहक्रियाविशेषम्॥ ९॥

नैतावता पूर्यत इत्युक्तं - **दोग्धारं** चेति। ओजस्वद् अवष्टम्भकृत् प्राणधारणशक्तिप्रदमित्यर्थः॥ १०॥

**समां च कुरु मां[2] राजन् देववृष्टं[3] यथा पयः।**

**अपर्तावपि भद्रं ते उपावर्तेत मे[4] विभो॥ ११॥**

**इति प्रियहितं[5] वाक्यं भुव आदाय भूपतिः।**

***वत्सं कृत्वा मनुं पाणावदुहत्सकलौषधीः॥ १२॥**

****तथा परे[6] च सर्वत्र सारमाददते बुधाः।**

**ततोऽन्ये[7] च यथाकामं दुदुहुः पृथुभाविताम्॥ १३॥**

**ऋषयो दुदुहुर्देवीमिन्द्रियेष्वथ सत्तम।**

**वत्सं बृहस्पतिं कृत्वा पयश्छन्दोमयं[8] शुचि॥ १४॥**

**कृत्वा वत्सं सुरगणा इन्द्रं सोममदूदुहन्।**

**हिरण्मयेन पात्रेण वीर्यमोजो बलं पयः॥ १५॥**

**श्रीध. समामिति**। अपगतेऽपि वर्षर्तौ देववृष्टमुदकं[9-9] यथा मे[10] मयि[11] सर्वतोऽपि वर्तेत॥ १॥

[12-]**इतीति**। मनुं स्वायम्भुवम्। ओषधीर्व्रीह्यादीः[-12]॥ १२॥

---

1. B omits वा 2. Ms मे 3. Ms दृष्टं; V सृष्टं 4. M, Ma, Ms मां 5. A, B, G, I, J, T, V °यं * This half verse is the first half of 13th verse in M. Ma. Ms ** This half verse is the second half of the 12th verse in M, Ma, Ms 6. M, Ma, Ms चकार 7. M, Ma, Ms °उपरे य° 8. W भुवि 9--9. V omits 10. V omtis मयि 11. A, B, J, Va omit अपि 12--12. V omits

प्रसङ्गादर्थान्तरमाह - **तथेति**। [1-]भुवो वाक्यं [-1]श्रुत्वा यथा पृथुः एवं सर्वत्र वाक्ये परेऽपि सारमादत्ते। प्रस्तुतमनुवर्तयति। ततोऽन्ये च ऋष्यादयः पञ्चदश दुदुहुः। पृथुना भावितां वशीकृताम्॥ १३॥

**ऋषय** इति। देवीं पृथ्वीम्। वाङ्मनःश्रवणैर्वेदग्रहणात् इन्द्रियाणां पात्रत्वम्॥ १४॥

**कृत्वेति**। सोममृतम्। वीर्यं मनश्शक्तिम्। ओज इन्द्रियशक्तिं, बलं देहशक्तिं च तदेव पयः॥ १५॥

**वीर.** हे वीर! [2]मां पर्वतादिभिः निम्नोन्नतां पृथ्वीं समां कुरु, किं त्वत्समीकरणसाध्यं तत्राह। देववृष्टं [3]वर्षासु देवेन पर्जन्येन वृष्टं पयः जलमपर्तावपि [4-]वर्षर्त्वपगमेऽपि[-4] मे मम यथा उपावर्तेत सर्वतो वर्तेत। [5]इत्थं समीकरणाभावे क्वापि [6]मयि जलं न तिष्ठेदतः समाहं कर्तव्येत्यर्थः। हे प्रभो! ते तुभ्यं भद्रं दोहनसमीकरणाभ्यां भद्रं भूयादित्यर्थः॥ ११॥

एवं धरित्र्याऽभिहितः पृथुः तथैवाकरोदित्याह मुनिः। इति उक्तविधं प्रियं हितं च भूमेर्वाक्यमादाय ओमिति *अनुमन्य मनुं स्वायम्भुवं वत्सं कृत्वा पाणौ दोहनपात्रे स्वयं दोग्धा भूत्वा सकलौषधीः अदुहत्, सकलौषधिप्रकृतिभूतं क्षीरमदुहत्। क्षीरं **प्रदुह्य** धरित्र्यां तद्विकिरन् ओषधीः प्रादुर्भावयामासेत्यर्थः। एवमग्रेऽपि बोध्यम्॥ १२॥

यथा पृथुः एवमपरे च बुधाः सारासारविवेककुशलाः सर्वत्र सर्वेषु [7]पदार्थेषु सारमाददते। गोरूपाया धरित्र्याः क्षीरं **प्रदुह्य** सर्ववस्तुषु सारं निहितवन्त इत्यर्थः, [8]एतदेवाह अन्ये ऋषिप्रभृतयः यथाकामं स्वस्वकामानुरूपं पृथुभावितां पृथुना वशीकृतां **गां** [9]दुदुहुः॥ १३॥

के के किं किम् अदुहन्? तत्राह - **ऋषय** इति। ऋषयो वसिष्ठादयः बृहस्पतिं वत्सं कृत्वा देवीं धरित्रीमिन्द्रियेषु पात्रभूतेषु, वाङ्मनश्श्रवणैः वेदग्रहणादिन्द्रियाणां पात्रत्वम्। हे सत्तम! विदुर! शुचि पवित्रं छन्दोमयं छन्दःप्रचुरं छन्दःप्रकृतित्वेन तत्प्राचुर्यमात्र विवक्षितं, पयः क्षीरं दुदुहुः दुग्धवन्तः॥ १४॥

तदा सुरगणाः इन्द्रं वत्सं कृत्वा हिरण्मयेन पात्रेण वीर्यं मनश्शक्तिः, ओजः इन्द्रियशक्तिः, बलं देहशक्तिः, एतत्त्रयसम्पादकं [10.]सोममृतं तदात्मकं पयः अदूदुहन्॥ १५॥

**विज.** ओषध्युत्पत्तौ प्रधानसाधनं जलं, तत् विषमायां मयि देववृष्टं पयो न समं प्रसरति, तद्यथा अपर्तावपि [11]**अवृष्टिकाले** समं स्यात्तत्तथा मां समां कुरु अन्यथा ओषध्यनुत्पादे त्वत्कोपविषया स्यामित्याह - **समां चेति**॥ ११॥

---

1--1. B, J, V, Va omit 2. A, B, T omit मां 3. T omits देवेन 4--4. T omits 5. W तदर्थं 6. A, B, T omit मयि
* अनुमत्य इति भाव्यम् 7. T omits पदार्थेषु 8. A, B, T तदेवाह 9. A, B, T omit गां 10. W °तापरात्मकं 11. A, B, M °वृ°

अत्रापि त्वद्गस्तं त्वयैवोद्गीर्य दातव्यम् अन्यथा वधिष्यामीति पुनरपि पृथुना किं कुपितं न, किन्तु तदुक्तमङ्गीकृतं साग्राहित्यादित्याह - **इतीति**। प्रियहितं श्रोतृसुखं प्रियं पथ्यं हृदयङ्गमं हितम्। भूपतिः पृथुः॥ १२. १३॥

ततोऽपर इत्युक्तं विव्रियते - **ऋषय** इत्यादिना। देवीं सरस्वतीं, इदमेव विशिनष्टि छन्दोमयमिति। वेदमयं पयः कुत्र वागिन्द्रियेषु॥ १४॥

न केवलं सोमरसमात्रमदूदुहन् किन्तु तदुद्भवं गुणं चेत्याह - वीर्यमिति। पराक्रमं माहात्म्यं वा, ओजोऽवष्टम्भशक्तिं, बलं निराहारत्वेऽपि चेष्टाशक्तिम्, अत्र बाह्यानेव गुणान् अदूदुहन् न तु स्वरूपभूतान्। तदुक्तं "गुणाः स्वरूपभूताश्च बाह्याश्चेति द्विधा मताः। स्वरूपभूता व्यज्यन्ते हरेर्बाह्यान् दुहुः[1] पयः" (ब्राह्मे.) इति॥ १५॥

**दैतेया दानवा वत्सं प्रह्लादमसुरर्षभम्।**
**विधाय[2] दुदुहुः क्षीरमयः[3] पात्रे सुरासवम्॥ १६॥**

**गन्धर्वाप्सरसोऽधुक्षन् पात्रे पद्ममये पयः।**
**वत्सं विश्वावसुं कृत्वा गान्धर्वं मधु सौभगम्॥ १७॥**

**वत्सेन पितरोऽर्यम्णा कव्यं क्षीरमधुक्षत।**
**आमपात्रे महाभाग[4] श्रद्धया श्राद्धदेवताः॥ १८॥**

**प्रकल्प्य वत्सं कपिलं सिद्धाः सङ्कल्पनामयीम्।**
**सिद्धिं नभसि विद्यां च ये च विद्याधरादयः॥ १९॥**

**अन्ये च मायिनो मायामन्तर्धानाद्भुतात्मनाम्[5]।**
**मयं प्रकल्प्य वत्सत्वे[6] दुदुहुर्धारणामयीम्॥ २०॥**

श्रीध. दैतेया इति। सुरामासवं[7-] च[-7] तालादिमद्यम्॥ १६॥

गन्धर्वेति। मधु वाङ्माधुर्यं सौभगं[8] सौन्दर्यं तत्सहितम्॥ १७॥

---

1. A, B दुदुहुः 2. A, B, G, I, J, T, W °याद्दुहन् 3. W °यस्पा° 4. A, B, G, I, J, T °गाः श्रः° 5. M, Ma °नगतात्मना; Ms °नगतात्मनाम् 6. A, B, G, I, J, T वत्सं ते 7--7. V सुरा आसवं 8. A omits सौभगं

**वत्सेनेति**। कव्यं पितृणामन्नम्। आमपात्रे अपक्के मृण्मये अधुक्षत दुदुहुः ॥ १८ ॥

**प्रकल्प्येति**। सङ्कल्पनामयीम् अणिमादिरूपां[1] सिद्धिम्। ये विद्याधरादयस्ते च तमेव वत्सं प्रकल्प्य[2] नभस्येव पात्रे खेचरत्वादिरूपां विद्यां दुदुहुः ॥ १९ ॥

**अन्ये** इति । अन्ये च किम्पुरुषादयोऽन्तर्धानेनाद्भुतात्मनाम् [3-]आश्चर्यमनसां[-3] सम्बन्धिनीं मायाम् । धारणामयीं सङ्कल्पमात्रप्रभवाम् ॥ २० ॥

**वीर.** दितेरपत्यानि, दानवाः, दोग्धारः असुरश्रेष्ठं प्रह्लादं वत्सं विधाय कृत्वा अयस्पात्रे[4] "गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा" (मनु.स्मृ. 11-94) इति त्रिविधां सुरामासवं च तालादिमद्यं पयः दुदुहुः । कार्यकारणयोरभेदोपचारेण सुरासवं पयो दुदुहुरित्यभेदनिर्देशः, एवमग्रेऽपि ॥ १६ ॥

गन्धर्वाः अप्सरसश्च दोग्धारः विश्वावसुं वत्सं कृत्वा पद्ममये पद्मात्मके पात्रे गान्धर्वं[5] गन्धर्वाणां सम्बन्धि[6-] मधु वाङ्माधुर्यं, सौभगम् अप्सरसां सम्बन्धि[-6] सौन्दर्यं च पयः अधुक्षन् दुदुहुः ॥ १७ ॥

श्राद्धदेवताः पितरः पित्रादिपितृगणाः दोग्धारः अर्यम्णा वत्सेन अर्यमणं वत्सं कृत्वेत्यर्थः । आमपात्रे अपक्के मृण्मये पात्रे श्रद्धया कव्यं पितृणामन्नं क्षीरमधुक्षत दुदुहुः, आर्षत्वात् व्यत्ययेनादादेशः । कव्यस्य विशेषेण श्रद्धया देयत्वज्ञापनाय श्रद्धया अधुक्षतेत्युक्तं, यद्यपि श्रद्धया देयं श्राद्धं (सा अस्य) "तस्य देवता" (अष्टा. 4-2-24) इत्यवयवार्थादेव कव्यस्य श्रद्धापूर्वकत्वं प्रतीयते, तथापि गच्छतीति गौः "गमेर्डोः" (उणादि सू. 2-68) गौर्गच्छतीत्यत्र प्रकृत्युपात्तगमनस्येव प्रकृत्युपात्तश्रद्धाया अविवक्षणात् श्रद्धयेत्युक्तम् ॥ १८ ॥

सिद्धा दोग्धारः कपिलं मुनिं वत्सं प्रकल्प्य विधाय[7] नभसि आकाशे पात्रे सङ्कल्पनामयीं सङ्कल्पप्रचुरामणिमादेः सङ्कल्पानुसारभावित्वात्[8] सङ्कल्पनामयीमित्युक्तम्। सिद्धिमणिमादिसिद्धिम् अधुक्षन्त। तथा ये च विद्याधरादयस्ते दोग्धारः ते पितरमेव वत्सं कपिलं प्रकल्प्य नभस्येव पात्रे खेचरत्वादिरूपां विद्यां क्षीरात्मना दुदुहुः ॥ १९ ॥

---

1. B, J, V, Va omit रूपां 2. V परिकल्प्य 3--3. B, J, V, Va omit 4. A, B, T अयःपात्रे 5. A, B, T omit गान्धर्वं 6--6. A, B, T omit 7. A, B, T omit विधाय 8. A, B, T सारित्वात्

अथान्ये च मायिनः आश्चर्यरूपधारिणः किम्पुरुषादयो दोग्धारः वत्सत्वे वत्सभावे मयं[1] प्रकल्प्य[1], मयं वत्सं कृत्वेत्यर्थः। धारणामयीं धारणाप्रचुरां मनोव्यापारविशेषधारणाख्ययोगानुसारित्वाद्धारणामयीमित्युक्तम्, एतच्चैकादशस्कन्धे स्फुटीभविष्यति, अन्तर्धानमद्भुतरूपं चेत्येतदुभयकारित्वेन तदात्मिकां मायां विचित्ररूपसर्गकारिणीं शक्तिं दुदुहुः ॥ २० ॥

**विज.** अयःपात्रे अयोमये पात्रे सुराख्यमासवं मधु। प्रह्लादस्य प्रतिमन्वन्तरमुत्पन्नप्रायत्वादत्रोक्तं "प्रतिमन्वन्तरं प्रायः प्रह्लादाद्या बभूविरे" (ब्राह्मे) इति वचनात् ॥ १६ ॥

गान्धर्वं गानं, मधु सौभगं सौभाग्यलक्षणं मधु ॥ १७ ॥

आमपात्रे नवभाण्डे, श्राद्धदेवताः श्राद्धकर्मणा देवता[2] ॥ १८ ॥

सङ्कल्पनामयीं सङ्कल्पमात्रेणाभीष्टसिद्धिप्रदां सिद्धिं ये विद्याधरादयस्ते च नभसि विद्यां खेचरत्वलक्षणां सिद्धिम् अधुक्षतेत्यन्वयः ॥ १९ ॥

अन्तर्धानगतात्मनाऽदृश्यत्वे प्राप्तमनस्कत्वेन अन्ये मायिनो धारणामयीं चिन्तामात्रसाध्यां मायाम् ॥ २० ॥

**यक्षरक्षांसि भूतानि पिशाचाः पिशिताशनाः।**
**भूतेशवत्सा दुदुहुः कपाले क्षतजासवम् ॥ २१ ॥**

**तथाहयो दन्दशूकाः सर्पा नागाश्च तक्षकम्।**
**विधाय वत्सं दुदुहुर्बिलपात्रे विषं पयः ॥ २२ ॥**

**पशवो यवसं क्षीरं वत्सं कृत्वा च गोवृषम्।**
**अरण्यपात्रे चाधुक्षन्मृगेन्द्रेण च दंष्ट्रिणः ॥ २३ ॥**

**क्रव्यादाः प्राणिनः क्रव्यं दुदुहुः स्वकलेबरे[3][4]।**
**सुपर्णवत्सा विहगाश्चरं चाचरमेव च ॥ २४ ॥**

**वटवत्सा वनस्पतयः[5] पृथग्रसमयं[6] पयः।**
**गिरयो हिमवद्वत्सा नानाधातून् स्वसानुषु ॥ २५ ॥**

---

1--1. W omits 2. A, B omit देवताः 3. A, B, G, I, J, T स्वे 4. A, B, G, I, J, M, Ma, T °वरे 5. V °स्पत्यः 6. V °ग्रोह°

**श्रीध. यक्षेति**। भूतेशो रुद्रः स एव वत्सो येषां ते। क्षतजं रुधिरं तदेवासवम्॥ २१॥

**तथेति**। अहयो निष्फणाः, दन्दशूका वृश्चिकादयः, सर्पाः सफणास्त एव कद्रूसन्ततिजा नागाः बिलपात्रे मुखे॥ २२॥

**पशव** इति। यवसं तृणम्। गोवृषं रुद्रवाहं[1] वृषभम्। मृगेन्द्रेणेत्युत्तरेणान्वयः॥ २३॥

**क्रव्यादा** इति। क्रव्यं मांसम्। चरं कीटादि। अचरं फलादि॥ २४-२५॥

**वीर.** पिशिताशना मांसभक्षा यक्षादयो दोग्धारः भूतेशो रुद्रो वत्सो येषां ते। भूतेशं वत्सं विधायेत्यर्थः। कपाले पात्रे क्षतजं रुधिरं, तदेवासवम् आसववन्मादकत्वात् आसवमित्युक्तं दुदुहुः॥ २१॥

अहयो निष्फणा, दन्दशूकाः दंशनस्वभावाः, सर्पाः सफणाः, त एव कद्रूसन्ततिजाता नागाः, दोग्धारः तक्षकं वत्सं विधाय बिलान्येव पात्राणि तेषु विषं पयः दुदुहुः॥ २२॥

तदा पशवो दोग्धारः गोवृषं गोषु वृषं श्रेष्ठं रुद्रवाहनं वृषभं बत्सं कृत्वा अरण्यमेव पात्रं तस्मिन् तृणं[2] क्षीरम् अधुक्षन्, मृगेन्द्रेणेत्युत्तरेणान्वयः[3]॥ २३॥

क्रव्यादा मांसाशिनः दंष्ट्रिणो व्याघ्रादयः प्राणिनः दोग्धारः मृगेन्द्रेण सिंहेन वत्सेन स्वकलेबरे[4] पात्रे क्रव्यं मांसं दुदुहुः। विहगाः पक्षिणः सुपर्णो गरुडः येषां ते चरं कीटादिकम् अचरं फलादिकं च दुदुहुः॥ २४॥

वनस्पतयः वृक्षाः वटो वत्सो येषां तथाभूतास्सन्तः पृथक् कङ्गाम्लमधुरादिभिन्नं रसमयं पयः दुदुहुः। गिरयः पर्वता दोग्धारः हिमवान् वत्सो येषां तथाभूतास्सन्तः स्वसानुषु पात्रभूतेषु नानाधातून् गैरिकादीन् दुदुहुः॥ २५॥

**विज.** पिशिताशना मांसरक्षाः, भूतेशो भैरवाख्यो रुद्रो, वत्सो येषां ते तथोक्ताः। क्षतजासवं रुधिराख्यं मद्यम्॥ २१॥

अह्यादीनां विषधरत्वसाम्येऽप्यवान्तरविशेषत्वात् पृथगुक्तिः॥ २२॥

गोवृषं नन्दिकेश्वरं, मृगेन्द्रेण सिंहेन, दंष्ट्रिणः क्रव्यादाः प्राणिनो हिंस्राः, क्रव्यमपक्वमांसं, स्वकलेवरे पात्रे दुदुहुरित्यन्वयः। चरं जङ्गममचरं तरुफलम्॥ २३, २४॥

वनस्पतयः तिक्तादिभेदेन बहुत्वाद्रसस्य पृथगित्युक्तं, नानाधातून् सुवर्णादीन्॥ २५॥

---

V °हनं 2. T omits तृणं 3. W °त्रा° 4. A, B, T °वरे

सर्वे स्वमुख्यवत्सेन स्वे स्वे पात्रे पृथक् पयः[1]।
सर्वकामदुधां पृथ्वीं दुदुहुः पृथुभाविताम्[2]॥ २६॥

एवं पृथ्वादयः पृथ्वीमन्नादाः[3] स्वन्नमात्मनः।
दोहवत्सादिभेदेन क्षीरभेदं कुरूद्वह॥ २७॥

ततो[4] महीपतिः प्रीतः सर्वकामदुघां पृथुः।
दुहितृत्वे चकारेमां प्रेम्णा दुहितृवत्सलः॥ २८॥

चूर्णयन् स्वधनुष्कोट्या[5] गिरिकूटानि राजराट्।
भूमण्डलमिदं वैन्यः प्रायश्चक्रे समं विभुः॥ २९॥

अथास्मिन् भगवान् वैन्यः प्रजानां वृत्तिदः पिता।
निवासान् कल्पयाञ्चक्रे तत्र तत्र यथार्हतः॥ ३०॥

ग्रामान् पुरः पत्तनानि[6] दुर्गाणि विविधानि च।
घोषान्[7] व्रजांश्च शिबिरानाकरान् खेटखर्वटान्[8]॥ ३१॥

प्राक्पृथोरिह नैवैषा पुरग्रामादिकल्पना।
यथासुखं वसन्ति स्म तत्र तत्राकुतोभयाः॥ ३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे अष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

**श्रीध.** अनुक्तसर्वसङ्ग्रहार्थमाह - **सर्वे** इति। सर्वे[9], स्वजातौ यो मुख्यः तेन वत्सेन॥ २६॥

उपसंहरति - **एवमिति**। स्वन्नम् अभीष्टमन्नम्। तदेव[10] क्षीरभेदं[11] दुदुहुः। दोहः पात्रम्॥ २७॥

---

1. M, Ma पृथक्। 2. M, Ma, Ms °मुदुहन् 3. M, Ma, Ms °मुदुहन् 4. W एवं 5. M, Ma, Ms, V, W °नुः को° 6. V पट्टणानि 7. A, B, G, I, J, T, V °जान् स° 8. W °र्वं° 9. V omits सर्वे 10. A, B, J, Va तमेव 11. V भेदेनैवं

**तत** इति। इमां पृथ्वीम्॥ २८॥

**चूर्णयन्निति**। धनुषोऽग्रेण गिरिश्रृङ्गाणि चूर्णयन्, राजराट् राज्ञां राजा सर्वेषामाजीविकादानात्[1-1]॥ २९, ३०॥

**ग्रामानिति**। ग्रामा अट्टादिशून्याः[2]। पुरो अट्टादिमत्यः[3]। ता एव महत्यः पत्तनानि[4]। दुर्गाणि विविधानि दुर्गमस्थानानि[5-5]। यथाह बृहस्पतिः "औदकं पार्वतं वार्क्षमैरिणं धान्वनं तथा॥" (बृहस्पतिः) इति। घोषान् आभीराणां निवासान्। व्रजान् गवां निवासान्। शिबिरं सेनानिवेशस्थानम्[6]। तत्सहितानाकरान् सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानानि[7]। खेटाः कर्षकग्रामाः। खर्वटाः पर्वतप्रान्तग्रामांस्तांश्च॥ ३१, ३२॥

**वीर.** अनुक्तसङ्ग्रहार्थमाह। सर्वे स्वजातौ यो मुख्यस्तेन वत्सेन स्वे स्वे पात्रे सर्वान् स्वापेक्षितान् कामान् दोग्धीति तां सर्वकामदुघां पृथ्वीं पृथक् पृथक्[8] पयः दुदुहुः॥ २६॥

उपसंहरति - **एवमिति**। एवमन्नादाः अन्नाकाङ्क्षिणः[9] पृथ्वादय आत्मनः स्वस्य स्वन्नं समीचीनमन्नं स्वाभीष्टमन्नमित्यर्थः। तदेव क्षीरभेदं दोहः पात्रं दोहादिभेदेन दुदुहुः। हे कुरूद्वह!॥ २७॥

ततो महीपतिः पृथुः प्रीतस्सन्[10] सर्वकामदुघामिमां पृथ्वीं प्रेम्णा दुहितृत्वे चकार दुहितरममन्यतेत्यर्थः। यतोऽयं दुहितृवत्सलः॥ २८॥

ततो राजराट् राज्ञां राजा विभुः समर्थः वैन्यः पृथुः स्वधनुष्कोट्या[11] स्वधनुषोऽग्रेण गिरिकूटानि गिरिश्रृङ्गाणि चूर्णयन् भूमण्डलं प्रायशः समं चक्रे। प्रायोग्रहरणात्तेनासमीकृतमपि क्वचित् क्वचित् दृश्यत इत्यभिप्रेतम्॥ २९॥

अथ दोहनसमीकरणानन्तरं प्रजानां वृत्तिदः जीविकाप्रदः पिता पितृवद्रक्षकश्च भगवान् वैन्यः पृथुः यथार्हतः यथायोग्यं तत्र तत्र[12] अस्मिन्[13] भूमण्डले प्रजानिवासान् कल्पयाञ्चक्रे॥ ३०॥

के ते निवासास्तत्कल्पिता इत्यत्राह - **ग्रामानिति**। ग्रामा हट्टादिशून्याः, पुरः हट्टादिमत्यः, ता[14-14] एव महत्यः[14-14] पत्तनानि, दुर्गाणि विविधानि औदकपार्वतवार्क्षादिभेदभिन्नानि, घोषान् आभीराणां निवासान्, व्रजान् गवां निवासस्थानानि, शिबिरान् सेनानिवासस्थानानि, तत्सहितान्[15-15] आकरान् स्वर्णोत्पत्तिस्थानानि, खेटान् कृषीवलग्रामान्, खर्पटान्[16] पर्वतप्रान्तग्रामान्, कल्पयामासेत्यन्वयः॥ ३१॥

---

1--1. V omits 2. A, B, J, Va ह° 3. A, B, J, Va ह° 4. V पट्टणानि 5--5. B, J, V, Va omit 6. A, B, J, Va निवास 7. A, B, J, Va स्वर्णादिस्था° 8. T omits पृथक् 9. A, B, T अन्न 10. W omits सन् 11. W धनुः कोट्या 12. A, B, T omit तत्र 13. A, B, T तस्मिन् 14--14. W omits 15--15. W omits 16. W °र्व°

किं पृथोः प्राक् ग्रामादयो नाभूवन् ? नेत्याह। इह भूमण्डले पृथोः प्राक् पूर्वमेषा पुरग्रामादिकल्पना नैव नास्त्येवेत्यर्थः। तत्र पृथुकल्पितग्रमादिषु, नास्ति कुतोऽपि भयं यासां ताः, प्रजा यथासुखं स्वस्वसुखानुसारेण वसन्ति स्म अवसन्नित्यर्थः॥ ३२॥

**विज.** उपसंहरति - **सर्व** इति। स्वजातिषु मुख्यः स्वमुख्यः स एव वत्सस्तेन, सर्वान् कामान् दोग्धीति सर्वकामदुघा ताम्॥ २६॥

एकस्याः पृथ्व्याः क्षीरभेदः कथमत्राभूदत्राह - **एवमिति**। दोहभेदेन वत्सभेदेन आदिशब्दाद्दोग्धृभेदेन च॥ २७॥

राज्ञा किं प्रीतं, कुपितमुत तूष्णीम्भूतम् ? इति संशयावसरो नास्तीत्याह - **तत** इति। लोकगोविलक्षणक्षीरभेददातृत्वात् अत्र प्रीतेरेव सम्भावितत्वात्॥ २८॥

इदानीं भूमेः समीकरणप्रकारं वक्ति - **चूर्णयन्निति**। गिरिकूटानि गिरिशृङ्गाणि "कूटोऽस्त्री शृङ्गमायाद्येष्वद्रिकुञ्जेषुभेदयोः" इति यादवः। क्वचित् क्वचित् गिरिकूटादीनां सत्त्वात् प्राय इत्युक्तम्॥ २९॥

भूमेः समीकरणेन सुखपर्यटनात्परं प्रजानां प्रयोजनं किमकारि राज्ञेति। तत्राह - **अथेति**॥ ३०॥

उक्तं विशिनष्टि - **ग्रामानिति**। "ग्रामो बहुजनाकीर्णो राजराजाश्रयं पुरम्" समुद्रसङ्गतनद्युपकण्ठे यवनजनाश्रयः पत्तनम्। जलपर्वतादिना गन्तुमशक्यं स्थानं दुर्गं, गवां स्थानं घोषः, गोपालानां स्थानं व्रजः, "गोष्ठं घोष इति प्रोक्तो व्रजस्तत्पालसंस्थितिः" इत्यभिधानात्। "गोष्ठाध्वनिवहा व्रजाः" (अम.को. 3-187) इति सामान्यवचनमिति ज्ञातव्यं सेना निवेशस्थानं शिबिरं, वैश्यानामाश्रयो नगरं, मृगयोपजीवनं खेटः। आदित्यादिवारमुद्दिश्य यत्र वणिजां योगस्तत् खर्वटाख्यं स्थानं, वस्त्रभार विक्रयस्थानं वा, पाखण्डिनां निवासस्थानं वा॥ ३१॥[1]

इदं पुरादिनिर्माणं पृथोः माहात्म्याविनाभूतमित्याह - **प्राक्पृथोरिति**। किमत इति तत्राह - यथेति अनेनेतः पूर्वं राज्ञां साधुत्वेऽपि सम्बाधया प्रजानां निवाससुखं नास्तीति सूचितम्॥ ३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे परमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थकृतायां पदरत्नावल्यां टीकायां
चतुर्थस्कन्धे अष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

1. M. Ma आम्नादि

# एकोनविंशोऽध्यायः

## मैत्रेय उवाच

अथादीक्षत राजर्षिः[1] हयमेध शतेन सः।

ब्रह्मावर्ते मनोः क्षेत्रे यत्र प्राची सरस्वती॥ १॥

तदभिप्रेत्य भगवान् कर्मातिशयमात्मनः।

शतक्रतुर्न ममृषे पृथोर्यज्ञमहोत्सवम्॥ २॥

यत्र यज्ञपतिः साक्षात् भगवान् हरिरीश्वरः।

अन्वभूयत[2] सर्वात्मा सर्वलोक गुरुः प्रभुः॥ ३॥

अन्वितो ब्रह्मशर्वाभ्यां लोकपालैस्सहानुगैः।

उपगीयमानो गन्धर्वैः मुनिभिश्चाप्सरोगणैः॥ ४॥

सिद्धा[3] विद्याधरा दैत्या दानवा[4] गुह्यकादयः।

सुनन्द नन्द प्रमुखाः पार्षदप्रवरा हरेः॥ ५॥

कपिलो नारदो दत्तो योगेशास्सनकादयः[5]।

तमन्वीयुर्भागवता ये च तत्सेवनोत्सुकाः॥ ६॥

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

ऊनविंशेऽश्वमेधाङ्गहयप हरणात्पृथोः। इन्द्रं हन्तुं प्रवृत्तस्य धात्रा वारणमुच्यते।

अथेति। हयमेधशतेन निमित्तेन अदीक्षत दीक्षितोऽभूत् शताश्वमेधसङ्कल्पमकरोदित्यर्थः। ब्रह्मावर्ते [6-]देवविनिर्मिते देशे[-6] "सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तं[7] देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥" (मनु.स्मृ. 2-17) [8-]इति प्रसिद्धेः[-8]॥ १॥

---

1. A, B, G, I, J, T, W राजा तु 2. M, Ma, Ms अन्वाहू° 3. B, J, M, Ma, Ms सिद्ध° 4. W मा° 5. V योगी° 6--6. A, B, J, Va omit
7. V तत् 8--8. A, B, J, Va omit

**तदिति**। आत्मनः स्वस्य कर्म, अतिशेत इत्यतिशयं अभिप्रेत्य ज्ञात्वा तदिति तं पृथोर्यज्ञमहोत्सवं न ममृषे न सेहे॥ २॥

अतिशयमेव दर्शयति - यत्रेत्यादि सप्तभिः। **यत्रेति**। साक्षादन्वभूयत प्रत्यक्षेणादृश्यत॥ ३, ४॥

**सिद्धेति**। सिद्धादयश्च तं हरिं अन्वीयुरित्युत्तरेणान्वयः॥ ५, ६॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं पृथुर्धरित्र्या गोरूपधरायास्तत्सन्दर्शितोपाय दुग्धौषधिबीजस्समीकृत भूमिः कल्पितप्रजानिवासोऽभूदित्युक्तम्। अथ सङ्कल्पितशताश्वमेधः स्वनुष्ठितैकोनशताश्वमेधः शत क्रत्वपहृत चरमाश्वमेध पशुः[2-2] जिघांसितशतक्रतुः चतुरानन निदेशेन[3-3] निवृत्तशतक्रतु[3-3] वधो विरत[4] चरम क्रतुः कृतशतक्रतु सख्यः कृतावभृथस्नानः प्राप्तदेव वरो विप्रगणाशासितो[5] दत्त ऋत्विग्दक्षिणः पूजित देवर्षिगणो बभूवेत्याह मुनिरेकोनविंशेन **अथेति**। अथ दोहन समीकरण प्रजानिवासकरणानन्तरं स राजर्षिः पृथुः हयमेधशतेन निमित्तेन आदीक्षत दीक्षितोऽभूत् शताश्वमेध सङ्कल्पमकरोदित्यर्थः। कुत्रेत्यत्राह - "सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तं देव निर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते" (मनु.स्मृ. 2-17) इति प्रसिद्धे ब्रह्मावर्ताख्ये, यत्र क्षेत्रे प्राची सरस्वती नदी प्रवहति इति शेषः॥ १॥

भगवान् शतक्रतुरिन्द्रः तत् आत्मनः स्वस्य कर्म, अतिशेते इत्यतिशयम्, अभि प्रेत्य ज्ञात्वा आत्मन इति पञ्चमी वा। पृथोः यज्ञमहोत्सवं न ममृषे न सेहे॥ २॥

कर्मातिशयं प्रपञ्चयन् ब्रह्मावर्तं प्रस्तौति **यत्रेति** सप्तभिः। यत्र महोत्सवदेशे ईश्वरस्सर्वान्त रात्मा षाड्गुण्यपूर्णः सर्वलोकहितोपदेष्टा प्रभुः यज्ञाराध्यः तत्फलप्रदश्च हरिः साक्षादन्वभूयत प्रत्यक्षोऽभूत् तत्र आविर्बभूवेतियावत्॥ ३॥

कथम्भूतोऽन्वभूयत तत्राऽह - ब्रह्म रुद्राभ्यां[7] तथा सभृत्यै र्लोकपालैश्च अन्वितो युक्तः गन्धर्वादिभिः उपगीयमानः अन्वभूयत॥ ४॥

सिद्धादयस्सुनन्दनन्दौ प्रमुखौ मुख्यौ येषां ते हरेर्भगवतः पार्षदप्रवराश्च॥ ५॥

तथा कपिलादयः ये चान्ये भगवतो भक्तास्तेपि तत्सेवने भगवत्सेवने उत्सुका आसक्ताः सन्तः तं भगवन्तमन्वीयुः अनुसृतवन्तः[8]॥ ६॥

---

1. A, B, J, Va यत्रेति 2--2. A, B, T omit 3--3. A, B, T °शनिवृत्तेन्द्र 4. A, B, T विरमित 5. T °शं° 6. A, B, W °रष्टादशेन 7. T शर्वाभ्यां 8. A अनुसृत्य गतवन्तः

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

ब्रह्मार्पित कर्मणा शुद्धान्तः करणस्य पुंसो हरेरापरोक्ष्यं स्यादिति वेदयितुं पृथोर्यज्ञकरण व्याजेन हरेर्माहात्म्यं निरूप्यतेऽस्मिन्नध्याये "कर्मणा ज्ञानमातनोति" इति श्रुतेः। तत्र प्रथमतः पृथोर्यज्ञदीक्षाप्रकारमाह - **अथेति**। "घोटके वीति तुरग तुरङ्गाश्वतुरङ्गमाः। वाजिवाहार्व गन्धर्व हयसैन्धव सप्तयः" (अम.को. 2-500) इत्यमरः। नाम्ना ब्रह्मावर्ते - "सरस्वती दृषद्वत्यो रन्तरं देवनिर्मितम्। ब्रह्मावर्तं मानवन्तं विदुर्देशं विचक्षणाः" (मनु.स्मृ. 2-17) इत्यभिधानम्। प्राचीमैन्द्रीं दिशमुद्दिश्य स्यन्दमाना॥ १॥

अत्र इन्द्रेण स्वनामाभिभूषणौ यज्ञे क्रियमाणे कथं क्षान्तमत्राह - **तदभिप्रेत्येति**॥ २॥

शतक्रतोः कर्मणोऽतिशयमाह **यत्रेति**। सर्वात्मा सर्वव्यापी॥ ३॥

निघण्टुवत्[1] यज्ञपतिरित्यादिनाम्नां बहुत्वकथनेन किमेकेनागतेनेत्यत उक्तम् **अन्वित** इति। अनेनापि राजैश्वर्यं न द्योतितमित्यत उक्तमुपगीयमान इति॥ ४॥

गायकानां किञ्चिदनुगम्य स्वाभिप्रेत मुपेत्य पश्चादन्यतो गमनसम्भवादित्यतो यावद्गम्यमनुगन्तृनाह - **सिद्धेति**॥ ५॥

तत्त्वविदां अनुगमनमेव तन्माहात्म्यद्योतकमित्यत उक्तं - **कपिल** इत्यादिना[2]। नित्यविरोधिनां दैत्यादीनां अनुगमनं कथं सङ्गच्छत इत्यत उक्तं **भागवता** इति। अनेन दैत्यादयो द्विविधाः सन्तीति ध्वनितं, ये च तस्य हरेः सेवनोत्सुकास्ते चान्वीयुरिति॥६॥

**यत्र धर्मदुघा भूमिः सर्वकाम दुघा सती[3]।**
**दोग्धि[4] स्माभीप्सितानर्थान् यजमानस्य भारत॥ ७॥**

**ऊहुः सर्वरसान्नद्यः क्षीरदध्यन्नगोरसान्।**
**तरवो भूरि वर्ष्माणः प्रासूयन्त मधुच्युतः[5]॥ ८॥**

**सिन्धवो रत्ननिकरान् गिरयोऽन्नं चतुर्विधम्।**
**उपायनमुपाजह्रुः[6] सर्वे लोकाः सपालकाः॥ ९॥**

**इति चाधोक्षजेशस्य पृथोस्तु[7] परमोदयम्।**
**असूयन्[8] भगवानिन्द्रः प्रतिघातमचीकरत्॥ १०॥**

---

1. M. Ma ° घण्ड ° 2. M. Ma. ° दि 3. M. Ma. मही 4. W. दोग्ध्री 5. W, इच्युः 6. M ° नान्युपा° 7. M. Ma, Ms. पृथोर्यज्ञमहोदयम् 8. W. व्युर्भ°

श्रीध. **यत्रेति**। धर्मदुघा हविर्दोग्ध्री धेनुः[1] सती ॥ ७ ॥

**ऊहुरिति**। ऊहुर्वहन्ति स्म। सर्वरसान् इक्षुद्राक्षादिरसान् क्षीरं च दधि च अन्नं च पानकादि गोरसः घृतं तक्रं च तांश्च। भूरीणि विस्तृतानि वर्ष्माणि शरीराणि येषां ते। फलादि प्रासूयन्त मधुच्युतः मधुस्राविणस्सन्तः ॥ ८ ॥

**सिन्धव** इति। चतुर्विधं भक्ष्यं भोज्यं चोष्यं लेह्यं च ॥ ९ ॥

**इतीति**। अधोक्षजः ईशो नाथो यस्य तस्य[2-] पृथोः[-2] परम उदयोऽभिवृद्धिर्यस्मिं स्तत् कर्म असूयन् असहमानः प्रतिघातं विघ्नं चकारेत्यर्थः ॥ १० ॥

**वीर.** हे भारत ! यत्र ब्रह्मावर्ते धर्मदुघा घृतादि हविर्दोग्ध्री भूमिः सर्वकामदुघा तत्तदीप्सितान् अनीप्सितांश्च कामान् दुहन्ती यजमानस्य पृथोः अभीप्सितानर्थान् दोग्ध्री[3] स्म दुदुहे ॥ ७ ॥

नद्यः सर्वरसान् इक्षुद्राक्षादिरसान् क्षीरं दधिचान्नं पानकादि गोरसं घृतं तक्रं च ऊहुः वहन्तिस्म। तरवः भूरीणि विस्तृतानि वर्ष्माणि शरीराणि येषां तथा भूताः मधुश्चुतः मधु स्राविणस्सन्तः प्रासूयन्त पुष्पफलादिक मिति शेषः ॥ ८ ॥

सिन्धवस्समुद्राः रत्नानां निकरान् समूहान् धृतवन्त इति योग्य क्रियाध्याहारः यद्वा अनुषक्तस्य प्रासूयन्तेत्यस्य प्रकृतोपयुक्तार्थ परत्वम्। गिरयः चतुर्विधं भक्ष्यभोज्यचोष्य[4] लेह्यभेदेन चतुर्विधमन्नं प्रददुः सपालकास्सर्वे जनाः उपायनं साम्मानिकं उपाजहुः समर्पित वन्तः ॥ ९ ॥

अधोक्षजो भगवान् ईशो नाथो यस्य, तस्य पृथोः भगवदवतारभूतस्याप्यावेशावतारत्वाज्जीवाभिप्रायेणऽधोक्षजेशस्ये त्युक्तम्। इत्युक्तविधं परमः उदयो वृद्धिर्यस्मिन् तत्कर्म असूयुरसहमानः[5] प्रतिघातं विघ्नं अचीकरत् अकरोत् निवृत्तप्रेरणात्[6] कृञोणिच् ॥ १० ॥

**विज.** धर्मदुघा यज्ञयोग्यपयोदोग्ध्रीति। न केवलमेतावदेव, किन्तु सर्वकामदुघा नैतत्स्तुतिमात्रमनुभवसिद्धमित्याह महीति। महित्वान्महनीयत्वाच्च मही ॥ ७ ॥

गोपालानां रसानां चतुर्विधान्नजनित्वेन कथं तत्सम्भव इत्यत्राह - ऊहुरिति। अनेन नदीनां मूर्तिमत्वं लक्षयति। जलानां

1. V. Omits धेनुः 2-2. B.J.V.Va. Imit 3. A.B.T. दोग्धि 4. T. चूष्य लेहन 5. A.B.T असूयन् 6. A.B. T. °ष°

मूर्तिमधार्यमाणानां वोढुमसम्भवात्। "वर्ष्म देह प्रमाणयोः" (अम.को. 3-280) इत्यभिधानात् स्थूल प्रमाणाः ॥ ८ ॥ भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं पेयं चेति चतुर्विधं व्ययार्थं द्रव्यं न कोशादुद्धार्यं, किन्तु सर्वं रानीतमेवालं प्रीत्यापि तस्यातिशुद्धत्वादिति भावेनाह - **उपायनानीति** ॥ ९ ॥

भूमण्डले कोप्यजातशत्रुः नास्ति यतः श्रीनारायणैक देवस्य पृथोरपि यज्ञ विघ्नं शक्रोऽकरोदित्याह - **इतीति**। इति शब्दः प्रकारवचनः उक्त प्रकारयज्ञे महोदय असूयन् असहमानः स्वार्थे वा यत्प्रत्ययः ॥ १० ॥

**चरमेणाश्वमेधेन यजमाने यजुष्पतिम्।**
**वैन्ये यज्ञपशुं[1] स्पर्धन्नपोवाह तिरोहितः ॥ ११ ॥**

**तमत्रिर्भगवानैक्षत्त्वरमाणं विहायसा।**
**आमुक्तमिव पाषण्डं[2] योऽधर्मे धर्मविभ्रमः ॥ १२ ॥**

**अत्रिणा चोदितो[3] हन्तुं पृथुपुत्रो महारथः।**
**अन्वधावत सङ्क्रुद्धस्तिष्ठ तिष्ठेति[4] - चाब्रवीत् ॥ १३ ॥**

**तं तादृशाकृतिं वीक्ष्य मेने[5] धर्मं शरीरिणम्।**
**जटिलं भस्मना च्छन्नं तस्मै बाणं न मुञ्चति ॥ १४ ॥**

**वधान्निवृत्तं[6] तं[7] भूयो हन्तवेऽत्रि रचोदयत्।**
**जहि यज्ञहनं तात महेन्द्रं विबुधाधमम्[8] ॥ १५ ॥**

**श्रीध. चरमेणेति**। वैन्ये यजुष्पतिं विष्णुं यजमाने सति स्पर्धमान इन्द्रः तिरोहितस्सन् अश्वमपहृतवान् ॥ ११ ॥

**तमिति**। त्वरमाणं धावन्तम्। आमुक्तम्[9]। "आमुक्तः प्रतिमुक्तश्च पिनद्धश्चापि न द्धवत्। सन्नद्धो वर्मितस्सज्ज" अम.को. 2-52) इत्यमरसिंहः[10]। पाषण्डं[11] वेषं कवचमिव गृहीतवन्तमित्यर्थः। अधर्मे धर्मविभ्रमः धर्मोऽयमिति भ्रान्तिकरः यः तम् ॥ १२, १३ ॥

---

1. v पतिः 2. A. B. G. I. J. M. Ma. T° ख° 3. V सूचितं, W. ज्ञापितो 4. B, सन्नद्धः, V. तं कुद्धः 5. M. Ma. °नेऽधर्मं J. MS. V, °ने धर्मं 6. M. Ma. °पापान्नि° 7. M, Ma वै 8. M, Ms, Ms. °धिपम् 9. A,B,J,Va Omit आमुक्तम् 10. Aadds पाखण्डं आमुक्तमिव 11. A,B,J,Va पाखण्डं

**तमिति**। न मुञ्चतिस्म॥ १४॥

**वधादिति**। हन्तवे हन्तुं, यज्ञहनं यज्ञं हतवन्तम्॥ १५॥

**वीर.** प्रतिघातकरणमेव प्रपञ्चयति **चरमेणेत्यादिना**। यजुष्पतिं भगवतस्त्रयीपतित्वेपि प्रकृतस्याश्वमेधस्य यजुर्वेद विहितत्वात्तदधिपतित्वाभिप्रायेण यजुष्पतिमित्युक्तम्। यजुष्पतिं भगवन्तं चरमेण शततमेनाश्वमेधेन वैन्ये पृथौ यजमाने आराधयति सति[2] स्पर्धन्स्पर्धमानः इन्द्रः[3] चक्षिडोडित्करणेन अनुदात्ते त्वल्लक्षणस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वज्ञापनाच्छत्रादेशः। तिरोहितस्सन् यज्ञ पशुमश्वमपोवाह अपहृतवानित्यर्थः॥ ११॥

तमिन्द्रं विहायसा[4] आकाशे त्वरमाणं धावन्तं भगवानत्रिर्मुनिः ऐक्षत्। कथम्भूतम्? अधर्मे धर्म विभ्रमः धर्मभ्रान्तिकर जटिलत्वाद्याकार लक्षणो यः[5] पाषण्डः[6] तं आमुक्तं प्रविष्टम्। यद्वा आमुक्तमिव कवचितमिव[7-] पाषण्डं पाषण्डरूपं[-7] कवचमिव गृहीतवन्तमित्यर्थः[8-]। कोऽसौ[-8] पाषण्डः[9] येन अमुक्तस्तत्राह - य इति। पूर्ववदर्थः॥ १२॥

अत्रिणा ज्ञापितः सूचितः पृथोः पुत्रः सङ्क्रुद्धस्सन् तं पशुहर्तारमन्वधावत् तिष्ठतिष्ठेत्यब्रवीच्च॥ १३॥

तादृशाकृतिं पाषण्डाकृतिं[10] तमश्वहर्तारं वीक्ष्य जटिलं जटाधारिणं भस्मना च्छन्नं हेतुगर्भमिदं विशेषणद्वयम्। जटिलत्वाद्भस्मनाच्छन्न त्वाच्च शरीरिणां मूर्तं धर्मं मेने बभ्रामेत्यर्थः। अतस्तस्मै अश्वहर्त्रे अश्वहर्तारं[11-] हन्तुं[-11] बाणं न मुञ्चति;-ना मुञ्चत्। जटिल त्वादिना[12] रूपेण अधर्मेपि धर्मभ्रमकरेण भ्रान्तस्तस्मै बाणं नामुञ्चदित्यर्थः॥ १४॥

वधादश्वहर्तुर्वधान्निवृत्तं तं पृथुपुत्रं अत्रि र्भूयः पुनः हन्तुं अचोदयत् प्रेरयामास। चोदनामेवाह हे तात! यज्ञहनं यज्ञ विघ्नकर्तारमत एव विबुधेष्वधमं यज्ञस्य विबुधाराधनरूपस्य हन्तृत्वात्तेषु[13] अधम मिति अभिप्रायः[14]। महेन्द्रं जहि संहर॥ १५॥

**विज.** कीदृशं विघ्नमकरोत् इत्यत्राह - **चरमेणेति**। चरमेण अन्त्येन शततमेन यज्ञेन यजुष्पतिं यजुर्मन्त्राधिदैवतं हरिं यजमाने सति स्पृधुस्पर्धायामिति धातोः शतृच् प्रयोगेणाऽऽत्मनः शतक्रतुत्वं प्रेतमिति ध्वनयन् इन्द्रो हरेरुल्लङ्घनं नाकरोदिति ज्ञायेते हरेरनभिप्रेतत्वे अश्वापहरणं तत्कटाक्षतो न क्षममिति। "उत्तमश्लोक विग्रहौ" इति (भाग 4-19-36) वक्ष्यमाणत्वात्॥ ११॥

---

1. A,B,T. °रित्यधि° 2. A,B,T, OMIT साति 3. W. OMITS इन्द्रः 4. W, °ख° 5. A,B,T, OMIT यः 6. A,B,T, 0ख0 7-7. A,B,T, °ख° 8-8. A,B,T OMIT 9. A,B,T °ख° 10. A,B,T, °ख° 11-11. W, OMITS 12. A,B,T, °दिरू°1 13. W, OMITS तेषु 14. A,B,T भावः

नन्वेवं तर्हि ऋषीणां त्रिकाल दर्शित्वख्यातिरपहस्तितेति तत्राह - **तमत्रिरिति** । विहायसा गन्तुं त्वरमाणम् । पुनः किमाकारमद्राक्षीदित्यतउक्तमामुक्तमिवेति। पाखण्डरूपमामुक्तं गृहीतमिव स्थितं पाखण्डं लक्षयति योऽधर्म इति। जनानां ज्ञानदुर्बलानां अधर्मे धमोऽयमिति विभ्रमो बुद्धिभ्रंशो यस्तत्पाखण्डरूपं ॥ १२ ॥

अत्रिणा दृष्टं चेत्प्रकृते किमागतमत्राह - अत्रिणेति ॥ १३ ॥

अनुधावनेन प्रत्यावर्त्य शक्रेण सह युद्धमभूत्किम् । नेत्याह - **तमिति** । अधर्मशरीरिणं पापदेहिनं मेने इत्यन्वयः । मुञ्चति मुमोच [1]जटा पाखण्डिना सह युद्धं न धर्म इति ॥ १४ ॥

चोरक्रिया मनुवर्तमानस्य पुंसो वधो न दोषायेति मुख्यधर्म विदुषा तत्र प्रेर्यमाणेन भवितव्य मिति जानन् अत्रिः पुनश्च तमचोदयदित्याह - पापान्निवृत्तमिति । वैशब्देन पापशङ्कां निवारयति, गुरोर्वचनमौषधम्'' इति स्मृतेः । विबुधाधिपत्यं चतुर्मुखस्याप्यस्तीत्यत उक्तं महेन्द्रमिति ॥ १५ ॥

**एवं वैन्यसुतः प्रोक्तस्त्वरमाणं विहायसा।**
**अन्वद्रवदभिक्रुद्धो [2]रावणं [3]गृध्रराडिव ॥ १६ ॥**

**सोऽश्वं रूपं च तद्धित्वा [4]तस्था वन्तर्हितःस्वराट्।**
**[5]वीरः [6]स्वपशुमादाय पितु र्यज्ञमुपेयिवान् ॥ १७ ॥**

**तत्तस्य चाद्भुतं कर्म [7]विचक्ष्य परमर्षयः।**
**नामधेयं ददुस्तस्मै विजिताश्व इति प्रभो ॥ १८ ॥**

**उपसृज्य तमस्तीव्रं जहाराश्वं पुनर्हरिः।**
**[8]चषालयूपतच्छन्नो हिरण्यरशनं विभुः ॥ १९ ॥**

**अत्रिः सन्दर्शयामास त्वरमाणं विहायसा।**
**कपालखट्वाङ्गधरं वीरो नैनम[9]बाधत ॥ २० ॥**

---

1. M लटा 2. M,MA, MS. धावदति° 3. T,W वारणं मृग° 4. A, B, G, I, J, T तस्मा अन्त° 5. M,MA, धीरः 6. MS, W, स°
7. M, MA, MS. विलक्ष्य 8. M, MA यूपयोच्छन्नोः, MS, यूपान्तश्छन्नोः, V, W, व्यूपात्तं छन्नो 9. A, B, G, J, MS, T, V °बा°

श्रीध. [1]एवमिति। गृध्रराट् जटायुः[1] ॥ १६ ॥

स इति। तस्मै हित्वा तदर्थमुत्सृज्य ॥ १७ ॥

उपसृज्येति। उपसृज्य सृष्ट्वा तेन सम्यक्[2] च्छन्नस्सन् चषालो यूपाग्रे निक्षिप्तः[3] काष्ठकटकः[4] तद्युक्तात् यूपात् हिरण्य निर्मिता रशना यस्य तं,रशनाया दृढत्वेन च्छेदाशक्तत्या रशनासहितमेवोद्धृत्य यूपाग्रान्नीतवानित्यर्थः। विभुस्समर्थः ॥ १९, २० ॥

वीर. एवं प्रोक्तो वैन्यसुतः पृथुपुत्रः विहायसा आकाशे त्वरमाणं धावन्तं इन्द्रं वारणं गजं मृगराडिव सिंह इव अत्यन्तं क्रुद्धः अन्वद्रवत् अनु पृष्ठतः अद्रवत् अधावीत्[5] ॥ १६ ॥

स स्वराडिन्द्रः तत्पाषण्डं[6] रूप मश्वञ्च हित्वा अन्तर्हितः तिरोहितः तस्थौ स्थितवान्, स वीरः पृथुपुत्रः पशुम् अश्वम् आदाय गृहीत्वा पितुः पृथोः यज्ञम् उपेयिवान् प्राप्तवान् ॥ १७ ॥

तस्य च पृथुपुत्रस्य तदद्भुतं विस्मयनीयं कर्म इन्द्रजयेनाश्वाहरणरूपव्यापारं विचक्ष्य[7] दृष्ट्वा परमर्षयोऽत्र्यादय स्सर्वे तस्मै पृथुपुत्राय विजिताश्वः विजयेनाऽऽहृतः अश्वो येन स विजिताश्व इत्यन्वर्थं नामधेयं ददुः चक्रुः। हे प्रभो! विजितेन्द्रिय! विदुर! ॥ १८ ॥

प्रभुः हरि रिन्द्रः तीव्रं निबिडं तमः उपसृज्य सृष्ट्वा तेन तमसा च्छन्न स्सन् चषालयूपे चषालोऽग्रे क्षिप्तः काष्ठकटकः तद्युक्ता द्यूपा दित्यर्थः। हिरण्यनिर्मिता रशना यस्य तं अश्वं पुनः जहार अपहृतवान् ॥ १९ ॥

पूर्ववद्विहायसा त्वरमाणं इन्द्रं अत्रिर्मुनिः विजिताश्वाय सन्दर्शयामास सन्दर्शितोऽपि वीरो विजिताश्वः एत मिन्द्रं कपाल खट्वाङ्गधरं हेतुगर्भ मिदं, कपालखट्वाङ्गधरत्वात्[8] नाबोधत[9-] न ज्ञातवान्[-9] ॥ २० ॥

विज. गृध्रराट् जटायुः ॥ २६ ॥

अत्रेन्द्रोऽसुरजनमोहाय स्वा मिशक्तिं दर्शयन्निवाऽभवदित्याह - सोऽश्व मिति। तदुक्तम् - "देवा श्शक्ताश्च मोहाय दर्शयेयु रशक्तवत्। ऋषीणां चैव राज्ञाञ्च नहि ते देवता समाः। आज्ञाया वा हरेः क्वाऽपि कार्यतो वा क्वचित्क्वचित् (गारुडे) इति यत्र क्वाऽपि तु देवैः ऋष्यादिषु" प्रणिपातादिकं क्रियते सोऽपि तत्सयहरौ मनसा सङ्कल्प्य क्रियत इति तात्पर्यं ज्ञातव्यञ्च। तदुक्तम् - "प्रणिपातादिकं देवैः ऋष्यादिषु जनार्दने। क्रियतेऽतो न तेषां हि तेजो भङ्गः कथञ्चन। अत्युत्तमाना मवरे तेजोभङ्गो न विद्यते। यथा नराणां तिर्यक्षु प्रायः साम्ये हि स स्मृतः" (स्कान्दे) इति ऋष्यादिषु स्थिते जनार्दने क्रियत इत्यर्थः ॥ १७ ॥

---

1-1. V, OMITS 2. A, B, J, VA, OMITS सम्यक् 3. VA, विं 4. V, शैक्म 5. A, B, आधाविश्रः 6. A, B, T, °ख° 7. A, B, T वीक्ष्य 8. A, B, T धारि 9-9. A, B, T नाबाधन न हनवान् ॥

इन्द्रं जितवता पृथोः पुत्रेण लोकसम्मतं किं जयस्तम्भलक्षणं यशः प्राप्त मत्राह - तत्तस्येति ॥ १८ ॥

पुंसा स्वकार्यसिद्धिपर्यन्तं प्रयत्नवता भाव्यमिति न्याय मनुसन्दधानः इन्द्रः पूर्वस्मा दधिकयत्नं विधाय दुर्जनमोहाय वेषान्तरं विधाया श्व मपाहार्षी दित्याह - उपसृज्ये इति। हरि रिन्द्रः, चषालयूपयो रन्त र्मध्ये च्छन्नो निलीनः "चषालो यूपकटकः" "कुम्ब्वा सुगनावृतिः" (अम.को. 2-417) इत्यभिधानात् दक्षनिर्मितयूपे वलय श्चषालः। हिरण्येन रचिता रशना काञ्ची यस्यं तम्॥ १९-२० ॥

**अत्रिणा चोदित स्तस्मै सन्दधे विशिखं रुषा।**

**सोऽश्वं रूपं च तद्धित्वा तस्था वन्तर्हितः स्वराट् ॥ २१ ॥**

**वीर स्स्वाश्व[1] मुपादाय पितृयज्ञ मथाऽव्रजत्।**

**तदवद्यं हरे रूपं जगृहु र्ज्ञान दुर्बलाः ॥ २२ ॥**

**यानि रूपाणि जगृहे इन्द्रो हयजिहीर्षया।**

**तानि पापस्य षण्डानि[2] लिङ्गं षण्ड[3] मिहोच्यते ॥ २३ ॥**

**एव मिन्द्रे[4] हरत्यश्वं वैन्ययज्ञ जिघांसया**

**तद्गृहीतविसृष्टेषु पाषण्डेषु[5] मति र्नृणाम् ॥ २४ ॥**

**धर्म इत्युपधर्मेषु नग्न रक्त पटादिषु।**

**प्रायेण सज्जते[6] भ्रान्त्या पेशलेषु च वाग्मिषु ॥ २५ ॥**

श्रीध. वीर इति। अवद्यं निन्दितं[7] हरे रिन्द्रस्य[-7] रूपं ज्ञानदुर्बलाः[8-] मन्दप्रज्ञाः[-8] जगृहुः ॥ २१ ॥

तदेव पाषण्डनाम[9] निरुक्त्या दर्शयति **यानीति**। बहुवचनेन च अन्यान्यपि गृहीतानीत्युक्तम् ॥ २३ ॥

तत्प्रभृति पाषण्डमार्गाः[10] प्रवृत्ता इत्याह - **एवमिति**। तेन गृहीतेषु पुन र्विसृष्टेषु[11] ॥ २४ ॥

धर्म इति। नग्नाः, रक्तपटाः बौद्धाः आदिशब्देन कापालिकादयः तेषु उपधर्मेषु[12-] धर्मोपमेषु[-12] धर्म एव अय मिति मतिः[13] सज्जत इति द्वयो रन्वयः[14]। पेशलेषु आपाततो[15] रम्येषु वाग्मिषु हेतूक्तिचतुरेषु ॥ २५ ॥

---

1. A, B, G, I, J, M, MA, MS, T °श्वा° 2. A, B, G, I, J, M, MA, T ख° 3. A, B, G, I, J, M, MA, T ख° 4. M, MA °मिन्द्रो 5. A, B, G, I, J, M, MA, T °ख° 6. W, सज्यते 7-7. B, J, V, VA, OMIT 8-8. B, J, V, VA, OMIR 9. A, B, J, VA, °ख° 10. A, B, J, VA, °ख° 11. A adds पाखण्डेषु 12-12. V, OMITS 13. V, OMITS मतिः 14. V °रैकान्वयः 15. A °नर°

**वीर.** अत्रिणा पुनः स एवेन्द्र इति चोदितो विजिताश्वः रुषा तस्मै इन्द्राय विशिखं बाणं सन्दधे। इन्द्रः अश्वं तद्रूपं कपालखट्वाङ्ग धरत्वादिरूपं च हित्वा अन्तर्हित स्सन्[1] तस्थौ ॥ २१ ॥

अथानन्तरं वीरो विजिताश्वः स्वाश्वं स्वपितु र्यज्ञाङ्ग मश्व मुपादाय गृहीत्वा पितुः पृथो र्यज्ञ मव्रजत्। तत्प्रभृति पाषण्डमार्गः प्रवृत्त इत्याह - **तदवद्य** मिति सार्धै स्त्रिभिः। हरे रिन्द्रस्य तदवद्यं निन्दितं रूपं जटिलत्वादिरूपं[2-2] ज्ञानदुर्बलाः ज्ञानहीनाः जगृहुः ॥ २२ ॥

एतदेवोपपादयति[3] - हयस्याश्वस्य जिघृक्षया ग्रहीतु मिच्छया यानि यानि रूपाणि जग्राह तानि तानि रूपाणि पापस्य षण्डानि[4] समूहा इति वर्णलोपेन निरुक्तानि रूपाणि लिङ्गं षण्डलिङ्गं पापित्वज्ञापकं षण्डं समूह इत्यन्वर्थनाम्ना इहास्मिन् लोके उच्यत इत्यर्थः ॥ २३ ॥

एवं वैन्यस्य पृथोः यज्ञजिघांसया यज्ञविघ्नं कर्तु मिच्छया अश्व मिन्द्रे हरति सति अश्वहरणोपायतया तेन इन्द्रेण गृहीतेषु पुनः पुनः विसृष्टेषु ॥ २४ ॥

उपधर्मेषु धर्माभासेषु अत एव पेशलेषु मृदुलेषु अनुकूलाभासेष्विति यावत्। वाग्मिषु मित मिव सम्यगिव वादिषु नग्न रक्तपटादिषु भावप्रधानो निर्देशः। नग्नत्व रक्तपटा दित्ववत्सु पाषण्डेषु रूपेषु[5] नृणां मति र्धर्म इति भ्रान्त्या प्रायेण प्रायशः सज्जते[6] आसक्ता भवति ॥ २५ ॥

**विज.** कायाच्छिरसः पृथग्भावं कुर्वती शिखा यस्य स विशिखः। "वि निषेधे पृथग्भावे" (वैज.को.8-7-6) इति यादवः। एवं विधं शरं दृष्ट्वा किं पराद्रवदिन्द्रो न, किन्तु निलीनोऽभूत्। रूपान्तरेण यज्ञान्तरायकरणायेत्याह - सोऽश्वमिति ॥ २१ ॥

अन्तर्हित इत्यनेन गृहीतरूपं विसृज्य रूपेणान्तर्धानं गम्यते। तत्र पूर्वरूपं किमभू दचेतनस्य चेतनसम्बन्ध एव हानादि क्रियासामर्थ्य मन्यथोच्छ्वसनीभूय नष्टं स्यात्। न तद्युक्तं देवकृतस्य अन्यथात्वादर्शना दत्राह - **तदवद्य**मिति। हरे रिन्द्रस्य ज्ञानदुर्बला अन्यथाज्ञानिन इत्यर्थः ॥ २२ ॥

रूपस्यावद्यत्व माह - **यानीति**। खण्डानि लिङ्गानि, खण्डं समुदायः। किमित्यत उक्तं लिङ्ग मिति। खण्डपदस्य समुदायवाचित्वेऽपि इहाऽस्मिन् प्रकरणे खण्डशब्देन लिङ्ग मुच्यते। अभ्यर्हितत्वा दुभयोः समुदायवाचित्वात्। "लिङ्गं शेफसि

---

. W, OMITS सन् 2-2. W, OMITS 3. T. °दुप° 4. A, B, T ख° 5. W, OMITS रूपेषु 6. W, सज्यने

वेषेंऽशे चिह्ने बुद्ध्यादि संहतै'' (वैज.को.6-3-30) इत्यभिधानात्। संहतिः समुदायः इत्यर्थः पापस्य वेषो वा। ''अप्यक्षर साम्यात्रिर्ब्रूया''दिति निरुक्तिकारवचना देकेनाऽपि प्रकारेण विवक्षितार्थसिद्धिः स्फुटेति॥ २३॥

साम्प्रतं ये वर्तमानाः पाखण्डा एतन्मूला इत्याह - **एवमिति**। मतिः अभिरुचिः अभूदिति शेषः॥ २४॥

कथं धर्म इति निरूप्य स्वयं किं रूपेषु उपधर्मेषु स्वतोऽधर्मत्वेऽपि उपमितधर्मेषु। तदुक्तम् - ''धर्मोपमत्वधर्मो[1] यः उपधर्मः स उच्यते।'' (हरिवंशे) इति चक्षुर्विषयं लक्षण माह - नग्नेति। आदिशब्देन कन्थानरकपाल-ढक्कादिमत्त्वं गृह्यते। तेषा मनुत्सादन माह - प्रायेणेति। सङ्गे निमित्त माह - पेशलेष्विति। पेशलेष्व विचाररमणीयेषु। एतदपि कुत इत्यत उक्तम् - वाग्मि ष्विति। कुतर्क बृंहित शास्त्रवाचालेषु॥ २५॥

**तदभिज्ञाय भगवान् पृथुः पृथुपराक्रमः।**
**इन्द्राय कुपितो बाण मादत्तोद्यत कार्मुकः॥ २६॥**

**तमृत्विजः शक्रवधाभिसन्धितं विचक्ष्य[2] दुष्प्रेक्ष्य मसह्य रंहसा[3]।**
**निवारयामासु रहो महामते न युज्यतेऽत्रान्यवधः[4] प्रचोदितात्॥ २७॥**

**वयं मरुत्वन्त मिहार्थनाशनं ह्वयामहे त्वच्छ्रवसा[5] हतत्विषम्।**
**अथातयामो पहवैस्तमग्नये[6] प्रसह्य[7] राजन् जुहवाम तेऽहितम्॥ २८॥**

**इत्यामन्त्र्य क्रतुपतिं विदुरास्य त्विजो रुषा।**
**सुग्घस्ताञ्जुह्वतोऽभ्येत्य[8] स्वयम्भूः[9] प्रत्यषेधत॥ २९॥**

**श्रीब्रह्म**

**न वध्यो भवता मिन्द्रो यद्यज्ञो भगवत्तनुः।**
**यं[10] जिघांसत यज्ञेन यस्येष्टा स्तनव स्सुराः[11]॥ ३०॥**

**श्रीध.** तदिति। शक्रवधे अभिसन्धितं कृताभिप्रायं प्रचोदितात् पशोः वधा दन्यस्य वधः तव न युज्यते॥ २६-२७॥

---

1. A, B °धमोऽयम् 2. M, MA दुःप्रे° 3. A, B, G, I, J, T °सम् 4. M, MA, वधोऽप्रचोदितः 5. W, त्वद्यशया 6. V हुतै°
7. A, B, G, I, J, T °रनन्तरं 8. M, MA., सुङ्घनस्तञ्जु° 9. W, ° तो वीक्ष्य 10. M, MA तं 11. A, B, G, I, J, T, V °ग्र

तद्वधन्तु वयं करिष्याम इत्याहुः - **वयमिति**। वय मिह यज्ञे[1-], अर्थं पशुं नाशयतीत्यर्थनाशनं[-1] त्वत्कीर्त्यैव हतप्रभ मिन्द्र माह्वयामहे। कैः ? अयातायामैः अगतवीर्यैः उपहुतैः[2-] आह्वानमन्त्रैः। अनन्तरं च ते तव अहितं जुहवामः होष्यामः॥ २८॥

**इतीति**। अस्य पृथोः सृक् हस्ते येषां तान्॥ २९॥

**नेति**। यमिन्द्रं यज्ञेन यजनेन[3-] जिघांसथ। यज्ञेन इष्टा स्सर्वे सुराः यस्य तनवः स इन्द्रः भवताम् अवध्यः[4] वधार्हो न भवति। यत् यस्मात् यज्ञो नाम अय मिन्द्रः भगवत स्तनुः अवतारः। "स यामाद्यै स्सुरगणै रपा त्स्वायम्भुवान्तरम्" (भाग. 1-3-12) "तत स्सप्तम आकूत्यां रुचे र्यज्ञोऽभ्यजायत[5-]। (भाग.1-3-12) इत्युक्तत्वात्॥ ३०॥

वीर. तत् इन्द्रकृतं क्रतुविघ्न मभिज्ञाय ज्ञात्वा अपरिमित पराक्रमः पृथुः कुपित स्सन् उद्यतं कार्मुकं धनुर्यस्य सः, इन्द्राय बाण मादत्त। इन्द्रं हन्तुं बाणं गृहीतवानित्यर्थः॥ २६॥

शक्रवधे अभिसन्धितं कृताभिप्राय मत एव क्रोधेन दुष्प्रेक्ष्य मसह्यं परैः सोढु मशक्यं रंहो बलं वेगश्च यस्य तं, पृथु मृत्विजः अत्र्यादयः निवारयामासुः। निवारणमेवाह - अहो ! महामते ! प्रचोदिता द्विहिता त्पशो र्वधात् अन्यस्य वधस्तु न युज्यते॥ २७॥

तद्वधन्तु वयं करिष्याम इत्याहुः - वयमिति। इहाऽर्थनाशनं यज्ञनाशकं त्वत्कीर्त्यैव हतप्रभं मरुत्वन्त मिन्द्रं वय माह्वयामहे कैः? अयातयामैः अगतवीर्यैः उपहवैः आह्वानमन्त्रैः, अनन्तरं च हे राजन् ! ते तव अहितं शत्रुं इन्द्रं प्रसह्य मन्त्रबलेन अग्नये जुहवाम, पशु पुरोडाश मिवाग्नौ होष्यामः॥ २८॥

इति इत्थं क्रतुपतिं पृथु मामन्त्र्य विज्ञाप्य हे विदुर ! अस्य पृथोः ऋत्विजः सुक् हस्ते येषां तान्, रुषा क्रोधेन जुह्वतः होमं कुर्वाणान् स्वयम्भू श्चतुराननः अभ्येत्य आगत्य प्रत्यषेधत निवारयामास॥ २९॥

प्रतिषेध मेवाह - भवता मार्त्विज्ये कर्मणि अधिकृताना मिन्द्रो वध्यो न भवति, कुतः ? यत् यस्मात् यज्ञः भगवत स्तनुः शरीरं तथा सुराश्च यस्य भगवतः इष्टाः निरतिशय प्रीति विषयाः तनवः। तत्कथं यज्ञेन भगवच्छरीरभूतेन[6-] यं[-6] भगवच्छरीरभूत मिन्द्रं जिघांसथ हन्तु मिच्छथ॥ ३०।

---

1-1. A. B, J. VA यज्ञनाशकं 2-2. A, B, J, V, VA OMIT 3-3 B, J, V, VA, OMIT 4. A, B, J, VA OMIT अवध्यः 5-5. V OMITS 6-6. A, B, T omit

**विज.** एव मस्या मवस्थायां पृथुना कृतः पराक्रमो न श्रूयत इति तत्राह - **तदभिज्ञायेति** ॥ २६ ॥

विहितहिंसां विनाऽन्यहिंसोद्यमे तत्त्वविदो निद्रिताः किम् ? तत्राह - ऋत्विज इति। कुतो न युक्त इत्यत उक्तम् अप्रचोदित इति, अविहितत्वात् ॥ २७ ॥

कथं तर्हि तन्निग्रहोपाय इति तत्रोच्यते - **वय मिति**। अयातयामोपहवै रन्यत्र। प्रयुक्तत्वेनागतसारै र्मन्त्रैः मरुत्वन्त मिन्द्रम् अर्थनाशनं यज्ञाख्यप्रयोजन द्रुहम्। आहूय किं कुर्वन्तीति तत्रोच्यते - तमग्रय इति। ते तवाऽहितम्।

नन्विन्द्रे निधनं गते यज्ञ एव न स्यात्, मन्त्राणां तद्विषयत्वात्। 'मरुत्वन्तं सख्याथ हवामहे'' (ऋक्.सं.) इति श्रुतेः। अतोऽत्र धर्मरहस्यवेदी कोऽपि नाऽभूदिति सभादोषं परिहरतो ब्रह्मण उक्ति प्रकारं वक्ति **इतीति**। क्रतुपतिं पृथुम्। अस्य पृथोः सम्बन्धिनः म्रुङ्न्यस्तं हविः मन्त्रशक्त्येति शेषः ॥ २९ ॥

किमाकारः प्रतिषेध इति तत्राह - **न वध्य** इति। कुतो न वध इत्यत उक्तम् - यद्यज्ञ इति। य द्यस्मात् भगवतो हरे स्तनुः यज्ञः। अनेन इन्द्रस्यावध्यत्वे किमायात मत्राऽऽह - यस्येति। सुराः इन्द्राद्या हरे रिष्टा स्तनवो विशेषसन्निधानयोग्या, यस्मा त्तस्मात्तस्येष्ट तनुत्वा दस्मिन् यज्ञे तमिन्द्रं न जिघांसत। इन्द्रजिघांसया हरेरप्रीत्या यज्ञ एव न स्या दित्यर्थः। यद्वा यज्ञो भगवत इन्द्रस्य तनुः भदत्रेष्टाः सुराश्च यस्येन्द्रस्य तनवः तस्मात् अस्मिन् यज्ञे तं न जिघांसतेति ॥ ३० ॥

**तदिदं पश्यत महद्धर्मव्यतिकरं द्विजाः।**
**इन्द्रेणानुष्ठितं राज्ञः कर्मैत द्विजिघांसता[2] ॥ ३१ ॥**[3]
**पृथुकीर्तेः[4] पृथो भूर्यात्तर्ह्योकोनशतक्रतुः[5]।**
**अलं ते क्रतुभिः स्विष्टै र्य द्भवा न्मोक्षधर्मवित् ॥ ३२ ॥**[6]
**नैवात्मनो[7] महेन्द्राय रोष माहर्तु मर्हसि।**
**उभावपि हि भद्रं ते उत्तमश्लोक विग्रहौ ॥ ३३ ॥**
**माऽस्मिन् महाभाग[8] कृथाः स्म चिन्तां निशामयास्मद्वच आदृतात्मा।**
**यद्ध्यायतो दैवहतं तु[9] कर्तुं मनोऽतिरुष्टं[10] विशते तमोऽन्धम् ॥ ३४ ॥**

---

1. A, B, यत्रेष्टाः 2. M, MA °द्धि 3. M, MA °या 4-4. M, MA, MS पृथुकीर्तिः पृपृथो ! भूयाः 5. M, MA, MS त्वं होकोन
6. M, MA, MS शिष्टै 7. A, B, G, I, J, MA, MS, J ने 8. A, B, G, I, J, M, MA, T, राज 9. A, B, G, I, J, T, W °न° 10. M, MA, MS कष्टं

**क्रतु र्विरमता मेष देवेषु दुरवग्रहः ।**

**धर्मव्यतिकरो यत्र पाषण्डै[1] रिन्द्रनिर्मितैः ॥ ३५ ॥**

**एभि[2] रिन्द्रोपसंसृष्टैः पाषण्डै[3] र्हारिभि र्जनम्[4] ।**

**ह्रियमाणं विचक्ष्वैनं[5] यस्ते यज्ञध्रुगश्वमुट् ॥ ३६ ॥**

**श्रीध.** अतो बलीयसाऽनेन सख्य मेव कर्तव्य मन्यथा भूयः पाषण्डं[6] ग्रक्ष्यती त्याशयेनाह - **तदिति** । तदिद मिन्द्रेणानुष्ठितं महदन्याय्यं पश्यत । किमित्यपेक्षाया माह । धर्मस्य व्यतिकरं विपर्ययं पाषण्डपथम्[7] ॥ ३१ ॥

तर्हि किमत्र युक्त मित्यत आह - **पृथुकीर्ते** रिति । एकेनोनं शतं यस्मिं स्तादृशः क्रतुः[8] क्रतुप्रयोगः[9] पृथो र्भूयान् । पृथुकीर्तिः पृथु रिति पाठे एकोनशतं क्रतवो यस्य तादृशोऽपि पृथोः महेन्द्रा त्पृथुकीर्तिः भूया दित्यर्थः । तदेव मृत्विजः प्रति उक्त्वा पृथुं प्रत्येवाह अन्त मिति ॥ ३२ ॥

आत्मनैवाऽऽत्मने महेन्द्राय रोषं कर्तुं नाऽर्हसि तत्र हेतुः उभावपीति ॥ ३३ ॥

**माऽस्मिन्निति** । तथाऽपि क्रतुसमाप्ति मेव ध्यायन्तं प्रत्याह । अस्मिन्यज्ञविघ्ने चिन्तां मास्म कृथाः । य द्यस्मात् दैवहतं कार्यं कर्तुं ध्यायतो मनो नु निश्चित मतिरुष्टं सत् अन्धं तमो मोहं विशति, न तु शान्तिं लभते ॥ ३४ ॥

**क्रतु** रिति । अत एव तव क्रतु र्विरमतु । नन्विन्द्रः किमिति[10] न निवार्यतेऽत आह यतो देवेषु दुरवग्रहः[11-11] दुराग्रहो भवतीति यत्र क्रतौ ॥ ३५ ॥

इन्द्र दुराग्रहकृत मनर्थं पश्येत्याह - एभिरिति । एभिरिन्द्रेणोपसंसृष्टै रधिष्ठितैः हारिभिः चित्ताकर्षकैः । य इन्द्र स्तेऽश्वं मुष्णातीति तथा यज्ञाय द्रुह्यतीति तथा । तेन सृष्टैः[12] ॥ ३६ ॥

**वीर.** हे द्विजाः ! राज्ञः पृथो रेतद्धर्मरूपं कर्म जिघांसता नाशयितु मिच्छता इन्द्रेणाऽनुष्ठितं धर्मव्यतिकरः संकरः[13] पाषण्डात्मकं महदन्याय्यं पश्यत ॥ ३१ ॥

---

1. A, B, G, I, J,M, MA, T °ख° 2. W, °रिन्द्राव 3. A, B, G, I, J, M, MA, T °ख° 4. MS. °नैः 5. M, MA, MS °तत् 6. A, B, J, VA °ख° 7. A, B, J, VA, °ख° 8. A OMITS क्रतुः, V, OMITS क्रतु 9. A, B, J, VA OMIR पृथुः 10. A, B, J, VA, OMITS इति 11-11. A, B, J, VA, OMITS 12. V. संसृष्टैः 13. A, B, T, OMIT सङ्करः

तर्हि तथा चेत् पृथुकीर्तेः विपुलकीर्तेः पृथोः एकेन ऊनं शतं यस्मिन् तादृशक्रतु प्रयोगः[1] एकोनशतक्रतु रपि पृथुः महेन्द्रात् पृथुकीर्तिः भूयादित्यर्थः। पृथुकीर्तिः पृथु रिति पाठे एकोनशतं क्रतवो यस्य तादृशः पृथुर्भूया दित्यर्थः। पृथुं सान्त्वयति ते त्वया स्विष्टैः सम्यगनुष्ठितैः एतावद्भिः क्रतुभि रलं यत् यस्मात् भवान् मोक्षधर्मवित् मुमुक्षोः रागाद्यपेत मेव कर्मानुष्ठानं युक्त मिति भावः॥ ३२॥

आत्मना मनसा रोषं महेन्द्राय आहर्तुं स्वीकर्तुं त्वं नार्हसि, हि यस्मात् त्वं महेन्द्र श्चेति उभा वपि उत्तमश्लोकस्य भगवतो विग्रहौ शरीरभूतौ अतः नाऽन्योन्यं विरोधो युक्त इति भावः। ते तुभ्यं भद्रं भूयात्॥ ३३॥

हे महाभाग ! अवहितमना मद्वचो निशामय श्रुणु अस्मिन् यज्ञविघ्ने चिन्तां मास्म कृथाः, यत् यस्मात् दैवहतं कार्यं कर्तुं ध्यायतः पुरुषस्य मनः नु निश्चित मिति रुष्ट मन्धं तमः मोहं विशति न तु शान्तिं लभते॥ ३४॥

अत एव तव क्रतु र्विरमताम्। नन्विन्द्रः किं न निवार्यते तत्राह। यतो देवेषु दुरवग्रहो भवति यत्र क्रतौ इन्द्रनिर्मितैः पाषण्डै र्धर्मव्यतिकरोऽभवत्॥ ३५॥

इन्द्रदुराग्रहकृत मनर्थं पश्येत्याह। एभि रिन्द्रेणावसृष्टैः[2] कल्पितैः पाषण्डै र्हारिभि श्चित्तापकर्षकैः ह्रियमाणां स्ववशीक्रियमाणं जनं विचक्ष्व पश्य य स्ते तव यज्ञध्रुक् यज्ञनाशकः अश्वं मुष्णाति अपहरतीति तथा॥ ३६॥

**विज.** भीषयन्निव वक्ति - **तदिद** मिति। इन्द्रेण शतक्रतुत्वहानिलक्षण भीत्यैतदनुष्ठित मिति ध्वनयति इन्द्रेणेति। पृथो राज्ञ एतत्कर्म जिघांसया॥ ३१॥

इदानीं पृथु मभिवदति - **पृथुकीर्तिरिति**। हे पृथो ! त्व मेकोनशतक्रतु रिति। पृथुकीर्तिः प्रख्यातकीर्ति र्भूया इत्यन्वयः। हि शब्देन त्वमेवैवंविधकीर्तिमान्नाऽन्यः इति स्फोटयति[3]। शक्रः शतक्रतु र्भूया दहं त्वदाज्ञया एको त्तरशतक्रतु र्भूयास मित्येव मभिसन्धिः स्या दत्राह - अलं ते इति। ते शिष्टै रेकद्विद्वैः क्रतुभि रधिकः स्यामिति बुद्धि रलं तिष्ठतु "अलं तु भूषणे शक्तौ पर्याप्तौ विनिवारणे" (वैज.को. 8-7-13) इति यादवः। तव[4] तदेव भूषण मिति भावेनाह - यद्भवानिति। मोक्षधर्म स्तारतम्यादि लक्षण स्तं वेत्तीति यद्यस्मा त्तस्मा न्निवृत्तिधर्मज्ञ इति वा। अनेन पृथुजीवा दिन्द्रस्यात्युत्तमत्वं सूचितमिति ज्ञायते॥ ३२॥

फलित माह - **नैवात्मनेति**। त्वत्सन्निहित हरे र्विशेष निवास हेतुत्वा दात्मन इत्युक्तम्। एतदेव विशिनष्टि - उभाविति।

---

1. W. °गं 2. W. °णोप 3. A, °र्° 4. A, °र्°

उत्तमश्लोकस्य हरेः विशेषस्थितिहेतु विग्रहो देहो ययो स्तौ तुभ्यं भद्र मस्तु हरेः सन्निधान विशेष पात्रत्वात्। अन्योन्यं जय पराजयाः न वक्तव्याः ॥ ३३ ॥

रोष शमनमेव कर्तु मुचित मन्यथा चिन्तया देहनाश स्तव स्यादित्याह - माऽस्मिन्निति। यद्दैवहतं कार्यं तत्कर्तु मुपायं ध्यायतः पुंसो मनोऽतिकष्ट मन्धं तमो विशते। तु शब्देन लोकद्वयेऽप्यनर्थपरम्परां सूचयति। हेत्वर्थो वा तस्मा दस्मिन् कार्ये चिन्तां स्मृत्वा मा कृथाः इत्यन्वयः। "स्मृते वृत्ते निषेधे स्म" (वैज.को. 8-7-7) इति यादवः। अथैत त्कुर्वित्याह निशामयेति। निशामय श्रृणु॥ ३४॥

किं तदत्राह - **क्रतुरिति**। न केवलं क्रतो र्विरमेण पूर्यते; किन्तु देवेषु दुरवग्रहो विरमतां देवेषु कुपितेषु त्वद्राष्ट्रे वृष्टिविघातोऽपि स्या दत स्तदुरवग्रहविरामः कर्तव्य इत्यर्थः। क्रतुविशेषणं वा। कुपितदेवविषयो दुष्टोऽवग्रहो यस्मा त्स तथा देवप्रीत्या सुवृष्ट्यर्थं पुरुषै र्यज्ञोऽनुष्ठीयते। तत्र देव प्रतिहते क्रतौ क्रियमाणे तदप्रीत्याऽनावृष्ट्यां व्रीह्याद्यौषध्यनुत्पत्त्याऽन्नाभावेन प्राणिनां प्राणधारणोपायाभावेन देहवियोगलक्षणो विनाशः स्या दिति। "व्याङ्परिभ्यो रमः, (अष्टा 1-3-83) इत्यनेन विहित परस्मैपद प्रयोगं विहाय स्वार्थहानि सूचनाय विरमता मित्यात्मनेपदप्रयोगः। इतोऽपि क्रतु र्विरमत्वित्याह धर्मव्यतिकर इति। यत्र यस्मिं श्चरमा श्वमेधे क्रियमाणे सति इन्द्रनिर्मितैः पाखण्डै र्धर्मव्यति करोऽधर्मे धर्मबुद्धया धर्मनाशः स्यात्॥ ३५॥

धर्मव्यतिकरं प्रत्यक्षतोऽपि पश्ये त्याह - **एभिरिति**। हारिभि र्वशीकरणसमर्थै र्ह्रियमाणं संगृह्यमाणं[1] मेत त्कर्म विचक्ष्व पश्य। कोऽसा विन्द्र इत्यत आह - य इति। यज्ञं द्रुह्यतीति यज्ञधृक्। अश्वं मुष्णातीति अश्वमुट् स इन्द्र इत्यर्थः॥ ३६॥

**भवान् परित्रातु मिहावतीर्णो धर्मज्ञ नाना समयानुरूपम्।**
**वेनापचारा दवलुप्त मद्य तद्देहतो विष्णुकलाऽसि वैन्य[2]॥ ३७॥**

**स त्वं विमृश्यास्य[3] भवं प्रजापते[4] सङ्कल्पनां[5] विश्वसृजां[6] पिपीपृहि।**
**ऐन्द्रीं च माया मुपधर्ममातरं प्रचण्डपाषण्डपथं[7] प्रभो जहि॥ ३८॥**

---

1. A, B, G, I, J, T धर्मं जनानां; M, MA, MS धर्मं च नाना 2. MS, W, वैन्यः 3. M, MA, °भिभवं 4. M, MA, MS पतेः
5. A, B, G, I, J, T °ल्पनं, M, MA, MS, °ल्पितं 6. M, MA, MS सृजोऽतिपी° 7. A, B, G, I, J, M, MA, T °ख°

## मैत्रेय उवाच

**इत्थं स लोकगुरुणा समादिष्टो विशाम्पतिः ।**

**तथा च कृतवान्[1] सख्यं मघोनापि च सन्दधे ॥ ३९ ॥**

**कृतावभृथ्यस्नानाय[2] पृथवे भूरि कर्मणे ।**

**वरान्[3] ददु स्ते वरदा ये तद्बर्हिषि तर्पिताः ॥ ४० ॥**

**विप्राः सत्याशिषस्तुष्टाः श्रद्धया लब्धदक्षिणाः ।**

**आशिषो युयुजुः क्षत्तः आदिराजाय[4] सत्कृताः[5] ॥ ४१ ॥**

**त्वयाऽऽहूता[7] महाबाहो[8] सर्व एव समागताः ।**

**पूजिता दानमानाभ्यां पितृदेवर्षिमानवाः ॥ ४२ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टादश साहस्र्यां

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां

चतुर्थस्कन्धे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

**श्रीध.** ततो मम किमिति चे त्तत्राह - **भवानिति** द्वाभ्याम् । सांख्ययोगदिनानासिद्धान्तानुरूपं धर्मं वेनस्यान्याया लुप्तं परित्रातुं तद्देहा द्विष्णोः कलैव त्व मवतीर्णोऽसि ॥ ३७ ॥

**स इति** । हे प्रजापते[9-9] अस्य विश्वस्य भवम्[10] उद्भवं विचार्य यैः उत्पादितोऽसि तेषां विश्वसृजां सङ्कल्पं व्यवसितं[11-11] पिपीपृहि[12] इति आर्षः प्रयोगः पूरये त्यर्थः । प्रचण्डो यः पाषण्डमार्गः[13] सैव ऐन्द्री माया[14] उपधर्ममाता[15-15] अधर्मजननी[15-15] तां जहि[16] विनाशय ॥ ३८ ॥

**इत्थ मिति** । तथा च कृत्वा यज्ञाग्रहं हित्वा वात्सल्यं स्नेहं च कृत्वा इन्द्रेण सह सन्धानं च कृतवान् ॥ ३९ ॥

**कृतेति** । कृत मवभृथ सम्बन्धि स्नानं येन स तस्मै ॥ ४०, ४१ ॥

---

1. A, B, G, I, J, T, V कृत्वा वात्सल्यं 2. A, B, G, I, J, T भृया 3. V वरं 4. M, राज 5. MS, सत्कथाः 6. MS. adds सदस्याः This Vesseis Mot Found in M, Ma 7. M, MA तथाऽऽहनाः 8. M.Ma.°ऽऽहनाः 9-9. V omit 10. A, B, J, VA, omit भवम् 11-11. A, B , J, VA, omit 12. A, B, J, VA, omit 13. A, B, J, VA °ख° 14. V स एव 15-15. A, B, J, VA उपधर्मजननी 16. B, J, V, VA, omit

ततः[1] तुष्टानां वाक्यं त्वयेति ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्री श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

**वीर.** ततो मम किमिति चेत्[2] तत्राह - **भवानिति** द्वाभ्याम्। नाना समयानुरूपं विविधसिद्धान्तानुरूपं धर्मं वेनस्या पचारादन्याया दवप्लुतं परित्रातुं अद्य अधुना तस्य वेनस्य देहतः इह लोकेऽवतीर्णः वैन्यः वेनपुत्रोऽपि त्वं विष्णुकलाऽसि[3] विष्णोरंशभूतोऽसि ॥ ३७ ॥

स विष्णुकलाभूत स्त्व मस्य जगतो भव मुत्पत्तिं विमृश्य विचार्य हे प्रजापते ! विश्वसृजां सङ्कल्पानां[4] सङ्कल्पं पिपीपृहि पूरय। येभ्यो विश्वसृड्भ्योऽस्य जगत युक्त मित्यभिप्रायेण प्रजापते इति सम्बोधनं कृतम्। प्रचण्डो यः पाषण्डमार्गः सैवेन्द्री माया उपधर्मस्य माता जननी तां जहि प्रभो ! तथा कर्तुं समर्थ स्त्व मित्यभिप्रायेण प्रभो इति सम्बोधनम् ॥ ३८ ॥

उपसंहरति - **इत्थमिति** पञ्चभिः। इत्थ मेवं लोकगुरुणा ब्रह्मणा[5] सम्यगादिष्टो दिशाम्पतिः दिक्पतिः स पृथुः मघोना इन्द्रेण सह तथा च ब्रह्मोक्तरीत्या सख्यं कृतवान्[6] तेनैव च सन्दधे सन्धिं कृतवान् ॥ ३९ ॥

कृत मवभृथसम्बन्धिस्नानं येन तस्मै, भूरिकर्मणे विपुलव्यापाराय पृथवे तस्य पृथो र्बर्हिषि यज्ञे ये तर्पिता स्ते वरदा देवा वरान् ददुः ॥ ४० ॥

सत्याः फलाऽविनाभूताः आशिषः आशीर्वादाः येषां ते विप्राः श्रद्धया प्राप्तदक्षिणाः[7] अत एव तुष्टाः पुनश्च सत्कृताः हे क्षत्तः। आदिराजाय पृथवे आशिषः युयुजुः कृतवन्तः ॥ ४१ ॥

हे महाबाहो ! विदुर ! तथाऽन्ये ये तत्र यज्ञे समागता स्ते सर्वे आदृताः प्रीतिविषयीकृताः यथायोग्यं दानमानाभ्यां[8] पूजिताः पित्रादयः ॥ ४२ ॥

---

1. A. B. J. VA, omit ततः 2. A. B. T omit चेत् 3. W. omits कृतं 4. A. B. T. °नं 5. A, B, T, omit ब्रह्मणा 6. A, B, T कृतं
7. A. B. T आवाप्त 8. W सम्माना°

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

**विज.** धर्मावनार्थ मवतीर्ण त्वाच्च तस्य नाशप्रयत्ने महानतिक्रम इत्याशयेनाऽऽह - **भवानिति** । च शब्दो धर्मविरोधि परिहारार्थ मपीति ग्राह्यम् । नाना समयानुरूपं नानाविधशास्त्रानुसृतं वेनापचारा द्वेनाख्यापचारा दवलुप्तं नष्टं तस्य वेनस्य देहतः "अहं कः" इति भ्रान्ति र्माभूदित्यत स्तत्स्वरूप मुपदिशति विष्णुकलेति । हे वैन्य ! अनेन विष्णोः सत्त्वेन स्थितिहेतुत्वात् तत् कलाविशिष्टत्वात् तद्धर्मविरुद्धाचरणं न युक्त मिति सूचयति ॥ ३७ ॥

उक्तोपसंहारमुखेन कर्तव्यं विधत्ते **सत्त्व मिति** । यस्मा द्धर्मावनार्थ मवतीर्णोऽसि तस्मात्स त्वं प्रजापते रिन्द्रस्याभिभवं त्वच्चिकीर्षितं शतक्रतुत्वं विमृश्य[1] मदनुष्ठिते[2] धर्मविरोधः स्यादिति मया तन्नकार्य मिति विचार्य विश्वसृज इन्द्रस्य सङ्कल्पितं पृथुना शतक्रतुत्वं न विधेय मिति निरूपित मति पिपीपृहि अत्यन्तं पूरयेत्यन्वयः । इन्द्रस्य विरोधाकरणेऽभितः सर्वतो भवं शुभं भवतीति विमृश्य विश्वसृजः प्रजापते र्मम तवैकोनशतक्रतुत्वं सङ्कल्पित मति पिपीपृहीति वा । पॄ-पालन पूरणयो रिति धातुः । प्रचण्डस्य पाखण्डस्य, पन्थान मैन्द्री मिन्द्रनिर्मिता मुपधर्मस्य मातरं जनयित्रीं मायाञ्च जहि विशिष्टधर्माचरणेन विनाशये त्यन्वयः ॥३८॥

सात्त्विकप्रधानत्वा त्पृथुना चतुर्मुखोक्तं गृहीत मित्याह - **इत्थमिति** । मघोनेन्द्रेण ॥ ३९ ॥

यज्ञान्तोऽवभृथ स्तत्प्रभाव मावभृथ्यं कृत मावभृथ्यं स्नानं येन स तथोक्त स्तस्मै ॥ ४० ॥

एतदेव विशिनष्टि **विप्रा** इति । सत्याशिषोऽभीष्टसाधनसमर्थ शुभवाक्यप्रबन्धाः आशीर्दानलक्षण एव फलाविर्भाव प्रदर्शनाय युयुजु रित्युक्तम् । फल नित्यसम्बन्धार्थं वा ददातेः कालान्तरेऽपि फलप्राप्ति संशयहेतुत्व सम्भवात् ॥ ४१ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीविजयध्वजतीर्थकृतायां पदरत्नावल्यां

टीकायां एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

---

1. A. B. °शन् 2. A omits मत्

# विंशोऽध्यायः

## मैत्रेय उवाच

भगवानपि[1] वैकुण्ठः साकं मघवता विभुः।
यज्ञैर्यज्ञपतिः स्विष्टो[2] यज्ञभुक् तमभाषत ॥ १ ॥

श्री भगवानुवाच[3-3]

एष तेऽकार्षीद्भङ्गं[4] हयमेधशतस्य ह[5]।
क्षमापयत आत्मानममुष्य क्षन्तुमर्हसि ॥ २ ॥

सुधियः साधवो लोके नरदेव नरोत्तमाः[6]।
नाभिद्रुह्यन्ति भूतेभ्यो यर्ह्यनात्मा[7] कलेबरम्[8] ॥ ३ ॥

पुरुषा यदि मुह्यन्ति त्वादृशा देवमायया।
श्रम एव परंजातो दीर्घया वृद्धसेवया ॥ ४ ॥

अतः कायमिमं[9] विद्वान विद्याकामकर्मभिः।
आरब्ध[10] इति नैवास्मिन् प्रतिबुद्धोऽनुषज्यते[11] ॥ ५ ॥

## श्री श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

विंशेतु विष्णुना साक्षात्पृथोर्यज्ञेऽनुशासनम्। वरदानप्रसङ्गेन प्रीतिश्चान्योन्यमीर्यते।

भगवानिति। मघवता साकम् इन्द्रेण सह वर्तमानः ॥२॥

एष[12-12] इति। आत्मानं त्वां क्षमापयतः क्षमां कारयतः अमुष्य[13] इन्द्रस्य[14-14] त्वमपि क्षन्तुमर्हसि ॥२॥

---

1. M, MA, °वाञ्चापि 2. A, B, G, J, T °स्तुष्टो 3-3. MS श्रीवैकुण्ठः, W, OMITS 4. M, MA, MS, ते ह्यकार्षी°; A, B, J, T तेऽकारर्षी ; G, I तेऽकार्षी°; V तेऽकारिष° 5. W हि 6. M, MA °म ! 7. A, B, G, I, J, T, V यर्हि नात्मा 8. W, °रः 9. M, MA, MS एवं इमं 10. M, MA, MS आरब्धमिति 11. M, MA, न सज्जते ; A, B, G, I, J, T, MA, V °ऽनुषज्जते 12--12. A, B, J, Va omit 13. B, J, V, Va omit इन्द्रस्य 14--14. V omits

**सुधिय** इति। यर्हि यस्मात् कलेबरमात्मा न भवति अतस्तदभिमानेन भूतानि नाभिद्रुह्यन्ति ॥३,४॥

**अत** इति। अविद्या स्वरूपाज्ञानं ततः कामः ततः कर्म तैरारब्ध इति विद्वान् अत एव प्रतिबुद्ध आत्मज्ञोऽस्मिन्नैवानुषज्जते ॥ ५ ॥

## श्री वीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं चतुर्मुखादेश निवृत्तक्रोधः कृतशतक्रतु सख्य आदृतर्त्विग्देवर्षिगण[1] आसीदित्युक्तम्। अथ भगवता निवेदितेन्द्र क्षमापणः प्रतिबोधित तत्त्वत्रययाथात्म्यस्वधर्मः परवरणप्रवर्तितः प्रतिनिवृत्त त्रिवर्ग लिप्सः प्रपूरितपरमपूरुषः स्वपुरमगादित्याह मुनिः[2] विंशेन **भगवानपीति**। षाड्गुण्यपूर्णो यज्ञरक्षकः सर्वयज्ञाराध्यो वैकुण्ठः परमपूरुषः पृथ्वनुष्ठितैर्यज्ञैः सम्यगाराधितो मघवता सह इन्द्रेण सह तं पृथुमभाषत जगाद ॥ २ ॥

[3]उक्तिमेवाह - **एषइति**। एष इन्द्रस्ते तव हयमेधशतस्याश्वमेधशतसङ्कल्पस्य हि यस्मात् भङ्गमकार्षीत् अत आत्मानं त्वां क्षमापयतः क्षमां कारयतः अमुष्य इन्द्रस्य क्षन्तुमर्हसि इन्द्रविषये क्षमां कर्तुमर्हसीत्यर्थः ॥ २ ॥

कथं दुस्सहोऽपराधः क्षन्तुं शक्यस्त ऽत्राह **सुधिय इति**। हे नरदेव ! लोके नरोत्तमाः सुधियः देहात्मयाथात्म्यविदः साधवः परोपकारपराः भूतेभ्य आगस्कृद्भ्योऽपि भूतेभ्यः नाभिद्रुह्यन्ति, कुतः यर्हि यस्मात् कलेबरमनात्मा आत्मेतरत्। अतस्तदभिमानेन द्रोहं न कुर्वन्तीत्यर्थः। सुधियां[4] सोढुं शक्य एवेति भावः ॥ ३ ॥

एवमन्वयमुखेन सुधियां भूतद्रोहाकरणमभिधाय व्यतिरेकमुखेनाह - **पुरुषा इति**। यदि त्वादृशाः सुधियः पुरुषा ईश्वरमायया यदि मुह्यन्ति[5-] मोहं प्राप्नुवान्ति[-5] देहात्ममोहेन देह प्रयुक्त भूतद्रोहादिकं कुर्वन्ति तर्हि त्वादृशैः[6] चिरकालं कृतया महतां सेवया श्रम एव परं केवलं जातः सम्पादितः। ते दुर्धियः एवेति भावः॥ ४ ॥

अतः सुधियां देहात्माभिमान प्रयुक्त भूतद्रोहादेरभावात्, अन्यथा दुर्धीत्वप्रसङ्गाच्च इमं कायं देहमविद्या कामकर्मभिः अविद्या अज्ञानं तच्च देहात्माभिमान स्वतन्त्रतात्माभिमानरूपेण द्विविधं, कामः अविद्यामूलकः शब्दादिविषयेष्विच्छाविशेषः, कर्म काममूलकं पुण्यापुण्यरूपम्, एभिरारब्धः उत्पादित इत्येवमिमं कायं देहं विद्वान् जानन् अत एव प्रतिबुद्धः चिदचिदीशयाथात्म्यज्ञः अस्मिन् देहे नैवानुषज्यते[7]। एवकारेण नितरामासक्त्यभावः सूच्यते ॥ ५ ॥

---

1. A, B, T omit ऋषि 2. A, B add एकोन 3. A, B, T उक्त° 4. A, B, T °था 5--5. A, B, T omit 6. A, B, T °ल° 7. A, B, T °ज्ज°

## श्री विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अत्रोत्तमगुरुणा स्वयोग्योपासनाविषयो हरिरुपदेष्टव्य इति द्योतयितुं पृथुजीवाय हरिणा स्वात्मोपदिश्यत इति प्रतिपादयितुमाह - **भगवानिति**। अपिशब्दस्य ब्रह्मभाषणेन पुनः समुच्चयः कारयितृत्वेन स्वामित्वेन भोक्तृत्वेनापि एक एवोच्यत इति दर्शनाय, वैकुण्ठादिनामग्रहणं च शब्देनाग्रपूजयेष्ट इति समच्चिनोति, जगदुत्पत्तौ विश्लिष्टानां भूतानां संयोजकत्वात् वैकुण्ठः। तदुक्तं शान्तिपर्वणि - "मया संश्लेषिता भूमिरद्भिर्व्योम च वायुना। वायुश्च तेजसा सार्धं वैकुण्ठत्वं ततो मम।" (भारते - शान्तिपर्वणि) इति। "अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।" (भगी - 9-24) इति च॥ १॥

हयमेधशततमस्येति व्याख्येयम्। अन्यथा चरमाश्वमेधसिद्धया तदेकभङ्गाभावेन सर्वभङ्गापत्त्या त्वमेकोनशतक्रतुरित्यनुपपन्नं स्यात्। इममर्थं ग्रन्थान्तरे सिद्धं हेत्यनेन सूचयति। किमत्र कार्यं तदाज्ञापयेति तत्राह - क्षमापयत इति। आत्मानं त्वां क्षमापयतोऽमुष्येन्द्रस्य क्षन्तुमर्हसीत्यन्वयः। आत्मानं मां क्षमापयत इति वा, त्वयि सन्निहितत्वेन तव विरोधाचरणं ममेति तत्तस्मान्मम क्षमापणं प्रार्थनमित्यर्थः॥ २॥

अक्षमा साधुगुणो न स्यादित्याह - **सुधिय** इति। तत्र निमित्तमाह - यर्हीति। कलेबरमनात्मा जडमत एवानित्यं यर्हि यस्मात् तस्मात्॥ ३॥

इतोऽपि क्षमा कर्तव्येति व्यतिरेकमुखेनाह **पुरुषा** इति ॥ ४॥

तत्किम्? तत्राह - **अत एवेति**॥ ५॥

**असंसक्तः शरीरेऽस्मिन्नमुनोत्पादिते गृहे।**
**अपत्ये द्रविणे वापि[1] कः कुर्यान्ममतां बुधः॥ ६॥**

**एकः शुद्धः स्वयंज्योतिर्निर्गुणोऽसौ[2] गुणाश्रयः।**
**सर्वगोऽनावृतः साक्षी परमात्माऽऽत्मनः[3] परः॥ ७॥**

***देहाद्युपात्तास्तद्धर्मा[4] न स्युस्तद्दृष्टुरात्मनः।**
**कैवल्यं तस्य वैधर्म्यं[5] तत्सुषुप्तं निदर्शनम्॥ ८॥**

---

1. M, Ma, Ms दारे 2. W °ऽपि 3. A, B, G, I, J, T, V निरात्माऽऽत्माऽऽत्मनः; M, Ma, Ms निरात्मा नाऽऽत्मनः * This verse is not found in A, G, I, J, T, V and the same verse is not commented upon by Sridhara. 4. M, Ma, Ms °र्धा° 5. M, Ma, Ms वै धर्मः

**य एवं सन्तमात्मानमात्मस्थं वेद पूरुषः ।**

**नाज्यतेप्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः स[1] मयि स्थितः ॥९॥**

**यः स्वधर्मेण मां नित्यं निराशीः श्रद्धयान्वितः ।**

**भजते शनकैस्तस्य मनो राजन् प्रसीदति ॥१०॥**

**परित्यक्तगुणः सम्यग्दर्शनो विशदाशयः।**

**शान्तिं[2] मे समवस्थानं ब्रह्म कैवल्यमश्नुते ॥ ११ ॥**

**श्रीध.** तथापि पुत्रादि[3-]षु आसक्तस्य मम[-3] भूतद्रोहेण च सङ्गो भवेत्तत्राह - **असंसक्त इति** ॥ ६ ॥

प्रतिबोधक्रमं विवृण्वन् देहेऽनुषङ्गाभावमाह **एक इति** द्वाभ्यां। असावात्मा आ[4]त्मनो देहात्परो भिन्नः तत्र नवधा वैलक्षण्येन भेदं साधयति **एक** इति नवभिः पदैः। देहो हि बालयुवादिभेदादनेको मलिन[5]श्च जडश्च सगुणश्च स्वकारणभूतगुणाश्रितश्च परिच्छिन्नश्च गृहादिभिरावृतश्च दृश्यश्च सात्मा च। आत्मा तु नैवमतो भिन्नः ॥७॥

**य इति** । आत्मस्थं स्वस्मिन् स्थितम् । प्रकृतिस्थोऽपि स्व[6]देहस्थोऽपि तद्गु[7]णैः तद्विकारै र्न लिप्यते । यतः स मयि ब्रह्मणि स्थितः ॥ ८,९ ॥

इयमवस्था कस्योत्पद्यत इत्यपेक्षायामाह - **यः स्वधर्मेणेति** चतुर्भिः । निरा[8-]शीः निष्का[-8]मः ॥ १० ॥

[9-]भवतु मनः प्रसन्नं ततः किम् ? तत्राह[-9] - **परित्यक्तगुण** इति । यर्हि [10]यदा विशदाशयः प्रसन्नमनाः तदा परित्यक्तगुणस्सन् सम्यग्दर्शनो भूत्वा शान्तिमश्नुते । शान्तिमेवाह । मे[11] मम सम्यगौदासीन्येनावस्थानमेव ब्रह्म तदेव कैवल्यमश्नुते॥२२॥

**वीर.** देह एवानासक्तः, कथं देहानुबन्धि[12]ष्वासक्तः स्यादित्याह - **असंसक्त इति** । अस्मिन् शरीरे असंसक्तः समित्येकीकारे आत्मना सह देहमेकीकृत्य तस्मिन्नासक्त इत्यर्थः, अमुना शरीरेणोत्पादिते सम्पादिते गृहे अपत्ये पुत्रादौ द्रविणे वित्ते च ममतां को वा बुधः कुर्यात् ? न कोऽपि बुधः कुर्यात् । अज्ञस्तु कुर्यादित्यर्थः । अतो बुधः देहार्थं देहानुबन्ध्यर्थं वा भूतद्रोहादिकं न कुर्यादिति भावः ॥ ६ ॥

---

1. M, Ma समव  2. W शान्तं  3--3. A, B, J, Va पुत्रादिममत्वेन  4. V आत्मनः  5. V adds अनात्मा  6. A, B, J, Va omit स्व
7. B, J, V, Va omit तद्गुणैः  8--8. B, J, V, Va omit  9-9. V omit  10. B, J, V, Va omit यदा  11. A, J, V, Va, omit मे  12. W °ष्व°

बुध इत्यनेन चिदचिदीशयाथात्म्यज्ञानवत्त्व मुपक्षिप्तं तत्कीदृशमित्यपेक्षायां तत्र एक इति द्वाभ्यां चिदचिदीशस्वरुपं विशोध्य ततो[1] य एवमित्येकेन आत्मयाथात्म्यज्ञानयोगस्य भगवज्ज्ञानाङ्गत्वं तत एकेन कर्मयोगस्यापि[2] तदङ्गत्वमभिधाय तदुभयानुगृहीत भगवद्भक्ति[3] योगस्य भगवत्प्राप्त्युपायतामभिदायेदृश भगवदुपासन निष्ठस्य देहतदनुबन्धि[4] प्रयुक्त विकारा न स्युरित्याह - एक इत्यादिना। प्रकृति विविक्तात्म स्वरूपशोधनेन प्रकृति परिणामरूपदेहस्य तद्विपरीत धर्मवत्त्वस्यार्थादेव सिद्धेः पृथक् तद्बोधनं नापेक्षितमिति तावदात्मस्वरूपं प्रकृतिविविक्तं शोधयति। एकः ज्ञानैकाकारतया सर्वत्र एकस्वरूपः "एको व्रीहिः सुसम्पन्नः सुपुष्टं कुरुते प्रजाः" इति वदयं निर्देशः।

नानाकारेषु देवमनुष्यादिशरीरे ष्ववस्थितोऽपि सर्वत्र ज्ञानैकाकारतया एकस्वरूप[5] इत्यर्थः। देहस्तु देवमनुष्यपशुपादपतदवान्तर भेदभिन्नः। शुद्धः निर्मलः देहस्तु मलिनः। स्वयंज्योतिः स्वयंप्रकाशः निर्गुणः रागद्वेषादिरहितः गुणाश्रयः ज्ञानानन्दादिगुणाश्रयः सर्वगः अणुस्वरूपत्वेऽपि धर्मभूतज्ञानेन सर्वव्यापी अनावृतः देह इव गृहादिभिः अनावृतः साक्षी देहेन्द्रियादीनामपरोक्षं द्रष्टा, देहस्तु परप्रकाश्यः रागद्वेषादि गुणाश्रयः ज्ञानादिगुणानाश्रयः व्याप्यः आवृतः दृश्यश्चेत्यर्थ सिद्धं, परं केवलमात्मा देहादिष्वन्तः प्रविश्य धारकः देहस्तु धार्यः, अत आत्मनः देहात्परः विलक्षणः ॥ ७ ॥

अत एव देहादिभिः उपात्ताः स्वीकृताः, आदिशब्दः प्राणेन्द्रियपरः, तद्धर्मा तेषां देहादीनां धर्माः बाल्ययौवनाशना पिपासादयः तच्छब्देन बाल्यादीनां तदेकान्तत्वं सूच्यते। तद्रद्रष्टुस्तस्य देहादेर्द्रष्टुरात्मनो जीवस्य न स्युः। तस्य आत्मनो यत्कैवल्यं देहगतजात्यादिराहित्यमेव तस्य देहा द्वैधर्म्यमुक्तं, देहविलक्षणमात्मस्वरूपं कदा स्फुरतीत्याशङ्कायां सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः इत्यभिप्रयन् तत्र सुषुप्ते जीवदवस्थायामेवाहरहरनुभूयमानत्वेन सुषुप्तिरेव निदर्शनमित्याह। तत् तत्र सुषुप्तं सुषुप्तिः :- भावेक्तः- निदर्शनमुदाहरणमित्यर्थः। सुषुप्तौ हि देहगतब्राह्मणत्वादिबाह्याकारो नानुभूयते, किन्तु देहविलक्षणं स्वस्वरूपं तथा चोक्तं तृतीये "भूतसूक्ष्मेन्द्रिय मनोबुद्ध्यादिष्विह निद्रया। लीनेष्वसति यस्तत्र निर्दिष्टो निरहं क्रियः॥ (भाग 3-27-14) इति[6]। अनेन देह तद्धर्माणां चात्मप्रतीत्यविषयत्वमुच्यते। एवं प्रकृतिपुरुषयोः स्वरूपे निरूपिते। यद्वा इदं श्लोकद्वयं प्रधानजीवविलक्षण परमात्मस्वरूपकथनपरं प्रकृति पुरुषस्वरूपं तु अर्थाद्विशोधितं भवति प्रकृति विविक्तात्मस्वरूप विवेचन परत्वे हि सुषुप्तं तन्निदर्शन मित्यस्वरसं स्यात्। सुषुप्तौ देहादेरप्रतीतावपि उक्तविधत्वेनात्म स्वरूपस्याप्रतीतेः। तस्मादयमर्थः - एकः स्वसमाभ्यधिक-द्वितीयवस्त्वन्तर रहितः शुद्धः अपापविद्धः अपहतपाप्मेत्यर्थः। स्वयंज्योतिः निरूपाधिकस्वयं प्रकाशः निर्गुणः प्रकृतिपुरुषगताज्ञत्वदुः खित्वादिहेयगुणरहितः, गुणाश्रयः

1. A,B,T अथ 2. A,B,T omit अपि 3. A, B, T omit भगवद् 4. A, B, T देहानु 5. W omits स्व 6. A, B, T add निरहाक्रिय इति

अनन्तकल्याणगुणाश्रयः सर्वगः स्वरूपतः स्वभावतश्च विभुः अनावृतः देहादिष्ववस्थितोऽपि तैरपरिच्छिन्नः, साक्षी सर्वं युगपत् साक्षात्कर्ता उदासीनो वा। आत्मनः उक्ताकारविपरीताज्जीवात् परः विलक्षणः परमात्मा परो मा यस्मात् स परमः स चासौ आत्मा च स्वसमानाधिकात्मान्तराव्याप्यः स्वव्यतिरिक्तस्य सर्वस्यान्तःप्रविश्य प्रशासनेन धारकः। जीवस्तु नैकः, किन्तु बहवः समानाकाराः ''नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां''(कठ 5-5-13) ''न त्वेवाहं जातु नासम्'' (भगी 2-12) इत्यादिकमत्रानुसन्धेयम्। यद्यपि जीवस्वरूपमपि स्वयंज्योतिरेव, तथापि तत्स्वरूप सत्ता स्थितिप्रवृत्त्यादेः परमात्मेच्छायत्तत्त्वस्य ''द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च। यदनुग्रहतस्सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया'' (भाग - 2-10-12) इति स्मरणात् न निरूपाधिक स्वयंज्योतिष्ट्वम्। यद्यपि प्रजापति वाक्ये जीवस्याप्यपहतपाप्मत्वं ''य एष आत्मापहतपाप्मा'' इत्यादिना श्रुतं, तथापि तत्कर्मणा सङ्कुचितं, मुक्तौतु परमात्मप्रसादादाविर्भूतमिति न सर्वदा विशुद्धत्वं, तथा च श्रुतिः - ''एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिसम्पद्यते'' (छान्दो. उ 8-12-3) इति। सूत्रं च ''सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्''(ब्र.सू 4-4-1) इति। तथा च कल्याणगुणाश्रयो न भवति, किन्तु दुःखित्वादिहेयगुणाश्रयः। अत्र निर्गुणाश्रयशब्दाभ्यां हेयगुणनिषेधकल्याणविधी विवक्षितौ। अत्र ''न हिंस्यात्'' ''पशुमालभेत''इतिवत् उत्सर्गापवादन्यायेन दहरविद्यायां ''य एष आत्माऽपहताप्मा'' इत्यादिना कल्याण गुणान् विदधति श्रुतिरेव प्रमाणं, तथा जीवो न सर्वगः अणुत्वात्। तथा च श्रुतिः- ''एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः'' (मुण्ड.उ 3-1-9), ''आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः'' (श्वेत.उ.5-8) इति। अत एव परिछिन्नः नापि साक्षी किन्तु कर्मफलदी। तथा च श्रूयते ''तयो - रन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति'' (मुण्ड .उ.3-1-1) इति। तथा च स्वस्मादधिकेन परमात्मना व्याप्यः धार्यश्च। ''यः आत्मनि तिष्ठन् (बृह.उ.3-7-22) इत्यादिश्रुतेः। एवं जीवस्वरूप मर्थाद्विविक्तं द्रष्टव्यं, पूर्वव्याख्योक्तरीत्या प्रकृतिस्वरूपमपि यत एव प्रकृतिपुरुषाभ्यां विलक्षणः परमात्मा अत एव हेतोः देहाद्युपात्ता। आदिशब्देन जीवसंङ्ग्रहः देहैर्जीवैश्चोपात्ताः परिणामित्वकिञ्चिज्ञत्वदुःखित्वादयः औपाधिकाः धर्माः तद्धर्माः प्रकृतिपुरुषैकान्ता जडत्वाणुत्वादयः स्वाभाविकाश्च। तद्द्रष्टुः प्रकृतिपुरुषयोः साक्षात्कर्तुः आत्मनः तयोरन्तर्व्याप्यावस्थितस्य परमपुरुषस्य न स्युः। कैवल्यं प्रकृतिपुरुषगतपाराक्त्वणु त्वादिविपरीत प्रत्यक्त्वापरिच्छिन्न त्वादिधर्म वत्वमेव। कैवल्यं प्रकृति पुरुषाभ्यां वैलक्षण्यं नामेत्यर्थः, तत्तत्र जीवात्परमात्मनो वैधर्म्ये सुषुप्तं सुषुप्तिः निदर्शनमुदाहरणमित्यर्थः। सुषुप्तग्रहणमुत्क्रान्तेरप्युपलक्षणं, तथाहि - सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तररत्वेन परमात्मनो व्यपदेशो दृश्यते तावद्बृजसनेयके ''कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु'' (बृह.उ.4-3-7) इति। प्रकृतस्य प्रत्यगात्मनः सुषुप्त्यवस्थायाम्, अकिञ्चिज्ज्ञस्य सर्वज्ञेन परमात्मना परिष्वङ्ग आम्नायते - ''प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्'' (बृह.उ.4-3-21) इति। तथा उत्क्रान्तावपि प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन् यातीति। न च स्वपत उत्क्रामतो वाऽप्यकिञ्चिज्ज्ञस्य तदानीमेव स्वेनैव सर्वज्ञेन सता

तदानीमेव स्वेनैव सर्वज्ञेन सता परिष्वङ्गान्वरोहौ सम्भवतः न च क्षेत्रज्ञान्तरेण, तस्यापि सर्वज्ञत्वा सम्भवात्। तस्मात्तत्र प्राज्ञेनेति सर्वज्ञः परमात्मा उक्तः। "न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्" (बृह.उ.4-3-21) इत्यज्ञो जीव उच्यते, तस्मात्तत्र वैधर्म्यं निदर्शितं, तथा च सूत्रं "सुषुप्त्युत्क्रान्त्यो र्भेदन" (ब्र.सू.1-3-42) इति॥८॥

**य इति**। यः पुमान् एवं परमात्मनो धार्यतया व्याप्यतया आत्मनि परमात्मनि स्थितं सन्तम्[1] आत्मानं प्रत्यगात्मानं वेद उपास्ते न तु तदुपासनमात्रपरः, किन्तु मयि अन्तर्यामिणि पूर्वोक्तैकत्वादिधर्मिणि स्थितः मदुपासननिष्ठ इति यावत्। तिष्ठते र्धातोरुपासन परत्वं "अभयं प्रतिष्ठां विन्दते" (तैत्ति.उ.2-7) "तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् (ब्र.सू.1-1-7) इत्यादि श्रुतिसूत्रादि प्रयोगादवगम्यते। ज्ञानयोगानुगृहीतमद्भक्ति योगनिष्ठ इत्यर्थः। प्रकृतिस्थोऽपि उपासनदशायां प्रकृतिविशिष्टोऽप्युपासननिर्वृत्त्यनन्तरं तद्गुणैः प्रकृतिगुणैः नाज्यते[2] न युज्यते, किन्तु मुक्तो भवेदित्यर्थः॥ ९॥

एवं यःपुमान् स्वधर्मेण स्ववर्णाश्रमोचितपञ्चमहायज्ञादि नित्यनैमित्तिकादि धर्मेण निराशीः स्वधर्मसाध्यफलेष्वाशारहितः अनभिसंहित फलकर्तृसङ्ग इत्यर्थः। मां सर्व कर्माराध्यमिन्द्रादिसर्व देवता शरीरकं सर्वकर्मफलप्रदं नित्यं श्रद्धया कर्तव्येषु कर्मसु त्वरया भजते। हे राजन्! पृथो! तस्य ज्ञानकर्मयोगाभ्यामनुगृहीत भगवद्भक्तियोगनिष्ठस्य मनःशनकैः प्रसीदति दारादिभि रकलुषितं भवति॥ १०॥

एवं परित्यक्तगुणः कात्स्न्येन त्यक्तरागादिगुणः अत एव विशदाशयः निर्मलान्तःकरणः अत एव सम्यग्दर्शनः उक्तविधात्मस्वरूपतद्विलक्षण परमात्मस्वरूपदर्शी शान्तमशनायाद्यूर्मिषट्क रहितं मे मत्सम्बन्धि समवस्थानं सम्यगावासभूतं मच्छरीरभूतमित्यर्थः। ब्रह्म गुणतो बृहत्वात् ब्रह्मशब्दवाच्यं कैवल्यं केवलं प्रकृतिवियुक्तमाविर्भूतापहतपाप्मत्वादि गुणकमात्मस्वरूपम् अश्नुते प्राप्नोति। ब्रह्मात्मकाविर्भूतगुणाष्टकस्वरूपेण सम्पन्नो भवति, मुक्तो भवतीति यावत्॥११॥

**विज.** शरीरासङ्गफलमाह - **असंसक्त** इति। अमुनादेहेन पुत्रादिगतममताबुद्धित्यागः फलमित्यर्थः॥६॥

शरीराद्यसक्तिरप्येकत्वादिगुण विशिष्ट परमात्मज्ञानिन एव सुदृढा स्यादित्यतस्तत्स्वरूपं निरूपयति **एक** इत्यादिना। घटादिष्वेकत्वादिकमौपचारिकं हरौ तु निरूपचरितमिति द्योतनाय वेदान्तसिद्धगुणानुपदिशति। तथाहि "एको देव" (श्वेत.उ.6-11) इति, "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" (कठ-उ-2-18) इति जननादिदोषाभावाच्छुद्धः "पूर्णः सत्यः शुद्धबुद्धस्वरूपो नित्यचिन्मय"

---

1. A, B, T omit सन्तम् 2. A, B, T omit नाज्यते

इति "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योति (भवति) (बृह.उ.4-3-9) "परं ज्योति रुपसम्पद्य" (छांदो.उ.8-3-4) इति, "केवलो निर्गुणश्च"(श्वेत.उ.6-11) इति "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"(बृह.उ.3-9-28) इति "अन्तर्बहिश्च तत्सर्वम्" (पु.सू.महा.ना.उ9-5) इति अनावृतः स्वस्यान्येषामावृत एव "अन्येषामावृतो विष्णुः स्वस्याना वृत एव च"(तन्त्रसारे) इति, साक्षी चेति निर्गत आत्मा स्वामी यस्य स निरात्मा तस्यात्मान्यो न विद्यत इति अनात्मनो गुणराशिराहिताज्जीवराशेः परः "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" (भगी.15-17) इति ॥ ७ ॥

हरेः सर्वगतत्वेन जननादिदेहधर्माः सम्भवन्ति अतः कथं देहिपरत्वमत्राह - **देहादीति** । देहप्रभृतितद्धर्मा देहधर्मा जननादयस्तद्द्रष्टुस्तेषां धर्माणां द्रष्टुः आत्मनः सर्वस्य जगतोऽन्तर्यामिणो हरेर्न स्युरित्यन्वयः । "आत्मा सर्वस्य जगतः तस्यात्माऽन्यो न विद्यते" (तन्त्रसारे ) इति। कीदृशा अपार्थाः पुरुषार्थाख्यप्रयोजनशून्याः हरे र्धर्मः क इति तत्राह **कैवल्य**मिति। "अनन्यसदृशत्वाच्च केवलोऽसौ हरिः स्मृतः "। (तन्त्रसारे ) इति वचनात्। कैवल्यं नामान्यसादृश्यराहित्यं धर्म इत्यर्थः। वै इत्येतत् "तद्यत् स्वभावः कैवल्यम्" इति वाक्यं सूचयति , नित्यनिर्दुःखत्वं च तस्य धर्मस्तद्बुद्धावारोहयति **सुषुप्तमिति**। तस्य धर्मस्य निदर्शनं दृष्टान्तः सुषुप्तं शरीराभिमानाभावेन हर्येकस्थितिः। "सुषुप्तिर्नाम न हि तदा दुःखलेशोऽस्ति" "सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति" (छान्दो.उ. 6-8-1) इति श्रुतेः। "सुषुप्तवच्च निर्दुःखो जाग्रद्वच्च प्रकृतिमान्" (तन्त्रसारे) इति च। आत्मावगम्यत्वं वा तद्धर्मः। अत्रापि सुषुप्तमुदाहरणं हि मानं, तस्यापि जन्यज्ञानाभावेनाहमिति स्वरूपज्ञानवेद्यत्वात् "आत्मनैवावगम्यत्वाद्धरिरेष सुषुप्तत्वात्। केवलत्वेन विज्ञेयो मुक्तस्तद्वददुःखता" (अध्यात्मे) इति च ॥ ८ ॥

भगवद्धर्म कथनफलमाह - **य एवं सन्तमिति**। यः पुरुषः एवं सन्तमात्मस्थं जीवान्तर्यामिणमात्मानं वेद स प्रकृतिस्थोऽपि तस्य शरीरगुणैः क्षुत्पिपासादि लक्षणैर्नाज्यते न लिप्यते। समवस्थितः सम्यगाहितचित्तत्वादिति हेतुगर्भविशेषणम् ॥ ९ ॥

मनः प्रसादस्य प्रथमसाधनत्वात् तत्सम्भवः केन स्यादिति तत्राह - **य इति** ॥ १० ॥

मनः प्रसाद फलमाह - **परित्यक्तगुण** इति। परितः त्यक्ता गुणा विषयलक्षणा येन स तथा समवस्थानं निर्विकारं यद्ब्रह्म कैवल्यं स्वस्वयोग्यतानुरोधेन पूर्णतालक्षणं केवलभावं, तल्लक्षणं शान्तिं मे प्रसादान्मुक्तिमश्नुते इत्यन्वयः ॥ ११ ॥

---

1. A, B, M उत

**उदासीनमिवाध्यक्षं द्रव्यज्ञानक्रियात्मनाम्।**

**कूटस्थमिममात्मानं यो वेदाऽऽप्नोति शोभनम्॥ १२॥**

**भिन्नस्य लिङ्गस्य गुणप्रवाहो[1] द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मनः।**

**दृष्टासु[2] सम्पत्सु विपत्सु सूरयो न विक्रियन्ते मयि बद्धसौहृदाः॥ १३॥**

**समः समानोत्तममध्यमाधमः सुखे च दुःखे च जितेन्द्रियाशयः।**

**मयोपक्लृप्ताखिललोकसंयुतो[3] विधत्स्व धीराखिललोकरक्षणम्[4]॥ १४॥**

**श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञो यत्साम्पराये सुकृतात्[5] षष्ठमंशम्।**

**हर्ताऽन्यथा[6] हतपुण्यः प्रजानामरक्षिता करहारोऽघमत्ति॥ १५॥**

**एवं द्विजाग्र्यानुमतानुवृत्तो[7] धर्मप्रधानोऽन्यतमोऽवितास्याः[8]।**

**ह्रस्वेन कालेन गृहोपयातान् द्रष्टासि[9] सिद्धाननुरक्तलोकः॥ १६॥**

**श्रीधः** सम्यग्दर्शनमेवाह - **उदासीनमिति**। उदासीनमेव[10-] आत्मानं द्रव्यज्ञानक्रियात्मना[-10] देहज्ञानकर्मेन्द्रियमनसा मध्यक्षमिव स्थितमात्मानं यो वेद॥ १२॥

संसारिणः कथं कूटस्थत्वम्? अत आह - **भिन्नस्येति**। भिन्नस्य लिङ्गस्य देहस्य गुणप्रवाहः संसारः। भिन्नत्वे हेतुः द्रव्याद्यात्मकस्य। तत्र चेतना चिदाभासः। अतो दृष्टासु[11-] प्राप्तासु सम्पदादिषु[-11] हर्षशोकादिभिः न विक्रियन्ते[12-] विकारं न प्राप्नुवन्ति[-12]॥ १३॥

**सम** इति। त्वं च सूरिः, अतः सुखे दुःखे च समस्सन् समाना उत्तममध्यमाधमा यस्य। जितानीन्द्रियाण्याशयश्च येन। सत्वमखिललोकरक्षणं विधत्स्व। कथमेकेन मया रक्षणं कर्तुं शक्यं तत्राह। मया ईश्वरेणोपक्लृप्ताः सम्पादिता येऽखिला लोका अमात्यादयः तैस्संयुतः॥ १४॥

ननु रक्षणं दण्डादिसापेक्षमतस्तपोऽन्यद्वा पुण्यं करिष्यामीति चेदत आह - **श्रेय इति**। यद्यस्मात् साम्पराये परलोके प्रजाभिः कृतात्सुकृतात् षष्ठमंशं हर्ता[13] हरिष्यति। अरक्षणे दोषमाह। अन्यथा प्रजाभिर्हृतं पुण्यं यस्य स, प्रजानामघमत्ति पापं भुङ्क्ते। अन्यथेत्यस्य विवरणम्। करहारस्सन् अरक्षिता चेत्॥ १५॥

---

1. M, Ma, Ms °हं 2. M, Ma, Ms दृष्ट्वा सुस° 3. M, Ma, Ms सत्व 4. A, B, G, I, J, T, V वी° 5. M, Ma, Ms °तं 6. M, Ma, Ms अतोऽ° 7. A, B, G, I, J, T, Ms, V वृत्त° 8. M, Ma धर्मे प्रजानां च समोऽ° 9. Ms नाऽ° 10--10. V omits 11--11. B, J, Va omit; V सम्पत्सु विपत्सु च 12--12. A, B, J, Va omit 13. A, B, J, Va हरति

एवं च मोक्षोऽप्यनायासेन भविष्यतीत्याह **एवमिति**। द्विजाग्र्याणामनुमतश्चासावनुवृत्तश्च परम्परा प्राप्तो यो धर्मः स एव प्रधानम्, अर्थकामौ तु प्रासङ्गिकौ यस्य अन्यतमोऽतिशयेनान्यः। धर्मादिष्वनासक्त इत्यर्थः। ऐकपद्यपाठे धर्मप्रधानावन्यतमावर्थकामौ यस्येत्यर्थः। अस्याः पृथिव्याः अविता सन् अल्पेन कालेन गृहागतान् सनकादीन् द्रक्ष्यसि। अनुरक्तो लोको यस्मिन् सः॥१६॥

**वीर.** एवं तन्त्रत्रयविमर्शनपूर्वकं ज्ञानकर्मयोगानुगृहीतभगवद्भक्तियोगस्यामृतत्वप्राप्त्युपायतामभिधाय एवंविधस्य पुंसो जीवदवस्थायामवस्थान प्रकारमाह - **उदासीनमिति**। द्रव्यं पृथिव्यादिभूतानि, ज्ञानं श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाणि, क्रिया वागादिकर्मेन्द्रियाणि[1], आत्मा मनः, एषामध्यक्षमधिपं कूटस्थं स्वरूपतो निर्विकारम् अत एवं[2] इममात्मानं[3] प्रत्यगात्मानमुदासीनमिव स्थितं यो वेद द्रव्याद्यध्यक्षत्वं प्रकृतिसम्बन्धकृतं परमार्थतस्तु कूटस्थ उदासीनः, इत्येवमात्मानं यो वेद सः शोभनमाप्नोति जीवदशायामपि[4] सुखमेवाप्नोतीत्यर्थः॥ १२॥

ननु विप्रतिषिद्धमेतदुच्यते द्रव्याद्यध्यक्षत्वं कूटस्थत्वमुदासीनत्वं चेति। करणप्रवर्तकत्वमेव हि करणाधिपत्त्वं तच्च विकारः तदभावः कूटस्थत्वमुदासीनत्वं तत्राह - **भिन्नस्येति**। द्रव्य क्रियाकारकचेतनात्मनः द्रव्यं पृथिव्यादि, क्रियाकारकाणि कर्मेन्द्रियाणि, चेतना ज्ञानेन्द्रियजातम् एतदात्मकस्येत्यर्थः। क्रिया कर्मेन्द्रियाणि, कारकाणि ज्ञानकरणानि श्रोत्रादीनि, चेतना चित्तमेतदात्मकस्येति वार्थः। द्रव्याद्यात्मकस्यात एव भिन्नस्य देवमनुष्यादिभावेन भिन्नस्य लिङ्गस्य शरीरस्य गुणप्रवाहः गुणपरिणामो भवति। अयं भावः- यद्यपि द्रव्याद्यध्यक्षत्वरूपविकार आत्मन्यस्ति, तथापि स विकारः ज्ञानविकाररूपः, स च धर्मभूतज्ञानगतो न स्वरूपगत इति स्वरूपतः कूटस्थत्वमुदासीनत्वं च। देवादिरूपेण परिणामस्तु द्रव्यादिसङ्घातस्यैवेति। ननु[5] धर्मतो वाऽपि सति विकारे न कूटस्थततोपपत्तिः, कूटस्थता हि निर्विकारता सा च नित्यताऽपरपर्याया धर्मतो वा, नित्यत्वे कथं नित्यतेति चेत् उच्यते- धर्मभूतं ज्ञानद्रव्यं नित्यमेव, तस्य च कर्मणा कदाचित् सङ्कोचः कदाचिद्विकासश्च इत्यवस्थाद्वयमङ्गीक्रियते। तत्र सङ्कोचो नाम प्रसराभावः, तदभावो विकासप्रसररूपः[6-], अभावाभावस्य[-6] भावरूपत्वात्, अतो धर्मभूतं ज्ञानद्रव्यमपि नित्यमेवेति धर्मतोऽपि कूटस्थतोपपत्तिः। पृथिव्यादीनां तु स्वरूपतः स्वभावतश्च विकार इति न कूटस्थत्वम्। अत्र आत्मनः सततमेकरूपत्वात् देहस्य प्रतिक्षणपरिणामित्वादपुरुषार्थ रूपत्वाद्[7] देह प्रयुक्तासु दृष्टासु प्राप्तासु सम्पत्सु विपत्सु च सूरयः तत्त्वत्रयविवेचनचतुरा न विक्रियन्ते सम्पदापत्प्रयुक्तहर्षशोकाभ्यां न युज्यन्त इत्यर्थः। कथं सति शरीरे तत्प्रयुक्तहर्षशोकासम्बन्धः तत्राह। मयि निरतिशयप्रीतिविषये बद्धं सौहृदं यैस्ते। सौहृदशब्देन

---

1. W °दीनि 2. A, B, T add द्रव्यमयम् 3. A, B, T omit इमम् 4. A, B, T जीवनद° 5. A, T omit ननु 6--6. A, B, T विकासः प्रसररूपाभावस्य 7. A, B, T omit रूप

सुहृदो धर्मो निरतिशयप्रेमोच्यते। तेन प्रीति रूपमुपासनं लक्ष्यते। बद्धशब्देन तस्य विजातीयाप्रत्ययान्तराव्यवहितत्वं च, तथा च विजातीय[1] प्रत्ययान्तराव्यवहितशब्दिषयनिरतिशय प्रीति[2]रूपभक्त्या विस्मृतदेहधर्मा हर्षशोकाभ्यां न युज्यन्त इत्यर्थः। त्वं च सूरिः॥ १३॥

अतः सुखे दुःखे च देहप्रयुक्ते समस्सन्, साम्यं मम कथं सम्भवेत्तत्राह - विजितेन्द्रियाशयः वशीकृतबाह्येन्द्रियान्तः करणः। जितेन्द्रियस्य तव सुखदुःखयोः साम्यं सम्भवेदेवेत्यर्थः। अत एव समाना उत्तममध्यमाधमाः यस्य स तिर्यङ्मनुजदेवादिषु देहातिरिक्तसर्वात्म सामान्या[3]मुसन्धान परस्तेषां च ब्रह्मात्मकत्वे साम्यधीः त्वमखिललोकरक्षणं विधत्स्व। कथमेकेन मया तत्कर्तुं शक्यं तत्राह। मया ईश्वरेण उषक्लृप्ताः सम्पादिताः अमात्यादयो येऽखिला लोकाः तैः संयुतः॥ १४॥

ननु मम मुमुक्षामनुत्पाद्य किमखिललोकरक्षणं विधत्स्वेत्युच्यते तत्राह- **श्रेय इति**। राज्ञः प्रजापालनमेव श्रेयः[4] श्रेयस्साधनं समीहितपुरुषार्थसाधनमित्यर्थः। कुतः, यत् यस्मात् प्रजापालनात् साम्पराये देह वियोगे प्रजाभिर्यत्कृतं सुकृतं तस्य षष्ठमंशं हर्ता हरति। अन्यथा लोकरक्षणाभावे प्रजानामरक्षिता प्रत्युत प्रजापीडनादिना तद्दत्तं करं स्वामिग्राह्यभागं, हरतीति हारः तथाभूतः अत एव प्रजाभिरात्तपुण्यः तासामघमत्ति आदत्ते[5]॥ १५॥

तस्मात् यदि प्रजाः पालयसि धर्मतस्तदा तव मुक्तिरपि सुलभा स्यादित्याह- **एवमिति**। द्विजाग्र्याणामनुमतश्चासावनु वृत्तश्च। व्यस्तपाठे अनुमतः[6-6] अनुवृत्तश्च। धर्मप्रधानः अनभिसंहित फलस्ववर्णाश्रमोचितधर्मप्रधानः, अन्यतमः प्रजानां मध्ये अन्यतम इव स्वस्मिन् स्वातन्त्र्यमनारोप्येत्यर्थः। अविता रक्षिता यदि स्याः भवेः तदा ह्रस्वेन अल्पेन[7] कालेन गृहान् प्रत्युपगतान् सिद्धान् सनकादीन् अनुरक्तः स्वस्मिन् अनुरागयुक्त लोका यस्य स त्वं द्रष्टासि। तैरुपदिष्टत्त्वोऽमृतत्वं यास्यसीत्यर्थः॥१६॥

**विज.** सम्यग्दर्शन इत्युक्तं दर्शनप्रकारं दर्शयति - **उदासीनमिवेति**। द्रव्यज्ञानक्रियात्मनां तामसवैकारिकतैजसरूपाणां पदार्थानामध्यक्षमधिपतिम्। उदासीनमिवाक्लिष्टकारिणमेव। कूटस्थं निर्विकारमात्मानं हरिं यो वेद स शोभनं दर्शनमेवाप्नोतीत्यन्वयः। "हरिरक्लिष्टकारित्वादुदासीन इतीर्यते" (अध्यात्मे) इति च॥ १२॥

इदं चावश्यं ज्ञेयमित्याह- **भिन्नस्येति**। द्रव्यक्रियाकारकचेतनानि सन्ततं व्याप्य तिष्ठतीति द्रव्याद्यात्मा तस्य जीवाद्भिन्नस्य। कालादिव्यवधानेन लीनं पदार्थजातं गमयतीति ज्ञापयतीति लिङ्गं तस्य मनसो यः सत्त्वादिगुणानां प्रवाहः प्रवर्तनविशेषस्तं दृष्ट्वा

---

1. A, B, T omit विजातीय 2. A, B, T omit प्रीति 3. A, B, T साम्यानु 4. A, B, T omit श्रेयः 5. A, B, T omit आदत्ते
6--6. A, B, T omit 7. W आसन्नेन

ज्ञात्वा। प्रत्यक्षासु सम्पत्सु विपत्सु च प्राप्तासु न विक्रियन्ते जातोऽहं मृतोऽहमित्यादिविकारं न प्राप्नुवन्ति। के ? सूरयः। अत्र हेतुगर्भविशेषणमाह- **मयीति**। मयि बद्धं सौहृदं महत्त्वबुद्धिलक्षणं प्रेम यै स्ते तथा तस्मादिति शेषः। "जीवाद्भिन्नस्य मनसो गुणाः सत्त्वादयो मताः। तज्ज्ञात्वा न विकुर्वीत स्वस्वरूपं मनस्तथा" (षाड्गुण्ये) इति वचनात् उक्त एवार्थो नान्य इत्यर्थः॥ १३॥

इदमपि मुक्तिसाधनमित्याह - **सम इति**। सुखे च दुःखे च समो निर्विकारः समानाः स्वस्वयोग्यतानुसारेण उत्तममध्यमाधमाश्च यस्य स तथोक्तः। समत्वे कारणमाह- **जितेति**। रक्षायां किम्बल इत्यत उक्तं **मयेति**। मया उपक्लृप्तः अखिलः पूर्णः सत्त्वगुणस्तेन संयुतः॥ १४॥

अपवर्गानुपयोगिप्रजापालनेन किमित्याशङ्क्येदमेव तव श्रेय इत्याह- **श्रेय इति**। साम्पराये मोक्षे प्रजाकृतसुकृताद्विभज्य षष्ठमंशं सुकृतं लभत इति यस्मात्तस्मादिति। विपक्षे बाधकमाह - अत इति। अतोऽन्यथेत्यस्य विवरणमरक्षितेति "दुःखैनोव्यसनेष्वघम्" (वैज.को 6-3-2) इति यादवः॥ १५॥

गुरूपदिष्टज्ञानस्यैव मुक्तिहेतुत्वात् किं प्रजारक्षणेनेत्याशङ्क्य तेन ज्ञानोपदेष्टृसिद्धज्ञानप्राप्तिस्ततः संविच्च प्राप्यत इत्याह- **एवमिति**॥ १६॥

**वरं च मत् कञ्चन मानवेन्द्र वृणीष्व तेऽहं गुणशीलयन्त्रितः।**
**नाहं मखैर्वै सुलभस्तपोभिर्योगेन वा यत्समचित्तवर्ती[1]॥ १७॥**

## मैत्रेय उवाच

**स इत्थं लोकगुरुणा विष्वक्सेनेन विश्वजित्।**
**अनुशासित[2] आदेशं शिरसा जगृहे हरेः॥ १८॥**

**स्पृशन्तं पादयोः प्रेम्णा[3] व्रीडितं स्वेन कर्मणा[4]।**
**शतक्रतुं परिष्वज्य विद्वेषं विससर्ज ह॥ १९॥**

**भगवानपि[5] विश्वात्मा पृथुनोपहृतार्हणः।**
**समुज्जिहानया भक्त्या गृहीतचरणाम्बुजः॥ २०॥**

---

1. M, Ma, Ms वृत्त 2. W °तमादेश° 3. M, Ma, Ms शीर्ष्णा 4. W पाप्मना 5. A, B, G, I, J, Ms. T °थ

**प्रस्थानाभिमुखोऽप्येनमनुग्रहविलम्बितः[1]।**

**पश्यन् पद्मपलाशाक्षो न प्रतस्थे सुहृत्सताम्॥ २१॥**

**श्रीध. वरमिति**। मत् मत्तः सकाशात् कञ्चन कञ्चिद्वरं[2] वृणीष्व। यतः[3] गुणाः क्षमादयः[4] शीलं निर्मत्सरत्वादिस्वभावस्तैरहं यन्त्रितो वशीकृतः। तद्रहितैस्तु मखादिभिः नाहं सुलभः। यतः समं चित्तं येषां तेष्वेव वर्तितुं शीलं यस्य सोऽहम्॥ १७,१८॥

**स्पृशन्तमिति**। क्षमापयितुं पादयोः स्पृशन्तम्। स्वेन कर्मणाऽश्वापहरणेन व्रीडितम्। प्रेम्णा परिष्वज्य॥ १९॥

**भगवानिति**। भगवान् प्रस्थानाभिमुखोऽप्यनुग्रहेण विलम्बितस्सन् न प्रतस्थे प्रयाणं न कृतवानिति द्वयोरन्वयः। कथम्भूतः? उपहृतमर्पितमर्हणं यस्मै। समुज्जिहानया समुद्गच्छन्त्या वर्धमानया भक्त्या गृहीते चरणाम्बुजे यस्य॥ २०॥

**प्रस्थानेति**। पद्मपलाशवदक्षिणी यस्य तथा भूतस्सन् एनं पृथुं पश्यन्॥ २१॥

**वीर.** किञ्च हे मानवेन्द्र! मत् मत्तः सकाशात् कञ्चिद्वरं वृणीष्व। ते तव गुणाः शमादयः शीलं निर्मत्सरादिस्वभावः तैर्यन्त्रितः वशीकृतोऽहं तद्रहितैस्तु मखैर्यागैः तपोभिः कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिर्योगेन वा नाहं सुलभः, कुतः यत् यस्मात् समं चित्तं येषां तेष्वेव वर्तितुं शीलमस्य सोऽहम्॥ १७॥

स विश्वजित् पृथुरेवं लोकगुरुणा विष्वक्सेनेन भगवता अनुशिष्टः हरेरादेशमाज्ञां शिरसा जगृहे अतीवाऽऽदृतवानित्यर्थः॥१८॥

ततः पादयोः क्षमापयितुं स्पृशन्तं स्वेन स्वीयेन अश्वहरणादिकर्मणा व्रीडितं लज्जितं शतक्रतुमिन्द्रं प्रेम्णा परिष्वज्यालिङ्ग्य तस्मिन् विद्वेषं विससर्ज अत्याक्षीत्। हेति विस्मये। आर्द्रापराधजनितविद्वेषं तदैव विससर्जेति विस्मये॥ १९॥

ततो विश्वात्मा सर्वात्मा[5] भगवानपि पृथुनोपहृतं समर्पितमर्हणमर्घ्यादिकं यस्य समुज्जिहानया समुद्रिक्तया भक्त्या गृहीतौ चरणौ अम्बुजे इव यस्य। प्रस्थानाभिमुखः स्वलोकं प्रति प्रयाणाभिमुखोऽपि अनुग्रहेण विलम्बितः सञ्जातविलम्बः सतां भक्तानां सुहृत् निरतिशयप्रीतिमान् एनं पृथुं पश्यन् पद्मदलवद्विशाले अक्षिणी यस्य सः पद्मपत्रवद्विशालाभ्यामक्षिभ्यां पश्यन्निति भावः, न प्रतस्थे न ययावित्यर्थः॥ २०,२१॥

**विज.** साक्षात्कृतो वैकुण्ठोऽपि कञ्चन वरं नादादिति लोकापवादं परिहरति- **वरञ्चेति**। अपवादभीरुः वरं वृणीष्वेति वक्ति न तु तद्गुणलुब्ध इत्यतः उक्तं - तेऽहमिति। मखादीनन्तरेण गुणशीलयन्त्रित इति किं विशिष्योच्यते इति तत्राह - नाहमिति।

---

1. Ms °ड° 2. B, J, Va किञ्चि° 3. A, B, J, Va omit यतः 4. V शमदमादयः 5. W omits सर्वात्मा

योगेनाष्टाङ्गलक्षणेन, समं तत्तद्वस्तुयोग्यतानुसृतं वृत्तं वर्तनं येषां ते समवृत्ताः पुरुषास्तेषु वर्तितुं शीलमस्येति समवृत्तवर्ती यद्यस्मात् तस्मान्नाहं तव मखादिना सुलभः स्यां, किन्तु गुर्वादिषु संवृद्धभक्त्यैवेत्यर्थः ॥ १७ ॥

पृथुरात्मनि गुणग्राहित्वलक्षणं प्रकटयन् श्रीरमणोक्तमग्रहीदित्याह- **स इत्थमिति**। विश्वजित् समस्तजेता ॥ १८ ॥

विष्वक्सेनेन श्री हरिणोक्तं गृहीतमिति शृङ्गग्राहक इव दर्शयतीत्याह - **स्पृशन्तमिति**। मनसा पृथुसन्निहितराजरूपिणो हरेः पादयोः स्पृशन् व्रीडितमसुरजनमोहाय लज्जास्वभावं दर्शयन्तम् "आयासदुःखव्रीडादीन् प्रायशः सुखिनोऽपि तु। नियमादृषिभूपेषु मोहायादर्शयन् सुराः" (ब्रह्मतर्के) इति वचनात् व्रीडितत्वं नेत्यर्थः ॥ १९ ॥

विष्णोः पृथौ प्रसादोद्रेकं दर्शयति - **भगवानिति**। विश्वात्मा पूर्णात्मा "जगत्समस्तं विश्वं च निखिलं पूर्णमुच्यते" इत्यभिधानात् विश्वपदस्य पूर्णार्थत्वमेवाङ्गीकर्तव्यं न तु प्रपञ्चात्मत्वम्, तस्य बहुप्रमाणविरुद्धत्वात्। चन्द्रोदये समुद्रवृद्धिवदनुदिनं समुज्जिहानया प्रवर्धमानया[1-1] भक्त्येत्यनेन "अपक्वभक्तियुक्ता ये न तेषां हरिदर्शनम्। प्रायो भवति दुःखस्य त्वभावः प्रायशो भवेत्" (प्रकाशसंहितायाम्) इति वचनात् साक्षात्कृतमधोक्षजं प्रत्यक्षं पश्यतः पृथोरपक्वभक्तियुक्तेभ्योऽप्युत्तमत्त्वं दर्शयन् तत्साक्षात्कारे भक्तिरेव प्रयोजकत्वात्तच्छृङ्खलया कीलितत्वात् मद्बन्धने सैव सम्पादनीयेति सूचयति ॥ २० ॥

"यात्रा प्रयाणं प्रस्थानम्" इत्यभिधानात् ॥ २१ ॥

**स आदिराजो रचिताञ्जलिर्हरिं विलोकितुं नाशकदश्रुलोचनः।**
**न किञ्चनोवाच स[2] बाष्पविक्लबो हृदोपगूह्याम[3]मुमघादवस्थितः[4] ॥ २२ ॥**

**अथावमृज्याश्रु[5][6]कला[7] विलोकयन्नतृप्तदृग्गोचरमाह पूरुषम्।**
**पदा स्पृशन्तं क्षितिमंस उन्नते विन्यस्तहस्ताग्रमुरङ्गविद्विषः ॥ २३ ॥**

## पृथुरुवाच

**वरान् विभो त्वद्वरदेश्वराद् बुधः कथं वृणीते गुणविक्रियात्मनाम्।**
**ये नारकाणामपि सन्ति देहिनां तानीश कैवल्यपते वृणे[8] न च ॥ २४ ॥**

---

1--1. A, B, omit 2. W च 3. A, B, G, I, J, M, Ma, T °गु° 4. Ms °नुपथादव°; M, Ma °मुमथाध्यव° 5. M, Ma °भि° 6. Ms °श्या° 7. M, Ma, Ms कणान् 8. M, Ma °वृणीत कः

**न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः[1]।**
**महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो[2] विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः[3] ॥ २५ ॥**

**स उत्तमश्लोक महन्मुखच्युतो भवत्पदाम्भोजसुधाकणानिलः।**
**स्मृतिं पुनर्विस्मृततत्त्ववर्त्मनां कुयोगिनां नो वितरत्यलं वरैः ॥ २६ ॥**

**श्रीध.** भगवतस्तत्कृपातिरेकमुक्त्वा तस्य भक्त्युद्रेकमाह- **स इति** द्वाभ्याम्। बाष्पविक्लबत्वेन तूष्णीमवस्थितस्सन् अमुं हरिं हृदोपगुह्य अधात् धृतवान् ॥ २२ ॥

**अथेति**। अतृप्तयोर्दृशोर्गोचरं विषयभूतम्। पदा क्षितिं स्पृशन्तमिति। अयं भावः- न खलु देवाः पदा भुवं स्पृशन्ति अतः कृपापरवशोमूनं हरिरात्मानं विस्मृतवानिवेति। अत[4] एव स्खलनपरिहारायैव गरुडस्योन्नते स्कन्धे विन्यस्तं हस्ताग्रं येन तम् ॥ २३ ॥

वरं वृणीष्वेति यदुक्तं तदसहमान आह- **वरानिति**। हे विभो ! वरदानां ब्रह्मादीनामीश्वरात् वरप्रदात् त्वत् त्वत्तः सकाशात् बुधस्सन् कथं वरान् वृणीते। कीदृशान् ? गुणैर्विक्रियत इति गुणविक्रियोऽहङ्कारः स एवात्मा येषां तेषां ब्रह्मादीनां सम्बन्धिनः देहाभिमानिनां भोग्यानिति वा। तथा चेत् सः[5] बुध एव न भवतीत्यर्थः। जुगुप्सितत्वादपीत्याह- ये इति। बुध एवाहमपि न वृणे इति समुच्चयाय चकारः ॥ २४ ॥

कैवल्यपते इति सम्बोधनात् कैवल्यं वरिष्यतीति मा शङ्कीरित्याह- **नेति**। महत्तमानाम् अन्तर्हृदयान्मुखद्वारेण निर्गतो भवत्पदाम्भोजमकरन्दो यशश्श्रवणादिसुखं यत्र नास्ति तादृशं चेत्कैवल्यं तर्हि तत् क्वचित् कदाचिदपि न कामये। तर्हि किं कामयसे? तदाह यशश्श्रवणाय कर्णानामयुतं विधत्स्व। ननु त्वदन्यः[6] कोऽप्येवं न वृतवान् [7-]इति चेत्[-7] किमन्यचिन्तयेत्याह। मम तु एष एव वरः ॥ २५ ॥

ननु तर्हि कैवल्याभावे रागद्वेषाद्याकुलानां भक्तिसुखमपि न स्यादित्याशङ्क्याह- **स इति**। भवत्पदाम्भोजसुधायाः कणो लेशः तत्सम्बन्धी योऽनिलः स एव दूरादपि किञ्चिद्यशश्श्रवणमात्रमित्यर्थः। विस्मृतं तत्त्ववर्त्म यैः कुयोगिभिस्तेषामपि पुनः स्मृतिमात्मज्ञानं वितरति अतो न खलु भक्तानां रागद्वेषादिसम्भवोऽतो[8] नोऽस्माकं सारग्राहिणामन्यैः वरैरलम्। भक्तावेव मोक्षादिसर्वसुखान्तर्भावादिति भावः ॥ २६ ॥

---

1. M, Ma, Ms °वम्। 2. M, Ma, Ms °तं 3. M, Ma °भृत 4. V omits एव 5. B, J, V, Va omit सः 6. A, B, J, Va omit त्वदन्यः 7--7. A, B, J, Va omit 8. B, J, V, Va omit द्वेष

**वीर.** एवं भगवतो भक्ते पृथौ कृपातिरेक उक्तः पृथोः भगवति भक्त्युद्रेकमाह - **स इति** द्वाभ्याम्। स आदिराजः पृथुः बद्धाञ्जलिः आनन्दाश्रुपूर्णलोचनः अत एव हरिमवलोकितुं नाशकत् न समर्थोऽभूत्। बाष्पैर्विक्लबः अधृष्टस्तूष्णीमवस्थितस्सन् किञ्चिदपि नोवाच च। किन्तु अमुं हरिं हृदा उपगूह्य[2] आवृत्य संश्लिष्य आलिङ्ग्येति यावत्, अधात् धृतवान्॥ २२॥

अथानन्तरमश्रुकला अश्रुकणान् हस्तेनावमृज्य अतृप्तयोर्दृशोर्गोचरं विषयभूतं पदा चरणेन क्षितिं भूमिं स्पृशन्तम्। अयं भावः- न खलु देवाः पदा भुवं स्पृशन्ति। अतः कृपापारवश्यान्नूनं हरिरात्मानं विस्मृतवानिवेति उरङ्गद्विषो वैनतेयस्य उन्नते अंसे स्कन्धे विन्यस्तं हस्ताग्रं येन तं, पूरुषं परमपूरुषमाह उवाच॥ २३॥

तत्र यदुक्तं वरं वृणीष्वेति तदसहमान आह- हे विभो ! वरदानां ब्रह्मादीनामीश्वराद्वरदात् त्वत् त्वत्तः सकाशात् बुधः अर्थकामादीनां सातिशयत्वं नश्वरत्वं च जानन् वरान् वृणीते। कीदृशान् ? ये वरा गुणविक्रियात्मनां सत्त्वादिगुणानुसारेण विक्रिया विकाराः यस्मिन्नात्मनि स्वभावे स आत्मा स्वभावो येषां नारकाणां संसारिणामपि देहिनां सन्ति तेषामपि भोग्या इत्यर्थः, तस्मात् हे कैवल्यपते ! मुक्त्यधिपते ! मुक्तिप्रदेत्यर्थः, हे ईश ! सर्वान्तर ! तान् क्षुद्रान् न वृणे॥ २४॥

तर्हि कैवल्यमेव वरय तत्राह- **नेति**। हे नाथ ! महत्तमानां भागवतानामन्तर्हृदयात् मुखद्वारेण निर्गतो भगवत्पदाम्बुजमकरन्दो यशश्श्रवणादिसुखं यत्र नास्ति तादृशं चेत् कैवल्यमपि तत्र कामये न वृणे। तर्हि किं कामयसे तत्राह- त्वद्गुणश्रवणाय मे मह्यं कर्णायुतं कर्णानामयुतम् अयुतशब्द आनन्त्यपरः गुणानामानन्त्यादनन्तगुणश्रवणार्थमनन्तश्रोत्राणि विधत्स्व धेहि[3]। एष एव ममाभिमतो वर इत्यर्थः॥ २५॥

किं मद्गुणश्रवणसाध्यं यदर्थं कर्णायुतं प्रार्थयसे तत्राह- **स इति**। हे उत्तमश्लोक ! महतां त्वद्भक्तानां मुखाच्च्युतः स भवतः पदाम्भोजयोः या सुधा तस्या यो लेशः तत्सम्बन्धी योऽनिलः वायुः दूरादपि किञ्चिद्यशश्श्रवणमात्रमित्यर्थः। विस्मृतं तत्त्ववर्त्म तत्त्वमार्गः यैः कुयोगिभिः तेषामपि नः अस्माकं त्वद्विषयां स्मृतिं भक्तिं वितरति ददाति, अतो वरैः पुरुषार्थान्तर साधनभूतैरलम्॥ २६॥

**विज.** न केवलं पृथोः भक्त्युद्रेक आन्तरः, अपि तु बाह्योऽपि दृश्यते इति भावेनाह- **स आदिराज** इति। चक्षुर्वाग्व्यवहारोपरमेण पुनः किमकारीति तत्राह-**हृदेति**॥ २२॥

---

1. A, B, T एवं तु  2. A, B, T °गु°  3. A, B, T देहि

किमनया तूष्णीं व्यवस्थित्या द्रष्टुस्तन्द्रीहेतुभूतायेति निरूप्य हर्युक्तस्योत्तरं वक्तुमुपक्रमते- **अथेति**। अश्रुकणान् नेत्रजलबिन्दून् अतृप्तयोरलम्बुद्धिमप्राप्तयोः दृशोर्गोचरं विषयमुरञ्ज विद्विषः गरुडस्य॥ २३॥

भगवदादिष्टं चेत्पृथुना गृहीतमथ तदुक्तेषु कस्योत्तरत्वेन वक्तव्यमस्यास्तीति न पश्याम्यन्यत् अतः किमाहेति तत्राह- **वरानिति**। जातावेकवचनमिति न्यायेन वरं वृणीष्वेत्युक्तं तत्र देयत्वेनाभिमताः किमैहिका उत पारत्रिकाः, आद्ये स्रक्चन्दनवनितादयो यदि तर्हि तत्रापि वदामीत्याह- **वरानिति**। सुलभत्वाद्वरणीया न भवन्तीत्याह - **गुणेति**। गुणेषु विषयेषु विक्रिया विकारस्तेन युक्त आत्मा मनो येषां ते तथा तेषां नारकाणां नरकस्थानाम्, अपिशब्देन नरलोके किं वक्तव्यमिति सूचयति। 'वैश्रवणात् पुलाकादानवत्' कैवल्यपते स्त्वत् एतादृशवरादानं जुगुप्सितमित्यर्थः। द्वितीयोऽप्यनेनैव प्रयुक्तः। स्वर्गसारूप्यादिलक्षणमोक्षभेदेन पारत्रिका अपि द्विधा भिद्यन्ते। तत्र कैवल्येऽपि न ममाभिरुचिः किमुत स्वर्गादाविति॥ २४॥

एवं तर्हि तव कोऽभिप्राय इत्यत्र आह - **न कामय** इति। क्वचिदित्यनेन पुरुषार्थमात्रमाक्षिपति, तर्हि मया देयं नास्तीत्यत्राह- **महत्तमेति**। महत्तमानामन्तर्हृदयान्मुखद्वारेण च्युतं निस्सृतं कर्णयोरमृतं तच्चरितलक्षणं विधत्स्वेत्यन्वयः। अनेन सर्वदैतत्तुभ्यमस्त्विति तत्र त्वदनुग्रह एव कारणमन्यथा न स्यादिति ध्वनयति। अभीष्टं पूरयति - **एष** इति॥ २५॥

'हस्त प्राप्तमणित्यागवत्' कैवल्यादिपुरुषार्थत्यागेन तव किं फलितमिति तत्राह - **स इति**। हे उत्तमश्लोक! महतां मुखद्वारेण च्युतः॥ २६॥

**यशः शिवं सुश्रव आर्यसङ्गमे यदृच्छया चोपश्रृणोति[1] ते सकृत्।**
**कथं गुणज्ञो विरमेद्विना[2] पशुं श्रीर्यत्प्रवव्रे गुणसङ्ग्रहेच्छया॥ २७॥**

**अथाभजं[3] त्वाखिलपूरुषोत्तमं गुणालयं पद्मकरेव लालसः।**
**अप्यावयोरेकपतिस्पृधोः कलिर्न स्यात्कृतत्वच्चरणैकतानयोः॥ २८॥**

**जगज्जनन्यां[4] जगदीश वैशसं स्यादेव यत्कर्मणि नः समीहितम्।**
**करोषि[5] फल्गवप्युरु दीनवत्सलः[6] स्व एव धिष्ण्येऽभिरतस्य किं तया॥ २९॥**

**भजन्त्यथ त्वामत एव साधवो व्युदस्तमायागुणविभ्रमोदयम्।**
**भवत्पदानुस्मरणादृते सतां निमित्तमन्यद्भगवन्न विद्महे॥ ३०॥**

---

1. W °मि 2. V °दृते 3. A, B, G, I, J, T °जे 4. M, Ma जन्तोर्जगत्यां 5. B °ति 6. M, Ma, Ms °ल

**मन्ये गिरं ते जगतां विमोहिनीं वरं वृणीष्वेति भजन्तमात्थ यत्।**

**वाचा नु तन्त्र्या यदि ते जनोऽसितः कथं पुनः कर्म करोति मोहितः ॥ ३१ ॥**

**श्रीध.** ननु भक्तिर्मुक्तिफलैवातः फलं विहाय साधने भवतः कोऽयमाग्रह इत्याशङ्क्याह- **यश** इति। हे सुश्रवः ! मङ्गलकीर्ते ! ते[1] शिवं यशः सतां सङ्गमे यः सकृदपि यदृच्छयाऽप्युपश्रृणोति[2] गुणज्ञश्चेत् स पशुं विनाऽन्यः कथं विरमेत्। गुणातिशयं सूचयति। श्रीर्यद्यशः एव प्रकर्षेण[3] वव्रे वृतवती गुणानां सर्वपुरुषार्थानां सङ्ग्रहः स्वस्मिन् समाहारः तदिच्छया ॥ २७ ॥

अतो लक्ष्मीरिवान्यवर परित्यागेन[4] त्वामेवाहं भजे इत्याह - **अथेति**। लालसः उत्सुकः सन् कर्मणि क्रियमाणे यथेन्द्रेण सह कलिरेवं भक्तावपि किं लक्ष्म्या सह कलिः[5] कलहः[6] न स्यादिति वितर्क्यति। एकस्मिन् पत्यौ त्वयि[7-] विषये मिथः[-7] स्पर्धमानयोरावयोरपि किं कलिर्न स्यादिति काक्वा वितर्कः। ननु पर्यायेण सेवायां न स्यात्। मैवम्[8]। कृतस्त्वच्चरणयोरेवैकतानो मनोविस्तारो याभ्यां तयोः ॥ २८ ॥

भवतु वा कलिस्तथापि[9-] भजेयमेवेत्याह[-9]- **जगदिति**। जगज्जनन्यां वैशसं विरोधः स्यादेव, तत्र हेतुः यस्याः कर्मणि चरणसेवालक्षणे[10-] न समीहितमिच्छा भवति तथापीन्द्रविरोधे मत्पक्षपातवदत्रापि मयि[11] तव पक्षपात एव स्यादित्याह[-10]। फल्गु तुच्छमप्युरु बहु करोषि यतो दीनेषु वत्सलो दयावान्[12]। ननु[13-] ब्रह्मादिभिरपि प्रार्थितां श्रियं विहाय त्वयि पक्षपात एव कथं स्यादत आह[-13] - **स्वे स्वरूप** एव रतस्य तव[14] तया लक्ष्म्या[15] किं प्रयोजनम्। तां नाद्रियसे इत्यर्थः ॥ २९ ॥

**भजन्तीति**। यतस्त्वं दीनवत्सलोऽत एव साधवो निष्कामा अथ ज्ञानानन्तरमपि त्वाम् एव[16] भजन्ति। कथम्भूतम् ? मायागुणानां विभ्रमो विलासः तस्योदयः कार्यं स निरस्तो यस्मिंस्तम्। ननु[17] ते मां[18] किमर्थं भजन्ति तत्राह। भवत्पदानुस्मरणात् विना अन्यत्तेषां निमित्तं फलं न विद्यः ॥ ३० ॥

वरैः प्रलोभनं च कृपालोः तवानुचितमित्याशयेनाह - **मन्य इति**। नु अहो ते वाचा तन्त्र्या यदि जनोऽयमसितोऽबद्धः स्यात्तर्हि पुनः पुनः फलैः मोहितस्सन् कथं कर्म करोति ॥ ३१ ॥

---

1. V omits ते 2. V omits अपि 3. A, B, T, Va omit वव्रे 4. A, B, J, Va omit परि 5. V omits कलिः 6. A, B, J, Va omit कलहः न 7--7. A, B, J, Va omit 8. A, B, J, Va नैवम् 9--9. V कलहः 10--10. B, J, V, Va omit 11. B, J, V, Va omit मयि 12. V omits दयावान् 13--13. A, B, J, Va omit 14. B, J, V, Va omit तव 15. B, J, V, Va omit लक्ष्म्या 16. A, B, J, Va omit एव 17. A, B, J, Va omit ननु 18. B, J, V, Va omit मां

**वीर.** त्वद्विषयभक्तिवर्धकत्वात् त्वदुणानुश्रवणस्य[1] यदृच्छयापि त्वदुणानेव श्रृणुयामित्याह - **यश इति**। हे सुश्रवः! शोभनकीर्ते! सतां सङ्गमे सति सकृदपि यदृच्छयापि[2-] ते तव यशः कीर्तिमेव परं श्रृणोमि। सकृदपि[-2] यदृच्छयापीत्यनेन असकृदत्यादरेण यशसः श्रोतव्यता सूच्यते। तदुपपादयति यः कश्चित् पुमान् गुणज्ञः सारग्राही चेत् पशुं कर्मजडमृते कथं विरमेत्? त्वदुणानुश्रवणादिति[3] शेषः। अगुणज्ञः पशुश्चेत् त्वद्यशः सकृदाश्रुत्य ततो विरमेदित्यर्थः। गुणज्ञस्याविराममेव[4] सदृष्टान्तमुपपादयति यत्-यस्मात् श्रीः लक्ष्मीः गुणानां भवदीयकल्याणगुणानां सङ्गहेच्छया संस्मरणेच्छया प्रवव्रे त्वामिति शेषः। यद्वा गुणानां सर्वपुरुषार्थानां सङ्गहः स्वस्मिन् समाहारः तदिच्छया यत्[5] त्वद्यशः प्रवव्रे नितरां वृतवती॥ २७॥

अतो लक्ष्मीरिवान्यपरित्यागेन त्वामेवाहं भजामीत्याह - **अथेति**। अथ[6] हे भगवन्! अखिलपूरुषोत्तममखिलेभ्यो बद्धमुक्त नित्यभेदेन त्रिविधेभ्यः[7-] पूरुषेभ्यः[-7] उत्तमं "पञ्चमी भयेन" (अष्टा 2-1-37) इत्यत्र पञ्चमीति योगविभागात्समासः। अनेन जीवानामभजनीयत्वं विवक्षितम्। अखिलपुरुषोत्तमत्वे हेतुः- गुणालयं त्रिविधेष्वपि चेतनेष्वसम्भावितनित्यनिरुपाधिकानन्याधीनसर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वसर्वकारणत्वसत्यत्वज्ञानत्वानन्तत्वादिकल्याण - गुणाश्रयं त्वामेव पद्मकरेव लक्ष्मीरिव लालसः अत्यासक्तः[8-] अभजं[-8] भजेयमित्यर्थः। ननु द्वयोरपि मां भजमानयोरिन्द्रेण सहेव तव कलहः स्यात् तत्राह- एकपतिस्पृधोः एकस्मिन् पत्यौ स्पर्धमानयोः एकभर्तृश्रद्धावतोरिति यावत्। आवयोः लक्ष्म्या मम च कलिः कलहो न स्यात् असम्भावितः। असम्भवमेवोपपादयति त्वच्चरणैकतानयोः त्वच्चरणयोरेकतानो मनस ऐकाग्र्येण वृत्तिर्ययो स्तयोः आवयोः तत्कलिरित्येतत् क्व न भवेदेवेत्यर्थः, विषयस्यापरिच्छिन्नत्वादिति भावः॥ २८॥

भवतु नाम कलिस्तथापि भजेयमित्याह **-जगदिति**। हे जगदीश! जगज्जनन्यां जगन्मातरि लक्ष्म्यां वैशसं विरोधः स्यादेव। तत्र हेतुः - यस्याः कर्मणि नः समीहितमिच्छा भवति, तथापि इन्द्रविरोधे[9] मत्पक्षपातवत् अत्रापि तव मत्पक्षपात एव स्यादित्याह। फल्गु तुच्छमपि उरु बहु करोषि यतो दीनेषु वत्सलः। स्व एव धिष्ण्ये स्वस्वरूप एवाभिरतस्य तव तया जगज्जनन्या किं प्रयोजनं तां नाद्रियस इत्यर्थः। यद्वा नन्वेतावन्तं कालं कर्म फलासङ्गेनानुष्ठितमधुना फलासङ्गाभावेऽप्यवश्यं मां भजतोऽप्यैहिकं फलं दास्याम्येव तत्राह- जगज्जनन्यामिति। हे जगदीश! कर्मणि यज्ञादौ जगज्जनन्या प्रकृत्या यत्नः अस्माकं समीहितं फलं तद्वैशसमनर्थरूपं फलं संसाराभिप्रायेण वैशसमित्युक्तं स्यादेव प्राकृतं फलं स्यादेवेत्यर्थः। किन्तु फल्वपि प्राकृतफलसाधनत्वेन तुच्छमपि यज्ञादिकर्म उरु

---

1. A, B, T omit अनु 2--2. A, T omit 3. W omits त्वत् 4. A, B, T omit एव 5. A, B, T omit यत् 6. A, B, T omit अथ 7--7. A, B, T नित्येभ्यः 8--8. A, B, T omit 9. A, B, T add अपि

फल्वपि प्राकृतफलसाधनत्वेन तुच्छमपि यज्ञादिकर्म उरु करोषि तस्मिन् स्वाराधनैकवेषतामापाद्य स्वविषयभक्त्युत्पादनद्वारा अनन्तस्थिरमुक्ति फलसाधनतासम्पादनेनोरु करोषीत्यर्थः। यतो भवान् दीनवत्सलः[1] दीनेषु वत्सलः[-1] दोषादर्शी। अयम्भावः- यद्यपि वयम्[2] अनादिप्रकृतिसम्बन्धात् यज्ञादिकर्मणां त्वदाराधनरूपतामजानन्तः पशुपुत्रवृष्ट्यन्नस्वर्गाद्यैहिकामुष्मिकफलसाधनतामापाततश्चोदनाभ्यः प्रतिपन्नामवबुद्ध्य कर्मानुतिष्ठामः। तथापि त्वं दीनेषु दासेषु दोषदर्शी फल्गु[3] फलाशां निवर्त्यानन्तस्थिरफलसाधनतामेव निष्पादयसीति। जगज्जगत्यामिति पाठे प्राणिपूर्णभुवने इत्यर्थः। फल्गुत्वमेवोपपादयति - स्व एव धिष्ण्ये स्वस्वरूप एवाभिरतस्य स्वात्मारामस्येत्यर्थः, तया जनन्या किं प्रयोजनं स्वात्मारामस्य प्राकृतं फलं किमिति न भवति अतिक्षुद्रमित्यर्थः, स्वात्मारामस्य जगज्जगत्यां फल्गु परलोकप्राप्तिरित्यर्थः॥ २९॥

एवमैश्वर्यान्तरेभ्य आत्मानुभवस्यातिशय उक्तः, ततोऽपि भगवदनुभवस्यातिशयत्वं सूचयन् स्वात्मानुभवपूर्वकभक्ति योगस्य कर्तव्यतां सोदाहरणमाह - **भजन्तीति**। अत एव केवलकर्मणां फल्गुत्वादेव साधवो निष्कामाः अथ प्रत्यगात्मयाथात्म्यज्ञानानन्तरं त्वां भजन्ति। कथम्भूतम्? व्युदस्तमायागुणविभ्रमोदयं मायाया ये गुणा रजस्तमादयः तन्मूलको यो भ्रमः देहात्मभ्रमः स्वतन्त्र्यात्मभ्रमश्च तस्य य उदयः उद्रेकः व्युदस्तः निरस्तः मायागुणविभ्रमोदयो येन तं संश्रितमायागुणभ्रमनिरासकमित्यर्थः। निरतिशयानन्दरूपमात्मानुभवं लब्ध्वापि किमर्थं मां भजन्ते तत्राह - हे भगवन्! सतां भवत्पदानुस्मरणात् ऋते त्वत्पदाम्बुजस्मरणं विना अन्यन्निमित्तं फलं न विद्महे, नित्यनिरतिशयानन्तानन्दरूपे त्वच्चरणस्मरणे समुद्रे विप्रु डिव केवलस्वात्मानुभवोऽप्यतितुच्छ इति भावः॥ ३०॥

वरैः प्रलोभनं कृपालोस्तवानुचितमित्याशयेनाह- **मन्य इति**। त्वां भजन्तं मां वरं वृणीष्वेति यदात्थ अवोचः तां ते तव गिरं जगतां विमोहिनीं विषमिश्रपयः पानप्रलोभनवाक्यतुल्यां मन्ये। त्वद्भजनात् प्राप्तसंसाराणां दैवात् त्वद्भजने सति पुनस्तेषां वरप्रलोभनैः संसारहेतुमेवाऽऽपादयसि भक्तानुग्रहैकशीलस्य दयालोस्तव तन्निग्रहोऽनुचित इति भावः। नु अहो ते तव तन्त्या दामतुल्यया बन्धक्या वाचा "अपाम सोमममृता अभूम, अक्षय्यं हवैचातुर्मास्य याजिनः सुकृतं भवति"। (ऋक्.सं.6-4-11) इत्यादिकया "यामिमां पुष्पितां वाचम्" (भ.गी. 2-42) इति त्वदुक्त विधया वेदगिरा जनो लोकः यदि असितः अबद्धः स्यात्, "षिञ् बन्धने"। (धातुपाठे) आपाततः प्रतिपन्नफलाशानिर्मुक्तो मुमुक्षुः स्यादित्यर्थः। तर्हि कथं पुनः फलैः मोहितस्सन् कर्म प्रवृत्तिधर्मं करोतीत्यर्थः॥ ३१॥

---

1--1. A, B, T omit  2. A, B, T omit वयम्  3. W omits फल्गु

**विज.** ननु मत्कथा भवता बहुशोऽश्रावि, अतोऽस्मादाग्रहाद्विरम्यान्यं वरं वरयेति चेत्तत्राह - **यश इति**। हे सुश्रवः! शोभनकीर्ते! आर्याणां त्वत्तत्त्वज्ञानां सङ्गमे यदृच्छया प्रसङ्गतः प्राप्तं तव यशः कथारूपेण ग्रथितं भक्त्या उपश्रृणोति, स गुणज्ञः सारज्ञः पुरुषः पशुमज्ञमृते कथमस्माद्विरमेदित्यन्वयः। तत्र हेतुः **श्रीरिति**। गुणस्त्वावृत्तिस्तत्सङ्गहेच्छया यद्यशः प्रवव्रे इति यस्मात्तस्मात् अनेन यशश्श्रवणमात्रावृत्त्या क्रियते चेदानन्दाभिवृद्धिः स्यादिति सूच्यते। "गुणस्त्वावृत्तिशब्दादि ज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु" (वैज.को. 6-1-20) इति यादवः॥ २७॥

अथ तस्मादहं त्वामभजं भजामि, तथाप्येकमेव पतिं स्पर्धेते इत्येकपतिस्पृधौ तयोस्त्वच्चरणैकतानयोः त्वत्पदैकनिष्ठयोरावयोः कलिः कलहः कृतो न स्यात् अपि, किं न स्यादेव? ॥ २८॥

जन्तु स्वभावमपेक्ष्य कलिः स्यादिति शङ्का, न तु भगवद्भक्तस्येत्यभिप्रेत्याह- **जन्तोरिति**। हे जगदीश ! अखण्डेश! "जगत्समस्तं विश्वं च निखिलं पूर्णमुच्यते" इति च। जगत्यां राजप्रधानलोके विद्यमानस्य जन्तुसमूहस्य मिथो वैशसं हिंसालक्षणः कलहः स्यात् कलिस्वभावत्वात्। अत्रास्मद्विषये स न स्यात् निमित्ताभावात् इत्युक्तं- यत्कर्मणीति। नोऽस्माकं कर्मणि त्वत्पूजालक्षणे यत्समीहितं शुभलक्षणं चेष्टितं तत् फल्गु अल्पमपि उरु महत्करोषि। तत्र हेतुगर्भविशेषणमाह- **दीनवत्सल इति**। तत्राप्यल्पस्यापि शुभस्य फलप्रदानेन महत्त्वकरणं, न तु परमाणुपरिमितस्य शुभस्य सुखपर्वतीकरणम्। तथा सति वैषम्यापातः स्यात्, तस्य निर्दोषस्यासम्भवादिति बोद्धव्यम्। इतोऽपि कलिर्नस्यादित्याह - **स्व एवेति**। स्वे स्वरूपभूते धिष्ण्ये महिम्न्येव "धिष्ण्यं तेजश्च सामर्थ्यं महिमा धाम चोच्यते" इत्यभिधानम्। स्वसुखार्थम् अन्यापेक्षां विना अभिरतस्य तव वात्सल्यं विना तया श्रियापि किमत्रापि वात्सल्यमेव कारणं येन येन भक्त्यतिशयः क्रियते तत्र तत्राधिकवात्सल्यं स्यादिति तात्पर्यमवबोद्धव्यम्। जगत्यां मूलप्रकृतौ श्रियां जन्तोरज्ञजनस्य वैशसं विषमबुद्धिलक्षणं स्यादेव। न तु पण्डितस्य। कुतः यद्यस्मात् नः कर्मणि श्रौतादिविषये वैशसं यत्संज्ञपनलक्षणं तत्समीचीनमीहितं भक्तिपूर्वकत्वात्। अल्पपुण्यस्य तव न मद्भक्तियोग्यत्वमत्राह- **करोषीति**। "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" (कठ. 3-2-22) इति श्रुतेः। भक्तिवशत्वद्योतनाय फल्ग्वप्युरु करोषीत्युक्तम्। अनेन हरौ भक्तिरवश्यं कर्तव्येति ज्ञायते, अन्यत्सममिति। भजनक्रियामपि न शक्नुमः कर्तुं त्वत्प्रसादातिरेकेणेत्याह- **जगज्जगत्यामिति**। जगतां जङ्गमेन उपलक्षणमेतत्, स्थावरेणापि युक्तायां जगत्यां लोके। नोऽस्माभिः कर्मणि विषये यत्समीहितं स्यात् तद्वैशसमेव हिंसारूपमेव। अत एव फल्गु तुच्छफलं ततः स्वतश्चतृप्तये नालमित्यर्थः। अथ भगवानुरु परिपूर्णं करोति, अत्र हेतुगर्भविशेषणं- **हे दीनवत्सलेति**। हेत्वन्तरमाह- **स्व एवेति**। परिपूर्णानन्दरूपेऽभिरतस्य तया भजनक्रियया किं भृत्यवात्सल्यादुरुकरोतीत्यर्थः। अथवा अप्येकपतिस्पृधोः कलिः स्यादिति सन्देहः

कृतः, पूर्वमधुना तव मयि पक्षपातात् कलिरित्याह- **जगज्जगत्यामिति**। जगतो जङ्गमस्थावरलक्षणस्य प्राणिसमूहस्य जगत्याधारभूता मूलप्रकृतिर्लक्ष्मीः, तस्यां वैशसं पीडा स्यादेव। हे जगदीश! कुतः? यत् यस्मादस्माकं कर्मणि श्रौतादौ फल्वप्युरु करोति न तथा तया कृतं हे दीनवत्सल! अथवा किमिदमाश्चर्यमित्याह - **स्व एवेति**। तया श्रिया किं प्रयोजनम्? कामिनामुपकारिण्येत्यर्थः। जगज्जगत्यामित्येकपदेऽपि लक्ष्म्यामित्यर्थः। अथवा जगतो हिंसारूपत्वात् तदन्तः पाती, कथमहं त्वां भजामि त्वत्प्रसादं विनेत्याह- **जगदिति**। हे जगदीश! जगत्यां लोके यज्जगत्प्राणिसमूहः तद्वैशसमेव हिंसाप्रवृत्तिरेव। तथापि तदन्तःपातिभिः अस्माभिः कर्मणि यत्समीहितं स्यात् तत्फल्गु हिंसारूपमप्युरु अहिंसारूपकमपि करोति। भवान् हे दीनवत्सल! किमर्थमेवं पक्षपातेन करोति भवान् हे दीनवत्सल! किमर्थमेवं पक्षपातेन करोति न स्वे धिष्ण्येऽभिरतस्य तया अहिंसया तव किं, केवलं मामुद्धर्तुमेवेति भाव इति केचिद्वाचक्षते, तदसत्। पदानां विवक्षितार्थावाचकत्वेन पाठसम्प्रदायाभावेन प्रमाणविरोधेन प्रेक्षावद्भिरुपेक्षणीयत्वात् पूर्वापरविरोधाच्च लक्ष्म्या हरेर्भक्तेषु पक्षपातकथनाय स्वानुभवविरुद्धत्वाच्च॥ २९॥

अस्मिन्नर्थे साधुसम्मतिमाह - **भजन्तीति**। अथान्यच्चास्मिन्नर्थे प्रमाणमस्तीति किं तदिति तदुच्यते। अत एव भक्तवात्सल्यादेव साधवः सज्जनास्त्वां भजन्ति कं गुणमुपसंहृत्येति तत्रोक्तं **व्युदस्तेति**। मायागुणानां विभ्रमोदयो विलासोदयो यः स निरस्तो येन स तथा तं संसारोच्छेदोऽपि न स्वत एषामित्यभिप्रेत्याह - **भवत्पदेति**। अन्य त्कर्मादिकम्॥३०॥

विमुक्ति मुख्य निमित्तमङ्घ्रिस्मरणादन्यन्नास्तीति यद्यस्मात्तस्माद्भजन्तं प्रति वरं वृणीष्वेति वाणी जगन्मोहकरीत्याह - **मन्ये गिर मिति**। तदुपपादयति - वाचेति। "तस्येदं वाचा तन्त्या नामाभिर्दामभिः सर्वं सितम्"() इति श्रुतिः "षिञ्-बन्धने"()यद्यसितो बन्धनरहित स्तर्हि पुनः शश्वत्कथं कर्म करोतीत्यन्वयः॥ ३१॥

**त्वन्माययाद्धा जन[1] ईश खण्डितो यदन्यदाशास्त ऋतात्मनोऽबुधः।**
**यथा चरे द्वालहितं पिता स्वयं तथा त्वमेवार्हसि नः समीहितम्[2]॥ ३२॥**

**[3-]मैत्रेय उवाच[-3]**

**[4-]*ते साधु वर्णितं[-4] राजन्नाशास्से[5-] न यदाशिषः[-5]।**
**स्वर्गापवर्गनरकान् समं पश्यति मत्परः॥ ३३॥**

---

1. M, Ma जगदीश 2. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T, V °तुम् * These two verses are not found in A, B, G, I, J & T. 3--3. M, Ma श्री भगवानुवाच; Ms श्रीवैकुण्ठः 4--4. M, Ma, Ms, V साधु तेऽवसितं 5--5. V मत्त आशिषः

प्रीतोऽहं ते महाराज ! शेषंदुस्त्यजमत्यजः ।
मदादेशं श्रद्दधानः तन्मह्यं परमर्हणम्[1] ॥ ३४ ॥

## मैत्रेय उवाच

*इत्यादिराजेन नुतः स विश्वदृक् तमाह राजन्[2]मयि भक्तिरस्तु[3] ते ।
दिष्ट्येदृशी धीर्मयि ते[4] कृता यथा मायां मदीयां तरति स्म दुस्त्यजाम्[5-5] ॥ ३५ ॥

**तत्त्वं[6] कुरु मयाऽऽदिष्टमप्रमत्तः[7] प्रजापते ।
मदादेशकरो लोकः सर्वत्राप्नोति[8] शोभनम् ॥

## मैत्रेय उवाच

इति वैन्यस्य राजर्षेः प्रतिनन्द्यार्थवद्वचः[9] ।
पूजितोऽनुगृहीत्वैनं गन्तुं चक्रेऽच्युतो मतिम् ॥ ३६ ॥

देवर्षिपितृगन्धर्व[10] सिद्धचारणपन्नगाः ।
किन्नराप्सरसो मर्त्याः खगा भूतान्यनेकशः ॥ ३७ ॥

यज्ञेश्वरधिया राजा वाक्वित्ताञ्जलिभक्तिभिः[11-12] ।
सभाजिता ययुः सर्वे वैकुण्ठानुगतास्ततः ॥ ३८ ॥

भगवानपि राजर्षेः सोपाध्यायस्य पश्यतः[13] ।
हरन्निव मनोऽमुष्य स्वधाम प्रत्यगात्[14]प्रभुः[15] ॥ ३९ ॥

अदृष्टाय नमस्कृत्य नृपस्सन्दर्शितात्मने[16] ।
वासुदेवाय[17] देवानां देवाय स्वपुरं ययौ ॥ ४० ॥

---

1. M, Ma, Ms, V °मा° * This verse is not printed in M, Ma Edns. There is not commentary of Vijayadwaja in the same
2. Ms adds श्रीवैकुण्ठः 3. Ms °रस्खला 4. Ms लोकहिते 5--5. ततस्सुदुस्तराम् ** This verse is not commented by either Sridhara or Veeraraghava or Vijayadhaja 6. Ms, V स त्वं 7. Ms ममाऽऽदि° ; W मयोद्दि° 8. Ms, T, V °मा° 9. Ms, V अभि 10. Ms °र्वाः
11. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T वाग्वि° 12. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °तः । 13. A, B, G, I, J, T, V चाच्युतः 14. A, B, G, I, J, T प्रत्यपद्यत 15. V °द्विभुः 16. M, Ma, Ms स्वस्य स° 17. A, B,G, I, J, T अव्यक्ताय च

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टादश साहस्र्यां

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां

चतुर्थस्कन्धे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

**श्रीध.** त्वन्मायया खण्डितस्य त्वया पुनः खण्डनं न कर्तव्यं किन्तु हितं चेष्टितव्यमित्याह - **त्वन्मायये ति**। त्वन्मायया ऋतादात्मनस्त्वत्तः खण्डितः पृथक्कृतो यद्यतोऽन्यत्पुत्रादिकमाशास्ते अतः स्वयमविज्ञापित एव नः[1] समीहितुं[2-2] हितं चेष्टितुमर्हसि, यथा बालहितं पिता स्वयमेव करोति तद्वत्[3-3]॥ ३२-३६ ॥

**यज्ञेति**। वाक्चित्ताञ्जालि[4-4] भक्तिभिः[5] पूजितास्सन्तः। वैकुण्ठानुगताः पार्षदाश्च॥ ३७,३८ ॥

***भगवानिति**। अमुष्य राज्ञः। हरन्निवेति लोकोक्तिः। वस्तुतस्तस्य मनः सर्वदैव तदधीनमस्त्येव। स्वधाम राज्ञो हृदयम्॥ ३९ ॥

**अदृष्टायेति**। अदृष्टाय लोचनपथमतिक्रान्ताय। सन्दर्शितः अनुभावित[6-6] आत्मा येन तस्मै। वासुदेवाय[7-7] शुद्धचेतसि प्रतीयमानाय[7-7]। वस्तुतोऽव्यक्ताय[8-8]॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीश्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

**वीर.** त्वन्मायया मोहितस्य त्वया पुनर्मोहनं न[9-9] कार्यं किन्तु हितमेव चेष्टितव्यमित्याह - **त्वन्माययेति**। हे ईश! त्वन्मायया अबुधः स्वात्मपरमात्मयाथात्म्य ज्ञानविधुरः जनः लोकः दैवात्वां भजन् ऋतात्मनः सत्यात्मनस्त्वत्तः यदि अन्यत् अर्थकामादिकमाशास्ते तर्हि खण्डितः पृथक्कृतः दूरीकृत एव स्यादित्यर्थः। ईशेति हेतुगर्भम्, आत्मना ईशेन त्वया आत्मीयमीशि[10]त्वं दूरीकृतं स्यादितीशत्वमेव विप्लुतं स्यादिति भावः। अतः स्वयमविज्ञापित एव त्वं[11] बालहितमज्ञ[12]पुत्रहितं पिता यथा चरेत् कुर्यात् तथा नः समीहितं कर्तुमर्हसि॥ ३२ ॥

---

1. B, J, V, Va omit नः  2--2. B, J, V omit  3--3. A, B, J, Va omit द  4--4. A, B, J, Va वाग्चित्ताञ्जलिभिर्भक्तितः  5. V सम्पू°

* The commentary of Sridhara on 39th verse is not found in V Edn. only.  6--6. B, J, V, Va omit  7--7. B, J, V, Va omit

8--8. V omits  9--9. A, B, T नोचितं  10. A, B, T °मैश्वर्यं  11. A, B, T omit त्वं  12. W omits अज्ञ

एवमुक्तो भगवान् तदुक्तमनुजग्राहेत्याह मुनिः। हे राजन्! ते त्वया साधुवर्णितं यत् यस्मात् आशिषः ऐहिक पुरूषार्थान्नाशास्से नेच्छसि, अतो भवान् मत्परः स्वर्गापवर्गनरकान् समं यथा तथा पश्यति। अपवर्गोऽत्र कैवल्यं, नरकग्रहणं दृष्टान्तार्थं, नरकवत् स्वर्गापवर्गावपि[1] हैयौ द्रक्ष्यसीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

हे महाराज! ते तुभ्यमहं प्रीतः यस्मा- त्त्वं मदादेशं श्रद्दधानः विश्वसन् दुस्त्यजमपि शेषमत्यजः। तन्मदादेशविश्वसनमेव मह्यं परमुत्कृष्टमर्हणमाराधनम् ॥ ३४ ॥

इति पूर्वोक्तरीत्या आदिराजेन पृथुना नुतः स्तुतः स विश्वभुग्भगवान् तमादिराजं प्रत्याह। उक्तमेवाह - हे राजन्! मयि ते तव भक्तिरस्तु वर्धतां, दिष्टया दैववशेन ते त्वया मयीदृशी धीर्भक्तिः कृता, कथम्भूता? यया धिया दुस्त्यजामपि मदीयां मायां तरति स्म ॥ ३५ ॥

उपसंहरति - **इतीति**। वैन्यस्य राजर्षेः प्रभोः अर्थवत् श्रुण्वतामपि पुरूषार्थसाधनं वचः अभिनन्द्य तेन पूजितः एनं वैन्यं अनुगृह्याच्युतो भगवान् गन्तुं मतिं चक्रे ॥ ३६ ॥

तदा देवादयः सर्वे राज्ञा यज्ञेश्वर धिया भगवदात्मकत्वधिया यथायोग्यं वागादिभिः सभाजिताः पूजिताः ततः यज्ञभूमेः वैकुण्ठं? भगवन्तमनुसृत्य गताः ययुः ॥ ३७,३८ ॥

सोपाध्यायस्य राज्ञः पश्यतस्सतः अमुष्य राज्ञो मनो हरन्निव भगवान् स्वधाम प्रत्यगात् ॥ ३९ ॥

अदृष्टाय चक्षुर्विषयतामप्राप्ताय सन्दर्शित आत्मा येन तस्मै, देवानां ब्रह्मादीनामपि देवा"य वासुदेवाय। "वसन्ति यत्र भूतानि भूतात्मानि" (वि.पु.6-5-75) इति निरुक्त वासुदेव पदवाच्याय नमस्कृत्य स्वपुरं ययौ ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवत चन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

**विज.** इतोऽपि मोहित इत्याह - **त्वन्माययेति**। अबुधो यो जनः ऋतात्मनः सत्यात्मनो हरेः सकाशाद्न्यत् स्वर्गादिकमाशास्त

1. A, B, T omit अपि

इति यत्तस्मादेष त्वन्मायया खण्डितः त्वदुपास्तेर्वियोजित इत्यर्थः। अस्यामवस्थायां बहुप्रजल्पेन किम्? इदमेव प्रार्थय त्यिाह ययेति॥ ३२॥

पृथूक्तं श्रीपतिमनसि संविष्टमिति भावेन हरेः तदुक्तिप्रशंसा प्रकारमाह - **साध्विति**। साधु उचितं इदमात्यन्तिकभक्त लक्षणमि भावेनाह - स्वर्गेति। नरकान्नरकान्तरप्राप्ति समये किञ्चिन्निवृत्तिः समत्वम्॥ ३३॥

मद्भक्तस्य रोषत्याग एव मत्प्रीतिसाधनमित्याह प्रीत इति॥ ३४॥

प्रतिवचनं चेत्समाप्तं परं किमकारि हरिणेति तत्राह-इतीति॥ ३६॥

हरिमनुगता देवादयः किं चक्रुरत्राह - **देवेति**॥ ३७॥

सर्वप्राणिषु यज्ञेश्वरो हरिरवस्थितः। तदुक्तं ''भूतेषु हरिरित्येव हर्यर्पणधिया तथा ! सर्वभूतेषु च हरेः पूज कार्यात्मवेदिभिः''(पाद्मे) इति वचनात् इदं सर्वं तदर्पणमास्त्विति धीर्यज्ञेध्वर धीः, तया सभाजिताः सम्भाविताः॥ ३८॥

गन्तुं मन एव कृतं न तु गतमिति शङ्का मा भूदित्याह **भगवानपीति**॥ ३९॥

राज्ञो यज्ञशालातः स्वपुरप्रस्थानप्रकार माह अदृष्टायेति अदृष्टाय चक्षुषोरविषयाय स्वस्य सन्दर्शितात्मने साक्षात्कारित स्वरूपाय॥ ४०॥

इति श्रीमद्भगवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीविजयध्वजतीर्थ कृतायां पदरत्नावल्यां

टीकायां विंशोऽध्यायः॥ २०॥

# एकविंशोऽध्यायः

## मैत्रेय उवाच

मौक्तिकैः कुसुमैस्रग्भिः[1] दुकूलैः स्वर्णतोरणैः।
महासुरभिभि धूपै र्मण्डितं तत्र तत्र वै[2]॥ १॥

चन्दनागुरुतोयार्द्र रथ्याचत्वरमार्गवत्[3]।
पुष्पाक्षतफलै स्तोक्मै र्लाजै रर्चिभिरर्चितम्[4][5]॥ २॥

सवृन्तैः[6] कदलीस्तम्भैः पूगपोतैः परिष्कृतम्।
तरुपल्लवमालाभिः सर्वतः समलङ्कृतम्॥ ३॥

प्रजास्तं दीपबलिभिः सम्भृताशेषमङ्गलैः।
अभीयु र्मृष्टकन्याश्च[7-7] मृष्टकुण्डलमण्डिताः॥ ४॥

शङ्खदुन्दुभिघोषेण ब्रह्मघोषेण चर्त्विजाम्।
विवेश भवनं वीरः स्तूयमानो गतस्मयः॥ ५॥

## श्री श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एकविंशे तु पृथुना प्रजाना मनुशासनम्। महासत्रे सुरादीनां महासदसि वर्ण्यते॥

स्वपुरं यया वित्युक्तं, तत्पुर मनुवर्णयति त्रिभिः **मौक्तिकै**रिति॥ १॥

**चन्दनेति**। चन्दनागुरुयुक्तै[8] स्तोयैः आर्द्राः रथ्यादयः तद्युक्तम्। तोक्मैः हरितयवैश्च अङ्कुरैरिति वा अर्चिर्भि र्दीपैः॥ २॥

**सबृन्दैरिति**[9]। सबृन्दैः पुष्पफलयुक्तैः कदली स्तम्भैः पूगैः वृक्षैः तथाविधैः सर्वतः समलङ्कृतं शोभितम्[9]॥ ३॥

**प्रजा** इति। सम्भृतानि सम्पादितानि[10-10] अशेषाणि मङ्गलानि दध्यादीनि तैः सह अभिजग्मुः। मृष्टाः उज्ज्वलाः कन्याश्च॥ ४॥

1. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °मस्र° 2. V च 3. V, W °गा° 4. M, Ma, Ms °धै°; W० कै० 5. A, G, I, J, Ms, V °र्भि° 6. A, B, G, I, J, T सबृन्दैः; M, Ma, Ms संवृतैः; V संवृतं 7--7. W अभिजग्मु र्मृष्टकन्याः 8. V °गा° 9--9. This commentary is not found in V Edn. 10--10. B, J, V, Va omit

**शङ्केति**। गतस्मयः निरहङ्कारः ॥ ५ ॥

## श्री वीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

पुरं यया वित्युक्तम्। तत्पुर मनुवर्णयति - **मौक्तिकै**रिति। मौक्तिकै र्मुक्तादामभिः चन्दनागरुयुक्तैः तोयै रार्द्रा रथ्यादयः अस्मिन् सन्तीति तथा, तौकै[1] र्यवाङ्कुरैः अर्चिभिर्दीपैश्च[2] ॥ २ ॥

पूगपोतै र्बालपूगैः परिष्कृतं अलङ्कृतम्। सम्भृतान्य शेषाणि मङ्गलद्रव्याणि दध्यादीनि तैस्सह अभिजग्मुः राज्ञोऽभिमुखं ययुः। मृष्टानि निर्घर्षितानि[3] कुण्डलानि यासां ताः। मृष्टाः उज्ज्वलाः कन्याश्च अभिमुखं[4-] ययु[-4]: ॥ ३,४ ॥

ततः शङ्खादिघोषेण ऋत्विजां वेदघोषेण च सह वन्दिभिस्स्तूयमानोऽपि गतस्मयः निरहङ्कारः वीरः पृथुः भवनं विवेश ॥ ५ ॥

## श्री विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

देवादीन् विना हरे र्ब्राह्मणाः सन्निधानपात्र मित्ये तत्प्रतिपाद्यतेऽस्मिन्नध्याये। तत्र अनन्तरातीताध्याये पृथुः पुरं यया वित्युक्तम्। तत्पुरं वर्णयति **मौक्तिकै**रित्यादिना ॥ १ ॥

पिष्टचन्दनागुरुमिश्रतोयै रार्द्रा रथ्या चत्वरमार्गा यस्मिं स्तत्तथोक्तम्। गोमयतोयैः अर्चिभि[5] र्दीपज्वालाभिः ॥ २ ॥

पूगपोतैः क्रमुकपुष्पैः परिष्कृतं अलङ्कृतम् ॥ ३ ॥

सम्भृतानि सम्पादितानि अशेषाणि मङ्गलानि दध्यादीनि तैश्च युक्ताः मृजसंशुद्धाविति धातुः ॥ ४ ॥

भूयः पुरप्रवेशानन्तरं गतस्मयो गर्वरहितः ॥ ५ ॥

**पूजितः पूजयामास तत्र तत्र महायशाः।**

**पौराञ्जानपदांस्तांस्तान् प्रीतः प्रियवरप्रदः ॥ ६ ॥**

**स एवमादीन्यनवद्य चेष्टितः कर्माणि भूयांसि महान्महत्तमः[6]।**

**कुर्वन् शशासाऽवनिमण्डलं यशः स्फीतं निधायाऽऽरुरुहे परं पदम् ॥ ७ ॥**

---

1. A, B, T तौक्मैः  2. A अर्चिर्भिः  3. A, B, T निघ°  4--4. A, B, T अभीयुः।  5. A °र्भि°  6. M, Ma महन्म°

## सूत उवाच[1-1]

**तदादिराजस्य यशो विजृम्भितं गुणै रशेषैर्गुणवत्सभाजितम्[2]।**
**क्षत्ता महाभागवतः सदस्पते कौषारविं प्राह गृणन्त[4] मर्चयन्[3] ॥ ८ ॥**

## विदुर उवाच

**सोऽभिषिक्तः पृथु र्विप्रै र्लब्धाशेषसुरार्हणः।**
**बिभ्रच्च[5] वैष्णवं तेजो बाह्वो र्याभ्यां दुदोह गाम् ॥ ९ ॥**

**कोन्वस्य कीर्तिं न शृणोत्यभिज्ञो यद्विक्रमोच्छिष्ट मशेषभूपाः।**
**लोकाः सपाला उपजीवन्ति काम मद्याऽपि तन्मे वद कर्म शुद्धम् ॥ १० ॥**

**श्रीध. पूजित** इति। प्रियान् वरान् प्रददातीति तथा ॥ ६ ॥

**स** इति। गुणै र्महान्, अत एव महत्तमः पूज्यतमः ॥ ७ ॥

**तदिति**। गुणै र्विजृम्भितं ऊर्जितं गुणवद्भिः सभाजितं सत्कृतं यशः गृणन्तं मैत्रेय[6] मर्चयन् प्राह सदस्पते ! शौनक ! ॥ ८ ॥

**स** इति। लब्धानि अशेषसुराणा मर्हणानि येन सः, किमकरोदिति शेषः ॥ ९ ॥

श्रवणौत्सुक्य माविष्कुर्वन्प्रार्थयते- **को न्विति**। यस्य विक्रमः पृथ्वीदोहनं तस्य उच्छिष्टतुल्यं कामं विषयं[7] तत्तस्य कर्म वद ॥ १० ॥

**वीर०** तत्र तत्र रथ्यादिषु पौरादिभिः पूजितः महायशाः विपुलकीर्तिः पौरान् पुरवासिनः जानपदान् देशवासिनश्च तदीयपूजादिभिः प्रीत स्तेभ्यः समीहितवरप्रदो भूत्वा यथायोग्यं पूजयामास ॥ ६ ॥

तथा गुणै र्महान् अत एव महत्तमः पूज्यतमः अत एवाऽनवद्यचेष्टितः निर्दुष्टेदारव्यापारः[8] एवमादीनि दोहनादीनि भूयांसि कर्माणि कुर्वन् भूमण्डलं शशास अनुशिष्टवान्। ततः स्फीतं विपुलं यशः इह लोके निधाय परम्पदं वैकुण्ठं आरुरुहे[9] अधिरूढवान् ॥ ७ ॥

---

1--1. Ms बादरायणिः 2. M, Ma, Ms शुत्वादि 3. V °दोषै° 4. M, Ma, Ms गुरुं सम° 5. A, B, G, I. J, T °त्स 6. B, J, V, Va omit मैत्रेयम् 7. B, J, V, Va omit विषयं 8. A, B, T °त्तर 9. A, B, T आरुरोह

एवं श्रुतपृथुचरित्रः क्षत्ता एवमादीनीत्यादिशब्दोपक्षिप्ताऽन्यतदुदारचेष्टितशुश्रूषया पुनः प्राहेत्याह- सूतः श्रुत्वेति। अशेषै र्गुणैः विजृम्भित मूर्जितं गुणवद्भिः सभाजितं सत्कृतं अधिराजस्य [1-]राजाधिराजस्य[-1] पृथो र्यशः श्रुत्वा महाभागवतः क्षत्ता हे सदस्पते! शौनक! गृणन्तं कथयन्तं कौषारविं मैत्रेयमर्चयन् साधुसाध्विति सम्मानयन् प्राह॥ ८॥

[2]उक्ति मेवाह - **स** इति द्वाभ्याम्। विप्रै र्ब्रह्मर्षिभिः राज्येऽभिषिक्तः लब्धं अशेषाणा मखिलाना मिन्द्रादीना मर्हणं येन सः, वैष्णवं विष्णो स्सम्बन्धि तेजः वीर्यं बाह्वोः बिभ्रच्च बिभ्राणश्च याभ्यां वैष्णवतेजशालिभ्यां [3]बाहुभ्यां गां दुदोह। एवम्भूतः किमकरोदिति शेषः॥ ९॥

श्रवणौत्सुक्य माविष्कुर्वन् प्रार्थयते- **कोन्विति**। अस्य पृथोः कीर्ति मभिज्ञ श्चेत् कोनु न शृणोति? कथम्भूतस्य? यस्य विक्रमः पृथ्वीदोहनादिरूप स्तस्य यदुच्छिष्टं [4-]उच्छिष्ट[-4] तुल्यं काम मद्याऽपि अशेषभूपाः लोकपालै स्सहिता लोकाश्च उपजीवन्ति। शुद्धं निरवद्यं तत्कर्म तदीयं चेष्टितं मे मह्यं वद॥ १०॥

**विज०** प्रियानभीष्टान् वरान् प्रददातीति प्रियवरप्रदः॥ ६॥

प्रश्न मङ्कुरयन्नुपसंहरति - **स एव** मिति। भूयांसि महान्ति। स्फीतं पृष्टं लोके निधाय॥ ७॥

गुणवद्भिः पुरुषैः सभाजितं पूजितम्॥ ८॥

किमाहेति तत्राह- **सोऽभिषिक्त** इति। स पृथुः यत्कर्माऽकरोत्तन्मे वदेत्यन्वयः। लब्धान्यशेषैः सुरैः कृतान्यर्हणानि येन स तथोक्तः॥ ९॥

वक्तव्यत्वे गुण माह- **कोन्वस्येति**। "देवेभ्य ऋषयो भूपाश्चोच्यन्ते शक्तिमत्तया। क्वचित् क्वचित्तु मोहार्थं कादाचित्कात्तु हेतुतः" (नारदीये) इति वचना द्युक्तं सपाला इति॥ १०॥

[5-]**मैत्रेय उवाच**[-5]

**गङ्गायमुनयो र्नद्यो रन्तरा क्षेत्र मावसन्।**
**[6]आरब्धानेव बुभुजे भोगान् पुण्यजिहासया॥ ११॥**

---

1--1. A, B, T omit  2. A, B, T उक्त°  3. A, B, T omit बाहुभ्यां  4--4. A, B,T तुच्छ°  5--5. B omits  6. V प्रा°

**सर्वत्रास्खलितादेशः सप्तद्वीपैकदण्डधृत्[1]।**

**अन्यत्र ब्राह्मणकुला दन्य त्राऽच्युतगोत्रतः ॥ १२ ॥**

**एकदाऽऽसीन्महासत्त्रदीक्षा तत्र दिवौकसाम्।**

**समाजो ब्रह्मर्षीणां च देवर्षीणां[2] च सत्तम ॥ १३ ॥**

**तस्मिन्नर्हत्सु सर्वेषु स्वर्चितेषु यथार्हतः।**

**उत्थितः सदसो[3] मध्ये ताराणा मुडुराडिव ॥ १४ ॥**

**प्रांशुः पीनायतभुजो गौरः कञ्जारुणेक्षणः[4]।**

**सुनासः सुमुखः सौम्यः पीनांसः सुद्विजस्मितः[5-5] ॥ १५ ॥**

**श्रीध० गङ्गेति**। प्राचीनकर्मभिः प्रारब्धान् प्राप्तानेव[6] बुभुजे न तु भोगान्तरार्थं कर्माणि करोति। तदपि भोगेन पुण्यक्षपणेच्छया न तु सुखासक्त्येत्यर्थः ॥ ११ ॥

**सर्वत्रेति**। अस्खलितः अप्रतिहतः आदेशः आज्ञा यस्य। सप्तसु द्वीपेषु एक एव दण्डं धारयतीति तथा। किं सर्वत्र ? नेत्याह- ब्राह्मणकुलव्यतिरेकेण अच्युतगोत्रप्रवर्तकतुल्यो[7] येषां[8] वैष्णवानां तद्व्यतिरेकेण च ॥ १२ ॥

**एकदेति**। एकदा तस्य महासत्त्रदीक्षा आसीत्। तत्र[9] सत्त्रे देवादीनां समाज आसीदित्यर्थः ॥ १३ ॥

**तस्मिन्निति**। तस्मिन्[10] सत्त्रे पूज्येषु स्वर्चितेषु सत्सु सदसः मध्ये उत्थितः स[11--11] पृथुः समन्ततः समैक्षतेति षष्ठ[12] श्लोकेनाऽन्वयः ॥ १४ ॥

**प्रांशु** रिति। प्रांशुः उन्नतः पीनौ च तौ आयतौ च भुजौ यस्य, कञ्जवदरुणे ईक्षणे यस्य सः, शोभना द्विजाः स्मितं च यस्य सः ॥ १५ ॥

**वीर०** एवमुक्तो मुनिराह- **गङ्गायमुनयो** रित्यादिना। यद्यप्यत्र मुनिराहेत्याहेत्येवं रूपं सूतवाक्य मपेक्षितम्। तथाऽप्यर्थ सिद्धत्वात् तत्रे त्यवगन्तव्यम्[13]। एवं प्रश्नेऽपि शुकवाक्य मर्थसिद्धं ज्ञेयं गङ्गायमुनयो र्महानद्योः अन्तरा मध्ये स्थितं ब्रह्मावर्ताख्यं क्षेत्रं,

---

1. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T धृक् 2. A, B, G, I, J, T राज° 3. M, Ma, Ms स सदो° 4. V °ऽऽयते° 5--5. M, Ma सुद्विजः स्मितः; Ms सुस्मितद्विजः 6. A, B, J, Va omit प्राप्तान् 7. V °तगोत्रं 8. V °नतुल्यं 9. V तत्यत्रे 10. B, J, V, Va omit सत्रे 11--11. B, J, V, Va सन् 12. B, J, V. Va षष्ठेना° 13. A, B, T °धि

क्षेत्रे आवसन् "उपान्वध्याङ् वसः" (अष्टाध्यायी-१-४-४८)) इत्याधारस्य कर्मसंज्ञायां द्वितीया, आरब्धानेव प्राचीनकर्मायत्तानेव भोगान् न तु अपूर्व साधनानुष्ठानारब्धान्, तत्र हेतुः पुण्यजिहासया पुण्यक्षपणेच्छया मुमुक्षोः पापवत् पुण्यस्याऽपि स्वफल-जननद्वारा मोक्षविरोधित्वेन पुण्यस्याऽपि जिहासितव्यत्वबुद्धिमतो[1] मोक्षविरोधि भोगसाधनत्वेन[2] कर्मानुष्ठानासम्भवादिति भावः। बुभुजे अनुभूतवान्॥ ११॥

सर्वत्र अस्खलितः अप्रतिहतः[3] आदेश आज्ञा यस्य, सप्तद्वीपेषु एक एव दण्डं धारयति, तथा स्वसमानराजान्तररहित इत्यर्थः। दण्डधारणं किं सर्वत्र, न, ब्राह्मणकुलादन्यत्रापि किं सर्वत्र, न, किन्तु अच्युतगोत्रतः अच्युतगोत्रात् अन्यत्र जात्यन्तरेष्वपि भागवतकुला दन्यत्रेत्यर्थः॥ १२॥

एकदा महासत्त्रदीक्षा आसीत्। महासत्त्रसङ्कल्पं कृत्वा तत्र दीक्षितोऽभूदित्यर्थः। तत्र महासत्त्रे दिवौकसां देवानां ब्रह्मर्षीणां देवर्षीणां च समाजः सभा आसीदित्यर्थः। हे सत्तम!॥ १३॥

तस्मिन् समाजे महत्सु पूज्येषु सर्वेषु[4] यथायोग्यं पूजितेषु सत्सु स्वेनेति[5] शेषः। सदसः मध्ये उत्थित स्सन् समन्तत स्समैक्षतेति षष्ठेनान्वयः। तं विशिनष्टि-ताराणां मध्ये उडुराडिव चन्द्र इव स्थितः॥ १४॥

प्रांशु रुन्नतः पीनावायतौ दीर्घौ भुजौ यस्य, पद्मवदरुणे ईक्षणे यस्य, शोभना नासा[6] यस्य, सुन्दरं मुखं यस्य, सौम्यः प्रसन्नः, पीनावंसौ स्कन्धौ यस्य, शोभनाः द्विजाः दन्ताः यस्मिन्, तत्स्मितं यस्येति बहुव्रीहिगर्भो बहुव्रीहिः॥ १५॥

**विज०** श्रद्धावतः श्रोतुं यस्मिन् श्रद्धा, विदुषा तदेव वक्तव्यमिति भावयन्नैत्रेय स्तत्रोत्तरत्वेन तत्कथामाह- **गङ्गेति**। यावद्भिः भोगैः देहस्थितिः स्यात्तानेव नाऽधिकानित्येवकारार्थः। तानपि पुण्यजिहासया पुण्यक्षयाभिप्रायेण न सुखार्थम्॥ ११॥

सर्वत्रेत्युक्तं सङ्कोचयति अन्यत्रेति। अच्युतगोत्रतो वैष्णवकुलात् "गोत्रं नाम्नि कुलेऽचले" (वैज.को.6-5-28) इति यादवः॥ १२॥

ज्ञानिनः प्राराब्धकर्मभोगस्य नियतत्वेन सिद्धत्वा न्नैतद्वर्णन मत्रापेक्षितम्। अन्यत्किञ्चिच्छ्राव्य मस्ति चेत् वक्तव्यमिति तत्राह- **एकदेति**। "यज्ञभेदे सदा दाने सत्र माच्छादने वने" इत्यभिधानात्। दीक्षेति विशेषणा दीक्षायज्ञे इत्यर्थः। समाजः सम्मेलनम्॥ १३॥

**दानार्थं भोजनार्थं वा मिथो निरीक्षणार्थं चेत स्ततः सङ्गच्छन्ते जनाः। किमत्र चोद्य मिति तत्राह- तस्मिन्निति।**

---

1. A, B, T बुद्धिः, अतो 2. A, B, T भोगे 3. W omits अप्रतिहतः 4. A, B, T omit सर्वेषु 5. A, T देवेनेति 6. A, B, T नासिका

तस्मिन्समाजेऽर्हत्सु सम्मान्येषु "अर्हन्तौ जिन सम्मान्यौ" (वैज. को. 6-5-6) इति यादवः। उडुराट् चन्द्रः स राजा समन्तत श्चतुर्दिश मुपविष्टा नैक्षतेति षष्ठश्लोकेनान्वयो वेदितव्यः ॥ १४ ॥

कथम्भूत इति तल्लक्षणं वक्ति- **प्रांशु** रित्यादिना। गौरो निर्मलः, यद्वा "गौरोऽरुणे सिते पीते" (अम.को. 3-344) इति वचनात् गौरशब्दाक्षिप्तवर्णविशेष विशिष्टत्वं वक्ति- **कञ्जारुणेक्षण** इत्यादिना। सौम्यः सुन्दरः विप्रप्रियो वा सोमयोग्यो वा, द्विजा दन्ताः ॥ १५ ॥

**व्यूढवक्षा बृहच्छ्रोणिः वलिवल्गुदलोदरः।**[1]
**आवर्तनाभि रोजस्वी काञ्चनोरु रुदग्रपात्**[2] **॥ १६ ॥**

**सूक्ष्मवक्रासित स्निग्धमूर्धजः कम्बुकन्धरः।**
**महाधने**[3] **दुकूलाग्रे परि**[4]**वीयोपवीय**[5] **च ॥ १७ ॥**

**व्यञ्जिताशेषगात्रश्री र्नियमे न्यस्तभूषणः।**

**कृष्णाजिनधरः श्रीमान् कुशपाणिः कृतोचितः ॥ १८ ॥**

**शिशिरस्निग्धताराक्षः समैक्षत**[6] **समन्ततः।**
**ऊचिवा**[7] **निदमुर्वीशः सदः**[8] **संहर्षयन्निव ॥**

**चारुचित्रपदं श्लक्ष्णं मृष्टं गूढ मविक्लबम् ॥ १९ ॥**

***सर्वेषामुपकारार्थं तदा अनुवदन्निव।**

**श्रीध० व्यूढेति**। व्यूढं विस्तीर्णं वक्षो यस्य, वलिभि स्तिसृभिः वल्गुसुन्दरं दलवत् अधोऽग्रं[9] अश्वत्थपत्रमिव उपरि विस्तृतं अधस्ता त्सङ्कुचित मुदरं यस्य, आवर्तवत् अम्भसां[10-] भ्रम इव[-10] निम्ना नाभि र्यस्य, काञ्चनवदुज्ज्वलौ ऊरूयस्य, उदग्रौ उन्नताग्रौ पादौ यस्य ॥ १६ ॥

---

1. M, Ma, वलीवल्गुतरोदरः; W दलवत्पल्लवोदरः 2. M, Ma °वाक् 3. W धनदु° 4. A, B, G, I, J, Ma, Ma, Ms, T धा° 5. M, Ma, Ms °धाय 6. M, Ma, Ms तानै° 7. W उक्त° 8. M, Ma, सदस्यान् ह° * An extra half verse is found in A, B, G, I, J & T Edns.
9. V omits अधोऽग्रं 10--10. B, J, V, Va omit

**सूक्ष्मेति**। सूक्ष्माश्च ते वक्राश्च असिता [1]नीलाश्च स्निग्धाश्च मूर्धजाः यस्य, कम्बुवत्त्रिरेखाङ्किता कन्धरा यस्य, [2-]परिवीय धृत्वा[-2], उपवीय उत्तरीयं कृत्वा॥ १७॥

**व्यञ्जितेति**। नियमे निमित्ते न्यस्तानि त्यक्तानि भूषणानि येन सः, अत एव तै रनावृतत्वात्। व्यञ्जिता अशेषगात्रेषु श्रीः स्वाभाविकी शोभा येन। कृतान्युचितानि [3-]विहितानि[-3] कर्माणि येन॥ १८॥

**शिशिरेति**। शिशिरे सन्तापहरे स्निग्धे च तारे ययो स्ते अक्षिणी यस्य। इदं वक्ष्यमाणं वाक्य मुक्तवाँश्च चारु श्रोत्रप्रियं चित्राणि पदानि यस्मिन्, श्लक्ष्णं [4-]प्रशस्तं[-4]। मृष्टं शुद्धं गूढं गम्भीरार्थं अविक्लबं अव्याकुलं॥ १९॥

उत्प्रेक्षते- स्वयमनुभूतम् अनुवदन्निव॥

**वीर०** व्यूढं विस्तीर्णं वक्षः यस्य, बृहन्तौ पीनौ श्रोणी नितंबौ यस्य, वलिभिः तिसृभिः [5]वल्गु सुन्दरं दलव दश्वत्थपर्णवत् उपरि विस्तृत मधस्ता त्सङ्कुचित मुदरं यस्य, आवर्तव [6]निम्नो नाभि र्यस्य, ओजस्वी इन्द्रियशक्तिमान् काञ्चनवदुज्ज्वला ऊरू यस्य, उदग्रौ उन्नतौ पादौ यस्य॥ १६॥

सूक्ष्माश्च वक्राश्च असिताश्च स्निग्धाश्च मूर्धजा यस्य, कम्बुव त्त्रिरेखाङ्किता कन्धरा कण्ठः यस्य, महाधने अनर्घे दुकूलश्रेष्ठे परिवीय वसित्वा उपवीय उत्तरीयं कृत्वा॥ १७॥

नियमे निमित्ते न्यस्तानि त्यक्तानि अशेषभूषणानि येन, अत एव तै रनावृतत्वा द्व्यञ्जिता अशेषे ष्ववयवेषु श्रीः स्वाभाविकी शोभा येन, श्रीमान् समुदायकान्तिमान् कुशपाणिः पवित्रपाणिः, कृतानि उचितानि कर्माणि येन॥ १८॥

शिशिरे सन्तापहरे स्निग्धे च तारे ययो स्ते अक्षिणी यस्य, एवम्भूत उर्वीश स्सदस्यान् सन्तोषयन्निव इदं वक्ष्यमाणं वाक्य मुक्तवान्। वाक्यं विशिनष्टि - [7-]चारुश्रोत्र प्रियं[-7] चित्राणि पदानि यस्मिन्। श्लक्ष्णं प्रसन्नं मृष्टं शुद्धं अनपशब्दितं गूढं गम्भीरं अगाधार्थं अविक्लबं अव्याकुलम्॥ १९॥

**विज०** व्यूढवक्षा उन्नतवक्षाः। वलीभी रेखाभिः अतिशयेन वल्गु सुन्दर मुदरं यस्य स तथा, उदग्रवाक् उन्नतवाक्॥ १६॥

सूक्ष्माश्च वक्राश्च असिता नीलाश्च स्निग्धा श्च मूर्धजाः केशा यस्य स तथा। कम्बुवत्त्रिरेखाङ्कित वृत्तशंखवत्कन्धरा यस्य स तथा। उपधायोत्तरीकृत्य॥ १७॥

---

1. A, B, J, Va omit नीलाः 2--2. A, B, J, Va परिधाय वसित्वा 3--3. B, J, V, Va omit 4--4. A, B, J, Va प्रसन्नं 5. A, B, T मञ्जु 6. A, B,T निम्ना 7--7. A, B, T चारुश्रोत्रप्रियं चारूणि

**नियमे** यज्ञनियमविषये ॥ १८ ॥

किमर्थं निरीक्षण मिति अविदुषां चित्तव्याकुलतां परिहरति-**ऊचिवानिति**। चित्राणि पदानि यस्मिं स्तत्तथा। श्लक्ष्णं मधुरं हृद्यं हृदयप्रियं, गूढ मर्थतो गम्भीरम्। अविक्लब मकातर मस्खलित मिति यावत्। वचन मिति शेषः ॥ १९ ॥

**राजोवाच**[1-1]

**सभ्याः श्रुणुत भद्रं वः साधवो य इहाऽऽगताः।**
**सत्सु जिज्ञासुभि र्धर्म मावेद्यं स्वमनीषितम् ॥ २० ॥**

**अहं दण्डधरो धात्रा[2] प्रजाना मिह योजितः।**
**रक्षिता वृत्तिदः स्वेषु[3] सेतुषु स्थापिता पृथक् ॥ २१ ॥**

**तस्य मे तदनुष्ठाना द्यानाहु[4] र्ब्रह्मवादिनः।**
**लोकाः स्युः कामसन्दोहा यस्य तुष्यति दिष्टदृक् ॥ २२ ॥**

**य उद्धरे त्करं राजा प्रजा धर्मेष्वशिक्षयन्।**
**प्रजानां शमलं भुङ्क्ते भगं[5] च स्वं जहाति सः ॥ २३ ॥**

**तत् प्रजा भर्तृपिण्डार्थं स्वार्थ मेवानसूयवः।**
**कुरुष्वाधोक्षजधियः[7] तर्हि मेऽनुग्रहः कृतः ॥ २४ ॥**

**श्रीध० सभ्या** इति। भाषणे हेतुः धर्मं जिज्ञासुभिः पुम्भिः सत्सु स्वमनीषितं आवेद्यं वक्तव्यं, अतः प्रजानुशासन मिषेण जिज्ञासैव क्रियते। न तु युष्मान् प्रति धर्मप्रवचन मिति भावः ॥ २० ॥

इदानीं प्रजा श्शिक्षयिष्यन् प्रजाशिक्षणादिकं ममावश्यक मित्याह- **अह** मिति त्रिभिः। पृथक् स्वेषु[8] स्वस्वहितवर्त्मसु[9-9] सेतुषु स्थापिता[10-10] स्थापयिता ॥ २१ ॥

**तस्येति**। दिष्टदृक् प्राक्कर्मसाक्षी ईश्वरो यस्य तुष्यति तस्य वेदवादिनः यान् लोकानाहुः प्रजारक्षणाद्यनुष्ठानात्। ते लोकाः मे स्युः। कथम्भूताः? कामानां सम्यग्दोहः प्रपूरणं येषु ते ॥ २२ ॥

---

1--1. M, Ma, Ms पृथु रुवाच 2. A, B, G, I, J, T, W राजा 3. M, Ma तेषु 4. M, Ma, Ms °द्यदा° 5. M, Ma, Ms भागं
6. M, Ma, Ms °भप्यन° 7. M, Ms धियं 8. A, B, J, Va omit स्वेषु 9--9. B, J, V, Va omit 10--10. Va omits

अन्यथा त्वनिष्टं स्या दित्याह -य इति। शमलं पापं भग मैश्वर्यं पुण्यं वा[1-1] ॥ २३ ॥

**तदिति**। तत्तस्मात् हे प्रजाः! भर्तु र्मे पिण्डार्थं[2-2] पिण्डदानव त्परलोकहितार्थं स्वार्थं[3] स्वकार्य मेव कुरुत। स्वधर्म[4] मेवाऽनुतिष्ठत। अधोक्षजे धी र्येषां तादृशा स्सन्तः वासुदेवार्पण दृष्ट्येत्यर्थः। अनुग्रहः कृतः भवेदिति शेषः ॥ २४ ॥

**वीर०** अय मस्मान् प्रति सर्वज्ञ इव धर्मानुपदेष्टु मुत्सहत इति बुद्ध्या सभ्या मा क्रुध्येयु रिति मनीषया स्ववाक्यश्रवणाय सभ्यान् प्रार्थयते **सभ्या** इति। हे सभ्याः! सभायामुपविष्टाः अनुपविष्टान् सम्बोधयति इह सत्त्रभूमौ ये आगताः मूर्खाश्चेन्मा मसूयेरान्नित्यभिप्रायेण विशिनष्टि **साधव** इति। नाहं ज्ञः किन्तु जिज्ञासु र्जिज्ञासितव्यं विज्ञापयामीत्यभिप्रायेणाह- **धर्मं जिज्ञासुभिः स्वमनीषितं** ज्ञेयं **सत्सु** सतां समीपे **आवेद्यं** विज्ञापनीयं प्रजानुशासन व्याजेन जिज्ञासैव क्रियते न तु युष्मान् प्रति धर्म उपदिश्यत इति भावः ॥ २० ॥

इदानीं प्रजारक्षणादिकं ममाऽप्यावश्यक मित्याह **अहमिति** त्रिभिः। धात्रा भगवता प्रजानां दण्ड धरत्वेन अहं योजितो नियुक्तः, न केवलं दण्डधर एव किन्तु रक्षितृत्वेन आजीविका प्रदत्वेन स्वेषु स्वस्य वर्णाश्रमोचितेषु सेतुषु धर्ममर्यादासु पृथगसङ्करेण स्थापयितृत्वेन च योजित इत्यर्थः ॥ २१ ॥

किं प्रजारक्षणादि[5] साध्यं फलं तत्राह- **तस्येति**। ब्रह्मवादिनः वेदार्थतत्त्वस्य स्वानुष्ठानेनोपदेष्टारः प्रजारक्षणादिना राज्ञः यान् पुण्यलोकान् प्राप्यत्वेनाहुः, ते लोकाः तस्य प्रजारक्षणादिनिष्ठस्य मे तदनुष्ठानात् प्रजारक्षणाद्यनुष्ठानात् कामसन्दोहाः मत्समीहित कामपूरणाः भवेयुः, स्युरिति सम्भावनायां लिङ्। स्वस्य मुमुक्षुत्वेन प्राकृतलोकस्य प्राप्यत्वाभावात् अतो हार्द माह-यस्येति। यस्य प्रजारक्षणादिनिष्ठस्य दिष्टदृक् प्रजारक्षणादि कर्मसाक्षी ईश्वरः तुष्यति, तस्मिं स्तुष्टे मुक्तिरपि सुलभेति भावः ॥ २२ ॥

अन्यथा त्वनिष्टं स्यादित्याह- **य** इति। यो राजा धर्मेषु प्रजा अशिक्षयन् करं स्वामिग्राह्यभाग मुद्धरेत् करमात्रं गृह्णीयादित्यर्थः। तर्हि प्रजानां सम्बन्धि शमलं पापमेव भुङ्क्ते। सः स्वीयं भगं ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यादिकं च जहातीत्यर्थः ॥ २३ ॥

तत् तस्मात् हे प्रजाः, भर्तु र्मम पिण्डार्थं पिण्डदानवत्परलोकहितार्थं स्वार्थं स्वप्रयोजन मेव स्वस्ववर्णाश्रमोचितधर्ममेव असूयारहिताः कुरुत अनुतिष्ठत। अधोक्षधियः भगवद्विषयकबुद्धयः तदर्पणदृष्ट्येति यावत्। "तत्कुरुष्व मदर्पणम् (भ.गी 9-27) इति स्मृतेः। तर्ह्येवं[6-6] क्रियते चेत् मह्य मनुग्रह एव युष्माभिः कृतः स्यात् ॥ २४ ॥

---

1--1. A, B, J, Va omit 2--2. B omits 3. B, J, V, Va omit स्वार्थं 4. V omits स्व 5. A, B, T रक्षादि 6--6. A, B, T omit

**विज०** किमनेन चित्तव्याकुलता परिहृतेति तत्राह-सभ्या इति। वो भद्र मस्त्वित्युक्तं प्रथमं चित्तव्याकुलता परिहारायेति ज्ञातव्यम्। धर्मं जिज्ञासुभि र्ज्ञातुकामैः पुरुषैः स्वमनीषितं सत्सु योग्येष्वावेद्यम्॥ २०॥

किं तत्स्वमनीषित मित्यत उक्तं- **अहमिति**। "दण्डोऽस्त्री शासने राज्ञां हिंसायां लगुडे दमे" (वैज.को.6-5-38) इत्यभिधानात्। तत्तद्योग्येषु तं तं दण्डं धारयतीति दण्डधरः। धात्रा हरिणा, धातृशब्दार्थं लक्षयति **रक्षितेत्यादिना**। स्थापिता स्थापयिता॥ २१॥

तस्य मे कामान् सन्दुहन्तीति कामसन्दोहाः। कर्मण्यण् प्रत्ययः। कामानां सन्दोहा येष्विति वा। लोकाः स्यु रिति ब्रह्मवादिनः आहुरिति। यद्यस्मात्तस्मा देतत्फल मन्वीक्ष्याऽहं धात्रेह प्रजापालनादौ योजित इत्यन्वयः। तदनुध्यानात् तस्य प्रजापालनस्य अनुष्ठाना दित्यनुवादः। श्रीनारायणप्रसादेन भाविनो लोकाः कथं प्रजापालनेन स्यु रिति तत्राह यस्येति॥ २२॥

व्यतिरेक माह य उद्धरेदिति। भागं षष्ठांशं पुण्यम्॥ २३॥

इदानीं प्रजाः प्रत्याह- **तत्प्रजेति**। यस्मात्प्रजाना मरक्षणे प्रत्यवायो भवति तत्तस्मात् हे प्रजाः! यद्यनसूयवो यूयं अधोक्षजे हरौ धियं कुरुत। तर्हि नोऽनुग्रहः कृतो भवेदित्यन्वयः। तवानेन किं तत्राह- भर्तृपिण्डार्थमिति। भर्तु र्मम षष्ठांशलक्षणसुकृताख्य प्रयोजनाय, न केवलं मम युष्माक मप्यस्ति प्रयोजन मित्याह- स्वार्थमिति॥ २४॥

**यूयं तदनुमोदध्वं पितृदेवर्षयोऽमलाः।**
**कर्तुः शास्तु रनुज्ञातु स्तुल्यं यत्प्रेत्य तत्फलम्॥ २५॥**

**अस्ति यज्ञपति र्नाम केषाञ्चिदिह सत्तमाः।**[1]
**इहामुत्र च लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नावत्यः क्वचिद्ध्रुवः॥ २६॥**[2]

**मनो रुत्तानपादस्य ध्रुवस्याऽपि महीपतेः।**
**प्रियव्रतस्य राजर्षे रङ्गस्याऽस्मत्पितुः पितुः॥ २७॥**

**ईदृशाना मथाऽन्येषा मजस्य च भवस्य च।**
**प्रह्लादस्य बलेश्चाऽपि कृत्यमस्ति गदाभृता॥ २८॥**[3]

---

1. A, B, G, I, J, T, V °दर्ह° 2. V दृश्यन्ते 3. M, Ma, Ms भृतः

***दौहित्रादीनृते मृत्योः शोच्यान् धर्मविमोहितान्।**
**वर्गस्वर्गापवर्गाणां प्रायेणैकात्म्यहेतुना[1][2]॥ २९॥**

**श्रीध० यूयमिति**। शास्तुः शिक्षयितुः[3], अनुज्ञातुः अनुमोदितु श्च प्रेत्य परलोके यत्फलं तत्तुल्यम्॥ २७॥

**अस्तीति**। कर्म कर्तव्य मित्यनुमोदामहे, न तु वासुदेवे अर्पणीयमिति। वेनादिभि स्तदनङ्गीकारा दित्येवंवादिनः शनैः सम्बोधयन्नाह - हे अर्हं सत्तमाः ! मीमांसकश्रेष्ठाः[4-4]! यज्ञपति र्नाम परमेश्वरः केषां चिन्मते तावदस्ति, तथाऽपि विप्रतिपत्ते र्न ततस्सिद्धि रित्याशङ्क्य जगद्वैचित्र्याऽन्यथानुपपत्तिं प्रमाणयति इहामुत्रच ज्योत्स्नावत्यः कान्तिमत्यो भुवः भोगभूमयः शरीराणिच क्वचि क्वचिद्दृश्यन्ते[5-5]। नैतद्वै चित्र्य मीश्वरस्य भावे घटत इत्यर्थः॥ २६॥

ननु इदं कर्म वैचित्र्यादेव सेत्स्यति। तथाऽपि विद्वदनुभवेन ईश्वरसिद्धिरित्याह - **मनोरिति** त्रिभिः। अस्मत्पितामहस्या ङ्गस्य॥ २७॥

**ईदृशानामिति**। कृत्यमस्ति अवश्यं कर्म फलदात्रा भाव्यमिति[6] तेषां मत मित्यर्थः[7]॥२८॥

**दौहित्रादीनिति**। मृत्योःदौहित्रान् वेनादीन् ऋते[8] विना[9] धर्मे विमोहितान् अत श्शोच्यान्। ननु कर्मैव फलं दास्यति विध्युद्देशगता देवता वा, किं परमेश्वरेण ? तत्राह-वर्गेति - वर्गोऽत्र त्रिवर्गः, स्वर्गः धर्मस्य फलं, अपवर्गो मोक्षः, तेषा मैकात्म्येन एकरूप्येण सर्वानुगतेन हेतुना। तत्रापि प्रायेण हेतुना[10-10] सर्वानुगतत्वं महत्त्वं चेश्वरस्यैव दृष्टम्। अयं भावः - न ताव ज्जडस्य कर्मणः फलदातृत्वं घटते न च अर्वाग्देवतानां स्वातन्त्र्यं अन्तर्यामिश्रुतेः, न च, तथा कर्मसाम्ये फलतारतम्यं, क्वाचित्तदसिद्धिश्च सम्भवति। अत स्स्वातन्त्र्येण कर्तु मकर्तु मन्यथा कर्तुं समर्थेन परमेश्वरेण भाव्यमिति॥ २९॥

**वीर.** एवं[11-11] प्रजा अनुशास्य देवादीन् प्रार्थयते - यूयं हे पित्रादयः। निर्मलाः असूयादिरहिताः यूयं तन्मदनुशासन मनुमोदध्वं कि मनुमोदनमात्रसाध्यं तत्राह - कर्तुरिति। यद्यस्मात् कर्तुः प्रयोज्यस्य शास्तुः प्रयोजकस्य अनुज्ञातुः अनुमन्तुः, तत्र अप्रवृत्तस्य प्रवर्तकत्वं प्रयोजकत्वं[12-12] प्रवृत्तस्य प्रवर्तकत्व मनुमन्तृत्व मिति विवेकः। प्रेत्येति[13] कृदन्तयोगा त्कर्तरि शेषे षष्ठी कर्त्रादिभिः प्रेत्य परलोकं प्राप्य तुल्यं फल मनुभूयत इत्यर्थः॥ २५॥

---

* अस्य श्लोकस्य पूर्वार्धोत्तरार्धयोः व्यत्ययेन पाठः M, Ma, Ms ग्रन्थेषु मुद्रितः। 1. M, Ma, Ms राज्य 2. M, Ma, Ms °ता। 3. V शासितुः 4--4. B, J, V, Va omit 5--5. A, B, J, Va omit 6. V भवितव्यम् 7. V °मिति भावः 8. A, B, J, Va omit ऋते 9. V हित्वा 10--10. B, J, V, Va omit 11--11. A, B, T omit 12--12. A omits 13. W त्यबन्त

अत्र "यस्य तुष्यति दिष्टदृक् (भाग-4-21-22), "कुरुताधोक्षजधियः (भाग4-21-24) इति कर्मणां भगवदाराधनरूपत्व माराधिता त्कर्मभि र्भगवतश्च फलप्राप्ति रवगम्यते। तत्र निरीश्वरवादिनां केषां चिन्मते इद मुक्त मनुपपन्न मित्युद्भाव्य ईश्वरसिषाध यिषया तत्सद्भावं ताव त्प्रतिजानीते अस्तीति। ते हि निरीश्वरवादिन एव माहुः - प्रकृति पुरूषातिरेकेण ईश्वराख्यः कश्चित्पदार्थो न विद्यते प्रमाणाभावात्। न ताव त्प्रत्यक्षं, तदविषयत्वा त्तस्य। नाऽप्यनुमानं, प्रत्यक्षोपलब्ध साध्यधर्माव्यभिचारि साधनधर्म विषयत्वेनानुमानस्य प्रत्यक्षाविषये तदप्रवृत्तेः। नाऽपि शब्दः न तावल्लौकिकः भ्रमप्रमादादि दोषसंस्पर्श सम्भावनया तस्य प्रामाण्य निश्चयायोगात्। नाऽपि "सत्यं ज्ञान मनन्तं (तैत्ति.उ.2.1.1) "निष्क्रियं निष्कलम् (श्वेत.उ.6-19) इत्यादि वैदिकशब्दः, लोके वृद्धव्यवहारादन्यत्र शब्दस्य बोधकत्व शक्त्यवधारणासम्भवात् व्यवहारस्य च कार्यबुद्धिपूर्वकत्वेन कार्यरूपार्थ एव शब्दस्य प्रामाण्य मिति लौकिकव्युत्पत्त्यनुसारेण वैदिकशब्दाना मपि कार्यवस्तुपरत्वेनैव व्युत्पत्तिनिश्चयात्सिद्धरूपे ईश्वरे तेषां प्रामण्यासम्भवात्। अत एव तस्मा[1] त्फलप्राप्तिश्चासंभाविनी। न च "इष्टापूर्तं बहुधा जातं" (म.ना.उ 1-6) "ब्रह्मविदाप्नोति परम्,, (तैत्ति.उ.2-1-1) इत्यादिना ऐहिक मामुष्मिकं ब्रह्मोपासनात् तत्प्राप्तिरूपं च फलं श्रुत मिति वाच्यम्। तस्य कर्मसु कर्तृभूतस्य प्रत्यगात्मनो याथात्म्य वेदन प्रतिपादनपरत्वात्। अतः कर्तु स्संस्कारद्वारेण विद्यायाः क्रतुशेषत्वात् तत्र फलश्रुति रर्थवादमात्रम्। न च, विचित्रसृष्ट्यन्यथानुपपत्त्या ईश्वरसिद्धिः, ततः फलसिद्धि श्चेति वक्तुं युक्तम्। पुण्यापुण्यरूपानुष्ठितकर्म संस्कृतायाः प्रकृतेरेव पुरूषार्थानुरूपं विचित्रपरिणामसम्भवात्; यथा विषादिदूषिताना मन्नपानादीनां औषधविशोषाऽऽप्यायितानां च सुख दुःख हेतुभूत परिणामविशेषस्य देशकालादिव्यवस्थया दर्शनं तद्वदिति सङ्ग्रहः। हे सत्तमाः! केषाञ्चिदास्तिकानां मते यज्ञपति र्नाम यज्ञाराध्य स्तत्फलप्रदश्चे श्वराख्यः कश्चिदस्ति। तत्र ताव द्विचित्रसृष्ट्यन्यथानुपपत्तिं प्रमाणयति -इहामुत्र चेति। इह लोके चामुष्मिंश्चलोके ज्योत्स्नावत्यः प्रकाशबहुलाः भुवः विचित्रा भोग्यभूमयः तद्भोक्तारो विचित्रशरीराश्च दृश्यन्ते। एतच्च दर्शन मीश्वर मन्तरेणानुपपन्नम्। यदुक्तम्- प्रकृते रेव जीवकर्मानुगुणं विचित्र परिणामसम्भव इति, नैतदुपपद्यते। सर्वज्ञेश्वरानधिष्ठितायाः तस्याः विचित्र परिणामासम्भवात्। यद्यनधिष्ठिताया अपि तस्याः[2-2] परिणामः सम्भाव्येत, तर्हि प्रलयदशायां तस्याः विचित्र परिणामार्थ मीश्वरानपेक्षणात् सतत परिणाम स्वभावत्वेन अपरिणामित्वेन अवस्थानं न स्यात्। ईश्वराधिष्ठितत्वे तु तस्य सत्यसङ्कल्पत्वेन विचित्रसृष्टि तदभावा वुपपन्नौ। न च क्षेत्रज्ञाधिष्ठितत्वेन ता वुपपन्नाविति वक्तुं शक्यम्। तेषां अनुन्मत्तानां स्वेच्छयैव स्वानर्थावहापुण्यानुष्ठान पूर्वक पशु पादपत्वादिशरीरापादनस्यासम्भवात्। ईश्वराभ्युपगमे तु "इष्टापूर्तं बहुधा जातं जायमानम्", "यतः प्रवृत्ति र्भूतानां येन सर्व मिदं

1. A, B अ° 2--2. W omits

ततम्''(भ.गी 18-46) ''स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः,, (भ.गी.18-46) ''तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्र मशुभा नासुरीष्वेव योनिषु॥ (भ.गी.16-19) इत्युक्तरीत्या भगवान्पुरूषोत्तमोऽवाप्तसमस्तकामः सर्वज्ञः सत्यसङ्कल्पः स्वमाहात्म्यानुगुणलीलाप्रवृत्तः एतानि कर्माणि समीचीनान्येतान्यसमीचीनानीति कर्मद्वैविध्यं संविधाय तदुपादानोचित देहेन्द्रियादिकं तन्नियमनशक्तिं च सर्वेषां क्षेत्रज्ञानां सामान्येन प्रदिश्य स्वशासनावबोधिवेदाख्यशास्त्रं च प्रदर्श्य तदुपसंहारार्थं च अन्तरात्मतयाऽनुप्रविश्य अनुमन्तृतया च नियच्छन् तत्र पुण्यरूप कर्मकारिणं स्वशासनानुवर्तिनं ज्ञात्वा धर्मार्थकाममोक्षैः वर्धयते[1] शासनातिवर्तिनं च तद्विपर्ययै र्योजयतीति सर्व मेतदुपपन्नं वैचित्र्य मिति भावः। न च ''सत्यं ज्ञानम्'' (तैत्ति.उ.2-1-1) इत्यादिभिः कर्माङ्गभूत प्रत्यगात्म - याथात्म्यं विविच्यते इति वक्तुं शक्यम्, कर्तुः प्रत्यगात्मनः शुद्धस्य अशुद्धस्य च खद्योतकल्पस्याविद्यादि हेय सम्बन्धयोग्यस्यासम्भावनीययोः निरस्तनिखिल हेयगन्धानन्तकल्याणगुणाकर स्वसङ्कल्पकृत जगदुदयविभव लयलील सर्वज्ञत्व[2] सर्वशक्तित्व ज्ञानानन्दादि स्वरूपस्वभावयोः परमात्मैकान्तयोः[3] श्रवणात्। तथाहि - अपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु र्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः'' तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय (धान्द.उ.6-2-3) इति ''तत्तेजोऽसृजत'' (छान्द.उ.6-2-3) ''यः सर्वज्ञः सर्ववित्,, (मुण्ड.उ.1-1-9) ''यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'' (तैत्ति.उ.2-4,9) इति। न चैषां वाक्यानां सिद्धवस्तु परत्वासम्भवः। यादृच्छिक व्युत्पत्ते रपि शारीरकमीमांसायां सिद्धान्तितत्वेन कार्यार्थ एव व्युत्पत्ति रिति निर्बन्धस्य निर्निबन्धनत्वात्। फलश्रुति रर्थवादरूपेत्यपि न युक्तिमत्। अर्थवादादेः प्रतीयमानार्थे तात्पर्याभावेऽपि रात्रिसत्रप्रतिष्ठापगोरण शतयातना साध्य साधनभावे शर्कराञ्जनद्रव्य पशुविशेषादे रर्थवादोक्तस्याऽपि विवक्षितत्वादिति संक्षेपः॥ २६॥

केषाञ्चिदित्युक्तानास्तिकान् प्रदर्शयन् तेषां ईश्वराभ्युपगमोऽस्तीत्याह- **मनो** रिति। **अस्मत्पितुः पितुः** अस्मत्पितामहस्याङ्गस्य॥ २७॥

अजस्य चतुर्मुखस्य, भवस्य रुद्रस्य, मन्वादीनां गदाभृता भगवता कृत्स्नं कर्तव्यं कर्म फलदानरूपं प्रयोजनमस्ति। मन्वादीनां मते अवश्यं कर्मफलदात्रा भवितव्य मित्यभ्युपगतमित्यर्थः॥ २८॥

नन्वचेतनस्य क्षणभाविनः कर्मणः फलप्रदत्वासम्भवेऽप्यपूर्वाख्यशक्तिकल्पनाद्वारा कर्मण एव फलप्रदातृत्वं स्यात्। विध्युद्देशश्रुतदेवताया वा किमीश्वरेणेति चेत्याशङ्कां परिहरन् दर्शयति। वर्ग स्त्रिवर्गो धर्मादिः, स्वर्गो धर्मफलं, अपवर्गो मोक्षः, एषां प्रायशः ऐकात्म्यहेतुना एक मात्मस्वरूपं येषां तेषां भाव ऐकात्म्यम्। एकेनैव प्रदेयत्व रूपैकात्म्यं तद्रूपेण हेतुना वर्गादीना मेकेनैव

1. A, B, T °ति 2. A, B, T omit सर्वज्ञत्व 3. A, B, T omit परमात्म

प्रदेयत्व श्रवण स्मरण रूप हेतुना ईश्वरोऽभ्युपगतो मन्वादिभिरित्यर्थः। तथा च श्रूयते- "इष्टापूर्तं बहुधा जातं जायमानं विश्वं बिभर्ति भुवनस्य नाभिः। (म.ना.3-1-6), "तदेवाऽग्निः तद्वायुस्तत्सूर्य स्तदु चन्द्रमाः" (ममा.3-1-17) इत्यादि। स्मर्यते च यो यो यां यां तनुं भक्तः, (भगी 7.21) "धमार्थ काममोक्षाख्यं य इच्छेत् (भाग. 4-8-41) इत्यादि। अयम्भावः - यज-देवपूजाया मिति। देवताराधनभूत यागाद्याराध्य भूताग्निवाय्वादि देवताना मेव तत्तत्फलहेतुतया तस्मिन् तस्मिन्नपि वाक्ये व्यपदेश स्तावत् दृश्यते। "वायव्यं श्वेत मालभेत भूतिकामो वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति, स एवैनं भूतिं गमयति इत्यादिषु। तत्र हि कामिनः सिषाधयिषित फल साधनत्वप्रकारोपदेशो विध्यपेक्षित एवेति नातत्परत्वशङ्का युक्ता। एव मपेक्षितेऽपि फलसाधनत्वप्रकारे शब्दा देवावगते सति तत्परित्यागेन अश्रुतापूर्वाख्यशक्तिकल्पन मनुपपन्नम्। [1-] यद्वाय्वादीनां फलसाधनत्वं[-1] "स एवैनं भूतिं गमयति" इत्यादिना प्रतीतं तद्वाय्वाद्यात्मनाऽऽराध्यतया फलदायित्वेनावस्थितस्य परमपुरुषस्यैवेति श्रूयते। "इष्टापूर्तम् (म.ना.3-1-6)। इत्यादिका, "तदेवाऽग्नि स्तद्वायुः"(म.ना.3-1-17) इत्यादिका चेति। अतोऽपूर्वस्य देवताया वा न फलसाधनत्व मिति मन्वाद्युपादानं प्रदर्शनमात्रं न तु परिगणन मित्याशयेनाह- दौहित्रादीनिति। धर्मे विमोहितान् धर्मस्वरूप तदनुष्ठान तत्साधन तत्फलसाधनादिकमजानानान् अत एव शोच्यान् मृत्योः दौहित्रादीन् आदिशब्दः प्रकारे तत्सदृशानित्यर्थः। वेनादीन् ऋते विना सर्वेषां मते ईश्वरोऽस्तीत्यर्थः॥ २९॥

**विज०** सभ्यानुद्दिश्याह- **यूय** मिति। तेन किमस्माकं फल मित्यत उक्त मनुज्ञातु रिति। अनुज्ञात्रादीनां शास्त्रेषु यत्फल मुक्तं, तत्तदनुज्ञानुसारि फलं स्या दित्यभिप्रायेण तुल्य मित्युक्तम्, न तु कर्त्रनुज्ञात्रो स्तुल्यफलत्वं स्यात्, अन्यथा कृतहान्यादिदोषापत्तिरिति॥ २५॥

ननु यद्यधोक्षजसद्भावे प्रमाणं स्या त्तर्हि तद्धियं कुरुतेति विधातुं युक्तं, तदेव कुत इति तत्राह **अस्तीति**। यद् दृष्टं तदेव सत्, यददृष्टं तदेवासदिति वादिनोऽपेक्ष्य केषाञ्चिदित्युक्तम्। केषाञ्चिद्व्यासादीनां महात्मनां पक्षे यज्ञपति र्नाम विष्णुरस्तीत्यन्वयः। "यज्ञो यज्ञपति र्यज्वा" इत्यादि स्मृतेः। श्रीनारायणस्य प्रसादेन प्राप्या लोका स्तेन नियता देवताश्च सन्तीत्येतदेकोक्त्याह- इहेति। इह मनुष्य लोके तच्छरीरे च। अमुत्र स्वर्गादौ ज्योत्स्नावत्यः प्रकाशभूयिष्ठा भुवः स्थानविशेषाः इन्द्रियादिप्रेरकत्वेन भवनात् भुवो देवता श्च दृश्यन्ते ; प्रमाणत इति शेषः। "प्रकाशवद्भुवो देवा मानुषाश्चाऽपि केचन (वाराहे) इति वचनात्। दुर्लभत्वात् क्वचि दित्युक्तम्। इहेत्यनेन बिलस्वर्गं लक्षयति। सुखहेतुत्वेन चन्द्रिकया तुल्यरत्न प्रकाशेन प्रकाशितत्वात् ज्योत्स्नावत्य इति॥ २६॥

---

1--1. A, B, T द्वारेण फलसाधनत्वं

केषाञ्चिदिति सूचितां स्तान् नामतो निर्दिशति मनोरिति। अस्मत्पितु र्वेनस्य पितुः ॥ २७॥

अजस्य ब्रह्मणः, गदाभृतो हरेः। कृत्यं पूजालक्षणं कार्य मस्ति ॥ २८॥

स्वर्गादि रन्याधीनतया तत्प्राप्त्यर्थं तदुपादान[1]स्यैव कर्तव्यत्वेन तत्र किं गदाभृतः कृत्येनेति तत्राह- **राज्येति**। राज्यादेः प्रायेणान्याधीनत्व मन्तरेणैवैकात्मनः समस्तात् प्रधानस्य हरे र्हेतुना कारणत्वम्। ''एकात्मा हरि रुद्दिष्टः प्रधानत्वात् समस्ततः'' (वाराहे) इति वचनात्। ज्ञानादेव स्वर्गो ज्ञानादेवापवर्गः इति श्रुतेः। स्वर्गादिप्राप्त्यर्थमपि श्री नारायणस्य पूजा ज्ञानज[2]नयित्री कार्ये त्याशयः। ननु प्रायश्शब्दस्य प्राचुर्यार्थावधारार्थत्वे निषिद्ध्य अवशिष्टाल्प निषेधः कथं क्रियत इति चेन्न, तस्यावधारणाक्षेपे प्रयोगदर्शनात्। तदुक्तम् - ''प्रायः पदं स्यात्प्राचुर्ये चाऽऽक्षेपात्मावधारणे। अर्थतोऽवधृतिः क्षेप सुखाक्षेपोऽवघारणम्'' (वाराहे) इति। एकश्चेतनो जीव एव राज्यादेः कारणमधिकृतत्वा दिति चेन्न विपक्षाविरोधात् अनाम्नायत्वाच्च ''एकात्मा हरिरुद्दिष्टः प्रधानत्वा त्समस्ततः'' (वाराहे) इति। एतत्समाख्यानस्मृतिविरोधाच्च। केषाञ्चिदित्यनेन केषाञ्चिन्नास्तीत्युक्तम्। नास्तिकानाह- दौहित्रादीनिति। मृत्यो र्दौहित्रो दुहितुः पुत्रो वेनः ॥ २९॥

**यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना मशेषजन्मोपचितं मलं धियः।**
**सद्यः क्षिणोत्यन्वह मेधती सती यथा पदाऽङ्गुष्ठविनिस्सृता सरित्॥ ३०॥**

**विनिर्धुताशेषमनोमलः पुमानसङ्गविज्ञानविशेषवीर्यवान्।**
**यदङ्घ्रिमूले कृतकेतनः पुनः न संसृतिं क्लेशवहां प्रपद्यते॥ ३१॥**

**तमेव यूयं भजताऽऽत्मवृत्तिभिः मनोवचःकायगुणैः स्वकर्मभिः।**
**अमायिनः कामदुघाङ्घ्रिपङ्कजं यथाधिकारावसितार्थ सिद्धयः॥ ३२॥**

**असाविहानेक गुणोऽगुणोऽध्वरः पृथग्विधद्रव्यगुणक्रियोक्तिभिः।**
**सम्पद्यतेऽर्थाशयलिङ्गनामभिः विशुद्धविज्ञानघनः स्वरूपतः॥ ३३॥**

**प्रधानकालाशय कर्मसङ्ग्रहे शरीर एष प्रतिपद्य चेतनाम्।**
**क्रियाफलत्वेन विभु र्विभाव्यते यथाऽनलो दारुषु तद्गुणात्मकः॥ ३४॥**

---

1. M °धा° 2. B, M, Ma जनित्री 3. A, T जन्मा° 4. M, Ma, Ms °थे 5--5. M, Ma, Ms गुणाध्वरैश्शता 6. M, Ma, Ms °थैःधर्म 7. A, B,G, I, J, T, V धर्म 8. M, Ma, Ms °हः 9. M, Ma, Ms शेषं 10. M, Ma, Ms °नः

**श्रीध०** किञ्च जीवानां मोक्षदः परमेश्वर एव नाऽर्वाग्देवता स्तासा मपि जीवत्वाविशेषादित्याशयेनाऽऽह**यदिति** त्रिभिः। यस्य पादयोः सेवायां अभिरुचिः तपस्विनां संसारतप्तानां अशेषैः जन्मभिः उपचितं[1] समृद्धं धियो मलं सद्यः क्षपयति तमेव भजतेति तृतीयेनाऽन्वयः। कथम्भूताऽभिरुचिः[2]? अहन्यहनि वर्धमाना, सती सात्त्विकी अव्यभिचारिणी[3-3] भक्तिः तत्पादसम्बन्धस्यैवैष महिमेति दृष्टान्तेनाह[4] - यथेति॥ ३०॥

**विनिर्धुतेति**। विनिर्धुता अशेषा मनोमला यस्य। असङ्गो वैराग्यं तेन विज्ञानस्य विशेषः साक्षात्कार स्तदेव वीर्यं यस्या यस्यांऽघ्रिमूले कृताश्रय स्सन्॥ ३१॥

**तमिति**। आत्मवृत्तिभिः अध्ययनाध्यापनादिभिः[5] मनोवचःकायानां गुणैः ध्यानस्तुति सपर्याभिः[6] अमायिनो निष्कपटाः सन्तः। ननु ब्रह्मादिभिः सेव्ये किमस्मद्भक्त्या भविष्यति - तत्राह- यथाधिकार मेवावसिता निश्चिता समाप्ता वा अर्थसिद्धिर्येषाम्॥ ३२॥

स्वकर्मभिः यागादिभिः भजते त्युक्तम्। तत्र "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः, (भ.गी.4-24) इति न्यायेन सर्वेषु यागेषु[7] तदङ्ग तत्फलेषु[8-8] भगवद्दृष्ट्या कर्म कर्तव्यम्, न भिन्न दृष्ट्येति वक्तुं तेषां भगवद्रूपता माह असाविति-द्वाभ्याम्। असौ भगवानेव स्वरूपतो विशुद्ध विज्ञानघनोऽपि अगुणः, निर्विशेषणोऽपि[9] सन् इह कर्ममार्गेऽनेकगुणो नानाविशेषणवान्[10], अध्वरो यज्ञः सम्पद्यते। "यज्ञो वै विष्णुः" (तैत्ति.सं. 1-5-6) इति श्रुतेः। अनेकगुणत्व मेवाऽऽह। पृथग्विधानि (मै.ब्रा.1-2-5) यानि द्रव्यादीनि तैः, तत्र द्रव्याणि व्रीह्यादीनि, गुणाः शुक्लादयः, क्रियाः अवघातादयः उक्तयः मन्त्राः, अर्थः अङ्गसाध्यः[11] उपकारः, आशयः सङ्कल्पः, लिङ्गं पदार्थानां शक्तिः, नाम ज्योतिष्टोमादि तैश्चाध्वरः सम्पद्यते॥ ३३॥

यागतदङ्गानां भगवद्रूपत्व मुक्त्वा यागफलस्याऽपि भगवद्रूपता माह - **प्रधानेति**। एष विभुः परमानन्दोऽपि शरीरे चेतनां विषयाकारां बुद्धिं प्रतिपद्य तदभिव्यंग्यानन्दरूप स्सन् क्रियाफलत्वेन प्रतीयते। "एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रा मुपजीवन्ति" (बृह.उ.4-3-32) इति श्रुतेः। यथाऽनलः दारुषु स्थितः तद्गुणात्मको दारु धर्म दैर्घ्यवक्रत्वादिमान्, तद्वत्। कथम्भूते शरीरे प्रधान मव्यक्तम्। काल स्तत्क्षोभकः, आशयो वासना, धर्मः अदृष्टं[12] तैः संगृह्यते जन्यत इति तथा तस्मिन् देहे[13]॥ ३४॥

---

1. A, B, J, Va omit उपचितं 2. B, J, V, Va omit अभिरुचिः 3--3. A, B, J, Va omit 4. V सदृष्टान्तम् 5. A, B, J, Va omit अध्ययन 6. V परिचर्याभिः 7. A, B, J, Va यागत° 8--8. V कल्पेषु 9. V गुणोऽपि 10. V गुणवान् 11. V याग 12. V adds अत्र 13. A, B, J, Va omit देहे

वीर० एवं केवलकर्मणां तन्मूलकापूर्वस्य स्वातन्त्र्येण देवतायाश्च फलसाधनत्वाभावः परमपुरुषस्यैव साधनभावश्चोपपादितः। इदानीं तद्रढिम्ने तस्य भगवत्पादारविन्दभजनस्यैव अनर्थनिरासकत्वपूर्वकपुरुषार्थापादकत्व माह- **यत्पादेति**। तपः सन्तापः आध्यात्मिकादिः। 'तप-सन्तापे, इति धात्वर्थानुरोधात् तद्वतां तापत्रयातुराणां इत्यर्थः। यस्य भगवतः पादयोः या सेवा भक्तिः, तस्या मभिरुचिः अहरहः प्रवर्धमाना सती अनेकजन्मभिः अनन्तजन्मभिः उपचितं संवर्धितं धियो मनसः मलं सद्यः क्षिणोति क्षपयति। तमेव भजतेति तृतीयेनाऽन्वयः। तत्पादसम्बन्धस्य एष महिमेति दृष्टान्तेनाऽऽह- यथेति। यथा तत्पादाङ्गुष्ठात्[1] विनिस्सृता सरित् गङ्गा मलं क्षिणोति तथेत्यर्थः॥ ३०॥

किं मलक्षपणसाध्यं तत्राह- विनिर्धूतं निरस्तमशेषं मनोमलं यस्य। असङ्गो वैराग्यं, इदं साधनसप्तकोपलक्षणम्। विज्ञानं प्रकृतिविविक्तात्म याथात्म्यवेदनं ताभ्यां विशेष्यत इति विशेषः, अङ्गभूत ज्ञानकर्मकृतोपकार इत्यर्थः। तदेव वीर्यं बलं यस्य भक्तियोगस्य सोऽस्यास्तीति तथा, यस्य भगवतोऽङ्घ्रिमूले कृतकेतनः कृतस्थानः तदेकनिरतः। अनेन भक्तियोगस्य विजातीय प्रत्ययान्तराव्यवहितत्वं विवक्षितम्। ईदृशः पुमान् क्लेशवहां गर्भजन्म जरामरणादिक्लेशकारिणीं संसृतिं पुनः न प्रतिपद्यते॥ ३१॥

तस्मात् स्वकर्मभिः स्ववर्णाश्रमोचितैः[2] पञ्चमहायज्ञादिभिः आत्मवृत्तिभिः "शमो दम स्तप श्शौचं क्षान्ति रार्जव मेव च" (भ.गी.18-42) इत्यादिस्थानोक्त शमादिभिः मनोवचः कायगुणैः ध्यानस्तुति परिचर्यादिभिः अमायिनो निष्कपटाः सन्तः, कथम्भूतम्? कामं समीहितं दोग्धि प्रपूरयतीति कामदुघं तदङ्घ्रिपङ्कजं यस्य, यथाऽधिकारावसितार्थसिद्धयः। [3-]अधिकारः फलं[-3] अधि कर्मण्यधिकृत्य क्रियते साध्यते इति व्युत्पत्तेः। यथाधिकारं स्वस्वसमीहितं[4] फल मनतिक्रम्य अवसिता निश्चिता अर्थसिद्धिः फलसिद्धिर्येषां ते स्वस्वसमीहितार्थानुसारेण[5] फलसिद्धिः भाविनी इत्येवं निश्चितबुद्धय इत्यर्थः। निश्चयस्याऽपि अनुष्ठानोपयोगित्वात् संशयस्य अनर्थावहत्वात्। तथा च स्मर्यते - "नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः। अज्ञश्चाऽश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।" (भ.गी. 4-40) इति॥ ३२॥

ननु कर्मणां द्रव्यदेवतादिभेदादेव भेदः। अन्यथा कर्मैक्य मेव स्यात्। ततश्च प्रतिनियतसाधनोपसंहार प्रयासो व्यर्थः स्यात्। एवं च कथमेकदेवतोद्देशेन सर्वकर्मानुष्ठानं कुरुतेत्युच्यते, तत्राह - **असाविति**। अत्र गुणाध्वर इति पाठः गुणोऽध्वर इति च। तत्र व्यस्तपाठे अगुण इति च्छेदः, भगवद्विशेषणं हेयगुणरहित इत्यर्थः। अनेकगुण इति शुभगुणविधानात्। समस्तपाठे तु अध्वरविशेषणं, सत्त्वादिगुणान्वित इत्यर्थः। कर्तृद्वारा तदन्वयो बोध्यः। तत्र स्वरूपतः स्वरूपेण विज्ञानघनः विज्ञानशब्देन अनुकूलात्मकं ज्ञानं

1. A, B, T °ङ्घ्रवि° 2. A, B, T omit स्व 3--3. A, B, T omit 4. A, B,T omit स्व 5. W °तानु

विवक्षितम् । घनशब्देन तस्यैव सान्द्रत्व मभिप्रेतम् । विज्ञानैक स्वरूप इत्यर्थः । अगुणः निरस्तहेयगुणः, अनेक गुणः अनन्तकल्याणगुणः, योऽसौ परमात्मा स एव पृथग्विधानिद्रव्याणिव्रीह्याद्यपश्वादीनि गुणाः "शुक्ला मालभेत" "कृष्णामालभेत" इत्यादि विध्युद्देशश्रुत शुक्लादयः, क्रियाः अवहननावेक्षणा लम्भनादयः उक्तयो मन्त्राः, पृथग्विधत्वं त्रिष्वप्यन्वेतव्यम् । पृथग्विधद्रव्यादिभिः अध्वर स्सन्, अध्वरस्य द्रव्यादिसंघातरूपत्वात् द्रव्यादीनां भगवच्छरीरत्वात् अध्वररूपो भूत्वेत्यर्थः, अर्थाशय लिङ्गनामभिः सम्पद्यते । अर्थः अध्वर प्रयोजनं स्वर्गादिरूपं फलं, तस्य आशयाः आश्रयभूतानि । [1-]जलाशय-कमलाशय-इति प्रयोगात्[-1] । लिङ्गानि अग्नीन्द्रादि रूप शरीराणि, नामानि वाचकाग्नीन्द्रादिशब्दाः तैः सम्पद्यते अग्नीन्द्रादिलिङ्गस्य फलाश्रयत्वं फलदानक्रियायाः अग्नीन्द्राद्याश्रितत्वात् बोध्यं, अध्वराराध्यत्वेन तत्फलदत्वेना वगताग्नीन्द्रादि नामरूपात्मको भवतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः- "यज्ञो वै विष्णुः" (तै.त्ति.सं 1,56, तै.त्ति.बा 1-2-5) "तदेवाग्नि स्तद्वायु स्तत्सूर्य स्तदु वन्द्रमाः, (म.ना.उ.1-17) इति अग्नीन्द्रादिद्वारभेदेन द्रव्यादि भेदेन च कर्मणां भेदः । अग्न्या द्यन्तरात्मतयाऽवस्थितस्य परमपुरुषस्यैकस्यैव आराध्यत्व फलप्रदत्वाद्युपपत्तेः[2] तात्पर्यतः[3-]-[-3] एक देवताराधनत्वमपि उपपन्न मिति भावः ॥ ३३ ॥

एवं कर्म तदाराध्यदेवतारूपत्व मुक्तम् । अथ कर्म फलभोक्तृजीवरूपत्वं तत्फलरूपत्वं चाह- **प्रधानेति**[4] । एष भगवान् प्रधानं प्रकृतिः काल स्तद्गुणक्षोभकः, आशयो वासना, धर्मः अदृष्टम् एभिः सङ्गृह्यते उत्पद्यत इति । तथा तस्मिन् शरीरे चेतनां शब्दाद्यनुभवरूपं ज्ञानं प्रतिपद्य जीवद्वारा प्रतिपद्येत्यर्थः । तत्र जीवादिभिः सामानाधिकरण्ये च हेतुः- "विभुर्य आत्मनि तिष्ठन्" इत्युक्तरीत्या जीवान्तरात्मतयाऽवस्थानात् । सर्वजगदुपादान त्वादुपादानत्वस्य च भाव्यवस्थाविशेषवतः प्रागवस्थायोगित्व रूपत्वात् जीवं प्रति उपादानत्वेन च जीवधर्मभूत ज्ञान सङ्कोच विकासरूप विकाराश्रयत्वस्याऽपि जीवद्वारकत्वेन विभोः परस्य सत्त्वात् शब्दाद्यनुभवरूपचेतनां प्रतिपद्येत्युक्तम् । क्रियाफलत्वेन स्वर्गादिरूपतया विभाव्यते निश्चीयते । एवं कर्मतदाराध्य तत्फलभोक्तृ तत्फलरूपत्व मुक्तम् । तत्र कर्मादिगत दोषसंस्पर्शमाशङ्क्य तन्नेत्यभिप्रायेण दृष्टान्तमाह- **यथेति** । दारुषु अनलोऽग्नि र्यथा तद्गुणात्मकः दारुगतदैर्घ्यवक्रत्वादिमान् प्रतीयते; तद्वत् वस्तुत एकरूपोऽप्यनलोऽधिष्ठानवैचित्र्याद्विचित्र इव प्रतीयते तथेत्यर्थः । [5-]सामानाधिकरण्येऽपि अयमेव दृष्टान्तः । वस्तुतः खादिरत्वादिव्यपदेशशून्योऽप्यनलः खादिरोऽनलः प्लक्षो नलः, नैयग्रोधोऽनलः इति खादिरत्वप्लक्षत्वनैयग्रोधत्वादिगुणकः[-5] सामानाधिकरण्येन व्यपदिश्यते[6-] खादिरादिदारुषु अभिव्याप्तेः। तद्वत् चेतनाचेतनेषु अभिव्याप्तत्वात् अभिव्याप्तिनिबन्धनेन सामानाधिकरण्येन[-6] व्यपदिश्यते इति ॥ ३४ ॥

---

1--1. W omits 2. W फलद° 3--3. A, B, T स्वारस्यतः 4. A, B, T omit फल 5--5. A, B, T omit 6--6. A, B, T omit

**विज.** यज्ञपति रस्तु राज्यादे र्हेतु र्येन विधिना फलसिद्धिः स्यात्तं प्रकार मुपदिशेत्यत आह - **यत्पादेति** । अत्र गङ्गादृष्टान्तोबुद्धयवतारार्थं, न तु गङ्गाकृष्णपाद सेवयोः फलसाम्याभिप्रायेण। कृष्णपादसेवा साक्षात् ज्ञानसाध्य प्रसादसाधनं, गङ्गासेवातु शुद्धान्तःकरणस्य भगवत्सेवा मुत्पाद्य तत्साधनमिति परम्परयोपसङ्गच्छते ॥३०॥

नष्टमनोमलस्य किमात्यन्तिक फल मत्राह **विनिर्धूतेति**। निरस्तमनोदोषस्य पुंसो विषयासङ्ग लक्षणवैराग्याज्जाताया भक्तेर्विज्ञानं भवति। तदेव विशेषवीर्य मस्यास्तीति असङ्ग विज्ञान विशेष वीर्यवान्। यस्याऽङ्घ्रिमूले कृताश्रयः विज्ञानात् पूर्वं यथा संसार माप्नोति तथा नाप्नोती त्यस्मिन्नर्थे पुनरिति। संसारक्लेश प्रतिपत्तिमपि नाऽऽप्नोति किं पुन स्तत्प्राप्तिरित्यतः प्रपद्यत इति ॥ ३१ ॥

एवं तत्सेवाफल मुक्त्वा तदुपास्तिं विधत्ते **तमेवेति**। फलस्यानुभवसिद्धत्वा दन्ययोगव्यवच्छेदार्थ एवशब्दः भजतैवेत्ययोग व्यवच्छेदो वा आत्मनि हरावेव वृत्ति र्वर्तनं येषां ते तथा तैः। अय मेव मनआदीनां गुणः यद्विष्णु विषयत्वेन चरणम्। स्वकर्मभिः स्वस्य विहिताश्रमादि कर्मभिः। उक्त मेतत्सर्व मप्रयोजकम्। व्याजिन इत्यत उक्तम्। अमायिन इति। फलपूर्वविधाने क्षिप्रप्रवृत्ति र्भवतीति भावेनोक्तम् - कामदुघेति। वेदानुकूलमिति द्योतनाय - **दुद्येति**। इद मेव दर्शयन्नित्यम्भाव माह य **यथेति**। "अथाऽत आनन्दस्य मीमांसा भवति" (तैत्ति.उ.2-8) इत्यादिश्रुतौ मनुष्योत्तम मारभ्य ब्रह्मपर्यन्तं योग्य मधिकारो योग्यतालक्षण स्तस्मिन्नवसिता निर्णीता अर्थसिद्धि रानन्दप्राप्ति र्या, तदर्थ मित्यर्थः। अर्थःमोक्षः। अर्थःस्याद्विषये मोक्षे शब्दवाच्ये प्रयोजने" (वैज.को.6-1-3) इति यादवः ॥ ३२ ॥

स्वकर्मभिरिति उक्तकर्मकरण प्रकार माह - **असाविति**। "आत्मा वा इद मेक एवाऽग्र आसीत्,, (ऐत.उ.1-1-1) इत्यादिश्रुतिसिद्धः योऽसौ श्रीनारायणःइह जीवराशौ सता पुंसा अनुष्ठितैः अनेकगुणाध्वरैः सम्पद्यते प्राप्यत इत्यन्वयः। ते च अधिकारभेदात् बहवः इत्याशयेनाह - **पृथगिति**। षोडशादिभेदाभिन्नैः अनेकगुणत्वं व्यनक्ति-**द्रव्येति**। द्रव्यं पुरोडाशादि कल्पोक्तगुणविशिष्टम्। "द्रव्यं गुणाना माधारे (वैज.को.6-3-15) इति यादवः। गुणः विशिष्टःमातापितृजन्यत्वादि, क्रिया ऋत्विग्व्यापारः। "इन्द्रायाग्नये,, इत्या द्युक्तयो येषु ते तथातैः अर्थेषु यजमानेषु आशयोऽन्तः करणं येषां ते देवाः अर्थाशयाः तेषां लिङ्गानि वज्रधरत्वादीनि इन्द्रादिनामानि च येषु ते तथा तैः यद्वा अर्थाशयत्वं मुक्ता श्रयत्वं चक्रधरादि लिङ्गं नारायणादि नाम च येषु ते तथा तैः, कथं प्राप्यते। विशुद्धविज्ञानघनस्वरूपतः एवं ज्ञानेन प्राप्य इत्यर्थः, अनेन कर्मणा शुद्धान्तःकरणा ज्जातं ज्ञानं संसारनिवर्तकं मित्युक्त्या "कर्मणैव हि संसिद्धि मास्थिता जनकादयः,, (भ.गी.3-20) इत्यादेः गतिरुक्तेति ज्ञायते ॥३३॥

कर्मसाधनज्ञानेन ज्ञायत इत्युक्तम्। तत्र विशिष्टतया ज्ञानं मुक्तिसाधनं स्यादिति तं प्रकारं ब्रूते **प्रधानेति**। प्रधानं प्रकृतिः, कालः, फलपाचकः, आशयोऽन्तः, करणं, कर्म जीवादृष्टम् - एतानि संगृह्णातीति प्रधान कालाशय कर्मसंग्रहः। त्यक्तेषु सर्वेषु शरीर मेव शिष्यते यस्य स शरीरशेषो जीवः तं प्रतिपद्य प्राप्य चेतनः ज्ञानशक्तिमान् नित्याविप्लुतज्ञान इत्यर्थः। विभुः श्रीनारायणोऽयं क्रियाफलत्वेन कर्मफलदातृत्वेन पुण्यकर्मभिः पुरूषैः विभाव्यते ज्ञायत इत्यन्वयः। "फल मत उपपत्तेः, (ब्र.सू.3-2-38(37)) इति सूत्रात् हरेः कर्मफल दातृत्वं सिद्धम्। अत्र दृष्टान्तमाह - यथेति। यथा अनलः अग्निः तस्य[1] दारुणे गुणं स्थौल्यादिक मादत्ते दारुस्थौल्या द्यनुसारेण स्वयंच स्थौल्यादिमान् भवतीति तदुणात्मको विध्युक्त गुणवत्सु दारुषु अग्निः मथानादिना अभिव्यक्तो ज्ञायत तथा प्रधानादिशब्दाभिधेय लक्ष्म्यादिभिः परिवृतः जीवान्तर्गतः जीवपरिमाणगुणानुकारी तदनुष्ठित कर्मफलदातृत्वेन गुरुशिष्य व्याख्यान श्रवण लक्षणमथनेन अभिव्यक्तो हरि र्ज्ञायत इति भावः। प्रधानादीनां हर्यधीनत्वं तद्भिन्नत्वं च दर्शयितुं तद्ग्रहणम्। देहस्थत्वेऽपि तद्गुणसम्पृक्ताभाव दर्शनाय दार्वनलनिदर्शनम्। किञ्चानेन देहदोष धारण सामर्थ्यं जगत्भक्षणाऽप्यलम्बुद्धिराहित्यं सूचयितुं दार्वनलपद मुपात्त मिति ज्ञापयति॥ ३४॥

**अहो ममाऽमी[2] वितरन्त्यनुग्रहं हरिं गुरुं यज्ञभुजामधीश्वरम्।**
**स्वधर्मयोगेन यजन्ति मामका निरन्तरं क्षोणितले दृढव्रताः[3]॥ ३५॥**

**मा जातु तेजः प्रभवेन्महर्द्धिभि स्तितिक्षया[4] तपसा विद्यया च।**
**देदीप्यमानेऽजित देवतानां कुले स्वयं राजकुलाद्[5] द्विजानाम्॥ ३६॥**

**ब्रह्मण्यदेवः पुरुषः पुरातनो नित्यं हरि र्यच्चरणाभिवन्दनात्।**
**अवाप लक्ष्मी मनपायिनीं यशो जगत्पवित्रं च महत्तमाग्रणीः॥ ३७॥**

**यत्सेवयाऽशेषगुहाशयः[6] स्वराड् विप्रप्रिय स्तुष्यति काममीश्वरः।**
**तदेव तद्धर्म परै र्विनीतैः सर्वात्मना ब्रह्मकुलं निषेव्यताम्॥ ३८॥**

**पुमाँ ल्लभेतानतिवेल[7] मात्मनः प्रसीदतोऽत्यन्तशमं[8] स्वतःस्वयम्।**
**यन्नित्यसम्बन्धनिषेवया ततः परं किमत्रास्ति मुखं[9] हविर्भुजाम्॥ ३९॥**

1. A, B तत्तद्दा° 2. M, Ma, Ms बतामी 3. M, Ma, Ms धृत 4. W °साऽऽतिथ्यया च 5. M, Ma, Ms कुले 6. M, Ma, Ms गुणाश्रयः 7. M, Ma, Ms °प्यति 8. M, Ma, Ms प्रसा° 9. M, Ma, Ms सुखं

**श्रीध.** तदेव मप्रवृत्तान् भगवद्भजने प्रवर्त्य स्वतः प्रवृत्तानां प्रवृत्तिमभिनन्दनेन द्रढयति - **अहो** इति। वितरन्ति कुर्वन्ति, [1-]गुरुं गुरुत्वेन स्वहितकर्म फल दातृत्वेन च पूज्यं हरि रूप मिष्टदैवतं स्वधर्मयोगेन यजन्ति पूजयन्ति[-1] ॥ ३५ ॥

इदानीं हरिभक्ति दार्ढ्याय ब्राह्मणभक्तिं विधत्ते**माजात्वि**त्यष्टाभिः। महत्यश्च ता ऋद्धय श्च ताभिः यद्राजकुलस्य तेजः तस्मात् द्विजानां कुलेऽजितो[2] विष्णुः देवता येषां वैष्णवानां[3-] तेषां[-3] च कुले मा जातु प्रभवेत्कदाचिदपि प्रभावं[4] न करोतु[5] कथम्भूते ? समृद्धिभि र्विनाऽपि स्वयमेव तितिक्षादिभि र्देदीप्यमाने ॥ ३६ ॥

ब्राह्मणान् स्तुवन्नाह - **ब्रह्मण्येति**। यच्चरणाभिवन्दनात् हरिः लक्ष्मीं यशश्च अवाप, यत्सेवया च ईश्वरः तुष्यति, तदेव ब्रह्मकुलं निषेव्यता मिति द्वयो रन्वयः ॥ ३७ ॥

**यदिति**। तस्य हरेः लोकसंग्रहरूपो यो धर्मः तत्परैः ॥ ३८ ॥

ननु ब्रह्मकुले एव नित्यं सेव्यमाने सर्वदेवतामुखभूते अग्नौ **यज्ञाद्यनुष्ठा**नं न स्यात्। न च तेन विना चित्तशुद्धिः, न च तया विना मोक्षः स्या दित्याशङ्क्याह - **पुमानिति** द्वाभ्याम्। यस्य ब्रह्मकुलस्य नित्यं सम्बन्धेन निषेवया पुमान् स्वयमेव ज्ञानाभ्यासादिकं विनाऽपि [6-]अत्यन्त[-6] [7]इमं मोक्षं [8]लभेत। कुतः? यत्सेवया स्वत एवानतिवेलं शीघ्रं प्रसीदतः शुद्धयत आत्मन श्चित्तात् ततः परं श्रेष्ठं [9-]हविर्भुजां[-9] देवानां किं मुखमस्ति ब्राह्मणसेवयैव यज्ञादिफलं ज्ञानफलं च[10] तत्सर्वं भवतीत्यर्थः ॥

**वीर.** तदेवं अप्रवृत्तान् भगवद्भजने प्रवर्त्य स्वतः प्रवृत्तानां प्रकृत्यभिनन्दनेन प्रथयति - **अहो** इति। ये भूतले मामकाः मद्विषयवासिनो जनाः दृढव्रताः दृढसङ्कल्पाः स्ववर्णा[11] श्रमोचितधर्मयोगेन यज्ञभुजां इन्द्रदीना मधीश्वरं अन्तरात्मानं गुरुं हितोपदेष्टारं हरिं स्वाश्रितः दुरितहरं नित्यं भजन्ति। ते अमी जनाः मम अनुग्रहं वितरन्ति कुर्वन्ति। अहो इति हर्षे ॥३५॥

इदानीं भगवद्भक्तिदार्ढ्याय ब्राह्मणभक्तिं विधत्ते **माजातु** इत्यष्टभिः। तत्र तावत् ब्राह्मण कुलस्य राजकुल निग्रहाविषयत्वं प्रार्थयते। महर्धिभिः महत्यश्चताः ऋद्धयः ताभिः यत् राजकुलस्य तेजः तस्मात् सकाशात् द्विजानां कथम्भूतानाम्, अजितो भगवान् देवता येषां तेषां कुले जातु कदा चिदपि मा प्रभवेत् प्रभावं न करोतु। कथम्भूते ? समृद्धिभिः विनाऽपि स्वयमेव तितिक्षादिभिः देदीप्यमाने। यद्वा राजकुलस्य ब्राह्मणकुल निग्रहाविषयत्वं प्रार्थयते। अजितदेवतानां द्विजानां कुले तितिक्षया द्वन्द्व सहनेन तपसा

---

1--1. B, J, V, Va omit  2. B, J, Va omit विष्णुः; V हरिः  3--3. V omits  4. V adds तत्र  5. V कुर्यात्  6. A, B, J, Va अत्युत्तमं  7. B omits शमं  8. V लभते  9--9. B, J, V, Va omit  10. V omits तत्  11. A, B, T omit उचित

कृच्छ्रादिना ब्रह्मोपासनया वा आतिथ्यया अतिथ्याराधनया चकाराच्छमदमादिसङ्ग्रहः। एभिः देदीप्यमाने सति तेषां तेजः महर्द्धिभिः राजकुलाद्धेतोः कदाचित् मा प्रभवेत् महर्धिप्रयुक्त गर्वसहितात् राजकुलात् ब्राह्मणकुलं कुपितं मा भूदित्यर्थः। कुलद्वय मन्योन्यं यथायोग्य मनुगृह्णात्विति भावः॥ ३६॥

यच्चरणाभिवन्दनात् - येषां [1-] ब्रह्मणानां [-1] चरणाभिवन्दनात् हरिः लक्ष्मीं [2-] अनपायिनीं [-2] जगत्पवित्रं यशश्च अवाप। यत्सेवया च ईश्वरः तुष्यति, तदेव ब्रह्मकुलं निषेव्यता मिति द्वयो रन्वयः। हरिं विशिनष्टि - ब्रह्मण्य देवः ब्राह्मणसेवा परायणानां मन्वादीना मपि देवः पुराणः पुरुष इति। न चैवं ईश्वरस्य लक्ष्मी यशसः सम्बन्धस्य सोपाधिकत्व प्रसङ्गः। भगवदितरेषां यश आदि सम्बन्धस्य ब्राह्मणसेवायत्ततैक कथनमात्र तात्पर्यकत्वात् अस्य श्लोकस्य अर्थवादवाक्यस्य स्वार्थे तात्पर्याभावात्, विधेः स्तावकत्वात्। न च अर्थवादस्य स्वार्थे तात्पर्यभावे सति इतरेषामपि यशआदि सम्बन्धेऽपि तात्पर्यं नास्तीति वक्तुं शक्यम्। ब्राह्मण सेवाविध्यपेक्षित फलसमर्थकत्वेन तत्र तात्पर्यनिश्चयात्। न ह्यसता गुणेन प्ररोचना सम्भवति, न च "पयः पिब शिखा ते वर्धते,, इति बाला द्युपच्छन्दन वाक्ये असताऽपि गुणेन प्ररोचना दृश्यत इति वाच्यम्। तत्राऽपि यद्यसत्व निश्चयः तर्ह्यप्रवृत्तेः प्रवृत्त्यर्थ प्ररोचनाया एवाऽनुपपत्तेः। तस्मात् तत्र असत्ता मजानतां [3] बालानां पयःपानादि प्रवृत्त्यर्थं शिखा वर्धनादिकं असदपि फलत्वेन कीर्त्यते। तत्र असत्वं प्रत्यक्षतः अवगतं, इह तु मन्वादिषु ब्राह्मणसेवकेषु यशस्सम्बन्धस्यैव प्रत्यक्षतुल्यशास्त्रेण अवगमात् असत्तानिश्चायकस्य प्रमाणान्तरस्य अभावात्। न च तेषां तत्सम्बन्धे ब्राह्मण सेवातिरिक्तं अदृष्टान्तर मेव कारण मिति वक्तुं युक्तम्, अदृष्टान्तरस्याऽपि स्वस्ववर्णाश्रमैकान्त नित्य नैमित्तिकादि पूर्वक याग जन्यत्वात् स्व स्व वर्णाश्रम धर्मेषु ब्राह्मणसेवायाः अपि अनुप्रविष्टत्वात्। स्वराट् स्वतन्त्रः अकर्मवश्यः, तथाऽपि विप्रप्रियः विप्राधीनः बहुव्रीहि षष्ठी तत्पुरुष समासद्वयेन अन्योन्यं भृशं प्रीतिविषयत्वलाभात् विषयवैलक्षण्याधीन त्वात् पारतन्त्र्यस्य स्वतन्त्रास्यापि स्वेच्छया पारतन्त्र्योपपत्तेः ईश्वरः तुष्यति। ईश्वरस्य कर्मवश्यत्वं नाम देव मनुष्यादि सजातीयचेष्टां कुर्वतोऽपि तच्चेष्टायत्त सुखदुःखाद्यस्पर्शनं चेति विप्रतिषिद्धम्, यच्छेष्टनं तत्प्रयुक्तसुखाद्यस्पर्शनं चेति विप्रतिषिद्ध मिति शङ्कयम्। [4] स्वर्गिना रकव्यापारेषु तथा दर्शनात्। एवञ्च, ईश्वरस्य ब्राह्मण सेवा तदभाव जन्यसुखा द्यस्पर्शिनोऽपि तत्सेवापरायणत्व कथनेन द्विजसेवायाः आवश्यकत्वद्योतनाय स्वराडिति विशेषणम्। नन्वन्यसेवया अन्यः कथं तुष्येत्। तत्राह अशेषगुहाश्यः। सेवकसेव्ययोरूभयोरपि हृदयगुहायां तदन्तरात्मतया निविष्टत्वेन सेवाजन्य द्विजादिनिष्ठ प्रीतेरपि द्विजातिद्वाराऽऽश्रयस्सन् सेवकनिष्ठसेवाश्रद्धादिक मेवक्ष्य तुष्यतीत्यर्थः। कामं तुष्यतीत्यनेन द्विजसेवातः अधिकः तोषहेतु र्नास्तीति

---

1--1. A, B, T omit 2--2. A, B, T omit 3. T °नानां 4. A, B, T स्वार्ग

द्योत्यते। तस्मात् द्विजसेवायाः यश आदि हेतुत्वात् [1-]भगवत्तोषहेतुत्वाच्च [-1]तद्धर्मपरैः द्विज सेवैकशीलैः तदुपयुक्तं गुणमाह - विनीतैः एकविशेषणोपादानेन द्विजप्रसादननियम मन्तरेण अन्यो हेतु रनपेक्षित [2]इति सूचितम्। सर्वात्मना करणत्रयैक्येन ब्रह्मकुलं निषेव्यताम्॥ ३७,३८॥

किञ्च, "प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥(भ.गी.2-65) इत्युक्तरीत्या सर्वदुःखहानि हेतु भूत मनः प्रसाद निर्वर्तकत्वादपि द्विजसेवैव कार्येत्याह - **पुमानिति**। येषां ब्राह्मणानां नित्यसन्बन्धरूप सेवया पुमान् अनतिवेलं शीघ्रं स्वय मेव प्रयत्नान्तर मन्तरेणैव प्रसीदतः आत्मनः मनसः शमं शान्तिं लभेत। ततः [3-]शान्तान्मनसः[-3] [4]परं किमस्ति साध्यम् इति शेषः। शान्तमनसा असाध्यं किञ्चिदापि नास्तीत्यर्थः। किञ्च, हविर्भुजां इन्द्रादीनां मुखं ब्राह्मणकुलं ब्राह्मणसेवयैव तन्मुखानां हविर्भुजां यज्ञाराध्य देवानामपि सेवा कृता स्यात्। "ब्राह्मणोऽस्य मुख मासीत्,, (तैत्ति.उ.3-36-37) इति ब्राह्मणकुलस्य भगवदावेशावतारस्य ब्रह्मणो मुखत्वात् (पु.सू.1-5) तदाराधनेनैव हविर्भुगन्तरात्मतया अवस्थितः परमात्मा तुष्यतीति ब्राह्मणा एव अन्नादिभिराराध्या इति भावः॥३९॥

**विज०** गुरुशिष्यव्याख्यानादिमथनेन हरि रभिव्यक्तो भवतीत्युक्तम्। तत्र गुरवः शिष्याश्च श्रीनारायणमुखोत्पन्नत्वात् व्याख्यानादे र्मुखव्यापारत्वेन अत एव [5]मुख्यत्वेन सात्त्विकत्वेन च स्वत एव व्याख्यानादौ प्रवृत्ति सम्भवाज्जलस्यन्दनवत् ब्राह्मणा एवेत्यभिप्रेत्याधुना तानभिष्टौति- **अहो बतेति**। अमी इत्यनेन हरे र्मुखजातत्वं परामृशति, बतेति चित्तं द्रवीकरोति, अहो इति सभ्यानुन्मुखीकरोति। इष्टदेवतात्वेन गुरुत्वेन स्वविहितकर्मफल दातृत्वेन श्रीनारायण एव पूज्य इत्यतो विशेषत्रयम्। "एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः। यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवै रर्चे न्नरस्सदा" (विस. भार 13-135-8) इति वचनात्। स्वधर्मयोगो भक्तियोग स्तेन यजन्ति पूजयन्ति भगवद्भक्तत्वेन स्वचेतः प्रीति जनकत्वा न्मामका इत्युक्तम्। कृत्या द्यन्यव्यापार राहित्यप्रकटनाय निरन्तरमिति। एतत्सूचनाय धृतव्रता इति। सत्रादिकर्मसु दीक्षितानामन्यव्यापाराभाव स्तथाऽत्रापीति कर्मणां फलाधिक्यद्योतनाय क्षोणितले पतनदुःखक्षयहेतुत्वात् प्रतिष्ठाहेतुत्वाच्च क्षोणितल इति, क्षिणु-क्षये, तल-प्रतिष्ठाया मिति धातुः॥ ३५॥

स्ववंश्यानां राज्ञां शिक्षामाह- **माजात्विति**। राजकुले विद्यमानाभिः महर्धिभिः समुत्वितं तेजः प्रभाव लक्षणम्। अजितः श्री नारायणो देवता येषां ते तथा तेषां तितिक्षादिना द्वेदीप्यमाने द्विजानां कुले जातु कदाचिदपि मा प्रभवेत् कुलक्षये समर्थं न भवेत्॥ ३६॥

---

1--1. A, B, T omit  2. W इव  3--3. A, B, T शान्तमनसः  4. A, B, T omit परं  5. A, B, मुख°

न केवलं ब्रह्मकुलं नाभिभवनीयं किन्तु, तत्र भक्तिरपि कर्तव्येत्यत्र कैमुत्यन्यायमाह- **ब्रह्मण्यदेव** इति। ''अर्क मर्कट मण्डूकविष्णुवासव वायवः। तुरङ्गःसिंह शीतांशु यमाश्च हरयोदश '' (हला.को. 5-70) इति निगदाद्धरिरिन्द्रो यस्य श्रीनारायणस्य चरणाभिवन्दनादनपायिनीं लक्ष्मी मवाप, जगत्पवित्रं यशश्चावाप। सोऽपि पुरातनः पुरुषो ब्रह्मण्यदेवो ब्राह्मणप्रियश्च। देवः क्रीडादि[1]गुणयुक्तश्चेत्यन्वयः। ब्राह्मणप्रियत्वं क्रीडामात्रमिति दर्शयितुं देव इति पदम्। अत एव महत्तमाग्रणी रित्युक्तम्। महता मिन्द्रादीनां सकाशा दुत्तमा ब्रह्मादय स्तेषा मप्यग्रणीः श्रेष्ठ स्तस्मात् क्रीडामात्र मिदम्। अत एवाऽनुपपत्त्या हरिशब्दे नेन्द्र एव गृहीतः ''यत्प्रसादेन देवेन्द्रो वेदोदितयशा अभूत्। सोऽपि विष्णुरमेयात्मा सदा ब्राह्मण वत्सलः'' (हरिवंशे) इति स्मृतेश्च प्रतीतार्थ परित्यागो युक्तः। अजित देवताना मित्युक्ति विरोधाच्च॥ ३७॥

अस्तु विष्णु र्द्विजप्रियः, ततः प्रकृते किमित्याशङ्क्य विष्णुभक्ति मवमृश्य ब्राह्मणसेवा कार्येत्याह-**यत्सेवयेति**। अपवर्गावाप्तौ श्रीलक्ष्मीकान्तप्रसाद एवाऽपेक्षणीयोऽतः क्षितिदेवप्रीत्या किम् इत्यतो वा यत्सेवयेति। भगवत्प्रसादोत्पत्तौ विप्रसेवा द्वार मित्यर्थः। स्वराट् स्वतन्त्रः यतो विष्णुप्रसादो भवति तस्मात् ब्राह्मणकुलं निषेव्यतामित्युपसंहरति- तदेवेति। तद्धर्मपरै र्विष्णुधर्मपरैः॥ ३८॥

ब्राह्मणसेवा प्रसन्न श्रीनारायण प्रसादान्मौक्तिक परमानन्दोऽपि भवतीत्याह - **पुमानिति**। यस्य हरे र्नित्यसम्बन्धो येषां ते, यन्नित्यसम्बन्धात् द्विजा स्तेषां निषेवया सेवालक्षणया सङ्गतः पुमा नतिवेलं क्षिप्रं तस्याऽऽत्मनो हरेः प्रसादतोऽत्यन्तशमं भगवन्निष्ठाजन्यमुक्तिसुखं लभेत। तत स्तस्मा न्मोक्षसुखात्पर मन्य त्सुखं हविर्भुजा मप्यत्र संसारोऽस्ति, किं, नास्त्येव। हविभुजो देवताः। किंविशिष्टम्? स्वयं स्वरूपभूतम्। अस्वरूप मपि स्वरूपवन्नोपचरित मित्याह - स्वत इति। महत्सेवां द्वार माहुः विमुक्तेरिति। महत्सेवाया अपि मुक्तिसाधनत्वं सिद्धम्। यद्वा यन्नित्यसम्बन्धानां सतां निषेवया पुमानात्मनो मनसः प्रसादतोऽत्यन्तशम मतिशयित भगवन्निष्ठां लभेत। ततः श्रीनारायणनिष्ठायाः स्वतोऽकृत्रिमं स्वयं स्वरूपसुखं लभेत। तत इत्युत्तरत्राऽपि सम्बध्यते। शेषं पूर्ववत्॥ ३९॥

**अश्नात्यनन्तः खलु तत्त्वकोविदैः श्रद्धाहुतं यन्मुख इज्यनामभिः[2]।**
**न वै तथा चेतनया बहिष्कृते हुताशने पारमहंस्य पर्यगुः[3]॥ ४०॥**

**यद्ब्रह्म नित्यं विरजं सनातनं श्रद्धातपोमङ्गल मौनसंयमैः।**
**समाधिना बिभ्र दिहार्थदृङ्ग्ये यत्रेदमादर्श इवाऽवभासते[4]॥ ४१॥**

---

1. A, B, omit गुण 2. M, Ma इज्य 3. M, Ma वर्य 4. A, B, G, I, J, T °ति हा

**तेषामहं पादसरोजरेणुमार्या वहेयाधिकिरीट मायुः[1]।**

**यं नित्यदा बिभ्रत आशुपापं नश्यत्यमुं[2] सर्वगुणा भजन्ति ॥ ४२ ॥**

**गुणाऽऽलयं[3] शीलधनं कृतज्ञं श्रद्धाश्रयं[4] संवृणुते नु सम्पदः।**

**प्रसीदतां[5] ब्रह्मकुलं गवां च जनार्दनः सानुचरश्च मह्यम् ॥ ४३ ॥**

## मैत्रेय उवाच

**इति ब्रुवाणं नृपतिं पितृदेव द्विजातयः।**

**तुष्टुवु र्हृष्टमनसः साधुवादेन साधवः ॥ ४४ ॥**

**श्रीध०** हरेरपि तदेव परं मुख मित्याह - **अश्नातीति**। इज्यानां पूज्याना मिन्द्रादीनां नामभिः यस्य [6-]ब्रह्मकुलस्य[-6] मुखे श्रद्धया हुतं हविः अनन्तो यथाऽश्नाति तथा चेतनया [7-]बहिष्कृते[-7] रहिते हुताशने हुतं नाश्नाति। कैर्हुत मश्नाति? कैर्हुत मश्नाति? तत्त्वकोविदैः सर्वदेवमय श्चैतन्यमूर्ति रनन्त इति तत्त्वं विद्वद्भिः। कुत एवम्भूतोऽसौ तत्राह। पारमहंस्यं ज्ञानं तत्परानर्हन्त्यधिकुर्वन्तीति पारमहंस्यपर्याः ता गावो वाचो यस्मिन्, उपनिषद्भिः ज्ञानघनत्वेनोक्त इत्यर्थः। यद्वा परमहंसानां ज्ञाननिष्ठानां गम्यः पारमहंस्यः। परितः न[89] गच्छन्ति गावो [10]इन्द्रियाणि यस्मात्स पर्यगु रिन्द्रियनियन्ता स चासौ स च पारमहंस्य पर्यगुः ज्ञानरूपः सर्वान्तर्यामीत्यर्थः ॥ ४० ॥

न केवलं चेतनत्वेन हुताशना द्विशेषः, किन्तु वेदज्ञानादपि इत्याह- **यदिति**। यदित्यव्ययम्। ये ब्रह्म वेदं नित्यं बिभ्रति तेषा मित्युत्तरेणाऽन्वयः। मङ्गलं नाम "प्रशस्ताचरणं नित्य मप्रशस्तस्य वर्जनम्। एतद्धिमङ्गलं प्रोक्त मृषिभि[11] स्तत्त्वदर्शिभिः" ॥ मौन मध्ययन विरोधिवार्तात्यागः [12-]संयमो[-12] दमः तैः समाधिना चित्तस्थैर्येण च [13]किमर्थम् अर्थदृष्टये [14-]अध्ययनस्य[-14] अर्थ ज्ञानपर्यवसायित्वात् वेदार्थमपि विचारयन्तीत्यर्थः। यत्र वेदे इदं विश्व मवभासते-यथा आदर्शे मुखम्। ह स्फुटम्॥ ४१ ॥

**तेषामिति**। हे आर्या [17-]आ[-17] आयुः यावज्जीवम् अधिकिरीटं मुकुटस्योपरि वहेयेति प्रार्थनायां लिङ्। यं रेणुम्॥ ४२ ॥

गुणभजनस्य फल माह- **गुणेति**। गुणायन मन्वनु सम्पदः संवृणते सम्यग्भजन्ति[18]। तस्मा [19-]त्प्रसीदतां[-19] प्रसीदतु [20-]ब्रह्मकुलं[-20] गवां च कुलम्॥ ४३,४४ ॥

---

1. M, Ma आयुः 2. Ms नह्यभ्यत्यमुं 3. A, B, G, I, J, Ms, T °ऽयनं 4. A, B, G, I, J, T, W वृ° 5. V °तु 6--6. B, J, V, Va omit 7--7. A, B, J, Va omit 8. V omits न 9. V adds अयन्ति 10. A, B, J, Va वाचः 11. V °मुनिभिः 12--12. B, J, V, Va omit 13. B, J, V, Va omit किमर्थम् 14--14. B, J , V, Va omit 15--15. V omits 16-16. B, J, V, Va omit 17--17. V omits 18. V °न्ते 19--19. V omits 20--20. A, B, J, Va omits

वीर० ननु "अग्निमुखा वै देवाः" इति देवाना मग्निमुखत्वश्रवणात् अग्नौ हुत मेव हविर्भुगन्तरात्मभूत परमात्म प्रीतये भविष्यति। तत्राह- अश्नातीति। सत्यमग्नि रपि तन्मुखमिति, तथाऽपि तत्त्वकोविदैः ब्राह्मणानां भगवत्प्रियतमशरीर त्वं जानद्भिः "न ब्राह्मणान्मे दयितं रूप मेतच्चतुर्भुजम्" (भाग. 10-86-54) इति भगवद्वचनात्। इज्यनामभिः आराध्येन्द्रादिनामभिः यस्य ब्राह्मणस्य मुखे श्रद्धया हुतं हवि रनन्तो भगवान् यथा अश्नाति, तथा चेतनया बहिष्कृते[1-1] रहिते हुताशने अग्नौ हुतं नाश्नाति कुत एवम्भूतोऽसौ तत्राह- पारमहंस्यपर्यगुः, परमहंसा भगवदुपासकाः तेषां भावः कर्म वा पारमहंस्यं, ज्ञाननिष्ठेति यावत्। यद्वा चतुर्वर्णादित्वात् स्वार्थेष्यञ्, परमहंसा एव पारमहंस्याः, तान् परित्यज्य न गच्छति अगुः[2]। गाङ् गता वित्यस्मान्नञ् पूर्वात्[3] "कुर्भ्रश्चे" त्यौणादिक सूत्रे प्राक् प्रत्ययनिर्देशात् धात्वन्तरादपि कुप्रत्ययस्याभ्युपगमात् कुप्रत्यये "आतो लोप इटि च" (अष्टा.6-4-64) इत्यालोपः। न च तत्राऽपि सन्वद्भावस्याऽपि विधानात् द्वित्वापत्तिः, बहुल ग्रहणा त्तदभावात्। यद्वा मृगय्वादेराकृतिगणत्वात् कुप्रत्ययः। "प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थ महं स च मम प्रियः।" (भ.गी. 7-17) "ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्" (भ.गी. 7-18) इति भगवदुक्तरीत्या[4] निरतिशयप्रीतिविषयान् परमहंसान् अत्यादरेणावेक्षमाणस्तत्रैव नित्यं सन्निहित इति तस्मिन् दत्तं साक्षात् स्वमुखे न्यस्तमिव भुङ्क्त इति भावः॥ ४०॥

न केवलं चेतनत्वेन हुताशना द्विशेषः, किन्तु, वेद तदर्थ ज्ञानानुष्ठानादिनापीत्याह - यदिति। यद्ब्रह्मकुलं विरजं रागाद्यपेतं भ्रमप्रमादादि पुरुषदोष विनिर्मुक्तं च सनातन मनादि ब्रह्म परं ब्रह्म तत्स्वरूपप्रकाशकं वेदं च श्रद्धा उपासनाया मध्ययनाध्यापन जपपारायणादिषु त्वरा तपः[5] उपासनोपयुक्त ज्ञान कर्म योगः। अध्ययनाद्युपयुक्तकाण्डव्रतादि श्च कर्म योगस्य कृच्छ्रादि-रूपानशनादिगर्भत्वा त्तपश्शब्देनाभिधानं युक्तम्। मन्त्रलं विशुद्धाचारः मौनं वाङ्नियमः आरम्भणसंशीलनं च संयमः ध्यानोपयुक्तशमदमादिः अध्ययना दुपयुक्तकरणनियमश्च समाधिना ध्यानेन धारणया च अर्थदृष्टये अर्थः पुरुषार्थरूपं ब्रह्म अभिधेयं यज्ञोपासना श्च तद्दृष्टये तत्साक्षात्काराय तज्ज्ञानाय[6-6] च इहा स्मिंल्लोके बिभ्र द्विभ्राणं यत् ब्राह्मणकुलम्। पुन र्ब्रह्म विशिनष्टि- यत्र ब्रह्मणि परस्मिन् वेदे च इदं विश्वं परमात्मस्वरूपादिकं च आदर्श इव दर्पण[7-7] इव अवभासते प्रकाशते॥ ४१॥

तेषां ब्राह्मणानां पादसरोजरेणुं हे आर्याः! आयुः आ आयुः इत्याङ्प्रश्लेषोऽत्र बोध्यः, यावज्जीवमित्यर्थः। अधिकिरीटं मुकुटोपरि वहेयेति प्रार्थनायां लिङ्; किं तद्वहन साध्यं तत्राह- यं ब्राह्मण पादसरोजरेणुं नित्यदा बिभ्रतः वहतः पुरुषस्य पाप माशु नश्यति[8] अमुं वहन्तं सर्वगुणा कल्याणगुणाः भजन्ति आश्रयन्ते॥ ४२॥

---

1--1. A, B, T omit 2. A, B, T add तैः परितो गीयत इति वा। 3. A, B, T add गै-शब्दे इत्यस्माद्वा। 4. A, B, T °प्रीतोक्त 5. A,B,T omit तपः 6--6. A, B, T तदाराधनाय 7--7. A, B, T omit 8. A, B, T नश्यति

तं च गुणालयं शुभगुणाश्रयं शील मेव धनं यस्य तं, कृत मुपकारं जानातीति कृतज्ञं, वृद्धान् ज्ञानाधिकान् आश्रयत इति तं, सर्वाः सम्पदः संवृणते, वृणते र्लट्। "आत्मने पदेष्वनतः" (अष्टा.3-1-54) इति झस्यादादेशः, "श्नाभ्यस्तयो रातः" (अष्टा. 6-4-112) इत्यालोपः। सम्यक् भजन्ते उपसंहरन्ति। ब्रह्मकुलं द्विजकुलं गवां च कुलं सानुचरः सभक्तः भगवां श्च मह्यं प्रसीदताम्॥ ४३॥

एवं वदन्तं नृपतिं पृथुं पित्रादयः साधवः गुणज्ञास्तुष्टमनसः साधुवादेन साधु साध्विति वादेन तुष्टुवुः स्तुतवन्तः॥ ४४॥

**विज०** इतोऽपि ब्रह्मकुलसेवा कर्तव्येत्याह- **अश्नातीति**। भगवत्तत्त्वकोविदैः पुरुषै रीड्यस्य हरे र्नामभि र्यन्मुखे श्रद्धयाहुत मनन्तो यथाऽश्नाति तथा चेतनया बहिष्कृते जडे हुताशने हुतं नाश्नातीत्यन्वयः। अनन्त इत्यनेन न केवलमात्रं फलं, किन्तु अनन्त मेवेति ध्वनयति। अनुनयार्थः खलु शब्दः। वा इत्यनेन नाऽहं तथाऽद्मीति प्रसिद्धिं स्मारयति। ब्राह्मणेष्वपि यतिमुखासनेन हरे र्विशेषत स्तृप्ति रित्यभिप्रेत्याह - **पारमहंस्येति**। पारमहंस्यैः परमहंसाश्रमस्थै र्वर्या वरणीया गावो यस्य स पारमहंस्यवर्यगुः। त एव तद्वचनाभिप्रायं विदित्वा श्रद्धयाऽनुष्ठातार इत्यर्थः। यद्वा परमहंसविषया वर्या मनोहरा गावो यस्य स तथा। यती नधिकं स्तौतीति तेषामेव तत्त्वज्ञानाधिक्यादित्यर्थः। चित्रगुशब्दवदयं शब्दः॥ ४०॥

नन्वग्नित आधिक्ये चेतनावत्त्वं प्रयोजकं चे दवैदिकाना माराधनपात्रत्वं स्या दित्याशङ्क्य ब्रह्मकुलस्य वैशिष्ट्यमाह- **यद्ब्रह्मेति**। अत्र "यावद्ब्रह्माधिष्ठितं तावती वाक्" इति श्रुतिः। वेदस्य पर ब्रह्मणश्च लक्षणसाम्यात् द्वय मप्येकोक्त्या वक्ति। यद्ब्राह्मणकुलं नित्यत्वादि गुणविशिष्टब्रह्म वेदं हरे स्तत्त्वं च बिभ्रत् बिभर्ति। तद्धारणे सामर्थ्यं वक्ति - श्रद्धेति। "आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" (वसिष्ठस्मृतिः 6-3) इति वचनम्। मङ्गलं पुण्यं संयमो दमः, समाधि रेकाग्रता। किमर्थमित्यत उक्तमर्थसिद्धय इति। पुरुषार्थोपयोगीतरज्ञानप्रयासोऽपि न कार्य इत्याह- **यत्रेति**। यत्र ब्रह्मणि श्रीनारायणे इदं जगत् आदर्शेदर्पण इवावभाति। वेदे चेदं पुरुषार्थचतुष्टयं ज्ञायते। यद्वा यत्र ब्रह्मकुले इद मुक्तं ब्रह्मद्वयं दर्पण इवावभाति॥ ४१॥

एवं ब्रह्मकुल मभिष्टूयात्मक्रियोपदेशस्तत्सेवा यावदायुः कर्तव्येति विधत्ते- **तेषामिति**। हे आर्याः! तत्त्वज्ञानोत्पत्तौ प्रथमसाधनं पापप्रणाशः। सोऽप्यनेन स्यादित्याशयेनाह- यं नित्यदेति। उत्तरफल माह - अमुमिति अमुं पुरुषम्॥ ४२॥

एतदेव विशिनष्टि- **गुणालयमिति**। सम्पदो गुणालयत्वादिविशिष्टं पुरुष मनुसंवृणुते इत्यन्वयः। संवृणुत इति पाठे सं वृण्वत इति व्याख्येयम्। यं नित्यसम्बन्धनिषेवयेत्यादौ प्रस्तुतो जनार्दनः पारमहंस्यवर्यगुरित्यनेन ध्वनिता गावश्च ब्रह्मकुलं च प्रसीदत्विति उपसंहरति प्रसीदता मिति। ब्रह्मकुलसेवावद्गोकुलसेवा ब्रह्मादि परिवृत श्रीजनार्दनसेवा च यथा शास्त्रविहितं मुमुक्षुणा कर्तव्येत्यतो वाह प्रसीदता मिति॥ ४३॥

इदानीं मैत्रेयः पृथूक्ता वविप्रतिपत्तिः सर्वस्याऽभूदिति वक्ति - इतीति। साधुवादेन निर्दोषवाक्येन ॥ ४४ ॥

पुत्रेण जयते लोकानिति[1] सत्यवती श्रुतिः।
ब्रह्मदण्डहतः पापो यद्वेनोऽत्यतरत्तमः ॥ ४५ ॥

हिरण्यकशिपु श्चाऽपि भगव न्निन्दया तमः।
विविक्षु रत्यगा त्सूनोः प्रह्लादस्यानुभावतः॥ ४६ ॥

वीरवर्य पितः[2]! पृथ्व्याः समाः सञ्जीव शाश्वतीः।
यस्येदृश्यच्युते भक्तिः सर्वलोकैक भर्तरि ॥ ४७ ॥

अहो वयं[3] ह्यद्य पवित्रकीर्ते[4] त्वयैव नाथेन मुकुन्दनाथाः।
य[5] उत्तमश्लोकतमस्य विष्णो र्ब्रह्मण्यदेवस्य कथां व्यनक्ति[6] ॥ ४८ ॥

नात्यद्भुत[7] मिदं नाथ तव[8] जीव्यानुशासनम्।
प्रजानुरागो महतां प्रकृतिः करुणात्मनाम् ॥ ४९ ॥

अद्य न स्तमसः पारस्त्वयोपासादितः प्रभो।
भ्राम्यतां नष्टदृष्टीनां कर्मभि र्दैवसंज्ञितैः ॥ ५० ॥

नमो विवृद्धसत्त्वाय[9] पुरुषाय महीयसे।
यो ब्रह्मक्षत्र माविश्य बिभर्तीदं स्वतेजसा ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

---

1. M, Ma लोक इति 2. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T पितः 3. V ह्यद्य; W स्माऽद्य 4. Ms कीर्तेः 5. M, Ma, Ms यदुत्तम 6. M, Ma, Ms °क्ति 7. M, Ma, Ms °न्तिक° 8. A, B, G, I, J, T, W तवाजी° 9. W सत्याय

**श्रीध.** साधुवाद माह - **पुत्रेणेति** षड्भिः। यद्यतो वेनोऽपि तमो नरक मत्यरदतितत्तार॥ ४५,४६,४७॥

**अहो** इति मुकुन्दनाथाः स्म त्वन्नाथत्वमेव मुकुन्दनाथत्वे पर्यवसित मित्यर्थः। तत्र हेतु र्य इति॥ ४८॥

**नेति**। [1-]आजीविनां[-1] सेवकानां [2-]आ[-2] सम्यगनु शासनम्, प्रजास्वनुरागःप्रकृतिः स्वभावः॥ ४९॥

**अद्येति**। उपासादितः [3]समीपं प्रापितः कर्मभि र्भ्राम्यताम्॥ ५०॥

ईश्वरदृष्टया विप्रादयोऽपि प्रणमन्ति **नम** इति। ब्रह्माविश्य ब्राह्मणजाति मधिष्ठाय क्षत्रं क्षत्रियं[4] बिभर्ति। क्षत्रं चाऽविश्य ब्रह्म बिभर्ति, तदुभयंचा विश्येदं विश्वं बिभर्ति॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्री श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां एकविंशोऽध्यायः

**वीर.** स्तुति मेवाह **पुत्रेणेति**। पुत्रेण लोकान् पुण्यलोकान् पिता जयति साधयतीति श्रुतिः जनश्रुतेः सत्यवती अबाधिता, पुत्रेणेति पुत्रशब्दावयवार्थ विषयभूतेनेत्यर्थः। पुं (पुत्) संज्ञका न्नरकात् त्रायते इति। हि पुत्रशब्दं निदर्शयन्ति। यत् यस्मा द्वेनोऽपि तमः नरकम् अतरत् ॥४५॥

तथा हिरण्यकशिपु रपि भगवन्निन्दया तमो विविक्षुः प्रवेशमाशङ्कितः "आशङ्कायां सन् वक्तव्यः,, (अष्टा.6-4-17 वार्तिकम्) इति सन्नन्तात् "सनाशंसभिक्षउः,, (अष्टा.3-2-168) इत्युः, सूनोः प्रह्लादस्यानुभावतः प्रभावात् तमः नरकं अत्यगात् अतिक्रम्य भगवन्त मगादित्यर्थः॥ ४६॥

तस्माद्धे वीरश्रेष्ठ! पृथ्व्याः पति स्त्वं शाश्वतीः समाः संवत्सरान् सञ्जीव। "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे,, (अष्टा.2-3-5) इति द्वितीया। यस्य तव सर्वलोकाना मेकस्मि" न्नद्वितीये भर्तर्यच्युते इदृशी भक्ति रस्ति॥ ४७॥

हे पवित्रकीर्ते! वयं त्वयैव नाथेन मुकुन्दनाथाः त्वन्नाथत्व मेवामस्माकं मुकुन्दनाथत्वे पर्यवसित मित्यर्थः। कुतः? यो भवान् ब्रह्मण्य देवस्य उत्तमश्लोकस्य विष्णोः कथां व्यनक्ति प्रकाशयति॥ ४८॥

हे नाथ! तव आजीव्यानुशासनं राजान मजीवन्ति उपजीवन्तिमाजीव्याः तेषा मस्माकम् अनुशासनमिति यदिदं नाऽत्यद्भुतं, कुतः? महात्मनां करुणात्मनां कृपास्वभावानां प्रजास्वनुरागः प्रकृति : स्वभावः॥ ४९॥

---

1--1. V जीव्यानां 2--2. V omits 3. A, B, J, Va omits समीपं 4. V °यान्

हे प्रभो ! दैवसंज्ञितैः दैवापरपर्यायैः कर्मभिः भ्रमतां संसरतां अत एव नष्टदृष्टीनां नोऽस्माकं अधुना त्वया तमसः नरकस्य पार स्तीर मुपासादितः प्रापितः ॥ ५० ॥

ईश्वरदृष्ट्या प्रणमन्ति नम इति। ब्राह्मणजाति मधिष्ठाय[1] यः क्षत्रं बिभर्ति, क्षत्र माविश्य ब्रह्मकुलं बिभर्ति, तदुभय माविश्य इदं विश्वं बिभर्ति, तस्मै भरणोपयुक्तगुणमाह विवृद्धसत्त्वाय रजस्तमोभ्या मनभिभूतसत्त्वप्रचुराय, अत एव महीयसे पुरूषाय[2] परमपुरुषविभूतिभूताय तुभ्यं नमः ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्री वीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

विज. सूचितं स्पष्टयति स- पुत्रेणेति। "सोऽयं मनुष्य लोकः पुत्रेणैवजय्यः ,,(बृह.उ.1-5-16) इत्यादिक श्रौतमपि दृष्टचरित मित्याहु रित्याह - ब्रह्मदण्डेति। "शश्वत्पुत्रेण पितरोऽत्यायन्बहुलं तमः, इति श्रुति स्त्र प्रमाणम्। पापस्य वेनस्य तम स्तरणं सत्यं चे त्सर्वेऽपि मुक्तिप्राप्तियोग्या इत्यायातं, ननु नारकी कोऽपीद्धि चेन्न - वेन शब्दस्य तामसराजस सात्विकभेदेन अभिधेयत्रित्वस्य प्रामाणिकत्वात्। "वेनस्थो राजसे जीवः पृथुना स्वर्गतिं गतः। स्वयन्तु तम एवाऽऽप सात्विकः पृथुता मगात् ,, (ब्रह्माण्डपुराणे) इति स्मृतेः। तथा च वाक्य योजना ब्रह्मदण्डहतो विप्रशापहतः पापो दैत्यो नाम्ना वेन स्तमोऽतरदिति यत्तदिति प्रशंसामात्रं न तु सत्यं, सत्यं तु सर्वस्मा"दत्यधिकं दुःखोदर्कं तमोऽत्यतर द गच्छत्। तृ - प्लवनतरणयो रिति धातोः प्लु-गताविति च। "अति स्या दधिकार्थोक्तौ प्रशंसाया मतिक्रमे" (वैज.को.8-7-15) इत्याभिधानात्। यत्तामसो वेनः सर्वदुःखकरो दैत्यःसोऽत्यतग त्सुखभोग लोक मतिक्रम्यागच्छ दन्धन्तमः इति शेषः। ब्राह्मणानां विप्राणां दण्डो राजयोग्यशिक्षा तया हतो गतः। "दण्डोऽस्त्री शासने राज्ञाम्" (वैज.को.6-5-38) इति यादवः। हनहिंसागत्यो रिति धातुः। रजोगुणपानं पातीति वा पापो राजसो वेन स्तमोऽत्यतरत्। तमोऽतिक्रम्य स्वर्गतिं गतः। पृथु गुणेने ति शेषः। यदतरत् तर्तुमशक्यं तमोगुण इति शेषः। तदतिक्रम्य वर्तमानं सत्त्वं वेत्तीति ज्ञानांशो वेनोऽप्य"धिकार्थं भक्त्यादि गुणविस्ताराभिधेयं पृथुत्व मतर दाप्नोदिति। पापान्[3-]पाति रक्षतीति[-3] वा पिबति संहरतीति वा पापः। ब्रह्म वेद स्तदुक्तो दण्डो हिंसा यस्य पशोः स ब्रह्म दण्डः तं पशुं हन्तीति नान्य मविहितमिति ब्रह्मदण्डहतः। "दण्डोऽस्त्री शासने राज्ञां हिंसायां लगुडे दमे" (वैज.को.6-5-38) इति च ॥ ४५ ॥

---

1. A, B, T omit यः 2. A, B, T omit पुरुषाय 3--3. M, Ma पापान (न्न) पाति न र°

हिरण्यकशिपु रपि सनकादिशप्तो जयः श्रीहरिपार्षद स्तस्य तमोऽतिगमनं युक्त मन्यस्य तदाविष्टस्यासुरस्य तमोऽतिगमन मौपचारिक मर्थवादवत् ॥ ४६ ॥

एवं तृप्ताः सर्वे स्वमनोगतं विज्ञापयन्ति - **वीरवर्येति**। हे पृथ्व्याः पितः! पातृत्वा पितृत्वम्। ननु त्वयैव नाथेन त्यत्तरश्लोके पृथावपि भक्तेः कर्तव्यत्वं प्रतीयते, अतः[1] कथं भगवत्येव भक्तिः कर्तव्येति चेदुच्यते तत्र पुथुस्थपरमेश्वर मपेक्ष्यैव-कारेणान्ययोगव्यवच्छेदः क्रियते। "**यो ब्रह्मक्षत्र माविश्य**,,(भाग.4-21-52) इत्युत्तरत्र पृथुस्थत्व प्रतीतेः ॥ ४७ ॥

मुकुन्दो नाथो येषां ते तथा। अनेनाऽप्युक्तशङ्का पर्यहारि **व्यनङ्क्षि**[2]। अस्माभिरपृष्टा मपि कथां व्यक्तां करोषि ॥४८॥

तव भृत्याना मस्माक मनुशासनं नैकान्त नियत मित्याहु रित्याह - **नाऽत्यन्तिक**मिति ॥४९॥

उपासादितः प्रापितः। भ्राम्यता मेकत्राव स्थान मलभमानानाम् ॥५०॥

अहो वय मित्यत्रान्तर्याम्यपेक्षये त्युक्तं, तत्त्व ज्ञान मेषां सिद्धमिति भावेन तत्सिद्धान्तं प्रकटयति - **नम** इति। यो विष्णुः क्षत्रं राजकुलोत्पन्नं पृथु माविश्येदं ब्रह्म ब्राह्मणकुलं बिभर्तीत्यन्वयः ॥५१॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थकृतायां पदरत्नावल्यां
टीकायां एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

1. A, B अथ  2. A, B व्यनक्षि

# द्वाविंशोऽध्यायः

## मैत्रेय उवाच

जनेषु प्रगृणत्स्वेवं पृथुं पृथुलविक्रमम्।

तत्रोपजग्मुर्मुनयश्चत्वारः सूर्यवर्चसः ॥ १ ॥

तांस्तु[1] सिद्धेश्वरान् राजा व्योम्नोऽवतरतोऽर्चिषा।

लोकानपापान्[2] कुर्वत्या सानुगोऽचष्ट लक्षितान् ॥ २ ॥

तद्दर्शनोद्गतान्[3] प्राणान् प्रत्यादित्सुरिवोत्थितः।

ससदस्यानुगो वैन्यः इन्द्रियेशो गुणानिव ॥ ३ ॥

गौरवाद्यन्त्रितः[4] सभ्यः[5] प्रश्रयानतकन्धरः।

विधिवत्पूजयाञ्चक्रे गृहीताध्यर्हणासनान्[6] ॥ ४ ॥

तत्पादशौचसलिलैर्मार्जितालकबन्धनः।

तत्र शीलवतां वृत्तमाचरन्मानयन्निव[7] ॥ ५ ॥

## श्री श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्वाविंशे तु परं ज्ञानं पृथवे हरिशासनात्। सनत्कुमारो भगवानुपादिशदितीर्यते ॥

[8-]जनेष्विति। मुनयः सनकादयः[-8] ॥ १ ॥

तानिति। अर्चिषा लक्षितान् सनकादय[9] एत इति ज्ञापितान्। अचष्टापश्यत् ॥२॥

तदिति। तेषां दर्शनेन उद्गतान्[10] प्राणान् प्राप्तुमिच्छुरिव। अयं भावः - "ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति[11]। त्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते" (मनु.स्मृ.2-120) इति स्मृतेः। प्राणास्तावत्तेजसाक्षिप्तास्तान्प्रत्युद्गच्छन्ति अतः

1. W तान्स 2. M, Ma, V, W कुर्वन्त्या; I, Ms कुर्वाणान् 3. M, Ma °तप्रा° 4. M, Ma °द्यन्वितः 5. W सद्यः 6. M, Ma, Ms °र्घ्या° 7. M, Ma वृत्ति° 8--8. V omits 9. A, B, J, Va omit एत 10. A, Va omit प्राणान् 11. V आगतो

[1-]स्वयमनुद्गच्छतः[1] प्राणहानिः स्यादिति भयादिव ससम्भ्रमं प्रत्युद्गमं चकारेति सह सदस्यैरनुगैश्च वर्तमान इन्द्रियेशो जीवो गुणान् गन्धादीन् प्रति यथोद्गच्छतीत्यौ त्सुक्ये दृष्टान्तः ॥ ३ ॥

**गौरवादिति**। यन्त्रितो वशीकृतः गृहीत मध्यर्हमणमर्घ्यमासनं च यैस्तान् ॥४॥

**तत्पादेति**। मार्जितं क्षालितम् अलकबन्धनं [2-]केशबन्धनं[-2] यस्य मानयन्निव स्वयमाचचार[3] ॥५॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

यदुक्तं भगवता "हस्वेन कालेन गृहोपयातान् द्रष्टासि सिद्धान्" (भग.4-20-15) इति। कुमारागमनं तैश्च तत्त्वोपदेश इति तद्विस्तरेण वर्णयितुं कुमारागमनमाह मुनिः - **जनेष्विति**। विपुलपराक्रमं पृथुं प्रति एवं जनेषु प्रगृणत्सु वदत्सु सत्सु सूर्यस्येव वर्चो येषां ते चत्वारो मुनयः तत्रोपजग्मुरित्यर्थः ॥ १ ॥

लोकानपापान् [4]कुर्वत्या अर्चिषा लक्षितान् सनकादय इति [5]ज्ञापितान् व्योम्नः आकाशादवरोहतः तान् सिद्धेश्वरान् सानुगः सभृत्यो राजा अचष्ट अद्राक्षीत् ॥ २ ॥

तेषां दर्शनेनोद्गतान् प्राणान् पुनः प्रायुमिच्छुरिव। "ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रमन्ति यूनः स्थविर आयति। प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते" (मनु.स्मृ 2-120) इत्ययमर्थः सूचितः। प्राणास्तावत्तत्तेजसा क्षिप्ताः प्रत्युद्गच्छन्ति स्वयमननुगच्छतः प्राणहानिः स्यदिति भयादिव स[6]सम्भ्रमः सदस्यै रनुगैश्च यथा इन्द्रियेशः क्षेत्रज्ञः गुणान् शब्दादीन् उद्गच्छातीत्यौत्सुक्ये दृष्टान्तः। उत्थितः ॥ ३ ॥

गौरवात् यन्त्रितः वशीकृतः सद्यः प्रश्रयेण विनयेन (आ) नता कन्धरा यस्य स गृहीतमर्घ्यर्हणम् अर्घ्यमासनं च यैः तान् यथाविधि पूजयाञ्चक्रे ॥ ४ ॥

तत्पादानां शौचैः सलिलैः मार्जितं क्षालितम् अलकबन्धनं केशबन्धनं यस्य, शीलवतां वृत्तं मानयन्निव स्वयमाचरन् ॥ ५ ॥

## श्री विजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

पृथुसनत्कुमार संवादापदेशेन सर्वस्मात् भिन्नमनुग्रहमन्तरेण दुर्ज्ञेयं भगवत्तत्वं निरूप्यते अस्मिन्नध्याये। तत्रादौ सनत्कुमारादिमुनीनामागतिं वक्ति - **जनेष्विति** ॥ १ ॥

---

1--1. B omits 2--2. A, B, J, Va omit 3. B, J, V, Va चचार 4. A, B, T कुर्वन्त्या 5. A, B, T लक्षितान् 6. A, B, T ससम्भ्रमं

अर्चिषा लक्षितान् लक्षणतो ज्ञातान् अचष्ट अद्राक्षीत्॥ २॥

तेषां दर्शनेनोद्गतान् प्राणान् प्रदातुमिच्छुरिव। अयं भावः- "ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आगते (आयति)। प्रत्युत्थाना भिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते" (मनु 2-120) [1]इति स्मृतेः, प्राणास्तावत् तेजसा क्षिप्तास्तान् प्रत्यागच्छन्ति, अतः स्वयमनभिगच्छतः प्राणहानिः स्यादिति भयादिव ससम्भ्रमः प्रत्युद्गमनं चकारेति। इन्द्रियेशो जीवोगुणानिन्द्रियाणीव॥ ३-५॥

**हाटकासन आसीनान् स्वधिष्ण्येष्विव पावकान्।**
**श्रद्धा संयमसंयुक्तः[2] प्रीतः प्राह भवाग्रजान्॥ ६॥**

## पृथुरुवाच

**अहो आचरितं किं[3-] मे[-3] मङ्गलं मङ्गलायनाः।**
**यस्य वो दर्शनं ह्यासीत् दुर्दर्शानां च[4-] योगिभिः[-4] ॥ ७॥**

**किं तस्य दुर्लभतर मिह लोके परत्र च।**
**यस्य विप्राः प्रसीदन्ति शिवो विष्णुश्च सानुगः॥ ८॥**

**नैव लक्षयते लोको लोकान् पर्यटतोऽपि यान्।**
**यथा सर्वदृशं सर्व आत्मानं येऽस्य[5] हेतवः॥ ९॥**

**अधना अपि ते धन्याः साधवो गृहमेधिनः।**
**यद्गृहा[6] ह्यर्हवर्याम्बु तृणभूमीश्वरा[7] वराः[8] ॥ १०॥**

**श्रीध. हाटकासन** इति। भवस्यापि अग्रजत्वेन मान्यान्। [9]संयमः प्रश्रयः[-9] ॥ ६॥

प्रीतः प्राहेत्युक्तं तदेव प्रीतपूर्वकं वचनमाह **अहो** इति दशभिः। हे मङ्गलायनाः! मङ्गलमयनं येषां ते। मया किं मङ्गलं [10]पुण्यमाचरितं, यस्य मे योगिभिरपि दुर्दर्शानां[11-] वो[-11] दर्शनमासीत्॥ ७, ८॥

---

1. M. Ma श्रुतेः 2. M. Ma. Ms सम्पन्नः 3--3. M. Ma, Ms कृष्णे 4--4. M, Ma कुयोगिनः ; Ms कुयोगिभिः 5. W त्वस्य
6. M. Ma. Ms अर्ह 7. M, Ma, Ms भूमिसुवाग्धराः 8. W °पराः 9--9. B, J, V, Va omit 10. B, J, V, Va omit पुण्यं 11--11. V omits

दुर्दर्शत्वमेवाह - **नैवेति**। सर्वदृशमात्मानं यथा सर्वे दृश्या न लक्षयन्ते येऽस्य[1] विश्वस्य हेतवो महदादयो मन्वादयो वा। यद्वा, कथम्भूतान् ? येऽस्य सर्वदृगात्मदर्शनस्य हेतवस्तान्॥ ९ ॥

**अधना** इति। येषां साधूनां गृहा अर्हाणां पूज्यानां वर्या वरणीया : स्वीकारार्हा अम्ब्वादयो येषु तादृशाः। अम्बु च तृणं च भूमिश्च ईश्वरो गृहस्वामी चावरा भृत्यादयश्च ॥ १० ॥

**वीर.** हाटकासने स्वधिष्ण्ये वेदिकायां पावकानिव आसीनानुपविष्टान् श्रद्धासंयामभ्यां तद्वाक्यश्रवणत्वरातदुपयुक्तकरण नियमनाभ्यां संयुक्तः भवाग्रजान् रुद्रात्पूर्वजान् सनकादीन् प्राह ॥ ६ ॥

[2]उक्तिमेवाह - **अहो** इति दशभिः। हे मङ्गलायनाः ! मे मया किं मङ्गलं पुण्यम् अहो आचरितं कृतं, यतः यस्य मे योगिभिरपि दुर्दर्शानां दुःखेनापि द्रष्टुमशक्यानां वो युष्माकं दर्शनमासीत्। सुकृतमन्तरेण मादृशानां भवद्दर्शनं न सम्भाव्यम्[3] इत्यर्थः ॥ ७ ॥

किमस्मद्दर्शनसाध्यं तत्राह। यस्य पुंसः विप्रा भवादृशाः शिवो रुद्रो मङ्गलरूपो वा विष्णुश्च प्रसीदन्ति, तस्य इह परत्र वा लोके किं दुर्लभतरमस्ति सर्वं सुलभमेवेत्यर्थः ॥८॥

दुर्दर्शत्वमेवाह - **नैवेति**। लोकान् पर्यटतोऽपि यान् युष्मान् लोको नैव लक्षयते न पश्यति यथा सर्वदृशं सर्वज्ञमात्मानं परमात्मानम्[4-4] अस्य विश्वस्य हेतुभूताः ब्रह्मादयः सर्वेऽपि न लक्षयन्ते तथेत्यर्थः। यस्य हेतव इति पाठे तु हेतुभूताः[5] ब्रह्मादयः सर्वे यस्य यत्सम्बन्धिनः यस्य शेषभूताः तं सर्वज्ञमात्मानं यथा न लक्षयन्ते तथेत्यर्थः ॥९॥

तद्दर्शनेन स्वस्य धन्यतामाविष्करोति **अधना** इति। गृहमेधिनः अधन्या अपि यदि साधवः तर्हि ते धन्या एव, हि यतः येषां गृहमेधिनां साधूनां गृहाः अर्हाः पूज्या भवादृशाः तैः वर्या वरणीयाः स्वीकार्याः, अम्बु जलं, तृणं, भूमिः, ईश्वरो गृहस्वामी अपरे गृहवासिनो भृत्यादयश्च येषु तथाभूता भवन्ति ॥ १० ॥

**विज.** हाटकासने सुवर्णपीठे स्वधिष्ण्येषु स्वस्थानेषु स्थितान् , संयमः प्रश्रयः, भवाग्रजान् शिवज्येष्ठान् तृतीयस्कन्धे हरात् पूर्वजातत्वोक्तेः। संसाराग्रजातत्वं तद्विरुद्धत्वा दुपेक्षणीयम् ॥ ६ ॥

संसारिणां सतां सन्दर्शनस्य दुर्लभत्वात् अतः पूर्वाचरितं मङ्गलं ममास्तीति ध्वनयन् विस्मयीकरोति **अहो** इति। कृष्णे कृष्णविषये ॥ ७ ॥

---

1. V omits ये 2. A, B, T उक्त° 3. A, B, T °ते 4--4. A, B, T omit 5. A, B, T हेतवः

नैतच्चित्रमित्याह - **किन्तस्यैति**। अनुगेन प्राणेन सह वर्तत इति सानुगः "कस्मिन्वहम्" इति श्रुतिः ॥ ८ ॥

दुर्दर्शत्वमधिकदृष्टान्तत्वे नोपपादयति - **नैवेति**। लक्षयते लक्षणवत्तयापि भवद्विषयं ज्ञानं नाप्नोति। असम्भवपरिहाराय पर्यटत इति, सर्वो जनः सर्वदृशं साक्षित्वेन पश्यन्तमात्मानं परमात्मानं यथा न जानाति। ब्रह्मादीनां तद्विषयज्ञानसम्भवात् कथं सर्व इति सर्वं कवलीक्रियते इत्यत उक्तं य इति। ये च ब्रह्मादयोऽस्य जगतो हेतवः कारणभूताः तेऽपि न विदन्तीति। अत्रेदं तात्पर्यं - यथात्मानं स्वं हरिर्वेत्ति तथा न जानन्तीति। तदुक्तं - "सर्वज्ञाश्च विरिञ्चाद्या न जानीयुर्हरिं परम्। हेतवो जगतोऽप्यस्य यथासौ वेद केशवः" (तन्त्रसारे) इति। अनेन "वेदाहमेतम्" (पु.सू. 2-1) इत्यादेर्गतिरप्युक्ता भवति, दुष्टजनव्यामोहाय वा तद्विषयज्ञानस्य दुस्साध्यत्वज्ञापनाय वा अधिकदृष्टान्त प्रयोजनम्। किञ्च जगत्कारणतामाददानोऽयं हेतुशब्दो विरिञ्चादीनां सार्वज्ञ्यमप्याक्षिपन् न सर्वात्मना ज्ञानाभावो युक्त इति श्रीनारायणवत्तद्विषय ज्ञानाभाव एव उच्यत इति व्यनक्तीति ॥ ९ ॥

भवतां पुरुषेष्वनुग्राहकत्वे भगवद्भक्ति साम ग्रीमत्त्वमेव प्रयोजकं, न तु धनिकत्वादिकमित्याशयेनाह - **अधना अपीति**। अर्हवर्याः पूज्यश्रेष्ठाः तेभ्यो दत्तमम्बु च तृणं च भूमिश्च सुवाचश्चार्हवर्याम्बुतृणभूमि सुवाचस्ता धारयन्ति बिभ्रतीति तथोक्ताः ॥ १० ॥

**व्यालालयद्रुमा[1] एतेऽप्यरिक्ताखिल सम्पदः[2]।**
**यद्गृहास्तीर्थपादीय पादतीर्थविवर्जिताः ॥ ११ ॥**

**स्वागतं वो द्विजश्रेष्ठा यद्व्रतानि मुमुक्षवः।**
**चरन्ति श्रद्धया धीरा बाला एव बृहन्ति वै[3] ॥ १२ ॥**

**कच्चिन्नः कुशलं नाथा इन्द्रियार्थार्थवेदिनाम्।**
**व्यसनावाप एतस्मिन् पतितानां स्वकर्मभिः ॥ १३ ॥**

**भवत्सु कुशलप्रश्न आत्मारामेषु नेष्यते।**
**कुशलाकुशला यत्र न सन्ति मति वृत्तयः ॥ १४ ॥**

**तदहं कृतविस्रम्भः[4] सुहृदोऽत्र[5] तपस्विनाम्।**
**संपृच्छे भव एतस्मिन् क्षेमः केनाञ्जसा भवेत् ॥ १५ ॥**

---

1. Ms °लयाः 2. A, B, G, I, J, T वै ते; M, Ma, Ms होते 3. A, B, G, I, J, T च 4. A, B, G, I, J, M, Ma, T °श्र° 5. A, B, G, I, J, T °दो वस्त°

**श्रीध. व्यालेति**। व्यालानां [1-]दुष्टसर्पाणामालया[-1] द्रुमा एव ते अरिक्ताः पूर्णा अखिलाः सम्पदो येषु तादृशा अपि [2]यद्दूहा ये गृहास्तीर्थपादीया वैष्णवास्तेषां पादतीर्थेन विवर्जिताः ॥ ११ ॥

**स्वागतमिति**। स्वागतं भद्रमागमनं जातम्। यद्यस्माद्बाला एव भवन्तो बृहन्ति व्रतानि चरन्ति। यद्वा येषां वो व्रतान्यन्ये बालाश्चरन्ति॥ १२ ॥

**कश्चिदिति**। [3-]इन्द्रियार्था विषया तानेवार्थं[-3] पुरुषार्थं ये वदन्ति तेषां नः [4-]कुशलं कच्चित्[-4] व्यसनानि [5]उप्यन्ते यस्मिन् तस्मिन् संसारे॥ १३ ॥

नन्वभ्यागतानां कुशलं [6]पृच्छ्यते लोके न त्वात्मनस्तत्राह - **भवत्स्विति**॥ १४ ॥

**तदिति**। तत्तस्मात् कृतविश्वासस्सन् तपस्विनां [7]सन्तप्तानां सुहृदो [8]वो युष्मान् पृच्छामि॥ १५ ॥

**वीर.** एवमन्वयमुखेन धन्यतामाविष्कृत्य व्यतिरेकमुखेनाप्याविष्करोति - **व्यालेति**। अरिक्ताखिल सम्पदः अरिक्तः पूर्णा अखिलाः सम्पदः येषु तादृशा अपि यद्दूहा गृहमेधिनां गृहाः यदि तीर्थपात् भगवान् तत्सम्बन्धिनः तीर्थपादीया भागवतास्तेषां पादतीर्थेन विवर्जिताः तर्हि एते गृहाः व्यालालयद्रुमाः सर्पावास चन्दनद्रुमप्रख्याः ॥ ११ ॥

एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां तदागमनेन स्वस्य धन्यतामभिधाय तेषां स्वागतप्रश्न पूर्वकं स्वाभाविकीं, धन्यतामाह - **स्वागतमिति**। हे द्विजश्रेष्ठाः ! वः युष्माभिः[9] स्वागतं कुशलमागतं, किं भवतामकुशलमस्तीत्यभिप्रायः। यत् यस्मात् बाला एव भवन्तः मुमुक्षवः, अत एव धीरा जितेन्द्रियाः सन्तः बृहन्ति व्रतानि चरन्ति। यद्वा येषां वो व्रतानि युष्माभिः दर्शितान्येवान्ये मुमुक्षवः बृहन्ति दीर्घकाल निर्वर्त्यानि निवृत्तिधर्मरूपव्रतानि चरन्ति॥ १२ ॥

काक्वा अभिप्रेतकुशलाभावमेव व्यङ्क्तं स्वस्य तावत् कुशलाभावं व्यनक्ति - **कच्चिदिति**। किमस्माकं कुशल मस्तीत्यर्थः, कथम्भूतानाम्? हे नाथाः ! इन्द्रियार्थान् शब्दादीनेवार्थान् पुरुषार्थरूपान् विदन्तीति तथा तेषाम्। अत एव यस्मिन्नुप्यन्ते बीजानि स आवापः क्षेत्रं व्यसनानामावापः संसारः तस्मिन् स्वकर्मभिः पतितानाम्॥ १३ ॥

नन्वभ्यागतानां नः कुशलं किं न पृच्छसि तत्राह - **भवत्स्विति**। भवत्सु कुशलप्रश्नः नेष्यते, तत्र हेतुः आत्मारामेषु

---

1--1. B, J, V, Va omit 2. V omits यद्दूहाः 3--3. V इन्दियार्थमेवार्थं 4--4. B, J, V, Va omit 5. A अवाप्यन्ते 6. B पृच्छन्ति 7. V सुतपसां 8. V omits वो 9. T °कं

ब्रह्मात्मकस्वात्मानुभवैकपरेषु। ननु[1] आत्मारामाणाम् अपि[2] कदाचिदकुशलसम्भावनया कुशलप्रश्न इष्यतां तत्राह। यत्र आत्मारामेषु कुशलाकुशल मति वृत्तयः एव न सन्ति कुशलाकुशल विषय चिन्तनरूपमति वृत्तयो हि सङ्गकामक्रोध सम्मोहादिजनन द्वारा सुखदुःखादिहेतवः। अतस्तासामेवाभावात् कुतो भवत्स्वकुशलसम्भावनेत्यर्थः। मतिवृत्तीनां च सङ्गादिद्वारा कुशलनिमित्तत्वं भगवता गीतम्- "ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते। क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृति विभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति" (भ.गी.2-62,63) इति॥ १४॥

तत्तस्मात् अहं कृतविश्वासस्सन् तपस्विनां तापत्रयातुराणामस्माकं सुहृदो युष्मान् एतस्मिन् संसारे वर्तमानस्य केन हेतुना क्षेमः सुखंमोक्ष इति यावत् अञ्जसा[3]सुखेन भवेदिति सम्पृच्छे॥ १५॥

**विज.** तीर्थपादो विष्णुस्तस्य भक्ताः तीर्थपादीयास्तेषां पादतीर्थैर्वर्जिताः सम्पर्करहिताः, हिशब्दोयथाशब्दार्थे, यथा व्यालालया दुष्टसर्पाश्रया वृक्षा वर्ज्यास्तथा तादृग्गृहाः सम्पद्युक्तत्वेऽपि वर्ज्या इत्यर्थः॥ ११॥

किं बहुजल्पेनेति भावेन तदागमनं लालयति - **स्वागतमिति**। वो युष्माकं स्वागमनं सुष्ठु अस्माकं सुखहेतुत्वादिति शेषः, कथमस्मदागमनं सुखहेतुरत्राह यद्वतानीति। मुमुक्षवो धीराः श्रद्धया यद्वतानि चरन्ति ते यूयं वयो दर्शनेन बाला अपि बृहन्ति ज्ञानेन वर्धन्ते। ज्ञानवृद्धत्वादागमनं भद्रमित्यर्थः॥ १२॥

राजा स्वस्वागतवचनानन्तरं पृथुं प्रति तुभ्यं च स्वस्ति किमिति मुनिवचनात्पूर्वं स्वकुशलमाक्षिपति - **कच्चिदिति**। व्यसनबीजान्युप्यन्तेऽस्मिन्निति व्यसनावापः तस्मिन्नेतस्मिन् संसारे स्वकृतकर्मभिः पतितानां नः कुशलं कश्चित् किम् ? न किमपीत्यन्वयः। आत्मनो वा अनेन कुशलं पृच्छति अस्माकं कुशलं भविष्यति कच्चिदिति॥ १३॥

ननु अभ्यागतास्मत्कुशलप्रशंसामन्तरेण आत्मकुशलप्रश्नः कथं सञ्जाघरीतीति तत्राह - **भवत्स्विति**। इदं कुशलमकुशल मिति मतिवृत्तयो यत्र येषु भवत्सु न सन्ति अतो भवत्सुखप्रश्नो नेष्यते, कुतः आत्मना सह आरामो रमणं क्रीडा येषां ते तथा तेषु अतो भवत्सु कुशलप्रश्नांशा भावादौत्सुक्यादात्मकुशलप्रश्न इति भावः॥ १४॥

अस्तु तर्हि तव कुशलं भविष्यतीत्यभिमतं चेत् यतो वयमकुशलाब्धिमग्नास्तस्मादेतादृशानां केन प्रकारेण कुशलं स्यादिति तं प्रकारं पृच्छामीत्याह - **तदहमिति**। तपस्विनां सुहृदोऽत्र पूज्यान् भवे संसारे क्षेमः संसारोच्छेदलक्षणं मङ्गलंम् अञ्जसा क्षिप्रं "स्ताग्झटित्यञ्जसाह्नाय" (अम.को.3.413) इत्यमरः॥ १५॥

---

1. W omits ननु 2. A, B, T omit अपि 3. A, B, T पृच्छामि

[1]व्यक्तमात्मवतामात्मा भगवानात्मभावनः ।

स्वानामनुग्रहायेमां सिद्धरूपी चरत्यजः ॥ १६ ॥

मैत्रेय उवाच

पृथोस्तत्सूक्तमाकर्ण्य सारं सुष्ठु मितं मधु ।

स्मयमान इव प्रीत्या कुमारः प्रत्युवाच ह ॥ १७ ॥

[2-]सनत्कुमार उवाच[-2]

साधु पृष्टं महाराज सर्वभूतहितात्मना ।

भवता विदुषा चापि साधूनां [3]गतिरीदृशी ॥ १८ ॥

सङ्गमः खलु साधूनामुभयेषां [4]च सम्मतः ।

[5]यत्सम्भाषणसम्प्रश्नः सर्वेषां वितनोति शम् ॥ १९ ॥

अस्त्येव राजन् भवतो मधुद्विषः पादार[6]विन्दस्य [7]गुणानुवादने।

रतिस्सदा [8-]या[-8] विधुनोति नैष्ठिकी कामं कषायं मलमन्तरात्मनः ॥ २० ॥

श्रीध. न खल्वन्ययोगितुल्या यूयं किन्तु साक्षाद्भगवानेवेत्याह - व्यक्तमिति । व्यक्तं निश्चितमात्मवतां [9-]धीराणामात्मा[-9] तेषु आत्मत्वेन प्रकाशमानः आत्मानं भावयति प्रकाशयतीति तथा । [10-]अजः[-10] श्रीनारायण इमां पृथ्वीं चरति ॥ १६ ॥

पृथोरिति । सूक्तं शोभनं वचनम् । सारं न्याय्यम् । सुष्ठु गम्भीरार्थम् । मितमल्पाक्षरम् । मधु श्रोत्रप्रियम् । मुखप्रसत्त्या स्मयमान इव प्रतीयमानः ॥ १७ ॥

[11-]साध्विति[-11] । विदुषा जानतापि, ईदृशी परार्थैकपरा ॥ १८ ॥

स्यमपि पृथोः सङ्गममभिनन्दति - सङ्गम इति । उभयेषां वक्तॄणां श्रोतॄणां च येषां सम्भाषण सहितः सम्पन्नः सर्वेषां शं सुखं विस्वरयति ॥ १९ ॥

---

1. M, Ma, Ms व्यक्तं ह्यात्म° 2--2. W omits 3. A, B, G, I, J, T मति° 4. M, Ma सु 5. M, Ma सत्य° 6. M, Ma °विन्देऽस्य 7. M, Ma, Ms वादिनी 8. A, B, G, I, J, T °र्दुराषा 9--9. V omits 10--10. V omits 11--11. V omits

तदेवं सङ्गमं प्रश्नं चाभिनन्द्यानुवाद मुखेनैव मोक्षसाधनमुपदिशति - अस्त्येवेति। गुणाना मनुवादने प्रश्नद्वारेणानुवाद[1]प्रवर्तने[1] गुण[2]श्रवण इत्यर्थः। आत्मनो मनसोन्तः अन्तस्थं कामात्मकं मलं विधुनोति कषायं धातुराग वदनिवर्त्यम्॥ २०॥

**वीर.** स्वभक्तानुग्रहीतुं भगवानेव भवादृश रूपश्चरतीत्याह - **व्यक्तमिति**। आत्मवतां "प्रशंसायां मतुप्" (अष्टा. 5-2-94 कारिका वार्तिकम्) प्रशस्तचित्तानां ज्ञानिनामात्मा निरतिशयप्रीतिविषयः प्रीतिमांश्च तथा हि गीतम् "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थ महं स च मम प्रियः" (भ.गी.7-17) इति। आत्मशब्देनात्मत्वप्रयुक्तं तदुभयं विवक्षितम्। आत्मा हि निरतिशयप्रीतिविषयः स्वशरीरे प्रीतिमांश्च, आत्मभावनः आत्मनः जीवान् भावयति स्वविषयज्ञान प्रदानादिना सत्तावतः करोतित्यात्मभावनः। स्वपरयाथात्म्य ज्ञानविधुरा हि जीवाःस्थावरपर्यन्तजन्मभिरसत्प्रायास्तानात्मवतः करोतीत्यर्थः। सिद्धाः ज्ञानिनः तद्रूपः तथा च गीतं भगवता - "ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्" (भ.गी.7-18) इति, अजो भगवान् स्वानां भक्तानामनुग्रहाय स्वाननुग्रहीतुमिमां पृथिवीं चरति, [3]व्यक्तं[3] निश्चितम्॥ १६॥

एवं पृथोः सूक्तं शोभनं [4]वचनं सारं न्याय्यं सुष्ठु गम्भीरार्थं मितमल्पं मधु श्रोत्रप्रियं श्रुत्वा प्रीत्या स्मयमान इव कुमारः [5]सनत्कुमारः[5] प्रत्युवाच॥ १७॥

तत्र सत्सङ्गेत्यादिप्रणाड्योत्तरोत्तर महरहरभ्या साधेयातिशय साधनसप्रकानुगृहीता प्रयाणानुवृत्त प्रीति रूपापन्नाविच्छिन्न प्रत्यक्षतापन्नपर भक्त्य परपर्याय भगवद्भक्तियोग एव क्षेमहेतुरिति विवक्षुस्तावत्प्रश्नमभिनन्दति - **साध्विति**। हे महाराज! भवता साधु सम्यक् पृष्टं, कथम्भूतेन? विदुषापि तत्त्वहित पुरुषार्थ ज्ञानवतापि सर्वभूतहितात्मना सर्वभूत हितकरण प्रवृत्तबुद्धिमताभूतहितार्थमेव त्वया पृच्छ्यते न तु स्वयं वेत्तुम्। स्वत एव ज्ञातत्वा दित्यर्थः। भूतहिताचरणमेव साधूनां स्वभाव इत्याह। साधूनां [6]साध्नुवन्ति परकार्यमिति साधवः तेषां गतिः प्रवृत्तिः॥ १८॥

ईदृ[7]शी भूतहिताचरणरूपा सत्सङ्गतिस्तावन्मूलकारणमित्याह - सङ्गम इति। उभयेषां बुभुक्षूणां मुमुक्षूणां च स्वसमीहित भोगमोक्षादेः प्रथमं [8]साधनं साधूनां सङ्गम एवेति सम्मतः। सत्सङ्गमस्य भोगमोक्षसाधन त्वमुपपादयति। येषां साधूनां सम्भाषणसहितः सम्प्रश्नः सम्भाषणसम्प्रश्नः "शाकपार्थिवादित्वात्,(अष्टा 2-1-60 वार्तिकम्) [9]उत्तरपद[10]लोपी समासः। यद्वा [11]सम्भाषणे[11] सम्भाषणावसरे सम्प्रश्नः सम्यक् [12]प्रणिपात सेवापूर्वकः[12] स्वर्गापवर्ग साधन प्रश्नः सर्वेषामुभयेषां [13]श स्वर्गा-पवर्गसुखं वितनोति। सति सम्प्रश्ने साधुभिर्भोगमोक्षसाधने उपदिश्यते इति साधून् प्रति सम्प्रश्नः शमपेक्षितं वितनोतीत्यर्थः॥ १९॥

---

1--1. V वादः प्रवर्तते 2. B, J, V, Va omit गुण 3--3. W omits 4. W वचः 5--5. A, B, T omit 6. A, B, T साधयन्ति 7. A, B, T °शभूत 8. A, B, T omit साधनं 9. T मध्यम 10. A, B, T लोपि 11--11. A, B, T omit 12--12. W omits 13. A, B, T omit शं

एवं सत्सङ्गस्य भोगमोक्षप्रथमकारणत्वमुक्तम् । तत्र भोगसाधनत्वमेवम् प्रथमं सत्सङ्गः, ततः सम्भाषणं, ततः प्रश्नः, ततस्तत्साधन यो[1]गाद्युपदेशः, ततः साधनोपसंहारेण यागाद्यनुष्ठानं, ततो भोग इति । इयं च प्रणाडी, मुमुक्षाधिकृतस्य, कर्मणामल्पास्थिर फलत्वनिर्णयपूर्वकानन्त स्थिर फलापात प्रती[2]तिः पुरुषस्य न वक्तव्येति तामनादृत्य सत्सङ्गतेर्मोक्षसाधनत्वं प्रणाड्योपपिपादयिषु स्तावत् सत्सङ्गतिस्ततः सम्भाषणं ततः प्रश्नः ततो भगवद्गुणानुश्रवणं ततस्तत्रानुराग इत्येतत्पञ्चकं तावत् त्वयि सिद्धमेवेत्याह - **अस्त्येवेति**। हे राजन् ! मधुद्विषः पादारविन्दयोः ये गुणाः तेषामनुवादने अनुश्रवणे सदा रतिर्भवतोऽस्त्येव। रतिरस्त्येवेत्यनेन तत्पूर्वभाविसत्सङ्गत्यादि चतुष्टयमप्यस्तीत्यर्थादुक्तं भवति, तेन विना रत्यसम्भवात् अस्तीति सिद्धवन्निर्देशेनरत्यन्तं पञ्चकमवश्यं मुमुक्षूणां प्रथमं सम्पादनीयमित्युक्तं भवति। यतः रतिः सिद्धा ततो भक्त्यन्त रमुत्तरोत्तरसाध्यं सिद्धप्रायमेवेत्यभिप्रायेणाह **येति**। या नैष्ठिकी अव्यभिचरिता भगवद्गुणानुवादरतिः अन्तरात्मनो मनसः मलरूपं कषायं धातुरागवदनिवर्त्यं पुण्या पुण्यरूपं कर्म कामं भृशं विधुनोति क्षपयति॥ २०॥

**विज.** ननु मोक्षविषयप्रश्नपरिहारो दुरवबोधोऽतोयं सु[3]शकं पृच्छ "नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः" (कठ.उ.1-25) इति श्रुतेरित्याशङ्क्य भवन्तो भगवद्विशेषसन्निधान पात्रत्वात् पृष्टार्थव्याख्यानसमर्था इत्यभिप्रत्याह **व्यक्तिमिति**। "व्यक्तं स्पष्टे बुधे तु ना" (वैज.को.6-5-72) इत्यभिधानात्। अत्र स्पष्टं व्यक्तमित्यर्थः। आत्मवतां ब्रह्मदियोगि नामात्माभीष्टवर्षी हि आत्मभावनो मनः प्रेरकश्चेतनानां सत्ताप्रदो जन्मादिरहितो भगवान् स्वभक्तानामनुग्रहायेमां भूमिं, सिद्धरूपी भवादृशाः सिद्धास्त एव रूपं प्रतिमाऽस्यास्तीति चरतीत्यन्वयः। "हरेस्तु प्रतिमाः प्रज्ञास्तत्रस्थः केशवः स्वयम्। ददाति ज्ञानमीशेशः परमात्मा स्वयं प्रभुः" (तन्त्रसारे ) इत्यतो ज्ञानिनां प्रतिमात्वं सिद्धम् अतोऽप्यत्राऽऽत्मवतां व्यक्तं स्पष्टमिति पुनरावृत्त्या योज्यम्॥ १६॥

पृथोः कण्ठशोषणपर्यन्तं तदुक्तं श्रुत्वा निरपेक्षत्त्वादन्यतो गतं तैरिति शङ्का मा भूत् सूक्तत्वात् सारत्वात् कर्णसुखत्वात् प्रत्युत्तरयितुं शक्तत्वाच्चेति तत्र सनत्कुमारस्तं प्रत्याहेत्याह - मैत्रेय इति। "मधु नाम सुखं विन्द्यात्" इत्यादेः॥ १७॥

किमाह - **साध्विति**। तथाहि साधूनां गतिः स्थितिरीदृशी स्वयं विद्वानपि लोकोपकाराय प्रवर्तित इति॥ १८॥

न केवलं तवैवास्मद्दर्शनेन शम् अस्माक मपीति भावेनाह - **सङ्गम** इति। शं भगवन्निष्ठालक्षणं सुखम्॥ १९॥

अत्र शिक्षणीयांशोऽस्माकं नास्तीति भावेनाह - **अस्त्येवेति**। भवतोऽस्य मधुद्विषः पादारविन्दे गुणानुवादलक्षणा रतिरस्त्येव। या रतिः कषायं मनःकलुषीकुर्वाणं कामं विषयतृष्णालक्षणं [4]कषेण कर्षणेन [5]गच्छतीति कषायं पापम्। एवमुभयविधमन्तरात्मना मल

1. A, B , T योगा° 2. A, B, T °तिः 3. A, B, T omit सुशंक 4. Ma omits कषेण 5. Ma adds घर्षणेन

किट्टं विधुनोतीत्यन्वयः अनेन हरौ रतिरितरत्र हरिद्विष्यरति विरक्तिरिति द्वयं पुरुषार्थस्य मुख्यसाधनमुक्तमिति ज्ञेयम्। तदुक्तम् - "रतिः परात्मनि हरावन्यत्रारतिरेवच। पुमर्थसाधनं ज्ञेयं नाऽतोन्यन्मुख्यमिष्यते" (तन्त्रसारे) इति॥ २०॥

**शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणां क्षेमस्य सध्र्यङ्[1] विमृशेषु हेतुः।**
**असङ्ग आत्मव्यतिरिक्त आत्मनि[2] दृढा[3-] रतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या[-3]॥ २१॥**

**सा[4] श्रद्धया भगवद्धर्मचर्यया जिज्ञासयाऽऽध्यात्मिक योगनिष्ठया।**
**योगेश्वरोपासनया च नित्यं पुण्यश्रवः कथया पुण्यया च॥ २२॥**

**अर्थेन्द्रियारामसगोष्ठ्यतृष्णया[6] तत्सम्मतानामपरिग्रहेण च।**
**विविक्तरुच्या परितोष आत्मन् विना हरेर्गुणपीयूषपानात्॥ २३॥**

**अहिंसया पारमाहंस्यचर्यया स्मृत्या मुकुन्दाचरिताग्र्य शौधुना[7]।**
**यमैरकामैर्नियमैश्चाप्यनिन्दया[8] निरीहया द्वन्द्वतितिक्षया च॥ २४॥**

**श्रीध.** चित्तशुद्धयैव बहिर्वैराग्यमात्मनि[9-] रति[-9]श्च भवति न च ततोऽधिकं साधनमस्ति, शास्त्रेषु तयोरेव मोक्षहेतुत्वनिश्चयादित्याह - **शास्त्रेष्विति**। सध्र्यग्विमृशेषु सम्यग्विचारवत्सु शास्त्रेषु[10] क्षेमस्य हेतुः एतावानेव सुनिश्चितः कोऽसौ आत्मव्यतिरिक्ते देहादावसङ्गो वैराग्यमात्मनि च दृढा[11] रतिः प्रीतिः[12] आत्मनो विशेषणं निर्गुणे ब्रह्मणीति॥ २१॥

नन्वेतदेवातिदुर्लभमित्याशङ्क्ययोत्तमाधिकारिणः श्रवणमात्रेण भवति अन्यस्य तु चित्तशुद्ध्यनुसारेण साधनतारतम्यतो वर्धमानया भक्त्येत्यभिप्रेत्याह - **सेति** चतुर्भिः। सा ब्रह्मणि रतिरसङ्गश्च श्रद्धादिभिः स्यादिति चतुर्थेनान्वयः। जिज्ञासया तत्तद्विशेषबुभुत्सया पुण्यं श्रवो यशो यस्य तस्य हरेः[13-] पुण्यया कथया[-13] च॥ २२॥

**अर्थेति**। अर्थारामा[14-] अर्थो[-14] द्रव्यं तन्निष्ठास्तामसा इन्द्रियारामाः[15] कामनिष्ठा राजसाः तैस्सह या गोष्ठी तस्यामतृष्णया तेषां च ये सम्मता अर्थाः कामाश्च तेषामपरिग्रहेण अनासक्तया[16] विविक्ते विजने या रुचिः तथा सा[17] चात्मन्येव परितोषे सति स्यात् किन्तु हरेर्गुणपीयूषपानाद्विना तस्मिन् सति विविक्ते रुचिः न कार्या, न च आत्मनि परितोषः कार्य इत्यर्थः॥ २३॥

---

1. M, Ma, Ms सम्यक् 2. M, Ma, Ms वस्तुनि 3--3. W साक्षाद्दृढा ब्रह्मणि निर्गुणे रति 4. M, Ma, Ms तच्छ्र° 5. W °गी° 6. M, Ma, Ms गुणेष्व° 7. A, B, G, I, J, M, Ma, T, V सी° 8. M, Ma रभिध्यया; V °रनिन्दया 9--9. B, J, Va आत्मर° 10. V omits शास्त्रेषु 11. V omits दृढा 12. V omits प्रीतिः 13--13. V पुण्या या कथा तया च 14--14. B, J, V, Va omit 15. B, J, V, Va अर्थनिष्ठाः 16. V omits अनासक्तया 17. V omits सा च

**अहिंसयेति**। परमहंस्यचर्यया उपशमादि - प्रधानया वृत्त्या स्मृत्यात्महितानुसन्धानेन मुकुन्दाचरितमेवाग्र्यं सीधु श्रेष्ठममृतं तच्चरितस्मृतिसुखेनेत्यर्थः। मार्गान्तरस्थानिन्दया निरीहया योगक्षेमार्थक्रियाराहित्येन द्वन्द्वतितिक्षया[1-] शीतोष्णादिद्वन्द्व-सहनेन[2]॥ २४॥

**वीर.** रत्यनन्तरभाविसाधनजातं विवक्षुः साक्षान्मोक्षसाधनभूता उक्तविधा भक्तिरेवेत्याह - **शास्त्रोष्विति**। नृणां क्षेमस्य मोक्षस्य सध्र्यङ्[3] समीचीनः साधनविमर्शो येषु तेषु शास्त्रेषु साक्षान्निरपेक्षो हेतुः साधनम् इयानेव सुनिश्चितः, एवकारेण "तमेवं विद्वानमृत इह भवति, नान्यः पन्था अयनाय विद्यते", (पु. सू. 1-7) "तमेवं विदित्वातिमृत्युमेति" (श्वेत.उ.3-8; 6-15) इत्युक्तान्तरोपायत्वं विवक्षितम्। इयानित्युक्तः कौऽसौ तत्राह - निर्गुणे सत्त्वादिगुणत्रयरहिते[4] आत्मनि, किञ्जीवे, नेत्याह, ब्रह्मणि स्वरूपेण गुणैश्च बृहति ब्रह्मणीत्यनेनैव गुणत्रयराहित्य परत्वं निर्गुणशब्दस्य निश्चितम्। या दृढ रतिः यश्च आत्मव्यतिरिक्तेष्वसङ्गः सङ्गाभावश्चेतीयानेवेत्यर्थः। अत्ररतिशब्देनोत्तम विध परभक्तिसाक्षात्कार लक्षण परज्ञानजन्यभगवत्प्रीत्यतिशयरूपा परमभक्तिः विवक्षिता। तस्याः[5] च दाढर्यं नाम चाञ्चल्यराहित्यं, चाञ्चल्यं च मध्ये मध्ये विषयान्तरानु चिन्तनरूपम्' तच्च विषयान्तरासक्तिजननद्वारा भक्तिविरोधीति चाञ्चल्यकार्यमपि निषिध्यते। असङ्ग आत्मव्यतिरिक्त[6] इति, अत एवात्मव्यतिरिक्तासङ्गस्यापि पृथग्वा रत्या सह वा उपायत्व भ्रमो न कार्यः॥ २१॥

एवं विजातीयप्रत्ययान्तरा व्यवहितप्रीत्यतिशयरूपापन्ना[7] परमभक्तिः कथं निष्पद्यत इति जिज्ञासायां तत्साधनान्युपदिशति - **सेति**। निर्गुणे ब्रह्मणि सा रतिः सदसत्यनात्मनि असङ्गश्च श्रद्धादिभिः स्यात् इति चतुर्थेनान्वयः। अत्र निर्गुण इत्यस्य पूर्ववदर्थः। अनात्मनि आत्मव्यतिरिक्ते शब्दादिविषये। तस्य सदसत्त्वं नाम सन्निहितासन्निहितत्वम्। यद्यप्यत्र श्रद्धादीना-मवश्यसम्पादनीयत्वाभिप्रायेण सम्भावितक्रमाणामपि क्रममनादृत्य ते कथिताः। तथापि क्रममाश्रित्यैव व्याख्यायते। तत्र प्रथमं नित्यं योगीश्वरोपासनया[8] योगीश्वरा[9] योगश्रेष्ठाः[10-] "योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्त तमो मतः" इत्युक्तविधया युक्ततमाः[-10] भागवता स्तेषामुपासना सेवा तदानुकूल्येन वृत्तिः तया, ततः पुण्यश्रवः कथया पुण्यश्रवसः भगवतः कथया भगवत्पुण्य कथा श्रवणेनेत्यर्थः, आश्रयतः स्वतश्च पुण्यरूपत्वख्यापनाय पुण्यश्रवः कथया पुण्ययेत्युक्तम्॥ २२॥

ततः अर्थेन्द्रियारामसगोष्ठ्यतृष्णया अर्थारामाः अर्थपरायणाः[11-] इन्द्रियारामाः कामपरायणाः[-11] तैस्सह या गोष्ठी तस्यां या अतृष्णा

---

1--1. A, B, J, Va omit त 2. V adds इति 3. A, B, T omit सध्र्यङ् 4. A, B, T omit त्रय 5. A, B, T तस्यां च 6. A, B, T इति
7. A, B, T omit आपन्ना 8. A, B, T °णे 9. A, B, T °णे 10--10. W omits 11--11. A, B, T omit

अनासक्तिस्तया तेषामर्थेन्द्रियारामाणां सम्मता अर्थाः कामाश्च तेषामपरिग्रहेण भगवद्गुणानुश्रवणेन च भगवत एव पुरुषार्थरूपत्वम् अर्थकामयोस्तद्विपर्ययसरूपत्वं च ज्ञात्वा तयोर्विरक्तिः स्यादिति गुणानुश्रवणतृष्णयोः पौर्वापर्यं युक्तम् । ततः जिज्ञासया तत्त्वहितपुरुषार्थविविक्तया ततः आचार्यवत्तयेत्यर्थसिद्धं पुमानाचार्यवानिति वक्ष्यमाणत्वात्। "आचार्यवान् पुरुषो वेद आचार्याद्ध्येव हि विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापत्" (छन्दो. उ. 6-14-2, छान्दो. उ. 4-9-3) इति श्रुतेः आचार्यवत्ताया अपि साधनत्वनिश्चयात्। अनेन "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् नास्त्यकृतः कृतेन तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" (मुण्ड.उ. 1-2-12) इत्यन्तश्रुत्यर्थोऽनुसंहितः। तत आध्यात्मिकयोगनिष्ठया आचार्योपदिष्टो भगवदुपासनात्मको यः आध्यात्मिको योगः तस्मिन् या निष्ठा मननात्मिका तया ततः श्रद्धया आध्यात्मिकयोगानुष्ठानविषयया त्वरया, एवं पूर्वकालसाधनजातमुक्तम्। अथ समकालसाधनजातमुच्यते, अत्र तु न पौर्वापर्यं, सम्भूय सर्वेषामनुष्ठानविधानात्, ततः भगवद्धर्मचर्यया भगवद्धर्मा भगवदाराधनैकवेषाः पञ्चमहायज्ञादयो नित्यनैमित्तिकाः तेषां चर्या आध्यात्मिकयोगाङ्गत्वेनानुष्ठानं, तथा[1] तथा पारमहंस्या परमहंसानां सम्बन्धिनी या चर्या ब्रह्मात्मक स्वात्मयाथात्म्यानुभवरूपा तया आध्यात्मिकयोगस्य ज्ञानकर्मयोगाभ्यां निर्वर्त्यत्वात् विविक्तरुच्या आत्मन् आत्मनि च यः परितोषस्तेन आत्मानुभवजनितसन्तोषमात्रेणैव, न तु तद्व्यतिरिक्तसन्तोषेणेत्यर्थः, तर्हि किं भगवद्गुणानुभवजनित सन्तोषोऽपि निषिध्यते, ने त्याह, हरेर्भगवतो गुणपीयूष[2] गुणानुश्रवणस्मरणरूपं पीयूषममृतं तस्य पानात् विना तदन्य विषयानुभवजातसन्तोषाभावेनेत्यर्थः ॥ २३ ॥

अहिंसया भूतसुहृत्त्वेन स्मृत्या भोजनाद्ययुक्तदशास्वपि शुभाश्रयसंशीलनरूपस्मृत्या तथा भोजनोत्तरादिदशासु मुकुन्दस्याचारितानि चेष्टितानि तान्येवाग्र्यं श्रेष्ठं सीधु अमृतं तच्चरितश्रवणश्रावणस्मरणरूपामृतसुखेनेत्यर्थः। यमैर्बाह्येन्द्रियनिग्रहैः अकामैरन्तरिन्द्रियनिग्रहैः शमैरित्यर्थः। नियमैः शौचाचारादिभिः अनिन्दया इतरसाध्यसाधनादीनाम निन्दया, तन्निन्दायां चित्तस्य तत्प्रावण्यप्रयुक्तं चाञ्चल्यं स्यादिति भावः, निरीहया देहधारणाद्यनुपयुक्तचेष्टाराहित्येन द्वन्द्वानां शीतोष्णाऽऽधि व्याध्यादीनां तितिक्षा सहिष्णुता तया ॥ २४ ॥

**विज०** एतदेव विशिनष्टि- **शास्त्रेष्विति**। सम्यग्विमृशेषु समीचीनविचारवत्सु कोऽसावित्यत आह- असङ्ग इति। आत्मनो व्यतिरिक्ते परमात्मनो भिन्ने ब्रह्मादितृणान्तवस्तुनि असङ्गो हेयलक्षणा बुद्धिर्ब्रह्मणि परिपूर्णे निर्गुणे सत्त्वादिगुणरहिते निर्णितानन्दादिगुणेवा । " निर्निर्णयनिषेधयोः" (वैज.को.8-7-5) इत्यभिधानात् । हरौ या रतिः एतत् द्वयं मुख्यसाधनमित्यर्थः ॥ २१ ॥

---

1. A, B, T omit तथा 2--2. A, B, T omit

एतादृशं साधनं कथं स्यादिति तत्साधनान्याह **तच्छ्रद्धयेति**। तस्मिन् हरौ श्रद्धया भगवद्धर्माणां वर्णाश्रमादिविहितानां चर्यया चरणेन जिज्ञासया ब्रह्मविचारेण आध्यात्मिकयोगोऽष्टाङ्गयोगः तन्निष्ठया पुण्यश्रवाः हरिः तस्य कथया॥ २२॥

अर्थस्य देहस्य इन्द्रियाणां वा आरामेषु क्रीडावनेषु गुणेषु विषयेष्वतृष्णया हेयबुद्ध्या तेषां विषयाणां सम्मतानां स्रक्चन्दनवनितादीनामपरिग्रहेणास्वीकारेण आत्मन् देहभोगविषये परितोषोऽलम्बुद्धिः॥ २३॥

स्मृत्या जन्मजरादिचिन्तया सीधु सुधा पूर्वत्र, कथ वाक्यप्रबन्ध इति धातोः भगवद्गुणसन्दृब्ध शास्त्रेण, उत्तरत्र तत्कृतकंसवधादि पराक्रम लक्षण कर्मामृत पानेन। "अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्। क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चैते यमा दश॥ कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा। अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसा त्विह योगिभिः॥ तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्। सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम्॥ एते तु नियमाः प्रोक्ता" (याज्ञवल्क्ययोग- शास्त्रे) इति याज्ञवल्क्ययोगशास्त्रे अभिधानात्। अभिध्यया अखण्डस्मरणेन निरीहया अनिषिद्ध चेष्टया॥ २४॥

**हरे र्मुहुस्तत्परकर्णपूर[1] गुणाभिधानेन विजृम्भमाणया।**
**भक्त्या ह्यसङ्गः *सदसत्यनात्म[2]निस्यान्निर्गुणे ब्रह्मणि चाञ्जसा रतिः॥ २५॥**

**यदा रतिर्ब्रह्मणि नैष्ठिकी पुमानाचार्यवान् ज्ञानविरागरंहसा।**
**दहत्यवीर्यं[3] हृदयं जीवकोशं पञ्चात्मकं योनिमिवोत्थितोऽग्निः॥ २६॥**

**दग्धाशयो मुक्तसमस्ततद्गुणो नैवात्मनो बहिरन्तर्विचष्टे।**
**परात्मनोर्यद् व्यवधानं पुरस्तात् स्वप्ने यथा पुरुषस्तद्विनाशे[4]॥ २७॥**

**आत्मानमिन्द्रियार्थं च परं यदुभयोरपि।**
**सत्याशय उपाधौ वै पुमान् पश्यति नान्यदा॥ २८॥**

**श्रीध०** कथयेत्यत्रोक्तमपि कथनं भक्तावन्तरङ्गत्वेन पुनरुच्यते - **हरेरिति**। तत्परा हरिभक्तास्तेषां कर्णपूराः कर्णालङ्कारभूता ये हरेर्गुणास्तेषामभिधानेन [5]कीर्तनेन[5] सदसति कार्यकारणरूपे॥ २५॥

---

1. M, Ma, Ms पूरया  * सदसत्परात्मन् इति विजयध्वजव्याख्यानुसारी पाठः  2. M, Ma, Ms °त्परात्मनि  3. M, Ma, Ms बीजं  4. Ma पू°
5--5. B, J, V, Va omit

भवत्वन्यत्रासङ्ग [1-]आत्मनि रतिश्च[-1] ततः किमत आह- **यदेति**। यदा निष्ठां प्राप्ता रतिर्भवति तदाचार्यवान् सन् ज्ञानवैराग्ययोर्वेगेनावीर्यं निर्वासनं सत् जीवस्य कोशमावरकम् [2]अहङ्कारं हृदयं पुमान् दहति। कथम्भूतम्? पञ्चमहाभूतप्रधानम्। यद्वा अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च, तदात्मकम्। उत्थितः प्रज्वलितोऽग्निः योनिमरणिमिव। यद्वा यदा रतिराचार्यानुग्रहश्च तदा [3]ज्ञानविरागयोः वेगेनोत्थितः साक्षात्कारोऽवीर्यं पुनः प्ररोहक्षमं यथा न भवत्येवं हृदयं दहति। शेषं समानम्॥ २६॥

ततः किमत आह- **दग्धाशय** इति। दग्ध आशयो हृदयमुपाधिर्यस्य। अत एव मुक्ताः समस्तास्तद्गुणाः कर्तृत्वादयो येन आत्मनः सकाशाद्बहिर्घटाद्यन्तः सुखदुःखादि नैव विचष्टे न पश्यत्येव। कुत इत्यपेक्षायां द्रष्टृदृश्यप्रतीतेरन्तः करणहेतुत्वादित्याह। परो दृश्य आत्मा द्रष्टा तयोर्द्व्यवधानं भेदकं पूर्वमासीत् तस्य विनाशे सति यथा स्वप्ने राजाऽहमित्यारोपितं सैन्यादि द्रष्टारं दृश्यं सैन्यं च स्वप्नावस्थानाशे न पश्यति तद्वत्॥ २७॥

द्रष्टृदृश्यभेदप्रतीतेरन्तः करणहेतुत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यामुपपादयति - **आत्मानमिति**। आत्मानं द्रष्टारमिन्द्रियार्थं दृश्यमुभयोस्तयोः परं सम्बन्धहेतुमहङ्कारं चाशयेऽन्तःकरणे सत्येव जाग्रत्स्वप्नयोः पश्यत्यन्यदा सुषुप्तौ न। तदुक्तम् - "दृश्यानुरञ्जितं द्रष्टृ दृश्यं द्रष्टृनुरञ्जितम्। अहंकृत्योभयं रक्तं तन्नाशेऽद्वैततात्मनः॥" (विवेकचूडामणिः) इति॥ २८॥

**वीर०** हरेर्भगवतः तत्परा भागवता स्तेषां कर्णपूराः कर्णालङ्कार भूताः कर्णेषु प्रवाहरूपा वा ये गुणाः, गुणशब्दस्य सापेक्षत्वेऽपि सम्बन्धि शब्दत्वात् समासः, तेषामभिधानेन विजृम्भमाणया भक्त्या परभक्त्या भगवद्गुणश्रवणस्मरणादेरर्थ-कामवै[4]तृष्ण्यात् तत्त्वहितपुरुषार्थ विवित्साजननद्वाराऽऽचार्योपसत्तिहेतुत्वाभिप्रायेण पुण्यश्रवः कथया पुण्यया चेत्युक्तम्। उपासनद-शायामप्यानन्दकरत्वाभिप्रायेण मुकुन्दाचरिताम्रशीधुनेत्युक्तम्। अत्र तु आप्रयाणानुवर्तमानाहरहरभ्यासाधेयातिशय दर्शनसमानाकार ध्यानोपासनादि शब्दवाच्यपरभक्ते स्तज्जनितभगवत्स्वरूपसाक्षात्कारलक्षणपर ज्ञानजन्य भगवत्प्रीत्य तिशयरूप समाधिपरमभक्त्याद्यपरपर्याय रतिनिष्पादकत्वेऽनुग्राहकत्वाभिप्रायेण हरेर्मुहुस्तत्परकर्णपूरगुणाभिधानेनेत्युक्तमिति न पौनरुक्त्यम्॥ २५॥

एवं श्रद्धादि सहकृत परभक्ति जन्य परज्ञानजन्यसमाध्यपरपर्यायरतेः क्षेमसाधनत्वमुपपाद्य केन प्रकारेण रतेः साधनत्वमिति विवित्सायामाह - **यदेति**। यदा च ब्रह्मणि नैष्ठिकी दृढा रतिः तदा आचार्यवान् आचार्यानुग्रहविषयः पुरुषः ज्ञानविरागयोः[5] रंहसा विराग[-5] सहकृतरत्यात्मकज्ञानवेगेन उद्रिक्तरत्येत्यर्थः। हृदयं हृत्स्थानं प्राप्नुवन् जीवात्मा "हृदि ह्ययमात्मा" (प्रश्न. उ. 3-6) इति

1--1. B, J, V, Va आत्मरतिः 2--2. A, B, J, Va omit 3. V आत्मज्ञान 4. W °तृष्ण्यत° 5--5. A, B, T omit

श्रुतेः पञ्चात्मकं पञ्च भूतात्मकं जीवकोशं शरीरं अबीजं बीजरहितं भिन्नाज्ञानरूपमूलं यथा तथा, दहति सन्तापयति अज्ञानकृतपुण्यपापमूलो हि देहसम्बन्धः देहसम्बन्धनिमित्ताज्ञानमूलकपुण्यपापात्मकं कर्म निश्शेषं दहन्ती रतिः क्षेमसाधनमित्यर्थः। देहमाश्रित्य तिष्ठतो जीवस्य ज्ञानार्चिषः स्वाश्रयदेहदाहे दृष्टान्तमाह योनिमिवेति। उत्थितः ज्वलितोऽग्निः योनिमरणिमिवेत्यर्थः। दहत्यवीर्यमिति पाठेऽप्ययमेवार्थः, देहस्य वीर्यं बलं[1] हि पुण्यपापात्मकं कर्मैव॥ २६॥

एवं देहसम्बन्धनिमित्तं पुण्यपापरूपं[2] कर्म निश्शेषं दहन्त्या रत्या मुक्तस्य न पुनः पञ्चात्मकजीवकोशसम्बन्ध इत्याह- **दग्धाशय** इति। एवं दग्धाशयः दग्धशरीरः मुक्ताः समस्ताः तद्गुणा देहगुणा रागादयो येन सः आत्मनः बहिर्भूतं शरीरमन्तः अन्तर्भूतं रागाददिषजातं च न विचष्टे न पश्यति न पुनर्देहादिसम्बन्धं प्राप्नोतीत्यर्थः। बहिरन्तश्च विशिनष्टि। तद्विनाशे देहविनाशे पुरस्तात्संसृतिदशायां ज्ञानच्यावकं भवति तच्छरीरं तज्जन्यरागद्वेषादिकं च न पश्यति परात्मनोः यद्व्यवधानं पुरस्तादित्यनेन मुक्तात् जीवपरयोः सम्बन्धज्ञानप्रच्यावो नेत्युक्तंभवति। स्वप्ने यथा देहं रागादिकं च न पश्यति तथेत्यर्थः। देहाद्यस्थिरत्वेश्वरसृष्टत्वज्ञापनाय स्वप्नदृष्टान्तः॥ २७॥

कुतो न पश्यति तत्राह - **आत्मानमिति**। आत्मानं देहं इन्द्रियार्थं शब्दादिकं उभयोर्देहेन्द्रियार्थयोर्यत्परमन्यत् भोगोपकरणभोगस्थानादिकं तत्सर्वमाशये वासनाख्ये उपाधौ सति पुमान् पश्यति नान्यथेत्यर्थः। वासना करणकलेवर भोग्य[3]भोगस्थानभोगोपकरणादिषु प्रावण्यम्॥ २८॥

**विज०** तत्परा हरिपरास्तेषां कर्णं पूरयतीति कर्णपूरणं कर्णाभरणं वा। यद्धरे र्मुहुर्गुणाभिधानं तेन, लिङ्गव्यत्ययश्छान्दसः। यद्वा हरेर्गुणाभिधानेन विजृम्भमाणया भक्त्या, कीदृश्या तत्परकर्णपूरया। एतैरुक्तैः साधनैः सदसत् कार्यकारणात्मक प्रपञ्चविषयेऽसङ्गः स्यात्, प्रथमा सप्तम्यर्थे। परमात्मनि मुक्तप्रपञ्चस्वामिनि निर्गुणे ब्रह्मणि च रतिः स्यादित्यन्वयः। यद्वा सदसतो जगतः परश्चात्मा चेति सदसत्परात्मा तस्मिन्॥ २५॥

अस्तु ब्रह्मण्यसङ्गनिशिता रतिस्ततः किं तत्राह- **यदेति**। यदा ब्रह्मणि नैष्ठिकी सर्वोत्कृष्टां रतिरपरोक्षज्ञानलक्षणा भवति तदाचार्यवान् तदुपदिष्टार्थसाफल्यात् तद्भक्तिमान् पुमान् ज्ञानवैराग्ययोः रंहसा उद्रेकेणाबीजं हृदयं स्वरूपोपाधिं विना ब्रह्मोपाधिं दहतीत्यन्वयः। किमनेन जीवस्येत्यत उक्तं जीवकोशमिति। जीवस्य गृहस्थानीयं, तर्हि तद्दाहे जीवोऽपि दग्धः स्यादित्य उक्तं पञ्चात्मकमिति। पञ्चभूतस्वरूपमत एव बाह्यमित्युच्यते "जीवोपाधिर्द्विधा प्रोक्तः स्वरूपं ब्राह्ममेव च। बाह्योपाधिर्लयं याति मुक्तावन्यस्य तु

---

1. A, B, T मलं  2. T पुण्यापुण्य  3. A, B, T omit भोग्य

तु स्थितिः। सर्वोपाधिविनाशे हि प्रतिबिम्बः कथं भवेत्। कथं चात्मविनाशाय प्रयत्नः सेत्स्यति क्वचित्॥ अपुमर्थता च मुक्तेः स्यादभावात्पुंस एव तु। ज्ञानज्ञेयाद्यभावाच्च सर्वथा नोपपद्यते। तस्मादेतन्मतं येषां तमोनिष्ठा हि ते मताः" (स्कान्दे.) इति वचनात् न स्वरूप बीजहृदयदाहोऽत्रार्थः, किन्त्वस्वरूपोपाधेरित्यभिप्रायः। तत्र दृष्टान्तमाहयोनिमिति। अरणेरुत्थितोऽग्निरिवेति॥ २६॥

बीजाशयनाशे तद्गुणानां ज्ञानादीनामपि नाशादात्मनो बहिरन्तरिति भेदं न विचष्टे न विपश्यति। अन्यदर्शनाभावेऽपि स्वात्मानं पश्यतीत्यत एव अन्धवद्दृष्ट्यभावात् न किञ्चिदपि पश्यतीत्यर्थः। कथं तर्हि संसारावस्थायामत्राह परात्मनोरिति। परस्येश्वरस्यात्मनो जीवस्य च यद्यदा पुरस्तात् संसारावस्थायां व्यवधानं जवनिकास्थानीयावस्था तदा यथा स्वप्ने सन्दिग्धज्ञानमेतावदज्ञानं भवतीति तत्र तद्विनाशे बीजहृदयनाशे त्वपुरुष एवात्मनाश एव। अतः स्वरूपज्ञाननाशात् संसारावस्थैवोत्तमा स्यात् किञ्चित् ज्ञानस्यापि सम्भवादित्यर्थः। उक्तादन्यथा स्वीकारे भिदा यदि न दृश्येत जीवात्मपरमात्मनोः मुक्तौ तदा विमोक्षाय को यत्नं कर्तुमर्हति। "मग्नस्य हि परे ज्ञाने किं न दुःखतरं भवेत्। प्रवृत्तिधर्ममेवाहं मन्ये भरतसत्तम!" (भारते मोक्षधर्मे) इति प्रमाणविरोध आपद्येत इति॥ २७॥

अतः फलितमाह - **आत्मानमिति**। आत्मानं जीवमिन्द्रियार्थं शब्दादिविषयं च यदप्युभयोरात्मेन्द्रियार्थयोः परमुत्तममीश्वरतत्त्वं [1]तदपि बीजाशयलक्षण उपाधौ सत्येव पुमान् पश्यति अन्यदा तदभावे न पश्यतीत्यन्वयः॥२८॥

**निमित्ते सति सर्वत्र[2] जलादावपि[3] पूरुषः।**
**आत्मनश्च परस्यापि भिदां पश्यति नान्यदा॥ २९॥**

**इन्द्रियै र्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां[4] मनः।**
**चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव ह्रदात्॥ ३०॥**

**भ्रश्यत्यनु स्मृतिश्चित्तं ज्ञानभ्रंशः स्मृतिक्षये।**
**तद्रोधं कवयः प्राहुरात्मापह्नवमात्मनः॥ ३१॥**

**नातः परतरो लोके पुंसः स्वार्थव्यतिक्रमः।**
**यदस्त्यन्यस्य प्रेयस्त्वमात्मनः स्वव्यतिक्रमात्॥ ३२॥**

श्रीध. एकस्मिन्नात्मनि दृश्यादिभेदप्रतीतिरौपाधिकीति दृष्टान्तेन स्पष्टयति - **निमित्त इति**। लोकेऽपि च सर्वत्रजलदर्पणादौ भेदानिमित्ते सत्येवात्मनो बिम्बभूतस्य परस्य प्रतिबिम्बस्य च भेदं पश्यति न तु जलाद्यभावे॥ २९॥

---

1. A, B, omit तदपि 2. W °स्मिन् 3. W °डा° 4. M, Ma, Ms °तो 5. M, Ma स्तुम्ब 6. A, B, G, I, J, T, V यदध्यन्यस्य; Ms यद्यस्त्यन्यस्य

तदेवं चतुर्भिरसङ्गात्मरत्योः मोक्षहेतुत्वमुक्तम्, इदानीमनात्मरतेः संसारहेतुत्वमाह - **इन्द्रियैरिति** चतुर्भिः। ध्यायतां गुणारोपेण स्मरतां पुंसामिन्द्रियाणि स्मृतैर्विषयैराकृष्यन्ते तैश्च मन आकृष्यते विषयासक्तिं प्राप्यते। तच्च बुद्धेः सकाशात् तद्धर्मं[1] चेतनां विचारसामर्थ्यं हरति। एतच्चाविवेकिना न लक्ष्यत इति दृष्टान्तेनाह। तीरजः कुशादिस्तम्बो यथा मूलैस्तोयं ह्रदादपहरति तद्वत्॥ ३०॥

**भ्रश्यतीति**। चित्तं चेतनामनु तस्यामपह्नतायां स्मृतिः पूर्वापरानुसन्धानं भ्रश्यति। एवं तद्रोधं ज्ञानभ्रंशमात्मन एव हेतोरात्मनोऽपह्नवं नाशं प्राहुः॥ ३१॥

एवम्भूतो नाशो भवन्तु ततश्च किमित्यत आह - **नात** इति। यदधि यमधिकृत्यान्यस्य विषयस्य प्रियतमत्वम्। "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" (बृह.उ.2-4-5) इति श्रुतेः। तस्यात्मनः स्वेनैव यो व्यतिक्रमोऽपह्नवः तस्माद्यः स्वार्थनाशोऽतः परतरः स्वार्थनाशो नास्ति॥ ३२॥

**वीर.** एवं मुक्तावुपाध्यभावादौपाधिकदेहाद्यसम्बन्धः स्वाभाविक जीवपर[2] सम्बन्धज्ञान सद्भावश्चोक्तः संसृतावुपाधि-सद्भावाज्जीवपरसम्बन्ध[3]ज्ञानाभावमाह - **निमित्त** इति। जडं शरीरं सर्वस्मिन् जडादौ निमित्ते शरीराद्युपाधौ सति आत्मनः स्वस्य परस्य परमात्मनश्च भिदां सम्बन्ध विरहं पश्यति। अन्यदा उपाध्यभावे मुक्तावित्यर्थः न पश्यति। यद्वा भिदां वैषम्यं पश्यति नान्यदा शरीराद्युपाधिविगमे परमसाम्याविर्भावान्न वैषम्यं पश्यतीत्यर्थः॥ २९॥

अत्र दृढा रतिर्मैष्ठिकी रतिरिति अन्तरा विषयान्तरानुचिन्तनं रतिविरोधीत्यवगम्यते। तस्य च विरोधित्वं सङ्गादिजननद्वारेति सङ्गः प्रतिषिद्धः। असङ्ग आत्मव्यतिरिक्ते असङ्गः, सदसत्यनात्मनि ज्ञानविरागरंहसेति तद्विषयचिन्तनायाः सङ्गादिद्वारा रतिविरोधित्वमुपपादयति - **इन्द्रियैरित्यादिना**। ध्यायतां विषयचिन्तनं कुर्वतां, विषयैः शब्दादिभिः आकृष्टानि यानीन्द्रियाणि तैः मन अकृष्टं आक्षिप्तं सत् बुद्धेः पुरुषार्थतत्साधनव्यवसायात्मिकाया बुद्धेः चेतनां तत्सम्बन्धि ज्ञानं पुरुषार्थतत्साधनविषयां व्यवसायरूपां बुद्धिवृत्तिं हरते। तत्र दृष्टान्तः - स्तम्बः तीरस्थकुशादिस्तम्बः केन चिदाकृष्टो यथा तीरशैथिल्यहेतुतया ह्रदात्तोऽयमपि च्यावयति तद्वदिति। यद्वा स्तम्बो यथा मूले तोयं ह्रदादुपहरति, तद्वदिति[4] चिन्तनविषयशब्दादि विषयाक्षिप्तबाह्येन्द्रियाक्षिप्तमनसि शब्दादिविषयेषु अन्यपरे सति मोक्षतदुपायानव सातुं[5] बुद्धिः न शक्नोतीत्युक्तं भवति॥ ३०॥

एवं व्यवसाये भग्ने सति अनुस्मृतिरुपापासनंयोगकालानुसन्धानं भ्रश्यति। तदनुग्राहकं कालान्तरेषूपास्यसंशीलनरूपं चित्तं

---

1. V omits तद्धर्मं 2. A, B, T omit पर 3. A, B, T omit पर 4. A, B, T omit तद्वदिति 5. W °न् व्यवसितुं

च भ्रश्यति। एवं स्मृतिक्षये उपासनाक्षये सति ज्ञानभ्रंशः स्वपरयाथात्म्यज्ञानभ्रंशो भवति। तद्रोधं ज्ञानभ्रंशं कवयः सूरयः आत्मन एव हेतोः आत्मापह्नवम् आत्मनस्तिरोधानं प्राहुः। उपासनविच्छेदादात्मस्वरूपस्य[1] भगवच्छेषतया न विशदावभास इत्यर्थः। तथा चोक्तम् - "योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते। किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा (महाभारते.उ.प) इति॥ ३१॥

एतदेवाह - **नात** इति। आत्मनः हेतोः स्वस्य व्यतिक्रमात् स्वस्वरूपातिलङ्घनात्स्वस्वरूपं विहायात्मनोऽन्यस्य प्रेयस्त्वं शब्दादिविषयप्रेयस्त्वं यदस्ति अतः परतरः, पुंसः स्वार्थव्यतिक्रमः स्वपुरुषार्थविरहः लोके नास्ति॥ ३२॥

**विज.** तत्र दृष्टान्तमाह - **निमित्त** इति। जीवात्मपरमात्मनोर्भेदस्यान्वयव्यतिरेक सिद्धत्वेन प्रामाणिकत्वात् तदपलापे महाऽसुरत्वमेव स्यादिति भावः॥ २९॥

जीवपरयोः सत्यभेदाप्रतीतौ किं कारणमित्यशङ्क्याज्ञानमेव तत्र कारणं तदपि विषयातिसक्त्या स्यादित्याह - **इन्द्रियैरिति**। पुंसो मनो बुद्धेश्चेतनां बहुस्मरणशक्तिं हरत इत्यन्वयः "बहुस्मरणशक्तिस्तु चेतनेत्युच्यते बुधैः" (शब्दनिर्णये) इति वचनात्। मनसो हरणे कारणानीन्द्रियाणीत्याह - **इन्द्रियैरिति**। हरिकथाश्रवणादियोग्यैः श्रोत्रादीन्द्रियैराक्षेपे चायं हेतुरित्याह- **विषयाकृष्टैरिति**। दृष्टान्तेन बुद्ध्यारूढं करोति स्तुम्ब इति, स्तुम्बो जलनिर्गमनद्वारम्॥ ३०॥

बुद्धेर्बहुस्मरणशक्तिभ्रंशे सर्वानर्था आपद्यन्त इत्याह - **भ्रश्यतीति**। भ्रष्टं चित्तमनु बहुस्मरणशक्तिभ्रंशानन्तरं स्मृतिरनेकशास्त्रयथार्थस्मरण सामर्थ्यं भ्रश्यति। स्मृतिक्षयेऽनेकशास्त्रयथार्थस्मरणशक्तिनाशे सर्वोत्तमः स्वतन्त्रः पञ्चविधभेदस्वामी मदादिसर्वं तदधीनमेनं भावं मरणेऽपि न मुञ्चामीति भगवत्पक्षपात लक्षणं ज्ञानं भ्रश्यति। तदस्तु ततः किं तत्राह **तद्रोधमिति**। कवय आत्मनो ज्ञान स्वरूपस्य तस्य तादृशस्य ज्ञानस्य रोधं नाशमात्मनः स्वरूपस्यापह्नवं नाशं प्राहुरित्यन्वयः॥ ३१॥

अतश्च किमनिष्टमापन्नमत्राह - **नात** इति। पुंसः स्वार्थव्यतिक्रमः स्वप्रयोजनस्य व्यतिक्रमो नाशोऽतः स्वरूपभूतज्ञान-नाशात्परोऽन्यतमो नाशो लोके नास्तीत्यन्वयः। आत्मनो निरवयवत्वात् तन्नाश अनवशेषः[2], घटादीनां सावयवत्वेन तन्नाशः सावशेषो दृष्ट इति विशेषद्योतनाय लोक इत्युक्तम्। ननु देहपुत्रादेरपि प्रेयस्त्वात्तन्नाशस्यापि महानाशत्वेन दुःखहेतुत्वात् किं ज्ञाननाशो विशिष्यो[3]च्यत इति तत्राह - यद्यस्तीति। आत्मनोऽन्यस्य देहपुत्रादेः यद्यपि प्रेयस्त्वमस्ति तथापि पुत्रादेरात्मशेषत्वेन प्रियत्वात्तन्नाशस्य स्वव्यतिक्रमात् स्वरूपज्ञाननाशादधिक्यं नास्तीति पूर्वं नञध्याहारेणा न्वेतव्यमत एव नातः परतर इत्युक्तम्। केचिन्न ह्यस्तीति पठन्ति। तत्पक्षेऽध्याहारं विना अन्वयः कर्तव्यः॥ ३२॥

---

1. A, B, T omit स्व° 2. Ma नष्टावशेषः 3. M, Ma °शे°

**अर्थेन्द्रियार्थाभिध्यानं[1] सर्वार्थापह्नवो नृणाम्।**
**भ्रंशितो[2] ज्ञानविज्ञानाद्येनाविशति मुख्यताम्[3]॥ ३३॥**

**न कुर्यात्कर्हिचित्सङ्गं तमस्तीव्रं तितीरिषुः[4]।**
**धर्मार्थकाममोक्षाणां यदत्यन्त विघातकम्॥ ३४॥**

**तत्रापि मोक्ष एवार्थ आत्यन्तिकतयेष्यते।**
**त्रैवर्ग्योऽर्थो[5] यतो नित्यं[6] कृतान्तभयसंयुतः॥ ३५॥**

**परावरे[7] च ये भावा गुणव्यतिकरादनु।**
**न तेषां विद्यते क्षेममीशविध्वंसिताशिषाम्[8]॥ ३६॥**

**श्रीध.** कुत इत्यत आह - **अर्थेति**। अर्थस्याभिध्यानमिन्द्रियस्यार्थः कामस्तस्याभिध्यानं सर्वार्थनाशः ज्ञानं विज्ञानं च परोक्षापरोक्षं तस्मात्[9]। येन ध्यानेन मुख्यतां स्थावरताम्॥ ३३॥

अनात्मरतेरनर्थहेतुत्वमुक्तं सङ्गस्याप्याह - **नेति**। यद्वस्तु धर्मादीनां विघातकं तस्मिन् सङ्गम्। तमः संसारम्॥ ३४॥

तुल्यवन्निर्देशात् पुरुषार्थसाम्यभ्रान्तिं वारयति - **तत्रापीति**। कृतान्तः कालः॥ ३५॥

भयसंयुतत्वमेवाह - **परे** इति। परे ब्रह्मादयोऽवरेऽस्मदादयो गुणक्षोभादनु पश्चाद्भवन्ति ईशः कालः तेन विध्वंसिता आशिषो येषाम्॥ ३६॥

**वीर.** विषयध्यानतत्सङ्गयोरनर्थकारितत्वमुपसंहरति - **अर्थेन्द्रियेति** द्वाभ्याम्। अर्थेन्द्रियाणि शब्दाद्यर्थविषयाणि श्रोत्रादीनि तेषामर्थस्य शब्दादेरभिध्यानं, नृणां सर्वार्थापह्नवः सर्वपुरुषार्थ विरोधीत्यर्थः। स्वर्गादिसाधन भूतयागादेरपि तदेकमनस्केन कार्यत्वात् सर्वपुरुषार्थविरोधीत्युक्तं, येन शब्दाद्यभिध्यानेन ज्ञानविज्ञानात् भ्रंशितः ज्ञानं[10] शास्त्रजन्यं, विज्ञानमुपासनात्मकं, तयोः समाहारद्वन्द्वः तस्मात् भ्रंशितः मुख्यतां स्थावरतामाविशति प्राप्नोति॥ ३३॥

तीव्रम् अनर्थकृत् तमः अज्ञानं तितीरिषुः तरितुमिच्छुः कर्हिचित् सङ्गं न कुर्यात्। यद्विषयासङ्गनं धर्मादीनामत्यन्त-विघातकम्॥ ३४॥

---

1. Ma, Ms, T अथेन्द्रिय 2. M, Ma, Ms भ्रंसितो 3. M, Ma, Ms मुग्धताम्। 4. M, Ma, Ms °र्षुणा; V °र्षुकः 5. M, Ma °र्य्याऽर्थो; W °र्गोऽर्थो 6. V °त्यः 7. A, B, G, I, J, V परेऽवरे 8. M, Ma क्षेमी ईश; V, W क्षेम ईश 9--9. B, J, V, Va omit 10. T omits ज्ञानं

धर्मादिभिः साकं मोक्षस्य तुल्यवन्निर्देशात् तस्येतरपुरुषार्थसाम्यं वारयति - **तत्रापीति**। तत्रापि चतुर्णां मध्ये मोक्षरूप एव पुरुषार्थः आत्यन्तिकतया अन्तमतीत्य वर्तमानतया नित्ययेत्यर्थः, इष्यते इच्छाविषयो भवति। त्रैवर्ग्यरूपार्थः[1], कृतान्तः कालः तद्भयसंयुतः अनित्यः[2] ॥ ३५ ॥

अनित्यतामेवाह - परावरे उत्कृष्टापकृष्टरूपा ये भावाः पदार्थाः आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ता गुणव्यतिकरात् गुणवैषम्यरूपसृष्टेः अनु पश्चाद्भवन्ति न तु प्रलये। अत एषाम् ईशेन कालरूपेण परमात्मना विध्वंसिता आशिषो येषां क्षेमो रक्षणं स्थिरत्वमित्यर्थः[3] न विद्यते[4] इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

**विज.** अथ तस्मात्तृणामिन्द्रियार्थानां विषयाणामभिध्यानं निरन्तरं सञ्चिन्तनं सर्वार्थानां सर्वपुरुषार्थानामपह्नवो विनाशहेतुः येनेन्द्रियेणेन्द्रियार्थाभिध्यानेन ज्ञानविज्ञानात् सामान्यविशेषलक्षणज्ञानात् स्रंसितो भ्रंशितो मुग्धतां विवेकराहित्यमाविशति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

विषयाभिध्यानस्यापि दुष्टसंसर्गो मूलकारणं स विपश्चिता न कार्य इत्याह - **न कुर्यादिति**। धमादीनामत्यन्त-विघातकमिति यदतो विपश्चित् तीव्रतमस्तितीर्षुणा[5] मनसा कदापि दुष्टसङ्गं न कुर्यादित्यन्वयः। न कार्यः कर्हिचित्सङ्ग इति वा पाठः। तदाऽविपश्चितेति योज्यम् ॥ ३४ ॥

धर्मादिभिस्सह पाठात् मोक्षस्यापि तत्तुल्यता स्यादिति शङ्कां परिहरति - **तत्रापीति**। "स्वपक्षपात स्त्वभ्यासाद्भोगार्थं व्यापृतस्य तु। भवेत्त तोमनेकशास्त्र यर्थार्थस्मरणेशिता ॥ नाश्यत्यतः स्मृतेर्नाशाद्भगवत्पक्षपातिता। विनश्येत्तेन चैवास्य भवेज्ज्ञानविपर्ययः ॥ न च ज्ञानविपर्यासादन्यन्नाशकरं क्वचित्। सर्वस्यैतस्य मूलं हि दुष्टसंसर्ग एव तु। दुष्टसङ्गो विरक्तस्याप्यन्यथा ज्ञानकारणम्। दुष्टसङ्गाद्धि विष्णोश्च स्वात्मत्वं मन्यतेऽबुधः ॥ अभावं स्वात्मनोऽन्यस्य मुक्तिं चापि निरात्मताम् (स्कान्दे) इति समाख्यास्मृतिसिद्धत्वात् अयमेवार्थो न शुकतीर्थाद्युक्तार्थो ग्राह्यः तमोहेतुत्वात्। मोक्षस्यात्यन्तिकत्वं कस्माद्विशिष्योच्यते[6] धर्मादिरपि पुरुषार्थत्वादित्याह **त्रैवर्ग्ये** ..ते। त्रिवर्ग सम्बन्धि पुरुषार्थः कृतान्तस्य कालात्मनो हरे र्भ्रूविभ्रमजनितनाशलक्षणभयसंयुतो यतस्तस्मादिति शेषः, भविष्यन्नाशमवलोक्य नित्यमिति ॥ ३५ ॥

**त्रैवर्ग्यार्थो ब्रह्मलोकादिसम्बन्धी** नानित्य इति। तत्राह - **परावरे चेति**। गुणव्यंतिकरान्मूल प्रकृतेरनु अनन्तरं ये भावाः

---

1. W वर्ता 2. A, B, T omit अनित्यः 3--3. W omits 4--4. W omits 5. Ma तीव्रं 6. M, Ma °शे°

पदार्थाः परावरे एष्य दतीतकाले ये वर्तमाना उत्कृष्टनिकृष्टलक्षणा वा ईशस्य कालनाम्नो हरे र्भ्रूविभ्रमण विध्वंसिताशिषां विनाशितशुभानां तेषां क्षेमी नित्यानन्दी नास्तीत्यन्वयः। अनेन ब्रह्मलोकादि प्राप्तिलक्षणः पुरुषार्थोऽपि न नित्य इत्युक्तं भवति॥ ३६॥

*मनोमात्रमिदं विश्वं यथा स्वप्ने मनः क्रिया।
क्रिया च वासनामात्रं सा नीहायां प्रलीयते॥ (क)

आत्मात्वनीहया साक्षात्स्वयंज्योतिः प्रसिध्यति।
एवं व्युदस्यात्ममायां जानंस्तूपरमेन्मुनिः॥ (ख)

न यत्र निद्रा मूर्च्छा वा नार्यदृक् च मनोरथः।
नानुवृत्तिर्न प्रलयस्तद्ब्रह्म परमं विदुः॥(ग)

तत्त्वं नरेन्द्र जगतामथ तस्थुषां च देहेन्द्रियासुधिषणात्मभिरावृतानाम्।
यः क्षेत्रवित्तपतया[1] हृदि विष्वगावि[2]ः प्रत्यक् चकास्ति भगवांस्तमवेहि सोऽस्मि॥ ३७॥

यस्मिन्निदं सदसदात्मतया विभाति माया विवेकविधुति स्म्रजि वाहिबुद्धिः।
तं नित्यमुक्तपरिशुद्ध विबु[3]द्धतत्त्वं प्रत्यूढकर्मकलिलप्रकृतिं प्रपद्ये॥ ३८॥

यत्पाद पङ्कज पलाशविलासभक्त्या कर्माशयं[4] ग्रथितमुद्गथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि[5] रुद्ध स्रोतोगणा[6]स्तमरणं भज वासुदेवम्॥ ३९॥

कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशाः[7] षड्वर्गनक्रमसुखेन[8] तितीर्षयन्ति।
तत्त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रि कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तराणम्॥ ४०॥

श्रीध. तत्त्वमिति। यस्मात् अनात्मरतिरनर्थ हेतुः तत्तस्माज्जगतां जन्मानां तस्थुषां स्थावरणां च देहादिभिरात्मनाऽहङ्कारेण

---

* These three additional verses are found in M, Ma, Ms and the commentary of Vijayadhwaja on the same may be found in its proper place.
1. M, Ma, Ms वित्त्वमनयोः 2. M, Ma, Ms °धिः 3. B, I शुद्ध 4. M, Ma, Ms °यग्र° 5--5. M, Ma, Ms तत्त्वं न तद्विमतयोऽपि विरुद्धमार्ग° 6. M, Ma, Ms गुणा° 7. A, B, G, I, J, T, W °शां 8. A तितीर्षन्ति; B, J तितीरषन्ति; G, I तितीर्षन्ति

चावृतानां हृदि यश्चकास्ति प्रकाशते तमवेहि। कथं सोऽस्मीति[1-1]। सोस्तीति पाठे स एवैकोस्ति ततोन्यदसदित्यर्थः। ननु जीव हृदि चकास्ति नान्यस्तत्राह। क्षेत्रविदं जीवं तपति नियमयतीति क्षेत्रवित्तपः तस्य भावस्तत्ता तयान्तर्यामिरूपेण। यद्वा क्षेत्रवित्ते अहम्ममतास्पदे पातीति क्षेत्रवित्तपस्तेन रूपेण जीवस्तु अहम्ममतास्पदे पातीति क्षेत्रवित्तपस्तेन रूपेण। जीवस्तु पारतन्त्र्यान्न पाति। ननु कर्म जीवं नियच्छति न आविः प्रत्यक्षः, कर्मतु[2-2] न तथा तर्हि बुद्धिः न प्रत्यक् प्रतिलोमं चकास्ति, बुद्धिस्तु पराग्विषयाकारेण, तर्ह्यहङ्कारः न विष्वग्व्याप्तत्वेन, स तु परिच्छिन्नः। एवम्भूतो यो भगवान् तमवेहीति॥ ३७॥

स्थावरजङ्गमादीनां हृदि चकास्तीत्युक्त[3] तेषां सत्त्वं तत्सम्बन्धादीश्वरस्य मालिन्यं च प्रसक्तं निराकुर्वन्नुद्रिक्तभक्तया तं प्रणमति - **यस्मिन्निति**। यस्मिन्निदं विश्वं सदससदात्मतयोत्कृष्टनिकृष्ट[4]भावेन, कार्यकारणभावेन वा मायैव विभाति तं प्रपद्ये। मायात्वे हेतुः - विवेकेन विधुतिर्निराकृतिर्यस्य तत्, स्रजि वेति वाशब्दो दृष्टान्ते। नित्यमुक्तम्। यतः परिशुद्धम्। तत्कुतः। विबुद्धं तत्त्वं सत्यमत एव प्रत्यूढाऽभिभूता निरस्ता कर्मभिः कलिला मालिना प्रकृतिर्येन तम्[5-5]॥ ३८॥

तमवेहीति ज्ञानमुपदिष्टं तस्य ज्ञानस्य[6-6] दुष्करत्वेन भक्तिमुपदिशति - **यदिति** द्वाभ्याम्। यस्य पादपङ्कजयो पलाशानि दलानि[7-7] अङ्गुलयस्तेषां विलासाः कान्तिस्तस्य भक्तया स्मृत्या कर्माशयमहङ्काररूपं हृदयग्रन्थिम्। कर्मभिरेव ग्रथितम्। रिक्ता निर्विषया मतिर्येषाम्। रुद्धः प्रत्याहृतः स्रोतोगणः इन्द्रियवर्गो यैस्ते, नोद्ग्रथयन्ति[8-8]। अरणं शरणम्॥ ३९॥

ननु "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तैत्ति.उ.2-1) इति श्रुतेः कथं यतयो नोद्ग्रथयन्तीत्युच्यते? तत्राह **कृच्छ्र** इति। अप्लवेशां[9-9] न प्लवस्तरणहेतुरीट् ईशो येषां तेषां[10], महानिह तरणे कृच्छ्रः क्लेशः, ते ह्यसुखेन योगादिना षड्वर्गनक्रम्[11-11] इन्द्रियषड्वर्गग्राहं भवार्णवं तितीर्षन्ति तत्तस्मात्, उडुपं प्लवं कृत्वा[12] दुस्तरार्णं[13-13] दुस्तरार्णवमित्यर्थः। अर्णशब्दे वकाराभाव आर्षः। यद्वा दुस्तरोदकरूपं व्यसनमित्यर्थः॥ ४०॥

वीर. एवमचिद्विकाराणामनित्यत्वमुक्तम् अथ पारमहंस्यचर्ययेत्युपक्षिप्तं प्रकृति प्राकृत[14]विलक्षणस्य नित्यस्यात्मस्वरूपस्य भगवदात्मतत्त्वेनानुसन्धानमाह - **तदिति**। तत्तस्मात् हे नरेन्द्र! असवः प्राणाः धिषणात्मशब्देन ज्ञानद्वारभूतं मन उच्यते, देहेन्द्रियप्राणमनोभिरावृतानां देहाद्यात्मकानाम्नित्यर्थः। तस्थुषां स्थावराणां, जगतां जङ्गमानां च, क्षेत्रविदः क्षेत्रज्ञाः, स्थावर जङ्गमान्त

---

1--1. Va omits 2--2. B, J, V, Va omit 3. A, B, J, V °के 4. Va omits निकृष्ट 5--5. B, J, V, Va omit 6--6. A, B, J, Va omit 7--7. B, J, V, Va omit 8--8. A, B, J, Va omit 9--9. V अप्लवेशाः प्लवः तरणहेतुः ईशो येषां ते न भवन्तीति तथा। 10. V °प्य° 11--11. B, J, V, Va omit 12. B, J, V, Va omit कृत्वा 13--13. A, B, J, Va omit" 14. A, B, T omit प्राकृत

स्था जीवाः, तपति अन्तरात्मतया नियच्छतीति तपः, तस्य भावस्तत्ता, तया जीवान्तरात्मतया यः हृदि स्थितः प्रत्यक् स्वस्मै भासमानः, अनेन पराचोऽचेतनाद्वैलक्षण्यम्[1] उक्तम्। विष्वगाविः विष्वक् सर्वतः आविः प्रकाशमानः स्वरूपेण गुणैश्च व्यापक इत्यर्थः, अनेन जीववैलक्षण्यमुक्तम्। भगवान् पूर्णषाड्गुण्यः, अनेनोभयवैलक्षण्यमुक्तं चकास्ति स भगवानहमस्मीत्यवेहि भगवदात्मकोऽहमस्मीति बुद्ध्यस्वेत्यर्थः। यद्वा देहेन्द्रियप्राणमनोभिरावृतानां स्थावरजङ्गमदेहस्थचेतनानां यः क्षेत्रवित्ते अहङ्कार ममकारास्पदे शरीरवित्ते ते पातीति क्षेत्रवित्तपः तस्य भावस्तत्ता, तस्य जीवनरूपतया परागर्थविलक्षणः प्रत्यग्भूतो हृदि चकास्ति तं जीवात्मानं स भगवानस्मीत्यवेहि भगवदात्म कोऽहमिति बुद्ध्यस्वेत्यर्थः, "तत्त्वमसि" (छान्दो.उ.6-8-7) "अयमात्मा ब्रह्मा"(बृह.उ.2-5-19) इत्यादि-वदयं सामानाधिकरण्येनानुसन्धानिर्देशः शरीरविषयबुद्धिशब्दादीनां शरीरिपर्यन्तत्वमाकृतिनयेन खण्डो गौरित्यादिवद्बोध्यम्॥ ३७॥

ननु भगवतः क्षेत्रज्ञशरीरत्वेन तद्रूपतयावस्थितौ क्षेत्रज्ञगतदोषप्रसक्तिः, मैवमित्याह - **यस्मिन्निति**। यस्मिन् क्षेत्रज्ञरूपे मायाविवेकविधुतिः मायायाः सकाशाज्जीवपरयोः विवेकः, तस्य विधूननहेतुः विवेकज्ञानविरोधिसदसदात्मतया कार्यकारण रूपेण इदं देवमनुष्यादि नानाविधरूपजातं स्रजि सर्पबुद्धिरिव विभाति, स्रजि वा इत्यत्र वाशब्दः इवाऽर्थः[2-2], जीवतादात्म्येन प्रतिभातीत्यर्थः। तं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्धतत्त्वं[3] स्वतः प्रकृतिसम्बन्धरहितस्वप्रकाशस्वरूपं[4] तथापि प्रत्यूढकर्मकलिलप्रकृतिं, प्रत्यूढम् अनादितया रूढमूलं, यत्कर्म तेन कलिला मिश्रा प्रकृतिर्यस्य तं स्वसंसृष्टकर्ममिश्रवासनमित्यर्थः प्रपद्ये अनुसन्दधे। यथा नृसिंहो भगवान् श्वेत इति नृसिंहमूर्तेः भगवतः श्वेतत्वं विग्रहद्वारकं न त्वव्यवधानेन एवं क्षेत्रज्ञरूपस्य भगवतः क्षेत्रज्ञद्वारैव कर्मसम्बन्धाज्ञानादिकं न त्वव्यवधानेनेत्यर्थः॥ ३८॥

एवं क्षेत्रज्ञशरीरत्वेनावस्थानं निर्दोषत्वं चोक्तम्, अथ स्वेन रूपेनावस्थितिमाह - **यत्पादेति**। यद्वा तुभ्यमुपदिष्टं[5] भगवद्भक्तियोगं सर्वेऽपि मुमुक्षवः अनुतिष्ठन्ति अतस्त्वमपि तमेवानुतिष्ठेत्याह - **यत्पादेति**। रिक्तेषु भगवद्व्यतिरिक्तेषु मतिः रिक्तमतिः अभगवदात्मकत्वबुद्धिर्वा, न विद्यते रिक्तमतिर्येषां ते न रिक्तमतयः, तमेव मन्वाना इत्यर्थः। निरुद्धस्रोतोगणाः निरुद्धः प्रत्याहृतः स्रोतोगणः इन्द्रियवर्गो यैस्ते, सन्तः साधवः यस्य भगवतः पादपङ्कजयोः पलाशाश्वाङ्गुलयस्ते षां विलासः कान्तिः तस्य भक्त्या कर्म च आशयश्च कर्माशयं[6] आशयो वासना ग्रथितं स्वसम्बद्धमुद्ग्रथयन्ति मोचयन्ति[7]। तस्मात्त्वमपि तमेव अरणम् ऋगतौ करणे ल्युट् स्वप्रापकमित्यर्थः। वासुदेवं भजस्व भगवद्भक्तिमन्तरेण संसारार्णवो दुस्तरः॥ ३९॥

---

1. A, B, T omit उक्तम् 2--2. A, B, T omit 3. A, B, T °शु° 4. A, B, T add कर्म 5. A, B, T °पृ° 6. A, B, T omit आशयो 7. A, B, T नाशयन्ति

अतस्तमेव भजस्वेत्युपसंहरति - कृच्छ्रं इति। अप्लवेशा ईश्वराख्यप्लवरहिताः षड्वर्गनक्रंषडिन्द्रियवर्गग्राहं भवार्णवमिह दुःखेन ये तितीर्षयन्ति[1] तर्तुमिच्छन्ति[2-2] तेषां महान् कृच्छ्रः क्लेशः तत्तस्मात् त्वं हरे र्भगवतः भजनीयं सुखाराध्यमङ्घ्रिमुडुपं प्लवं कृत्वा व्यसनं दुःखात्मकं दुस्तरार्णं तर्तुमशक्यं भवार्णवम् अर्णशब्दे वकाराभाव आर्षः[3-3] उत्तरपारं गच्छ॥ ४०॥

विज. जगतो हरिणा बुद्धिपूर्वं सृष्टत्वात् तत्प्रसादेन तस्य बन्धनिवृत्तिः, अन्यथोक्तानर्थ एवेत्याहमनोमात्रमिति। इदं प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धं, विश्वं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं हरेर्मनसा मितं निर्मितं त्रातं रक्षितं मीयते संह्रियते "मी-हिंसायाम्" इति धातोः अमात्रे अपरिच्छिन्ने मनसि स्थितत्वाद्वा मनोमात्रम्। तदुक्तम्- "मनोमात्रं हरेर्यस्मान्मनसा मीयते जगत्" (तन्त्रसारे) इति। अत्र दृष्टान्तमाह- यथेति। केयं क्रिया नामेति तत्राह- क्रिया चेति। स्वप्ने हरेरिच्छया जाग्रद्दृष्ट करितुरगादिवासनया निर्मिता मात्रन्ति प्रवर्तन्ते इति वासनामात्रम्। "व्याप्ते मनसि विष्णोश्च स्थितत्वाद्वासनामयम्" (तन्त्रसारे) इति। वस-आच्छादन इति धातोः ईश्वरेच्छयाऽऽच्छाद्यमानत्वाद्वासनामयं "वस-आच्छादनेत्यस्माद्धातोर्वा वासनामयम्" (तन्त्रसारे) इति च। यत एवं हरेरिच्छाधीनं जगदतो हरेरनीहायां सृष्टिव्यापारराहित्यावस्थायां सत्त्वादिगुणसाम्यलक्षणायां लीयतो स्वस्वकारणानु-प्रवेशपूर्वकमव्यक्तताप्नोति, न तु शून्यतां तदेतदाह- अनीहायामिति। यतो[4] हरेरिच्छाधीना जगतः स्थितिः "अतो विष्णोरनीहायां लीयते सकलं जगत्" (तन्त्रसारे) इति च॥ (क)

ननु मुक्तैः कीदृशो विष्णुः प्राप्यत इति तत्राह- आत्मेति। स्वयंज्योतिः नित्याऽविलुप्तप्रकाशः साक्षात्तुर्य आत्मा जाग्रदाद्यवस्थानुभविनो जीवात्मनो भिन्नो विष्णुरनीहया[5] अवस्थितस्तु जाग्रद्व्यापारशून्य एव व्याप्तरूपो प्रसिध्यति प्राप्यते। मुमुक्षुभिरिति शेषः इत्यन्वयः[6-6]। "अनीहावस्थ एवासौ मुमुक्षुभिरवाप्यते" (तन्त्रसारे) इति च। फलमाह- एवमिति। जीवपरयोरेव मुक्तविधया[7] स्वस्वामिभावं जानन् मुनिः भिदापरपर्यायामात्ममायां बन्धशक्तिं व्युदस्य उपरमेत् हरिमुपगम्य सुखलक्षणां रतिं प्राप्य निर्मूलितसंसारो भवेदित्यर्थः। "एवं विद्वान् बन्धशक्तिं व्युदस्य हरिमाप्नुते"। (तन्त्रसारे) "प्रकृतिर्भिदा च माया च भ्रमश्च" (तन्त्रसारे) इत्यभिधीयते। "बन्धशक्तिर्यया लोको बंभ्रमीत्यनिशं भुवि" (तन्त्रसारे) इति च॥ (ख)

अनीहावस्थ एव मुमुक्षुभिः प्राप्य इत्युक्तं, तत् स्पष्टमाचष्टे - न यत्रेति। निद्रा सुषुप्तिः, मूर्च्छा मोहः, अर्थदृग् जाग्रत्, अनुवृत्तिर्जीवन्मुक्तिः "अनुवृत्तिरिति प्राज्ञैर्जीवन्मुक्तिरुदीर्यते" (शब्दनिर्णये) इति च। एताः निद्राद्यवस्थाः यत्र न सन्ति स्वशक्तिव्यञ्जिता न भवन्ति। तद्विजितात्मनो मनोजयवतो मुमुक्षोः प्राप्यं ब्रह्मेत्यन्वयः॥ (ग)

---

1. T तितीरिषन्ति 2--2. T omits 3--3. A, B, T omit 4. Ma omits यतो 5. Ma °हायां 6--6. A, B omit 7. A, B °धस्व

ननु जीवात्मा तदुपजीव्यः परमात्मा च कथं ज्ञातव्य इत्याशङ्क्य तत्तत्त्वं विविच्योपदिशन्नाह-तत्त्वमिति। हे नरेन्द्र! यस्त्वमनयोः स्थावरजङ्गमयोः मध्ये विष्वगाधिर्नानादुःखस्सन् "एको जीवोऽसि" "स दुःखी" इति श्रुतिः। तत्त्वं हृदि स्थितमवेहि, "हृदि ह्येष आत्मा" (प्रश्न. उ. 3-6) इति श्रुतिः। अनेन जीवात्मनो देहे कुत्रावस्थानमिति शङ्का परिहृतेति ज्ञायते त्वं क इति तत्राह - सोऽस्मीति। योऽहं तव सदृशो जीवोऽस्मि तं मां ज्ञानान्महान् भवामीत्यवेहि। अनेन तारतम्यज्ञानमावश्यकमित्युक्तं भवति। अथ जीवस्वरूपज्ञानानन्तरमीश्वरज्ञानं प्रददामीत्याह- अथेति। यः क्षेत्रवित् क्षेत्रज्ञः सर्वान्तर्यामी सर्वस्य प्रत्यक् चकास्ति आभिमुख्येन प्रकाशते दुर्भगशरीरस्थोऽपि तन्मलाद्यलिप्ततया जीवव्यतिरिक्तो जीवस्यात्यन्तोपकारित्वेन साक्षित्वेनावभासते स भगवान् तुभ्यं सुखादिप्रदः श्रीनारायण इत्यवेहि। तं विशिनष्टि जगतामिति। देहश्चेन्द्रियाणि चासवः प्राणाश्च धिषणा बुद्धिश्चात्माहङ्कारश्चेत्येतैरावृतानां जगतां जङ्गमानां तस्थुषां स्थावराणां च तत्त्वं सर्वसत्ताप्रदत्वात्, तदुक्तम् "सर्वसत्ताप्रदत्वात्तु सर्वतत्त्वं हरिः स्मृतः। सर्वत्र विततत्वाद्वा सोऽहं त्वमिति चोच्यते। सर्वान्तरात्मकत्वात्तु न जीवात्मतया हरिः" (निर्णये) इति च। "अभिमान स्त्वहङ्कार आत्मा चेत्यभिधीयते"(शब्दनिर्णये) इति वचनात् तत्राभ्माऽहङ्कारः "व्यवधानेनान्वयोऽपि योग्यतापेक्षया भवेत्" (शब्दनिर्णये) इति वचनात् सात्त्विकानां जीवपरभेदज्ञाने विशिष्टमुक्तिसाधने योग्यतामपेक्ष्य व्यवधानेनान्वयो युक्तः। अनेनेतरेषामभेदज्ञाने तमःसाधने योग्यतेति यथास्थितान्वय इति दर्शितम्। किञ्च तत्त्वज्ञानस्य गोपनीयत्वेन परोक्षत्वस्य देवप्रीतिहेतुत्वात् "परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः" (बृह. उ. 4-2-2) इति श्रुतेः। अतो यथापाठमेवार्थं वदतोऽसुरप्रकृतित्वान्न मोक्षशास्त्राधिकारिण इति बुद्ध्वा सद्भिस्तत्सङ्गः परिहर्तव्यश्चण्डालसङ्गवदिति तात्पर्यम्॥ ३७॥

ननु मायाकल्पित पञ्चभूतात्मदेहे ब्रह्मैव सुखदुःखे अनुभवति ब्रह्मैव संसरति ब्रह्मैव मुच्यत इत्याचार्योक्तेः। "विमुक्तश्च विमुच्यते" (कठ. उ. 5-5-1) इति श्रुतेश्चातो न स्वामिभृत्यभावेनात्र द्वयाङ्गीकारो युक्त इति तत्राह - यस्मिन्निति। इदं सत् पृथिव्यादिकम् असद्गगनादिकं जगत्, यस्मिन् भगवति आत्मतया निजस्वरूपतया विभातीति योऽयमयोगिराद्धान्तः स मायाविवेकविधुतिः माययोर्ज्ञानप्रकृत्यभिधेययो र्विवेकात् विचिर्-पृथग्भावे इति धातोः ज्ञानदेहो हरिः पञ्चभूतदेहो जीव इति पृथङ् निश्चितज्ञानाद्विधुतिः विध्वंसो यस्यायोगिराद्धान्तस्य स तथोक्तः। एतदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति व्रजीति। व्रजि मालाकृतौ रज्जावहिबुद्धिर्वा। अयं भावः- यथा रज्जुतत्त्वाज्ञानाद्रज्जौ सर्पज्ञानमुत्पन्नं गुरूपदेशात् सर्पण दर्वीशिरोलक्षण फणाद्यभावज्ञानाद्वा स्पर्शकार्कश्य ज्ञानाद्वा विधूयते तथा प्रमाणबाहुल्यदर्शनात् तत्त्वज्ञानोपदेष्टाचार्य वाक्याद्वा ब्रह्मणो जगदात्मत्वं विधूयते नित्यमुक्तत्वादिलक्षणानामनन्यसाधारणानां सत्वान्न ब्रह्मणः संसारो युक्त इति स्पष्टयन् यच्छब्देनोक्तं तच्छब्देन परामृश्य प्रपद्य इति क्रियापदेनान्वेति-तमिति। जीवव्यावृत्त्यर्थं

नित्यशब्दः प्रत्येकमभि सम्बध्यते[1]- नित्यमुक्तं नित्यपरिशुद्धं च नित्यविबुद्धं च यत्तत्त्वमनारोपितं रूपं तद्यस्य स च अत एव प्रत्यूढे निरस्ते कर्म पुण्यपापलक्षणम् अदृष्टं सत्त्वादिगुणकलिला प्रकृतिश्च येन स तथा तं, "यत्स्वरूपतया भातमज्ञानां गगनादिकं विवेकज्ञानिना रज्जौ सर्पभावद्विधूयते "तं नित्यमुक्तभावेन निरस्तप्रकृतिं भजेत्" (ज्ञानविवेके) "नभ्रान्तिर्जगतो दृष्टिर्न भ्रान्तिर्हरिदर्शनम्। अन्योऽन्यात्मतया दृष्टिर्भ्रान्तिरित्यवधार्यताम्॥ (शब्दनिर्णये) मायेति ज्ञाननाम स्यान्मायेति प्रकृतिस्तथा। ज्ञानं स्वरूपं विष्णोस्तु प्रकृतिर्न हरेस्तनुः॥ एवं विवेकिनो विश्वं ब्रह्मरूपेण नेष्यते (वाराहे) पञ्चभूतात्मकं देहं विष्णोः पश्यन्त्ययोगिनः॥ तथा न योगिराद्धान्तो ज्ञानदेहो यतो हरेः" (षाड्गुण्ये) इति प्रमाणबाहुल्यान्मायादि-शब्दानामुक्त एवार्थो न दुर्वादिकल्पित इति निरवद्यम्। सर्पभावत् सर्पज्ञानवत्॥ ३८॥

एवं विध संसारोच्छेदे कारणं हरेः सर्वोत्तमत्वज्ञानं भक्त्यविनाभूतमतो भक्तिरेव प्रधानमित्याह-यत्पादेति। यस्य पादपङ्कजयोः पत्रायमाणास्वङ्गुलीषु तत्तत्त्वं नोद्ग्रथयन्ति, कुत इति हेतुगर्भविशेषणमाह- विरुद्धेति। विरुद्धमार्गाः स्रोतोगुणाः संसारगुणा येषां ते तथोक्ताः संसारगुणानां विरुद्धत्वेन हेयत्वेन प्रतीयमानत्वादित्यर्थः संसारगुणानां विरुद्धत्वेन प्रतीतौ किं कारणमिति चेन्न, नैजः सर्वगुणोत्कर्षस्वभावो दुस्त्यजः। तदुक्तम् - "नैजः सर्वगुणोत्कर्षः सर्वेभ्यो महदुच्यते" (शब्दनिर्णये) इति च। अनेन तत्त्वज्ञानिषु तत्तद्गुणोत्कर्षो महत्त्वकारणमित्युक्तं भवति, द्विमतौ च ज्ञानदौर्बल्यं कारणम्। "अनाद्यन्तं परं ब्रह्म न देवा ऋषयो विदुः। एकस्तद्वेद भगवान् प्रभुर्नारायणो विराट्॥" (मोक्षधर्मेषु) इति। अनेन श्रीनारायणादृते सर्वेषामिति द्वामत्यं सम्भाव्यत इति सूचितम्। अतस्त्वं तं वासुदेवमरणं शरणं व्रजेत्यन्वयः॥ ३९॥

संसारोत्तारहेतुत्वात् भक्तेरेव सर्व गुणोत्कृष्टत्वमित्यभिप्रेत्याह - कृच्छ्र इति। अप्लवेशा भक्तिलक्षणतरी रहिताः षड्वर्ग एव नक्रो यस्मिन् स तथा तं भवार्णवं ये तितीर्षन्ति तर्तुमिच्छन्ति तेषामिह महान् कृच्छ्र इति यस्मात्तस्मात्त्वं हरेर्भजनीयमङ्घ्रिमुडुपं नावं कृत्वा व्यसनं विविधाऽऽपद्युक्तं दुस्तरार्णवं, ज्ञाननावं विना तर्तुमशक्यं, संसारसमुद्रमुत्तरेत्यन्वयः॥ ४०॥

## मैत्रेय उवाच

**स एवं ब्रह्मपुत्रेण कुमारेणात्ममेधसा।**

**दर्शितात्मगतिः सम्यक्प्रशस्योवाच तं नृपः॥ ४१॥**

---

1. B, M. Ma सम्पद्यते

[1-] राजोवाच [-1]

**कृतो मेऽनुग्रहः पूर्वं हरिणाऽऽर्तानुकम्पिना।**

**तमापादयितुं ब्रह्मन् भगवन् यूयमागताः ॥ ४२ ॥**

**निष्पादितश्च कात्स्न्येन भगवद्भि[2] र्घृणालुभिः[3]।**

**[4-]साधूच्छिष्टं[-4] हि मे सर्वमात्मना सह किं ददे ॥ ४३ ॥**

**प्राणा[5] दाराः सुता ब्रह्मन् गृहाश्च सपरिच्छदाः[6]।**

**राज्यं[7] बलं मही कोश इति[8] सर्वं निवेदितम् ॥ ४४ ॥**

**श्रीध० स** इति। आत्ममेधसा ब्रह्मविदा, दर्शिता आत्मनो गतिस्तत्त्वं यस्मै सः ॥ ४१ ॥

**कृत** इति। ब्रह्मन्निति सम्बोधनं प्राधान्यादेकस्य। यूयमित्युक्तिः सर्वान् प्रति ॥ ४२ ॥

**निष्पादित** इति। आत्मना देहेन सह सर्वं राज्यादिकं मदीयं साधूच्छिष्टं साधुभिः स्वीयं सन् मह्यं प्रसादरूपेण दत्तमतस्तत्र मम स्वत्वाभावात् गुरुदक्षिणार्थं किं ददे। न हि पित्रा दत्तं मोदकादि तस्मै दानरूपेण प्रत्यर्प्यते ॥ ४३ ॥

निवेदनं तु तदीयस्यैव तस्मै[9] समर्पणं यथा भृत्यो राज्ञे सेवादिरूपेण[10] ताम्बूलादिकमर्पयति तथा मयापि सर्वं निवेदितं स्वीकुरुतेत्याह - **प्राणा** इति ॥ ४४ ॥

**वीर०** आत्ममेधसा ब्रह्मविदा, ब्रह्मपुत्रेण सनत्कुमारेण दर्शिता आत्मनो गतिस्तत्वं यस्य स नृपः पृथुः सम्यक् प्रशंसां कृत्वा तं कुमारमुवाच ॥ ४१ ॥

आर्तानां तापत्रयातुराणाम् अनुकम्पिना हरिणा पूर्वं मे मह्यमनुग्रहः कृतः। हे ब्रह्मन्! भगवन्! तमनुग्रहमापादयितुं निष्पादयितुं यूयमत्रागताः ॥ ४२ ॥

दयालुभिर्भवद्भिः [11-] युष्माभिः[-11] यत्समीहितं कात्स्न्येन निष्पादितं ब्रह्मोपदेष्टे तुभ्यं मदीयं किं देयमस्तीत्याह- साधूच्छिष्टमिति।

---

1--1. M, Ma, Ms पृथुरुवाच 2. M, Ma, Ms/°तच्च; V °तन्तु 3. W °द्भिः कृपां 4--4. M, Ma, Ms साधु दत्तं 5. W राज्यः 6. M, Ma, Ms ग्रहाः 7. M, Ma, Ms रायो 8. V °मिति 9. B, J, V, Va omit तस्मै 10. V सेवारू° 11--11. A, B, T omit

आत्मना देहेन[1] सह सर्वं मे मदीयं साधूनामुच्छिष्टं साधूनामनुग्रहलब्धमित्यर्थः। अतो भवदनुग्रहाल्लब्धं भवद्भ्यः किं ददे गुरुदक्षिणायै किं ददे? न ह्यनुग्रहीत्रा दत्तं पुनस्तस्मै दीयत इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

यद्यप्येवं तथापि राज्ञे भृत्येनेव मया निवेदितं स्वीकुरुतेत्याह- **प्राणा** इति। प्राणाः असवः, रायः धनानि, सपरिच्छदाः सोपकरणा गृहा राज्यं बलं महीकोशः मह्यात्मकः कोशः पृथ्व्याः[2] पद्माकारत्वात् कोश इत्युक्तम्। यद्वा कोशः रत्नभाण्डादिरूपः, रैशब्दस्तद्व्यतिरिक्तधनपरः, इति शब्दः प्रकारे। एवं विधमन्यत्सर्वमपि निवेदितं तुभ्यं मयेति शेषः ॥ ४४॥

**विज.** इतः परमुपदेष्टव्यांशो नास्त्यतः परं राज्ञा किमुक्तमत्राह- **स एवमिति**। आत्मनो हरेर्मेधा ज्ञानं यस्य स तथा तेन मनोयोगवता वा॥ ४१ ॥

किमवोचत्तत्राह - **कृत** इति॥ ४२ ॥

तदपूरणे भगवदागमनेनापि किं प्रयोजनमिति शङ्कांशो नास्तीत्याशयेनाह - **निष्पादितमिति**। घृणालुभिः दयाशीलैः एवमुपकर्तृभ्यो युष्मभ्यं कापि गुरूदक्षिणा मया दातव्या तदुरुदक्षिणालक्षणं किं धनमात्मना देहेन सह ददे ददामि ? न मम किञ्चित्स्वाधीनमस्तीत्यर्थः। राज्यादिकमस्ति चेत्सर्वं तत्साधुभ्यो दत्तं तदधीनमहं कथं दास्यामि परकीयदानात् चौर्यमापद्यत इति भावेनोक्तं साधुदत्तमिति॥ ४३ ॥

ननु तथापि साधुभिरात्मसत्कृतं राज्यादिकं तद्दातव्यमिति चेत् सत्यं, तद्दातुं योग्यं चेद्दास्यामीत्याह - **प्राणा** इति। रायो वित्तानि॥ ४४ ॥

**सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।**[3]

**सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥ ४५ ॥**

***स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।**

**तस्यैवानुग्रहेणान्नं भुञ्जते क्षत्रियादयः ॥ ४६ ॥**

**यैरीदृशी भगवतो गतिरात्मवादे एकान्ततो निगमिभिः प्रतिपादिता नः।**

**तुष्यन्त्वदभ्रकरुणाः स्वकृतेन नित्यं को नाम तत्प्रतिकरोति विनोदपात्रम्॥ ४७ ॥**

---

1. W omits सह 2. A, B, T omit पृथ्व्याः 3. M, Ma, V से° *This verse is not found in M, Ma

**मैत्रेय उवाच**[1-1]

**त आत्मयोगपतय आदिराजेन पूजिताः ।**

**शीलं तदीयं शंसन्तः खेऽभूवन्मिषतां नृणाम् ॥ ४८ ॥**

**श्रीध.** आत्मनः स्वत्वाभावं प्रपञ्चयति - **सैनापत्यं चेति** द्वाभ्याम् । दण्डो[2-2] दमः तन्नेतृत्वम्[2-2] ॥ ४५ ॥

**स्वमिति** । वस्ते परिधत्ते अन्नमात्रं केवलं भुञ्जते न तु दाने स्वतन्त्राः ॥ ४६ ॥

सत्यपि स्वत्वे सर्वस्वेनापि न गुरोः प्रत्युपकर्तुं शक्यमित्याह - **यैरिति** । आत्मवादेऽध्यात्मविचारे एकान्ततः निश्चयेन[3] निगमिभिर्वेदविद्भिः ते नित्यमनल्पकरुणाः स्वकृतेनैव दीनोद्धरणकर्मणा तुष्यन्तु, को नाम तत्कृतमुपकारं प्रति स्वयमुपकरोत्युदपात्रमञ्जलिं विना । मया अञ्जलिरेव तेभ्यो बद्ध इत्यर्थः । यद्वा विनोदपात्रमुपहासास्पदम्[4] । प्रत्युपकारे प्रवृत्तो जनानामुपहासास्पदं[5] भवेदित्यर्थः ॥ ४७ ॥

**त इति** । खेऽभूवन्नाकाश मार्गेणोद्गताः[6-6] ॥ ४८ ॥

**वीर.** ननु मद्योग्यमेव मह्यं समर्पणीयं तत्राह । **सैनापत्यं** सेनानायकत्वं दण्डनेतृत्वं दण्डनायकत्वं तथा सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ ४५ ॥

एतदेवोपपादयति । ब्राह्मणः स्वमेव स्वीयमेवान्नं भुङ्क्ते स्वीयमेव वस्त्रादिकं वस्ते परिधत्ते ददाति च क्षत्रियादिभ्यः तस्यैव ब्राह्मणस्यैवानुग्रहेण लब्धमन्नं क्षत्रियादयो भुञ्जते ॥ ४६ ॥

सत्यपि स्वत्वे सर्वस्वेनापि न गुरोः प्रत्युपकर्तुं शक्यमित्याह - **यैरिति** । आत्मवादे अध्यात्मविचारे एकान्ततो निश्चयेन निगमिभिः निगमानुसारिभिः यैर्युष्माभिः ईदृशी (गतिः) दुस्तरमहाव्यसनात्मकसंसारार्णवनिस्तरणोपायभूता नः अस्मभ्यं प्रतिपादिता ते नित्यमनल्पकरूणाः भवन्तः स्वकृतेन आर्तोद्धरणकर्मणा तुष्यन्तु । को नाम त्वत्कृतमुपकारं प्रति स्वयमुपकरोति उदपात्रं तोयाञ्जलिं विना उदकप्रदानपूर्वकमञ्जलिबन्धनमेव तस्य प्रत्युपकार इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

आत्मयोगं पान्ति अनुष्ठानानुष्ठापनाभ्यामित्यात्मयोगपतयस्ते सनकादयः आदिराजेन पृथुना पूजितास्सन्तः तदीयं पृथोः सम्बन्धि शीलं प्रशंसन्तः नृणां मिषतां पश्यतां सतां खे अभूवन् आकाशमारूढा इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

---

1--1. W omits  2--2. B, J, V, Va omit  3. A adds अपि  4. V °म°  5. V °म°  6--6. V मार्गे गताः

**विज.** युष्मभ्यं सर्वं निवेदितमिति मोहादुक्तं तत्क्षन्तव्यं सर्वस्य युष्मदीयत्वान्न मया दातव्यमित्याह- **सैनापत्य मित्यादिना** ॥ ४५,४६ ॥

किं बहुनानुलापेनेदमेव भवदर्हणमित्याह- **यैरीदृशीति**। निगमिभिः वैदिकैरात्मवादे वेदान्ते एकान्ततो मुख्यत्वेन निर्णीतत्वात् यैर्भवद्भिरीदृशी हरेर्गतिरस्माकं प्रतिपादिता ते यूयं स्वकृतेन तुष्यध्वमित्यन्वयः । किं नीरसमधुरवचनेनेत्युक्तं तुष्यन्त्विति ॥ ४७ ॥

तत्प्रियवचनान्ते तैः किमकारीत्यत्राह - **त आत्मेति**। आत्मयोगस्याध्यात्मयोगस्योपदेष्टृत्वेन पतयः, मिषतां पश्यतां, खे आकाशे ॥ ४८ ॥

**वैन्यस्तु[1] धुर्यो महतां संस्थित्याऽध्यात्मशिक्षया।**
**आप्तकाममिवात्मानं येन आत्मन्यवस्थितः ॥ ४९ ॥**

**कर्माणि च यथाकालं यथादेशं यथाबलम्।**
**यथोचितं यथावित्तमकरोद् ब्रह्मसात्कृतम् ॥ ५० ॥**

**फलं ब्रह्मणि विन्यस्य[2] निर्विषङ्गः समाहितः।**
**कर्माध्यक्षं च मन्वान आत्मानं प्रकृतेः परम् ॥ ५१ ॥**

**गृहेषु वर्तमानोऽपि स साम्राज्यश्रियाऽन्वितः[3]।**
**नासज्जतेन्द्रियार्थेषु[4] निरहम्मतिरर्कवत् ॥ ५२ ॥**

**एवमध्यात्मयोगेन कर्माण्यनुसमाचरन्।**
**पुत्रानुत्पादयामास पञ्चार्चिष्यात्मसम्मितान्[5] ॥ ५३ ॥**

**विजिताश्वं[6] धूम्रकेशं[7] हर्यक्षं[8] द्रविणं वृकम्।**
**सर्वेषां लोकपालानां दधारैकः पृथग्गुणान्[9]।**
**गोपीथाय जगत्सृष्टेः काले स्वे स्वेऽच्युतात्मकः ॥ ५४ ॥**

1. V वैन्योऽपि 2. Ms, V सन्न्यस्य 3. V °था युतः 4. W नाऽभ 5. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T, V सम्म° 6. M, M a धूम 7. Ms केतुं 8. V हर्यश्वं 9. A, B, G, I, J, T, V पृथु गुणान्

**मनोवाङ्मूर्तिभिः[1] सौम्यै र्गुणैः संरञ्जयन् प्रजाः ।**

**राजेत्यधान्नामधेयं सोमराज इवाऽपरः ॥ ५५ ॥**

**सूर्यवद्विसृजन् गृह्णन् प्रतपंश्च भुवो वसु ।**

**दुर्धर्षस्तेजसेवाऽग्निः महेन्द्र इव दुर्जयः ॥ ५६ ॥**

**श्रीध० वैन्य** इति । धुर्योमुख्यः अध्यात्मशिक्षया या संस्थिति रेकाग्रता तथाऽऽत्मनि स्वस्वरूपे[2-2] अवस्थित स्सन् मेने ॥ ४९ ॥

**कर्माणीति** । ब्रह्मसात्कृतं ब्रह्मण्यर्पितं यथा भवति तथा ॥ ५० ॥

**फलमिति** । निर्विषङ्गः कर्मस्वनासक्तः कर्माध्यक्षं कर्मसाक्षिण मुदासीनं मन्वानोऽकरोदिति पूर्वेणैवान्वयः । नासज्जतेत्युत्तरेण वा ॥ ५१,५२ ॥

**एवमिति** । अर्चिषि भार्यायाम् ॥ ५३,५४ ॥

**मन** इति । सोमश्चाऽसौ राजा च स इव ॥ ५५ ॥

भुवो वसु धनं गृह्णन् विसृजंश्चासौ सूर्यवत् राज्ञः प्रतपन माज्ञाकरणम् । अग्निरिव तेजसा[3] दुर्धर्षः ॥ ५६ ॥

**वीर.** धुर्यः श्रेष्ठो वैन्य स्तु महतां सनत्कुमारादीना मध्यात्मशिक्षया हेतुभूतया या संस्थिति र्निष्ठा तथा आत्मन्येवा वस्थितः परमात्मोपासननिष्ठः आत्मान माप्तकामं अवाप्तसमस्तकाम मिव मेने ॥ ४९ ॥

तथा परमात्मोपासनाङ्गत्वेन देशकालादिक मनतिक्रम्य कर्माणि वर्णाश्रमोचितानि, ब्रह्मण्यर्पितं यथा भवति तथाऽकरोत् ॥ ५० ॥

एव मुपासनाङ्गत्वेन कर्मयोगमकरोदित्युक्तं, तच्च कर्मयोगं फलसङ्गकर्तृत्वत्यागात्मयाथात्म्यानुभवपूर्वक मकरोदित्याह - **फल मिति** । ब्रह्मणि फलं सन्न्यस्य फलस्य ब्रह्मायत्तता मनुसन्धाय न तु स्वानुष्ठीयमान कर्मायत्तताम्रित्यर्थः । तथा निर्विषङ्गः ममेदं कर्मेति मतिरहितः । अनेन सङ्गत्याग उक्तः । कर्माध्यक्षं कर्मसु कर्तृत्वाभिमानि न मात्मानं प्रत्यगात्मानं प्रकृतेः परं मन्वानः, कर्तृत्वाभिमानः प्रकृतिसंसर्गकृतो न तु स्वभावत इत्येवं[4] मन्वान इत्यर्थः । अकरोदिति पूर्वेणाऽन्वयः ॥ ५१ ॥

---

1. A, B,G, I, J, T वाग्वृत्तिभिः  2--2. B, J, V, Va omit  3. V omit तेजसा  4. T °व°

स पृथुः गृहेषु भोगस्थानेषु वर्तमानोऽपि साम्राज्यश्रियाऽन्वितोऽपि सन्निहित भोग्य[1] भोगोपकरणोऽपि निरहंमतिः देहात्मभ्रमरहितः अत एव इन्द्रियार्थेषु व्याप्नुवन्नपि[2] नाऽसज्जत नाऽसक्तोऽभूत्, यथा सूर्यः स्वप्रभया पङ्कादिषु व्याप्नुवन्नपि तैर्न लिप्त स्तथेत्यर्थः ॥ ५२ ॥

एव मध्यात्मयोगेन भगवद्भक्तियोगेन अध्ययनेन वसतीतिवद्धेत्वर्थे तृतीया, अध्यात्मयोगार्थ मित्यर्थः । यद्वा प्रकृतिविविक्तात्मयाथात्म्यज्ञानयोगपूर्वकं, कर्माणि अनु देशकालानुसारेण समाचरन् अर्चिषि अर्चिर्नाम्न्यां भार्याया मात्मसम्मिता नात्मतुल्यान्, सम्मतानितिपाठे आत्मानुकूलानित्यर्थः । पुत्रानुत्पादयामास ॥ ५३ ॥

पुत्रान्प्रति निर्दिशति - **विजिताश्व** मित्यर्धेन । विजिताश्वादीन् पुत्रा नित्यन्वयः । सर्वेषा मिन्द्रादीनां पृथक् प्रत्येकं योऽयोऽसाधारणो गुणः तान् सर्वानेक एव अच्युतात्मनः अच्युतस्य परमात्मनो या जगत्सृष्टिः तस्या गोपीथाय रक्षणाय स्वे स्वे काले उचितकाले दधार दधौ ॥ ५४ ॥

मनोवाक्कायैः सौम्यै र्गुणैश्च प्रजाः संरञ्जयन् राजेति नामधेय मधात् दधार । अपरः सोमराज इव सोमश्चाऽसौ राजा च सोमराजः स इव लोकरञ्जनात् सोमश्चन्द्रो राजेति नाम यथाऽधात् तथेत्यर्थः ॥ ५५ ॥

लोकपालासाधारणगुणान् उचितकालेष्वेक एवाधादित्युक्तम् । तदेवोपपादयति सूर्यवदित्यादिना यावदध्यायसमाप्ति ।

भुवः वसु धनं गृह्णन् विसृजन्नसौ सूर्य इव प्रातः प्रतपन् आज्ञां कुर्वन् तेजसा अग्नि रिव दुर्धर्षः परै रभिभूवितु मशक्यः महेन्द्र इव दुःखेनाऽपि जेतु मशक्यः ॥ ५६ ॥

विज. पृथुना तेभ्यः समग्रानुग्रहः प्राप्त इत्यस्य लक्षण माह - वैन्य इति । महतां धुर्यः घूर्वोढा संस्थित्या सम्पूर्णयाऽध्यात्म शिक्षया परमात्मतत्त्वज्ञानाऽऽदानलक्षणया, इव शब्द एवार्थे ॥ ४९ ॥

तस्य कर्मकरणप्रकार माह - **कर्माणीति** ॥ ५० ॥

निर्विषङ्गः कर्मफलेष्वनासक्तः प्रकृतेः परमात्मानं श्रीहरिं कर्मणा मध्यक्षं साक्षिणं मन्वानः ॥ ५१-५२ ॥

विषयासक्त्या वर्तमानस्य पुत्रानुत्पादनेन स्वपुरराज्यरक्षणपुण्यप्राप्तिः कथ मत्राह - **एवमिति । अर्चिषि भार्यायाम्** ॥ ५३ ॥

---

1. A, T omit भोग्य 2. B, W omit व्याप्नुवन्नपि

एवं सन्न्यस्तसर्वकर्माऽपि राजा भगवदनुग्रहाऽविरोधेन तत्तत्कर्मणेन्द्रादि तत्तद्गुणान् दधारेत्याह - सर्वेषा मिति। जगत्सृष्टे र्गोपीथाय रक्षणाय अच्युते आत्मा मनो यस्य सोऽच्युतात्मकः ॥ ५४ ॥

राजशब्दं निर्वक्ति मनोवागिति। रञ्जना द्राजेति इन्द्रादिगुणधारणप्रकारं विविच्य वक्ति - **सोमराज** इत्यादिना ॥ ५५ ॥

वसु जलं "वसुरत्नं जलं रश्मि र्वसुर्देवो विभावसुः, इत्यभिधानम् ॥ ५६ ॥

**तितिक्षया धरित्रीव द्यौरिवाभीष्टदो नृणाम्।**
**वर्षति स्म यथाकामं[1] पर्जन्य इव तर्पयन् ॥ ५७ ॥**

**समुद्र इव दुर्बोधः सत्येनाऽचलराडिव।[2]**
**धर्मराडिव शिक्षाया मैश्वर्ये[3] मघवानिव ॥ ५८ ॥**

**कुबेर इव कोशाढ्यो गुप्तार्थो वरुणो यथा।**
**मातरिश्वेव सर्वात्मा बलेन महसौजसा[4] ॥ ५९ ॥**

**अविषह्यतया देवो भगवान् भूतराडिव।**
**कन्दर्प इव सौन्दर्ये मनस्वी मृगराडिव ॥ ६० ॥**

**वात्सल्ये मनुवन्नृणां प्रभुत्वे भगवानजः।**
**बृहस्पति र्ब्रह्मवादे आत्मवत्त्वे[5] स्वयं हरिः ॥ ६१ ॥**

***भक्त्या गोगुरुविप्रेषु विष्वक्सेनानुवर्तिषु।**
**ह्रिया प्रश्रयशीलाभ्या मात्मतुल्यः परोद्यमे ॥ ६२ ॥**

**कीर्त्योर्ध्व[6] गीतया पुम्भि स्त्रैलोक्ये तत्र तत्र ह।**
**प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेषु स्त्रीणां रामः सतामिव ॥ ६३ ॥**

---

1. M, Ma, Ms कामैः, T कालं  2. A, B, G, I, J, Ms, T, V सत्त्वे°  3. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °माश्चर्ये हिमवानिव
4. A, B, G, I, J, T सहसौ°; M, Ma, Ms महती°  5. M, Ma, Ms त°  6. V °रू°
* विजय ध्वजीयव्याख्यानुसारेण "भक्त्या गोगुरु" इत्यारब्धः श्लोकार्धभागः एकश्लोकत्वेन मत्वा पृथकसंख्या दत्ता।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

**श्रीध.** तितिक्षयेति। द्यौः स्वर्ग इव ॥ ५७ ॥

**समुद्र** इति। समुद्रो यथा गाम्भीर्ये गैतावानिति न बुद्ध्यते तथाऽसौ अभिप्रायतो दुर्बोधः। अचलराट् मेरु रिव ॥ ५८ ॥

**कुबेर** इति। सर्वात्मा सर्वत्र सञ्चारशक्तिः बलादिभि र्मातरिश्वेव ॥ ५९ ॥

**अविषह्यतयेति**। भूतराट् श्रीरुद्रः ॥ ६० ॥

**वात्सल्ये** इति। अजो ब्रह्मेव। आत्मवत्त्वे जितेन्द्रियत्वे ॥ ६१ ॥

**भक्त्येति**। भक्त्यादिभिः परार्थोद्यमे चाऽऽत्मना स्वेनैव[1] तुल्यो निरुपमः ॥ ६२ ॥

**कीर्त्येति**। पुम्भिः सत्पुरुषैः रामः सीतापतिः यथा सतां कर्णरन्ध्रेषु प्रविष्टः ॥ ६३ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे
श्री श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

**वीर.** तितिक्षया सहनेन धरित्रीव अपराधतितिक्षासमये धरित्रीतुल्यः नृणा मभीष्टदानावसरे द्यौः स्वर्ग इव पर्जन्य इव तर्पयन् नृणां कामान् वर्षति स्म ॥ ५६ ॥

समुद्र इव दुर्बोधः अपरिच्छेद्यः सत्त्वेन अचलराडिव मेरुरिव, शिक्षायां धर्मराडिव यम इव, ऐश्वर्ये हिमवानिव, हिम वान् हि रत्नाकरः। मघवानिवेति पाठे इन्द्रइव, वरुण इव गुप्तार्थः गुप्तमन्त्रः मातरिश्वा वायुरिव सर्वात्मा सर्वगः बलेन ओजसा महसा[2] च। बलं शरीरबलं, ओजः इन्द्रियबलं, महः देहकान्तिः ॥ ५८-५९ ॥

अविषह्यतया च भगवान् भूतराट् रुद्र इव सौन्दर्येण कन्दर्प इव मृगराट् सिंह इव मनस्वी स्वैरी ॥ ६० ॥

---

1. B, J, V, Va omit स्वेन 2. A, B, T omit महसा

मनुः स्वायम्भुवः, अजश्चतुर्मुखः, प्रभुत्वे ब्रह्मवादे वेदवादे बृहस्पति रिव आत्मवत्त्वे यदधीनं धनं स हि धनवान्, यदधीन आत्मा स आत्मवान् स्वाधीनत्वे इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

गोषु गुरुषु विप्रेषु च विष्वक्सेनानुवर्तिषु च भक्तः ह्रियादिभिः परार्थोद्यमे आत्मतुल्यः निरुपमः ॥ ६२ ॥

त्रैलोक्ये तत्र तत्र पुरग्रामादि वासिभिः पुम्भिः ऊर्ध्वमुच्चैः गीतया कीर्त्या स्त्रीणां कर्णरन्ध्रेषु[1-] प्रविष्टः सतां कर्णरन्ध्रेषु[-1] रामः सीतापतिरिव ॥ ६३ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

विज० अचलराट् मेरुः ॥ ५७-५८ ॥

कोशाढ्यः धनाधिपतिः सर्वात्मा सर्वान्तरस्थः ॥ ५९ ॥

भूतराट् सदाशिवः, मृगराट् सिंहः ॥ ६० ॥

अजो ब्रह्मा आत्मतत्त्वे परमात्मतत्त्वज्ञाने अधिकदृष्टान्तोऽयम् ॥ ६१ ॥

अथाऽपि तमेवाह - भक्त्येत्यादिना। गवादिषु भक्त्या ॥ ६२ ॥

लज्जादिगुणेन पुम्भिः ऊर्ध्वगीतया उच्चैः कीर्तितया कीर्त्या स्त्रीणां कर्णरन्ध्रेषु प्रविष्टः, सतां कर्णरन्ध्रेषु प्रविष्टः परोद्यमे चाऽऽत्मतुल्यः स्वकार्यसमो राम इवे त्यन्वयः। "गुरुविषेषु भक्त्या च परेषां हितकृत्तया। प्रश्रयेण च कीर्त्या च पृथू राममनुव्रतः ॥" (ब्रह्माण्डे) इति वचनात्। नेदं स्तुतिमात्रं, सत्य मित्यर्थः। "न गुरु र्नच धर्मोऽस्ति रामदेवस्य कुत्रचित्। तथाऽपि धर्मरक्षार्थं गुरुभक्तिमदर्शयत् ॥ (वाराहे) इत्यतो रामस्य लोकसङ्ग्रहार्थं न त्वनवाप्तफल प्राप्त्यर्थं गुरु भक्त्यादिक मिति सन्तोष्टव्यम् ॥ ६३ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीविजयध्वजतीर्थकृतायां पदरत्नावल्यां

टीकायां द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

---

1--1. W omits

# त्रयोविंशोध्यायः

## मैत्रेय उवाच

दृष्ट्वाऽऽत्मानं प्रवयस मेकदा वैन्य आत्मवान्।
आत्मना वर्धिताशेषस्वानुसर्गः[1] प्रजापतिः ॥ १ ॥

जगत स्तस्थुष श्चाऽपि वृत्तिदो धर्मभृत्सताम्।
निष्पादितेश्वरादेशो यदर्थमिह जज्ञिवान्[2] ॥ २ ॥

आत्मजेष्वात्मजां न्यस्य विरहा दुदती मिव।
प्रजासु विमनस्स्वेकः[3] सदारोऽगात्तपोवनम् ॥ ३ ॥

तत्राऽप्यदाभ्यनियमो[4] वैखानस सुसम्मते।
आरब्ध उग्रतपसि[5] यथा स्वविजये[6] पुरा ॥ ४ ॥

कन्दमूलफलाहारः शुष्कपर्णाशनः[7] क्वचित्।
अब्भक्षः कतिचित्पक्षान्[8] वायुभक्ष स्ततः परम् ॥ ५ ॥

## श्री श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

त्रयोविंशे सभार्यस्य वने नित्यसमाधितः। विमान मधिरुह्याऽथ वैकुण्ठगति रीर्यते ॥

**दृष्ट्वेति** - प्रवयसं वृद्धं दृष्ट्वा तपोवन मगादिति तृतीयेनाऽन्वयः। स्वकृतः[9] अनुसर्गोऽन्नादिसर्गः पुरग्रामादिसर्गश्च वर्धितोऽशेष स्वानुसर्गो येन ॥ १ ॥

**जगत** इति। निष्पादित ईश्वरादेशः प्रजापालनादि र्येन जज्ञिवान् जातः ॥ २ ॥

**आत्मजा** मिति। आत्मजां पृथ्वीम्। विमनस्सु चिन्तातुरासु सदारः सभार्यः ॥ ३ ॥

---

1. M, Ma, V सा° 2. M, Ma जग्मि° 3. M, Ma विमनास्त्वेकः 4. M, Ma तत्रापाद्यात्मनियमो; Ms तत्राऽप्यध्यात्मनियमो; W तत्राऽप्युपात्त नियतो 5. W उग्रे 6. M, Ma, Ms °ष° 7. V तृण 8. V °चिन्मासान् 9. Va स्वी°

**तत्रेति**। अदाभ्या विघ्नै र्नाशयितु मशक्या नियमा यस्य, वानप्रस्थानां सुसम्मते उग्रे तपसि आरब्धः प्रवृत्तः, कर्तरि क्तः। यथा स्वस्य धरामण्डलस्य विजये पूर्वं महता यत्नेन प्रवृत्तः तथेति॥ ४॥

उग्रं तपो दर्शयति - कन्दमूलेति त्रिभिः। क्वचित्कदाचित्॥ ५॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं सर्वगुणसम्पन्नः [1]सम्पालितलोकः आसीदित्युक्तम्। अथात्मजेषु आरोपितराज्यभारः सभार्यः प्रविष्टतपोवनः कुमारोपदिष्टाध्यात्मयोगनिष्ठः प्राप्तपरमपुरुष आसीत्। तत्पत्नी तल्लोक मगादिति वदन् पृथुवृत्तान्त मुपसंहरति मुनिः **दृष्ट्वेति**। वैन्यः पृथुः आत्मवान् स्वर्गस्वाराज्यादीनां अल्पास्थिरत्व ज्ञानवान् आत्मानं प्रवयसं वृद्धं दृष्ट्वा तपोवन मगादित्युत्तरेणाऽन्वयः। आत्मना स्वेन वर्धितः अशेषः स्वानुसर्गः स्वविषयवर्त्त्यनुसर्गः व्यष्टिसर्गः यस्य॥ १॥

जगतः जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य चाऽपि वृत्तिदः जीविकाप्रदः सतां धर्मभृत् निष्पादितः ईश्वरादेशः प्रजापालनादिरूपो येन, यदर्थं यल्लोकपालनाद्यर्थं जज्ञिवान् जातः तत्सर्वं कृत्वेत्यर्थः॥ २॥

आत्मजेषु आत्मजां पुत्रीकृतां भूमिं कथम्भूतां ? विरहा तृथो र्विश्लेषा द्रुदती मिव स्थितां विन्यस्य प्रजासु विमनस्सु चिन्तातुरासु सतीषु सदारः सभार्यः एकः असहायः॥ ३॥

तत्र तपोवने उपात्ताः स्वीकृताः आत्मनो नियमाः शमदमादयो येन। 'अक्षोभ्यनियम, इति पाठे विघ्नै र्नाशयितु मशक्या नियमा यस्य। वैखानसानां वानप्रस्थानां सुसम्मते उग्रे तपसि आरब्धः प्रवृत्तः, कर्तरि क्तः। स्वस्य धरामण्डलस्य विजये पूर्वं यथा महता यत्नेन प्रवृत्तः॥ ४॥

उग्रं तपो वर्णयति - **कन्दमूलेति** त्रिभिः। कन्दाद्यलाभे कदाचित्तृणाद्यशनः[2], यद्वा कांश्चित्पक्षान् कन्दाद्याहारः, कांश्चिन् तृणाद्यशनः कांश्चिदब्भक्षः, ततः वायुभक्ष एव॥ ५॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

योगेन देहत्यागप्रकारः पृथ्व्यादितत्त्वानां तदभिमानिदेवतानां च स्वस्वकारणप्रवेशलक्षणो लयश्च देहत्यागकाले चिन्तनीय

1. W omits सम्  2. A, B, T omit आदि

इति निरूप्यतेऽस्मिन्नध्याये। तत्रादौ पृथो स्तपसि प्रारम्भप्रकारं वक्ति - **दृष्ट्वेत्यादिना**। प्रवयसं गतवयसं स्थविर मात्मवान्, जितमनाः, सहितोऽनुसर्गः पुत्रपौत्रादिलक्षणो येन जनेन स सानुसर्गः, वधिताशेषः सानुसर्गः स्वराज्यकालीनजनो येन स तथा॥ १॥

आरामकरणेन स्थावरस्य वृत्तिदानम्॥ २॥

आत्मजां पृथिवीं राज्ञ एष्या द्वियोगा द्रुदती मिव स्थिताम्॥ ३॥

आत्मनियमः कन्दमूलाद्याहारः शरीर यात्रार्थ मापाद्यो येन स आपाद्यात्मनियमः, पुरा स्वविषये स्वराष्ट्रे उग्राणां दुष्टानां तपसि सन्तापे दण्डे यथा प्रारब्धः तथोग्रतपसि कायक्लेशादिलक्षणे प्रारब्ध इत्यर्थः॥ ४॥

आत्मनियमानाह - **कन्देति**॥ ५॥

**ग्रीष्मे पञ्चतपा[1] वीरो वर्षास्वासारषाण्मुनिः।**
**आकण्ठमग्नः शिशिरे उदके स्थण्डिलेशयः॥ ६॥**

**तितिक्षु र्यतवाग्दान्त ऊर्ध्वरेता जितानिलः।**
**आरिराधयिषुः कृष्ण माचरत्तप[2] उत्तमम्॥ ७॥**

**तेन क्रमानुसिद्धेन[3] ध्वस्तकर्मामलाशयः।**
**प्राणायामैः संनिरुद्धषड्वर्गच्छिन्नबन्धनः[4]॥ ८॥**

**सनत्कुमारो भगवान् यदाहाऽध्यात्मिकं परम्।**
**योगं तेनैव पुरुष मभज त्पुरुषर्षभः॥ ९॥**

**भगवद्धर्मिणः साधोः श्रद्धया यततः सदा।**
**भक्ति र्भगवति ब्रह्मण्यनन्यविषयाऽभवत्॥ १०॥**

श्रीधः. **ग्रीष्मेति**। चतुर्दिक्षु चत्वारोऽग्नय उपरि सूर्य इति पञ्चानां तपः सन्तापो यस्य सः पञ्चतपाः (पः) आसारं सहत इत्यासारषाट्, शिशिरऋतौ स्थण्डिलेशयो भूमिशयनः सर्वदा॥ ६-७॥

1. W तपो 2. A, B, G, I, J, T, V, W °म° 3. Ms W रुद्धेन 4. W संशयः

**तेनेति**। तेन तपसा क्रमानुसिद्धेन शनैः प्राप्तेन ध्वस्तानि [1]निरस्तानि[1] कर्माणि यस्य अतः [2]अमल आशयः [3-]अन्तः करण[-3] यस्य। छिन्नानि बन्धनानि वासना यस्य॥ ८-१०॥

**वीर.** ग्रीष्मे ऋतौ चतुर्दिक्षु चत्वारोऽग्नयः उपरि सूर्यः तेषां तप स्तापो यस्य, वर्षासु ऋतौ आसारं धारासम्पातं सहते इत्यासारषाट्, मुनिः सदा शुभाश्रयसंशीलनपरः शिशिरे ऋतौ [4]उदके आकण्ठमग्नः स्थण्डिलेशयः, दर्भादिभिः परिस्तृतभूमिशयः॥ ६॥

तितिक्षुः शीतोष्णादिसहः, यतवाक् मौनव्रतः दान्तः दमयुक्तः ऊर्ध्वरेता शान्तः, जितानिलः जितप्राणः एवम्भूतः कृष्णं भगवन्तं आरिराधयिषुः एवं विध मुत्तमं तप आचरत्॥ ७॥

क्रमानुरुद्धेन शनैश्शनैः प्राप्तेन [5]तेन तपसा ध्वस्तानि कर्माणि यस्य, प्राणायामैः अमल आशयोऽन्तः करणं यस्य, संनिरुद्धः प्रत्याहृतः षडिन्द्रियवर्गो येन, छिन्नानि बन्धनानि व्यसनानि यस्य॥ ८॥

सनत्कुमारोऽयं उत्कृष्टमाध्यात्मिकं योग माह तेनैव योगेन पुरुषर्षभः पृथुः पुरुषं परमपुरुषमभजत्॥ ९॥

भगवद्धर्मिणः निवृत्तिधर्मेण श्रद्धया यततः यत्नं कुर्वतः साधोः पृथोः भगवति पूर्णषाड्गुण्ये ब्रह्मणि अनन्यविषया अव्यभिचारिणी भक्ति रभवत्॥ १०॥

**विज.** चण्डतप आह - ग्रीष्म इति। पञ्च तपांस्यग्नयो यस्य सः, पञ्चतपाः। अत्रैकोऽग्नि र्कः आसारषाट् निराश्रयतयोग्रवृष्टिसेवी शिशिरे हिमर्तौ स्थण्डिलेशयो निशि इति शेषः॥ ६॥

आरिराधयिषुः आराधयितुकामः तदर्थं मुग्रं तप आचरदित्यन्वयः॥ ७-८॥

योग मुपासनोपायम्॥ ९॥

**भक्तिः प्रेमपूर्वं भजनं, अनन्य विषया भगवदेकविषया॥ १०॥**

तस्यानया भगवतः [6-]परिकर्म[-6]शुद्ध सत्त्वात्मन स्तदनु संस्मरणानु[7]पूर्त्या। ज्ञानं विरक्तिमद[8]भून्निशितेत येन चिच्छेद संशयपदं निजजीवकोशम्॥ ११॥

---

1--1. A, B, J, Va omit  2. V adds एव  3--3. B, J, V, Va omit  4. W omits उदके  5. W omits तेन  6--6. M, Ma, Ms शुद्धकर्म
7. M, Ma, Ms पूर्व्या  8. W °रुद°

**छिन्नाऽन्यधी रधिगतात्मगतिर्निरीह स्तत्तत्त्यजेऽच्छिनदिदं वयुनेन येन।**
**तावन्न योगगतिभिर्यति रप्रमत्तो यावन्नदाग्रज कथासु रतिं न कुर्यात्॥ १२॥**

**एवं सवीरप्रवरः संयोज्यात्मानमात्मनि।**
**बह्मभूतो दृढं काले तत्याज स्वं कलेबरम्॥ १३॥**

**सम्पीड्यापायं पार्ष्णिभ्यां वायुमुत्सारयञ्छनैः।**
**नाभ्यां कोष्ठेष्ववस्थाप्य हृदुरः कण्ठशीर्षणि॥ १४॥**

**उत्सर्पयन्नसून् मूर्ध्नि क्रमेणाऽऽवेश्य निःस्पृहः।**
**वायुं वायौ क्षितौ कायं तेज स्तेजस्ययूयुजत्॥ १५॥**

**श्रीध. तस्येति**। परिकर्मणा परिचर्यया शुद्धसत्त्वः आत्मा मनो यस्य, तस्य ज्ञान मभूत्। कीदृशम्? येन निजमुपाधिं जीवकोशं हृदयग्रन्थिं संशयानां असम्भवादीनां पदमाश्रयं चिच्छेद। कीदृशेन? अनया भक्त्या निशितेन तीक्ष्णेन। कथम्भूतया? तस्य भगवतः अनुसंस्मरणेन अनुपूर्तिः सम्पूर्तिः यस्याः तया निशितेन॥ ११॥

**छिन्नेति**। किञ्च छिन्ना अन्यधी र्देहात्मबुद्धिः यस्य, यतोऽधिगतात्मगतिः अत एव निरीहः प्राप्तासु सिद्धिषु निस्स्पृहः येन वयुनेन ज्ञानेन इदं संशयपदं चिच्छेद तत् तत्यजे त्यक्तवान्। तत्प्रयत्ना दप्युपररामेत्यर्थः, तस्य योगसिद्धिष्वपि निस्स्पृहत्वं युक्त मेवेत्याह तावन्नाऽप्रमत्तः किन्तु प्रमत्तो भवति, तस्य श्रीकृष्णकथारतत्वा न्न तासु लोभो जायत इत्यर्थः॥ १२-१३॥

देहत्यागप्रकार माह **सम्पीड्येति** पञ्चभिः। पायुं गुदं सम्पीड्येति, मुक्तासनं सूचितम्। "सम्पीड्य सीवनीं सूक्ष्मां गुल्फेनैव तु मध्यतः। सव्ये दक्षिणगुल्फेन मुक्तासन मितीरितम्" इत्युक्तेः। मूलाधारा द्वायु मुत्सारयन् ऊर्ध्वं नयन् नाभ्या मवस्थाप्य ततः कोष्ठेष्व वस्थाप्य अयूयुजदित्युत्तरेणाऽन्वयः, कोष्ठान्येवाह हृदादीनां द्वन्द्वैक्यं, शीर्षं भ्रूमध्यं तस्मिन्॥ १४॥

**उत्सर्पयन्निति**। तं वायुं। पाठान्तरे एव मसून् प्राणानुत्सर्पयन् क्रमेण मूर्ध्नि ब्रह्मरन्ध्रे चाऽऽवेश्य ततो देहारम्भक पञ्चभूतानि समष्टिभूतेषु विलापितवान् तदाह - वायुं बाह्यवायौ अयूयुजत् एकीकृतवान्। कायं देहगतं कठिनांशं क्षितौ॥ १५॥

---

1. M, Ma, Ms °तु 2. M, Ma, Ms प्रयत्नो 3. M, Ma, Ms °मुत्यर्प° 4. A, B, G, I, J, T °यंस्तु तं; W यंस्ततो 5--5. A, B, T असम्भावनादीनां 6--6. V omits 7. A, B, J, Va जात 8. V सीवनं सूक्ष्मं 9. B, J, Va omit इत्युक्तेः; V omits उक्तेः 10--10. J omits 11. Va °भूते वि° 12. A, B, J, Va omit बाह्य

**वीर.** भगवतः परिकर्मणां परिचर्यया शुद्धसत्त्वात्मनः शुद्धसत्त्वमनसः तस्य पृथोः[1-], तस्य[-1] भगवतः संस्मरणं पूर्वोक्त परभक्तिः तस्यानुपूर्तिः परिपूर्णता तया जातं यत् परज्ञानं विरक्तिश्चोदभूत्, कीदृशं ज्ञानम् ? येन निशितेन ज्ञानेन संशयपदं संशयस्थानं निश्चेतु मशक्यस्वरूपं जीवकोशं प्रकृतितत्त्वं चिच्छेद स्वस्मिन्नसम्बद्ध मकरो त्तादृशं ज्ञानमुदभूदित्यर्थः ॥ ११ ॥

छिन्नाऽन्यधीः छिन्नप्रकृतिधीः देहात्म बुद्धिरहितः अधिगता आत्मगतिः आत्मस्वरूपयाथात्म्यं येन, अत एव निरीहः निर्व्यापारः येन, वयुनेन ज्ञानेन[2- -2] इदं प्रकृतिसम्बन्ध मच्छिन्नं त्तदपि ज्ञानं तत्यजे तत्याज । अनित्यं जडं शरीर मनुसन्धाय तदन्योऽस्मीति हि विवेकज्ञान मुदेति । तत्र शरीर मपि प्रतिसम्बन्धितया बुद्धिस्थं स्यात् । योगकाष्ठायां ब्रह्मात्मस्वात्मनि[3] साक्षात्कृते देहप्रतिसम्बन्धितया ज्ञानाभावात् तत्याज इत्युक्तम् । न हि केवलं घट इत्यनुभवे पटादन्य इति पट[4] प्रतिसम्बन्धितया ज्ञान मनुवर्तते तद्वदित्यर्थः । एव मेका ग्रतायां हेतु माह - तावदिति । भगवत्कथासु रतिं यावन्न करोति तावद्योगगतिभिः अप्रमत्तो न भवति । अश्रुतभगवत्कथानां प्रमादः स्यादेव, अस्य भगवत्कथारतित्वा न्न प्रमाद इत्यर्थः ॥ १२ ॥

स वीरश्रेष्ठः[5] पृथुः आत्मान मात्मनि परमात्मनि संयोज्य समर्प्य स्वतस्सिद्ध मपृथक्सिद्धसम्बन्ध मनुसन्धायेत्यर्थः । आविर्भूतगुणाष्टकतया ब्रह्मप्रकारं प्राप्तः कालेऽभ्युपगतप्रारब्धावसानकाले[6] स्वशरीरं तत्याज । ब्रह्मभावप्राप्तेः कलेबरत्यागानन्तरभावित्वेऽपि सिद्धवदभिप्रायकृतः पूर्वकालनिर्देशः ॥ १३ ॥

कलेबरत्यागपूर्वक ब्रह्मभावप्राप्तिप्रकारमेवोपपादयति - **सम्पीड्येति** । गुल्फाभ्यां पायुं गुदं सम्पीड्य सन्निरुद्ध्य मूलाधारा द्वायुं शनै रुत्सारयन् ऊर्ध्वं नयन् नाभ्यामवस्थाप्य सतः हृदयादिषु कोष्ठेषु स्थानेषु अवस्थाप्य हृदयादीनां द्वन्द्वैक्यं प्राण्यङ्गत्वात् । तत्र शीर्षं भ्रूमध्यम् । "भ्रुवो र्मध्ये प्राण मावेश्य सम्यक् , (भ.गी. 8-10 ) इति श्रुतेः ॥ १४ ॥

तं च ततः मूर्ध्नि ब्रह्मरन्ध्रे उत्सर्पयन् ऊर्ध्वं नयन् क्रमेण ब्रह्मरन्ध्रे चावेश्य निस्स्पृह अणिमाद्यैश्वर्यकैवल्यादिषु स्पृहारहितः, यद्यपेक्षा स्यात् योगिन स्तदैश्वर्यादिकमपि स्यात् ; इति स्पृहा निषिद्ध्यते । वायुं स्वदेहस्थं वायौ महाभूते कायं देहरूपपृथिवीं क्षितौ महाभूते, एव मग्रेऽपि । अयुयुजत् लीन मनुसंहितवान्[7] ॥ १५ ॥

**विज.** भक्तेः फल माह - **तस्येति** । येन ज्ञानेन संशयपदं[8- -8] संशय विपर्यय ज्ञानस्थानं निजत्वेनाभिमतं[9] जीवकोशं बाह्यान्तः करणं लिङ्गशरीरं वा चिच्छेद छिनत्ति, तादृशं भगवतो ज्ञानं तस्य पृथो रभूदित्यन्वयः । तस्य हरे रनुस्मरणं निरन्तरध्यानं तत्पूर्वयाऽनया

---

1--1. A, B, T omit 2--2. W omits 3. A, B, T omit स्वात्म 4. A, B, T omit पट 5. A, B, T श्रे° 6. A, B, T omit काले 7. T °मभि 8--8. A, B omit 9. A °ते

भक्त्या परिशुद्धकर्मा सत्त्वगुणयुक्त आत्मा मनो यस्य स तथा तस्य अभूदित्यनेन भू- सत्तायामिति धातोः सत एव ज्ञानस्याविर्भाव उच्यते न तु प्रागसतः, तस्य ज्ञानित्वात् ज्ञानिनो ज्ञानस्याविर्भावः। न हि पुरोवर्ती घटः पटो वा आविरभवदिति व्यवहारो दृष्टचर इति चेन्न, बलवत्प्रतिबन्धकेन तिरोभावसम्भवात्, तदुक्तम् - "आविर्भावतिरोभावौ ज्ञानस्य ज्ञानिनोऽपि तु। अपेक्ष्याज्ञ स्तथा ज्ञानमुत्पन्न मिति चोच्यते॥" (तन्त्रसारे) ज्ञानिनोऽपि ज्ञानस्याविर्भावतिरोभावौ अपेक्ष्यासौ अज्ञः तथा तस्य ज्ञानं समुत्पन्न मिति व्यवहारो युज्यत इत्यर्थः॥ ११॥

उत्पन्नज्ञानस्य स्थिति माह - छिन्नेति। येन वयुनेनेद मच्छिन्नतज्ज्ञानं तत्याज इत्यन्वयः। अन्यथा ज्ञानसम्भवे इदमुक्तं कथं युक्तंस्यादित्यत उक्तं छिन्नान्यधीरिति। निरस्ताऽन्यथाज्ञानः स्वरूपज्ञानाभावे कथ मिद मित्यत उक्तम् - अधिगतात्मगतिरिति। आत्मशब्देन स्वस्वरूपं परमात्माचोच्यते। अधिगतेऽपरोक्षीकृते परमात्मा स्वस्वरूपं च येन स तथा। अत एव तत्साधर्म्यमाह निरीह इति। ज्ञानोत्तरकालीन प्रवृत्तिमान् न तु पूर्ववद्विधिबद्ध इत्यर्थः। अत्र ज्ञानत्यागो नाम निर्लेपेन स्वरूपज्ञानेन करतलामलकवत् प्रत्यक्षत्वेन वृत्तिज्ञानस्य बाह्यान्तः करण जन्यस्य भेदनिरीक्षणं मद्भिन्न मिदं नश्वरमिति दर्शनं न त्वन्यः। तदुक्तम् - "अपरोक्षतया वृत्तिज्ञानभेदनिरीक्षणम्। स्वरूपज्ञानसंस्थित्यज्ञानत्याग उदीर्यते" (ब्रह्मतर्के) इति। अयं विशेषोऽपि तत्याज इति व्यत्यासेन सूचित इति कथमस्य स्वरूपज्ञान मस्तीति ज्ञायत इति तल्लक्षयति - तावदिति। यावद्दाग्रजस्य श्रीनारायणस्य कथासु रतिं न कुर्यात्, तावद्यतिः निर्जितेन्द्रियग्रामोऽपि पुरुषो योगगतिभिः प्राणायामादिलक्षणैः योगसाधनै रप्रयत्नोऽनाविर्भूतस्वरूपज्ञानो भवति। अनेन भगवत्कथारतिः स्वरूपज्ञानेनेति लक्ष्यते। तदुप्युक्तं - "स्वरूपज्ञानतः सम्यग्रति र्विष्णुकथासु च" (ब्रह्मतर्के) इति। यद्वा योगादुत्पन्नैः गतिशब्दवाच्यै र्ज्ञानैः स्वरूपविषयै र्भगवत्तत्त्वं ब्रह्मादितारतम्यं पञ्चविधभेदं जीवस्वरूप मित्यादिविषयबाहुल्यात् स्वरूपज्ञानस्य बाहुल्यं प्रयत्नो न भवति॥ १२॥

उपसंहरति - **एव** मिति। ब्रह्मभूतः ब्रह्मणि भूतः ब्रह्माधारतया स्थित इत्यन्वयः। काले प्रारब्धकर्मक्षयसमये तत्याजेत्यनेन स्वकलेबर मेवात्याक्षीन्नतु स्वरूपज्ञान मित्यवगन्तव्यम्॥ १३॥

स्वच्छन्दमृत्यूनां योगिनां देहत्यागप्रकारं दर्शयितु मस्योत्क्रान्ति प्रकार माह - **सम्पीड्येति**। वज्रासनस्थितो वायु मुत्सर्पयन् ऊर्ध्वं नयन् मूलाधारा न्नाभ्यां हृद्युरसि कण्ठे च शीर्षणि भ्रूमध्ये चेत्येषु कोष्ठेषु स्थानविशेषेषु शनैः अवस्थाप्य॥ १४॥

अनेन क्रमेणाऽसून् पञ्च वृत्त्या बहुवचनम्। मूर्ध्नि शिरोमध्यप्रदेशे आवेश्य निस्स्पृहः स्थिरचित्तः तिष्ठे दित्यन्वयः। देहे स्थितानां पञ्चभूतानां स्वस्वकारणेषु लयोऽनेनोच्यते। देहे वायुभागं तत्कारणेऽधिदैववायावयुयुजत्। अध्यात्मवायो रधिदैववायुः

कारणम्। तत्रैव लय इत्यचिन्तयदित्यन्वयः। तदुक्तम् - "अस्येदं कारण मिति ज्ञान मेव विलापनम्। समाधिकाले विज्ञेयं देहादे र्दर्शनात्पुनः" ॥ (ब्रह्मतर्के) इति एव मेवोत्तरत्राऽपि ज्ञातव्यम्॥ १५॥

**खान्याकाशे द्रवं तोये यथास्थानं विभागशः।**

**क्षिति मम्भसि तत्तेजस्यदो वायौ नभस्यमुम्॥ १६॥**

**इन्द्रियेषु[1] मन स्तानि तन्मात्रेषु[2] यथोद्भवम्।**

**भूतादि नामान्युत्कृष्य[3] महत्यात्मनि सन्दधे॥ १७॥**

**तं सर्वगुणविन्यासं[4] जीवे मायामये न्यधात्।**

**तं चानुशय मात्मस्थ मसावनुशयी पुमान्।**

**ज्ञानवैराग्यवीर्येण स्वरूपस्थोऽजहात्प्रभुः[5]॥ १८॥**

**अर्चिर्नाम महाराज्ञी तत्पत्न्यनुगता वनम्।**

**सुकुमार्यतदर्हा च यत्पद्भ्यां स्पर्शनं भुवः॥ १९॥**

**अतीव भर्तुर्व्रतधर्मनिष्ठया[6] शुश्रूषया[7] चार्षदेहयात्रया।**

**नाऽविन्दतार्तिं[8] परिकर्शिताऽपि सा प्रेयस्करस्पर्शन माननिर्वृतिः[9]॥ २०॥**

**श्रीध. खानीति**। खानि इन्द्रियच्छिद्राणि, द्रवांशं तोये। तदेवं देहं प्रविलाप्या द्वितीयात्म प्रतिपत्त्यर्थं[10] महाभूतानामपि लय माह। क्षितिम् अम्भस्येकीकृतवान्, तदम्भ स्तेजसि, अदस्तेजो वायौ; अमुं वायुं नभसि॥ १६॥

तदेवं तामसाहङ्कारकार्यस्याऽऽकाशपर्यन्तस्य लय मुक्त्वा। सात्त्विक राजसाहङ्कारकार्याणां लय माह - **इन्द्रियेष्विति**। इन्द्रियेषु मन इति देवाना मप्युपलक्षणम्। सविकल्पकज्ञानेमनसः इन्द्रियै राकर्षणात् तेषु लयाभिधानं, न तु कार्यत्वात्। तदुक्तं गीतासु - "इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते" (भगी. 2-67) इति। अत्र च - इन्द्रियै र्विषयाकृष्टै राक्षिप्यं ध्यायतां मन" (भाग. 4-22-30) इति च। इन्द्रियेषु नभ इति पाठेऽप्यय मेवाऽर्थः। भट्टादीनां मते नभ श्चाक्षुषं, केषाञ्चिन्मानसम्। आनुमानिकत्वमतेऽपीन्द्रिय-

1. M, Ma, Ms °याणि समस्तानि 2. M, Ma, Ms °त्राणि 3. A, B, G, I °नामून्युत्कृष्य ; J °नामून्युत्क्षिप्य; M, Ma, Ms °स्तान् समुत्क्षिप्य; T °नाऽमूल्युत्कृत्य; V नाऽर्थान्युत्क्षिप्य 4. W °सबीजे 5. M, Ma °स्थे व्याघात्; Ms °स्थो व्याघात् 6. W भर्तृव्रत 7. B, J चारष 8. M, Ma, Ms व्रत 9. M, Ma, Ms °ता 10. A, B, J, Va °मर्थः

व्यापारोऽस्त्येव। न भोगुणश्च शब्दः श्रोत्रग्राह्योऽत इन्द्रियग्राह्यत्वा दिन्द्रियेषु न भो विलापित मिति तानीन्द्रियाणि यथोद्भवम् उद्भवोऽत्रप्रवृत्तिलाभः स च विषयाधीन इति श्रोत्रादीनां विषयेषु शब्दादिषु लयः। यद्वा तन्मात्रकार्याण्येवेन्द्रियाणि, मनोऽप्यपञ्चीकृत तन्मात्रकार्यम्। आहङ्कारिकत्वाभिधानम्। तदधीनत्वविवक्षये त्यविरोधः। भूतादिनाऽहङ्कारेण प्रागवशिष्टनभस्सहितानीन्द्रियाणि उत्कृष्य परितोनीत्वा भूतादौ क्षिप्त्वा तेन सह महत्तत्त्वे सन्दध इत्यर्थः॥ १७॥

**तमिति**। सर्वेषां गुणानां कार्याणां विन्यासः स्थितिः यस्मिं स्तं महान्तं मायामये मायोपाधिप्रधाने जीवे तं चानुशय मुपाधिं यः पूर्वमनुशयी पुमान् जीवोऽसौ पृथु ब्रह्मणि स्थित स्सन् अजहादित्यर्थः॥ १८॥

वनप्रवेश मारभ्य राज्ञीकथा माह - **अर्चिर्नामेति** चतुर्भिः। अनुगताऽनुजगाम, अतदर्हा तदपि नार्हति या। तत्किं? पद्भ्यां भुवः स्पर्शनमिति यत्॥ १९॥

**अतीवेति**। भर्तुर्व्रतं यद्भूमिशयनादि तस्मिन् धर्मे या निष्ठा तया, ऋषीणामिय मार्षी देहयात्रा कन्द मूलादिवृत्तिः तथा च आर्तिं दुःखं न प्राप। तत्र हेतुः प्रेयसः करेण स्पर्शनं मानश्च ताभ्यां निर्वृत्ति रानन्दो यस्याः॥ २०॥

**वीर.** खानि इन्द्रियाधिष्ठानानि देहविवराणि द्रवं देहस्थं जलं तोये महाभूते यथास्थानं यथाकारणं विभागशः असङ्करेण अयूयुजत्, एवं देहस्थभूतांशानां महाभूतसमष्टितयाऽनुसन्धान मुक्तम्। अथ पृथिव्यादितत्त्वाना मुत्पत्तिक्रमेण लयानुसन्धान मुच्यते। क्षितिं भूत मम्भसि महाभूते अयूयुजदित्यनुषङ्गः। तत् अम्भः तेजसि अदस्तेजः वायौ, अमुं नभस्याकाशे॥ १६॥

तदेवं तामसाहङ्कारकार्याणा माकाशपर्यन्तं लय मुक्त्वा सात्त्विकाहङ्कारकार्याणां लयानुसन्धान माह - **इन्द्रियेषु** मन इति। सविकल्पकज्ञाने मनस इन्द्रियै राकर्षणात् तेषु लयानुसन्धान मुक्तम्, न तु तत्कार्यत्वात्, वैकारिकत्वा न्मनसः। यदुक्तं गीतासु - "इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते, (भ.गी.2-67) इति। अत्राऽपि "इन्द्रियै र्विषयाकृष्टैराकृष्टं ध्यायतां मन" (भाग. 4-22-30) इति। तानि इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु अत्रापीन्द्रियाणां वैकारिकत्वेऽपि तेषां शब्दादितन्मात्रैराकर्षणात् तन्मात्रेष्वित्युक्तम्। अय मर्थः - तामसाहङ्कारकार्याणां पृथिव्यादीना माकाशपर्यन्तं लय मभिधाय तद्धर्माणां गन्धादितन्मात्राणामिन्द्रियाकर्षकत्वेन, इन्द्रियाणां च मनस आकर्षकत्वेन च मन इन्द्रियार्थाना मुत्तरोत्तरानुवर्तित्वेन कार्यकारणयो रिव प्रदर्शयितुं लयानुसन्धानकीर्तनमिति परमार्थत इन्द्रियाणां वैकारिकेऽहङ्कारे आकाशस्य सशब्दस्य भूतादौ लय इति विवेकः। तैजसस्य तु अहङ्कारस्य वैकारिकभूताद्यो रनुग्राहकत्वमात्र मेव, न

1. A, B, Va वो वृ°; j °वोऽत्र वृ° 2. V adds पञ्च 3. V उत्क्षिप्य 4. V °ज्ञयाः 5. B, J, V, Va omit तत् 6. Va आप 7. B, J, V, Va omit आनन्दः 8--8. A, B, T omit 9. W मन आ°

तु कार्यान्तर मस्ति इति न तत्कार्यलय उक्तः। यथोद्भवं यथाप्रवृत्ति। मन आदीना मुत्तरोत्तराधीन प्रवृत्तिकत्वात्। इन्द्रियेषु नभ इत्यपि पाठो दृश्यते। नभः आकाशं शब्दादि तन्मात्रेषु इन्द्रियविषयेषु विषये तद्वच्छब्द उपचारात्प्रयुक्तः। भूतानां तन्मात्रेषु यथोद्भवं लय इत्यर्थः। तानि तन्मात्राणि यथोद्भव मुद्भव मनतिक्रम्य, उद्भवत्यस्मादिति उद्भवः कारणे भूतादावित्यर्थः। भूतादिशब्दो वैकारिक तैजसयोरपि प्रदर्शनार्थः। अत एव बहुवचनं, तदयमर्थः भूतादिनामानि[1-] भूतादिवैकारिक[2-]तैजसनामानि[-1] उपसंहृतकार्याणि[-2] उत्कृष्य आत्मनि आत्मा चित्तं तदनुग्राहके महत्तत्वे सन्दधे अनुसंहितवान्। भूतादिना समुत्कृष्येति पाठे तानि तन्मात्राणि भूतादिना तामसाहङ्कारेण कारणभूतेन सह समुत्कृष्य तस्मिन् विलाप्य इत्यर्थः। लयस्य कारणवस्तुना सह संश्लेषरूपत्वा त्साहित्यविवक्षया तृतीया। तं भूतादिं महतीत्यन्वयः॥ १७॥

तं महान्तं सर्वगुणविन्यासबीजे गुणवैषम्य हेतुभूते मायामये प्रधाने न्यधात्, स्वार्थे मयट्। तं सर्वगुणविन्यासं जीवे मायामय इति पाठे तु तं महान्तं सर्वेषां गुणानां कार्याणां विन्यासः स्थिति र्यस्मिन्, तत् प्रधान मव्यक्तं प्रति न्यधात् प्रधाने न्यधादित्यर्थः। तच्चाव्यक्तं मायामये अचित्समष्टिसंसृष्टे जीवे न्यधादित्यर्थः। "महानव्यक्ते लीयते अव्यक्तमक्षरे लीयते, (सुबा.उ. 2-2) इति श्रुत्यनुरोधात्। अनुशयो भुक्तशिष्टं कर्म, तद्वाननुशयी, पूर्वं संसृतिदशायामनुशयी क्षीणप्रायदोष इत्यर्थः पुमान् जीवः। असौ पृथुः त मचित्समष्टिसंसृष्ट मात्मस्थं स्वस्वरूपस्थं नितरां प्रकृति सम्बन्धवियुक्त मनुसंहिनवानित्यर्थः। ततो ज्ञानवैराग्यबलेन अनुशयं भुक्तावशिष्टं पूर्वोत्तरभेदेन सञ्चितानभ्युपगतबुद्धिपूर्वकभेदेन च भिन्नं पुण्यपापात्मकं कर्म अजहात् अत्याक्षीत्। ततः प्रभु रकर्मवश्यो भूत्वा स्वरूपस्थः परमात्मात्मकाविर्भूत गुणाष्टक स्वस्वरूपेणाऽव स्थितोऽभून्मुक्तोऽभूदित्यर्थः॥ १८॥

अथाऽर्चिर्नाम्नी पृथोः पत्नी महाराजस्य स्त्री सुकुमारी अतदर्हा वनगमनादि क्लेश मनर्हन्त्यपि पति मनुसृत्य वनं गता प्रविष्टा अतदर्हत्व मेवाह- यस्या अर्चिषः पद्भ्यां भुवः स्पर्शनं पद्भ्यां भुवमप्यस्पृशन्ती[3] महाभोगशालिनी साक्षात् पद्भ्यां वनं प्रविष्टवती त्यतदर्हत्वमुक्तम्॥ १९॥

अतीव यद्भर्तृव्रतं[4] स्थण्डिलशयनादिरूपं तस्मिन्[5-] व्रते[-5] या निष्ठा तया भर्तृशुश्रूषया[6-] ऋषीणा[-6] मियमार्षी देहयात्रा कन्दमूलाद्याहाररूपा तया च कृशीभूताऽपि अर्तिं दुःखं नाऽविन्दत। यतः प्रेयसः प्रियतमस्य पृथोः करस्पर्शनादिरूपः यः सम्मानः तेन निर्वृता॥ २०॥

**विज.** छिद्रबहुत्वापेक्षया खानीति बहुवचनम्। ग्रन्थान्तरोक्ते र्यत्तदपेक्षया विभागश इति। इदानीं पञ्चभूतानां स्वकारणेषु लयध्यान माह क्षिति मिति॥ २६॥

---

1--1. W omits  2--2. A, B, T omit  3. W omits अपि  4. A, B, T भर्तु व्रतं  5--5. W तद्व्रते  6--6. A, B, T भर्तुः शुश्रूषया

इन्द्रियलयप्रकार ध्यान माह - **इन्द्रियाणीति**। समस्तानीन्द्रियाणि यथोद्भवं यथोत्पत्ति स्वस्वकारणेषु लीयन्त इति तन्मात्राणि शब्दादीनि च यथोद्भवं लीयन्त इति व्यचिन्तयदित्यन्वयः । अत्राऽयं विभागः - इन्द्रियाणि तैजसाहङ्कारे तदभिमानिदेवा वैकारिकाहङ्काराभिमानिषु, तेषां देहा वैकारिकाहङ्कारे पृथिव्यादयो गन्धादिभिः सह भूतादौ तामसाहङ्कारे लीयन्त इति। भूतादि रित्युपलक्षणम् । एवं त्रिविधाहङ्कार स्ता निन्द्रियादीन्समुत्क्षिप्य सम्भृत्य महत्यात्मनि महत्तत्त्वे तदभिमानिनि चतुर्मुखे च अहङ्काराभिमानी रुद्रो लीयत इति मन स्सन्दधे इत्यन्वयः ॥ १७॥

सर्वेषां गुणानां भक्तिज्ञानादीनां विशेषेण न्यासो निधानं यस्मिन् स तथा तम्। सत्त्वादिगुणै र्विविधा प्रपञ्च रचना येन स तथा तं वा तं महान्तं चतुर्मुखं तत्त्वलक्षणं जडं च मायामये मायाशब्दवाच्ये जीवे प्राणधारणशक्तिमति लक्ष्मीतत्त्वे न्यस्यति प्रविशतीति ध्यायेत्। अन्यन्तु जडप्रकृतौ जीवत इति जीवशब्दवाच्यत्वं च। चेतनशरीराकारतया परिणामा दुपचारः प्रलये केशव मनुशेते इत्यनुशयशब्दवाच्यत्वं पुंशक्तित्युक्तत्वात् त्पुल्लिङ्गशब्द वाच्यां प्रकृतिं च जगदादानादात्मशब्दाभिधेयस्य हरे राधारतया तिष्ठतीत्यात्मस्थ मचिन्तयत्। अनुशयी चित्प्रकृत्यधीनत्वात्तद्द्वारा गतत्वाद्वानुशयिशब्दवाच्योऽसौ पुमानित्युपलक्षणम्। चेतनराशिः अप्राकृतशरीरत्वा त्स्वरूपशब्दवाच्ये ब्रह्मणि चतुर्मुखेन सह तिष्ठतीति ध्यानं व्यधात्। प्रभुरित्यनेन मनोऽनुसन्धान मस्तीति ध्वनयति। केनैतत्सामर्थ्य मभूदित्यत उक्तं ज्ञानेति। यद्वा एवं विधोपासनाजनितसामर्थ्येन अनुशयी पृथुः स्वस्वरूपे ब्रह्मणि सायुज्य लक्षणं मोक्ष माप्तुं व्यधादित्यन्वय इति। "मायेति प्रकृति श्चेति माया जीवश्च कथ्यते। शेतेऽनुकेशवं यस्मात्तस्मादनुशयोऽपि च। एतैस्तु-नामभि र्वाच्या श्रीर्विष्णोरनपायिनी। तथैवानुशयी जीवस्तथा बद्धो यतः सदा॥" (भागवततन्त्रे) "पुरुषः शयनात्पूर्षु तथाऽहाना दहं स्मृतः। अप्राकृततनुत्वात्तु स्वरूपं हरिरुच्यते। नित्यचिद्दर्शना न्नित्यं ब्रह्मपूर्णत्वतः सदा" (भागवत तन्त्रे) इति। समाख्यासिद्धत्वा दुक्त एवाऽर्थो, नाऽद्वैतवादि कल्पित इति सिद्धम्॥ १८॥

पत्याचैवं गते तत्र वनेऽर्चिषा भार्यया किमकारीति तत्राह - **अर्चिर्नामेति**। पद्भ्यां भुवः स्पर्शनं यत्तदनर्हा॥ १९॥

भर्तुर्व्रतं ग्राम्यवर्जनादि। तदेव स्वस्या अपि धर्मः। तत्र निष्ठया आर्षदेहयात्रया कन्दमूलफला द्यशनलक्षणया एवंविधानुष्ठानेन परिकर्शिताऽपि प्रेयसः पत्युः करस्पर्शलक्षणमानेन निर्वृता आनन्दाप्लुता आर्तिं व्रतानुष्ठाननिमित्त क्लेशं नाऽविन्दतेत्यन्वयः॥ २०॥

**देहं विपन्नाखिल चेतनादिकं पत्युः पृथिव्या दयितस्य चाऽऽत्मनः।**
**आलक्ष्य किञ्चिच्च विलप्य सा सती चिता मथाऽऽरोपय दद्रिसानुनि॥ २१॥**[1]

1. Ms °श्चित्रवि°

विधाय कृत्यं ह्रदिनीजलाप्लुतादत्वोदकं भर्तु रुदारकर्मणः।[1]
नत्वा दिविष्ठां[2] त्रिदशां त्रिः परीत्यविवेश वह्निं ध्यायती भर्तृपादम्[3][4]॥ २२॥

विलोक्यानुगतां साध्वीं पृथुं वीरवरं पतिम्।
तुष्टुवु र्वरदा देवै र्देवपत्न्यः[5] सहस्रशः॥ २३॥

कुर्वत्यः[6] कुसुमासारं तस्मिन्मन्दरसानुनि।
नदत्स्वमरतूर्येषु गृणन्ति स्म परस्परम्॥ २४॥

देव्य ऊचुः[7-7]

अहो इयं वधूर्धन्या या चैवं भूभुजां पतिम्।
सर्वात्मना पतिं भेजे यज्ञेशं श्रीवधूरिव[8]॥ २५॥

**श्रीध. देहमिति**। पृथिव्याः पत्युः दुहितृत्वं तु तस्या देवतारूपेण विपन्नं नष्ट मखिलं चेतनादिकं यस्मिं स्तथा भूतं देह मालक्ष्य तं देहं चिता मरोपयत्॥ २१॥

**विधाय** इति। कृत्यं तत्कालोचितं विधाय ह्रदिन्या जले आप्लुता स्नाता सती भर्तुरुदकं दत्वा दिव्यन्तरिक्षे स्थितान् देवान्[9]नत्वा वह्निं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य॥ २२॥

**विलोक्येति**। देवैः सहिताः॥ २३॥

**कुर्वत्येति**। गृणन्ति स्म अभाषन्त॥ २४-२५॥

**वीर.** आत्मनः स्वस्याः पृथिव्याश्च पत्युः पृथोः देहं विपन्नानि विगतानि अखिल[10-] चेतनादीनि[-10] अखिलानि[11-] बुद्धीन्द्रियप्राणादीनि[-11] यस्मिन् तथाभूत मालक्ष्य दृष्ट्वा किञ्चिद्विलप्य च सा सती अर्चिः तं देहं[12] अद्रिसानुनि चिता मारोपयत्॥ २१॥

तत स्तत्कालोचितं कृत्यं च विधाय ह्रदिन्याः सरस्या जलेष्वाप्लुता सती उदारकर्मणो भर्तुः उदकं दत्वा दिविष्ठान्[13] त्रिदशान् नत्वा भर्तुः पादं ध्यायती चितां त्रिः परीत्य प्रदक्षिणीकृत्य वह्निं विवेश॥ २२॥

---

1. M, Ma, Ms तिलोदकं; V कृत्वोदकं 2. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °स्थां° 3. Ma ब्रह्मपादम् 4. A, B, G, I, J, T पादौ 5. W वध्वः 6. M, Ma, Ms °न्त्यः 7--7. M, Ma omit 8. A, B, G, I, J, T श्रीर्व° 9. V omits देवान् 10--10. A, B, T °लानि चेतनादीनि 11--11. A, B, T omit 12. W तद्देहं 13. A, B, T °स्तान्

वीरश्रेष्ठं पतिं पृथु मनुसृत्य गतां साध्वीं विलोक्य वरदा देवपत्न्यः[1] देवैः सह सहस्रशः तुष्टुवुः ॥ २३ ॥

तदा[2] तस्मिन् मन्दरसानुनि कुसुमवर्षं कुर्वत्यः अमर तूर्येषु देवदुन्दुभ्यादिषु नदत्सु सत्सु परस्परं गृणन्ति स्म अभाषन्त ॥ २४ ॥

भाषण मेवाह - अहो इति । इयं वधूः अर्चिः धन्या कृतार्था, अहो इत्याश्चर्ये हर्षे वा । या वधूः भूभुजां राज्ञां पतिं, पतिं स्वभर्तारं[3] सर्वात्मना सर्वप्रकारेण भेजे प्राप्ता, यज्ञेशं भगवन्तं श्रीरूपिणी वधूरिव ॥ २७ ॥

**विज.** एवं तस्याः पृथोः पत्नीत्वयोग्यता मनुवर्ण्योत्तरक्रियां वक्ति - देहमित्यादिना । पृथिव्या आत्मनः स्वस्याश्च दयितस्य पत्युर्देहं विपन्नाखिलचेतनादिकं चैतन्यप्राणादिवृत्तिलक्षणरहित मालक्ष्य चितां शवदहनसाधनकाष्ठम् ॥ २१ ॥

ह्रदिनी नदी । त्रिः परीत्य प्रदक्षिणीकृत्य ॥ २२ ॥

सत्याः वनेऽपि राजस्त्रीभोगलक्ष्मीसामग्री समभूदित्याह - विलोक्येति ॥ २३ ॥

कुसुमासारं पुष्पवृष्टिम् ॥ २४ ॥

धन्या सर्वगुणैः पूर्णा "अनपेक्षो गुणैः पूर्णो धन्य इत्युच्यते बुधैः" (शब्दनिर्णये) इत्यभिधानम् ॥ २५ ॥

**सैषा नूनं व्रजत्यूर्ध्वं मनुवैन्यं पतिं सती ।**
**पश्यतोऽस्मानतीत्यार्चिर्दुर्विभाव्येन कर्मणा ॥ २६ ॥**

**तेषां दुरापं किन्त्वन्यन्मर्त्यानां भगवत्पदम् ।**
**भुवि लोलायुषो ये वै नैष्कर्म्यं साधयन्त्युत ॥ २७ ॥**

**स वञ्चितो बतात्मधृक् कृच्छ्रेण महता भुवि ।**
**लब्ध्वाऽपवर्ग्यं मानुष्यं विषयेषु विषज्जते ॥ २८ ॥**

## मैत्रेय उवाच

**स्तुवतीषु सुरस्त्रीषु पतिलोकं गता वधूः ।**
**यं वा आत्मविदां द्युर्यो वैन्यः प्रापाऽच्युताश्रयम् ॥ २९ ॥**

---

1. A, B, T वध्वः 2. A, B, T तथा 3. W omits स्व 4. W °तोऽ° 5. V किम्वाऽन्य°; W किम्वन्य° 6. M, Ma, Ms विद्यु लो° 7. W °त°
8. M, Ma, Ms, V W °वन्ती° 9. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °ध्वमर 10. Ms सा 11. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °शयः

**इत्थम्भूतानुभावोऽसौ पृथुः स भगवत्तमः ।**

**कीर्तितं तस्य चरित मुद्दामचरितस्य ते ॥ ३० ॥**

**श्रीध.** [1-]**सैषा** इति। असतीनां दुर्विभाव्येन कर्तु मशक्येन कर्मणा[-1] ॥ २६ ॥

**तेषा** मिति। भगवान् पद्यते गम्यतेऽनेनेति तथा। तन्नैष्कर्म्यं ज्ञानं ये चञ्चलायुषोऽपि साधयन्ति तेषा मन्यद्देवादिपदं किमुदुर्लभं ? न किञ्चिदित्यर्थः ॥ २७॥

**स** इति। [2]**अभक्तं** शोचन्ति स वञ्चित इति, यत आत्मने द्रुह्यति, [3]योऽपवर्गसाधनं मानुष्यं लब्ध्वाऽपि विषयेष्वासक्तिं याति ॥ २८ ॥

[4-]अच्युते एवाशयो मनो यस्य[-4] ॥ २९-३०॥

**वीर.** तस्मात् सैषा सती अर्चिः पश्यतो [5]अस्मान् [6]नभस्थानतीत्य दुर्विभाव्येन चिन्तयितु [7]मप्यशक्येन कर्मणा पतिपारार्थ्यादिना पतिं स्वभर्तारं वैन्यं पृथु मनुसृत्य ऊर्ध्वं व्रजति, नूनम् ॥ २६ ॥

भगवान् पद्यते गम्यतेऽनेनेति भगवत्पदं भगवत्प्राप्तिसाधनं नैष्कर्म्यं निवृत्तिधर्मं ये विद्युदिव[8] चञ्चलायुषोऽपि साधयन्ति तेषां भगवद्भक्तानाम् अन्यद्देवादिपदं किमु दुर्लभं न किञ्चिदित्यर्थः ॥ २७॥

अभक्तं शोचन्ति **स** इति। यः पुमा नापवर्ग्यम् अपवर्गसाधनं मानुष्यं मनुष्यजन्म कृच्छ्रेण दुस्साधेन[9] महता कर्मपरिपाकेन भुवि लब्ध्वाऽपि विषयेषु [10]विषज्जते स वञ्चितो दैवेन बतेति खेदे ॥ २८ ॥

एवं सुरस्त्रीषु स्तुवन्तीषु (स्तुवतीषु) सतीषु वधूरर्चिः पतिलोकं गता प्राप्ता। कोऽसौ पतिलोकः ? आत्म-वतां ज्ञानिनां धुर्यः श्रेष्ठः वैन्यः पृथुः अच्युताश्रयं भगवतो निवास भूतं वैकुण्ठाख्यं यं लोकं प्राप, तं लोकं गतेत्यर्थः ॥ २९ ॥

[11-]उपसंहरति **इत्थम्भूतानुभाव** [-11]**इति**। भगवत्तमः भगवताम् - "उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूताना मागतिं गतिम्। वेत्ति विद्या मविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति। (वि.पु. 6-5-78) इत्युक्तविध भगवतां मध्ये श्रेष्ठः असौ पृथुरित्थंभूतानुभावः उक्तविधप्रभाव सम्पन्नः। उदारचरितस्य पृथोश्चरितं ते तुभ्यं मया कीर्तितम् ॥ ३० ॥

---

1--1. V omits  2. V अव्यक्तं  3. V omits यो  4--4. B, J, V, Va omit  5. A, B, T omit अस्मान्  6. W omits नभस्तान्
7. W omits अपि  8. A, B, T °द्वदतीव  9. A, B, T °ध्ये°  10. W °स°  11--11. A, B, T इत्थमिति।

**विज.** ये मर्त्या नैष्कर्म्यं मोक्षलक्षणं भगवत्पदं साधयन्त्युत विद्युद्वल्लोलानि चलान्यायूंषि येषां ते तथा तेषा मन्य दुरापं किं, न किमपीत्यर्थः ॥ २६-२७॥

आपवर्म्यं मुक्तिसाधनकारणम् ॥ २८ ॥

पतिलोकं नाथवन्तं लोकमिति शङ्कानिवृत्त्यर्थं वैन्यो यं लोकं प्राप तं पतिलोकं गताऽभूदिति स्पष्टीकृतम्[1] ॥ २९ ॥

उपसंहरति - **इत्थमिति** । योऽसौ पृथु रित्थं भूतानुभावः (ईदृश) प्रभावः "अनुभावः प्रभावे स्या न्निश्चये भावसूचके" (वैज.को.8-1-8) इति यादवः । "भगो योऽन्यां भगो यत्ने यशो वीर्यार्क भूतिषु । कान्तीच्छाज्ञान वैराग्य धर्मैश्वर्य तपस्सु च । (वैज.को.6-5-58) इति वचनात् । सत्प्रयत्नादिगुणवता मतिशयेन प्रधानत्वात् भगवत्तमः ॥ ३० ॥

**य इदं सुमहत्पुण्यं श्रद्धयाऽवहितः पठेत् ।**

**श्रावये च्छृणुयाद्वाऽपि स पृथोः पदवी मियात् ॥ ३१ ॥**

**ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चस्वी राजन्यो[2] जगतीपतिः ।**

**वैश्यः[3] पठन् विट्पति[4] स्स्यात् शूद्रः उत्तमता[5] मियात्[6] ॥ ३२ ॥**

**त्रिकृत्व[7] इद माकर्ण्य नरो नार्यथवाऽऽदृता[8] ।**

**अप्रजः[9] सुप्रजतमो निर्धनो धनवत्तमः ॥**

**अस्पष्टकीर्तिः सुयशा मूर्खो भवति पण्डितः ॥ ३३ ॥**

**इदं स्वस्त्ययनं पुंसा ममङ्गल[10] निवारणम् ।**

**धन्यं यशस्य मायुष्यं स्वर्म्यं कलिमलापहम् ॥ ३४ ॥**

**धर्मार्थकाममोक्षाणां सम्यक्सिद्धि मभीप्सुभिः ।**

**श्रद्धयैत दनुश्राव्यं चतुर्णां कारणं परम् ॥ ३७ ॥**

---

1. M, Ma स्पष्टितम् 2. W क्षत्रियो 3. W विट्पति स्तु भवे द्वैश्यः 4. M, Ma, Ms विश्पति 5. A, B, G, I, J, T स° 6. W °ता लभेत्
7. I, J M, Ma, Ms, V, W त्रिः° 8. M, Ma, Ms °त. 9. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T, V °ज· 10. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T, V °त्य

[1]सङ्ग्रामाभिमुखो राजा श्रुत्वैत दभियाति यान्।
बलिं तस्मै हरन्त्यग्रे[2] राजानः पृथवे यथा॥ ३६॥

मुक्तान्यसङ्गो भगवत्यचलां[3] भक्तिमुद्वहन्।
वैन्यस्य चरितं पुण्यं श्रुणुया च्छ्रावये त्पठेत्॥ ३७॥

वैचित्रवीर्याभिमतं[4] महन्माहात्म्यसूचकम्[5]।
अस्मिन्कृतमति र्मर्त्यः पार्थवीं[6] गति माप्नुयात्॥ ३८॥

अनुदिन मिदमादरेण शृण्वन् पृथुचरितं प्रथयन्[7] विमुक्तसङ्गः।
भगवति भवसिन्धुपोत[8]पादो सच निपुणां लभते मतिं[9] मनुष्यः॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३॥

**श्रीध. ब्राह्मण** इति। विशां पश्वादीनां वैश्यादीनां[10] वा पतिः स्यात्। शूद्रः[11-] शृण्वन्निति शेषः। तस्य पाठानधि-कारात्[-11]॥ ३१-३२-३३-३४-३५-३६॥

**मुक्तेति**। यद्यपि बहूनि फलानि भवन्ति, तथाऽपि मुक्ताऽन्यसङ्ग एव श्रवणादि कुर्यात्॥ ३७॥

**वैचित्रेति**। महतो भगवतो माहात्म्यस्य सूचकम्। पार्थवीं पृथुसम्बन्धिनीम्। पार्थिवीमिति वा पाठः॥ ३८॥

**अनुदिनमिति**। प्रथयन् कीर्तयन् भवसिन्धौ पोतो नौका[12] पादो यस्य॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३॥

---

1. A, B, G, I, J, T, W विजयाभि 2. W °न्त्यन्ये 3. A, B, G, I, J, T, V °म्र° 4. W °त्म्र 5. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms हितं
6. Ms, T, V, W °र्थि° 7. V °यंश्च मुक्त 8. M पारभूते 9. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T रति° 10. V omits वैश्यादीनां 11--11. V omits
12. B, J, V, Va omit नौका

**वीर.** एतच्चरितकीर्तन श्रवण श्रावण फलमाह - **य**इति। यः पुमान् सुमहत् पुण्यं[1] पुण्यसाधन मिदं चरित मवहितमनाः समाहितचित्तः श्रद्धया पठेत् श्रृणुयात्[2] श्रावये द्वा स पृथोः पदवीं गति मियात् प्राप्नुयात्॥ ३१॥

आनुषङ्गिकं फलमाह - **ब्राह्मण** इति। ब्राह्मणः ब्रह्मवर्चस्वी भवेत्, राजन्यः क्षत्रियः पठनादिकं कुर्वन् जगती पति र्भवेत्, वैश्य विट्पतिः वैश्यानां[3] पतिः[-3] शूद्रः उत्तमतां सजातीयेषु[4] प्राप्नुयात्॥ ३२॥

नरो नारी वाऽऽदृता आदरण[5] युक्ता त्रिः कृत्वः त्रिवार मिद माकर्ण्य अप्रजाः सुप्रजाः, विद्यारूपद्रविण बलादियुक्तपुत्रवान् भवेत्, निर्धनः धनवतां मध्ये श्रेष्ठः, अनभिव्यक्त कीर्तिः विपुलकीर्तिः, मूर्खः ज्ञानविधुरः पण्डितो भवेत्॥ ३३॥

स्वस्ति मङ्गलं ईयतेऽनेनेति तथा अमङ्गलं निवारयतीति तथा धन्यं धनसम्पादकं यशस्कर मायुष्करं स्वर्गसाधनं कलिदोषहरम्॥ ३४॥

धर्मादीनां सिद्धिं सम्यक् अभीप्सुभिः[6-] लिप्सुभिः[-6] चतुर्णां[7-] धर्मादीनां[-7] परं कारणं साधन मेतत् चरित्रं श्रद्धयाऽऽश्राव्यम्॥ ३५॥

एतच्चरित्रं[8] श्रुत्वा राजा[9] संग्रामाभिमुखो यान् याति, तस्मै अभियात्रे बलिं हरन्ति यथा राजान. पृथवे॥ ३६॥

यद्यप्येवंविधानि बहूनि फलानि तथाऽपि त्यक्ताऽन्य फलसङ्ग· भगवति भक्तिमुद्वहन् कुर्वन्। वैचित्र्य[10] वीर्याणां विचित्रवीर्यशालिना मभिमतं महतो भगवतो माहात्म्यस्य सूचकं पुण्यं[11] वैन्यस्य चरितं श्रृणुयात् श्रावयेत्[12] पठेच्च। एवञ्चेदस्मिन् भगवति कृतमति र्मर्त्य पार्थिवीं[13] पृथुना लब्धां गति माप्नुयात्॥ ३७-३८॥

य इदं पृथुचरित मत्यादरेण अनुदिनं श्रृण्वन् प्रथयन् कीर्तयन् विमुक्तान्यफलासङ्गः स मर्त्य· भवसिन्धौ[14] पोतौ प्लवरूपौ पादौ यस्य तस्मिन् भगवति निपुणां मतिं लभते॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

वीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३॥

**विज.** फलमाह - **य**इति। पदवीं भक्तिज्ञानादिलक्षणाम्॥ ३१॥

---

1. A, B, T omit पुण्य 2. W omits शृणुयात् 3--3. A, B, T omit 4. W स्व 5. A, B, T °रेण 6--6. W omits 7--7. A, B, T omit 8. A, B, T °तं 9. W राजन्य 10. A, B, T °त्र 11. A, B, T omit पुण्यं 12. A, T omit श्रावयेत् 13. A °र्थ° 14. W सिन्धो

वर्णभेदेन फलं विविनक्ति - **ब्राह्मण** इति ॥ ३२ ॥

श्रवणाद्यावृत्त्यासाधारणफलमाह - **त्रिःकृत्व** इति ॥ ३३ ॥

प्रतिपन्थिनिवारकं चे दभीष्टसिद्धिः स्या दनेन तत्कथं स्या दित्यत स्तद्विशिनष्टि - **इद**मिति ॥ ३४ ॥

व्याख्यातु र्विशेष फल माह - **धर्मार्थेति**। चरितस्य तादृक्सामर्थ्याभावे तदिच्छया किमित्यत उक्तं चतुर्णा मिति। एतत्सामान्य स्वभावे किमनेनेत्यत उक्तं - **पर**मिति। परमुत्कृष्टम् ॥ ३५ ॥

असकृदावृत्त्या क्षिप्रं दिग्विजयफलमपि स्यादित्याह - **संग्रामाभिमुख** इति ॥ ३६ ॥

भगवद्भक्त्य विनाभावेन श्रवणादिकुर्वत उक्तं फलं स्यान्नाऽन्यथा इत्याह - **मुक्तेति** ॥ ३७ ॥

पुन स्तात्पर्या दस्मिन् भक्तिं ग्रन्थयति[1] - **वैचित्रवीर्येति**। हे विदुर ! पार्थवीं पृथो र्विद्यमानाम् ॥ ३८ ॥

तस्य चरितस्य शब्दादिविषयपरत्वे[2] कथं भागवतानामुपकारि अत इति तत्राह - **अनुदिनमिति**। प्रथयन् व्याख्यां कुर्वन् भवसिन्धोः संसारसमुद्रस्य पारभूते तीरान्तरीभूते निपुणां श्रीहरिप्रसादजननसमर्थाम् ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थ कृतायां पदरत्नावल्यां
टीकायां त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

1. A, B ग्रथ° 2. A, B शब्दवि°

# चतुर्विंशोऽध्यायः

## मैत्रेय उवाच

विजिताश्वोऽधिराजाऽऽसीत्[1] पृथुपुत्रः[2] पृथुश्रवाः।
यवीयोभ्यो[3]ऽददात्काष्ठा[4] भ्रातृभ्यो भ्रातृवत्सलः॥ १॥

हर्यक्षायाऽदिशत्प्राचीं[5] धूम्रकेशाय दक्षिणाम्।
प्रतीचीं वृकसंज्ञाय तुर्यां द्रविणसे[6] विभुः॥ २॥

अन्तर्धानगतिं शक्राल्लब्ध्वान्तर्धान संज्ञितः।
अपत्यत्रयमाधत्त शिखण्डिन्यां सुसम्मतम्[7]॥ ३॥

पावकः पवमानश्च शुचिरित्यग्नयः पुरा।
वसिष्ठशापादुत्पन्नाः पुनर्योगगतिं गताः॥ ४॥

अन्तर्धानो नभस्वत्यां हविर्धानमविन्दत।
य इन्द्रमश्वहर्तारं विद्वानपि न जघ्निवान्॥ ५॥

## श्री श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एकादशभिरध्यायैः पृथोश्चरितमीरितम्। चतुर्विंशे प्रपौत्रात्तु पृथोः प्राचीनबर्हिषः। प्रचेतसां जनिस्तेभ्यो रूपगीतं च वर्ण्यते॥

**विजिताश्व** इति। अधिराज आसीदित्यर्थः। यवीयोभ्यः कनिष्ठेभ्यः। काष्ठा दिशः॥ १॥

**हर्यक्षायेति**। तुर्यां चतुर्थीम् उत्तरां दिशम्॥ २॥

**अन्तर्धानेति**। शक्राल्लब्ध्वा पृथोः अश्वमेधे अश्वविजयावसरे॥ ३॥

अपत्यत्रयमेवाह - **पावक** इति। पुरा यः शापः तस्मात् मनुष्येषूत्पन्नास्सन्तः योगगतिम् अग्नित्व[8] प्राप्ताः॥ ४॥

---

1. M, Ma, Ms °भ 2. V पृथोः 3. M, Ma, V °ये 4. M, Ma °द्दा° 5. V °श्चा° 6. M, Ma °संज्ञके 7. M, Ma, Ms °तः 8. V गति°

**अन्तर्धान** इति । नभस्वत्याम् अन्यस्यां भार्यायाम् । अन्तर्धानस्य विशेषणं **य** इति । एतेन शक्रादन्तर्धानगतिलाभे कारणमुक्तम् ॥ ५ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं कात्स्न्येन पृथुचरित्रमभिधाय तत्सन्ततिं तच्चरित्रं च अभिधातुमुपक्रमते मुनिः **विजिताश्व** इति । विजिताश्वः पृथोः पुत्रः विपुलकीर्तिः अधिराज आसीत् । भ्रातृवत्सलो विजिताश्वः यवीयोभ्यः कनिष्ठेभ्यः भ्रातृभ्यः, काष्ठा दिशः अ[1]ददात् ॥ १ ॥

कां काष्ठां कस्मै अदात् इत्यत्राह - हर्यक्षाय प्राचीं दिशं, धूम्रकेशाय दक्षिणां दिशं, वृकसंज्ञाय प्रतीचीं दिशं, तुरीयाय चतुर्थीमुदीचीं दिशं, द्रविणसे विभुः विजिताश्वः अदिशत् अददात् ॥ २ ॥

पृथोः [2-]अश्वमेधे[-2] अश्वविजयावसरे शक्रात् अन्तर्धानगतिं तिरोधानगतिं लब्ध्वा अन्तर्धानसंज्ञितः अन्तर्धानाख्योऽभूत् । विजिताश्वस्यैव अन्तर्धान इति नामान्तरमित्यर्थः । अन्तर्धानसंज्ञितो विजिताश्वः शिखण्डिन्यां सुसम्मतं अपत्यत्रयमाधत्त उत्पादयामास ॥ ३ ॥

अपत्यत्रयमेवाह - **पावक** इति । पुरा यो वसिष्ठस्य शापः तस्मात् त्रयोऽग्रयः गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्नयः पावकादिरूपेण मनुष्येषूत्पन्नास्ते पुनः योगगतिमग्नित्वं प्राप्ताः , आहवनीयत्वादेः संस्काररूपत्वात् तेषां मनुष्यरूपेणोत्पत्त्यनर्हत्वात् तदभिमानिदेवतानामुत्पत्तिरत्र विवक्षिता ॥ ४ ॥

नभस्वत्याम् अन्यस्यां भार्यायाम् अन्तर्धानो विजिताश्वः हविर्धानं पुत्रं लेभे । अन्तर्धानं विशिनष्टि - यः अन्तर्धानोऽश्वहर्तारं विद्वान् जानन्नपि न जघ्निवान् । एतेन शक्रादन्तर्धानगतिलाभे कारणमुक्तम् ॥ ५ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

''ईश्वराज्ज्ञानमन्विच्छेन्मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात्'' (ब्रह्माण्डपुराणे) इत्यतो मोक्षसिद्धये रुद्रात् ज्ञानोपदेशप्रकारो ब्रह्मपदयोग्यानामृजूनां देवानामुत्तमाधिकारित्वं चेति द्वयमस्मिन् अध्याये निरूप्यते। तत्रादौ एतस्योपोद्घातमाह - **विजिताश्व** इति। काष्ठा दिशः ॥ १ ॥

---

1. A, B, T प्रादात्  2--2. A, B, T omit

तुर्यां चतुर्थीमुत्तराम्॥ २॥

अन्तर्धानगतिम् अदृश्यविद्याम्। नाम्ना शिखण्डिन्यां भार्यायाम्॥ ३॥

पुरा पूर्वजन्मनि। अग्नीनां मनुष्ययोनौ उत्पत्तौ निमित्तमाह -- वसिष्ठेति। तत्कृत्यमाह -- पुनरिति॥ ४॥

अन्तर्धानो विजिताश्व एव। तं विशिनष्टि -- य इन्द्रमिति॥ ५॥

**राज्ञां वृत्तिं करादानदण्डशुल्कादिदारुणाम्।**
**मन्यमानो दीर्घसत्त्रव्याजेन विससर्ज ह॥ ६॥**

**तत्रापि हंसं पुरुषं परमात्मानमात्मदृक्।**
**यजंस्तल्लोकतामाप कुशलेन समाधिना॥ ७॥**

**हविर्धानाद्धविर्धानी विदुरासूत षट् सुतान्।**
**बर्हिषदं गयं शुक्लं कृष्णं सत्यं जितव्रतम्॥ ८॥**

**बर्हिषत् सुमहाभागो हाविर्धानिः प्रजापतिः।**
**क्रियाकाण्डेषु निष्णातो योगेषु च कुरूद्वह॥ ९॥**

**यस्येदं देवयजनमनु यज्ञं वितन्वतः।**
**प्राचीनाग्रैः कुशैरासीदास्तृतं वसुधातलम्॥ १०॥**

**श्रीध. राज्ञामिति**। स चान्तर्धानो राज्ञां वृत्तिं कराऽऽदानादिभिः दारुणां परपीडात्मिकां मन्यमानो विससर्ज ह॥ ६॥

**तत्रेति**। हन्ति स्वानां क्लेशमिति हंसः तं पुरुषं पूर्णम्। कुशलं पुण्यं तद्रूपेण समाधिना॥ ७,८॥

**बर्हिषदिति**। हाविर्धानिः हविर्धानस्य पुत्त्रः योगेषु च प्राणायामादिषु॥ ९॥

क्रियाकाण्ड निष्णातत्वमाह - **यस्येति**। इदं वसुधातलं देवयजनं यज्ञवाटं वितन्वतः यत्र एको यज्ञः कृतः तत्समीप एव यज्ञान्तरं कुर्वतस्सतः अत एव प्राचीनबर्हिः इत्युच्यते॥ १०॥

---

1. M. Ma °नं 2. M, Ma °णम् 3. M, Ma, Ms परमेण 4. M, Ma °ष्मन्तं; Ms, V °ष्मदं 5. W शुक्रं 6. M,Ma,Ms °ष्मत् 7. V स° 8. Ms. बाहो; V बाहुः

**वीर.** स[1-] च अन्तर्धानः[-1] राज्ञां वृत्तिं कराऽऽदानदण्डशुल्कादिभिः अतिदारुणं परपीडात्मिकां मन्यमानः दीर्घसत्त्रानुष्ठानव्याजेन विससर्ज। हेत्याश्चर्ये॥ ६॥

तत्रापि दीर्घसत्त्रेऽपि हंसं स्वेषां[2] क्लेशं हन्तीति हंसं शुद्धं वा, परमात्मानं पुरुषं[3] परमपुरुषम् आत्मदृक् प्रकृति विलक्षणब्रह्मात्मकस्वात्मयाथात्म्यज्ञानी सन् यजनं कुशलेन[4] विघ्नानुपहतेन समाधिना भगवल्लोकमवाप॥ ७॥

हे विदुर हविर्धानात् अन्तर्धानपुत्रात् हविर्धानी तद्भार्या बर्हिषदादीन् षट् पुत्रान्[5] असूत॥ ८॥

हे महाबाहो ! हाविर्धानिः हविर्धानस्यापत्यं बर्हिषत् प्रजापालनपरः क्रियाकाण्डेषु योगेषु च निष्णातः निष्ठितोऽभूत्। हे कुरूद्वह॥ ९॥

क्रियाकाण्डेषु निष्णातत्वमेवाह - **यस्येति**। इदं वसुधातलं देवयजनं यज्ञवाटं वितन्वतः यत्र देशे एको यज्ञः कृतः तत्समीपे एव देशे पुनर्यज्ञान्तरं कुर्वतः प्राचीनाग्रैः कुशैः कृत्स्नं वसुधातलमास्तृतमासीत्। अत एव प्राचीनबर्हिरित्युच्यते॥ १०॥

**विज.** कर्माधिकारे स्थितस्य तस्य सन्न्यासप्रकारं वक्ति - **राज्ञामिति**॥ ६॥

भगवदर्पणक्रियया क्रियमाणस्य कर्मणः उत्पन्नज्ञानफलमाह - **तत्रापीति**। हंसं निर्मलम्॥ ७,८॥

हविर्धानपुत्रो बर्हिष्मत् कर्मकाण्डेषु प्रवर्तमानो निवृत्तिमार्गाविरोधेन उभयत्र निष्णातोऽभूदित्याह - बर्हिषदिति॥ ९॥

तत्र क्रियाकाण्डनैष्णात्यं विशदयति - **यस्येति**। अनेन प्राचीनबर्हिरिति नाम ध्वनयति। देवयजनं यज्ञक्षेत्रम्॥ १०॥

**सामुद्रीं देव देवोक्ता मुपये मे शतद्रुतीम्।**

**यां वीक्ष्य चारु सर्वाङ्गीं किशोरीं सुष्ठ्वलङ्कृताम्।**

**परिक्रमन्तीमुद्वाहे[6] चकमेऽग्निः शुकीमिव॥ ११॥**

**विबुधासुरगन्धर्व मुनिसिद्धनरोरगाः[7]।**

**विजिताः सूर्यया दिक्षु क्वणयन्त्यैव[8-] नूपुरैः[-8]॥ १२॥**

---

1--1. A, B, T omit 2. A, B, T स्वानां 3. W omits पुरुषं 4. W दीर्घानु° 5. A,B,T सुतान् 6. W तां 7. M, Ma, Ms महो° 8--8. Ms °न्त्या च नूपुरम्

**प्राचीनबर्हिषः पुत्राः शतद्रुत्यां दशाभवन्।**

**तुल्यनामव्रताः सर्वे धर्मस्नाताः प्रचेतसः ॥ १३ ॥**

**पित्राऽऽदिष्टाः प्रजासर्गे तपसे[1] वनमाविशन्।**

**दशवर्षसहस्राणि तपसाऽऽर्चंस्तपस्पतिम्[2] ॥ १४ ॥**

**यदुक्तं पथि दृष्टेन गिरिशेन प्रसीदता।**

**तद्ध्यायन्तो जपन्तश्च पूजयन्तश्च संयताः ॥ १५ ॥**

**श्रीध. सामुद्रीमिति**। समुद्रस्य कन्यां देवदेवेन ब्रह्मणोपदिष्टां शतद्रुतिं नाम किशोरीं बालां परिक्रमन्तीं प्रदक्षिणं गच्छन्तीम्। [3-]सुष्ठु प्रशस्तं यथा तथा अलङ्कृतां[-3] शुकीमिवेति। एवं ह्याख्यायते। सप्तर्षीणां सत्रे तद्भार्यादर्शनेन अग्निः कामसन्तप्तोऽभूत्। तं च तद्भार्या स्वाहा नाम सप्तर्षिभार्यारूपधारिणी सती रमयामास। गमयित्वा च तद्रेतः शुकीरूपेण शरस्तम्बे विधाय अगच्छत्। तां यथा सप्तर्षिभार्याभ्रान्त्या अग्निः कामितवान् तद्वदिति। स्तुकीमिवेति पाठे स्तोकघृतधारामिवेत्यर्थः ॥ ११ ॥

**विबुधेति**। सूर्यया नवोढ्यैव विबुधादयो विजिता अभिभूताः तच्च नूपुरैः पादौ क्वणयन्त्यैव तद्ध्वनिमात्रेणेत्यर्थः[4] ॥ १२ ॥

**प्राचीनबर्हिष** इति। तुल्यं नाम व्रतमाचाराश्च येषाम्। धर्मस्नाताः धर्मपारगाः ॥ १३ ॥

**पित्रेति**। तपसा तपसां पतिं हरिम् आर्चन् अर्चयामासुः ॥ १४,१५ ॥

**वीर.** स प्राचीनबर्हिः समुद्रस्य पुत्रीं देवदेवेन ब्रह्मणा उपदिष्टां शतदृत्याख्याम् उपयेमे। तां [5-]शतद्रुतिं[-5] विशिनष्टि -- किशोरीं बालां चारूणि सुन्दराणि सर्वाण्यप्यङ्गानि यस्यास्तां, सुष्ठु अलङ्कृताम् उद्वाहे विवाहे परिक्रमन्तीमग्निं यां शतद्रुतिम् अग्निश्चक्रमे शुकीमिव। अयमर्थः - सप्तर्षीणां सत्रे तद्भार्यादर्शनेन अग्निः कामाविष्टोऽभूत्[7]। तं च तद्भार्या स्वाहा नाम सप्तर्षिभार्यारूपधारिणी सती रमयामास। रमयित्वा च तद्रेतः शुकीरूपेण शरस्तम्बे निधाय अगच्छत्। तां च यथा सप्तर्षिभार्याभ्रान्त्या अग्निः कामितवान् तद्वदिति। स्तुकीमिति पाठे स्तोकस्तोकघृतधारामिवेत्यर्थः[8] ॥ ११ ॥

**सूर्यया नवोढयैव नूपुरैः क्वणयन्त्या शतद्रुत्या विबुधादयः सर्वे विजिताः वशीकृता मोहिता इति यावत्** ॥ १२ ॥

---

1. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °सेऽर्णवमा° 2. M, Ma तपस्यन्तस्तपस्विनः 3--3. B, J, V, Va omit 4. V omits तत् 5--5. A, B, T omit 6. A, T omt अपि 7. A, B, T कामदृष्टो° 8. A, B, T omit स्तोक

प्राचीनबर्हिषः सकाशात् शतद्रुत्यां दश पुत्रा अभवन् उदभवन् पुत्रान् विशिनष्टि - तुल्यं नाम व्रतमाचारो येषां ते, धर्मस्नाताः धर्मनिष्णाताः धर्मपारगा इति यावत्। निष्णातशब्दो हि सर्वत्र विवक्षितानुष्ठानानन्तरभाव्यवभृथस्नानस्थानीयमन्तगमन माह। प्रचेतसः प्रचेतोनामानः॥ १३॥

प्रजासर्गे पित्रा उपदिष्टाः प्रथमं तपश्चरितुं[1] वनमरण्यमाविशन्। दश संख्याकानि वर्षाणां वत्सराणां सहस्राणि तपसां पतिं भगवन्तं तपसा आर्चन् अर्चयामासुः॥ १४॥

पथि मार्गे दृष्टेन प्रसीदता गिरिशेन रुद्रेण यदुक्तमुपदिष्टं तद्ध्यायन्तः तदर्थं ध्यायन्तः तज्जपन्तश्च समाहितचित्ताः पूजयन्तश्च आर्चन्निति पूर्वेणान्वयः॥ १५॥

**विज.** अपत्नीकस्यास्य यज्ञकरणं कथमिति शङ्कां निवारयितुमाह - **सामुद्रीमिति**। समुद्रपुत्रीति वचनादयं विशेषो ज्ञातव्यः। देवदेवेन ब्रह्मणोक्तां तां विशिनष्टि - यामिति। शुकीमिव यथा नाम्ना शुकीं राजपुत्रीम् अग्निः प्रदक्षणीकुर्वाणां कामित्वातदादाय अन्तरधात् तथा याम् एनामप्यादातुं शक्यभावेऽपि अग्निश्चकमे इत्यन्वयः। "राजपुत्रीं शुकीमग्निः आवर्तन्तीं प्रदक्षिणम्। आदायाऽन्तरधाद्दानसमये मन्मथातुरः॥ (ब्राह्मे) इति वचनात् अयं विशेषो ज्ञातव्यः॥ ११॥

अग्निश्चकम इति यत् तत् च्चित्रमिति भावेनाह - **विबुधेति**। अग्नेरपि विबुधेष्वेकत्वात् सूर्या नवोढा। "सूर्यं विहर्तुं नासहा" इति श्रुतेः॥ १२॥

तुल्यं नाम व्रतं च येषां ते। तथा किं तत्तुल्यं नाम इत्यत्राह - प्रचेतस इति॥ १३॥

तत्कर्माऽऽह - **पित्रादिष्टा** इति॥ १४॥

एषां को गुरुः किं जप्यं किं ध्येयम्? अत्राह - **यदुक्तमिति**॥ १५॥

## विदुर उवाच

**प्रचेतसां गिरित्रेण यथाऽऽसीत्पथि सङ्गमः।**[2]
**यच्चाप्याह हरः प्रीतस्तन्नो ब्रह्मन् वदार्थवत्**[3][4]**॥ १६॥**

---

1. A,B,T °श्चर्तुं  2. V °ति  3. A, B, G, I, J, T यदुताह; M, Ma, Ms यद्वाप्याह; V यदभ्याह  4. Ms °वित्

**सङ्गमः खलु विप्रर्षे शिवेन[1] हि शरीरिणाम्।**
**दुर्लभो मुनयो दध्युरसङ्गाद्यमभीप्सितम्[2]॥ १७॥**

**आत्मारामोऽपि यस्त्वस्य लोककल्पस्य[3] राधसे।**
**शक्त्या युक्तो विचरति घोरया[4] भगवान् भवः[5]॥ १८॥**

**मैत्रेय उवाच**

**प्रचेतसः पितुर्वाक्यं शिरसाऽऽदाय[6] साधवः।**
**दिशं प्रतीचीं प्रययुः तपस्यादृतचेतसः॥ १९॥**

**समुद्रमुप विस्तीर्णमपश्यन् सुमहत्सरः।**
**महन्मन इव स्वच्छं प्रसन्न सलिलाशयम्॥ २०॥**

**श्रीध. सङ्गम** इति। मुनयोऽपि सङ्गात् योगेनाप्तुमिष्टं यं दध्युरेवकेवलं न तु प्रापुः तेन शिवेन॥ १६,१७॥

ननु मुनीनां किं तद्ध्यानेन घोरत्वादित्याशङ्क्याह - **आत्माराम** इति। आत्मारामोऽपि[7] लोकरचनायाः पालनाय॥ १८॥

गुर्वाज्ञाकारिणां शिवदर्शनं स्वत एव भवतीत्याशयेनाह - **प्रचेतस** इति॥ १९॥

**समुद्र** इति। समुद्रमुप समुद्रात् किञ्चिन्न्यूनम्। "उपोऽधिके च" (अष्टा 1-4-87) इति कर्मप्रवचनीयः। प्रसन्नाः सलिलाशया मत्स्यादयो यस्मिन्॥ २०॥

**वीर.** गिरिशेनोक्तं ध्यायन्त इत्याद्युक्तम्। तत्र किमुक्तं गिरिशेनेति पृच्छति विदुरः। यदा यस्मिन् काले पथि गिरित्रेण सह प्रचेतसां सङ्गम आसीत्। हे ब्रह्मन्! प्रीतो हरः रुद्रः अर्थवत् पुरुषार्थसाधनं यदाह तन्नो अस्मभ्यं वद॥ १६॥

शिवसङ्गमस्य दौर्लभ्यमाह - हे विप्रर्षे! शरीरिणां नृणाम्[8] इह[9] संसारे शिवेन साकं सङ्गमो दुर्लभः दुःखेनापि लब्धुमशक्यः। मुनयः अभीप्सितं आप्तुमिष्टं[10] यं शिवमसङ्गात् विषयान्तरसङ्गत्यागात् दध्युरेव केवलं, न तु प्रापुः तेन शिवेन॥ १७॥

---

1. A, B, G, I, J, Ms, T, V °नेह 2. M, Ma °सङ्गाः सदभी° 3. W दीनलोकस्य 4. M, Ma, Ms तीव्रया 5. V हरः 6. M, Ma, Ms °साऽऽधाय; T, W °स्याधाय 7. V omits अपि 8. W omits नृणाम् 9. A, B, T omit इह 10. A, B, T प्रा°

ननु मुनीनां किं तद्ध्यानेन घोरत्वादित्याशङ्क्याह -- योऽयं भगवान् उत्पत्त्यादिज्ञानवान् हरः आत्मारामोऽपि आत्मारामत्वन लोकसञ्चारप्रयोजनरहितोऽपीत्यर्थः। दीन लोकस्य राधसे सिद्धये दीनाननुग्रहीतुमिति यावत्। शक्त्या स्त्रिया सह युक्तः घोरया मूर्त्या उपलक्षितो विचरति॥ १८॥

एवमापृष्टो मुनिः तत् यथावद्वक्तुमुपक्रमते - **प्रचेतस** इति। साधवः प्रचेतसः पितुः प्राचीनबर्हिषः वाक्यं प्रजाः सृजतेति वाक्यं शिरस्याधाय अतिगौरवेण शिरसाऽनुमोद्य सृष्ट्यर्थं तपस्यादृतचेतसः प्रतीचीं दिशं प्रति प्रययुः॥ १९॥

समुद्रमुप समुद्रात् किञ्चिन्न्यूनम्। "उपोऽधिके च" (अष्टा. 1-4-87) इति कर्मप्रवचनीयत्वे तद्योगात् द्वितीया। समुद्रसमीपे वा विस्तीर्णं सुशोभनं महत् श्रेष्ठं सर अपश्यन्। महत्त्वमेव स्पष्टयति महतां ज्ञानिनां मन इव स्वच्छं निर्मलं प्रसन्नाः सलिलाशया ये मत्स्यादयः यस्मिन्॥ २०॥

**विज.** सङ्क्षेपेणोक्तं विस्तरतः श्रोतुं विदुरः पृच्छति - **प्रचेतसामिति**। यद्वा किं वा अर्थवत् प्रयोजनवत्॥ १६॥

पथिकानां पुरुषाणां तत्र सङ्गमः सुलभः स्यात् अतः किं चोद्यमत्राह - **सङ्गम** इति। असङ्गा मुनयः सतामभीप्सितम् अदधुः तेन शिवेन सह सङ्गमः॥ १७॥

जगतो निरोगत्वाय[1] विचरतोऽपि शिवस्य आत्मारामत्वेन निस्पृहस्य सङ्गमेऽपि सम्भाषणं न सम्भाव्यत इत्याशयेनाह - **आत्मारामोऽपीति**। यस्त्वस्य लोककल्पस्य जनस्य रोगान्मुक्तत्वस्य राधसे सिद्धये तीव्रया शक्त्या इत्यनेन सम्भाषणानुपपत्तिं सूचयति॥ १८॥

सम्भाषणस्य योग्यावस्थां वक्ष्यन् मैत्रेयः प्रचेतसां कथां आदित आवर्तयति - **प्रचेतस** इति॥ १९॥

समुद्रमुप समुद्रस्य समीपे, विस्तीर्णं दक्षिणोत्तरायतं महतः कण्वस्य मुनेः मन इव स्वच्छम्। यद्वा महतां श्रीनारायणस्य चरणारविन्दपरायणानां मनो यथा निर्मलं तथा॥ २०॥

**नीलरक्तोत्पलाम्भोजकल्हारेन्दीवराकरम्।**
**हंससारसचक्राह्व[2]कारण्डवनिकूजितम्॥ २१॥**

**मत्तभ्रमरसौस्वर्यं हृष्टरोमलताङ्घ्रिपम्।**
**पद्मकोशरजो दिक्षु विक्षिपत्पवनोत्सवम्॥ २२॥**

1. A नी° 2. V °क्र

तत्र गान्धर्वमाकर्ण्य दिव्यमार्गमनोहरम्।
विसिस्म्यू[1] राजपुत्रास्ते मृदङ्गपणबाद्यनु[2]॥ २३॥

तर्ह्येव सरसस्तस्मान्निष्क्रामन्तं सहानुगम्।
उपगीयमानममरप्रवरं विबुधानुगैः॥ २४॥

तप्तहेम निकायाभं[3] शितिकण्ठं त्रिलोचनम्।
प्रसादसुमुखं वीक्ष्य प्रणेमुर्जातकौतुकाः॥ २५॥

**श्रीध. नील** इति। नीलोत्पलादीनां आकरं जन्मस्थानम्। उत्पलाम्भोजकल्हाराणि रात्रिदिनसन्ध्याविकासीनि। इन्दीवरं नीलोत्पलम्। तस्य पुनरुक्तिः प्राचुर्यज्ञापनार्थम्। हंसादिभिः निकूजितम्॥ २१॥

मत्तेति। मत्तानां भ्रमराणां सौस्वर्येण हृष्टरोमाणो लताद्रिपा यस्मिन्। पद्मकोशरजो दिक्षु विक्षिपता पवनेन उत्सवो यस्मिन्॥ २२॥

तत्रेति। तत्र मृदङ्गपणवादिवाद्यम् अनु पश्चात् दिव्यैः मार्गैः[4-] स्वरभेदैः[-4] मनोहरं गान्धर्वं गानमाकर्ण्य विसिस्मुः[5-] विस्मयं[-5] प्राप्ताः। पाठान्तरे मृदङ्गपणवादि अवत् रक्षत् तेषां ध्वनिम् अतिरस्कुर्वदित्यर्थः॥ २३॥

तर्हीति। ते च त्रिलोचनं वीक्ष्य जाताश्चर्याः प्रणेमुरित्युत्तरेणान्वयः॥ २४॥

तप्तेति। तप्तहेमराशिसदृशकान्तिम्। शितिः नीलः कण्ठो यस्य तम्॥ २५॥

**वीर.** नीलोत्पलादीनामाकरं जन्मस्थानम् उत्पलानि रात्रिविकासीनि, अम्भोजानि दिनविकासीनि, कल्हाराणि सन्ध्याविकासीनि, इन्दीवरं नीलोत्पलं तस्य पुनरुक्तिः प्राचुर्यज्ञापनार्था। हंसादिभिः निकूजितं चक्राह्वाः चक्रवाकाः॥ २१॥

मत्ता ये भ्रमराः तेषां सौस्वर्येण मधुरस्वरेण हृष्टरोमाणो लताद्रिपा यस्मिन्, उपश्लिष्टलताग्रैः हृष्टरोमाण इव अद्रिपा यस्मिन् तदित्यर्थः। पद्मकोशेषु यद्रजः तत् कर्म दिक्षु विक्षिपता पवनेन उत्सवो यस्मिन्॥ २२॥

तत्र मृदङ्गादिभिरन्वितं दिव्यैः मार्गभेदैः प्रकारभेदैः मनोहरं गान्धर्वं गानमाकर्ण्य ते राजपुत्राः विसिस्मुः[6] विस्मयं[7-] प्राप्ताः[-7]॥ २३॥

---

1. V, W °स्मू 2. M, Ma °वाद्यवत्; W °वान्वितम् 3. M, Ma, Ms निकर्षाभं 4--4. B, J, V, Va मार्गभेदैः 5--5. A, B, J, Va omit 6. A, B, T °स्म्युः 7--7. W omits

तदैव तस्मात् सरसो विनिर्गच्छन्तं विबुधानुगैः गन्धर्वकिन्नरादिभिः उपगीयमानममरश्रेष्ठं सप्रमथगणम्॥ २४॥

तप्तहेमशशिसदृशकान्तिं नीलः कण्ठो यस्य तं, प्रसादाभिमुखं विलोचनं रुद्रं वीक्ष्य सञ्जातहर्षाः प्रचेतसः प्रणेमुः नमस्कृतवन्तः॥ २५॥

**विज.** कतिपयैः श्लौकैः सरसः सेवनीयत्वं वक्ति - **नीलेत्यादिना**। नीलोत्पलानां रक्तोत्पलानां अब्जानां अम्भोजानां इन्दीवराणां पद्मविशेषाणां कल्हाराणां सौगन्धिकानां आकरं उत्पत्तिस्थानम्। "मद्गुः कारण्डवः प्लवः" (अम.को. 2-251) इत्यभिधानम्॥ २१॥

मत्तभ्रमराणां सौस्वर्येण शोभनस्वरपरम्परया हृष्टरोमलतायुक्ता अङ्घ्रिपाः वृक्षाः यत्र तत्तथा तद्रोमलोमत्वमित्यर्थः। दिक्षु पद्मकोशरजो, विक्षिपतः प्रसारयतः पवनस्य उत्सवः शैत्यमान्द्यसौरभ्यलक्षणो यस्मिन् तथा तत्। "कोशोऽस्त्री मुकुले दिव्ये शास्त्रे" (वैज.को. 6-5-15) इति यादवः॥ २२॥

दिव्यो मार्गो येषां ते दिव्यमार्गाः देवाः तेषां मनोहरं, दिव्यमार्गमिति पाठे दिव्याः क्रीडादिके हेतवो मार्गाः सप्तस्वरभेदाः यस्मिन् तत्तथा तादृशं गान्धर्वं गानं, मृदङ्गादीनामनुकूलम्॥ २३, २४॥

तप्तहेमनिकर्षः तप्तसुवर्णकर्षणः पाषाणः तद्वन्निर्मलं, नैर्मल्ये दृष्टान्तोऽयं न तु धावल्ये, तप्तहेम निकर्षाभ इत्यतोऽन्यः कश्चिदित्यतः शितिकण्ठमिति। सोऽपि मयूरः किं न स्यादित्यतः त्रिलोचनमिति॥ २५॥

**स तान् प्रपन्नार्तिहरो[1] भगवान् धर्मवत्सलः[2]।**

**धर्मज्ञान् शीलसम्पन्नान् प्रीतान् प्रीत उवाच ह॥ २६॥**

**श्रीरुद्र उवाच**

**यूयं वैदिषदः[3] पुत्रा विदितं वश्चिकीर्षितम्।**

**अनुग्रहाय भद्रं व एवं मे दर्शनं कृतम्॥ २७॥**

**यः परस्तमसः[4] साक्षात् त्रिगुणाज्जीवसंज्ञितात्।**

**भगवन्तं वासुदेवं प्रपन्नः स प्रियो हि मे॥ २८॥**

---

1. V °न्नग्निरिशो 2. T भक्त 3. M, Ma, Ms बर्हि° 4. A, B, G, I, J, T, V परं रंहसः; W परं तमसः

**स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान् विरिञ्चतामेति ततः परं हि माम्।**
**अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं पदं यथाऽहं विबुधाः कलात्यये॥ २९॥**

**अथ भागवता यूयं प्रियाः स्थ भगवान् यथा।**
**न मे भागवतानां च प्रेयानन्योऽस्ति कर्हिचित्॥ ३०॥**

**श्रीध. यूयमिति**। वेदिषदो बर्हिषदः चिकीर्षितं भगवदाराधनं मया विदितम्॥ २६, २७॥

अनुग्रहकारणमाह - **य** इति। यः साक्षाद्वासुदेवं प्रपन्नः स हि मे प्रियः। कथम्भूतं रहसः सूक्ष्मात् त्रिगुणात्प्रधानात् जीवसंज्ञितात् पुरुषाच्च परम्। प्रकृतिपुरुषयोः नियन्तार मित्यर्थः॥ २८॥

तत्किम्? तस्य महत्तमत्वादित्याह - **स्वेति**। स्वधर्मनिष्ठः पुमान् बहुभिः जन्मभिः विरिञ्चतां प्राप्नोति। ततोऽपि पुण्यातिशयेन मामेति। भागवतस्त्वथ देहान्तेऽव्याकृतं प्रपञ्चातीतं वैष्णवं पदमेति। यथाऽहं रुद्रो भूत्वाऽऽधिकारिकवत् वर्तमानो, विबुधा देवाश्चाधिकारिकाः कलात्यये अधिकारान्ते लिङ्गभङ्गे सति एष्यन्ति॥ २९॥

**अथेति**। अथ भागवतत्वात् यूयं मे प्रियाः स्थ। भवद्भिरपि मयि प्रीतिः कार्येत्याशयेनाह - मत् मत्तः अन्यो भागवतानाञ्च प्रेयान्नास्ति॥ ३०॥

**वीर.** स भक्तवत्सलो भगवान् गिरिशः प्रपन्नान् नमस्कुर्वाणान् धर्मज्ञान् विनयादि शीलसम्पन्नान् तान् प्रचेतसः स्वदर्शनप्रीतान् स्वयमपि प्रीत उवाच॥ २६॥

उक्तिमेवाह - **यूयमिति** यावदध्यायसमाप्ति। यूयं वेदिषदः प्राचीनबर्हिषः पुत्राः वः युष्माकं चिकीर्षितं भगवदाराधनं च विदितं वः अनुग्रहाय युष्माननुग्रहीतुं मे मम दर्शनं कृतं कारितं मयेत्यर्थः॥ २७॥

अनुग्रहकारणमाह - **य** इति। त्रिगुणात्मकात् तमसः प्रधानात् जीवसंज्ञितात् क्षेत्रज्ञाच्च साक्षात्परं विलक्षणम्। सूक्ष्मादिति पाठे त्रिगुणात्कार्यावस्थात् सूक्ष्मात्कारणावस्थाच्च तमसः प्रधानात् क्षेत्रज्ञाच्च परमित्यर्थः। भगवन्तं प्रकृतिपुरुष-वैलक्षण्यापादकपूर्णज्ञानादिषाड्गुण्यं वासुदेवं यः प्रपन्नः स मे प्रियः, भगवद्भक्तस्य सर्वोत्कृष्टत्वादिति भावः॥ २८॥

---

1. W °ञ्चि° 2. M, Ma यथार्हं विविधैः 3. A, B, G, I, J, T, W मद्भा° 4. W कश्चन 5. B, J, V, Va omit मया 6. V बहुज° 7. V इव 8. B, J, V, Va omit मत्तः 9. A, B, T omit तान् 10--10. A, B, T omit

सर्वोत्कृष्टतामेवाह - **स्वधर्मनिष्ठ** इति। पुमान् शतजन्मभिः केवलस्ववर्णाश्रमधर्मनिष्ठः विरिञ्चितां विरिञ्चिसालोक्यं तत् साम्यं वा, एति मामित्यत्राप्येवम्। ततः परं ततः परस्तात् मामेति। अथानन्तरं भागवतः निवृत्तिधर्मानुष्ठानपरं अव्याकृतं चक्षुराद्यनवगम्यं वक्तुमयोग्यं वा वैष्णवं विष्णुसम्बन्धि[1] पदं स्थानमेति। अहं , विबुधाः ब्रह्मेन्द्रादयश्च कलात्यये स्वस्वाधिकारान्ते यथा प्राप्नुवन्ति तथेत्यर्थः॥ २९॥

अथ ननु यूयं भागवताः स्थ भवथ, अतो मम भगवान् यथा प्रियः एवं यूयमपि प्रिया भवथ। भागवतानां भागवतेभ्यः मे अन्यः प्रियः कश्चिन्नास्ति॥ ३०॥

**विज.** प्रणतिफलमाह - **स तानिति**॥ २६॥

वो युष्माकमनुग्रहायैव एवंविधं भद्रं कल्याणं दर्शनं कृतमित्यन्वयः। अनेन तीव्रया शक्त्या विचरतीत्यस्य परिहारः उक्तो भवति। सम्भाषणयोग्यरूपदर्शनादिति॥ २७॥

विष्णुभक्तानस्मान् कथं भवान् अनुगृह्णाति इति चेत् तत्राह - **यः पर** इति। यो जीवसंज्ञितात् त्रिगुणात् तमसो लक्ष्मीतत्वात् साक्षात् परः तं भगवन्तं वासुदेवं शरणं प्रपन्नः। स मे प्रियो हि यस्मात्तस्मात् भवन्तो मदनुग्रहयोग्या इत्यर्थः। ''स जीवमायां प्रकृतिं सिसृक्षतीम्'' तम आसीत्तमसागूढमग्रे प्रकेतम्'' (यजुरा. 2-8-9) इति वचनद्वयेन लक्ष्मीतत्त्वस्य जीवशब्दवाच्यत्वं तमश्शब्दवाच्यत्वं च सिद्धम्॥ २८॥

इतोऽप्यनुगृह्णामीति वक्तुमृजूनामपि बहुजन्मसाध्यो भगवत्प्रसादः किमुत अन्येषामिति ध्वनयन् विरिञ्चपदप्राप्तिसाधन-सामग्रीमाह - **स्वधर्मेति**। वैराग्यभक्तिज्ञानादयः स्वधर्माः तेषु निष्ठा नितरां स्थितिः यस्य स तथा, स ऋजुष्वेकः पुमान् शतजन्माभिः एकोन शतजन्मभ्यः पूर्वकालमारभ्य सञ्चीर्णहर्युपासनाजनित भगवत्प्रसादेन विरिञ्चतामेति। ब्रह्मपदं प्राप्नोतीत्यन्वयः। ततः परं, ब्रह्मपदानुभवानन्तरं मां श्रियमेति। हिशब्देन श्रीद्वारमात्रं ब्रह्मण इति सूचयति। ''अव्याकृतं विशति यर्हि गुणत्रयात्मा। कालं परं स्वमनुभूय'' (भाग. 3-32-9) इत्युक्तेरव्याकृतं निर्विकारं लक्ष्मीतत्त्वमित्यर्थः। ''ऋजवो नाम ये देवा योग्या ब्रह्मपदस्य तु। त एव शतजन्मानि विशेषोपासका हरेः॥ प्राप्य ब्रह्मपदं पश्चात् श्रियं प्राप्यानुमोदिताः। तया ततो हरिं यान्ति वसन्ति हरिसन्निधौ। अनादिकालभक्ताश्च ज्ञानिनस्ते न संशयः। विशिष्टा ज्ञानभक्त्यादौ सर्वजीवनिकायतः। सर्वदापि विशेषेण शतजन्मप्रयत्नतः। स्वपदप्राप्तिरुद्दिष्टा ततो मुक्तिरवाप्यते॥'' (षाड्गुण्ये) इति निर्णायकवचनात् उक्त एवार्थो नापरः। उक्तलयं विशिनष्टि-भागवत इति।

---

1. A. B. T विष्णोः

अथ श्रियं प्रविश्य भागवतो भगवद्भिः भाग्यवद्भिर्युक्तो ब्रह्मा यथार्हं यथायोग्यं विविधैः कार्यकारणसङ्घातैस्सह कलात्यये षोडशकलात्मकशरीरलयोपलक्षितजगत्प्रलये वैष्णवं पदम् अपरिच्छिन्नं भगवत्स्वरूपमेतीत्यन्वयः । अस्मदादयोप्यनेनैव व्याख्याताः, तथा हि यथा ऋजुध्वेकः पुमान् बहुलजन्मसञ्चीर्णपुण्यसञ्चयेन ब्रह्मपदं प्राप्य अनुभूय श्रीद्वारा सायुज्यलक्षणां मुक्तिमाप्नुते इति, तथाऽहं चत्वारिंशज्जन्मभिरार्जितैः सुकृतैः शैवं पदं समवाप्य अनुभूय तथेन्द्रोऽपि विंशद्भिर्जन्मभिः आपादितैः पुण्यैः ऐन्द्रपदं समेत्यानुभूय तथेन्द्रादन्ये दशभिर्जन्मभिः उत्पादितैः शुभैः स्वस्वयोग्यं पदं प्राप्य तत्तत्पदभोग्ययोग्यसुकृतं भुक्त्वा ब्रह्मणा सह विमुक्तिमाप्नुम इति। तदुक्तम् - "तथैव चत्वारिंशद्भिः पदं शैवं च जन्मभिः। विंशद्भिरैन्द्रं दशभिरन्येषामप्युदीरितम्" (षाड्गुण्ये) इति। यथाहमिति पाठे, यथाहं श्रीहरिप्रसादेन शैवं पदमाप्तोऽस्मि, तथा ऋजुध्वेकः पुमान् शतजन्मभिर्विरिञ्चतामेतीति योज्यं, "विदेहि रुद्रो रुद्रियं महित्वम्" इति श्रुतिश्च ॥ २९ ॥

ततः प्रकृते किं फलितमाह - **अथेति** । अथैवमुक्तप्रकारेणानादिकालमारभ्य भगवद्भक्तोऽहं यस्मात्तस्माद्भागवता भगवद्भक्तत्वाद्यूयं मे प्रियाः स्थ। यथा भगवानित्यधिकदृष्टान्तः। न केवलं यूयमेव मत्प्रियाः अन्येऽपि भगवद्भक्ता इत्याह - **न मे** इति। भागवतानां सकाशात् चशब्दात् प्रेम्णो निरुपमचरितत्वमाह। अनेनासुरेभ्यो वरदानेन तत्प्रीतिः औपचारिकीति दर्शितम्। यद्वा युष्माकमपि भागवत एव प्रियो नापरः, अन्यथा भागवतत्वहानिरित्याशयेनाह न मे इति। मम भागवतानां युष्माकं च भागवतादन्यः प्रेयान्नास्तीत्यन्वयः। अनेन युष्माकं च अहमपि प्रियः इति ध्वनितम् ॥ ३० ॥

**इदं विविक्तं जप्तव्यं पवित्रं मङ्गलं परम्।**
**निःश्रेयसकरं चापि श्रूयतां यद्वदामि वः ॥ ३१ ॥**

**मैत्रेय उवाच**

**इत्यनक्रोशहृदयो भगवानाह तान् शिवः।**
**बद्धाञ्जलीन् राजपुत्रान्नारायणपरो वचः ॥ ३२ ॥**

**श्रीरुद्र उवाच**

**जितं त आत्मविद्धुर्यस्वस्तये स्वस्तिरस्तु मे।**
**भवता राधसा राद्धं सर्वस्मा आत्मने नमः ॥ ३३ ॥**

---

1. A. B, G, I, J, T तं° 2. M, Ma वः 3. M, Ma, M s °विद्धुयोः 4. M, Ma, Ms वः 5. M, Ma, Ms भवतां राधसे राद्धं

**नमः पङ्कजनाभाय भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मने।**

**वासुदेवाय शान्ताय कूटस्थाय स्वरोचिषे॥ ३४॥**

**सङ्कर्षणाय सूक्ष्माय दुरन्तायान्तकाय च।**

**नमो विश्वप्रबोधाय प्रद्युम्नायान्तरात्मने॥ ३५॥**

**श्रीध. इदमिति**। अत इदं जप्तव्यम्। श्रूयतामिति। विविक्तमसङ्कीर्णं यथा भवति तथा[1]॥ ३१॥

**इतीति**। "सृष्ट्यादौ ब्रह्मणा सृष्ट्वा पुत्रेभ्यः प्रोक्तमिष्टदम्। स्तोत्रं प्राह प्रचेतोभ्यः कृपया भगवाञ्छिवः"॥ ३२॥

**जितमिति**। ते जितं तवोत्कर्षः आत्मविद्भुर्याणां ज्ञानिश्रेष्ठानां[2-2] स्वस्तये शोभनसत्तायै स्वानन्दलाभायेत्यर्थः। अतो मे स्वस्तिः स्वानन्दसत्ताऽस्तु। ननु ममोत्कर्षो मदर्थ एव किं न स्यात्तत्राह। भवता राधसा स्वानन्दरूपेण राद्धं सिद्धम्। त्वं निरतिशय[3-3] परमानन्दरूपेणैव नित्यं स्थित इत्यर्थः। अत एवम्भूताय आत्मने तुभ्यं नमः, सर्वस्मै सर्वरूपाय च॥ ३३॥

सर्वरूपत्वं प्रपञ्चयन् प्रणमति - **नम** इति सार्धैर्दशभिः। पङ्कजं लोकात्मकं नाभौ यस्य तस्मै कारणात्मने नमः। कारणत्वादेव सृज्यानां प्राणिनां ये उपाधयो भूतानि सूक्ष्माणि तन्मात्राणीन्द्रियाणि च तेषामात्मने नियन्त्रे अन्तः करणचतुष्टयाधिष्ठातृत्वेन प्रणमति चतुर्भिः श्लोकार्धैः। वासुदेवाय चित्ताधिष्ठात्रे, कूटस्थाय निर्विकाराय चित्तस्यैकरूपत्वात्॥ ३४॥

**सङ्कर्षणायेति**। सङ्कर्षणायाहङ्काराधिष्ठात्रे, सूक्ष्माय अव्यक्ताय, दुरन्तायानन्ताय, अन्तकाय मुखाग्निना लोकदाहकाय, विश्वस्य प्रकृष्टो बोधो यस्मात् अन्तरात्मने बुद्धय धिष्ठात्रे॥ ३५॥

**वीर.** तत इदं वक्ष्यमाणं जप्तव्यं श्रूयतामित्यन्वयः। जप्तव्यं विशिनष्टि। विविक्तमसङ्कीर्णं यद्वा विविक्तं कर्तरि क्तः। विवेचकं प्रकृतिपुरुषविलक्षणत्वेन परमात्मविवेचकमित्यर्थः, अत एव पवित्रमत एव मङ्गलं धर्मादिपुरुषार्थसाधनं, निःश्रेयसकरं मुक्तिसाधन मत एव परं वः युष्मभ्यं वदामि॥ ३१॥

इत्येवं वदामीति प्रतिज्ञापूर्वकमनुक्रोशहृदयः कृपायुक्तहृदयः[4-4] भगवान्नारायण एव परः प्राप्यः प्रापकश्च यस्य सः शिवः बद्धानि अञ्जलिपुटानि यैस्तान् राजपुत्रान् प्रति वचः वाक्यमाह॥ ३२॥

---

1. A, B, J, Va omit **तथा** 2--2. B, J, V, Va omit 3--3. A, B, J, Va omit 4--4. A, B, T omit

स्वरूप[1]रूपस्वभावैस्तत्सर्वोत्कृष्टत्वं भक्तानुग्रहार्थमेव न स्वार्थमिति वदन् सर्वान्तरात्मत्वगुणविशिष्टं नमस्करोति - **जितमिति**। हे आत्मवद्धुर्य ! आत्मवतां ज्ञानिनां धुर्य ! रक्षक ! ते तव जितमुत्कर्षः स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयोत्कर्षः जितमिति भावे क्तः, स्वस्तये आत्मविदामिति शेषः । यद्वा आत्मविद्धुर्या योगीश्वरास्तेषां स्वस्तये सुखाय त्वामुपासीनानां निरतिशयानन्दावहाः तत्स्वरूपरूपगुणाः भक्तानुग्रहैकप्रयोजना इत्यर्थः[2]। अतो मे त्वामुपासीनस्य मम स्वस्तिः त्वदनुभूतिसम्भूतं सुखमस्तु। न त्वसत्तां प्राप्नुयादित्यर्थः। मे स्थायित्वेनावतिष्ठत्वित्यर्थः। ननु विषयानन्दवत् मदनुभूतिसम्भूतानन्दोऽपि क्षणिक एव स्यात्तत्राह। राधसा सिद्धरूपेण भवता सिद्धं संसिद्धं साध्यत्वेन विषयाणामस्थिरत्वात् तदनुभवसम्भूतानन्दोऽप्यस्थिरः तव तु सिद्धरूपत्वात् त्वां नित्यमनुभवतो मम त्वदनुभवसम्भूतानन्दः स्थायीति भावः। अत्र परमात्मानन्दसाधनभूततद्विषयभक्तेः स्थैर्यं प्रार्थ्यते। ननु मम कथं सर्वोत्कृष्टता ममापि देवादीनां मध्येऽन्यतमत्वादित्यत्राह सर्वस्मै आत्मने[3] इति। सर्वस्मै प्रपञ्चरूपाय, तत्र हेतुः आत्मन इति। यथा देवमनुष्यादिशरीरेष्वात्मतयाऽनुप्रविष्टो जीवः देवोऽयमिति देवादिसामानाधिकरण्येन व्यपदिश्यते तद्वत्परमात्मा। "यः पृथिव्यां तिष्ठन् य आत्मनि तिष्ठन्" (बृह.उ. 3-7-3) इति चिदचिदन्तरात्मतयाऽवस्थितः तद्व्यपदेशेन व्यपदिश्यते। तत्तदन्तरात्मत्वमेव तत्तद्व्यपदेशव्यपदेश्यत्वनिमित्तमिति युक्तमात्मत्वस्य सर्वत्वव्यपदेशहेतुत्वम्। यद्वा "आत्मनः आकाशः सम्भूतः" (तैत्ति.उ. 2-1-1) इत्यत्रेव आत्मशब्दः कारणात्मपरः, तथा चायमर्थः - कारणं हि मृद्द्रव्यं, कार्यात्मना परिणतं मृदयं घट इति कार्याभेदेन व्यपदिश्यते। तथा सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टः कारणभूतः परमात्मा स्थूलचिदचिद्विशिष्टब्रह्मरूपप्रपञ्चव्यपदेशव्यपदेश्यः इत्युक्तं कारणात्मत्वस्य सर्वत्वव्यपदेशहेतुत्वम्। एवं चेदृशं सर्वात्मत्वसर्वकारणत्वप्रयुक्तसर्वात्मकत्वं त्वय्येवैकान्तमिति त्वमेव सर्वोत्कृष्ट इति भाव[4]ः ॥ ३३ ॥

अन्यदप्युत्कर्षा[5]पपादकं गुणजातं वदन् तद्विशिष्टं नमस्करोति - **नम** इति। पङ्कजनाभाय लोकात्मकं पङ्कजं नाभौ यस्य तस्मै, एवं कार्यावस्थप्रपञ्चरूपत्वमुक्तम्। कारणावस्थप्रपञ्चरूपतामाह। भूतसूक्ष्माणामिन्द्रियाणां चात्मने आश्रयाय उभयनिर्वाहकमन्तरात्मत्वं तत्प्रयुक्तदोषास्पृष्टत्वं चाह। वासुदेवाय वासुश्चासौ देवश्च तस्मै। "सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रैव वै यतः" (वि.पु. 1-2-12) इत्युक्त कर्त्रधिकरणव्युत्पत्तिनिरुक्तवासुशब्दवाच्यसर्वान्तरात्मत्वगुणविशिष्टाय तथापि देवाय तद्व्याप्यगतदोषास्पर्शिन[6] देदीप्यमानाय, अत एव शान्ताय अशनायापिपासाशोकमोहजरामृत्युभिरूर्मिभिर्विरहिताय अत एव कूटस्थाय निर्विकाराय अत एव स्वरोचिषे नित्यासङ्कुचितापरिच्छिन्नस्वप्रकाशाय ॥ ३४ ॥

कारणावस्थप्रपञ्चात्मकत्वस्य प्रपञ्चसंहारपूर्वकत्वाज्जगत्संहर्तृत्वगुणविशिष्टतामाह - **सङ्कर्षणायेति**। सङ्कर्षणाय समित्येकीकारे

---

1. W omits रूप 2. W °ति भावः। 3. A, B, T add नमः 4. A, B, T omit भावः 5. A, B, T °कर्षापा° 6. W omits तत्

अविभक्तनामरूपत्वेन कर्षणाय कर्षयत्याकर्षयति स्वस्मिन् जगदुपसंहरति तथा तस्मै। केनाकारेण संहर्तृत्वम् ? तत्राह - अन्तकाय। मुखाग्निना लोकदाहकाय, अत एव सूक्ष्माय नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टाय एवम्भूतायापि दुरन्ताय अन्तर्हिताय अनुपसंहार्यायेत्यर्थः। [1]उपसंहारो हि कार्यस्य कारणेन सह संश्लेषः, तस्य कारणान्तराभावेनानुपसंहार्यत्वात् [2]कारणकाष्ठाभूतायेत्यर्थः फलितः। एवं कार्यावस्थकारणावस्थप्रपञ्चरूपत्वतदनुगुणगुणयुक्तं नमस्कृत्य जगद्रक्षकत्वतदुपयुक्तगुणविशिष्टं नमस्करोति - नम इति। विश्वप्रबोधाय विश्वं प्रबोधयति धर्मादिपुरुषार्थतत्साधनप्रकाशक-वेदाख्यशास्त्रोपदेशेन वेदयतीति विश्वप्रबोधः तस्मै, विश्वोज्जीवयित्रे इत्यर्थः। न केवलमुपदेशमात्रेण अपि तु व्यूहविधावन्तर्यामित्वादिरूपेण विभवमूलत्वसाध्वसाधु निग्रहानुग्रहदेहेन्द्रियादिसज्जीवयितृत्वादिभिश्चेत्याहप्रद्युम्नाय। दुष्कृन्निग्रहसाध्वनुग्रहैकप्रयोजनरामकृष्णादिविभव-[3]मूलप्रद्युम्नव्यूहाय अन्तरात्मने सर्वदेशकालावस्थासु युगपत्सर्वजगदन्तः प्रवेशपूर्वकं प्रशासनेन भर्त्रे॥ ३५॥

**विज.** सुप्रसन्नेन भवता यत्किञ्चिदुपदिश्यते चेद्भवत्प्रियत्वमानुभाविकं स्यादित्यस्य वाक्यस्यावसरं आददान आह - **इदमिति**। अनेन बहुपुनश्चरणमन्तरेण क्षिप्रं सत्यं फलतीत्युक्तं भवति॥ ३१॥

न केवलं प्रतिज्ञामात्रं किन्तूपदिष्टं चेत्याह - **इतीति**। अनुक्रोशेत्यादि विशेषणेनानुग्रहातिशयं द्योतयति। किञ्चोपदेशकाले शिष्याणामित्थं भावं च सूचयति॥ ३२॥

स्वोपदेशः फलितो युष्माकमिति भावेनाह - **जितमिति**। हे आत्मविद्धुर्याः ! परमात्मज्ञानिषु श्रेष्ठाः ! वो जितं सर्वमिति शेषः। कुतः ? स्वस्तये भगवदुपासनाख्यसत्कर्मणे मयोपदिष्टमिति यत्तस्मादिति शेषः। "प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते" भ.गी. 17-26 इति स्मृतिः। किञ्च भगवति भवतां भक्तिरनुदिनमेधतामिति भावेनाह - स्वस्तिरिति। युष्माकं हरौ स्वस्तिः समीचीनसद्भावः सती भक्तिरस्तु। ततश्च तया भक्त्या भवतां राधसे सिद्धये भगवत्तत्त्वं राध्यं पूज्यं, कथम्? सर्वस्मै सर्वान्तर्यामिणे आत्मने स्वामिने नम इत्येतावदेवास्माकं शक्यम्। नातोऽन्यदिति सङ्कल्प्येत्यर्थः। "सर्वान्तर्यामिकत्वात्तु सर्वनामा जनार्दनः[5]। न तु सर्वस्वरूपत्वात्सर्वे शेशो हरिर्यतः" (ब्रह्मतर्के) इति वचनात् सर्वनामा, न जगदात्मत्वम् अनेनोच्यते इत्यर्थः॥ ३३॥

इदानीं ध्येयस्वरूपं दिशति - **नमः पञ्चजनाभायेत्यादिना**। भूतानि पञ्चभूतानि, पञ्चभूतसूक्ष्माणि शब्दादीनि। इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि, पतित्वात्सततं व्याप्य, तिष्ठतीति। अत- सातत्यगमने इति धातुः, तस्मै॥ ३४॥

---

1. W omits उप  2. A, B, T कारणानां  3. A, B, T omit विभव  4. A भगव°  5. A omits शक्यं

दुरन्ताय अन्तत्रयवर्जिताय विश्वप्रबोधाय पूर्णज्ञानाय विश्वस्य प्रबोधो यस्मादिति वा, स तथा तस्मै ॥ ३५ ॥

**नमो नमोऽनिरुद्धाय हृषीकेशेन्द्रियात्मने।**

**नमः परमहंसाय पूर्णाय निभृतात्मने ॥ ३६ ॥**

**स्वर्गापवर्गद्वाराय नित्यं शुचिषदे नमः।**

**नमो हिरण्यवीर्याय चातुर्होत्राय तन्तवे ॥ ३७ ॥**

**नम ऊर्ज इषे त्रय्याः पतये यज्ञरेतसे।**

**तृप्तिदाय च जीवानां नमः सर्वरसात्मने ॥ ३८ ॥**

**सर्वसत्त्वात्मदेहाय विशेषाय स्थवीयसे।**

**नमस्त्रैलोक्यपालाय सह ओजबलाय च ॥ ३९ ॥**

**अर्थलिङ्गाय नभसे नमोऽन्तर्बहिरात्मने।**

**नमः पुण्याय लोकाय अमुष्मै भूरिवर्चसे ॥ ४० ॥**

**श्रीध. नम** इति। हृषीकाणां चक्षुरादीनाम् ईशं यदिन्द्रियं मनः तदात्मने सूर्यरूपेण प्रणमति। परमहंसाय सूर्याय पूर्णाय तेजसा विश्वव्यापिने निभृतात्मने क्षयवृद्धिशून्याय ॥ ३६ ॥

**स्वर्गेति**। स्वर्गापवर्गयोर्द्वाराय च कर्मज्ञानफलभूतस्वर्गमोक्षयोः द्वारभूताय त्रयीमयत्वादित्यर्थः। शुचिनि अन्तःकरणे सीदति निषीदतीति शुचिषत् तस्मै। "हंसः शुचिषत्" (कठ.उ. 5-2) इति श्रुतेः। हिरण्यं वीर्यं यस्य तस्मै अग्निरूपाय। चतुर्होत्रं कर्म तस्मै तत्साधनायेत्यर्थः। कुतस्तन्तवे तद्विस्तारकाय ॥ ३७ ॥

**नम** इति। सोमत्वमाह - ऊर्जे पितृणात्मन्नाय इषे देवानामन्नाय यज्ञरेतसे सोमाय। स हि पितृणां देवानां चान्नम्। एवंरूपाय त्रय्याः पतये हरये नमः। सूर्याग्निसोमत्वेनैव तेजस्त्वमुक्तम्। जलत्वमाह - सर्वरसात्मने जलरूपाय ॥ ३८ ॥

**सर्वेति**। विशेषाय पृथ्वीरूपाय सर्वेषां सत्त्वानां प्राणिनां ये आत्मानस्तेषां देहाय स्थवीयसे विराड्देहाय च त्रैलोक्यपालाय वायवे सहादिरूपाय स हि प्राणरूपेण त्रैलोक्यं पालयति अतस्तस्मै तद्रूपत्वम्। सह आदिधर्माय च ॥ ३९ ॥

---

1. W °र्वृ° 2-2. B, J, V, Va omit 3. V वर्गद्वा° 4--4. B, J, V, Va omit 5. A, B, J, Va omit सीदति 6--6. Va omit 7. V omit स
8. V °ते 9--9. B, J, V, Va omit

**अर्थेति**। नभसे आकाशायार्थानां लिङ्गाय ज्ञापकाय शब्दगुणत्वात्। अन्तर्बहिरात्मने अन्तर्बहिर्व्यवहारालम्बनाय, एवम् आकाशादि महाभूतरूपत्वमुक्तम्। अमुष्मै स्वर्गाय भूरिवर्चसे। "एष वै ज्योतिष्मन्तं पुण्यं लोकं याति" इति श्रुतेः॥४०॥

**वीर.** नमसो द्विरुक्तिः तत्तदुणविशेषविशिष्टत्वाभिप्रायतः कृता अनिरुद्धाय अनिरुद्धव्यूहाय, हृषीकाणामिन्द्रियाणां यदीशं मन इन्द्रियाणि च, तदात्मने तद्रूपाय, सर्वात्मकत्वेऽपि विशिष्य हृषीकेशेन्द्रियग्रहणमनिरुद्धोपासनस्थानकृतम्। तथा चोक्तं तृतीये "यद्विदुर्ह्यनिरुद्धाख्यं हृषीकाणामधीश्वरम्। शारदेन्दीवरश्यामं संराध्यमृषिभिः शनैः" (भाग.3-26-28) इति। उक्तस्य जगद्रूपत्वादेर्जीवस्य देवादिरूपत्वात् कर्मायत्तत्व शङ्कायामाह - परमहंसाय। हिनस्ति कर्माख्यं पुण्यापुण्यरूपं मलमाश्रितेषु स्वस्मिंश्चेति हंसस्ततः कर्मधारयाच्चतुर्थी, अपहतपाप्मने इत्यर्थः। पूर्णाय अन्तर्बहिश्च व्याप्यस्थिताय नित्यनिरुपाधिकान्तर्बहि र्व्याप्तिकृतं जगद्रूपत्वं न भवत औपाधिकं, जीवस्य तु देवादिशरीरेष्वभिव्याप्तिः "पिप्पलं स्वाद्वत्ति" (मुण्ड.उ. 3-1-1) इति श्रुतेः कर्मकृतेति। तस्य देवादिरूपत्वमौपाधिकमिति ततः परमात्मनो वैलक्षण्यसिद्धिः। यद्वा परमहंसाय अपहतपाप्मने अतएव निर्वृतात्मने शोकरहिताय। निभृतात्मने इति पाठे क्षयवृद्धिशून्याय, अत एव पूर्णाय सर्वदान्तर्बहिश्च व्याप्य स्थिताय। यद्वा पूर्णाय व्यापकाय। निभृतात्मने अवाप्तसमस्त कामाय। अयमपि जगद्रक्षणोपयुक्त एव गुणः। अवाप्तसमस्तकामोऽहि स्वाश्रितान् समीहितकामप्रदानेन सम्यक् पालयति न तु दरिद्रः॥३६॥

अन्यदपि जगद्रक्षणोपयुक्तं गुणजातमाह। स्वर्गापवर्गयोः द्वाराय साधनभूताय। "इष्टापूर्तं बहुधा जातं जायमानं विश्वं बिभर्ति भुवनस्य नाभिः" (म.ना.उ. 1-6)। "अमृतस्यैष सेतुः" (मुण्ड.उ. 2-2-5) इत्यादिश्रुतेः सेतुरिव सेतुः लम्भकः प्रापकः। सेतुर्हि तीरान्तरप्रापकः। स्वर्गापवर्गद्वारत्वमेवोपपादयन्नमस्करोति नित्यं सदा शुचिषु योगिचित्तेषु सीदति रमत इति शुचिषत्। योगिभिः नित्यमुपास्यत्वेन तत्समीहितापवर्गप्रदात्र इत्यर्थः। हिरण्यं वीर्यं यस्य सोऽग्निस्तस्मै अग्निरूपाय। चतुर्णां होतृणामयं चातुर्होत्रः, चतुर्भिः होतृभिः साध्यः तस्मै, तन्तवे यज्ञाय तद्रूपायेत्यर्थः। यज्ञस्वरूपत्वयज्ञाराध्यत्वतत्फलदत्वादिभिः स्वर्गद्वारायेत्यर्थः॥३७॥

ऊरुक् पितृणामन्नं, इट् देवानामन्नं, तद्रूपाय ऊर्गिडादिरूपेण पित्रादीनां तृप्तिमापादयन् तदन्तर्यामिरूपेण यः फलदः, तस्मै इत्यर्थः। त्रय्याः वेदस्य पतये रक्षकाय प्रतिपाद्याय च यज्ञस्य रेतः फलं, तद्रूपाय, अत्र हिरण्यरूपायेत्याहवनीयाद्यग्निरूपत्वमुक्तं, चातुर्होत्राय तन्तव इति द्रव्यक्रियामन्त्राद्यात्मकयज्ञरूपत्वम्, ऊर्ज इष इति यज्ञाराध्यदेवतारूपत्वं त्रय्याः पतय इति

स्वर्गापवर्गतत्साधनप्रकाशकवेदकारणत्वम्। एवं स्वर्गापवर्गद्वारत्वमुक्तम्[1]। स्वर्गद्वारशब्देन ऐहलौकिकसुखसाधनत्वमभिप्रेतं, तदुपपादयन् नमस्करोति जीवानां तृप्तिदाय शब्दस्पर्शादिविषयानुभवजसुखप्रदायेत्यर्थः। एतदुपपादकं सर्वरसात्मन इति। सर्वरसाः[2] कङ्काम्ललवणमाधुर्यादयः, तदात्मने तद्रूपायेत्यर्थः। कङ्कादिरसानामगुणपरिणामरूपत्वात्। "रसोऽहमप्सु कौन्तेय" (भगी. 7-8) इति रसस्य तद्विभूतित्वगानात् सर्वरसात्मन इत्युक्तम्। इदं शब्दस्पर्शरूपात्मकत्वस्याप्युपलक्षणम्। स्थवीयसे स्थूलाय विशेषाय पृथिव्यात्मने गन्धरूपायेत्यर्थः। "पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च" (भ.गी. 7-9) इति गीतावचनात्[3]। एवं गन्धरसादिभोग्यरूपेण तृप्तिदत्वमुक्तम्। अथ भोक्तृभोगोपकरणभोगस्थानादिरूपेण तृप्तिदत्वमाह - **सर्व** इति। सर्वसत्त्वात्म[4] देहाय सर्वमचेतनजातं भोगोपकरणभोगस्थानरूपं सर्वे आत्मानो भोक्तारो जीवाश्च देहशरीरं यस्य तस्मै, प्रकारान्तरेणापि तृप्तिदत्वमाह। सहः प्रवृत्तिसामर्थ्यमिन्द्रियशक्तिः, ओजस्तेजः, बलं धारण सामर्थ्यं देहशक्तिः तद्रूपायेत्यर्थः[5]। सह आदिरूपेणापि तृप्तिदायेत्यर्थः। एवमाकारेण जगद्रक्षकत्वमित्याह त्रैलोक्यपालाय, उक्त प्रकारेण[6] त्रैलोक्यान्तर्भूत[7] कृत्स्नजगत्पालायेत्यर्थः ॥ ३८,३९ ॥

एवं जगदुपादानत्वतदन्तरात्मत्वतदन्यत्वतत्संहर्तृत्वादिभिः तदेकासाधारणैः धर्मैः सर्वोत्कृष्टं[8] नमस्कृत्य, अथ चिदचिदात्मकं सर्वमपि वस्तु त्वच्छरीरमेव। अतस्त्वत्तो नोत्कृष्टमस्तीत्यभिप्रायेण सर्वात्मकत्वेन नमस्करोति - **शब्दलिङ्गायेति**। शब्दः आकाशगुणः स लिङ्गं शरीरं यस्य तस्मै, नभसे आकाशगुणः स लिङ्गं शरीरं यस्य तस्मै, नभसे आकाशरूपाय च इदं वाय्वादितद्गुणशरीरकत्वस्याप्युपलक्षणम्। शब्दादिषु नियमनपूर्वकं व्याप्य त्वच्छरीरकत्वेन स्थितायेत्यर्थः, व्याप्निश्च वेद्याग्निरिव न बहिरेवतिलेषु तैलमिव नान्तरेव, किन्त्वन्तर्बहिश्चेत्याह - अन्तर्बहिरात्मन इति। अतति सन्ततमविच्छेदेन व्याप्नोतीत्यात्मा अन्तर्बहिश्च व्याप्य स्थितायेत्यर्थः। तथा च श्रूयते - "अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः" (म.ना.उ.9-5) इति। पुण्याय यज्ञदानादिरूप[9] पुण्यशरीराय अमुष्मै तत्साध्यस्वर्गादिलोक रूपाय, लोकाय एतल्लोकरूपाय भूरिवर्चसे ज्ञानप्रचुरजीवरूपाय ॥ ४० ॥

**विज.** "हृषीकमिन्द्रियं (प्रोक्तम्)" (वैज.को. 3-6-103) इत्यतो हृषीकेशो जीवः, तस्येन्द्रियस्वामिने, किञ्च इन्द्रियम् इन्द्रस्य विद्यमानं यच्च किञ्च, तस्यात्मा स्वामी हृषीकेशश्चायमिन्द्रियात्मा चेति विग्रहः, तस्मै निभृतात्मने स्तिमितरूपाय ॥ ३६ ॥

शुचावग्नौ सीदति तिष्ठतीति शुचिषत् तस्मै "योऽग्नौ तिष्ठन्" (बृह.उ. 5-7-6) इति श्रुतेः, हिनोति दुःखं रतिं यापयतीति

---

1. A, B, T omit उक्तम्। 2. A, B, T सर्वे 3--3. W गानात् 4--4. T omits 5. A, B, T omit इत्यर्थः 6--6. A, B, T विधया 7. A, B, T °र्गत 8. A, B, T तत्त° 9--9. A, B, T यज्ञादि

हिरण्यं तादृशं वीर्यं यस्य स तथा तस्मै, स्वर्णवर्णं रेतस इति वा, चतुर्षु होतृषु स्थित्वा तैः क्रियमाणं यत्कर्म तत्कर्तृत्वाच्चातुर्होत्रः तस्मै तन्तवे व्याप्ताय, सन्ततिप्रवर्तकाय वा ॥ ३७ ॥

ऊर्जे पित्रन्नदात्रे, इषे देवान्नदात्रे, इच्छारूपाय वा यज्ञे रेतो रतिर्यस्य स तथा तस्मै, सर्वरसात्मने सर्वरसानां दात्रे ॥ ३८ ॥

सर्वसत्त्वानां सर्वप्राणिनां आत्मदा ईहाचेष्टा यस्य स तथा तस्मै, आत्मानं ददातीति आत्मदा "य आत्मदा" (तैति.सं. 4-1-8) इति श्रुतेः । सर्वप्राणिष्वात्मदेहः तत्तदङ्गुष्ठमात्रस्वरूपं यस्य स तथा तस्मै इति वा । विशेषाय विशिष्टाय पृथिव्यां स्थित्वा तस्याः सर्वस्माद्विशेषं करोतीति वा, गुणगुणिनोः अभेदाभिप्रायेण सह इत्याद्युक्तं सहः तितिक्षाशक्तिः, ओजोऽवष्टम्भशक्तिः, बलं बाह्वाद्यवयवशक्तिः ॥ ३९ ॥

अर्थः शास्त्रं वेदाख्यं, लिङ्गं ज्ञापकं प्रमाणं यस्य स तथा तस्मै । अर्थस्य पुरुषार्थस्य लिङ्गं हेतुस्तस्मै इति वा । नभसे आकाशवदसङ्गाय नभस्यते प्रकाश्यते न ज्ञायते इति वा । भसभक्षणदीप्त्योरिति धातुः पुण्याय पुनानाय, लोकाय प्रकाशाय, अमुष्मै अधिदैववासिने पुण्याय लोकाय, स्वर्गादिलोकदात्रे वा ॥ ४० ॥

**प्रवृत्ताय निवृत्ताय पितृदेवाय कर्मणे ।**
**नमोऽधर्मविपाकाय मृत्यवे दुःखदाय[1] च ॥ ४१ ॥**

**नमस्त आशिषामीश मनवे कारणात्मने ।**
**नमो धर्माय बृहते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ॥ ४२ ॥**

**पुरुषाय पुराणाय सांख्ययोगेश्वराय[2] च[3] ।**
**शक्तित्रयसमेताय मह्यमेषेऽहं कृतात्मने ।**
**चेत आकृतिरूपाय[4] नमो वाचोविभूतये ॥ ४३ ॥**

**दर्शनं नो दिदृक्षूणां देहि भागवतार्चितम् ।**
**रूपं प्रियतमं स्वानां सर्वेन्द्रियगुणाञ्जनम् ॥ ४४ ॥**

**स्निग्धप्रावृड्घनश्यामं सर्वसौन्दर्यसंग्रहम् ।**
**चार्वायतचतुर्बाहुं सुजातरुचिराजनम् ॥ ४५ ॥**

1. Ms, Y °दायिने 2. W °गी° 3. V ते 4. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °कू°

**श्रीध. प्रवृत्तायेति**। प्रवृत्ताय च निवृत्ताय च कर्मणे पितृदेवाय यथाक्रमं पितृदेवप्राप्तिफलाय अधर्मफलरूपाय च मृत्यवे ॥ ४१ ॥

**नम** इति। हे ईश! आशिषां [1-]कामनानां[1] कारणात्मने सर्वकर्मफलदात्रे मनवे सर्वज्ञाय मन्त्रात्मकायेति वा। विष्णुत्वेन प्रणमति। बृहते धर्माय परमधर्मात्मने कृष्णाय ॥ ४२ ॥

**पुरुषायेति**। रुद्ररूपेण प्रणमति। मीढुषे रुद्राय अहङ्कृतमहङ्कारः तदात्मने। स च कर्तृकरणकर्मशक्तित्रयसमेतः तस्मै ब्रह्मत्वेन प्रणमति। चेतो ज्ञानम्, [2]आकृतिः क्रिया तद्रूपायाः, वाचः विविधा भूतिः सृष्टिः यस्मात् तस्मै ॥ ४३ ॥

एवं नमस्कृत्य दर्शनं प्रार्थयते - **दर्शनमिति** नवभिः। भागवतैः सत्कृतं दर्शनं देहीत्यस्य विवरणं रूपमित्यादि प्रदर्शयेत्यन्तम्। स्वानां भक्तानां प्रियतमं रूपं प्रदर्शयेति नवमेनान्वयः। [3-]सर्वेषामिन्द्रियाणां[-3] ये गुणाः विषयाः तेषां अञ्जनं व्यञ्जकम्। सर्वेन्द्रियविषयविषयिरूपमित्यर्थः। सर्वेन्द्रियाणि स्वगुणैरनक्ति रञ्जयतीति वा ॥ ४४ ॥

**स्निग्धेति**। स्निग्धः प्रावृषि यो घनः तद्वत् श्यामम्। सर्वेषां सौन्दर्याणां सङ्ग्रहो यस्मिन्। चारव आयताश्चत्वारो बाहवो यस्मिन्। सुजात यथोचितं सर्वावयवरुचिरमाननं यस्मिन् ॥ ४५ ॥

**वीर.** प्रवृत्ताय निवृत्ताय च कर्मणे, प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मककर्मरूपाय पितृदेवाय प्रवृत्तिकर्माराध्यतत्फलप्रदपितृदेवादिशरीराय धर्मविपाकाय धर्मोऽत्रानभिसंहितफलभागवदाराधनरूपः, तस्य विपाकः फलम्। तस्मै निवृत्तिधर्मपरफलरूपायेत्यर्थः। तथा मृत्यवे दुःखदाय दुःखप्रदमृत्युरूपाय ॥ ४१ ॥

हे आशिषामीश! यद्वा - हे ईश! आशिषां धर्मादीनां कारणात्मने फलप्रकाशकाय, मनवे सर्वज्ञाय स्वायम्भुवादिमनुरूपाय वा, मन्वन्तराधिदैवताय वा, मन्त्ररूपाय वा, एवं सर्वात्मकत्वेन नमस्कृत्य, साक्षान्नमस्करोति -- बृहते स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयबृहत्वाय, धर्माय, कृष्णाय, [4]कृष्णाख्यसिद्धरूपधर्माय - सिद्धरूपेऽपि धर्मशब्दः प्रयुज्यते तथा च श्रीमहाभारते "ये च वेदविदो विप्राः, ये चाध्यात्मविदो जनाः। ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम्" (भारते 3-86-22) इति। अकुण्ठमेधसे अप्रतिहतज्ञानाय ॥ ४२ ॥

**पुरुषायेति**। पुराणपुरुषाय कपिलाद्यंशावताररूपेण नमस्करोति सांख्येश्वरः कपिलः। [5]योगीश्वरो हिरण्यगर्भः तद्रूपाय, शक्तित्रयं

---

1--1. B, J, V, Va omit 2. A, B, J, Va आकूतिः 3--3. V सर्वेन्द्रियाणां 4. A, B, T omit कृष्णाख्य 5. A, B, T योगे°

सर्गादिसामर्थ्यं तद्युक्ताय, नव ब्रह्मेन्द्रकालरुद्ररुपायेत्यर्थः। मीढुषे "मिह-सेचने" [1] वर्षप्रदसूर्यात्मकपर्जन्यरूपाय [2] "तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च" (भ.गी.9-19) इति पर्जन्यस्यापि भगवद्विभूतित्वज्ञापनात्। [3] अहङ्कृतम् अहङ्कारतत्त्वं, तस्यात्मने चेत् आकृतिरूपाय, चेतसः आकृतिः स्वरूपं तदेव यस्य रूपं, स तथोक्तस्तस्मै। "यस्याहङ्कारशरीरं, यस्य मनश्शरीरम्" (सुबा. उ. 7) इति श्रुतेः। वाचो विभूतये वाक्प्रपञ्चाय, यद्वा चेतश्चाकृतिः शरीरं च यस्य रूपं स तथोक्तस्तस्मै। मनोवाक्कायरूपत्रयात्मने, मन आदिविषयरूपायेत्यर्थः। इदमनुक्तरूपत्वसङ्ग्राहकम्। किञ्चिद्धिवस्तु क्षीरशर्करादिगतमाधुर्यादिवत् एवंविधमपि वाचा वक्तुमशक्यमपि, मनसा चिन्तयितुं शक्यम्। किञ्चिच्च वस्तु दूरस्थमेर्वादिवत् चक्षुरादिभिरनुभवितुमशक्यमपि एवंविधमिति वाचा वक्तुंशक्यम्। किञ्चिद्धि कायेनानुभवितुं शक्यं, यथा सन्निकृष्टघटपटादिकं, एवंविधवस्तु शरीरायेत्यर्थः॥ ४३॥

एवं पारमैश्वर्यापादकगुणगणविशिष्टं भगवन्तं नमस्कृत्य, तदीयदिव्यमङ्गलविग्रहदर्शनं प्रार्थयमानः, विग्रहं च वर्णयति - **दर्शनमिति** नवभिः। भागवतैः अर्चितं ते रूपं दिदृक्षूणां द्रष्टुमिच्छूनां नोऽस्माकं दर्शनं देहीत्यन्वयः। रूपं विशिनष्टि। स्वानां भक्तानां प्रियतमं सर्वेषामिन्द्रियाणां [4] ये ये गुणा असाधारणधर्माः श्रवणस्पर्शनदर्शनाघ्राणादयः तैः अञ्जनम्, अभिव्यंग्यं यथा तथा, देहीति क्रियाविशेषणम्। यद्वा सर्वेषामिन्द्रियाणामप्राकृतानां तद्गुणानां शब्दादीनां च अञ्जनमभिव्यक्तिर्यस्मिन् तदिति "सर्व कर्मा सर्वकामः सर्वगन्धस्सर्वरसः" (छां.उ.3-14-4) इति श्रुतेः॥ ४४॥

स्निग्धः प्रावृषि वर्षर्तौ, यो घनः तद्वत् श्यामं, सर्वेषां सौन्दर्याणां सङ्ग्रहो यस्मिन्, चारवः सुन्दराः आयताः आजानुलम्बिनः चत्वारो बाहवो यस्मिन् सुजातं सुकुमारं, [5] रुचिरं सुन्दरम् आननं यस्मिन्॥ ४५॥

**विज.** प्रवृत्तिनिवृत्तिमार्गप्रवर्तकत्वात् तस्मै पितृदेवेषु च स्थित्वा तत्तद्योग्यकारणवत्वात् तत्तच्छब्दवाच्याय कर्मणे विषयाय क्रियारूपाय वा, धर्मविपाकाय पुण्यफलप्रदाय, मृतेरुद्गतः मृत्युः तस्मै, मृत्यौ स्थित्वा तत्करणाद्वा मृत्युः तस्मै दुःखदाय, असुरेभ्य इति शेषः। दुःखदायिन इति पाठे "दुरशोभनदुःखयोः" (वैज.को.8-7-4) इति यादवः। "खं सुखम्" इति श्रुतिः। दुःखं दायति शोषयतीति तस्मै इति वा। "दै- शोषणे" इति धातुः॥ ४१॥

मनवे मननशीलाय मन्त्रवाच्याय वा॥ ४२॥

सांख्यं यथार्थज्ञानं, योग उपायः अष्टाङ्गविशिष्टो वा तयोरीश्वराय शक्तित्रयसमेताय ज्ञानक्रियेच्छाशक्तियुक्ताय मीढुषे वीर्यवते

---

1. A, B , T omit वर्षप्रद 2. A, B, T omit रूपाय 3. A, B, T °गानात् 4. W omits ये 5. A. B. T omit रुचिरं

अभीष्टदात्रे वा। अहङ्कृते रुद्रे आत्मा यस्य स तथा तस्मै। चेतस आकूतिः अभिप्रायः तं रूपयति समर्थयति इति चेताकूतिरूपः तस्मै, वाचो विविधा भूतिः सृष्टिर्येन तस्मै॥ ४३॥

किमभिप्रेत्य स्तुतमिति तत्राह - **दर्शनमिति**। कीदृशं दर्शनम्? साकारविषयं निराकारविषयं वा। द्वितीये गणनवत् व्याप्तमुत घटाकाशवत् परिमितं पक्षद्वयमप्यनभीष्टम् अनधिकारात् तस्मात् प्रथम एव पक्षः तत्रापि रूपाणामानन्त्यात् ईदृशं रूपं प्रकाशयेत्याहुः - भागवतार्चितमिति। यदेतदीदृशं रूपं प्रदर्शयेत्यन्वयः॥ ४४॥

सर्वसौन्दर्याणां सङ्ग्रहं पात्रम्। "सुजातं कोमलं विदुः" इत्यभिधानम्॥ ४५॥

**पद्मकोशपलाशाक्षं सुन्दरभ्रु सुनासिकम्।**

**सुद्विजं सुकपोलास्यं समकर्णं विभूषणम्[1]॥ ४६॥**

**प्रीतिप्रहसितापाङ्गमलकैरुपशोभितम्।**

**लसत्पङ्कजकिञ्जल्क दुकूलं मृष्टकुण्डलम्॥ ४७॥**

**स्फुरत्किरीटवलयहारनूपुरमेखलम्।**

**शङ्खचक्रगदापद्ममालामण्युत्तमर्द्धिमत्॥ ४८॥**

**सिंहस्कन्धत्विषो[2] बिभ्रत्सौभगग्रीवकौस्तुभम्।**

**श्रियाऽनपायिन्याऽऽक्षिप्त[3]निकषाश्मोरसोल्लसत्॥ ४९॥**

**पूरेचकसंविग्न[4] वलिवल्गु दलोदरम्।**

**प्रतिसंक्रामयद्विश्वं नाभ्याऽऽवर्तगभीरया॥ ५०॥**

**श्रीध. पद्मेति**। पद्मस्य कोशे मध्ये यानि पलाशानि दलानि[5] तद्वदक्षिणी यस्मिन्। सुन्दरे[6-] भ्रुवौ यस्मिन्[-6]। सुकपोलमास्यं यस्मिन्। समौ कर्णौ विभूषणं यस्य, कुण्डलयोरग्रे वक्ष्यमाणत्वात्॥ ४६॥

**प्रीतीति**। प्रीत्या प्रहसिताविव[7] अपाङ्गौ यस्मिन्॥ ४७॥

---

1. M, Ma भूषितम् 2. M; Ma, Ms °मुरो 3. M, Ma °क्षिप्तं 4. M, Ma °मत्पल्लवो° 5. B, J, V, Va omit दलानि 6--6. A, B, J, Va omit 7. V omits इव

**स्फुरदिति**। स्फुरन्ति किरीटादीनि यस्मिन्, शङ्खादीनाम्[1] उत्तमर्धिर्लक्ष्मीः। यद्वा एतैरुत्तमा ऋद्धिरुत्कर्षो यस्यास्ति तत्॥ ४८॥

**सिंहेति**। सौभगयुक्ता[2] ग्रीवा येन, सिंहस्य स्कन्धे परितः प्रसरन्तः केसरा एव त्विषः तादृशीस्सर्वतः त्विषो बिभ्रच्चाऽसौ सौभगग्रीवश्च कौस्तुभो यस्मिन्। यद्वा[3], सिंहस्येव यौ स्कन्धौ तयोस्त्विषः कुण्डलहारादिदीप्तीर्बिभ्रदिति पृथग्विशेषणम्। सौभगयुक्ता ग्रीवा येन स कौस्तुभो यस्मिन्। श्रिया हेतुभूतया क्षिप्तस्तिरस्कृतो निकषाश्मा स्वर्णरेखाङ्कितो निकषणपाषाणो येन, तादृशेनोरसा उल्लसच्छोभमानम्॥ ४९॥

**पूरेति**। श्वासोच्छ्वासाभ्यां संविग्नाश्चञ्चलाः वलयः ताभिः वल्गु सुन्दरं[4] दलवदश्वत्थपत्रसदृशमुदरं यस्मिन्। आवर्तगभीरया[5] दक्षिणावर्तेन निम्नया[5] प्रतिसङ्क्राम यद्यतो[6] निर्गतं तेनैव द्वारेण पुनः प्रवेशयदिव॥ ५०॥

**वीर.** पद्मस्य कोशे मध्ये यानि पलाशानि तद्वदक्षिणी यस्मिन्, सुन्दरे भ्रुवौ यस्मिन्, शोभना नासिका यस्मिन्, शोभनाः द्विजाः दन्ताः यस्मिन्, सु कपोलम् आस्यं यस्मिन्निति बहुव्रीहिगर्भौ[7-7] बहुव्रीहिः, समौ कर्णावेव विभूषणं यस्मिन्, कुण्डलयोः अग्रे वक्ष्यमाणत्वात्॥ ४६॥

प्रीत्या प्रहसिताविव अपाङ्गौ यस्मिन्, अलकैः कुन्तलैः उपशोभितं नूतनपङ्कजकिञ्जल्कवत्पिशङ्गं दुकूलं यस्मिन्, मृष्टे निर्मले कुण्डले यस्य॥ ४७॥

स्फुरन्ति किरीटादीनि यस्मिन्, शङ्खादिभिः उत्तमाऋद्धिर्लक्ष्मीः अस्मिन् अस्तीति तथा॥ ४८॥

सिंहस्कन्धत्विष इति द्वितीयाबहुवचनम्। सिंहस्य[8] स्कन्धे परितः प्रसरन्तः केसरा इव सर्वतः या त्विषस्ताः ता बिभ्रती, या सौभगा ग्रीवा तस्यां कौस्तुभो यस्मिन्, यद्वा सिंहस्येव यौ स्कन्धौ तयोः त्विषः कुण्डलहारादिदीप्तीः बिभ्रदिति पृथग्विशेषणम्।

सौभगयुक्तग्रीवायां कौस्तुभो यस्मिन्, सौभगा ग्रीवा यस्य स कौस्तुभो यस्मिन्निति बहुव्रीहिगर्भो वा बहुव्रीहिः श्रिया हेतुभूतया आक्षिप्तः तिरस्कृतो निकषाश्मा सुवर्ण रेखाङ्कितो निकषपाषाणो येन तादृशेन। उरसा उल्लसच्छोभमानं, यद्वा श्रिया उपलक्षितेन निकषोपरिर्युपरक्तसुवर्णरेखासदृशश्रिया, उपलक्षितेनेत्युरो विशेषणम्, आक्षिप्तः शङ्कितः निकषाश्मा येन तेन उरसा उल्लसत् शोभमानं लक्ष्मीसहितं श्यामं वक्षः कनकनिकषरेखान्वितमश्मानं शङ्कयतीत्यर्थः॥ ४९॥

---

1. A, B, J, Va °दिमत् 2. Va युता 3. V omits यद्वा 4. V omits सुन्दरं 5--5. B, J, V, Va omits 6. V adds वि 7--7. A, B, T omit 8. W सिंहस्क°

पूरकरेचकाभ्यां श्वासोच्छ्वासाभ्यां संविग्नाश्चपला वलयस्ताभिः वल्गु सुन्दरं दलवदश्वत्थपत्रसदृशमुदरं यस्मिन्। यद्वा सृष्ट्या पूर्यते पाल्यते इति वा जगत् पूरं तत् रेचकं सम्पूरण समर्थं यस्मिन्, संविग्नाः सम्मर्दाः वलयो यस्मिन्, दलवदुदरं पूरकरेचकसंविग्नवलि वल्गु दलोदरं यस्मिन्निति त्रिपद[1] बहुव्रीहिः - पूर्वयोः कर्मधारये द्विपदो बहुव्रीहिः। यतो नाभिद्वारान्निर्गतं विश्वम् आवर्तवत् गभीरया नाभ्या प्रतिसङ्क्रामयत् पुनः प्रवेशयदिव स्थितं गम्भीरनाभिद्वारेण बहिष्ठं विश्वं अन्तर्निवेशयदिव स्थितमित्यर्थः ॥ ५० ॥

**विज.** सुजति कोमलं विदुरित्यभिधानंशोभनाः द्विजाः दन्ताः यस्य तत् सुद्विजम् ॥ ४६ ॥

कर्णाभरणानां बहुत्वद्योतनाय मृष्टकुण्डलमिति पुनर्वचनम् ॥ ४७ ॥

शङ्खादयो यस्मिंश्चिह्नितास्तच्छङ्खचक्रगदापद्ममालामणिना उत्तमा ऋद्धयोऽस्य सन्तीत्युत्तमर्द्धिमत् ॥ ४८ ॥

सौभगेत्युभयत्र सम्बध्यते। सौभाग्ययुक्तौ ग्रीवाकौस्तुभौ यस्मिंस्तत्, उरो बिभ्रद्विस्तीर्णमिति शेषः। संक्षिप्तमुरो विशिनष्टि - अनपायिन्येति। नित्यया श्रिया आक्षिप्तं सन्निहितं च निकषाश्मा स्वर्णघर्षणपाषाणः तद्वद्वर्तमानमुरः, आक्षिप्तनिकषाश्मोरः तेनोल्लसत् ॥ ४९ ॥

श्वासानां पूरकरेचकाभ्यां संविग्नाः सञ्चलिता वलयो रेखा अस्य सन्तीति पूरकरेचकसंविग्नवलिमत्, तच्च पल्लवेनाङ्कुरदलेन सदृशं तत्तथा। दक्षिणावर्तेन गभीरया निम्नया नाभ्या विश्वं प्रतिसङ्क्रामयत् ग्रसदिव स्थितम् ॥ ५० ॥

**श्यामश्रोण्यधिरोचिष्णु दुकूलस्वर्णमेखलम्।**
**समचार्वङ्घ्रिजङ्घोरू निम्नजानुसुदर्शनम् ॥ ५१ ॥**

**पदा शरत्पद्मपलाशरोचिषा नखद्युभिश्चान्तरघं[2] विधुन्वता।**
**प्रदर्शय स्वीयमपास्तसाध्वसं पदं गुरोर्मार्गगुरुस्तमोजुषाम्[3] ॥ ५१ ॥**

**एतद्रूपमनुध्येयमात्मशुद्धिमभीप्सताम्।**
**यद्भक्तियोगोऽभयदः स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ॥ ५३ ॥**

**भवान् भक्तिमता[4] लभ्यो दुर्लभः सर्वदेहिनाम्।**
**स्वाराज्यस्याप्यभिमत[5] एकान्तेनात्मविद्गतिः ॥ ५४ ॥**

1. A. B. T °दो 2. M. Ma. Ms नोंतु° ; A, B, G, I, J, T °नोंऽन्त° 3. A, B, G, I, J, T गुरो; मार्ग; M, Ma पुरो मार्ग° 4. M, Ma, Ms °तां 5. M. Ma °मता

[1]तं दुराराध्यमाराध्य सतामपि दुरापया।

**एकान्तभक्त्या को वाञ्छेत्पादमूलं विना बहिः ॥ ५५ ॥**

**श्रीध. श्यामेति**। श्यामश्रोण्यधिकं रोचिष्णु यत् पीतं दुकूलं तत्र स्वर्णमयी मेखला यस्मिन्। अङ्घ्री च जङ्घे च ऊरू च निम्ने अनुन्नते जानुनी च समैश्चारुभिरेतैः शोभनं दर्शनं यस्य, समाश्च ऊरवः अङ्घ्र्यादयो यस्मिन्, निम्ने जानुनी यस्मिन्, शोभनं दर्शनं यस्येति पदत्रयं वा ॥ ५१ ॥

**पदेति**। पदा दीपस्थानीयेन। यद्वा एवम्भूतेन पदा उपलक्षितं रूपं[2] पदं शरणं प्रदर्शयेत्यर्थः। शरदि[3]यत्पद्मं तस्य पलाशं तद्वद्रोचिः यस्य तेन, नखदीप्तिभिः अन्तर्भवमधमस्थानं विधुन्वता स्वीयं पदं[4] शरणं प्रदर्शय। अपास्तं प्रह्लादादीनां साध्वसं येन तत्, हे गुरो! यतस्त्वमेवतमोजुषामज्ञानामस्माकं मार्गप्रदर्शको गुरुः ॥ ५२ ॥

अतिदुर्लभमिदं मया प्रार्थितमिति स्तोतैवाह - **एतदिति**। एतद्रूपमनुध्येयं ध्यानर्हमेव न तु प्रत्यक्षतः प्राप्यमित्यर्थः ॥ ५३ ॥

तर्हि किं केनाऽपि न प्राप्यते, तत्राऽऽह - **भवानिति**। दुर्लभत्वमेवाऽऽह - स्वर्गे राज्यं यस्य तस्याप्यभिमतः स्पृहणीयः। किञ्च एकान्तेन य आत्मवित्तस्याऽपि गतिर्गम्यः ॥ ५४ ॥

अतस्त्वद्व्यतिरेकेण न किञ्चिद्वाञ्छामीत्याह - **तमिति**। तं त्वामेकान्तभक्त्या आराध्य, बहिः स्वर्गादिसुखम् ॥ ५५ ॥

**वीर.** श्यामयोः श्रोण्योर्नितम्बयोरधिकं रोचिष्णु यत् पीतं दुकूलं तत्र स्वर्णमयी मेखला यस्मिन्, अङ्घ्री च जङ्घे च ऊरू च निम्ने अनुन्नते जानुनी च समैश्चारुभिः जान्वादिभिश्शोभनं दर्शनं यस्य ॥ ५१ ॥

एवं विग्रहमनुवर्ण्य तद्दर्शनं प्रार्थयते - **पदेति**। शरदि च यत्पद्मं तस्य यानि पलाशानि तद्वद्रोचिर्यस्य तेन पदा चरणेन नोऽस्माकम् अन्तरघम् अन्तस्थितं पापहेतुमज्ञानं नखकान्तिभिः विधुन्वता अपनयता शरत्पद्मस्थानीयचरणस्य पलाशस्थानीयाङ्गुलि-स्थनखरोचिर्भिः, अघं विधुन्वता पदा अपास्तं निरस्तं साध्वसं भक्तानां भयं यस्मिन् तत् स्वीयं पदं रूपं, यद्वा उक्तविधेन पदा उपलक्षितः त्वम् अपास्तसाध्वसं स्वीयं पदं पद्यते अवगम्यत इति पदं रूपं प्रदर्शय यतः त्वमेव तमोजुषामज्ञानिनां गुरोर्मार्गगुरुः गुरुमार्गप्रदर्शको भवसि ॥ ५२ ॥

ननु "न मांसचक्षुरभि वीक्षते तम्", "न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनं हृदा मनीषा मनसाभिक्लिप्तः" (कठ.उ. 6-9) इति प्राकृत

1. M, Ma, Ms त्वां  2. V omits पदं  3. J, V add रूपं  4. V च°

चक्षरादिभिरग्राह्यं योगपरिशुद्धमनोग्राह्यमप्राकृतं मदीयरूपम् अपरिशुद्धमनसस्तव कथं प्रदर्शयेति प्रार्थयस इत्याशङ्कायामाह - **एतदिति**। एतदुक्तविधं तव रूपम् आत्मशुद्धिमन्तःकरणनैर्मल्यम् अभीप्सतामस्माकं केवलमनुध्येयमेव, एतद्रूपस्य ध्यानविषयत्वमेव प्रदर्शयेति प्रार्थ्यते, न तु साक्षात्कार इति भावः। किं ध्यानविषयत्वमात्रसाध्यं तत्राह-यतः ध्यानविषयात् त्वद्रूपात् ध्यानयोगाङ्गत्वेन स्ववर्णाश्रमोचितधर्ममनुतिष्ठतां पुंसाम् अभयदः साक्षान्मोक्षसाधनभूतो भक्तियोगः परमभक्तियोगो भवति ध्यानयोगोऽपि परज्ञानप्रणाड्या परमभक्तियोगरूपेण परिणमत[1]इत्यर्थः॥ ५३॥

परमभक्तिमता तु भवान् लभ्य इत्याह - भवानिति। सर्वदेहिनां दुर्लभोऽपि भवान् भक्तिमता प्रशंसायां मतुप् परमभक्तिमता लभ्य एव। दुर्लभत्वमेवाह - स्वाराज्यस्येति। आत्मविदां उक्तभक्तियोगनिष्ठायां गतिः प्राप्यस्त्वं[2] स्वाराज्यस्य स्वेन राजत इति स्वराट् तस्य भावः स्वाराज्यं कैवल्यम् अपादानस्य सम्बन्धमात्रविवक्षया षष्ठी, स्वाराज्यादपि अभिमतः स्पृहणीयः, स्वाराज्यं हि सर्वस्मात् अभिमतं, ततोऽप्यभिमतस्त्वमित्यर्थः॥ ५४॥

अतोऽतीव स्पृहणीयात्[3] त्वत्तोऽन्यत्र किञ्चिद्वाञ्छामीत्याह - **तमिति**। तं दुराराध्यम् उपायान्तरैराराधयितुमशक्यं भवन्तं सतामपि दुरापया दुस्साधया एकान्तभक्त्या अव्यभिचारिण्या भक्त्या आराध्य त्वत्पादमूलं विना बहिरन्यत् स्वर्गादिसुखं को वा वाञ्छेत् न कोऽपीत्यर्थः॥ ५५॥

**विज.** समानानि चारूणि अङ्घ्र्यादीनि यस्मिन् तत्तथोक्तम्। सुदर्शनं सुचक्षुः॥ ५१॥

नखद्युभिः नखानां तेजोभिः नोतुः स्तोतुरघं पापं विधुन्वता नाशयता पदा उपलक्षितः पुरोमार्गगुरुरुत्क्रान्तस्यार्चिरादिमार्गोपदेष्टा त्वम्। कीदृशानां नः? तमोजुषामज्ञानिनां पुर इत्यस्मत्पदान्वयो वा। अस्माकं पुनः प्रदर्शयेति॥ ५२॥

विनियोगमाह - **एतदिति**। आत्मनः स्वस्य शुद्धिः संसारमुक्तिलक्षणा तामिच्छतामितोऽन्ययाऽस्मच्छुद्धिः न स्यादित्यतो ध्येयमिति वर्णाश्रमादिविहितस्वधर्म एव मुक्तिसाधनमिति भ्रान्तिं निवारयति - यद्भक्तियोग इति। वर्णाश्रमादि विहितस्वधर्मं कुर्वतां पुंसां भगवद्भक्तियोगो नित्याभयप्रद इति यत्॥ ५३॥

तस्मादभक्तिमतां दुर्लभो भवान् सर्वदेहिनां भक्तिमतां लभ्य इति न केवलं मुक्त्यर्थमस्मदादेर्ध्येयं किन्तु इन्द्रादेर्वापीत्यभिप्रेत्याह - स्वाराज्यस्येति। स्वः स्वर्गे राज्यं यस्य इन्द्रादेः आत्मवित् आत्मज्ञः परमात्मा तदात्मानमेव वेद "अहं ब्रह्मास्मि" (बृह. उ. 1-4-10)

---

1. A, B, T °ति 2. A, B, T add स्वाराज्यस्याप्यभिमतः 3. A, B, T °यत्वात्

इति श्रुतेः। तस्य गतिर्मुक्तिलक्षणा एकान्तेन नियमेनाभिमता अविप्रतिपन्ना मुक्त्यर्थमेव भक्तिर्न स्वर्गाद्यर्थमित्यतो वाह - स्वाराज्यस्येति। इन्द्रादेरित्यध्याहार्यम्। इन्द्रादेः स्वाराज्यस्यावाप्तावपि आत्मवित् परमात्मा गम्यते अनयेति आत्मविद्गतिः भक्तिः या त्वेकान्तेन अभिमतेत्यन्वयः। यद्वा आत्मविदां परमात्मज्ञानिनां[1-] गतिरूपा या भक्तिः यादृशी तादृशीति। "भक्त्या त्वनन्यया शक्य" (भ.गी. 11-54) इति स्मृतेः ॥ ५४ ॥

भगवदिच्छाऽविनाभूतत्वात् इन्द्रादिना स्वर्गादिकं तद्भक्त्या कामितं न स्वतः अतः बुद्धिमान् न स्वातन्त्र्येण अन्यत् ज्ञायत इति भावेनाऽऽह - त्वां दुरराध्यमिति। सतामपि दुरापया बहिः ऐहिकम् ॥ ५५ ॥

**यत्र निर्विष्टमरणं[2] कृतान्तो नाऽभिमन्यते[3]।**
**विश्वं विध्वंसयन्[4] वीर्यशौर्यविस्फुरितध्रुवा[5] ॥ ५६ ॥**

**क्षणार्धेनापि तुलये न स्वर्गं[6] नापुनर्भवम्।**
**भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां[7] किमुताशिषः ॥ ५७ ॥**

**अथानघाङ्घ्रेस्तव[8] कीर्तितीर्थयो रन्तर्बहिः स्नानविधूतपाप्मनाम्।**
**भूतेष्वनुक्रोशसुसत्वशीलिनां स्यात्सङ्गमोऽनुग्रह एष न स्तव ॥ ५८ ॥**

**न यस्य[9] चित्तं बहिरर्थविभ्रमं तमोगुहायां[10] च[11] विशुद्धमाविशत्[12]।**
**यद्भक्तियोगानुगृहीतमञ्जसा मुनिर्विचष्टे ननु तत्र ते गतिम्[13] ॥ ५९ ॥**

**यत्रेदं[14] व्यज्यते विश्वं विश्वस्मिन्नवभाति[15] यत्।**
**तत् त्वं ब्रह्म परं ज्योतिराकाशमिव विस्तृतम् ॥ ६० ॥**

**श्रीध.** यत्रेति। तत्र हेतुः - यत्र पादमूले शरणं प्रविष्टं कृतान्तः कालो ममाऽयं वश्य इति नाभिमन्यते[16-16] नाऽभिमानं करोति। किं कुर्वन्? वीर्यं प्रभावः, शौर्यमुत्साहः ताभ्यां विस्फूर्जितया क्षुभितया ध्रुवा विश्वं विध्वंसयन्नपि ॥ ५६ ॥

---

1. A omits 2. W प्रविष्ट 3. M, Ma, Ms नाऽव 4. M, Ma, Ms विष्टम्भयन् 5. A, B, G, I, J, T, V °स्फूर्जित 6. M, Ma स्वर्गं 7. W मुक्त 8. M, Ma, Ms °ङ्घ्रयो 9. V सत्त्वं 10. M, Ma, Ms मनो 11. M, Ma, Ms निविष्ट 12. M, Ms °शेत् 13. M, Ma, M s पदम् 14. Ms यु° 15. Ms °न्न च 16--16. A, B, J, Va omit

त्वत्पादमूले प्रविष्टस्य कृतान्तभयाभावः कियानयं लाभो यतस्त्वद्भक्तसङ्ग एव सकलपुरुषार्थश्रेणि शिरसि नरीनर्त्तीत्याह - **क्षणार्धेनेति**। भगवतस्तव सङ्गिनां सङ्गस्य क्षणार्धेनाऽपि स्वर्गं न तुलये समं न गणयामि न च अपुनर्भवं मोक्षम्, मर्त्यानामाशिषो राज्याद्याः किमुत? ॥ ५७॥

**अथेति**। अथ अतो हेतोः अनघौ अघहरौ अङ्घ्री यस्य तस्य तव कीर्तिः यशः तीर्थं गङ्गा तयोः क्रमेण अन्तर्बहिः स्नानाभ्यां विधूतः पाप्मा येषाम्। अत एव भूतेष्वनुक्रोशः कृपा सुसत्वञ्च रागादिरहितं चित्तं शीलञ्चाऽऽर्जवादि विद्यते येषां तेषां सङ्गमः अस्माकं स्यात्। एष एव नः तवाऽनुग्रहः ॥ ५८॥

तत्त्वज्ञानञ्च त्वद्भक्तसङ्गादेव भवतीत्याह - **न यस्येति**। येषां सतां भक्तियोगेनाऽनुगृहीतं विशुद्धं सत् यस्य चित्तं बाह्यार्थ विक्षिप्तं न भवति तमोरूपायां गुहायां च नाऽविशत् लयं न प्राप। तत्र तदा सः मुनिस्तव गतिं तत्त्वं पश्यति॥ ५९॥

कीदृशं तत्त्वं, तदाह - यत्रेति॥ ६०॥

**वीर.** तत्र हेतुः - यत्र पादमूले अरणं शरणं प्रविष्टं, पादमूले शरणं गतमित्यर्थः। कृतान्तः कालो मयाऽयं वशीकृत इति नाभिमानं करोति। किं कुर्वन् वीर्यं प्रभावः शौर्यमुत्साहः ताभ्यां विस्फूर्जितया क्षुभितया भ्रुवा विश्वं विध्वंसयन् नाशयन्॥ ५६॥

त्वत्पादमूलं प्रपन्नस्य कृतान्त भयाभावः कियानयं लाभः ? यावता त्वद्भक्तसङ्ग लेश एव सकलपुरुषार्थश्रेणीशिरस उपरि वर्तत इत्याह - **क्षणार्धेनेति**। भगवतस्तव सङ्गिनां त्वद्भक्तानामित्यर्थः। तेषां सङ्गस्य क्षणार्धेनापि न स्वर्गं तुलये न समानं गणयामि। न वा अपुनर्भवं मोक्षं भागवतसङ्गस्य स्वर्गमोक्षौ न सदृशौ। किं पुनर्मरणशीलानाम् आशिषः आशीर्विषयपुत्रपश्वन्नादय इत्यर्थः॥ ५७॥

एवं निरतिशयगुणवत्तरत्वात् भागवतसङ्गस्य। अथ अतो हेतोः अनघौ अघहरौ अङ्घ्री यस्य तस्य तव कीर्तिः यशः तीर्थं गङ्गा। तयोः क्रमेणान्तर्बहिस्नानाभ्यां विधूतः पाप्मा येषाम्। अत एव भूतेष्वनुक्रोशः कृपा, सुसत्त्वं, सत्त्वोत्तरं चित्तं, शीलम् आर्जवादिकं च येषां सन्ति तेषां सङ्गमोऽस्माकं स्यात्। एषः नोऽस्माकं त्वदनुग्रहः त्वत्कृतोऽनुग्रहः॥ ५८॥

त्वज्ज्ञानमपि भागवतसङ्गादेव भवतीत्याह - **नेति**। येषां भागवतानां भक्तियोगेन अनुगृहीतं विशुद्धं सत्त्वं प्रवणं सत् यस्य

---

1. V व° 2. V adds तेन 3--3. V सुशुद्धं रागादिरहितं सत्त्वं चित्तं 4. V adds सत्त्वं 5. A, B, J, Va omit सः 6. A, B, T omit अयं
7. A, B,T °सि 8--8. A, B, T omit

पुंसः चित्तं, बहिरर्थाः शब्दादिबाह्यविषयाः तेषु, विभ्रमं न भवति प्राप्यता भ्रान्तिमत् न भवति। तमोऽन्धायां गुहायां च नाविशत् न लीनं स्यात्, तदा स मुनिः ते गतिं स्वरूपम् अञ्जसा सुखेन विचष्टे जानाति॥ ५९॥

गतिं विशिंषन्[1] प्रपद्यते - यत्रेति द्वाभ्याम्। इदं कृत्स्नं[2] चिदचिदात्मकं विश्वं यत्र आधारभूते त्वत्स्वरूपे व्यज्यते व्यक्तं भवति[3]। यच्च त्वत्स्वरूपं विश्वस्मिन् कृत्स्नप्रपञ्चे अवभाति प्रकाशते व्याप्नोति। तदेव परब्रह्माख्यं[4] तत्त्वमित्यर्थः[5]। यत्रैदमित्यनेन आधारत्वमुक्तम्। कथम् अमूर्तस्य आधारत्वम् इति शङ्कायां अभिव्यापकत्वरूपमाधारत्वं इत्याशयेन विश्वस्मिन् अवभाति। यदित्युक्तम्- आधारो हि त्रिविधः। औपश्लेषिकः, वैषयिकः, अभिव्यापकश्चेति। सर्वं व्याप्यावस्थितस्यापि व्याप्यवस्तुगतदोषास्पर्शदृष्टान्तमाह- ज्योतिराकाशमिव विस्तृतमिति। विस्तृतम् आकाशमिव, ज्योतिस्सूर्यादिरिवेति दृष्टान्तद्वयमभिप्रेतम्। तथा ह्युभयं दृष्टान्तीकृतमभियुक्तैः "आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथक् पृथक् तथात्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारेष्विवांशुमान्" इति। अयमभिप्रायः। घटकरकादिषु[6] यथा वृद्धिह्रासभाक्षु पृथक् पृथक् संयुज्यमानमप्याकाशं दोषहेत्वभावात् वृद्धिह्रासादिदोषैः न स्पृश्यते। यथा च जलाधारेषु विषमेषु[7] वस्तुतोऽनवस्थितः। तत्र दृश्यमानोऽपि अंशुमान् दोषहेत्वभावात् तत्तद्गतवृद्धिह्रासादिभिः न स्पृश्यते तद्वदिति॥ ६०॥

**विज.** पादमूलं विशिनष्टि - **यत्रेति**। अरणं शरणं वीर्यशौर्याभ्यां विस्फूर्जितया स्फुरितया[8-8] भ्रुवा विश्वं विष्टम्भयन् वशे कुर्वन्॥ ५६॥

भक्त्या यत्फलं स्वर्गादिकं न तु लय इत्यन्वयः। भागवतसङ्गलब्धया भक्त्या मुक्तावानन्दोद्रेकलाभाभिप्रायेणेति तात्पर्यम्। तदुक्तं - "सङ्गो भागवतैर्भूयानपुनर्भवमात्रतः। यतो विशिष्टमानन्दं मुक्तौ जनयति स्फुटम्" (ब्रह्मतर्के) इति॥ ५७॥

ननु सत्सङ्ग एवम्फलोऽस्तु ततो युष्माकं किमपेक्षितमत्राह - **अथेति**। यस्मात् त्वद्भक्तानां सङ्ग एवम्विधफलोऽथास्मात्तवाऽङ्घ्रयोर्जातयोः कीर्तितीर्थयोः भागवतादिशास्त्रश्रवणलक्षणा कीर्तिः तीर्थं विष्णुपाद्यादि तयोरन्तर्बहिस्स्नानाभ्यां विधूतपाप्मनां अत एव भूतेषु अनुक्तोशसुतत्त्वशीलिनां सात्विकस्वभावानां सतां सङ्गमो नोऽस्माकं स्यात्। अतोऽनेन वयं कृतार्था इत्यत उक्तम् - अनुग्रह इति॥ ५८॥

सत्सङ्गयाञ्चायाः कोऽभिप्राय इत्यत आह - **न यस्येति**। यद्यदा सत्सङ्गमस्तत्र तदा सत्सङ्गमे भक्तियोगेनानुगृहीतं यस्य पुंसश्चित्तं स्मृतिकारणमन्तः - करणं बहिरर्थेषु शब्दादिषु विभ्रमं विविधभ्रमणं नाविशेत् न गच्छति। यस्य मनश्च गुहायां हृदये

1. W विशिष्यन् 2. W कृत्स्नचि° 3. A, B, T omit भवति 4. A, B, T omit पर 5. A, B,T add तव 6. A, B, T घटादिषु 7. A, B, T विषयेषु 8--8. A omits

निविष्टमात्मानमाविशति स मुनिः ते तव पदं स्वरूपं अञ्जसा विचष्टे पश्यति नन्वित्यन्वयः। सत्सङ्गत्या समुत्पन्नभगवद्भक्त्या वैराग्य दृढया प्रबलीकृतया भगवदुपासनया परोक्षज्ञानं भवतीत्यभिप्रायः। "भक्त्या त्वनन्यया" (भ.गी.11-54) इत्यादेः॥५९॥

सत्सङ्गतिः सर्वथा सम्पाद्येति प्रतिपाद्य अधुना भक्तिविषयतत्त्वं निर्दिशति - **यत्रेति**। केचित् जगत् ब्रह्मा ज्ञानकल्पितमिति सङ्गिरन्ते, अन्ये शून्यमेव संवृत्या सदिवाभातीति, अपरे तत्परिणतमिति, इतरे प्रागसतः सत्तासमवायि येन जातमित्यदृष्टत्वान्नेश्वरोप्येक इति तान् सर्वानपि निरस्यतीत्यतो वाऽऽह - यत्रेति। यत्र यदाधारतया व्यज्यते इत्यनेनैते पक्षाः प्रतिक्षिप्ताः, पूर्वं सत एव व्यक्तिसम्भवात् तदनुगतपञ्चविधभेदानां [1-] व्यक्तत्वेन [-1] सत्यत्वसिद्धेः, विश्वस्मिन् स्थितमप्यज्ञानां न भातीत्युक्त्या सुतरामीश्वरसन्द्भावो दर्शितः, ब्रह्मतत्त्वमित्यनेन सुतरां परं ज्योतिरित्यनेनाज्ञानसम्पर्का भावः स्पष्टः। आकाश इवेति निराकारपक्षोऽपि निरासीति ज्ञायते। अपरिच्छिन्नत्वे एवाऽऽकाशदृष्टान्तो न शून्यत्वे इति ग्रन्थ प्रपञ्चतया उपरम्यत इति॥६०॥

**यो माययेदं पुरुरूपया[2]ऽसृजद् बिभर्ति भूयः क्षपयत्य[3]विक्रियः।**
**यद्भेदबुद्धिः सदिवात्मदुः[4]स्थया तमात्मतन्त्रं भगवन् प्रतीमहि॥६१॥**

**क्रियाकलापैरिदमेव योगिनः श्रद्धान्विताः साधु यजन्ति सिद्धये।**
**भूतेन्द्रियान्तःकरणोप[5]लक्षणं वेदे च तन्त्रे च त एव कोविदाः॥६२॥**

**त्वमेक आद्यः पुरुषः सुप्तशक्ति स्तया रजः सत्त्वतमो विभिद्यते।**
**महानहं खं मरुदग्निवार्धराः सुरर्षयो भूतगणा इदं यतः॥६३॥**

**सृष्टं स्वशक्त्येदमनुप्रविष्टश्चतुर्विधं पुरमात्मांशकेन।**
**अथो विदु[6]स्तं पुरुषं सन्तमन्तः[7] भुङ्क्ते हृषीकैर्मधु सारथं य[8]ः॥६४॥**

**स[9]एष लोकानतिचण्डवेगो विकर्षसि त्वं खलु काल[10]यानः।**
**भूतानि भूतैरनुमेयतत्त्वो घनावली र्वायुरिवाविषह्यः॥६५॥**

**श्रीध.** जगत उपादानत्वेन तत्त्वं लक्षितम्। निमित्तत्वेनाऽपि तदेव लक्षयन्नाऽऽह - **य इति**। य इदं विश्वं सदिव ार्थमिव

---

1--1. A omits 2. W या सृजन् 3. M, Ma °येद° 4. M, Ma, Ms संस्थया 5. A, B, G, I, J, T लक्षितं 6. M. Ms °स्त्वां 7. M, Ma °मत्र 8. M, Ma, Ms यतः 9. W य 10. V °यन्नः

मायया असृजत्। कथम्भूतया ? यया भेदबुद्धिरन्येषां भवति तया आत्मनि त्वयि दुःस्थया स्वकार्यं कर्तुमसमर्थया। तं त्वां निरस्त भेदं प्रतीमहि जानीमः ॥ ६१ ॥

यद्यपि त्वमेव निर्भेदं ब्रह्म तथापि प्रागुक्तं साकारमिदं[1] तव रूपं ये यजन्ति त एव वेदागमतत्त्वज्ञा इत्याह - **क्रियेति**। क्रियाकलापैः स्वकर्मभिः[2-] ये योगिनः[-2] पूजयन्ति, त एव कोविदाः, न त्वेतदनादृत्य केवलज्ञाने प्रवृत्ताः। तन्त्रे आगमे, कथम्भूतमिदम् ? भूतेन्द्रियान्तःकरणैरस्वतन्त्रैः यदुपलक्ष्यते नियन्तृरूपं तत् ॥ ६१ ॥

नन्वभिन्ने मयि भेदं कुर्वन्तस्सन्तः कथं[3] ते कोविदाः, न हि तैर्भेदः[4] क्रियते, किन्तु त्वयैव क्रीडार्थं चेतनाचेतनात्मको भेदः कृत इत्याह - **त्वमिति**। आद्यस्त्वमेक एव। सुप्ता मायाख्या शक्तिर्यस्य, पश्चात्तया शक्त्या रजस्सत्त्वतमसां द्वन्द्वैक्यम्। यतो रज आदेः महानहङ्कारः, खं च मरुदग्निवार्धराश्च वाः उदके सुराश्च ऋषयश्च भूतगुणाश्च, एवमिदं जगद्यतो भवति तद्विभिद्यत[5] इत्यन्वयः ॥ ६३ ॥

एतदुपपादयति - **सृष्टमिति**। जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जरूपेण चतुर्विधं स्वांशेन प्रविष्टः। अयो इति हेतोः, पुरस्याऽन्तः सन्तमंशं चिदाभासं, पुरि शयनात् पुरुषं विदुः। तर्हि किमीश्वरमेव संसारिणं विदुः ? नेत्याह। सरधा मधुमक्षिकाः ताभिः सृष्टं मध्विव क्षुल्लकं विषयसुखमविद्यावृतस्सन् यो भुङ्क्ते तं जीवं विदुः। तथा च श्रुतिः - "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति (मुण्ड.उ.3-8) "गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्" (ब्र.सू. 1-2-11) इत्यत्र ॥ ६४ ॥

तव तु सर्वनियन्तुः कुतस्संसार इत्याह - स इति। यः स्वशक्तभेदं सृष्टवान् स एष त्वं खलु भूतैरेव भूतानि मेघपङ्क्तीर्वायुरिव[6] कालयन्विचालयन् लोकान् विकर्षसि संहरसि। अनुमेयतत्त्वो लक्ष्यस्वरूपः ॥ ६५ ॥

**वीर.** एवं विश्वाधारत्वमुक्तम्। अथ विश्वस्य निमित्तमुपादानं च कारणं त्वमेव इत्याह - **य इति**। यो भवान् इदं स्वात्मकं विश्वं बहुरूपया बहुधा परिणामशीलया मायया सृजन् बिभर्ति पुनः क्षपयति संहरति, तथापि अविक्रियः, निर्विकारः। कथम्भूतया मायया? आत्मदुस्थया आत्मसु जीवेषु दुस्थया, दुष्टं यथा भवति तथा स्थितया, संसारिरूपेणानर्थकारित्वेन[7] स्थितयेत्यर्थः। यया आत्मदुस्थया मायया। यद्यस्मादीश्वरात् भेदबुद्धिः स्वनिष्टबुद्धिः सदिव, सदर्थं विषयज्ञानमिव भवति। तं त्वाम्, आत्मतन्त्रं स्वतन्त्रं[8] प्रतीमहि प्रपद्येमहीत्यर्थः। अत्र[9] आत्मदुस्थयेति जीवेषु दुस्थत्वकथनेन[10-] परमात्मन्यनर्थकारित्वमुक्तम्। यद्भेदबुद्धिः स दिवेति स्वतन्त्रात्मभ्रमहेतुत्वमुक्तम्[10-] इदं देहात्मभ्रमहेतुत्वस्यापि उपलक्षणम्। अविक्रिया इत्यनेनोपादानत्वमुक्तं निषेधो हि प्रसक्तिपूर्वकः,

---

1. V omits इदं  2--2. A, B, J, Va ये कर्मयोगिनः  3. V omits ते  4. A, B, J, Va omit किन्तु  5. V तर्हि भि°  6. V adds अनवहितं
7. A, B, T संसाररूपान°  8. A, B, T omit स्वतन्त्रं  9. A, B, T तत्र  10--10. W omits

प्रसक्तिश्च उपादानत्वेन निमित्तस्य विकारप्रसक्त्यभावात्। भाव्यवस्था विशेषवतः प्रगवस्थायोगो हि उपादानत्वम्। ततश्चावस्थायोगित्व प्रयुक्त विकार प्रसक्तौ तन्निषेधो युक्तः विकारस्य स्वापृथक्सिद्धविशेषणी, भूतचेतना चेतनगतत्वाद्विशेष्य विकाराभावात् अविक्रिय इत्युक्तम्। ननु निमित्तकारणस्यापि कुलालादेः श्वेदश्रमादि विकार दर्शनात् तद्वत्परस्मिन्नपि निमित्तत्व प्रयुक्त विकारोऽनिषिद्ध इति चेत् न। "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" (छान्दो. उ. 6-2-3) इति, "तत्तेजोऽसृजत" (छान्दो.उ.6-2-3) इति सङ्कल्पमात्रेण जगत्सृजतो विकार प्रसक्त्यभावात् सृजन्निति निमित्तत्वमुक्तम्। कर्तृत्वमेव हि निमित्तत्वम्। तत्र विशिष्टत्वाकारेणोपादानत्वं निष्कृष्टविशिष्याकारेण निमित्तत्वम्, इति विवेकः। बिभर्ति क्षपयतीति रक्षि[1]तृत्वं संहर्तृत्वं च, तस्यैव इत्युक्तं भवति। आत्मतन्त्रमित्यनेन अकर्मवश्यत्वम् उक्तम्। अनेन श्लोकद्वयेन "ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्। यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा बिभ्रवीमि वो यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् (वृत्ति.ब्रा 2-8-9-6) इति श्रुत्यर्थः उक्तः। अत्र किंस्विद्वनमित्यादिना वृक्षशब्दोपलक्षितमुपादानं वनशब्दोपलक्षितमाधारः यदध्यतिष्ठदिति निमित्तं च, किमिति प्रश्नपूर्वकं ब्रह्मण एवोपादानत्वनिमित्तत्वाधारत्वादीति नामस्येति प्रतिज्ञापूर्वकोत्तर[2]परत्वम् अस्य वाक्यस्यावगम्यते। यतः वृक्षशब्दोपलक्षितोपादानाद् ब्रह्मणः द्यावापृथिव्युपलक्षितं कृत्स्नं जगत् निष्टतक्षुः निष्टतक्ष ससर्जेत्यर्थः॥ ६१॥

ईदृशभगवत्स्वरूपविषयकं भक्त्यात्मकं ज्ञानं भागवतसङ्गादेव लभ्यत इत्युक्तम्। इदानीं भागवतसङ्गवत् स्ववर्णाश्रमोचितानभिसंहित धर्मानुष्ठानमात्मयाथात्म्यज्ञानयोगश्च भक्त्यङ्गमित्याह - **क्रियाकलापैरिति**। ये योगिनः प्रकृति विविक्तात्मयाथात्म्यज्ञानयोगः येषामस्तीति योगिनः श्रद्धायुक्तास्सन्तः क्रियाकलापैः स्ववर्णाश्रमोचित कर्म[3]कलापैः अनभिसंहितफलैः इदमेव उक्तविधमेव भगवत्स्वरूपसिद्धये मुक्तये साधु सम्यक् यजन्ति आराधयन्ति। इदं कथम्भूतम्? भूतेन्द्रि[4]यादिभिः अप्राकृतैः शुद्धसत्त्वमयैः उपलक्ष्यत इत्युपलक्षणम्। अप्राकृतोक्तविध दिव्यमङ्गलविग्रहविशिष्टमित्यर्थः। त एव योगिनः वेदे कर्मयोग प्रकाशके तन्त्रे आत्मयाथात्म्यज्ञान योग प्रकाशके सांख्ये तन्त्रे च कोविदाः कुशलाः भवन्ति॥ ६२॥

अविक्रिय इत्यनेन उपादानकारणत्वमुपक्षिप्तम्। बिभर्तीति भर्तृत्वं, क्षपयतीति संहर्तृत्वं च[5] इति तदेवोपपादयति - **त्वमिति** चतुर्भिः। तत्र त्वमित्युपादानमुपपादयति त्वमुक्तविधस्वरूप रूप[6] गुणविभूतिस्त्वं पुरुषः आद्यः आदौ सृष्टेः पूर्वं भवः आद्यः सृष्टेः पूर्वं प्रलयदशायामासी रित्यर्थः। कथम्भूत आसम्? इत्यत्राह - सुप्तशक्तिः सुप्ताः स्वस्मिन् लीनाः शक्तयः चिदचिदादिशक्तयः यस्य, अतएव एकः असहायः, वक्ष्यमाणनामरूपविभागनिबन्धनबहुत्वप्रतिसम्बन्धि नामरूपविभागानर्हसूक्ष्म चिदचिद्विशिष्टत्वेना-सहाय

---

1. A. B, T omit एव 2. A.B,T omit पर 3. A, B, T कर्मभिः 4. A, B, T भूतादिभिः 5. W च तमुप° 6. A, B, T omit रूप

एवावस्थित इत्यर्थः। ततः तया स्वापृथक्सिद्ध विशेषणभूतया शक्त्या रजस्सत्वतमाइति द्वन्द्वैक्यं, तदपेक्षया विभिद्यत इत्येकवचन रजस्सत्वतमांसि विभिन्नानि विभक्तान्यभूवन्। यतो रज आदे र्महान् महतोऽहङ्कार स्त्रि विधः। ततो भूतादिभ्यः क्रमेण खमाकाशः, ततोमरुद्वायुः ततोऽग्निः ततो वाः आपः ततो धरा पृथ्वी, तेभ्यः खादिभ्यः पञ्चीकृतेभ्यः अण्डोत्पत्तिद्वारा सुरा ब्रह्मादयः, ऋषयो मरीच्यादयः, अन्येऽभूवन्[1]। मनुजातिर्यागादयः अभूवन्। सृष्टेः पूर्वं स्वस्मिन् उपसंहृतचिदचिच्छक्तिर्नाम-रूपविभागानर्हसूक्ष्म-चिदचिच्छरीरकस्त्वमेक एव कारणतया अवस्थितोऽपेक्षितकर्तृकरणाधिकरणाद्युपकरणजातस्सर्वज्ञः[2] सर्वशक्तिः स्वलीलैकप्रयोजनस्स्वात्मिकां मायां जीवद्वाराऽनुप्रविश्य मायाशरीरकं स्वात्मानमेव सङ्कल्पमात्रेण महदादिपृथिव्यन्तसमष्टिरूपेण देवादिचतुर्विधव्यष्टिभूतरूपेण च परिणमय्य स्वपर्यन्त तत्तन्नामरूपविभागाऽऽसीदित्यर्थः[3]॥ ६३॥

त्वं पुरुष इत्युक्तम्। तत्र पुरुषशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयन् पुरुषशब्दवाच्यतामाह - **सृष्टमिति**। यतः यो भगवान् स्वशक्त्या प्रकृतिरूपया सृष्टमिदं चतुर्विधं देवमनुष्यतिर्यक् स्थावरभेदेन चतुर्विधं[4] पुरं शरीरम् आत्मनोंऽशकेन अंशभूतेन जीवेन जीवान्तरात्मतया पुरमनुप्रविष्टः अथो अतः तं भगवन्तम् अन्तः पुरस्यान्तः जीवान्तरात्मतया सन्तं पुरुषं विदुः, पुरुषशब्दवाच्यं विदुः। तथा चोक्तम् - "पूस्संज्ञे वै शरीरेऽस्मिन् शयनात्पुरुषो हरिः। शकारस्य ष कारोऽयं व्यत्ययेन" इति। कोऽसावात्मनोंऽशः यदन्तरात्मतया पुरमनुप्रविष्टः तत्राह - यो जीवः हृषीकैरिन्द्रियै सारधं सारधाः मधुमक्षिकाः, सारं पुष्पादिगतं घ्नन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्तीति व्युत्पत्तेः। अत्र सारधशब्दस्तदुपार्जितमधुनि लाक्षणिकः, मधुकरोपार्जितमध्विव मधुकरस्थानीयेन्द्रियोपार्जित शब्दादिभोग्यजातं भुङ्क्ते अनुभवति स इत्यर्थः। अत्र जीवान्तरात्मतया अनुप्रवेशकथनं नियतदेशकालकर्माद्यानुगुण्येन जगद्रक्षणार्थानुप्रवेशाभिप्रायकम्॥ ६४॥

अथ संहर्तृत्वमुपपादयति - य एष कालशरीरकस्त्वं अत्युग्रवेगः कालवेगमनुसन्धदतामायुः क्षयनिमित्तभयोत्पादात् अलक्ष्यमाणरूपः अविषह्यवेगो वायुः मेघपङ्क्तीरिव भूतैरेव भूतानि कालयानः पीडयन् विकर्षसि संहरसि॥ ६५॥

**विज.** यत्रेत्यधिकरणनिर्देशात् शुक्तिकायां रजतव्यक्तिवत् यस्मिन् कल्पितत्वात् मिथ्याभूतं जगदिति भ्रान्तिं निराचष्टे - **यो माययेति**। यो हरिः पुरुरूपया शुक्ललोहितकृष्णभेदेन बहुरूपया मायया प्रकृत्येदं जगदसृजत् बिभर्ति पुनः संहरति। अत्र प्रकृतेरेव महदाद्यात्मना विकारो न तु परमात्मन इत्याशयेनोक्तम् - अविक्रिय इति। अनेन शुक्त्यज्ञानविकारो रजतमित्यपास्तम्। एवमपि परमात्मा जीवादिभ्यो भिन्नतया सम्यक्किमिति न प्रतीयत इत्याशङ्क्य सा प्रतीतिः सम्यक् ज्ञानिविषयेत्याह - **यद्देवेति**। **यस्य** हरेर्जीवादिभ्यो भेदबुद्धिः सदिवानिर्दोषज्ञानविषयैवेत्यर्थः। दिनवाचिना दिवाशब्देन कथं ज्ञानार्थतोच्यते प्रसिद्ध्यभावादिति न वाच्यम्।

1. A, B, T omit अभूवन्  2. A, T omit अधिकरण  3. A, B, T omit वि  4. A, B, T omit चतुर्विधं

''रात्रिरज्ञानमुद्दिष्टं सम्यक् ज्ञानं दिवा स्मृतः'' (शब्दनिर्णये) इति वचनात् । शुक्तिरजतज्ञानवन्नेदं पुरुषार्थोपयोगीति चेन्न । ''जीवेभ्योजडतश्चैव भेदज्ञानं हरेः सदा । वास्तवं ज्ञानमुद्दिष्टं तेन मुक्तिरवाप्यते'' (षाड्गुण्ये) इति वचनात्। तत्र युष्मत्प्रतीतिः कीदृशीति तत्राह - आत्मसंस्थयेति। यया स्वाधीनया प्रकृत्या निर्विकारः सृष्ट्यादि करोति तयाऽऽत्मसंस्थया परमात्मव्यवस्थयास्थितं त्वां प्रतीमहि विजानीमहे। स्वाधीनामपि प्रकृतिं विहाय सृष्ट्यादि कर्तुं समर्थ इति द्योतनाय आत्मतन्त्रमिति। अत एव भगवन्निति सम्बोधयाम्बभूवुरिति॥ ६१॥

अस्तु सृष्ट्यादि कर्तृ ब्रह्म, ''स्वर्गकामो यजेत'' इत्यादि वाक्यप्रमाणेनेज्यमिन्द्रादिकं स्यात् तादृक् प्रमाणसम्भवादिति तत्राह - **क्रियाकलापै** रिति। इदं प्रेत्त्यापि न मुञ्चामीति श्रद्धयाऽन्विता ये कर्मयोगिनः क्रियासमूहैः ज्ञानसिद्धये इदं जगत्कर्तृब्रह्मैव साधु यजन्ते नेन्द्रादिकम्। त एव ''स्वर्गकामो यजेत'' इत्यादि। वेदे ''शुद्ध स्फटिकसङ्काश वासुदेवं निरञ्जनम्'' इत्यादि, तन्त्रे च कोविदाः तद्धृदयज्ञाः इत्यर्थः, न केवलं श्रुतिस्मृतिभ्यां ज्ञात्वा यजति, किन्त्वनुमानेनापीति भावेनाह - भूतेति। भूतेन्द्रियान्तः करणैरुपलक्ष्यते ज्ञायत इति भूतेन्द्रियान्तःकरणोपलक्षणम्। भूतादीनामचेनत्वेन स्वतः प्रवृत्त्यसम्भवात्तत्प्रेरकोऽन्यः चेतनोऽस्ति। स चेश्वर एव अन्यस्य अन्वयव्यतिरेकाभ्यां शक्त्यदृष्टेरिति। यद्वा वेदे तन्त्रे च श्रद्धान्विता ये योगिन इदं यजन्ति त एव कोविदाः कर्मकाण्डसारस्य ज्ञानपटव इति अनेनेन्द्रादिकं यजन्तो वेदादितात्पर्यार्थं न जानन्तीति ज्ञापितम्॥ ६२॥

ननु जीवादिदं जगत् केचित् सङ्गिरन्ते, इदं निपुण प्रणीतं विशिष्टकार्यत्वात् चित्रादिकार्यवदित्यनुमानेम्। ''जीवाद्भवन्ति भूतानि'' इति कानिचिद्वाक्यानि चोदाहरन्ति अत इदं लक्षणमतिव्याप्तमिति शङ्कानिरासायाह - त्वमेक इति। आद्यः प्रपञ्चोत्पत्तेः पूर्वभवः। पुरुषस्त्वमेक एवाऽभूदित्यन्वयः। ''ब्रह्मैवेदमग्र आसीत्'' इत्यादेः। पुरुष इत्यनेन '' कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्'' (मुण्ड.उ. 3-1-3) इति वाक्यं सूचितम्। अनेन जीवश्च व्यावृत्तोऽस्य ब्रह्मयोनित्वोक्तेः। लक्ष्मीतत्त्वस्य द्वितीयस्य विद्यमानत्वात् कथमेक इति। विशेष्टुं शक्यत इति तत्राह - सुप्तेति। अत्र सुप्तेत्यनेन प्राप्तिरुपलक्ष्यते। ''यदाऽयं पुरुषः स्वपिति नाम सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति'' इति श्रुतेः। स्वात्मन्येवाप्तशक्तिः मुख्यार्थाङ्गीकारेऽज्ञत्वापत्तेरन्यैः अदृष्टत्वमङ्गीकर्तव्यम्। ''प्रकृतेः स्वाप उद्दिष्टहर्यन्यत्र त्वदर्शनम्'' इति वचनात्। एवं प्रलयावस्थां संक्षिप्य सृष्ट्यवस्थामाह - तयेति। या प्रलये हरावेव रता सृष्टिकाले प्राप्ते हरेः कटाक्षेण सिसृक्षुत्वविशेषमाप्तया तया शक्तिशब्दशब्दितया प्रकृत्या साम्यावस्थाम् आप्तया विभिद्यते विषमावस्थामापद्यते। सृष्टिक्रममपेक्ष्य रजस्सत्वम इति व्यत्यस्योक्तम्। स्थित्यादेः सृष्ट्यनन्तरत्वात् रजस्सृष्टौ, सत्त्वं स्थितौ, तमः संहृतौ चेति भिद्यते। रजः सत्त्वतमोभ्यां विभिद्यते, सत्त्वं रजस्तमोभ्यां, तमश्च सत्त्वरजोभ्यामित्ययं भेदः प्रमाणान्तरत्वात् तत्कार्यस्वभावदर्शनादवगन्तव्यः। उक्तं भेदं विशिनष्टि - महानहमिति। ततो गुणवैषम्यात् सत्त्वप्रधानं महत्तत्वं तदभिमानी ब्रह्मा चाभूदिति बोद्धव्यम्। तत्राहङ्कारं त्रिविधा (त्रिधा) भिन्नम्

(विभिन्नम्)। तामसाहङ्कार त्वादि। वैकारिकाहङ्कारादिन्द्रियाभिमानिनो देवाः। तैजसाहङ्कारात् ज्ञानहेतुत्वादृषिशब्दवाच्यानीन्द्रियाणि स्वादिभ्यः सुरनरतिर्यगादिभूतगणाः अभूवन्। किं बहुनोक्तेन ? इदं चराचरं जगद्यतो यस्मादुत्पन्नं तदेवं विभिन्नमिति ज्ञातव्यम्। "आत्मन आकाशः सम्भूतः' (तैत्ति.उ. 2-1-1) इत्यादि श्रुत्यनुगृहीतं मानमस्मिन्नर्थे॥ ६३॥

अचेतनस्य स्वतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेः चेतनप्रकृतौ अस्वातन्त्र्यप्रतीतेर्विचित्रप्रपञ्चरचनाऽन्यथाऽनुपपत्त्या विशिष्टचेतनसिद्धिः, स चेश्वर एवार्थापत्तेरन्यथासिद्धिपरिहारायाह - सृष्टमिति। अनुप्रविश्येत्यनेनार्थापत्तेः अन्यथासिद्धिः परिहृतेति। प्रपञ्चस्तु ग्रन्थाधिक्यात् प्राज्ञानां सुबोधत्वाच्च उपरम्यते। आत्मांशकेन स्वरूपांशेन "तत्सृष्ट्वा" (तैत्ति.उ. 2-6) इत्यादि श्रुतेः। जरायुजादिभेदेन चतुर्विधं पुरं प्रविश्य हृषीकैर्जीवेन्द्रियैः सारधं सारमात्रं मधु सुखं भुङ्क्ते यस्मादतो तस्मात्। अत्र पुरे सन्तं त्वां पुरुषं विदुरित्यन्वयः। तदस्यास्तीत्यस्मिन् अर्थे उषच् प्रत्ययः। सन्तमित्यनेन निर्दोषत्वं सूचयति। "अवधारणे घशब्दः स्यात्" (शब्दनिर्णये) इति वचनात्। पुनर्मधु नाम सुखं विन्द्यात् केवलं सारमेव भुङ्क्ते न त्वसारमित्याशयेन "सारवत्सारमात्रं तु सारधं" (शब्दनिर्णये) इत्यतोऽपि कथित एवार्थः॥ ६४॥

संहर्तृलक्षणस्य कालाधीनतया प्रतीयमानत्वात् तत्र अतिव्याप्तमिति तत्राह - **स एष** इति। योऽग्रतः सृष्ट्वा स एव लोकान् कालयानः "कल-द्रावणे" इति धातुः। कालरूपी भूत्वा त्वं भूतैः करणैः यमादिभिः भूतानि विचकर्षसि संहरिष्यसि इत्यन्वयः। अविषह्यः अपरिहार्यः। अत्र हेतुं ध्वनयति - अतिचण्डेति। अत्रानुमानं मानमित्याह - अनुमेयेति। उदाहरणमाह - घनावलीरिति। चलन्तार्घनावलीर्दृष्ट्वा चलनं वायुकर्तृकमिति यथा कल्प्यते तथाऽत्रापीति॥ ६५॥

**प्रमृत्तमुच्चैरिति कृत्यचिन्तया प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम्।**
**त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यते क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः॥ ६६॥**

**कस्त्वत्पदाब्जं विजहाति पण्डितो यस्तेऽवमानव्ययमानकेतनः।**[1]
**विशङ्क्यास्मद्गुरुरर्चति स्म यद् विनोपपत्तिं**[2] **मनवश्चतुर्दश॥ ६७॥**

***यत्स्पृष्टोऽहरहर्मुक्तक्लेशश्शेतेऽमृताम्बुधौ।**
**तावद्वेदाऽथ तत्तेङ्घ्रि जनोऽनुस्मरते च तत्॥**

**अथ त्वमसि नो ब्रह्मन् परमात्मन् विपश्चिताम्।**
**विश्वं रुद्रभयध्वस्तमकुतश्चिद्भया गतिः॥ ६८॥**

1. M, Ma, Ms यत्ते पुमानप्ययमब्जकेतनः 2. W °त्तिः

* This additional verse is found in M, Ma, Ms and the commentary on the same by Vidjayadhwaja be found in its proper place.

**इदं जपत भद्रं वो विशुद्धा[1] नृपनन्दनाः।**

**स्वधर्ममनुतिष्ठन्तो भगवत्यर्पिताशयाः॥ ६९॥**

**तमेवात्मानमात्मस्थं सर्वभूतेष्ववस्थितम्।**

**पूजयध्वं गृणन्तश्च ध्यायन्तश्चासकृद्धरिम्॥ ७०॥**

**श्रीध.** विकर्षणप्रकारमाह - **प्रमत्तमिति**। इति कृत्यमेवमेवमिदं कर्तव्यमिति चिन्तयोच्चैः[2] प्रमत्त[2-]मनवहितम्[-2]। तत्र हेतुः - विषयेषु लालसमतिकामुकम्। प्राप्तेऽपि[3] विषये प्रवृत्तलोभम्। अन्तकस्त्वभिपद्यसे आक्रामसि। क्षुधा लेलिहानो जिह्वया ओष्ठप्रान्तौ स्पृशन् सर्पो मूषकमिव॥ ६६॥

**क इति**। अतः कस्तव पदाब्जं त्यजेत् पण्डितश्चेत्? कथम्भूतः? यस्तवावमानोऽनादरस्तेन व्ययमानम्[4-] - अयगतौ। व्ययं प्राप्नुवत्[-4], केतनं शरीरं यस्य सः। यदस्माकं गुरुर्ब्रह्माऽर्चति स्म इति सर्वेषां स्तोतॄणां वाक्यम्। विशङ्कया[5] नाशशङ्कया विनोपपत्तिमिति। [6-]अस्मादेतत्फलं भवतीत्युपपत्त्यपेक्षायां विनाऽपि स्वभावत[-6]एव दृढविश्वासेन मनवश्चतुर्दश अर्चन्ति स्म॥ ६७॥

उपसंहरति **अथेति**। विश्वं रुद्रभयेन ध्वस्तम्[7]। अथ[8] अतो न कुतश्चिद्भयं यस्यां तादृशी गतिरस्ति॥ ६८-७०॥

**वीर.** विकर्षणप्रकारमेवाह - **प्रमत्तमिति**। इतिकृत्यमेवं कर्तव्यमिति चिन्तयोच्चैः भृशं प्रमत्तं विषयेषु शब्दादिषु लालसमतिकामुकं, प्राप्तेऽपि विषये, प्रवृद्धलोभं जनमप्रमत्तः कालरूपस्त्वं सहसा बलादन्तकोऽभिपद्यसे प्राप्नोति यथा क्षुधा लेलिहान· जिह्वया ओष्ठप्रान्तौ स्पृशन् सर्पो मूषकमिव[9]त्यर्थः॥ ६६॥

[10-]एवं सत्त्वोत्कृष्टत्वात् कृत्स्नजगदुदयविभवलयलीलत्वात् त्वामेव भजामीति सनिदर्शनमाह - **क इति**। कथम्भूतः? य· तव अवमानेन अनादरेण व्ययमानं क्षीयमाणं केतनं ज्ञानं यस्य सः। त्वत्परिचर्यां विना वृथैव शरीरं मन्वानः इति भावः। त्वदवमानादिना लीनचैतन्य इत्यर्थः। एवंविधोऽपि यो देवात् पण्डितो बुद्धिमान् भवेत् तर्हि को वा त्वत्पादाब्जं विजहाति, न कोऽपीत्यर्थः। अत एवास्म·द्गुरुः निश्शङ्कया त्वत्पादाब्जमेवार्चति आराधयति स्म, कौऽसौ तव गुरुर्यो मामर्चयति यस्य ब्रह्मणो दिनोपपत्ति र्दिवसनिष्पत्तिर्नाम चतुर्दश मनवः चतुर्दश मनवो यस्य दिवसनिष्पत्तिरूपाः स ब्रह्मैव अस्मद्गुरुः पितेत्यर्थः[-10]॥ ६७॥

---

1. M, Ma, Ms विप्रभ्यः; V विप्रब्धा· 2--2. B, J, V, Va omit 3. V omits अपि 4--4. J, V, Va omit 5. V विना°
6--6. B, J, V, Va omit 7. B, J, V, Va omit विश्वं 8. B, J, V, Va omit अथ 9. W omits इव 10--10. A, B, T एवं सर्वोत्कृष्टत्वात् पण्डितो बुद्धिमान् भवेत् तर्हि को वा त्वत्पदाब्जं विजहाति न कोऽपि इत्यर्थः। कथम्भूतः? यः एव अवमानः अनादरः तेन व्ययमानं केतनं शरीरं यस्य, त्वत्परिचर्यां विना वृथैव शरीरं मन्वानः इति भाव.। अत एव अस्मद्गुरुः निश्शङ्कया त्वत्पदाब्जमेवार्चयति आराधयति स्म। कोऽसौ तव गुरुः यो मामर्चयति स्म तमाह - यदिति। यस्य दिनोपपत्तिः दिननिष्पत्तिर्नाम चतुर्दश मनवो यस्य दिवसनिष्पत्तिरूपास्सन्ति। स ब्रह्मैव अस्मद्गुरुः पितेत्यर्थः॥ ६७॥

अतस्त्वमेव प्राप्य इति वदन्नुपसंहरति - **अथेति**। हे ब्रह्मन्! परमात्मन्! कृत्स्नं विश्वं रुद्रभयात् त्वदात्मकस्य रुद्रस्य भयात् ध्वस्तं नाशं प्राप्तं[1-1] त्वन्तु विपश्चितां नः अकुतश्चिद्भया नास्ति कुतोऽपि भयं यस्मास्सा अकुतश्चिद्भया गतिरसीति[2-2] कृत्स्नं विश्वं रुद्रभयादिति परोक्षनिर्देशो रुद्रान्तरसामान्याभिप्रायकः ॥ ६८ ॥

एवं स्वस्मै ब्रह्मोपदिष्टस्तोत्रेण भगवन्तं प्रस्तूय तेभ्यः प्रचेतोभ्यो उपदिश्य तस्मिन् स्तोत्रे तदर्थे च तान् रोचयन्नाह रुद्रः - **इदमिति**। हे नृपनन्दनाः! विस्तब्धाः विश्वासयुक्ताः कर्तरि क्तः। इदं भगवत्स्तवनं जपत अर्थत श्शब्दतश्च अनुसन्दध्वम्। अनेन जपेन वः युष्माकं भद्रं मङ्गलं भविता तथा स्वधर्मं स्ववर्णाश्रमोचितं धर्ममनुतिष्ठन्तः भगवत्यर्पितान्तःकरणाः[3-3] सन्तः इत्यर्थः ॥ ६९ ॥

असकृत् पौनः पुन्येन हरिं ध्यायन्तो, गृणन्तः स्तुवन्तः तमेव सर्वभूतेष्ववस्थितम् आत्मस्थं पूजकान्तरात्मतयाऽवस्थितं भगवन्तं[4-4] पूजयध्वम्। सर्वभूतेष्ववस्थितमित्यनेन[5-5] "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" (छां.उ. 6-8-7) इति श्रुत्यर्थोऽनुसन्धीयते। आत्मान मित्यनेन "तदात्मा" इति श्रुत्यर्थः। आत्मस्थमित्यनेन "तत्त्वमसि" (छां.उ. 6-8-7) इति श्रुत्यर्थोऽनुसंहितः। अत एव "तत्स्थत्वात् अनुपश्यन्ति यत एव हि साधवः" इति श्रुत्यर्थः उक्तः[-5] ॥ ७० ॥

**विज.** अवान्तर संहारस्त्वन्येन किं न स्यादत्राह - **प्रमत्तमिति**। क्षुधा लेलिहानः पुनः पुनर्जिह्वयासृक्किणी लिहन् ॥ ६६ ॥

एवं भगवतः स्वरूपं निरूप्य तदुपासनात्यागी असुर एव न विद्वानिति भावेनाह - क इति। पण्डितं एवं ज्ञातेश्वरतत्त्वः पुमान् कस्त्वत्पादाब्जं त्यजति "यद्यदाचरति श्रेष्ठः" (भ.गी. 3-21) इत्येतावदेतत् ध्वनयति - त्यजति चेत्सुरेतरः। इतोऽपि मोक्तुं निमित्तं नास्तीत्याह - यत्र इति। अयमब्जकेतनः पुमानपि विगतशङ्कया ते तव यत् पदाब्जम् अर्चति[6] स्म स्मरते इत्यन्वयः। "स्मृतौ वृत्ते निषेधे स्म" (वैज.को. 8-7-7) इति यादवः। कोऽयमब्जकेतनः इत्यतोऽस्मद्गुरुरिति, जनकत्वाज्ज्ञानोपदेष्टृत्वाच्च गुरुरिति। अनेन ततः परं हि मामित्यत्र श्रीरवोच्यते न रुद्र इति निरणायि इत्यतो मायावादिनां व्याख्यानं पूर्वापरविरुद्धत्वादुपेक्षणीयमित्यस्माभिः तन्मतनिरासाय प्रयासो न क्रियत इति इतोऽपि तत्पादसेवा न हातव्येत्याह - यद्विनेति। चतुर्दश मनवोऽस्मदेतत्फलं भवतीत्युपपत्त्यपेक्षां विनापि यच्चरणारविन्दमर्चन्ति ॥ ६७ ॥

अनुदिनं सुप्तिदशायां श्रीनारायणस्पर्शेन परमानन्दोऽनुभूयते, किमुत कैवल्ये इति वेदयन् तस्य दौर्लभ्यमाह - **यत्स्पृष्ट इति**। येनाङ्घ्रिणा स्पृष्टोऽहरहर्मुक्तक्लेशो जनोऽमृताम्भोधौ परमानन्दसमुद्रे शेते यावत्तावत्तदानीं वेद सुखं वेत्ति अथोत्थानानन्तरं तेऽङ्घ्रिं वेद

1--1. W omits 2--2. W omits 3--3. W omits 4--4. W omits 5--5. W omits 6. A omits स्म

नु किमित्याक्षेपः, तत्सुखं स्मरते च। यद्यपि सुखमहमस्वाप्समिति परामृशति, तथाऽपि तवाङ्घ्रिं न वेत्ति स्मरतीति भावः। अनेन तादृशः पुरुषो दुर्लभ इति सूचितम्। विचित्रे जगति कश्चिद्धीरोऽस्मदभयदः किं न स्यादिति शङ्का विहायैवं प्रार्थनीय इति वक्ति - **अथेति**। विश्वं रुद्रभयध्वस्तमिति यस्मात्। अथ तस्मादेवं विपश्चितां नः त्वमकुतश्चिद्भयागतिरसि इत्यन्वयः। ब्रह्मन्! परमात्मन् इति पदद्वयेन बहिरन्तश्च त्वां विनाऽन्योऽभयदो नास्तीति सूच्यते॥ ६८॥

ध्येयस्वरूपं निरूप्य अधुना पूर्वोक्तं जाप्यं[1] विधाय उपसंहरति - **इदं जपतेति**। सर्वात्मा आत्मने नमः इत्यारभ्य वाचो विभूतयः इत्यन्तं यदुक्तं तदिदं जपतेत्यन्वयः॥ ६९॥

आत्मस्थमित्युपदिश्य सर्वभूतेष्ववस्थितमिति वचनं परिच्छिन्नत्वपरिहारायोक्तमिति ज्ञायते॥ ७०॥

**योगादेशमुपासाद्य धारयन्तो मुनिव्रताः।**

**समाहितधियः सर्व एतदभ्यसतादृताः॥ ७१॥**

**इदमाह पुराऽस्माकं भगवान् विश्वसृट्पतिः।**

**भृग्वादीनामात्मजानां सिसृक्षुः संसिसृक्षताम्॥ ७२॥**

**ते वयं चोदितास्सर्वे[2] प्रजासर्गे प्रजेश्वराः।**

**अनेन ध्वस्ततमसः सिसृक्ष्मः[3] विविधाः प्रजाः॥ ७३॥**

**अभेदं नित्यदा[4] युक्तो जपन्नवहितः पुमान्।**

**अचिराच्छ्रेयः[5] आप्नोति वासुदेवपरायणः॥ ७४॥**

**श्रेयसामिह[6] सर्वेषां ज्ञानं निःश्रेयसं[7] स्मृतम्।**

**सुखं तरति[8] दुष्पारं ज्ञाननौर्व्यसनार्णवम्[9]॥ ७५॥**

**य इमं[10] श्रद्धया[11] युक्तो मद्गीतं भगवत्स्तवम्[12]।**

**अधीयानो दुराराध्यं हरिमाराधयत्यसौ॥ ७६॥**

---

1. A जप्य 2. A, B, G, I, J, T नो° 3. A, B, G, I, J, T सिसृक्षो 4. V युक्तो यो 5. G, I, J, M, Ma, T °यमा° 6. W °मपि 7. A, B, G, I, J, T, W परम् 8. W तरन्ति 9 W °नो व्य° 10. M, Ma, Ms, V इदं 11. V प्रयतो नित्यं 12. V °त्सखम्

**विन्दते पुरुषोऽमुष्माद्यद्यदिच्छत्यसत्वरम्[1]।**

**मद्गीतगीतात्सुप्रीताच्छ्रेयसामेकवल्लभात्॥ ७७॥**

**इदं य कल्प[2] उत्थाय प्राञ्जलिः श्रद्धयान्वितः।**

**श्रृणुयाच्छ्रावयेन्मर्त्यो मुच्यते कर्मबन्धनैः॥ ७८॥**

**गीतं मयेदं[3] नरदेवनन्दनाः परस्य पुंसः परमात्मनः स्तवम्।**

**जपन्त एकाग्रधियस्तपोमहत् चरध्वमन्ते तत आप्स्यथेप्सितम्॥ ७९॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टादश साहस्र्यां

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां

चतुर्थस्कन्धे चतुर्विंशोऽध्यायः॥ २४॥

**श्रीध. योगेति**। योगादेशं नाम एतत्स्तोत्रमुपासाद्य पाठतः मनसा धारयन्तोऽभ्यासेन जपत[4]॥ ७१॥

**इदमिति**। विश्वसृजां पतिः ब्रह्मा॥ ७२॥

**त इति**। सिसृक्षमः सृष्टवन्तः॥ ७३॥

**अथेति**। युक्तः एकाग्रचित्तः॥ ७४॥

**श्रेयसामिति**। ज्ञानमेव नौर्यस्य॥ ७५॥

**य इति**। योऽधीयानो भवति असौ[5-] हरिमाराधयति[-5]॥ ७३॥

**विन्दत** इति। असौ[6] अमुष्माद्धरेः असत्वरन् स्थिरस्सन् मद्गीतं स्तोत्रं तेन गीतात् स्तुतात् यद्यदिच्छति[7-] तत्तद्विन्दते[-7]। एक एव वल्लभः प्रियः आश्रयः तस्मात्॥ ७७॥

**य इति**। कल्ये[8] उषसि॥ ७८॥

---

1. M, Ma, Ms °तिसत्वरम्  2. M, Ma कल्पः; Ms, V काल्य  3. V मयैतं  4. A जपन्तः अभ्यस्त॥ ७१॥ ; B, Va जपन्तः  5--5. V omits  6. A, B, J, Va omit असौ  7--7. V omits  8. V काल्ये

**गीतमिति**। तपश्चरत[1] तपसोऽन्ते ईप्सितं प्राप्स्यथ ॥ ७९ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्री श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थ दीपिकायां

व्याख्यायां चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

**वीर.** योगादेशं नाम एतत्स्तोत्रम् उपासाद्य[2] पाठतः प्राप्य मनसा धारयन्तः समाहितचित्ताः मौनव्रतनिष्ठाः आदृताः आदरयुक्ताः सर्वे यूयमभ्यसत ॥ ७१ ॥

स्तोत्रस्य साम्प्रदायिकत्वमाह - **इदमिति**। विश्वसृजां मरीच्यादीनां पतिर्विश्वसृड्ब्रह्मा आत्मजानां प्रष्टुमिच्छतां भृग्वादीनां अस्माकं पुरा आह उपदिष्टवान् ॥ ७२ ॥

ते उपदिष्टस्तोत्राः वयं प्रजासर्गे निमित्ते प्रचोदितास्सन्तः अनेन स्तोत्रेण निरस्ताज्ञानाः विविधाः प्रजा सिसृक्ष्म[3] सृष्टवन्तः ॥ ७३ ॥

पुमान् समाहितचित्तः, वासुदेवः परमयनं प्राप्यं प्रापकमाधारश्च यस्य, तथाभूतः इदं नित्यदा जपन् आशु स्वसमीहितं श्रेयः आप्नोति[4] ॥ ७४ ॥

श्रेयसामपि मध्ये ज्ञानस्यैव निरतिशयपुरुषार्थरूपमोक्षसाधनत्वेन निरतिशयश्रेयस्त्वं वदन् तत्साधनतामस्य स्तोत्रस्याह - **श्रेयसामिति द्वाभ्याम्**। सर्वेषामपि श्रेयसां मध्ये ज्ञानं भगवद्भक्त्यात्मकं ज्ञानमेव निःश्रेयसं नितरां श्रेयः स्मृतम्। कृतः ? यतः[5] ज्ञानिनो भगवद्भक्त्यात्मकज्ञानवन्तः[6] उपायान्तरैर्दुस्तरमपि व्यसनार्णवं दुःखसागरात्मकं संसारं तरन्ति ॥ ७५ ॥

यः पुमान् मया गीतमिदं स्तोत्रं श्रद्धया युक्तः अधीयानः अध्ययनं कुर्वाणः उपायान्तरैः दुराराध्यमपि हरिमाराधयति हरिविषयां भक्तिं लभत इत्यर्थः ॥ ७६ ॥

ततो मया यद्गीतं स्तोत्रं[7] तस्य गीतात्, भावे क्तः। गानाद्धेतोः सुप्रीतात् श्रेयसां सर्वपुरुषार्थानां वल्लभात् प्रभोः अमुष्माद्भक्त्याऽऽराधितात् परमपुरुषात् यद्यच्छ्रेय इच्छति असत्वरन् स्थिरस्सन् तत्सर्वं विन्दते लभते ॥ ७७ ॥

---

1. V तापश्चरध्वं 2. A, B, T omit उप 3. A, B, T °क्ष्मः 4. A, B, T प्रा° 5. A, B, T omit यतः 6. A, B, T °द्भक्तियाथात्म्यज्ञा° 7. A, B, T omit स्तोत्रं

यः पुमानिदं कल्ये उषसि उत्थाय प्राञ्जलिः श्रुणुयात् अन्यान् श्रावयेद्वा स मर्त्यः सर्वैः कर्मरूपैः बन्धनैः मुच्यते मुक्तो भवति ॥ ७८ ॥

हे नरदेवनन्दनाः ! मया गीतम् इदं परमपुरुषस्य स्तवं जपन्तः समाहितचित्ताः तपश्चरध्वं कुरुध्वम्, अन्ते तपसोऽन्ते ततः तस्मादीप्सितम् आप्स्यथ[1] ॥ ७९ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे
श्री वीरराघवविदुषा लिखितायां भागवत चन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

**विज.** श्रद्धां जनयति - **इदमाहेति**। विश्वसृक्पतिः ब्रह्मा ॥ ७१, ७२ ॥

नेदं श्रवणमात्रं किन्त्वनुभवसिद्धमित्याह - **ते वयमिति** ॥ ७३ ॥

ने केवलमिदं युष्माकमेव अन्येषामपि श्रेयस्करमित्याह - **अथेति** ॥ ७४ ॥

तत्किं श्रेय इति तदाह - **श्रेयसामिति**। श्रेयसामस्यैव प्रधानश्रेयः त्वमित्याह - सुखं तरतीति ॥ ७५ ॥

न केवलम् अनेनाऽऽपवर्गिकं फलं, किन्तु अपेक्षितं चेत् ऐहिकमपि स्यादित्याह - **य इदमिति** ॥ ७६ ॥

मद्गीतमित्यनेन गान्धर्वं न स्तवमिति अस्मत्सेविनो मूढा इति द्योतनाय श्रेयसामित्युक्तम् ॥ ७७ ॥

फलविशेषार्थं कालविशेषमाह - **कल्य** इति। कल्ये[2] उषसि ॥ ७८ ॥

श्रद्धातिशय जननार्थं पुनरुक्तिं करोति - **गीतं मथेति**। एकाग्रधियः ध्येयादनन्यविषया धीर्येषां ते तथोक्ताः अग्रे जगदादावेक एव यः स एकाग्रः तत् हरावेव धीर्येषां ते तथेति वा। अन्ते देहान्ते युष्मद्धिताय इदमुक्तमिति प्रकाशनाय चरध्वमिति आत्मनेपदप्रयोगः ॥ ७९ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे
श्री विजयध्वजतीर्थकृतायां पदरत्नावल्यां
टीकायां चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

---

1. W adds प्राप्स्यथ  2. A, B कल्ये

# पञ्चविंशोऽध्यायः

## मैत्रेय उवाच

इति सन्दिश्य भगवान् बार्हिषदैरभिपूजितः[1]।
पश्यतां राजपुत्राणां तत्रैवान्तर्दधे हरः ॥ १ ॥

रुद्रगीतं भगवतः स्तोत्रं सर्वे प्रचेतसः।
जपन्तस्ते तपस्तेपुर्वर्षाणामयुतं जले ॥ २ ॥

प्राचीनबर्हिषं क्षत्तः कर्मस्वासक्तमानसम्[2]।
नारदोऽध्यात्मतत्त्वज्ञः कृपालुः प्रत्यबोधयत् ॥ ३ ॥

[3-]नारद उवाच[-3]

श्रेयस्त्वं कतमद्राजन्! कर्मणाऽऽत्मन ईहसे।
दुःखहानिस्सुखावाप्तिः श्रेयस्तन्नेह चेष्यते ॥ ४ ॥

[4-]प्राचीनबर्हि रुवाच[-4]

न जानामि महाभाग! परं कर्मापविद्धधीः।
ब्रूहि मे विमलं ज्ञानं येन मुच्येय कर्मभिः ॥ ५ ॥

## श्री श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

प्रचेतस्सु तपस्यत्सु तत्पित्रे नारदो धृणी। प्राचीनबर्हिषेध्यात्मं पारोक्ष्येणाऽऽह पञ्चभिः ॥ पुरञ्जनकथाव्याजात् पञ्चविंशे तु नारदः। आत्मनो बुद्धिसन्नेन विविधा माह संसृतिम ॥ प्रचेतस्सु तपस्तीव्रं तप्यमानेषु नारदः। पुरञ्जनकथाकूटं प्राह प्राचीनबर्हिषे ॥

प्रचेतस्सु तपश्चरत्सु नारदः प्राचीनबर्हिषं [5-]पुरञ्जनकथाकूटेन[-5] बोधितवान्। अत प्रचेतसां कथा मसमाप्यैव तत्पितुर्वृत्तमाह - **प्राचीन बर्हिष**मिति ॥ १-२-३ ॥

---

1. Ms बार्हिष्मदैर°; T बर्हिषदैर°; V बार्हिषैर° 2. V चेतसम् 3--3. A, B, G, I, J, T, V, W omit 4--4. A, B, G, I, J, T, V, W राजोवाच
5--5 B, J, V, Va omit

**श्रेय** इति । हे क्षत्तः[1-] । धर्मादिषु[2-] कतमत्[-2] श्रेयः फल मीहसे इच्छसि । ननु[3-] मोक्षदो सनेत्याहदुःखहानिरिति शेषदुःखनिवृत्तिः निरतिशयानन्दावाप्तिश्चेति यत् तदुभयं मोक्षाख्यं श्रेयः[-3] इह कर्मणि तदुभयं नेष्यते विचारकैः ॥ ४ ॥

**नेति** । परं श्रेयो मोक्षः । कर्मभि रपविद्धा[4] विक्षिप्ता धीर्यस्य ॥ ६ ॥

## श्रीवीरराघव विदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं रुद्रोपदिष्टभगवत्स्तोत्रतदाराधनप्रकारेषु प्रचेतस्सु तपश्चरत्सु प्राचीनबर्हि नारदोपदिष्टाऽऽध्यात्म[5]पारोक्ष्यः पुत्रेष्वारो पितमहीभारो भगवन्त मुपास्य तल्लोक मगादित्याह मुनिः पञ्चभिरध्यायैः । इति उक्तप्रकारं सन्दिश्य उपदिश्य भगवान् रुद्रः बार्हिषदैः सम्यक् पूजितः राजपुत्राणां प्रचेतसां पश्यतां सतां तत्रैवान्तर्हितवान् ॥ १ ॥

तत इदं रुद्रेण गीतं भगवतः स्तोत्रं जपन्तः प्रचेतसो वर्षाणा मयुतं दशसाहस्र[6]वर्षपर्यन्तं जले तप स्तेपुः, पाकं पचतीति वन्निर्देशः । तपश्चक्रुरित्यर्थः ॥ २ ॥

**प्राचीनबर्हिष** मिति । हे क्षत्तः ! विदुर[7] ! तत आत्मवित् नारदो भगवान् आगत्य केवलं कर्मस्वेवासक्त चित्तं प्राचीनबर्हिषं बोधितवान् ॥ ३ ॥

बोधनप्रकारमेवाह - **श्रेय** इति । अत्र प्रचेतसां कथा मसमाप्यैवान्तरा प्राचीनबर्हिषः कथाऽवशिष्टा प्रस्तूयते इत्यवगन्तव्यम् । हे राजन् ! आत्मने स्वस्मै कर्मणाऽनुष्ठीय मानेन यज्ञादिकर्मणा कतमत् श्रेयः ? किं वा श्रेयः ? साध्यमीहसे इच्छसि, दुःखनिवृत्तिः सुखावाप्तिश्चे[8] दिष्यते तर्हि इह कर्मणि तदुभयं नेष्यते, केवल कर्मणा तदुभयं न साध्यत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

एवं केवलकर्मणा मपुरुषार्थसाधनतां प्रतिबोधितः उद्विग्नमना राजाह - **नेति** । हे महाभाग ! कर्मभि राक्षिप्ता धी र्यस्य सोऽहं परं श्रेयो न जानामि । अतस्त्वं विमल मन्तः करणनैर्मल्यापादकं ज्ञानं मे महां ब्रूहि उपदिश, येन ज्ञानेनाऽहं कर्मरूपात् बन्धनात् बन्ध हेतोः[9] मुच्येय मुक्तो भवेयम् ॥ ५ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अध्यात्मगर्भपुरञ्जनोपाख्यानप्रकथनेन संसारसागरे दुराग्रहग्राहदुरवरोहे निमज्जतां दूरीकृतसत्सङ्गानां हरिचरणारविन्द

---

1-1. B, J, V, Va omit 2--2. B, J, Va omit 3--3. A, B, J, Va omit 4. V omits वि 5. A, B, T दिष्टाऽऽध्यात्म° 6. W omits वर्ष 7. W omits विदुर ! 8. W सुखप्राप्ति श्चेदीह्यते 9. A, B, T पाशात्

मकरन्दसेवानभिज्ञानां गमागमादि नानाव्यसन भराक्रान्त शिरोधराणां शिशुकलभाषणाहतश्रवणानां कुटुम्ब भरणातिवाहित दिनकरगमागमानां पुरुषाणां वैराग्यरसानुभावित निपुण बलभक्तिप्रदीपानुगृहीतापवर्गलक्षणपुरुषार्थसाधन भगवद परोक्षज्ञानललना कटाक्ष प्रसन्नमुरमथन प्रसाद परशु मन्तरेण संसारतरुच्छेदो न स्यादिति तादृशी साधनसामग्री निरूप्यते पञ्चस्वध्यायेषु। तत्रोपोद्घातं रचयति - **इतीति**॥ १॥

रुद्रान्तर्धानानन्तरं प्रचेतोभिः किमकारीति तत्राह - **रुद्रगीतमिति**॥ २॥

एतदन्तरे श्रोतुं योग्यां कथां वद, तत्कथाशेषं तदनन्तरं श्रोष्याम इति क्षत्तु रान्तरीं शङ्कां मैत्रेयः परिहरतीत्याह - **प्राचीनबर्हिष** मिति। ''स्यात्कृपालुः कारुणिकः'', (अम.को) इति वचना त्साधु रयं शब्दः॥ ३॥

ईहया कर्मणा श्रेयसा मवाप्ति रिष्यते, त्वं तत्र श्रेयसां कतमच्छ्रेय आत्मन ईहसे कर्मणेच्छसि, एतदेव विशिनष्टि - दुःखहानिरिति। अत्राऽयं भावः - पुरुषार्थिना पुरुषेण प्रार्थ्यानि श्रेयांसि बहूनि सन्ति। तेषां कतमच्छ्रेयो दुःखहानिलक्षण मुत सुखावाप्ति मथवा उभयम्; अथान्यत्सदपत्यादिलक्षण मिति। इह कर्मणि तदुभयं न॥ ४॥

अत्र राजा सर्वश्रेयोऽवाप्तौ मुख्यसाधनं ज्ञानमेवेति नारदस्य हार्दं विद्वान् तदेव भवतोपदेष्टव्य मिति प्रार्थयते - **न जानामीति**। नारदेन[1] सह उत्तरप्रत्युत्तरायासान्न जानामीति वाक्यं सुख मिति मन्वानेन तत्तथोक्तम्॥ ५॥

**गृहेषु कूटधर्मेषु पुत्रदारधनार्थधीः।**
**न परं विन्दते मूढो भ्राम्यन् संसार वर्त्मसु॥ ६॥**

**नारद उवाच**[2-2]

**भो भोः प्रजापते राजन् पशून् पश्य त्वयाऽध्वरे।**
**संज्ञापिताञ्जीवसङ्घा न्निर्घृणेन सहस्रशः॥ ७॥**

**एते त्वां सम्प्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशसं तव।**
**सम्परेत मयःकूटै श्छिन्दन्त्युत्थितमन्यवः॥ ८॥**

**अत्र ते कथयिष्येऽह मितिहासं पुरातनम्।**[3]
**पुरञ्जनस्य चरितं निबोध गदतो मम॥ ९॥**

1. M, Ma, Ms add नारद उवाच 2--2. M, Ma, Ms omit 3. A, B, G, I, J, T, V °ष्येऽमु°; Ms °ष्यामि इ°

**आसीत्पुरञ्जनो नाम राजा राजन् बृहच्छ्रवाः ।**

**तस्याविज्ञातनामाऽऽसी त्सखा विज्ञातचेष्टितः ॥ १० ॥**

**श्रीध. गृहेष्विति** । किं च गृहेषु स्थितः पुत्रादिष्वेव पुरुषार्थधीर्यस्य ॥ ६ ॥

कर्मफलेषु वैराग्य मुत्पाद्य ब्रह्मविद्या मुपदेष्टुं योगानुभावेन यज्ञपशून् प्रत्यक्षं प्रदर्शय[1] न्नाह - **भो भो** इति । पशुरूपाञ्जीवसंघान्[2] संज्ञापितान् मारितान् ॥ ७ ॥

**एते** इति । एते त्वां सम्परेतं मृतं सम्प्रतीक्षन्ते वैशसं त्वत्कृतां पीडां स्मरन्तः ततश्चायः कूटैः ले हयन्त्रमयैः शृङ्गैः छिन्दन्ति छेत्स्यन्ति ॥ ८ ॥

**अत्रेति** । अत्र अस्मिन् सङ्कटे निस्तारकममुमितिहासं कथयिष्यामि ॥ ९ ॥

तत्र जीवस्य विषयासक्त्या संसारः, स चेश्वरानुग्रहेण निवर्तत इति वक्तुं विपर्ययगृहीतस्य साक्षाद्बोधयितु मशक्ते राजवृत्तान्त मिवाह - **आसीदिति** । पुरञ्जनादीन् स्वय मेवेतः पञ्चमेऽध्याये व्याख्यास्यति । तथाऽपि तावत्[3] सुखग्रहणाय यथोपयोगं किञ्चित्[4] किञ्चिद्व्याख्यास्यामः । तत्र स्वकर्मभिः पुरं शरीरं जनयतीति पुरञ्जनो जीवः न विज्ञातं नाम यस्य न च विज्ञातं चेष्टितं यस्य स ईश्वर स्तस्य सखा; यद्वा विज्ञातं चेष्टितं जीवप्रेरणादिलक्षणं यस्य, जीवपारतन्त्र्यस्यानुभवसिद्धत्वात् ॥ १० ॥

**वीर.** कूटधर्मेषु अतिबाल्यधर्मेषु अवर्जनीय प्रवृत्तिधर्मेष्विति यावत्; अत एव संसारद्वारेषु भ्राम्यन् ममतां कुर्वन् पुत्रादिषु अर्थधीः पुरुषार्थबुद्धिः, अत एव मूढो मादृशः परं श्रेयो न विन्दते ॥ ६ ॥

कर्मफलेषु वैराग्य मुत्पाद्य ब्रह्मविद्या मुपदेष्टुं योगानुभावेन यज्ञपशून् प्रत्यक्षं प्रदर्श्याह - **भो भो** इति । हे[5] हे प्रजापते ! राजन् ! अध्यात्मतत्त्व श्रोतृलाभप्रयुक्ताऽऽदरात् सम्भ्रमाद्वा भो भो इति द्विरुक्तिः यद्वा हे प्रजापते ! हे राजन् ! इति विशेषणद्वयाभिप्रायेण द्विरुक्तिः निष्करुणेन त्वयाऽध्वरे संज्ञापितान् मारितान् जीवसङ्घरूपान् पशून् सहस्रशः पश्य ॥ ७ ॥

एते पशवः तव वैशसं त्वत्कृतां पीडां स्मरन्तः त्वां सम्परेतं मृतं प्रतीक्षन्ते, कदाऽयं मरिष्यतीति प्रतीक्षन्त इत्यर्थः । यदा च त्वं मरिष्यसि तदैते पशव उत्थितमन्यवः सञ्जातक्रोधा अयःकूटै ले हवदविशीर्णैः शृङ्गैः त्वां छिन्दन्ति छेत्स्यन्ति ॥ ८ ॥

ननु "न वा उ वोतन्म्रियसे न रिष्यसि देवान् (ऋक्सं. 1-162-21) इदेषि पथिभिः सुगेभिः । "[6] यत्र यन्ति सुकृतो नाऽपि

1. A, B, J, Va °र्श्या ह  2--2. B, J, V, Va omit  3. B, J, V, Va oit तावत्  4. A, V omit किञ्चित्  5. A, B, T omit हे

दुष्कृतः तत्र त्वा देवः सविता दधातु''(ऋक् सं.-1-162-21) इति यागीय संज्ञपनस्य हिंसात्वाभावश्रवणात् तादात्विकदुःखजनकत्वेऽपि निहीनपशुजन्मनिवर्तनद्वारा स्वर्गोपभोगभोग्य सुन्दरतरजन्म सम्पादकत्वेन तादात्विक दुःखादिजनकौषधपान कर्णच्छेदन[1] क्षौरादिकर्म कारयितृ चिकित्सक पित्रादिवद्धितकारिणि संज्ञपितरि पशूनां क्रोधासम्भवाच्च कथ मेव मुच्यते इति चेन्न, कर्मफलेषु वैराग्यजननार्थत्वेनान्यपरत्वा त्तदुक्तेः । अत एव वैराग्योदयायान्यापदेशमुखेन अध्यात्मोपदेशात्मकेतिहासं प्रस्तोतुं प्रतिजानीते **अत्रेति**। अत्र निरतिशयपुरुषार्थ तत्साधनाद्यज्ञानरूपे सङ्कटे तत्त्वहित पुरुषार्थ निश्चायकं पुरातनं पुरञ्जनाख्यराजचरित्रात्मक मितिहासं ते तुभ्यं कथयिष्ये। गदतः इतिहासं सम्यक् कथयतः मम मत्तः सकाशात् निबोध अवहितमनाः श्रृणु॥ ९॥

एवं प्रतिज्ञायेतिहासं प्रस्तौति - **आसीदिति**। अत्रान्यापदेशमुखेनाध्यात्मोपदेशः क्रियते। ननु साक्षादेवाध्यात्मोपदेशः किं न क्रियते ? साक्षात्तदुपदेशेऽपि वैराग्योदय सम्भवात् ; उच्यते - देहात्माभिमानस्वतन्त्रात्माभिमान ग्रस्तस्य तत्त्वहितपुरुषार्थाद्यनभिज्ञस्य वैषयिक मेव सुखं परमं पुरुषार्थ मभिमन्यमानस्य हठात्तत्त्वोपदेशः क्रियमाणोऽपि न सुप्रतिष्ठितः स्या दित्यालोच्य चिरमध्यस्तस्त्रीपुंनपुंसक गर्भजन्मजरामरण जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याद्यात्मक संसार मनुवर्ण्य तत्र दोषानुद्घाट्य हेयताबुद्ध्युत्पादनद्वारा क्रियमाणस्तत्त्वोपदेशः सुप्रतिष्ठितः स्या दिति। तत्र जीवो राजत्वेन शरीरं पुरत्वेन परमात्मा सखित्वेन बुद्धि र्भार्यात्वेनेति[2] रूप्यते। तत्र पुरञ्जनादीन् स्वयमेवेतः पञ्चमाध्याये व्याख्यास्यति,तथाऽपि सुखग्रहणाय [3-]यथोपदेशात्[-3] किञ्चिद्व्याख्यास्यामः। तत्र हे राजन्! पुरं [4]शरीरं व्यनक्ति जनयति निर्मापयतीति पुरञ्जनः। कश्चिद्राजा स्वकर्मभिः पुरस्स्थानीय शरीरोत्पादक जीवस्थानीयो विवक्षितः। आसी दित्यनेन [5]रूपणीये जीवेऽनादिसत्ता विवक्षिता। तं विशिनष्टि - [6-]बृहच्छ्र[-6]वाः बृहद्विस्तृतं श्रवः कीर्ति र्यस्या ''निवीणमयमेवाऽयमात्मा'' (वि.पु.6-7-22) [7-]प्रजापतिवाक्ये[-7] ''अपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु र्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः॥'' (छा.उ.8-7-1) ''अच्छेद्योऽयमदाह्योऽय मक्लेद्योऽशोष्य एव च। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥'' (भ.गी. 2-24) इत्यादिश्रुतिस्मृति प्रसिद्ध कल्याणगुणगणविशिष्ट[8] इत्यर्थः। तस्य पुरञ्जनस्य अविज्ञातं नामधेयं यस्य स तथाभूतः कश्चिद्विज्ञातचेष्टितः सखा आसीत्। अत्र परमात्मस्थानीयं मित्रं विवक्षितम्। परमात्मा हि जीवस्य मित्रं श्रूयते ''माता पिता भ्राता निवासः शरणं सुहृद्गति श्च नारायणः'', (सुबा. उ. 6-1) इति। एवं हिताचरणशीलं सखायं परमात्मानं तदाज्ञामतिलङ्घ्यायं संसारी[9] जीवः नामतोऽपि न जानाति। किमुत स्वरूपरूपगुणविभूतिभि रिति ख्यापनाय अविज्ञातनामेत्युक्तम्।

---

1. W भेदेन 2. A, B, T °न च नि° 3--3. A, B, T omit 4. W omits शरीरं 5. A, B, T निरू° 6--6. A omits 7--7. W omits 8. W omits गण 9. W °रजीवः

यद्वा सखेत्यनेनाभिप्रेतं यद्दोषानवेक्षणेन हिताचरणशीलत्वं तत्स्थापयितु मविज्ञातनामेत्युक्तम् । अविज्ञात इति "गतिबुद्धि शब्दार्थेभ्यश्च" (अष्टा. 3-2-188) इति कर्तरिक्तः, अविज्ञातेत्यर्थः । "अविज्ञाता सहस्रांशुः, (विष्णुसहस्रनामस्तोत्रे) इत्यविज्ञातृशब्दो हि नामसहस्रे भगवन्नामतया विनियुक्तः । तत्र स्वाश्रितान् स्वसमत्वेन अनुसन्धाय तद्धितैषणपरोऽपारकारुण्यपरवश आश्रितदोषा न्न जानातीत्यविज्ञातेत्यभियुक्तैर्व्याख्यातम् । एवञ्च विपुलाप राधवत्त्वेऽपि संश्रयणमात्ररूप किञ्चिदानुकूल्येन रिरक्षिषु रित्यर्थः । इह तु अविज्ञातशब्दः कर्तृसाधनः क्तान्त इति विशेषः। अविज्ञातचेष्टित इति च्छेदे जीवेनाविज्ञातं चेष्टितमन्तः प्रविश्य नियमनादिरूपं यस्य स इत्यर्थः । कथा पक्षे तु अन्यै रविज्ञातचेष्टित इत्यर्थः । विज्ञात चेष्टित इति च्छेदे तु प्रसिद्धं जगद्व्यापाररूपं चेष्टितं यस्य सः। यद्वा, विज्ञातं चेष्टितं जीवप्रेरणादिलक्षणं यस्य सः। जीवपारतन्त्र्यस्य अनुभवसिद्धत्वादिति भावः । कथा पक्षे तु राजवत्सखाऽपि विपुलकीर्तिरित्यर्थः ॥ १० ॥[1]

**विज.** काम्यघर्ममयेषु गृहाश्रमेषु पुत्रादिरेवार्थ इति धीर्यस्य स तथा ॥ ६ ॥

यद्यपि कर्म ज्ञानोत्पत्तौ सहकारि, तथाऽपि कर्तु मसुशक मिति मत्वा निन्दति - भो भो इति । "यथावत्कर्मकर्तु स्तु ज्ञानसाहाय्यकारकम् । अन्यथा कुर्वतः कर्म निरयाय भविष्यति । तथाऽपि कर्म निन्दन्ति न यतः कर्तु मञ्जसा । शक्यं ज्ञानफलस्याऽपि बहुत्वा न्मोहनाय वा ॥ , (ब्रह्माण्डे) इति वचना न्निन्दनं युक्तम् । तस्मा त्कर्मविधानं च न व्यर्थ मिति तात्पर्यार्थः इति निरणायि । संज्ञापितान् हिंसितान् ॥ ७ ॥

सम्प्रति तेभ्य उपद्रवाभावेऽपि परत्रास्तीत्याह एते त्वा मिति । वैशसं शस्त्रेण छेदनं, सम्परेतं मृतम् अयोनिर्मिता आयुधविशेषाः कूटाः । "कूटोऽस्त्री मुञ्जमायाद्योष्वद्रिशृङ्गेषु भेदयोः" (वैज.को 6-5-13) इति यादवः ॥ ८ ॥

अत्र इममर्थ मितिहासेन बोधयिष्यामीत्याह -- अत्रेति । पुरे शरीरे अतति सततं विषयीकृत्य वर्तत इति पुरातन मध्यात्मविषय मित्यर्थः । "अत-सातत्यगमने, इति धातुः । अन्यथा "इतिहासः पुरावृत्तम्" (वैज.को 2-4-38, अम.को 1-161) इति वाक्यात् पुनरुक्तं स्यात्, कर्माधिकृत्य वर्तत इत्यत्र उक्तं पुरञ्जनस्येति ॥ १ ॥

पुरञ्जनो नाम कः ? यमाश्रित्येयं कथा वर्तते । बृहच्छ्रवा इत्यनेन विशिष्टो जीवो भवतीत्युच्यते । अभिमानेन सर्वेषां जीवानां मुख्याभिमानी चतुर्मुखो ब्रह्मा, देवानां विशेषतः । अत्र पुरञ्जनस्तु जात्या क्षत्रियो मुक्तियोग्योऽसुरान् विना मनुष्यजीवाभिमानी,

---

1. A, B, T कीर्त्यादियुक्तः इत्यर्थः ।

असुराणां कलिः। तत्र जीवसंसारज्ञप्त्यै श्रोतॄणां पापपरिहाराय पुण्यवृद्धये च नारदेन पुरञ्जनस्य कथाप्रसङ्गोऽकारीति - तदुक्तं- ''देवजीवाभिमानी तु ब्रह्मैव तु चतुर्मुखः। मनुष्याणां तु जीवानामभिमानी पुरञ्जनः। स तु राजा हरेः पुत्रश्चासुराणां कलिः स्वयम्। जीवसंसृतिवत्तस्मात्पुरञ्जनकथाऽपितु। तस्माज्जीवसृतिज्ञप्त्यै पुरञ्जनकथां मुनिः। नारदोऽश्रावय द्विद्वान् नृपं प्राचीनबर्हिषम्॥ प्रायस्तु तत्कथा जीवे स्थिता प्रत्येकशोऽपि तु। प्रत्येकं यत्तुयुज्येत तदुन्नेयं यथा तथा। उक्तं भगवतेऽप्येतत्पुराणे यावदिष्यते। प्रत्येकशस्तु जीवानां तदन्यत्तस्य केवलम्।,, (तन्त्रभागवते) इति। अतोऽत्र यथासम्भवं तत्तत्पदानि तत्तदर्थपरतया योज्यानीतित्रात्पर्यं ज्ञायते। पुरं स्वयोग्यानन्दपूर्तिं जनयिष्यति व्यक्तीकरिष्यतीति पुरञ्जनः। 'पु- पालनपूरणयोः,। अन्य स्तु कर्मभिः पुराणि शरीराणि चतुर्विधानि जनयतीति निर्वक्तव्यम्। ''आ चतुर्दशमाद्वर्षादित्यादेः, क्षत्रजातिज्ञापनाय राजेति। इतिहासत्वद्योतनायाऽऽसीदिति। तस्य पुरञ्जनस्य शरीरिणोऽपि नामरूपादिभिः स्वरूपं न ज्ञायत इत्यविज्ञातं नाम यस्येति सोऽविज्ञातनामा परमात्मा सखाऽऽसीदित्यैन्वय·। ''द्वा सुपर्णा ,, (श्वेता. उ. 4-6 मुण्ड.उ. 3-1-1) इत्यादिश्रुतेः। अन्य स्तु प्रसिद्धः, तर्हि शून्य इत्यतो विज्ञातेति। विज्ञातं चेष्टितं जगत्सृष्ट्यादिलक्षणं यस्य स तथा। अन्यो नीतिशास्त्रप्रसिद्धव्यापारः॥ १०॥

**सोऽन्वेषमाणः शरणं बभ्राम पृथिवीं प्रभुः।**
**नाऽनुरूपं यदाऽविन्ददभूत्स विमना इव॥ ११॥**

***न साधु मेने ताः सर्वा भूतले[1-] यावतीः[-1] पुरः।**
**कामान् कामयमानोऽसौ तस्य[2] तस्योपपत्तये॥ १२॥**

**स एकदा हिमवतो दक्षिणेष्वथ सानुषु।**
**ददर्श नवभि[3] र्द्वार्भिः[4] पुरं[5] लक्षितलक्षणाम्॥ १३॥**

**प्राकारापवनाट्टालपास्ख[7] रक्षतोरणैः।**
**स्वर्णरौप्यायसैः[8] शृङ्गैः सङ्कुलां सर्वतो गृहैः॥ १४॥**

**नीलस्फटिकवैदूर्य[9] मुक्तामरकतारुणैः।**
**क्लृप्तहर्म्यस्थलीं दीप्तां श्रिया भोगवतीमिव॥ १५॥**

---

* W प्रकाशने पूर्वार्धोत्तरार्धे व्यत्ययेन स्तः। 1--1. W यावत्यो भूतले 2. M, Ma तस्याभि° 3. M, Ma °द्वारैः 4. M, Ma पुरीं 5. W °णम् 6. Ms °स्वाभिरलङ्कृताम् 7. M, Ma °रुच्च° 8. W रू° 9. Ms, T °दू°

**श्रीध. स** इति। शरणं भोगायतनं देहं पृथिवीं तदुपलक्षितं[1-1] ब्रह्माण्डम्॥ ११॥

**नेति**। यावत्यः पुरः ता स्तस्य[2] तस्य कामस्योपपत्तये प्राप्त्यै[3] असौ[4] साधु न मेने। गवादिदेहाना मैहिक पारलौकिक भोगयोग्यत्वाभावात्[5]। तथा च श्रुतिः - "ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुव न्न वै नोऽयमलम्" (ऐत.उ 2-2) इति। "ताभ्योऽश्व मानयत्ता अब्रुव न्न वै नोऽय मलम्" (ऐत.उ. 2-2) इति॥ १२॥

**स** इति। हिमवतो दक्षिणेषु सानुषु कर्मक्षेत्रे भारतवर्षे पुरं मनुष्यशरीरम्। लक्षितानि दृष्टानि सर्वाणि लक्षणानि यस्याम्। अन्धपङ्गुत्वादिदोषरहितामित्यर्थः॥ १३॥

ता मनुवर्णयति - **प्राकारेति** त्रिभिः। अत्र किञ्चित्[6] किञ्चित्सादृश्य मवलम्ब्य कथासौन्दर्याय प्राकारादीनि वर्ण्यन्ते परिखैरिति। पुंस्त्व मार्षम्। अक्षाणि इन्द्रियाणि, गवक्षाः त्वगादयः शरीरावयवाः, प्राकारादि पुरावयवत्वेन निरूप्यन्ते। स्वर्णादि शृङ्गैः शिखरैर्युक्ता ये गृहा स्तैः सङ्कुलामिति। आधारादिचक्राणि गृहाः शृङ्गाणि च राजसादिस्वभावा विवक्षिताः॥ १४॥

**नीलेति**। नीलादिभिः क्लृप्ता हर्म्यस्थली यस्याम्। अरुणं माणिक्यम्, स्थली हृदयम्, नाड्यो नीलादिभावेन निरूप्यन्ते तत्तद्विषयवासना वा। भोगवतीं नागानां पुरी मिव भोगसाधनभूता मिति वा[7-7]॥ १५॥

**वीर. स** पुरञ्जनः प्रभुः करणादिमत्वाच्छरणं भोगायतनं शरीरम् कथापक्षे[8] निवासस्थान[9] मन्वेषमाणः पृथिवीं कर्मफलोदय तद्भोगायतन प्रकृति परिणामरूपं ब्रह्माण्डं बभ्राम, देवादिस्थावरान्तशरीरेष्वनुप्रविष्टः प्रकृतिमण्डले समसरदित्यर्थः। कथापक्षे भूमण्डलस्य पुराण्यनुप्रविश्य तत्र तत्र[10] कञ्चित्कालं निवसन् कृत्स्नां पृथिवीं चचारेत्यर्थः। यदा च स्वस्यानुरूपं शरणं देवमनुष्यादिशरीरं नाविन्दत् नालभत, किन्तु तिर्यक्पादपादि शरीर मविन्दत् तदा विमना इव बभूव। पादपादिशरीरेषु चैतन्यानभिव्यक्ते र्विमना इवेत्युक्तनिश्चैतन्य इवाऽभूदित्यर्थः, न तु दुःखितमना इति देहात्माभिमानिनोजीवस्य निहीनशरीरस्याऽपि प्रीतिविषयत्वात्[11]। कथापक्षे तु दुःखितमना इवेत्यर्थः[12]॥ ११॥

कामान् भोग्यान् शब्दादीन् सर्वानपि कामयमानोऽसौ पुरञ्जनः तस्य तस्य शब्दादे र्विषयस्योपपत्तये लब्धये भूतले यावत्यः पुरः तास्सर्वाः पुरः साधु न मेने। शब्दादिसर्वविषयोपभोगोपयुक्तशरीराणि कामयमानः केषु चिच्छरीरेषु केषाञ्चिदिन्द्रियाणा मनभिव्यक्तत्वा दनभिव्यक्तकतिपयेन्द्रियशरीराण्यनुप्रविशन् तत्र सर्वविषयालाभात्तानि न साधुमेन इत्यर्थः। कथापक्षे तु तत्र पुरि[13] केषाञ्चिद्भोग्यवस्तूनां सत्त्वेऽपि सर्वेषा मभावा न्न साधु मेन इत्यर्थः॥ १२॥

---

1--1. V omits 2. V omits तस्य 3. V प्राप्तये 4. V omits असौ 5. A, B, J, Va भो° 6. V omits किञ्चित् 7--7. B, J, V, Va omit 8. A, B, T add एकदा 9. A, B, T वास 10. A, B, T omit तत्र 11. W omits इव 12. W omits इव 13. W पुरे

अथ[1] एकदा सुकृतविशेषपरिपाकदशायां हिमवतो दक्षिणेषु सानुषु कर्म तत्फलोत्पत्तियोग्येषु कर्मक्षेत्रेषु भारतवर्षेषु इत्यर्थः, पुरं मनुष्यशरीरं लक्षितानि दृष्टानि सर्वाणि लक्षणानि यस्यां ताम् अन्धपङ्गुत्वादिदोषरहितामित्यर्थः । कथापक्षे वक्ष्यमाण प्राकारादिसर्वचिह्नोपयुक्तां नवभि र्द्वाभिः नवभी रन्ध्रैः चक्षुर्द्वय श्रोत्रद्वय नासिका द्वय मुख पायूपस्थरूपै रुपलक्षितां, पक्षान्तरे स्पष्टम् । ददर्श[2] अभिव्यक्तसर्वेन्द्रिय सर्वविषयभोगोपयुक्तं मनुष्यशरीर मुपलब्धवानित्यर्थः ॥ १३ ॥

कानि लक्षणानि इति विवित्सायां तानि वदं स्तां पुरी मनुवर्णयति **प्राकारेत्यादि** त्रिभिः । यद्यप्यत्र प्राकारादिसाधर्म्येण रूपणीयाः पदार्थाः शरीरे न सन्ति, तथाऽपि किञ्चित् सादृश्य मवलम्ब्य कथासौन्दर्याय प्राकारादीन्यनुवर्ण्यन्ते । परिखैरिति पुंस्त्व मार्षम् । अन्यथा परवल्लिङ्गतायां परिखाभिरिति स्यात् । अक्षा गवाक्षाः, अत्र त्वगादयः प्राकारत्वेन रूप्यन्ते । रोमपंक्तिरूपवनम् । स्कन्धोपरिभागोऽट्टालः, रुधिरौघःपरिखा, नवरन्ध्राण्यक्षाः, अक्षि पक्ष्म तोरणं, स्वर्णादि शृङ्गैः शिखरैर्युक्ता ये ग्रहास्तैः सङ्कुलां व्याप्ताम्, अत्र मूलाधारादीनि षट्चक्राणि गृहत्वेन रूप्यन्ते । राजसादि[3] स्वभावाः शृङ्गत्वेन विवक्षिताः ॥ १४ ॥

नीलादिभिः क्लृप्ता हर्म्यस्थली यस्यां, हर्म्यस्थलीति हृदयं विवक्षितम् । हृदयगतैकशतनाड्यः केसरा वा नीलादिभावेन रूप्यन्ते । अत एव[4] नागाकार नाडीभिः व्याप्तत्वा द्भोगवतीं नागानां[5] पुरी मिव श्रिया दीप्ताम् ॥ १६ ॥

**विज.** स स्वर्गादिस्थाना दर्वागतः कर्मणा शरणं सुखदुःखभोगयोग्यं शरीर मन्वेषमाणः पृथिवीं कर्मभूमिं बभ्रामि । अन्यत्र पुरं प्रभवन्त्यस्मात्कर्माणीति प्रभुः, अन्यत्र परपापमर्दनसमर्थः अनुरूपं दुःखभोग मन्तरेण सुखभोग योग्यम्, अन्यत्र दुर्गादिलक्षणम् ॥ ११ ॥

यावती स्तिर्यगादिलक्षणाः पुरः शरीराणि । अभिपत्तये प्राप्त्यै "ताभ्यो गामानय त्ता अनुब्रुव न्न वैनोऽय मलम्" (ऐत.उ.2-2) इत्यादि श्रुतिः । अन्यत्र शत्रु साध्यत्वात् ॥ १२ ॥

एकदाऽभीप्सितशुभकर्म फलोदयसमये हिमवतो दक्षिणेषु सानुषु कर्मफल सम्भजन पटुषु । वन-षण सम्भक्तौ इति धातुः । भारतभूप्रदेशेषु प्रत्येकं यत्तु युज्येत तदुन्नेयम् यथा तथेत्युक्तत्वात् यथासम्भव मुन्नीयते । श्रोत्रादि नवद्वारै र्लक्षितलक्षणा मन्धपङ्गु बधिरत्वादि दुर्लक्षणशून्यां पुरीं पुरुषशरीरं ददर्श दृष्ट्वा प्राविश दित्यध्याहार्यम् । "ताभ्यः पुरुष मानयत् ता अब्रुवन् सुकृतं बत" (ऐत.उ. 2-3) इति श्रुतिः । अन्यत्र स्पष्टम् ॥ १३ ॥

---

1. A, B, T omit अथ 2. A, B, T रूपैर्लं° 3. A, B, T सत्त्वादि 4. A, B, T omit एव 5. A, B, T omit नागानां

पुरीमित्युपक्रान्तत्वा त्तदनुसारेण तद्वर्णनं क्रियते **प्राकारे**त्यादिना अध्यात्मान्तैः । शब्दाद्यै रस्थिनाड्यादयो यथाऽनुकूलं लक्षणीयाः । प्राकारो दुर्गभित्तिः, अट्टालो भित्त्यन्तर्भूप्रदेशः, परिखा दुर्गबहिः परितः खातनदी, स्वर्णादिभिः रचितैः शृङ्गैः शिखरैः, अन्यत्र सात्त्विक राजसतामसैः सङ्कुलाम् ॥ १४ ॥

नीलादिभि रिन्द्रनीलरत्नादिभिः क्लृप्ता विरचिता हर्म्यस्थल्यो यस्यां सा तथा तां भोगवतीं नागपुरीम् ॥ १५ ॥

**सभाचत्वररथ्याभि राक्रीडायतनापणैः ।**

**चैत्यध्वजपताकाभि र्युक्तां विद्रुमवेदिभिः ॥ १६ ॥**

**पुर्यास्तु बाह्योपवने दिव्यद्रुमलताकुले ।**

**नदद्विहङ्गालिकुल कोलाहल जलाशये ॥ १७ ॥**

**हिमनिर्झर विप्रुष्मत्कुसुमाऽऽकर[1] वायुना ।**

**चलत्प्रवालविटप[2] नलिनी तटसम्पदि ॥ १८ ॥**

**नानारण्यमृगव्रातै रनाबाधे मुनिव्रतैः ।**

**आहूतं मन्यते पान्थो यत्र कोकिलकूजितैः ॥ १९ ॥**

**यदृच्छयाऽऽगतां तत्र ददर्श प्रमदोत्तमाम् ।**

**भृत्यै र्दशभिरायान्ती मेकैकशतनायकैः ॥ २० ॥**

**श्रीध. सभाचत्वरेति** । सभा समाजस्थानम् । चत्वरं चतुष्पथः, रथ्या[3] राजमार्गः, आक्रीडायतनं द्यूतादिस्थानम्, आपणो हट्टः तैः[4], चैत्यं जनानां विश्रा मस्थानम्, ध्वजेषु पताकाः ताभिश्च युक्ताम् ॥ १६ ॥

अत्र च विषयनिष्ठबुद्धियोगेन[5] जीवस्य देहसम्बन्ध इति विवक्षया विषयवर्गं बाह्योपवनत्वेन रूपयति[6] - **पुर्या** इति । तद्विशेषान् स्रक्चन्दनादीन् दिव्यद्रुमलतादिभा वेनेति[7] । शेषः कथालङ्कारः । बाह्योपवने प्रमदां ददर्शेति चतुर्थेनाऽन्वयः । दिव्यद्रुमैः[8-] लतादिभिश्च आकुले व्याप्ते[-8] नदतां विहङ्गालिकुलानां कोलाहलो[9] नादो येषु ते जलाशया यस्मिन् ॥ १८ ॥

---

1. W °सार° 2. M, Ma, Ms °पि° 3. V रथ्याः 4. V omits तैः 5. V युक्त 6. A, B, J, Va add नि° 7. A. B. J, Va omit इति
8--8. A. B. J, Va omit 9. A, B, J, Va omit नादो

**हिमेति**। हिमनिर्झराणां[1] विप्रुषो बिन्दवः तद्वता कुसुमाकरसम्बन्धिना वायुना चलन्तः प्रवाला विटपाः शाखाश्च येषां तै र्वृक्षै र्नलिनीनां सरसीनां तटेषु सम्पत् समृद्धिः यस्मिन्॥ १८॥

**नानेति**। अनाबाधे[2-] आबाधा महती पीडा तत्कृतोपद्रवरहिते[-2] मुनिव्रतैः अहिंस्रैः। आत्मान माहूतं मन्यते यत्र॥ १९॥

तत्र प्रमदोत्तमां विषयविवेकवतीं बुद्धिं ददर्श। यदृच्छयाऽऽगतामिति तयोः सम्बन्धस्य दुर्निरूप्यत्वं दर्शयति। ता मनुवर्णयति - **यदृच्छयेति**। सार्धैश्चतुर्भिः। दशभि र्ज्ञानकर्मेन्द्रियैः एकैकं प्रत्येकं शत मनन्ता वृत्तयः तासां नायकैः पतिभि स्सह। पाठान्तरे नायिकाः स्त्रियो येषां तैः॥ २०॥

**वीर.** सभा समाजस्थानं, चत्वरं चतुष्पथः, रथ्या राजमार्गः, आक्रीडायतनं द्यूतादिस्थानम्, आपणो हट्टः, चैत्यं जनानां विश्रमस्थानं[3], ध्वजेषु पताकाः ताभि र्विद्रुमवेदिकाभिश्च युक्ताम्। अत्र हर्म्यस्थलीत्वेन रूपित मेव हृदयं पुनः[4] सभाचत्वर क्रीडायतनगुणयोगात् सभादिभावेन रूप्यते। "हृदि ह्यय मात्मा प्रतिष्ठितः" इति जीवस्य हृदयस्थानत्वश्रवणात् जीवाश्रितत्वाच्चेन्द्रियप्राणानां सर्वेन्द्रियकन्दररूपत्वात्[5] हृदयस्य सभारूपत्वा त्तत एव द्वत्वररूपत्व मपि, परमात्मनः क्रीडास्थानत्वात् क्रीडायतनं च, चक्षुरादीन्द्रियस्थानानि हट्टः। तेभ्यो हि शब्दादीन्या कृष्या नुभवति पुरञ्जनः। सुषुम्णा रथ्या, राजव द्रच्छतो जीवस्य मुक्तिमार्गत्वात् सुषुम्णायाः पुरीतत्[6] चैत्यं, जीवस्य सुषुप्तौ विश्रमस्थानत्वात् आधारादिचक्रस्थाः कर्णिकाः विद्रुमवेदिकाः ध्वजपताकाः करतल पादतलानि॥ १६॥

एवं देहं पुरभावेन रूपयित्वा विषयवर्गं देहानुबन्धि कलत्रापत्यादिवर्गं बाह्योपवनत्वेन रूपयति - **पुर्या** इति। बाह्योपवने प्रमदां ददर्शेति चतुर्थेनाऽन्वयः। दिव्य द्रुमाश्लिष्ट लताभि राकुले नदतां विहङ्गकुलानां अळिकु लानां च कोलाहलो येषु ते जलाशया यस्मिन् तस्मिन्॥ १७॥

हिमनिर्झराणां विप्रुषः बिन्दवः तद्वता कुसुमा करसम्बन्धिना वायुना चलन्तः प्रवालविटपाः शाखा येषां तैः द्रुमैः नलिनीनां[7] तटेषु सम्पत् समृद्धिर्यस्मिन्॥ १८॥

नानाविधै र्वन्यमृगसमूहै रनाबाधे तत्कृतबाधा रहिते, तत्र हेतुः मुनिव्रतै रहिंस्रै र्यत्रोपवने कोकिलकूजितैः पान्थः स्वत्मान माहूत मिव मन्यते। एवं विषयवर्गो बाह्यो पवनत्वेन रूपितः, तस्य शरीरा द्वहिष्ठत्वात् कोलाहलशब्देन शब्दस्य, कुसुमाकर

1. V °रवि° 2--2. B, J, V, Va तत्कृतबाधारहिते 3. A, B, T °श्रा° 4. A, B, T omit पुनः 5. A, B, T कन्दरू° 6. A, B °श्रा°
7. A, B, T °नीत°

वायुशब्दाभ्यां गन्धस्पर्शयोः, चलप्रवालेति सौन्दर्यकथनेन रूपस्य जलाशय हिमनिर्झर नलिनीशब्दै रसस्य च प्रत्यभिज्ञानाच्च तद्विशेषाः स्रक्चन्दनादयो दिव्य लतादिभावेन रूप्यन्ते। यद्वा, देहानुबन्धिवर्गोऽत्र बाह्योप वनत्वेन रूप्यते। तत्र संसारी पुमान् द्रुमः, द्रुमवत्तद्भाव विकारात्मक देहसंसृष्टत्वात् तमाश्रिताः स्त्रियो लताः द्रुमस्य लता इति षष्ठीसमासः, तदाश्रिता न्यपत्यानि विहङ्गकुलं, योषित्संगिनोऽलिकुल मपत्यादीनां मधुरालापाः कोलाहलः, वापीकुल्या तटाकादीन्याजीविकादिरूपाणि जलाशय हिमनिर्झरनलिन्यादिरूपेण रूप्यन्ते। कुसुमाकरशब्देन पुष्पवाटिकादीनि विवक्षितानि। चल त्प्रवालविटपे त्याम्र पनसादि फलजाति वृक्षाः विवक्षिताः। आरण्यक मृगव्रातै रित्यनेन श्याल श्वशुरादयो बान्धवा विवक्षिताः। ते ह्यारण्यकमृगवत्प्राणतुल्य धनापहारिणः, धनापहारित्व मपि तेषां न हिंसया, किन्तु सान्त्वनेनेति द्योतयितुं मुनिव्रतै रिति विशेषणम्। यत्र यस्मिन्नेवम्भूते बाह्योपवने कोकिल कूजित तुल्य कलत्रापत्यादिमधुरोक्तिभिः पान्थः निवृत्तिमार्गनिष्ठोऽपि स्वात्मान माहूत मिव देहानुबन्धिवर्गे आसक्तिं प्रापित मिव मन्यते॥ १९॥

तत्रोपवने आसक्तां बुद्धिं यदृच्छयोपगतां ददर्श। यद्यप्यत्र जीवस्य बुद्ध्या सह सम्बन्धदशायां बुद्धे र्बाह्योपवन रूप देहानुबन्धिवर्गसम्बन्धाभावेन बुद्धेः तदासक्ति र्नाऽस्ति। तथाऽपि भविष्यद्देहानुबन्धिवर्गासक्त्यभिप्रायेण कथासौन्दर्यायैवं वर्णित मित्यवगन्तव्यम्। यदृच्छयाऽऽगता मित्यनेन जीवबुद्धयोः सम्बन्धो न स्वसङ्कल्पकृतः, किन्तु दैवकृत इति सूच्यते। या प्राकारादियुक्ता पुरी, यस्याः पुर्याः बाह्योपवने कोकिलकूजितैः पान्थः आत्मान माहूतं मन्यते, तां यदृच्छयाऽऽगतां पुरीं तत्रोपवने प्रमदां च ददर्शेति वाऽन्वयप्रकारः। अस्मिन्पक्षे मानुषदेहस्य दुर्लभत्वं सूचितं, कथा पक्षे तु स्पष्टोऽर्थः। प्रमदोत्तमां विशिनष्टि दशभिः ज्ञानकर्मेन्द्रियै रेकैकं[1] प्रत्येकं शत मनन्ता वृत्तयः तासां नायकैः पतिभिः भृत्यैः सहऽऽयान्तीमभिमुखं[2] गच्छन्तीम्॥ २०॥

**विज.** आक्रीडा क्रीडाभूमिः, आपणः क्रयस्थानं, चैत्यं वन्दनशाला। "वेदिः परिष्कृता भूमिः" (अम.को. 2-41) इत्यमरः॥ १६॥

स राजा विषयलक्षण बाह्योद्याने स्थितः तत्र यदृच्छयाऽऽगतां प्रमदोत्तमां ददर्शेति चतुर्थश्लोकेनाऽऽन्वयः॥ १७॥

हिमनिर्झराणां शीतलतुङ्गस्थलपतज्जलधाराणां विप्रुष्मता तोयबिन्दुमता कुसुमाकर सौरभवता वायुना चलन्तः प्रवाला येषु ते तथा ते च विटपिनः चलत्प्रवालविटपिनः। तैर्युक्तानां नलिनीतटानां पद्माकरतीराणां सम्पदो यस्मिं स्तत्तथा तस्मिन्॥ १८॥

"आबाधा महती पीडा" (हला.को. 2-4) इत्यभि धान मनाबाधे उपद्रवरहिते कोकिलकूजितानां मात्राविशेषै रेहि आविशेत्याहूत मात्मानं निरूपयति। अन्यत्र प्राकारो देहचर्म, उपवनं रोमादि, अट्टालं तन्मध्ये मेदोवसादि, परिखा मांसबहिस्त्वक्,

1. A, B, T omit प्रत्येकं  2. A, B, T omits मुखं

तोरणस्थानीयो बाहुः अङ्गुल्यः पताकाः पार्श्वद्वयस्यो र्ध्वमुखवंशस्यास्थि वा तोरणं शृङ्गं शृङ्गस्थानीयं कर्णादि गुहाः उदरादिप्रदेशाः, नीलवैदूर्याद्यै स्तोरणविशेषैः समलङ्कृतं हर्म्यस्थलीस्थानीयं चर्मादि, भोगसाधनत्वा द्भोगवती सभा हृदयं सर्वदेवानां निवासस्थानीयत्वात्, चत्वरं नाडीसन्धिः रथ्या ब्रह्मनाडी, आक्रीडा हस्तः, आयतनानि इन्द्रियगोलकानि आपणो वाक्, चैत्यं मस्तकं, ध्वजः केशपाशः, विद्रुमवेदी रत्नाद्यलंकृत कटिप्रदेशः। बाह्योपवनं देहबाह्यविषयोद्यानं, तस्य रमणीयतां वर्णयति दिव्येत्यादिना। वक्त्राद्यध्यात्मार्थो वर्णनीयः बाह्येत्युक्तत्वात्। प्रकर्षेण मदयन्तीति प्रमदाः वैषयिक्यो बुद्धयस्तासां मध्ये उत्कृष्टं तमः स्थानं पुरुषाणां यस्या स्सा प्रमदोत्तमा प्रधानेत्युक्ते आत्मानात्म विवेकविचक्षणा बुद्धिरित्यर्थः स्यात्, स चानुपपन्नः। तां बुद्धिं विहाय वैषयिकीं बुद्धिं प्राप्य मुग्धोऽभूदित्यर्थः अन्यथाप्रतीत एव। कीदृशीम्? दशभि र्भृत्यैः ज्ञानकर्मेन्द्रियसंज्ञैः सह आगच्छन्ती मिति च। कीदृशाः एकैकस्य शतमित्यनन्ता अनन्ता या वृत्तयः तासां नायकाश्च केचन वृत्तिविशेषास्तै र्युक्तैः॥ १९, २०॥

***तेषां परिबृढो राजन् सर्वेषां बलि मुद्वहन्।**
**सस्त्रीकाणां सखा तस्या बहुरूपोऽग्रणीः स्त्रियः॥**

**पञ्चशीर्षाहिना गुप्तां प्रतीहारेण[1] सर्वतः।**
**अन्वेषमाणामृषभ मप्रौढां कामरूपिणीम्॥ २१॥**

**सुनासां सुदतीं बालां सुकपोलां[2] वराननाम्।**
**समविन्यस्त कर्णाभ्यां बिभ्रतीं कुण्डलश्रियम्॥ २२॥**

**पिशङ्गनीवीं सुश्रोणीं श्यामां कनकमेखलाम्।**
**पद्भ्यां क्वणद्भ्यां चलतीं[3] नूपुरै र्देवता मिव॥ २३॥**

**स्तनौ व्यञ्जितकैशोरौ समवृत्तौ निरन्तरौ।**
**वस्त्रान्तेन निगूहन्ती व्रीडया गजगामिनीम्॥ २४॥**

**ता माह ललितं[4] वीरः सव्रीडस्मित शोभनाम्[5]।**
**स्निग्धेनाऽपाङ्गपुङ्खेन स्पृष्टः प्रेमोद्भ्रमद्भ्रुवा[6]॥ २५॥**

---

* This additional verse is found in M, Ma, Ms and the commentary on the same is found in its proper place.

1. V °ति° 2. Ms, V °ल° 3. A, B, G, I, J, T चलन्तीं 4. M, Ma, Ms °तां 5. M, Ma, Ms °नीम् 6. M, Ma प्रेमभ्रमद्भ्र°; V प्रेम्णा भ्रमद्भु°

**श्रीध. पञ्चशीर्षेति**। पञ्च शीर्षाणि वृत्तयो यस्य तेनाहिना प्राणेन प्रतीहारेण[1] पालकेन[2] गुप्तां रक्षिताम्। ऋषभं भर्तारम्,[3] अप्रौढां षोडशवार्षिकीम्॥ २१॥

गन्धज्ञानादिभिः[4] पृथ्व्यवयवैः सुनासत्वादि रूप्यते[5] - **सुनासा** मिति। समं विन्यस्तौ रचितौ कर्णौ ताभ्यां कुण्डलश्रियं[6-6] कुण्डलशोभां दधतीम्॥ २२॥

**पिशङ्गेति**। पिशङ्गनीवीं[7-7] पीतवस्त्राम्। "अन्न मयं हि सौम्य ! मनः इति यत्कृष्णं तदन्नस्य" (छान्द.उ. 6-5-4) इत्यादिश्रुत्यनुसारेण श्यामा मित्युक्तम्। नूपुरैः क्वणद्भ्यां। नूपुरै रिति पादाङ्गुलीयकाना मप्युपलक्षणा द्बहुवचनम्॥ २३॥

**स्तना**विति। व्यञ्जितं कैशोरं यौवनोपक्रमो याभ्यां तौ। समौ च वृत्तौ च, वस्त्रान्तेन[8-8] निगूहन्तीम्॥ 24॥

**तामिति**। तामाहेति तयोः संवादोक्तिः सम्बन्धदार्ढ्याय। अपाङ्ग एव पुङ्खो मूलप्रान्तो यस्य कटाक्षरूपस्य[9] बाणस्य तेन स्पृष्टो विद्धः प्रेम्णा उच्चै र्भ्रमन्ती भ्रूः धनुस्स्थानीया यस्मिं स्तेन॥ २५॥

**वीर.** पञ्च शीर्षाणि[10] वृत्तयो यस्य तेन अहिना प्राणेन प्रतिहारेण पालकेन, अहे र्वायु भक्ष्यत्वेन तत्प्रचु रत्वा दहिने त्युक्तम्, सर्वतो गुप्तां रक्षितां सर्वेषा मिन्द्रियाणां प्राणाधीनवृत्तित्वा दहिना गुप्ता मित्युक्तम्। ऋषभं पतिम् अन्वेषमाणाम्, अनेन चेतनैकधार्यत्वं तत्प्रवर्त्यत्वञ्च विवक्षितम्। अप्रौढा मिति बुद्धे श्चेतनेन सह सम्बन्धदशायां अप्रौढ्यम देव कार्याक्षमत्वेऽपि तद्भोग्यताऽस्तीति सूचयति। कामरूपिणी मित्यनेन गन्धरसादिज्ञान भेदभिन्नतां सूचयति॥ २१॥

तदेव प्रपञ्चयति - **सुनासा**मिति। बुद्धिवृत्तयो हि गन्धरसादिज्ञानभेदेन तदवान्तरभेदेन च बहुविधाः ताभि र्बुद्धिवृत्तिभि स्तस्याः सुनासत्वादि[11] रूप्यते। सुनासां शोभना नासा गन्धात्मिका घ्राणेन्द्रियवृत्तिः यस्या स्तां, एव मग्रेऽपि। दन्तकपोलानन श्रोणिपादस्तनादि व्यापार[12-12] जन्यहर्षादीना मपि बुद्धिवृत्तित्वा त्ताभिः सुदन्तत्वादि रूपणं क्रियते। नासिका दन्तकपोलानन कर श्रोणि पादस्तनादि विशेषणभूतानां शोभनत्व समविन्यस्तत्वादीना मपि स्वविशेष्यभूतनासिकादे र्गन्धादिवृत्तिद्वारा बुद्धिविशेषणत्वं द्रष्टव्यम्। समं विन्यस्तौ रचितौ कर्णौ ताभ्यां कुण्डलशोभां दधतीम्। "अन्नमयं हि सौम्य ! मनः" (छान्द.उ. 6-5-4) इति "यत्कृष्णं तदन्नस्य" इत्यादि श्रुत्यनुसारेण श्यामा मित्यक्तम्। कुण्डलश्रीसम्बन्धः कुण्डलालङ्कृत कर्णाधिकरण श्रोत्रेन्द्रिय श्रवणवृत्तिद्वारा॥ २२॥

---

1. V °ति° 2. B, J, V, Va oit रक्षिताम् 3--3. V omits 4. A. B, J, Va बुध्य° 5. A, B. J, Va add नि 6--6. B, J. V. Va omit
7--7. A, B, J, Va omit 8--8. A, B, J, Va omit 9. B, J, V, Va omit रूप 10. A. B, T add पञ्च 11. B, W °न° 12--12. T omits

एवं पिशङ्गनीवी कनकमेखलासम्बन्धोऽपि स्तननाभि नितम्ब व्यापारजन्य हर्षादिवृत्तिद्वारेति द्रष्टव्यम्। नूपुरैः क्वणद्भ्यां पद्भ्यां -चलन्तीं नूपुरगमनसम्बन्धोऽपि पादेन्द्रियवृत्तिद्वारा, कथापक्षे स्पष्टम्। नूपुरै रिति बहुवचनं पादाङ्गुलीयकाना मुपलक्षण मन्यथा नूपुराभ्या मिति श्रूयेत॥ २३॥

व्यञ्जितं कैशोरं यौवनोपक्रमो याभ्यां समौ च तौ वृत्तौ च निर्गतावन्तरात् संश्लिष्टा वित्यर्थः। स्तनौ व्रीडया लज्जया वस्त्रान्तेन निगूहन्तीं छादयन्तीं[1] गज इव गच्छतीति गजगामिनी ताम्॥ २४॥

व्रीडया सहितं यत् स्मितं तेन, शोभनां सुन्दरां प्रति वीरः पुरञ्जनः प्रेम्णोच्चै र्भ्रमन्त्यौ भ्रुवौ यस्मिंस्तेन स्निग्धेन, अपाङ्गः एव पुङ्खो मूलप्रान्तो यस्य कटाक्षबाणस्य तेन स्पृष्टो विद्धः सललितं यथा तथा आह। तयोः संवादोक्तिः संबन्धदार्ढ्यायेति ज्ञातव्यम्॥ २५॥

**विज.** अत्र पुरञ्जनस्य ये भृत्या याश्च भार्याद्या स्ते सर्वेऽपि मानुषेन्द्रियाभिमानिनः। गायत्र्याद्या देहिन्द्रिय तद्वृत्तीना मभिमानिन्य इति। तदुक्तम् - "ये पुरञ्जन भृत्याद्या भार्याद्याः सर्व एव च। तेऽपि मानुषबुद्ध्यादे र्विज्ञेया अभिमानिनः। गाय त्र्याद्या स्तु देवानां तेऽपि चैतेषु संस्थिताः। अलक्ष्मीद्वापराद्या स्तु आसुरा स्तेऽपि मानुषाः॥" (तन्त्रभागवते) इति। तेषां सर्वेषां परिबृढो मनोनामा जीवो वा तत्तद्विषयवैचित्र्य मपेक्ष्य मनसो बहुरूपत्वं जीवस्य तु योनीनां वैचित्र्यात्॥

पञ्चशीर्षाहिना प्राणादिपञ्चवृत्त्याख्यशिरसा मुख्यप्राणाख्य सर्पेण प्रतीहारेण द्वारपालकवद्वर्तमानेन ऋषभं पतिं स्वकृत्यनुकूलवृत्तिलक्षणं पुरुष मित्यर्थः, अत एवाप्रौढा मनूढा मपरिगृहीतपाणि मिव स्थिता मित्यर्थः, कामरूपिणीं विषयवैचित्र्यात्तत्तदाकारानुमिताऽऽकाराम्॥ २१॥

उन्नताभिमानलक्षणनासिकां सुदतीं विषयवृत्तिलक्षण दन्तां, बालां सुकुमारवृत्तिं बाह्याभ्यन्तरवृत्ति लक्षणाभ्यां शोभनाभ्यां वरं वरणीय माननं चेष्टा यस्या स्सा तथा ताम्। 'मन चेष्टायाम्, इति धातुः, समं यथा तथा विन्यस्ताभ्यां कल्पिताभ्यां बाह्यान्तःकरणविशेषाभ्यां सङ्कल्पविकल्पभेदेन द्वाभ्यां मनोरूपाभ्यां कुण्डलश्रियं विषयेषु परिवर्तनश्रियं बिभ्रतीं वर्तयन्तीम्॥ २२॥

पिशङ्गा विषयोपरक्ता नीवी आच्छादनवृत्ति र्यस्याः सा तथा तां सुश्रोणीं सुष्ठ्वाश्रयवृत्तिमतीं श्यामां तमोगुणप्रचुरां, कनकमेखलां रजोगुणलक्षणसुवर्णकाञ्चीं पद्भ्यां रज स्तमोविकृतवृत्तिविशेषाभ्यां, नूपुरैः शिशुकलभाषणलक्षणैः क्वणद्भ्या मित्यादिप्रयोगात् लक्षणावृत्त्या ऊहनीयाः, न वाच्यवृत्त्या। क्वचि च्चानयेति क्वचित् सद्वृत्तिविषयत्वात् देवता मिवेति॥ २३॥

---

1--1. W omits

व्यञ्जितकैशोरौ अभिव्यञ्जितमध्यमावस्थौ ''मध्यमां बुद्धिसंस्थाम्'' इत्युक्तेः। ''ध्वन-स्तन'' शब्दे इति धातोः स्तनौ शब्दौ समवृत्तौ वर्णवृत्तलक्षणोपेतौ निरन्तरं एकस्मिन्नेव वृत्ते विद्यमानौ गुरुलघुभेदरहितौ इत्यर्थः। व्रीडया वृत्तिविशेषेण वस्त्रान्तेन 'वस-आच्छादने' इतिधातोः आच्छादनशीलवृत्तिभागेन निगूहन्तीम् अनभिव्यक्तिं कुर्वाणां गजगामिनीं गजवत् ऊर्ध्वमूलाधारात् आयान्तीं बुद्धिम्॥ २४॥

**ता माहेति**। स्वकार्यविषये प्रवर्तयितुम् अभिमुखीचकार। वीरो विशिष्टप्राणबलोपेतः सव्रीडस्मितशोभिनीं स्वकार्याभिमुखीम्। अपाङ्ग प्रेमेत्यादिनाऽपि तत्तद्योगवृत्तिविशेषं लक्षयति। प्रेम्णा भ्रमन्ती भ्रूः प्रेमभ्रमद्भ्रूः तया॥ २५॥

**का त्वं कञ्जपलाशाक्षि कस्यासीह कुतः सति।**
**इमा मुपपुरीं भीरु *किं चिकीर्षसि शंस मे॥ २६॥**

**क एतेऽनुपथा ये त एकादश महाभटाः।**
**एता वा ललनाः सुध्रु[1] कोऽयं तेऽहिः पुरस्सरः॥ २७॥**

**त्वं ह्री र्भवान्यस्यथ वा ग्रमा पतिं विचिन्वती किं मुनिवद्रहो वने।**
**त्वदङ्गि[2] कामाप्त[3] समस्त कामं[4] क्व पद्मकोशः पतितः कराग्रात्॥ २८॥**

**नासां वरोर्वन्यतमाऽसि[5] भूस्पृक् पुरी मिमां वीरवरेण साकम्।**
**अर्हस्यलङ्कर्तु मदभ्रकर्मणा लोकं परं श्रीरिव यज्ञ पुंसा॥ २९॥**

**यदेष मा पाङ्गविखण्डितेन्द्रियं सव्रीडभावस्मित[6] विभ्रमभ्रुवा[7]।**
**तवोपसृष्टो भगवान्मनोभवः प्रबाधतेऽथानुगृहाण शोभने॥ ३०॥**

**श्रीध. केति**। कुतः स्थानात् इहाऽऽगतासि। हे सति! पुर्याः समीपस्था उपपुरी भूः ता मालक्ष्य किं कर्तुमिच्छसीत्यर्थः॥ २६॥

**क इति**। ते तव येऽनुपथा अनुवर्तिन एते के ? एकादशो महान् भटो बृहद्बलत्वेन वक्ष्यमाणो येषु दशसु ते। बुद्धे र्मनसः पृथगुपादानं, बुद्धिपरिचारकेन्द्रियसहायतया तत्परिचारकत्वविवक्षया, [9-]एता ललनाः इन्द्रियवृत्तयः[-9]॥ २७॥

---

* The patern beginning with किं चिकीर्षसि (V in 26) ending with महाभाजयोऽ (V in 42) is missing in Ms Edition.

1. Ms शुध्रूः 2. W ग° 3. M, Ma साम्याप्त 4. M, Ma कामः 5. A, B, G, I, J, M, T °मा भुविस्पृक्; Ma °मा भुवित्वं; W मा भुवस्पृक् 6. M, Ma हारेक्षण वि° 7. A, B, G, I, J, T °मद्भुवा; M, Ma °मद्भुवः 8. A, B, G, I, J, T, V त्वयोप° 9--9. A, B, J, Va omit

त्वमिति। त्वं ह्रीः किं पतिं धर्मं विचिन्वती ? अथवा[1] भवानी पतिं शिवं विचिन्वती ? अथवा[2] किं वाक् सरस्वती पतिं ब्रह्माणम् ? किं रमा लक्ष्मीः[3] वा[4] पतिं विष्णुं मुनि रिव संयता सती। कथम्भूतं[5] पतिं[5] ? त्वदङ्घ्रिकामेनैव त्वत्कृतया त्वदङ्घ्रिकामनयैव प्राप्ताः समस्ताः कामा येन तम्॥ २८॥

**नेति**। हे वरोरु ! आसां[6] ह्रीप्रभृतीनां[6] मध्ये त्वमन्यतमा नाऽसि न[7] भवसि यतो भुविस्पृक्। न हि देवता भुवं स्पृशन्ति। वीरवरेण मया। ननु[8] त्व मकर्मा कथं त्वया सह अलङ्करोमीति चेत्तत्राह - अदभ्र मनल्पं कर्म त्वत्सङ्गात् यस्य मम तेन स्वतोऽकर्मत्वेन त्वत्सङ्गात् सकर्मा भवामीत्यर्थः[8]। परं वैकुण्ठम्॥ २९॥

**यदिति**। यत् यस्मात् तव अपाङ्गेन विखण्डितमिन्द्रियं मनो यस्य तं, मां[9] मां मनोभवो बाधते अत तस्मात् अनुगृहाण सव्रीडं यद्भावेन प्रेम्णा स्मितं तेन विभ्रमन्ती या भ्रूः तया उपसृष्टः प्रेरितः॥ ३०॥

**वीर.** हे पद्मदललोचने ! का त्वं ? किंजातीयकेति प्रश्नः कस्य सम्बन्धिनी पुत्री असि ? कुतः स्थाना दिह आगतासि ? हे सति ! इमा मुपपुरीम् अस्याः पुर्याः समीपे किं कर्तु मिच्छसि ?॥ २६॥

एतेऽनुपथा अनुवर्तिनः, क एते एकादश महाभटाः बुद्धिमनसो वृत्ति कृत[10] मेव भेदं आश्रित्य मनसा सह इन्द्रियाणां एकादशत्वात् एकादशो महाभटो मनोरूपो येषां ते। क एत इत्युक्तम्। हे सुभ्रु[11] ! एता ललनाः का इति वृत्त्यभिप्रायेण प्रश्नः, तासां आनन्त्यात् एता इति निस्संङ्ख्याको निर्देशः। पुरस्सरति गच्छतीति पुरस्सरोऽहिः सर्पः कः ? प्राणे व्याप्रियमाणे तदनु सर्वेन्द्रिय व्यापारात् पुरस्सर इत्युक्तम्। बुद्धिस्वरूप तत्कारण तत्सम्बन्धकारण तत्कार्य विवित्सु प्राचीनबर्हिरादि लोकाभिप्रायकं कात्वमिति प्रश्नकथनम्। ज्ञानकर्मोभयेन्द्रियाणां[12] प्रवृत्तिः बुद्ध्यायत्ता उत स्वत इति संशयं निरास चिकीर्षाभिप्रायकम्। क एते अनुपथा इति प्रश्नकथनम्[12]। बुद्धिरपि प्राणायत्तप्रवृत्ति ख्यापनाय कोऽयं तेऽहिः पुरस्सर इति प्रश्नोक्तिः॥ २७॥

**त्वं ह्रीरिति**। यस्याः तवाङ्घ्रिकामनयैव आप्ताः समस्ताः कामा यस्य तं पतिं मुनिवद्वने रहः एकान्ते विचिन्वती, त्वं वराहं विचिन्वती ह्रीः भूमिः, उत शङ्करं विचिन्वती भवानी, आहोस्वित् ब्रह्माणं विचिन्वती वाक् सरस्वती, अथवा विष्णुं विचिन्वती रमालक्ष्मी असि[13] ! यदि रमा तर्हि पद्मकोशः कराग्रात् क्व पतितः ? कराग्रे पद्मकोशाभावात् न रमेत्यर्थः। एवं रमादिरूपेण उत्प्रेक्षाक्तिः रमादीनां विष्ण्वादिभिरिव अनादिदृढतर सम्बन्ध ख्यापनाय कथासौन्दर्याय वा। एव मग्रेऽपि, अनुपयुक्तं[14] कथासौन्दर्यायेति द्रष्टव्यम्॥ २८॥

---

1. V omit अथवा 2. A, B, J, Va omit किं 3. B, J, V, Va omit लक्ष्मीः 4. A, B, J, Va omit वा 5--5. V omits 6--6. B, J, V, Va omit 7. A. B, J. Va add सम् 8--8. V omits 9. A, B, J, Va omit मा 10. A, B, T कृतभेदं 11. B सुभ्रूः ! 12--12. T omits 13. W omits असि 14. W तत्सौ°

एवं ह्यद्यान्यतमत्वेन सम्भाव्य आसां मध्ये काऽपि त्वं[1] न भवसि इत्याह - **नेति**। हे वरोरु! आसां ह्री भवानीवाग्रमाणां मध्ये अन्यतमा नाऽसि न भवसि। तत्र हेतुः यतस्त्वं[2-2] भूस्पृक्[3-3] भुवं स्पृशतीति भूस्पृक्। नहि रमादीनां अन्यतमा देवता भुवं स्पृशतीति भूस्पृक्। नहि रमादीनां अन्यतमा देवता भुवं स्पृशतीति भावः। अतो[4-4]मत्प्रार्थितं कुर्वित्याह - अर्हसीति। अदभ्रकर्मणा अनल्पकर्मणा वीरवरेण वीरश्रेष्ठेन[5-5] मया साकं सह इमां पुरीं[6-6] नवमुखीं अलङ्कर्तुं शोभयितुम्[7-7] अर्हसि। परं लोकं वैकुण्ठं यज्ञपुंसा विष्णुना सह श्रीः लक्ष्मी रिव मया सह पुरीं प्रविश्य सुखमनुभवेत्यर्थः ॥ २९ ॥

यत् यस्मात् तव अपाङ्गेन विखण्डितम् इन्द्रियं मनो यस्य तं, मां सव्रीडं यद्भावेन प्रेम्णा स्मितं तेन विभ्रमा या भ्रूः तयोपसृष्टः प्रेरितः[8] एष मनोभवः कामः प्रबाधते। अथ अतः[9] अनुगृहाण हे शोभने! ॥ ३० ॥

**विज.** 'का त्वं, इत्यादि लोकानुकारवचनं, भ्रान्त्या प्रलापो वा, उपपुरी मित्यनेन ज्ञायते। अन्यथोपपुरीति ह्रस्वत्वेन प्रयोगः स्यात्। देहसमीपे वर्तमानाम् ॥ २६ ॥

अनुपथाः स्वमार्गमनुवर्तमाना ये इमे मनसा सह एकादश भटा एते 'लल-विलासे, इति धातोः ललना विलासो पेता वृत्तिविशेषाः। 'हि - गतौ, इति धातोः अहि रगतः सह व्रजः, पुरःसरो नासिकारन्ध्रचरः श्वासः ॥ २७ ॥

त्वं ह्रीः इत्यादिक मनुकरणम्। लज्जावृत्तिविशिष्टत्वात् ह्रीः। सङ्कल्पवृत्त्या भवानीति, वचनवृत्त्या वाक्, रमणवृत्त्या रमा पतिं देहस्वामिनं, वने देहलक्षणे वासनावने, मुनिवत् मनोवत् त्वदंघ्रिसाम्येन आप्ताः समस्ताः कामा येन सः तथा। 'अधि रधि लघि-गत्यर्थाः, इति धातोः यथा अङ्घ्रयो र्गतिसाधनत्वं तथा मनसोऽपि, मनसा सङ्कल्प्य पुरुषस्य विषयोपगमनात्। पद्मकोशः कन्दुकलक्षणं मनः, कराग्रात् वृत्तिविशेषात् पतितो गतः क्व? कां वृत्तिं उपगत इति, बाह्यार्थः स्पष्टः ॥ २८ ॥

हे वरोरू! यदि त्वं आसां ह्रीमुखानां वृत्ति विशेणाणा मन्यतमा वृत्ति विशिष्टा नासि। किन्तु स्थिरवृत्तिविशिष्टाऽसि। भुवि सत्कर्मणि स्पृक् आशावती तर्हि अदभ्र कर्मणा महापराक्रम वता वीरवरेण मया साकं इमां पुरीं देहलक्षणां- अलङ्कर्तुं मर्हसि। कथमिव ? यज्ञपुंसा श्रीनारायणेन सह श्रीः परं लोकं वैकुण्ठाख्यं इवेत्यन्वयः। अदभ्रकर्मणेति कर्माऽऽनन्त्यं लक्षयति।

हे शोभने! व्रीडया सहितो हासः व्रीडाहास स्तेन युक्तेन ईक्षणेन विभ्रमन्त्यौ भ्रुवौ यस्याः सा तथा, तस्याः तव सकाशात् उपसृष्टः प्राप्त एष मनोभवो मनसो जातो रागलक्षणो वृत्तिविशेषो भगवान्, ताभिः पूज्यो मा मां प्रबाधते स्वानुकूलकर्मणा यः सन्नद्धं

1. W omits त्वं 2--2. W omits 3--3. A, B, T भुवस्स्पृक् 4--4. W omits 5--5. W omits 6--6. W omits 7--7. W omits 8. A, B, T omit प्रेरितः 9. A, T omit अतः

करोति। यद्यस्मात् अथ तस्मात् अनुगृहाण इत्यन्वयः। कथम्भूतं माम्? अपाङ्गेन शरीररहितेन वृत्तिविशेषेण विखण्डितानि इन्द्रियाणि यस्य स तथा तम्॥ ३०॥

[1]त्वदाननं सुभ्रु सुतारलोचनं व्यालम्बिनीलालकबृन्दसंवृतम्।
उन्नीय मे दर्शय वल्गुवाचकं यद्व्रीडया नाऽभिमुखं शुचिस्मिते॥ ३१॥

[2]नारद उवाच

इत्थं पुरञ्जनं नारी याचमान मधीरवत्।
अभ्यनन्दत तं वीरं हसन्ती वीर मोहिता[4]॥ ३२॥

न विदाम वयं सम्य क्कर्तारं पुरुषर्षभ!
आत्मनश्च परस्यापि गोत्रं नाम च यत्कृतम्॥ ३३॥

इहाद्य सन्तमात्मानं न विदाम ततः परम्।
येनेयं निर्मिता वीर पुरी शरण मात्मनः॥ ३४॥

एते सखायः सख्यो मे नरा नार्यश्च मानद।
सुप्तायां मयि जागर्ति नागोऽयं पालयन् पुरीम्॥ ३५॥

श्रीध. त्वदिति। यद्व्रीडया सम्मुखं न भवति तत् त्वदानन[5] मुन्नीय मे दर्शय। शोभने भ्रुवौ यस्मिन् सुतारे शोभनकनीनिके लोचने यस्मिन् व्यालम्बिनो दीर्घा ये नीला[6] अलका स्तेषां बृन्देन संवृतम्। वल्गूनि वाचकानि वाक्यानि यस्मिन्॥ ३१॥

इत्थमिति। हे वीर! हे राजन्[7] वीरं[8] प्रत्यगात्मानं मोहयितुं शीलं यस्याः[8], साऽपि तं दृष्ट्वा मोहिता सती तमाह॥ ३२॥

यत्पृष्टं "कस्यासीत्यनेन कस्य पुत्री किं[9] गोत्रजेति का त्वमिति च किं नामाऽसीति तत्राह - **नेति**। आत्मनो मम परस्य त्वाऽपि कर्तारं सम्यक् न विद्मः। गोत्रं नाम च यत्कृतं भवति तं च न[10-10] विदाम न विद्मः॥ ३३॥

[11-]तर्हि किं वेत्ति, तदाह - **इहेति**। हे वीर! आत्मनो मम शरण मियं पुरी येन निर्मिता तं च न विद्मः॥ ३४॥

---

1. B तदा°; W त्वमा° 2. A, B, G, I, J, T add नारद उवाच 3. M, Ma °भाषत 4. M, Ma °नी 5. A, B, J, Va omit त्वत् 6. B, J, Va omit नीला 7. B, J, V, Va omit हे राजन्! 8--8. A, B, J, Va omit 9. B, J, V, Va omit किं 10--10. B, J, V, Va omit 11--11. A, B, J, Va omit 12. B, J, V, Va omit हे वीर

यत्पृष्टं ''क एतेऽनुपथा,, इति तत्राह - एत इति ॥ ३५ ॥

**वीर.** यन्मुखं व्रीडयाभिमुखं न भवति तत् स्वमानन मुन्नीय मह्यं दर्शय। आननं विशिनष्टि - शोभने भ्रुवौ यस्मिन्, सुत सुकनीनिके लोचने यस्मिन् व्यालम्बिनो दीर्घा ये नीलालका स्तेषां बृन्देन संवृतं, वल्गूनि वाचकानि वाक्यानि यस्मिन्, शुचि स्मि यस्मिन्। शुचिस्मिते इति पाठे सम्बोधनम् ॥ ३१ ॥

एव मधीरव दविजितेन्द्रियवत् याचमानं पुरञ्जनं नारी प्रमदा वीरं तं दृष्ट्वा मोहिता सती वीरं मोहयन्ती अभ्यनन्दत, अने अन्योन्यपारतन्त्र्यं सूच्यते ॥ ३२ ॥

यत्पृष्टं ''कस्यासीति अनेन कस्य पुत्री जातेति का त्वमिति किम्स्वरूपा किन्नामासीति तत्राह - नेति। आत्मनो मम परम तवाऽपि कर्तारं स्रष्टारं सम्यक् न विद्मः। कर्तारं विशिनष्टि - गोत्रं नाम च यत्कृतं येन कर्त्रा कृतं भवति ॥ ३३ ॥

इहास्यां पुर्यां अधुना सन्तं वसन्त मात्मानं पुरी मन्तः प्रविश्य नियन्तारं त्वां जानीमः, ततः आत्मनः त्वत्तः मत्तश्च प विलक्षणं पुरुषं न विदामः। कोऽसौ परः यं न विद्मः इति वदसि तत्राह - हे वीर! आत्मन स्तव मम च शरण मियं पुरी येन निर्मित तमित्यर्थः। इहाद्य सन्त मात्मानं विदाम इत्यनेन केवलसंसारिणो जीवस्य बुद्धिः, तत्स्वरूप मविशदावभासं गृह्णाति न तु याथात्म्ये त्युक्तम्। ''न विदाम वयं वीर! कर्तारं, ''न विदाम ततः परं (भाग. 4-25-33,34) येनेयं निर्मिता वीर! पुरी'' त्यनेन जीव करणकलेबरादिसम्पादनचतुरं कृत्स्न जगदुदयविभवलयलीलं प्रकृति पुरुषविलक्षणं परमपुरुष मापाततः तत्त्वतश्च न विषयीकरोः त्युक्तम् ॥ ३४ ॥

यत्पृष्टं 'क एतेऽनुपथा, इति तत्राह - **एत** इति। एते[1-] नराः[-1] एकादश महाभटाः नार्यश्च[2] मे मम सखायः सख्य श्चानुवर्तिनो भृत्य इत्यर्थः। अनेनेन्द्रियाणां तद्वृत्तीनां च बुद्ध्येकायत्तत्व मुक्तम्। यत्पृष्टं ''कोऽयं तेऽहिः पुरस्सरः, इति तत्राह - मयि सुप्तायां सत्या म नागः पुरीं पालयन् जागर्ति। अनेन बुद्धीन्द्रियमन आदिषु सर्वेषु सुप्तौ निर्व्यापारेषु सत्स्वपि प्राणव्यापारोऽस्तीति सर्वापेक्षया प्राणस्य प्राधान्य मुक्तम् ॥ ३५ ॥

**विज.** हे शुचिस्मिते! निर्मलविलासे! त्वदाननं तव[3] चेष्टाविशेषं मे दर्शये त्यन्वयः। सुभ्रु शोभना भ्रू र्भ्रमणशीलं विषयेषु यस्य त तथा, सुतरां शोभनं लोचन मालोचनं यौक्तिकं ज्ञानं यस्य तत्तथा, तत स्तर्हि किमिति न प्रकाशत इत्यत उक्तं - व्यालम्बीति

---

1--1. A, B, T omit  2. A, B, T ता ललनाश्च  3. A omits तव

चालम्बिना मविम्नंसिनां चञ्चलानां नीलालकोपमवर्णानां तामसानां वृत्तिविशेषाणां बृन्देन संवृतं गूढं तस्मान्न प्रकाशत इत्यर्थः। तर्हि तथं दर्शनमिति तत्राह - उन्नीयेति। तामसवृत्तिविशेषान् पृथक्कृत्य पुनरपि कीदृशम्? वल्गुसुन्दरं वाचकं वक्त्रं वाक्यं यस्य तत्तथा, यदाननं व्रीडया वृत्तिविशेषेण ममानभिमुखं न सम्मुखं तदिति शेषः॥ ३१॥

नरः पुरुषः तत्सम्बन्धिनी नारी वैषयिकी बुद्धिः, हसन्ती उल्लसन्ती, विशिष्ट ईरो ज्ञानं यस्य स वीरः, तमपि मोहयितुं शील मस्या अस्तीति वीरमोहिनीति॥ ३२॥

यदुक्तं कस्यासीति तत्राह - **नेति**। हे पुरुष श्रेष्ठ! कर्तार मुत्पादकं भर्तारं पोषकं वा, सम्यक् लक्षण वत्तया न विदाम न जानीमहे। ुणवदाश्रयः कश्चिदस्तीति सामान्य मेव न तु विशिष्ट मित्यतः सम्यगिति। किञ्चात्मनो मम परस्योत्पादकस्यापि यथा नाम कृतं यच्चगोत्रं तदपि न जानीमहे इत्यन्वयः। "अनामगोत्रम्, (मुक्ति.उ. 2-72) इति श्रुतेः॥ ३३॥

तर्हि किमपि न वेत्सि चेत् बुद्धित्वहानिरिति तत्राह - **इहेति**। इह सन्त मात्मानं मा मह मित्यद्य इदानीं जानीमहे,उत्तरकाले सन्देहः कर्मवशात् ततः परं ततोऽन्यत्किमपि न विदाम इत्यन्वयः। तस्मात्पर मीश्वरं न विदाम, येनेश्वरेण मम शरणं निवासयोग्या इयं पुरी विरचितेति वा॥ ३४॥

के तेऽनुपथा इति तत्राह - एत इति॥ ३५॥

**दिष्ट्याऽऽगतोऽसि भद्रं ते ग्राम्यान् कामा[1] नभीप्स्यसि[2]।**

**उद्वहिष्यामि तां स्तेऽहं स्वबन्धुभि रिरन्दम॥ ३६॥**

**इमां त्व मधितिष्ठस्व पुरीं नवमुखीं विभो!**

**मयोपनीतान् गृह्णानः कामभोगान् शतं समाः॥ ३७॥**

**कं[4] नु त्वदन्यं रमये[5] ह्यरतिज्ञ मकोविदम्।**

**असाम्परायाभिमुख[6] मश्वस्तनविदं पशुम्॥ ३८॥**

**धर्मो ह्यत्रार्थकामौ च प्रजानन्दोऽमृतं यशः**

**लोकाविशोका विरजा यान् न केवलिनो विदुः॥ ३९॥**

---

. M, Ma भोगान° 2. W °नवाप्स्यसि 3. A, B, G, I, J, M, Ma, T °से 4. M, Ma का 5. M, Ma °येद° 6. A, B, G, I, J, T °स°

**पितृदेवर्षि मर्त्यानां भूताना मात्मनश्च ह।**
**क्षेम्यं[1] वदन्ति शरणं भवेऽस्मिन् यद्गृहाश्रमम्[2]॥ ४०॥**

**श्रीध. दिष्ट्येति**। आस्तां तावत्[3] नामगोत्रादि यदत्राऽऽगतोऽसि एतद्दिष्ट्या भद्रं जातम्[4]। ग्राम्या निन्द्रिय ग्रामार्हान् उद्वहिष्यामि सम्पादयिष्यामि स्वबन्धुभिः सखिभिश्च[5]॥ ३६॥

**इमामिति**। समाः संवत्सरान् मनुष्य देहप्रवेशाच्छत मित्युक्तम्॥ ३७॥

संसारिणो[6-] जीवस्य[-6] प्रवृत्तिस्वभावत्वा न्निवृत्ति निन्दापूर्वकं तत्सङ्ग मभिनन्दति - **कमिति** पञ्चभिः। त्वत्तोऽन्यं कं नु रमये अरतिज्ञं नैष्ठिकम्। अकोविद मनिषिद्धसुखत्या गिनम्। सम्परायो मृत्यु स्तदनभिमुखं परलोकचिन्ताशून्यम्। अश्वस्तनविदं श्व इदं कर्तव्य मितीहलोक चिन्ताशून्यम्, अत एव पशुतुल्यम्॥ ३८॥

**धर्म** इति। अत्र गार्हस्थ्ये प्रजानन्दः पुत्रसुखम् अमृतं मोक्षः केवलिनो यतयः॥ ३९॥

**पितृदेवेति**। गृहाश्रम इति यदेतत्क्षेमार्हं शरण माश्रयं वदन्ति॥ ४०॥

**वीर.** आस्तां नाम गोत्रादि दिष्टया पुरी[7] मागतोऽसि, अनेन मनुष्यदेहसम्बन्धो दैवकृतो दुर्लभ इत्युक्तम्। अत स्ते भद्रं ताव द्ग्राम्या निन्द्रियग्रामार्हशब्दादीनवाप्स्यसि। हे अरिन्दम! अहं स्वबन्धुभिः सखीभिः इन्द्रियै स्सहेत्यर्थः। तान् ग्राम्यान् भोगां स्ते तुभ्यं उद्वहिष्यामि सम्पादयिष्यामि॥ ३६॥

हे विभो! नवद्वारा मिमां पुरीं त्वं शतं समाः संवत्सरान् मया उपनीतान् प्रापितान् कामान् गृह्णानः अधितिष्ठस्व। मनुष्य देह प्रवेशाभिप्रायेण शत मित्युक्तम्॥ ३७॥

संसारिणो जीवस्य प्रवृत्तिस्वभावत्वा न्निवृत्तिनिन्दा पूर्वकं तत्सङ्ग मभिनन्दति - **कं न्विति** पञ्चभिः। त्वत्तोऽन्यं कं रमये क्रीडयामि। अनेन निवृत्तिमार्गनिष्ठो न बुद्धयधीन इत्युक्तम्। तत्र हेतुः अरतिज्ञं नैष्ठिकं विरक्त मित्यर्थः। अत एवा कोविद मनि पुण मनिषिद्ध[8-] सुखस्याऽपि[-8] त्यागिन[9] मसाम्परायाभिमुखं[10] साम्परायो मृत्युः, तदनभिमुखं मरणाभीरु मिति वा। "कृतकृत्याः प्रतीक्षन्ते मृत्युं प्रिय मिवातिथिम्" इत्युक्तेः, अश्वस्तनविदं श्वो भवं श्वस्तनं कालान्तरानुभाव्यं स्वर्गादि भोग्यत्वेन न वेत्ती त्यश्वस्तनवित्

---

1. W क्षेमं  2. A, B, G, I, J, T. V °मः  3. A, B, J, Va omit तावत्  4. A, B. J. Va तावत्  5. A adds सखीभिः सह;B, J. Va add सखीभिः
6--6. A. B, J, Va omit  7. A. B. T पुर्यां  8--8. A, B, T °द्धस्यापि सुखस्य  9. A. B. T °स°  10. A, B , T स°

ः ।। "एते वै निरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः" (भार. 12-191-6) इति। "वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु। तस्यान्तरायो त्रय देवेन्द्रत्वादिकं फलम्" (विष्णु.पु. 2-6-41) इति स्वर्गादिसुखस्य मुमुक्षोर्हेयत्वा दित्यर्थः। पशुं पशुतुल्य मिति निन्दति॥ ३८॥

एवं निवृत्तिधर्मस्थं निन्दित्वा प्रवृत्तिस्वभावं स्तौति - धर्म इति। अत्र प्रवृत्तिमार्गे धर्मः स्वर्गादिसाधनो यागादि रूपो धर्मः थाऽर्थकामौ प्रजानन्दः पुत्रसुखम्। अमृतं मोक्षः यशः[1] कीर्तिः विशोकाः निर्दुःखाः विरजाः निर्मला लोका पुण्यलोकाश्च सिद्धयन्तीति षः। लोकान् विशिनष्टियान् लोकान् केवलिनो निवृत्तिधर्मस्था न विदुः॥ ३९॥

किञ्च अस्मिन् भवे, गृहाश्रममिति[2] यत् एतत्पित्रादीनां क्षेमार्हं शरण माश्रयं वदन्ति। पित्रादीनां गृहाश्रमिणमारा[3] धक ाश्रित्यावस्थानात्॥ ४०॥

**विज.** स्वबन्धुभि रिन्द्रियैः॥ ३६॥

हस्तपादयो रेकत्वेन नवत्वं मुखानि द्वाराणि शतं समा इत्यनेन "शतायु र्वै पुरुषः" इति श्रुतेः। मनुष्याणां शतायुष्ट्वनिर्देशा मनुष्यशरीर मिहाऽभि प्रेतम्॥ ३७॥

तत्र हि ज्ञानोत्पत्तिः कुत इति तत्राह - का न्विति। का बुद्धि स्त्वन्यं मनुष्यशरीरप्रविष्टं चेतनं विहायाऽन्यं पश्वादिशरीरगतं यये सुखिनं कुर्या दित्यन्वयः। कुत इत्यत उक्तम् - अरतिज्ञ मिति। "यस्त्वात्म रतिरेव स्या दात्मतृप्त श्च मानवः" (भ.गी. 3-17) ते स्मृतेः। परमात्मरतिज्ञानरहितं शब्दादिविषय रतिज्ञानहीनं वा। तदपि कुत इत्यत उक्तम् - अकोविद मिति। अपण्डितत्वादित्यर्थः। ाण्डित्याभावः कथ मित्यत्राह - असाम्परायेति। साम्परायो मोक्षः तत्राभिमुखो न भवती त्यसाम्परायाभिमुखः तं, युद्धाभिमुख ामो न ज्ञानाभिमुखत्वं (सुखः, तत्) कथ मित्यत उक्तम् अश्वस्तनविद मिति। श्वं स्तनं भविष्य न्न वेत्तीति अश्व स्तन वित् तं न ादुः। "श्वस्तनं न लोकालोकौ" इति श्रुतिः। श्वस्तनं त्वमपि ईदृशमिति न वेतीति अश्वस्तनवित् तं वा। कोऽसा वेवंविध इत्युक्तं ुमिति। तत्त्वज्ञान रहितम्, अत्र सद्बुद्ध्यसद्बुद्धी द्वे यथा सम्भवं विशेषणैः तत्तदर्थतया ज्ञातव्ये। असद्बुद्धि विवक्षायां पाशुपतागमज्ञान ्यम्, अन्यत्रोक्तार्थः। असद्बुद्धिपक्षेऽपि स्वमतानुसारेण मोक्षादिकं स्वस्यैवार्थत इदं समस्त मुपपन्न मिति॥ ३८॥

इतोऽपि श्वस्तनोऽपि नाऽस्त्येवे त्याह - धर्म इति। अत्र भवति धर्मादयः सन्तीति हि यस्मा त्तस्मा त्प्रजानन्दः पुत्रसुखं, मृतं मोक्षः, अन्योन्य मविरोधेन धर्माद्यनुष्ठानं न सुशक मिति भावेनाह - यानिति। केवलिनो निष्किञ्चना उदरम्भरिजना वा॥ ३९॥

---

W omits यशः 2. A, B, T °म इति 3. A, B, T °णा

सर्वाश्रमाणा मुपजीव्यत्वात् गृहाश्रम एव ज्याया नित्याह - **पितृदेवेति**। आत्मनोऽस्य देहस्य क्षेम्यं मोक्षयोग्यं शरण्यं वदन्तीति यत् तस्मादिति शेषः ॥ ४० ॥

**का नाम वीर विख्यातं वदान्यं प्रियदर्शनम्।**
**न वृणीत पतिं[1] प्राप्तं मादृशी त्वादृशं[2] स्वयम् ॥ ४१ ॥**

**कस्या मन स्ते[3] भुजगेन्द्र भोगयोः स्त्रिया न सज्जे द्भुजयो र्महाभुज।**
**योऽनाथवर्गाधिमलं घृणोद्धत स्मिता वलोकेन चरत्यपोहितुम्[4] ॥ ४२ ॥**

**नारद उवाच**

**इति तौ दम्पती तत्र समुद्य[5] समयं मिथः[6]।**
**तां प्रविश्य पुरीं[7] राजन् मुमुदाते शतं समाः ॥ ४३ ॥**

**उपगीयमानो ललितं तत्र तत्र च गायकैः।**
**क्रीडन् परिवृतः स्त्रीभि र्ह्रदिनी[8] माविशच्छुचौ ॥ ४४ ॥**

**सप्तोपरि कृता द्वारः पुर स्तस्या स्तु द्वे अधः।**
**पृथग्विषयगत्यर्थं तस्यां[9] यः कश्चनेश्वरः ॥ ४५ ॥**

**श्रीध. कस्या** इति। भोगिभोगयोः सर्पदेहाकारयो स्तव भुजयोः यत्र सज्जेत्[10] एवम्भूतं कस्याः स्त्रियः मन स्स्यात्र कस्या अपि। यो भवान् अनाथवर्गाः दीनस्तोमा स्तेषा माधिं मनोदुःखम्[11] अल मत्यर्थ मपोहितुं सर्वत्र चरति। केनापोहितुम् ? घृणयोद्धतोऽतिशयितो यः स्मितपूर्वकोऽवलोक स्तेन ॥ ४१-४२ ॥

**इतीति**। समुद्य समुदीर्य समाः संवत्सरान् ॥ ४३ ॥

तत्र जाग्रदवस्थां संक्षेपेणाह - **उपगीयमान** इति।[12-] जाग्रदवस्थायां तत्र प्रतीन्द्रियविषयं गायकैः विषयशब्दादिभिः उपगीयमानः सेव्यमानः स्त्रीभि र्मनोवृत्तिभिः सह क्रीडन्[-12]। सुषुप्त्यवस्था[13] माह। ह्रादिनीं[14] हृदयाकाशं स्वापस्थानम्। शुचौ निदाघे ॥ ४४ ॥

---

1. A, B, G, I, J, T प्रियं 2. A, B, G, I, J, T पतिम् 3. A, B, G, I, J, T °स्ते भुवि भोगिभो°; V °स्यात्तव भोगिभो° 4. M, Ma, Ms, V °स्य° 5. M, Ma सम्मुह्य 6. W पुः 7. V पुरं 8. V °ह्नी° 9. V तस्या 10. V सज्जते 11. B, J, V, Va omit मनोदुःखं 12--12. A, B, J, Va omit 13. A, J, Va °शा° 14. A, B, J, Va ह्न°

इदानीं नवद्वार प्रदर्शनपूर्वकं जाग्रदवस्थां प्रपञ्चयति सप्तेति यावदध्यायसमाप्ति। तस्याः पुर उपरि कृता द्वाराः सप्त। वृता इति पाठेसंवृताः। नेत्रे नासिके श्रोत्रे मुखं चेति सप्त। अधोद्वे द्वारौ गुदलिङ्गे। यः कश्चनेति। आत्मनः सम्यगविज्ञाना दनियतत्वाच्च॥ ४५॥

**वीर.** हे वीर! विख्यातं कामित्वेन प्रसिद्धं वदान्यं त्यागिनं कामार्थं विहित मपि त्यजन्त मित्यर्थः। अत एव प्रियेषु शब्दादि कामेषु दर्शनं दृष्टि र्यस्य तं, कथा पक्षे विख्यातं यशस्विनं वदान्यं दानशीलं प्रियदर्शनं सुन्दर मित्यर्थः। ईदृशं त्वादृशं निस्समं पतिं दैवा त्प्राप्तं मादृशी निस्समाना का वा स्वयं न वृणीत वृणुया देवेत्यर्थः॥ ४१॥

हे महाभुज! भुजगेन्द्रभोगयोः सर्पदेहाकारयोः तव भुजयोः कस्याः स्त्रिया मनः न सज्जेत् नासक्तं भवेत् यो भवान् अनाथवर्गाः दीनस्तोमाः तेषा माधिम् अल मत्यर्थ मपोहितुं सर्वत्र चरति। केन हेतुनाऽपोहितुम्? वृणयो द्वतः अतिशयितो यः स्मितपूर्वकोऽवलोक स्तेन॥ ४२॥

एवं सम्बन्ध दार्ढ्यख्यापनाय तयोः संवादमभिधायोपसंहरन् तयो र्व्यापार माह नारदः। तौ दम्पती पुरञ्जन पुरञ्जन्यौ मिथोऽन्योन्यं समयं सङ्केतं समुद्य समुदीर्य दैवा दन्योन्यं दृढतरं संबध्येत्यर्थः। हे राजन्! प्राचीनबर्हिः! तां पुरीं प्रविश्य शतं समाः संवत्सरान् मुमुदाते॥ ४३॥

एवं जीवबुद्धयो र्जीवकर्मानुरूप दैवाख्य परम पुरुष सङ्कल्पायत्त दृढतर सम्बन्धं तत्प्रयुक्तं देहसम्बन्धं च पारोक्ष्यरूपेणाभिधाय शुश्रूषोः प्राचीनबर्हिषः प्राप्य परब्रह्म व्यतिरिक्त वैतृष्ण्यजननार्थं प्राप्यतृष्णाजननार्थं संसरतो जीवस्य जाग्रत्स्व प्नसुषुप्तिमरणावस्थासु दोषा नुद्घाटयितुं जाग्रदाद्यवस्थाः प्रतिपिपा दयिषुः कथाव्याजेन तावत्समासतः सुषुप्त्यवस्था माह - **उपगीयमान** इति। ललितं यथा भवति तथा गायकै रूपगीयमानः पुरञ्जनः स्त्रीभिः परिवृतः तत्र तत्र क्रीडन् शुचौ आषाढे क्रीडानिमित्तश्रमा पनोदनाय ह्रदिनीं सरसी माविश दिति कथापक्षेऽर्थः॥ पक्षान्तरेतु जाग्रदवस्थायां स्त्रीभिः इन्द्रियवृत्तिभि स्तत्र तत्र क्रीडन् शब्दादिविषया ननुभवन् व्यापृतकरणत्वा त्तत्प्रयुक्त श्रमनिर्हरणाय शुचौ ह्रादिनी माविशत्। ह्रदिनीशब्देन पुरीतदाख्यनाडी विवक्षिता। शुचिशब्देन शुचौ ब्रह्मणि आविश्य तद्द्वारा ह्रादिनी माविशत् इत्यर्थः। प्रासादखट्वापर्यङ्कव त्समुच्चयेन नाडी पुरी तत्, बह्मणि हि जीवस्य सुषुप्तिस्थानं न तु विकल्पेन। अथ यत्रैत त्सुषुप्तः समस्त सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्याशु तदा नाडीषु सुप्तो भवति। अथ यदा सुषुप्तो भवति, यदा न कस्य चन वेदहितो नाम नाडयो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात् पुरीतत मभिप्रतिष्ठन्ते, ताभिः प्रत्युपसृत्य पुरीतति शेते" (बृह.उ. 2-1-19)

---

1. V omits प्रदर्शन 2. A, B, T °र्थ° 3. A, B, T विषयेषु 4. A, B, T दीनानां स्तोमाः 5. T omits राजन्! 6--6. W omits 7--7. A,T omit

इति, तथा "यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सौम्य ! तदा सम्पन्नो भवति" (छांद.उ. 6-8-1) इति । त्रयाणा मपि सुषुप्ति स्थानत्वश्रवणात्कार्यभेदेन समुच्चये सम्भवति, पाक्षिक बाधगर्भ विकल्पस्य अन्याय्यत्वात्, सम्भवति च प्रासादखट्वापर्यङ्क-वन्नाड्यादीनां कार्यभेदः । तत्र नाडीपुरीततौ प्रासादखट्वास्थानीयौ ब्रह्म च पर्यङ्कस्थानीयं, ततो ब्रह्मैव साक्षात्सुषुप्तिस्थानम् ॥ ४४ ॥

इदानीं जाग्रदवस्थां प्रतिपादयति - **सप्तेत्यादि**[1] यावदध्यायसमाप्ति । तत्र नवभि र्द्वार्भिः पुरीं लक्षितलक्षणामिति द्वारत्वेन रूपितानां चक्षुरादीन्द्रियस्थानाना मिन्द्रियाणां च गौणनामानि तत्कार्याणि तद्विषयां श्च कथयन्नाह - सप्तेति । तस्याः पुरः पुर्याः सप्त द्वारः उपरि कृताः चक्षुर्द्वयं श्रोत्रंद्वयं नासिकाद्वयं मुखञ्चेति । द्वे द्वारा वधः कृते कल्पिते गुदं लिङ्गञ्चेति । किमर्थ मेवं कल्पिता इत्यत्राह । तस्याः पुर्याः यः कश्चन ईश्वरः तस्य[2] पृथगसङ्करणेन[3] विषयान् शब्दादीन् प्रति गत्यर्थं विषया नवगन्तु मित्यर्थः । संसारिणो जीवस्य स्वपरयाथात्म्यज्ञानाभावात् मनुष्यशरीरस्या नियतत्वाच्च यः कश्चनेत्युक्तम्; कथा पक्षे विषयशब्दो देशपरः, देशान्प्रति गत्यर्थ मित्यर्थः ॥ ४५ ॥

**विज.** किं बहुनोक्तेन फलितं वक्तीत्याह - **का नामे** ति । पुत्र कलत्राद्यभीष्टदानशीलं स्वयं प्राप्तत्वात् ॥ ४१ ॥

त्वादृश मित्युक्तं किञ्चिद्विशिनष्टि - **कस्या मन** इति । अनाथवर्गस्या स्मदादे राधिं मनोदुःखं मल मपोहितुं चरसि घृणया दयया उद्धृत मुज्जृम्भितं यत् स्मितं तत्पूर्वको योऽवलोक स्तेन दर्शनेन कस्याः स्त्रियाः ॥ ४२ ॥

परमफलित माह- **इतीति** । समयं प्रमाणपूर्वकं समुद्य[4] संवादं कृत्वा, देहप्राप्तेः पूर्वं तदनन्तरं वा बाह्यार्थ विवक्षयैतद्वचः, पुरीं देहं शतं समा इति, "शतं वर्षाण्यभ्याच्छत्" इति श्रुते रर्थ मनुकरोति । मुद-हर्षे, इति धातोः हर्षशोकयोः सुखदुःखवत् बन्धुत्वा दुभयं पर्यायेण बुद्धिपुरुषौ प्राप्तवन्तावित्यर्थः ॥ ४३ ॥

तत्र प्रथमं मोदप्रकार माह - **उपगीयमान** इति । जाग्रदाद्यवस्थायां तत्र तत्र प्रतीन्द्रियविषयं गायकलक्षणैः शब्दादिभि र्विषयै रुपगीयमानः सेव्यमानः स्वप्नावस्थायां स्त्रीभिः केवलं मनोवृत्ति लक्षणाभिः परिवृतः "स्त्रीभिर्वायानैर्वा" (छांद.उ. 8-12-3) इति श्रुतेः । शुचौ तन्निमित्ते शोके प्राप्ते शीतला मगाधतोयदारामिव सुषुप्तिकाले सच्छब्दवाच्यां ब्रह्मस्वरूप स्थिति माविशत् । सुप्तावस्थाया मभूदित्यन्वयः[5] । ललितं यथा तथा अन्यत्र शुचौ ऋतुविशेषे "सता सोम्य ! तदा सम्पन्नो भवति" (छान्दो.उ. 6-8-1) इति श्रुतेः । सत्पुरुषः स्त्री शब्दवाच्यैः भक्त्यादिभिः परिवृतः, क्रीडन् विहरन् कालं यापयन्, हृदिनीं हृदिन्यां ब्रह्मनाड्यां हृदयस्थानेऽष्टदलपद्मे स्थितं श्री नारायणम् आविश दध्यायदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

---

1. W °ति 2. A, B, T omit तस्य 3. A, B, T °रेण 4. B समुह्य; M, Ma सम्मुह्य 5. A, B °त्यर्थः

देहाख्यं पुरं प्रसिद्धपुरसाम्येन वर्णयति - **सप्तेति**। तस्याः पुरः उपरि सप्त द्वारः कृताः, द्वेनेत्रे, द्वेनासिके, कर्णौ वदनं चेति अधो द्वे पायूपस्थे इति। कृत्य माह - विषयगत्यर्थ मिति। रूपादिविषयज्ञानार्थं निर्मिता इत्यर्थः। तस्यां पुर्यां कश्चने श्वरः अनामरूपो लोकविलक्षणः श्रीनारायणोऽस्तीत्यन्वयः। जीवो वा जगत्सामर्थ्योपेतत्वा दीश्वर इत्युच्यते, देहस्वामित्वाद्वा। अल्प शक्त्यादिमत्वात्तुच्छत्वेन यः कश्चनेति॥ ४५॥

**पञ्च द्वारस्तु पौरस्त्या दक्षिणैका तथोत्तरा।**
**पश्चिमे द्वे अमूषां ते नामानि नृप वर्णये॥ ४६॥**

**खद्योताऽऽविर्मुखी च प्राग्द्वारा वेकत्र निर्मिते।**
**विभ्राजितं जनपदं याति ताभ्यां द्युमत्सखः॥ ४७॥**

**नलिनी नालिनी च प्राग्द्वारा वेकत्र निर्मिते।**
**अवधूतसख स्ताभ्यां विषयं याति सौरभम्॥ ४८॥**

**मुख्या नाम पुरस्ता द्वा स्तयाऽऽपणबहूदनौ।**
**विषयौ याति पुराड्रसज्ञ विपणान्वितः॥ ४९॥**

**पितृहू[1] र्नाम पुर्या द्वा[2] र्दक्षिणेन पुरञ्जनः।**
**राष्ट्रं दक्षिणपाञ्चालं[3] याति श्रुतधरान्वितः[4]॥ ५०॥**

**श्रीध. पञ्चेति**। तासु सप्तसु पञ्च द्वारः, पौरस्त्याः पूर्वदिग्भवाः॥ ४६॥

**खद्योतेति**। खद्योतवत् अल्पप्रकाशा वामनेत्ररूपा आविः प्रकटं मुखं यस्या स्सा, बहुप्रकाशा दक्षिणनेत्रलक्षणा। "तस्माद्दक्षिणोऽर्थ आत्मनो वीर्यवत्तरः, इति श्रुतेः। स्वानुभवाच्च तत्र प्रकाशाधिक्यम्। एकत्र निर्मिते[5] संलग्ने विभ्राजितं रूपम्। द्युमत्सखश्चक्षुस्सहितः[6]। पुरञ्जन इति[7-] शेषः[-7]॥ ४७॥

**नलिनी** इति। नलनालशब्दौ छिद्रवचनौ, तद्वती नलिनी नालिनी च वामदक्षिणनासिके। अत्रापि संज्ञा भेदादेव कार्ये[8] न्यूनाधिक्यं पूर्ववत् ज्ञेयम्। अवधूतो वाय्वधिष्ठितः प्राणः, सौरभं गन्धम्॥ ४८॥

---

1. A, B, G, I, J, T °हू र्नृप; M, Ma °भूर्नृप 2. M, Ma द्वाद° 3. A, B, G, I, J, T प° 4. W °ति 5. A, B, J, Va omit निर्मिते 6. A चक्षुरिन्द्रियस° 7--7. A, B, T, Va omit 8. V कार्यन्यू°

**मुख्येति**। मुख्या प्रधानम् आस्यम्। आपणो भाषणम्। बहूदन श्चित्र मन्नम्। बह्वोदन इत्यनुक्तिः परोक्षवादत्वाय। रसज्ञं रसनेन्द्रियं, विपणो वागिन्द्रियं ताभ्यामन्वितः। '[1-]पण-व्यवहारे[-1]' (इतिधातुः)॥ ४९॥

**पितृहूरिति**। दक्षिणेनेति न तृतीया, किन्तु दक्षिणस्यां दिशि इत्यस्मिन्नर्थे अव्ययसंज्ञः। [2-]तद्धित (एनप्) प्रत्ययान्तोऽयम्[-2]। एव मुत्तरेणेति। अयमर्थः - पञ्चानां विषयाणा मन्यतोऽनवगतानां प्रकाशनायालमिति[3] पञ्चालं शास्त्रं श्रवणकाले च बलाधिक्यात् दक्षिणः कर्णः प्रथमं प्रवर्तते, शास्त्रे च प्रथमं श्रोतव्यं कर्मकाण्डमित्येतावता साम्येन प्रवृत्तसंज्ञस्य कर्मकाण्डस्य दक्षिणकर्णेन श्रवण मिष्यते। अतः[4] तदर्थमनुष्ठाय पितृभिः आहूतः पितृलोकप्रापकं पितृयानं प्रपद्यते। तदनेन प्रकारेण पितृणामाह्वान मनेन भवतीति पितृहूर्दक्षिणकर्णः। एवं तद्वैपरीत्येनोत्तरः कर्णो देवहूः। तथा च व्याख्यास्यति - "पितृहू र्दक्षिणः कर्णः उत्तरो देहहूः स्मृतः। प्रवृत्तं च निवृत्तं च शास्त्रं पञ्चालसंज्ञितम्[5]॥ पितृयानं देवयानं श्रोत्राच्छ्रुतधरा द्व्रजेत्॥" (भाग 4-29-12,13) इति॥ ५०॥

**वीर. पञ्चेति**। तत्र तासु सप्तसु द्वार्षु पञ्च द्वारः पौरस्त्याः पूर्वदिग्भवा, एका दक्षिणा, तथा एका उत्तरा, द्वे पश्चिमे पश्चिमदिग्भवे। हे नृप! ते तुभ्य ममूषां द्वारां नामानि गुणनामानि वर्णये॥ ४६॥

खद्योता खद्योतवदल्पप्रकाशा वामनेत्ररूपा, आविः प्रकटं मुखं यस्या स्सा बहुप्रकाशा दक्षिणनेत्ररूपा, स्वानुभवा च्च तत्र प्रकाशाधिक्य मवगन्तव्यम्। एते द्वारा वेकत्र निर्मिते लग्ने ताभ्यां खद्योताऽऽविर्मुखीभ्यां द्वाभ्यां द्युमत्सखः द्युमान् सूर्यस्तदधिष्ठेयं चक्षरिन्द्रियमपि द्युमत्, तदेव सखा यस्य सः। यद्वा, द्युमतः सखा द्युमत्सखः "राजाहस्सखिभ्यः, (अष्टा. 4-5-91) इति टच्, चक्षुषा सहित इत्यर्थः। विभ्राजित मालोकादिना प्रकाशितं रूपं जनपदं विषयं याति अवगच्छति। कथापक्षे तु खद्योतादिशब्दा अश्वकर्णादिशब्दवत् केवलसंज्ञाशब्दा इत्यवगन्तव्यम्। जनपदं देशं याति गच्छतीत्यर्थः॥ ४७॥

नलनालशब्दौ छिद्रवचनौ। नलमस्या अस्तीति नलिनी एवं [6-]नालिनी[-6], वामदक्षिणनासिके। अत्राऽपि संज्ञाभेदादेव कार्य[7]न्यौनाधिक्यं पूर्ववत् ज्ञेयम्। अवधूनयति कम्पयतीत्यवधूतो वायु स्त त्सखो वाय्वधिष्ठितो घ्राणः, ताभ्यां [8-]नलिनी नालिनी[-8]भ्यां द्वाभ्यां सौरभं गन्धं विषयं याति॥ ४८॥

**मुख्येति**। मुख्या प्रधाना आस्यरूपा द्वाः पूर्वदिग्भवा तया मुख्यया द्वारा पणः पणनं व्यवहारः भाषणं, बहूदन श्चित्रमन्नं बह्वोदनं इत्यनुक्तिः परोक्षवादत्वाय, पणबहूदनौ विषयो पुरराट् पुरञ्जनः [9]रसज्ञः रसनेन्द्रियं विपणो वागिन्द्रियं, ताभ्या मन्वितो याति॥ ४९॥

---

1--1. B, J, V, Va omit 2--2. A, B, J, Va तद्धितोऽय मेनप् प्रत्ययः 3. A, B, J, Va °शाय 4. V ततः 5. V कम्। 6--6. T omits 7. A, B, T न्यू° 8--8. A, B, T omit 9. A, B, T omit रसज्ञः

पुर्या दक्षिणेन दक्षिणस्यां दिशि एनबन्ताव्ययं, पितृहू र्नाम द्वाः पितॄन् जिहीते गच्छत्यनयेति पितृहूः "ओहाङ् गतौ" इत्यस्मात् "नृतिशृध्योः" (उणादि. सू. 91) इति कूप्रत्ययो बाहुल कात् पितृलोक प्राप्तिसाधनभूता यागादिक्रिया तदवबोधिनी त्रयी पूर्वभक्तिश्च पितृहूशब्दार्थः। तत्र दक्षिणकर्णस्य बलाधिक्या च्छ्रेतृणां प्रथमं त्रिवर्गप्रावण्याच्च प्रवृत्तिशास्त्रप्रवणे प्रवर्तत इति। प्रथमं श्रोतव्यपितृलोकप्राप्ति साधन कर्म प्रकाशक प्रवृत्तिशास्त्रश्रवणसाधनत्वात् दक्षिणकर्णः पितृहूः। अनन्तरं श्रोतव्य ब्रह्मप्राप्तिफलनिवृत्ति धर्मप्रकाशकोत्तरशास्त्रश्रवणसाधनत्वा द्वामकर्णो देवहूः। ननु उत्तर भाग तदर्थश्रवणादा वपि बलाधिक्या द्दक्षिणकर्ण एव प्रथमं प्रवर्तत ईति कथ मेत दुच्यते इति चेत्, एवं तर्ह्यत एव गुणनामधेय बला त्पूर्वभाग तदर्थानां शास्त्रप्राधान्येन दक्षिणकर्णश्रवणविधानम् उत्तरभागतदर्थानां तु वामकर्ण प्राधान्येन श्रवणविधानं चानुमीयते, यथा "दक्षिणं दीक्षितः पूर्व माङ्क्ते, सव्यं हि मनुष्या अञ्जतं" इत्यत्र दृष्टार्थत्वात् मनुष्याः सव्यनय नाञ्जनं पूर्वं कुर्यु रित्येवं प्रमाणान्तरेणा प्राप्तस्य सव्य नयनाञ्जनस्य सिद्धवन्निर्देशानुपपत्तौ सव्य नयनस्य प्रथम मञ्जनेन दृष्टविशेषालाभा त्प्रसिद्धवन्निर्देशानुपपत्त्या मानुषीभि रवश्यं प्रथमं सव्यनयनाञ्जनं कर्तव्य मिति विधि रनुमीयते, तद्वत् यथा वा तस्मादपि वध्यं प्रपन्नं न प्रति प्रयच्छन्तीति शरणागतस्य प्रत्यर्पणं प्रमाणान्तरेणा प्राप्तमपि तस्मादिति प्रसिद्धवन्निर्देशा नुपपत्त्या शरणागतो न प्रत्यर्पणीय इति विधि रनुमीयते। तद्वत् पूर्वोत्तरभागयोः यथाक्रमं दक्षिणोत्तरकर्णप्राधान्येन श्रवण मन्यतोऽप्राप्त मप्यनेनैव सिद्धवन्निर्देशगुणनामधेयबलेन विधीयत इति निरवद्यम्। पुरञ्जनः पितृहूद्वारा श्रुतिधरः श्रोतेन्द्रियं श्रवणविषयं शब्दं धरत्य वगच्छतीत्यनेनेति व्युत्पत्तेः, तेनान्वितो युक्तः दक्षिणपाञ्चालं दक्षिण द्वारगम्यं पाञ्चालं पञ्चते व्यक्तीकरोतीति पाञ्चालं, पच्यते व्यक्तीक्रियत इति वा पाञ्चालं, पचि व्यक्तीकरणे इत्यस्मात् "तमि विशिबिडि मृणि कुलि कपि पलि पञ्चिभ्यः कालच्" (उणादि.सू. 115) इत्यौणादिक कालच्प्रत्ययान्तः पाञ्चालशब्दः, ततः प्रज्ञादित्वा त्स्वार्थेऽण्, प्रवृत्ति धर्मप्रकाशकशास्त्रात्मकं राष्ट्रं याति॥ ५०॥

**विज.** तत्राऽपि विभाग माह - **पञ्चेति**। तासा मुपरि द्वारां मध्ये पौरस्त्याः पुरस्ताद्भवाः पञ्च द्वारो नेत्रादय इत्यर्थः। पश्चात् द्वे एका दक्षिणकर्णलक्षणा दक्षिणा, तथोत्तरा वामकर्णलक्षणा पश्चिमे द्वे अधोभागे द्वे पायूपस्थे अमूषां नव द्वाराम्॥ ४६॥

खे आकाशे सति द्योतते रूपं गृह्णातीति खद्योता, खद्योतवत् द्योतत इति वा। दक्षिणचक्षुर्लक्षणा आविः प्रकाशे सति मुखय त्यभिमुखीभवतीति साऽऽविर्मुखी प्रकाशमुखी न तमोमुखी तमसि रूपग्रहणाभावा दिति वामचक्षुर्लक्षणा। ताभ्यां विभ्राजितं प्रकाशितं जनस्य द्रष्टुः पद मालम्बनं रूपाख्यं याति विषयीकरोति गृह्णातीत्यर्थः। कथम्भूतः ? द्युमानादित्य श्चक्षुर्लक्षणः सखा यस्य स तथा चक्षुरिन्द्रियसहित इत्यर्थः। द्युमानादित्य स्तस्याऽऽवासहेतुत्वाच्चक्षुषोऽपि तन्नाम "आदित्य श्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्" (ऐत.उ. 2-4) इति श्रुतेः। "आदित्यो ह वै चक्षु स्तेनाऽनुगृहीतं रूपं गृह्णाति" इति च॥ ४७॥

1--1. A omits

नलो नाम श्वासः, सोऽस्या अस्तीति नलिनी, नालो दस्राभिधेयोऽस्या विद्यत इति नालिनी, नलनालौ श्वासोच्छ्वासौ, तयोः सञ्चारे हेतुत्वान्नलिनी नालिनीति द्वे गोलके नासिकारन्ध्रे अर्वा गुपरि तिर्यक् धुनोतीत्यवधूतो वायुः घ्राणेन्द्रियाभिमानी, तेन प्रेर्यमाणं घ्राणेन्द्रिय मपि तच्छब्दवाच्यं, तदेव सखा यस्य स तथा घ्राणेन्द्रियसहित इत्यर्थः। सौरभं विषयं गन्धलक्षणं गृह्णाति॥ ४८॥

पुरस्ता न्मुख्या नाम द्वाः आस्य च्छिद्रलक्षणाऽस्ति। पुरराट् पुरञ्जनः तया द्वारा आपणबहूदनौ "पण-व्यवहारे" इति धातोः आपणो वदनव्यापारः, बहूदनो नानाविधभोज्यजातं तौ याति व्यवहरति अभ्यवहरति च रसज्ञो जिह्वेन्द्रियं, विपणो वागिन्द्रियं, ताभ्या मन्वितः॥ ४९॥

नाम्ना पितृभूः पातृत्वात् पितरो देवाः प्रिया भवन्त्यस्य यजमानस्य दक्षिणकर्णलक्षणा शरीरलक्षणायाः पुर्या द्वारस्थितेन दक्षिण कर्णलक्षणेन द्वारेण उत्क्रान्तः पुरञ्जनो यजमानो दक्षिणपाञ्चालं दक्षिणानां देवानां लोकलक्षणं राष्ट्रं याति प्राप्नोति। पञ्चेन्द्रियाण्यलं याति भूषयति। 'अलभूषणे, इति धातोः पञ्चेन्द्रियाणा मलम्बुद्धिहेतुत्वा दिति वा पुरं ब्रह्म लक्षणं जनयति प्रादुर्भावयति प्रकाशयतीति पुरञ्जनः तत्त्वज्ञानी, दक्षिण पाञ्चालं निवृत्तिशास्त्रं यात्यवगन्तु मिति वा। दक्षिणः तत्त्वज्ञापनसमर्थः। इतिहासादिना सह पञ्चसङ्ख्योपेतो वेदः स एवाऽलं तत्त्वज्ञानाय नाऽन्या पेक्षेति कृत्वा मध्यमपुरञ्जनो दक्षिणपाञ्चालं पञ्चविषय संज्ञं राष्ट्रं याति रन्तु मिवाऽयम्। पञ्चानां शब्दानां समूहः पाञ्चः स एवालं भोक्तुमिति बुद्धिहेतुत्वा दिति कृत्वा सर्वत्राप्यऽय मेव सखेत्याह - श्रुत धरेति। श्रुतं लोकं शास्त्रं वा विषयं वा धारयतीति श्रुतधरः श्रोतेन्द्रियं तेन सख्या सहितः॥ ५०॥

**देवहू[1] र्नाम पुर्या द्वा उत्तरेण[2] पुरञ्जनः।**
**राष्ट्र मुत्तरपाञ्चालं[3] याति श्रुतधरान्वितः[4]॥ ५१॥**

**आसुरी नाम पश्चात् द्वास्तया याति पुरञ्जनः।**
**ग्राम्यकं[5] नाम विषयं दुर्मदेन समन्वितः॥ ५२॥**

**निर्ऋति र्नाम पश्चा द्वा स्तया याति पुरञ्जनः।**
***वैशसं नाम विषयं लुब्धकेन समन्वितः॥ ५३॥**

**अन्धा वमीषां पौराणां निर्वाक्पेश[6] स्करा वुभौ।**
**अक्षण्वता मधिपति स्ताभ्यां याति करोति च॥ ५४॥**

1. M, Ma °भू 2. A, B, G, I, J, M, Ma, T उ° 3. A, B G, I, J, T प° 4. W °ति 5. A, B, G, I, J, T, V °म्र° * The second half of the 53 verse is missing in T Edn. 6. A, B, G, I, J, T निर्वाक्पेशस्कृता°; M, Ma, Ms निर्वाक्योपस्करा

स[1] यर्ह्यन्तः पुरगतो विषूचीन[2] समन्वितः ।
मोहं प्रसादं हर्षं वा याति जायात्मजोद्भवम् ॥ ५५ ॥

एवं कर्मसु संसक्तः[3] कामात्मा वञ्चितोऽबुधः ।
महिषी यद्यदीहेत तत्तदेवान्ववर्तत ॥ ५६ ॥

क्वचित्पिबन्त्यां पिबति मदिरां मदविह्वलः ।
अश्नन्त्यां[4] क्वचिदश्नाति जक्षत्यां[5] सह जक्षिति[6] ॥ ५७ ॥

क्वचिद्गायति गायन्त्यां[7] रुदत्यां[8] रोदिति[9] क्वचित् ।
क्वचिद्धसन्त्यां हसति जल्पन्त्या मनु जल्पति ॥ ५८ ॥

**श्रीध. आसुरी** इति । असुरा इन्द्रियारामाः तेषा मिय मासुरी शिश्नद्वाः ग्रामकं ग्रामस्थं[10] जनानां कं सुखं व्यवायं दुर्मदेन गुह्येन्द्रियेण ॥ ५२ ॥

**निर्ऋति** रिति । निर्ऋति र्नाम गुदो मृत्युद्वारत्वात् । वैशसं मलविसर्गलक्षणं[11-] विषयम्[-11] लुब्धकेन पायुना तेन उत्क्रान्तस्य दुःखप्राप्ते र्लुब्धकसाम्यम् ॥ ५३ ॥

**अन्धाविति** । अमीषां मध्ये निर्वाक् पादः पेशस्कृत् हस्तः तावुभौ अन्धौ छिद्राभावात् स्वतो ज्ञानक्रियाशक्त्यभावाच्च । अक्षण्वता मिन्द्रियवतां देहाना[12] मधिपतिः पुरञ्जनः त्वगिन्द्रियस्या नुक्तिः सर्वेष्वन्तर्भावात् ॥ ५४ ॥

**स** इति । अन्तः पुरं हृदयं गतः विषूचीनं सर्वतोमुखं मनः मोहप्रसादहर्षाः तमस्सत्त्वरजः कार्याणि, जाया बुद्धिः आत्मजा इन्द्रियपरिणामाः तदुद्भवम् ॥ ५५-५६ ॥

**क्वचिदिति** । जक्षत्यां भक्षयन्त्याम् ॥ ५७, ५८ ॥

**वीर.** एवं पुर्या उत्तरेण[13] उत्तरस्यां दिशि देवहू र्नाम द्वाः तया पुरञ्जनः श्रुतधरान्वितः उत्तरपाञ्चालं याति । यद्यपि प्रवृत्ति

---

1. M, Ma, Ms स्वयं त्वन्तः 2. J °चीनं; M, Ma °चिना 3. V °बु° 4. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T, V °न्त्यां 5. V °न्त्या
6. A, J, M, Ma, Ms, T, V, W °क्ष° 7. Ms °त्यां 8. M, Ma, Ms, V, W °न्त्यां 9. A, B, G, I, J, M, Ma, T रुदति 10. A, B, J, Va °स्थज°
11--11. B, J, V, Va मलविसर्गम् 12. V देवा° 13. A, T omit उत्तरेण

निवृत्त्यनवबोधिनः शब्दा स्सन्ति संसारिणो जीवस्य श्रोतव्याः, तथाऽपि श्रोतव्यानां मध्ये प्रवृत्त्यवबोधि शास्त्रात्मकशब्दस्यैव श्रोतव्यत्वाभिप्रायेण दक्षिणपाञ्चाल मुत्तरपाञ्चाल मित्युक्तम्। एवं पूर्वत्राऽपि याति सौरभ मित्यादिषु द्रष्टव्यम्॥ ५१॥

पुर्याः पश्चा दासुरी नाम द्वाः अस्यते क्षिप्यतेऽनेनेन्द्रिय मित्यसुरं मेढ्रं, ततः स्वार्थेऽण् ''टिड्ढाणञ्'' (अष्टा. 4-1-15) इत्यादिना ङीप्, तया पुरञ्जनः दुर्मदेन दुरुद्धरः मदो यस्य तेन, उपस्थेन्द्रियेण समन्वितं ग्राम्यकं[1] ग्राम्यजनानां कर्म मैथुनादिकं याति॥ ५२॥

पुर्याः पश्चात् निर्ऋति[2-] नाम द्वाः[-2] निर्ऋति नामः मृत्युद्वारत्वात्, गुदं निर्ऋतिः तया पुरञ्जनः लुब्धकेन पाय्विन्द्रियेण तेजोत्क्रान्तस्य दुःखप्राप्ते र्लुब्धकसाम्यं तेन समन्वितः वैशसं नारकं दुःखं याति॥ ५३॥

अमीषां पौराणां पुर्याः सम्बन्धिनां द्वाराणां मध्ये उभौ द्वौ पादपाणी अधावज्ञौ निर्वाक्पेशस्कृतौ, वाक्शब्देनाऽत्र वागिन्द्रियाधिष्ठानं मुखरूपं छिद्रं लक्ष्यते निश्छिद्रपेश स्कृत्साम्या न्निर्वाक्पेशस्कृता वित्युच्येते। पेशस्कृन्नामा हि कीटविशेषः स्वापाना न्निस्सृतै स्तन्तुभिः स्वनिवासभूतं करण्डं निर्माय स्वनिर्ग मनद्वारं तन्मुखमप्यज्ञानेन पिधाय तत्रैव विनश्यति। तद्वत्पाणि पादयो र्निश्छिद्रत्वात् ज्ञानाभावाच्च तौ निर्वाक्पेशस्कृता वित्युच्येते। ताभ्यां द्वाभ्यां मक्षण्वता मिन्द्रियवतां देहाना मधिपतिः पुरञ्जनः याति गच्छति करोति कर्म करोति च॥ ५४॥

अन्तः पुरं हृदयं गतः[3] प्रविष्टः ''हृदि ह्ययमात्मा प्रतिष्ठितः'' (प्रश्न.उ. 3-6) इति श्रुतेः। य पुरञ्जनः यदा विषूचीनेन मनसा, विष्वगञ्चति सर्वतोव्याप्रियत इति विषूचीन मिति व्युत्पत्तेः, समन्वितो भवति तदा जाया बुद्धिः आत्मजा इन्द्रियवृत्तयः ताभ्यः उद्भवं मोहादीना मन्यतमं याति। मोहप्रसादहर्षाः तमस्सत्त्व रजः कार्याणि मनोगुणाः। अत्र त्वगिन्द्रियस्यानुक्तिः सर्वेष्वन्तर्भावात्॥ ५५॥

एवमिन्द्रियस्थानविषयाणां गौणनामानि कार्याणि चाभिधाय मनः पर्यन्त सर्वेन्द्रिययुक्तस्य जीवस्य[4] बुद्धिपारवश्य माह - **एव**मिति। अज्ञ : अत एव काम प्रवणम्[5] आत्मा मनो यस्य, कर्मसु कामसाधनेषु कर्मस्वासक्तः, अत एव दैवेन वञ्चितः, महिषी बुद्धिः यद्यदीहेत व्याप्रियेत यद्यच्छब्दादिविषयं प्रति इन्द्रियाणि प्रवर्तयतीत्यर्थः। तत्त देवान्ववर्तत अनुवृत्तवान्[6]॥ ५६॥

अनुवर्तनमेवोपपादयति - **क्वचिदिति** चतुर्भिः[7]। पिबन्त्यां पाने व्यापृतवत्यां[8] बुद्धौ पिपासा मुत्पादयन्त्यां सत्या मित्यर्थः। मदविह्वलः मदपरवश[9-] स्सन्[-9] मदिरां पिबति, एव मुत्तरत्राऽपि द्रष्टव्यम्। अश्नत्यां भुञ्जन्त्यां, जक्षत्यां[10-] चर्वन्त्याम्[-10]॥ ५७-५८॥

---

1. A, B, T ग्रामकं  2--2. W omits  3. W omits गतः  4. A, B, T omit जीवस्य  5. A, B, T °णः  6. W °वर्तितवान  7. W omits चतुर्भिः  8. A, B, T व्याप्रियन्त्यां  9--9. W omits  10--10. W भक्षयन्त्यां चरन्त्याम्

**विज.** पुर्या वामकर्णलक्षणा देवभू र्नाम द्वाः स्थिता, प्रजादिरूपेण क्रीडादिगुणोपेतत्वा देवः पितृगणः प्रियो भवत्यस्य श्राद्धा दिकर्तुरिति तेनोत्तरेण वामकर्णलक्षणद्वारेणोत्क्रान्तः पुरञ्जनः उत्तरपाञ्चाल मूर्ध्वलोकप्राप्तिहेतुत्वा दुत्तारः उत्तरन्ति वितरन्ति ददती त्युत्तराः पितर स्तेषां लोकलक्षणं राष्ट्रं याति। अत्राऽपि पूर्वोक्तेन सङ्घोपेतः पुत्रलक्षणं पुरं जनयतीति पुरुषप्रजननकर्मा लोको जीवः उत्तर मुत्कृष्टं पाञ्चालं प्रवृत्तिशास्त्रमिति वा, अन्यस्तु पूर्वोक्त एव। किमेत त्प्रतीतार्थं परित्यज्य व्यत्यस्य कथने कारण मिति चे दुच्यते- "दक्षिण श्रोत्रमार्गेण देवलोकं व्रजत्यसौ। वाम श्रोत्रेण पितृणा मिति वेदविदो विदुः" (प्रवृत्तितन्त्रे) इति प्रमाणम्॥ ५१॥

असुरजनहितत्वा दासुरी नाम पश्चात् द्वाः शिश्नलक्षणाऽस्ति, तया द्वारा ग्राम्यकं नाम मैथुनकं सुखं विषयं याति अनुभवति। दुष्टो मदो यस्य स तथा तेन, उपस्थेन्द्रियेण सहितः असूना मिन्द्रियाणां रतिहेतुत्वा दासुरीति वा, सुखहेतुत्वा द्वा (अ) सता मपि ग्राह्यम्॥ ५२॥

निर्गच्छत्यस्मा त्पुरीषलक्षणमलमिति निर्ऋति र्नामाऽधो द्वाः गुदलक्षणं छिद्रम्, वैशसं पुरीषोत्सर्गलक्षणं विषयं पापं हिंसालक्षणनरकं वा। लुब्धकेनाऽर्वागिन्द्रियेण कृच्छ्रेण मलमोचना देषा संज्ञा॥५३॥

अमीषां द्वाराणां मध्ये उभौ निर्वाक्पेशस्करौ पादो हस्त श्चान्धौ ज्ञानशून्यौ भवतः। निर्गतं वाक्यं यस्मात् स निर्वाक्यः पादः, कर्तुः पुरुषस्यो पकरण भूतत्वा दुपस्करो हस्तः 'हस-आदान' इति धातो रादातृत्वात्। अक्षाणीन्द्रियाणि विद्यन्ते येषां तेऽक्षण्वन्तो जीवा स्तेषां पतिः पुरञ्जन स्ताभ्यां [1-]पादहस्ताभ्या[-1] याति करोति चे त्यन्वयः॥ ५४॥

क्वचित् हृदयाख्यान्तः पुरं गतो विष्वक् सर्वतोऽञ्च तीति विषूचि मन स्तेन सहितः स्वयं पुरञ्जनो जायात्मजेभ्य उद्भवो जन्म यस्य स तथा, तमो मोहाद्यन्यतमं याती त्यन्वयः। जाया भक्ति रात्मजो ज्ञानं भक्तिज्ञाने तज्ज्ञानादुत्पन्नं प्रसीदत्यने नेति प्रसादः परमानन्दः मुह्यत्यनेनेति मोहो निरयः, हृष्यत्यनेनेति हर्षः स्वर्गस्तान्॥ ५५॥

इदानीं मसद्बुद्धेः प्रकारं दर्शयति - **एव** मिति। ग्राम्यकर्मसु काम्यन्त इति कामा विषया स्तेष्वात्मा मनोयस्य स तथा वञ्चितो देवेनेति शेषः। अबुधो विवेकशून्यः महिषी बुद्धिलक्षणा मतं हिनस्तीति महिषी, अन्यत्र मतं ददातीति महिषी। यद्यत्कर्म कारयितु मीहेत तत्तत्कर्मान्ववर्तत अन्वकरो देव॥ ५६॥

तत्किम्? तदाह - **क्वचिदिति**। पिबन्त्यां पातुमिच्छन्त्या मित्याद्यूह्यम्। अनेन सद्बुद्धि रपि ध्वनितेति ज्ञातव्यम्॥ ५७-५८॥

---

1--1. A omits

**क्वचि द्धावति धावन्त्यां तिष्ठन्त्या मनुतिष्ठति।**

**अनुशेते शयानाया मन्वास्ते क्वचि दासतीम्॥ ५९॥**

***क्वचिच्छृणोति शृण्वन्त्यां पश्यन्त्या मनुपश्यति।**

**क्वचि जिघ्रति जिघ्रन्त्यां स्पृशन्त्यां स्पृशति क्वचित्॥ ६०॥**

**[1]क्वचिच्च शोचतीं जाया मनुशोचति दीनवत्।**

**अनु [2]हृष्यति [3]हृष्यन्त्यां [4]मुदिता मनुमोदते॥ ६१॥**

**विप्रलब्धो महिष्यैवं सर्वप्रकृतिवञ्चितः।**

**नेच्छन्ननुकरो त्यज्ञः क्लैब्या त्क्रीडामृगो यथा॥ ६२॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टादश साहस्र्यां

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां

चतुर्थस्कन्धे पञ्चविंशोऽध्यायः॥ २५॥

**श्रीध. क्वचिदिति**। आसतीम् आसीनाम्॥ ५९, ६०, ६१॥

**विप्रलब्ध** इति। सर्वा असङ्गत्या[5]दिलक्षणा प्रकृतिः स्वभावो वञ्चितो यस्य, सर्वया प्रकृत्या वञ्चित इति वा, नेच्छन्ननिच्छन्, क्लैब्यात् [6-]पारवश्यात्[-6] [7-]क्रीडामृगो गृहमर्कटः[-7]॥ ६२॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीश्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां पञ्चविंशोऽध्यायः॥ २५॥

**वीर.** आसती मासीना मासिषां जनयन्ती मनुसृत्याऽऽस्ते॥ ५९॥

एवं शोचती मनुशोचतीत्यादे रर्थः॥ ६०-६१॥

---

* This verse is not found in Ms, W Edns. 1. V कर्हिचित् 2. M, Ma घृष्टति संघृष्टां 3. V संदृष्टां 4. W स्पृशन्त्यां स्पृशति क्वचित्।
5. A, B, J, Va °त्वा° 6--6. V omits 7--7. B, J, V, Va omit

एवं महिष्या बुद्धया विप्रलब्धः विशेषेण विमोहितः, अत एव सर्वा प्रकृति स्क्रोधाद्यात्मस्वभावः वञ्चिता यस्य सः, त्यक्तस्वभाव इत्यर्थः, नेच्छन्ननिच्छन्नपि क्लैब्यात् पारवश्यात् अनुकरोति, यथा क्रीडार्थो मृगः ॥ ६२ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवत चन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

**विज.** तथा हि महोऽस्याऽस्तीति महि ब्रह्म तस्मिन् नित्योत्सवसमुद्रे हरौ सीदति विषयीकृत्य वर्तत इति महिषी सद्बुद्धि स्तया विशेषेण प्रलब्धः प्राप्ताभीष्टकार्यलाभः सर्वप्रकृतिवञ्चितसर्वस्त्रीजनस्वभावः अं विष्णुं जानाती त्यज्ञः, सदबुद्ध्यधीनत्वात् क्रीडामृगत्वमपि युक्तम् ॥ ५९, ६०, ६१, ६२ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीविजयध्वजतीर्थकृतायां पदरत्नावल्यां

टीकायां पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

# षड्विंशोऽध्यायः

नारद उवाच

स एकदा महेष्वासो रथं पञ्चाश्व माशुगम्।
द्वीषं[1] द्विचक्रमेकाक्षं त्रिवेणुं पञ्चबन्धुरम्॥ १॥

एकरश्म्येकदमन मेकनीडं द्विकूबरम्।

पञ्चप्रहरणं सप्तवरूथं पञ्चविक्रमम्॥ २॥

हैमोपस्कर[2] मारुह्य स्वर्णवर्माक्षयेषुधिः।

एकादशचमूनाथः पञ्चप्रस्थ मगाद्वनम्॥ ३॥

चचार मृगयां तत्र दृप्त आत्तेषुकार्मुकः।

विहाय जाया मतदर्हां मृगव्यसनलालसः॥ ४॥

आसुरीं वृत्ति माश्रित्य घोरात्मा निरनुग्रहः।

न्यहनन्निशितैर्बाणै र्वनेषु वनगोचरान्॥ ५॥

## श्री श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

षड्विंशे मृगयाव्याजा त्स्वप्नजागरणोक्तितः[3]। सद्बुद्धित्यागयोगाभ्यां संसृति स्सा प्रपञ्च्यते॥

तदेव मात्मन उपाधिकृतां सुषुप्तावस्थां जाग्रदवस्थाञ्चोक्त्वा इदानीं स्वप्नावस्था माह - **स एकदेति** दशभिः। महानिष्वासो धनुः कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यभिनिवेशो यस्य सः, रथ मारुह्य पञ्चप्रस्थं वन मगादिति तृतीयेनाऽन्वयः। रथं तदानीमेव विधृतं स्वप्नदेहम्। जाग्रद्देहस्य शतसंवत्सरोपभोग्यपुरत्वे नोक्तत्वात्। पञ्च ज्ञानेन्द्रियाण्यश्वा यस्य, आशुगं शीघ्रगतिम्। द्वे अहन्ताममते ईषे दण्डिके यस्य, द्वे पुण्यपापे चक्रे यस्य, एकं प्रधान मक्षो यस्य, त्रयो गुणा वेणवो ध्वजा यस्य; पञ्च प्राणा बन्धुराणि बन्धनानि यस्य॥ १॥

---

1. M, Ma, Ms द्विकर्मच° 2. M, Ma, Ms हे° 3. V °भिः

**एकेति**। एकं मनो रश्मिः प्रग्रहो यस्य, एकाबुद्धि र्दमनः सूतो यस्य, एकं हृदयं नीडं रथिन उपवेशस्थानं यस्मिन्, [1-]द्वौ शोकमोहौ कूबरौ युगबन्धनस्थानं यस्य, [-1]पञ्च शब्दादयो विषयाः प्रहियन्ते प्रक्षिप्यन्ते यस्मिन्। अस्य व्याख्यानं भविष्यति- पञ्चे-न्द्रियार्थप्रक्षेप इति। सप्त धातवो वरूथा रक्षार्थं चर्माद्यावरणानि यस्य, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि विक्रमा गति प्रकारा यस्य॥ २॥

**हैमेति**। है मोपस्करं सौवर्णाभरणम्। स्वर्णवर्मा, वर्मकवचम्। रजोगुणावृतः। अक्षयेषुधिः। इषुधि र्निषङ्गः। अनन्तवासना [2]युक्ताहङ्कारोपाधिः। एकादशोमनोरूपश्चमूनाथः सेनापति र्यस्य। वासनामयस्य मनसः [3]प्रग्रहत्वात्सङ्कल्पविकल्पात्मकस्य बृहद्बलत्वेन वक्ष्यमाणस्य चमूनाथत्व मिति [4]भावः। पञ्चशब्दादयो विषयाः प्रस्था स्सानवो यस्मिन् तद्वनं भजनीयं देश मगात्॥ ३॥

**चचारेति**। आत्तगृहीता इषवो रागद्वे[5]षादिरूपाः कार्मुकञ्च भोगाद्यभिनिवेशरूपं येन, जायां विवेकवर्ती बुद्धिं विहाय अतदर्हां त्यागानर्हाम्। त्यागे हेतुः मृग्यन्त इति मृगा विषयाः तेषु व्यसनं भोगासक्तिः तेन लालसा अतिस्पृहा यस्य॥ ४॥

**आसुरी** मिति। बाणै रागादिभिः वनेषु भजनीयदेशेषु वनगोचरान् भजनीयविषयान् न्यहनत्। आत्मसा[6-]त्कृतवान्। आसुरीं राजसीम्[-6]। कथा पक्षेतु स्पष्टमेव॥ ५॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं सुषुप्त्यवस्थां [7-]जाग्रदवस्था[-7]ञ्चाऽभिधाय इदानीं स्वप्नावस्थामाह- स इतिदशभिः। स पुरञ्जन एकदा सुषुप्त्यनन्तरं महानिष्वासो धनुः कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यभिनिवेशो यस्य सः, रथ मारुह्य पञ्चप्रस्थं वन मगा दिति तृतीयेनाऽन्वयः। रथ शब्देनाऽत्र शरीरं विवक्षितम् "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथ मेव च बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रह मेव च॥ इन्द्रियाणि हयानाहुः" (कठ .उ.3.3) इत्यादिश्रुत्या उपासननिर्वृत्तौ शरीरादीनां रथादि भावेनाऽन्यत्र निरूपितत्वात्। तच्च शरीरमात्रौचित्या त्स्वाप्नं विवक्षितम्। तद्धि तदानीमेव स्वप्नद्रष्टृपुण्यपापानुरोधेनेश्वरसृष्टं भवति। जाग्रद्देहस्य तु शतसंवत्सरोपभोग्यपुरत्वेनोक्तत्वात्। रथं विशिनष्टि। [8]पञ्चाश्वं पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि [9-]चक्षुरादीनि[-9] अश्वा यस्य तम्। आशुगं शीघ्रगम्। अनेनाऽपि स्वाप्न मेव शरीर मत्र विवक्षितमित्यवगम्यते। जाग्रद्देहस्याऽऽशुगत्वासम्भवात्[10]। द्वावहङ्कारममकारौ ईषे दण्डिके यस्य तम्। द्वे पुण्यपापे चक्रे यस्य तम्। [11]तथैकं प्रधानमक्षो यस्य, त्रयो गुणाः सत्त्वादयो वेणवो ध्वजा यस्य तम्। पञ्चप्राणा बन्धुराणि बन्धनानि यस्य[12]॥ १॥

---

1--1. Va omits 2. B, J, V, Va omit युक्त 3. A, B, J, Va °त्वं 4. A, B, J, Va विभागः 5. A, B, J, Va omit द्वेष 6--6. B, J, V, Va omit 7--7. W omits 8. W omits पञ्चाश्वं 9--9. W omits 10. A, B, T add इति भावः 11. W omits तथा 12. A, B, T add तथाभूतम्

पुनः कीदृशम्[1-1]? एकं मनो रश्मिः प्रग्रहो रज्जुर्यस्य तम्। एका बुद्धि र्दमन स्सारथि र्यस्य, एकं हृदयं नीडं रथिन उपवेशस्थानं यस्य, द्वौ शोकमोहौ कूबरं युगबन्धनस्थानं यस्य, पञ्च शब्दादयो विषयाः, प्रह्रियन्ते प्रक्षिप्यन्ते आपात्यन्ते यस्मिन् तम्। सप्त धातवो वरूथाः चर्माद्यावरणानि यस्य तम्। पञ्च कर्मेन्द्रियाणि विक्रमा गतिप्रकारा यस्य[2]॥ २॥

हैमोपस्करं सुवर्णाभरणं स्वर्णाभरणविशिष्टस्वाप्नदेहसंसृष्टिसम्भवाभिप्रायेण हैमोपस्कर मित्युक्तम्, कथासौन्दर्याय वा। एव मनुपयुक्तं कथा सौन्दर्यायेति द्रष्टव्यम्। स्वर्णमयं वर्म कवचं रजोगुणवृत्ति र्यस्य, अक्षयेषुभिः इषवो बाणा धीयन्तेऽस्मि न्निति इषुधिः निषङ्गः अक्षय इषुधि रनन्तवासनाश्रयोऽहङ्कारो यस्य सः तत्र अबुद्धिपूर्वकप्रवृत्तिहेतुः संस्कारविशेषो वासना। सा च अज्ञानवासना, कर्मवासना, प्रकृतिसम्बन्धवासना चेति त्रिप्रकारा। अविद्या नाम ज्ञानानुदयान्यथाज्ञानविपरीतज्ञानरूपेण त्रिविधमज्ञानम्। प्रकृतिसम्बन्धः स्थूलसूक्ष्मरूपाचित्सम्बन्धः। स च देवमनुष्यादिदेहभेदेन बहुविधः। सजातीयकर्मारम्भेच्छा रुचिः। सा च विषयभेदा द्बहुप्रकारा। पुण्यापुण्यरूपेण द्विविधं कर्मेति ज्ञेयम्। एकादशेन्द्रियवृत्त्यात्मकसेनापतिः। पञ्च शब्दादयो विषयाः, प्रस्थाः सानवो यस्मिन् तद्वनं भोगस्थानमगात्॥ ३॥

तत्र वने दृप्तः गर्वितः स्वाप्नदेहपरवश इत्यर्थः। आत्ताः स्वीकृता इषवः वासनारूपाः कार्मुकं[3] कर्तृत्वाद्यभिनिवेशो यस्य, अतदर्हां त्यागानर्हां जायां ध्यात्मिकां[4] सात्त्विकीं बुद्धिं विहाय। त्यागे हेतुः - मृग्यन्ते इति मृगाः शब्दादिविषयाः तेषु, यद्व्यसन मलाभनिमित्तं दुःखं तेन लालसः अन्वेषणासक्तः॥ ४॥

आसुरीं तामसीं वृत्तिं बुद्धि माश्रित्य घोरात्मा घोर आत्मा चित्तं यस्य सः, रजोगुणकार्यक्रोधाविष्टः कामादिविरोधिषु[5] क्रुद्धचित्त इत्यर्थः। अत एव निरनुग्रहः विरोधि ष्वनुग्रहरहितः निशितैः कार्यक्षमैः विषयसान्निध्यापादकैरिति यावत्। बाणैः कर्म वासनारूपैः शरैः वनेषु भोगस्थानेषु वनगोचरान् वनगोचरमृगतुल्यान् दैवोपसादिता नित्यर्थः। न्यहनत् आत्मसा त्कृतवान् कथापक्षेतु स्पष्ट मेव॥ ५॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अधुना जाग्रदवस्थाप्रकारकथनेन संसारप्राप्तिं कथयन् जाग्रदवस्थाप्रवेशं तावदाह- **स एकदेति**। स पुरञ्जनः एकदा स्वप्नविषय भोगप्रापककर्मक्षये जाग्रद्भोगप्रापककर्मागमने सति पञ्चेन्द्रियद्वारेण सूनार्थ मात्मा प्रतिष्ठते यस्मिन्निति पञ्चप्रस्थं वनं जाग्रद्विषय लक्षणकान्तार मगा दनुबभूवे त्यग्रेणान्वयः। किं कृत्वा ? कथम्भूत इति तदाह- महेष्वास इति। मह्यत इति महः प्रणवः, स

1--1. W omits  2. A, B, T add तथाभूतम्  3. T omits कार्मुकं  4. A, B, T विवेकात्मिकां  5. A, B, T omit स आदि

एवेष्वासो धनु र्यस्य स तथा ; यथार्थकथन मेतत्। अन्यत्र महांश्चाऽसौ इष्वासोयस्येति स्वर्णवर्णलक्षणं रजोगुणाख्यं कर्म यस्य स तथा। अक्षये प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणे इषुधी यस्य स तथा। एकादशेन्द्रियलक्षणायाश्चम्वा नाथः पञ्चेन्द्रियाण्येव अश्वा यस्य त तथा, तम्। आशु गच्छति अस्ति जायते इत्यादिविकारं परिणामलक्षण मित्याशुग स्तम्, द्वे पुण्यपापलक्षणे कर्मणी एव चक्रे यस्य स तथा तम्, एकः सूत्रात्मा वायुरक्षो यस्य स तथा तम्, त्रयः सत्त्वादिगुणा एव वेणवो ध्वजा यस्य स तथा तम्, पञ्च प्राणा एव विनतोन्नत प्रदेशा बन्धुराख्या यस्य स तथा तम्। अनेन प्राणसञ्चारहेतवो नाडीविशेषाः कथ्यन्ते आधारो वा॥ १॥

एको मन आख्यो राश्मिः प्रग्रहो यस्य स च एको बुद्ध्याख्यो दमन स्सारथिर्यस्य स चैकरश्म्येकदमनः तम्। ''बुद्धि न्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च (कठ.उ) प्राणा बन्धुर मुद्दिष्टा गुणास्सत्त्वादयो ध्वजाः। मूलवायु रक्षसंज्ञश्चक्रे द्वे पुण्यदुष्कृते इन्द्रियाण्यश्वसंज्ञानि हृदयं नीड मुच्यते। शीतोष्णलक्षणौ द्वौतु कूबरौ शब्दपूर्वकम्। पञ्चप्रहरणं सप्तत्वगाद्या गुप्तयः स्मृताः। पृथिव्याद्या विक्रमाख्या देहाख्यो रथ उच्यते ''(अध्यात्मयोगे) इत्यध्यात्मयोगे। एकं हृदयलक्षणं नीडं यस्य स तथा तम् द्वौ शीतोष्णलक्षणौ कूबरौ युगन्धरौ यस्य स तथा तम्, पञ्चाना मिन्द्रियाणां पञ्चशब्दादिविषयाणां च सन्निकर्षलक्षणानि प्रहरणानि यस्मिन् स तथा तम्। पञ्चसूना साधनानि प्रहरणानि यस्मि न्नितिवा। सप्त त्वगाद्या धातवो वरूथो गुप्ते र्यस्य स तथातम्, पञ्चानां भूतानां विक्रमः प्रभावो यस्मिन् स तथा तम्॥ २॥

हैमोपस्करं मुकुटकुण्डलाभरणैः स्वर्णविकारै र्भूषितं रथं, रथ गता विति धातोः, ज्ञान लक्षणगमनसाधनं देहे मारुह्याधिष्ठायेति, अक्षयेषुधि रनन्तवृत्त्याऽऽलम्बमानान्तः करणो पाधिरिति वा। इषून् रागादीन् अस्यति निरस्यति ग्लापयतीति इष्वासो ज्ञानलक्षणः, स च महान् यस्य स इति वा॥ ३॥

इषवश्च कार्मुकञ्च आत्तं गृहीतं येन स तथा, रागाद्या इषवः कार्मुकं विवेककार्यं स्वकृत्यं मुञ्चत्यनेनेति निरुक्त्या। तत्र जाग्रद्विषयकानने मृगयां शब्दादिभोगलक्षणां चचार बुभुज इत्यन्वयः। अतदर्हां त्यागायोग्यां सुद्बुद्धिलक्षणां विहाय असद्बुद्धिलक्षणाञ्च आदाय इति शेष इति विवेकः। मृग्यन्त इति मृगाः विषयाः तेषां व्यसने भोगलक्षणे लालस उत्सुकः, अन्यत्र हरिणानां हिंसनाय उत्कटव्यापारवान्॥ ४॥

आसुरीं हिंसालक्षणां वृत्तिं घोरात्मा विषयप्रसङ्गनिमित्तसंसारभयरहितः निर्गतोऽनुग्रहो दयालक्षणो यस्मात्स तथान्यहनत्, हन हिंसागत्योरिति, नितरा मगच्छ दसेवतेत्यर्थः। निशितै र्बाणैः कपटमनोवृत्तिभिः वनेषु जाग्रद्विषयप्रदेशेषु वनगोचरान् तत्रत्यशब्दादि विषयलक्षणान् मृगान्॥ ५॥

**तीर्थेषु प्रतिदृष्टेषु[1] राजा मेध्यान्[2] पशून् वने।**

**यावदर्थमलं लुब्धो हन्या दिति नियम्यते॥ ६॥**

**य एवं कर्म नियतं विद्वान् कुर्वीत वा[3] न वा।**

**कर्मणा तेन राजेन्द्र ज्ञानेन न स लिप्यते॥ ७॥**

**अन्यथा कर्म कुर्वाणो[4] मानाऽऽरूढोऽनुबध्यते[5]।**

**गुणप्रवाहपतितो नष्टप्रज्ञो व्रजत्यधः॥ ८॥**

**तत्र निर्भिन्नगात्राणां चित्रवाजै श्शिलीमुखैः।**

**विप्लवोऽभू दुःखितानां दुस्सहः करुणात्मनाम्॥ ९॥**

**शशान् वराहान् महिषान् गवयान् रुरुशल्यकान्।**

**मेध्या[6] नन्यांश्च विविधान् विनिघ्नन् श्रममध्यगात्[7]॥ १०॥**

**श्रीध०** नन्वासुरीं वृत्ति माश्रित्येति किमिति मृगया निन्द्यते? कथापक्षे ताव द्राज्ञो विहितैव सा। अध्यात्मपक्षेऽपिजीवस्य विषयभोगो विहित एव, [8-]अन्यथा शरीरनिवहोऽपि न स्यात्[-8] इत्याऽऽशङ्क्याऽऽह- **तीर्थे**ष्विति त्रिभिः। अयं भावः - न हि मृगया विधीयते रागप्राप्तत्वात्। किन्तु नियम्यते, प्रवृत्तिः सङ्कोच्यते। नियममेवषड्विधं दर्शयति। यद्यल मत्यर्थं लुब्धो [9-]रागास[-9]क्तः हन्या त्तर्हि तीर्थेषु श्राद्धादिष्वेव, तत्राऽपि राजैव, मेध्यानेव, वन एव, यावदुपयोग मेवेति। एवं जीवस्य विषयसेवाऽपि यावदुपयोगं न यथेष्टमिति नियम एवेत्यर्थः॥ ६॥

अतो नाऽऽवश्यकत्व मित्याह - **य** इति। एवं नियमं कर्मविद्वान् तेनेत्युपलक्षणम् तेनाऽन्येनवाकर्मणैव मनुष्ठितेन यज्ज्ञानं भवति, तेन ज्ञानेन हेतुना सोऽनुष्ठाता न लिप्यते॥ ७॥

**अन्यथेति** - अन्यथा नियमोल्लङ्घनेन अन्तः करण शुद्ध्यभावात् कर्तृत्वाभिमान मारूढः कर्मभिरनुबध्यते। ततश्च गुणप्रवाहे पतितोऽधो व्रजति॥ ८॥

---

1. Ma, Ms श्रुति 2. M, Ma, Ms मेध्यप° 3. A, B, G, I, J, T, V मानवः 4. M, Ma, Ms णः कामरू° 5. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °ढो नि° 6. V °नन्या नमेध्यांश्च 7. V °मध्य° 8--8. B, J, V, Va omit 9--9. A, B, J, Va रागी सन्।

प्रासङ्गिकं परिसमाप्य पुनर्मृगया मेवाऽनुवर्णयति - **तत्रेति**। चित्रावाजाः पक्षा येषां तैः विप्लवो नाशः करुणात्मनां कृपालूनां दुस्सहः ॥ ९,१० ॥

**वीर०** नन्वासुरीं वृत्तिमाश्रित्येति मृगयानिन्दा न युक्ता, कथापक्षे राज्ञ स्तस्याः विहितत्वात् । अध्यात्मपक्षेऽपि दैवोपसादितविषयभोगो विहित एवे त्यत्राऽऽह - **तीर्थे** ष्विति त्रिभिः । मृगयाया रागप्राप्तत्वान्न सा विधीयते; किन्तु नियम्यते मृगयाप्रवृतिः सङ्कोच्यते इत्यर्थः नियम मेव षड्विध मुपदर्शयति- लुब्धोरागीसन् यदि निहन्यात्, तर्हि तीर्थेषु श्राद्धादिष्वेवनिमित्तेषु[1], तत्राऽपि प्रतिदृष्टेषु विहितमांसकेष्वेवेति। तत्राऽपि राजैव, मेध्यानेव, वन एव, यावदुपयोगमेवेति। अध्यात्मपक्षेऽपिजीवस्य यावदुपभोग मेव विषयभोगो नियम्यत इति भावः ॥ ६ ॥

य एवं विद्वान् हिंसाया विषय भोगस्य च रागप्राप्ततां तन्नियमञ्च विद्वान् कुर्वीत । हिंसा विषयभोगञ्च कुर्यान्न वा कुर्याद्वा रागप्राप्तत्वेनाऽऽवश्यकत्वाभावा दिति भावः । रागप्राप्तस्य नियमेन[2] हि पक्षे प्रत्यवायाभावमात्रं क्रियते नाऽदृष्टम् । अतः सुतरां रागप्राप्तस्यत्यागे न प्रत्यवाय इति नवेत्युक्तम्। तेनैवं नियतेन कर्मणा ज्ञानेन एवं कृतेन कर्मणा यज्ज्ञानं भवति तेन हेतुना स कर्ता न लिप्यते, पापै रिति शेषः। यद्वा स विद्वान् ज्ञानेन रागप्राप्तानां त्याज्योपादेयादिविवेकज्ञानरूपेण हेतुना कर्मणा अनादिपापरूपकर्मणा न लिप्यते ॥ ७ ॥

अन्यथा अनियतंकर्म कुर्वाणः अहम्ममाभिमानारूढः कर्मभि रनादि पुण्यापुण्यकर्मभि रनुबध्यते वशीक्रियते ततः कर्म पारवश्यात् गुणप्रवाहे संसारे पतितः नष्टदेहात्मविवेकः अधोनरकं व्रजति ॥ ८ ॥

एवं प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रकृतां मृगया मनुवर्णयति **तत्रेति**। चित्रवाजाः नानाविधवासनारूपा विचित्रपक्षाः येषां तैः वासनाभि रुपोद्बलितै रित्यर्थः। शिलीमुखैः पुण्यापुण्यकर्मभिर्हेतुभूतैः निर्भिन्नानि अनुभवेन जीर्णानि गात्राण्यवयवा येषां तेषां मृगाणां विषयाणां विप्लवो नाशः करुणात्मनां कृपालूनां दुस्सहोऽभूत् कर्मभिरनुजीर्णावयवान् विनष्टान् शब्दादिविषया ननुसन्दधतां सर्वभूतसुहृदां ज्ञानिनां विषयविप्लवो मनसाऽपि स्मर्तुमसह्योऽभूदित्यर्थः। कथापक्षे स्पष्टोऽर्थः ॥ ९ ॥

**शशान् वराहा** नित्यादिकथनं शब्दादिभेदेन[3] तदवान्तरभेदेन[-3] विषयवैचित्र्यज्ञापनाय। कथापक्षेतु तत्सौन्दर्याय। मेध्यान् विहितान् अन्यानविहितांश्च विषयान् विनिघ्न न्नात्मसात्कुर्वन् व्यापृतकरणत्वाच्च श्रम मध्यगात् प्राप्तवान् ॥ १० ॥

---

1. A, B, T °षु तान्नि° 2. A, B, T omit नियमेन 3--3. A, B, T omit

**विज०** ननु राज्ञो हि मृगया [1-]निष्ठात्मया पशु[-1] हिंसया न दोषः "राजा मृगार्थी मृगयांचरन् दोषैर्न लिप्यते" इति, "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इत्यादौ विहितत्वात् कथ मासुरीं वृत्ति माश्रित्येति निन्द्यते इति तत्राऽऽह **तीर्थे ष्विति**। श्रुतिदृष्टेषु श्रुतिस्मृतिविहितेषु तत्तत्स्थानेषु राजा स्वविहिताचारनिष्ठया शोभमानो मेध्यान्पशून् अजमृगप्रभृतीन् यावदर्थं यावत्प्रयोजनं लुब्धः फलार्थीहन्यादित्यलं नियम्यते, विधिवाक्यै रिति शेषः। अध्यात्मेति प्रमाणकेषुतीर्थेषु शास्त्रेषु विहिता न्मेध्यान् मेधयोग्यान् ज्ञानयोग्यान् पशून् गोसधर्मान् रमणीयान् विषयान् वने विषयव्यवहारे वर्तमानो लुब्धो गृध्नुः यावता देहावस्थितिः तावन्मात्रम्, अलमत्यर्थं हन्या द्रच्छेत्, सेवार्थ मिति शेषः, इति नियम्यते शिक्षाविषयीक्रियते इति। अल मिति विशेषणात् अलुब्धो लोकोपकारार्थं पशून् घ्नन् आत्मार्था दधिक मपि हनन मपि कुर्वन्न दुष्यतीति तात्पर्यं ज्ञायते। तदुक्तम् - "उपकारः सतां येन तत्कृत्वानैव दुष्यति। अतीव निन्दित मपि बहुहिंसायुगेव वा" (अध्यात्मे) "अथवा ज्ञानिनः कर्म न दुष्टमपि लिप्यते" (अध्यात्मे) इति॥ ६॥

ननु नियतकर्माकरणे ज्ञानिनोऽपि दुष्कर्मलेपः स्या दिति तत्राऽऽह - **य एवमिति**। यो नियत मनियतं वा विद्वान् जानन् एवं विविधं पुण्यं पापं वा कर्म कुर्वीत, न वा कुर्वीत स [2]ज्ञानी तेनोभयविधेन कर्मणा न लिप्यते। केन निमित्तेनेत्यत उक्तं - ज्ञाने नेति। कर्मलोपाभावे ज्ञानं कारण मित्यर्थः। तद्यथा- "पुष्करपलाशे आपोन श्लिष्यन्ते। एव मेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते (छान्द. उ.4-17-3) इति श्रुतेः। "अथवा ज्ञानिनः कर्म न दुष्टमपि लिप्यते" (अध्यात्मे) इति स्मृतेश्च॥ ७॥

अन्यपक्षे बाधक माह- **अन्यथेति**। अन्यथा ज्ञानाभावे अनर्थोऽपि भवतीत्याह- गुणप्रवाह इति॥ ८॥

एवं प्रासङ्गिकीं कथां समाप्य प्रकृत मनुसरति - **तत्रेति**। [3]तत्र विषयलक्षणे वने चित्रवाजैः अनेकाङ्कुरमुखाख्यपक्षोपैतैः शिलीमुखैः शिलावत् दृढमुखैः लम्पटेन्द्रियमनोवृत्तिविशेषै र्निर्भिन्नगात्राणां मृदितनानावयवानां करुणात्मनां पापनिमित्तेन मुक्ताना मस्माकं परलोकेऽपि न गति रस्तीति रुदिताना मिव स्थितानां यथाशास्त्रमुक्तानां विषयाणां विप्लवो विनाशः समाश्लिक्षणोऽभूदित्यन्वयः। अन्यच्च [4]व्यक्तम्॥ ९॥

शशान् वराहा निति। मेध्यान् महिषा नित्यादिना तु अमेध्यान् शशा नतिशायितानन्दलक्षणान् वरणीयत्वेनाहेयान् महिषान् महितं ददातीति निरुक्त्या। सन् दान इति धातुः, तस्य ड प्रत्ययः। सकारस्य मूर्धन्यादेशः। गवयान् गतवयसः जरसं गतानिति शेषः। रुरून् रोदनहेतून्, शं सुखं विलापयतीति शल्यकान् इत्येवमादिविषयान् निघ्नन् गच्छन् भुञ्जान इत्यर्थः॥ १०॥

---

1--1. A, B सञ्जातपशुः, Ma निष्ठोत्तमादिषु 2. A, B ज्ञाता 3. A omits तत्र 4. B, M, Ma °त्र

ततः[1] क्षुत्तृट्परिश्रान्तो निवृत्तो गृह मेयिवान्।
कृतस्नानोचिताहारः[2] संविवेशगतक्लमः ॥ ११ ॥

आत्मान मर्हयाञ्चक्रे धूपालेपस्रगादिभिः[3]।
साध्वलङ्कृतसर्वाङ्गो महिष्या मादधे मनः ॥ १२ ॥

तृप्तो हृष्ट स्सुदृप्तश्च कन्दर्पाकृष्टमानसः।
न व्यचष्ट वरारोहां गृहिणीं गृहमेधिनीम् ॥ १३ ॥

अन्तः पुरस्त्रियोऽपृच्छद्विमना इव वेदिषन्[4]।
अपि वः कुशलं रामाः सेश्वरीणां यथा पुरा ॥
न तथैतर्हि[5] रोचन्ते[6] गृहेषु गृहसम्पदः ॥ १४ ॥

यदि न स्या द्गृहे माता पत्नी वा पतिदेवता।
व्यङ्गे रथ इव प्राज्ञः को नामाऽऽसीत दीनवत् ॥ १५ ॥

श्रीध० तदेवं स्वप्नावस्था दर्शिता। इदानीं पुनरपि विवेकवत्या बुद्ध्या रममाणस्य पुत्त्रादिसम्पत्तिं[7] प्रपञ्चयिष्यन् कथासौन्दर्याय तस्याः प्रणयकुपिताया अनुनयं प्रस्तावसहित माह- तत इत्याऽऽरभ्य[8] यावदध्याय समाप्ति। एयिवान् आगतः कृतं स्नान मुचित[9] आहारश्च येन। संविवेश शय्या माश्रितः ॥ ११, १२ ॥

तृप्त इति। कथम्भूतः[10-]? तृप्तः बाह्येच्छारहितः, हृष्टः सन्तोषं प्राप्तः, अतएव सुष्ठु दृप्तः आत्मान मन्यं वा न जानाति सन्तोषे कारण माह- कन्दर्पेति कं स्वरूपसुखं दर्पयति प्रकटयतीति कन्दर्पः स्वापः तेनाऽऽकृष्टं मानसं यस्य स तथा[-10]। गृहमेधिनीं[11-] विवेक वतीं[-11] सात्त्विकीं बुद्धिं राजस्यां बुद्ध्यां वर्तमानो नाऽपश्यत् ॥ १३ ॥

अन्तःपुरेति। हेवेदिषत् हे प्राचीनबर्हिः! अन्तः पुरस्त्रियः त्वत्सखीः सेश्वरीणां स्वामिनीसहितानाम्। यथापुरेत्यादि पृथग्वाक्यम् ॥ १४ ॥

यदीति। व्यङ्गे चक्राद्यङ्गहीने[12] ॥ १५ ॥

---

1. V ततस्तूरुपरि 2. W °तो° 3. W °प° 4. A, B, G, I, J, Ms, T °षत् 5. V °व हि 6. W शोभन्ते 7. A, B, J, Va सन्तति° 8. V omits आरभ्य 9. V °ता हा° 10--10. A, B, J, Va omit 11--11. B, J, V, Va omit 12. B, J, V, Va omit अङ्ग।

**वीर०** एवं राजस्या बुद्धेः कार्यभूतां जाग्रदवस्थां तामस्या बुद्धेः[1] कार्यभूतां स्वप्नावस्थाञ्चाऽभिधाय इदानीं विद्वान् कुर्वीतेति सूचित विवेकः कथमुदेतीति विविस्तायां प्रणयकलहनिमित्तक्रोधाविष्टप्रियानुनयकथनव्याजेन[2] संसारिणो जीवस्य विवेकात्मकसात्त्विकबुद्धेर्दौर्लभ्यं द्योतयन् "प्रवृत्तिञ्च निवृत्ति ञ्च कार्याकार्ये भयाभये। बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिस्सा पार्थ, सात्त्विकी (भ.गी.18-30) इत्युक्तसात्त्विक बुद्ध्यलाभदशायां दैवा त्तदलाभनिमित्तपरितापोदयं ततस्तल्लिप्सां तत स्तदुचितसाधनै स्तल्लब्धिञ्च द्योतयन् कथापक्षे तत्सौन्दर्याय तां बुद्धिं महिषीत्वेन इन्द्रियवृत्ती रन्तः पुरस्त्रीत्वेन परिकल्प्य तदनुनयप्रकारमाह- **तत** इत्यादिना। क्षुत्तृड्भ्यामशनायापिपासाभ्यां परिश्रान्तः स्वाप्नशरीरेऽपि क्षुत्तृषो स्नुवृत्ते रेव मुक्तम्। ततः स्वाप्नविषयानुभवरूपमृगयाया निवृत्तः गृहं पुरत्वरूपितजाग्रद्देहगतहृदयस्थान मेयिवान् प्राप्तः। ततः कृतं स्नान मुचित आहारश्च येन सः, अतएव गतश्रमः सम्य गुपविष्टवान्॥ ११॥

ततो धूपादिभि रात्मान मर्हया ञ्चक्रे ततः साधु सम्यगलङ्कृतानि सर्वाण्यङ्गानि येन सः, महिष्यां मन आदधे। कृतस्नानो चिताहार इत्यनेन सुखजनक विवेकात्मक सात्त्विकबुद्ध्युत्पत्ति प्रारम्भावस्थायाः सुखकरत्वं सूच्यते। स्नानाऽऽहारधूपालेपनस्रग्भूषणाद्यलङ्कारै र्जातानन्द इव महिष्यां विवेकात्मिकायां बुद्धौ मन आदधे निहितवा नित्यर्थः। कथापक्षे तु स्पष्टोऽर्थः॥ १२॥

उचिताहारेणतृप्तः धूपालेपस्रगादिभिर्हृष्टः सुदृप्तः[3] तृप्तिवृष्टिभ्यां सुतरां दृप्तः अत एव च कन्दर्पेणाऽऽकृष्टं वशीकृतं मानसं यस्य सः, गृहमेधिनः स्वस्य सम्बन्धिनीं गृहिणीं गृहमस्या अस्तीति गृहिणी[4], तां स्वाश्रय एव स्थितां वरारोहां[5] वरस्त्रियं न व्यचष्ट न ददर्श यथा कामपरवशः स्वगृहे एव क्वचिदन्तर्हितां प्रियां नाऽपश्य त्तथाऽयं जीवोविवेकात्मक बुद्धिलिप्सापरवश स्तां स्वाऽऽश्रयस्थितां न लब्धवा नित्यर्थः॥ १३॥

हेवेदिषन्[6]! हे प्राचीनबर्हिः! विमना इव दुःखितमना इव अन्तः पुरस्त्रियः तत्सखी रपृच्छत् पुरञ्जनः। तदलाभनिमित्तवैमनस्यः बुद्धिमूलकेन्द्रियवृत्तीः पप्रच्छ कथा इन्द्रियवृत्त्या बुद्धिः सात्त्विकी स्या दिति परिशीलितवानित्यर्थः। प्रश्नमेवाऽऽह - अपीति त्रिभिः। हे रामाः स्त्रियः! सेश्वरीणां स्वामिनीसहितानां वः युष्माकम् अपि कुशलम्? अपिशब्दः प्रश्ने कुशलप्रश्ने हेतुः हि यस्मात् गृहेषु पुरा महिष्या व्यापारदशायां गृहसम्पदः यथैव रोचन्ते, न तथेदानीं रोचन्ते। विवेकाभावेन न कोऽपि पुरुषस्य गुणः प्रकाशते, अतो विवेकः किमुदेष्यतीति चिन्तितवा नित्यर्थः॥ १४॥

---

1. W omits बुद्धेः 2. W °यनक° 3. W omits सुदृप्तः 4. A, B, T omit गृहिणी 5. W omits वर 6. A, B, T °षत्। 7. A, T शोधिता

गृहे माता वा पति र्देवता यस्या स्सा पत्नी वा यदि न स्यात् तर्हि व्यञ्जे चक्राश्वादिरहिते रथे इव प्राज्ञः बुद्धिमान् को नाम पुरुषो दीनव दासीत निवसे दित्यर्थः। विवेकाभावे देहत्यागोवर मिति भावः ॥ १५ ॥

**विज०** जाग्रद्विषया ननुभूय सुषुप्ति प्राप्तिप्रकार माह - **तत** इति। ततो जागरणान्निवृत्तः क्षुत्तृल्लक्षणमनोवृत्तिभ्यां व्याप्तः श्रान्तः हृल्लक्षणनाडीविशेषं प्राप्तः कृतं जाग्रद्विषयभोगरजोमार्जनलक्षणं स्नानं येन सः, उचितआहारः स्वरूपसुखावाप्तिलक्षणो यस्य स तथा, संविवेश सुप्तोऽभू दित्यन्वयः ॥ ११ ॥

स्वापात्पूर्वव्यापार माह- **आत्मान** मिति। महिष्यां बुद्धौ अथवा धूपादिलक्षणवृत्तिभि रात्मान मन्तर्यामिलक्षणं ब्रह्मस्वरूप मर्हयाञ्चक्रे सम्पत्तिलक्षण मलङ्कार मकरोत्। "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति" (छान्द. उ. 6-8-1) इति श्रुतेः। सम्पत्तिलक्षणालङ्कारयुक्तसर्वावयवः हृष्ट इत्यादिना सुप्तावस्थाविशिष्ट उच्यते। अनेन स्वप्नप्राप्ति रपि निरूप्यते इति ज्ञातव्यम्, तदा वृत्त्याद्यवस्थानुभवः स्पष्ट एव। स्वप्नप्रापककर्मोद्रेके सति महिष्यां बुद्धौ मन आदधे इत्युपपद्यते। कं स्वरूपसुखं दर्शयति प्रकटयतीकन्दर्पः स्वापः तेनोत्कृष्टं मानसं यस्य स तथा, स्वाप्नावस्थाया मपि स्वापस्य सत्त्वात्॥ १२ ॥

बुद्ध्याहितमनाः किमकृतेति तत्राऽऽह- **नव्यचष्टेति**। गृहमेधिनी मुपात्तज्ञानवतीं गृहिणीं नानावासनाकारमनोवृत्तिमतीं वरस्य हरे रारोहो विषयतया यस्यास्सा वरारोहा तां शास्त्रीयां बुद्धिं न व्यचष्ट। दर्शनं नाम निश्चयज्ञानं नोपैतीति ज्ञातव्यम्। स्वप्नस्य वासनात्मकत्वात् निर्णयज्ञानवान्नाऽभूदित्यर्थः। हे वेदिषन्! प्राचीनबर्हिः! अन्तः पुरस्त्रियः इन्द्रियवृत्तीः मनोवृत्तीर्वा अपृच्छत् स्वप्नव्यापार मकरोत्॥ १३ ॥

हे रामाः! इति वृत्तय स्सम्बोध्यन्ते। ईश्वरी बुद्धिः गृहसम्पदः शरीरेन्द्रियादिशोभाः बुद्धौ विद्यमानायां रेचन्ते नाऽन्यदेति॥ १४ ॥

व्यञ्जे चक्राश्वादिरहिते रथे प्राज्ञो बुद्धिमान् रथी अङ्गलक्षणेन प्राणेन हीने देहे प्राज्ञः सुषुप्तिप्रवर्तकः परमात्मा॥ १५ ॥

**क्व वर्तते सा ललना मज्जन्तं व्यसनार्णवे।**
**या मा मुद्धरति प्राज्ञा दीपयन्ती पदे पदे॥ १६ ॥**

**रामा ऊचुः**

**नरनाथ न जानीम स्त्वत्प्रिया यद्व्यवस्यति।**
**भूतले निरवस्तारे शयानां पश्य शत्रुहन्! ॥ १७ ॥**

1. A omits प्राप्ति 2. A अन्न 3. A, B, G, I J, T, W °ते 4. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T प्रज्ञा° 5. V बोध

[1-] नारद उवाच [-1]

**पुरञ्जनः स्वमहिषीं निरीक्ष्यावधुतां भुवि।**

**तत्सङ्गोन्मथितज्ञानो वैक्लव्यं परमं ययौ॥ १८॥**

**सान्त्वयन् श्लक्ष्णया वाचा हृदयेन विदूयता।**

**प्रेयस्याः [2] प्रेमसंरम्भलिङ्गमात्मनि [3] नाऽभ्यगात्॥ १९॥**

**अनुनिन्येऽथ शनकै वीरोऽनुनयकोविदः।**

**पस्पर्श पादयुगल माहचोत्सङ्गलालिताम्॥ २०॥**

**श्रीध०** *केति। पदे पदे क्षणे क्षणे कर्ता भोक्ता सुख दुःखयोरिति प्राज्ञा मत्स्वरूपं दर्शयन्ती या मा मुद्धरति॥ १६॥

**नरनाथेति**। निरवस्तारे आस्तरणरहिते॥ १७॥

**पुरञ्जन** इति। अवधुतां त्यक्तदेहादराम्। तत्सङ्गेनोन्मथितं व्याकुलं ज्ञानं यस्य॥ १८॥

**सान्त्वय** न्निति। [4] प्रेमसंरम्भः प्रणयकोप·, तस्यलिङ्गं कुटिलदृष्ट्यादि [5] आत्मानि स्वस्मिन् [6] न लब्धवान्॥ १९॥

**अनुनिन्य** इति। उत्सङ्ग [7] मङ्क मारोप्य लालिताम्॥ २०॥

सा ललना क्व वर्तते ? कथम्भूता ? [8] या ललना व्यसनार्णवे दुःखार्णवे मज्जन्तं मां पदे पदे [9] स्वयं [10] प्राज्ञा दीपयन्ती बोधयन्ती सती [11] उद्धरति व्यसनार्णवात् यथा विरहशोकातुरं पुमांसं प्रौढा प्रिया तदनुकूलाचरणहितोपदेशादिना शोक मपनुद्य सुखयति तद्वद्विवेकात्मिका बुद्धिरपि पदे पदे हिताहितं प्रकाशयन्ती पुमांस मुद्धरति। [12] ईदृशी बुद्धिः क्व वर्तत इति [13-] प्रश्ने तल्लिप्साव्यज्यते॥ १६॥ [-13]

हे नरनाथ ! त्वत्प्रिया यद्व्यवस्यति निश्चिनोति तन्नजानीमः ; यदर्थं वैमनस्य मापन्ना तद्वैमनस्यहेतुं न जानीमः, त्वत्प्रियान्तु जानीम इत्याहुः। हे शत्रुहन् ! निरवस्तारे आस्तरणरहिते भूतलेऽवधुतां शयानां पश्येति कथापक्षेऽर्थः। अथात्मपक्षे त्वबाधितेन्द्रिय

---

1--1. V, W omits 2. A, B, G, I, J, T स्नेह 3. V चाऽभ्यगात्। * The commentary on 16th verse is not found in A. B, J, Va Edns
4. A, B, T Va स्नेह 5. A, B, J, Va omit आत्मनि 6. V omits न 7. A, B, J, Va omit अङ्कम् 8. A, B, T omit या 9. A, B,T add क्षणे क्षणे
10. A, B, T प्रज्ञा° 11. A. B, T °ते 12. W °श° 13--13. A, B, T omit

वृत्तीनां सर्वासां निश्चयात्मिकबुद्धिमूलकत्वात् कयापीन्द्रियवृत्त्या सा नोदेतीत्यालोच्य यदनादरवशात् प्रियानादृता सतीव मद्विमुखी अभू दित्यनुसंहितवानित्यर्थः। आदरो बुद्धेः शिक्षणम्॥ १७॥

पुरञ्जनो भुवि पतितां महिषीं निरीक्ष्य तत्सङ्गेनोन्मथितं व्याकुलं ज्ञानं यस्य सः परमं भृशं वैक्लब्यं शोकपारवश्यं ययौ। अहो मदीयेयं बुद्धिः एतावन्तं काल मेवं विपरीताऽभूदिति वैक्लब्यं यया वित्यर्थः॥ १८॥

ततः श्लक्ष्णया मृद्वया वाचा विदूयता परितप्तेन हृदयेन मनसा सान्त्वयन् अनुनयन् प्रेयस्याः प्रियायाः प्रेमसंरम्भः प्रणयेन स्वस्मिन् यः कोपः तस्य लिङ्गं कारण मात्मनि मनसि नाऽध्यगात् न निश्चितवान्। विवेकोदयसाधनभूतस्वादरणं मन्विच्छन् ताव देतावत्कालं तदनुदये कारण मन्वेषय न्नपि तन्नाऽध्यगादित्यर्थः। तस्य दैवयत्तत्त्वा दिति भावः॥ १९॥

**वीर०** पुरञ्जनः अनुनये सान्त्वने कोविदः कुशलः अनुनयकोविदैरिति तृतीयान्तपाठे तु वाक्यै रिति विशेष्यम् अध्याहार्यम्। शनकै र्महिषी मनुनिन्ये सान्त्वयामास। अनुनयप्रकारमेवाऽऽह - पादयुगलं पस्पर्श प्रियायाः पादौ गृहीतवान्। तत उत्सङ्गारोपणादिना[1] लालिता माह। अध्यात्मपक्षे त्वनुनये स्ववशीकारे कोविदै र्निपुणै रुपायैः स्ववशा मनुनिन्ये। पस्पर्श पादयुगल मित्यनेन अद्यप्रभृति विवेकात्मिकां बुद्धि मनुसृत्यैव वर्तेयेति प्रतिज्ञातवा नित्युक्तं भवति। उत्सङ्गलालिता माहेत्यनेन स्ववशीकृतया विवेकात्मिकया बुद्ध्या एव मनुसंहितवा नित्युक्तम्॥ २०॥

**विज०** पदे पदे अनुक्षणं मम प्रज्ञां दीपयन्ती भगवद्विषयज्ञान मुद्बोधयन्ती यामामुद्धरति, संसारादिति शेषः। सा ललना शोभना बुद्धिः क्व वर्तत इत्यन्वयः॥ १६॥

बाह्यकथा मनुसृत्य उत्तरकथा प्रत्युत्तर माह - **नरनाथेति**। यद्व्यवस्यति यन्निश्चित्य तिष्ठति तन्न जानीम इत्यन्वयः। निरव स्तारे आस्तरणरहिते भूतले पूर्णे भगवत्पादमूले शयानां विषयीकुर्वाणाम् यथार्थवर्णनमेतत्॥ १७॥

इदानी मसद्बुद्धिनिमित्त प्रवृत्तिप्रकार माह - **पुरञ्जन** इति। प्राचीनकर्मवैचित्र्यात् प्रतिक्षणं वृत्तिभेदोऽपि प्रामाणिक एवेत्यत एतद्वचन मुपपद्यत इति। अवधुतां सद्वृत्तिभि रिति शेषः। तस्या वैषयिक्या बुद्धेः सङ्गेन स्वीकारेण तादृशकर्मणा प्राप्तेनोन्मथितं नष्टं ज्ञानं यथार्थलक्षणं यस्य स तथा॥ १८॥

प्रेयस्या बुद्धेः प्रेम्णा संरम्भो हिंसालक्षणो नाशो यस्तस्य लिङ्गं कारणमात्मनि स्वस्मिन्नाऽध्यगात् न ज्ञातवान्। रजसाऽऽकुलितान्तरत्वात्। रम्भ हिंसायाम्॥ १९॥

---

1. A, B °पादिना

**अनुनिन्य** इत्यादिकथालङ्कारः। अनुनयनं नाम विषयबुद्धिवश्यत्वप्रकटनं, बुद्धे र्मनआदिचत्वारः पादाः तेष्वंशद्वयं पस्पर्श स्वीकृतवान्, मनोलक्षण उत्सङ्गे[1] सम्भाविताम् इद मेव स्वीकरणम्॥ २०॥

## पुरञ्जन[2] उवाच[2]

**नूनन्त्वकृतपुण्यास्ते भृत्या येष्वीश्वराः शुभे।**
**कृतागः स्वात्मसात्कृत्वा शिक्षादण्डं न युञ्जते॥ २१॥**

**परमो[3]ऽनुग्रहो दण्डो भृत्येषु प्रभुणार्पितः।**
**बालो न वेद तत्तन्वि बन्धुकृत्य ममर्षणः॥ २२॥**

**सा त्वं मुखं सुदति सुभ्रुनुरागभार व्रीडाविलम्बविलसद्धसितावलोकम्।**
**नीलालकालिभि रुपस्कृत मुन्नसं नः स्वानां प्रदर्शय मनस्विनि वल्गुवाक्यम्॥ २३॥**

**तस्मिन्दधे दममहं तव वीरपत्नि! योऽन्यत्र भूसुरकुलात्कृतकिल्बिष स्तम्।**
**पश्ये न वीतभय मुन्मुदितं त्रिलोक्यां क्रुद्धस्य[4] वै मुररिपोरितरत्र[5] दासात्॥ २४॥**

**वक्त्रं न ते वितिलकं मलिनं विहर्षं संरम्भभीममविमृष्ट मपेतरागम्।**
**पश्ये स्तनावपि शुचो पहतौ[6] सुजातौ बिम्बाधरं विगतकुङ्कुमपङ्करागम्॥ २५॥**

**तन्मे प्रसीद सुहृदः कृतकिल्बिषस्य स्वैरं गतस्य मृगयां व्यसनातुरस्य।**
**को देवरं वशगतं कुसुमास्त्रवेग विस्रस्त पौंस्न[7] मुशती न भजेत कृत्ये॥ २६॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे पुरञ्जनोपाख्याने षड्विंशोऽध्यायः॥ २६॥

**श्रीध० नून** मिति। कृतमागोऽपराधो यै स्तेषु आत्मसात्कृत्वा अस्मदधीनोऽय मिति मत्वा शिक्षार्थं दण्डं न कुर्वन्ति ते भृत्या मन्दभाग्याः॥ २१॥

---

1. A सम्मानितां 2--2. M. Ma, V, W omit 3. M, Ma °मा नु° 4. A. B, G. I. J, T °क्यामन्यत्र; W °क्या अन्यत्र। 5. V मे 6. M, Ma °हू° 7. M, Ma, W °स्य°; V °स्क°।

**परम** इति। यतः परमोऽनुग्रहो दण्डः। यस्तु दण्डितो[1] विषीदति सोऽज्ञ इत्याह- बाल इति। बन्धुकृत्यं शिक्षाकरणम् अमर्षणः क्रोधी॥ २२॥

**से**ति। हे सुदति, हे सुभ्रु! हे मनस्विनि! सा त्व मस्माकं स्वामिनी, अतः स्वानां नः[2] मुखं प्रदर्शय। कीदृशम्? अनुरागभरेणव्रीडया च यो विलम्बो मन्थरता तेन विलसन् हसितावलोको यस्मिन्। नीला[3] अलका एवाऽलयः तैरुपस्कृतं भूषितम्। उन्नतनासिकम्[4]। वल्गुवाक्यं यस्मिं स्तत्॥ २३॥

तस्मिन्निति। हे वीरपत्नि! वीरस्य मम भार्ये! यस्ते कृतापराधः तस्मिन्नहं ब्राह्मणकुला दन्यत्र अन्यस्मिन्[5] प्राणिनि मुरारिपोर्दासात्[6-] भगवद्भक्तात्[-6] दमं दधे दण्डं करोमि। किन्तु तं विगतभय मुच्चै र्मुदित ञ्च त्रिलोक्या मन्यत्र वै लोकत्रयाद्धरिपि न पश्यामि यस्तेऽपराधी[7-] स यत्र कुत्राऽपि गतो[-7] मद्भयादेवाऽसौ मरिष्यतीत्यर्थः॥ २४॥

**वक्त्र**मिति। ते वक्त्र मितः पूर्वं कदाचिदपि वितिलकं न पश्यामि। संरम्भेण कोपावेशेन भीमं भयङ्करम्, अविमृष्टमनुज्ज्वलम्। अपेतरागं स्नेहशून्यं, तथा ते सुजातौ शोभनौ स्तनावपि शोकाश्रुभि रुपहतौ* न पश्यामि। तथा बिम्बफलाकार मधरञ्च विगतः कुङ्कुमपङ्कतुल्यरागः ताम्बूलरागो यस्मात् तादृशं न पश्यामि। इदानीं कुत एवं जात मिति शेषः पाठान्तरे एवम्भूतं मुखं स्तनौ च पश्यन् शं न विन्दामीत्यन्वयः। विगतः कुङ्कुमपङ्करागो याभ्यामिति स्तनयो र्विशेषणं वा[8] ॥ २५॥

**तदिति**। तत्तस्मात्कृतं किल्बिषमपराधो येन तस्य। किल्बिष मेवाऽऽह स्वैरं स्वातन्त्र्येण त्वामपृष्ट्वा मृगयां गतस्य देवो[9-] देवन[-9] क्रीडा तां राति ददातीति देवरः कान्तः तम्। कामवेगेन विस्रस्तं गतं[10] पौंस्नं[11] पौरुषं धैर्यं यस्य तम्। उशती कामयमाना कृत्ये कर्तुं योग्येऽर्थे का न भजेत॥ २६॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्री श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां षड्विंशोऽध्यायः॥ २६॥

---

1. A, B, J, Va दण्डतः 2. A, B, J, Va omit नः 3--3. V लीलालका 4. V उच्च 5. B, J, v, Va omit प्राणिनि 6--6. A, B, J, Va omit 7--7. B, J, V, Va omit * पश्यं स्तनावपि शुचोपहतौ सुजातौ, विन्दामि शं विगतकुङ्कुमपङ्करागौ - This is the reading found in Jf. 8. A, B, J, Va omit वा 9--9. V दिवो देवः सा 10. A, Va omit गतं 11. V पौरंकं

**वीर०** हे शुभे ! ईश्वराः स्वामिनः येषु कृतापराधेषु भृत्येषु आत्मसात्कृत्वा मदधीना एते, अतो नैते दण्डनीया इति मत्वा शिक्षार्थं दण्डं न कुर्वन्ति ते भृत्या मन्दभाग्या इत्यर्थः ॥ २१ ॥

कुतः ? यतः प्रभुणा भृत्येष्वर्पितो दण्डः परमोऽनुग्रहः भृत्यानां हितायैव भवतीत्यर्थः । यस्तु दण्डितो विषीदति, सोऽज्ञ इत्याहबाल इति । अमर्षणः दण्डं न मृष्यती त्यमर्षणः । हे तन्वि ! तद्बन्धोः स्वामिनः कृत्यं शिक्षाकरणं न वेद अनुग्रह इति न वेद स बालो मूर्खः अज्ञ इत्यर्थः । अतो मम शिक्षार्थमेव स्वामिनीत्वं विमुख्यभू रित्यर्थः । अध्यात्मपक्षेतु स्वामिनीवत् मद्रक्षणैकान्तया बुद्ध्या विवेकात्मिकाया इतः पूर्व मनुदयोऽस्मदनुग्रहार्थ एव, यतो हमिदानीं विवेकालाभनिमित्तपरितापयुक्तः तामेव । अतीव आदृत वा नित्यनुसन्दध इत्यर्थः ॥ २२ ॥

हे सुदति ! हे सुभ्रु ! हे मनस्विनि ! सा त्व मस्माकं स्वामिनी अतः स्वानां नो मुखं प्रदर्शय । कीदृशम् ? अनुरागभारेण व्रीडया च यो विलम्बो मन्थर स्तेन विलसन् हसितावलोको यस्मिन्, नीलालका एवाऽलयः, तै रुपस्कृतं भूषितं उच्चनासिकं वल्गु वाक्यं यस्मिन्, निरतिशयसौन्दर्ययुक्तायाः प्रियाया उक्तविधमुखावलोकनसञ्जात मानन्द मनुभव न्निवाऽहं स्थिरे निरतिशय सुखापादक विवेकोदये सुखीत्यनुसंहितवानित्यर्थः ॥ २३ ॥

हे वीरपत्नि ! वीरस्य मम भार्ये ! यस्ते तुभ्यं कृतकिल्विषः कृतापराधः तस्मिन्नहं ब्राह्मणकुला दन्यत्र कुलेऽपि मुरिपुदासा दितत्र[1] दमं दण्डं दधे करोमि । मे त्वत्सहायस्य मम क्रुद्धस्य सतः, त्रिलोक्या[2] बहि रपीति शेषः । त्रैलोक्या द्बहिश्चाऽन्तश्च उच्चै र्मुदितं विगत भयञ्च तं[3] पुरुषं न पश्यामि यदीयं व्यवसायात्मिका बुद्धि र्मम सुप्रतिष्ठिता[4] स्यात्तदा तत्सहायोऽहं तद्विरोधिनो निरस्यामि विवेकिना मया असाध्यं किमपि त्रिलोक्या अन्तर्बहिश्च न विद्यते । मुरिपुदासादय स्तु विवेकिनो ममाऽनुकूला एवेत्यनुसन्दधे ॥ २४ ॥

ते[5] तव वक्त्र मितः पूर्वं कदाचिदपि वितिलकं तिलकरहितं न पश्यामि । इदानीन्तु मलिनं विगतहर्षं, संरम्भेणक्रोधावेशेन भीमं भयङ्करम् अविमृष्ट मनुज्ज्वल मपेतरागं स्नेहशून्यं तथा ते सुजातौ शोभनौ[6] स्तनावपि शोकाश्रुभिरुपहतौ च तथा बिम्बफलाकार मधर ञ्च विगतः कुङ्कुमपङ्कतुल्यः ताम्बूलरागो यस्मिन् तादृशं पश्यामि । कुत एवं जात मिति शेषः । व्यवसायात्मकबुद्धे रभिव्यक्तेः प्रारम्भदशाया मविशदत्वात् तादृशावस्थांतां प्रियानादरनिमित्त क्रोधेनाऽऽत्मान मनलङ्कुर्वतीं शोचन्तीं स्त्रियमिवोत्प्रेक्षते[7] इत्यर्थः ॥ २५ ॥

तस्मात्कृतं किल्बिष मपराधो येन तस्य । किल्बिषमेवाऽऽहस्वैरं स्वातन्त्र्येण त्वा मपृष्ट्वा मृगयाङ्गतस्य मे प्रसीद प्रसन्ना भव । देवं

1. A, B, T °दन्यत्र 2. A, B, T त्रैलोक्यात् 3. A, B, T omit तं 4. A, B, T सम्प्र 5. W omits ते 6. A, B , T omit शोभनौ
7. W adds स्म

देवनं क्रीडां राति ददातीति देवरः कान्त स्तं कामवेगेन विस्रस्तं गतं पौंस्नं[1]पौरुषं धैर्यं यस्य तम्, अत एव वशङ्गतं का स्त्री कामयमाना कृत्ये कर्तुं योग्येऽर्थे[2] न भजेत? भजेतैवेत्यर्थः। विवेका भावा दप्रसन्नस्य मम स्वप्नावस्थाऽभूत्। अतो विवेकात्मकबुद्धियुक्तो ऽहं प्रसन्नो वर्तेय। एव महम्ममाभिमानौ विहाय वशङ्गतं कार्यापादकं मां व्यवसायात्मिका बुद्धिरपीहानुवर्तिष्यत इत्यनुसंहितवा नित्यर्थः॥ २६॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवत चन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां षड्विंशोऽध्यायः॥ २६॥

**विज०** ये येषु कृतापराधेषु शिक्षालक्षणं दण्डं न कुर्वते नूनं तेऽकृतपुण्या इत्यन्वयः॥ २१॥

दण्डस्य निग्रहलक्षणत्वात् कथं प्रार्थ्यत इत्यत आह - **परम** इति। तर्हि लोकः कथं दुःखं मन्यत इति तत्राऽऽह- बाल इति। दण्डस्य पापप्रायश्चित्तरूपत्वात् न जानातीत्यर्थः। अनुतापादिवृत्तिविशेष इति ज्ञातव्यम्॥ २२॥

उपस्कृतं मण्डितम्॥ २३॥

भूसुरकुलात् ब्रह्मकुलात् क्रुद्धस्य मे सकाशा द्वीत भयं नष्टभयं तं न पश्ये॥ २४॥

इतः पूर्वं वक्त्रादिकं विगततिलकादिकं न पश्यामीत्यन्वयः। शुचा शोकाश्रुणोपहतौ, सुजातौ कौमलौ॥ २५॥

कुसुमास्त्रस्य कामस्य वेगेन विस्रस्तं श्लथितं पौंस्नं[3] पौरुषं यस्य स तथा तं देवं रतिक्रीडादिकं राति ददातीति देवर पति त, कृत्ये प्रयोजननिमित्ते प्राप्तु मुशती कामयमाना का स्त्री न भजेत॥ २६॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीविजयध्वजतीर्थ कृतायां पदरत्नावल्यां

टीकायां षड्विंशोऽध्यायः॥ २६॥

---

1. A, B, T omit णौस्यं 2. A, B, T योग्यार्थे 3. A, B पौस्नं।

# सप्तविंशोऽध्यायः

## नारद उवाच

इत्थं पुरञ्जनं सध्र्य[1] ग्वश मानीय विभ्रमैः ।
पुरञ्जनी महाराज[2]रेमे रमयती पतिम् ॥ १ ॥

स राजा महिषीं राजन् सुस्नातां[3] रुचिराननाम्[4] ।
कृतस्वस्त्ययनां तृप्ता मभ्यनन्द दुपागताम् ॥ २ ॥

तयोपगूढः परिरब्ध कन्धरो रहोऽनुमन्त्रै रपकृष्टचेतनः ।
न कालरंहो बुबुधे दुरत्ययं दिवा निशेति प्रमदापरिग्रहः ॥ ३ ॥

शयान उन्नद्धमदो महामना महार्हतल्पे महिषीभुजोपधिः[5] ।
ता[6] मेव वीरोऽमनुत[7] व्यवायत स्तमोऽभिभूतो न निजं परं च[8] तत्[9] ॥ ४ ॥

तयैवं रममाणस्य कामकश्मलचेतसः ।
क्षणार्धमिव राजेन्द्र व्यतिक्रान्तं नवं वयः ॥ ५ ॥

## श्री श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

सप्तविंशेप्रियापुत्राद्यासक्त्याविस्मृतात्मनः । कालकन्याद्युपाख्यानै र्जरारोगाद्युदीर्यते ॥

तदेवं जीवस्यानुनयादिकथासौन्दर्येण अत्यन्तमुपाधि वश्यत्व मुक्त्वा तन्निमित्तां संसारपरम्परां निरूपयितु माह- इत्थमिति। अत्र च प्रतिपदं कथञ्चिदध्यात्मपक्षेऽपि योजयितुं शक्यमेव । श्रीनारदेन तु जीवस्य स्त्रीपुंसवासनादार्ढ्येन[10] विचित्रा संसृति र्भव तीत्येतावदेव कथातात्पर्यं दर्शितम् । "क्वचि त्पुमान्क्वचिच्चस्त्री क्वचिन्नोभय मन्धधीः । देवो मनुष्य स्तिर्यग्वा यथाकर्मगुणं भवः" (भाग. 4-29-29) इति वदता तत्राऽऽदौ पुंस्त्वेन संसृति रध्यायत्रयेणोक्ता, ततश्चैकेनाध्यायेन स्त्रीत्वेन संसृतिं प्रदर्श्य, ईश्वर प्रसादलब्धज्ञानेन मोक्ष इत्युक्तम् । तत स्तदेव यथोपयोगं व्याख्यात मिति पञ्चाध्याय्यर्थः[11] प्रतीयते । प्रतिपदमध्यात्मयोजना तु दुर्घटा प्रायशो[12] निष्प्रयोजना[13]चेति स्वप्रौढि प्रख्यापन मनादृत्य यथोपयोगमेव व्याख्यास्यामः । सध्र्यक् सम्यक् विभ्रमै[14] र्विलासैः ॥ १ ॥

---

1. J सम्यग्व° 2. V राज्ञी; W राजं 3. M, Ma, Ms रुचिराम्बरसंवृताम् 4. V °राम्बराम् 5. M, Ma, Ms °धे। 6. W °क 7. A, B, G, I, J, T मनुते परं यतः 8. M, Ma, Ms हि 9. A, B, G, I, J, T, V यत् । 10. A, B, J, Va पुरुष 11. A, B, J, Va °ध्याय्यारम्भः 12. B, J, V, Va omit प्रायशः 13. A, B, J, Va omit प्र 14. V omits विभ्रमैः

**स** इति। कृतं स्वस्त्ययनं मङ्गलं कुङ्कुमसिन्दूरादिभिः यस्यास्ताम्॥ २॥

**तथेति**। उपगूढः परिरब्धः। परिरब्धा कन्धरा तस्या येन। रह एकान्ते अनुमन्त्रै रनुकूलै र्गुह्यभाषणैः अपकृष्टा चेतना विवेको यस्य। कालरंह आयुर्व्ययः[1]। दिवानिशम्[2-] अहर्निशम्[-2] प्रमदैव परिग्रहो, न ज्ञानसाधनं यस्य॥ ३॥

**शयान** इति। महार्हतल्पे उत्कृष्टशय्यायां शयानः महिष्या भुजा उपधिः उपधान मुच्छीर्षकं यस्य। अविसर्गपाठे शयनक्रियाविशेषणम्। तां महिषीमेव परं पुरुषार्थममन्यत, नतु यत्रिजं रूपं ब्रह्म तत् तमसा अज्ञानेनाऽभिभूतो यतः॥ ४॥

***तयेति**। नवं वयः परिशुद्धज्ञानानन्द स्वरूपं व्यतिक्रान्तं गतप्रायमासीत्॥ ५॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं जाग्रत्स्वप्न सुषुप्त्यादिभिः अवस्थाभिस्संसरतो जीवस्य दुर्लभोऽपि कदाचिद्दैवा त्सञ्जातपरितापस्य विवेकात्मकबुद्ध्युदयः उक्तः[3]। इदीनी मेवं सञ्जातविवेकमपि अनन्तवासनारुचिप्रकृति सम्बन्धादियुक्तं पुमांसं "यया धर्म मधर्म ञ्च कार्य ञ्चाकार्य मेव च। अथयावत्प्रजानाति बुद्धिस्सापार्थ! राजसी॥, अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसा वृता। सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिस्सा पार्थ! तामसी" (भ.गी. 18-31,32) इत्युक्तविधरजस्तमः प्रचुरा सती बुद्धिः पुनः प्रसह्य स्ववशीकृत्य संसारयामासेत्याह- **इत्थमिति**। हे महाराज! इत्थं दैवात्कदाचित् सञ्जातविवेकमपि पुरञ्जनं विभ्रमैः धर्माधर्म कार्याकार्यादिविषयकै र्विभ्रमैः, भ्रमजननद्वारेत्यर्थः। सध्र्यक् सम्यक् शनैः स्ववश मानीय पुरञ्जनी रजःप्रचुरा बुद्धिः पतिं रमयती स्वकार्यप्रवणं कुर्वती स्वयं रेमे व्यापृतवती। कथापक्षे तु सम्यग्विभ्रमैः विलासैः, अन्यत् स्प ष्प्। केचिदत्र "प्रतिपदं कथञ्चिदध्यात्मपक्षे योजयितुं शक्य मेव, श्रीनारदेन तु जीवस्य स्त्रीपुरुषवासनादार्ढ्येन विचित्रा संसृति र्भवती त्येतावदेव कथातात्पर्यं दर्शितम् - "क्वचित्पुमान् क्वचिच्च स्त्री क्वचिन्नोभय मन्धधीः। देवो मनुष्य स्तिर्यग्वा यथाकर्मगुणं भवः" (भाग. 4-29-29) इति वदता तत्राऽऽदौ पुंस्त्वेन संसृतिरध्यायत्रयेणोक्ता, ततश्चैकेनाध्यायेन स्त्रीत्वेन संसृतिं प्रदर्श्य ईश्वरपमादाल्लब्धज्ञानेन मोक्ष इत्युक्तं, तत स्तदेव यथोपयोगं[4] व्याख्यात मिति पञ्चाध्याय्यर्थः प्रतीयते। प्रतिपद मध्यात्म योजना तु दुर्घटा निष्प्रयोजना चेति स्वप्रौढिख्यापन मनादृत्य यथोपयोगमेव व्याख्यास्यामः" - इत्याहुः। तत्र प्रतिपदमध्यात्मयोजन मनुपयुक्तञ्चेत् किमर्थं तत्कथन मिति प्रष्टव्यम्[5]। न च कथासौन्दर्यायेति वक्तुं शक्यम्। अध्यात्मोपयुक्तांशकथनेनैव तत्सौन्दर्यलाभात्, अन्यथा कथासौन्दर्यार्थं मनुपयुक्तांशानां बहूनां सत्त्वेन तेषामपि कथनापत्तेः। यदपि क्वचित्पुमा नित्यादि, तन्न, क्वचित्पुमानित्यादिग्रन्थस्य

---

1. A. B, J, Va °यम् 2--2. B, J, V, Va omit * The commentary on the 5th verse is not found in A, B, J, Va. 3. A, B, T omit उक्तः
4. W °देशं 5. A, B, T द्र°

क्वचित्पुमानित्यादिग्रन्थस्य निगमनपरत्वेन प्रधानप्रतिपाद्यस्यैव निगमनीयत्वेन तस्य प्रतिपद मध्यात्मयोजनाभावे प्रमाणत्वाभावात्। नहि यावन्तोऽर्थाः कथिताः ते सर्वे निगमनीया इत्यस्ति नियमः । यदपि यथोपदेशं व्याख्यात मित्यादि, तदपि न, अप्रसिद्धपदव्युत्पत्तिकथनेन तदनुकूलतया प्रसिद्धव्युत्पत्तीनां पदानां व्याख्यातुं शक्यत्वेन तावन्मात्रव्युत्पत्ति प्रदर्शनात्। यदपि चोक्तं प्रतिपदमध्यात्मयोजना दुर्घटा निष्प्रयोजना चेति ; तत्र निष्प्रयोजनत्वं यथोपदेशं व्याख्यातेषु पुरञ्जनादिष्वप्यविशिष्टं, जीवस्य स्त्रीपुरुषवासनादार्ढ्येन विचित्रा संसृति र्भवति। ईश्वरप्रसादलब्धज्ञानेन मोक्ष इत्युक्त्यैव चारितार्थ्येन पञ्चाध्याय्या वैयर्थ्यस्य स्पष्टत्वात्। दुर्घटा चेति परमवशिष्यते। तत्राऽत्यन्तदुर्घटं यत्पद मध्यात्मपक्षे, तद्विहाय अन्यानि पदानि सर्वाणि तत्पक्षे व्याख्येयान्येव। अनुपयुक्तं पद मगत्या कथासौन्दर्यायेति वक्तुं युक्तम्। यत्र श्लोकस्थानां सर्वेषामपि पदानां दौर्घट्यं "सा त्वं मुखं सुदति सुभ्रुनरागभार" (भाग.4-26-23) इत्यादौ तत्र पदसङ्घातात्मकवाक्यार्थ द्योत्यत्वस्य कस्यचिदुपयुक्तार्थस्य योजना कर्तव्या॥ १॥

तथा हि हे राजन् ! स राजा पुरञ्जनः सुस्नातां कृतमङ्गलस्नानां रुचिर मुज्ज्वल मम्बरं यस्याः, कृतं स्वस्त्ययनं मङ्गलं कुङ्कुमसिन्दूरादिभिर्यस्या स्तां, तृप्तां स्वाद्वन्नपानादिभिः उपागतां समीप मागतां महिषी मभ्यनन्दत्। सुस्नातां रुचिराम्बरादिभिः सुन्दरतरां महिषी मभिनन्दन्निव[1] राजसीं बुद्धि मनुकूला ममन्यतेत्यर्थः॥ २॥

तथा महिष्या उपगूढः आश्लिष्टः परिरब्धा आश्लिष्टा महिष्याः कन्धरा येन सः। अनेन जीवबुद्ध्योरन्योन्यं दृढतरसम्बन्धः सूचितः[2], एकत्वेनानुसन्धानञ्च व्यज्यते। रह एकान्ते अनुकूलैर्गुप्त भाषणैः[3] शब्दादिविषयचिन्तनैः अपकृष्टा चेतना विवेको यस्य प्रमदेव प्रमादालस्यकारिणी बुद्धि रेव परिग्रहो न विवेको यस्य सः॥ ३॥

महार्हतल्पे उत्कृष्टशय्यायां हृदये शयानः अधितिष्ठन्[4-] कालरंहः कालवेग[-4] मायुष्यं दुरत्ययं संसारिणोऽवर्जनीयं दिवा निशेत्येवं रूपेण न बुबुधे नाऽनुसंहितवानित्यर्थः। कथापक्षे तु स्पष्टोऽर्थः[5]। महार्हतल्पे[6-] उत्कृष्टशय्यायां[-6] हृदये महिष्या भुज एव उपधिः, उपधीयतेऽस्मिन् शिरइत्युपधि रुपधान मुच्छीर्षकं यस्य सः शयानः। अनेन बुद्धिपारवश्यं सूचितम्। व्यवायतः विषयभोगात्तमोऽभिभूतः अज्ञानतिरोहितः तामेव महिषी मेव बुद्धिसङ्गकृतं वैषयिकसुख मेव पुरुषार्थ ममनुत न तु निजं स्वरूपं तत्परं परमात्मस्वरूपञ्च नाऽन्वमन्यत इत्यर्थः॥ ४॥

तया महिष्या एवं तत्पारवश्येन रममाणस्य संसरतः अत एव कामैः शब्दादिभि रनुभूयमानैः कश्मलं मलिनं चेतो यस्य। हे राजेन्द्र ! नवं नूतनं वयः क्षणार्धमिव व्यतिक्रान्तं देहविशिष्टस्यैव भोक्तृत्वा देहाभिप्रायेण नवं वयः व्यतिक्रान्त[7] मित्युक्तम्। पक्षान्तरेऽप्ययमेवार्थः॥ ५॥

---

1. A, B, T °नन्दयन् स्त्रिय मिव 2. W omits सूचितः 3. W °ह्य° 4--4. W omits 5. W स्पष्टम् 6--6. W omits 7. W अति°

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

पुरञ्जननाम्न। जीवस्य जाग्रत्स्वप्नयो रन्यस्या मवस्थायां विषयप्रसरण माह- **इत्थ मिति**। विभ्रमै र्वृत्तिविशेषैः रेमे विषयेषु व्यावृत्तवत्यां जयलक्षणवृत्त्यां सुषुप्तजनव त्स्थितम्॥ १॥

रुचिरेण कमनीयेन अम्बरेण नानावसनेन संवृतां, कृतं स्वस्त्ययनं स्वस्त्याशीर्वचनस्य अयनं वृत्तिविशेषो यस्याः सा तथा तां, तामसानां तामससङ्गमोऽसुखकारण इति द्योतनायैव मुक्तिः॥ २॥

कया चि द्वृत्या परिरब्धः वृत्यन्तराख्यकन्धरः "कण्ठो ग्रीवा कन्धरा च" इत्यभिधानम्। रहोऽनुमन्त्रैर्भणितादिलक्षणवृत्तिभि रपकृष्टं चेतनं स्वरूप ज्ञानं यस्य स तथा। इदं दिवा ज्ञानम्, इयं निशा अज्ञान मिति कालरंहो ज्ञानाज्ञानविशेषावस्थां, प्रमदा वैषयिकबुद्धिरेव परिग्रहो यस्य स तथा॥ ३॥

शयान स्तत्त्व मजानन् महार्हतल्पे ज्ञाननाशिनि वृत्ति विशेषे महिषीभुजोपधे बुद्धे रहङ्करलक्षणवृत्तिशिरोऽधिष्ठाने तामेवाऽमनुत कर्ता भोक्ता सुखीदुःखीति तद्धर्मा नात्मन्यमन्यत। तत्रा कारण माह- व्यवायत इति मैथुनलक्षणाज्ञानवृत्तिविशेषात्, इदमेवाऽह- तम इति। निज मात्मानं तत्परं ब्रह्मलक्षणं तत्त्वं नाऽमन्यत। "निज मात्मीय नित्ययोः (म्)" (वैज.को.6-4-9) इत्यभिधानम्॥ ४॥

वयः शुद्धज्ञानानन्दरूपलक्षणं व्यतिक्रान्तं गत प्राय मासीत्॥ ५॥

**तस्या[1] मजनय त्पुत्रान् पुरञ्जन्यां पुरञ्जनः।**
**शतान्येकादश विराडायुषोऽर्धमथाऽत्यगात्॥ ६॥**

**दुहितॄ र्दशोत्तरशतं पितृभ्रातृयशस्करीः।[2]**
**शीलौदार्यगुणोपेताः पौरञ्जन्यः प्रजापते॥ ७॥**

**स पाञ्चालपतिः[3] पुत्रान् पितृवंशविवर्धनान्।**
**दारै स्संयोजयामास दुहितॄः सदृशैर्वरैः॥ ८॥**

**पुत्राणाञ्चाऽभवन्पुत्रा एकैकस्य शतं शतम्।**
**यै र्वै पौरञ्जनो वंशः पाञ्चालेषु[4] समेधितः॥ ९॥**

---

1. V °मजीजनत्पु° 2. A, B, G, I, J, T, W °मातृ 3. A, B, G, I, J, प° 4. A, B, G, I, J, T प°

**तेषु तद्रिक्थ हारेषु गृहकोशानुजीविषु।**

**निरूढेन ममत्वेन विषयेष्वन्वबध्यत॥ १०॥**

**श्रीध० तस्यामिति**। पुत्रानिन्द्रियपरिणामान्, दुहितृ स्तदनन्तर बुद्धिवृत्तीः इयं[2] पुत्रसंख्या च बाहुल्यमात्रविवक्षया, दुहितृसंख्या तु पुत्रेभ्यो न्यूनत्वेन गार्हस्थ्य सौन्दर्यार्थमेव[3]। विराट् सम्राट् आयुषोऽर्ध मित्याद्यपि कथासौन्दर्यार्थमेव। पुरञ्जनकन्यात्वात् पौरञ्जन्यः। हे प्रजापते!॥ ६,७॥

**स इति**। दारैः परिणामानन्तरं हिताहितचिन्ताभिः वरै रुचित विषयभोगैः॥ ८॥

**पुत्राणा मिति**। पुत्राणांपुत्राः कर्माणि पाञ्चालेषु[4] शब्दादिविषयेषु॥ ९॥

**तेष्विति**। तेषुपुत्रादिषु तेषामपि ये रिक्थहाराः पुत्राः, तेषु च॥ १०॥

**वीर०** तस्यांमहिष्यां पुरञ्जनः पुत्रा निन्द्रियपरिणामरूपान् एकादश शतानि अजीजनदुत्पादयामास। हे विराट्! इति सम्बोधनम्। आयुषः पुरुषायुषः[5-5] शतसंवत्सरात्मकस्याऽर्धं पञ्चाशद्वर्षात्मक मतिक्रान्त मभूत्। इदमपि देहाभिप्रायेणोक्तम्॥ ६॥

दुहितृ रिन्द्रियपरिणामानन्तर भाविनी बुद्धिवृत्तिरूपाः दशाधिकशतं पित्रो र्जीवबुद्ध्योः भ्रातृणा मिन्द्रियपरिणामानाञ्च यशस्करीरनुकूलाः। अनुकूलो हि यशस्करो न तु प्रतिकूलः। शीलं राजसतामसस्वभावः अनन्तसुखाभिव्यक्तिजनकत्वरूप मौदार्यरूपश्च यो गुणः, तेनोपेताः युक्ताः अजीजन दित्यनुषङ्गः। सर्वा अपि दुहितरो दशाधिकशतं पौरञ्जन्यः, पुरञ्जनस्याऽपत्यत्वात्पौरञ्जन्य इत्युच्यन्ते। हे प्रजापते! अत्र पुत्रसंख्या बाहुल्यमात्राभिप्राया, दुहितृसङ्ख्या च पुत्रेभ्यो न्यूनत्वेन गार्हस्थ्यसौन्दर्यार्था॥ ७॥

स पाञ्चालपतिः। पञ्चन्ति विषया न्व्यक्तीकुर्वन्ति अनुभावयन्तीति पञ्चालाः इन्द्रियाणि। पञ्चाला[6] एव पाञ्चालाः, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण्, तेषां पतिः करणाधिपो जीव इत्यर्थः। पित्रोर्वंशं विशेषेण वर्धयन्तीति तान् इन्द्रियपरिणामरूपान्, दारै र्हिताहितचिन्तारूपाभिर्भार्याभिः संयोजयामास। तथा दुहितृः वरै रुचितै र्विषयभोगरुपैः पतिभि स्संयोजयामास॥ ८॥

पुत्राणां पुत्राः पुण्यापुण्यकर्मरूपा एकैकस्य शतं शतं, शत शब्दो बाहुल्याभिप्रायकः, अभवन्। पौत्रा न्विशिनष्टि - यैः पौत्रैः पौरञ्जनोवंशः संसारः पाञ्चालेषु शब्दादिविषयेषु निमित्तेषु। निमित्तमिहफलम्, शब्दादिविषयभोगार्थ मित्यर्थः। समेधितः संवर्धितः। यद्वा वंश इन्द्रिय परिणाम तदनन्तरबुद्धिवृत्तिरूपपुत्रपुत्र्यादि रूपो वंशः शब्दादिविषयेषु कर्मभिरेव समेधित इत्यर्थः॥ ९॥

1. M, Ma °मू° 2. B, J, V, Va omit इयं 3. Omits एव 4. A, B, J, Va प° 5--5. W omits 6. A, B. T ते

तेषु तस्य पुरञ्जनस्य रिक्थहारेषु पुत्रेषु गृहं शरीरं कोशः अहम्ममाभिमानाश्रयोऽहङ्कारः अनुजीविन इन्द्रियप्राणादयः तेषु निरूढेन रूढमूलेन ममत्वेन ममकारेण[1] विशेषेणाऽऽसक्त न प्राबुध्यत, स्वस्वरूपपरमात्मस्वरूपे इति शेषः ॥ १० ॥

**विज०** अभिभूतनिजज्ञानस्य तस्य विषयबुद्धे र्नानावृत्युत्पत्तिप्रकारमाह- **तस्या** मिति। चक्षुरादीनि मनोन्तानीन्द्रियाणि एकादश संज्ञानि विषयीकृत्य शत मनन्ताः परिणामा वृत्तयो भवन्ति, ताः शतान्येकादश पुत्रा उच्यन्ते। बाल्यावस्थायां बुद्धिविस्ताराभावात् यौवनावस्थायां तत्सम्भावन मपेक्ष्य आयुषोऽर्ध मगा दित्युच्यते। विषयमेव राजयतीति विराट्॥ ६ ॥

परिणामानन्तरं बुद्धिवृत्तयो दुहितृ[2] रित्युच्यन्ते । पितृशब्दवाच्याना मिन्द्रियाणां परिणामानां भ्रातृशब्दवाच्यानां ज्ञानानन्दलक्षणयशसो नाशिनीः, कृ[3] विक्षेपे इति धातुः स्वजातिप्रसिद्धशीलौदार्यगुणयुक्ताः बाह्यविवक्षया संख्याकथन मन्तस्त्वनेकत्वसंख्यैव, पौरञ्जन्योऽनेकदेहजननहेतवः। हे प्रजापते!॥ ७॥

पुत्त्रान् बुद्धिपरिणामान् दारैः परिणामानन्तरचेष्टाभिः संयोजनं दुहितृ र्बुद्धिवृत्तीः सदृशै र्वरैः वृत्तियोग्य विषयैः ॥ ८ ॥

पुत्त्राणां पुत्त्रा अभवन्निति परिणतवृत्तिभ्यो वृत्त्यन्तराणीति। पाञ्चालेषु विषयेषु ॥ ९ ॥

तस्य रिक्थं विषयधनं हरन्तीति तद्रिक्थहारा स्तेषु नानावासना गृह्णातीति गृहं, तच्च कोशो मनः तदुपजीव्य वर्तन्त इति गृहकोशानुजीविनः तेषु निगूढेन प्रविष्टेन, ममैते परिणामादय इति कल्पितेन ममत्वेन विशेषेण सक्तोनाऽऽत्मानं परञ्जजानांतीत्यन्वयः ॥ १० ॥

**ईजे च क्रतुभि र्घोरै र्दीक्षितः पशुमारकैः ।**

**देवान्पितॄन्भूतपतीन् नानाकामो यथा भवान् ॥ ११ ॥**

**युक्तेष्वेवं[5] प्रमत्तस्य[6] कुटुम्बाऽऽसक्तचेतसः ।**

**आससाद स वैकालो योऽप्रियः प्रिययोषिताम् ॥ १२ ॥**

**चण्डवेग इति ख्यातो गन्धर्वाधिपति र्नृप !**

**गन्धर्वा स्तस्य बलिनः षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥ १३ ॥**

**गन्धर्व्य स्तादृशी[7] रस्य मैथुन्यश्च सितासिताः ।**

**परिवृत्त्या विलुम्पन्ति सर्वकामविनिर्मिताम्[8] ॥ १४ ॥**

---

1. A, B, T °णासक्तः 2. A दुहितर इत्युच्यन्ते। 3. B कृ 4. M, Ma °विप्रे° 5. Ma, M s गृहेष्वेवं 6. W प्रसक्तस्य
7. M, Ma Ms °स्तावती रस्य 8. M, Ma, Ms कामान् विनिर्मितान्

**ते चण्डवेगानुचराः पुरञ्जनपुरीं[1] यदा[2]।**

**हर्तुमारेभिरे तत्र प्रत्यषेध त्प्रजागरः ॥ १५ ॥**

**श्रीध० *ईज** इति। भूतपतीन् भैरवादीन् ॥ ११ ॥

**युक्तेष्विति**। युक्तेष्वात्महितेषु कर्म स्वनवहितस्य य[3-]ः कालः अप्रियोभवति तेषां प्रियाः योषितो येषां तेषां कामिना मित्यर्थः[-3]। सवै कालो जरासमयः ॥ १२ ॥

**चण्डवेग** इति। चण्डवेगः संवत्सरेण आवर्तमानेन उपलक्षितः, गन्धर्वाः दिवसाः ॥ १३ ॥

**गन्धर्व्य** इति। गन्धर्व्यो रात्रयः तादृशी स्तादृश्यः मैथुन्यो दिवसैः[4] मिथुनीभूय स्थिताः सिताश्चाऽसिताश्च शुक्लकृष्णपक्षीयाः परिभ्रमणेन[5] सर्वैः कामै स्सह विनिर्मितां पुरीम् अपहरन्ति ॥ १४ ॥

**त** इति। प्रजागरः प्राणः ॥ १५ ॥

**वीर०** नानाकामः नानाभूतान् शब्दादिविषयान् कामयमानः पशुमारकैः हिंसागर्भैः अतएव घोरैः क्रतुभिः कर्मेन्द्रियव्यापाररूपैः दीक्षितः कृतसङ्कल्पः कर्मेन्द्रियव्यापार रूपान् क्रतू नारभ्येत्यर्थः। तेषां प्रायशः पञ्चसूनादिहिंसागर्भत्वात् पशुमारकै रित्युक्तम्। देवादीन् ईजे इष्टवान्। देवशब्दो देवाधिष्ठितेन्द्रियपरः। इन्द्रियाण्यतार्प्सी दित्यर्थः। पितॄन् भूतपतीनिति दृष्टान्ताभिप्रायकम्। यथा भवान् देव पितृभूतपती नीजे तथाऽयं देवा नीजे इत्यर्थः ॥ ११ ॥

युक्तेषु दृढतराभिसन्धियुक्तेषु कर्मसु प्रसक्तस्य नितरा मासक्तस्य कुटुम्बे बुद्धितद्वृत्त्यादा वासक्तचित्तस्य सवै कालः जरासमयः आससाद प्राप्तः। देहदृष्ट्येदमुक्तम्। कालं विशिनीष्ट - यः कालः प्रिययोषितां परस्पर मप्रियकरः ॥ १२ ॥

चण्डवेग आशुवेगः संवत्सररूपः कालः[6] ख्यातः प्रसिद्धः। स हि गन्धर्वाणां - गन्धर्वाश्च गन्धर्व्यश्च। "पुमान् स्त्रिया" (अष्टा०1-2-67) इत्येकशेषः। तेषामधिपतिः। तस्य बलिनः प्रसह्याऽऽयुर्हरतः चण्डवेगस्य भृत्याः षष्ट्यधिकशतत्रयदिवसात्मकाः गन्धर्वाः परोक्षमायारूपधनाप हारित्वात् गन्धर्वत्वेन रूप्यन्ते ॥ १३ ॥

तथा तादृशीः अस्य चण्डवेगस्य सम्बन्धिन्य स्तादृश्यः आर्षत्वा व्द्यत्ययेन द्वितीया। षष्ट्युत्तरशतत्रयसंख्याका गन्धर्व्यः

---

1. A, B, G, I, J, T पुरं  2. V यथा  * The commentary on 11th verse is not found in B, J, V, Va  3--3. A, B, J, Va omit  4. V adds एव
5. V adds एव  6. W omits कालः

रात्र्यात्मिकाः मैथुन्यः दिवसैरेव मिथुनीभूय स्थिताः। सिताश्चाऽसिताश्च शुक्लकृष्णपक्षीयाः परिवृत्त्या परिभ्रमणेन सर्वैः कामैः[1] शब्दादिभिः तत्करणैश्च विनिर्मितां पुरीं शरीरं विलुम्पन्ति अपहरन्ति अपहर्तुमारेभिरे इत्यर्थः। जराप्राप्त्यनन्तरं मृतिदिवसाः[2] प्राप्ता इत्यर्थः। एतत्सर्वं देहदृष्ट्योक्त मिति द्रष्टव्यम्॥ १४॥

चण्डवेगस्याऽऽनुचरा स्ते गन्धर्वाः पुरञ्जनस्य पुरीं यदा हर्तुमारेभिरे आरब्धवन्तः तत्र पुर्यां यः प्रजागरः प्राणः सुषुप्त्यवस्थाया मपि प्राणव्यापारात् प्रजागर इत्युक्तम्। प्रत्यषेधत् न्यवारयत्। यावत् प्राणव्यापारः तावच्छरीरस्याऽवैकल्येनाऽवस्थानात् प्रत्यषेध दित्युक्तम्॥ १५॥

**विज०** देवान् काम्यफलदान्, भूतपतीन् भैरवादीन्॥ ११॥

एवंविधया क्रियया युक्तेषु काम्येषु, सक्तस्येति शेषः। हरौ मनोयोगवत्सु ज्ञानेषु एवमुक्तप्रकारेण प्रमत्तस्य तद्वार्तारहितस्येति वा। प्रिया हृद्या योषितो येषां ते तथा, तेषां विषयिणा मपि योऽप्रियोऽनपेक्षितः॥ १२॥

गन्धर्वाणां कलाकाष्ठादीनां स्वावयवानामधिपतिः चण्डोवेगो यस्य स तथेति ख्यातः स काल आससादेत्यन्वयः। गन्धर्वादिवसाः॥ १३॥

गन्धर्व्यो रात्रयः तावती स्तावत्यः मिथुनीभूय वर्तमाना मैथुन्यः सिता दिवसाः, असिता रात्रय इति सितासितपरिवृत्त्या परिभ्रमणेन पुनः पुन रावर्तनेन कामान् विलुम्पन्ति क्षपयन्तीत्यन्वयः॥ १४॥

हर्तुं जीर्णबलां कर्तुं, प्रजागरः प्राणः, "प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति" (प्रश्न. उ. 4-2-37) इति श्रुतेः। प्राणबलाद्व्यापाराय प्रवर्तत इत्यर्थः॥ १५॥

**स सप्तभिश्शतै[3]रेको विंशत्या[4] च शतं समाः।**
**पुरञ्जनपुराध्यक्षो गन्धर्वै र्युयुधे बली॥ १६॥**
**क्षीयमाणे स्व सामर्थ्ये[5] एकस्मिन्[6] बहुभि र्युधि[7]।**
**चिन्तां परां जगामार्तः[8] सराष्ट्रपुरबान्धवः॥ १७॥**

---

1. A, B, T omit कामैः 2--2. A, B, T omit 3. W °शै° 4. M, Ma °केन 5. A, B, G, I, J, T सम्बन्धे; W सम्बन्धिन्ये° 6. M, Ma, Ms °स्य 7. A, B, G, I, J, T °धा 8. W °माथ

**स एव पुर्यां मधुभुक्पाञ्चालेषु[1] स्वपार्षदैः ।**
**उपानीतं[2] बलिं गृह्णन् स्त्रीजितो[3] नाऽविदद्भयम् ॥ १८ ॥**

**कालस्य दुहिता काचित् त्रिलोकीं वर मिच्छती ।**
**पर्यटन्तीं[4] न बर्हिष्मन् प्रत्यनन्दत कश्चन ॥ १९ ॥**

**दौर्भाग्येनाऽऽत्मनो[5] लोके विश्रुता दुर्भगेति सा ।**
**या[6] तुष्टा[7] राजऋषये[8] वृताऽदात्पूरवे वरम् ॥ २० ॥**

**श्रीध० स** इति । विंशत्या च सह ॥ १६ ॥

**क्षीयमाण** इति । स्वसम्बन्धे स्वसम्बन्धिनि प्राणे ॥ १७ ॥

**स** इति । स एव मधुभुक् क्षुद्रसुखभोक्ता, स्वपार्षदै रिन्द्रियैः नाऽविदत् नाऽऽलोचितवान् ॥ १८ ॥

**कालस्येति** । कालस्य दुहिता जरा अस्ति[9] तां न प्रत्यनन्दत[10] नैच्छत् । बर्हिष्मन् ! हे प्राचीनबर्हिः ! ॥ १९॥

दौ[11] र्भाग्येति । पूरवे ययाति पुत्राय तेनवृता सती वर मदात् । ययातिः शुक्रशापा ज्जरां प्राप्य पुत्रा नुवाच इमां गृह्णीतेति तां ज्येष्ठाश्चत्वारो न ज गृहुः । पुरुस्तुजगृहे । ततो ययाति स्तस्मै राज्यं ददा विति, जरैवाऽदा दित्युक्तम् ॥ २० ॥

**वीर०** स एकः प्रजागरः सप्तभि र्विंशत्या सप्तविंशति संख्याकै र्भूतपञ्चक तन्मात्रपञ्चक ज्ञानेन्द्रियपञ्चककर्मेन्द्रियपञ्चकापानादि प्राण चतुष्टय मनोबुद्ध्यहङ्कारात्मकैः शरैः, शतं समा इति प्रारब्धोपलक्षणं, यावत् प्रारब्धावसानं पुरञ्जनपुरस्याऽध्यक्षः पालकः बली गन्धर्वै स्सहयुयुधे युद्धञ्चकार शरीरं विप्लावयामासेत्यर्थः[12] ॥ १६ ॥

बहुभि स्साकं युधि एकस्मिन् स्वसम्बन्धिनि[13-] स्वसामर्थ्ये[-13] शीर्यमाणे सति शतवत्सरावसान इत्यर्थः । राष्ट्रादिभि स्सहितः प्रजागरः परां चिन्तामवाप शरीरं कथं[14] प्राणयामीति चिन्तामवापेत्यर्थः ॥ १७ ॥

**स पुरञ्जनः मधुभुक् स्वपार्षदैरिन्द्रियैः पाञ्चालेषु शब्दादिविषयेषु मध्ये उपानीतं प्रापितं बलिं शब्दाद्यन्यतमं विषयं गृह्णन् अनुभवन् स्त्रिया बुद्ध्या जितो वशीकृतः भयं मृत्युभयं नाऽविन्दन्नाऽलोचितवान् ॥ १८ ॥**

---

1. A, B, G, I, J, T °प° 2. A, B, G, I, J, Ms, T उप° 3. W °क्यां° 4. Ms °टत्तां 5. V दुर्भगे°; W °दौर्भगे 6. M, Ma, Ms यां तुष्टो 7. A, B, G, I, J, T राजर्षये तु 8. M, Ma, M s पिताऽ° 9. V स्त्री 10. A, V °त् 11. V दुर्भगेनेति । 12. A, B, T, विस्माप° 13--13. A, B, T omit 14. A, B, T omit कथं

[1]काचित् कालस्य दुहिता जरारूपा काचिदस्ति। सा त्रिलोक्यां वरं पति मिच्छन्ती पर्याटत्। हे बर्हिष्मन्! तां कालकन्यां कोऽपि पुमान् न प्रत्यनन्दत नाऽवृणोत्॥ १९॥

अनभिनन्दने हेतुं वदन् तन्निमित्तं गुणनामधेय माह। दौर्भगेन दुष्टं भगं सौन्दर्यं यस्माद्भवति सदुर्भगः। स एव दौर्भग स्तेनाऽऽत्मना स्वरूपेण लोके दुर्भगेति विश्रुता प्रख्याता तां विशिनष्टि। या कालकन्या ययातिपुत्त्रेण पूरुणा वृता सती तुष्टा तस्मै राजर्षये पूरवे वरं राजाऽऽसनरूप मदात्। ययाति र्देवयानीगमन[2]क्रुद्धशुक्रशापाज्जरां प्राप्य पुत्त्रा नुवाच इमां जरां गृह्णीतेति। ताञ्च ज्येष्ठाश्चत्वारः न जगृहुः। पूरुस्तुजगृहे। ततो ययाति स्तस्मै राज्यं ददाविति, जरैवाऽदादित्युक्तम्॥ २०॥

**विज०** स सप्तभिः शतै र्विंशद्भिश्च अहोरात्रैः शतं समाः शतवर्षपर्यन्तं युयुधे। तेषां पराक्रमं निरुध्यस्वयं प्राणबलात् देह मपालय दित्यर्थः॥ १६॥

राष्ट्रेण विषयेन पुरेण देहेन, बान्धवै रिन्द्रियैः सह वर्तमानः॥ १७॥

स्त्रीजितो बुद्ध्याऽविवेकं प्राप्तः विषयेषु स्वपाषदै रिन्द्रियैरुपनीतं बलिरूपादिविषयं गृह्णन् मधुभुक् कर्मफलभुक् कालनिमित्तं भयं नाऽज्ञासी दित्यन्वयः॥ १८॥

अस्ति जायते परिणमते वर्धते इति चतुर्रूर्मिप्रकारप्राप्तिं निरूप्य प्रक्षीयते विनश्यतीत्येत दुक्तंजराप्राप्तिमाह- कालस्येति। कालाज्जरा जायत इति कालस्य दुहितेति। विशेषनामा श्रवणात् काचिदिति॥ १९॥

या सा आत्मनः शरीरस्य दौर्भाग्यत्वेन सौन्दर्याभावेन लोके दुष्टो भगो यस्या स्सा तथेति विश्रुता, यां जरां तुष्टः पिता ययातिः राजश्रेष्ठाय पूरवे वर मदात्, तां कश्चन न प्रत्यनन्दते त्यन्वयः॥ २०॥

**कदाचि दटमाना सा ब्रह्मलोका न्महीं गतम्।**
**वव्रे बृहद्व्रतं मान्तु जानती काममोहिता॥ २१॥**

***प्रत्याख्याता मया सातु कालकन्या विशांपते!**
**मयि संरभ्य विपुल मदाच्छापं सु[3]दुस्सहम्।**
**स्थातु मर्हसि नैकत्र मद्याच्ञाविमुखो मुने॥ २२॥**

---

1. A, T omit काचित् 2. A, T °नानुक्रुद्ध; B °न मनुक्रुद्ध।

* This half verse is found in V edition and the commentary of Veera Raghava in A, B & T Edns. 3. V दुस्तरम्

**ततो विहतसङ्कल्पा कन्यका यवनेश्वरम्।**

**मयोपदिष्ट मासाद्य वव्रे नाम्ना भयं पतिम्॥ २३॥**

**ऋषभं यवनानां त्वां वृणे वीरेप्सितं पतिम्।**

**सङ्कल्प स्त्वयिभूतानां कृतः किल न रिष्यति॥ २४॥**

**द्वा विमा वनुशोचन्ति बाला वसदवग्रहौ।**

**यल्लोकशास्त्रोपनतं न राति न तदिच्छति॥ २५॥**

**अथो भजस्व मां भद्र भजन्तीं मे दयां कुरु।**

**एतावान्पौरुषो धर्मो यदार्ता ननुकम्पते॥ २६॥**

**श्रीध० कदाचिदिति। सा जरा ब्रहद्व्रतं नैष्ठिकम्॥ २१॥**

**मयीति** प्रत्याख्यातवति मयि संरभ्य क्रोधं कृत्वा, नैकत्र स्थातु मर्हसीति शाप मदात्॥ २२॥

**तत** इति। आधयोव्याधयश्च, यवना स्तेषा मीश्वरं भयनामानं मृत्युरूपं पतिं वव्रे॥ २३॥

**ऋषभ** मिति। हे वीर! त्वा मीप्सितं पतिं वृणे। न रिष्यति न नश्यति॥ २४॥

**द्वाविति**। लोकतो वेदतश्च यद्देयत्वेन ग्राह्यत्वेन चोपनतं प्राप्तं तद्याच्यमानं यो न ददाति, यश्च दीयमानं नेच्छति न गृह्णाति इमौ द्वौ कर्मभूतौ, अनुशोचन्ति सन्तः॥ २५॥

**अथो** इति। पुरुषेण कर्तव्यो धर्मः पौरुषः॥ २६॥

**वीर०** कदाचि त्सा कालकन्या भूलोके पर्यटन्ती ब्रह्मलोका त्सत्यलोकात् महीं भूमिं गतं प्राप्तं मां बृहद्व्रतं नैष्ठिकं जानत्यपि काममोहिता सती वव्रे॥ २१॥

(भाग. 4-27-22) "प्रत्याख्याता मया सा तु कालकन्या विशाम्पते"॥ ततो मयिप्रत्याख्यातवति मयि संरभ्य क्रोधं

---

1. V °वेदोप° 2. V अतो 3. J, M, Ma भजती°; V भजन्त्या। 4--4. V omits 5--5. B, J, V, Va omit 6--6. A omits 7. V अत। 8. A, B, T भूर्लोके 9. W omits सती 10--10. W omits 11. A, B, T यतो 12--12. A, B, T मया प्रत्याख्याता

कृत्वा विपुलं महान्तं दुस्सहं[1] दुरतिक्रमणीयं शाप मदात्। शापमेवाह-हे मुने ! त्वं यतो मद्याच्चाविमुखः तत एकत्र चिरेण स्थातुं नाऽर्हसीति॥ २२॥

ततो विहतसङ्कल्पा [2-]भ्रष्टमनोरथा[-2] कालकन्यका आधयो व्याधयश्च यवनाः तद्वत्पीडाकारित्वात्, तेषा मीश्वरं मया उपदिष्टं नाम्ना भयं भयनामानं पति मासाद्य वव्रे॥ २३

वरणप्रकारमेवाऽऽह - **ऋषभ** मिति। हे वीर ! यवनानामृषभ मीश्वरं त्वा मीप्सितं पतिं[3] वृणे, त्वयि कृतो भूतानां सङ्कल्पः न रिष्यति न नश्यति॥ २४॥

त्वयाऽहं न प्रत्याख्येया- इत्याह- **द्वाविति**। लोकतोवेदतश्च यद्देयत्वेन ग्राह्यत्वेन चोपनतं प्राप्तं तद्याचमानाय यो न ददाति, यच्च दीयमानं यो नेच्छति न गृह्णाति इमौ द्वौ असदवग्रहौ असन् व्यर्थः अवग्रहोऽभिमानः, आग्रहो वा ययोस्तौ, अत एव बालौ अज्ञौ कर्मभूतौ अनुशोचन्ति इमौ प्रति अनुशोचन्ति, सन्त इत्यर्थः॥ २५॥

हे भद्र ! भजन्तीं मां भजस्व मयि दयांकुरु पौरुषः पुरुषेण कर्तव्यो धर्मः एतावानेव किं तत्? यदार्तानुकम्पते॥ २६॥

**विज०** तुशब्दः अप्यर्थे। या मां बृहद्व्रतं ब्रह्मचरिणं जानन्त्यपि ब्रह्मलोकात् मही मागतं वव्र इत्यन्वयः। तत्र हेतुः काममोहितेति॥ २१॥

ततः किमभूदिति तत्राऽऽह - **मयीति**॥ २२॥

सा कन्या यवनेश्वरं नानाव्याधीनां स्वामिनं नाम्ना भयं मृत्युं पतिं वव्र इत्यन्वयः॥ २३॥

न रिष्यति न दह्यति॥ २४॥

असन् अवग्रह आग्रहो ययौ स्तौ तथा बालौ स्वकार्याज्ञौ। अनुशोचन्ति, सर्व इति शेषः। कौ तौ? यौ लोकशास्त्रयो रविरोधतयोपनतं प्राप्तं अर्थिभ्यो न राति न ददाति, दायं स्वीयं नेच्छति ता वितिशेषः। नन्वनेन लोकविद्विष्टं चेत् शास्त्रीय मपि न कर्तव्य मित्यायतम् समत्वेन सहोक्तेन। "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ" ॥ (भ.गी.16-24) इत्यादिविधानं व्यर्थमितीयं शङ्का "अलौकिकञ्च शास्त्रीयं कर्तव्यं लौकिकं कुतः? लोकार्थं शास्त्रहा याति निरय न्त्वितरः सुरान्" ॥ (पाद्मे) इत्यनेन परिहर्तव्या। तस्माच्छास्त्रानुसारि लौकिकं कर्तव्यं, नेतरं दिति तात्पर्यम्। इतरः शास्त्रानुकूललौकिकं कुर्वाणः सुरान् याति स्वर्गादिपुरुषार्थ माप्नोतीत्यर्थः॥ २५॥

---

1. W दुस्तरं 2--2. W omits 3. A, B, T omit पति°।

उपसंहरति - **अथो** इति। यस्मा दिदं शास्त्रीयम्। अथोतस्मात् संक्षिप्य स्वकार्यस्य कर्तव्यतामाह- **एतावा** निति। पौरुषः पुरुषनिष्ठः॥ २६॥

**कालकन्योदित[1] वचो निशम्य यवनेश्वरः।**
**चिकीर्षु[2] र्देवगुह्यं[3] स सस्मितं ता मभाषत॥ २७॥**

**मया निरूपित स्तुभ्यं पति रात्मसमाधिना।**
**नाऽभिनन्दति लोकोऽयं त्वा मभद्रा मसत्तमाम्[4]॥ २८॥**

**त्व मव्यक्तगति र्भुङ्क्ष्व[5] लोकं कर्मविनिर्मितम्।**
**या हि मे पृतनायुक्ता प्रजा[6] नाशं प्रणेष्यसि[7]॥ २९॥**

**प्रज्वारोऽयं मम भ्राता त्वञ्च मे भगिनी भव।**
**चराम्युभाभ्यां लोकेऽस्मिन्नव्यक्तो भीमसैनिकः॥ ३०॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे पुरञ्जनोपाख्याने सप्तविंशोऽध्यायः॥ २७॥

**श्रीध० कालकन्येति**। देवगुह्यं मरणम्, तद्धि प्राणिनां वैराग्यानुदयाय देवैर्गोप्यते॥ २७॥

**मयेति**। तुभ्यं तव आत्मसमाधिना ज्ञानदृष्ट्या याच्यमानोऽयं लोकस्त्वां नेच्छति॥ २८॥

**त्वा** मिति। अतोऽव्यक्तगतिः कुतः प्राप्तेत्यलक्षितगतिस्सती लोकमाक्रम्य भुङ्क्ष्व। एवं सर्वोऽपि लोकस्तव पति[8] र्गतिश्च स्या दित्यर्थः। न चैवं त्वया शङ्कनीयं, प्रतिकूलां मां लोको हनिष्यतीति, यस्मात्त्वमेव प्रजानाशं करिष्यसीत्याह- याहीति। या मदीया यवनपृतना तया युक्ता॥ २९॥

---

1. M, Ma, Ms °तां वाचं 2. चिकीर्षती° देवगुह्यं 3. Ms °र्धन्देवं 4. A, B, G I, J, M, Ma, Ms, T °सम्मताम् 5. M, Ma त्वमज्ञात; W अतोऽव्यक्त
6. M, Ma सोऽप्रज त्वां 7. M, Ma °ति। 8. A, B, J, Va omit गतिश्च।

किञ्च **प्रज्वार** इति। प्रज्वार इति मारको वैष्णवोज्वरः, माहेश्वरस्य व्याध्यन्तः पातित्वात्, भीमाघोराः सैनिका यस्य॥ ३०॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्री श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां सप्तविंशोऽध्यायः॥ २७॥

**वीर०** कालकन्ययोदितं वचः श्रुत्वा स यवनेश्वरो भयनामा देवगुह्यं मरणं, तद्धि प्राणिनां वैराग्यानुदयाय देवै र्गोप्यते। कर्तु मिच्छुः, स्मितेन सहितं यथा तथा समभाषत॥ २७॥

तुभ्यं मया आत्मसमाधिना चित्तैकाग्र्येण बहुधा विचार्येत्यर्थः। लोकरूपः पति र्निरूपितो निश्चितः। कोऽसौ इत्यत्राऽऽहयाच्यमानोऽयं[1] लोक स्त्वा मभद्रा मसत्तमां नेच्छति॥ २८॥

अतोऽव्यक्तगतिः कुतः प्राप्ते त्यलक्षितगतिस्सती कर्मनिर्मितं लोकमाक्रम्य भुङ्क्ष्व। एवं सर्वोऽपि हि लोकः तव पतिः स्या दित्यर्थः। न चैवं त्वया शङ्कनीयं, मां प्रतिकूलां लोको हनिष्यतीति[2-2] यस्मात्त्वमेव लोकस्यनाशं करिष्यसीत्याह- याहीति। या मदीया पृतनायवनानां सेना तया युक्ता याहि॥ २९॥

प्रज्वारो वैष्णवज्वरः त्वां प्रणेष्यति लोकं प्रति प्रापयिष्यति। अत्र प्रज्वार इति मारकोवैष्णवज्वरो विवक्षितः, न माहेश्वरज्वरः[3] माहेश्वरस्य[4-4] व्याध्यन्तः पातित्वेन मारकत्वा भावात्। प्रज्वारो मम भ्राता भवति[5] त्वञ्च मे भगिनी स्वसा भव। उभाभ्यां प्रज्वारकालकन्याभ्यां युवाभ्यां सह अहं भीमसैनिकः यवन सेना नायकः अव्यक्तगति स्सन् लोके चरामि। अत्र कालस्य दुहिता काचिदित्यादिश्लोकत्रयेण नारदस्य जरानाक्रान्तत्व मुक्तम्। एतच्च, नैष्ठिकसनकादीना मप्युपलक्षणम्। स्वस्य शापग्रस्तत्वकथनं तस्यावर्जनीयत्वाभिप्रायकम्। ततो विहत सङ्कल्पेत्यादिना जराधिव्याधिप्रज्वारभयानां पूर्वपूर्वस्य[6] उत्तरोत्तरहेतुत्वम्, अन्योन्यसहित्येन मरणहेतुत्व ञ्चोक्तम्। जरादीनां परस्परभाषणादिकथनं तेषां मूर्तिमत्त्वाभिप्रायेण तदधिष्ठातृदेवताभिप्रायेण वा उपपन्नम्॥ 30॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां सप्तविंशोऽध्यायः॥ २७॥

---

1. A, B, T omit अयं 2--2. W लोका हनिष्यन्तीति 3. A, B, T °श्वरः 4--4. A, B, T तस्य 5. A, B, T omit भवति 6. A, B, T omit पूर्व

**विज०** तस्मात् दुर्भगत्व मनपेक्ष्य तद्वचनस्याऽऽदरप्रकारमाह- **कालकन्येति**। देवस्य विधातु र्गुह्यं रहस्यं वक्ष्यमाणमर्थं सस्मित मभाषतेत्यन्वयः ॥ २७॥

तत्र भोगोपाय मुपदिशति- **नाऽभिनन्दतीति**। अयं लोकोऽसम्मतां त्वां नाऽभिनन्दतीति यस्मात्।। २८॥

तस्मा त्त्व मज्ञातगति र्लोकं भुङ्क्ष्व॥ २९॥

योऽयं मम भ्राता प्रज्वारः शैववैष्णवोभयलक्षणः सोऽप्रजोऽनपत्य स्त्वां प्रणेष्यति ग्रहीष्यती त्यन्वयः। भीमा भयङ्कराः सैनिकाः सेनापतयो यस्य स तथा सः॥ ३०॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थ कृतायां पदरत्नावल्यां
टीकायां सप्तविंशोऽध्यायः॥ २७॥

# अष्टाविंशोऽध्यायः

## नारद उवाच

सैनिका भयनाम्नो ये बर्हिष्मन्दिष्टकारिणः[1]।

प्रज्वार काल कन्याभ्यां विचेरू रवनी मिमाम्॥ १॥

त एकदा तु रभसा[2] पुरञ्जनपुरीं नृप।

रुरुधु र्भौमभोगाढ्यां जरत्पन्नगपालिताम्॥ २॥

काल कन्याऽपि बुभुजे पुरञ्जनपुरं[3] बलात्।

ययाऽभिभूतः पुरुष स्सद्यो निस्सारता मियात्॥ ३॥

तयोपभुज्यमानां वै यवना स्सर्वतोदिशम्।

द्वार्भिः प्रविश्य सुभृशं प्रार्दयन् सकलां पुरीम्॥ ४॥

तस्यां प्रपीड्यमानायां[4] अभिमानी पुरञ्जनः।

अवापोरुविधां स्तापान् कुटुम्बी[5] ममताऽऽकुलः॥ ५॥

## श्री श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अष्टाविंशे तु वैदर्भ्याऽऽख्यानेन स्त्रीविचिन्तया। स्त्रीत्वं प्राप्तस्य दैवेन कदा चिन्मुक्तिरुच्यते॥

इदानीन्तु पुरञ्जनस्य पुंदेहत्यागप्रकारपूर्वकं[6] स्त्रीत्वप्रकार माह - सैनिका इत्यादि राजसिंहस्य वेश्मनीत्यन्तेन। दिष्टं दैवं कुर्वन्त्यधिकुर्वन्तीति[7] तथा। मृत्यो रादेशकारिण इति वा॥ १॥

त इति। प्रारब्धकर्मक्षये[8-] सैनिका व्याधयः रुरुधुः भौमभोगाढ्यां स्वादनपानादिना स्थूला, यौवने इति शेषः[8]। जरत्पन्नगेन जीर्णप्राणेन पालिताम्॥ २॥

---

1. M, Ma. Ms °न्नि° 2. W °सात् 3. M, Ma पुरीं 4. V °विश्य° 5. W °म्बे 6. B, J, Va omit प्रकार 7. V omits अधिकुर्वन्ति
8--8. A, B, J, Va omit

*कालेति। यौवनानन्तरं जरा प्रविवेशेत्यर्थः ॥ ३ ॥

**तयेति**। जराव्याप्तां[1-1] तनुं यवनाः व्याधयः[1-1]। द्वार्भिः चक्षुरादिभिः रोगरूपेण प्रविश्य ॥ ४,५ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं जरादीनां उत्तरोत्तरहेतुत्वं सम्भूय मृतिहेतुत्वञ्च अभिधाय इदानीं एते सर्वे पुरञ्जनपुरी माविश्य पीडयन्तः विप्लावयामासुः इति वदन् "यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजेदन्ते कलेवरम्। तंतमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः" (भ.गी.8-6) इत्युक्तरीत्या कथापक्षे पुरञ्जनस्य राज्ञः स्त्रीचिन्तया स्त्रीजन्मप्राप्ति कथनव्याजेन अध्यात्मपक्षेऽपि जीवस्य कर्मवशात् स्त्रीत्वप्राप्तिं तत्र पुन रदृष्टविशेषात् भागवतसङ्गतिं ईश्वरप्रसादञ्चाऽऽह अष्टाविंशेन[2-2] नारदः। हे बर्हिष्मन् भयनाम्नो ये सैनिकाः सेनायां भवा स्सैनिकाः, दिष्टकारिणः आदेशकारिणः, ईश्वरस्य इति शेषः। प्रज्वार कालकन्याभ्यां सह इमां भूमिं विचेरुः पर्याटुः ॥ १ ॥

ते सैनिकाः कदाचिद्देहारम्भकप्रारब्धावसाने जरत्पन्नगेन जीर्णप्राणेन पालितां, भौमैः भूम्यां भवैः भोगैः शब्दादिविषयभोगैः, आढ्यां पुरञ्जनपुरीं रुरुधुः ॥ २ ॥

कालकन्या जरा पुरञ्जनपुरीं[3] बलात् बुभुजे पुरञ्जनपुरं जराव्याध्यादिग्रस्तं अभूदित्यर्थः। कालकन्यां विशिनष्टि- यया कालकन्यया अभिभूतः पुरुषः निस्सारतां प्राप्नुयात् ॥ ३ ॥

तया कालकन्यया उपभुज्यमानां सकलां पुरञ्जनपुरीं यवनाः सर्वतोदिशं द्वार्भिः प्रविश्य चक्षुरादिषु रोगरूपेण प्रविश्य भृशम् अधिकं प्रार्दयन् पीडितवन्तः ॥ ४ ॥

तस्यां पुर्यां यवनादिभिः प्रपीड्यमानायां ममेयं पुरी इत्यभिमानी पुरञ्जनः कुटुम्बे बुद्धीन्द्रियमन आदिरूपे[4] या ममता तया आकुलः आक्षिप्तचित्तः बहुविधान् तापान् क्लेशान् प्राप ॥ ५ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

ईश्वरेच्छोपनतकर्मवशात् शरीर मनुविश्य स्थितस्य जीवस्य जाग्रदाद्यवस्थाभेदं प्रतिपाद्य, अधुना शरीरवियोगलक्षणामवस्थां वक्तुमुपक्रमते - **सैनिका** इत्यादिना। वातादिव्याधिसमूहा इमां अवनिं विचेरुः इत्यनेन जरादिव्याधयोऽस्मिन्प्रपञ्च एव नाऽन्यत्रेति ज्ञायते ॥ १ ॥

---

* The commentary on verse 3 is not found in A, B, J, Va

1--1. A, B, J, Va omit 2--2. W omits 3. A, B, T add अपि 4. A, B, T रूपेण

भौमभोगाः अशन पानवसनलक्षणाः। रुरुधुः शरीरं विविशुः। जरत्पन्नग इति प्राणबला च्चेष्टाल्पत्वंलक्ष्यते नतु प्राणस्य तस्य निस्सीमबलत्वात्॥ २॥

कन्याऽपि बुभुज इति यौवनानन्तरं विवेश॥ ३॥

प्रार्दय न्निति जराग्रस्तस्य पलितस्य अक्षिमान्द्यं.बधिरत्वं, दन्तभङ्गः, क्षामाकुलत्वं, अग्निदौर्बल्यं.कण्ठे घुरुघुरुत्वं इत्यादिनानाव्याधयो दृश्यन्ते इति॥ ४,५॥

**कन्योपगूढो नष्टश्रीः कृपणो विषयात्मकः।**
**नष्टप्रज्ञो हृतैश्वर्यो[1] गन्धर्वयवनै र्बलात्॥ ६॥**

**विशीर्णां स्वपुरीं वीक्ष्य प्रतिकूला ननादृतान्।**
**पुत्रपौत्रानुगामात्या[2] ज्ञाया ञ्च गतसौहृदाम्॥ ७॥**

**आत्मानं कन्ययाग्रस्तं[3] पाञ्चालान्[4] नरिदूषितान्[5]।**
**दुरन्तचिन्तामापन्नो न लेभे तत्प्रतिक्रियाम्॥ ८॥**

**कामानभिलषन्दीनो यातयामां श्च कन्यया।**
**विगतात्म[6]गतिस्नेहः[7] पुत्रदारांश्च लालयन्॥ ९॥**

**गन्धव यवनाक्रान्ता कालकन्यापमर्दिताम्।**
**हातुं प्रचक्रमे राजा तां पुरी मनिकामतः॥ १०॥**

**श्रीध० कन्येति**। कन्यया जरयोपगूढस्सन् तत्प्रतिक्रियां न लेभे + इति तृतीयेनाऽन्वयः। हृतैश्वर्यः उत्थानादि ष्वशक्तः॥ ६॥

**विशीर्णा** मिति। प्रतिकूला ननपेक्षितविषय प्रापणान् अनादृतान् आदर मकुर्वाणान्, स्वाधीनत्वा भावात्। अनुगा इन्द्रियाणि अमात्याः इन्द्रियदेवाः[9]। गतसौहृदाम्, अध्यवसायाभावात्॥ ७॥

**आत्मान** मिति। कन्यया जरया ग्रस्तम् पञ्चालान् विषयान्[10-]। अरिभिः[-10] व्याध्यादिभि[11] र्दूषितान्॥ ८॥

---

1. A, B, G, I, J, T, V हृ° 2. A, B, G, I, J, T पुत्रान्पौ° 3. V °काग्र° 4. A, B, G, I, J, T प° 5. W °लाञ्चारि° 6. M, Ma, Ms गतात्मसंविन्निस्स्नेहः 7. V गतिस्स्नेहात् 8. W नैर्भुग्नं 8. V देवताः 10--10. V omits 11. V विघ्नादिभिः

**कामा निति**। कालकन्यया हेतुभूतया यातयामान् निस्सारानपि कामा नभिलषन्, विगता आत्मनो गतिः पार लौकिकी ऐहिकः पुत्रादिस्नेहश्च यस्य सः। [1]विगतात्म[2]गतिः स्नेहा दितिवा पाठः। [3]तदा विगता आत्मगतिः यस्य इत्येव विसर्गान्तपदपाठे विग्रहः। स राजा पुरञ्जनो हातुं [4]त्युक्तुं प्रचक्रमे उपक्रान्तवानिति द्वयो रन्वयः। अनिकामतोऽनिच्छयाऽपि॥ १०॥

**वीर०** कन्यया बुद्ध्या उपगूढः दृढतरं संश्लिष्टः विषयेष्वेव आत्मा चित्तं यस्य। अतः कृपणः, अत एव [5]नष्टप्रज्ञः नष्टविवेकः नष्टा श्रीः [6]भोगात्मिका यस्य यवनैः बलात् हृतमैश्वर्यं उत्थानादिशक्तिरूपं यस्य सः। तत्प्रतिक्रियां न लेभे इति तृतीयेनाऽन्वयः॥ ६॥

विशीर्णं शिथिलं स्वपुरं तथा प्रतिकूलान् अनपेक्षितविषयप्राणान्, अनादृतान् आदर मकुर्वाणान् स्वाधीनत्वा भावात् पुत्त्रान् इन्द्रियपरिणामरूपान्, पौत्त्रान् पुण्यापुण्यकर्मरूपान् तदनु [7]गान् इन्द्रियाणि अमात्यान् इन्द्रियदेवताः गतं सौहृदं स्नेहः यस्या स्तां जायां तस्या अपि स्वाधीनत्वाभावात्॥ ७॥

कन्यया जरया ग्रस्त मात्मानं शरीर मरिभिः विघ्नादिभिः दूषितान् पाञ्चालान् विषयांश्च वीक्ष्य दृष्ट्वा अपारचिन्तामापन्नः तस्य पुरादिविशीर्णत्वादेःप्रतिक्रियां प्रति[8]कारं परिहारोपायं न लेभे॥ ८॥

कालकन्यया हेतुभूतया यात यामान् निस्सारानपि कामान् अभिलषन् दीनः कृपणः विगता आत्मनो गतिः पारलौकि[9]की ऐहिकः पुत्त्रादिस्नेहश्च यस्य पुत्त्रदारान् इन्द्रियपरिणामबुद्धीः लालयन् उपच्छन्दयन्॥ ९॥

गन्धर्वैः अहोरात्ररूपैः [10-]भुग्नां कुटिलां[-10] कालकन्यया अवमर्दितां पीडितां पुरीम् अनिकामतः अनिच्छयाऽपि, राजा पुरञ्जनो हातुं त्यक्तुं, प्रचक्रमे उपक्रान्तवान्॥ १०॥

**विज०** पुत्त्रान् गोलकलक्षणान् पौत्त्रानिन्द्रियाणि अमात्यान् अमा सह वर्तनीयाः अमात्याः इन्द्रियाभिमानिनो देवाः तांश्च, "अत-सातत्यगमने" इति धातुः। बुद्धेरपि पूर्ववद् अतिशयो नास्तीति गतसौहृदाम्॥ ६,७॥

कन्यया जरसा पाञ्चालान् विषयान् अरिदूषितान् विघ्नप्रतिहतान्॥ ८॥

यातयामान् गतयामान् गतात्मसंविन्नष्टपरमात्मज्ञानः। अत एव निःस्नेहः परमात्मनि भक्तिरहितो विरुद्धस्नेहो वा॥ ९॥

अनिकामतः अनिच्छातः॥ १०॥

---

1. B, J, V, Va omit विगतात्मा 2. V omits गतिः 3-3. B, J, V, Va omit 4. B, J, V, Va omit त्यक्तुं 5. W omits नष्टप्रज्ञः 6. A, B, T ज्ञानात्मिका 7. A, B, T °गानि 8. W कार्यं 9. W °कः 10--10. A, B, T यवनैः आध्यादिभिश्चाक्रान्तां

**भयनाम्नोऽग्रजो भ्राता प्रज्वारः प्रत्युपस्थितः ।**
**ददाह तां पुरीं कृत्स्नां भ्रातुः[1] प्रियचिकीर्षया ॥ ११ ॥**

**तस्यां सन्दह्यमानायां सपौरः सपरिच्छदः ।**
**कौटुम्बिकः कुटुम्बिन्या उपातप्यत सान्वयः ॥ १२ ॥**

**यवनो परुद्धायतनो ग्रस्तायां कालकन्यया ।**
**पुर्यां प्रज्वार संस्पृष्टः[2] पुरपालोऽन्वतप्यत ॥ १३ ॥**

**न शशाकोषितुं[3] तत्र पुरुकृच्छोरुवेपथुः ।**
**गन्तुमैच्छत्ततो वृक्षकोटरादिव सानलात्[4][5] ॥ १४ ॥**

**शिथिलावयवो यर्हि गन्धर्वैर्हतपौरुषः[6] ।**
**यवनैर्बलिभी[7] राजन् उपरुद्धो रुरोद ह ॥ १५ ॥**

**श्रीध० तस्यामिति**। सपरिच्छदो भृत्यवर्गसहितः। कुटुम्बेन दीव्यतीति कौटुम्बिकः, कुटुम्बिन्या सह[8]। सन्धि र्नात्र विवक्षितः। सान्वयः पुत्रादिसहितः ॥ ११, १२ ॥

**यवनेति**। यवनैः[9] व्याधिभिः उपरुद्धानि आयतनानि[10-] नाडीप्रभृतीनि[-10] यस्य स पुरपालः ॥ १३ ॥

**नेति**। पुरु बहु कृच्छ्रं क्लेशस्तेन[11] उरुः वेपथुः यस्य, वृक्षकोटरादिव सर्पः ॥ १४ ॥

**शिथिलेति**। कण्ठे उपरुद्धो रुरोद, घुरघुरध्वनिं[12] चकार ॥ १५ ॥

**वीर०** भयनाम्नो योऽग्रजो भ्राता प्रज्वारः स उपस्थितः पुरञ्जनपुरीम् अधिष्ठितः, भ्रातुर्भयनाम्नः प्रियं कर्तुमिच्छया कृत्स्नां तां पुरीं ददाह। प्रज्वाराख्यो वैष्णवज्वरः शरीरं प्रविश्य भृशं तेपे इत्यर्थः ॥ ११ ॥

तस्यां पुर्यां नितरां प्रज्वारेण तप्यमानायां भार्यासहितः भृत्यवर्गसहितश्च कुटुम्बेन सह दीव्यतीति कौटुम्बिकः। कुटुम्बिन्या सह[13-] महिष्या सह[-13] सान्वयः पुत्रादिसहितः उपातप्यत ॥ १२ ॥

---

1. W तृप्रि° 2. A, B, G, I, J, T, W °सृ° 3. A, B, G, I, J, T शेके सोऽवितुं; M, Ma शेके सेवितुं; Ms शेक उषितुं 4. V यातु° 5. Ms, V सोऽहिराद् 6. Ms °र्हत 7. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °रिभी 8. B, J, Va omit सह; V सहितया 9. B, J, V, Va omit व्याधिभिः 10--10. B, J, V, Va omit 11. B, J, V, Va omit क्लेशः 12. V घुरुघुरु 13--13. W omits

कालकन्यया पुर्यां ग्रस्तायां सत्यां यवनैः उपरुद्धानि आयतनानि यस्य सः, पुरपालः प्रजागरः प्रज्वारेण संस्पृष्टः अन्वतप्यत। स पुरपालः प्राणः[1] ॥ १३ ॥

पुरु बहु कृच्छ्रं दुःखं तेन उरुर्वेपथुः यस्य, पुरे[2] इति पाठे पुर्याम् उषितुम् अवस्थातुं न शशाक नाशक्नोत्। किन्तु ततः पुर्याः अग्निसहितात् वृक्षकोटरात् सर्प इव गन्तुमैच्छत् ॥ १४ ॥

यदा गन्धर्वैः शिथिला अवयवा यस्य, हृतं पौरुषं सामर्थ्यं यस्य, तदाऽयं हे राजन्! यवनैः शत्रुभिः[3] उपरुद्धः रुरोद व्याध्यादिभिः निरूद्धमार्गः घुर्घुरध्वनिं[4] चकार[5] ॥ १५ ॥

विज० प्रज्वारः पुरीं ददाहेति शरीरे च ज्वरः, प्रवृत्त इत्यर्थः। भ्रातुः मृत्युनाम्नो हितकरणेच्छया ॥ ११, १२ ॥

यवनैः व्याधिभिः उपरुद्धमायतनं पत्तनं शरीरनाडीलक्षणं यस्य स तथा, पुरपालः प्राणः, अनुतापो जीवक्लेशं प्रेक्ष्य ॥ १३ ॥

साऽनलात् अग्निवृतात् गृहबिलादिव ॥ १४, १५ ॥

**दुहितृः पुत्रपौत्रांश्च जामिजामातृपार्षदान्।**
**स्वत्वावशिष्टं[6] यत्किञ्चित् गृहकोशपरिच्छदम् ॥ १६ ॥**

**अहं ममेति स्वीकृत्य[7] गृहेषु कुमतिर्गृही।**
**दध्यौ प्रमदया दीनो विप्रयोग उपस्थिते ॥ १७ ॥**

**लोकान्तरं गतवति[8] मय्यनाथा कुटुम्बिनी।**
**वर्तिष्यते कथं त्वेका[9] बालकाननुशोचती ॥ १८ ॥**

**न मय्यनाशिते[10] भुङ्क्ते नास्नाते स्नाति मत्परा।**
**मयि रुष्टे[11] सुसन्त्रस्ता भर्त्सिते[12] यतवाग्भयात् ॥ १९ ॥**

**प्रबोधयति माऽविज्ञं[13] व्युषिते शोककर्शिता।**
**वर्त्मैतत् गृहमेधीयं वीरसूरपि नेष्यति ॥ २० ॥**

---

1. W omits प्राणः 2. A, B, T पुरि 3. A, B, T omit शत्रुभिः 4. A, B, T घर्घर° 5. A, B, T add इत्यर्थः 6. M, Ma सत्त्वा°; Ms स्मृत्वा° 7. V सात्कृत्वा 8. Ms पुरञ्जनः 9. A, B, G, I, J, M, Ma, T °षा 10. M, Ma, Ms °न° 11. M, Ma, Ms तुष्टे सुसन्तुष्टा 12. W तु 13. M, Ma मां नित्यं

**श्रीध० दुहितृरिति**। दुहित्रादीन् दध्यावित्युत्तरेणान्वयः। जामयोऽत्र स्नुषाः, स्वत्वमात्रेण अवशिष्टम्। भोगस्तु प्रागेव क्षीणः॥ १६,१७॥

ध्यानमेवाह- **लोकान्तरमिति**[1] चतुर्भिः[2]॥ १८॥

**नेति**। अनाशितेऽभोजिते भर्त्सिते भर्त्सने कृते यतवाग्भवति॥ १९॥

**प्रबोधयतीति**। अविज्ञम् अविवेकिनं माम्। व्युषिते देशान्तरं गते, गृहमेधीयं वर्त्म गृहधर्ममपि किं नेष्यत्यनुवर्तयिष्यति। णीञ्-प्रापणे[3] (इति धातुः)। युक्तमेतत् यतो वीरसूः पुत्रवती। किं वा मद्विरहम् असहमाना मरिष्यत्येवेत्यर्थः॥ २०॥

**वीर०** दुहित्रादीन् दध्यौ ध्यातवान् इत्युत्तरेणान्वयः। दुहितृरिति देहानुबन्धि चिन्ताभिप्रायकम्। जामयोऽत्र स्नुषाः ताश्च जामातरः दुहितॄणां पतयः, पार्षदा भृत्याश्चेति द्वन्द्वः, तान् स्वत्वमात्रेणावशिष्टं, भोगस्तु प्रागेव क्षीणः, यत्किञ्चित् गृहादिरूपं वस्तु॥ १६॥

तच्च अहम्ममाभिमानविषयं कृत्वा गृहेषु दारेषु कुमतिः कुत्सिता मतिः यस्य, आसक्तबुद्धिर्गृही पुरञ्जनः प्रमदया सह विप्रयोगे विश्लेषे उपस्थिते प्रतीते सति दध्यौ बुद्ध्यात्मिकां प्रमदां विहाय गमिष्यामि उत सहैवेति चिन्तामकरोत्[4]॥ १७॥

ध्यानमेवाह - मयि लोकान्तरं प्रति गतवति सति इयमनाथा कुटुम्बिनी बालकान् प्रति अनुशोचन्ती कथं वर्तिष्यते॥ १८॥

मय्यनाशिते अभोजिते न भुङ्क्ते एवमुत्तरत्रापि। भर्त्सिते भर्त्सने कृते भयाद्यतवाक् नियता वाक् यस्याः सा, मौनं बिभर्तीत्यर्थः॥ १९॥

अविज्ञमविवेकिनं मां प्रबोधयति विवेचयति[5-] व्युषिते[-5] देशान्तरं गते शोकेन कर्शिता गृहमेधीयं वर्त्मतत् गृहस्थधर्मं किं नेष्यत्यनुवर्तिष्यते। युक्तमेतद्यतो वीरसूः पुत्रवती। किं वा मद्विरहमसहमाना मरिष्यति॥ २०॥

**विज०** अधुना कामिनां मरणव्यवस्थां दर्शयति - **दुहितृरिति**। अत्र प्रवृत्तिमन्तरेण बाह्यदुहित्रादयोऽपि ग्रहीतुं शक्यन्ते॥ १६॥

विप्रयोगे मरणलक्षणे, प्रमदया बुद्ध्या अन्यया च॥ १७॥

लोकान्तरं गतवतीत्यादि कथालङ्कारः॥ १८॥

**अनशिते अभुक्ते भर्त्सिते भर्त्सने कृते, यतवाक् तूष्णीम्भावमाश्रिता॥ १९॥**

---

1. V omits लोकान्तरमिति 2. B, J, V, Va omit चतुर्भिः 3--3. B, J, V, Va omit 4. A, B, T add इत्यर्थः। 5--5. W omits

व्युषितेऽन्यत्र स्थिते नेष्यति अनुवर्तयिष्यति किम्॥ २०॥

**कथं नु दारका[1] दीना दारकी[2] र्वा परायणाः।**
**वर्तिष्यन्ते मयि गते भिन्ननाव इवोदधौ॥ २१॥**

**एवं कृपणया बुद्ध्या शोचन्तमतदर्हणम्।**
**ग्रहीतुं कृतधीरेनं भयनामाऽभ्यपद्यत॥ २२॥**

**पशुवद्यवनैरेष[3] नीयमानः स्वकं[4] क्षयम्।**
**अन्वद्रवन्ननुपथाः शोचन्तो भृशमातुराः॥ २३॥**

**पुरीं विहायो[5] पगत उपरुद्धो भुजङ्गमः[6]।**
**यदा[7] तमेवानुपुरी विशीर्णा प्रकृतिं गता॥ २४॥**

**विकृष्यमाणः प्रसभं यवनेन बलीयसा।**
**नाविन्दत्तम[8] आविष्टः सखायं सृहृदं पुरः[9]॥ २५॥**

**श्रीध० कथमिति**। न विद्यते परमयनमाश्रयो येषां ते अपरायणाः पुत्राः कन्याश्च। यद्वा पराश्रयाः कन्याः। भिन्ना नौर्येषाम्॥ २१॥

**एवमिति**। अतदर्हणं वस्तुतस्तस्य ब्रह्मत्वात्॥ २२॥

**पशुवदिति**। एष यदा क्षयं स्थानं नीयमानः तदा अनुपथाः प्राणा इन्द्रियाणि च। तथा च श्रुतिः - "तमुत्क्रामन्तं प्राणोनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति" (बृह. उ. 4-4-3) इति॥ २३॥

**पुरीमिति**। यवनैरुपरुद्धो[10-] भुजङ्गमः यदा पुरं विहायापगतः तदानीमेव प्राणमनु पुरी विशीर्णा प्रकृतिं[11] पञ्चभूतात्मतां गतेत्यर्थः[-10] प्रकृतिं महाभूतात्मताम्॥ २४॥

**विकृष्यमाण** इति। नाविन्दत् न सस्मार पुरा[12] पूर्वं सखायं सन्तमीश्वरम्॥ २५॥

---

1. M, Ma, Ms दारिका  2. A, B, G, I, J, T दारकीर्वाऽप°; M, Ma, Ms दारका मत्य°  3. M, Ma °नैनैष; Ms, V °नैरेवं  4. W यथा स्वकम्।
5. Ms, V °थापगत; W °थैव गत  6. M, Ma विहङ्गमः; W भुजङ्गवत्  7. M, Ma, Ms तदा  8. A, B, G, I, J, M, Ma, T °मसाऽऽविष्टः
9. M, Ma, Ms परम्; V पुरा  10--10. A, B, J, Va omit  11. V adds महाभूतानि गता पञ्चभूतेभ्योऽमी उत्पन्नाः  12. A, B, J, Va पुरः

**वीर०** दारकाः पुत्राः, दारिका दुहितरश्च, अपरायणाः न विद्यते परमयनमाश्रयो येषां ते अपरायणाः। मयि गते सति कथं नु वर्तिष्यन्ते भिन्ना नौर्येषां ते पुरुषाः उदधौ समुद्रे इवेति। अत्र लोकान्तरं गतवतीत्यनेन सर्वेन्द्रियपरिणामहेतुभूता जीवैकायत्ता बुद्धिर्लोकान्तरं गच्छता जीवेन सह गच्छति उत नेत्याशङ्कोत्थापिता वर्त्मैतत् गृहमेधीयमित्यर्द्धेन सहैव गच्छतीत्युक्तम्। तथा कथं दारका इत्यनेन परिणामपरिणामितदन्तबुद्धिवृत्ति[1] करणानि इन्द्रियाण्यपि किं सहैव गच्छन्तीति उत नेति संशय्य सहैव गच्छन्तीत्युक्तं भवति। एतदेव कथासौन्दर्याय परोक्षमभिधीयते। तथा च गीतं भगवता "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति। शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः॥ गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्" (भ.गी. 15-7,8) इति। बुद्धेर्मनोवृत्तिविशेषमात्रत्वेन मनसः सह गमनकथनेन बुद्धेरपि गमनं गीतं भवति हति गम्यते॥ २१॥

एवं कृपणया बुद्ध्या शोचन्तम् अतदर्हणं शोकानर्हं वस्तुतः तस्य[2] अपहतपाप्मत्वादि गुणाष्टक विशिष्टत्वात् एवं पुरञ्जनं ग्रहीतुं पुरात् विश्लेषयितुं, कृतधीः निश्चितबुद्धिः[3-3] भयनामा मृत्युः प्राप्तः॥ २२॥

यथा स्वकं स्वकीयकर्मानुगुणं स्थानं प्रति यवनैः पशुवन्नीयमानः तदाऽनुपथाः प्राणा इन्द्रियाणि च शोचन्तः यवनैः पीडिता अत एवाऽऽतुराः शोचन्तोऽन्वद्रवन् अनुसृत्य गतवन्तः। तथा च श्रुतिः "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति" (बृह.उ.4-4-3) इति प्राणो ज्येष्ठ[4] प्राणः सर्वे प्राणा इन्द्रियाणि इत्यर्थः॥ २३॥

यवनैः उपरुद्धः पुरीं स्थूलशरीरं तु विहायैव गतः भुजङ्गवत्, दह्यमानं वृक्षकोटरं विहाय यथा भुजङ्गमो[5] गच्छति तद्वदित्यर्थः। यदा गतस्तदा तमेव तद्गमनानन्तरमेव पुरी विशीर्णा शिथिला सती प्रकृतिं महाभूतात्मतां गता प्राप्तवती। कथा पक्षे तु दारापत्यादयः सर्वे पुरञ्जनविश्लेषमसहमानाः तेनैव सह विनष्टा अभूवन् पुरी च विनष्टा अभूदित्यर्थः॥ २४॥

बलीयसा यवनेन प्रसभं पुरः पुर्या विकृष्यमाणः तमोऽज्ञानमाविष्टः सखायं स्वेन सह वर्तमानं, सहवृत्तिर्हि सख्युः धर्मः, सुहृदं विपुलापराधत्वेऽपि किञ्चित् आनुकूल्येन रिरक्षयिषा[6] बुद्धिमन्तं परमात्मानं नाविन्दत् न सस्मार॥ २५॥

**विज०** भिन्ना नौः येषां ते भिन्ननावः॥ २१॥

अतदर्हणं शोकायोग्यं मरणायोग्यमिति वा॥ २२॥

स्वकं क्षयं कर्मणा शरीरान्तरम् अनुपथाः प्राणेन्द्रियादयः॥ २३॥

---

1. A, B, T का° 2. A, B, T omit तस्य 3--3. W omits 4. A, B, T °ष्ठः प्राणः 5. W °न्नो 6. A °षया

यदा विहङ्गमो भुजङ्गमः, पुरीं विहाय उपगतः तदा तमनु शरीरं च विशीर्णं प्रकृतिं पञ्चभूतात्मतां गतं पञ्चभूतेभ्यः उत्पन्नं पुनस्तदवशेषमापेत्यर्थः ॥ २४ ॥

तम आविष्टः अज्ञाननिमित्तमोहं प्राप्तः, सखायं परं, सदा, सहवर्तमानं परमात्मानम्। सुहृदमनिमित्तबन्धुं, नाविदत् नास्मरत् इत्यन्वयः ॥ २५ ॥

**तं यज्ञपशवोऽनेन संज्ञप्ता येऽदयालुना।**
**कुठारै श्छिच्छिदुःक्रुद्धाः स्मरन्तो[1] ह्यात्मवैशसम् ॥ २६ ॥**

**अनन्तपारे तमसि मग्नो नष्टस्मृतिः समाः।**
**शाश्वतीरनुभूयाऽऽर्ती[2]ः प्रमदासङ्गदूषितः ॥ २७ ॥**

**तामेव मनसा गृह्णन् बभूव प्रमदोत्तमा।**
**अनन्तरं विदर्भस्य राजसिंहस्य वेश्मनि ॥ २८ ॥**

**उपयेमे वीर्यपणां वैदर्भीं मलयध्वजः।**
**युधि निर्जित्य राजन्यान् पाण्ड्यः परपुरञ्जयः ॥ २९ ॥**

**तस्यां स[3]जनयाञ्चक्र आत्मजामसितेक्षणाम्।**
**यवीयसः सप्त सु[4]तान् सप्त द्रविडभूभृतः ॥ ३० ॥**

**श्रीध० तमिति**। अदयालुना काम्यकर्मसु ये संज्ञप्ता हताः। अमीवं पापं क्रौर्यं वा ॥ २६ ॥

**अनन्तेति**। शाश्वतीः समा आर्तिमनुभूय ॥ २७ ॥

**तामिति**। अन्तकाले तां भार्यामेव मनसा गृह्णन् स्मरन् अनन्तरं विदर्भस्य वेश्मनि प्रमदोत्तमा बभूव। अतः परमस्मिन् प्रकरणे एतावदेव प्रकृतोपयोगि विवक्षितम्। स्त्रीध्यानेन स्त्रीत्वप्राप्तावपि पतिव्रताध्यानेन पूर्वादृष्टेन च धार्मिकात् विदर्भा जन्माऽभूत्। धार्मिकसङ्गेन च विशुद्धस्य भागवतेन मलयध्वजेन सङ्गोऽभूत्। ततो विष्णुभक्तिस्ततो वैराग्यं ततः तमेव भर्तृरूपं गुरुं पातिव्रत्यधर्मेण भजतो

---

1. A, B, G, I, J, T, V °न्तोऽमीवमस्य तत्; M, Ma, Ms °न्तो वैशसं तु तत् 2. A, B, G, I, J, T, V °र्तिं 3. M, Ma, सञ्ज° 4. V पुत्रान्

भगवत्प्रसादलब्धज्ञानेन[1] मोक्ष इति । अन्यत्तु कथालङ्कारमात्रं, तथापि किञ्चित् वृत्तिसाम्येन[2] इह योजयिष्यामः । विदर्भस्य विशिष्टदर्भोपलक्षितस्य कर्मठस्य राजसिंहस्य धर्मेण हि प्रजापालनेन यज्ञादिना च क्षत्रिया राजन्ते तेषु राजश्रेष्ठस्य[3] वेशमनि ॥ २८ ॥

**उपयेम** इति । मलयोपलक्षिते दक्षिणदेशे ध्वज इव दर्शनीयः स हि श्रीविष्णुभक्तिप्रधानो[4] देशः, तत्र मुख्यो महाभागवत इत्यर्थः । पण्डा निश्चयबुद्धिः तामर्हतीति पाण्ड्यः स उपयेमे । पुरञ्जनो भागवतसङ्गं प्राप्त इत्यर्थः ॥ २९ ॥

**तस्यामिति** । आत्मजां श्रीकृष्णसेवारुचिम् । तत्सङ्गेन भगवद्धर्मे रुचिरभूदित्यर्थः[5] । असितस्य श्रीकृष्णस्य ईक्षणं यया ताम् । यवीयसः सप्त सुतान् "श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यम्" (भाग. 7-5-23) इति सप्त[6] भक्तिप्रकारान् । सख्यात्मनिवेदनयोः त्वम्पदार्थज्ञानोत्तर कालत्वात् तस्य च भगवतैव[7] उत्तरत्रोपदेक्ष्यमाणत्वात् इदानीम् अनुत्पत्तेः सप्तेत्युक्तम् । भगवद्धर्मरुच्या तच्छ्रवणकीर्तनादिकं जातमित्यर्थः । द्रविडभूमिपालकान् । द्रविडभूमिर्हि श्रवणादिभक्तिभिरेव सुरक्षिताऽस्तीति प्रसिद्धम् ॥ ३० ॥

**वीर०** अदयालुना दयारहितेन अनेन पुरञ्जनेन यज्ञे कर्मेन्द्रियव्यापाररूपे यज्ञे ये पशवः संज्ञप्ता हिंसिताः, ते पशवः आत्मवैशसं स्वविषये कृतं द्रोहं स्मरन्तः अत एव क्रुद्धाः कुठारसदृशैः शृङ्गैरेनं चिच्छिदुः ॥ २६ ॥

अनन्तपारेऽपारे तमसि नरके मग्नः अत एव गतविवेकः शाश्वतीः समाः संवत्सरान्, "कालध्वनोरत्यन्तसंयोगे" (अष्टा० 2-3-5) इति द्वितीया । आर्तिं दुःखमनुभूय प्रमदासङ्गदूषितः प्रमदासङ्गेनदूषितचित्तः इत्यर्थः, प्रमदाऽत्र देहानुबन्धिनी भार्या विवक्षिता, न तु बुद्धिरूपा, बुद्धिसङ्गस्याऽऽसंसार मनुवर्तमानत्वेन सर्वेषां सर्वदा स्त्रीजन्मापत्तेः ॥ २७ ॥

तामेव[8] भार्यामेव मनसा गृह्णन् अन्तकाले स्मरन् अनन्तरं राजसिंहस्य विदर्भस्य वेशमनि प्रमदोत्तमा बभूव[9] इत्यन्वयः । एवं तिर्यगादिरूपेण संसरतो जीवस्य अदृष्टविशेषपरिपाकवशात् मनुष्यजन्म प्राप्तस्य तत्रापि जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु[10] दोषाननुकीर्त्य पुनर्दैवात् कदाचित् सञ्जातविवेकस्यापि प्रबलकर्मरूपप्रतिबन्धवशात् रजस्तमः प्रचुरबुद्धिपारवश्ये[11] स्वदेहदेहानुबन्धिविषय अहम्ममाभिमानग्रस्तस्य जरामरणाद्यवस्थासु दोषान् अभिधाय इदानीं देहावसाने देहानुबन्धिप्रमदास्मरणनिमित्तस्त्रीजन्मप्राप्तिं, तत्रापि प्राक्तन कादाचित्कयादृच्छिकपुण्यवशात् सत्कुलप्रसूतिं, ततो महाभागवतभर्तृसम्बन्धं, तत्सेवाप्रकारं, ततः तेन तुष्टस्य भगवतः प्रसादात् ज्ञानोदयञ्चाह । तत्र कथापक्षे विदर्भादिपदानां श्रौत एवार्थः । अध्यात्मपक्षे तु विदर्भस्य विशिष्टं दर्भोपलक्षितं कर्म यस्य तस्य

1. V ज्ञाने 2. A, B, J, Va सामान्येन 3. A, B, J, V omit राज 4. A, B, J, Va भक्त 5. A °रभवदि° 6. A, B, J, Va omit सप्त 7. V adds भगवत्त्वेन 8. A. B, T omit एव 9. W omits इत्यन्वयः । 10. A, B, T °पुप्ता° 11. A, B, T वश्येन दे°

राजन्ते सत्कर्मानुष्ठानेनेति[1] राजानः सत्कर्मानुष्ठानपराः तेषां मध्ये सिंहस्य श्रेष्ठस्य वेश्मनि गृहे प्रमदा बभूव पुरञ्जनः कर्मविशेषेण विशिष्टकुले स्त्रीत्वं प्राप्त इत्यर्थः ॥ २८ ॥

तां वैदर्भीं विदर्भस्य दुहितरं वीर्यं भगवद्भक्ति योगानुष्ठानसामर्थ्यमेव[2] पणः शुल्कबन्धनं यस्यास्तां भागवतमेव वृणवानीत्येवं सङ्कल्पवतीं मलयध्वजः मलयपर्वतोपलक्षितो दक्षिणदेशः तत्र ध्वज इव दर्शनीयः, स हि विष्णुभक्तिप्रधानो देशः तत्र मुख्यो भागवत इत्यर्थः । तथा पाण्ड्यः[3] पण्डा बुद्धिर्निश्चयात्मिका तामर्हतीति पाण्ड्यः । परस्य परमात्मनः पुरं पुरवद्वासस्थानं शरीरम् । "अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरम्" (छन्दो उ. 8-1-1) इति श्रुतेः । तज्जयतीति पुरञ्जयः देहगुणाद्यजित इत्यर्थः । युधि इन्द्रियजयरूपे युद्धे राजन्यान् जितेन्द्रियान् निर्जित्य जितेन्द्रियश्रेष्ठोऽभूदित्यर्थः । उपयेमे, यद्यप्यत्र "राज्ञो जातावेवेति वाच्यम्" (अष्टा.वार्तिकम् 1635) इति जातौ नियमितोऽयं यत्प्रत्ययः तदन्तो राजन्यशब्दः क्षत्रियजातीयवचनस्तथाऽपि अत्र गौण्या वृत्त्या जितेन्द्रियपरः। क्षत्रियजातीयो हि जयेन राजत इति जयगुणयोगाज्जितेन्द्रिये तस्य वृत्तेः सम्भवात् ॥ २९ ॥

स मलयध्वजस्तस्यां वैदर्भ्याम् [4-]असितेक्षणा[-4] असिते श्रीकृष्णे ईक्षणं दृष्टिर्यया तां श्रीकृष्णसेवारुचिरूपाम् आत्मजां जनयाञ्चक्रे वैदर्भ्याः भागवतसञ्ज्ञेन भगवत्सेवारुचिरभूदित्यर्थः । तथा यवीयसः आत्मजाया अनु[5] जातान् सप्तसुतान् "श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यम्" (भाग.7-5-23) इत्येवं रूपान् । सख्यात्मनिवेदनयोस्तु भगवदनपायित्व तच्छेषतैकानुसन्धानरूपयोः भगवतैव उत्तरत्रोपदेक्ष्यमाणयोः इदानीमनुत्पत्तेः सप्तेत्युक्तम् । भगवद्धर्मरुच्या तच्छ्रवणकीर्तनादिकं[6] जातमित्यर्थः । द्रविडभूमिपालकान्, द्रविडभूमिर्हि श्रवणादिभिरेव सुरक्षिता अस्तीति प्रसिद्धम् ॥ ३० ॥

**विज०** अदयालुना क्रूरेण, हिंसाकर्मरतेन इत्यर्थः । तुशब्देन ब्रह्मार्पणबुद्ध्याऽननुष्ठानं सूचयति ॥ २६ ॥

अनन्तपारेऽवसानरहिते, तमसि निरये, प्रमदासञ्ज्ञेन विषयबुद्धिस्वीकारेण दूषितोऽशुद्धः ॥ २७ ॥

तां विषयबुद्धिमेव, उत्तमा उद्गततमा प्रगतमदा मदरहिता, बुद्धिरभूत् । अत्र मरणजनने कथालङ्कारार्थे, अध्यात्मार्थस्य मण्डूकप्लृतिन्यायेन "पदाक्षिप्तस्यापि सम्भवात् वाच्यमपच्युत्" इति वचनात् ॥ २८ ॥

उपयमनं नाम स्वाधीनताकरणं वीर्यपणां ब्रह्मचर्यादिसाधनसाध्यां वैदर्भीं निशितां क उपयेमे, मलं यापयतीति मलयः । शान्तमनःसंस्कारः स एव ध्वजो यस्य स तथा । हरिसेवादिना संस्कृतमना इत्यर्थः । रूपकमात्रस्य लिङ्गव्यत्ययो न दोषाय । "मनसा

---

1. B, W omit सत् 2. W °नमेव 3. A, B, T omit पाण्ड्यः 4--4. A, B, T omit 5. W अनुजान् 6. A, B, T सप्तैवेत्यु°

वा अग्रे संकल्पयत्यथ वाचा व्याहरति'' (ऐत.उ. 1-1-2) इति श्रुतेः। मनसोऽपि बुद्ध्यधीनकरण शक्तिः उपपत्तिमतीति बोद्धव्यं, किंकृत्वा युधि यमनियमादिलक्षणे युद्धे, राजन्यान् 'राजृ-दीप्तौ+'।

इति धातोः दीपकानीन्द्रियाणि वशीकृत्य चञ्चलस्य मनसो बुद्ध्यधीनकरणशक्तिः कथमिति तत्राह- पाण्ड्य इति। पाण्डोर्धर्माज्जातं विवेकज्ञानं तेन सम्पन्नः। तत् कुत इति तत्राह- परेति। परेषामिन्द्रियाणां विषयलक्षणं पुरं जयतीति आत्माऽनभिमतमार्गगन्तृत्वादिन्द्रियाणां परत्वं तदभावे सुहृत्वमेव, ''मननात् मन उद्दिष्टम्''।

इति मनश्चेतनो वा। बाह्यार्थस्तु एवं, पुरञ्जनः पुरञ्जनीसङ्गेन तद्वासनादूषितो नाम्ना वैदर्भी प्रमदोत्तमाऽभूत्, पुरञ्जनी तत्पुरञ्जनसङ्गातिशयेन वासनावशात् नाम्ना मलयध्वजः पुमानभूत्। विषयसङ्गातिरेकलक्षणकारणात् पुंसः स्त्रीत्वं, स्त्रियाः पुंस्त्वं च, ततः स्त्रीत्वमेव अवशिष्यते। विषयसंगतिरेको न कर्तव्य इति शिक्षणार्थं च इदमुक्तम् इति तात्पर्यं ज्ञातव्यम्॥ २९॥

तस्यां बुद्धौ, असितो नित्यमुक्तो हरिः, तस्येक्षणं, यया भवति असितेक्षणाम् आत्मजा विष्णुभक्तिः, विरागविनयदानधैर्याऽस्पर्धन विवेकदमाः सप्त संख्याताः। बुद्धेः जातत्वात् सुता इत्युच्यन्ते, विष्णु भक्त्यनन्तर काले स्पष्टत्वात् यवीयस इति सप्तयाजय वपा बन्धो लक्ष्यते, सम्बन्धो द्रविलः, प्राप्तगर्भलक्षणगतिः तस्य जीवस्य भूः स्थानं मुक्तिलक्षणं, बिभ्रति उत्पाद्य ददतीति, सप्तद्रबिडभूभृतः। ''डलयोरभेदः मृलाजरित्र'' इति दर्शनात् सप्तेन्द्रियाणि वा अनेनोच्यन्ते, रागादिभ्यो मुक्ताः प्रकाशितरूपाः सुता इति उच्यन्ते॥ ३०॥

**एकैकस्याऽभवंस्तेषां[1] राजन्नर्बुदमर्बुदम्।**
**भोक्ष्यते यद्वंशधर्मैः[2] मही मन्वन्तरं परम्॥ ३१॥**

**अगस्त्यः प्राग्दुहितरमुपयेमे धृतव्रताम्।**
**यस्यां दृढच्युतो[3] जात इध्मवाहात्मजो[4] मुनिः॥ ३२॥**

**विभज्य तनयेभ्यः क्ष्मां राजर्षिर्मलयध्वजः।**
**आरिराधयिषुः कृष्णं स जगाम कुलाचलम्॥ ३३॥**

**हित्वा गृहान् सुतान्[5] भोगान् वैदर्भी मदिरेक्षणा।**
**अन्वपद्यत[6] पाण्ड्येशं ज्योत्स्नेव रजनीकरम्॥ ३४॥**

1. A, B, G, I, J, M, Ma Ms, T °भवत्तेषां 2. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T, W धरैः 3. W °व्रतो 4. M, Ma, Ms °सा° 5. W सुखान् 6. A, B, G, I, J, M, Ma, T °धावत; Ms, V °गच्छत

**तत्र चन्द्रमसा[1] नाम ताम्रपर्णी[2] वटोदका।**

**तत्पुण्यसलिलैर्नित्यमुभयत्रात्मनो मृजन्॥ ३५॥**

**श्रीध० एकैकस्येति**। अर्बुदमिति। श्रवणादीनां प्रत्येकमनेके[3] प्रकारा अभवन्नित्यर्थः। तदुक्तम् - "भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते" (भाग०3-29-7) इति। येषां वंशधर्मैः[4] यतः प्रवृत्तैः सम्प्रदायभेदैः, कृत्स्ना मही मन्वन्तरं ततः परं च भोक्ष्यतेऽविद्याकामकर्मभ्योऽपि रक्षिष्यते॥ ३६॥

**अगस्त्य** इति। अगस्त्यः अगानि निष्क्रियाणि गात्राणि स्त्यायति सङ्घातयतीत्यगस्त्यो मनः। स प्राक् प्रथमजातां दुहितरं कृष्णसेवारुचिम् उपयेमे, तस्याः[5] मनः कृष्णे दृढां रतिं बबन्धेत्यर्थः। धृतानि शमदमादीनि व्रतानि यया तां रतिम्। दृढेभ्यः सत्यलोकादि भोगेभ्योऽपि च्युतस्तद्रहितः कृष्णरतौ सत्यां[6] इहामुत्र च भोगविरागो जात इत्यर्थः। स एवोपशमात्मकत्वात् मुनिः। कथम्भूतः? इध्मवाह आत्मजो यस्य सः। "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" (मुण्ड.उ.1-2-12) इत्यादि श्रुतिप्रसिद्धा समिद्वहनोपलक्षिता गुरूपसत्तिः वैराग्यात् अभूदित्यर्थः, न हि अविरक्तस्य गुरूपसत्तिः सम्भवति। कथापक्षे यथाश्रुतमेव॥ ३२॥

**विभज्येति**। क्ष्मां विभज्य तत्र श्रवणादिभक्तिभेदं व्यवस्थाप्य॥ ३३॥

इदानीं पुरञ्जनस्य स्त्रीभावं प्राप्तस्य सर्वतो विरक्तस्य "पतिरेव गुरुः स्त्रीणाम्" इति वचनात् पतिसेवया गुरुशुश्रूषा प्रकारं दर्शयितुमाह- **हित्वेत्या**दिना मनो दग्ध इत्यन्तेन ग्रन्थेन। मदयतीति मदिरम् ईक्षणं यस्याः॥ ३४॥

**तत्रेति**। तत्र चन्द्रमसाद्या[7] नद्यः प्रसिद्धाः[8] तासां पुण्यैः सलिलैः उभयत्र अन्तर्बहिश्च आत्मनो मृजन्[9] मलं[10] क्षालयन् तप आस्थित इत्युत्तरेणान्वयः॥ ३५॥

**वीर०** हे राजन्! तेषां पुत्राणाम् एकैकस्य अर्बुदमर्बुदं[11] पुत्रा अभवन्। श्रवणकीर्तनादीनां प्रत्येकमनेकप्रकारा अभवन्नित्यर्थः। येषां वंशधरैर्यतः प्रसूतैः सम्प्रदायभेदैः मन्वन्तरम् अतः परं च मही भोक्ष्यते अनुभूयते श्रवणकीर्तनादिसम्प्रदाय भेदैर्मही व्याप्ता इत्यर्थः॥ ३१॥

[12]अगस्त्यः अगस्त्योपलक्षितो मुमुक्षुः दृढव्रताम् अव्यभिचारिणीं दुहितरं भगवत्सेवारुच्यात्मिकामुपयेमे स्वीकृतवान्। दुहितरं

1. A, B, G, I, J, T °वसा; M, Ma, Ms °वदा 2. M, Ma, Ms वरो°; V नवो° 3. V °कप्र° 4. A, B, J, Va धरैः 5. A, B, J, Va तस्य
6. A, B, J, Va omit सत्यां 7. A, B, J, Va °व° 8. A, B, J, Va omit प्रसिद्धाः 9. B, J, V, Va omit मृजन् 10. A adds मनो
11. W omits अर्बुदं 12. A, B, T omit आगस्त्यः

विशिनष्टि-- यस्यां दुहितरि इध्मवाहात्मजः इध्मवाहः समित्प्रापणं तेन तत्पूर्वकगुरूपसत्तिः लक्ष्यते "गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" (मुण्ड.उ.1-2-12) इति श्रुति प्रसिद्ध सन्निहितपूर्वकगुरूपसादात् जातो ब्रह्मोपदेशात्मको मुनिः उपदिष्टस्य अर्थस्य मननप्रचुरत्वात् मुनिः, दृढं व्रतं श्रवणोपयुक्तशमदमात्मकं व्रतं यस्य सः "प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय" (मुण्ड.उ.1-2-13) इति श्रुतेः। उपासनोपयुक्तशमादीनां श्रवणकालेऽभावाच्च जातः बभूव॥ ३२॥

तनयेभ्यः श्रवणकीर्तनादिभ्यः पुत्रेभ्यः क्ष्मां स्वोपजीव्यां भगवद्भक्त्यात्मिकां पृथ्वीं विभज्य श्रवणकीर्तनादिसाध्यामनुसन्धाय स मलयध्वजः कृष्णमाराधयितुमिच्छुः कुलाचलं मलयपर्वतं प्रति जगाम गतः[1]॥ ३३॥

गुरूपसत्तिपूर्वक शमादियुक्त श्रवणमननादिपूर्विकां श्रवणकीर्तनादिसाध्य[2]भगवत्सेवारुचिं वैदर्भ्यामुत्पाद्य तया सह भगवन्तमाराधयितुं विविक्तं पुण्यदेशं ययावित्युक्तम्, अथ मलयध्वजस्य महाभागवतस्य अष्टाङ्गयुक्तभगवद्भक्तियोगानुष्ठान प्रकारं वैदर्भ्याः पत्युः परिचर्याप्रकारं च आह - **हित्वेत्यादिना मनो दध** इत्यन्तेन ग्रन्थेन। मदिरं भगवत्सेवाहर्षरूपमीक्षणं ज्ञानं यस्याः सा वैदर्भी सुखान् सुखप्रदान्, गृहान् सुखशब्दः तत्साधनेषु उपचारात्प्रयुक्तः। अत एव पुंस्त्वम्। त्यक्त्वा[3] पाण्ड्येशं मलयध्वजमन्वधावत अनुसृत्य गतवती, यथा रजनीकरं चन्द्रं ज्योत्स्ना चन्द्रिका॥ ३४॥

तत्र कुलाचले चन्द्रमसा[4] ताम्रपर्णी प्रसिद्धा नदी, तस्याः पुण्यैः सलिलैः आत्मनः स्वस्य उभयत्र अन्तर्बहिश्च मलं मृजन् स्नानपानादिभिः शोधयन् तप आस्थित इत्युत्तरेणान्वयः॥ ३५॥

**विज०** अर्बुदमर्बुदमित्यनेन सत्यो वृत्तयो गृह्यन्ते। मही शास्त्रविरुद्धविषयलक्षणा मन्वन्तरं मनुष्यजीव नावधिपरं शतवर्षं प्रारब्धपुण्यवशात् बुद्ध्यावरणादिभिः प्राणैः इन्द्रियैरेव विषयान् भुङ्क्ते इत्यर्थः॥ ३१॥

"स्त्यै ष्ट्यै शब्दसङ्घाते" इति धातोः, अगं भगवन्तं, स्त्यायति शब्दसमूहेन स्तुतिं करोतीति अगस्त्यो भक्तः। प्राञ्चं पुरातनं, श्रीनारायणं दोग्धीति दुहिता भक्तिः तामुपयेमे संसारनिवर्तने शक्तिमत्तया अचलामकरोदित्यर्थः। कीदृशीं ब्रह्मचर्यादिव्रतसाध्यां, दृढं च्युतः पुत्रादिस्नेहो यस्मात् स दृढच्युतः, पूर्वस्मात् विरागो दृढतरोऽभूदित्यर्थः। इध्मवासो गुरुकुलवास एव आत्मजो यस्य स तथा। वैराग्यादेव गुरुकुलवासो भवति। "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेव अभिगच्छेत्" (मुण्ड. उ. 1-2-12) इति श्रुतेः। "सौम्येमाः समिध आहर" इति च॥ ३२॥

---

1. W omits गतः 2. A, T °ध्यां भ° 3. A, T omit त्यक्त्वा 4. A, B, T °व°

वैराग्यादिसम्पत्त्या राजत इति राजा, विवेकित्वात् ऋषिः । राजा चासावृषिश्चेति राजर्षिः । वैराग्यविवेकज्ञानसम्पन्नः । शुद्धवासनाङ्कितः पुरुषः तनयस्थानीयेभ्यो विरागादिभ्यः इन्द्रियेभ्यो वा, क्ष्मां शास्त्रलक्षणां भोग्यलक्षणां वा, विभज्येदं श्रोतव्यं नेदमिति विविच्य अयं विषयः सेवनीयो नायमिति, कुलाचलं निश्चलं वासार्थं गुरुकुलं जगाम । वैराग्यादिगुणसम्पन्नः शरीर यात्रानिर्वाहकविषयभोगी गुरुकुलसन्निधिम् अवात्सीदित्यर्थः । कृष्णं पूर्णानन्दमाराध्य अपरोक्षी कर्तुकामः इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

मदिः दृष्टिः तां रातीति मदिरं, तादृश मीक्षणं ज्ञानं यस्यां सा तथा शुद्धज्ञाना, विषयानुषङ्गं विहाय तदनुसारिणी बभूवेति पाण्ड्येशं अन्वपद्यत इत्यभिप्रायः । अत्र सुतशब्देन रागादयो लक्ष्यन्ते, तान् अविहायेत्यर्थः । मुक्तावपि बुद्ध्यात्मनो राहित्यं नास्तीति दर्शयितुं ज्योत्स्नेवेति ॥ ३४ ॥

[1]तत्र गुरुकुलवासे चन्द्रवदाह्लादकं निर्मलं च वदति ज्ञापयतीति वेदान्तशास्त्रम् । ययौ चन्द्रमदेति पाठे "शसाविति" सूत्रात् वकारस्य मकारः, चन्द्रबिम्बं विषयीकरोतीति [2]वा नाम लोकप्रसिद्धम्, "पर्ण-आच्छादने" इति धातोः, ताम्रं, रजस्तमश्च, पर्णयति आच्छादयति परिभवतीति ताम्रपर्णी वेदान्तव्याख्या । तश्चामरश्चेति ताम्रं, ब्रह्म पृणातीति प्रकाशलक्षणं दानं करोतीति वा "पृण-दाने" इति धातोः । नदीवत् पदवर्णस्वरूपलक्षणप्रवाहात् श्रोतॄणाम् उदकवत् आह्लादजननाद्वा वरोदका तस्या व्याख्यायाः प्रकाशितैः पुण्यैः, शोधकैः सलिलैः युक्तिलक्षणैः आत्मनोऽन्तःकरणस्य उभयत्र प्रतिवादिनिमित्तबाह्यं दुर्युक्तिमलं संशयाद्यान्तरमलं मृजन् शोधयन् ॥ ३५ ॥

**कन्दा[3]ष्टिभिर्मूलफलैः पुष्पपर्णैस्तृणोदकैः ।**
**वर्तमानः शनैर्गात्र[4]कर्शनं तप आस्थितः ॥ ३६ ॥**

**शीतोष्णवातवर्षाणि क्षुत्पिपासे प्रियाप्रिये ।**
**सुखदुःखे इति द्वन्द्वान्यजयत्समदर्शनः ॥ ३७ ॥**

**तपसा विद्यया पक्वकषायो नियमैर्यमैः ।**
**युयुजे ब्रह्मणा[5]ऽऽत्मानं विजिताक्षानिलाशयः ॥ ३८ ॥**

**आस्ते स्थाणुरिवैकत्र दिव्यं वर्षशतं स्थि[6]रः ।**
**वासुदेवे भगवति नान्यद्वेदोद्वहन् रतिम् ॥ ३९ ॥**

1. Ma adds सः 2. Ma omits वा 3. M, Ma, Ms °दि° 4. B, W कर्षणं 5. A, B, G, I, J, T °ण्या° 6. M, Ma, Ms °तः

**सव्यापकतयाऽऽत्मानं व्यतिरिक्ततयाऽऽत्मनि।**
**विद्वान् स्वप्न इवामृश्य[1] साक्षिणं विरराम ह॥ ४०॥**

**श्रीध० कन्देति**। अस्यते भूमौ क्षिप्यत इत्यष्टिर्बीजम्॥ ३६, ३७॥

**तपसेति**। विद्ययोपासनया पक्वकषायो दग्धकामादिवासनः। युयुजे आत्मनो ब्रह्मतां भावयामास। अक्षाणीन्द्रियाणि, अनिलः प्राणः, आशयश्चित्तम्। विजिता अक्षादयो येन॥ ३८॥

**आस्त** इति। आस्ते स्म वर्षशतमिति ज्ञानस्य दुस्साधनतां दर्शयति। अत एव हरौ भक्तिं कृतवानित्याह। वासुदेवे रतिम् उद्वहन्[2] सन् अन्यत् देहादिकं न वेद॥ ३९॥

**स** इति। स एवं वर्तमानस्सन्[3] आत्मनि आत्मानं विद्वान् अन्यस्मादुपरराम। कथं विद्वान्? व्यतिरिक्ततया देहादिव्यतिरिक्तत्वेन, कुतः? व्यापकतया, देहादिप्रकाशकत्वेन। ननु देहाद्याकारो विमर्श एतत्प्रकाशयति न तु निराकार आत्मा अत आह- आमर्शस्यापि साक्षिणम्। अयम्भावः- अमर्शो नाम अन्तः करणवृत्तिः, सा च जडत्वात् आत्मप्रकाशस्यैवेति। यथा स्वप्ने ममेदं शिरः छिन्नमित्यादिप्रतीतौ तद्व्यतिरिक्तमात्मानं [4-]छिन्नशिरस्कस्य प्रकाशक[-4]वेत्ति तद्वत्॥ ४०॥

**वीर०** कन्दाष्टयः कन्दबीजानि कन्दाष्ट्यादिभिः पूर्वपूर्वालाभे उत्तरोत्तरैः वर्तमानः देहधारणं कुर्वाणः पश्चाच्छनैः गात्रकर्शनं[5] शरीरशोषणं तप अनशनतप आस्थित इत्यर्थः[6]॥ ३६॥

ततः समदर्शनः शीतोष्णादिनिमित्तचित्तविकाररहितः शीतोष्णादिद्वन्द्वान्यजयत्॥ ३७॥

तपसा कर्मयोगेन विद्यया ज्ञानयोगेन च पक्वः निरस्तः कषायः धातुरागवदनिवर्त्यं पुण्यापुण्यात्मकं पापं यस्य स, यमैर्नियमैश्च विजितान्यक्षणीन्द्रियाणि अनिलः प्राणः, आशयोऽन्तः करणं च येन सः। ब्रह्मणा परमात्मना आत्मानं प्रत्यगात्मानं युयुजे। अधिकरणस्यैव करणत्वविवक्षया तृतीया। ब्रह्मण्यात्मानं युयुजे ब्रह्मात्मकं स्वात्मानमनुसंहितवानित्यर्थः॥ ३८॥

स्थाणुरिव एकत्र देशे दिव्यं वर्षशतं निश्चलः आस्ते उपविष्टवान्। भगवति वासुदेवे रतिमनुरागात्मिकां भक्तिमुद्वहन् कुर्वन् अन्यच्छरीरादिकं न वेद न सस्मार॥ ३९॥

---

1. A, B, G, I, J, T, V °मर्श 2. B, J, V, Va omit सन् 3. A, B, J, Va omit सन् 4--4. B, J, V, Va omit 5. B, W कर्षणं 6. W omits इत्यर्थः

स मलयध्वजः साक्षात् द्रष्टारमात्मानं परमात्मानमात्मनि जीवात्मनि व्यापकतया विलक्षणतया व्यापकत्वरूपवैलक्षण्येनेत्यर्थः। विद्वान् स्वप्न इवाऽऽमृश्य स्वप्न इवानित्यं देहवृत्तान्तमामृश्य तस्मात् विरराम केवलपरमात्मानुसन्धानपरोऽभूदित्यर्थः॥ ४०॥

**विज०** ''मूल-प्रतिष्ठायाम्'' इति धातोः मूलं जगदाधारं ब्रह्म फलन्ति निष्पादयन्तीति मूलफलानि तैः, कं सुखं ददातीति कन्दं मिताशनं तदादिर्येषां मितस्वापादीनां तानि कन्दादीनि योगसाधनानि तैः। ''नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः'' (भ.गी.6-16) इति स्मृतेः। पुष्पवत् मृदुलैः पर्णैः आच्छादनैः उद्गतमकं दुःखं येभ्यस्तानि उदकानि तृणानि आस्तरणानि तैरैतैश्च वर्तमानः शरीरयात्रां कुर्वाणः *गं ज्ञानं गमयतीति गात्रमज्ञानं कर्शयत्यल्पीकरोतीति गात्रकर्शनम्। ''तप- आलोचने'' इति धातोः आलोचनं मननमनुतिष्ठन्॥ ३६॥

शीतोष्णादीनि द्वन्द्वान्यजयत् सहमानो वर्तत इत्यन्वयः। शीतोष्णादिशब्दैः कामादयो लक्ष्यन्ते इति ज्ञातव्यम्, उभयेषां शरीराधिकरणत्वात्॥ ३७॥

तपसा मननलक्षणेन जातया विद्यया ज्ञानेन नियमादिभिश्च पक्वकषायः शिथिलीकृतपाप आत्मानमन्तःकरणं ब्रह्मणा युयुजे विषयेभ्यः आनीय श्रीनारायणेन सह वर्तमानमकरोत् तदेकनिष्ठमकुरुतेत्यर्थः। यद्वा आत्मानमन्तर्यामिरूपं ब्रह्मणा व्याप्तरूपेण युयुजे एकत्वेन दध्यावित्यर्थः। विजिताक्षानिलाशयो वशीकृतेन्द्रियप्राणान्तःकरणः, आशयो अभिलाषो वा॥ ३८॥

स्थाणुरिव स्थितः एकत्र गुरुकुले श्रुतमतशास्त्रे बुद्धिप्रसादजनके विविक्तस्थाने वा दिव्यं वर्षशतं बहुकालमुपासीन आस्त इत्यन्वयः। मुक्तिसाधनं भक्तिरेव नान्यदिति तस्या अतिशयफलमाह- वासुदेव इति। उपासको वासुदेवे भगवति वेदान्तविचारनिर्णीतगुणरत्नाकरे हरौ उपासनालक्षणां रतिमुद्वहन् कुर्वन् अन्यत् स्वतन्त्रं वस्तु न वेद, किन्तु सर्वं तदधीनमेव ज्ञातवानित्यर्थः॥ ३९॥

ननु ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य वस्तुनोऽभावात् ''एकमेवाऽद्वितीयम्'' (छान्दो.उ. 6-2-1) इति श्रुतेः एतदेव नान्यत् वेदेति प्रतीत एवार्थः किं न स्यादिति तत्राह- **स व्यापकतये**ति। स आमृश्य विचार्याऽऽत्मनि जीवे स्थितं साक्षिणं ''स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्या सुप्तः सुप्तानभिचाकशीति'' (बृह.उ. 4-3-11) इति श्रुतेः। साक्षात् द्रष्टृत्वेन वर्तमानं स्वप्ने यथा परतन्त्रतया जीवं पश्यति तथा अन्यदपीति विद्वान् तथात्मानं परमात्मानं व्यापकतया सर्वव्यापित्वेन चेतनाचेतनात्मक जगद्व्यतिरिक्ततया च विद्वान् विरराम

---

* Mf, Bf गं ज्ञानम् अत्राति न त्रातीति गात्रमिति पाठः सम्यक्।

संसारात् विरक्तो जीवन्मुक्त्यवस्थामापेत्यन्वयः । यद्वा आत्मानं व्यापकतया आत्मनि जीवे व्यतिरिक्ततया च विद्वान् स्वप्न इव स्वतन्त्रं साक्षिणं जीवं परतन्त्रम् आमृश्य निश्चित्य विरामेति । हेत्यनेन जीवस्य अस्वातन्त्र्ये हरेस्तदन्यत्वे "स्वप्नो यतो न स्वतन्त्रस्ततः तद्दर्शकः परः । जीवादन्यस्तु विज्ञेयः स विष्णुरवधार्यताम्" (वाराहे) इति प्रसिद्धिः सूच्यते ॥ ४० ॥

**साक्षाद्भगवतोक्तेन गुरुणा हरिणा नृप ।**
**विशुद्धज्ञानदीपेन स्फुरता विश्वतोमुखम् ॥ ४१ ॥**

**परे ब्रह्मणि चात्मानं परं ब्रह्म तथाऽऽत्मनि ।**
**वीक्षमाणो[1] विहायेक्षामस्मादुपरराम ह ॥ ४२ ॥**

**पतिं परमधर्मज्ञं[2] वैदर्भी मलयध्वजम् ।**
**प्रेम्णा पर्यचरद्धित्वा भोगान् सा पतिदेवता ॥ ४३ ॥**

**चीरवासा व्रतक्षामा वेणीभूतशिरोरुहा ।**
**बभावुपपतिं शान्ता शिखा शान्तमिवानलम् ॥ ४४ ॥**

**अजानती प्रियतमं यदोपरतमङ्गना ।**
**सुस्थिरासनमासाद्य यथापूर्वमुपाचरत्[3] ॥ ४५ ॥**

**श्रीध०** केन विद्वान् तत्राह - **साक्षादि**ति । साक्षात् भगवान्[4] हरिरेव यो गुरुः तेनोक्तेन सर्वतोमुखं यथा तथा स्फुरताऽनवच्छिन्नेन, [5]विशुद्धेन[-5] ज्ञानदीपेन[6] ॥ ४१ ॥

तदेवाह- **पर** इति । ब्रह्मैवाहं न संसारीति ब्रह्मणि आत्मनि ईक्षणे शोकादि निवृत्तिः अहमेव ब्रह्मेत्यात्मनि ब्रह्मण ईक्षणे ब्रह्मपारोक्ष्यनिवृत्तिः । अतो व्यतिहारेणेक्षमाणोऽस्मात्संसारात् उपरराम । नन्वेवमपि जीवस्य कुतो ब्रह्मत्वापत्तिः[7] ईक्षणस्यैव व्यवधायकत्वात् इत्याशङ्क्याह - ईक्षां विहाय[8] दग्धेन्धनाऽनलवत् तस्याः स्वयमेव उपशान्तेरिति भावः ॥ ४२,४३ ॥

**चीरिति** । उपपतिं[9-] पत्युः समीपे । यद्वा[-9] पत्युः किञ्चिन्मात्रं न्यूना तत्समाना सती बभावित्यर्थः । "उपोऽधिके च" (अष्टा. 1-4-87)

1. Ms, W ई° 2. V °ज्ञा 3. Ms °मिवा° 4. B, J, V, Va omit भगवान् 5--5. B, J, V, Va omit 6. B, J, V, Va ज्ञानेन ॥ ४१ ॥ 7. V °ता° 8. V adds यत् 6. V °शान्ति° 9--9. B, V omit

इति कर्मप्रवचनीयः। तद्योगे द्वितीया। शान्तमङ्गारावस्थं[1-] ज्वालाया अधः स्थितम्[-1] अनलं शान्ता शुद्धा निर्धूमा[2] ज्वाला यथा भवति तद्वत्॥ ४४॥

**अजानतीति**। तदानीमपि सुस्थिरमासनं यस्य, अत एव अजानती पत्युः[3-] किञ्चिन्मात्रम् औदासीन्यं[-3] यथा[4] तथा यथापूर्वम् असेवत॥ ४५॥

**वीर०** साक्षात् भगवान् हरिरेव गुरुः तेनोक्तेन सर्वतोमुखं स्फुरता अकुण्ठितेन विशुद्धज्ञानदीपेन स्वपर याथात्म्यज्ञानदीपेन॥ ४१॥

आत्मानं प्रत्यगात्मानं परे ब्रह्मणि, परं ब्रह्म प्रत्यगात्मनि च ईक्षमाणः उपासनेन[5] साक्षात्कुर्वन्नित्यर्थः। परे ब्रह्मणीति धारकत्वमुक्तं, परं ब्रह्मेति व्यापकत्वमुक्तम्। ततः ईक्षां विहाय उपरराम उपासनात्मकं ज्ञानं हित्वा उपरराम। यावत् उपरमम् आमरणमुपासितवानित्यर्थः॥ ४२॥

वैदर्भी भोगान् हित्वा पतिरेव देवता यस्याः सा भगवदाराधनरूपसर्वोत्कृष्टधर्मनिष्ठं मलयध्वजं पतिं प्रेम्णा पर्यचरत् परिचर्यां[6-] चक्रे[-6]॥ ४३॥

चीरं वासो वस्त्रं यस्याः सा, व्रतेन अनशनादिना क्षामा वशीभूता, वेणीभूता जटीभूताः शिरोरुहाः केशाः यस्याः सा, उपपतिं पत्युः समीपे यद्वा पत्युः किञ्चिन्मात्रं न्यूना तत्समाना सतीत्यर्थः। "उपोधिके च" (अष्टा. 1-4-87) इति कर्मप्रवचनीयत्वेन[7] तद्योगे द्वितीया शान्तमङ्गारावस्थमनलं शान्ता निर्धूमा[8] शुद्धा शिखा ज्वाला यथा भाति तथा[9] बभौ॥ ४४॥

यदा पतिरुपरराम तदानीमपि सुस्थिरमासनमासाद्य आबध्य अत एवोपरतं मृतं प्रियतमं पतिम् अजानती अङ्गना वैदर्भी यथापूर्वं पत्युरङ्गी उपाचरत् पर्यचरत्॥ ४५॥

**विज०** तर्ह्यभेदश्रुतेः कोऽभिप्राय इत्याशङ्क्य जीवान्तर्यामिणो हरेः "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै.ति. 3-2-1) इति श्रुतिप्रतिपाद्यस्य व्याप्तस्यापि न कश्चित् भेदोऽस्तीत्यर्थः इत्यभिप्रेत्याह- साक्षादिति॥ ४१॥

आत्मानं जीवान्तर्यामिणम्, ईक्षां तयोर्भेददर्शनम्, अस्माच्छरीरात्। हेत्यनेन इह[10] अस्य प्रामाणिकत्वं द्योतयति॥ ४२॥

पतिं स्वाश्रयमिन्द्रियद्वारेण भोगान् विहाय, परिचरणं नाम तस्य हितप्रेरकत्वम्॥ ४३॥

---

1--1. B, J, V, Va omit 2. B, J, Va omit निर्धूमा 3--3. A, B, J, Va omit 4. A, B, J, Va यदा तदा 5. A. T °ने सा° 6--6. W परिचरितवती 7. W °त्वे त° 8. A, B, T omit शुद्धा 9. A, B, T तद्वत् 10. A, B, M omit इह

चीरवासाः सत्वगुणलक्षणवेणी चक्षुषि शिरोरुहलक्षणा वृत्तयो यस्याः सा तथा, उपपतिं पत्युः स्वमनसः समीपे। शान्तमित्यनेन धूमराहित्यं न तु निर्वाणत्वं, न हि नष्टस्याग्नेः शिखा। कथापक्षे यथास्थित एवार्थः अभूतदृष्टान्तस्य[1] सम्भवात्। तस्मिन् निर्धूमतया ज्वलतोऽग्नेः शिखेव निर्मलतया श्रेयसोऽन्तरङ्गमित्यर्थः॥ ४४॥

इदानीं बुद्धेः वृत्तिविशेषान् लक्षयति - **अजानतीति**। अङ्गना भगवज्ज्ञानसाधना, उपरतं जीवन्मुक्त्यवस्थाप्राप्तं, प्रियतमं स्वस्था आत्यन्तिकं प्रियं तम्, अजानती बाह्यवृत्तिविशिष्टा सुस्थिरासनं तदेकवृत्तिनिष्ठालक्षणं पीठमाप्य पूर्वसंस्कारवशात् यथापूर्वम् उपाचरत् शुभकर्मणि प्रेरयामास॥ ४५॥

**यदा नोपलभेताङ्घ्रावूष्माणं पत्युरर्चती।**
**आसीत्संविग्नहृदया यूथभ्रष्टा मृगी यथा॥ ४६॥**

**आत्मानं शोचती दीनमबन्धुं[2] विक्लबाश्रुभिः।**
**स्तनावासिच्य विपिने[3] सुस्वरं प्ररुरोद[4] ह॥ ४७॥**

**उत्तिष्ठोत्तिष्ठ राजर्षे इमामुदधिमेखलाम्।**
**दस्युभ्यः क्षत्रबन्धुभ्यो बिभ्रतीं पातुमर्हसि॥ ४८॥**

**एवं विलपती[5] बाला विपिनेऽनुगता[6] पतिम्।**
**पतिता पादयोर्भर्तू रुदत्यश्रूण्यवर्तयत्[7]॥ ४९॥**

**चितिं दारुमयीं चित्वा तस्यां पत्युः कलेबरम्।**
**आदीप्य[8] चानुमरणे विलपन्ती मनो दधे॥ ५०॥**

**श्रीध० यदेति**। पत्युरङ्घ्रिम् अर्चयन्ती सेवमाना[9] यदा तस्मिन् अङ्घ्रौ ऊष्माणं नापश्यत्॥ ४६॥

**आत्मानमिति**। अबन्धुं पतिरहितम्। अश्रुभिः आसिच्य॥ ४७॥

**उत्तिष्ठेति**। क्षत्रबन्धुभ्योऽधार्मिकक्षत्रियेभ्योऽपि॥ ४८॥

---

1. A, B °त् दृ° 2. M, Ma, Ms °बन्धुर्वि° 3. W °जने 4. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T सा 5. G, I °पन्ती 6. W °जने 7. B, M, Ma, Ms °न्त्य° 8. M, Ma सन्दीप्य 9. B, J, V, Va omit सेवमाना

**एवमिति**। अवर्तयत् प्रवर्तयामास॥ ४९॥

**चितिमिति**। तस्यां निधाय अग्निदानेन आदीप्य च॥ ५०॥

**वीर०** यदा चार्चन्ती[1] पत्युरङ्घ्रौ ऊष्माणं नोपलभेत नोपलब्धवती तदा संविग्नहृदया दुःखितचित्ता आसीदभूत्। यूथात् स्वसमूहात् भ्रष्टा वियुक्ता मृगी हरिणी तद्वत्॥ ४६॥

अबन्धुं पतिरहितमत एव दीनमात्मानं शोचन्ती विक्लबाश्रुभिः शोकोद्गतनेत्रजलैः स्तनावासिच्य एकान्ते सुस्वरं प्ररुरोद। हेति खेदे॥ ४७॥

तदेवाह - हे राजर्षे ! जितेन्द्रियश्रेष्ठ ! उत्तिष्ठोत्तिष्ठ, क्षत्रबन्धुभ्योऽधार्मिकक्षत्रियेभ्यः, अत एव दस्युरूपेभ्यः केवलत्रिवर्गनिष्ठेभ्यः इत्यर्थः। बिभ्यतीं भयं प्राप्नुवतीं[2] निवृत्तिमार्गलोपेन बिभ्यतीमित्यर्थः। इमामुदधिमेखलां समुद्रवेष्टितां भूमिं पातुं सम्यक् निवृत्तधर्मप्रवर्तनेन रक्षितुमर्हसि॥ ४८॥

पतिमनुसृत्य विजनेऽरण्ये गता बाला वैदर्भी एवं विलपन्ती भर्तुः पादयोः पतिता रुदन्ती[3] अश्रूण्यवर्तयत् प्रवर्तयामास॥ ४९॥

दारुमयीं चितिं कृत्वा विरचय्य तस्यां चित्यां पत्युः कलेबरं[4] शरीरम् आदीप्य प्रज्वाल्य विलपन्ती, अनुमरणे सहगमने मनो दधे धृतवती॥ ५०॥

**विज०** यदैवं प्रेरयति च यदा पत्युरङ्घ्रयवयवैकदेशे ऊष्माणमौष्ण्यं नोपलभेत शुष्कजलनारिकेलफलवत् देहाभिमानं विहाय स्थितत्वादौष्ण्यानुपलभः तस्या इति, ततोऽपि वृत्त्यन्तरवैशिष्ट्यमाह- आसीदिति। तदा संविग्नहृदया वृत्त्यन्तरविशिष्टाऽऽसीत्, मिश्रबुद्धिमपहाय स्वरूप बुद्ध्याऽवतिष्ठते, तदेवम् अवस्थाविशेष इति तात्पर्यं ज्ञातव्यम्॥ ४६॥

बन्धुः स्वामी तदनुमानराहित्यात् अबन्धुः शोचन्ती प्रकाशयन्ती। विक्लबेत्यादिना प्रतिक्षणमनन्तबुद्धिवृत्तयो लक्ष्यन्ते। विपिने देहलक्षणे स्थिता सुस्वरं प्ररुरोदेति इदं बुद्धे र्लक्षणमस्याः मुक्तिकाले नाशात् चिदचिद्बुद्ध्या व्यापारविशेषाल्लक्षणवैलक्षण्यं प्रतिक्षणं ज्ञातव्यम्॥ ४७॥

उदधिः कर्म तदेव मेखलास्थानीयं यस्याः सा तथा तां, दस्युभ्योऽहङ्कारादिभ्यः क्षत्त्रबन्धुभ्यो मिथ्याज्ञानादिभ्यो बिभ्यतीं मां रक्षितुमर्हसि। त्वदनुगृहीतया बुद्ध्याऽज्ञानादयो निवर्तन्त इत्यर्थः॥ ४८॥

---

1. A, B, T °ती 2. W °प्न° 3. A, B, T °ती 4. W omits शरीरम्

विपिने वासनावने विलपतीव धावतीव दर्शयती, भर्तुः पादयोः पतिता स्वामिनं विहाय स्थिता अश्रूण्यवर्तयत् मुग्धेवा भवत्॥ ४९॥

दारुमयीं भेदविषयां चितिं संविदं कृत्वा, प्रकाश्य तस्यां संविदि पत्युः कलेबरं संसारकारणमादीप्य दग्ध्वा, अनुमरणे अनुस्यूतदोषनाशे, मनो दधे तादृशीं वृत्तिं प्राकाशयत्॥ ५०॥

**तत्र पूर्वतरः कश्चित्सखा ब्राह्मण आत्मवान्।**
**सान्त्वयन् वल्गुना साम्ना तामाह रुदतीं प्रभो॥ ५१॥**

**[1-]ब्राह्मण उवाच[-1]**

**का त्वं कस्यासि को वाऽयं शयानो यस्य शोचसि।**
**जानासि किं [2]सखाऽयं मां येनाग्रे [3]विचचर्थ ह॥ ५२॥**

**अपि स्मरसि चात्मानमविज्ञातसखं सखे।**
**हित्वा मां पदमन्विच्छन् [4]भौमभोगरतो गतः॥ ५३॥**

**हंसावहं च त्वं चार्य सखायौ मानसायनौ।**
**[5-]अभूतामन्तरा वौकः[-5] सहस्रपरिवत्सरान्॥ ५४॥**

**स त्वं विहाय मां [6]बन्धो गतो ग्राम्यमतिर्महीम्।**
**विचरन् पदमद्राक्षीः कयाचिन्निर्मितं स्त्रिया॥ ५५॥**

**श्रीध० तत्रेति**। पूर्वतरोऽनादिरीश्वरः [7]कश्चित् सखा "द्वा सुपर्णा सयुजौ" (मुण्ड.उ० 3-1-1) इति श्रुतेः। साम्ना प्रियवाक्येन सम्बोधयन्॥ ५१॥

**केति**। यस्य यं शोचसि अग्रे सृष्टेः पूर्वं [8]येन विचचर्थ ह[9], मयि स्थितत्वेन [10]विविधं सख्यसुख मनुभूत[11] वत्यसि॥ ५२॥

[12-]ननु नाहमावयोः सख्यं सहचरत्वं च जानामीति चेत्, तत्राह[-12] - **अपीति**। यद्यपि मां न जानासि तथाप्यात्मानं त्वाम्

1--1. M, Ma, V. omit 2. Ms सहायं 3. W °चकर्थ 4. W ग्राम्य 5--5. M, Ma, Ms अवात्स्व रमणौ चोभौ 6. Ms बद्धो; W बन्धु 7. A, B, J, Va omit कश्चित् 8. B, J, V, Va omit येन 9. V omits ह 10. A, B, J, Va omit विविधं 11. A, B, J, Va °वानसि 12--12. V omits

अविज्ञातसखमविज्ञातः कश्चिन्मे सखा आसीदित्येवं किं स्मरसि? सखे इति पुंस्त्वनिर्देशः प्राक्तनपुंस्त्वस्मरणाय। सख्यं स्मारयन् स्ववियोगकृतमनर्थमाह[1] हित्वेति सार्धैः षड्भिः। पदं स्थानम्॥ ५३॥

**हंसाविति**। हंसौ शुद्धौ मानसं हृदयमयनं ययोः। कथापक्षे मानससरसि स्थितौ पक्षिणावभूतां जातौ। ओकोगृहम्। अन्तरा विनैव। वा शब्द एवार्थे। सहस्रपरिवत्सरान् महाप्रलयो यावत्॥ ५४॥

**स** इति। हे बन्धो ग्राम्ये विषयसुखे[2] मतिर्यस्य। स्त्रिया मायया॥ ५५॥

**वीर०** तत्र तस्मिन्नवसरे पूर्वतरः पुरातनः ईश्वररूपः कश्चित् सखातमवान् ब्राह्मणः आगत्य वल्गुना मधुरेण साम्ना सामवाक्येन सान्त्वयन् उपलालयन् रुदन्तीं प्रत्याह- हे प्रभो! निरुपाधिकसखः! यादृच्छिकसुकृतमात्रसन्तुष्टो भगवान् ब्राह्मणरूपेणागत्य वैदर्भीं सान्त्वयन्नाह भागवतसम्बन्धमात्रतुष्टो भगवान् वैदर्भीम् अनुजग्राहेति यावत्॥ ५१॥

उक्तिमेवाह - **कात्वमि**त्यादिना तथैवान्तरमावयोरित्यन्तेन। का त्वमिति कथं जातीयकेति प्रश्नः। कस्यासि कस्य सम्बन्धिन्यसि, को वायमित्यपि, तथा यस्य शोचसि यदर्थं शोचसि शयानस्य स्वस्य च स्वरूपमुभयोः सम्बन्धं देहप्रयुक्तमविदित्वा किं वृथा शोचसीत्यभिप्रायः। सखायं मां जानासि किम्? स्वस्वरूपमेव अजानती त्वं कथं मत्स्वरूपं जानासीत्यर्थः। तत्र हेतुः येन मया हेतुनाग्रे सृष्ट्यादौ विचकर्थ विकृतवानसि अनादित्वत्कर्मानुगुणमत्सङ्कल्पेन स्वपरस्वरूपं विस्मृत्य देवमनुष्यादिविकारं प्राप्तोऽसीत्यर्थः॥ ५२॥

यद्यपि मां न जानासि तथाप्यात्मानं त्वामविज्ञातसखमविज्ञातः कश्चिन्मे सखा आसीदिति किं स्मरसि। हे सखे! इति पुंस्त्वनिर्देशः। प्रकृतिविलक्षणपुरुषस्वरूपस्मरणाय सख्यं स्मारयन् स्ववियोगकृतमनर्थमाह- हित्वेति सार्धैः षड्भिः। मामन्तरात्मभूतं हित्वा ग्राम्यभोगः शब्दादिविषयानुभवः तस्मिन्नासक्तः पदं भोगस्थानं देवमनुष्यादिशरीरमन्विच्छन्, गतः मद्वियोगं प्राप्तः स्वपरयाथात्म्यज्ञानविधुरो जात इत्यर्थः॥ ५३॥

हे आर्य! त्वं चाहं च सहस्रपरिवत्सराननन्तकालम् अन्तरा वोकः शरीररूपगृहमध्य एव अन्तरेति मध्येऽव्ययम्, वा शब्दः एवार्थः, ओकोगृहम्। मानसायनौ हृत्पद्मगृहगतौ सखायौ हंसावभूताम्। सखिशब्दार्थसामानाधिकरण्यात् 'शेषे प्रथमः' (अष्टा.1-4-108) इति प्रथम पुरुषः। अत्र हंसत्वविधानाय युष्मदस्मदर्थयोः सखित्वमुद्दिश्यते उद्देश्यानुगुणा च सर्वत्र तिङ् विभक्तिः प्रयुज्यते, तद्यथा

1. V omits हित्वेति 2. B, J, Va omit विषय, V स्वेरे

''त्वं वाऽहमस्मि भगवो देवते, अहं वै त्वमसि भगवो देवते, तत्त्वमसि'' इति। अत्र सखित्वं न विधेयं युष्मदस्मदर्थोद्देश्येन अत्र पूर्वतरः कश्चित् सखा अविज्ञात सखं सखे इत्यनेनैव प्राप्तत्वात्। हंसत्वं तु अप्राप्तम्। हंसत्वं शुद्धत्वं, हिनस्ति निरस्यति विकारानिति हंसः। ततश्च अयमर्थः अपास्तमरणौ स्वतो निरस्तविषयसुखाविति। औपाधिको हि जीवस्य विषयभोगः। कथापक्षे मानससरसि स्थितौ पक्षिणावभूताम्॥ ५४॥

स त्वं हंसः त्वं, बन्धुं सखायं मां विहाय विस्मृत्य, ग्राम्येषु शब्दादिषु मतिर्यस्य सः, महीं प्रकृतिमण्डलं गतः[1] प्राप्तः[2] तत्रापि पदं वासस्थानं[3] विचरन्[4] विचिन्वन् यद्वा मह्यां विचरन् कदाचित् पदमद्राक्षीः इत्यन्वयः। पदं विशिनष्टि- स्त्रिया प्रकृत्या निर्मितम्॥ ५५॥

**विज०** तत्र तस्याम् अवस्थायां कश्चित् वेदान्तवाक्यार्थो हितोपदेष्टृत्वेन सखिधर्मे वर्तमानो ब्राह्मणो ब्रह्मसम्बन्धी निर्दोषशब्दलक्षणागमसम्बन्धी वा आत्मवान् परमात्मगुणप्रतिपादनपरः साम्ना अखिलार्थप्रकाशनेन सान्त्वयन् प्रतिपदं दर्शितान्वयः बुद्धिमाह- अबोधयदिति। कथापक्षे प्रतीत एवार्थः॥ ५१॥

तदनुकरणतया बोध्यत इत्याह- **केति**। का किं जातिविशिष्टा? न कापि। किञ्च कस्यासि ? कं पुरुषमाश्रित्य तिष्ठसि, न कमपि। सर्वचेतनानुस्यूतत्वात् न विशेष्टुं शक्यते। यस्य शोचसि यद्यहमिति प्रकाश्य वर्तसे अयं शयानः शरीरलक्षणः पदार्थः कः? पाञ्चभौतिकत्वात् तव चास्य न कोऽपि सम्बन्धः किन्तु चेतनस्यैवेत्यर्थः। त्वं का? नामतो गोत्रतो लिङ्गतश्च, न तव त्रयमप्यस्ति। कस्यासि? पुत्री भार्या वा, न कस्यापीत्यर्थः। को वाऽयं शयानस्तव ? निरूपिते सति अनेन सम्बन्धः, यस्य मरणं शोचसि स इति वा। अग्रे पूर्वकाले येन मया विचचर्थ विचारितवानसि, वेदान्तवाक्यमिति[5-] शेषः। विचार्य मां ज्ञातवानसि[-5], तं सखायं त्वया सह वर्तमानं मां जानासि किं, सखित्वात् ज्ञातुं प्राप्तिरस्तीत्येत्रद्धशब्देनाह॥ ५२॥

किञ्च हे सखे ! अविज्ञातः परमात्मा सखा यस्य स तथा तमात्मानं त्वं स्मरस्यपि? न स्मरसि चेत् तं स्मरेति चार्थः। चिद्वुद्ध्याऽऽत्मनोः अभेदादिदम् उभयविषयमिदानीं ज्ञानात्मानं चेतनमविभज्येवाह- हित्वेति। विषयभोगतः तदर्थं भोगस्थानमन्विच्छन् मृगयन् मां हित्वा गतः पृथक्कृत इव। अग्रत इति पाठे पदमन्विच्छन् अभूदित्यन्वयः॥ ५३॥

वाक्यार्थाभिमानी कश्चिच्चेतनः स्वात्मनो रूपं[6-] बोध्यस्वरूपं[-6] च तत्त्वत उपदिशति - **हंसाविति**। आर्य ! प्राज्ञ ! अहं च त्वं च हंसौ, स्वतो निर्लोपौ, मानसं ज्ञानमयनं ययोस्तौ तथा, सहम्रपरिवत्सरान् बहुकालं रमणौ[7] रममाणौ अवात्स्व। अन्यत्र मानससरोवराश्रयौ हंसौ प्रसिद्धौ प्राक् चीर्णपुण्य निचयादवाप्तजातिस्मती॥ ५४॥

---

1. A, B, T omit गतः 2. W omits प्राप्तः 3. A, B, T निवास 4. A, B, T omit विचरन् 5--5. A, B, omit 6--6. A, B omit 7. A, B omit रमणौ

पुनः प्रारब्धकर्मवशात् ग्राम्यमतिर्मां विहाय कर्मभूमिं गतो, विचरन् पर्यटन्, किञ्चित्पदं भोगस्थानम् अद्राक्षीः, स्त्रिया विषयबुद्ध्या रचितम्॥ ५५॥

**पञ्चारामं नवद्वारमेकपालं त्रिकोष्ठकम्।**
**षट्[1]कुलं पञ्चविपणं पञ्चप्रकृतिस्त्रीधवम्॥ ५६॥**

**पञ्चेन्द्रियार्था आरामा द्वारो[2-] घ्राणादयः प्रभो[-2]।**
**तेजोऽबन्नानि कोष्ठानि कुलमिन्द्रियसङ्ग्रहः[3]॥ ५७॥**

**विपणस्तु[4] क्रियाशक्ति र्भूतप्रकृतिरव्यया।**
**शक्त्यधीशः पुमानत्र[5] प्रविष्टो नावबुध्यते॥ ५८॥**

**तस्मिं स्त्वं रामया[6] स्पृष्टो रममाणो[7] गतस्मृतिः।**
**तत्सङ्गादीदृशीं प्राप्तो दशां पापीयसीं विभो[8]॥ ५९॥**

**न त्वं विदर्भदुहिता नायं वीरः[9] सुहृत्तव।**
**न पतिस्त्वं पुरञ्जन्या रुद्धो नवमुखे यया॥ ६०॥**

**श्रीध० पञ्चाराममिति**। पञ्च शब्दादय आरामा उपवनानि यस्मिन्, नव द्वाराणि प्राणाच्छिद्राणि यस्मिन्, एकः प्राणः पालो यस्मिन्। त्रीणि पृथिव्यप्तेजांसि कोष्ठानि प्राकारा यस्मिन्, षट् ज्ञानेन्द्रियमनांसि कुलानि अभीष्टविषयसमर्पका वणिजो यस्मिन्, पञ्च विपणाः हट्टाः कर्मेन्द्रियाणि यस्मिन्, पञ्च भूतानि प्रकृतिः उपादानकारणं यस्य, स्त्री बुद्धिरेव, धवः पतिः स्वामिनी यस्मिन्। स्वयमेव इमं श्लोकं व्याचष्टे पञ्चेन्द्रियार्था इति षट्कुलमिति - षट्[10-], पञ्च[-10], एकपालमिति च स्पष्टत्वात् न व्याख्यातम्॥ ५६,५७॥

**विपण इति**। भूतान्येवाव्यया प्रकृतिः उपादानं यस्य, स्त्रीधवमित्यस्य व्याख्यानं शक्तिः बुद्धिः[11] अधीशा यस्य तद्वशः सन्नित्यर्थः॥ ५८॥

---

1. M, Ma, Ms °कूलं  2--2. A, B, G, I, J, T द्वारः प्राणा नव प्रभो; W द्वारः प्राणायना नव।  3. M, Ma, Ms गोलकेन्द्रिय  4. W °णा°
5. A, B, G, I, J, T पुमांस्त्वत्र  6. Ma मायया  7. A, B, G, I, J, T, V °णोऽश्रुत°; M, Ma, Ms °णो हत°  8. A, B, G, I, J, T, V प्रभो
9. Ms वीरपतिः प्रभो!  10--10. A, B, J, Va षट्त्वं  11. B, J, V, Va omit बुद्धिः

**तस्मिन्निति**। स्पृष्टोऽभिभूतः, अतो न विद्यते श्रुते ब्रह्मत्वे स्मृतिर्यस्य ॥ ५९ ॥

तत्त्वमुपदिशति - **न त्वमिति** चतुर्भिः। सुहृत् पतिः नवद्वारे पुरे यया रुद्धोऽसि तस्याः ॥ ६० ॥

**वीर०** पञ्चाराम[1-] पञ्च आरामा उपवनानि यस्मिन्, नव द्वाराणि छिद्राणि यस्मिन्, एकः पालः पालको यस्मिन्, त्रीणि कोष्ठानि प्राकारा यस्मिन्, षट् कुलानि अभीष्टविषयसमर्पकाणि यस्मिन्, पञ्च विपणाः हट्टाः यस्मिन्, पञ्च प्रकृतिरुपादानकारणं यस्य, स्त्री भार्या[2-] एव धवा[-2] स्वामिनी यस्मिन् तत् ॥ ५६ ॥

स्वयमेव श्लोकं व्याचष्टे - **पञ्चेति**। पञ्चेन्द्रियार्थाः शब्दादयः, आरामाः प्राणायनाः प्राणाधीना इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि तेषां प्राणायत्तप्रवृत्तित्वात् तदाश्रयत्वाच्च। नेत्रद्वयश्रोत्रद्वयादिरूपच्छिद्राणि[3] नव द्वारः एकः प्राणः पालो यस्मिन्निति स्पष्टत्वात् न व्याख्यातम्। तेजोऽबन्नानि तेजश्चापश्चान्नं पृथिवी च एतानि कोष्ठानीत्यर्थः। इन्द्रियसङ्ग्रहः मनसा सह ज्ञानेन्द्रियषट्कसमुदायः प्रत्येकं कुलवदभीष्टप्रापकत्वात् कुलमित्यर्थः[4] ॥ ५७ ॥

क्रियाशक्तिः कर्मेन्द्रियाणि पञ्च विपणाः पञ्च प्रकृतीत्यस्य व्याख्यानं भूतप्रकृतिरिति। भूतानि पञ्च पृथिव्यादीन्येव अव्यया नित्या प्रकृतिरुपादानकारणम्। अत्र भूतान्तर्गतानां तेजोऽबन्नानां त्रयाणां देहारम्भकत्वात् प्रकृतित्वम्। कोष्ठस्थानीयास्थिरुधिरमांसरूपेण परिणामात्। तेजोऽबन्नानि कोष्ठानीत्युक्तम्। तथा च श्रूयते - "अन्नमशितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो भागः तत्पुरीषं, यो मध्यमः तन्मांसम्। आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते, तासां यः स्थविष्ठो भागः तन्मूत्रं, यो मध्यमस्तल्लोहितम्, तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो भागः तदस्थि" (छा.उ. 6-5-1) इति। यद्यपि कोष्ठस्थानीयत्वेन परिणतेषु तेजोऽबन्नेषु पञ्चीकरणप्रक्रियया वाय्वाकाशावपि प्रविष्टौ, तथापि भूतत्रयांशानां बाहुल्यात् त्रिकोष्ठमित्युक्तम्। भूतात्मकोपादानस्य प्रतिक्षणपरिणामशीलत्वेऽपि अवस्थावद् द्रव्यस्य प्रधानाख्यस्य नित्यत्वादव्ययेत्युक्तम्। तथा च श्रुतिः "गौरनाद्यन्तवती" (मन्त्रि.उ. 4) इति, "अजामेकाम्" (मना. 5-8-4) इति च। स्मर्यते च "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि" (भा.गी. 13-19) इति। स्त्रीधवं इत्यस्य व्याख्या शक्त्यधीश इति। शक्तिः बुद्धिरधीशा यस्य, तद्वशस्सन् इत्यर्थः। पुमान् भवान् तत्र पदे प्रविष्टः नावबुध्यते स्वात्मानं मां च न जानाति ॥ ५८ ॥

तस्मिन् पदे त्वं रामया स्त्रिया बुद्ध्या स्पृष्टोऽभिभूतः रममाणः विषयाननुभवन् अत एव गता स्मृतिः स्वपरयाथात्म्यज्ञानरूपा यस्य सः, तत्सङ्गात् बुद्धिनिमित्तदेहानुबन्धिस्त्रीसङ्गात् पापीयसीम् ईदृशीं स्त्रीयोनिरूपां दशां प्राप्तः। हे विभो! धर्मतो व्यापक स्वभाव! ॥ ५९ ॥

---

1--1. W omits 2--2. W omits 3. A, B, T add नवद्वारः प्राणायनाः इन्द्रियस्थानानि गोलकानि च्छिद्राणि इति यावत् 4. W omits इत्यर्थ

एवं स्ववियोगनिमित्तप्रकृतिपरिणामरूपबुद्धिपारवश्यनिमित्तेयं संसृतिरूपानर्थ परम्परेत्यभिधाय सर्वं प्रकृतिपरिणामरूपवैचित्र्यं नात्मनो धर्मः, किन्तु बुद्धिसङ्गनिमित्तः औपाधिक आत्मनि प्रतीयत इति वदन् प्रकृति विलक्षणब्रह्मात्मकप्रत्यगात्मयाथात्म्यमुपदिशति - **नेति**। त्वं विदर्भस्य दुहिता न भवसि, अयं वीरो मलयध्वजस्तव पतिरपि न भवति, नवद्वारे पुरे यया बुद्ध्या रुद्धोऽसि, तस्याः पुरञ्जन्यास्त्वं पतिरपि न भवसि। विदर्भदुहितृत्वादीनां देहाकारत्वेनात्माकारत्वाभावादिति भावः ॥ ६० ॥

**विज०** एकः पालः प्राणो यस्मिन् तत्तथा तत्, स्त्री धवः पतिः स्वामी यस्मिन् तत् स्त्रीधवम् ॥ ५६ ॥

पञ्चारामार्थमाह - **पञ्चेति**। इन्द्रियार्थाः शब्दादयः। नवद्वारमित्यस्य अर्थमाह- द्वार इतिं। घ्राणादयो द्वार इत्युच्यन्ते। त्रिकोष्ठमाह- तेन इति। षट् कूलमाह[1] - गोलकेति। गोलकेष्विन्द्रियाणि गृह्यन्त इति गोलकेन्द्रिय सङ्ग्रहः ॥ ५७ ॥

विपणो व्यवहारः, क्रियाशक्तिः कर्मेन्द्रियशक्तिः पञ्चप्रकृतीत्येतदाह- भूतेति। पञ्चभूतानां या प्रकृतिः मूलकारणं सा पञ्चप्रकृतिरित्युच्यते, अव्यया नित्या। स्त्रीधवमाह- शक्तीति। शक्तिर्बुद्धिः सैवाधीशा पुरोपभोगे कारणं यस्य स शक्त्यधीशः। अन्यत्र कोष्ठानि भाण्डागारस्थानानि, कूलानि बहिष्ठपदार्थदर्शनाय निर्मितस्थानानि ॥ ५८ ॥

रामया विषयबुद्ध्या, स्पृष्टो वशीकृतः, हतस्मृतिः शास्त्रज्ञानरहितः, विषयबुद्धिसङ्गफलं नरकादि भवतीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

**न त्वमित्यादि** विषयवैराग्यमुच्यते ॥ ६० ॥

**माया ह्येषा मया सृष्टा यत्पुमांसं स्त्रियं सतीम्[2]।**
**मन्यसे नोभयं यद्वा[3] हंसौ[4] पश्याद्य[5] नौ गतिम् ॥ ६१ ॥**

**अहं भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भो[6]!**
**न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि ॥ ६२ ॥**

**यथा पुरुष[7] मात्मानमेकमादर्शचक्षुषोः।**
**द्विधाभूतमवेक्षेत[8] तथैवान्तरमावयोः ॥ ६३ ॥**

**एवं स मानसो[9] हंसो हंसेन प्रतिबोधितः।**
**स्वस्थस्तद् व्यभिचारेण नष्टामाप पुनः स्मृतिम् ॥ ६४ ॥**

---

1. A, B कुलं 2. M, Ma, Ms पतिम्। 3. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T यदज्वै 4. M, Ma, Ms हंसं 5. A, B, G, I, J, T पश्यावयोर्गतिम्; M, Ma, Ms पश्यात्मनोर्गतिम् 6. A, G, I, T, W भोः 7. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °ष आत्मा° 8. M, Ma, Ms °मि° 9. Ms adds श्रीनारदः

**बर्हिष्मन्नेतदध्यात्मं पारोक्ष्येण प्रदर्शितम्।**

**यत्परोक्षप्रियो देवो भगवान् विश्वभावनः ॥ ६५ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टादश साहस्र्यां

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां

चतुर्थस्कन्धे अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

**श्रीध० मायेति**। पुमांसं पूर्वजन्मनि यदमन्यथाः, इदानीं च सतीं श्रेष्ठां स्त्रियं यन्मन्यसे, एषा माया यत उभयमपि वस्तुतो नास्ति यस्मादावां हंसौ शुद्धौ। नौ आवयोः वक्ष्यमाणां गतिं स्वरूपं पश्य ॥ ६१ ॥

तत्त्वं पदार्थयोश्चिदंशेन ऐक्यमाह- **अहमिति**। अहमेव भवान्। उपचारं वारयति न चान्य इति व्यवहारोपदेश उक्ताभिप्राय [1]एव, छिद्रमन्तरम् ॥ ६२ ॥

तर्हि कथमावयोः अज्ञत्वसर्वज्ञत्वादि धर्मभेदः, तत्राह- **यथेति**। आत्मानं देहम्, आदर्शे निर्मलं महान्तं स्थिरं च अवेक्षेत। परस्य चक्षुषि च तद्विपरीतम्। विद्याऽविद्योपाधिकृतो धर्मभेदः, [2-]न तु वास्तवः[-2] इत्यर्थः ॥ ६३ ॥

**एवमिति**। [3-]एवममुना प्रकारेण स मानसो हंसः क्षेत्रज्ञः, हंसेन परमात्मना बोधितस्सन् स्वस्य आत्मनि स्थितस्सन् चिरं ध्यात्वा तद्व्यभिचारेणेश्वरवियोगेन विषयाभिलाषबुद्ध्या नष्टां स्मृतिमहं ब्रह्मास्मीति ज्ञानं पुनः प्राप्तवान्[-3] ॥ ६४ ॥

कथामात्रयेतदिति[4] बुद्धिं वारयति - **बर्हिष्मन्निति**। पारोक्ष्येण राजकथामिषेण। तत्र हेतुः यद्यस्मात्[5] हे बर्हिष्मन् प्राचीनबर्हिः! एतद्राजकथामिषेणात्मकथा प्रदर्शिता। यस्माद्देवः श्रीनारायणः परोक्षप्रियः। [6-]तथा च श्रुतिः "परोक्षप्रिया इव हि देवाः" (ऐत.उ. 3-14) इति[-6]। साक्षादात्मज्ञानकथनेन तव चेतसि कथा नायातीति भावः ॥ ६५ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्री श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

---

1. B, J, V, Va omit एव। 2--2. B, J, V, Va omit 3--3. V तद्व्यभिचारेण ईश्वरवियोगेन ॥ ६४ ॥ 4. B,J,V,Va omit एतत्। 5. V यद्यस्मात् ॥६५॥ 6--6. B, J, Va omit

**वीर०** यत् यस्माद्धेतोः पूर्वजन्मनि पुमांसमिदानीं सतीं श्रेष्ठां स्त्रियं मन्यसे एषा हेतुभूता मया सृष्टा मायैव। अतः उभयमपि आत्मनि न वस्तुतोऽस्ति। हि यस्मादावां, हंसौ शुद्धौ, नौ आवयोः, अद्य अधुना, गतिं वक्ष्यमाणं स्वरूपं पश्य विमर्शयेत्यर्थः॥ ६१॥

[1-]किञ्च वक्ष्यमाणमेवाह[-1] -- अहं भवान् भवच्छरीरकः त्वमेवाहं त्वद्रूप एवाहं त्वं कदाचिदपि न मच्छरीरत्वरहितः। अहं तव सदा आत्मा त्वं तु मम सदा शरीर[2]भूत इत्यर्थः। न च अन्यस्त्वमतो न त्वं[3-] मदन्यः[-3] न मत्सम्बन्धविधुर इत्यर्थः। विचक्ष्व विमर्शय। नौ आवयोः, च्छिद्रं सम्बन्धवैधुर्यं, मनागीषदपि, जातु[4-] कदाचित्[-4] कवयो विद्वांसः[5], न पश्यन्ति। एवं सम्बन्धनियमकथनेन अपृथक्सिद्धजातिगुणप्रभादिविशेषणविशिष्टव्यक्तिगुणिमण्यादिवज्जीवेश्वरात्मकं वस्तु विशिष्टरूपेणैकमेवेत्युक्तं भवति। भो[6-] इत्यव्ययं सम्बुद्धौ[-6]॥ ६२॥

एतदेव दृष्टान्तेन दर्शयति - **यथेति**। पुरुषं पुरुषाकारमात्मानं स्वम् आदर्शे महत्युपाधौ, चक्षुषि परस्य चक्षुष्यल्पे उपाधौ, द्विधाभूतं वृद्धिभाक्त्वेन ह्रासभाक्त्वेन च द्वेधा[7]भूतं यथाऽवेक्षेत पश्येत् तथा आवयोरप्यन्तरं यथा जातिगुणाद्यपृथक्सिद्धविशेषणविशिष्टं पुरूषाख्यं मांसपिण्डं तत्तद्विशेषणव्युक्तमेकमेव विशिष्टं वस्त्वादर्शचक्षुराद्युपाधिप्रयुक्तवृद्धिह्रासादिगुणविशिष्टमवेक्षेत। एवं शरीरात्मभावेन नियतविशेषणविशेष्यभूतं जीवेश्वरात्मकं विशिष्टमेकमेव वस्तु स्थूलसूक्ष्मशरीरेषु अनुप्रविष्टमुपाधिवशात् नानाभूतमिव पश्यतीत्यर्थः। पुरुषमवेक्षेत इत्यनेन अयमर्थोऽवगम्यते - पुरुषो हि जातिगुणाद्यनेकविशेषणविशिष्टः जातिव्यक्त्योरिव, गुणगुणिनोरिव, प्रभाप्रभावतोरिव, शरीरात्मनोरावयोर्भेद इति भावः। बिम्बप्रतिबिम्बयोरिव जीवेश्वरयोरौपाधिको भेदः न स्वाभाविक इति तु नार्थः। आदर्शचक्षुषोरित्युपाधिद्वित्वकथनादादर्श चक्षुर्गतयोः प्रतिबिम्बयोः बिम्बेन साकम् अभेदेऽपि तयोः परस्परं भेदसद्भावावगमात्। न ह्यादर्शप्रतिबिम्बात् चक्षुः प्रतिबिम्बोऽनन्यः। बिम्बप्रतिबिम्बयोरभेदं वदताप्यवश्यं प्रतिबिम्बानां भेदोऽभ्युपगन्तव्यः। अन्यथा बिम्बप्रतिबिम्बयोरिव तेषु वैलक्षण्यं न प्रतीयेत अभेदसाधकसामग्र्यभावाच्च। न ह्येकप्रतिबिम्बत्वं साधकं प्रतिबिम्बाणां बिम्बावस्थात्वेन तासां भिन्नत्वात्, अत एव हि पिण्डत्वघटत्वकपालत्वाद्यवस्थानां परस्परभेद[8]ः एकमृद्द्रव्यावस्थात्वमात्रेणाभेदाभ्युपगमः प्रतीतिपराहतः। तस्मात् नात्र बिम्बप्रतिबिम्बयोः औपाधिकभेदप्रतिपादन परोऽयं श्लोकः, किन्तु यथोक्तार्थपर एव। अस्तु वा अत्र बिम्बप्रतिबिम्बयोरेव दृष्टान्तत्वं तथापि तयोर्यत् साधर्म्यं तदेवात्र दृष्टान्तीकृतं, न तु तादात्म्यमपि, अविरुद्धोपयुक्तांशमात्रेण दृष्टान्तसम्भवात्। जीवब्रह्मणोस्तादात्म्यं तु एतत्प्रकरणविरुद्धम्। स्वपरयाथात्म्यज्ञानाभावनिमित्त देहात्म[9]भ्रम स्वतन्त्रात्म[-9] भ्रमवतः तन्निवृत्तये क्रियमाणे अस्मिन् तत्त्वोपदेशप्रकरणे जीवपरयोः पारमार्थिकसखित्वप्रतिपादनात्। सखित्वं हि

1--1. W omits 2. W °रम् 3. W त्वमन्यः 4--4. W omits 5. W omits विद्वांसः 6--6: W omits 7. T. W द्विधा 8. A. B, T भेदाः 9--9. T omits

पदार्थद्वयनिरूपितम्। न च सखित्वमपि स्त्रीपुंसभावादिवत् औपाधिकमेव अत्र उपदिश्यत इति वक्तुं शक्यम्। तत्सहोपदिष्टानां हंसत्वादीनामपि औपाधिकत्वप्रसङ्गात्। "माया ह्येषा मया सृष्टा" (भा.ग 8-28-61) इति ईश्वरस्य संसारयितृत्वावगमाच्च। न हि सर्वज्ञईश्वरोऽनुन्मत्तः स्वानर्थरूपं संसारं स्वस्मिन्नारोपयतीति युक्तिमत्। किञ्च "येनाग्रे विचकर्थ" (भाग. 4-28-52), "माया ह्येषा मया सृष्टा" (भाग.4-28-61) इति म्रष्टृत्वाक्षिप्तसर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्ट परमात्मवाचिनोऽहं शब्दस्य बोधनार्हतोपयोग्यज्ञत्व, संसारित्वविशिष्टजीववाचिनो भवच्छब्दस्य च मुख्यार्थपरित्यागेन चैतन्यमात्रैक्य प्रतिपादनपरत्वमस्वरसमिति दिक्। विस्तरस्तु तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य जीवब्रह्मतादात्म्यपरत्वे भाष्योक्तदूषणानुसारेणानुसन्धेयः। स्वपक्षे उपपत्तिरपि तदुक्तरीत्या एव अनुसन्धेया॥ ६३॥

सख्योः संवादमुपसंहरति - **एवमि**ति। हंसेन परमात्मना एवं[1] प्रतिबोधितः आवेदितस्वपरयाथात्म्यो, मानसः मनसा सह वर्तमानो जीवः, तद्व्यभिचारेण पूर्वं स्वपरयाथात्म्यज्ञानाभावेन नष्टां स्मृतिं पुनराप स्वात्मनो भगवच्छेषतैकरसतामनुसन्दधानो मुक्तो बभूवेति भावः॥ ६८॥

उपाख्यानमुपसंहरति - हे बर्हिष्मन्! एतद्वृत्तान्तम्, अध्यात्ममात्मानमधिकृत्य प्रवृत्तं, पारोक्ष्येणान्यापदेशमुखेन प्रदर्शितमतो न त्वया केवलकथामात्रबुद्धिः कर्तव्येति भावः। पारोक्ष्येण किमर्थमुपदिष्टं तत्राह। यत् यस्मात् विश्वस्य कारणभूतो भगवान् परोक्षप्रियः। "परोक्षप्रिया इव हि देवाः" (एते. 3-3-14) इति श्रुत्या देवानां परोक्षप्रियत्वावगमात् देवतासार्वभौमो भगवान् परोक्षवादेन नितरां तुष्यतीति एवमुक्तमित्यर्थः। इदं श्रोतुरस्मिन् श्रद्धाद्रढिम्ने उक्तम् - परोक्षप्रिया इव हि देवाः इत्यस्य अर्थवादत्वादन्यथा इति। साक्षात्कृतैः श्रवणकीर्तनादिभिः भगवतः तोषाभावप्रसङ्गाच्च। तस्मात् पारोक्ष्यकीर्तनं श्रोतुं बुद्ध्यवतरणार्थ[2]मेवेति द्रष्टव्यम्॥ ६५॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां अष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८॥

**विज०** प्रारब्धकर्मणा एवंविधफलानुभवार्थं मया मदन्तर्यामिणा हरिणा सृष्टा संकल्पैषा माया बन्धकशक्तिरिच्छा वा। सा च अचिन्त्यमहिमेत्याह- यदिति। तर्हि किं तत्त्वज्ञानमिति तद्विविच्याह - हंसमिति। तत्त्वतो नाम गोत्रादिराहित्येन चेतनं हंसं निर्मलं पश्य, आत्मनो मम गतिं त्वां प्रबोध्य गच्छतो मम यात्रां पश्येति वा। अनेन बोध्यबोधकयोः अनुभवसिद्धत्वात् अबाधितो भेद इति ज्ञातव्यम्॥ ६१॥

---

1. W omits एवं 2. A, B, T °धानार्थं

ननु "कर्माणि विज्ञानमयश्चात्मा परेऽव्यये सर्वएकीभवन्ति तत्त्वमस्यहं ब्रह्मास्मि" (मुण्ड. 5.3-2-7) इत्यादिश्रुतिभिरैक्यस्य प्रतिपाद्यत्वात् कथं भेदोऽबाधित इति ज्ञायते ? न चेदम् औपचारिकं गुरुशिष्योपदेशत्वात् विप्रलम्भानुपपत्तेः इत्याशङ्क्य जीवसत्ताप्रदत्त्वात् चेतनत्वेन सत्सदृशत्वाच्च अभेदव्यपदेशः। "तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्" (ब्र.सू. 2-3-29) इति सूत्रात् "जीवसत्ताप्रदत्वात्तु सदृशत्वाच्च केशवः। कथ्यते तदभेदेन न तु जीवस्वरूपतः" (वाराहे) इति प्रमाणविरोधबाहुल्यात् "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" (बृह. उ. 4-5-15) इति। दूषितत्वाच्चाभेदस्येत्यभिप्रेत्याह- अहमिति। भवानहं, त्वं मत्तोऽन्यो न च, त्वन्तु अहमेवेति विचक्ष्व पश्य। अत्र प्रमाणमाह- नेति। कवयः तत्त्वदर्शिनः, क्वचिन्मनागल्पमपि नावयोः छिद्रमन्तरं पश्यन्ति। "द्रव्यं कर्मच कालश्च" (भाग. 2-10-12) इति वाक्यार्थं पश्यन्तोऽस्मदन्तर्यामिणमन्तरेणावयोः सत्तापि नास्ति। किमुत इष्टानिष्टप्राप्ति परिहारलक्षणप्रवृत्तौ शक्तिरित्यतः शून्यदेशीययोः अन्तर्यामिणः तप्तखर्परागन्योरिव भेदं पश्यन्तोऽपि न पश्यन्तीत्यभिप्रायः। भवदन्तर्यामी मदन्तर्यामी च अन्यो न भवति, किन्तु त्वमेवाहम् एक एवेति जानीहि, त्वयि स्थितस्त्वमित्यसाविति प्रमाणयतां कवीनां दर्शनादिति वा अहं भवान्न, किन्तु त्वमन्यः, अतस्त्वं त्वमेव अहमहमेवेति विचक्ष्व, अन्यथा न पश्य, कुतः? नौ मनाक् छिद्रं कियानेव विशेष इति न पश्यन्ति किन्तु महान्तं भेदं पश्यन्तीति वा॥ ६२॥

जीवसत्ताप्रदत्वात् जीवेनाभेदः परस्येत्यत्र दृष्टान्तमाह - **यथेति**। आदर्शचक्षुषोः प्रतीयमानस्य प्रतिबिम्बस्य सत्तादेर्द्रष्टुर्बिम्बाधीनत्वात् तदेवेदमितिवत् आवयोरन्तरं मत्सत्ताया अप्यस्मात् स्वाम्यधीनत्वात् आवां तदभिन्नाविति व्यवहारः, यथा दर्पणाद्युपाधिष्वेकम्, आत्मानं बहुधा पश्यन्ति तथा आवयोरन्तर्यामिणोरन्तरमिति वा॥ ६३॥

उपसंहरति - **एवमिति**। तद्व्यभिचारेण विषयबुद्धिप्रसङ्गातिशयेन नष्टां तिरोहितां स्मृतिं शास्त्रविषयामापेत्यन्वयः॥ ६४॥

कथा बाह्याध्यात्मपक्षभेदेन निरूप्यते इत्येतत् कथमवगतमिति, तत्राह - **बर्हिष्मन्निति**। परोक्षेणान्यापदेशेन एवं कथने किं कारणं तत्राह- यत्परोक्षेति। "परोक्षप्रिया इव हि देवाः" (ऐते. उ. 3-14) इत्यादिश्रुतिः। अनेनाहं भवान् इत्यादेरपि अस्मदुक्त एवार्थो न प्रातीतिक इत्येतत् सुतरामबोधि॥ ६५॥

इति श्रीमद्भाग ॰ चतुर्थस्कन्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थकृतायां पदरत्नावल्यां
टीकायां अष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८॥

# एकोनत्रिंशोऽध्यायः

## प्राचीनबर्हिरुवाच

भगवंस्ते वचोऽस्माभिर्न सम्यगवगम्यते।

कवयस्तद्विजानन्ति न वयं कर्ममोहिताः ॥ १ ॥

## नारद उवाच

पुरुषं पुरञ्जनं विद्याद्यद्[1] व्यनक्त्यात्मनः[2] पुरम्।

एकद्वित्रिचतुष्पादं बहुपादमपादकम्[3] ॥ २ ॥

योऽविज्ञाताहृतस्तस्य[4] पुरुषस्य सखेश्वरः।

यन्न विज्ञायते पुम्भिः[5] नामभिर्वा क्रियागुणैः ॥ ३ ॥

यदा[6] जिघृक्षन् पुरुषः कार्त्स्न्येन प्रकृतेर्गुणान्।

नवद्वारं द्विहस्ताङ्घ्रितत्रामनुत[7] साध्विति[8] ॥ ४ ॥

बुद्धिं तु प्रमदां विद्यान्ममाहमिति यत्कृतम्।

यामधिष्ठाय देहेऽस्मिन् पुमान् भुङ्क्तेऽक्षिभिर्गुणान्[9] ॥ ५ ॥

## श्री श्रीधरस्वामिविचचिता भावार्थदीपिका

ऊनत्रिंशे परोक्षार्थव्याख्याने नोपसंहृतम्। स्त्रीसङ्गतो भवस्त्वीशसङ्गान्मुक्तिरिति[10] स्फुटम्।

**भगवन्निति**। कवयोऽध्यात्मविदः ॥ १ ॥

**पुरुषमिति**। व्यनक्ति लिम्पति चेतनीकरोतीत्यर्थः। यद्वा व्यनक्ति प्रकटयति ततश्च स्वकर्मणा पुरं जनयतीति पुरञ्जनपदं व्याख्यातं भवति। एकद्व्यादयः पादा यस्य ॥ २ ॥

---

1. W °द्यो 2. Ms, W °ना 3. W °मयापदम् 4. M, Ma, Ms °ह्रय° 5. M, Ma, Ms रूपैः 6. T, V यदाऽजिघृक्षत्
7. B, M, Ma. Ms. V W °त्रि° 8. M, Ma पुरं मनुत; Ms, V तत्रामन्यत 9. A, B, G, I, J, T °क्ष° 10. V °रुदीर्यते

**य** इति। अविज्ञातशब्देनाऽऽहूतो व्याहूत उक्तो यः स ईश्वरः। अविज्ञातनामनिरुक्तिः यद्यस्मात् पुम्भिः नामादियोगेन न विज्ञायते॥ ३॥

**यदेति**। तत्र तेषु पुरेषु मध्ये॥ ४॥

**बुद्धिमिति**। अक्षिभिरिन्द्रियैः॥ ५॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एतदध्यात्मं पारोक्ष्येण प्रदर्शितमित्युक्तम्। तत्र अध्यात्मत्वे कथं पुरञ्जनादि[2] पदव्युत्पत्तिरिति विवित्सया[3] राजा पृच्छति- **भगवन्निति**। हे भगवन्! अध्यात्मविदुत्तमस्य ते[4] तव वचः परोक्षरूपं वाक्यमस्माभिः केवलं देहात्मबुद्धिभिः सम्यक् नावगम्यते[5--5] नावबुध्यते। अध्यात्मविदस्तु त्वद्वचो जानन्ति, कर्मण्येव[6] यज्ञादावेव[7] मोहिताः। यद्वा कर्मणा पुण्यापुण्यादिकर्मणा तिरोहितस्वपरयाथात्म्याः वयं कथं जानीमः?॥ १॥

एवमापृष्टो भगवान्नारदः पुरञ्जनादीनि पदान्यध्यात्मपक्षानुकूलतया व्युत्पादयति - **पुरुषमित्या**दिना। पुरुषं क्षेत्रज्ञं पुरञ्जनं पुरञ्जनशब्दबोध्यं विद्यात्। पुरुषे पुरञ्जनपदप्रवृत्तौ निमित्तमाह- यः पुरुषः आत्मना मनसा सह पुरं शरीरं व्यनक्ति दृढतरं सम्बध्नातीति पुरञ्जनः। पूरशब्दे उपपदे अञ्जेर्ल्युट्। पूरशब्दस्तु शरीरे गौण्या वृत्त्या प्रयुज्यते, न ह्यत्र सर्वाणि पदानि मुख्यार्थान्येवेत्याग्रह इति भावः। पुरं विशिनष्टि। एकद्वित्र्यादयः पादा यस्य, बहवः पादा यस्य, न विद्यन्ते पादा यस्य तत्॥ २॥

योऽविज्ञातशब्देनाहूत उक्तः, तस्य पुरञ्जनाख्यस्य पुरुषस्य सखा स ईश्वरः, तस्मिन्नविज्ञातशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमाह। यत् यस्मात् पुम्भिर्नामादिभिर्न विज्ञायते इत्यविज्ञातः। यद्यपि हरिविष्ण्वादिनामभिः, जगद्व्यापारादिक्रियाभिः, सत्यज्ञानादिगुणैश्च शास्त्रतो ज्ञायत एव, तथापीयत्तया न ज्ञायते नामक्रियागुणानामानन्त्यादिति भावः। न विज्ञायते इति कर्मणि व्युत्पत्तिः, कर्तरि व्युत्पत्तेरप्युपलक्षणं सा च दर्शिता पुरस्तात्॥ ३॥

यदायं पुरुषः क्षेत्रज्ञः प्रकृतेर्गुणान् ज्ञानकर्मोभयेन्द्रियविषयान् कात्स्न्येन अजिघृक्षत् ग्रहीतुमैच्छदनुभवितुमैच्छदित्यर्थः। तदा नव द्वाराणि छिद्राणि यस्य, द्वौ हस्तौ पादौ च यस्य, तन्मनुष्यशरीरं साधु समीचीनमित्यमनुत। तिर्यगादिशरीरेषु सर्वेन्द्रियाणामनभिव्यक्तेः सर्वविषयानुभवासम्भवात् मनुष्यशरीरमेव सर्वविषयानुभवयोग्यं मत्वा दैवात्तदुपलभ्य साध्वित्यमनुतेत्यर्थः। अनेन "सोऽन्वेषमाणः शरणम्" (भाग० 4-25-11) इत्यादि[8]ना, "कोकिलकूजितैः" (भाग० 4-25-19) इत्यन्तं व्याख्यातम्॥ ४॥

---

1. A, J, Va अक्ष° 2. A, B, T omit आदि 3. A, B, T °त्सायां 4. W omits ते तव 5--5. W omits 6. A, B,s T कर्मस्वव 7. W omits एव 8. W °दि

"बुद्धिं तु प्रमदां विद्यात्" (भाग० 4-29-5) तत्र प्रमदाशब्दप्रवृत्तौ निमित्तमाह। यद्यया बुद्ध्या ममाहमिति कृतं मदः चित्तविकारः अहम्ममाभिमानरूपमदहेतुत्वात् बुद्धिः प्रमदेत्युच्यत इत्यर्थः। किञ्च यां बुद्धिमधिष्ठायाक्षिभिरिन्द्रियैः[1]गुणान् शब्दादीन्[2] विषयानस्मिन् देहे भुङ्क्ते गुणानुभवजन्यमदहेतुत्वाच्च प्रमदा बुद्धिरित्यर्थः॥ ५॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भक्तिजनितज्ञानमेव हरेः प्रसादजनकं न कर्मादिकं तत्र साधनमित्येतदस्मिन्नध्याये निरूप्यते। तत्रादौ प्राचीनबर्हिः स्वयं विद्वानपि लोकोपकाराय सम्यक् पृच्छति - **भगवन्निति**। नारदस्य हर्षार्थं भगवन्निति सम्बोधनमस्माभिरस्मादृशैः प्रवक्तृबोधकशक्त्य-भावपरिहारार्थं सम्यगिति। तत्र किं कारणम्? तत्राह- न वयमिति। कवीनां कर्माभावेन विविदिषन्ति यज्ञेन दानेनेत्यादि विधानं व्यर्थमितीयं शङ्का कवय इत्यनेन पर्यहारि, कर्मणा शुद्धान्तः करणस्य हर्युपासनासाध्यप्रकारेणातिक्रान्तदर्शनस्य कवित्वात्॥ १॥

व्यनक्तीत्यनेन पुरञ्जनपदं निरुक्तं, पुरस्य देहस्याञ्जनं यस्मात् स पुरञ्जन इत्यर्थः। 'अञ्जू-व्यक्तीकरणे' इति धातुः, पुरञ्जनयति प्रकाशयतीति वा पुरञ्जनः, 'जनी-प्रादुर्भावे' इति धातुः। पुरमपिनैकविधमित्याह- एकेति। एकपदादिजातिजन्तुशरीरापेक्षया पिशाचशरीरमपेक्ष्य वा द्वौ पादौ मनुष्यादेः, त्रयः पादा ज्वरादेः, चत्वारः पादाः पश्वादेः, बहवः पादाः सहस्रपादादेः, अपादकं सर्पादि॥ २॥

ननु परमाणोरप्यविज्ञातत्वात् किं विशिष्योच्यत इति तत्राह- यन्नेति। अनेन भक्तानुग्रहार्थं नामरूपादिग्रहणं न स्वतोऽस्ति, न तथा परमाणोः शुक्लभासुरमपाकजमित्यादि[3] निरूपितत्वादित्यादि प्रदर्शितम्॥ ३॥

यदा प्रकृतेर्गुणान् जिघृक्षन् स्रक्चन्दनादिविषयानादातुमिच्छति तदा नवद्वारादिलक्षणं साधु तत्साधनमिति न्यरूपयत्॥ ४॥

अधिष्ठाय "खमक्षमिन्द्रियं स्रोतः" (हला. को. 2-380) इत्यभिधानादक्षभिरिन्द्रियैः चक्षुषा रूपं दृष्ट्वाऽनन्तरमन्येन्द्रिय प्रवृत्तिरिति चक्षुषः प्राधान्यद्योतनायाक्षैरित्युक्तिं विहायाक्षिरिति; गुणान् विषयान्॥ ५॥

**सखाय इन्द्रियगणो[4] ज्ञानं कर्म च यत्कृतम्।**
**सख्यस्तद्वृत्तयः प्राणः पञ्चवृत्तिर्यथोरगः॥ ६॥**

---

1. A. T °क्ष° 2. W omits विषयान् 3. A. B °स्व° 4. A. B, G, I, J. T गणाः; Ms. V गुणाः

**बृहद्बलं[1] मनो विद्यादुभयेन्द्रियनायकम्।**
**पाञ्चाला[2]: पञ्च विषया यन्मध्ये नवखं पुरम्॥ ७॥**

**अक्षिणी नासिके कर्णौ मुखं शिश्नगुदाविति।**
**द्वे द्वे द्वारौ बहिर्याति यस्तदिन्द्रियसंयुतः[3]॥ ८॥**

**अक्षिणी नासिके आस्यमिति[4] पञ्च पुरस्कृताः[5]।**
**दक्षिणा दक्षिणः कर्ण उत्तरा चोत्तरः स्मृतः॥ ९॥**

**पश्चिमे इत्यधोद्वारौ गुदशिश्नाविहोदितौ[6][7]।**
**खद्योताऽऽविर्मुखी चात्र नेत्रे एकत्र निर्मिते॥ १०॥**

**श्रीध० सखाय** इति। पञ्चवृत्तित्वात् पञ्चशिराः सर्प इव प्राणः॥ ६॥

एकादशमहाभट इत्यनेन एकादशो महाभटो नायक इत्युक्तं सन्दर्शयति - **बृहदिति**। बृहत् बलं यस्य, तन्मनः नव खानि द्वाराणि यस्य तत्॥ ७॥

द्युमत्सख इत्यादेरर्थं संक्षेपेणाह - **अक्षिणी** इति। यस्तदिन्द्रियसंयुतः स आत्मा ताभिर्द्वाभिर्बहिर्यातीति॥ ८॥

**अक्षिणी** इति। पुरः पूर्वभागे कृताः॥ ९, १०॥

**वीर०** भृत्यैर्दशभिरायान्तीमित्यर्थस्यार्थमाह[8] - **सखाय** इति। इन्द्रियगणः[9] ज्ञानकर्मोभयेन्द्रियगणः[10] सखायः भृत्याः[11]। तत्र सखिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमाह। तद्वृत्तय इन्द्रियवृत्तयः, ज्ञानं शब्दादिविषयकं ज्ञानं, व्यवहृत्यादानगत्यादिरूपं कर्म च बुद्धिसाध्यम्। यत्कृतं येनेन्द्रियगणेन कृतं सह प्रवृत्तिमत्वेऽन्योन्यापेक्षत्वरूपं सखित्वमत्र विवक्षितम्। एकैकशतनायकैरित्यस्यार्थमाह - सख्य इति[12--12]। तद्वृत्तयः इन्द्रियवृत्तयः सख्यः भवन्ति[13]। पञ्चशीर्षाहिनेत्यस्यार्थमाह- प्राण इति। पञ्चवृत्तित्वात् पञ्चशिराः सर्प इव प्राणः॥ ६॥

अन्यत्सुगममित्यभिप्रेत्य एकादशमहाभटा इत्यनेनोक्तमेकादशमहाभटमाह। स्वविषयेषु प्रसह्य प्रवर्तकत्वात् बृहद्बलं तत्

---

1. M. Ma. Ms °द्वनं 2. A. B. G. I. J. M. Ma. T प° 3. M. Ma. Ms तत्त° 4. V चा° 5. A. B. G. I. J. T. W पुरः कृताः। 6. A. B. G. I. J. T गुदं शिश्नमिहोच्यते 7. M. Ma. Ms °ते 8. W omits आयान्तीम् 9. A. I गणाः 10. A. T गणाः 11. W omits भृत्याः 12--12. W omits 13. W omits भवन्ति

अत एव ज्ञानकर्मोभयेन्द्रियाणां नायकं मन एकादशो महाभट इत्यर्थः । अत्र प्रकरणे पाञ्चालशब्दो बहुष्वर्थेषु प्रयुक्तः, दक्षिणपाञ्चालमुत्तरपाञ्चालमित्यत्र शास्त्रे, स पाञ्चालपतिरित्यत्रेन्द्रियेषु, पौरञ्जनो वंशः पाञ्चालेष्विति विषयेषु। तत्र मुख्यार्थमाह - पञ्चशब्दादयो विषयाः पञ्चालाः, पञ्च्यन्ते व्यक्ती क्रियन्ते इति व्युत्पत्तेः, तत्सम्बन्धिषु लाक्षणिकप्रयोगः अनेकार्थकल्पनायोगादिति भावः । सप्तोपरिकृता द्वार इत्यादेरर्थमाह । यत्पुरं मध्ये यस्य पुरस्य मध्ये, नवानां खानां[1] द्वाराणां समाहारः नवखमक्षिनासिकादिरूपमित्यर्थः । यद्वा पुरं मध्ये यन्नवखं यानि नव द्वाराणि तत्र द्वे अक्षिणी द्वे नासिके द्वौ कर्णौ शिश्नगुदौ द्वौ इत्येवं द्वे द्वे द्वारौ मुखमेकमिति मिलित्वा नवखमित्यन्वयः । द्युमत्सख इत्यादेरर्थं संक्षेपेणाह। यस्तदिन्द्रियसंयुतः अक्ष्यादिच्छिद्रगतेन्द्रिययुक्तः स आत्मा ताभिर्द्वार्भिर्बहिर्याति बहिष्ठान् शब्दादिविषयान् अनुभवति ॥ ७, ८ ॥

पञ्चद्वारस्तु पौरस्त्या इत्यस्यार्थमाह - अक्षिणी, नासिके, आस्यं, मुखमित्येवं पञ्चद्वारः पूर्वभागे कृताः । अत्र व्याख्यायां क्रमो न विवक्षितः । दक्षिणोत्तरद्वारावाह - दक्षिणो[2] दक्षिणः कर्णः । अत्र दक्षिणेति प्रतीकोपादानं दक्षिणः कर्ण इति तस्य व्याख्यानम्, एवमग्रेऽपि ॥ ९ ॥

पश्चिमे द्वे इत्युक्ते पश्चिमे द्वारावाह- पश्चिम इतीति । तत्र पश्चिमे इति प्रतीकग्रहणं तस्याधो द्वाराविति व्याख्यानम् । ते चाधोद्वारौ के ? इत्यत्राह गुदशिश्नाविहोदिताविति । इहास्मिन् प्रकरणे उदितौ कथितौ । खद्योताविर्मुखीत्यादेरर्थमाह- खद्योतेति । एकत्र निर्मिते लग्ने ये खद्योताविर्मुखीशब्दविवक्षिते द्वारौ ते अत्र प्रकरणे नेत्रे इत्यर्थः । अत्र नेत्र इति व्याख्यानं शेषः प्रतीकः ॥ १० ॥

**विज०** यत् येनेन्द्रियगणेन तेषामिन्द्रियाणां विषयेषु वृत्तयो व्यापारः पुररक्षणे यथोरगो निरूपितस्तथा देशरक्षणे, ''उरस्तु वक्षसि श्रेष्ठे'' (वैज.को-6-3-3) इत्यभिधानात् उरः श्रेष्ठश्च गमको ब्रह्मप्रापकश्चेत्युरगो मुख्यप्राणः श्रेष्ठश्च स एतान् ब्रह्म गमयतीति सूत्रश्रुत्योरयमर्थः । अन्यत्र उरसा वक्षसा गच्छतीत्युरगः सर्पः, पञ्चधा वृत्तिर्यस्य स पञ्चवृत्तिः, विस्तृतव्यापारो वा । फणोत्क्षेपणं, फणाया भूमावाक्षेपणं, मण्डलीकरणमाकुञ्चनं, मण्डलमोक्षः प्रसारणं दीर्घीभूय गमनमिति पञ्च (विधा) वृत्तिः नागस्य ॥ ६ ॥

''मनसा वा अग्रे सङ्कल्पयत्यथ वाचा व्याहरति'' (ऐत. उ. 1-1-2) इति श्रुतेः ज्ञानकर्मेन्द्रियाणां विषयं प्रति नेतृत्वादुभयेन्द्रियनायकमित्युक्तम् । एषां विषयाणां मध्ये नव खानि द्वारलक्षणानि छिद्राणि यस्य तत्तथोक्तं, तत्पुरं शरीरम् ॥ ७ ॥

तत्तदिन्द्रियसंयुतः अक्षादिद्वारेण बहिर्विषयबुभुक्षो सति, नेत्रादीन्द्रियेण विषयं भुङ्क्त इत्यर्थः ॥ ८ ॥

---

1. A, T omit खानां 2. A, T omit दक्षिणः

अक्षिणी इत्यादिना द्वे द्वे द्वार इत्युक्तं तद्विवेचयति अक्षिणी इति ॥ ९ ॥

पश्चिमे द्वे इत्युक्तं तत्राह - **पश्चिम** इति। खद्योतेत्याद्युक्तं विवृणोति - खद्योतेति ॥ १० ॥

**रूपं विभ्राजितं ताभ्यां विचष्टे चक्षुषेश्वरः।**
**नलिनी नालिनी नासे गन्धः सौरभ उच्यते[1] ॥ ११ ॥**

**घ्राणोऽवधूतो मुख्यास्यं विपणो वाग्रसविद्रसः[2]।**
**आपणो व्यवहारोऽत्र चित्रमन्धो बहूदनम् ॥ १२ ॥**

**पितृहूर्दक्षिणः[3] कर्ण उत्तरो देवहूः[4] स्मृतः।**
**संवत्सरश्चण्डवेगः कालो येनोपलक्षितः ॥ १३ ॥**

**तस्याहानीह गन्धर्वा गन्धर्व्यो रात्रयः स्मृताः।**
**हरन्त्यायुः परिक्रान्त्या[5] षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥ १४ ॥**

**कालकन्या जरा साक्षाल्लोकस्तां नाभिनन्दति।**
**स्वसारं जगृहे मृत्युः क्षयाय यवनेश्वरः ॥ १५ ॥**

**श्रीध० रूपमिति**। खद्योतेति, नेत्रे इति, रूपमिति, चक्षुषेति खद्योतादीनां व्याख्यानम्। शेषेऽनुवादः। ईश्वरः पुरञ्जनः। **नासे** इति व्याख्या ॥ ११ ॥

**घ्राण** इति। अवधुनोतीति अवधूतो वायुस्तदात्मकेनोच्छ्वासेन सहैकस्थानत्वात् घ्राणोऽवधूतः। आस्यमिति व्याख्या। "रसज्ञविपणान्वितः" (भाग. 4-25-49) इत्यत्र रसज्ञशब्दनिर्दिष्टस्य रसविदित्यनुवादः। रस इति व्याख्या रसनेन्द्रियमित्यर्थः। विपणो वाग्रसविद्रस इत्येव पाठः। आर्षत्वान्न दोषः। अक्षराधिक्यम्[6]। अन्धोऽन्नम् ॥ १२, १३ ॥

**तस्येति**। परिक्रान्त्या[7] परिभ्रमणेन ॥ १४ ॥

**कालकन्येति**। स्वसारमिति। भगिनीत्वेन जगृहे लोकानां क्षयाय ॥ १५ ॥

---

1. V °मु 2. M. Ma, Ms रस° 3. M. Ma °भू° 4. M. Ma भूः 5. V परीवृत्या 6. A, B, J, Va omit 7. V परीवृत्या

**वीर०** एवं विभ्राजितमित्यस्य व्याख्यानं **रूपमिति**। शेषः प्रतीकः। ईश्वरः पुरञ्जनः। खद्योतादिशब्दास्तु गौणाः, अतोऽत्र न प्रवृत्तिनिमित्तमुक्तम्। नासे गन्ध इति च व्याख्यानम्। शेषः प्रतीकः॥ ११॥

घ्राण इति व्याख्यानमवधूत इति प्रतीकः। मुख्येति प्रतीकस्तस्य व्याख्यानमास्यमिति। रसज्ञविपणौ व्याचष्टेविपणो वागिति। विपण इति प्रतीकः वागिन्द्रियमिति व्याख्या। रसविदित्यर्थतः प्रतीकः रसज्ञविपणान्वित इति मूलात्। रसः रसनेन्द्रियमिति व्याख्यानम्। आपणबहूदनौ व्याचष्टे। आपण इति प्रतीकः। व्यवहारः वाग्व्यवहार इति व्याख्या। बहूदनमिति प्रतीकः। चित्रमन्धः अन्नमिति व्याख्या॥ १२॥

पितृहूरित्यनुवादः दक्षिणकर्णाविति व्याख्यातम्। दक्षिणा दक्षिणः कर्ण इत्यनेन दक्षिणैका तथोत्तरेति व्याख्यातम्। पितृहूर्दक्षिणः कर्ण इत्यनेन तु पितृहूर्नाम पुर्या द्वाः, देवहूर्नाम पुर्या द्वारित्युक्तगुणनामविषयौ दक्षिणोत्तरकर्णावेवोच्यत इति भेदः। क्रममनादृत्य तृतीयाध्यायोक्तचण्डवेगादिपदार्थानाह- सार्धैस्त्रिभिः। चण्डवेग इति प्रतीकः संवत्सर इति विवरणम्। तत्र तत्प्रवृत्तौ निमित्तमाह- कालः पुरुषायुषरूपः[1] कालः येन संवत्सरेण चक्रवत्तूर्णं भ्रमतोपलक्षितः ज्ञपितः परिच्छिन्नः चक्रवत्तूर्णं वेगेन पुरुषायुषस्य परिच्छेदकत्वात् चण्डवेग इत्युच्यत इत्यर्थः॥ १३॥

तस्य चण्डवेगस्य सम्बन्धिनो गन्धर्वा गन्धर्व्यश्च यथाक्रमं अहानि रात्रयश्च स्मृता इत्यर्थः। तत्र गन्धर्व पद[2]प्रवृत्तौ निमित्तमाह। यतः षष्ट्युत्तरशतत्रयमहानि रात्रयश्च परिक्रान्त्या परिवर्तनेन गन्धर्ववत् परोक्षेपणः आयुः पुरुषायुषं हरन्ति, अतो गन्धर्वगुणयोगात् तत्पदबोध्या इत्यर्थः॥ १४॥

कालकन्येत्यस्य व्याख्या **जरेति**। कालस्य पुरुषायुषं हरतः दुहितृवज्जरायाः प्रीत्यावहत्वात्सा कालदुहितेत्युच्यते। त्रिलोक्यां वरमिच्छन्तीत्यादेः। प्रज्वारस्त्वां प्रणेष्यतीत्यस्य सङ्गहेणार्थमाह - लोकस्तां नाभिनन्दतीति। प्रज्वारोऽयं ममेत्यस्यार्थः स्वसारमिति सार्धेन, क्षयाय लोकस्येति शेषः॥ १५॥

**विज०** नलिन्याद्याह- नलिनीति॥ ११॥

अवधूतमाह- **घ्राण** इति। "मुख्या नाम पुरस्ताद्वा" (भाग.4-25-49) इत्यस्यार्थमाह- मुख्येति। या मुख्या नाम द्वाः आस्यं, "रसज्ञविपणान्वित' इत्येतदाह विपण इति। विपणो वागिन्द्रियं, रसवित् रसज्ञः, रसो रसनेन्द्रियम् , आपणं व्याचष्टे- आपण इति। चित्रमन्ध इत्यादौ बहूदनमित्यस्य विविधौदनः॥ १२॥

---

1. T omits रूपः 2. A, B, T omit पद

येन संवत्सरेण द्विपरार्धायुर्लक्षणः कालः ॥ १३ ॥

परिक्रान्त्या परिवृत्या पुनः पुनरावर्तनेनेत्यर्थः ॥ १४ ॥

क्षयाय, जगत इति शेषः ॥ १५ ॥

**आधयो व्याधयस्तस्य सैनिका यवनाः खलाः[1] ।**
**भूतोपसर्गा[2] अरयः प्रज्वारो विविधो[3] ज्वरः ॥ १६ ॥**

**प्रवृत्तं च निवृत्तं च शास्त्रं पाञ्चालसंज्ञितम्[4] ।**
**पितृयानं देवयानं श्रोत्राच्छ्रुतधराद्[5] व्रजेत् ॥ १७ ॥**

**आसुरी मेढ्रमर्वाग्द्वाः[6] व्यवायो ग्रामिणां रतिः ।**
**उपस्थो दुर्मदः प्रोक्तो निर्ऋतिर्गुद उच्यते ॥ १८ ॥**

**वैशसं नारकं[7] पायुर्लुब्धकोऽन्धौ तु मे श्रृणु ।**
**हस्तपादौ[8] पुमांस्ताभ्यां युक्तो याति करोति च ॥ १९ ॥**

**अन्तःपुरं च हृदयं विषूचिर्मन[9] उच्यते ।**
**तत्र मोहं प्रसादं वा हर्षं प्राप्नोति[10] तद्गुणैः ॥ २० ॥**

**श्रीध० आधय** इति । चराः सञ्चारिणः भूतानामुपसर्गे पीडायामाशु शीघ्रो मृत्युहेतू रयो वेगो यस्य, प्रज्वार इति प्रज्वारशब्दस्य व्याख्या । अरय[11] इति । पाठान्तरे भूतकृता उपसर्गाः[12] अरयः, अनेन च अरिभिरुपरुद्ध इत्यरिपदं[13] व्याख्यातम् । द्विविधः शीतोष्णरूपेण[14] प्रवेशनिर्गमभेदात्[15] ॥१६,१७॥

**आसुरीति** । ग्रामकमित्यस्यानुवादो ग्रामिणां रतिरिति, तस्य व्याख्या व्यवाय इति ॥ १८,१९ ॥

**अन्तःपुरमिति** । विषूचीनपदार्थानुवादो विषूचिरिति । तद्गुणैर्मनोगुणैः तमस्सत्वरजोभिः ॥ २० ॥

---

1. A, B, G, I, J, T, V चराः 2. A, B, G, I, J, T, V °र्गाशु रयः 3. A, B, G, I, J, T, V द्वि° 4. A, B, G, I, J, V प° 5. M, Ma, Ms श्रोत्रं श्रुतधरो व्रजेत् । 6. M, Ma, Ms महेनार्थं द्वाः 7. W न° 8. W पाणि 9. Ms, V ची° 10. Ms वा° 11. B, J, V, Va omit अरय इति । 12. A, B, J, Va omit उपसर्गाः 13. V omits अरि 14. V भेदेन 15. V omits निर्गम

**वीर०** भीमाः सैनिका यस्येति, बहुव्रीह्यर्थं प्रत्युपसर्जनीभूत[1] भीमसैनिकानाह। आधयः मनःपीडाः व्याधयो देहपीडाः[2-] तस्य भयनाम्नः सैनिकाः एते भूतानामुपसर्गाश्च, खला दुष्टाः यवनाः[-2] दुर्यवनवद्धिंस्रत्वाद्यवनाः अतीव दुःखावहत्वादयः। उपसर्गाः सुखदुःखरागद्वेषभयाभिमानप्रमादोन्मादशोकमोहलोभमात्सर्येर्ष्यावमानक्षुत्पिपासाधिव्याधिजन्मजरामरणादयः। तत्राधिव्याधीनां भीमसैनिकत्वरूपणात् मृत्योस्तस्येति प्राधान्येन निर्देशात् तद्व्यतिरिक्तपर उपसर्गशब्दः। प्रज्वारपदार्थमाह विविधो ज्वर इति॥ १६॥

एवं क्रममनादृत्य तृतीयाध्यायस्थपदानि व्याख्याय सिंहावलोकनन्यायेन पुनरेतदध्यायस्थपदान्येवावशिष्टानि व्याख्येयानि व्याचष्टे- **प्रवृत्तं चे**ति। दक्षिणपाञ्चालमुत्तरपाञ्चालमित्युक्तपाञ्चाल शब्दार्थमाह। प्रवृत्तं प्रवर्तकं, कर्तरि क्तः, त्रिवर्गतत्साधक-स्वरूपावबोधनेन प्रवर्तकं शास्त्रं प्रवृत्तमित्युच्यते। निवृत्तं, निवर्तकं त्रिवर्गतत्साधनेभ्यस्तन्निवृत्तं त्रिवर्गस्यास्थिर फलत्वोपदेशपूर्वकं ततो निवृत्त्याऽनन्तस्थिरफलब्रह्मोपासनतत्स्वरूपरूपगुणादिप्रकाशकं शास्त्रं निवृत्तमित्युच्यते। तदेवं शास्त्रद्वयं पाञ्चालसंज्ञितमित्यर्थः[3]। पञ्चते व्यक्तीकरोति त्रिवर्गतत्साधनतन्निवृत्तीः इति व्युत्पत्तेः। एवं पाञ्चालशब्दस्य प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मक शास्त्रद्वयपरत्वं सामान्येनाभिधाय तस्य दक्षिणोत्तराभ्यां विशेषितस्य प्रवृत्ते निवृत्ते च क्रमेण प्रवृत्तौ निमित्तमाह पितृयानमिति। पितरो हि दाक्षिणात्याः तान् यान्त्यनेनेति पितृयानं प्रवृत्तशास्त्रोदितकर्मणा दाक्षिणात्यान् पितॄनाराध्य तान् प्राप्नुवन्तीति दाक्षिणात्यपितृप्राप्ति साधनप्रकाशकत्वात् पितृयानं शास्त्रम्, दक्षिणपाञ्चालमित्युच्यते। एवं देवयानमुत्तरपाञ्चालमिति, श्रुतधरान्वित इत्युक्तश्रुतधरपदार्थमाह- श्रोत्रादिति। श्रोत्रेन्द्रियात् श्रुतधरादिति प्रतीक । श्रोत्रादिति व्याख्यानं, तत्रान्वित इत्युक्तोऽन्वयः, किं रूपं इति विवित्सायां हेतुत्वेनेति द्योतनाय हेतुपञ्चमी प्रयुक्ता , किं प्रति हेतुत्वमिति विवित्साशान्तये व्रजेदित्युक्तं, क्षेत्रज्ञ इति शेषः। व्रज-गतौ सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इति न्यायेन पितृयानदेवयानाऽपर पर्याये दक्षिणोत्तरपाञ्चाले शास्त्रे श्रोत्रेन्द्रियेण साधनरूपेण हेतुना अवगच्छति क्षेत्रज्ञ इत्यर्थः॥ १७॥

"आसुरी नाम पश्चाद्वाः" (भाग. 4-25-52) इत्यस्यार्थमाह - **आसुरी मेढ्रमि**ति। आसुरीति प्रतीकः, मेढ्रमिति व्याख्या, पश्चादित्यस्य व्याख्या अर्वागिति, आसुरपदप्रवृत्तिनिमित्तं तु उक्तं पुरस्तादत्र अनुक्तिस्तु स्पष्टत्वात्। ग्राम्यकमित्यर्थतोऽनुवदति, ग्रामिणां रतिः तस्य, व्याख्या व्यवाय इति, मैथुनमित्यर्थः। दुर्मदशब्दानुवादेन तदर्थमाह उपस्थ इति। निर्ऋतिर्नामेत्यस्यार्थमाह[4-]। निर्ऋतिरिति प्रतीकः, गुद इति व्याख्या॥ १८॥

वैशसशब्दानुवादेन तदर्थमाह- **वैशसं नारक**मिति। नरके भवं नारकं, दुःखमित्यर्थः। लुब्धक इति प्रतीकः, पायुरिति व्याख्या। अन्धावमीषामित्यस्यार्थमाह - अन्धौ त्विति। मे मत्तः अन्धशब्दार्थौ श्रृणु पाणिपादान्धौ इति प्रतीकः, पाणिपादाविति व्याख्या, जातिपरोऽयं निर्देशः पाणी पादौ चेति विवक्षितोऽर्थः। अन्धपदप्रवृत्तिनिमित्तं तु निर्वाक्पेशस्करत्वं पूर्वमेवोक्तं शेषोऽनुवादः॥ १९॥

---

1. T omits भीम 2--2. W omits 3. A, B, T °ज्ञक° 4--4. W omits

स यर्हि इत्यस्यार्थमाह - **अन्तः पुरमिति** । अन्तःपुरमित्यनुवादः, हृदयमिति व्याख्या विषूचीनमित्यस्यार्थतोऽनूद्यते[1] विषूचीरिति मन इति तदर्थः , शेषोऽनुवादः, तद्गुणैः[2-2] सङ्कल्पविकल्पादिभिः ॥ २० ॥

**विज०** भूतोपसर्गाः ग्रहोपद्रवाः ॥ १६ ॥

पाञ्चालशब्दस्यार्थान्तरमाह - **प्रवृत्तमिति** । श्रुतधरेत्यस्य श्रोत्रमिति, तेनोत्क्रान्तः पितृयानादिमार्गं व्रजति ॥ १७ ॥

आसुर्याः कृत्यमाह - मेहनार्थमिति । मेहनं, पुरीषोत्सर्जनं, ग्रामिणां रतिर्मैथुनम् ॥ १८, १९ ॥

तद्गुणैः मनोगुणैर्बुद्धिगुणैर्वा ॥ २० ॥

**[3]यथा यथा विक्रियते गुणाक्तो विकरोति वा ।**
**[4]तथा तथोपद्रष्टाऽऽत्मा तद्वृत्तीरनुकार्यते[5] ॥ २१ ॥**

**देहो रथस्त्विन्द्रियाश्वः संवत्सरयोऽगतिः[6] ।**
**द्विकर्मचक्रस्त्रिगुणध्वजः पञ्चाऽसुबन्धुरः[7] ॥ २२ ॥**

**मनोरश्मिर्बुद्धिसूतो हृन्नीडो द्वन्द्वकूबरः ।**
**पञ्चेन्द्रियार्थप्रक्षेपः सप्तधातु वरूथकः ॥ २३ ॥**

**[8]आकूतिर्विक्रमो बाह्यो मृगतृष्णं प्रधावति ।**
**एकादशेन्द्रियचमूः पञ्चसूनाविनोदकृत् ॥ २४ ॥**

**एवं बहुविधैर्दुःखैर्दैवभूतात्मसम्भवैः[9] ।**
**क्लिश्यमानः शतं वर्षं[10] देहे देही तमोवृतः ॥ २५ ॥**

**श्रीध०** "महिषी यद्यदीहेत" (भाग. 4-25-56) इत्यादेः अर्थं सङ्गृह्याह - **यथेति** । यथा यथा बुद्धिः स्वप्ने विक्रियते, जाग्रति विकरोति वा, इन्द्रियाणि परिणमयति तस्या गुणैः अक्तो लिप्तः आत्मा तथा तथा तस्या वृत्तीर्दर्शनस्पर्शनाद्याः केवलमुपद्रष्टैव सन् बलादनुकार्यते ॥ २१ ॥

---

1. A, B, T °स्यार्थोऽ° 2--2. W omits 3. W यदा यदा 4. W तदा तदा 5. M, Ma, Ms °त्तिरिति कीर्त्यते 6. M, Ma, Ms वयो गतिः; V, W रयो गतिः 7. W °न° 8. V आसुरी वि° 9. B, J, V, W °र्दै° 10. V वर्षान्

आशुगमित्येतद्व्याचष्टे - **देह** इति । संवत्सरस्येवाप्रतिहतो रयो वेगः प्रतीतो यस्य स संवत्सररयः, वस्तुतस्त्वगतिः स्वप्नशरीरादेर्बुद्धावेव वृत्तित्वेन[1] देशान्तरगत्यभावात् । पाठान्तरे संवत्सरश्च तत्कृतं वयश्च ताभ्यां गतिर्यस्येति । द्वीषमित्यस्य व्याख्या नारदेन[2] न कृता[2] । द्विचक्रमित्यस्य व्याख्या द्विकर्मचक्रः । त्रिगुणध्वज इति त्रिवेणुपदव्याख्या ॥ २२ ॥

**मन** इति । पञ्चप्रहरणमित्येतद्वत्याचष्टे - पञ्चेन्द्रियार्थप्रक्षेप इति ॥ २३ ॥

**आकूतिरिति** । पञ्चेन्द्रियैः सूनाविनोदमिव[3] हिंसाविनोदमिव अन्यायेन[3] विषयसेवां करोतीति पञ्चसूनाविनोदकृत् । अनेन "चचार मृगयां तत्र" (भाग. 4-26-4) इत्यादि व्याख्यातम् ॥ २४ ॥

एवं परोक्षत्वेनोक्तमर्थं व्याख्याय सर्वकथातात्पर्यमाह - **एवमित्यादि** विरमक्रमेणेत्यन्तेन । आधिदैविकादिभिर्दुःखैः क्लिश्यमानो ममाहमिति देहे शतं वर्षाणि शेते वर्तत इति द्वयोरन्वयः ॥ २५ ॥

**वीर०** एवं कर्मस्वित्यादेः सङ्गहेणार्थमाह - **यदेति** । यदा स्वप्ने विक्रियते, कर्मणि लकारः, बुद्धिरिति शेषः । यदा च जाग्रति विकरोतीन्द्रियाणि परिणमयति, तदा तदा स्वप्नजाग्रदवस्थयोस्तस्या गुणैः अक्तो-लिप्त आत्मा स्वभावतः उपद्रष्टापि तस्याः वृत्ती दर्शनश्रवणाद्याः प्रत्यनुकार्यते बलादनुवर्त्यते[4] ॥ २१ ॥

एवं प्रथमाध्यायस्थपदानि व्याख्यातानि अथ[5] द्वितीयाध्यायस्थ पदानि व्याचष्टे - देह इति त्रिभिः । यो रथ उक्तः स देह , ये चाश्वे उक्तास्ते इन्द्रियरूपा एवाश्वाः, आशुगमित्यत्र विवक्षिता गतिः संवत्सररयः संवत्सरवेगतुल्या तूर्णप्रतिपत्तिः, स्वाप्नदेहप्रतिपत्तिर्हि[6] तत्कालमात्रावसायित्वेनातितूर्णात्, द्वे पुण्यापुण्यरूपे कर्मणी चक्रे यस्य सः, पुण्यापुण्यकर्मणी एव द्विचक्रमिति चक्रशब्देन विवक्षिते इत्यर्थः । त्रिवेणुमित्यत्र विवक्षिता वेणवो ध्वजाः , सत्वरजस्तमोगुणा इत्यर्थः । पञ्च अनाः प्राणाः "एतदनमनग्नं कुरुते" (बृह.उ. 6-1-14) इति श्रुतेः । बन्धुरा बन्धनानि यस्य, बन्धुरत्वेन विवक्षिताः पञ्च प्राणा इत्यर्थः । पञ्चासुबन्धुर इत्यपपाठ व्याख्यायां विशेषानवगमात् ॥ २२ ॥

रश्मिः प्रग्रहत्वेन यो विवक्षितः सः, मनः यः सूत उक्तः, स बुद्धिः यन्नीडं रथिन उपवेशनस्थानं, तद्धृत् हृदयस्थानं, द्वन्द्वं शोकमोहौ, कूबरं युगबन्धनस्थानं, यस्य, द्विकूबरमित्युक्तौ द्वौ पदार्थौ द्वन्द्वात्मकशोकमोहावित्यर्थः । पञ्चप्रहरणमित्युक्तानि पञ्चप्रहरणानि अनुभाव्याः पदार्थाः, पञ्चेन्द्रियार्थाः शब्दादय इत्यर्थः । पञ्चेन्द्रियार्थाः प्रक्षेपा यस्येति बहुव्रीहिः । सप्तधातवः वरूधाः स्वर्णाद्यावरणानि यस्य, सप्तवरूधमित्यत्र वरूधत्वेन रूपिताः सप्त पदार्थाः सप्त धातव इत्यर्थः ॥ २३ ॥

---

1. A. B. J. Va विवृतत्वेन 2--2. V omits 3--3. B, J. Va सूनाविनोदमिव अन्यायेन; V सूना हिंसा तया 4--4. W omits 5. A. T अद्य 6. A, T स्वप्न

पञ्च विक्रममित्यत्र विक्रमत्वेन गतिप्रकारत्वेन विवक्षिता आकूतिः, पञ्च कर्मेन्द्रियाणीत्यर्थः। बाह्यः बहिष्ठविषयासक्तः एकादशेन्द्रियाण्येव चमूः सेना यस्य स, पञ्चसूना हिंसा एव विनोदस्तं करोतीति तथा, मृगतृष्णां मरीचिकावत्सुखाभासरूपविषयानुभूतिं करोतीत्यर्थः। अत्र "स एकदा महेष्वासो रथं पञ्चाश्वमाशुगम्" (भाग. 4-26-1) इत्यादीनां दशानां श्लोकानां स्वप्नावस्थापरत्वेन पूर्वैर्व्याख्यातत्वादस्माभिरपि स्वप्नावस्थापरत्वेनैव व्याख्यातः। तद्व्याख्यारूपमिदं "देहो रथस्त्विन्द्रियाश्वाः" (भाग. 4-29-18) इति श्लोकत्रयं च तदनुरोधेन व्याख्यातम्। वस्तुतस्तु, दशश्लोकी[1] जाग्रद्देहतद्व्यापार परत्वेनैव व्याख्येया[2], व्याख्यानस्वारस्यात्। व्याख्याने हि संवत्सररयो गतिरित्युक्तं, न हि स्वाप्नदेहस्य संवत्सरवेगात्मकगतिः सम्भवति, तस्य तत्कालमात्रावसायित्वात्तस्य तत्सदृशप्रतीतिमात्रपरत्वे स्वारस्यमेकादशेन्द्रियचमूपतिरित्युक्तत्वाच्च। न हि स्वाप्ने एकादशेन्द्रियाणां व्यापृतिः सम्भवति तत्सम्बन्धमात्रविवक्षायामस्वारस्यं, पञ्चसूनाविनोदकृदित्युक्तत्वात्न हि पञ्चसूनानां स्वाप्नदेहनिष्पाद्यत्वं युक्तं, तस्मादिदं जाग्रद्देहतद्व्यापारपरमेव व्याख्येयम्। तथा हि भोगायतनत्वख्यापनाय पूर्वं पुरवनरूपितं जाग्रदवस्थमनुष्यशरीरमेवेदानीं रथत्वेन रूप्यते, देही रथित्वेन इन्द्रियादयोश्वाऽदित्वेन। किमर्थमेवं रूपणमिति चेदुच्यतेरयोहि स्वाभिमतदेशान्तरप्रापणसमर्थः तद्वन्मनुष्यशरीरमपि वैष्णवपदप्राप्तिसाधनानुष्ठानोपयोगीति ज्ञापनाय रथभावेन रूप्यते। तथा हि कठवल्लीष्वाम्नायते -- "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च। इन्द्रियाणि हयान्याहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्॥ आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः। (कठ.उ. 3-3,4) यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः॥ (कठ.उ. 3-7) न स तत्पदमाप्नोति यस्मात् भूयो न जायते। विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः॥ सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" (कठ.उ.3-7, 9) इति। एतच्छ्रुत्यर्थएवात्रोपबृंह्यत इति श्रुत्या रथादिभावेन रूपितानामेव देहादीनामत्रापि तद्भावरूपणरूपसंवादात्। तर्हि श्रुतौ मृगया नोक्ता अत्र तूच्यते इति चेत् विवक्षिता मृगया श्रुतावप्युक्तैव "यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः" (कठ.उ. 3-7) इत्यत्र परब्रह्मप्राप्तिसाधनोपसंहारोपयुक्तशरीरं दैवाल्लब्धवतः क्षेत्रज्ञस्य ब्रह्मस्वरूपतदुपासनादिप्रकाशकवेदशास्त्रोल्लङ्घनेन पुनरनादिदुरित निमित्ताविवेकादिना निषिद्धकामचारो ह्यत्र मृगया विवक्षिता। सा च मुक्तिमार्गविरोधिनीति विवेकलब्धिप्रार्थनयाऽवगम्यते, एतदेव यस्त्वविज्ञानवानित्यादिनाऽवगम्यते। अविज्ञानवान् विविच्य ज्ञानं विवेकः सोऽस्यास्तीति विज्ञानवान्, स न भवतीत्यविज्ञानवान्, विवेकात्मकसात्त्विकबुद्ध्या विरहित इत्यर्थः, न विद्यते शुचिः कामचारादिना यस्य सोऽशुचिरित्यर्थावगमात्, श्लोकार्थस्तु पूर्वोक्त एव। न चैवं पृथक्स्वप्नावस्था न कथिता स्यात्ततश्च तद्गतदोषाननुकीर्तनेन श्रोतुर्वैराग्यादयो न स्यादिति वाच्यं, जाग्रदवस्थाप्रपञ्चेनैव स्वप्नावस्थाप्येवंविधेति ज्ञातुं शक्यत्वेन तस्याः पृथगवक्तव्यत्वात्। अत एव हि मूर्छावस्था पृथक् नोक्तेति सङ्ग्रहः॥ २४॥

---

1. A, B, T °का:  2. A, B, T °या:

एवं परोक्षेणोक्तमर्थं व्याख्याय कृत्स्नकथातात्पर्यमाह - **एवमित्यादि**ना। त्रिभिस्तापैस्तदवान्तरभेदेन बहुविधैर्दुःखैः एवं शतं वर्षं यावच्छरीरं क्लिश्यमानः देही क्षेत्रज्ञः तमोवृतस्तमसाज्ञानेन वृतोऽभिभूतः ॥ २५ ॥

**विज०** एतदेव प्रतिपादयति - **यथेति**। स्वप्नकाले करितुरगादिदृष्टश्रुतवस्तुवासनावासितं मनो बुद्धिर्वा विक्रियते, दैवेनेति शेषः। बहुसंस्काराधिवासितत्वादन्यत्र प्रवाहमन्तरेणैव स्वयं वा विकरोतीत्याह - गुणेति। यथा यथा विषयविकारेण परिणमते तथा तथा स्वप्नादेरुपद्रष्टात्मा जीवस्तद्वृत्तिर्बुद्धिर्मनोवृत्तेरनुकूलवृत्तिरिति कीर्त्यते यथा यथा मनो विक्रियते गुणान् कामात्मना गुणरूपिता [1-] बुद्धिस्तथा विकरोति, [-1] बुद्धिः यथा विकरोति तथात्मापीति वा, उभयेन्द्रियनायक इत्युक्तेर्मनोविकारानुकारि बुद्ध्यनुकारि प्रवृत्तिमत्त्वमात्मनो युज्यते ॥ २१ ॥

इन्द्रियाण्येवाश्वा यस्य स तथा, संवत्सरेत्युपलक्षणं दिनरात्रि पक्षमास संवत्सरेत्युपलक्षणैर्वयोभिः गतिर्यस्य स तथा। द्विकर्मेत्यादिषु बहुव्रीहिः। पञ्चासु बन्धुरः पञ्चासवः प्राणा एव बन्धुरो यस्य स तथा ॥ २२ ॥

एक रश्म्येकदमनमित्यस्यार्थमाह - **मन** इति। पञ्चप्रहरणमित्यस्यार्थमाह - पञ्चेति ॥ २३ ॥

प्रतीतितः सुखम् अनुभवे यद्दुःखं सा मृगतृष्णिका ताम्। तदुक्तम् - "सुखवत् दूरतो दृश्यं तत्काले दुःखमेव यत्। मृगतृष्णेत्यतः प्राहुर्भोगं वैषयिकं बुधाः" (शब्दनिर्णये) इति। पञ्चेन्द्रियद्वारेण विषयसेवालक्षणहिंसाकालविनोदं करोतीति पञ्चसूनाविनोदकृत् ॥ २४ ॥

अधुना लक्षणया वृत्त्या उक्तमर्थं विवृत्यर्थं प्रत्यक्षमाह - एवमिति। दैवभूतात्मसम्भवैरधिदैवाधिभूताध्यात्मविषयतथा जातैरेवं बहुविधैर्दुःखैः क्लिश्यमानस्तमोवृतस्तत्परिहारोपायमजानन् देही शेते इति श्लोकद्वयेनान्वयः। कियन्तं कालम्? शतवर्षं, क्लृप्तत्वात् "शतायुर्वै पुरुषः" इति न्यूनातिरेकसम्भवेऽप्येवमुक्तम्। दुःखोत्पत्तौ कारणमाह - कामेति। प्राणधर्मानशनपिपासादीनिन्द्रिय-धर्मानन्धत्वादीन् मनोधर्मान् शोकमोहादीनात्मनि स्वस्मिन्नध्यास्यारोप्य[2] बुभुक्षितः पिपासितोऽहमन्धः काणोऽहं शुष्कोऽहं मुग्धोऽहमिति निर्गुणश्चेतनत्वेन स्वतो गुणरहितः। ननु शरीरकारणक्षये मोक्षसम्भवात् क्लेशानुभवोऽप्युपकाराय स्याद्देहिन इत्यत्राह - कर्मकृदिति। "आचतुर्दशमाद्वर्षात्कर्माणि नियमेन तु। दशावराणां देहानां कारणानि करोत्ययम्" इत्यादेर्न कर्मक्षयान्मुक्तिः। नन्वस्तु कर्मकर्तृत्वं हर्यर्पणेन क्रियमाणानां न दुःखदातृत्वमित्यत्राह - ममेति ॥ २५ ॥

**प्राणेन्द्रियमनोधर्मानात्मन्यध्यस्य[3] निर्गुणे[4]।**
**शेते कामलवान्ध्यायन्ममाहमिति कर्मकृत्[5] ॥ २६ ॥**

---

1--1. A omits 2. B. M. Ma °ध्यस्य 3. Ma °ना° 4. A. B. G. I. J. M. Ma. Ms, T °णः 5. M. Ma लवं ध्या°

**यदात्मानमविज्ञाय भगवन्तं परं गुरुम्।**
**पुरुषस्तु विषज्जेत गुणेषु प्रकृतेस्स्वदृक्[1] ॥ २७ ॥**

**गुणाभिमानी स तदा कर्माणि कुरुतेऽवशः।**
**शुक्लं कृष्णं लोहितं वा यथाकर्माभिजायते[2] ॥ २८ ॥**

**शुक्लात्प्रकाशभूयिष्ठान्[3] लोकानाप्नोति कर्हिचित्।**
**दुःखोदर्कान् क्रियाऽऽयासान्[4] तमश्शोकोत्कटान् क्वचित् ॥ २९ ॥**

**क्वचित् पुमान् क्वचिच्च स्त्री क्वचिन्नोभयमन्धधीः।**
**देवो मनुष्यस्तिर्यग्वा यथाकर्मगुणं भवः ॥ ३० ॥**

**श्रीध० प्राणेति**। अशनयापिपासादीन् प्राणधर्मान् अन्धत्वादीनिन्द्रियधर्मान् कामादीन् मनोधर्मांश्च निर्गुणेऽप्यात्मन्यध्यस्य कामलवान् विषयसुखलेशान् ध्यायन् कर्मकृत् ॥ २६ ॥

ततः किमत आह - **यदेति** द्वाभ्याम्। स्वदृक् स्वप्रकाशस्वभावोऽपि ॥ २७ ॥

**गुणेति**। शुक्लं सात्विकम्। कृष्णं तामसम्। लोहितं राजसम्। यथा कर्म तथा जायते ॥ २८ ॥

तदेवाह - **शुक्लादिति** द्वाभ्याम्। प्रकाशो भूयिष्ठो येषु। दुःखमुदर्कं उत्तरफलं येषु, क्रियया आयासो येषु तान्, लोहितात्। तमश्शोकावुत्कटौ येषु तान् कृष्णादिति ज्ञेयम् ॥ २९ ॥

**क्वचिदिति**। नोभयं नपुंसकम्। यथाकर्मगुणं कर्मगुणावनतिक्रम्य ॥ ३० ॥

**वीर०** प्राणादिधर्मानात्मन्यध्यस्य पिपासुरहं, बुभुक्षुरहं, काणोऽहं, बधिरोऽहं, दुःख्यहं, सुख्यहमित्येवं प्राणादेर्धर्मानात्मन्यारोप्य सुखलेशान् चिन्तयन्नहम्ममाभिमानाभ्यां पुनर्देहान्तर प्राप्तिहेतुभूतकर्माणि कुर्वन् शरीरे वसति ॥ २६ ॥

कुतोऽयं संसार इति विवित्सायां स्वपरयाथात्म्यरूपोपासनापन्नज्ञानाभावादेवेत्याह - **यदेति**। स्वात्मानं हितोपदेष्टारं प्रकृतिपुरुषविलक्षणं षाड्गुण्यपूर्णं परमात्मानं चाज्ञात्वा क्षेत्रज्ञः स्वभावतः स्वदृक् स्वानुभवपरोऽपि प्रकृतेर्गुणेषु शब्दादिषु यदा विषज्जेत नितरां सक्तो भवेत् ॥ २७ ॥

---

1. M. Ma; Ms प्राकृतेष्वदृक् 2. W °स्वाभि° 3. M. Ma °न्प्र° 4. W क्रियायास्तान्

गुणेष्वेव शब्दादिष्वभिमानी भोग्यताबुद्धिमान्, अत एव विषयपरवशः विषयलाभसाधनतया शुक्लं सात्विकं, कृष्णं तामसं, लोहितं राजसमित्येवं रूपेण त्रिविधानि कर्माणि कुरुते। तदा यथास्वम्[1] स्वस्वकर्मानुसारेणाभिजायते[2] पुनर्जन्मान्तरं प्रतिपद्यते॥ २८॥

तदेवाह - शुक्लात्सात्विकात् कर्मणो हेतोः प्रकाशभूयिष्ठान् प्रकाशः भूयिष्ठ : प्रचुरो येषु तान् लोकान्[3] देहान् कर्हिचित् प्राप्नोति। कर्हिचिदित्यनेन सात्विकं कर्म, तत्प्रयुक्तः सात्विको देहश्च दुर्लभ इत्युक्तम्। क्रियायाः राजसात्कर्मणः दुःखोदर्कम् उत्तरं येषां तान्, दुःखपरम्परासम्पादकानित्यर्थः, तान् लोकान्। तमस्तामसात् कर्मणः, विभक्तिलुगार्षः। यद्वा तमश्शोकौ अज्ञानशोकौ उत्कटौ येषु तान्। तामसात् कर्मण इति वा शेषः। क्वचिद्रजस्तमः प्रचुरम्लेच्छादिदेशेषु सात्विकादि कर्मस्वरूपं[4] तत्कर्तृस्वरूपं तद्बुद्धिस्वरूपं च स्पष्टं गीतं भगवता- "नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्। अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते॥ यत्तु कामेप्सुना[5] कर्म साहङ्कारेण वा पुनः। क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्। मोहादारभ्यते कर्मयत्तत्तामसमुच्यते।" (भ.गी. 18-23-25) इत्यादिना॥ २९॥

गुणकर्मानुसारेण जन्मापि न पुंस्त्वादिरूपेण नियतं प्राप्नोति किं त्वनियतमेवेत्याह[6] - **क्वचिदिति**। अन्धधीः अज्ञः, नोभयं नपुंसकं भवतीत्यर्थः। तत्रापि यथाकर्मगुणं कर्मगुणावनतिक्रम्य देवादिरूपेण भवः जन्म भवतीति शेषः॥ ३०॥

**विज०** कर्मकृदित्यत्र कीदृशं कर्म करोतीति तत्राह - **यदेति**। यदा अदृग्ज्ञानी पुरुषः संसारे इष्टानिष्टफलदमात्मानं स्वान्तर्यामिणमविज्ञाय प्राकृतेषु गुणेषु विषज्जते तदा स गुणाभिमानी देही शुक्लादीनि सात्विकादीनि कर्माणि यथा कुरुते तथा सात्विकादिशरीरतया जायते, अवशः विष्णुवशः। स इत्यनेन कर्मणः स्वातन्त्र्यं निराह - आत्मशब्दस्य साधारणत्वेन कथं निर्णय इत्यतो भगवन्तमित्यादिविशेषणत्रयम्॥ २७, २८॥

त्रिविधानां कर्मणां फलमाह - **शुक्लानिति**। प्रकाशभूयिष्ठांस्तेजोमयान् देवादीन्, क्रियायासान् क्लेशकर्मसाध्यान् राजसान् दुःखोदर्कान्[7] दुःखप्रचुरान् मनुष्यादीन् तमश्शोकोत्कटान् तामसान्, स्वकर्मणः शोकभूयिष्ठान् तिर्यगादीन्, आप्नोतीत्यन्वयः॥ २९॥

क्वचित्क्वचिदिति बहुजन्मापेक्षया, नोभयं नपुंसकत्वमेतदेव विशिनष्टि - **देव इति**। यथाकर्मगुणं यथा यथा कर्मणां गुणानामानुगुण्यं तथा भव उत्पत्तिदेवादिविषया॥ ३०॥

**क्षुत्परीतो यथा दीनः सारमेयो गृहं गृहम्।**
**चरन् विन्दति यद्दिष्टं दण्डमोदनमेववा॥ ३१॥**

---

1. A. B. T यथाकर्म 2. A. B. T add शुक्लादि 3--3. W omits लोकान् 4--4. A. B. T कर्मकर्तृस्वरूपं तत् 5--5. W omits 6. W "मित्याह
7--7. A. B omits

**[1]तथा कामाशयो जीव उच्चावचपथा भ्रमन्।**

**उपर्यधो वा मध्ये वा याति दिष्टं प्रियाप्रियम्॥ ३२॥**

**दुःखेष्वेकतरेणापि [2]दैवभूतात्महेतुषु।**

**जीवस्य न व्यवच्छेदः स्याच्चेत्तत्तत्प्रतिक्रिया॥ ३३॥**

**यथा हि पुरुषो भारं शिरसा [3]गुरुमुद्वहन्।**

**तं स्कन्धेन [4]स आदत्ते तथा सर्वाः प्रतिक्रियाः॥ ३४॥**

**नैकान्ततः प्रतीकारः कर्मणां कर्म केवलम्।**

**द्वयं ह्यविद्योपसृतं स्वप्ने स्वप्न इवानघ॥ ३५॥**

**श्रीध०** तेषु दैववशेन सुखदुःखे प्राप्नोतीति सदृष्टान्तमाह - **क्षुदिति** द्वाभ्याम्। क्षुधा परीतो व्याप्तः, सारमेयः श्वा, दण्डं दण्डेन ताडनम्, [5]ओदनमन्नं वा॥ ३१॥

[6]**तथेति**। कामव्याप्त आशयो यस्य॥ ३२॥

ननु तर्हि सुखस्य सम्भवात् दुःखस्य च प्रतीकार सम्भवान्नैकान्ततो हेयत्वं तत्राह - **दुःखेष्विति**। दुःखस्य प्रतीकारः तावन्नास्ति। स्याच्चेत् तस्य [7]तस्य प्रतिक्रिया, तथापि त्रिविधेषु [8]दुःखेषु मध्ये एकतरेणापि दुःखेन व्यवच्छेदो वियोगो नास्ति॥ ३३॥

प्रतिक्रियाणामपि दुःखरूप[9]त्वादिति सदृष्टान्तमाह - **यथा हीति**॥ ३४॥

दुःखस्य मूलभूतानि [10]तु कर्माणि, प्रतिक्रियादिकर्मभि[11]रविरोधितया नैव निवर्तन्त इत्याह - **नेति**। नैकान्ततो [12]नियमेन अन्त्यन्तं सवासनं केवलं ज्ञानरहितमविद्ययोपसृतं प्राप्तम्, अतोऽविरोधा[13]न्न निवर्त्यनिवर्तकत्वं [14]तस्येति भावः। अत्र दृष्टान्तः। स्वप्ने दृष्टः स्वप्नः प्रबोधं विना यथा तं स्वप्नमत्यन्तं न प्रतिकरोतीत्यर्थः॥ ३५॥

**वीर०** एवंविधेषु जन्मसु सुखलाभो दुर्लभ इति सदृष्टान्तमाह - **यथेति** द्वाभ्याम्। यथा क्षुधा परिवृतः [15]व्याप्तः अत एव दीनः, सारमेयः श्वा, प्रतिगृहमटन् यद्दिष्टं यत् स्वकर्मायत्तं दण्डेन ताडनं वा ओदनं वा विन्दति प्राप्नोति॥ ३१॥

---

1. V एवं 2. W दै° 3. W मुहुरुद्व° 4. A, B, G, I, J, M, Ma, T स आधत्ते; Ms समाधत्ते 5. B, J, V, Va omits 6. V एवमिति
7. Va omits तस्य 8. V omits दुःखेषु 9. V add °स्व° 10. B, J, Va omit तु 11. B, J, V, Va omit अविरोधितया 12. B, J, V, Va omit नियमेन
13. J omits निवर्त्य 14. B, J, V, Va omit तस्य 15. A, T omit व्याप्तः

एवं जीवोऽपि कामव्याप्तः आशयो यस्य, उच्चावचपथा उत्कृष्टापकृष्टमार्गेण, उपरि ऊर्ध्वलोकेषु, अधः अधोलोकेषु नरकेषु, मध्ये इहलोकेषु भ्रमन् "ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः" (भ.गी. 14-18) इत्युक्तरीत्या भ्रमन्, दिष्टं दैवायत्तं प्रियमप्रियं वा याति प्राप्नोति॥ ३२॥

ननु तर्हि सुखस्य सम्भवात् दुःखस्य प्रतीकाररूपकर्मान्तरसम्भवान्नैकान्ततो हेयत्वं तत्राह - **दुःखेष्विति**। दैवभूतात्महेतुष्वाधिदैविकाधिभौतिकाध्यात्मिकतापरूपेण त्रिविधेषु दुःखेष्वन्यतरस्य प्रतिक्रिया स्याच्चेत्तथाप्यन्यतरेण न व्यवच्छेदः नासम्बन्धः। भगवदुपासनमन्तरेण न तापत्रयविनाशनसमर्था प्रतिक्रियाऽस्तीति भावः॥ ३३॥

प्रतिक्रियापि दुःखरूपेति दृष्टान्तमाह - **यथा हीति**। यथा पुमान् गुरुं भारं शिरसा उद्वहन् शिरसो विश्रान्तये तद्भारं स्कन्धेनाधत्ते उद्वहति तथा सर्वाः प्रतिक्रिया दुःखप्रतीकारास्तादात्विकाल्पविश्रान्तिकरास्ता अपि दुःखरूपा इत्यर्थः॥ ३४॥

किञ्च प्रतीकारोऽपि कर्मात्मक एव, दुःखहेतुरपि कर्मैव तत्रोभयोरप्यज्ञानमूलत्वेन दुःखहेतौ कर्मणि कर्मान्तरेण प्रतिकृतेऽपि न मूलं निवर्तते। ततश्च पुनरपि दुःखनिमित्तकर्मोदयान्नैकान्ततः कर्मणां प्रतीकारः सम्भवतीत्याह। केवलं ज्ञानविधुरं कर्म कर्मणां दुःखहेतूनामेकान्ततः निश्शेषतः प्रतीकारो न भवति। द्वयं निवर्त्यं निवर्तकं चेत्युभयविधं कर्म, हि यस्मात् अविद्योपसृतं देहात्मभ्रान्तिरूपाहङ्कारममकारात्मकाज्ञानेन उपसृष्टं गर्भितं तन्मूलमित्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः - स्वप्ने स्वप्न इवेति, स्वशिरश्छेदादिविषये स्वप्ने जागरणेन निवृत्तेऽप्यज्ञानस्य मूलस्यानिवृत्तेः पुनः स्वप्नो भवति तद्वत्स्वप्ननिवर्तकं स्वप्नान्तरमिवेति वा ज्ञानहीनस्य कर्मणि प्रतिकृतेऽपि नाविद्यानिवृत्तिरित्यर्थः॥ ३५॥

**विज०** तत्र दृष्टान्तमाह - **क्षुदिति**। दण्डं प्रहारं, दिष्टं दैवतः प्राप्तम्॥ ३१॥

**कामे विषये आशयो यस्य स तथा॥ ३२॥**

एवं भ्रमतः सुखं क्वापि न स्यात् किम्? तत्राह - **दुःखेष्विति**। दैवादिहेतुषु दुःखेषु मध्ये एकतरेण दुःखेनापि जीवस्य व्यवच्छेदो वियोगो नास्तीत्यन्वयः। **प्रतिक्रियया सुखं स्यादत्राह - स्याच्चेदिति**। तस्य तस्य दुःखस्य प्रतिक्रिया परिहारः, सोऽपि दुःखमेव॥ ३३॥

**स्कन्धस्य यथा भवति तथा सर्वाः प्रतिक्रियाः दुःखरूपा इत्यन्वयः॥ ३४॥**

**अग्निष्टोमादिकर्मणान्यकर्मनिवृत्तौ प्रबोधकाभावात् सर्वदुःखव्यवच्छेदो घटत इति चेत्तत्राह - नैकान्तत इति**। केवलं

श्रीनारायणार्पणबुद्धिरहितं कर्म कर्मणामेकान्ततो नियमेन प्रतीकारो न भवति, कुत इति तत्राह - द्वयमिति। निवर्त्यं निवर्तकं चेति कर्मद्वयमविद्योपसृतमीश्वराज्ञानानुविद्धं, हि यस्मात्तस्मादिति शेषः। तत्र दृष्टान्तः- स्वप्ने वर्तमानः स्वप्नो यथा तस्य निवर्तको न भवति, किन्तु अतः प्रबोधोऽस्मात् इति तत्र प्रबोधादावीश्वर एव। स्वप्नसंसृत्योः कियानेव विशेष इति॥ ३५॥

**अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।**
**मनसा लिङ्गरूपेण स्वप्ने विचरतो यथा॥ ३६॥**

**अथात्मनोऽर्थभूतस्य यतोऽनर्थपरम्परा।**
**संसृतिस्तद्व्यवच्छेदो भक्त्या परमया गुरौ[1]॥ ३७॥**

**वासुदेवे भगवति भक्तियोगः समाहितः।**
**सध्रीचीनेन वैराग्यं ज्ञानं च जनयिष्यति॥ ३८॥**

**सोऽचिरादेव[2] राजर्षे स्यादच्युतकथाश्रयः।**
**श्रृण्वतः श्रद्धधानस्य नित्यदा स्यादधीयतः॥ ३९॥**

**यत्र भागवता राजन् साधवो[3] विशदाशयाः।**
**भगवद्गुणानुकथन श्रवणव्यग्रचेतसः[4]॥ ४०॥**

**श्रीध०** ननु तर्हि अज्ञानविलसितत्वेन संसृतिहेतोर्देहादेरप्यसत्वात् किं तन्निवर्तन[5] प्रयासेन ? तत्राह - **अर्थे हीति**। लिङ्गरूपेणोपाधिभूतेन॥ ३६॥

तदेवं संसृतिप्रकारमुक्त्वा तन्निवृत्तिप्रकारमाह - **अथेति**। अथ तस्मात् पुरुषार्थभूतस्यैवात्मनो यतोऽज्ञानान्मनसो वा अनर्थपरम्परारूपा[6] संसृतिर्भवति, तस्य व्यवच्छेदो निवृत्तिः[7], गुरुरूपे वासुदेवे भक्त्यैव॥ ३७॥

ननु संसृतिनिवृत्तिः वैराग्यपूर्वकाज्ज्ञानादेव न तु भक्त्या "तरति शोकमात्मवित्" (छान्दो. उ. 7-1-5) इत्यादिश्रुतेः। तत्राह - **वासुदेव** इति। सध्रीचीनेन समीचीनेन प्रकारेण॥ ३८॥

---

1. M. Ma. Ms हरौ 2. M, Ma °दिव 3. W विमला° 4. M, Ma °णऽव्य° 5. V adds तर्हि 6. V omits रूपा 7. B, J, V. Va omit निवृत्तिः

नन्वसौ महाफलो भक्तियोगः कथं स्यादत आह - **स** इति। हे[1] राजर्षे! स तु अच्युतस्य कथामाश्रित्य वर्तमानोऽचिरात्स्यात्। कस्य स्यात्तदाह श्रृण्वतोऽधीयानस्य च॥ ३९॥

[2-]ननु सा कथा[-2] कुत्र स्यात्तदाह - **यत्रेति**। भगवतो गुणानुकथने श्रवणे च व्यग्रं सत्वरं चेतो येषां ते॥ ४०॥

**वीर०** नन्वहम्ममाभिमानरूपाज्ञानमेव कर्मद्वारा दुःखहेतुरित्युक्तं, तर्हि अज्ञानमेव प्रतिक्रियतां तत्राह - **अर्थ** इति। अर्थे आत्मन्यविद्यमानेऽपि देवत्वमनुष्यत्वाद्याकाराभावेऽपि देहात्मभ्रान्तिमूला दुःखरूपा संसृतिर्न निवर्तते कुत इत्यत्राह - मनसेति। लिङ्गरूपेण जन्तुः देहात्माभिमानहेतुभूतमनस्सद्भावादित्यर्थः, मनसो भ्रान्तिजनद्वारा दुःखादिहेतुत्वे दृष्टान्तमाह - स्वप्न इति। यथा स्वप्ने विचरतः सङ्कल्प[3]विकल्पादिकं कुर्वतो मनसो हेतोर्देशान्तरगमनराज्याभिषेकस्वशिरश्छेदादिनिमित्तसुखदुःखादिकं भवति तथेत्यर्थः॥ ३६॥

अतः पुरुषार्थभूतस्यात्मनो देहात्मभ्रान्त्यहङ्कारममकारतन्मूलोच्चावचकर्मद्वारानर्थरूपसंसारहेतुत्वान्मनसस्तदेव वशीकर्तव्यं, वशीकरणोपायश्च भगवद्भक्तिरेवेत्याह - **अथेति**। अथातः पुरुषार्थभूतस्यात्मनः अनर्थपरम्परादुःखपरम्परारूपा संसृतिर्यतो मनसो भवति तद्व्यवच्छेदः तस्य मनसो व्यवच्छेदः, दुःखनिमित्तदेहात्मभ्रान्त्याद्यजनकत्वरूपो व्यवच्छेदः मुक्तिरिति यावत् गुरौ भगवति परमया भक्त्या भवति[4]॥ ३७॥

कथं तद्व्यवच्छेदहेतुसम्बन्धः तत्राह - **वासुदेव** इति। सध्रीचीनेन समीचीनेन प्रकारेण वासुदेवे भगवति समाहितो निहितः कृत इति यावत् भक्तियोगः परभक्तियोगः, वैराग्यं विषयेष्वनासक्तिं, ज्ञानं परज्ञानं च जनयिष्यति परभक्त्यादिप्रणाड्या सुखदुःखादिनिवर्तकः परमभक्तियोग उदेष्यतीत्यर्थः॥ ३८॥

परभक्तियोगोऽपि कुतः स्यात्तत्राह - **स** इति। अच्युतकथाश्रयः अच्युतस्यैव कथाश्रयो यस्य सः, परभक्तियोगः अचिरादेव स्यात्। हे राजर्षे! भगवत्कथाश्रवणात्परभक्तियोग उदेष्यतीत्यर्थः। अच्युतकथाश्रयः परभक्तियोगः कथम्भूतस्य स्यात्तत्राह - नित्यदा अच्युतकथाः श्रृण्वतः श्रद्धधानस्य कथाश्रवणविषयनिष्ठायुक्तस्य नित्यमधीयतः कथा अधीयानस्य॥ ३९॥

कुत्र श्रृण्वतस्तत्राह - **यत्रेति**। हे राजन्! साधवः विमलान्तःकरणाः भगवतो गुणानुकथने श्रवणे च व्यग्रं सत्वरं चेतो येषां ते यत्र वसन्ति तत्रेत्यर्थः॥ ४०॥

---

1. A. B. J. Vv omit हे राजर्षे! 2--2. A, B, J, Va omit 3. A, B, T omit विकल्प 4. A, B, T add परमभक्तियोगोऽपि न निर्निमित्तमुदेति।

**विज०** स्वप्नवद्धरेः संसारो निवर्ततामिति तत्राह - **अर्थे** इति। हरेरपरोक्षज्ञानलक्षणपदार्थे अविद्यमाने संसृतिर्न निवर्तते, कथमिव? लीलानां वासनानां गमकेनोद्बोधकेन मनसा स्वप्ने विचरतो विषयान् भुञ्जानस्य पुंसः संसारो यथा न निवर्तते निद्राया अनिवृत्तत्वात् तथात्र । ननु स्वप्नसंसारयोः कथं साम्यम्? स्वप्नदृष्टानां तत्क्षणं नष्टत्वात् संसारदृष्टानां किञ्चित्स्थायित्वदर्शनादित्यस्यापीदमेवोत्तरमित्यभिप्रायेणोक्त**मर्थे** इति । अयं भावः- यथार्थज्ञानाभावादुभयोः साम्यं, न तु स्थायित्वास्थायित्वात्, न हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सर्वसाम्यं क्वापि दृष्टं ''संसृतेः स्वप्नसाम्यं तु यथार्थज्ञानवर्जनम्'' (शब्दनिर्णये) इति वचनात् ''जाग्रत्यविद्यमानं तु देहात्मत्वं तु केवलम्। अविद्यमानं स्वप्ने तु जाग्रत्वज्ञानमेव च'' (षाङ्गुण्ये) इति वचनात् उभयत्र यथार्थ ज्ञानाभावोऽपि ज्ञायते। संसारे लब्धजन्मा यदि भगवज्ज्ञानं नापादयेत्तर्ह्ययं संसारो निष्प्रयोजनः स्यादित्यतो ह्यर्थे ह्यविद्यमानेपीति। न तु मिथ्यात्वादिममर्थं हीतिशब्देन सूचयति॥ ३६॥

एवं विधज्ञानोत्पत्तौ किं मुख्यसाधनमत्राह - **अथेति**। यस्मात् केवलकर्मणो दुःखहेतुः संसारः, सति भगवज्ज्ञाने च निवर्तते, अथ तस्मात्संसार निवृत्त्यर्थेऽर्थभूतस्य पुरुषार्थयोग्यस्यात्मनो जीवस्य यतो यस्य हरेः अज्ञानादनर्थपरम्परा श्वयोनेः कृकलासयोनिरित्यादिलक्षणा संसृतिर्या, तद्व्यवच्छेदस्तस्य संसारस्य निवृत्तिर्यया हरिभक्त्या स्यादिति यतस्तस्मात्तस्य हरेः ज्ञानजननीं भक्तिमेव कुर्यादित्यन्वयः॥ ३७॥

ज्ञानद्वारा भक्तेः संसारोच्छेदकत्वमिति भावेनाह - **वासुदेव** इति। सध्रीचीनेन प्राणायामादिवह्निना निर्दग्धमलेनान्तः करणेन समाहितः सम्यक् स्थापितः सध्रीचीनेन निष्कामेण पुरुषेणेति वा। यद्यपि भक्तेः पूर्वभाविवैराग्यं तथापि पश्चात् दृढं कृतवतीत्यतो वैराग्यं जनयिष्यतीति ज्ञानं द्विविधम्॥ ३८॥

भक्तियोगस्य साधनमाह - **सोऽचिरादि**ति। अच्युतकथा आश्रयो यस्यं स तथा, अनेन हरिकथा भक्तियोगस्य साधनम्। अच्युतकथाधिकार प्रकारमाह - श्रृण्वत इति। श्रद्धादिगुणसम्पत्तिरधिकार लक्षणम्॥ ३९॥

कुत्रेयं सम्भूयत इति तत्राह - **यत्रेति**। अव्यग्रचेतसस्तदेकचित्ताः॥ ४०॥

**तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्रपीयूषशेष[1]सरितः परितः स्रवन्ति।**
**ता ये पिबन्त्यवितृषो[2] नृप गाढकर्णैः तान्न स्पृशन्त्यशन तृड्भयशोकमोहाः॥ ४१॥**

---

1. M, Ma °तदोय° 2. M, Ma, Ms °नुसवं°

**एतैरुपद्रुतो नित्यं जीवलोकः स्वभावजैः ।**
**न करोति हरेर्नूनं कथामृतनिधौ रतिम् ॥ ४२ ॥**

**प्रजापतिपतिस्साक्षाद्भगवान् गिरिशो मनुः ।**
**दक्षादयः प्रजाध्यक्षा नैष्ठिकाः सनकादयः ॥ ४३ ॥**

**मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।**
**भृगुर्वसिष्ठ इत्येते मदन्ता ब्रह्मवादिनः ॥ ४४ ॥**

**अद्यापि वाचस्पतयः तपोविद्यासमाधिभिः ।**
**पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति पश्यन्तं[1] परमेश्वरम्[2] ॥ ४५ ॥**

**श्रीध०** [3]ननु साधुसङ्गं विना स्वयमेव हरिकथाचिन्तनादिना भक्तिर्भवेदेवेत्याशङ्क्याह - **तस्मिन्निति** द्वाभ्याम् । तस्मिन् स्थाने महद्भिः मुखरिताः कीर्तिताः मधुभिदश्चरित्रमेव पीयूषं तदेव शिष्यत इति शेषो यासु, असारांशरहितशुद्धामृतवाहिन्य इत्यर्थः । अविदृषोऽलम्बुद्धिशून्यास्सन्तः, गाढैः सावधानैः कर्णैः ये ताः सरितः पिबन्ति सेवन्ते , अशनशब्देन क्षुल्लक्ष्यते । अशनादयस्तान् न स्पृशन्ति भक्तिरसिकान्न बाधन्त इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

सत्सङ्गमन्तरेण स्वयमेव कथाचिन्तनादावालस्यादिना रसावेशाभावाच्च क्षुत्पिपासाद्यभिभूतस्य भक्तिर्न सम्भवतीत्याह एतैरिति । [4-]स्वभावजैः अप्रमाणकैः, देहप्रयुक्तैर्वा यैस्तैरशनादिभिः नित्यमुपद्रुतोऽयं जीवलोकः । अमृतं निधीयतेऽस्मिन्निति अमृतनिधिः श्रीहरेः कथैव अमृतनिधिः तस्मिन् रतिं न करोति, नूनं निश्चितम्[-4] ॥ ४२ ॥

भगवदनुग्रहमन्तरेण तु न कस्यापि ज्ञानसम्भव इति कैमुत्यन्यायेनाह - **प्रजापतिपतिरिति** चतुर्भिः । प्रजापतिपतिः ब्रह्मा ॥ ४३ ॥

**मरीचिरिति** । मदन्ताः अहं नारदोऽन्ते येषां ते ॥ ४४ ॥

**अद्येति** । वाचां पतयोऽपि तपोविद्यासमाधिभिरुपायैः पश्यन्तो विचिन्वन्तोऽपि पश्यन्तं सर्वसाक्षिणं न पश्यन्ति ॥ ४५ ॥

**वीर०** तत्र कथं श्रवणं लभ्यते [5-]श्रृण्वतां च कानि दुःखानि नश्यन्ति[-5] तत्राह - **तस्मिन्निति** । तस्मिन् देशे सद्भिर्मुखरिताः मधुभिदो[6] भगवतः चरित्रमेव पीयूषं तदेव शेषः शिष्यत इति शेषः । असारां शरहितः सारांशो यासु ताः । सरितो नदीरूपा अच्युतकथाः

---

1. M. Ma. Ms तद्विष्णोः परमं पदम् 2. W °न्तः 3. Va omits 4--4. A, B, J, Va omit 5--5. W omits 6. W omits भगवतः

परितः स्रवन्ति प्रवर्तन्ते भागवतप्रचुरे देशे सुलभमेव भगवत्कथाश्रवणमिति भावः। ताः सरिद्रूपाः भगवत्कथा ये जनाश्च अवितृषः अलम्बुद्धिशून्यास्सन्तो गाढैः सावधानैः कर्णैः पिबन्ति श्रृण्वन्ति तानशनादयः न स्पृशन्ति न बाधन्ते ॥ ४१ ॥

भगवत्कथाश्रवणविरोधिनः अशनादय एवेत्याह - **एतैरिति**। स्वभावजैः देहस्वभावप्रयुक्तैरेतैरशनादिभिः नित्यमुपद्रुतो जीवलोकः हरेः कथामृतसमुद्रे रतिं न करोति, नूनं निश्चयः। भगवत्कथाश्रवणाभिमुख्यविरोधिनोऽशनादीन् शनैः सात्विकदेशस्थभागवतसङ्गतिलब्धभगवद्गुणश्रवणेन निरस्येदित्यर्थः ॥ ४२ ॥

एवं प्रथमं भागवतसङ्गः, ततो भगवद्गुणानुश्रवणं, ततो भगवदुपासनं, ततो विरागः, ततो भगवत्साक्षात्काररूपं परज्ञानं, ततो भगवदनुभवजन्यप्रीत्युत्कर्षरूपा परभक्तिः, ततो मुक्तिरिति प्रणाडी कथिता। इदानीं प्राप्यस्य परमात्मनो वाङ्मनसापरिच्छेद्यस्वरूपस्वभावस्य प्राप्त्युपयुक्तभक्तियोगानुष्ठानकारणं तदनुग्रहमन्तरेण नान्योऽस्तीत्याह - **प्रजापतिपतिरित्यादिना**। प्रजापतिपतिः चतुर्मुखः, गिरिशो रुद्रः, मनुः स्वायम्भुवः, प्रजाध्यक्षा दक्षादयः, आदिशब्देन कश्यपादयो ग्राह्याः, तथा नैष्ठिकब्रह्मचारिणः सनकादयः ॥ ४३ ॥

मरीच्यादयो मत्पर्यन्ताः नारदपर्यन्ताः सर्वे ब्रह्मवादिनः ॥ ४४ ॥

तथा च वाचस्पतयः बृहस्पतिव्यासादयोऽद्यापि तपोविद्याद्युपायैः पश्यन्तोऽपि उपासीना अपि सर्वज्ञं परमेश्वरं न पश्यन्ति[1-1] इयत्तया न पश्यन्ति वाङ्मनसाऽपरिच्छेद्यस्वरूपस्वभावत्वादिति भावः ॥ ४५ ॥

**विज०** तस्मिन् सतां समाजे, महद्भिः मुखरिताः शब्दात्मना निर्गमिता यास्ता सरितः, तान् पुरुषान् ॥ ४१ ॥

अशनादिस्पर्शफलमाह - **एतैरिति**। एतैरशनादिभिः स्वभावजैः सहजैः हरिकथामृतनिधिरति विघ्नफलैः ॥ ४२ ॥

अधुना अशनाद्युपद्रवविधुरेणापि साकल्येन श्रीहरिज्ञानं दुर्लभमित्याह - **प्रजापतिपतिरित्यादिना**। "प्रजापतिपतिर्ब्रह्मा विरिञ्चश्चेति कथ्यते" (शब्दनिर्णये) इति वचनात्। प्रजापतिपतिः ब्रह्मा ॥ ४३ ॥

अहमेवान्तो येषां ते मदन्ताः ॥ ४४ ॥

ब्रह्मवादित्वेऽपि वाक्पटुत्वाभावान्न पश्यन्तीत्यतो वाचस्पतय इति। "यत्पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति तद्विष्णोः परमं पदम्" इत्यन्वयः ॥ ४५ ॥

---

1--1. A, B, T omit

शब्दब्रह्मणि दुष्पारे चरन्त उरुविस्तरे।
मन्त्रलिङ्गैर्व्यवच्छिन्नं भजन्तो न विदुः परम्॥ ४६॥

*सर्वेषामपि जन्तूनां सततं देहपोषणे।
अस्ति प्रज्ञा समायत्ता को विशेषस्तया नृणाम्॥

लब्ध्वेहान्ते मनुष्यत्वं हित्वा देहाद्यसद्ग्रहम्।
आत्मसृत्या विहायेदं जीवात्मा स विशिष्यते॥

यदा [1]यस्याऽनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥ ४७॥

तस्मात्कर्मसु बर्हिष्मन्नज्ञानादर्थकाशिषु।
माऽर्थदृष्टिं कृथाः श्रोत्रस्पर्शिष्वस्पृष्टवस्तुषु॥ ४८॥

[2]स्वं लोकं न विदुस्ते वै यत्र देवो जनार्दनः।
आहुर्धूम्रधियो [3]वेदं सकर्मकमतद्विदः॥ ४९॥

आस्तीर्य दर्भैः प्रागग्रैः कार्त्स्न्येन क्षितिमण्डलम्।
[4]स्तब्धो बृहद्वधान्मानी कर्म नावैषि यत्परम्॥ ५०॥

श्रीध० कुत इत्यत आह - **शब्दब्रह्मणीति**। शब्दब्रह्मणि वेदे उरु [5]महान् विस्तरो यस्य अर्थतोऽपि पारशून्ये तस्मिन् वर्तमानाः मन्त्राणां लिङ्गैर्वज्रहस्तत्वादिगुणयुक्त विविधदेवताभिधानसामर्थ्यैः परिच्छिन्नमेवेन्द्रादिदे[6]वतारूपं तत्तत्कर्माभिमानात् तत्तद्रूपेण[7] भजन्तः परं [8]परमेश्वरं न विदुः॥ ४६॥

तर्ह्यन्यः को नाम कर्माद्याग्रहं हित्वा परमेश्वरमेव भजे[9]दित्यत आह - **यदेति**। यदा यमनुगृह्णाति। अनुग्रहे हेतुः। आत्मनि भावितस्सन् स तदा लोके लोकव्यवहारे, वेदे च [10]वैदिकमार्गे परिनिष्ठितां मतिं त्यजति॥ ४७॥

* These two extra verses are found in M, Ma & Ms and the commentary of Vijayadwaja on the same verses are found in M, Ma & Ms Editions. 1. A, B, G, I, J, V यमनु 2. M, Ma, Ms स्व 3. Ms °म° 4. M, Ma ततो 5. B, J, V, Va omit महान् 6. A, B, J, Va omit देवता 7. A, B, J, Va °त्कर्माग्रहेण भजन्तः 8. V ईश्वरं 9. V °दत 10. A, B, J, Va कर्म°

**तस्मादिति**। अर्थकाशिषु परमार्थत्वेन प्रकाशमानेषु, अज्ञानाद्विवेकाभावात्[1-1] पुरुषार्थबुद्धिं मा कृथाः न[2] कुरु। प्ररोचनाय केवलं श्रोत्रप्रियेषु तत्त्वतस्तु[3] न स्पृष्टं परमार्थभूतं[4] वस्तु यैः तेषु॥ ४८॥

ननु वेदेन स्वर्गादिसाधनत्वेनोक्तानि कर्माणीति वेदवादिनो वदन्ति, कथमस्पृष्टवस्तुष्वित्युच्यते तत्राह - **स्वमिति**। हे धूम्रधियः! मलिनबुद्धयः! सकर्मकं कर्मपरं, वेदमाहुः ते अतद्विदोऽवेदज्ञाः, यतस्ते स्वं स्वरूपभूतं लोकमात्मतत्त्वं वेदतात्पर्यगोचरं न विदुः। यत्र देवोऽस्ति॥ ४९॥

त्वं तु महामूर्ख इत्याह - **आस्तीर्येति**। बृहद्वधाद्बहुपशुवधात् मानी महायज्वाऽहमित्यहङ्कारी[5], अतः स्तब्धोऽविनीतस्सन् कर्म नावैषि परम् आत्मतत्त्वज्ञानोपायभूतं[6-6] विद्यास्वरूपं[7] यत् तत्त्व न वेत्सि॥ ५०॥

**वीर०** एत एव न जानन्ति किमु कर्मजडाः त्वादृशा न जानन्तीत्याह - **शब्दब्रह्माणीति**। उरु विस्तरे "अनन्ता वै वेदाः" इति श्रुतिविस्तरे दुष्पारे दुरधिगमतात्पर्ये शब्दब्रह्माणि शब्दात्मकेब्रह्माणि वेदे चरन्तः तत्र श्रुतपशुपुत्रवृष्ट्यन्नस्वर्गाद्यैहिकामुष्मिकफललिप्सवः मन्त्रलिङ्गैः मन्त्रश्रुतवज्रहस्तत्वादिगुणलिङ्गैः व्यवच्छिन्नं युक्तमिन्द्राद्यधिदेवतावर्गं[8] भजन्तः समीहितसाधनतया यजन्तः, परं परमात्मानं न विदुः अपरिच्छेद्यस्वरूपस्वभावस्येयत्तया वेद्यत्वमसम्भवि। अपरिच्छिन्नत्वेन ज्ञानेऽपि तदुपासनमेव कारणं न केवलं कर्मेति भावः॥ ४६॥

यदा भगवानात्मभावित आत्मना स्वेनैव भावितः यदीयाऽऽनुषङ्गिक प्रासङ्गिकयादृच्छिकाद्यन्यतमाज्ञातसुकृतव्याजमात्रसन्तुष्टेन स्वेनैव भावितः रक्षणोन्मुखः यमनुगृह्णाति स पुमां ल्लोके देहयापनोपयुक्ते कर्मणि शिश्नोदरादिव्यापारे वेदे च वेदपूर्वभागमात्रोदिते च कर्मणि परिनिष्ठितां मतिं जहाति भगवतानुगृहीत एव मुक्त्युपायोपसंहाराय प्रभवतीत्यर्थः॥ ४७॥

तस्माद्भगवदनुग्रहस्यैव कारणत्वात् हे बर्हिष्मन्! भगवदनुग्रहानुप्राप्तसत्सङ्गः त्वमर्थकाशिषु स्वर्गादिफलशोभिषु कर्मस्वज्ञानादर्थदृष्टिं पुरुषार्थसाधनमतिं मा कृथाः। तत्र हेतुः- श्रोत्रस्पर्शिषु प्ररोचनया केवलं श्रोत्रप्रियेषु न स्पृष्टं वस्तु निरतिशयपुरुषार्थरूपं यैस्तेषु, अनित्याल्पफलेषु बह्वायासेष्वित्यर्थः॥ ४८॥

ननु " अपाम सोमममृता अभूम अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतम् " (ऋक्.सं 6-4-11) इत्यादिभिः कर्मसाध्यफलस्यापि नित्यत्वावगमात् कथमस्पृष्टवस्तुष्वित्युक्तं तत्राह - ये धूम्रधियः रजस्तमः प्रचुरबुद्धयः धूमवदावरकत्वात्

---

1--1. B, J, V, Va omit 2. B, J, V, Va omit न करु। 3. A, B, J, Va omit तत्त्वतस्तु 4. A, B, J, Va omit परमार्थभूतं 5. B, J, Va omit महा 6--6. A, B , J, Va omit 7. A, B, J, Va omit यत् 8. W omits युक्तम्

तमसो धूम्रधिय इत्युक्तम्। यत्र पूर्वोत्तरभागात्मके वेदे जनार्दनो भगवान् कर्मभिराराध्यत्वेनोपास्यत्वेन च प्रतिपन्नः तं वेदं सकर्मकं कर्मणा सहितं केवलकर्मतात्पर्यकमाहुस्ते अतद्विदः वेदतात्पर्यानभिज्ञाः न ब्रह्मवेदिन इत्यर्थः, यतस्ते स्वरूपभूतं लोकमात्मतत्त्वमपि न विदुः, केवलदेहात्मवेदिनः "अक्षय्यं ह वै" (ऋक्.सं. 6-4-11) इत्यादिवाक्यानि भगवदाराधनत्वेन कृतार्थानि। चातुर्मास्यादिकर्माणि भगवदुपासननिर्वर्तनद्वारा निश्श्रेयसरूपामृतत्वप्राप्तिप्रतिपादनपराणीत्येवं विधतात्पर्यमजानन्तः तानि वाक्यानि केवल स्वर्गादिसुखसाधनभूतकर्मपराणीति मन्वानाः केवलमज्ञा इत्यर्थः॥ ४९॥

तस्मात् त्वमपि केवलकर्मजडो भूत्वा प्रागग्नैर्दर्भैः कृत्स्नं क्षितिमण्डलमास्तीर्य आस्तरणपूर्वकमिष्ट्वा बृहद्वधात् बहु पशुहिंसया मानी महायज्वाहमित्यभिमानी अतः स्तब्धोऽविनीतः, कर्म भगवदाराधनरूपं कर्म नावैषि न जानासि, किं तत्कर्म? यत्परं श्रेष्ठं परमपुरुषार्थभूतमोक्षसाधनभूतं निवृत्तिधर्मापरपर्यायम्॥ ५०॥

**विज.** तत्साधनमानबाहुल्याभावात् तद्विषयज्ञानानुदयान्न पश्यन्ति चेदत्राह - शब्देति। निर्दोषः शब्दः आगम इति निर्दोषशब्दराशौ दुष्पारेऽनन्ते कुत इत्यत उक्तम् -

उरु विस्तर इति। चरन्तो जिज्ञासया वर्तमाना अपि मन्त्रलिङ्गैर्वेदोक्तलक्षणैर्व्यवच्छिन्नमुक्तमात्रं न तु सम्यगुक्तमेवंविधं परं परमात्मानं भजन्त उपासमाना अपि तन्न विदुरित्यन्वयः। "बिभ्रद्रायिं हिरण्मयं वरुणो वस्तनिर्णिजम्" (ऋक् .सं. 1-25-13) इत्यादिवेदो वदन्नपि अनुभवानारोहयितृत्वेन वक्ति। अतोऽप्रसिद्धस्वरूपत्वेन सम्यक् न जानन्ति, तस्य सेवापि न व्यर्था तत्प्रसादेनानुभवारोहोऽपि क्रमेण स्यादिति। तदुक्तम् - "वेदो वदन्नपि हरिं न सम्यग्वक्ति कुत्रचित्। नारोहयत्यनुभवमप्रसिद्धस्वरूपतः॥ तथा प्यनुभवारोहः प्रसन्ने केशवे भवेत्।" (वाराहे) किञ्चिदेव सम्यक् स्वयं चानुभवत्यमुमिति। यद्वा मन्त्राख्यैर्लिङ्गैः हेतुभिर्व्यवच्छिन्नं क्रोडीकृतं कृष्णरामादिलक्षणं परमं भजन्तोऽपि तत्प्रसादमन्तरेण परं व्याप्तं साकल्येन न विदुरिति शबलं भजन्तः परं शुद्धं न विदुरित्यर्थोऽनुपपन्नः, परमार्थभेदाभावेनैकस्मिन् ज्ञातेऽन्यज्ञानस्य नान्तरीयत्वात् "येनाश्रुतं श्रुतं भवति" (छान्दो. उ. 6-1-3) इति श्रुतेश्च। यथा रामस्मरणेन कृष्णस्वरूपज्ञानं जाम्बवतस्तयोरेकत्वादित्याहुः॥ ४६॥

नन्विदानीं मायया ऽऽक्षिप्तमपि चेतनसमवेतं ज्ञानमदृष्टवशात् कस्मिं श्चित्कालेऽनुसन्धानलक्षणं किञ्चिद्विशेषमापादयेत् अतोऽनुसन्धानाननुसन्धाने युक्ते इति तत्राह - सर्वेषामिति। इह कर्मभुवि सर्वेषां जन्तूनां सन्ततं देहपोषणे प्रज्ञाबुद्धिः समायत्ता सन्ततास्ति नृणां तया प्रज्ञया को विशेषः स्वरूपानुसन्धानलक्षणः समापन्नो न कोऽपीत्यन्वयः। त्वत्पक्षे त्वदृष्टादीनां मिथ्यात्वेनार्थक्रियायामसामर्थ्यादेव न कस्यचिदैक्येन सन्धानमवश्यम्भावीति॥ *॥

जीवन्मुक्त्यवस्थायामपि जीवात्मत्वाहानेहरि र्भेदः सत्य इति भावेन स्वरूपत्वसिद्धये साधनमाह - लब्ध्वेति । इह बहुजन्मनामन्ते भगवदुद्बोधितपूर्वाऽदृष्टविशेषान्मनुष्यत्वं लब्ध्वा ममाहमिति देहाद्यसङ्गहं संसारे देही हित्वाऽऽत्मसृत्याऽऽत्मज्ञानेनेदं कलेबरं विहाय यः संसारी जीवात्मा विशिष्यते न तु ब्रह्मेत्यन्वयः ॥ ** ॥

हरिप्रसादं विना तज्ज्ञानं न स्यात्तस्मिन् सत्युत्पद्यमानस्य ज्ञानस्य फलमाह - यदेति। ''आत्मेति तूपगच्छति ग्राहयन्ति च'' (ब्रह्मसूत्रं 4-1-3) इति सूत्रोक्तप्रकारेणात्मभावितः मम स्वामी हरिर्नित्यमिति भावेनोपसितो भगवान्[1-] यस्य[-1] उपासकस्यानुगृह्णात्यात्मानं प्रकाश्यानुभवमुत्पादयति स पुमांल्लोके वेदे च परिनिष्ठितां मतिं जहाति, बाह्यपदार्थविषयां संविदमपहाय परमात्मानमेव सर्वेन्द्रियैरनुभवन् आस्त इत्यन्वयः। अनेनोपासकस्य मुक्तिकल्पने कथां ध्वनयति। तदुक्तम् - ''यदा त्वनुभवी भूयाच्छब्दमात्रानुरोधनम्। त्यक्त्वाऽथ तं विदुः प्राज्ञा स्त्यक्तवेद इति स्म ह ॥ यदैवं त्यक्तवेदः स्यादथास्मान्मुच्यते भयात् ॥ '' (महासंहितायाम् ) इति । निर्दोषशब्दलक्षणवेदप्रहाणे बौद्धराद्धान्तानुप्रवेशः स्यादित्यत उक्तम् - ''प्रायस्तु वैदिका एव रुद्राद्या अपि वै पुरा '' (महासंहितायाम्) इति आदिशब्देन मुक्तियोग्यमात्रं गृहीतं, पुरेत्यनेन जन्मप्रभृतिवैदिकत्वमस्तीति ज्ञापयति, प्राय इत्यनेन त्यक्तवेदत्वं पश्चादिति तदप्येतत् द्वयं कस्य मुख्यमित्यत उक्तम् - ''वैदिकस्त्यक्तवेदश्च ब्रह्मैवैकः प्रजापतिः'' (महासंहितायाम् ) इति रुद्रादीनां कथङ्कारं पश्चादपि त्यक्तवेदत्वं प्राप्तमित्यत उक्तं - ''ततस्तु केशवं भक्त्या संपूज्य बहुजन्मसु। त्यक्तवेदत्वमापन्नाः प्रसादात्परमेष्ठिनः'' (महासंहितायाम्) इति, ''केवलं वेदशब्देन जानन् वैदिक उच्यते,'' (अध्यात्मे) ''वेदं विनाप्यनुभवा ज्जानंस्तुत्यक्तवैदिकः'' (अध्यऽत्मे ) इत्यनेन मिथो विरुद्धयोर्वैदिकत्यक्तवेदशब्दयोरेकाधिकरणत्वं कथं युज्यते इतीदं चोद्यमपनोदितम्, ''तत्त्वं वेदानुसारेण चिन्तयन् वैदिको भवेत्। वेद ऊहामनुसरेद्यस्य स त्यक्तवैदिकः'' (षाङ्गुण्ये) इत्यनेन वेदशब्देन ज्ञातृत्वं तमन्तरे णानुभवितृत्वं च कथं विविच्यत इति चोद्यं परिहृतम्। त्यक्तवैदिकः त्यक्तवेदराशिरित्यर्थः ॥ ४७ ॥

उपसंहरति - **तस्मादिति**। यस्माज्ज्ञानेनैव मोक्षः तस्मादज्ञानाद्भगवत्तत्त्वापरिज्ञानादर्थकाशिषु प्रयोजनत्वेन प्रकाशमानेषु अग्निष्टोमादिलक्षणेषु कर्मस्वर्थदृष्टिं मा कृथाः न कुरु इत्यन्वयः। तत्प्रवृत्तौ निमित्तमाह - श्रोत्रस्पर्शिष्विति। अपाम सोममिति श्रवणे श्रोत्रसुखं स्पृशन्तीति श्रोत्रस्पर्शीनि, तेषु हेयत्वे कारणं वक्ति अस्पृष्टवस्तुष्विति। परमात्माख्यवस्तुसम्बन्धगन्धरहितेषु ॥ ४८ ॥

अज्ञानादित्युक्तं विवृणोति - **स्वं लोकमिति**। ये कर्मनिष्ठास्ते यत्र लोके जनार्दनो देवोऽस्ति तं स्वलोकं स्वेन प्राप्यं वैकुण्ठादिस्थानं न विदुरित्यन्वयः। अनेन वैकुण्ठादिस्थानमीदृशमिति न जानन्ति, किमुत हरिमित्यर्थात् ध्वनितमिति ज्ञायते।

1--1. A, B, omit

अन्यथा विदुश्चेत्याह - आहुरिति। धूम्रे धूमरते धूममार्गे धीर्येषां ते धूम्रधियः। तत्र निमित्तमाह - अतद्विद इति। तस्य वेदस्य तत्त्वं ब्रह्मलक्षणं न विदन्तीति, कर्मणा सह वर्तत इति सकर्मकस्तम्॥ ४९॥

कर्म विनान्यत्र वक्तीति सकर्मकत्वमित्ययमविवेक इत्याह - **आस्तीर्येति**। बृहतां बहूनां वधात् संज्ञपनलक्षणात् यष्टाहमिति मानी त्वं कर्म नावैषि प्राचीनाग्रदर्भास्तरणं कृत्वा पशुसंज्ञपनमेव जानासि, न तु कर्मस्वरूपमित्यर्थः। ''कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्'' (भ.गी.4-15) इत्यादिना विधीयमानं यत्परं कर्म तन्न जानासीत्युच्यते, न तु कर्ममात्रम्॥ ५०॥

**तत्कर्म हरितोषं यत्सा विद्या तन्मतिर्यया।**
**हरिर्देहभृतामात्मा स्वयं प्रकृतिरीश्वरः॥ ५१॥**

**तत्पादमूलं शरणं यतः क्षेमो नृणामिह।**
**स[1] वै प्रियतमश्चात्मा[2] यतो न भयमण्वपि॥ ५२॥**

**इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स[3] गुरुर्हरिः।**
**[4-]नारद उवाच[-4]**

**प्रश्न एवं हि संछिन्नो भवतः पुरुषर्षभ॥ ५३॥**
**अत्र मे वदतो गुह्यं निशामय सुनिश्चितम्॥ ५४॥**

**क्षुद्रज्वरं सुमनसां शरणे मिथित्वा[5] रक्तं षडङ्घ्रिगणसामसु लुब्धकर्णम्।**
**अग्रे वृकानसुतृपोऽविगणय्य[6] यान्तं पृष्ठे मृगं मृगय[7] लुब्धकबाणभिन्नम्॥ ५५॥**

**श्रीध०** नारदः स्वयं कृपया तदुभयं[8] निरूपयति - **तदिति**। हरिं तोषयतीति हरितोषं, यत्तदेव कर्म। यया तस्मिन् हरौ मतिर्भवति, सैव विद्या महाफलत्वात्। कुत इत्यपेक्षायां हरेः परमफलत्वं दर्शयन्नाह - हरिरिति द्वाभ्याम्। हरिः देहभृतामात्मा ईश्वरश्च। तत्र हेतुः। स्वयं स्वातन्त्र्येण प्रकृतिः कारणम्॥ ५१॥

अतः तेषां[9] तत्पादमूलमेव शरणमाश्रयः। यतो यस्मिन्। न च तद्भजनेऽन्यभजन इव दुःखं भयं चेत्याह - **स** इति। [10-]अस्य पुंसः[-10] सोऽयं श्रीहरिः प्रियतमः। स वै आत्मत्वात् राजादिस्तु द्रव्याद्युपाधिना प्रियः, यतः श्रीहरिचरणशरणस्य अण्वपि न भयम्। अतः तत्पादमूलं शरणमित्यनेन सम्बध्यते॥ ५१॥

---

1. T सोऽयं 2. M, Ma, Ms प्रियतमो ह्यस्य; V प्रियतमश्चास्य; W प्रेष्ठतमश्चात्मा 3. M, Ma, Ms स्व 4--4. Ma, Ms omit 5. Ms म°
6. M, Ma °ह्रदो° 7. M, Ma °यु 8. A, B, J, Va तद्द्वयं 9. V omits तेषां 10--10. A, B, J, Va omit

[1-]इदानीमेवंविधं स्तौति[-1] - **इतीति**। इति यो वेद स एव विद्वान् स गुरुः स एव हरिश्च। उक्तमुपसंहरति - प्रश्न इति। एवं भवतः प्रश्नः संछिन्नः परिहृतः ॥ ५३ ॥

तदेवमात्मनो बन्धमोक्षप्रकारे कथारूपेण कथितेऽपि नातिनिर्विण्णचित्तं पुत्रागमनं प्रतीक्षमाणं सन्तं तत्क्षणमेव महाभयकम्पितसकलगात्रं गृहान्निर्वासयितुं हरिणरूपकमाह - **अत्रेति**। वदतो मे वचः श्रृणु ॥ ५४ ॥

**क्षुद्रमिति**। क्षुद्रमल्पं चरतीति तथा तम्। अलुक्। सुमनसां पुष्पाणां शरणे आश्रमे वाटिकायां मिथित्वा मिथः परस्परं स्त्रिया सह मिलित्वा तत्रैव रक्तमासक्तं षडङ्घ्रयो भ्रमरास्तेषां गणास्तेषां सामसु गीतेषु [2-]लुब्धौ कर्णौ[-2] यस्य तम्। परेषामसुभिर्हृतैः स्वीयानसूंस्तर्पयन्तीत्यसुतृपः तानविगणय्य अगणयित्वा लुब्धकस्य बाणेन भिन्नं मृगं मृगय अन्वेषय ॥ ५५ ॥

**वीर०** अमुक्तिसाधनं कर्म विद्यां च निन्दति - **तदिति**। हरितोषं भगवत्तोषकारणं यत्तदेव कर्म प्रशस्तमितरत् निन्दितं यया विद्यया ज्ञानेन तन्मतिः हरिभक्तिः भवति सैव विद्या प्रशस्ता इतरा निन्दितेत्यर्थः। तथा चोक्तम् ''तत्कर्म यन्नबन्धाय सा विद्या या विमुक्तये। आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम्'' (विष्णु.पु. 1-19-41) इति। काऽसौ विद्या यया हरिमतिरिति विवित्सायां तत्त्वहितपुरुषार्थज्ञानमेवेत्याह - हरिरिति। भगवान्निरस्तनिखिलदोषः समस्तकल्याणगुणाकरः ईश्वरः स्वयं प्रकृतिर्जगदुपादानकारणं देहभृतामात्मान्तः प्रविश्य धारकः निरस्तनिखिल[3]दोषसमस्तकल्याणगुणाकरत्व सर्वान्तरात्मत्व विशिष्टत्वरूपं परतत्वं भगवच्छरीरत्वतत्सृज्यत्वादिकं स्वस्य तत्त्वम् ॥ ५१ ॥

एवं तत्वमुक्तं हितमाह - तस्य भगवत आत्मनो निरुपाधिकशेषिणः पादमूलं शरणं समीहितोपायः इह यतः यत्पादमूलशरणवरणान्नृणां क्षेमः सुखं भवेदित्यर्थः। एवं हित उक्तः, स ह्युपायः। पुरुषार्थमाह - स वै भगवान् अस्य शरणं गतस्य प्रियतमः निरतिशयप्रीतिविषयः ''प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम्'' (भ.गी. 7-17) इति भगवदुक्तेः एवं [4-]पुरुषार्थः उक्तः[-4] निरतिशयसुखमेव हि पुरुषार्थः। भगवतो निरतिशयसुखरूपत्वस्य ''आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्'' (तैत्ति. उ. 3-6) इत्यादि श्रुत्यावगमात्। ''को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयाति'' (तैत्ति. उ. 2-7) इत्यानन्दावहत्वश्रवणाद्भगवदनुभव एव पुरुषार्थ इति भावः ॥ ५२ ॥

इत्युक्तविधानात्[5] तत्त्वहितपुरुषार्थान् यो वेद स वै स एव विद्वान् यश्च विद्वान् स एव गुरुः यश्च गुरुः स एव हरिः ''आचार्यो

---

1--1. A, B, J, Va omit 2--2. A, B, J, Va लुब्धः कर्णो 3. A, B, T दोषत्व 4--4. A, T omit 3. A, B, T °नान्

ब्रह्मणो मूर्तिः" (मनु.स्मृ. 2.226) इत्युक्तेः तत्त्वहितपुरुषार्थज्ञानमेवावश्यमुपादेयमिति भावः। "ब्रूहि मे विमलं ज्ञानं येन मुच्येय कर्मभिः " (भाग. 4-25-5) इति त्वया कृतस्य ज्ञानविषयप्रश्नस्येदमेव हरिर्देहभृतामित्युक्तं प्रधानमुत्तरम्। अन्यत्सर्वमेतदुपपादकमित्यभिप्रायेण उपसंहरति - प्रश्न इति। हे पुरुषर्षभ ! भवतः प्रश्न एवं संछिन्नः हेयोपादेयज्ञानविषयप्रश्नः तज्ज्ञानविवेचनात् दत्तोत्तरो जात इत्यर्थः॥ ५३॥

तदेवमात्मनो बन्धमोक्षकारणे कथिते अधुनैवं कथिताभ्यामपि नातिनिर्विण्णचित्तं पुत्रागमं प्रतीक्षमाणं सन्तं तत्क्षणमेव महाभयकम्पितसकलगात्रं गृहान्निर्यापयितुं हरिणरूपकमाह - **अत्रेति**। वदतो वचः सुनिश्चितं गुह्यं निशामय श्रृणु॥ ५४॥

किं तदित्यत्राह - क्षुद्रञ्चरं क्षुद्रमल्पं चरतीति तथा, अलुगार्षः, बाहुलकात् खश् प्रत्ययः, पूर्वपदस्य मुमागमः, क्रिया विशेषणम्। सुमनसां पुष्पाणां शरणे आश्रमे वाटिकायां, मिथित्वा मिथः परस्परं स्त्रिया सह मिलित्वा, तत्रैव रक्तं षडङ्घ्रयो भ्रमरास्तेषां गणाः तेषां सामसु गीतेषु, लुब्धौ कर्णौ यस्य तं, परेषामसुभिः स्वीयानसून् तर्पयन्तीत्यसुतृपः तानग्रे स्थितान् वृकान् अविगण्यानालोच्य यान्तं चरन्तं पृष्ठे लुब्धकस्य बाणेन भिन्नं मृगं हरिणं मृगय अन्वेषय विचारयेति भृगपक्षेऽर्थः। प्रकृतार्थस्तु क्षुद्रञ्चरं फलभोक्तारं सुमनसां स्त्रीणां शरणे गृहे मिथित्वा मिथुनीभूय षडङ्घ्रिगणसामसु मृगसदृशगायकगीतेषु वृकान् वृकवद्भीषणानहोरात्रादीनसृतृपः आयुर्हरानविगणय्य पृष्ठे परोक्षे लुब्धकबाणभिन्नं मृत्युपाशग्रस्तं मृगसदृशमात्मानं मृगय पर्यालोचयेति॥ ५५॥

**विज०** कल्पोक्तद्रव्यसामग्र्या क्रियमाणस्य कर्मणः कथं परत्वाभाव इति तत्राह - **तत्कर्मेति**। हरे स्तोषोऽनुग्रहलक्षणो यस्मात्तत्कर्म तस्मात् ब्रह्मार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्य कर्मणः परत्वं, न द्रव्यसामग्र्या तस्यावरत्वेन दारिद्र्यहेतुत्वात्। ननु ममापि वेदविद्याधिकारित्वेन कर्मानुष्ठानस्य तत्पूर्वकत्वमस्तीति तत्राह - सा विद्येति। यया विद्यया तस्य हरेर्मतिर्ज्ञानमुत्पद्यते सा विद्या वेदार्थज्ञानलक्षणा नान्या, अन्या त्वविद्या कर्मविषया हेयपक्ष इति। कोऽसौ हरिः येन तज्ज्ञानपूर्वकमनुष्ठितं कर्म सफलं स्यादत्राह- हरिरिति। दुरितहरणशीलत्वात् हरिः देहभृतां जीवानामात्मा स्वामी स्वयं सर्वव्यावृत्तः प्रकृतिः मूलकारणमीश्वरोऽणिमाद्यैश्वर्यरूप एषां गुणानामधिकरणभूतो यः स हरिरिति ज्ञातव्यम्॥ ५१॥

हरिरेवंविधश्चेत्ततः किमत्राह - **तत्पादेति**। यतो यस्मात् क्षेमो भवेत्नृणां तस्य हरेः पादमूलं शरणं रक्षकं "शरणं गृहरक्षित्रोः" (अम.को. उ. 209) इत्यभिधानम्। ननु पित्रादीनां वयसि गते पुत्रादीनामपि शरणत्वदर्शनात् किं विशिष्योच्यत इति तत्राह - स वा इति। भगवत्सम्पर्कात् पुत्रादीनां प्रियत्वात् हरेः प्रियतमत्वं कुत इति तत्राह - यत इति। श्रीनारायणचरणारविन्दशरणं गतस्यास्य संसारिणोऽण्वपि भयं नास्ति यतोऽथ तस्माद्धरिः पुत्रादेः प्रेष्ठ इति कृत्वा पुंसस्तत्पादमूलं शरणमित्यन्वयः॥ ५२॥

एवं वेत्तुरेव विद्वत्ता नानेवंविद इत्याह - **इतीति**। इति शब्दो हेत्वर्थः। यस्माद्धरिचरणशरणस्य मोक्षादिसर्वपुरुषार्थावाप्तिः तस्माद्य एवं वेद स वा एव विद्वान् नान्यः, कुतः स्वगुरुः स्वापेक्षिताशेषज्ञानोपदेष्टा तत्र हरेः सनिधानविशेषात् तत्सामर्थ्यमस्येति भावेनाह - हरिरिति। अनेन गुर्वादिशब्दप्रयोगेण देवादीनां मुख्यविद्वत्तेत्याह॥ ५३॥

**अत्रेति**। निशामय श्रृणु॥ ५४,५५॥

**सुमनस्समानधर्माणां[1] स्त्रीणां शरण आश्रये पुष्पमधुगन्धवत्क्षुद्रतमं[2] काम्यकर्मविपाकजं[3] कामसुखलवं जिह्वोपस्थादि[4] विचिन्वन्तं मिथुनीभूय रक्तं[5] तदभिनिवेशितमानसं[6] षडङ्गिगणसामगीतवदतिमनोहर वनिताजनालापेष्वतितरां[7] प्रलोभितकर्णमग्रे वृकयूथवदात्मन आयुर्हरतोऽहोरात्रादिकान्[8] कालविशेषानविगणय्य[9] गृहेषु विहरन्तं[10] पृष्ठत एव ''परोक्षामनुप्रवृत्तो लुब्धकः कृतान्तः[11] आत्तशरोऽयमिह पराविध्यतीति[12] तमिममात्मानमहो राजन्[13] निर्भिन्नहृदयं[14] द्रष्टुमर्हसीति[15] यथा[16-] मृगयुहतं[-16] मृगमिति॥ ५६॥**

**स त्वं विचक्ष्य[17] मृगचेष्टितमात्मनोऽन्तः चित्तं नियच्छ हृदि कर्णधुनीं च चित्ते[18] जह्याङ्गनाश्रममसत्तमयूथगायं[19] प्रीणीहि हंसशरणं विरम क्रमेण॥ ५७॥**

**राजोवाच[20]**

**श्रुतमन्वीक्षितं[21] ब्रह्मन् भगवान् यदभाषत।**

**नैतज्जानन्त्युपाध्यायाः किं न ब्रूयुर्विदुर्यदि॥ ५८॥**

**संशयोऽत्र[22] तु मे विप्र सञ्छिन्नस्तत्कृतो[23] महान्।**

**ऋषयोऽपि[24] हि मुह्यन्ति यत्र नेन्द्रियवृत्तयः॥ ५९॥**

---

1. A, B, G, I, J, T सुमनस्समधर्माणां; M, Ma सुमनसां समानधर्माणां; Ms सुमनसां सुमनस्सधर्मणां 2. A, B, G, I, J, M, Ma, T °भे 3. M °द्रं का° 4. A, B, G, I, J, Ms, T जैह्वौपस्थ्यादि, M, Ma जैह्वोपस्थादि; W जैह्वौपस्थादि 5. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T omit रक्तं 6. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °म° 7. A, B, G, I, J, M, Ma, T °ताऽऽदिज° 8. A, B, G, I, J, M, Ma, T add अति 9. A, B, G, T, J, M, Ma, T °त्रान्तान्; Ms °त्रादीन् 10. A, B, G, I, J, T add लव 11. A, B, G, I, J, T add एव 12. A, B, G, I, J, T अन्तश्शरेण य°; M, Ma, Ms शरेण य° 13. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T omit इति 1/4. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T भिन्न 15. Ms omits इति 16--16. A, B, G, I, J, Ma, T omit 17. M, Ma, Ms °क्ष्व 18. M, Ma चित्तिम्; I, Ms, V चित्तम् 19. M, Ma, Ms भ्रम 20. Ms प्राचीनबर्हिः 21. W °मान्वीक्षिकं 22. M, Ma, Ms न 23. M, Ma °ते 24. Ms, V वि

**कर्माण्यारभते येन पुमानिह विहाय तम्।**
**अमुत्रान्येन देहेन जुष्टान्यसकृदश्नुते[1]॥ ६०॥**

**श्रीध०** श्लोकं प्रस्तुते योजयन् व्याचष्टे - **सुमन** इति। सुमनोभिः समानो धर्मः परिणामविरसत्वं यासां स्त्रीणाम्। मिथित्वेत्यस्य व्याख्या मिथुनीभूयेति। स्त्रीभिः सहेति शेषः। रक्तमित्यस्य व्याख्या तास्वभिनिवेशितं मनो येन। असुतृप इत्यस्य व्याख्या आयुर्हरत इति। यान्तमित्यस्य व्याख्या विहरन्तमिति। अन्तर्नलिकायां[2] गूढेन शरेण पराविध्यति दूरादेव ताडयति॥ ५६॥

उपदेशसारमाह - **स** इति। [3-]एवं त्वमात्मनः स्वस्य मृगवच्चेष्टितं[-3] विचक्ष्य विचार्य, अन्तर्हृदि चित्तं कर्णयोः [4-]श्रोत्रेन्द्रियस्य[-4] धुनीं नदीमिव, बहिर्वृत्तिं[5] चित्ते नियच्छ। एतच्च सर्वेन्द्रियोपलक्षणार्थम्। अङ्गनाश्रमं गृहाश्रमं च जहि। कीदृशम्? असत्तमानामतिकामुकानां यानि यूथानि तेषां गाथा वार्ता यस्मिन्। हंसानां जीवानां[6-] परमहंसानां[-6] वा शरणमीश्वरं[7] प्रीणीहि[8] प्रीणय[9-]। तस्मिन् स्नेहेन विश्वासलक्षणं भक्तिं कुर्वित्यर्थः। एवं क्रमेण सर्वतो विरम[-9]॥ ५७॥

अर्थान्तरं प्रष्टुं पूर्वोक्तमर्थमनुवदति - **श्रुतमिति**। श्रुतमन्वीक्षितं विचारितं च। ब्रह्मन्! हे नारद! एतत्त्वदुक्तमात्मतत्त्वमुपाध्याया ये मम कर्मोपदेष्टार आचार्यास्ते न जानन्ति। [10-]तत्र हेतुः यदि विदुस्तर्हि किं न ब्रूयुरिति[-10]॥ ५८॥

**संशय** इति। अन्तः तत्कृतः उपाध्यायकृतः तद्वाक्यविरोधेन आत्मतत्त्वे[11] असम्भावनारूपो महान् संशयः संछिन्नः त्वया, अत्र तु कश्चित्संशयो वर्तते, यत्रेन्द्रियवृत्तीनामप्रवृत्तेः मुह्यन्ति॥ ५९॥

संशयमाह - **कर्माणीति** द्वाभ्याम्। कर्माणि येन देहेन करोति तमत्रैव विहायामुत्र लोकान्तरे कर्मोपस्थापितेनान्येन देहेन जुष्टानि उपयुक्तानि, जीवोऽश्नुते प्राप्नोति॥ ६०॥

**वीर०** स्वयमेव श्लोकं प्रस्तुतेऽर्थे योजयन् व्याचष्टे - **सुमनस** इति। सुमनोभिः पुष्पैः समानो धर्मो यासां तासां परिणामविकारित्वात् स्त्रीणां, शरणे इति प्रतीकः। आश्रये[12] इति व्याख्या। गृहस्थाश्रम इत्यर्थः। क्षुद्रञ्चरमिति व्याचष्टे - पुष्पेति। पुष्पगतमकरन्दलेशवदल्पं काम्यकर्मणां परिणामजं कामसुखलवं, काम्यन्त इति कामा विषयास्तेषां सुखलेशं जैह्वं[13] जिह्वयाऽऽसादित मौपस्थम्[14] उपस्थेनेन्द्रियेणाऽऽसादितं चादिर्यस्य तद्विचिन्वन्तं, मिथित्वेत्यस्य व्याख्यानं मिथुनीभूयेति। रक्तमित्यस्य व्याख्या

---

1. A, B, G, I, J, T °मि स यदश्नुते 2. V °नांडिकायां 3--3. B, J, V, Va omit 4--4. B, J, V, Va omit 5. V °त्तं 6--6. A, B, J, Va omit 7. B, J, V, Va omit प्रीणीहि 8. A, B, J, Va omit प्रीणय 9--9. A, B, J, Va omit 10--10. B, J, V, Va omit 11. A, B, Va omit आत्मतत्वे 12. A, B, T °भे 13. A, B, T जैह्वयं 14. A, B, T °स्थ्यम्

तदभिनिवेशितमनसमिति, तासु अभिनिवेशितं मनो येन तं, षडङ्घ्रिगणसामस्विति व्याचष्टे । भ्रमरगणानां सामगीतवन्मधुरध्वनिवदतिमनोहरा ये इच्छाविषयस्त्रीजनालापास्तेषु, लुब्धकबाणमिति व्याचष्टे। अतितरां प्रलोभितौ कर्णौ यस्य तम् अग्र इत्यादि व्याचष्टे। अग्रे पुरतः वृकसमूहवदात्मनः स्वस्यायुर्हरानहोरात्रादिकालविशेषानविगणय्य यान्तमिति व्याचष्टे। गृहेषु [1]विहरन्तं वैषयिकसुखदुःखादिकमनुभवन्तं, पृष्ठे इति सप्तम्यन्तं सार्वविभक्तिकः तसिल्प्रत्ययान्तेनानूद्य व्याचष्टे पृष्ठतः, परोक्षमिति। लुब्धकबाणभिन्नमिति व्याचष्टे अनुप्रवृत्त इति। सामर्थ्यं लब्धं लुब्धक इत्यस्य व्याख्यानम्। कृतान्त इति आत्तः स्वीकृतः मारणरूपो येन, इह शरीरिणं देहिनं पराविध्यति दूरादेव ताडयति। मृगयेति व्याचष्टे। तमिमं देहिनमात्मानं स्वात्मानं द्रष्टुमालोचयितुमर्हसि। तत्र दृष्टान्तः - यथेति ॥ ५६ ॥

उपदेशसारमाह - **स** इति। स त्वमुक्तविधः त्वं मृगचेष्टितं विचक्ष्याऽऽलोच्य आत्मनः स्वस्यान्तर्हृदि [2]हृदयगुहायां चित्तं मनः नियच्छ नियतं कुरु, चित्ते च कर्णधुनीं कर्णयोः धुनीं नदीमिव स्थितां ध्वनिना नदीव श्रूयमाणां, कर्मसु रुच्युत्पादिकामर्थवादात्मिकां श्रुतिं नियच्छ, कर्मसु रुचिं त्यजेत्यर्थः। कर्मयोः धुनीं वृत्तिमिति वा। अस्मिन्नपि पक्षे स एवार्थः, अङ्गनायाः स्त्रियाः आश्रमं [3]गृहं जहि गृहाश्रमं त्यज। कीदृशम् ? असत्तमानामतिकामुकानां यानि यूथानि तेषां गाथा वार्ता यस्मिन्। हंसानां जीवानां शरणमिष्टोपायं रक्षितारं च भगवन्तं वृणीहि वृणु शरणं गच्छ। असत्तमयूथनाथमिति पाठे असत्तमयूथः नाथः निर्वाहको यस्य तम् अङ्गनाश्रममित्यर्थः। विरम सांसारिकप्रवृत्तेरिति शेषः ॥ ५७ ॥

एवमुपदिष्टचिदचिदीश्वरतत्त्वः कर्मसु समुत्पादितवैराग्यो राजा उक्तमभिनन्दन् पुनरन्यानि संशयपदानि आविष्कुर्वन् पृच्छति - **श्रुतमिति** [4]त्रिभिः। हे ब्रह्मन् ! भगवन् भवान् यदभाषत तदान्वीक्षिकमात्मान्वीक्षणोपयोगिश्रोतव्यमर्थजातं मया श्रुतम् । [5]अन्वीक्षितमिति पाठे विचारितमित्यर्थः। एतद्भवतोपदिष्टमस्मदुपाध्यायाः कर्मोपदेष्टारस्ते न जानन्ति। तत्र लिङ्गमाह - यदि विदुस्तर्हि किमर्थं न ब्रूयुः अतोऽकथानान्न जानन्त्येवातिगुह्यं भवतोपदिष्टमिति भावः ॥ ५८ ॥

अतस्तत्कृत उपाध्यायकृतः तद्वाक्यविरोधेनात्मतत्त्वेऽसम्भावनारूपो महान् संशयः सञ्छिन्नस्त्वया । अत्रतु कश्चित्संशयोऽनुवर्तते[6]। यत्र संशयपदे इन्द्रियवृत्तीनामप्रवृत्तिः तत्र ऋषयोऽपि मुह्यन्ति ॥ ५९ ॥

किमत्र संशयपदं तदाह - **कर्माणीति**। पुमान् येन देहेन कर्माणि पुण्यापुण्यरूपाणि अत्र लोके आरभते करोति तं देहमिहैव विहाय कर्मोपस्थापितेनान्येन देहेन जुष्टानि सेवितानि विषयीकृतानि सुखदुःखानि असकृत् पुनःपुनर्भुङ्क्ते ॥ ६० ॥

---

1. A, B, T मृगमिव चरन्तं 2. A, B, T हृदु° 3. A, B, T omit गृहं 4. W omits त्रिभिः 5. W आ° 6. W omits अनु°

**विज०** स्वाभीष्टप्रकाशनाय स्वयमेव व्याचष्टे - **सुमनसामिति**। सुमनसां समानधर्माणां पुष्पवत्कोमलशरीराणां शरण आश्रमे अन्यत्र पुष्पाश्रये वने क्षुद्रं पुष्पमधुगन्धवदल्पं, किं तत् ? काम्यकर्मविपाकजं प्रवृत्तकर्मफलं विषयसुखलेशं जैह्म्योपस्थादिविषयं चरं चरन्तं भुञ्जानमितस्ततो गत्वा विचिन्वन्तमन्विच्छन्तं तदर्थित्वात् मिथुनीभूय तदभिनिविष्टचेतनं षडङ्गिगणसामगानवत् भ्रमरनिकर-सुन्दरगानवदतिमनोहरस्त्रीजनसंलापेषु अतितरामत्यन्तं प्रलोभितौ कर्णौ यस्य स तथा तं तदेकमग्रश्रोत्रमित्यर्थः, कुतोऽग्रे वृकान् वृकसधर्मानसुहृदः असुलक्षणमायुर्हरतोऽहोरात्रादिकालविशेषानविगणय्यागणयित्वा यान्तं क्रीडागृहे विहरन्तमित्यर्थः, पृष्ठे परोक्षमवस्थितः उपशये स्थितो लुब्धकसमानः कृतान्तः शरसमेनादृष्टेन यमात्मानं पराविध्यति तमिममात्मानं जीवं भिन्नहृदयं मृगपर्यालोचनयालोच्य च द्रष्टुमर्हसीत्यर्थः। कथमिव ? मृगयुहतं मृगं हरिणमिवेति ॥ ५६ ॥

मद्वाक्ये श्रद्धा चेद्धितमुपदिशामीत्याह - **सत्वमिति**। यः पूर्वं कर्मठः स त्वं मृगवच्चेष्टितं चेष्टा यस्य स तथा तं, मृगस्येव विषयानन्विच्छतो जीवस्य चेष्टितमिति वा। विचक्ष्व पश्य। आत्मनस्तव चित्तं पूर्वकृतस्मरणसमर्थमन्तः करणविशेषमन्तः स्थिते हृदि सर्वपापहरे हृन्नाम्नि हरौ नियच्छ तत्रैव स्थापय। कर्णधुनीं कर्णधारामिव स्थितां चित्तं बुद्धिं च हरौ स्थापय। कर्णादीन्द्रियप्रवृत्तिहेतुभूतां वा कर्णाख्यधुनीं वा तत्कथाश्रवणे बुद्धिं च तद्गुणनिर्णये वा असत्तमानां विषयिणां यूथस्य गाथा विषयवार्तावदाकाशे यस्मिन् तमङ्गनाभ्रमं[1] जहि। हंसो निर्दोषः परमात्मा मम शरणमिति शरणं प्रीणीहीति क्रमेण साधनसाम्र्यनुसारेण विरम संसाराद्विरतो भूया इत्यन्वयः ॥ ५७ ॥

राजा तावदियन्तं कालं मया भाषितं तदस्य हृद्गतं नाभूत् प्रतिवाक्याश्रवणादिति संशयनिरासायाह - **श्रुतमिति**। श्रुतं श्रुति प्रसिद्धमन्वीक्षितं विचारितमात्मयोग्यज्ञानं यद्भगवानभाषत नैतन्ममोपाध्याया जानन्ति तत्र हेतुमाह - किं नेति। प्रथमं त्वन्मुखात् श्रुतं पश्चादन्वीक्षित माप्रेडितमिति वा ॥ ५८ ॥

अथं किं तत्राह - **संशय** इति। अत्रास्मिन्नर्थे मे संशयो न छिन्नः अल्पत्वात् मया न छेदित इति नेत्याह-तत्कृत इति। तत्कृते तदर्थविषये महान् संशय इत्यर्थः। सूक्ष्मत्वेनाज्ञातविषयत्वात् महत्त्वं न तु स्थूलपरिमाणत्वादिति भावेनाह - ऋषय इति। कुत्र मुह्यन्तीत्यत्राह - यत्रेति। यत्र संशयार्थे चक्षुरादीन्द्रियव्यापारागोचरत्वादित्यर्थः, अतस्त्वां पृच्छामीति शेषः ॥ ५९ ॥

कोऽसौ संशय इत्यत्राह - **कर्माणीति**। इह पुमान् येन देहेन कर्माण्यारभते तस्य प्रारब्धकर्मक्षये तं देहं विहायामुत्र परलोके स पुमान् येन प्रेताख्येन जुष्टानि कर्मफलानि अश्नुत इति यत् कथमन्यः कर्ताऽन्यो भोक्तेत्यकृताभ्यागमादिदोषापत्तेः ॥ ६० ॥

1. A °भ्रमं

इति वेदविदां वादः[1] श्रूयते[2] तत्र तत्र ह।
कर्म च[3] क्रियते प्रोक्तं परोक्षं न प्रकाशते ॥ ६१ ॥

नारद उवाच

येनैवारभते[4] कर्म तेनैवामुत्र तत्पुमान्।
भुङ्क्ते ह्यव्यवधानेन लिङ्गेन मनसा स्वकम्[5] ॥ ६२ ॥

शयानमिममुत्सृज्य श्वसन्तं पुरुषो यथा।
कर्मात्मन्याऽऽहितं भुङ्क्ते तादृशेनेतरेण वा ॥ ६३ ॥

ममेति[6] मनसा यद्यदसावहमिति ब्रुवन्।
गृह्णीयात्तत्पुमान् राद्धं कर्म येन पुनर्भवः ॥ ६४ ॥

यथाऽनुमीयते चित्तमुभयैरिन्द्रियेहितैः[7]।
एवं प्राग्देहजं कर्म लक्ष्यते चित्तवृत्तिभिः ॥ ६५ ॥

**श्रीध० इतीति**। इति वादः श्रूयते "प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकान्" (भ.गी. 6-41) इति। "शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः" (मनु.स्मृ. 12-9) इति। त्वया चोक्तं "शाश्वतीरनुभूयार्तिम्" (भाग. 4-28-27) इति। एतच्च कर्तृभोक्तृदेहभेदेन कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गान्न सङ्गच्छत इति भावः। संशयान्तरमाह - प्रोक्तं वेदोक्तं कर्म[8] यत्क्रियते जनैः तच्चानन्तरक्षण एव परोक्षम् अदृश्यं सत् न प्रकाशते। अतः कर्मणो नष्टत्वात्तद्भोगोऽपि दुर्घट इति भावः ॥ ६१ ॥

प्रथमस्योत्तरमाह[9] - **येनैवेति**। लिङ्गशरीरस्य[10] मनः प्रधानत्वात्। मनसा लिङ्गेनेति सामानाधिकरण्यम्। येनैव लिङ्गेन पुमान् कर्म आरभते[-10] तेनैव अव्यवधानेन कर्तृभोक्तृदेहविच्छेदं विना अमुत्र[11] तत् स्वं कर्म भुङ्क्ते[-11]। स्थूलदेहनाशेऽपि मनःप्रधानस्य लिङ्गदेहस्यानाशान्नोक्तदोषप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

लिङ्गदेहविशिष्टस्य भोक्तृत्वं स्वप्नदृष्टान्तेन स्पष्टयति - **शयानमिति**। शयानमिमं जाग्रद्देहं श्वसन्तं जीवं तमुत्सृज्य तदभिमानं

---

1. M, Ma, Ms वाचः 2. M, Ma, Ms श्रूयन्ते 3. A, B, G, I, J, T यत्क्रि° 4. Ms, V °भ्यते 5. A, B, G, I, J, T स्वयम् 6. A, B, G, I, J, T ममैते 7. M, Ma, V °यैर्हितैः 8. V omits यत् 9. A, B, J, Va omit आह 10--10. A, B, J, Va omit 11--11. A, B, J, Va omit

त्यक्त्वात्मनि मनसि संस्काररूपेणाऽऽहितं कर्म यथा भुङ्क्ते तादृशेन शयानदेहसदृशेन कर्मोपस्थापितेन देहेनान्येन वा पश्वादिदेहेन तथा लोकान्तरेऽपीति भावः ॥ ६३ ॥

ननु भवतु नाम लिङ्गविशिष्टस्य अनेन दृष्टान्तेन भोक्तृत्वं, कर्तृत्वं तु दानप्रतिग्रहादिषु स्थूलदेहविशिष्टस्यैव दृश्यते तत्राह - **ममेति**। ममैते पुत्रादयः असावहं ब्राह्मण इति ब्रुवन् मनसा यद्यद्देहं गृह्णीयात् तत्[1] ततो देहाद्राद्धं सिद्धं कर्म पुमान् गृह्णीयात्, येन कर्मणा एवम्[2]महङ्कारगृहीतेन पुनर्भवो भवति। अन्यथा जन्मानुपपत्तेः। अतोऽभिमन्तुः[3] मनोविशिष्टस्यैव कर्तृत्वम्, अभिमानविषयस्य तु देहस्य पुत्रादिदेहवत् द्वारमात्रत्वमिति[4] भावः ॥ ६४ ॥

यदुक्तं कर्मणो नष्टत्वात् नामुत्र भोग इति तत्राह - **यथेति**। उभयैर्ज्ञानकर्मरूपैरिन्द्रियाणामीहितैः कदाचित्कर्मप्रवृत्तिभिः चित्तमनुमीयते। सत्यपि सर्वेन्द्रिय विषयसम्बन्धे युगपज्ज्ञानानुत्पत्तेः। तदुक्तमक्षपादेन "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिमनसो लिङ्गम्" इति। एवं चित्तवृत्तिभिरपि पूर्वदेहजं कर्म लक्ष्यते तासामपि युग पदनुत्पत्तेः ॥ ६५ ॥

**वीर०** इत्येवंविधा वेदविदां भवादृशानां वाचः तत्र तत्र[5] स्मृतिपुराणादिषु श्रूयन्ते। तथाहि सूत्रं - "वर्णाश्चाश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टकुलजातिरूपाश्रयश्रुतवित्तसुखमेधसो[6] जन्म प्रतिपद्यन्ते विध्वञ्सो विपरीता नश्यन्ति" इति। भवताप्युक्तं "गुणाभिमानी स तदा कर्माणि कुरुतेऽवशः। शुक्लं कृष्णम्" (भाग. 4-29-27) इत्यादिना। संशयविषयमुद्धारयति - कर्म चेति। प्रोक्तं सुखदुःखहेतुत्वेन ब्रह्मवादिभिः प्रोक्तं पुण्यापुण्यरूपं कर्म क्रियते जनैः तच्चानन्तरक्षण एव परोक्षमदृश्यं सत् न प्रकाशते। न प्रकाशत इति वर्तमाननिर्देशेन प्राक्तनदेहकृतानां यथाऽस्मिन् देहे न प्रकाशस्तथैतद्देहकृतानामुत्तरजन्मन्यप्रकाशः। तथा यथैव पूर्वपूर्वक्षणगोचराणामुत्तरोत्तरक्षणागोचरत्वं[7] तथेति च दृष्टान्तद्वयमभिप्रेतम्। चकारेण कर्मणि हेतुभूतं सत्त्वादिगुणयुक्तं मनः, तद्युक्तं शरीरं च न प्रकाशत इति विवक्षितम्। न हि पूर्वदेहकृतकर्माणि तन्निमित्तं सत्त्वादिगुणयुक्तं मनः तद्युक्तं च शरीरं चेदानीमुपलक्ष्यन्ते, अतस्ते कर्मगुणमनोदेहाः पूर्वं नाऽऽसन् अतस्ते नेदानीं सुखादिहेतवः। एवं तत्तद्देहकृतकर्मगुणमनोदेहाः उत्तरजन्मसुखदुःखादिहेतवो न भविष्यन्ति, किन्तु निर्निमित्तमेव सुखदुःखप्राप्तिरिति मे प्रतिभातीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

एवमापृष्टो भगवान् नारदः तत्प्रश्नं परिहरति - **येनैवेति**। तत्र यदुक्तमुत्तरोत्तर जन्मसुखदुःखादि हेतुभूतकर्माश्रयपूर्वपूर्वदेहानां[8] विनष्टत्वात्तन्निमित्तं सुखदुःखादिकमनुपपन्नं, न ह्याशुविनाशस्वभाव निराश्रय कर्मान्यकालिकसुखादिहेतुः, न हि विनष्टानां

---

1. V omits तत् 2. B, J, Va omit एवम् 3. V मातुः 4. V मात्रमिति 5. A, B,T omit तत्र 6. A, B, T रूपायुः 7. A, B, T omit पूर्व 8. A, B, T omit पूर्व

कुलालचीवरदण्डचक्रादिव्यापाराणां कालान्तरभाविघटादिहेतुत्वमिति येनैव मनसा निमित्तभूतेन पुरुषः कर्म आरभते तेनैवाव्यवधानेनाविश्लिष्टेन लिङ्गेन पुण्यापुण्यकर्म हेतुभूतेन मनसा स्वकं स्वकर्मानुगुणं सुखदुःखादिफलममुत्र परलोके भुङ्क्ते। स्थूलशरीरकर्मणो विनाशेऽपि मनसो लिङ्गभूतस्य साध्वसाधुकर्मनिमित्तभगवदनुग्रहनिग्रहरूपपुण्यापुण्यविषयस्य क्षेत्रज्ञस्य च देहान्तरेऽप्यनुवृत्तेः सुखाद्युपपत्तिरिति भावः। पुण्यापुण्ययोः भगवदनुग्रहनिग्रहरूपत्वं तदधिगमाधिकरणे भाष्यादौ स्पष्टमुक्तम्॥ ६२॥

लिङ्गात्मनोरनुवृत्त्या भोगोपपत्तिं दृष्टान्तेन स्पष्टयति - **शयानमिति**। शयानमिमं जाग्रद्देहं, श्वसन्तं जीवन्तमुत्सृज्य तदभिमानं त्यक्त्वा, आत्मनि मनस्याऽऽहितं दैवोपसादितं कर्म स्वप्नद्रष्टेकानुभाव्यं तत्कालमात्रावस्थायि सुखदुःखादिस्वकर्मफलं यथा पुमान् तादृशेन शयानदेहसदृशेन मनुष्यदेहेनान्येन देवादिशरीरेण वा स्वप्ने भुङ्क्ते लिङ्गात्मनोरनुवृत्तेस्तथा लोकान्तरेऽपीति भावः॥ ६३॥

यदुक्तं कर्म क्रियमाणमन्तरक्षण एवं विनष्टं सत् कालान्तरानुभाव्यफलहेतुः कथमिति तत्राह - ममेति। पुमानसौ अहं ब्राह्मणोऽहं, क्षत्रियोऽहमिति ब्रुवन् देहात्माभिमानयुक्त इत्यर्थः। ममैतत् मत्फलसाधनत्वात् मदर्थमिदं कर्मेति मनसा यद्यत्कर्म गृह्णीयात् कुर्यादित्यर्थः। तत्तत्कर्मेति राद्धं सिद्धं कर्मणो विनाशेऽपि कर्मणः शक्तिरीश्वरस्य निग्रहानुग्रहरूपा सिद्धैवेत्यर्थः। कर्म विशिनष्टि - येन कर्मणा पुनर्भवः पुनर्जन्म भवेत्॥ ६४॥

मनसः कर्मणः पुनर्जन्मनश्च सद्भावे प्रमाणमाह - यथेति। उभयैः ज्ञानकर्मरूपैरिन्द्रियेहितैः [1-]इन्द्रियाणामीहितैः[-1] कादाचित्कप्रवृत्तिभिर्मनोऽनुमीयते, सत्यपि सर्वेन्द्रियविषयसम्बन्धे युगपज्ज्ञानानुपपत्तेः[2], तदुक्तमक्षपादेन "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" (न्या.सू. 1-16) इति। एवं चित्तवृत्तिभिरपि पूर्वदेहजं कर्म लक्ष्यते, तासामपि युगपदनुपपत्तेः। इन्द्रियैर्हितैरित्यपि पाठः। तत्र हितैर्गतैर्निवृत्तव्यापारैः इन्द्रियैः उभयैः ज्ञानकर्मरूपेण द्विविधैः मनोऽनुमीयते, तेषां क्रमव्यापारदर्शनादित्यर्थः। एवं चित्तवृत्तिभिः पूर्वदेहकृतं कर्मानुमीयते॥ ६५॥

**विज०** तदप्रामाणिकमिति च वक्तुं न शक्यमित्याह - **इतीति**। श्रूयन्त इत्यनेन श्रुतयः स्मृतयोऽपि गृह्यन्ते, तेनाऽऽबालवृद्धप्रसिद्धिः द्योत्यते, अतो महान् संशय इत्यर्थः। अनेन देहव्यतिरिक्तात्मसद्भावे कथमिति संशयो युज्यते, स एव नास्ति देहभस्मीभावेन तस्यापि भस्मीभूतत्वादिति मतमपि प्रत्युक्तम् आगमस्याप्रामाण्ये तद्गुरुवाक्यस्यापि समन्यायः स्यादिति, किञ्च स्वर्गादिकामैर्जनैः कर्म क्रियते तत्परोक्षं पश्चान्न प्रकाशते नष्टत्वात्, अतः तादृशं कर्म अर्थफलं न ददाति, न हि मृतः पिता पुत्रायाऽऽनीय कदलीफलं रातीति युज्यत इत्ययमन्योऽपि संशयः॥ ६१॥

---

1--1. A, B, T omit  2. W °पद्भावानु°

प्रथमप्रश्नं प्रत्याह - **येनेति**। लिङ्गं शरीरं तस्य मनःप्रधानत्वाल्लिङ्गेन मनसेति सामानाधिकरण्यं, मनसा प्रेरितेन येन लिङ्गेन देहेन पुमान् कर्माऽऽरभते तेनैवामुत्रस्वर्गादौ अव्यवधानेन प्रत्यक्षेण कालेन स्वकं कर्म भुङ्क्ते तत्फलं सुखदुःखलक्षणमनुभवतीत्यन्वयः। स्थूलशरीरस्य लिङ्गनिमित्तत्वात्तन्नाशेऽपि कर्तुः लिङ्गस्याविनष्टत्वान्नाकृताभ्यागमादिदोषप्रसक्तिः, सूक्ष्मरूपेण सत्त्वात् लिङ्गेन लीन कर्मफलज्ञापकेन मनसा तत्फलानुभवोपपत्तेरिति वा॥ ६२॥

कथमिव स्वप्नकाले श्वसन्तं प्राणवृत्तिमन्तं पर्यङ्क [1-]शयानं दृष्टिविषयं देहमुत्सृज्य पुरुषो भोक्ता तादृशेन शयने शयानशरीरसदृशेन[-1] इतरेण पतितदेहविलक्षणदेहेन वा, आत्मनि मनसि आहितं सन्निहितं कर्म भुङ्क्ते। एतदुक्तं भवति स्थूलदेहस्य शय्यायां शयनत्वात् स्वप्नभोगनिमित्तकर्मोपार्जितेन देहेन लिङ्गिन एव यथा भोक्तृत्वमत्राप्येवमिति आत्मन्याहितमित्यनेन द्वितीयप्रश्नोऽपि प्रयुक्त इति ज्ञायते॥ ६३॥

ननु साक्षात्कर्तृत्वं भोक्तृत्वं मनसो लिङ्गस्य उत उभयोः तद्वतो वेति संशयनिरासार्थमाह - **ममेति**। यः पुमान् ममेदं सुखसाधनमिति मनसा सङ्कल्प्य कृष्णमित्रस्याहिताग्नेः पुत्रोऽसावहं नारायणमित्रो याज्ञिकः कथं स्यामिति वाचा वदन् यद्यत्कर्म कर्तुं गृह्णीयादुपादत्ते स एव पुमान् तद्राद्धं सिद्धं कर्म भुङ्क्ते येन भुक्तशेषेण कर्मणा पुनर्भवः पुनरुत्पत्तिः मर्त्यलोक इति शेषः, तस्मात् साक्षात्कर्ता भोक्ता च पुरुष एव तत्र मनसोऽन्तरङ्गत्वमिति भावः। अनेन जन्मान्तरेऽपि कर्मणः फलदातृत्वप्रतीतेः, किं पुनः परलोक इति दर्शितम्॥ ६४॥

ननु कर्मणो देहाद्यारम्भकत्वं कथं सङ्घाघटीति आचरणानन्तरक्षण एव नष्टत्वात्, अतएव मनसोऽप्यन्तरङ्गत्वमिति न शक्यं कृष्णचापमुक्तशरवेगसंस्कारवत् कर्मणोऽपि कार्यकारणक्षमत्वोपपत्तिरन्तरङ्गत्वं मनसोऽन्वयव्यतिरेकसिद्धमित्यभिप्रेत्याह[2] - **यथेति**। उभयेषां ज्ञानकर्मेन्द्रियाणामुभयविधैरीहितैश्चित्तमन्तः करणापरपर्यायमस्तीत्यनुमीयते तस्मिन् सति ज्ञानं कर्म चोत्पद्यते असति आलोकादिसाधनसामग्र्यां सत्यामपि तस्मात्तन्नियामकमन्तः करणं किञ्चिदस्तीति ज्ञायते यथा तथान्तःकरणवृत्तिविषयेषु मनोव्यापारैः प्राग्देहजातं कर्म ईदृशं शुक्लरक्तकृष्णान्यतममिति लक्ष्यतेऽनुमीयते, देहवत एव ईदृशज्ञानसम्भवात्, कर्मणो देहाद्यारम्भकत्वं च युक्तमिति बोद्धव्यम्॥ ६५॥

**नानुभूतं क्व चानेन देहेनादृष्टमश्रुतम्।**
**कदाचिदुपलभ्येत यद्रूपं यादृगात्मनि॥ ६६॥**

1--1. A omits 2. A °मित्याह

तेनास्य तादृशं[1] राजन् लिङ्गिनो देहसम्भवम्[2]।
श्रद्धत्स्वाननुभूतोऽर्थो[3] न मनः स्प्रष्टुमर्हति ॥ ६७ ॥

मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति।
भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यतः ॥ ६८ ॥

अदृष्टमश्रुतं चात्र[4] क्वचिन्मनसि दृश्यते।
यथा तथाऽनुमन्तव्यं[5] देशकालक्रियाश्रयम् ॥ ६९ ॥

सर्वे क्रमानुरोधेन[6] मनसीन्द्रियगोचराः।
आयान्ति सर्वशो[7] यान्ति सर्वे समनसो[8] जनाः ॥ ७० ॥

**श्रीध०** इतोऽपि कर्म लक्ष्यत इत्याह - **नानुभूतमिति** द्वाभ्याम्। अनेन वर्तमानेन देहेन क्व च कुत्रचिदपि यन्नानुभूतमननुभूतमनुपभुक्तमदृष्टं[9] चाश्रुतं च यद्रूपं यदात्मकं यादृक् यत्प्रकारं च तत्कदाचित् स्वप्नमनोरथादिष्वात्मनि मनस्युपलभ्येत[10] ॥ ६६ ॥

**तेनेति**। तेन हेतुना अस्य लिङ्गिनो वासनाश्रयस्य जीवस्य तादृशं तदनुभावादियुक्तं पूर्वदेहसम्भवं श्रद्धत्स्वनिश्चयेन मन्यस्व। न ह्यननुभूतोऽर्थो मनःस्प्रष्टुं मनसि स्फुरितुमर्हसि ॥ ६७ ॥

किञ्च मनोवृत्त्यैव पूर्वापराणि शुभाशुभनिमित्तानि शरीराणि विज्ञायन्त[11] इत्याह - **मन** एवेति। भद्रं त इति सम्यगवधानार्थमाशिषाऽभिनन्दति। भविष्यत उद्भवं प्राप्स्यतो, नभविष्यतो नीचत्वं प्राप्स्यतोऽपि, भावीनि रूपाणि शंसति। मन एवौदार्यकार्पण्यादिवृत्तिभिः पूर्वमप्येवमेवासीत् पश्चादप्येवमेव भविष्यतीति भूतभाविरूपाणि[12-12] ज्ञापयतीत्यर्थः ॥ ६८ ॥

न कदाचिद्दर्शनानर्हमपि स्वप्ने प्रतीयते यथा पर्वताग्रे समुद्रो, दिवा नक्षत्राणि, स्वशिरश्छेद इत्यादि तत्राह - **अदृष्टमिति**। अन्यदेशाश्रय समुद्रादिकं पर्वताग्रे, निशाश्रयं नक्षत्रादिकं दिवा, अभ्यङ्गादिक्रियाश्रयं स्वशिरश्छेदनाश्रयं निद्रादिदोषेण हि[13] तथा प्रतीयत इत्यनुमन्तव्यं परस्यापि तदनुपपत्तेः तुल्यत्वादिति भावः ॥ ६९ ॥

---

1. M, Ma, Ms °शो 2. M, Ma, Ms °वः 3. M, Ma, Ms °तार्थं 4. M, Ma चेह 5. W य° 6. Ma कर्मानु 7. A, B, G, J, M, Ma, Ms, T वर्गशो; I बहुशो 8. M, Ma, Ms सुमनसो जवात् 9. V omits अननुभूतम् 10. A, B, V, Va लभ्यते 11. A, B, J, Va omit वि 12--12. B, J, V, Va omit 13. V omits हि तथा

ननु दरिद्रः क्वचिदात्मानं महाराजं[1] पश्यति महाराजश्च दरिद्रम्[2] आत्मानं पश्यति तत्कथमसम्भावितं सन्नच्छेत[3] तत्राह - **सर्व** इति। आयान्ति भोग्यत्वेन प्राप्नुवन्ति, यान्ति च भोगानन्तरम्। यदि च कश्चिदमना भवेत् तर्ह्येवं न स्यान्न त्वेतदस्तीत्याह - सर्वे सुम न स इति। अतः सर्वेषां समनस्कत्वात् मनसि च सर्वार्थानां क्रमेण प्रवेशान्नात्यन्तादृष्टचरः कस्यापि कश्चिदर्थोऽस्तीत्यर्थः॥ ७०॥

**वीर०** तदेव विवृणोति - **नानुभूतमित्या**दिना। यादृगात्मनः मृदात्मको घट इतिवदयं निर्देशः, यादृशस्य वस्तुनो यद्रूपम् अनेन देहेनोपलक्षितेन पुंसा कुत्रचिदपि न दृष्टं न श्रुतमिन्द्रियान्तरेण प्रमाणान्तरेण च[4] अननुभूतं तन्न कदाचित् स्वप्नमनोरथादिषूपलभ्यते न बुद्धिस्थं भवेत्। इहजन्मन्यननुभूतमपि किञ्चित्कदाचिद् बुद्धिस्थं भवति इच्छाविषयतया मनसि वर्तत इत्यर्थः॥ ६६॥

ततः किमित्यत्राह - **तेनेति**। अस्य लिङ्गिनः मनोयुक्तस्य पुंसः तेन अनुभूतार्थस्यैव मनोरथविषयत्वेन हेतुना हे राजन्! तादृशं मनोरथाविषयतदर्थानुभवयोग्यं देहसम्भवं श्रद्धत्स्व निश्चयेन मन्यस्व। अननुभूतार्थो न मनः स्प्रष्टुमर्हति। न ह्यननुभूतार्थो मनः मनसि स्प्रष्टुं स्फुरितुमर्हति न पूर्वकालाननुभूतार्थः कालान्तरे मनोरथविषयः स्यादित्यर्थः। अनुभूतार्थे एव मनोरथः इह जन्मन्यनुभूतार्थविषयमनोरथो वासनया सा च पूर्वानुभवादनुभवश्च देहयोगेनेति पूर्वजन्मसिद्धिः। जन्मतारतम्यनिर्हेतुकत्वायोगात् कर्मतारतम्य सिद्धिश्चेत्यर्थः॥ ६७॥

**मन एवेति**। इदानीं सदसद्रुचिविशेषान्वितं "मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति" (भाग. 4-29-68) प्रकृष्टाप्रकृष्टवासनानिमित्त सत्त्वादिगुणप्रचुरपूर्वदेहयोगाननुमापयति। भविष्यतो देहयोगान् न भविष्यतः वर्तमानान् सत्वादिगुणप्रचुरदेहयोगांश्च शंसति। सति सत्त्वैकनिष्ठे इति वक्ष्यमाणत्वात्। यद्वा न भविष्यतः अभविष्यतः वर्तमानमनुष्यरूपाणीत्यर्थः। भद्रं ते इति सम्यगवधारणार्थमाशिषाऽभिनन्दति॥ ६८॥

अननुभूतार्थानां मनोरथाविषयत्वं "नानुभूतं क्वचानेन" (भाग. 4-29-66) इति व्यतिरेकमुखेनाभिधायान्वयमुखेनाप्याह **अदृष्टमिति**। इह जन्मनि क्वचिदप्यदृष्टमश्रुतं च मनसि दृश्यते मनोरथगोचरो भवतीत्यर्थः, केनाकारेण मनोरथगोचरत्वं पूर्वानुभवश्च तत्राह - यथेति। देशकालक्रियाश्रयं देशाश्रयं कालाश्रयं क्रियाश्रयं च रूपं यथा यथा येन येन प्रकारेण बुद्धिस्थं भवति तत्तथानुमन्तव्यं न त्वेवम्भूतमिति कात्स्न्र्येन वक्तुं शक्यं, बुद्धिस्थानां रूपाणामानन्त्यादित्यर्थः। मम निवासदेश ईदृशः स्यात्, एवंविधः कालो भवेदहमेव करवाणीति मनुष्याणामसम्भावितमर्थविशेषं प्रति मनोरथ-सहस्रं यथारुचि मनसि वर्तते इति यावत्॥ ६९॥

---

1. A, B, J, Va राजा च 2. A, B, J, Va रङ्कम् 3. V °त् 4. A, B, T वा

ततः किम् ? पूर्वजन्मनः कर्मणश्च सिद्धावित्यत्राह - **सर्व** इति। इह जन्मनि मनोरथविषयभूताः पदार्थाः पूर्वजन्मनि क्रमेणेन्द्रियगोचरा भूत्वा क्रमेणेति मनस्सद्भावोऽपि दर्शितः। मनसोऽभावे सर्वेन्द्रियसम्बन्धाद्युगपत्सर्वेन्द्रियवृत्तिप्रसङ्गः, तत्सद्भावे तु येनेन्द्रियेण मनसः संयोगः तस्यैवेन्द्रियस्य व्यापार इत्युपपत्तिः। अत्र क्रमेणेन्द्रियगोचरा भूत्वा मनसि वर्तन्ते पूर्वानुभवजनितवासनाविशेषेण हि प्रतिपुरुषं रुचिविशेषः। न हि विना कारणेन कार्यं भवति एवं मनसि वर्तमानमनोरथसहस्रानुगुणं वासनानुमीयते, सा च पूर्वानुभवमनुमापयति, इह जन्मनि तादृगनुभवाभावाद्देहान्तरेण तदनुभव इति पूर्वजन्मसिद्धिः। जन्मतारतम्यस्य निर्हेतुकत्वायोगाद् विविधादृष्टसिद्धिरिति मनसः कर्मणः पूर्वजन्मनश्चोपादानं कृतं भवति। आयान्ति वासनोन्मेषादायान्ति बुद्धिस्था भवन्ति, यान्ति वासनाभिभवान्न बुद्धिस्था भवन्ति। यदि कश्चिदमना भवेत् तर्ह्येवं न स्यान्न त्वेतदस्तीत्याह - **सर्व** इति। अतः सर्वेषां समनस्कत्वात् मनसि च सर्वार्थानां क्रमाद्वासनानुसारेण प्रवेशान्नात्यन्ताननुभूतोऽर्थः कस्यापि कश्चिदस्तीत्यर्थः। नन्विह जन्मनि जन्मान्तरे वाऽनुभूतार्थ एव मनोरथविषय इत्युक्तम्। यद्येवं तर्हि मुक्तानन्दोऽपि मुमुक्षोः कदाचिन्मनोरथविषयो भवेदिति सोऽपि पूर्वमनुभूत एव स्यात् अस्त्विति चेन्न पुनर्जन्मानुपपत्तेः। "न च पुनरावर्तते" (छान्दो. उ. 1-15-1) इति श्रुतेः "अनावृत्तिश्शब्दात्"(ब्रह्म. सू. 4-4-22) इत्यादिसूत्रस्य च विरोधप्रसङ्गात्। मैवम्, प्रकृतिपरिणायात्मकदेहानुभाव्यानामेवाननुभूतानां मनोरथविषयत्वासम्भवाभिप्रायत्वात्तदुक्तेः। अस्तु वा मुक्तानन्दोऽपि मनोरथविषयस्तथापि मनोरथविषयो भवन् मुक्तानन्दः "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा" (तैत्ति. उ. 2-1-1) इत्यादिवाक्यावगतनिरतिशयानन्दरूपत्वेन परोक्षमेव मनोरथविषयो विषयो भवेत्। अनुभवोऽपि पूर्वं शब्दजन्यप्रमिति विषयत्वेन परोक्षमेव स्यात्। अत एव हि "यद्रूपं यादृगात्मनि (भाग- 4-29-64) "यथा तथानुमन्तव्यं देशकालक्रियाश्रयम्" (भाग. 4-29-67) इत्युक्तम्। यादृग्रूपेण पूर्वमनुभूतं तादृग्रूपेणैव मनोरथविषयो भवतीति हि तदर्थः, ततश्चेदानीं मनोरथविषयस्यापि मुक्तानन्दस्य "सोऽश्नुते" (तैत्ति. उ. 2-1-1) इत्यादि मुक्तानन्दप्रकरणावगतप्रकारवैशिष्ट्येन परोक्षमेव मनोरथविषयत्वात्तस्य पूर्वानुभवोऽपि तादृश एव कल्प्यत इत्यपरोक्षमनुभूयमान एव मुक्तानन्दः पुनर्भवाभावहेतुरिति न श्रुतिसूत्रादिविरोधः। न च देशकालादयोऽप्यपरोक्षं न मनोरथविषया इति, तेषामपि परोक्ष एव पूर्वानुभव इति, न कस्यापि साक्षात् पूर्वानुभवोऽनुमीयते इति वाच्यम्, अपरोक्षं प्राकृतदेहानुभवयोग्यानामपि परोक्षानुभवकल्पनायां मानाभावात्, कल्पकस्य परोक्षाविषयमनोरथस्य परोक्षमपरोक्षं वा[1] अनुभववस्तुविषयकत्वदर्शनादिति॥ ७०॥

**विज०** किञ्च प्राणिनां प्रवृत्तिवैचित्र्यं दृश्यते तदपि वासनावैचित्र्यं विना न च घटत इति भावेनाह - **नानुभूतमिति**। यद्रूपं

1. W च

यस्य शुक्लादिरूपं तद्यद्रूपं यादृग्जातिलक्षणं यस्य तद्यादृक् यद्वस्तु स्वात्मनि क्वचित् कस्मिंश्चिद्देशे कदाचित्काले अनेन ईदृग्देहेनादृष्टम् अश्रुतं वा अनुभूतमननुभूतं वाऽऽत्मनि मनस्युपलभ्येत[1] तेनोपलम्भेन पूर्वस्मिन् जन्मनि दृष्टं श्रुतमनुभूतमित्युपलभ्येत बुध्येत नत्वन्यथा। अनेन देहेन जाग्रदवस्थायामदृष्टमश्रुतमननुभूतं नोपलभ्येत[2] स्वप्ने, किन्तु स्वप्ने दृष्टादिकमेव यथा तथा पूर्वस्मिन् जन्मनि दृष्टादिकमनेन देहेन पश्यतीति वा॥ ६६॥

ननु कर्मणो देहाद्यारम्भकत्वं कथमित्यस्य चोद्यस्य परिहारः कथं स्फुटित इति तत्राह - **तेनेति**। यतः पूर्वकर्मानुसारेण दर्शनादिकं तेन तदनुसारेणास्य लिङ्गिनो देहसम्भवः तादृशः पूर्वानुसृत इति श्रद्धत्स्व आस्थां कुरु। कुत इत्यतः उक्तमेवार्थं स्मारयति - अननुभूतार्थमिति। यतः पूर्वस्मिन् जन्मनि अननुभूतो योऽर्थस्तं मनः स्प्रष्टुं नार्हति इत्यन्वयः॥ ६७॥

ननु देहवन्मनसोऽप्यनेकत्वे कथमेतदुक्तं घटत इत्याशङ्क्यामोक्षं लिङ्गशरीरवद्बाह्यान्तः करण मेकमेवेत्यभिप्रेत्याह - **मन** इति। मनसोऽनेकत्वे पूर्वानु भूतहिता दिज्ञापनमनुपपन्नं स्यादित्यर्थः "रूपं शब्दे पशौ श्लोके ग्रन्थावृत्तौ हितादिषु" (वैज.को-6-3-28) इति यादवः। स्वानुभवसिद्धः सर्वानु भूतार्थोऽपि कर्मणो देहाद्यारम्भकत्वं युक्तं मनसा संयुक्तत्वादित्यतो वा आह - मन इति। यथा ते तव मनो भविष्यतः तथा न भविष्यतो वर्तमानस्य तव मनः पूर्वरूपाणि शंसति एवं भविष्यतोऽपि तावद्भद्रं ज्ञापयतीति वा॥ ६८॥

ननु यदवादि पूर्वानुभूतमेव मनः स्प्रष्टुमर्हति नाननुभूतमिति, तदयुक्तं यतः स्वप्नादौ स्वशिरश्छेदनादिकमत्यन्तादृष्टचरं दृश्यते तत्राह - **अदृष्टमिति**। इह जन्मन्यदृष्टमश्रुतं वा क्वचिन्मनसि दृश्यते तद्यथा घटते तथानुमन्तव्यम्। घटनीयं कथमत्राह - देशेति। देशकालक्रियाः आश्रयो यस्य दर्शनस्य तत्तथा देशान्तरे शिरः कालान्तरे छेदनक्रियां दृष्ट्वा स्वप्ने तयोः सामानाधिकरण्यं भ्रान्त्या पश्यतीति, अथवा नानुभूतमित्यनेन यदवादि तदनेनानुमीयते अत्र जन्मनि यददृष्टादिकं दृश्यते मनसि तद्यथा पूर्वजन्मनि दृष्टं श्रुतमनुभूतं तथानुमानं कर्तव्यं, जाग्रति बाह्याली प्रदेशे पूर्वाह्णे चरन्तमश्वं दृष्ट्वा स्वप्ने यथा तदवस्थं पश्यति तथा कर्माण्यपि तथार्यावर्ते द्वापरे सम्भूतोऽर्जुनः पञ्चतामुपेत्य केरलदेशे कलिकाले जातो यदत्रादृष्टादिकं पश्यति करोति वा तदार्यावर्ते द्वापरेऽनुष्ठितमिति ज्ञातव्यं, दृष्टश्रुतदर्शनादिमात्र एव दृष्टान्त इति न विरोधः॥६९॥

ननु यदि पूर्वदृष्टादिकमेवेदानीं दृश्यते श्रूयते इति मतं तर्हि जन्मनामनन्तत्वादहमहमिकया युगपद्दर्शनादिकं प्रसज्येत तदयुक्तं विरोधादत्राह - **सर्व** इति। ये सर्वे शब्दादयो विषया बहुजन्मस्विन्द्रियद्वारेण मनसि प्रविष्टा वासनारूपेण स्थितास्ते सर्वेन्द्रियगोचरा विषयाः सुमनसो देवस्य हरेरिच्छया क्रमानुरोधेन क्रममनुसृत्य, मनसि जीवे वर्गश आयान्ति जवाद्वेगात् यान्ति च नदीप्रवाहवदित्यन्वयः

1. A. B लभ्यते 2. A. B लभ्यते

इन्द्रियद्वारेण मनसि प्रविष्टा इन्द्रियगोचराः शब्दादयः क्रमशो जीवे वर्गशः आयान्ति पुनः सुष्ठु मनसो वेगाद्यान्ति च सर्वपदार्थानामिह जन्मनि जन्मान्तरे वा मनसि इन्द्रियद्वारेण प्रवेशात् संस्कार रूपेण स्थिरत्वात् इहादृष्टस्य वाश्रुतस्य वानुभवो युज्यते इत्यतो वाह-सर्व इति। दवीयसि देशे काले चानुभूता नामधुनानुभवः कथं घटत इत्यतो वाह - सर्व इति। अचिन्त्यानन्तेश्वरशक्तिः प्रयोजिकेति सन्तोष्टव्यम्॥ ७०॥

**सत्त्वैकनिष्ठे मनसि भगवत्पार्श्ववर्तिनि।**
**तमश्चन्द्रमसीवेदमुपरज्याव भासते॥ ७१॥**

**नाहं ममेति भावो[1]ऽयं पुरूषे व्यवधीयते।**
**यावत्[2] बुद्धिमनोऽक्षार्य गुणव्यूहो[3] ह्यनादिमान्॥ ७२॥**

**सुप्तिमूर्छोपतापेषु प्राणायनविघाततः।**
**नेहतेऽहमिति ज्ञानं मृत्युप्रज्वारयोरपि॥ ७३॥**

**गर्भे बाल्येऽप्यपौष्कल्यादेकादशविधं तथा[4]।**
**लिङ्गं न दृश्यते[5] यूनः कुह्वां चन्द्रमसो यथा॥ ७४॥**

**अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।**
**ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥ ७५॥**

**श्रीध०** तदेवं सर्वैरपि सर्वेऽर्थाः क्रमेण दृश्यन्ते इत्युक्तम्, इदानीं युगपदपि सर्वदर्शनं कदाचिद्भवतीत्याह - **सत्त्वेति। सत्त्वैकनिष्ठे** [6-]सत्त्वमेव एका निष्ठा आलम्बनं यस्य, तस्मिन्[-6], भगवत्पार्श्ववर्तिनि भगवद्ध्यानपरे मनसि इदं विश्वमुपरज्य संयोगमिव प्राप्यावभासते। प्रतीत्यनर्हस्यापि कदाचित्प्रतीतौ दृष्टान्तः - चन्द्रमस्युपरज्य तमो राहुरिव तदिदं शुद्धे[7] मनसि सर्वविषयस्फुरणं योगिप्रत्यक्षमिति प्रसिद्धम्॥ ७१॥

तदेवं स्थूलदेहनाशेऽपि लिङ्गदेशस्यानाशादन्यः कर्ताऽ[8]न्यो भोक्तेति दोषो नास्तीत्युक्तम्। तत्रैवं शङ्कते। ननु लिङ्गदेहस्य स्थूलदेह[9]द्वारेणैव कर्तृत्वभोक्तृत्वे न तु केवलस्य तत्र कदाचित् स्थूलदेहाभावे जीवस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वाभावान्मुक्तिः प्रसज्येत तत्राह

1. W °वो यः 2. M, Ma, Ms ता° 3. W गूढो 4. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T तदा 5. M. Ma °तेऽयूनः 6--6. A सत्त्वे एव एका निष्ठा यस्य; B, J, Va omit 7. V शुद्धमनसि 8. B, J, Va omit अन्यः 9. V omits देह

- **नेति**। अहम्ममेति भावः स्थूलदेहसम्बन्धः पुरुषे जीवे न व्यवधीयते न विच्छिन्नो भवति। किम्पर्यन्तम्? बुद्ध्यादीनां व्यूहः परिणामो लिङ्गं यावदस्ति अनादिमानादिस्सन्॥ ७१॥

स्वापादौ अहङ्काराद्यभावात्तद्विच्छेदमाशङ्क्याह - **सुप्तीति** द्वाभ्याम्। सुप्त्यादिषु उपताप इष्टवियोगादिदुःखम्, तेष्वहमिति ज्ञानमहङ्कारो नेहते न प्रकाशते प्राणायतनानामिन्द्रियाणां विघातात्[1]। इन्द्रियैरिद[2]ङ्कारास्पदवस्तुग्रहणे ह्यहङ्कारः स्फुरति नान्यथेत्यर्थः॥ ७३॥

**गर्भ** इति। अपौष्कल्यात् असम्पूर्णत्वात् प्राणायतनानामिति[3] शेषः। यूनः तरुणस्य यदेकादशविधमेकादशेन्द्रियैः स्फुटं लिङ्गमहङ्कारकारणं तन्न दृश्यते। गर्भादाविति शेषः[4]। सतोऽप्यनभिव्यक्तौ दृष्टान्तः - कुह्वाम् अमावास्यायां चन्द्रमसो लिङ्गं रूपमिव॥ ७४॥

तस्मादहङ्कारास्पदस्य स्थूलदेहस्याविच्छेदाद् वस्तुभूतार्थाभावेऽपि संसृतिनिवृत्तिर्नास्तीत्याह - **अर्थे** हीति॥ ७५॥

**वीर०**[5] इदमेवाभिप्रेत्याह - **सत्त्वैकनिष्ठ** इति। सत्त्वैकप्रचुरे मनसि भगवत्पार्श्ववर्तिनि भगवद्भजनोपक्रमं कुर्वाणे सति तम अज्ञानं चन्द्रमस्युदिते सति तमस्तिमिरमिव उपरज्यावभासते उपरागवत् भूत्वावभासते ज्ञानशबलमवभासते, चन्द्रोदये हि आदित्योदय इव न निश्शेषतमः क्षयः, अपि तु ज्योत्स्नामिश्रं तमः, एवं भगवद्भजनोपक्रमदशायां ज्ञानमज्ञानशबलं वर्तते शास्त्रजन्यज्ञानस्य परोक्षरूपत्वात् ब्रह्मस्वरूपवदानन्दादयः परोक्षमेव विषया भवन्तीत्यर्थः। देहात्मभ्रमस्य देहसम्बन्धाधीनसुखदुःखादेश्चापरोक्षत्वात्ते साक्षादनुभवविषया एवेति भावः॥ ७१॥

किं वक्तव्यं संसारदशायां ब्रह्मस्वरूपतदानन्दादिकमपरोक्षं नावभासत इति यतः स्वात्मस्वरूपमेवापरोक्षं नावभासत इति सहेतुकमाह - *अहमिति। अनादिमान् जीवः अक्षमिन्द्रियम्, अर्थाः शब्दादयः, गुणः सत्त्वादिः एतैः यावद्गूढः आवृतः। व्यूह इति पाठे यावद्बुद्ध्यादयो व्यूहः सङ्घो यस्येत्यर्थः। तावदहम्ममेति भावो व्यवधीयते, व्यवधिवदाचर्यते स्वरूपतिरोधायकः अहम्ममाभिमानो न निवर्तते किन्त्वनुवर्तते इत्यर्थः॥ ७२॥

किमुत संसारिणो जीवस्य बुद्ध्यादिभ्यो विलक्षणं स्वस्वरूपमपरोक्षं नावभासत इति यतोऽनहमर्थोऽप्यज्ञानादहम्बुद्धिविषयत्वे नावभासमानो देहः सुषुप्त्यादौ नावभासत इत्याह - **सुप्तीति**। उपतापशब्देनातिशयितदुःखसम्भेदो विवक्षितः, मृत्युर्मरणं, प्रज्वारो ज्वरः, उपलक्षणमेतत्। ज्वरादिमूले मरणे चेति यावत्,

---

1. A, B, J, Va °यना 2. 3. A, B, J, Va °यना° 4. B, J, Va omit शेषः। 5. T एवमे°

* यद्यपि नाहंममेत्यादिरूपः मुद्रितः श्लोकः, तथापि अहं ममेत्यादिरूप एव श्रीवीरराघवव्याख्यानुसारोपाठः आदृतः

एतास्ववस्थासु प्राणायनस्य[1-] प्राणाश्रयस्य[-1] जीवस्य, विघाततः ज्ञानस्यातिसङ्कोचात्। न[2] हि ज्ञानसङ्कोचादपरः[3] तदानीं विघातः सम्भवति, तेनाहमिति ज्ञानं नेहते न स्फुरति देहेऽहम्बुद्धिर्नास्ति देहप्रतिपत्त्यभावादित्यर्थः ॥ ७३ ॥

ननु सुप्त्यादावपि[4] ज्ञानकर्मोभयेन्द्रियगुणस्य मनसश्च सद्भावादहमिति ज्ञानं कुतो नेहते ? तत्राह - **गर्भ** इति। यूनः तरुणस्य स्फुटं यदेकादशविधं लिङ्गं कर्मेन्द्रियज्ञानेन्द्रियमन आत्मकं लिङ्गं, व्यापारहेतुभूतं तद्गर्भे बाल्ये। अपिशब्दात् सुषुप्त्यादौ चापौष्कल्यात् अपुष्कलशक्तित्वान्न दृश्यते नाभिव्यक्तं नष्टप्रायं भवतीत्यर्थः। सतोऽप्यनभिव्यक्तौ दृष्टान्तः - कुह्वाममावास्यायां चन्द्रमसो लिङ्गं रूपमिवेति ॥ ७४ ॥

ननु यदि गर्भादौ लिङ्गमेकादशविधमनभिव्यक्तं तर्हि तद्व्यापारभावात् संसृतिर्न स्यादित्यत्राह - **अर्थेति**। अनभिव्यक्तशक्तित्वादिन्द्रियाणां तद्व्यापाराभावादर्थे शब्दादिविषये, अविद्यमानेऽपि शब्दादिविषयानुभवाभावेऽपि विषयान् ध्यायतः "वर्तमानसमीपे भूते लट् शत्रादेशः" विषयध्यानप्रयुक्तवासनाविशिष्टस्येत्यर्थः। संसृतिः[5-5] न निवर्तते तद्रागानुवृत्त्या संसारोऽनुवर्तते यथा स्वाप्नपदार्थानां प्रबोधदशायामविद्यमानत्वेऽपि स्वाप्नार्थज्ञानसूचितसुखदुःखाद्यनर्थागमः तद्वदित्यर्थः। तथा[6] च श्रुतिः-"यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिंश्च स्वप्नदर्शने" इति। "अथ स्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति। स एनं हन्ति" इत्यादिका ॥ ७५ ॥

**विज०** जीवस्य मन आदेः स्वरूपत्वेऽनेकजन्मानुभूतपदार्थसंस्काराणामनेकत्वेन तदनुभवेनैव कालागमनात् कदाचिन्मुक्त्यनुदयेन यावज्जीवं संसार एव स्यात्, अस्वरूपत्वे लिङ्गशरीरादेः स्थूलदेहनाश एव नाशसम्भवेन पूर्वदृष्टादिपदार्थदर्शनाद्यनुपपत्तिरिति तत्राह - **सत्त्वैकनिष्ठ** इति। सत्त्वोजीवः तदेकनिष्ठे तद्रूपे भगवत्पार्श्ववर्तिनि भगवद्विषये मनसि इदं लिङ्गं शरीरादिकमुपरज्य स्वेच्छया सङ्गमय्यावभासते भिन्नतयेति शेषः। कथमिव चन्द्रमसि तमो राहुरिव मेघान्धकारो वा लिङ्गशरीरादेरस्वरूपत्वेऽपि भगवदपोक्षज्ञानं विना स्थूलदेहनाश एव नाशाभावात् चिरायुष्ट्वेन स्थितिसम्भवात् पूर्वकर्मनिमित्त सुखदुःखानुभवो घटत इति भावः। यद्वा सत्त्वगुणस्यैकत्वनिष्ठोत्कर्षो यस्मिंस्तत् सत्त्वैकनिष्ठं तस्मिन्। भगवत्पार्श्ववर्तिनीत्यनेन सत्त्वगुणोत्कर्षं लक्षयति, अन्यथा तन्न स्यात् एवंविधमनसि इदं दुःखादिकमुपरज्यावभासते प्रतीयते, निदर्शनं व्याख्यातार्थम् ॥ ७१ ॥

नन्वेवं तर्हि कियन्तं कालमिदं दुःखादिकमवभासते इति तत्राह - **नाहमिति**। यावत्पुरुषेऽनादिमानयमहम्ममेति भावो न

---

1--1. A, T omit  2. A, B, T सहि  3. A, B, T add पयोयः  4. A, B, T सुषुप्त्या°  5--5. A, B, T omit  6. A, B, T य°

व्यवधीयते, तिरोहितो नष्टो न भवति, तावत् बुद्धिमनोऽक्षार्थगुणव्यूहः संसारोऽपि न तिरोहितो भवतीत्यर्थः। अनादिमानिति व्यूहविशेषणं वा, अनेन संसारस्य मिथ्यात्वं निराचष्ट "अक्षमिन्द्रियं भ्रोतः" (हला.को.२-३८०) इत्यभिधानम्॥ ७२॥

ननु यद्यहम्ममेति भावतिरोभावः पुरुषार्थस्तर्हि[1] सुप्त्यादौ तत्सद्भावात्तदनुदयः कथमत्राह - **सुप्तीति**। सुप्त्यादौ प्राणानामिन्द्रियाणामयनस्य प्रवृत्तिलक्षणस्य विघाततो निरोधादभावादहमिति ज्ञानं नेहते नाभिव्यज्यते, तथापि स्वरूपेन्द्रियेणास्त्येव, सुखमहमस्वाप्समित्युत्तरकालीनानुभवदर्शनात्तदा तदभावे परामर्शानुपपत्तेः। उपतापः पुत्रादिवियोगदुःखानलज्वालाप्रवेशनं, मृत्युर्[2]पमृत्युः देवदूतैर्नीतस्य किमर्थमानीतोऽयं नयतः स्वस्थानमिति वचनात् प्रत्यानयनदर्शनानुभावात् साक्षाद्देहवियोगलक्षण-मरणेऽहमिति ज्ञानं सन्देहेत्। प्रज्वारोऽतिरोगावस्था॥ ७३॥

ननु हन्तैवं तर्हि गर्भादिरुत्क्रान्तस्य तत्कालीनसुखदुःखपरामर्शादर्शनादत्राह - **गर्भ** इति। गर्भे वर्तमानस्य बाल्ये वयसि स्थितस्यायूनः बालस्य पुंसोऽपौष्कल्यादनुपचितावयवत्वात् पञ्चपञ्चज्ञानकर्मभेदेन सङ्ख्यातानीन्द्रियाणि मनश्चेत्येकादशविधमेकादशभ्यो विधीयते उत्पाद्यतेऽहम्ममेति ज्ञानाख्यं लिङ्गं लक्षणं न दृश्यते न ज्ञायते उक्तहेतोरित्यन्वयः। यावान् यावाञ्छरीरस्योपचयस्तावदिन्द्रियाणां पौष्कल्यं, तस्मिन्नुपचिते तेषामिति नियमात् तन्निमित्तमहम्ममेति ज्ञानं, तदभावे तदभाव इति गर्भादौ तदभाव इत्यर्थः। अत्रास्पष्टमात्रे दृष्टान्तमाह - चन्द्रमस इति। यथाऽमावास्यायां चन्द्रमसो लिङ्गं शरीरं न दृश्यते तथेति॥ ७४॥

ननु चन्द्रबिम्बावरणनिवृत्तिवदयं गर्भवासादि लक्षणः संसारोऽपि कालेन स्वतो निवर्तत इति तत्राह - **अर्थ** इति। अपि सम्भाविते ज्ञानलक्षणेऽर्थेऽविद्यमाने सत्यस्य जीवस्य संसृतिर्न निवर्तते हि यस्मात् तस्मात् निवर्तकमपेक्षितमित्यन्वयः। निवर्तकानुदये निमित्तमाह - ध्यायत इति। शब्दादिविषयध्यानं प्रतिबन्धकमित्यर्थः। स्वप्ने प्रवर्तमानस्य पुंसः प्रबोधाद्यभावेऽनर्थागमो यथा न निवर्तते तथेति विषयध्यानेन संसारपरम्परास्यादित्यभिप्रायेणानर्थागम इत्युक्तम्। चन्द्रबिम्बावरणानां मेघादीनां वाय्वादिसद्भाव एव कारणं प्रत्यक्षसिद्धमिति ज्ञातव्यम्॥ ७५॥

**[3]एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत् षोडशविस्तरम्।**
**एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयते॥ ७६॥**

**अनेन पुरुषो देहानुपादत्ते विमुञ्चति।**
**हर्षं शोकं भयं दुःखं सुखं चानेन विन्दति॥ ७७॥**

---

1. Ma adds तस्मिन् 2. A omits अपमृत्युः 3. M. Ma. Ms एकं 4. A, B, G, I. J. T. W विस्तृतम्

**यथा तूर्णजलूकेयं[1] नोपयात्यपयाति[2] च।**
**न त्यजेन्म्रियमाणोऽपि प्राग्देहाभिमतिं जनः॥**
**यावदन्यं न विन्देत व्यवधानेन कर्मणाम्[3]॥ ७८॥**

**मन एव मनुष्येन्द्र भूतानां भवभावनम्।**
**यदक्षैश्चरितं[4] ध्यायन्[5] कर्माण्याचिनुतेऽसकृत्[6]॥ ७९॥**

**सति कर्मण्यविद्यायां बन्ध कर्मण्यनात्मनः[7]।**
**अतस्तदवबोधार्थं[8] भज सर्वात्मना हरिम्॥ ८०॥**

**श्रीध०** यावल्लिङ्गं स्थूलदेहाविच्छेदात् संसारनिवृत्तिरित्येतत्प्रपञ्चयति[9] - **एवमिति** सार्धैस्त्रिभिः। पञ्चविधं पञ्चतन्मात्रात्मकम्। त्रिवृत् त्रिगुणात्मकम्[10]। षोडशविकारात्मना विस्तृतम्॥ ७६,७७॥

नन्वेकं देहं विसृज्य देहान्तरप्रवेशात्पूर्वं[11] अदेहता स्यादेवेत्यत आह - **यथेति**। नापयाति पूर्वतृणस्यात्यागात् अपयाति च तृणान्तरधारणात्। तथा जनः[12] म्रियमाणोऽपि प्राग्देहाभिमतिं पूर्वदेहाभिमानं[13-13] न त्यजेत्। अन्यं देहम्। कर्मणां प्राग्देहारम्भकाणां व्यवधानेन विच्छेदेन समाप्त्या॥ ७८॥

प्रकरणार्थमुपसंहरति - **मन एवेति**। भवभावनं संसारहेतुः। कथमिति[14] तदाह - यदिति। चरितानुपभुक्तान् यतः कर्मणि सति॥ ७९॥

ननु असङ्गस्य कुतः कर्म तत्राह - **सतीति**। अविद्यायां सत्यामनात्मनो देहादेः कर्मणि बन्धो भवति। अत इति। ते[15] अविद्यादीनां नाश एव अर्थो यस्य तथा सन्[15]। विश्वस्थित्यादयो यतो हरेर्भवन्ति॥ ८०॥

**वीर०** एवं प्रश्नस्योत्तरमभिधाय पुनरपि स्मरणाय देहात्मनोराकारं वदन् देहसम्बन्धस्योत्तरोत्तरदेहसम्बन्धद्वाराऽनर्थहेतुत्वमाह - **एवमिति**। पञ्चविधं पञ्चप्रकारं पञ्चभूतात्मकं, षोडशविस्तरम् एकादशेन्द्रियतदाश्रयप्राणादिपञ्चकोपेतं, त्रिवृत् त्रिगुणात्मकं, लिङ्गं

---

1. M. Ma °का च 2. A. B. G. I. J. T ना° 3. W °णा 4. A. B. G. I. J. T यदाऽ° 5. A. B. G. I. J. T. W °तान् 6. V °णि कुरुते° 7. M, Ma, Ms कर्मण्य आत्मनः; W कर्मज आत्मन। 8. A, B. G. I. J. T °दप वादार्थ; M. Ma °दप बाधार्थं; Ms °दव बाधार्थं। 9. V °न्नि° 10. A, B, J, Va °णम्। 11. A, B, J, Va वि 12. A. B. J. Va omit जनः 13--13. A. B. J. Va omit 14. A. B. J, Va कथं सति 15--15. A. B. J. Va omit

शरीरम् एवम्भूतमिति देहाकार उक्तः । जीवस्वरूपमाह - एष इति । चेतनया युक्तः एष जानामीति ज्ञानाश्रयतया स्फुटतरमवभासमानोऽहमर्थो जीव इत्यभिधीयत इत्यर्थः ॥ ७६ ॥

अनेन लिङ्गेन युक्तः तदेदानीमवभासमानः स पुरुषः ईदृशान् बहुदेहानुपादत्ते, विमुञ्चति तत्कृतहर्षशोकादिकं च विन्दति, आगामिसुखविषयं ज्ञानं हर्षः, आगामिदुःखविषयं ज्ञानं भयं, तत्र देहानुपाददत्[1] जीव अनेनोपादीयमानेन रमणीयदेहेन हर्षं सुखं च विन्दति, अनभिमतेन तु शोकं, विमुच्यमानेन तु भयं दुःखञ्च विन्दति, उपात्तदेहत्यागस्यानिष्टत्वात् ॥ ७७ ॥

अनिष्टतामेवाह - **यथेति** । यथेयं प्रसिद्धा तृणजलूका । स्वावष्टब्धं[2] तृणं हित्वा नोपयाति तृणान्तरं प्रति न गच्छति, किन्तु तदेव तृणमुपयाति[3] दृढतरं संश्लिष्यति । एवं म्रियमाणोऽपि जनः मरणे प्राग्देहाभिमतिं न त्यजतीत्यर्थः । नापयात्यपयाति चेति पाठे यथैव दैववशादपयाति मनसा त्यक्तुं नेच्छति । देहाभिमानपरित्यागस्यावधिमाह - यावदिति । कर्मणां व्यवधानेन कर्मभिस्तिरोधानेन यावद्देहादन्यमात्मानं न विन्देत तावन्न त्यजेदित्यर्थः ॥ ७८ ॥

प्रकरणार्थमुपसंहरति - **मन** इति । हे मनुष्येन्द्र ! भूतानां भवभावनं जन्महेतुर्मन एव । तदेवोपपादयति । अक्षैरिन्द्रियैश्चरितान् पूर्वमुपभुक्तान् विषयान् यद्येन मनसा ध्यायन् कर्माण्यसकृदाऽऽचिनुते करोति ॥ ७९ ॥

सति कर्मण्यविद्याया बन्धः, अविद्याया इति पञ्चमी, कर्मणि सति तत्कृतदेहेनाहङ्कार ममकाररूपाविद्याया आत्मनो बन्धः स्यात्, स चाविद्याया बन्धः कर्मकृतः, कर्म च विषयानुभवहेतुः अविद्यया कर्म, कर्मणा चाविद्येति अनादिः प्रवाहः इत्यर्थः । तन्मोचनोपायमाह - **अत** इति । तस्य देहविलक्षणस्य ब्रह्मात्मकस्य स्वात्मनः अवबोधार्थं सर्वात्मना करणत्रयेण हरिं भगवन्तं भज आत्मापरोक्षमपि भगवत्प्रसादादेव भवतीति भावः ॥ ८० ॥

**विज०** देहात्मबुद्धेः संसारस्य तत्त्वेन प्रतीतिः कथमित्याशङ्क्य योन्यम्योरिव चिदचिदोः संयोगलक्षणसम्पर्कादौपचारिकीयं प्रतीतिरित्यभिप्रेत्य तत्स्वरूपं निरूपयति - **एकमिति** । एकं लिङ्गं लिङ्गशरीरं षोडशविस्तरं कथम् ? त्रिवृत् प्राणेन्द्रियान्तः करणभेदेन त्रिविधम्, अनेन षोडशविस्तरत्वमवगतं, कथम्? पञ्चविधं, त्रिधा भिन्नया पञ्चविधया पञ्च प्राणाः, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणीति पञ्चदशविधं, मनसा षोडशविधं तदुक्तं - "प्राणेन्द्रियान्तः करणभेदेन त्रिविधं मतम् । पञ्च पञ्चैव ते सर्वे प्राणा बुद्धीन्द्रियाणि च । कर्मेन्द्रियाणि च तथा तस्मात्पञ्चविधं स्मृतम् । लिङ्गं षोडशकं प्राहुर्मनसा सह तत्पुनः ॥" (ब्राह्मे) इति । एष षोडशविस्तारो देहश्चेतनया युक्तो जीवः प्राणीत्युच्यते, इति शब्दोऽत्र समाप्तिवचनः ॥ ७६ ॥

---

1. A, B, T दत्तं 2. A, B, T °ष्टम्भतृणं 3. W °यान्ति

अनेन लिङ्गशरीरेण स्थूलदेहानुपादत्ते। अनेन स्थूलदेहेन हर्षादिकमाप्नोति ॥ ७७ ॥

ननु यदानेन संसारी स्थूलदेहानुपादत्ते, तदा हर्षादिकं विन्दते, यदा तान् मुञ्चति तदा निवृत्तहर्षादित्वेन मुक्तिः स्यादित्यत्राह- **यथेति**। तृणजलूका कीटविशेषः यावदन्यत्तृणं न विन्देत तावन्नोपयाति, यावत् विन्देत[1] तावदेवापयाति पूर्वं गृहीतं विसृज्य पश्चात्तृणान्तरं यथा याति तथायं जनो म्रियमाणोऽपि पूर्वदेहाभिमतिं न त्यजेत्, देहान्तरं प्राप्य पूर्वं त्यजतीत्यर्थः। किमिति झटिति न त्यजतीति तत्राह- व्यवधानेनेति। कर्मणां प्राचीनानां व्यवधानेन विलम्बफलदातृत्वेन हेतुना अनेकेषां पूर्वेषां कर्मणां सत्वेन भगवत्प्रसादमन्तरेण विनाशानुपपत्तेः सर्वदेहवियोगासम्भवेन मुक्त्यनुदय इति भावः ॥ ७८ ॥

अनर्थदर्शनेन जातया विरक्त्या कर्माकरणेन तत्समाप्तेर्देहारम्भककर्माभावेन देहाभावान्निर्वाणोपपत्तिरिति तत्राह - मन एवेति। मनस्सम्प्रयुक्तैरक्षैश्चरितं कर्म ध्यायन् तदनुसारेणासकृत् कर्माण्याचिनुते करोतीति यत् तस्मात् मन एव भूतानां भवं संसारं जन्म वा भावयति उत्पादयतीति भवभावनं, मनः प्रधानत्वद्योतनार्थ एवशब्दः "न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" (भ.गी. 3-5) इति स्मृतेः ॥ ७९ ॥

अविद्यायां विषयेच्छायां सत्यां कर्म भवति, तस्मिन् सत्यात्मनो जीवस्य बन्धः "कर्मण्यः कर्महेतुकः" इति यदतस्तदपबाधार्थं कर्मनिवृत्त्यर्थं, सर्वात्मना पुत्रादिस्नेहत्यागेन हरिं भजेत्यन्वयः। एनं जीवं बन्धयामीतीश्वरेच्छायां वा तस्येच्छया अपसरणार्थम्। न बन्धयामीति ॥ ८० ॥

**पश्यंस्तदात्मकं विश्वं स्थित्युत्पत्त्यप्यया यतः ॥ ८१ ॥**

***भक्तिः कृष्णे दया[2] जीवेष्वकुण्ठज्ञानमात्मनि।**
**यदि[3] स्यादात्मनो भूयादपवर्गस्तु संसृतेः ॥ (क)**

**अदृष्टं दृष्टवन्न[4]ङ्गेत् भूतं स्वप्नवदन्यथा।**
**भूतं भवद्भविष्यच्च सुप्तं सर्वरहोरहः[5] ॥ (ख)**

****अन्नमय्या समुज्जिन्या व्यभिचार्यत्र सङ्गमः।**
**तत्र शरीर आनन्दः आकाशपुरुषोन्वयात् ॥ (ग)**

---

1. A, B विन्दते * The following two verses are found in M, Ma, Ms & V edns, only and the commentary on the same verses is found in M, Ma only 2. V यथा 3. V यर्हि 4. V °न्नष्टं 5. V °महो ** This extra verse is found in V edn only and it was not commented

## मैत्रेय उवाच

भागवतमुख्यो भगवान्नारदो हंसयोर्गतिम्।
प्रदर्श्य नृपमामन्त्र्य[1] सिद्धलोकं ततोऽगमत्॥ ८२॥

प्राचीनबर्ही राजर्षिः प्रजासर्गाभिरक्षणे[2][3]।
आदिश्य पुत्रानगमत्तपसे कपिलाश्रमम्॥ ८३॥

तत्रैकाग्रमना धीरो[4] गोविन्दचरणाम्बुजम्।
विमुक्तसङ्गोऽनुभजन् भक्त्या तत्साम्य[5]तामगात्॥ ८४॥

एतदध्यात्मपारोक्ष्यं गीतं देवर्षिणाऽनघ।
यः श्रावयेद्यः श्रृणुयात्स लिङ्गेन विमुच्यते॥ ८५॥

एतन्मुकुन्दयशसा धुवनं पुनानं देवर्षिवर्यमुखनिस्सृतमात्मशौचम्।
यः कीर्त्यमानमधिगच्छति[6] पारमेष्ठ्यं नास्मिन् भवे भ्रमति मुक्तसमस्तबन्धः॥ ८६॥

अध्यात्मपारोक्ष्यमिदं मयाऽभिहितमद्भुतम्[7]।
एवं स्त्रियाऽऽश्रमः[8] पुंसश्छिन्नोऽमुत्र च संशयः॥ ८७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे एकोऽनत्रिंशोऽध्यायः॥ २९॥

**श्रीध० भागवतमुख्य** इति। हंसयोः जीवेश्वरयोः॥ ८२॥

**प्राचीनबर्हिरिति**। [9-]प्रजासर्गः पुत्रोत्पादनं जगदभिरक्षणं चेति द्वन्द्वैक्यम्[-9]। पुत्रानादिश्येति पुत्राणामादेशं मन्त्रिणामग्रे कथयित्वा। [10-]कपिलाश्रमं गङ्गासागरसङ्गमम्[-10]॥ ८३,८४॥

---

1. A. B, G, I, J, M, Ma, Ms, T ह्यमुमा° 2. Ms °र्गेऽभि° 3. V °णम् 4. A, B, G, I, J, M, Ma, T वीरो 5. V °त्समता° 6. V °भि
7. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T °धिगत° 8. M, Ma, Ms त्रैय्याऽऽश्रयः 9--9. A, B, J, Va omit स 10--10. V omits

**एतदिति**। लिङ्गेन[1-] विमुच्यते विदेहकैवल्यं प्राप्नोति[-1]॥ ८५॥

**एतदिति**। एतत्[2-] अध्यात्मपारोक्ष्यम्[-2] आत्मशौचं मनश्शोधकं पारमेष्ठ्यं सर्वोत्कृष्टफलप्रदम्[3]॥ ८६॥

**अध्यात्मेति**। स्त्रीबुद्धिः तत्सहितस्याश्रमोऽहङ्कारः छिन्नो भवति, अमुत्र कर्मफलभोगः कथमिति संशयश्च छिन्नः॥ ८७॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्री श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां एकोनत्रिंशोऽध्यायः॥ २९॥

**वीर०** कथम्भूतो जानीयात्तत्राह - विश्वं चिदचिदात्मकं जगद्भगवदात्मकं पश्यन् विश्वस्य तदात्मकत्वे हेतुं वदन् हरिं विशिनष्टि। यतो हरेर्हेतोः विश्वस्य स्थितिरप्ययो नाशश्चेत्यमी भवन्ति हरेः विश्वस्थित्यादिकारणत्वाद्धर्यात्मकं विश्वं पश्यतीत्यर्थः। स्थित्यादीनां तदात्मकत्वे हेतुत्वं श्रुतम्। ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति'' (छान्दो उ. ३-१४-१) इति॥ ८१॥

संवादमुपसंहरति मुनिः। भागवतानां मध्ये मुख्यः भगवान्नारदो हंसयोः जीवपरयोर्गतिं स्वरूपं प्रदर्श्य उपदिश्य नृपं प्राचीनबर्हिषम् आमन्त्र्य अनुज्ञाप्य ततो ब्रह्मलोकमगात्॥ ८२॥

ततः प्राचीनबर्हिः प्रजासृष्टौ तद्रक्षणे च स्वपुत्राननुज्ञाप्य स्वयं तपश्चर्तुं कपिलाश्रममगात्॥ ८३॥

तत्र चाश्रमे धीरो वशीकृतेन्द्रियः, एकाग्रचित्तः विविक्तो भगवच्चरणाम्बुजं ध्यायन् तद्भक्त्या तत्साम्यतां तेन साम्यं यस्येति बहुव्रीहिः तत्साम्यवत्तामित्यर्थः, इयादगात्। तत्सात्मतामिति पाठे तेन भगवता समानात्मता[4] तत्साधर्म्यमित्यर्थः॥ ८४॥

श्रवणश्रावणादिफलमाह - **एतदिति**। हे अनघ! देवर्षिणा गीतमेतदध्यात्मपारोक्ष्यं यः पुमान्[5] श्रावयेत् श्रृणुयाद्वा स लिङ्गेन संसृतिहेतुना मनसा, दुःखहेतुना बन्धेन वा विमुच्यते मुक्तो भवेदित्यर्थः॥ ८५॥

एतदध्यात्मपारोक्ष्यं मुकुन्दयशसा युक्तमिति शेषः। अत एव भुवनं पुनानं पवित्रीकुर्वाणं नारदमुखान्निर्गलितमात्मशौचं मनश्शोधकं पारमेष्ठ्यं सर्वोत्कृष्टफलदं कीर्त्यमानं कथ्यमानं यः पुमानधिगच्छति स पुमान्निरस्तसमस्तबन्धः अस्मिन् भवे संसारे न भ्रमति॥ ८६॥

---

1--1. A, B, J, Va omit  2--2. A, B, J, Va omit  3. A, B, J, Va omit प्र.  4. A, B, T add समानता  5. A, B, T पुमान्

उक्तार्थानुपसंहरति[1] । अद्भुततमम्[2] इदम्[3] अध्यात्मपारोक्ष्यमध्यात्मतत्त्वस्य पारोक्ष्यं परोक्षवादो यस्मिन्, अत एवाद्भुतमाश्चर्यमध्यात्मस्य पारोक्ष्यं दुश्शकमित्यद्भुतमित्यर्थः । मया तुभ्यमभिहितं तथा पुंसः क्षेत्रज्ञस्य स्त्रियाश्रमः गृहस्थाश्रमत्वेन रूपितः कथितः, अमुत्र परलोके संशयः फलानुभवविषयो भवदीयसंशयश्च छिन्नः निरस्तः ॥ ८७ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

**विज०** भजनं नाम गुणोपसंहार स्तदर्थं तद्गुणानाह - **पश्यन्निति** । यतो हरेर्विश्वस्य स्थित्यादयः स्युस्तद्विश्वं तदात्मकं तद्व्याप्तं तदधीनसत्ताकं पश्यं श्चिन्तयन्निति पूर्वेणान्वयः । तत्तदधिकार्युपास्ति योग्यानां गुणानां स्थित्यादावन्तर्भावात्तदर्थं स्थित्यादिग्रहणम् ॥ ८१ ॥

नन्वेवमुपासीनस्य कदा साधनसामग्र्या मुक्तिः स्यादित्यत्राह - **भक्तिरिति** । कृष्णे पूर्णानन्दे हरावपरोक्षज्ञान जननी भक्तिः, उपलक्षणमेतत् स्वगुरुमारभ्य ब्रह्मान्तेषु स्वोत्तमेषु तत्तद्योग्यतानुसारेण निष्कपटा भक्तिश्च जीवेषु स्वाकारेषु या चित्तस्य द्रवीभावता दया, 'दय-दानगतिशोषणेषु' इति धातोः तत्त्वविरोधिषु शोषणहेतुर्द्वेषश्चात्मनि स्वस्वरूपेऽकुण्ठज्ञानं हरिदर्शनानन्तरं देहादिव्यतिरेकेण ज्ञानानन्दरूपोऽहमित्यव्यवधानेन निरन्तरानुभवलक्षणमितीयं साधनसामग्री यदि यदा स्यात्तदा कालव्यवधानैमन्तरेणात्मनस्तव संसारादपवर्गः क्रियासाध्यफलावाप्तिः स्यदित्यन्वयः । "देहादिव्यतिरेकेण चिद्रूपोऽहमिति स्फुटम् । सदैवानुभवो भक्तिर्विष्णौ तद्दर्शनादनु ॥ यस्यासौ मुच्यते क्षिप्रं संसारान्नात्र संशयः ॥" (हरिवंशे) इत्यनेन हेतुवाचि तुशब्दसूचितेनोक्त एवार्थो नाद्वैतार्थः ॥ (क) ॥

ननु प्रथमभाविवैराग्याख्यसाधनमन्तरेण भक्त्यादिना कथं मुक्त्युदय इत्यतः सिंहावलोकनन्यायेन तदाह - **अदृष्टमिति** । अदृष्टं स्वर्गादिफलं सस्यादिदृष्टफलवन्नङ्क्ष्येन्नश्यति, भूतमुत्पन्नमिदं सर्वं जगद् अन्यथाऽनित्यं कथमिव स्वप्नदृष्टपदार्थसमं नश्वरत्वात् स्वप्नसमं तथा भविष्यच्च सर्वमनित्यत्वेन स्वप्नसममित्याह - भूतमिति । सुप्तशब्दस्य कथं स्वप्नार्थत्वमपर्यायत्वादितीयमाशङ्का । "सुषुप्तिस्वप्नयोश्चैव स्वर्गव्योम्नोस्तथैव च । अन्योन्यनामता ज्ञेया मतिबुद्ध्योस्तथैव च ॥" (शब्दनिर्णये) इत्यनेन परिहर्तव्येति । सर्वमनित्यं चेत् नित्यं वस्तु किं तदाह - सर्वरहोरह इति । सर्वरहः सर्वशास्त्रप्रतिपाद्येषु रहस्यं गुरूपदेशत्वाद्रह इति स्वभक्तदोषात् स्वयं च निर्दोषतया सदा स्थितं रहो ब्रह्म । तदुक्तम् "रहो ब्रह्म तथा यज्ञः स्वःसत्यमिति गीयते" (शब्दनिर्णये) इति । नित्यनिर्दोषं

1. A, T उक्तमर्थमुप° 2. A, B, T अद्भुतम् 3. A, T omit इदं

ब्रह्मेतरत्सर्वमनित्यमसारं चेति विज्ञानं वैराग्यमिति भावः, विरक्त्या भक्तिस्तया गुणोपसंहारलक्षणमुपासनं तेनापरोक्षज्ञानं तेन श्रीनारायणप्रसादः, तेन स्वयोग्यमुक्तिरिति क्रममुल्लङ्घ्य वैराग्यस्य सर्वत्रानुसन्धानार्थं पश्चादप्युक्तमिति ज्ञातव्यम्॥ (ख)

उपसंहरति - **भागवतमुख्य** इति। हंसयोर्जीवपरमात्मनोर्गतिं सच्चिदानन्दलक्षणां हरेर्जगदुत्पत्त्यादिलक्षणां जीवस्य तदधीनत्वादि लक्षणां वा। सिद्धजातिषु नारदस्य प्राधान्यद्योतनाय प्रथमपादस्याक्षराधिक्यम्॥ ८१॥

"सर्गः स्वभावनिर्मोकनिश्चयाध्यायसृष्टिषु" (अम.को. 3-178) इत्यभिधानात् प्रजानां स्वभावविद्याधर्मादिपुरुषार्थरक्षणे तत्परिपन्थिनिरासेनेति शेषः॥ ८३॥

विमुक्तसङ्गो निष्कामस्तस्य हरेः साम्यतां निर्दोषत्वलक्षणाम्॥ ८४॥

एतस्येतिहासस्याभ्यासेन किं फलमुदेति येनायमवश्यं ज्ञातव्यस्स्यादन्यथा नारदेन बाललीलाकथावद्विनोदार्थमुक्तं फलानुक्तेरिति परीक्षितो हार्दं चोद्यं शुकः परिहरतीत्याह - **एतदिति**। अधिकात्मनः परमात्मनोऽधिगतात्मनः प्रत्यक्षसिद्धस्य जीवात्मनो वा स्वरूपं पारोक्ष्यं परोक्षतया शब्दलक्षणतया गीतं शब्दितं न साक्षादुक्तं देवप्रियत्वात् "परोक्षप्रिया इव हि देवाः" (बृह.उ. 4-2-2) (उ. 3-14) इति श्रुतेरित्यर्थः। देवर्षिणेत्यनेन नारदस्य विनोदकथाकथनस्वभावो नास्तीति ध्वनयति। लिङ्गेन शरीरेण मुच्यते रहितो भवतीत्यनेन तृतीयावचनेन पूर्वमपि स्वरूपाद्भिन्नमिति ध्वनयति स्वरूपभूतदेहेन सहसैव गच्छतीति च "सोनानन्दाद्विमुक्त आनन्दी भवति" इति श्रुतेः॥ ८५॥

न केवलमिदं प्राचीनबर्हिषः प्रयोजनं, किन्तु सर्वेषामपीति भावेन पुनरुक्तं विशिनष्टि - **एतदिति**। मुकुन्दस्य यशसा सहितमेतत्पुरञ्जनोपाख्यानमात्मशौचमात्मनो मनसः शुचिता यस्मात्तत्तथा पारमेष्ठ्यं परमेष्ठिनः सर्वोत्तमस्य हरेः ज्ञप्तौ परमसाधनमधिगच्छति, गुरोः सकाशात् जानाति, भवे संसारे यस्मिन् जन्मनि जानाति अस्मिन्निति वा। अनेन संसारभ्रम एव निवार्यते न तु तद्बन्ध इति मन्दाशङ्कां निवारयति मुक्तेति॥ ८६॥

शिष्टजनेष्वेकेन मैत्रेयेणाधिगतत्वादेतच्चावश्यमधिगन्तव्यमिति भावेनाह - **अध्यात्मेति**। मया मैत्रेय नाम्ना गहनत्वात् अद्भुतमिदं नारदेन प्राचीनबर्हिषे उपदिष्टमध्यात्मपारोक्ष्यमधिकात् गुरुमुखादधीतमेव तवोपदिष्टमत एव त्वयाप्यतिश्रद्धयाधीत्याभ्यसनीयमिति शेषः। नन्वेतदधिगमेन यदि वेदविषयोऽपि संशयश्छिन्नः स्यात् तर्ह्यधिगन्तव्यान्तराभावेन धन्यः स्याम् अतः कथं निर्णयः स्यादत्राह - एवमिति। यः पुंसो जिज्ञासोस्त्रय्या आश्रयस्त्रिवेदीविषयः संशयोऽध्यात्मस्वरूपे छिन्न

एवामुत्राधिदैवादिस्वरूपे च संशयो मम च्छिन्नः स्यादिति शेषः। अनेन पुरञ्जनोपाख्यानस्य वेदविषयत्वप्रतीतेस्तदतिश्रद्धया ध्येयमिति सिद्धम्, यद्वा एतदध्यात्मपारोक्ष्यमधिगतं यथा एवं त्रयी चाधिगता एक विषय त्वात् ततः किं फलमत्राह - आश्रय इति। पुंस आश्रय इहामुत्र च संशयश्छिन्नोभवतीत्येतत्फलं भवतीत्यर्थः। अतिगहनं जलनिधिवत् क्षुराग्रमिव दुर्ग्रहं निशितं तीक्ष्णं पुरञ्जनोपाख्यानं व्याख्याच्छलेन मया अंतारि[1] तरणिरिव व्योमतलं, पवनात्मज इव पयोराशिं, क्षुरधारामिव निगदतोऽतारिषमध्यात्मपारोक्ष्यम्॥ ८७॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीविजयध्वजतीर्थकृतायां पदरत्नावल्यां

टीकायां एकोनत्रिंशोऽध्यायः॥ २९॥

1. A, B अवातारि

# त्रिंशोऽध्यायः

## विदुर उवाच

ये त्वयाऽभिहिता ब्रह्मन् सुताः प्राचीनबर्हिषः ।

ते रुद्रगीतेन हरिं सिद्धिं मापुः प्रतोष्य काम् ॥ १ ॥

किं[1] बार्हस्पत्येह परत्र वाऽथवा[2] कैवल्यनाथप्रियपार्श्ववर्तिनः ।

आसाद्य देवं गिरिशं यदृच्छया प्रापुः परं नूनमथ[3] प्रचेतसः ॥ २ ॥

## मैत्रेय उवाच

प्रचेतसोऽन्तरुदधौ पितुरादेशकारिणः ।

जपयज्ञेन तपसा पुरञ्जन[4] मतोषयन् ॥ ३ ॥

दशवर्षसहस्रान्ते[5][6] पुरुषस्तु सनातनः ।

तेषामाविरभूत्कृच्छ्रं शान्तेन शमयन् रुचा ॥ ४ ॥

सुपर्णस्कन्धमारूढो मेरुशृङ्गमिवाम्बुदः ।

पीतवासा मणिग्रीवः कुर्वन् वितिमिरा दिशः ॥ ५ ॥

## श्री श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

प्रसङ्गात् पञ्चभिः प्रोक्तं वृत्तं प्राचीनबर्हिषः । वर्ण्यते च पुनर्द्वाभ्यां प्रस्तुतं तत्[7] प्रचेतसाम् ॥

तत्र त्रिंशे तपस्तुष्टात् ईशाल्लब्धवरास्ततः[8] । आगत्य वार्क्षीं मुद्वाह्य राज्यं चक्रुरितीर्यते ॥

य इति । हरिं प्रतोष्य कां सिद्धिं मापुः ॥ १ ॥

किमिति । हे बार्हस्पत्य ! कस्याञ्चिद्विद्यायां बृहस्पतेः मैत्रेयः शिष्य इति ज्ञातव्यम् । ते यदृच्छया गिरिशं प्राप्य तस्यैव कैवल्यनाथप्रियस्य गिरिशस्य पार्श्ववर्तिनः तदनुगृहीताः सन्तो नूनं परं मोक्षं प्रापुरेव; ततः पूर्वं तु इह अथवा परत्र किं प्रापुः ॥ २ ॥

---

1. M, Ma किं चेह नार्हन्त्यपरत्र वा सुखं; Ms किं वेह नार्हन्त्यपरत्र वा सुखं 2. V वा फलं 3. Ms °मदभ्र° 4. V नि° 5. M, Ma, Ms दिव्य 6. Ms °भ्राणां 7. V च 8. V देवा°

**प्रचेतस** इति। रुद्रगीत स्तोत्रजपरूपेण[1] यज्ञेन तपसा च निरञ्जनं[2] हरिम्॥ ३॥

**दशवर्षे**ति। तेषां कृच्छ्रं तपःक्लेशं, रुचा कान्त्या शमयन् शान्तेन शुद्धसत्त्वेन वपुषा आविर्भूतः॥ ४॥

**सुपर्णे**ति। सुपर्णस्कन्ध मारूढः इत्यादीनां[3] बर्हिष्मतः सुतान् आहेति तृतीयेनाऽन्वयः॥ ५॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं प्रचेतसां वृत्तमसमाप्यैवान्तरे[4] प्राचीनबर्हिषो वृत्तान्त उक्तः। इदानीं तद्वृत्तान्ताशेषशुश्रूषया पृच्छति विदुरः य इति। हे ब्रह्मन्! मैत्रेय! ये प्राचीनबर्हिषः पुत्रा स्त्वयाऽभिहिताः, ते रुद्रगीतेन स्तोत्रेण हरिं प्रतोष्य तोषयित्वा कां सिद्धिं किं[5] फलं आपुः प्रापुः॥ १॥

हे बार्हस्पत्य! मैत्रेय! कस्याञ्चित् विद्यायां बृहस्पतेः मैत्रेय शिशिष्यः यदृच्छया गिरिशं प्राप्य कैवल्यनाथस्य मोक्षाधिपतेः भगवतो यः प्रियो रुद्रः तस्य पार्श्ववर्तिनः, तेन अनुगृहीताः प्रचेतसः नूनं परं मोक्षं प्रापुरेव; ततः पूर्वं तु इह अत्र लोके परत्र लोके वा किं प्रापुः॥ २॥

एवमापृष्टो मुनिः प्रचेतसां कथाशेष माह - **प्रचेतस** इति। पितुः आज्ञाकारिणः अन्त रुदधौ समुद्रजलमध्ये रुद्रगीत जपयज्ञेन तपसा, तप -आलोचने, निदिध्यासनेन च निरञ्जनम् अपहतपाप्मानं परमपुरुषं अतोषयन्॥ ३॥

सनातनः परमपुरुषः दशवर्षसहस्रान्ते दशसहस्रसंख्यातवत्सरपर्यन्ततपश्चर्यान्ते[6] तेषां कृच्छ्रं तपः क्लेशं रुचा कान्त्या शमयन् शान्तेन शुद्धसत्त्वमयेन वपुषा आविरभूत्॥ ४॥

हरिं[7] विशिनष्टि - **सुपर्णस्कन्ध** मिति सार्धद्वयेन। सुपर्णस्य गरुडस्य स्कन्धम्[8] आरूढः, तमुपलक्षयति मेरोः शृङ्गम् अम्बुदो नीलमेघ इवेति। पीतं पिशङ्गं वासो वस्त्रं यस्य सः, मणिः कौस्तुभः, ग्रीवायां यस्य सः, दिशः वितिमिराः प्रकाशबहुलाः कुर्वाणः॥ ७॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अव्यक्तस्वभावो हरिः तप आदि साधनसामर्थ्येन प्रसन्नो व्यक्तो भवतीत्येत द्रुद्राद्युत्तमत्वं च निरूप्यतेऽस्मिन्नध्याये। तत्र पूर्वप्रसक्तप्रमेयं विस्तरतः श्रोतुकामो विदुरो मैत्रेयं पृच्छति - **ये त्वये**ति। रुद्रगीतेन सदाशिवोपदिष्टेन स्तोत्रेण हरिं प्रतोष्य कां सिद्धिं पुरुषार्थरूपां प्रापुरित्यन्वयः॥ १॥

---

1. A, B, J, Va omit स्तोत्र 2. A, B, J, Va पु° 3. V °दिना 4. A, B, T °वाऽवान्तरे 5. A, B, J, omit किं 6. W °न्तं 7. A, B, T पुरुषं 8. A, B, T °न्धे

विष्णुतद्भक्तभक्तानां सिद्धि रस्त्येव, सा तु कीदृशीति भावेन पृच्छतीत्याह - **किञ्चेति**। तदेतत्प्रेयः (बृह.उ. 1-4-8) इति श्रुतेः। कैवल्यनाथ श्चासौ प्रियश्च कैवल्यनाथप्रियः, तस्य कैवल्यनाथप्रियस्य विष्णोः, कैवल्यस्य नाथः कैवल्यनाथः तस्य, कैवल्यनाथस्य प्रियो रुद्र स्तस्य वा, पार्श्ववर्तिनः समीपे वर्तमानाः पुरुषा इह लोकेऽथवा अमुष्मिं ल्लोके किं पुरुषार्थलक्षणं सुखं नार्हन्ति ? सर्व मर्हन्ति। तत्र प्रचेत रसो यदृच्छया दैवेच्छया गिरिश मासाद्य पर मुत्कृष्टं सुखं नूनं किं प्रापुरित्यन्वयः। गिरेः ब्रह्मणः प्रसादेन शं सुखं यस्य स गिरिशः। "तं ब्रह्म गिरि रित्याचक्षते इति श्रुतेः। गिरि वाचि शेत इति वा। गिरौ कैलासे शेते इति गिरिशः। पूर्वत्राऽलुक् समासः शीङो ड प्रत्ययश्च। प्रूपालन पूरणयोः इति धातोः परं जगत्पालनं मुक्तिलक्षणपूर्णानन्दमुतेति। अनेन प्रचेतसो यानि योग्यानि कल्याणानि अर्हन्ति, तेषु किम्मुख्या मापुरिति प्रश्नतात्पर्यार्थः ॥ २ ॥

जगत्पालनादिसर्वाः सिद्धी रापुरिति परिहारं वक्तु मुपक्रमत इत्याह मैत्रेय इति। जपयज्ञेन रुद्रगीताख्य स्तोत्रयज्ञेन पुराणां शरीराणां जननात् जन्मना व्यञ्जयितृत्वात् पुरञ्जनो विष्णुः। पुरे अञ्जनात् व्यञ्जनात् पुरञ्जनो जीवः। यत स्तपसा पुरञ्जनं जीवनामान मशोयन् तेन पुरञ्जनं विष्णु मतोषयन्। प्रसादाभिमुखं चक्रुरित्यर्थद्वय द्योतनाय पुरञ्जनपदं प्रायोजीति अतः पूर्वोक्तः पुरञ्जनो नाऽत्रोच्यते - "पुरेषु त्वञ्जनाज्जीवः पुरञ्जन इतीरितः। पुराणां जनना द्विष्णुः व्यञ्जकत्वं द्वयो रपि" (तन्त्रभागवते) इति वचनात् सिद्धमिद मर्थद्वयमिति। लृतुलसानां दन्ताः, इचुयशानां तालु, इत्यतः तकारशकारयोः स्थानसामीप्यात् "उपूपध्मानीयाना मोष्ठौ" इत्यनुबन्धोकारस्यैकस्थानत्वा च्च वा अशोषयन् अतोषयन्निति युज्यते॥ ३ ॥

[1-] दिव्यवर्षसहस्राणा मित्यत्र सहस्रशब्दस्य यथाप्रतीतार्थस्य अनुपपन्नत्वात् बाहुल्यार्थ इति अङ्गीकर्तव्यः। प्रामाणिकत्वा च्च एतदुक्तम् - मानुषाणां वत्सराणां लक्षद्वादशकं पुरा। प्रचेतोभि रियं पृथ्वी पालिताऽव्याहतेन्द्रियैः ॥ (ब्राह्माण्डे) इति[1]। प्रचेतसां शान्तेन भगवन्निष्ठया जातयाऽनुग्रहलक्षणया रुचा तेषां कृच्छ्रं दुःखं शमयन्॥ ४ ॥

मणिग्रीवः कण्ठामुक्तकौस्तुभः वितिमिरा निरस्तान्धकाराः ॥ ५ ॥

**[2]काशिष्णुना कनकवर्णविभूषणेन [3]भ्राजत्कपोलवदनो विलसत्किरीटः।**
**अष्टायुधै[4]रनुचरैर्मुनिभिः सुरेन्द्रैः आसेवितो गरुडकिन्नरगीतकीर्तिः ॥ ६ ॥**

**पीनायताष्टभुजमण्डलमध्यलक्ष्म्या स्पर्धच्छ्रिया परिवृतो वनमालया[5]ऽऽद्यः।**
**बर्हिष्मतः पुरुष आह सुतान् प्रपन्नान् पर्जन्यनादरुतया सघृणावलोकः ॥ ७ ॥**

---

1--1. A. B. M. omit  2. M. Ma. Ms कासि°; W भ्राजि°  3. J °षितेन  4. M. Ma °धैः करवरै°  5. M. Ma °या यः

श्री भगवानुवाच[1]

**वरं वृणीध्वं भद्रं वो यूयं मे नृपनन्दनाः ।**

**सौहार्देनापृथग्धर्मा स्तुष्टोऽहं सौहृदेन वः ॥ ८ ॥**

**योऽनुस्मरति शय्यायां[2] युष्माननुदिनं नरः ।**

**तस्य भ्रातृष्वात्मसाम्यं तथाभूतेषु सौहृदम् ॥ ९ ॥**

**ये तु[3] मां रुद्रगीतेन सायं प्रातः समाहिताः ।**

**स्तुवन्त्यहं कामवरान् दास्ये प्रज्ञां च शोभनाम् ॥ १० ॥**

**श्रीध० काशिष्णु**नेति । [4-]काशिष्णुना दीप्तिशीलेन[-4] कनकमयेन सुवर्णवता[5] विभूषणेन भ्राजमानं कपोलं वदनं च यस्य । अष्टभिरायुधैः गरुड एव किन्नर स्तेन पक्षस्वनैः गीता कीर्तिः यस्य ॥ ६ ॥

**पीनेति** । पीनाश्च ते आयता अष्टौ भुजाः तेषां, मण्डलं समूहः, तन्मध्ये स्थितया लक्ष्म्या स्पर्धमाना श्रीः शोभा यस्याः तथा वनमालया परिवृतः, आद्यः पुरुषः पर्जन्यस्य नाद इव रुतं नादो यस्याः तथा वाचा आह, सघृणोऽवलोको यस्य ॥ ७ ॥

**वरमिति** । यूयं मे मत्तो वरं[6] वृणीध्वं, सौहार्देन हेतुना अपृथक्[7-] एकविषयो[-7] धर्मो येषां[8] तेषां सम्बोधनम् । वः परस्परं सौहृदेन तुष्टोऽहम् ॥ ८ ॥

**य** इति । [9-]भ्रातृषु आत्मसाम्यं[-9] भूतेषु सौहृदं च भविष्यति ॥ ९ ॥

**ये** इति । तेभ्यो दास्ये, किं पुनर्युष्मभ्य मिति शेषः ॥ १० ॥

**वीर०** [10]कनकमयशोभनवर्ण विभूषणेन अत[11] एव भ्राजिष्णुना प्रकाशस्वभावेन भ्राजमानं कपोलं वदनं, च यस्य सः, प्रकाशमान किरीटयुक्तः अष्टायुधैः शङ्खचक्रगदापद्मशार्ङ्गशरखड्गखेटैः, पद्मस्य आयुधानन्तर्भूतत्वेऽपि , छत्रिन्यायेन आयुधशब्दः प्रयुक्तः । परशुपाशाङ्कुशाद्यन्यतमो वा अत्र अष्टमो विवक्षितः । [12-]अष्टायुधैः[-12] इत्यनेन अष्टभुज इत्यपि विवक्षितः । अनुचरैः पार्षदैः मुनिभिः सुरेन्द्रैः

---

1. Ms वैकुण्ठः 2. A, B, G, I, J, M, Ma, Ms, T सन्ध्यायां 3. V च 4--4. A, B, J, Va omit 5. A, B, J, Va omit सु 6. A. B. J, Va omit वरं 7--7. B, J, V, Va omit 8. V omits तेषां 9--9. A. B. J, Va omit 10. A, B, T add पुनः कीदृशः ? काशिष्णुनेति । 11. A. B, T add काशिष्णुना 12--12. W omits

ब्रह्मादिभिश्चासेवितः गरुड एव किन्नरः तस्य वेदात्मक पक्षध्वनिः गरुड किन्नर शब्दविवक्षितः तेन गीता कीर्तिः यस्य सः, यद्वा गरुडाः गरुड जातीयाः किन्नराश्च तैः गीता कीर्तिः यस्य सः ॥ ६ ॥

पीनाश्च ते आयताश्च अष्टौ भुजाः तेषां, मण्डलं समूहः, तन्मध्ये स्थितया लक्ष्म्या स्पर्धमाना श्रीः शोभा यस्याः तया वनमालया परिवृतः । आद्यः आदौ भवः जगत्कारण भूतः पुरुषः प्रपन्नान् बर्हिष्मतः सुतान् प्रति पर्जन्यनाद इव रुतं नादो यस्याः तया वाचा सघृणः कृपायुक्तोऽवलोको यस्य स आह ॥ ७ ॥

हे नृपनन्दनाः ! यूयं मे मत्तः वरं वृणीध्वं । वः भद्र मस्तु, परस्परसौहृदेन अपृथक्-धर्माः तुल्यधर्माणः यूयं वः युष्माकं सौहृदेनाऽहं तुष्टः ॥ ८ ॥

यो नरः अनुदिनं सायं प्रातः शय्यायां[1] युष्मान् अनुस्मरति । तस्य नरस्य भ्रातृषु आत्मसाम्यं आत्मना तुल्यं स्वात्मनीव प्रीतिः तथा भूतेषु सौहृद ञ्च भविष्यति ॥ ९ ॥

ये नराः सायं प्रातः समाहितचित्ता स्सन्तः रुद्रगीतेन मां स्तुवन्ति तेभ्योऽप्यहं कामवरान्, काम्यन्त इति कामाः । तान् वरान् अभीष्टान् वरान्[2] प्रज्ञां च दास्ये, किं पुन र्युष्माकम् ॥ १० ॥

विज० काशृ[3]-दीप्तौ । भ्राजद्भ्यां राजद्भ्यां कपोलाभ्यां युक्तं वदनं यस्य स तथा । भ्राजदित्युक्त्याऽत्मने पदे परस्मैपदित्वं काल्पनिक मिति ध्वनयति ॥ ६ ॥

पीनानाम् आयतानाम् अष्टानाम् भुजानां मण्डलस्य मध्ये वक्षसि स्थितया लक्ष्म्या सह स्पर्धमानवत् वर्तमाना श्रीः विकासलक्षणा यस्याः सा तथा । अश्ववदाचरतीति अश्वन् इत्यादौ दर्शनात् औपचारिकोऽयं प्रयोगः । न हि हरेरपि वक्षसि स्थितयोः लक्ष्मीवनमालयोः औत्सर्गिकी स्पर्धा सङ्घाघटीति ? पर्जन्यो मेघः तन्नादवद्द्रुतं ध्वनि र्यस्याः सा तया वाचेति शेषः । घृणया दयया सहवर्तत इति सघृणः, तादृशोऽवलोको यस्य स तथा ॥ ७ ॥

सौहार्देन हेतुना अपृथग्धर्मा एकविषयधर्मचारिणः तेन किं तव तत्राह - तुष्ट इति । अतो वरं वृणीध्वम् इत्यर्थः ॥ ८ ॥

न केवलं मत्तो युष्माक मेव फल मन्येषां भवदनुस्मर्तृणा[4] मपि फलविशेषो भवतीत्याह - य इति । यथा मत्प्रीतिहेतुः मत्तोषकरं युष्मदपृथग्धर्मत्वस्मरणम्, इतरेषामपि भ्रातृषु आत्मसाम्यफलं स्यात् तथा ॥ ९ ॥

---

1. A, T सन्ध्यायां  2. A, B, T omit वरान्  3. B, M, Ma कासृ  4. Ma omit भवत्

रुद्रगीतेन मां स्तुवद्भ्योऽपि कामवरान् दास्यामीत्याह - **ये तु मामिति** ॥ १० ॥

**यद्यूयं पितुरादेश मग्रहीष्ट मुदाऽन्विताः ।**
**अथो व उशती कीर्तिः लोका ननु भविष्यति ॥ ११ ॥**

**भविता विश्रुतः पुत्रोऽनवमो[1] ब्रह्मणो[2] गुणैः ।**
**य एता मात्मवीर्येण त्रिलोकीं पूरयिष्यति ॥ १२ ॥**

**कण्डोः प्रम्लोचया लब्धा कन्या कमललोचना[3] ।**
**तां चापविद्धां जगृहुः भूरुहो[4] नृपनन्दनाः ॥ १३ ॥**

**क्षुत्क्षामाया मुखे राजा सोमः पीयूषवर्षिणीम् ।**
**देशिनीं रोदमानाया निदधे स दयान्वितः ॥ १४ ॥**

**प्रजाविसर्ग आदिष्टाः पित्रा मा मनुवर्तता ।**
**तत्र कन्यां वरारोहां ता मुद्वहत मा चिरम् ॥ १५ ॥**

**श्रीध० यदिति** । अग्रहीष्ट गृहीतवन्तः । ऊथोइति हेतौ । लोका ननु लोकेषु, भविष्यति ; यद्वा लोकान् अनुभविष्यति द्रक्ष्यति व्याप्स्यती त्यर्थः ॥ ११ ॥

**भवितेति** । [5-]अनवमः अनूनः ब्रह्मपुत्राणां मध्ये अनवमो दक्ष इति वा[-5], आत्मनो वीर्येण सन्तानेन ॥ १२ ॥

पुत्रार्थ मादौ भार्यां सम्पादयति [6]भगवान् **कण्डोरिति** त्रिभिः । तपोनाशार्थं इन्द्रप्रेषितया प्रम्लोचया कण्डुर्नाम ऋषिः बहुकालं रेमे । सा च ततः स्वर्गं गच्छन्ती कण्डोः जातं गर्भं वृक्षेषु त्यक्त्वा जगाम । तदेतदुक्तम् - अपविद्धां त्यक्ताम् । [7-]भूरुहाः वृक्षाः, हे नृपनन्दनाः![-7] ॥ १३ ॥

**क्षुदिति** । स प्रसिद्धो वनस्पतीनां राजा सोमोऽमृतस्रावि[illegible]णीं देशिनीं तर्जनीं रुदत्याः तस्याः मुखे निदधे । अनेन अप्सरोगर्भसम्भवेन अमृताहारेण च तस्याः लावण्यं क्लमस्वेद दौर्गन्ध्यादिराहित्यं चोक्तम् ॥ १४ ॥

**प्रजेति** । मा मनुवर्तमानेन पित्रा नियुक्ता स्सन्तः तत्र प्रजाविसर्गे निमित्ते ता मुद्वहत ॥ १५ ॥

---

1. W नावमो 2. W विश्रुतो 3. W याऽमल 4. W °हो 5--5. A, B, J, Va omit 6. V omits भगवात् 7--7. A, B, J, Va omit

**वीर०** यत् यस्मात् यूयं पितु रादेश माज्ञां मुदा युक्ता स्सन्तोऽग्रहीष्ट गृहीतवन्तः, अतो वः युष्माकं उशती कमनीया कीर्तिः लोकान् अनुभविष्यति प्राप्स्यति लोकेषु विस्तरिष्यती त्यर्थः ॥ ११ ॥

"कण्डो र्मुने र्दुहितरं यूय मुद्वहत" इति वक्ष्यमाण स्तावत् कण्डुं तत्कन्यां च प्रस्तौति - **भवितेति**। विश्रुतः विश्रुन्नाम्नः पुत्रः गुणैः, विश्रुतः पितुः, नावमः न न्यूनः। विश्रुता समःभविता भविष्यतीत्यर्थः। यो वै श्रुतः एतां त्रिलोकी मात्मनो वीर्येण सन्तानेन पूरयिष्यति ॥ १२ ॥

वैश्रुतस्य कण्डोः सकाशात् प्रम्लोचया तपोनाशार्थ मिन्द्रेण प्रेषितया प्रम्लोचाख्यया अप्सरसा स्त्रिया या कन्या अमललोचना लब्धा, तां कन्यां अपविद्धां, पुन स्स्वर्गं प्रति गच्छन्त्या प्रम्लोचया वृक्षेषु त्यक्तां, भूरुहो[1] वनस्पतयः जगृहुः दुहितर ममन्यन्त हे नृपनन्दनाः ॥ १३ ॥

क्षुधा[2] क्षमायाः पीडितायाः अतो[3] रोदमानायाः तस्याः कन्यायाः मुखे वनस्पतीनां राजा सोम इति प्रसिद्धः अमृतस्राविणीं देशिनीं तर्जनीम् अङ्गुलीं[4] निदधे निहितवान्। अनेन अप्सरसो गर्भ सम्भवेन अमृताहारेण च तस्या लावण्यं क्लम-स्वेद-दौर्गन्ध्यादि-राहित्यञ्चोक्तम् ॥१४॥

मा मनुवर्तमानेन पित्रा बर्हिष्मता वः युष्मभ्यं प्रजासर्ग आदिष्ट आज्ञापितः, अत स्तत्र प्रजासर्गे यतमानाः यूयं तां पाति माकाङ्क्षन्तीं कन्यां उद्वहत चिरं विलन्बं मा कुरुत ॥ १५ ॥

**विज०** अन्यच्च वरं दास्यामीत्याह - **यद्यूयमि**ति। अनेन विमलकीर्तिकामैः पुरुषैः गुर्वादेशः सर्वथा अनुष्ठेय इति शिक्षा दर्शिता ॥ ११ ॥

सत्पुत्राभावे किं प्रयोजनं जन्मना ? "सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणजय्य" (बृह.उ.1-5-16) इति श्रुतेः। तत्राह - भवितेति। पुत्र शब्दार्थं ध्वनयति - **य एता मि**ति ॥ १२ ॥

अनुकूलभार्याऽभावे कथ मौरसपुत्रसम्पदित्यत स्तत्प्राप्तिं वक्तु मुपक्रमते - **कण्डोरि**ति। प्रम्लोचया अप्सरसा मातृपितृमरणकारणयोगे[5] तज्जातत्वात् तत्परिहारार्थ मपविद्धां त्यक्तां भूरुहा वृक्षा जगृहुः इत्यन्वयः ॥ १३ ॥

क्षुत् - क्षामाया श्रान्तायाः, स सोमः ॥ १४ ॥

---

1. A, B, T °हाः 2. W omits क्षामायाः 3. W omits अतो 4. W omits अङ्गुली° 5. A, B माता

प्रजाविसर्गे प्रजानां विविधसृष्टौ। ततः किमत्राह - **तत्रेति**। तत्र तस्मिन् कार्ये कर्तव्ये सति॥ १५॥

**अपृथग्धर्मशीलानां सर्वेषां वः सुमध्यमा।**

**अपृथग्धर्मशीलेयं भूया त्पत्न्यर्पिताशया[1]॥ १६॥**

**दिव्यवर्षसहस्राणां सहस्र[2] महतौजसः।**

**भौमान् भोक्ष्यथ भोगान् वै दिव्यां श्चानुग्रहान्मम॥ १७॥**

**अथ मय्यनपायिन्या भक्त्या पक्वगुणाशयाः।**

**उपयास्यथ[3] मद्धाम[4] निर्विद्य निरयादतः॥१८॥**

**गृहेष्वाविशतां चापि पुंसां कुशलकर्मणाम्।**

**मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः॥१९॥**

**नव्यवद्धृदये[5] यज्ज्ञो ब्रह्मैतत् ब्रह्मवादिभिः।**

**न मुह्यन्ति न शोचन्ति न हृष्यन्ति यतो गताः॥२०॥**

**श्रीध॰** ननु बहूनां कथ मेका भार्या स्यात्[6-] इति लोकशास्त्रविरोधात्[-6] तत्राह - **अपृथगिति**। अपृथक् धर्मः शीलं च येषां तेषां वः पत्नी भूयात्, अर्पितो भवत्सु आशयो यया। धर्मशीलयोः ऐक्यात् मद्वाक्या च्च न दृष्टादृष्टविरोध इति भावः॥ १६॥

[7-]अन्यदपि मदाराधनफलं गृह्णीते त्यत आह - **दिव्येति**[-7]। अहतौजसः अप्रतिहतबलास्सन्तः॥ १७॥

**अथेति**। पक्व गुणो दग्ध कामादिमल आशयो येषां पक्वो[8-] गुणानां आशयो येषा मिति वा[-8]। अतो लोकद्वयभोगान् निरयप्रायान् निर्विद्य मत्स्थानं प्राप्स्यथ॥ १८॥

ननु गृहेषु प्रविष्टाना मस्माकं तदासक्त्या बन्ध एव स्यात्, कुतः? तद्भक्तिः निर्वेदो वा तत्राह - **गृहेष्विति**। कुशलं मय्यर्पितं सर्वं[9] कर्म येषां, मद्वार्तया यातो यामः कालो येषाम्॥ १९॥

**त्वद्वार्तश्रोतृणां गृहैः न बन्ध इति कुतः? तत्राह - न व्यवदिति। यद्यस्मात् कथाश्रवणात् ज्ञः सर्वज्ञोऽ ह मीश्वरो ब्रह्मवादिभिः**

---

1. M, Ma प्रत्यर्पिता मया; Ms प्रत्यर्पिताशया; W प्रत्यर्पिताशया 2. T, W साहस्रममितौजसः 3. Ms, V उपा॰ 4. T °स्थास्यथ 5. M, Ma, Ms न व्यवह्रियते 6--6. A, B, J, Va omit 7--7. A, B, J, Va omit 8--8. B, J, V, Va omit 9. A, B, J, Va omit सर्वं

[1]मत्कथा प्रवृत्तिभिः निमित्त भूतैः श्रोतृणां हृत् हृदयं नव्यवत् प्रतिपदं नूतनवत् अये प्राप्नोमि [2-]मनस्यभिव्यक्तो भवामि[-2]। ननु त्वत्कथाश्रवणे कथं ब्रह्मसाक्षात्कारः ? तत्राह योऽह मेतदेव ब्रह्म, तत्र हेतुः - यतो गताः, यं मां प्राप्ता स्स्तो मोहशोकहर्षान् न प्राप्नुवन्त्यतो मत्कथाश्रवणेन नव्यवत् मम हृद्याविर्भा वादस्यैव ब्रह्मसाक्षात्कारत्वात् गृहेषु वसतामपि न बन्ध इत्यर्थः ॥ २० ॥

**वीर०** ननु बहूनां कथं एका भार्या स्यात् ? तत्राह - अपृथगिति अपृथक् धर्मः शीलं यस्याः सेयं सुमध्यमा पत्नी भूयात्, धर्मशीलयोः ऐक्यात् मद्वाक्या च्च न दृष्टिविरोध इति भावः ॥ १६ ॥

दिव्यानां देवमान परिच्छिन्नानां वर्षसहस्राणां साहस्रं कालम् अमितौजसः अमित मोजः इन्द्रियशक्ति र्येषां ते यूयं भौमान् भोगान् भोक्ष्यथ ॥ १७ ॥

अनन्तर मव्यभिचारिण्या मयि भक्त्या पक्गुणः दग्ध कामादिमलः आशयोऽन्तःकरणं येषां ते, अते निरयात् संसारानिर्विद्य निर्वेदं लब्ध्वा, पक्गुणआश्रया इति पाठे शान्तसत्त्वादिगुणवासनाः मद्धाम मत्स्थानं [3]उपयास्यथ प्राप्स्यथ ॥ १८ ॥

ननु भौमभोगासक्तानां नः त्वद्भक्तिः कथं भविष्यति? तत्राह - गृहेषु आविशतां प्रविष्टाना मपि कुशलं अनभिसंहितफलं कर्म येषां मद्वार्ता यातयामानां मत्कथाक्षपित कालानां गृहाः बन्धाय न मताः बन्धका न भवन्ति[4]॥ १९ ॥

त्वद्वार्ताश्रोतृणां गृहैः न बन्ध इति कुत स्तत्राह - **नव्यवदिति**। यत् यस्मात् यत्कथाश्रवणात् ज्ञः सर्वज्ञोऽह मीश्वरः ब्रह्मवादिभिः प्रवक्तृभिः निमित्तभूतैः श्रोतृणां हृत् हृदयं नव्यवत् प्रतिपदं नूतनव दये प्राप्नोमि। [5-]मनस्यभिव्यक्तो भवामि ब्रह्मसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः। ननु त्वत्कथाश्रवणे कथं ब्रह्मसाक्षात्कारः? तत्राह - योऽहमेतदेव ब्रह्म। तत्र हेतुः - यतो गताः यं मां प्राप्ता स्सन्तः मोहशोकहर्षा न्न प्राप्नुवन्ति। अतो मत्कथाश्रवणेन नव्यवत् मम हृद्याविर्भावात्, अस्यैव ब्रह्मसाक्षात्कारत्वात् गृहेषु वसता मपि न बन्ध इत्यर्थः[-5]। न व्यवच्छिद्यते यज्ञ इति पाठे तु गृहेषु परब्रह्मभूतं मां कथयद्भिः यज्ञो मद्भक्त्यात्मक[6] ज्ञान यज्ञो, न व्यवच्छिद्यते विच्छिन्नो न भवति[7]। यज्ञं विशिनष्टि - यतो [8-]ज्ञानयज्ञात्मद्गतिं[-8] गताः प्राकृतैः मोहादिभिः युक्ता न भवन्ति[9]॥ २० ॥

**विज०** बहूनामस्माकं इय मेकाऽनुकूला कथं स्या दत्रापि तादृशं वरं दास्यामीत्याह - **अपृथग्धर्मशीलानामिति** ॥ १६ ॥

दिव्यवर्षसहस्राणां इत्यत्र सहस्रशब्दो बहुलवाची प्रतीतार्थस्य प्रमाणविरुद्धत्वात् अनुपपन्नं तदुक्तम् "मनुष्याणां वत्सराणां [10-]लक्षद्वादशकं पुरा। प्रचेतोभि रियं पृथ्वी पालिताऽव्याहतेन्द्रियैः[-10], (ब्रह्माण्डे) इति ॥ १७ ॥

---

1. A, B, J, Va omit **मत्कथा** 2--2. A, B, J, Va omit 3. T उपस्थास्यथ 4. A, B, T add **इत्यर्थः** 5--5. A, B, T omit 6. A, B, T °ना 7. A, B, T add **इत्यर्थः** । 8--8. A, B, T योगात्मनि 9. A, B, T add **इत्याह** । 10--10. Ma omits

एव मैहिकं वरं दत्वा पारत्रिकं वरं ददाति - **अथेति**। पक्वः परिपाकं प्राप्तो गुणाशयः प्राकृतान्तः करणं येषां ते तथा। अतो निरयादस्मात् संसारात् "अतो निन्दाहेतुचित्रेषु, (वैज.को. 8-7-16) इत्यभिधानात्। चित्रात् पुण्य पापमिश्रितात् "चित्रमालेख्यमिश्रयोः, (वैज.को. 6-5-30) इत्यभिधानात्॥ १८॥

गृहाविष्टचेतस्त्वेन पुत्रमित्रादिस्नेहबद्धानां कथं धामप्रवेशो घटत इति तत्राह - **गृहेष्विति**। मद्वार्तया यातो गतो यामः कालविशेषो येषां ते तथा, "गृहाः पुंसि च भूम्न्येव, (अम.को.2-2-5) इत्यमरः, जसि पुंलिङ्गः॥ १९॥

ननु भवद्वार्ता संसारच्छेदिनी यदि, तर्हि सर्वेऽपि किं न मुक्ताः? तस्याः सुलभत्वा दिति तत्राह - न व्यवह्रियत इति। यतो यस्य हरेः प्रसादा द्गताः सूक्ष्मेण मनसा अवगच्छन्तो जानन्तो ये विपदि न मुह्यन्ति, न शोचन्ति, सम्पदि न हृष्यन्ति तैः ब्रह्मवादिभिरप्येतत् यज्ञो ब्रह्मविष्ण्वाख्यं ब्रह्म यथानुभवं न व्यवहियत इत्यन्वयः। अतो मद्वार्ताया असुलभत्वात् न सर्वेषां मुक्तिरित्यर्थः। ब्रह्मवादिभिः भवद्भिः गृहेऽपि यज्ञो निजकर्म न व्यवच्छिद्यते यतो भवन्तो मदाज्ञया गृहागता न मोहादिकं कुर्वन्तीत्येवमादि मयोपदिष्ट मेतद्रहस्यं तस्मान्मा शोचत इत्यपव्याख्यानं "सूक्ष्मेण मनसा विद्यो वाचा वक्तुं न शक्नुमः, (भारते) इति वचनेन निरस्तमिति ज्ञायते। यज्ञपदस्य निजकर्मार्थत्वं ब्रह्मपदस्य रहस्यार्थत्वं च न व्यवच्छिद्यत इति ग्रन्थव्यत्यासश्च सम्प्रदायापरिज्ञान विजृम्भितञ्चेति "यज्ञो विष्णु र्देवता, "ब्रह्मविदाप्नोति परम्, (तैति.उ. 2-1) इति। सूचनाय ब्रह्मवादिभिरिति प्रसिद्ध यज्ञपरिहाराय ब्रह्मेति, विप्रादिव्यावृत्तये यज्ञ इति॥ २०॥

## मैत्रेय उवाच

**एवं ब्रुवाणं पुरुषार्थभाजनं[1] जनार्दनं प्राञ्जलयः प्रचेतसः।**
**तद्दर्शनध्वस्त तमोरजोमला गिराऽगृणन् गद्गदया सुहृत्तमम्॥ २१॥**

## प्रचेतस ऊचुः

**नमो नमः क्लेशविनाशनाय निरूपितोदारगुणा ह्वयाय।**
**मनो वचो वेग पुरोजवाय सर्वाक्षमार्गैरगताध्वने[2] नमः॥ २२॥**

**शुद्धाय[3] शान्ताय नमः स्वनिष्ठ[4] मनस्यपार्थे[5] विलसद् द्वयाय।**
**नमो जगत्स्थान लयोदयेषु गृहीतमायागुण विग्रहाय॥ २३॥**

---

1. W साधनं 2. Ms °त्मने 3. A, B, G, I, J, T, Ms, V, W °ष्ठ्या 4. A, B, G, I, J, T, V °र्थ° 5. W °यात्मने

**नमो विशुद्धसत्त्वाय हरये हरिमेधसे।**
**वासुदेवाय कृष्णाय प्रभवे सर्वसात्त्वताम्॥ २४॥**

**नमः कमलनाभाय नमः कमलमालिने।**
**नमः कमलपादाय[1] नमस्ते कमलेक्षण[2]॥ २५॥**

**श्रीध० एवमि**ति। पुरुषार्थं भाजयति प्रापयतीति तथा तम्॥ २१॥

**नम** इति। वेदैः [3-]ब्रह्मवादिभिश्च[-3] सकलश्रेयस्साधनत्वेन निरूपिता उदारगुणाः आह्वया नामानि च यस्य, मनोवचसो वेगादपि पुरोऽग्रतो जवो वेगो यस्य। मनोवचसो रगोचरायेत्यर्थः। अत एव सर्वेषां अक्षाणां [4-]इन्द्रियाणां[-4] मार्गैः अगतोऽनवगतोऽध्वा यस्य तस्मै[5] नमः॥ २२॥

**शुद्धाये**ति। स्वनिष्ठया स्वरूपस्थित्या शुद्धाय[6] अतः शान्ताय मनसि निमित्ते सति अपार्थं व्यर्थमेव विलसत् विस्फुरितं द्वयं (द्वैत) रूपं[7] यस्मिन्, गृहीता मायागुणैः विग्रहा ब्रह्मादिमूर्तयो येन॥ २३॥

**नम** इति। स्वत स्तु विशुद्धसत्त्वरूपाय संसारं हरन्ती मेधा ज्ञानं यस्य तस्मै॥ २४, २५॥

**वीर०** [8-]एवं भगवतोक्ता प्रचेतसः तमेव जनार्दन मगृणन्नित्याह मैत्रेयः[-8]। एवम् उक्तप्रकारेण ब्रुवाणं पुरुषार्थाना माश्रयं सुहृत्तमं जनार्दनं, तस्य जनार्दनस्य दर्शनेन ध्वस्तानि कामक्रोधादीनि रजआदि कार्यरूपाणि मलानि येषां ते, प्राञ्जलयः [9-]बद्धाञ्जलयो[-9] गद्गदगिरा अगृणन् तुष्टुवुः॥ २१॥

आध्यात्मिकादिदुःखानां नाशाय उदारगुणाः यस्याह्वयैः नामभिः निरूपिताः स निरूपितोदारगुणाह्वयः तस्मै, मनोवचसोः वेगा दपि पुरोऽग्रतो वेगो यस्य, वाङ्मनसागोचरायेत्यर्थः। सर्वेषा मक्षाणा मिन्द्रियाणां मार्गाः वृत्तयः तैः, अगतः अविषयीकृतः अध्वा स्वप्राप्त्युपायः यस्य, इन्द्रियद्वारा अगोचरस्वप्राप्त्युपायायेत्यर्थः॥ २२॥

शुद्धाय कर्मोपाधिरहिताय, शान्ताय ऊर्मिषट्करहिताय। तत्र हेतुः - स्वनिष्ठया स्वस्मिन्निष्ठाऽविच्छेदः अविच्छिन्नस्वानुभूत्या अपार्थे अपगतपुरुषार्थे पुरुषार्थभूतस्वरूपज्ञानरहिते मनसि विलसत् परस्परवैलक्षण्येन स्फुरत् द्वयं देहात्मनोः द्वयं येषां ते

1. V नेत्राय 2. V °लाङ्घ्रये 3--3. B, J, V, Va omit 4--4. A, B, J, Va omit 5. A, B, J, Va add ते 6. A adds सुखाय
7. A, B, J, Va omit रूपं 8--8. W omits 9--9. W omits

विलसद्द्वयाः, स्वस्वरूपज्ञानविधुरेऽपि मनसि भगवत्प्रसादवशात् देहात्मज्ञानसम्पन्ना इत्यर्थः । तेषां जीवानां आत्मने निरतिशयप्रीतिविषयाय जगतः स्थानलयोदयेषु स्थितिलयोत्पत्तिषु निमित्तभूतासु जगत्स्थित्याद्यर्थं गृहीता माया सङ्कल्पात्मकं ज्ञानं "माया वयुनं ज्ञानम्, (वेद. निघण्टुः- ३-९) इति ज्ञानपर्यायत्वात् मायाशब्दस्य । गुणौ तमोरजसी एव विग्रहौ पृथक्सिद्ध्यनर्हौ यस्य, स्थित्यर्थं स्वेच्छोपात्तप्राकृतदिव्यमङ्गलविग्रहः लयार्थं मुत्पत्त्यर्थन्तु तमोरजः-प्रधानरुद्रब्रह्मविग्रहः तस्मै इत्यर्थः ॥ २३ ॥

स्थित्यर्थं[1] विष्णुतनोः प्राकृतत्वशङ्कापरिहाराय प्राहुः - विशुद्धसत्त्वायेति हरये बन्धहारिणे हरिमेधसे दुरितहारिमनीषाविषयाय सर्वभूतान्तरात्मने आनन्दकराय सात्वतां भक्तानां प्रभवे ॥ २४ ॥

कमलं जगदुत्पत्तिस्थानात्मकं नाभौ यस्य, कमलमालाऽस्यास्तीति तस्मै व्रीह्यादित्वात् मत्वर्थीयः इनिः । "अत[2] इनिठनौ, (अष्टा. 5-2-115) इति तपरकरणात्[2] । कमलवत्पादौ कोमलौ सुगन्धी सुन्दरौ च यस्य, कमलदलवत् विशाले अक्षिणी यस्य तस्मै ॥ २५ ॥

विज० प्रचेतोभिरेवं भगवतो मत मवाप्य स्वपरहितं किमकारीति तत्राह - एवमिति ॥ २१ ॥

स्तुतिः प्रेक्षावच्चित्तहर्षणी चेत् उपादेया स्यात्, अन्यथेत्यं बधिरवद्प्रयोजिकीत्यतोऽपि ग्राह्यगुणविशिष्टामाहुरित्याह - नमोऽनम इति । निरूपितोदार गुणाह्वयाय, निरूपिता उदारगुणा येषां ते, तथा, महागुणा उपाह्वया नामानि यस्य स तथा तस्मै, मनोवचोवेगपुरोजवाय वाङ्मनसयोः वेगादपि पुरःस्थितवेगाय, यद्वा वाङ्मनसवेग मतीत्य वर्तनवेगाय "तद्धावतोऽन्यान् अत्येति" (ईश 3-4) इति श्रुतेः । सर्वाक्षाणां सर्वेन्द्रियाणां मार्गे निर्मार्गणे रग ताध्वने ऽज्ञातमार्गाय ॥ २२ ॥

शुद्धायेत्येतत् अशुद्धाक्षाज्ञेयत्वे लिङ्गम् । शान्ताय पूर्णानन्दस्वभावाय अपगतोऽपेक्षितोऽर्थः यस्मा त्तदपार्थम्, तस्मिन् सुष्ठु निष्ठा व्यवस्था यस्य नास्ति, तत्स्वनिष्ठं संशयात्मक मित्यर्थः, तच्च मनः स्वनिष्ठमनः तस्मिन् समाधानरहिते मनसि विलसद्द्वयाय प्रकटित स्वतन्त्रवस्तुद्वयाय "सम्यगस्थित बुद्धीनां द्वितीयं दृश्यते हरेः । सम्यक् सुस्थितबुद्धीनां इदं सर्वं हरे र्वशः ॥ (भारते) इति वचना दुक्त एवाऽर्थो न तु प्रकटितप्रपञ्चरूपायेति । नित्यं गृहीताः मायाया गुणाः प्रकृते सत्त्वादिगुणाः सत्त्वादिगुण प्रवर्तनानुगुणाः सत्त्वादिगुणरहिता ज्ञानानन्दात्मकाः विग्रहा ब्रह्मादिशब्दवाच्याश्च येन स तथा तस्मै, "नित्यं गृहीता स्सत्त्वाद्या विग्रहाश्च त्रयस्सदा । ज्ञानानन्दात्मका स्ते तु विग्रहा निर्गुणा स्तथा । द्वौ तत्र ब्रह्म रुद्र स्तावेकौ वैकुण्ठधामगः" (प्रवृत्तिसंहितायाम्) इति वचनात् न प्रकृतिगुण विरचितदेहत्वं हरेरङ्गीकर्तुं युक्तम् ॥ २३ ॥

---

1. A. B. T °र्थं° 2--2. Wanting.

विशुद्ध श्चायं सत्त्वः सर्वगुणात्मकश्च विशुद्धसत्त्वः तस्मै। ''हरिः सर्वगुणात्मत्वात् सत्त्वइत्यभिधीयते'' (षाड्गुण्ये) इति वचनात् रज आदि मिश्ररहितसत्त्वगुणायेत्यर्थः नोचितः। ''हरणात् ज्ञानरूपत्वात् हरिमेधा विभुः स्मृतः'' (प्रकृतिसंहितायाम्) इत्यतः पापहरणात् ज्ञानरूपत्वात् हरिमेधाः। सृष्टौ रजस्सम्पर्कात् कपिलवर्ण ज्ञानः इत्यर्थो न ग्राह्यः। ''हरिर्ना कपिले त्रिषु'' (अम.को. 3-3-175) इत्यभिधानात्। अतो गदित एवाऽर्थः तस्मै॥ २४-२५॥

**नमः कमल किञ्जल्क पिशङ्गामलवाससे।**
**सर्वभूतनिवासाय नमोऽयुङ्क्ष्महि साक्षिणे॥ २६॥**

**रूपं भगवता त्वेतदशेषक्लेशसंक्षयम्।**
**आविष्कृतं नः क्लिष्टानां किमन्यदनुकम्पितम्[1]॥ २७॥**

**एतावत्त्वं[2] हि विभुभिः भाव्यं दीनेषु वत्सलैः।**
**यदनुस्मर्यते काले स्वबुद्ध्याऽभद्ररन्धन॥ २८॥**

**येनोपशान्ति भूतानां क्षुल्लकाना मपीहताम्[3]।**
**अन्तर्हितोऽन्तर्हृदये कस्मान्नोवेद[4] नाशिषः॥ २९॥**

**असा वेव वरोऽस्माकमीप्सितो जगतः[5] पते।**
**प्रसन्नो भगवान् येषां[6] अपवर्गगुरु र्गतिः॥ ३०॥**

**श्रीध० नम** इति। कमलकिञ्जल्कपिशङ्गम्[7-] अमलं च वासो यस्य तस्मै[-7]। अयुङ्क्ष्महि कृतवन्तो वयम्॥ २६॥

यदुक्तं वरं वृणीध्व मिति तन्मनसि निधायाहुः - **रूपमिति**। समस्तानां क्लेशानां संक्षयो यस्मात् तत्, नः आविष्कृतं प्रकटितम्। अतः अन्यत् अस्मात्[8] किमनुकम्पितमनुकम्पा इय मेव अस्माकं परमानुकम्पेत्यर्थः॥ २७॥

कुत इत्यत आहुः- **एतावत्त्वमि**ति। हे! अभद्ररन्धन अमङ्गलनाशक[9]! त्वप्रत्ययोऽत्र न विवक्षितः। एतावदेव, दीनेषु वत्सलैः प्रभुभिः भाव्यं कार्यं किं तत्तदाह - **यदिति**। अस्मदीया एत इति बुद्ध्या उचिते काले अनुस्मर्यते[10-] अनुस्मरणं क्रियते[-10] इति यत्। त्वया तु रूपमपि दर्शित मिति भावः॥ २८॥

---

1. M, Ma, Ms कम्पया 2. W °वदेव 3. M, Ma, Ms °हितम्। 4. W आ° 5. M, Ma, Ms °तां 6. M, Ma ए° 7--7. A, B, J, Va omit 8. A, B, J, Va omit अस्मात् 9. A, B, J, Va °न! 10--10. A, B, J, Va omit

**येनेति**। येन अनुस्मरणेन स्मृतानां तेषां उपशान्तिः सुखं भवति। किञ्च क्षुल्लकानां क्षुद्राणा[1]मपि भूतानां अन्तः हृदये अन्तर्हितोऽन्तर्यामित्वेन स्थितो भगवान्[2] ईहमानानाम्[3-3] इच्छतां त्वदुपासकानां नोऽस्माक माशिषः कामान्[4] कस्माद्धेतोः न वेद जानात्येवेत्यर्थः॥ २९॥

**असाविति**। तथाऽपि वक्तव्यं चेत् तर्हि येषा मस्माकं भगवान्[5] प्रसन्नोऽसा वेव वरः भगवत्प्रसाद एव अस्माक मीप्सितोऽर इत्यर्थः। अपवर्गगुरुः मोक्षमार्गप्रदर्शकः[6] गतिः स्वतश्च पुरुषार्थभूतः॥ ३०॥

**वीर०** कमलकिञ्जल्कवत् पिशङ्गम् अमलञ्च वासो वस्त्रं यस्य, सर्वभूतानां निवासाय आधाराय सर्वाणि भूतानि निवासः वासस्थानं शरीरं यस्येति वा। यद्यपीदं विशेषणद्वयं वासुदेवाय इत्यनेनैव गतं[7] तथाऽपि तद्विवरणरूपमिदं व्याख्येयम् साक्षिणे सर्वसाक्षाद्द्रष्ट्रे तुभ्यं नमः अयुङ्क्ष्महि[8] करवाम॥ २६॥

भगवद्दर्शनेनैव आत्मना मवाप्तसमस्तपुरुषार्थतामाहुः - आविष्कृतमिति। अशेषाणां क्लेशानां संक्षयो यस्मात्, तदेतद्रूपं भवता तापत्रयातुराणा मस्माक माविष्कृतं प्रकटीकृतम्। इतोऽन्यत् किम् अनुकम्पन मस्ति ? इयमेव त्वया कर्तव्याऽनुकम्पेत्यर्थः। अतो नाऽस्माभिः वरणीयोऽसीति भावः॥ २७॥

हे अमङ्गलनिरासक ! वत्सलैः प्रभुभिः दीनेषु भाव्यं कर्तव्यम्, एतावदेव। किं तत् ? तदाह अस्मदीया एत इतिबुद्ध्या उचितकालेऽनुस्मर्यत इति यत्त्वया तु रूप मपि दर्शित मिति भावः॥ २८॥

येनाऽनुस्मरणेन क्षुल्लकानां क्षुद्राणां उपशान्तिः दुरितोपशान्तिः भवति। किञ्च ईहतां कामयमानानां नोऽस्माकं अन्तः हृदये अन्तरात्मत्वेन स्थितो भवा नाशिषः कामान् कस्माद्धेतोः न वेद जानात्येवेत्यर्थः॥ २९॥

तथाऽपि वक्तव्यं चेत् तर्हि येषामस्माकं भगवान् प्रसन्नः असावेव वरः कुतः यतस्त्वम् अपवर्गगुरुः मुक्तिसाधनोपदेष्टा गति रपवर्गसाधनभूतश्च॥ ३०॥

**विज०** अयुङ्क्ष्महि नमस्काराख्यं योगमकार्ष्म॥ २६॥

अनुकम्पया भवताऽप्ये तद्रूप माविष्कृत मन्य त्किम्? अस्मदनुकम्पां विना न किमपीत्यर्थः॥ २७॥

---

1. B, J, V, Va omit क्षुद्राणाम् 2. A, B, J, Va भवान् 3--3. A, B, J, Va omit 4. A, B, J, Va omit कामान् 5. V भवान् 6. V प्रवर्तकः 7. A, B, T अवगतं 8. W युङ्क्ष्महे

अभद्ररन्धन ! पापदहन ॥ २८ ॥

यदुक्तं हरिणा वरं वृणीध्वमिति तत्राहुरित्याह - **येनेति**। क्षुल्लकानां अल्पकानां अपि भूतानामन्तः हृदये अन्तर्हितं स्त्वं तेषा मीहितं चेष्टितं चावैषि। तस्मात् न आशिषः कस्मात् न वेद ? अपि तु वेदेत्यन्वयः ॥ २९ ॥

त्वत्प्रसादा दन्यो वरो न प्रार्थनीय इत्याहुरित्याह असाविति। एषा मस्माकं भगवान् प्रसन्नः असौ भगवत्प्रसाद एवेप्सितो वरो नाऽन्य इत्यन्वयः ॥ ३० ॥

**वरं वृणीमहेऽथापि नाथ त्वत्परतः परात्।**
**न ह्यन्त[1] स्त्वद्विभूतीनां यो[2]ऽनन्त इति गीयसे[3] ॥ ३१ ॥**

**पारिजातेऽञ्जसा लब्धे[4] सारङ्गो[5]ऽन्यन्न सेवते।**
**त्वदंङ्घ्रिमूल मासाद्य साक्षात्किं किं वृणीमहे[6] ॥ ३२ ॥**

**यावत्ते मायया स्पृष्टा भ्रमाम इह कर्मभिः।**
**तावद्भवत्प्रसङ्गानां सङ्गः स्यान्नो भवे भवे ॥ ३३ ॥**

**तुलयाम लवेनाऽपि न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।**
**भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥ ३४ ॥**

**यत्रेड्यन्ते कथा मृष्टा स्तृष्णायाः प्रशमो यतः।**
**निर्वैरं यत्र भूतेषु नोद्वेगो यत्र कश्चन ॥ ३५ ॥**

**श्रीध० वर मिति**। यद्यप्येवं तथा[7]ऽपि हे नाथ ! त्वत् त्वत्तः वर मेकं वृणीमहे। कथम्भूतात् ? परतः कारणादपि परात् "अक्षरा त्परतः परः" (मुण्ड. उ. २-१-४) इति श्रुतेः। अतो यद्यपि त्वं दातुं समर्थो न च[8] दिव्यानां त्वद्विभूतीनां अन्तोऽस्ति, यतोऽन्तर्विभूतित्वात् अनन्त इति गीयसे ॥ ३१ ॥

**पारिजात** इति। तथाऽपि यथा सारङ्गो भ्रमरः पारिजाते अञ्जसा[9] सुखेन लब्धे सति, सुलभमपि अन्यं[10] वृक्षान्तरं न सेवते तथा

1. V °न्तो यद्वि° 2. A, B, G, I, J, T, V सो° 3. M, Ma °ते 4. M, Ma, Ms लभ्ये 5. V °न्यं न 6. A, B, G, I, J, T °हि 7. V अ° 8. A, B, J, Va देयानां 9. B, J, V, Va omit अञ्जसा 10. A, B, J, Va अन्यत्

वयमपि साक्षात् त्वदङ्घ्रिमूलं प्राप्य किं किं वृणीमहे[1] न किञ्चिदित्यर्थः। यद्वा, किमप्यन्यत्तुच्छं, किमर्थं वृणीमहि यद्वा, यदि वृणीमहे[2] किं किं तर्हि वृणीमहे[3] अनन्तत्वेन मनोरथानां अनवस्थाना दित्यर्थः॥ ३२॥

अत एतावदेव प्रार्थयामहे[4] इत्याहुः - **यावदिति**। स्पृष्टा व्याप्ता सन्तः[5] भवति प्रकृष्टः सङ्गो येषां तेषां सङ्गोऽस्माकं स्यात्॥ ३३॥

ननु राज्यभोगान् स्वर्गापवर्गौ च विहाय किमिदं प्रार्थ्यते तत्राहुः - **तुलयामेति**। भगवत्सङ्गिनां[6] भगवतानां[6] सङ्गस्य लवेनाऽपि॥ ३४॥

सत्सङ्गस्य श्रैष्ठ्यं प्रपञ्चयति - **यत्रेति** त्रिभिः। यत्र येषु भगवत्सङ्गिसङ्गेषु[7] यतो याभ्यः कथाभ्यः निर्वैरं वैराभावः उद्वेगो भयम्॥ ३५॥

**वीर०** यद्यप्येवम्, अथाऽपि हे नाथ! परतो देहवि लक्षणा[8] त्मनः परा द्विलक्षणात् त्वत् त्वत्तः प्रकृतिपुरुषविलक्षणात् त्वत्त इत्यर्थः। वरं वृणीमहे। कं वरं वृणुतेति[9] विवित्सायां त्वदीयानन्तगुणगणानुकथनानुश्रवण परायणानां भागवतानां सङ्गमिति वक्तुं तावदनन्तत्व माहुः[10]। यद्यस्मात् त्वत् विभूतीना मन्तो न ह्यस्ति अतस्त्वम् अनन्त इति गीयसे॥ ३१॥

भागवतसङ्गलभ्यत्वद्गुणानुभव मन्तरेणाऽन्यं न वृणीमह इत्याहुः। पारिजाते मकरन्दनिभरे लब्धे सति सारङ्गो भृङ्गोऽन्यत्र सेवते, एवं त्वदङ्घ्रिमूलं निरतिशयसुखावह मासाद्य किं किं वृणीमहे न किमपीत्यर्थः॥ ३२॥

एतावदेव प्रार्थयाम इत्याहुः। ते तव मायया स्पृष्टा मोहिता स्सन्तो वयं स्वकर्मभिः इह संसारे यावद्भ्रमाम स्तावत् भवतः प्रसङ्गो येषां तेषां भागवतानां सङ्गः प्रतिजन्म नोऽस्माकं स्यादित्येष एव वरोऽस्माभि र्वरणीयः॥ ३३॥

ननु राज्यभोगस्वर्गान् हित्वा किमिदं प्रार्थ्यते तत्राहुः - **तुलयामे**ति। भगवत्सङ्गिनां सङ्गस्य लवेनाऽपि स्वर्गादिकं न तुलयाम न तुल्यं मन्यामहे, किमुत मर्त्यानां मरणशीलानां आशिषः राज्यभोगादिरूपाः तुलयाम इत्यर्थः॥ ३४॥

सत्सङ्गस्य श्रैष्ठ्यं प्रपञ्चयति - **यत्रेति** त्रिभिः। यत्र भागवतेषु मृष्टाः कर्तरि क्तः, पापशोधिका मधुरा वा कथाः भगवत्कथा ईड्यन्ते प्रस्तूयन्ते यतः याभ्यः कथाभ्यः श्रूयमाणाभ्यः तृष्णाया विषयबुभुक्षायाः प्रशमः[11] प्रशान्तिः यत्र सत्सङ्गे सति भूतेषु[12] निर्वैरं वैराभावः, यत्र सत्सङ्गे सति[12] कश्चन उद्वेगः भयं च नास्ति॥ ३७॥

---

1. A, B, J, Va °हि 2. A, B, J, Va °हि 3. A, B,J,Va °हि 4. A, B, J, Va °मः 5. A, B, J, Va omit सन्तः 6--6. B, J, V, Va omit 7--7. B, J, V, Va omit 8. T omits त्वत् 9. B वृणते इति 10. W °ह 11. W omits प्रशमः 12--12. A, T omit

विज० यद्यपि भगवत्प्रसाद एवेप्सितो वर स्तथाऽपि परतः परात्त्वत्सङ्गतिलक्षणं[1] वरं वृणीम इत्यन्वयः। परतः परत्वमुपपादयति नहीति "नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप" (भ.गी. 10-40) अतोऽनन्तेन (ब्र.सू. 3-2-26) तथाहि - लिङ्गमपरो मात्रया इत्यादि" प्रमाणात्॥ ३१॥

यत स्त्वमेवानन्तोऽतोऽन्यस्मान्मनसा वराभिलाषो नास्त्येवेति भावेनाह - **पारिजात** इति। लुप्तोपममेतत् - यथा पारिजाते पुष्पेऽङ्गसा तत्त्वेन लभ्ये लब्धुं योग्ये सारङ्गो भृङ्गोऽन्यच्चम्पकादिपुष्पं न सेवते, तथा साक्षात् त्वदङ्घ्रिमूलं अवाप्य अन्य दभीष्टं किं किं वृणीमहे ? न किमपीत्यन्वयः॥ ३२॥

माभूदन्यतो वराभिलाषः, अस्मत्तः कोऽसौ वर इति तत्राह - **यावदिति**। भवतः प्रसङ्गो येषां ते भवत्प्रसङ्गाः तेषाम्॥ ३३॥

सत्सङ्गो वाच्छनीय इति भावेनाह - **तुलयाम** इति॥ ३४॥

सत्सङ्गतौ एते गुणा लभ्यन्ते इत्याह- **यत्रेति**॥ ३५॥

**यत्र नारायणः साक्षात् भगवान्[2-] न्यासिनां गतिः[-2]।**
**प्रस्तूयते[3] सत्कथासु मुक्तसङ्गैः पुनःपुनः॥ ३६॥**

**तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया।**
**भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः॥ ३७॥**

**वयं तु साक्षात् भगवन् भवस्य[4] प्रियस्य[5] सख्युः क्षणसङ्गमेन।**
**सुदुश्चिकित्स्यस्य[6] भवस्य मृत्यो र्भिषक्तमं त्वाद्य गतिं गतास्स्मः[7]॥ ३८॥**

**यन्नःस्वधीतं गुरवः प्रसादिता विप्राश्च[8] वृद्धाश्च सदानुवृत्त्या।**
**आर्या[9] नता स्सुहृदो भ्रातरश्च सर्वाणि[10-] भूतान्यनसूययैव[-10]॥ ३९॥**

**यन्नः सुतप्तं तप एतदीश निरन्धसां कालमदभ्रमप्सु।**
**सर्वं तदेतत् पुरुषस्य भूम्नो वृणीमहे ते परितोषणाय॥ ४०॥**

---

1. A, B सङ्गल° 2--2. W न्यासिनां परमा गतिः 3. A, B, G, I, J, T सं° 4. M, Ma, Ms °वत्प्रियस्य 5. M. Ma शिवस्य 6. A. B. J. Ma. T, V °त्स° 7. B. I. J. W स्म। 8. V सिद्धाश्च 9. M. Ma. Ms ह्यनाथास्सु° 10--10. W भूतानि सर्वाण्य°

**श्रीध०** [1-]**यत्रेति**[-1]। न्यासिनां सन्न्यासिनां गतिः इष्टोपायः ॥ ३६ ॥

**तेषामिति**। पद्भ्यां पावनेच्छया संसारात् भीतस्य॥ ३७॥

सत्सङ्गफल मस्माभिरेव अनुभूत मित्याहुः - **वयं त्विति**। तव यः प्रियः सखा तस्य, भवस्य रुद्रस्य[2] अत्यन्तमचिकित्सस्य[3-] असाध्यरोगरूपस्य[-3] भवस्य जन्मनो मृत्यो श्च भिषक्तमं सद्वैद्यं त्वा[4] इति त्वां गतिं प्राप्ताः ॥ ३८ ॥

वरान्तरं वृणते **यन्न** इति द्वाभ्याम्। नताः नमस्कृताः ॥ ३९ ॥

**यदिति**। निरन्धसां निरन्नानाम् अस्माकं[5-] अदभ्रं[-5] बहुकालं ते परितोषणाय भवत्विति वृणीमहे ॥ ४० ॥

**वीर.** यत्र सत्कथासु मुक्तसङ्गैः सद्भिः पुनःपुनः भगवान्नारायण एव न्यासिनां सन्न्यासिनां गति रिष्टोपायः प्रस्तूयते ॥ ३६ ॥

तेषां सतां तीर्थानां गङ्गादीनां पावनेच्छया गङ्गादीन् पवित्रीकर्तु मिच्छया पद्भ्यां चरतां तावकानां त्वद्भक्तानां समागमः सङ्गमः संसारा द्भीतस्य किं न रोचेत रोचेतैवेत्यर्थः ॥ ३७ ॥

सत्सङ्गस्य फल मस्माभि रेव अनुभूत मित्याहुः - **वयन्त्विति**। हे भगवन्! त्वत्प्रियस्य त्वत्सखस्य भवरूपमृत्युचिकित्सकस्य भवस्य रुद्रस्य क्षणमात्रसङ्गमेन भिषक्तमं संसृतिरूपरोगनिवारकं त्वां गतिं शरणं गताः प्राप्ताःस्स्मः ॥ ३८ ॥

एवं सत्सङ्गं वृत्वा वरान्तरं वृणुते - यन्न इति द्वाभ्याम्। यदस्मदीय मध्ययनादिकं तदेतत्सर्वं सर्वान्तरात्मनः परमपुरुषस्य तव परितोषणाय वृणीमहे त्वत् परितोषणाय भवत्वित्यन्वयः[-6]। नोऽस्माभिः प्रसादिताः प्रसादं प्रापिताः सन्ततम् अनुवृत्त्या गुरवो वृद्धा विप्राश्च प्रसादिताः प्रसादं[7-] प्रापिताः[-7] आर्यागुर्वादयो नता नमस्कृताः तथा सुहृदादयः अनसूययैव प्रसादिताः निरन्धसां निरन्नानां नोऽस्माकमदभ्रं[8] बहुकाल मप्सु जलेषु यत्सुतप्तं तपः एतदध्ययनगुर्वादिप्रसादन नमस्कारतपादिकम् ॥ ३९-४० ॥

**विज०** रुच्यभावे कथं घटत इति तत्राह- **तेषामिति**। तीर्थानां पावनेच्छया पद्भ्यां तीर्थानि विचरतां तावकानां समागमः संसारा द्भीतस्य पुंसो न रोचते किं ? रोचत एवेत्यन्वयः। संसार रोग परिहारौषधपानसम्भवात् अत्र रुचिर्जायत इत्यर्थः ॥ ३६-३७ ॥

सत्सङ्गफल मनुभवसिद्धं चेत्याहुः इत्याह - **वयंत्विति**। भगवान् प्रियो यस्य स तथा तस्य तव प्रियस्य सख्युः संसारादौ सह कारिणः शिवस्य मृत्यो र्मारकस्य भिषक्तमं वैद्यश्रेष्ठम् ॥ ३८ ॥

---

1--1. A. B. J. Va omit 2. B. J. V. Va omit रुद्रस्य 3--3. B. J. V. Va omit 4. A. B. J. Va omit त्वा इति 5--5. B. J. V. Va omit
6--6. T omits 7--7. W omits 8. W omits अस्माकम्

वेदाध्ययनादिपुण्यं यत्तत्सर्वं भवत्प्रसादजनकमस्त्विति निवेदयन्तीत्याह - **यन्न** इति। सुष्ठु अधीतं वेदाध्ययनम्, अनाथा मृतभर्तृकाः ॥ ३९ ॥

निरन्धसां त्यक्तपितृदत्तान्नानां त्यक्तसर्वथान्नानां वा, अदभ्र मनल्पम् ॥ ४० ॥

**मनु स्स्वयम्भू र्भगवान् भवश्च येऽन्ये तपोज्ञान विशुद्धसत्त्वाः।**
**अदृष्टपारा अपि यन्महिम्नः स्तुवन्त्यथो[1] त्वाऽऽत्मसमं गृणीमः ॥ ४१ ॥**

**नमः समाय शुद्धाय पुरुषाय पराय च।**
**वासुदेवाय सत्त्वाय तुभ्यं भगवते नमः ॥ ४२ ॥**

## मैत्रेय उवाच

**इति प्रचेतोभि रभिष्टुतो हरिः प्रीतस्तथेत्याह शरण्यवत्सलः।**
**अनिच्छतां यान मतृप्तचक्षुषां ययौ स्वधामानपवर्गवीर्यः[2] ॥ ४३ ॥**

**अथ निर्याय सलिलात् प्रचेतस उदन्वतः।**
**वीक्ष्याकुप्यन् द्रुमै श्छन्नां गां गां[3-] रोद्धु मिवोच्छ्रितैः[-3] ॥ ४४ ॥**

**ततोऽग्निमारुतौ राजन् अमुञ्चन् मुखतो रुषा।**
**महीं निर्वीरुधं कर्तुं संवर्तक[4] इवात्यये[5] ॥ ४५ ॥**

**श्रीध०** अजानता[6] मप्यस्माकं त्वत्स्तुतिः नाऽयुक्तेत्याहुः - **मनुरिति**। यस्य तव महिम्नो न दृष्टं पारं यैः, तेऽपि त्वामात्मसमं स्वमत्यनुरूपं यथा तथा स्तुवन्ति, अथो अतो वयमपि गृणीमः ॥ ४१ ॥

**नम** इति। समाय[7-] वैषम्यहीनाय, शुद्धाय रागादिरहिताय पराय उत्कृष्टाय[-7] सत्त्वमूर्तये वासुदेवाय ॥ ४२ ॥

**इतीति**। यानं स्वप्रयाण मनिच्छता मपि सतां स्वधाम[8] ययौ। अनपवर्गवीर्यः अकुण्ठितप्रभावः ॥ ४३ ॥

---

1. V °थ  2. M, Ma, Ms विक्रमः।  3--3. M, Ma, Ms गामारोढु मिवोत्थितैः।  4. M, Ma, Ms सा°  5. A, B, G, I, J, T °त्य°
6. A, B, J, Va अज्ञानाम°  7--7. A, B, J, Va omit  8. A, B, J, Va add भक्तहृदयं विवेश

**अथेति**। उदन्वतः सिन्धोः सलिलात् निर्याय निर्गत्य, गां स्वर्गं रोद्धु मिवोच्छ्रितैः द्रुमैः गां महीं छन्नां वीक्ष्य द्रुमेभ्योऽकुप्यन्। तदा हि प्राचीनबर्हिषः प्रव्रजितत्वा दराजके कर्षणाद्यभावात् द्रुमैः भूमि श्छन्नाऽभूत्॥ ४४॥

**तत** इति। निरस्ता वीरुधो यस्या स्तथाभूतां कर्तुम्, संवर्तकः कालाग्निरुद्रः, [1]अप्यये प्रलये॥ ४५॥

**वीर०** अजानता मप्यस्माकं त्वत्स्तुतिर्नाऽयुक्ता इत्याहुः। मन्वादयः तत्र भवोरुद्रः तथा ये तपोज्ञानाभ्यां कर्मयोग- ज्ञानयोगाभ्यां विशुद्धं सत्त्व मन्तःकरणं येषां ते तव महिम्नोऽदृष्टं पारं यै स्ते तथाभूता अपि त्वाम् आत्मसमं स्वमत्यनुरूपं यथा तथा स्तुवन्ति [2]अथो अतः वयमपि गृणीमः[3]॥ ४१॥

एवमात्मनां स्तुत्यर्हता माविष्कृत्य स्तुवन्तो नमस्कुर्वन्ति। समाय सर्वभूतसमाय वैषम्यरहितायेत्यर्थः। तत्र हेतुः शुद्धाय[4] अपापविद्धाय, पापहेतुकं हि वैषम्यं, परमपुरुषाय शुद्धसत्त्वमूर्तये वासुदेवाय नमः॥ ४२॥

एवं प्रचेतोभिः अभिष्टुतो भगवान् प्रीतः तत्स्तुत्या तथेत्याह, युष्मद्वरणानुसारेण युष्मदिष्टसिद्धिः अस्त्वित्याह, स्वलावण्यानुभवेन अतृप्तानि चक्षूंषि येषां तेषाम्, अत एव स्वयान मनिच्छतां प्रचेतसाम् अनपवर्गवीर्यः अपारपराक्रमो भगवान् शरण्य वत्सलः [5]स्वलोकं प्रति ययौ॥ ४३॥

अथ प्रचेतस उदन्वतः समुद्रस्य जला न्निर्गत्य गां स्वर्गं रोद्धुमिव उच्छ्रितैः उन्नतैः द्रुमैः गां महीं छन्नां वीक्ष्य द्रुमेभ्यौऽकुप्यन्। तदा हि प्राचीनबर्हिषः प्रव्रजितत्वात् अराजके कृष्याद्यभावात् भूमिः द्रुमैः [6]प्रच्छन्नाऽभूत्॥ ४४॥

[7]महीं निरस्ता वीरुधः यस्याः तथाभूतां कर्तुं संवर्तके कल्पान्ते [8]अप्यये नाशे उपस्थिते सति यथा, तथा हे राजन्! रुषास्वमुखेभ्यः अग्निवायू अमुञ्चन्॥ ४५॥

**विज०** ननु ब्रह्मादिवत् परिच्छिन्नत्वे पूर्वोक्तानन्तत्वं न युज्यते, अपरिच्छिन्नत्वे स्तुति र्न घटत इति तत्राह - **मनुरिति**। तन्महिम्नः पार मदृष्टवन्तोऽपि ब्रह्मादयो वेदाद्युक्तानुसारेण यद्यथा त्वां स्तुवन्ति अथो तथा वय मपि आत्मबुद्धिसमं [9]गृणीमह इत्यन्वयः॥ ४१॥

आत्मसम मित्युक्त्या प्रचेतसां बुद्धीना मस्मद्बुद्धितो महागुणितत्वात् तदुक्तम्। स्तुतिपदाना मनेकार्थत्वेन अस्मद्बुद्ध्यविषयत्वेन नाऽस्माभिः तदर्थकथनाय प्रयत्नः क्रियते, किन्तु व्याख्यान प्रतिज्ञाभङ्ग परिहाराय प्रतीतोऽर्थः कथ्यते। तथा हि - समाय वैषम्य नैर्घृण्यरहिताय सहिता मा लक्ष्मी र्यस्य स समः तस्मा इति वा। "शुद्धाय निरञ्जनाय यदयं पाप्मन उत्सरस्तस्मात् पुरुषोनाम" इति

---

1. A, B, T omit अथो अतः 2. A, B, T add इत्यर्थः 3. A, B, T add विशुद्धाय 4. A, B, T स्वं 5. A, B, T उच्चत्रतैः 6. A, B, T omit प्र 7. A, B, T omit महीं 8. A, B, T अत्यये 9. A, B वृणीमह°

श्रुतेः। समस्तपाप विनाशनाय पराय उत्कृष्टाय वासुदेवाय बलज्ञानात्मकमुख्यप्राण प्रवर्तकार्थं सर्व माच्छाद्य अतिक्रम्य दीव्यतीति वासुदेव स्तस्मै सत्त्वाय पराक्रमरूपाय भगवते सौभाग्यरूपाय ऐश्वर्यादिगुणवते वा ॥ ४२ ॥

हरेः स्वधामप्रयाण माह - **इतीति**। यानं गमनम् अनपवर्गविक्रमः अविनष्टपराक्रमः अनेन कर्मणा मपि नित्यत्व ममूचीनि ज्ञायते ॥ ४३ ॥

इदानीं प्रचेतसां विक्रमविशेषं वक्तु मुपक्रमते **अथेति**। गां भूमिम् ॥ ४४ ॥

अप्यये प्रलये सांवर्तकः प्रलयकालीनोऽग्निरिव ॥ ४५ ॥

**भस्मसात् क्रियमाणां स्तान् द्रुमान् वीक्ष्य पितामहः।**
**आगत[1] श्शमयामास पुत्रान् बर्हिष्मतो नयैः ॥ ४६ ॥**

**तत्राऽवशिष्टा ये वृक्षा भीता दुहितरं तदा।**
**आजहु[2] स्ते प्रचेतोभ्यः उपदिष्टा स्स्वयम्भुवा ॥ ४७ ॥**

**ते च ब्रह्मण आदेशान्मारिषा मुपयेमिरे।**
**यस्यां महदवज्ञाना दजन्यजनयोनिजः ॥ ४८ ॥**

**चाक्षुषे त्वन्तरे प्राप्ते प्राक्सर्गे कालविद्रुते[3]।**
**य स्ससर्ज प्रजा इष्टाः[4] स दक्षो दैव चोदितः ॥ ४९ ॥**

**यो जायमान[5] स्सर्वेषां तेज स्तेजस्विनां रुचा।**
**स्वयोपादत्त[6] दाक्ष्याच्च कर्मणा[7] दक्ष मब्रुवन् ॥ ५० ॥**

**तं प्रजासर्गरक्षाया मनादि[8] भरतर्षभ।**
**युयोज युयुजेऽन्यांश्च[10] स वै सर्वप्रजापतीन्[9] ॥ ५१ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टादश साहस्र्यां

---

1. W °त्य श° 2. A, B, G, I, J, T, V उज्जहु° 3. M, Ma, Ms °प्लु° 4. Ms °श्शिष्टाः 5. M, Ma, Ms न्यकचकार स° 6. M, Ma, Ms योग्योपात्त 7. A, B, G, I, J, T °णा 8. A, B, G, I, J, T °दि रभिषिच्य च; M, Ma, Ms °दि र्भगवानजः। 9. M, Ma युयुजु स्तं वै; Ms युयुजु स्ते वै; V युयुजेऽन्यान् वै 10. M, Ma, Ms सर्वेऽन्ये च प्रजेश्वराः।

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां

चतुर्थस्कन्धे त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

**श्रीध० भस्मसादिति**। नयै र्युक्तिभिः ॥ ४६ ॥

**तत्रेति**। उज्जहुः समर्पयामासुः ॥ ४७ ॥

**त** इति। मारिषां वार्क्षीम् अजनयोनिः ब्रह्मा, तस्मा ज्जातो दक्षः महतः श्रीमहादेवस्य अवज्ञानात् पूर्व मयोनिजो ब्रह्मपुत्रोऽपिसन् क्षत्रियजातौ यस्यां [1-]वार्क्ष्याम्[-1] अजनि जातः ॥ ४८ ॥

**चाक्षुषे** इति। प्राक्सर्गे पूर्वदेहे कालेन विद्रुते गते [2]सति दैवेनेश्वरेण चोदित स्सन् [3-]यश्चाक्षुषेऽन्तरे[-3] इष्टाः प्रजाः ससर्ज। स दक्ष इति प्रसिद्धः ॥ ४९ ॥

**य** इति। [4]यः स्वया रुचा प्रभया तेज उपादत्त आच्छादितवान्। यं च कर्मदाक्ष्यात् दक्ष मब्रुवन् ॥ ५० ॥

**तमिति**। तमभिषिच्य अमादिः ब्रह्म। प्रजासर्गरक्षायां युयोज। स च दक्षोऽन्यान् मरीच्यादीन् तत्तद्व्या पारेषु नियुक्तवान् ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्री श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

**वीर०** ताभ्यां द्रुमान् भस्मराशीक्रियमाणान् तान् प्रचेतस श्च वीक्ष्य चतुर्मुखः आगत्य नयैः युक्तिभिः बर्हिष्मतः सुतान् शमयामास शान्तानकरोत् ॥ ४६ ॥

तत्र तेषु शान्तेषु सत्सु अवशिष्टा ये वृक्षाः वृक्षाभिमानिदेवताः भीता स्सन्तः स्वयम्भुवोपदिष्टाः दुहितरं प्रचेतोभ्यः उपजहु· समर्पयामासुः ॥ ४७ ॥

ते च प्रचेतसः ब्रह्मण आज्ञया मारिषाख्यां स्त्रिय मुपयेमिरे यस्यां मारिषाया मजनयोनिजः अजनो ब्रह्मा स एव योनिः तस्मा ज्जातो [5]दक्षः महदवज्ञानात् रुद्रावहेलना द्धेतोः अजन्युत्पादितः प्रचेतोभिरिति शेषः ॥ ४८ ॥

कोऽसा वजनयोनिजः यो मारिषायां जातस्तत्राह - **चाक्षुषे** मन्वन्तरे प्राप्ते पूर्वमन्वन्तरसर्गे कालेन विद्रुते उपसंहृते सति दैवे नेश्वरेण चोदित **स्सन् इष्टाः प्रजाः** यः **ससर्ज** सृष्टवान् [6]सः नाम्ना दक्षः ॥ ४९ ॥

---

1--1. B, J, V, Va omit 2. A, B, J, Va omit सति 3--3. B, J, V, Va omit 4. B, J, V, Va omit यः 5. A, B, T omit दक्षः 6. A. B, T omit स.

तस्मिन् दक्षशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमाह - **य** इति। यो जायमानः स्वया रुचा प्रभया सर्वेषां तेजस्विनां तेजोयुक्तानां[1-1] तेज उपादत्त आच्छादितवान्, तस्मात् दाक्ष्यात् परतेजः प्रच्छादनसमर्थत्वात्, कर्मणा च निमित्तेन कर्मणि दक्षत्वा च दक्ष[2] इत्यब्रवुन् लोका इति शेषः ॥ ५० ॥

यं च कर्मदाक्ष्यात् दक्ष मब्रुवन् तमनादि र्भगवान् ब्रह्मा प्रजानां सर्गे रक्षायां च युयोज आदिदेश। स दक्षोऽन्यान् मरीच्या दीन् प्रजापतींस्तद्व्यापारेषु नियुक्तवान् ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

**विज०** ब्रह्मणाऽऽगत्य क्रियमाणं तत्क्रोधशमनप्रकार माह - **भस्मसादिति**। नयै र्युक्तिभिः ॥ ४६ ॥

प्रीतिकरणं विना केवलं नयै रेव कोपशान्तिः कथ मभूदिति तत्राह - **तत्रेति** ॥ ४७ ॥

प्रतिपक्षभूतैः वृक्षैः दीयमानं कन्यादानं निशङ्कं कथं संगच्छत इति तत्राह - **ते चेति**। आप्तत्वे ब्रह्मणो वचनं कारण मित्यर्थः। वन्ध्याचेत्किमित्युपनयन मकार्षु रिति तत्राह - यस्या मिति। न जायत इत्यजनो विष्णुः, स एव योनि रुत्पत्तौ कारणं यस्य सोऽजनयोनिः ब्रह्मा। तस्माज्जातोऽजनयोनिजो दक्षः अजनि जज्ञे, ता मुपयेमिरे इत्यन्वयः। महतो रुद्रस्य अवज्ञानात् निन्दनात् ॥ ४८ ॥

तज्जन्मप्रयोजन माह - **चाक्षुष** इति। प्राक्सर्गे पूर्वसृष्टौ कालेन विप्लुते नष्टायां दैवेन विष्णुना ब्रह्मणा च चोदितः "चुद-प्रेरण" इति धातुः ॥ ४९ ॥

किन्नामाऽयं जात इति निरुक्तिपूर्वकं तन्नामाह - **य** इति। स्वयोग्योपात्त दाक्ष्यात् स्वयोगसामर्थ्येन प्राप्त पदत्वात् ॥ ५० ॥

इदं च तन्नामकरणे लिङ्गमिति भावेनाह - **तं प्रजेति**। अनादि र्ब्रह्मा, प्रजेश्वरा मरीच्यादयः, युयुजुः अन्वाधानलक्षणं योग मकुर्वन्निति ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थकृतायां पदरत्नावल्यां
टीकायां त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

1--1. W omits  2. A, B, T दक्ष मब्रु°

# एकत्रिंशोऽध्यायः

## मैत्रेय उवाच

तत उत्पन्नविज्ञाना आश्वधोक्षजभाषितम्।

स्मरन्त आत्मजे भार्यां विसृज्य प्राव्रजन् गृहात्॥ १॥

दीक्षिता ब्रह्मसत्रेण सर्वभूतात्ममेधसा।

प्रतीच्यां दिशि वेलायां सिद्धोऽभूद्यत्र जाजलिः[1]॥ २॥

तान्निर्जितप्राण मनोवचो दृशो जितासनान् शान्तसमानविग्रहान्।

परेऽमले ब्रह्मणि योजितात्मनः सुरासुरेड्यो ददृशे स्म नारदः॥ ३॥

त मागतं त उत्थाय प्रणिपत्याभि वाद्य[2] च।

पूजयित्वा यथादेशं सुखासीन मथाऽब्रुवन्॥ ४॥

### प्रचेतस[3-] ऊचुः[-3]

स्वागतं ते सुरर्षेऽद्य दिष्ट्या नो दर्शनं गतः।

तव चङ्क्रमणं ब्रह्मन्नभयाय यथा रवेः॥ ५॥

## श्री श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एकत्रिंशे सुते दक्षे धुरं न्यस्य वने[4] सताम्। नारदोक्तेन मार्गेन मुक्तिं[5] रुक्ता प्रचेतसाम्॥

**तत** इति। ततो दिव्यवर्षसहस्राणां सहस्रस्यान्ते उत्पन्नविवेकज्ञानाः ते "उपयास्यथ मद्धाम निर्विद्य निरयादतः" (भाग. 4-30-18) इत्यधोक्षजभाषितं स्मरन्त आशु प्राव्रजन्॥ १॥

**दीक्षिता** इति। ब्रह्मसत्रेण आत्मविमर्शेन दीक्षिताः कृतसङ्कल्पा बभूवुः। सर्वेषु[6] भूतेषु आत्मेति मेधा ज्ञानं यस्मिंस्तेन। क्व? वेलायां समुद्रतटे जाजलिः[7] नाम ऋषिः॥ २॥

---

1. V °ब° 2. A. B. G. I. J. M. Ma. Ms °नन्द्य 3--3. M, Ma, W omit 4. V प्रचेतसः 5. V गता मुक्ति मितीर्यते॥ 6. V सर्वभू° 7. V °द्व°

**तानिति**। निर्जिताः प्राणमनोवचोदृशो यैः तान्। शान्ताः उपरताः समाना मूलाधारा दारभ्य ऋजवो विग्रहायेषाम्। ब्रह्मणि योजित आत्मा यै स्तान्। सुरासुरै रीड्यः स्तुत्यः[1-] ददृशे[-1] दृष्टवान्॥ ३॥

**तमिति**। उत्थाय तं[2] प्रणिपत्य यथादेशं यथाविधि पूजयित्वा॥ ४, ५॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं तपस्तोषित प्रत्यक्षित परमात्मानः प्रचेतसो मारिषा मुपयम्य तस्यां पुत्र मुत्पादयामासु रित्युक्तम्। अथ भगवदादिष्ट दिव्यवर्ष सहस्रपर्यन्तानुभूत राज्य भोगाः आत्मजारोपित राज्यभाराः प्रविष्ट जाजल्याश्रमाः नारदोपदिष्टात्मं परमात्म याथात्म्याः उपासित परमात्मान स्तत्पद मापुरिति वदन्नुपसंहरति एकत्रिंशेन मुनिः - **तत** इति। दिव्यवर्षसहस्राणां सहस्रान्ते उत्पन्नविवेकात्मक ज्ञानाः अधोक्षजस्य भाषितं वचः स्मरन्तः आत्मजे दक्षे भार्यां विसृज्य भार्यापोषणमात्मजाधीनं कृत्वा गृहात्प्राव्रजन्॥ १॥

ब्रह्मसूत्रेण ज्ञानयज्ञेन न्यासविधिना वा दीक्षिताः सङ्कल्पित ब्रह्मसत्रा बभूवु रित्यर्थः। ब्रह्मसत्रं विशिनष्टि - **सर्वभूतात्म मेधसेति** - सर्वभूतेषु आत्मा परमात्मा इति मेधा ज्ञानं यस्मिन् तेन सर्वात्मक ब्रह्मोपासनात्मकज्ञानेनेत्यर्थः। प्रथमान्तपाठे प्रचेतसां विशेषणं, सर्वात्मक ब्रह्मोपासनयुक्ताः। क्व दीक्षिताः ? तत्राह - प्रतीच्यां दिशि, वेलायां समुद्रतटे यत्र जाजलि र्नाम ऋषिः सिद्धोऽभूत् मुक्तो बभूव॥ २॥

तान् प्रचेतसः, निर्जिताः प्राण मनोवचोदृशो यै स्ते, जित मासनं यै स्ते, शान्ताः निर्व्यापाराः समाना मूलाधारा दारभ्य ऋजवो विग्रहा येषां, परे ब्रह्मणि योजितः "ओमित्यात्मानं युञ्जीत" (म.ना.उ. 17-15) इत्युक्तरीत्या समर्पित आत्मा प्रत्यगात्मा यै स्ते तान् सुरासुरै रीड्यः स्तुत्यो नारदः ददृशे दृष्टवान्॥ ३॥

सम्यगुत्थाय प्रणिपत्य दण्डवत्प्रणम्य अभिवाद्य गोत्र सूत्र नामादिकं सङ्कीर्त्य यथाविधि पूजयित्वा सुखे मृदुले आसने आसीन मब्रुवन् ऊचुः॥ ४॥

उक्त मेवाह - **स्वागत** मिति। हे सुरर्षे! ते त्वया[3] स्वागतं दिष्ट्या दैववशेन नोऽस्माकं दर्शनं गतः अस्मदीय चक्षुर्विषयो जातः। हे ब्रह्मन्! तव चङ्क्रमणं सञ्चरणं लोकाना मभवाय मुक्तिसाधनोपदेशेन रक्षणाय, न विद्यते भयं यस्मा त्तस्मै, यथा रवे श्चङ्क्रमणं तद्वत्[4] सूर्यस्य चङ्क्रमणं हि समीहितसाधनानुष्ठापनेन लोकरक्षणार्थम्॥ ५॥

---

1--1. B, J, V, Va omit 2. B, J, Va omit तं 3. A, T तव 4. W सूर्यच°

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

शास्त्रान्तरेषु बहूना मितरेषां साधनानां मुक्तिसाधनत्वेन कथनस्य सावकाशत्व प्रकाशनाय अस्मिन्नध्याये पुनरपि मुक्तिसाधनं ब्रह्मज्ञान मेवेति निश्चीयते। तत्र तत्साधन मपि मुख्यं चतुर्थाश्रम एव। सर्वस्मा त्तस्य श्रैष्ठ्या दित्यभिप्रेत्य प्रचेतसां राज्य पालनानन्तरं तमाचष्टे तत इति। आश्वाविर्भूताधोक्षजभाषितं ततो मानुष गणित द्वादशलक्षकाला त्पर मुत्पन्नविज्ञानाः वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः अनेन सन्न्यासाधिकारे योग्यतां लक्षयति॥ १॥

एतदेव विशिनष्टि - **दीक्षिता** इति। सर्वभूतात्मनि सर्वभूतस्वामिनि सर्वभूतान्तर्यामिणि वा हरौ मेधा ज्ञानं यत्र तद्ब्रह्म सत्रं, यत्र तद्ब्रह्म सत्रं सर्वभूतात्ममेधः तेन ब्रह्मसत्रेण दीक्षिताः गृहीतसंन्यासाश्रमा इत्यर्थः "पारिव्राज्यं ब्रह्मसत्रं न्यास इत्यभिधीयते" इत्यभिधानात्। ब्रह्म विषयेण याग विशेषेणेति नाऽर्थोऽत्र ग्राह्यः, प्राव्रजन्निति विरोधाच्च "हरिमेध स्तु संन्यासो हरौ मेधा यतो भवेदिति" (षाङ्गुण्ये) वचनेन संन्यासस्य विशेषितत्वा च्च न सर्वभूतानां स्वस्वरूपत्वज्ञानेने त्यर्थः। उत्तरत्राऽपि तत्त्वं नापुः; किन्तु तद्व्रत मिति वक्ष्यमाणत्वात्। यत्र जाजल स्तस्या पत्यं जाजलिः मुनिः सिद्धो मुक्तोऽभूतस्यां प्रतीच्यां दिशि समुद्रवेलायां हरि मुपासीनाः स्युः इत्यन्वयः॥ २॥

तत्राऽपि नारदसङ्गमं तेषा माह · **तान्निर्जितेति**। शान्तश्च समानश्च विग्रहो देहो येषां ते, तथा तान्, योजित मेकाग्रतया स्थापितं मनो यै स्ते तथा तान्॥ ३॥

यथाऽऽदेशं यथोपदेशं, देशानुसारेण वा॥ ४॥

चङ्क्रमणं पुनः पुनरागमनं, रवेरुदयाख्यागमनम्॥ ५॥

**यदादिष्टं भगवता शिवेनाधोक्षजेन च।**
**तद् गृहेषु प्रसक्तानां प्रायशः[1] क्षपितं प्रभो!॥ ६॥**

**तन्नः प्रद्योतयाऽध्यात्म[2]ज्ञानं तत्त्वार्थदर्शनम्।**
**येनाऽञ्जसा तरिष्यामो दुस्तर भवसागरम्॥ ७॥**

**मैत्रेय उवाच**

**इति प्रचेतसा[3] पृष्टो भगवान्नारदो मुनि[4]ः।**
**भगवत्युत्तमश्लोक आविष्टात्माऽब्रवीन्नृपान्॥ ८॥**

---

1. V °थो नः 2. W °त्मं 3. A, B, G, I, J, T °सा 4. W मुनीन्

## नारद उवाच

**तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः ।**
**नृणां येन हि विश्वात्मा सेव्यते हरि रीश्वरः ॥ ९ ॥**

**किं जन्मभि स्त्रिभि र्वेह शौक्ल सावित्र याज्ञिकैः ।**
**कर्मभि र्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसोऽपि विबुधायुषा ॥ १० ॥**

**श्रीध० यदिति** । आदिष्ट मुपदिष्टं यदात्मतत्त्वं क्षपितम् विस्मृतम् ॥ ६ ॥

***तदिति** । प्रद्योतय प्रकाशय, पुनरुपदेशेन तत्त्वं ब्रह्मलक्षण मर्थं दर्शयतीति तत्त्वार्थ दर्शनम् ॥ ७ ॥

**इतीति** । प्रचेतसा पृष्ट इति प्राधान्यात् एकस्य निर्देशः प्रचेतोभिः पृष्ट इत्यर्थः ॥ ८ ॥

अहो गृहप्रसक्तया हरिसेवां विना सर्वं जन्मकर्मादिकं व्यर्थीकृत मिति तान् शोचन्नाह - तज्जन्मेतिचतुर्भिः । येन जन्मादिना विश्वात्मेति सुलभत्व मुक्तम् । यतो जन्मादे र्हरिसेवैव फलम् । अत स्त द्विहीनं सर्वं व्यर्थ मित्यर्थः ॥ ९ ॥

**किमिति** । शौक्लं शुक्लसम्बन्धि, जन्म विशुद्ध माता पितृभ्या मुत्पत्तिः, सावित्र मुपनयनेन, याज्ञिकं दीक्षया, विबुधाना मिव दीर्घा युषाऽपि किम् ॥ १० ॥

**वीर० शिवेना** [illegible] **जेन च** यदात्मतत्त्व मुपदिष्टं तत् गृहेषु प्रसक्तानां नः क्षपितं विस्मृतम् ॥ ६ ॥

तद्विस्मृतं तत्त्वानां प्रकृतिपुरुषेश्वर तत्त्वानाम् अर्थानां पुरुषार्थानां च दर्शनं ज्ञानं यस्मिन् तत् अध्यात्मं ज्ञानं नोऽस्मभ्यं प्रद्योतय प्रकाशय, येन त्वया प्रद्योतितेन अध्यात्मज्ञानेन दुस्तरं भवार्णवं अञ्जसा सुखेन तरिष्यामः ॥ ७ ॥

इत्येवं प्रचेतसा पृष्ट इति प्राधान्या देकस्य निर्देशः, प्रचेतोभिः पृष्ट इत्यर्थः । भगवति आविष्टः आसक्तः आत्मा मनो यस्य स, भगवान्नारदः मुनीन् मननशीलान् प्रचेतसः प्रत्यब्रवीत् ॥ ८ ॥

अहो गृहप्रसक्तया हरिसेवां विना सर्वं जन्मकर्मादिकं व्यर्थी कृत मिति तान् शोचन्नाह - **तज्जन्मेति** चतुर्भिः । येन जन्मादिना विश्वात्मा हरि स्सेव्यते तदेव जन्मकर्मादिकं सार्थकं भगवत्सेवाविहीनं तु व्यर्थ मित्यर्थः ॥ ९ ॥

---

1. A, B, G, J, T येन्ह 2. I शौक्र; M, Ma, Ms शुक्ल 3. M, Ma °षः * It is not found in A, B, J, Va Edns. 4--4. A, B, J, Va इति प्रचेतोभिः पृष्टः ॥ ८ ॥
5. V व्यर्थं 6--6. B, J, V, Va omit 7. B, J, V, Va omit शौक्लं 8. A, B, J, Va omit किम् 9. A, B, T °त्मज्ञानं 10. W omits तान्

शुक्लं यौनं विशिष्टयोन्युत्पत्तिरूपं सावित्रं उपनयननिमित्तं जन्म, याज्ञिकं यज्ञदीक्षया जन्म, एभिः त्रिभिः जन्मभिः भगवत्सेवाविधुरैः किं साध्य मस्ति इति[1] तथा त्रयी विहितैः कर्मभिः पुंसः विबुधानामिव दीर्घायुषाऽपि ॥ १० ॥

**विज०** सदाशिवाधोक्षजाभ्यां ज्ञानस्योपदिष्टत्वात् न मया पृथगुपदेशाय प्रयतनीय मिति तत्राह - **यदादिष्टमिति**। क्षपितं नष्ट मिति यावत् ॥ ६ ॥

येनाऽऽत्मविज्ञानेन ॥ ७, ८ ॥

यद्धरिसेवासाधनं जन्मादि तदेव सफलं; न तु सत्कुलजन्मादीत्याह **तज्जन्मेत्यादिना**। येन जन्मादिना ॥ ९ ॥

किमित्येवं विशेष्य[2] स्तौषीति तत्राह - **किं जन्मभिरिति**। यत्र जन्मादौ हरि रात्मप्रदो न स्या त्तज्जन्मादिना किं फल मित्यन्वयः। शुक्लं जन्म उभयकुलशुद्धं, सावित्रं जन्म उपनयनादि, याज्ञीय मग्न्याधानलक्षणं जन्म ॥ १० ॥

**श्रुतेन[3] तपसा वा किं वचोभि श्चित्तवृत्तिभिः।**
**बुद्ध्या वा किं निपुणया बलेनेन्द्रियराधसा ॥ ११ ॥**

**किं वा योगेन सांख्येन न्यासस्वाध्याययो रपि।**
**किं वा श्रेयोभि रन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः ॥ १२ ॥**

**श्रेयसा मपि सर्वेषा मात्मा ह्यवधि रर्थतः[4]।**
**सर्वेषा मपि भूतानां हरि रात्माऽऽत्मदः प्रियः ॥ १३ ॥**

**यथा तरो र्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्ध भुजोपशाखाः[5]।**
**प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हण मच्युतेज्या ॥ १४ ॥**

**यथैव सूर्या त्प्रभवन्ति वारः[6] पुनश्च तस्मिन् प्रविशन्ति काले।**
**भूतानि भूमौ स्थिरजङ्गमानि तथा हरा वेव गुणप्रवाहः ॥ १५ ॥**

**श्रीध० श्रुतेनेति**। वचोभिः वाग्विलासैः चित्तवृत्तिभिः नानावधानसामर्थ्यैः। [7-]बलेन शरीरशक्त्या[-7] इन्द्रियाणां राधसा पाटवेन ॥ ११ ॥

1. W omits इति 2. A, B °शि° 3. W कुलेन 4. M, Ms °र्थि° 5. W °क° 6. M, Ms गाव: 7--7. B, J, V, Va omit

**किमिति**। योगेन प्राणायामादिना सांख्येन देहादिव्यतिरिक्तात्मज्ञानमात्रेण संन्यास वेदाध्ययनाभ्यामपि अन्यैरपि व्रतवैराग्यादिभिः[1] श्रेयस्साधनैः ॥ १२ ॥

नन्वेषां नानाफलसाधनानां हरिसेवा भावमात्रेण कुतो वैयर्थ्यं तत्राह - **श्रेयसा** मिति। [2]श्रेयसां फलाना मात्मैवावधिः परा काष्ठा। अर्थतः परमार्थतः आत्मार्थत्वेनैवान्येषां श्रेयसां प्रियत्वा दित्यर्थः। भवत्वात्मैवावधि[3] हरिः, किमायातं तत्राह - **सर्वेषा मपीति**। [4]आत्मा आत्मदश्चाविद्यानिरासेन स्वरूपाभिव्यञ्जकः, ऐश्वरेणापि[5] रूपेण बलिप्रभृतिभ्य इवात्मप्रदः प्रियश्च परमानन्दरूप त्वात् ॥ १३ ॥

किञ्च, नानाकर्मभि स्तत्तद्देवता प्रीति निमित्तान्यपि फलानि हरिप्रीत्या भवन्ति केवलं तत्तद्देवताराधनेन तु न किञ्चिदिति सदृष्टान्त माह - **यथेति**। मूलात् प्रथमविभागाः स्कन्धाः तद्विभागाः भुजाः, तेषा मपि भागाः[6] उपशाखाः। [7]एतदुपलक्षणं पत्रपुष्पादयोऽपि तृप्यन्ति, न तु मूलसेकं विना स्वस्वनिषेचनेन प्राणस्योपहारो भोजनं तस्मादेवेन्द्रियाणां तृप्ति र्न तु तत्तदिन्द्रियेषु पृथक् पृथक् अन्नलेपनेन। तथा ऽच्युताराधनमेव सर्वदेवताराधनं न पृथगित्यर्थः ॥ १४ ॥

कुतः ? सर्वमूलत्वादिति दृष्टान्तान्तर माह - **यथेति**। यथैव वारो जलानि वर्षाकाले सूर्या दुद्भवन्ति ग्रीष्मे तस्मि न्नेव प्रविशन्ति। अस्याऽप्रसिद्धत्वेन दृष्टान्तान्तर माह - यथा भूतानि भूमाविति गुण प्रवाहः चेतनाचेतनात्मकः प्रपञ्चः ॥ १५ ॥

**वीर०** वचोभिः वाग्विलासैः निपुणया सूक्ष्मया बलेन मनोदेहबलेन इन्द्रियाणां राधसा पाटवेन ॥ ११ ॥

योगेन प्राणायामादिना, सांख्येन देहादिव्यतिरिक्तात्मज्ञानमात्रेण चतुर्थाश्रमाध्ययनाभ्यां श्रेयस्साधनैः अन्यैः व्रतैश्च। "य आत्मदा बलदा" इति श्रुत्युक्तरीत्याऽऽत्मपर्यन्त प्रदानचतुरः आश्रितबन्धहरो भगवान् यत्र जन्मादिषु नाऽस्ति यैः जन्मादिभिः नाऽऽराध्यते तैः किं प्रयोजन मित्यर्थः ॥ १२ ॥

ननु जन्मादीनां प्रतिनियतफलानां भगवत्सेवा वैधुर्यमात्रेण कुतो निन्द्यता तत्राह - **श्रेयसा** मिति। अर्थतः वस्तुतः सर्वेषा मपि श्रेयसां परमात्मा हरिः, अवधिः परा काष्ठा हरे रन्य च्छ्रेयो नास्तीत्यर्थः। कुतः ? [8]हि यतो हरिः सर्वेषां प्रियः निरतिशय प्रीतिविषयः निरतिशयानन्दरूप प्रीति विषय एव हि परमं श्रेयः प्रियत्वे हेतुः - आत्मा, आत्मा हि निरतिशयप्रीति विषयः, यस्य प्रत्यगात्मनः सम्बन्धात् देहापत्य गृह पश्वादिकं सम्बन्ध पारम्पर्येण व्यवस्थित प्रीतिविषयं तस्याऽप्यात्मेत्यर्थः। न केवलं प्रिय एव, किन्तु स्वात्मपर्यन्त पुरुषार्थप्रदश्च, बलिप्रभृतिभ्यः स्वात्मदानं प्रसिद्धम् ॥ १३ ॥

---

1. V °दिश्रे° 2. B, J, V, Va omit श्रेयसां 3. A, B, J, Va omit एव 4. V omits आत्मा 5. V °र्येणाति° 6. V adds शाखाः तासा मपि भागाः 7. A, B, J, Va omit एतत् 8. W omits हि

व, तत्फलसाधनतया इन्द्रादिदेवताराधन मपि भगवत्येव पर्यवस्यति, तस्य सर्वदेवतान्तरात्मत्वात्, अतः साक्षात् तदाराधन मेव सर्वदेवताप्रीतिद्वारा समीहितपुरुषार्थ हेतुरिति सदृष्टान्त माह - **यथेति**। तरो र्वृक्षस्य मूलनिषेचनेन जल सेकेन[1] स्कन्धादयः यथा तृप्यन्ति, न तु प्रत्येकं स्कन्धादि सेचनेन। तत्र स्कन्धाः मूलात् पृथग्विभागाः भुजाः, तेषां विभागाः ऊरवः तेषा मपि विभागाः शाखाः तेषा मपि विभागा उपरिशाखाः[2], एतदुपलक्षणम्। तत्र पुष्प फलादयोऽपि तृप्यन्ति, यथा च प्राणोपहारात् प्राणाद्याहुतेः भोजना दिति यावत्। सर्वेन्द्रियाणां तृप्ति र्भवति। न तु तत्तदिन्द्रियेषु पृथगन्नलेपनेन। तथा अच्युतेज्या भगवदाराधनं सर्वार्हणं सर्वदेवतार्हणसाध्यं फलं साधयति॥ १४॥

कुतः ? सर्वकारणत्वात् सर्वान्तरात्मत्वाच्चेति सदृष्टान्त माह - **यथैवेति** द्वाभ्याम्। यथैव वारः आपः, वर्षाकाले सूर्यात् प्रभवन्ति उद्भवन्ति, ग्रीष्मे च तस्मिन्नेव प्रविशन्ति, अस्य अप्रसिद्धत्वेन दृष्टान्तान्तर माह - यथा भूतानि स्थावरजङ्गमात्मकानि भूमावेव प्रभवन्ति प्रविशन्ति च, तथा गुणप्रवाहः गुणपरिणाम रूपः प्रपञ्चः हरा वेव कारणभूते उद्भवति लीनो भवति च॥ १५॥

**विज.** इन्द्रियराधसा बहुग्रहणसामर्थ्येन॥ ११॥

सांख्येन यथार्थज्ञानेन न्यासस्वाध्याययोः क्रिययाऽपि अन्यै स्तीर्थसेवादिभिः॥ १२॥

इतोऽपि विहितानां पुण्यानां हरे रनुग्रहपर्यन्त मेव फलमित्याह - **श्रेयसा** मिति। यावत्प्रसीदति तावत्पर्यन्तं पुण्य फल मित्यवधे रर्थः। ननु सेवितः किं फलं ददाति ? येन श्रेयसा मवधिः स्या दित्याशंक्याऽन्ये सेविता यावत्प्रसीदन्ति, तावत्पर्यन्तं पुंसां स्वव्यतिरिक्त मेव पुण्यफलं प्रयच्छन्ति। अयं तु स्वात्मान मेव ददाती त्येतादृशः कृपासमुद्रः कोऽस्ती त्यभिसन्धायाह - सर्वेषा मिति। आत्मानन्दरूपः॥ १३॥

किं वा श्रेयोभि रन्यै रित्यत्र देवादिसेवालक्षण श्रेयांसि कथं निषिध्यन्ते ? तत्सेवाया अपि तत्तत्फलावाप्तये कर्तव्य त्वादिति तत्राह - **यथेति**। प्राणोपहारो भोजनलक्षण पूजा इन्द्रियाणां तृप्तिलक्षणपूजां जनयति। अच्युतेज्या सर्वदेवाद्यर्हण फलं ददाति। अत्रैवकारेण प्राधान्यपूजा निषिध्यते, नत्ववान्तर पूजा। तस्या विहितत्वेन अच्युतस्य पूजात्वा दित्यभिप्रायः "परिवारतया ग्राह्या अपि हेयाः प्रधानतः" इत्युक्तेः॥ १४॥

ननु हरिपूजया देवादिपूजाफलं कथं स्यात् ? न हि दैवदत्तभोजनतृप्त्या यज्ञदत्त स्तृप्यतीति तत्राह - **यथेति**। उदय काले

---

1. A, T सेचनेन 2. A, B, T तदुपरि

आषाढादिकाले वा गावो रश्मयो जलानि च सूर्या द्यथा प्रभवन्ति निर्गच्छन्ति उत्पद्यन्ते वा, पुनश्च सन्ध्याकाले हेमन्तादिकाले वा तस्मिन् सूर्ये प्रविशन्ति, गवां मण्डलप्रवेशो वारिणां मरीचिपीतत्व मित्येष विशेषः, यथा च स्थिरजङ्गमानि भूतानि भूमे रुत्पद्यन्ते भूमा वेव प्रविशन्ति, तथाऽयं गुणप्रवाह स्त्रिगुणात्मक जगल्लक्षणो हरे रुत्पद्यते हर्याधार तया तिष्ठतीत्यन्वयः। अनेन हरेः सर्वकर्तृत्वेन स्वतृप्त्या देवादीनां स्वाश्रितत्वेन तृप्तिर्युज्यत इत्येत त्सूचित मिति॥ १५॥

एतत्पदं तज्जगदात्मनः परं सकृद्विभातं सवितु र्यथा प्रभा।
यथाऽसवो जाग्रति सुप्तशक्तयो[1] द्रव्यक्रिया[2] ज्ञानभिदा भ्रमात्यये[3]॥ १६॥

यथा नभस्यभ्रतमः प्रकाशा भवन्ति भूयो[4] न भवन्त्यनुक्रमात्।
एवं परे ब्रह्मणि शक्तय स्त्वमू रजस्तमस्सत्त्वमिति प्रवाहः॥ १७॥

तेनैक मात्मान मशेष देहिनां कालं प्रधानं पुरुषं परेशम्[5]।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाह मात्मैकभावेन भजध्व मद्धा॥ १८॥

*निरस्तसङ्कल्प विकल्प मद्वयम् द्वयापवादोपरमोपलम्भनम्।
**संज्ञप्तिमात्रं भजताऽमुया दृशा ह्यनादिमध्यान्त मजस्र निर्वृतम्॥ १९॥

दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केन वा[6]।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्य त्याशु जनार्दनः॥ २०॥

अपहत[7] सकलैषणा[8]मलात्म न्यविरत मेधित भावनोपहूतः।
निज जनवशगत्व मात्मनो[9] यत्र[10] सरति छिद्रव दक्षरः सतां हि॥ २१॥

**श्रीध०** ननु हरा वेव गुणप्रवाह इत्युक्ते तदाधारत्वेन सोपाधिकत्वं हरेः स्यादित्याशङ्क्याह - **एतदिति**। एतद्विश्वं विष्णोः तत् सर्वशास्त्रप्रसिद्धं पदं परं सर्वोपाधिरहितम्। तदुत्पन्नत्वा न्न ततः पृथगित्यर्थः। तर्हि कथ मन्यथा भाति तत्राह - सकृदिति। सकृत्कदाचिद्विभातं स्फुरितं गन्धर्वनगरवत् यथा सवितुः प्रभा न ततो भिन्ना, यथा च जाग्रति असवः इन्द्रियाणि स्फुरन्ति सुषुप्तौ तु

---

1. M वृत्तयो 2. M, Ms कारकविभ्र° 3. A, B, G, I, J, M, Ms, T °यः 4. A, B, G, I, J, T भूया 5. M प्रजे° * This verse is not found in A, B, G, I, J Edns only. ** This half verse reads thus in M Edn अनादिमध्यान्त मजस्रनिर्वृतिम् संज्ञप्तिमात्रं भजताऽमुया दृशा॥ १९॥ 6. V चित् 7. M, Ma गत; W हृत 8. M, Ma °ले° 9. M, Ms °मात्र वान् यो न 10. A, B, G, I, J नोऽयत्र

सुप्तशक्तयो भवन्तीत्यर्थः। कथम्भूतोऽसौ हरिः ? द्रव्यादीनां त्रिविधाहङ्कारकार्याणां तन्निमित्तस्य भेदभ्रमस्य चात्ययो यस्मा त्सः। यद्वा, अजाग्रति सुषुप्तौ असवः सुप्ताः शक्तयः येषां ते भवन्ति द्रव्यादे रप्यत्ययो भवति। सवितुः प्रभे त्युद्गतौ दृष्टान्त इति॥ १६॥

नन्वसङ्गे हरौ कथं प्रपञ्चोत्पत्तिलयौ तत्राह - **यथेति**। अभ्रतमः प्रकाशा आगमापायिनो रजस्तमस्सत्त्वस्थानीयाः [1]ज्ञेयाः। हे भूपाः ! प्रचेतसः ! [2]तथा अमू: [3-]रज-आदयः[-3] शक्तयो [4]भवन्ति [5]उद्भवन्ति, न भवन्ति लीयन्ते इत्येव मयं जगत्प्रवाहः॥ १७॥

**तेनेति**। तेन सर्वकारणत्वेन हेतुना [6-]अशेषदेहिना मात्मनां[-6] कालो निमित्तम्। प्रधान मुपादानम्। पुरुषः कर्ता। [7]एतत्रितयात्मकत्वा त्सर्वकारणं परमेश्वरम् अद्धा साक्षा द्भजध्वम् कथम् ? [8]आत्मन एकभावेनाभिन्नत्वेन॥ १८-१९॥

[9]अज्ञत्वेन साधन माह - **दययेति**। दयादिभिः शीघ्रं तुष्यति॥ २०॥

ततो न कदाचिद्भक्त[10] जनान् त्यजतीत्याह - **अपहतेति**। अपहताः [11-]निरस्ताः[-11] सकला एषणाः कामा यस्मा त्स चासौ अमल आत्मा मन स्तस्मिन् सतां मनसि निरन्तर मेधितया भावनयोपहूतः सन्निधापित स्सन् अक्षरो हरि श्छिद्रवत् तत्रत्याकाशवत् ततो न सरति नाऽपयाति हि। किं कुर्वन् ? आत्मनः [12]स्वस्य निजजनवशगत्वं स्वभक्ताधीनत्वम् अयन् अवगच्छन्॥ २१॥

**वीर०** एवं सर्वकारणत्व मुक्तम्। अथ सर्वात्मतामाह - तदेतज्जगत् आत्मनः परं पदं वासस्थानं गृहादि साम्य व्यावृत्त्यर्थ माह - सवितु र्यथा प्रभेति। सवितुः [13]प्रभेव कृत्स्नं जगत् परमात्मनोऽपृथक्सिद्धविशेषणं शरीर मित्यर्थः। जगतोऽनित्यत्वात् तन्निरूपित मात्मत्व मपि परमात्म न्यनियत मित्याशङ्कां निराकर्तुं जगद्विशिनष्टि - सकृद्विभातं सृष्टिदशायां स्थूलतया सकृद्वि भातं, सकृद्विभात मित्यनेन सकृत्संहारदशायां सूक्ष्मतया [14]न विभात मिति विवक्षितम्। स्थूल सूक्ष्म धर्म निवृत्तत्वेऽपि द्रव्यनित्यत्व मनेनाऽभिप्रेतम्। एतदेव स्पष्टयितुं सकृद्भानाभानयोः दृष्टान्त माह - यथेति। असुशब्देन प्राणायत्त व्यापाराणि इन्द्रियाणि लक्ष्यन्ते। असवः कदाचि ज्जाग्रति व्याप्रियन्ते, कदाचित् सुप्तशक्तयः निवृत्तव्यापाराः। कदेत्यत्राह - द्रव्येति। द्रव्यं भूतपञ्चकं ज्ञानक्रियाशब्दाभ्यां ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च लक्ष्यन्ते। इन्द्रिय भूतसंघातरूप देवमनुष्यादि देहात्म भ्रमात्यये सुषुप्ता वित्यर्थः। नहि तदानीं देहात्माभिमानः यथा प्राणाः जाग्रति सुप्तवृत्तय श्च भवन्ति। एवं जगत आविर्भाव तिरोभाव निमित्ते भानाभाने, न त्वेतावता द्रव्याऽनित्यता शङ्केति भावः॥ १६॥

एतदेव दृष्टान्तान्तरेण साधयति - **यथेति**। यथा नभस्याकाशे अभ्रतमः प्रकाशाः भवन्ति, कदाचिद्विभाता भवन्ति, कदाचिन्न

---

1. B, J, V, Va omit ज्ञेयाः। 2. B, J, V, Va omit तथा 3--3. B, J, V, Va omit 4. B, J, V, Va omit भवन्ति 5. V उत्पद्यन्ते 6--6. B, J, V, Va omit 7. V एवं त्रि° 8. V °ना 9. A, B, J, Va omit अज्ञत्वेन 10. B, J, V, Va omit भक्तजनान् 11--11. A omits 12. B, J, V, Va omit स्वस्य 13. A, B, T प्रभावत् 14. W नाव°

विभाता भवन्ति। न हि भानाभावमात्रेण अभ्रादीना मसत्ता शङ्कितुं युक्ता। एवं हे भूपाः ! प्रवाहः प्रवहमाना रजस्तमस्सत्व मित्येवंरूपाः अमू शक्तयः कार्योप योग्य पृथक्सिद्ध विशेषण भूताः परे ब्रह्मणि कदाचि द्भवन्ति न भवन्ति च। प्रवहते इति प्रवाहः[1-1] वेदाः प्रमाण मितिवत्। शक्तयः प्रवाह इत्युक्तम्॥ १७॥

तेनावस्थानां स्थूलत्व सूक्ष्मत्वादीना मनित्यत्वेऽपि तदाश्रयस्य प्रकृति पुरुषात्मक द्रव्यस्य नित्यत्वा त्तस्य परमात्मानं प्रतिनियत शरीरत्वेन अशेषदेहिना मेकं आत्मानं कालं कालशरीरकं, प्रधानं प्रकृतिशरीरकं, पुरुषं जीवशरीरकम्। प्रकृति सम्बन्ध प्रयुक्त संसारित्व शंकां निरस्यति। स्वतेजसा स्वप्रकाशेन ध्वस्तः निरस्तः[2] गुणप्रवाहोदयः संसारो यस्य, नियन्तृतया प्रकृतिसम्बन्धो नतु जीवस्येव वश्यतयेति भावः। एवम्भूतं परेषां ब्रह्मादीना मपीशम् आत्मैकभावेन सर्वात्मकत्वेन सर्वेषा मात्मना मेकोऽन्तरात्मेति बुद्ध्या अद्धा[3] साक्षात् भजध्वम्॥ १८॥

कीदृशं तद्ब्रह्म स्वरूपम् ? यद्भजध्व मित्युच्यते इति विवितसायां प्रकृतिपुरुषविलक्षणं "सत्यं ज्ञानं मनन्तम्" (उ. 2-1-1) इति स्वरूपशोधक वाक्यावगतं ब्रह्मस्वरूपं शोधयं स्तद्भजते त्याह - **निरस्तेति**। निरस्तसङ्कल्पविकल्पं मानसबुद्धि सुखदुःखेच्छाद्वेषादिविकल्परहित मित्यर्थः। अनेन बद्धजीवव्यावृत्तिः अद्वयं द्वयं द्वयोः समुदायः, तदन्यत् स्वसजातीय द्वितीय वस्त्वभावात्। यथा - "न तत्सम श्चाऽभ्यधिक श्च दृश्यते" (श्वेता.उ. 6-8) इति अद्वितीय मित्यर्थः। अनेन मुक्तजीव[4]व्यावृत्तिः, तेषां सजातीय द्वितीय सद्भावात्। द्वयापवादोपरमोपलम्भनम्। द्वयशब्देन द्वैतं विवक्षितम्, तदेवापवादः। ब्रह्मज्ञानबाधकं देवमनुष्यादि भेदापवादविरमे उपलम्भनं यस्य तत् तथोक्तम्। देहात्मभ्रमनिवृत्ता वुपलभ्य मित्यर्थः। अजस्रनिर्वृतं नित्यानन्द धर्मकं, नित्यानन्दस्वरूपं वा, अतोऽपि प्रागुक्तार्थ उचितः। अनादि मध्यान्त मिति नित्यत्वस्य कथितत्वात्; अजस्रशब्दस्य पुनरुक्तिप्रसङ्गात्। संज्ञप्ति मात्रं क्वचिदप्य जडस्वरूपम् अमुया दृशा पूर्वोक्तज्ञानेन भजत। निरस्तसङ्कल्पविकल्प मिति पदेन "विशोकोऽविजिहत्सोऽपिपासः" (छान्दो. 8-1-59) "अस्थूल मनण्वहस्वम्" (बृह.उ. 3-8-8) इति वाक्योक्तं प्रकृति पुरुषवैलक्षण्यव दमलत्व मुक्तम्। अनादिमध्यान्त मिति सत्यत्व मुक्तम्। निर्विकारत्वं हि सत्यत्वं, संज्ञप्तिमात्र मिति ज्ञानशब्दार्थः उक्तः। "अजस्र निर्वृत" मित्यनेन "स एको ब्रह्मण आनन्दः" (तैत्ति. उ. 2-8) "आनन्दो ब्रह्म" (तैत्ति. उ. 3-6) - इत्याद्यर्थ उक्तः। समाभ्यधिकराहित्यवाचिनाऽद्वयशब्देन अनन्तत्व मुक्तम्। सद्वितीयं हि सर्वं देशादिभिः परिच्छिन्नम्; अतोऽद्वितीयत्वा दनन्तत्वसिद्धिः॥ १९॥

---

1--1. W omits  2. W omits निरस्तः  3. A omits अद्धा  4. W omits जीव

तदेवं सत्यत्वज्ञानत्वाऽनन्तत्वामलत्वविशिष्टं शोधक वाक्यावगतं परमात्मस्वरूप मुक्तम्। अमुये त्युक्तायाः दृशः साधनान्याह - **दययेति**। सर्वेषु[1] उच्चावचेषु भूतेषु यथोचित सत्कारोपयोगिन्या दयया येन केनचि द्दैवाल्लब्धेनाऽन्नादिना अन्तर्बाह्येन्द्रिय निग्रहेण च अनुगृहीतया दृशा जनार्दनस्तुष्यति[1]॥ २०॥

ततस्तुष्टो भगवान् न कदाचित् त्यजतीत्याह - **अपहृतेति**[2]। अपहृता[3] निरस्ताः सकला एषणाः कामाः यस्मात् स चासौ अमलः आत्मा मनः तस्मिन्। एवं विधे सतां मनसि निरन्तरमेधितया भावनया भक्त्या उपहूतः सन्निधापितः सन् अक्षरो हरिः च्छिद्रवत् पृथक्सिद्धवत् ततो न सरति नाऽपयाति, किं कुर्वन् आत्मनः निज जनवश्यत्वं स्वभक्ताधीनत्वं यन् गच्छन्॥ २१॥

**विज०** अस्तु सर्वश्रेयसा मात्मावधित्व मेषु सत्सु कथं प्रकाशत इति - तत्राह **एतदिति**। पूर्व सञ्चीर्णश्रेयस्सु सत्सु, यदा सुप्तवृत्तयो विलीनश्वासादिवृत्तयोऽसुप्तप्रवृत्तयः प्रबुद्ध वृत्तयोऽसव इन्द्रियाणि जाग्रति पुरुषं बोधयन्ति उद्योगे स्थिता वा यदा च द्रव्यक्रिया कारक विभ्रमात्ययः तदा यत्तदुपनिषद्वेद्यं तदेत ज्जगत् आत्मनः प्रपञ्चस्वामिनो हरेः परं पदम्। यथा सवितुः प्रभा सकलपदार्थप्रकाशिका सूक्ष्माऽपि तथा सकृद्विभातं भवति। यथा नारदस्य पुनरभ्यासे सर्वदैवेत्यन्वयः देहात्मभावभ्रमो द्रव्यभ्रमः, अहं कर्तेति क्रियाभ्रमः, मदीयानीमानीन्द्रियाणि इति कारक भ्रमः, मुख्यप्राण प्रसादेन प्राणशब्दवाच्ये ष्विन्द्रियेषु ज्ञानार्थं पुरुषोद्बोधनोद्योगवत्सु जाग्रतो योगिनो ज्ञानोत्पत्त्या द्रव्यादिविभ्रमनिवृत्त्या भगवत्स्वरूपं प्रकाशत इति भावः। हरा वेव गुणप्रवाह इत्युक्ते गुणप्रवाहाधारत्वेन सोपाधिकत्वं हरेः स्या दित्यत आह - एत दिति। एतदेव विष्णोः पदं तदुत्पन्नं जगदात्मन उपाधेः पर मुपाध्यसम्बन्ध माधाराधेयभावो गगनगन्धर्वनगरवत् ज्ञातव्यः। तर्हि शून्यं तत्राह - सकृद्विभात मिति। प्रज्ञानधनं यथा सवितृप्रभा प्रभाता तद्वत्स्थितं यज्ज्ञानात् द्रव्यक्रिया ज्ञान भिदा भ्रमो जगद्भेदभ्रम स्तस्य निवृत्ति र्भवति। किं लक्षणो हरि रित्यनेन तल्लक्षणं तज्ज्ञानं चोच्यते। ननु प्रज्ञान घना ज्जडस्य जगतः कथ मुत्पत्ति रित्याशङ्क्य दृष्टान्तेनोपपादयति यथेति। यथाऽसवः इन्द्रियाणि अजाग्रति सुप्तिकाले सुप्तवृत्तयोऽपहृतव्यापारा आत्मनिलीना स्ततः प्रबोधे प्रज्ञानघनादप्यात्मनो जायन्ते। तद्वद्ब्रह्मणो जगदित्येत दपव्याख्यानम्। "आत्मभावः शरीरेषु द्रव्यभ्रम उदाहृतः। क्रियाभ्रम स्त्वहं कर्ता मदीयानीन्द्रियाणि तु। कारकभ्रम इत्युक्त स्त एते विभ्रमा यदा। श्वासादिवृत्तिलोपेन प्राणा उद्योगिनस्तदा। विलीयन्ते प्राणभक्त्या नित्यं स्वापवतां स्फुटम्। उद्योग एव जाग्रत्स्या द्योगिनां मुक्ति सिद्धये॥" (अध्यात्मे) इत्यनेनैतद्व्याख्यानरूपेण सम्प्रदायविभ्रम प्रकाशकेन निरस्त मिति ज्ञायते। "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" (श्वेता.उ. 6-11) "यस्मिन् सर्वाणि भूतानि" (ईश. 3.7) इत्यादिषु एकस्य हरे राधाराधेयभावस्य सत्यत्वावगमात्। न हि सुषुप्ता विन्द्रियाणा मात्मनि लयः, प्रज्ञानघना दुत्पादोऽपि स्वकपोलकल्पितत्व मन्तरेण प्रामाणिक इति॥ १६॥

---

1--1. T omits 2. A, B, T °हृ° 3. A, B, T °हृ°

ननु पङ्किलप्रदेशे प्रवर्तमान देवदत्तवत् सृष्ट्यादौ गुणपङ्के प्रवृत्तस्य तत्कृतलेपः स्यात्, सचाऽनुपपन्नो "ऽसङ्गोह्ययं पुरुषः" (बृह.उ. 4-3-15) इति श्रुतेरिति तत्राह - **यथेति**। यथा नभस्यभ्रतमः प्रकाशा आगमापायिनः अनुक्रमेण भवन्ति च न तावताऽऽकाशस्य तत्सम्बन्ध लेपोऽस्ति। एवं परेऽसङ्गे ब्रह्मणि रजस्तमस्सत्त्व मित्यमूः शक्तयो भवन्ति। तदेका धीनत्वात् शक्तिशब्दवाच्याः इत्ययं गुण प्रवाहो न तस्मिन् विशेष मापादयती त्येत त्तुशब्दादवगन्तव्यम्। ननु शक्तीनां मिथ्यात्वात् शक्तिं प्रकाशयितुं नैपुण्याभावात् ब्रह्मणि लेपाभाव इत्यतो वाह इतीति। अयं सत्य इति शेषः। एतदभिप्रायेण प्रवाह इत्युक्तम्। यथाऽग्निप्रतिष्ठम्भन समर्थस्याऽपि तत्प्रयुक्त दाहदुःखाभावो, न त्वग्ने र्मिथ्यात्वा देवं ब्रह्मणो लेपकत्वशक्तिरपि द्रव्याणां भगवदधीनेति विशेषं तुशब्दो वक्तीति वा॥ १७॥

मथितार्थमाह - **तेनेति**। यत एवं प्रवृत्तिमत्त्वेऽपि तत्कृत दोष लेपाभाव स्तेन विष्णुरेक एव पूर्णो न त्वन्य इति लक्षणाऽऽत्मा एक इति भावेन एत मितः प्रेत्याभिसम्भाविताम्मीति बुद्ध्या परमात्मानं भजध्व मित्यन्वयः। "पूर्णो विष्णुः स एवैक इति भावो य ईरितः। आत्मैकभाव इति तं विदु र्ब्रह्मात्मदर्शिनः" (सत्यसंहितायाम्) इति वचना दात्मैकभावेनेति नैक्य मुच्यते। "एक मेवाद्वितीयम् (छान्दो. उ. 6-2-1) आत्मान मेवं लोकमुपासीत।" (बृह.उ. 1-4-5) "प्रधाना दिद मुत्पन्नम्" इत्यादिश्रुतेः। सप्रमाणी कर्तु मेकमित्यादीनि विशेषणानि बोद्धव्यानि॥ १८॥

इत्थम्भावान्तर माह - **निरस्तेति**। भक्तानां निरस्तौ सङ्कल्पविकल्पौ येन स तथा हरिप्रसाद मन्तरेण तौ निरस्तौ न स्यातां पुंसा मित्यर्थः। त मद्वयं द्वितीयसमरहितं, "संकल्पश्च विकल्पश्च ऋते विष्णुप्रसादतः। नैव सम्भवतो विष्णोः समा भावा तु सोऽद्वयः" (तन्त्रभागवते) इति वचनं चाऽत्र मानम्। द्वयस्य पञ्चविधस्य भेदस्यापवादः। कुतर्कै[1] र्निरास स्तमुपरमन्ति न कुर्वन्तीति ते द्वयापवादोपरमा स्तेषु उपलम्भनं दर्शनं यस्य स तथा तं च न आदिमध्यान्ता यस्य स तथा, त मजस्रनिर्वृतिं नित्यानन्दं, संज्ञप्तिमात्रं "विज्ञानधन" इत्युक्तेः यादृशेन दर्शनेन निरस्तसङ्कल्पादिगुणविशेषाः तादृशेन नानुपसंहृत्य भजतेत्यन्वयः॥ १९॥

साधनान्तरं चाह - **दययेति**। येन केन चिच्छास्त्र विहितेन लब्धेन अन्नपानादिना सन्तुष्ट्याऽलम्बुद्ध्या॥ २०॥

ननु बहुजन्मचीर्ण सुकृतानन्त्येन प्रसाद्य सकृद्विभातं यदि पश्चात्रेति पक्षे बहुक्लेशेन साधनानुष्ठानं व्यर्थं पारदसाधनवदिति तत्राह - **अपगतेति**। अपगता दूरतो निरस्ताः समस्ताः सकला ईषणाः[2] पुत्रवित्तादिकामा यस्मात् स तथा। अत एव अमलश्चाऽऽत्मा अपगत सकलेषणामलात्मा[3] तस्मिन्। एवं विशुद्धान्तः करणे निरन्तर मेधितया भावनया भक्त्या आहूत इव आगत्याऽऽत्मानं

1. A तर्कनि° 2. A, B ए° 3. A, B °लै°

प्रकाश्य सन्निहितो हरिः श्रीनारायणः सतां हृदयात् न सरति न गच्छति न तिरोभवति। तत्र हेतुमाह - **निजेति**। स्वभक्तवशगतत्वं प्राप्तवानिति यत् तस्मात् छिद्र वदाकाशवत् एतन्निदर्शन कथनेन व्याप्तस्याभिव्यक्तिरेव विवक्षितेति ध्वनयति। पूर्वदेश वियोगलक्षणक्रियया उत्तरदेश संयोगसम्भवात् व्याप्तिभङ्गापत्ते रिति न क्षरति न स्रवति इत्यक्षरशब्द निरुक्त्या च भक्तजन हृदयात् नाऽपगच्छतीति भावेनोक्त मक्षर इति। हि शब्देन हरेः ज्ञानिप्रियत्वं मानसिद्ध मिति स्मारयति - ''ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'' (भ.गी.7-18) इति॥ २१॥

न भजति कुमनीषिणां स इज्यां हरि रघनात्मधनप्रियो रसज्ञः
श्रुतधनकुलकर्मणां[1] मदैर्ये विदधति पाप मकिञ्चनेषु सत्सु॥ २२॥

श्रिय मनुचरतीं तदर्थिनश्च द्विपदपतीन् विबुधांश्च[2] यै स्स्वपूर्णः।
न भजति निजभृत्यवर्गतन्त्रः कथममुमुद्विसृजेत्पुमान् रसज्ञः[3]॥ २३॥

*भवतां वंशधुर्योऽभूत् ध्रुवश्चित्ररथस्स्वराट्।
गुरुदार वचोबाणै र्निर्भिन्न हृदयोऽर्भकः॥ (क)

त्यक्त्वा स्त्रैणं च तं गच्छम् दृष्टो मे पथ्युदारधीः।
पञ्चवर्षो मदादेशै स्संराध्य पुरुषेश्वरम्॥ (ख)

तत्परं सर्वधिष्ण्येभ्यो मायाऽधिष्ठित मारुहत्।
मुनयोऽद्याऽप्युदीक्षन्ते परं नाऽऽपु रवाङ्मुखाः॥ (ग)

तं यूयं सर्वभूताना मन्तर्यामिण मीश्वरम्।
रुद्रादिष्टोपदेशेन भजध्वं भवनुत्तये॥ (घ)

## मैत्रेय उवाच

इति प्रचेतसो[4] राजन्न्या श्च भगवत्कथाः।
श्रावयित्वा ब्रह्मलोकं ययौ स्वायम्भुवो मुनिः॥ २४॥

---

1. V धर्मिणां 2. A, B, G, I, J, T य त्स्व° 3. A, B, G, I, J, Ms, T कृतज्ञः * These four verses are not found in A, G, I, J, T, W Edns and they were not commented on by Vijayadhaja 4. M °सां

**तेऽपि तन्मुखनिर्यातं यशो लोकमलापहम्।**

**हरे र्निशम्य तत्पादं ध्यायन्त स्तद्गतिं ययुः ॥ २५ ॥**

**[1]एतत्तेऽभिहितं क्षत्तर्यन्मां त्वं परिपृष्टवान्।**

**प्रचेतसां नारदस्य संवाद[2] हरिकीर्तनम् ॥ २६ ॥**

**श्रीध०** सता[3] मेव वश्योऽसावसतां तु पूजामपि न गृह्णातीत्याह - **नेति**। कुमनीषिणां कुत्सितमतीनाम् अधनाश्च ते आत्मधनाश्च भगवद्धनास्ते प्रिया यस्य। रसज्ञो भक्तिसुखज्ञः के कुमनीषिणः तानाह - श्रुतादिनिमित्तै र्मदै र्ये सत्सु पापं तिरस्कारं कुर्वन्ति ॥ २२ ॥

भक्ताधीनत्वं प्रपञ्चयन्नाह - **श्रिय** मिति। अनुवर्त मानां [4-]संसेवमानाम्[-4] अपि श्रियं तदर्थिनः सकामान् द्विपदपतीन् नरेन्द्रान् विबुधान् देवानपि यो नानुवर्तते, यतः स्वेनैव [5]पूर्णोऽतः स्वभृत्य वर्गानुरक्त एव। एवम्भूत [6-]ममुम् उत्[-6] ईषदपि कथं [7]विसृजेत् परित्यजेत् ॥२३॥

**इतीति**। प्रचेतसः कर्मभूतान्। [8-]इति एवं भगवन्माहात्म्यं श्रावयित्वा[-8] अन्याश्च [9-]भगवत्कथा[-9] "नूनं सुनीतेः" इत्यादि ध्रुवचरिताद्याः "सत्रेऽगाय त्प्रचेतसाम्" (भाग. 4-12-40) इत्युक्तत्वत् ॥ २४ ॥

[10-]त इति। तेऽपि प्रचेतसः तद्गतिं विष्णुलोकम्[-10] ॥ २५ ॥

**एतदिति**। प्रचेतसां नारदस्य च संवादरूप मेत दाख्यानं तेऽभिहितम्। हरेः कीर्तनं यस्मिं स्तत् ॥ २६ ॥

**वीर०** सतां वश्योऽसौ असतां पूजा मपि न गृह्णातीत्याह - **नेति**। अधनाश्च आत्मधनाश्च भगवद्धना स्ते प्रिया यस्य, "स च मम प्रिय" (भ.गी. 7-17) इति भगवदुक्तेः भक्तसङ्गजन्या नन्दरसज्ञः स हरिः कुमनीषिणां कुत्सितमतीना मिज्यां न भजति न गृह्णाति। के कुमनीषिणः ? तत्राह श्रुतादीनां मदाः श्रुतादिनिमित्ता मदा स्तै रन्धाः अकिञ्चनेषु विरागिषु सत्सु ये पापं तिरस्कारं विदधति कुर्वन्ति ॥ २२ ॥

भक्तपराधीनत्व मेव प्रपञ्चयं स्तं को न भजे दित्याह - **श्रियमिति**। अनुचरतीं अनुवर्तमाना मपि श्रियं तदर्थिनः तां श्रिय मर्थयन्त इति तथोक्तान् श्रीकटाक्षलेशकांक्षिणः द्विपदपतीत्[11] नरेन्द्रान् विबुधान् देवां श्च निजभृत्यवर्ग रक्तो भगवान् न भजति नाऽनुवर्तते। कुतः ? यः स्वपूर्णः स्वत एवाऽवाप्त समस्तकामत्वान्न श्म्रादीन् भजति, एवम्भूत मम् भक्तवत्सलं रसज्ञः पुमान् कथ मुद्विसृजेत् ॥ २३ ॥

---

1. W एवं ते 2. V °र्दो 3. V °वं 4--4. B,J,V,Va omit 5. V adds परि 6--6. A °तः कृतज्ञो भग वानमुम् ई° 7. A,B,J,V omit विसृजेत् 8--8. B, J, V, Va omit 9--9. A, B, J, Va omit 10--10. V omits 11. W omits नरेन्द्रान्

इमं[1] संवाद मुपसंहरति मुनिः - **इतीति** त्रिभिः। हे राजन्! विदुर! यमाभिप्रायेण राजन्निति सम्बोधनं, इति उक्ता अन्याश्च भगवत्कथाः प्रचेतसः प्रति श्रावयित्वा स्वायम्भुवो नारदो मुनिः सत्यलोकं ययौ॥ २४॥

तत स्ते प्रचेतसः नारदमुखनिस्सृतं सकललोकाघहरं भगवद्यशो निशम्य भगवच्चरणारविन्दं ध्यायन्त स्तल्लोक मापुः॥ २५॥

हे क्षत्तः! त्वं मां प्रति यत्पृष्टवान् प्रचेतसां नारदस्य च संवादव्याजं हरिकीर्तनम् ते तुभ्यं मया अभिहितम्॥ २६॥

**विज०** व्यतिरेक माह - **न भजतीति**। अकिञ्चनेषु मदहेतु धनरहितेषु सत्सु श्रुतधनकुलकर्मणां मदैश्च ये पाप मपराधं विदधति स हरिः तेषां कुमनीषिणां पुंसा मिज्यां यागादिपूजां न भजति स्वीकृत्य फलं न ददातीत्यन्वयः। कीदृशो हरि रधनाः हिरण्यादिधनरहिताश्च, अत एव आत्मधनाश्च अधनात्मधनाः, त एव प्रिया यस्य स तथा, तेषां प्रियो वा। अस्मिन्नर्थे इदं प्रमाणम् - "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थ महं स च मम प्रियः" (भ.गी. 7-17) इति च प्रियत्वे निमित्त माह - रसज्ञ इति। भक्तैः क्रियमाणं रस मनुरागं भक्तिं जानातीति रसज्ञः "रसो रागे विषे वीर्ये" (वैज.को. 6-1-49) इति यादवः। "रागोऽनुरागे लाक्षादौ" (वैज.को. 6-1-51) इति च। श्रुतं च धनं च कुलं च कर्माणि च तानि तथा, तेषां मदैः बुद्धिभ्रंश हेतुवृत्तिविशेषैः॥ २२॥

अस्मिन्नर्थे अर्थवादं प्रमाणयति - **श्रिय** मिति। द्विपदपतीन् मनुष्यप्रधानान् तदर्थिनः श्रीप्रसादप्रार्थनाशीलान् स्वपूर्ण इत्ययं तदपेक्षा मन्तरेण। स्वापेक्षाभावे हेतुः - निजभृत्यवर्गतन्त्रः इति जयस्तम्भ प्रकटनार्थः, अन्यथा लक्ष्म्यादीना मभक्तत्वेन पृथक्करणं प्रसज्येत; न च तद्युक्तम्। निजवने तुलसीभिः ईश मभ्यर्चतीति लक्ष्म्या अपि मायापटलान्तान्तरभावेऽपि सुखात्मकभक्त्या तत् पूजा विधानात् उद्विसृजेत् उद्विग्नो भूत्वा त्यजतीत्यर्थः॥ २३॥

भवत्पूर्वजाः सर्वेऽपि भगवद्भक्ताः, तत्र ध्रुवो विशेषभक्त इति तद्भक्तिफलं किञ्चि द्विशिनष्टि - **भवता** मिति। चित्ररथ इति ध्रुवस्य नामान्तरम्। "भगवत्प्रसाद पात्रत्वे कोऽपि चित्ररथानुगः। यस्य प्रियश्रवाः कृष्ण स्त्वात्मान मपि दत्तवान्" इति विष्णुपुराणोक्तेः। रथ-गतौ इति धातोः चित्रा आश्चर्यभूता गति र्यस्य स इति वा। चित्रवत् नानावर्णो रथो यस्य स इति वा। स्व मात्मानं राजयतीति स्वराट्। राजान्तरवर्जितः चक्रवर्ती त्यर्थः। गुरोः पितुः दारा भार्याशब्दवाच्याः॥ क॥

स्त्रैणं स्त्रीजितं पितरं पूजास्पदम्॥ ख॥

सर्वेषां वैमानिकानां धिष्ण्येभ्यः स्थानेभ्यः पर मुत्तमम्, उत्तमत्वे कारण माह - मायेति। मायेन सर्वोत्तमेन विष्णुना अधिष्ठितं

1. W omits इमं

सन्निधाय स्थित मनिर्वाच्यमायाकल्पित मित्यङ्गीकारे - "सर्वोत्तमत्वा द्विष्णु र्हि माय इत्येव शब्दितः ॥" (व्योमसंहितायाम्) इति स्मृति विरोधः स्यात्। तस्मिन् पक्षे मायाकल्पित मित्येव स्यात् न तु अधिष्ठित मिति, मुनयो नृपाश्च अर्वाक् स्थिता उदीक्षन्ते परं नाऽऽपुरित्यत्र देवान् उत्तममुनीन् विना अनुसन्धेयं देवान् अत्युत्तममुनीन् विना के शैंशुमारकं - "हरे गृहं प्रविष्टास्तु ध्रुवो देवाश्च तद्गताः" (मात्स्ये) इति वचनात्। अनेनाऽपि मायाधिष्ठित मित्यत्र पुल्लिङ्ग एव मायशब्दोऽत्र विवक्षितो न तु मायेत्याबन्तः ॥ ग॥

उपसंहरति **तमिति**। यस्य अनुग्रहात् ध्रुवोऽत्युत्तमस्थान माप, तम् ईश्वरम्॥ घ॥

प्रचेतसा मुक्तैव कथा कथिता नारदेन किमन्याश्च कथा उक्ताः सन्तीति तत्राह - **इतीति**॥ २४॥

यद्येतत्कथितं प्रचेतसां मुक्तिप्रापकं स्यात्, तर्हि एतदुपादेयं स्यात्, तत्कथ मित्याशङ्क्य अनेनैव अपेक्षि तगति रभूत्तेषा मित्याह - **तेऽपीति**॥ २५॥

हरेः कीर्तनं यत्र स तथा॥ २६॥

1- -1
## श्रीशुक उवाच

**य एष उत्तानपदो मानवस्यानुवर्णितः।**
2 3
**वंशः प्रियव्रतस्यापि निबोध नृपसत्तम॥ २७॥**

**यो नारदा दात्मविद्या मधिगम्य पुनर्महीम्।**
4
**भुक्त्वा विभज्य पुत्रेभ्यः ऐश्वरं समगा त्पदम्॥ २८॥**

5 6 7 8 9
**इमां तु कौषारविणोपवर्णितां क्षत्ता निशम्याजित वाद सत्कथाम्।**
10 11
**प्रवृद्ध भावोऽश्रुकलाकुलो मुने र्धार मूर्ध्ना चरणं हृदा हरेः॥ २९॥**

12- -12
## विदुर उवाच

13
**सोऽथ मद्य महायोगिन् भवता करुणात्मना।**
14
**दर्शित स्तमसः पारो यत्राकिञ्चनगो हरिः॥ ३०॥**

1--1. Ms omits 2. M, Ms, V वंशं 3. W °सम्मतम् 4. W °र्थं 5. M, Ms, V इत्थं 6. V स 7. V °ताः 8. M, Ms पाद; V नाथ 9. V °श्चाः 10. W निबद्ध 11. M वाऽश्रु 12--12. Ms omits 13. M °यं मम; Ms यं तेन; V °यं तात ! W °यं तत ! 14. Ms गोचरः

श्रीशुक उवाच[1]

इत्यानम्य तमामन्त्र्य विदुरो गजसाह्वयम्।
स्वानां दिदृक्षुः प्रययौ ज्ञातीनां निभृताशयः[2] ॥ ३१ ॥

एतद्यः श्रुणुयाद्राजन् राज्ञां हर्यर्पितात्मनाम्।
आयुर्धनं यशस्स्वस्ति गतिमैश्वर्यमाप्नुयात् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
चतुर्थस्कन्धे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

**श्रीध० य** इति। य एष वंशः सोऽनुवर्णितः ॥ २७ ॥

**य** इति। यः प्रियव्रतः ॥ २८-३० ॥

**इतीति**। स्वान् ज्ञातीन् दिदृक्षुः ॥ ३१ ॥

**एतदिति**। राज्ञां एतत्[3] चरितमिति शेषः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे
श्री श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

**वीर०** स्कन्धार्थ मुपसंहरन्नुत्तरस्कन्ध प्रवृत्तिनिमित्तभूतशङ्का मुत्थाप्याह - **य एष** इति द्वाभ्याम्। मानवस्य मनुपुत्रस्य उत्तानपद एष वंशोऽनुवर्णितः। अथ प्रियव्रतस्य उत्तानपादानुजस्य नृपाणां सम्मतं वंशं निबोध श्रुणु ॥ २७ ॥

तद्वंशबुभुत्सायै समासत स्तच्चरित[4] माह। यः[5] प्रियव्रतः प्रथमं विरक्तत्या वनं प्रविष्टो नारदा दात्मविद्या मधिगम्य प्राप्य पुनर्महीं भुक्त्वा परिपाल्य पुत्रेभ्यः ऐश्वर्यं राज्यं विभज्य पदं भगवत्पदं समगात्सम्यक् साधनोपसंहारेणागात् ॥ २८ ॥

1. Ms श्रीबादरायणिः 2. A, B, G, I, J, M, Ms, T °र्वृ° 3. B, J, V, Va omit एतत् 4. W °त्र° 5. T omits यः

विदुर मैत्रेयसंवाद मुपसंहरति बादरायणिः - इद न्त्विति त्रिभिः। कौषारविणा मैत्रेयेण उपवर्णित मजितस्य भगवतो वादः गुणानुवादः सतां कथाश्च तत्समाहाररूप मिदं तृतीयतुरीय स्कन्धात्मकं निशम्य विवृद्धेन भावेन स्नेहेन या अश्रूणां कला मात्रा स्ताभि राकुलचित्तः[1] क्षत्ता विदुरः मुने मैत्रेयस्य चरणं मूर्ध्ना हरे श्चरणं हृदा दधार॥ २९॥

तत हे तात! महायोगिन्! करुणात्मनां दयालूनां त्वया सोऽयं तमसः संसारस्य पारः पारप्राप्तिहेतुः उपायः दर्शितः यत्र तमसः पारे वर्तमानै रकिञ्चनै र्गम्यो भवति हरिः॥ ३०॥

इत्येवं वदन्नानम्य प्रणम्य तमनुज्ञाप्य स्वानां ज्ञातीनां दिदृक्षुः शेषे षष्ठी, स्वान् द्रष्टु मिच्छुः, ज्ञानयोगेन पूर्णान्तः करणः गजसाह्वयं हास्तिनपुरं ययौ॥ ३१॥

विदुरमैत्रेयसंवादश्रवण फल माह - **एतदिति**। हे राजन्! हरा वर्पित आत्मा मनो येषां तेषां राज्ञां स्वायम्भुवमन्वादीना मेतच्चरित्रं यः श्रृणुया[2] त्स आयुरादीन् प्राप्नुयात् स्वस्ति गतिं मुक्तिं तत्र स्वस्तिगतिः प्रधानफलं आयुरादय आनुषङ्गिकफलानि, स्वस्तीति पृथक्पदं वा, गतिं मुक्तिं स्वस्ति मङ्गलम्॥ ३२॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचिन्द्रकायां

व्याख्यायां एकत्रिंशोऽध्यायः॥ ३१॥

**विज०** अत्र शुको वृत्तानुवर्णन पूर्वक मुत्तरकथां प्रतिजानीते - **य एष** इति। अनेन शुकेनोक्तमेव विदुरायोक्तं मैत्रे येणेति ज्ञातव्यम्॥ २७॥

श्रोतृजनतृप्त्यर्थं प्रियव्रतचरितं प्रस्तौति - **यो नार दादिति**॥ २८॥

मैत्रेयोक्तहरिकथाश्रवणेन विदुरे को विशेषोऽभू त्तत्राह - इत्थ मिति। "नारायणोऽजितपदो वामनो मधुसूदनः। श्रीधरः शङ्कराध्यक्षो ब्रह्माध्यक्षो महानदः" इत्यभिधानान्। अजितस्य हरेः पादसत्कथां चरणविषयां कथां वा, अजितपादानां हरेः अंशभूतानां विशेषावेशवतां राज्ञां वा मुनेः चरणं मूर्ध्नि दधार हरेश्चरणं हृदा॥ २९॥

नते रष्टाङ्गत्वं द्योतयितुं मुनिं स्तौति - **सोऽयं** मिति। यत्र तमसः पारे स्थितः॥ ३०॥

---

1. W °लित° 2. T °तं

स्तुत्वा नत्वा पुनः किमकार्षी दत्राह - **इतीति**। स्वानां ज्ञातीना मिति कर्मणि षष्ठी। निर्वृताशय इत्यनेन ज्ञातव्यांशस्य पूर्तिं दर्शयति॥ ३१॥

शुक एतस्य श्रोतुः ऐहिकामुष्मिकं फलमाह - **एत द्य** इति॥ ३२॥

**चतुर्थस्कन्धोऽयं हरिचरितरत्नावलि निधिः कथञ्चिद्व्याख्यातो हरि गुरुमहानुग्रहबलात्।**
**महान्तः प्रीयन्ता मनुगुणसुलुब्धाश्शुचिधियः सहन्ता ज्ञावद्यं मम विवृति मार्गे स्खलनतः॥ १॥**

**सुमनस्सुमनोमौलौ लसन्ती मुरभिद्गले।**
**पदरत्नावलि र्नाम वनमालेव राजताम्[1]॥ २॥**

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थकृतायां पदरत्नावल्यां
टीकायां एकत्रिंशोऽध्यायः॥ ३१॥

1. A. B रोचताम्

# चतुर्थस्कन्धस्थ श्लोकपादानुक्रमणिका


| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **अ** | | | |
| अकरो द्ब्रह्मसात्कृतम् | 22 | 50 | d |
| अकल्प एषामधिरोढुं | 3 | 21 | c |
| अकुतश्चिद्भया गतिः | 24 | 68 | d |
| अक्षण्वता मधिपतिः | 25 | 54 | c |
| अक्षिणी नासिके आस्यम् | 29 | 9 | a |
| अक्षिणी नासिके कर्णौ | 29 | 8 | a |
| अगदेन यथाऽऽमयम् | 11 | 31 | d |
| अगस्त्यं च हविर्भुवि | 1 | 36 | b |
| अगस्त्यः प्राग्दुहितरं | 28 | 32 | a |
| अग्निराजगवं चापम् | 15 | 18 | c |
| अग्निष्टोममतीरात्रं | 13 | 16 | c |
| अग्निष्वात्ता बर्हिषदः | 1 | 62 | a |
| अग्निहोत्रं स्वधा सोमः | 7 | 45 | d |
| अग्रहीष्टमुदान्विताः | 30 | 11 | b |
| अग्रेवृकानसुतृपः | 29 | 53 | c |
| अङ्कमारोप्यलालयन् | 8 | 9 | b |
| अङ्गसङ्गादुत्पुलकौ | 9 | 48 | c |
| अङ्गस्यास्मात्पितुः पितुः | 21 | 28 | d |
| अङ्गं सुमनसं ख्यातिम् | 13 | 17 | c |
| अङ्गेन सन्ध्याभ्ररुचा | 6 | 36 | c |
| अङ्गो द्विजवचः श्रुत्वा | 13 | 29 | a |
| अङ्गोऽश्वमेधं राजर्षिः | 13 | 25 | a |
| अचरत्तप उत्तमम् | 23 | 7 | b |
| अचलां भक्तिमुद्वहन् | 23 | 37 | b |
| अचिन्त्यं निजमायया | 8 | 60 | b |
| अचिराच्छ्रेय आप्नोति | 24 | 74 | c |
| अच्युतप्रियचेष्टितम् | 12 | 45 | b |
| अच्युतप्रियबान्धवाः | 12 | 36 | d |
| अजनयद्द्वादशात्मजान् | 1 | 6 | d |
| अजन्यजनयोनिजः | 30 | 48 | d |
| अजयत्समदर्शनः | 28 | 37 | d |
| अजस्य च भवस्य च | 21 | 28 | b |
| अजहाद्योगसंयुता | 1 | 66 | d |
| अजं लोकगुरुं नत्वा | 2 | 7 | c |
| अजानतीप्रियतमम् | 28 | 45 | a |
| अजोऽध्यतिष्ठत्खलु | 8 | 21 | c |
| अज्ञानात्पुरुषस्यहि | 12 | 4 | b |
| अज्ञानादर्थकाशिषु | 29 | 48 | b |
| अटत्युन्मत्तवन्नग्नोः | 2 | 14 | c |
| अतस्तदवबोधार्थम् | 29 | 80 | c |
| अतस्तवोत्पन्नमिदं | 4 | 18 | a |
| अतः कायमिमं विद्वान् | 20 | 5 | a |
| अतः पाषण्डमाश्रिताः | 2 | 30 | d |
| अतिदिश्यात्मनः पदम् | 9 | 26 | b |
| अतीव भक्तुर्व्रतधर्मनिष्ठया | 23 | 20 | a |
| अतृप्तदृग्गोचरमाह | 20 | 23 | b |
| अत्र ते कथयिष्येऽमुम् | 25 | 9 | a |
| अत्र मे वदतो गुह्यम् | 29 | 52 | a |
| अत्रागता स्तनुभृतां | 1 | 28 | c |
| अत्रिणा चोदित स्तस्मै | 19 | 21 | a |
| अत्रिणा चोदितो हन्तुम् | 19 | 13 | a |
| अत्रिर्ब्रह्मविदांवरः | 1 | 17 | b |
| अत्रिस्सन्दर्शयामास | 19 | 20 | a |
| अत्रेर्गृहे सुरश्रेष्ठाः | 1 | 16 | a |
| अत्रेः पत्न्यनसूयात्रीन् | 1 | 15 | a |
| अथ तस्य पुनर्विप्रैः | 15 | 1 | a |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अथ त्वमसि नो ब्रह्मन् | 24 | 68 | a | अदृष्टमश्रुतं चाऽत्र | 29 | 69 | a |
| अथ देवगणास्सर्वे | 6 | 1 | a | अदृष्टाय नमस्कृत्य | 20 | 40 | a |
| अथ निर्याय सलिलात् | 30 | 44 | a | अदो वायौ नभस्यमुम् | 23 | 16 | d |
| अथ भागवतायूथं | 24 | 30 | a | अद्य नस्तमसः पारः | 21 | 50 | a |
| अथ मय्यनपायिन्या | 30 | 18 | a | अद्यापि वाचस्पतयः | 29 | 44 | d |
| अथ मात्रोपदिष्टेन | 8 | 33 | a | अधना अपि ते धन्या | 22 | 10 | a |
| अथर्त्विजो यजमानः | 5 | 7 | a | अधर्मश्च महान्नृणाम् | 13 | 44 | b |
| अथाजिघ्रन्मुहुर्मूर्ध्नि | 9 | 44 | a | अधर्मांशोद्भवं मृत्युं | 13 | 39 | c |
| अथातः कीर्तये वंशं | 8 | 7 | a | अधर्मे धर्म मानिनः | 14 | 23 | b |
| अथात्मनोऽर्थभूतस्य | 29 | 37 | a | अधिगम्य पुनर्महीम् | 31 | 28 | b |
| अथादीक्षत राजर्षिः | 19 | 1 | a | अधिपुण्यजनस्त्रीणां | 6 | 30 | c |
| अथानघाङ्घ्रेस्तवकीर्ति | 24 | 58 | a | अधिराजासनं पितुः | 13 | 6 | d |
| अथापि भक्त्येशतयोप | 7 | 38 | c | अधिरोढुंत्वमर्हसि | 12 | 27 | d |
| अथापि मानं न पितुः | 3 | 20 | c | अधीयानो दुराराध्यं | 24 | 76 | c |
| अथापि मेऽविनीतस्य | 8 | 39 | a | अधोक्षजो मे नमसा | 3 | 23 | d |
| अथापि यूयंकृतकित्वि | 6 | 5 | a | अध्यात्मपारोक्ष्यमिदं | 29 | 87 | a |
| अथाप्युदारश्रवसः | 16 | 3 | a | अध्वर्युणाऽऽत्तहविषा | 7 | 18 | a |
| अथाभजे त्वाखिल | 20 | 27 | a | अध्वर्युणा हूयमाने | 4 | 33 | a |
| अथाभिष्टुत एवं वै | 9 | 18 | a | अनन्तपारे तमसि | 28 | 27 | a |
| अथामुमाहू राजानं | 16 | 15 | c | अनन्तमाहात्म्यगुणैक | 16 | 10 | c |
| अथायजत यज्ञेशं | 12 | 10 | a | अनन्तरं त्वां वयमङ्ग | 12 | 7 | d |
| अथावमृज्याश्रुकलाः | 20 | 23 | a | अनन्तरं विदर्भस्य | 28 | 28 | c |
| अथास्मादंशभूतास्ते | 1 | 31 | a | अनन्यभावे निजधर्म | 8 | 23 | c |
| अथास्मिन्भगवान्वैन्यः | 18 | 30 | a | अनन्यभावैकगतिं | 7 | 59 | c |
| अथेदं नित्यदायुक्तः | 24 | 74 | a | अनन्यविषयाभवत् | 23 | 10 | d |
| अथो भजस्व मां भद्र | 27 | 26 | a | अनन्यवृत्यानुगृहाण | 7 | 38 | d |
| अथो व उशती कीर्ति | 30 | 11 | c | अनन्वितं तव भगवन् | 7 | 34 | a |
| अथो विदुस्तं पुरुषं | 24 | 64 | c | अनवमो ब्रह्मणो गुणैः | 30 | 12 | b |
| अदाच्छापं सुदुस्सहम् | 27 | 22 | d | अनागसश्चित्ररथेन | 11 | 6 | b |
| अदुदृत्सकलौषधीः | 18 | 12 | d | अनागसं दुर्वचसा | 3 | 24 | d |
| अदृष्टपारा अपि यन्महिम्नः | 30 | 41 | c | अनादिमध्यान्तमजस्र | 31 | 19 | d |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अनादिरादिकृदव्ययः | 11 | 19 | b | अनेन पुरुषो देहान् | 29 | 77 | a |
| अनादिर्भरतर्षभ | 30 | 51 | b | अन्तराक्षेत्रमावसन् | 21 | 11 | b |
| अनादृता यज्ञसदसि | 4 | 9 | c | अन्तर्धानगतिं शक्रात् | 24 | 3 | a |
| अनादृत्यात्मजां सतीम् | 2 | 1 | d | अन्तर्धानाञ्च खोचराः | 15 | 19 | b |
| अनाबाधे मुनिव्रतैः | 25 | 19 | b | अन्तर्धानाद्भुतात्मनाम् | 18 | 20 | b |
| अनास्थितं ते पितृभिः | 12 | 26 | a | अन्तर्धानो नभस्वत्यां | 24 | 5 | a |
| अनाहुता अप्याभियन्ति | 3 | 16 | b | अन्तर्बहिश्च भूतानां | 16 | 12 | a |
| अनाहुता अप्याभियन्ति | 3 | 13 | c | अन्तर्बहिस्नानविधूत | 24 | 58 | b |
| अनिच्छतां यानमतृप्त | 30 | 43 | c | अन्तर्हितोऽन्तहृदये | 30 | 29 | c |
| अनिच्छन्नप्यदां बालां | 2 | 13 | c | अलं ते क्रतुभिस्त्विष्टैः | 19 | 32 | c |
| अनिर्भिन्नत्वचं हरः | 5 | 23 | b | अन्तःपुरञ्च हृदयम् | 29 | 20 | a |
| अनुक्रोशं गुणाधमात् | 8 | 34 | b | अन्तः पुरस्त्रियोऽपृच्छ | 26 | 14 | a |
| अनुग्रहविलम्बितः | 20 | 21 | b | अन्तःपुरं परिविहार | 12 | 16 | b |
| अनुग्रहाय भद्रं वः | 24 | 27 | c | अन्ते माऽनुस्मरिष्यसि | 9 | 24 | d |
| अनुजज्ञेऽनपायिनी | 15 | 6 | d | अन्धावमीषां पौराणां | 25 | 54 | a |
| अनुदिनमिदमादरेण | 23 | 39 | a | अन्नमीप्सितमूर्जस्वत् | 18 | 10 | c |
| अनुनिन्येऽथ शनकैः | 26 | 20 | a | अन्नादाः स्वन्नमात्मनः | 18 | 27 | b |
| अनुनीयमानस्तद्याञ्चां | 14 | 29 | c | अन्यत्र ब्राह्मणकुलात् | 21 | 12 | c |
| अनु यज्ञं वितन्वतः | 24 | 10 | b | अन्यत्राच्युत गोत्रतः | 21 | 12 | d |
| अनुरक्तप्रजं राजा | 9 | 66 | c | अन्यथा कर्म कुर्वाणः | 26 | 8 | a |
| अनुरूपं च दोहनम् | 18 | 9 | d | अन्यस्त्रीगर्भसम्भृतम् | 8 | 13 | b |
| अनुवृत्तं तदन्तरं | 1 | 9 | d | अन्याश्च भगवत्कथाः | 31 | 24 | b |
| अनुवैन्यं पतिं सती | 23 | 26 | b | अन्यांश्चहस्तचरणश्रवण | 9 | 6 | c |
| अनुशर्वावमानिनम् | 2 | 24 | d | अन्ये च मायिनो मायां | 18 | 20 | a |
| अनुशासित आदेशं | 20 | 18 | c | अन्येषां तद्विपर्ययः | 5 | 25 | d |
| अनुशास्य मनुध्रुवम् | 11 | 35 | b | अन्यैरप्यन्न कर्हिचित् | 12 | 26 | b |
| अनुशिक्षन् सतां व्रतम् | 11 | 12 | d | अन्यैरप्यनधिष्ठितम् | 8 | 40 | d |
| अनुशेते शयनायां | 25 | 59 | c | अन्योन्यञ्च जिघांसताम् | 14 | 39 | d |
| अनुशोचति दीनवत् | 25 | 61 | b | अन्योन्यं प्रेमविह्वलौ | 9 | 48 | b |
| अनुहृष्यति हृष्यन्त्यां | 25 | 61 | c | अन्वद्रवदभिक्रुद्धः | 19 | 16 | c |
| अनैन ध्वस्ततमसः | 24 | 73 | c | अन्वद्रवन्ननु पथाः | 28 | 23 | c |

| | | | |
|---|---|---|---|
| अन्वधावत पाण्ड्येशं | 28 | 34 | c |
| अन्वधावत संक्रुद्धः | 19 | 13 | c |
| अन्वभूयत सर्वात्मा | 19 | 3 | c |
| अन्वस्मरदगं हित्वा | 12 | 31 | c |
| अन्वारु रूक्षेदपि वर्षपूगैः | 12 | 42 | b |
| अन्वास्ते क्वचिदासतीम् | 25 | 59 | d |
| अन्वितो ब्रह्मशर्वाभ्यां | 19 | 4 | a |
| अन्वीयमान स्सतु रुद्रपार्षदैः | 5 | 6 | a |
| अन्वेषन्ती वनं माता | 9 | 23 | c |
| अन्वेषमाणा मृषभं | 25 | 21 | c |
| अपत्यत्रयमाधत्त | 24 | 3 | c |
| अपत्याय हरिर्वृतः | 13 | 33 | d |
| अपत्ये द्रविणे वाऽपि | 20 | 6 | c |
| अपरेजगृहुर्देवान् | 5 | 16 | c |
| अपर्तावपि भद्रं ते | 18 | 11 | c |
| अपवर्गगुरुर्गतिः | 30 | 30 | d |
| अपश्यती बालकमाह | 8 | 18 | b |
| अपश्यन् सुमहत्सरः | 24 | 20 | b |
| अपश्यमानस्स तदा | 10 | 21 | a |
| अपहतसकलैषणा | 31 | 21 | a |
| अपाङ्क्तम्भैस्सदीपकैः | 9 | 55 | d |
| अपामुपस्थे मयि | 17 | 35 | a |
| अपालितानादृता च | 18 | 7 | a |
| अपि तद्दोषदर्शिनः | 14 | 40 | d |
| अपि भ्रातृमतीं नृपः | 1 | 2 | b |
| अपि मुनिभिरसक्तैः | 7 | 29 | b |
| अपि वः कुशलं रामाः | 26 | 14 | c |
| अपि स्मरसि चात्मानं | 28 | 53 | a |
| अपुत्रास्य महीपतेः | 15 | 1 | b |
| अपृथग्धर्मशीलानां | 30 | 16 | c |
| अपेतमन्युं भगवान् | 12 | 1 | b |
| अपोवाहतिरोहितः | 19 | 11 | d |
| अप्यनाथं वने ब्रह्मन् | 8 | 69 | a |
| अप्यभद्रमनाथायाः | 14 | 37 | c |
| अप्यरिक्ताखिल | 22 | 11 | b |
| अप्यर्वाग्वृत्तयोयस्य | 7 | 24 | a |
| अप्यावयोरेकपतिस्पृधोः | 20 | 28 | c |
| अप्येव मर्यभगवान् | 9 | 17 | c |
| अप्रजाः सप्रजतमः | 23 | 33 | c |
| अप्रतीपमवस्थितम् | 2 | 17 | b |
| अप्रौढां कामरूपिणीम् | 25 | 21 | d |
| अप्रौढैवात्मनाऽऽत्मानं | 1 | 65 | c |
| अप्सरोभिर्वृतं सदा | 6 | 9 | d |
| अप्सरो मुनि गन्धर्वं | 1 | 22 | a |
| अबन्धुं क्लिवाश्रुभिः | 28 | 47 | b |
| अबाधन्त मुनीनन्ये | 5 | 16 | a |
| अब्भक्ष उत्तमश्लोकं | 8 | 77 | c |
| अब्भक्षः कतिचित्पक्षान् | 23 | 5 | c |
| अभजत्पुरुषर्षभः | 23 | 9 | d |
| अभद्रस्य कुतो मम | 9 | 37 | d |
| अभयाय यथा रवेः | 31 | 5 | d |
| अभवाया भवच्छिदम् | 12 | 6 | b |
| अभिपेतुरुदायुधाः | 10 | 7 | d |
| अभिमानीपुरञ्जनः | 28 | 5 | b |
| अभिवन्द्य पितुः पादौ | 9 | 45 | a |
| अभिवीक्ष्य दहन्निव | 2 | 8 | d |
| अभिव्यक्त चतुर्भुजम् | 8 | 50 | d |
| अभीयुर्मृष्टकन्याश्च | 21 | 4 | c |
| अभूतामन्तरा वौकः | 28 | 54 | c |
| अभूत्रयाणां लोकानां | 12 | 37 | c |
| अभूत्सविमना इव | 25 | 11 | d |
| अभोगैरशुभक्षयम् | 12 | 13 | d |
| अभ्यधायि महाबाहो | 7 | 1 | c |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अभ्यधावन् गजा मत्ताः | 10 | 26 | c | अयुताना त्रयोदश | 10 | 12 | d |
| अभ्यनन्दत तं वीरम् | 25 | 32 | c | अरक्षिता करहारोऽघमत्ति | 20 | 15 | d |
| अभ्यनन्दत्सुनिर्वृतम् | 1 | 52 | d | अरण्यपात्रे चाधुक्षन् | 18 | 23 | c |
| अभ्यनन्दद्दुपागताम् | 27 | 2 | d | अरतिज्ञमकोविदम् | 25 | 38 | b |
| अभ्यर्चितस्त्वया नूनं | 9 | 52 | d | अराजकभयादेषः | 14 | 9 | a |
| अभ्यर्हितार्हणो राजा | 8 | 66 | c | अराजके तदा लोके | 13 | 20 | a |
| अभ्यवर्षन्प्रकुपिताः | 10 | 12 | a | अरुणोष्ठेक्षणाधरम् | 8 | 46 | b |
| अभ्यषिञ्चन्पतिं भुवः | 14 | 2 | d | अरुद्रभागं तमवेक्ष्य | 4 | 9 | a |
| अभ्युज्जहाराम्भसः | 17 | 34 | d | अर्चन्ति कल्पकतरुं | 9 | 9 | c |
| अभ्युत्थितस्साध्वस | 12 | 21 | b | अर्चितौ गन्धमादनम् | 1 | 57 | d |
| अमङ्गलानाञ्च तमिस्रं | 6 | 45 | c | अर्चित्वा क्रतुनास्वेन | 7 | 55 | c |
| अमङ्गल्यनिवारणम् | 23 | 34 | b | अर्चिर्नाम महाराज्ञी | 23 | 19 | a |
| अमर्षयित्वा तमसहाय | 5 | 11 | a | अर्चिर्नाम वरारोहा | 15 | 5 | c |
| अमायिनः कामदुघ्वाङ्गि | 21 | 32 | c | अर्थलिङ्गाय नभसे | 24 | 40 | a |
| अमुञ्चन्मुरवतो रुषा | 30 | 45 | b | अर्थं बुद्धिरसूयत | 1 | 51 | b |
| अमुत्रान्येन देहेन | 29 | 60 | c | अर्थानारभते स्वयम् | 18 | 5 | b |
| अमुनोत्पादिते गृहे | 20 | 6 | b | अर्थेन्द्रियारामसगो | 22 | 23 | a |
| अमुष्मै भूरिवर्चसे | 24 | 40 | d | अर्थेन्द्रियार्भाभिध्यानं | 22 | 33 | a |
| अमुष्य क्षन्तु मर्हसि | 20 | 2 | d | अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि | 29 | 75 | a |
| अमूषां क्षुत्परीतानां | 17 | 25 | a | अर्वाक्पतन्तमर्हत्तम | 7 | 15 | c |
| अमोघवीर्या हि नृपाः | 14 | 42 | c | अर्हस्यलङ्कर्तुमदभ्र | 25 | 29 | c |
| अयन्तु देव यजन | 2 | 18 | a | अलकां नाम वै पुरीम् | 6 | 23 | b |
| अयन्तु प्रथमो राज्ञाम् | 15 | 4 | a | अलकैरुपशोभितम् | 24 | 47 | b |
| अयन्तु लोकपालानां | 2 | 10 | a | अलक्षयन्तः पदवीं | 13 | 49 | a |
| अयन्तु साक्षाद्भगवान् | 16 | 20 | a | अलङ्कृताः कान्तसरवा | 3 | 12 | b |
| अयन्ते कथामृष्टपीयूष | 7 | 35 | a | अलब्धनिद्रोऽनुपल | 13 | 47 | c |
| अयमात्मविचेष्टितैः | 16 | 15 | b | अलं वत्सातिरोषेण | 11 | 7 | a |
| अयम्भुवो मण्डलमोदयाद्रेः | 16 | 21 | a | अवकीर्यमाणो ददृशे | 12 | 33 | c |
| अयम्महीं गां दुदुहेऽधिराजः | 16 | 23 | a | अवघ्राय मुदायुक्तः | 13 | 37 | c |
| अयः पात्रे सुरासवम् | 18 | 16 | d | अवजानन्त्यमी मूढाः | 14 | 24 | a |
| अयतयामोप हवैस्तमग्नये | 19 | 28 | c | अवधीस्त्व मनागसः | 11 | 7 | d |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अवधूतसखस्ताभ्यां | 25 | 48 | c | असङ्गविज्ञानविशेष | 21 | 31 | b |
| अवन्दताङ्गं विनमय्य | 9 | 3 | b | असङ्गाद्यमभीप्सितम् | 24 | 17 | d |
| अवबोधरसैकात्म्यं | 13 | 8 | c | असत्कृताया अवगम्य | 5 | 1 | b |
| अवमेने महाभागान् | 14 | 4 | c | असद्भिरधृतव्रतैः | 18 | 6 | d |
| अवरः श्रद्धयोपेतः | 18 | 4 | c | असहन्तस्तन्निनादं | 10 | 7 | c |
| अवरुह्य नृपस्तूर्णं | 9 | 42 | c | असंसक्तश्शरीरेऽस्मिन् | 20 | 6 | a |
| अवरुह्य स्वधिष्ण्यतः | 6 | 25 | b | असांपरायाभिमुखं | 25 | 38 | c |
| अवशमानीय विभ्रमैः | 27 | 1 | b | असावनुशयी पुमान् | 23 | 18 | d |
| अवसन्नूर्ध्वरेतसः | 8 | 1 | d | असावहमिति ब्रुवन् | 29 | 64 | b |
| अवाप लक्ष्मीमनपायिनीं | 21 | 37 | c | असाविहानेकगुणः | 21 | 33 | a |
| अवापोरुविधां स्तापान् | 28 | 5 | c | असावेव वरोऽस्माकं | 30 | 30 | a |
| अविज्ञातसरवं सरवे | 28 | 53 | b | असूत मिथुनं तच्च | 8 | 2 | c |
| अविद्याकामकर्मभिः | 20 | 5 | b | असूयन् भगवानिन्द्रः | 19 | 10 | c |
| अविद्यारचितं स्वप्न | 12 | 15 | c | अस्तावीत्संहताञ्जलिः | 1 | 26 | b |
| अविरतमेधितभावनोप | 31 | 21 | b | अस्ति यज्ञपतिर्नाम | 21 | 26 | a |
| अविषह्यतया देवः | 22 | 60 | a | अस्त्येकं प्राक्तनमघं | 13 | 31 | c |
| अव्यक्तलिङ्गा अवधूत | 4 | 21 | d | अस्त्येव राजन् भवतः | 22 | 20 | a |
| अव्यक्तवर्त्मैषविगूढकायः | 16 | 10 | a | अस्त्रौघं मुहुरुहतुः | 9 | 48 | d |
| अव्यक्तस्याप्रमेयस्य | 11 | 23 | a | अस्त्रौघं व्यधमद्बाणैः | 10 | 16 | c |
| अव्यवच्छिन्नयोगाग्नि | 13 | 9 | a | अस्पष्टकीर्तिः सुयशाः | 23 | 33 | e |
| अव्याकृतं भागवतोऽथ | 24 | 29 | c | अस्मद्विधैस्तदुणसर्ग | 17 | 36 | b |
| अशेषक्लेश संक्षयम् | 30 | 27 | b | अस्मादुपररामह | 28 | 42 | d |
| अशेषजन्मोपचितं | 21 | 30 | b | अस्मिन्कृतमतिर्मर्त्यः | 23 | 38 | cc |
| अश्नत्यां क्वचिदश्नाति | 25 | 57 | c | अस्मिं ल्लोकेऽथवामुष्मिन् | 18 | 3 | a |
| अश्नात्यनन्तः खलु | 21 | 40 | a | अस्याप्रतिहतं चक्रं | 16 | 14 | a |
| अश्वस्तन्विदं पशुम् | 25 | 38 | d | अहनिष्यत्कथं योषां | 17 | 19 | c |
| अंशभूताऽनपायिनी | 1 | 4 | d | अहन् बाणैस्त्रिभिः स्त्रिभिः | 10 | 8 | d |
| अंशः स परमेष्ठिनः | 15 | 10 | d | अहयोऽशनिनिः श्वासाः | 10 | 26 | a |
| अंशांशास्ते देव मरीच्यादयः | 7 | 43 | a | अहं च तस्मिन् भक्ताभिकामये | 3 | 9 | c |
| अष्टायुधैरनुचरैः | 30 | 6 | c | अहं त्वमित्यपार्था धीः | 12 | 4 | a |
| असङ्ग आत्मव्यतिरिक्त | 22 | 21 | c | अहं दण्डधरो धात्रा | 21 | 21 | a |

| | | | |
|---|---|---|---|
| अहं ब्रह्मा च शर्वश्च | 7 | 50 | a |
| अहं भवान्न चान्यस्त्वं | 28 | 62 | a |
| अहं ममेति स्वीकृत्य | 28 | 17 | a |
| अहार्षीद्यस्य हयं पुरन्दरः | 16 | 25 | c |
| अहिंसया पारमहंस्य | 22 | 24 | a |
| अहेरिव पयः पोषः | 14 | 10 | a |
| अहो अनात्म्यं महदस्य | 4 | 29 | a |
| अहो आचरितं किं मे | 22 | 7 | a |
| अहो इयं वधूर्धन्या | 23 | 25 | a |
| अहो उभयतः प्राप्तं | 14 | 8 | a |
| अहो तेजः क्षत्रियाणां | 8 | 27 | a |
| अहो बत ममानात्म्यं | 9 | 31 | a |
| अहो ममामी वितरन्त्यनुग्रहं | 21 | 35 | a |
| अहो मे बत दौरात्म्यं | 8 | 70 | a |
| अहो वयं ह्यद्य पवित्र | 21 | 48 | a |
| **आ** | | | |
| आकण्ठमग्नः शिशिरे | 23 | 6 | c |
| आकरान् खेटखर्वाटान् | 18 | 31 | d |
| आकर्ण्यात्मज मायान्तम् | 9 | 37 | a |
| आकर्ण्यार्थागमं वचः | 8 | 25 | b |
| आकलय्य विशां पतिः | 9 | 67 | b |
| आकाश मिव विस्तृतम् | 24 | 60 | d |
| आकूति र्देवहूतिश्च | 1 | 1 | c |
| आकूति र्विक्रमो बाह्यः | 29 | 24 | a |
| आकूतिं रुचये प्रादात् | 1 | 2 | a |
| आक्रम्यात्मन्यवस्थितं | 8 | 53 | d |
| आक्रम्योरसि दक्षस्य | 5 | 22 | a |
| आक्रीडायतनापणैः | 25 | 16 | b |
| आक्रीडे क्रीडतोबालान् | 13 | 41 | a |
| आक्षिप्तं ध्यायतां मनः | 22 | 30 | b |
| आगतश्शमबाभास | 30 | 46 | c |
| आग्नेय्य इष्टयो यज्ञे | 1 | 61 | c |
| आचरन्मानयन्निव | 22 | 5 | d |
| आचार्यवान् ज्ञानविरागरंहसा | 22 | 26 | b |
| आजहार महाक्रतुम् | 13 | 25 | b |
| आजह्रुस्ते प्रचेतोभ्यः | 30 | 47 | c |
| आजह्रुस्सर्वतो जनाः | 15 | 11 | d |
| आज्ञप्त एवं कुपितेन मन्युना | 5 | 5 | a |
| आतपत्रं शशिप्रभम् | 15 | 14 | d |
| आतिष्ठ जगतां बन्द्यम् | 12 | 26 | c |
| आतिष्ठतच्चन्द्र दिवाकरादयः | 12 | 25 | c |
| आतिष्ठ तत्तात विमत्सरस्त्वम् | 8 | 20 | a |
| आतिष्ठ देक पादेन | 1 | 19 | c |
| आतोद्यं वितुदन् श्लोकान् | 12 | 39 | c |
| आत्मजामसितेक्षणाम् | 28 | 30 | b |
| आत्मजा लोकविश्रुताः | 1 | 31 | b |
| आत्मजावेक्षणोत्सुकाः | 9 | 40 | d |
| आत्मजां स्त्रीनजीजनत् | 1 | 59 | b |
| आत्मजेष्वात्मजां न्यस्य | 23 | 3 | a |
| आत्मतुल्यः परोद्यमे | 22 | 62 | d |
| आत्मनश्च परस्याऽपि | 22 | 29 | c |
| आत्मनश्च परस्यापि | 25 | 33 | c |
| आत्मन स्सदृशं पुत्रं | 1 | 64 | c |
| आत्मनस्स्वव्यतिक्रमात् | 22 | 32 | d |
| आत्मनः कल्पितासनः | 8 | 46 | c |
| आत्मना वर्धिताशेष | 23 | 1 | c |
| आत्मना सह किं ददे | 22 | 43 | d |
| आत्मन्यध्यस्य निर्गुणे | 29 | 26 | b |
| आत्ममायां समाविश्य | 7 | 51 | a |
| आत्म.. योगबलेनेमाः | 17 | 27 | c |
| आत्मवत्वे स्वयं हरिः | 22 | 61 | d |
| आत्मवृत्त्यनुसारेण | 8 | 75 | c |

| | | | |
|---|---|---|---|
| आत्मशुद्धि मभीप्सताम् | 24 | 53 | b |
| आत्मसम्भावितोऽधमः | 17 | 26 | b |
| आत्मस्त्र्यपत्यसुहृदो बलमृद्ध कोशम् | 12 | 16 | a |
| आत्मस्थं वेदपूरुषः | 20 | 9 | b |
| आत्मानमन्विच्छ विमुक्त मात्मदृक् | 11 | 29 | c |
| आत्मानमर्हयाञ्चक्रे | 26 | 12 | a |
| आत्मानमिन्द्रियार्थञ्च | 22 | 28 | a |
| आत्मानं कन्यया ग्रस्तं | 28 | 8 | a |
| आत्मानं च प्रजाश्चेमाः | 17 | 21 | c |
| आत्मानं च प्रवयसम् | 9 | 67 | a |
| आत्मानं तोषयन् देही | 8 | 36 | c |
| आत्मानं प्रकृतेः परं | 22 | 51 | d |
| आत्मानं ब्रह्मनिर्वाणम् | 13 | 8 | a |
| आत्मानं येऽस्य हेतवः | 22 | 9 | d |
| आत्मानं लोक मात्मनि | 13 | 7 | d |
| आत्मानं शोचती दीनं | 28 | 47 | a |
| आत्मानं सप्रजं नृप | 13 | 32 | b |
| आत्मापह्नव मात्मनः | 22 | 31 | d |
| आत्मारामं कथं द्वेष्टि | 2 | 2 | c |
| आत्मारामेषु नेष्यते | 22 | 14 | b |
| आत्मारमोऽपि यस्त्वस्य | 24 | 18 | a |
| आत्माह्यवधिरर्थतः | 31 | 13 | b |
| आत्मेशब्रह्मसम्भवान् | 1 | 15 | d |
| आत्मेश्वर उपद्रष्टा | 7 | 50 | c |
| आत्मैकभावेन भजध्वमद्धा | 31 | 18 | d |
| आत्यन्तिकतयेष्यते | 22 | 35 | b |
| आदतोद्यतकार्मुकः | 19 | 26 | d |
| आदिराजाय सत्कृताः | 19 | 41 | d |
| आदिराजेन पूजिताः | 22 | 48 | b |
| आदिश्य पुत्रानगमन् | 29 | 83 | c |
| आदीप्य चानुमरणे | 28 | 50 | c |

| | | | |
|---|---|---|---|
| आद्यं मुनिं प्राञ्जलयः प्रणेमुः | 6 | 39 | d |
| आधयो व्याधयस्तस्य | 29 | 16 | a |
| आधारं महदादीनां | 7 | 81 | a |
| आधिपत्ये स्मयोऽभवत् | 3 | 2 | d |
| आनन्दबाष्पकलया मुहुरर्धमानः | 12 | 18 | b |
| आनन्द मनुसनन्ततम् | 13 | 8 | d |
| आनन्दमात्र उपपन्न समस्तशक्तौ | 11 | 30 | b |
| आनन्दमात्र मविकार महं प्रपद्ये | 9 | 16 | d |
| आनिन्ये स्वगृहं पुत्र्याः | 1 | 5 | a |
| आपणो व्यवहारोऽत्र | 29 | 12 | c |
| आप्तकाम मिवात्मानम् | 22 | 49 | c |
| आप्याययत्यसौ लोकम् | 16 | 9 | a |
| आप्लुत्यावभृथं यत्र | 2 | 35 | a |
| आब्रह्मघोषोर्जित यज्ञवैशसं | 4 | 6 | a |
| आभिषेचनिकान्यस्मै | 15 | 11 | c |
| आभृतात्मा मुनिः शान्तः | 8 | 59 | c |
| आमन्त्रितो जनतायाश्च पालः | 17 | 9 | b |
| आमपात्रे महाभाग | 18 | 18 | c |
| आमुक्त मिव पाषण्डम् | 19 | 12 | c |
| आयतिं नियतिं चैव | 1 | 44 | a |
| आयान्तं तरसा रथात् | 9 | 42 | b |
| आयान्ति सर्वशो यान्ति | 29 | 70 | c |
| आयुर्धनं यशः स्वस्ति | 31 | 32 | c |
| आयुषोऽपचयं जन्तोः | 11 | 21 | a |
| आयुषोऽर्थ मथात्यगात् | 27 | 6 | a |
| आयुः श्रीबलकीर्तीनाम् | 14 | 14 | c |
| आरब्ध इति नैवास्मिन् | 20 | 5 | c |
| आरब्ध उग्रतपसि | 23 | 4 | c |
| आरब्धस्तेऽकृतैनसाम् | 11 | 8 | d |
| आरब्धानेव बुभुजे | 21 | 11 | c |
| आरब्धाश्च पुनः पुनः | 18 | 5 | d |

| | | | |
|---|---|---|---|
| आराधयाधोक्षजपादपद्मम् | 8 | 20 | c |
| आराधितो तथैवैषः | 13 | 34 | c |
| आराध्य भक्त्या लभतामलं तत् | 16 | 26 | c |
| आराध्य लेभे मूर्ध्नि पदं त्रिलोक्याः | 11 | 28 | d |
| आराध्याप दुराराध्यम् | 11 | 11 | c |
| आरिराधयिषुः कृष्णम् | 23 | 7 | c |
| आरिराधायिषुः कृष्णम् | 28 | 33 | c |
| आरुह्य शिबिकां सार्धम् | 9 | 41 | c |
| आरोपितभ्रूभिरमर्षणाक्षिभिः | 3 | 18 | d |
| आरोप्य करिणीं हृष्टः | 9 | 53 | c |
| आर्तानां क्षितिवृत्तिमान् | 16 | 7 | d |
| आर्तानां परिदेवितम् | 17 | 25 | b |
| आर्यानतास्सुहृदो भ्रातरश्च | 30 | 39 | c |
| आर्या वहेयाधिकिरीटमायुः | 21 | 42 | b |
| आलक्ष्य किञ्चिच्च विलप्य सा सती | 23 | 21 | c |
| आवर्तनाभिरोजस्वी | 21 | 16 | c |
| आवां देवस्य शार्ङ्गिणः | 12 | 24 | b |
| आविष्कृतं नः क्लिष्टानाम् | 30 | 27 | c |
| आविष्टात्माऽब्रवीन्नृपान् | 31 | 8 | d |
| आवृङ्क्ते पतिमम्बिका | 7 | 59 | b |
| आवेद्यं स्वमनीषितम् | 21 | 20 | d |
| आशंसन् कर्म तस्य तत् | 10 | 9 | d |
| आशासाना जीवितमध्वरस्य | 6 | 6 | a |
| आशास्ते न यदाशिषः | 20 | 33 | b |
| आशिषो युयुजुः क्षतः | 19 | 41 | c |
| आशीर्भिश्चाभिमन्त्रितः | 9 | 45 | b |
| आशीस्तथाऽनुभजनः पुरुषार्थमूर्तेः | 9 | 17 | b |
| आशुमन्योऽस्तनातुरम् | 6 | 52 | d |
| आश्वधोक्षजभाषितम् | 31 | 1 | b |
| आसनानि महार्हाणि | 9 | 61 | c |
| आसन् कृतस्वस्त्यमनाः | 3 | 4 | c |
| आसन्नोऽपि विदूरवत् | 16 | 11 | b |
| आसन् स्वायम्भुवान्तरे | 1 | 8 | b |
| आससाद महाह्रादः | 10 | 27 | c |
| आससाद सवैकालः | 27 | 12 | c |
| आसाद्यदेवं गिरिशं यदृच्छया | 30 | 2 | c |
| आसाद्य प्रेमविह्वलः | 9 | 42 | d |
| आसारेण यथा गिरिः | 10 | 13 | d |
| आसीत्परम मङ्गलम् | 1 | 54 | d |
| आसीद्गुरुञ्जनो नाम | 25 | 10 | a |
| आसीत्संविग्नहृदया | 28 | 46 | c |
| आसीनं तर्कमुद्रया | 6 | 38 | d |
| आसुरी नाम पश्चा दृद्वाः | 25 | 52 | a |
| आसुरी मेढ्रमर्वाग्द्वाः | 29 | 18 | a |
| आसुरीं वृत्ति माश्रित्य | 26 | 5 | a |
| आसुर्या माययासुराः | 10 | 28 | d |
| आसेवितो गरुडकिन्नरगीतकीर्तिः | 30 | 6 | d |
| आस्तीर्य दर्भैः प्राग्ग्रैः | 29 | 50 | a |
| आस्तृतं वसुधातलम् | 24 | 10 | d |
| आस्तृतास्ता रणभुवः | 10 | 19 | c |
| आस्ते भवानपरिशुद्ध इवात्मतन्त्रः | 7 | 26 | d |
| आस्ते स्थाणुरिवैकत्र | 28 | 39 | a |
| आस्थाय जैत्रं रथ मात्तचापः | 16 | 21 | c |
| आस्थितं तमधीश्वरम् | 6 | 35 | b |
| आह चोत्सङ्गलालिताम् | 26 | 20 | d |
| आहुर्धूर्धीयो वेदम् | 29 | 49 | c |
| आहुर्लोकभयङ्करान् | 14 | 37 | b |
| आहूतं मन्यते पान्थः | 25 | 19 | c |
| आहूता ब्रह्मवादिभिः | 13 | 25 | d |
| आह्वयन्त मिवोद्धस्तैः | 6 | 13 | a |
| **इ** | | | |
| इच्छन्तस्तत्प्रतीकर्तुम् | 10 | 12 | c |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| इच्छन्ति यत्स्पर्शजं नरकेऽपि | 9 | 9 | d | इतिहासं पुरातनम् | 25 | 9 | b |
| इच्छन्नभय मात्मनः | 11 | 32 | d | इति ह्यासन् प्रभसुताः | 13 | 13 | d |
| इज्यते स्वेन धर्मेण | 14 | 18 | c | इत्थम्भूतानुभावोऽसौ | 23 | 30 | a |
| इज्यमानो भक्तिमता | 13 | 4 | c | इत्थं पुरञ्जनं सध्र्यक् | 27 | 1 | a |
| इतस्ततः पुण्यजना उपद्रुताः | 11 | 4 | b | इत्थं पृथुमभिष्टूय | 18 | 1 | a |
| इति चाधोक्षजेशस्य | 19 | 10 | a | इत्थं विपर्ययमतिः | 14 | 29 | a |
| इति तस्य वचः श्रुत्वा | 1 | 29 | a | इत्थं व्यवसिता हन्तुं | 14 | 34 | a |
| इति तेऽसत्कृता स्तेन | 14 | 30 | a | इत्थं स लोकगुरुणा | 19 | 39 | a |
| इति तौ दम्पती तत्र | 25 | 43 | a | इत्यजेनानुनीतेन | 7 | 1 | a |
| इति दक्षः कविर्यज्ञं | 7 | 48 | a | इत्यध्वरे दक्षमनूद्य शत्रुहन् | 4 | 24 | a |
| इति देवर्षिणा प्रोक्तम् | 8 | 73 | a | इत्यनुक्रोशहृदयः | 24 | 32 | a |
| इति दोषासुता स्त्रयः | 13 | 14 | b | इत्यर्चितः स भगवान् | 9 | 26 | a |
| इति द्विजा द्विजपन्त्यश्च दध्युः | 5 | 7 | d | इत्यादिराजेन नुतः स विश्वदृक् | 20 | 35 | a |
| इति पञ्च पुरस्कृताः | 29 | 9 | b | इत्यानम्य तमामन्त्र्य | 31 | 31 | a |
| इति प्रचेतसा पृष्टोः | 31 | 8 | a | इत्यामन्त्र्य क्रतुपतिं | 19 | 29 | a |
| इति प्रचेतसो राजन् | 31 | 24 | a | इत्युक्तस्तं परिक्रम्य | 8 | 65 | a |
| इति प्रचेतोभिरभिष्टुतो हरिः | 30 | 43 | a | इत्युत्तान पदः पुत्रः | 12 | 37 | a |
| इति प्रियहितं वाक्यम् | 18 | 12 | a | इत्युदीरित माकर्ण्य | 8 | 42 | a |
| इति ब्रुवं श्चित्ररथः स्वसारथिं | 10 | 22 | a | इदमप्यच्युत विश्वभावनं | 7 | 32 | a |
| इति ब्रुवाणं नृपतिं (गायका) | 16 | 1 | a | इदमाह पुराऽस्माकम् | 24 | 72 | a |
| इति ब्रुवाणं नृपतिं (पितृ) | 21 | 44 | a | इदं जपत भद्रं वः | 24 | 69 | a |
| इति विश्रुतविक्रमः | 16 | 27 | b | इदं पवित्रं परमीश चेष्टितम् | 7 | 61 | a |
| इति वेदविदां वादः | 29 | 61 | a | इदं मया तेऽभिहितं कुरूद्वह | 12 | 51 | a |
| इति वेद स वै विद्वान् | 29 | 53 | a | इदं विविक्तं जप्तव्यम् | 24 | 31 | a |
| इति वैन्यस्य राजर्षेः | 20 | 36 | a | इदं स्वस्त्ययनं पुंसाम् | 23 | 34 | a |
| इति व्यवसितं तस्य | 12 | 32 | a | इध्मवाहात्मजो मुनिः | 28 | 32 | d |
| इति व्यवसिता विप्राः | 13 | 35 | a | इध्मः कविर्विभुं वह्निः | 1 | 7 | c |
| इति व्यवसितो बुद्धया | 17 | 13 | a | इन्द्रं सोम मदूदुहन् | 18 | 15 | b |
| इति सत्यवती श्रुतिः | 21 | 45 | b | इन्द्रः किरीट मुत्कृष्टम् | 15 | 15 | c |
| इति सन्दिश्य भगवान् | 25 | 1 | a | इन्द्राय कुपितो बाणम् | 19 | 26 | c |
| इति सर्वं निवेदितम् | 22 | 44 | d | इन्द्रियार्थार्थ वेदिनाम् | 22 | 13 | b |

| | | | |
|---|---|---|---|
| इन्द्रियेशो गुणानिव | 22 | 3 | d |
| इन्द्रियेषु मनस्तानि | 23 | 17 | a |
| इन्द्रियेष्वथ सत्तम | 18 | 14 | b |
| इन्द्रियै र्विषयाकृष्टैः | 22 | 30 | a |
| इन्द्रेणानुष्ठितं राज्ञः | 19 | 31 | c |
| इन्द्रोपेन्द्रादिभि र्भवः | 2 | 18 | b |
| इन्द्रो वायुर्यमो रविः | 14 | 26 | b |
| इन्द्रो हयजिहीर्षया | 19 | 23 | b |
| इमान्तु कौषारविणोपवर्णितां | 31 | 29 | b |
| इमान्त्वमधितिष्ठस्व | 25 | 37 | a |
| इमामुदधिमेखलाम् | 28 | 48 | b |
| इमा मुप पुरीं भीरु | 25 | 26 | c |
| इयञ्च तत्परा हि श्रीः | 15 | 6 | c |
| इयञ्च देवी सुदती | 15 | 5 | a |
| इयञ्च लक्ष्याः सम्भूतिः | 15 | 3 | c |
| इयेष तदधिष्ठातुं | 12 | 29 | c |
| इलायामपि भार्यायां | 10 | 2 | a |
| इव तस्कर पालयोः | 14 | 8 | d |
| इष मूर्जं वसुं जयम् | 13 | 12 | d |
| इषुभिः सर्व एव हि | 10 | 9 | b |
| इष्टस्ते पुत्रकामस्य | 13 | 32 | c |
| इष्ट्वा स वाजपेयेन | 3 | 3 | a |
| इह प्रेत्य च मोदते | 14 | 17 | d |
| इहलोके परत्र च (को वस) | 14 | 24 | d |
| इह लोके परत्र च (यस्य) | 22 | 8 | b |
| इहाद्य सन्त मात्मानं | 25 | 34 | a |
| इहामुत्र च लक्ष्यन्ते | 21 | 26 | c |
| **ई** | | | |
| ईजे च क्रतुभि र्घोरैः | 27 | 11 | a |
| ईदृशाना मथान्येषाम् | 21 | 11 | a |
| ईप्सितो जगतः पतेः | 30 | 30 | b |
| ईशविध्वंसिताशिषाम् | 22 | 36 | d |
| ईश्वरात्क्षीणपुण्येन | 9 | 35 | c |
| **उ** | | | |
| उक्तं समात्रापि यदव्यलीकं | 8 | 20 | b |
| उग्रधन्वा महारथः | 10 | 8 | b |
| उच्चाट्टहास स्तनयित्नु भिन्नदिक् | 5 | 10 | d |
| उच्चावचपथा भ्रमन् | 29 | 32 | b |
| उज्जहार सदः स्थोऽक्ष्णा | 5 | 20 | c |
| उतथ्यो भगवान् साक्षात् | 1 | 35 | c |
| उत्कृत्य रुद्रः सहसोत्थितो हसन् | 5 | 2 | c |
| उत्तमश्च ध्रुवश्चोभौ | 9 | 48 | a |
| उत्तमश्लोकमौलिना | 12 | 27 | b |
| उत्तमश्लोकविग्रहौ | 19 | 33 | d |
| उत्तमस्त्वकृतोद्वाहः | 10 | 3 | a |
| उत्तमं नारुरुक्षन्तम् | 8 | 10 | c |
| उत्तमेनाभिजग्मतुः | 9 | 41 | d |
| उत्तरा चोत्तरः स्मृतः | 29 | 9 | d |
| उत्तरेण पुरञ्जनः | 25 | 51 | b |
| उत्तरो देवहूः स्मृतः | 29 | 13 | b |
| उत्तानपादो राजर्षिः | 9 | 65 | a |
| उत्तिष्ठ त्रेकपादेन | 1 | 23 | c |
| उत्तिष्ठोत्तिष्ठ राजर्षे | 28 | 48 | a |
| उत्थाय चक्रे शिरसाभिवन्दनं | 6 | 40 | c |
| उत्थितः सदसो मध्ये | 21 | 14 | c |
| उत्पत्त्यध्वन्यशरण उरुक्लेश | 7 | 28 | a |
| उत्पेतुरुत्पातनमाः सहस्रशाः | 5 | 12 | c |
| उत्सर्पयन्नसून् मूर्ध्नि | 23 | 15 | a |
| उदके स्थण्डिलेशयः | 23 | 6 | d |
| उदतिष्ठद्रथस्तस्य | 10 | 15 | c |
| उदतिष्ठन्नुदायुधाः | 4 | 31 | d |
| उदतिष्ठन् सदस्यास्ते | 2 | 6 | a |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| उदवस्य सहर्त्विग्भिः | 7 | 56 | e | उपरज्यावभासते | 29 | 71 | d |
| उदासीन इवाध्यक्षः | 16 | 12 | c | उपरिष्टा दृषिभ्यस्त्वम् | 9 | 25 | c |
| उदासीन मिवाध्यक्षं | 20 | 12 | a | उपरुद्धो भुजङ्गमः | 28 | 24 | b |
| उदिता मनुमोदते | 25 | 61 | d | उपरुद्धो रुरोद ह | 28 | 15 | d |
| उद्दामचरितस्य ते | 23 | 30 | d | उपर्यथो वा मध्ये वा | 29 | 32 | c |
| उद्धवान्मे बृहस्पतेः | 7 | 60 | c | उपर्याक्रमता मपि | 16 | 7 | b |
| उद्यम्य शूलं जगदन्तकान्तकं | 5 | 6 | c | उपलभ्यपुरैवैतत् | 6 | 3 | a |
| उद्यानानि च रम्याणि | 9 | 63 | a | उपविष्टं दर्भमय्यां | 6 | 37 | a |
| उद्वहिष्यामी तां स्तेऽहं | 25 | 36 | c | उपविष्टास्सरित्तटे | 14 | 36 | d |
| उन्नद्धोऽष्टविभूतिभिः | 14 | 4 | b | उपव्रज्याऽब्रुवन् वेनं | 14 | 13 | c |
| उन्नीयमानं च मृडाध्वरध्वजम् | 3 | 10 | d | उपसृज्य तमस्तीव्रं | 19 | 19 | a |
| उन्नीय मे दर्शय वल्गुवाचकं | 25 | 31 | c | उपस्कृतं प्रतिद्वारम् | 9 | 55 | c |
| उपगीयमान ममर | 24 | 24 | c | उपस्थापितमाकुष्मन् | 12 | 27 | c |
| उपगीयमानो गन्धर्वैः | 19 | 4 | c | उपस्थितोऽन्यं शरणं कमाश्रये | 17 | 30 | d |
| उपगीयमानो ललितं | 25 | 44 | a | उपस्थो दुर्मदः प्रोक्तः | 29 | 18 | c |
| उपगुह्य जहावाधिं | 9 | 49 | c | उपातप्यत सान्वयः | 28 | 12 | d |
| उपजहुः प्रयुञ्जाना | 9 | 59 | a | उपादत्ते विमुञ्चति | 29 | 77 | b |
| उपतस्थुरधोक्षजम् | 7 | 23 | d | उपाधावत्समाधिना | 8 | 77 | d |
| उपतस्थु रभिष्टवैः | 1 | 54 | f | उपाधावत्समाहितः | 7 | 56 | b |
| उपतस्थेऽर्हणाञ्जलिः | 1 | 24 | b | उपायनमुपाजहुः | 19 | 9 | c |
| उपदिष्टा स्सवयम्भुवा | 30 | 47 | d | उपायान् पूर्वदर्शितान् | 18 | 4 | b |
| उपदेवमहाभटाः | 10 | 7 | b | उपायान् विन्दतेऽञ्जसा | 18 | 4 | d |
| उपदेववरस्त्रियः | 3 | 6 | b | उपावर्तेत मे विभो | 18 | 11 | d |
| उपदेव्योऽत्रसन्भृशम् | 10 | 6 | d | उपास्यमानं सख्या च | 6 | 34 | c |
| उपनीतं बलिं गृह्णन् | 27 | 18 | c | उभयत्रात्मनो मृजन् | 28 | 35 | d |
| उपयास्यथ मद्धाम | 30 | 18 | c | उभयेन्द्रियनायकम् | 29 | 7 | b |
| उपयेमे भ्रमिं नाम | 10 | 1 | c | उभयेषां च सम्मतः | 22 | 19 | b |
| उपयेमे वीर्यपणां | 28 | 29 | a | उभयैरिन्द्रिये हितैः | 29 | 65 | b |
| उपयेमे शतदृतिम् | 24 | 11 | b | उभाभ्यां रहितः स्वस्थः | 11 | 21 | c |
| उपयेमे धृतव्रताम् | 28 | 32 | b | उभावपि हि भद्रं ते | 19 | 33 | c |
| उपयेमे ह्यजात्मजः | 1 | 47 | b | उभे ते ब्रह्मवादिन्यौ | 1 | 63 | c |

| | | | |
|---|---|---|---|
| उल्बणो वसुभृद्यानः | 1 | 41 | c |
| उल्मुकोऽजनयत्पुत्रान् | 13 | 17 | a |
| उवाच च महाभाग | 17 | 18 | a |
| उवाच वामं चक्षुर्भ्याम् | 2 | 8 | c |
| उवाह यजुषां पतिः | 1 | 6 | b |
| उशद्भि र्ब्रह्मतेजसा | 4 | 34 | d |
| उष्णीषैश्च महाधनैः | 10 | 19 | b |
| **ऊ** | | | |
| ऊचिवानिदमुर्वीऽशः | 21 | 19 | c |
| ऊचुर्विपाकोवृजिनस्यैव तस्य | 5 | 9 | b |
| ऊचुः परमसन्तुष्टाः | 15 | 2 | c |
| ऊरुभि र्हैमतालाभैः | 10 | 18 | c |
| ऊर्जायां जज्ञिरे पुत्राः | 1 | 40 | a |
| ऊर्ध्वरेता जितानिलः | 23 | 7 | b |
| ऊष्माणं पत्युरर्चती | 28 | 46 | b |
| ऊहुः सर्वरसान्नद्यः | 19 | 8 | b |
| **ऋ** | | | |
| ऋते भवन्तं कतमः प्रतीपयेत् | 4 | 11 | d |
| ऋते विरिञ्चं शर्वं च | 2 | 6 | c |
| ऋते स्वसृः स्वां जननीं च सोदराः | 4 | 7 | c |
| ऋत्विजाञ्चायुधाश्मभिः | 6 | 52 | b |
| ऋभवो नाम तपसा | 4 | 33 | c |
| ऋभुर्हंसोऽरुणिर्यतिः | 8 | 1 | b |
| ऋषभं यवत्रानां त्वा | 27 | 24 | a |
| ऋषय श्चाशिष स्सत्याः | 15 | 19 | c |
| ऋषयो दुदुहु र्देवीम् | 18 | 14 | a |
| ऋषयोऽपि हि मुह्यन्ति | 29 | 59 | c |
| ऋषयो ब्रह्मवादिनः | 15 | 2 | b |
| ऋषयो रूढमन्यवः | 14 | 34 | b |
| ऋषिभिः स्वपुरं ययौ | 11 | 35 | d |
| ऋषिभिः स्वाश्रमपदं | 14 | 35 | a |
| ऋषीणां धनुषि ध्रुवः | 11 | 1 | b |
| ऋषीन् षष्टि सहस्राणि | 1 | 39 | c |
| ऋषीन् समेतानभिवन्द्य साश्रवः | 13 | 49 | c |
| **ए** | | | |
| एकदा मुनय स्ते तु | 14 | 36 | a |
| एकदा वैन्य आत्मवान् | 23 | 1 | b |
| एकदाऽऽसीन्महासत्र | 21 | 13 | a |
| एकदा सुरुचेः पुत्रम् | 8 | 10 | a |
| एकद्वित्रिचतुष्पादम् | 29 | 2 | c |
| एकनीडं द्विकूबरम् | 26 | 2 | b |
| एकपालं त्रिकोष्टकम् | 28 | 56 | b |
| एकमादर्शचक्षुषोः | 28 | 63 | b |
| एकरश्म्येकदमनम् | 26 | 2 | a |
| एकस्त्वमेव भगवन्निदमात्म शक्त्या | 9 | 7 | a |
| एकस्मिन् बहुभिर्युधि | 27 | 17 | b |
| एकं ह्येव हरे स्तत्र | 8 | 44 | c |
| एकः शुद्धःस्वयञ्ज्योतिः | 20 | 7 | a |
| एकादशचमूनाथः | 26 | 3 | c |
| एकादशमहाभटाः | 25 | 27 | b |
| एकादशविधं तथा | 29 | 74 | b |
| एकादशोन्द्रिय चमूः | 29 | 24 | c |
| एकान्तो निगमिभिः प्रतिपादेना नः | 22 | 47 | b |
| एकान्तभक्त्या को वाञ्छेत् | 24 | 55 | c |
| एकान्तेनात्मविद्गतिः | 24 | 54 | d |
| एकां त्रिनेत्रानुचराः सहस्रशः | 4 | 4 | b |
| एके कालं परे दैवं | 11 | 22 | c |
| एके पत्नी रतर्जयन् | 5 | 16 | b |
| एकैक शतनायकैः | 25 | 20 | d |
| एकैकस्य शतं शतम् | 27 | 9 | b |
| एकैकस्याऽभवं स्तेषाम् | 28 | 31 | a |
| एकैकं युगपत्सर्वान् | 10 | 8 | c |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| एको मयेह भगवान् विविधप्रधानः | 1 | 28 | a | एवं कायेन मनसा | 8 | 62 | a |
| एतत्तेऽभिहितं क्षत्तः | 31 | 26 | a | एवं कृपणया बुद्ध्या | 28 | 22 | a |
| एततेऽभिहितं सर्वं | 12 | 43 | a | एवं गिरित्रः प्रियया ऽभि भाषितः | 3 | 15 | a |
| एतत्पदं तज्जगदात्मनः परं | 31 | 16 | a | एवं दाक्षायणी देवी | 7 | 58 | a |
| एतदध्यात्मपारोक्ष्यम् | 29 | 85 | a | एवं द्विजग्र्यानुमतानुवृत्तः | 20 | 16 | a |
| एतदभ्यसताऽऽदृताः | 24 | 71 | d | एवं न्यवारयद्धर्मं | 14 | 6 | c |
| एतदाख्या हि मे गुरो | 1 | 16 | d | एवं पञ्चविधं लिङ्गम् | 29 | 76 | a |
| एतदाख्या हि मे ब्रह्मन् | 2 | 3 | a | एवं परेब्रह्मणि श्क्तयस्त्वमू | 31 | 17 | c |
| एतदाख्याहि मे ब्रह्मन् | 13 | 24 | a | एवं पृश्वादयः पृथ्वीम् | 18 | 27 | a |
| एतद्भगवतः शम्भोः | 7 | 60 | a | एवं प्रवर्तते सर्गः | 11 | 16 | a |
| एतद्यः शृणुयाद्राजन् | 31 | 32 | a | एवं प्राग्देहजं कर्म | 29 | 65 | c |
| एतद्रूपमनुध्येयम् | 24 | 53 | a | एवं बहुविधैर्दुःखैः | 29 | 25 | a |
| एतद्विमानप्रवरम् | 12 | 27 | a | एवं बहुसवं कालं | 12 | 14 | a |
| एतन्मुकुन्दयशसा भुवनं पुनानं | 29 | 86 | a | एवं बृवत्सु ऋषिषु | 14 | 38 | a |
| एतावत्त्वं हि विभुभिः | 30 | 28 | a | एवं ब्रुवाणं पुरुषार्थ भाजनम् | 30 | 21 | a |
| एतावदुक्त्वा विरराम शंकरः | 4 | 1 | a | एवं भगवताऽऽदिष्ट | 7 | 55 | a |
| एतावन्पौरुषो धर्मः | 27 | 26 | c | एवं भगवतोरूपं | 8 | 55 | a |
| एता वा ललनाः सुभ्रु | 25 | 27 | c | एवं भूतेषुमत्परः | 7 | 53 | d |
| एते चान्येच विबुधाः | 14 | 27 | a | एवं मदान्ध उत्सिक्तः | 14 | 5 | a |
| एतेत्वां सम्प्रतीक्षन्ते | 25 | 8 | a | एवं मन्युमयीं मूर्ति | 17 | 28 | a |
| एतेन धर्मसदने ऋषिमूर्तिनाद्य | 1 | 55 | c | एवं मे दर्शनं कृतम् | 24 | 27 | d |
| एतेऽभविष्यन्निति विप्रलब्धः | 15 | 24 | c | एवं विधान्यनेकानि | 10 | 28 | a |
| एते सखायः सख्यो मे | 25 | 35 | a | एवं विलपती बाला | 28 | 49 | a |
| एते ह्यधर्म वृक्षस्य | 8 | 5 | a | एवं वैन्यसुतः प्रोक्तः | 19 | 16 | a |
| एतै रुपद्रुतो नित्यम् | 29 | 42 | a | एवं सञ्जल्पितं मातुः | 8 | 25 | a |
| एभिरिन्द्रोपसंसृष्टैः | 19 | 36 | a | एवं स निर्विण्णमनानृपो गृहात् | 13 | 47 | a |
| एव मध्यवसायैनं | 14 | 13 | c | एवं स भगवान् वैन्यः | 17 | 1 | a |
| एव मध्यात्मयोगेन | 22 | 53 | a | एवं स मानसो हंसः | 28 | 64 | a |
| एव मिन्द्रे हरत्यश्वं | 19 | 24 | a | एवं स वीर प्रवरः | 23 | 13 | a |
| एवं कर्मसुसंसक्तः | 25 | 56 | a | एवं सुरगणै स्तात | 1 | 57 | a |
| एवं कामवरं दत्वा | 1 | 32 | a | एवं स्त्रियाऽऽश्रयः पुंसः | 29 | 87 | c |

| | | | |
|---|---|---|---|
| एवं स्वदेहं महतां महीयसां | 4 | 26 | a |
| एवं स्वायम्भुवः पौत्रम् | 11 | 35 | a |
| एष एव हि लोकानां | 2 | 31 | a |
| एष कर्दमदौहित्र | 1 | 46 | c |
| एष चेतनया युक्तः | 29 | 76 | c |
| एषतेऽकारषीद्भद्रं | 20 | 2 | a |
| एषते रुद्र भगोऽस्तु | 6 | 53 | a |
| एष दोग्धमहीं वीरः | 16 | 19 | a |
| एष धर्मभृतां श्रेष्ठः | 16 | 4 | a |
| एष भूतानि भूतात्मा | 11 | 26 | a |
| एष मे शिष्यतां प्राप्तः | 2 | 11 | a |
| एष विष्णोर्भगवतः | 15 | 3 | a |
| एष वै लोकपालानां | 16 | 5 | a |
| एष संस्थातु मर्हति | 14 | 42 | b |
| एष साक्षाद्धरे रंशः | 15 | 6 | a |
| एष स्वसॄद्योपवने समेत्य | 16 | 26 | a |
| एषोऽश्वमेधान् शतमाजहार | 16 | 25 | a |
| एष्यत्यचिरतो राजन् | 8 | 72 | c |
| **ऐ** | | | |
| ऐन्द्रीं च माया मुपधर्म मातरं | 19 | 38 | c |
| ऐश्वरं समगात्पदम् | 31 | 28 | d |
| ऐश्वर्याद्धरोहति | 14 | 16 | d |
| ऐश्वर्ये मघवानिव | 22 | 58 | d |
| **ओ** | | | |
| ओं नमो भगवते वासुदेवाय | 8 | 56/57 | |
| **औ** | | | |
| औत्कण्ठ्या द्वाष्पकलया | 7 | 11 | c |
| औत्तानपादिर्मयिसंगतात्मा | 8 | 85 | d |
| औत्तानपादिं कृपया पितामहेः | 11 | 6 | c |
| औत्तानपादिः स तदा | 10 | 13 | a |
| औत्तानपादे भगवां स्तव शार्ङ्गधन्वा | 10 | 30 | a |
| औत्सुक्यादभ्यभाषत | 3 | 7 | d |
| **क** | | | |
| क एतोऽनुपथा ये त | 25 | 27 | a |
| कक्कुभ्युदीच्यां | 5 | 7 | b |
| कच्चिन्नः कुशलं नाथा | 22 | 13 | a |
| कण्ठाद् भ्रुवोर्मध्य | 4 | 25 | b |
| कण्डोः प्रम्लोचयालब्धा | 30 | 13 | a |
| कथममुमुद्विसृजेत् | 31 | 23 | d |
| कथमम्भसि धास्यसि | 17 | 21 | d |
| कथं गुणज्ञो विरमेद् | 20 | 27 | c |
| कथं त्ववद्यं कृतवान् | 11 | 12 | c |
| कथं नु दारका दीना | 28 | 21 | a |
| कथं नु मां धर्मपरो | 17 | 31 | d |
| कथं पुनः कर्म करोति | 20 | 31 | d |
| कथं वृणीते गुण | 20 | 24 | b |
| कथं सुतायाः पितृ | 3 | 13 | a |
| कथं स्यात्स्वस्ति | 14 | 9 | d |
| कथं स्वमात्मानममन्य | 9 | 28 | d |
| कथामृतनिधौ रतिम् | 29 | 42 | d |
| कदन्नतृप्तै रसृभृद् | 4 | 21 | c |
| कदपत्यभृतं दुःखं | 13 | 43 | c |
| कदपत्यं वरं मन्ये | 13 | 46 | a |
| कदली षण्डसंरुद्ध | 6 | 21 | e |
| कदाचिदटमानसा | 27 | 21 | a |
| कदाचिदुपलभ्येत | 29 | 66 | e |
| कन्दमूलफलाहारः | 23 | 5 | a |
| कन्दर्प इव सौन्दर्ये | 22 | 60 | c |
| कन्दर्पाकृष्टमानसः | 26 | 13 | b |
| कन्दाष्टिभि मूलफलैः | 28 | 36 | a |
| कन्यका यवनेश्वरम् | 27 | 23 | b |
| कन्या कमल लोचना | 30 | 13 | b |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कन्योपगूढो नष्टश्रीः | 28 | 6 | a | कर्मणोदवसानेन | 7 | 56 | c |
| कपालखट्वाङ्गधरं | 19 | 20 | c | कर्मण्यवग्रहधियो | 7 | 27 | b |
| कपालमाली विविधो | 5 | 3 | d | कर्म तत्तस्य शंसताम् | 5 | 25 | b |
| कपाले क्षतजासवम् | 18 | 21 | d | कर्मतन्त्रं वितनुतां | 2 | 22 | c |
| कपित्थबदराशनः | 8 | 75 | b | कर्मदक्षाध्वरद्रुहः | 7 | 60 | b |
| कपिलो नारदो दत्त | 19 | 6 | a | कर्मनावैषि यत्परम् | 29 | 50 | d |
| कपोलं सुरसुन्दरम् | 8 | 48 | d | कर्म प्रवृत्तं च | 4 | 20 | a |
| कबन्धान्य ग्रतोऽनद्य | 10 | 24 | d | कर्मभिर्दैवसंज्ञितैः | 21 | 50 | d |
| कम्पयन्निव रोदसी | 14 | 5 | d | कर्मभि र्वा त्रयी प्रोक्तैः | 31 | 10 | c |
| कम्ब्वज चक्रशरचाप | 7 | 20 | c | कर्मभिः कथमात्मानं | 15 | 26 | c |
| कयाचिन्निर्मितं स्त्रिया | 28 | 55 | d | कर्ममय्यामसौ जडः | 2 | 24 | b |
| करालदंष्ट्राभिरुदस्त | 5 | 11 | c | कर्म श्रेष्ठं वरीयांसं | 1 | 38 | c |
| करालदंष्ट्रो ज्वलदग्नि | 5 | 3 | c | कर्मस्वासक्तमानसम् | 25 | 3 | b |
| करिष्यत्युत्तम श्लोकः | 8 | 60 | e | कर्माणिकुरुतेऽवशः | 29 | 28 | b |
| (अलं)करिष्यथ स्तोत्रं | 15 | 23 | b | कर्माणिच यथाकालं | 22 | 50 | a |
| करुणा दीनवत्सलाः | 17 | 20 | d | कर्माणि भूयांसि महान् | 21 | 7 | b |
| करोत्यकर्तैव निहन्त्य | 11 | 18 | c | कर्माण्यनु समाचरन् | 22 | 53 | b |
| करोषि फलवप्युरु | 20 | 29 | c | कर्माऽण्याचिनुतेऽसकृत् | 29 | 79 | d |
| कर्णौ पिधाय निरियाद्य | 4 | 17 | a | कर्माण्यारभते येन | 29 | 60 | a |
| कर्णौर्णौक पदाश्रास्यैः | 6 | 21 | a | कर्मातिशयमात्मनः | 19 | 2 | b |
| कर्तारं पुरुषर्षभ | 25 | 33 | b | कर्मात्मन्याऽऽहितं भुक्ते | 29 | 63 | c |
| कर्तुः शास्तुरनुज्ञातुः | 21 | 25 | c | कर्माध्यक्षं च मन्वान | 22 | 51 | c |
| कर्तुः स्मलोके तनुषे | 6 | 45 | b | कर्माऽनुवर्तयामास | 7 | 16 | c |
| कर्तुं भवान्कारुणिको | 3 | 14 | b | कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति | 22 | 39 | b |
| कर्दमायात्मजां मनुः | 1 | 10 | b | कर्मैतत्सद्विगर्हितम् | 11 | 8 | b |
| कर्म कर्म फलप्रदम् | 12 | 10 | d | कर्मैतद्विजिघांसता | 19 | 31 | d |
| कर्म च क्रियते प्रोक्तं | 29 | 61 | c | कर्शनं तप आस्थितः | 28 | 36 | d |
| कर्मणा तेन राजेन्द्र | 26 | 7 | c | कलहं सकुलप्रेष्ठं | 6 | 29 | c |
| कर्मणात्मान ईहसे | 25 | 4 | b | कला भुवनपालिनी | 15 | 3 | b |
| कर्मणा दक्षमब्रुवन् | 30 | 50 | d | कलावतारस्य कथामृतादृताः | 16 | 3 | b |
| कर्मणां कर्म केवलम् | 29 | 35 | b | कलिलात्मा प्रजापतिः | 7 | 10 | b |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कलिं तस्मै हरन्त्यग्रे | 23 | 36 | c | कामभोगान् शतं समाः | 25 | 37 | d |
| कल्पतामद्य यज्ञहन् | 6 | 53 | d | कामं कषायं मलमन्तरात्मनः | 22 | 20 | d |
| कल्पान्त इव भीषणः | 10 | 27 | d | कामात्मा वञ्चितोऽबुधः | 25 | 56 | b |
| कल्पान्त एतदखिलं | 9♠ | 14 | a | कामानभिलषन्दीनः | 28 | 9 | a |
| कवयस्तद्विजानन्ति | 29 | 1 | c | कामान् कामयमानोऽसौ | 25 | 12 | c |
| कविश्चभार्गवो यस्य | 1 | 45 | c | कायात्तेनाहरच्छिरः | 5 | 24 | d |
| कव्यं क्षीरमधुक्षत | 18 | 18 | b | कायानाविविशुस्तिग्माः | 10 | 17 | c |
| कश्यपं पूर्णिमानं च | 1 | 13 | c | कारणं पादसेवनम् | 8 | 44 | d |
| कषायो नियमैर्यमैः | 28 | 38 | b | कारण्डवनिकूजितम् | 24 | 21 | d |
| कस्तं चराचर गुरुं | 2 | 2 | a | कार्तस्वरपरिष्कृतम् | 9 | 39 | b |
| कस्तं प्रजापदेशं वै | 13 | 45 | a | कात्स्न्र्येन क्षितिमण्डलम् | 29 | 50 | b |
| कस्त्वत्पदाम्बुजं | 24 | 67 | a | कात्स्न्र्येप्रकृतेर्गुणान् | 29 | 4 | b |
| कस्माद्दधार गोरूपं | 17 | 3 | a | कात्स्न्र्येना चष्टुमर्हसि | 13 | 5 | d |
| कस्मान्नो वेद नाशिषः | 30 | 29 | d | कात्स्न्र्येनैतन्न्यवेदयन् | 6 | 2 | d |
| कस्य हेतोरपाहरत् | 17 | 4 | d | काल एव हि भूतानां | 12 | 3 | c |
| कस्यात्मतन्त्रस्य | 6 | 7 | d | कालकन्या जरा साक्षात् | 29 | 25 | a |
| कस्यान्ववाये | 13 | 2 | c | कालकन्यापि बुभुजे | 28 | 3 | a |
| कस्यापत्यानि सुव्रत | 13 | 2 | b | कालकन्या विशांपते | 27 | 22 | b |
| कस्या मन स्ते | 25 | 42 | a | कालकन्योदित वचो | 27 | 27 | b |
| कस्यासीह कुतः | 25 | 26 | b | कालकन्योपमर्दिताम् | 28 | 10 | b |
| कह्लारेन्दीवराकरम् | 24 | 21 | b | कालस्य दुहिता काचित् | 27 | 19 | a |
| कं नु त्वदन्यं रमये | 25 | 38 | a | कालं प्रधानं पुरुषं | 31 | 18 | b |
| कः कुर्यान्ममतांबुधः | 20 | 6 | d | कालिङ्गस्य यथाबलः | 5 | 21 | b |
| क स्तावकै स्तावयते | 15 | 24 | b | कालिन्द्याः सलिले शिवे | 8 | 46 | b |
| काककृष्णोऽतिह्रस्वाङ्गः | 14 | 44 | a | काले काले यथाभागं | 16 | 5 | c |
| काञ्चनो रुरुदग्रपात् | 21 | 16 | d | काले चायं विमुञ्चति | 16 | 6 | b |
| काञ्चीकलापपर्यस्तं | 8 | 52 | a | काले स्वे स्वेऽच्यु | 22 | 54 | b |
| कात्वं कञ्चपलाशाक्षि | 25 | 26 | a | कालोपसृष्टमिति | 12 | 16 | d |
| कात्वं कस्यासि को वाऽयं | 28 | 52 | a | कालो येनोपलक्षितः | 29 | 13 | d |
| का नाम वीरविख्यातं | 25 | 41 | a | कालो वै ध्रियमाणयो | 3 | 1 | b |
| काम कश्मल चेतसः | 27 | 5 | b | कशिष्णुना कनकवर्ण | 30 | 6 | a |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| किङ्करो ब्रह्मवादिनाम् | 16 | 17 | d | कुढारैश्चिच्छिदुः क्रुद्धाः | 28 | 26 | c |
| किञ्चिच्चिकीर्षवोजाताः | 1 | 16 | c | कुण्डेष्वमूत्रयन् केचित् | 5 | 15 | c |
| किन्नराप्सरसो मर्त्याः | 20 | 37 | c | कुत्र वा सत्रमासत | 13 | 2 | d |
| किन्न्वन्तकासिलुलिता | 9 | 10 | d | कुन्दैः कुरवकैरपि | 6 | 15 | d |
| किमन्यदनुकम्पितम् | 30 | 27 | d | कुपितोऽत्यरुणेक्षणः | 17 | 15 | b |
| किमवद्यं मया कृतम् | 13 | 30 | d | कुबेर इव कोशाढ्याः | 22 | 59 | a |
| किमाश्रयो मे स्तव | 15 | 22 | c | कुबेरस्त्विलबिलासुतः | 1 | 37 | b |
| किमुत त्वद्विधा राजन् | 17 | 20 | c | कुमारः प्रत्युवाच ह | 22 | 17 | d |
| किमेतद्भगवन्ध्यानात् | 8 | 29 | a | कुमारं सुषुवेऽप्रजा | 13 | 38 | d |
| किरीटहाराङ्गदचारु | 12 | 20 | d | कुमेरेणात्ममेधसा | 22 | 41 | b |
| किरीटिनं कुण्डलिनं | 8 | 51 | a | कुमुदोत्पलकल्हार | 6 | 19 | a |
| किशोरीं सुष्ठ्वलं | 24 | 11 | d | कुयज्विनो येन मखो | 6 | 50 | d |
| किं करोमीति वादिनम् | 14 | 45 | b | कुयोगिनां नो वितरत् | 20 | 26 | d |
| किं चाहो वेनमुद्दिश्य | 13 | 22 | a | कुरुते भस्मसाद् ध्रुवम् | 14 | 31 | d |
| किं चिकीर्षसि शंस मे | 25 | 26 | d | कुरुष्वाधोक्षधियः | 21 | 24 | c |
| किं जन्मभिस्त्रिभिर्वेह | 31 | 10 | a | कुर्याद् दण्डमयीं बुधः | 8 | 57 | b |
| किं तस्य दुर्लभतरम् | 22 | 8 | a | कुर्वत्यः कुसुमासारं | 23 | 24 | a |
| किं न ब्रूयुर्विदुर्यदि | 29 | 58 | d | कुर्वध्वरस्योद्धरणं | 6 | 50 | a |
| किं बार्हस्पत्येहपरत्र | 30 | 2 | a | कुर्वन्तं तन्महत्सदः | 2 | 5 | d |
| किं वा न रिष्यते कामः | 8 | 67 | c | कुर्वन्ति तत्र ह्यनुकम्पया | 6 | 48 | c |
| किं वा योगेन सांख्येन | 31 | 12 | a | कुर्वन् वितिमिरा दिशः | 30 | 5 | d |
| किं वा शिवाख्यमशिवं | 4 | 16 | a | कुर्वन् शशासावनि | 21 | 7 | c |
| किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च | 31 | 12 | c | कुलमिन्द्रियसङ्ग्रहः | 28 | 57 | d |
| कीर्तितं तस्य चरितं | 23 | 30 | c | कुलवृद्धाः समन्त्रिणः | 13 | 11 | b |
| कीर्त्यमाने नृभिर्नाम्नि | 7 | 47 | c | कुलं नोऽभिभविष्यति | 11 | 34 | d |
| कीर्त्यमाने हृषीकेशे | 7 | 48 | c | कुलाद्रिं तपसि स्थितः | 1 | 17 | d |
| कीर्त्योर्ध्वगीतया पुम्भिः | 22 | 63 | a | कुले स्वयं राजकुलाद् | 21 | 36 | d |
| कुक्षावपि नृपात्मजः | 8 | 12 | d | कुशपाणिः कृतोचितः | 21 | 18 | d |
| कुटजैर्मल्लिकाभिश्च | 6 | 16 | c | कुशलाकुशला यत्र | 22 | 14 | c |
| कुटुम्बाऽऽसक्तचेतसः | 27 | 12 | b | कुशलेन समाधिना | 24 | 7 | d |
| कुटुम्बी ममताऽऽकुलः | 28 | 25 | d | कुसुमाकरवायुना | 25 | 18 | b |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कुसमैः क्रमशो ग्रहान् | 12 | 33 | d | कृत्वाममाहमिति | 7 | 44 | b |
| कुह्वां चन्द्रमसो यथा | 29 | 74 | d | कृत्वा वत्सं सुरगणाः | 18 | 15 | b |
| कूजितैश्च पतत्रिणाम् | 6 | 12 | d | कृत्वा समानावनिलौ | 4 | 25 | a |
| कूजद्विहङ्गमिथुनैः | 9 | 63 | c | कृत्वोचितानि निविशन् | 8 | 46 | a |
| कूटस्थ आत्माकलयावतीर्णः | 16 | 20 | b | कृत्वोडुपं व्यसन | 22 | 40 | c |
| कूटस्थ आदिपुरुषो | 9 | 15 | b | कृत्वोरौ दक्षिणेसव्यं | 6 | 38 | a |
| कूटस्थमिममात्मानं | 20 | 12 | c | कृपणो विषयात्मकः | 28 | 6 | b |
| कूटस्थाय स्वरोचिषे | 24 | 34 | d | कृपयोचुश्च सत्रिणः | 14 | 7 | d |
| कृच्छ्रत्राणाः प्रजाह्येषः | 16 | 8 | c | कृपालुः प्रत्यबोधयत् | 25 | 3 | d |
| कृच्छ्रात्संस्तभ्य च मनः | 7 | 12 | a | कृपालोर्दीननाथस्य | 12 | 50 | c |
| कृच्छ्रो महानिह भवार्णव | 22 | 40 | a | कृपावलोकनहसत् | 1 | 25 | a |
| कृच्छ्रेण महता भुवि | 23 | 28 | b | कृष्णं सत्यं जितव्रतम् | 24 | 8 | d |
| कृत प्रणामं प्रहसन् | 6 | 41 | d | कृष्णाजिनधरः श्रीमन् | 21 | 18 | c |
| कृतप्रणामाः प्रययुः | 9 | 1 | b | कृष्णयाकुण्ढमेधसे | 24 | 42 | d |
| कृतस्नानोचिताहारः | 26 | 11 | c | कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ | 1 | 58 | d |
| कृतस्वस्त्ययनं तृप्ताम् | 27 | 2 | c | कल्पहर्म्यस्थलीं दीप्तां | 25 | 15 | c |
| कृतः किल न रिष्यति | 27 | 24 | d | केचित्कर्म वदन्त्येनं | 11 | 22 | a |
| कृतागस्स्वपि जन्तवः | 17 | 20 | b | कोचिद्भभञ्जुः प्राग्वंशं | 5 | 14 | a |
| कृतागस्स्वात्मसात्कृत्वा | 26 | 21 | c | के ते प्रचेतसो नाम | 13 | 2 | a |
| कृताञ्जलिं ब्रह्ममयेन | 9 | 4 | c | केयूरवलयान्वितम् | 8 | 51 | b |
| कृता तेन समा कथम् | 17 | 4 | b | केवले परमात्मनि | 7 | 52 | b |
| कृतानुग्रह विग्रहम् | 7 | 24 | d | केषाञ्चिदिह सत्तमाः | 21 | 26 | b |
| कृतान्तभय संयुतः | 22 | 35 | d | कैलासमद्रि प्रवरं | 6 | 8 | d |
| कृतान्तमिव बिभ्रतम् | 17 | 28 | b | कैवल्यनाथप्रिय पार्श्व | 30 | 2 | c |
| कृतान्तो नाभिमन्यते | 24 | 56 | b | कैवल्यं तस्य वैधर्म्यं | 20 | 8 | c |
| कृतान्नोऽभ्यर्चयत् | 8 | 76 | d | कोटरादिव सानलात् | 28 | 14 | d |
| कृताभिषेकः कृतनित्य | 12 | 28 | c | को देवरं वशगतं | 26 | 26 | c |
| कृताम्भृथ्यस्नानाय | 19 | 40 | a | कोनाम तत्प्रतिकरोति | 22 | 44 | d |
| कृतो मेऽनुग्रहः पूर्वं | 22 | 42 | a | कोनामाऽसीत दीनवत् | 26 | 15 | d |
| कृतो राजा तदर्हणः | 14 | 9 | b | कोन्वस्य कीर्तिं न | 21 | 10 | a |
| कृत्यमस्ति गदाभृता | 21 | 28 | d | कोपामर्षशुचार्पितः | 10 | 4 | b |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| को यज्ञ पुरुषो नाम | 14 | 25 | a | कचिच्छृणोति शृण्वन् | 25 | 60 | a |
| कोऽयं तेऽहि पुरस्सरः | 25 | 27 | d | कचितज्जिघ्रति जिघ्रब्यां | 25 | 60 | c |
| कोलाहल जलाशये | 25 | 17 | d | कचित्पिबन्त्यां षिबति | 25 | 57 | a |
| को वत्सो दोहनं च किम् | 17 | 3 | d | कचित्पुमान् कचिच्च | 29 | 30 | a |
| कोविदारासनार्जुनैः | 6 | 14 | d | कचिद्गायति गायन्त्यां | 25 | 58 | a |
| को वेदात्था स्वसम्भवम् | 11 | 23 | d | कचिद्धसन्त्यां हसति | 25 | 58 | c |
| को वैनं परिचक्षीत | 14 | 33 | a | कचिद्धावति धावन्त्यां | 25 | 59 | a |
| कौटुम्बिकः कुटुम्बिन्या | 28 | 12 | c | कचिन्नोभय मन्धधीः | 29 | 30 | b |
| कौषारविं प्राह गृणन्त | 21 | 8 | d | कचिन्मनसि दृश्यते | 29 | 69 | b |
| कौस्तुभाभरणग्रीवं | 8 | 51 | c | कणयन्त्यैव नूपुरैः | 24 | 12 | d |
| क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः | 12 | 10 | b | क पद्मकोशः पतितः | 25 | 28 | d |
| क्रतुमङ्गिरसं गयम् | 13 | 17 | d | क यात्येको भवान् | 8 | 28 | a |
| क्रतुर्विरमतामेष | 19 | 35 | a | क वर्तते सा ललना | 26 | 16 | a |
| क्रतोरपि क्रिया भार्या | 1 | 39 | a | क्षणार्धमिव राजेन्द्र | 27 | 5 | c |
| क्रमेणावेश्य निस्पृहः | 23 | 15 | b | क्षणार्धेनापि तुलये | 24 | 57 | a |
| क्रव्यदाः प्राणिनः | 18 | 24 | a | क्षणेन च्छुरितं व्योम | 10 | 23 | a |
| क्रियाकलापै रिदमेव | 24 | 62 | a | क्षत्ता निशम्याजितवाद | 31 | 29 | b |
| क्रियाकाण्डेषु निष्णाताः | 24 | 9 | c | क्षत्ता महाभागवतः | 21 | 8 | c |
| क्रियाफलत्वेन विभु | 21 | 34 | c | क्षमापयत आत्मानम् | 20 | 2 | c |
| क्रीडान्ति पुम्भिः | 6 | 25 | c | क्षमापयध्वं हृदि | 6 | 6 | d |
| क्रीडन्नूर्णपदो यथा | 6 | 43 | d | क्षमाप्यैवं स मीढ्वांसं | 7 | 16 | a |
| क्रीडन् परिवृतः | 25 | 44 | c | क्षयाय यवनेश्वरः | 29 | 15 | a |
| क्रीडाभाण्डं विश्वमिदं | 7 | 43 | c | क्षात्र धर्म मुपेयुषः | 8 | 39 | b |
| क्रुद्धश्शप्तुं प्रचक्रमे | 2 | 17 | d | क्षितावुदीर्ची निषसाद | 4 | 24 | b |
| क्रुद्ध स्त्रिपुरहा यथा | 17 | 13 | d | क्षितिमम्भसि तत्तेजसि | 23 | 16 | c |
| क्रुद्धस्य वै मुरारिपो | 26 | 24 | d | क्षितिरग्निरपाम्पतिः | 14 | 26 | d |
| क्रुद्धस्सुदष्टोष्ठपुटः | 5 | 2 | a | क्षित्याम्ब्वादिषु चार्चयेत् | 8 | 59 | b |
| क्लिश्यमानश्शतं वर्षम् | 29 | 25 | c | क्षिप्रोदुरुक्ति विशिखौ | 7 | 15 | b |
| क्लेशा ज्ञानोदये यथा | 11 | 2 | d | क्षिप्र प्रसादं प्रगृहीत् | 6 | 5 | d |
| क्लेब्यात्क्रीडामृगो यथा | 25 | 62 | d | क्षिप्रं विनेशुर्विदुर | 11 | 2 | c |
| क्वचिच्चशोचतीं | 25 | 61 | a | क्षिप्रोऽप्यसद्विषयलालस | 7 | 44 | c |

| | | | |
|---|---|---|---|
| क्षीयमाणो स्वसामर्थ्ये | 27 | 17 | a |
| क्षीरदध्यन्नगोरसान् | 19 | 8 | b |
| क्षीरभेदं कुरूद्वह | 18 | 27 | d |
| क्षुत्क्षामदेहाः पति | 17 | 9 | d |
| क्षुत्क्षामाया मुखे राजा | 30 | 14 | a |
| क्षुत्परीतो यथा दीनः | 29 | 31 | a |
| क्षुत्पिपासे प्रियाप्रिये | 28 | 37 | b |
| क्षुद्रञ्चरं सुमनसां | 29 | 55 | a |
| क्षुधार्दितानां नरदेवदेव | 17 | 11 | b |
| क्षुल्लकानामपीहताम् | 30 | 29 | b |
| क्षुल्लेलिहानोऽहिरिव | 24 | 66 | d |
| क्षेमस्य सध्र्यङ् | 22 | 21 | b |
| क्षेमं ह्रीः प्रश्रयं सुतम् | 1 | 51 | d |
| क्षेमः केनाञ्जसा | 22 | 15 | d |
| क्षेमाय भूयसे भूयात् | 6 | 4 | c |
| क्षेम्यं वदन्ति शरणं | 25 | 40 | c |
| **ख** | | | |
| खगबृन्दोपशोभितम् | 6 | 19 | d |
| खगा भूतान्यनेकशः | 20 | 37 | d |
| खद्योताविर्मुखी च प्राग् | 25 | 47 | a |
| खद्योताऽऽविर्मुखी चात्र | 29 | 10 | c |
| खरदण्डजलाशयम् | 6 | 29 | d |
| खर्जूराम्लातकाम्राद्यैः | 6 | 18 | a |
| खं दिशश्चानुनादयन् | 10 | 6 | b |
| खान्याकाशे द्रवं तोये | 23 | 16 | a |
| खेचराणां प्रजल्पताम् | 3 | 5 | b |
| खेऽभूवन् मिषतां नृणाम् | 22 | 48 | d |
| ख्यातौ स्वारोचिषेऽन्तरे | 1 | 35 | b |
| ख्यापितो गुणकर्मभिः | 17 | 1 | b |
| **ग** | | | |
| गङ्गा यमुनयान्विता | 2 | 35 | b |
| गङ्गायमुनयोर्नद्योः | 21 | 11 | a |
| गतः पुण्यजनालयम् | 10 | 4 | d |
| गतसोस्तस्य भूयस्ते | 13 | 19 | c |
| गतिमैश्वर्यमाप्नुयात् | 31 | 32 | d |
| गते पुत्रकलेबरम् | 14 | 35 | b |
| गतो ग्राम्यमतिर्महीम् | 28 | 55 | b |
| गत्वा याचे यदन्तवत् | 9 | 31 | d |
| गत्वोदीचीं दिशं राजा | 10 | 5 | a |
| गदापरिघनिस्त्रिंश | 10 | 25 | c |
| गदापरिघमुद्गरैः | 6 | 1 | d |
| गन्तुञ्चक्रेऽच्युतो मतिम् | 20 | 36 | d |
| गन्तुमैच्छत्ततो वृक्षः | 28 | 14 | c |
| गन्धर्वनगरोपम् | 12 | 15 | d |
| गन्धर्वप्रवरा जगुः | 15 | 7 | b |
| गन्धर्वमुख्याः प्रजगुः | 12 | 30 | c |
| गन्धर्वयवनाक्रान्तां | 28 | 10 | a |
| गन्धर्व यवनैर्बलात् | 28 | 10 | a |
| गन्धर्वयवनैर्बलात् | 28 | 6 | d |
| गन्धर्वादिपतिर्नृप | 27 | 13 | b |
| गन्धर्वाप्सरसोऽधुक्षन् | 18 | 17 | a |
| गन्धर्वास्तस्य बलिनः | 23 | 13 | c |
| गन्धर्वै र्युयुधे बली | 27 | 16 | d |
| गन्धर्वैर्हृतपौरुषः | 28 | 15 | b |
| गन्धर्व्यस्तादृशीरस्य | 27 | 14 | a |
| गन्धर्व्यो रात्रयः स्मृताः | 29 | 21 | b |
| गन्धः सौरभ उच्यते | 29 | 11 | d |
| गम्भीरनादो विससर्ज | 5 | 2 | d |
| गम्भीरवेगोऽनिमिषं | 12 | 38 | a |
| गम्भीरवेधा उपगुप्त | 16 | 10 | b |
| गर्भं काल उपावृते | 13 | 38 | c |
| गर्भे त्वं साधयात्मानं | 8 | 14 | c |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| गर्भे द्युमान् भगवते | 9 | 14 | d | गुणाधिकान्मुदं | 8 | 37 | a |
| गर्भे बाल्येऽप्यपौषन् | 29 | 74 | a | गुणाभिधानेन विजृम्भ | 22 | 25 | b |
| गवयन् रुरुशल्यकान् | 26 | 10 | b | गुणाभिमानी स तदा | 29 | 28 | a |
| गवयैः शरभै र्व्याघैः | 6 | 20 | c | गुणालयं पद्मकरेव | 20 | 28 | b |
| गार्ध्वं मधु सौभगम् | 18 | 17 | d | गुणालयं शीलधनं | 21 | 43 | a |
| गापयिष्यामि बालवत् | 15 | 26 | d | गुणांश्च फल्गून् | 4 | 12 | c |
| गायका मुनिचोदिताः | 16 | 1 | b | गुणेषु प्रकृतेः | 29 | 27 | d |
| गायन्मत्तमधुव्रतैः | 9 | 63 | d | गुणैरशेषैगुणवत्स | 21 | 8 | b |
| गावो न काल्यन्त इदं | 5 | 8 | c | गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः | 9 | 47 | b |
| गावो यथा वै नसि | 11 | 27 | d | गुणै स्संरञ्जयन् | 22 | 55 | b |
| गां गां रोद्धुमिवोच्छ्रितैः | 30 | 44 | d | गुदशिश्नाविहोदितौ | 29 | 10 | b |
| गां सतीमोजतौषधीः | 16 | 19 | b | गुप्तार्थो वरुणो यथा | 22 | 59 | b |
| गिरयोऽन्नं चतुर्विधम् | 19 | 9 | b | गुरुणां हरिणा-नृप | 28 | 41 | b |
| गिरयो हिमवद्वत्सा | 18 | 25 | c | गुहाशयायैव न | 3 | 22 | d |
| गिरः श्रुतायाः पुष्पिण्या | 2 | 25 | a | गुणन्तमिव निर्झरैः | 6 | 13 | d |
| गिराऽगृणन् गद्गदया | 30 | 21 | d | गृणन्तिस्म परस्परम् | 23 | 24 | d |
| गिरिकानन गोचराः | 14 | 46 | b | गृणन् प्रपेदे प्रयतः | 7 | 25 | d |
| गिरिकूटानि राजराट् | 18 | 29 | b | गृहकोश परिच्छदम् | 28 | 16 | d |
| गिरिशेन प्रसीदता | 24 | 15 | b | गृहकोशानुजीविषु | 27 | 10 | b |
| गिरीनशनयो यथा | 10 | 17 | d | गृहं च विष्णुं | 12 | 51 | d |
| गीतं देवर्षिणाऽनघ | 29 | 85 | b | गृहान् प्रतीयादनवस्थिता | 3 | 18 | b |
| गीतं मयेदं नरदेवनन्दनाः | 24 | 79 | a | गृहाश्च सपरिच्छदाः | 22 | 44 | b |
| गीतायनै र्दुन्दुभिशङ्ख | 4 | 5 | c | गृहिणीं गृहमेधिनीम् | 26 | 13 | d |
| गुण प्रवाह पतितो | 26 | 8 | c | गृहीत चरणाम्बुजः | 20 | 20 | d |
| गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः | 11 | 18 | b | गृहीतमायागुणविग्रहाय | 30 | 23 | d |
| गुणभूषण भूषणा | 15 | 5 | b | गृहीताध्यर्हणासनान् | 22 | 4 | d |
| गुणमय्याऽऽत्ममायया | 12 | 6 | d | गृहीत्वाञ्जलिनौदनम् | 13 | 37 | b |
| गुणव्यतिकरादनु | 22 | 36 | b | गृहीत्वामृगशाबाक्ष्याः | 2 | 12 | a |
| गुण व्यतिराद् राजन् | 11 | 16 | c | गृहेषु कुमतिर्गृही | 28 | 17 | b |
| गुणव्यूहो हयनादिमान् | 29 | 72 | d | गृहेषु कूटधर्मेषु | 2 | 22 | a |
| गुणात्तो विकरोति वा | 29 | 21 | b | गृहेषु कूटधर्मेषु | 25 | 6 | a |

| | | | |
|---|---|---|---|
| गृहेषु गृहसम्पदः | 26 | 14 | f |
| गृहेषु वर्तमानोऽपि | 22 | 52 | a |
| गृहेष्वाविशता चापि | 30 | 18 | a |
| गृहन्ति केचिन्न भावाद् | 4 | 12 | b |
| गोत्रं त्वदीयं भगवान् | 4 | 23 | a |
| गोत्रं नाम च यत्कृतम् | 25 | 33 | d |
| गोपीथाय जगत्सृष्टेः | 22 | 54 | c |
| गोप्तर्यसति वै नृणां | 14 | 1 | c |
| गोप्ता च धर्मसेतूनां | 16 | 4 | c |
| गोप्तारं धर्मसेतूनां | 12 | 12 | c |
| गोप्तैकवीरो नरदेवनाथ | 16 | 21 | b |
| गोविन्दचरणाम्बुजम् | 29 | 84 | b |
| गौरवद्यान्त्रितः सभ्यः | 22 | 4 | a |
| गौरः कञ्जारुणेक्षणः | 21 | 15 | b |
| गौस्सत्यपाद्रवद्धीता | 17 | 14 | c |
| ग्रन्थिं बिभेत्स्यसि | 11 | 30 | d |
| ग्रस्तायां कालकन्यया | 28 | 13 | b |
| ग्रहर्क्षताराः परियन्ति | 12 | 25 | d |
| ग्रहीतुं कृतधीरनं | 28 | 22 | c |
| ग्रहीष्यन्ति दिवौक सः | 13 | 33 | b |
| ग्रामान् पुरः पत्तनानि | 18 | 31 | a |
| ग्राम्यकं नाम विषयं | 25 | 52 | c |
| ग्राम्यान् कस्मानभीप्ससि | 25 | 36 | b |
| ग्रावभिर्नैकधाद्रवन् | 5 | 18 | d |
| ग्रीष्मे पञ्चतपावीरः | 23 | 6 | a |
| **घ** | | | |
| घनानीकमिवानिल | 10 | 16 | d |
| घनानीकेन सर्वतः | 10 | 23 | b |
| घनावलीर्वायुरिवत्विषह्यः | 24 | 65 | d |
| घोरयाभणवान् भवः | 24 | 18 | d |
| घोरात्मा निरनुग्रहः | 26 | 5 | b |
| घोषान् व्रजाश्च | 18 | 31 | c |
| घ्राणोवऽधूतोमुख्या | 29 | 12 | a |
| **च** | | | |
| चकमेऽग्निः शुकीमिव | 24 | 11 | f |
| चक्रायुधं तद्यश उद्धरन्त्यः | 16 | 22 | d |
| चचार मृगयां तत्र | 26 | 4 | a |
| चण्डवेगइतिख्यातो | 27 | 13 | a |
| चण्डीशः पूषणं देवं | 5 | 17 | c |
| चतस्रोऽसूत कन्यकाः | 1 | 34 | b |
| चतुर्णां कारणं परम् | 23 | 35 | d |
| चतुर्थं मपि वै मासं | 8 | 78 | a |
| चतुर्थ्यनुमतिस्तथा | 1 | 34 | d |
| चतुर्विधं पुरमात्मांशकेन | 24 | 64 | b |
| चत्वारः सूर्यवर्चसः | 22 | 1 | d |
| चत्वारिंशच्च पञ्च च | 1 | 60 | b |
| चन्दनागुरु तोयार्द्र | 21 | 2 | a |
| चन्द्रलेखां च बिभ्रतम् | 6 | 36 | d |
| चरध्व मन्ते तत आप्स्य थेप्सितम् | 24 | 79 | d |
| चरन्त उरु विस्तरे | 29 | 46 | b |
| चरन्तं विश्वसुहृदं | 6 | 35 | c |
| चरन्ति दक्षिणीकृत्य | 9 | 21 | c |
| चरन्ति श्रद्धया धीरा | 22 | 12 | c |
| चरन् विन्दति यद्दिष्टम् | 29 | 31 | c |
| चरञ्चाचरमेव च | 18 | 24 | d |
| चरमेणाश्वमेधेन | 19 | 11 | a |
| चराचरस्याखिलसत्त्वधाम्नः | 8 | 84 | b |
| चराम्युभाभ्यां लोकेऽस्मिन् | 27 | 30 | c |
| चरितं सम्मतं सताम् | 12 | 43 | d |
| चलत्प्रवालविटप | 25 | 18 | c |
| चषालयूपतश्छन्नो | 19 | 19 | c |
| चाक्षुषे त्वन्तरे प्राप्ते | 30 | 49 | a |

| | | | |
|---|---|---|---|
| चातुर्होत्राय तन्तवे | 24 | 37 | d |
| चारुचित्रपदं श्लक्ष्णं | 21 | 19 | c |
| चार्वायत चतुर्बाहुं | 24 | 45 | c |
| चिकित्सेव गतायुषि | 9 | 34 | b |
| चिकीर्षुर्देवगुह्यं स | 27 | 27 | c |
| चिच्छेदसंशयपदं निजजीवकोशम् | 23 | 11 | d |
| चिताभस्मकृतस्नानः | 2 | 15 | a |
| चितामथारोपयदद्रिसानुनि | 23 | 21 | d |
| चितिं दारुमयीं चित्वा | 28 | 50 | a |
| चित्तं नियच्छ हृदि कर्णधुनीं च चित्ते | 29 | 57 | b |
| चितिस्त्वथर्वणः पत्नी | 1 | 42 | a |
| चित्तीकृतः प्रजननाय कथं नु यूयम् | 1 | 28 | b |
| चित्रकेतुप्रधानास्ते | 1 | 40 | c |
| चित्रकेतुः सुरोचिश्च | 1 | 41 | a |
| चित्रमन्धो बहूदनम् | 29 | 12 | d |
| चित्रमाल्य फलच्छदैः | 6 | 28 | d |
| चित्रवाजै श्शरैरपि | 10 | 11 | d |
| चित्रवाजै श्शिलीमुखैः | 26 | 9 | b |
| चिन्तां परां जगामार्तः | 27 | 17 | c |
| चिन्मात्रमेकमभयं प्रतिषिध्य | 7 | 26 | b |
| चीरवासा व्रतक्षामा | 28 | 44 | a |
| चुकोप लोकानिव धक्ष्यतीरुष | 4 | 9 | d |
| चुम्बन्निवास्येन भुजैरिवाश्लिषन् | 9 | 3 | d |
| चूडामणिरिवामलः | 12 | 37 | d |
| चूत पल्लववासः स्रक | 9 | 55 | a |
| चूतैः कदम्बैर्नीपैश्च | 6 | 15 | a |
| चूर्णयन् स्वधनुष्कोट्या | 18 | 29 | a |
| चेत आकृतिरूपाय | 24 | 43 | c |
| चेतनां हरते बुद्धेः | 22 | 30 | c |
| चेतस्तत्प्रवणं युञ्जन् | 1 | 26 | a |
| चेष्टा विभूम्नः खलु दुर्विभाव्या | 11 | 18 | d |
| चैत्यध्वजपताकाभिः | 25 | 16 | c |
| चोदिते परमेष्ठिना | 2 | 16 | d |
| चोदितो विदुरेणैवं | 17 | 8 | a |
| चोरप्रायं जनपदं | 14 | 40 | a |
| चोराणामभिलुम्पताम् | 14 | 38 | d |
| चोरादिभ्यः प्रजानृपः | 14 | 17 | b |
| चोरीभूतेऽथ लोकेऽहं | 18 | 7 | c |
| **छ** | | | |
| छन्दयामास तान् कामैः | 17 | 1 | c |
| छन्दां स्ययातयामानि | 13 | 27 | c |
| छायामुपेत्यापगतः पृथक्कृतिः | 9 | 30 | d |
| छिद्रं जातु मनागपि | 28 | 62 | d |
| छिन्दन्त्युत्थितमन्यवः | 25 | 8 | d |
| छिन्दन्नपि तदुद्धर्तुं | 5 | 22 | c |
| छिन्द्यात्प्रसह्य रुशतीमस प्रभुश्चेत् | 4 | 17 | c |
| छिन्नान्यधीराधिगतात्म गतिर्निरीहः | 23 | 12 | a |
| छिन्नोऽमुत्र च संशयः | 29 | 37 | d |
| **ज** | | | |
| जक्षत्यां सह जक्षिति | 25 | 57 | d |
| जगज्जनन्यां जगदीश वैशसम् | 20 | 29 | a |
| जगत स्तस्थुषश्चाऽपि | 23 | 2 | a |
| जगतः कारणं परम् | 7 | 50 | b |
| जगता मीश्वरेश्वरे | 14 | 20 | b |
| जगतो दैवतं महत् | 2 | 2 | d |
| जगतो योनिबीजयोः | 6 | 42 | b |
| जगत्पवित्रं चत महत्तमाग्रणीः | 21 | 37 | d |
| जगदुद्भवस्थितिलयेषु दैवताः | 7 | 39 | a |
| जगद्गुरोश्चिन्तयती न चाऽपरम् | 4 | 27 | b |
| जगर्ह सामर्ष विपन्नया गिरा | 4 | 10 | a |
| जगाम कौरव्य निजं निकेतनम् | 2 | 19 | d |
| जगाम मातुः प्ररुदन् सकाशम् | 8 | 15 | d |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| जगुर्गन्धर्वकिन्नराः | 1 | 54 | b | जहि यज्ञहनं तात | 19 | 15 | c |
| जगृहुर्ज्ञानदुर्बलाः | 19 | 22 | d | जह्याङ्गनाश्रममसत्तमयूथगाथम् | 29 | 57 | c |
| जग्धस्य मोहाद्विविशुद्धिमन्धसः | 4 | 18 | c | जातोद्दाम मनोरथः | 9 | 44 | d |
| जज्ञे सुयशसस्सुताम् | 1 | 15 | b | जातो नारायणांशेन | 13 | 20 | c |
| जज्ञे हिमवतः क्षेत्रे | 7 | 58 | c | जातो लोक रिरक्षया | 15 | 6 | b |
| जटाभस्मास्थिधारिणः | 2 | 29 | b | जानती काममोहिता | 27 | 21 | d |
| जटां तटिद्वह्निसहोग्ररोचिषम् | 5 | 2 | b | जानासि किं सखायं मां | 28 | 52 | c |
| जटिलं भस्मनाच्छन्नं | 19 | 14 | c | जाने त्व मीश विश्वस्य | 6 | 42 | a |
| जडान्धबधिरोन्मत्त | 13 | 10 | a | जामातुः श्वशुरस्य च | 2 | 3 | b |
| जनरञ्जनेन जनयन् | 11 | 19 | c | जामातुः श्वशुरस्यापि | 3 | 1 | c |
| जनन्यभिहितः पन्थाः | 8 | 43 | a | जामिजामातृपार्षदान् | 28 | 16 | b |
| जनापहासं कुमतिर्नवेद | 15 | 24 | d | जायाञ्च गतसौहृदाम् | 28 | 7 | d |
| जनार्दनं प्राञ्जलयः प्रचेतसः | 30 | 21 | b | जाये उत्तानपादस्य | 8 | 9 | a |
| जनार्दनः सानुचरश्च मह्यम् | 21 | 43 | d | जारं पति मुपासते | 13 | 23 | d |
| जनेन दक्षस्य मुहुर्महात्मनः | 5 | 12 | b | जिगाय तद्भक्तगुणैः पराजितम् | 12 | 41 | d |
| जनेषु प्रगृणत्स्वेवं | 22 | 1 | a | जिगीषोः साधुवर्त्म मे | 8 | 40 | b |
| जनै र्वर्णाश्रमान्वितैः | 14 | 18 | d | जिज्ञासयाऽऽध्यात्मिकयोगनिष्ठया | 22 | 22 | b |
| जन्मौषधितपोमन्त्र | 6 | 9 | a | जितश्वासो नृपात्मजः | 8 | 79 | b |
| जपति न गणये तत्त्वत्परानुग्रहेण | 7 | 29 | d | जितं त आत्मविद्भुर्यः | 24 | 33 | a |
| जपन्त एकाग्रधिय स्तपो महत् | 24 | 79 | c | जितासनान् शान्तसमानं विग्रहान् | 31 | 3 | b |
| जपन्त स्ते तपस्तेषु | 25 | 2 | c | जिहासती दक्षरुषा मनस्विनी | 4 | 26 | c |
| जपन्नवहितः पुमान् | 24 | 74 | b | जिह्वामसूनपि ततो विसृजेत्स धर्मः | 4 | 17 | d |
| जपयज्ञेन तपसा | 30 | 3 | c | जीव इत्यभिधीयते | 29 | 76 | d |
| जप्य श्च परमो गुह्यः | 8 | 56 | a | जीवञ्जगदसावाशु | 14 | 31 | c |
| जयकाशिष्वथो मृधे | 10 | 15 | b | जीवताद्यजमानोऽयं | 6 | 51 | a |
| जरत्पन्नगपलिताम् | 28 | 2 | d | जीवलोकस्स्वभावजैः | 29 | 42 | b |
| जलादावपि पूरुषः | 22 | 29 | b | जीवस्य न व्यवच्छेदः | 29 | 33 | c |
| जल्पन्त्या मनु जल्पति | 25 | 58 | d | जीवे मायामये न्यधात् | 23 | 18 | b |
| जहाराश्वं पुन र्हरिः | 19 | 19 | b | जुगुप्स्यन्त्यपि विश्रुताः | 15 | 25 | b |
| जहावसून् केन सती प्रकोपिता | 4 | 28 | d | जुगुप्सितस्योद्गिरणं प्रचक्षते | 4 | 18 | d |
| जहावसून् यद्विमताऽऽत्मजा सती | 4 | 29 | c | जुगुप्सितं न स्तवयन्ति सभ्याः | 15 | 23 | d |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| जुष्टं किन्नरगन्धर्वैः | 6 | 9 | c | त आराद्दृशुर्वटम् | 6 | 31 | d |
| जुष्टान्यसकृदश्नुते | 29 | 60 | d | त एकदा तु रभसा | 28 | 2 | a |
| जुष्टाश्चक्राह्वसारसैः | 9 | 64 | d | त एते मुनयः क्षत्तः | 1 | 46 | a |
| जुष्टां पुण्यजनस्त्रीभिः | 6 | 27 | c | त एव मुत्सन्नभया उरुक्रमे | 9 | 1 | a |
| जुहावैतच्छिर स्तस्मिन् | 5 | 26 | a | त एवैको न पञ्चाशन् | 1 | 60 | c |
| जुह्वतः स्रुवहस्तस्य | 5 | 19 | a | तज्जन्म तानि कर्माणि | 31 | 9 | a |
| जैत्रं स्यन्दन मास्थाय | 10 | 4 | c | तज्जन्म धिग्यो महता मवद्यकृत् | 4 | 22 | d |
| ज्ञान मज्ञाततत्त्वाय | 12 | 50 | a | तण्डुलैर्वलिभिर्युतम् | 9 | 57 | d |
| ज्ञातं यदर्थमधिदैवमदो व्यवस्थाः | 7 | 27 | d | तत उत्पन्नविज्ञाना | 31 | 1 | a |
| ज्ञातीनां निभृताशयः | 31 | 31 | d | ततः क्षुत्तृट् परिश्रान्तो | 26 | 11 | a |
| ज्ञात्वा तस्य चिकीर्षितम् | 8 | 26 | b | ततः खेऽदृश्यत गिरिः | 10 | 25 | a |
| ज्ञात्वास्य सर्वस्य च हृद्यवस्थितः | 9 | 4 | b | ततः परिघनिस्त्रिंशैः | 10 | 11 | a |
| ज्ञानञ्च जनयिष्यति | 29 | 38 | d | ततः स्वभर्तुश्चरणाम्बुजासवम् | 4 | 27 | a |
| ज्ञाननौर्व्यसनार्णवम् | 24 | 75 | d | ततो गन्तासि मत्स्थानं | 9 | 25 | a |
| ज्ञानभ्रंशः स्मृतिक्षये | 22 | 31 | b | ततोऽग्नि मारुतौ राजन् | 30 | 45 | a |
| ज्ञानविज्ञानपारगे | 1 | 63 | d | ततोऽति कायस्तनुवा स्पृशन्दिवम् | 5 | 3 | a |
| ज्ञानवैराग्य वीर्येण | 23 | 18 | c | ततो निवर्तता मेषः | 8 | 35 | a |
| ज्ञानस्य चार्थस्य गुणस्य चाश्रयः | 7 | 31 | c | ततो निष्क्रम्य बलिनः | 10 | 7 | a |
| ज्ञानं कर्म च यत्कृतम् | 29 | 6 | b | ततोऽन्ये च यथाकामं | 18 | 13 | c |
| ज्ञानं तत्त्वार्थ दर्शनम् | 31 | 7 | b | ततोऽप्यासीद्भयं त्वद्य | 14 | 9 | c |
| ज्ञानं निश्रेयसं स्मृत् | 24 | 75 | b | ततो महीपतिः प्रीतः | 18 | 28 | a |
| ज्ञानं यतो ब्रह्म परं विदन्ति | 16 | 26 | d | ततो मीढ्वांस मामन्त्र्य | 7 | 7 | a |
| ज्ञानं विरक्तिमद्भक्ति शितेन येन | 23 | 11 | c | ततो विनिश्वस्य सती विहाय | 4 | 3 | a |
| ज्ञानेन न स लिप्यते | 26 | 7 | d | ततो विहतसङ्कल्पा | 27 | 23 | a |
| ज्योतिषां चक्रमर्पितम् | 12 | 38 | b | तत्कर्म हरितोषं यत् | 29 | 51 | a |
| ज्योतिषां चक्रमाहितम् | 9 | 20 | d | तत्तत्यजेऽच्छिनदिदं वयुनेन येन | 23 | 12 | b |
| ज्योत्स्नावत्यः क्वचिद्ध्रुवः | 21 | 26 | d | तत्तदेवान्ववर्तत | 25 | 56 | d |
| ज्योत्स्नेव रजनीकरम् | 28 | 34 | d | तत्तस्य चाऽद्भुतं कर्म | 19 | 18 | a |
| ज्वलतो ब्रह्मतेजसा | 1 | 39 | d | तत्तात गच्छ भद्रं ते | 8 | 45 | a |
| **त** | | | | तत्तेजसा हतरुचः | 7 | 23 | a |
| त आत्मयोगपतय | 22 | 48 | a | तत्ते निरीक्ष्यो न पिताऽपि देहकृत् | 3 | 24 | a |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तत्त्वतो विमुखो भवेत् | 2 | 21 | d | तत्र तत्राकुतोभयाः | 18 | 32 | d |
| तत्त्वं न ते वय मनञ्जनरुद्रशापात् | 7 | 27 | a | तत्र तत्रोपसंक्लृप्तैः | 9 | 54 | a |
| तत्वं नरेन्द्र जगता मथ तस्थुषां च | 22 | 37 | a | तत्र दृष्टेन योगेन | 18 | 8 | c |
| तत्त्वं ब्रह्म परंज्योतिः | 24 | 60 | c | तत्र निर्भिन्नगात्राणां | 26 | 9 | a |
| तत्त्वं हरे भगवतो भजनीयमंघ्रिम् | 22 | 40 | c | तत्र पूर्वतरः कश्चित् | 28 | 51 | a |
| तत्पत्न्यनुगता वनम् | 23 | 19 | b | तत्र प्रविष्टमृषयः | 2 | 5 | a |
| तत्पत्न्यव्याहतां श्रियम् | 15 | 16 | d | तत्र मोहं प्रसादं वा | 29 | 20 | c |
| तत्पत्न्यश्च सभर्तृकाः | 3 | 4 | d | तत्र शीलवतां वृत्तम् | 22 | 5 | c |
| तत्पश्यतां खे भुवि चाद्भुतं महत् | 4 | 28 | a | तत्र सर्व उपाजग्मुः | 15 | 8 | c |
| तत्पादमूलं शरणम् | 29 | 52 | a | तत्र स्वसूर्मे ननु भर्तृसम्मिता | 3 | 10 | a |
| तत्पादशौचसलिलैः | 22 | 5 | a | तत्र गतश्चारणयक्षकिन्नरैः | 12 | 1 | c |
| तत्पुण्य सलिलै र्नित्यम् | 28 | 35 | c | तत्रानुदेवप्रवरौ चतुर्भुजौ | 12 | 20 | a |
| तत्पुत्रपौत्रनप्तॄणाम् | 1 | 9 | c | तत्राऽपि मोक्ष एवाऽर्थः | 22 | 35 | a |
| तत्पुत्रा वपरावास्ताम् | 1 | 35 | a | तत्राऽपि हंसं पुरुषं | 24 | 7 | a |
| तत्पुंसामपि सम्मतः | 11 | 12 | b | तत्राप्यदाभ्य नियमः | 23 | 4 | a |
| तत्प्रजाभर्तृपिण्डार्थम् | 21 | 24 | a | तत्राऽभिषिक्तः प्रयतः | 8 | 74 | a |
| तत्प्रभाव मविज्ञाय | 8 | 71 | c | तत्राऽमनुत साध्विति | 29 | 4 | d |
| तत्प्रयच्छामि भद्रं ते | 9 | 19 | c | तत्रावशिष्ट ये वृक्षा | 30 | 47 | a |
| तत्प्रष्टुं व्यसृजद्वाचं | 13 | 29 | c | तत्राऽसीद्बाहुको नरः | 14 | 43 | d |
| तत्प्रादुर्भावसंयोग | 1 | 23 | a | तत्रैकाग्रमना धीरः | 29 | 84 | a |
| तत्यजे दुस्त्यजान् सती | 2 | 3 | d | तत्रैवाऽन्तर्दधे हरः | 25 | 1 | d |
| तत्याज स्वं कलेबरम् | 23 | 13 | d | तत्रोपजग्मुर्मुनयः | 22 | 1 | c |
| तत्र कन्यां वरारोहाम् | 30 | 15 | c | तत्सङ्गादीदृशीं प्राप्तः | 28 | 59 | c |
| तत्र गान्धर्वमाकर्ण्य | 24 | 23 | a | तत्सङ्गा द्बहवो हताः | 11 | 9 | b |
| तत्र चन्द्रमसा नाम | 28 | 35 | a | तत्सङ्गोन्मथितज्ञानो | 26 | 18 | c |
| तत्र तत्र गिरस्तास्ताः | 16 | 27 | a | तत्सम्बन्धिश्रुतप्रायं | 1 | 10 | c |
| तत्र तत्र च गायकैः | 25 | 44 | b | तत्सम्मताना मपरिग्रहेण च | 22 | 23 | b |
| तत्र तत्र पुरस्त्रियः | 9 | 58 | b | तत्सुतौ कल्पवत्सरौ | 10 | 1 | d |
| तत्र तत्र प्रशंसद्भिः | 12 | 33 | a | तत्सुषुप्तं निदर्शनम् | 20 | 8 | d |
| तत्र तत्र महायशाः | 21 | 6 | b | तथा कामाशयो जीवः | 29 | 32 | a |
| तत्र तत्र यथार्हतः | 18 | 30 | d | तथा च कृतवान् सख्यम् | 19 | 39 | c |

| | | | |
|---|---|---|---|
| तथा चिकीर्षमाणं तं | 8 | 11 | a |
| तथा तथोपद्रष्टाऽऽत्मा | 29 | 21 | c |
| तथा त्वमेवार्हसि नः समीहितम् | 20 | 32 | d |
| तथा न पश्यन्ति हि धूमभूयसां | 3 | 17 | d |
| तथाऽन्यस्यां विभीषणः | 1 | 37 | d |
| तथा परे च सर्वत्र | 18 | 13 | a |
| तथा परे सिद्धगणा महर्षिभिः | 6 | 41 | a |
| तथाऽपि सान्त्वयेमाऽमुं | 14 | 11 | c |
| तथाऽपि ह्यनहङ्कारात् | 11 | 25 | c |
| तथा पुंसां फलोदयः | 13 | 34 | d |
| तथाऽप्यहं योषितदत्त्वविच्च ते | 3 | 11 | c |
| तथा प्रियो देहभृतां प्रियात्मनः | 4 | 11 | b |
| तथा भूतेषु सौहृदम् | 30 | 9 | d |
| तथा मनुर्वो भगवान् पितामहः | 8 | 22 | a |
| तथाऽमरगणाः सर्वे | 2 | 4 | c |
| तथाऽरिभिर्न व्यथते शिलीमुखैः | 3 | 19 | a |
| तथा सर्वाः प्रतिक्रियाः | 29 | 34 | d |
| तथा साधय भद्रं ते | 13 | 32 | a |
| तथा स्वभागधेयानि | 13 | 33 | a |
| तथाऽहयो दन्दशूकाः | 18 | 22 | a |
| तथा हरावेव गुणप्रवाहः | 31 | 15 | d |
| तथैकाग्नये विभुः | 1 | 48 | b |
| तथैकेऽग्नीनशामयन् | 5 | 15 | b |
| तथैव न भविष्यतः | 29 | 68 | d |
| तथैव सर्वार्हणमुच्यतेज्या | 31 | 14 | d |
| तथैवान्तर मावयोः | 28 | 63 | d |
| तथैवोपचयं विभुः | 11 | 21 | d |
| तथोपगूढः परिरब्धकन्धरो | 27 | 3 | a |
| तदङ्गस्पर्शनिर्वृता | 9 | 49 | d |
| तदभिज्ञाय भगवान् | 19 | 26 | a |
| तदभिप्रेत्य भगवान् | 19 | 2 | a |
| तदवद्यं हरे रूपं | 19 | 22 | c |
| तदहं कृतसम्भ्रमः | 22 | 15 | a |
| तदाकर्ण्य विभुःप्राह | 6 | 4 | a |
| तदादिराजस्य यशो विजृम्भितं | 21 | 8 | a |
| तदा दुन्दुभयो नेदुः | 12 | 30 | a |
| तदा निलिल्यु र्दिशि दिश्यसन्तः | 16 | 24 | c |
| तदा प्रादुरभूद्धरिः | 7 | 18 | d |
| तदाऽभिषिच्यमानाभ्यां | 9 | 50 | c |
| तदायुस्तन्मनोवचः | 31 | 9 | b |
| तदा वृषध्वजद्वेष | 7 | 10 | a |
| तदाश्रमपदं ययुः | 1 | 22 | d |
| तदा सर्वाणि भूतानि | 7 | 6 | a |
| तदा स्वप्रभया तेषां | 7 | 19 | a |
| तदिदं पश्यत महत् | 19 | 31 | a |
| तदुपद्रव माज्ञाय | 14 | 39 | a |
| तदुपश्रुत्य नभसि | 3 | 5 | a |
| तदेव तद्धर्मपरै र्विनीतैः | 21 | 38 | c |
| तद्गच्छ ध्रुव भद्रं ते | 12 | 5 | a |
| तद्गुणैः स मयि स्थितः | 20 | 9 | d |
| तद्गृहीतविसृष्टेषु | 19 | 24 | c |
| तद्गृहेषु प्रसक्तानां | 31 | 6 | c |
| तद्दर्शनध्वस्त तमोरजोमलाः | 30 | 21 | c |
| तद्दर्शनेनागत साध्वसः क्षितौ | 9 | 3 | a |
| तद्दर्शनोद्गतान् प्राणान् | 22 | 3 | a |
| तद्दृष्ट्वा मिथुनं जातम् | 15 | 2 | a |
| तद्देवयजनं दग्ध्वा | 5 | 26 | c |
| तद्देहतो विष्णुकलासि वैन्य | 19 | 37 | d |
| तद्धेलनं नार्हसि वीर चेष्टितुं | 14 | 22 | d |
| तद्ध्यायन्तो जपन्तश्च | 24 | 15 | c |
| तद्ब्रह्म परमं शुद्धं | 2 | 32 | a |
| तद्ब्रह्मविश्वभवमेकमनन्त माद्यम् | 9 | 16 | c |

| | | | |
|---|---|---|---|
| तद्ब्राह्मणान् परम सर्वविपत्सु पासि | 7 | 14 | c |
| तद्भासाऽऽक्षिप्तचेतसः | 2 | 6 | c |
| तद्रोचिषा प्रतिहते | 1 | 25 | c |
| तद्रोधं कवयः प्राहुः | 22 | 31 | c |
| तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध | 22 | 39 | c |
| तद्वागमृतसेवया | 16 | 1 | d |
| तद्विद्वद्भिरसद्वृतः | 14 | 12 | a |
| तद्विष्णोः पदमभ्यगात् | 12 | 34 | d |
| तद्विष्णोः परमं पदं | 12 | 26 | d |
| तद्विहारं महानसम् | 5 | 14 | d |
| तद्वृत्ती रनुकार्यते | 29 | 21 | d |
| तन्नः प्रद्योतयाध्यात्म- | 31 | 7 | a |
| तन्नो ब्रह्मन् वदार्थवत् | 24 | 16 | d |
| तन्नो भवानीहतु रातवेऽन्नम् | 17 | 11 | a |
| तन्महां परमर्हणम् | 20 | 34 | d |
| तन्मातास्य गतिं गता | 10 | 3 | d |
| तन्मात्रेषु यथोद्भवम् | 23 | 17 | b |
| तन्माल्यभस्मनृकपाल्यावसत्पिशाचैः | 4 | 16 | c |
| तन्मे प्रसीद सुदृढःकृतकिल्बिषस्य | 26 | 26 | a |
| तन्मेप्रसीदेदममर्त्यवाञ्छितं | 2 | 14 | a |
| तपसा दुष्प्रसादनम् | 9 | 34 | d |
| तपसाऽऽराध्यपुरुषम् | 8 | 14 | a |
| तपसऽऽर्चंस्तपस्पतिम् | 24 | 14 | d |
| तपसा विद्यया पक्व- | 28 | 38 | a |
| तपसे कपिलाश्रमम् | 29 | 83 | d |
| तपसे वन माविशन् | 24 | 14 | b |
| तपस्याहतचेतसः | 24 | 19 | d |
| तपः प्रभावस्य सुतस्य तां गतिम् | 12 | 40 | b |
| तपोवनं गते तस्मिन् | 8 | 66 | a |
| तपोविद्यासमाधिभिः | 29 | 45 | b |
| तप्तहेम निकाशाभम् | 24 | 25 | a |
| तप्यमानं त्रिभुवनम् | 1 | 21 | a |
| तप्ये द्वितीयेऽप्यसति | 9 | 33 | c |
| तमत्रिर्भगवानैक्षत् | 19 | 12 | a |
| तमन्वीयुर्भागवताः | 19 | 6 | c |
| तमभ्यधावन् कुपिता उदायुधाः | 11 | 4 | c |
| तमश्चन्द्रमसीवेदं | 29 | 71 | c |
| तमश्शोकोत्कटान् क्वचित् | 29 | 29 | d |
| तमसः पार मृच्छति | 8 | 36 | d |
| तमस्तीव्रं तितीरिषुः | 22 | 34 | b |
| तमः किमेतत्कुत एतद्रजोऽभूत् | 5 | 7 | c |
| तमागतं त उत्थाय | 31 | 4 | a |
| तमात्मतन्त्रं भगवन् प्रतीमहि | 24 | 61 | d |
| तमापादयितुं ब्रह्मन् | 22 | 42 | c |
| तमालैः सालतालैश्च | 6 | 14 | c |
| तमाशु देवं प्रियया विहीनं | 6 | 6 | c |
| तमाह राजन् मयि भक्तिरस्तु ते | 20 | 35 | b |
| तमुपागत मालक्ष्य | 7 | 22 | a |
| तमूचुर्विस्मिता स्तात | 13 | 26 | a |
| तमृत्विजः शक्रवधाभिसन्धितं | 19 | 27 | a |
| तमेव दयितं भूयः | 7 | 59 | a |
| तमेव मन्नात्मनिमुक्तविग्रहे | 11 | 29 | a |
| तमेव मृत्यु ममृतं तात दैवं | 11 | 27 | a |
| तमेव यूयं भजतात्मवृत्तिभिः | 21 | 32 | a |
| तमेव वत्साश्रय भक्तवत्सलं | 8 | 23 | a |
| तमेवं शीलसम्पन्नं | 12 | 12 | a |
| तमेवात्मानमात्मस्थं | 24 | 70 | a |
| तमेवावस्थितं विभुम् | 12 | 11 | d |
| तमोगुहायां च विशुद्धमाविशत् | 24 | 59 | b |
| तमोद्वारेण पाप्मना | 11 | 7 | b |
| तमोऽभिभूतो न निजं परं च तत् | 27 | 4 | d |
| तमोमात्रात्मकात्मनाम् | 2 | 1 | b |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तयाऽऽपण बहूदनौ | 25 | 49 | b | तस्मा त्कर्मसु बर्हिष्मन् | 29 | 48 | a |
| तया याति पुरञ्जनः | 25 | 52 | b | तस्माद्विनिष्क्रम्य विवृद्धमन्युः | 2 | 19 | c |
| तया याति पुरञ्जनः | 25 | 53 | b | तस्मात्परोक्षेऽस्मदुपश्रुतान्यलं | 15 | -23 | a |
| तया रजस्सत्त्वतमो विभिद्यते | 24 | 63 | b | तस्मात्पुरुष उत्तस्थौ | 13 | 36 | a |
| तया हतात्मस्वनुकर्मचेतः | 6 | 49 | c | तस्मान्मां कर्मभिर्विप्राः | 14 | 28 | a |
| तथैव सोऽयं किल गोप्तु मुद्यतः | 17 | 31 | c | तस्मिन्दधे दममहं तव वीरपत्नि | 26 | 24 | a |
| तथैवं रममाणस्य | 27 | 5 | a | तस्मिन्नभिध्यायति विश्वमात्मनः | 8 | 83 | a |
| तयोपभुज्यमानां वै | 28 | 4 | a | तस्मिन्नर्हत्सु सर्वेषु | 21 | 14 | a |
| तयोर्व्यवायात्सम्भूतिः | 11 | 15 | c | तस्मिन्प्रसूनस्तबक | 1 | 18 | a |
| तयोश्च मिथुनं जज्ञे | 8 | 4 | c | तस्मिन्ब्रह्मण्यद्वितीये | 7 | 52 | a |
| तयो स्समभवल्लोभः | 8 | 3 | a | तस्मिन् ब्रह्मर्षयस्सर्वे | 3 | 4 | a |
| तरत्ययत्नेन दुरत्ययं तमः | 12 | 8 | d | तस्मिन् भगिन्यो मम भर्तृभिः स्वकैः | 3 | 9 | a |
| तरवो भूरिवर्ष्माणः | 19 | 8 | c | तस्मिन् मन्दरसानुनि | 23 | 24 | b |
| तरीव सव्येतरतः पदे पदे | 8 | 82 | d | तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र | 29 | 41 | a |
| तरुणं रमणीयाङ्गम् | 8 | 49 | a | तस्मिन्महायोगमये | 6 | 33 | a |
| तरुपल्लवमालाभिः | 21 | 3 | c | तस्मिन् समस्तात्मनि मुक्तवैरके | 4 | 11 | c |
| तर्हि मेऽनुग्रहः कृतः | 21 | 24 | d | तस्मिंस्तुष्टे किमप्राप्यं | 14 | 20 | a |
| तर्ह्योकोनशतक्रतुः | 19 | 32 | b | तस्मिंस्त्वं रामया स्पृष्टः | 28 | 59 | a |
| तर्ह्येव सरसस्तस्मात् | 24 | 24 | a | तस्मै जहार धनदः | 15 | 14 | a |
| तव चङ्क्रमणं ब्रह्मन् | 31 | 5 | c | तस्मै नमन्ति भूतानि | 9 | 47 | c |
| तव चाधोक्षजस्य च | 17 | 7 | b | तस्मै नित्यं नाथ नमस्ते करवाम | 7 | 43 | d |
| तव जीव्यानुशासनम् | 21 | 49 | b | तस्मै नृपालाः किल तत्र तत्र | 16 | 22 | a |
| तव तात विवर्धनम् | 14 | 14 | d | तस्मै बाणं न मुञ्चति | 19 | 14 | d |
| तव वरद वराङ्गावाशिषे हाऽखिलार्च्ये | 7 | 29 | a | तस्मै भवान् द्रुह्यति विश्वबन्धवे | 4 | 15 | d |
| तवोपसृष्टो भगवान्मनोभवः | 25 | 30 | c | तस्मै विदुर चुक्रुधुः | 14 | 30 | d |
| तस्थावन्तर्हितः स्वराट् | 19 | 17 | b | तस्मै समुन्नद्ध निरुद्धशक्तये | 17 | 33 | c |
| तस्थावन्तर्हितः स्वराट् | 19 | 21 | d | तस्य तस्योपपत्तये | 25 | 12 | d |
| तस्थौ तदङ्गुष्ठनिपीडिता मही | 8 | 82 | b | तस्य ते चापनिर्मुक्ताः | 10 | 17 | a |
| तस्थौ स्थाणु रिवाचलः | 8 | 79 | d | तस्य प्रीतेन मनसा | 12 | 9 | a |
| तस्मा अप्यनुभावेन | 7 | 57 | a | तस्य भ्रातृष्वात्मसाम्यम् | 30 | 9 | c |
| तस्मा उन्मादनाथाय | 2 | 16 | a | तस्य मे तदनुष्ठानात् | 21 | 22 | a |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तस्य मेध्यं हयं देवः | 17 | 4 | c | तं तु तेऽवनतं दीनं | 14 | 45 | a |
| तस्य यक्षपति र्देवः | 1 | 37 | a | तं दक्षं पार्षदा हन्तुम् | 4 | 31 | c |
| तस्य राज्ञः प्रजातये | 13 | 35 | b | तं दुराराध्यमाराध्य | 24 | 55 | a |
| तस्य राज्ञो महाभाग | 14 | 19 | a | तं दृष्ट्वोपवनाभ्याशे | 9 | 42 | a |
| तस्य वंश्यास्तु नैषादाः | 14 | 46 | a | तं धावमान मनुधावन्त्यनीशाः | 11 | 20 | c |
| तस्य व्यभिचरन्त्यर्थाः | 18 | 5 | c | तं ध्यायेद्धृदयङ्गमम् | 8 | 60 | d |
| तस्य शीलनिधेः साधोः | 13 | 21 | a | तं नस्त्वं शवशयनाभ शान्तमेधम् | 7 | 33 | c |
| तस्याखिल जगद्धातुः | 12 | 24 | a | तं नित्यमुक्त परिशुद्ध विबुद्धतत्त्वम् | 22 | 38 | c |
| तस्यानया भगवतः परिकर्मशुद्ध | 23 | 11 | a | तं निरन्तरभावेन | 8 | 64 | c |
| तस्यापवर्ग्यशरणं तव पादमूलं | 9 | 8 | c | तं निश्श्वसन्तं स्फुरिताधरोष्ठम् | 8 | 16 | a |
| तस्याभिषेक आरब्धः | 15 | 11 | a | तं प्रजासर्ग रक्षायाम् | 30 | 51 | a |
| तस्यामजनयत्पुत्रान् | 27 | 6 | a | तं प्रसादय वत्साशु | 11 | 34 | a |
| तस्यामेवं हि दुष्टायां | 17 | 3 | c | तं ब्रह्मनिर्वाण समाधिमाश्रितं | 6 | 39 | a |
| तस्यार्षास्त्रं धनुषि प्रयुञ्जतः | 11 | 3 | a | तं भक्तिभावोऽभ्यगृणादसत्वरः | 9 | 5 | c |
| तस्याविज्ञातनामाऽऽसीत् | 25 | 10 | c | तं यज्ञपशवोऽनेन | 28 | 26 | a |
| तस्याहानीह गन्धर्वाः | 29 | 14 | a | तं यज्ञियं पञ्चविधं च पञ्चभिः | 7 | 41 | c |
| तस्यां पत्युः कलेबरम् | 28 | 50 | b | तं विचक्ष्य खलं पुत्रं | 13 | 42 | a |
| तस्यां प्रपीड्यमानायां | 28 | 5 | a | तं वै मेने हरेः कलाम् | 15 | 10 | b |
| तस्यां यः कश्चनेश्वरः | 25 | 45 | d | तं सर्वगुणविन्यासं | 23 | 18 | a |
| तस्यां विशुद्धकरणः शिववार्विगाह्य | 12 | 17 | a | तं सर्वलोकामर यज्ञसङ्ग्रहम् | 14 | 21 | a |
| तस्यां स जनयाञ्चक्रे | 28 | 30 | a | तं स्कन्धेन स आदत्ते | 29 | 34 | c |
| तस्यां सन्दह्यमानायां | 28 | 12 | a | तं स्तोतु मुपतस्थिरे | 15 | 20 | d |
| तस्या ससर्ज दुहितॄः | 1 | 47 | c | तादृशेनेतरेण वा | 29 | 63 | d |
| तस्यैवं ददतः शापं | 2 | 27 | a | तानानादृत्य यो विद्वान् | 18 | 5 | a |
| तस्यैवं वदतः शापं | 2 | 33 | a | तानातिष्ठति यः सम्यक् | 18 | 4 | a |
| तस्यैवानुग्रहेण मे | 8 | 14 | b | तानि पापस्य खण्डानि | 19 | 23 | c |
| तस्यैवानुग्रहेणान्नम् | 22 | 46 | c | तानीशकैवल्यपते वृणेन च | 20 | 24 | d |
| तं किं करोमीति गृणन्तमाह | 5 | 4 | a | तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भय शोकमोहाः | 29 | 41 | d |
| तं कृष्णपादाभि निविष्टचेतसं | 12 | 22 | a | तान्निर्जित प्राणमनोवचोदृशो | 31 | 3 | a |
| तं चानुशयमात्मस्थम् | 23 | 18 | c | तान्मा वधीद्दैववधात् भवद्विधः | 6 | 47 | a |
| तं तादृशाकृतिं वीक्ष्य | 19 | 14 | a | तान् हन्यमाना नभिवीक्ष्य गुह्यकान् | 11 | 6 | a |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ताभ्यां क्रोधश्च हिंसा च | 8 | 3 | c | तां शशंसुर्जना राज्ञीं | 9 | 51 | a |
| ताभ्यां तयो रभवतां | 1 | 44 | c | तां शारिका कन्दुकदर्पणाम्बुज | 4 | 5 | a |
| ताभ्यां याति करोति च | 25 | 54 | d | तां स्तान्कामान् हरि र्दद्यात् | 13 | 34 | a |
| ता मन्त्रहृदयेनैव | 8 | 61 | c | तां स्तु सिद्धेश्वरान् राज्ञा | 22 | 2 | a |
| तामन्वगच्छन् द्रुतविक्रमां सतीम् | 4 | 4 | a | तितिक्षत्यक्रमं वैन्यः | 16 | 7 | a |
| तामन्वधाव तद्वैन्यः | 17 | 15 | a | तितिक्षया करुणया | 11 | 13 | a |
| ता मागतां तत्र न कश्चनाद्रियत् | 4 | 7 | a | तितिक्षया तपसाविद्यया च | 21 | 36 | b |
| ता माह रुदतीं प्रभो | 28 | 51 | d | तितिक्षया धरित्रीव | 22 | 57 | a |
| तामाह ललितं वीरः | 25 | 25 | a | तितिक्षुर्यतवाग्दान्त | 23 | 7 | a |
| तामुद्वहत मा चिरम् | 30 | 15 | d | तिरोहितं सहसैवोपलक्ष्य | 8 | 2 | c |
| तामुपोष्य विभावरीम् | 8 | 74 | b | तिर्यङ्नरद्विजसरीसृपदेवदैत्य | 9 | 13 | a |
| तामेव मनसा गृह्णन् | 28 | 28 | a | तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् | 19 | 13 | d |
| तामेव वीरोऽमनुत व्यवायतः | 27 | 4 | c | तिष्ठंतो निजशासने | 14 | 19 | d |
| ताम्रपर्णी वटोदका | 28 | 35 | b | तिष्ठन्त्या मनुतिष्ठति | 25 | 59 | b |
| ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णैः | 29 | 41 | c | तिष्ठं स्तथैव पुरुषत्वमुपेत्य तस्याम् | 7 | 26 | c |
| तारहेममहारत्न | 6 | 27 | a | तिस्रः कन्याश्च जज्ञिरे | 1 | 1 | b |
| ताराणा मुडुराडिव | 21 | 14 | d | तीर्थपादपदाम्भोज | 6 | 24 | c |
| तार्क्ष्येण स्तोत्रवाजिना | 7 | 19 | d | तीर्थपादपदाश्रयः | 12 | 49 | b |
| तावकानां समागमः | 30 | 37 | d | तीर्थानां पावनेच्छया | 30 | 37 | b |
| तावत्सरुद्रानुचरै र्मखो महान् | 5 | 13 | a | तीर्थेषु प्रतिदृष्टेषु | 26 | 6 | a |
| तावद्भवत्प्रसङ्गानां | 30 | 33 | c | तीव्रयोगसमाधिना | 8 | 34 | d |
| तावन्मात्रेण पूरुषः | 8 | 32 | b | तीव्रौघां भक्तिमुद्वहन् | 12 | 11 | b |
| तावान्न योगगतिभिर्यतिरप्रमत्तः | 23 | 12 | c | तुभ्यं भगवते नमः | 31 | 42 | d |
| ताविमौ वै भगवतो | 1 | 58 | a | तुभ्यं हरेश्च कुत एव धृतव्रतेषु | 7 | 13 | d |
| तासां प्रसूतिप्रसवं | 1 | 12 | c | तुर्यां द्रविणसे विभुः | 24 | 2 | d |
| तां कामयानां भगवन् | 1 | 6 | a | तुलयाम लवेनाऽपि | 30 | 34 | a |
| तां चापविद्धां जगृहुः | 30 | 13 | c | तुलस्या प्रियया प्रभुम् | 8 | 58 | d |
| तां दत्त्वैलबिलस्ततः | 12 | 9 | b | तुल्यनाम व्रताः सर्वे | 24 | 13 | c |
| तां पुरी मनिकामतः | 28 | 10 | d | तुल्यं यत्प्रेत्य तत्फलम् | 21 | 25 | d |
| तां प्रविश्य पुरीं राजन् | 25 | 43 | c | तुषिता नाम ते देवाः | 1 | 8 | a |
| तां माया मतिदुस्तराम् | 10 | 29 | b | तुष्टयो रभवन् देवाः | 1 | 7 | a |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तुष्टायां तोष मापन्नः | 1 | 6 | c | तेऽपि विश्वसृजः सत्रं | 2 | 34 | a |
| तुष्टिः पुष्टिः क्रियोन्नतिः | 1 | 49 | b | ते ब्रह्मविष्णुगिरिशाः प्रणतोऽस्म्यहं | 1 | 27 | c |
| तुष्टुवु र्वरदा देवैः | 23 | 23 | c | तेभ्यः क एव भवतां म इहोपहूतः | 1 | 27 | d |
| तुष्टुवु र्हृष्टमनसः | 21 | 44 | c | तेभ्योऽग्रय स्समभवन् | 1 | 60 | a |
| तुष्टुवु स्तुष्टमनसः | 16 | 1 | c | तेभ्यो दधार कन्ये द्वे | 1 | 63 | a |
| तुष्टोऽहं सौहृदेन वः | 30 | 8 | d | तेभ्यो नमो वीरयशस्करेभ्यः | 17 | 36 | d |
| तुष्यत्याशु जनार्दनः | 31 | 20 | d | ते यद्यनुपादित दोष दृष्टयः | 3 | 16 | c |
| तुष्यन्त्वदभ्रकरुणाः स्वकृतेन नित्यम् | 22 | 47 | c | ते रुद्रगीतेन हरिं | 3 | 1 | c |
| तृणपर्णादिभिर्जीर्णैः | 8 | 76 | c | ते वयं चोदिताः सर्वे | 24 | 73 | a |
| तृणभूमीश्वरावराः | 22 | 10 | d | ते वै ललाटलग्नै स्तैः | 10 | 9 | a |
| तृतीयं च नयन्मासं | 8 | 77 | a | तेषामहं पादसरोजरेणुं | 21 | 42 | a |
| तृप्तिदाय च जीवानां | 24 | 38 | c | तेषा मापततां वेगं | 4 | 32 | a |
| तृप्तो हृष्ट स्सुदृप्तश्च | 26 | 13 | a | तेषामाविरभूत्कृच्छ्रम् | 30 | 4 | c |
| तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोप शाखाः | 31 | 14 | b | तेषां दुरापं किं त्वन्यत् | 23 | 27 | a |
| तृषार्तोऽवगाढो न सस्मार दावम् | 7 | 35 | c | तेषां विचरतां पद्भ्यां | 30 | 37 | a |
| तृष्णायाः प्रशमो यतः | 30 | 35 | b | तेषु तद्रिक्थहारेषु | 27 | 10 | a |
| ते चण्डवेगानुचराः | 27 | 15 | a | ते साधु वर्णितं राजन् | 20 | 33 | a |
| ते च ब्रह्मण आदेशात् | 30 | 48 | a | तैरर्द्यमानाः सुभृशं | 5 | 18 | c |
| तेज स्तेजस्ययूयुजत् | 23 | 15 | d | तैरलातायुधैः सर्वे | 4 | 34 | a |
| तेज स्तेजस्विनां रुचा | 30 | 50 | b | तैस्तिग्मधारैः प्रधने शिलीमुखैः | 11 | 4 | a |
| तेजीयसि कृतागसाम् | 6 | 4 | b | तोषः प्रतोषस्सन्तोषः | 1 | 7 | c |
| तेजोबलानि कोष्ठानि | 28 | 57 | c | त्यक्तामर्षमिवान्तकम् | 6 | 33 | d |
| तेन क्रमानुसिद्धेन | 23 | 8 | a | त्यक्ता पूर्वकलेवरम् | 7 | 58 | b |
| तेन स्मरन्त्यतितरां प्रिय मीशमर्त्यम् | 9 | 12 | a | त्रयस्ते विबुधर्षभाः | 1 | 29 | b |
| तेनाऽभवदधार्मिकः | 13 | 39 | d | त्रयाणा मेकभावानां | 7 | 54 | a |
| तेनाभिवन्दितः साकम् | 11 | 35 | c | त्रयीमयं द्रव्यमयं तपोमयम् | 14 | 21 | b |
| तेनाऽस्य तादृशं राजन् | 29 | 67 | a | त्रयोदशादाद्धर्माय | 1 | 48 | a |
| तेनैकमात्मान मशेषदेहिनां | 31 | 18 | a | त्रयो लोकाश्चकम्पिरे | 8 | 81 | d |
| तेनैवामुत्र तत्पुमान् | 29 | 62 | b | त्रस्ता तदा देववृते | 17 | 17 | c |
| तेऽपिंचामु ममृष्यन्तः | 10 | 10 | a | त्रासनान्यमनस्विनाम् | 10 | 28 | b |
| तेऽपि तन्मुख निर्यातं | 31 | 25 | a | त्रासयत्स्तनयित्नुना | 10 | 23 | d |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| त्राहि मामपि भूतानां | 17 | 18 | c | त्वमेवधर्मार्थदुपभिपत्तये | 6 | 44 | a |
| त्रिकपालं द्विजोत्तमाः | 7 | 17 | b | त्वमेव भगवन्नेतन् | 6 | 43 | a |
| त्रिकृत्व इदमाकर्ण्य | 23 | 23 | a | त्वमेवाद्यस्तस्मिन्सलिल उरगेन्द्राधिशयने | 7 | 42 | b |
| त्रिगुणा ज्जीवासंज्ञितात् | 24 | 28 | b | त्वमेवाऽहं विचक्ष्व भो | 28 | 62 | b |
| त्रिदशस्त्रिदिवं ययुः | 7 | 57 | d | त्वयाङ्ग भ्रातृवत्सल | 11 | 9 | d |
| त्रिरात्रान्ते त्रिरात्रान्ते | 8 | 75 | a | त्वयाऽऽत्मनोऽर्धेऽहमदभ्रचक्षुषा | 3 | 14 | c |
| त्रिलोकीं देवयानेन | 12 | 34 | a | त्वया समाप्तस्य मनो प्रजापतेः | 6 | 50 | b |
| त्रिलोकीं पूरयिष्यति | 30 | 12 | d | त्वयाऽऽहूता महाबाहो | 19 | 42 | a |
| त्रिलोकीं वर मिच्छती | 27 | 19 | b | त्वयैव नाथेन मुकुन्दनाथाः | 21 | 48 | b |
| त्रिलोकयां वितितो महान् | 1 | 11 | d | त्वयैव लोकेऽवसिताश्च सेतवः | 6 | 44 | c |
| त्रिवर्गौपयिकं नीत्वा | 12 | 14 | c | त्वयोदितं शोभनमेव शोभने | 3 | 16 | a |
| त्रिवृत् षोडशविस्तरम् | 29 | 76 | b | त्वयोपासादितः प्रभो | 21 | 50 | b |
| त्रिवेणुं पञ्चबन्धुरम् | 26 | 1 | d | त्वय्येतदाश्चर्यमजात्ममायया | 3 | 11 | a |
| त्रिः शृत्वैतत्पुमान् पुण्यं | 8 | 6 | c | त्वरमाणं विहायसा | 19 | 12 | b |
| त्रीनसूत सती सुतान् | 1 | 38 | b | त्वरमाणं विहायसा | 19 | 16 | b |
| त्रैलोक्ये तत्र तत्र ह | 22 | 63 | b | त्वरमाणं विहायसा | 19 | 20 | b |
| त्रै कार्योऽर्थो यतो नित्यं | 22 | 35 | c | त्वष्टा रूपाश्रयं रथम् | 15 | 17 | b |
| त्वञ्च मे भगिनी भव | 27 | 30 | b | त्वं कर्मणां मङ्गलमङ्गलानां | 6 | 45 | a |
| त्वत्प्रिया यद्व्यवस्यति | 26 | 17 | b | त्वं क्रतुस्त्वं हवि स्त्वं हुताशः | 7 | 45 | a |
| त्वदङ्घ्रिकामाप्त समस्तकामं | 25 | 28 | c | त्वं खल्पोधिबीजानि | 17 | 24 | a |
| त्वदङ्घ्रिमूलमासाद्य | 30 | 32 | c | त्वं नित्यमुक्त परिशुद्धाविबुद्ध आत्मा | 9 | 15 | a |
| त्वददानन सुभ्रु सुतारलोचनं | 25 | 31 | a | त्वं परावर वित्तमः | 13 | 24 | a |
| त्वद्दत्तया वयुनयेद मचष्टविश्वम् | 9 | 8 | a | त्वं पुरा गां रसाया महासूकरः | 7 | 46 | a |
| त्वद्भातर्युत्तमे नष्टे | 9 | 23 | a | त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त | 11 | 30 | a |
| त्वन्मायया दुर्जयया ऽकृतात्मभिः | 17 | 32 | b | त्वं सदस्य र्त्विजो दम्पती देवता | 7 | 45 | c |
| त्वन्मायया द्धा जन ईश खण्डितः | 20 | 32 | a | त्वं हि मन्त्रः समिद्दर्भपात्राणि वै | 7 | 45 | b |
| त्वन्माययार्थमभिपद्य कलेवरेऽस्मिन् | 7 | 44 | a | त्वं ह्री र्भवान्यस्यथ वाग्रमापतिं | 25 | 28 | a |
| त्वमग्रणी रुद्र भटांशकोमे | 5 | 4 | d | त्वादृशा देवमायया | 20 | 4 | b |
| त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यते | 24 | 66 | c | त्वा मद्य याताः शरणं शरण्यं | 17 | 10 | c |
| त्वमव्यक्तगति र्भुङ्क्ष्व | 27 | 29 | a | त्वामभद्रामसतमाम् | 27 | 28 | d |
| त्वमेकआद्यः पुरुषः सुप्तशक्तिः | 24 | 63 | a | त्वामृतेऽधीश नाकैर्मखः शोभते | 7 | 36 | c |

| | | | |
|---|---|---|---|
| त्वां स्तब्धां दुर्मदां नीत्वा | 17 | 27 | a |
| **द** | | | |
| दक्षं बभाष आभाष्य | 7 | 49 | c |
| दक्षं सयज्ञं जहि मद्भटानां | 5 | 4 | c |
| दक्षादयः प्रजाध्यक्षाः | 29 | 43 | c |
| दक्षाय ब्रह्मपुत्राय | 1 | 11 | a |
| दक्षाय शापं विससर्ज दारुणं | 2 | 20 | c |
| दक्षिणाग्नौ जुहाव ह | 4 | 32 | d |
| दक्षिणा दक्षिणः कर्णः | 29 | 9 | c |
| दक्षिणेन पुरञ्जनः | 25 | 50 | b |
| दक्षिणेष्वथ सानुषु | 25 | 13 | b |
| दक्षिणैका तथोत्तरा | 25 | 46 | b |
| दक्षेण सूत्रेण ससर्जिथाध्वरम् | 6 | 44 | b |
| दक्षो गिरित्राय विसृज्य शापम् | 2 | 19 | b |
| दक्षो गृहीतार्हण साधनोत्तमं | 7 | 25 | a |
| दक्षोऽथाप उपस्पृश्य | 2 | 17 | c |
| दक्षो दुहितृवत्सलः | 2 | 1 | b |
| दक्षो बस्तमुखोऽचिरात् | 2 | 23 | d |
| दक्षो मम द्विट् तदनुव्रताश्च ये | 3 | 24 | b |
| दक्षो रुद्राभिवीक्षितः | 7 | 9 | b |
| दग्धकर्ममलाशयः | 13 | 9 | b |
| दग्धाशयो मुक्तसमस्त तद्गुणः | 22 | 27 | a |
| दण्डनेतृत्वमेव च | 22 | 45 | b |
| दण्डपाणिरसाधुषु | 16 | 18 | d |
| दण्डमोदनमेव वा | 29 | .31 | d |
| दण्डयत्यात्मजमपि | 16 | 13 | c |
| दण्डव्रतधरे राज्ञि | 13 | 22 | c |
| दण्डशुक्लादिदारुणाम् | 24 | 6 | b |
| दण्डस्तत्र धृतो मया | 7 | 2 | d |
| दण्डस्त्वया मयि भृतो यदपि प्रलब्धः | 7 | 13 | b |
| दण्डो नात्र न शस्यते | 17 | 23 | d |
| दण्ड सयमन यमः | 15 | 15 | d |
| दण्ड्यं धर्मपथे स्थितः | 16 | 13 | d |
| दत्तं दुर्वाससं सोमं | 1 | 15 | c |
| दत्ता बत मया साध्वी | 2 | 16 | c |
| दत्तां सपर्यां वरमासनं च सा | 4 | 8 | c |
| दत्तो विष्णोस्तु योगवित् | 1 | 33 | b |
| दत्त्वा गां धर्मसंश्रयः | 9 | 22 | b |
| दत्तवोदकं भर्तुरुदारकर्मणः | 23 | 22 | b |
| ददर्श देहो हतकल्मषा सती | 4 | 27 | c |
| ददर्श नवभिर्द्वार्भिः | 25 | 13 | c |
| ददर्श प्रमदोत्तमाम् | 25 | 20 | b |
| ददर्श लोकं विततं | 13 | 7 | c |
| ददर्श विबुधर्षभान् | 1 | 23 | d |
| ददर्श हिमवद्द्रोण्यां | 10 | 5 | c |
| ददर्शात्मनि भूतेषु | 12 | 11 | c |
| ददर्शानूद्यतायुधम् | 17 | 16 | d |
| ददाह तां पुरीं कृत्स्नां | 28 | 11 | c |
| ददृशुर्देवमासीनं | 6 | 33 | c |
| ददृशुस्तत्र ते रम्यां | 6 | 23 | a |
| ददृशे चाग्रतो मृडम् | 7 | 9 | d |
| दद्भिर्जक्षतु पिष्टभुक् | 7 | 4 | b |
| दधार गात्रेष्वनिलाग्निधारणाम् | 4 | 26 | d |
| दधार मूर्ध्ना चरणं हृदा हरेः | 31 | 29 | d |
| दधारैकः पृथग्गुणान् | 22 | 54 | d |
| दध्मौ शङ्खं बृहद्बाहुः | 9 | 6 | a |
| दध्यञ्चमश्वशिरसं | 1 | 42 | c |
| दध्यौ पशुपतिश्चिरम् | 5 | 23 | d |
| दध्यौ प्रमदया दीनः | 28 | 17 | c |
| दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम् | 7 | 51 | d |
| दम्पत्योर्मिषतोस्ततः | 1 | 32 | d |
| दम्भं मायां च शत्रुहन् | 8 | 2 | b |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| दयया सर्वभूतेषु | 31 | 20 | a | दिवानिशेति प्रमदापरिग्रहः | 27 | 3 | d |
| दर्शनं ते परिभ्रष्टसत्कर्मणाम् | 7 | 47 | b | दिव्यद्रुमलताकुले | 25 | 17 | b |
| दर्शनं नो दिदृक्षूणां | 24 | 44 | a | दिव्यमार्गमनोहरम् | 24 | 23 | b |
| दर्शनीयतमं शान्तं | 8 | 52 | c | दिव्यवर्षसहस्राणाम् | 30 | 17 | a |
| दर्शनो विशदाशयः | 20 | 11 | b | दिव्यवाद्यन्ततूर्याणि | 1 | 53 | c |
| दर्शयामासतुर्देवौ | 12 | 32 | c | दिव्यं वर्षशतं स्थिरः | 28 | 39 | b |
| दर्शितस्तमसः पारः | 31 | 30 | c | दिव्यां श्वानुग्रहान्मम | 30 | 17 | d |
| दर्शितः कृपया पुंसां | 8 | 38 | c | दिशं प्रतीचीं प्रययुः | 24 | 19 | c |
| दर्शितात्मगतिस्सम्यक् | 22 | 41 | c | दिशो विजित्याप्रतिरुद्धचक्रः | 16 | 28 | a |
| दशचन्द्रमसिं रुद्रः | 15 | 17 | a | दिष्टादेशेन पूरुषम् | 8 | 74 | d |
| दशवर्षसहस्राणि | 24 | 14 | c | दिष्टचाऽऽगतोऽसि भद्रंते | 25 | 36 | a |
| दशवर्षसहस्रान्ते | 30 | 4 | a | दिष्ट्या ते पुत्र आर्तिहा | 9 | 51 | b |
| दशां पापीयसीं विभो | 28 | 59 | d | दिष्ट्या नो दर्शनं गतः | 31 | 5 | b |
| दस्युभिः पीडिताः प्रजाः | 13 | 20 | b | दिष्ट्येदृशी धीर्मयि ते कृता यया | 20 | 35 | c |
| दस्युभ्यो न भवेद्भुवः | 14 | 37 | d | दीक्षा तत्र दिवौकसाम् | 21 | 13 | b |
| दस्युभ्यः क्षत्रबन्धुभ्यः | 28 | 48 | c | दीक्षितः पशुमारकैः | 27 | 11 | b |
| दहत्यवीर्यं हृदयं जीवकोशं | 22 | 26 | c | दीक्षिता ब्रह्मसत्रेण | 31 | 2 | a |
| दहिष्यामः स्वतेजसा | 24 | 13 | b | दीना दिदृक्षे भव मे भवक्षितिम् | 3 | 11 | d |
| दह्यमाना दिशो भेजुः | 4 | 34 | c | दीनानां समुपेक्षकः | 14 | 41 | b |
| दंष्ट्रया पद्मिनीं वारणेन्द्रो यथा | 7 | 46 | b | दीनामकृतकिल्बिषाम् | 17 | 19 | b |
| दाक्षायणीत्याह यदा सुदुर्मनाः | 4 | 23 | b | दीनां यास्ये त्रिविष्टपम् | 12 | 31 | d |
| दानवा गुह्यकादयः | 19 | 5 | b | दीपयन्ती पदे पदे | 26 | 16 | d |
| दान्ता रुक्मपरिच्छदाः | 9 | 61 | b | दीर्घया वृद्धसेवया | 20 | 4 | d |
| दावाग्निना दग्धलतेव बाला | 8 | 17 | b | दीर्घं दध्यौ कुरुश्रेष्ठ | 17 | 12 | c |
| दावाग्निं सा प्रवेक्ष्यति | 9 | 23 | d | दीर्घं श्वसन्ती वृजिनस्य पारम् | 8 | 18 | a |
| दारिका वाऽपरायणाः | 28 | 21 | b | दीर्घोत्कण्ठमनाः श्वसन् | 9 | 43 | b |
| दारुण्युभयतो दीप्ते | 14 | 8 | c | दुकूलस्वर्णमेखलम् | 24 | 51 | b |
| दारैस्संयोजयमास | 27 | 8 | c | दुकूलं मृष्टकुण्डलम् | 24 | 47 | d |
| दास्ये प्रज्ञां च शोभनाम् | 30 | 10 | c | दुकूलैः स्वर्णतोरणैः | 21 | 1 | b |
| दिनक्षये व्यतीपाते | 12 | 48 | c | दुदुहु र्धारणामयीम् | 18 | 20 | d |
| दिवानिशं तप्यति मर्मताडितः | 3 | 19 | d | ददहः पथभाविताम | 18 | 13 | d |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| दु दु हुः पृथुभाविताम् | 18 | 26 | d | दुःस्थस्य विदधात्यसौ | 11 | 21 | d |
| दुदुहुः स्वकलेबरे | 18 | 24 | b | दूर्वापुष्पफलानि च | 9 | 58 | d |
| दुरन्तचिन्तामापन्नः | 28 | 8 | c | दृग्भ्यां प्रपश्यन् प्रपिबन्निवार्भकः | 9 | 3 | c |
| दुरन्तया मृष्टधियः पृथग्दृशः | 6 | 48 | b | दृढव्रतस्सत्यसन्धः | 16 | 16 | a |
| दुरन्तया स्पृष्टमतिः समस्तदृक् | 6 | 49 | b | दृढा रतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या | 22 | 21 | d |
| दुरन्तायान्तकाय च | 24 | 35 | b | दृप्त आप्तेषु कार्मुकः | 26 | 4 | b |
| दुराप्तमपि सुव्रत | 9 | 19 | d | दृश्यददभ्रकरुणेन विलोकनेन | 1 | 56 | c |
| दुराराध्यो मतो मम | 8 | 33 | d | दृष्टं किं योगराधसा | 8 | 29 | b |
| दुरासदो दुर्विषहः | 16 | 11 | a | दृष्टः किं नो दृग्भिरसद्भवै स्त्वं | 7 | 37 | a |
| दुरुक्तौ कलिराधत्त | 8 | 4 | a | दृष्टा योगाः प्रयुक्ताश्च | 18 | 3 | c |
| दुर्गाणि विविधानि च | 18 | 31 | b | दृष्टासु सम्पत्सु वित्सु सूरयः | 20 | 13 | c |
| दुर्दर्शानां च योगिभिः | 22 | 7 | d | दृष्ट्याऽऽर्द्रया स भगवान् स्वकृतेन | 7 | 15 | d |
| दुर्दर्शोऽस्मद्विधैस्तु यः | 8 | 38 | d | दृष्ट्वा चिह्नं गदाभृतः | 15 | 9 | d |
| दुर्धर्षस्तेजसेवाग्निः | 22 | 56 | c | दृष्ट्वाऽऽत्मानं प्रवयसम् | 23 | 1 | a |
| दुर्मदेन समन्वितः | 25 | 52 | d | दृष्ट्वाभिपेदे दुरवापमन्यतः | 8 | 22 | c |
| दुर्लभस्सर्वदेहिनाम् | 24 | 54 | b | दृष्ट्वाभ्युपायानपि वेदवादिनः | 12 | 40 | c |
| दुर्लभेऽर्थे मनोरथः | 8 | 13 | d | दृष्ट्वा मां यज्ञहृदयं | 9 | 24 | a |
| दुर्लभो मुनयो दध्युः | 24 | 17 | c | दृष्ट्वार्कमिव रोचिषा | 2 | 5 | b |
| दुर्वासाः शङ्करस्यांशः | 1 | 33 | c | दृष्ट्वा संज्ञपनं योगं | 5 | 24 | a |
| दुर्विभाव्येन कर्मणा | 23 | 26 | d | दृष्ट्वा सुत्यागमभ्दुतम् | 4 | 31 | b |
| दुर्वृत्तस्य विचेष्टितम् | 14 | 7 | b | दृष्ट्वा स्वनिलयाभ्याशे | 3 | 7 | a |
| दुस्तरं भवसागरम् | 31 | 7 | d | देदीप्यमानेऽजित् देवतानां | 21 | 36 | c |
| दुस्सहः करुणात्मनाम् | 26 | 9 | d | देवकुल्यां हरेः पाद | 1 | 14 | c |
| दुहितृत्वे चकारेमां | 18 | 28 | c | देवगुप्तं विशाम्पते | 8 | 71 | b |
| दुहितुर्दशोत्तरशतं | 27 | 7 | a | देवपत्न्यः सहस्रशः | 23 | 23 | d |
| दुहितृः पुत्रपौत्रांश्च | 28 | 16 | a | देवभूतात्मसम्भवैः | 29 | 25 | b |
| दुहितृस्सदृशैर्वरैः | 27 | 8 | d | देवमायाभिभूतानां | 7 | 2 | c |
| दुःखच्छिदं ते मृगयामि कञ्चन | 8 | 24 | b | देवयानेन गच्छतीम् | 12 | 32 | d |
| दुःखहानि स्सुखावाप्तिः | 25 | 4 | c | देवर्षिपितृगन्धर्व | 20 | 37 | a |
| दुःखेष्वेकतरेणाऽपि | 27 | 33 | a | देवर्षिपितृणां गणाः | 15 | 8 | d |
| दुःखोदर्कान् क्रियाऽऽयासान् | 29 | 29 | c | देवर्षिपितृदेवताः | 3 | 4 | b |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| देवर्षिवर्यमुखनिस्सृतमात्मशौचम् | 29 | 56 | b | दैतेयाः दानवा वत्सं | 18 | 16 | a |
| देवर्षीणां च सत्तम | 21 | 13 | d | दैवभूतात्महेतुषु | 29 | 33 | b |
| देववृष्टं यथा पयः | 18 | 11 | b | दैवं वो यत्र भूतराट् | 2 | 32 | d |
| देवहूतिमदात्तात | 1 | 10 | a | दैवीं परिज्ञातपरात्मनिर्णयः | 9 | 5 | b |
| देवहूर्नाम पुर्याद्वा | 25 | 51 | a | दैवीं मायामुपाश्रित्य | 9 | 33 | a |
| देवः क्षिणोत्ववनतार्ति हरो विपक्षान् | 10 | 30 | b | दैवोपसादितं यावत् | 8 | 32 | c |
| देवा उत्पेतुरोजसा | 4 | 33 | b | दोग्धारं च महाबाहो | 18 | 10 | a |
| देवानां भग्नगात्राणाम् | 6 | 52 | a | दोग्धि स्माभीप्सितानर्थान् | 19 | 7 | c |
| देवानुभयतोऽयजत् | 7 | 55 | d | दोर्भिर्वलयवल्गुभिः | 10 | 18 | d |
| देवान् पितॄन् भूतपतीन् | 27 | 11 | c | दोषा च द्वे बभूवतुः | 13 | 13 | b |
| देवा बह्मादयस्सर्वे | 1 | 54 | e | दोषान् परेषां हि गुणेष्वसाधवः | 4 | 12 | a |
| देवाय स्वपुरं ययौ | 20 | 40 | d | दोहवत्सादिभेदेन | 18 | 27 | c |
| देवास्तस्यानुगृह्णाते | 12 | 50 | d | दौर्भाग्येनात्मनो लोके | 27 | 20 | a |
| देवाः प्रकृतसर्वाङ्गाः | 7 | 4 | c | दौहित्रादीनृते मृत्योः | 21 | 29 | a |
| देवेऽवर्षत्यसौ देवः | 16 | 8 | a | द्युमान् शक्त्यादयोऽपरे | 1 | 41 | d |
| देवेषु दुरवग्रहः | 19 | 35 | b | द्योतयन्त्या दिशो दश | 7 | 19 | b |
| देवै र्देवगणाधमः | 2 | 18 | d | द्यौरिवाभीष्टदो नृणाम् | 22 | 57 | b |
| देवो मनुष्यस्तिर्यग्वा | 29 | 30 | c | द्यौः क्षिति स्सर्वभूतानि | 15 | 12 | c |
| देशकालक्रियाश्रयम् | 29 | 69 | d | द्यौः पुष्पं बलिमन्वहम् | 15 | 18 | d |
| देशकाल विभागवित् | 8 | 57 | d | द्रक्ष्ये चिरोत्कण्ठमना महर्षिभिः | 3 | 10 | c |
| देशिनीं रोदमानायाः | 30 | 14 | c | द्रव्यक्रियाकारक चेतनात्मनः | 20 | 13 | b |
| देहं विपन्नाखिल चेतनादिकं | 23 | 21 | a | द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मभिः | 17 | 33 | b |
| देहाद्युपात्तास्सद्धर्माः | 20 | 8 | a | द्रव्यक्रियाकारकविभ्रमोर्मये | 17 | 29 | d |
| देहिनामात्मवत्प्रेष्ठः | 16 | 18 | a | द्रव्यक्रियाज्ञान भिदाभ्रमात्यये | 31 | 16 | d |
| देहि भागवताचिर्ततम् | 24 | 44 | b | द्रव्यक्रियादेवतानां | 12 | 10 | c |
| देहे देही तमोवृतः | 29 | 25 | d | द्रव्यज्ञान क्रियात्मनाम् | 20 | 12 | b |
| देहेनादृष्टमश्रुतम् | 29 | 66 | b | द्रष्टासि सिद्धाननुरक्त लोकः | 20 | 16 | d |
| देहेन्द्रियासुधिषणात्मभिरावृतानाम् | 22 | 37 | b | द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त- | 9 | 15 | d |
| देहे वसन्ति नृपतेः | 14 | 27 | c | द्रुमजातिभिरन्याभिः | 6 | 18 | c |
| देहोद्भवेनालमलं कुजन्मना | 4 | 22 | b | द्रुमान् वीक्ष्य पितामहः | 30 | 46 | b |
| देहो रथस्त्विन्द्रियाश्वः | 29 | 22 | a | द्रुमैः कामदुघैर्हृद्यं | 6 | 28 | c |

| | | | |
|---|---|---|---|
| द्रुह्यत्यज्ञः पृथग्दृष्टिः | 2 | 21 | c |
| द्वन्द्वश्वभ्रे खलमृगभये शोकदावेऽज्ञ- | 7 | 28 | c |
| द्वयं तथा ब्रह्मणि कर्म नर्च्छति | 4 | 20 | d |
| द्वयं ह्यविद्योपसृतम् | 29 | 35 | c |
| द्वयापवादो परमोपलम्भनम् | 31 | 19 | b |
| द्वादशे द्वादशेऽहनि | 8 | 78 | b |
| द्वादश्यां श्रवणेऽथवा | 12 | 48 | b |
| द्वारं निरुध्यासुमनन्यया धिया | 8 | 83 | b |
| द्वारावेकत्रनिर्मित | 25 | 47 | b |
| द्वारावेकत्र निर्मिते | 25 | 48 | b |
| द्वारो घ्राणादयः प्रभो | 28 | 57 | b |
| द्वार्भिः प्रविश्य सुभृशं | 28 | 4 | c |
| द्वाविमावनुशोचन्ति | 27 | 25 | a |
| द्विकर्मचक्रस्त्रिगण | 29 | 22 | c |
| द्विगुणं प्रचिकीर्षवः | 10 | 10 | d |
| द्विजान् कामदुघै र्द्रुमैः | 6 | 13 | b |
| द्विजाः पण्डितमानिना | 14 | 30 | b |
| द्वितीयं च तथा मासं | 8 | 76 | a |
| द्विधाभूतमवेक्षेत | 28 | 63 | c |
| द्विपदपदीन् विबुधांश्च यस्स्वपूर्णः | 31 | 23 | b |
| द्विषतां खेदमुद्वहन् | 10 | 16 | b |
| द्वीषं द्विचक्रमेकाक्षं | 26 | 1 | c |
| द्वे द्वे द्वारौ बहिर्याति | 29 | 8 | c |
| **ध** | | | |
| धनदस्य त्वया कृतम् | 11 | 33 | b |
| धनुर्विस्फूर्जयन्नुग्रं | 10 | 16 | a |
| धनुष्कोट्या समन्ततः | 16 | 19 | d |
| धन्यं यशस्यमायुष्यं | 12 | 44 | a |
| धन्यं यशस्यमायुष्यं | 23 | 34 | c |
| धरणी बहुरूपिणी | 17 | 3 | b |
| धर्म आचरितः पुंसां | 14 | 25 | a |
| धर्म इत्युपधर्मेषु | 19 | 25 | a |
| धर्म एव मतिं दत्वा | 7 | 57 | c |
| धर्मज्ञ इति यो मतः | 17 | 19 | d |
| धर्मज्ञ नाना समयानुरूपम् | 19 | 37 | b |
| धर्मज्ञान् शीलसम्पन्नान् | 24 | 26 | c |
| धर्मज्ञापन्नवत्सल | 17 | 18 | b |
| धर्मप्रधानोऽन्यतमो | 20 | 16 | b |
| धर्मराडिव शिक्षायाम् | 22 | 58 | c |
| धर्मव्यतिकरं द्विजाः | 19 | 31 | b |
| धर्मव्यतिकरो यत्र | 19 | 35 | c |
| धर्मस्नाताः प्रचेतसः | 24 | 13 | d |
| धर्मः कीर्तिमयीं स्रजम् | 15 | 15 | b |
| धर्मदीनां प्रसूतये | 7 | 40 | b |
| धर्मार्थकाममोक्षाख्यं | 8 | 44 | a |
| धर्मार्थकाममोक्षाणां | 22 | 34 | c |
| धर्मार्थकाममोक्षाणां सम्यक् | 23 | 35 | a |
| धर्मावितर्यसृणिभिः | 4 | 17 | b |
| धर्मोऽग्निः कश्यपः शुक्रः | 9 | 21 | c |
| धर्मोपलक्षण मिदं | 7 | 27 | c |
| धर्मो वार्थेन संयुतः | 8 | 67 | d |
| धर्मो ह्यत्रार्थकामौ च | 25 | 39 | a |
| धातारं च विधातारं | 1 | 43 | c |
| धात्रा यतो ऽयं गुणसर्ग- | 17 | 30 | b |
| धारयन्तो मुनिव्रताः | 24 | 71 | b |
| धारयिष्याम्यहं प्रजाः | 17 | 27 | d |
| धावतां सर्वतो दिशम् | 14 | 38 | b |
| धावन्ती तत्र तत्रैनं | 17 | 16 | c |
| धिया विशुद्धया दध्यौ | 7 | 18 | c |
| धुनोत्यघं कौरव भक्ति | 7 | 61 | d |
| धूपालेप स्रगादिभिः | 26 | 12 | b |
| धूम्रकेशाय दक्षिणाम् | 24 | 2 | b |

| | | | |
|---|---|---|---|
| धृतविद्यातपोव्रताः | 2 | 16 | b |
| धोक्ष्ये क्षीरमयान् कामान् | 18 | 9 | c |
| ध्यानाद्भवज्जनकथा | 9 | 10 | b |
| ध्यायतो विषयानस्य | 29 | 75 | c |
| ध्यायन्तश्चासकृद्धरिम् | 24 | 70 | d |
| ध्यायन्तस्तद्गतिं ययुः | 31 | 25 | d |
| ध्यायन्दवमधारयत् | 8 | 78 | d |
| ध्यायन् ब्रह्म पदैकेन | 8 | 79 | c |
| ध्यायन्भगवतो रूपं | 8 | 80 | c |
| ध्यायंस्तदव्यवहितो | 12 | 17 | d |
| ध्रुवस्य चरितं महत् | 12 | 47 | d |
| ध्रुवस्य चोत्कलः पुत्रः | 13 | 6 | a |
| ावख्यात | 12 | 51 | b |
| ध्रुवस्य वैकुण्ठपदाधि | 13 | 1 | b |
| ध्रुवस्यापि महीपतेः | 21 | 27 | b |
| ध्रुवस्योद्दामयशसः | 12 | 43 | c |
| ध्रुवं गमिष्यन्ति | 3 | 9 | b |
| ध्रुवं चक्रे भुवःपतिम् | 9 | 66 | d |
| ध्रुवं निवृत्तं प्रतिबुद्ध्य | 12 | 1 | a |
| ध्रुवं राजाऽभ्यनन्दत | 8 | 10 | d |
| ध्रुवं सभ्रातरं नृपः | 9 | 53 | d |
| ध्रुवः कृष्णपरायणः | 12 | 37 | b |
| ध्रुवाय पथि दृष्टाय | 9 | 58 | a |
| | 10 | 29 | a |
| ध्रुवो भ्रातृवधं श्रुत्वा | 10 | 4 | a |
| ध्रुवो महाभागवतः | 12 | 8 | b |
| ध्वजः पञ्चाऽसुबन्धुरः | 29 | 22 | d |
| ध्वस्तकर्मामलाशयः | 23 | 8 | b |
| **न** | | | |
| न करोति हरेर्नूनम् | 29 | 42 | c |
| न कस्याध्वरमीयतुः | 6 | 3 | d |
| न कामये नाथ तदप्यहं | 20 | 25 | a |
| न कालरंहो बुबुधे | 27 | 3 | c |
| न किञ्चनोवाच सः | 20 | 22 | c |
| न कुर्यात् कर्हिचित्सङ्गं | 22 | 34 | a |
| नखद्युभिश्चोत्तरघं | 24 | 52 | b |
| न गृहीतो मया यत्त्वं | 8 | 12 | c |
| न गृह्णन्ति ग्रहानिह | 13 | 30 | b |
| नग्नरक्तपटादिषु | 19 | 25 | b |
| न गृहीष्यत्यधर्मकृत् | 14 | 12 | d |
| न चक्रे भ्रष्टमङ्गलः | 14 | 29 | d |
| न चैते पुत्रक भ्रातुः | 11 | 24 | a |
| न जानामि महाभाग | 25 | 5 | c |
| न ज्ञायते मोहित चित्त | 17 | 36 | c |
| न तथैतर्हि रोचन्ते | 26 | 14 | e |
| न तनोति च नो वसु | 17 | 22 | d |
| न तापैरनुभूयते | 8 | -37 | d |
| न ते गृह्णन्ति देवतः | 13 | 26 | d |
| न तेषां विद्यते क्षेमम् | 22 | 36 | c |
| न त्यजेन्म्रियमाणोऽपि | 29 | 78 | c |
| न त्वं विदर्भदुहिता | 28 | 60 | a |
| न त्वादि विष्ठांस्त्रिदशां | 23 | 22 | c |
| नदत्सु यातुधानेषु | 10 | 15 | a |
| नदत्स्वमरतूर्येषु | 23 | 24 | c |
| नदद्विहङ्गालिकुल | 25 | 17 | c |
| न धारयिष्ये शितिं | 4 | 18 | b |
| ननाम तत्रार्ध | 8 | 82 | c |
| ननाम नामानि | 12 | 21 | c |
| ननाम मातारौ शीर्ष्णा | 9 | 45 | c |
| न निष्क्रमति ब्रह्म | 7 | 35 | d |
| न नौ पश्यन्ति | 28 | 62 | c |
| नन्दा चालकनन्दा च | 6 | 24 | a |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नन्दीश्वरो रोषकषाय | 2 | 20 | b | नमः कमलपादाय | 30 | 25 | c |
| नन्वकस्यापराधन | 11 | 9 | a | नमः कमलमालिने | 30 | 25 | b |
| न पतिस्त्व पुरञ्जन्याः | 28 | 60 | c | नमः पङ्कजनाभाय | 24 | 34 | a |
| न परं विन्दते मूढः | 25 | 6 | c | नमः परमहंसाय | 24 | 36 | c |
| न प्रतस्थे सुहृत् | 20 | 21 | d | नमः परस्मै पुरुषाय | 17 | 29 | a |
| न प्रत्यूषेधन्मृत | 4 | 30 | d | नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे | 17 | 33 | d |
| न प्रायेण बुभूषताम् | 6 | 4 | d | नमः पुण्याय लोकाय | 24 | 40 | c |
| न बन्धाय गृहा | 30 | 19 | d | न मायिनां वेद चिकीर्षितं | 10 | 21 | d |
| न बुधस्तद्वशं गच्छेत् | 11 | 32 | c | न मुञ्चस्यात्मरुद्धानि | 17 | 24 | c |
| न ब्रह्मबन्धुषु च वां | 7 | 13 | c | न मुह्यन्ति न शोचन्ति | 30 | 20 | c |
| न भजति कुमनीषिणां | 31 | 22 | a | न मे भागवतानां च | 24 | 30 | c |
| न भजति निजभृत्य | 31 | 23 | c | नमो जगत्स्थानलयोदयेषु | 30 | 23 | c |
| न भवानवधीद्यक्षान् | 12 | 3 | a | नमोऽधर्म विपाकाय | 24 | 41 | c |
| नभसोऽवतरद्ध्रुवः | 12 | 19 | b | नमो धर्माय बृहते | 24 | 42 | c |
| नभस्वतो दिक्षु | 10 | 22 | d | नमो नमः क्लेशविनाश | 30 | 22 | a |
| न भिन्ने श्रयते हृदि | 8 | 39 | d | नमो नमोऽनिरुद्धाय | 24 | 36 | a |
| नभो विमानैः कलहंस | 3 | 12 | d | नमोऽन्तर्बहिरात्मने | 24 | 40 | b |
| नम ऊर्ज इषे त्रय्याः | 24 | 38 | a | नमोऽयुङ्क्ष्महि साक्षिणे | 30 | 26 | d |
| न मनः स्प्रष्टुमर्हति | 29 | 67 | d | नमो वाचो विभूतये | 24 | 43 | f |
| न मन्यते स्वयमनु | 7 | 34 | d | नमो विवृद्धसत्वाय | 21 | 51 | a |
| न मय्यनाशिते भुङ्क्ते | 28 | 19 | a | नमो विशुद्धसत्वाय | 30 | 24 | a |
| नमस्कृतः प्राह | 6 | 41 | c | नमो विश्वप्रबोधाय | 24 | 35 | c |
| नमस्त आशिषामीश | 24 | 42 | a | नमो हिरण्यवीर्याय | 24 | 37 | c |
| नमस्ते कमलेक्षण | 30 | 25 | d | न यक्षा भ्रातरं तव | 12 | 3 | b |
| नमस्ते श्रितवसत्त्वाय | 7 | 40 | a | न यत्र भागं तव | 6 | 50 | c |
| नमस्त्रैलोक्यपालाय | 24 | 39 | c | न यत्र युष्मच्चरण | 20 | 25 | b |
| नमस्समाय शुद्धाय | 30 | 42 | a | न यत्रात्मप्रदो हरिः | 31 | 12 | d |
| नमस्सर्वरसात्मने | 24 | 38 | d | न यष्टव्यं न दातव्यं | 14 | 6 | a |
| नमस्स्वरूपानुभवेन | 17 | 29 | c | न यस्य चित्तं बहि | 24 | 59 | a |
| नमः कमल किञ्जल्क | 30 | 26 | a | न यस्य लोके | 4 | 11 | a |
| नमः कमलनाभाय | 30 | 25 | a | न यावन्महतां तेजः | 11 | 34 | c |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| न युज्यतेऽत्रान्यवधः | 19 | 27 | d | न वेदवादाननुवर्तते | 4 | 19 | a |
| नरदेव नरोत्तमाः | 20 | 3 | b | न वै चिकीर्षितं तातः | 11 | 23 | c |
| नरदेव वपुर्हीरः | 16 | 8 | b | न वै तथा चेतनया | 21 | 40 | e |
| नरदेव वरासनम् | 14 | 32 | b | न वै मुकुन्दस्य | 9 | 36 | a |
| नरदेवेह भवतः | 13 | 31 | a | न वै सतां त्वच्चरणा | 6 | 46 | a |
| नरनाथ न जानीम | 26 | 17 | a | न वै स्वपक्षोऽस्य | 11 | 20 | a |
| नर नारयाणा वृषी | 1 | 52 | b | न व्यक्तो भीमसैनिकः | 27 | 30 | d |
| न राति न तदिच्छति | 27 | 25 | d | न व्यचष्टवरारोहां | 26 | 13 | c |
| नरा नार्यश्च मानद ! | 25 | 35 | b | न व्यवद्धृदये यज्ञः | 30 | 20 | a |
| नरो नार्यथवाऽऽहता | 23 | 33 | b | न शशाकोषितुं तत्र | 28 | 14 | a |
| न लक्ष्यते यस्त्वकरोद् | 17 | 32 | c | नश्यत्यमुं सर्वगुणा | 21 | 42 | d |
| नलिनी तट सम्पदि | 25 | 18 | d | नष्टप्रज्ञो व्रजत्यधः | 26 | 8 | d |
| नलिनी नालिनी च | 25 | 48 | a | नष्टप्रज्ञो हतैश्वर्यो | 28 | 6 | c |
| नलिनी नालिनी नासे | 29 | 11 | c | नष्टमाप पुनस्स्मृतिम् | 28 | 64 | d |
| नलिनी पुलिनश्रियम् | 6 | 21 | d | नष्टशौचा मूढधियो | 2 | 29 | a |
| नलिनीषु कलं कूजत् | 6 | 19 | c | नष्ट शौचाय दुर्हृदे | 2 | 16 | b |
| न लेभे गुणशीलतः | 1 | 64 | d | न सन्ति मतिवृत्तयः | 22 | 14 | d |
| न लेभे तत्प्रतिक्रियाम् | 28 | 8 | d | न सम्यगवगम्यते | 29 | 1 | b |
| नव कुङ्कुमपिञ्जरम् | 6 | 26 | b | न सरति च्छिद्रवत् | 31 | 21 | d |
| न वत्स नृपतेर्धिष्ण्यं | 8 | 12 | a | न संसृतिं क्लेशवहां | 21 | 31 | d |
| नवद्वारं द्विहस्ताङ्घि | 29 | 4 | c | न साधवो दैवबलात् | 6 | 48 | d |
| न वध्यो भवतामिन्द्रः | 19 | 30 | a | न साधु मेने ताः | 25 | 12 | a |
| नव ब्रह्मर्षि पत्नयः | 1 | 12 | b | न स्यात्कृतत्वच्चरणैः | 20 | 28 | d |
| नवमे नवमेऽहनि | 8 | 77 | b | न स्युस्तद्वद्धुरात्मनः | 20 | 8 | b |
| न वयं कर्ममोहिताः | 29 | 1 | d | न स्वर्गं नापुनर्भवम् | 24 | 57 | b |
| न विक्रियन्ते मयि | 20 | 13 | d | न स्वर्गं नापुनर्भवम् | 30 | 34 | b |
| न विदाम ततः परम् | 25 | 34 | b | न हृष्यन्ति यतो गता | 30 | 20 | d |
| न विदाम वयं सम्यक् | 25 | 33 | a | न होतव्यं द्विजाः क्वचित् | 14 | 6 | b |
| न विदामेह देवानां | 13 | 28 | a | न ह्यन्तस्त्वद्विभूतीनाम् | 30 | 31 | c |
| न विदुर्मृगयन्तोऽपि | 8 | 34 | c | न ह्यसन्तोषहेतवः | 8 | 31 | b |
| न वृणीत पतिं प्राप्तं | 25 | 41 | c | नागच्छन्त्याहुता देवाः | 13 | 30 | a |

| | | | |
|---|---|---|---|
| नागपुन्नागचम्पकैः | 6 | 15 | b |
| नागा गावः खगा मृगाः | 15 | 12 | b |
| नागोयं पालयन्पुरीम् | 25 | 35 | d |
| नाग्रहीषमसत्तमः | 9 | 32 | d |
| नाङ्गस्य वंशो राजर्षेः | 14 | 42 | a |
| नाजग्मुर्देवतास्तस्मिन् | 13 | 25 | c |
| नाज्ञानान्न च मत्सरत् | 2 | 9 | d |
| नाज्यते गुणकर्मभिः | 11 | 25 | d |
| नाज्यते प्रकृतिस्थोऽपि | 20 | 9 | c |
| नाट्यं सुगीतं वादित्रं | 15 | 19 | a |
| नातः परतरो लोके | 22 | 32 | a |
| नातः परं परम वेद्मि | 9 | 13 | d |
| नातिप्रीतोऽभ्यगात्पुरम् | 9 | 27 | d |
| नात्मनोऽन्यं तदैक्षत | 13 | 9 | d |
| नात्मन् श्रितं तव विद- | 7 | 30 | c |
| नात्मानमस्मरदसाविति | 12 | 18 | d |
| नात्यद्भुतमिदं नाथ | 21 | 49 | a |
| नाथ ! त्वत्परतः परात् | 30 | 31 | b |
| नादण्ड्यं दण्डयत्येषः | 16 | 13 | a |
| नादत्त पित्रा प्रतिनन्दिता | 4 | 8 | d |
| नाद्यं तावन्मनाक्स्थितम् | 13 | 31 | b |
| नाद्यं प्रजेश बालानां | 7 | 2 | a |
| नाद्राक्षीत्किञ्चनापरम् | 8 | 80 | d |
| नाधुनाप्यवमानं ते | 8 | 30 | a |
| नानाकन्दरसानुभिः | 6 | 11 | b |
| नानाकामो यथा भवान् | 27 | 11 | d |
| नानाद्रुमलता गुल्मैः | 6 | 10 | c |
| नानाधातुविचित्रितैः | 6 | 10 | b |
| नानाधातून् स्वसानुषु | 18 | 25 | d |
| नानामणिमयैः शृङ्गैः | 6 | 10 | a |
| नानामलप्रस्रवणैः | 6 | 11 | a |

| | | | |
|---|---|---|---|
| नानामृगगणावृतैः | 6 | 10 | d |
| नानायुधैर्वामनकैरुदायुधैः | 5 | 13 | b |
| नानारण्यमृगव्रातैः | 25 | 19 | a |
| नानाशक्त्युदयस्य च | 11 | 23 | b |
| नानुभूतं क्वचानेन | 29 | 66 | a |
| नानुरूपं यदाऽविन्दत् | 25 | 11 | c |
| नानुविन्दन्ति ते भद्रम् | 14 | 24 | c |
| नानेव दारुषु विभावसुवद् | 9 | 7 | d |
| नान्यद्वेदोद्वहन् रतिम् | 28 | 39 | d |
| नान्यं ततः पद्मपलाश | 8 | 24 | a |
| नान्यैरधिष्ठितं भद्र ! | 9 | 20 | a |
| नाभिद्रुह्यन्ति भूतेभ्यः | 20 | 3 | c |
| नाऽभिनन्दति लोकोऽयं | 27 | 28 | c |
| नाभ्यनन्दमसत्तमः | 8 | 70 | d |
| नाभ्यावर्तगभीरया | 24 | 50 | d |
| नाभ्यां कोष्टेष्ववस्थाप्य | 23 | 14 | c |
| नामधेयं ददुस्तस्मै | 19 | 18 | c |
| नामभिर्ब्रह्मवादिभिः | 1 | 61 | b |
| नामभिर्वा क्रियागुणैः | 29 | 3 | d |
| नामानि नृप वर्णये | 25 | 46 | d |
| नामृष्यत्तदनादृतः | 2 | 8 | b |
| नायमर्हत्यसद्वृत्तः | 14 | 32 | a |
| नायं मार्गो हि साधूनां | 11 | 10 | a |
| नायं वीरस्सुहृत्तव | 28 | 60 | b |
| नारदस्तदुपाकर्ण्य | 8 | 25 | a |
| नारदं देव दर्शनम् | 13 | 3 | b |
| नारदाय प्रवोचन्तं | 6 | 37 | c |
| नारदेनेरितः किल | 13 | 4 | d |
| नारदाऽध्यात्मतत्त्वज्ञः | 25 | 3 | c |
| नारदा भगवानृषिः | 12 | 39 | b |
| नारदो हंसयोर्गति | 29 | 82 | b |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नारायणश्च विश्वात्मा | 6 | 3 | c | निपेतु स्सर्वतो दिशम् | 10 | 25 | b |
| नालं वयं ते महिमा | 16 | 2 | a | निबोध गदतो मम | 25 | 9 | d |
| नावध्येयः प्रजापालः | 13 | 23 | a | निबोध नृपसत्तम ! | 31 | 27 | d |
| नाविन्दतार्तिं परिकर्शितापि | 23 | 20 | c | निबोध श्रावितश्च मे | 18 | 2 | b |
| नाविन्दत्तम आविष्टः | 28 | 25 | c | निबोधाङ्गिरसः प्रजाः | 1 | 33 | d |
| नाशक्नोत् त्र्यम्बकस्तदा | 5 | 22 | d | निमित्तमन्यद्भगवन् | 20 | 30 | d |
| नाशक्नोदनुरागतः | 7 | 11 | b | निमित्तमात्रं तत्रासीत् | 11 | 17 | a |
| नाश्चर्यमेतद्यदसत्सु | 4 | 13 | a | निमित्तं सोऽन्वपद्यत | 17 | 12 | d |
| नासज्जतेन्द्रियार्थेषु | 22 | 52 | c | निमित्ते सति सर्वत्र | 22 | 29 | a |
| नासां वरोर्वन्यतमासि | 25 | 29 | a | निमील्य दृग्योगपथं | 4 | 24 | d |
| नास्नाते स्नातिमत्परा | 28 | 19 | b | निमील्य मुनि रक्षिणी | 1 | 25 | d |
| नास्मत्कुलोचितं तात ! | 11 | 8 | a | निम्नजानुसुदर्शनम् | 24 | 51 | d |
| नास्मांस्तत्पातकं स्पृशेत् | 14 | 11 | d | निम्नमाप इव स्वयम् | 9 | 47 | d |
| नास्मिन्भवे भ्रमति मुक्त- | 29 | 86 | d | नियतेनैकभूतेन | 8 | 54 | c |
| नाहं न यक्षो न च यूयमन्ये | 6 | 7 | a | नियमे न्यस्तभूषणः | 21 | 18 | b |
| नहिं मखैर्वै सुलभस्तपोभिः | 20 | 17 | c | निरङ्कुश इव द्विपः | 14 | 5 | b |
| नाहं ममेति भावोऽयं | 29 | 72 | a | निरन्तरं क्षोणितले | 21 | 35 | d |
| नाहं वेदापरेऽपि वा | 7 | 40 | d | निरन्धसां कालमदभ्र- | 30 | 40 | b |
| निकषाश्मोरसोल्लसत् | 24 | 49 | d | निरस्त तेजस्सु तदेव | 4 | 13 | d |
| निकृतिश्च महामते | 8 | 3 | b | निरस्तसङ्कल्पविकल्पं | 31 | 19 | a |
| निकृत्तबाहूरुशिरो धरो | 11 | 5 | b | निरहम्मति रर्कवत् | 22 | 52 | d |
| निगृह्य देवी जगतोऽभि | 4 | 10 | d | निराशीः श्रद्धयान्वितः | 20 | 10 | b |
| निजघ्नुर्हुङ्कृतै र्वेनं | 14 | 34 | c | निरीक्ष्यावधुतां भुवि | 26 | 18 | b |
| निजजनवशगत्वमात्मनो | 31 | 21 | c | निरीहया द्वन्द्वतितिक्षया | 22 | 24 | d |
| नितरामश्रमोत्तमी | 8 | 5 | d | निरूढेन ममत्वेन | 27 | 10 | c |
| नित्यदा स्यादधीयतः | 29 | 39 | d | निरूपितः प्रजापालः | 14 | 11 | a |
| नित्यं शुचिषदे नमः | 24 | 37 | b | निरूपिता मानुगृहाण | 3 | 14 | d |
| नित्यं हरि र्यच्चरणाभिवन्द- | 21 | 37 | b | निरूपितोदारगुणाह्व- | 30 | 22 | b |
| निदधे स दयान्वितः | 30 | 14 | d | निरूप्यन्तेऽग्रयस्तु ते | 1 | 61 | d |
| निनाय लोकं परमर्क- | 11 | 5 | c | निर्ऋति र्गुद उच्यते | 29 | 18 | d |
| निपेतुर्गगनादस्य | 10 | 24 | c | निर्ऋति र्जगृहेऽप्रजः | 8 | 2 | d |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| निर्ऋतिर्नाम पश्चाद्वाः | 25 | 53 | a | निशम्य देहः सुरवर्य | 3 | 13 | b |
| निर्गतेन मुनेर्मूर्ध्नः | 1 | 21 | c | निशम्य परिदेवितम् | 17 | 12 | b |
| निर्गुणः पुरुषर्षभः | 11 | 17 | b | निशम्य यवनेश्वरः | 27 | 27 | b |
| निर्गुणाय च यत्काष्ठां | 7 | 40 | c | निशम्य वैकुण्ठनियोज्य | 12 | 28 | a |
| निर्गुणोऽसौ गुणाश्रयः | 20 | 7 | b | निशामय सुनिश्चितम् | 29 | 54 | b |
| निर्घृणेन सहस्रशः | 25 | 7 | d | निशामयास्मद्वचः | 19 | 34 | b |
| निर्जुष्टं मृगनाभिभिः | 6 | 21 | b | निशाम्य भगवान्भृगुः | 4 | 32 | b |
| निर्द्वन्द्वोऽनिलभोजनः | 1 | 19 | d | निशाम्योदायुधं च तं | 17 | 14 | b |
| निर्धनो धनवित्तमः | 23 | 33 | d | निशीथ उत्थाय | 13 | 47 | b |
| निर्नीडस्तापवर्जितः | 6 | 32 | d | निश्चक्राम ततः किञ्चित् | 2 | 33 | c |
| निर्बन्धस्तव निष्फलः | 8 | 35 | b | निश्चक्राम पितुः पुरात् | 8 | 25 | d |
| निर्यापितो यज्ञमहोत्सवः | 3 | 8 | b | निश्चक्राम पुरात्तूर्णं | 9 | 40 | c |
| निर्वाकपेशस्करावुभौ | 25 | 54 | b | निषसाद तदाज्ञया | 2 | 7 | d |
| निर्वासितः पञ्चवर्षः | 8 | 68 | c | निषिध्यमानस्स | 2 | 19 | a |
| निर्विण्णो निरगात्पुरात् | 13 | 18 | d | निषीदेत्यब्रुवंस्तात | 14 | 45 | c |
| निर्विद्य निरयादतः | 30 | 18 | d | निषेवितं ब्रह्मरसासव- | 4 | 15 | b |
| निर्विद्येत गृहान्मर्त्यः | 13 | 46 | c | निष्ककण्ठीस्सुवाससः | 3 | 6 | d |
| निर्विन्ध्याया स्समन्ततः | 1 | 18 | d | निष्क्रामती निर्विशती | 4 | 1 | d |
| निर्विषङ्ग स्समाहितः | 22 | 51 | b | निष्क्रामन्तं सहानुगम् | 24 | 24 | b |
| निर्वृत्या परया तूर्णं | 8 | 55 | c | निष्पादितश्च कार्त्स्न्येन | 22 | 43 | a |
| निर्वैरं यत्र भूतेषु | 30 | 35 | c | निष्पादितेश्वरादेशः | 23 | 2 | c |
| निर्वैरं शान्तविग्रहम् | 2 | 2 | b | निसृष्टभाण्डं यजनं | 4 | 6 | d |
| निर्लिल्युर्दस्यवस्सद्यः | 14 | 3 | c | निस्सङ्गस्समदर्शनः | 13 | 7 | b |
| निवर्तयिष्ये प्रतियात | 8 | 85 | b | निस्सङ्गेनोरुजन्मभिः | 8 | 34 | b |
| निवारयामसुरहो | 19 | 27 | c | निःश्रेयसकरं चाऽपि | 24 | 31 | c |
| निवासान्कल्पयाञ्चक्रे | 18 | 30 | c | नीयमान स्स्वकं क्षयम् | 28 | 23 | b |
| निवृत्तो गृहमेयिवान् | 26 | 11 | b | नीलरक्तोत्पलाम्भोज | 24 | 21 | a |
| निशम्य कौषारविणा | 13 | 1 | a | नीलस्फटिकवैदूर्य | 25 | 15 | a |
| निशम्य गदतामेवं | 11 | 1 | a | नीलालकभ्रमरमण्डित | 7 | 20 | b |
| निशम्य तत्पौरमुखात् | 8 | 16 | c | नीलालकालिभिरुपस्कृत | 26 | 23 | c |
| निशम्य तस्य मुनयः | 10 | 29 | c | नीहारादिव भास्करः | 10 | 15 | d |

| | | | |
|---|---|---|---|
| नूनञ्जनैरीहितमीश्वराणां | 17 | 36 | a |
| नूनता कृतपुण्यास्ते | 26 | 21 | a |
| नूनं बतेशस्य समीहितं | 17 | 32 | a |
| नूनं भवान् भगवतः | 8 | 41 | a |
| नूनं विमुष्टमतयः | 9 | 9 | a |
| नूनं वेद भवान्यस्य | 8 | 13 | c |
| नूनं सुनीतेः पतिदेवतायाः | 12 | 40 | a |
| नूपुरै र्देवतामिव | 25 | 23 | d |
| नृणां येन हि विश्वात्मा | 31 | 9 | c |
| नृत्यन्ति स्म स्त्रियो देव्यः | 1 | 54 | c |
| नृपरूपिण मीश्वरम् | 14 | 24 | b |
| नृपवर्य निबोधैतत् | 14 | 14 | a |
| नृपः सन्दर्शितात्मने | 20 | 40 | b |
| नृपाणां तद्वधोऽवधः | 17 | 26 | d |
| नेच्छन्ननुकरोत्यज्ञः | 25 | 62 | c |
| नेच्छं स्तत्रात्मनाऽऽत्मानं | 12 | 49 | c |
| नेतरा यत्सुतो ध्रुवः | 8 | 9 | d |
| नेतुं त्वां भगवत्पदम् | 12 | 24 | d |
| नेत्रजैस्सलिलैश्शिवैः | 9 | 50 | b |
| नेत्रे एकत्र निर्मिते | 29 | 10 | d |
| नेदुर्दुन्दुभयो दिवि | 15 | 8 | b |
| नेष्ये भवद्गुणकथा | 9 | 11 | d |
| नेहतेऽहमिति ज्ञानं | 29 | 73 | c |
| नैकान्ततः प्रतीकारः | 29 | 35 | a |
| नैच्छन्मुक्तिमपेतर्मुक्तिं | 9 | 29 | c |
| नैतज्जानन्त्युपाध्यायाः | 29 | 58 | c |
| नैतत्स्वरूपं भवतोऽसौ | 7 | 31 | a |
| नैतादृशानां स्वजन | 3 | 18 | a |
| नैते गृहान् ब्रह्मसुताः | 8 | 1 | c |
| नैतेन देहेन हरे | 4 | 22 | a |
| नैव दो ग्ध्यौ घसं पयः | 17 | 23 | b |
| नैव लक्षयते लोकः | 22 | 9 | a |
| नैवं विदामो भगवन् | 8 | 84 | a |
| नैवात्मनो बहिरन्तः | 22 | 27 | b |
| नैवात्मनो महेन्द्राय | 19 | 33 | a |
| नैवाधिगन्तुं प्रभवन्ति | 12 | 40 | d |
| नैवाभिभवितुं शक्यः | 16 | 11 | c |
| नैष्कर्म्यं साधयन्त्युत | 23 | 27 | b |
| नैष्ठिका सनकादयः | 29 | 43 | b |
| नोत्सहे सुरुचेर्वाचा | 8 | 29 | c |
| नोद्वगो यत्र कश्चन | 30 | 35 | d |
| नोपयात्यपयाति च | 29 | 78 | b |
| नोपादृश्यत तच्छन्नः | 10 | 13 | c |
| न्यवसंद्दिवि देववत् | 9 | 60 | d |
| न्यवेदयन्पौरवभर्तृविप्लवम् | 13 | 49 | d |
| न्यहनन्निसितैर्बाणैः | 26 | 5 | c |
| न्यासस्वाध्याययोरिव | 31 | 12 | b |
| **प** | | | |
| पञ्चद्वारस्तु पौरस्त्या | 25 | 46 | a |
| पञ्चप्रकृति स्त्रीधवम् | 28 | 56 | d |
| पञ्चप्रस्थ मगाद्वनम् | 26 | 3 | d |
| पञ्चप्रहरणं सप्त | 26 | 2 | c |
| पञ्चमे मास्यनुप्राप्ते | 8 | 79 | a |
| पञ्चवृत्तिर्यथोरगः | 29 | 6 | d |
| पञ्चशीर्षाहिना गुप्तां | 25 | 21 | a |
| पञ्चसूनाविनोदकृत् | 29 | 24 | d |
| पञ्चात्मकं योनमिव | 22 | 26 | d |
| पञ्चारामं नवद्वारम् | 28 | 56 | a |
| पञ्चार्चिष्यात्मसम्मतान् | 22 | 53 | d |
| पञ्चेन्द्रियार्थ प्रक्षेपः | 29 | 23 | c |
| पञ्चेन्द्रियार्था आरामाः | 28 | 57 | a |
| पण्डितो बहु मन्येत | 13 | 45 | c |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पतद्भिरसहिष्णुभिः | 9 | 32 | d | पद्मोत्पलकुमुद्वतीः | 9 | 64 | b |
| पतये यज्ञ रेतसे | 24 | 38 | b | पनसोदुम्बराश्वत्थ | 6 | 17 | a |
| पतितानां स्वकर्मभिः | 22 | 13 | d | पयश्छन्दोमयं शुचि | 18 | 14 | d |
| पतिता पादयोर्भर्तुः | 28 | 49 | c | पयः फेननिभाः शय्याः | 9 | 61 | a |
| पितरात्म समाधिना | 27 | 28 | b | पयःस्तनाभ्यां सुस्राव | 9 | 50 | a |
| पतिलोकं गता वधूः | 23 | 29 | b | परमात्मन् विपश्चिताम् | 24 | 68 | b |
| पतिं परमधर्मज्ञं | 28 | 43 | a | परमात्माऽऽत्मनः परः | 20 | 7 | d |
| पतिं भूतपतिं देवम् | 3 | 7 | c | परमात्मानमात्मदृक् | 24 | 7 | b |
| पतिः प्रमथभूतानां | 2 | 15 | e | परमेण समाधिना | 1 | 3 | d |
| पत्नी दाक्षायणी स्वधा | 1 | 62 | d | परमोऽनुग्रहो दण्डो | 26 | 22 | a |
| पत्नी मरीचेस्तु कला | 1 | 13 | a | परस्तात्कल्पवासिनाम् | 9 | 21 | b |
| पत्नी वा पतिदेवता | 26 | 15 | b | परस्ताद्यद् ध्रुवगतिः | 12 | 34 | c |
| पत्नीशालामथापरे | 5 | 14 | b | परस्य पुंसः परमात्मनः | 24 | 79 | b |
| पत्न्यङ्गनाशं ह्युभयत्र | 4 | 1 | b | परस्य मृत्योर्विशतः | 11 | 20 | b |
| पत्न्यामर्धं इवात्मनः | 16 | 17 | b | परं कर्मापविद्धधीः | 25 | 5 | b |
| पत्न्यार्चिषालङ्कृतया | 15 | 13 | c | परं किमत्रास्ति मुखं | 21 | 39 | d |
| पत्न्यां पुत्रानजीजनत् | 1 | 43 | b | परं ब्रह्म तथाऽऽत्मनि | 28 | 42 | b |
| पत्न्यां मनुमवाप ह | 13 | 15 | b | परं यदुभयोरपि | 22 | 28 | b |
| पत्युः पृथिव्या दयितस्य | 23 | 21 | b | परात्मनो र्यदव्यवधानं | 22 | 27 | c |
| पथि वैमानिकैः सुरैः | 12 | 33 | b | परान् दुरुक्तैः | 6 | 47 | c |
| पदा शरत्पद्मपलाश- | 24 | 52 | a | पराऽवरे च ये भावाः | 22 | 36 | a |
| पदा स्पृशन्तं क्षितिमंस | 20 | 23 | c | परिक्रमन्तीमुद्वाहे | 24 | 11 | e |
| पदं गुरोर्मार्गगुरुः | 24 | 52 | d | परिखैः रक्षतोरणैः | 25 | 14 | b |
| पदं जितात्मश्वसनाभि | 8 | 21 | d | परिचर्यमाणो भगवान् | 8 | 62 | c |
| पदं त्रिभुवनोत्कृष्टं | 8 | 40 | a | परिचर्या भगवतः | 8 | 61 | a |
| पदं परं द्वेष्टि यथा | 3 | 21 | d | परिचर्या विधिहरेः | 13 | 3 | d |
| पदं यथाहं विबुधाः | 24 | 29 | d | परितुष्टात्मभिस्तात | 7 | 6 | c |
| पद्भ्यां क्वणद्भ्यां चलतीं | 25 | 23 | c | परितुष्टोऽस्मि तेऽनघ ! | 12 | 2 | b |
| पद्भ्यां नखमणिश्रेण्या | 8 | 53 | a | परितुष्यति विश्वात्मा | 14 | 19 | c |
| पद्मकोश पलाशाक्षं | 24 | 46 | a | परितुष्येत्ततस्तात | 8 | 32 | a |
| पद्मकोशरजो दिक्षु | 24 | 22 | c | परित्यक्तगुणः सम्यक् | 20 | 11 | a |

| | | | |
|---|---|---|---|
| परिम्लानमुखाम्बुजम् | 8 | 69 | d |
| परिरेभेऽङ्गजं दोर्भ्यां | 9 | 43 | a |
| परिवीयोपवीय च | 21 | 17 | d |
| परिवृत्या विलुम्पन्ति | 27 | 14 | c |
| परिश्रुतोरुश्रववसं | 9 | 5 | d |
| परिष्वज्याह जीवेति | 9 | 46 | c |
| परीत्याभ्यर्च्य धिष्ण्या | 12 | 29 | a |
| परे ब्रह्मणि चात्मानं | 28 | 42 | a |
| परेऽमले ब्रह्मणि योजिता | 31 | 3 | c |
| परोक्षं न प्रकाशते | 29 | 61 | d |
| परोदयेनार्पितहृद्रुजो | 6 | 47 | b |
| पर्जन्य इव तर्पयन् | 22 | 57 | d |
| पर्जन्यनादरुतया | 30 | 7 | d |
| पर्जन्यो धनदः सोमः | 14 | 26 | c |
| पर्यकृताचलच्छायः | 6 | 32 | c |
| पर्यटन्तीं नबर्हिष्मन् | 27 | 19 | c |
| पर्यटन् रथमास्थाय | 14 | 5 | c |
| पर्यस्तोऽमात्यबन्धुभिः | 9 | 39 | d |
| पर्यस्यते दक्षिणतो यथार्कः | 16 | 21 | d |
| पर्यस्तं नन्दया सत्याः | 6 | 22 | a |
| पर्याप्लवद्भिर्विदुर | 5 | 13 | d |
| पलाशोककानने | 1 | 18 | b |
| पवित्रकिर्तिं तम् | 4 | 14 | c |
| पवित्रं मङ्गलं परम् | 24 | 31 | b |
| पशवो यवसं क्षीरं | 18 | 23 | a |
| पशुमारममारयत् | 13 | 41 | d |
| पशुवद्भूतवैशसम् | 11 | 10 | d |
| पशुवद्यवनैरेष | 28 | 23 | a |
| पशूनां स पतिर्मुखे | 5 | 24 | b |
| पशून् पश्य त्वया | 25 | 7 | b |
| पश्चात्तापमुपेयिवान् | 9 | 29 | d |
| पश्चिमे इत्यधोद्वारौ | 29 | 10 | a |
| पश्चिमे द्वे अमूषां ते | 25 | 46 | c |
| पश्यतास्मानतीत्यार्चिः | 23 | 26 | c |
| पश्यतां राज पुत्राणां | 25 | 1 | c |
| पश्यतोऽन्तर्दधे सोऽपि | 12 | 9 | c |
| पश्यन्तं परमेश्वरम् | 29 | 45 | d |
| पश्यन्तः पशुसात्मताम् | 14 | 1 | d |
| पश्यन्ति नानात्वमपि | 16 | 20 | d |
| पश्यन्तीनां दुहितॄणां | 5 | 9 | c |
| पश्यन्तोऽपि न | 29 | 45 | c |
| पश्यन् कर्माणि | 16 | 12 | b |
| पश्यन्त्या मनुपश्यति | 25 | 60 | b |
| पश्यन् पद्मपलाशाक्षः | 20 | 21 | c |
| पश्य प्रयान्तीरभवान्य | 3 | 12 | a |
| पश्यंस्तदात्मकं विश्वं | 29 | 81 | a |
| पश्ये न वीतभयमुन्मुदितं | 26 | 24 | b |
| पश्येस्तनावपि शुचा | 26 | 25 | c |
| पस्पर्श पादयुगलम् | 26 | 20 | c |
| पस्पर्श बालं कृपया | 9 | 4 | d |
| पाञ्चालानरिदूषितान् | 28 | 8 | b |
| पाञ्चालाः पञ्चविषयाः | 29 | 7 | c |
| पाञ्चालेषु समेधितः | 27 | 9 | d |
| पाञ्चालेषु स्वपार्षदैः | 27 | 18 | b |
| पाटलाशोकवकुलैः | 6 | 15 | c |
| पाणिना प्राह विस्मितः | 8 | 26 | d |
| पाणिः मर्कटलोचनः | 2 | 12 | b |
| पाणिं विप्राग्निमुखतः | 2 | 11 | c |
| पाण्ड्यः परपुरञ्जयः | 28 | 29 | d |
| पातितस्य रुषा भुवि | 5 | 20 | b |
| पात्रे पद्ममये पयः | 18 | 17 | b |
| पादतीर्थविवार्जिताः | 22 | 11 | d |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पादपद्मं च जानुनि | 6 | 38 | b | पित्रैः पिशङ्गैर्मकर | 5 | 13 | c |
| पादमूलं विना बहिः | 24 | 55 | d | पितरि प्रस्थिते वनम् | 13 | 6 | b |
| पादयोररविन्दं च | 15 | 10 | a | पितर्यप्रतिरूपे स्वे | 1 | 65 | a |
| पादसेवोपसादितम् | 9 | 27 | b | पितुरादेशकारिणः | 30 | 3 | b |
| पादस्पर्शमिवोरगाः | 10 | 10 | b | पितुर्यज्ञमुपेयिवान् | 19 | 17 | d |
| पादारविन्दस्य गुणानु | 22 | 20 | b | पितृदेवद्विजातयः | 21 | 44 | d |
| पादावनतमर्भकम् | 9 | 46 | b | पितृदेवर्षयोऽमलाः | 21 | 25 | d |
| पादोन विटपायतः | 6 | 32 | b | पितृदेवर्षिमर्त्यानां | 25 | 40 | b |
| पादौकस्ते शरणद | 7 | 28 | d | पितृदेवर्षिमानवाः | 19 | 42 | d |
| पापच्यमानेन हृदा | 3 | 21 | a | पितृदेवाय कर्मणे | 24 | 41 | b |
| पापः प्रकृतिदारुणः | 14 | 31 | b | पितृभ्य एकां युक्तेभ्यः | 1 | 48 | c |
| पापीयानुत्पथं गतः | 14 | 29 | b | पितृभ्रातृ यशस्करीः | 27 | 7 | b |
| पाययन्तो गजा गजीः | 6 | 26 | d | पितृयज्ञमथाव्रजत् | 19 | 22 | b |
| पारक्यबुद्धिं कुरुते | 7 | 53 | c | पितृयानं देवयानम् | 29 | 17 | c |
| पारिजातेङ्गसा लब्धे | 30 | 32 | a | पितृवंशविवर्धनम् | 27 | 8 | b |
| पारोक्ष्येण प्रदर्शितम् | 28 | 65 | b | पितृहूर्दक्षिणः कर्णः | 29 | 13 | a |
| पार्थवीं गतिमाप्नुयात् | 23 | 38 | d | पितृहूर्नाम पुर्याद्वा | 25 | 50 | a |
| पार्श्वभ्रमद्व्यजन- | 7 | 21 | c | पित्रा च देवे कृतहेलनं | 4 | 9 | b |
| पार्षत्प्रधानाविति | 12 | 21 | d | पित्राऽऽदिष्टा प्रजासर्गे | 24 | 14 | a |
| पार्षदप्रवरा हरेः | 19 | 5 | d | पित्रा मामनुवर्तता | 30 | 15 | b |
| पार्षदावभिवन्द्य च | 12 | 29 | b | पित्रोरगात्स्त्रैण विमूढधीः | 4 | 3 | c |
| पार्षदाविह सम्प्राप्तौ | 12 | 24 | c | पिशङ्गनीवीं सुश्रेणीं | 25 | 23 | a |
| पालनेऽवस्थितो | 17 | 18 | d | पिशङ्गामलवाससे | 30 | 26 | b |
| पावकं पवमानं च | 1 | 59 | c | पिशाचाः पिशिताशनाः | 18 | 21 | b |
| पावकः पावमानश्च | 24 | 4 | a | पीतकौशेयवाससम् | 8 | 51 | d |
| पालः पशूनिव विभो | 7 | 14 | d | पीतवासा मणिग्रीवः | 30 | 5 | c |
| पाषण्डिनस्ते भवेयुः | 2 | 28 | c | पीनायताष्टभुजमण्डल | 30 | 7 | a |
| पाषण्डेषु मतिर्नृणाम् | 19 | 24 | d | पीनांसः सुद्विजस्मितः | 21 | 15 | d |
| पाषण्डैरिन्द्रनिर्मितैः | 19 | 35 | d | पीयूषशेषसरितः | 29 | 41 | b |
| पाषण्डैर्हरिभिर्जनम् | 19 | 36 | b | पुण्यकीर्तेः कुरूद्वह | 8 | 7 | b |
| पांसुः समुत्थितो भूरिः | 14 | 38 | c | पुण्यश्रवः कथया | 22 | 22 | d |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पुण्यं मधुवनं यत्र | 8 | 45 | c | पुरञ्जनस्य चरितं | 25 | 9 | c |
| पुण्यं स्वस्त्ययनं महत् | 12 | 44 | b | पुरञ्जनः स्वमहिषीं | 26 | 18 | a |
| पुत्रदार धनार्थधीः | 25 | 6 | b | पुरञ्जनी महाराज | 27 | 1 | c |
| पुत्रदारांश्च लालयन् | 28 | 9 | d | पुरञ्जन्यां पुरञ्जनः | 27 | 6 | b |
| पुत्रपौत्रानुगामात्यान् | 28 | 7 | c | पुरपालोऽन्वतप्यत | 28 | 13 | d |
| पुत्रमुत्कलनामानं | 10 | 2 | c | पुरस्तस्यास्तु द्वे | 25 | 45 | b |
| पुत्रमेवान्वचिन्तयत् | 8 | 73 | d | पुरं लक्षित लक्षणाम् | 25 | 13 | d |
| पत्रं दास्यति यज्ञभुक् | 13 | 32 | d | पुरा कल्पापाये | 7 | 42 | a |
| पुत्रं विततरोचिषम् | 1 | 5 | b | पुरा विश्वसृजां सत्रे | 2 | 4 | a |
| पुत्राणाञ्चाऽभवन्पुत्राः | 27 | 9 | a | पुरा सृष्टा ह्योषधयः | 18 | 6 | a |
| पुत्रानुत्पाादयामास | 22 | 53 | c | पुरीमिमां वीरवरेण | 25 | 29 | b |
| पुत्रान्बर्हिष्मतो नयैः | 30 | 46 | d | पुरीशरण मात्मनः | 25 | 34 | d |
| पुत्रायादान्नृपासनम् | 12 | 14 | d | पुरीं गुह्यकसङ्कुलाम् | 10 | 5 | d |
| पुत्रिकाधर्म माश्रित्य | 1 | 2 | c | पुरीं दिदृक्षन्नपि | 10 | 21 | c |
| पुत्रेण जयते लोकान् | 21 | 45 | a | पुरीं नवमुखीं विभो | 25 | 37 | b |
| पुनराहवनिर्भीता | 18 | 1 | c | पुरीं विहायोपगतः | 28 | 24 | a |
| पुनर्योग गतिं गताः | 24 | 4 | d | पुरुकृच्छ्रोरुवेपथुः | 28 | 14 | b |
| पुनश्च तस्मिन् प्रविशन्ति | 31 | 15 | b | पुरुषस्तु विषज्जेत | 29 | 27 | c |
| पुमानिह विहाय तम् | 29 | 60 | b | पुरुषस्तु सनातनः | 30 | 4 | b |
| पुमान् पश्यति खेचरान् | 8 | 56 | d | पुरुषस्य सखेश्वरः | 29 | 3 | b |
| पुमान् पश्यति नान्यदा | 22 | 28 | d | पुरुषस्यानपायिनी | 15 | 3 | d |
| पुमान् प्रथयिता यशः | 15 | 4 | b | पुरुषं पुरुञ्जनं विद्यात् | 29 | 2 | a |
| पुमान् भुङ्क्तेऽक्षिभिर्गुणान् | 29 | 5 | d | पुरुषं वनमालिनम् | 8 | 50 | b |
| पुम् योष्दुत कलीबः | 17 | 26 | a | पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः | 11 | 14 | b |
| पुमान् शेते सिद्धैर्हृदि | 7 | 42 | c | पुरुषाय पराय च | 30 | 42 | b |
| पुरग्रामादिकल्पना | 18 | 32 | b | पुरुषाय पुराणाय | 24 | 43 | a |
| पुरञ्जनपुरं बलात् | 28 | 3 | b | पुरुषा यदि मुह्यन्ति | 20 | 4 | a |
| पुरञ्जनपुराध्यक्षो | 27 | 16 | c | पुरुषाय महीयसे | 21 | 51 | b |
| पुरञ्जनपुरीं नृप | 28 | 2 | b | पुरुषे व्यवधीयते | 29 | 72 | b |
| पुरञ्जनपुरीं यदा | 27 | 15 | b | पुरुं कुत्सं त्रितं द्युम्नं | 13 | 16 | a |
| पुरञ्जनमतोषयन् | 30 | 3 | d | पुरोडाशं निरवपन् | 7 | 17 | c |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पुरोडाशं निरवपन् | 13 | 35 | c | पूर्णाय निभृतात्मने | 24 | 36 | d |
| पुरो वृषेन्द्रास्तरसा | 4 | 4 | d | पूर्णिमासूत विरजं | 1 | 14 | a |
| पुरोहितामात्यसुहृत् | 13 | 48 | b | पूर्वदेह कथाश्रयम् | 17 | 6 | d |
| पुर्यास्तु बाह्योपवने | 25 | 17 | a | पूषातु यजमानस्य | 7 | 4 | a |
| पुर्यां प्रज्वार संस्पृष्टः | 28 | 13 | c | पूष्णश्चापातयद्दन्तान् | 5 | 21 | a |
| पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः | 29 | 44 | b | पूष्णोदन्ताश्च पूर्ववत् | 6 | 51 | d |
| पुलस्त्योऽजनयत्पत्न्याम् | 1 | 36 | a | पृच्छते श्रृण्वतां सताम् | 6 | 37 | d |
| पुलहस्य गति र्भार्या | 1 | 38 | a | पृथग्धियः कर्मदृशो | 6 | 47 | a |
| पुष्करिण्यां षडुत्तमान् | 13 | 17 | b | पृथग्रसम पयः | 18 | 25 | b |
| पुष्पपर्णैस्तृणोदकैः | 28 | 36 | b | पृथिग्विधद्रव्यगुण | 21 | 33 | b |
| पुष्पाक्षतफलैस्तोक्मैः | 21 | 2 | c | पृथग्विषयगत्यर्थं | 25 | 45 | c |
| पुष्पार्णस्य प्रभा भार्या | 13 | 13 | a | पृथवेभूरिकर्मणे | 19 | 40 | b |
| पुष्पार्णं तिग्मकेतुं च | 13 | 12 | c | पृथुकीर्तेः पृथोर्भूयात् | 19 | 32 | a |
| पुंसः काममुतापरे | 11 | 22 | d | पृथुचरितं प्रथयन् | 23 | 39 | b |
| पुंसः स्वार्थव्यतिक्रमः | 22 | 32 | b | पृथुनोपहृतार्हणः | 20 | 20 | b |
| पुंसाममायिनां सम्यक् | 8 | 63 | a | पृथुपुत्रः पृथुश्रवाः | 24 | 1 | b |
| पुंसां कुशलकर्मणाम् | 30 | 19 | b | पृथुपुत्रो महारथः | 19 | 13 | b |
| पुंसां मोहमृते भिन्ना | 8 | 31 | c | पृथुमेवावरुन्धती | 15 | 5 | b |
| पुंसां श्रेयः प्रसिद्धये | 18 | 3 | d | पृथुराद्यः क्षितीश्वरः | 13 | 20 | d |
| पुंसो दैवं हि कारणम् | 11 | 24 | d | पृथुर्नाम महाराजः | 15 | 4 | c |
| पुंसोऽपि विबुधायुषा | 31 | 10 | d | पृथुवैन्यः प्रतापवान् | 15 | 21 | b |
| पूगपोतैश्च तद्विधैः | 9 | 54 | d | पुथुस्स भगवतमः | 23 | 30 | b |
| पूगपोतैः परिष्कृतम् | 21 | 3 | b | पृथुं पृथुलविक्रमम् | 22 | 1 | b |
| पूजयध्वं गृणन्तश्च | 24 | 70 | c | पृथुं वीरवरं पतिम् | 23 | 23 | b |
| पूजयन्तश्चसंयताः | 24 | 15 | d | पृथुः पृथुपराक्रमः | 16 | 27 | d |
| पूजयित्वा यथादेशं | 31 | 4 | c | पृथुः पृथुपराक्रमः | 19 | 26 | b |
| पूजितः पूजयामास | 21 | 6 | a | पृथुः प्रचेता इव | 16 | 10 | d |
| पूजिता दानमानाभ्यां | 19 | 42 | c | पृथुः प्रजानां करुणं | 17 | 12 | a |
| पूजितोऽनुगृहीत्वैनं | 20 | 36 | c | पृथोरामानसाचलात् | 16 | 14 | b |
| पूयविण्मूत्रमेदसः | 10 | 24 | b | पृथोर्यज्ञमद्येत्सवम् | 19 | 2 | d |
| पूरेचकसंविग्न | 24 | 50 | a | पृथोस्तत्सूक्तमाकर्ण्य | 22 | 17 | a |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पृथोस्तु परमोदयम् | 19 | 10 | b | प्रजानिरन्ने क्षितिपृष्ट | 17 | 9 | c |
| पृष्ठे मृगं मृगय | 29 | 55 | d | प्रजानुरागो महतां | 21 | 49 | c |
| पेतुः कुसुमवृष्टयः | 1 | 53 | d | प्रजापतिपतिर्हरिम् | 7 | 55 | b |
| पेतुः कुसुमवृष्टयः | 12 | 30 | d | प्रजापति पति स्साक्षात् | 29 | 43 | a |
| पेशलेषु च वाग्मिषु | 19 | 25 | d | प्रजापति र्वृत्तिकरः प्रजानाम् | 16 | 23 | b |
| पोषकस्याप्यनर्थकृत् | 14 | 10 | b | प्रजापपति स्स भगवान् | 1 | 3 | a |
| पौरञ्जन्यः प्रजापते | 27 | 7 | d | प्रजापतीनां सर्वेषाम् | 3 | 2 | c |
| पौराञ्जानपदान् श्रेणीः | 17 | 2 | c | प्रजापतेर्दग्धशीर्ष्णः | 7 | 3 | a |
| पौराञ्जानपदांस्तां स्तान् | 21 | 6 | c | प्रजापतेर्दुहितरं | 10 | 1 | a |
| पौरुषं वा विगर्हितम् | 15 | 25 | d | प्रजापतेर्यस्य चराचरं | 4 | 29 | b |
| पौर्णमास्यां सिनीवाल्यां | 12 | 48 | a | प्रजापतेस्तेश्वशुरस्य | 3 | 8 | a |
| प्रकल्प्य वत्सं कपिलं | 18 | 19 | a | प्रजा भवानद्य रिरिक्षिषुः | 17 | 35 | b |
| प्रकृतिः करुणात्मनाम् | 21 | 49 | d | प्रजाभिरघवानपि | 13 | 23 | b |
| प्रकृतीनां च सम्मतम् | 9 | 66 | b | प्रजामात्मसमां मह्यं | 1 | 20 | c |
| प्रकृतीः समपूजयत् | 17 | 2 | d | प्रजा यद्विमना ययौ | 13 | 21 | d |
| प्रकृत्यसम्मतं वेनम् | 14 | 2 | c | प्रजाविसर्ग आदिष्टाः | 30 | 15 | a |
| प्रकृत्या विषमा देवी | 17 | 4 | a | प्रजासर्गाभिरक्षणे | 29 | 83 | b |
| प्रगृहीत शरासनः | 17 | 13 | b | प्रजासर्गे प्रजेश्वराः | 24 | 73 | b |
| प्रचण्डपाखण्डपथं | 19 | 38 | d | प्रजासु पितृवत्स्निग्धः | 16 | 17 | c |
| प्रचेतस उदन्वतः | 31 | 44 | b | प्रजासु विमनस्स्वेकः | 23 | 3 | c |
| प्रचेतसः पितुर्वाक्यं | 24 | 19 | a | प्रजास्तं दीपबलिभिः | 21 | 4 | a |
| प्रचेतसोऽन्तरुदधौ | 30 | 3 | a | प्रज्वार कालकन्याभ्यां | 28 | 1 | c |
| प्रचेतसां गिरित्रेण | 24 | 16 | a | प्रज्वारः प्रत्युपस्थितः | 28 | 11 | b |
| प्रचेतसां नारदस्य | 31 | 26 | c | प्रज्वारोऽयं मम भ्राता | 27 | 30 | a |
| प्रजा धर्मेष्वशिक्षयन् | 21 | 23 | b | प्रज्वारो विविधो ज्वरः | 29 | 16 | d |
| प्रजानन्दोऽमृतं यशः | 25 | 39 | b | प्रणता प्राञ्जलिः प्राह | 17 | 28 | c |
| प्रजानामिह योजितः | 21 | 21 | b | प्रणता श्रयणं नृम्णं | 8 | 49 | c |
| प्रजानाशं प्रणेष्यसि | 27 | 29 | d | प्रणम्य च नृपार्भकः | 8 | 65 | b |
| प्रजानां क्षेमलक्षणः | 14 | 16 | b | प्रणम्य दण्डवद्भूमौ | 1 | 24 | a |
| प्रजानां वृत्तिदः पिता | 18 | 30 | b | प्रणिपत्याभिवाद्य च | 31 | 4 | b |
| प्रजानां शमलं भुञ्जे | 21 | 23 | c | प्रणेमुर्जातकौतुकाः | 24 | 25 | d |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| प्रणमुस्सहसात्थाय | 7 | 22 | c | प्रदर्शय स्वीयमपास्त | 24 | 52 | c |
| प्रतपन् सूर्यवद्विभुः | 16 | 6 | d | प्रदर्श्य नृपमामन्त्र्य | 29 | 82 | c |
| प्रतपंश्च भुवो वसु | 22 | 56 | b | प्रदोषो निशिथो व्युष्टिः | 13 | 14 | a |
| प्रतिकूलाननादृतान् | 28 | 7 | b | प्रद्युम्नं शिबिमुल्मुकम् | 13 | 16 | d |
| प्रतिघातमचीकरत् | 19 | 10 | d | प्रद्युम्नायान्तरात्मने | 24 | 35 | d |
| प्रतिजग्मुः सुरेश्वराः | 1 | 32 | b | प्रधक्ष्यतीवैक्षत | 4 | 2 | d |
| प्रतिनन्द्यार्थवद्वचः | 20 | 36 | b | प्रधानकालाशयकर्म | 21 | 34 | a |
| प्रतिनन्द्येदमब्रवीत् | 9 | 18 | d | प्रधानपुरुषेश्वरम् | 8 | 81 | b |
| प्रतिपूज्याभिनन्द्य च | 17 | 1 | d | प्रपद्येता क्षिणी भगः | 6 | 51 | b |
| प्रतिबुद्धोऽनुषज्जते | 20 | 5 | d | प्रपन्नः स प्रियोहि मे | 24 | 28 | d |
| प्रतिलब्धश्चिरं नष्टः | 9 | 51 | c | प्रपेदे विस्मयं परम् | 9 | 65 | d |
| प्रतिसर्गस्तवानघ | 8 | 6 | b | प्रबाधतेऽथानुगृहाण | 25 | 30 | d |
| प्रतिसंक्रामयद्विश्वं | 24 | 50 | c | प्रबोधयति माऽविज्ञं | 28 | 20 | a |
| प्रतीचीं वृकसंज्ञाय | 24 | 2 | c | प्रभवे सर्वसात्त्वताम् | 30 | 24 | d |
| प्रतीत्यां दिशिवेलायां | 31 | 2 | c | प्रभवो वरशापयोः | 14 | 27 | b |
| प्रतीपं श्रेयसां परम् | 11 | 31 | b | प्रभवो ह्यात्मनः स्तोत्रं | 15 | 25 | a |
| प्रतीहारेण सर्वतः | 25 | 21 | b | प्रभावं तनयस्य तम् | 9 | 65 | b |
| प्रत्यक् चकास्ति | 22 | 37 | d | प्रभुत्वे भगवानजः | 22 | 61 | b |
| प्रत्यग्द्रष्टा दृश्यते | 7 | 37 | b | प्रभुरप्ययभावयोः | 12 | 3 | d |
| प्रत्यनन्दत कश्चन | 27 | 19 | d | प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्य | 24 | 66 | a |
| प्रत्यभ्यधत्त प्रहसन् | 3 | 15 | c | प्रमथाः सहगुह्यकाः | 4 | 34 | b |
| प्रत्यषधत्प्रजागरः | 27 | 15 | d | प्रमदा सङ्गदूषितः | 28 | 27 | d |
| प्रत्यस्तमितविग्रहम् | 13 | 8 | b | प्रयच्छत्विति चिन्तयन् | 1 | 20 | d |
| प्रत्याख्याता मया सा तु | 27 | 22 | a | प्रयतः कीर्तयेत्प्रातः | 12 | 47 | a |
| प्रत्यादित्सुरिवोत्थितः | 22 | 3 | b | प्रयुञ्ज्यान्मन्त्रमूर्तये | 8 | 61 | d |
| प्रत्यासन्नान् पलायितान् | 5 | 16 | d | प्रसन्दभावो भगवति | 13 | 1 | c |
| प्रत्याहुः श्लक्ष्णया वाचा | 1 | 29 | c | प्रवरं विबुधानुगैः | 24 | 24 | d |
| प्रत्युत्थानाभिवादार्हे | 2 | 12 | c | प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेषु | 22 | 63 | c |
| प्रत्युद्गमप्रश्रयणाभि | 3 | 22 | a | प्रविष्टो नावबुध्यते | 28 | 58 | d |
| प्रत्यूचतुः पुष्करनाभ | 12 | 22 | d | प्रविष्टोऽन्तः पुरं | 8 | 66 | b |
| प्रत्यूढकर्मकलिलप्रकृतिं | 22 | 38 | d | प्रवृत्तं च निवृत्तं च | 29 | 17 | a |

| | | | |
|---|---|---|---|
| प्रवृत्ताय निवृत्ताय | 24 | 41 | a |
| प्रवृद्धभवोऽश्रुकला | 31 | 29 | c |
| प्रवृद्धलोभं विषयेषु | 24 | 66 | b |
| प्रवेपमाना धरणी | 17 | 14 | a |
| प्रशस्य तं प्रीतमनाः | 17 | 8 | c |
| प्रशस्यमधमर्षणम् | 12 | 44 | d |
| प्रशस्योवाच तं नृपः | 22 | 41 | d |
| प्रशंसन्ति स्म तं विप्राः | 15 | 7 | a |
| प्रशान्तार्चिरिवानलः | 13 | 10 | d |
| प्रश्न एवं हि सञ्छिन्नः | 29 | 53 | c |
| प्रश्रयानतकन्धरः | 22 | 4 | b |
| प्रष्टुं पुनस्तं विदुरः | 13 | 1 | d |
| प्रसन्नवदने क्षणम् | 8 | 48 | d |
| प्रसन्नसलिलाशयम् | 24 | 20 | d |
| प्रसन्नो भगवान् येषाम् | 30 | 30 | c |
| प्रसह्य नरनुक्राशः | 13 | 41 | c |
| प्रसह्य राजन् जुहवाम | 19 | 28 | d |
| प्रसादमभयं दया | 1 | 50 | b |
| प्रसादयध्वं परिशुद्ध | 6 | 5 | c |
| प्रसादसुमुखं वीक्ष्य | 24 | 25 | c |
| प्रसाद्य जगदात्मानं | 9 | 34 | c |
| प्रसाद्य वैकुण्ठमवाप | 12 | 42 | d |
| प्रसीदतां ब्रह्मकुलं | 21 | 43 | c |
| प्रसीदतोऽत्यन्तशमं | 21 | 39 | b |
| प्रसुप्त इव भिन्नदृक् | 9 | 33 | b |
| प्रेम्णः स्त्रियः | 5 | 9 | a |
| प्रसूतिरिति विश्रुताः | 1 | 1 | d |
| प्रसूतिं भगवान्मनुः | 1 | 11 | b |
| प्रसूतिं मानवीं दक्षः | 1 | 47 | a |
| प्रसेदुः सरितोऽद्रयः | 1 | 53 | b |
| प्रस्तूयत सत्कथासु | 30 | 36 | c |
| प्रस्थानाभिमुखोऽपि | 20 | 21 | a |
| प्रस्थिते तु वनं | 9 | 22 | a |
| प्रहरन्ति न वै स्त्रीषु | 17 | 20 | a |
| प्रहसन्निदमब्रवीत् | 15 | 21 | d |
| प्रहस्य तमृषिं प्रभो | 1 | 29 | d |
| प्रहस्य श्रूयतामिति | 7 | 1 | d |
| प्रह्लादमसुरर्षभम् | 18 | 16 | b |
| प्रह्लादस्य बलेश्चापि | 21 | 28 | c |
| प्रह्लादस्यानुभावतः | 21 | 46 | d |
| प्राकारैर्गोपुराट्टालैः | 9 | 56 | a |
| प्राकारोपवनाट्टाल | 25 | 14 | a |
| प्राक्पृथोरिह नैवैषा | 18 | 32 | a |
| प्राक्सर्गे कालविद्रुते | 30 | 49 | b |
| प्राक् सृष्ट्यानि स्वयम्भुवा | 17 | 24 | b |
| प्राग्देहाभिमतिं जनः | 29 | 78 | d |
| प्राङ्निषण्णं मृडं | 2 | 8 | a |
| प्राचीनबर्हि जीवति | 5 | 8 | b |
| प्राचीन बर्हिषं क्षत्तः | 25 | 3 | a |
| प्राचीनबर्हिषः पुत्राः | 24 | 13 | a |
| प्राचीनबर्ही राजर्षिः | 29 | 83 | a |
| प्राचीनाग्रैः कुशैरासीत् | 24 | 10 | c |
| प्राज्ञैः परस्मैपुरुषाय | 3 | 22 | c |
| प्राञ्जलिः श्रद्धयान्वितः | 24 | 78 | b |
| प्राणादाराः सुता ब्रह्मन् | 22 | 44 | a |
| प्राणाद्वेदशिरा मुनिः | 1 | 45 | b |
| प्राणान्नमो भगवते | 9 | 6 | d |
| प्राणायन विधानतः | 29 | 73 | b |
| प्राणायामेन त्रिवृता | 8 | 47 | a |
| प्राणायामेन संयम्य | 1 | 19 | a |
| प्राणायमैधसाग्निना | 1 | 21 | b |
| प्राणायामैः सन्निरुद्ध | 23 | 8 | c |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| प्राणेन्द्रियमनो धर्मान् | 29 | 26 | a | प्रियस्य सख्युः क्षण | 30 | 38 | b |
| प्राणेन्द्रिय मनोमलम् | 8 | 47 | b | प्रियाऽऽत्मजानामसि | 3 | 20 | b |
| प्राणेभ्योऽपि प्रियं सुतम् | 9 | 49 | a | प्रियालुमधुकेङ्गुदैः | 6 | 18 | b |
| प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां | 31 | 14 | c | प्रियाः स्थ भगवान् | 24 | 30 | b |
| प्रातर्मध्यं दिनं सायम् | 13 | 13 | c | प्रीणी हि हंस शरणं | 29 | 57 | d |
| प्रातिष्ठत् गुह्यकालयम् | 5 | 26 | d | प्रीतस्तथेत्याह शरण्य | 30 | 43 | b |
| प्रादात्पत्न्या उदारधीः | 13 | 37 | d | प्रीतः प्रत्याह तं बालं | 8 | 42 | c |
| प्रादुश्चकार पुरुषाय | 1 | 55 | d | प्रीतः प्राह भवाग्रजान् | 22 | 6 | d |
| प्रापुः परं नूनमथ | 30 | 2 | d | प्रीतः प्रियवरप्रदः | 21 | 6 | d |
| प्राप्त ईदृशमैश्वर्यं | 14 | 33 | c | प्रीतन् प्रीत उवाच ह | 24 | 26 | d |
| प्राप्ता वयं त्वां शरणं | 8 | 84 | d | प्रीतोऽहं ते महाराज | 20 | 34 | a |
| प्राप्य सङ्कल्प निर्वाणं | 9 | 27 | c | प्रीतिप्रहसितापाङ्गम् | 24 | 47 | a |
| प्रायच्छद्यत्कृतस्सर्गः | 1 | 11 | c | प्रीयमाण इवानघ | 7 | 49 | d |
| प्रायशः क्षपितं प्रभो | 31 | 6 | d | प्रेतसङ्घस्थिभूषणः | 2 | 15 | b |
| प्रायश्चक्रे समं विभुः | 18 | 29 | d | प्रेतावासेषु यो घोरैः | 2 | 14 | a |
| प्रायेण रोषोऽभिभवेत् | 6 | 46 | d | प्रेतैर्भूतगणै र्वृतः | 2 | 14 | b |
| प्रायेण सज्जते भ्रान्त्या | 19 | 25 | c | प्रेमविह्वलितः सुधीः | 7 | 12 | b |
| प्रायेणाभ्यर्चितो देवः | 13 | 43 | a | प्रेम्णाऽऽत्मनो योऽर्धम् | 4 | 3 | d |
| प्रायेणैकात्म्यहेतुना | 21 | 29 | d | प्रेम्णा दुहितृवत्सलः | 18 | 28 | d |
| प्रायो विवृक्णावयवा | 10 | 20 | c | प्रेम्णा पर्यचरद्धित्वा | 28 | 43 | c |
| प्रार्दयन् सकलां | 28 | 4 | d | प्रेम्णाश्रुकण्ठ्यः परि | 4 | 7 | d |
| प्राविशद्भवनं पितुः | 9 | 59 | d | प्रेयस्करस्पर्शनमान | 23 | 20 | d |
| प्रावृङ्क्ते यद्यशो | 8 | 71 | d | प्रेयस्याः प्रेमसंरम्भ | 26 | 19 | c |
| प्राश्य वै पत्युरादधे | 13 | 38 | b | प्रेयानन्योऽस्ति कर्हि | 24 | 30 | d |
| प्रांशुः पीनायतभुजः | 21 | 15 | a | प्रेयान्न तेऽन्योस्त्यमुतः | 7 | 38 | a |
| प्रासशूल परश्वधैः | 10 | 11 | b | प्रोच्यमानं निबोध मे | 1 | 12 | d |
| प्रासादाभिमुखं शश्वत् | 8 | 48 | a | प्लक्षन्यग्रोधहिङ्गुभिः | 6 | 17 | b |
| प्रासूयन्त मधुच्युतः | 19 | 8 | d | प्लावयन् सर्वतो भुवम् | 10 | 27 | b |
| प्रियव्रतस्य राजर्षेः | 21 | 27 | c | प्लाविते रक्तकण्ठानां | 6 | 12 | c |
| प्रियव्रतोत्तानपादौ | 1 | 9 | a | फलं ब्रह्मणि विन्यस्य | 22 | 51 | a |
| प्रियव्रतोत्तानपादौ शत | 8 | 8 | a | फलीकारानि वाऽधनः | 9 | 35 | d |

| ब | | | |
|---|---|---|---|
| बद्धाञ्जलिं प्रश्रयनम्र कन्धरम् | 12 | 22 | a |
| बद्धाञ्जलिं भगवान् भूतनाथः | 5 | 4 | b |
| बद्धाञ्जलीन् राजपुत्रान् | 24 | 32 | c |
| बद्धासनं जितमरुन्मनसाऽऽहताक्षः | 12 | 17 | b |
| बन्धकर्मण्यनात्मनः | 29 | 80 | b |
| बन्धकृत्यममर्षणः | 26 | 22 | d |
| बभावुपपतिं शान्ता | 28 | 44 | c |
| बभूव प्रमदोत्तमा | 28 | 28 | b |
| बभ्राम पृथिवीं प्रभुः | 25 | 11 | b |
| बर्हिषत् सुमहाभागः | 24 | 9 | a |
| बर्हिषदं गयं शुक्लं | 24 | 8 | c |
| बर्हिषदै रभिपूजितः | 25 | 1 | b |
| बर्हिष्मतः पुरुष आह सुतान्प्रपन्नान् | 30 | 7 | c |
| बर्हिष्मन् दिष्टकारिणः | 28 | 1 | b |
| बर्हिष्मन्नेतदध्यात्मम् | 28 | 65 | a |
| बलिं च मह्यं हरत | 14 | 28 | c |
| बलिं हरिष्यन्ति सलोकपालाः | 16 | 22 | b |
| बलीयसाऽनात्म्य मदेन मन्युना | 3 | 16 | d |
| बलेन महसौजसा | 22 | 59 | d |
| बलेनेन्द्रियराधसा | 31 | 11 | d |
| बस्तश्मश्रु र्भृगुर्भवेत् | 7 | 5 | d |
| बहिः स्थितं तदवस्थं ददर्श | 9 | 2 | d |
| बहुपाद मपादकम् | 29 | 2 | d |
| बहुभिद्यमानगुणयाऽऽत्म मायया | 7 | 39 | b |
| बह्वेव मुद्विग्नदृशोच्यमाने | 5 | 12 | a |
| बालकाननुशोचती | 28 | 18 | d |
| बालस्य पश्यतो धाम | 9 | 26 | c |
| बाला एव बृहन्ति वै | 22 | 12 | d |
| बाला वसदवग्रहौ | 27 | 25 | b |
| बालिशा बत यूयं वा | 14 | 23 | a |
| बालो न वेद तत्तन्वि | 26 | 22 | c |
| बालोऽपि बत नाऽऽत्मानम् | 8 | 13 | a |
| बालोऽप्ययं हृदा धत्ते | 8 | 27 | c |
| बाष्पगद्गदया गिरा | 9 | 46 | d |
| बाहुभ्या मश्विनोः पूष्णो | 7 | 5 | a |
| बाहुभ्यां मथ्यमानाभ्याम् | 15 | 1 | c |
| बाहुं प्रकोष्ठेऽक्षमालाम् | 6 | 38 | c |
| बाह्वोर्याभ्यां दुदोह गाम् | 21 | 9 | d |
| बिभर्ति भूयः क्षपयत्यविक्रियः | 24 | 61 | b |
| बिभर्तीदं स्वतेजसा | 21 | 51 | d |
| बिभर्त्येकस्तनौ तनूः | 16 | 5 | b |
| बिभर्त्योजः स्वतेजसा | 13 | 23 | d |
| बिभिदुर्वेदिमेखलाः | 5 | 15 | d |
| बिभ्रतीं कुण्डलश्रियं | 25 | 22 | d |
| बिभ्रतीं पातुमर्हसि | 28 | 48 | d |
| बिभ्रत्स वैष्णवं तेजः | 21 | 9 | c |
| बिभ्रद्रूपं हिरण्मयम् | 12 | 29 | d |
| बिम्बाधरं विगतकुङ्कुमपङ्करागम् | 26 | 25 | d |
| बिलपात्रे विषं पयः | 18 | 22 | d |
| बुद्धिन्तु प्रमदां विद्यात् | 29 | 5 | a |
| बुद्धिर्मेधा तितिक्षा ह्रीः | 1 | 49 | c |
| बुद्ध्या पराभिध्यायिन्या | 2 | 23 | a |
| बुद्ध्या वा किं निपुणया | 31 | 11 | c |
| बृस्यां ब्रह्म सनातनम् | 6 | 37 | b |
| बृहद्बलं मनो विद्यात् | 29 | 7 | a |
| बृहस्पति र्ब्रह्मवादे | 22 | 61 | c |
| बृहस्पतिसवं नाम | 3 | 3 | c |
| ब्रह्म कैवल्य मश्नुते | 20 | 11 | d |
| ब्रह्मघोषेण चर्त्विजाम् | 21 | 5 | b |
| ब्रह्मघोषेण वेणुभिः | 9 | 40 | b |
| ब्रह्म च ब्राह्मणांश्चैव | 2 | 30 | a |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ब्रह्मणा चानुमन्त्रितः | 7 | 16 | b |
| ब्रह्मणा चोदितः सृष्टौ | 1 | 17 | a |
| ब्रह्मणा परमेष्ठिना | 3 | 2 | b |
| ब्रह्मणा या विशाम्पते | 18 | 6 | b |
| ब्रह्मण्यदेवस्य कथां व्यनक्ति | 21 | 48 | d |
| ब्रह्मण्यदेवः पुरुषः पुरातनः | 21 | 37 | a |
| ब्रह्मण्यस्य महात्मनः | 13 | 21 | b |
| ब्रह्मण्यं दीनवत्सलम् | 12 | 12 | b |
| ब्रह्मण्यो वृद्धसेवकः | 16 | 16 | b |
| ब्रह्मदण्ड मयूयुजन् | 13 | 22 | b |
| ब्रह्मदण्डहतः पापः | 21 | 45 | c |
| ब्रह्मदण्डं दुरत्ययम् | 2 | 27 | d |
| ब्रह्मधारयमाणस्य | 8 | 81 | c |
| ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति | 11 | 14 | d |
| ब्रह्मन् ब्रह्मविदुत्तमात् | 17 | 5 | b |
| ब्रह्मन् भगवतः प्रभोः | 17 | 6 | b |
| ब्रह्मभूतो दृढं काले | 23 | 13 | c |
| ब्रह्मरुद्रौ च भूतानि | 7 | 52 | c |
| ब्रह्मलोकान्महीं गतम् | 27 | 21 | b |
| ब्रह्मा जगद्गुरु र्देवैः | 15 | 9 | a |
| ब्रह्माऽऽत्मतत्त्व मवितुं प्रथमं | 7 | 14 | b |
| ब्रह्मादय स्तनुभृतस्तमसि स्वपन्तः | 7 | 30 | b |
| ब्रह्मादय स्तमवकीर्य जटाः श्मशाने | 4 | 16 | b |
| ब्रह्मा ब्रह्ममयं वर्म | 15 | 16 | a |
| ब्रह्मावर्ते मनोः क्षेत्रे | 19 | 1 | c |
| ब्रह्मिष्ठश्च बृहस्पतिः | 1 | 35 | d |
| ब्रह्मिष्ठा नभिभूय सः | 3 | 3 | b |
| ब्रह्मेन्द्रत्र्यक्षनायकाः | 7 | 22 | d |
| ब्रह्मेन्द्राद्या देवगणा रुद्रपुरोगाः | 7 | 43 | b |
| ब्रह्मैतद्ब्रह्मवादिभिः | 30 | 20 | b |
| ब्राह्मणप्रमुखान् वर्णान् | 17 | 2 | a |
| ब्राह्मणाः समदृक्शान्तः | 14 | 41 | a |
| ब्राह्मणै र्ब्रह्मवादिभिः | 15 | 11 | b |
| ब्राह्मणैः कुलवृद्धैश्च | 9 | 39 | c |
| ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चस्वी | 23 | 32 | a |
| ब्रूत प्रसीदत महानिह विस्मयो मे | 1 | 28 | d |
| ब्रूहि मे विमलं ज्ञानं | 25 | 5 | c |
| ब्रूह्यस्मत्पितृभिर्ब्रह्मन् | 8 | 40 | c |
| **भ** | | | |
| भक्ताय मेऽनुरक्ताय | 17 | 7 | a |
| भक्तियोगस्समाहितः | 29 | 38 | b |
| भक्तियोगेन भूयसा | 8 | 64 | b |
| भक्तिर्भगवति ब्रह्मणि | 23 | 10 | c |
| भक्तिर्मत्परिचर्यया | 8 | 62 | d |
| भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गः | 9 | 11 | a |
| भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या | 11 | 30 | c |
| भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्रम् | 12 | 18 | a |
| भक्त्या गोगुरुविप्रेषु | 22 | 62 | a |
| भक्त्या तत्साम्यता मगात् | 29 | 84 | d |
| भक्त्या पक्वगुणाशयाः | 30 | 18 | b |
| भक्त्या परमया गुरौ | 29 | 37 | d |
| भक्त्या ह्यसङ्गः सदसत्यनात्मनि | 22 | 25 | c |
| भगञ्च स्वं जहाति सः | 21 | 23 | d |
| भगवति भवसिन्धुपोतपादे | 23 | 39 | c |
| भगवत्पार्श्ववर्तिनि | 29 | 71 | b |
| भगवत्यप्रतिद्रुहि | 2 | 21 | b |
| भगवत्यर्पिताशयाः | 24 | 69 | d |
| भगवत्युत्तमश्लोक | 31 | 8 | c |
| भगवत्सङ्गिसङ्गस्य | 24 | 57 | c |
| भगवत्सङ्गिसङ्गस्य | 30 | 34 | c |
| भगवद्गुणानुकथन | 29 | 40 | c |
| भगवद्धर्मिणः साधो | 23 | 10 | a |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| भगवद्भि र्घृणालुभिः | 22 | 43 | b | भगवान् सम्प्रसीदति | 11 | 13 | d |
| भगवन्त मधोक्षजम् | 12 | 5 | b | भगवान् साधुसत्कृतः | 2 | 7 | b |
| भगवन्तं परं गुरुम् | 29 | 27 | b | भगवान् स्वेन भागेन | 7 | 49 | a |
| भगवन्तं वासुदेवम् | 24 | 28 | c | भगवान् हरि रीश्वरः | 19 | 3 | b |
| भगवन्ताविभिष्टुतौ | 1 | 57 | b | भभगस्य नेत्रे भगवान् | 5 | 20 | a |
| भगवन्निन्दया तमः | 21 | 46 | b | भगं नन्दीश्वरोऽग्रहीत् | 5 | 17 | d |
| भगवन् यूय मागताः | 22 | 42 | d | भग्नायां भव्ययाच्ञायां | 14 | 30 | c |
| भगवंस्ते वचोऽस्माभिः | 29 | 1 | a | भज तत्प्रवणात्मना | 8 | 43 | d |
| भगवानपि राजर्षेः | 20 | 39 | a | भजतां भाववर्धनः | 8 | 63 | b |
| भगवानपि विश्वात्मा | 20 | 20 | a | भजते शनकै स्तस्य | 20 | 10 | c |
| भगवानपि वैकुण्ठः | 20 | 1 | a | भजन्ती मे दयां कुरु | 27 | 26 | b |
| भगवानब्जसम्भवः | 6 | 3 | b | भजदन्तो न विदुःपरम् | 29 | 46 | d |
| भगवानात्मभावनः | 22 | 16 | b | भजन्त्यथ त्वामत एव साधवः | 20 | 30 | a |
| भगवानात्मभावितः | 29 | 47 | a | भज सर्वात्मना हरिम् | 29 | 80 | d |
| भगवानाह तान् शिवः | 24 | 32 | b | भजस्व भजनीयाङ्घ्रिम् | 12 | 6 | a |
| भगवानुशनासुतः | 1 | 45 | d | भजेताद्धा विमुक्तये | 8 | 64 | d |
| भगवान् गिरिशो मनुः | 29 | 43 | b | भद्रश्शान्तिरिडस्पतिः | 1 | 7 | d |
| भगवान् धर्मवत्सलः | 24 | 26 | b | भद्रं भवत्या न ततो भविष्यति | 3 | 25 | b |
| भगवान्नारदस्तदा | 8 | 42 | b | भद्रं रुद्राभिमर्शितम् | 7 | 48 | b |
| भगवान्नारदो मुनिः | 31 | 8 | b | भयनामाऽभ्यपद्यत | 28 | 22 | d |
| भगवान् न्यासिनां गतिः | 30 | 36 | b | भयनाम्नोऽग्रजो भ्राता | 28 | 11 | a |
| भगवान् प्रणतार्तिहा | 9 | 52 | b | भयं मृत्युं च सत्तम | 8 | 4 | b |
| भगवान् भूतभावनः | 14 | 19 | b | भयावहा दिवि भूमौ च पर्यक् | 5 | 12 | d |
| भगवान् भूतरडिव | 22 | 60 | b | भर्तर्युपरते तस्मिन् | 14 | 39 | c |
| भगवान् यज्ञपूरुषः | 13 | 4 | b | भर्तुर्गुरोर्देहकृतश्च केतनं | 3 | 13 | d |
| भगवान् यज्ञपूरुषः | 14 | 18 | b | भर्तृस्नेहविदूराणां | 14 | 25 | c |
| भगवान् यदभाषत | 29 | 58 | b | भर्त्रा यगुह्यकरक्षसाम् | 6 | 34 | d |
| भगवान् वाञ्छते यदि | 18 | 10 | d | भर्त्सिते यतवाग्भयात् | 28 | 19 | d |
| भगवान् वासुदेवस्तं | 8 | 43 | c | भल्लैः सञ्छिद्यमानानां | 10 | 18 | a |
| भगवान् विश्वभावनः | 28 | 65 | d | भवच्छिद मयाचेऽहं | 9 | 34 | c |
| भगवान् विश्वसृक्पतिः | 24 | 72 | b | भवच्छिदः पादमूलं | 9 | 31 | c |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| भवतः पुरुषर्षभः | 29 | 53 | d | भविष्यति पृथुश्रवाः | 15 | 4 | d |
| भवता करुणात्मना | 31 | 30 | b | भवेद्भक्ति र्भगवति | 12 | 45 | c |
| भवता गदतो मम | 1 | 10 | d | भवेन परितुष्यता | 7 | 1 | b |
| भवतानुगृहीतानाम् | 6 | 52 | c | भवे शीलवतां श्रेष्ठे | 2 | 1 | a |
| भवता राधसा राद्धम् | 24 | 33 | c | भवेऽस्मिन् यदूहाश्चमम् | 25 | 40 | d |
| भवता विदुषा चापि | 22 | 18 | c | भवो भवान्या निधनं प्रजापतेः | 5 | 1 | a |
| भवत्पदानुस्मणादृते सतां | 20 | 30 | c | भस्मदण्ड जटाजिनम् | 6 | 36 | b |
| भवत्पदाम्भोजसुधा कणानिलः | 20 | 26 | b | भस्मसात्क्रियमाणां स्तान् | 30 | 46 | a |
| भवत्वजमुखं शिरः | 7 | 3 | b | भागवत मुख्यो भगवान् | 29 | 82 | a |
| भवत्सुकुशलप्रश्न | 22 | 14 | a | भागं बर्हिषि या वृङ्क्ते | 17 | 22 | c |
| भवद्भिर्लोकपालकैः | 18 | 7 | b | भागं स्वं बर्हिषो भगः | 7 | 3 | d |
| भवन्ति भूयो न भवन्त्यनुक्रमात् | 31 | 17 | b | भारती हार मुत्तमम् | 15 | 16 | b |
| भवन्त्वध्वर्यवश्चाऽन्ये | 7 | 5 | c | भारव्ययाय च भुवः | 1 | 58 | c |
| भवव्रतधरा ये च | 2 | 28 | a | भार्याऽसूत षडात्मजान् | 13 | 12 | b |
| भवस्तवाय कृताधीः | 7 | 11 | a | भार्येति वा वोढुमिडस्पतिर्माम् | 8 | 19 | d |
| भवस्य पत्नी तु सती | 1 | 64 | a | भावेनेशं प्रजापतिः | 7 | 12 | d |
| भवं देव मनुव्रता | 1 | 64 | b | भाव्यं ह्येनैव नाऽन्यथा | 1 | 30 | b |
| भवं भवान्य प्रतिपूरुषं रुषा | 4 | 2 | c | भाव्यं दीनेषु वत्सलैः | 30 | 38 | b |
| भवं भाग्यविवर्जितः | 9 | 34 | f | भित्त्वा वर्माणि रक्षसां | 10 | 17 | b |
| भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः | 4 | 14 | d | भिदां पश्यति नाऽन्यदा | 22 | 29 | d |
| भवानादातुमर्हति | 18 | 8 | d | भिन्दन् समां गामकरोद्यथेन्द्रः | 16 | 23 | d |
| भवानारोढुमर्हति | 8 | 12 | b | भिन्न नाव इवोदधौ | 28 | 21 | d |
| भवान् देव मतीतृपत् | 12 | 23 | d | भिन्नभाण्डात्पयो यथा | 14 | 41 | d |
| भवान् परित्रातुमिहाऽवतीर्णः | 19 | 37 | a | भिन्नस्य लिङ्गस्य गुणप्रवाहः | 20 | 13 | a |
| भवान् भक्तिमता लभ्यः | 24 | 54 | a | भिन्नायास्तव मेदसा | 17 | 25 | d |
| भवायानागसे रुषा | 1 | 65 | b | भिन्नेन यातो हृदयेन दूयता | 12 | 41 | b |
| भवायैकां भवच्छिदे | 1 | 48 | d | भिषक्तमं त्वाद्य गतिं गतास्स्मः | 30 | 38 | d |
| भवांस्तु पुंसः परमस्य मायया | 6 | 49 | a | भीतस्य किं न रोचेत | 30 | 37 | c |
| भवितारोऽङ्ग भद्रं ते | 1 | 31 | c | भीता दुहितरं तदा | 30 | 47 | b |
| भविता विश्रुतः पुत्रः | 30 | 12 | a | भुक्ता चेहाशिषः सत्या | 9 | 24 | c |
| भविष्यतश्च भद्रं ते | 29 | 68 | c | भुक्त्वा विभज्य पुत्रेभ्यः | 31 | 28 | c |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| भुङ्क्ते जनो यत्परदुःखद स्तत् | 8 | 18 | d | भूमण्डलञ्जलधिमेखल माकलय्य | 12 | 16 | c |
| भुङ्क्तेहृषीकै मधसारधयः | 24 | 64 | c | भूमण्डल मिदं वैन्यः | 18 | 29 | c |
| भुङ्क्ते ह्यव्यवधानेन | 29 | 62 | c | भूयस्तद्देवयजनं | 7 | 7 | c |
| भुजदण्डै रुपपन्न मष्टभिः | 7 | 32 | d | भूयात्पत्न्यर्पिताशया | 30 | 16 | d |
| भुज्यमाना मया दृष्टा | 18 | 6 | c | भूयादनन्त महता ममला शयानाम् | 9 | 11 | b |
| भुञ्जते क्षत्रियादयः | 22 | 46 | d | भूयाननुग्रह अहो भवता कृतो मे | 7 | 13 | a |
| भुव आदाय भूपतिः | 18 | 12 | b | भूरुहाः नृपनन्दनाः | 30 | 13 | d |
| भुवि लोलायुषो ये वै | 23 | 27 | c | भूर्जैरोषधिभिः पूगैः | 6 | 17 | c |
| भूतप्रकृति रव्यया | 28 | 58 | b | भूः पादुके योगमय्यौ | 15 | 18 | c |
| भूतप्रेत पिशाचानाम् | 5 | 25 | c | भृगुर्वसिष्ठ इत्येते | 29 | 44 | c |
| भूतले निरवस्तारे | 26 | 17 | c | भुगुं बबन्ध मणिमान् | 5 | 17 | a |
| भूतले यावतीः पुरः | 25 | 12 | b | भृगुः ख्यात्यां महाभागः | 1 | 43 | a |
| भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मने | 24 | 34 | b | भृगुः प्रत्यसृजच्छापं | 2 | 27 | c |
| भूतादिनामून्युत्कृष्य | 23 | 17 | c | भृगो र्लुलुब्धेश्वदसि | 5 | 19 | c |
| भूताना मात्मनश्च ह | 25 | 40 | b | भृगो र्वंशं निबोध मे | 1 | 42 | d |
| भूतानां करुणः शश्वत् | 16 | 7 | c | भृगो स्स भगवान्भवः | 2 | 33 | b |
| भूतानां भवभावनम् | 29 | 79 | b | भृगोः श्मश्रूणि रोहन्तु | 6 | 51 | c |
| भूतानां भूतभावन | 18 | 10 | b | भृग्वादयस्ते मुनयः | 14 | 1 | a |
| भूतानि चात्मन्यपृथग्दिदृक्षतां | 6 | 46 | c | भृग्वादीना मात्मजानां | 24 | 72 | c |
| भूतानि भूतै रनुमेयतत्त्वः | 24 | 65 | c | भृत्यानुरक्तो भगवान् | 9 | 18 | c |
| भूतानि भूमौ स्थिरजङ्गमानि | 31 | 15 | c | भृत्यामात्यपुरोधसः | 17 | 2 | b |
| भूतावासं हरिं भवान् | 11 | 11 | b | भृत्या येष्वीश्वराः शुभे | 26 | 21 | b |
| भूतेन्द्रियान्तः करणात्मकं विभो | 17 | 34 | b | भृत्येषु प्रभुणार्पितः | 26 | 22 | b |
| भूतेन्द्रियान्तः करणोपलक्षितं | 24 | 62 | c | भृत्यै र्दशभि रायान्तीं | 25 | 20 | c |
| भूतेशवत्सा दुदुहुः | 18 | 21 | c | भृशमासीत्सुदुर्मनाः | 13 | 42 | d |
| भूतेशो भूतभावनः | 11 | 26 | b | भृशं नदद्भिर्व्यनदत्सु भैरवम् | 5 | 6 | b |
| भूतेषु निरनुक्रोशः | 17 | 26 | c | भेदग्रहैः पुरुषो यावदीक्षेत् | 7 | 31 | b |
| भूतेषु सर्वेष्वभिपश्यतां तव | 6 | 46 | b | भेदेनाज्ञोऽनु पश्यति | 7 | 52 | d |
| भूतेष्वनुक्रोशसु सत्त्व शीलिनाम् | 24 | 58 | c | भेरीघोषेण सर्वतः | 14 | 6 | d |
| भूतैः पञ्चभिरारब्धैः | 11 | 15 | a | भोक्ष्यते यद्वंश धर्मैः | 28 | 31 | c |
| भूतोपसर्गा अरयः | 29 | 16 | c | भोगान् पुण्यजिहासया | 21 | 11 | d |

| | | | |
|---|---|---|---|
| भोगान् सा पतिदेवता | 28 | 43 | d |
| भोगैः पुण्यक्षयं कुर्वन् | 12 | 13 | c |
| भो भो राजन् सुभद्रं ते | 12 | 23 | a |
| भो भोः क्षत्रियदायाद | 12 | 2 | a |
| भो भोः प्रजापते राजन् | 25 | 7 | a |
| भो स्सूत हे मागध सौम्य वन्दिन् | 15 | 22 | a |
| भौमभोगरतो गतः | 28 | 53 | d |
| भौमं सुखं दिव्यमथापवर्ग्यं | 8 | 22 | d |
| भौमान् भोक्ष्याथ भोगान् वै | 30 | 17 | c |
| भ्रमन्तो यत्सतारकाः | 9 | 21 | f |
| भ्रमाम इह कर्मभि- | 30 | 33 | b |
| भ्रश्यत्यनुस्मृतिश्चित्तं | 22 | 31 | a |
| भ्रंशितो ज्ञानविज्ञानात् | 22 | 33 | c |
| भ्राजत्कपोलवदनो विलसत्किरीटः | 30 | 6 | b |
| भ्राजमानं वितिमिरं | 2 | 5 | c |
| भ्रातुर्वधाभितप्तेन | 11 | 9 | c |
| भ्रातुः प्रियचिकीर्षया | 28 | 11 | d |
| भ्रातृघ्नानित्यमर्षितः | 11 | 33 | d |
| भ्रातृभ्यो भ्रातृवत्सलः | 24 | 1 | d |
| भ्रातृभ्रातृव्य. हृद्रुजा | 9 | 33 | d |
| भ्राम्यतां नष्टदृष्टीनां | 21 | 50 | c |
| भ्राम्यन् संसारवर्त्मसु | 25 | 6 | d |
| **म** | | | |
| मग्नः पुण्यजनार्णवे | 10 | 14 | d |
| मग्नो नष्टस्मृतिस्समाः | 28 | 27 | b |
| मघोनापि च सन्दधे | 19 | 39 | d |
| मङ्गलं मङ्गलायनाः | 22 | 7 | b |
| मच्छासनपराङ्मुखो | 17 | 22 | b |
| मज्जन्तं व्यसनार्णवे | 26 | 16 | b |
| मणिप्रदीपा आभान्ति | 9 | 62 | c |
| मण्डितं तत्र तत्र वै | 21 | 1 | d |
| मतस्त्व मौत्तानपदे | 12 | 7 | b |
| मतिर्विदूषिता देवैः | 9 | 32 | a |
| मत्तभ्रमरसौस्वर्य | 24 | 22 | a |
| मत्तोऽन्यः कोऽग्रभुक् | 14 | 28 | d |
| मत्तो मत्तजनप्रियः | 2 | 15 | d |
| मत्वा तं जडमुन्मत्तं | 13 | 11 | a |
| मत्वा निरस्तमात्मानं | 10 | 9 | c |
| मथ्ना चोन्मथितात्मनः | 2 | 25 | c |
| मदन्ता ब्रह्मवादिनः | 29 | 44 | d |
| मदादेशं श्रद्दधानः | 20 | 34 | c |
| मदान्धालिविमूर्च्छितम् | 6 | 12 | b |
| मदाश्रयात्कः परितप्यते | 3 | 20 | d |
| मदिरां मदविह्वलः | 25 | 57 | b |
| मद्गीत गीतात्सुप्रीतात् | 24 | 77 | c |
| मद्गीतं भगवत्स्तवम् | 24 | 76 | b |
| मद्याच्चाविमुखो मुने | 27 | 22 | b |
| मद्वार्ता यातयामानां | 30 | 19 | c |
| मधुगन्धेन भूरिणा | 2 | 25 | b |
| मधुच्युतं वाचमुरुक्रमप्रियः | 12 | 28 | b |
| मधोर्वनं भृत्यदिदृक्षया गतः | 9 | 1 | b |
| मन एव मनुष्यस्य | 29 | 68 | a |
| मन एव मनुष्येन्द्र ! | 29 | 79 | a |
| मनवे कारणात्मने | 24 | 42 | b |
| मनसा गुरुणा गुरुम् | 8 | 47 | d |
| मनसा लिङ्गरूपिणे | 29 | 36 | c |
| मनसा वरदर्षभम् | 8 | 54 | d |
| मनसीन्द्रियगोचराः | 29 | 70 | b |
| मनस्यवस्थाप्य भजस्व | 8 | 23 | d |
| मनस्विनी मानमभीक्ष्णम् | 4 | 29 | d |
| मनस्वी मृगराडिव | 22 | 60 | d |
| मनांसि ककुभो वाताः | 1 | 53 | a |

| | | | |
|---|---|---|---|
| मनुपुत्रौ महौजसौ | 1 | 9 | b |
| मनुर्जगादोपगतः सहर्षिभिः | 11 | 6 | d |
| मनुः स्वयम्भूर्भगवान् | 30 | 41 | a |
| मनोऽतिरुष्टं विशते तमोऽन्धम् | 19 | 34 | d |
| मनो नयनवर्धनम् | 8 | 52 | d |
| मनो यत्र मनस्विनाम् | 12 | 46 | d |
| मनोरञ्जनकैः प्रजाः | 16 | 15 | d |
| मनोरसूत महिषी | 13 | 15 | c |
| मनोरस्मि बुद्धिसूतः | 29 | 23 | a |
| मनो राजन् प्रसीदति | 20 | 10 | d |
| मनोरुत्तानपादस्य | 21 | 27 | a |
| मनो वचः कायगुणैः | 21 | 32 | b |
| मनो वर्षशतं तपः | 1 | 19 | b |
| मनोवङ्मूर्तिभिः सौम्यः | 22 | 55 | a |
| मनोवारणः क्लेशदावाग्नि | 7 | 35 | b |
| मनोस्तु शतरूपायां | 1 | 1 | a |
| मन्त्रलिङ्गैर्व्यवच्छिन्नं | 29 | 46 | c |
| मन्त्रेणानेन देवस्य | 8 | 57 | a |
| मन्दभाग्यस्य पश्यत | 9 | 31 | b |
| मन्दारैः पारिजातैश्च | 6 | 14 | a |
| मन्यमान इदं विश्वं | 12 | 15 | a |
| मन्यमानो दीर्घसत्र | 24 | 6 | c |
| मन्यसे नोभयं यद्वा | 28 | 61 | c |
| मन्युप्लुतं दुर्निरीक्ष्यं | 5 | 11 | b |
| मन्ये गिरं ते जगतां | 20 | 31 | a |
| मन्ये महाभागवतं | 13 | 3 | a |
| ममन्थुरुरुं तरसा | 14 | 43 | c |
| ममन्थुर्दक्षिणं करम् | 13 | 19 | d |
| ममाहमिति कर्मकृत् | 29 | 26 | d |
| ममाहमिति यत्कृतम् | 29 | 5 | b |
| ममेति मनसा यद्यत् | 29 | 64 | a |
| मयं प्रकल्प्य वत्सत्वे | 18 | 20 | c |
| मया निरूपितस्तुभ्यं | 27 | 28 | a |
| मयाभिहित मद्भुतम् | 29 | 87 | b |
| मयि कालेन भूयसा | 18 | 8 | b |
| मयि रुष्टे सुसन्त्रस्तां | 28 | 19 | c |
| मयि संरभ्य विपुल | 27 | 22 | c |
| मयूरकेकाभिरुत | 6 | 12 | a |
| मयैत त्प्रार्थितं व्यर्थं | 9 | 34 | a |
| मयोपक्लृप्ताखिललोक | 20 | 14 | c |
| मयोपदिष्टमासाद्य | 27 | 23 | c |
| मयोपनीतान् गृह्णानः | 25 | 37 | c |
| मय्यनाथा कुटुम्बिनी | 28 | 18 | b |
| मरीचिमिश्रा ऋषयः | 1 | 8 | c |
| मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ | 29 | 44 | a |
| मर्त्यादिभिः परिचितं | 9 | 13 | b |
| मर्त्यानां किमुताशिषः | 24 | 57 | d |
| मर्त्यानां किमुताशिषः | 30 | 34 | d |
| मर्त्यानां भगवत्पदम् | 23 | 27 | b |
| महत्तमः कस्य यथैव विष्णुः | 6 | 40 | d |
| महत्तमान्तर्हृदयान्मुख | 20 | 25 | c |
| महत्तमास्तेष्वविदद्भवानघम् | 4 | 12 | d |
| महत्यात्मनि सन्दधे | 23 | 17 | d |
| महत्वमिच्छतां तीर्थम् | 12 | 46 | a |
| महद्गुणानात्मनि कर्तुमीशः | 15 | 24 | a |
| महद्विनिन्दाकुणपात्मवादिषु | 4 | 13 | b |
| महन्मन इव स्वच्छं | 24 | 20 | c |
| महन्महात्म्यसूचकम् | 23 | 38 | b |
| महात्माविक्लेन्द्रियः | 12 | 14 | b |
| महाधनेदुकूलाग्रे | 21 | 17 | c |
| महानहं त्वं मरुदग्निवार्धरः | 24 | 63 | c |
| महानुभावो भविता | 16 | 28 | d |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| महामाणव्रातमये | 9 | 60 | a | मानवस्यानुवर्णितः | 31 | 27 | b |
| महामारकतेषु च | 9 | 62 | b | मानाऽऽरुढोऽनुबध्यते | 26 | 8 | b |
| महामृधे कञ्चन | 10 | 21 | b | मानिने भिन्नसेतवे | 2 | 13 | b |
| महार्हतल्पे महिषी | 27 | 4 | b | मानो मे भिक्षतो बत | 9 | 35 | b |
| महासुभिर्भिधूपैः | 21 | 1 | c | मा भैष्ट बालं तपसः | 8 | 85 | a |
| महित्वात्मभुवादयः | 7 | 24 | b | मामङ्गलं तात परेषु मंस्थाः | 8 | 18 | c |
| महिमानं विलोक्यास्य | 12 | 39 | a | मामय्यभूवन् वितथा | 15 | 22 | d |
| महिषी यद्यदीहेत | 25 | 56 | c | मा मवज्ञाय मन्दधीः | 17 | 24 | d |
| महिष्यामादधे मनः | 26 | 12 | d | मा मा शुचः स्वतनयं | 8 | 71 | a |
| महिष्यौ रुक्मभूषिते | 9 | 41 | b | मायया परमात्मनः | 11 | 16 | d |
| मही मन्वन्तरं परम् | 28 | 31 | d | मायाख्ययोरुगुणया | 9 | 7 | b |
| महीयसां तात सहः | 5 | 5 | d | मायामां तिलशश्शरैः | 17 | 27 | b |
| महीसञ्जातवेपथुः | 17 | 28 | d | मायागुणैरनुयुगं | 1 | 27 | b |
| महीं निर्वीरुधं कर्तुं | 30 | 45 | c | मायागुह्यकनिर्मिताः | 11 | 2 | b |
| महेन्द्र इव दुर्जयः | 22 | 56 | d | मायामयाद्व्यतिरिक्तः | 7 | 31 | d |
| महेन्द्रं विबुधाधमम् | 19 | 15 | d | मायारचितमात्मनि | 12 | 15 | b |
| मह्यं शुश्रूषवे ब्रह्मन् | 13 | 5 | c | मायाविनस्तच्चरणार्चनाजितं | 9 | 28 | b |
| मंस्यन्त एषां स्त्रियः | 16 | 22 | c | मायाविवेकविधुति स्रजि | 22 | 38 | b |
| मा जातु तेजः प्रभवेत् | 21 | 36 | a | मया ह्येषा भवदीया हि | 7 | 37 | d |
| मातरिश्वेव सर्वात्मा | 22 | 59 | c | माया ह्येषा मया सृष्टा | 28 | 61 | a |
| मातामहमनुव्रतः | 13 | 39 | b | मायां मदीयां तरतिस्म | 20 | 35 | d |
| मातुः सपत्न्या वचसा | 11 | 28 | b | मारयन् मृत्युनान्तकम् | 11 | 19 | d |
| मातुः सपत्न्य वाग्बाणैः | 9 | 29 | a | मारिषा मुपयेमिरे | 30 | 48 | b |
| मातुस्सपत्न्यास्सः | 8 | 15 | a | मार्कण्डेयो मृकण्डस्य | 1 | 45 | a |
| मातृभक्तिः परस्त्रीषु | 16 | 17 | a | मार्गं चन्दनचर्चितम् | 9 | 57 | b |
| मातृष्वसुः क्लिन्नधियं च | 3 | 10 | b | मार्जितालकबन्धनः | 22 | 5 | b |
| मात्रा च मातृष्वसृभिश्च | 4 | 8 | b | माऽर्थदृष्टिं कृथाः श्रोत | 29 | 48 | c |
| मादृशी त्वादृशं स्वयम् | 25 | 41 | d | मालामण्युत्तमर्द्धिमत् | 24 | 48 | d |
| माधवीभिश्च मण्डितम् | 6 | 16 | d | मा वः पदव्यः पितरस्म | 4 | 21 | a |
| मानदो दीनवत्सलः | 16 | 16 | d | मासं निन्येऽर्चयन्हरिम् | 8 | 75 | d |
| मानभङ्गममृष्यताम् | 8 | 27 | b | मासैरहं षड्भिरमुष्य | 9 | 30 | c |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मास्मा दन्त्यर्भकं वृकाः | 8 | 69 | b | मुसलाः साश्मवर्षिणः | 10 | 25 | d |
| मास्मिन् महाभाग | 19 | 34 | a | मुहुरुन्मथयन्मनः | 6 | 30 | d |
| मां विपाट्याजरां नावं | 17 | 21 | a | मुहुस्समारोपितमङ्क | 4 | 26 | b |
| मित्रस्य चक्षुषीक्षेत | 7 | 3 | c | मूकाकृतिरतन्मतिः | 13 | 10 | b |
| मिथुनं ब्रह्म वर्चस्वी | 1 | 3 | c | मूर्खो भवति पण्डितः | 23 | 33 | f |
| मिथुनं समपद्यत | 15 | 1 | d | मूर्तिर्धर्मस्य पत्नयः | 1 | 49 | d |
| मीढुषेऽहं कृतात्मने | 24 | 43 | d | मूर्तिस्सर्वगुणोत्पत्ती | 1 | 52 | a |
| मुक्तसङ्गप्रसङ्गोऽयं | 16 | 18 | c | मूर्धजः कम्बुकन्धरः | 21 | 17 | b |
| मुक्तसङ्गैः पुनः पुनः | 30 | 36 | d | मूर्ध्ना धृताञ्जलिपुटाः | 7 | 23 | c |
| मुक्ता दामविलम्बिभिः | 9 | 55 | b | मृकण्डः प्राण एव च | 1 | 44 | d |
| मुक्तान्यसङ्गो भगवति | 23 | 37 | a | मृगतृष्णां प्रधावति | 29 | 24 | b |
| मुक्तामरकतारुणैः | 25 | 15 | b | मृगया यान्तु तन्मनाः | 9 | 23 | b |
| मुखं शिश्नगुदाविति | 29 | 8 | b | मृगयायां बलीयसा | 10 | 3 | b |
| मुखेन परिशुष्यता | 8 | 67 | b | मृगयुर्वनगोचरः | 13 | 40 | b |
| मुख्या नाम पुरस्ताद्वा | 25 | 49 | a | मृगव्यसनलालसः | 26 | 4 | d |
| मुच्यते कर्मबन्धनैः | 24 | 78 | d | मृगीव मृगयुद्रुता | 17 | 14 | d |
| मुनयस्तुष्टुवुस्तुष्टाः | 1 | 54 | a | मृगेन्द्रविक्रीडितयूथपाः | 10 | 20 | d |
| मुनयो गूढमन्यवः | 14 | 13 | d | मृगेन्द्रेण च दंष्ट्रिणः | 18 | 23 | d |
| मुनयो धर्मकोविदाः | 13 | 22 | d | मृगेन्द्रैर्ऋक्षशल्यकैः | 6 | 20 | b |
| मुनयः पदवीं यस्य | 8 | 34 | a | मृगैः शाखामृगैः क्रोडैः | 6 | 20 | a |
| मुनयो ये वनौकसः | 9 | 21 | d | मृत्यवे दुःखदाय च | 24 | 41 | d |
| मुनिभिश्चाप्सरोगणैः | 19 | 4 | d | मृत्युप्रज्वारयोरपि | 29 | 73 | d |
| मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः | 18 | 3 | b | मृत्यं जिग्युः सुदुर्जयम् | 9 | 52 | d |
| मुनिर्विचष्टे ननु तत्र ते गतिम् | 24 | 59 | d | मृदङ्गपणवादयः | 12 | 30 | b |
| मुनिसिद्धनरोरगाः | 24 | 12 | b | मृदङ्गपणवाद्यनु | 24 | 23 | d |
| मुनीन् प्रणम्याशिषं | 12 | 28 | d | मृद्दार्वयः काञ्चन | 4 | 6 | c |
| मुमुक्षुभिर्मृग्य पदाब्ज | 8 | 23 | b | मृषाऽधर्मस्य भार्यासीत् | 8 | 2 | a |
| मुमुक्षुशरणे सुराः | 6 | 33 | b | मृष्टकुण्डलमण्डिताः | 21 | 4 | d |
| मुमुचुः सुमनोधाराः | 15 | 7 | c | मृष्टचत्वर रथ्याट्ट | 9 | 57 | a |
| मुमुदाते शतं समाः | 25 | 43 | b | मृष्टं गूढमविक्लबम् | 21 | 19 | f |
| मुष्यंस्तेज उपानीतः | 7 | 19 | c | मेघनिर्ह्रादया वाचा | 15 | 21 | c |

| | | | |
|---|---|---|---|
| मेढ्यां गोचक्रव त्स्थास्नु | 9 | 21 | a |
| मेधा स्मृतिं तितिक्षा तु | 1 | 51 | c |
| मेध्यानन्यांश्च विविधान् | 26 | 10 | c |
| मेध्यामिव गावां गणः | 12 | 38 | d |
| मेन आत्मन्यवस्थितः | 22 | 49 | d |
| मेनायामिति शुश्रुम | 7 | 58 | d |
| मेनिरे पितरं प्रजाः | 12 | 12 | d |
| मेने तदाऽऽत्मानमसह्य | 5 | 5 | c |
| मेने धर्मं शरीरिणम् | 19 | 14 | b |
| मेरुश्रृङ्गमिवाम्बुदः | 30 | 5 | b |
| मैत्रीं समाना दन्विच्छत् | 8 | 37 | c |
| मैत्रेयः प्रत्यभाषत | 17 | 8 | d |
| मैत्र्या चाखिलजन्तुषु | 11 | 13 | b |
| मैथुन्यश्च सितासिताः | 27 | 14 | b |
| मोहबन्धनमात्मनः | 13 | 45 | b |
| मोहं प्रसादं हर्षं वा | 25 | 55 | c |
| मौक्तिकैः कुसुमैः स्रग्भिः | 21 | 1 | a |
| **य** | | | |
| य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः | 8 | 44 | b |
| य इदं कल्य उत्थाय | 24 | 78 | a |
| य इदं सुमहत्पुण्यं | 23 | 31 | a |
| य इन्द्रमध्वहर्तारं | 24 | 5 | c |
| य इमं श्रद्धया युक्तः | 24 | 76 | a |
| य उत्तमश्लोकतमस्यविष्णोः | 21 | 48 | c |
| य उद्धरेत्करं राजा | 21 | 23 | a |
| य एतदादावसृजच्चराचरं | 17 | 31 | a |
| य एतन्मर्त्यमुद्दिश्य | 2 | 21 | a |
| य एतामात्मवीर्येण | 30 | 12 | c |
| य एव जगदीश्वरः | 1 | 20 | b |
| य एवं कर्म नियतं | 26 | 7 | a |
| य एवं सन्तमात्मानं | 20 | 9 | a |
| य एव उत्तानपदः | 31 | 27 | a |
| यक्षरक्षांसि भूतानि | 18 | 21 | a |
| यक्षस्ते रुद्रभागेन | 6 | 53 | c |
| यच्चान्यदपि कृष्णस्य | 17 | 6 | a |
| यच्चाप्याह हरः प्रीतः | 24 | 16 | c |
| यच्छ्रीनिकेतममलं क्षिपतारविन्दम् | 1 | 56 | d |
| यजध्वं गतमत्सराः | 14 | 28 | b |
| यजमानपशोः कस्य | 5 | 24 | c |
| यजमानमथार्त्विजः | 13 | 26 | b |
| यजमानस्य भारत | 19 | 7 | d |
| यजमानस्सुदुर्मनाः | 13 | 29 | b |
| यजमाने यजुष्पतिम् | 19 | 11 | b |
| यजमानो विशाम्पते | 7 | 18 | b |
| यज्जघ्निवान् पुण्यजनान् | 11 | 33 | c |
| यजंस्तल्लोकतामाप | 24 | 7 | c |
| यज्ञघ्नघ्नेन यजुषा | 4 | 32 | c |
| यज्ञभुक् तमभाषत | 20 | 1 | d |
| यज्ञविघ्नाः क्षयं यान्ति तस्मै नमः | 7 | 47 | d |
| यज्ञस्सुरगणेश्वरः | 1 | 8 | d |
| यज्ञात्मन्नलिनरुचा दृशा पुनीहि | 7 | 33 | d |
| यज्ञार्थेऽग्रसमोषधीः | 18 | 7 | d |
| यज्ञेन युष्मद्विषये द्विजातिभिः | 14 | 22 | a |
| यज्ञेशं श्रीवधूरिव | 23 | 25 | d |
| यज्ञेश्वरधिया राज्ञा | 20 | 38 | a |
| यज्ञेश्वरं विश्वसृजां परं गुरुम् | 7 | 25 | b |
| यज्ञैः यज्ञपतिस्तुष्टः | 20 | 1 | c |
| यज्ञैर्विचित्रैर्यजतो भवाय ते | 14 | 21 | c |
| यज्ञैः पुष्कलदक्षिणैः | 9 | 24 | b |
| यज्ञोऽयं तव यजनाय केन सृष्टः | 7 | 33 | a |
| यज्ञिघांसथ यज्ञेन | 19 | 30 | c |
| यत आधिरनन्तकः | 13 | 44 | d |

| | | | |
|---|---|---|---|
| यतवाङ् मितवन्यभुक् | 8 | 59 | d |
| यतः क्षेमो नृणामिह | 29 | 52 | b |
| यतः पापीयसी कीर्तिः | 13 | 44 | a |
| यतिष्यति भवान् काले | 8 | 35 | c |
| यतो न भयमण्वपि | 29 | 52 | d |
| यतोऽनर्थपरम्परा | 29 | 37 | b |
| यतो नावर्तते यतिः | 9 | 25 | d |
| यतो विरोधस्सर्वेषां | 13 | 44 | c |
| यतो हि वः प्राणनिरोध आसीत् | 8 | 85 | c |
| यत्क्लेशनिवहा गृहाः | 13 | 46 | d |
| यत्तः परेषां प्रतियोगशङ्कितः | 10 | 22 | b |
| यत्तद्ब्रह्म निरन्तरम् | 6 | 42 | d |
| यत्तेजसाहं सुसमिद्धतेजा | 7 | 41 | a |
| यत्ते विज्ञापयाम भोः | 14 | 14 | b |
| यत्पद्भ्यां स्पर्शनं भुवः | 23 | 19 | d |
| यत्परोक्षप्रियो देवः | 28 | 65 | c |
| यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या | 22 | 39 | a |
| यत्पादपद्मं महतां मनोऽलिभिः | 4 | 15 | a |
| यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विनां | 21 | 30 | a |
| यत्पुमांसं स्त्रियं सतीम् | 28 | 61 | b |
| यत्पृष्टोऽहमिह त्वया | 12 | 43 | b |
| यत्प्रमाणं जनार्दनः | 2 | 31 | d |
| यत्प्रसादं स वै पुसां | 8 | 33 | c |
| यत्र कोकिलकूजितैः | 25 | 19 | d |
| यत्र ग्रहर्क्षताराणां | 9 | 20 | c |
| यत्र तन्नामपङ्कजम् | 6 | 23 | d |
| यत्र तेजस्तदिच्छूनां | 12 | 46 | c |
| यत्र देवो जनार्दनः | 29 | 49 | b |
| यत्र दैवं सुरासवम् | 2 | 29 | d |
| यत्र धर्मदुघा भूमिः | 19 | 7 | a |
| यत्र नारायणस्साक्षात् | 30 | 36 | a |
| यत्र निर्विष्टमरणं | 24 | 56 | a |
| यत्र नेन्द्रियवृत्तयः | 29 | 59 | d |
| यत्र प्राची सरस्वती | 19 | 1 | d |
| यत्र भागवता राजन् | 29 | 40 | a |
| यत्र भ्रमति लोहवत् | 11 | 17 | d |
| यत्र यज्ञपतिस्साक्षात् | 19 | 3 | a |
| यत्र यत्र पलायते | 17 | 15 | d |
| यत्र रौक्मा उपस्कराः | 9 | 61 | d |
| यत्र विश्वं प्रतिष्ठितम् | 17 | 21 | b |
| यत्र वो भक्तिरीदृशी | 14 | 25 | b |
| यत्र स्फटिककुड्येषु | 9 | 62 | a |
| यत्राकिञ्चनगो हरिः | 31 | 30 | d |
| यत्रेज्य ऋषभो हरिः | 2 | 34 | d |
| यत्रेड्यन्ते कथा मृष्टाः | 30 | 35 | a |
| यत्रेदमादर्श इवावभासते | 21 | 41 | d |
| यत्रेदं व्यज्यते विश्वं | 24 | 60 | a |
| यत्समातुरसद्वचः | 8 | 27 | d |
| यत्सम्भाषणसंप्रश्नः | 22 | 19 | c |
| यत्साम्पराये सुकृतात् षष्टमंशम् | 20 | 15 | b |
| यत्सूरयोऽप्राप्य विचक्षते परम् | 12 | 25 | b |
| यत्सेवया शेषगुहाशयः स्वराट् | 21 | 38 | a |
| यथा कर्मगुणं भवः | 29 | 30 | d |
| यथा कर्माभिजायते | 29 | 28 | d |
| यथा कृतस्ते सङ्कल्पः | 1 | 30 | a |
| यथा खं सतडिद्घनम् | 6 | 27 | d |
| यथा गतिर्देवमनुष्ययोः पृथक् | 4 | 19 | c |
| यथाग्निना कोटरस्थेन वृक्षाः | 17 | 10 | b |
| यथा चरेद्बालहितं चिता स्वयं | 20 | 32 | c |
| यथा जारे कुयोषिताम् | 14 | 25 | d |
| यथा तथानुमन्तव्यं | 29 | 69 | c |
| यथा तरोर्मूलनिषेचनेन | 31 | 14 | a |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यथा तृणजलूकेयं | 29 | 78 | a | यदत्यन्तविघातकम् | 22 | 34 | d |
| यथाऽऽदिष्टं भगवता | 31 | 6 | a | यदध्यन्यस्य प्रेयस्त्वम् | 22 | 32 | c |
| यथादेशं यथाबलम् | 22 | 50 | b | यदनुग्रहभाजनः | 14 | 33 | d |
| यथाधिकारावसितार्थसिद्धयः | 21 | 32 | d | यदनुध्यायिनो धीराः | 9 | 52 | c |
| यथानन्त्यमसङ्गिनाम् | 14 | 15 | d | यदनुस्मर्यते काले | 30 | 28 | c |
| यथानभस्यभ्रतमः प्रकाशा | 31 | 17 | a | यदन्यदा शास्त ऋतात्मनोऽबुधः | 20 | 32 | b |
| यथानलो दारुषु तद्गुणात्मकः | 21 | 34 | d | यदर्थमिह जज्ञिवान् | 23 | 2 | d |
| यथा निगूढं पुरुषं कुयोगिनः | 13 | 48 | d | यदर्थाः क्लेशदागृहाः | 13 | 45 | d |
| यथानुमीयते चित्तं | 29 | 65 | a | यदसौ लोकपालानां | 13 | 23 | c |
| यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित् | 21 | 30 | d | यदाचरत् क्ष्मामविषह्यमाजौ | 16 | 24 | b |
| यथा पुमान्न स्वाङ्गेषु | 7 | 53 | a | यदा जिघृक्षन् पुरुषः | 29 | 4 | a |
| यथा पुरुषमात्मानम् | 28 | 63 | a | यदा तमेवानुपुरी | 28 | 24 | c |
| यथा पूर्वमुपाचरत् | 28 | 45 | d | यदात्मना चरसि हि कर्म नाज्यसे | 7 | 34 | b |
| यथामति गृणन्ति स्म | 7 | 24 | c | यदात्मानमविज्ञाय | 29 | 27 | a |
| यथा मधुकरो बुधः | 18 | 2 | d | यदात्मानमसन्नृह्य | 11 | 10 | c |
| यथा यथा विक्रियते | 29 | 21 | a | यदा न शासितुं कल्यः | 13 | 42 | c |
| यथा रजांस्यनिलं भूतसङ्घाः | 11 | 20 | d | यदा नोपलभेताद्धौ | 28 | 46 | a |
| यथा सर्वदृशं सर्वे | 22 | 9 | c | यदाभिषिक्तः पृथुरङ्ग विप्रैः | 17 | 9 | a |
| यथाऽसवो जाग्रति सुप्तशक्तयः | 31 | 16 | c | यदाभिषिक्तो दक्षस्तु | 3 | 2 | a |
| यथाऽऽसीत् पथिसङ्गमः | 24 | 16 | b | यदा यस्यानुगृह्णाति | 29 | 47 | a |
| यथासुखं वसन्तिस्म | 18 | 32 | c | यदा रतिर्ब्रह्मणि नैष्ठिकी पुमान् | 22 | 26 | a |
| यथास्थानं विभागशः | 23 | 16 | b | यदार्तानुकम्पते | 27 | 26 | d |
| यथा स्वविजये पुरा | 23 | 4 | d | यदा स सद्यो मरणस्य कल्पते | 3 | 25 | d |
| यथाह भगवान् भवः | 7 | 8 | b | यदाहाध्यात्मिकं परम् | 23 | 9 | b |
| यथा हि पुरुषोभारम् | 29 | 34 | a | यदि न स्यादूहे माता | 26 | 15 | a |
| यथैव सूर्यात्प्रभवन्ति वारः | 31 | 15 | a | यदि रचितधियं माविद्यलोकोऽपविद्धम्-7 | | 29 | d |
| यथोचितं यथावित्तम् | 22 | 50 | c | यदि व्रजिष्यस्यतिहाय मद्वचः | 3 | 25 | a |
| यथोपदेशं मुनिभिः प्रचोदिताः | 16 | 3 | c | यदि हे दृक् त्वमप्रजः | 13 | 31 | d |
| यदक्षैश्चरितं ध्यायन् | 29 | 79 | c | यदीच्छसि नृपासनम् | 8 | 14 | d |
| यदङ्गजां स्वां पुरुषद्विडुद्यतां | 4 | 30 | c | यदीच्छसेऽध्यासन मुत्तमो यथा | 8 | 20 | d |
| यदद्रिमूले कृतकेतनः पुनः | 21 | 31 | c | यदीयसे तत्र पुमानपावृतः | 3 | 23 | b |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यदुक्तं पथि दृष्टेन | 24 | 15 | a | यद्विक्रमोच्छिष्टमशेषभूपाः | 21 | 10 | b |
| यदुच्छिष्टोऽध्वरस्य वै | 6 | 53 | a | यद्वेनोऽत्यतरत्तमः | 21 | 45 | d |
| यदृच्छयाऽऽगतां तत्र | 25 | 20 | a | यद्वै ध्यायति तद्वयम् | 1 | 30 | d |
| यदृच्छया चोपवृणोति ते सकृत् | 20 | 27 | b | यद्व्यनक्त्यात्मनः पुरम् | 29 | 2 | b |
| यदृच्छया लब्धमनस्समृद्धयः | 9 | 36 | d | यद्वतानि मुमुक्षवः | 22 | 12 | b |
| यदेषमापाङ्ग विखण्डितेन्द्रियं | 25 | 30 | a | यद्वीडया नाऽभिमुखं शुचिस्मिते | 25 | 31 | d |
| यदैकपादेन स पार्थिवार्भकः | 8 | 82 | a | यन्न गृह्णन्ति भागान् स्वान् | 13 | 28 | c |
| यदोपरतमङ्गना | 28 | 45 | b | यन्न विज्ञायते पुम्भिः | 29 | 3 | c |
| यद्गृहास्तीर्थपादीय | 22 | 11 | c | यन्न स्वधीतं गुरवः प्रसादिता | 30 | 39 | a |
| यद्गृहा ह्यर्हवर्याम्बु | 22 | 10 | c | यन्नस्सुतप्तं तप एतदीश | 30 | 40 | a |
| यद्गुरुक्तिः स्वसा कलेः | 8 | 3 | d | यन्नाभिसिन्धुरुह काञ्चनलोकपद्म | 9 | 14 | c |
| यद्गुर्भगाया उदरे गृहीतः | 8 | 19 | b | यन्नामधेयमभिधाय निशम्य चाद्धा | 10 | 30 | c |
| यद्दौःशील्यात्स राजर्षिः | 13 | 18 | c | यन्नारायणनिर्मितम् | 11 | 1 | d |
| यद्द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं | 4 | 14 | a | यन्नाव्रजञ्जन्तुषु येऽननुग्रहाः | 12 | 35 | c |
| यद्धर्मादिषु देहिनाम् | 8 | 63 | d | यन्नित्यसम्बन्धनिषेवया ततः | 21 | 39 | c |
| यद्ध्यायतो दैवहतं तु कर्तुं | 19 | 34 | c | यन्मध्ये नव खं पुरम् | 29 | 7 | d |
| यद्बुद्ध्यवस्थितमखण्डितयास्वदृष्ट्या- | 9 | 15 | c | यन्मायया गहनयापहृतात्मबोधाः | 7 | 30 | a |
| यद्ब्रह्म नित्यं विरजं सनातनं | 21 | 41 | a | यन्मां त्वं परिपृष्टवान् | 31 | 26 | b |
| यद्भक्तियोगानुगृहीतमञ्जसा | 24 | 59 | c | यन्मे दुहितुरग्रहीत् | 2 | 11 | b |
| यद्भक्तियोगोऽभयदः | 24 | 53 | c | यमङ्ग शेपुः कुपिताः | 13 | 19 | a |
| यद्भवान् मोक्षधर्मवित् | 19 | 32 | d | यमुनायास्तटं शुचि | 8 | 45 | b |
| यद्भेदबुद्धिस्सदिवात्म दुःस्थया | 24 | 61 | c | यमेकमत्या पुरुदक्षिणैर्मखैः | 8 | 22 | b |
| यद्भ्राजमानं स्वरुचैवसर्वतः | 12 | 35 | a | यमैरकामैर्नियमैश्चाप्यनिन्दया | 22 | 24 | c |
| यद्भ्राजिष्णु ध्रुवक्षिति | 9 | 20 | b | यया बन्धविपर्ययौ | 12 | 4 | d |
| यद्यक्षपुरुषः साक्षात् | 13 | 33 | c | ययाऽभिभूतः पुरुषः | 28 | 3 | c |
| यद्यक्षो भगवत्तनुः | 19 | 30 | b | यया स्यात् क्लेशसंक्षयः | 12 | 45 | d |
| यद्यदिच्छत्यसत्वरम् | 24 | 77 | b | ययोरापूरितं जगत् | 1 | 13 | d |
| यद्यर्थिताऽमी विबुधा व्रजन्ति हि | 3 | 8 | d | ययोर्जन्मन्यदो विश्वम् | 1 | 52 | c |
| यद्यूयं परिनिन्दथ | 2 | 30 | b | ययोस्तत्स्नानविभ्रष्ट | 6 | 26 | a |
| यद्यूयं पितुरादेशं | 30 | 11 | a | ययोस्सुरस्त्रियः क्षत्तः | 6 | 25 | a |
| यद्रूपं यादृगात्मनि | 29 | 66 | d | ययौ मधुवनं पुण्यं | 8 | 65 | c |

| | | | |
|---|---|---|---|
| यया स्वधामानपवर्गवायः | 31 | 43 | d |
| ययौ स्वधिष्ण्यान्निलयं पुरद्विषः | 6 | 8 | c |
| ययौ स्वायम्भुवो मुनिः | 31 | 24 | d |
| यर्ह्यनात्मा कलेबरम् | 20 | 3 | d |
| यल्लोकशास्त्रोपनतं | 27 | 25 | c |
| यल्लोके निजकर्मभिः | 8 | 31 | d |
| यवनास्सर्वतो दिशम् | 28 | 4 | b |
| यवनेन बलीयसा | 28 | 25 | b |
| यवनैर्बलिभी राजन् | 28 | 15 | c |
| यवनोपरुद्धायतनः | 28 | 13 | a |
| यवसं जग्ध्यनुदिनं | 17 | 23 | a |
| यवीयसः सप्तसुतान् | 28 | 30 | c |
| यवीयांसं भ्रमेस्सुतम् | 13 | 11 | d |
| यवीयोभ्योऽददात् काष्ठा | 24 | 1 | c |
| यशश्शिवं सुश्रव आर्यसङ्गमे | 20 | 27 | a |
| यशस्यमायुष्यमघौघमर्षणम् | 7 | 61 | b |
| यशोघ्नो निरपत्रपः | 2 | 10 | b |
| यशो लोकमलापहम् | 31 | 25 | b |
| यशो विपुलयंस्तव | 8 | 72 | d |
| यश्शपन्तमसूसुचत् | 5 | 20 | d |
| यस्तदिन्द्रियसंयुतः | 29 | 8 | d |
| यस्तयोः पुरुषस्साक्षात् | 1 | 4 | a |
| यस्ते यज्ञध्रुगश्वमुट् | 19 | 36 | d |
| यस्तेऽवमानव्यथमानकेतनः | 24 | 67 | b |
| यस्त्वन्तकाले व्युप्तजटाकलापः | 5 | 10 | a |
| यस्त्वं पितामहादेशात् | 12 | 2 | c |
| यस्त्वं षष्टः पञ्चभिर्भासि भूतैः | 7 | 37 | d |
| यस्मिन्नविद्यारचितं निरर्थकं | 16 | 20 | c |
| यस्मिन्निदं भेदमसत्प्रतीयते | 11 | 29 | d |
| यस्मिन्निदं सदसदात्मतया विभाति | 22 | 38 | a |
| यस्मिन् भ्रमति कौरव्य | 12 | 38 | c |

| | | | |
|---|---|---|---|
| यस्मिन् यदा पुष्करनाभमायया | 6 | 48 | a |
| यस्मिन् विनष्टे नृपतिः | 14 | 16 | c |
| यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति | 9 | 16 | a |
| यस्मै बलिं विश्वसृजो हरन्ति | 11 | 27 | c |
| यस्य तुष्यति दिष्टदृक् | 21 | 22 | d |
| यस्य प्रसन्नो भगवान् | 9 | 47 | a |
| यस्य यद् दैवविहितं | 8 | 36 | a |
| यस्य राष्ट्रे पुरे चैव | 14 | 18 | a |
| यस्य विप्राः प्रसीदन्ति | 22 | 8 | c |
| यस्य वो दर्शनं ह्यासीत् | 22 | 7 | c |
| यस्याङ्घ्रिपद्मं परिचर्य विश्व | 8 | 21 | a |
| यस्या प्रतिहतं चक्रं | 15 | 10 | c |
| यस्यां दृढच्युतो जातः | 28 | 32 | c |
| यस्यां महदवज्ञानात् | 30 | 48 | c |
| यस्येदं देवयजनं | 24 | 10 | a |
| यस्ये दृश्यच्युते भक्तिः | 21 | 47 | c |
| यस्येष्टास्तनवस्सुराः | 19 | 30 | d |
| यस्ससर्ज प्रजा इष्टाः | 30 | 49 | c |
| यस्साधितो वृत्तिकरः पतिर्नः | 17 | 10 | d |
| यं नित्यदा बिभ्रत आशु पापं | 21 | 42 | c |
| यं पूर्वे चानुसंतस्थुः | 2 | 31 | c |
| यं वा आत्मविदां धुर्यः | 23 | 29 | c |
| यं सप्तरात्रं प्रपठन् | 8 | 56 | c |
| यः कीर्त्यमानमधिगच्छति पारमेष्ठ्यं | 29 | 86 | c |
| यः क्षत्रबन्धुर्भुवि तस्याधिरूढं | 12 | 42 | a |
| यः क्षेत्रवित्तपतया हृदि विष्वगाविः | 22 | 37 | c |
| यः पञ्चवर्षस्तपसा | 12 | 23 | c |
| यः पञ्चवर्षो गुरुदार वाक्शरैः | 12 | 41 | a |
| यः पञ्चवर्षो जननीं त्वं विहाय | 11 | 28 | a |
| यः परस्तमसः साक्षात् | 24 | 28 | a |
| यः श्रावयेद्यश्शृणुयात् | 29 | 85 | c |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यः षट्पञ्चवर्षो यदहोभिरल्पैः | 12 | 42 | c | यावद्बुद्धिमनोऽक्षार्थ | 29 | 72 | c |
| यः स्वधर्मेण मां नित्यं | 20 | 10 | a | यावन्न नङ्क्ष्यामह उज्झितोर्जाः | 17 | 11 | c |
| याचका विहरन्त्विह | 2 | 26 | d | यासां व्रजद्भिः शितिकण्ठ मण्डितं | 3 | 12 | c |
| याचमानमधीर वत् | 25 | 32 | b | यास्ता देवर्षिणा तत्र | 13 | 5 | a |
| या चैवं भूभूजां पतिम् | 23 | 25 | b | या स्त्री सा दक्षिणा भूतेः | 1 | 4 | c |
| यातना निरयस्तथा | 8 | 4 | d | याहि मे पृतना युक्ता | 27 | 29 | c |
| यातयामांश्च कन्यया | 28 | 9 | b | यां दुदोह पृथुस्तत्र | 17 | 3 | c |
| याति जायात्मजोद्भवम् | 25 | 55 | d | यां वीक्ष्य चारुसर्वाङ्गीं | 24 | 11 | c |
| याति ताभ्यां द्युमत्सखः | 25 | 47 | d | याः कर्दमसुताः प्रोक्ताः | 1 | 12 | a |
| याति दिष्टं प्रियाप्रियम् | 29 | 32 | d | युक्तं विरहितं शक्त्या | 12 | 6 | c |
| याति श्रुतधरान्वितः | 25 | 50 | d | युक्तां विद्रुमवेदिभिः | 25 | 16 | d |
| याति श्रुतधरान्वितः | 25 | 51 | d | युक्तेष्वेवं प्रमत्तस्य | 27 | 12 | a |
| या तुष्टा राजऋषये | 27 | 20 | c | युक्तो याति करोति च | 29 | 19 | d |
| यानाह को विश्वसृजां समक्षतः | 3 | 15 | d | युधि निर्जित्य राजन्यान् | 28 | 29 | c |
| यानाहु र्ब्रह्मवादिनः | 21 | 22 | b | युयुजे ब्रह्मणाऽऽत्मानं | 28 | 38 | c |
| यानि रूपाणि जगृहे | 19 | 23 | a | युयोज युयुजेऽन्याश्च | 30 | 51 | c |
| या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म | 9 | 10 | a | युष्मत्कथामृतनिषेवक उद्व्युदस्येत् | 7 | 44 | d |
| यान्त्यञ्जसाच्युतपदं | 12 | 36 | c | युष्माननुदिनं नरः | 30 | 9 | b |
| यान्न केवलिनो विदुः | 25 | 39 | d | यूथभ्रष्टा मृगी यथा | 28 | 46 | d |
| यान् ब्राह्मणाः द्धधते धृतव्रताः | 6 | 44 | d | यूयं तदनुमोदध्वं | 21 | 25 | a |
| यान् यान् कामयते जनः | 13 | 34 | b | यूयं मे नृपनन्दनाः | 30 | 8 | b |
| यामधिष्ठाय देहेऽस्मिन् | 29 | 5 | c | यूयं वेदिषदः पुत्राः | 24 | 27 | a |
| यामा नाम महाबलाः | 1 | 7 | b | ये च तत्सेवनोत्सुकाः | 19 | 6 | d |
| यामामुद्धरति प्राज्ञा | 26 | 16 | c | ये च तान् समनुव्रताः | 2 | 28 | b |
| या यज्ञशालास्वनुधूमवर्त्मभिः | 4 | 21 | b | ये च विद्याधरादयः | 18 | 19 | d |
| यावत्तपति गोगणैः | 16 | 14 | d | ये चान्वदः सुतसुहृद्गृह वित्तदाराः | 9 | 12 | b |
| यावत्ते मायया स्पृष्टा | 30 | 33 | a | ये चान्वमोदंस्तदवाच्यतां द्विजाः | 2 | 20 | d |
| यावत्यः पूर्वसेविताः | 8 | 61 | b | ये तद्बर्हिषि तर्पिताः | 19 | 40 | d |
| यावदन्यं न विन्देत | 29 | 78 | c | ये तु मां रुद्रगीतेन | 30 | 10 | a |
| यावदर्थमलं लुब्धः | 26 | 6 | c | ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्द | 9 | 12 | c |
| यावद्गदाग्रजकथासु रतिं न कुर्यात् | 23 | 12 | d | ये त्वयाऽभिहिता ब्रह्मन् | 30 | 1 | a |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः | 9 | 9 | b |
| ये देवाः कर्मसाक्षिणः | 13 | 28 | d |
| ये देहभाजो मुनयश्च तत्त्वम् | 6 | 7 | b |
| येन पुण्यजनानेतान् | 11 | 7 | c |
| येन प्रोक्तः क्रियायोगः | 13 | 3 | c |
| येन मुच्येय कर्मभिः | 25 | 5 | d |
| ये न विन्दन्ति दुर्भरम् | 13 | 43 | d |
| येन स्तब्धेन दूषितः | 2 | 10 | d |
| येनाग्रे विचचर्य ह | 28 | 52 | d |
| येनाञ्जसा तरिष्यामः | 31 | 7 | c |
| येनाञ्जसोल्बणमुरुव्यसनं भवाब्धिं | 9 | 11 | c |
| ये नारकाणामपि सन्ति देहिनां | 20 | 24 | c |
| येनाविशतिमुख्यताम् | 22 | 33 | d |
| येनाहमात्मायतनं विनिर्मिता | 17 | 30 | a |
| येनाहरज्जायमानः | 14 | 46 | c |
| येनाहं वत्सला तव | 18 | 9 | b |
| येनेयं निर्मिता वीर | 25 | 34 | c |
| येनैवारभते कर्म | 29 | 62 | a |
| येनोद्विग्नदृशः क्षत्तः | 10 | 6 | c |
| येनोपशान्तिर्भूतानां | 30 | 29 | a |
| येनोपसृष्टात्पुरुषात् | 11 | 32 | a |
| येऽन्ये तपोज्ञान विशुद्धसत्त्वाः | 30 | 41 | b |
| येऽप्रजा गृहमेधिनः | 13 | 43 | b |
| ये बर्हिषो भागभाजं परादुः | 6 | 5 | b |
| येऽभ्यागतान् वक्रधियाभिचक्षते | 3 | 18 | c |
| ये मूर्धभिर्दधति तच्चरणावसृष्टम् | 4 | 16 | d |
| ये मे उच्छोषणं ददुः | 7 | 4 | d |
| ये वृत्तिदं पतिं हित्वा | 14 | 23 | c |
| ये वै समन्तादनुनीललोहितम् | 6 | 41 | b |
| यैरीदृशी भगवतो गतिरात्मवादे | 22 | 47 | a |
| यैर्वै पौरञ्जनो वंशः | 27 | 9 | c |
| योगसिद्धैर्नरैतैः | 6 | 9 | b |
| योगं क्रियोन्नतिर्दर्पं | 1 | 51 | a |
| योगं तेनैव पूरुषं | 23 | 9 | c |
| योगादेशमुपासाद्य | 24 | 71 | a |
| योगेन वा यत्समचित्तवर्ती | 20 | 17 | d |
| योगेनावरुरुत्ससि | 8 | 33 | b |
| योगेशाः सनकादयः | 19 | 6 | b |
| योगेश्वरोपासनया च नित्यं | 22 | 22 | c |
| योगेषु च कुरूद्वह | 24 | 9 | d |
| योऽङ्गं प्रेम्णाऽऽरुरुक्षन्तं | 8 | 70 | c |
| योऽङ्गजः परमेष्ठिनः | 8 | 41 | b |
| यो जायमान स्सर्वेषां | 30 | 50 | a |
| योजितानि धृतव्रतैः | 13 | 27 | d |
| यो दद्यात्सपथेऽमृतम् | 12 | 50 | b |
| यो देवदेवोऽवततार मायया | 16 | 2 | b |
| योऽधर्मे धर्मविभ्रमः | 19 | 12 | d |
| योऽधियज्ञपतिं विष्णुं | 14 | 32 | c |
| योऽनन्त इति गीयसे | 30 | 31 | b |
| यो न पश्यति वै भिदाम् | 7 | 54 | b |
| योऽनाथवर्गाधिमल घृणोद्धत | 25 | 42 | c |
| यो नारदवचस्तथ्यं | 9 | 32 | c |
| यो नारदादात्मविद्यां | 31 | 28 | a |
| यो नित्यदाऽऽकर्ण्य नरोऽनुकीर्तयेत् | 7 | 61 | c |
| योऽनुस्मरति शय्यायां | 30 | 9 | a |
| योऽनेक एकः परतस्स ईश्वरः | 17 | 32 | d |
| योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां- | 9 | 6 | a |
| योऽन्यत्र भूसुरकुलात् कृतकिल्बिष | 26 | 24 | b |
| योऽप्रियः प्रिययोषिताम् | 27 | 12 | d |
| यो ब्रह्म क्षत्रमाविश्य | 21 | 51 | c |
| यो मायया विरचितं निजयाऽऽत्मनीदं | 1 | 55 | a |
| यो मायया इदं पुरुरूपयासृजत् | 24 | 61 | a |

| | | | |
|---|---|---|---|
| यो मां पयस्युग्रशरो जिघांससि | 17 | 35 | d |
| यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया | 8 | 24 | c |
| यो लीलयाद्रीन् स्वशरासकोट्या | 16 | 23 | c |
| योऽविज्ञाताहृतस्तस्य | 29 | 3 | a |
| यो विद्वान् स गुरुर्हरिः | 29 | 53 | b |
| यो विश्वसृग्यज्ञगतं वरोरु माम् | 3 | 24 | c |
| यो वेदाऽऽप्नोति शोभनम् | 20 | 12 | d |
| योषित्पुरुष एव हि | 11 | 15 | b |
| योषित्पुरुषयोरिह | 11 | 15 | d |
| योषिद्रत्नमजीजनत् | 10 | 2 | d |
| योऽसौ मायाविदिततत्त्व दृशा सभायां | 7 | 15 | a |
| योऽहसत् श्मश्रु दर्शयन् | 5 | 19 | d |
| योऽहसद्दर्शयन् दतः | 5 | 21 | d |
| **र** | | | |
| रक्तकण्ठखगानीका | 6 | 29 | a |
| रक्तं षडङ्गिगणसामसु लुब्धकर्णम् | 29 | 55 | b |
| रक्ताक्षस्ताम्रमूर्धजः | 14 | 44 | d |
| रक्षन् यथा बलिं गृह्णन् | 14 | 17 | c |
| रक्षायां जगतः स्थितौ | 8 | 8 | d |
| रक्षिता मण्डलं भुवः | 9 | 51 | d |
| रक्षिता वृत्तिदः स्वेषु | 21 | 21 | c |
| रक्षिताव्याहतेन्द्रियः | 9 | 22 | d |
| रक्षिष्यत्यञ्जसेन्द्रवत् | 16 | 8 | b |
| रक्षोगणाः क्षत्रियवर्यसायकैः | 10 | 20 | b |
| रचितात्मभेदमतये स्वसंस्थया | 7 | 39 | c |
| रजसातीव पावने | 6 | 24 | d |
| रजस्तम स्सत्वमिति प्रवाहः | 31 | 17 | d |
| रजोजुषस्तात भवादृशा जनाः | 9 | 36 | b |
| रञ्जयिष्यति यल्लोकम् | 16 | 15 | a |
| रतिस्सदा या विधुनोति नैष्ठिकी | 22 | 20 | c |
| रथवीथीर्महात्मनः | 15 | 20 | b |
| रथं पञ्चाश्व माशुगम् | 26 | 1 | b |
| रथ्या चत्वरमार्गवत् | 21 | 2 | b |
| रमणं विहरन्तीनां | 6 | 11 | c |
| रमणैस्सिद्धयोषिताम् | 6 | 11 | d |
| रममाणो गतस्मृतिः | 28 | 59 | b |
| रसज्ञ विपणान्वितः | 25 | 49 | d |
| रहोऽनुमन्त्रै रपकृष्टचेतनः | 27 | 3 | b |
| राकापति मिवोदितम् | 12 | 19 | d |
| राजन् किं ध्यायसे दीर्घम् | 8 | 67 | a |
| राजन्नर्बुद मर्बुदम् | 28 | 31 | b |
| राजन्नसाध्वमात्येभ्यः | 14 | 17 | a |
| राजन्यो जगतीपतिः | 23 | 32 | b |
| राजन् स्वदेशाननुरोद्धुमर्हसि | 14 | 21 | d |
| राजन् हर्वीष्यदुष्टानि | 13 | 27 | a |
| राजपूगैश्च जम्बुभिः | 6 | 17 | d |
| राजर्षि र्मलयध्वजः | 28 | 33 | b |
| राजर्षिः कां गतिं गतः | 17 | 5 | d |
| राजलक्ष्मी मनादृत्य | 8 | 73 | c |
| राजसिंहस्य वेश्मनि | 28 | 28 | d |
| राजा न श्रद्दधे भद्रम् | 9 | 37 | c |
| राजानः पृथवे यथा | 23 | 36 | d |
| राजा मेध्यान् पशून् वने | 26 | 6 | b |
| राजा राजन् बृहच्छ्रवाः | 25 | 10 | b |
| राजितं वेणुकीचकैः | 6 | 18 | d |
| राजेत्यधान्नामधेयं | 22 | 55 | c |
| राज्ञः कथमभूद्दुष्टा | 13 | 21 | c |
| राज्ञां वृत्तिं करादान | 24 | 6 | a |
| राज्ञां हर्यर्पितात्मनाम् | 31 | 32 | b |
| राज्यं बलं मही कोश | 22 | 44 | c |
| रावणः कुम्भकर्णश्च | 1 | 37 | c |
| रावणो गृध्रराडिव | 19 | 16 | d |

| | | | |
|---|---|---|---|
| राष्ट्रमुत्तरपाञ्चालम् | 25 | 51 | c |
| राष्ट्रं दक्षिणपाञ्चालम् | 25 | 50 | c |
| रुचिर्जग्राह दक्षिणाम् | 1 | 5 | d |
| रुचिस्तस्या मजीजनत् | 1 | 3 | b |
| रुदत्यशून्य वर्तयत् | 28 | 49 | d |
| रुदत्यां रोदिति क्वचित् | 25 | 58 | b |
| रुद्धो नवमुखे यथा | 28 | 60 | d |
| रुद्रगीतं भगवतः | 25 | 2 | a |
| रुद्रश्च स्वेन भागेन हि | 7 | 56 | a |
| रुद्रानीकैः पराजिताः | 6 | 1 | b |
| रुद्रानुचरसेविताम् | 10 | 5 | b |
| रुरुजुर्यज्ञपात्राणि | 5 | 15 | a |
| रुरुधु र्भौमभोगाढ्यां | 28 | 2 | c |
| रुरुभिर्महिषादिभिः | 6 | 20 | d |
| रुषा प्रस्फुरिताधरम् | 18 | 1 | b |
| रूपं प्रियतमं स्वानां | 24 | 44 | c |
| रूपं भगवता त्वेतद् | 30 | 27 | a |
| रूपं विभ्राजितं ताभ्याम् | 29 | 11 | a |
| रूपं स्थविष्ठमज ते महदाद्यनेकं | 9 | 13 | c |
| रेजुर्वीर मनोहराः | 10 | 19 | d |
| रेमे रमयती पतिम् | 27 | 1 | d |
| रोदसी चान्तरं तयोः | 17 | 16 | b |
| रोषमर्हतुमर्हसि | 19 | 33 | b |
| **ल** | | | |
| लक्षयामि कुमारस्य | 8 | 30 | c |
| लक्षये त्वाऽवमत्याऽङ्ग | 8 | 28 | c |
| लक्षितः पथि बालानां | 13 | 10 | c |
| लक्ष्यते चित्तवृत्तिभिः | 29 | 65 | d |
| लब्धावलोकै र्ययतुः | 1 | 57 | c |
| लब्धाशेष सुरार्हणः | 21 | 9 | b |
| लब्ध्वा ज्ञानं सविज्ञानं | 17 | 5 | c |
| लब्ध्वा द्रव्यमयी मर्चा | 8 | 59 | a |
| लब्ध्वान्तर्धान संज्ञितः | 24 | 3 | b |
| लब्ध्वाऽपवर्ग्यं मानुष्यं | 23 | 28 | c |
| लब्ध्वाप्यसिद्धार्थ मिवैकजन्मना | 9 | 28 | c |
| ललना रत्नसयुताः | 9 | 62 | d |
| लसत्काञ्चननूपुरम् | 8 | 52 | b |
| लसत्पङ्कजकिञ्जक्ल | 24 | 47 | c |
| लसन्मकरतोरणैः | 9 | 54 | b |
| लाङ्गूलमुद्यम्य यथा मृगेन्द्रः | 16 | 24 | d |
| लाजाक्षतैः पुष्पफलैः | 9 | 57 | c |
| लाजै रर्चिभि रर्चितम् | 21 | 2 | d |
| लालितो नितरां पित्रा | 9 | 60 | c |
| लाल्यमानं जनै रेवं | 9 | 53 | a |
| लिङ्गञ्च तापसाभीष्टम् | 6 | 36 | a |
| लिङ्गं न दृश्यते यूनः | 29 | 74 | c |
| लिङ्गमात्मनि नाऽभ्यगात् | 26 | 19 | d |
| लिङ्गं खण्ड मिहोच्यते | 19 | 23 | d |
| लिङ्गिनो देहसम्भवम् | 29 | 67 | b |
| लिङ्गेन मनसा स्वकं | 29 | 62 | d |
| लुप्तक्रियायाशुचये | 2 | 13 | a |
| लुब्धकेन समन्वितः | 25 | 53 | d |
| लुब्धकोऽन्धौ तु मे शृणु | 29 | 19 | b |
| लेभे पुत्रं धृतव्रतम् | 1 | 42 | b |
| लोक उद्विजते भृशम् | 11 | 32 | b |
| लोककल्पस्य राघसे | 24 | 18 | b |
| लोकधिक्कारसन्दग्धं | 14 | 13 | a |
| लोकपालै रपि प्रभुः | 8 | 72 | b |
| लोकपालै स्सहानुगैः | 19 | 4 | b |
| लोकयो रुभयोर्हितम् | 16 | 5 | d |
| लोकस्तां नाभिनन्दति | 29 | 14 | b |
| लोकस्य यद्वर्षति चाशिषोऽर्थिनः | 4 | 15 | c |

| | | | |
|---|---|---|---|
| लोकस्य वसु लुम्पताम् | 14 | 39 | b |
| लोकस्य व्यसनं महत् | 14 | 8 | b |
| लोकस्सपालः कुपितेन यस्मिन् | 6 | 6 | b |
| लोकं कर्मविनिर्मितम् | 27 | 29 | b |
| लोकं धर्मेऽनुवर्तयन् | 16 | 4 | b |
| लोकं परं श्रीरिव यज्ञपुंसा | 25 | 29 | d |
| लोकाननुभविष्यति | 30 | 11 | d |
| लोकानपापान् कुर्वत्या | 22 | 2 | c |
| लोकानाप्नोति कर्हिचित् | 29 | 29 | b |
| लोकानां क्षेमदर्शिनः | 14 | 1 | b |
| लोका निरुच्छ्वासनिपीडिता भृशं | 8 | 83 | c |
| लोकान्तरं गतवति | 28 | 18 | a |
| लोकान्नावारयन् शक्ताः | 14 | 40 | c |
| लोकान् पर्यटतोऽपि यान् | 22 | 9 | b |
| लोकान् विशोकान् वितरत् | 14 | 15 | c |
| लोकान् सर्गे रभावयन् | 1 | 46 | b |
| लोका विशोका विरजा | 25 | 39 | c |
| लोका स्त्रयोऽह्यनुविभ्राजन्त एते | 12 | 35 | b |
| लोका स्सपाला उपजीवन्ति कामम् | 21 | 10 | c |
| लोकास्सफला ह्येतस्मै | 14 | 20 | c |
| लोकाः स्युः कामसन्दोहाः | 21 | 22 | c |
| लोकेऽधुनास्पष्टगुणस्य मे स्यात् | 15 | 22 | b |
| लोकेनाविन्दत त्राणं | 17 | 17 | a |
| लोकेऽपकीर्तिं महती मवाप्स्यति | 4 | 30 | b |
| लोकोऽञ्जसा तरतिदुस्तरमन्नमृत्युम् | 10 | 30 | d |
| लोकोऽधुना किं प्रलयाय कल्पते | 5 | 8 | d |
| लोलाक्षी मृष्टकुण्डलाः | 3 | 7 | b |
| **व** | | | |
| वक्तुमर्हसि योऽदुह्यात् | 17 | 7 | c |
| व क्त्रं न ते विलिकं मलिनं विहर्ष | 26 | 25 | a |
| वक्ष्यस्यधिश्रितवधूर्वन माल्युदार | 7 | 21 | a |
| वचसा च मनोगतम् | 8 | 62 | b |
| वचो नोऽवहितः श्रुणु | 12 | 23 | b |
| वचोभिश्चित्तवृत्तिभिः | 31 | 11 | b |
| वटवत्सा वनस्पतयः | 18 | 25 | a |
| वत्सरं भूपतिं चक्रुः | 13 | 11 | c |
| वत्सं कल्पय मे वीर | 18 | 9 | a |
| वत्सं कृत्वा च गोवृषम् | 18 | 23 | b |
| वत्सं कृत्वा मनुं पाणौ | 18 | 12 | c |
| वत्सं बृहस्पतिं कृत्वा | 18 | 14 | c |
| वत्सं विश्वावसुं कृत्वा | 18 | 17 | c |
| वत्सं पितरोऽर्यम्णा | 18 | 18 | a |
| वदत्येवं जनो सत्या | 4 | 31 | a |
| वदनामृतमूर्तिना | 16 | 9 | b |
| वदनेनोपलम्भितान् | 1 | 25 | b |
| वदान्यं प्रियदर्शनम् | 25 | 41 | b |
| वधान्निवृत्तं तं भूयः | 19 | 15 | a |
| वधो यदुपदेवानां | 11 | 8 | c |
| वनकुञ्जरसंघुष्ट | 6 | 30 | a |
| वनं गतस्तपसा प्रत्यगक्षं | 11 | 28 | c |
| वनं मदादेशकरोऽजितं प्रभुं | 12 | 41 | c |
| वनं मया भीमरवाः शिखण्डिनः | 11 | 3 | d |
| वनं विरक्तः प्रातिष्ठत् | 9 | 69 | c |
| वनं सौगन्धिकं च तत् | 6 | 28 | b |
| वनं सौगन्धिकं चापि | 6 | 23 | c |
| वनेषु वनगोचरान् | 26 | 5 | d |
| वन्यै र्मूलफलादिभिः | 8 | 58 | b |
| वपुरानन्दकरं मनोदृशाम् | 7 | 32 | b |
| वमन्तोऽग्निं रुषाक्षिभिः | 10 | 26 | b |
| वयस्यानतिदारुणः | 13 | 41 | b |
| वयं च तत्राभिसराम वाम ते | 3 | 8 | c |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वयं तु साक्षाद् भगवन् भवस्य | 30 | 38 | a | वशिष्टशापादुत्पन्नाः | 24 | 4 | c |
| वयं त्वविदिता लोके | 15 | 26 | a | वसिष्ठस्य परन्तप | 1 | 40 | b |
| वयं मरुत्वन्तमिहार्थनाशनं | 19 | 28 | a | वसुकाल उपादत्ते | 16 | 6 | a |
| वयं राजञ्जाठरेणाभितप्ताः | 17 | 10 | a | वसुधे त्वां वधिष्यामि | 17 | 22 | a |
| वयुनां धारिणीं स्वधा | 1 | 63 | b | वस्त्रान्तेन निगूहन्तीं | 25 | 24 | c |
| वरेणुकजातिभिः | 6 | 16 | b | वंशः प्रियव्रतस्यापि | 31 | 27 | c |
| वरं च मत्कञ्चन मानवेन्द्र | 20 | 17 | a | वंशेऽस्मिन् केशवाश्रया- | 14 | 42 | d |
| वरं वरार्होऽम्बुजनाभपादयोः | 12 | 7 | c | वंश्याः संसृतिहेतवः | 8 | 5 | b |
| वरं वृणीध्वं भद्रं वः | 30 | 8 | a | वाक्यं सपत्न्याः स्मरती सरोज | 8 | 17 | c |
| वरं वृणीमहेऽथापि | 30 | 31 | a | वाग्वज्रा मुनयः किल | 13 | 19 | b |
| वरं वृणीष्वेति भजन्त मात्थ यत् | 20 | 31 | b | वाग्वितत्ताञ्जलिभक्तिभिः | 20 | 38 | b |
| वरान् ददुस्ते वरदाः | 19 | 40 | c | वाङ्मनः कायबुद्धिभिः | 14 | 15 | b |
| वरान् विभो त्वद्वरदेश्वराद् बुधः | 20 | 24 | a | वाचस्पतीनामपि बभ्रमुर्धियः | 16 | 2 | d |
| वरुणः सलिलस्रावं | 15 | 14 | c | वाचा नु तन्त्या यदि ते जनोऽसितः | 20 | 31 | c |
| वरूथं पञ्चविक्रमम् | 26 | 2 | d | वाचाप्यकृतनोचितम् | 2 | 12 | d |
| वर्गस्वर्गापवर्गाणां | 21 | 29 | c | वाञ्छन्ति तद्दास्यमृतेऽर्थमात्मनः | 9 | 36 | d |
| वर्णये नानुचिन्तये | 7 | 2 | b | वाता न वान्ति न हि सन्ति दस्यवः | 5 | 8 | a |
| वर्णिता भगवत्कथाः | 13 | 5 | b | वात्सल्यादाशिषः सतीः | 9 | 59 | b |
| वर्तते भगवानर्कः | 16 | 14 | c | वात्सल्याल्लोकमङ्गलम् | 6 | 35 | d |
| वर्तमानः शनैर्गोत्र | 28 | 36 | c | वात्सल्ये मनुवन्नृणां | 22 | 61 | a |
| वर्तिष्यते कथं त्वेका | 28 | 18 | c | वापीरुत्पलमालिनीः | 6 | 31 | b |
| वर्तिष्यन्ते मयि गते | 28 | 21 | c | वाप्यो वैदूर्यसोपानाः | 9 | 64 | a |
| वर्त्मैतद्गृहमेधीयं | 28 | 20 | c | वायुभक्षस्ततः परम् | 23 | 5 | d |
| वर्षति स्म यथाकामं | 22 | 57 | c | वायुभक्षो जितश्वासः | 8 | 78 | c |
| वर्षाणां मयुनं जले | 25 | 2 | d | वायुमुत्सारयन् शनैः | 23 | 14 | b |
| वर्षास्वसारषाण्मुनिः | 23 | 6 | b | वायुरात्मेव देहिनाम् | 16 | 12 | d |
| वलिवल्गुदलोदरम् | 24 | 50 | b | वायुश्च वालव्यजने | 15 | 15 | a |
| वलिवल्गुदलोदरः | 21 | 16 | b | वायुं वायौ क्षितौ कायं | 23 | 15 | c |
| ववृषूरुधिरौघासृक् | 10 | 24 | a | वायोः पुत्र्यां महाबलः | 10 | 2 | b |
| वव्रे नाम्ना भयं पतिम् | 27 | 23 | d | वार्तापतिस्त्वं किल लोकपालः | 17 | 11 | d |
| वव्रे बृह द्व्रतं मान्तु | 27 | 21 | d | वार्ताहर्तुरतिप्रीतः | 9 | 38 | c |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वार्भिस्स्रवद्भिरुद्घुष्टे | 1 | 18 | c | विजिताश्वोऽधिराजा | 24 | 1 | a |
| वालखिल्यानसूयत | 1 | 39 | b | विजिताः सूर्यया | 24 | 12 | c |
| वास्नेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान् | 9 | 17 | d | विज्ञाय तात्तमगाय | 12 | 21 | a |
| वासुदेवकथां प्रति | 17 | 8 | b | विज्ञाय निर्विद्यगतं | 13 | 48 | a |
| वासुदेव परायणः | 24 | 74 | d | विज्ञाय शापं गिरिशानु | 2 | 20 | a |
| वासुदेवस्य कलया | 8 | 8 | c | वितत्य नृत्यत्युदितास्र | 5 | 10 | c |
| वासुदेवाय कृष्णाय | 30 | 24 | c | वितायमान यशसः | 1 | 22 | c |
| वासुदेवाय देवानां | 20 | 40 | c | वितायमानेन सुराः कला | 14 | 22 | b |
| वासुदेवाय शान्ताय | 24 | 34 | c | वितुदन्नटते वीणां | 8 | 41 | c |
| वासुदेवाय सत्त्वाय | 31 | 42 | c | वितृषोऽपि पिबन्त्यम्भः | 6 | 26 | c |
| वासुदेवे भगवति | 28 | 39 | c | वित्तदेहेन्द्रियारामाः | 2 | 26 | c |
| वासुदेवे भगवति | 29 | 38 | a | विदधाति पापमकिञ्चनेषु | 31 | 22 | d |
| विकर्षसि त्वं खलु | 24 | 65 | b | विदितं वश्चिकीर्षितम् | 24 | 27 | b |
| विकल्पे विद्यमानेऽपि | 8 | 31 | a | विदित्वा भगवत्कलाम् | 15 | 2 | d |
| विकृष्यमाणः प्रसभं | 28 | 25 | a | विदुरासूत षट् सुतान् | 24 | 8 | b |
| विक्लिद्यमान हृदयः | 12 | 18 | c | विदुरास्यर्त्विजो रुषा | 19 | 29 | b |
| विक्षिपत्पवनोत्सवम् | 24 | 22 | d | विदुरो गजसाह्वयम् | 31 | 31 | b |
| विगतात्मगतिस्नेहः | 28 | 9 | c | विदुस्सनन्दादय ऊर्ध्व | 9 | 30 | b |
| विगर्ह्यात पाषण्डं | 2 | 32 | c | विदुः प्रमाणं बलवीर्य | 6 | 7 | c |
| विगाह्य रतिकर्शिताः | 6 | 25 | d | विद्यातपो योगपदम् | 6 | 35 | a |
| विचक्ष्य दुष्प्रेक्ष्य | 19 | 27 | b | विद्यातपो वित्तवपुर्वयः | 3 | 17 | a |
| विचक्ष्य परमर्षयः | 19 | 18 | b | विद्यातपोव्रत भृतो | 7 | 14 | a |
| विचरन् पदमद्राक्षीः | 28 | 55 | c | विद्यादयो विविधशक्तय | 9 | 16 | b |
| विचष्टे चक्षुषेश्वरः | 29 | 11 | b | विद्याबुद्धिरविद्यायां | 2 | 24 | a |
| विचिक्युरुर्व्यामति | 13 | 48 | c | विद्यायोगेन शोचती | 14 | 35 | d |
| विचित्रैरमरदुमैः | 9 | 63 | b | विद्योतितमना मुनिः | 1 | 23 | b |
| विचिन्वती किं | 25 | 28 | b | विद्रावितं क्रोधमपार | 5 | 1 | d |
| विचेरुखनीमिमाम् | 28 | 1 | d | विद्वानपि न जघ्निवान् | 24 | 5 | d |
| विजिताक्षानिलाशयः | 28 | 38 | d | विद्वान् कुर्वीत वा न वा | 26 | 7 | b |
| विजिताश्व इति प्रभो | 19 | 18 | d | विद्वान् स्वप्न इव | 28 | 40 | c |
| विजिताश्वं धूम्रकेशं | 22 | 54 | a | विद्वेषमकरोत्कस्मात् | 2 | 1 | c |

| | | | |
|---|---|---|---|
| विद्वेषस्तु यतः | 2 | 3 | c |
| विद्वेषं विससर्ज ह | 20 | 19 | d |
| विधत्स्व कर्णायुत | 20 | 25 | d |
| विधत्स्व वीराखिल | 20 | 14 | d |
| विधाय कात्स्न्ये च | 7 | 8 | a |
| विधाय कृत्यं हृदि | 23 | 22 | a |
| विधाय दुदुहुः | 18 | 16 | c |
| विधाय वत्सं दुदुहुः | 18 | 22 | c |
| विधिवत् पूजयाञ्चक्रे | 22 | 4 | c |
| विधीयते साधुमिथ | 3 | 22 | b |
| विधुनोत्यात्मनो मलम् | 8 | 6 | d |
| विधेहि तन्नोवृजिना | 8 | 84 | c |
| विध्वस्तः पशुपति | 7 | 33 | b |
| विना हरेर्गुणपीयूष | 22 | 23 | d |
| विनिघ्नन् श्रममध्य | 26 | 10 | d |
| विनिन्दत्यनपत्रपः | 14 | 32 | d |
| विनिन्द्वेवं स गिरि | 2 | 17 | a |
| विनिर्धुताशेषमनो | 21 | 31 | a |
| विनिर्मितं भाति | 3 | 11 | b |
| विनिवर्तित भ्रम | 7 | 39 | d |
| विनिश्चित्यैव मृषयः | 14 | 43 | a |
| विनिस्सृता आविविशु | 11 | 3 | c |
| विनोपपत्तिं मनवश्चतुर्दश | 24 | 67 | d |
| विन्दते पुरुषोऽमुष्मात् | 24 | 77 | a |
| विन्यस्तनानातनवे | 17 | 29 | b |
| विन्यस्त हस्ताग्रमुरङ्ग | 20 | 23 | d |
| विपणस्तु क्रियाशक्तिः | 28 | 58 | a |
| विपणो वाग्रसविदसः | 29 | 12 | b |
| विपन्नस्य महीपतेः | 14 | 43 | b |
| विपर्ययः केन तदेव | 6 | 45 | d |
| विपिनेऽनुगता पतिम् | 28 | 49 | b |
| विप्रिय स्तुष्यतिकाम | 21 | 38 | b |
| विप्रयोगउपस्थिते | 28 | 17 | d |
| विप्रर्षिजुष्टं विबुधैश्च | 4 | 6 | b |
| विप्रलब्धो महिष्यैवं | 25 | 62 | a |
| विप्राश्च वृद्धाश्च सदानु | 30 | 39 | b |
| विप्रास्सत्याशिषस्तुष्टाः | 19 | 41 | a |
| विप्लवोऽभू दुःखितानां | 26 | 9 | c |
| विबुधा विस्मयं ययुः | 6 | 22 | d |
| विबुधासुर गन्धर्व | 24 | 12 | a |
| विभज्य तनयेभ्यः क्ष्मां | 28 | 33 | a |
| विभावनायात्तगुणाभिपत्तेः | 8 | 21 | b |
| विभूतये यत उपसेदु | 7 | 34 | c |
| विभ्राजय दृश दिशः | 12 | 19 | c |
| विभ्राजितं जनपदं | 25 | 47 | c |
| विमना इव वेदिषन् | 26 | 14 | b |
| विमना इव सानुगः | 2 | 33 | d |
| विमानयानास्सप्रेष्ठाः | 3 | 6 | c |
| विमानशत सङ्कुलाम् | 6 | 27 | b |
| विमानशिखर द्युभिः | 9 | 56 | d |
| विमानितां यज्ञकृतो | 4 | 7 | b |
| विमुक्तसङ्गोऽनुभजन् | 29 | 84 | c |
| विमुक्तो जीवनिर्मुक्तः | 11 | 14 | c |
| विमृशन्नात्मनो गतिम् | 9 | 67 | d |
| विमृश्य लोकव्यसनं | 14 | 7 | c |
| विरक्तश्चेन्द्रिय रतौ | 8 | 64 | a |
| विरजान्नङ्खला सुतान् | 13 | 15 | d |
| विरजा मित्र एव च | 1 | 41 | b |
| विरजे नात्मना सर्वे | 2 | 35 | c |
| विरहाद्रुदतीमिव | 23 | 3 | b |
| विरिञ्चतामेति ततः | 24 | 29 | b |
| विरेजेऽग्निरिवापरः | 15 | 13 | d |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| विरोधि तद्यौगपदैक | 4 | 20 | c | विषयौ याति पुरराड् | 25 | 49 | c |
| विलषन्ती मनोपधे | 28 | 50 | d | विषूचिर्मन उच्यते | 29 | 20 | b |
| विलसद्भ्यां समर्चताम् | 8 | 53 | b | विषूची न समन्वितः | 25 | 55 | b |
| विलोकितुं नाशक | 20 | 22 | b | विष्णुर्यज्ञस्वरूप | 1 | 4 | b |
| विलोकय भूतेशगिरिं | 6 | 22 | c | विष्णुर्विरिञ्चो गिरिशः | 14 | 26 | a |
| विलोक्यानुगतां | 23 | 23 | a | विष्णये स्तत्परमं पदम् | 11 | 11 | d |
| विवित्तरुच्या परितोष | 22 | 23 | c | विष्वक्सेनाङ्घ्रिसंस्पर्श | 9 | 43 | c |
| विविक्षुरत्यगात् सूनोः | 21 | 46 | c | विष्वक्सेनानुवर्तिषु | 22 | 62 | b |
| विवेश भवनं वीरः | 21 | 5 | c | विष्वक्सेनेन विश्व | 20 | 18 | b |
| विवेश वह्निं ध्यायती | 23 | 22 | d | विसर्गादानयोस्तात | 11 | 24 | c |
| विशङ्कयास्मद् गुरु | 24 | 67 | c | विसिस्म्यू राजपुत्रा | 24 | 23 | c |
| विशदस्मित चारुणा | 16 | 9 | d | विसृज्य प्राव्रजन् | 31 | 1 | d |
| विशन्तु शिवदीक्षायां | 2 | 29 | e | विस्फूर्जयन्नो जगवं | 16 | 24 | a |
| विशीर्णा प्रकृतिं गता | 28 | 24 | d | विस्मयं परमापन्नः | 5 | 23 | a |
| विशीर्णां स्वपुरीं वीक्ष्य | 28 | 7 | a | विस्मर्यते कृतविदा | 9 | 8 | d |
| विशुद्धज्ञान दीपेन | 28 | 41 | c | विस्मृतात्मगतिः | 2 | 23 | b |
| विशुद्धविज्ञान धनः | 21 | 33 | d | विस्रप्स्यन्ति च ते | 1 | 31 | d |
| विशुद्धा नृपनन्दनाः | 24 | 69 | b | विस्रभ्य जगतीपतिः | 8 | 73 | b |
| विशेषाय स्थवीयसे | 24 | 39 | b | विस्रस्त पौरैस्न | 26 | 26 | d |
| विश्रवाश्च महातपाः | 1 | 36 | d | विहाय जायामतदर्हां | 26 | 4 | c |
| विश्रुता दुर्भगेति सा | 27 | 20 | b | विंशत्या च शतं समाः | 27 | 16 | b |
| विश्रगं च परन्तप | 1 | 14 | b | वीक्षमणो विहायेक्षाम् | 28 | 42 | c |
| विश्वस्मिन्नववभाति यत् | 24 | 60 | b | वीक्ष्याकुप्यन् द्रुमै | 30 | 44 | c |
| विश्वं रुद्रभयध्वस्तं | 24 | 68 | c | वीक्ष्येश्वरगतिं बुधः | 8 | 32 | d |
| विश्वं विध्वंसयन् वीर्य | 24 | 56 | c | वीक्ष्योढवयसं पुत्रं | 9 | 66 | a |
| विश्वं सृजसि पास्यत्सि | 6 | 43 | c | वीक्ष्योत्थितान् महो | 14 | 37 | a |
| विश्वात्मनीक्षेत्र पृथग्य | 7 | 38 | b | वीरभद्रः प्रजापतिम् | 5 | 17 | b |
| विश्वोद्भवस्थितिलयेषु | 1 | 27 | a | वीरमातरमाहूय | 14 | 2 | a |
| विषयं याति सौरभम् | 25 | 48 | d | वीर वर्य पतिः पृथ्व्याः | 21 | 47 | a |
| विषयेषु विषज्जते | 23 | 28 | d | वीर वीरसुवो मुहुः | 9 | 50 | d |
| विषयेष्वन्वबध्यत | 27 | 10 | d | वीर संसर्ग शुद्धये | 7 | 17 | d |

| | | | |
|---|---|---|---|
| वीरसूरपि नेष्यति | 28 | 20 | d |
| वीर स्स्वाश्वमुपादाय | 19 | 22 | a |
| वीरः स्वपशुमादाय | 19 | 17 | c |
| वीरोऽनुनय कोविदः | 26 | 20 | b |
| वीरो नैनमबोधत | 19 | 20 | d |
| वीर्यमोजो बलं पयः | 18 | 15 | d |
| वृणीमहे ते परितोषणाय | 40 | 40 | d |
| वृणीष्व तेऽहं गुणशील | 20 | 17 | b |
| वृणीहि कामं नृप | 12 | 7 | a |
| वृणे वीरोप्सितं | 27 | 24 | b |
| वृताऽदात्पूरवे वरम् | 27 | 20 | d |
| वृत्तिदो धर्मभृत्सताम् | 23 | 2 | b |
| वृषं हंस सुपर्णस्थान् | 1 | 24 | c |
| वृषेन्द्र मारोप्य विटङ्किता | 4 | 5 | d |
| वेणीभूतशिरोरुहा | 28 | 44 | b |
| वेदवादविपन्नधीः | 2 | 22 | d |
| वेदशास्त्र विदहृति | 22 | 45 | d |
| वेदाहं ते व्यवसितं | 9 | 19 | a |
| वेदे च तन्त्रे च | 24 | 62 | d |
| वेदे च परिनिष्ठिताम् | 29 | 47 | d |
| वेदे विविच्योभय | 4 | 20 | b |
| वेनकल्मषमुल्ब | 14 | 46 | d |
| वेनमत्युग्रशासनम् | 14 | 3 | b |
| वेनमेकमृतेऽशुभम् | 14 | 33 | b |
| वेनस्यावेक्ष्य मुनयः | 14 | 7 | a |
| वेनः प्रकृत्यैव खलः | 14 | 10 | c |
| वेनाङ्गजातस्य च | 16 | 2 | c |
| वेनापचारादवलुप्त | 19 | 37 | c |
| वेनारण्युत्थितोऽनलः | 16 | 11 | d |
| वेनोऽसावित्यरौज्जनः | 13 | 40 | d |
| वेनोऽस्माभिः कृतो नृप | 14 | 12 | b |
| वैकुण्ठानुगतास्ततः | 20 | 38 | d |
| वैक्लव्यं परमं ययौ | 26 | 18 | d |
| वैखानससुसंमृते | 23 | 4 | b |
| वैचित्र वीर्याभिमतं | 23 | 38 | a |
| वैतानिके कर्मणि यत् | 1 | 61 | a |
| वैदर्भी मदिरेक्षणा | 28 | 34 | b |
| वैदर्भी मलयध्यजम् | 28 | 43 | b |
| वैदर्भी मलयध्वजः | 28 | 29 | b |
| वैदूर्यकृतसोपानाः | 6 | 31 | a |
| वैन्ययज्ञजिघांसया | 19 | 24 | b |
| वैन्यरूपेण गामिमाम् | 17 | 7 | d |
| वैन्यस्तुं धुर्यो महतां | 22 | 49 | a |
| वैन्यस्य चरितं पुण्यं | 23 | 27 | c |
| वैन्यस्य दक्षिणे हस्ते | 15 | 9 | c |
| वैन्यः प्रापाच्युताश्रयम् | 23 | 29 | d |
| वैन्यान्मृत्योरिव प्रजाः | 17 | 17 | b |
| वैन्ये यज्ञपशुं स्पर्धन् | 19 | 11 | c |
| वैरं दुस्त्यजमत्यजः | 12 | 2 | d |
| वैशसं नरकं पायुः | 29 | 19 | a |
| वैशसं नाम विषयं | 25 | 53 | c |
| वैश्यः पठन् विट्पतिः | 23 | 32 | c |
| वैष्णवं यज्ञसन्तत्यै | 7 | 17 | a |
| व्यक्तमात्मवतामात्मा | 22 | 16 | a |
| व्यक्तं त्वमुत्कृष्टगतेः | 3 | 20 | a |
| व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं | 11 | 17 | c |
| व्यग्रैर्हिरण्मयभुजैरिव | 7 | 20 | d |
| व्यङ्गे रथ इव प्राज्ञः | 26 | 15 | c |
| व्यञ्जिताशेषगात्र श्रीः | 21 | 18 | a |
| व्यति क्रान्तं नवं वयः | 27 | 5 | d |
| व्यतिरक्ति तयाऽऽत्मनि | 28 | 40 | b |
| व्यपाश्रितं निर्गुणं | 11 | 29 | b |

| | | | |
|---|---|---|---|
| व्यपेतनर्मस्मित माशु | 4 | 23 | c |
| व्यवधानेन कर्मणाम् | 29 | 78 | b |
| व्यवसाय सुरोत्तमौ | 12 | 32 | b |
| व्यवायो ग्रामिणां रतिः | 29 | 18 | b |
| व्यसनावाप एतस्मिन् | 22 | 13 | c |
| व्याजेन विससर्ज ह | 24 | 6 | d |
| व्याप्ताः किम्पुरुषैः | 6 | 31 | c |
| व्यालम्भिनीलालक | 25 | 31 | b |
| व्यालान्विष्टे विषय | 7 | 28 | b |
| व्यालालयद्रुमा एते | 22 | 11 | a |
| व्युज्जहर्थ त्रयीगात्र | 7 | 46 | d |
| व्युत्प्रेक्ष्य एतत्कुणपं | 4 | 23 | d |
| व्युदस्तमायागुण | 20 | 30 | b |
| व्युपाश्रितं गिरिशं | 6 | 39 | b |
| व्युप्तकेशो हसन् | 2 | 14 | d |
| व्युशिते शोककर्शिता | 28 | 20 | b |
| व्युष्टिः सुतं पुष्करिण्यां | 13 | 14 | c |
| व्यूढवक्षा बृहच्छ्रोणिः | 21 | 16 | a |
| व्योम्नोऽवतरतोऽर्चिषा | 22 | 2 | b |
| व्रजन्तमिव मातङ्गै | 6 | 13 | c |
| व्रजन्ति निर्भिद्ययमूर्ध्व | 11 | 5 | d |
| व्रजन्ति भद्राणि चरन्ति | 12 | 35 | d |
| व्रजन्तीः सर्वतो दिग्भ्यः | 3 | 6 | a |
| व्रीडया गजगामिनीम् | 25 | 24 | d |
| व्रीडा ममाभूत्कुजन | 4 | 22 | c |
| व्रीडाविलम्ब विलसद् | 26 | 23 | b |
| व्रीडितं स्वेन कर्मणा | 20 | 19 | b |

**श**

| | | | |
|---|---|---|---|
| शक्तित्रय समेताय | 24 | 43 | c |
| शक्तेश्शिवस्य च परं | 6 | 42 | c |
| शक्ति स्सुप्तेव पूरुषं | 7 | 59 | d |
| शक्त्यधीशः पुमानत्र | 28 | 58 | c |
| शक्तया युक्तो विचरति | 24 | 18 | c |
| शक्तृष्टिभि र्भृशुण्डीभिः | 10 | 11 | c |
| शङ्खचक्रगदापद्म | 24 | 48 | c |
| शङ्खचक्रगदापद्मैः | 8 | 50 | c |
| शङ्खतूर्यमृदङ्गाद्याः | 15 | 8 | a |
| शङ्खदुन्दुभिघोषेण | 21 | 5 | a |
| शङ्खदुन्दुभिनादेन | 9 | 40 | a |
| शतक्रतु र्न ममृषे | 19 | 2 | c |
| शतक्रतुश्चरमे वर्तमाने | 16 | 25 | d |
| शतक्रतुं परिष्वज्य | 20 | 19 | c |
| शतचन्द्रं तथाम्बिका | 15 | 17 | b |
| शतद्रुत्यां दशाभवन् | 24 | 13 | b |
| शतपत्रसमृद्धिभिः | 6 | 19 | b |
| शतरूपानुमोदितः | 1 | 2 | d |
| शतरूपापतेः सुतौ | 8 | 8 | b |
| शतान्येकादश विराड् | 27 | 6 | c |
| शनै र्व्युदस्याभिध्यायेत् | 8 | 47 | c |
| शनै र्हृदि स्थाप्य धियोरसि स्थितं | 4 | 25 | c |
| शप्यमाने गरिमणि | 5 | 21 | c |
| शब्दब्रह्मणि दुष्पारे | 29 | 46 | a |
| शमयिष्यामि मद्बाणैः | 17 | 25 | c |
| शमारांसन् समागताः | 10 | 29 | d |
| शयान उन्नद्धमदो महामना | 27 | 4 | a |
| शयान मिममुत्सृज्य | 29 | 63 | a |
| शयानं यस्य शोचसि | 28 | 52 | b |
| शयानां पश्य शत्रुहन् | 26 | 17 | d |
| शरणं तं प्रपद्येऽहं | 1 | 20 | a |
| शरण्य स्सर्वभूतानां | 16 | 16 | c |
| शरण्यं करुणार्णवम् | 8 | 49 | d |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| शरद्व्यइवाऽमलः | 7 | 10 | d | शिरसाऽदाय साधवः | 24 | 19 | b |
| शरं धनुषि सन्धाय | 17 | 15 | c | शिरः पाण्यादिषु क्वचित् | 7 | 53 | b |
| शरीर एष प्रतिपद्य चेतनाम् | 21 | 34 | b | शिरोभिश्चारुकुण्डलैः | 10 | 18 | b |
| शरै रविध्यन् युगपद् | 10 | 10 | c | शिवद्विषं धूमपथश्रमस्मयम् | 4 | 10 | b |
| शशंस निर्व्यलीकेन | 7 | 12 | c | शिवशक्तयोः रूपयोः | 6 | 43 | b |
| शशान् वराहान् महिषान् | 26 | 10 | a | शिवः पन्थाः सनातनः | 2 | 31 | b |
| शशास क्षितिमण्डलम् | 12 | 13 | b | शिवाापदेशो ह्याशिवः | 2 | 15 | c |
| शस्ताङ्कुरांशुकै श्चार्चेत् | 8 | 58 | c | शिवावलोक दभवत् | 7 | 10 | c |
| शस्त्र वर्षेण भूरिणा | 10 | 13 | b | शिवेन हि शरीरिणाम् | 24 | 17 | b |
| शस्त्रै रस्त्रान्वितै रेवम् | 5 | 23 | a | शिवेनाधोक्षजेन च | 31 | 6 | b |
| शातकुम्भ परिच्छदैः | 9 | 56 | b | शिवो विष्णुश्च सानुगः | 22 | 8 | d |
| शान्ताः समदृशः शुद्धाः | 12 | 36 | a | शिशिरस्निग्धताराक्षः | 21 | 19 | a |
| शान्तिस्सुखं मुदं तुष्टिः | 1 | 50 | c | शिंशुमारस्य वै ध्रुवः | 10 | 1 | b |
| शान्तिं मे समवस्थानं | 20 | 11 | c | शीतोष्णवातवर्षाणि | 28 | 37 | a |
| शान्तेन शमयन् रुचा | 30 | 4 | d | शीर्षहीनः कबन्धो यथा पूरुषः | 7 | 36 | d |
| शान्तै र्नयनवारिभिः | 9 | 44 | b | शीलं तदीयं शंसन्तः | 22 | 48 | c |
| शान्तै स्संशान्त विग्रहम् | 6 | 34 | b | शीलौदार्यगुणेपेताः | 27 | 7 | c |
| शाश्वती रनुभूयार्तीः | 28 | 27 | c | शुक्लं कृष्णं लोहितं वा | 29 | 28 | c |
| शासनै र्विविधैर्नृपः | 13 | 42 | b | शुक्ला त्प्रकाशभूयिष्ठात् | 29 | 29 | a |
| शास्ता तत्परिपन्थिनाम् | 16 | 4 | d | शुचिञ्चहुतभोजनम् | 1 | 59 | d |
| शास्त्रं पाञ्चलसंज्ञितम् | 29 | 17 | b | शुचिरित्यग्रयः पुरा | 24 | 4 | b |
| शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणां | 22 | 21 | a | शुद्धं स्वधाम्न्युपरताखिल बुद्ध्यवस्थं- | 7 | 26 | a |
| शिक्षादण्डं न युञ्जते | 26 | 21 | d | शुनासीराः सहर्षिभिः | 7 | 7 | b |
| शिखण्डिन्यां सुरसम्मतम् | 24 | 3 | d | शुभ्रातपत्रशशिनोपरि रज्यमानः | 7 | 21 | d |
| शिखाशान्तमिवानलम् | 28 | 44 | d | शुश्राव शब्दं जलधेरिवेरितं | 10 | 22 | c |
| शितधारेण हेतिना | 5 | 22 | b | शुश्रूषया च रथदेहयात्रया | 23 | 20 | b |
| शितिकण्ठं त्रिलोचनम् | 24 | 25 | b | शुष्कपर्णाशनः क्वचित् | 23 | 5 | b |
| शिथिलावयवो यर्हि | 28 | 15 | a | शूद्रः उत्तमता मियात् | 23 | 32 | d |
| शिपिविष्टाय विष्णवे | 13 | 35 | d | शूद्रायेवोशतीं गिरम् | 2 | 13 | d |
| शिरसा गुरुमुद्वहन् | 29 | 34 | b | शूलपट्टिशनिस्त्रिंश | 6 | 1 | c |
| शिरसाा जगृहे हरेः | 20 | 18 | d | शृणुयाच्छ्रावयेत् पठेत् | 23 | 37 | d |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| शृणुयाच्छ्रावयेन्मर्त्यः | 24 | 78 | c | श्रद्धा मैत्री ददया शान्तिः | 1 | 49 | a |
| शृण्वतः श्रद्दधानस्य | 1 | 46 | c | श्रद्धाय वाक्यं देवर्षेः | 9 | 38 | a |
| शृण्वतः श्रद्दधानस्य | 29 | 39 | c | श्रद्धाशयं संवृणुतेऽनु सम्पदः | 21 | 43 | b |
| शृण्वं स्तद्वल्गुगीतानि | 9 | 59 | c | श्रद्धासंयमसंयुक्तः | 22 | 6 | c |
| शेते कामलवान् ध्यायन् | 29 | 26 | c | श्रद्धाऽसूत शुभं मैत्री | 1 | 50 | a |
| शेते पुमान् स्वदृगनन्त सखस्तदङ्के | 9 | 14 | b | श्रद्धाहुतं यन्मुख इज्यनामभिः | 21 | 40 | b |
| शेतेऽर्दिताङ्गो हृदयेन दूयता | 3 | 19 | b | श्रम एव परं जातः | 20 | 4 | c |
| शेषं दुस्त्यज मत्यजः | 20 | 34 | b | श्रयं स्त्वं कतमद्राजन् | 25 | 4 | a |
| शोकेन रोषेण च दूयता हृदा | 4 | 3 | b | श्रवणव्यग्रयेतसः | 29 | 40 | d |
| शोचन्त मतदर्हणम् | 28 | 22 | b | श्रवस्सुश्रवसः पुण्यं | 17 | 6 | c |
| शोचन्तो भृशमातुराः | 28 | 23 | d | श्रान्तं शयानं क्षुधितं | 8 | 69 | c |
| शोच्यान् धर्मविमोहितान् | 21 | 29 | b | श्रावयित्वा ब्रह्मलोकं | 31 | 24 | c |
| शौक्लसावित्रयाज्ञिकैः | 31 | 10 | b | श्रावयेच्छृणुयाद्वाऽपि | 23 | 31 | c |
| शौचाद्याभूत् सरिद्दिवः | 1 | 14 | d | श्रावयेच्छ्रद्दधानानां | 12 | 49 | a |
| शौर्यविस्फुरितभ्रुवा | 24 | 56 | d | श्रियञ्चोभगवत्पराम् | 1 | 43 | d |
| श्मश्रूणि भगवान् भवः | 5 | 19 | b | श्रियमनुचतरतीं तदर्थिनश्च | 31 | 23 | a |
| श्यामश्योण्यक्षिरोचिष्णु | 24 | 51 | a | श्रिया दृशा बाष्पकलामुवाह | 8 | 17 | d |
| श्यामां कनकमेखलां | 25 | 23 | b | श्रियाऽनपायिन्याक्षिप्त | 24 | 49 | c |
| श्यामो हिरण्यरशनोऽर्ककिरीटजुष्टः | 7 | 20 | a | श्रिया भोगवती मिव | 25 | 15 | d |
| श्यामौ किशोरावरुणाम्बुजेक्षणौ | 12 | 20 | b | श्रियेतरै रङ्गविमृग्यमाणया | 8 | 24 | d |
| श्रद्दधानाय भक्ताय | 13 | 24 | c | श्रीनिवास श्रिया कान्तया त्राहि नः | 7 | 36 | b |
| श्रद्धत्स्वाननुभूतोऽर्थः | 29 | 67 | c | श्री र्यत्प्रवव्रेगुणसङ्गहेच्छया | 20 | 27 | d |
| श्रद्धया यततः सदा | 23 | 10 | b | श्रीवत्साङ्कधनश्यामं | 8 | 50 | a |
| श्रद्धया लब्धदक्षिणाः | 19 | 41 | b | श्रुतधनकुलकर्मणां मदैर्ये | 31 | 22 | c |
| श्रद्धयाऽवहितः पठेत् | 23 | 31 | b | श्रुत मन्वीक्षितं ब्रह्मन् | 29 | 58 | a |
| श्रद्धया श्रद्धदेवताः | 18 | 18 | d | श्रुतं भगवताच्छिष्यात् | 7 | 60 | c |
| श्रद्धयाऽऽसादितानि ते | 13 | 27 | b | श्रुतेन तपसा वा किं | 31 | 11 | a |
| श्रद्धयैतदनुश्राव्यम् | 23 | 35 | c | श्रुतेन भूयसा राजन् | 11 | 31 | c |
| श्रद्धातपोमङ्गलमौनसंयमैः | 21 | 41 | b | श्रुत्वा दृष्ट्वाद्भुततमं | 9 | 65 | c |
| श्रद्धात्वङ्गिरसः पत्नी | 1 | 34 | a | श्रुत्वा नृपासनगतं | 14 | 3 | a |
| श्रद्धान्विताः साधुयजन्तिसिद्धये | 24 | 62 | b | श्रुत्वा ब्रह्मकुलाय वै | 2 | 27 | b |

| | | | |
|---|---|---|---|
| श्रुत्वा मीदुष्टमोदितम् | 7 | 6 | b |
| श्रुत्वैतच्छ्रद्धयाऽभीक्ष्णम् | 12 | 45 | a |
| श्रुत्वैत दभियाति यान् | 23 | 36 | b |
| श्रूयतां ब्रह्मर्षयो मे | 2 | 9 | a |
| श्रूयतां मे नृपात्मज | 8 | 56 | b |
| श्रूयतां यद्वदामि वः | 24 | 31 | d |
| श्रूयते तत्र तत्र ह | 29 | 61 | b |
| श्रेयसा मपि सर्वेषां | 31 | 13 | a |
| श्रेयसामिह सर्वेषां | 24 | 75 | d |
| श्रेयसां समुपस्थिते | 8 | 35 | d |
| श्रेयस्कामो न सेवेत | 8 | 5 | c |
| श्रेय स्तन्नेह चेष्यते | 25 | 4 | d |
| श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञः | 20 | 15 | a |
| श्रेयो दिशत्यभिमतं | 8 | 63 | c |
| श्रोतुः शीलादयो गुणाः | 12 | 46 | b |
| श्रोत्राच्छ्रुतधरा द्व्रजेत् | 29 | 17 | d |
| श्रोष्यत्यात्माश्रिता गाथाः | 16 | 27 | c |
| श्लक्ष्णया सूक्तया वाचा | 1 | 26 | c |
| श्लाघ्यानि कर्माणि वयं वितन्महे | 16 | 3 | d |
| श्वसन्तं पुरुषो यथा | 29 | 63 | b |
| श्वसन् रुषा दण्डहतो यथाऽहिः | 8 | 15 | b |
| श्वेतातपत्रव्यजनस्रगादिभिः | 4 | 5 | b |

**ष**

| | | | |
|---|---|---|---|
| षट्कुल पञ्चविपणं | 28 | 56 | c |
| षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीर्षन्ति | 22 | 40 | b |
| षड्वर्गाच्छिन्न बन्धनः | 23 | 8 | d |
| षड्विंशद्वर्षसाहस्रं | 12 | 13 | a |
| षष्ट्युत्तरशतत्रयम् | 29 | 14 | d |
| षष्ठे षष्ठेऽर्भको दिने | 8 | 76 | d |
| षोडशामललोचनाः | 1 | 47 | d |

**स**

| | | | |
|---|---|---|---|
| स आदिराजो रचित | 20 | 22 | a |
| स आरूढनृपस्थानः | 14 | 4 | a |
| स इत्थमादिश्य सुरात् | 6 | 8 | a |
| स इत्थं लोकगुरुणा | 20 | 18 | a |
| स उत्तमश्लोक महन्मुख | 20 | 26 | a |
| स एकदा महेष्वासः | 26 | 1 | a |
| स एकदा हिमवतः | 25 | 13 | a |
| स एव पुर्यां मधुभुक् | 27 | 18 | a |
| स एव मादीन्यनवद्य | 21 | 7 | a |
| स एव मां हन्तुमुदायुधः | 17 | 30 | c |
| स एव विश्वं सृजति | 11 | 25 | a |
| स एवं ब्रह्मपुत्रेण | 22 | 41 | a |
| स एवाद्याक्ष्णोर्यः | 7 | 42 | d |
| स एवावति हन्तिच | 11 | 25 | b |
| स एव लोकानतिचण्ड | 24 | 65 | a |
| सकर्मकमतद्विदः | 29 | 49 | d |
| सकृत्प्रसङ्गादधमाशु | 4 | 14 | b |
| सकृद्विभातं सवितुः | 31 | 16 | b |
| सक्तस्य क्रीडनादिषु | 8 | 30 | d |
| सक्तो ग्राम्यसुखेच्छया | 2 | 22 | b |
| स खल्विदं भगवान् | 11 | 18 | a |
| सखा ब्राह्मण आत्मवान् | 28 | 51 | b |
| सखाय इन्द्रियगणः | 29 | 6 | a |
| सखायं सुहृदं पुरः | 28 | 25 | d |
| सखायौ मानसायनौ | 28 | 54 | b |
| सखा विज्ञात चेष्टितः | 25 | 10 | d |
| सख्यस्तद्वृत्तयः प्राणः | 29 | 6 | c |
| सङ्कर्षणाय सूक्ष्माय | 24 | 35 | a |
| सङ्कल्पनां विश्वसृजां | 19 | 38 | b |
| सङ्कल्प स्त्वयि भूतानां | 27 | 24 | c |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सङ्कुलां सर्वतो गृहैः | 25 | 14 | d | सत्कृतः सज्जनाग्रणीः | 9 | 45 | d |
| सङ्क्रमेऽर्कदिनेऽपि वा | 12 | 48 | d | सत्यवन्तमृतं व्रतम् | 13 | 16 | b |
| सङ्क्रमः खलु विप्रर्षे | 24 | 17 | a | सत्यं सुरुच्याभिहितं | 8 | 19 | a |
| सङ्क्रमः खलु साधूनां | 22 | 19 | a | सत्य शय उपाधौ वै | 22 | 28 | c |
| सङ्गःस्यान्नोभवे भवे | 30 | 33 | d | सत्याशिषो हि भगवन् | 9 | 17 | a |
| सङ्गहेण मयाऽऽख्यातः | 8 | 6 | a | सत्युत्तमश्लोकगुणानु | 15 | 23 | c |
| सङ्गामाभिमुखो राजा | 23 | 36 | a | सत्रेऽगायत्प्रचेतसाम् | 12 | 39 | d |
| स चक्षुः सुतमाकूत्यां | 13 | 15 | a | स त्वं जिधांससे कस्मात् | 17 | 19 | a |
| स च निपुणां लभते मतिं | 23 | 39 | d | स त्वं विचक्ष्य मृगचे | 29 | 57 | a |
| स च स्वर्लोकमारोक्ष्यन् | 12 | 31 | a | स त्वं विमृश्यास्य भवं | 19 | 38 | a |
| सच्छास्त्रपरिपन्थिनः | 2 | 28 | d | स त्त्वं विहाय मां बन्धो | 28 | 55 | a |
| स जगाम कुलाचलम् | 28 | 33 | d | स त्वं हरेरनुध्यातः | 11 | 12 | a |
| स जन्मनोपशान्तात्मा | 13 | 7 | a | सत्वात्मृनस्तदनु सं | 23 | 11 | b |
| स जहाति मतिं लोके | 29 | 47 | c | सत्वे च तस्मिन् भगवान् | 3 | 23 | c |
| स जिघांसति वै प्रजाः | 14 | 11 | b | सत्त्वेन नः सुरगणाननुमे | 1 | 56 | b |
| सञ्छिन्नभिन्नसर्वाङ्गाः | 6 | 2 | a | सत्त्वेनाचलराडिव | 22 | 58 | b |
| सञ्छिन्नस्तत्कृतो महान् | 29 | 59 | b | सत्त्वैक निष्टेमनसि | 29 | 71 | a |
| सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः | 9 | 6 | b | सत्सङ्कल्पस्य ते ब्रह्मन् | 1 | 30 | c |
| स तस्मिन् भवनोत्तमे | 9 | 60 | b | सत्सङ्कल्पेन धीमता | 9 | 18 | b |
| स तं विवक्षन्तमतद्विदं | 9 | 4 | a | सत्सुजिज्ञासुभिः धर्मं | 21 | 20 | c |
| सतामपि दुरापया | 24 | 55 | b | सद आग्नीध्रशालाञ्च | 5 | 14 | c |
| सतां वर्म सनातनम् | 2 | 32 | b | सदक्षो दैवचोदितः | 30 | 49 | d |
| सतां पृषत्कैरभिधक्तः | 11 | 5 | a | स ददर्श विमानग्र्यं | 12 | 19 | a |
| स तान् प्रपन्नार्तिहरः | 24 | 26 | a | सदपत्याच्छुचां पदात् | 13 | 46 | b |
| स तानापततोवीरः | 10 | 8 | a | सदश्वं रथमारुह्य | 9 | 39 | a |
| सतां गुणैः षड्भिरसत्तमेतरैः | 3 | 17 | b | सदसस्पतयो ब्रूत | 13 | 30 | c |
| सतिकर्मण्यविद्याया | 29 | 80 | a | सदसस्पतिभिर्दक्षः | 2 | 7 | b |
| सती दाक्षायणी देवी | 3 | 5 | c | सदस्यास्सदिवौकसः | 5 | 18 | b |
| स तूपलभ्यागतमात्म | 6 | 40 | a | सदस्यांस्तदनुज्ञया | 13 | 29 | d |
| स तेन सुखदुःखयोः | 8 | 36 | b | सदस्संहृर्षयन्निव | 21 | 19 | d |
| स ते माविनशेद्वीर | 14 | 16 | a | सदारोऽगात्तपोबनम् | 24 | 3 | d |

| | | | |
|---|---|---|---|
| सदा विद्विषतोरेवं | 3 | 1 | a |
| स देवदेवं परिचक्रमे प्रभुम् | 5 | 5 | b |
| सद्भिराचरितः पन्थाः | 2 | 10 | c |
| सद्यस्सुप्त इवोत्तस्थौ | 7 | 9 | c |
| सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती | 21 | 30 | c |
| सद्यः पापहरः परः | 1 | 46 | b |
| सद्यः प्रजज्वाल समाधि | 4 | 27 | d |
| सद्यो निस्सारतामियात् | 28 | 3 | d |
| सद्वाक्यमनुकम्पया | 8 | 42 | d |
| सप्रीचीनेन वैराग्यं | 29 | 38 | c |
| सनकाद्या नारदश्च | 8 | 1 | a |
| सनत्कुमारं भगवन्तं | 16 | 26 | b |
| सनत्कुमाराद्भगवन् | 17 | 5 | a |
| सनत्कुमारो भगवान् | 23 | 9 | a |
| सनन्दाद्यैर्महासिद्धैः | 6 | 34 | a |
| स निषादस्ततोऽभवत् | 14 | 45 | d |
| सत्तन्तप्तं स्वजनोत्थया | 8 | 28 | d |
| सन्तानः कथितस्तव | 1 | 46 | d |
| सन्तुष्ट इति सिध्यति | 12 | 49 | d |
| सन्तुष्ट्या येन केन वा | 31 | 20 | b |
| सन्दधुः कस्य कायेन | 7 | 8 | c |
| सन्दधेविशिखं भूमेः | 17 | 13 | c |
| सन्दधे विशिखं रुषा | 19 | 21 | b |
| सन्दधेऽस्त्रमुपस्पृश्य | 11 | 1 | c |
| सन्धीयमान एतस्मिन् | 11 | 2 | a |
| सन्धीयमाने शिरसि | 7 | 9 | a |
| सन्नजिह्वाः ससाध्वसाः | 7 | 23 | b |
| सन्नत्याप्रश्रयोक्तिभिः | 11 | 34 | b |
| सन्निन्ये यज्ञभावने | 7 | 48 | d |
| सन्नियच्छाऽभि भो | 18 | 2 | a |
| सन्नियम्यात्मना | 8 | 25 | c |
| सपत्न्या स्तनयं ध्रुवम् | 8 | 11 | b |
| सपर्यां विविधैर्द्रव्यैः | 8 | 57 | c |
| स पाञ्चालपतिः पुत्रान् | 27 | 8 | a |
| सपार्षदयक्षामणिमन्म | 4 | 4 | c |
| स पृथोः पदवीमियात् | 23 | 31 | d |
| स पौरः सपरिच्छदः | 28 | 12 | b |
| सप्त द्रविडभूपतयः | 28 | 30 | d |
| सप्तद्वीपैकदण्डधृत् | 21 | 12 | b |
| सप्तधातुवरूधकः | 29 | 23 | d |
| सप्तब्रह्मर्षयोऽमलाः | 1 | 40 | d |
| सप्तोपरि कृता द्वारः | 25 | 45 | a |
| स प्रसीदत्वमस्माकं | 7 | 47 | a |
| स प्राद्रवद् घोषणभूषणाङ्किः | 5 | 6 | d |
| स बाल एव पुरुषः | 13 | 39 | a |
| स भा चत्वर रथ्याभिः | 25 | 16 | a |
| स भाजिता ययुस्सर्वे | 20 | 38 | c |
| सभाजितास्तयोस्सम्यक् | 1 | 32 | c |
| सभ्याः शृणुतभद्रं वः | 21 | 20 | a |
| समकर्णविभूषणम् | 24 | 46 | d |
| समचार्वङ्गिजङ्घोरु | 24 | 51 | c |
| समत्वेन च सर्वात्मा | 11 | 13 | c |
| समन्वितः पितृभिस्सप्रजेशैः | 6 | 8 | b |
| समम्पश्यति मत्परः | 20 | 33 | d |
| समवाये द्विजन्मनाम् | 12 | 47 | b |
| समविन्यस्त कर्णाभ्यां | 25 | 22 | c |
| समवृत्तौ निरन्तरौ | 25 | 24 | b |
| समस्समानोत्तममध्यं | 20 | 14 | a |
| समस्सर्वेषु भूतेषु | 16 | 6 | c |
| समाङ्गरिष्यते चेमां | 16 | 19 | c |
| समाजहृरुपायनम् | 15 | 12 | d |
| समाजो ब्रह्मर्षीणां च | 21 | 13 | c |

| | | | |
|---|---|---|---|
| समाज्ञ कुरु मां राजन् | 18 | 11 | a |
| समादिष्टो विशाम्पतिः | 19 | 39 | b |
| समाधातुं मनः क्षतम् | 8 | 29 | d |
| समाधिना नैकभवेन | 9 | 30 | a |
| समाधिना बिभ्रदिहार्थ | 21 | 41 | c |
| समारेभे क्रतूत्तमम् | 3 | 3 | d |
| समास्सञ्जीवशाश्वतीः | 21 | 47 | b |
| समाहितधियस्सर्वे | 24 | 71 | c |
| समाहितः पर्यचरत् | 8 | 74 | c |
| समीक्ष्य प्रभवस्त्रयः | 1 | 21 | d |
| समीढ्वद्वेधसो ययुः | 7 | 7 | d |
| समुज्जिहानया भक्त्या | 20 | 20 | c |
| समुह्यसमयं मिथः | 25 | 43 | b |
| समुद्र इव दुर्बोधः | 22 | 58 | a |
| समुद्रऊर्मिभिर्भीमः | 10 | 27 | a |
| समुद्रमुपविस्तीर्णं | 24 | 20 | a |
| समुद्रश्शङ्खमात्मजम् | 15 | 19 | d |
| समृद्धिभिः पूरुषबुद्धि | 3 | 21 | b |
| समेताः परमर्षयः | 2 | 4 | b |
| समैक्षत समन्ततः | 21 | 19 | b |
| सम्पद्यतेऽर्थाशय | 21 | 33 | c |
| सम्पन्नं न निवर्तते | 8 | 55 | d |
| सम्परेत मयः कूटैः | 25 | 8 | c |
| सम्परेतां सुतां स्मरन् | 7 | 11 | d |
| *सम्परेत्य यथाऽऽगतम्* | *9* | *37* | *b* |
| *सम्पीड्य पायुं पार्ष्णिभ्यां* | *23* | *14* | *a* |
| सम्पृच्छे भव एतस्मिन् | 22 | 15 | b |
| सम्प्रसन्ने भगवति | 11 | 14 | a |
| सम्भावितस्य स्वजनात् | 3 | 25 | c |
| सम्भृताशेष मन्नलैः | 21 | 4 | b |
| सम्मानं वापि पुत्रक | 8 | 30 | b |

| | | | |
|---|---|---|---|
| सम्यक् सिद्धिमभीप्सुभिः | 23 | 35 | b |
| सम्मुह्यन्तु हरद्विषः | 2 | 25 | d |
| स यर्हन्तः पुरगताः | 25 | 55 | a |
| स योजनशतोत्सेधः | 6 | 32 | a |
| स रथं सहसारथिम् | 10 | 12 | b |
| सरत्नैश्चोपशोभितम् | 6 | 14 | b |
| सरस्वती प्रादुरभावि यत्र | 16 | 25 | b |
| सरस्वत्सलिलाप्लुताः | 14 | 36 | b |
| स राजराजेन वराय | 12 | 8 | a |
| स राजा महिषी राजन् | 27 | 2 | a |
| सराष्ट्रपुरबान्धवः | 27 | 17 | d |
| सरितौ बाह्यतः पुरः | 6 | 24 | b |
| सरित्समुद्रा गिरयः | 15 | 12 | a |
| सर्गादि योऽस्यानुरुणद्धि | 17 | 33 | a |
| सर्त्विक्सभ्या भयाकुलाः | 6 | 2 | b |
| सर्पत्रस्ता इवाखवः | 14 | 3 | d |
| सर्पानागाश्च तक्षकम् | 18 | 22 | b |
| सर्व एवर्त्विजो दृष्ट्वा | 5 | 18 | a |
| सर्व एव समागताः | 19 | 42 | b |
| सर्वकामदुघा सती | 19 | 7 | b |
| सर्वकामदुघां पृथुः | 18 | 28 | b |
| सर्वकाम दुघां पृथ्वीं | 18 | 26 | c |
| सर्वकामविनिर्मिताम् | 27 | 14 | d |
| सर्वगोऽनावृतस्साक्षी | 20 | 7 | c |
| *सर्वतस्समलङ्कृतम्* | *21* | *3* | *d* |
| *सर्वतस्सारमादत्ते* | *18* | *2* | *c* |
| सर्वतेजसमदधे | 13 | 14 | d |
| सर्वतो मन आकृष्य | 8 | 80 | a |
| सर्वतोऽलङ्कृतं श्रीमत् | 9 | 56 | c |
| सर्वत्रास्खलितादेशः | 21 | 12 | a |
| सर्वदेवमयो नृषः | 14 | 27 | d |

| | | | |
|---|---|---|---|
| सर्वप्रकृतिवञ्चितः | 25 | 62 | b |
| सर्व भक्षाद्विजा वृत्यै | 2 | 26 | a |
| सर्वभूतनिवासाय | 30 | 26 | a |
| सर्वभूतहितात्मना | 22 | 18 | c |
| सर्व भूतात्मनां ब्रह्मन् | 7 | 54 | c |
| सर्वभूतात्मभावेन | 11 | 11 | c |
| सर्वभूतात्मभावेन | 12 | 5 | c |
| सर्वभूतात्ममेधसा | 31 | 2 | b |
| सर्वभूतात्मविग्रहम् | 12 | 5 | d |
| सर्वभूतानुरञ्जनाः | 12 | 36 | b |
| सर्वभूतेष्ववस्थितम् | 24 | 70 | b |
| सर्वरूपाणि शंसति | 29 | 68 | b |
| सर्वर्धिर्वत्सरस्येष्टा | 13 | 12 | a |
| सर्वलोकगरीयसः | 1 | 26 | d |
| सर्वलोकगुरुः प्रभुः | 19 | 3 | d |
| सर्वलोकनमस्कृतम् | 9 | 25 | b |
| सर्वलोकाधिपत्यं च | 22 | 45 | c |
| सर्वलोकैक भर्तरि | 21 | 47 | d |
| सर्वसत्त्वात्मदेहाय | 24 | 39 | a |
| सर्वसौन्दर्य सङ्ग्रहम् | 24 | 45 | b |
| सर्वस्मा आत्मने नमः | 24 | 33 | d |
| सर्वं तदेतत् पुरुषस्य | 30 | 40 | c |
| सर्वाणि भूतान्यनसूययैव | 30 | 39 | d |
| सर्वात्मना पतिं भेजे | 23 | 25 | c |
| *सर्वात्मना ब्रह्मकुलंनिषेव्य* | *21* | *38* | *d* |
| *सर्वात्मनोपे हि जगत्परायणं* | *11* | *27* | *b* |
| सर्वात्मन्यच्युते सर्वे | 12 | 11 | a |
| सर्वात्मा सर्वभागभुक् | 7 | 49 | b |
| सर्वार्थापह्नवो नृणाम् | 22 | 33 | b |
| सर्वे क्रमानुरोधेन | 29 | 70 | a |
| सर्वेन्द्रिय गुणाञ्जनम् | 24 | 44 | d |

| | | | |
|---|---|---|---|
| सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च | 31 | 20 | c |
| सर्वेलोकास्सपालकाः | 19 | 9 | d |
| सर्वेषामपि भूतानां | 31 | 13 | c |
| सर्वेषां लोकपालानां | 22 | 54 | c |
| सर्वेषां वः सुमध्यमा | 30 | 16 | b |
| सर्वेषां वितनोति शम् | 22 | 19 | d |
| सर्वे समनसो जनाः | 29 | 70 | d |
| सर्वे सुरगणादयः | 7 | 22 | b |
| सर्वे स्वमुख्यवत्सेन | 18 | 26 | a |
| स लिङ्गेन विमुच्यते | 29 | 85 | d |
| सलिलैः शुचिभिर्माल्यैः | 8 | 58 | a |
| स लोकपाला मुनयः | 6 | 39 | c |
| स लोकपालाः शरणं | 8 | 83 | d |
| स वञ्चितो बतात्मधृक् | 23 | 28 | a |
| सवनीयपशोः शिरः | 7 | 8 | d |
| सविप्रानुमतो राजा | 13 | 37 | a |
| स वीरमूर्तिः समभूत् | 17 | 35 | c |
| सवृन्तैः कदलीस्तंभैः | 9 | 54 | c |
| सवृन्तैः कदलीस्तंभैः | 21 | 3 | a |
| स वै तदैवप्रतिपद्य | 9 | 5 | a |
| स वै धियायोग | 9 | 2 | a |
| स वै निःश्रेयसस्य ते | 8 | 43 | b |
| स वै प्रियतरश्चात्मा | 29 | 52 | c |
| स वै भवानात्मविनि | 17 | 34 | a |
| *स वै सर्वप्रजापतीन्* | *30* | *51* | *d* |
| *सव्रीडभावास्मित* | *25* | *30* | *b* |
| सव्रीडस्मित शोभनाम् | 25 | 25 | b |
| सव्यापकतयाऽऽत्मानं | 28 | 40 | a |
| स शरासनमुद्यम्य | 13 | 40 | a |
| स शान्ति मधिगच्छति | 7 | 54 | d |
| स सदस्यानुगो वैन्यः | 22 | 3 | c |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| स सप्तभिश्शतैरेकः | 27 | 16 | a | संसरन्त्विह ये चेमं | 2 | 24 | c |
| स साम्राज्यश्रियान्वितः | 22 | 52 | b | संसृतिर्न निवर्तते | 29 | 36 | b |
| ससृजुस्तिग्म गतयः | 10 | 28 | c | संसृतिर्ननिवर्तते | 29 | 75 | b |
| सरनाववभृथं ततः | 7 | 56 | f | संसृतिस्तद्व्यवच्छेदः | 29 | 37 | c |
| सस्मितं तामभाषत | 27 | 27 | d | संस्तभ्यात्मानमात्मना | 18 | 1 | d |
| सह ओजबलाय च | 24 | 39 | d | संस्तूयमानोऽभ्यवदत् | 12 | 1 | d |
| सह देवास्सहाग्नयः | 2 | 9 | b | संस्थापयिष्यन्नज | 17 | 34 | c |
| सह पत्न्या यथावृक्षं | 1 | 17 | c | संस्थित्याध्यात्मशिक्षया | 22 | 49 | b |
| सह भागं न लभतां | 2 | 18 | c | संस्मारितोर्मर्मभिदः | 3 | 15 | c |
| सह मात्रा महान्कविः | 8 | 68 | d | साकं पितृपितामहैः | 1 | 60 | d |
| सहस्रपरिवत्सरम् | 2 | 34 | b | साकं मघवता विभुः | 20 | 1 | b |
| सहस्रपरिवत्सरन् | 28 | 54 | d | साक्षत्किंकिं वृणीमहे | 30 | 32 | d |
| सहस्रबाहुर्घनरुक् | 5 | 3 | b | साक्षाद्भगवृतोक्तेन | 28 | 41 | a |
| सहस्रमहतौजसः | 30 | 17 | b | साक्षिणं विरराम ह | 28 | 40 | d |
| सहस्रशीर्षापि ततो गरुत्म | 9 | 1 | c | साग्नयोऽनग्नयस्तेषां | 1 | 62 | c |
| सहाऽऽगत्य सुरेश्वरैः | 15 | 9 | b | साङ्ख्ययोगेश्वराय च | 24 | 43 | b |
| सहिष्णुं च महामते | 1 | 38 | d | सातत्पुंसवनं राज्ञी | 13 | 38 | a |
| सहोपनीतं परबिर्ह | 3 | 9 | d | सात्वं मुखं सुदतिसुभ्रनुरागभार | 26 | 23 | a |
| संज्ञप्ता येऽदयालुना | 28 | 26 | b | सादिशो विदिशो देवी | 17 | 16 | a |
| संज्ञप्तिमात्रं भजताध्रुया | 31 | 19 | c | साधवो गृहमेधिनः | 22 | 10 | b |
| संज्ञापिताञ्जीवसङ्घान् | 25 | 7 | c | साधवो य इहागताः | 21 | 20 | b |
| संयच्छ रोषं भद्रं ते | 11 | 31 | a | साधवो विशदाशयाः | 29 | 40 | b |
| संयोज्यात्मानमात्मनि | 23 | 13 | b | साधु पृष्टं महाराज | 22 | 18 | a |
| संरम्भभीममविमृष्टं | 26 | 25 | b | साधुवाद स्तदा तेषां | 5 | 25 | a |
| संवत्सरयोऽगति | 29 | 22 | b | साधुवादेन साधवः | 21 | 44 | d |
| संवत्सरश्चाण्डवेगः | 29 | 13 | c | साधुसाध्वित्यथाऽब्रुवन् | 7 | 6 | d |
| संवर्तक इवाप्यये | 30 | 45 | d | साधूच्छिष्टं हि मे सर्वम् | 22 | 43 | c |
| संवादं हरिकीर्तनम् | 31 | 26 | d | साधूनां गति रीदृशी | 22 | 18 | d |
| संविधाय महेष्वास | 2 | 34 | c | साधूनां ब्रुवतो वृत्तम् | 2 | 9 | c |
| संविवेश गतक्लमः | 26 | 11 | d | साध्वलङ्कृतसर्वाङ्गः | 26 | 12 | c |
| संशयोऽत्र तु मे विप्र | 29 | 59 | a | सानुगा मुनयोऽग्रयः | 2 | 4 | d |

| | | | |
|---|---|---|---|
| सानुगोऽचष्ट लक्षितान् | 22 | 2 | d |
| सानुरागावलोकनम् | 8 | 54 | b |
| सानुरागावलोकेन | 16 | 9 | c |
| सान्त्वयन् वल्गुना साम्ना | 28 | 51 | c |
| सान्त्वयन् श्लक्ष्णया वाचा | 26 | 19 | a |
| सान्त्वयित्वाऽथ सामभिः | 14 | 13 | f |
| सान्त्वितो यदि नो वाचं | 14 | 12 | c |
| सान्निध्यं नित्यदा हरेः | 8 | 45 | d |
| सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ माभूत् | 9 | 10 | c |
| सामुद्रीं देवदेवोक्तां | 24 | 11 | a |
| सायं च पुण्यश्लोकस्य | 12 | 47 | c |
| सायं प्रातस्समाहिताः | 30 | 10 | b |
| सारङ्गोऽन्यन्न सेवते | 30 | 32 | b |
| सारमाददते बुधाः | 18 | 13 | b |
| सारमेयो गृहं गृहम् | 29 | 31 | b |
| सारं सुष्ठु मितं मधु | 22 | 17 | b |
| सार्वभौमश्रियं नैच्छत् | 13 | 6 | c |
| सावित्र्या इव साधुवत् | 2 | 11 | d |
| सा विद्या तन्मति र्यथा | 29 | 51 | b |
| सा विव्यथे यद्गदितं सपत्न्या | 8 | 16 | d |
| सा श्रद्धया भगवद्धर्मचर्यया | 22 | 22 | a |
| सिद्धचारणपन्नगाः | 20 | 37 | b |
| सिद्धमादाय पायसम् | 13 | 36 | d |
| सिद्धरूपी चरत्यजः | 22 | 16 | d |
| सिद्धलोकं ततोऽगमत् | 29 | 82 | d |
| सिद्धविद्याधरोरगैः | 1 | 22 | b |
| सिद्धानां दिवि पश्यताम् | 10 | 14 | b |
| सिद्धा नृत्यन्ति स्वःस्त्रियः | 15 | 7 | d |
| सिद्धार्थाक्षतदध्यम्बु | 9 | 58 | c |
| सिद्धाविद्याधरा दैत्याः | 19 | 5 | a |
| सिद्धा स्सङ्कल्पनामयीम | 18 | 19 | b |
| सिद्धिमापुः प्रतोष्य काम् | 3 | 1 | d |
| सिद्धिं नभसि विद्यां च | 18 | 19 | c |
| सिद्धोऽभूद्यत्र जाजलिः | 31 | 2 | d |
| सिनीवाली कुहू राका | 1 | 34 | c |
| सिन्धवः पर्वता नद्यः | 15 | 20 | a |
| सिन्धवो रत्नतिकरान् | 19 | 9 | a |
| सिसृक्षुः संसिसृक्षताम् | 24 | 72 | a |
| सिसृक्ष्मो विविधाः प्रजाः | 24 | 73 | d |
| सिंह रक्नध्वत्विषो बिभ्रत् | 24 | 49 | a |
| सिंहाव्याघ्राश्च यूथशः | 10 | 26 | d |
| सुकपोलां वराननाम् | 25 | 22 | b |
| सुकुमार्यतदर्हा च | 23 | 19 | c |
| सुखञ्चानेन विन्दति | 29 | 77 | d |
| सुखदुःखहतात्मनाम् | 8 | 38 | b |
| सुखदुःखे इति द्वन्द्वानि | 28 | 37 | c |
| सुखं तरति दुष्पारं | 24 | 75 | c |
| सुखासीन उवाच ह | 8 | 66 | d |
| सुखासीन मथाऽब्रुवन् | 31 | 4 | d |
| सुखे च दुःखे च जितेन्द्रियाशयः | 20 | 14 | b |
| सुजातरुचिराननम् | 24 | 45 | d |
| सुतमात्मद्विषामपि | 16 | 13 | b |
| सुतां सतीमवदध्यावनागसम् | 5 | 9 | d |
| सुताः प्राचीनबर्हिषः | 30 | 1 | b |
| सुते मेरुस्तयो रदात् | 1 | 44 | b |
| सुतो मे बालको ब्रह्मन् | 8 | 68 | a |
| सुदुर्जयं विष्णुपदं जितं त्वया | 12 | 25 | a |
| सुदुर्लभं यत्परमं पदं हरेः | 9 | 28 | a |
| सुदुश्चिकित्सस्य भवस्य मृत्योः | 30 | 38 | c |
| सुदुष्करं कर्म कृत्वा | 8 | 72 | a |
| सुदेवो रोचनो द्विषट् | 1 | 7 | f |
| सुद्विजं सुकपोलास्यं | 24 | 46 | c |

| | | | |
|---|---|---|---|
| सुधियः साधवो लोके | 20 | 3 | a |
| सुनन्दनन्दप्रमुखाः | 19 | 5 | c |
| सुनन्दनन्दाद्यनुगैर्वृतं मुदा | 7 | 25 | c |
| सुनन्दनन्दावुपसृत्य सस्मितं | 12 | 22 | c |
| सुनासं सुभ्रुवं चारु | 8 | 48 | c |
| सुनासः सुमुखः सौम्यः | 21 | 15 | c |
| सुनासां सुदतीं बालां | 25 | 22 | a |
| सुनीति रस्य जननी | 9 | 49 | a |
| सुनीति रुत्सङ्ग उदूह्य बालम् | 8 | 16 | b |
| सुनीतिं जननीं ध्रुवः | 12 | 31 | b |
| सुनीतिः सुरुचिश्चाऽस्य | 9 | 41 | a |
| सुनीतिः सुरुचि स्तयोः | 8 | 9 | b |
| सुनीथा गर्भसम्भवः | 14 | 10 | d |
| सुनीथाङ्गस्य या पत्नी | 13 | 18 | a |
| सुनीथात्मजचेष्टितम् | 13 | 24 | b |
| सुनीथा पालयामास | 14 | 35 | c |
| सुनीथां ब्रह्मवादिनः | 14 | 2 | b |
| सुन्दरभ्रु सुनासिकाम् | 24 | 46 | b |
| सुपर्ण मुन्नद्ध फणा इवाहयः | 11 | 4 | d |
| सपर्णवत्सा विहगाः | 18 | 24 | c |
| सुपर्णस्कन्धमारूढः | 30 | 5 | a |
| सुप्तप्रबुद्ध इव नाथ भवत्प्रपन्नः | 9 | 8 | b |
| सुप्तायां मयि जागर्ति | 25 | 35 | c |
| सुप्तिमूर्छोपतापेषु | 27 | 73 | a |
| सुभद्रं ध्यायतो मनः | 8 | 55 | b |
| सुमन स्समाननधर्माणां (गद्यं) | 29 | 56 | गद्यं |
| सुमहानतिचक्रमे | 3 | 1 | d |
| सुरर्षयो भूतगणा इदं यतः | 24 | 63 | d |
| सुरविट्क्षपणैरुदायुधैः | 7 | 32 | c |
| सुरासुरेड्यो ददृशे स्म नारदः | 31 | 3 | d |
| सुरासुरेन्द्रै रुपगीयमानम् | 16 | 28 | c |
| सुरासुरेशै रभिवन्दिताङ्घ्रिम् | 6 | 40 | b |
| सुरुचिस्तं समुत्थाप्य | 9 | 46 | a |
| सुरुचिः प्रेयसी पत्युः | 8 | 9 | c |
| सुरुचिः शृण्वतो राज्ञः | 8 | 11 | c |
| सुरुच्या दुर्वचो बाणैः | 8 | 39 | c |
| सुवर्णपुङ्खाः कलहंसवाससः | 11 | 3 | b |
| सुवासाः साध्वलङ्कृतः | 15 | 13 | b |
| सुषुवे कर्दमात्मजा | 1 | 13 | b |
| सुषुवे वेन मुल्बणम् | 13 | 18 | b |
| सुस्थिरासन मासाद्य | 28 | 45 | c |
| सुस्नातां रुचिराननाम् | 27 | 2 | b |
| सुस्वरं प्ररुरोद ह | 28 | 47 | d |
| सुहृदानन्दवर्धनः | 16 | 18 | b |
| सुहृदोऽत्र तपस्विनाम् | 22 | 15 | b |
| सुहृद्दिदृक्षा प्रतिघातदुर्मनाः | 4 | 2 | a |
| सुहृद्दिदृक्षुः परिशङ्किता भवान् | 4 | 1 | c |
| सूक्ष्मवक्रासितस्निग्ध | 21 | 17 | a |
| सूताद्यापि वरीमभिः | 15 | 26 | b |
| सूतोऽथ मागधो वन्दी | 15 | 20 | c |
| सूर्यवद्विसृजन् गृह्णन् | 22 | 56 | a |
| सूर्यो रश्मिमया निषून् | 15 | 18 | b |
| सृजत्यत्ति च पाति च | 11 | 26 | d |
| सृजन रक्षन् हरन् विश्वं | 7 | 51 | c |
| सृष्टं स्वशक्त्येदमनुप्रविष्टः | 24 | 64 | a |
| सृष्ट्वानुविश्य पुरुष स्तदसद्गुणेषु | 9 | 7 | c |
| सेतुषु स्थापिता पृथक् | 21 | 21 | d |
| सेतुं विधारणं पुंसाम् | 2 | 30 | c |
| सेर्ष्य माहातिगर्विता | 8 | 11 | d |
| सेर्ष्यं महापूरुषपादपांसुभिः | 4 | 13 | c |
| सेव्यते हरि रीश्वरः | 31 | 9 | d |
| सेश्वरीणां यथा पुरा | 26 | 14 | d |

| | | | |
|---|---|---|---|
| सैनापत्यं च राज्यं च | 22 | 45 | a |
| सैनिका भयनाम्नो ये | 28 | 1 | a |
| सैनिका यवनाः खलाः | 29 | 16 | b |
| सैषा नूनं व्रजत्यूर्ध्वं | 23 | 26 | a |
| सोऽचिरादेव राजर्षेः | 29 | 39 | a |
| सोऽतिव्रज्य मुनीनपि | 12 | 34 | b |
| सोत्सृज्य धैर्यं विललापशोक | 8 | 17 | a |
| सोदानमुत्थाप्य च नाभिचक्रतः | 4 | 25 | b |
| सोऽनन्तोऽन्तकरः कालः | 11 | 19 | a |
| सोऽन्यजन्मनि दहाग्निः | 1 | 36 | c |
| सोऽन्वेषमाणः शरणं | 25 | 11 | a |
| सोपाध्याय र्त्विगादिभिः | 7 | 16 | d |
| सोपाध्यायस्य पश्यतः | 20 | 39 | b |
| सोऽपि सङ्कल्पजं विष्णोः | 9 | 27 | a |
| सोऽभिषिक्तः पृथुर्विप्रैः | 21 | 9 | a |
| सोऽभिषिक्तो महाराजः | 15 | 13 | a |
| सोमपानितरानपि | 7 | 56 | d |
| सोमराज इवाऽपरः | 22 | 55 | d |
| सोमं प्राप्ताः सहस्रशः | 4 | 33 | d |
| सोमः पीयूषवर्षिणीम् | 30 | 14 | b |
| सोमोऽभूद्ब्रह्मणोंऽशेन | 1 | 33 | a |
| सोमोऽमृतमयानश्नान् | 15 | 17 | c |
| सोम्याः पितर आज्यपाः | 1 | 62 | b |
| सोऽयमद्य महायोगिन् | 31 | 30 | a |
| सोऽयं दुर्मर्षहृदयो ब्रह्मबन्धुः | 4 | 30 | a |
| सोऽयं प्रसीदतु भवान् प्रणतात्मबन्धुः | 7 | 30 | d |
| सोऽयं शमो भगवता | 8 | 38 | a |
| सोऽयं स्थितिव्यतिकरोपशमाय सृष्टान्- | 1 | 56 | a |
| सोऽश्वं रूपं च तद्धित्वा | 19 | 17 | a |
| सोऽश्वं रूपं च तद्धित्वा | 19 | 21 | c |
| सोऽहं गुणमयीं द्विज | 7 | 51 | b |
| सौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसङ्गाः | 9 | 12 | d |
| सौदर्य सम्प्रश्नसमर्थवार्तया | 4 | 8 | a |
| सौभगग्रीव कौस्तुभम् | 24 | 49 | b |
| सौहार्देनाऽपृथग्धर्माः | 30 | 8 | c |
| स्तनावासिच्य विपिने | 28 | 47 | c |
| स्तनौ व्यञ्जितकैशोरौ | 25 | 24 | a |
| स्तन्येन वृद्धश्च विलज्जते यां | 8 | 19 | c |
| स्तब्धः सम्भावितःस्वतः | 14 | 4 | d |
| स्तब्धो बृहद्धधान्मानी | 29 | 50 | c |
| स्तम्बस्तोयमिव ह्रदात् | 22 | 30 | d |
| स्तावकां स्तानभिप्रेत्य | 15 | 21 | a |
| स्तुवतीषु सुरस्त्रीषु | 23 | 29 | a |
| स्तुवन्त्यथो त्वाऽऽत्मसमं गृणीमः | 30 | 41 | d |
| स्तुवन्त्यहं कामवरान् | 30 | 10 | c |
| स्तूयमानो गतस्मयः | 21 | 5 | d |
| स्तूयमानो नर्दल्लीलया योगिभिः | 7 | 46 | c |
| स्तूयमानोऽविशत्पुरम् | 9 | 53 | d |
| स्तोत्रं सर्वे प्रचेतसः | 25 | 2 | b |
| स्त्रिया न सज्जेद्भुजयोर्महाभुजा | 25 | 42 | b |
| स्त्रीकामः सोऽस्त्वतितराम् | 2 | 23 | c |
| स्त्रीजितस्योपधारय | 8 | 70 | b |
| स्त्रीजितो नाविदद्भयम् | 27 | 18 | d |
| स्त्रीणां रामः सतामिव | 22 | 63 | d |
| स्त्रैणेनाकरुणात्मना | 8 | 68 | b |
| स्थातुमर्हसि नैकत्र | 27 | 22 | c |
| स्थितावबष्टभ्य गदां सुवाससौ | 12 | 20 | c |
| स्थितिः संयम एव च | 11 | 16 | b |
| स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः | 1 | 16 | b |
| स्थित्युत्पत्त्यप्यया यतः | 29 | 81 | b |
| स्थूले दधार भगवत्प्रतिरूप एतद् | 12 | 17 | c |
| स्नात्वानुसवनं तस्मिन् | 8 | 46 | a |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| स्नानपुण्यतरोदया | 6 | 22 | b | स्रवते ब्रह्म तस्याऽपि | 14 | 41 | c |
| स्नापयामास तनयं | 9 | 44 | c | स्रुग्धस्ताञ्जुह्वतोऽभ्येत्य | 19 | 29 | c |
| स्निग्धप्रावृड्घनश्यामं | 24 | 45 | a | स्रोतो गणा स्तमरणं भज वासुदेवम् | 22 | 39 | d |
| स्निग्धेनापाङ्ग पुञ्जेन | 25 | 25 | c | स्व एव धर्मे न परं क्षिपेत्स्थितः | 4 | 19 | d |
| स्नेहाद्रुदन्त्यश्रुकलाति विह्वला | 4 | 2 | b | स्व एव धिष्ण्येऽभिरतस्य किं तया | 20 | 29 | d |
| स्पर्धच्छ्रियापरिवृतोवनमालयाऽढ्यः- | 30 | 7 | b | स्व एव लोके रमतो महामुनेः | 4 | 19 | b |
| स्पर्शिष्वस्पृष्टवस्तुषु | 29 | 48 | d | स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहम् | 31 | 18 | c |
| स्पृशन्तं पादयोः प्रेम्णा | 20 | 19 | a | स्वतेजसा भूतगणान् समुत्थितान् | 4 | 10 | c |
| स्पृशन्त्यां स्पृशति क्वचित् | 25 | 60 | d | स्वतेजसोत्पाटितलोकशल्यः | 16 | 28 | b |
| स्पृष्टः प्रेमोद्भमद्भुवा | 25 | 25 | d | स्वत्वावशिष्टं यत्किञ्चित् | 28 | 16 | c |
| स्पृष्ट्वा जलं पीतदुकूलसंवृता | 4 | 24 | c | स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिःपुमान् | 24 | 29 | a |
| स्पृष्ट्वा मूर्धन्यघघ्नेन | 8 | 26 | c | स्वधर्म मनुतिष्ठताम् | 24 | 53 | d |
| स्फीतं निधायारुरुहे परं पदम् | 21 | 7 | d | स्वधर्ममनुतिष्ठन्तः | 24 | 69 | c |
| स्फुरता विश्वतोमुखम् | 28 | 41 | d | स्वधर्मयोगेन यजन्ति मामकाः | 21 | 35 | c |
| स्फुरत्किरीटवलय | 24 | 48 | a | स्वधर्मशीलैः पुरुषैः | 13 | 4 | a |
| स्मयमान इव प्रीत्या | 22 | 17 | c | स्वधाम प्रत्यगात्प्रभुः | 20 | 39 | d |
| स्मयमानमभिध्यायेत् | 8 | 54 | a | स्वधिष्ण्येभ्यः सहाग्नयः | 2 | 6 | b |
| स्मयं पुष्टि रसूयत | 1 | 50 | d | स्वधिष्ण्येष्विव पावकान् | 22 | 6 | b |
| स्मरन्त आत्मजे भार्यां | 31 | 1 | c | स्वनुग्रहं कर्तु मिहार्हसि प्रभो | 6 | 49 | d |
| स्मरन्तो वैशसं तव | 25 | 8 | b | स्वपार्षदसैन्यं च तदध्वरर्भुभिः | 5 | 1 | c |
| स्मरन्तो ह्यात्मवैशसम् | 28 | 26 | d | स्वपुरं प्रत्यपद्यत | 12 | 9 | d |
| स्मितावलोकेन चरत्यवोहितुं | 25 | 42 | d | स्वप्नेऽनर्थागमो यथा | 29 | 75 | d |
| स्मृतिं पुनर्विस्मृततत्ववर्त्मनां | 20 | 26 | c | स्वप्ने यथा पुरुषस्तद्विनाशे | 22 | 27 | d |
| स्मृतौ हतायां भृतमानदुर्दृशः | 3 | 17 | c | स्वप्ने विचरतो यथा | 29 | 36 | d |
| स्मृत्या मुकुन्दाचरिताग्र्यसीधुना | 22 | 24 | b | स्वप्ने स्वप्न इवाऽनघ | 29 | 35 | d |
| स्याच्चेत्तत्तत्प्रतिक्रिया | 29 | 33 | d | स्वबन्धुभि ररिन्दम | 25 | 36 | d |
| स्यात्सङ्गमोऽनुग्रह एष नस्तव | 24 | 58 | d | स्वबुध्याऽभद्ररन्धन | 30 | 28 | d |
| स्या त्स्वस्ति किं कोपयतो विधातुः | 5 | 11 | d | स्वभाव मपरे नृप | 11 | 22 | b |
| स्यादच्युतकथाश्रयः | 29 | 39 | b | स्वमगादूरुडध्वजः | 9 | 26 | d |
| स्यादेवयत्कर्मणि नः समीहितम् | 20 | 29 | b | स्वमाययाऽऽत्माश्रयया वितर्क्यया | 17 | 31 | b |
| स्यान्निर्गुणे ब्रह्मणि चाञ्जसा रतिः | 22 | 25 | d | स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते | 22 | 46 | a |

| | | | |
|---|---|---|---|
| स्वयम्भुवे नमस्कृत्य | 6 | 2 | c |
| स्वयम्भूः प्रत्यषेधत | 19 | 29 | d |
| स्वयं दृगविशेषणः | 7 | 50 | d |
| स्वयं प्रकृतिरीश्वरः | 29 | 51 | d |
| स्वयोपादत्त दाक्ष्याच्च | 30 | 50 | c |
| स्वरमण्डितषट्पदम् | 6 | 29 | b |
| स्वरूप मवरुन्धानः | 13 | 9 | c |
| स्वरूपस्थोऽजहात्प्रभुः | 23 | 18 | f |
| स्वर्गापवर्गद्वाराय | 24 | 37 | a |
| स्वर्गापवर्गनरकान् | 20 | 33 | c |
| स्वर्य्यं कलिमलापहम् | 23 | 34 | d |
| स्वर्य्यं ध्रौव्यं सौमनस्यं | 12 | 44 | c |
| स्वर्चितेषु यथार्हतः | 21 | 14 | b |
| स्वर्णरो प्यायसैश्शृङ्गैः | 25 | 14 | c |
| स्वर्णवर्माक्षयेषुधिः | 26 | 3 | b |
| स्वर्णार्ण शतपत्रैश्च | 6 | 16 | a |
| स्वशक्त्या मायया युक्तः | 11 | 26 | c |
| स्वशूलसूच्यार्पितदिग्गजेन्द्रः | 5 | 10 | b |
| स्वसारं जगृहे मृत्युः | 29 | 15 | c |
| स्वस्तये स्वस्ति रस्तु मे | 24 | 33 | b |
| स्वस्थ स्तद्व्यभिचारेण | 28 | 64 | c |
| स्वं लोकं न विदु स्ते वै | 29 | 49 | a |
| स्वं वस्ते स्वं ददाति च | 22 | 46 | b |
| स्वं स्वं धाम ययु स्ततः | 2 | 35 | d |
| स्वागतं ते प्रसीदेश तुभ्यं नमः | 7 | 36 | a |
| स्वागतं ते सुरर्षेऽद्य | 31 | 5 | a |
| स्वागतं वो द्विजश्रेष्ठाः | 22 | 12 | a |
| स्वाना मनुग्रहायेमां | 22 | 16 | c |
| स्वानां दिदृक्षुः प्रययौ | 31 | 31 | c |
| स्वानां प्रदर्शय मनस्विनिवत्सुवाक्यम् | 26 | 23 | d |
| स्वानां यथा वक्रधियां दुरुक्तिभिः | 3 | 19 | c |
| स्वानुसर्गः प्रजापतिः | 23 | 1 | d |
| स्वाप्नीव भात्यतद्ध्यानात् | 12 | 4 | c |
| स्वायम्भुवस्याऽपि मनोः | 8 | 7 | c |
| स्वायम्भुवो मुदा युक्तः | 1 | 5 | c |
| स्वाराज्यस्याऽप्यभिमतः | 24 | 54 | c |
| स्वाराज्यं यच्छतो मौढ्यात् | 9 | 35 | a |
| स्वार्थमेवानसूयवः | 21 | 24 | b |
| स्वाहाभिमानिनश्चाऽग्नेः | 1 | 59 | a |
| स्विष्टं यजुर्भिः प्रणतोऽस्मि यज्ञम् | 7 | 41 | d |
| स्विष्टाः सुतुष्टाः प्रदिशन्ति वाञ्छितं | 14 | 22 | c |
| स्वेच्छावतारर्चारितैः | 8 | 60 | a |
| स्वेनैवावाप्तराधसे | 7 | 57 | b |
| स्वे रूपभेदमिव तत्प्रति चक्षणाय | 1 | 55 | b |
| स्वे स्वे पात्रे पृथक्पयः | 18 | 26 | b |
| सैरं गतस्य मृगयां व्यसनातुरस्य | 26 | 26 | b |
| स्वैः स्वै श्चिह्नैश्च चिह्नितान् | 1 | 24 | d |
| **ह** | | | |
| हतमच्युतनिन्दया | 14 | 34 | d |
| हतः पुण्यजनेनादौ | 10 | 3 | c |
| हतावशिष्टा इतरे | 10 | 20 | a |
| हताशेषाघबबन्धनम् | 9 | 43 | d |
| हतोद्यमाः प्रत्युपसृत्य | 13 | 49 | b |
| हतोऽयं मानवः सूर्यः | 10 | 14 | c |
| हन्ताप्रिया दैववतमस्य | 4 | 28 | c |
| हन्तवेऽत्रिरचोदयत् | 19 | 15 | b |
| हन्तारोधनदानुगाः | 11 | 24 | b |
| हन्त्यसाधुर्मृगान् दीनान् | 13 | 40 | c |
| हन्यतां हव्यतामेषः | 14 | 31 | a |
| हन्यादिति नियम्यते | 26 | 6 | d |
| हयमेधशतस्यह | 20 | 2 | b |
| हयमेधशतेन सः | 19 | 1 | b |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| हरन्तिबलिमादृताः | 14 | 20 | d | हस्ताभ्यां कृतबाहवः | 7 | 5 | b |
| हरन्निव मनोऽमुष्य | 20 | 39 | c | हंसकारण्डवकुलैः | 9 | 64 | c |
| हरत्यायुः परिक्रान्त्या | 29 | 14 | c | हंससारस चक्राह्व | 24 | 21 | c |
| हरये हरिमेधसे | 30 | 24 | b | हंसावहं चत्वञ्चार्य | 28 | 54 | a |
| हरिचन्दन वायुना | 6 | 30 | b | हंसेन प्रतिबोधितः | 28 | 64 | b |
| हरिमाराधयत्यसौ | 24 | 76 | d | हंसौ पश्याढ्योनौगतिं | 28 | 61 | d |
| हरिरघात्मघनप्रियः | 31 | 22 | b | हाटकासन आसीनान् | 22 | 6 | a |
| हरिरात्मात्मदः प्रियः | 31 | 13 | d | हातुं प्रचक्रमे राजा | 28 | 10 | c |
| हरिर्देहभृतामात्मा | 29 | 51 | c | हारकेयूर मुकुटैः | 10 | 19 | a |
| हरिस्सुदर्शनं चक्रं | 15 | 16 | c | हारनूपुर मेखलम् | 24 | 48 | b |
| हरिं गुरुं यज्ञभुजामधीश्च | 21 | 35 | b | हारं प्रादान्महाधनम् | 9 | 38 | d |
| हरेरंशाविहागतौ | 1 | 58 | b | हासावलोक कलया | 7 | 21 | b |
| हरेरंशांशजन्मनः | 8 | 7 | d | हाहाकारस्तदैवासीत् | 10 | 14 | a |
| हरेर्निशम्यतत्पादं | 31 | 25 | c | हाहेतिवादस्सुमहान् | 4 | 28 | b |
| हरेर्मुहुस्तत्पदकर्णपूर | 22 | 25 | a | हिताय जगतोऽर्कवत् | 8 | 41 | d |
| हरेश्चरणचार्चतम् | 8 | 65 | d | हित्वा गतो वेन सुवं | 13 | 47 | d |
| हरौ स वव्रेऽचलितां स्मृतिं | 12 | 8 | c | हित्वा गृहान् सुतान् | 28 | 34 | a |
| हर्तान्यथाहतपुण्यः | 20 | 15 | c | हित्वा मां पदमन्विच्छन् | 28 | 53 | c |
| हर्तुमारेभिरे तत्र | 27 | 15 | c | हित्वा मिषन्तं पितरं | 8 | 15 | c |
| हर्यक्षायादिशत्प्राचीं | 24 | 2 | a | हित्वा यक्षेश्वरपुरीं | 6 | 28 | a |
| हर्यश्वं द्रविणं वृकम् | 22 | 54 | b | हित्वार्भकः क्रीडनकानि | 12 | 51 | c |
| हर्षवेगेन घर्षितः | 9 | 38 | b | हित्वा स्वगृहमृद्धिमत् | 8 | 28 | b |
| हर्षं प्राप्नोति तद्गुणैः | 29 | 20 | d | हिमनिर्झरविष्णुष्मत् | 25 | 18 | a |
| हर्षं शोकं भयं दुःखं | 29 | 77 | c | हिरण्मयेन पात्रेण | 13 | 36 | c |
| हविर्घानमविन्दतं | 24 | 5 | b | हिरण्मयेन पात्रेण | 18 | 15 | c |
| हविघानाद्धविर्घानी | 24 | 8 | a | हिरण्यकशिपुश्चापि | 21 | 46 | a |
| हविर्घानिः प्रजापतिः | 24 | 9 | b | हिरण्यरशनंविभुः | 19 | 19 | d |
| हर्वीषि हूयमानानि | 13 | 26 | c | हीनसत्त्वमराजकम् | 14 | 40 | b |
| हव्यं वहे स्वध्वर | 7 | 41 | b | हुताशने पारमहंस्य | 21 | 40 | d |
| हसन्ती वीर मोहिता | 25 | 32 | d | हुत्वाग्नीन् सत्पम्थाश्चक्रुः | 14 | 36 | c |
| हस्तपादौपुमांस्ताभ्यां | 29 | 19 | c | हृत्प द्म कर्णिकाधिष्ण्यं | 8 | 53 | c |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| हृत्पद्मकोशे स्फुरितं | 9 | 2 | b | हेलनं गिरिशभ्रातुः | 11 | 33 | a |
| हृदयन विदूयता | 17 | 17 | d | हेलनं वयमण्वपि | 13 | 28 | b |
| हृदयेन विदूयता | 26 | 19 | b | हैमोपस्करमारुह्य | 26 | 3 | a |
| हृदि राजन्यबालक | 9 | 19 | b | हैमं वीर वरासनम् | 15 | 14 | b |
| हृदिविद्धस्तु तान् स्मरन् | 9 | 29 | b | हृदिनीमाविशच्छ्रचौ | 25 | 44 | d |
| हृदुरः कण्ठशीर्षणि | 23 | 14 | d | हस्वपान्निम्ननासाग्रः | 14 | 44 | c |
| हृदोपगुह्यामुपधादवस्थितः | 20 | 22 | d | हस्वबाहुर्महाहनुः | 14 | 44 | b |
| हृन्नीडो द्वन्द्वकूबरः | 29 | 23 | b | हस्वेन कालेन गृहोपयात्मन् | 20 | 16 | c |
| हृषीकेशानु वर्तिनाम् | 11 | 10 | b | हियमाणं विचक्ष्वैनं | 19 | 36 | c |
| हृषीकेशेन्द्रियात्मने | 24 | 36 | b | हिया प्रश्रयशीलाभ्यां | 22 | 62 | c |
| हृष्टरोमलताङ्घ्रिपम् | 24 | 22 | b | ह्रीमन्तः परमोदाराः | 15 | 25 | c |
| हेममाल्यमलाम्बरः | 13 | 36 | b | ह्वयामहे त्वच्छ्रवसा | 19 | 28 | b |

## Extra Verses Index


| | | | |
|---|---|---|---|
| अकुण्ठज्ञानमात्मनि | 29 | 82 | b |
| अदृष्टंदृष्टवान्नङ्क्षेत् | 29 | 82 | a |
| अन्तर्यामिणमीश्वरम् | 31 | 24 | b |
| अन्नमय्या समुज्जिव्या | 29 | 82 | a |
| अपवर्गस्तु संसृतेः | 29 | 82 | d |
| अप्रमत्तः प्रजापते | 20 | 36 | b |
| अस्तिप्रज्ञा समायत्ता | 29 | 27 | c |
| आकाशपुरुषोन्वयात् | 29 | 82 | d |
| आतिष्ठेभ्रातृमात्रोर्म | 11 | 35 | c |
| आत्मात्वनीहया साक्षात् | 22 | 37(ख) | a |
| आत्मसृत्या विहायेदं | 29 | 47 | c |
| आरुरोहाद्भुतगृहम् | 12 | 30 | d |
| इत्युक्तस्तं प्रणम्याऽऽह | 11 | 35 | a |
| उत्ससर्जाम्बरे रेतः | 7 | 61(ख) | c |
| एवं विदत्यात्ममायां | 22 | 37(ख) | c |
| कुमारोऽभूत्ततस्तस्मै | 7 | 6(ग) | c |
| कोविशेषस्तया नृणाम् | 29 | 47 | d |
| क्रिया च वासना मात्रं | 22 | 37(क) | c |
| क्लेशश्शेतेममृताम्बुधौ | 24 | 68 | b |
| गङ्गा जग्राह तन्नदी | 7 | 61(ख) | d |
| गुरुदारवचोबाणैः | 31 | 24 | c |
| चच्छर्दशरकानने | 7 | 61(ग) | b |
| जनोऽनुस्मरते च तत् | 24 | 68 | d |
| जीवात्मा स विशिष्यते | 29 | 47 | d |
| ज्ञात्वा जागां स धूर्जटिः | 7 | 61(ख) | b |
| ज्ञानं स्तूपरमन्मुनिः | 22 | 37(ख) | d |
| तत [illegible] त्यपालं | 7 | 61(घ) | c |
| तत्र शरीर आनन्दः | 29 | 82 | c |
| तत्परं सर्वधिष्ण्येभ्यः | 31 | 24 | a |
| तत्त्वं कुरु मयाऽऽदिष्टं | 20 | 36 | a |
| तदा अनुवदन्निव | 21 | 20 | b |
| तदोत्तानपदः पुत्रः | 12 | 30 | a |
| तद्ब्रह्म परमं विदुः | 22 | 37(ग) | d |
| तया मैथुनमारभ्य | 7 | 61(क) | |
| तं यूयं सर्वभूतानां | 31 | 24 | a |
| तान्नापश्यत्परं गतः | 8 | 80 | d |
| तावद्वेदाऽथ तत्तेङ्गिं | 24 | 68 | c |
| तेषां परिवृढो राजन् ! | 25 | 21 | a |
| त्यक्त्वा स्त्रैणञ्च तं गच्छन् | 31 | 24 | a |
| त्रासयन्त रस्वमायया | 8 | 80 | b |
| दक्षस्तु दृष्ट्वा दुहितुः | 4 | 31 | a |
| ददर्शान्तिक मागतम् | 12 | 30 | b |
| देवाश्चक्रुस्तपोविघ्नं | 8 | 80 | a |
| दृष्टो मे पथ्युदारधीः | 31 | 24 | b |
| धिङ्गामविजितात्मानं | 4 | 31 | |
| ध्रुवश्चित्ररथस्स्वराट् | 31 | 24 | b |
| न यत्र निद्रा मूर्च्छा वा | 22 | 37(ग) | a |
| नानुवृत्तिर्न प्रलयः | 22 | 37(ग) | c |
| नार्थदृश्य मनोरथः | 22 | 37(ग) | b |
| निगुणं निरपत्रपम् | 4 | 31 | |
| निर्भिन्नहृदयोऽर्भकः | 31 | 24 | d |
| पञ्चवर्षो मदादेशैः | 31 | 24 | c |
| परं नाऽऽपुरवाङ्मुखाः | 31 | 24 | b |
| पीत्वान्तरजरं वह्निः | 7 | 61(ग) | a |
| प्राप्य जायम्भवः पुनः | 7 | 61(क) | b |
| बहुरूपोग्रणीः स्त्रियः | 25 | 21 | d |
| बह्वतप्यत घोरेण | 4 | 31 | c |
| भक्तिः कृष्णे दया जीवेषु | 29 | 82 | a |
| भगवं स्तेनुशासनम् | 11 | 35 | b |
| भजध्वं भवनुत्तये | 31 | 24 | d |
| भवतां वंशधुर्योऽभूत् | 31 | 24 | a |

| | | | |
|---|---|---|---|
| भूतं भवद्भविष्यच्च | 29 | 82 | c |
| भूतं स्वप्नवदन्यथा | 29 | 82 | b |
| मदोदशकरो लोकः | 20 | 36 | c |
| मनो मात्रमिदं विश्वं | 22 | 37(ऋ) | a |
| मयाऽसाधुकृतं बत | 4 | 31 | d |
| मायाधिष्ठितमारुहत् | 31 | 24 | b |
| मुनयोऽद्याप्युदीक्षन्ते | 31 | 24 | c |
| मृत्योर्मूर्ध्निपदं दत्वा | 12 | 30 | c |
| यत्स्पृष्टोऽहरहर्मुक्त | 24 | 68 | a |
| यथा स्वप्ने मनःक्रिया | 22 | 37(क) | b |
| यदि स्यादात्मनो भूयात् | 29 | 82 | c |
| योऽहं स्वीकृत्यमृतकं | 4 | 31 | |
| रुद्रादिष्टोपदेशेन | 31 | 24 | c |
| रेमे देवस्समाश्शतम् | 7 | 61(क) | d |
| लब्ध्वे हान्ते मनुष्यत्वं | 29 | 47 | a |
| व्यभिचार्यत्र सङ्गमः | 29 | 82 | b |
| व्यर्थमेनो महीयसि | 4 | 31 | |
| शोचतः क्षम्यतामिति | 11 | 35 | d |
| सततं देहपोषणे | 29 | 47 | b |
| सतीं मेनात्मजान्तात | 4 | 7(क) | a |
| स बालषण्मुखोऽभवत् | 7 | 61(घ) | b |
| सर्पेभसिंहकूष्माण्डैः | 8 | 80 | c |
| सर्वत्राप्नोति शोभनम् | 20 | 36 | d |
| सर्वासुरभयङ्करम् | 7 | 61(घ) | d |
| सर्वेषामपिजन्तूनां | 29 | 47 | |
| सर्वेषा मुपकारार्थं | 21 | 20 | a |
| सर्वेषां बलिमुद्वहन् | 25 | 21 | b |
| सस्त्रीकाणां सखा तस्याः | 25 | 21 | c |
| संराध्यपुरुषेश्वरम् | 31 | 24 | d |
| साऽनीहायां प्रलीयते | 22 | 37(क) | d |
| सुप्तं सर्वरहोरहः | 29 | 82 | d |
| स्तनं षट्कृतिका ददुः | 7 | 61(ग) | d |
| स्वनिमित्तं विनाशनम् | 4 | 31 | b |
| स्वयंज्योतिः प्रसिध्यति | 22 | 37(ख) | b |
| स्ववीर्यधारणेऽकल्पां | 7 | 61(ख) | a |
| षड्भिर्मुखैस्स्तनं पीत्वा | 7 | 61(घ) | a |
| हित्वा देहाद्यसद्ग्रहम् | 29 | 47 | b |

# व्याख्यानोद्धृतानां प्रमाण वचनानां आकरनिर्देशनी

## चतुर्थः स्कन्धः

| Sl.No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted in commentary | | Particulars of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| | | | अ | | |
| 1. | 16 | 19 | अकथितञ्च | वीर | अष्टा.1-4-51 |
| 2. | 4 | 16 | अकामस्सर्वकामो वा | वीर | भाग.2-3-10 |
| 3. | 29 | 72 | अक्षमिन्द्रियं स्रोतः | विज | हला.को.2-380 |
| 4. | 2 | 22 | अक्षय्यं ह वै | श्रीध | आप.श्रौ.सू.8-1-1 |
| 5. | 4 | 19 | अक्षय्यं ह वै | वीर | आप.श्रौ.सू.8-1-1 |
| 6. | 2 | 22 | अक्षय्यं ह वै | वीर | आप.श्रौ.सू.8-1-1 |
| 7. | 29 | 49 | अक्षय्यं ह वै | वीर | ऋक्.सं.6-4-11 |
| 8. | 30 | 31 | अक्षरात्परतः परः | श्रीध | मुण्ड.उ.2-1-4 |
| 9. | 6 | 3 | अग्ना वैष्णव पुरोडाशं | विज | |
| 10. | 21 | 40 | अग्निमुखा वै देवाः | वीर | |
| 11. | 26 | 6 | अग्नीषोमीयं पशुमालभेत | वीर | |
| 12. | 3 | 10 | अङ्कश्चिह्नेऽन्तिकोरसोः | विज | वैज.को.6-1-6 |
| 13. | 25 | 10 | अच्छेद्योऽयम् | वीर | भ.गी.2-24 |
| 14. | 4 | 16 | अजं लोकगुरुं नत्वा | वीर | भाग.4-6-7 |
| 15. | 7 | 39 | अजामेकां लोहित- | वीर | म.ना.उ-8-4 |
| 16. | 17 | 31 | अजामेकां लोहित- | विज | म.ना.उ.8-4 |
| 17. | 28 | 58 | अजामेकाम् | वीर | म.ना.उ.8-4 |
| 18. | 1 | 30 | अजायमानो बहुधा | वीर | पु.सू.2-1 |
| 19. | 3 | 11 | अजा विष्णुहरच्छगाः | विज | अम.को.3-187 |
| 20. | 15 | 24 | अणोरणीयान्महतो | विज | कठ.उ.2-20 |
| 21. | 30 | 25 | अत इनि ठनौ | वीर | अष्टा. 5-2-115 |
| 22. | 21 | 45 | अतिस्यादधिकार्थोक्तौ | विज | वैज.को. 8-7-15 |
| 23. | 30 | 31 | अतोऽनन्तेन तथाहि | विज | ब्र.सू.3-2-26 |
| 24. | 30 | 18 | अतो निन्दा हेतु चित्रेषु | विज | वैज.को. 8-7-16 |
| 25. | 22 | (क)36,37 | अतो विष्णोरनीहायां | विज | तन्त्रसारे |
| 26. | 20 | 7 | अत्राऽयं पुरुषः स्वयं | विज | बृह.उ. 4-3-9 |
| 27. | 13 | 8 | अथ कस्मादुच्यते | विज | |
| 28. | 12 | 4 | अथ चैनं नित्यजातं | वीर | भ.गी.2-26 |
| 29. | 25 | 44 | अथ यत्रैतत्सुषुप्तः | वीर. | बृह.उ.2-1-19 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 30. | 28 | 29 | अथ यदिदमस्मिन् | वीर. | छान्दो.उ.8-1-1 |
| 31. | 26 | 6 | अथवा ज्ञानिनः कर्म | विज | अध्यात्मे |
| 32. | 26 | 7 | अथ वा ज्ञानिनः कर्म | विज | अध्यात्मे |
| 33. | 29 | 75 | अथ स्वप्ने पुरुषं | वीर | |
| 34. | 21 | 32 | अथात आनन्दस्य | विज | तैत्ति.उ.2-8 |
| 35. | 7 | 33 | अधिकरणे शेतेः | विज | अष्टा.3-2-15 |
| 36. | 17 | 29 | अधिष्ठानं | वीर | |
| 37. | 9 | 16 | अधीहि भगवो ब्रह्म | वीर | तैत्ति.उ.3-1to5 |
| 38. | 2 | 25 | अनङ्गो मन्मथो मन्था | विज | शब्दनिर्णये |
| 39. | 29 | 46 | अनन्ता वै वेदाः | वीर | |
| 40. | 20 | 8 | अनन्यसदृशत्वाच्च | विज | तन्त्रसारे |
| 41. | 4 | 16 | अनन्याश्चिन्तयन्तो मां | वीर | भ.गी.9-22 |
| 42. | 13 | 49 | अनपत्यत्वकर्माऽसौ | विज | वामने |
| 43. | 13 | 33 | अनपत्योऽपि सद्धर्मा | विज | वामने |
| 44. | 2 | 16 | अनपहतपाप्मा वा | वीर | |
| 45. | 3 | 11 | अनपहतपाप्मा वा | वीर | |
| 46. | 6 | 42 | अनपहतपाप्मा वा | वीर | |
| 47. | 7 | 54 | अनपहतपाप्मा वा | वीर | |
| 48. | 23 | 25 | अनपेक्षो गुणैः पूर्णो | विज | शब्दनिर्णये |
| 49. | 30 | 23 | अनवस्थितबुद्धीनां (सम्यागस्थित) | विज | भारते |
| 50. | 12 | 4 | अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या | वीर | विष्णु.पु.6-7-11 |
| 51. | 2 | 31 | अनादि निधना ह्येषा | वीर | भार. 231-56 |
| 52. | 7 | 40 | अनादि निधना ह्येषा | वीर | भार. 231-56 |
| 53. | 22 | 39 | अनाद्यन्तं परं ब्रह्म | विज | मोक्षधर्मे |
| 54. | 25 | 33 | अनामगोत्रम् | विज | मुक्ति.उ.2-72 |
| 55. | 29 | 70 | अनावृत्तिश्शब्दात् | वीर | ब्र.सू. 4-4-22 |
| 56. | 11 | 29 | अनाशी परमार्थश्च | वीर | विष्णु.पु.2-14-24 |
| 57. | 12 | 15 | अ निषेधे पुमान्विष्णौ | विज | वैज.को.8-7-10 |
| 58. | 22 | ख 36/37 | अनीहावस्थ एवाऽसौ | विज | तन्त्रसारे |
| 59. | 23 | 30 | अनुभावः प्रभावे स्यात् | विज | वैज.को.8-1-8 |
| 60. | 22 | ग 36/37 | अनुवृत्तिरिति प्राज्ञैः | विज | शब्दनिर्णये |
| 61. | 7 | 39 | अनेन जीवेनाऽऽत्मना | वीर | छान्दो.उ.6-3-2 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 62. | 7 | 50 | अनेन जीवेनाऽऽत्मना | वीर | छान्दो.उ.6-3-2 |
| 63. | 9 | 7 | अनेन जीवेनाऽऽत्मना | वीर | छान्दो.उ.6-3-2 |
| 64. | 20 | 7 | अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं | विज | म.ना.उ.9-5 |
| 65. | 24 | 40 | अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं | वीर | म.ना.उ.9-5 |
| 66. | 7 | 45 | अन्तर्यामिस्वरूपेण | विज | भविष्यत्पुराणे |
| 67. | 7 | 52 | अन्तः प्रविष्टःशास्ता | वीर | तैत्ति.आ.3-11 |
| 68. | 8 | 81 | अन्तः प्रविष्टःशास्ता | वीर | तैत्ति.आ.3-11 |
| 69. | 9 | 44 | अन्तोऽस्त्र्यवसिते मृत्यौ | विज | वैज.को.6-5-5 |
| 70. | 11 | 19 | अन्तोऽस्त्र्यवसिते मृत्यौ | विज | वैज.को.6-5-55 |
| 71. | 25 | 23 | अन्नमयं हि सौम्य मनः | श्रीध | छान्दो.उ.6-5-4 |
| 72. | 25 | 22 | अन्नमयं हि सौम्य मनः | वीर | छान्दो.उ.6-5-4 |
| 73. | 28 | 58 | अन्नमशितं त्रेधा | वीर | छान्दो.उ.6-5-1 |
| 74. | 12 | 16 | अन्यथात्वात् क्षिप्र | विज | वाराहे |
| 75. | 6 | 42 | अन्यशदितरर्ते | वीर | अष्टा.2-3-29 |
| 76. | 20 | 7 | अन्येषामवृतो विष्णुः | विज | तन्त्र सारे |
| 77. | 20 | 20 | अपक्कभक्तियुक्त ये | विज | प्रकाशसंहितायाम् |
| 78. | 23 | 12 | अपरोक्षतया वृत्ति | विज | ब्रह्मतर्के |
| 79. | 21 | 26 | अपहतपाप्मा विजरो | वीर | छान्दो.उ.8-1-5 |
| 80. | 25 | 10 | अपहतपाप्मा विजरो | वीर | छान्दो.8-7-1, 8-7-5 |
| 81. | 4 | 32 | अपहता असुरा | श्रीध | |
| 82. | 4 | 32 | अपहता असुरा | वीर | |
| 83. | 2 | 22 | अपामसोमममृता | वीर | अथ.शिख.उ.3-2<br>ऋक्.सं.6-4-11 |
| 84. | 20 | 31 | अपामसमोममृता | वीर | अथ.शिख.उ.3-2<br>ऋक् .सं.6-4-11 |
| 85. | 29 | 49 | अपामसोमममृता | वीर - | अथ.शिख.उ.3-2<br>ऋक्.सं.6-4-11 |
| 86. | 19 | 23 | अप्यक्षरसाम्यात् | विज | |
| 87. | 4 | 20 | अबध्नन् पुरुषं पशुम् | विज | पु.सू. 1-3 |
| 88. | 20 | 9 | अभयं प्रतिष्ठां विन्दते | वीर | तैत्ति.उ.2-7 |
| 89. | 22 | 37 | अभिमानस्त्वहङ्कारः | विज | शब्दनिर्णये |
| 90. | 7 | 10 | अभ्रं सलिलदे व्योमन् | विज | वैज.को.6-2-1 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 91. | 1 | 2 | अभ्रातृकां प्रदास्यामि | श्रीध | मनु.स्मृ.9-3 (अधिकपाठः) |
| 92. | 1 | 2 | अभ्रातृकां प्रदास्यामि | श्रीध | मनु.स्मृ.9-3 |
| 93. | 24 | 37 | अमृतस्यैष सेतुः | वीर | मुण्ड.उ.2-2-5 |
| 94. | 22 | 37 | अयमात्मा ब्रह्मा | वीर | बृह.उ.2-5-19, 6-4-5 |
| 95. | 7 | 54 | अयं हरिः सर्वमिदं | वीर | |
| 96. | 3 | 15 | अयं हि (तु) लोकपालानां | वीर | भाग.4-2-10 |
| 97. | 21 | 37 | अर्कमर्कट मण्डूक - | विज | हला.को.5-70 |
| 98. | 8 | 59 | अर्चा तु प्रतिमा प्रोक्ता | विज. | हला .को.1-131 |
| 99. | 8 | 57 | अर्चा पूजा सपर्या स्यात् | विज | वैज.को.3-6-39 |
| 100. | 15 | 5 | अर्चिर्भा ज्वालयोर्न ना | विज | वैज.को.6-5-6 |
| 101. | 7 | 1 | अर्जि हशि कम्यमि | विज. | उणा.सू.27 |
| 102. | 1 | 58 | अर्जुने तु नरावेशः | विज | तत्त्वविवेके |
| 103. | 15 | 26 | अर्तिर्ह्री व्ली री | वीर | अष्टा.7-3-36 |
| 104. | 21 | 29 | अर्थतोऽवधृतिः | विज | वाराहे |
| 105. | 21 | 32 | अर्थस्स्याद्विषये | विज | वैज.को.6-1-3 |
| 106. | 21 | 14 | अर्हन्तौ जिनसम्मान्यौ | विज | वैज.को.6-5-6 |
| 107. | 19 | 32 | अलं तु भूषणे शक्तौ | विज | वैज.को.8-7-13 |
| 108. | 27 | 25 | अलौकिकञ्च | विज | पाद्मे |
| 109. | 24 | 64 | अवधारणे घशब्दः | विज | शब्दनिर्णये |
| 110. | 7 | 40 | अविज्ञातं विजानतां | वीर | केन.उ.2-3 |
| 111. | 25 | 10 | अविज्ञाता सहस्रांशुः | वीर | भार. |
| 112. | 15 | 23 | अविद्यमानकथकाः | विज | |
| 113. | 1 | 15 | अविद्यकर्मसंज्ञाऽन्या | वीर | विष्णु.पु.6-7-61to63 |
| 114. | 7 | 28 | अविद्याऽस्मितराग | विज | पातञ्जलयोग सूत्राणि |
| 115. | 7 | 31 | अव्यक्तादिपदार्थानां | विज | तन्त्रसारे |
| 116. | 24 | 29 | अव्याकृतं विशति | विज | भाग.3-32-9 |
| 117. | 13 | 8 | अशरीरं शरीरेषु | वीर | कठ.उ.2-22 |
| 118. | 31 | 17 | असन्नो ह्ययं पुरुषः | विज | बृह.उ.4-3-15 |
| 119. | 7 | 50 | असद्वा इदमग्र आसीत् | वीर | तैत्ति.उ.2-7 |
| 120. | 9 | 6 | असुप्तः सुप्तानभि- | विज | बृह.उ.4-3-11 |
| 121. | 3 | 10 | अस्त्री मेढ्राङ्कयोः | विज | वैज.को.6-5-43 |
| 122. | 31 | 19 | अस्थूलमनण्वहस्वम् | वीर | बृह.उ.3-8-8 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 123. | 7 | 37 | अस्मान् मायी सृजते | वीर | श्वेता.उ.4-9 |
| 124. | 12 | 46 | अस्मायामेधाम्रजो | वीर | अष्टा.5-2-121 |
| 125. | 23 | 15 | अस्येदं कारणमिति | विज | ब्रह्मतर्के |
| 126. | 17 | 26 | अहनिष्यत्कथं योषां | वीर | भाग.4-17-19 |
| 127. | 12 | 4 | अहं कृत्स्नस्य जगतः | वीर | भ.गी.7-6 |
| 128. | 7 | 26 | अहं ब्रह्मा च शर्वश्च | श्रीध | भाग.4-7-50 |
| 129. | 4 | 16 | अहं ब्रह्मा च शर्वश्च | वीर | भाग.4-7-50 |
| 130. | 24 | 54 | अहं ब्रह्माऽस्मि | विज | बृह.उ.1-4-10 |
| 131. | 14 | 34 | अहं ब्रह्मेति वेनस्तु | विज | भविष्यत्पुराणे |
| 132. | 12 | 41 | अहं भक्त पराधीनो | वीर | भाग.9-4-63 |
| 133. | 7 | 25 | अहं हि सर्वयज्ञानां | वीर | भ.गी.9-24 |
| 134. | 20 | 1 | अहं हि सर्वयज्ञानां | विज | भ.गी.9-24 |
| 135. | 7 | 27 | अहं हि सर्वयज्ञानां | विज | भ.गी.9-24 |
| 136. | 22 | 24 | अहिंसा सत्यमस्तेयं | विज | याज्ञवल्क्ययोगशास्त्रम् |
| | | | **आ** | | |
| 137. | 24 | 60 | आकाशमेकं हि यथा | वीर | |
| 138. | 7 | 56,57 | आग्नेयं पञ्चकपालम् | विज | |
| 139. | 25 | 10 | आचतुर्दशमाद्वर्षात् | विज | |
| 140. | 29 | 25 | आचतुर्दशमाद्वर्षात् | विज | |
| 141. | 21 | 41 | आचारहीनां न पुनन्ति | विज | वसिष्ठ स्मृतिः 6-3 |
| 142. | 22 | 23 | आचार्यवान्पुरुषो वेद | वीर | छान्दो.उ.6-14-2 |
| 143. | 22 | 23 | आचार्याद्धेव हि | वीर | छान्दो.उ.4-9-3 |
| 144. | 29 | 53 | अचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः | वीर | मनु.स्मृ.2-226 |
| 145. | 5 | 15 | आज्ञा गुरूणां हि | श्रीध | |
| 146. | 5 | 2 | आतपः कथ्यते रौद्रः | विज | हला.को 1-40 |
| 147. | 12 | 39 | अतोद्यं वाद्यमिष्यते | विज | हला.को.1-93 |
| 148. | 21 | 40 | अतो लोप इटि च | वीर | अष्टा. 6-4-64 |
| 149. | 24 | 33 | आत्मन आकाशः | वीर | तैत्ति.उ.2-1-1 |
| 150. | 24 | 63 | आत्मन आकाशः | वीर | तैत्ति.उ 2-1-1 |
| 151. | 22 | 32 | आत्मनस्तु कामाय | श्रीध | बृह.उ.2-4-5 |
| 152. | 21 | 43 | आत्मने पदेष्वनतः | वीर | अष्टा. 3-1-54 |
| 153. | 20 | 8 | आत्मनैवावगम्यत्वात् | विज | अध्यात्मे |
| 154. | 15 | 23 | आत्मप्रशंसा मरणम् | विज | |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 155. | 31 | 16 | आात्मभावःशशिरेषु | विज | अध्यात्मे |
| 156. | 7 | 28 | आत्मा जीवे धृतौ देहे | विज | वैज.को.6-1-6,7 |
| 157. | 17 | 29 | आत्मा जीवे धृतौ देहे | विज | वैज.को.6-1-6 |
| 158. | 6 | 43 | आत्मा देवो जातः | वीर | |
| 159. | 31 | 18 | आत्मानमेव लोकम् | विज | बृह.उ.1-4-5 |
| 160. | 26 | 1 | आत्मानं रथिनं विद्धि | वीर | कठ.उ.3-3 |
| 161. | 29 | 24 | आत्मानं रथिनं विद्धि | वीर | कठ.उ.3-3,4 |
| 162. | 21 | 33 | आत्मा वा इदमेकः | विज | एत.उ.1-1-1 |
| 163. | 20 | 8 | आत्मा सर्वस्य जगतः | विज | तन्त्रसारे |
| 164. | 7 | 54 | आत्मेति तूपगच्छन्ति | वीर | ब्र.सू.4-1-3 |
| 165. | 25 | 47 | आदित्यश्च क्षुर्भूत्वा | विज | ऐत.उ.2-4 |
| 166. | 25 | 47 | आदित्यो ह वै चक्षुः | विज | |
| 167. | 9 | 31 | आधिपत्यमनित्यन्तु | विज | भविष्यत्पर्वणि |
| 168. | 31 | 19 | आनन्दो ब्रह्म | वीर | तैत्ति.उ.3-6 |
| 169. | 29 | 52 | आनन्दो ब्रह्मेति | वीर | तैत्ति.उ.3-6 |
| 170. | 9 | 16 | आनुपूर्वो श्रुतिश्चैव | विज | |
| 171. | 25 | 19,20 | आबाधा महतीपीडा | विज | हला.को.2-4 |
| 172. | 4 | 20 | आब्रह्मास्थितधीः | विज | भविष्यत्पुराणे |
| 173. | 19 | 12,13 | आमुक्तः प्रतिमुक्तश्च | श्रीध | अम.को.2-522 |
| 174. | 20 | 19 | आयासदुःखव्रीडादीन् | विज | ब्रह्मतर्के |
| 175. | 20 | 8 | आराग्रमात्रो हि | वीर | श्वेता.उ.5-8 |
| 176. | 23 | 11 | आविर्भावतिरोभावौ | विज | तन्त्रसारे |
| 177. | 8 | 7 | आविष्टा हरिणा जीवाः | विज | ब्रह्मवैवर्ते |
| 178. | 21 | 46 | आशाङ्कायां सन्वक्तव्यः | वीर | वार्तिकम् under अष्टा.6-4-17 |
| 179. | 16 | 9 | आशंसायां भूतवच्च | श्रीध | अष्टा.3-3-132 |
| 180. | 16 | 9 | आशंसायां भूतवच्च | वीर | अष्टा.3-3-132 |
| 181. | 7 | 41 | आश्रावयेति चतुरक्षरम् | श्रीध | |
| 182. | 7 | 41 | आश्रावयेति चतुरक्षरम् | वीर | |
| 183. | 29 | 18 | आसुरी नाम पश्चाद्द्वाः | वीर | भाग.4-25-52 |
| 184. | 1 | 27 | आस्य जानन्तो नाचि- | विज | |
| | | | इ | | |
| 185. | 6 | 46 | इति यन्निश्चितं ज्ञानं | विज | गारुडे |
| 186. | 25 | 9 | इतिहासःपुरावृत्तम् | विज | अम.को.1-161<br>वैज.को.2-4-38 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 187. | 21 | 33 | इन्द्रायाग्नये | विज | |
| 188. | 23 | 16 | इन्द्रियाणां हि चरतां | वीर | भ.गी. 2-67 |
| 189. | 23 | 17 | इन्द्रियाणां हि चरतां | श्रीध | भ.गी.2-67 |
| 190. | 23 | 17 | इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैः | वीर | भाग. 4-22-30 |
| 191. | 23 | 17 | इन्द्रियै विषयाकृष्टैः | श्रीध. | भाग. 4-22-30 |
| 192. | 17 | 32 | इन्द्रो मायाभिः | विज | बृह.उ.2-5-15 |
| 193. | 1 | 27 | इमा रुद्राय स्थिर | विज | |
| 194. | 7 | 49 | इवोभये च सादृश्ये | विज | |
| 195. | 7 | 25 | इष्टापूर्तं बहुधा जातं | वीर | मा.ना.उ.1-6 |
| 196. | 21 | 26 | इष्टापूर्तं बहुधा जातं | वीर | मा.ना.उ.1-6 |
| 197. | 21 | 29 | इष्टापूर्तं बहुधा जातं | वीर | मा.ना.उ.1-6 |
| 198. | 24 | 37 | इष्टापूर्तं बहुधा जातं | वीर | मा.ना.उ.1-6 |
| | | | ई | | |
| 199. | 7 | 3 | ईदूदेद् द्विवचनं- | वीर | अष्टा.1-1-11 |
| 200. | 11 | 26 | ईश्वरस्सर्वभूतानां | वीर | भ.गी.18-61 |
| 201. | 4 | 15 | ईश्वराज्ज्ञानमन्विच्छेत् | वीर | मत्स्य.पु.67-41 |
| 202. | 24 | 1 | ईश्वराज्ज्ञानमन्विच्छेत् | विज | ब्रह्माण्डपुराणम् |
| | | | उ | | |
| 203. | 7 | 4 | उच्छेषणभागो वै | विज | |
| 204. | 19 | 11 | उत्तम श्लोकविग्रहौ | विज | भाग.4-19-36 |
| 205. | 20 | 7 | उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः | विज | भ.गी.15-17 |
| 206. | 7 | 52 | उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः | वीर | भ.गी.15-17 |
| 207. | 7 | 26 | उत्पत्तिर्हरिरूपाणां | विज | तत्त्वनिर्णये |
| 208. | 23 | 30 | उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव | वीर | विष्णु.पु.6-5-78 |
| 209. | 26 | 6 | उपकारः सतां येन | विज | अध्यात्मे |
| 210. | 31 | 1 | उपयास्यथ मद्धाम | श्रीध | भाग.4-30-18 |
| 211. | 21 | 11 | उपान्वध्याङ्वसः | वीर | अष्टा.1-4-48 |
| 212. | 24 | 20 | उपोऽधिके च | श्रीध | अष्टा.1-4-87 |
| 213. | 24 | 20 | उपोऽधिके च | वीर | अष्टा. 1-4-87 |
| 214. | 28 | 44 | उपोधिके च | श्रीध | अष्टा 1-4-87 |
| 215. | 28 | 44 | उपोऽधिके च | वीर | अष्टा.1-4-87 |
| 216. | 3 | 10 | उरस्तु वक्षसि | विज | वैज.को.6-3-3 |
| 217. | 29 | 11 | उरस्तु वक्षसि | विज | वैज.को.6-3-3 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| | | | ऊ | | |
| 218. | 29 | 32 | ऊर्ध्वं गच्छन्ति | वीर | भ.गी.14-18 |
| 219. | 22 | 3 | ऊर्ध्वं प्राणा हि | श्रीध | मनु.स्मृ.2-120 |
| 220. | 22 | 3 | ऊर्ध्वं प्रणा हि | वीर | मनु.स्मृ.2-120 |
| 221. | 22 | 3 | ऊर्ध्वं प्राणा हि | विज | मनु.स्मृ.2-120 |
| | | | ऋ | | |
| 222. | 24 | 29 | ऋजवो नाम ये देवाः | विज | षाड्गुण्ये |
| 223. | 1 | 33 | ऋते तु पाण्डवकथां | विज | वाराहे |
| | | | ए | | |
| 224. | 11 | 18 | एकदेशस्थितस्याग्नेः | वीर | विष्णु.पु.1-22-56 |
| 225. | 6 | 38 | एकपादमथैकस्मिन् | श्रीध | |
| 226. | 17 | 32 | एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म | विज | छान्दो.उ.6-2-1 |
| 227. | 28 | 40 | एकमेवाऽद्वितीयम् | विज | छान्दो.उ.6-2-1 |
| 228. | 31 | 18 | एकमैवाऽद्वितीयम् | विज | छान्दो.उ.6-2-1 |
| 229. | 6 | 38 | एकं पादमथेकस्मिन् | वीर | |
| 230. | 21 | 29 | एकात्मा हरिरुद्दिष्टः | विज | वाराहे |
| 231. | 22 | 37 | एको जीवोऽसि | विज | |
| 232. | 20 | 7 | एको देवः | विज | श्वेता.उ.6-11 |
| 233. | 31 | 16 | एको देवः | विज | श्वेता.उ.6-11 |
| 234. | 20 | 7 | एको व्रीहिः | वीर | |
| 235. | 3 | 11 | एको ह वै नारायणः | वीर | महा.उ.1-1 |
| 236. | 1 | 30 | एक ह वै नारायणः | वीर | महा.उ.1-1 |
| 237. | 1 | 1 | एतत्ते आदिराजस्य | वीर | भाग.3-22-39 |
| 238. | 13 | 8 | एतद्वाणमवष्टभ्य | विज | |
| 239. | 29 | 22 | एतमेव तदनामनग्रं | वीर. | बृह.उ.6-1-14 |
| 240. | 21 | 34 | एतस्यैवानन्दस्य | श्रीध | बृह.उ.4-3-32 |
| 241. | 25 | 38 | एते वै निरयास्तात | वीर | भार.12-191-6 |
| 242. | 9 | 9 | एते वै निरयास्तात | वीर | भार.12-191-6 |
| 243. | 6 | 42 | एतौ द्वौ विबुधश्रेष्ठौ | वीर | भार.12-191-6 |
| 244. | 7 | 50 | एतो द्वौ विबुधश्रेष्ठौ | वीर | भार.12-328-17 |
| 245. | 16 | 20 | एवं धर्मान् पृथक् | विज | पाद्मे |
| 246. | 22 | ख 36/37 | एवं विद्वान्बन्धशक्तिं | विज | |
| 247. | 2 | 16 | एष मे शिष्यतां प्राप्तः | वीर | भाग.4-2-11 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 248. | 7 | 27 | एष मे सर्वधर्माणां | विज | भार. 13-135-8 |
| 249. | 21 | 35 | एष मे सर्वधर्माणां | विज | भार.13-15-8 |
| 250. | 24 | 40 | एष वै ज्योतिष्मन्तं | श्रीध | |
| 251. | 20 | 8 | एष सम्प्रसादोऽस्मात् | वीर | छान्दो.उ.8-12-3 |
| 252. | 7 | 54 | एष सर्वभूतान्तरात्मा | वीर | सुबा.उ.7 |
| 253. | 9 | 10 | एष ह्येवानन्दयाति | विज | तैत्ति.उ.2-7 |
| 254. | 20 | 8 | एषोऽणुरात्मा | वीर | मुण्ड.उ.3-1-9 |
| 255. | 9 | 38 | एष्यत्यचिरतः | श्रीध | भाग.4-8-69 |
| 256. | 9 | 38 | एष्यत्यचिरतः | वीर | भाग.4-8-69 |
| | | | **ऐ** | | |
| 257. | 13 | 8 | ऐकात्म्यप्रत्ययसारम् | विज | |
| 258. | 24 | 70 | ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् | वीर | छान्दो.उ.6-8-7 |
| 259. | 5 | 21 | ऐन्द्रापौष्णतश्चरूः | श्रीध | |
| 260. | 9 | 15 | ऐश्वर्यस्य समग्रस्य | विज | विष्णु.पु.3-74 |
| | | | **ओ** | | |
| 261. | 9 | 48 | आघःपरम्परायां | विज | वैज.को.6-1-10 |
| 262. | 31 | 2 | ओमित्यात्मानं युञ्जीत | वीर | म.ना.उ.17-15 |
| 263. | 7 | 41 | ओश्रावयास्तु श्रोषट् | विज | तन्त्रसारे |
| 264. | 12 | 17 | ओं तत्सदिति निर्देशो | वीर | भार.6-39-23 |
| 265. | 8 | 61 | ओं नमो भगवते | विज | भाग.4-8-54 |
| | | | **औ** | | |
| 266. | 18 | 31,32 | औदकं पार्वतं वार्क्षम् | श्रीध | |
| | | | **क** | | |
| 267. | 11 | 23 | क इत्था वेदयत्र सः | वीर | ऋक्.सं.10-129-6 |
| 268. | 7 | 54 | कक्षीवानृषि (रस्मि) र्विप्रः | वीर | ऋक्.सं.4-26-1 |
| 269. | 27 | 3 | कण्ठो ग्रीवा कन्धरा च | विज | |
| 270. | 30 | 12 | कण्डो र्मुने र्दु हितरं - | वीर | |
| 271. | 20 | 8 | कतम आत्मा योऽयं- | वीर | बृह.उ.4-3-7 |
| 272. | 6 | 21 | कर्णः कर्णविहीनः | विज | वैज.को.3-4-59 |
| 273. | 24 | 63 | कर्तारमीशं पुरुषं- | विज | मुण्ड.उ.3-1-3 |
| 274. | 19 | 1 | कर्मणा ज्ञानमातनोति | विज | |
| 275. | 21 | 33 | कर्मणैव हि संसिद्धिं - | विज | भ.गी. 3-20 |
| 276. | 29 | 80 | कर्मण्यः कर्महेतुकः | विज | |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 277. | 28 | 62 | कर्माणि विज्ञानमयश्च | विज | मुण्ड.उ.3-2-7 |
| 278. | 9 | 53 | कलभश्चैव कन्यानां- | विज | |
| 279. | 8 | 52 | कलापो भूषणे बर्हे | विज | अम. को.3-285 |
| 280. | 13 | 11 | कल्पः कल्पाभिमानी- | विज | ब्राह्मे |
| 281. | 22 | 8 | कस्मिन्वहम् | विज. | |
| 282. | 12 | 4 | काठिन्यवान् यो बिभर्ति- | वीर | विष्णु.पु.1-14-28 |
| 283. | 17 | 29 | काठिन्यवान् यो बिभर्ति | वीर. | विष्णु.पु.1-14-28 |
| 284. | 11 | 22 | कामकर्म स्वभावेषु | विज. | सत्यसंहितायाम् |
| 285. | 11 | 22 | कामोऽकार्षित्कामः - | श्रीध. | म.ना.उ.14-3 |
| 286. | 28 | 27 | कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे | वीर. | अष्टा.2-3-5 |
| 287. | 21 | 47 | कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे | वीर. | अष्टा.2-3-5 |
| 288. | 7 | 40 | काष्ठोत्कर्षे सीम्नि दिशि | विज. | वैज.को.6-2-8 |
| 289. | 13 | 35 | किमित्ते विष्णोपरि | वीर. | ऋक्. सं.7-100-6 |
| 290. | 17 | 30 | किं कुर्मः कस्य वा ब्रूमो - | विज. | |
| 291. | 14 | 43 | कुब्ज क्षुद्रघीर्धखर्व | विज. | |
| 292. | 19 | 19,20 | कुम्बा सुगहना वृत्तिः | विज. | अम.को.2-417 |
| 293. | 29 | 50 | कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं | विज. | भ.गी.4-15 |
| 294. | 18 | 29 | कूटोऽस्त्री पुञ्जमायाधे | विज. | वैज.को.6-5-13 |
| 295. | 25 | 8 | कूटोऽस्त्री पुञ्जमायाधे | विज. | वैज .को.6-5-13 |
| 296. | 25 | 38 | कृतकृत्याः प्रतीक्षन्ते - | वीर. | |
| 297. | 21 | 33 | कृष्णमालभेत | वीर. | - |
| 298. | 29 | 47 | केवलं वेदशब्देन- | विज | अध्यात्मे |
| 299. | 20 | 7 | केवलो निर्गुणश्च | विज. | श्वेता.उ.6-11. |
| 300. | 7 | 26 | केवलो निर्गुणश्चाकाशं- | विज | |
| 301. | 6 | 8 | कैलाशो गिरिशो मृडः | विज. | |
| 302. | 11 | 23 | को अद्धा वेद क इह - | श्रीध. | ऋक्.सं.10-129-6 |
| 303. | 29 | 4 | कोकिलकूजितैः | वीर. | भाग.4-25-9 |
| 304. | 24 | 22 | कोशोऽस्त्री मुकुले दिव्ये | विज. | वैज.को. 6-5-15 |
| 305. | 8 | 85 | को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् | वीर. | तैत्ति.आ.2-7 |
| 306. | 29 | 52 | को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् | वीर. | तैत्ति.उ. 2-7 |
| 307. | 6 | 43 | क्रियन्ते स्तुतयोऽन्यत्र - | विज. | ब्राह्मे |
| 308. | 11 | 7 | क्रोधाद्भवति सम्मोहः | वीर. | भ.गी.2-63 |
| 309. | 27 | 1 | क्वचित्पुमान् क्वचिच्च स्त्री- | श्रीध. | भाग. 4-29-29 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 310. | 27 | 1 | क्वचित्पुमान् क्वचिच्च स्त्री | वीर. | भाग.4-29-29 |
| 311. | 14 | 1 | क्षेमो ना प्राप्तरक्षायाम् | विज. | वैज.को.6-5-22 |
| | | | **ख** | | |
| 312. | 29 | 5 | खमक्षमिन्द्रियं स्रोतः | विज. | हला.को.2-380 |
| 313. | 24 | 41 | खं सुखम् | विज. | |
| | | | **ग** | | |
| 314. | 25 | 10 | गतिबुद्धिशब्दार्थेभ्यश्च | वीर. | |
| 315. | 7 | 29 | गतिमर्ण्वी प्रयुञ्जे | विज. | |
| 316. | 18 | 18 | गमेर्डोः | वीर. | उणा.सू.2-68 |
| 317. | 9 | 1 | गुरुत्मान् गरुड स्तार्क्ष्यः | विज. | अम.को.1-29 |
| 318. | 13 | 8 | गात्रं वपुस्संहननं शरीरं | विज | अम.को.2-330 |
| 319. | 2 | 25 | गिरिः प्राणस्समुद्दिष्टः - | विज | वामने |
| 320. | 13 | 8 | गुणवचनेभ्यो मतुबो लुग् | वीर. | वार्तिकunder अष्टा.1-4-19 |
| 321. | 11 | 29 | गुणस्त्वावृत्ति शब्दादि - | विज. | वैज.को.6-1-20 |
| 322. | 20 | 27 | गुणस्त्वावृत्ति शब्ददि | विज | वैज.को.6-1-20 |
| 323. | 29 | 61 | गुणाभिमानी सदा - | वीर. | भगा. 4-29-27 |
| 324. | 18 | 15 | गुणास्स्वरूपभूताश्च - | विज. | ब्राह्मे |
| 325. | 7 | 39 | गुणै र्विचित्राः | वीर. | |
| 326. | 28 | 32 | गुरुमेवाऽभिगच्छेत् - | वीर. | मुण्ड.उ.1-2-12 |
| 327. | 22 | 63 | गुरुविप्रेषु भक्त्या च | विज. | ब्रह्माण्डे |
| 328. | 19 | 15 | गुरोर्वचनमौषधम् | विज. | |
| 329. | 24 | 64 | गृहां प्रविष्टावात्मनौ - | श्रीध. | ब्र.सू.1-2-11 |
| 330. | 30 | 19 | गृहाः पुंसिच भूम्न्येव | विज. | अम.को.2-23 |
| 331. | 21 | 12 | गोत्रं नाम्नि कुलेऽचले | विज | वैज.को.6-5-28 |
| 332. | 18 | 31 | गोष्ठं घोष इति प्रोक्तो - | विज. | |
| 333. | 18 | 31 | गोष्ठाध्वनिवहाः व्रजाः | विज | अम. को. 3-187 |
| 334. | 18 | 16 | गौडी पौष्टी च माध्वी च - | वीर. | मनु.स्मृ.11-94 |
| 335. | 28 | 58 | गौरनाद्यन्तवती | वीर. | मन्त्रि.उ.4 |
| 336. | 21 | 15 | गौरोऽरुणे सितेपीते | विजः | अम .को.3-344 |
| 337. | 17 | 9 | ग्रामजन बन्धुभ्यस्तल् | वीर. | अष्टा.4-2-43 |
| 338. | 18 | 31 | | ग्रामो बहुजनाकीर्णो - | विज |
| | | | **घ** | | |
| 339. | 14 | 40 | घातुं 'तं' न घातु 'त' को विप्रः | वीर. | |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 340. | 19 | 1 | घोटके वीतितुरग | विज. | अम.को.2-500 |
| | | | **च** | | |
| 341. | 29 | 24 | चचार मृगयां तत्र | श्रीध. | भाग. 4-26-4 |
| 342. | 7 | 41 | चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च - | श्रीध. | शरभ.उ.26 |
| 343. | 7 | 41 | चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च - | वीर. | शरभ.उ.26 |
| 344. | 6 | 46 | चतुर्षु षष्ठी | विज. | |
| 345. | 6 | 35 | चराचराणि सर्वाणि- | वीर. | |
| 346. | 19 | 19,20 | चषालो यूपकटकः | विज. | अम.को.2-417 |
| 347. | 11 | 18 | चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं - | वीर | भ.गी.4-13 |
| 348. | 4 | 21 | चिताभस्मकृतस्नान- | श्रीध. | भाग. 4-2-15 |
| 349. | 4 | 15 | चिताभस्मकृतस्नान - | विज | भाग. 4-2-15 |
| 350. | 30 | 18 | चित्रमालेख्यमिश्रयोः | विज. | वैज.को.6-5-30 |
| | | | **छ** | | |
| 351. | 7 | 50 | छागो वा मन्त्रवर्णात् | वीर. | |
| | | | **ज** | | |
| 352. | 20 | 20 | जगत्समस्तं विश्वञ्च - | विज. | |
| 353. | 20 | 29 | जगत्समस्तं विश्वञ्च - | विज. | |
| 354. | 9 | 15 | जगद्व्यापारवर्ज्जं- | वीर | ब्र.सू.4-4-17 |
| 355. | 7 | 26 | जडमाया न तस्याऽस्ति- | विज. | तत्त्वविवेके |
| 356. | 7 | 50 | जन्माद्यस्य यतः | वीर | ब्र.सू.1-1-2 |
| 357. | 29 | 36 | जाग्रत्यविद्यमानन्तु- | विज. | षाड्गुण्ये |
| 358. | 17 | 16,17 | जीवन् भद्राणि पश्यति | विज. | भार.3-240-36 |
| 359. | 28 | 62 | ~~जीवसत्ता~~प्रदत्वात्तु- | विज. | वाराहे |
| 360. | 24 | 63 | जीवाद्भवन्ति ~~भूतानि~~ | विज. | |
| 361. | 20 | 13 | जीवाद्भिन्नस्य मनसो गुणाः- | विज. | षाड्गुण्ये |
| 362. | 24 | 69 | जीवेभ्यो जडतश्चैव | विज | षाड्गुण्ये |
| 363. | 22 | 26 | जीवोपाधिर्द्विधा प्रोक्तः | विज | स्कान्दे |
| | | | **ज्ञ** | | |
| 364. | 13 | 8 | ज्ञानज्ञानस्सुखसुखः | विज. | |
| 365. | 9 | 10 | ज्ञानादेव सर्वे कामाः- | विज. | |
| 366. | 7 | 54 | ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् | वीर | भ.गी.7-18 |
| 367. | 21 | 40 | ज्ञीनी त्वात्मैव मे मतम् | वीर. | भ.गी.7-18 |
| 368. | 22 | 16 | ज्ञीनी त्वात्मैव मे मतम् | वीर. | भ.गी.7-18 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 369. | 31 | 21 | ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् | वीर. | भ.गी.7-18 |
| | | | ट | | |
| 370. | 25 | 52 | टिड्ढाणञ् | वीर | अष्टा. 4-1-15 |
| 371. | 28 | 30 | डलयोरभेदः | विज. | |
| | | | त | | |
| 372. | 29 | 47 | ततस्तु केशवं भक्त्या | विज. | महासंहितायाम् |
| 373. | 7 | 54 | ततस्स भगवान् विष्णुः | वीर | विष्णु.पु.6-3-16 |
| 374. | 7 | 54 | ततः कालाग्निरुद्रोसौ | वीर. | विष्णु.पु.6-3-24 |
| 375. | 29 | 51 | तत्कर्म यन्न बन्धाय- | वीर. | विष्णु.पु.1-19-41 |
| 376. | 21 | 24 | तत्कुरुष्व मदर्पणम् | वीर. | भ.गी2-27 |
| 377. | 21 | 26 | तत्तेजोऽसृजत | वीर. | छान्दो.उ.6-2-3. |
| 378. | 24 | 61 | तत्तेजोऽसृजत | वीर. | छान्दो.उ.6-2-3 |
| 379. | 22 | 37 | तत्त्वमसि | वीर. | छान्दो.उ.6-8-7 |
| 380. | 24 | 70 | तत्त्वमसि | वीर. | छान्दो.उ.6-8-7 |
| 381. | 29 | 47 | तत्त्वं वेदानुसारेण | विज. | षाड्गुण्ये |
| 382. | 4 | 30 | तत्पुरुषाय | विज. | म.ना.उ.1-5 |
| 383. | 4 | 30 | तत्पुरुषाय विद्महे- | वीर. | म.ना.उ.1-5 |
| 384. | 1 | 30 | तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखः | वीर | महा.उ.1-4 |
| 385. | 3 | 23 | तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्- | वीर | भ.गी.14-6 |
| 386. | 15 | 3 | तत्र सन्निहिता श्रीश्च. | तिज. | तत्त्वनिर्णये |
| 387. | 9 | 7 | तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् | वीर. | तैत्ति.उ.2-6 |
| 388. | 24 | 64 | तत्सृष्ट्वा | विज. | तैत्ति.उ.2-6 |
| 389. | 7 | 39 | तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् | वीर. | तैत्ति.उ.2-6 |
| 390. | 7 | 51 | तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् | वीर. | तैत्ति.उ.2-6 |
| 391. | 7 | 51 | तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् | वीर. | तैत्ति.उ.2-6 |
| 392. | 9 | 7 | तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् | विज. | तैत्ति.उ.2-6 |
| 393. | 24 | 70 | तत्स्थत्वात् अनुपश्यन्ति- | वीर | |
| 394. | 24 | 29 | तथैव चत्वारिंशद्भिः- | विज. | षाड्गुण्ये |
| 395. | 24 | 70 | तदाऽऽत्मा | वीर. | |
| 396. | 24 | 70 | तदाऽऽत्मा | वीर. | |
| 397. | 30 | 2 | तदेतत्प्रेयः | विज. | बृह.उ.1-4-8 |
| 398. | 21 | 29 | तदेवाऽग्निस्तद्वायुः | वीर. | म.ना.उ.1-17 |
| 399. | 21 | 29 | तदेवाऽगनिस्ताद्वायुः | वीर. | म.ना.उ.1-17 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 400. | 21 | 33 | तदेवाग्निस्तद्वायुः | वीर. | म.ना.उ.1-17 |
| 401. | 21 | 26 | तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय | वीर. | छान्दो. उ.6-2-3 |
| 402. | 24 | 61 | तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय | वीर. | छान्दो.उ.6-2-3 |
| 403. | 28 | 62 | तदुणसारत्वात्तद्व्यपदेशः | विज. | ब्र.सू.2-3-29 |
| 404. | 30 | 22 | तद्धावतोऽन्यानत्येति | विज. | ईश.उ.4 |
| 405. | 4 | 11 | तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः | वीर. | बृह.उ.1-4-10 |
| 406. | 6 | 43 | तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः | वीर. | बृह.उ.1-4-10 |
| 407. | 7 | 54 | तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः | वीर | बृह.उ.1-4-10 |
| 408. | 1 | 35 | तद्बृहतोः करषत्योः | विज. | वार्तिक(1532)underअष्ट.6-1-157 |
| 409. | 17 | 29 | तद्ब्रह्म वेदाहं ब्रह्मास्मीति | विज. | |
| 410. | 9 | 10 | तद्यत्रैत्सुप्तः समस्तः | विज. | छान्दो.उ. 8-11-1 |
| 411. | 20 | 8 | तद्यत्स्वभावः कैवल्यम् | विज. | |
| 412. | 6 | 43 | तद्वशत्वात्सरूपन्तु | विज. | तत्त्वनिर्णय |
| 413. | 7 | 50 | तद्विजिज्ञासस्व | वीर. | तैत्ति.उ.3-1 |
| 414. | 9 | 16 | तद्विजिज्ञासस्व | वीर. | तैत्ति.उ.3-1 |
| 415. | 28 | 32 | तद्विज्ञानार्थं सगुरुमेव | श्रीध. | मुण्ड.उ.1-2-12 |
| 416. | 20 | 9 | तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् | वीर. | ब्र.सू.1-1-7 |
| 417. | 8 | 20 | तपसाऽऽराध्य पुरुषम् | श्रीध. | भाग.4-8-14 |
| 418. | 8 | 20 | तपसाऽऽराध्य पुरुषम् | वीर. | भाग.4-8-14 |
| 419. | 8 | 19 | तपसाऽऽराध्य पुरुषम् | विज. | भाग.4-8-14 |
| 420. | 24 | 43 | तपाम्यमहमहं वर्षं | वीर. | भ.गी.9-19 |
| 421. | 24 | 28 | तम आसीत्तमसा | विज. | यजुर.2-8-9. |
| 422. | 25 | 50 | तमिविशिविडिमृणि | वीर. | उणा.सू.115 |
| 423. | 28 | 23 | तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनू | श्रीध | बृह.उ.4-4-3 |
| 424. | 28 | 23 | तमुत्क्रामन्तं प्रमाणो | वीर | बृह.उ.4-4-3 |
| 425. | 4 | 20 | तमेतं वेदानुवचनेन | वीर. | बृह.ड. 4-4-22 |
| 426. | 22 | 21 | तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति | बीर. | श्वेता.उ.3-8,श्वेता.उ.6-15, |
| 427. | 22 | 21 | तमेवं विद्वानमृत - | बीर. | पु.सू.1-7 |
| 428. | 20 | 8 | तयोरन्यः पिप्पलं - | वीर. | मुण्ड.उ.3-1-1 |
| 429. | 24 | 64 | तयोरन्यः पिप्पलं | श्रीध. | मुण्ड.उ.3-1-1 |
| 430. | 29 | 38 | तरति शोकमात्मवित् | श्रीध. | छान्दो.उ.7-1-3 |
| 431. | 17 | 32 | तर्कनिश्चितयोर्नूनम् | विज. | वैज.को.8-7-22 |
| 432. | 6 | 38 | तर्जन्यङ्गुष्ठयोरग्रे | श्रीध. | |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 433. | 6 | 38 | तर्जन्यङ्गुष्ठयोरग्रे | वीर. | |
| 434. | 1 | 15 | तवान्तरात्मा मम च | वीर. | भार.12-339-4 |
| 435. | 27 | 25 | तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते - | विज | भ.गी.16-24 |
| 436. | 25 | 47 | तस्माद्दक्षिणोऽर्थ आत्मनो - | श्रीध. | |
| 437. | 7 | 51 | तस्य त्वष्टा विदधद्रूपं | वीर. | पु.सू.2-7 |
| 438. | 6 | 42 | तस्य परमाग्रेडितम् | वीर. | अष्टा.8-1-2 |
| 439. | 2 | 31 | तस्य ह वा एतस्य- | वीर. | सुबा.उ.2-1 |
| 440. | 7 | 40 | तस्य ह वा एतस्य- | वीर. | सुबा.उ.2-1 |
| 441. | 20 | 31 | तस्येदं वाचा तन्त्या | विज. | |
| 442. | 30 | 2 | तं ब्रह्म गिरिरित्याचक्षते | विज. | |
| 443. | 21 | 26 | तानहं द्विषतः क्रूरान् | वीर. | भ.गी.16-19 |
| 444. | 21 | 16 | तानहं दिषतः क्रूरान् | वीर. | भ.गी.16-19,20 |
| 445. | 25 | 13 | ताभ्यः पुरुषमानयत् | विज. | ऐत.उ.2-3 |
| 446. | 25 | 12 | ताभ्यो अश्वमानयत्ता | श्रीध. | ऐत .उ.2-2 |
| 447. | 25 | 12 | ताभ्यो गामानयत्ता | श्रीध. | ऐत.उ.2-2 |
| 448. | 25 | 12 | ताभ्यो गामानयत्ता | श्रीध. | ऐत.उ.2-2 |
| 449. | 7 | 26 | तुच्छ्येनाभ्वपिहितम् | विज. | ऋक्.सं.10-129-3 |
| 450. | 7 | 27 | तृप्त एव एनमिन्द्रः | वीर. | |
| 451. | 8 | 84 | तेजश्शक्ति. समूहश्च | विज. | शब्दनिर्णये |
| 452. | 12 | 46 | तेजो बले प्रभावेऽन्ने | विज. | वैज.को.6-3-14,15 |
| 453. | 6 | 40 | तेजोऽर्थ उत्तमार्थे च | विज. | शब्दनिर्णये |
| 454. | 2 | 22 | तेषां ज्ञानस्य मुक्तेश्च | विज. | वाराहे |
| 455. | 9 | 8 | तेषां सततयुक्तानां | वीर. | भ.गी.10-10 |
| 456. | 1 | 30 | ते सर्वे सम्प्रसूयन्ते | वीर. | |
| 457. | 8 | 68 | त्येजेदेकं कुलस्यार्थे | वीर. | चाणक्यनीति 2-10 |
| 458. | 4 | 16 | त्रयाणामेकभावानां | वीर. | भाग.4-7-54 |
| 459. | 7 | 27 | त्रैगुण्यविषया वेदाः | वीर. | भ.गी.2-45 |
| 460. | 14 | 46 | त्र्यंशो वेनस्समुद्दिष्टः | विज. | कौर्मे |
| 461. | 4 | 16 | त्वमेव भगवन्नेतत् | वीर. | भाग.4-6-43,1 |
| 462. | 7 | 54 | त्वं वाऽहमस्मि भगवो | वीर. | वरा.उ.2-34 |
| 463. | 28 | 54 | त्वं वाऽहमस्मि भगवो | वीर. | वरा.उ.2-34 |
| | | | द | | |
| 464. | 25 | 51 | दक्षिणश्रोत्रमार्गेण | विज. | प्रवृत्तितन्त्रे |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 465. | 2 | 16 | दक्षो गिरित्राय विसृज्य | वीर | भाग.4-2-19 |
| 466. | 3 | 1 | दक्षो दुहितृवत्सलः | वीर. | भाग.3-14-12 |
| 467. | 13 | 22 | दण्डोऽस्त्री शासने राज्ञां | विज. | वैज.को.6-5-38 |
| 468. | 21 | 45 | दण्डोऽस्त्री शासने राज्ञां | विज. | वैज.को.6-5-38 |
| 469. | 21 | 21 | दण्डोऽस्त्री शासने राज्ञां | विज | वैज.को.6-5-38 |
| 470. | 21 | 45 | दण्डोऽस्त्री शासने राज्ञां | विज | वैज.को.6-5-38 |
| 471. | 10 | 17 | दम्भोलिरशनिर्द्वयोः | विज | अम.को.1-47 |
| 472. | 9 | 45 | दशाचार्यसमो भ्राता | विज. | |
| 473. | 9 | 51 | दिष्ट्या स्यान्मङ्गलादिषु | विज. | वैज.को.8-7-21 |
| 474. | 13 | 42 | दुरशोभन दुःखयोः | विज. | वैज.को.8-7-4 |
| 475. | 24 | 41 | दुरशोभनदुःखयोः | विज. | वैज.को.8-7-4 |
| 476. | 20 | 15 | दुःखैनोव्यसनेष्वघम् | विज. | वैज.को.6-3-2 |
| 477. | 22 | 28 | दृश्यानुरञ्जितं द्रष्टृ | श्रीध. | |
| 478. | 10 | 26 | दृषद्वरलयो रश्म | विज. | |
| 479. | 25 | 10 | देवजीवाभिमानी तु | विज. | तन्त्रभागवते |
| 480. | 7 | 5 | देवस्य त्वा सवितुः | विज. | तैत्ति.सं.1-1-6-1 |
| 481. | 4 | 16 | देवान् देवयजो यान्ति | वीर. | भ.गी.7-23 |
| 482. | 6 | 9 | देवान् देवयजो यान्ति | वीर. | भ.गी.7-23 |
| 483. | 19 | 17 | देवशक्ताश्च मोहाय | विज. | गारुडे |
| 484. | 21 | 10 | देवेभ्य ऋषयो भूपाः | विज. | नारदीये |
| 485. | 29 | क. 81/82 | देहादिव्यतिरेकेण | विज | हरिवंशे |
| 486. | 29 | 24 | देहो रहस्त्विन्द्रियाश्वाः | वीर. | भाग.4-29-18 |
| 487. | 7 | 37 | देवी ह्येषा गुणमयी | वीर. | भ.गी.7-14 |
| 488. | 4 | 12 | दोषान्मुक्त्वा गुणमनु | विज. | |
| 489. | 4 | 12 | दोषोऽप्येको यदि | विज. | |
| 490. | 20 | 8 | द्रव्यं कर्म च कालश्च | वीर. | भाग.2-10-12 |
| 491. | 28 | 62 | द्रव्यं कर्म च कालश्च | विज. | भाग.2-10-12 |
| 492. | 21 | 33 | द्रव्यं गुणानामाधारे | विज. | वैज.को.6-3-15 |
| 493. | 25 | 10 | द्वासुपर्णा | विज | मुण्ड.उ.3-1-1<br>श्वेता.उ.4-6 |
| 494. | 28 | 51 | द्वा सुपर्णा सयुजा | श्रीध. | मुण्ड.उ.3-1-1 |
| 495. | 9 | 33 | द्वितीयस्य स्वतन्त्रस्य | विज. | हरिवंशे |
| 496. | 7 | 26 | द्वितीयाद्वै भयं भवति | श्रीध | बृह.उ.1-4-2 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 497. | 7 | 26 | द्वितीयाद्वै भयं भवति | विज. | बृह.उ.1-4-2 |
| 498. | 9 | 13 | द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे | विज. | बृह.उ.2-3-1 |
| | | | **ध** | | |
| 499. | 4 | 16 | धर्मार्थकाममोक्षाख्यं- | वीर. | भाग.4-8-41 |
| 500. | 7 | 25 | धर्मार्थर्खकाममोक्षाख्यं- | वीर. | भाग.4-8-41 |
| 501. | 21 | 29 | धर्मार्थकाममोक्षाख्यं - | वीर. | भाग.4-8-41 |
| 502. | 19 | 25 | धर्मोपमस्त्वधर्मो यः- | विज. | हरिवंशे |
| 503. | 20 | 29 | धिष्ण्यं तेजश्च सामर्थ्यं- | विज. | |
| 504. | 8 | 83 | ध्यातुर्ध्रुवस्य कीर्त्यर्थं- | विज. | तत्त्वनिर्णये |
| 505. | 22 | 14 | ध्यायतो विषयान् पुंसः | वीर. | भ.गी.2-62,63 |
| 506. | 3 | 10 | ध्वजश्शेफसि केतौ च- | विज. | |
| | | | **न** | | |
| 507. | 22 | 63 | न गुरुर्न च धर्मोऽस्ति | विज. | वाराहे |
| 508. | 24 | 53 | न चक्षुषा पश्यति | वीर | कठ.उ.6-9 |
| 509. | 29 | 70 | न च पुनरावर्तते | वीर | छान्दो.उ.1-15-1 |
| 510. | 22 | 16 | नचिकेतो मरणं- | विज. | कठ.उ.1-25 |
| 511. | 20 | 7 | न जायते म्रियते वा- | विज. | कठ.उ.2-18 |
| 512. | 12 | 4 | न तत्र रथा न रथयोगा- | वीर. | बृह.उ.4-3-10 |
| 513. | 7 | 41 | न तत्र सूर्यो भाति- | वीर. | कठ.उ.5-15 |
| 514. | 7 | 52 | न तत्समश्चाभ्यधिकश्च- | वीर. | श्वेता.उ.6-8 |
| 515. | 31 | 19 | न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च | वीर. | श्वेता.उ.6-8 |
| 516. | 9 | 13 | न ताःस्म सर्ववचसां- | वीर. | विष्णु.पु.1-14-23 |
| 517. | 7 | 52 | न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः | वीर. | भ.गी.11-43 |
| 518. | 20 | 8 | न त्वेवाऽहं जातु नासं- | वीर | भ.गी.2-12 |
| 519. | 20 | 8 | न बाह्यं किञ्चन वेद- | वीर. | बृह.उ.4-3-21 |
| 520. | 21 | 40 | न ब्राह्मणान्मे दयितं- | वीर. | भाग.10-86-54 |
| 521. | 9 | 13 | न भूतसंङ्घसंस्थाने- | वीर. | भार.12-206-60 |
| 522 | 22 | 38 | न भ्रान्तिर्जगतो दृष्टिं- | विज. | शब्दनिर्णये |
| 523. | 5 | 5 | नमस्ते रुद्रमन्यवे | विज. | तैत्ति.सं.4-5-1-1 |
| 524. | 10 | 22 | न मायिनां वेद- | वीर. | भाग.4-10-21 |
| 525. | 24 | 53 | न मांसचक्षुरभिवीक्षते- | वीर. | |
| 526. | 6 | 7 | न यज्ञो विष्णुर्मम | विज. | |
| 527. | 1 | 58 | नरे विष्णुस्समाविष्टः | विज. | तत्त्व विवेके |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 528. | 25 | 9 | न वा उ वो तन्म्रियसे- | वीर. | ऋक्.सं.1-162-21 |
| 529. | 25 | 34 | न विदाम वयं वीर- | वीर. | भाग.4-25-33,34 |
| 530. | 29 | 24 | न स तत्पदमाप्नोति- | वीर. | कठ.उ.7-8,9 |
| 531. | 29 | 79 | न हि कश्चित् क्षणमपि- | विज. | भ.गी.3-5 |
| 532. | 4 | 16 | न हि निन्दा निन्द्यं- | वीर. | लोकन्यायः |
| 533. | 20 | 8 | न हिंस्यात् | वीर. | |
| 534. | 7 | 31 | नाऽऽत्मन् श्रितं तव- | वीर. | भाग.4-7-30 |
| 535. | 9 | 32 | नाऽधुनाऽप्यवमानं ते | विज. | भाग.4-8-27 |
| 536. | 9 | 32 | नाऽधुनाऽप्यवमानं ते | विज. | भाग.4-8-27 |
| 537. | 29 | 69 | नानुभूतं क्व चानेन | वीर. | भाग.4-29-66 |
| 538. | 30 | 31 | नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां- | विज. | भ.गी.10-40 |
| 539. | 4 | 16 | नान्यं देवं नमस्कुर्यात् | वीर. | सात्त्वततन्त्रे |
| 540. | 8 | 54 | नाऽन्यानि चिन्तयेद्भूयः | श्रीध. | भाग.11-14-43 |
| 541. | 7 | 51 | नामरूपे व्याकरवाणि | वीर. | छान्दो.उ.6-3-2 |
| 542. | 21 | 32 | नाऽयं लोकोस्ति न परो- | वीर. | भ.गी.4-40 |
| 543. | 1 | 30 | नारायणाद्ब्रह्मा जायते- | वीर. | नारा.उ.1 |
| 544. | 3 | 11 | नारायणाद्रुद्रोऽजायत- | वीर. | नारा.उ.1 |
| 545. | 6 | 42 | नारायणाद्रुद्रो जायते- | वीर. | नारा.उ.1 |
| 546. | 2 | 16 | नारायणोद्रुद्रोजायते | वीर. | नारा.उ.1 |
| 547. | 7 | 54 | नारायणाद्रुद्रो जायते | वीर. | नारा.उ.1 |
| 548. | 31 | 29 | नारायणोऽजितपदो- | विज. | |
| 549. | 8 | 72 | नाशक्यं देवतानान्तु- | विज. | ब्राह्मे |
| 550. | 7 | 37 | नाऽसदासीन्नोत् सदासी | वीर. | ऋक्.सं.10-129-1<br>तैत्ति.ब्रा.2-8-9 |
| 551. | 28 | 36 | नास्त्यश्नतस्तु योगोऽस्ति- | विज. | भ.गी.6-16 |
| 552. | 12 | 4 | नाऽहं कर्ता न कर्ता त्वं- | विज. | मोक्षधर्मे |
| 553. | 4 | 16 | नाहं न यज्ञो न च- | वीर. | भाग.4-6-7 |
| 554. | 6 | 7 | नाऽहं नेन्द्रे न चैवा- | विज. | ब्रह्मवैवर्ते |
| 555. | 27 | 4 | निजमात्मीयम् | विज. | वैज.को.6-4-9 |
| 556. | 30 | 23 | नित्यं गृहीतास्सत्वाद्या- | विज. | प्रवृत्तिसंहितायाम् |
| 557. | 20 | 8 | नित्यो नित्यानां चेतनः- | वीर. | कठ.उ.5-13 |
| 558. | 6 | 50 | नित्यभावनिकामयोः | विज. | वैज.को.8-7-5 |
| 559. | 29 | 29 | नियतं सङ्गरहितं- | वीर. | भ.गी.18-23-25 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 560. | 14 | 33 | निरनिष्ठो निरवद्यः | विज. | |
| 561. | 6 | 11 | निर्झरः प्रम्रवोऽम्भयसाम् | विज. | हला.को.2-11 |
| 562. | 22 | 21 | निर्निर्णयनिषेधयोः | विज. | वैज.को 8-7-5 |
| 563. | 6 | 42 | निर्वाणमय एवायमात्मा | वीर. | विष्णु.पु.6-7-22 |
| 564. | 25 | 10 | निर्वाणमय एवायमात्मा | वीर. | विष्णु.पु.6-7-22 |
| 565. | 13 | 8 | निर्वाणं निर्वृतौ | विज. | वैज.को.7-3-20 |
| 566. | 12 | 16 | निष्कलं निष्क्रियं शान्तम् | विज. | श्वेता.उ.6-19 |
| 567. | 21 | 26 | निष्क्रियं निष्कलं- | वीर. | श्वेता.उ.6-19 |
| 568. | 25 | 50 | नृतिशृध्योः कूः | वीर. | उणा.सू.91 |
| 569. | 9 | 35 | नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति- | विज. | भाग.3-25-34 |
| 570. | 22 | 39 | नैजस्सर्वगुणोत्कर्ष- | विज. | शब्दनिर्णये |
| 571. | 7 | 42 | नैतत्स्वरूपं भवतः | विज. | भाग.4-7-31 |
| 572. | 8 | 10 | नो एवेमानि भूतानि- | विज. | छान्दो.उ.8-11,12 |
| | | | **प** | | |
| 573. | 22 | 38 | पञ्चभूतात्मकं देहं- | विज. | षाङ्गुण्ये |
| 574. | 20 | 28 | पञ्चमी भयेन | वीर. | अष्टा.2-1-37 |
| 575. | 28 | 34 | पतिरेव गुरुः स्त्रीणाम् | श्रीध. | |
| 576. | 7 | 54 | पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम् | वीर. | म.ना.उ.9-3 |
| 577. | 7 | 50 | पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम् | वीर. | म.ना.उ.9-3 |
| 578. | 10 | 9 | पत्री रोप इषुर्द्वयोः | विज. | अम.को.2-544 |
| 579. | 4 | 28 | पदाक्षिप्तस्यापि सम्भवात्- | विज. | |
| 580. | 9 | 16 | पराऽस्य शक्तिर्विविधैव- | वीर | श्वेता.उ.6-8 |
| 581. | 11 | 23 | पराऽस्य शक्तिर्विविधैव- | वीर. | श्वेता.उ.6-8 |
| 582. | 9 | 15 | परित्राणाय साधूनाम् | वीर. | भ.गी.4-8 |
| 583. | 31 | 14 | परिवारयता ग्राह्या | विज. | |
| 584. | 31 | 2 | परिव्राज्यं ब्रह्मसत्रं | विज. | |
| 585. | 22 | 23 | परीक्ष्य लोकान् कर्म- | वीर. | मुण्ड.उ.1-2-12 |
| 586. | 28 | 32 | परीक्ष्य लोकान् कर्म- | विज. | मुण्ड.उ.1-2-12 |
| 587. | 22 | 37 | परोक्षप्रिया इव हि देवाः- | विज. | बृह.उ.4-2-2 |
| 588. | 28 | 65 | परोक्षप्रिया इव हि देवाः | वीर. | ऐत.उ.3-14 |
| 589. | 28 | 65 | परोक्षप्रिया इव हि देवाः | श्रीध. | ऐत.उ.3-14 |
| 590. | 28 | 65 | परोक्षप्रिया इव हि देवाः | विज. | ऐत.उ.3-14 |
| 591. | 29 | 85 | परोक्षप्रिया इव हि देवाः | विज. | बृह.उ.4-2-2<br>ऐत.उ.3-14 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 592. | 30 | 31 | परो मात्रया | विज. | |
| 593. | 10 | 17 | पविरशनि श्शतधारं- | विज. | हला.को.1-56 |
| 594. | 10 | 29 | पवौ शासाविति प्राच्याः | विज. | |
| 595. | 20 | 8 | पशुमालभेत | वीर. | |
| 596. | 9 | 13 | पश्यमानोऽपि तु हरिं- | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 597. | 9 | 4 | पाञ्चजन्यो वा एषः | विज | |
| 598. | 6 | 44 | पाणिं मर्कटलोचनः | विज. | भाग.4-2-12 |
| 599. | 14 | 46 | पापरूपी पृथग्जातो- | विज. | गारुडे |
| 600. | 25 | 50 | पितृहूर्दक्षिणः कर्णः | श्रीध. | भाग.4-29-12,13 |
| 601. | 24 | 36 | पिप्पलं स्वाद्वत्ति | वीर. | मुण्ड.उ.3-1-1 |
| 602. | 13 | 40 | पीडां वेनेति च प्राहुः | विज. | वामने |
| 603. | 24 | 38,39 | पुण्यो गन्धः पृथिव्याञ्च | वीर. | भ.गी.7-9 |
| 604. | 1 | 1 | पुनः पुनः कथाः प्राहुः | विज. | अग्नेये |
| 605. | 27 | 13 | पुमान् स्त्रिया | वीर. | अष्टा.1-2-67 |
| 606. | 23 | 18 | पुरुषश्शयनात्पूर्षु- | विज. | भागवततन्त्रे |
| 607. | 9 | 24 | पुरुषं पुष्कलं पुष्टम् | विज. | हला.को.4-16 |
| 608. | 15 | 3 | पुरुषो धातुपुन्नाग- | विज. | वैज.को.7-1-46 |
| 609. | 43 | 30 | पुरुषो विष्जुरुच्यते | विज. | |
| 610. | 30 | 3 | पुरेषुत्वञ्जनाज्जीवः | विज. | तन्त्रभागवते |
| 611. | 26 | 7 | पुष्करपलाशे आपो- | विज. | छन्दो.उ.4-17-3 |
| 612. | 7 | 33 | पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण | विज. | अष्टा.3-3-118 |
| 613. | 20 | 7 | पूर्णस्सत्यश्शुद्धबुद्ध | विज. | |
| 614. | 31 | 18 | पूर्णो विष्णुस्स एवैक- | विज. | सत्यसंहितायाम् |
| 615. | 5 | 21 | पूषातु यजमानस्य | श्रीध. | भाग.4-7-4 |
| 616. | 5 | 21 | पूषा प्रविष्टभागोऽ- | श्रीध. | |
| 617. | 24 | 64 | पूस्संज्ञे वै शरीरेऽस्मिन्- | वीर. | |
| 618. | 7 | 38 | पृथक् ज्ञानं तदित्याहुः- | विज. | गारुडे |
| 619. | 15 | 3 | पृथुहैहयादयोजीवाः- | विज. | तत्त्वनिर्णये |
| 620. | 21 | 26 | प्रकाशवद्भुवो देवाः- | विज. | वाराहे |
| 621. | 22 | (ख)36/37 | प्रकृतिर्भिदा च माया च- | विज. | तन्त्रसारे |
| 622. | 28 | 58 | प्रकृतिं पुरुषञ्चैव- | वीर. | भ.गी.13-19 |
| 623. | 24 | 63 | प्रकृतेः स्वाप उद्दिष्टः | विज. | |
| 624. | 7 | 39 | प्रकृत्या जडया मिथ्या- | विज. | गारुडे |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 625. | 29 | 43 | प्रजापतिपतिर्ब्रह्मा- | विज. | शब्दनिर्णये |
| 626. | 1 | 28 | प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो- | विज. | म.ना.उ.13-16 |
| 627. | 6 | 3 | प्रजापतेनत्वदेतान्यन्या | विज. | मैत्रा.सं.1-14-1 |
| 628. | 7 | 8 | प्रजापतेर्दग्धशीर्ष्णो- | वीर. | भाग.4-7-3 |
| 629. | 19 | 17 | प्रणिपातादिकं देवैः | विज. | स्कान्दे |
| 630. | 12 | 40 | प्रतापमाहात्म्योः | विज. | वैज.को.7-1-56 |
| 631. | 18 | 16 | प्रतिमन्वन्तरं प्रायः | विज. | ब्राह्मे |
| 632. | 15 | 6 | प्रत्यक्षसदृशोस्साक्षात् | विज. | वैज.को.286-59 |
| 633. | 27 | 22 | प्रत्याख्याता मया सा तु- | वीर. | भाग.4-27-22 |
| 634. | 1 | 18 | प्रदीपवदावेशः- | वीर. | ब्रह्म.सू.4-4-15 |
| 635. | 11 | 18 | प्रधानकारणीभूता- | वीर. | विष्णु.पु.1-4-51 |
| 636. | 31 | 18 | प्रधानादिदमुत्पन्नम् | विज. | |
| 637. | 2 | 31 | प्रमाणं बोधनेऽत्यन्त- | विज. | |
| 638. | 26 | 11 | प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च- | वीर. | भ.गी.18-30 |
| 639. | 21 | 41 | प्रशस्ताचरणं नित्यम्- | श्रीध. | |
| 640. | 24 | 33 | प्रशस्ते कर्मणि तथा- | विज. | भ.गी.17-26 |
| 641. | 22 | 16 | प्रशंसायां मतुप् | वीर. | सि.कौ.कारिका under अष्टा.5-2-94 |
| 642. | 28 | 32 | प्रशान्तचित्ताया | वीर. | मुण्ड.उ.1-2-13 |
| 643. | 21 | 39 | प्रसादे सर्वदुःखानां- | वीर. | भ.गी.2-65 |
| 644. | 8 | 1 | प्रसूतिं मानवीं दक्षः | वीर. | भाग.4-1-47 |
| 645. | 20 | 8 | प्राज्ञेनाऽऽत्मना- | वीर. | बृह.उ.4-3-21 |
| 646. | 27 | 15 | प्राणाग्न्य एवैतास्मिन्- | विज. | प्रश्न.उ.4-2-37 |
| 647. | 29 | 76 | प्राणेन्द्रियान्तःकरण- | विज. | ब्राह्मे |
| 648. | 29 | 61 | प्राप्य पुण्यकृतान् लोकान् | श्रीध. | भ.गी.6-41 |
| 649. | 29 | 47 | प्रायस्तु वैदिका एव- | विज. | महासंहितायाम् |
| 650. | 21 | 29 | प्रायः पदं स्यात्प्राचुर्ये- | विज. | वाराहे |
| 651. | 8 | 8 | प्रियव्रतोत्तानपाद- | विज. | हरिवंशे |
| 652. | 4 | 11 | प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थम्- | वीर. | भ.गी.7-17 |
| 653. | 7 | 38 | प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम्- | वीर. | भ.गी.7-17 |
| 654. | 7 | 54 | प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम्- | वीर. | भ.गी.7-17 |
| 655. | 21 | 40 | प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम्- | वीर. | भ.गी.7-17 |
| 656. | 22 | 16 | प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम्- | वीर. | भ.गी.7-17 |
| 657. | 29 | 52 | प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम्- | वीर. | भ.गी.7-17 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 658. | 31 | 22 | प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम्- | वीर. | भ.गी.7-17 |
| 659. | 8 | (61)64 | प्रीतिपूर्वमनुध्यानं- | वीर. | |
| 660. | 4 | 15 | प्रेतावासेषु घोरेषु | विज. | भाग.4-2-14 |
| 661. | 4 | 16 | प्रेतावासेषु घोरेषु | श्रीध. | भाग.4-2-14 |
| | | | **फ** | | |
| 662. | 21 | 34 | फलमत उपपत्तेः | विज. | ब्र.सू.3-2-37 or 38 |
| | | | **ब** | | |
| 663. | 22 | (ख)36/37 | बन्धशक्तिर्थया लोको- | विज. | तन्त्रसारे |
| 664. | 22 | 30 | बहुस्मरणशक्तिस्तु- | विज. | शब्दनिर्णये |
| 665. | 29 | 46 | बिभ्रद्रायिं हिरण्ययं- | विज. | ऋक्.सं.1-25-13 |
| 666. | 29 | 5 | बुद्धिं तु प्रमदां विद्यात् | वीर. | भाग.4-29-5 |
| 667. | 26 | 2 | बुद्धिं तु सारथिं विद्धि | विज. | अध्यात्मयोगे |
| 668. | 7 | 19 | बृहद्रथन्तरे पक्षौ | श्रीध. | शत.ब्रा.6-7-2-6 |
| 669. | 7 | 19 | बृहद्रथन्तरे पक्षौ | वीर. | शत.ब्रा.6-7-2-6 |
| 670. | 1 | 35 | बृहस्पते न परः साम्नो- | विज. | ऐत.उ.1-5-4 |
| 671. | 1 | 33 | ब्रह्मणो नावतारोऽस्ति- | विज. | ब्रह्मवैवर्ते |
| 672. | 15 | 4 | ब्रह्मण्यनन्ते गरुडे रुद्रे- | विज. | स्कान्दे |
| 673. | 24 | 61 | ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष- | वीर. | तैत्ति.ब्रा.2-8-9-6 |
| 674. | 21 | 26 | ब्रह्मविदाप्नोति परम् | वीर. | तैत्ति.उ.2-1-1 |
| 675. | 22 | 40 | ब्रह्मविदाप्नोति परम् | श्रीध. | तैत्ति.उ.2-1-1 |
| 676. | 28 | 41 | ब्रह्मविदाप्नोति परम् | विज. | तैत्ति.उ.2-1-1 |
| 677. | 30 | 20 | ब्रह्मविदाप्नोति परम् | विज. | तैत्ति.उ.2-1-1 |
| 678. | 1 | 28 | ब्रह्मस्थश्चैव रुद्रस्थः- | विज. | ब्रह्मवैवर्ते |
| 679. | 1 | 30 | ब्रह्मा दक्षादयः कालः- | वीर. | विष्णु.पु.1-22-31 |
| 680. | 7 | 54 | ब्रह्मा दक्षादयः कालः- | वीर. | विष्णु.पु.1-22-31 |
| 681. | 4 | 16 | ब्रह्मादयो ये मूर्धभिः | वीर. | भाग.4-4-16 |
| 682. | 17 | 29 | ब्रह्मादि जीवदेहास्तु | विज. | वाराहे |
| 683. | 1 | 30 | ब्रह्मा नारायणः शिवश्च | वीर. | त्रि.म.ना.उ.2-8 |
| 684. | 7 | 54 | ब्रह्मा नारायणः शिवश्च- | वीर. | त्रि.म.ना.उ.2-8 |
| 685. | 1 | 30 | ब्रह्मा नारायणाख्योऽसौ- | वीर. | विष्णु.पु.1-4-1 |
| 686. | 7 | 54 | ब्रह्मा नारायणाख्योऽसौ- | वीर. | विष्णु.पु.1-4-1,2 |
| 687. | 21 | 31 | ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः | श्रीध. | भ.गी.4-24 |
| 688. | 4 | 12 | ब्रह्मिष्ठानभिभूय | श्रीध. | भाग.4-3-3 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 689. | 1 | 35 | ब्रह्मिष्ठो वैदिकतमः | विज. | |
| 690. | 24 | 63 | ब्रह्मैवेदमग्र आसीत् | विज. | |
| 691. | 7 | 50 | ब्राह्मणोवै सर्वा देवता | वीर. | |
| 692. | 21 | 39 | ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् | वीर. | तैत्ति.आ.3-36,37 |
| | | | | | पु.सू.1-5 |
| 693. | 29 | 53 | ब्रूहि मे विफलं ज्ञानं- | वीर. | भाग.4-25-5 |
| | | | **भ** | | |
| 694. | 28 | 31 | भक्तियोगो बहुविधो | श्रीध. | भाग.3-39-7 |
| 695. | 7 | 38 | भक्त्या त्वनन्यया शक्यः | विज. | भ.गी.11-54 |
| 696. | 24 | 54 | भक्त्या त्वनन्यया शक्यः | विज. | भ.गी.11-54 |
| 697. | 24 | 59 | भक्त्या त्वनन्यया शक्यः | विज. | भ.गी.11-54 |
| 698. | 31 | 23 | भगवत्प्रसादपात्रत्वे- | विज. | विष्णु.पु. |
| 699. | 7 | 3 | भगस्य नेत्रे भगवान् | वीर. | भाग.4-5-20 |
| 700. | 23 | 30 | भगो योन्यां भगो यत्ने- | विज. | वैज.को.6-5-58 |
| 701. | 6 | 42 | भवांस्तु पुंसः परमस्य | वीर | भाग 4-6-49 |
| 702. | 14 | 21 | भवो भद्रे हरे प्राप्तौ | विज. | वैज.को. 6-1-41 |
| 703. | 13 | 33 | भगरूपनामभ्यो धेयः | वीर. | वार्तिकunderअष्टा 5-4-25 |
| 704 | 9 | 5 | भावो लीला क्रिया चेष्टा | विज. | वैज.को. 6-1-43 |
| 705. | 13 | 9 | भिन्नस्वरूपमभिदं | विज | गारुडे |
| 706. | 7 | 27 | भुङ्क्ते यक्षभुजो देवा | विज | तत्त्वविवेके |
| 707. | 20 | 8 | भूतसूक्ष्मेन्द्रियमनो | वीर | भाग 3-27-14 |
| 708. | 1 | 4 | भूतिः श्री भस्म जन्मसु | विज | वैज.को. 6-2-27 |
| 709. | 20 | 38 | भूतेषु हरिरित्येव | विज. | पाद्मे |
| 710. | 11 | 18 | भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः | वीर | छान्दो.उ. 7-23-1 |
| 711. | 7 | 31 | भेदोन्तरं विशेषश्च | विज. | तत्त्वनिर्णये |
| 712 | 23 | 14 | भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य | वीर | भगी. 8-10 |
| | | | **म** | | |
| 713. | 22 | 27 | मग्नस्य हि परे ज्ञाने | विज | मोक्षधर्मे |
| 714. | 6 | 45 | मन्नेरलच् | विज. | उणा.सू. 748 |
| 715. | 16 | 20 | मत्स्यरूपादिनानात्व | विज | पाद्मे |
| 716. | 24 | 21 | मद्गुः करण्डवः प्लवः | विज. | अम.को. 2-251 |
| 717. | 22 | 17 | मधुनाम सुखं विन्द्यात् | विज | |
| 718. | 25 | 24 | मध्यमां बुद्धिसंस्थाम् | विज. | |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 719. | 29 | 68 | मन एव मनुष्यस्य | वीर | भाग 4-29-68 |
| 720. | 28 | 19 | मननात् मन उद्दिष्टम् | विज | |
| 721. | 16 | 2 | मनसा वा अग्रे | विज. | ऐत. उ. 1-1-2 |
| 722. | 28 | 29 | मनसा वा अग्रे | विज | ऐत.उ. 1-1-2 |
| 723. | 29 | 7 | मनसा वा अग्रे | विज | ऐत.उ. 1-1-2 |
| 724. | 28 | 21 | मनः षष्ठानीन्द्रियाणि | वीर | भ.गी. 15-7,8 |
| 725. | 30 | 17 | मनुष्याणां वत्सराणां | विज. | ब्रह्माण्डे |
| 726. | 22 | (क)36,37 | मनोमात्रं हरेर्यस्मात् | विज | तन्त्रसारे |
| 727. | 2 | 16 | मनोर्जातावञ्यतौ षुक्च | वीर | अष्टा4-1-61 |
| 728. | 8 | 7 | मनोस्तु शतरूपायां | वीर | भाग 4-1-1 |
| 729. | 1 | 8 | मन्वन्तरं मनुर्देवाः | श्रीध | भाग. 12-7-15 |
| 730. | 1 | 8 | मन्वन्तरं मनुर्देवाः | श्रीध | भाग. 12-7-15 |
| 731. | 9 | 9 | मम माया दुरत्यया | वीर | भ.गी. 7-14 |
| 732. | 7 | 54 | ममान्तरात्मा तव च | वीर | |
| 733. | 20 | 1 | मया संश्लेषिता भूमिः | विज. | भभारते |
| 734. | 19 | 29 | मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे | विज | |
| 735. | 23 | 18 | महानव्यक्ते लीयते | वीर | सुबा.उ.2-2 |
| 736. | 12 | 15 | महामायेत्यविद्येति | विज | स्कान्दे |
| 737. | 13 | 1 | महिमानं विलोक्यास्य | वरि | भाग.4-12-40 |
| 738. | 29 | 25 | महिषी यद्यदीहेत | श्रीध | भाग 4-25-56 |
| 739. | 11 | 29 | मही घटत्वं घटतः कपालः | वीर | विष्णु.पु. 2-12-42,45 |
| 740. | 25 | 10 | माता पिता भ्राता | वीर | सुबा.उ. 6-1 |
| 741. | 29 | 4 | मानुषाणां वत्सराणां | विज | ब्रह्माण्डे |
| 742. | 7 | 26 | मायाया मशरीययाम् | विज | तत्त्वविवेके |
| 743. | 11 | 26 | माया वयुनं ज्ञानम् | वीर | वेद.नि 3-9 |
| 744. | 16 | 2 | माया वयुनं ज्ञानम् | वीर | वेद.नि 3-9 |
| 745. | 30 | 23 | माया वयुनं ज्ञानम् | वीर | वेद.नि 3-9 |
| 746. | 28 | 63 | माया ह्येषा मया | वीर | भाग. 4-28-61 |
| 747. | 22 | 38 | मायेति ज्ञान ज्ञाम स्यात् | विज | वाराहे |
| 748. | 23 | 18 | मायेति प्रकृतिश्चेति | विज | भागवततन्त्रे |
| 749. | 17 | 27 | मां विपाट्य | वीर | भाग 4-17-21 |
| 750. | 29 | 12 | मुख्या नाम पुरस्ताद्वा | विज | भाग 4-25-49 |
| 751. | 2 | 29 | मुद्रिकाषट्कतत्त्वज्ञः | वीर | |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 752. | 6 | 7 | मुमुक्षवो ब्राह्मणाश्च | विज | कौर्मे |
| 753. | 13 | 39 | मृत्युर्देवो यमभ्राता | विज. | वामने |
| | | | **य** | | |
| 754. | 24 | 39 | य आत्मदा | विज. | तैत्ति.सं.4-1-8 |
| 755. | 31 | 12 | य आत्मदा बलदा | वीर. | तैत्ति.सं. 4-1-8 |
| 756. | 20 | 8 | य आत्मनि तिष्ठन् | वीर. | बृह.उ. 3-7-22 |
| 757. | 12 | 4 | य एनं वेत्ति हन्तारं | वीर. | भ.गी. 2-19 |
| 758. | 12 | 4 | य एनं वेत्ति हन्तारं | वीर. | भ.गी. 2-19 |
| 759. | 20 | 8 | य एष आत्मा अपहत | वीर. | |
| 760. | 7 | 41 | यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ | विज. | भ.गी. 15-12 |
| 761. | 2 | 16 | यक्षभागं न लभतां | वीर. | भाग. 4-2-18 |
| 762. | 21 | 13 | यज्ञभेदे सदा दाने | विज. | वैज.को. 6-3-35 |
| 763. | 7 | 46 | यज्ञायाचरतः कर्म | वीर. | भ.गी. 4-23 |
| 764. | 7 | 41 | यज्ञे यक्षपुमांश्चैव | विज. | तन्त्रसारे |
| 765. | 21 | 26 | यज्ञो यज्ञपतिर्यज्वा | विज. | भारते |
| 766. | 6 | 7 | यज्ञो यज्ञपतिस्त्विन्द्रः | विज. | |
| 767. | 1 | 4 | यज्ञो विष्णुर्देवता | विज. | |
| 768. | 30 | 20 | यज्ञो विष्णुर्देवता | विज. | |
| 769. | 7 | 46 | यज्ञो वै विष्णुः | वीर. | तैत्ति.ब्रा 1-2-5 |
| 770. | 13 | 35 | यज्ञो वै विष्णुः पशवः | श्रीध | शतपथब्राह्मणम् |
| 771. | 13 | 35 | यज्ञो वै विष्णुः पशवः | वीर | शतपथब्राह्मणम् |
| 772. | 21 | 33 | यज्ञो वै विष्णुः | श्रीध | तैत्ति.सं, तैत्ति.ब्रा 1-5-6,1-2-5 |
| 773. | 21 | 33 | यज्ञो वै विष्णुः | वीर | तैत्ति.सं, तैत्ति, ब्रा, 1-5-6,1-2-5 |
| 774. | 21 | 26 | यतः प्रवृत्तिर्भूतानां | वीर. | भ.गी. 18-46 |
| 775. | 3 | 1 | यतः प्राणान् तत्याज | वीर. | |
| 776. | 28 | 40 | यतः स्वप्नो न स्वतन्त्र | विज. | वाराहे |
| 777. | 6 | 37 | यति(व्रती)नामासनं बृसी. | विज. | अम.को 2-445 |
| 778. | 1 | 20 | यतो वा इमानि भूतानि | वीर | तैत्ति.उ. 3-1 |
| 779. | 7 | 50 | यतो वा इमानि भूतानि | वीर | तैत्ति.उ. 3-1 |
| 780. | 7 | 50 | यतो वा इमानि भूतानि | वीर | तैत्ति.उ. 3-1 |
| 781. | 9 | 16 | यतो वा इमानि भूतानि | वीर | तैत्ति.उ. 3-1 |
| 782. | 7 | 40 | यतो वाचो निवर्तन्ते | विज. | तैत्ति.उ. 2-4,2-9 |
| 783. | 9 | 13 | यतो वाचो निवर्तन्ते | विज. | तैत्ति.उ. 2-4,2-9 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 784. | 21 | 26 | यतो वाचो निवर्तन्ते | वीर. | तैत्ति.उ. 2-4,2-9 |
| 785. | 25 | 22 | यत्कृष्णं तदन्नस्य | वीर | |
| 786. | 4 | 20 | यत्तु देवाः प्रकुर्वन्ति | विज. | भविष्यपुराणे |
| 787. | 29 | 45 | यत्पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति | विज | |
| 788. | 21 | 37 | यत्प्रसादेन देवेन्द्रो | विज. | हरिवंशे |
| 789. | 28 | 62 | यत्र त्वस्य सर्वम् | विज. | बृह.उ. 4-5-15 |
| 790. | 8 | 80 | यत्र देवैः कृते विघ्ने | विज. | ब्रह्माण्डे |
| 791. | 25 | 44 | यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति | वीर. | छान्दो.उ. 6-8-1 |
| 792. | 8 | 85 | यत्साक्षादपरीक्षाद्ब्रह्मा | वीर. | बृह.उ. 3-4-1 |
| 793. | 22 | 38 | यत्स्वरूपतया भातं | विज. | ज्ञानविवेके |
| 794. | 1 | 55 | यथाऽऽकाशे विमानादि | विज. | ब्राह्मे |
| 795. | 7 | 52 | यथा चोलनृपः सम्राट् | वीर. | |
| 796. | 29 | 70 | यथा यथानुमन्तव्यम् | वीर. | भाग. 4-29-67 |
| 797. | 7 | 38 | यथार्थज्ञानिनो नाऽन्यः | विज. | गारुडे |
| 798. | 25 | 7 | यथावत्कर्मकर्तुश्च | विज. | ब्रह्माण्डे |
| 799. | 14 | 17-19 | यथासादृश्ययोग्यत्व | विज. | वैज.को. 8-7-27 |
| 800. | 6 | 43 | यथोर्णनाभिःसृजते | वीर. | मुण्ड.उ.1-1-7 |
| 801. | 6 | 53 | यदग्नये स्विष्टकृते | विज | |
| 802. | 29 | 47 | यदा आत्मेति तूपगच्छति | विज. | |
| 803. | 29 | 75 | यदा कर्मसु काम्येषु | वीर. | |
| 804. | 29 | 47 | यदा त्वनुभवी भूयात् | विज. | महासंहितायाम् |
| 805. | 24 | 63 | यदाऽयं पुरुषं स्वपिति | विज | |
| 806. | 7 | 26 | यदा ह्येवैष एतस्मिन् | वीर. | तैत्ति.उ. 2-7 |
| 807. | 4 | 20 | यदि देवाश्च भष्याद्या | विज. | गारुडे |
| 808. | 13 | 35 | यदुत प्रब्रूषे शिपि | वीर. | |
| 809. | 4 | 16 | यद् द्व्यक्षरं नाम | वीर | भाग 4-4-14 |
| 810. | 16 | 4 | यद्यदाचरति श्रेष्ठः | वीर. | भ.गी. 3-21 |
| 811. | 24 | 67 | यद्यदाचरति श्रेष्ठः | विज. | भ.गी. 3-21 |
| 812. | 29 | 70 | यद्रूपं यादृगात्मनि | वीर | भाग 4-29-64 |
| 813. | 24 | 36 | यद्विदुर्ह्यनिरुद्धाख्यं | वीर. | भाग. 3-26-28 |
| 814. | 1 | 30 | यन्नाभिपद्मादभवत् | वीर | |
| 815. | 20 | 29 | यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः | विज. | कठ.उ. 2-22 |
| 816. | 27 | 1 | यया धर्ममधर्मञ्च | वीर. | भ.गी. 18-31,32 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 817. | 9 | 50 | यशसं वीरवत्तमम् | विज. | |
| 818. | 29 | 24 | यस्त्वविज्ञानवान् भवति | वीर. | कठ.उ. 3-7-9 |
| 819. | 29 | 24 | यस्त्वविज्ञानवान् भवति | वीर | कठ.उ. 3-7 |
| 820. | 29 | 24 | यस्त्वविज्ञानवान् भवति | वीर | कठ.उ. 3-7 |
| 821. | 25 | 38 | यस्त्वात्मरतिरेव स्यात् | विज. | भागी. 3-17 |
| 822. | 31 | 16 | यस्मिन् सर्वाणि भूतानि | विज. | ईश.उ. 7 |
| 823. | 21 | 26 | यस्य तुष्यति दिष्ट | वीर. | भाग. 4-21-24 |
| 824. | 17 | 30 | यस्य पृथिवी शरीरम् | विज. | बृह.उ. 3-7-3 |
| 825. | 7 | 39 | यस्याऽक्षरं शरीरं | वीर | सुबा.उ. 7-1 |
| 826. | 7 | 50 | यस्याक्षरं शरीरं | वीर. | सुबा.उ. 7-1 |
| 827. | 7 | 40 | यस्याऽमतं तस्य मतं | वीर. | केन.उ. 2-3 |
| 828. | 11 | 17 | यस्याव्यक्तं शरीरम् | वीर. | सुबा.उ. 2-7 |
| 829. | 24 | 43 | यस्याहङ्कारः शरीरं | वीर | सुबा.उ. 2-7 |
| 830. | 21 | 26 | यस्य सर्वज्ञस्सर्ववित् | वीर | मुण्ड.उ. 1-1-9 |
| 831. | 28 | 1 | यं यं वापि स्मरन् | वीर | भ.गी. 8-6 |
| 832. | 24 | 33 | यः पृथिव्यां तिष्ठन् | वीर | बृह.उ. 3-7-3 |
| 833. | 20 | 21 | यात्रा प्रयाणं प्रस्थानम् | विज | |
| 834. | 2 | 25 | यामिमां पुष्पितां | वीर. | भ.गी. 2-42 |
| 835. | 20 | 31 | यामिमां पुष्पितां | वीर | भ.गी. 2-42 |
| 836 | 4 | 20 | यावज्जीवमग्निहोत्रं | श्रीध | |
| 837. | 21 | 41 | यावद्ब्रह्माधिष्ठितं | विज | |
| 838. | 29 | 65 | युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति | श्रीध | न्यायस. 1-16 |
| 839. | 24 | 41 | ये च वेदविदो विप्राः | वीर. | भारत. 3-86-22 |
| 840. | 2 | 22 | ये ज्ञानविषयाश्शापा | विज | वाराहे |
| 841. | 2 | 16 | येन स्तब्धेन दूषितः | वीर | भाग. 4-2-10 |
| 842. | 28 | 63 | येनाग्रे विचकर्थ | वीर | भाग. 4-28-52 |
| 843. | 26 | 46 | येनाऽश्रुतं श्रुतं भवति | विज | छान्दो.उ.6-1-3 |
| 844. | 4 | 32 | येनोरसि दुस्तरितासो | विज | |
| 845. | 25 | 21 | ये पुरञ्जनभृत्याद्या | विज. | तन्त्रभागवते |
| 846. | 1 | 62 | ये वै यज्वानस्ते | वीर | |
| 847. | 22 | 22 | योगिनामपि सर्वेषां | वीर | भ.गी. 6-47 |
| 848. | 24 | 37 | योऽग्नौ तिष्ठन् | विज. | बृह.उ. 5-7-6 |
| 849. | 22 | 31 | योऽन्यथा सन्तमात्मानं | वीर | भारते |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 850. | 21 | 47 | यो ब्रह्मक्षत्रमाविश्य | विज. | भाग 4-21-52 |
| 851. | 7 | 40 | यो ब्रह्माणं विदधाति | वीर. | श्वेता.उ. 6-18 |
| 852. | 7 | 50 | यो ब्रह्माणं विदद्याति | वीर. | श्वेता.उ 6-18 |
| 853. | 11 | 20 | यो मृत्युमन्तरे | वीर. | सुबा.उ. 2-7 |
| 854. | 4 | 16 | यो यो यां यां तनुं | वीर. | भ.गी. 7-21 |
| 855. | 21 | 29 | यो यो यां यां तनुं भक्तः | वीर. | भ.गी. 7-2 1 |
| | | | र | | |
| 856. | 4 | 16 | रजस्तमः प्रकृतयः | वीर. | भाग 1-2-27 |
| 857. | 22 | 20 | रतिः परात्मनि हरौ | विज. | तन्त्रसारे |
| 858. | 9 | 62 | रत्नं श्रेष्ठे मणावपि | विज. | वैज.को.6-3-26 |
| 859. | 29 | 13 | रसज्ञविपणान्वितः | श्रीध | भाग. 4-25-49 |
| 860. | 31 | 22 | रसो रागे विषे वीर्ये | विज. | वैज.को.6-01-49 |
| 861. | 24 | 38,39 | रसोऽहमप्सु कौन्तेय | वीर. | भगी 7-8 |
| 862. | 29 | ख81,82 | रहो ब्रह्म तथा यज्ञः | विज. | शब्दविर्णये |
| 863. | 31 | 22 | रागोऽनुरागो लक्ष्यादौ | विज. | वैज.को. 6-1-51 |
| 864. | 15 | 3 | राघवत्वेऽभवत्सीता | वीर | विष्णु.पु. 1-9-144 |
| 865. | 24 | 11 | राजपुत्रीं शुकीमग्निः | विज. | ब्राह्मे |
| 866. | 15 | 6 | राजरूपी जनार्दनः | विज | ब्राह्मे |
| 867. | 26 | 6 | राजा मृगार्थीमृगया | विज. | |
| 868. | 25 | 47 | राजाहस्सखिभ्यः | वीर | अष्टा4-5-91 |
| 869. | 17 | 2 | राज्ञा समानवयसः | विज | – |
| 870. | 28 | 29 | राज्ञो जतावेवेति वाच्यम् | वीर | अष्टा Under वार्तिकं. 1635 |
| 871. | 24 | 61 | रात्रिज्ञानमुद्दिष्टं | विज | शब्दनिर्णये |
| 872. | 4 | 27 | रुद्रश्च ब्रह्मवायू च | विज. | तत्त्वनिर्णये |
| 873. | 2 | 2 | रुद्रस्तारकं ब्रह्म | वीर. | जाबलि.उ |
| 874. | 7 | 54 | रुद्रःकालान्तकाद्याश्च | वीर. | विष्णु.पु. 1-22-33 |
| 875. | 3 | 23 | रुद्रेण धीयते विष्णुः | विज. | ब्रह्मवैवर्ते |
| 876. | 29 | 68 | रूपं शब्दे पशौ श्लोके | विज. | वैज.को.6-3-28 |
| | | | ल | | |
| 877. | 6 | 36 | लिङ्गं शेफसि वेषेंऽशे | विज. | वैज.को. 6-3-30 |
| 878. | 19 | 23 | लिङ्गं शेफसि वेषेंऽशे | विज. | वैज.को. 6-3-30 |
| 879. | 4 | 14 | लुप्तक्रियायाऽशुचये | विज. | भाग. 4-2-13 |
| 880. | 4 | 19 | लुप्तक्रियायाऽशुचये | श्रीध | भाग.4-2-13 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 881. | 2 | 16 | लोकपालानां यशोघ्नो | वीर. | भाग. 4-2-10 |
| 882. | 17 | 34 | ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च | वीर. | भुवःप्रभवः (1.4.31) इति सूत्रे 1474,1475 |
| | | | **व** | | |
| 883. | 9 | 13 | वचसां वाच्यमुत्तमम् | वीर. | जितन्ता |
| 884. | 29 | 61 | वर्णाश्चाश्रमाश्च | वीर | |
| 885. | 16 | 9 | वर्तमानसामीप्ये | श्रीध | अष्टा. 3-3-131 |
| 886. | 16 | 9 | वर्तमानसामीप्ये | श्रीध | अष्टा.3-3-131 |
| 887. | 19 | 8 | वर्ष्मदेहप्रमाणयोः | विज | अम.को.3-280 |
| 888. | 9 | 15 | वष्टिभागुरि रल्लोपम् | विज | सि.कौ. अष्टा.2-4-82 |
| 889. | 20 | 40 | वसन्ति(तत्र) यत्र भूतानि | वीर | विष्णु.पु.6-5-75 |
| 890. | 22 | 55 | वसु रत्नं जलं रश्मिः | विज | |
| 891. | 16 | 6 | वसुर्हृदेऽग्नौ योक्त्रोंऽशौ | विज | वैज.को 6-5-78 |
| 892. | 22 | क36,37 | वसेराच्छादनेत्यस्मात् | विज | तन्त्रसारे |
| 893. | 7 | 21 | वहेश्च (वहेर्धश्च) | विज | उणा.सू. 1-83 |
| 894. | 3 | 3 | वाजपेयेनेष्ट्वा | श्रीध | |
| 895. | 3 | 3 | वाजपेयेनेष्ट्वा | वीर | |
| 896. | 3 | 5,6,7 | वाऽम्शसोः | वीर | अष्टा6-4-80 |
| 897. | 21 | 29 | वायव्यं श्वेतमालभेत | वीर | |
| 898. | 17 | 31 | वार्तासम्भाव्ययोः किल | विज | वैज.को 8-7-19 |
| 899. | 25 | 38 | वासुदेवे मतो यस्य | वीर | विष्णु.पु 2-6-41 |
| 900. | 9 | 17 | वाग्रेव विद्युन्मिमाति | विज | ऋक्.सं. 1-38-8 |
| 901. | 9 | 32 | विकल्पे विद्यमानेऽपि | वीर | भाग 4-8-28 |
| 902. | 9 | 16 | विचित्रशक्तिः पुरुषः | विज | |
| 903. | 13 | 8 | विज्ञानमानन्दं ब्रह्म | विज | बृह.उ. 3-9-28 |
| 904. | 20 | 7 | विज्ञानमानन्दं ब्रह्म | विज | बृह.उ 3-9-28 |
| 905. | 15 | 24 | विण्मूत्रपूर्णं मदुपैति | विज | |
| 906. | 16 | 10 | वित्तं यशो धनं वित्तो | विज | |
| 907. | 24 | 29 | विदेहि रुद्रो रुद्रियं | विज | |
| 908. | 3 | 17 | विद्यामदो धनमदः | विज | भार. 5-34-42 |
| 909. | 19 | 21 | विनिशेधे पृथग्भावे | विज | वैज,को 8-7-6 |
| 910. | 21 | 34 | विभुर्य आत्मनि तिष्ठन् | वीर | |
| 911. | 17 | 29 | विभ्रमः संशये भ्रान्तै | विज | वैज.को 7-1-69 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 912. | 22 | 38 | विमुक्तश्च विमुच्यते | विज | कठ.उ. 5-5-1 |
| 913. | 17 | 33 | विरुद्ध शक्तयो यस्य | विज | वाराहे |
| 914. | 12 | 15 | विशाला बदरी प्रोक्ता | विज | |
| 915. | 31 | 19 | विशोकोऽविजिघत्सो | वीर | छान्दो.उ.8-1-57 |
| 916. | 8 | 3 | विश्वं विष्णुः | वीर | भार |
| 917. | 12 | 11 | विश्वः पूर्णः | विज | भार |
| 918. | 6 | 49 | विष्णुमाया हरेरिच्छा | विज | शब्दनिर्णये |
| 919. | 14 | 22 | विष्णोस्सन्निहितत्वात्तु | विज | स्कान्दे |
| 920. | 6 | 49 | विष्ण्वधीना जगत् | विज | गारुडे |
| 921. | 5 | 26 | वीरभद्राख्यरूपेण | विज. | ब्राह्मे |
| 922. | 8 | 68 | वृद्धौ च मातापितरौ | विर | मनु.स्मृ 11-1 |
| 923. | 29 | 47 | वेदं विनाप्यनुभवात् | विज | अध्यात्मे (अधिकपाठः) |
| 924. | 22 | 9 | वेदाऽहमेतम् | विज | पु.सू 2-1 |
| 925. | 25 | 16 | वेदिः परिष्कृता भूमिः | विज | अम.को 2-417 |
| 926. | 9 | 13 | वेदैश्च सर्वैरहमेव | वीर | भ.गी 15-15 |
| 927. | 14 | 21 | वेदैश्च सर्वैरहमेव | वीर | भ.गी. 15-15 |
| 928. | 29 | 46 | वेदो वदन्नपि हरिं | विज | वाराहे |
| 929. | 21 | 45 | वेनस्थो राजसो | विज | ब्रह्माण्डे |
| 930. | 29 | 47 | वैदिकस्त्यक्तवेदश्च | विज | महासंहितायाम् |
| 931. | 15 | 4 | वैन्ये पृथौ सन्निहितो | विज | ब्राह्मे |
| 932. | 3 | 22 | वैष्णवो वैष्णवं दृष्ट्वा | वीर | पाद्मम् |
| 933. | 22 | 16 | व्यक्तं स्पष्टे बुधे तुना | विज | वैज.को 6-5-72 |
| 934. | 22 | 37 | व्यवधानेनान्वयोऽपि | विज | शब्दनिर्णये |
| 935. | 19 | 35 | व्याङ्परिभ्यो रमः | विज. | अष्टा 1-3-83 |
| 936. | 22 | क 36,37 | व्याप्ते मनसि | विज | तन्त्रसारे |
| | | | श | | |
| 937. | 7 | 59 | शक्तित्वाद्विष्णुशक्तिस्तु | विज | तन्त्रसारे |
| 938. | 2 | 2 | शङ्कराज्ज्ञानं | वीर. | ब्रह्मण्ड.पु |
| 939. | 25 | 43 | शतं वर्षाण्यभ्यर्च्छत् | विज | |
| 940. | 25 | 37 | शतायुर्वै पुरुषः | वीर | |
| 941. | 29 | 25 | शतायुर्वै पुरुषः | वीर | |
| 942. | 21 | 32 | शमोदमस्तपश्शौचं | वीर | भ.गी.18-42 |
| 943. | 29 | 52 | शरणं गृहरक्षित्रोः | विज | अम.को 3-209 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 944. | 29 | 61 | शरीरजैः कर्मशेषैः | श्रीध | मनु.स्मृ 12-9 |
| 945. | 9 | 46 | शर्म जोषञ्च शं | विज | हला.को 1-123 |
| 946. | 21 | 45 | शश्वत्पुत्रेण पितरो | विज | |
| 947. | 22 | 19 | शाकपार्थिवादित्वात् | वीर | वार्तिक Under अष्टा.2-1-60 |
| 948. | 4 | 20 | शान्तो दान्तः | श्रीध | सुबा.उ.9-14 |
| 949. | 4 | 20 | शान्तो दान्तः | वीर | सुबा.उ. 9-14 |
| 950. | 29 | 61 | शाश्वतीरसुभूयार्तिम् | श्रीध | भाग. 4-28-27 |
| 951. | 7 | 14 | शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो | वीर | ब्र.सू. 1-1-30 |
| 952. | 9 | 13 | शास्त्रयोनित्वात् | वीर | ब्र,सू1-1-3 |
| 953. | 13 | 35 | शिपिविष्टस्तु | विज | वैज.को 8-5-24 |
| 954. | 12 | 17 | शिलावत्प्रतिमैषा हि | विज | स्कान्दे |
| 955. | 4 | 16 | शिवापदेशो ह्यशिवः | श्रीध | भाग 4-2-15 |
| 956. | 12 | 26 | शिंशुमारो ध्रुवश्चैव | विज. | स्कान्दे |
| 957. | 21 | 33 | शुक्लमालभेत | वीर | |
| 958. | 24 | 62 | शुद्धस्फटिकसङ्काशं | विज | |
| 959. | 30 | 42 | शुद्धाय निरञ्जनाय | विज | |
| 960. | 7 | 32 | शुभाकारे तनौ वपुः | विज | वैज.को 6-3-30 |
| 961. | 28 | 54 | शेषे प्रथमः | वीर | अष्टा1-4-108 |
| 962. | 21 | 43 | श्नाऽभ्यस्तयोरातः | वीर. | अष्टा6-4-112 |
| 963. | 28 | 30 | श्रवणं कीर्तनं विष्णोः | श्रीध. | भाग 7-5-23 |
| 964. | 28 | 30 | श्रवणं कीर्तनं विष्णोः | वीर | भाग 7-5-23 |
| 965. | 4 | 16 | श्रेयांसि तत्र खलु | वीर | भाग 1-2-23 |
| 966. | 25 | 38 | श्वस्तनं न लोकपालौ | विज | |
| | | | **स** | | |
| 967. | 29 | 24 | स एकदा महेष्वासो | वीर | भागः 4-26-1 |
| 968. | 31 | 19 | स एको ब्रह्मणः | वीर | तैत्ति.उ. 2-8 |
| 969. | 21 | 29 | स एवैनं भूतिं | वीर | |
| 970. | 7 | 41 | स एष यज्ञः | श्रीध | ऐत. उ. 3-3-4 |
| 971. | 31 | 19 | सङ्कल्पश्च विकल्पश्च | विज | तन्त्रभागवते |
| 972. | 24 | 57 | सङ्गो भागवतैः | विज | ब्रह्मतर्के |
| 973. | 31 | 22 | स च मम प्रियः | वीर | भ.गी.7-17 |
| 974. | 1 | 18 | स चानन्त्याय कल्पते | वीर | श्वेता.उ.5-9 |
| 975. | 24 | 28 | स जीवमायां | विज | |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 976. | 20 | 8 | सता सोम्य तदा | विज | छान्दो.उ.6-8-1 |
| 977. | 25 | 44 | सता सोम्य तदा | विज | छान्दो.उ.6-8-1 |
| 978. | 26 | 12 | सता सोम्य तदा | विज | छान्दो.उ.6-8-1 |
| 979. | 20 | 8 | सत्यकामः | वीर | छान्दो.उ.8-1-5 |
| 980. | 9 | 13 | सत्यं ज्ञानमनन्तम् | वीर | तैत्ति.उ.2-1-1 |
| 981. | 9 | 16 | सत्यं ज्ञानमनन्तम् | वीर | तैत्ति.उ.2-1-1 |
| 982. | 21 | 26 | सत्यं ज्ञानम् | वीर | तैत्ति.उ.2-1-1 |
| 983. | 31 | 19 | सत्यं ज्ञानमनन्तम् | वीर | तैत्ति.उ.2-1-1 |
| 984. | 2 | 1 | सत्यात्मानमजहात् | विज | |
| 985. | 31 | 24 | सत्रेऽगायत्प्रचेतसाम् | श्रीध | भाग.4-12-40 |
| 986. | 17 | 22 | स त्वं जिघांससे | वीर | भागः.4-17-19 |
| 987. | 9 | 18 | सत्सत्येऽभ्यर्हिते | विज | वैज.को.8-4-16 |
| 988. | 22 | 37 | स दुःखी | विज | |
| 989. | 2 | 16 | सद्भिराचरितः पन्थाः | वीर | भाग.4-2-10 |
| 990. | 2 | 16 | सद्योऽजायत | वीर | भाग 3-12-168 |
| 991. | 4 | 15 | सनकादयो रुद्रशिष्याः | विज | ब्राह्मे |
| 992. | 21 | 46 | सनाशंसभिक्ष उः | वीर | अष्टाः.3-2-7,8 |
| 993. | 16 | 16,17 | सन्धाऽवधौ प्रति | विज | वैज.को. 6-2-44 |
| 994. | 15 | 6 | सप्तसु प्रथमा | विज | शब्दनिर्णये |
| 995. | 10 | 29 | समभेदे समीचीने | विज | वैज.को.8-7-8 |
| 996. | 13 | 8 | समभेदे | विज | वैज.को. 8-7-8 |
| 997. | 12 | 47,48 | समवाये समूहे | विज | १८० |
| 998. | 4 | 16 | (तस्मिन्)समस्तात्मनि | वीर | भाग 4-4-11 |
| 999. | 20 | 8 | सम्पद्याविर्भावः स्वेन | वीर | ब्र.सू.4-4-1 |
| 1000. | 23 | 14 | सम्पीड्य सीवर्नी | श्रीध | |
| 1001. | 7 | 34 | स यत्तत्र किञ्चित्पश्य | विज | बृह.उ.4-3-16 |
| 1002. | 19 | 30 | स यामाद्यैस्सुरगणैः | श्रीध | भाग 1-3-12 |
| 1003. | 19 | 1 | सरस्वती दृषद्वत्योः | श्रीध | मनु.स्मृ.2-17 |
| 1004. | 19 | 1 | सरस्वती दृषद्वत्योः | श्रीध | मनु.स्मृ.2-17 |
| 1005. | 19 | 1 | सरस्वती दृषद्वत्योः | श्रीध | मनु.स्मृ.2-17 |
| 1006. | 7 | 54 | सर्गस्थित्यन्तकरणीं | वीर | विष्णु.पु.1-2-66 |
| 1007. | 29 | 83 | सर्गः स्वभावनिर्मोका | विज | अम.को..3-178 |
| 1008. | 24 | 44 | सर्वकर्मा सर्वकामः | वीर | छान्दो.उ.3-14-4 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 1010. | 22 | 9 | सर्वज्ञाश्च विरिञ्चाद्याः | विज | तन्त्रसारे |
| 1011. | 24 | 34 | सर्वत्राऽसौ समस्तञ्च | वीर | विष्णु.पु.1-2-12 |
| 1012. | 7 | 45 | सर्वशब्दाभिधेयत्वं | विज | मात्स्ये |
| 1013. | 22 | 37 | सर्वसत्ताप्रदत्वात्तु | विज | तत्त्वनिर्णये |
| 1014. | 14 | 21 | सर्वस्य ग्रहणाद्विष्णुः | विज | स्कान्दे |
| 1015. | 2 | 2 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म | वीर | छान्दो.उ.3-14-1 |
| 1016. | 6 | 43 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म | वीर | छान्दो.उ.3-14-1 |
| 1017. | 29 | 81 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म | वीर | छान्दो.उ.3-14-1 |
| 1018. | 1 | 30 | सर्वं वाक्यं | वीर | |
| 1019. | 12 | 11 | सर्वश्शर्वः शिवः | विज | भार. |
| 1020. | 24 | 33 | सर्वान्तर्यामिकत्वात्तु | विज | ब्रह्मतर्के |
| 1021. | 9 | 13 | सर्वे वेदा यत्पद- | वीर | कठ.उ.2-15 |
| 1022. | 14 | 21 | सर्वे वेदा यत्पद- | वीर | कठ.उ.2-15 |
| 1023. | 31 | ग.22/23 | सर्वोत्तमात्वाद्विष्णुर्हि | विज | व्योमसंहितायाम् |
| 1024. | 9 | 35 | स स्वराड् भवति | वीर | छान्दो.उ.7-25-2 |
| 1025. | 29 | ख81/82 | संसारस्थमिदं सर्वं | विज | विष्णुसंहितायाम् |
| 1026. | 29 | 36 | संसृतेः स्वप्न साम्यन्तु | विज | शब्दनिर्णये |
| 1027. | 27 | 1 | सा त्वं मुखं सुदति | वीर | भाग.4-26-23 |
| 1028. | 14 | 17-19 | साधुस्त्रिषूचिते सौम्ये | विज | वैज.को.6-5-96 |
| 1029. | 2 | 16 | साधूनां ब्रुवतो वृत्तं | वीर | भाग.4-2-9 |
| 1030. | 24 | 64 | सारवत्सारमात्रन्तु | विज | शब्दनिर्णये |
| 1031. | 18 | 18 | साऽस्य देवता | वीर | अष्टा.4-2-24 |
| 1032. | 1 | 55 | सितनीलादि भेदेन | वीर | विष्णु.पु.2-16-22 |
| 1033. | 29 | 24 | सुखवद्दूरतो दृश्यं | विज | शब्दनिर्णये |
| 1034. | 24 | 45 | सुजातं कोमलं विदुः | विज | 134 |
| 1035. | 4 | 16 | सुपर्णशेष प्राणेश | विज | गारुडे |
| 1036. | 20 | 8 | सुषुप्तवच्च निर्दुःखो | विज | तन्त्रसारे |
| 1037. | 20 | 8 | सुषुप्तिर्नाम न हि | विज | |
| 1038. | 29 | ख81/82 | सुषुप्तिस्वप्नयोश्चैव | विज | |
| 1039. | 20 | 8 | सुषुप्तच्युत्क्रान्त्योः | वीर | ब्र.सू.1-3-42 |
| 1040. | 30 | 20 | सूक्ष्मेण मनसा विद्यो | विज | भारते |
| 1041. | 1 | 33 | सृष्टिभेदाद्विरूपन्तु | विज | स्कान्दे |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 1042. | 1 | 30 | सृष्टिं ततः करिष्यामि | वीर | वि.ध.पु.68-52 |
| 1043. | 6 | 42 | सृष्टिं ततः करिष्यामि | वीर | वि.ध.पु.68-52 |
| 1044. | 7 | 50 | सृष्टिं ततः करिष्यामि | वीर | वि.ध.पु.68-52 |
| 1045. | 7 | 54 | सृष्टिं ततः करिष्यामि | वीर | वि.ध.पु.68-52 |
| 1046. | 24 | 32 | सृष्ट्यादौ ब्रह्मणा | श्रीध | |
| 1047. | 9 | 8 | सोऽज्ञानाद्विमुक्तो | विज | |
| 1048. | 29 | 85 | सोनानन्दाद्विमुक्तः | विज | |
| 1049. | 29 | 4 | सोऽन्वेषमाणः | वीर | भाग.4-25-11 |
| 1050. | 21 | 45 | सोऽयं मनुष्यलोकाः | विज | बृह.उ.1-5-16 |
| 1051. | 30 | 12 | सोऽयं मनुष्यलोकः | विज | बृह.उ.1-5-16 |
| 1052. | 29 | 70 | सोऽश्नुते सर्वान्कामान् | वीर | तैत्ति.उ.2-1-1 |
| 1053. | 28 | 32 | सौम्येमाः समिधः | विज | |
| 1054. | 25 | 44 | स्त्रीभिर्वा यानैर्वा | विज | |
| 1055. | 3 | 3 | स्मयाच्चारौद्रकं यागम् | वीर | |
| 1056. | 12 | 8 | स्मृतिलम्भे सर्व- | वीर | छान्दो.उ.7-26-2 |
| 1057. | 19 | 34 | स्मृतौ वृत्ते निषेधे स्म | विज | वैज.को.8-7-7 |
| 1058. | 24 | 67 | स्मृतौ वृत्ते निषेधे स्म | विज | वैज.को.8-7-7 |
| 1059. | 25 | 3 | स्यात्कृपालुः | विज | |
| 1060. | 9 | 35 | स्यात्पुलकस्तुच्छ | विज | वैज.को.7-1-47 |
| 1061. | 16 | 20 | स्यादध्याधिक ईश्वरे | विज | वैज.को.8-7-13 |
| 1062. | 22 | 15 | स्राग्झडित्यञ्जसाऽऽह्वाय | विज | अम.को.3-413 |
| 1063. | 21 | 26 | स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य | वीर | भ.गी.18-46 |
| 1064. | 22 | 35 | स्वपक्षपात स्त्वरभ्यासात् | विज | स्कान्दे 3-413 |
| 1065. | 28 | 40 | स्वप्नेन शरीरमभि- | विज | बृह.उ.4-3-11 |
| 1066. | 23 | 12 | स्वरूपज्ञानतस्सम्यक् | विज | ब्रह्मतर्के |
| 1067. | 4 | 20 | स्वर्गकामो यजेत | वीर | |
| 1068. | 24 | 62 | स्वर्गकामो यजेत | विज | |
| 1069. | 4 | 20 | स्वर्गाद्यर्थं प्रवृत्तं स्यात् | विज | भविष्यत्पुराणे |
| 1070. | 1 | 1 | स्वायम्भुवस्य च | वीर | भाग.3-21-1 |
| 1071. | 7 | 54 | स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः | वीर | छान्दो.उ.7-24-1 |
| | | | ह | | |
| 1072. | 11 | 18 | हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं | वीर | कठ.उ.2-19 |
| 1073. | 12 | 4 | हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं | वीर | कठ.उ.2-19 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 1074. | 30 | 24,25 | हरणात् ज्ञानरूपत्वात् | विज | प्रवृत्तिसंहितायाम् |
| 1075. | 31 | 2 | हरिमेधस्तु सन्न्यासो | विज | षाड्गुण्ये |
| 1076. | 11 | 18 | हरिरक्लिष्टकारित्वात् | विज | सत्यसंहितायाम् |
| 1077. | 20 | 12 | हरिरक्लिष्टकारित्वात् | विज | अध्यात्मे |
| 1078. | 30 | 24,25 | हरिर्ना कपिले त्रिषु | विज | अम.को.3-330 |
| 1079. | 30 | 24,25 | हरिस्सर्वगुणात्मवात् | विज | षाड्गुण्ये |
| 1080. | 9 | 35 | हरीच्छितैच्छुतैकात्मता | विज | भविष्यत्पर्वाणि |
| 1081. | 31 | क | हरेर्गृहं प्रविष्टास्तु | विज | मात्स्ये |
| 1082. | 7 | 54 | हरेर्वशत्वदृष्टिस्तु | विज | गारुडे |
| 1083. | 22 | 16 | हरेस्तु प्रतिमाः प्राज्ञाः | विज | तन्त्रसारे |
| 1084. | 1 | 30 | हरो हरति तद्वशः | वीर | भाग.2-6-31 |
| 1085. | 9 | 35 | हरौ नियतचित्तत्वात् | विज | भविष्यत्पर्वणि |
| 1086. | 13 | 46 | हलन्तादपि टापञ्च | विज | |
| 1087. | 24 | 37 | हंसश्शुचिषत् | श्रीध | कठ.उ.5-2 |
| 1088. | 15 | 6 | हि हेतावववधारणे | विज | वैज.को.8-7-9 |
| 1089. | 6 | 48 | हृदयस्य द्रवीभावः | विज | शब्दनिर्णये |
| 1090. | 22 | 26 | हृदि ह्ययमात्मा | वीर | प्रश्न.उ.3-6 |
| 1091. | 22 | 37 | हृदि ह्येष आत्मा | विज | प्रश्न.उ.3-6 |
| 1092. | 24 | 36 | हृषीकमिन्द्रियं (प्रोक्तम्) | विज | वैज.को.3-6-103 |
| 1093. | 25 | 16 | हृदि ह्ययमात्मा | वीर | प्रश्न.उ.3-6 |
| 1094. | 25 | 55 | हृदि ह्ययमात्मा | वीर | प्रश्न.उ.3-6 |
| 1095. | 22 | 1 | ह्रस्वेन कालेन | वीर | भाग.4-20-15 |

Harih Ōṃ

# ŚRĪMAD
# BHĀGAVATA
# MAHĀPURĀṆAM

*of Maharṣi Vēdavyāsa*

## SKANDHA-VII

*With the Commentaries:*

Bhavarthadipika of Sri Sridharaswami, Bhagavatachandrachandrika of Sri Vira Raghavacharya, Padaratnavali of Sri Vijayadhvaja Tirtha

**Edited by**


Panditaraja, Sahitya Visarada, Vachaspati, Siromani, Vidwan,
Recipient of President's Certificate of Honour

**Dr. N.C.V. Narasimhacharya,** M.A., B.O.L.,

SPECIAL OFFICER

**SRI BHAGAVATHA PROJECT,**

T.T.Devasthanams, Tirupati.



श्रीमतां विजयते

Published by

**Executive Officer,**

Tirumala Tirupati Devasthanams,

Tirupati.

**2004**

**Śrīmad Bhāgavatamahāpurāṇam - Skanda-VII.**

Edited by

**Dr. N.C.V. Narasimhacharya**

T.T.D. Religious Publications Series No.652

First Edition - 2004

**Price: Rs.110.00**

Copies : 1,000

*Published by*

**Sri. Ajeya kallam**, I.A.S.
Executive Officer,
T.T.Devasthanams,
Tirupati.

Cover Design :
P. Siva Prasad, TTD

*DTP Work by*

**SRAVYA GRAPHICS,**
6-7-582,
Tirupati.

*Printed at:*

**Chennai Micro Print Pvt Ltd, Chennai-29.**
**Ph : 044 – 23740099**

ओं नमो वेङ्कटेशाय

श्रीवेदव्यासमहर्षिप्रणीतम्

# श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

## सप्तमः स्कन्धः

श्रीश्रीधरस्वामिविरचिताभावार्थदीपिका, श्रीवीरराघवनिर्मिता श्रीभागवतचन्द्रचन्द्रिका,
श्रीविजयध्वजविलिखिता पदरत्नावली चेति त्रिभिः व्याख्यानैः भूषितम्


पण्डितराजः, साहित्यविशारदः, वाचस्पतिः, शिरोमणिः, विद्वान् इति बिरुदभाजा

**राष्ट्रपति पुरस्कार ग्रहीत्रा**

**डॉ. यन्. सि. वि. नरसिंहाचार्येण** यम्.ए., बि.ओ.यल्.,

(विशिष्टाधिकारी, श्रीमद्भागवतशोधपूर्णपरिष्करणपरिषत्)

**परिष्कृतम्**



तिरुमल तिरुपति देवस्थान

**कार्यनिर्वहणाधिकारिभिः**

प्रकाशितम्

२००४

हरिः ओम्

" ईशानां जगतोऽस्य वेङ्कटपतेर्विष्णोः परां प्रेयसीं
तद्वक्षःस्थलनित्यवासरसिकां तत्क्षान्तिसंवर्धनीम्।
पद्मालङ्कृतपाणिपल्लवयुगां पद्मासनस्थां श्रियं
वात्सल्यादिगुणोज्ज्वलां भगवतीं वन्दे जगन्मातरम्।।"

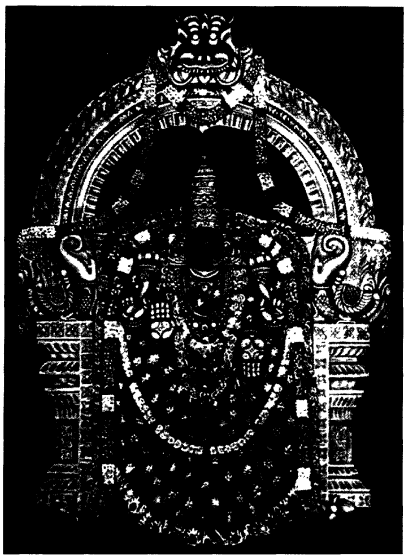

श्रीमद्वेङ्कटनायकस्य हृदये द्वेधा विधायाऽऽत्मनो
मूर्तिं शश्वदियं कृपामृतझरीस्रोतस्विनी भार्गवी।
उद्धर्तुं निखिलानगण्यविषमांहोवह्निदग्धात्मनो
जन्तून् सन्निदधाति विश्वजननी पद्मावती रक्षतात्।।

हरिः ओम्

लोकोद्धारैकदीक्षापरनिगममहाहर्म्यधर्म्यप्रदीपः
स्वाङ्घ्रिद्वन्द्वप्रपन्नाखिलदुरिततमोध्वंसिपुण्यप्रदीपः।
दिङ्मूढेभ्यो नरेभ्यः प्रकटितसरणिः स्नेहदीप्रः प्रदीपः
युष्मानस्मान्समस्तानवतु वृषगिरिस्थास्नुमङ्गल्यदीपः।।

श्रीमद्भागवतं पुराणमखिलाम्नायैकसारः क्व वा ?
प्रज्ञादुर्विधकिम्पचानधिषणाः शैक्षाः क्व वा मादृशाः ?
भक्त्या चापलतस्तथाऽपि च परिष्कर्तुं वयं व्यापृताः,
एतत् प्राभृतयाम वेङ्कटपतेः पादाब्जयोः, स्वीक्रियात्।।

TIRUMALA TIRUPATI DEVASTHANAMS, TIRUPATI

# TRUST BOARD

## CHAIRMAN

*Sri T. Subbi Rami Reddy*, M.P.,

## MEMBERS

Sri Janga Krishnamurthy, M.L.A.,

Sri Sama Ganesh Reddy

Sri N. Srinivasan

Sri M. Navaneeswara Reddy

Sri Gokaraju Ramaraju

Dr. Chadalawada Sudha, M.S., FRCSC.,

Sri N. Nageswara Rao, M.A.,

Sri K. Prem Sagar Rao

Sri P.V. Satyanarayana Murthy, I.A.S.,
COMMISSIONER, ENDOWMENTS, A.P.
EX-OFFICIO MEMBER

Sri Ajeya Kallam, I.A.S.,
EXECUTIVE OFFICER
TIRUMALA TIRUPATI DEVASTHANAMS
EX-OFFICIO MEMBER

# The Critical Edition of Srimad Bhagavata

## The Editorial Board


Ex-officio Chairman

**Sri Ajeya kallam**, I.A.S.

Executive Officer,

T. T. Devasthanams.

MEMBERS

1. **Dr. Medasani Mohan**
   Director
   Sri Annamacharya Project,
   T.T.Devasthanams, Tirupati.
2. **Prof. H.S.Brahmananda**
   Secretary,
   Dharma Prachara Parishad,
   T.T.Devasthanams, Tirupati.
3. **Prof. S.Sudarsana Sarma**
   Professor & Head
   Dept. of Sahitya,
   R.S. Vidyapeetha, Tirupati.
4. **Prof. K.Pratap**
   Professor & Head
   Dept. of Sanskrit,
   S.V.Univeristy, Tirupati.
5. **Dr.G.S.R. Krishna Murthy**
   Reader
   Dept. of Sahitya,
   R.S. Vidyapeetha, Tirupati.

Co-ordinated Member

6. **Dr. N.S.Ramamoorthy**
   Editor,
   T.T.Devasthanams, Tirupati.

Convener

**Prof. Samudrala Lakshmanaiah**

Special Officer,

Sri Bhagavata Project

T.T.Devasthanams

# CONTENTS


1. Foreword ..... I
2. Introduction-English ..... II
3. Introduction-Sanskrit ..... IV
4. List of Abbreviations- (Editions) ..... VII
5. List of Abbreviations- (Texts cited) ..... VIII
6. Contents of each canto (in prose) ..... X
7. Contents of each canto (in slokas) ..... XI
8. Process of Reciting Sri Bhagavata ..... XII
9. SRIMAD BHAGAVATA MAHAPURANAM

| Text | Page | Text | Page |
|---|---|---|---|
| Canto. 1 | 1 | Canto. 11 | 312 |
| Canto. 2 | 36 | Canto. 12 | 335 |
| Canto. 3 | 71 | Canto. 13 | 351 |
| Canto. 4 | 91 | Canto. 14 | 375 |
| Canto. 5 | 109 | Canto. 15 | 395 |
| Canto. 6 | 137 | Appendix-1 Quarter Verse Index | 1 to 65 |
| Canto. 7 | 162 | | |
| Canto. 8 | 195 | | |
| Canto. 9 | 226 | Appendix-II Citation Index | 66 to 100 |
| Canto. 10 | 277 | | |

# FOREWORD

Dharma (Right conduct), Artha (Material well-being), Kama (enjoyment) and Moksha (Spritual liberation) - these are the four Purusharthas, enunciated in our sastras. In these, the fourth purushartha, i.e. Moksha (Spiritual liberation) is the foremost aim of our life.

To achieve this, there are four types of yogas, viz. Karma, Bhakti, Dhyana and Jnana; paths of selfless work, devotion, meditation and knowledge.

In this Kaliyuga, Bhakti yoga is the easiest path to achieve liberation. Bhakti Yoga is explained in many scriptures, like Vedas, Bhagavadgita etc. But Srimadbhagavatam written by sage Vedavyasa is considered to be the foremost of all the scriptures which explain Bhakti Yoga. In the beginning of Kaliyuga, this Srimad Bhagavatam, was taught to Parikshit, the descendant of Pandava race, by sage Suka.

Stories of various devotees were narrated in the Bhagavata. Prahlada is the pre-eminent of all such devotees. Though he was born in the Rakshasa clan, he earned the limitless grace of Lord due to his intense devotion. The story of Prahlada is presented excellently in the seventh Skandha of Srimad Bhagavatam.

Sri Bhagavatham Project was established by the T.T.Devasthanams to bring out the critical edition of this epic. This edition is prepared with three commentaries pertaining to three systems of philosophy viz. Dvaita, Advaita and Visistadvaita.

The editing of this work is over and printing is in progress. Four volumes have so far been released. Two volumes are in the final stage of printing.

This volume is the 7th Skandha of Srimadbhagavatam. Late Dr. N.C.V. Narasimhacharya, an eminent scholar and recipient of the President's award, was the chief editor of this volume.

We are happy to present this volume to the devotees and do hope they would welcome it whole-heartedly.

**SRI AJEYA KALLAM, I.A.S.,**
EXECUTIVE OFFICER
T.T.DEVASTHANAMS

**TIRUPATI,**
**Dt : 3-7-2004.**

# INTRODUCTION

Kalasarpa is a dangerous one which is prone to bite any one and create fear in the minds of the people. In order to overcome this fear, sage Suka taught the scripture Bhagavata in the Kaliyuga.

The King Parikshit, left his mortal body bitten by the serpent Takshaka having been cursed by Srungi. One should not treat this story as merely, applying to Parikshith. Kalasarpa bites one and all. Protection from this serpent, is only through the hearing Bhagavata explained by Suka.

The story of Prahlada is narrated in the 7th Skandha of Srimad Bhagavata. Prahlada, Narada, Parasara, Pundarika, Vyasa, Ambarisha, Suka, Sounaka, Bhishma, Dalbhya, Rukmangada, Arjuna, Vasistha and Vibhishana etc. are considered to be Parama Bhagavatas i.e. the most eminent of devotees.

In this list of devotees, Prahlada occupies the first place. Though Narada is his teacher, he is counted as the second one. We can, therefore, understand how great a devotee Prahlada was.

Prahlada says that the Bhakti is of nine kinds: 1. Hearing the story or praise of God. 2. Singing His praises. 3. Remembering and chanting His name. 4. Serving His feet. 5. Worshipping Him. 6. Bowing to Him. 7. Ministering to His glory 8. Befriending Him and 9. Self-surrender to Him.

The following devotees represent each of the nine forms of devotion, respectively. They are 1. Parikshit 2. Suka 3. Prahlada 4. Lakshmi 5. Emperor Pruthu 6. Akrura 7. Hanuman 8. Arjuna and 9. Emperor Bali.

The story of Prahlada who represents the Smarana type of Bhakti is vividly and beautifully presented in the 7th Skandha of Bhagavata. Prahlada's teachings imparted to his class-mates in the absence of their guru are full of profound philosophical content.

Prahlada taught as follows: "A man's full age is 100 years. He who has no control over his senses and full of tamas spends half of his time wastefully by way of sleep - during nights.

Twenty years are wasted by way of play during his childhood. Another twenty years are spent in his old age, inflicted by disease and unable to do anything worthy. The remaining years are spent in sensual pleasures infatuated by strong unhealthy desires.

Those who have not acquired control over their senses do not try to relieve themselves from these strong worldly attachments."

The famous poet Bhartruhari also expressed similar ideas in his Vairagya Sataka. Therefore, the spiritual content in the story of Prahlada is to be understood by every one and practised.

In the ten incarnations of the Lord, the fourth incarnation of Narasimha is also described in this Skandha, as it was intended to protect Prahlada. Bhagavata which is full of stories of devotees like Prahlada and the Lord and is analogous to Veda is to be studied, assimilated and practised by not only Indians but also people of the whole world.

This Skandha was edited by well-known Sanskrit scholar, recipient of President's award, and our Guru, Sriman Dr. N.C.V. Narasimhacharya Swami. He reached the Lotus feet of the Lord, even before the publication of this book.

The scholars who assisted in preparing this edition are : 1. Sriman K.C.Jayachandra Sastri, 2. Sriman U. Venkataramaiah and 3. Sriman Varada Rajan, who deserve the gratitude of the readers.

The research assistants, namely Sri S.B.S. Bhattacharya, Smt. S. Poornavalli and Dr. S. Dasaratha also deserve our commendation. Sri I. Venkateswara Rao and others who helped immensely in proof reading of the work also deserve our gratitude.

Sri Ajeya Kallam, IAS, the revered Executive Officer of the Tirumala Tirupati Devasthanams and Dr. Medasani Mohan, the Director of Annamacharya Project and other members of the advisory committee of the Bhagavata project are offered our deep gratitude for their keen interest and co-operation in bringing out this edition.

**Samudrala Lakshmanaiah,**
Special Officer,
Sri Bhagavata Project
T.T.Devasthanams

Tirupati
Dt. 3 - 7 - 2004

# निवेदनम्

*कालव्याळमुखग्रासत्रासनिर्णाशहेतवे ।*
*श्रीमद्भागवतं शास्त्रं कलौ कीरेण भाषितम् ॥* (पाद्मे)

कालाख्येन महाभीकरेण सर्पेण कृतं यद्भयं तद्भयात्परिरक्षितुमेव कलियुगे शुकेन श्रीमद्भागवताख्यं शास्त्रं प्रबोधितमस्ति ।

शृङ्गिशापात् परीक्षित् तक्षकसर्पेण दष्टो देहान्तं जगाम । इयं केवलपरीक्षित्सम्बान्धिनी कथैवेति न मन्तव्यम् । कालव्यालः सर्वानपि दष्टुं सन्नद्धोऽस्ति । ततो रक्षणं शुकमुखोक्तभागवततत्त्वश्रवणेनैव साध्यमिति अवगन्तव्यम् । तादृशे भागवते प्रह्लादचरितवर्णनपरः सप्तमस्कन्धोऽयम् ।

*प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीकव्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान् ।*
*रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठ विभीषणादीन् पुण्यानिमान् परमभागवतान् स्मरामि ॥*

अत्र निर्दिष्टा : प्रह्लादादयः सर्वेऽपि महापवित्रचरित्रा इति, परमभागवता इति च परिकीर्त्यन्ते ।

अत्र भक्तानां गणनायां प्रह्लादस्यैव प्रथमं स्थानं परिकल्पितम् । तस्यापि गुरुः नारदः द्वितीयत्वेन परिगणितः। तथा च प्रह्लादस्य भक्तिविशेषः कीदृश इति अध्यूहितुं शक्यते । भक्तेः नवविधं स्वरूपमपि प्रह्लादमुखेन अत्रैव -

*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।*
*अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥* (भाग - 7-5-23 ) इति प्रत्यपादि ।

अस्या नवविधाया अपि भक्तेः दृष्टान्तत्वेन नव भक्ताग्रगण्याः अधोनिर्दिष्टेन पद्येन निर्दिश्यन्ते-

*श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद्वैयासकिः कीर्तने*
*प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने ।*
*अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः*
*सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत्कृष्णाप्तिरेवंविधा ॥*

अत्र परीक्षिदादयः नव भक्ताः श्रवणादिरूपाया एकैकस्या अपि भक्तेः दृष्टान्तत्वेनाभिहिताः।

स्मरणभक्तेर्निलयत्वेन प्रथितस्य प्रह्लादस्य चरित्रमत्र नितरां रमणीयतया व्यासेन सङ्ग्रथितमस्ति ।

प्रह्लादः गुरुकुले विद्याध्ययनसमये गुरोरसान्निध्ये सहपाठिनो बालकानुद्दिश्य यत्तत्त्वमत्र ब्रवीति, तदत्यन्तमादरणीयं परमार्थप्रधानं च भवति ।

*पुंसो वर्षशतं ह्यायुः तदर्धं चाजितात्मनः ।*
*निष्फलं यदसौ रात्र्यां शेतेऽन्धं प्रापितस्तमः ॥*
*मुग्धस्य बाल्ये कौमारे क्रीडतो याति विंशतिः ।*
*जरया ग्रस्तदेहस्य यात्यकल्पस्य विंशतिः ॥*
*दुरापूरेण कामेन मोहेन च बलीयसा ।*
*शेषं गृहेषु सक्तस्य प्रमत्तस्यापि याति हि ॥*
*को गृहेषु पुमान्सक्तमात्मानमजितेन्द्रियः ।*
*स्नेहपाशैर्दृढैर्बद्धमुत्सहेत विमोचितुम् ॥* (भाग - 7-6-11,12,13,15)

अयमेवार्थः भर्तृहरिणाऽपि वैराग्यशतके एवं प्रतिपादितः -

*आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धं गतं*
*तस्यार्धस्य परस्यचार्धमपरं बालत्व वृद्धत्वयोः ।*
*शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते*
*जीवे वारितरङ्गबुद्बुदसमे सौख्यं कुतः प्राणिनाम् ।* (भर्तृ .सु. 3 -50)

ततश्च प्रह्लादस्य चरित्रे यदाध्यात्मिकं तत्त्वं प्रत्यपादि तत्सर्वदा सर्वैरपि अध्येयं अनुष्ठेयमित्यत्र न संशयः ।

अपि च भगवदवतारेषु दशसु चतुर्थत्वेन प्रसिद्धस्य भगवतो नृसिंहस्य दिव्यावतारोऽपि प्रह्लादचरित्रेण सम्बद्धोऽत्र विस्तरेण वर्णितः ।

एतादृशभक्तानां भगवतश्च पावनचरित्रैरुपेतं वेदसम्मितं श्रीमद्भागवतं न केवलं भारतीयैः किन्तु जगति सर्वैरपि जनैरादरणीयमेव ॥

विद्वद्वर्यैः राष्ट्रपतिपुरस्कारेण सम्मानितैः , बहुभाषानिपुणैः, अस्मद्गुरुभिः , श्रीमद्भिः डा.यन्. सि.वि.नरसिंहाचार्यस्वामिभिः व्याख्यानत्रयसमलङ्कृतोऽयं ग्रन्थः महता श्रमेण परिष्कृतः । ग्रन्थप्रकाशनात्पूर्वमेव ते महाभागाः यशश्शरीरा बभूवुः ।

अस्य ग्रन्थस्य परिष्करणे सम्पादने च बहुधा उपकृतवन्तः श्रीमन्तः के.सि.जयचन्द्रशास्त्रिणः, यु. वेङ्कटरामय्यनामानः, आ.वरदराजन्नाह्वयाश्च कृतज्ञताञ्जलिमर्हन्ति । एवं श्रीमान् यस्.बि.यस्. भट्टाचार्यः, श्रीमती डा. यस्. पूर्णवल्ली, डा. यस्. दशरथश्च कृतज्ञतामर्हन्ति । मुद्रणसमये अक्षरशोधनकर्मणि सहकारं प्रदत्तवन्तः श्रीमन्तः ऐ. वेङ्कटेश्वररावु महोदयाः, एवं अन्ये च धन्यवादान् अर्हन्ति ।

किञ्च अस्य ग्रन्थस्य मुद्रणे नितरां श्रद्धां प्रदर्शितवद्भ्यः, ति.ति. देवस्थान श्रीकार्यनिर्वहणाधिकारिभ्यः श्री अजेय कल्लं महाशयेभ्यः, अन्नमाचार्य प्राजक्ट् निदेशकेभ्यः डा. मेडसानि मोहन् महाशयेभ्यः एवं अन्येभ्यश्च भागवत सम्पादन परिष्करणमार्गदर्शक मण्डली सदस्येभ्यः सादरं कृतज्ञताऽञ्जलयः समर्प्यन्ते ।

'लोकास्समस्तास्सुखिनो भवन्तु'

तिरुपतिः
3-7-2004

**समुद्राल लक्ष्मणय्य**
विशिष्टाधिकारी
श्रीभागवतपरिष्करणपरिषत्
ति.ति.देवस्थानम्

## LIST OF ABBREVIATIONS

(of the Edition of Śrīmad Bhāgavata Mahāpurānam being referred to)

1.A. Edited by Śrī Kriṣṇa Śankara Śāstri-contains about 30 commentaries - Printed in Devanagari Script at Ahmedabad, Gujarat.

2.B. Printed in Devanagari Script at Brindavan-contains 9 commentaries.

3.G. Contains text only-Printed at Gita Press, Ghorakhpur-in Devanagari Script.

4.H. Contains Śrīdharā's Commentary-Edited by Śri Hayagrīva Śāstri. Printed in Telugu Script at Madras.

5.J. Contains Śrīdharāchārya's Commentary-Edited by Prof. J.L.Śāstri. Printed in Devanagari Script.

6.M. Contains the commentary of Śrī Vijaya Dhvaja Tīrtha- Printed in Devanagari Script-Mādhva Edition.

7.Ma. Contains the commentary of Śrī Vijaya Dhvaja Tīrtha-Printed in Devanagari Script-Another Mādhva Edition.

8.T. Contains the commentary of Śrī Vīra Rāghavāchārya- Printed in Telugu Characters-Published by Śrī Tridaṇḍi Śrīmannārāyaṇa Rāmānuja **Jeer** Swāmi

9.V. Contains the commentary of Śrī Śrīdharācārya-Printed at Vāviḷḷa press, Madras in Telugu Script.

10.W. Contains the commentary of Śrī Vīrarāghavāchārya- Printed in Telugu characters- Published by the Mahārājā of Vanaparti Saṃstān, Āndhra.

## LIST OF ABBREVIATIONS

Commentaries

१. **श्रीध०** –श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

२. **वीर०** –श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

३. **विज०** –श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

# Texts cited commentaries and their Abbreviations

| Abbreviation | Name of the Book | Abbreviation | Name of the Book |
|---|---|---|---|
| अथ.शिखा.उ. | अथर्वशिखोपनिषत् | तैत्ति.आ. | तैत्तिरीय आरण्यकम् |
| अद्वै.उ. | अद्वैतोपनिषत् | तैत्ति.उ. | तैत्तिरीयोपनिषत् |
| - | अध्यात्मे | तैत्ति.सं. | तैत्तिरीयसंहिता |
| - | अभिधानम् | - | दत्तः |
| अम.को. | अमरकोशः | - | नारदीये |
| अष्टा. | अष्टाध्यायी | निरा.उ. | निरालम्बोपनिषत् |
| - | अहिर्बुध्न्यसंहिता | - | निरुक्तम् |
| आगम.प्रा. | आगमप्रामाण्यम् | नृ.उ.ता.उ. | नृसिंह उत्तरतापिन्युपनिषत् |
| आप. श्रौ.सू. | आपस्तम्ब श्रौत सूत्रम् | - | पञ्चतन्त्रे |
| - | आग्नेय | - | परमसंहिता |
| ईशा.उ. | ईशावास्योपनिषत् | - | पाञ्चरात्रे |
| उणा.सू. | उणादिसूत्राणि | - | पाद्मपुराणम् |
| - | उत्पलमाला | पु.सू. | पुरुषसूक्तम् |
| ऋक्.सं. | ऋक् संहिता | - | प्रकाशिकायाम् |
| ऐत.उ. | ऐतरेयोपनिषत् | प्रश्न.उ. | प्रश्नोपनिषत् |
| कठ.उ. | कठोपनिषत् | बृह.उ. | बृहदारण्यकोपनिषत् |
| - | कापिलेये | - | ब्रह्मतर्के |
| कुमार.स. | कुमारसम्भवम् | - | ब्रह्मवैवर्ते |
| कौषी.उ. | कौषीतक्युपनिषत् | ब्र.सू. | ब्रह्मसूत्राणि |
| - | क्रियायोगे | - | ब्राह्मे |
| - | गारुडे | - | भद्रिकायाम् |
| - | गोपालः | भ.गी. | भगवद्गीता |
| - | चाक्रायणश्रुतिः | भर.सं. | भरद्वाजसंहिता |
| छान्दो.उ. | छान्दोग्योपनिषत् | - | भागवततन्त्रे |
| जित.स्तो. | जितन्तास्तोत्रम् | भाग. | भागवतम् |
| - | तत्त्वनिर्णये | - | भविष्यत्पुराणे |
| - | तन्त्रभागवते | भारते.आनु. | भारते आनुशासनिकपर्व |

| Abbreviation | Name of the Book | Abbreviation | Name of the Book |
|---|---|---|---|
| भारते.आरण्य | भारते आरण्यपर्व | - | वाराहे |
| भारते. उद्योग | भारते उद्योगपर्व | - | वररुचिः |
| भारते. शान्ति | भारते शान्तिपर्व | विष्णु.ध.पु. | विष्णुधर्मोत्तरपुराणम् |
| मनु.स्मृ. | मनुस्मृतिः | विष्णु.पु. | विष्णुपुराणम् |
| - | महाकौर्मे | - | विष्वक्सेनसंहिता |
| - | माहात्म्ये | वे.नि. | वेदनिघण्टुः |
| म.ना.उ. | महानारायणोपनिषत् | - | शब्दनिर्णये |
| महा.उ. | महोपनिषत् | शार्ङ्ग.पद्ध. | शार्ङ्गधरपद्धतिः |
| माण्डू.उ. | माण्डूक्योपनिषत् | - | शिशुपालवधम् |
| - | माध्यन्दिनश्रुतिः | श्वेता.उ. | श्वेताश्वेतरोपनिषत् |
| मुण्ड.उ. | मुण्डकोपनिषत् | सुबा.उ. | सुबालोपनिषत् |
| मैत्रा.उ. | मैत्रायण्युपनिषत् | सुभा. | सुभाषितरत्नभाण्डागारम् |
| याज्ञ.स्मृ. | याज्ञवल्क्यस्मृतिः | सूर्य.उ. | सूर्योपनिषत् |
| रामा. | रामायणम् | - | स्कान्दे |
| - | रुद्रः | - | षाड्गुण्ये |
| - | लक्ष्मीतन्त्रे | - | हरिवंशे |
| वर.स्तवः | वरदराजस्तवः | हला.को. | हलायुधकोशः |
| - | वामने | - | हेमचन्द्रः |

* * * *

# श्रीमद्भागवतसप्तमस्कन्धीयानां अध्यायानां विषयानुक्रमणी


| अध्यायसंख्या | विषयः |
|---|---|
| १. | नारदयुधिष्ठिरसंवादारम्भः–जयविजययोः सनकादिशापाद्दैत्यजन्मप्राप्तिः। |
| २. | हिरण्यकशिपोः स्वभृत्येभ्यः प्रजापीडनार्थमादेशः पुत्रशोकाकुलाया दितेः स्वज्ञातीनां च सान्त्वनार्थमुपदेशश्च। |
| ३. | हिरण्यकशिपोस्तपसा तप्तानां देवानां प्रार्थनया ब्रह्मणा तस्मै वरदानम्। |
| ४. | हिरण्यकशिपोः शासनम्, प्रह्लादस्य जन्म, तद्गुणानां च वर्णनम्। |
| ५. | हिरण्यकशिपुप्रह्लादसंवादः प्रह्लादवधार्थे हिरण्यकशिपोः प्रयत्नः प्रह्लादस्य पुनर्गुरुगृहे स्थापनं च। |
| ६. | दैत्यबालकेभ्यः प्रह्लादस्योपदेशः। |
| ७. | मातुर्गर्भे स्थितस्य प्रह्लादस्य देवर्षिनारदमुखादुपदेशश्रवणम्। |
| ८. | प्रह्लादवधोद्यमः, स्तम्भात्नृसिंहावतारः, हिरण्यकशिपोर्वधः, ब्रह्मादिदेवकर्तृकं भगवत्स्तवनं च। |
| ९. | प्रह्लादकृतभगवत्स्तुतिः। |
| १०. | प्रह्लादनृसिंहसंवादः, प्रह्लादाय वरप्रदानं तस्य राज्येऽभिषेकः, भगवतोऽन्तर्धानं त्रिपुरदहनाख्यानं च। |
| ११. | नृणां सनातनो धर्मः, वर्णधर्माः, स्त्रीधर्माश्च। |
| १२. | ब्रह्मचर्यवानप्रस्थाश्रमयोर्धर्माः। |
| १३. | संन्यासधर्मवर्णनम्, अवधूतप्रह्लादसंवादश्च। |
| १४. | देशकालादिविशेषेण गृहस्थधर्मनिरूपणम्। |
| १५. | गृहस्थानां कृते मोक्षधर्मनिरूपणं नारदस्य स्वप्राग्जन्मवृत्तान्तकथनं च। |


* * * *

# श्रीमद्भागवतमहापुराणसप्तमस्कन्धस्थानां पञ्चदशाध्यायानां अध्यायार्थसङ्ग्रहश्लोकाः

तत्र तु प्रथमेऽध्याये हिरण्यकशिपोस्सुते।
विष्णुभक्ते विरोधस्तु विप्रशापज ईर्यते।।१।।

द्वितीये विष्णुरोषेण लोकं विप्लाव्य दानवैः।
तद्धतभ्रातृपुत्रादीनितिहासैरसान्त्वयत्।।२।।

तृतीये तस्य तपसा तप्तं वीक्ष्य जगद्विधिः।
आगत्य विस्मितस्तेन संस्तुतस्स वरानदात्।।३।।

चतुर्थे तु वरान् लब्ध्वा विजित्याखिललोकपान्।
विष्णुद्वेषेण तान् सर्वान् दैत्येन्द्रस्समपीडयत्।।४।।

पञ्चमे गुरुतोऽधीतं त्यक्त्वा विष्णुस्तुतौ रतम्।
घातयन् विषसर्पाद्यैस्सुतं दैत्यो न चाशकत्।।५।।

षष्ठे गुरौ गृहव्यग्रे प्रह्लादो दैत्यबालकान्।
अनुकम्प्यपरं तत्त्वं नारदोक्तमुपादिशत्।।६।।

सप्तमे मातृगर्भस्थे स्वस्मिन्नारदभाषितम्।
प्रह्लादो वर्णयामास शिष्यप्रत्ययसिद्धये।।
[अश्रावि नारदादेतन्मया गर्भ इतीरितुम् ।
तत्प्रस्तावकथामाह पदैष्षोडशभिस्सुधीः]।।७।।

अष्टमेऽतिरुषा सूनुं निघ्नन् दैत्यो हतस्स्वयम्।
आविर्भूय नृसिंहेन स च ब्रह्मादिभिस्स्तुतः।।

अन्तःकृपासुधापूर्णो बहिःक्रोधो नृकेसरी।
दैत्येन्द्रमरिभावेन भजन्तं समभावयत्।।८।।

नवमे ब्रह्मणा भीत्या चोदितोऽसुरबालकः।
कोपं प्रशमयन्नस्तौत्नृसिंहमतिभीषणम्।।९।।

दशमे त्वनुगृह्यामुं भक्तमन्तर्हिते हरौ।
प्रसङ्गाद्धरिणा रुद्रे कृतोऽनुग्रह ईर्यते।।१०।।

तदेवं दशभिर्ज्ञानभक्तियोगावुदीरितौ।
अथ पञ्चभिरध्यायैः कर्मयोगोऽनुवर्ण्यते।।

एकादशे नृणां धर्मास्साधारण्येन वर्णिताः।
विशेषेण च वर्णानां मुख्यामुख्याश्च योषिताम्।।११।।

द्वादशे वर्ण्यते धर्मो ब्रह्मचारिवनस्थयोः।
चतुर्णामाश्रमाणां च साधारण्येन कश्चन।।१२।।

त्रयोदशे यतेर्धर्मस्साधकस्योच्यते महान्।
अवधूतेतिहासेन सिद्धावस्था च वर्ण्यते।।१३।।

चतुर्दशे गृहस्थस्य परमो धर्म ईर्यते।
देशकालादिभेदेन पुंसश्श्रेयोविशेषकृत्।।१४।।

ततः पञ्चदशे सर्ववर्णाश्रमनिबन्धनम्।
सारतस्सङ्ग्रहेणाथ वर्ण्यते मोक्षलक्षणम्।।१५।।

* * * *

# श्रीमद्भागवतपाठविधिः

स्नातः शुचिर्भूत्वा प्राणानायम्य त्रिराचम्य च मङ्गलपाठपूर्वकं भगवन्तं प्रणमेत्। तदनु सञ्चितैः षोडशोपचारै र्मानसोपचारैर्वा व्यासं शुकं वासुदेवं श्रीमद्भागवतग्रन्थं च सादरं सविनयं सभक्तिभावं सम्पूजयेत्। ततः पाठारम्भात् प्राक् 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' इति द्वादशाक्षरमन्त्रम् 'ओं क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' इति गोपालमन्त्रं वाऽष्टोत्तरशतवारं जपेत्। पश्चादेवं विनियुञ्जीत-

## विनियोगः

ओं अस्य श्रीमद्भागवताख्यस्तोत्रमन्त्रस्य नारद ऋषिः, बृहती छन्दः, श्रीकृष्णः परमात्मा देवता, ब्रह्म बीजम्, भक्तिः शक्तिः ज्ञानवैराग्ये कीलकम्, मम श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थं पाठे विनियोगः।

## ऋष्यादिन्यासः

'नारदर्षये नमः' शिरसि। 'बृहतीच्छन्दसे नमः' मुखे। 'श्रीकृष्णपरमात्मदेवतायै नमः' हृदि। 'ब्रह्मबीजाय नमः' गुह्ये। 'भक्तिशक्तये नमः' पादयोः। 'ज्ञानवैराग्यकीलकाय नमः' नाभौ। श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थक-पाठविनियोगाय नमः सर्वाङ्गे। द्वादशाक्षरमन्त्रेण हृदयाद्यङ्गन्यासं करन्यासं च कुर्यात्। अथवाऽधोऽङ्कितरीत्या-ऽङ्गन्यासकरन्यासौ विदध्यात्-

## अङ्गन्यासः

ओं क्लां हृदयाय नमः। ओं क्लीं शिरसे स्वाहा। ओं क्लूं शिखायै वषट्। ओं क्लैं कवचाय हुम्। ओं क्लौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ओं क्लः अस्त्राय फट्।

## करन्यासः

ओं क्लां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ओं क्लीं तर्जनीभ्यां नमः। ओं क्लूं मध्यमाभ्यां नमः। ओं क्लैं अनामिकाभ्यां नमः। ओं क्लौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ओं क्लः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

## अथ ध्यानम्

कस्तूरीतिलकं ललाटफलके वक्षःस्थले कौस्तुभं नासाग्रे नवमौक्तिकं करतले वेणुं करे कङ्कणम्।
सर्वाङ्गे हरिचन्दनं च कलयन् कण्ठे च मुक्तावलिं गोपस्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपालचूडामणिः।।
अस्ति स्वस्तरुणीकराग्रविगलत्कल्पप्रसूनाप्लुतं वस्तु प्रस्तुतवेणुनादलहरीनिर्वाणनिर्व्याकुलम्।
स्रस्तस्रस्तनिबद्धनीविविलसद्गोपीसहस्रावृतं हस्तन्यस्तनतापवर्ग मखिलोदारं किशोराकृति।।

इत्येवं ध्यात्वा पाठमारभेत।

## श्रीमद्भागवतसप्ताहपारायणस्य दैनन्दिनविश्रामस्थलानि निम्नाङ्कितपद्येषु निरूपितानि

मनुकर्दमसंवादपर्यन्तं प्रथमेऽहनि। भरताख्यानपर्यन्तं द्वितीयेऽहनि वाचयेत्।
तृतीये दिवसे कुर्यात् सप्तमस्कन्धपूरणम्। कृष्णाविर्भावपर्यन्तं चतुर्थे दिवसे वदेत्।।
रुक्मिण्युद्वाहपर्यन्तं पञ्चमेऽहनि शस्यते। श्रीहंसाख्यानपर्यन्तं षष्ठेऽहनि वदेत्सुधीः।
सप्तमे तु दिने कुर्यात् पूर्तिं भागवतस्य वै। एवं निर्विघ्नतासिद्धि र्विपर्यय इतोऽन्यथा।।

हरिः ओम्

# श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

## सप्तमःस्कन्धः

ओं नमो भगवते वासुदेवाय

## प्रथमोऽध्यायः

राजोवाच[1-1]

समः प्रियः सुहृद्ब्रह्मन् भृतानां भगवान् स्वयम्।
इन्द्रस्यार्थे कथं दैत्यानवधीद्विषमो यथा।।१।।

नह्यस्यार्थः सुरगणैः साक्षान्निश्रेयसात्मनः।
नैवासुरेभ्यो विद्वेषो नोद्वेगश्चागुणस्य हि।।२।।

इति नः सुमहाभाग! नारायणगुणान् प्रति।
संशयस्सुमहाञ्जातस्तं[2] भवांश्छेत्तुमर्हति।।३।।

श्रीशुक उवाच

साधु पृष्टं महाभाग[3]! हरेश्चरितमद्भुतम्।
यद्भागवतमाहात्म्यं भगवद्भक्तिवर्धनम्।।४।।

### श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका।

स्वभक्तपक्षपातेन तद्विपक्षविदारणम्। नृसिंहमद्भुतं वन्दे परमानन्दविग्रहम्।।

ऊतिः पञ्चदशाध्यायैः सप्तमे वर्ण्यतेऽधुना। ऊतिश्च वासना प्रोक्ता तत्तत्कर्मानुसारिणी।।

---

1- -1 H.V,W Unit, 2 A.B.G,J,T °स्तद्भ° 3 A.B.G,J.M,Ma.T राजा

अशुभा च शुभा चेति द्विधा सा हेतुभेदतः। अशुभा महतां कोपाच्छुभा महदनुग्रहात्।।

हरेर्द्वारपयोर्यद्वद्वैकुण्ठे वसतोरपि। चतुः स न रुषा विष्णुद्वेषाद्यशुभवासना।।

यथा च दैत्यगर्भेऽपि प्रह्लादस्य सतः स्थिरा। नारदानुग्रहादास विष्णौ सद्भक्तिवासना।।

स्वभक्तञ्च सदा विष्णुर्द्विषन्तमपि रक्षति। तृतीयेऽथ भवेद्राः स्यावकरोदात्मसात्पुनः।।

अतो मनीषिणा यत्नः कार्या महदनुग्रहे। इत्येतदर्थमूर्तीनामत्र लक्षणमुच्यते।।

तत्रादौ दर्शाभिर्दैत्य तत्पुत्रमतिभेदतः। महत्कोपानुकम्पात्थवासनाभेद उच्यते।।

सद्वासना च युज्येत कर्मभिः शुद्धचेतसः। परैस्तु पञ्चभिस्तस्मात्क्रियते धर्मनिर्णयः।।

तत्र तु प्रथमेऽध्याये हिरण्यकशिपोः सुते। विष्णुभक्तेर्विरोधस्तु विप्रशापज ईर्यते।।

यदुक्तं पूर्वस्कन्धान्ते "हतपुत्रादितिः शक्रपार्ष्णिग्राहेण विष्णुना मन्युना शोक दीप्तेन ज्वलन्ती पर्यचिन्तयत्" (भाग. 4-18-23) इति तच्छ्रुत्वा विस्मितः परीक्षित्पृच्छति सम इति त्रिभिः। न हि समस्य सुहृदश्च वैषम्यं नामाऽस्ति, न च प्रियस्य प्रीतिकर्तृषु वैषम्यं युक्तमित्यर्थः।।१।।"

किञ्च। यस्य यैः प्रयोजनं सिध्यति स तत्पक्षपाती भवति। येभ्यो बिभेति तान् द्वेषेण हन्तिः न तु तदत्रास्तीत्याह-**न हीति**। निश्श्रेयसं परमानन्द एव आत्मा स्वरूपं यस्य। असुरेभ्यश्चोद्वेगो भयं नाऽस्ति। अतो विद्वेषोऽपि नास्त्यत्र। तत्र हेतुः अगुणस्येति। गुणाधीनौ[1] प्रीतिद्वेषावित्यर्थः[1]।।२।।

**इतीति**। श्रीनारायणस्य गुणान् अनुग्रह[2] निग्रहादीन्प्रति[3] तं संशयम्।।३।।

**साध्विति**। भागवतस्य प्रह्लादस्य माहात्म्यम्[4]।।४।।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्दिका

पूर्वस्मिन् स्कन्धे अष्टादशेऽध्याये "हतपुत्रादितिः शक्रपार्ष्णिग्राहेण विष्णुना" (भाग. 6-18-23) इति विष्णोरिन्द्र[5] पक्षपातित्वमुक्तम्। तत्र सर्वान्तरात्मनः सर्वभूतसुहृदो निरतिशयप्रियरूपस्य अवाप्तकामस्य निरस्तनिखिलदोषस्य परमकारुणिकस्य श्रीभगवतः कथं प्राकृतवद्वैषम्यनैर्घृण्यादिकम्? इति पृच्छति राजा **सम**

1- -1 H. V omit 2 H. V ग्रहादीन् 3 A,B,J add तत् 4 A,B,J add गायते इति सम्बन्धः। 5 A, B, °न्द्रस्य प° 6 A,B °स्मानिखिल

इत्यादिना त्रिभिः श्लोकैः[1]। यद्यपि तत्तज्जीव कर्मगुणानुगुण्येन अन्तरात्मतया नियन्तु र्न वैषम्यादि दोषप्रसक्तिरिति तत्र तत्र बहुवारमुक्तमिति न शङ्कावकाशः। तथाऽपि तत्र तत्र प्रसंगादुक्तमेव तद्दृढयितुम[2]। किं गुणानां कर्मणां च प्रत्येकं सुखदुःखादि निमित्तत्वं, उत समुच्चितानाम्, अथवा कर्मणामेव निमित्तत्वं, गुणानां तु तद्धेतुत्वम्, उत गुणानामेव तन्निमित्तत्वं कर्मणां तु गुणोपचयापचयादि निमित्तत्वमित्यादिशङ्कापरिहारान् श्रोतुं च प्रश्नः सम इति। हे ब्रह्मन्! भगवान् पूर्णषाड्गुण्यो निरस्तनिखिलदोषश्च अनेनाप्तकामत्वं सूचितम्। तत एव स्वप्रयोजन निरपेक्षत्वं च, समः निरस्तनिखिल दोषत्वादेव द्वेष्य-प्रिय-विभागरहितः स हि रागद्वेषादिमूलकः तदभावात्सम इति भावः। किञ्च सर्वभूतानां देवादीनां चासुरादीनां च सुहृद्धितैषी आत्मत्वादिति भावः न ह्यात्मनः किञ्चिच्छरीरं हितं अन्यदहितमात्मत्वादेव च निरतिशयप्रियः एवम्भूतः स्वयं साक्षादेवेन्द्रस्यार्थे प्रयोजनाय कथं दैत्यानवधीत् हतवान्, यथा विषमो रागद्वेषादिप्राकृतगुणयुक्तः तद्वत्।।१।।

साक्षान्निश्श्रेयसात्मनः पुरुषार्थस्वरूपस्य निरतिशयानन्दरूपस्येत्यर्थः। अस्य भगवतः सुरगणः इन्द्रादिभिर्नेद्यार्थः तदनुगृहीतेन्द्रादिभिः साध्यः कश्चित्पुरुषार्थो न तस्यास्ति, स्वयमेव साक्षान्निश्श्रेयसात्मत्वादिति[3] भावः। तथा असुरेभ्य उद्वेगो भयं तेषु विद्वेषश्च[4] नास्त्येव तत्र हेतुं वदन् तं विशिनष्टि अगुणस्येति। हि यस्मादगुणस्य सत्त्वादिगुणतन्मूलकरागद्वेषभयरहितस्य।।२।।

इतीत्थं हे महाभाग! निर्गुणस्य[5] श्रीनारायणस्य गुणान्प्रति गुणविषयको महान् संशयो जातो वर्तते। तद्गुणास्तु समत्वादयः, चेष्टा तु गुणाननुगुणेत्येतत्संशयात्मकमज्ञानं[6] छेत्तुमपोहितुं भवानेवार्हति[7] नान्य इत्यर्थः[7]।।३।।

एवमापृष्टो मुनिस्तावद्राज्ञः प्रश्नमभिनन्दति-साध्विति। हे महाराज! अद्भुतं प्राकृतचेष्टासजातीयत्वेन चिन्तयितुमशक्यं हरेश्चरितं प्रति साधु पृष्टं हरिचरित्रविषयकसंशयोद्घाटनरूपत्वात् प्रश्नः साधीयानित्यर्थः। साधुत्वमेव प्रश्नस्य स्पष्टयितुं चरित्रं[8] विशिनष्टि-यदिति। यद्धरेश्चरितं भागवतानां माहात्म्यं यस्मिन् तादृशम्, अस्त्वेवं, ततः किं तत्राह, भगवद्भक्तिं वर्धयतीति भगवद्भक्तिवर्धनं, भगवद्भक्तेर्वर्धनं वृद्धिर्यस्मादिति वा भागवतमाहात्म्येन भगवद्भक्तिवर्धकेन युक्तत्वात् भगवच्चरित्रस्य तद्विषयकः प्रश्नः साधुरिति भावः।।४।।

---

1 W omits श्लोकैः 2 A,B,T तद्दृ° 3 W °दित्यर्थः। 4 W omits च 5 W omits निर्गुणस्य 6 W °क ज्ञान 7 -7 W omits

8 W °तं

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

षष्ठस्कन्धाभिधे तीर्थे स्नातः सप्तमनाम्नयथ। श्रीमद्भागवते स्नातुं प्रयते तत्त्वसंविदे।।

सेवा येषामपवर्गगतिर्जगताममलास्ते- श्रीमद्विष्ण्वङ्घ्रि सरोरुहयुगले भ्रमन्तः।

सन्तः कुर्वन्तु दयां मयि विजयध्वजतीर्थे नित्यानित्याभ्यस्तादितिजाङ्घ्रितनुनखतीर्थ सुतीर्थे।।

सन्ततवेदान्तपरिनिष्ठितानामपि श्रीनारायणपरमप्रसादमन्तरेणानापादित समीचीन ज्ञानामृतकलानां क्वचित्क्वचिदसुरजनमोहाय प्रदर्शित शुक्रशोणितसम्पर्कादिभिरिव भगवतः प्रादुर्भावैस्तत्त्वे संशयालूनां सतां विसंशयार्थं श्रीनृसिंहावतारः तत्प्रसत्तये नानाविधवर्णाश्रमाचारभेदविचारस्तत्पूजाप्रकारश्च निरूप्यतेऽस्मिन् स्कन्धे, तदर्थं परीक्षित्प्रश्नपूर्वकमुपोद्घातं रचयति सम इति। यो भगवान् भूतानां योग्यतातिरेकेण पक्षपरिग्रहशून्यः आत्मादेः प्रियश्च "तदेतत्प्रेयः" (बृह.उ.1-4-8) इति श्रुतेः। सत्तादिप्रदत्तत्वात् तैः अनुष्ठित समर्चनादि सुकृतस्य सुखलक्षणफलदातृत्वेनोपकर्तृत्वाच्च सुहृत्। किमत इति तत्राह स्वयमिति। स स्वयं विषम इव इन्द्रस्यार्थे स्वप्रयोजनमन्तरेण परप्रयोजनार्थं कथं दैत्यानवधीत् इत्यन्वयः।।१।।

ननु सुरगणैः क्रियमाणस्य स्वप्रयोजनस्य सम्भवादवधीदिति किं नस्यादिति तत्राह-नहीति। हि शब्दो हेत्वर्थः। कुतो नास्तीत्यत्राह-निश्रेयसात्मन इति, नित्यनिर्दुःखानन्दस्वरूपस्य तादृशत्वं मुक्तस्याप्यस्तीति तत्राह-साक्षादिति। नित्यनिर्दुःखानन्दानुभवस्वरूपस्य परप्राप्यप्रयोजनाभावान्मुक्तस्य तदभावात्, ननु असुरप्रद्वेषात्सुरहितं क्रियत इति तत्राह-नैवेति। विद्वेषश्च तत्तत्स्वरूपद्योतनायासुरेभ्य इति पञ्चमी "वृक्षात्पर्णं पतति" इतिवत्कादाचित्कत्वाभावान्नित्ये द्वेषे वधानुपपत्तिः। अन्यथा वधस्यापि सन्ततानुवृत्तिः स्यादतो नोपपत्तिः स्यादिति भावः। स्वाभिभवलक्षणभयात् तद्वध इति तत्राह-नेति, उद्वेगो भयलक्षणं कुत इत्यत उक्तम्-अगुणस्येति "प्राकृतगुणसम्बद्धस्य तादृक्स्वभावत्वाद्धरेस्तदभावान्निर्गुणश्च" इति श्रुतेः। अनेन निश्रेयसात्मनोऽपि गुणसम्बन्धेन जीववत्तथात्वं स्यादिति शङ्काऽपि निरस्तेति ज्ञायते।।२,३।।

प्रामाणिकत्वद्योतनाय प्रश्नं स्तौति साध्विति। तत्र हरिचरिते भागवतानां माहात्म्यं भगवद्भक्तिवर्धनमित्यनेन तन्माहात्म्यं भगवन्माहात्म्याविनाभूतं इत्यवगन्तव्यम्।।४।।

**गीयते परमं पुण्य मृषिभिर्नारदादिभिः।**

**नत्वा कृष्णाय मुनये कथयिष्ये हरेः कथाम्।।५।।**

***जिह्वां लब्ध्वाऽपि यो विष्णुं कीर्तनीयं न कीर्तयेत्।**

**लब्ध्वाऽपि मोक्षनिश्रेणिं स नारोहति दुर्मतिः।।क।।**

**तस्माद्गोविन्दमाहात्म्यमानन्दरससुन्दरम्।**

**शृणुयात्कीर्तयेन्नित्यं सकृतार्थो न संशयः।।ख।।**

**तस्मादिमां कथां पुण्यां गोविन्दचरणाश्रिताम्।**

**महापुण्यप्रदां यस्मात्शृणुष्व नृपसत्तम।।ग।।**

**निर्गुणोऽपि ह्यजोऽव्यक्तो भगवान् प्रकृतेः परः।**

**स्वमायागुणमाविश्य बाध्यबाधकतां गतः।।६।।**

**सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः।**

**न तेषां युगपद्राजन् ह्रास उल्लास एव वा[1]।।७।।**

**जयकाले तु सत्त्वस्य देवर्षीन् रजसोऽसुरान्[2]**

**तमसो यक्षरक्षांसि तत्कालानुगुणोऽभजत्[3]।।८।।**

**श्रीध०** गीयते इति। कृष्णाय व्यासाय। मुनये[4] नत्वा व्यासमुनिं नमस्कृत्येत्यर्थः। अत्र आर्षत्वात् द्वितीयार्थे चतुर्थी।।५।।

**निर्गुण** इति। यस्मात्प्रकृतेः परः अतो निर्गुणोऽतएवाजोऽतएवाऽव्यक्तो रागद्वेषादिर्निमित्तभूत देहेन्द्रियादि रहितोऽपि स्वस्य मायागुणं सत्त्वादिकमाविश्याऽधिष्ठाय बाध्यान्प्रति बाधकत्वम्[5]। यद्वा, देवासुराणां परम्परं या बाध्यबाधकता तां गतः प्राप्तः। तत्र हेतुर्जात इत्यर्थः।।६।।

* "जिह्वा" आरभ्य "नृपसत्तम!" पर्यन्त श्लोका. 'B' प्रकाशे एव लक्ष्यन्त। 1- -1 M,Ma उन्नाह एव च 2 H, V ° मा° 3 M,Ma "न।

4- -4 A, B, J कृष्णं मुनि नत्वेत्यर्थः। 5- -5 A,B, J omit

तत्र गुणानां स्वीयत्वे सति प्राकृतपुरुषवद्विषमः स्यात् न[1] तु तदस्तीत्याह[1] - सत्त्वमिति। ननु स्वेच्छया गुणाधिष्ठानेनापि पक्षपाते[2] सति वैषम्यं स्यादेव। न तस्य कालकृतत्वादित्याह न तेषामिति साधेन। उल्लासो वृद्धिः।।७।।

**जयेति**। सत्त्वस्य जयकाले देवादीन् ऋषींश्च अभजत्। तत्तद्देहं प्रविश्य वर्धयतीत्यर्थः। रजसो जयकाले सुरान्[3]। तमसो जयकाले यक्षरक्षांसि[3] तस्य कालस्यानुगुणस्सन्।।८।।

**वीर०** अतः तत्परमं पुण्यं अतीव पुण्यतमं चरित्रं नारदादिभिः ऋषिभिः गीयते। यतः त्वत्प्रश्नः साधुः ततोऽहं कृष्णाय व्यासाय मुनये नत्वा हरेः कथां कथयिष्ये हरिगुणविषयक संशयरूपत्वात्त्वत्प्रश्नस्य[4] तद्गुणवर्णनरूप कथाकथनेनैवोत्तरयामीत्यभिप्रायेण कथां कथयिष्ये इत्युक्तम्।।५।।

एवं कथाकाथनं प्रतिज्ञाय अथ सत्त्वादिगुणोद्भवाभिभावादिना देवादीनां जयपराजयौ सत्त्वादिगुणाश्च तत्तज्जीवकर्मायत्तोद्भवाभिभववन्तः प्रसिद्धाः "कर्मवश्या गुणा ह्येते सत्त्वाद्याः पृथिवीपते" (विष्णु. पु. 2-13-70) इत्यादिभिः। अतः सर्वान्तरात्मतया[5] अवस्थाय तत्तद्भोक्तृ-कर्मानुगुणं गुणान् प्रेरयतः ईश्वरस्य न वैषम्यादिकर्मेति परिहरति-निर्गुणोऽपीति। निर्गुणः हेयगुणरहितः रागद्वेषादिरहित् इत्यर्थः। अव्यक्तः प्रमाणान्तराणामगोचरः अनेन प्रत्यक्षादि प्रमाणगोचर रागद्वेषादि हेयगुणयुक्त प्राकृतवैलक्षण्यम् उक्तम्, अत एव हि अजः कर्मायत्तोत्पत्त्यादि रहितः भगवान् पूर्णषाड्गुण्यः प्रकृतेः परः "भूमिरापोऽनलो वायुः" (भगी. 7-4) "अपरेयमितस्त्वन्याम्"(भगी. 7-5) इत्युक्त चिदचिदात्मक प्रकृतिद्वयाद्विलक्षणः। अपिशब्देनैवंविधस्य वैषम्याद्यनर्हता सूच्यते। यद्यप्येवं विधः तथापि स्वमायागुणमाविश्य स्वांशभूतां गुणविशिष्टां प्रकृतिमाविश्येत्यर्थः। आवेशश्चात्र प्रेरणपर्यन्तः। "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्" (तैत्ति. उ. 3-11) इति श्रुतेः। ईरयतीति वक्ष्यमाणत्वाच्च बाध्यबाधकतां गतः बाध्यबाधक देवासुरवर्गयोरन्तरात्मतया तत्तच्छरीरकत्वेनावस्थित इत्यर्थः। गुणकर्मानुगुण-प्रेर्यमाणशरीरभृत देवासुरवर्गगतो बाध्यबाधकभावः, न प्रकृति द्वयविलक्षण तदात्मभूत परमात्मगतः। यथा, देहादिगतावस्थाः नात्मगतास्तथेति भावः।।६।।

एतदेव प्रपञ्चयितुं तावद्गुणानां प्रकृतेरेव सम्बन्धित्वं तेषां तत्तज्जीवकर्मानुसारेण परिणामस्वभावत्वं चाह-**सत्त्वमिति**। सत्त्वादयः प्रकृतेरेव गुणाः, नत्वात्मनः, परमात्मनः परमात्मशरीरभूतप्रकृति स्वरूपगताः न तु

1- -1 A,B,J तत्तु नास्ती° 2 A,B,J पात वे° 3- -3 B यक्षरक्षांसि, H, V इत्यन्वयः। 4 A,B,T °त्वात्प्र° 5. A,B,T °न्चा°

परमात्मस्वरूपगता इत्यर्थः। तेषां सत्त्वादीनां सर्वेषां ह्रासोऽभिभवः उल्लास उद्भवश्च युगपन्न भवति। किन्तु तत्तत्कर्मपरिपाककालानुगणं कदाचित्कस्यचिद्ध्रासः कदाचिदुल्लासश्च भवतीत्यर्थः।।७।।

ततः कथं वैषम्यपरिहारः? इत्यत आह **जयकाले त्विति**। सत्त्वस्य जयकाले उत्कर्षकाले कर्मायत्त सत्त्वगुणोपचयकाले इत्यर्थः। देवानृषींश्चाभजत्तदनुग्राहको भवति रजसो जयकाले इत्यनुषङ्गः, असुरानभजत्, तमसो जयकाले तु यक्षान् रक्षांसि च तत्कालानुगुणस्तत्तत्कर्म विपाककालानुगुणोऽभजत्। अयं भावः-"गुणप्रवाह पतितो भूतवर्गोऽपि यात्ययम्। (विष्णु. पु. 2-13-69) कर्मवश्या गुणा ह्येते सत्त्वाद्याः पृथिवीपते" (विष्णु. पु. 2-13-70) इति भगवत्पराशरवचनात्, सत्त्वादिगुणानां तत्तज्जीवकर्मविपाककालानुगुणह्रासोल्लासरूपपरिणाम स्वभावत्वं[1] सिद्धम्। "आत्यन्तिकेन सत्त्वेन दिवं देवाः प्रपेदिरे। धरां रजःस्वभावेन" (भाग. 3-6-28) इत्याद्युक्तरीत्या देवादीनां स्वस्वकर्मायत्तसत्त्वादिगुणप्राचुर्यञ्च प्रसिद्धम्। सत्त्वादिगुणानामुल्लासः सुखदुःखमोहाद्यापादक इति भगवता गीतम्-"ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत। लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमःस्पृहा। रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन। अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च। तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे पुरुषर्षभ।" (भ.गी. 14-11-12, 13) इति। ईश्वरस्य तु सर्वान्तरात्मत्वं बहुप्रमाणप्रतिपन्नम्। एवं सति एतदुक्तं भवति, सर्वान्तरात्मतयाऽवस्थित ईश्वरः सर्वदा कस्यचिदेव विजयं कस्यचित्सर्वदा पराजयं च न प्रतिदर्शात, अपि तु तत्तद्देवादिकर्मपरिपाककालानुगुणसत्त्वादिगुणोद्भवकालेषु देवादीनां विजयं प्रतिदिशति, अन्येषां तु पराजयम्, सत्त्वाद्युद्भवाभिभवयोश्च कर्माधीनत्वात्तदनुरूप-प्रवृत्तेः ईश्वरस्य न वैषम्यमिति। ननु, कर्मपरिपाककालानुगुणोल्लास सुखकरसत्त्वोपचयदशायां तद्गुणप्रचुराणां देवादीनां जयमावहतीति युक्तम्, इदन्त्वयुक्तम्, रजस्तमसोरुपचयदशायां असुररक्षादीन् भजत इति। तदुपचयस्य दुःखमोहादिफलकत्वेन पराजयाद्यावहत्त्वादुच्यते रजस्तमसोरुल्ला-सकालेऽसुरादीन् भजतीत्यस्य तेषां जयमावहतीति नाऽर्थः। अपि तु रजस्तमसोरुल्लासफलभूत दुःखमोहादिनिमित्त पराजयादिकमावहतीति, एवञ्च यदैव सुरादीनामपि स्वकर्मविशेषपरिपाकानुगुणं सत्त्वोल्लासस्तदा जयं प्रदिशत्यन्यदा तु पराजयम्, एवं देवादीनामपि कर्मविशेषपरिपाकानुगुणसत्त्वोद्रेकदशायां जयं, तेषामेव पुनः कर्मविशेषपरिपा-कानुगुण रजस्तमसोरुल्लासे सति दुःखादिकरं पराजयादिकमिति। इयांस्तु विशेषः देवदीनां पुण्यकर्मणां सत्त्वप्रचुरत्वात्प्रायशः तस्यैवोल्लासात्प्रायशो विजयः कादाचित्कः पराजयः। असुरादीनां त्वपुण्येन रजस्तमःप्रचुरत्वात् तयोरेव प्रायश उल्लासात्, प्रायशः पराजयः कादाचित्को विजय इति।

1 A,B,T प्राचुर्यञ्च प्रसि°

**विज०** प्रश्नप्रतिवचनं भगवदनुग्रहमन्तरेण सुवचं न स्यादिति प्रकटनाय भगवन्तं प्रसाद्य वक्तव्यार्थं प्रतिजानीते नत्वेति।।५।।

हरेः हन्तृत्वधर्मो न घटत इति वदन् लोकेष्वेकत्वादुत तद्विलक्षणत्वादिति वावदीषि समत्वादि धर्मोपन्यासानुपपत्तेः न प्रथमः, अघटितघटकशक्तिमत्वेन सर्वस्योपपत्तेः, द्वितीयो युक्त एवेति भावेनाह निर्गुण इति, अयं भावः। भगवान् स्वमायागुणं स्वेच्छागुणं अनुसृत्य स्वाधीनप्रकृतिगुणनिर्मितदेवासुरदेहं वाऽऽविश्य तत्र स्थित्वा बहिश्च नृसिंहादिप्रादुर्भावरूपेणासुरादिबाधकतां असुरादिबाध्यवस्तुषु नियामकत्वेन स्थित्वा बाध्यतां गतो भवति किमत्र मानमितीयं शङ्का "बाध्यादिस्थो हरिर्नित्यं बाध्यतादिगतेत्यपि गीयते। ननु बाध्यत्वाद्य दोषयुतत्वतः" (भविष्यत्पर्वणि) इति भविष्यत्पर्ववचनेन परिहर्तव्येति, हि शब्देन "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम" ब्र.सू. (2-1-33) इति सूत्राल्लीलां प्रयोजयति निर्गुणत्वादिकं वैलक्षण्ये लिंगमिति ज्ञापनाय प्रयुक्तं पुरुषाणां गुणदोषानुसारेण रक्षाद्यभावेन समत्वादिकमपि न युज्यत इति प्रदर्शानायापिशब्दः। तर्हि कुतो विविच्य न ज्ञायत इत्यतोऽव्यक्त इति- "दधिस्थघृतवत्काष्ठे वह्निवच्च जनार्दनः। देहेन्द्रियासु जीवेभ्यो विविच्य ज्ञायते नतु" (भविष्यत्पर्वणि) इति। अतो विविच्याऽज्ञानं युक्तम्।।६।।

स्वमायागुणमाविश्येत्युक्तं विवृणोति-सत्त्वमित्यादिना। प्रकृतेः स्वरूपभूता आत्मनः परमात्मनो ज्ञानादिवत्र स्वरूपभूताः किन्त्वधीनाः जीवस्यापि अभिमानादेव गुणानां भिन्न स्वभावत्वाद्युगपत्प्रवृत्यनुपपत्तेरित्यतः। शक्तिप्रकटनप्रकारं दर्शयति न तेषामिति। ह्रासोऽनुद्भूतत्वमुन्नाह उद्भूतत्वं क्षयवृद्धिक्रमेणेति परिहारः।।७।।

तं क्रमं विविनक्ति-जयेति। सत्त्वस्य जयकाले उन्नाहविषये देवर्षीन् भजन्नानाभातीत्यन्वयः। रजस उन्नाहविषये असुरान् वर्धयन् तमस उन्नाहविषये यक्षादीन वर्धयन्नेवं गुणानां शक्तिं जृम्भयतीत्यर्थः।। तत्रापीत्थं भावोऽस्तीत्याऽऽह-तत्कालेति,तत्तत्कालानुगुणमनुसृत्य वर्तमानः।।८।।

**ज्योतिरादिरिवाभाति संङ्घातात्र विविच्यते।**
**विदन्त्यात्मानमात्मस्थं मथित्वा कवयोऽन्ततः।।९।।**

**यदा सिसृक्षुः पुर[1] आत्मनः परो रजः सृजत्येष पृथक् स्वमायया।**
**सत्त्वं विचित्रासु रिरंसुरीश्वरः शयिष्यमाणस्तम ईरयत्यसौ।।१०।।**

1 H V परमा०

**कालं चरन्तं सृजतीश आश्रयं[1] प्रधानपुम्भ्यां नरदेव सत्यकृत् ।**

*** स तत्र तत्रोभय सिद्धिमाप्नुयात् लिङ्गात्मनो लिङ्गगुणाश्च सन्ति।**

**य एष राजन्नपि काल ईशिता सत्त्वं सुरानीकमिवैधयत्यजः[2] ।**

**तत्प्रत्यनीकानसुरान् सुरप्रियो रजस्तमस्कान् प्रमिणोत्युरुश्रवाः ।। ११।।**

**♦ स वा पुनः स्वसृष्टस्य स्थिति रक्षानुवृत्तये ।**

**सत्त्वं सुरगणान् विष्णुरुपबृंहयते मुहुः ।। (११-क)**

**अत्रैवोदाहृतः पुण्यः[3] इतिहासः सुरर्षिणा।**

**प्रीत्या महाक्रतौ राजन्। पृच्छतेऽ[4]जातशत्रवे।। १२।।**

**श्रीध० ज्योतिरिति।** समस्यापि निमित्तभेदेन वैषम्ये दृष्टान्तः, ज्योतिरादिरिव ज्योतिरग्रियथा काष्ठादिषु, जलं यथा पात्रेषु, आकाशो यथा घटादिषु तथा भगवान्नानारूप[5] आभाति। ननु तर्हि तद्वदेव विवेकेन किं न प्रतीयते तत्राह-सङ्घातात्सुरादिदेहान्न विविच्यते न पृथक् प्रतीयते। तर्हि तान् भजतीति, कुतो जायते तत्राह विदन्तीति। आत्मस्थं परमात्मानं कवयो निपुणाः मथित्वा कार्यकारणलिङ्गदर्शनेन[6-6] विचार्य जानन्ति। अन्ततः स्वभावकर्मादि[7] वादनिषेधेन। विदन्तीति पाठे लाभोऽपि ज्ञानमेव। अत्रापि ज्योतिरादिरेवेति दृष्टव्य, यथा सूर्यकान्तादौ दाहदर्शनाज्ज्योति र्ज्ञायते, यथाच गन्धदर्शनाद्वायुरित्यादि।।९।।

तदेवं मायागुणवशेन एतद्वैषम्यं न स्वाभाविकमित्युक्तम्। तर्हि गुणपारतन्त्र्यादनीश्वर-त्वमाशङ्क्याह-**यदेति।** यदा आत्मनो जीवस्य भोगाय पुरः शरीराणि परः परमेश्वरः सिसृक्षुः भवति तदा साम्येन स्थितं रज पृथक् सृजति। विचित्रासु तासु पूर्षु रिरंसुः क्रीडितुमिच्छुः[8] सत्त्वं पृथक्सृजति। शयिष्यमाणः संहारप्यन्[9] तम. पृथगीरयति प्रेरयति। आधिक्यं[10-10] नयतीत्यर्थः।।१०।।

---

1 M, Ma य: *An additional half verse is found, only in B, H, M, Ma, V Editions and the same commented by Vija only

2 A, B, G, J, T °तः ♦This extra verse is found in M, Ma Editions and commented by Vija only with (11 on) 3 A B G J, M, Ma, T पूर्वम्, 4 H, V °तं हत° 5. H,V omit भगवान् 6- -6 A, B J कार्यदर्शनलिङ्गेन 7 A, B, J add काल 8 A,B J add यदा तदा

9 A,B,J add यदा तदा 10- -10 H, V omit

यदा सिसृक्षुरित्यादिनिर्देशात्प्रतीतं कालपारतन्त्र्यं वारयन् प्रधानपुरुषपारतन्त्र्यमपि वारयति-**कालमिति** हे नरदेव! प्रधानपुम्भ्यां[1] प्रकृतिपुरुषाभ्यां[1] निमित्तभूताभ्यां सत्यकृदमोघकर्ता ईशः[2] ईश्वरः तयोः सहकारित्वेन आश्रयभूतं चरन्तं वर्तमानं कालं स्वयमेव सृजति। स्वचेष्टारूपत्वात्कालस्य न तत्पारतन्त्र्यमित्यर्थः। तथापि प्रस्तुते किमायातं, तत्राह-य एष कालः सत्त्वमेधयति वर्धयत्यतो हेतोः ईशिताऽपीश्वरोऽपि सत्त्वप्रधानं सुरानीकं देवसमूहं एधयतीव, तत्प्रत्यनीकानसुरान् सुरप्रतिपक्षान् प्रमिणोति हिनस्ति चेत्यन्वयः। उरु प्रभृतं[3] श्रवः कीर्तिर्यस्य सः। कालशक्तिं क्षुभितगुणगतवैषम्यमिह[4] सन्निधिमात्रेण तदाधिष्ठातरि स्फुरतीति[5] प्रकरणार्थः। कल्पतरुस्वभावत्वात् न वैषम्यमिति मुख्यः परिहारः तत्र तत्र उक्त एव।।११।।

**इदानीं** तयोर्न सुरपक्षपातेन वधः किन्तु ब्रह्मशापेनासुरीं योनिं प्राप्तयोरनुग्रहार्थमेवेति[6] वक्तुं इतिहासमुपक्षिपति-**अत्रैवेति।** अत्र द्वेषादिरहितस्यापि दैत्यवधे नारदेनेतिहासः प्रस्तावितः[7]।।१२।।

**वीरः** "स्वमायागुणमाविश्य बाध्यबाधकतां गतः" (भाग. 7-1-6) इत्यनेन तत्तद्बाध्यबाधकेषु देवासुरादिवर्गेषु ईश्वरस्यानुप्रवेश उक्तः कथमनुप्रविष्टो विज्ञायत इत्यपेक्षायां तत्तदनुप्रवेशे अनुप्रविष्टस्य विविच्य प्रष्टुमशक्यत्वे सम्यगुपायेन विवेचनीयत्वे च दृष्टान्तमाह-**ज्योतिरिति**। काष्ठादिषु ज्योतिः प्रभृतिवस्तुवत् अनुप्रविष्टोऽप्याभाति तद्गतदोषाऽस्पृष्टः प्रकाशते। "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" (मुण्ड.उ. 3-1-1-श्वेता.उ 4-6) इति श्रुतेरिति भावः। संघातात्काष्ठादिसंघातादिव देहेन्द्रिय भोक्तृवर्गरूपसङ्घातात् न विविच्यते प्रकृतिपुरुषेश्वर तत्त्वयाथात्म्यविद्भिः प्रकृतिपुरुषाभ्यां विलक्षणत्वेन न ज्ञायत इत्यर्थः। कवयः तत्त्वत्रययाथात्म्यविदस्तु आत्मस्थं जीवात्मनि स्थितं "य आत्मनि तिष्ठन् (बृह. उ. 3-7-22) यो विज्ञाने तिष्ठन्" (बृह.उ. 3-7-22) इति श्रुतेः। आत्मानं परमात्मानं मथित्वा विवेकपूर्वकं तद्भक्तियोगमभ्यस्येत्यर्थः। अन्ततोऽनेकजन्मावसाने विदन्ति साक्षात्कुर्वन्ति स्वमायागुणमाविश्येत्यनेन प्रेरणपर्यन्तानुप्रवेशोऽभिसंहितः।।९।।

तदेव गुणप्रेरकत्वं विवृणोति-**यदेति**। एष परः पुरुषो भगवान् यदा स्वमायया स्वसङ्कल्परूपज्ञानेन प्रकृत्या वा आत्मनो जीवस्य, जात्यभिप्रायकमेकवचनम् आत्मनामित्यर्थः। पुरः शरीराणि सिसृक्षुः स्रष्टुमिच्छुः तदा रजः सृजति प्रेरयतीत्यर्थः। तमः ईरयतीत्यनेन ऐकार्थ्यात् यदा सृष्ट्यनन्तरं विचित्रासु पूर्षु देहेषु रिरंसुः

---

1- -1 A, B, J omit 2 A, B, J omit ईश्वरः 3 H, V omit प्रभृतं 4 H, V omit इह 5 A omits स्फुरतीति 6. A, B, J ण्यैवेति 7- -7 H,V omit

रन्तुमिच्छु , रिरक्षिषु रित्यर्थ । तदा सत्त्व सृजति, यदा चेश्वर शयिष्यमाण उपसञ्जिहीर्षु तदाऽसा परमपुरुषस्तम ईरयति।।१०।।

अथ तदा[1] तत्कालानुगुणोऽभजदिति सूचित कालप्रेरकत्व विवृणोति- **कालमिति**। ह नरदव। इश परमात्मा चरन्त प्रवर्तमानमाश्रय स्वव्याप्यतया शरीरभूत काल सृजति निमेषकाष्ठाद्यवस्थ करोति। एव काल सृष्ट्वा प्रधानपुरुषाभ्या चिदचित्समष्टिभ्या सत्त्यकृत् सत चिद्धष्टि , त्यत् अचिद्धष्टि तदुभय करोति इति तथा। सत्त्यच्छब्दयो चिदचिद्धष्टयो प्रयोग "तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्" (तेति उ 2-6) इत्यादिश्रुता प्रसिद्ध तथा सत्त्यच्छब्दयो तत्परत्वे श्रुति । "अथ यद्देवेभ्य प्राणभ्यश्य तत्सत्, अथ यद्देवा प्राणाश्च तत्त्य तदकया वाचा समभिव्याहियते सत्यमिति" इति देवा देवाधिष्ठितानीन्द्रियाणि तेभ्य पर तत्सस्पृष्टश्चेतन सत दवाद्यचिद्धष्टिस्तत्य तदेतदुभय सत्त्यमित्येकया वाचा एकशब्देन समभिव्याहियते बोध्यत इति तदथ । एवमीश्वरस्य तत्तज्जीवकर्मपरिपाकानुगुणकालप्रेरकत्व उक्तम्, तच्चात्मत्वन तदनुप्रवेशपूर्वकमिति च, ईश्वराधीन काला दवादीना तत्तत्कर्मपरिपाकानुगुणसत्त्वादिगुणवृद्धि हेतुरिति वदन सर्वान्तरात्मतया देवादिकमानुगण गुणान प्रेरयतो नेश्वरस्य वेषम्यमित्युत्तरमुपसहरति-य इति। हे राजन। तत[2] कर्मानुगुण्येन ईश्वरस्य गुणकालप्रेरकत्वात य एष गुणप्रेरक काल कालशरीरक तत्प्रेरकश्चेशिता ईश्वर सत्त्व कर्मपरिपाकायत्त कालकृतान्[3]मष सत्त्वगुण प्रचुर सुरानीकमिव सुरानीकमेव "इव शब्दोऽवधारणे" वर्धयति तस्येव जयमावहतीत्यर्थ । तद्वृद्ध तत्प्रतिपक्ष क्षपणपूर्वकत्वात्सुराणा प्रियस्सन् तत्प्रत्यनीकान् सुरानीकप्रतिपक्षरूपान् रजस्तम प्रचुरान् प्रमिणोति विनाशयति उरुश्रवा विपुलकीर्ति असुरानीकविनाशनेन वेषम्यादिसम्भावनया नापकीर्तिमानीश्वर , किन्तु विपुलतमकीर्तिमान[4] इत्यर्थ ।।११।।

एव सर्वभूतसुहृद समस्येश्वरस्य देवासुरादिजयापजयहेतुत्वेऽपि कर्मानुगुण्याद्वैषम्याभाव उक्त । इदानी तस्य सर्वभूतसुहृत्त्वे इतिहास दर्शयति **अत्रेति**। अत्रेव तस्य सवभूतसुहृत्व एव, हे राजन। महाक्रता राजसय प्रीत्या अत्यादरेण पृच्छते अजातशत्रवे युधिष्ठिराय सुरर्षिणा नारदन इतिहास उदाहृत ।।१२।।

**विज०** इममर्थ अनुभाविक करोति-**ज्योतिरादिरिति**। अयमर्थ ज्योतिरादीरिति उत्तरायणादिकालादि गुण केषाञ्चित्फलाना उन्नाह केषाञ्चित् ह्रास कुर्वन् यथा सत्त्वादिजयादिविषये उन्नाहादिकालमनुवतमाना भाति

1 W Omits तदा 2 W अत 3 A B T कृतगुणान्मे° 4 W adds एव

तथेति कथमव्यक्तत्वं हरेरिति तत्राह- संघातादिति, देहेन्द्रियादि कार्यकारणसंघातान्न विविच्यते पृथग्भूतो न ज्ञायते अत्रापि इदमेवोदाहरणं ज्योतिरादि घृतादि द्रव्यं दध्यादिभ्यो मथनात्पूर्वं न विविच्यते पृथग्भूतं न ज्ञायते न प्रतीयते तथात्माऽपीति भावः। "तेजोऽसितं त्रेधा विधीयते (छान्दो.उ. 6-5-3)" इतिश्रुतेः। घृतस्य ज्योतिश्शब्दाभिधेयत्वं प्रामाणिकं "दधिस्थघृतवत्काष्ठे वह्निवच्य जनार्दनः" (भविष्यत्पर्वणि) इत्यादेश्च, ननु, यदि केनचित् देहादिव्यतिरिक्तत्वेनाऽयं ज्ञायते तर्हि दधिस्थघृतवदित्यादि निदर्शयितुं शक्यं[1], तदेवकृत इत्याह- विदन्तीति। कवयः ब्रह्मादयः शास्त्रेण मथित्वा ततो निर्णीयात्मस्थं देहादिस्थं आत्मानं विदन्ति जानन्ति किञ्चान्ततश्चरमनाशे विदन्ति लभन्ते "लभनिषत्तौ" इति धातोः नितरां प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। अनेन कवीनां ज्ञानमस्मिन्नर्थे प्रमाणमुक्तं भवति।।९।।

देहादेः विविक्तत्वेन ज्ञानं कस्मान्नोत्पद्यत इति आशङ्क्य सृष्ट शरीरेषु जीववत्प्रतिष्ठत्वान्नर्द्विषयं ज्ञानमित्यभिप्रेत्याह-यदा सिसृक्षुरिति। यदा परमात्मा आत्मनोऽर्थे निवासाय पुरः शरीराणि सिसृक्षुः स्रष्टुमिच्छति तदा गुणवैषम्यन्यायेन स्वेच्छया नियतो रजोगुणमुपादाय महदहङ्कारपञ्चमहाभूतानि सृष्ट्वा तैः पृथक् तत्तद्योग्य तानुसारेण शरीराणि सृजति। यदा च ईश्वरः तासु सुरनरतिर्यक्संज्ञितासु पुरीषु रिरंसुः जीवगतस्वादृष्ट योग्यतामनुसृत्य सुखादिकमुत्पाद्य तत्साक्षित्वेन क्रीडितुमिच्छति तदास्थितिहेतुत्वात्सत्त्वगुणं उपादत्ते। यदा शयिष्यमाणो योगनिद्रां चिकीर्षति तदाऽसौ तमोगुणमीरयति तच्छक्तिं उद्बुम्भयति।।१०।।

किञ्च, चरन्तमतीतानागतवर्तमानभेदेन वर्तमानं कालं सृजतीत्यर्थः। ईश आश्रय इत्येताभ्यां पदाभ्यां सर्जनसामर्थ्यं सूचयति विजयध्वजेनाधिकः पाठः, व्याख्या च अधिका अत्र प्रमाणमाह-सत्यकर्दात, सत्यं मीमांसाशास्त्रं तस्य कर्ता। इदानीं स्वसृष्टानामन्तःशयनप्रकारमाह-स तत्रेति, तत्र तत्र देहेषु स्थितं उभयसिद्धि महति वस्तुनि महत्परिमाणं महासामर्थ्यप्रकटनमणुपरिमाण मणुसामर्थ्यं वाऽप्रुयात् "अणोरणीयान्महतो महीयान्" (कठ.उ. 2-20) इति श्रुतेः, अत्रेदं लिङ्गात्मनो लिङ्गगुणाश्च सन्तीति निदर्शनम्। चशब्द एवार्थे, यथा लिङ्गं शरीरस्थानीयं काष्ठं व्याप्य तिष्ठन्नग्निलिङ्गात्मेत्युच्यते तस्याग्नेः लिङ्गस्य काष्ठस्य गुणाः महत्त्वाणुत्वलक्षणाः सन्ति महति काष्ठे महान् अणुनि काष्ठे अणुरग्निरिति "लिङ्गं शरीरे चिह्ने च साधने शेफभस्मनि" इत्यभिधानम्। ननु सृष्टौ प्रवर्तमानेश्वरस्य निरपेक्षत्वात् स्वातन्त्र्येण किञ्चित्कारणापेक्षासम्भवः तदनपेक्षत्वे मृद्दण्डादेरिव शक्त्यभावेन

1 Ma पार्यते

कार्यसामग्र्यभाव इति तत्राह-लिङ्गात्मन इति। लिङ्गात्मनः प्रधानादेः कारणस्य ये लिङ्गगुणाः कार्यजनकशक्तिलक्षणाः सन्ति ते च लिङ्गात्मनः शरीरस्वामिनो हरेः सन्ति विद्यमानास्तदधीनत्वादिति द्विरावृत्त्या योजनीयं "द्रव्यं कर्मच कालश्च" (भाग. 2-10-12) इत्यादेः। यद्वा, लिङ्गस्य प्रधानादेः गुणाः कार्यापादनशक्तिलक्षणाः। लिङ्गात्मनः पूर्णद्वात्रिंशल्लक्षणस्वरूपस्य हरेः सन्ति तेषां स्वरूपाभिन्नत्वद्योतनाय च शब्दः। ऊर्णनाभिस्तुरीवेमादि विना स्वरूपभूतलीलयैव यथा जालं करोति तथाऽयमित्यर्थपरो वा प्रधानसृष्टिर्ब्रह्मणोऽस्तु अवान्तरसृष्टिः अवान्तरकारणात्स्यात् कुलालादेः दृष्टत्वादित्यतोवाह-स इति। तत्र तत्र कार्यकारणेषु प्रातिस्विकेषु स्थित्वोभयसिद्धिं जगत्कारणस्य जनकत्वलक्षणं कार्यस्य जन्यत्वफलं प्रापयति उभयोः शक्त्योः एतदधीनत्वादित्याह-लिङ्गात्मन इति, लिङ्गात्मनो मृदादेः लिङ्गगुणाः कार्यजननशक्तयः सन्ति ते चानेन नियता इति शेषः। लिङ्गात्मनः कार्यस्य ये लिङ्गगगुणाः पृथुबुध्नोदराकारादि लक्षणाः सन्ति ते च "तत्र तत्रान्वितो विष्णुस्तत्तच्छक्तिप्रबोधकः" इत्यादेः। अनेन बाध्यबाधकतां गत इत्येतत्स्पष्टी कृतम्। तथा हि तत्र तत्र देवासुरेषु उभयसिद्धिं जयपराजयलक्षणां कार्यसिद्धिं प्राप्नोति शिरस्त्राणवर्मादिलक्षणं वहतो भटस्य ये लिङ्गगुणाः शौर्यादिलक्षणा जयापजयौ वा ते च हर्यधीनाः "सवै बलं बलिनां चापरेषाम्" (भाग. 7-8-8) इत्यादेः। अत्र सर्वस्य हर्यधीनत्वदर्शनाय प्राधानपुम्भ्यां कार्यकारणाभ्यां कालं सृजतीत्यङ्गीकारे प्रधानपुरुषावन्तरेण कालसृष्ट्यशक्तिः हरेः प्रकटितास्यादित्यन्यथा प्रतीतिनिरासायाचार्यैः ताभ्यां सहेति व्याख्यातम्।

नन्वत्र साम्यगुणाधिकरणस्य हरेर्वैषम्याधिकरणत्वं कथमित्यस्य प्रश्नस्य परिहारः कथं स्फुटमायात इत्याशङ्क्य स्वतो देवप्रियत्वमसुराप्रियत्वं मनुष्याणामुभयत्वमेव समत्वं तत्तद्योग्यतावतां तेषामन्यथा तदतिलङ्घने त्वदभिमतवैषम्यप्राप्ति साम्यहानी स्यातामित्याशयवानाह- य एष इति। य एष हरिः काले कालविषयेऽपि ईशिता कालस्यापि प्रवर्तनसमर्थः प्रधानपुरुषयोरीशितृत्वं किं वक्तव्यमित्यपि पदम्ँ स विष्णुः सुरानीकमिव स्थितं सत्त्वमेधयति सत्वस्य देहादिकारणत्वात् सत्त्वगुणप्रधानान् देवान् समेधयतीत्यर्थः। रजस्तमस्कान् रजस्तमस्स्वभावान् तत्प्रत्यनीकान् तेषां सुराणां शत्रुभूतान् असुरान् प्रमिणोति निहन्ति मिञ् हिंसायाम् इति धातुः। सुरप्रिय इत्यनेन असुराणामप्रियो मनुष्याणामुभयात्मकः स्वभावत इति ध्वनितम्। तदुक्तम्-स्वभावतः प्रियत्त्वात्तु सदा देवप्रियो हरिः। अप्रियश्चासुराणां स स्वभावत्तूभयं नृणाम् (ब्रह्मतर्के) इति। सत्त्वमेधयति इत्यनेन या सुखयोग्यता। रजस्तमस्कानित्यनेन यावदयोग्यता, ये च देहेन्द्रियादेः कारणभूतास्त्रयोगुणाः, यश्च गुणानामुन्नाहकरः कालः, यच्च तेषां त्रयाणां गुणानां पुण्यपापोभयलक्षणं कर्म, यच्च मूलकारणभूतं प्रकृतिपुरुषस्वरूपं, यच्च

भक्त्यादिकमेतत्सर्वमवेक्ष्य देवानां भक्त्यादिगुणानितरेषां द्वेषादि दोषान् मनुष्याणामुभयात्मकमुत्पाद्य सुखासुखजयापजयजननमरणादिफलदातृत्वेन सम इत्युक्तम्। तदुक्तं "देशकालौ गुणांश्चैव भक्त्यादीनप्यवेक्ष्यत। योग्यतां च तथा कर्म सम इत्यभिधीयते।। स्वतः प्रियोऽपि देवानां उत्पाद्यैव गुणानिमान्। इतरेषां तथा दोषान् सुखदुःखे ददात्यजः।। उभयं तु मनुष्याणामतस्सम इतीरितः।।" (ब्रह्मतर्के) इति। ननु सुरादिषु स्थितानां गुणदोषाणां तत्तत्कालीनत्वेन उत्तरकाले नाशसम्भवेन अनित्यत्वे नियमो न स्यादित्याशंक्य शास्त्रावाहितत्वात् नियमोऽस्त्येवेति आशयवानाह-उरुश्रवा इति, उरु बहुश्रूयत इत्युरुश्रवाः शास्त्रं नियमप्रतिपादकं यस्य स तथा, तदप्युक्तम्- "अनादिनियताश्चैव गुणदोषाः सुरादिषु। यथाक्रमं पुनश्चैव नियमा द्वर्धितास्तथा।।" "विष्णुनैव ततोनित्यं विषमश्च जनार्दनः" (ब्रह्मतर्के) इति। नियमाद्वर्धिताः तथेत्येतत्कुत्र प्रमाणीक्रियते इत्यस्य उरुश्रवा इत्यत्रेति वक्तव्यम्। उरुवर्धनलक्षणं श्रवो यस्य स तथेत्यर्थः। ननु, वैषम्यं तदवस्थमेवाभूदिति चेन्न, योग्यतानिमित्तत्वात्। तदुक्तम्- "न विष्णोर्विषमत्वं तु योग्यतापेक्षया क्वचित्" (स्कान्दे) इति। हेरेर्योग्यता नियत्या यत् आगच्छद्वैषम्यलक्षणं उरुश्रवः तदा तदस्तु विहितत्वात् अत उक्तं उरुश्रवा इति तदप्युक्तं "योग्यतायास्तन्नियत्या विषमत्वं भवेदिति" (स्कान्दे) नन्वेवं तर्हि क्वापि वैषम्यं नेत्यापन्नमिति चेदुच्यते शुभाशुभयोर्विपर्यये शुभवतां अशुभकर्म अशुभवतां असुराणां शुभकर्मानुसृतफलदाने सति विषमत्वंविष्णोः दोषाय स्यादिति यदतस्तत्तद्योग्यताबलर्विहितशुभाशुभोभय कर्मानुसारेण तत्तत्फलस्य विकर्मेन्द्रियार्थे अशुभकर्म दैत्यबल लक्षणस्य दानेन ईश्वरवैषम्यमित्यत उरुश्रवा इति। जयस्तम्भकल्पनाम हरेर्युक्तम् "इन्द्रस्यार्थे कथं दैत्यानवधीद्विषमो यथा" (भाग. 7-1-1) इत्यादिप्रश्नपरिहार इति सिद्धम् "विषमत्वं तु दोषाय शुभाशुभविपर्यये। अतस्तादृशवैषम्यं ब्रह्मसूत्रे निराकृतम्।। शुभाशुभानियन्तृत्वं न दोषो गुण एव सः। अतस्तदिष्टं कृष्णस्य ब्रह्मसूत्रकृतो विभोः" (तन्त्रनिर्णये) इति वचनात।। ११।।

सुरप्रिय इत्येतद्विवृणोति सवा इति। अयमर्थः सत्त्वं सत्त्वगुणसम्पन्नान् मुहुरनुयुगमुपबृंहयते सम्यक् वर्धयति किं कारणमत्राह-पुनरिति। स्वेन सृष्टस्य जगतः पुनः पुनः स्थितिरक्षानुवृत्तये स्थितिपालनयोः प्रवर्तनार्थं वा इत्यनेन सृष्ट्यादि ह्यष्टकमपि हरेरेवेति दर्शयति-यदा सिसृक्षुरित्यनेन यः प्रस्तुतस्तं स इति तच्छब्देन परामृशति तत्रापि ईश्वरशब्देन रुद्र उपक्रान्त इति भ्रान्तिनिवारणाय विष्णुरिति यद्वा यत्र क्वापि रुद्रादुत्सर्जनादिकं प्रतीयते तदपि तत्स्थ हरिणेति प्रकटनाय विष्णुरिति।। (११-क)

सुरप्रिय इत्येतदितिहासेन दर्शयति-अत्रेति। सुरप्रिय एव नासुरप्रियो हरिरिति अन्ययोगव्यवच्छेदार्थः एवशब्दः।।१२।।

दृष्ट्वा महाद्भुतं राजा राजसूये महाक्रतौ।
वासुदेवे भगवति सायुज्यं चेदिभूभुजः।।१३।।

तत्रासीनं सुरऋषिं राजा पाण्डुसुतः क्रतौ।
पप्रच्छ विस्मितमना मुनीनामुपशृण्वताम्[1]।।१४।।

युधिष्ठिर उवाच

अहो अत्यद्भुतं ह्येतद्दुर्लभैकान्तिनामपि।
वासुदेवे परे तत्त्वे प्राप्तिश्चैद्यस्य विद्विषः।।१५।।

एतद्वेदितुमिच्छामः सर्व एव वयं मुने।
भगवन्निन्दया वेनो द्विजैस्तमसि पातितः।।१६।।

दमघोषसुतः पाप आरभ्य कलभाषणात्।
सम्प्रत्यमर्षी गोविन्दे दन्तवक्त्रश्च दुर्मतिः।।१७।।

शपतो रसकृद्विष्णुं यद्ब्रह्म पदमव्ययम्[2]।
श्वित्रो न जातो जिह्वायां नान्धं विविशतुस्तमः[3-3]।।१८।।

कथं तस्मिन् भगवति दुरवग्राह्यधामनि[4]।
पश्यतां सर्वलोकानां लयमीयतुरञ्जसा।।१९।।

इति[5] भ्राम्यति मे बुद्धिर्दीप्तार्चिरिव वायुना।
ब्रूह्येतदद्भुततमं भगवन्नत्र[6] कारणम्।।२०।।

**श्रीध०** **दृष्ट्वेति**। चेदिभूभुजः शिशुपालस्य।।१३,१४।।

**अहो इति**। एकान्तभक्तानामपि दुर्लभा प्राप्तिर्विद्विषो जातेत्येतदत्यद्भुतं हि।।१५।।

**एतदिति**। तस्य तु वेनवन्नरकपात एवोचित इत्याह-भगवन्निन्दयेति तमसि नरके।।१६।।

---

1 A,B,G,J,M,Ma,To नां शृण्वतामिदम् 2 A,B,G,J,M,Ma,T परं° 3- -3 H,V चात्यविशत्रमः 4 A,B,G,J,T °ह° 5 A,B,G,J,M,Ma T एतत्
6 A,B,G,J,T °वांस्तत्र

**दमघोषेति।** दमघोषस्य सुतः शिशुपालः कलभाषणाद्बाल्ये कोमलभाषणमारभ्य सम्प्रत्यधुनाऽप्यमर्षी क्रोधी मत्सरी वा।।१७।।

**शपत** इति। श्वित्रः श्वेतकुष्ठम्।।१८।।

**कथमिति।** दुरवग्राहं दुष्प्रापं धाम स्वरूपं यस्य तस्मिन् लयं सायुज्यं ईयतुः जग्मतुः। अभूतस्यापि दन्तवक्त्रलयस्य तज्ज्ञातकप्रामाण्येन सिद्धवन्निर्देशः।।१९।।

**इतीति।** एतदद्भुततमं हि[1] अत एव बुद्धिः[1]भ्राम्यति। भगवान् सर्वज्ञ स्त्वं ब्रूहि।।२०।।

**वीर०** प्रश्नं तन्निमित्तं च विवृणोति-**दृष्ट्वेति।** राजसूयाख्ये महाक्रतौ चेदिभूभुजः शिशुपालस्य भगवताछिन्न शिरसः वासुदेवे भगवति श्रीकृष्णे सायुज्यं संश्लेषं महाद्भुतं दृष्ट्वा विस्मितचित्तः पाण्डुसुतो राजा युधिष्ठिरः तत्र क्रतौ क्रतुसभायामासीनं[2] उपविष्टं देवर्षिं[3] नारदं मुनीनां शृण्वतां सतां इदं वक्ष्यमाणं पप्रच्छ पृष्टवान्।।१३, १४।।

तदेवाह-**अहो**[4] इति षड्भिः, अहो एतदत्यद्भुतम्। तदद्भुतत्वे हेतुः, एकान्तिनामनन्यप्रयोजनेन भगवन्तं भजतामपि दुर्लभं, किं तत्? परे तत्त्वे प्रकृतिपुरुष विलक्षणेश्वरतत्त्वरूपे श्रीकृष्णे विद्विषः चैद्यस्य प्राप्तिरित्येतत्।।१५।।

हे मुने! नारद! एतत्सर्वे वयं वेदितुमिच्छामः केनापि भावेन भगवन्तं स्मरतां तत्प्राप्तिर्भवत्येव किमत्राचित्रं, तत्राह-भगवन्निन्दयेति। वेनः पृथोः पिता भगवन्निन्दयैव निन्दामात्रेण हेतुना तमसि नरके द्विजैः ऋषिभिः पातितः।।१६।।

दमघोषसुतश्चैद्यस्तु कलभाषणात् बाल्यमधुरभाषणादारभ्य बाल्यादारभ्येत्यर्थः। सम्प्रति एतत्कालपर्यन्तं गोविन्दे श्रीकृष्णे अमर्षी क्रोधी। अतोऽयं नितरां पापात्मा तथा दन्तवक्त्रोऽपि दुरात्मा।।१७।।

अनयोः परब्रह्मभूतं निर्विकारं श्रीकृष्णं असकृच्छपतोः शिशुपालदन्तवक्त्रयोः जिह्वायां श्वित्रः श्वेतकुष्ठरोगो वापि न जातः नाप्येतावन्धं तमोनरकमपि विविशतुः, किन्तु भगवन्तमेव विविशतुः।।१८।।

अतः सर्वलोकानां पश्यतां सतां दुरवग्राह्यधामनि दुरवगमज्योतिर्मयस्वरूपे भगवत्यञ्जसा अनायासेन तत्प्राप्तिसाधनानुष्ठानमन्तरेणेत्यर्थः। कथं लयमीयतुः? भगवत्सायुज्यं कथं प्रापतुरित्यर्थः।।१९।।

इतीत्थं वायुना दीपशिखेव मम[5] बुद्धिः भ्राम्यति हे भगवन्। एतन्महदद्भुतं अतोऽत्र कारणं ब्रूहि[6]।।२०।।

1- -1A,B,J एतत्प्रति मे धीः 2 A,B,T यज्ञ 3 W सुरर्षि 4 W इत्यादिना 5 W omits मम 6 A,B,T add इति

**विज०** एक एव अन्तो निर्णयो येषामस्तीति भक्तिरेव पुरुषार्थसाधनं नाऽन्यत्कर्मादिकमिति; निर्णयवतां विष्णुरेव मुमुक्षुभिर्निषेव्य इति निश्चयवतां वा।।१३-१५।।

श्रीहरिनिन्दनं सतां कर्णशूलायमानमप्येतच्छ्रोतुं तच्चित्रमित्याशयवानाह-भगवन्निन्दयेति।।१६,१७।।

श्वित्रः श्वेतकुष्ठम्।।१८।।

दुरवग्राह्यं दुर्ज्ञेयं धाम स्वरूपं यस्य स तथा तस्मिन्, लयं सायुज्यलक्षणम्, ननु "अत्युत्कटैः पुण्यपापैरिहैव फलमश्नुते" इति वचनात् श्वित्रो न जात इत्यादिवाक्यं कथं सङ्गच्छते? भगवद्द्वेषिणोऽपि बहुविधाः तत्र केचिन्मरणानन्तरं पापफलं भुञ्जते, केचिदत्रैव, तत्कुतः? इति चेन्न। "नियमाद्भुज्यते पुम्भिर्धर्माधर्मफलं मृतौ। कैश्चिदत्रापि भुज्येत तस्मान्नाधर्ममाचरेत्" (भारते) इति वचनात्। अनेन धर्मिणोऽपि व्याख्याताः, धर्मा स्वर्गं, विधर्मा निरयमिति च। अत्र कश्चिद्विशेषोऽप्यस्ति। जयविजययोः सात्त्विकत्वेन भक्तत्वेन हरेरतिप्रियत्वात् सनकादिशापादसुरजन्मन्यपि क्वचिद्भक्त्यलोपात् द्वेषफलभोक्तुरन्यत्वाच्च द्वेषस्य पापिष्ठासुरत्वादनयोरुपचरितत्वाच्च। अनेन स्वापराधनाश लक्षणानुग्रहपात्रत्वेन प्रतिज्ञातशपथत्वेन च हरेः सुरप्रियत्वं च विशदमभूदिति रहस्यम्।।१९,२०।।

**श्रीशुक उवाच**

**राज़स्तद्वच आकर्ण्य नारदो भगवान् ऋषिः।**
**तुष्टः प्राह तमाभाष्य शृण्वत्यास्संसदः कथाः[1-1]।।२१।।**

**नारद उवाच**

**निन्दन स्तव सत्कार न्यक्कारार्थं कलेबरम्।**
**प्रधानपरयोराजन्नविवेकेन कल्पितम्।।२२।।**

**हिंसा तदभिमानेन दण्डपारुष्ययोर्यथा।**
**वैषम्यमिह भूतानां ममाऽहमिति पार्थिव।।२३।।**

**यन्निबन्धोऽभिमानोऽयं[2] तद्वधात्प्राणिनां वधः।**
**तथा न यस्य कैवल्यादभिमानोऽखिलात्मनः।**
**परस्य[3] दमकर्तुर्हि हिंसा केनाऽस्य कल्प्यते।।२४।।**

---

1- -1 A,B,G,J,T शृण्वत्यास्तत्सदः कथाः, H,V शृण्वन्त्याः संसदः कथाः, M,Ma शृण्वत्यास्सदसः कथाम् 2. A,B,G,J,T बद्धो 3 M,Ma °स्यदम°

**श्रीध॰ राज्ञ** इति। आभाष्य [1]सम्बोध्य सम्यक् सीदन्ति अस्यामिति संसत् सभा तस्याः[-1] शृण्वन्त्याः[2] सत्याः कथाः प्राहेत्यन्वयः।।२१।।

अहो भगवन्निन्दकस्य नरकपातेन भाव्यमिति वदतस्तव कोऽभिप्रायः भगवत्पीडाकरत्वेन वा तदभावेऽपि सुरापानादिवन्निषिद्धनिन्द्याचरणाद्वा तत्र तावद्देहाभिमानकृतनिन्दादिनिमित्तत्वात् पीडादीनां भगवतश्च तदभावान्न पीडाशंकास्तीत्याह-**निन्दनेति** सार्धैस्त्रिभिः। निन्दनं दोषकीर्तनम्। न्यक्कारस्तिरस्कारः। निन्दन स्तुत्यादिज्ञानार्थं प्रधानपुरुषयोरविवेकेन कलेबरं कल्पितं रचितम्।।२२।।

**हिंसेति**। तदभिमानेन भूतानां यथा ममाहमिति वैषम्यं तत्कृतं हिंसादिकं च भवति तथा न यस्येत्युत्तरेणान्वयः। दण्डस्ताडनं, पारुष्यं निन्दा, तयोर्हेतुभूतयोः हिंसा पीडा च भवति।।२३।।

**यदिति**। यस्मिन्निबन्धोऽयमभिमानस्तस्य देहस्य वधाद्वधश्च यथा तथा यस्याभिमानो नास्ति अतोऽस्य[3] परमेश्वरस्य हिंसा केन हेतुना कल्प्यते न केनापीति। अभिमानाभावे हेतुः, कैवल्यादद्वितीयत्वेन अभिमन्तव्याभावात्। वैषम्याभावे हेतुः-अखिलात्मनः सर्वात्मनः इति। तर्हि किमिति हन्ति दैत्यांस्तत्राह-परस्य दमकर्तुः हितार्थं दण्डं कुर्वत इत्यर्थः।।२४।।

**वीर॰** इत्थमापृष्टो नारदः प्राहेत्याह मुनिः **राज्ञ** इति। राज्ञो युधिष्ठिरस्य तत्प्रश्नरूपं वचः श्रुत्वा भगवान् ऋषिः नारदस्तुष्टः समीचीन-प्रश्नेन हृष्टः सदसः सभायाः शृण्वत्याः[4] सत्याः तं युधिष्ठिरमाभाष्य स्ववचः श्रवणाभिमुखं कृत्वा कथां प्रश्नपरिहाररूपां कथां प्राह।।२१।।

तामेवाह-**निन्दनमित्यादिना** दशभिरध्यायैः। अस्य प्रश्नस्य मुख्यं उत्तरं वक्तुं तावत्, संसारि चेतनानामिवेश्वरस्य देहात्माभिमानप्रयुक्तस्तुतिनिन्दाद्यभिमानित्वं नास्तीति चेद्यस्य मुक्तिं ददाविति कंचित्परिहारमाह-निन्दनेति, हे राजन्! निन्दनं दोषकथनं, स्तवो गुणकथनं, सत्कारश्चन्दनलेपादिः, न्यक्कारः पांसुक्षेपणादिरेषामर्थो विषयः कलेवरं प्रधानशब्दो देहावस्थप्रधानवचनः परशब्दो देहात्परजीववचनः तयोरविवेकेन परस्परविलक्षणत्वविषयकं ज्ञानाभावेन देहात्माभिमानेनेति यावत् तेनाऽविवेकेन हेतुना कल्पितं कलेवरस्य निन्दनादिविषयत्वमविवेककृतं, न तु स्वतो जडत्वात्, नहि काष्ठं चन्दनलेपादिरूपसत्कारादिकं मन्यते इति तावन्निर्विवादमित्यर्थः।।२२।।

---

1- -1 A,B,J सीदन्ति निषीदन्ति अस्यामिति सद सभा तस्याः सदः सदस. 2 B,J शृण्वत्याः 3 A,B,J °बद्धो 4 A,B,T °न्त्या

एवं स्थिते हे पार्थिव ! यथेह संसारे भूतानां देहात्माभिमानिनां देवमनुष्यादीनां ममाहमिति वैषम्यं, ममेयं निन्दा निन्दितोऽहमिति अभिमानरूपवैषम्यं, तदभिमानेन ममेयं निन्देत्यभिमानेन दण्डपारुष्ययोर्निमित्तयो हिंसा च स्यात् दण्डः ताडनं पारुष्यं निन्दनं परेण दण्डपारुष्ययोः कृतयोः सतोः तत्प्रयुक्तो ममेयं निन्दा,निन्दितोऽहं ममायंदण्डो दण्डितोहमित्येवं रूपो नानाविधोऽभिमानस्तत्प्रयुक्तं परेषु निन्दादिकारिषु हिंसाचरणं च यथा लोकानां दृश्यते न तथा यस्येत्युत्तरेणान्वयः। देहविषयमपि दण्डपारुष्यादिकं परकृतं देहात्माभिमानेनात्मगतं मत्वा तदभिमानेन परेषु हिंसा स्यादित्यनेन यथा हिंसाकारिषु दण्डपारुष्यादिकं देहगतमेव नत्वात्मगतम्, देहात्मनोः अविवेकेन त्वात्मगतं मन्यते तथा हिंस्यमानेष्वपि हिंसा च देहगतैव नत्वात्मगता, देहात्माभिमानान् हिंसितोऽहमित्यभिमान इति सूचितम्।।२३।।

तदेवस्पष्टमाह-**यन्निबन्ध** इति। अयमभिमानो दण्डितानां निन्दितानां[1] च लोकानां यथा दण्डितोऽहं निन्दितोऽहमित्याद्यभिमानः[2] यन्निबन्धो यद्धेतुको देहहेतुक इत्यर्थः। देहात्माभिमानस्य देहहेतुकत्वाद्देहात्माभिमान हेतुको दण्डितोऽहमित्याद्यभिमानोऽपि[3] देहहेतुक एवेत्यभिप्रायेण यन्निबन्धोऽभिमानोऽयमित्युक्तम्[4]। एवं तद्वधा-द्धन्यमानेषु तस्य देहस्य वधादेव प्राणिनां देहात्माभिमानिनां वधः देहगत एव वधः नत्वात्मगतो देहात्माभिमानान् हतोऽहमित्यभिमान इत्यर्थः। एवं संसारिणां निन्दनादिकं सर्वं देहात्माभिमान कृतमित्युक्तम्। अथ उक्तार्थं विपर्ययमीश्वरे दर्शयति-तथेति[5]। यथा संसारिणां देहात्माभिमानस्तन्मूलको निन्दितोऽहमित्याद्यभिमानश्च यस्येश्वरस्य नास्ति तस्यास्य अभिमानप्रयुक्ता परेषु हिंसा केन हेतुनावकल्प्यते इत्यन्वयः। अभिमानाभावे हेतुः अखिलात्मन इति। अखिलस्य[6] जगतः आत्मत्वादभिमानो नास्तीत्यर्थः। ननु आत्मत्वेऽपि तस्य जीववदभिमानः स्यादेव तत्राह-कैवल्यादिति। निरस्तनिखिलदोषत्वादित्यर्थः। "अनृतेन हि प्रत्यूढाः" (छादो. उ. 8-3-2) इति श्रुत्युक्तरीत्या जीवानामनादिपुण्यपापात्मककर्ममूलको हि देहात्माभिमानः तस्य तु परमपुरुषस्य सर्वान्तरात्मनो निरस्तनिखिल-कर्मवश्यत्वादि दोषत्वादभिमानाभाव इति भावः। निन्दितोऽहमित्याद्यभिमान एव नास्ति किम्पुनस्तत्प्रयुक्तं परेषु निन्दकेषु हिंसादिकरणं नास्तीत्याऽऽह हिंसा केनास्य- कल्प्यत इति। अस्य निन्दनादिना प्रयुक्ताभिमानरहितस्य हिंसा निन्दककर्मिका केन हेतुना कल्प्यते हिंसाहेतोरभिमानस्याभावाद्धेत्वन्तरस्यादर्शनात् सा नास्त्येवेत्यर्थः। ननु, कथमुच्यतेऽभिमानस्तत्प्रयुक्ता हिंसा च तस्य नास्तीति, यतोऽस्मदादि समक्षमेव निन्दकं चैद्यं हतवानित्यशङ्कां

1 A,B,T omit निन्दितानां 2 A,B,T°त्यभि° 3 A,B,T °त्यभि° 4 A,B T omit अपि 5 A,B,T विषयमी 6 A,B,T सकलजगदात्म

निराकुर्वन्नीश्वरं विशिनष्टि-परस्य दमकर्तुर्हीति। परस्य निन्दकादेः दमकर्तुः शिक्षाकर्तुः परस्य हितार्थमेव दण्डं कुर्वत इत्यर्थः। शिक्षया परस्मै हिताचरणं च चैद्यस्य निहीनां[1] आसुरीं योनिं परिहाप्य निरतिशयपुरुषार्थस्वरूप स्वप्रापणेन इदानीमेव अस्मदादिभिः अपरोक्षं दृष्टमिति भावः। एवं देहात्माभिमानाभावात्परमपुरुषस्य संसारिणामिव स्तुतिनिन्दाद्यभिमानित्वराहित्यमुक्तम् एवञ्च निरभिमानत्वात् चैद्यस्य मुक्तिं ददौ इति कश्चित्परिहारः।।२४।।

**विज०** देहाद्यभिमानवतः स्तव-निन्दनादिना मनः खेदहर्षादिसम्भवेन क्रोधादिकं स्याद्धरेस्तदभावा-न्निन्दनादिनावशेषानुदयात् स्वतोनित्यतृप्तत्वेन परप्राप्य प्रयोजनाभावात् तत्तद्योग्यतानुसारेण तत्तत्फलदातृत्वं युक्तमित्यादिकं वक्तुमुपक्रमते-**निन्दनेति।** निन्दनं दोषसंकीर्तनं, स्तवः स्तुतिर्गुणलक्षणा, सत्कारः कायिकपूजा, न्यक्कारः कायिकावज्ञा तेषां निन्दनादीनामर्थं विषयभूतं कलेबरं प्रधानपरयोः प्रधानाद्देहेन्द्रियाद्यात्मकात् परस्य जीवस्य अविवेकेनाभेदेन कल्पितं स्वतश्चिदानन्दस्य प्रकृतेरनात्मनो भेदाग्रहादिदं जडशरीरं क्लृप्तमित्यर्थः।।२१,२२।।

ततः किं फलतीति तत्राह-**हिंसेति**। तदभिमानेन देहाभिमानेन भूतानामविवेक ज्ञानिनां ममाहमिति इह देहे हिंसाताडनलक्षणा दण्डपारुष्ययोर्निमित्तयोः वैषम्यं विषमावस्था फलतीत्यर्थः।।२३।।

ततश्च किं तत्राह-**यन्निबन्ध** इति। ममाहमित्यभिमानो यन्निबन्धः यस्मिन् देहे निबद्धः तद्बधात्तस्य देहस्य वधात् हिंसादिलक्षणात् प्राणिनां चेतनानां वध इत्युपचारः इति यत्तस्मान्निन्दनादिकं देहस्यैव फलति, नात्मनः, तस्य निष्फलमित्याशयः। यथा जीवस्य ममाहमिति देहाभिमानादनर्थ परम्परा तथा हरेरपि देहस्थत्वाविशेषात्साम्यात्किं नेत्याह-तथेति। अखिलात्मनः अखण्डस्वामिनो यस्य न तथा जीववद्देहाभिमानो नास्ति, कुतः कैवल्यात् देहाद्यभावादेव। ननु, प्रकृत्यात्मकस्य देहस्याभावो हेतुः क्रियते सच्चिदानान्दात्मकदेहस्य वेत्येतयोः इदमेवोत्तरं प्रकृत्यात्मकदेहादेरभावात् प्रकृति प्राकृत वैकृत मिश्रविरहित सच्चिदानन्दात्मकदेहसद्भावात् स देहः सुखगन्धश्चेत्यादेः।। अस्य प्रत्ययात्मनः इदमेषा हिंसा केन निमित्तेनास्तीति कल्प्यते निमित्ताभावान्नैमित्तिकाभाव इत्यर्थः। अन्यस्मिन् हिंसादिकर्तरि सति हरेर्हिंसादिकमस्तीति कल्पयितुं शक्यते, स च नास्तीत्याशयेनोक्तम्-अकर्तुरिति, तस्यान्यः कर्ता न विद्यत इत्यकर्ता, तस्य हि शब्देन यद्यस्याऽऽयुधादिना प्रहर्ता दृश्यते तत्फलं दृश्यते तत्फलं छेदादिकं नास्तीत्याह "अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम्" (भ.गी. 2-24) इत्यादेः। तत्सर्वं कथमित्यत उक्तं परस्येति, लोकविलक्षणस्य तर्ह्ययं शून्यकल्प इत्यस्यापीदमुत्तरं परस्य ब्रह्मणः "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तैत्ति. उ. 2-1-1) इति श्रुतेः। इदं

1 A,B,T हीनां

हिंसेति लिङ्गव्यत्ययो हिंसायाः कुत्सितत्वद्योतनाय। "व्यत्ययोऽतिशयकुत्सनभेदेषु" इति सूत्रात् ज्ञायते, हरौ हिंसाशङ्काकुत्सितेत्यर्थः। नास्य जरयैतज्जीर्यते न वधेनास्य हन्यते एतत्सत्यं ब्रह्मपरम् "न हन्यते हन्यमाने शरीरे" (भ.गी.2-20) इत्यादेश्च।।२४।।

**तस्माद्वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा।**
**स्नेहात्कामेन वा युञ्ज्यात् कथञ्चिन्नेक्षते पृथक्।।२५।।**

**यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात्।**
**न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः।।२६।।**

**कीटः पेशस्कृता रुद्धः कुड्यायां[1] तमनुस्मरन्।**
**संरम्भभययोगेन विन्दते तत्सरूपताम्।।२७।।**

**एवं कृष्णे भगवति माया मनुज ईश्वरे।**
**वैरेण पूतपाप्मानस्तमापुरनुचिन्तया[2]।।२८।।**

**श्रीध०** यस्माद्भगवतो निन्दादिकृतं वैषम्यं नास्ति तस्माद्येनकेनाप्युपायेन ध्यायतस्तेनैव ध्यानेन[3] निन्दादिकृत पापस्यापि नाशात्सायुज्यं युक्तमित्याशयेनाह-**तस्मादिति** सप्तभिः। निर्वैरेण नास्ति वैरं केनापि यस्मिंस्तेन भक्तियोगेनेत्यर्थः। युञ्ज्यान्मन इति शेषः। यस्मादेतैरुपायैः पुथङ्नेक्षते।।२५।।

तेष्वपि वैरानुबन्धः श्रेष्ठ इत्याह-**यथेति**। न तथा भक्तियोगेनापि।।२६।।

**कीट** इति। अत्र दृष्टान्तः कीटः पेशस्कृता भ्रमरेण संरम्भो द्वेषो भयं च स एव योगस्तेन ।।२७।।

**एवमिति**। वैरेण याऽनुचिन्ताचिन्तनं तथैव पूतः पाप्मा येषां ते, तं प्रापुः।।२८।।

**वीर०** नन्वेवं भगवन्निन्दासु कस्यचिदपि पापं नस्यान्नच निन्दा प्रयुक्ताभिमानरहित निन्दया नितरां पापित्वप्रसङ्ग इति वाच्यम्। तादृशस्यापि चैद्यस्य परमपुरुषपाप्तिदर्शनेन निरभिमानिनो[4] निन्दाया अपापरूपत्वादन्यथा तादृशे निरतिशये मुक्तिप्रतिबन्धे पापे सति तस्य मुक्त्यसम्भवात्, किञ्चैवं भगवत्स्तोत्रादिषु पुण्यमपि न स्यात् तथा च सर्वशास्त्रार्थ विरोधप्रसङ्गः। किञ्च, "मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः। तानहं द्विषतः

1 M,Ma कुड्ये यां 2 M,Ma धृत° 3 H, V omit ध्यानेन 4- -4 A,B,T omit .

क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु" (भ.गी. 16-18,19) इति भगद्वचनविरोधश्च स्यात् भगवतः स्तुतिनिन्दाभिमानित्वाभाव कथनाद्वेन चैद्ययोः वैषम्यञ्च न सिद्ध्यति, अतो वेन चैद्य[1] वैषम्यप्रश्नस्य किमुत्तरमित्यपेक्षायां साक्षात्परिहारमाह-तस्मादिति। निन्दादिभाक्संसारितुल्यत्वदोष प्रसङ्ग[2]निवारणार्थं संसारि चेतनानामिव देहस्तुतिनिन्दाद्यभिमानित्वं भगवतो नास्तीति तद्वैलक्षण्यमात्रमुक्तम् "निन्दनस्तव सत्कारे" (भाग 7-1-22) इत्यादिभिः श्लोकैः इतो वक्ष्यमाण एव साक्षात्परिहारो वेदितव्यः। तस्मादीश्वरस्यैवंविधस्वभावत्वात् वैरानुबन्धनिर्वैर भयस्नेहकामानां पञ्चानामन्यतमेन केनचिद्युञ्ज्यात् भगवति मनो युञ्जीतेत्यर्थः। "यथा भक्त्येश्वरे मन आवेश्य" (भाग. 7-1-29) इत्युत्तरग्रन्थैकार्थ्यात् वैरानुबन्धो वैरऽविच्छेदः निर्वैरेणेति न वैराभावो विवक्षितः, अपि तु भक्तिर्विवक्षिता। उत्तरग्रन्थे परिगणित हेतुषु पञ्चसु भक्तेरुक्तत्वात्। स्नेहः सौहार्दं बाल्यादारभ्यैतत्पर्यन्तमविच्छिन्नवैरेण भगवति मनो युञ्जतश्चैद्यस्य भगवत्प्राप्तिः। वेनस्य तु उक्तानामन्यतमेनापि भगवत्ययुक्तमनसो न मुक्तिः, प्रत्युतनिरयप्राप्तिरिति वैषम्यमितिभावः। मनो योजनस्य काष्ठामाह-कथञ्चिन्नेक्षते पृथगिति। पृथग्भगवतोऽन्यद्वस्तु किञ्चिदपि केनापि प्रकारेण नेक्षते न विषयीकरोति मनस्तथातद्युञ्जीत। विजातीयप्रत्ययान्तराव्यवहितचित्तवृत्तिः भवेद्यथा तथेत्यर्थः।।२५।।

वस्तुतः प्रीतिपूर्वकानुध्यानात्मक भक्तियोगादपि वैरानुबन्धानुध्यानमेव श्रेय इति मया निश्चितमित्याह-**यथेति**। मर्त्यः संसारी जीवः भगवति यथा वैरानुबन्धेन आशु तन्मयतामियात् प्राप्नुयात् तथा भक्तियोगेन आशु नेयादिति मे मया मतिः बुद्धिः निश्चिता ममैवं, बुद्धिनिश्चय इत्यर्थः। तन्मयतां तच्चिन्तनप्रचुरतामित्यर्थः। विकारावयवार्थाऽसम्भवात् प्राचुर्यमेवात्र मयडर्थः। पूर्वपूर्वचिन्तनादुत्तरोत्तरचिन्तनस्य प्राचुर्यं, तच्च प्रत्ययान्तराव्यवहितत्वरूपम्। यद्वा तन्मयतां तद्धर्मप्राचुर्यं प्राप्नुयादित्यर्थः। मुक्तानां प्राचुर्येण भगवद्धर्मसाम्यश्रवणात्।।२६।।

यथा वैरानुबन्धयोगः श्रेयानेवं भययोगोऽपि भक्तियोगाच्छ्रेयानिति वदन् वैरानुबन्धभययोगयोः भगवद्विषयकचिन्तासन्तानात्मकयोस्तत्साम्यापत्तिहेतौ दृष्टान्तमाह-**कीट** इति। पेशस्कृता भ्रमरेण कुड्यायां रुद्धः कीटो यथा तमेव पेशस्कृतं संरम्भभययोगेन वैरानुबन्धभययोगाभ्याम् अनुस्मरन् तत्स्वरूपतां पेशस्कृत्साम्यं विन्दते तथा संरम्भभययोगिनौ भगवत्स्वरूपतां विन्देते इत्यर्थः। तस्येव स्वरूपं यस्य तत्स्वरूपस्तस्य भावः तत्स्वरूपता तां तुल्यरूपतां नत्वैक्यमित्यर्थः। न हि पेशस्कृता रुद्धः कीटः तेनैकीभवति उभयोरप्युपलभ्यमानत्वात्, अतः साम्यमेव दृष्टान्तात्सिद्ध्यति।।२७।।

---

1 A.B.T °द्ययोर्वै° 2 A.B.T निराकार°

उक्तार्थं दार्ष्टान्तिके दर्शयति-**एवमिति**। भगवति पूर्णषाड्गुण्ये मायामानुषे स्वसंकल्पोपात्तमनुजाकृता साक्षादीश्वरे श्रीकृष्णविषये[1] वैरेणानुचिन्तया वैरपूर्वकानुध्यानेन पूतपाप्मानः निरस्तवैरादिदोषाः तं कृष्णमापुः प्रापुः, पूतपाप्मान इत्यास्यायमभिप्रायः। यद्यपि "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" (कठ.उ. 2-22) इति श्रुत्युक्तरीत्या निरतिशयप्रीतिरूपाया अविच्छिन्नस्मृतिसन्ततिरूपाया भगवद्भक्तेरेव तत्प्राप्तिहेतुत्वम्। तथाचोक्तम् भगवता "पुरुषः स परः पार्थ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया" (भ.गी. 8-22) "भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन! ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप"। (भ.गी.11-54 ) "तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्तिते" (भ.गी.10-10) इति श्रुतिश्च "तमेवं विद्वानमृत इहभवति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते" (पु. सू. 1-7) इत्यादिका। भक्तिश्च प्रीतिपूर्वकमविच्छिन्नमनुध्यानम। "प्रीति पूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्यभिधीयते" इति भक्तिलक्षणात्। संरम्भभययोगयोस्तु प्रीतिरूपत्वाभावात्प्रत्युत तद्विपरीतरूपत्वाच्च न भगवत्प्राप्तिहेतुत्वम्। तथाप्यत्यन्तसंरम्भभय कृत भावनाप्रकर्षेण स्वहेतुभूतसंरम्भ-भययोरपि विस्मरणाद्भावनायाश्च निरतिशयानन्दावहशुभाश्रय विषयत्वेन प्रीति रूपापन्नत्वात्तस्या अपि भगवत्प्राप्ति साधनत्वमिति। एवञ्च येषां भावनाप्रकर्षेण स्वहेतुभूत वेरादिविस्मरणाऽभावो वेनादिनां तेषा भगवान्निन्दादि प्रयुक्त भगवद्विषयकभावनाप्रकर्षाभावेन तन्मूलकनिन्दादिदोषाविस्मृतेः भगवत्प्राप्त्यभावः, प्रत्युत तन्निन्दादि दोषेण निरयप्राप्तिश्चेति वेनचैद्ययोः वैषम्यमुक्तं भवति, अतएव न स्तुति निन्दयोः पुण्यापुण्यत्वप्रतिपादक शास्त्राऽर्थ[2] विरोधोऽपि भावनाप्रकर्षेणाविस्मृतवैरादिदोषवत्पुरुषविषयत्वात् पुण्यापुण्य प्रतिपादक शास्त्राणाम्।।२८।।

**विज०** अत्रेवं हरिस्वरूपे स्थिते स्वयोग्यानन्दाविर्भावलक्षण मोक्षसाधनक्षमाऽक्षीणा भक्तिरेव, द्वेषादिकमर्थवादलक्षणं तत्तत्वभाव ज्ञपनार्थमुच्यत इत्याशयेनाह **तस्मादिति**। यस्माज्जडशरीरेन्द्रियाद्यभावेन हरेरहम्ममाभिमाननिमित्तोपद्रवो दूरं निवारितः तस्माद्वैरानुबन्धादिना यो हरौ मनो युञ्ज्यात्प्रयुङ्क्ते स कथञ्चित्पृथङ्नेक्षते मनसः तत्राभिनिवेशेन हरेरन्यं न चिन्तयति तमेवानुस्मरतीत्यन्वयः। अनेन वैरादीनां एकतमेनापि हरा मना युञ्जानो वैरादिमानेव भवतीति तत्तद्वस्तु स्वभावात्तथोच्यत इति ज्ञातव्यम्। तदुदितं आचार्यैः- "कथञ्चिन्नेक्षते पृथक् तत्रैव मनसोऽभिनिवेशेन तदन्यं नेक्षते वैरादीनामेकतमेनाऽपि यो मनो युञ्ज्यात्स तदन्य नेक्षते" इति स्वभाव कथनम्।

---

1 B, W °ष्णे 2 A,B T °स्त्र वि°

नन्वत्र संयुञ्ज्यादित्यस्य प्रथम प्राप्तं विध्यर्थं परित्यज्य अन्यार्थकल्पनायामश्रुत कल्पनास्यादिति चेन्न। "भक्त्या त्वनन्यया शक्यः अहमेवं विधोऽर्जुन!" (भ.गी. 11-54) "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" (कठ.3-2-22) "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः" (भ.गी.7-17) इत्यादिना भक्तेरेव भगवत्प्रीतिजनकत्वोक्तेः "अननुभूतिरवधुन्वानः" इत्याद्यनर्थश्रुतेश्च। अतो न विध्यर्थोऽङ्गीकारयोग्यः। तदप्युक्तं न विधिरिति न केवलं द्वेष्टुः स्वस्यैवानर्थः अपि तु तत्पितॄणामपि। तदुक्तम्- "कर्मणा मनसा वाचा यो द्विष्याद्विष्णुमव्ययम्। मज्जन्ति पितरस्तस्य नरके शाश्वतीः समाः" इति। नन्वेकदा कृतद्वेष प्राप्तनरकोपभोगेन क्षीणदोषस्य पुनः शुद्धान्तःकरणतया भक्तिकरणयोग्ययोनिप्राप्तिः स्यादिति तत्राह- "तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।। आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय! ततो यान्त्यधमां गतिम्" (भ. गी. 16-19,20) इति। कीदृशो द्वेष इति तत्राह- "अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परम्भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्" (भ.गी. 9-11) इति, "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादेः। सत्कर्मणा तेषां सद्गतिः स्यात्किं नेत्याह- "मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः। राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः" (भ.गी. 9-12) इति। ननु तर्हि हिरण्यकशिप्वादेः दुरन्ताघादुत्थितिः कथमभूदिति तत्राह- "यदनिन्दत्पिता मे त्वामविद्वां। स्तेज ऐश्वरम्। (भाग. 7-10-15) तस्मात्पिता मे पूयेत दुरन्ताद्दुस्तरादघात् (भाग. 7-10-17) "हिरण्यकशिपुश्चापि भगवन्निन्दया तमः विविक्षुरत्यगात्सूनोः प्रह्लादस्यानुभावतः" (भाग. 4-21-47) इति। नन्वेवं तर्हि भक्त द्वेषिणाः शापवराभ्यां विपर्ययः स्यात्किं, नेत्याह- "वरतोऽपि न मुच्यन्ते। द्वेषिणः शापतोऽपि तु। भक्ता नैव निपात्यन्ते धर्माधर्मैस्तथेतरैः" इति योग्यताया बलवत्त्वादिति शेषः। नन्वेवं चेत्पुनश्चानर्थ आपन्न इति तत्राह- "अन्यावेशकृतं यत्तु तद्गराद्यैरपोह्यते। तद्विरुद्धस्वभावानां अन्यथा न कथञ्चन" इत्यादि हिरण्यकशिप्वाद्याविष्टासु कृतपापं प्रह्लादादिभिः परिहृतं न तु स्वतोऽसुरस्येत्यर्थः।।२५।।

कुतः स्वतोऽसुरस्य पापं न परिहियते? इत्याशङ्क्य द्वेषाभिनिविष्टमनस्कत्वेन तद्योग्यत्वेन भगवत्प्रेरितत्वेनाभीष्टनिवृत्तित्वेन तदात्मकत्वादित्याशयेनाह-**यथेति**। मर्त्यस्तमोयोग्यो वैरानुबन्धेन निरन्तरं वैरस्मरणेन तन्मयतां तत्तद्द्वेषविषयवस्तुनि यथा मनसोऽभिनिवेशम् इयात् प्राप्नोति तथा भक्तिलक्षणोपायेन भक्तिविषये वस्तुनि मनोऽभिनिवेशं न करोति। अत्र किं प्रमाणमिति तत्राह-इतीति। निश्चिता मतिरित्यनेन साक्षिलक्षणा मतिः गृह्यते। भक्तियोगेन इति इत्यत्र सन्धिकार्याभावो द्वेषाभिनिवेशिनां बाहुल्यं भक्त्यभिनिवेशिनां कनीयस्त्वं च दर्शयितुं, कुतः एतदवगतमिति चेन्न, यथा वैराभिनिवेशिन इत्याद्याचार्योक्तेः। वैरिणां बाहुल्यं अन्येषां

अल्पसंख्यात्वं कथमितिचेन्न, हरिणा भक्तानां बाहुल्याकरणात्। एतदप्युक्तं कथमन्यथेत्यादि, ततः कनीयांस एव देवाः, ज्यायांसः असुरास्तत इति च भक्त्याभिनिवेशिष्वपि कश्चिद्विशेषोऽस्तीति ज्ञापनाय वा सन्ध्यभावः। "ऋते ब्रह्माणमव्ययम्" (हरिवंशे) इत्युक्तेः। असुराणां नित्यद्वेषाग्रहित्व-प्रकटनायानुबन्धनेति। "मागधाद्या यथा नित्यं द्वेषादाऽऽग्रहिणो हरौ। न तथाऽऽग्राहिणो भक्ता मृते ब्रह्माणमव्ययम्" (हरिवंशे) इत्युक्तेः ।।२६।।

ननु तन्मयतामित्यस्य तादात्म्यार्थः कि नस्यादिति तत्राह कीट इति। द्वेषेण निन्दतःचेद्यस्य कृष्णेन सायुज्यं कथमभूदिति प्रश्नस्य परिहारः कथमागत इत्यतोवाऽऽह-**कीट** इति। यथा पेशस्कृता भृङ्गेण कुड्ये भित्तिसुषिरे रुद्धः कीटः श्यामनामा कृमिः तस्य भृङ्गस्य सरूपतां समानाकारतां विन्दते न तु तादात्म्यं, ततो भिन्नत्वेन दृश्यमानत्वात्। कीदृशः? यान्तं **उपर्यागत्य**[1] गभीरं नदन्तं भृङ्गं संरम्भभययोगेन ईषत्कोपभयुक्त स्नेहेनात्रं संददातीति स्नेहेन स्वात्मानमाकृष्य क्लिश्नातीति कोपयुक्तभयेन चानुस्मरन्। अत्र स्नेहस्येव प्राधान्य प्राणधारणपोषणयोः सन्ततमिष्टत्वात्, कोपभययोः तात्कालिकत्वात् अप्राधान्यमित्यतो योगस्य संरम्भभययो विशेषणतयोक्तेः योगस्य स्नेहार्थत्वम्। "प्रीतिस्स्नेहः तथायोगः प्रेमबन्धः इतीर्यते" इति शब्दानर्णये सिद्धम्।।२७।।

कृष्णे भगवत्येवं वैरेण युक्तया अनुचिन्तया भक्तिपूर्व स्मृत्या धूतपाप्मानः चैद्यादयः तं कृष्णमापुरित्यन्वयः। अत्र सज्जीवानां शापादिना सुराविष्टानामेव मुक्तिः न केवलानां तस्मात् तदाविष्टासुरा वैरेण प्राप्तपाप्मनः। "असुर्या नाम ते लोकाः" (ईश.उ. 3) इति श्रुतेः। तं लोक समुदायं प्रापुः, सन्तो जयादयो अनुचिन्तया, न कृष्णं अवापुः इत्ययं विशेषो वैरयुक्तया अनुचिन्तयेति आचार्योक्ताऽपिशब्देन गर्हाभिधायिना ज्ञातव्यः। "अनुचिन्तेति तां प्राहुः भक्ति पूर्वा तु या स्मृतिः" (शब्दनिर्णये) इति वचनात्, भक्तिपूर्वैवाऽनुचिन्ता अत्राभिप्रेतेति ज्ञातव्यम्। अतोऽत्र चैद्यादीनां भक्तियुतत्वं प्रतिपाद्यत इत्युपगन्तव्यम्, अन्यथा कीटोदाहरणं निरन्वितं स्यात्। उदाहरणस्यापि भक्त्यर्थत्वं कुत इति चेन्न। "स्नेहादन्नं ददातीति स्वाकर्षणभयेऽपि वा। विद्यामानेऽप्यल्पकोपे सङ्गतिस्नेहतस्तथा। पेशस्कृद्रूपतां कीटो यथा याति तथैव तत्। चैद्यादयोऽसुरा वेशाद्धरौ द्वेषयुता अपि। निजस्वभावया भक्त्या (जा) याता हरिसरूपताम्। तथाऽपि करुणो विष्णुरन्या वेशाद्यदि द्विषन्। हीयते कि ममानेन नित्यानन्द स्वरूपिणः। देहबन्धयुतानां हि द्वेषिणाऽपकृतं भवेत्। मम कोह्यपराध्येत निर्दोषसुखरूपिणः। अतोमय्यपराधस्तु

1 A °गातं

स्वस्मिन्नेव न मे भवेत्। अतो यद्यासुरावेशात्कृतमेतेन दुष्कृतम्। अनादिभक्तो यस्मान्मे मोदयिष्ये ततस्त्वहम्। इतिमत्वा मोचयति चैद्यादीनपि केशवः।।" (ब्रह्माण्डे) इति वचनात्। किञ्च निर्वैरेणत्याद्युक्तमत्रानुसन्धेयम्, तेन स्नेहाद्यायतनस्य देहस्य नाशादिना कीटस्योपद्रवाभावाद्धरेरप्युपद्रवाभावोऽनुमीयते। "तथापि करुणो विष्णुरन्यावेशाद्यदि द्विषन्। हीयते किं ममानेन नित्यानन्दस्वरूपिणः" (ब्रह्माण्डे) इत्यादिना च।।२८।।

**कामाद्द्वेषाद्भयात्स्नेहाद्यथाभक्त्येश्वरे मनः।**
**आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः।।२९।।**

**गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।**
**सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं नृप[1]!।।३०।।**

**कतमोऽपि न वेन[2-]ः स्यात्[-2]पञ्चानां पुरुषं[3] प्रति।**
**तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्।।३१।।**

**मातृष्वसेयो वश्चैद्यो दन्तवक्त्रश्च पाण्डव[4]।**
**पार्षदप्रवरौ विष्णोर्विप्रशापात्पद[5]च्युतौ।।३२।।**

## युधिष्ठिर उवाच

**कीदृशः कस्य वा शापो हरिदासाभिमर्शनः।**
**अश्रद्धेय इवाभाति हरेरेकान्तिनां भवः।।३३।।**

**देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम्।**
**देहसम्बन्धसम्बन्धमेतदाख्यातुमर्हसि[6]।।३४।।**

## नारद उवाच

**एकदा ब्रह्मणः पुत्रा विष्णोर्लोकं यदृच्छया।**
**सुनन्दनादयो जग्मुश्चरन्तो भुवनत्रयम्।।३५।।**
**पञ्चषड्वायनाभाभाः पूर्वेषामपि पूर्वजाः।**
**दिग्वाससः शिशून् मत्वा द्वाःस्थौ तान् प्रत्यषेधताम्।।३६।।**

1 A,B,G,J,M,Ma,T विभो। 2- -2 M,Ma वेनस्य प° 3 M,Ma पू° 4 M,Ma पार्थिव। 5 A,B,G,J,T °त्पदाच्च्युतौ 6 A,B,G,J,T °द्ध -

**श्रीध॰ कामादिति**। तदघं कामादिनिमित्तं पापं हित्वा।।२९।।

तानाह-**गोप्य** इति।।३०।।

तर्हि वेनः किमिति नारके पातितः तदीयप्रध्यानाभावात्पापमेव तत्र फलितमित्याह **कतमोऽपीति**। पुरुषं श्रीहरिं प्रति पुरुषस्य कामा सम्भवाद्भयादिभिश्चन्तयतां पञ्चानां मध्ये वेनो न कतमोऽपीत्युक्तम् ।।३१।।

तदेवं इतिहासं प्रस्तावकथां उक्त्वा श्रीकृष्णे शिशुपालस्य वैरानुबन्धे को हेतुरित्यपेक्षायां तमेवेतिहासं वक्तुमाह-**मातृष्वसेय** इति। पदाद्वैकुण्ठाच्युतौ।।३२।।

**कीदृश** इति। हरिदासावभिमृशत्यभिभवतीति तथा। कस्य शापः कीदृशो वा। अश्रद्धेयोऽनादरणीय इव। असंभवात्, भवो जन्म।।३३।।

असम्भवमेवाह-**देहेति**। जन्महेतुभूतैः प्राकृतैः देहेन्द्रियासुभिः हीनानाम्। शुद्ध सत्त्वमयदेहानामित्यर्थः। प्राकृतदेहसम्बन्धेन सम्बद्धमेतदाख्यानमाख्यातुमर्हसि।।३४,३५।।

**पञ्चेति**। कथम्भूताः? पञ्च वा षड्वा हायनानि वर्षाणि येषां ते, अर्भाः बालाः तद्रदाभा येषान्ते पूर्वेषां मरीच्यादीनामपि पूर्वजास्तेभ्यः प्रथमं जातः। दिग्वाससो दिगम्बराः, अतः शिशून् मत्वा।।३६।।

**वीर॰** एवमुक्तार्थं दार्ष्टान्तिके निदर्श्यैवं कैश्चिल्लब्धमित्याह-**कामादिति**। यथा भक्तियोगेनेश्वरे मन आवेश्य भगवतो गतिं जग्मुः तथा कामादिभिरपि तस्मिन् मन आवेश्य तदघं मनस आवेशनिमित्तं कामादिरूपमघं हित्वा अत्यन्तभावनाप्रकर्षेण कामादिकं विस्मृत्येत्यर्थः। बहवः तद्गतिं प्राप्ताः।।२९।।

एतदेवोदाहरणविशेषेषु दर्शयति-**गोप्य** इति। भगवति कामाद्गोप्यः तद्गतिं गता इत्यनुषङ्गः भयात्कंसः तद्गतिं गत इति विभक्तिविपरिणामः। यद्वा, गोप्यादयः सर्वे प्रतिनियतकामदिभिः उपायैः तद्गतिं गता इति यौगपद्येनान्वयः। सम्बन्धाद्वृष्ण्यः, स्नेहाद्यूयमिति, वृष्णयो यूयञ्च देहसम्बन्धकृतस्नेहादित्यर्थः। अन्यथा पञ्चप्रकारान्तर्भावायोगात्। भक्त्या वयं नारदादयः। तत्र स्नेहस्तुल्यसन्निकृष्टविषयः प्रेमा, भक्तिरुत्कृष्ट विषयेति भेदः।।३०।।

---

1 A,B,J तीव्रध्या॰ 2 A,B,J तस्य 3- -3 H,V omit 4 H,V omit वर्षाणि 5- -5,H,V omit

एवं उक्तेनार्थेन सिद्धं वेनचैद्ययोः वैषम्यमाह-**कतम** इति। उक्तानां पञ्चानां कामुकद्वेषि-बिभ्यत्स्नेहवद्भक्तरूपाणां पञ्चानां मध्ये वेनस्त्वीश्वरं परमपुरुषं प्रति कोऽपि न भवति कामुकाद्यन्यतमो न भवति। अतः तन्निन्दया निरयप्राप्तिरिति भावः। तस्मादुक्तानां पञ्चानां मध्ये केनाऽप्यन्यतमेनोपायेन भगवति श्रीकृष्णे मनो निवेशयेत्। निवेशिते च मनसि मनोनिवेशननिमित्तं कामादिकमपि विस्मृत्य तं प्राप्नोतीति भावः, अत एव हि श्रीविष्णुपुराणे "अपगतदोषानुबन्धो भगवन्तमवाप" इति ह्युक्तम्। ननु, संरम्भभययोगादीनामपि भक्तियोगवद्भगवत्प्राप्ति साधनत्वे यथा आरब्ध विच्छिन्न भगवद्भक्तियोगः पुनर्जन्मान्तरे "पूर्वाभ्यासेन कौन्तेय" (भ.गी. 6-44) इत्यादि भगवदुक्तरीत्या पूर्वाभ्यासेनोपसंहृतसम्पूर्णभगवद्भक्तियोगो भगवन्तं प्राप्नोति। एवमारब्धविच्छिन्नसंरम्भभयादि योगोऽपि जन्मान्तरे पूर्वाभ्यासेन परिपूर्ण तद्योगो भगवन्तं प्राप्नुयात्। न चैवं युक्तम्। अन्यथा विष्णु द्वेषिणां सर्वेषामपि मुक्तिप्रसङ्गः। एवञ्च "यः पुत्रः पितरं द्वेष्टि तं विद्यादन्यरेतसम्। यो विष्णुं सततं द्वेष्टि तं विद्यादन्त्यरेतसम्" इत्यादि विष्णुदूषकनिन्दावचनानामनवकाशप्रसङ्गः। उच्यते, संरम्भभयादीनां तस्मिन्नेव जन्मनि स्वविस्मारकभावनाप्रकर्षावहानामेव मुक्तिहेतुत्वं, न तु विच्छिन्नानां जन्मान्तरसम्बन्धिनामपि प्रत्युत तेषां निरयहेतुत्वमेव। भक्तियोगस्य तु विच्छिन्नस्यापि पुनर्जन्मान्तरे भावनाप्रकर्षावहनद्वारा मुक्तिसाधनत्वमिति। न चात्र मानाभावः धर्मिग्राहकमानस्य सत्त्वात्। "पार्थनैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते" (भ.गी. 6-40) इत्यारभ्य "तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम्।यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन। पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः" (भ.गी. 6-43,44) इत्यन्तेन भगवतैवारब्धस्यापि भक्तियोगस्य पुनः कालान्तरे फलसाधनत्वस्योक्तत्वात्। नत्वेवं संरम्भभयादीनां सकृदारब्धानां पुनर्जन्मान्तरे भगवत्प्राप्तिसाधनत्वप्रमापकं किञ्चिद्वचनं विद्यते, प्रत्युत "यो विष्णुम्" इत्यादि निन्दावचनान्येव सन्ति यदि भगवन्निन्दादिकारिणामपि[1] सर्वेषां द्वेषादिविस्मारकभावनाप्रकर्षः स्यात्तर्हि स्यादेव तेषां मुक्तिरिति न कोऽपि विरोधः।।३१।।

एवं संरम्भयोगादीनामपि भगवत्प्राप्तिसाधनत्वेन चैद्यदन्तवक्त्रयो र्न मुक्तौ विस्मयः कार्य इत्यभिधाय न केवलं तयोर्भगवद्विषयक भावनाप्रकर्षं तद्विषयक संरम्भ[2] एव हेतुः अपि तु पूर्वसिद्धं भगवदानुकूल्यं चेति वक्तुं इतिहासं प्रतुब्टूषुः प्रश्नावसर प्रदानाय तयोस्तावद्विष्णुपार्षदत्वं विप्रशापाद्भ्रंशं चाह-**मातृष्वसेय** इति। मातुः

1 W omits आदि 2 A,B,T सम्बन्ध

स्वसा भगिनी तस्या अपत्यं पुमान् मातृष्वसेयः हे पाण्डव। युधिष्ठर। यो भवतो मातृष्वसेयः चेद्यो दन्तवक्त्रश्च द्वाविमौ पूर्वं विष्णोः पार्षदप्रवरौ द्वारस्थितौ विप्रशापाद्धेतोः पदात्स्वस्थानात् च्युतौ भ्रष्टौ एवञ्च तयोः पाश्चात्य द्वेषातिशयात्प्राक्तनात्यन्तभगवदानुकूल्याञ्च शापन्ते भावनाप्रकर्षसिद्ध्या मुक्तिरितिभावः। अण्डान्तर्वर्तिन्युपेन्द्रादि विष्णु लोके कस्मिंश्चित् "तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात्" (ब्र.सू. 1-3-26) इति न्यायेनोपेन्द्राद्युपासनया तद्द्वारपत्यधिकारं गतौ कौचिज्जीवौ स्थितौ पश्चाद्विप्रशापात्पदच्युताविति नारदस्याशयः।।३२।।

इममाशयमजानान्नेवं प्रश्नावसरे दत्ते पृच्छति युधिष्ठिरः**कीदृश** इति द्वाभ्याम्। कीदृशः शाप इति शापाकारप्रश्नः[1]। कस्य वेति तत्कर्तृप्रश्नः। तस्य विशेषणं हरिदासाभिमर्शिन इति हरिदासानाभिमृशति पराभवतीति हरिदासाभिमर्शी तस्य अनेन तस्यानौचित्यं सूचितम्। हरेरेकान्तभक्तानां निकटवर्तिनां[2-2] भवो जन्म अश्रद्धेय इव अनादर्तव्य इवाभाति प्रतीयते। अयं भावः "एतं देवयानं पन्थानमापद्य न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते" (कौषी.उ 1-3) इति श्रुत्युक्तरीत्या मुक्तानामेव पुनरावृत्तिर्न विद्यते। किम्पुनर्नित्यसिद्धानां भगवत्पार्षदानां भगवत्स्थानाद्भ्रंशाभाव इह जन्माभावश्चेति। अत इदं भगवत्पार्षदयोः। तत्पदाद्भ्रष्टयोरुच्यमानमिह जन्मानादर्तव्यम्। तज्जन्मप्रतिपादकं वाक्यं "जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्यां" इत्यादिवाक्यवदसङ्गतार्थमिति।।३३।।

तयोः जन्मासम्भवमेव विवृण्वन्पृच्छति देहेन्द्रियासु हीनानामिति। कर्मायत्त प्राकृत देहेन्द्रिय प्राणरहितानां वैकुण्ठपुरवासिनां नित्यसिद्धानामित्यर्थः अनेन पूर्वमप्यसम्भावित प्राकृतदेहेन्द्रियप्राणसम्बन्धानामित्युक्तम्। एवं विधानां देहसम्बन्धः प्राकृतदेहसम्बन्धः तदनुबन्धिरागद्वेषादिसम्बन्धश्च तयोः समाहारः तदेतदघटमानं मह्यमाख्यातुं कथयितुमर्हसि।।३४।।

एवमापृष्टो भागवान्नारदः प्रश्नस्योत्तररूपमितिहासं वक्तुमुपक्रमते-**एकदेत्यादिना** ब्रह्मणः चतुर्मुखस्य पुत्राः सनन्दनादयः आदिशब्देन सनकसनत्कुमार-सनत्सुजाता विवक्षिताः। एते भुवनत्रयं सञ्चरन्तः कदाचिद्यदृच्छया विष्णोर्लोकं जग्मुःय, अयं विष्णुलोकशब्दः ब्रह्माण्डान्तर्गत[3] विष्णुलोकविषयः, न तु मुक्तप्राप्यपरमव्योमविषयः "वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः" (भाग 8-5-4) इति वक्ष्यमाणत्वात् मुक्तप्राप्ये अर्चिरादिमार्गेणैव गम्ये परमव्योम्नि योगिनामपि सनकादीनां गमनासम्भवान्नित्यसिद्धानां इहोत्पत्त्यसम्भवाच्च।।३५।।

---

1 A,B,T °पप्रका° 2- -2 W omits 3 W अण्डान्तं

सनन्दनादीन् विशिंषन्नाह-**पञ्चेति**। पञ्च षड्वा हायना वत्सरा येषां ते अर्भा अर्भकाः तदाभाः[1] तद्वदवस्थिताः तान्, आभ[2] शब्दाभिप्रेतं विवृणोति पूर्वेषां रुद्रादीनामपि पूर्वजातान्, दिग्वाससो दिगम्बरान् एवम्भूतांस्तान् सनन्दनादीन् शिशून् शिशुत्वे नालक्ष्य विष्णोर्द्वाःस्थौ द्वारि स्थितौ द्वारपौ प्रत्यषेधतां न्यवारयताम्।।३६।।

**विज०** इतोऽपि भक्तिगर्भकामादिनैव भगवत्प्राप्तिरित्याह-**कामादिति**। तृतीयार्थे पञ्चमी। कामादिभिरपि यथा यथावत् भक्त्या सहैव कृष्णे मन आवेश्य द्वेषादिना यदघमापादितं तदघं हित्वा तस्य कृष्णस्य गतिं लोकं गता इत्यन्वयः। प्रथमतः कामादियुक्त्या भक्त्या हरौ मनः आवेश्य पश्चाद्यथाभूतया भक्त्याऽघं हित्वेत्यर्थः।।२९।।

बहव इत्युक्तस्य विषयविभागमाह-**गोप्य** इति। कामात्कामयुक्तयाभक्त्या कंसः कंसाविष्टः भृगुः भययुक्तया भक्त्या, चैद्यादयः चैद्यादिस्थाः जयादयः द्वेषयुक्तया, वृष्णयः सम्बन्धो बन्धुता, तन्निमित्तया, यूयं पाण्डवाः समतुलितबहुमानयुक्तया, वयं शुकादिशब्दवाच्याः केवलया भक्त्या। अत्र कश्चन विशेषः - "गोप्यः कामयुता भक्ताः कंसाविष्टः स्वयं भृगुः। ज्ञेयो भययुतो भक्तश्चैद्यादिस्था जयादयः। विद्वेषसंयुता भक्ता वृष्णयो बन्धु (१) संयुताः। बहुमानस्नेह-साम्याद्देवा भक्ताः प्रकीर्तिताः। स्नेहोपसर्जनादेव बहुमानान्मुनीश्वराः। बहुमानोऽपि देवानां ऋषिभ्योऽप्यधिको मतः। ब्रह्मवीन्द्रेन्द्रकामादेरितरेषां यथाक्रमम्" (ब्रह्मतर्के) इति वचनादवगन्तव्यः।।३०।।

भक्त्यैव पुरुषार्थो न केवलद्वेषेणेत्याशयवानाह-**कतम** इति। कामाद्युपसर्जन भक्ति योगानां पञ्चानां मध्ये कतमोऽपि भक्तियोगो वेनस्य नास्ति असौ (२) कश्चन द्वेषात्मक एव; यस्मात् भक्तिषोगमन्तरेण पुरुषार्थो नास्ति तस्मात्केनापि प्रकारेण आपादितेनोपायेन भक्तिलक्षणेन कृष्णे मनो निवेशयेन्न द्वेषादिना। "उपायो भक्तिरुद्दिष्टो द्वेषाद्या अनुपायकाः" (शब्दनिर्णये) इत्यभिधानात्। अतः उपायो भक्तिरेव अतो भक्तिमन्तरेणोपायो नास्तीत्यर्थः।।३१।।

पेशस्कृता रुद्ध इत्यत्र चैद्यादयः स्वतो भक्ता असुरावेशाद्द्वेषिण इत्युक्तम्। तत्र हेतुमाह-मातृष्वसेय इति। पार्षदप्रवरत्वं स्वतो भक्तत्वे, विप्रशापात् असुराविष्टत्वं द्वेषित्वे हेतुः।।३२।।

हरिदासान् हरिभक्तान् अभिमृशति स्पृशतीति हरिदासाभिमर्शनः हरेरेकान्तिनां नियत भक्तानां भव उत्पत्तिः शरीरयोगलक्षणः स्वपदभ्रंश लक्षणः शापः अश्रद्धेय इवाभाति। सयुक्तिकं निरूपयितुं न क्षममिति प्रतीयते।।३३।।

1 A.B.T °भासाः 2 A.B.T अर्भ

तत्र कारणमाह-**देहेति**। देहाद्यभावश्च कुत्रत्यानामिति तत्राह वैकुण्ठेति, तेषां प्राकृतदेहाद्यभावेन जान्मादिकं कथं घटत इति शङ्क्यत इत्यर्थः। देह-सम्बन्धः देहयोगः तस्य सम्बन्धः निमित्तभूतः शापः एतच्छापनिमित्तं अनेन देहयोगः तन्निमित्तशापं तन्निमित्तं च व्याख्यातुमर्हसीत्यर्थसमुदायो लक्ष्यत इत्यर्थः।।३४।।

तदर्थजातं कुतोऽवगम्यत इति परिहार वचनादित्यत आदितो वक्ति-**एकदेति**।।३५।।

पञ्चषड्वायनाभाभाः पञ्चवर्षाः अर्भाः अर्भका बालाः तद्वदाभा दीप्तिर्येषां ते तथा, तत्समाना इत्यर्थः। शिशून्मत्वा पुरप्रवेशकरणाय वेषान्तरमापन्ना नित्याशङ्क्येत्यर्थः। द्वाःस्थौ द्वारिस्थौ जयविजयौ तान् सनन्दनादीन् प्रत्यषेधतां वेत्र विधानेन[1] न्यवारयतां इत्यन्वयः। द्वाःस्थावित्युक्त्या जयविजयोः अधिकारस्थत्वं सूचर्यात। तेन वैकुण्ठे अधिकारस्थाः मुक्ताश्चेति द्विविधाः जनाः सन्ति।तत्राधिकारस्था देहादियोगित्वाद्वरशापयोग्याः पश्चात्र योग्या इति ज्ञायते। तदुक्तम्-"अधिकारस्थिताश्चैव विमुक्ताश्च द्विधा जनाः। विष्णुलोकस्थितास्तेषां वरशापादियोगिनः। अधिकारस्थिता।मुक्तिं नियतं प्राप्नुवन्ति च। विमुक्त्यनन्तरं तेषां वरशापादयो न तु।। देहेन्द्रियासुयुक्ताश्च पूर्वं पश्चान्नतैर्युताः। अप्यमी मानिभिस्तेषां देवैः स्वात्मोत्तमैर्युताः" (तन्त्रसारे) इति। अनेन वैकुण्ठे मुक्तामुक्तस्थानद्वयमस्तीति ज्ञायते।।३६।।

**अशपन् कुपिता एवं युवां वासं न चार्हथः।**
**रजस्तमोभ्यां रहिते पादमूले मधुद्विषः।**
**पापिष्ठामासुरीं योनिं बालिशौ यातमाश्वतः।।३७।।**

**एवं[2] शप्तौ स्वभवनात्[3]पतन्तौ तैः कृपालुभिः।**
**प्रोक्तौ पुनर्जन्मभिर्वा त्रिभिर्लोकाय कल्पताम्।।३८।।**

**जज्ञाते तौ दितेः पुत्रौ दैत्यदानववन्दितौ।**
**हिरण्यकशिपुर्ज्येष्ठो हिरण्याक्षोऽनुजस्ततः।।३९।।**

**हतो हिरण्यकशिपुर्हरिणा सिंहरूपिणा।**
**हिरण्याक्षो धरोद्धारे बिभ्रता सौकरं वपुः।। ४०।।**

---

1. A विधूननेन 2. W इति 3 M,Ma भु°

**हिरण्यकशिपुः पुत्रं प्रह्लादं केशवप्रियम्[1]।**
**जिघांसुरकरोन्नाना यातना मृत्युहेतवे।।४१।।**

**सर्वभूतात्मभूतं तं प्रशान्तं समदर्शनम्।**
**भगवत्तेजसा स्पृष्टं नाशक्नोद्धन्तुमुद्यमैः।।४२।।**

**ततस्तौ राक्षसौ जातौ कैकस्यां[2] विश्रवस्सुतौ।**
**रावणः कुम्भकर्णश्च सर्वलोकोपतापिनौ[3]।।४३।।**

**तत्रापि राघवो भूत्वा न्यहनच्छापमुक्तये।**
**रामवीर्यं श्रोष्यसि त्वं मार्कण्डेयमुखात्प्रभो।।४४।।**

**श्रीध० अशपन्निति**। वासमपि नार्हथः कुतः पुनस्तत्सेवामिति चकारार्थः। हे बालिशौ। अतो हेतोः आशु यातम्।।३७।।

**एवमिति** वां युवयो स्त्रिभिर्जन्मभिः लोकाय स्वस्थानप्राप्तये कल्पतां तावताऽयं शापः समाप्यतामिति पुनः प्रोक्तावित्यर्थः।।३८।।३९।।

**हत** इति। धरोद्धारे निमित्ते तत्प्रतिघाती हतः।।४०।।

हिरण्यकशिपोर्वधे कारणं सूचयति-**हिरण्यकशिपुः पुत्रमिति**।।४१।।

**सर्वेति**। सर्वभूतानामात्मभूतम् कुतः? समं ब्रह्मैव पश्यतीति तथा तम्। अतः प्रशान्तं द्वेषादिरहितम्। अत एव भगवत्तेजसा स्पृष्टं व्याप्तम्। उद्यमैः शस्त्रास्त्रप्रहारादिभिः[4]।।४२।।

**तत** इति। विश्रवसः सुतौ।।४३।।

**तत्रेति**। न्यहनत् हतवानित्यर्थः। तर्हि तदेव कथनीयमित्युत्सुकं प्रत्याह-रामवीर्यमिति।।४४।।

**वीर०** ताभ्यां प्रतिषिद्धास्ते कुपिताः सन्तः एवं वक्ष्यमाणरीत्या अशपन्। शापप्रकारमेवाह-युवामित्यादिना। रागद्वेषादिरहिते भगवतः पादमूले वासं कर्तुं युवां नार्हथः। अप्राकृतं भगवत्पादारविन्द मूलमुपाश्रित्याऽत्र[5] स्थातुं प्राकृतरागद्वेषादियुक्तौ युवां नार्हथः इत्यर्थः। किन्तु बालिशौ मूर्खौ युवामतो भगवत्स्थानादाशु शीघ्रं पापिष्ठां रागद्वेषादिबहुलां आसुरीं योनिं आसुरजन्मेत्यर्थः[6]। यातं प्राप्नुतम्।।३७।।

---

1 भगवत्प्रि° 2 A,B G,J,M,Ma,T केशिन्यां 3 A,B,G,J,T कोपतापनौ; M Ma °कप्रतापिनौ 4. H,V omit अस्त्र 5. W °माश्रि° 6- -6 W omits

एवमित्थं शप्तौ तौ पार्षदौ स्वस्थानात्पतन्तौ कृपालुभिस्तैः सनकादिभिः प्रोक्तौ, तदेवाह पुनर्रात। पुनर्वां युवयोस्त्रिभिः जन्मभिः लोकाय पुनरेतल्लोकप्राप्त्यै कल्पतां शापमोक्षे इति शेषः। तावता कालेन शापः समाप्यतामित्यर्थः।।३८।।

तावेव पार्षदौ विप्रैः शप्तौ इह लोके दितेः पुत्रौ जज्ञाते जातौ बभूवतुः। तत्र हिरण्यकशिपुः ज्येष्ठस्ततो हिरण्याक्षस्तस्यानुजः।।३९।।

तत्र ज्येष्ठो हिरण्यकशिपुः नृसिंहरूपिणा भगवता हतः, हिरण्याक्षस्तु धरोद्धारे भूम्युद्धारे निमित्ते सौकरं वराहं वपुः बिभ्रता भगवता हतः।।४०।।

हिरण्यकशिपुवृत्तान्तप्रश्नावतरणाय तद्वृत्तान्तं सङ्ग्रहेणाह-**हिरण्यकशिपुरिति**। स केशवस्य भगवतो निरतिशयप्रियं प्रह्लादं पुत्रं जिघांसुः हन्तुमिच्छुः पुत्रमरणनिमित्तं नानाविधा यातनाः अकरोत्।।४१।।

यातनाः कुर्वाणोऽपि हिरण्यकशिपुस्तं पुत्रं हन्तुमुद्यमैः सर्वोपायैरपि नाशक्नोत्। तत्र हेतुं वदंस्तं विशिनष्टि-भगवतस्तेजसा स्पृष्टं व्याप्तं, तत्र हेतुः, प्रशान्तमशनायापिपासादिरहितं प्रशान्तेष्वेव भगवत्तेजस्स्पर्श इति भावः। यद्वा, अत एव प्रशान्तं, तत्र हेतुः समदर्शनं सुखदुःखादिषु द्वन्द्वेषु समदृष्टिम्, यः समः स एव हि शान्त इति भावः। यद्वा, अत एव समदर्शनं सर्वभूतानामात्मा ईश्वरस्तद्भूतं तत्प्रकारतया तदात्मतामापन्नम् "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" (ब्र.सू. 1-1-30) इत्युक्तरीत्या यथा वामदेवः "तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवान् ऋषिरस्मि विप्रः" (बृह.उ. 31-4-10) इति सर्वभूतान्तरात्मानं भगवन्तं स्वशरीरकं धीसात्कृत्य सर्वप्रकारतया स एवावस्थित इति प्रकारभेदेऽपि प्रकार्यैक्यात्तदाभिप्रायेण वामदेवो मन्वादिभिः महात्मनोऽभेदमनुसंहितवान् एवं प्रह्लादोऽपि "अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनः" इति प्रकार्यैक्याद्विशिष्ट वस्त्वेकदेशत्वात् स्वस्मिन् स्वनिष्ठत्वाभावमालक्ष्याहमेव सर्वभूतान्तरात्मा भगवानित्यनुसंहितवानित्याशयेन तस्य विशेषणं सर्वभूतात्मभूतमित्युक्तम्।।४२।।

ततस्तावेव हिरण्यकशिपु हिरण्याक्षौ द्वितीये-जन्मनि कैकस्यां भार्यायां विश्रवस्सुतौ जातौ। तत्र ज्येष्ठो रावणोऽनुजस्तु कुम्भकर्णः तावुभौ सर्वान्[1] लोकानुपतापयतः खेदयत इति सर्वलोकोपतापनौ।।४३।।

तत्रापि जन्मनि भगवान् राघवः श्रीरामो[2] भूत्वा शापमुक्तये तयोः शापोत्तारणाय न्यहनत्, अनेन हितकारित्वं भगवतः सूचितम्। कोऽसौ राघवः? कीदृशं तस्य[3] वीर्यम्? कथं वा हतवान्? इत्यत्राह रामवीर्यमिति। वीर्यग्रहणं तज्जन्मादीनां अप्युपलक्षणं तदवतारतद्वीर्यादिकं सर्वं, हे प्रभो! मार्कण्डेयमुखाच्छ्रोष्यसि, अतो नात्र तन्मया वितन्यते इति भावः।।४४।।

1 A.B.T सर्वलो° 2 A.B.T omit श्रीरामः 3 A.B.T तद्वी°

**विज०** नाना यातनाः बहुविधतीव्र वेदना कारणानि।।३७-४१।।

सर्वभूतान्तरात्मनि चराचरान्तर्यामिणि हरावेव भूतं स्थितम्।।४२।।

नन्वासुरी योनिं यातम् इत्ययं शापः आसुरयोनिप्राप्तिहेतुः तत्र जयविजययोः दित्यां जन्म तदनुगुणं केशिन्यादिजन्म कथं युज्यते? "राक्षसीमासुरी चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः" (भ.गी.9-12) इति भिन्न योनित्वादितीमां मन्दाशंकां "हिरण्यकशिपुर्भूतममन्यत मृतौ हरिम्। अतो भयानको जातस्तत्र राजानमेव च। मत्वा राजेव सञ्जातः कृष्णं चक्रादिलक्षणैः। मृतिकाले हरिं चैव मत्वा भक्त्यैव केवलम्। द्वास्थत्वं हरिमाविश्य प्रापैव मनुजोऽपि तु" (गारुडे) इत्यनेन परिहर्तव्यम्। "यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेबरम्। तं तमेवैति कौन्तेय!" (भ.गी.8-6) इत्यादेः। सुरविरुद्धत्वमुभयोः सममित्यतो हरिद्वेषश्च सम इति भावः।।४३,४४।।

**तावेव क्षत्रियौ जातौ मातृष्वस्रात्मजौ तव।**[1]
**अधुना शापनिर्मुक्तौ कृष्णचक्रहतांहसौ ।।४५।।**
**वैरानुबन्धतीव्रेण ध्यानेनाच्युत सात्मताम्।**[2]
**नीतौ पुनर्हरेः पार्श्वं जग्मतुर्विष्णुपार्षदौ।।४६।।**

**युधिष्ठिर उवाच**

**विद्वेषो दयिते पुत्रे कथमासीन्महात्मनि।**
**ब्रूहि मे भगवन्येन प्रह्लादस्याच्युतात्मता ।।४७।।**[3]

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवेय्यासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
सप्तमस्कन्धे प्रह्लादचरितोपक्रमे प्रथमोऽध्यायः।।१।।

**श्रीध० ताविति**। कृष्णचक्रेण हतमंहो ययोस्तौ। तयोः पापमेव हतं[4] न तु तावित्यर्थः।।४५,४६।।

**विद्वेष** इति। येन कारणेन प्रह्लादस्याच्युतात्मता अच्युतैकचित्तत्वं तदपि बूहीति शेषः।।४७।।

इति श्रीमद्भागवत सप्तमस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां प्रथमोऽध्यायः।।१।।

1 M,Ma वद्य° 2 H,M,Ma V,W साम्यताम् 3 M,Ma °देऽप्यच्यु° 4 H V °याहतं

**वीर०** तावेव रावणकुम्भकर्णावेवाद्य अधुना तृतीये जन्मनि तव मातृष्वस्रात्मजौ क्षत्रियौ शिशुपाल-दन्तवक्त्रौ जातावेव[1] शापेन निर्मुक्तौ श्रीकृष्णस्य चक्रेण हतमंहः पापमूलकं शरीरं ययोस्तौ।।४५।।

वैरानुबन्धेन तीव्रमुत्कृष्टं यद्ध्यानं भगवद्विषयकं तेनाच्युतस्य भगवतः सात्मतां आत्मनो भावः प्रकारः आत्मता, समाना आत्मता सात्मता, तां साधर्म्यमित्यर्थः। नीतौ प्रापितौ पुनर्विष्णु पार्षदौ भूत्वा हरेः पार्श्वं जग्मतुः।।४६।।

यदुक्तं "हिरण्यकशिपुः पुत्रं प्रह्लादं केशवप्रियम् जिघांसुः" (भाग. 7-1-41) इत्यादिना प्रह्लादस्य केशवप्रियत्वं पितुः[2] हिरण्यकशिपोः प्रह्लादे मरणोद्योगपर्यन्तो द्वेषश्चेति तद्विस्तरेण बुभुत्सुः पृच्छति युधिष्ठिरः- **विद्वेष** इति। दयिते नितरां प्रीतिविषये तत्रापि महात्मनि सद्गुणाश्रये हिरण्यकशिपोः विद्वेषः कथमासीत्केन हेतुना आसीदित्यर्थः। तदेतत् या च येन कारणेन प्रह्लादस्य अच्युतात्मता अच्युते भगवति आत्मा मतिर्यस्य सोऽच्युतात्मा, तस्य भावस्तत्ता, तां च हे भगवन्! मे मह्यं ब्रूहि।।४७।।

इति श्रीमद्भागवत सप्तमस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्दिकायां

व्याख्यायां प्रथमोऽध्याय ।।१।।

**विज०** वैरानुबन्धेन वैरयुक्तभक्त्या तीव्रेण अत्युत्कटेन अच्युतसाम्यतां श्रीकृष्ण स्वरूपप्रवेशलक्षणं हरेः वैकुण्ठगमनानन्तरं पार्षदौ जयविजयाख्यमूलरूपेणैकीभूय हरेः पार्श्वं जग्मतुरित्यन्वयः। "अनुबन्धस्तु भक्तिः स्याद्बन्धः स्नेह उदाहृतः" (प्रकाशिकायाम्) इत्यभिधानादनुबन्ध शब्दस्य नैरन्तर्यार्थोऽनुपपन्न इति।।४५,४६।।

दयितत्वं महात्मत्वं च प्रश्नस्य कारणं येन केन निमित्तेन अच्युते आत्मा मनो यस्य स तथा तस्मिन्।।४७।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थ-विरचितायां पदरत्नावल्यां

टीकायां सप्तमस्कन्धे प्रथमोऽध्याय ।।१।।

* * * *

1 W °वधूना 2 A,B,T omit पितुः

# द्वितीयोऽध्यायः

नारद उवाच

भ्रातर्येवं विनिहते हरिणा क्रोडमूर्तिना।
हिरण्यकशिपू राजन् पर्यतप्यद्रुषा शुचा।।१।।

आह चेदं रुषा घूर्णः[1] सन्दष्टदशनच्छदः।
कोपोज्ज्वलद्[2]भ्यां चक्षुर्भ्यां निरीक्षन् धूम्रमम्बरम्।।२।।

करालदंष्ट्रोग्रदृष्ट्या दुष्प्रेक्ष्य भ्रुकुटीमुखः।
शूलमुद्यम्य सदसि दानवानिदमब्रवीत्।।३।।

भो भो दानवदैतेया द्विमूर्धस्त्र्यक्ष शम्बर।
शतबाहो हयग्रीव नमुचे पाक इल्वल।।४।।

विप्रचित्ते मम वचः पुलोमन् शकुनादयः।
श्रुणुतानन्तरं सर्वे[3] क्रियतामाशु मा चिरम्।।५।।

सपत्नैर्घातितः क्षुद्रैर्भ्राता मे दयितः सुहृत्।
पार्ष्णिग्राहेण हरिणा समेनाप्युपधावनैः।।६।।

तस्य त्यक्तस्वभावस्य घृणेर्मायावनौकसः।
भजन्तं भजमानस्य बालस्येवास्थिरात्मनः।।७।।

मच्छूलभिन्नग्रीवस्य भूरिणा रुधिरेण वै।
रुधिरप्रियं[4] तर्पयिष्ये भ्रातरं मे गतव्यथः।।८।।

---

1 M,Ma पूर्णः 2 H,M,Ma,V °ज्वलाभ्यां 3 M,Ma सर्वैः 4 M,Ma युद्धप्रियं

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्वितीये विष्णुरोषेण लोकं विप्लाव्य दानवैः। तद्धतभ्रातृपुत्रदीनितिहासैरसान्त्वयत्।।

भगवद्द्वेष एव तद्द्वेषेऽपि कारणमित्याशयेनाह - **भ्रातरीत्यादिना**। एवं देवपक्षपातेन।।१।।

**आहेति**। कोपेन उत् अतिशयेन ज्वलद्भ्यां कोपाग्निधूमेनैव[1] धूम्रमम्बरं निरीक्षमाणः।।२।।

**करालेति**। करालदंष्ट्राभिः युक्तयोग्रया दृष्ट्या दुष्प्रेक्ष्यं भ्रुकुटीयुक्तं मुखं यस्य सः।।३-५।।

**सपत्नैरिति**। समेनाऽप्युपधावनैः भजनैः निमित्तभूतैः पार्ष्णिग्राहेण सता।।६।।

**तस्येति**। एवं त्यक्तः स्वभावः समत्वं येन तस्य घृणेः शुद्धतेजोमयस्यापि मायया वनौकसो वराहरूपस्य सतः। अस्थिरात्मनोऽव्यवस्थितचित्तस्य कुतः? यो यो भजति तं तं भजमानस्यानुसरतः।।७।।

**मच्छूलेति**। तस्य रुधिरेण यावत्तर्पयिष्यामि तावद्यूयं भुवं यातेति तृतीयेनान्वयः।।८।।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं तयोः केशवात्मत्वविद्वेषविस्तर बुभुत्सुना पृष्टो भगवान्नारद आह-**भ्रातरीति**। एवं देवपक्षपातिना क्रोडमूर्तिना वराहरूपिणा भगवता भ्रातरि हिरण्याक्षे विनिहते सति, हे राजन्! रोषेण[2] शुचा शोकेन च अर्पितो[3] व्याप्तः[3] पर्यतप्यत् परितापञ्चकार[4]।।१।।

इदं वक्ष्यमाणमाह[5] च। कथम्भूत आह तत्राऽऽह, रुषा पूर्णः अत एव सन्दष्टः दशनच्छदः अधरो येन कोपेन उदतिशयेन ज्वलद्भ्यां चक्षुर्भ्यां धूम्रमम्बरं आकाशं कोपाग्निधूमेनैव धूम्रमम्बरं निरीक्षमाणः।।२।।

करालदंष्ट्राभिः भयङ्करदंष्ट्राभिः युक्तया उग्रया दृष्ट्या दुष्प्रेक्ष्यं दुर्निरीक्ष्यं भ्रुकुटीयुक्तं मुखं यस्य सदसि सभायां शूलमुद्यम्य उद्धृत्य[6] अनेन स्वसामर्थ्यं सूचितम्[6]। दानवान्प्रति इदमुवाच।।३।।

तदेवाह **भो भो** इति। सामान्येन तावत्सम्बोधनं भो भो दानवा दैतेयाश्चेति, विशेषतः सम्बोधनं द्विमूर्धन्नित्यादिना।।४।।

---

1. A °ग्नीन्धनेनैव 2. W रुषा 3- -3 W omits 4- -4 W omits 5. W °मुवाच 6- -6 W omits

एते[1] सर्वे यूयं प्रथमं मम वचः शृणुत। ततः श्रवणसमनन्तरमेव[2] मदुक्तमाशु युष्माभिः क्रियतां चिरं विलम्बं मा कुरुत।।५।।

किं तत्राह-**सपत्नैरिति**। समेन देवासुरवर्गयोः समेनाऽपि उपधावनैः अनुवर्तमानैः पार्ष्णिग्राहेण पृष्ठोपोद्बलकेन देवानां सहायभूतेनेत्यर्थः। हरिणा प्रयोज्यकर्त्रा मत्सपत्नैः प्रयोजककर्तृभिः क्षुद्रैः अल्पबलैः देवैः प्रियः सुहृच्च मे भ्राता हिरण्याक्षो घातितः।।६।।

तस्य हरेः कथम्भूतस्य घृणेः सूर्यवत्तेजोमयविग्रहस्यापि मायावनौकसः मायोपात्तवराहरूपस्य अत एव त्यक्तः स्वभावो येन तस्य, देवतारूपत्यागादिति भावः। भजन्तं स्वमनुवर्तमानं भजमानस्य अनुवर्तमानस्य बालस्येवास्थिरात्मनः अव्यवस्थितचित्तस्य।।७।।

एवम्भूतस्य हरेर्मम शूलेन भिन्ना ग्रीवा यस्य तस्य भूरिणा रुधिरेण रुधिरप्रियं मम भ्रातरं गतव्यथोऽहं यावत्तर्पयिष्ये तावद्यूयं भुवं यातेत्यन्वयः।।८।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हिरण्यकशिपुः स्वतो विष्णुभक्तोऽसुरावेशात्तद्द्वेषीत्ययं विवेकः तद्वचनेन ज्ञातुं शक्य इत्येतदर्थमस्याध्यायस्य प्रारम्भः। तत्र प्रह्लादनाम्नि पुत्रे द्वेषः कथं पितुरभूदित्यस्य प्रश्नस्य परिहारं वक्तुमारभते- **भ्रातरीति**।।१।।

हरिविषयरुषा भ्रातृविषयशुचा दशनच्छदः ओष्ठः चक्षुषो रोचिषा यथा धूम्रं भवति तथा पश्यन्।।२।।

भ्रुकुट्या नीलशिरया युक्तमुखः।।३।।

हे पाक!।।४-५।।

क्षुद्रैरल्पैः कपटभिर्वा पार्ष्णिग्राहेण पृष्ठावेक्षकेण बालकेन "देवानां दानवानां च सामान्य मधिदैवतम्" इत्यतः समेनाप्युपधावनैः स्वोदर्चनैः विषयेण।।६।।

त्यक्तस्वभावस्य त्यक्तसाम्यावस्थस्य तत एवास्माभिः घृणेः शोच्यस्य "घृणिर्विभावसौ सूर्ये रश्मौ शोच्ये विघर्षणे" इत्यभिधानम्। भजन्तं स्वात्मानं सेवमानं भजमानस्य प्रत्युपकारं कुर्वतः।।७,८।।

---

1 W omits एते 2 A.B.T °णान°

तस्मिन् कूटेऽहिते नष्टे कृत्तमूले[1] वनस्पतौ।
विटपा इव शुष्यन्ति विष्णुप्राणा दिवौकसः।।९।।

तावद्यात भुवं यूयं ब्रह्मक्षत्र[2]समेधिताम्।
सूदयध्वं तपो यज्ञ स्वाध्याय व्रतदानिनः[3]।।१०।।

विष्णुर्द्विजक्रियामूलो[4] यज्ञो धर्ममयः पुमान्।
देवर्षि पितृभूतानां धर्मस्य च परायणम्।।११।।

यत्र यत्र द्विजा गावो वेदा वर्णाश्रमाः क्रियाः।
तं तं जनपदं यात सन्दीपयत वृश्चत।।१२।।

इति ते भर्तृनिर्देशमादाय शिरसाऽऽदृताः।
तदा[5] प्रजानां कदनं विदधुः कदनप्रियाः।।१३।।

पुरग्रामव्रजोद्यान क्षेत्रारामाश्रमाकरान्।
खेटखर्पट[6]घोषांश्च ददहुः पत्तनानि च।।१४।।

केचित्खनित्रैर्बिभिदुः सेतुप्राकारगोपुरान्।
आजीव्यांश्चिच्छिदुर्वृक्षान् केचित्परशुपाणयः।
प्रादहन् शरणान्यन्ये प्रजानां[7] ज्वलितोल्मुकैः[8]।।१५।।

एवं विप्रकृते लोके दैत्येन्द्रानुचरैर्मुहुः।
दिवं देवाः परित्यज्य भुवि चेरुरलक्षिताः।।१६।।

**श्रीध०** ननु देवैस्तद्वधः कारितोऽतस्ते किं. न हन्यन्ते तत्राह-**तस्मिन्निति**। तस्मिन् हरौ[9] कूटे कपटे अहिते प्रतिपक्षे कूटमहितं यस्येति वा। नष्टे अदृष्टे सति देवाः शुष्यन्ति। स्वयमेव नाशं यास्यन्ति। कुतः? विष्णुरेव प्राणो येषां ते। यथा[10] कृत्तमूले वृक्षे शाखाः स्वयं शुष्यन्ति तद्वत्[10]।।९।।

1 M.Ma कृन्त° 2 A,B,G,J,T विप्र° 3 M.Ma दानकान् 4 W °मूल° 5 A,B,G,J M.Ma,T तथा 6 A,B,G,J,M.Ma,T °र्वं° 7 M.Ma °न°

8- -8 W प्रजाः जज्वलुरुल्मुकैः 9 H,V omit हरौ 10- -10 H,V omit

**तावदिति**। तपोयज्ञादियुक्तान् सूदयध्वं घातयत।।१०।।

ननु तैः किमपराद्धं तत्राह-**विष्णुरिति**। द्विजानां क्रियानुष्ठानं मूलं यस्य सः। यतोऽसौ यज्ञो धर्ममयश्च। देवादीनां[1] परायणं परमआश्रयः। अतो यज्ञरूपस्य विष्णोः मूलत्वात् मामनादृत्य तदाश्रयणाच्च ते वध्या इति भावः।।११।।

तस्मात्परमं मन्त्रं शृणुतेत्याह-**यत्र यत्रेति**। सन्दीपयत दहत। वृश्चत आजीव्यानां[2] वृक्षाणां[2] छेदं कुरुत। लुनीतेत्यर्थः[3]।।१२,१३।।

**पुरेति**। पुरं हट्टादिमत्। ग्रामस्तद्रहितः। व्रजो गवां वासः। उद्यानं कृत्रिमं वनं, क्षेत्रं व्रीह्यादेः। आरामो अकृत्रिमं वनम्। आश्रमः ऋषीणां स्थानम्। आकरो रत्नादीनाम्। खेटः कृषीवलानां वासः। खर्पटो[4] गिरिद्रोण्याश्रयो ग्रामः। घोष आभीराणां वासः। पत्तनं राजधानी।।१४।।

**केचिदिति**। खनित्रैः खननसाधनैः। आजीव्यानुपजीव्यान् जम्ब्वाम्रकपित्थादीन्[5], शरणानि गृहान्।।१५।।

**एवमिति**। विप्रकृते उपद्रुते यज्ञभागानां अभावाद्दिवं परित्यज्य अलक्षितास्सन्तो[6] भुवि चेरुः[6]।।१६।।

**वीर०** ननु देवैः तद्वधः कारितः। अतस्ते किं न हन्यन्ते? तत्राह-**तस्मिन्निति**। अस्माकमर्हिते शत्रौ कूटे देवानामाश्रये तस्मिन् विष्णौ नष्टे सति यथा वनस्पतौ छिन्नं मूलं यस्य तस्मिन् सति शाखाः शुष्यन्ति, तद्वद्विष्णुरेव प्राणो जीवनहेतुः येषां ते, दिवौकसः देवाः स्वयमेव नङ्क्ष्यन्ति अतः तन्नाशाय न पृथग्यत्नः कार्य इति भावः।।९।।

यावत्तर्पयिष्ये तावद्यूयं ब्रह्मक्षत्रकुलाभ्यां समेधितां ब्रह्मक्षत्रबहुलामित्यर्थः। भुवं पृथिवीं यात। गत्वा[7] किं कर्तव्यम्? तत्राह-सूदयध्वमिति। तपआदीनां द्वन्द्वे ततो मत्वर्थीय इनिः तप आदिभिः युक्तान् सूदयध्वं घातयत।।१०।।

ननु तैः किमपराद्धम्? तत्राह-**विष्णुरिति**। द्विजानां क्रियामूलो यो यज्ञः स एव धर्मस्तन्मयस्तदाकृतिः पुमान् विष्णुर्द्विजक्रिया मूल इति भिन्नपदत्वे द्विजानां क्रिया स्मार्ती मूलं यस्य श्रौतयज्ञरूपधर्ममयश्चेत्यर्थः।

---

1- -1 H.V omit 2- -2 H.V omit 3- -3 H.V omit 4 A,B,J ०र्व० 5- -5 H.V omit 6- -6 H.V omit 7 A,T यात्वा

पुमान् श्रौतस्मार्तधर्मशरीरक इत्यर्थः। तथा देवर्षिपितृभूतानां धर्मः देवाद्युद्देश्यको यो धर्मस्तस्य च परायणं परमआश्रयः निर्वाहकः देवाद्युद्देश्यको यो धर्मस्तदाश्रय इत्यर्थः। द्विजेषु तत्तत्कर्तृकयज्ञादिधर्मेषु च विनाशितेषु शरीर विनाशेन विष्णुरपि विनाशितो भवति तद्विनाशे चाश्रयविनाशादाश्रिते धर्मे विनष्टे सति यज्ञधर्मीयचरुपुरोडाशादि-हविर्भागादिरूपजीविकाया अभावाद्देवादयोऽपि स्वयमेव विनष्टा भवन्तीति भावः।।११।।

तस्माद्यत्र यत्र देशे ब्राह्मणादयो वर्तन्ते तं तं जनपदं देशं यात गच्छत सन्दीपयत दहत वृश्चत लुनीत।।१२।।

इतीत्थं भर्तुर्हिरण्यकशिपोः निर्देशमाज्ञां आदृता आदरयुक्ताः शिरसा आदाय स्वीकृत्य कदर्नाप्रया· कदनं भूतद्रोहस्तद्दुःखं वा तदेव प्रियं येषां ते दानवा दैतेयाश्च प्रजानां कदनं चक्रुः।।१३।।

कदनक्रियामेव प्रपञ्चयति-**पुरेति**। तत्र पुरं हट्टादिमत्, ग्रामस्तद्रहितः, व्रजो गवां वासः, उद्यानं कृत्रिमं वनं, क्षेत्रं व्रीह्यादेः, आरामः अकृत्रिमं वनं, आश्रमं ऋषीणां स्थानं, आकरो रत्नानां वासः, खेटः कर्षकग्रामः, खर्पटा गिरिद्रोण्याश्रयो ग्रामः, घोष आभीराणां वासः, पत्तनं[2] राजधानी एतानि केचिद्दहुः अग्निप्रक्षेपेण दग्धवन्तः।।१४।।

केचित्खनित्रैः खननसाधनैः सेतून् प्राकारान् गोपुरांश्च[3] बिभिदुः तत्र सेतवो जलबन्धनार्थं[4] निर्मितास्तटाकादयः, केचिच्च परशुः पाणौ येषां ते आजीव्यान् उपजीव्यान् फलिनश्चूतादिवृक्षांश्च चिच्छिदुः, अन्ये च शरणानि गृहान् प्रादहन् प्रदग्धवन्तः, केचिच्चोल्मुकैः सांगारकाष्ठैः प्रजानां जनानां (प्रजाः जनाः) जज्वलुः।।१५।।

एवं दैत्येन्द्रस्य हिरण्यकशिपोरनुचरैः मुहुर्मुहुः लोके विप्रकृते उपद्रुते सति सर्वे देवाः स्वर्गं परित्यज्य असुरैः अलक्षिताः तत्र तत्र भुवि प्रदेशे विचेरुः जग्मुः।।१६।।

**विज०** अन्तर्दुष्टं दृश्यमानरमणीयं कूटं अस्थिरात्मनः कूटत्वादिभाववचनं मोहनार्थं असुरमतं उदीरितमिति ज्ञातव्यम्, तदुक्तम्-" विष्णुभक्तेश्च तज्ज्ञानात् अन्यतो मुक्तिवाचकाः। विष्णोर्गुणाभासवाचः श्रीब्रह्मादेस्तथा क्रमात्।। विष्ण्वादिद्वेषिणश्चैव सुखवाचस्तथाखिलाः। मोहनार्थाः समुद्दिष्टा स्तथाऽर्थद्योतका स्तथा।।" (प्रकाशसंहितायाम्) इति।।९,१०।।

---

1 A,B,T °र्व° 2 W °ट्ट° 3 A,B,T add सेत्वादींश्च 4 A,B,T °न्धार्थं

द्विजक्रियामूलः द्विजाश्च यज्ञादिक्रियाश्च मूलं यस्य स तथा, भक्तिज्ञानादिमन्तरेण केवलं यागादिक्रियया प्रसन्नो भवतीति एतदासुरं मतम् "विष्णुभक्तेश्च तज्ज्ञानादन्यतो मुक्तिवाचकाः" (प्रकाशसंहितायाम्) इत्येतदत्रापि प्रमाणम्। द्विजैः क्रियमाणां यागादिक्रियां मूलयति प्रतिष्ठापयति इति, द्विजक्रियामूल इत्येतत् देवमतम्। "मूल प्रतिष्ठायाम्" इति धातुः, इज्यत इति यज्ञः, धर्ममयः धर्मप्रधानः, दानादिधर्मेण प्रसीदतीत्येतदप्यासुरमतम्। "यथार्थद्योतकः" इति वचनात्। धारकतम इत्यन्योऽर्थः। परायणम् उत्तमाश्रयं इत्येतद्देवमतम्।।११।।

सन्दीपयत दहत, वृश्चत छिनत्त।।१२।।

कदनं "कद हिंसायाम्"।।१३।।

गवामावासस्थानं व्रजः गोपालवसतिर्वा, आश्रमो मुनिनिवासः, आकरो रत्नाद्युत्पत्तिस्थानं, खेटः नाट्यस्थानं, खर्वटो वसनविक्रयस्य स्थानं, घोष आभीरपल्लिः, वणिग्भिरधिष्ठितं पत्तनम्।।१४।।

आजीव्यान् वृक्षान् नारिकेलक्रमुकान् पनसादीन्।।१५।।

विप्रकृते विपरीतमापादिते विनाशिते।।१६।।

**हिरण्यकशिपुर्भ्रातुः सम्परेतस्य दुःखितः।**
**कृत्वा कटोदकादीनि[1] भ्रातृपुत्रानसान्त्वयत्।।१७।।**

**शकुनिं शम्बरं धार्ष्टिं[2] भूतसन्तापनं वृकम्।**
**कालनाभं[3] महानाभं हरिश्मश्रुं[4] मदोत्कचम्।।१८।।**

**तन्मातरं रुषद्भानुं[5] दितिं च जननीं गिरा।**
**श्लक्ष्णया देशकालज्ञ इदमाहासुरेश्वरः[6-6]।।१९।।**

**हिरण्यकशिपुरुवाच**

**अम्बाम्ब! हे वधूः पुत्रा वीरं मार्हथ शोचितुम्।**
**रिपोरभिमुखे श्लाघ्यः शूराणां वध ईप्सितः।।२०।।**

1 H,V तिलोद°, W करोद° 2 A,B,G,J,M,Ma,T धृष्टं 3 M,Ma °नेमि 4 A,B,G,J,T °श्रुमथोत्कचम; M, Ma °श्रुमथोकलं 5 A,B,G,J,T रुषा भानुं M,Ma रुशद्भानुं 6- -6 A,B,G,J,M,Ma,T °माह जनेश्वर।

**भूतानामिह संवासः प्रपायामिव सुव्रते।**
**दैवेनैकत्र नीतानामुत्रीतानां स्वकर्मभिः[1]।।२१।।**

**नित्य आत्माव्ययः शुद्धः सर्वगः सर्ववित्परः।**
**धत्तेऽसावात्मनो लिङ्गं मायया विसृजन्गुणान्।।२२।।**

**यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव।**
**चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते चलतीव[2] भूः।।२३।।**

**एवं गुणैर्भ्राम्यमाणे मनस्यविकलः पुमान्।**
**याति तत्साम्यतां भद्रे ह्यलिङ्गो लिङ्गवानिव ।।२४।।**

**श्रीध०** तदेवं प्रजानां कदनं दानवेषु कुर्वत्सु स्वयं स्वर्गस्वाराज्यादि[3] साधयितुं तपस्तप्तुकामः प्रथमं यत्कृतवान् तदाह-**हिरण्यकशिपुरि**त्यादिना। [4]तिलोदकं प्रेताय प्रदेयं तिलैस्सहितमुदकम् कटोदकादीनिति पाठान्तरेऽपि तिलोदकमित्येव ज्ञेयम्[4]। आदिशब्दात्प्रेतश्राद्धादिकम्।।१७-१९।।

**अम्बेति।।** हे वधूरिति भ्रातुर्भार्यां सम्बोधयति।।२०।।

भवतु नाम तस्य श्लाघ्यो वधः तथापि अस्माकं तावद्बन्धुर्गत एवेति चेत्तत्राह **भूतानामिति।** दैवेन प्राचीनकर्मणा एकत्र नीतानां संयोजितानां पुनश्च स्वैः स्वैः[5] कर्मभिः उन्नीतानां वियोजितानाम्।।२१।।

एवं [6]लोकदृष्ट्या शोकं निवार्य तत्त्वदृष्ट्या वारयति-**नित्य इति।** [7]आत्मा नित्यो मृत्युशून्यः, अव्ययोऽप-क्षयशून्यः, शुद्धो निर्मलः, [8]सर्वगः सर्वगतः सर्ववित्सर्वज्ञश्च। सर्वत्र हेतुः परो देहादिव्यतिरिक्तः अतो मृत इति कृश इति मलिन इति वियुक्त इत्यज्ञ इति च [9]मत्वा शोको न कार्य इत्यर्थः। कथं तर्हि तस्य संसारस्तत्राह-धत्त इति। आत्मनो मायया स्वविद्यया लिङ्गं [10]मूर्तीः धत्ते गुणानुच्चावचान् देहान् सुखदुःखादीन् वा विशेषेण सृजन् स्वीकुर्वन्। लिङ्गशरीरोपाधिः संसार इत्यर्थः।।२२।।

1 M,Ma तथाऽध्रुवः 2 M,Ma भ्रमतीव 3 A,B,J omit स्वां 4- -4 A,B,J कटोदकं प्रेताय प्रदेयमुदकम्। 5 B omits स्वै 6 A J लौकिक 7 B,H,V omit आत्मा 8 A,B,J omit सर्वगः 9 H,V omit मत्वा 10 H,V omit मूर्तीः

एतत्सदृष्टान्तं प्रपञ्चयति-**यथेति** चतुर्भिः। तरवः प्रतिबिम्बिताः उपाधिधर्मा उपहिते भवन्तीति दृष्टान्तमुक्त्वा ग्राहकधर्मा[1-]ग्राह्ये भवन्ति[-1] इति दृष्टान्तमाह-चक्षुषेति।।२३।।

**एवमिति**। अविकलः परिपूर्ण एव तत्साम्यतां मनस्समतामित्यर्थः।.२४।।

**वीर०** ततो दुःखितो हिरण्यकशिपुः सम्परेतस्य मृतस्य भ्रातुः हिरण्याक्षस्य[2-] करोदकादीनि प्रेतोद्देशेन करेण हस्तेन देयं सलिलं जलं करोदकं तत्प्रभृतीनि प्रेतोद्देशेन कर्तव्यानि कृत्वा भ्रातुः हिरण्याक्षस्य पुत्रान् असान्त्वयत्।।१७।।

भ्रातुः पुत्रानुद्दिशति-**शकुनिमिति**।।१८।।

तथा देशकालाभिज्ञोऽसुरेश्वरो हिरण्यकशिपुस्तेषां शकुन्यादीनां मातरं रुषद्भ्रानुं स्वमातरं दितिञ्च श्लक्ष्णया मृद्व्या निपुणया वा गिरा इदं वक्ष्यमाणमाह।।१९।।

तदेवाह-**अम्बाम्बे**त्यादिना, यावदध्याय समाप्ति। अम्बाम्बेति दितेः सम्बोधनम्, हे वधूरिति भ्रातुर्भार्यायाः[3], हे पुत्रा इति तत्पुत्राणाम्, वीरं हिरण्याक्षं प्रति शोचितुं यूयं नार्हथ कुतो यतो रिपोरभिमुखे शूराणां वधः श्लाघ्यः प्रशस्तः ईप्सितः प्रशस्तत्वेनाभिमत इत्यर्थः।।२०।।

भवतु नाम तस्य वधः श्लाघ्यः तथापि अस्माकं तावद्बन्धुर्गत एवेत्यत्राह-**भूतानामिति**। इह संसारे भूतानां संवासः सहावस्थानं प्रपायामिव प्रपिबन्त्यस्यामिति प्रपा, पान्थानां पिपासूनां जलादिपानेन विश्रान्त्यर्थं धार्मिकैर्निर्मिता शाला, तस्यां यथा पान्थानां सहावस्थानं अस्थिरं तद्वदिह भूतानामपीत्यर्थः। अस्थिरत्वे हेतुं वदन् भूतानि विशिनष्टि, स्वकर्मभिः हेतुभिः दैवेन तत्तज्जीवकर्मानुगणं प्रवृत्तेनेश्वरेणेत्यर्थः। एकत्र नीतानां संयोजितानां पुनरन्यत्र उन्नीतानां वियोजितानाम्।।२१।।

ननु जीवतामेव संयोगवियोगौ प्रपादिषु दृष्टौ, कथं पुनरजीवितोऽत्रैव दग्धस्य तत्र तत्र संयोगवियोगौ? इत्यत्राह-**नित्य इति**। देहस्यास्थिरत्वेऽप्यात्मनः स्थिरत्वात् तत्तत्कर्मायत्तशरीरत्यागोपादानाभ्यां तैस्तैः संयोगवियोगौ उपपन्नाविति भावः। तदेतदुपपाद्यते, आत्मा नित्यस्तत्र हेतुरव्ययः विनाशाद्यवस्थारहितः, तत्कुतः? शुद्धः प्रकृतिपरिणामानाश्रयस्वरूपः प्रकृतिपरिणामो हि प्रकृतिगतः तत्कुतः परदेहाद्विलक्षणः, तत्कुतः सर्ववित्

1- -1 धर्मा ग्राह्यो भवति 2- -2 W omits 3 W °तृभ्रा°

देहेन्द्रियमनःप्राणादीनां वित् अजडत्वेन देहाद्विलक्षण इति भावः। कथमेकदेशस्थः सर्वं वेत्ति? तत्राह-सर्वगः स्वधर्मभूतज्ञानद्वारा कृत्स्नदेहादिव्यापीति भावः। स्वतः एवम्भूतोऽप्यसावात्मा मायया स्वसम्बन्धिर्विचित्रपुण्य पापात्मककर्मणा गुणान् सत्त्वादीन् विसृजन् कर्मानुरूपं क्षोभयन्नित्यर्थः। आत्मनः स्वस्य कर्मफलभोगार्थीमति शेषः। लिङ्गं शरीरं धत्ते बिभर्ति गुणक्षोभस्य कर्मानुगुणत्वात् कर्मणः स्वात्मनः कर्तृत्वात् गुणविसर्गेऽपि कर्तृत्वमुक्तम्-गुणान्विसृजन्निति। उक्तविधोप्यनादिपुण्यपापात्मककर्मफलभोगाय तदनुगुणपरिणामसत्त्वादिगुण-परिणामात्मकं देहं बिभर्ति इत्यर्थः। तथा च तस्य तत्र तत्र कर्मायत्तदेहसौलभ्यात्तत्प्रयुक्ताविवेकस्यैव संयोगावियोगौ सम्भवत इति भावः।।२२।।

ननु नायमात्मा देहाद्विलक्षणः किन्तु स एव यतो देवोऽहं मनुष्योऽहमिति देहाद्यभेदेन प्रतीयते तत्राह-**यथेति।** देवोऽहमित्यादिप्रतीतिः भ्रान्तिरूपा न प्रमितिरूपेति भावः। तदेवोपपादयति-यथेति। यथा प्रचलता अम्भसा उदकेनोपधिना तरवो वृक्षा अपि चला इव कम्पमाना इव दृश्यन्ते यथा च भ्राम्यमाणेन चक्षुषा भूमिरपि[1] चलतीव दृश्यते, यथा तरुभूम्यादिचलनप्रतीतिः भ्रान्तिरूपेत्यर्थः।।२३।।

एवं तथा हे भद्रे, गुणैः सत्त्वादिगुणपरिणामात्मकैः देहेन्द्रियादिभिः सह, मनसि भ्राम्यमाणे व्याप्रियति, यद्वा, गुणैः शब्दादिभिः[2] विषयैः हेतुभिः, तदर्थमित्यर्थः। मनसि भ्राम्यमाणे देहं विषयीकुर्वति सति पुमान् जीवः स्वयमविकलोऽपि निरवयवोऽपि देहाद्भिन्नोऽपीत्यर्थः। तत्साम्यतां देहतुल्यतां याति देवोऽहं मनुष्योऽहं इति देहरूपेणात्मानं प्रत्येति इत्यर्थः। तत्तां यातीत्यनुक्त्वा तत्साम्यतां यातीति वदतोऽयमभिप्रायः। देवोऽहं मनुष्योऽहं इति देहाकारमात्मानं मन्यमानस्याऽपि कदाचित्तद्व्यतिरेक प्रतिपत्तिरस्त्येवेति, तदेव विशदयति-अलिङ्गो लिङ्गवानिवेति। लिङ्गाच्छरीरादन्यः अलिङ्गः आत्मा लिङ्गवानिवात्मानं प्रत्येति ममेदं शरीरं इत्येवंरूपेण लिङ्गप्रतिसम्बन्धीवात्मानं प्रत्येतीत्यर्थः। ममेदं शरीरमिति शरीराद्व्यतिरिक्तत्वेनात्मनः प्रतीतावपि देहात्मभ्रान्तिमतां तत्प्रतीतेः अस्फुटत्वद्योतनाय लिङ्गवानिवेति इवशब्दः प्रयुक्तः। अयं भावः, यद्यात्मनो देहाकारत्वेन प्रतीतिः प्रमितिरूपा स्यात्तर्हि तद्भिन्नत्वेन प्रतीतिः भ्रान्तिरूपा स्यात्, तच्चायुक्तम्, शरीरप्रतिभासदशायां तदप्रतीतिदशायां च सुषुप्त्यादौ अहमर्थस्यात्मनोऽनुवृत्तत्वेन प्रतीयमानत्वादिति।।२४।।

1. A,B,T भूरपि 2 A,B,T °र्दवि°

**विज॰** कटोदकं प्रेतमुद्दिश्य दीयमानमुदकम्।।१७,१८।।

तन्मातरं तेषां मातरं नाम्ना रुशद्भानुं दितिं जननीञ्च श्लक्ष्णया गिरा इदमाहेत्यन्वयः।।१९।।

हे वधूः! हे सहोदरभार्ये! हे पुत्राश्च परेण वध ऐहिकामुष्मिकजनश्लाघ्यो न भवतीति कृत्वा शोक उतात्रैव कञ्चित्कालं जीवानीति अभीष्टहान्या प्राप्तः, आहोस्वित्पितृमातृपुत्रभावस्य क्षणिकतेति तत्र प्रथमद्वितीयौ प्रत्याह रिपोरिति।।२०।।

तृतीयं मातरं एकां कटाक्षीकृत्याह **भूतानामिति**। इह कर्मभुवि दैवेन विधिनाऽन्यत्र हरिणा वा एकत्र नीतानां सम्मिलितानां उन्नीतानां पुत्रपौत्रादिसमृद्धिं प्रापितानां भूतानामेकत्र संवासः सहवासः। प्रपायां पानीयशालायामिव यथाऽध्रुवस्तथाऽनित्यो भवतीत्यन्वयः "प्रपा पानीयशालास्यान्मन्त्रशाला प्रतिश्रयः" (हला.को 1-142) इत्यभिधानम्।।२१।।

भूतानां सहवासोऽनित्यश्चेत्तर्हि केन सहवासो नित्यो भवतीत्याशङ्क्य सर्वगतत्वाज्जीवस्य मन-आदीन्द्रियाधारत्वाद्धरिणा सहवासो नित्यः "सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति, प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जयति" (छान्दो.उ.6-8-1) इत्यादिना सुप्तिमरणावस्थयोरपि सहस्थित्युक्तेः अन्यदा किं वक्तव्यमित्याशयेन दैवं मतमाह-**नित्य इति**। असौ हरिरात्मनो जीवस्य मन आदीन्द्रियज्ञानं धत्ते तस्याधारभूत इत्यर्थः। नित्यत्वादिकं स्वरूपत्वेनोच्यते, पर इति, जीवव्यावर्तकम् मायया स्वेच्छया वासनया वा गुणान् शब्दादीन् विसृजन् ददानः संसारिण इव चिदचिद्देहेन मन आदीनां नित्यसम्बन्धो युज्यत इत्यतः सर्वगत इत्युक्तम्। प्रपायां प्राणिसहवासवत् परमात्मनो देहसम्बन्धः अनित्य इत्याशयेनाऽऽसुरमतमप्यनेनोच्यते। गुणान् विसृजन् बुभूषु रसावात्मा आत्मनो भोगायतनं लिङ्गं कर्मज्ञानेन्द्रियपञ्चवायुमनसां समुदितरूपं शरीरं धत्ते; मायेत्युक्त्याऽनित्यो देहसम्बन्ध इति।।२२।।

इतोऽपि अविद्याबलात् ब्रह्मैव संसरतीत्येतदासुरं मतमित्याशयेनाह-**यथेति**। एवं गुणैःभ्राम्यमाणे इतस्ततश्चञ्चलीक्रियमाणे मनस्यविकलः पुमान्पूर्णपुरुषः श्रीनारायणः तस्य जीवस्य साम्यं दोषित्वं संसारित्वं यातीति प्रतीयते। कथमिव, लिङ्गवानिव जीव इव मनोदोषैराभासे ब्रह्मप्रतिबिम्बं जीवे दूषिते तद्विषयज्ञानहीने सति तन्महाभासिनो बिम्बभूतस्य ब्रह्मणोऽपि दुष्टत्वं कल्पयतीत्यर्थः। न चैतदुपपत्तिमदित्याह-अलिङ्ग इति।नीरूपं तस्मादघटिताविद्याकल्पितमित्यर्थः। अन्यत्र प्राकृतशरीररहितः, कथमिव? प्रचलिताम्भसा तरवोऽपि प्रचला इव दृश्यन्ते यथा, जलसञ्चलनाज्जले प्रतिबिम्बित वृक्षसञ्चलनात्तटस्थनिश्चलवृक्षसञ्चलनं कल्पयत्यज्ञस्तथेति।

नन्वत्र प्रतिबिम्बितवृक्षचलनेन तटस्थवृक्षचलनकल्पनमुन्मत्तकल्पनमेव। प्रत्यक्षेणान्यथा दृश्यमानत्वादित्युक्त्वा दृष्टान्तान्तरमाह-चक्षुषेति। यथा परिभ्रमतः पुरुषस्य भ्राम्यमाणेन चक्षुषा भूर्भ्रमतीव दृश्यते-"असमं समतामेति भ्रान्तिदृष्ट्यैव केवलम्। जीवेन ब्रह्म न समं तत्त्वदृष्ट्या कथञ्चन।" (षाड्गुण्ये) "यथोदचालनाद्वृक्षप्रतिबिम्ब प्रचालनात्। तटस्थवृक्षचलनं कल्पयेदबुधो नरः। तथा मनसिजेदोषैराभासे दूषिते नरे। आभासिनो ब्रह्मणश्च दोषमज्ञः प्रकल्पयेत्। आत्मनश्चक्षुषो भ्रान्त्या यथा पश्येद्भ्रमं भुवः। तथैव स्वात्मनो दोषाद्दोषवद्ब्रह्म पश्यति।।" (ब्रह्मतर्के) इत्येतत्प्रमाणसिद्धत्वादुक्त एवार्थो न त्वितरः। "विष्णुर्द्विजक्रियामूलः" (ब्राह्मे) इत्यारभ्योच्यमानं दैवमासुरञ्चेत्युभयमतज्ञापनाय "विप्रयज्ञादिमूलं तु हरिरित्यासुरं मतम्। हरिरेव हि सर्वस्य मूलं सम्यङ्मतं नृप" (ब्राह्मे) इत्येतद्वाक्यमाचार्यैः अत्रोदाहृतमुपर्यप्यनुसन्धानाय वेति।।२३,२४।।

**एष आत्मा विपर्यासो ह्यलिङ्गे[1] लिङ्गभावना।**
**एवं[2] प्रियाप्रियैर्योगो वियोगः कर्मसंसृतिः।।२५।।**

**सम्भवश्च विनाशश्च शोकश्च विविधः स्मृतः।**
**अविवेकश्च चिन्ता च विवेकास्मृतिरेव[3] च।।२६।।**

**अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।**
**यमस्य प्रेतबन्धूनां संवादं तं निबोधत।।२७।।**

**उशीनरेष्वभूद्राजा सुयज्ञ इति विश्रुतः।**
**सपत्नैर्निहतो युद्धे ज्ञातयस्तमुपासत।।२८।।**

**विशीर्णरत्नकवचं विभ्रष्टाभरणस्रजम्।**
**शरनिर्भिन्नहृदयं शयानमसृगाविलम्।।२९।।**

**प्रकीर्णकेशं[4] स्तब्धाक्षं[5] रभसा[6] दष्टदच्छदम्।**
**रजःकुण्ठमुखाम्भोजं छिन्नायुधभुजं मृधे।।३०।।**

---

1 H, V°लिङ्गो 2 A,B,G,J,T एष 3 M,Ma °क. 4 M,Ma वि 5 A,B,G,J,T ध्वस्ताक्षं 6. M,Ma संरम्भाद्°

**उशीनरेन्द्रं विधिना तथाकृतं पतिं महिष्यः प्रसमीक्ष्य दुःखिताः।**
**हताः स्म नाथेति करैरुरो भृशं घ्नन्त्यो मुहुस्तत्पदयोरुपाऽऽपतन्।।३१।।**

**रुदन्त्य उच्चैर्दयिताङ्घ्रिपङ्कजं सिञ्चन्त्य अस्रैः कुचकुङ्कुमारुणैः।**
**विस्रस्तकेशाभरणाः शुचं नृणां सृजन्त्य आक्रन्दनया विलेपिरे।।३२।।**

**श्रीध॰ एष** इति। लिङ्गभावना देहाभिमानः एष आत्मनो विपर्यासोऽन्यथाभावः। तमेवाह-प्रियैर्वियोगोऽप्रियैर्योगश्च कर्म च संसृतिश्च नानागर्भेषु प्रवेशः।।२५।।

**सम्भव** इति। ततश्च सम्भव उत्पत्तिः। विवेकस्यास्मृतिरननुसन्धानम्[2-] इति यावत्[-2] ।।२६।।

**अत्रेति।** अत्राऽपि शोकहेतुं विना वृथैवायं शोक इत्यस्मिन्नर्थे। प्रेतस्य मृतस्य कस्यचिद्[3] बन्धवस्तेषां च संवादं शृणुत।।२७।।

**उशीनरेष्विति।** उपासत तत्समीपे आवृत्त्य स्थिताः।।२८।।

**विशीर्णेति।** विशीर्ण रत्नमयं कवचं यस्य, विभ्रष्टान्याभरणानि स्रजश्च यस्य। शरेण निर्भिन्नं हृदयं यस्य। असृजा रक्तेनाऽऽविलं लिप्तम्।।२९।।

**प्रकीर्णेति।** प्रकीर्णाः केशाः यस्य। स्तब्धे[4-] निमेषशून्ये ईक्षणे यस्य। रभसा संरम्भेण दष्टो दच्छदः दन्तच्छदः ओष्ठो येन, रजसा कुण्ठमावृतं मुखाम्भोजं यस्य। छिन्नमायुधं भुजश्च यस्य।।३०।।

**उशीनरेन्द्रमिति।** तस्य पदयोः पादयोः उप समीपे आ समन्तात् अपतन्।।३१,३२।।

**वीर॰** एवं देहाद्विलक्षणस्य नित्यस्य आत्मनः कर्मपरिपाकानुगुणसत्त्वादिगुणपरिणामरूप देहसम्बन्धस्तदनुध्याननिमित्तस्तदभिन्नत्व प्रत्ययश्च भ्रमरूप इत्युक्तम्। अथ यथा देहसम्बन्धः तदनुध्याननिमित्ततदभेदभ्रमश्च यथा कर्ममूलकः एवं सुखदुःखादिकमपि सर्व कर्म मूलकमेवेत्याह-**एष इति।** अलिङ्गे लिङ्गादन्यस्मिन् शरीराद्भिन्ने आत्मनि लिङ्गभावना देहत्वेनानुध्यानं देवोऽहमित्यादि देहाभेदप्रतीतिरित्येष आत्मनो विपर्ययः अन्यथा प्रतीतिः कर्मसंसृतिः कर्मकृतसंसारो भवतीत्यर्थः[6-] [-6]। एवं प्रियाप्रियैरिष्टानिष्टवस्तुभिर्योगो वियोगश्च सुखदुःख[7]-स्वरूप इत्यर्थः।।२५।।

---

1 A,B,G,J,T °त्य° 2- -2 A B J omit 3 H V omit कस्यचित् 4- -4 A B J °ध्यस्त अक्षिणी 5- -5 A,B,J omit 6- -6 W omits 7 W °ख ट°

सम्भवः उत्पत्तिः विनाशो मरणं नानाविधः शोकः अविवेकः चिदचिदीश्वरयाथात्म्याविवेचनं चिन्ता विषयानुध्यानं विवेकस्यास्मृतिः क्वचिदाप्तोपदेशादिना जातस्यापि विवेकस्याननुसन्धानञ्चेत्येष सर्वोऽपि कर्मसंसृतिरेव कर्मकृतसंसाररूप एव स्मृतः।।२६।।

अत्र शोकनिमित्तमन्तरेणापि यः शोकः स व्यर्थ एवेत्यस्मिन्नर्थे इतिहासमप्युदाहरन्ति तत्त्वविदः। इतिहासं विशिनष्टि - पुरातनं न त्वाधुनिककपोलपरिकल्पितं यमस्य प्रेतबन्धूनां च संवादरूपं तमितिहासं निबोधत मत्तः[1] शृणुत।।२७।।

इतिहासमेवाह- **उशीनरेष्वित्यादिना**। उशीनरेषु देशेषु सुयज्ञ इति प्रसिद्धः कश्चिद्राजा बभूव। स च सपत्नैः शत्रुभिर्युद्धे निहतः तं निहतं ज्ञातयः सपिण्डाः उपासत परिवृत्योपविविशुः।।२८।।

कथम्भूतं विशीर्णं रत्नमयं कवचं यस्य, विभ्रष्टान्याभरणानि स्रक्च यस्माच्छरैर्नितरां भिन्नं हृदयं यस्य, असृजा रुधिरेण आविलं व्याप्तम्।।२९।।

प्रकीर्णाः केशा यस्य, स्तब्धे निश्चले अक्षिणी यस्य, संरम्भेण क्षोभेण दष्टो दच्छदः दन्तच्छदः ओष्ठो येन, रजसा कुण्ठमावृतं मुखाम्भोजं यस्य, मृधे युद्धे छिन्नमायुधं भुजश्च यस्य तम्।।३०।।

विधिना दैवेनैवं कृतमुक्तदशां प्रापितम् उशीनरेन्द्रं पतिं भर्तारं प्रसमीक्ष्य तत्पत्न्यः अतीव दुःखिताः। हे नाथ! वयं हताःस्मेति वदन्त्यः करैः पाणिभिः भृशं नितरामुरो मुहुर्मुहुर्घ्नन्त्यः तस्य भर्तुः पदयोश्चरणयो रुपापतन् समीपे समन्तादापतन्।।३१।।

तत उच्चैस्स्वरेण रुदन्त्यः कुचकुङ्कुमेनारुणैः कुचयोः पतित्वा ततः प्रस्रवद्भिरिति भावः। अस्रैः शोकजलबिन्दुभिः दयितस्य पत्युरङ्घ्रिपङ्कजं सिञ्चन्त्यः विभ्रष्टाः केशाः आभरणानि च यासां ताः शृण्वतां नृणामपि शुचं सृजन्त्यः उत्पादयन्त्यः आक्रन्दनया रोदनेन सह विलेपिरे विलापं चक्रुः।।३२।।

**विज॰** परमात्मानमेवं जानतः किम्फलम्? तत्राह-**एष** इति। अलिङ्गे प्राकृतदेहेन्द्रियादिरहिते अत एव परतन्त्रत्वादि सर्वदोषरहिते परमात्मनि या लिङ्गभावना प्राकृतदेहेन्द्रियात्मत्वादिचिन्ता एष आत्मनः स्वस्यैवा-योग्यस्य जनस्य विपर्यासस्तमःप्राप्तिलक्षणोऽनर्थो भवति, इहापि यथा परत्र तमोऽलक्षणोऽनर्थ, एवं प्रियाप्रियादियोगवियोगलक्षणापूर्वकर्मानुसारेण संसृतिर्भवति।।२५।।

1 A,B,T omit मत्त.

कीदृशीति विशेष्याह-**सम्भव** इति। अज्ञानपूर्तिपर्यन्तं पुनः पुनः सम्भवस्तस्मिन् सति स्वरूपविनाशः विवेकस्मृतिः अविवेकिन एव विवेकभ्रान्तिः ज्ञानित्वभ्रान्तिः असुरसिद्धान्तनिष्ठितस्य हिरण्यकशिपोरेवं देवसिद्धान्तोपन्यासेन कथं स्वबन्धुबोधनमितीयमाशङ्का-"अन्तर्हिरण्यकादीनां भक्तिरस्त्येव केशवे। असुरावेशतस्त्वन्यान् हरिस्तोतॄन् द्विषन्ति च।।" (पाद्मे) इत्यनेन परिहरणीयेति।।२६।।

पुत्रमित्रकलत्रादिभिः सह निवासो दैवाधीन इति मत्वा शोको न कार्य इत्यस्मिन्नर्थे इतिहास लक्षणकथाऽस्तीत्याह-**अत्रेति**। प्रेतबन्धूनां कस्यचिन्मृतस्य ज्ञातीनाम्।।२७, २८।।

असृगाविलं रुधिररूषितम्।।२९।।

स्तब्धाक्षं निश्चलनेत्रं, रजःकुण्ठं धूलिधूसरं मुखाम्बुजं यस्य स तथा तं, छिन्नौ आयुधयुक्तौ भुजौ यस्य स तथा तम्।।३०,३१।।

कुचकुङ्कुमधूलिभिः अरुणवर्णैः आक्रन्दनया उच्चैः[1] रोदनेन नृणां शुचः शोकान् विसृजन्त्यः कुर्वाणा विलेपिरे परिदेवनं चक्रुः।।३२।।

**अहोविधात्राऽकरुणेन नः प्रभो[2] भवान् प्रणीतो दृगगोचरां[3] दशाम्[4]।**
**उशीनरणामसि[5] वृत्तिदः पुरा, कृतोऽधुना येन शुचां विवर्धनः।।३३।।**

**त्वया कृतज्ञेन वयं महीपते, कथं विना स्याम सुहृत्तमेन[6] ते।**
**तत्रानुयानं तव वीर पादयोः, शुश्रूषतीनां दिश यत्र यास्यसि।।३४।।**

**एवं विलपतीनां वै परिगृह्य मृतं पतिम्।**
**अनिच्छतीनां[7] निर्हारमकोऽस्तं सन्न्यवर्तत।।३५।।**

**तत्र ह प्रेतबन्धूनामाश्रुत्य परिदेवितम्[8]।**
**आह तान् बालको भूत्वा यमः स्वयमुपागतः।।३६।।**

---

1 M,Ma उच्च° 2 M,Ma प्रभुः 3 M,Ma धिग° 4 M,Ma °रं दृशाम् 5 M,Ma °मपि 6 H,M,Ma,V omit ते 7 A °न्ती° 8. H,V°वनम्

## यम उवाच

**अहो अमीषां वयसाधिकानां, विपश्यतां लोकगतिं[1] विमोहः।**
**यत्रोद्भवस्तत्र गतं मनुष्यं स्वयं सधर्मा अपि शोचन्त्यपार्थम्[2]।।३७।।**

**अहो वयं धन्यतमा यदत्र त्यक्ताः पितृभ्यां न विचिन्तयामः।**
**अभक्ष्यमाणा अबला वृकादिभिः स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे।।३८।।**

**य इच्छयेशः सृजतीदमव्ययो य एव रक्षत्यवलुम्पते च[3] यः।**
**तस्याबलाः क्रीडनमाहुरीशितुश्चराचरं निग्रहसङ्ग्रहे प्रभुः।।३९।।**

**पथिच्युतं तिष्ठति दिष्टरक्षितं गृहस्थितं[4] तद्विहतं विनश्यति।**
**जीवत्यनाथोऽपि तदीक्षितो वने गृहेऽपि गुप्तोऽस्य[5] हतो न जीवति।।४०।।**

**श्रीध०** विलापमेवाह-**अहो** इति द्वाभ्याम्। अकरुणत्वमेवाहुः येन[6-] विधात्रा[-6] दृशामगोचरां दशां[7] भवान्प्रणीतां गमितः तेन विधात्रा त्वमधुना शुचां विवर्धनः कृतोऽसीत्यन्वयः।।३३।।

**त्वयेति।** हे[8-] महीपते![-8]! त्वया सुहृत्तमेन विना वयं कथं स्याम भवेम जीवेमेत्यर्थः। अतो हे वीर! यत्र त्वं यास्यसि तत्र तेऽनुयानमनुगमनं तव पादयोः शुश्रूषां कुर्वतीनामस्माकं दिश देहि।।३४।।

**एवमिति।** निर्हारं दाहार्थं नयनं अनिच्छन्तीनाम्[9-]। अस्तमस्ताचलं प्रति।।३५।।

**तत्रेति।** परिदेवनं[10] रोदनं स्वपुर्यामेव स्थित[11] आश्रुत्य श्रुत्वा तत्र स्वयमेवोपागतो यमो बालको[12-] भूत्वा[-12] तानाह। अहो इत्यादिना।।३६।।

**अहो** इति। अहो[13-] आश्चर्यम्[-13]। अस्मत्तो वयसाधिकानामपि लोकस्य विधिं जन्ममरणादिप्रकारं विपश्यतामपि विमोहः। विमोहमेवाह-यत्र यस्मादव्यक्तादागतस्तत्रैव गतमपार्थं शोचन्ति। तदुक्तं गीतासु "अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना" (भ.गी.2-28) इति। किञ्च स्वयमपि सधर्माः मृतेन सह समानो मृत्युलक्षणो धर्मो येषां तथाभूता अपि। अत्र[14-] आर्षत्वात् अनिजभावः[-14]।।३७।।

---

1 A,B,G,J,M,Ma,T विधि 2 A,B,G,J,T यत्रागत° 3 M,Ma omit च 4 A B G J M,Ma,T °हे 5 H,V गुप्तो विहतो 6 H V omit 7 H V add येन 8- -8 H,V omit 9- -9 H,V omit 10 A,B,J °वितम् 11 H,V omit स्थित 12- -12 H,V omit 13- -13 H V omit 14- -14 A B J omit

**अहो** इति। अबला दुर्बला अपि[1] वृकादिभिः अभक्ष्यमाणा वयं न[2] विचिन्तयामः[2]। तत्र हेतुः। यो अन्तः[3] गर्भं रक्षति स एव हि[4] विश्वं सर्वत्र रक्षिता[5]।।३८।।

ननु तस्य रक्षणे किं प्रयोजनं न किञ्चिदपि। किं तर्हि[6] क्रीडैव केवलमित्याह-**य** इति। य ईशः[7]। इदं विश्वं सृजति रक्षत्यवलुम्पते[8] संहरति च भो अबलाः, तस्येशितुश्चराचरं क्रीडासाधनमाहुः। अतः स एव निग्रहे संहारे सङ्ग्रहे पालने च प्रभुः।।३९।।

प्रभुत्वमेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां दर्शयति-**पथीति**। दिष्टेन दैवेनेश्वरेण रक्षितम्[9]। तद्विहतं[10] तेनेश्वरेण विक्षतं[11] उपेक्षितम्[12]। अस्य हतस्तेनोपेक्षितः।।४०।।

**वीर०** विलापमेवाह-अहो इति द्वाभ्याम्। नः[13] अस्माकं प्रभो! हे भर्तः! अकरुणेन निष्कृपेण विधात्रा ब्रह्मणा दृगगोचरां दशां भवान्नीतो गमितः नः दृशामगोचरां दशां[14] अवस्थां[15] प्रणीत इति वान्वयः। येन विधात्रा पुरा उशीनराणां तद्देशोद्भवानां जनानां वृत्तिदः जीवनप्रदः[16] कृतो भवानधुना तेनैव विधात्रा शुचां शोकानां विवर्धनः कृतोऽसि।।३३।।

हे महीपते! सुहृत्तमेन कृतज्ञेन च त्वया विना ते तव सम्बन्धिन्यो वयं कथं स्याम कथं जीवेमेत्यर्थः। अतस्त्वं यत्र यास्यसि तत्रैव, हे वीर! तव पादयोः शुश्रूषतीनां सेवां कर्तुं इच्छन्तीनां अस्माकम् अनुयानं सहगमनं दिश देहि।।३४।।

एवं मृतं पतिं परिगृह्य विलपन्तीनां निर्हारं दाहार्थं नयनमनिच्छन्तीनां सतीनां अर्कः सूर्यः अस्तं अस्ताचलं प्रति सन्न्यवर्तत सन्नकृष्टो बभूव।।३५।।

प्रेतस्य मृतस्य ये बन्धवस्तेषां परिदेवितं रोदनमाश्रुत्य स्वपुर्यामेव श्रुत्वा भगवान् यमः स्वयमेव बालको भूत्वा तत्राक्रन्दनस्थाने समुपागतस्तानाह, हेत्याश्चर्ये[17]।।३६।।

तदेवाह-**अहो** इत्यादिना। अहो इत्याश्चर्ये। किं तत् यद्वयसा मत्तः अधिकानामपि लोकविधिं जन्ममरणादिलोकपरिपाटीं पश्यतामप्यमीषां प्रेतबन्धूनां विमोहः[18] विशिष्टो मोह इत्येतत् विमोहमेवाह-यत्र भुवि

---

1 A,B J omit अपि 2- -2H V omit 3 A,B,J omit अन्तः 4 A,B,J omit हि विश्वं 5 H,V add रक्षति। 6. A,B,J तु 7 H,V omit ईशः 8 H,V omit अवलुम्पते 9 H,V omit रक्षितम् 10 A,B,J omit तद्विहतं 11 A,B,J °ह° 12- -12 H,V omit 13 A,B,T omit नः 14 A,B,T omit दशां 15 W omits अवस्थां 16 W °नद. 17- -17 W omits 18. A,B,T omit विमोहः

सम्भवः उत्पत्तिः तत्रैव गतं पुनस्तत्रैव लीनं मनुष्यं प्रति स्वयं सधर्माः मृतेन तुल्यं जन्ममरणादिभाजोऽपि अपार्थं मुधा शोचन्ति।।३७।।

न्यूनवयस्का अपि वयमेवाहो धन्याः श्रेष्ठाः, कुतः? यतः पितृभ्यां मातापितृभ्यां त्यक्ता अपि वयं न विचिन्तयामः चिन्तां न कुर्मः। अबला दुर्बला अपि बाला अपीति वा वृकादिभिरभक्ष्यमाणा वयम्, तत्र हेतुः, यो हि गर्भे रक्षति जन्मनः पश्चादपि स एव हि ईश्वरो रक्षिता रक्षिष्यति।।३८।।

कोऽसौ रक्षिता? तत्राह-**य** इति। य ईश्वरः स्वेच्छयैव न तु कर्मणा इदं कृत्स्नं जगत्सृजति, तर्हि सोप्यस्मदादिवत्किं जन्ममरणादिभाक्? नेत्याह-अव्ययः अपक्षयादिविकाररहितः कर्मायत्तप्राकृतदेहरहित इत्यर्थः। यश्च स्वेन सृष्टं जगद्रक्षति यश्च स्वेन रक्षितं जगत्पुनरवलुम्पते संहरति तर्ह्येवंविध ईश्वरः कर्मवश्य इवेत्थं किमर्थं करोति? तत्राह-हे अबलाः! तस्यैवं जगदुत्पत्त्यादिकर्तुरीशितुरीश्वरस्यान्तरात्मतया अवस्थितस्य चराचरात्मकमिदं जगत् क्रीडनं क्रीडापरिकरं जगद्व्यापारस्तस्य क्रीडारूप इति भावः। अत एव निग्रहसङ्ग्रहयोः निग्रहानुग्रहयोः प्रभुः समर्थः।।३९।।

प्रभुत्वमेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां दर्शयति **पथीति**। यथा पथिच्युतं विस्रस्तमपि दिष्टेन दैवेन ईश्वरेण रक्षितमनुगृहीतं सत् तिष्ठति पुनर्लब्धं भवतीत्यर्थः। गृहे स्थितमपि तेन दिष्टेन विहतं सद्विनश्यति। एवमरण्ये अनाथः रक्षकान्तररहितोऽपि तेन दिष्टेन ईक्षितो जीवति तत्सङ्कल्पेन जीवति। गृहे गुप्तोऽप्यस्य हतो अनेनोपेक्षितो न जीवति किन्तु विनश्यत्येव।।४०।।

**विज०** नो दृशां चक्षुषां अगोचरविषयं नीतः येन विधिना।।३३।।

स्याम सत्तां प्राप्नुमः तर्हि किं कर्तव्यमत्राह-तत्रेति। यत्र यास्यसि तत्र पादयोरनुयानं दिश।।३४।।

निर्हारं दाहम्।।३५।।

हेत्यनेन कथान्तरप्रसक्तिं सूचयति यमः।।३६।।

मा कुरुध्वं यूयं शोकं युष्मभ्यं सुयज्ञो दत्त इत्यादेरिति तत्राह-**अहो** इति। लोकविधिं जन्ममरणादि प्रकारं विपश्यताममीषां प्रेतबन्धूनां विमोहः अहो धिक् स्वयं सधर्माः जन्मदि समानधर्माः अमी बन्धवः यत्र यस्य मनुष्यदर्शनायोग्यात् स्वर्गनरकादन्यत्रोद्भव उत्पत्तिः देहयोगलक्षणाभूत्तं तत्र तत् अस्मच्चक्षुरगोचरं स्वर्गादिकं

गतं मनुष्यमनुशोचन्तीति यत्तदपार्थं व्यर्थं गतानुगतिकत्वात् "अदर्शनादिहायातः पुनश्चादर्शनं गतः" (भारते) इति वचनात् यत्र स्वर्गादेरुद्भवो यस्य स यत्रोद्भवस्तत्र गतं स्वर्गादिगतमिति वा अपार्थमनुशोचन्तीति वा सर्वस्य दैवाधीनत्वं स्वानुभवसिद्धमिति ज्ञापयत्यहो इति। यद्वा यत्र उत्पन्नं तत्र पृथिव्यां गतं मनुष्यशरीरं प्रति व्यर्थं अनुशोचन्तीति।।३७।।

तस्मात्सर्वं दैवाधीनमिति मत्वा न शोकः कार्य इत्याशयेनाह-**अहो वय**मिति। पितृभ्यां अबला दुर्बलाः कुतश्चिन्ता। नास्तीति तत्राह-अरक्षितेति, यो गर्भेऽस्मान् रक्षति स भगवानधुना बहिर्गतान् रक्षिता हि यस्मात्तस्मादिति शेषः।।३८।।

न केवलं रक्षिता अपि तु सृष्ट्यादिकर्ताप्यतो न संशयः कार्य इति भावेनाह-**य इच्छयेति**, अत्रेच्छयेति इच्छाग्रहणेन सर्वत्र सृष्टिप्रसङ्गे मायाशब्दस्य इच्छार्थो ज्ञायते हे अबलाः! सृष्ट्यादि कर्ता यतः अतो मरणलक्षणस्य निग्रहस्य सङ्ग्रहे परिहारलक्षणे प्रभोः समर्थस्य तस्येशितुश्चराचरं क्रीडनं लीलासाधनम्।।३९।।

"दैवाधीनं जगत्सर्वं" इत्युक्तेः कथमीश्वराधीनं चराचरमित्याशङ्क्य दिष्टदैवादिशब्देन संस्तुतोऽच्युत इत्याशयेनाह-**पथीति**। भक्तायाभीष्टं दिशतीति दिष्टशब्दवाच्यो मुकुन्दः तेन रक्षितं, तेन विहतम् अस्यानेन हतः, सकाशाद्वा।।४०।।

**भूतानि तैस्तै निजयोनिकर्मभिः भवन्ति काले न भवन्ति सर्वशः।**
**न तत्र हात्मा प्रकृतावपि स्थितः तस्या गुणैरन्यतमो निबध्यते।।४१।।**

**इदं शरीरं पुरुषस्य मोहजं यथा पृथग्भौतिकमीयते गृहम्।**
**तथौदकैः[1] पार्थिवतैजसैर्जनः कालेन जातो विकृतो विनश्यति।।४२।।**

**यथाऽनलो दारुषु भिन्न ईयते यथानिलो देहगतः पृथक्स्थितः।**
**यथा नभः सर्वगतं न सज्जते तथा पुमान्[2] सर्वगुणाश्रयः परः।।४३।।**

**सुयज्ञो नन्वयं शेते मूढा यमनुशोचथ।**
**यः श्रोता योऽनुवक्तेह समदृश्येत कर्हिचित्।।४४।।**

---

1 A,B,G,J,T यथो°, M,Ma तथो° 2 M,Ma गुणैः

**न श्रोता नानुवक्ता[1] वा मुख्योऽप्यत्र महानसुः।**
**यस्त्विहेन्द्रियवानात्मा सचान्यः प्राणदेहयोः।.४५।।**

**भूतेन्द्रियमनोलिङ्गान् देहानुच्चावचान् विभुः।**
**भजत्युत्सृजति ह्यन्यस्तच्चापि स्वेन तेजसा।।४६।।**

**यावल्लिङ्गान्वितो ह्यात्मा तावत्कर्मनिबन्धनम्[2]।**
**ततो विपर्ययः क्लेशो मायायोगोऽनुवर्तते।।४७।।**

**वितथाऽभिनिवेशोऽयं यद्गुणेष्वर्थदृग्वचः।**
**यथा मनोरथः स्वप्नः[3] सर्वमैन्द्रियकं मृषा।।४८।।**

**श्रीध०** तदेवमात्मनो जन्ममरणादिकं अङ्गीकृत्य ईश्वराधीनत्वात् न शोकः कार्य इत्युक्तम्। इदानीन्तु देहानामेव जन्मादि न त्वात्मन इत्याह-**भूतानीति** त्रिभिः। भूतानि देहाः निजयोनिः स्वकारणभूतं लिङ्गशरीरं तन्निमित्तैः कर्मभिः भवन्ति जायन्ते[4] न भवन्ति नश्यन्ति[4] च सर्वशो देवादिदेहा अपि तत्र ह तदा प्रकृतो देहे स्थितोऽप्यात्मा तस्याः प्रकृतेः[5] गुणैः देहधर्मैः जन्मादिभिः न निबध्यते न युज्यते यतोऽन्यतमो देहादत्यन्त-विलक्षणः।।४१।।

नन्वहं कृशः स्थूल इत्यादौ वैलक्षण्यं न प्रतीयते तत्राह-**इदमिति।** इदं शरीरं[6] मोहजर्माविवेकादात्मत्वेन ज्ञातं वस्तुतस्तु पृथगेव यत ईयते दृश्यते। भौतिकं च यथा गृहमित्यन्वयः। अत्रैवं प्रयोगः द्रष्टुरभौतिकाच्च पुरुषाच्छरीरं भिन्नम्, दृश्यत्वाद्भौतिकत्वाच्च, यथात्यन्ताविवेकिनः आत्मत्वेनाभिमतमपि गृहं ततः पृथक् तद्वत् इति। भौतिकत्वानुमानं विवृण्वन्नात्मनो जन्माद्यभावमुपसंहरति। यथा औदकैः परमाणुभिः जातो बुद्बुदादिर्यथा च पार्थिवैर्जातो घटादिर्यथा च तैजसैर्जातः कुण्डलादिर्विनश्यति तथा तैरेव त्रिविधैः परमाणुभिः जातो जनो देह एव विकृतः परिणतः सन् विनश्यति, नत्वात्मेत्यर्थः।।४२।।

पृथगवस्थानाऽभावेऽपि भिन्नत्वे दृष्टान्त द्वयमाह-**यथेति**। यथाऽनलो दारुष्वेव स्थितोऽपि दाहकत्वेन[7] प्रकाशकत्वेन भिन्न एव प्रतीयते यथा च देहगतोऽप्यनिलो[8] मुखनासिकादिषु पृथक्स्थित एव प्रतीयते। देहस्थ-

1 A,B,G,J,M,Ma,T वक्ताऽयं 2 M,Ma °न्धनः 3 W स्वा° 4- -4 H, V omit 5 H V omit प्रकृतेः 6 H, V omit शरीरं 7 H, V त्वेऽप्र° 8 H,V omit मुख

त्वेऽप्यात्मनः तद्धर्मयोगाभावे दृष्टान्तमाह-यथा नभो न सज्जते क्वाऽपि संगं न प्राप्नोति तथा पुमानपि सर्वेषां गुणानां देहेन्द्रियादीनामाश्रयः तेष्वाश्रितो वा परः पृथगेवेत्यर्थः।।४३।।

किञ्च **सुयज्ञ** इति। हे मूढाः। यमनुशोचथ सोऽयं युष्मद्भर्ता सुयज्ञः शेते। किमिति शोचथ। नन्वेतावन्तं कालमसौ शृणोत्यनन्तरं प्रतिवक्ति च। इदानीं तस्यादर्शनान्मृत इति शोचाम इति चेत् स तु शोच्यो[1] न भवति प्रागपि तस्यादर्शनादित्याह यः श्रोतेति।।४४।।

ननु मुखनासिकासञ्चारी प्राणः श्रोता वक्ता च दृष्ट एवेति चे न्नासौ श्रोता वक्ता वा अचेतनत्वादित्याह-**न श्रोतेति**। महान् सर्वेन्द्रियचेष्टा हेतुः, अत एव मुख्यः "प्राणो वै मुख्यः" इति श्रुतेः। कस्तर्हि श्रोता वक्ता च तत्राह यस्त्विह देहेन्द्रियैः तत्तदर्थद्रष्टा आत्मा स तु प्राणदेहाभ्यां अचेतनाभ्यां अन्यचेतनः[2]।।४५।।

ननु चेतनत्वेऽन्यत्वे च तस्याहं कृशः स्थूलः काणो बधिर इत्यादि देहधर्मोपलब्धिः कुतस्तत्राह-**भूतेति**। भूतेन्द्रियमनोभिर्लिङ्गैश्चन्ते लक्ष्यन्त इति तथा तान् देहांस्तेभ्योऽन्य एव आत्मा[3] भजति अहमिति मन्यते। तर्हि कथं मोक्षस्तत्राह-तच्च भजनं स्वेन तेजसा विवेकबलेनोत्सृजति, अपि हीत्यनुभवं प्रमाणयति।।४६।।

ननु विवेकानन्तरमप्याहारादिकर्मसु प्रवृत्तेर्बन्धः स्यादेवेत्यत आह-**यावदिति**। यावल्लिङ्गशरीरेणान्वितः तदभिमानवानात्मा भवति तावदेव तस्य तत्कर्मनिबन्धनं बन्धहेतुर्भवति ततो विपर्ययो देहधर्मभाक्त्वं ततः क्लेशश्चानुवर्तते न तु लिङ्गाभिमाने निवृत्तेऽपि, यतोऽयं मायायोगो विपर्ययादिः। मायया युज्यत इति तथा। न परमार्थ इत्यर्थः[4]।।४७।।

ननु सुखदुःखादीनां तत्साधनानां च सत्यत्वप्रतीतेः कुतो मायामयत्वम्। तथा च बहवो वादिनः सत्यत्वमेव वदन्ति तत्राह-**वितथेति**। वितथो मिथ्याभूतोऽयमभिनिवेशः कोऽसौ गुणेषु तत्कार्येषु सुखदुःखादिषु अर्थः। परमार्थ इति दृग्वचश्चेति यत् स कुत इत्यत आह यथेति।।४८।।

**वीर**॰ किं तर्हि अयमीश्वरोऽपि विषमः? नेत्याह-**भूतानीति**। सर्वाणि भूतानि देवमनुष्यादीनि तैस्तैः निजयोनिकर्मभिः स्वस्वजातिप्राप्तिनिमित्तकर्मभिः काले निजयोनिकर्मपरिपाककाले भवन्ति पुनस्तत्कर्मक्षयेन भवन्ति देवमनुष्यादिभूतानां भावाभावौ तत्तत्कर्मानुगुणप्रवृत्तेश्वरायत्तौ, इति न तस्य वैषम्यमिति भावः। ननु,

---

1 H,V शोचनीयं 2 A,B,J एव स 3 A,B,J omit आत्मा 4 H, V omit इत्यर्थः।

मास्तु वैषम्यं तस्यापि तु अन्तरात्मतयाऽवस्थितः स्वानर्थरूपं संसारं स्वयमेवोपपादयन् किमयमज्ञः ? नेत्याह- नेति। तत्र प्रकृतौ देवादिशरीरे जीवान्तरात्मतया स्थितोऽप्यात्मा परमात्मा न बध्यते न संसरतीत्यर्थः। हेति विस्मये। देहे स्थितस्याप्येकस्य न बन्धः अन्यतरस्य तु बन्धः इति विस्मयः, इतरस्य बन्धमेवाह- तस्याः प्रकृतेः गुणैः देवोऽहं स्थूलोऽहं इत्यादिरूपप्रतीतिविषयैः देहगतदेवत्वमनुष्यत्वादिभिः देहात्मभ्रमादिभिरित्यर्थः। अन्यतमो देहेन्द्रियादीनां अन्यतमो जीव इह परमात्मनोऽपीति च बोध्यम्। निबद्ध्यते निबद्धो भवति संसरतीत्यर्थः। यद्वा, गुणैः शब्दादिभिर्विषयैः हेतुभिः तद्भोगहेतुभूतेषु वस्तुषु निबध्यत इत्यर्थः। तद्भोग एव हि तस्य संसृतौ कारणमिति भावः। तथा च श्रुतिः "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" (मुण्ड.उ. 3-1-1)।।४१।।

एवं सर्वभूतानां उत्पत्तिलयादेः तत्तत्कर्मानुगणप्रवृत्तेश्वरायत्तत्वात् न शोकः कार्य इत्यभिधाय इदानीं देहस्य विनाशस्वभावत्वादात्मनस्तु तद्विपरीतरूपत्वादुभावपि न शोकविषयाविति वक्तुं तावद्देहात्मनोः परस्पर वैलक्षण्यमाह-**इदमिति** द्वाभ्याम्। इदं परिदृश्यमानं राजादिशरीरं पुरुषस्य जीवस्य मोहजमविद्यासञ्चितकर्मकृतं पुरुषस्य मोहजं इदं शरीरम् इति व्यतिरेकनिर्देशेन देहात्मनोः परस्परभेदो दर्शितः। तत्र देहस्य अनात्मत्वं दृष्टान्तेनाह- यथा गृहं गृहिणः पृथक् भिन्नं तथा भौतिकं भूतसंघातपरिणाममिदं शरीरमपि पृथक् शरीरिणो भिन्नमीयते अवगम्यत इत्यर्थः। यथा गृहस्य गृहिस्वरूपत्वमत्यन्तासम्भावितं तद्वत् देहस्य देहिस्वरूपत्वमिति दृष्टान्ताभिप्रायः। एवं गृहदृष्टान्तेन जीवाद्देहस्य भेद उक्तः, तेनैव दृष्टान्तेन देहस्य विनाशिस्वभावत्वं चाह-तथेति। यथा मृत्काष्ठादिविकारात्मकं गृहं कालेन विनश्यति तथा औदकैः पार्थिवैः तैजसैश्चेदं वायवीयाकाशीययोरप्युप-लक्षणम्। उदकादीनामंशैः कालेन तत्तद्देवादिजातिप्राप्तिनिमित्तकर्मफलपरिपाककालेनेत्यर्थः[1]। जातो जनो देहः जन्मनः पश्चादपि विकृतः बाल्ययौवनस्थविरत्वादिभिः अवस्थाभिः विकारं प्राप्तः पुनः स्वारम्भककर्मविनाशकाले विनश्यति।।४२।।

अथात्मनो देहाद्भेदं सदृष्टान्तमाह-**यथेति**। यथाऽनलोऽग्निर्दारुषु स्थितो भिन्न ईयते दारुगतह्रस्वत्व-दीर्घत्वकुटिलत्वादिधर्मरहितस्तेभ्ये भिन्न एव दृश्यते। यथा च देहगतोऽप्यनिलः ततः पृथगेव दृश्यते यथा च नभः सर्वगतं[2] सर्वत्र व्याप्तमपि न सज्जते सर्वगतधर्मैः न सम्बध्नाति तथा सर्वगुणाश्रयः सत्त्वादिसर्वगुण

1. W omits फल 2. A,B,T omit सर्वगतं

परिणामरूप-देहेन्द्रियाश्रयोऽपि पुमान् जीवः परः गुणेभ्यः परः[1] देहाद्भिन्नः इत्यर्थः[2]। देहगतजन्ममरणादिभिः अविकृतस्तस्माद्विलक्षणत्वेनावतिष्ठत इत्यर्थः। अविभागेनावस्थितस्याऽपि तद्गतधर्मस्पर्शे आद्यं निदर्शनं, विजातीयस्यापि सहावस्थाने द्वितीयं तृतीयं तु तदवस्थानेऽपि पुनस्तद्गतधर्मास्पर्श इति भेदः।।४३।।

एवं देहात्मनोः परस्परविलक्षणस्वरूपयोरभिहितयोरप्यतीव देहात्मभ्रान्त्याऽनुशोचतां शोकमपनेतुं कः शोकविषय इत्याशङ्क्य प्रतिक्षिपति-**सुयज्ञ** इति। हे मूढ! भवत्पक्षे यमनुशोचथ सोऽयं सुयज्ञः शेते युष्माभिः शोच्यः सुयज्ञः शेते विद्यत एव किमर्थं शोक इति भावः। ननु, भवत्पक्षे शयान एव हि सुयज्ञ इति शङ्कार्थस्तत्प्रतिक्षिपति-य इति। यः श्रोता भवद्विलापश्रवणक्षमो यश्चानुवक्ता प्रतिवचनक्षमश्च स इह कर्हिचिदपि चिरं सुसूक्ष्मं निरीक्षमाणोऽपि न दृश्यते शयानो देह एव सुयज्ञश्चेद्भवद्विलपितं किमिति न शृणोति न प्रति वक्तीत्यर्थः।।४४।।

मुख्यः प्राणोऽपि श्रवणप्रतिवचनक्षमो न स्यात् किम्पुनर्देहो न क्षम इत्याह-**नेति**। मुख्योऽप्यसुः प्राणो वा न श्रोता न भवद्विलपितस्य श्रोता नाऽप्यनुवक्ता किं पुनर्देह इत्यर्थः। ननु श्रोतारं प्रतिवक्तारं प्रत्येवानुशोचाम इत्यत्राह-यस्त्विति। यस्त्विन्द्रियवान् श्रवणप्रतिवचनादिसाधनश्रोत्रवागादीन्द्रिययुक्तः सत्वात्मा इह शरीरे प्राणदेहाभ्यामन्य एवाऽऽसीत् स तु तत् तेभ्यो देहेभ्यः अन्य एव सन्नित्यर्थः।।४५।।

स्वेन तेजसा ज्ञानेनोपलक्षितो भूतैः पृथिव्यादिभिः इन्द्रियैः ज्ञानकर्मोभयेन्द्रियैः मनसा च लिङ्ग्यन्ते लक्ष्यन्ते इति तथा तान् उच्चावचान् उत्कृष्टापकृष्टान् देहान् भजति बिभर्ति उत्सृजति त्यजति च। अपि हीत्यनुभवं प्रमाणयति। इन्द्रियवानात्मा देहत्याग तदुपादानशीलः शयानमिमं देहं त्यक्त्वा गत इति सोऽपि इदानीं न शोच्यत इति भावः।।४६।।

ननु अस्माकमुपभोग्यमिमं देहमन्तरेणाऽपि हेतुं त्यक्त्वा गत इत्यनुशोचामस्तत्राह-**तावदिति**। यावन्नबन्धनं देहसम्बन्धकारणं कर्म पुण्यापुण्यात्मकं कर्म वर्तते तावल्लिङ्गान्वितः देहेनान्वितो भवति। आत्मा तत एव देहान्वयादेव हेतोः विपर्ययो देहात्मभ्रान्तिः ततः क्लेशः इत्येवंरूपो मायायोगः प्रकृतसम्बन्धरूपसंसृतिरनुवर्तते, अयं भावः- सति देहसम्बन्धनिमित्ते कर्मणि देहेनान्वयः तस्मिंश्च सति ममायं पतिरहमस्य भार्या इत्याद्यात्मको

---

1 A,B,T omit परः 2 A,B,T omit इत्यर्थः

देहात्मभ्रमः। तस्मिंश्च सति क्लेशः तत्र निदानस्य कर्मण एव निवृत्तत्वान्नास्यात्मनः पुनः शयानदेहसम्बन्ध-स्यैवाभावान्निर्हेतुको व्यर्थश्च शोकः। देहसम्बन्धावहकर्मनिवृत्तिरेव च देहोत्सर्गे हेतुरिति।।४७।।

देहस्योपभोग्यत्वं प्रतिक्षिपति **वितथेति**। अयमर्भानिवेशोऽभिमानो वितथो व्यर्थः, देहादेः अपुरुषार्थरूपत्वादिति भावः। कोऽसावभिनिवेशः? यद्गुणेषु सत्त्वादिगुणपरिणामात्मकेषु देहादिषु तदुपभोग्येषु शब्दादिषु चार्थदृग्वचः प्रयोजनत्वदर्शनवचने इत्येषः देहादिषूपभोग्यत्वज्ञानं तद्व्यवहारश्चेत्यभिमानो व्यर्थः। वैतथ्यमेव दृष्टान्तमुखेन विशदयति-यथेति। यथा मनोरथरूपः स्वाप्नः स्वप्नद्रष्टृकर्मानुगुणमनोवृत्तिरूपः सङ्कल्पविकल्पात्मक स्वप्नानुगुणतयेश्वरसृष्टपदार्थः मृषा अनित्यः स्वप्नकालमात्रावस्थायी तथा सर्वमेन्द्रियकं बाह्येन्द्रियविषयं शब्दादिकमपि मृषा अनित्यः अनित्यत्वादपुरुषार्थः स्वप्नद्रष्ट्रेकानुभाव्यतत्कालमात्राव-स्थायिपदार्थसृष्टिनिमित्तकर्मानुगुणमीश्वरसृष्टं स्वाप्नं पदार्थ प्रतीव जाग्रदवस्थानुभाव्यसर्वेन्द्रियगम्यभोक्तृदृष्ट समानकालिकपदार्थं प्रत्युपभोग्यत्वाद्यभिमानो व्यर्थः, अनित्यत्वेनापुरुषार्थरूपत्वादिति भावः। मृषाशब्दस्या-नित्यत्ववाचित्वं "अथ नित्यमनित्यञ्च" (भाग. 7-2-49) इत्यनन्तरग्रन्थादवगम्यते। "अनाशी परमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते" (विष्णु.पु.2-14-24) इति। पराशरवचनाच्च परमार्थानाश्यादि शब्दानामनाशिपरत्वमव-गम्यते।।४८।।

**विज०** सृष्ट्यादिकं कुर्वन्नात्मा तत्तत्प्राणिकर्माण्युल्लङ्घ्य करोति उत तदनुसारेणेति तत्राह-**भूतानीति**। निजयोनिकर्मभिः स्वजातिविहितकर्मभिः भूतानि विहितकाले भवन्ति न भवन्तीति आत्मप्रेरितैरिति शेषः। "द्रव्यं कर्म च कालश्च" (भाग. 2-5-14) इत्यादेः कालशब्दवाच्यपरमात्माधिकरणतया सृष्ट्यादिक माप्नुवन्तीति वा। ननु जीवात्मनोः उभयोरपि देहस्थितेः कस्य संसारबन्धाभाव इति सुहृद्भावेन पृच्छन्तमाह-न तर्वोत। तत्र तयोः जीवपरयोः अन्यतम आत्मा प्रकृतौ प्रकृतिनिर्मितशरीरे स्थितोऽपि तस्याः प्रकृतेः गुणैः सत्त्वादिभिः न निबध्यते ह किल "सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत। ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत" (भ.गी.14-9) इत्यादिवाक्योक्तबन्धो नास्तीत्यर्थः। हेत्यनेन "तृच्छ्येनाभ्वपि हितं यदासीत्तपसस्तन्महिमा जायतैकम्" (ऋक्. सं. 10-129-3) इति वाक्यं सूचयति। सुविरुद्धस्वरूपत्वाज्जीवादन्यतमो हरिरित्यतो हरेरन्यतमत्वं

1 A,B,T रोक्तेश्च

प्रामाणिकमेव, परमात्मा न बद्ध्यते अन्यतमो बद्ध्यते इत्येतदुत्तरश्लोकेन पुनरुक्तं स्यादित्यन्यथा व्याख्यातमाचार्यैरन्यतम आत्मा परमात्मेति।।४१।।

परमात्मनो बन्धाभाववचनेन जीवात्मनोः यो भेदः अर्थादाप्तः स केन प्रकारेणेत्याशङ्क्याह-**इदं शरीरमिति।** पुरुषस्य संसारिणो मोहेनान्यथा ज्ञानेन "मुह वैचित्त्ये" इति धातोः विपरीतज्ञानजं यस्मात्तस्मादात्मनो भिन्नमिति ज्ञातव्यम्, तथा हि भौतिकं भूतविकृतैः वृक्षैः विरचितं गृहं गृहस्थात्पृथग्भिन्नमीयते यथा विनश्यति च, तथोदकैः पार्थिवतैजसैः परमाणुभिः कालनाम्ना हरिणा चोदितैर्विकृतो विकारं प्राप्तो जातो जन्यत इति जनो देहो विनश्यति स्वकारणावस्थितिमाप्नोतीति यस्मात्तस्माज्जीवाद्भिन्न इति निश्चीयते "नित्योऽनित्यानाम्" (कठ. उ. 5-13) इति श्रुतेः। जीवस्य नित्यत्वात्।।४२।।

तदेव दृष्टान्तान्तरेण स्पष्टयति-**यथेति**। यद्वा ननु जीवस्य शरीराद्भेदोऽस्तु तस्य नश्वरत्वात् परमात्मना जीवस्याभेदः किं न स्यादिति मन्दाशङ्कां परिहरति-यथेति। दारुषु स्थितो वह्निर्दारुभ्यो भिन्नस्तद्गुणैस्तेषु न सज्जते यथा देहिनां देहगतो वायुर्देहात् पृथक् स्थितः तद्गुणैश्च न लिप्यते यथा सर्वगतं नभः सर्वस्माद्भिन्नं ज्ञायते सर्ववस्तुगुणैश्च न लिप्यते यथा तथा ज्ञानानन्दादिसर्वगुणाश्रयः परः परमात्मा सर्वेषां जन्तूनां गुणभूतं भोगायतनं शरीरमाश्रयो यस्य सः सर्वगुणाश्रयः सर्वजीवदेहगतः परो विलक्षणो भिन्न इति यावत्। जीवादिति शेषः। प्रकृतत्त्वाज्जीवगुणैर्न लिप्यत इति। देहाद्भेदस्य प्रकृतत्त्वात् स एवात्रोच्यत इति किं न स्यादितीयं शङ्का-"देहदारुगतौ प्राणवह्नी सर्वगतं नभः। देहादिभ्यो यथा भिन्ना न लिप्यन्ते च तद्गुणैः।। तथा जीवगतो विष्णुः जीवाद्भिन्नो न तद्गुणैः।।" (वामने) इति वाक्येन परिहर्तव्या। अत्राऽयं फलितोऽर्थः भगवन्माहात्म्यकथनेन सर्वस्य तद्वशत्वात् स एव भजनीयो न शोकेन प्रयोजनमिति।।४३।।

किञ्च, भवच्छोकयोग्यस्य सुयज्ञस्य दृश्यमानत्वात् तं प्रति शोको न कार्य इति गूढाक्षेपं करोति। **सुयज्ञ** इति। हे मूढाः! यमनुशोचथाऽयं सुयज्ञः शेते निद्रां करोति। ननु न मृतः "ननु च स्याद्विरोधादौ" इत्यभिधानात्। शेत एव लोकान्तरं न गत इति वा "प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयाऽऽमन्त्रणे ननु" (अम.को. 3-403) इत्यभिधानात्। अवधारणार्थो ननुशब्दः। श्रोत्रादीन्द्रियव्यापारादर्शनादिना मरणानुमानात् कथं न मृत इत्याक्षिप्यत इति तत्राह-यः श्रोतेति। इह सुयज्ञशरीरे यः श्रोता यश्चानुवक्ता स परमात्मा कर्हिचित्कदाचिदपि न दृश्येत तस्य सूक्ष्मस्वभावत्वात्-

"तदव्यक्तमाह हि" (ब्र.सू.3-2-22) इति सूत्राच्च, तस्यैव श्रोतृत्वादिकं कुत इति चेन्न "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा, नान्योऽतोऽस्ति श्रोता" (बृह. उ. 5-7-23) इत्यादेः।।४४।।

ननु सुयज्ञशरीरस्थस्य मुख्यप्राणस्य श्रोतृत्वादिसम्भवात्कथं तदन्ययोगव्यवच्छेदः क्रियत इति तत्राह **न श्रोतेति**। अत्र सुयज्ञदेहे श्वासोच्छ्वासादिलक्षणेन मुखे व्यज्यमानत्वात् मुख्यो यो महानसुः मुख्यप्राणः सोऽपि स्वतो न श्रोता नाऽनुवक्ता च "तस्य वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणः तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्" (छान्दो.उ.6-8-6) इति श्रुतेः अन्ययोगव्यवच्छेदो युक्त इति। ननु, तर्हि सुयज्ञनाम्नो जीवस्य श्रोतृत्वादिकमासीत्प्राक् तदिदानीं न तस्मान्मृत इति प्राचीनशङ्काशेषं कैमुत्यन्यायेन परिहरति-यस्त्विति। तुशब्देन नेत्यनुकृष्यते इह सुयज्ञ इत्युपलक्षणं जीवराशिदेहे य इन्द्रियवान् यश्च प्राणदेहयोरन्यः स जीवात्मा श्रोतुं वक्तुं च न शक्य इति किं वक्तव्यम् "एतद्द्वाणमवष्टभ्य विधारयामि" इति श्रुतेः। सर्वशक्तिमतोऽपि प्राणस्य स्वतः श्रोतृत्वाद्ययुक्तेरुक्तत्वात् तस्मात्सुयज्ञं प्रति शोकेन किं प्रयोजनं तस्माज्जीवतामपि श्रोतृत्वाद्यनुपपत्तेः प्रामाणिकत्वेन मृतोऽयमित्यस्य लक्षणान्तरं वक्ति अन्य इत्यनेन। हरेः माहात्म्यातिशयः प्रकटित इति सूचितम्। न केवलं प्राणदेहयोरन्यः किं तु पूर्णश्रोतृत्वादिगुणयुक्ताद्धरेश्चान्य इति चशब्दार्थः।।४५।।

हरेः देहस्थितिसद्भावे न तस्मादप्यन्य इति च वक्तुं युक्तं तत्कुत इति तत्राह-**भूतेन्द्रियेति**। भूतेन्द्रियमनांसि लिङ्गं रूपं येषां ते तथा तान् उच्चावचान् सुरनरतिर्यगात्मन उत्तममध्यमाधमान् देहान् भजति पश्चादुत्सृजति हि यस्मात्तस्मादन्य इति वक्तुं युक्तं, स्पष्टं चाह-अन्य इति। देहयोगवियोगभाजो जीवादिति शेषः। "लिङ्गं स्वरूपमुद्दिष्टं लिङ्गं ज्ञापकमेव च" (शब्दानिर्णये) इति वचनाल्लिङ्गशब्दस्य स्वरूपार्थो युक्तः यदि देहभजनोत्सर्जने हरेस्तर्हि जीवात्को विशेष इति तत्राह-तच्चेति, परिच्छिन्नविषये भजनोत्सर्जने व्याप्तस्य विष्णोः कथं घटेत इत्यतो वाह-**तच्चेति**। ततः चशब्देन जीवस्य पारतन्त्र्येणेति विशेषमाह। अपिशब्देन रूपान्तरेणेत्युपपत्तिमाह, अत्र जीवपरमात्मनोः भेदस्य तयोरुभयोः देहादेः भेदस्य च हरेरेव मुख्यश्रोतृत्वादेश्च प्रकरणावान्तरभेदस्य च ज्ञापनायाचार्यैः पूर्वापरभावेनेन्द्रियवान् जीव इत्यादि व्याख्यातम्।. ननु, जीवस्य प्राणदेहयोः अन्यत्वे मरणे देहनाशान्मुक्तौ तदभावाद्विषयभोगाभाव इत्याशङ्कापरिहारायोक्तमाचार्यैः(१) अन्यो जीव इत्यादि। जडदेहादन्यत्वं न स्वरूपभूतादुच्यते इत्यर्थः।(२) अचितो जडादिन्द्रियत्वं चामुख्यं तेषामवशत्वादभिमानादेव(३) तद्द्वयं पश्यामीत्यभिमानोऽस्येत्यादेः तर्हि चक्षुरादीनि कस्याधीनानि इत्यतः प्राणाधीनानि इति द्योतयितुं "चक्षुराद्या मनो जीवः" (गारुडे) इत्यादेः

प्राणेऽपि न पर्याप्तमित्युक्तं तस्यापि ज्ञातृगन्तृत्वं न स्वतः शक्यते क्वचिदिति यस्तस्य ज्ञातृगन्तृत्वदाता स भगवानित्याद्यपि सूचितम्, यः श्रोतेत्यत्र प्रमाणम् "ज्ञाता च मन्ता च"(गारुडे) इत्यादि ज्ञनादिदानं तस्यान्य इत्येतदन्विति सूचितम्, "सर्वस्य ज्ञानदो हरिः" (गारुडे) इत्येतत् "न स दृश्येत" इत्यनेन सूचितं स्वविषयज्ञानदातेति चेति दृश्य इत्यर्थः। भूतेन्द्रियमन इत्यादिना विष्णु रुच्यते न जीव इत्यत्र मानं "स देहान् भजत" (गारुडे) इत्यादिना।।४६।।

नन्वयं जीवः कियन्तं कालं देहान्वितो भवति इति चोद्यं परिहरति-**यावदिति**। यावन्तं कालं अन्नमय-प्राणमयमनोमयलक्षणेषु लिङ्गेषु अन्वितो भवति आत्मा परमात्मा तावन्तं कालं कर्मभिर्नितरां बन्धनं यस्य स तथा जीवः येषु देहेषु अन्वितो भवति। हिशब्दाद्धरिर्यदा त्रिविधदेहानुत्सृजति तदा स्वयमप्युत्सृजतीति ग्राह्यम्। अत्रायं विशेषः। यदा परमात्मा देहं सर्वात्मनोत्सृजति तदाऽयमपि सर्वात्मना तदनुग्रहेणोत्सृज्य संसारान्मुक्तो भवति। न चेदनेन सह देहान्तरं भजतीति तस्मादद्यानेन[1] रूपान्तरेण[1] कृतदेहोत्सर्जनत्वादनेनापि सुयज्ञेन तदाचरितमिति देहोत्सर्जनलक्षणमरणस्य पराधीनत्वेनापरिहार्यत्वान्न शोकेन प्रयोजनमिति भावः। "यावद्देहान्वितो विष्णुः तावज्जीव" (गारुडे) इत्येतदत्र मानम् "यदोत्सृजति देहं स हरिः सर्वात्मना विभुः" (गारुडे) इति च। ननु परमात्मा जीवाभिन्नस्सन् देहान् भजत्युत्सृजति इत्युच्यते इति किं न स्यात्, कल्पनालाघवादेकमेव ब्रह्मज्ञानात्संसरति मुच्यते इत्यङ्गीकाराच्चेति तत्राह तत इति। तस्माद्धरेर्जीवो विपर्ययो विरुद्धः पर्ययः निश्चयः यस्य सः तथा विरुद्धलक्षण इत्यर्थः "अतिभिन्नस्वरूपौ तौ जीवेशावेकदेहगौ" (गारुडे) इत्यादेः। अतो ब्रह्मणोऽज्ञानकल्पनं अप्रामाणिकमिति भावः "देहाभिमानीत्वेकोऽत्र न मानी मानदः परः" (गारुडे) इत्येतद्भेदोपपादकम्। इतोऽपि भिन्न इत्याह-क्लेश इति, नानाक्लेशाधिकरणत्वाद्वा भिन्न इत्यर्थः। विपर्ययस्तावत् क्लेशादयश्चास्येत्यादेः क्लेशफलमाह-मायेति।।४७।।

कोऽयं मायायोगो नाम येनासौ क्लेशफलः स्यादिति तत्राह-**वितथेति**। गुणेषु शब्दादिषु अर्थदृग्वचः प्रयोजनदर्शनं तद्वाचकं वचनं च "स्वर्गे लोके न भयं किञ्च नास्तीत्यादिलक्षणं यत् अयं वितथाभिनिवेशः मिथ्याग्रहः भ्रान्तिज्ञानमित्यर्थः। क्लेशपरिजिहीर्षया शब्दादिष्विन्द्रियप्रवर्तनं तत्फलमित्युपचारः। वचनाद्धि

1- -1 A °द्यानन्दरू°

वितथाभिनिवेशो भवति गुणेष्वर्थदर्शनस्यापि तथाभिनिवेशित्वं सदृष्टान्तमाह-यथेति। "सप्तसु प्रथमा" (शब्दनिर्णये) इति सूत्रात्, मनोरथे कल्पितं राज्यं स्वप्ने दृष्टं रत्नं यथा मृषा वृथा तथा सर्वमिन्द्रियप्रवर्तनं मृषा सदसद्विलक्षणमित्यर्थं वृथेन्द्रियवृत्तय इत्येतद्विरुणद्धि-"इन्द्रियाद्यभिमानेन तद्वान् जीव उदीर्यते। अतन्मानाद्धरिः प्रोक्तस्त्वदेहोऽनिन्द्रियस्तथा।। जीवानभिमते देहे न विष्णुर्जीवति स्थितः। अतस्त्वदेह उद्दिष्टः परमात्मा सनातनः।।"(प्रकाशिकायाम्) इत्येतज्जीवपरयोः भेदस्य जीवस्येन्द्रियवत्त्वमौपचारिकमित्यस्य चोपपादनं प्रमाणं जीवस्येन्द्रियवत्वमुपचरितं चेत् कस्य तन्मुख्यमित्याशङ्का- "लेपाभिमानी जीवस्तु स्वरूपानुभवी न च। मुक्तेः प्राक् तेन मान्युक्तो न मानी विष्णुरुच्यते।। सर्वं ममेति पश्यन्नप्यलेपाभिमतिर्यतः। सम्यक् स्वरूपानुभवात्स्वतन्त्रत्वाददोषतः।।"(ब्रह्मतर्के) इत्यनेन परिहर्तव्या। स्वानधीने वस्तुनि स्वाधीनताबुद्धिः लेपाभिमानः सोऽस्यास्तीत्येतादृशदोषो वितथाभिनिवेश इत्युच्यते। हरेर्जीव देहेन्द्रियादिषु स्वाधीनेषु स्वाधीनताबुद्धिः लेपाभिमानः स गुणो यथार्थज्ञानलक्षणः तस्माद्धरेः देहेन्द्रियादौ स्वामित्वेन तद्वत्त्वं मुख्यं तत्राविवेकग्रहणं कर्मनिबन्धनं ततो विपर्यय इत्यादिलक्षणैः जीवोऽनीदृशः श्रीनारायण इति स्मर्तव्यम्।।४८।।

**अथ नित्यमनित्यं वा नानुशोचन्ति[1] तद्विदः।**
**नान्यथा शक्यते कर्तुं स्वभावः शोचतामपि[2]।।४९।।**

**लुब्धको विपिने कश्चित्पक्षिणां निर्मितोऽन्तकः।**
**वितत्य जालं विदधे तत्र तत्र प्रलोभनम्[3]।।५०।।**

**कुलिंगमिथुनं तत्र विचरत्समदृश्यत।**
**तयोः कुलिङ्गी सहसा लुब्धकेन प्रलोभिता।।५१।।**

**साऽसज्जतशिचस्तन्त्यां[4] महिषी[5] कालयन्त्रिता[6]।**
**कुलिङ्गस्तां तथाऽऽपन्नां निरीक्ष्य भृशदुःखितः।**
**स्नेहादकल्पः[7] कृपणः[8] कृपणां पर्यदेवयत्[-8]।।५२।।**

---

1. A,B,G,J,M,Ma,T नेह 2 A,B,G,H,J,M,Ma,T,V °र्मति 3 A,B,G,J,T °यन् 4 M,Ma शिचस तन्त्या 5 W °षा° 6 M,Ma ताम् 7 H,V °ल्यः 8- -8 M,Ma कृपणां पर्यदेवयदातुरः, W कृपणमातुरः पर्यदेवयत्

**अहो अकरुणो देवः स्त्रियाऽऽकरुणया[1] विभुः।**
**कृपणं माऽनुशोचन्त्या दीनया किं करिष्यति।।५३।।**

**कामं नयतु मां देवः किमर्धेनात्मनो हि मे।**
**दीनेन जीवता दुःखं[2] मन्देन विधुरायुषा।।५४।।**

**कथं त्वजातपक्षांस्तान्[3] मातृहीनान् बिभर्म्यहम्।**
**मन्दभाग्याः प्रतीक्षन्ते नीडे मे मातरं प्रजाः।।५५।।**

**एवं कुलिङ्गं विलपन्तमारात्[4] प्रिया-वियोगातुरमश्रुकण्ठम्।**
**स[5] एव तं शाकुनिकः शरेण विव्याध कालप्रहितो विलीनः[6]।।५६।।**

**श्रीध०** उपसंहरति-**अथेति**। अथ तस्मात् नित्यमात्मानं अनित्यं देहं वा तद्विदो नित्यमनित्यं च जानन्तो न शोचन्ति[7]। नन्वेवमुपदेष्टारोऽपि शोचन्तो दृश्यन्ते तत्राह-नान्यथेति। ज्ञानदार्ढ्याभावात्स्वभावो न निवर्तत इत्यर्थः।।४९।।

स्वयं सधर्मा अपीति यदुक्तं तत्र इतिहासमाह **लुब्धक** इत्यादिना। पक्षिणामन्तक ईश्वरेण निर्मितः सन् यत्र यत्र ते तत्र तत्र तान् कणादिभिः[8] प्रलोभयन् जालं विस्तार्य विशेषेण धृतवान्। पाठान्तरे तेषामामिषादिभिः प्रलोभनं कृतवानित्यर्थः।।५०।।

**कुलिङ्गेति**। कुलिङ्गः कन्दभक्षी पक्षिविशेषः। कुलिङ्गयोः मिथुनम्।।५१।।

**सेति**। शिचस्तन्त्यां जालस्य सूत्रे असज्जत बन्धं प्राप। तामापन्नां आपदं प्राप्तां दृष्ट्वा[9] कुलिङ्गः पक्षी तां मोचयितुमकल्पः सन् पर्यदेवयत् वृक्षशाखामाश्रित्य विलापं चकार[9]।।५२।।

**अहो** इति। आकरुणया सर्वतोऽनुकम्पया[10] स्त्रिया[10] किं करिष्यति?।।५३।।

काममिति। आत्मनो देहस्य अर्धेन। अनेन विधुरायुषा भार्याशून्यजीवितेन दुःखं यथा भवत्येवं जीवता किं मे प्रयोजनम्? अतो मामपि कामं नयत्विति पूर्वेणान्वयः[11]।।५४।।

1 M,Ma °या कृपणया 2 A,B,G,J;T दुःखमनेन 3 H,V स्व°, W न° 4 M,Ma रुवन्त° 5. M,Ma तदैव 6. M,Ma नि° 7- -7 H. V omit 8- -8 H V omit 9- -9 H. V omit 10- -10 H.V omit 11 A,B,J omit पूर्वेण

**कथमिति।** [1]सुष्ठु न जाताः पक्षाः येषां तान् [2]बालकान् कथं बिभर्मि [3]पोषयामि। मन्दभाग्या मे प्रजा मातरं प्रतीक्षन्ते।।५५।।

**एवमिति।** शाकुनिकः पक्षिहन्ता विलीनः सन्।।५६।।

**वीर०** एवं देहात्मनोरुभयोरपि शोकाविषयत्वमुक्तम्, सहेतुकमुपसंहरति- **अथेति**। अथ हे अबलाः! नित्यमात्मानं अनित्यं देहं प्रत्यपि तद्विदः देहात्मयाथात्म्यविदो न शोचन्ति। कुतः? इतिशब्दो हेत्वर्थकः, यस्मात्स्वभावः वस्तुनः स्वाभाविको धर्मः शोचतामपि शोचद्भिरप्यन्यथा कर्तुं न शक्यते। न ह्यात्मनः स्वाभाविकं नित्यत्वमपनीय अनित्यत्वं केनचिच्छोकाद्युपायेनापादयितुं शक्यं, न वा देहस्य अनित्यत्वमपनुद्य नित्यत्वम्, न हि वह्नेरौष्ण्यापनयेन शैत्यमापादयितुं शक्यमिति भावः।।४९।।

यदुक्तं 'स्वयं सधर्मा अपि शोचन्ति' (भाग 7-2-37) इति तत्र दृष्टान्ततयेतिहासं प्रस्तौति **लुब्धक** इति। कश्चिल्लुब्धको व्याधः पक्षिणामन्तकः मृत्युः निर्मितः ईश्वरेण मृत्युत्वेन निर्मितः, अत एव स तत्र तत्र जालं वितत्य पक्षिणां प्रलोभनं वञ्चकं विदधे कृतवान्।।५०।।

एवं लुब्धको प्रलोभयति सति तत्र समीपे कुलिङ्ग्योः पक्षिणोः मिथुनं द्वन्द्वं सञ्चरत्सत् लुब्धकेनादृश्यत तयोः स्त्रीपुंसयोः मध्ये कुलिङ्गी स्त्री सहसा वञ्चनोपायेन लुब्धकेन प्रलोभिता बभूव।।५१।।

सा महिषी कुलिङ्गभार्या कालवशा सती शिचस्तन्त्यां जालसूत्रे असञ्जत लग्ना बभूव। अथ ततस्तां आपन्नां आपदं प्राप्तां दीनां कर्मानुगुणेन कालेन यन्त्रितां शिचस्तन्त्याम् आसञ्जितां महिषी भार्यां कुलुङ्गी वीक्ष्य कुलिङ्गः पुमान् स्नेहादतीव दुःखितोऽकल्पो विमोचनेऽदक्षः अत एव केवलं स्वयमप्यातुरः दीनस्सन् [4]कृपणं दीनं यथा तथा [4]पर्यदेवयत् परितस्तप्तो बभूव।।५२।।

तदेवाह-**अहो** इति [5]त्रिभिः। अहो देवो विधाता अकरुणो निर्घृणः, अकरुणत्वमेवाविष्करोति-स्त्रिया आकरुणयेति छेदः। अकरुणया सर्वतोऽनुकम्पया स्त्रिया मम भार्यया नितरां कृपणं दीनं मां प्रत्यनुशोचन्त्या दीनया कुलिङ्ग्या विधुर्दैवः किं करिष्यति, न किमपि तस्य प्रयोजनम्, किन्तु मय्यकारुण्येन मां वियोज्य स्त्रियं नीतवान् इति भावः।।५३।।

1 A,B,J omit सुष्ठु 2 H,V omit बालकान् 3 A,J पुष्यामि. B पुष्णामि 4- -4 W omits 5 W omits त्रिभिः

यतो मय्यकरुणो देवस्ततो मामपि कामं यथेष्टं नयतु आत्मनोऽर्धेन मम किं प्रयोजनम्? एकस्मिन्मयि अर्धं भार्याख्यं नष्टम् अवशिष्टेनार्धेन न किमपि प्रयोजनमस्तीत्यर्थः। अर्धं विशिनष्टि, दीनेन कृपणेन दुःखं यथा भवति तथा जीवता प्राणान्धारयता विधुरायुषा विधुरं भार्यारहितमायुः यस्य तेन भार्याशून्यजीवितयुक्तेनेत्यर्थः। अनेनेति निःस्पृहत्वमुक्तम्, कार्योपयोगित्वाभावादिति भावः[1]।।५४।।

किञ्च, अजातौ पक्षौ येषां तान्, मात्रा हीनान् रहितान् शाबकान्[2] कथमहं बिभर्मि पुष्णामि, किञ्च मे मम प्रजाः नीडे मातरं प्रतीक्षन्ते।।५५।।

एवं प्रियाया वियोगेनातुरं दुःखितं अतो विशेषेण रुदन्तम् अश्रुकण्ठमश्रुपूर्णकण्ठं तं कुलिङ्गं स एव शाकुनिकः शकुनीन् हन्तीति शाकुनिकः लुब्धकः, आरात्समीपे निलीनः तिरोहितस्सन् कालेन कर्मानुगुणेन प्रहितः प्रेरितः शरेण विव्याथ ताडितवान्।।५६।।

**विज०** यस्मात्सर्वस्येश्वराधीनत्वेन जन्तूनां मरणादिकमपरिहार्यं, तस्मात् सर्वथा देहेन्द्रियादेरनित्यत्वं नित्यत्वं चास्तु, तथाऽपि शोककरणं न पण्डितमतम्। "गतासूनगतासूंश्च नाऽनुशोचन्ति पण्डिताः" (भ. गी. 2-11) इत्यादेरित्याह **अथेति**। अतस्तन्मूर्खमतमिति सन्तोष्टव्यं स्वभावत्वादित्याह-नान्यथेति।।४९।।

अस्मिन्नेवार्थे कञ्चनेतिहासमाह-**लुब्धक** इति। लुब्धको मृगयुः निर्मितो विधिनेति शेषः। वितत्य विस्तृत्य प्रलोभनं वञ्चनम्।।५०, ५१।।

शिचा जालेन सह यन्त्रितया तन्त्या सूत्रेण महिषी कुलिङ्गभार्या कालयन्त्रिता कालाधीना, अकल्पोऽसमर्थो मोचयितुमिति शेषः, पर्यदेवयत् विलपितवान्।।५२,५३।।

दुःखं जीवता दीनेन क्षीणेन आत्मनोऽर्धेन मे मम किं प्रयोजनम्, न किमपि। कुतः विधुरायुषाऽऽयूरहितेनात्मनोऽर्धस्य नष्टत्वात्।।५४।।

मे प्रजाःपुत्राः।।५५।।

शाकुनिकः पक्षिमारकः कालेनान्तकेन प्रहितः प्रेरितः निलीनो वृक्षमूले छन्नः कुलिंगं दीर्घतुण्डं "दार्वाघाटो दारुकुट्टः कुलिङ्गो दीर्घतुण्डकः" इत्यभिधानम्।।५६।।

---

1- -1 W omits 2 A.B.T बालकान्

एवं यूयमपश्यन्त्य आत्मापायमबुद्धयः।
नैनं प्राप्स्यथ शोचन्त्यः पतिं वर्षशतैरपि।।५७।।

हिरण्यकशिपुरुवाच

बाल एवं प्रवदति सर्वे विस्मितचेतसः।
ज्ञातयो मेनिरे सर्वमनित्यमयथोत्थितम्।।५८।।

यम एतदुपाख्याय तत्रैवान्तरधीयत।
ज्ञातयोऽपि सुयज्ञस्य चक्रुर्यत्साम्परायिकम्।।५९।।

अतः[1] शोचत मा यूयं परं चात्मानमेव च।
क आत्मा कः परो वाऽत्र स्वीयः पारक्य एव वा[2]।।
स्वपराभिनिवेशेन विना ज्ञानेन देहिनाम्[3]।।६०।।

नारद उवाच

इति दैत्यपतेर्वाक्यं दितिराकर्ण्य सस्नुषा।
पुत्रशोकं क्षणात्त्यक्त्वा तत्त्वे चित्तमधारयत्।।६१।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवेयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे
दितिशोकापनयनं नाम द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

**श्रीध॰ एवमिति।** आत्मापायं स्वमृत्युम्।।५७।।

**बाल** इति। अयथोत्थितं मिथ्येवाविर्भूतम्।।५८।।

**यम** इति। साम्परायिकं परलोककृत्यम्।।५९।।

---

1 A,B,G,J,M,Ma,T ततः 2 M,Ma च 3 M,Ma °नः

**अत** इति। अशोचतेति पाठेऽडागम आर्षः। स्वः पर इत्यभिनिवेश एवाऽज्ञानं तेन विना।।६०।।

**इतीति।** सस्रुषा स्रुषासहिता।।६१।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे

श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

**वीर०** एवमितिहासं प्रस्तुत्य प्रकृतोपयोगित्वेनोपसंहरति-**एवमिति।** एवं यथा कुलिङ्गस्तथा यूयमप्यात्मापायं स्वमृत्युमपश्यन्त्यः अनालोचयन्त्योऽत एव अबुद्धयः विवेकशून्याः वर्षशतैरपि शोचन्त्यः एनं पतिं न प्राप्स्यथ।।५७।।

एवं प्रेतबन्धुयमसंवादरूपमितिहासं प्रस्तुत्य उपसंहरति दैत्य· **बाल** इति द्वाभ्याम्। एवं इत्थं बाले प्रवदति सति सर्वे ज्ञातयः सुयज्ञस्य सपिण्डाः विस्मितं चेतो येषां ते अयथोत्थितं अपुरुषार्थत्वेनाप्रतीतं किन्तु पुरुषार्थत्वेन विपरीतरूपेण प्रतीतं सर्वं देहादिकमनित्यमस्थिरमपुरुषार्थरूपं मेनिरे निश्चितवन्तः इत्यर्थः।।५८।।

यमस्त्वेतदुक्तमुपाख्याय कथयित्वा तत्रैवाऽन्तर्दधे। ततो ज्ञातयः सुयज्ञस्य यत्कर्तव्यं साम्परायिकं मृतोद्देशेन कर्तव्यं कर्म तत् चक्रुः।।५९।।

एवमितिहासमुपसंहृत्य तत्फलितार्थमुपदिशन्नुपसंहरति-**तत** इति। यतो देहात्मनोरेवंविधस्वभावोऽतो हिरण्याक्षादिरूपं परमन्यमात्मानं स्वं प्रति वा यूयं मा शोचत, अहो मां विहाय स गत स्तं विहायाऽहं कथं जीवामीत्येवं स्वं परं प्रति वा माशोचतेत्यर्थः। स्वः पर इत्यभिनिवेशोऽभिमानो यस्मात्तेनाज्ञानेन अनाद्यज्ञानमूलकेन कर्मणा विना देहिनां कः परः को वाऽऽत्मा, कश्च स्वकीयः[1] पारक्यो वा स्वपरविभागाः स्वीयपरकीयविभागाश्च सर्वोऽप्यनाद्यविद्यामूलककर्मायत्तदेहसम्बन्धप्रयुक्तदेहात्माभिमानप्रयुक्त औपाधिकः, आत्मनस्तु केनाऽपि प्रकारेण स्वाभाविकसम्बन्धः शोकहेतुर्न विद्यते अतो मा शोचत इत्यभिप्रायः।।६०।।

उपरितनं दैत्यस्य वृत्तान्तं वक्तुं तावद्वाक्यमुपसंहरन् दितेरवस्थितिप्रकारमाह भगवान् नारदः-**इतीति।**

1 W स्वीयः

इतीत्थं दैत्यपतेर्हिरण्यकशिपोर्वाक्यमाकर्ण्य स्नुषया पुत्रस्य भार्यया सहिता दितिः क्षणमात्रेण पुत्रशोकं त्यक्त्वा तत्त्वे देहात्मयाथात्म्ये चित्तमधारयत् तत्त्वचिन्तनपरा बभूवेत्यर्थः।।६१।।

इति श्रीमद्भागवतं सप्तमस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

**विज०** अनेन प्रकृते किमभूत्तत्राह-**एवमिति**। आत्मापायं युष्मन्नाशं देहनाशं वा।।५७।।

किं ज्ञातयो बालभाषित मित्युपेक्षां चक्रुरिति तत्राह-**बाल** इति। यद्देहादिकं तत्सर्वं मनित्यं मेनिरे यद्देहात्मत्वं यदयथोत्थितं स्वप्नजाग्रत्ववद्भ्रान्तिं मेनिरे "अहं ममाभिमानादित्व यथोत्थमनित्यकम्" (ब्रह्मतर्के) इति स्मृतेः। नन्वेवं तर्हि महदादिजगतः चित्प्रकृतेश्च भ्रान्तिकल्पितत्वमायातं तयोरपि सर्वान्तर्गतत्वा दित्याशङ्का वाऽनेन परिहर्तव्या। तथा हि, यन्महदादि तत्सर्वं जगदाकारवाच्यस्य हरेरनुग्रहान्नित्यं आत् परमात्मनो यथार्थत्वेन सत्यत्वेनोत्थितं सृष्टं चित्प्रधानस्यापि नित्यत्वं भगवन्तमन्तरेण यथाऽस्वातन्त्र्येण स्थितत्वं च, तदुक्तं च "महदादि यथोत्थं च नित्या चापि यथोत्थिता। अस्वतन्त्रैव प्रकृतिः स्वतन्त्रो नित्य एव च। यथार्थभूतश्च पर एक एव जनार्दनः"।। (ब्रह्मतर्के) इति। अनेन महदादेरपि अनित्यत्वादिकं नास्तीति किमु हरेरिति कैमुत्यन्यायो दर्शितः।।५८।।

साम्परायिकं मृतविषयम्।।५९।।

आत्मपरावुद्दिश्य किमिति शोको न कार्य इति तत्राह-क आत्मेति। देहादिकमप्यपेक्ष्यात्मपरावाक्षिप्येते तथा हि, आत्मपरयोः चेतनत्वेन नित्यत्वाद्देहादेः भौतिकत्वेन नश्वरत्वात्किंशब्दस्याऽक्षेपत्वमेव, न त्वनिर्वचनीयः। तर्ह्यहं पर इति व्यवहारस्य किं मूलमिति तत्राह-स्वपरेति। स्वः पर इति दुराग्रहलक्षणमज्ञानमन्तरेण न किमपि कारणं तस्मात् आत्मनो वृद्धिः श्रीवासुदेवे दृढा मनोरतिरज्ञाननामशत्रुनाशश्चापादनीयो पुरुषेणेति निश्चेतव्यम्। "न हि देहादिरात्मा स्यान्न च शत्रु रुदाहृतः। अतो दैहिकवृद्धौ वा क्षये वा किं प्रयोजनम्।। (ब्रह्मतर्के) यस्तु देहगतो जीवः स हि नाशं न गच्छति। अतः शत्रुविवृद्धौ वा स्वनाशे शोचनं कुतः।।

देहदिव्यतिरिक्तौ तु जीवेशौ प्रति जानताम्। अत आत्मविवृद्धिस्तु वासुदेवे रतिः स्थिरा।। शत्रुनाशस्तथाऽज्ञाननाशो नान्यः कथञ्चन"।। (ब्रह्मवैवर्ते) इत्यनेन तात्पर्य मवगन्तव्यमिति सिद्धम्।।६०।।

प्रकरणसमाप्तावित्ति शब्दः।।६१।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थकृतायां पदरत्नावल्यां टीकायां
सप्तमस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

* * *

# तृतीयोऽध्यायः

नारद उवाच

हिरण्यकशिपू राजन्नजेयमजरामरम्।
आत्मानमप्रतिद्वन्द्वमेकराजं व्यधित्सत।।१।।

स तेपे मन्दरद्रोण्यां तपः परमदारुणम्।
ऊर्ध्वबाहुर्नभोदृष्टिः पादाङ्गुष्ठाश्रितावनिः।।२।।

जटादीधितिभी रेजे संवर्तार्क इवांशुभिः।
तस्मिंस्तपस्तप्यमाने देवाः स्थानानि भेजिरे।।३।।

तस्य मूर्ध्नः समुद्भूतः सधूमो[1]ऽग्निस्तपोमयः।
तिर्यगूर्ध्वमधोलोका नतपद्वि[2]ष्वगीरितः।।४।।

चुक्षुभुर्नद्युदन्वन्तः सा[3]द्रिद्वीपा चचाल भूः।
निपेतुः सग्रहास्तारा जज्वलुश्च दिशो दश।।५।।

तेन तप्ता दिवं त्यक्त्वा ब्रह्मलोकं ययुः सुराः।
धात्रे विज्ञापयामासुर्देवदेव जगत्पते।।६।।

दैत्येन्द्रतपसा [4]तप्ते दिवि स्थातुं न शक्नुमः।
तस्यचोपशमं भूमन् विधेहि यदि मन्यसे।
लोका न यावन्नङ्क्ष्यन्ति बलिहारास्त[5]वाभिभोः।।७।।

---

1. M,Ma °धूम्रो° 2 H,V °सकृ° 3 A,B,G,J,M,Ma,T सद्वीपाद्रिश्च°4 A,B,G,J,M,Ma,T तप्ता 5. A,B,G,J,T स्तवाभिभूः. M,Ma स्तवप्रभोः !

**तस्याऽयं किल सङ्कल्पश्चरतो दुश्चरं तपः।**
**श्रूयतां किञ्चविदितं[1] तवाथापि निवेद्यते[2]।।८।।**

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तृतीये तस्यतपसा तप्तं वीक्ष्य जगद्विधिः। आगत्य विस्मितस्तेन संस्तुतस्य[3] वरानदात्।।

तदेवं साधूनां कदने दानवानादिश्य बन्धूनां शोकं च तत्त्वनिरूपणेन अपनीय यत्कृतवां स्तदाह-**हिरण्यकशिपुरित्यादिना**। अप्रतिद्वन्द्वं प्रतिपक्षहीनमेकराजमेकमेव राजानं व्यधित्सत कर्तुमैच्छत्।।१।।

**स** इति। ऊर्ध्वौ बाहू यस्य। नभसि दृष्टिर्यस्य। पादाङ्गुष्ठेनाश्रिताऽवनिर्येन।।२।।

**जटेति**। जटानां दीधितिभिः कान्तिभिः[4] अंशुभिरश्मिभिः[5] प्रलयकर्ताऽर्क इव रेजे। पूर्वं येऽलक्षिताः सन्तो भुवि चेरुः ते देवाः तदा[6] पुनः स्वानि स्थानानि भेजिरे।।३।।

**तस्येति**। विष्वगीरितः सर्वतः प्रसृतः सन्।।४।।

**चुक्षुभुरिति**। द्वीपैः अद्रिभिश्च सहिता भूश्चलिता[7]।।५,६।।

**दैत्येन्द्रेति**। तव बलिहाराः करप्रदाः पूजाकारिण इति वा अभितो भवतीत्यभिभूः तस्यामन्त्रणं[8] हे अभिभूः[9]! हे सर्वाधिपते। पाठान्तरे भो इति सम्बोधनम्। अभितो यावन्न नक्ष्ङ्यतीति सम्बन्धः।।७।।

ब्रह्मणस्तस्मिन् द्वेषमुत्पादयितुं तत्सङ्कल्पमाहुस्तस्येति चतुर्भिः। तस्य[10] सङ्कल्पस्तव किं न विदितः[10] अथाप्यस्माभिर्निवेदितम्[11], त्वया श्रूयताम्।।८।।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं तत्त्वोपदेशेन दित्यादीनां शोकं परिहृतवतो दैत्यस्योपरितनं वृत्तान्तमाह भगवान्नारदः-**हिरण्यकशिपुरित्यादिना**। हेराजन्! युधिष्ठिर! हिरण्यकशिपुरात्मानं व्यधित्सत विधातुमैच्छत्। कथम्भूतम्? अजेयमितरैर्जेतुमशक्यम्, जरामरणरहितम् अप्रतिद्वन्द्वं प्रतिपक्षरहितं, एकराजं एकःस्वयमेवराजा[12] इत्येक राजः तमेवम्भूतमात्मानं साधयितुमैच्छदित्यर्थः। येन साधनेन स्वयमुक्तविधो भवेत्तादृशं साधनंकर्तुमैच्छदिति यावत्।।१।।

---

1- -2 A,B,G,J,T किन विदितः, M,Ma कि न विदितं 2 A,B,G,J,T °दतः 3 A,B,J °तश्च 4. H,V omit कान्तिभिः 5 H,V omit रश्मिभिः
6 A,B,J omit तदा 7 A omits भूश्चलिता 8 A,B,J omit तस्यामन्त्रणं 9 H,V °भो 10- -10 H,V omit 11. A,B,J °तः 12 W omits इति

तत्साधनानुष्ठानप्रकारमेव प्रपञ्चयति-**स** इति। सः दैत्यः मन्दरगिरेर्द्रोण्यां अत्युग्रं तपस्तेपे कृतवान्। कथम्भूतस्सन् ऊर्ध्वौ बाहू यस्य। नभसि दृष्टिः यस्य, पादाङ्गुष्ठेनाश्रिताऽवनिः भूमिः येन।।२।।

एवं तपः कुर्वन् दैत्यो जटानां दीधितिभिः कान्तिभिः अंशुभिः रश्मिभिः सांवर्तकः प्रलयकालिकः सूर्य इव रेजे रराज। तस्मिन् दैत्ये एवं तपः कुर्वति सति ये देवाः पूर्वं राक्षसैः[1] अलक्षितास्सन्तः भुवि चेरुः ते स्थानानि स्वस्थानानि[2] भेजिरे प्रापुः। प्रतिपक्षस्यासुरस्य तपस्स्थिततत्वात् उपद्रवाभावात् स्वस्थानानि भेजिरे इति भावः, तस्य दैत्यस्य मूर्ध्नः सकाशात्समुद्भूतः निष्क्रान्तस्तपोमयः तपस आगतः तपोमयः तत आगत इत्यर्थे "मयट् च" इति मयट्। तपः कार्यभूत इत्यर्थः। धूमेनसहितोऽग्निः प्रवृध्दः तिर्यगूर्ध्वमधश्च सर्वतो लोकानतपत् तताप।।३,४।।

नद्यः उदन्वन्तःसमुद्राश्च चुक्षुभुः द्वीपैरद्रिभिश्च सहिता भूः भूमिः चचाल, ग्रहैः सहिता स्ताराः नक्षत्राणि निपेतुः, दश दिशो जज्वलुश्च।।५।।

तेन तप्ता अग्निना तप्ता देवाः दिवं स्वर्गं त्यक्त्वा सत्यलोकं ययुः धात्रे ब्रह्मणे विज्ञापयामासुश्च। विज्ञापमेवाह हे देवदेव, देवानामिन्द्रादीनामपि देव! हे जगत्पते! दैत्येन्द्रस्य तपसा तप्ताः वयं दिवि द्युलोके स्थातुं न शक्नुमः।।६।।

हे भूमन्! यदि त्वं लोकानां क्षेमं मन्यसे तर्हि हे अभिभो। सर्वाभिभवक्षम! तव बलिहाराः हविर्भागप्रदाः पूजाकारिणो वा सर्वे लोकाः यावन्न नङ्क्ष्यन्ति नाशं न यास्यन्ति तावदेव ततः पूर्वमेव, तस्य दैत्येन्द्र तपोग्रे-रुपशमं वरप्रदानरूपोपायेन[3] विधेहि कुरु।।७।।

दैत्यस्य गूढाभिसन्धिं ब्रह्मणः तस्मिन् द्वेषमुत्पादयितुं विज्ञापयन्त[4] आहुः[4] **तस्येति**। दुश्चरमन्यैः कर्तुमशक्यं तपश्चरतः कुर्वतः तस्य दैत्यस्यायं किल सङ्कल्पः यद्यपि सर्वज्ञस्य तवाविदितं किन्तु, किमपि नास्ति तथाप्यस्मिन्निवेदितं श्रूयतां त्वयेति शेषः।।८।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

बहुकोटिसंख्या, तत्कालेन अनेकसम्भारैः आर्जितैरयोग्यं दुष्प्रापं, योग्यं चानेकविधसाधनैः, सुसाध्यं तूष्णीम्भावेनेत्यादिकं हिरण्यकशिपुतपश्चरणकथनव्याजेन अभिप्रेयतेऽस्मिन्नध्याये। व्यधित्सत कर्तुमैच्छत्।।१,२।।

1. A,B,T दैत्यैः 2- -2 A,B,T omit 3- -3 W omits 4- -4 W °यन्ति

संवर्तार्कः प्रलयसूर्यः, स्थानानि गमनवर्जनानि, इतस्ततो यात्रां मुक्त्वा स्वस्थानानि भेजुः।।३-६।।

उपशमं परिहारं, बलिहारा उपहारार्थकाः!।७,८।।

**सृष्ट्वा चराचरमिदं तपोयोगसमाधिना।**
**अध्यास्ते सर्वधिष्ण्येभ्यः परमेष्ठी निजासनम्।।९।।**

**तदहं वर्धमानेन तपोयोगसमाधिना।**
**कालात्मनोश्च नित्यत्वात्साधयिष्ये तथाऽऽत्मनः।।१०।।**

**अन्यथेदं विधास्येऽहमयथापूर्वमोजसा।**
**किमन्यैः कालनिर्धूतैः कल्पान्ते[1] वैष्णवादिभिः।।११।।**

**इति शुश्रुम निर्बन्धं तपः परममास्थितः।**
**विधत्स्वानन्तरं युक्तं स्वयं त्रिभुवनेश्वर।।१२।।**

**तवासनं द्विजगवां[2] पारमेष्ठ्यं जगत्पते।**
**भवाय श्रयसे भूत्यै क्षेमाय विजयाय च।।१३।।**

**इति विज्ञापितो देवैर्भगवानात्मभूर्नृप।**
**परितो भृगुदक्षाद्यैर्ययौ दैत्येश्वराश्रमम्।।१४।।**

**न[3] ददर्श प्रतिच्छन्नं वल्मीकतृणकीचकैः।**
**पिपीलिकाभिराचीर्णमेदस्त्वङ्मांसशोणितम्[4]।।१५।।**

**तपन्तं तपसा लोकान् यथाभ्रपिहितं[5] रविम्।**
**विलक्ष्य विस्मितः प्राह हंसस्तं[6] हंसवाहनः।।१६।।**

**श्रीध॰ सृष्ट्वेति**। तपोयोगयोः समाधिना निष्ठया सर्वधिष्ण्येभ्यः श्रेष्ठं निजासनं सत्यलोकं यथाऽध्यास्तेऽधितिष्ठति।।९।।

---

1 M.Ma °न्त्यान्तैः 2 M.Ma हि जगतां 3 M.Ma तं 4 M.Ma कीर्णं 5 A.B.G.J.T °भ्रापिहितं, M. Ma भावितं 6 A.B.G.J.T प्रहसन् ह°

**तदिति**। तत्तथैवात्मनः साधयिष्यामि। ननु ब्रह्मणाऽतिदीर्घायुषा तपस्तप्त्वा तत्साधितमन्यः कृत स्तत्साधयेत्तत्राह[1]:-**कालात्मनो** रिति। यद्यप्यायुषोऽल्पत्वेन देहो वारं वारं म्रियेत तथापि कालस्यात्मनश्च नित्यत्वा द्बहुभिः जन्मभिस्तपस्तप्त्वा तत्पदं[2] साधयिष्याम्येवेति।।१०।।

वर्धमानेनेति यदुक्तं तस्यफलमाह[3] - **अन्यथेति**[4] इदं सुरासुरादि व्यत्ययेन[5]अयथापूर्वं पुण्यपापादिव्यत्ययेन इदं जगद्विधास्यामि। अन्यैर्वैष्णवादिभिः[6] ध्रुवादिपदैः किं प्रयोजन मतस्तदेव साधयिष्यामि।।११।।

**इतीति**। इति त्वत्पदापहरणे तस्य निर्बन्धं शुश्रुम। अत एवाऽसौ तपः परममास्थितो वर्तते[7] यदत्र युक्तं तदनन्तरमेव विधत्स्व।।१२।।

अन्यथा तव स्थानभ्रंशे सति साधूनामनिष्टं स्यादिति शोचन्त आहुः **तवेति**। तव पारमष्ट्र्यामदमासनम्। द्विजानां गवां च भवायोद्भवाय। श्रेयसे सुखाय, भूत्यै ऐश्वर्याय। क्षेमाय लब्धपालनाय विजयायोत्कर्षाय।।१३,१४।।

**नेति**। वल्मीकादिभिः प्रतिच्छन्नं प्रथमं न ददर्श। पश्चात् कथञ्चिद्विलक्ष्य तं प्राहेति द्वयोरन्वयः। पिपीलिकाभिः[8] आचीर्णं समन्ताद्भक्षितं मेदश्च त्वक्च मांसं च शोणितं च यस्य।।१५।।

**तपन्तमिति**। अभ्रैः पिहितं छन्नं रविमिव विलक्ष्य[9] विस्मितः प्राह[9]।।१६।।

**वीर०** कोऽसौ सङ्कल्पः, तत्राहुः - **सृष्टेति**। सर्वधिष्ण्येभ्यः इन्द्रादिस्थानेभ्यः परमे स्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी ब्रह्मा, तपोयोगे यस्समाधिः निष्ठा तेन चराचरात्मकमिदं कृत्स्नं[10] जगत्सृष्ट्वा यन्निजासनं सर्वोत्कृष्टं सत्यलोकमध्यास्ते।।९।।

तदेवासनमहमात्मनो मम वर्धमानेन तपोयोगसमाधिना साधयिष्ये इति। ननु ब्रह्मणा दीर्घायुषा तप स्तप्त्वा तत्साधितम् अन्यः कथं तत्साधयेत्, तत्राहुः - कालात्मनोश्च नित्यत्वादिति। यद्यप्यायुरल्पं तथाऽपि कालस्य आत्मनश्च नित्यत्वात् बहुभिर्जन्मभिः साधयिष्ये इत्यभिसन्धिरित्यर्थः।।१०।।

अभिसन्ध्यन्तरमाहुः - **अन्यथेति**। तपोबलेनाहमिदं जगदन्यथा अधरोत्तरमयथापूर्वं देवासुरादिव्यत्ययञ्च करिष्ये कल्पान्तैः कल्पावधिभिरत एव कालेन निर्धूतैर्विनाश्यै र्वैष्णवादिभिः पदैर्वैकुण्ठादिभिः किं प्रयोजनं, न

---

1 H,V °ह 2 H,V omit पदं 3- -3 A,B,T तदभिप्रायमाह 4 A,B,J अन्यथा 5 H.V omit व्यत्ययेन·6. H,V omit अन्यै. 7 H V omit वर्तते 8 H,V omit पिपीलिकाभिः 9- -9 H,V omit 10 A,B,T सर्व

किमपि प्रयोजनम्[1] इत्यर्थः[2]। अनेन "सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ, तामसी" (भ. ग. 18-32) इत्युक्तरीत्या स्थायिनो वैष्णवपदस्य अस्थिरत्वं सत्यादिलोकानां स्थिरत्वं चाभिसंहितवतो दैत्यस्य केवलतामस-बुद्धिमत्त्वमावेदितम्।।११।।

इतीत्थं त्वत्पदापहरणे तस्य निर्बन्धमभिसन्धिरूपं शुश्रुमः तदर्थमेव परमं तप आस्थितः। अतो हे त्रिभुवनेश्वर! अत्र कर्तुं यद्युक्तं तदनन्तरमाश्वेव स्वयमेव विधत्स्व विधेहि[3]।।१२।।

हे जगत्पते! तवेदं पारमेष्ठ्यं सर्वोत्कृष्टमासनं स्थानं द्विजानां गवाञ्च भवाद्यर्थं, तव स्थानभ्रंशे द्विजानां[4] गवाञ्च न भवादिकमस्तीति भावः। तत्र भवः अलभ्यलाभः, क्षेमो लब्धपालनं, श्रेयो धर्मादिपुरुषार्थः, भूतिरैश्वर्यं, विजयः उत्कर्षः।।१३।।

इतीत्थं दैवैर्विज्ञापितो भगवानात्मभूः परमात्मनो जातो ब्रह्मा भृगुदक्षादिभिः[5]परिवृतो दैत्येश्वरस्याऽऽश्रमं प्रति ययौ।।१४।।

वल्मीकादिभिः[6] वल्मीकैस्तृणैः, कीचकैः वेणुभिश्च प्रतिच्छनं तं दैत्यं प्रथमं हंसवाहनो ब्रह्मा न ददर्श। ततश्च पश्चात्कथञ्चिद्विलक्ष्य विस्मितः प्रहसन्[7] तं प्राहेति द्वयोरन्वयः। कथम्भूतं विलक्ष्य? पिपीलिकाभिः आचीर्णम् आसमन्ताद्भक्षितं मेदश्च त्वक्च मांसञ्च शोणितं च यस्य।।१५।।

तपसा तपोऽग्निना लोकां स्तपन्तं, कमिव विलक्ष्य? अभ्रैः पिहितं छन्नं रविं यथा सूर्यमिव।।१६।।

**विज०** किं तद्विज्ञापनमत्राह - सृष्ट्वेति। ब्रह्मा तपोज्ञानदनेदं चराचरं सृष्ट्वा सर्वधिष्ण्येभ्यो रुद्रादिपदेभ्यः परं यन्निजासनमध्यास्ते। "अधिशीङ्स्थासां कर्म" (अष्टा. 1-4-46) इति सप्तम्यर्थे द्वितीया। अहं तदात्मनः साधयिष्ये इत्यन्वयः। स्वनाशे दुर्घटमत्राह - कालात्मनोरिति। कालस्यात्मनश्चेतनस्य च नित्यत्वात् अविनाशात् अन्यस्य त्वत्साध्यत्वे हिरण्यकशिपो रीदृशं कर्म नाद्भुतं यतो, ब्रह्माणमेकमन्तरेण आत्मयोग्यज्ञानेन रागादिना वा मोहिताः जानन्तोऽपि स्वासदृशं कर्माचरन्तो दृश्यन्ते, तदुदितम् - "जानतामपि कर्तव्यं कर्मात्मसदृशं सदा। तत्रात्मसदृशाज्ञानाद्रागाद्यैर्वा विमोहिताः। जानन्तोऽपि ह्यसदृशं कर्म कुर्युः ऋते विभुम्। चतुरास्यं स नायोग्यं कर्म कुर्यात्कथञ्चन" (नारदीये) इति। न चैतत्तपआदिसाध्यम् अयोग्यत्वात्। "तपसा विद्यया वापि ज्ञानध्यानादिना

1- -1 A,B,T omit 2 W omits अर्थः 3 A,B,T कुरु 4- -4 W द्विजगवां 5- -5 A,B,T भृग्वाद्यैः 6- -6 W omits 7 W omits प्र.

तथा। व्यस्तैः समस्तैरथवा कुर्वता यत्नमुत्तमम्। सम्भारविक्षेपशतैर्बहुकोटिभिरेव च। न शक्यते समारोढुं स्वात्मायोग्यपदंत्विति।।" (प्रकाशिकायाम्) तस्माद्योग्यमेवानुष्ठेयं नायोग्यमिति सिद्धम् एवं तत्त्वं चेत्तर्हि किमर्थं तपआदेर्विघ्नं कुर्वन्तीति चेन्न। तप आदीनां निष्फलत्वपरिहारार्थत्वात् - "तथाप्याचरतां कुर्युर्दैत्यानां सुरनायकाः। विघ्नं तु तप आदीनां वैयर्थ्यस्यापनुत्तये" (प्रकाशिकायाम्) इति वचनात्।।९,१०।।

वैष्णवो ब्रह्मादिः कर्ता येषां ते तथा तैर्ब्रह्मनिर्मितैरित्यर्थः। "ब्रह्मास्वयम्भूर्द्विहिणो वैष्णवः शतधृत्तथा" इति शब्दनिर्णये, तथापि साक्षाद्विष्णोः पदमत्रोच्यत इति। किं न स्यादत्राह - कालनिर्धूतैरिति तर्हि कियन्तं कालं स्थितैरिति तत्राह, कल्पान्तैरिति। मन्वन्तरादिकल्पावसानिकैः "न यत्र माया न रजस्तमश्च" इत्यादिना विष्णोः पदस्य वैलक्षण्योक्तेः।।११।।

निर्बन्धमसदाग्रहम्।।१२।।

ननु, हिरण्यकशिपोरन्येषां पदानि विहाय तव पदाकांक्षायां को विशेषहेतुरत्राह - तर्वेति। तत्रासनं सकलदुःखानि निरस्य स्थातुं योग्यं पदं पारमेष्ठ्यं अत्यन्तसुखकारणं यस्मात्तस्माद्भगतां भवाय ज्ञानादिगुणसमृद्धये भूत्यै समृद्धस्य पुनर्हासराहित्याय श्रेयसे संसारान्मुक्तये क्षेमाय रक्षणाय विजयाय इन्द्रियजयाय च भर्वति तस्मादत्युत्तम पदत्वाद्धिरण्यकशिपुरचीकॢपत्, तदुक्तम् - "भवाय श्रेयसे चैव न कश्चित्तदपेक्षते। मधुकैटभयोश्चैव हिरण्यादेस्तथैव च। नान्यो ब्रह्मपदं वाञ्छत्यृजून्योग्यान्विना क्वचित्। ततः श्रेयांसि वाञ्छन्ति, नतु तत्पदमाप्तये" (ब्रह्माण्डे) इति। "भवो वृद्धिः समुद्दिष्टा श्रेयोमोक्ष उदाहतः। वृद्धस्य न पुनर्हासो भूतिरित्येव कथ्यते" इति शब्दनिर्णये, दिवि स्थातुं न शक्नुमः इत्यतो हिरण्यकशिपुना ब्रह्मपदावाप्तौ सकामं तपसि स्थितमिति ज्ञायते, यः सकामं तप आचरति तस्य तपसा तप्ते लोके स्थितिर्न घटते सन्तप्तकटाहान्तःस्थितिवद्यस्तु निष्कामं तपः करोति तेन सुखावाप्तिः स्यात्। तदुक्तं "सकामं तु तपः क्रूरं लोकानां क्षोभकृद्भवेत्।इतरच्छान्तये सर्वलोकानां भर्वति ध्रुवम्" (प्रकाशिकायाम्) इति। "ब्रह्माणमभजद्ब्रह्मपदार्थं स हिरण्यकः" (स्कान्दे) इति च।।१३,१४।।

कीचकैरनिलोद्धूतत्वेन स्वनद्रेणुभिः पिपीलिकाभिः व्याप्तत्वात् क्वचिच्छरीरावयवैर्मेदसा क्वचित्त्वचा क्वचिच्छोणितेन च युक्तम्।।१५।।

तपन्तमित्यनेनापि तपसः क्रूरत्वमाह - भासा विततम् अहो दैत्यानामयोग्ये वस्तुनि प्रयत्नातिशय इत्यालोच्य हसन् मन्दस्मितं कुर्वन् हंसवाहनो ब्रह्मा "विष्णुपद्मासना वुक्तौ पण्डितैर्हंसवाहनौ" इत्यभिधानम्।।१६।।

ब्रह्मोवाच

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते तपस्सिद्धोऽसि काश्यप।
वरदोऽह मनुप्राप्तो व्रियतामीप्सितो वरः।।१७।।

अद्राक्षमहमेतत्ते हृत्सारं महदद्भुतम्।
दंशभक्षितदेहस्य प्राणा ह्यस्थिषु शेरते।।१८।।

नैतत्पूर्वर्षयश्चक्रुः न करिष्यन्ति चापरे।
निरम्बुर्धारयेत्प्राणान्[1] को वै दिव्यसमाः शतम्।।१९।।

व्यवसायेन तेनैव[2] दुष्करेण मनस्विभिः[3]।
तपोनिष्ठेन भवता जितोऽहं दितिनन्दन।।२०।।

तत स्त आशिषः सर्वा ददाम्यसुरपुङ्गव।
मर्त्यस्य ते ह्यमर्त्यस्य[4] दर्शनं नाफलं[5] मम।।२१।।

नारद उवाच

इत्युक्ताऽऽदिभवो देवो भक्षिताङ्गं पिपीलिकैः।
कमण्डलु जलेनौक्षद्दिव्येनामोघराधसा।।२२।।

ततः[6] कीचक वल्मीकात् सह ओजो बलान्वितः।
सर्वावयवसम्पन्नो वज्रसंहननो युवा।।
उत्थित स्तप्तहेमाभो विभावसुरिवैधसः।।२३।।

स निरीक्ष्याम्बरे देवं हंसवाहमधिष्ठितम्[7]।
ननाम शिरसा भूमौ तद्दर्शनमहोत्सवः।।२४।।

---

1 W म्बुधा° 2 A,B G J,T तेऽनेन. M,Ma तेनेन. 3 A,B,G,J,T °नाम् 4 A,B,G,J,T अम° 5- -5 M,Ma न च निष्फलं 6 A,B,G,J M,Ma,T स तत्° 7 A,B,G,H,T,V मवस्थितम्, M,Ma °नमास्थितम्

**श्रीध॰ अद्राक्षमिति**। हृत्सारं धैर्यम्। दंशैर्भक्षिकादिविशेषैर्भक्षितो देहो यस्य।।१७,१८।।

**नैतदि**ति। निरम्बुः निषिद्धमम्बु येन सः, त्यक्तोदक इत्यर्थः। निरम्बुितिपाठे[1-] क्रियाविशेषणम्[-1]।।१९।।

**व्यवसायेने**ति। ते त्वया[2]ऽनेन व्यवसायेनैव दृढसङ्कल्परूपोद्यमेनैव[3-] तावज्जितोऽहं[-3] तपोनिष्ठेन भवता तु सुतरां जितः।।२०।।

**तत** इति! मर्त्यस्य[4-] तव[-4] अमर्त्यस्य मम दर्शनमफलं[5] निष्फलं न भवति।।२१।।

**इती**ति। आदौ भवतीति आदिभवो ब्रह्मा[6] अमोघराधसा[7-] अमोघप्रभावेन[-7] औक्षत्प्रोक्षितवान्।।२२।।

**तत** इति। वज्रवत्संहननं अङ्गदार्ढ्यं यस्य, तप्तस्य हेम्नः आभेवाभा[8] देहकान्तिर्यस्य।।२३।।

**स** इति। तस्य दर्शनेन महानुत्सवो यस्य।।२४।।

**वीर॰** उक्तिमेवाह-**उत्तिष्ठेति**[9]। हे काश्यप!, उत्तिष्ठोत्तिष्ठ ते तव भद्रं कुशलमभीष्टमिति यावत् भविष्यति। यतस्त्वं तपस्सिद्धः तपसा सिद्धः फलपर्यन्ततपस्सम्पन्नः अत एव च वरदस्त्वदभीष्टदोऽहमनुप्राप्तः, अत ईप्सित इष्टोऽर्थो व्रियतां याच्यताम्।।१७।।

ते तवैतत् हृत्सारं धैर्यं, महदद्भुतमद्राक्षम् दृष्टवानस्मि, हि यस्मादृंशैः भक्षितो देहो यस्य, तस्य प्राणा अस्थिषु शेरते अस्थीनि भक्षयन्तः[10-] तिष्ठन्तीत्यर्थः[-10]।।१८।।

पूर्वर्षयो भृग्वादयोऽपि नैवं विधाः तपश्चक्रुः अपरे अर्वाचीना न करिष्यन्तीति किम्पुनर्वक्तव्यम्। को वै पुमान् देवमानेन शतं समाः वर्षाणि निरम्बु त्यक्तोदकं यथा भवति तथा प्राणान् धारयेत् न कोऽपीत्यर्थः।।१९।।

हे दितिनन्दन! मनस्विभिः योगिभिरपि दुष्करेण तेनानेन अध्यवसायेनैव[11-] तावज्जितोऽहं[-11] तपोनिष्ठेन भवता तु सुतरां जितः।।२०।।

यतोऽहं जितस्ततस्ते तुभ्यं हे असुरश्रेष्ठ! सर्वा आशिषः इष्टार्थान्ददामि, मर्त्यस्य[12-] मरणधर्मवतस्ते[-12] तव, अमर्त्यस्य तद्रहितस्य[13-] मम[-13] दर्शनमफलसाधनं न भवति, किन्तु सफल मेवेत्यर्थः।।२१।।

---

1- -1 A,B,J omit 2 H,V omit त्वया 3- -3 A,B,J omit 4- -4 H,V omit 5 H,V omit निष्फलं 6 H,V omit ब्रह्मा 7- -7 A,B,J omit 8 H,V omit देहकान्तिः 9 A,B,T उक्त॰ 10- -10 A,B,T °यन्तः तिष्ठन्तीत्यर्थः 11- -11 W व्यवसाये नैव 12- -12 W omits 13- -13 W omits

इतीत्थमुक्त्वा आदिदेवो ब्रह्मा, अमोघराधसा अमोघप्रभावेन दिव्येन कमण्डलुजलेन पिपीलिकैर्भक्षितमङ्गं यस्य तं दैत्यम् औक्षत्प्रोक्षितवान्।।२२।।

ततः प्रोक्षणानन्तरं कीचकाच्छन्नवल्मीकादेधसः काष्टनिचयाद्विभावसुरग्निरिव उत्थितः वल्मीकं भित्त्वा बहिर्निर्गत इत्यर्थः[1]। कथम्भूतः? सहसा प्राणबलेन ओजसा इन्द्रियबलेन देहबलेन चान्वितः तथा सर्वैः अवयवैः पाणिपादादिभिः सम्पन्नो युक्तः वज्रवत्संहनन मङ्गदार्ढ्यं यस्य स युवा यौवनयुक्तश्च तप्तस्य हेम्न इवाभा यस्य सः तप्तसुवर्ण तुल्यकान्तिरित्यर्थः[2]।।२३।।

एवं विधः उत्थायाम्बरे हंसवाहनमवस्थितमधिष्ठितं देवं ब्रह्माणं निरीक्ष्य स दैत्यस्तस्य ब्रह्मणो दर्शनेन महानुत्सवः सन्तोषो यस्य तादृशः शिरसा भूमौ ननाम।।२४।।

**विज०** हृदो हृदयस्य सारं दार्ढ्यं दंशाः सूचीमुखाः शूकाः, ते तव अस्थिष्वेव शेरत इति यस्मात्तस्मा दद्भुतम्।।१८।।

इतोऽप्यत्यद्भुतमित्याह-**नैतदि**ति। निरम्बुर्जलपानरहितः "निर्निश्चय निषेधयोः" (अम.को. 3-408) इत्यमरः "स्युरेवतुपुनर्वैवेत्यवधारणवाचकाः" (अम.को. 3-427) इत्यभिधानाद्वा इत्यनेन दिव्यशतसमास्वेकाऽपि किञ्चिदूना न भवतीत्याह।।१९।।

इनः समर्थः तेन व्यवसायेन अमनस्विभिः मनोबलरहितैः दुष्करेण दुस्साधनेन जितो वशीकृतः "पराभूतं वशस्थञ्च जितमित्युच्यते बुधैः" इति शब्दनिर्णये।।२०।।

ददामि दास्यामि इति इच्छामि मर्त्यस्य मरणशील मनुष्यशरीरं प्राप्तस्य ते तव अमर्त्यस्य जरामरणशून्यस्य देवस्य मम दर्शनमभूद्धि यस्मात्तस्मान्निष्फलं नैव।।२१।।

आदेर्हरेर्भवो जन्म यस्य स तथा विष्णुभूरित्यर्थः। सर्वस्यादौ भवतीति वा। औक्षत् प्रोक्षितवान् दिव्यत्वमाह, आमोघेति।।२२।।

एधसः इन्धनात्।।२३,२४।।

1- -1 W omits 2 W omits इत्यर्थः

उत्थाय प्राञ्जलिः प्रह्वः[1] प्रेक्षमाणो दृशा विभुम्।
हर्षाश्रुपुलकोद्भेदो गिरा गद्गदयाऽगृणात्[2]।।२५।।

हिरण्यकशिपुरुवाच

कल्पान्तेकालसृष्टेन योऽन्धेन तमसाऽऽवृतम्।
अभिव्यनग् जगदिदं स्वयंज्योतिः स्वरोचिषा।।२६।।

आत्मना त्रिवृता चेदं सृजत्यवति लुम्पति।
रजस्सत्त्वतमोधाम्ने पराय महते नमः।।२७।।

नम आद्याय बीजाय नमोविज्ञानमूर्तये[3]।
प्राणेन्द्रियमनोबुद्धिविकारैर्व्यक्तिमीयुषे।।२८।।

त्वमीशिषे जगतस्तस्थुषश्च प्राणेन मुख्येन पतिः प्रजानाम्।
चित्तस्य चित्तेर्मन[4] इन्द्रियाणां पतिर्महान्[5] भूतगुणाशयेशः।।२९।।

त्वं सप्ततन्तून् वितनोषि तन्वा त्रय्या चतुर्होत्रकविद्यया च[6]।
त्वमेक[7] आत्माऽऽत्मवता मनादिरनन्तपारः कविरन्तरात्मा[8]।।३०।।

त्वमेव कालोऽनिमिषो जनानामायुर्लवाद्यावयवैः क्षिणोषि।
कूटस्थ आत्मा परमेष्ठ्यजो महांस्त्वं जीवलोकस्य च जीव आत्मा।।३१।।

त्वत्तः परं नापरमप्यनेजज्जगच्च[9] किञ्चित् व्यतिरिक्तमस्ति।
विद्याः कलास्ते तनवश्च सर्वा हिरण्यगर्भोऽसि बृहत्रिपृष्ठः।।३२।।

**श्रीध॰ उत्थायेति**। हर्षेण अश्रूणि पुलकोद्भेदश्च यस्य सः।।२५।।

**कल्पान्त** इति। अन्धेन निबिडेन। तत्र हेतुः कालसृष्टेन प्रकृतिगुणरूपेण न[10] तु ध्वान्तेन। तमसाऽऽवृत

---

1 A,B,G,J,M,Ma,T °प्रह्वइक्ष° 2- -2 या गृणन्, M,Ma याऽगृणत् 3 A,B,G,J,M,Ma,T ज्ञान वि° 4. M,Ma चित्ति 5 M,Ma °हाभू° 6. A,B,G,J,T चा° 7 A व° 8. M,Ma ख्ययात्मा 9 A,B,G,J,M,Ma,T जदेजज्ज 10 H,V omit नतु

मिदं जगद्योऽभिव्यनक् अभिव्यक्तमकरोद्यश्च त्रिगुणेनात्मनेदं जगत्सृजति[1] अवति पालयति[2] लुम्पति संहरति[3] च तस्मै रजस्सत्त्वतमसां धाम्ने आश्रयाय महते पराय परमेश्वराय नम इति द्वयोरन्वयः।।२६,२७।।

अत्र च स्वप्रकाशकत्वं जगत्प्रकाशकत्वं तत्कारणत्वं तत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वं महत्वं परमेश्वरत्वं चेति षड्विधत्वमुक्तम्। तदेव प्रपञ्चयन् नमस्करोति-**नम** इति। चतुर्भिः। बीजाय कारणय। तत्र हेतु· आद्याय। ज्ञानं ज्ञप्तिर्विज्ञानं विषयाकारं ज्ञानं मूर्तिर्यस्य तस्मै। अनेन स्वप्रकाशकत्वं जगत्प्रकाशकत्वं च दर्शितम् बीजायेति निमित्तत्वमुक्तम् उपादानत्वमाह-प्राणादयो ये विकारास्तैः रूपैः[4] व्यक्ति कार्यकारणमीयुषे प्राप्तवते।।२८।।

एवमात्मना त्रिवृता चेत्यनेनोक्तं कारणत्वं द्वेधा दर्शितम्। महत्त्वमीश्वरत्वं चाह-**त्वमिति**। त्वमेव जगतो जङ्गमस्य तस्थुष· स्थावरस्य च, ईशिषे नियन्ता भवसि। केन मुख्येन प्राणेन सूत्रात्मरूपेण। अतस्त्वं प्रजानां पति· तासां चित्तस्य चित्तेश्च तत्परिणामभूतायाश्चेतनाया मनसश्च तन्नियाम्यानां इन्द्रियाणां च पति·। अतस्त्वमेव महान्। भूतानां आकाशादीनां तद्गुणानां शब्दादिविषयाणां आशयानां तद्वासनानां ईशश्च, एतेनेव स्रष्टृत्व दर्शितम्।।२९।।

इदानीं यज्ञप्रवर्तकत्वेनान्तर्यामित्वेन च जगत्पालकत्वमाह-**त्वमिति**। त्वमेव सप्ततन्तूनग्रिष्टोमः[5] अत्यग्रिष्टोमः, उक्थ्यः, षोडशी, वाजपेयः, अप्तोर्यामः, अतिरात्रः एते सप्त तन्तवः[5] विस्तारयसि। कथम्? त्रय्या तन्वा वेदत्रयरूपेण। कथम्भूतया? चत्वारो होतारो यत्र ताञ्चातुर्होत्रकं कर्म, तद्विषयया विद्यया। आत्मवनां प्राणिनां आत्मभूतस्त्वमेवान्तरात्मा चान्तर्यामी। कुतः? यतः कविः सर्वज्ञः। तत्कुतः? एकोऽखण्ड । तत्र हेतुरनादिरनन्तपारश्चेति। नास्त्यन्तः कालतः; पारश्चदेशतो यस्य सः।।३०।।

कालरूपेण संहर्तृत्वमाह-**त्वमेवेति**। लवाद्यैः[6] कालावयवैः क्षिणोषि क्षपयसि। तदेव सृष्ट्यादिकर्तृत्वेऽपि निर्विकारत्वमेवाह कूटस्थ इति। तत्र हेतवः। आत्मा ज्ञानरूपः परेमेष्ठी परमेश्वरोऽजो जन्मशून्यो महानपरिच्छिन्नः किच, जीवलोक एव कर्मवशाज्जन्मादिभि[7] विक्रियते त्वं तु तस्य जीवो जीवनहेतु· यतस्तस्यात्मा नियन्ता।।३१।।

---

1 H V omit जगत 2 H V omit पालयति 3 H V omit सहरति 4- -4 H V रूपव्यक्ति शोर्याकार° 5- -5 A B J °मादि यज्ञान 6 H V omit काल 7 A B J °पा°

तत्कुतस्तत्राह-**त्वत्त** इति। त्वत्तो व्यतिरिक्तं यदि किञ्चिद्भवेत्तर्हि[1] तस्मात्तवजन्मादिविकारो नियम्य त्वादिकं वा भवेत् तत्तु नास्तीत्याह[-1]। परं कारणम् अपरं कार्यम्। तत्र चैजज्जङ्गममनेजत्स्थावरं च तद्व्यतिरिक्तं[2] नास्ति। [3-]ननु मद्बोधकशास्त्रं[-3] व्यतिरिक्तमस्तीति चेन्न। यतो विद्या वेदोपवेदादिविद्यास्थानानि कलाश्च तदङ्गानि तवैव तनवो नतु त्वद्व्यतिरिक्ताः। तत्कुतः? यतस्त्वं बृहद्ब्रह्मैवाऽसि तदपि कुतस्तत्राह, हिरण्यरूपं ब्रह्माण्डं गर्भे यस्य सः त्रिपृष्ठः त्रिगुणात्मकस्य प्रधानस्य पृष्ठे परतः स्थितः। "अक्षरात्परतः परः" (मुण्ड.उ.2-1-4) इत्यादिश्रुतेः।।३२।।

**वीर॰** तत उत्थाय प्राञ्जलिः बद्धाञ्जलिः प्रह्वः नम्रः, दृशा चक्षुषा, विभुं ब्रह्माणं निरीक्षमाणः हर्षेण अश्रूणि पुलकोद्भेदो रोमोद्गमश्च यस्य तादृशः गद्गदया गिरा अगृणात् [4]अस्तौषीत्।।२५।।

तदेवाह कल्पान्तइत्यादिनवभिः। तामसत्वाद्ब्रह्माणमेव सर्वकारणं सर्वेश्वरञ्च मत्वा स्तौति। यद्वा परमेश्वरधर्मारोपेण [5]स्तौति-**कल्पान्त** इति। कल्पान्ते दैनान्दिनकल्पान्ते कालेन निमित्तेन सृष्टेनान्धेन तमसाऽऽवृतमिदं जगत्पुनर्यः स्वयंज्योतिः स्वप्रकाशरूपः स्वरोचिषा अभिव्यनक् अभिव्यक्तमकरोत् [6]तस्मै नमः इत्युत्तरेणान्वयः।।२६।।

यश्च त्रिवृता सृष्ट्यादिशक्तित्रयवता आत्मना स्वेनैव इदं जगत्सृजति रक्षति लुम्पति संहरति च तस्मै रज आदिगुणत्रयस्य धाम्ने[7] आश्रयाय, पराय सर्वोत्कृष्टाय, महते भूरिगुणाय, तुभ्यं नमः।।२७।।

यत एव मत एव आद्याय बीजाय कारणकारणाय ज्ञानविज्ञानमूर्तये शास्त्रविवेकोत्थज्ञानगम्यमूर्तये प्राणैरिन्द्रियैरुभयेन्द्रियैः मनसा बुद्ध्या विकारैः पृथिव्यादिभूतैश्च व्यक्तिं कार्यरूपताम् ईयुषे प्राप्तवते तुभ्यं नमः।।२८।।

एवं कार्यकारणरूपेण अवस्थितत्वमुक्तम्। अथान्तरात्मत्वमाह-**त्वमि**ति। जगतो जङ्गमस्य, तस्थुषः स्थावरस्य च त्वमेव ईशिषे, अन्तरात्मतया नियमनधारकत्वमाह - प्राणेन मुख्येन मुख्यप्राणेनोपलक्षितस्त्वमेव। मुख्यप्राणनिर्वाहकस्त्वमेवेत्यर्थः। अत एव प्रजापतिः प्रजानां पतिः, यत एव मनः पर्यन्तसकलेन्द्रियधारक[8] मुख्य प्राणनिर्वाहकस्तत एव चित्तस्य चित्तेः बुद्धेर्मनसः इन्द्रियाणां च पतिः निर्वाहकः, न केवलं घटादे भूतलादिवद्धारकः किन्तु महाभूतानां पृथिव्यादीनां गुणानां शब्दादिगुणग्राहकाणां इन्द्रियाणामाशयस्य अन्तःकरणस्य च ईशोऽन्तःप्रविश्य नियन्ताऽन्तः प्रविश्य प्रशासनेन धारक इत्यर्थः।।२९।।

1- -1 H,V omit 2. H.V omit तत् 3- -3 H,V बोध॰ 4 W अस्तावीत 5 W स्तुतिः 6- -6 W omits 7 W omits धाम्ने 8 W सर्वेन्द्रिय

अन्तरात्मत्वमेव प्रपञ्चयति। सप्ततन्तून् सप्तविधान् तन्तून् तन्यन्ते विस्तार्यन्ते इति तन्तवः वैदिकाः क्रियाः पशुसोमेष्टिसत्राहीन होमेष्टकचिदग्निरूपेण सप्तविधांस्तान् यद्वा सप्तभिस्तन्यन्ते इति तथा तान् अध्वर्यु होतृ प्रस्तोतृप्रतिहर्तृब्रह्मातृ ब्रह्मयजमानैः सप्तभिः वितन्यन्त इति वा सप्ततन्तवस्तान् सप्त संस्था वा वितनोषि अन्तरात्मतया प्रवर्तयसि। कया? त्रय्या वेदत्रयेण, कथम्भूतया? चतुर्होतृकविद्यया चतुर्होत्रादिसंज्ञकमन्त्रविद्यायुक्तया। अनेन यज्ञादिकर्तृकत्वमन्तरात्मतयोक्तम्, अथोपासनात्मकज्ञानप्रवर्तकत्वमाह - आत्मवतां प्रशस्तमनस्कानां योगिनां त्वमेक एव आत्मा अन्तरात्मतया योगप्रवर्तक इति भावः। त्वमेव सत्यादिवाक्यप्रतिपाद्यस्वरूप इत्याह- अनादीति। अनादिः कालतः परिच्छेदरहितः अनन्तपारः अन्तो देशतः परिच्छेदः पारो वस्तुतः परिच्छेदः तदुभयं यस्य नास्ति सोऽनन्तपारः अनेनानन्तशब्दार्थ उक्तः, कविः सर्वज्ञः अनेन ज्ञानशब्दार्थ उक्तः, अन्तरात्मान्तर्व्याप्य व्याप्यगतविकारास्पर्शेन नियन्ता त्वमेव, अनेन सत्यशब्दार्थ उक्तः।।३०।।[1]

अथ कालान्तरात्मतया तन्नियन्तृत्वमाह-**त्वमेवेति**। त्वमेव अनिमिषः, कालः कालशरीरक स्तन्नियन्ता, अत एव लवाद्यैः कालावयवैस्त्वमेव जनानामायुर्जीवनं क्षिणोषि क्षपयसि, त्वमेव कूटस्थो निर्विकारः, आत्मा परमात्मा, परमेष्ठी निरतिशयस्थानवर्ती, अजः कर्मायत्तजन्मादिशून्यः। "महानज आत्मा" इति श्रुत्यर्थोऽत्राभिसंहितः कृत्स्नस्य जीवलोकस्य जीवः जीवयिता आत्मा त्वमेव "को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्" (तैत्ति.उ. 2-7) इति श्रुत्यर्थोऽत्राभिसंहितः।।३१।।

किं बहुना यत्किञ्चिदेजच्चरम्, अनेजत् स्थावरञ्च त्वत्तः परमुत्कृष्टमपरं तुल्यञ्च नास्ति तथा व्यतिरिक्तम् अत्वदात्मकञ्च नास्ति, त्वत्तोऽपकृष्टं त्वदात्मकञ्च सर्वं चराचरं जगदित्यर्थः। एवं रूपस्य तदात्मकत्वमुक्तम्, अथ नाम्नः तदात्मकत्वमाह - विद्याः वेदाः, कलाः उपवेदादयः सर्वाः शब्दात्मिकाः ते तव तनवः शरीरभूताः हिरण्यगर्भोऽसि हिरण्यात्मकं[2] ब्रह्माण्डं गर्भे यस्य तथाभूतोऽसि - "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" (तैत्ति. सं. 4-1-8-3) इत्याद्यष्टर्च प्रतिपाद्यस्वरूपोऽसीत्यर्थः। स्वरूपेण गुणैश्च बृहत् त्रयाणां लोकानां पृष्ठो[3] बहिर्भूतः परमव्योमनिलय इत्यर्थः।।३२।।

**विज॰** प्रह्वः प्रवणः।।२५।।

मिश्रामिश्रभेदेन द्विविधा स्तुतिः वर्तते। तत्र हिरण्यकशिपुर्मिश्रया परोक्षात्मगतया स्तुत्या देवतातृप्तिर्भवतीति तादृश्या स्तौति - **कल्पान्त** इत्यादिना। अत्र ये चतुर्मुखस्यासम्भाविता गुणास्ते तदन्तर्यामिण्येककार्यत्वेन

1 A,B,T omit व्याप्य 2 W हिरण्मयात्मकं 3 W omits पृष्ट.

एकस्थानस्थिते सर्वोत्तमे हरौ योज्याः तद्योग्यास्तत्र योज्याः नचैतावता स्तुतेर्भिन्नाधिकरणत्वमापन्नं तस्य तदधीनत्वेन नित्योपसंहियमाणगुणान्तर्भूतत्वेन तच्छ्रवणस्मरणाभ्यामन्तःकरणस्योल्लाससम्भवात्। तदुक्तम् "प्रायस्तु स्तुतिशब्देषु मिश्रावाचो हरिं विना। केचिज्जीवगुणास्तत्र तन्नियन्तुर्हरेः परे।। एकस्थानैककार्यत्वाद्विष्णोः प्राधान्यतस्तथा। जीवस्य तदधीनत्वान्नभिन्नाऽधिकृतं वचः।।" (ब्रह्मतर्के) इति प्रलयकालप्रवर्तकेन हरिणा सृष्टेनान्धेन तमसा दुर्गाभिमन्यमानेनावृतमिदं जगदभिव्यनक् अभिव्यक्तं कृतवान् स्वरोचिषा स्वसामर्थ्येन।।२६।।

एतदेव विवृणोति-**आत्मनेति**। आत्मना क्षोभितया त्रिवृता त्रिगुणात्मिकया तेजोऽबन्नात्मिकया वा प्रकृत्या चेदं जगत्सर्जनादिक्रियाविशिष्टं करोति तस्मै नम इत्यन्वयः "रजःसत्त्वतमोधाम्ने" इत्यनेन सृष्ट्यादौ रजआदि गुणानां प्रधान्यं सूचयति-"पराय महत" इत्यनेन "अणोरणीयान् महतो महीयान्" (कठ. उ. 2-20) इति श्रुतिसिद्धोभयविधानं संस्मारयति। दृश्य विषययाऽनया स्तुत्या, किं स्यादिति नाश्रद्धेयम्। तथाहि, आत्मना परमात्मना प्रेरितो वा उपादानभूतया प्रकृत्या रजः प्रधानयेदं सृजति सत्त्वप्रधानया जातैर्मन्वादिभि रिदमवति, तमःप्रधानया जातेन रुद्रेण संहरति, तस्मै महते महत्तत्त्वाभिमानिने पराय रुद्राच्छ्रेष्ठाय भगवते नमः।।२७।।

आद्याय पुरुषरूपेण जगदादौ व्यक्ताय अन्यत्रादिकर्ता श्रीनारायणः तस्माज्जाताय बीजाय व्यञ्जकाय फलरूपायेति वा जगदुत्पत्तौ बीजशक्तियुक्ताय वा ज्ञान विज्ञाने एव मूर्तिर्विग्रहो यस्य स तथा तस्मै। अन्यत्र ज्ञान विज्ञानयोः उपदर्शृविग्रहाय प्राणेन्द्रियमनोबुद्धिलक्षणै र्विकारैः सप्तदशकैः व्यक्तिमीयुषे ब्रह्माण्डान्तर्विराट्पुरुषतर्यति शेषः। उभयत्र समम्।।२८।।

मुख्येन प्राणेन सह त्वं स्थावरजङ्गमात्मकस्य ईशिषे प्रवर्तकोऽसि चित्तस्य चित्तिः स्मरणशक्तिप्रदः साक्षी वा महाभूतानां [1]गुणानां शब्दादीनाम् आशयस्यान्तःकरणस्य प्रवर्तकः। पुनर्वचनं दैनन्दिनप्रवृत्त्यर्थम्।।२९।।

त्रय्या तन्वा प्रतिमास्थानीयेन वेदत्रयेण चातुर्होत्राख्यमन्त्रप्रकाश्ये चातुर्होत्रं तद्विषयया विद्यया च सप्ततन्तून् वितनोषि विस्तृत्य करोषि द्रव्यमन्त्रक्रिया-देवतास्थत्वेन बहिरुपदेष्टृत्वेन कर्तृत्वेन कारयितृत्वेन शास्त्रेज्यास्तुति प्रायश्चित्तादिरूपया च "अग्निमीले पुरोहितम् यज्ञस्य देव मृत्विजम् होतारं रत्नधातमम्" (ऋक् सं 1-1-1) इत्यादि श्रुतेः। "यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुः मखःक्रतुः" (अम. को. 2-412) इति आत्मवतामात्मज्ञानिनां प्रेष्ठः-

1 A,B omit गुणानां

"आत्मा प्रेष्ठे स्वरूपे च जीवे ज्ञातरि केशवे। वायौ देहे स्वयं स्वान्ते नवसु प्रोच्यते बुधैः" अनादिः कारणशून्यः पुरातनो वा अनन्तपारोऽप्रमेयोऽव्यये हरावात्मा मनो यस्य स तथा "न भारती मेऽङ्ग ! मृषोऽपलक्ष्यते" (भाग. 2-6-33) इत्यादेरन्यत्राऽव्ययानां मुक्तानां आत्मा स्वामी "असंसार्यव्ययो मुक्त अचिरानन्द उच्यते"।।३०।।

अनिमिष इत्यनेन नित्यं जाग्रत्स्वभाव उच्यते, कूटस्थो। निर्विकारः आत्मा व्याप्तः परमेष्ठी सर्वोत्तमः महानजः ब्रह्मणोऽप्यधिक इत्यनेन सर्वोत्तमत्त्वं निर्णयति। अन्यत्र आत् जातोऽत एव महानव्यवधानेन तत्पुत्रत्वात् जीवलोकस्य जीवराशेर्जीवः प्राणधारकः "जीव प्राणधारणे" इति धातोः। कथं धत्ते इत्यत्र उक्तमात्मेति। इष्टादानादिकर्ता "अव सन्तर्पणे" इति धातोरवतिरूपोऽयं शब्दः सामान्यविशेषाभ्यां योजनीयः।।३१।।

इदानीं भगवत्येव सम्भाव्यमानैः विशेषणैः विशिष्टं तदन्तर्यामिणं अभिष्टौति त्वत्त इति। परमतीतमपर मेष्यदपि वर्तमानं यत्किञ्चिदनेजत स्थावरमेजज्जङ्गमञ्च वस्तु तत्सर्वं त्वत्तो व्यतिरिक्तं नाऽस्ति। त्वयैवान्तर्बहिश्च व्याप्तत्वात्, त्वामन्तरेण स्वातन्त्र्येण स्थितं नास्तीत्यर्थः "अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः" (म.ना. उ.9-5) इति श्रुतेः। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छान्दो. उ. 3-14-1) इति च -"परावरेषु यस्मात्त्वं व्याप्तो विष्णुः सनातनः। तस्मान्न व्यतिरिक्तत्वमित्याहुर्वेदवादिनः" (पाद्मे) इति। अतस्त्वत्तो भिन्नं नाऽस्ति, किन्तु त्वमेवेत्यर्थो न घटत उक्त एवार्थः। ज्ञानं वेदादिविद्ययैव तदवाप्तिरपि तस्यास्त्वत्तनावाश्रितत्वात्त्वदनुग्रह मन्तरेण सुशका न स्यादित्यभिप्रेत्याह - विद्येति। विद्याश्च कलाश्च विद्याकलाः परविद्याऽपरविद्येति ते तनवः तव वपुषि स्थितत्वात्तथोच्यते, कलाः चतुष्षष्टिलक्षणा वा विद्या कला वेदाङ्गानीत्यन्यथाऽप्रतीतिनिरासाय आचार्यैः विद्याश्चकलाश्चेति विगृहीतम् एतस्मिन्नर्थे "महाविद्याः कलाश्चैव त्वत्तनावाश्रिता यतः विद्यातनुरिति प्राहुरतस्त्वां तत्त्ववेदिनः" (पाद्मे) इति मानञ्चोदाहरति। तस्मादयमेवार्थः इति इदञ्च माहात्म्यं हरेरेव युक्तमित्याह हिरण्यगर्भ इति। हिरण्यमण्डं गर्भे उदरे यस्य स तथा, गर्भीकृतानन्तब्रह्माण्डत्वात् तन्नाम तवैव युक्तम्। "हिरण्यकोशं रजसा परीवृतम्" इति श्रुतेः हिरण्मयब्रह्माण्डोदराभिव्यक्तत्वाद्वा तन्नामासि। निर्गुणस्य हरेरेते गुणाः कथं सम्भवेयुरत्राह - बृहदिति। गुणपूर्तित्वात् बृहत् ब्रह्म "अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेति बृहन्तोऽह्यस्मिन् गुणाः" इति श्रुतेः। ननु तर्हीदं शबलं किं न स्यादत्राह- त्रिपृष्ठ इति। जाग्रदाद्यवस्था अतिक्रम्य स्थितत्वात् त्रिपृष्ठ इत्युच्यते। त्रयाणां लोकानां पृष्ठे वर्तमान इत्यपव्याख्याननिरासाय तुरीय इत्याचख्युराचार्या इति। चतुर्मुखादप्यधिकं विष्णुं जानता हिरण्यकशिपुना तदन्तर्यामियोग्यगुणैरयं ब्रह्मा न स्तूयते किन्त्वन्तर्यामी स्तूयत इति ज्ञापनाय, तदुक्तम्-"ब्रह्मणोऽप्यधिकं विष्णुं

जानन्नपि हिरण्यकः। ब्रह्माणं तद्गुणैः स्तौति तद्गविष्णु विवक्षया।।" (पाद्मे) इति बृहज्जासि महत्तत्त्वात्मकं चासीत्येकदेशीयैरिति व्याख्यातं तत्सम्प्रदायज्ञैर्हरे महत्तत्त्वात्मकमेवङ्गुणत्वेन सङ्गच्छत इति निरूप्य "ब्रह्माणं तद्गुणैःस्तौति तद्गविष्णुविवक्षया" (पाद्मे) इत्युक्तत्वात्। न च तद्व्यापित्वेन तदात्मकत्वमुच्यत इति वाच्यम् तर्ह्ययं व्याख्याता चतुर्मुखस्य तदभिमानित्वेन घटतां तस्याप्युक्तदोषाऽनिरस्तारादिति।।३२।।

**व्यक्तं विभो स्थूलमिदं शरीरं येनेन्द्रियप्राणमनोगुणांस्त्वम्।**
**भुङ्क्षे[1] स्थितो धामनि पारमेष्ठ्ये[2] ह्यव्यक्त आत्मा पुरुषः पुराणः।।३३।।**

**अनन्ताव्यक्तरूपेण येनेदमखिलं ततम्।**
**चिदचिच्छक्तियुक्ताय तस्मै भगवते नमः।।३४।।**

**यदि दास्यस्याभिमतान् वरान्मे वरदोत्तम।**
**भूतेभ्यस्त्वद्विसृष्टेभ्यो मृत्युर्माभून्मम प्रभो।।३५।।**

**नान्तर्बहिर्दिवा नक्त मन्यस्मादपि चायुधैः।**
**न भूमौ नाऽम्बरे मृत्युर्न नरैर्न मृगै रपि।।३६।।**

**व्यसुभिर्वाऽसुमद्भिर्वा सुरासुरमहोरगैः।**
**अप्रतिद्वन्द्वतां[3] युद्धे[4] ह्यैकपत्यं च देहिनाम्।।३७।।**

**सर्वेषां लोकपालानां महिमानं तथाऽऽत्मनः[5]।**
**तपोयोगप्रभावानां[6] यन्नरिष्यति कर्हिचित्।।३८।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्री वेय्यासक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
सप्तमस्कन्धे हिरण्यकशिपोर्वरयाचनं नाम तृतीयोऽध्यायः।।३।।

**श्रीध०** ननु, ब्रह्माण्डशरीरस्य जीवस्य मम कुतो वा ब्रह्माण्डगर्भत्वादि तत्राह - **व्यक्तमिति**। व्यक्तकार्यमिदं तव शरीरं व्यक्तं सत्यमिति वा येन शरीरेण त्वमिन्द्रियप्राणमनसां गुणान् विषयान् भुङ्क्षे, किञ्च पारमेष्ठ्ये

1. M,Ma भुङ्क्ष° 2. A,B,G,J,M,Ma,T ष्ठ्ये अ° 3 M,Ma °ता 4. A,B,G,J,M,Ma,T ऐक° 5. A,B,G,J,T,V य° 6 M,Ma येन यो न°

पारमैश्वर्ये। धामनि स्वरूपे स्थित एव भुङ्क्षे, नत्वस्मदादिवत्स्वरूपतिरोधानेन[1]। अतस्त्वमव्यक्त आत्मा निरुपाधिब्रह्मैव पुराणः पुरुषश्चेत्यर्थः।।३३।।

ननु ब्रह्मत्वं पुराणपुरुषत्वं कथमेकस्य तत्राह-**अनन्तेति**। हे अनन्त! येन त्वयाऽव्यक्तरूपेण[2] मनोवचनागोचरेण रूपेणेदं विश्वं ततं व्याप्तं तस्मै तुभ्यं भगवतेऽचिन्त्यैश्वर्याय नमः। भगवत्त्वे हेतुः चिदचिच्छक्तियुक्तायै[3] चिच्छक्तिर्विद्या, अचिच्छक्तिर्माया ताभ्यां युक्तायेति।।३४,३५।।

**नेति**। अन्यस्मात्त्वत्सृष्टव्यतिरिक्तादपि आयुधैर्मृत्युर्माभूदिति[4] पूर्वेणान्वयः[5]।।३६।।

**व्यसुभिरिति**। व्यसुभिरप्राणैः असुमद्भिः सप्राणैः। यथा आत्मनस्तवाऽस्ति महिमा[6] तथाऽप्रतिद्वन्द्वतादिकं देहीतिशेषः।।३७।।

**सर्वेषामिति**। तपसा योगेन च प्रभावो येषां तेषां यदणिमाद्यैश्वर्यं[7] न रिष्यति न नश्यति तच्च देहीत्यर्थः।।३८।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे

श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां तृतीयोऽध्यायः।।३।।

**वीर०** यदुक्तं कृत्स्नस्य तच्छरीरत्वं तस्य सर्वान्तरात्मत्वञ्च तदुपसंहरन् नमस्करोति - **व्यक्तमिति** द्वाभ्याम्। हे विभो! देव! स्थूलं चिदचिदात्मकमिदं जगत्तव व्यक्तं शरीरं स्थूलशरीरमित्यर्थः। तर्हि किं सूक्ष्मं शरीरम्? तत्राह - अव्यक्तः प्राकृतैरिन्द्रियैरगम्यः आत्मा सर्वान्तरात्मा जगत्कारणपुरुषः। एवंविधस्त्वं येन शरीरेण चतुर्मुखशरीरेण परमेष्ठ्ये स्थाने स्थितः इन्द्रियादीनां गुणान् विषयान् शब्दादीन् भुङ्क्षे, तत्सूक्ष्ममिति शेषः। येन शरीरेण जीवानामिन्द्रियादीन् सृष्ट्वा तद्व्यापारान् लीलारसत्वेन भुङ्क्षे अनुभवसि तत्सूक्ष्मं शरीरमित्यर्थः।।३३।।

अनन्तं त्रिविधपरिच्छेदरहितमतीन्द्रियं यत्स्वरूपं तदनन्ताव्यक्तरूपं, येनानन्ताव्यक्तरूपेण इदमखिलं जगदन्तरात्मतया ततं व्याप्तं तस्मै चिदचिच्छक्तिभ्यां कार्योपयुक्ताऽपृथक् सिद्धस्वविशेषेण भूताभ्यां चेतनाचेतनाभ्यां युक्ताय, तच्छरीरकायेत्यर्थः। भगवते पूर्णषाड्गुण्याय तुभ्यं नमः।।३४।।

एवं परमात्मत्वाभिमानेन तद्धमारोपेण वा तद्गुणयुक्तत्वेन परम् आत्माऽऽवेशावताररूपं[8] ब्रह्माणं स्तुत्वाऽथ वरान् वृणुते - **यदीति**। हे वरदश्रेष्ठ! यदि ममाभिमतान् वरान् दास्यसि तर्हि तावत्वया सृष्टेभ्यो भूतेभ्यः

1 H,V omit अस्मदादिवत् 2 A,B,J °ऽव्यक्तेन 3- -3 H,V omit 4 H,V omit मृत्यु 5- -5 A,B,J omit 6. H,V omit महिमा 7. H,V अणि° 8 A,B,T आवेशा°

सकाशात् मम मृत्युर्मरणं माभूत्। एव मनुगृहाणेत्यर्थः[1]। विष्णोरपि चतुर्मुखसृष्टत्वाभिमानेन त्वद्रिसृष्टेभ्य इत्युक्तम्।।३५।।

तथान्तः गृहादीनामन्तः, तेभ्यो बहिः, दिवा अह्नि, नक्तं रात्रौ, अन्यस्मात् त्वत्सृष्टव्यतिरिक्तात् त्वत्तोऽप्यायुधे रपि भूमौ पृथिव्याम्[2], अम्बरे च आकाशे, मृगैर्नरैश्च।।३६।।

व्यसुभिरप्राणैः असुमद्भिः प्राणिभिश्च सुरैरसुरैः महोरगैः[3] महासर्पैश्च मम[4] मृत्युर्माभूत् अयमेको वरः। वरान्तरञ्च याचते अप्रतिद्वन्द्वतामिति युद्धे अप्रतिद्वन्द्वताम् अप्रतिपक्षताम्, अयं द्वितीयः। देहिनां प्रजानामेकपत्यं एकाधिपतित्वम्, अयं तृतीयो वरः।।३७।।

तथा आत्मनो मम सर्वेषां लोकपालानाम् इन्द्रादीनां महिमानं माहात्म्यम् अयं चतुर्थः। किञ्च तपसा योगेन च प्रभावो येषां तेषां योगिनां यन्नरिष्यति न नङ्क्ष्यति अणिमाद्यैश्वर्यं, तदपि देहीति शेषः। पञ्चमोऽयं[5] वरः।।३८।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रिकायां

व्याख्यायां तृतीयोऽध्याय.।।३।।

**विज॰** ज्ञानानन्दादिलक्षणगुणमूर्तिं निरूप्याधुना व्यक्तमूर्तिं निरूपयति - **व्यक्तमिति**। हिरण्यगर्भ इत्यनेन ब्रह्माण्डस्य शरीरस्थानीयत्वं सूचितम्। तत्र तिष्ठन् हरिः सुखलक्षणान् गुणान् भुङ्क्ते, नतु देवदत्तवद्दुःख लक्षणा नित्यतो वाऽह - व्यक्तमिति। पारमेष्ठ्ये धामनि वैकुण्ठादिस्थाने सत्यलोके वा स्वरूपभूते महिम्नि वा स्थितः पुराणः पुरुषस्त्वं येन शरीरेणेन्द्रियप्राणमनसां गुणान् विषयानेव भुङ्क्ते, नतु दुःखलक्षणान्, कुत एतत्? अत्राहात्मेति "एष ह्यानन्दमादत्ते त आत्मेति" इति श्रुतेः, आनन्दस्वभावत्वात्। तर्ह्येतद्विषयज्ञानं कथं नोत्पद्यते? इति तत्राह - अव्यक्त इति। "तदव्यक्त माह हि" (ब्र.सू. 3-2-22) इति सूत्रात्। हे विभो तदिदं व्यक्तं ब्रह्माण्डलक्षणं तव स्थूलमाचक्षत इति शेषः। यद्वा अनेन ब्रह्माणमेव तद्योग्यैर्विशेषणैः स्तौति, तथाहि-पुरं शरीरमणतीति पुराणः आत्मेत्यभिधानादात्मा चतुर्मुखः, अवतारेण व्यक्तिर्नास्तीत्यव्यक्तः। जगत्सृष्ट्याद्यै-श्वर्यलक्षणान् गुणान् इतरत्स्पष्टम्।।३३।।

---

1 W omits इत्यर्थः 2 W omits पृथिव्याम् 3 W omits महोरगैः 4 W omits मम 5- -5 W omits

स्थावरजङ्गमाख्यं जगत् त्वद्व्यतिरिक्तं नास्ति त्वया व्याप्तत्वादित्यर्थतो व्याप्तिरुक्ता, तदिदं कीदृशेन रूपेण व्याप्तमिति मन्दाशङ्कापरिहाराय स्पष्टमाह - **अनन्ते**ति। अनेन परिच्छिन्नस्य सर्वस्य अपरिच्छन्नाद्धरेर्बहिष्ट्वं युक्तिविरुद्धमित्युक्तं भवति। "तम आसीत्तमसा गूढमग्रे" (यजुर्वे. 2-8-9) इति श्रुतेः। प्रकृत्या व्याप्तत्वप्रतीतेः कथं हरेरेवेति शिष्योक्तिर्घटते? इति। तत्राह - चिदचिदिति। शक्तिपदस्य द्विरावृत्तिः कर्तव्या "शक्यत्वाच्छक्तयो भार्याः" इति वचनात्। उभयविधा या शक्तिः प्रकृतिस्तस्याः या कार्येषु शक्तिस्तस्या अपि भगवच्छक्त्यविनाभूतत्वात् तद्व्याप्तिस्तन्नियतेत्यत एव युक्तायेत्युक्तं, न च अनेन गुणभूतत्वं हरेरिति वाच्यम्। शिष्येणोपाध्याय आगतः इत्यत्रोपाध्यायप्राधान्यवदुपपत्तेः। ननु लोके प्रतिवस्त्वेकनियतत्वादर्शनात् चिदचिदात्मकप्रपञ्चे कस्यचित्तद-नियतनियतत्वसम्भवेन स्वातन्त्र्येण सर्वव्याप्तत्वं हरेः कथं युज्यते? इत्यतो वाह - चिदचिदिति। "द्रव्यं कर्म च कालश्च" (भाग. 2-10-12) इत्यादेःपरमाणुमात्रवस्तुनोऽपि भगवदनियतत्त्वासम्भवात् एतादृशी शक्तिरस्याऽस्तीति कुत इत्यत उक्तं भगवत इति उक्तार्थं पदम् "भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम" इति वाक्यार्थं स्मरता हिरण्यकेन नम इत्युक्तं तदुक्तेः फलाधिकत्वात्।।३४।।

किं बहुनोक्तेन त्वदभीष्टं वदेत्याशङ्कित आह - यदीति। विविधत्वेन सृष्टेभ्यः।।३५।।

अन्यस्मादपि कालात् अथवा भावात् अवयवविशिष्टात् भूतेभ्य इत्युक्तेऽप्यन्येभ्यः किमित्यतो विशिनष्टि न नरैरिति।।३६।।

व्यसुभिर्विगतप्राणैः पाषाणादिभिः असुमद्भिः ग्रहादिभिः एकपत्यम् एकाधिपत्यम्।।३७।।

महिमानं वृण इति शेषः। आत्मनस्तव यो महिमा स यथा न रिष्यति न नश्यति तथा मम महिमाऽस्तु। यो महिमा यथा कर्हिचित् न रिष्यति तथात्म नो मम[1] महिमा न नश्यत्विति चेति।।३८।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचतायां पदरत्नावल्यां टीकायां

सप्तमस्कन्ध तृतीयोऽध्यायः।।३।।

* * * *

1 A,B omit मम.

# चतुर्थोऽध्यायः

## नारद उवाच

एवं वृतः शतधृतिर्हिरण्यकशिपोरथ।
प्रादात्तत्तपसा प्रीतो वरांस्तस्याऽऽशु दुर्लभान्।।१।।

## ब्रह्मोवाच

तातेमे दुर्लभाः पुंसां यान् वृणीषे वरान् मम।
तथाऽपि वितराम्यङ्ग वरान् यदतिदुर्लभान्।।२।।

## श्रीशुक उवाच

ततो जगाम भगवानमोघानुग्रहो विभुः।
पूजितोऽसुरवर्येण स्तूयमानः प्रजेश्वरैः।।३।।

एवं लब्धवरो दैत्यो बिभ्रद्धेममयं वपुः।
भगवत्यकरोद्द्वेषं भ्रातुर्वधमनुस्मरन्।।४।।

स विजित्य दिशः सर्वा लोकांश्च त्रीन् महासुरः।
देवासुरमनुष्येन्द्रान् गन्धर्वगरुडोरगान्।।५।।

सिद्धचारणविद्याध्रानृषीन् पितृपतीन् मुनीन्।
यक्षरक्षःपिशाचेशान् प्रेतान् भूतपतीनपि।।६।।

सर्वसत्त्वपतीञ्जित्वा वशमानीय विश्वजित्।
जहार लोकपालानां स्थानानि सह तेजसा।।७।।

---

1- -1 H,V श्रीशुक उवाच 2 A,B,G,J,M,Ma,T °स्य सु° 3 M,Ma पुंसां 4 A,B,G,J,M,Ma,T °दपि दु° 5- -5 A,B,G,J,M,Ma,T,W omit

6. H,V साध्यादी° 7 A,B,G,J,M,Ma,T मनून् 8- -8 A,B,G,J,T प्रेतभूतपतीनथ, M,Ma प्रेतभूतपतीनपि

**देवोद्यानश्रिया जुष्टमध्यास्ते स्म त्रिविष्टपम्।**
**महेन्द्रभवनं साक्षान्निर्मितं विश्वकर्मणा।।**
**त्रैलोक्यलक्ष्म्यायतन मध्युवासाखिलर्द्धिमत्।।८।।**

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावर्थदीपिका

चतुर्थे तु वरान् लब्ध्वा विजित्याखिललोकपान्। विष्णुद्वेषेण तान् सर्वान् दैत्येन्द्रः समपीडयत्।।

**एवमिति**। शतधृतिः ब्रह्मा।।१।।

**तातेति**। मम मत्तः। यदपि यद्यपीमे दुर्लभाः।।२।।

**तत इति**। अमोघोऽनुग्रहो यस्य, प्रजेश्वरैर्मरीच्यादिभिः[1]।।३।।

यदर्थं तपस्तप्तं तदाह-**एवमित्यादिना**।।४-६।।

**सर्वेति**। सर्वेषां सत्त्वानां प्राणिजातानां ये ये पतयस्तान्।।७।।

**देवेति**। त्रिविष्टपं स्वर्गमध्यास्ते स्म अधिष्ठितवान्। तत्र स्वर्गेऽपि[2] महेन्द्रभवनमध्युवासाऽधिवसति स्म।।८।।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं दैत्येन वृतान् वरान् ददौ ब्रह्मेत्याह भगवान्नारदः-**एवमिति**। एवमित्थं वृतो याचितः शतधृतिर्ब्रह्मा हिरण्यकशिपोस्तपसा तोषितः तस्य दुर्लभान् वरान् प्रादात्।।१।।

दत्वेदमाह - ब्रह्मा[3], हे तात! मम मत्तो यान् वरान् वृणीषे ते इमे वराः पुंसो यद्यपि दुर्लभाः, तथापि दुर्लभानपि तान् वरान् अङ्ग! हे हिरण्यकशिपो! तुभ्यं वितरामि वर्तमानसामीप्ये लट् दत्तवानस्मीत्यर्थः।।२।।

एवमुक्त्वा अमोघः सत्योऽनुग्रहो यस्य, स विभुः भगवान् ब्रह्मा असुरवर्येण पूजितः प्रजेश्वरैः भृगुदक्षाद्यैः स्तूयमानः स्वस्थानं जगाम।।३।।

एवं लब्ध्वा वरा येन स दैत्यो हिरण्यवत्प्रकाशबहुलं देहं बिभ्राणो भ्रातुर्हिरण्याक्षस्य वधं भगवत्कृतं स्मरन् भागवतद्वेषसहितं भगवति द्वेषमकरोत्।।४।।

---

1- -1 H,V omit 2 H,V omit स्वर्गेऽपि 3 A,T omit ब्रह्मा

तदेव प्रपञ्चयितुमुपोद्घातमाह - **स** इत्यादिना। स महासुरो हिरण्यकशिपुः त्रीन् लोकान् सर्वा दिशश्च विजित्य तथा देवादीन् सर्वसत्त्वपतीन् सर्वभूताध्यक्षांश्च जित्वा वशमानीय विश्वजिद्भूव। लोकपालानां तेजसा सह स्थानानि जहार अपहृतवान्।।५-७।।

देवोद्यानञ्च जहारेत्यनुषङ्गः। श्रिया सर्वसमृद्ध्या जुष्टं युक्तं त्रिविष्टपं स्वर्गमध्यास्ते स्म अधिष्ठितवान् "अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म" (अष्टा.1-4-46) इति कर्मत्वम्। विश्वकर्मणा निर्मितं त्रैलोक्यलक्ष्म्या आयतनमाश्रयं भोग्यभोगोपकरणादिसर्वसमृद्धिमत् महेन्द्रस्य भवनं साक्षादध्युवास अध्युषितवान्।।८।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

वरदानादिना सम्भूतं लवणाब्धिजलवृद्धिहासवत् क्षणिकं भगवद्भक्तैश्वर्यं श्रीनारायणप्रसादाविर्भूत-मनन्तकालीनं शाश्वतं स्यात्तदेवापाद्यं बुभूषुभिरित्यादितात्पर्यं निरूप्यते कतिपयेष्वध्यायेषु। तत्र हिरण्यकशिपवे ब्रह्मवरदानप्रकारं, तेनास्य सर्वविजयप्रकारञ्च निरूपयति-**एवं वृत** इत्यादिना। अथशब्देन न केवलं ब्रह्मणो वरदानमेवोच्यते अपि तु हिरण्यकशिपुविषया कथा साकल्येन कथ्यते इति सूचयति।।१।।

मम सकाशाद्यदपि दुर्लभान् अन्ततो दुःखप्रापकान्।"दुरशोभानदुःखयोः" (वैज.को. 8-7-4) इति यादवः।।२।।

भगवान् पूज्यः अत्र प्रतिक्षणं दुष्टश्रुतविस्मरणशीलानां मन्दानां स्फुरणार्थं कृतव्याख्यानानां पादानां पुनरपि तथा वचनं न दोषाय तदर्थं हीदं प्रवृत्तमिति, अमोघानुग्रहः, भोग्यानामिति शेषः।।३।।

समग्रैश्वर्यादिगुणरत्नाकरे परे द्वेषमकरोदसुरावेशात् जयांशत्वेन स्वतो भक्तोऽपीति तात्पर्यम्। तदुक्तम् "स्वतो भक्ता हिरण्याद्याः परावेशाद्धरौ द्विषः" (पाद्मे) इति। "परोऽरि परमात्मनोः" (वैज.को. 6-5-49) इत्यभिधानादत्र परः शत्रुरसुरः तदावेशादित्यर्थः।।४-६।।

सर्वसत्त्वपतीन् सिंहादीन् बलश्रेष्ठान् वा। किं बहुना? चराचरं विजितवानिति, तेजसा प्रभावेन सह जहार।।७।।

त्रिविष्टपं स्वर्गं, स्वर्गे त्रीणि स्थानानि सन्ति, ततोऽपि श्रेष्ठं महेन्द्रभवनं अमरावती नाम तत्स्थानापेक्षया साक्षत्तुरीयमित्युच्यते। "साक्षात्प्रत्यक्षतुर्ययोः" (अम. को. 3-3-98) इत्याभिधानात्। अत एव अखिलर्द्धि

1- -1 H,V omit

मदित्युक्तम्। साक्षात्प्रत्यक्षमध्युवासेत्यनेन वा सङ्गमयितव्यम्, त्रीणि विष्टपानि स्थानानि सकलसमृद्धिमन्ति अस्मिन्निति त्रिविष्टपशब्दार्थपर्यालोचनयाऽयमर्थस्सम्पद्यते। त्रिदिवपदस्याऽप्ययमेवार्थः, अन्यथा त्रिशब्दस्य गतिर्वक्तव्येति।।८।।

**यत्र विद्रुमसोपाना महामारकता भुवः।**
**यत्र स्फाटिककुड्यानि वैदूर्यस्तम्भपङ्क्तयः।।९।।**

**यत्र चित्रवितानानि पद्मरागासनानि च।**
**पयःफेननिभाः शय्या मुक्तादामपरिच्छदाः।।१०।।**

**कूजद्भिर्नूपुरैर्देव्यः शब्दयन्त्य इतस्ततः।**
**रत्नस्तम्भेषु पश्यन्ति सुदत्यः सुन्दरं मुखम्।।११।।**

**तस्मिन्महेन्द्रभवने महाबलो महामना निर्जितलोक एकराट्।**
**रेमेऽभिवन्द्याङ्घ्रियुगः सुरादिभिः प्रतापितैरूर्जितचण्डशासनः।।१२।।**

**तमङ्ग मत्तं मधुनोरुगन्धिना विवृत्तताम्राक्षमशेषधिष्ण्यपाः।**
**उपासतोपायनपाणिभिर्विना त्रिभिस्तपोयोगबलौजसां पदम्।।१३।।**

**जगुर्महेन्द्रासनमोजसा स्थितं विश्वावसुस्तुम्बुरुरस्मदादयः।**
**गन्धर्वसिद्धा ऋषयोऽस्तुवन्मुहुः विद्याधरा अप्सरसश्च पाण्डव!।।१४।।**

**स एव वर्णाश्रमिभिः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः।**
**इज्यमानो हविर्भागानग्रहीत् स्वेन तेजसा।।१५।।**

**अकृष्टपच्या तस्यासीत् सप्तद्वीपवती मही।**
**तथा कामदुघा द्यौश्च नानाश्चर्यप्रदं नभः।।१६।।**

**श्रीध०** अखिलसमृद्धियुक्तत्वमेवाह- **यत्रेति** त्रिभिः।।९।।

1. H,V °डू° 2. A,B,G,J,T °स्थलीषु; M,Ma °स्थलेषु 3. A,B,G,H,J,M,Ma,T °तीः 4- -4 M,Ma महाऽसुरो महाबलो 5. A,B,G,J,T °स्तु 6 A,B,G,J,M,Ma,T पदं. 7 H,V यत्रेत्यादि

**यत्रेति**। मुक्तादामानि परिच्छदाः परिकरा यासाम्।।१०।।

**कूजद्भिरिति**। सुदतीः सुदत्यः।।११।।

**तस्मिन्निति**। ऊर्जितमधिकं चण्डं तीव्रं शासनं यस्य।।१२।।

**तमिति**। अङ्ग! हे राजन्! उरुगन्धिना उग्रगन्धेन[1] मधुना सुरया मत्तम्। अत एव विवृत्ते विघूर्णिते ताम्रे अक्षिणी यस्य तम्। अशेषधिष्ण्यपाः सर्वलोकपाला उपायनयुक्तैः पाणिभिरुपासत सेवन्ते[2]। त्रिभिर्ब्रह्मविष्णुरुद्रैर्विना पदमाश्रयभूतम्।।१३।।

उपासनाप्रकारमेवाह[3] - **जगुरिति**।।१४-१६।।

**वीर०** महेन्द्रभवनं विशिनष्टि-यत्र भवने विद्रुममयानि सोपानानि यासु ताः, भुवस्स्थलानि वेदिकादीनि महामरकताः[4] इन्द्रनीलमय्यः, यत्र भवने स्फटिकमयानि कुड्यानि भित्तयः, यत्र वैदूर्यमणिमयाः स्तम्भपङ्क्तयः सन्ति।।९।।

यत्र च चित्रवितानानि चित्रकविस्तराणि[5-5] पद्मरागरत्नमयान्यासनानि च पयःफेननिभाः दुग्धफेनवन्मृदुलाः शुभ्राश्च[6] शय्याः मुक्तादामानि परिच्छदाः परिकराः यासां ताः।।१०।।

यत्र च देव्यः देवानां सम्बन्धिन्यः सुदत्यः स्त्रियः कूजद्भिः ध्वनद्भिः नूपुरैः तत्र तत्र शब्दयन्त्यः शब्दं कुर्वत्यो रत्नस्थलीषु सुन्दरं स्वीयं मुखं पश्यन्ति।।११।।

तस्मिन्नेवम्भूते महेन्द्रस्य भवनेऽधिवसन्नपारबलः महामनाः अव्याहतसङ्कल्पः अत एव निर्जितो लोको येन स्वयमेक एव राजा, ऊर्जितमधिकं चण्डं तापकं शासनं यस्य सः, अत एव प्रतापितैः सुरादिभिः वन्द्यौ अङ्घ्री यस्य तादृशो रेमे।।१२।।

अङ्ग ! हे युधिष्ठिर ! उरुगन्धिनोग्रगन्धेन मधुना सुरया मत्तमत एव विवृत्ते विघूर्णिते ताम्रे अक्षिणी यस्य तपोयोगस्य बलस्य देहबलस्य ओजस इन्द्रियबलस्य च पदमाश्रयं तं दैत्यं त्रिभिर्विना ब्रह्मविष्णुशिवैर्विना अन्ये सर्वे उपायनं पूजाद्रव्यं तद्युक्तपाणिभिरुपासत उपासितवन्तः।।१३।।

---

1. H,V °न्धि° 2. H,V omit सेवन्ते 3 A,B,J °न °4 A,B,T मा 5- -5 W omit 6. A,B,T शुभा °

उपासनाप्रकारमेवाह- **जगुरिति** चतुर्भिः। ओजसा स्वबलेन महेन्द्रस्यासनमास्थितमधिष्ठितं तं दैत्यं विश्वावसुतुम्बुरुनारदादयश्च जगुर्गानञ्चक्रुः, तद्गुणान् जगुरित्यर्थः। गन्धर्वाः सिद्धाः ऋषयश्च विद्याधरा अप्सरसश्च मुहुर्मुहुरस्तुवन्, हे पाण्डव!।।१४।।

स एवाऽसुरो वर्णाश्रमनिष्ठैः ब्राह्मणगृहस्थादिभिः कर्तृभिः भूरिर्दक्षणा येषु तैः क्रतुभिः मुहुर्मुहुः इज्यमान आराध्यमान स्वबलेन हविर्भागानग्रहीत्।।१५।।

तस्यासुरस्य सम्बन्धिनी या सप्तद्वीपयुक्ता पृथिवी अकृष्टपच्या कर्षणेन विना फलिन्यभूत् तथा द्यौः स्वर्गाभिमानिनी देवता यथाकामं यथेष्टं दोग्धि इष्टार्थान् पूरयतीति तथा अभूत् तथा नभः अन्तरिक्षाभिमानि-देवता नानाश्चर्यमयं विविधविचित्रवस्तुप्रदमभूत्।।१६।।

**विज॰** सोपानमारोहावरोहलक्षणम् कुट्टिमम्।।९।।

वितानम् उपरिपिधानवस्त्रम्।।१०।।

सुदतीः प्रशस्तदन्तपङ्क्तयः स्त्रियः।।११,१२।।

त्रिभिः आदित्यवसुरुद्रैः मरुदादिदेवानामेष्वन्तर्भाववविवक्षया त्रिधा भिन्नैः, तदुक्तम्- "आदित्या वसवोरुद्रा स्त्रिविधा हि सुरा यतः। मरुतश्चैव विश्वे च साध्याश्चैव च तद्गताः। अतस्त्रय इति प्रोक्ताश्चत्वारो मानुषाः स्मृताः। उपायनं ददुः सर्वे विना देवान् हिरण्यके" (स्कान्दे) इति वचनात्, न ब्रह्मविष्णुमहेश्वरैरित्यर्थो ग्राह्यः। किञ्चात्रेदं तात्पर्यम्-तथा हि द्विविधा देवाः यज्ञभागभुजः, तदभुज इति। तत्र प्रथमे त्रिधा भिन्ना जातिभिन्नत्वात् मन्त्रेणाह्वाने समूहेनागमनाच्च, चरमेषु सुरशब्दमात्रं वर्तते तदन्तेवासिवद्गतमानाः-"अयज्ञभागेष्वपि तु सुरशब्दः प्रयुज्यते। यज्ञभागभुजस्त्वेव त्रय इत्यभिशब्दिताः" (स्कान्दे) इति वचनादयं विशेषः कल्प्यत इति इतोऽप्यत्र त्रित्वसंख्यया आदित्यादय उच्यन्त इत्यङ्गीकर्तव्यम्। दैत्यस्य देवोपास्यत्वे देवानां सदा सद्यशोभाजामयशः स्यात् तदनुपपन्नम्। प्रमाणविरोधात्तदितरेषाम् उभयभाक्त्वमितीश्वरकृतमिदमिति- "यत्र क्व च यशस्स्थानमन्येषामिति केशवः। सर्वत्रापि तु देवानामित्यन्यान् पूजयेत्कचित्" (स्कान्दे) इत्युक्तेश्च। "योगः सन्नहनः" (अम. को. 3-179) इत्यभिधाना-दणिमादिनानोपायस्थानीभूतः।।१३-१५।।

अकृष्टपच्या उल्लेखनमन्तरेण सस्यादिपरिपाकोपेता।।१६।।

1 W omits तथा

रत्नाकराश्च [1]रत्नौघांस्तत्पत्न्यश्चोहुरूर्मिभिः।
[2]क्षारशीधुघृतक्षौद्रदधिक्षीरामृतोदकाः।।१७।।
[3]शैलाद्रोणीभिराक्रीडं सर्वर्तुषु [4-]गुणान् [-4]द्रुमाः।
दधार लोकपालानामेक एव पृथग्गुणान्।।१८।।

स इत्थं निर्जितककुबेकराट् विषयान् प्रियान्।
यथोपजोषं भुञ्जानो नातृप्यदजितेन्द्रियः।।१९।।

एवमैश्वर्यमत्तस्य दृप्तस्योच्छास्त्रवर्तिनः।
कालो महान् व्यतीयाय ब्रह्मशापमुपेयुषः।।२०।।

तस्योग्रदण्डसंविग्नाः सर्वे लोकाः सपालकाः।
अन्यत्रालब्धशरणाः शरणं ययुरच्युतम्।।२१।।

तस्यै नमोऽस्तु काष्ठायै यत्राऽऽत्मा हरिरीश्वरः।
[5]यद्गत्वा न निवर्तन्ते शान्ताः सन्न्यासिनोऽमलाः।।२२।।

इति ते संयतात्मानः [6]समाहितधियोऽमलाः।
उपतस्थुर्हृषीकेशं विनिद्रा वायुभोजनाः।।२३।।
*[7-]ओं नमो भगवते [-7]तस्मै पुरुषाय महात्मने।
विशुद्धानुभवानन्द सन्दोहाय यतोऽ[8]भयम्।।२४।।
तेषामाविरभूद्वाणी [9]ह्यरूपा मेघनिस्वना।
सन्नादयन्ती ककुभः साधूनामभयङ्[10]करा।।२५।।

**श्रीध॰ रत्नेति**। तत्पत्न्यो नद्यः ऊहुर्वहन्ति स्म। रत्नाकरानेवाह - क्षारेति।।१७।।

---

1. M,Ma रत्नानि त॰ 2 A,B,G,J,M,Ma,T,W सी॰ 3 H,V,W शैलो 4- -4 H.V.W °तु स्वगु॰ 5 H.V यं गा॰ 6 H.V °श्शान्त॰ *This verse is not found in A,G,J,T Editions 7- -7 B तृभ्यं पुरुषाय; H,V वासुदेवाय; M,Ma महापुरुषाय 8. H,V. भयः। 9 A,B,G,J,T,M,Ma,T आ॰ 10 A,B,G,J,M,Ma,T °री

**शैल** इति। आक्रीडं क्रीडास्थानम्। द्रुमाः[1] सर्वेषु ऋतुषु[1] गुणान् पुष्पफलादीन्। स च लोकपालानां पृथग्विधान् गुणान् वर्षण-दहन-शोषणादीन् एक एव दधार।।१८।।

**स इति**। निर्जिताः ककुभो येन। यथोपजोषं यथाप्रीति।।१९।।

**एवमिति**[2]। महान् कालः एकसप्ततियुगानि किञ्चिदधिकानि[2]।।२०-२४।।

**तेषामिति**। अरूपा वक्तृरहिता।।२५।।

**वीर॰** रत्नाकराः समुद्राः तत्पत्न्यो गङ्गादिनद्यश्च, ऊर्मिभिः तरङ्गैः रत्नसमूहानूहुः प्रापयामासुः। रत्नाकरानेवाह क्षारेति। सीधुः सुरा, क्षौद्रमिक्षुरसः, अमृतं शुद्धं क्षारादिमयान्युदकानि येषां ते, क्रमोऽत्र[3] न विवक्षितः[3]।।१७।।

शैलः पर्वतः, जात्यभिप्रायकमेकवचनम्। द्रोणीभिः कन्दरैः, द्रुमान् दधार। कथम्भूतान्? सर्वर्तुषु वसन्तादिषु षट्सु सर्वे[4] स्वे स्वे गुणाः फलपुष्पादयो येषां तान् आक्रीडान् क्रीडास्थानोपयुक्तान्, सर्वर्तुषु सर्वान् वृक्षान्, सफलपुष्पानेव दधारेत्यर्थः। तदेव स्पष्टयति लोकपालानां तदाधिपत्यवेलायामित्यर्थः। एको द्रुमः वसन्तादिकालनियमेन पृथग्गुणान् फलपुष्पादीन् दधार, अस्य त्वाधिपत्ये अनियतकालं सर्वान् गुणान् दधारेत्यर्थः। यद्वा, अयमसुर एक एव सर्वेषां लोकानां पृथग्गुणान् प्रतिनियतान् गुणान् दधार, सर्वेषामाधिपत्यमेक एव चकारेत्यर्थः।।१८।।

इत्थं निर्जिताः ककुभो दिशो येन स दैत्यः एक एव राजा सन् यथोपजोषं यथाप्रीति प्रियानिष्टान् विषयाननुभवन्नपि नातृप्यत् न तृप्तवान्, यतोऽयं अजितेन्द्रियः।।१९।।

इत्थमैश्वर्येण मत्तस्य अत एव दृप्तस्याऽत एव च उच्छास्त्रवर्तिनः वैदिकमार्गाननुवर्तिनः उत्पथप्रतिपन्नस्येत्यर्थः। ब्रह्मशापं सनकादीनां शापमुपेयुषः प्राप्तवतः महान् कालो बहुवर्षात्मकः कालः, व्यतीयाय अतिक्रान्तोऽभूत्। ब्रह्मशापमुपेयुष इत्यनेन तज्जन्मावसानकालः प्राप्त इति सूच्यते।।२०।।

तदेव वक्तुं तन्निमित्तं तावदाह-तस्य दैत्यस्योग्रदण्डेन उग्रशासनेन संविग्नाः भीताः सपालकाः सर्वे लोकाः अन्यत्रालब्धं शरणं निवासस्थानं यैस्ते, अच्युतं भगवन्तं शरणं ययुः प्राप्ताः। अन्यत्रालब्धशरणा इत्यस्य

1- -1 H.V omit 2- -2 H.V omit 3- -3 W क्रमस्त्वविवक्षितः 4. W omits सर्वे

अनन्यरक्षका इति वाऽर्थः। पूर्वं दैत्यतपःपीडिताः तदुपशमनाय ब्रह्माणं शरणं उपगम्य वरप्रदानेन स्वानिष्टमेव चक्रुः पुनरेतदनिष्टपरिहारो ब्रह्मणाऽपि कर्तुमशक्य इत्यालोच्य अनन्यशरणा भगवन्तमेव शरणं यर्युरित्यर्थः।।२१।।

शरणवरण-प्रकारमेवाह-**तस्या** इति। तस्यै काष्ठायै दिशे नमः। काष्ठां विशिंषन्ति-यत्रेति। यत्र यस्यां काष्ठायां ईश्वरः सर्वनियन्ता हरिराश्रितार्तिहरो भगवानास्ते। शान्ताः रागादिरहिताः, अत एव शुद्धन्तःकरणाः सन्न्यासिनः न्यासविद्यानिष्ठाः यत् याञ्च काष्ठां गत्वा प्राप्य न निवर्तन्ते न पुनस्संसरन्ति तस्यै काष्ठायै नम इति यस्यां दिशि प्रणतार्तिहरो भगवानास्ते तद्दिगधीनोऽस्मद्रक्षणोपाय इत्यध्यवसायपूर्वकं भगवन्तं शरणं ययुः। काष्ठायै नम इति दिक्शरणवरणकथनेन देवानामपि भगवत्स्वरूपं दुर्ग्रहमिति सूचितम्।।२२।।

इतीत्थं ते देवाः संयतात्मानः स एव भगवान् रक्षिष्यतीति विस्रम्भयुक्तमनसः समाहितधियः, यद्वा संयतात्मान इति बाह्येन्द्रियजय उक्तः, समाहितधिय इत्यनेन अन्तरिन्द्रियजयः, वायुभोजना इत्यनेन प्राणजयः, विनिद्रा इत्यनेन कायजयः। एवंविधाः हृषीकेशमुपतस्थुः, तुष्टुवुः वक्ष्यमाणं मन्त्रं जेपुर्वा।।२३।।

भगवते षाड्गुण्यपूर्णाय, पुरुषाय सर्वान्तरात्मने, महात्मने महान् अनुकम्पायुक्त आत्मा मनो यस्य तस्मै, विशुद्धः अनुभवो ज्ञानम् आनन्दः सुखं तयोः सन्दोहः पूरः तद्रूपाय, यतः यत्समाश्रयणादाश्रितानामभयं तस्मै नमः।।२४।।

तेषां देवानामेवं उपतिष्ठतां वाणी[1] शब्दः आविरभूत् तैः श्रुतेत्यर्थः। कथम्भूता? अरूपा अदृष्टवक्त्रका, मेघनिस्वना मेघघोष तुल्या, ककुभो दिशः, सन्नादयन्ती प्रतिध्वनयन्ती, साधूनामभयङ्करा[2]।।२५।।

**विज॰** तत्पत्न्यः तेषां समुद्राणां पत्न्यो नद्यः, क्षारं लवणम्।।१७, १८।।

यथोपजोषं यथासुखम्।।१९-२३।।

यतो यस्माद्धरेरभयं भवति तस्मा इति, अरूपा अशरीरिणी।।२४, २५।।

**मा भैष्ट विबुधश्रेष्ठाः सर्वेषां भद्रमस्तु वः।**
**मद्दर्शनं हि भूतानां सर्वश्रेयोपपत्तये।।२६।।**
**ज्ञातं[3] मे तस्य दौरात्म्यं दैतेयापशदस्य[4] यत्[5]।**
**तस्य शान्तिं करिष्यामि कालस्तावत्प्रतीक्ष्यताम्[6]।।२७।।**

1 W omits शब्दः 2 A,B,T °री 3. A,B,G,J,M,Ma,T ज्ञातमेत° 4. A,B,G,J,M,Ma,T °स्य° 5. A,B,G,J,T च β- -6 A.B.G.J,T कालं तावत्प्रतीक्षत

यदा देवेषु वेदेषु गोषु विप्रेषु साधुषु।
धर्मे मयि च विद्वेषः स वा आशु विनश्यति।।२८।।

निर्वैराय प्रशान्ताय स्वसुताय महात्मने।
प्रह्लादाय यदा द्रुह्येद्धनिष्येऽपि वरोर्जितम्।।२९।।

[1-] नारद उवाच [-1]

इत्युक्ता लोकगुरुणा तं प्रणम्य दिवौकसः।
न्यवर्तन्त गतोद्वेगा मेनिरे चाऽसुरं हतम्।।३०।।

तस्य दैत्यपतेः पुत्राश्चत्वारः परमाद्भुताः।
प्रह्लादोऽभून्महांस्तेषां गुणैर्महदुपासकः।।३१।।

ब्रह्मण्यः शीलसम्पन्नः सत्यसन्धो जितेन्द्रियः।
आत्मवत्सर्वभूतानामेकः प्रियसुहृत्तमः।।३२।।

दासवत्संनतार्याङ्घ्रिः पितृवद्दीनवत्सलः।
भ्रातृवत्सदृशे [2] स्निग्धो गुरुष्वीश्वरभावनः।
विद्यार्थरूप [3] जन्मादि मानस्तम्भविवर्जितः।।३३।।

**श्रीध॰ मेति**। मम दर्शनं श्रवणं सर्वेषां श्रेयसामुपपत्तये [4] प्राप्तये [5] भवति।।२६-२८।।

ननु देवादिविद्वेषेऽप्यस्य विनाशो नास्ति ब्रह्मवरेणोर्जितत्वात्, तत्राह-**निर्वैरायेति**। सर्वमहं सहे न मद्भक्तद्रोहमिति भावः।।२९।।

**इतीति**। असुरं च हतं मेनिरे। तदानीं तद्द्वेषस्य [6] प्रवृत्तत्वादिति भावः।।३०।।

तमेव द्वेषं वक्तुमादौ सुतस्य महत्त्वमाह-[7] **तस्येति**। गुणैर्महानभूत्। गुणानेवाह महदुपासक इत्यादिना।।३१।।

**ब्रह्मण्य** इति। सत्या सन्धा प्रतिज्ञा यस्य। एक एव प्रियश्च सुहृत्तमश्च।।३२।।

---

1- -1 H, V omit 2 H,V,W °श स्नि° 3 A,B,G,J,T जन्माढ्यो ; H,V जनरूपार्थः; M,Ma जन्माद्यैः 4. A,B,J omit प्राप्तये 5 H,V omit भवति

6 A,B,J °षे 7. H,V त्त्वं वक्तु°

[1]दासवत्सम्यङ् नता आर्याणामङ्घ्रयो येन। [2]गुरुषु ईश्वर इति भावना यस्य।।३३।।

**वीर॰** वाणीमेवाह - **मा भैष्टेति**। हे विबुधश्रेष्ठाः! यूयं मा भैष्ट भयं मा कुरुत। वो युष्माकं सर्वेषां भद्रं सुखमेवाऽस्तु। हि यस्मात् मम दर्शनं कटाक्षो भूतानां श्रेयसे उपपत्तये प्राप्तये भवति।।२६।।

दैतेयाधमस्य तस्य हिरण्यकशिपोः यद्दौरात्म्यं तन्मया ज्ञातं विदितमेव तस्य दैत्यस्य शान्तिं वधं करिष्यामि कालः तद्वधोचितकालः तावत्प्रतीक्ष्यतां किञ्चित्कालविलम्बं सहध्वमित्यर्थः।।२७।।

कोऽसौ तद्वधोचितः कालः? तत्राह-**यदेति**। यस्मिन् काले देवादिषु तस्य नितरां द्वेषः तदा स आशु विनश्यति।।२८।।

ननु देवादिषु विद्वेषेऽपि न तस्य नाशः, [3]कथम्? ब्रह्मवरेणोर्जितत्वादित्यत्राह - **निर्वैरायेति**। यदा प्रह्लादस्य द्रुह्योत्तदा वरैरूर्जितमपि हनिष्ये हनिष्यामि। कथम्भूताय? मदात्मने अहमेवाऽऽत्मा यस्य स मदात्मा [4]यद्वा, मय्यात्मा मतिर्यस्य स मदात्मा[-4] तस्मै निर्वैराय सर्वभूतसुहृदे प्रशान्ताय रागादिरहिताय स्वस्यात्मजाय निरतिशयप्रियभक्तविषये यदा द्रोहं करिष्यति, आश्वेव तदा हनिष्यामि मद्भक्तविषयापराधस्य मम नितरां असह्यत्वादिति भावः।।२९।।

इतीत्थं लोकगुरुणा भगवता उक्ताः दिवौकसो देवाः भगवन्तं तं प्रणम्य गतोद्वेगाः गत उद्वेगो भयं येषां तादृशास्सन्तो न्यवर्तन्त भगवदुपस्थितेरिति शेषः। असुरं [5]हिरण्यकशिपुं[-5] हतप्रायञ्च मेनिरे अमन्यन्त।।३०।।

तस्य पूर्वमेव विप्रशापमुपेयुषः उचितकाले हनिष्यामीत्येवंविधभगवत्सङ्कल्पविषयस्य दैत्यपतेः हिरण्यकशिपोः परमाद्भुताः चत्वारः प्रह्लादानुह्लादसंह्लादाह्लादाख्याः पुत्राः तेषां मध्ये प्रह्लादो गुणैरक्रोधार्दाभिः महान् श्रेष्ठोऽभूत् माहात्म्यावहगुणैस्तं विशिनष्टि महदुपासक इत्यादिना। महतां भागवतानां उपासकः भागवत भक्तिपर्यन्तभगवद्भक्तिनिष्ठः; इयमेव भगवद्भक्तेः परा काष्ठेति भावः।।३१।।

ब्रह्मण्यः ब्राह्मणकुले साधुरनुकूलो ब्रह्मण्यः। यद्वा ब्रह्मणि परस्मिन्नितरां साधुः ब्रह्मण्यः शीलेन सुस्वभावसद्वृत्त्यात्मकेन युक्तः सत्यसन्धः सत्यप्रतिज्ञः जितानि इन्द्रियाणि अन्तर्बाह्यानि येन सर्वभूतानामात्मना तुल्यमात्मवत् एक एव असाधारणः प्रियतमः सुहृत्तमश्च प्रियसुहृत्तमः। आत्मा यथा प्रियतमः स्वहितैकैषी च तद्वदयमपि सर्वभूतविषयकप्रीतियुक्तस्तद्धितैषीत्यर्थः।।३२।।

1. H,V omit दासवत् 2 H,V omit गुरुषु 3. W omits कथम्? 4- -4 A.B,T omit 5- -5 W omits

दासवत् सम्यङ्नताः नमस्कृताः आर्याणां महतां अङ्घ्रयो येन पितृवद्दीनेषु वात्सल्ययुक्तः, भ्रातृवत्सदृशेषु स्वतुल्येषु स्निग्धोऽनुरागयुक्तः, गुरुषु ईश्वरत्वेन भावना दृष्टिर्यस्य, विद्यादिभिः हेतुभिः योऽभिमानो गर्वो दम्भश्च ताभ्यां विवर्जितः। तत्रार्थो वित्तं रूपं सौन्दर्यं जन्माऽऽभिजात्यम् आदिशब्दः प्रकारार्थः विद्यादिसदृशमन्यदपि मानादिनिमित्तं विवक्षितम्।।३३।।

**विज॰** मद्दर्शनं मद्विषयज्ञानम्।।२६,२७।।

यस्य वेदादिषु विद्वेषः स, आशु साधनसामग्र्याम्।।२८-३१।।

आत्मवत् परमात्मवत् "अन्येषां हरिसाम्यं तु किञ्चित्साम्यमुदीरितम्। सम्यक्साम्यं तु मत्स्यादेरिति शास्त्रस्य निश्चयः" (स्कान्दे) इति वचनादत्र हरिसाम्यकथनं तात्पर्यादवगन्तव्यम्।।३२।।

मानस्तम्भविवर्जितः अभिमाननिमित्तस्तम्भदोषरहितः।।३३।।

**नोद्विग्नचित्तो व्यसनेषु निःस्पृहः श्रुतेषु दृष्टेषु गुणेष्ववस्तुदृक्।**
**दान्तेन्द्रियप्राणशरीरधीस्सदा प्रशान्तकामो रहितासुरोऽसुरः।।३४।।**
**यस्मिन्महा[1]गुणा राजन् गृह्य[2]न्ते कविभिर्मुहुः।**
**न तेऽधुना पिधीयन्ते यथा भगवतीश्वरे।।३५।।**

**यं साधुगाथासदसि रिपवोऽपि सुरा नृप।**
**प्रतिमानं प्रकुर्वन्ति किमुताऽन्ये भवादृशाः।।३६।।**
**गु[3]णैरलमसंख्येयैः माहात्म्यं तस्य सूच्यते।**
**वासुदेवे भगवति यस्य नैसर्गिकी रतिः।।३७।।**

**न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत्तन्म[4]नस्तथा।**
**कृष्णग्रह-गृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम्।।३८।।**

**आसीनः पर्यटन्नश्नन् शयानः प्रपिबन् ब्रुवन्।**
**नानुसन्द[5]ध एतानि गोविन्दपरिरम्भितः।।३९।।**

---

1 A,B,G J,T,W °हद्गुणा 2 H,V दृश्यन्ते 3 W °गुणे परं° 4 M,Ma °नास्सदा 5 A,B,G,J,T °न्धत्त

**क्वचिद्रुदति[1-] वैकुण्ठचिन्ताशबलचेतनः[-1]।**[2]

**क्वचिद्धसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित्।।४०।।**

**नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित्।**

**क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह।।४१।।**

**श्रीधः नेति**। व्यसनेषु प्राप्तेष्वपि[3] नोद्विग्नचित्तः। दृष्टेषु[4-] श्रुतेषु[-4] गुणेषु विषयेषु निस्स्पृहः। यतस्तेष्ववस्तुदृक् दान्ता इन्द्रियादयो यस्य। रहितः आसुरो भावो मत्सरादिर्यस्य सः। असुरोऽपि सन् प्रशान्तकामः[5]।।३४।।

**यस्मिन्निति**। अधुना ते गुणा नापिधीयन्ते तिरोहिता न भवन्ति।।३५।।

**यमिति**। साधु गाथासदसि साधु कथाप्रसङ्गवत्यां सभायां यं[6-] प्रह्लादम्[-6]। प्रतिमानं दृष्टान्तम्। रिपवोऽपि[7-] सुराः कुर्वन्ति किं वक्तव्यं भवादृशा विष्णुभक्ताः[-7]।।३६।।

**गुणैरिति**। सूच्यते मया केवलं द्योत्यते, सुष्ठु कथ्यत इति वा।।३७।।

नैसर्गिकरतेः लिङ्गानि आह-**न्यस्तक्रीडनक** इति षड्भिः। तन्मनस्तया सदेकचित्तत्वेन।।३८।।

**आसीन** इति। एतान्यासनादीनि। गोविन्देन परिरम्भितः, आत्मना एकीकृतः।।३९।।

**क्वचिदिति**। रुदति[8-] रोदिति रौति[-8] वैकुण्ठस्य चिन्तया शबला व्यामिश्रा क्षुभिता चेतना यस्य तस्य चिन्तयाऽऽह्लादो यस्य।।४०।।

**नदतीति** क्वचिदिति। क्वचिदुत्कण्ठो[9] मुक्तकण्ठस्सन् अनुचकार तच्चेष्टादिकं स्वयं कृतवान्।।४१।।

**वीर०** व्यसनेषु दुःखहेतुषु नोद्विग्नमभीतं चित्तं यस्य, दृष्टेष्वैहिकेषु श्रुतेष्वामुष्मिकेषु च स्वर्गस्वाराज्यादिषु गुणेषु विषयेष्ववस्तुदृक् अनित्यबुद्धियुक्तोऽत एव तेषु स्पृहादिरहितः, सदा दान्ताः नियमेन वशीकृताः इन्द्रियादयो यस्य, प्रशान्ताः कामा यस्य। निस्स्पृह इत्यनेन सन्निहितेषु विषयेषु इच्छाराहित्यमुक्तम्; प्रशान्तकाम इत्यनेन तु असन्निहितेष्वित्यतो न पौनरुक्त्यम्। स्वयमसुरोऽपि रहितासुरः मात्सर्याद्यासुरभावरहितः।।३४।।

---

1- -1 M,Ma द्रोदिति गोविन्द 2. M,Ma चञ्चल 3 H,V omit प्राप्तेष्वपि 4- -4 H,V omit 5 H,V omit प्रशान्तकामः 6- -6 H,V omit

7- -7 H,V omit 8- -8 H,V omit 9 H,V omit क्वचित्

हे राजन्! यस्मिन् प्रह्लादे गुणा उक्ता वक्ष्यमाणा अन्ये च कविभिः मुहुर्मुहुः महद्यथा भवति तथा गृह्यन्ते बहुमन्यन्त इत्यर्थः। महदिति क्रियाविशेषणमन्यथा समानाधिकरणसमासे "आन्महतः" (अष्टा. 6-3-46) इत्यात्वापत्तिः महतः प्रह्लादस्य गुणा इत्यर्थे यस्मिन्नित्यनेन पौनरुक्त्यापत्तिः महतां गुणा इति वा, ते गुणाः अधुना अद्यापि नापिधीयन्ते न तिरोहिता भवन्ति, न विस्मृता भवन्ति इति यावत्। यथा भगवति ईश्वरे गुणाः पुनः पुनः कविभिः गृह्यन्ते नापिधीयन्ते तद्वत्।।३५।।

हे नृप! युधिष्ठिर! साधु गाथासदसि साधुकथाप्रसङ्गवत्यां सभायां रिपवः शत्रवोऽपि यं प्रह्लादं प्रतिमानं साधनत्वे दृष्टान्तं कुर्वन्ति किं पुनर्भवादृशा अन्ये प्रतिमानं कुर्वन्तीति।।३६।।

मया परं केवलं असंख्येयैः गुणैः तस्य माहात्म्यं सूच्यते, न साकल्येन तद्गुणा वर्णयितुं शक्या इति भावः। अलमिति पाठेऽधिकं तस्य माहात्म्यं सूच्यते। मया दिङ्मात्रं गुणप्रदर्शनेन माहात्म्यं सूच्यते। न तु एतावत्तस्य माहात्म्यमित्युच्यते इत्यर्थः। अपारमाहात्म्ये हेतुं वदन् विशिनष्टि-वासुदेवेति। यस्य प्रह्लादस्य वासुदेवे भगवति नैसर्गिकी स्वाभाविकी उत्पत्तिसिद्धेत्यर्थः। रतिः स्वभावतः वासुदेवे रतानां वासुदेवस्यैव अनन्तं माहात्म्यमिति भावः।।३७।।

नैसर्गिकलिङ्गानि वदन् विशिनष्टि-**न्यस्तेत्यादि** षड्भिः। बाल एव बाल्यात्प्रभृतीत्यर्थः। तन्मनस्कतया भगवद्गतहृदयत्वेन न्यस्तक्रीडनकः परित्यक्तबालक्रीडः कृष्णग्रहः श्रीकृष्ण एव ग्रहस्तेन गृहीत आत्मा मनो यस्य ग्रहगृहीतवद्वर्तमान इत्यर्थः। अत एव जगदीदृशं न वेद बाह्यवस्तुविषयकचिन्तारहित इत्यर्थः।।३८।।

एतदेव प्रपञ्चयति-**आसीन** इति। आसनाद्यवस्थावस्थितोऽपि एतान्यासनादीनि नानुसन्दधे नानुसंहितवान्।, तत्र हेतुः यतो गोविन्देन भगवता, परिरम्भितः संश्लिष्टः गोविन्दानुसन्धानरूपतत्परिरम्भविस्मृतदेहधर्म[1] इत्यर्थः।।३९।।

क्वचिद्गोविन्दानुसन्धानविच्छेददशायां रुदति रोदिति आर्षत्वाच्छब्लुक्। इङ्गुणाभावश्च। गोविन्दचिन्तया शबला व्यामिश्रा क्षुभिता चेतना बुद्धिर्यस्य तादृशः क्वचिद्धसति, क्वचित्तच्चिन्तया आह्लादो यस्य तादृश उच्चैर्गायति, गोविन्दगुणानिति शेषः।।४०।।

क्वचित्तच्चिन्ताह्लाद एव नदति ध्वनति क्वचिदुत्कण्ठः कण्ठोपरिव्याप्तहर्षः विगतलज्जो नृत्यति उत्कण्ठो मुक्तकण्ठस्सन् ध्वनतीति वा क्वचित्तद्भावनया भगवदनुस्मृत्या युक्तस्तन्मयः तदात्मकः स्वात्मानं तदपृथक्

1. W omits इत्यर्थः।

सिद्धत्वेन पश्यन्नपि तदपि तदनुसन्धानेन विस्मृत्य तद्रूपतामित्यभिमानेन अनुचकारानुकरोति भगवानिव चेष्टते इत्यर्थः।।४१।।

**विज॰** गुणेषु शब्दादिषु शरीरस्य दान्तत्वमुपवासादिना रहितासुरः असुरस्वभावकर्मरहितः जात्याऽसुरः।।३४।।

यथा भगवति ईश्वरे इत्यत्रापि "अन्येषां हरिसाम्यन्तु किञ्चित्साम्यमुदीरितम्" (स्कान्दे) इत्यादिप्रमाण-मित्यत्रापि ज्ञातव्यमिति।।३५।।

प्रतिमानं दृष्टान्तम्।।३६,३७।।

कृष्णाख्यो ग्रहस्तेन वशीकृतमनाः।।३८।।

अनुसन्दधे सस्मार।।३९।।

तद्भावनायुक्तः तस्य श्रीनारायणस्य ध्यानोपेतः तन्मयः तत्प्रधानः।।४१।।

**क्वचिदुत्पलकस्तूष्णीमास्ते[1-] संस्पर्शनिर्वृतः[-1]।**
**अस्पन्दप्राणयानन्दसलिलामीलितेक्षणः[2]।।४२।।**

**स उत्तमश्लोकपदारविन्दयोः निषेवयाऽकिञ्चन सङ्गलब्धया।**
**तन्वन् परां निर्वृतिमात्मनो मुहुः दुस्सङ्ग दीनस्य[3] मनःशमं व्यधात्।।४३।।**

**तस्मिन् महाभागवते महाभागे महात्मनि।**
**हिरण्यकशिपू राजन् अकरोदघमात्मजे।।४४।।**

**युधिष्ठिर उवाच**

**देवर्ष एतदिच्छामो वेदितुं तव सुव्रत।**
**यदात्मजाय शुद्धाय पिताऽदात् साधवे ह्यघम्[4]।।४५।।**

**पुत्रान्[5-] विप्रतिकूलान्स्वान्[-5] पितरः पुत्रवत्सलाः।**
**उपालभन्ते शिक्षार्थं नैवाऽघमपरो[6] यथा।।४६।।**

1- -1 M,Ma °प्रशेष स्पर्श निःस्मृतः 2 M,Ma प्राण आ °3 A,B,G,J,T °दीनान्य °: M,Ma °हीनः स्व ° 4.M,Ma अ° 5- -5 H,M,Ma.V पुत्रान् विप्रतिकूलां श्च, W पुत्रेषु प्रतिकूलेषु 6 A,B,G,J,T °रो

**किमुतानुवशान् साधूंस्तादृशान् गुरुदेवतान्।**

**एतत् कौतूहलं ब्रह्मन्नस्माकं विधम प्रभो।।**

**पितुः पुत्राय [1]यो द्वेषो मरणाय प्रयोजितः।।४७।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्री वयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां

श्री हयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहस्या संहितायां

सप्तमस्कन्धे प्रह्लाचरिते चतुर्थोऽध्याय.।।४।।

**श्रीध॰ क्वचिदिति**। संस्पर्शस्तद्भावापत्तिः तेन निर्वृतः अस्पन्दः स्थिरो यः प्रणयस्तेन य आनन्दस्तेन यत्सलिलं तेन युक्ते आमीलिते ईषन्निमीलिते ईक्षणे यस्य सः।।४२।।

**स** इति। आत्मनः परां निर्वृतिं तन्वन्दुःसङ्गेन दीनस्याऽन्यस्यापि मनः शमं शान्तं व्यधात्।।४३।।

**तस्मिन्निति**। अघं द्रोहमकरोत्।।४४।।

प्रथमाध्यायान्ते पृष्टमेवार्थमिति विस्मयेन गुनः पृच्छति **देवर्ष** इति। तव त्वत्तः तव वार्क्यामति वा साधवेऽघमदात् साधोः द्रोहं कृतवानिति यत् एतद्वेदितुं ज्ञातुमिच्छामः।।४५।।

**पुत्रानिति**। उपालभन्ते आक्षिपन्ति। अघं तु नैव कुर्वन्ति। [4]अपरे **शत्रव** [2]**इव**।।४६।।

**किमुतेति**। अनुवशाननुकूलात् साधूनरागरोषान्। गुरुः पितैव देवता येषां तानुद्दिश्याऽघं न कुर्वन्तीति, किमु वक्तव्यमित्यर्थः। [3]पुत्राय पुत्रमुद्दिश्य पितुः द्वेषः पित्रा कृतो द्वेषः पुत्रस्य मरणार्थं प्रयोजितः प्रवर्तित इति यदेतत्कौतूहलं विधम अपाकुरु। [4]यद्वा यद्यस्मात् पुत्राय यो द्वेषः स [5]पितुर्मरणाय [5]प्रयोजितोऽत [6]एव एतत्कौतूहलं विधमेत्यर्थः।।४७।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे

श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां चतुर्थोऽध्याय ।।४।।

---

1 A,B,G J,M,Ma,T यद्वे °2- -2 A,B,J अपर शत्रुरिव 3 H,V omit पुत्राय 4 H,V omit यद्वा 5- -5 H,V पितृमरणार्थं °

6 A,B,J omit एव

**वीर॰** क्वचिच्च संस्पर्शेनाऽविच्छिन्नानुध्यानेन निर्वृतः सुखितः अस्पन्दः स्थिरो यः प्रणयः स्नेहस्तेन य आनन्दस्तेन यत्सलिलं तेनाऽऽमीलिते ईषन्मीलिते ईक्षणे यस्य, उत्पुलकः उदञ्चितरोमा तूष्णीमास्ते।।४२।।

स प्रह्लादः अकिञ्चनसङ्गः निरुपाधिकस्नेहः तेन लब्धया उत्तमश्लोकस्य भगवतः पादारविन्दयोः निषेवया मुहुर्मुहुरात्मनः स्वस्य परां निर्वृतिमानन्दं तन्वन्[1] वितन्वन्, मन इत्यार्षत्वाल्लुप्तषष्ठीकं पृथक् पदम्। यद्वा, तत एव सविशेषणस्याऽपि समासः, विषयासङ्गेन दीनस्य मनसः शमं शान्तिं रागादिराहित्यं व्यधाञ्चक्रे दुस्सङ्गदीनस्येति विशेषणं लोकपरिपाटीकृतं, न तु तस्य कदाचिदपि विषयासक्तमभून्मन इति भावः।।४३।।

हे राजन्! तस्मिन्नेवम्भूते महाभागवतश्रेष्ठे महाविवेकिनि महात्मनि उक्तविधमाहात्म्ये तत्राप्यात्मजे हिरण्यकशिपुरघं द्रोहमकरोत्।।४४।।

एवंविधस्य द्रोहानर्हत्वशङ्कया पृच्छति युधिष्ठिरः-**देवर्ष** इति। हे देवर्षे! एतद्वेदितुं ज्ञातुमिच्छामः, किं तत्? हे सुव्रत! शुद्धाय निरपराधाय साधवे महाभागवताय[2] तत्राप्यात्मजाय, अनेन द्रोहानर्हविषयत्वमुक्तम्। पितेत्यनेन द्रोग्धृत्वानर्हत्वम्, अघं द्रोहमधाञ्चक्रे इत्येतत्।।४५।।

उक्तविशेषणलब्धार्थमेव विशदयति-**पुत्रेष्विति**। प्रतिकूलेषु पुत्रेषु विषयभूतेषु पुत्रवत्सलाः पितरः शिक्षार्थं केवलमुपालभन्ते आक्षिपन्ति। अपरे यथा शत्रव इव अघं द्रोहं नैव कुर्वन्ति। प्रतिकूलानपि पुत्रान् केवलं शिक्षार्थं उपालभन्ते न तेभ्यो द्रुह्यन्ति, किम्पुनरनुकूलान् साधून्। गुरुः पितैव दैवतं येषां तानुपालभन्ते न तु तेभ्यो द्रुह्यन्ति इति भावः[3]।।४६।।

अतो हे ब्रह्मन्! अस्माकमेतत्कौतूहलम् एतत्प्रश्नकौतूहलं विधम अपनय। हे प्रभो! पुत्राय यः पितुर्द्वेषः स मरणाय पितुर्मरणाय प्रयोजितः प्रयोजकोऽभूदिति यदेतत्प्रश्नकौतूहलमित्यन्वयः। पितुः पुत्रविषयकद्वेषः स्वस्यैव मरणप्रयोजकः कथमभूदित्येवंविधप्रश्नविषयकौतूहलं विधमेत्यर्थः।।४७।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

---

1 W omits तन्वन् 2- -2 W omits 3 W omits भावः

**विज॰** स्पर्शेषु विषयेषु स्पृहारहितः अस्पन्दप्राणः प्राणचेष्टारहितः आनन्दसलिलेन सन्तोषाश्रुजलेन निमित्तेन किञ्चिन्निमीलितनेत्रः।।४२।।

अकिञ्चनानां महतां सतां सेवालक्षणसङ्गेन प्राप्तया।।४३।।

अघं मरणलक्षणं व्यसनम्।।४४।।

"विद्वेषो दयिते पुत्रे कथमासीन्महात्मनि" (भाग. 7-1-47) इति स्वपृष्टं कथान्तरासक्त्या नारदेनापरिहृतं जानन् राजा युधिष्ठिरः पुनरपि जानन्नकरोदघमात्मजे इति प्रसक्तं श्रुत्वा तदेव पृच्छति-**देवर्ष** इति। पुत्रस्य मरणकारणमासुरकर्म न तु शास्त्रीयमिति ज्ञापनाय साधवे अघमिति संहिताकार्यं न कृतम्।।४५।।

अपरे शत्रवः।।४६।।

विधम परिहर पुत्राय प्रयोजितो विद्वेषः पितुर्मरणायाऽभूदिति यत्तस्मात्कौतूहलमिति।।४७।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

सप्तमस्कन्धे चतुर्थोऽध्याय.।।३।।

* * * *

# पञ्चमोऽध्यायः

## नारद उवाच

पौरोहित्याय भगवान् वृतः काव्यः किलासुरैः।
शण्डामर्कौ सुतौ तस्य दैत्यराजगृहान्तिके।।१।।

तौ राज्ञा प्रापितं बालं प्रह्लादं नयकोविदम्।
पाठयामासतुः पाठ्यानन्यांश्चासुरबालकान्।।२।।

यत्तत्र गुरुणा प्रोक्तं शुश्रुवेऽनुपपाठ च।[1]
न साधु मनसा मेने स्वपरासद्ग्रहाश्रयम्[2]।।३।।

एकदाऽसुरशट् पुत्रमङ्कमारोप्य पाण्डव।
पप्रच्छ कथ्यतां वत्स मन्यते साधु यद्भवान्।।४।।

## प्रह्लाद उवाच

तत्साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां सदा समुद्विग्रधियामसद्ग्रहात्।
हित्वाऽऽत्मपातं गृहमन्धकूपं वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत।।५।।

## नारद उवाच

श्रुत्वा पुत्रगिरो दैत्यः परपक्ष[3]समाहिताः[4]।
जहास बुद्धिर्बालानां भिद्यते परबुद्धिभिः।।६।।

---

1 M,Ma °वे न 2. M,Ma स्वरूपा° 3 H,V पक्षो 4 M,Ma समी°

**सम्यग्विधार्यतां बालो गुरुगेहे द्विजातिभिः।**
**विष्णुपक्षैः[1] प्रतिच्छन्नैः न भिद्येतास्य धीर्यथा।।७।।**

**गृहमानीतमाहूय प्रह्लादं दैत्ययाजकाः।**
**प्रशस्य श्लक्ष्णया वाचा तमपृच्छन्हि[2] सामभिः।।८।।**

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पञ्चमे गुरुतोऽधीतं त्यक्त्वा विष्णुस्तुतौ रतम्। घातयन्द्विपसर्पाद्यैः[3] सुतं दैत्यो न चाशकत्।।

भगवद्भक्तिरेव विद्वेषे[4] कारणमिति वक्तुमाह-**पौरोहित्यायेत्यादिना**। काव्यः शुक्रः। अतस्तस्य सुतौ दैत्यराजगृहान्तिके[5] न्यवसतामिति शेषः।।१।।

**ताविति**। पाठ्यान् दण्डनीत्यादीन्। पाठ्यानसुरबालकानिति वाऽन्वयः।

**यदिति**। अनुश्रवणानन्तरं तथैव पपाठ च। किन्तु तत्साधु न मेने। तत्र हेतुः-स्वः पर इत्यसद्ग्रहो मिथ्याभिनिवेश एवाश्रयो यस्य तत्।।३,४।।

**तदिति**। हे असुरवर्य! असद्ग्रहादहंममेति मिथ्याभिनिवेशाध्देतोः[6] सम्यगुद्विग्ना विषण्णा[7] धीर्येषां ते। वनं गतस्सन् हरिमाश्रयेतेति यत्तदेवाऽहं साधु मन्ये। कथम्भूतं गृहम् हित्वा[8], आत्मपातमात्मनोऽधःपातनिमित्तम्। कुतः? अन्धकूपवन्मोहावहम्।।५।।

**श्रुत्वेति**। परपक्षे विष्णौ समाहिताः परिनिष्ठिताः। हासे[9] हेतुः[9] - बुद्धिरिति।।६।।

**सम्यगिति**। विष्णुपक्षैः भागवतैः हेतुभूतैः। ननु त्वद्गृहे कुतस्तेषां प्रवेशः। सत्यम्। तथाऽपि प्रतिच्छन्नैः वेषान्तरेण छन्नैः।।७।।

**गृहमिति**। दैत्यैर्गृहमानीतम्।।८।।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवमापृष्टद्वेषनिमित्तस्तद्वक्तुं तावदुपोद्घातमाह भगवान्नारदः-**पौरोहित्यायेत्यादिना**। भगवान् काव्यः

1. M,Ma °क्षप्र° 2- -2 A,B,G,J,M,Ma,T,W समपृच्छन्त 3 H,V यन्विष 4 H,V °ष° 5- -5 H,V तत्र 6. H,V °शनाद्धे° 7 H,V omit विषण्णा 8 A,B,J omit हित्वा 9- -9 H,V हासमेवाऽऽह

शुक्रः पौरोहित्याय पुरोहितकर्मकर्तुमसुरैः वृतः, किलेति प्रसिद्धिं द्योतयति। तस्य काव्यस्य सुतौ शण्डामकाख्यौ दैत्यराजस्य हिरण्यकशिपोः गृहसमीपे, आस्तामिति शेषः।।१।।

तौ च शण्डामकौ दैत्यराजेन प्रापितं नीतिशास्त्रपठनार्थं प्रापितं प्रह्लादमन्यांश्चासुरबालकांश्च पाठ्यान् दण्डनीत्यादीन् पाठयामासतुः पठनं कारितवन्तौ। अत्र[1] नयकोविदमितिक्रियाविशेषणं, यथानयकोविदाः नीतिशास्त्र निपुणा भवन्ति तथा पाठयामासतुः इति।।२।।

तत्र एवं स्थिते प्रह्लादो यद्गुरुणा प्रोक्तं तच्छुश्रुवे श्रुतवान् अनुपठितवांश्च परन्तु तत्प्रोक्तं मनसा साधु यथा तथा न मेने। तत्र हेतुं वदन् प्रोक्तं विशिनष्टि-स्वपरासद्ग्रहाश्रयम् अयं स्वः स्वकीयो मित्रम्, अयन्तु परः शत्रुरित्येवं रूपो योऽसद्ग्रहो वृथाग्रहरूपोऽभिमानस्तस्याश्रयं हेतुभूतम्।।३।।

एवं स्थिते, हे पाण्डव! कदाचिदसुरराट् पुत्रं प्रह्लादमङ्कमारोप्य उत्सङ्गे निधाय, हे वत्स! हे पुत्र! भवानाचार्यप्रोक्तेषु मध्ये यत्साधु मन्यते तत्कथ्यताम् इत्येवं पप्रच्छ।।४।।

एवं दैत्येन पृष्टः प्रह्लादस्तमाह-**तदित्येकेन**। हे असुरवर्य! दैत्यराज! असद्ग्रहात् देहात्माभिमान स्वतन्त्राभिमान तन्मूलशब्दादिविषयाभिनिवेशादिरूपादसद्ग्रहाद्धेतोः सदा नित्यं समुद्विग्ना नितरां भीता धीर्येषां तेषां देहिनां कुत्सितदेहधारिणां आत्मपातं पतन्त्यनेनेति पातम् आत्मनः अधःपतनहेतुमन्धकूपतुल्यं गृहं त्यक्त्वा वनं अरण्यं प्रविष्टो हरिम् आश्रितबन्धहरं भगवन्तमाश्रयेतेति यत्तदेव साधु मन्ये इति। हित्वेति पदेन हेयसंक्षेपः हरिमाश्रयेतेत्यनेन उपादेयतत्त्वतदनुष्ठानसंक्षेपः, वनं गत इति विविक्तदेशोपलक्षणम्।।५।।

एवमुक्तो दैत्यराजः किमाहेत्याह-नारदः[2]-**श्रुत्वेति**। परपक्षसमाहिताः परपक्षे विष्णौ समाहिताः परिनिष्ठिताः पुत्रस्य प्रह्लादस्य, गिरः श्रुत्वा दैत्यो जहास हासपूर्वकमुवाचेत्यर्थः। तदेवाह-बालानां बुद्धिः परबुद्धिभिः परस्मिन् शत्रौ विष्णौ बुद्धिर्येषां तैर्भिद्यते अन्यथा क्रियते, विपरीता क्रियते इत्यर्थः।।६।।

नूनं गुरुगेहे प्रतिच्छन्नैः विष्णोर्भक्तैः द्विजातिभिः ब्राह्मणैः अयं बालो भिद्यते विपरीतबुद्धिः क्रियते, अतोऽस्य बालस्य बुद्धिर्यथा न भिद्येत तथा सम्यग्विधार्यतां विचार्यतामिति[3]।।७।।

---

1 W omits अत्र 2. A,B,T देवर्षिः 3 A,B,T add अर्थः

ततो दैत्ययाजकाः दैत्यपुरोहिताः स्वगृहम्प्रति दैत्यभटैरानीतं प्रापितं प्रह्लादमाहूय प्रशस्य प्रस्तुत्य सामोक्तिभिः श्लक्ष्णया मृद्व्या उक्त्या च सम्यगपृच्छन्।।८।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हिरण्यकशिपु प्रह्लादसम्वादच्छलेन भक्तिस्वरूपं हरेर्निरतिशयस्वातन्त्र्यञ्च निरूपयत्यस्मिन्नध्याये-काव्यः शुक्रः शण्डश्च मर्कश्च (अ?) शण्डामर्कौ तस्य शुक्रस्य दैत्यराजगृहान्तिके न्यवसतामिति शेषः।।१।।

राज्ञा हिरण्यकशिपुना।।२।।

अपाठस्य विशेषणभूतेन हेत्यनेन सूचितं हेतुमाह-नेति। असाधुत्वं किङ्कारणमत्राह-स्वरूपेति, "स्वातन्त्र्यात्स्व इति प्रोक्तः" इत्यतः स्वस्य स्वतन्त्रस्य हरे रूपस्याऽसत्त्वं शून्यत्वं गृह्णातीति निराकारो हरिरिति यः पक्षः स आश्रयो यस्य तत्तथा निराकारपक्षविषयत्वादित्यर्थः। प्रपञ्चस्वरूपस्य असद्ग्रहः शून्यत्वप्रतिपादकः शून्यवादः स आश्रयो यस्य तत्तथा अद्वैतविषयत्वादित्यर्थ इति वा, जीवपरस्वरूपयोरसत्पृथगभावं गृह्णातीति स्वरूपासद्ग्रहः जीवपरमात्मनावभिन्नाविति यः सिद्धान्तः स आश्रयः यस्य तत्तथा अद्वैतविषयत्वादित्यर्थ इति वा, स्वरूपासद्ग्रहः औत्पत्तिकदुराग्रहोऽवैष्णवपक्षपातः स आश्रयो यस्य तत्तथा वैष्णव सिद्धान्तविरुद्धत्वादित्यर्थ इति वा, विन्यासभेद एवायं तात्पर्यतस्त्वेक एवेति।।३,४।।

हे असुरवर्य! असद्ग्रहाद्विषयाभिनिवेशात् समुद्विग्रधियां परवशीकृतबुद्धीनां देहिनां तत्साधुसंसो-रनिर्मूलसाधनं मन्ये इत्यन्वयः। किं तदिति तत्राह- हित्वेति। आत्मपातं स्वस्य निरयपातं अन्ध मज्ञानं यत्तस्य कूपं निधानस्थानं गृहं हित्वा वनं सज्जनसङ्गमलक्षणं गतः।।५।।

सज्जनशिक्षार्थं प्रह्लादेन तत्त्वमुक्तम् न तु तं ग्राहयितुं, तस्यासुरावेशेन दुराग्रहगृहीतत्वात्तत्फलमाह **श्रुत्वेति**। परिहासः फलं परबुद्धिभिः प्रतिपक्षबुद्धिभिः परपक्षसमीहिताः पूर्वपक्षविषयत्वेन प्रवृत्ताः।।६।।

पुत्रस्नेहेनाभिमतोऽयं न हासः किन्त्वनभिमत एवेत्यभिप्रेत्याह-**सम्यगिति**। विधार्यतामवधार्यतां विष्णुपक्षः प्रतिच्छन्नो येषां ते तथा तैः विष्णुसिद्धान्तमभिगृह्य स्थितैरित्यर्थः।।७।।

अवशवशीकरणाय चत्वार उपाया विहिताः तत्र द्विजातीनां सामोपाय एव श्रेयानिति दर्शयितुं परकृत बुद्धिभेदञ्च ज्ञातुं, तत्रापि योग्यानां भगवत्तत्त्वविषयज्ञाननिश्चयाय च दैत्यभयाञ्च दैत्ययाजकाः प्रह्लादमपृच्छन्नित्याह **गृहमिति**। सामभिर्वचनैः।।८।।

वत्स, प्रह्लाद! भद्रं ते सत्यं कथय मा मृषा।
बालानति कुतस्तुभ्यमेष बुद्धिविपर्ययः।।९।।

बुद्धिभेदः परकृत उताहो ते स्वतो[1]ऽभवत्।
भण्यतां श्रोतुकामानां गुरूणां कुलनन्दन!।।१०।।

प्रह्लाद उवाच

स्वः[2-] परश्चेत्यसद्ग्राहः[-2] पुंसां यन्मायया कृतः।
विमोहितधियां दृष्टस्तस्मै भगवते नमः।।११।।

स यदानुवृत[3]तः पुंसां पशुबुद्धिर्विभिद्यते।
अन्य एष तथाऽन्योऽहमिति भेदगता सती।।१२।।

स एष आत्मा स्वपरेत्यबुद्धिभिः दुर[4]न्वयानुक्रमणो निरू[5]प्यते।
मुह्यन्ति यद्वर्त्मनि वेदवादिनो ब्रह्मादयो ह्येष भिनत्ति मे मतिम्।।१३।।

यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन् स्वयमाकर्षसन्निधौ।
तथा मे भिद्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया[6]।।१४।।

नारद उवाच

एतावद्ब्राह्मणायोक्त्वा विरराम महामतिः।
तं सुनिर्भर्त्स्य[8-] कुपितः[-8] स[9] दीनो राजसेवकः[10]।।१५।।

आनीयतामरे वेत्रमस्माकमयशस्कृतः[11]।
कुलाङ्गारस्य दुर्बुद्धेश्चतुर्थो[12]ऽस्योदितो दमः।।१६।।

---

1. M,Ma भवेत् 2. H,V परस्स्वात्मेत्य 3. A,B,G,J,T व्रतः; M,Ma गतः 4 A,B,G,J,T °त्य° 5 M,Ma निरुच्यते 6 M,Ma पाणा य°
7 W °नु° 8- -8 A,B,G,J,M,Ma,T निर्भर्त्स्यांथ 9 M,Ma सु° 10 W °कम् 11 A,B,G,J,M,Ma,T °स्करः 12 W °थंस्स्यादितो

**श्रीध॰ वत्सेति।** बालान् सर्वानति अतिक्रम्य तुभ्यं तव।।९, १०।।

अहो मायामोहिता भवन्तो मामाक्षिपन्ति इत्याशयेन तावदाह-**स्वःपरश्चेति।** मिथ्याभिनिवेशो यदीयया मायया[1-] एव तदीयया मायया[-1] विमोहितबुद्धीनां भवतामेव दृष्टो न तु मम। तस्मै अचिन्त्यमायेश्वराय नमः।।११।।

अहो किमेतत्प्रलपसि तव बुद्धिभेदो यतो जातः तं[2] कथयेत्याक्षिप्तस्सन् तत्प्रसादादेवेत्युत्तरमाह **स** इति त्रिभिः। स भगवान्यदाऽनुव्रतोऽनुकूलो भवति तदा पशूनामविवेकिनामिव बुद्धिर्भेदगताऽसती मिथ्यासंसारविषया विभिद्यतेऽभिन्नात्मनिष्ठा भवति।।१२।।

भेदस्यासत्त्वं दर्शयन्नाह-**स एष** इति। स एष परमात्मैव स्वः पर इति चाविवेकिभिर्निरूप्यते। युक्तञ्चैतत्। यतो यस्य वर्त्मनि जिज्ञासायां ब्रह्मादयोऽपि मुह्यन्ति। तत्र हेतुः। दुरत्ययं दुर्घटमनुक्रमणं अनुचरितमनुवर्णनं वा यस्यास्सा।।१३।।

ननु निर्विकारस्य कथं मतिभेदकत्वं तत्राह-**यथेति।** यथाऽयोलोह[3]माकर्षस्य अयस्कान्तस्य समीपे स्वयमेव भ्रमति। तथा[4-] मे[-4] चेतश्चक्रपाणेः सन्निधौ। तव कुतो जातस्तत्सन्निधिः तत्राह-यदृच्छयेति। कस्य तपोदानादेः फलमेतदिति न ज्ञायत इत्यर्थः।।१४।।

**एतावदिति।** राजसेवक उवाचेति शेषः।।१५।।

**आनीयतामिति।** अरे वेत्र कश आनीयताम्। सामदानभेददण्डानां मध्ये चतुर्थो दमो दण्डोऽस्य दुर्बुद्धेरुदित उक्तः शास्त्रेषु। दुर्बुद्धित्वे हेतुः कुलाङ्गारस्य[5-] कुलस्य[-5] अङ्गारवन्नाशहेतोः।।१६।।

**वीर॰** प्रश्नमेवाह-**वत्सेति** द्वाभ्याम्। हे वत्स! प्रह्लाद! ते तव भद्रमस्तु। न त्वां ताडयाम इति भावः। सत्यं यथार्थं कथय, मृषा मिथ्या[6] मा कथय। किं कथयेयम्? तत्राऽऽहुः बालानिति[7]। बालानति अतिक्रम्य सर्वान् बालान् विहाय तुभ्यं तवैव एष बुद्धिविपर्यासः कुतो हेतोः अभूत् इति।।९।।

किमयं बुद्धिविपर्यासः परैर्विष्णुपक्षपातिभिः कृतः उताहो आहोस्वित् स्वत एव तवाऽभवत्, हे दैत्यकुलनन्दन! त्वद्गुरूणां श्रोतुकामानामस्माकं भण्यतां कथ्यतामिति।।१०।।

---

1- -1 H,V तया 2 H,V तत् 3. H,V लोहः आ॰ 4- -4 H,V omit 5- -5 H,V omit 6 W omits मिथ्या 7. A,B,J °न

एवमुक्त आह प्रह्लादः-**पर** इत्यादिना चतुर्भिः। यत्पृष्टं बुद्धिभेदः परकृत उत स्वाभाविक इति तत्र तमिमं स्वपरविभागं देहात्माभिमानरूपाज्ञानमूलकं भगवन्मायामोहितानामिति निन्दितुं तावत् देहात्माभिमानादिरूपमोहनिमित्तविचित्रमायाशक्तियुक्तं भगवन्तं नमस्करोति-पर इति। यस्येश्वरस्य मायया हेतुना स्वः परश्चेत्यसद्ग्राहः इदं मित्रमयं शत्रुः[1] अयं देवो मनुष्यो ब्राह्मण इत्यादि देहात्मभ्रमः कृतः सम्पादितः, विमोहितधियां भगवन्मायया विमोहिता धीर्येषां तेषां भवतामेव दृष्टौ न ममेति भावः, तस्मै पूर्णषाड्गुण्याय नमः। विमोहितधियामित्यनेन "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया" (भ.गी. 7-14) इति भगवदुक्तरीत्या भगवदप्रपन्नानां भवतामेवासद्ग्राहः, न तु तत्प्रपन्नस्य मम इति सूचितम्।।११।।

तदेव व्यञ्जयन्नसद्ग्राहं निन्दति- **स इति**। स भगवान् यदा पुम्भिस्तु वृतः[2] आश्रितः तदा पुंसां पशुबुद्धिः पशुष्विव बुद्धिः देहात्माभिमानरूपा बुद्धिः विपद्यते निरस्यते। काऽसौ पशुबुद्धिः? या अन्य एषः अन्योऽहम् इत्येवंरूपा सर्वशरीरेषु ज्ञानैकाकारतया परमात्मशरीरतया चावस्थितानात्मनो विस्मरतां स्वः पर इत्येवंरूपा[3] भेदगता अनात्मभूतदेवासुरमनुष्यादिशरीरगता अत एवासती दुष्टा अनर्थावहा सैषा पशुबुद्धिरित्यर्थः।।१२।।

एवं स्वपरविभागहेतुभूतदेहात्मभ्रमादेः भगवन्मायाहेतुकत्वकथनेन तद्वरणात्तन्निवृत्तिकथनेन च भगवत एवाज्ञानप्रदत्वं तन्निवर्तकत्वं चोक्तम्। अथ ज्ञानप्रदातृत्वमपि तस्यैवेत्यह-**स** इति। स उक्तविध[4] एष आत्मा प्रकृतः परमात्मा स्वपरेत्यबुद्धिः, स्वः पर इति बुद्धिरहितः सर्वान्तरात्मतया सर्वत्र समत्वादित्यर्थः। दुरन्वयं पुरुषान्तरेष्वघटमानमनुक्रमणं व्यापारो यस्य तादृशो निरूप्यते अन्यैरशक्यं सर्वं सर्वशक्तिलीलया करोतीत्यर्थः। यस्य वर्त्मनि मार्गे यत्स्वरूपविमर्शने वेदवादिनो ब्रह्मादयोऽपि मुह्यन्ति स एष एव परमात्मा मम मतिं बुद्धिं भिनत्तीत्यर्थः[5]। स्वपरेत्यबुद्धिरित्यनेन देवासुरादिविभागमन्तरेण सर्वेषां ज्ञानप्रदत्वमुक्तम्। दुरन्वयानुक्रमण[6] इत्यनेन सर्वशक्तित्वं वैषम्यादिराहित्यञ्चोक्तम्।यद्वर्त्मनि ब्रह्मादयोऽपि मुह्यन्तीत्यनेन तत्प्रसादादेव ब्रह्मादीनामपि ज्ञानोदयः, अन्यथा केवलं तेषामपि मोह एवेत्युक्तम्। स्वपरेत्यबुद्धिभिरिति तृतीयान्तमपि[7-7] पाठान्तरम्। तत्र स्वःपर इति न विद्यते बुद्धिर्येषां तैः स्वपरविभागात्मक विवेकरहितैरित्यर्थः। तादृशैः दुरन्वयानुक्रमणोऽनितरसाधारणव्यापारो निरूप्यते, ज्ञायत इत्यर्थः। तत्प्रसादान्निवृत्तदेहात्माभिमानादिभिः, ज्ञानाज्ञानादिप्रदत्वेन परमात्मा ज्ञायते इत्यर्थः।।१३।।

एवं ज्ञानप्रदत्वमुक्तम्। अथ तस्यैव तत्प्रसादनेन स्वस्य प्रवर्तकत्वमाह-**यथेति**। आकर्षसन्निधौ

1. W अमित्रः 2. A,B,T व्रतः 3. A,B,T °क° 4. W omits उक्तविधः 5 W omits इत्यर्थः 6 A,B,T °त्यया° 7- -7 W omits

अयस्कान्तसन्निधाने[1] अयोलोहं स्वयमेव यथा भ्रमति, भ्राम्यति चञ्चलं भवतीत्यर्थः। तथा मम चेतोऽपि चक्रं[2] पाणौ यस्य तस्य हरेः सन्निधौ[2] यदृच्छया हेत्वन्तरनिरपेक्षं भिद्यते तत्प्रसादायत्ततत्सान्निध्यादेव ममैवंविधा बुद्धिवृत्तिरभूदित्यर्थः। अनेन "बुद्धिभेदः परकृतः उताहो ते स्वतोऽभवत्" (भाग. 7-5-10) इति प्रश्नस्योत्तरमुक्तं भवति।।१४।।

एवमुक्तो[3] गुरुराहेत्याहमुनिः-**एतावदिति**[3]। ब्राह्मणान् दैत्ययाजकान्प्रत्येवम् एतावदेवोक्त्वा महामतिः स प्रह्लादो विरराम तूष्णीम्बभूव ततो दीनः उपायान्तरेण तं स्ववशीकर्तुमशक्तो गुरुः तं निर्भर्त्स्य कुपितस्सन् राजसेवकमुवाचेति शेषः।।१५।।

तदेवाह-**आनीयतामिति** द्वाभ्याम्। अरे! हे राजभट! वेत्रं प्रहरणसाधनयष्टिविशेषः आनीयताम् अस्माकमयशोऽपकीर्तिं करोतीत्ययशस्कृत् तस्य, अत एव कुलस्य दैत्यकुलस्य अङ्गारवन्नाशकः तस्य दुर्बुद्धेरितः परं दमः शिक्षणोपायः चतुर्थ एव स्यात्, दण्ड एवोपायः कर्तव्यो न सामादिरित्यर्थः। "चतुर्थोऽस्योदितो दम" इति पाठे उदितः शास्त्रेषूक्तः चतुर्थो दण्डोपाय एवाऽस्य दमो दमनसाधनमित्यर्थः।।१६।।

**विज०** तुभ्यं तव यो बुद्धिविपर्यय एव बालान् वयस्यान् अतिक्रम्य कुतोऽभूदिति शेषः। बालानां बुद्धिमतिक्रम्यैष बुद्धिभेदः कुतः कस्मात् तुभ्यं रोचित इति वा।।९।।

एतदेव विवृण्वन्ति-**बुद्धिभेद** इति। अस्माकं तत्त्वमेव वक्तव्यम् त्वयेत्यतो गुरूणामिति।।१०।।

उत्तरं वक्ति-पर इति। पुंसां योऽयं परः[4] स्वात्मा? इत्यसद्ग्राहः। "एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म" (छान्दो. उ. 6-2-1) इति श्रुतेः। परमार्थवस्तुन एकत्वे प्रामाणिके सिद्धे तत्र श्रीनारायणमन्तरेण परविषयकर्तृत्वं स्वविषयकर्तृत्व मिति भेदः, स्वातन्त्र्यकल्पनालक्षणमन्यथा ज्ञानम्। एष यस्येश्वरस्येच्छया कृतः कल्पितः, सर्वकर्तृत्वात्तस्य। तस्मै भगवते महामहिम्ने नम इत्यन्वयः। तत्प्रत्यक्षमित्याह विमोहितधियामिति। दृष्टः प्रत्यक्षः। तस्मात्तादृशी बुद्धिः भवादृशैर्न कार्येति शेषः। विमोहितेत्यनेनाऽपि ईश्वरकर्तृत्वं ज्ञायते।।११।।

यन्मायामयेत्युक्तं स्पष्टं दर्शयति-स **यदेति**। स भगवान् यदा पुंसां स्वात्मपरबुद्धिजनकत्वेऽनुगतोऽनुकूलो भवति, तदा पशुबुद्धिरज्ञबुद्धिर्विभिद्यते, तत्कथमित्यत उक्तम्-अन्य इति। एष देवदत्तोऽन्यः, स्वतन्त्रोऽह

1 W °धौ 2- -2 W चक्रपाणेः सन्निधौ 3- -3 W omits 4 A,B परः स्वश्च।

मन्यः स्वतन्त्र इति किमस्याधिकरणमिति तत्राऽऽह-देहगतेति। अत एवाऽसती वृत्तिज्ञानत्वेन मोक्षानुपयोगित्वात् "अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुः" (बृह. उ. 1-4-10) इति श्रुतिप्रतीकेनानेन श्लोकेन जीवपरयो र्भेदं निषिध्य चिदैक्यं विधीयत इतीममर्थं विधाय अर्थान्तरकल्पनायां किं प्रमाणमिति इयमाशङ्का स्वातन्त्र्येणान्यसद्भावनिषेधाय। श्रुतिस्त्विवयम् "अन्योऽसावन्योऽहमिति पश्यन्नज्ञ इति स्म" (ब्रह्मतर्के) "आत्मानमन्तर्यमये दिति भेदं स्वरूपतः। आह तद्ब्रह्मणोऽधीना भिन्ना जीवाः सदैव तु।। स्वरूपसत्ताकर्तृत्वं भोगो मोक्षस्तथैव च। मुक्तस्यावस्थितिश्चैव सर्वं विष्णोर्वशे सदा।।" (ब्रह्मतर्के) इत्यनेन परिहृतेति ज्ञातव्यम्।।१२।।

ननु, यदि जीवपरौ मिथो भिन्नौ तर्हि किमिति घटपटभेदज्ञानवत्तद्विषयज्ञानं नोत्पद्यत इत्याशङ्क्य प्रतियोगिज्ञानस्य दुस्साध्यत्वादित्यभिप्रेत्याह-**स एष** इति। यः स्वस्व कर्मानुसारेण स्वस्वयोग्यज्ञानमुत्पादयति स एष आत्मा परमात्मा स्वपरेत्यबुद्धिभिः यथार्थज्ञानविरोधिज्ञानवद्भिः पुरुषैर्दुरन्वयानुक्रमणः दुरन्वयं दुर्ज्ञानमनुक्रमणं तत्तद्योग्यतानुसारेण प्रवर्तनं यस्य स तथा, दुर्ज्ञेयचेष्ट इत्यर्थः। निरुच्यते निश्चीयते। ननु "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णम्" (पु.सू. 2-1) इति श्रुतेः। ब्रह्मादेस्तद्विषयज्ञानश्रवणात् कथं प्रतियोगिज्ञानस्य दुस्साध्यत्वमित्यत आह-मुह्यन्तीति। ब्रह्मादीनां भगवद्विषयज्ञानं दुस्साध्यं, किन्त्वितरेषामित्यतो वाह-मुह्यन्तीति। हिशब्दः अप्यर्थे हेतौ वा। वेदवादे कोविदाः ब्रह्मादयोऽपि यद्वर्त्मनि यत्र स्वरूपविषये मुह्यन्ति यस्मात्तस्मात्स एष दुरन्वयानुक्रमण इति निरुच्यते। अनेन हरेरनुग्रहमन्तरेण तद्विषयज्ञानं नोत्पद्यते। तस्मिन् सति तत्स्यात्। "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" (कठ.उ. 2-22) इति श्रुतेः। अन्वयव्यतिरेकौ दर्शितावित्युक्तं भवति। ननु, त्वदुक्त्यैव त्वद्बुद्धिभेदजनकः कश्चित्स्यात् स क इति विचार्यत इति तत्राह एष इति। मुह्यन्ति इत्येतदत्राऽप्यनुकूल्यते। यद्वर्त्मनि मुह्यन्त्येष हरिः मम गतिं भिनत्ति विषयीकरोति सर्वस्य स्ववशत्वं स्वस्य अनन्याधीनत्वं स्वप्रसादान्मोक्षादिस-कलपुरुषार्थप्राप्तिरित्यादिबुद्धिं जनयतीति भावः। तदुक्तम्-"आह तद्ब्रह्मणोऽधीना भिन्ना जीवास्सदैव तु" (ब्रह्मतर्के) इति।।१३।।

एतदर्थं सदृष्टान्तमाह-**यथेति**। यथाऽऽकर्षस्य अयस्कान्तस्य सन्निधौ सति अयः स्वयं भ्राम्यति, स्वात्मानमुद्दिश्य गमनशक्तिं करोति, तदिति शेषः। तथा मे चेतो यदृच्छया तदिच्छया चक्रपाणौ भिद्यते तद्विषयीकरणशक्तीक्रियते। अयोगमनशक्तिवत् चेतनस्याऽपि नैसर्गिकीति भावः। एतेन सर्वं हर्यधीनमित्युक्तं

भवति। "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! प्राच्योन्या नद्यः स्यन्दन्ते, य आत्मानमन्तर्यमयेत्" (बृह. उ. 3-8-9) इति भेदस्वरूप आहेत्यदि श्रुतिस्मृतिभ्याम्। विशेषेण चराचरस्य सर्वस्य श्रीहर्यधीनप्रवृत्त्यवगमात्। पश्यन्नज्ञ इत्यनेन पशुबुद्धि स्वबुद्धिभिरित्येतत्पदद्वयाभिप्रायो दर्शितः।।१४।।

सुदीनः वाचां शिक्षायां क्षीणोऽशक्त इत्यर्थः। राजसेवक इत्यनेन भेदज्ञानासामर्थ्यं च सूचितम्। उभयो रपि वित्तसाध्यत्वात्।।१५।।

अयशस्कृतो दुष्कीर्तिकरस्याऽस्य चतुर्थो दमो दण्डसंज्ञ इति उदित इत्यर्थः।।१६।।

**दैतेयचन्दनवने जातोऽयं कण्टकद्रुमः।**
**[1]यन्मूलोन्मूल परशोर्विष्णोर्नालायितोऽर्भकः।।१७।।**

**इति तं विविधोपायैः भीषयंस्तर्जनादिभिः।**
**प्रह्लादं ग्राहयामास त्रिवर्गस्योपपादनम्।।१८।।**

**तत [2]एनं गुरुर्ज्ञात्वा [3]ज्ञातज्ञेयचतुष्टयम्।**
**दैत्येन्द्रं दर्शयामास मातृमृष्टमलङ्कृतम्।।१९।।**

**पादयोः पतितं बालं प्रतिनन्द्याऽऽशिषाऽसुरः।**
**परिष्वज्य चिरं दोर्भ्यां [4]परमां प्राप निर्वृतिम्।।२०।।**

**आरोप्याऽङ्कमवघ्राय मूर्धन्यश्रुकलाम्बुभिः।**
**आसिञ्चन्विकसद्वक्त्रमिदमाह युधिष्ठिर!।।२१।।**

**[5]हिरण्यकशिपु रुवाच[-5]**

**[6]प्रह्लादानूच्यतां तात स्वधीतं किञ्चिदुत्तमम्।**
**कालेनैतावताऽऽयुष्मन् यदशिक्षद्गुरोर्भवान्।।२२।।**

**श्रीध०** तत्कुतस्तत्राऽह - **दैतेयेति**। दैतेया एव चन्दनद्रुमाः तेषां वनेऽयं कण्टकद्रुमतुल्यो जातः।

1. M,Ma त° 2. H,V एवं 3. H,V ज्ञातोपाय4 A,B,G,J,M,Ma,T °मामाप 5- -5 M,Ma omit 6. M,Ma °द उच्य°

तदेवाह-यस्य दैतेयचन्दनवनस्य मूलोन्मूलने परशुस्थानीयस्य विष्णोरयमर्भक एव नालायितो नाल मिवाऽऽचरत्। यथा परशोश्छेदकत्वे बब्बूलादिद्रुमनिर्मितो दण्डः सहकारी। तं[1] विना छेदनासम्भवात्। तथाऽयं विष्णोः दैत्यमूलोच्छेदे हेतुर्जात इत्यर्थः।।१७।।

**इतीति।** इति तं प्रह्लादं भीषयन् धर्मार्थकामवर्गस्य प्रतिपादकं शास्त्रमध्यापयामास।।१८।।

**तत** इति। ज्ञातं ज्ञेयमुपायानां चतुष्टयं सामदानादि येन तं दैत्येन्द्रं प्रति, मात्रामृष्टमुद्वर्त्य स्नापितम्। अलङ्कुतं[2] भूषणतिलकादिभिः[2]।।१९-२२।।

**वीर०** कुलनाशकत्वं व्यनक्ति-दैतेया एव चन्दनद्रुमाः, तेषां वनेऽयं कण्टकद्रुमतुल्यो जातः, तन्मूलेऽपि एषां दैतेयचन्दनवनानां यानि मूलानि, तेषामुन्मूलने छेदने परशोः परशुस्थानीयस्य विष्णोः अयमर्भको नालायितः नालवदाचरितवान्। यथा परशोश्छेदकत्वे कर्बुरादिद्रुमनिर्मितो[3] दण्डः सहकारी, तं विना छेदनासम्भवात्। तथा अयं विष्णोः दैत्यमूलस्य छेत्तुः सहकारी जात इत्यर्थः।।१७।।

इति इत्थं वदन् तर्जनादिभिः नानोपायैः भीषयन् प्रह्लादं तं त्रिवर्गस्योपपादनं धर्मार्थकामप्रतिपादकं शास्त्रं ग्राहयामास।।१८।।

ततो गुरुरेनं प्रह्लादं ज्ञातं ज्ञेयानामुपायानां सामादीनां चतुष्टयं यस्य तादृशं ज्ञात्वा आलक्ष्य मात्रा मृष्टं उद्वर्त्य स्नापितं अलङ्कृतञ्च प्रह्लादं दैत्येन्द्रं प्रति दर्शयामास पितृसन्निधिं प्रापयामासेत्यर्थः।।१९।।

ततः पादयोः प्रणमन्तं नमस्कुर्वन्तं बालं[4] आशिषा आशीःपूर्वकं प्रतिनन्द्य असुरो हिरण्यकशिपुः दोर्भ्यां भुजाभ्यां (पुत्रस्य शिरः) परिष्वज्य परमां निर्वृतिं आनन्दं प्राप्तवान्।।२०।।

हे युधिष्ठिर! उत्सङ्गे निधाय मूर्धन्युपाघ्राय च अश्रुकलाम्बुभिः[5] हर्षाश्रुजलबिन्दुभिः आसिञ्चन् विकसद्वदनं[6] यस्य तादृशो दैत्यः[7-] सुतं प्रति[-7] इत्थं[8] वक्ष्यमाणमाह।।२१।।

तदेवाऽऽह **प्रह्लादेति**। हे आयुष्मन्! तात![9-] पुत्र![-9] प्रह्लाद! भवानेतावता कालेन गुरोस्सकाशाद्य दुपाशिक्षत् अधीतवान्[10] इत्यर्थः। तन्मध्ये किञ्चिदुत्तमं स्वधीतं सम्यगावृत्त्या गृहीतं तत् हे तात! प्रह्लाद!

1. H,V तेन 2- -2 H,V omit 3. A,T ब° 4. W omits बालम् 5. W °णा° 6. W °द्वक्त्रं 7- -7 W omits 8 W इदं 9- -9 W omits

10. A,B,T omit इत्यर्थः

अनूच्यतां सम्यगनुक्रमेण[1] पठ्यताम्।।२२।।

**विज॰** उन्मूलयतीत्युन्मूलः स चाऽसौ परशुश्च उन्मूलपरशुः तत् स्वदैतेयचन्दनवनस्य मूलं तन्मूलपरशुः, तस्य नालायितः मण्डपवत्तन्वानः।।१७।।

त्रिवर्गस्योपपादनं शास्त्रम्।।१८।।

ज्ञातं ज्ञेयानां धर्मादिपुरुषार्थानां चतुष्टयं येन स तथा तं ज्ञातज्ञेयसाधन चतुष्टयं वा मातृमृष्टं शरीरमलत्यागेन स्नानं कारितम्।।१९-२१।।

सुष्ठु अधीतं पठितम्।।२२।।

**प्रह्लाद उवाच**

**श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।**
**अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।२३।।**

**इति पुंसाऽर्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नव लक्षणा।**
**क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीत मुत्तमम्।।२४।।**

**नारद उवाच**[2]

**निशम्यैतत्सुतवचो हिरण्यकशिपुस्तदा।**
**गुरुपुत्रमुवाचेदं रुषा प्रस्फुरिताधरः।।२५।।**

**हिरण्यकशिपुरुवाच**[3]

**ब्रह्मबन्धो किमेतत्ते विपक्षं श्रयताऽसता।**
**असारं ग्राहितो बालो मा मनादृत्य दुर्मते।।२६।।**

**श्रीध॰ श्रवण** मिति। पादसेवनं परिचर्या, अर्चनं पूजा, दास्यं कर्मार्पणं, सख्यं तद्विश्वासादि, आत्मनिवेदनं

---

1 W omits अनुक्रमेण 2- -2 A,B,G,J,T omit 3- -3 A,B,G,J,T omit

स्वशरीरसमर्पणम्, यथा विक्रीतस्य गवाश्वादेर्भरणपालनादिचिन्ता न क्रियते तथा देहं तस्मै समर्प्य तच्चिन्तावर्जनमित्यर्थः।।२३।।

**इतीति।** इति नव लक्षणानि यस्याः सा अधीतेन चेद्भगवति विष्णौ भक्तिः क्रियेत सा चार्पितेव सती यदि क्रियते न तु कृतासती पश्चादर्प्येत तदुत्तममधीतं मन्ये, नत्वस्मादुरोरधीतं शिक्षितं वा तथाविधं किञ्चिदस्तीति भावः।।२४,२५।।

**ब्रह्मेति।** न विद्यते सारं यत्र तदसारम्। न विद्यते सारं यस्मादिति वास्तवोऽर्थः।।२६।।

**वीर॰** यदुत्तममधीतमध्ये किञ्चिदनूच्यतामिति तत्राऽऽह **श्रवणमिति।** यदुक्तं पूर्वं "वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत" इति तदेकाश्रयणं विवृणोति-श्रवणमिति द्वाभ्याम्। पुंसां श्रवणादीनि नव लक्षणानि यस्याः सा भक्तिश्चेन्नवलक्षणा भक्तिप्रतिपादकशास्त्रमधीतञ्चेत् तदेव स्वधीतमुत्तमं मन्ये, न त्वधुना गुरोः सकाशादधीतं; तत्तु गुरुभिर्नाध्यापितमिति भावः। स्वधीत प्रश्नोत्तरनिगमनमुत्तममधीतमिति। श्रवणमित्यादि तु पूर्वोक्ताश्रयणविवरणपरम्। भगवत्यद्धा क्रियते चेत् अधीतविद्या प्रतिपाद्या नवलक्षणा भक्तिः निष्कपटभावेन भगवति क्रियत इति यत्कृताऽपि सा भक्तिर्विष्णावर्पितेति यच्च तदेतदुत्तमं मन्ये। न केवलं नवलक्षणा भक्तिप्रतिपादक शास्त्राऽध्ययनमात्रमेवोत्तमं, अपि तु तदर्थानुष्ठानं, अनुष्ठितस्येश्वरे समर्पणञ्चेत्यत्युत्तमं मन्ये, केवलाध्ययनमात्रस्य व्यर्थत्वादितिभावः। अर्पिता विष्णावित्यनेन भक्तेरनन्यप्रयोजनत्वेन कर्तव्यतोक्ता। तत्र विष्णोःश्रवणं तत्स्वरूपरूपगुण विभूतिश्रवणं, कीर्तनं नामोच्चारणाद्यात्मकम्, स्मरणं स्वरूपादिविषयकमेव। पादसेवनार्चन वन्दन दास्यसख्यानि तु तदीयपर्यन्तानि। वन्दनं नमस्कारः, पादसेवनं पादयोः संवाहनं, तच्च अर्चाविग्रहतदीयपादयोर्ज्ञेति वेदितव्यम्। परव्यूहविभवादेरतीन्द्रियत्वेन तत्पादसेवनासम्भवात्। यद्वा भगवद्विषये मानसिकं तदीयविषये तु कायिकं विवक्षितम्। आत्मनिवेदनम् "ओमित्यात्मानं युञ्जीत" (म.ना.उ. 17-15) इति श्रुत्युक्तरीत्या तच्छेषत्वानुसन्धानम्। यद्यपि भक्तिर्नाम ध्यानोपासनादि शब्दवाच्याऽहरहरभ्यासाधेयातिशया आप्रयाणादनुवर्तमाना विवेकादि साधनसप्तकानुगृहीता तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तानात्मिका प्रीत्यात्मिका प्रत्यक्षतापन्ना ध्रुवाऽनुस्मृतिः न तु श्रवणादिरूपेण नवलक्षणा, तथाऽपि उक्तविधया भक्तेरेव कर्मज्ञानयोगादिवच्छमदमादिवच्च श्रवणादीन्यर्प्यावलम्बेन निवर्तकान्युच्यन्ते। यद्वा, नवलक्षणा लक्ष्यते एभिरिति लक्षणानि चिह्नानि ज्ञापकानि भक्तियोगपरिपाकावस्था

1 H देह 2- -2 H,V omit 3. W °त्य° 4 W पीडना

ज्ञापकानीति यावत्। उक्तविधभक्तियोगनिष्ठेन रागत एव श्रवणादीनि क्रियन्ते। लोकेऽपि हि यद्वस्तुविषया प्रीतिस्तद्विषयकश्रवणादीनि स्वत एव प्राप्तानीति न तत्र यत्नेन भवितव्यम्। अतः श्रवणादीनि प्रीत्यात्मक-भक्तियोगकारितावस्थाविशेषरूपाणि तन्निष्पत्तिसूचकानि इति तात्पर्यम्। एवं प्रीतिकारितश्रवणादि पर्यन्तभक्तियोगानुष्ठानमेव "वनङ्गतो यद्धरिमाश्रयेत" (भाग. 7-5-5) इत्युक्तमाश्रयणमित्युक्तं भवति।।२३,२४।।

एतदेवंविधं सुतस्य वचो निशम्याकर्ण्य तदा हिरण्यकशिपुः रुषा प्रस्फुरितः कम्पमानः अधरोष्ठो यस्य तादृश इदं वक्ष्यमाणं गुरुपुत्रं प्रत्युवाच।।२५।।

तदेवाऽऽह- हे ब्रह्मबन्धो! ब्राह्मणाभास! किमेतत्ते त्वया, कृतमिति शेषः। अतीवानुचितमेतत्कृत मित्यर्थः। किं तत्? यन्मामनादृत्य विपक्षं शत्रुपक्षमाश्रयता, अत एव असता मह्यमहितकारिणा त्वया हे दुर्मते! असारं ग्राहितो बाल इति एतत्।।२६।।

**विज०** नियन्तृत्वेनाऽऽत्मनि मयि स्थितो भगवानिति नितरां वेदनं ज्ञानं[1] आत्मनिवेदनम्। "मुक्तस्याऽपि ममान्तस्थो नियन्तैव हरिस्सदा। इति ज्ञानं समुद्दिष्टं सम्यगात्मनिवेदनम्।।" (ब्रह्मतर्के) इत्येतदात्मसमर्पणं नाऽर्थः, किन्तूक्त एवाऽर्थः इत्युक्तप्रकारेण श्रवणादिभिः नवभिः[2] लक्ष्यते असम्भव- व्यभिचारपरिहारेण ज्ञायत इति।।२३।।

नवलक्षणा विष्णौ भक्तिर्यस्मिन् शास्त्रेऽर्पिता प्रतिपादिता। पुंसा सा भगवत्युत्तमश्लोके अद्धा निर्व्याजेन क्रियते चेद्यदि तर्हि तदधीतं शास्त्रमुत्तमं मन्ये नाऽन्यदित्यन्वयः। नव श्रवणादीनि लक्षणानि चिह्नानि यस्यां सा तथा।।२४,२५।।

ते त्वया।।२६।।

**सन्ति ह्यसाधवो लोके दुर्मैत्राश्छद्मवेषिणः।**
**तेषामुदेत्यघं काले रोगः पातकिनामिव।।२७।।**

**गुरुपुत्र उवाच**

**न मत्प्रणीतं न परप्रणीतं सुतो वदत्येष तवेन्द्रशत्रो!**
**नैसर्गिकीयं मतिरस्य राजन् नियच्छ मन्युं कदाः[3] स्म मा नः।।२८।।**

1. A,B omit ज्ञानं 2. A,B omit नवभिः 3- -3 M,Ma क तदात्म °

**नारद उवाच**

**गुरुणैवं प्रतिप्रोक्तो भूय एवाऽसुरः सुतम्।**
**न चेद्गुरुमुखीयं ते कुतो भद्राऽसती मतिः।।२९।।**

**प्रह्लाद उवाच**

**मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो[1] वा मिथो[2]ऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।**
**अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्।।३०।।**

**न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुं दुराशया ये बहिरर्थमानिनः[3]।**
**अन्धा यथान्धैरुपनीयमाना वाचीशतन्त्यामुरुदाम्नि बद्धाः।।३१।।**

**नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।**
**महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्।।३२।।**

**श्रीध०** मित्रत्वेन प्रवर्तमानस्याऽपि[4] तव विरोधाचरणं नाऽसम्भावितमित्याह-**सन्ति हीति**। दुष्टं मैत्रं मित्रत्वं येषां ते दुर्मैत्राः[5]। रोग इवेति। "ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात् सुरापः श्यावदन्तकः। स्वर्णहारी तु कुनखी दुश्चर्मा गुरुतल्पगः" (याज्ञ.स्मृ. 3-209) इत्यादिस्मृत्युक्तपातकिनां काले[6-] नरकभोगानन्तरं[-6] रोगो यथोदेति, तथा तेषां दुर्जनानां सुजनत्वेन[7-] वर्तमानानामपि[-7] अघं विद्वेषादिकमुदेतीत्यर्थः।।२७।।

**नेति।।** मत्प्रणीतं मया[8] पाठितम्। नोऽस्मभ्यं, कत् कुत्सितं दोषं मास्मदाः। अडागम आर्षः। मा[9]य दोषारोपणं मा कृथा इत्यर्थः। इन्द्रशत्रो इत्यनेन न हि ब्राह्मणेषु तव कोप उचित इति भावः।।२८।।

**गुरुणेति।** गुरुमुखी गुरुवाक्यजनिता, हे अभद्र!।।२९।।

आस्तामियं वार्ता भवादृशानां विषयासक्तानां अत्रानधिकारादित्याशयेनाऽऽह **मतिरिति**। परतो गुरोः, स्वतो वा, मिथो वा ऽन्योन्यतो वा नाऽभिपद्येत न सम्पद्येत। केषाम्? [10-]गृहव्रतानां[-10] गृह एव व्रतं सङ्कल्प इति

---

1. M,Ma °तोऽपि 2. M,Ma थो विपद्येत 3. M,Ma भावाः। 4. H,V omit प्र 5 H,V omit दुर्मैत्राः 6- -6 H,V omit 7- -7 omit 8 H,V °याऽऽ पादितम्।° 9 A,B,J omit अनेन 10- -10 H,V omit

कृत्यचिन्ता येषाम्। अत एव अदान्तैरनुपस्तैर्गोभिरिन्द्रियैर्हेतुभूतैस्तामिस्रं संसारं विशताम्। तत्र चर्वितस्यैव चर्वणं येषाम्।।३०।।

ननु श्रीकृष्णस्य परमानन्दस्वरूपत्वात्तेऽपि तन्निष्ठा एव किं न स्युरिति चेत्तदज्ञानादित्याह-**नेति**। ये दुराशयाः विषयवासितान्तःकरणास्ते हि विष्णुं न विदुः। अत्र हेतुः-स्वस्मिन्नेवाऽर्थः पुरुषार्थो येषां तेषां गतिं गम्यम्[1]। ननु तेऽपि गुरूपदेशाद्विष्णुं ज्ञास्यन्ति, तत्राऽऽह बहिर्विषयेष्वर्थो येषां ते बहिरर्थाः, तानेव गुरुत्वेन मन्तुं शीलं येषां ते; अतोऽन्धैरुपनीयमाना अन्धा यथा पन्थानं न विदुः, किन्तु गर्ते पतन्ति, तथा तेऽपीशस्य तन्त्यां दीर्घरज्ज्वां वेदलक्षणायां उरूणि दामानि ब्राह्मणादिनामानि यस्यां तस्यां काम्यैः कर्मभिर्बद्धा एव[2] भवन्तीत्यर्थः। तदुक्तम्-"विषयाविष्टचित्तानां विष्णवावेशस्सुदूरतः। वारुणी दिग्गतं वस्तु व्रजन्नैन्द्रीं किमाप्नुयात्" इति।।३१।।

ननु च "एको देवः सर्वभूतेषु गूढस्सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" (श्वेता. उ. 6-11) इत्यादिश्रुतिपादितं विष्णुं कथं न विदुः, कुतो वा तेषां तमिस्र[3]प्रवेशस्तत्राऽऽह-**नैषामिति**। निष्किञ्चनानां निरस्तविषयाभिमानानां महत्तमानां पादरजसाऽभिषेकं यावन्न वृणीत तावच्छ्रुतिवाक्यतो जाताप्येषां मतिः उरुक्रमस्याङ्घ्रिं न स्पृशति न प्राप्नोति, असम्भावनादिभिर्विहन्यत इत्यर्थः। अनर्थस्य संसारस्यापगमो यदर्थो यस्या अङ्घ्रिस्पर्शिन्या मतेरर्थः प्रयोजनम् महदनुग्रहाभावान्न तत्त्वनिश्चयो, नाऽपि मोक्षस्तेषामित्यर्थः।।३२।।

**वीर०** मित्रत्वेन वर्तमानस्यापि तव विरोधाचरणं नासम्भावितमित्याह-**सन्तीति**। दुष्टं मैत्रं मित्रत्वं येषां ते, अत एव असाधवः छद्मवेषिणः कपटवेषधारिणो भवादृशा अपि हि लोके सन्ति तेषामयं द्रोहः काले उचित काले प्रकटो भवति रोगः पातकिनामिव। यथा -" ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात् सुरापी श्यावदन्तकः। स्वर्णहारी तु कुनखी दुश्चर्मा गुरुतल्पगः" (याज्ञ स्मृ. 3-209) इति स्मृत्युक्तः पातकिनां रोगः उचितकाले उदेति तथा तेषामघं द्रोहादिकमुचितकाले उदेतीत्यर्थः।।२७।।

एवमुपालब्धः आह गुरुपुत्रः - **नेति**। न मया पाठितं, नाऽपि परेण। किन्तु केवलमेष तव पुत्र एव वदत्येवम्। हे इन्द्रशत्रो! तव ब्राह्मणेष्वाग्रहोऽनुचितोऽ विषयत्वादिति भावः। ननु न परप्रणीतश्चेत्कुतोऽस्याभूदियं मतिः? तत्राऽऽह नैसर्गिकीति। हे राजन्! अस्य त्वत्पुत्रस्य इयं मतिः नैसर्गिकी स्वाभाविकी; न तु परैरुत्पादिता। अतो मन्युं क्रोधं नियच्छ उपसंहार। नोऽस्मभ्यं कत् कुत्सितं दुःखमित्यर्थः, मास्मदाः न देही

1 B शम्यतां 2 H,V एवं 3 H,V तमः प्र°

त्यर्थः, माङ्योगेऽप्यडार्षः। कदनात्मनां नः इति पाठान्तरम्। तत्र कदनात्मनां दीनात्मनां न मन्युं मद्विषयं क्रोधं नियच्छेत्यर्थः।।२८।।

इत्थं गुरुणा प्रत्युक्तो दैत्यः सुतं प्रह्लादमाहेत्याह नारदः[1]-[2]**गुरुणेति**। तदेवाऽऽह-न चेदिति। हे अभद्र! इयं बुद्धिः गुरुमुखी गुरूपदेशजा[3] न चेत् तव कुतो हेतोस्तवाऽसती दुष्टा मतिरभूत्।।२९।।

एवमुक्त आह प्रह्लादः - **मतिरिति**। यत्पृष्टं कुतस्तवेयं मतिरिति, तत्र महतामनुग्रह एवेदृशी मतिहेतुरिति वक्तुं तावन्महद्भिरननुगृहीतानां भवादृशानामीदृशी[4] मतिर्दुर्लभेत्याह-मतिरिति। गार्हस्थ्यरतानां स्वतः परतो वा मिथोऽन्योन्यस्माद्वा कृष्णे मतिः भक्त्यात्मिका नाऽभिपद्येत न[5] सम्पद्येत[5]। तत्र हेतुं वदन् गृहव्रतान्विशिनष्टि-अदान्तगोभिः अदान्तैरजितैर्गोभिरिन्द्रियैर्हेतुभिस्तमिस्रं निरयरूपं संसारं पुनः पुनर्विशतां चर्वितमनुभुक्तं तस्यैव पुनःश्चर्वणमुपभोगो येषां, पूर्वपूर्वैर्भुक्तमेव विषयं भुञ्जानानां पूर्वेद्युर्भुक्तानेव वनितादीन् विषयान् पुनः अपरेद्युर्भुञ्जानानामिति वा। एवं विषयासक्तचित्तनां त्वादृशां कृष्णे मतिर्दुर्लभा इत्युक्तम्, यद्वा, चर्वितचर्वणाः पशवः तत्तुल्यानामिति[6]-[6]।।३०।।

माऽस्तु कृष्णे मतिः, स्वश्रेयोऽपि न स्वयं जानन्तीत्याह-**नेति**। स्वार्थश्च गतिश्च स्वार्थगतिः, तं स्वस्य पुरुषार्थभूतं तदुपायभूतञ्च विष्णुं ते गृहव्रता न विदुः। तत्र हेतुं वदन् तान् विशिनष्टि-बहिरर्थमानिनः बहिः शब्दादिविषयेषु अर्थमानिनः पुरुषार्थाभिमानिनः, अतस्ते अन्धैरुपनीयमाना अन्धा यथा पन्थानं न विदुः, किन्तु श्वभ्रे पतन्ति तथा तेऽपि ईशस्य[7] तन्त्यां वेदलक्षणायां स्थूलरज्ज्वामुरुदाम्नि वर्णाश्रमधर्मादिरूपनानाविधकण्ठसूत्रे बद्धा भवन्ति वेदोक्तकेवल काम्यकर्मण्यासक्तैः प्रलोभिता स्तत्रैवासक्ताः पुनः पुन स्संसरन्तो दुःखमेव प्राप्नुवन्ति न तु निरतिशयानन्दरूप परमपुरुषार्थलक्षणं[8] भगवन्तं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः!।।३१।।

तदेव व्यनक्ति **नैषामिति**। एषामुक्तविधानां विषयासक्तचित्तानां मतिर्बुद्धिः उरुक्रमस्य निरतिशयमहिमशालिनो भगवतो निरतिशयपुरुषार्थरूपमङ्घ्रिं न स्पृशति न विषयीकरोति तदङ्घ्रिस्पर्शनं विशिनष्टि-यदर्थं यस्योरुक्रमाङ्घ्रिस्पर्शनस्य अर्थः प्रयोजनं फलमनर्थापगमः दुःखनिरासरूपः कियत्पर्यन्तं न स्पृशति, तत्राऽऽह यावन्निष्किञ्चनानामनन्यप्रयोजनानां महीयसां महाभागवतानां पादरजस्सेवां न वृणीत न वृणुयात् महत्सेवां न कुर्यात् तावन्न स्पृशतीत्यर्थः। मम मातृगर्भावस्थानदशायामेव महीयसः श्रीनारदस्याऽनुग्रहादियं बुद्धिरुरुक्रमाङ्घ्रिविषयाभूदिति गूढोऽभिप्रायः।।३२।।

---

1 A,B,T omit प्रह्लादं 2 A,B,T देवर्षिः 3 A,B,T जाता 4 W °शमी° 5- -5 A,B,T omit 6- -6 W omits 7 W ईश्वरस्य 8 A,B,T omit परम

**विज०** साधुत्वेन वृत्तस्य गुरोर्दुर्मते इति सम्बोध्य निन्दनं कथं घटते? इति तत्राऽऽह - **सन्तीति**। "गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः। उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम्" (रामा. 2-21-13) इति वाक्यं हिशब्देन स्मारयति। पातकिनां पापफलत्वेन रोग उदेति यथा, तथा तेषामघमपराधलक्षणं व्यसनं, प्रकाशत इत्यन्वयः।।२७।।

लोके सन्त्वसाधवः, नाऽहं तादृशः, यतस्त्वत्पुत्रो न मया रचितं नापि परेण पठत्यत इत्याह - **न मदिति**। तर्हि कस्मादियं मतिरभूदिति तत्राऽऽह-नैसर्गिकीति। तदा तस्मिन् पक्षे ममाऽऽत्मनः स्वरूपाभिमानो मया ग्राहितेयं मतिरिति। तस्मात् कोपं संहरेति।।२८।।

पुत्राय क्रुध्यन्नाह-गुरुणेति। **गुरुमुखी** गुरुमुखादुत्पन्नेयं मतिः।।२९।।

सत्येव मन्मतिः, त्वन्मति रेवाऽसतीति पितरं कटाक्षीकृत्य परिहरति **मतिरिति**। परतो गुर्वादिबोधनप्रयत्नेन स्वतः स्वप्रयत्नेन। तत्र निमित्तमाह-गृहेति। वनादि निवासमन्तरेण गृह एवावस्थानलक्षणं व्रतं येषां ते तथा तेषाम्। ननु "कुटुम्बी शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानः" इति श्रुतेर्गृहस्थानामपि श्रेयः प्राप्युपपत्तेरिति तत्राऽऽह-अदान्तेति। अदान्तानामिन्द्रियनिग्रहरहितानां पुरुषाणां गोभिर्वाग्भिः तमिस्रं नरकमुखकल्पं विषयसुखं विशतां भुञ्जानानां तत्राऽपि नूतनापूर्वभोगो नाऽस्तीत्यभिप्रेत्याह-पुनरिति। पुनः पुनर्भुक्तविषयानेव भुञ्जानानामित्यर्थः। अदान्तगोभिरशिक्षिताभिर्वाग्भिर्वेदगताभिस्तमिस्रं मतत्त्वार्थविषयमज्ञानम् अन्यथाज्ञानञ्च विशतां गाहमानानां न तत्राऽपि यत्नोऽस्तीत्याह-पुनरिति वा।।३०।।

एतदेव स्पष्टमाह **न त** इति। दुष्टेषु प्रतीतिसुन्दरेषु परिणामविषयेषु आशयो येषां ते तथा। तत्र हेतुमाह बहिरिति। बहिरर्थेषु मुखतः प्रतीयमानार्थेष्वेव भावस्तात्पर्यार्थनिश्चयो येषां ते तथा श्रुततात्पर्यार्थानभिज्ञा इत्यर्थः। एते स्वार्थगतिं पुरुषार्थस्वरूपं स्वभक्तप्रयोजनसाधकं वा कृष्णं न विदुरित्यन्वयः। अत्र कारणमाह-वाचीति। ईशतन्त्यामीशस्य वेदवाक्यलक्षणतन्त्यां ब्राह्मणादिबहुनामाख्यलक्षणनाम दाम्नि बध्दाः। अत्रोदाहरणमाह-अन्धा इति। अन्धैरज्ञैरुपनीयमाना उपदिश्यमानकर्ममार्गाः अन्धाः अज्ञाः उपदिष्टान्यमार्गं यथा न विदु स्तथेति। अनेन "अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः" (कठ. उ. 2-5) इति स्मृतिं स्मारयन्ति।।३१।।

नन्वेवं तर्हि गृहव्रतानां मुक्त्युपायः कः? इत्याह - **नैषामिति**। यावदेषां गृहव्रतानां मतिर्महीयसां निष्किञ्चनानां सन्नासिनां पादरजोभिषेकं न वृणीत तावन्तं कालमुरुक्रमस्याऽङ्घ्रिं न स्पृशति न विषयी करोति। उरुक्रमस्य

अङ्घ्रिस्पर्शस्य कि फलम्? अत्राऽऽह-अनर्थेति। यस्य हररङ्घ्रिस्पर्शोऽन्य फलमनर्थापगम ससारार्नवृत्ति । अथवा-अनर्थापगमो यस्मात्पादरजोऽभिषेकादुत्थित प्रकाशिता भवति, तम।।३२।।

**नारद उवाच**[1]

**इत्युक्त्वोपरतं पुत्रं हिरण्यकशिपू रुषा।**
**अन्धीकृतात्मा स्वोत्सङ्गान्निरस्यत महीतले।।३३।।**

**आहाऽमर्षरुषाऽऽविष्टः कषायीभूतलोचनः।**
**वध्यतामाश्वयं वध्यो निस्सारयत नैऋताः।।३४।।**

**अयं मे भ्रातृहा नूनं हित्वा स्वान् सुहृदोऽधमः।**
**पितृव्यहन्तु र्यः पादौ विष्णोर्दासवदर्चति।।३५।।**

**विष्णोर्वा साध्वसौ कि नु करिष्यत्यसमञ्जसः।**
**सौहृदं दुस्त्यजं पित्रो रहाद्यः पञ्चहायनः।।३६।।**

**परोऽप्यपत्यं हितकृद्यथौषधं स्वदेहजोऽप्यामयवत्सुतोऽहितः।**
**छिन्द्यात्तदङ्गं यदुताऽऽत्मनोऽहित शेष सुखं जीवति यद्विवर्जनात्।।३७।।**

**सर्वेरुपायै र्हन्तव्यः सम्भोजशयनासनैः।**
**सुहृल्लिङ्गधरश्शत्रु र्मुनेर्दुष्ट मिवेन्द्रियम्।।३८।।**

**नैऋता स्ते समादिष्टा भर्त्रा वै शूलपाणयः।**
**तिग्मदंष्ट्राकरालास्या ताम्रश्मश्रु शिरोरुहाः।।३९।।**

**नदन्तो भैरवान्नादांश्छिन्धि भिन्धीति वादिनः।**
**आसीनञ्चाऽहनन् शूलैः प्रह्लादं सर्वमर्मसु।।४०।।**

---

1 1 A B G H J T V W omit 2 M Ma कृत 3 A B G J T साऽय M Ma शाच्या 4 H V °रजहात्, M Ma रत्यजत प° 5 M Ma °प्यवश्य 6 M Ma °स ° 7 M Ma °गा° W °ज्य° 8 8 H V W °स्त्वयमादिष्टा M Ma °स्ते समुद्दिष्टा 9 H V W त 10 A B G J T दष्ट्र° 11 M Ma °वनाद 12 H V W °नमह° 13 M Ma व°

**श्रीध॰ इतीति**। निरस्यत, निरास्यत् चिक्षेपेत्यर्थः।। निरस्येति ल्यबन्तपाठे तु उत्तरेणान्वयः।।३३।।

**आहेति**। अमर्षोऽसहनं, तेन सहितया रुषाऽऽविष्टो व्याप्तः कषायीभूते आताम्रे लोचने यस्य। हे नैऋताः! राक्षसाः!।।३४।।

वध्यत्वे हेतुः **अयमिति**। यतोऽयं मे भ्रातृहा। कुतः? यो विष्णोः पादौ दासवदर्चति, तत्पक्षपातीत्यर्थः। अतः स एवाऽयमित्यन्वयः।।३५।।

अहो! विष्णुरप्यविश्वसनीयं किमिति स्वीकृतवानित्याऽऽह-**विष्णोर्वेति**। अहात् जहौ।।३६।।

ननु तवाऽयमपत्यं कथं वध्यः, तत्राऽऽह-**पर** ईति। परोऽप्यौषधमिव हितकृच्चेत् तह्यपत्यमेव ज्ञेयम्। स्वदेहजोऽपि अहितश्चेदामय इव त्याज्यः। आस्तां ममतास्पदस्य कथं वधः? तत्राऽऽह-स्वयं ममतास्पदं अङ्गमपि च यत्करचरणादि तदप्यात्मनोऽहितञ्चेत् छिन्द्यादेवेत्यर्थः।।३७।।

**सर्वैरि**ति। अतस्सर्वैरुपायै र्हन्तव्यः। सम्भोजो भोजनम्,भोजनादिषु विषादिप्रयोगे रित्यर्थः। यथा दुष्ट मिन्द्रियं मुनेश्शत्रुः।।३८।।

**नैऋता** ईति। तिग्मास्तीक्ष्णा दंष्ट्रा येषां करालान्यास्यानि भयङ्करानि मुखानि येषां ते च, ते च ताम्राणि श्मश्रूणि शिरोरुहाश्च येषाम्।।३९,४०।।

**वीर॰** इतीत्थमुक्त्वोपरतं तूष्णीमासीनं पुत्रं रुषा क्रोधेनान्धीकृतः आत्मा विवेको यस्य स हिरण्यकशिपुः स्वस्योत्सङ्गात् महीतले निरस्य तं पातयित्वा, आह चेत्युत्तरेणाऽन्वयः। निरस्यतीति पाठे न्यपातयदित्यर्थः।।३३।।

अमर्षः असहनं, तत्सहितया रुषा आविष्टो व्याप्तः, अत एव कषायीभूते आताम्रे लोचने यस्य स आह च उक्तवांश्च। तदेवाऽऽह-वध्यतामिति। हे नैऋताः, इत एनं निस्सारयत बहिर्गमयत। अयं बालो वध्यो वधार्हः, अतः आशु वध्यतां हन्यताम्।।३४।।

वध्यत्वे हेतुः यतोऽयं मे मम भ्रातुर्हन्ता। कुतः? योऽयमधमः बालः स्वान् स्वकीयान् सुहृदोऽस्मान् हित्वा पितृव्यस्य पितृभ्रातुर्हिरण्यक्षस्य हन्तुः विष्णोः पादौ चरणौ दासवदर्चति, तत्पक्षपातीत्यर्थः। अतस्स एवाऽयमित्यन्वयः। "हित्वाऽसून् सुहृद" इति पाठे, अयं मे भ्रातृहा, कुतः? यद्यस्मात् अधमोऽयं सुहृदः प्रियानसून् प्राणान् हित्वा विष्णवे समर्प्य दासवत्तत्पादावर्चति। अतोऽयमेव प्रह्लादो मे भ्रातृहा इत्यर्थः।।३५।।

1 A,B,J omit निरास्यत् 2 A,B,J omit इत्यर्थः। 3--3 A,B,J omit 4. H,V अजहात् 5--5 A,B,J omit 6--6 H,V omit 7. W omits तं 8--8 W omits

मद्दृष्टान्तेन विष्णोरप्यसावसमञ्जसोऽननुकूलः साधु करिष्यति किन्तु? न करिष्यत्येव अव्यवस्थितचित्तत्वादिति भावः। यतोऽसौ पञ्चहायनः पञ्चवर्षवयस्क एव सन् दुस्त्यजं त्यक्तुमशक्यं पित्रोः मातापित्रोः सौहृदमहात् अत्याक्षीत्।।३६।।

ननु तवाऽयं पुत्रः, तत्कथं वध्यः? तत्राह-**परोऽपीति**। परोऽपि शत्रुपक्षप्रभवोऽपि यथौषधं तथा हितकृत् हितकारी चेत्तर्हि सोऽपत्यं पुत्र एव। देहाज्जातोऽपि आमयवदहितो दुःखकृच्चेत्तर्हि आमयवत्परित्याज्यः। आस्तां, ममतास्पदस्य कथा हि यस्मादङ्गं करचरणादिकमपि सर्पदंशव्रणादिदूषितं सदात्मनोऽहितं दुःखकृच्चेत्तर्हि तदङ्गं छिन्द्यादेव यस्य दुष्टाङ्गस्य विसर्जनात्परिहारात् शेषमवशिष्टमङ्गं सुखं जीवति।।३७।।

अतोऽयं सुहृल्लिङ्गधरः पुत्रवेषधारी शत्रुः यथा दुष्टमिन्द्रियं मुनेः शत्रुः, तद्वद्वर्तमानः सर्वैः गरलादि-मिश्रितसम्भोजनादिभिरुपायैर्हन्तव्यः।।३८।।

एवं भर्त्रा दैत्येन्द्रेण समादिष्टाः ते नैऋताः शूलपाणयः तिग्माः तीक्ष्णाः दंष्ट्राः[1] दन्ताः येषां, करालानि आस्यानि येषां, ताम्राणि श्मश्रूणि शिरोरुहाणि च येषां तादृशः।।३९।।

भैरवान् भयङ्करान्नादान् नदन्तः कुर्वन्तः छिन्धि भिन्धि इति च वदन्तः आसीनमुपविष्टं प्रह्लादं सर्वेषु मर्मस्थानेषु शूलै रहनन्[2] हतवन्तः।।४०।।

**विज०** कषायीकृतलोचनः रक्तनेत्रः।।३३,३४।।

पितृव्यस्य हिरण्याक्षस्य हन्तुः असावसमञ्जसः प्रह्लादः विष्णोः किं वा साधु करिष्यति?।।३५।।

कथमसमञ्जसोऽभूत्तत्राह - सौहृदमिति।।३६।।

परः शत्रुरपि अवश्यं द्वेषेणाऽपि हितकृच्चेत् स एव सुतः यथा औषधं तिक्तत्वेन "हरीतकी मनुष्याणां मातेव हितकारिणी" इति वचनात्।स्वदेहजोऽपि सुतोऽपि अहितोऽपकारी चेत्तं छिन्द्यादामयवत्। किञ्च आत्मनः स्वस्य यदहितमङ्गं सर्पदष्टं तच्छिन्द्यम्। तदेव विशिनष्टि यद्विवर्जनादिति। शेषमङ्गं सुखं जीवतीत्यन्वयः।।३७।।

सम्भोगो[3] भोजनम्।।३८,३९।।

भैरवं नादमुद्दिश्य।।४०।।

---

1. W omits दंष्ट्राः 2 W omits हतवन्तः 3 A,B °जो

परे ब्रह्मण्यनिर्देश्ये भगवत्यखिलात्मनि।
युक्तात्मन्यफला आसन्नपुण्यस्येव [1]सत्क्रियाः।।४१।।

प्रयासेऽपहते तस्मिन् दैत्येन्द्रः परिशङ्कितः।
चकार तद्वधोपायान्निर्बन्धेन युधिष्ठर!।।४२।।

दिग्गजैर्दन्दशूकेन्द्रैः [2]अभिचारावपातनैः।
मायाभिस्सन्निरोधैश्च गरदानैरभोजनैः।।४३।।

हिमवाय्वग्निसलिलैः पर्वताक्रमणैरपि।
चिन्तां दीर्घतमां प्राप्तस्तत्कर्तुं नाऽभ्यपद्यत।
न शशाक यदा हन्तुमपापमसुरस्सुतम्।।४४।।

एष मे बह्वसाधूक्तो वधोपायाश्च निर्मिताः।
तैस्तैर्द्रोहैरसद्धर्मैर्मुक्तः स्वेनैव तेजसा।।४५।।

वर्तमानोऽविदूरे [4]वा बालोऽप्यजडधीरयम्।
न विस्मरति [5]मेऽनार्यं शुनश्शेप [6]इव प्रभुः।।४६।।

अप्रमेयानुभावोऽयमकुतश्चिद्भयोऽमरः।
नूनमेतद्विरोधेन मृत्युर्मे भविता न वा।।४७।।

इति [7]तच्चिन्तया किञ्चिन्म्लानश्रियमधोमुखम्।
शण्डामार्का वौशनसौ विविक्त इति होचतुः।।४८।।

**श्रीध॰ पर** इति। परे ईश्वरे युक्तःसमाहित आत्मा मनो यस्य तस्मिन् [8]प्रह्लादे तेषां [9]नैऋतादीनां प्रहारा निष्फला [10]आसन् जाताः। तत्र हेतवः। ब्रह्मणि निर्विकारेऽनिर्देश्येऽविषये भगवति निरतिशयैश्वर्येऽखिलात्मानि [11-]शास्त्रवादिनामपि [-11]नियन्तर्येवम्भूते परेऽपुण्यस्य निर्दैवस्य सत्क्रिया महोद्यमा इव।।४१,४२।।

---

1 M,Ma तं॰ 2 A,B,G,J,T शूकैश्च 3. H,V आ 4 A,B,G,J,M,Ma,T वै 5 H,V,W माऽ: 6. H,V °फ 7. A,B,G,J,T तं चि॰ 8. H,V omit प्रह्लादे 9. H,V omit नैऋतादीनां 10 H,V omit आसन् 11- -11 A,B,J शस्त्रादीना॰

**दिग्गजै**रिति। दन्दशूकैस्सर्पैः[1]। अभिचाराः कृत्यादयः। अवपातनानि गिरिशृङ्गादधःपातनानि तैः। मायाभिः[2] शम्बरनिर्मिताभिः[2] अवटादिषु सन्निरोधैश्च।।४३।।

**हिमेति**। पर्वताक्रमणैः पर्वतानां तदुपरिक्षेपैः। बहुवचनै रभिचाराद्यावृत्तिं दर्शयति। तद्धननं कर्तुं नाऽभ्यपद्यत न प्राप नाऽशक्नोदित्यर्थः।।४४।।

चिन्तामे[3]वाऽऽह-**एष** इति त्रिभिः। मे मया असाधुपरुषं यथा भवति तथोक्तः। असद्धर्मैरपकारै-रभिचारै र्वा।।४५।।

**वर्तमान** इति। अविदूरे समीपे[3] वर्तमानोऽपि बालोऽप्ययमजडधीर्निर्भयचित्तो मेऽनार्यमन्याय्यं शत्रुत्वं वा न विस्मरति। अजीगर्तस्य मध्यमपुत्रः शुनश्शेपो नाम पितृभ्यां हरिश्चन्द्राय विक्रीतस्सन् यथा तयो रपकारमविस्मरन् तद्विपक्षं विश्वामित्रमाश्रित्य गोत्रान्तरमापन्नः, तद्वत्। यद्वा, स्वभावापरित्यागे दृष्टान्तः शुन श्शेफः पुच्छमिवेति।।४६।।

**अप्रमेय** इति। अप्रमेयोऽपरिमेयोऽनुभावो यस्य अमरो[4] मृत्युशून्यश्च[4]। न[5] कुतश्चित् भयं यस्य[5]। न वा भविता अन्यथा मृत्युर्नैव भविष्यतीत्यर्थः।।४७।।

**इतीति**। औशनसौ उशनसः पुत्रौ नीतिज्ञौ। विविक्ते एकान्ते।।४८।।

**वीर०** अनिर्देश्ये चेतनाचेतनसजातीयत्वेन निर्देष्टुमशक्ये अखिलात्मनि हन्तृहन्तव्याद्यन्तरात्मनि पूर्ण षाड्गुण्ये परे ब्रह्मणि युक्तः नियुक्तः[6] आत्मा मनो यस्य तस्मिन् प्रह्लादे नैऋतैः कृता अपि[7] शूलघातादयो मारणोपायाः अफलाः व्यर्थाः बभूवुः। मरणहेतवो दुःखहेतवश्च न बभूवुरित्यर्थः। यथा अपुण्यस्य पापरतस्य कृता अपि सत्क्रियाः सन्ध्योपासनादयः अफलास्तद्वत्, वैफल्यहेतुगर्भं विशेषणम्। अखिलात्मनि युक्तात्मनीति। अयं भावः-कर्मायत्तदेहसम्बन्ध प्रयुक्तसुखदुःखभोक्तृत्व तदनुगुणपुण्यपापकर्तृत्वानुगुणं जीवपर्यन्तदेहेन्द्रियादिप्रेरणरूप मखिलात्मत्वमत्र विवक्षितम्। तत्र हन्त्रान्तरात्मतया हन्तव्यदुःखजननानुगुणव्यापारानुगुणं नियमयत्रपि पुन र्हन्तव्यस्य हन्तृव्यापारजन्यदुःखाननुभावानुगुणतया नियमयतीति, कथमेकस्य एवंविधं परस्परविरुद्धं नियमनमिति शङ्कानिराचिकीर्षयाऽनिर्देश्य इत्युक्तम्। लोकविलक्षणविविधविचित्रशक्तेरीदृशं नियन्तृत्वमुपपन्न मित्यभिप्रायः।।४१।।

1- -1 H,V omit 2- -2 H,V omit 3 H,V omit समीपे 4- -4 H,V omit 5- -5 A omits 6 W निहितः 7 W omits अपि

एवं शूलघातादिरूपमरणोद्योगरूपे प्रयासे अपहते व्यर्थे सति दैत्येन्द्रो हिरण्यकशिपुः परिशङ्कितः किमहो! अयं शूलघातादिभिरपि नाऽहन्यत किम्? अस्मादेव मम मृत्युर्भविष्यतीत्याशङ्कितः, हे! युधिष्ठिर! निर्बन्धेन तस्य प्रह्लादस्य वधोपायान् चक्रे।।४२।।

विविधोपायानेव प्रपञ्चयंस्तैरप्यहततत्वमाह **दिग्गजैरिति**। दिग्गजाक्रमणैः दन्दशूकेन्द्रैः सर्पश्रेष्ठदंशनैः, अभिचारैः मारणहोमैः अवपातनैः गिरिशृङ्गेभ्योऽधःपातनैः मायाभिः अकस्मादशनिपातनादिभिः सन्निरोधैः नवरन्ध्रपिधानैः गरदानैः विषप्रयोगैः अभोजनैरुपवासैः।।४३।।

हिमादिषु पातनैः, पर्वताक्रमणैः पर्वतानां तदुपरिनिक्षेपैः एवं विधैरुपायैरसुरैः प्रयोज्यकर्तृभिः यदा निरपराधं[1] सुतं हन्तुं न शशाक नाऽशक्नोत् तदा तत्कर्तुं तद्धननं कर्तुं नाऽभ्यपद्यत उपायान्तरं न लेभे इत्यर्थः। प्रत्युत दीर्घतमां चिन्तां प्राप्तः।।४४।।

चिन्तामेव प्रपञ्चयति-**एष** इति। एष बालो मे मया बह्वसाधु यथा भवति यथोक्तः तथा वधोपायाश्च निर्मिताः कारिताः। असद्धर्मैरभिचारादिभिः तैस्तैर्द्रोहैः शूलघातादिभिश्च मुक्तोऽविहतः स्वेनैव तेजसा माहात्म्येन उक्तोपायेभ्योऽविदूर एव वर्तमानो बालोऽप्यय मजडा निपुणा धीर्यस्य तादृशः मे मम अनार्यं द्रोहं न स्मरति। शुनश्शेफ इव यथा शुनश्शेफाख्यः पितृभ्यां हरिश्चन्द्राय विक्रीतस्सन् तयोरपकारं विस्मरन् तद्विपक्षं विश्वामित्र माश्रित्य गोत्रान्तरमापन्नः, तद्वत् यद्वा स्वभावापरित्यागे दृष्टान्तः-शुनश्शेफः पुच्छमिवेति। प्रभुः जितेन्द्रियः।।४५,४६।।

अप्रमेयोऽपरिमेयोऽनुभावो यस्य, न कुतश्चिद्भयं यस्य, अतएवाऽमरो मरणरहितः, एतस्य विरोधेन हेतुना नूनं ममैव मृत्युः भविता भविष्यति न वा भविता एतद्विरोधेन मम मृत्व्यभावे हेत्वन्तरेण नैव भविष्यतीत्यर्थः।।४७।।

इतीत्थं तच्चिन्तया पुत्रविषयकचिन्तया म्लानश्रियं निस्तेजस्कं किञ्चिदधःकृतमुखं तं हिरण्यकशिपु मौशनसौ उशनसः[2] शुक्रस्य पुत्रौ[3] शण्डामाकाख्यौ विविक्ते निर्जने देशे तस्य[4] प्रतिष्ठाभङ्गादिति भावः। इति वक्ष्यमाणप्रकारेण ऊचतुः।।४८।।

**विज०** अनिर्देश्यत्वादिगुणशालिनि हरौ युक्तात्मनि प्रयोजितमनस्के प्रह्लादे अपुण्यस्येव पापिन इव तत्क्रियाः, तेषां नैत्रहतानां ताडनादिक्रियाः।।४१,४२।।

1- -1 W omits 2. W omits शुक्रस्य 3 W शण्डामार्कौ 4- -4 W omits

वधोपायमाह **दिग्गजै** रित्यादिना। अवपातनं गिरिशृङ्गादधःपातनं, संनिरोधैः अनिर्गमगर्तगृहे निक्षिप्य पीडनैः, पर्वताक्रमणैः पर्वतारोहणैः उपरि पर्वतपातनैर्वा।।४३,४४।।

तत्कर्तुं हननं कर्तुम्।।४५।।

असद्धर्मैः असतां योग्यैः, अविदूरे समीपे विदूरे वा वर्तमानोऽजडधीः पटुतरबुद्धिः अनार्यं मूर्खकर्म। अन्याय्यमिति पाठे नयशास्त्रविरुध्दं मह्यमपरं शतं दत्तं अहमेनं विशसिष्यामीत्याद्यजीगर्तकृतकर्म शुनश्शेपेन यथा सोढं तथेति।।४६,४७।।

इति वक्ष्यमाणप्रकारं हेत्युच्यमानेऽर्थे तात्पर्यातिशयं वक्ति।।४८।।

**जितं त्वयैकेन जगत्रयं[1]ध्रुवो विजृम्भणत्रस्तसमस्तधिष्ण्यपम्।**
**न तस्य चिन्त्यं तव नाथ चक्ष्महे न वै शिशूनां गुणदोषयोः पदम्।।४९।।**

**इमन्तु पाशैर्वरुणस्य [2]बद्धं निधेहि भीतो न पलायते यथा।**
**बुद्धिश्च पुंसो वयसार्यसेवया यावद्गुरुर्भार्गव आगमिष्यति।।५०।।**

**तथेति गुरुपुत्रोक्त मनुज्ञायेदमब्रवीत्।**
**धर्मा ह्यस्योप ष्टव्याः राज्ञां ये गृहमेधिनाम्।।५१।।**

**धर्ममर्थञ्च कामञ्च नितरा[3]मनुपूर्वशः।**
**प्रह्लादायोचतू राजन् प्रश्रितावनताय च।।५२।।**

**श्रीधः जितमिति**। ध्रुवोर्विजृम्भणेनैव त्रस्ताः [4]समस्ताः धिष्ण्यपा[5] लोकपालाः यस्मिंस्तस्य[6] तव चिन्त्यं न चक्ष्महे न पश्यामः पदमालम्बनं नैवाऽस्ति। यद्वा शिशूनां वृत्तं गुणदोषयोः पदं विषयो न भवतीत्यर्थः।।४९।।

तथाऽपि तु बन्धनमस्योचितमित्याहतुः-**इमन्त्विति**। यावद्गुरुर्भार्गव आगमिष्यति तावद्बद्ध्वा निर्धेहि। ततः किमत ऊचतुः। [7]यतः पुंसो बुद्धिश्च वयसा [8]तथा आर्यसेवया[-8] समीचीना भवति।।५०।।

---

1. H,V प्रभो 2. A,B,G,J,M,Ma,T बद्ध्वा 3. A,B,G,J,M,Ma,T राज्ञानु° 4 H,V omit समस्ताः 5. H,V omit लोकपालाः 6 H.V omit तव

7 H,V omit यतः पुंसो 8- -8 H,V omit

**तथेति**। अनुज्ञाय तथेत्यङ्गीकृत्य।।५१।।

**धर्ममिति**। ततश्च तौ प्रह्लादाय धर्मादिकमूचतुः। प्रश्रितश्चासाववनतश्च, तस्मै।।५२।।

**वीर०** तदेवाऽऽह-**जितमिति**। तव भ्रुवोर्विजृम्भणेन चलनमात्रेण त्रस्ता भीतास्सर्वे धिष्ण्यपाः लोक पालाः यस्मिन् तज्जगत्रयं त्वयैकेनाऽसहायेन जितम्, एवम्भूतस्य तव हे **नाथ**! प्रभो! [1]चिन्त्यं चिन्तनीयं न चक्ष्महे न पश्यामः, शिशूनां वृत्तमिति शेषः। तद्गुणदोषयोः पदं विषयो न वै न भवतीत्यर्थः।।४९।।

अत इमं बालं यावद्गुरुर्भगवान् भार्गवः शुक्र आगमिष्यति तावद्वरुणस्य पाशैः बद्धं निधेहि कुरु भीतोऽयं यथा न पलायते तथा बद्धं निधेहीत्यर्थः। ततः किम्? तत्रऽऽहतुः वयसा आर्याणां सेवया च पुंसो बुद्धि र्भविष्यति।।५०।।

एवं गुरुपुत्रोक्तं तथेत्यनुज्ञायाऽङ्गीकृत्य दैत्येन्द्र इदं वक्ष्यमाणमब्रवीत्। तदेवाऽऽह-धर्मा इति अस्य बालस्य धर्मा उपदेष्टव्याः। के ते? ये राज्ञां, ये च गृहस्थानां, ते।।५१।।

एवमुक्तौ गुरुपुत्रौ तथैवोपदिदिशतुरित्याह नारदः-**धर्ममिति**। धर्मार्थकामस्वरूपाणि[2] साधनानि[3] नितरामत्यन्तमनुपूर्वशः। हे राजन्! प्रश्रयेण विनयेन अवनताय नम्राय प्रह्लादायोचतुरुपदिदिशतुः।।५२।।

**विज०** धिष्ण्यपाश्चन्द्रादित्यादयो, लोकपाला वा, चक्ष्महे पश्यामः। शिशूनां प्रेङ्खायां शयनशीलानां बुद्धिविकासरहितानां वा तत्करणं गुणदोषयोः पदमास्पदं न वै हि गुणदोषग्रहणबुद्धिविकासाभावादित्यर्थः। शिशूनां गुणदोषयोः पदं नास्तीति वा।।४९।।

तर्हि का परबुद्धिरित्यत्रोच्यते-**इममिति**। तुना अधुनेयमेव बुद्धिरिति विशिनष्टि, कियन्तं कालमेव मिति तत्राऽऽह-यावदिति। तावदिति शेषः। ततश्च किं तत्राऽऽह-बुद्धिश्चेति। पापजननी च वयसा कालविशेष-विशिष्टेनाऽऽयुर्लक्षणेन आर्याणां सेवया, स्यादिति शेषः।।५०-५२।।

**यथा त्रिवर्गं गुरुभिरात्मने उपशिक्षितम्।**

***न साधु मेने तच्छिक्षां द्वन्द्वारामोपवर्णिताम्।।५३।।***

---

1 A,B,T omit चिन्त्यं 2 W °पान् 3 W °नान्

*यदाऽचार्यः परावृत्तो गृहमेधीयकर्मसु।
वयस्यैर्बालकै स्तत्र सोपहूतः कृतक्षणैः।।५४।।
अथ तान् श्लक्ष्णया वाचा प्रत्याहूय महाबुधः[1]।
उवाच विद्वांस्तन्निष्ठां कृपया प्रहसन्निव।।५५।।
ते तु तद्गौरवात्सर्वे त्यक्तक्रीडा परिच्छदाः।
बाला अदूषितधियो[2] द्वन्द्वारामेरिते हितैः।।५६।।
पर्युपासत राजेन्द्र तन्न्यस्त हृदयेक्षणाः।
तानाह करुणो मैत्रौ महाभागवतोऽसुरः।।५७।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवेयासक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
सप्तमस्कन्धे प्रह्लादानुचरिते पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

**श्रीध० यथेति**। यथा[3]यथावत्। त्रिवर्गमुपशिक्षितमपि[4] न साधु मेने तत्तां शिक्षाञ्च। कुतः? द्वन्द्वे रागद्वेषादिभि र्विषयेष्वारमणं येषां तैरुपवर्णिताम्।।५३।।

**यदेति**। परावृत्तोऽन्यत्र गतः स उपहूतः[5-] अत्र "सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्" (अष्टा. 6-1-134) इति सूत्रेण[-5] सन्धिः पादपूरणार्थः। क्रीडार्थं कृतक्षणैः कृतोत्सवैः, लब्धावसरैरिति वा।।५४।।

**अथेति**। तन्निष्ठां[6] तेषां निष्ठां जन्ममरणादिलक्षणां विद्वान्।।५५।।

**ते** इति। द्वन्द्वारामाणामीरितैरीहितैश्च न दूषिता धीर्येषां यतो बालाः।।५६।।

**पर्युपासतेति**। तस्मिन्नेव न्यस्तं हृदयमीक्षणञ्च यैः।।५७।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

---

* व्यावहारप्रसिद्ध्यर्थं विकल्पोऽत्र नृभिःकृतः। यथा भात्यस्य सत्यार्थं प्रत्याभासश्च दिग्भ्रमः।। The above additional verse is found between V 53 & 54 in H,V editions only 1. W महान्सुधीः 2 A,B,G,J,M,Ma,T न दू° 3. H,V omit यथा 4 H,V °मनु° 5- -5 A,B,J omit 6. H,V omit तन्निष्ठां

**वीर॰** तद्यथावत् त्रिवर्गमात्मने स्वस्मै उपशिक्षितमपि साधु न मेने नाऽमन्यत तच्छिक्षां च कुतः ? द्वन्द्वे रागद्वेषादिभिः विषयेष्वारमणं येषां तैरुपवर्णिताम्।।५३।।

किञ्च। यदा आचार्यः गार्हस्थ्यधर्मेषु परावृत्तः परोक्षं प्रवृत्तः, व्यासङ्गान्तरपर इत्यर्थः। तदा कृतक्षणैः लब्धावकाशैःवयस्यैः समानवयस्कैः बालैः तत्रोपहूतः सः प्रह्लादः।।५४।।

महान् सुधीर्विद्वान् श्लक्ष्णया मधुरया वाचा तान् बालकान् प्रत्याहूय सम्बोध्य कृपया प्रहसन्निव तन्निष्ठां विज्ञानमार्गनिष्ठाम् उवाच।।५५।।

ते तु बालकास्सर्वे तद्गौरवात् तद्वचनगौरवात् त्यक्ताः क्रीडापरिच्छदाः क्रीडोपकरणानि यैः द्वन्द्वारामाणा मीरितैरीहितैश्च न दूषिता धीर्येषां ते।।५६।।

हे राजेन्द्र! तस्मिन्नेव प्रह्लादे न्यस्तं हृदयं मन ईक्षणञ्च यैस्ते तं प्रह्लादमेव पर्युपासत शुश्रूषवः परिवेष्ट्योपविविशुरित्यर्थः। तान्पर्युपासीनान् कारुण्यमैत्र्ययुक्तो महाभागवतोऽसुरः प्रह्लाद आह।।५७।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

**विज॰** यथा द्वन्द्वारामोपवर्णितां रागद्वेषादिव्यापृतबुद्धिभिर्व्याख्याताम्।।५३।।

यदाऽचार्योऽध्यापनात्परावृत्त उपरतः गृहमेधीयकर्मसु अग्निहोत्रादिलक्षणेषु व्यापृतो वा तत्र तदा कृतक्षणैः कृतावसरैः वयस्यैर्बालकैः स उपहूतः, क्रीडार्थमिति शेषः। "सोक्षिन्नुभद्राक्षुमता सोचिन्नु सर्वा", "सैष दाशरथी रामः" इत्यादिषु द्रष्टव्योऽयं प्रयोगः।।५४।।

अथाऽऽगतस्सन् तस्यां क्रियायां निष्ठामिच्छां विद्वान् तेषां वयस्यानां निष्ठां स्वस्मिन् स्नेहविशेषं वा।।५५।।

द्वन्द्वारामेरितैर्वचनैरीहितैः प्रवृत्तिभिश्च न दूषितधियः।।५६।।

स एषोऽसुः "स एष प्राणः" (बृह.उ. 1-2-3) इति श्रुतेः मुख्यप्राणे रमत इत्यसुरः।।५७।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
सप्तमस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

* * * *

# षष्ठोऽध्यायः

## प्रह्लाद उवाच

*हन्तार्भका मे शृणुत वचो व स्सर्वत श्शिवम्।
वयस्यान् पश्यत मृतान् क्रीडान्धा[1] मा प्रमाद्यथ[2]।।१।।

न पुरा[3] विवशं बाला[3] आत्मनोऽर्थे[4] प्रियैषिणः।
गुरूक्तमपि न ग्राह्यं यदनर्थेऽर्थकल्पनम्।।२।।

यदुक्त्या[5] न प्रबुध्येत सुप्तस्त्वज्ञाननिद्रया।
न श्रद्दध्यान्मतं तस्य यथान्धो ह्यन्धनायकः।।३।।

कश्शत्रुः क उदासीनः किं मित्रं[6] चेह आत्मनः।
भवत्स्वपि नयैः[7] किं स्याद्दैवं सम्पद्विपत्पदम्[8]।।४।।

यो न हिंस्याद्धर्मकाममात्मानं[9] स्वजने वशः।
पुनः श्रीलोकयो[10] र्हेतुः स मुक्तान्ध्योऽतिदुर्लभः[11]।।५।।

कौमार आचरेत्प्राज्ञो धर्मान्भागवतानिह।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्।।६।।

यथा[12] हि पुरुषस्येह विष्णोः पादोपसर्पणम्।
यदेष सर्वभूतानां प्रिय आत्मेश्वरस्सुहृत्।।७।।

---

* इत आरभ्य पञ्चश्लोकाः J,T,W, प्रकाशेषु न दृश्यन्ते । परन्तु विजयध्वजनीर्थेनैव व्याख्याताः।। 1. H,V °दुन्तो 2 H V °द्यत 3- -3 H,V पुराऽपि वयं बा° 4 H,V नोऽथ 5 H,V °क्त्वा 6 H,V कोऽर्थ 7 H,V विनयैः 8. H,V त्रं° 9 H,V °भावात्मनो वे जनस्य च 10. H,V त्रिलोके यो हे 11 H,V सम्मतोऽर्थोऽति° 12 M,Ma °दा

**सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम्।**
**सर्वत्र लभ्यते दैवाद्यथादु:ख मयत्नत: ।।८।।**

**तत्प्रयासो न कर्तव्य: यत आयुर्व्ययः परम्।**
**न तथा विन्दते क्षेमं मुकुन्दचरणाम्बुजम्।।९।।**

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

षष्ठे गुरौ गृहव्यग्रे प्रह्लादो दैत्यबालकान्। अनुकम्प्य परं तत्त्वं नारदोक्तमुपादिशत्।।

निरर्थक क्रियालापैरायुर्व्ययमजानताम्। प्रह्लादस्सदयं प्राह धर्मं भागवतं कृती।।

**कौमार** इत्यादिना। इहैव मानुषजन्मनि धर्मानाचरेत् ; यतोऽर्थदमेतत्। तत्र च कौमार एव, यतस्तदप्यध्रुवम्। न चैवम्भूते जन्मान्तरे, यतो दुर्लभम्। तत्र धर्मानेवाऽऽचरेन्न सुखार्थे प्रयासान्। तत्र भागवतानेव न काम्यान्।।१-६।।

इह भागवतानेव धर्मानाचरेदित्येतदुपपादयति-**यथा** हीति चतुर्भिः। इह पुरुषस्य विष्णोः पादोपसर्पणमेव यथानुरूपं योग्यमित्यर्थः, यद्यस्मादेष प्रिय इत्यादि।।७।।

ननु भोगोद्यमः कथं त्याज्य इति चे त्तत्राऽऽह **सुखमिति**। सर्वत्र पश्वादावपि। दैवात् पूर्वादृष्टादेव।।८।।

**तदिति।** अतस्तदर्थं प्रयासो न कर्तव्यः, यतः प्रयासात्परं केवलमायुषो व्यय एव, यतस्तथा तेन प्रकारेण क्षेमं न प्राप्नोति।।९।।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं दैत्यकुमारैः पर्युपासितो महाभागवतः प्रह्लादः तेभ्यः करुणयाऽनन्तस्थिरफलब्रह्मानन्दानुभवसाधन-भागवतधर्मानुपदिदिक्षुः उपदेक्ष्यमाणधर्मप्रतिष्ठापनाय तद्धेतुवैराग्यजननाय च वैषयिकसुखानामल्पास्थिरत्वं दुःखगर्भत्वम्, अत एव हेयत्वमयत्नलभ्यत्वञ्च विवक्षुस्तावन्मनुष्यजन्मन एव भागवतधर्माचरणार्हत्वं तत्राऽप्यस्थिरत्वेन बाल्यात्प्रभृत्येव तद्धर्मानुष्ठानस्य कर्तव्यत्वञ्चाऽऽह-**कौमार** इति। इह मनुष्यजन्मन्येव प्राज्ञः हेयोपादेयविभागाभिज्ञः पुमान् कौमारे बाल्ये एव, तत्प्रभृतीत्यर्थः। भागवतान् भगवत्सम्बन्धिनः भगवत्प्राप्तिसाधनान् धर्मानेवाऽऽचरेत्।

1 H,V °द्दृ° 2- -2 M,Ma आयासायुर्व्ययः। 3 A.B,J °तं 4. A,B,J °रं 5 H,V °र्थं

भगवच्छब्देन तेषां निष्फलत्वशङ्का प्रत्युक्ता। अननुष्ठेयत्वशङ्काऽपि उदस्यते[1]। तथाहि-"शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्द्यते। मैत्रेय! भगवच्छब्दस्सर्वकारणकारणे। सम्भर्तेति तथा भर्ता भकारोऽर्थद्वयान्वितः। नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने। ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा। वसन्ति यत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि। स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः। ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य वीर्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयै गुंणादिभिः" (विष्णु. पु. 6-5-72 to 79) इत्यादिना श्रीमत्पराशरोक्तप्रत्यक्षरसमुदायनिर्वचनावगताः सम्भर्तृत्वनेतृत्वगमयितृत्वस्रष्टृत्वसर्वशरीरकत्वसर्वभूतान्तरान्तरात्मत्वनिरस्तनिखिलदोषत्वषाड्गुण्यपूर्णत्वादयोऽर्थाः अत्र विवक्षिताः। तत्र सम्भरणं नामोपकरणसंविधानं, तच्च प्रकृतिपुरुषकालानां कार्योत्पत्तियोग्यतापादनरूपम् ; भर्तृत्वं निरुपाधिकस्वामित्वम्, नेतृत्वं गमयितृरूपं स्थितिकर्तृत्वं, गमयितृत्वं सङ्गमयितृत्वरूपं संहर्तृत्वं, स्रष्टुत्वमुद्गमयितृत्वरूपं सृष्टिकर्तृत्वम्. यशो गुणवत्ता प्रथा, श्रीर्भोगसम्पत्, वैराग्यं विरक्तिः, सा च परिपूर्णत्वादनादररूपा। एवञ्चानुष्ठितैर्धर्मैः प्राप्यस्य भगवत एवंविधत्वात्, तत्प्राप्तेः निःश्रेयसरूपत्वात् तत्प्राप्तिसाधनभूताधर्माः परमपुरुषार्थार्थिभिरवश्यमनुष्ठेयाः। ते च बाल्यादारभ्यैव कर्तव्या इत्यर्थः। इहैवेत्यनेन मनुष्यजन्मन एव भगवद्धर्माचरणोपयुक्तत्वम्, अन्यस्य तु तदननुगुणत्वञ्चाऽभिप्रेतम्। तत्राऽपि पुरोवर्तिपरामर्शेन इहशब्दप्रकृतिभूतेन इदंशब्देन अधुना वर्तमानमनुष्यजन्मन्येव भगवद्धर्मकर्तव्यताऽभिप्रेता। ननु अन्यस्मिन्नपि मनुष्यजन्मनि तेषां कर्तुं शक्यत्वात्, किं विशेषेणाऽधुनिक एव जन्मनि[2] कर्तव्यतोच्यते? इत्यत आह-दुर्लभं मानुषं जन्मेति। विविधविचित्रपुण्यपापात्मकर्मभिः देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरादिरूपेण संसरतो जीवस्य नियमेन प्रतिजन्म मानुषं जन्मैवेति विश्वासहेतोरभावात्। दुर्लभं मानुषं जन्म सुकृतपरिपाकविशेषलब्धमिति[3]. तत्रैव भगवद्धर्मानाचरेदिति भावः। ननु किं विशेषेण कौमार एवाऽऽचरेत्- इत्युच्यते। यथेष्टं विषयभोगानन्तरं चतुर्थे वयसि तेषां कर्तुं शक्यत्वात् इत्यत आह-तदप्यध्रुवमिति। चतुर्थवयःपर्यन्तजीवनहेतोर्विश्वसनीयस्याभावात् कौमारात्प्रभृत्येवाऽऽचरेदिति भावः। ननु चिरकालसाध्याभगवद्धर्माः कथमस्थिरेण मनुष्यजन्मना[4] निर्वर्त्यन्ते? कथन्तरां निःश्रेयसप्राप्तिः? अत आह-अर्थदमिति। यद्यप्यध्रुवं तथाऽप्यर्थदमित्यर्थः। अयं भावः-यद्यप्यध्रुवं तथाऽपि चिरकालजीवननिमित्ते कर्मण्यारब्धभगवद्धर्मविरोधिकर्माभावे च सति यथावत्फलपर्यन्तभगवद्धर्मोपसंहारद्वारा निःश्रेयसरूपनिरतिशयपुरुषार्थदं; चिरजीवनहेत्वभावे वा आरब्धभगवद्धर्मविरोधिकर्मसद्भावेऽपि

1. W °युं 2 W adds तत् 3. A,B,T, °षाल° 4 W मानुष

वा "नेहाऽभिक्रमनाशोऽस्ति" (भ.गी.2.40), "न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति" (भ.गी. 6-40) इत्यादिभगवदुक्तरीत्या जन्मान्तरे यथावद्भगवद्धर्मोपसंहारद्वारा निःश्रेयसरूपार्थदं भवतीति। अत्र "सर्वं वाक्यं सावधारणम्" इति न्यायेन अब्भक्षो वायुभक्ष इत्यादिवत्कौमार एव भागवतान् धर्मानेव, इहैव इत्यवधारणमभिप्रेतम्।।१-६।।

तत्र भागवतानेव धर्मानाचरेदित्यवधारणं तावदुपपादयति-**यथा हीति।** हि तथा हीत्यर्थः। यथाशब्दो योग्यताद्योतकः। इह मनुष्यजन्मनि विष्णोः परमपुरुषस्य[1] पादयोरुपसर्पणं भजनं यथायोग्यं तदेव युक्तमित्यर्थः। कुतः यद्यस्मात् एष परमपुरुषः सर्वभूतानामात्मेश्वरः अन्तःप्रविश्य प्रशासनपूर्वकं भर्ता शरीरस्याऽऽत्मानुवर्तनं युक्तमिति भावः। नन्वात्माऽपि अपुरुषार्थरूपत्वान्नाऽनुवर्तनीयोऽत आह-प्रिय इति। प्रियः इष्टतमः, निरतिशयानन्दरूप इत्यर्थः। आनन्द एव हीष्टः, स एव हि पुरुषार्थरूप इति भावः। न त्वेवम्भूतोऽपि निष्कृपत्वादनुवर्तमानान् प्रख्यापयेत्तत्राऽऽह-सुहृदिति। "एष ह्येव साधुकर्मकारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति" (कौ.षी.उ. 2-8) इति श्रुत्युक्तरीत्या स्वानुवृत्त्युपक्रममात्रेणाऽऽविर्भूतपरमकारुण्ययुक्तउत्तरोत्तरं स्वानुवृत्तिप्रवर्तनारूप हितकारीत्यर्थः।।७।।

विष्णोः पादोपसर्पणमेव युक्तमित्यनेन वैषयिकसुखसाधनयत्नो न युक्त इत्युक्तम्। तदेव सहेतुकं सदृष्टान्तञ्चोपपादयन्नहैवेत्यवधारणमप्युपपादयति-**सुखमिति।** हे दैत्याः! देहिनां देहयोगेन देहसम्बन्धमात्रेण ऐन्द्रियकं सुखं सर्वत्र पश्वादिजन्मस्वपि आधुनिकयत्नमन्तरेणाऽपि दैवात्प्राचीनकर्मणैव लभ्यते। तत्र दृष्टान्तः यथाऽसुखमिति। असुखं दुःखं यथा यत्नमन्तरेणाऽपि दैवादेव लभ्यते, तथा वैषयिकं सुखमपीत्यर्थः। सर्वत्र लभ्यते इत्यनेन वैषयिकसुखलाभः सर्वजन्मसाधारणः। भगवद्धर्मलाभस्तु मनुष्यजन्मासाधारण इत्युक्तं भवति।।८।।

यतो वैषयिकं सुखं सर्वजन्मसाधारणं तच्च दैवादेव सुलभमसुखवत्। तस्मात्प्रयासो वैषयिकसुखप्रयासो न कर्तव्यः। एवमविजानताकृतोऽपि प्रयासः केवलमायुर्व्ययकर इत्याह-यत इति । यतो वैषयिकसुखार्थात्प्रयासात् परं केवलमायुःक्षय एव, नाऽन्यत्किञ्चिदस्ति प्रयोजनमित्यर्थः। ननु जन्मान्तरे पुनरैन्द्रियक सुखलाभाय कर्तव्य एव यत्नः। तत्राऽऽह-न-तथेति। यद्यपि कृतोऽपि तदर्थप्रयासो जन्मान्तरीय वैषयिकसुखसाधनः, तथाऽपि तथा तद्वत्क्षेमं न प्राप्नोति। कथम्? यथा मुकुन्दचरणाम्बुजं, भजन्निति शेषः, यथा भगवच्चरणाम्बुजं भजन् पुमान् निश्शेषदुःखनिवृत्तिपूर्वकं नित्यनिरुपाधिकनिरतिशयापरिच्छिन्नब्रह्मानन्दानुभवरूपं क्षेमं प्राप्नोति तथा

1 A,B,T, पुरुषार्थस्वरूपस्य।

वैषयिकसुखार्थं यतमानस्तादृशं क्षेमं न विन्दते। किन्तु दुःखमिश्रानित्यसोपाधिकात्यल्पमिदानीमनुभूयमान-सजातीयं प्राप्नोतीत्यर्थः।। ९।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

मुकुन्दचरणारविन्दनिरन्तरसेवैव इहामुत्रानश्वरानन्दनिदानम्, नाऽन्यत्। अतस्सैव बुभूषुभिरनुदिनं कर्तव्येति विधीयतेऽस्मिन्नध्याये। तत्र प्रह्लादो बालकान् किमाहेत्याशङ्क्याऽऽह **हन्तेति**। बालानुकम्पायां वाक्यारम्भे वा तद्वचःश्रवणात्किं फलं स्यादिति तत्राऽऽह - व इति। वः सर्वतस्सर्वस्मात् शिवं सुखं,स्यादिति शेषः। कीदृशं वच इत्यतो वाऽऽह - व इति। शिवं शुभं मङ्गलम्। ननु कस्मान्मङ्गलमिति तत्राऽऽह वयस्यानिति। संसारार्वरक्तिजनकत्वेन पुरुषार्थहेतुत्वान्मङ्गलमित्यर्थः। अनेन अधुनाऽस्माकं बाल्यम्, उत्तरत्र श्रेयस्सम्पादनाय प्रयतामहे इत्याशा निरस्तेति ज्ञायते, यतोऽस्मदायुः कृतान्तविलुलितम् तस्मात्क्रीडासक्तत्वेन युष्मद्धितविमर्शप्रमादो न कार्य इत्याह-क्रीडान्धा इति।।१।।

ननु बालानां लीलान्धत्वं स्वभाव इति तत्राऽऽह - **नेति**। इतः पुरातना बालाः अन्तःकरणं क्रीडायां विवशं, न कुर्वन्तीति शेषः। तर्हि किङ्कारं वर्तन्त इति तत्राऽऽह - आत्मन इति। अर्थे जन्मप्रभृति आत्मनोऽर्थे आत्मनः प्रियैषिणः परमात्मनः ज्ञानेच्छवः मोक्षलक्षणप्रियेच्छवो वा आत्मनः प्रियैषिणः स्वप्रयोजन-माकाङ्क्षमाणा आबाल्यात्प्रवर्तन्त इति वा। नन्वस्माभिरपि शण्डामर्काभ्यां गुरुभ्यामुपदिष्टत्रिवर्गविषयशास्त्र श्रवणश्रेयसि प्रवर्त्यते। तत्र गुर्ववसरप्रतीक्षणायेयं क्रीडेति, तत्राऽऽह-गुरूक्तमिति। कुतो न ग्राह्यमिति तत्राऽऽह-यदनर्थ इति। संसारहेतुत्वादनर्थे त्रिवर्गलक्षणे श्रेयस्यर्थकल्पनं यत्, तस्मादिति शेषः। "त्रैविद्या मां सोमपाः पूत पापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते" (भ.गी. 9-20) "इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नाऽन्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः" (मुण्ड.उ. 1-2-10) इत्यादेश्च।।२।।

ननु गुरूक्तेर्यथार्थत्वेन ज्ञानहेतुत्वोपपत्तेः कथं तदनर्थेऽर्थकल्पनमिति? तत्राऽऽह-**यदुक्तमेति**। अज्ञानलक्षणनिद्रयासुप्तः त्रिवर्गविषयलक्षणमाग्रहलक्षणे यथार्थज्ञानविरोधित्वात् अज्ञानं नाम न तु ज्ञानमात्राभावः सुप्तस्याऽपि गुरूक्त्या प्रबोधो हि प्रयोजनं, स नोत्पद्यते चेत्तदुपदेशेन किं प्रयोजनम्। प्रत्युत तदनुष्ठानेनाऽनर्थ एव स्यादिति भावः। अतः फलितमाह-**नेति**। अत्रोदाहरणमाह-यथेति। अन्धो नायको नेता यस्य स तथा। हि-शब्देन उभयोरप्यन्धत्वान्मार्गज्ञानं नोत्पद्यते यथा, तथाऽत्रापीति, अस्मात् श्रद्धा न कार्या।।३।।

ननु "समूलघातमघ्नन्तः परान्नोद्यन्ति भूभृतः" (शिशु.पा.2) "निक्षिप्योदर्चिषं कक्षे शेरतेतेऽभिमारुतम्" (शिशु. वध-2) "आपत्सुमित्रं जानीयात् पुत्रमुत्तरजन्मनि" "य उदास्ते स्वकार्येषु स निन्द्यो यत्नतो नरः" (शिशु. पा-2) इत्यादि नीतिशास्त्रं शत्रुमित्रोदासलक्षणज्ञापकं हितकारित्वादित्याभ्यां नो बोध्येत, तन्मतं कथं न श्रद्दध्यादित्युच्यते इति, तत्राऽऽह क इति। यः शत्रुः स आत्मनो मम पक्षे कः? न कोऽपीत्यादि योज्यम्। त्वत्पक्षे शत्त्राद्यभावेऽप्यस्मत्पक्षे स्युरिति तत्राऽऽह-भवत्स्विति। भवत्पक्षेऽपि के शत्त्रादयः स्युः, न केऽपि। अतो नयैर्नीतिशास्त्रश्रवणजनितैर्नीतिभिः किं फलं स्यात्? न किमपीत्यर्थः। नीतिभिरापत्परिहारः सम्पत्प्राप्तिश्च स्याताम् इति तत्राऽऽह दैवमिति। सर्वोत्कृष्टत्वात् श्रीनारायण एव सम्पद्विपदाश्रयी न नीतिमान्, तस्य अन्वयव्यतिरेकाभावात् अस्मत्पित्रादौ दर्शनात्। आत्मनो देहस्य यः शत्त्रादिः तस्य भवत्सुस्थितैर्नयैः किं स्यात्, अपरिहार्यत्वान्मरणादिकं प्राप्यत एव। कामादिकमज्ञानमन्तरेण न नयमात्रेण परिहियत इति। शेषं पूर्ववत्।।४।।

ननु तर्हि माभूत् श्राव्यं नीतिशास्त्रं, प्रवृत्तिलक्षणधर्मशास्त्रमभ्यसनीयं श्रेयो हेतुत्वात्, अत्राऽऽह- **य** इति। यः आत्मानं परमात्मानमुद्दिश्य धर्मकामं धर्मेच्छां न हिंस्यात् न **हिनस्ति** न त्यजति किञ्चानुतिष्ठति, सोऽतिदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि। महान्मतः स्वोक्तेः अवशीकृतेन्द्रियग्रामस्य भगवद्विषयानवृत्तलक्षणधर्मेच्छा कथं स्यादिति तत्राऽऽह-स्वजन इति। स्वेन सह जन्यत इति स्वजनः इन्द्रियग्रामः तस्मिन् विषये वशो न भवति, वशीकृतेन्द्रियग्राम इत्यर्थः। यद्वा, पुत्रमित्रादिलक्षणे स्वजने वशो न स्वानुष्ठानानुकूले पुत्रादिके इत्यर्थः। अत एव मुक्तान्ध्यः उज्झितान्धस्वभावः। ननु, ऐहिकामुष्मिकफलाकाङ्क्षायां निवृत्तिधर्ममनुतिष्ठतः कथं तत्फलावाप्तिः स्यादत्राऽऽह-पुनरिति। पुनश्चाऽर्थे। निवृत्तिधर्ममनुतिष्ठन् श्रीलोकयो रिहलोकपरलोकयोर्हेतुश्च भवति। पुनर्निवृत्तिधर्मानुष्ठानानन्तरं वा प्रवृत्तिनिवृत्तिधर्मयोरनुष्ठानयोः पुनर्भेदोऽस्ति पूर्वस्य ततः पातोऽस्ति इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति-"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" (भ.गी.9-21) इत्यादेः। अन्यस्य ज्ञानसामग्रीं सम्पाद्य ततः पुनरन्ते वैकुण्ठलोकप्राप्तिश्च स्यात् "स एवास्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते । यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।तं तं लोकं जयते तांश्च कामान्, तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः" इत्यादेः। "पुनरप्रथमे भेदे" (अम.को.3-408) इत्यमरः। यद्वा आत्मानं धर्मयुक्तः कामो यस्य सः तथा तं वा नरं न हिंस्यात् न पीडयति स्वात्मानं प्रवृत्तिधर्मकांक्ष्येण पीडितं न करोति, सोऽतिदुर्लभः धर्मधारके हरौ कामो यस्य स तथा निवृत्तिधर्मनिरत इत्यर्थः। तं नाऽधःपातयतीति वा सज्जनसेवानिरतत्वेन

तद्वशश्च श्रिय ऐहिकयाः सम्पदः स्वतः सम्पन्नायाः लोकस्य ज्ञानस्यापरोक्षलक्षणस्य च पात्रं वा। अत्र प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो धर्मावानुष्ठाय तत्फलानिच्छत्वेन भगवद्भक्तिमनिशं कुर्वाणः पुरुष **उत्तमं इति तात्पर्यम्।।५।**

नन्वस्तु निवृत्तिधर्मानुष्ठानस्य श्रेयस्साधनत्वं, तस्य नेदानीमवसरः वार्धके कर्तव्यांवनाभूतत्वात् - "बाल्ये विद्यां निषेवेत यौवने दारसङ्ग्रहम्। स्थाविर्ये मोक्षमातिष्ठेत्सर्वदा धर्ममाचरेत्" इति स्मृतिरिति। तत्राऽऽह-कौमार इति। सर्वदेति विशेषणाद्विद्याभ्यासकालेऽपि मोक्षधर्मानुष्ठानं कर्तव्यमिति न तस्य स्मृतिविरोधः। नानायोनिषु का योनिः श्रेयस्साधनमिति तत्राऽऽह दुर्लभमिति। यन्मानुषं जन्म, तदपि तदेवार्थदं ज्ञानादिप्रयोजनप्रदम्। अत एव बहुपुण्यसाधनत्वाद्दुर्लभम्। तर्हि चिरकालस्याऽपि किम्? नेत्याह-अध्रुवमिति। "सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सत्यमिव जायते पुनः, अपि सर्वं जीवितमल्प मेव " इत्यादिश्रुतेः अध्रुवमपि मानुषं यज्जन्मसुदुर्लभम्, तत्राऽप्यर्थदं दुर्लभतरम् । "एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्मयदीदृशम्" (भ.गी 6-42) इति श्रुतेः।।६।।

ननु कथङ्कारं पुरुषार्थप्रदं तत् अन्यथा तद्वतां सर्वेषामपि पुरुषार्थः स्यात्, न चाऽसौ सम्भवति अदर्शनादश्रवणाच्चेत्याशङ्क्य चिकित्सामाह-**यदा हीति**। इह मानुषे यदा यदि बुभुषोः पुरुषस्य विष्णोः पादोपसर्पणं सम्भवति तर्ह्यर्थदं "यावत्सेवापरे तत्त्वे तावत्सुखविशेषता" इति। एतत् हिशब्देन सूचयति। अतो मानुषी योनिरेव निःश्रेयसः कारणं, नाऽन्या। असङ्गत्वाद्वेदानर्हत्वेनाऽन्यासाम्। अतः कौमारवय आरभ्य भगवत्सेवा कर्तव्येति भावः। ननु श्रीहरिसेवामन्तरेणाऽन्यसेवा अर्थदा किम्? न स्यादिति तत्राऽऽह-यदेष इति। सर्वभूतप्रियत्वादिगुणयुक्त एव इति यत् तस्मादेतत्सेवैव पुरुषार्थदा नाऽन्यसेवा "तदेतत्प्रेयः" (बृह.उ. 1-4-8) इति श्रुतेः। "एष सर्वेश्वरः" (बृह.उ. 6-4-22) इति च।।७।।

इतोऽपि भगवत्सेवालक्षणनिवृत्तिधर्मानुष्ठानमेव कर्तव्यं, न प्रवृत्तिधर्मसेवनं विषयसुखसौलभ्याय तदनुष्ठानमिति नोच्यते, तदन्तरेणाऽपि तल्लभ्यते; यथा दुःखमित्याह-**सुखमिति**। सर्वत्र नरकादावपि "सुखस्यानन्तरं दुःखं, दुःखस्यानन्तरं सुखम्" इति स्मृतेः। दैवात् प्रारब्धकर्मप्रेरकात्।।८।।

अतश्च किमिति तत्राऽऽह - **तदिति**। तस्मात्तत्प्रयासऐन्द्रियसुखप्राप्तये प्रवृत्तिधर्मकरणे बहुक्लेशो न विधेयः। कुतो न विधेयः? इति तत्राऽऽह - आयासेति। परं केवलमायासेनाऽऽयुषो व्ययः क्षय एव, अवशिष्यत इति शेषः। प्रवृत्तिधर्मानुष्ठानस्य दुःखासम्भिन्नप्रदेशोद्देशत्वात्तत्कथं दुःखकल्पत्वेन निन्द्यत इति तत्राऽऽह -

- न तथेति । मुकुन्दचरणाम्बुजं भजन् यथा क्षेमं विन्दते प्रवृत्तिधर्मानुष्ठायी न तथा, नश्वरं सुखं लभत इत्यन्वयः । "प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपाः" (मुण्ड. उ. 1-2-7) इति श्रुतेः ।। ९ ।।

ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भवमाश्रितः[1] ।
शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम् ।। १० ।।

पुंसो वर्षशतं ह्यायुस्तदर्धं[2] मजितात्मनः ।
निष्फलं यदसौ रात्र्यां शेतेऽन्धं प्रापितस्तमः ।। ११ ।।

मुग्धस्य बाल्ये[3-] कैशोरे[-3] क्रीडतो याति विंशतिः ।
जरया ग्रस्तदेहस्य यात्यकल्यस्य[4] विंशतिः ।। १२ ।।

दुरापूरेण कामेन मोहेन च बलीयसा ।
शेषं गृहेषु सक्तस्य प्रमत्तस्यापयाति हि ।। १३ ।।

*पश्यध्वं मति वैषम्यं ज्ञातीनां नः कुटुम्बिनाम् ।
श्रेयो[5] विघातादायासादीहता मनुसंसृतिम्[6]•।। १४ ।।

को गृहेषु पुमान् सक्तमात्मानमजितेन्द्रियः ।
स्नेहपाशैर्दृढैर्बद्धमुत्सहेत विमोचितुम् ।। १५ ।।

को न्वर्थतृष्णां विसृजेत् प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम्[7] ।
यं क्रीणात्यसुभिः प्रेष्ठैस्तस्करः सेवको वणिक् ।। १६ ।।

कथं प्रियाया अनुकम्पिताया स्सङ्गं रहस्यं रुचिरांश्च मन्त्रान् ।
सुहृत्सु तत्स्नेहसितश्शिशूनां[8] कलाक्षराणामनुरक्तचित्तः[9] ।। १७ ।।

---

1. A,B,G,J,T भय , M, Ma नय 2. A,B,G,J,M,Ma,T दर्धञ्चा° 3- -3. A,B,G,J,T °त्ये कौमरे; M,Ma, °त्य कौमारे 4. A,B,G,J,M,Ma,T °कल्पस्य *This verse is not found in W edition. •The following two extra verses are found in H.V editions **नानायोनिषु गर्भादिष्ववस्थासु सदापदाम् । कायमापतनं बिभ्रत्किं विन्देच्छं स्वराडपि ।। किं दुष्टं कर्म किं स्वस्ति यतः कालः क्रियापणः । येन क्षणो हि तस्यान्तं नेयाज्जन्मशतैरपि** ।। 5. H.V योऽभिधां 6. H.V °स्मृ° 7. A,B,G,J,T य ईप्सितः 8. A,B,G,J,T च स्ने ° 9. M.Ma वशः

**पुत्रान्[1] स्मरंस्ता दुहितॄर्हृदय्या भ्रातॄन् स्वसॄर्वा पितरौ च दीनौ ।**

**गृहान्मनोज्ञोरुपरिच्छदांश्च[2-] वृत्तीश्च[-2] कुल्याः पशुभृत्यवर्गान् ।। १८ ।।**

**श्रीध० तत** इति । भवमाश्रितः[3] संसारं प्राप्तः पुंरुषरूपं शरीरं यावत्पुष्कलमस्ति, न तु विपद्येत अक्षमं[4] न भवेत् न नश्येदिति वा, तावच्छीघ्रं क्षेमाय यतेत ।। १० ।।

आयुर्व्ययक्रममाह - **पुंस** इति त्रिभिः । यद्यस्माच्छेते ।। ११ ।।

**मुग्धस्येति** । विंशतिवर्षाण्यायुर्याति ।। १२ ।।

**दुरापूरेणेति** । दुरापूरेण दुःखैस्समन्तादापूर्यमाणेन ।। १३ ।।

ननु यौवने गृहासक्तोऽपि पश्चाद्विरक्तस्सन् क्षेमं यास्यतीत्याशङ्क्य तदसम्भवं दर्शयन् कौमार एवाचरेदित्येतदुपपादयति - **को गृहेष्विति** सप्तभिः ।। १४, १५ ।।

**क** इति । यमर्थमसुभिः क्रीणाति प्राणहानिमङ्गीकृत्यापि साधयति तस्कारादिः तस्मिन्नर्थे तृष्णां को नु विसृजेत् ।। १६ ।।

किञ्च । **कथमित्यादि** । प्रियायास्सङ्गादिकं स्मरन्कथं त्यजेतेति तृतीयेनाऽन्वयः । मन्त्रान् हितशिक्षालापान्। सुहृत्सु च सङ्गम् । तेषां स्नेहेन सितो बद्धः, कलानि मधुराण्यक्षराणि येषां तेषाञ्च सङ्गं, तेष्वनुरक्तं चित्तं यस्य ।। १७ ।।

**पुत्रानिति** । ताः श्वशुरगृहे स्थिताः हृदय्या हृदयङ्गमाः मनोज्ञाः, उरवः परिच्छदा येषु तान् गृहान् वृत्तीर्जीविकाः, कुल्याः कुलपरम्परागताः ।। १८ ।।

**वीर०** ततः कारणाद्भवमनर्थावहं संसारमाश्रितः पुमान् कुशलः हेयोपादेयविभागकुशलस्सन् क्षेमायैव उक्तविधक्षेमार्थमेव यतेत । कौमार एवेत्युक्तमवधारणं प्रतिपादयितुं तदवतारयति - शरीरमिति । पौरुषं पुरुषस्य

1. M, Ma प्रत्ताः  2- -2. °ज्ञान् रुचिरच्छ° 3. A,B,J, भय 4. B अक्षेमं

जीवस्य स्वस्य सम्बन्धिशरीरं यावत् पुष्कलं पटुतरमस्ति, न तु विपद्येत विपन्नं न भवति तावदेव क्षेमाय यतेतेति पूर्वेणान्वयः। बाल्यादारभ्यैव यतेतेति भावः।।१०।।

एतदेव प्रतिपादयन् विषयासक्तस्य केवलं वृथायुर्व्ययमाह-**पुंस** इति। पुंसो मनुष्यस्य तावद्वर्षशतं ह्यायुः जीवनयोग्यकालः शतवर्षपरिमितः। तस्य शतवर्षपरिमितस्याऽऽयुषोऽर्धं पञ्चाशद्वर्षात्मकमजितेन्द्रियस्य निष्फलमेव यातीत्युत्तरेणान्वयः। नैष्फल्येन याने हेतुं वदन् पुमांसं विशिनष्टि-यदिति। यद्यस्मात् असावजितात्मा पुमान् रात्र्या मन्धतमः निद्रात्मकं प्रापित स्तूष्णीं शेते। जितेन्द्रियः कौमर एवारब्धभक्तियोगरूपभगवद्धर्मयोगस्तु[1] रात्र्यामपि मध्यमं यामद्वयं निद्रार्थमुपयोज्य पर्वोत्तरयोर्यामयोरनियतकालं भगवद्धर्ममाचरतीति भावः।।११।।

एवं बाल्ये मुग्धस्य मूढस्य दशवर्षाणि कौमारे क्रीडतो दशवर्षाणीत्येवं विंशतिवर्षाणां याति। जितेन्द्रियः कुशलस्तु तस्यामपि विंशत्यां भगवद्धर्ममनुतिष्ठतीति भावः। एवमुत्तरत्राऽप्यूह्यम्। जरया ग्रस्तो देहो यस्य अत एवाऽकल्यस्य असमर्थस्य स्वानधीनदेहस्य वर्षाणां विंशतिर्याति, बाल्यात्प्रभृति आरब्धभगवद्धर्मस्तु तदभ्यासशिक्षितदेहत्वात्तस्यामपि विंशत्यां तमनुतिष्ठतीति भावः।।१२।।

एवमहर्भागात्मकार्धायुषश्चत्वारिंशद्वर्षाणि[2] गतानि[3]। शेषमवशिष्टं दशवर्षात्मकमायुः दुरापूरेण दुःखैः समन्तादापूर्यमाणेन कामेन तदनुबन्धिना बलीयसा मोहेन, चकारात्क्रोधेन च, गृहेषु गृहधर्मेषु सक्तस्यात एव प्रमत्तस्य स्वहितमजानतोऽपयाति। जितेन्द्रियस्तु कुशलः कामाद्युपशमनेन तस्मिन्नपि दशवर्षात्मकवयसि भगवद्धर्ममनुतिष्ठतीति भावः।।१३।।

एवमजितेन्द्रियस्य वैषयिकसुखरतस्य आयुषो वैफल्यमारब्धभक्तियोगस्य कुशलस्य जितेन्द्रियस्य तु निःश्रेयससाधनभगवद्धर्मप्रसाधनोपयुक्तत्वेन साफल्यं भागवतधर्माणामेव निरतिशयश्रेयस्साधनत्वं तेषाञ्च वर्तमानमनुष्यजन्मनैवाऽनुष्ठेयत्वञ्चोक्तम्। अथ वैराग्यमन्तरेणोपदिष्टोऽपि भागवतधर्मः प्रतिष्ठितो न भवतीति वैराग्येण तावदेषां भवितव्यं, तच्च सत्सङ्गतिमन्तरेण न सेत्स्यतीति तया भवितव्यम्। सा च विषयासक्तचित्त-जनसङ्गपरिहारमन्तरेण दुर्लभेत्यभिप्रेत्य तत्परिहारश्च गृहवित्तकलत्रापत्यादिष्वनुरक्तचित्तस्य यद्यप्यशक्यः तथाऽपि उपायेन विवेकात्मना दुस्सङ्गः परिहार्य इति वक्तुं तावत् गृहादिष्वनुरागस्य दुस्त्यजत्वमनर्थावहत्वञ्चाह-**को गृहेष्वि**त्यादिना। तावद्गृहानुरागस्य दुस्त्यजत्वमाह क इति। गृहेष्वासक्तः ममेदं गृहमित्यभिमानयुक्तं दृढः

1 W °मस्तु 2.W °र्षाः 3 W °ताः।

दुर्मोचैः[1] स्नेहा एव पाशाः तैर्बद्धमात्मानं विमोचयितुमजितेन्द्रियश्च कः पुमानुत्सहेत, कोऽप्युत्साहं न कुर्यादित्यर्थः। जितेन्द्रियस्तूत्सहेतैवेति भावः। अनेन "हित्वाऽऽत्मपातं गृहमन्धकूपम्" (भाग. 7-5-5) इति पूर्वमुक्तगृहाभिनिवेशत्याग एव भगवदाश्रयणे प्रथमं कारणमित्युक्तम्।।१४,१५।।

तदभिनिवेशत्यागश्च वित्तकलत्रापत्याद्यनुरागत्यागपूर्वकः, सोऽप्यजितेन्द्रियस्य दुश्शक इत्याह - **कोन्विति।** अर्थतृष्णां वित्तस्पृहां अजितेन्द्रियश्चेत् कः पुमान्विसृजेत् त्यजेत्? दुस्त्यजत्वे हेतुं वदंस्तां विशिनष्टि - य इति। योऽर्थः[2] प्राणेभ्योऽपि गरीयसीमिति प्राणस्पृहापेक्षया गरीयसीं दृढतरामित्यर्थः। प्राणेभ्योऽपि गरीयस्त्वमेव दृष्टान्तमुखेन दर्शयन्नर्थं विशिनष्टि-यमिति। यमर्थमसुभिः प्राणैः तस्करश्चोरः, सेवक आयुधोपजीवी, वणिक् नाविकश्च क्रीणाति प्राणहानिमङ्गीकृत्याऽपि तस्करादिर्यमर्थं साधयति तस्मिन्नर्थे तृष्णां को नु विसृजेदित्यर्थः।।१६।।

किञ्च, अनुकम्पिताया दयायुक्तायाः प्रियायाः रहसि भवं सङ्गं, रुचिरान् मनोज्ञान् हितालापांश्च, सुहृत्सु च सङ्गतं स्मरन् कथं प्रियसङ्गादींस्त्यजेतेति तृतीयेनान्वयः। कथम्भूतः? तत्स्नेहसितः तेषां प्रियादीनां स्नेहेन सितो बद्धः कलानि मधुराण्यक्षराणि येषां तेषां शिशूनाञ्च, सङ्गमित्यनुषज्यते, सङ्गं तेष्वनुरक्तं चित्तं यस्य सः।।१७।।

पुत्रान् हृदय्याः हृदयङ्गमा दुहितॄः श्वशुरगृहे स्थिताः तथा भ्रातॄन्, स्वसॄः भगिनीश्च दीनौ मातापितरौ च उरवः बहवः परिच्छदाः भोगोपकरणानि येषु तान् मनोज्ञान् गृहांश्च कुल्याः कुलक्रमागताः वृत्तीर्जीविकाश्च पशून् भृत्यवर्गांश्च कथं त्यजेत, कथन्तरां विरज्येत विरक्तः स्यात्?।।१८।।

**विज०** तस्मादिदमेव कर्तव्यमिति तत्राऽऽह - **तत** इति । चशब्दो यद्यदभीष्टं तत्प्राप्य इत्याह - इतोऽपि बाल्य एव मृत्तये प्रयतेतेत्याह – शरीरमिति। पौरुषं पुरुषस्य विद्यमानं पुष्कलं पुष्टमन्धपङ्गुत्वाद्यवयव वैकल्यविधुरमित्यर्थः। विपद्येत मरणलक्षणाविपत्तिं प्राप्नोति। ततः प्राप्नोति, ततः प्रागेव, यतेतेति शेषः।।१९।।

"शतायु वै पुरुषः" इति वचनात्। शतायुः शरीरस्थितेर्निश्चितत्वात् तदन्तरालकालेऽनेकश्रेयस्समार्जनोपपत्तेः बाल्य एव निवृत्तिलक्षणश्रेयसे यतनीयमिति नियमो नापेक्षित इत्याशङ्क्य गर्भवासमारभ्य शतायुःपर्यन्तं स्वतः परतो वा शरीरस्य नाशदर्शनात् न तत्स्थितिनिश्चय शशाश्वतः। अस्तु वा कस्यचित् तथाऽपि न श्रेयो यत्रा

1. A,B,T °चनीचैः 2 W omits योऽर्थः।

दरीदृश्यते। अन्यव्यापारायासग्रस्तत्वेन दिनमेलनलक्षितवत्सराणां क्षयाद्येवं न लक्षवर्षायुषेणाऽपि मुकुन्दचरणारविन्दसेवालक्षणश्रेयस्सम्पादनं सुशकमित्याह—**पुंस** इति।।११,१२।।

दुरापूरेण नशक्यपूरणेन। हिशब्दो हेतौ।।१३।।

निद्रादिकमन्तरेण अवशिष्टकालान्तरालेऽपि श्रेयोविघ्नहेतुरस्तीत्याह—**पश्यध्वमिति**। कलहलक्षणं मतिवैषम्यं अनुसंसृतिमित्यनेनैकोऽपि क्षणो नावशिष्यत इति सूचयति।।१४।।

नन्वस्माकं श्रेय इच्छा नास्ति चेदनन्तेषु चेतनेषु कस्यचित्सा स्यात् अवसरमापद्येतेति तत्राऽऽह - **क** इति।।१५।।

ननु, प्रवृत्तिधर्मेण माभूच्छ्रेयः अर्थेन तत्स्यात्, अतो मुकुन्दपादसेवा कुतो नियुज्यत इति तत्राऽऽह - कोन्विति। योऽर्थस्तदर्थतृष्णां अर्थान्वेषणवैतृष्णयैवार्जितस्य व्यये लिप्सयाऽर्थेन सुकृतं साधयेति बोधितं साधयिष्यामीति कण्ठोपरिगद्गदनिगदेनैव कालो यातीति पुरुषायुषेणाऽपि वित्तेन सुकृतार्जनं दवीय इति वित्तव्ययमन्तरेण कायक्लेशेनैव श्रीहरिचरणनिषेवणं जन्म सफलङ्करोतीति भावः। तत्र दर्शनं प्रमाणयति तस्करादयो मृता अप्यर्थतृष्णां न मुञ्चन्तीति एतदुपलक्षणम्। परितः प्रत्येकं अलं नानाजीवानां वर्तते।।१६।।

ननु माभूदर्थाच्छ्रेयः, कामादस्तु इत्याशङ्क्य कीदृशोऽसौ? भगवद्भक्तिकामो वा, विषयकामो वा न द्वितीयः अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घजीविते को रमेतेत्यादि शास्त्रनिन्दितत्वान्नाऽद्यः। विषयविरक्त्या तत्त्यागेन भाव्यम् तस्य दुस्साधनत्वादित्याह कथमिति। रहस्यं रहसि भवं सङ्गं मैथुनलक्षणं कथं त्यजेते-त्युत्तरेणाऽन्वयः, मन्त्रादिगृहीतानां संलापानां रसेनेति शेषः।।१७।।

प्रत्ताः दत्ताः हृदयाः हृदयप्रियाः । रुचिरच्छदान् रुचिरपरिकरान् , कुल्याः कुलपरम्परया समागताः वृत्तीर्जीवनकरीः।।१८।।

**त्यजेत कोशस्कृदिवेहमानः[1] कर्माणि लोभादवितृप्तकामः।**
**औपस्थ्यजैह्वं[2] बहुमन्यमानः कथं विरज्येत दुरन्तमोहः।।१९।।**

---

1 M,Ma स्थ इवे° 2 W °हं

कुटुम्बपोषाय वियन्निजायु र्न बुध्यतेऽर्थं विहितं[1] प्रमत्तः[2]।
सर्वत्र तापत्रयदुःखितात्मा निर्विद्यते न स्वकुटुम्बरामः।।२०।।

वित्तेषु नित्याभिनिविष्टचेता विद्वांश्च दोषं परवित्तहर्तुः।
प्रेत्येह चाऽथाप्यजितेन्द्रिय स्तदशान्तकामो हरते कुटुम्बी[3]।।२१।।

विद्वानपीत्थं दनुजाः कुटुम्बं पुष्णन् स्वलोकाय न कल्पते वै।
यः[4] स्वीयपारक्यविभिन्नभावस्तमःप्रपद्येत यथा विमूढः।।२२।।

यतो न कश्चित् क्व च कुत्र[5] विद्वान् दीनः[6] स्वमात्मानमलं समर्थः।
विमोचितुं वामदृशां[7] विहार क्रीडामृगो[8] यन्निगडो[9] विसर्गः।।२३।।

ततो विदूरात्परिहृत्य दैत्या दैत्येषु सङ्गं विषयात्मकेषु।
उपेत नारायणमादिदेवं स मुक्तसङ्गैरिषितोऽपवर्गः।।२४।।

न ह्यच्युतं प्रीणयतो बह्वायासोऽसुरात्मजाः।
आत्मत्वात्सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः।।२५।।

परावरेषु भूतेषु ब्रह्मान्तस्थावरादिषु।
भौतिकेषु विकारेषु भूतेष्वथ महत्सु च।।२६।।

**श्रीध० त्यजेतेति**। कोशस्कृत्[10] कोशकारीकीटः स[11] यथा हितं[12] गृहं कुर्वन्[13] आत्मनः निर्गमाय द्वारमपि नावशेषयति तथा कर्माणीहमानः। नन्ववितृप्तकामोऽपि दोषदर्शनेन विरक्तस्सन् त्यजेत। तत्राऽह- आपम्ध्यं शैश्रयं जैह्वयञ्च सुखं बहुमन्यमानः[14-14] तदेवाऽधिकं मन्यमानः अतो दुरन्तो मोहो यस्य स कथं विरज्येत विरक्तः स्यात्।।१९।।

दुरन्तमोहत्वं दर्शयन्नाऽऽह-**कुटुम्बेति**। कुटुम्बपोषणाय वियत् क्षीयमाणं निजमायुः पुरुषार्थञ्च विहितं

1.M,Ma च य° 2.A,B,G,J,T,V ह° 3 M,Ma वा 4 M,Ma यत्स्वी° 5 A,B,G,J,T °त्र चिद्वा दी° 6 M,Ma °नं 7 A,B,G,H,J T V काम 8.M,Ma °गोऽयं नि° 9. H,V, W °लो वि°; M,Ma डोऽक्षि° 10 A,B,J कांशस्कारि 11 H,V omit सः 12 H,V omit हितं 13 A,B J कुर्वाणः 14- -14 H,V omit

न बुध्यते। अत एव तापत्रयेण दुःखितचित्तोऽपि न निर्विद्यते। तत्र दुःखबुद्धिं न करोति, यतः स्वकुटुम्बे रामो रतिर्यस्य।।२०।।

प्रत्युत चौर्यं करोतीत्याह-**वित्तेष्विति**। नित्यमर्भिनिविष्टं चेतो यस्य स परवित्तहर्तुः प्रेत्य नरकलक्षणामह च दण्डादिरूपं दोषं यद्यपि विद्वान् जानन्[1] अथाऽपि अशान्तकामः[2] अशान्ताभिलाषः तत् परवित्तं हरत्येव।।२१।।

तदेवं 'को गृहेषु पुमा' नित्यादिसप्तभिः श्लोकै रुपपादितं गृहादिषु प्रसक्तस्य वैराग्याद्यसम्भवमुपसंहरति-**विद्वानिति**। स्वलोकाय आत्मपरामर्शाय न कल्पते, किन्तु विमूढो यथातथा विद्वानपि तमोर्भिनिवेशमेव प्रपद्यते तत्र हेतुः-य इति। स्वीयमिदं पारक्यमिदमिति विभिन्नो भावो भावना यस्य सः।।२२।।

तस्मात्कौमार एव भागवतान्धर्मानाचरेदिति सहेतुकमुपसंहरति - **यत** इति। यतः कश्चिदपि स्वमात्मानं मोचितुं न समर्थः, ततो नारायणमुपेत, शरणं यातेत्युत्तरेणान्वयः। असामर्थ्ये हेतुः-अलं दीनो लम्पटः, अतः कामो दृशि यासां तासां विहारे क्रीडायां निमित्ते क्रीडामृगः। विहारमिति पृथक्पाठे तासां विहारसाधनमात्मानं यतस्तासां क्रीडामृगः स इत्यन्वयः। किञ्च, यद्यासु निगडः शृङ्खलातुल्यो विसर्गः[3] पुत्रपौत्रादि[3]रूपो भवति।।२३।।

**तत** इति। विदूरात् दूरतः सङ्गं परिहृत्य। यद्वा अविदूराच्छीघ्रं नारायणमुपेतेत्यन्वयः। यस्मात् स एव अपवर्ग इषित इष्टः।।२४।।

ननु बालानामस्माकं तद्भजनमशक्यमिति चे त्तत्राऽऽह **न हीति**। बह्वायासोऽतिप्रयासः।।२५।।

आत्मत्वात्सर्वत्र सिद्धत्वात् इति च हेतुद्वयमुपपादयति **परावरेष्विति** चतुर्भिः। ब्रह्मा अन्तो येषां, स्थावर आदिर्येषां तेषु भूतेषु जीवेषु[4] भौतिकेषु अजीवेषु घटादिषु महत्सु च भूतेष्वाकाशादिषु।।२६।।

**वीर०** कथम्भूतः ? कोशस्कृदिव कोशकारी कीट इव कर्माणीहमानो यथा कोशस्कृद्गृहं कोशात्मकं गृहं[5] कुर्वन्नात्मनो निर्गमाय द्वारमपि नाऽवशेषयति। तथा स्वबन्धकानि कर्माणि कुर्वाण इत्यर्थः। अवितृप्तः कामो यस्य तादृशः औपस्थ्यं जैह्व्यञ्च[6] सुखं बह्वधिकं मन्यमानः अतो दुरन्तो मोहो यस्य।।१९।।

दुरन्तमोहं दर्शयन् विशिनष्टि-कुटुम्बपोषणाय वियत्सीयमाणं निजायुः परिच्छिन्नायुः यस्य तादृशो विशेषण हितमनुकूलमर्थं परमं पुरुषार्थं न वेद। विहतमिति पाठे विहतमपि स्वाभिप्रेतमर्थं न वेद, दृष्टान्तत्वेन नाऽनुसन्धत्ते।

1 H.V. omit जानन् 2- -2 A,B,J omit 3- -3 H V पुत्रादि 4 B omits जीवेषु. H V देवेषु. 5. W omit गृहं 6 W जहं

सर्वत्र देशे काले च तापत्रयेण दुःखित आत्मा मनो यस्य तादृशो न निर्विद्यते। संसृतौ हेयत्वबुद्धिं न करोति, यतः स्वकुटुम्बे रामे रतिर्यस्य।।२०।।

प्रत्युत अकार्यं करोति इत्याह-**वित्तेष्विति**। परद्रव्यापहारिणो यो दोषः प्रेत्य मरणानन्तरं नरकलक्षणः इह च लोके दण्डरूपश्च तं विद्वान् जानन्नपि वित्तेषु नित्यमर्भानविष्टं चेतो यस्य सोऽजितेन्द्रियोऽशान्तकामः कुटुम्बी च सन् तत्परस्य वित्तं हरति।।२१।।

एवं **को गृहेष्वित्**यादिभिः सप्तभिः श्लोकैः गृहादिष्वनुरागो दुस्त्यज इत्युक्तम्। अथ तस्यानर्थावहत्वमाह विद्वानिति। हे दनुजाः! इत्थं विद्वानपि उक्तविधं संसारं जानन्नपि कुटुम्बं पुष्णन् बिभ्रत् यः स्वलोकाय आत्मयाथात्म्यदर्शनाय न कल्पते न समर्थो भवति। प्रकृतिपुरुषेश्वरयाथात्म्यावमर्शनपरो न भवति। किन्तु इदं स्वीयमिदं परकीयमित्येवं विभिन्नो भावो यस्य, सर्वस्य परमात्मशेषतामजानन्नित्यर्थः। यथावत् विमूढःस तमो नरकमेव प्रपद्येत। यद्वा तत्त्वविदपि कुटुम्बभरणासक्तो देहात्माभिमानस्वतन्त्रात्माभिमानयुक्तो मूढवत् नरकमेव प्रपद्यते ; न मुक्तिम्। किम्पुनः केवलमूढ इत्याह विद्वानपीति। विद्वानपि प्रकृतिपुरुषेश्वरयाथात्म्यविदपि यः पुनः स्वीयपारक्यविभिन्नभावः इत्थं कुटुम्बं पुष्णन् भवति, सः स्वलोकाय परमपदप्राप्तये न कल्पते, किन्तु नितरां मूढवत् तमएव प्रपद्येत। विदुष एवेयं गतिः, किं पुनरविदुष इति भावः। यथा विमूढ इति दृष्टान्तवशात्किम्पुनर्न्यायोऽत्र द्योत्यते।।२२।।

एवं गृहाद्यासक्तेः दुस्त्यजत्वमनर्थावहत्वञ्चोक्तम्। अथ, उक्तमुपसंहरन् दुस्त्यजगृहाद्यनुरागत्याग-निमित्तमसत्सङ्गं परित्यज्य सत्सङ्गादिप्रणाड्या[1] भगवन्तमाश्रयेतेत्याह-**यत** इति। यतः कश्चिदपि पुमान् गृहाद्यभिनिविष्टश्चेदात्मानं क्वचिदपि काले कुत्रचिदपि देशे मोचितुं मोचयितुमसमर्थः, तत इत्युत्तरेणाऽन्वयः। असामर्थ्यं हेतुः-अलमत्यर्थं दीनो विषयलम्पटः अतः[2] वामा दृशो यासां तासां विहारे क्रीडामृगः क्रीडार्थं संवर्धितशाखामृगादतुल्यः। विहारमिति पृथक्पाठे विहारस्थानमात्मानमित्यन्वयः। वामदृशां विहारक्रीडामृगत्वं विशिनष्टि-यदिति। यत् यस्मात् वामदृशां क्रीडामृगत्वाद्धेतोः निगडरूपो विसर्गः संसारबन्धो भवति। अर्यामति वा छेदः। यत्क्रीडामृग इत्येतदयमेव निगडरूपस्संसार इत्यर्थः। यदिति छेदपक्षे यच्छब्देन वामदृशां वा

1 A,B,T प्रसक्त्या 2 A,B,T omit अत.

परामर्शः। यत् यासु निगडः शृङ्खलारूपो विसर्गः पुत्रादिरूपः सर्ग इत्यर्थः। अविसर्ग इति वा छेदः। यद्यस्मात् क्रीडामृगत्वादविसर्गः, अविमोच्यो निगडः शृङ्खलातुल्यः संसारबन्धो भवतीत्यर्थः।।२३।।

**तत** इति। ततः यतो गृहादिष्वासक्तः आत्मानं मोचितुमसमर्थस्ततो विषयेषु शब्दादिष्वेव आत्मा मनो येषां तेष्वसत्सु दैत्येषु सङ्गं दूरात्परिहृत्य आदिदेवं जगदुदयस्थितिलयलीलं स्वतेजसा दीप्यमानं नारायणं जीवानां प्राप्यं, प्रापकमाधारञ्च भगवन्तम् उपेत तत्सङ्गादिप्रणाड्या शरणं व्रजत। यद्यप्यत्र सत्सङ्गतेः कण्ठोक्तिर्नास्ति तथाऽपि स्वस्य सत्सङ्गतेरेव हेतो र्ज्ञानोदयस्य स्वेनैव वक्ष्यमाणत्वात् स्वसङ्गत्यैव तैः सत्सङ्गतेः कृतप्रायत्वाच्च तदनुक्तावपि साऽभिप्रेतैव। एवं गृहाद्यासङ्गस्य दुस्त्यजत्वदोषावहत्वादि कथनेनैव तेषां वैराग्यमुदेष्यतीति वैराग्यमपि सम्पादनीयमिति शब्दतो नोक्तं, स्वस्यैव ज्ञानोपदेष्टृत्वादाचार्यत्वेनावस्थितत्वात् गुर्वभिगमनमपि इह शब्दतः कर्तव्यत्वेन नोक्तम्। किन्तु श्रीशप्रपदनमात्रमेव कुरुतेति शब्देनोक्तम्। धर्मान् भागवतानिति भगवच्छब्देनाऽभिप्रेतं निष्फलत्वशङ्काव्युदासं व्यनक्ति-स इति। स उपेयो नारायणः अपवर्गः परमपुरुषार्थलक्षणापवर्गहेतुत्वेन मुक्तस्सङ्गो देहतदनुबन्धिषु यैस्तैरिषित इष्टः, स एव मुक्तसङ्गानामिष्टोऽपवर्गः फलरूप इत्यर्थः।।२४।।

एतदेव प्रतिपादयितुं तावत्तत्समाश्रयणस्य दुश्शकत्वशङ्कां निराकुर्वन्नाह-**न हीति**। हे आसुरात्मजाः! अच्युतं, सकृदाश्रयणादेव आश्रितान्न च्यावयतीति अच्युतः तं प्रोणयतः? पुंसो बह्वायासो न हि विद्यते, देवतान्तरप्रीत्युत्पादकसाधनानुष्ठानवद्भगवत्प्रीत्युत्पादकतद्धर्मानुष्ठानेनाऽऽयासो विद्यते इत्यर्थः। अनायासे हेतुः आत्मत्वादिति। सर्वभूतानामात्मत्वात्सर्वतःसिद्धत्वात्सुलभत्वात्। सर्वत इति सार्वविभक्तिकस्तसिः षष्ठ्यर्थः। इह लोके सर्वतः सर्वेषां देवासुरादिस्त्रीपुंसवर्णाश्रमादिविभागमन्तरेण सर्वेषां सिद्धत्वादित्यर्थः। अयमभिप्रायः- न हि सुलभस्य तृणलोष्टादेरन्वेषणाय विदूरगमनादिरूपः प्रयासोऽपेक्षितः, सर्वत्र सर्वेषां सुलभत्वात्। एवं सर्वेषामात्मत्वेन सर्वसुलभस्य प्रीणनेनाऽतीवायास इति। यद्वा सिद्धत्वादित्यस्य स्वर्गादिवन्न साध्यः पुरुषार्थः अपि तु सिद्धरूपः। साध्यपुरुषार्थसाधने हि यागाद्यनुष्ठानरूपप्रयासबाहुल्यम्, सिद्धस्य तु तल्लाभोपयुक्तप्रीणनोपायतत्समाश्रयणमात्रमपेक्षितमित्यर्थः। यद्वा, आत्मत्वादित्यनायासे पृथक्हेतुः, आत्मा हि स्वशरीरे निरतिशयप्रीतियुक्तस्तद्रक्षणशीलश्च लोके दृष्टः एवं सर्वेषां जीवानां परमात्मानं प्रति शरीरत्वात् तद्विषयकप्रीतेस्तस्य स्वतस्सिद्धाया अपि विपुलापराधैरनभिव्यक्तायाः तदभिव्यक्त्यावहं किञ्चिदानुकूल्यादिकमात्रमपेक्षितर्मामति भावः। सिद्धत्वादिति तत्रैवाऽन्यो हेतुः। न हि सिद्धस्य हिरण्यनिधेस्तत्परिज्ञानमन्तरेण तल्लाभोपयुक्तोऽन्यः प्रयासोऽपेक्षितः।

एवं परमात्मनोऽपि निरतिशयपुरुषार्थरूपस्य हृदये सिद्धत्वात् तल्लाभोपयुक्तस्वामित्वशेषित्वादितद्याथात्म्यज्ञान-पूर्वकतत्समाश्रयणमात्रेण तस्य समाश्रितविषयकप्रीतिरुदेष्यतीति नाऽतीवाऽऽयासो विद्यते इत्यर्थः।।२५।।

"आत्मवत्सर्वभूतानाम्"(भाग.7-4-31) इत्येतदेव प्रपञ्चयति-**परावरेष्विति** चतुर्भिः। ब्रह्मा चतुर्मुखोऽन्तो येषां, स्थावरा आदिर्येषां तेषु परावरेषु उच्चावचेषु भूतेषु चराचरात्मकदेहभाक्षु चेतनेष्वित्यर्थः। तथा भौतिकेषु पृथिव्यादिभूतपरिणामरूपेष्वचेतनेषु घटपटादिषु, महत्सु पृथिव्यादिमहाभूतेषु।।२६।।

**विज०** कोशस्थः कोशकारी कीटः एतदेव स्पष्टयति-औपस्थ्यमिति।।१९।।

यदिति क्लृप्तं निजमात्मीयमायुर्यस्य स तथा, शास्त्रविहितमर्थं श्रेयोलक्षणं न बुध्यते स्वकुटुम्बे भार्यादौ रामः क्रीडा यस्य स तथा, न निर्विद्यते विरक्तो न भवति।।२०।।

परवित्तहर्तुश्चोरादेरिह देहात्प्रेत्य यत्पूर्वमर्जितं अथाऽप्यनन्तरमपि तच्च तदेव दुष्कर्म हरते नयतीत्यन्वयः। परलोकेऽपि विषयेष्वलम्बुद्धिर्नास्तीति भावः।।२१।।

अनुक्तविशेषप्रदर्शनाय कथितमेवाऽर्थं विशिनष्टि **विद्वानिति**। स्वलोकाय स्वक्लृप्तमोक्षाय स्वयोग्यज्ञानाय वा। तत्रहेतुमाह-यदिति। न केवलं मोक्षाय कल्पत इति, प्रत्युत अनर्थञ्चाऽऽप्नोति तम इति। विमूढो विपरीत ज्ञानी यथा तमः प्रतिपद्यते तथाऽयमित्यन्वयः।।२२।।

श्रीमन्नारायणानुग्रहमन्तरेण विद्वत्ताऽप्यकिञ्चित्करीत्याह-**यत** इति शास्त्रगुरूपदेशेन विद्वान्, संसारस्यानित्यता-मिति शेषः। दीनं स्वात्मानं विमोचितुमलं समर्थो नेति यतोऽत इति शेषः। यदि जीवराशौ कश्चिदस्तीत्यभिमानः तर्हि कुत्र कस्मिन् काले न कस्मिंश्चिदित्यर्थः। कुतोऽत्राऽऽह-वामदृशामिति। अयं पुरुषो वामदृशां विहारार्थं निर्मितक्रीडामृग इति यत् कथमयं तथाऽभूदिति तत्राऽऽह-निगड इति। आसामक्षिसर्गः कटाक्षमोक्षो यस्य निगडः शृङ्खलायितः, तस्मात्स इति शेषः।।२३।।

एतावन्तं दैत्यान् कटाक्षीकृत्योक्तं प्रकटयन्मथितार्थमाह-**तत** इति। नन्वेवं तर्हि संसारमोक्षस्य दौर्घट्यमापादितमिति शङ्का माभूत् यद्यर्थितोऽस्ति तर्हि उपायं वदामीत्यतो वाऽऽह-तत इति। यतो धर्मार्थकामैः ब्रह्मार्पणबुद्धिचिकित्सारहितैः संसारमोक्षो न सेत्स्यति ततो दैत्येषु सङ्गं दूरात्परिहृत्य नारायणं शरणमुपेत यातेत्यन्वयः। सोऽपवर्गे मुक्तसङ्गैः पुरुषैरिषितः आप्तोभवति। 'इषु गतौ' इति धातोः।।२४।।

नेदं दुस्साध्यमित्याह-**न हीति**। सर्वभूतानामात्मत्वात् तत्प्रेष्ठत्वात्सर्वत्र व्याप्तत्वेन सुलभत्वाद्वा।।२५।।

नारायणस्य सेव्यत्वे हेतुगर्भविशेषणमाह-**परावरेष्विति**।।२६।।

**गुणेषु गुणसाम्ये च गुणव्यतिकरे तथा।**
**एक एव परो ह्यात्मा भगवानीश्वरोऽव्ययः।।२७।।**

**प्रत्यगात्मस्वरूपेण दृश्यरूपेण[1] च स्वयम्।**
**व्याप्यव्यापकनिर्देश्यो ह्यनिर्देश्योऽविकल्पितः।।२८।।**

**केवलानुभवानन्दस्वरूपः परमेश्वरः।**
**माययान्तर्हितैश्वर्य ईयते[2] गुणसर्गया।।२९।।**

**तस्मात्सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम्।**
**आसुरं भाव मुन्मुच्य[3] यया तुष्यत्यधोक्षजः।।३०।।**

**तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्य किन्तैर्गुणव्यतिकरादिह[4] ये स्वसिद्धाः[4]।**
**धर्मादयः[5] किमगुणेन च काङ्क्षितेन सारञ्जुषाञ्चरणयोरुपगायतां नः।।३१।।**

**धर्मार्थकाम इति यो[6]ऽभिहित स्त्रिवर्ग ईक्षात्रयी नयदमौ विविधा च वार्ता।**
**मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः।।३२।।**

**ज्ञानं तदेतदखिलं[7] दुरवापमाह नारायणो नरसखः किल नारदाय।**
**एकान्तिनां भगवतस्तदकिञ्चनानां पादारविन्दरजसाऽऽप्लुतदेहिनां स्यात्।।३३।।***

**श्रुतमेतन्मया पूर्वं ज्ञानं विज्ञानसंयुतम्।**
**धर्मं भागवतं शुद्धं नारदादेव दर्शनात्।।३४।।**

**श्रीध० गुणेष्विति**। गुणसाम्ये प्रधाने गुणव्यतिकरे महत्तत्त्वादौ च परो ब्रह्मस्वरूपः।।२७।।

कथं तर्हि द्रष्टृदृश्यभोक्तृ[8]भोग्यादिभेदः, माययेत्याह-**प्रत्यगात्मेति**। प्रत्यगात्मा द्रष्टा भोक्ता तत्स्वरूपेण व्यापकतया निर्देश्यः। दृश्यं भोग्यं देहादितद्रूपेण च व्याप्यतया निर्देश्यो, मायया ईयत इत्युत्तरेणान्वयः। वस्तुतस्तु स्वयमविकल्पितोऽनिर्देश्योऽपि सन्। यद्वा अनिर्देश्योऽप्येवं निर्देश्यः सन् विकल्पित ईयते इत्यन्वयः।।२८।।

---

1 M,Ma काल 2 M Ma °ड्य° 3 M,Ma तया 4--4 M,Ma करैरिह येऽनु 5 M,Ma °दिभिः 6. M,Ma यो वि° 7 A,B,G,J,T °म°. *The following extra verse is found in H,V editions only शान्तो भयो विगततृदपरमात्मतत्त्व बोधोदयेन विधृतात्म परिभ्रमाक्षः। योनोऽवधूतवपुषापरमेण चेष्टं सुखं समुत्थितमिवात्म विकल्पभेदम्। 8 H.V omit भोक्तृ

**केवलेति**। यतः केवलोऽनुभवात्मक आनन्द एव स्वरूपं यस्य। ननु स एव चेत्सर्वत्र तर्हि सर्वत्र सर्वज्ञत्वाद्युपलभ्येत। तत्राऽऽह-गुणात्मकः सर्गो यस्यास्सा गुणसर्गा तया माययाऽन्तर्हितमैश्वर्यं येन सः।।२९।।

**तस्मा**दिति। यस्मादेवं तस्मात्सर्वेषु भूतेषु यथोचितं दयां सौहृदञ्च कुरुत; यया दयया, उन्मुच्य सन्त्यज्य।।३०।।

ततः किमत आह-**तुष्टे** इति। तुष्टे च तत्र तस्मिन् किमलभ्यम्। तथाऽपि गुणपरिणामात् दैवादेव स्वसिद्धा अयत्नतस्सिद्धा ये धर्मादयः तैः किम् अगुणेन च मोक्षेण काङ्क्षितेन किम्। तमुपगायतां नोऽस्माकं अकाङ्क्षितस्याऽपि तस्य सिद्धेः। यद्वा माभून्मोक्षः। तस्य चरणयोः सारञ्जुषां सुधां सेवमानानां तेनाऽपि किमित्यर्थः।।३१।।

ननु च धर्मादेरपुरुषार्थत्वे किमित्याचार्याभ्यां वेदोक्तत्वेन सत्य एवाऽभिहितस्तत्राऽऽह-**धर्मेति**। धर्मोऽर्थः कामश्चेति यस्त्रिवर्गः तदर्थश्च य ईक्षाद्या अभिहिताः। ईक्षा आत्मविद्या। त्रयी कर्मविद्या। नयदमौ तर्कोदण्डनीतिश्च[1] विविधा च वार्ता जीविका। तदेतत्सर्वं निगमस्यार्थजातं स्वसुहृदः स्वान्तर्यामिणः परमस्य पुंसः[2] स्वात्मार्पणं[2] स्वात्मार्पण साधनं चेत् तर्हि सर्वं सत्यं मन्ये, सत्यपरत्वात्। अन्यथा तदसत्यमेव। यद्वा, तदेतदखिलं निगमस्य त्रैगुण्यविषयस्य प्रतिपाद्यं मन्ये। सत्यं पुनर्निस्त्रैगुण्यलक्षणं परमस्य पुंसः स्वात्मार्पणमेवेत्यर्थः। तदुक्तं भगवता- " त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" (भ.गी.-2-45) इति।।३२।।

तेषां पुनर्विश्वासार्थं गुरुसम्प्रदायमाह-**ज्ञानमिति**। अत्र नारदः श्रोता, तत्र कुतो मादृशानामधिकार इति मा शङ्कीत्याह। भगवत एकान्तभक्तानां यत्पादरजः, तेनाऽऽप्लुतानां देहिनां सर्वेषामपि तज्ज्ञानं स्यात्, न तु उत्तमानामेवेति नियमः।।३३।।

**श्रुतमिति**। अत एव मयाऽपि पूर्वं[3] नारदाच्छ्रुतम्। विज्ञानसहितमनुभवपर्यन्तं[4] ज्ञानं[5] धर्मञ्च श्रुतम्।। ३४।।

**वीर०** गुणेषु सत्त्वादिषु गुणानां सत्त्वादीनां साम्यं यस्मिंस्तस्मिन्, प्रधाने मूलप्रकृतावित्यर्थः। गुणव्यतिकरे गुणवैषम्यवति महदहङ्कारादौ चेत्यर्थः।।२७।।

प्रत्यगात्मस्वरूपेण प्रत्यगात्मा जीवः स्वं स्वासाधारणं रूपं शरीरं यस्य तेन प्रत्यगात्मशरीरकत्वेनेत्यर्थः। दृश्यमचेतनं रूपं यस्य तेन अचेतनशरीरकत्वेन चेत्यर्थः। एकः स्वसमानरहित एव पर आत्मा पारमात्मा,

1- -[1] H,V नीतिः दण्डश्च 2- -2 A,B,J omit 3 H,V omit पूर्वं 4 H,V संयुत° 5 H,V omit ज्ञानं

अन्तःप्रविश्य भर्ता, अव्ययः अस्पृष्टशरीरगतविकारः, निरस्तनिखिलदोषः षाड्गुण्यपरिपूर्णः[1], ईश्वरो जीवकर्मानुगुणं नियन्ता, व्याप्यव्यापकनिर्देश्यः व्याप्येषु व्यापकतया निर्देष्टव्यः अविकल्पितः जातिगुणादिरहितः। केवलोऽनुभवः दुःखप्रतिभटं ज्ञानम् आनन्दरूपं तदेव स्वरूपं यस्य सः, परमेश्वरः स्वव्यतिरिक्तेश्वरान्तररहितः गुणसर्गया संसारिणां मोहादिगुणान् सृजतीति तया मायया अन्तर्हितैश्वर्यः संसारिणामप्रकाशमानमहिमा ईयते गम्यते सदाचार्योपदेशेन ज्ञायत इत्यर्थः। उक्तविधतद्याथात्म्यज्ञानपूर्वकं तत्समाश्रयणमात्रमेव तत्प्राप्तिनिमित्ततत्प्रीतिहेतु-रुपाय इति भावः। अत्र अविकल्पितः केवलानुभवानन्दस्वरूपः इति पदद्वयेन "अस्थूलमनण्वह्रस्वम्" (बृह.उ. 3-8-8) "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" (तैत्ति.उ. 2-1-1) "विज्ञानमानन्दम्" (बृह.उ. 3-9-28) इति श्रुत्यर्थप्रत्यभिज्ञापनेन प्राप्यं ब्रह्मस्वरूपमुक्तम्। अवशिष्टैरेक एवेत्यादिभिः प्रथमान्तपदैः "प्रत्यगात्मस्वरूपेण,दृश्यरूपेण चे" ति पदद्वयेन च प्राप्यस्य गुणा उक्ताः "परावरेषु भूतेषु प्रत्यगात्मस्वरूपेण च " (भाग. 7-6-20) इत्यनेन जीवस्य तच्छेषत्वापरपर्यायतच्छरीरत्वकथनेन प्राप्तृस्वरूपमुक्तम्। "गुणसर्गया माययाऽन्तर्हितैश्वर्यः" इत्यनेनाऽब्रह्मात्मक-त्वस्वतन्त्रात्मत्वादिरूपमोहादि प्राकृतगुणगण एव प्राप्तिविरोधीति कथनेन विरोधस्वरूपमुक्तम्। तत्प्राप्तिफलन्तु तच्चरणकैङ्कर्यादिरूपं "सारङ्गुषां चरणयोः" (भाग. 7-6-25) इति वक्ष्यति। एवमर्थपञ्चकमुपदिष्टं भवति। पूर्वं "उपेत नारायणम्" इति तत्समाश्रयणं कर्तव्यत्वेन विहितम्। तस्य दुष्करत्वशङ्कापरिहारप्रसङ्गात् समाश्रयणोपयुक्तार्थपञ्चकज्ञानं सदाचार्योपदेशात् सम्पाद्यमित्युक्तम्। एवमर्थपञ्चकज्ञानपूर्वकतत्समाश्रयणमात्रमेव तत्प्रसादजननद्वारा तत्प्राप्तिहेतुरित्यभिप्रेतम्। तत्समाश्रयणञ्च तद्भक्तिप्रपत्त्यन्यतरात्मक मधिकारभेदेन व्यवस्थितमिति तात्पर्यम्।।२८,२९।।

यदुक्तं "न ह्यच्युतं प्रीणयतो बह्वायासः" (भाग. 7-6-19) इति तदुपसंहरन् तत्प्रीतिनिमित्ततत्सन्तोषजनकं हेत्वन्तरमाह-**तस्मादिति**। यस्मात् सर्वान्तरात्मत्वादि प्राप्य ब्रह्मस्वरूपादिज्ञानपूर्वकतत्समाश्रयणमात्रमेव तत्प्राप्त्यावह तत्प्रीतिहेतुः। तस्मात् यूयं सर्वे[2] आसुरं भावं भूतद्रोहशीलत्वादिरूपमुन्मुच्य समूलं त्यक्त्वा परमात्मशरीरषु सर्वेषु भूतेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु[3] यथोचितं दयां सौहृदञ्च कुरुत, यया दयया अधोक्षजो भगवां स्तुष्यति। तादृशी भूतेषु दयां कुरुतेत्यर्थः।।३०।।

---

1 W omits परि 2 W omits सर्वे 3- -3 W omits

तुष्यत्यधोक्षजः ततः किम्-अतआह-**तुष्टे** इति। तत्र[1] तस्मिन्नाद्ये जगत्कारणभूते अनन्ते भगवति तुष्टे सति अलभ्यं किम्? न किमपि, सर्वं तस्मिन् तुष्टे सति अभिलषितं सुलभमेवेत्यर्थः यद्यपि सुलभं, तथाऽपि निरतिशयपुरुषार्थरूपतच्चरणारविन्दानुभवरूपममृतमनुभवद्भिः मादृशैः धर्मैश्वर्यकामकैवल्यादिकममृतं पिबद्भिः ऊषरोदकमिव नेष्यते इत्यभिप्रयन्नाह— किमिति। नोऽस्माकं गुणव्यतिकरात् कर्मानु सत्त्वादिगुणपरिणामादेव स्वसिद्धाः अयत्नतस्सिद्धा ये धर्मादयः धर्मार्थकामाः तैः धर्मार्थकामैः[2] किम्? न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः। कांक्षितेन अभिलषितेन अगुणेन गुणत्रयरहितेन कैवल्येन मोक्षेण वा किम्? सोऽपि न पुरुषार्थ इत्यर्थः। नः कथम्भूतानाम्? भगवच्चरणयोः सारमनुभवात्मकममृतसारं जुषतां सेवमानानां उपगायतां, तद्गुणान् स्तुवतां, मनसा तच्चरणारविन्दानुभवामृतमनुभवतां वाक्श्रवणाभ्यां तद्गुणानुभवामृतञ्च अनुभवतामस्माकं धर्मादय ऊषरोदकप्राया इत्यर्थः।।३१।।

ननु, त्वदुक्तमेतत्सर्वं जानन्तोऽप्यस्मद्गुरवस्त्रिवर्गमेव पुरुषार्थत्वेनोपदिदिशुः। त्वन्तु त्रिवर्गमनादृत्य भगवच्चरणारविन्दाश्रयणमेव सारतमं मन्यसे। किञ्च, गुर्वनुशिक्षितान्वीक्षिक्यादिशास्त्रेषु न त्वदुक्तधर्मः कर्तव्यत्वेनोपलभ्यते। अतः किं तद्धर्मप्रमापकम्? तत्राऽऽह - **धर्मेति**। धर्मादीनां समाहारद्वन्द्वः पुंस्त्वमार्षम्। धर्मोऽर्थः कामश्चेति यस्त्रिवर्गोऽभिहितः अस्मदाचार्यैः भार्गवादिभिरिति शेषः। यस्त्रिवर्गः पुरुषार्थत्वेन आचार्यैरुक्त इत्यर्थः। यच्च तत्प्रतिपादकेक्षादिरूपा विद्या च तदेतत्सर्वमहं मन्ये। तत्रेक्षा आन्वीक्षिकीसंज्ञा तर्कविद्या, त्रयी वेदपूर्वभागः नयदमौ दण्डनीति प्रतिपादके शास्त्रे, विविधा वर्ता कृष्याद्याजीविकाज्ञानजनकं शास्त्रम्। एतत्सर्वमहं मन्ये जानाम्येव। किन्तु यत्स्वसुहृदः परमस्य पुंसो निरुपाधिकसुहृदे परमपुरुषायेत्यर्थः। सम्प्रदानस्यैव शेषत्वविवक्षया षष्ठी। स्वात्मार्पणं भगवति स्वात्मसमर्पणं तदेतन्निगमस्य वेदोत्तरभागस्य, प्रमेयमिति शेषः। उपनिषद्भागस्य प्रतिपाद्यं सत्यं, नित्यम्, अक्षयिष्णुपुरुषार्थसाधनं, मन्य इत्यर्थः। अस्मद्गुरुभिः ज्ञातमप्यहं जानामि, नित्यनिरतिशयपुरुषार्थसाधनं भगवत्यात्मसमर्पणं वेदान्तप्रतिपाद्यं त्वधिकारं जानामीत्यर्थः। गुरवस्तु नैतज्ज्ञानन्तीत्यभिप्रायः। आपाततो जानन्तो वा महदनुग्रहाभावात् नाऽनुष्ठानोपयोगितया निस्संशयं जानन्तीति तात्पर्यम्। निगमस्येत्यनेनाऽस्मदुक्तार्थं वेदान्तमार्गः प्रमाणमित्युक्तम्। स च "ओमित्यात्मानं युञ्जीत मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" (म. ना. उ. 1-7-15) इत्यादिरूपः। स्वात्मार्पणमित्यनेन च उपेत नारायणम्, हरिमाश्रयेत

1 W omits तत्र 2- -2 W omits

इत्याद्युक्तमाश्रयणमात्मसमर्पणरूपमिति विवृतम्। भगवति स्वात्मसमर्पणं नाम स्वात्मनो भगवच्छेषतैक स्वभावत्वानुसन्धानपूर्वकं भगवति स्वात्मरक्षाभरसमर्पणरूपम्। एवं नारायणोपायनं नाम तच्छरणागतिरित्युक्तम्भवति। समनन्तराध्याये तदुपायनस्य तद्भक्त्याद्यात्मकत्वं वक्ष्यति। एवञ्च यथाऽधिकारं भक्तिप्रपत्त्यन्यतरात्मकं भगवत्समाश्रयणं कर्तव्यमिति तात्पर्यम्।।३२।।

ननु गुरुभिरज्ञातमिदमन्तरेणाऽपि तदुपदेशेन कथं त्वं ज्ञातवानित्याशङ्कायां भगवतो नारदस्यानुग्रहा-देवेति वक्तुं तस्य साम्प्रदायिकत्वमाह-**ज्ञानमिति**। तदेतद्दुरवापं दुर्लभं ज्ञानं नरस्य सखा भगवान्नारायणो बदरिकाश्रमवासी नारदायाऽऽह, उपदिष्टवान्। ननु यत्र नारदः श्रोता, नारायणो वक्ता, तस्मिन्मादृशानां कथमधिकार इति शङ्कां निराह-एकान्तिनामिति। एकान्तिनामकिञ्चनानामनन्यप्रयोजनानां भगवतः पादारविन्दरजसा आप्लु तानां स्नातानां देहिनां भगवत्सेवासक्तानां सर्वेषामपि तज्ज्ञानं स्यादेव, न तूत्तमानामेवेति नियमः।।३३।।

अत एव मयाऽपि नारदाच्छ्रुतमित्याह-**श्रुतमिति**। विज्ञानेन विवेकादिजन्येन संयुतं ज्ञानं शास्त्रोत्थं विशुद्धं भागवतधर्मरूपं भगवद्याथात्म्यवेदिनो नारदाच्छ्रुतं श्रवणेन ज्ञातं भगवतो नारदस्य वचसां श्रवणात् मम ज्ञानविज्ञानसम्पत्तिरभूदित्यर्थः।।३४।।

**विज०** गुणसाम्ये प्रलये, गुणव्यतिकरे सृष्टौ।।२७।।

व्याप्तिप्रकारमाह-**प्रत्यगात्मेति।** सर्वपदार्थानामन्तःप्रत्यगात्मस्वरूपेणाऽन्तर्यामिरूपेण बहिःकालरूपेण व्याप्तेन ब्रह्मापरपर्यायेण, एवमेक एव व्याप्यव्यापकनिर्देश्यो विकल्पितो विविधक्लृप्तः "अन्तर्यामी प्रत्यगात्मा व्याप्तः कालो हरिः स्मृतः।" (ब्रह्मतर्के) इति वाक्यसिद्धोऽयमर्थः। घट इव निर्देश्यो नेत्यनिर्देश्यरूपः।।२८।।

"अचिन्त्यमव्यपदेशमैकात्म्यप्रत्ययसारम्" इति श्रुतिनिरूपित इत्याह-**केवलेति**। सर्वत्र सिद्धश्चेत् किमिति न दृश्यत इति तत्राऽऽह-*माययेति। मायया प्रकृत्या "तमसा गूढमग्रे" इति श्रुतेः। सत्त्वादिगुणैः सर्गः* सृष्टिः यस्याः सा तथा, तया।।२९।।

यतस्सर्वभूतानि भगवन्निवासस्थानानि, तस्मात्तया भूतदयया आसुरं भावं द्वेषं "विष्णोर्गृहत्वाद्भूतेषु दया कार्या विजानता" (ब्रह्मतर्के) इति स्मृतेः। "प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः" (भ.गी. 16-18) इति।।३०।।

भगवत्तुष्ट्या किं प्रयोजनमिति तत्राऽऽह - **तुष्ट** इति। ये अनुसिद्धाः जन्मप्रभृतिप्राप्ताः तैर्गुणव्यतिकरैर्विषयसुखैः हरेश्चरणयोः सारञ्जुषां गुणलक्षणमकरन्दं सेवमानानां, तद्गुणांश्चोपगायतां गायमानानां नोऽस्माकं कांक्षितेनाऽगुणेन

अन्यैर्वाञ्छितेन मोक्षेण किं अपक्व भक्तिलभ्यमुक्तेः, भक्तेः परमानन्दरूपत्वम्। तत्राऽपि सुखाधिक्यहेतुत्वात् सुतरां धर्मादिभिः सुतमां गुणव्यतिकरैः फलं नास्तीति किमु वक्तव्यम्? मोक्षे सुखमनाकाङ्क्षमाणस्य यथा सुखाधिक्यं भवति, तथा मोक्षगतं सुखं कांक्षमाणस्य सुखं पूर्णं न लभ्यत इत्यभिप्रायेण कांक्षितेनेति विशेषणम्। "कांक्षतो मोक्षगमपि सुखमाकांक्षतो यथा" (ब्रह्मतर्के) इति वचनात्।।३१।।

ननु शास्त्रविहितानां धर्मादीनां कथङ्कारं साफल्यं भवतीत्याशङ्कां परिहरन्नाऽऽह–**धर्मेति**। धर्मार्थकाम इति नामभिन्नो यस्त्रिवर्गः शास्त्रे विहितः , तस्येक्षा ज्ञानमनुष्ठानञ्च या त्रयी त्रयोवेदाः, तेषां शब्दतोऽर्थतश्च ज्ञानं यौ नयदमौ नीतिदण्डशास्त्रे तयोरीक्षा तात्पर्यज्ञानं, या च त्रिविधा वार्ता, कृषिवाणिज्यादिलक्षणा तदीक्षा प्रयोगज्ञानं वा " ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वणश्चतुर्थः" इत्यारभ्य "सर्वदेवयजनं विद्या" इत्यनेन यदुक्तं, तस्य सर्वस्यानुकर्षणार्थश्चकारः। यदेतदुक्तं तदेतदखिलं परमपुरुषस्य स्वात्मपूर्वकसमर्पणमर्पितुमुद्दिष्टं भवति। तर्हि निगमस्य ऋग्वेदादिसकलशास्त्रपाठतस्य सत्यं यथार्थफलमिति मन्ये इत्यन्वयः।।३२।।

नेदं स्वमनीषोत्थं, किन्तु सम्प्रदायतः प्राप्तत्वात् श्रद्धेयमित्याह–**ज्ञानमिति**। नरसखोऽनन्तसखः। अनेन विशेषणेन सनकादिभ्य उपदिष्टमिदमिति ज्ञापितम्। किलशब्देन पुरातनत्वेन ग्राह्यत्वं दर्शयति। ज्ञानाधिकारिण आह–एकान्तिनामिति।।३३।।

तव कुतः प्राप्तमेतत् आह - **श्रुतमिति**।।३४।।

**दैत्यपुत्रा ऊचुः**

**प्रह्लाद त्वं वयञ्चाऽपि नर्तेऽन्यं विद्महे गुरुम्।**
**एताभ्यां गुरुपुत्राभ्यां बालानामपि हीश्वरौ[1]।।३५।।**
**बालस्यान्तःपुरस्थस्य महत्सङ्गो दुरन्वयः।**
**छिन्धि नस्संशयं सौम्य स्याद्धि द्वित्रम्भकारणम्।।३६।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवेयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
सप्तमस्कन्धे प्रह्लादानुचरिते षष्ठोऽध्यायः।।६।।

1- -1 H,V °नामृत ईश्वरौ

**श्रीध॰** तत्राऽतिविस्मिताःपृच्छन्ति दैत्यपुत्राः **प्रह्लादेति**। हे प्राह्लाद ! त्वं वयम् एताभ्यां शण्डामर्काभ्याम् ऋते ऽन्यंगुरुं न विद्मः। एतदागमनात्पूर्वमेवाऽहं नारदपार्श्वं गत इति चेत्तत्राऽऽहुः बालानामप्यतिशिशूनामस्माकमेता वीश्वरौ नियन्तारौ। अत स्तवाऽन्यत्र गमनं न सम्भवति।।३५।।

स एवात्राऽऽगत इत्यपि न सम्भवतीत्याहुः-**बालस्येति**। दुरन्वयो दुर्घटः। विस्रम्भकारणं विश्वासहेतुः।।३६।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे

श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां षष्ठोऽध्यायः।।६।।

**वीर॰** तत्र विस्मिताः पृच्छन्ति दैत्यकुमाराः - **प्रह्लादेति**। हे प्रह्लाद ! त्वं वयञ्चाऽपि एताभ्यां गुरुपुत्राभ्यामृते विनाऽन्यं गुरुं न विद्महे। एतदागमनात्पूर्वमेवाऽऽहं नारदपार्श्वं गत इत्यत्राऽऽहुः-बालानामपि शिशूनामपि सतामस्माकमेतावेव ईश्वरौ नियन्तारौ, अतस्तवाऽन्यत्र गमनं न सम्भवति।।३५।।

नारद एवात्राऽऽगत इत्यपि न सम्भवतीत्याहुः-**बालस्येति**। अन्तःपुरस्थस्य बालस्य तव महतो नारदस्य सङ्गो दुरन्वयो दुर्घटः। हे सौम्य, प्रह्लाद ! नोऽस्माकं संशयं छिन्धि अपनुद। विस्रम्भकारणं विश्वासहेतुः स्याच्चेत् असम्भावितत्वेनाऽस्माभिरविश्वसनीयो नारदसङ्गमः त्वदुक्तस्तत्र यद्यस्मद्विश्वासहेतुरस्ति चेत् तदुपपादनपूर्वकं तत्सङ्गतिविषयं संशयं छिन्धीत्यर्थः।।३६।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां षष्ठोऽध्यायः।।६।।

**विज॰** एतस्मिन्नवसरे दैत्यपुत्राः प्रह्लादकथितार्थशङ्कया तं पृच्छन्तीत्याह-**प्रह्लादेति** एताभ्यां गुरुपुत्राभ्यां शण्डामर्काभ्यामृते नाऽन्यं गुरुं विद्महे यस्मात्। किञ्च, विज्ञानञ्चेश्वरविषयं विवक्षितं, तदुपाधिनाऽपि बालाना मक्षराभ्यासनिरतानामस्माकं ईश्वरो न कांक्षित इति यस्मात् अन्यगुर्वभावेऽपीश्वर उपदेष्टा स्यादतो वाऽऽह - बालानामिति। बालानामीश्वरोऽस्त्यपि किं? नाऽस्ति प्रतिपत्त्यभावात्।।३५।।

1- -1 A,B, J Omit 2- -2 H,V Omit 3 - -3 H,V Omit 4 A,B,T add इति नः शङ्का वर्तत इत्यर्थः। 5. A,B,T इति। 6. W, Omits प्राह्लाद!

7. W, Omits त्वत्।

´कस्मिंश्चिदवसरे देशान्तरेऽन्यगुरुसङ्गतिः किं न स्यादिति तत्राऽऽह–**बालस्येति**।तस्मादुत्पन्नं नस्संशयं जहीत्यन्वयः। तत्र कृत्यमाहुरित्याह–स्यादिति।।३६।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

सप्तमस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः।।६।।

* * * *

# सप्तमोऽध्यायः

नारद उवाच

एवं दैत्यसुतैः पृष्टो महाभागवतोऽसुरः।
उवाच स्मयमानैस्तान्[1] स्मरन् मदनुभाषितम्[2]।।१।।

प्रह्लाद उवाच

पितरि प्रस्थितेऽस्माकं तपसे मन्दराचलम्।
युद्धोद्यमं[3] परं चक्रुर्विबुधा दानवान्प्रति।।२।।

पिपीलिकैरहिरिव दष्टो[4] लोकोपतापनः।
पापेन पापोऽभक्षीति वादिनो वासवादयः।।३।।

तेषा मपि[5] बलोद्योगं निशम्याऽसुरयूथपाः।
वध्यमानास्सुरैर्भीता दुद्रुवुस्सर्वतो दिशम्।।४।।

कलत्रपुत्रवित्ताऽप्तान्[6] गृहान्पशुपरिच्छदान्।
नावेक्षमाणास्त्वरिताः सर्वे प्राणपरीप्सवः।।५।।

व्यलुम्पन्राजशिबिरममरा जयकांक्षिणः।
इन्द्रस्तु राजमहिषी मातरं मम चाऽग्रहीत्।।६।।

नीयमानां भयोद्विग्नां क्रन्दन्ती[7] कुररीमिव।
यदृच्छयाऽऽगतस्तत्र देवर्षिर्दृष्टवान्[8]पथि।।७।।

---

1 B नास्ता 2 M Ma शासनम 3 M Ma द्याग 4 A B G J M Ma T दिष्ट्या 5 A B G J M Ma T ति 6 A B G J T मित्रा 7 A B G J T रुदतीं M Ma रुदन्तीं 8 A B G J M Ma T ददृश

**प्राह मैनां[1] सुरपते नेतुमर्हस्यनागसम्[2]।**
**मुञ्च मुञ्च महाभाग सतीं परपरिग्रहम्[3]।।८।।**

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

सप्तमे मातृगर्भस्थे स्वस्मिन्नारदभाषितम्। प्रह्लादो वर्णयामास शिष्यप्रत्ययसिद्धये।।

अश्रावि नारदादेतन्मया गर्भ इतीरितुम्। तत्प्रस्तावकथामाह पद्मैष्षोडशभिस्सुधीः।।

**पितरीति।** अस्माकं पितरि हिरण्यकशिपौ। स्वकृतेनैव पापेन पापोऽसावभक्षिर्भक्षित इति हर्षेण वदन्तो युद्धोद्यमं चक्रुः।।१-५।।

**व्यलुम्पन्निति** राज्ञश्शिबिरमावासं व्यलुम्पन् सर्वस्वापहारेण नाशितवन्तः ।। ६,७ ।।

**प्राहेति।** अनागसं[4] निरपराधाम्[5] एतां नेतुं[6] माऽहंसीति प्राह।।८।।

## श्रीवीराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

दैत्यकुमारैरेवं पृष्टः प्रह्लादः तत्सङ्गतिहेतु मुपपादयन् तत्त्वत्रययाथात्म्योपदेशपूर्वकं सपरिकरं भगवद्भक्तियोग मुपदिष्टवानित्याह भगवान्नारदः - **एवमिति।** एवमित्थं दैत्यसुतैः पृष्टो भागवतोत्तमः प्रह्लादस्तान् दैत्यपुत्रान्प्रति स्मयमानो मया नारदेन अनुभाषितं स्मरन्नुवाच।।१।।

तदेवाऽह-**पितरी**त्यादिनानाऽधुनाप्यजहात्स्मृतिः[7] इत्यन्तेन[7]। अस्माकं पितरि हिरण्यकशिपौ तपसे तपः कर्तुं मन्दराचलं प्रति प्रस्थिते प्रयाते सति इन्द्रादयो विबुधा देवाः दानवान्प्रति युद्धोद्यमं चक्रुः।।२।।

कथम्भूता स्सन्तः लोकोपतापनः लोकानां दुःखकारी पापः पापात्मा स्वपापेनैव दैवात् पिपीलिकैरहिस्सर्प इव अभक्षि भक्षित इति वादिनो वदन्तस्सन्तः, वासव इन्द्र आदिर्येषां ते, युद्धोद्यमं चक्रुरिति पूर्वेणान्वयः।। ३।।

ततः किं जातम्? तत्राऽह - **तेषां** वासवादीनां बलोद्योगं बलप्रयुक्तयुद्धोद्योगं निशम्य दृष्ट्वा सुरैर्वध्यमाना, अत एव भीतास्सन्तोऽसुरयूथपाः सर्वे त्वरिताः सर्वतो दिशं दुद्रुवुः पलायितवन्तः।।४।।

---

1. H,V,W चैनां; 2. H,V,W तुं नार्ह; 3 H,M,Ma V सीम्. 4. H,V °सां°, 5- -5 A omits, 6. H,V ना; 7- -7 W omit

कथम्भूताः? कलत्रादीन् नावेक्षमाणाः तेषु त्यक्तस्पृहाः इत्यर्थः। तत्र हेतुः-सर्वे[1] प्राणपरीप्सवः प्राणमात्रपरित्राणेच्छवः। तत्र परिच्छदा भोगोपकरणानि।।५।।

ततो जयशालिनोऽमरा देवाः राज्ञो हिरण्यकशिपोः शिबिरं गृहं व्यलुम्पन् सर्वस्वापहारेण-नाशितवन्तः। इन्द्रस्तु राज्ञो हिरण्यकशिपोर्भार्यां मम मातरमग्रहीत्।।६।।

ताञ्च इन्द्रेण नीयमानाम्, अत एव भयोद्विग्नां कम्पितां कुररीमिव क्रन्दन्तीं रुदतीं[2] देवर्षि नारदो यदृच्छयोपगतः पथि ददर्श, प्राह च।।७।।

तदेवाऽह - हे सुरपते! अनागसं निरपराधामेनां नेतुं त्वं[3] नार्हसि। अतो हे महाभाग! परेणान्येन हिरण्यकशिपुना[4] परिगृहीतां परदारानित्यर्थः। मुञ्च मुञ्च।।८।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

श्रुतेषु सत्सु साधनानां भक्तेरेव प्रधान्यम्, हरे मुख्यप्रसादजनकत्वात् भक्तिरेव पुरुषेणापाद्येत्यादिकं निरूप्यते ऽस्मिन्नध्याये। भक्तिप्रतिपादनात्मकत्वादस्यशास्त्रस्य पुनः पुन स्तत्प्रतिपादनात्र पुनरुक्तिशङ्काकार्या। तत्र दैत्यपुत्रैः पृष्टः प्रह्लादः किं चकारेति युधिष्ठिर शङ्कान्वितस्तां परिहन्नारदआह नारद इति। नारदस्य ममाऽनुशासनम्।।१,२।।

अहिस्सर्पः पिपीलिकैर्यथा भक्ष्यते तथा लोकोपतापनः पापो हिरण्यकशिपुः स्वपापेनाऽभक्षि नष्टप्रायोऽभूत्। दिष्ट्या! सुखमस्तु। लोकार्थमितिब्रुवाणाः। "दिष्ट्या समुपजोषञ्च" (अम.को 3-421) इत्यमरः।।३-५।।

**व्यलुम्पन्** जयकांक्षिणो जितयुद्धाः असुरजयेन प्रकाशमाना वा ।। ६,७ ।।

तवोपभोक्तुं योग्या न भवतीत्याह - **परपरिग्रहमिति** ।। ८ ।।

### इन्द्र उवाच

**आस्तेऽस्या जठरे वीर्यमविषह्यं सुरद्विषः।**
**आस्यतां यावत्प्रसवं मोक्ष्येऽर्थपदवीं गतः।।९।।**[5]

---

1. W omit सर्वे; 2. W न्ती; 3. W omit त्वं; 4- -4 W omit. 5. H,V,W प्रसवोयावत्

नारद उवाच

[1]सोऽयं निष्किल्बिषः साक्षान्महाभागवतो महान्।
त्वया न प्राप्स्यते संस्था मनन्तानुचरो बली।।१०।।

इत्युक्तस्तां विहायेन्द्रो देवर्षेन्मानयन्वचः।
अनन्तप्रियभक्त्यैनां परिक्रम्य दिवं ययौ।।११।।

ततो [2]मन्मातरमृषिः [3]समुत्रीय निजाश्रमम्।
आश्वास्येहोष्यतां वत्से यावत्ते भर्तुरागमः।।१२।।

तथेत्यवात्सीद्देवर्षे रन्ति साऽऽप्यकुतोभया।
यावद्दैत्यपतिर्घोरात्तपसो न न्यवर्तत।।१३।।

ऋषिं पर्यचरत्तत्र भक्त्या परमया सती।
अन्तर्वत्नी स्वगर्भस्य क्षेमायेच्छा प्रसूतये।।१४।।

ऋषिः कारुणिकस्तस्याः प्रादादुभयमीश्वरः।
धर्मस्य तत्त्वं ज्ञानञ्च मामप्युद्दिश्य निर्मलम्।।१५।।

तत्तु कालस्य दीर्घत्वात् स्त्रीत्वान्मातुस्तिरोदधे।
ऋषिणाऽनुगृहीतं मां नाऽधुनाऽप्यजहात्स्मृतिः।।१६।।

**श्रीध० आस्ते** इति। अविषह्यं दुस्सहम्। अतोऽनया प्रसवपर्यन्तमत्राऽस्यताम्। ततश्चाऽर्थस्य पदवीं मार्गं गतः प्राप्तस्सन् जातं पुत्रं हत्वा [4]मोक्ष्ये मोक्ष्यामीत्यर्थः।।९।।

**सोऽयमिति**। साक्षात्स्वगुणैरेव महान्, न तु पित्रादि सम्बन्धात्। त्वया हेतुभूतेन संस्थां मृत्युं न यास्यति। तत्र हेतवो निष्किल्बिष इत्यादयः।।१०।।

**इतीति**। अनन्तस्य प्रियो योऽहं, स वा प्रियो यस्य मम भक्त्या एतां प्रदक्षिणीकृत्य।।११।।

---

1. A,B,G,J,M,Ma,T अयं. 2 A,B G,J,M,Ma,T नो मा. 3. A,B,G,J,M,Ma,T समानीय; 4. A,B,J Omit मोक्ष्ये।

**तत** इति। इहोष्यतामित्याह इति शेषः।।१२।।

**तथेति।** अन्ति समीपे।।१३।।

**ऋषिमिति**। अन्तर्वत्नी गर्भिणी। इच्छया भर्तु रागमनानन्तरं प्रसूतये। एव मपि स्वगर्भस्य क्षेमाय।।१४।।

**ऋषिरिति**। तस्याः शोकशान्त्यै धर्मस्य तत्त्वं भक्तिलक्षणं ज्ञान मात्मानात्मविवेकः, तदुभयं प्रादात्। ईश्वरः समर्थः।।१५,१६।।

**वीर०** इत्युक्त आहेन्द्रः - **आस्त** इति। अस्याः जठरे कुक्षावविषह्यमस्माभिः सोढुमशक्यं सुरद्विषो हिरण्यकशिपो वीर्यं गर्भरूपेण वर्धमानमास्ते तिष्ठति[1], अतोऽनया प्रसवपर्यन्तमास्यताम् मत्समीपे स्थीयताम्। ततश्च अर्थस्य पदवीं मार्गं गतस्सन् मोक्ष्ये जातं पुत्रं हत्वा एनां त्यजामीत्यर्थः।।९।।

एव मुक्तो देवर्षिराह -**सोऽयमिति**। सोऽयं गर्भस्थः शिशुःत्वया हन्त्रा संस्थां मरणं न प्राप्स्यते। तत्र हेतुं वदन् तामिमं विशिनष्टि - निष्किल्बिषः मरणनिमित्तप्राचीनकिल्बिषरहितः। तत्कुतः? महाभागवतः भगवद्भक्तश्चैव ध्वस्तकिल्बिष इति भावः। महागुणै श्रेष्ठः, अनन्तस्य भगवतोऽनुचरः बली महाबलसम्पन्नः। यद्यपि गर्भस्थ दशायां स्वानुग्रहात्पूर्वं न भागवतत्वादयोधर्मास्तथाऽपि समनन्तरमेव स्वेनाऽनुग्रहीष्यमाणस्य पुनर्जन्मकाले "जायमानं हि पुरुषं यं पश्येत्" (भार.मो 12-336-68) इत्युक्तरीत्या भगवता ईक्षिष्यमाणस्य[2] उक्तधर्मान्वय इत्याभिप्रायेण निष्किल्बिष इत्यादीनि विशेषणान्युक्तानि। ननु इन्द्रेण मुक्तां प्रति स्वोपदेशं सति तद्गर्भस्थस्योक्तधर्मसम्पत्तिः। तस्य तद्धर्मसम्पत्तौ हि तद्धेतुकस्तत्त्यागः इतीतरेतराश्रयत्वमिति कथं देवर्षिणैवमुक्तमिति चेत् मैवं, गर्भस्थं नितरामीश्वरकटाक्षविषयमत एव "ईश्वरस्य च सौहार्दं यदृच्छासुकृतं तथा। विष्णोः कटाक्ष अद्वेषआनुकूल्यञ्च सात्त्विकैः, सम्भाषणं षडेतानि ह्याचार्यप्राप्तिहेतवः" इत्युक्तहेतुषट्कसम्पन्नं दैवज्ञो देवर्षिरालक्ष्य त्वयैतस्याममुच्यमानायामप्यहमुक्तधर्मयुक्तं नूनं करवाणि, अतोऽयं त्वया संस्थां न प्राप्स्यतीत्युक्तवानिति नेतरेतराश्रयः।।१०।।

इति इत्थं उक्त इन्द्रो देवर्षेर्नारदस्य वचो मानयन् गौरवादभ्युपगच्छन् तां राजमहिषीं विहाय अनन्तस्य भगवतः प्रियो योऽहं तस्य मम भक्त्या एनां मन्मातरं परिक्रम्य प्रदक्षिणीकृत्य दिवं प्रति ययौ।।११।।

---

1 W omits; तिष्ठति 2 A,B,T ईक्ष्यमाणस्य

ततः ऋषिर्नारदः मम मातरं स्वाश्रमं प्रति समानीय सम्यगनायासेन उन्नीय गमयित्वा आश्वास्य सान्त्वयित्वा हे! वत्से बाले ! तव भर्तुर्यावदागमः तावत्पर्यन्तं त्वया इह अस्मिन् मदाश्रमे उष्यतां स्थीयता मित्युवाच इति शेषः।।१२।।

ततस्तंथेत्यङ्गीकृत्य सा मन्माता देवर्षेरन्तिके समीपे नास्ति कुतोऽपि भयं यस्यास्तादृशी अवात्सी दुषितवती। दैत्यपतिरुग्राक्तपसो यावन्न न्यवर्तत, तावत्सती मन्माता अन्तर्वत्नी गर्भिणी स्वगर्भस्य क्षेमाय रक्षणाय इच्छया स्वभर्तुरागमनानन्तरं प्रसूत ये च परमया भक्त्या ऋषिं नारदं पर्यचरत् शुश्रूषितवती।।१३,१४।।

तत स्तां देवर्षिरनुजग्राहेत्याह - **ऋषिरिति**। ईश्वरः समर्थऋषिः तस्याः परिचरन्त्याः मन्मातुर्मामप्युद्दिश्य निर्मलं धर्मस्य तत्त्वं, ज्ञान ञ्चेत्युभयं प्रादात्। धर्मो भगवद्भक्तियोगलक्षणः तस्य तत्त्वं याथात्म्यं, तदङ्गभूतं ज्ञानं देहविविक्त प्रत्यगात्मयाथात्म्यज्ञानञ्च प्रादात् उपदिष्टवान् इत्यर्थः।।१५।।

तद्दशायामुपदिष्टं तदुभयं मम मातुः स्त्रीत्वात् कालस्य दीर्घत्वाञ्च तिरोदधे, विस्मृतमभूदित्यर्थः। ऋषिणा भगवता नारदेनाऽनुग्रहीतं मान्तु सा स्मृतिः तदुपदेशजनितं स्मृत्यात्मकं ज्ञानमधुनाऽपि नाजहात् नतत्याज।।१६।।

**विज०** सुरार्द्रषो हिरण्यकशिपोर्वीर्यं रेतोलक्षणं, अस्याः यावत्प्रसवः तावन्मम वशे आस्यतां, पश्चादहं मोक्ष्ये ततः पूर्वं कस्मान्न मुञ्चसि इति तत्राऽह-अर्थपदवीमिति।।९।।

अनया प्रसूतः पुत्रो हन्तुं त्वया न शक्यत इत्याह - नत्वयेति। संस्थां मरणं, कुतः? अत्राऽह अनन्तेति।।१०।।

अनन्तप्रियःश्रीनारायणो। अस्य भक्त्या अनन्तस्य हरेः प्रिया बहुमानलक्षणा भक्तिः, अनन्तप्रिया भक्तिस्तया वा।।११।।

तावदत्रोष्यतामित्याह - यावदिति ।। १२ ।।

अन्ति अन्तिके ।। १३ ।।

अन्तर्वत्नी गर्भिणी ।। १४ ।।

गर्भक्षेममिच्छाप्रसवश्चेत्युभयम्। ईश्वरो वरप्रदानसमर्थः। नारदाच्छ्रुतमित्यनेन नारदस्य यद्गुरुत्वमभिप्रेतमेर्वविध-मित्याह -धर्मस्येति। धर्मस्य हरेर्भागवतसंज्ञस्य वा तत्त्वं तदुभयविधज्ञानञ्च यद्गर्भस्थं मामुद्दिश्य मात्रे उपदिष्टम्।।१५।।

तदुभयं, तयोः कालस्यातिक्रान्तत्वात् स्त्रीत्वात् शब्दादिविषयलौल्याच्च मातुस्तिरोहितमभूदित्यन्वयः। "अणुरेषधर्मः" (कठ. उ. 1-21) इति श्रुतिः। धर्मो हरिः, ततस्तव किमभूदिति तत्राऽह-ऋषिणेति।।१६।।

**भवतामपि भूयान्मे यदि श्रद्दधते वचः।**
**वैशारदी धीः श्रद्धातः स्त्रीबालानाञ्च मे यथा।।१७।।**

**जन्माद्याः षडिमे भावाः दृष्टा देहस्य नाऽऽत्मनः[1]।**
**फलानामिव वृक्षस्य कालेनेश्वरमूर्तिना।।१८।।**

**आत्मा नित्योऽव्ययश्शुद्धः[2]एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः।**
**अविक्रियः स्वदृक्[3] हेतुःव्यापकोऽसङ्गनावृतः।।१९।।**

**एतै र्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः।**
**अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत्।।२०।।**

**स्वर्णं यथा ग्रावसु हेमकारः क्षेत्रेषु योगैस्तदभिज्ञ आप्नुयात्।**
**क्षेत्रेषु देहेषु तथाऽऽत्मयोगैरध्यात्मविद्ब्रह्मगतिं लभेत।।२१।।**

**अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता स्त्रय एव हि तद्गुणाः।**
**विकाराष्षोडशाऽऽचार्यैः पुमानेकस्समन्वयात्।।२२।।**

**देहस्तु सर्वसङ्घातो जगत्तस्थुरिति द्विधा।**
**अत्रैव मृग्यः पुरुषो नेति नेतीत्यतत्त्यजन्।।२३।।**

**अन्वयव्यतिरेकेण विवेकेनोशताऽऽत्मना[5]।**
**सर्गस्थानसमाम्नायै र्विमृशद्भिरसत्वरैः।।२४।।**

---

1 H.V नि: 2 H.V द्वाद्यंक:. 3. M. Ma क्रश्यांव्या: 4 M.Ma °त° 5 M Ma °नागताऽऽ°

**श्रीधः भवतामिति**। भूयात् भवेत्। वैशारदी स्वार्थे तद्धितः देहाद्यहङ्कारच्छेदनिपुणेत्यर्थः।।१७।।

**कोऽसौ**[1] वैशारदी धीरित्यपेक्षायां नारदोक्तमेव देहात्मविवेकप्रकारमाह[2]-**जन्मेति** दर्शाभः। जन्माद्याः-जायते, अस्ति, वर्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते नश्यतीत्येवम्भूता इमे षड्भावविकारा वृक्षे सत्येव यथा फलानां दृश्यन्ते तद्वदात्मनि तथैव स्थिते देहस्य दृष्टा इत्यर्थः। ईश्वरो विकारसमर्था मूर्तिर्यस्य तेन।।१८।।

तदेवं देहधर्मैः तद्वैलक्षण्येन आत्मनो देहाद्भेदो दर्शितः। इदानीमात्मधर्मैरेव भेदं स्फुटयंस्तदहङ्कारादिकं त्याजयति-**आत्मेति**। आत्मा नित्यः "अविनाशी वाऽरेऽयमात्मा" (ब्रह्म.उ. 4-5-14) इति श्रुतेः। अव्ययोऽपक्षयशून्यः। "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्" (श्वेता. उ. 4-8) इति श्रुतेः। शुद्धः "निरवद्यं निरञ्जनम्" (श्वेता. उ. 6-19) इति श्रुतेः। एकः "एकमेवाद्वितीयम्" (छोन्दो उ. 6-2-1) इति श्रुतेः। क्षेत्रज्ञः "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" (बृह. उ. 4-5-5) इति श्रुतेः। आश्रयः "यस्मिन् द्यौः पृथिवीचान्तरिक्षम्" (मुण्ड. उ. 2-2-5) इति श्रुतेः। अविक्रियः "निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्" (श्वेता. उ. 6-19) इति श्रुतेः। स्वदृक्आत्मज्योतिः "सम्राडिति होवाच" इति श्रुतेः। हेतुः "स इमाँल्लोकानसृजत" (ऐत. उ. 1-2) इति श्रुतेः। व्यापकः "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" (तैत्ति 3-2-1) इति श्रुतेः।असङ्गो "असङ्गोह्ययं पुरुषः" (बृह. उ. 3-6-15) इति श्रुतेः।अनावृतः "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" (बृह. उ. 5-1-1) इति श्रुतेः।।१९।।

**एतैरिति**। एतैर्द्वादशभिरात्मनो लक्षणैः[3] परैः श्रेष्ठैः विवेकसमर्थैः[4] देहाद्भेदं विद्वानसद्भावं मिथ्याबुद्धिं[5] त्यजेत्[6]।।२०।।

नन्वेवं विविक्तात्मज्ञानिनोऽप्यपरोक्षानुभवेन ब्रह्मता प्राप्तिः कथं स्यात् यतोऽहङ्कारादिकं त्यजेदित्यपेक्षायां तत्प्राप्तिप्रकारं सदृष्टान्तमाह - **स्वर्णमिति** स्वर्णाकरक्षेत्रेषु[7] स्फुरत्स्वर्णकणेषु ग्रावसु योगे धमनाद्युपायैः तदभिज्ञ[8] उपायाभिज्ञो[9] हेमकारो यथा स्वर्णं प्राप्नुयात्। आत्मयोगे रात्मप्राप्त्युपायैः ब्रह्मगतिं ब्रह्मताम्। अध्यात्मवित् आत्मादिकृतकार्यकारणसङ्घातज्ञाता[10]।।२१।।

अध्यात्मविवेकपूर्वक[11] मात्मप्राप्त्युपायमाह - **अष्टाविति** त्रिभिः। मूलप्रकृति महदहङ्कारो पञ्च तन्मात्राणि चेत्यष्टौ, त्रयस्सत्त्वादयस्ते च प्रकृतिगुणा एव नतु भिन्नाः। एकादशेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानि चेति षोडश।

1. H,V का सा 2. H,V omit विवेक 3- -3 H,V omit 4- -4 H,V omit 5 H,V दृष्टि 6 H,V omit त्यजेत् 7- -7 H,V स्वणकारः 8 H,V omit तदभिज्ञः 9. H,V तदुपा 10 V तं 11 A,B,J omit पूर्वक

पुमानात्मा एकः प्रोक्तः, कपिलादिभिराचार्यैः। एकत्वे हेतुः - एषु साक्षित्वेनाऽन्वयात्। तदुक्तम् - "मूलप्रकृतिर्विकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयस्सप्त।षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः" (साङ्ख्य. 3) इति।।२२।।

**देह** इति। जगज्जङ्गमम्। तस्युः स्थावरम्। अत्रैव सर्वसङ्घातात्मके एव पुरुषोमृग्योऽन्वेष्टव्यः। सुशकञ्चै तदित्याह नेति नेतीत्यन्यापोहे क्रियमाणे स्वयमेवाऽतत्त्यजन् अनात्मवर्गात्पृथगुपलभ्यमान इत्यर्थः।।२३।।

**अन्वयेति।** मणिषु सूत्रमिव सर्वत्रानुस्यूतत्वेनाऽन्वयः। अत एव मणिभ्यः सूत्रस्येवैकैकव्यतिरेकश्च तयोर्द्वन्द्वैक्यम्। तेन यो विवेकः पूर्वोक्तो वा तेन उशता शुद्धेनात्मना मनसा सर्गस्थानसमाम्नायैःसृष्टिस्थितिसंहारैः "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तै त्ति. उ. 3-1) इत्यादिश्रुत्युक्तसर्गाद्यनुसन्धानेनेत्यर्थः। विमृशद्भिर्विचारयद्भिरसत्वरैरव्यग्रैर्मृग्य इति पूर्वेणान्वयः ।। २४ ।।

**वीर०** तदेवं "प्रह्लाद त्वम्" इत्यादिना यद्दैत्यकुमारैः पृष्टं तस्योत्तरमुक्तम्। अथैतत्सत्सम्प्रदायागतधर्मस्वरूपज्ञानजिघृक्षा वर्तते चेत् भवतां मदनुग्रहेण तदुभयं सम्पत्स्यत इत्याह - **भवतामिति**। यदि भवन्तो मद्वचः श्रद्दधते मदुक्तार्थग्रहणतद्दृढीकारविषयं त्वरा युक्ताश्चेत् भवतामपि तदुभयं भूयात्। श्राद्धामन्तरेणोपदिष्टमपि तत्त्वं न प्रतिष्ठितं भवतीत्याह-**वैशारदीति**। वैशारदी निपुणतरा धीः तत्त्वविषया बुद्धिः स्त्रीणां बालानाञ्च श्रद्धात एव भूयात् नतु तां विनेत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः - मे यथेति। यथा श्रद्धावतो मम वैशारदी बुद्धिरभूत् श्रद्धारहितोया मन्मातुर्नाभूत्। एवं सर्वेषां बालानां स्त्रीणाञ्च श्रद्धात एवं ज्ञानं प्रतिष्ठितं भवति अन्यथा मन्मातुरिव अप्रतिष्ठितमित्यर्थः।।१७।।

तदेवं तेषां श्रद्धामुत्पाद्य श्रद्धायुक्तान् शुश्रूषून्दैत्यकुमारानालक्ष्य तेभ्यो भगवद्भक्तियोगमुपदिदिक्षुस्तावत्तदङ्गभूतप्रकृतिवियुक्तात्मयाथात्म्यज्ञानयोगमुपदिशति **जन्माद्या** इत्यादिना। तावज्जीवात्मस्वरूपं देहाद्विलक्षणं विवक्षुर्देहधर्मानाह-**जन्माद्या** इति। ईश्वरो गुणपरिणामापादनसमर्था मूर्तिराकारो यस्य तेन कालेन निमित्तभूतेन "जायते अस्ति वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते नश्यति" इत्येवंरूपा इमे षड्भावविकाराः दृष्टाः प्रत्यक्षमुपलभ्यमानाः देहस्यैव धर्माः, नाऽत्मनः, यथा वृक्षे सत्येव फलानां जन्मादयो दृश्यन्ते न वृक्षस्य, तद्वत् आत्मन्येकरूपत्वेनैवाऽवस्थिते अस्य देहस्य दृष्टा इत्यर्थः। आत्मव्यतिर्क्तस्य स्थिरस्य एकरूपस्य वस्तुनोऽभावात्, कथञ्चित्प्रदर्शनार्थमस्थिरः षड्भावविकारवानपि वृक्ष आत्मस्थानीयत्वेन दर्शितः।।१८।।

तदेवं देहधर्मैः तद्वैलक्षण्येन आत्मनो देहाद्भेदो दर्शितः। अथ स्वधर्मैरेवाऽत्मनो देहाद्भेदमाह **आत्मेति**। आत्मेति विशेष्यनिर्देश्यः, आत्मा प्रत्यगात्मा नित्यः उत्पत्तिविनाशरहितः, अव्ययः अपक्षयरहितः अविक्रियः अवशिष्टभावत्रयरहितः। यद्यपि "**दृष्टा** देहस्य नाऽऽत्मनः" इत्यनेनैव षड्भावविकाररहित्यमुक्तम्, तथापि फलानामिव वृक्षस्येति दृष्टान्तबलाद्यथाफलगतोत्पत्त्याद्यनाश्रयस्यापि वृक्षस्य स्वगतोत्पत्त्याद्याश्रयत्वं, एवं देहगतोत्पत्त्याद्याश्रयत्वाभावेऽपि स्वगतोत्पत्त्याद्यन्तराश्रयत्वं प्रसक्तं, तदनेन निषिध्यते। एवञ्च स्वतोऽन्यतो वा षड्भावविकाररहित इति फलितम्। शुद्धः प्राकृतरागादिगुणैरकलुषितस्वरूपः, एकः ज्ञानैकाकारतया सर्वेषु देहेषु एकरूपः, "एको व्रीहिः" इतिवज्ज्ञात्यभिप्रायक एकत्वव्यपदेशः, नतु व्यक्त्येकत्वाभिप्रायकः, आत्मव्यक्तिबहुत्वस्य बहुप्रमाणप्रतिपन्नत्वात्। क्षेत्रं शरीरं जानातीति तथा। ममेदं शरीरमिति जानान्नित्यर्थः। अनेन ज्ञानाश्रयत्वमुक्तम्। स्वदृक् स्वं पश्यतीति स्वदृक् स्वस्मै भासमानः, अनेन ज्ञानस्वरूपत्वमुक्तम्। आश्रयः देहेन्द्रियादीनामाधारो हेतु देहेन्द्रियाणां व्यापारहेतुः व्यापकः, धर्मभूतज्ञानेन व्यापकस्वरूपस्याणुत्वात्। असङ्गी जीवान्तरेण सम्बन्धरहितः। अनावृतः स्वरूपस्वभावातिरोधनरहितः, इदं मुक्तद्यवस्थं स्वाभाविकं जीवात्मस्वरूपम्। यद्वा-अनावृतः स्वरूपतिरोधानरहितः बद्धदशायामपि धर्मभूतज्ञानस्यैव कर्मणा तिरोहितत्वात्। देहस्त्वनित्यः, व्ययवानशुद्धः देवमनुष्यादिरूपेण नानाविधः ज्ञानानाश्रयोऽन्येषां यावत्सत्तम्। अनाश्रयः विरागहेतुर्व्याप्यः पितृपुत्रत्वादिसम्बन्धवान् सङ्कोचभाक् चेति भावः।।१९।।

अस्त्वेवं देहात्मनोः परस्परवैधर्म्यं ततः किम्? अत आह-**एतैरिति**। विद्वानित्थं देहात्मनोर्याथात्म्यावत् एतैरुक्तैर्द्वादशभिरात्मनोलक्षणैः परैः देहात्[1] उत्कृष्टत्वापादकैः देहादौ, आदिशब्देन देहानुबन्धिपुत्रादिसङ्ग्रहः। अहं, ममेत्यसदभिमानं मोहजमज्ञानजं त्यजेत्। देहात्माभिमानादिकं त्यक्त्वा उक्तलक्षणलक्षितात्मस्वरूपावलोकनपरो भवेदिति भावः।।२०।।

ततोऽपि किमत आह-**स्वर्णमिति**। यथा हेमकारः तदभिज्ञो हेमप्रकृतीनां ग्राव्णामभिज्ञः प्रथमं क्षेत्रेषु हेमग्राव्णामुत्पत्तिभूमिषु योगैरन्वेषणादिभिरुपायैराप्नुयात। ग्राव्णः इति शेषः। विभक्तिविपरिणामेनानुषङ्गो वा। पश्चाद्दहनादिभिरुपायैः ग्रावसु हेमआप्नुयात्। एवं देहरूपेषु क्षेत्रेषु आत्मयोगैर्देहविलक्षणात्मयाथात्म्यविवेचनसाधनै रुपायै रात्मवित् उक्तविधात्मयाथात्म्यदर्शी पश्चात् ब्रह्मणः स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयबृहतः पुरुषोत्तमस्य गतिमवगतिं तद्याथात्म्यज्ञानं लभेत प्राप्नुयात् यथावस्थिततत्साक्षात्कारं लभेतेति यावत्।।२१।।

1 A, B, T Omit देहात्

एवं ज्ञानयोगस्य भगवत्साक्षात्कारावहभक्तियोगाङ्गत्वमुक्तम्। "एतैर्द्वादशभिः" इत्यादिनोक्तासद्भावत्यागप्रकारम् "क्षेत्रेषु देहेषु तथाऽऽत्मयोगैः" इत्युक्तमेव देहविलक्षणात्मस्वरूपविमर्शनञ्च सप्रकारं प्रपञ्चयति - **अष्टा**वित्यादिभिः पञ्चभिः। तावदष्टौ प्रकृतयः -"भूमिरापोऽनलोवायुःखं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा" (भ.गी. 7-4) इत्यक्तुरीत्या ऊक्ता अष्टौ प्रकृतयः। अत्र भूम्यादिशब्दैःगन्धादितन्मात्रसहितानि पृथिव्यादीन्युच्यन्ते। बुद्धिशब्देन महत्तत्त्वं, त्रयः सत्त्वादयस्तद्गुणाः प्रकृतिगुणा एव न त्वात्मनो गुणाः। षोडश विकारा विकृतयः तेच कर्म ज्ञानोभयेन्द्रियाणि दश, पञ्च प्राणाः बुद्धिश्चित्त वा एकं सम्भूय षोडश आचार्यैः गीताचार्यादिभिः प्रोक्ताः। पुमानेक एकस्मिन् शरीरे एकः पुमान् जीवः प्रोक्तः। कुतः? समन्वयात्। एवमेव हि प्रतिशरीरं नियमेन सुखदुःखप्रतिसन्धान जीवेश्वर बद्ध मुक्त शिष्याचार्यज्ञत्वादिव्यवस्थायाः समन्वयादुपपत्तिरिति भावः। सर्वशरीरेषु जीवैकत्वे उक्तविधा व्यवस्था दुर्घटा स्यादिति भावः।।२२।।

देहस्तु सर्वसङ्घातः प्रकृतिविकृति सर्वसङ्घातात्मकः। सच जगज्जङ्गमः, तस्थुः स्थावरश्चेति द्विविधः। एवं वस्तुस्थितिरिति भावः। अस्त्वेवं प्रस्तुतस्यात्मविवेचनस्य किमायातम्? तत्राह-**अत्रै**वेति। अत्रैव देह एव पुरुषः प्रत्यगात्मा मृग्यः विवेचनीयः कथं किं कुर्वन्? नेति नेतीति इति शब्दः प्रत्यक्षदृष्टप्रकारद्योतकः, इति नेति एवं विधो न भवति, गन्धवान् न भवति, रसवान् न भवति, रूपवान् न भवति इत्येवं प्रकारेणेत्यर्थः। अतत् आत्मव्यतिरिक्तं यद्यत्पृथिव्या वस्तु तत्त्वजन्, तस्मिन्नात्मबुद्धिमकुर्वन् तद्विलक्षणः आत्माऽन्वेषणीयः इत्यर्थः।अनेन "अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत्" इत्युक्तं विवृतं भवति।।२३।।

"तथाऽऽत्मयोगैः" इत्युक्तानात्मयोगान्विवृण्वन् तै मृग्यते इत्याह-**अन्वेयेति**। अन्वयव्यतिरेकेण-अन्वयेन व्यतिरेकेण च अहं जानामीच्छामि द्वेष्मीत्येतं बुद्धीच्छादीनां ज्ञानरूपाणां ज्ञातर्यहमर्थे एवान्वयेन व्यतिरेकेण मम शिरः पाणिः पाद इति सर्वावयवेभ्यो व्यतिरेकप्रतीत्या चेत्येवंरूपेण विवेकेन अनात्मनो विभागेन उशता निर्मूलेनाऽत्मना अहम्ममेति प्रतीयमानेनात्मना अहम्प्रतीत्या चेत्यर्थः। सर्गस्थानसमाम्नायैः सर्गस्थित्यादिपरवेदान्तवाक्यार्थानुसन्धानैरैतैरुपायैर्देहादिभ्यः परमात्मानं विमृशद्भिरसत्वरैः अव्यग्रचित्तैः पुम्भिरात्मा मृग्य इति पूर्वेणान्वयः। "सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः" (छान्दो. उ. 6-8-6) इत्यादि सर्गस्थानादि समाम्नायार्थानुसन्धानै रित्युक्तेभ्योऽन्येऽप्यात्म विमर्शनोपायाः परमात्मशेषत्वतच्छरीरत्वादयोऽवगता भवन्तीत्यभिप्रायेण सर्गस्थान समाम्नायै रित्युक्तम्।।२४।।

---

1. A, B, T वस्तु त; 2 A, B, T Omit न; 3 A, B, T Omit न; 4 A, B, T Omit न

**विज०** ततोऽस्माकं किं प्रयोजनमिति तत्राऽह-**भवतामपीति**। यथा मे वैशारदी धीः भगवद्विषयज्ञानमभूत्, तत् तथा तर्हि भवतामपि भूयादित्यन्वयः न केवलं युष्माकमेव स्त्रीणां बालानाञ्च श्रद्धातस्तत्स्यादित्याह - श्रद्धात इति यदि स्त्रीबालानां श्रद्धा स्यात् अतस्तर्हि तेषामिति।।२७।।

प्रह्लादस्तेषां स्ववचसि श्रद्धामुत्पाद्य नारदोक्तं ज्ञानमुपदिशति - **जन्माद्या** इति "जातः कंसवधार्थाय भूभारहरणाय च" "जनितो तद्विष्णोः" इत्यादिषु हरेर्जन्मादिकं प्रतीयते। तत्र जन्मादिमतो हरेरितरवद्भुभंग शरीरस्थस्य तच्छरीरयोग्यभोगप्राप्त्या व्याकुलचित्तस्य सर्वसमर्पणानुगुणफलदानं कथं घटत इत्यादिशङ्कां दैत्यपुत्रचित्तस्थां परिहरन्नित्यतो वाऽऽह-**जन्माद्या** इति। इमे षड् भावाः जन्मास्तिवृद्धिपरिणामापक्षय विनाशाख्यविकारा देहस्य दृष्टाः प्रत्यक्षेण प्रमिता आत्मनः परमात्मनो न सन्तीत्यन्वयः। "षड् विकाराः शरीरस्य न विष्णो स्तद्गतस्य तु" (ब्रह्मतर्के) इत्यनेन निरस्तत्वात्। दृष्टा इत्युक्तं स्पष्टयति-फलानामिति। वसन्ताद्यवयवविशेषेण कालेन वृक्षस्य चूतादिफलानां जन्मादिकं दृश्यते यथा वृक्षस्य कालाधीनत्वं, तथा देहस्येश्वराधीनत्वमिति ज्ञापनायेश्वरमूर्तिनेत्युक्तं देवदत्तस्य सर्वमिदम्मदधीनमिति मिथ्याज्ञान निरासायोक्तमिदं तात्पर्यमिति ज्ञातव्यम्। तदुक्तम् - तदधीनं शरीरञ्च ज्ञात्वा तन्ममतां त्यजेत् इति।।१८।।

"क्षेत्रज्ञः पुरुषो ह्यात्मा संसारीचेतनो मतः" इत्युक्तेः आत्मा जीवः किं न स्यात् इत्यतस्तन्निवर्तकलक्षणमाह-**आत्मेति**। परैरव्याप्त्यादिदोषरहितै रेतैर्द्वादशभिरात्मनो हरेर्लक्षणैः स्वरूपभूतैरुपेत इति विद्वानहं ममेत्यतद्भावमतत्त्वं मोहनमज्ञानजं देहादौ त्यजेदित्यन्वयः। नित्यः स्वरूपतोऽविनाशरहितः, अवयवादिव्ययो नास्तीत्यव्ययः। प्रकृति निर्मितशरीरत्वे अविद्यारागादिदोष विधुरत्वात् शुद्धः एको मुख्यः मुख्यत्वं हरेरेव स्वरूपज्ञानेन क्षेत्राख्यशरीरज्ञातृत्वात् सक्षेत्रज्ञः आश्रयः उपजीव्यः अविक्रियः स्वतः परतो वा परिणामरहितः। स्वमात्मानं स्वयमेव पश्यतीति स्वदृक् "तद्ब्रह्म तेनाऽहं ब्रह्माऽस्मि" इति श्रुतिवश्योऽपराधीनः स्वतन्त्र इति यावत्। वशं यापयति सर्वमिति वा व्यापकोऽन्तर्बहिरिति शेषः। "आकाशो नीलिमोद" इति श्रुतेः। भूताकाशस्य परिच्छिन्नत्वात् अव्याकृतस्य चित्प्रकृत्यात्मकत्वेन भगवदनुगृहीतत्वेन तस्या व्यापकत्वमुपचरित मनेनेति भवत्येवव्यापकः। अप्राकृतत्वादसङ्गी "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" (बृह. उ. 6-3-15) इति श्रुतेः। अनावृतो ज्ञानाद्यावरणरहितः। एवंविधलक्षणोपेतस्य विष्णोः सर्वहेतुत्वाच्छरीरस्य तदधीनत्वेन तस्मिन् देहे ममतां त्यजेदित्यर्थः।।१९,२०।।

हरेर्देहादिभ्यो विविक्तत्वेन ज्ञानोत्पत्तिप्रकारं वक्ति हेर्मामिति। यथा हेमकारो ग्रावसु क्षेत्रेषु निकषाश्मसु स्थानेषु हेमकारः क्षेत्रेषु हेमवत्सु पाषाणेषु वा योगैर्हेमावाप्त्युपायैः कषणाध्मानादिपरीक्षालक्षणैर्हेमं प्राप्नुया

दित्यन्वयः। न सर्वस्य सुशकमित्यत उक्तं तदभिज्ञ इति। तथा मुमुक्षुः पुरुषः आत्मयोगैरौत्पत्तिकभक्त्याद्युपायैः देहेषु क्षेत्रेषु सम्यगालोच्य विविच्य ब्रह्मगतिं लभेत देहादिभ्यो वैलक्षण्येनब्रह्मविषयज्ञानमाप्नोतीत्यन्वयः। कोऽसावधिकारीत्यत उक्तं अध्यात्मविदिति - "तरति शोकमात्मवित्" (छान्दो. उ. 7-1-3) इति श्रुतेः। आत्मानमधिकृत्य वर्तमानं वेदान्तशास्त्रमध्यात्मं, तद्वेत्ति सम्यग्जानातीति; सात्त्विकादिस्वभावोध्यात्मं तद्वेत्तीति वा। महाभूतादिवाऽध्यात्मं तद्वेत्तीति अध्यात्मवित्।।२१।।

कानि महाभूतादीनि इति तत्राऽऽह-अष्टाविति। मूलप्रकृतिर्महदादयः सप्त; एवमष्टौ प्रकृतयः। सत्त्वादिगुणानां प्रकृतावन्तर्भावसम्भवेनाऽष्टत्वं युक्तमिति भावेनाऽऽह- त्रय एवेति। तस्याः प्रकृतेर्गुणाः स्तद्गुणाः प्रकृतिजत्वाद्विकाराश्च तद्ग्रहणेन गृहीता इति नाऽष्टत्वासम्भव इत्याशयेनाऽऽह विकारा इति। मनसा सहैकादशेन्द्रियाणि शब्दादिविषयाश्चेति विकाराष्षोडशेति पूर्वाचार्यै स्संख्याता इति शेषः। शरीरे ष्ववनुगतत्वेन विकारसम्भवादेतैस्सह किं न पठित इति तत्राऽऽहुः[1]-पुमानिति। समन्वयादितिल्यब्लोपे पञ्चमी। समन्वयमनुगतं प्राप्य एकः पुमान् नारायण एव केवलं शुद्ध इत्यतो विकारेषु न पठित इत्यर्थः। अत्रेदं तात्पर्यमवगन्तव्यम् तथाहि। अभिमन्यमानजडापेक्षया पुमान् जीवः पञ्चविंशोऽभिमानचेतनविवक्षया विष्णुः षड्विंश इति सम्यगन्वयात् नियन्तृत्वेन अनुमति ज्ञानात् ज्ञेय इति तदुक्तम् - "अभिमान्यपेक्षया विष्णुःपञ्चविंश इति स्मृतः। जडव्यपेक्षया जीवः सम्यग्ज्ञेयो हरिः स्मृतः" (ब्रह्मतर्के) इति। यद्वा आकाशादि पञ्चभूतानि सत्त्वादित्रयो गुणाः इत्यष्टौ प्रकृतयः। तत्र मूलप्रकृति महदहङ्काराणामाकाशादिष्वनुगतत्वेन पृथग्ग्रहणं न क्रियते, गुणानां तदात्मकत्वेन गुणग्रहणेन तद्ग्रहणोपपत्तेः। शेषं पूर्ववत्।।२२।।

तत्त्वसंख्याकथनेन प्रकृते किमायातमिति तत्राऽह देहास्त्विति। सर्वेषां प्रकृतितत्कार्याणां सङ्घातः समूहः तन्निर्मित इत्यर्थः। तत्त्वेभ्योऽथ तदभिमानिभ्यो विविच्य परमात्मा ज्ञातव्य इत्यभिप्रायेण तत्त्वसंख्यानं कृतमितीममर्थं दर्शयति, तुशब्देन देहशब्देन प्रपञ्चो विवक्षित इति कृत्वा तं देहं विभजति - **जगदिति**। जगच्छब्दो द्विरावृत्त्या व्याख्येयः। तथाहि - जगत्समस्तं, जगज्जङ्गमं, तस्थु स्थावरमिति द्विधा विभक्तं; किञ्चात इत्यत आह-अत्रेति। ततत्वाद्ब्रह्म, तन्नभवतीत्येतत् प्रकृत्यादिकं त्यजन् हित्वा स्वतः सर्वदा भिन्न इत्यर्थः। पुरुषः पूर्णः षड्गुणोऽत्रैव देहलक्षणे प्रपञ्चे मृग्योऽन्वेषणीयो विचार्यो ज्ञातव्य इति यावत्। शतृप्रत्ययेन सदा

1 M.Ma आह

प्रकृत्यादि त्यागो न कादाचित्क इति च सूचयति। तत्र किं प्रमाणमिति तत्राऽह - नेति। "स एष नेति नेतीत्यात्मा" (बृह. उ. 6-5-15) इति श्रुतिः प्रमाणमित्यर्थः। योऽतत्त्यजन् तद्वपुस्त्यजन् तेनेति वा अतत्त्यजतीति अतत्त्यक्, तेन। अतत्त्यजेति वा पाठः।।२३।।

कया युक्त्या मृग्यत इति तत्राऽह - **अन्वयेति**। अन्वययुक्तव्यतिरेकेण। यत्र यत्र जगत् तत्र तत्र ब्रह्म त्यन्वयः। यत्र यत्र ब्रह्म न तत्र तत्र जगत् परिच्छिन्नत्वादि व्यतिरेकलक्षणयुक्त्याऽऽकाशवत् जगदन्वितत्वेन यदेतदसङ्गलक्षणपृथक्त्वेन वेति युक्त्या निश्चितेन विवेकेनागतेन युक्तेनात्मना मनसा। ननु व्याप्तिग्राहक प्रमाणाभावेन आभासत्वान्वयान्निर्णयो न स्यादिति तत्राह - सर्गेति। अत्र सर्गस्थानाभ्यां संहारादिकमुपलक्ष्यते। न सहिता त्वरा यैस्ते असत्वराः तैः। "सर्वेश्वराघोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्याः, इन्दो बलं ददातीति सर्वं ऊष्माणो ग्रस्ता अनिरस्ता विवृता वक्तव्याः प्रजापते रात्मानं परिददातीति सर्वं स्पर्शालेशेनानभिनिहिता वक्तव्या, मृत्यो रात्मानं परिहरणीया" इति श्रुतेः? विमृशद्भिः विचारं कुर्वद्भिः "को न आत्मा किं ब्रह्म" इत्यादिश्रुतेः सर्ग स्थानादिविषयैः समाम्नायैः निर्दोषगुणोपेतैर्वेदैः "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति" (तैत्ति. उ. 3-1) इत्यादिलक्षणैः "अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः" (म.ना. उ. 9-5) इत्यादिकैश्चानुगृहीतया।।२४।।

**बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तयः।**
**तायेनैवाऽनुभूयन्ते सोध्यक्षः पुरुषः परः।।२५।।**

**एभिस्त्रिवर्णैः पर्यस्तै र्बुद्धिभेदै- क्रियोद्भवैः।**
**स्वरूपमात्मनो बुध्येद्ग्रन्थैर्वायुमिवान्वयात्।।२६।।**

**एतद्द्वारो हि संसारो गुणकर्मनिबन्धनः।**
**अज्ञानमूलोऽपार्थोऽपि पुंसः स्वप्न इवाऽप्यते।।२७।।**

***मनोमयत्वात् सर्वार्थाः स्वप्नजागरयो स्समाः।**
**दृष्टानर्थानपि ध्यातुः शोकमोहभयप्रदाः।।२८।।**

---

1 M, Ma सरूप; 2 M, Ma द्वत्तेग; 3 M, Ma रिवा, 4 A,B,G,J,T इवेष्यते; W इवाप्यते। *The following two verses are not found in A,G,J,T editions and they are commented by Vijayadhwaja The commentary is found in M, Ma edition 5 H,V सर्वे अर्था; 6. H,V नष्टा अपि

**परस्य निर्गुणस्याऽपि गुणसङ्गाजनिर्मृतिः।**
**व्यक्तं जन्माप्ययप्रोक्तं शयानस्येव नस्वतः।।**
**हरिसञ्चिन्तया सर्वे प्रयान्ति परमं पदम्।।२९।।**

**तस्माद्भवद्भिः कर्तव्यः कर्मणां त्रिगुणात्मनाम्।**
**बीजनिर्हरणं योगः प्रवाहो परमो धियः।।३०।।**

**तत्रोपायसहस्राणामयं भगवतोदितः।**
**यदीश्वरे भगवति यथा यैरञ्जसा रतिः।।३१।।**

**गुरुशुश्रूषया भक्त्या सर्वलाभार्पणेन च।**
**सङ्गेन साधुभक्तानामीश्वराराधनेन च।।३२।।**

**श्रद्धया तत्कथायाञ्च कीर्तनै र्गुणकर्मणाम्।**
**तत्पादाम्बुरुहध्यानात् तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभिः।।३३।।**

**हरि स्सर्वेषु भुतेषु भगवानास्त ईश्वरः।**
**इति भूतानि मनसा कामै स्तै स्साधुमानयेत्।।३४।।**

**श्रीध०** विमर्शप्रकारमाह बुद्धेरिति द्वाभ्याम्। अध्यक्षः साक्षी।।२५।।

**एभिरिति**। अत एभिर्बुद्धेर्भेदैः परिणामैः पर्यस्तै परितः क्षिप्तैः अनात्मधर्मत्वेन निरस्तैः। बुद्धिधर्मत्वं हेतुः-त्रिपर्णैः त्रिगुणात्मकैः क्रियोद्भवैः कर्मजन्यैः, बुद्धेरेव त्रिगुणात्मकत्वात्कर्मकर्तृत्वाच्च तस्या एवैता अवस्थाः। आत्मा तु बुद्ध्यन्वयात् तदवस्थावानिव आभाति, न तत्त्वत इत्यात्मनः स्वरूपं बुध्येत् जानीयादित्यर्थः। अत्र दृष्टान्तः कुसुमधर्मैर्गन्धैस्तदाश्रयं वायुमिव।।२६।।

ननु तर्हि यथा कुसुमोपाधिकोऽपि वायोर्गन्धो विवेकज्ञानेन निवर्तते, एवमात्मनः संसारो न निवर्तत इत्याशङ्क्याऽह-**एतदिति**। एतद्द्वारो बुद्धिद्वारकस्तदवस्थाद्वारको वा संसारो न स्वतः। हि यस्मात् बुद्धेर्गुणाः

1 M, Ma दनिर्वृतिः 2. M, Ma त्ययो व्यक्तः 3. H,V ह 4 - -4 This helf verse in not found in H,V editions 5 A,B,G,J, T त्य° 6- -6 H,V भक्तिः स्याद्यथा M, Ma भक्तिः स्या न्नान्यथा, 7 A,B G,J T लब्धा; 8. M,Ma तत्प; 9 h,v omit संसार.

कर्माणि च तैर्निबध्यत इति। तथा स चाज्ञानमूलः, अतोऽपार्थो मिथ्याभूतोऽपि स्वप्न इवेष्यते वायोस्तु गन्धद्रव्यसम्बन्धस्य वास्तवत्वाद्विषमो दृष्टान्तः।।२७।।

**तस्मादिति**। यस्मादेवं निवृत्तिर्घटते, तस्माद्बीजमज्ञानं, तस्य निर्हरणं दहनम्। किं तद्योगः? कथम्भूतः? धियः प्रवाहं जाग्रदादिरूपमुपरमयतीति तथा।।२८-३०।।

तदेवं ज्ञानप्रकारमुक्त्वा तत्साधनं धर्मस्य तत्त्वं नारदोक्तमेवाह **तत्रेति** पञ्चभिः यैर्धर्मैः, यथा यथावत् अनुष्ठितैर्वा भगवति श्रीनारायणे रतिरिति यदयमुपायो भगवतोक्तः। तथा च गीतासूक्तम्। "यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय। तत्कुरुष्व मदर्पणम्" (भ.गी. 9-27) इति "भक्त्या मा मभिजानाति यावान्यश्चाऽस्मि तत्त्वतः" (भ.गी. 18-55) इत्यादि च।।३१।।

तत्रैवान्तरङ्गान् धर्मानाह **गुर्वीति**। गुरोः शुश्रूषया [1]भक्त्या प्रेम्णा सर्वेषां लब्धानामर्पणेन च।।३२।।

**श्रद्धयेति** तस्य लिङ्गानां मूर्तीनामीक्षणमर्हणमादिर्येषां वन्दनादीनां, तैश्च।।३३,३४।।

**वीर०** अन्यानपि तद्विमर्शनोपायान् वदंस्तैः प्रत्यगात्मस्वरूपंदेहविलक्षणमवगच्छेदित्याह-**बुद्धेरिति**। जागरणं, स्वप्नः सुषुप्तिरिति एतास्तिस्रो बुद्धेर्वृत्तयः व्यापाराः। ताः वृत्तयो येनैवाऽनुभूयन्ते स एव परः देहेन्द्रियबुद्ध्यादिभ्योऽन्यः अध्यक्षो देहादीनां द्रष्टा धारको वा पुरुषः प्रत्यगात्मा। जागरणं नाम बाह्येन्द्रियव्यापारानुविद्धा बुद्धिवृत्तिः। स्वप्नस्तदननुविद्धा, सुषुप्तिर्बुद्धिवृत्त्युपरमः। तदुपरमोऽपि तत्सम्बन्ध्येवेति बुद्धेर्वृत्तय इत्युक्तम्। एतद्वृत्तित्रयजाज्ञानाश्रयत्वेन यः प्रतीयते स प्रत्यगात्मेति भावः।।२५।।

एतदेव सदृष्टान्तं विशदयन्नेवमादिभि रुपायैरात्मस्वरूपं बुध्येदित्याह **एभिरिति**। एभिस्त्रिवर्णैस्त्रिविधाः सत्त्वादिगुणत्रयमूलकैर्वा पर्यस्तैरस्थिरैः क्रियोद्भवैः पुण्यपापात्मककर्मनिमित्तैबुद्धिभेदैः [2]बुद्धिवृत्तिभेदैः जागरादिभिः [3]त्रिभिः उपलक्षितमात्मनः स्वरूपं विद्यात्, यथा ग्रन्थैः कुसुमादिगतैरुपलक्षितं तदाश्रयं वायुं बुध्यति तद्वत्। कुतः? अन्वयात् जागरणाद्यवस्थात्रयेऽन्वयादनुवृत्तेः। यथा पवनात्मककर्मणा तत्तत्पङ्कजादिकुसुमादिगतं गन्धमानीय तदाश्रयतया तदन्वितं प्रवहन्तं वायुं ततः पृथग्भूतमुपलक्षते पार्थिवकुसुमादिगतस्य गन्धस्य न वायुराश्रयः, तदन्वयाच्च वायोस्तदाश्रयत्वं, अत एव तदन्वयापाये केवलस्पर्शगुणस्य वायोरुपलम्भः, ततो

1 A omit ऽभक्त्या I; 2- -2 W Omits; 3. A, B, Omit त्रिभिः

गन्धात् पृथगेव वायुः स्वाभाविकस्पर्शगुण इति तं[1] यथोपलक्षते[1]; तथा बुद्धिभेदाः न स्वभावतः आत्मगताः। तेषां स्वाभाविकत्वेऽन्यतमबुद्धिभेदेऽन्यतमस्योपलम्भप्रसङ्गः। किन्तु कर्मायत्तबुद्धिसम्बन्धप्रयुक्ततद्वृत्त्यन्वयात् तदनुभवोपलम्भः। स्वभावत एवात्मा तद्वृत्त्यनन्वित एव ततः पृथग्भूत इत्येवं तं बुद्ध्येदित्यर्थः।।२६।।

तदेवं देहादावसद्भावत्यागप्रकारो देहविलक्षणतत्वेन आत्मविमर्शनप्रकारश्चोक्तः। अथैवम्भूतस्य प्रत्यगात्मनः कुत स्तद्देहादिसम्बन्धरूपस्संसारो यस्मिन्नसद्भाव इत्याशङ्कायां, त्रिवर्णैः क्रियोद्भवैरिति परिहार स्सूचितः। तमेव विशदयितुं स्वपरयाथात्म्यज्ञानमूलकदेहात्मभ्रमादिरूपाऽनादिमोहनिमित्तगुणकर्मसम्बन्धप्रयुक्तः संसारः तत एवात्म[2]स्वरूपप्रयुक्तत्वाभावादपुरुषार्थेप्योपाधिकत्वाद्यावदुपाधिबुद्धिसम्बन्धद्वाराऽनुवर्तते इत्याह- **एतदिति** एष बुद्धिसम्बन्ध एव द्वारं यस्य स संसारः स्वप्न इवाल्पास्थिरत्वात्स्वप्नतुल्यः, अत एवाऽपार्थः अपुरुषार्थोऽपि पुंसः प्रत्यगात्मनोऽप्यंते प्राप्यते। कर्तुः पुंसः शेषत्वविवक्षया षष्ठी। पुंसा संसारः प्राप्यत इत्यर्थः। बुद्धिसंम्बन्धे हेतुं वदन् संसारं विशिनष्टि - अज्ञानमूल इति। अज्ञानं मूलं कारणं यस्य अज्ञानमूलः स्वपरयाथात्म्याज्ञानमूलक-बुद्धीन्द्रियसम्बन्धनिमित्तो देह स्तदनुबन्धिरूपस्संसार इत्यर्थः। कथमुक्तविधस्यात्मनोऽज्ञानसम्बन्ध इति शङ्कां निराकुर्वन् संसारमेव विशिनष्टि गुणकर्मनिबन्धन इति। गुणकर्माधीनः सत्त्वादिगुण परिणामानुगुणकर्मपरिपाकाधीन इत्यर्थः। अयं भावः स्वभावतः सर्वे प्रत्यगात्मानः "आत्मा नित्योऽव्ययः" इत्याद्युक्तविधा अप्यनादिकर्मणा सत्त्वादिप्राकृतगुणसंसृष्टा स्तत्र तत्तत्कर्मपरिपाकवशात् गुणपरिणामः ततः स्वपरयाथात्म्याज्ञानं, ततो गुणकर्मानुरूपं परमात्मसृष्टबुद्धीन्द्रियसम्बन्धः, ततो देहतदनुबन्धिसम्बन्धरूपस्संसारः, ततो देहात्माभिमानः ततः पुनः कर्म, ततः पुनर्गुणपरिणामादिरित्येवं परिवृत्तिर्यावत्कर्मोपाधि अनुवर्तते इति।।२७-२९।।

यतोऽयमुक्तविधस्याऽप्यात्मनो देहात्मभ्रमादिरूपाज्ञानमूलककर्मनिमित्तः संसारः तस्माद्भवद्भिः कर्मनिर्हरणोपायोऽनुष्ठेय इत्याह - **तस्मादिति**। तस्मात् संसारस्य अज्ञानमूलगुणकर्मायत्तत्वात् त्रिगुणात्मनां सत्त्वादिगुणत्रयपरिणामहेतूनां कर्मणां यद्बीजं मूलं देहात्मभ्रमादिरूपं तस्य निर्हरणं निर्हरणोपायात्मको यो योगो वक्ष्यमाणः सचधियः प्रवाहः शब्दादिविषयकं ज्ञानं तस्योपरतिरूपो भवद्भिः कर्तव्यः।।३०।।

वक्ष्यमाणभगवद्भक्तियोगस्यैव बीजनिर्हरणोत्तमोपायत्वमाह-**तत्रेति**। तत्रावश्यं बीजनिर्हरणोपाये कर्तव्ये सति उपायसहस्राणां मध्ये अयमेवोत्तम उपायः कथितो भगवता। कोऽसौ? यैस्साधनैर्भगवति ईश्वरे

1--1 A, B यथोपलक्ष्यते. 2 A, B त्मनः स्वं

रतिरनुरागः प्रीतिरङ्गसा सुखेन यथा स्यादित्येषः स्वसाधनैरनुगृहीता भगवति रतिरित्येष एव उत्तम उपाय इति- " नाऽहं वेदैर्न तपसा न दनेन नचेज्यया।भक्त्यात्वनन्वया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन " (भ. गी. 11-53) इति "नमे भक्तः प्रणश्यति" (भगी. 9-3) इत्यादिना तत्र तत्र भगवता प्रोक्त इत्यर्थः। रतिरित्यनेन निरतिशयप्रीतिरूपापन्ना भक्तिरुच्यते; तस्या एव साक्षाद्भगवत्प्राप्तिहेतुत्वं संसारनिवर्तकत्वञ्च सूच्यते।।३१।।

सा च कैस्साधनैर्निष्पद्यते इत्यपेक्षायां साधनानि वदं स्तैरुपकृतेन ध्यानयोगेन निष्पद्यत इत्याह-गुरुशुश्रूषयेत्यादिभि श्चतुर्भिः। गुरुशुश्रूषया गुरूणां परिचर्यया, गुरुभ्यस्तत्त्वश्रवणेच्छया वा, भक्त्या गुरूणां भक्त्या उपासनेन सर्वेषां गुर्वपेक्षितानां मध्ये लाभः लभ्यत इति लाभः, **स्वस्य** सुलभं यत्तस्य समर्पणेन, यथाशक्ति तदपेक्षितसमर्पणेनेत्यर्थः। साधु यथा भवति तथा भगवद्भक्तानां सङ्गेन साधवः क्रोधमात्सर्यलोभाशुभमतिराहित्यरूप साधुलक्षणलक्षिताः भक्ताः, तेषां सङ्गेन वा ईश्वराराधनेन अर्चाविग्रहाराधनेन, हृदयकमलस्थस्य मानसोपचारैराराधनेन वा, अर्हणादिभिरित्यर्चाऽऽराधनस्य वक्ष्यमाणत्वात्।।३२।।

तत्कथायाम् ईश्वरकथायां श्रद्धया श्रवणासक्त्या ईश्वरस्य गुणानां कर्मणां कीर्तनैः तस्येश्वरस्य पादाम्बुजयां ध्यानात् तल्लिङ्गस्य अर्चाविग्रहस्य ईक्षणार्हणादिभिर्दर्शनपूजादिभिः, आदिशब्देन प्रणामपरिक्रमादि सङ्ग्रहः।।३३।।

किञ्च, भगवानीश्वरः सर्वभूतेष्वन्तरात्मतया वर्तते, अतः सर्वाणि भूतानि भगवदात्मकानीति बुद्ध्या यथाशक्ति यथायोग्यं तत् तद्भूतान्यपेक्षितैः कामैः साधुमानयेत्। सम्मानयेदित्यनेन च।।३४।।

**विज॰** विमृश्य निर्णयप्रकारं दर्शयति - **बुद्धेरिति**। "सत्त्वबुद्ध्यादिशब्दैस्तु जीवोऽपि क्वचिदीर्यते" (ब्रह्मतर्के) इति वचनात्, बुद्धेर्जीवस्य जागरणाद्यावृत्तयोऽवस्था येन परमात्मना प्रेरितेन जीवेनाऽनुभूयन्ते। "जाग्रदाद्याः कर्मचैव सुखदुःखे च तस्य हि" (ब्रह्मतर्के) इति वचनात्। स परः पुरुषोऽध्यक्षः -"जाग्रदादेः परो द्रष्टा सुखनित्यो हरिः स्मृतः" (ब्रह्मतर्के) इति वचनात्। सोऽध्यक्षो जाग्रदादिनाऽधिगतेन्द्रियसुखदुःखपरोजीवः परोविश्वादिविग्रहाद्धरेरन्य इत्युत्तरार्धस्याऽर्थभेदो ज्ञातव्यः। एव शब्देन कालादिकं व्यावर्तयति।।२५।।

" कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ प्राज्ञः कारणबद्धस्तु " इति वचनात्, विश्वादिविग्रहान्नारायणादन्यत्वं जीवस्य कथं जीवधर्माक्रान्तत्वात्तस्येति तत्राऽह एभिरिति। बुद्धीनां जीवानां भेदस्तारतम्यलक्षणो यैर्ज्ञाप्यते

1 W संसृति, 2. W Omits सूच्यते; 3- -3 W गुर्वित्यादिना; 4- -4 W Omits, 5 W तेषां भक्तानां; 6- -6 W Omits; 7 W Omits कर्मणां; 8 W पदाम्बुरुहयां; 9 A, B Omit तत्

तैर्जीवतारतम्यज्ञापकैः, अत एव पर्यस्तैरेकत्र समस्तैरेभि स्त्रिवर्णैःस्त्रिधावर्णैः वर्णनं येषां ते तथा तैः जाग्रदादिभिस्त्रयोवर्णाः शुक्लकृष्णपीतलक्षणा येषां ते तैः, सत्त्वादिगुणैर्वा स परमात्माऽज्ञजनदृष्ट्याऽऽत्मनो जीवस्य सरूपं रूपेण-समानरूपं[1] कार्यादिबद्धं धत्ते इति दृश्यते, न तु प्राज्ञजनदृष्ट्या। तद्दृष्ट्या ज्ञानानन्दादिसमानं रूपं धृत्वा तत्स्वरूपं धत्त इति "स जीवेन सहस्थानात् तत्स्वरूपः प्रदृश्यते" (ब्रह्मतर्के) इति स्मृतेः। अन्वयात् दक्षिणाक्ष्यादिषु अनुगतत्वात्। कीदृशैः क्रियोद्भवैः क्रियया उद्भवो येषां ते तथा तैः, कर्मजनितैः, यद्वा क्रियाया उद्भवो येभ्योगुणेभ्यस्ते तथा तैः शुक्लसत्त्वजन्यं जागरणं, पीतरजोजन्यं स्वप्नं, कृष्णतमोजन्या सुप्तिः, कर्माण्येवोर्वीधानि "अजा मेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" (मना. उ. 8-4) इति श्रुतेः। कुत्रायं व्यवहारो दृष्ट इति तत्राऽऽह-गन्धैरिति यथा गन्धैरन्वयात् सौरभ्यादि गन्धसम्पर्कात् सुगन्धो दुर्गन्धो मिश्रगन्धो वायुरिति व्यवह्रियते, न तावता तादात्म्यं वायोः। तथात्वे सर्वदा तथा स्यात्, नचैवम्। तस्माद्भिन्न एव वायुः, तथा हरिरपि "यथा गन्धयुतो निलः" (ब्रह्मतर्के) इति च "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, तदनु प्रविश्य सच्चत्यच्चाऽभवत्" (तैत्ति. उ. 2-6) इति श्रुतेः। देहाख्यप्रपञ्चसम्पर्कोऽस्त्येव हरेरिति भावः।। २६।।

अभेददर्शनं बाधकमाह- **एतद्द्वार** इति। इदमभेददर्शनं द्वारं यस्य संसारस्य स तथा, पुंसः संसारः प्राप्यते, हि यस्मात् "अदृष्टे जीवपरयोः भेदस्याऽप्रोति संसृतिम्" (ब्रह्मतर्के) इति वचनात्। अभेददर्शनं कारणमाह - गुणेति अभेददर्शनजनकत्वेन गुणकर्मणोस्संसारानिमित्तत्वमाह - तस्येति। विशेषकर्मणः कारणमज्ञानं, तद्द्वारा संसार इत्याशयेनाऽह - अज्ञानेति। अज्ञाननिमित्तकर्मपरम्परया मुग्धमनसः पुंसोऽभेदनिश्चयादन्तत स्तम एव शरणमित्याशयेनाऽह - अपार्थ इति। अपगतनिवृत्तिः, तमस इति शेषः "अर्थः स्याद्विषये मोक्षे शब्दवाच्ये प्रयोजने। व्यवहारे धने शास्त्रे वस्तुहेतुनिवृत्तिषु।" (वैज.को. 6-1-3) इत्यभिधानात्, मशकार्थे धूम इति प्रयोगाच्च "अभेदनिश्चयाद्याति तमो नाऽस्त्यत्र संशयः" (ब्रह्मतर्के) इति स्मृतेः। अपिशब्देन नित्यदुःखभूयिष्ठतमः प्राप्तिं सूचयति। "दुखरूपोऽपि संसारो बुद्धिपूर्वमवाप्यते" (ब्रह्मतर्के) इति। संसार स्तमः इन्द्रियार्थसान्नि-कर्षादर्थोपलब्धिः, जाग्रत् जाग्रदनुभवसंस्कारोपस्थापितविषयाभासोपलब्धिः स्वप्नः, उपरत स्व स्त्र वृत्तीन्द्रियविषयाज्ञानं सुप्तिः। अत्र जाग्रद्दृष्टश्रुतपदार्थसंस्कारकृतः स्वप्नः स्वशिरश्छेदनादि लक्षणो दुःखादिहेतुर्यथा, तथा जाग्रदपि राजाहं वदतोऽनर्थ परम्परादृष्टिवज्जीवपरयोरभेदं जानतः पुंसः इहाऽमुत्रदुःखबाहुल्यहेतुरित्यर्थः।

1 M, Ma °नं

"यथा स्वप्ने शिरश्छेदं स्वयं कृत्वाऽऽत्मनोऽवशः। ततो दुःखमवाप्येत तथा जागरितोऽपितु।। जानन्नप्यात्मनोदुःख मवशस्तु प्रवर्तते"।। (ब्रह्मतर्के) इति स्मृतौ दर्शनात्।।२७।।

अर्थ क्रियाकारित्वात् न स्वप्नादे मिथ्यात्वमित्याह **मनोमयत्वादिति**। मनसा निर्मितकर्मनिर्मितत्वाद-नित्यत्वाभिप्रायेण स्वप्नजाग्रत्साम्यम्। अन्यथा "शोकमोहभयप्रदा" (भाग. 7-7-28) इत्येतदसम्बद्धं स्यात्। न च शुक्तिरजतादिकं वलयकरणादियोग्यम्।।२८,२९।।

विपक्षे बाधकमुक्त्वा विपर्यये पर्यवसानच्छलेन संसारबीजनिर्हरणोपायमाह - **तस्मादिति**। यस्मात्पुंसो गुणकर्मनिमित्ताभेददर्शनद्वारः संसारः तस्मादभेदनिमित्तत्रिगुणमयकर्मबीजभर्जनोपायो भवद्भिः कर्तव्यः इत्यन्वयः[1]। नन्वाग्निष्टोमादिकमन्तरेण कर्मणां बीजभूतस्य लिङ्गशरीरस्य हननोपायः। कोऽसौ? यमनियमादिलक्षणश्चेत्, तस्योभयत्र साधारणत्वेन अनन्तरङ्गत्वात्। अत आपाकनिक्षिप्तामघटदहनयोग इवाऽहत्य तत्साधनं वक्तव्यमिति तत्राऽह- प्रवाह इति। धियः प्रवाहस्य सजातीयविजातीय[2]प्रत्ययानन्तरिततया विषयीकरणनिपुणोपासनालक्षणस्य उं रुद्रं पाति रक्षतीत्युपः "उपोऽधिके" इति सूत्रादुपः सर्वाधिको वा परमेश्वरः। तस्मिन् रमणं निरन्तर श्रीनारायणचरणसरसिजसञ्चिन्तनलक्षणोपासनात् स एवेत्यभिप्रायः।।३०।।

धियः प्रवाहस्य अन्तरङ्गसाधनमाह-**तत्रेति** भगवतेत्यनेन ग्राह्यत्वे आप्तमूलत्वं दर्शयति - अन्यथा बाधकमाह - नेति।।३१।।

**भक्त्या** गुरुशुश्रूषया,"यस्य देवे पराभक्तिर्यथादेवे तथागुरौ" (श्वेता. उ. 6-23) इति श्रुतेः। सर्वलाभार्पणेन, हराविति शेषः। "बह्मार्पणं ब्रह्म हविः" (भ. गी. 4-24) इत्यादेः। साधु भक्तानां "नाऽवैष्णवाय दातव्यं नोदबिन्दुं न तण्डुलम्" इत्यादे नियतभगवद्भक्तानां सेवालक्षणप्रसङ्गेन "महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः" इत्यादेः ईश्वराराधनेन पञ्चरात्रोक्तेन पञ्चकालीनभगवत्पूजया पञ्चकाल परायणं पञ्च पञ्च कालैकमनसाम् इत्यादेः।।३२।।

तत्कथायां शुद्धया "पानेन ते देवकथासुधायाः" (भाग. 3-5-45) इत्यादेः गुणकर्मणां सङ्कीर्तनैः "कलौ सङ्कीर्त्य केशवम्" इत्यादेः। विभर्यखिण्डध्यानविधानार्थं तत्पदाम्बुरुहध्यानादिति। "सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दम्" (भाग 3-28-21) इत्यादेः तस्य हरे र्लिङ्गं प्रतिमा तस्येक्षादर्शनम् अर्हणं पूजनम् आदिशब्देन प्रदक्षिणादि गृह्यन्ते। "बर्हायिते ते नयने नराणाम्" (भाग 2-3-22) इत्यादेः।।३३।।

1. A,B Omit इत्यन्वयः. 2 A.B Omit विजातीय

"हरिस्सर्वेषु भूतेषु" (भाग 7-7-34) इत्यादिना हरिरेव पूज्यो न तु भूतानि योग्यतातिरेकेणेति। इदमेव कथ्यते - ईश्वरो जीवकलया प्रविष्ट इत्यादे र्वा।।३४।।

**एवं[1] निर्जितषड्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे**
**वासुदेवे भगवति यया[2] संलभते रतिम्।।३५।।**

**निशम्य कर्माणिगुणानतुल्यान् वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि।**
**यदाऽतिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं[3] प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति।।३६।।**

**यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धसत्याक्रन्दतेध्यायति[4] वन्दते जनम्।**
**मुहुःश्वसन्वक्तिहरे जगत्पते नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः[5]।।३७।।**

**तदा पुमान् मुक्तसमस्तबन्धनस्तद्भावभावानुसृताशयाकृतिः।**
**निर्दग्ध बीजानुशयो महीयसा भक्तिप्रयोगेण[6] समेत्यधोक्षजम्।।३८।।**

**श्रीध॰ एवमिति।** निर्जितः षण्णां काम, क्रोध, लोभ, मोह, मदमत्सराणां[7] -8- इन्द्रियाणां[-8] वा वर्गो यैः।।३५।।

भगवद्व्रते लिङ्गान्याह - **निशम्येति** त्रिभिः। गुणान् भक्तवात्सल्यादीन्। अति हर्षेणोद्गताः पुलका अश्रूणिच तैर्गद्गदं यथा भवत्येवं प्रात्कण्ठो मुक्तकण्ठ[9] उद्गायति।।३६,३७।।

**तदेति।** तस्य भावश्चेष्टादिस्तस्यभावो भावना तेनानुकृते आशयाकृती मनश्शरीरे यस्य निर्दग्धं बीजमज्ञानमनुशयो वासना च यस्य सः, सम्यगेति प्राप्नोति।।३८।।

**वीर॰** इत्येतैस्साधनैः निर्जितैः षण्णां कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्याणां वर्गैः भगवतीश्वरे भक्तिः क्रियते कर्तव्येत्यर्थः। भक्तिरहरहर्ध्यानम्, एवमहरहः क्रियमाणया ध्यानात्मिकया[10] भक्त्या[11-] प्रीत्यात्मिका[-11] प्रकृष्टां भावना[12] लभते इत्याह वासुदेवे इति। यया अहरहः क्रियमाणया गुरुशुश्रूषादिसाधनानुगृहीतया अनुध्यानात्मिकया उत्तरोत्तर साक्षात्कारेच्छात्मकपरभक्त्यपरपर्याययया वासुदेवे भगवति रतिं परमभक्त्यपरपर्यायभूतां निरन्तरानुबुभूषात्मिका प्रीतिरूपां लभत इत्यर्थः।।३५।।

1 H, V एभिर्नि॰ W इति नि॰ 2. W यथाऽनुल॰ 3 M, Ma °दः. 4 H.V °ति. 5. W र॰. 6. H, V प्रवाहेण. 7. H,V मात्सर्याणाम् 8- -8 H, V Omit. 9. H, V Omit मुक्तकण्ठः। 10. A, B add उत्तरोत्तर साक्षात्कारेच्छात्मिकया भक्तिपरम्परया यथावासुदेवे ध्यानात्मिकया भक्त्या 11- -11 A, B भक्तिं. 12 A, B add तत्

एवंविध भक्तियोगनिष्पत्तिलिङ्गानि वदं स्तेन परिनिष्पन्नेन भगवद्भक्तियोगेन परमात्मानं प्राप्नोतीत्याह- **निशम्येति** त्रिभिः। यदा भगवतो गुणानतुल्यान् अनितरसाधारणान् तथा लीलातनुभिः स्वेच्छोपात्ता प्राकृतदिव्यावतारतनुभिः[1] रामकृष्णादिभिः कृतानि कर्माणि चेष्टितानि च निशम्य श्रुत्वा अति-हर्षणोद्गता उदञ्चिताः पुलकाः रोमाणि अश्रूणि आनन्दबाष्पबिन्दुवश्च तैर्गद्गदं यथा भवत्येवं प्रोत्कण्ठः मुक्तकण्ठः उद्गायति अत्युच्चैर्गायति रौति ध्वनति नृत्यति च।।३६।।

सर्वदा च ग्रहग्रस्त इव हसति क्वचिदाक्रन्दते रोदिति क्वचिच्चध्यायति क्वचिच्चजनं भगवदात्मकं वन्दते नमस्करोति क्वचिच्च पुनः पुनः श्वसन् श्वासं मुञ्चन् गतत्रपो निर्लज्जः हे नारायण! जगत्पते! हरे! इतीत्थं वाक्त वदति, तदेत्युत्तरेणान्वयः। इयमेव भक्तियोगस्य निष्पत्त्यवस्थेति भावः।।३७।।

तदा परिनिष्पन्नभक्तियोगावस्थायां पुमान्[2] उक्तविधभक्तियोगनिष्ठः महीयसा सर्वोत्तमेन भक्तियोग-रूपेणोपायेन प्रारब्धावसाने मुक्तं समस्तं बन्धनं भगवत्प्राप्तिविरोधि पूर्वोत्तरपुण्यपापात्मकाघरूपं यस्मात्तादृशो निर्दग्धो नितरां दग्धो बीजानुशयः संसृतिमूलभूत कर्मवासनात्मको यस्य तस्य भगवतो भावः प्रकारः आकृति रित्यर्थः। तस्य भावो भावनाऽनुध्यानं तेनाऽनुकृतः आशयोऽन्तःकरणम् आकृतिर्विग्रहश्च यस्य भगवता समानरूप इत्यर्थः। अधोक्षजं भगवन्तमुपैति प्राप्नोति।।३८।।

**विज०** यया भक्त्या हरौ रतिमुपासनां लभते, तया स्वरूपानन्दानुभवलक्षणां रतिं लभत इति परम्परया योज्यम्।।३५।।

सृष्ट्यादीनि कर्माणि कंसवधादीनि वीर्याणि, उद्गानादिकं न सर्वभक्तसाधारणम् - तदुक्तम् - "केचिद्भक्ताः प्रनृत्यन्ति गायान्ति च यथेप्सितम्।केचित्तूष्णीं भजन्त्येव केचिच्चांभयकारिणः" (ब्रह्मतर्के) इति।।३६, ३७।।

एत देवाऽह-तद्भावेति। तस्य भावे यथास्वरूपे भावोक्तिस्तस्यानुकृतेऽनुकूलत्वेन प्रकटिते आशयाकृती अन्तःकरणाकारौ यस्य स तथा, कश्चिदुद्गानेनान्तराभक्तिं प्रकटयति कश्चिद्रोदनाश्रूपातकरणेन, कश्चिन्नर्तनेन, कश्चित्तूष्णीं भजनेनेति तस्य ब्रह्मणो भावो लीला, तत्र यो भावो भक्तिस्तया रन्धिताभिप्रायाकार इति वा, स्थानाभि-प्राय आशय इति वा, निर्दग्धं कर्मबीजं यस्य स तथा, स चाऽनुशयोऽन्तःकरणं यस्य स तथा, अनुशय-स्संसारो वा।।३८।।

---

1 A. B विग्रहैः; 2 W Omits उक्तविध

**अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मनः शरीरिणस्संसृतिचक्रशातनम्।**
**तद्ब्रह्मनिर्वाणसुखं विदुर्बुधास्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम्।।३९।।**

**कोऽतिप्रयसोऽसुरबालका हरेरुपासने स्वे हृदि छिद्रवत्सतः।**
**सत्यात्मनस्सख्युरशेषदेहिनां सामान्यतः किं विषयोपपादनैः।।४०।।**

**रायः कलत्रं पशवस्सुतादयो गृहामहीकुञ्जरकोशभूतयः।**
**सर्वेऽर्थकामाः क्षणभङ्गुरायुषः कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत्प्रियं चलाः।।४१।।**

**एवं हि लोकाः क्रतुभिः कृता अमीक्षयिष्णवस्सातिशयाननिर्मलाः।**
**तस्मादद्दृष्टश्रुतदूषणं परं भक्त्यैकयेशंभजताऽत्मलब्धये ।।४२।।**

**श्रीध०** ततः किमत आह-**अधोक्षजेति**। अधोक्षजस्याऽऽलम्भं मनसा स्पर्शं पाठान्तरे तस्याऽऽश्रयणम् अशुभात्मनः अशुभो रागादियुक्तः आत्मा मनो यस्य संसृतिचक्र शातनं तन्निवर्तकं बुधाः विद्वांसः विदुः, तदेव ब्रह्मणि निर्वाणं लयो मोक्षः तदात्मकं सुखं विदुः। हृदीश्वरमन्तर्यामिणम्।३९।।

भक्तिरशक्येति च न मन्तव्यमित्याह - **क** इति छिद्रवदाकाशवत् हृदि तिष्ठतो विषयाणामुपपादनैरर्जनैः किम्? तत्र हेतुः-सर्वदेहिनां समान्यतः विषयनिष्ठत्वे सूकरादिसाधारण्यापत्तेरित्यर्थः। न चैवमादौ पौनरुक्त्यं दोषः नारदोक्तानुवादरूपत्वादस्य प्रकरणस्य।।४०।।

अनर्थकं विषयवर्जनमित्याह - **राय** इति। रायोऽर्थाः, क्षणभङ्गुरमायुर्यस्य तस्यै ते कियत्प्रियं कुर्वन्ति? तदुक्तमितिहासेषु "धनं हि पुरुषो लोके पुरुषं धनमेव वा। अवश्यमेकं त्यजति तस्मात्किं धनतृष्णया"। इति।।४१।।

"यन्नदुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।अभिलाषोपनीतञ्च तत्सुखं स्वः पदास्पदम्" इत्येवम्भूताः स्वर्गादिभोगा अपि न सेवार्हा इत्याह - **एवंहीति**। क्षयिष्णुत्वे हेतुः - क्रतुभिः कृता इति। "तद्यथेह कर्माचितो लोकः

---

1 H,V,W °लम्ब, M,Ma °लम्ब 2. A, B, G, J, T स्वस्या°, M, Ma अस्या° 3 M, Ma सर्वार्थ 4. H, V °कयातंभ°; M, Ma कया सम्भ°

5 A, B, J Omit विद्वांसः 6- -6 H, V Omit 7 H, V °त्वेन 8 A, B, J क्रय 9 B, H, J, V °षोपपन्नञ्च सुखं स्वर्गपदास्पदम्

क्षीयते एवमेवाऽमुत्र पुण्यचितोलोकः क्षीयते" (छान्दो उ. 8-1-6) इति श्रुतेः। अत एव पुण्यतारतम्येन सातिशयाः। न च निर्मलाः स्पर्धादिमत्त्वात्। न विद्यते दृष्टं श्रुतञ्च दूषणं यस्मिन्।।४२।।

**वीर॰** उपैतु, ततः किमत आह- **अधोक्षजेति**। इह लोके अशुभात्मनस्तापत्रयदुःखितमनसः शरीरिणः संसृतिचक्रं,चक्रवत्परिवर्तमानानिष्टरूपा संसृतिः, तस्याश्शातनं निवर्तक मधोक्षजस्यालम्भः स्पर्शः प्राप्तिरिति यावत्। एवं भगवत्प्राप्तेरनिष्टनिवर्तकत्वमुक्तम्। अथेष्टप्रापकत्वमाह - तदधोक्षजालम्भनमेव ब्रह्मनिर्वाणसुखं ब्रह्मसम्बन्धि यन्निर्वाणं, निर्वाणो मोक्षः तद्दशायामनुभूयमानमित्यर्थः। तत्सुखं यस्मिन् तादृशम्। यद्वा, निर्वाणं निरतिशयानन्दो ब्रह्मरूपं यन्निर्वाणं तस्य सुखमनुभवरूपं यस्मिन् तादृशं बुधाः ब्रह्मविदो विदुः। यतोऽनिष्टनिवर्तनेष्टप्रापणक्षमभगवत्प्राप्तिसाधनभूतः तद्भक्तियोगः, ततो यूयं हृदये हृद्गते, अयगतौ, हृदयस्थानगते जीवे इत्यर्थः। "हृदि ह्ययमात्मा प्रतिष्ठितः" (प्रश्न 3-1-6) इति श्रुतेः। तस्मिन्नीश्वरं नियन्तृतयावस्थितं [1]हृदि हृदयपुण्डरीके भगवन्तं भजध्वम्। अनेन "तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्तिधीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्" (गुह्यका. उ. 44) इति श्रुत्यर्थः प्रत्यभिज्ञायते।।३९।।

तदेवं निरतिशयानन्तस्थिरफलभगवत्प्राप्ति साधनतद्धर्मानुष्ठानस्य [2]दुश्शकत्वशङ्कानिरासं "न ह्यच्युतं प्रीणयतो बह्वायासः" (भाग. 7-6-19) इत्युपक्रम्य तद्धर्मतदनुष्ठानप्रकारकथनेन तदाशङ्कां निरस्य अथैवमस्मिन् सुकरे भगवद्धर्मानुष्ठाने न कोपि प्रयास इत्युपसंहरन्, वैराग्यजननाय स्वर्गस्वाराज्याद्यवांचीनपुरुषार्थस्य सातिशयाल्पास्थिरत्वं वक्तुं तावत् दृष्टान्ततया वैषयिकस्य ऐहिकलौकिकसुखस्य तुच्छतामाह **क** इति द्वाभ्याम्। हे असुरबालकाः स्वे स्वकीये [4]हृत्पुण्डरीके छिद्रवदाकाशवत् सतो वर्तमानस्य सत्यस्य सत्यकामत्वादि नित्यविभूत गुणाष्टकाश्रयस्य आत्मनः परमात्मन अशेषदेहिनां सामान्यतः साधारणतया सख्युः "द्वा सुपर्णा" (मुण्ड. उ. 3-1-1) इत्यादिश्रुत्युक्तसख्ययुक्तस्य हरेरुपासनेन कोवाऽतीव प्रयासः? न कोऽपीत्यर्थः। विषयाणां शब्दादीनामुपपादनैरर्जनैः किम्? न किमपि तेऽतितुच्छा इति भावः। छिद्रवत्सत इत्यनेन "यावान्वाऽयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः" (छान्दो. उ. 8-1-3) इति दहरविद्योदितः भूताकाशदृष्टान्तोऽभिमतः। तत्र हि भूताकाशस्येव अग्निवायुसूर्याचन्द्रमोविद्युन्नक्षत्रादिकृत्स्नजगदाधारत्वं हृत्पुण्डरीकस्थस्य दहराकाशस्य प्रतिपादितम्। "उमा वाग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चाऽस्येहाऽस्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितम्" (छान्दो. उ. 8-1-3)

---

1 A, B, omit हृदि; 2 A, B omit तत्; 3 W °त्वा. 4 A, B हृत्पद्मे

इति। एवं हृत्पुण्डरीके दहराकाशरूपेण वर्तमानस्याऽपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकयुक्तस्य हरे रुपासनं सुशक मित्यभिप्रायः।।४०।।

"किं विषयोपपादनैः" इत्यनेन सूचितं विषयाणामल्पास्थिरत्व सातिशयत्वरूपं तुच्छत्वमुपपादयति **राय** ईति। रायो धनानि सुतादय इत्यादिशब्देनाऽन्ये पित्रादयो देहानुबन्धिनो विवक्षिताः। मही क्षेत्रम्, आजीविकारूपं विषयो वा, कुञ्जरा गजाः, तेषां कोशः शाला, धनकोशस्य राय इत्यनेनोक्तत्वात्, भूतयः भोग्य भोगोपकरणादि समृद्धयः। सर्वे च एते अर्थकामाः काम्यमाना अर्थाः क्षणेनाल्पकालेन क्षणभङ्गुरमायुरवस्थानं येषां ते अत एव चञ्चला अस्थिराः मर्त्यस्य मरणशीलस्य पुंसः कियत् प्रियं सुखं कुर्वन्ति जनयन्ति न कियदपि सातिशयमस्थिरमल्पमेव सुखं जनयन्ति, नतु निरतिशयमनन्तं स्थितञ्चेत्यर्थः।।४१।।

अथैतद्दृष्टान्तेन स्वर्गादेरपि सातिशयाल्पास्थिरत्वान्याह - **एवं** हीति। यथा रैप्रभृतिजन्यानि सुखानि तुच्छानि एवं क्रतुभिःर्यागादि कर्मभिः कृता सञ्चिता अमी स्वर्गादयो लोका अपि क्षयिष्णवो नश्वराः सातिशया न निर्मलाः अनिर्मला दुःखमिश्राश्चेत्यर्थः। अत्र "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत्ते एवमेवाऽमुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते, प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपाः, परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्" (छन्दो. उ. 8-1-6) इत्यादि श्रुत्यर्थोऽभिप्रेतः। यत एवं तस्माददृष्टश्रुतदूषणं न विद्यते दृष्टं श्रुतं वा दूषणं यस्य श्रुति स्मृतिभ्यामदूषितम्; किन्तु प्रशस्तमित्यर्थः। तं भक्त्यैवोपायेनलभ्यं परं परमपुरुषमात्मलब्धये भजत। आत्मलब्धये आत्मलाभार्थं, आत्मनः सत्तायै इत्यर्थः। अन्यथा संसरत आत्मनोऽन्ततः स्थावरत्वादि प्राप्त्या असत्प्रायतैव स्यादिति भावः।।४२।।

**विज॰** भक्त्यनन्तरं भगवत्कथा निर्वाणसुखजननीत्याह- **अधोक्षजेति**। अधोक्षजालापं संसृतिचक्रशातनं नाशनं तद्धरिविषयकथाकथनं ब्रह्मनिर्वाणसुखं बह्मणोऽनुग्रहात्प्राप्यमुक्तिसुखं विदुरिति यत्ततो देहहृदये स्थितं, जीववत् हृदि स्थितमीश्वरं भजध्वमित्यन्वयः। "योऽयं बहिर्वा पुरुषादाकाशो, यो वै यं वोवसयोऽयमन्तः पुरुष आकाशो योवैसोऽन्तः पुरष आकाशो यं वसयो यमन्तर्हृदय आकाशः" (छान्दो. उ. 3-12-7) इति श्रुतेः। हृदीश्वरं मनः प्रेरकत्वेन तत्स्वामिनं "स हि सर्व मनोवृत्तिप्रेरकः समुदाहृतः" इति वाक्याद्वा।।३९।।

भगवदुपासनं दवीयस्त्वेन बहुपाथेयसाध्यत्वेन भागीस्थीयात्रावत् दुस्साधनं किम्, नेत्याह- **कोऽति प्रयास** इति अस्यात्मनो जीवस्य स्वे स्वाधीने हृदिछिद्रवदाकाशवत्सतः स्थितस्य हरेरुपासने कोऽति प्रयासः,

1- -1 W omits. 2- -2 A omit; 3 A, B add भजत; 4. A, B omit इत्यर्थ ।

न कोऽपि। सर्वगतत्वेन समीपस्थत्वात् "तद्दूरे तदन्तिके" (ईश. 3-5) इति श्रुतेः। अशेषदेहिनां सामान्यतः साधारणत्वेन हृदिस्थितत्वेन सख्युः तस्मात् विषयोपपादनैः किम्? शास्त्रैरिति शेषः।।४०।।

भक्तेरन्तरङ्गसाधनं वैराग्यमेवेत्याशयेनाह **राय** इति।।४१।।

विहितयज्ञ साध्यत्वेन स्वर्गादे र्नित्यत्वं सम्भाव्यमिति, नेत्याह - **एवमिति** । एवं मर्त्यलोकवन्नानिर्मलाः प्राकृतत्वात्, न दृष्टं श्रुतं दूषणं यस्य स तथा तम् सहचरीभूतवैराग्येण एकया मुख्यया आत्मलब्धये स्वरूपानन्दानुभवलक्षणमुक्तिप्राप्त्यर्थमात्मनो देहादे र्विविच्य स्वरूपज्ञानलक्षणलाभाय वा।।४२।।

**[1]यदर्थ इह कर्माणि [2]विद्वन्मान्यसकृन्नरः।**
**करोत्यतो विपर्यासममोघं विन्दते फलम्।।४३।।**

***सुखाय दुःखमोक्षाय सङ्कल्प इह [3]कर्मणः।**
**[4]सदाऽऽप्रोतीहया दुःखमनीहाया[5]ः [6]सुखावृतः।।४४।।**

**कामान्कामयते [7-]काम्यैर्यदर्थमिह [-7]पूरुषः।**
**स वै देहस्तु पारक्यो भङ्गुरोऽपैत्युपैति च।।४५।।**

**किमु व्यवहितापत्यदारागारधनादयः।**
**[9]राज्यकोशबलामात्य[10]भृत्याप्ता ममतास्पदाः।।४६।।**

**किमेतैरात्मनस्तुच्छैस्सह देहेन नश्वरैः।**
**अनर्थैरर्थसङ्काशैर्नित्यानन्दरसोदधेः।।४७।।**

**निरूप्यतामिह स्वार्थः कियान्देहभृतोऽसुराः।**
**निषेकादिष्ववस्थासु क्लिश्यमानस्य कर्मभिः।।४८।।**

---

1 A, B, G, J, T यदध्यर्थह; M, Ma यदर्थ मिह। 2 H, V विद्वान्मान्यस्य, M, Ma विध्यङ्गान्यसं *This half vene in not found in W. Edition. 3 A, B, G, J, T कर्मिणः। 4. H, V स आप्रों ; W स चाऽऽन्तो। 5 M, Ma, W यां; 6. M, Ma सुखोन्नतिम्। 7- -7 M Ma काम्यान्यदर्थ इह 8 A, B, G, J, T, M, Ma, T यात्युपैतिच। 9. H, V राष्ट्र। 10 A B, G, J, M, Ma, T गजां। 11 A, B, G J M, Ma, T महा.

12. W हं

**कर्माण्यारभते देही देहेनात्मानुवर्तिना।**

**कर्मभिस्तनुते देहेमुभयन्त्वविवेकतः।।४९।।**

**तस्मादर्थाश्च[1] कामाश्च[2] धर्माश्च[3] यदपाश्रयाः[4]।**

**भजतानीहयाऽऽत्मानमनीहं हरिमीश्वरम्।।५०।।**

**श्रीध॰ यदिति।** किञ्च यदध्यर्थ्यं यत्सङ्कल्प्य। अतः सङ्कल्पितादिपर्यासं विपरीतं फलममोघमवश्यं प्राप्नोति।।४३।।

तदेव दर्शयति - **सुखायेति।** ईहया इच्छया क्रियया वा यः पूर्वमनीहाया हेतोः सुखेनावृतो व्याप्त आसीत्स ईहया दुःखमाप्नोति एति[5]।।४४।।

किञ्च, **कामानिति।** कामान्भोगान् काम्यैर्विषयैः कर्मभिर्वा, पारक्यः श्वादिभोग्यो नत्वात्मीयो भङ्गुरश्च।।४५।।

**किम्विति।** किमुदेहा द्यवहिता अपत्यादयो ममता विषयाः पारक्या इति[6] वक्तव्यम्।।४६।।

किञ्च, स्वयं पुरुषार्थरूपस्य किमेतैः अतितुच्छैः[7] इत्याह- **किमेतैरिति।**।।४७।।

भोगावसराभावाच्च एतैः क उपयोग इत्याह- **निरुप्यतामिति।** प्राचीनैः कर्मभिः क्लिश्यमानस्य कर्मभिः कियान् स्वार्थ इति वाऽन्वयः।।४८।।

ननु कर्मसु समाप्तेषु भोगावसरः स्यात्, तत्राह **कर्माणीति।** नचेदं कर्म तस्य फलं, देहादिकञ्च परमार्थ इत्याह - उभयं कर्मच देहञ्च अविवेकतः[8] आत्माज्ञानेनैव[9] तनुते।।४९।।

**तस्मादिति।** अर्थादयो[10-] यदपाश्रया यदधीनाः[-10]।।५०।।

**वीर॰** किञ्च, वैषयिकसुखलिप्सयाकुर्वन्नपि न तत्प्राप्नोति, तद्विपरीतं दुःखमेव। अत स्तत्परित्यज्य भगवन्तमेव[11-] भजतेत्याह[-11] - **तदर्थ** इति। विद्वन्मानी नरः, विद्वांसमात्मानं मन्यत इति विद्वन्मानी केवल कर्ममीमांसो

---

1 W दर्थ; 2 W काम; 3. W धर्म. 4 H, V यदु; 5 B, H, J, V एव; 6 H, V add किमु; 7. H, V Omit; अतितुच्छैः; 8. A Omits देहञ्च; 9 A, B, J अज्ञाने, 10- -10. H, V Omit, 11- -11. A Omits

पचितबुद्धिरित्यर्थः। [1]नरो यदर्थं यद्वैषयिकसुखार्थमिहलोके असकृद्वारंवारं कर्माणि यागादीनि करोति। स ततोऽभिलषितसुखाद्विपरीतं फलं दुःखात्मकमेवा[2]ऽमोघमवश्यं विन्दते प्राप्नोति।।४३।।

तदेव दर्शयति - सचेति। यः पुमाननीहायां निमित्तभूतायां वैषयिकसुखार्थव्यापारारम्भात् प्राक् निर्व्यापाराद्धेतोः सुखावृतः सुखेन व्याप्त आसीत्। स एव ईहया आरब्धेन व्यापारेण हेतुना दुःख[3]मेवाऽऽप्नोति स्वर्गादि सुखार्थं यागादि व्यपारेण दुःखमेवाऽऽप्नोतीत्यर्थः। भगवत्प्राप्त्यर्थं भक्तियोगानुष्ठान दशायामपि निरतिशयानन्द भगवदनुभवरूपं सुखमेव प्राप्नोति। अन्ततस्तु नित्यनिरतिशय ब्रह्मानन्दमग्नो भवति। स्वर्गाद्यर्थयागादिकं कुर्वाणस्तु जीवद्दशायां वित्ताद्यार्जनेन तदनुष्ठानप्रयासरूपं दुःखम् अन्ततस्तु सातिशयाल्पास्थिरफलरूपं स्वर्गादिकं, तन्निमित्तपुण्य क्षयेतु नरकमिति वैषम्यमभिप्रेतम्।।४४।।

किञ्च, इह लोके पुरुषो यदर्थं यस्य देहस्य प्रयोजनाय [4]कामान्, काम्यन्त इति कामाः, कर्मणि घञ्, तान् शब्दादीन् कामैः, करणे घञ्, कामोत्पत्ति साधनैः कामयते इच्छति स एवतु देहः पारक्यः श्वसृ[5]गालादिभक्ष्यः भङ्गुरो नश्वरः उपैति कदाचिद्देहिनमालिङ्गति, कदाचिच्चाऽपैति जहातीत्यर्थः।।४५।।

देहस्यैवेयमवस्था, किम्पुन र्देहानुबन्धिनां दारादीनामित्याह- **किमिति**। देहेनैव साक्षाद्रात्मनः सम्बन्धो दारादिभिस्तु देहद्वारेति व्यवहितेत्युक्तम्। व्यवहिता ये दारादयः अगारं मन्दिरं, आदिशब्देनपशुपुत्रादयः, कांशो वस्त्रादिर्पेटिकाबलंचतुरङ्गयुक्तं भृत्याः परिचारकाः, एते सर्वे ममतास्मदाः ममेमे इत्यभिमान विषयः उपयन्त्यपयान्तिचेति किमुकव्यमित्यर्थः।।४६।।

ननु न देहार्थो [6]विषयार्थोव्यापारः, किन्तु आत्मार्थ इति चेत् तर्हि नित्यानन्दसुखरूपस्यात्मनः समुद्रस्य विप्रुडिव किमेतद्वैषयिकं सुखमित्याह - **किमेतैरिति**। नित्यानन्दस्स एव रसः, स एवोदकं तस्याऽऽश्रयस्याऽऽत्मनः एतैर्देहेन साकं नश्वरैः अतएव तुच्छैरल्पैर्वस्तुतोऽनर्थैः पुरुषार्थत्वशून्यैरर्थसङ्काशैः पुरुषार्थाभासैः कामैः किं प्रयोजनम्? तदनुभवजनितं सुखमतितुच्छमित्यर्थः।।४७।।

किञ्चाऽत्यायासेन आर्जितमपि वैषयिक[7]सुखमनुभूयमानदुःखापेक्षयाऽल्पमेव, तदनुभवावसराभावादित्याह -**निरूप्यतामिति**। हे असुराः! इह संसारे कर्मभिः प्राचीनैः क्लिश्यमानस्य दुःख्यतः देहभृतो निषेकादिष्ववस्थासु

1. W Omits नरः 2. W Omits एव 3. W Omits एव 4. A, B Omit कामान् 5. A, B, शृ 6 W र्थव्या 7 W कं

स्त्रीसम्भोगाद्यवस्थासु स्वार्थ उत्पन्न आनन्दः कियान्, तन्निरूप्यताम्, दुःखापेक्षया सुखमल्पमिति भावः। यद्वा निषेकादिष्ववस्थासु पितृरेतोद्वारा मातृयोनिप्रवेश-प्रभृतिषु श्मशानान्ताः तासु अवस्थासु प्राचीनैः कर्मभिः क्लिश्यमानस्य, अनेन दुःखप्राचुर्यमुक्तम्।।४८।।

ननु निषेकाद्यवस्थायाः कर्मनिमित्तत्वात् निश्शेषकर्मक्षये प्रभूतं सुखं स्यादित्याशङ्कां निराकर्तुमन्तरेण परमात्मोपासनं न कदाचिदपि कर्म निवर्तते इत्याह - **कर्माणीति**। देही आत्मानुवर्तिना देहेन तावत् कर्माणि देहान्तरारम्भकाणि पुण्यपापात्मकानि कर्माणि कुरुते, तैश्चारब्धैः कर्मभिर्निमित्तभूतैर्देहं तनुते बिभर्ति, तेन पुनः कर्माणि, तैश्च पुनर्देहमित्येवं बीजाङ्कुरतुल्या परिवृत्तिर्ननिवर्तत इति न कदाचिदपि निश्शेष-कर्मक्षय इति भावः। कुतस्त्वियं परिवृत्तिस्तत्राह उभयन्तु देहेन कर्माणि, कर्मभिः देहः इत्येतदुभयमविवेकतः स्वात्मपरमात्मयाथात्म्याज्ञानादेव हेतोर्भवतीत्यर्थः।।४९।।

एवं वैराग्योदयाय ऐहिकामुष्मिकसुखस्य अल्पास्थिरत्वादि दुःखमिश्रत्वानर्थावहत्वादिकमभिधाय, अथेश्वरं भजतां यद्यपि सर्वपुरुषार्थास्सुलभाः, तथापि अनन्य प्रयोजनत्वेनैव तद्भजनंश्रेय इत्याह- तस्मादिति। तस्माद्देहकर्मणोः परिवृत्तिरूपसंसारस्य कदाप्यनिर्मोक्षात्, वैषयिकसुखस्याल्पत्वात् अस्थिरत्वात् दुःखमिश्रत्वात् भूयस्त्वाच्च तन्निवृत्तये निश्शङ्कं सदा हरिमाश्रितानां संसृतेर्बन्धहरईश्वरः। अनीहया निष्कामत्वेन भजेत। हरिं विशिनष्टि - धर्माश्चार्थाश्च कामाश्च यदपाश्रयाः, य स्त्रिवर्गस्याऽपि दाता तमित्यर्थः। तथा च श्रुतिः - "इष्टापूर्तं बहुधा जातं जायमानं विश्वं बिभर्ति भुवनस्य नाभिः"(मना. उ. 1-6) इति "कोह्येवान्यात्कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" (तैत्ति. आ. 2-7 इति च।) "य आत्मदा बलदा य एको बहूनां विदधाति कामान्" (तैत्ति. सं. 4-1-8) इति च, अर्थादयो यदपाश्रया स्तं हरिमनीहया भजेतेत्यनेन समस्तपुरुषार्थदोऽप्यनीहया भजतामनर्थहेतुं संसृतिबन्धं हरति, ईहयाभजतां त्वहितमात्रमेव ददातीति सूचितं भवति।।५०।।

**विज०** भगवदनर्पणबुध्याऽनुष्ठितयज्ञादि कर्माऽनर्थ हेतुरित्याशयेनाऽऽह-**यदर्थमिति**। यजेतेत्यादि विध्यङ्गानि विपर्यासं दुःखं अमोघं सदातनत्वेन अवध्यम्।।४३।।

एतदेव विवृणोति - **सुखायेति**।ब्रह्मार्पणलक्षणेन करणमनीहा। तदुक्तम् - "अप्रत्ययेन करणमनीहाप्रोच्यते बुधैः" इति।।४४।।

1. W निषेक 2- -2. Omits 3 W Omits अर्थः 4. A कसुं 5 W थं 6 W मं 7. W Omits भवति। 8. M. Ma नर्थानर्थं

शाश्वत सुखानुभवकामं विहाय शरीरे सुखकामं प्रयतमानो विमूढत्वेन अतिहास्यो बुधैरित्याशयेनाऽऽह - **कामानिति**। काम्यान् कामान् विषयान् यदर्थं यस्य शरीरस्यार्थे पारक्यस्तु श्वसृगालादेर्विद्यमानो न स्वकीयः। व्यवहिताः शरीरमपेक्ष्य दूरस्थाः।।४५, ४६।।

ननु विषयभोगार्थं श्रीनारायणोऽपि विग्रहं गृह्णातीति केचित् तत्राऽऽह - **किमेतैरिति**। आत्मनो हरेः तस्मात्स्वतश्चिदानन्दस्वरूपस्य जीवात्मनो भौतिकादिना किम्, न किमपि कृत्यमित्यतोवाऽऽह - किमेतैरिति।।४७।।

विचारासहत्वान्न देहादिना प्रयोजनमित्याह - **निरूप्यतामिति**। निषेकादिषु गर्भाधानादिषु अवस्थासु कर्मभिः क्लिश्यमानस्य देहभृतः कियान् स्वार्थ इति निरूप्यतामित्यन्वयः।।४८।।

संसारस्य प्रवाहरूपेण नित्यत्वा न्न हरेर्ज्ञानमन्तरेण निवृत्तिः स्यादित्याशयेनाऽऽह - **कर्माणीति**। आत्मानुवर्तिना परमात्माधीनेन कर्मदेहश्चेत्युभयमविवेकतोऽज्ञानात्।।४९।।

नन्वीश्वरसेवायां भक्तिरेव प्रयोजिका चेन्नार्थादिना प्रयोजनमित्याशङ्कां परिहरन्नुपसंहरति - **तस्मादिति**। अर्थादेर्हरिविषयत्वे साफल्यं भवतीत्यर्थः। ननु, प्रतीतं "चेष्टा राहित्यमनीहशब्दार्थं परित्यज्य अन्यार्थकल्पने किं प्रमाणम्" उक्तं हि प्रमाणमिति चेन्न, तस्य बह्वर्थ वाचित्वेनस्वाभिप्रेतार्थसन्देहात् "करणं कारणे कार्ये साधनेऽनुव्रतादिषु" (वैज. को. 7-3-9) इत्युक्तेरिति तत्राऽऽह- अनीहमिति। श्रमसाध्य क्रियाराहित्यादनीहमित्यस्योक्त एवार्थः, अप्रयत्नेनेति विशेषणाच्च श्रमसाध्यक्रियाराहित्यमेवोच्यते - "स्पष्टाद्युच्चारणाभेदेध्यान पद्मासनादिषु। व्रतबन्धेनाट्यभेदे गीतके कर्मणीन्द्रिये" इत्युत्तरवाक्ये कर्मण्यपि प्रयोगाच्च।।५०।।

**सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मेश्वरः प्रियः।**
**भूतैर्महद्भिः स्वकृतैः कृतानां बीजसंज्ञितः[1]।।५१।।**

**देवोऽसुरो मनुष्योवा यक्षो[2] गन्धर्व एव च[3]।**
**भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा[4] वयम्।।५२।।**

**नाऽलं द्विजत्वं देवत्व मृषित्वं चाऽसुरात्मजाः[5]।**
**प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता।।५३।।**

---

1. A, B, G, H, J, V जीव 2. H, V रक्षो 3. H, V वा 4 H,V ष्थोदयम् 5 A, B, G, J, M, Ma, T वा

**न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानिच।**

**प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्य द्विडम्बनम्।।५४।।**

**ततो हरौ भगवति भक्तिं कुरुत दानवाः।**

**आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे।।५५।।**

**दैतेया[1-] यक्षरक्षांसि[-1] स्त्रियश्शूद्रा व्रजौकसः।**

**खगा मृगाः पापजीवाः सन्ति ह्यच्युततां गताः।।५६।।**

**एतावानेवलोकेऽस्मिन् पुंसः[2] स्वार्थः[3] परः स्मृतः।**

**एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम्।।५७।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवेयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे

प्रह्लादानुचरिते दैत्यपुत्रानुशासनं नाम सप्तमोऽध्यायः।।७।।

**श्रीध॰ सर्वेषामिति।** भूतानां[4] प्राणिनां जीवसंज्ञितोऽन्तर्यामी।।५१।।

असुराणामस्माकं अत्र नाऽधिकार इत्यपि न वाच्यमित्याह - **देव** इति पञ्चभिः।।५२, ५३।।

**नेति।** अमलया निष्कामया, अन्यद्विडम्बनं नटनमात्रम्।।५४, ५५।।

**दैतेया** इति। अच्युतताममृतत्वम्।।५६।।

अध्याय द्वयोक्तमुपसंहरति - **एतावानिति।** तदीक्षणं गोविन्ददृष्ट्या **स्म्माननम्।।५७।।**

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे

श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां सप्तमोऽध्यायः।।७।।

---

1- -1. W रक्षांसियक्षादैतेयाः 2. M, Ma सां 3 W स्वार्थपरः 4. A, B, J अनधि

**वीर०** अथ दैत्यकुमाराणा सर्वेषामात्मनां भगवद्भजनेऽनधिकारशङ्कां निराकुर्वन्ननीहया भजतामेवा निष्टनिवृत्तिरिष्टप्राप्तिश्चेति स्वदृष्टान्तेनाऽऽह - सर्वेषामपीतिद्वाभ्याम्। स्वकृतैः स्वसृष्टैः महद्भिर्भूतैः पृथिव्यादिभिः कृतानां सृष्टानां भूतानां देहादीनां[1] सर्वेषां भगवान् बीजसंज्ञितः आदिकारणभूतः आत्मा अतएव निर्रातशर्याप्रिय ईश्वरोऽन्तः प्रविश्य नियन्ता तावद्भगवान् सर्वेषां साधारंण इति भावः।।५१।।

अतो देवादिजातिविभागमन्तेरण यः कश्चिन्मुकुन्दचरणं भजन् स्वस्तिमान्निवृत्तानिष्टः प्राप्तेष्टश्च स्यादेव यथा वयमिति। वयमसुरा अपि भगवन्तं भजन्तः स्व स्तिमन्तोऽभूम, तथेऽतरेऽपीत्यर्थः। यथा वयमिति दृष्टान्तस्वारस्यात् भगवतः सर्वभूतसाधारण्यप्रतिपादनस्वारस्याच्च निरुपाधिकोक्तविधात्मत्वादि सम्बन्धज्ञानपूर्वकमनन्य प्रयोजनेन भजन्तः स्वस्तिमन्तो भवेयुः अन्यथातु समीहित मात्रवन्त इति सूचितम्। तथा च श्रुतिः - "नाऽन्यः पन्था अयनाय विद्यते" (पु. सू. 7) इत्यादिका।।५२।।

तदेतदुपपादयति-**नाऽलमिति** द्वाभ्याम्। हे असुरात्मजाः। द्विजत्वादयो मुकुन्दस्य प्रीणनाय प्रीतिजननाय नाऽलं न प्रभवः, किन्त्वमलया अनन्य प्रयोजनया भक्त्यैव हरिः प्रीयते। अन्यत् उपायान्तरन्तु विडम्बनं नटन मात्रम्। द्विजत्वमिति वर्णाधिक्योपलक्षकम्, देवत्वमिति जात्याधिक्यस्य, ऋषित्वमित्यतीन्द्रियद्रष्टृत्वादिरूपज्ञानाधिक्यस्योपलक्षकम्। बहुज्ञतेति तु शास्त्रजन्यज्ञानाधिक्यस्य, वृत्तं पित्रादि परम्परागता सद्वृत्तिः।।५३।।

दानं पात्रे वित्तत्यागः, तपः कृच्छादि, इज्या यागः, शौचं स्नानादि कृतं शुचित्वं, व्रतानि प्राजापत्यादीनि।।५४।।

यतो भक्त्यैव भगवान्प्रीयते नोपायान्तरेण, अतो हे दानवाः, यूयमाश्रितसंसार बन्धहारिणि सर्वभूतानामन्तरात्मनि भगवति ईश्वरे भक्तिमनन्य प्रयोजनां करुत कथम्भूताः? सर्वत्रात्मौपम्येन स्वात्मतुल्यत्वदृष्ट्या स्वस्मिन्निव ईश्वरशरीरभूतेषु सर्वेषु दययोपलक्षिताः भगवद्भक्तिं कुरुतेत्यर्थः।।५५।।

किमेवं भजन्तः केऽपि मुक्ता बभूवुरित्यपेक्षायां पापजातयोऽपि केनचिद्भगवत्सम्बन्धविशेषेणमुक्ताः, किं पुनरेवं भजन्तो मुच्यन्त इति वक्तव्यमित्याशयेनाऽऽह - **दैतेया** इति। रक्षांसि बककेश्यादयः, स्त्रियः पूतनादयः, व्रजौकसो नन्दादयः, शूद्राश्चाणूरादयः, खगाः जटायुप्रभृतयः, मृगाः मायामृगादयः-एवं विधाः पापजीवा अपि, अच्युततां भगवत्साधर्म्यं गताः प्राप्तास्सन्ति। हीति प्रसिद्धौ। त्रिकालज्ञत्वाद्भगवता प्रह्लादे नैवमुक्तम्।।५६।।

1. A, B वा

अध्याय द्वयोक्तार्थं निष्कृष्योपसंहरति - **एतावानिति**। अस्मिन् लोके पुंसां परः उत्कृष्टः, स्वार्थः पुरुषार्थः, एतावानेव। कियान् यद्गोविन्दे भगवति एकान्त भक्तिरनन्य प्रयोजनाभक्तिः यच्च सर्वेषु भूतेषु तदीक्षणं गोविन्देक्षणं भगवदात्मकत्वदर्शनम्[1] इत्येतावानेव निरतिशयपुरुषार्थसाधनभूत इत्यर्थः।।५७।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां सप्तमोऽध्यायः।।७।।

**विज०** हरेरेव भजने कारणमाह-**सर्वेषामिति**। व्यञ्जकत्वात् बीजम्, गत इति शेषः। "व्यञ्जनाङ्गतो विष्णु बीजं न परिणामतः।" (ब्रह्मतर्के) इति वचनान्न बीजशब्दस्य विकारोऽर्थः। अप्रयत्नेनेति "अविक्रियाः स्वदृग्वश्यः" (स्वदृकहेतुः) (भाग. 7-7-19) इति स्वोक्तेः।।५१, ५२।।

भूतानामुत्पत्त्यादिना भक्त्यभावे जातिविशेषो वृत्तादि विशेषोऽप्यकिञ्चित्कर इत्याह-**नाऽलमिति** वृत्तमाचारः "वृत्तं स्वरूपे चरिते" (वैज. के 6-5-76) इति यादवः।।५३,५४।।

आत्मौपम्येन आत्मस्नेहवत्स्नेहेन।।५५।।

वेदान्तादिशास्त्रानधिकारित्वेन पापजीवत्वं, न तु पापकरणात्। अच्युततां च्युतिवर्जनं मोक्षं गताः सन्ति हि यस्मात्तस्मात् मुकुन्दभक्तिरेव सम्पाद्या।।५६।।

तात्पर्यात्पुनरेतदेवहि कारणं श्रेय इत्याह-**एतावानिति**। तस्य हरेः सर्वसत्ताप्रदत्वेन अवस्थितेः ईक्षणं दर्शनं ज्ञानमिति यदीयं भक्तिरिति।।५७।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

सप्तमस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः।।७।।

* * * *

1. A, B Omit क

# अष्टमोऽध्यायः

नारद उवाच

अथ दैत्यसुतास्सर्वे श्रुत्वा तदनुवर्णितम्।
जगृहुर्निरवद्यत्वान्नैव गुर्वनुशिक्षितम्।।१।।

अथाऽऽचार्यसुतस्तेषां बुद्धिमेकान्तसंस्थिताम्।
आलक्ष्य भीतस्त्वरितो राज्ञ आवेदयद्यथा।।२।।

श्रुत्वा तदप्रियं दैत्यो गुरुणोक्तं सुताऽनयम्[1]।
कोपावेशचलद्गात्रः पुत्रं हन्तुं मनो दधे।।३।।

क्षिप्त्वा परुषया वाचा प्रह्लादमतदर्हणम्।
आहेक्षमाणः[2] पापेन तिरश्चीनेन चक्षुषा।।४।।

प्रश्रयावनतं दान्तं बद्धाञ्जलिमवस्थितम्।
सर्पः पदाहत[3] इव श्वसन्प्रकृतिदारुणः।।५।।

[4]हिरण्यकशिपुरुवाच[4]

हे दुर्विनीत! मन्दात्मन्! कुलभेदकराधम!।
स्तब्धं[5] मच्छासनोद्वृत्तं[6] नेष्ये[7] त्वाऽद्य यमक्षयम्।।६।।

---

1- -1A.B,G,J,M,Ma,T. दुस्सहं तनयानयम् 2 H.V. अवेक्ष° 3 H.V. पा° 4- -4 A,G,J,M,Ma,T Omit 5 H,V. त्वान्तु
6.A,B,G,J.M,Ma,T °द्धृतं° 7.H.V. नेष्याम्यद्य

**क्रुद्धस्य यस्य कम्पन्ते त्रयो लोकास्सहेश्वराः।**

**तस्य मेऽभीतवन्मूढ! शासनं किम्बलोऽऽत्यगाः।।७।।**

**प्रह्लाद उवाच**

**न केवलं मे भवतश्च राजन् स वै बलं बलिनाञ्चापरेषाम्।**

**परेऽवरेऽमी[1] स्थिरजङ्गमा ये ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः।।८।।**

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अष्टमेऽतिरुषा सूनुं निघ्नन्दैत्यो हतः स्वयम्। आविर्भूय नृसिंहेन स च ब्रह्मादिभिः स्तुतः।।

अन्तः कृपासुधापूर्णो बहिःक्रोधो नृकेसरी। दैत्येन्द्रमरिभावेन भजन्तं समभावयत्[2]।।

**अथेति।** एकान्तसंस्थितां प्रत्यङ्निष्ठाम्। यथा यथावत्।।१,२।।

**श्रुत्वेति।** दैत्यः[3] स च पुत्रं हन्तुं मनो दधे। कथम्भूतः? कोपस्यावेशेनोद्रेकेण चलत् गात्रं वपुर्यस्य सः।।३।।

**क्षिप्त्वेति।** क्षिप्त्वा तिरस्कृत्य पापेन सरोषेण तिरश्चीनेन वक्रेण।।४,५।।

**हे दुर्विनीतेति।** हे मन्दात्मन्! अल्पबुद्धे! मदाज्ञातिलङ्घिनं[4] त्वामद्य यमालयं नेष्यामि।।६।।

**क्रुद्धस्येति।** अभीतवत् किं बलं यस्य सः किम्बलः।।७,८।।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

[5]एवं भगवता प्रह्लादेनोपदिष्टतत्त्वत्रययाथात्म्यहेयोपादेयभगवद्धर्मतदनुष्ठानोद्योगान् दैत्यकुमारानालक्ष्य आचार्यसुतो दैत्येन्द्राय न्यवेदय दित्याह देवर्षिः-**अथेति**। [6]अथ भगवद्धर्मोपदेशानन्तरं तेन प्रह्लादेन अनुवर्णित माकर्ण्य निर्दुष्टत्वात् प्रह्लादोक्तमेव[7] जगृहुर्दैत्यकुमाराः,न तु गुर्वनुशिक्षित मसुरोपाध्ययानुशिक्षितं जगृहुः।।१।।

अथ तेषां दैत्यपुत्राणामेकान्तसंस्थितामव्यभिचारेण भगवद्धर्मविषयां बुद्धिमालक्ष्य लिङ्गैर्ज्ञात्वा भीतस्त्वरितः सञ्जातत्वरः यथावद्राज्ञे हिरण्यकशिपवे आवेदय द्विज्ञापितवान्।।२।।

---

1 H,V, परेऽप°; M,Ma पराऽव° 2.H,V स्वमखादयत् 3. A,B,J omit दैत्यः 4 H,V. Omit अति 5. A,T Omit एवं 6. A,B,T Omit अथ

7 W Omits एव।

ततो दैत्यो हिरण्यकशिपुर्गुरुणोक्तं सुतस्याऽनयनमिति स्वमार्गाननुवर्तनम् अत एवाऽप्रियं तच्छ्रुत्वा कोपावेशेन क्रोधव्याप्त्या चलत्कम्पमानं गात्रं शरीरं यस्य तादृशः पुत्रं प्रह्लादं हन्तुं मनो दधे मनोरथं कृतवान्।।३।।

कठोरया गिरा अतदर्हणं तिरस्कारानर्हं प्रह्लादं क्षिप्त्वा तिरस्कृत्य क्रोधेन तिरश्चीनेन वक्रेण चक्षुषेक्षमाणः आह उवाच।।४।।

कथम्भूतम्? विनयेन नितरां नम्रं दान्तं तिरस्कारादिभिरसञ्जातक्रोधं बद्धोऽञ्जलिर्येन तम् सम्यक् उप समीपे स्थितम्। कथम्भूतः? पादेन आहत स्ताडितः सर्प इव श्वसन् श्वासं मुञ्चन्, स्वभावेनैव क्रूरः।।५।।

उक्तिमेवाऽऽह-**हे दुर्विनीत** इति द्वाभ्याम्। हे दुर्विनीत! मन्दात्मन्! अल्पबुद्धे! मदाज्ञातिलङ्घनं त्वामधुना यमालयं नेष्यामि।।६।।

यस्य मे क्रुद्धस्य सतः सपालास्त्रयो लोकाः परितः कम्पन्ते तस्य मे मम शासनमभीतवद्भयरहितवत्, मत्तो भयरहितः कोऽपि नाऽस्तीत्यभिप्रायेण वतिः प्रयुक्तः, अत्यगाः अतिवर्तसे। एव मतिवर्तने भवान् किम्बलः, को बलं यस्य तादृशः।।७।।

एव मुक्त आह भगवान् प्रह्लादः-**न केवलमिति** चतुर्भिः। तावद्यदुक्तं किं बल इति तत्रोत्तरमाह द्वाभ्याम्। हे राजन्! स न केवलं ममैव बलं किन्तु भवतोऽन्येषाञ्च बलिनां बलम्। कोऽसौ? येन ब्रह्मादयः चतुर्मुखप्रभृतयः उच्चावचाश्चराचरात्मकाः सर्वे लोकाः, वशं स्ववशं प्रणीताः प्रापिताः।।८।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

वैराग्याद्यङ्गोपाङ्गरुचिरभक्तिसुन्दरीसुन्दरावयवसन्निवेशलक्षणपरमपुरुषार्थकरणं यदुत्तरचरितमित्येतन्निदर्शयितुं नरसिंहावतारो निरूप्यतेऽस्मिन्नध्याये। तत्र दैत्यसुतैः प्रह्लादवर्णितं श्रुत्वा किं कृतमिति युधिष्ठिरस्य मानसीं शङ्कां परिहरति-**अथेति**। निरवद्यत्वात् निर्दोषत्वात्।।१।।

एकान्ते हरौ सम्यक्स्थितामैक्ये स्थितामभिन्न विषयामिति वा। यथा यथावत् साकल्येन यथा तैः तेनोक्तं गृहीतं तथेति वा।।२।।

तनयस्यानयं स्वसिद्धान्तविरुद्धसिद्धन्तम्।।३।।

पापेन पापसाधनेन।।४,५।।

यमक्षयं यमगृहम्।।६।।

कस्य बलं यस्य स किम्बलः मद्बल मनादृत्य तव बलभूतः क इत्यर्थः।।७।।

किम्बलमित्यस्योत्तरमाह-**न केवलमिति**। वेत्यनेन "बलमानन्द ओजश्च सहो ज्ञानमनाकुलम्" इति श्रुतिं सूचयति। पराञ्चावराञ्च परावरे एतदेव विशदयति-स्थिरजङ्गमा इत्यादिना।।८।।

**स ईश्वरः काल उरुक्रमो[1]ऽसावोजस्सहः सत्त्वबलेन्द्रियात्मा।**
**स एव विश्वं परमः स्वशक्तिभिः सृजत्यवत्यत्ति गुणत्रयेशः।।९।।**

**जह्यासुरं भावमिमं त्वमात्मनः स्वयं मनो धत्स्व न सन्ति विद्विषः।**
**ऋतेऽजितादात्मन उत्पथस्थितात् तद्धि ह्यनन्तस्य महत्समर्हणम्।।१०।।**

**दस्यून्पुरा षण्णविजित्य लुम्पतो मन्यन्त एके स्वजिता दिशो दश।**
**जितात्मनो ज्ञस्य समस्य देहिनां साधोः[2] स्वमोहप्रभवाः कुतः परे।।११।।**

**हिरण्यकशिपुरुवाच।**

**व्यक्तं त्वं मर्तुकामोऽसि योतिमात्रं विकत्थसे।**
**मुमूर्षूणा[3]ञ्च मन्दात्मन् नन[4]ु स्युर्विप्लवा[5] गिरः।।१२।।**

**यस्त्वया मन्दभाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः।**
**क्वाऽसौ यदि[6] स सर्वत्र कस्मात् स्तम्भे न दृश्यते।।१३।।**

**सोऽहं विकत्थमानस्य शिरःकायाद्धरामि ते।**
**गोपायेत हरिस्त्वाऽद्य यस्ते शरणमीप्सितः[7]।।१४।।**

**एवं दुरुक्तैर्मुहुरर्दयन् रुषा सुतं महाभागवतं महासुरः।**
**खड्गं प्रगृह्योत्पतितो वरासनात् स्तम्भं[8] तताडाऽतिबलः स्वमुष्टिना।।१५।।**

---

1. H,V °मोऽङ्गसा ह्याजः 2 H,V, °धोस्तु 3. A,B,G,J,M,Ma,T °णां हि 4 W न 5 H,V °प्लुता 6.H,V °दिह 7.A,B,G,J,T,W °तम् 8 H.V ततादोरु:; W बभञ्जाति

## श्रीमन्नृसिंहमूर्त्यवतारघट्टः

**तदैव तस्मिन्निनदोऽतिभीषणो बभूव येनाण्डकटाहमस्फुटत्।**
**यं वै स्वधिष्ण्योपगतन्त्वजादयः श्रुत्वा स्वधामाप्ययमङ्ग मेनिरे।।१६।।**

**श्रीध॰** वशं प्रणीता इत्यत्र हेतुः- **स ईश्वर** इति । उरवः क्रमाः पादविक्षेपाः यस्य,बहुपराक्रम इति वा। [1-]ओज इन्द्रियपाटवम् सहः मनसः पाटवम्[-1] ओज आदिरूपः सत्त्वं, धैर्यं बुद्धिर्वा।।९।।

[2]ननु मच्छत्रुरसौ कथं ममाऽपि स एव बलं स्यादत आह–**जहीति**। आत्मनः स्वस्य, [3]भावं स्वभावं त्यज यतोऽ-जितादात्मनो मनस ऋते विनाऽन्ये विद्विषो न भवन्ति। किञ्च तद्धि तदेव हि साम्येन मनसो धारणमेव समर्हणमाराधनम्।।१०।।

ननु मया दिग्विजये सर्वे रिपवो जिताः, अतः साम्प्रतं [4]विद्विषो न सन्तीति चेत् [5]सत्यं, तत्राऽऽह-**दस्यूनिति**। एके भवादृशाः मन्दाः पुरा आदौ लुम्पतः सर्वस्वं हरतः षडिन्द्रियलक्षणान् शत्रून् नर्विजित्य अजित्वा दश दिशः स्वयं जिता [6]इति मन्यन्ते। साधोस्तु जितचित्तस्य देहिनां समस्य ज्ञस्य विदुषः स्वाज्ञानकल्पिताः परे शत्रवः कुतः स्युः?।।११।।

**व्यक्तमिति**। व्यक्तं निश्चितम्। [7]विप्लुताः अनन्वितार्था इत्यर्थः।।१२।।

**य** इति। हे मन्दभाग्य! [9-]मदन्यो जगदीश्वरो[-9] यद्यस्ति तर्ह्यसौ क्वाऽस्ति? प्रह्लाद आह। स सर्वत्राऽस्ति। हिरण्यकशिपुराह-[10-]तर्हि कस्मात् स्तम्भे नाऽस्ति। प्रह्लादस्तु तं स्तम्भं निरीक्षमाणः नमस्यन्नाह-दृश्यत इति।।१३।।

हिरण्यकशिपुस्तु तत्र तमपश्यन्नाऽऽह-**सोऽहमिति**। [11-]विकत्थमानस्य विपरीतं ब्रुवाणस्य ते शिरः कायाद्धरामि पृथक्करोमि[-11]।।१४।।

**एवमिति**। प्रह्लादेन मूर्ध्नि बद्धाञ्जलिना निरीक्षमाणं स्तम्भं [12]मुष्टिना ताडितवान्।।१५,१६।।

**वीर॰** कोऽसौ? तस्य नाम कथयेत्यत्राऽऽह-**स** इति। स सर्वेषां बलाधायक ईश्वरः। [13-]कोऽसावीश्वरः?[-13] उरुक्रमः उरवः लोकत्रयसङ्ग्राहकाः क्रमाः पादविक्षेपा यस्य सः त्रिविक्रम इत्यर्थः। "सर्वं पदं हस्तिपदे निमग्नम्"

---

1- -1 A,B,J, Omit 2 H,V Omit ननु 3.H,V,Omit भावं 4.H,V,Omit विद्विषो 5 H,V, Omit सत्यं 6. A,B,J,Omit इति 7 A,B,J विप्लुवा: 8 A,B,J °ता ड° 9- -9 H,V Omit 10. H,V Omit तर्हि 11- -11 H,V. Omit 12. H,V Omit मुष्टिना। 13- -13 W omits

इति न्यायेन पादत्रयेणैव लोकत्रयाक्रमणरूपमहामहिमशालिनस्तस्य सन्निधौ त्वद्बलं कियदेतदित्यभिप्रायः। न केवल मुरुक्रमः सर्वेषाञ्च बलाधायक एव, किन्त्वसावोजआदीनामात्मा आश्रयो धारक इति यावत्। ओज इन्द्रिय शक्तिः, सहो मनोबलं, सत्त्वं धैर्यं, बलं देहबलं, इन्द्रियाणि च तेषामप्याश्रय इत्यर्थः किञ्च स एवोरुक्रमः परमः निस्समाभ्यधिकः स्वशक्तिभिः स्वांशभूताभिः प्रकृतिपुरुषकालात्मिकाभिः शक्तिभिः कृत्स्नं विश्वं सृजति, अवति रक्षेति, अत्ति संहरति च स्वयं गुणत्रयेशः सत्त्वादीनां त्रयाणां गुणानामीशो नियन्ताऽगुणवश्यो न कर्मवश्यश्चेति भावः।।९।।

ननु शत्रु रसौ कथं बलं स्यात्, अत आह **जहीति**। त्वमिममात्मनः स्वस्य, आसुरं भावं जहि त्यज। समं मित्रामित्रानुसन्धानरहितं यथा भवति तथा मनो धत्स्व धारय तथा मनः शिक्षयेत्यर्थः। एवञ्चेत्केऽपि विद्विषो न सन्ति। किञ्च "आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः" (भ.गी. 6-5) इत्युक्तरीत्या आत्मैव रिपुर्न तदन्यः कोऽपि रिपुरस्तीत्याह-ऋते इति। अजितादविधेयादत एव उत्पथे दुर्विषये स्थिताद्वर्तमानादात्मनोऽन्तःकरणादृते न सन्ति, विद्विष इति पूर्वेणान्वयः। तद्धि मनसस्साम्यमेव ह्यनन्तस्य त्रिविधपरिच्छेदरहितस्य परमात्मनः सं सम्यक् अर्हणं सम्यगाराधनम्।।१०।।

किञ्च, सर्वदिशां जयिनोऽप्यजितेन्द्रियस्य भवादृशस्य केवलं जयशालित्वाभिमानमात्रमेव न वस्तुतो जयित्वमस्तीत्याह-**दस्यूनिति**। पुरातावल्लुम्पत आत्मनोऽपहतपाप्मत्वादि गुणाष्टकरूपमैश्वर्यमपहरतः षडिन्द्रियरूपान् दस्यून् दुष्टजन्तुतुल्यान् शत्रून् नविजित्य अजित्वा एके त्वादृशाः दश दिशः स्वजिताः स्वेनैव[1] जिता इति मन्यन्ते, अभिमानमात्रमेतदित्यर्थः। जितात्मनो जितेन्द्रियस्य तु ज्ञस्य स्वात्मपरमात्मयाथात्म्यवेदिनो देहिनां समस्य सर्वाणि भूतानि परमात्मशरीरत्वेन समं पश्यतः साधोर्महाभागवतस्य स्वमोहप्रभवाः देहात्मभ्रम स्वतन्त्रात्मभ्रमनिर्मित्ताः परे शत्रवः कुतो भवन्ति, न सन्त्येवेति भावः ।।११।।

एवमुक्तवन्तमाह हिरण्यकशिपुः **व्यक्तमिति**। हे अल्पबुद्धे! त्वं व्यक्तं नूनं मर्तुकामोऽसि मर्तुमिच्छसि। यस्त्वं अत्यन्तं विकत्थसे। अथैवं विकत्थनं तव न स्यादिति भावः। हि तथाहि मामूर्षतां मर्तुमिच्छतां विप्लवा अनन्विता वाचः न न स्युः भवेयुरेव।।१२।।

हे मन्दभाग्य! यस्त्वया मत्तोऽन्यो जगत ईश्वरः उक्तः। असौ क्वाऽऽस्ते? यदि स भवदभिमतो जगदीश्वरः

1 W omits एव

सर्वत्र अन्तरात्मतया वर्तते तर्हि कस्माद्धेतोः स्तम्भे पुरोवर्तिनि न दृश्यते। मदन्यो जगदीश्वरः कोऽसावस्तीति दैत्यः प्राह। ईशः सर्वत्राऽस्तीति प्रह्लादः। ईशो यदि सर्वत्राऽस्ते तर्हि स्तम्भे नास्तीति हिरण्यकशिपुः। प्रह्लादः स्तम्भे पश्यन्नाह, न दृश्यते (त्वया) अपि तु (मया) दृश्यत एवेति व्याख्यान्तरम्[1]।।१३।।

सोऽहं सर्वेषामीश्वरोऽहमेवं विकत्थमानस्य ते तव कायात्[2] देहात्[3] शिरो हरामि छिनद्मि;यो हरि स्तव शरणं रक्षकः ईप्सितः सोऽधुना त्वां गोपायेत। स रक्षिता चेदधुना त्वां रक्षिष्यति[4] अन्यथा तु तदेव मिथ्येति भावः।।१४।।

एवमित्थं रुषा क्रोधेन दुरुक्तैर्मुहुर्मुहुः महाभागवतं सुतं प्रह्लादमर्दयन् महासुरो हिरण्यकशिपुः खड्गं प्रगृह्य वरासनात् सिंहासनादुत्पतित उत्थितोऽत्यन्तं बलं यस्य तेन स्वमुष्टिना स्तम्भं तताड ताडितवान् बभञ्ज[5]।।१५।।

तदैव ताडनानन्तरमेव[6] तस्मिन् स्तम्भेऽतिभीषणो निनदो ध्वनिर्बभूव। निनदं विशिनष्टि। येन निनदेन अण्डकटाहं ब्रह्माण्डकटाहं अस्फुटत् भिन्नमभूत्। अङ्ग! हे युधिष्ठिर! यञ्च निनदं श्रुत्वा स्वस्थानगता अजादयो ब्रह्मादयः स्वधिष्ण्यानां व्ययं नाशं मेनिरे प्रलयकालममन्यन्तेत्यर्थः।।१६।।

**विज०** ननु "स्थाणु मन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनाम्" इति श्रुतेः। शिवं बलं वदन्ति केचित्। "कालाद्भवन्ति भूतानि मन्यन्ते कालचिन्तकाः" इत्यतः कालं, अथ कथमयं निर्णयः परमात्मा बलमिति? तत्राऽऽह-**स** इति।।९।।

"कुतो न सन्ति विद्विषः" इति। तत्राऽऽह[7] ऋते इति[7]। उत्पथस्थिता तत्त्वमार्गविरुद्धमार्गनिरतादजितात् अवशीकृता दात्मनो मनआदीन्द्रियग्रामादृते शुद्धमन आदिना विचार्यमाणे शत्रवो न सन्तीत्यर्थः। ननु, तर्हीदं "युद्धोद्यमं परं चक्रुर्विबुधा दानवान्प्रति" (भाग. 7-7-2) इत्यादि कथं सङ्गच्छत इत्याशङ्क्य यथा योग्यता दर्शनलक्षणं समत्वं कर्तव्यम्, अन्यथा शास्त्रविरोध इति भावेनोक्तसमत्वफलमाह-तद्विद्धीति। तत्तद्योग्यतानुसारेण तन्मनोधारणं हरेस्समर्हणं विद्धीत्यन्वयः। नैतदल्पं, किन्तु महदित्याह-महदिति।।१०।।

एतदेव विशदयति-**दस्यूनिति**। एके भवादृशाः पुरं शरीरं लुम्पतः षड्दस्यून् षडिन्द्रियाख्यचोरान विजित्य दश दिशः स्वेन जिता इति मन्यन्त इत्यन्वयः। आन्तरशत्रुजयं विना कुतो बाह्यशत्रुजय इति भावेनाऽऽह-

1- -1 W omits 2.A,B,T omit कायात् 3.W omits देहात् 4.A,B,T add इति 5- -5 W बभञ्ज ततार 6. W भञ्जना" 7- -7 A omits

जितेति। परे बाह्यशत्रवः, यद्वा, एके मादृशाः षडिन्द्रियजयो नास्ति चेत् बाह्यशत्रुविषया दश दिशः सुष्ठुजिता इति मन्यन्ते, शेषं पूर्ववत्।।११।।

असुरावेशोदर्धिमग्नत्वात्पुत्रोक्तं तत्त्वं न तस्य श्रोत्रविवरगतमभूत्प्रत्युत अर्चिष्मत्याज्यहोमवदभूदिति भावेनोत्तरमवतारयति **व्यक्तमिति**। अतिमात्रं वक्तव्यांशादधिकं विकत्थसेऽबद्धं भाषसे। विप्लुवा मण्डूक-प्लुतिवदसङ्गताः।।१२।।

यदि त्वदुक्तं युक्तं स्यात्तर्हि तथा प्रतीयेत तस्मादसम्बद्धमिति भावेनाऽऽह - **यस्त्वयेति**।।१३।।

अस्येदं फलितमित्याह-**सोऽहमिति**। गोपयेत रक्षेत[1]।।१४।।

यदिन्द्रियं जयस्वेति वचः न हार्दमसम्भावितत्वात्। तत्राऽऽह-**एवमिति**।।१५।।

स्तम्भभङ्गेन आधेयपातेन सभ्यानां शरीरचूर्णनादिव्यथा सम्भावितेत्याशङ्क्य भगवत्सन्निधानबलाद्व-ज्रनिष्ठुरस्तम्भोत्थनिर्ह्रादोऽभूदित्याह-**तदैवेति**। अस्फुटत् अभिनत्। स्वधिष्ण्योपगतं स्वकीयत्वेनाऽभिमतं सत्यलोकं प्राप्तं स्वलोकाऽप्ययं स्वलोकनाशम्।।१६।।

**[2]अभिक्रमन्पुत्रवधेप्सुरोजसा निशम्य निर्ह्रादमपूर्वमद्भुतम्।**
**अन्तस्सभायां न ददर्श तत्पदं वितत्रसुर्येन सुरारियूथपाः।।१७।।**

**सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं व्याप्तिञ्च भूतेष्वखिलेषु चाऽऽत्मनः।**
**अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन् स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्।।१८।।**

**स सत्त्वमेवं[3] परितोऽपि पश्यन् स्तम्भस्य मध्यादनुनिर्जिहानम्।**
**नाऽयंमृगो नाऽपि नरो विचित्रमहो किमेतन्नृमृगेन्द्ररूपम्।।१९।।**

**मीमांसमानस्य समुत्थितोऽग्रतो नृसिंहरूपं[4] तदलं भयानकम्।**
**प्रतप्तचामीकर चण्डलोचनं स्फुरत्सटाकेसरजृम्भिताननम्।।२०।।**

**करालदंष्ट्रं करवालचञ्चलक्षुरान्तजिह्वंभ्रुकुटीमुखोल्बणम्।**
**स्तब्धोर्ध्वकर्णं गिरिकन्दराद्भुतव्यात्तास्यनासं हनुभेदभीषणम्।।२१।।**

---

1 A °त् 2 A,B,G,J,T,W. स विक्र° 3.A,B,G,J,T,W °नं 4 A,B,G,J,M,Ma,W °पस्त°

**दिवं[1] स्पृशत्काय मदीर्घपीवरग्रीवोरुवक्षःस्थलमल्पमध्यमम्।**
**चन्द्रांशुगौरैश्छुरितं तनूरुहैर्विष्वग्भुजानीकशतं नखायुधम्।।२२।।**

**दुरासदं सर्वनिजेतरायुधप्रवेकविद्रावितदैत्यदानवम्।**
**प्रायेण मेऽयं हरिणोरुमायिना वधः स्मृतोऽनेन समुद्यतेन[2] किम्।।२३।।**

**एवं ब्रुवंस्त्वभ्यपतद्गदायुधो नदन्नृसिंहं प्रति दैत्यकुञ्जरः।**
**अलक्षितोऽग्रौ पतितः पतङ्गमो यथा नृसिंहौ जसि सोऽसुरस्तदा[4]।।२४।।**

**श्रीध॰ अभिक्रमन्निति**। तत्पदं तस्य ध्वनेराश्रयम्[5] येन नादेन[5]।।१७।।

**सत्यमिति**। भगवांस्तदा स्तम्भं[6] विदार्य[6] अदृश्यत दृश्यो बभूव । किमर्थम् ? निजभृत्येन प्रह्लादेन यद्भाषितं दृश्यते इति तत्सत्यं विधातुं कर्तुं , तथाऽखिलेषु भूतेषु स्वात्मनो[7] व्याप्तिञ्च सत्यां कर्तुं स्तम्भेऽदृश्यत। तत्किमर्थम् "भौतिकेषु विकारेषु भूतेष्वथमहत्सु च। भगवानास्ते–"(भाग. 7-6-26) इति तेनैव भृत्येन यद्भाषितं तत्सत्यं कर्तुम्। तथाऽत्यद्भुतं दैत्यघातक्रमतिघोरं रूपमुद्वहन् दधत्। तत्किमर्थम्। निजभृत्यैस्सनकादिभिः शापानन्तर मनुतप्तैर्भाषितं यत् त्रिभिर्जन्मभिः शापमोक्षो भवत्विति तत्सत्यं कर्तुम्। तथा अथवा[8] अत्यद्भुतं ब्रह्मसृष्टावदृष्टमश्रुतञ्च रूपमुद्वहन् दधत्। तञ्च न मृगाकारं न च मनुष्याकारमुद्वहन् सभायां मध्येऽदृश्यत। तत्किमर्थम्? निजभृत्येन हिरण्यकशिपुना ब्रह्माणं प्रति यद्भाषितं "भूतेभ्य स्त्वद्विसृष्टेभ्यो मृत्युर्माभून्मम प्रभो" (भाग. 7-5-35) इति, तथा "नाऽन्तर्न बहिः" (भाग. 7-3-36) इति, "न नरै र्न मृगैरपि" (भाग. 7-3-36) इति च, ब्रह्मणा च निजभृत्येन यद्भाषितं तत्तथास्त्विति[9] उभयोर्वाक्यं[10-10] सत्यं कर्तुम्। न हि तद्ब्रह्मसृष्टं भूतं न च नरो वा मृगो वा, न च सभागृहस्याऽन्तः, न च प्राङ्गणवद्बहिः। एवं ताभ्यां यद्भाषितं तत्सत्यं कर्तुम्। यञ्च हिरण्यकशिपुना भाषितं "नूनमेतद्विरोधेन मृत्युर्मे भविता" (भाग.7-5-47) इति, तथा[11] "अकुतश्चिद्भयोऽमरः" (भाग. 7-5-47) इति च। यञ्च नारदेन निजभृत्येन[12] स्वयं भाषितमिन्द्रं प्रति "अयं महांस्त्वया संस्थां न प्राप्स्यति अनन्तानुचरः" इत्यनेन स्वस्य भक्तपक्षपातित्वञ्च यद्भाषितं तञ्च सत्यं कर्तुं तथाऽदृश्यत। चकारान्निजभाषितञ्च। किं तत्? "कौन्तेय !

1.A,B,G,J,H,M,Ma,T,V °वि 2. M,Ma तस्य. W °मेन 3 H,V विमृश्याभ्य ; W स्तुवंस्त्वभ्य 4.H,M,Ma,V °था। 5- -5H.V Omit 6- -6 H,V Omit 7 A,B,J आ° 8 A,B,J, Omit अथवा 9 A,B,J, Omit तत् 10- -10 H,V Omit 11. A,B,J, Omit तथा 12 A,B,J, Omit स्वयं 13.H,V,Omit तथा

प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति" (भ.गी. 9-31) इति। यथा "तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्" (भ.गी. 12-7) इत्यादि। तच्च सत्यं कर्तुमदृश्यतेति द्रष्टव्यम्। अलमतिविस्तरेण।।१८।।

**स** इति। स दैत्य एवं अद्भुतं[1] ध्वनिं श्रुत्वा तदाश्रयं सत्त्वं प्राणिविशेषं सर्वतो विलोकयन्[2] स्तम्भस्य[3] मध्यात् निर्गच्छन् नृमृगेन्द्रयोर्मिश्रं रूपमहो किमेतदिति मीमांसितवानिति शेषः।।१९।।

**मीमांसमानस्येति**। तस्यैवमलं भयानकं तन्नृसिंहरूपं मीमांसमानस्याऽग्रतो नृसिंहरूपो हरिः समुत्थितः। भयानकत्वमेव दर्शयंस्तद्रूपमनुवर्णयति प्रतप्तस्येत्यादिना[4] विद्रावितदैत्यदानवमित्यन्तेन[-4]। प्रतप्तं चामीकरं सुवर्णं[5-5] तद्वत्पिङ्गलानि चण्डानि[6] लोचनानि यस्मिन्। सटाजटाः केसराः कण्ठरोमाणि स्फुरद्भिः सटाकेसरैः जृम्भितं साटोपमाननं यस्मिन्।।२०।।

**करालेति**। करालास्तुङ्गा दंष्ट्रा यस्मिन्। करवालः खड्गः तद्वच्चञ्चला क्षुरान्तवत्तीक्ष्णा च जिह्वा यस्मिन्। भ्रुकुटीयुक्तेन मुखेनोल्बणम्। स्तब्धावुन्नतौ शङ्खवदूर्ध्वौ[7] कर्णौ यस्मिन्। गिरिकन्दरवदद्भुतं व्यात्तं प्रसृतमास्यं नासा[8-8] च यस्मिन्। हनूकपोलप्रान्तौ तयोर्भेदेन विदारणेन भीषणम्। कर्णान्तमुखविस्तारमित्यर्थः।।२१।।

**दिवीति**। दिवि स्पृशन् कायो यस्मिन्, अलुक्समासः। अदीर्घा ह्रस्वा पीवरा च स्थूला ग्रीवा यस्मिन्, उरु विशालं वक्षः स्थलं यस्मिंस्तच्चतच्च अल्पं मध्यमुदरं यस्मिन्। चन्द्रांशुवद्गौरै स्तनूरुहैर्लोमभिश्छुरितं व्याप्तम्। विष्वञ्च सर्वतः प्रसृता भुजास्तेषामनीकानि स्तोमास्तेषां शतानि यस्मिन्। नखान्येवाऽऽयुधानि यस्मिन्।।२२।।

**दुरासदमिति**। दुरासदं प्राप्तुमशक्यम्। सर्वाणि च निजानि चक्रादीनीतराणि वज्रादीनि त एवाऽऽयुध प्रवेकाः शस्त्रोत्तमाः तैर्विद्राविता दैत्यदानवा येन तद्रूपं मीमांसमानस्य तस्याग्रतः[9] समुत्थित[10] इति पूर्वेणैवाऽन्वयः। तदाविर्भावप्रयोजनावमर्शपूर्वकं तेन सह दैत्यस्य युद्धमाह सप्तभिः। प्रायेण महामायाविना[11] हरिणा मेऽयमेवम्भूतो वधो मृत्युहेतुः स्मृताश्चिन्तितः, तथाऽप्यनेनसमुद्यतेन किम् न[12] किञ्चित्स्यादित्येवं ब्रुवन्नभ्यपतदित्यन्वयः।।२३।।

**एवमिति**। तदा सोऽसुरो नृसिंहस्यौजसि दीप्तौ पतितस्सन्नलक्षितोऽदृष्टोऽभूत्।।२४।।

**वीर॰**[13-] ततः किं जातम् ? तदाह–**स विक्रमन्निति**[-13]। ओजसा बलेन, पुत्रवधेप्सुः पुत्रवधं कर्तुमिच्छुस्तदर्थं

---

1 H V, Omit अद्भुतं 2 H.V,अवलो 3 A.B,J °म्भम 4- -4 H,V त्रिभिः प्रतप्तेति। 5- -5 H,V स्वर्णमिव 6. A Omits चण्डानि 7 A.B,J °कु 8- -8 H,V, Omit 9 A,B,J, Omit तस्य 10 H.V समवस्थितः 11 A B,J °यिना 12.H,V Omit न किञ्चित्। 13- -13 W Omits

विक्रमन् पराक्रमं कुर्वन् सदैत्येन्द्रो यं निर्ह्लादं [1]ध्वनिम् अपूर्वं कदाचिदपि न श्रुतम्, अत एवाद्भुतमाश्चर्यजनकं निशम्य [2]श्रुत्वा तस्य निनादस्य पदमाश्रयमन्तस्सभायां सभामध्ये न ददर्श। येन निनादेन सुरारियूथपाः दानवश्रेष्ठाः [3]वितत्रसुर्विशेषेण तत्रसुः [4]त्रासं प्रापुरित्यर्थः।।१७।।

तदा भगवान्निजभृत्यस्य प्रह्लादादेर्भाषितं कृत्स्नजगदन्तरात्मत्वादिभाषणं सर्वेषु चराचरात्मकेषु भूतेषु आत्मनः स्वस्य व्याप्तिश्च सत्यं यथा भवति तथा कर्तुमत्यद्भुतं रूपं उद्वहन् बिभ्रत् सभायां यस्तम्भस्तस्मिन्नदृश्यत तद्दृष्टो बभूव। कथम्भूतं रूपम्? न मृगं नाऽपि मानुषं रूपम्, अपि तु उभयमिश्रमित्यर्थः। निजभृत्यभाषितमित्यत्र बहुवचनान्तेन निजभृत्यशब्देन समासः। तदयमर्थः-यत्तावत्प्रह्लादस्य निजभृत्यस्य भाषितम्। "भौतिकेषु विकारेषु भूतेषु च महत्सु च। भगवानाऽस्ते" (भाग. 7-6-20) इति तत्सत्यं कर्तुम्, तथाऽत्यद्भुतदैत्यघातकर्मातिघोरं रूपमुद्वहन्निति, तथा निजभृत्यैस्सनकादिभिर्यद्भाषितं त्रिभिर्जन्मभिः शापमोक्षो भवत्विति तत्सत्यं कर्तुम्, तथा ब्रह्मसृष्टावदृष्टमश्रुतञ्चाऽद्भुतरूपमुद्वहन् सभायां मध्येऽदृश्यत। तत्किमर्थम्? निजभृत्येन हिरण्यकशिपुना ब्रह्माणं प्रति यद्भाषितम् - "भूतेभ्यस्त्वद्विसृष्टेभ्यो मृत्युर्माभून्मम प्रभो!" (भाग. 7-5-35) इति, तथा, नान्तर्बहिर्रति, न नरैरिति न मृगैरिति च, ब्रह्मणा निजभृत्येन यद्भाषितं तथाऽस्त्विति तत्सर्वं सत्यं कर्तुं, न च तद्ब्रह्मसृष्टं रूपं,न च नरो न मृगो वा, न च सभागृहस्याऽन्तः, न च प्राङ्गणवद्बहिः, एवं ताभ्यां भाषितं सत्यं कर्तुम् यच्च हिरण्यकशिपुना भाषितं "नूनमेतद्विरोधेन मृत्यु मे भविता" (भाग. 7-5-47) इति। तथा "अकुतश्चिद्भयोऽमरः" (भाग.7-5-47) इति यच्च नारदेन स्वभृत्येनेन्द्रंप्रति भाषितम् "अयं महान् संस्थां न प्राप्स्यते" ईति। अनन्तानुचर इत्यनेन स्वभक्तपक्षपातित्वं च यद्भाषितं तच्च सत्यं कर्तुमदृश्यत। चकारान्निजभाषितञ्च यत् "कौन्तेय! प्रतिजनीहि न मे भक्तः प्रणश्यति" (भ.गी.9-31) "तेषामहं समुद्धर्ता" (भ.गी. 12-7) इति। तच्च सत्यं कर्तुमदृश्यतेति।।१८।।

स दैत्येन्द्र एवं ध्वनिं श्रुत्वा तदा सत्त्वं प्राणिविशेषं सर्वतो विलोकयन् स्तम्भस्य मध्यान्निर्गच्छन्तं नाऽयं मृगो नाऽपि नरः, किन्तु नरमृगेन्द्रयोरुभयोरपि रूपम्,अहो किमेतदिति, मीमांसितवान् इति शेषः।।१९।।

तस्यैवमलं भयानकं तन्नृसिंहरूपं मीमांसमानस्य दैत्येन्द्रस्याऽग्रतः स नृसिंहरूपो हरिः समुत्थितः। भयानकत्वमेव दर्शयंस्तद्रूपमनुवर्णयति त्रिभिः-प्रतप्तेति। प्रतप्तं चामीकरं स्वर्णं तद्वत्पिशङ्गे चण्डे उग्रे लोचने यस्मिन्, स्फुरन्त्यः सटाः जटाः केसराः स्कन्धलोमानि च तैर्जृम्भितं साटोपमाननं मुखं यस्मिन्।।२०।।

1. W निनदं 2. W Omits श्रुत्वा 3. W Omits वितत्रसुः 4- -4 W Omits

कराला उग्रा दंष्ट्रा यस्मिन् करवालः खड्गः तद्वच्चञ्चला क्षुरान्तवत्तीक्ष्णा च जिह्वा यस्मिन्, भ्रुकुटीयुक्तेन मुखेनोल्बणं स्तब्धावुर्द्धाञ्चितावूर्ध्वौ कर्णौ यस्मिन्, गिरिकन्दरवदद्भुतं व्यात्तं प्रसृतमास्यं नासे च यस्मिन्। हनू कपोलप्रान्तौ तयोर्भेदेन विदारणेन भीषणम्।।२१।।

दिवं[1] स्पृशन् कायो यस्मिन्। अलुग्[2]गर्षः। अदीर्घा ह्रस्वा पीवरा स्थूला च ग्रीवा, उरु विशालं वक्षःस्थलञ्च यस्मिन्, अल्पं मध्यमम् उदरं[3] यस्मिन्, चन्द्रांशुवत् गौरैस्तनूरुहैर्लोमभिः छुरितं व्याप्तं, विष्वञ्च सर्वतः प्रसृताः भुजा स्तेषामनीकानि स्तोमा स्तेषां शतानि यस्मिन्। भुजा एवाऽनीकं सेना तच्छतं यस्मिन्निति वा। स्वेनाऽनीकेन मर्दितमिति प्रयोगात्। नखा एव आयुधानि यस्मिन्।।२२।।

दुरासदं प्राप्तुमशक्यं सर्वाणि निजानि चक्रादीनि इतराणि च वज्रादीनि तान्येव[4] आयुधप्रवेकाः शस्त्रश्रेष्ठानि[5] तैर्विद्राविता दैत्या दानवाश्च येन। तद्रूपं मीमांसमानस्याऽग्रतः, समुत्थितमिति पूर्वेणान्वयः। तथाऽऽविर्भावे प्रयोजनविमर्शपूर्वकं तेन सह दैत्यस्य युद्धमाह सप्तभिः-प्रायेणेति। प्रायेण महामायाविना हरिणा मे मम अय मेवम्भूतो वधः वधोपायः स्मृतश्चिन्तितः, तथाऽप्यनेन समुद्यमेन किं, न किञ्चित्स्यादिति।।२३।।

एवं ब्रुवन्, गदैव आयुधं यस्य सः, दैत्य एव कुञ्जरो गजो नदन् गर्जन्[6] नृसिंहं प्रत्यभ्यपतत् अभिमुख मागतवान्। तदा सोऽसुरो नृसिंहस्योजसि दीप्तौ पतितस्सन् अलक्षितोऽदृष्टोऽभूद्यथ - पतितः पतङ्गमः शलभ स्तद्वत्।।२४।।

**विज०** तदा हिरण्यकशिपुः किं कृतवानिति तदवस्थामाह **अभिक्रमन्निति**। पुत्रमभिक्रमन् पदविक्षेपं कुर्वन् तस्य निर्ह्रादस्य पदं विषयं कर्तृभूतं, न ददर्शेत्यन्वयः। येन नादेन अनेन हिरण्यकशिपोर्हृदयसारातिशयो दर्शित इति ज्ञायते।।१७।।

आकाशगुणविशेषस्य शब्दस्य चेतनाश्रयत्वेन दर्शनात् किमिदमिति मीमांसमानेषु सत्सु तदाश्रयोऽप्यदर्शि इत्याऽऽह-**सत्यं विधातुमिति**। रूपं विशिनष्टि न मृगमिति "नाभावान्यविरोधिषु" इति वचनात्। न मृगं केवलं मृगस्य विद्यमानं न भवति, न मानुषं मानुषस्य विद्यमानं न किन्तु तयोः समाहारलक्षणम्।।१८।।

---

1. A,B,T दिवि 2.A,B,T अलुक्समासः 3 W Omits उदरं 4.A,B,T ते एव 5.A,B,T स्तोमाः 6. W Omits गर्जन्

एवंविधं सत्त्वं प्राणविशिष्टंरूपमुद्वहं स्तस्याग्रतोऽग्रे समुत्थितः अदृश्यतेत्यन्वयः। किं विशिष्टस्य स्तम्भस्य मध्यान्निर्जिहानमुत्तिष्ठमानमेतन्नृमृगेन्द्ररूपं, किमिति? मीमांसमानस्य विचारं कुर्वतो हिरण्यकशिपोः तद्रूपं विशिनष्टि तदलमित्यादिना। चामीकरं सुवर्णं, सटाकेसरैः कर्णगतरोमविशेषलक्षणान्तर्दलैः जृम्भितं विकसितमाननं यस्य स तथा।।१९,२०।।

कराला: क्रूराः दंष्ट्राः यस्य स तथा करवालवत् चन्द्रहासवत् चञ्चलं क्षुरान्तः क्षुरधारा तद्वत्स्थिता जिह्वा यस्य तत्तथा, भ्रुकुट्या मुखेन पूर्वभागेन उल्बणं क्रूरं स्तब्धौ दृढौ ऊर्ध्वीकृतौ च कर्णौ यस्य स तथा, तद्गिरि कन्दरवत् अद्भुतं व्यात्तास्यं नासापुटञ्च यस्य तत्तथा तत्, हनुभेदेन विदीर्णकपोलेन भीषणं भयजनकम्।।२१।।

ग्रीवाचोरू च वक्षःस्थलञ्च तानि तथा अदीर्घाणि पीवराणि ग्रीवोरुवक्षःस्थलानि यस्य स तथा तत्। "चन्द्रो हेम्नि हिमांशौ ना चन्द्राकंरोचिषेऽपि च" इत्यभिधानात्। चन्द्रांशुवर्णवद्गौरैररुणैस्तनूरुहैः छुरितं व्याप्तम्। "पीतोऽरुणे सिते गौरे" (अम.को. 3-344) इत्यभिधानम्। विष्वक्व्याप्तैः भुजानीतशतैर्युक्तं बहुत्वापेक्षया-ऽनीकेत्युक्तम्।।२२।।

"निजमात्मीयनित्ययोः" (वैज.को. 6-4-9) इत्यमरः। निजान्यात्मीयानि नखापेक्षयेतराणि चक्रादीनि यानि तैरायुधप्रवेकैरायुधमुख्यैर्विद्राविता दैत्यदानवा येन तत्तथोक्तं तत्। यद्वा, निजं सहजं नखलक्षणमायुधम् इतराणि पृथक्स्थितानि चक्रादीनीति मे औरसारिणा निसर्गशत्रुणा हरिणा अनेन रूपेण प्रायेण ममाऽयं वधः स्मृतो निरूपितः किं स्मृतो वधोऽयं किमिति वा। कीदृशस्य मे? पुत्रवधे समुद्यतस्य पुत्रहन्तुर्यो वधः शास्त्रेषु स्मृतो विहितः सोऽयमद्य प्राप्तः किञ्चेति।।२३।।

एवं विमृश्य वधान्निवृत्तः किम्, नेत्याह-**एवमिति**। कमभ्यपतदित्यत उक्तं नृसिंहं प्रतीति। दैत्यकुञ्जरो दैत्येन्द्रः। निदर्शनमाह-अलंक्षित इति। साहसिकः पतङ्गमः शलभः।।२४।।

**न तद्विचित्रं खलु सत्त्वधामनि स्वतेजसा यो नु पुराऽपिबत्तमः।**
**ततोऽभिपत्याभ्यहनन्महासुरो[1] रुषा[3] नृसिंहं गदयोरुवेगया।।२५।।**

---

1 A,B,G,J,M,Ma,T. "द्या" 2. H,V पतन्म" 3 H,V. मृषा

तं विक्रमन्तं सगदं गधाधरो महोरगं तार्क्ष्यसुतो यथाऽग्रहीत्।
स तस्य हस्तोत्कलितस्तदाऽसुरो विक्रीडतो यद्वदहिर्गरुत्मतः।।२६।।

असाध्वमन्यन्त हतौकसोऽमरा घनच्छदा भारतसर्वधिष्ण्यपाः।
*तं मन्यमानो निजवीर्यशङ्कितं यद्धस्तमुक्तो नृहरिं महासुरः।
पुनस्तमासज्जतखड्गचर्मणी प्रगृह्यवेगेन जितश्रमो मृधे।।२७।।

तं श्येनवेगं शतचन्द्रवर्त्मभिश्चरन्तमच्छिद्रमुपर्यधो हरिः।
कृत्वाऽट्टहासं खरमुत्स्वनोल्बणं निमीलिताक्षं जगृहे महाजवः।।२८।।

विष्वक् स्फुरन्तं ग्रहणातुरं हरिर्व्यालो यथाऽऽखुं कुलिशाक्षतत्वचम्।
द्वार्यूर आपत्य ददार लीलया नखैर्यथाऽहिं गरुडो महाविषम्।।२९।।

संरम्भदुष्प्रेक्ष करालालोचनो व्यात्ताननान्तं विलिहन्स्वजिह्वया।
असृग्लवाक्तारुणकेसराननो यथान्त्रमाली द्विपहत्यया हरिः।।३०।।

नखाङ्कुरोत्पाटितहृत्सरोरुहं विसृज्य तस्यानुचरानुदायुधान्।
अहन् समन्तान्नखशस्त्रपाणिभिर्दोर्दण्डयूथोऽनुपथान् सहस्रशः।।३१।।

सटावधूता जलदाः परापतन् ग्रहाश्च तद्दृष्टिविमुष्टरोचिषः।
अम्भोधयः श्वासहता विचुक्षुभुर्निर्ह्रादभीता दिगिभा विचुक्रुशुः।।३२।।

**श्रीध० नेति।** सत्त्वधामनि सत्त्वप्रकाशे हरौ पतितस्य तमोमयस्याऽदर्शनं तद्विचित्रं न भवति। तत्र हेतुः यो हरिः पुरासृष्ट्यादौ प्रलयकालीनं तमो नु अहो अपिबत्, तस्मिन्।।२५।।

**तमिति।** विक्रमन्तं ततस्ततः प्रहरन्तम्। हस्तादुत्कलितो निस्सृतः।।२६।।

**असाध्विति।** तदा अमरा देवाः सर्वे धिष्ण्यपा लोकपालाश्च असाध्वमन्यन्त। हतान्योकांसि स्थानानि

1 W द्र 2 H,V °मुना *This half verse is not found in B edition 3- -3 H,V, °रेर्महामनाः 4.H,M,Ma,V गा° 5 W निस्स्वनो° 6 W °णो 7 H,V, °रुमापा°; M,Ma रवापा° 8 A,B,G,H,J,M,Ma T,V. °क्ष्य 9 W °न्वरा° 10.A,B,G,J,T, °र्ष्णि 11 H,M,Ma,थाऽ° 12 H,V °मृ°, M,Ma °न° 13 H,V, जहुर्मुदम्; M,Ma जहुर्दिशः 14 H,V Omit सर्वे 15- -15 A,B,J Omit

येषां ते, तद्भिया घनच्छदा मेघान्तरितास्सन्तः यस्य हस्तात् स्वयं मुक्तस्तं नृहरिं स्ववीर्याच्छङ्कितं मन्यमानः खड्गचर्मणी प्रगृह्य पुनस्तमासङ्गत अभ्यपद्यतेत्यन्वयः।।२७।।

**तमिति।** श्येनस्येव वेगो यस्य तम्। शतचन्द्रवर्त्मभिः खड्गचर्ममार्गैराच्छिद्रं यथा भवति। एव मुपर्यधश्चरन्तम्। अट्टहासमेवाऽऽह-खरं तीव्रमुत्स्वनेन महाशब्देन उल्बणं भयङ्करम्। तद्भयेन हरेस्तेजसा च निमीलिते अक्षिणी यस्य।।२८।।

**विष्वगिति।** ग्रहणे दृष्टान्तः व्यालो यथा आखुं मूषकं, विदारणे[1] दृष्टान्तः-अहिं गरुड इवेति। विष्वक् सर्वतः स्फुरन्तं निस्सरन्तम्। ग्रहणेनाऽऽतुरं विवशम्। इन्द्रेण सह युद्धे तत्प्रयुक्तेन कुलिशेन न[2] क्षता त्वगपि यस्य। द्वारि सभायां नाऽन्तर्न बहिः ऊरं[3] ऊरौ निपात्य, नभूमौ न चाऽम्बरे, नखैर्न तु व्यसुभिरसुमद्भिर्वा। एवं दिवानक्तपरिहाराय सन्ध्यायामिति द्रष्टव्यम्।।२९।।

दैत्यवधमुक्त्वा तद्भृत्यवधमाहद्वाभ्यां **संरम्भेति।** संरम्भेण दुष्प्रेक्ष्याणि करालानि लोचनानि यस्य। असृजो रक्तस्य लवैर्बिन्दुभिः अक्तास्सिक्ताः अत एवाऽरुणाः केसरा आननञ्च यस्य सः। क इव? द्विपहत्यया गजवधेन हरिः सिंहो यथा एवम्भूतस्यानुचरान्, अहन्नित्युत्तरेणाऽन्वयः। आन्त्राणां[4] माला कण्ठे विद्यते यस्य[4]।।३०।।

**नखेति।** नखाङ्कुरैरुत्पाटितं हृत्सरोरुहं यस्य तम्। दोर्दण्डानां यूथानि समूहा[5] यस्य सः। तं दैत्येन्द्रम्[6]। अनु पन्था येषां तान्। अन्यानपि तत्पक्षपातिन इत्यर्थः।।३१।।

दैत्यवधव्यग्रस्य नृहरेराटोपमाह द्वाभ्यां **सटेति।** सटाभिरवधूताः प्रकम्पिता[7-] जलदा मेघाः[-7] परापतन् व्यशीर्यन्त। अनेन[8-] ये मेघान्तरिता देवास्ते स्पष्टं पश्यन्त्वित्याज्ञां दत्तवानित्यर्थः[-9]। यस्य[9] दृष्ट्या विमुष्टं रोचिर्येषां[10] ग्रहाणां ते तिरस्कृतप्रभाः, अभवन्निति शेषः। दिगिभा दिग्गजाः।।३२।।

**वीर०** सत्त्वधामनि शुद्धसत्त्वाश्रये हरौ पतितस्य तमोमयस्य दैत्यस्याऽदर्शनं यत् तद्विचित्रं न भवति। तत्र हेतुः-यो हरिः पुरा सृष्ट्यादौ प्रलयकालिकं तमः स्वतेजसा अपिबत्। ततो महासुरोऽभिपत्य अभिमुखमागत्य रुषा क्रोधेन उरुवेगया भ्राम्यमाणया गदया नृसिंहमभ्यहनत्, ताडितुमुद्युक्त इत्यर्थः, सगदमग्रहीदित्युत्तरस्वारस्यात्[11]।।२५।।

---

1. H,V,Omit विदारणे 2.H,Vअक्षता 3.A,B,J ऊरं 4- -4 H,V, Omit 5 H,V, Omit समूहाः 6. H,V, Omit दैत्येन्द्रम् 7- -7 H.V. Omit

8- -8 H,V, Omit 9. H,V, तस्य 10. H,V,Omit ग्रहाणां 11. A,B,T add इति भावः

विक्रमन्तं कथञ्चित्प्रहर्तुमुद्यतवन्तं तं दैत्येन्द्रं गदाधरो नृसिंहः सगदमग्रहीत्। यथा तार्क्ष्यसुतो गरुत्मान् महासर्पं तद्वदित्यर्थः[1]। स गृहीतोऽसुरस्तदा विक्रीडतस्तस्य नृसिंहस्य हस्तादुत्कलितो विसृष्टो यद्वद्यथा विक्रीडतो गरुत्मतोऽहिर्गलितो भवति तद्वत्। भगवतस्तत्क्रीडनं तद्विसर्जनरूपमजानन्तो लोकपालाः सर्वे इन्द्रादयः सुराः हृतं दैत्येन्द्रापहृतं ओकः स्थानं येषां ते, अत एव तद्भयेन घनच्छदा मेघेषु छन्ना वसन्तः असाध्वमन्यन्त। अहो भगवतोऽप्ययं बलीयान् अनेनैव तस्य किं स्यात् इत्येवममन्यन्तेत्यर्थः। यस्य हस्तात् स्वयं मुक्तस्सन् नृहरिं स्ववीर्याच्छङ्कितं मन्यमानः अत एव महामना अहमेव बलीयानित्यभिमानयुक्तोऽसुरो मृधे युद्धे जितश्रमः[2] श्रमरहितः खड्गचर्मणी खड्गखेटे प्रगृह्य पुनस्तं नृसिंहं आसज्जत अभ्यपतत्।।२६,२७।।

श्येनस्येव वेगो यस्य शतचन्द्रवर्त्मभिः शतचन्द्रश्चर्म तस्य वर्त्मभिः खड्गचर्ममार्गैरच्छिद्रं यथा भवति, एवमुपर्यधश्चरन्तं दैत्यं हरिरट्टहासं कृत्वा खरेण कठिनेन निस्वनेन ध्वनिना, उल्बणो भीषणो महाजवः[3] महावेगो[4] निमीलिते अट्टहासखरनिस्वनाभ्यां निमीलिते अक्षिणी यस्य तं जग्राह। खरनिस्वनोल्बणमिति द्वितीयान्तपाठे तु खरेण निस्वनेन महाशब्देनोल्बणं भयङ्करमट्टहासं कृत्वा तद्भयेन हरेस्तेजसा च निमीलताक्षमग्रहीदित्यर्थः।।२८।।

ततः विष्वक् सर्वतः स्फुरन्तं सर्वावयवान् प्रचालयन्तमित्यर्थः[5]। ग्रहणेन हेतुना आतुरं विवशमिन्द्रेण सह युद्धे तत्प्रयुक्तेन कुलिशेन अक्षता त्वगपि यस्य तं दैत्यं द्वारि सभायाः नाऽन्तर्बहिः ऊरावङ्के निपात्य न भूमौ न चाम्बरे नखै र्न तु व्यसुभिः असुमद्भिर्वा, एवं दिवानक्तं विहाय सन्ध्यायामिति द्रष्टव्यं , लीलया क्रीडया ददार विदारितवान्। तत्र ग्रहणे दृष्टान्तः यथा व्यालस्सर्पः आखुं मूषकमिति। विदारणे दृष्टान्तः महाविषमहिं सर्पं गरुड इवेति।।२९।।

एवं दैत्येन्द्रवधमुक्त्वा तद्दशावस्थितं नृसिंह मनुवर्णयन् दैत्येन्द्रभृत्यवधमाह-**संरम्भेणेति** द्वाभ्याम्।[6] संरम्भेण क्रोधेन दुष्प्रेक्ष्ये दुर्निरीक्ष्ये[7] कराले लोचने यस्य,व्यात्तं विकसितं यदाननं मुखं[8] तत्पर्यन्तं स्वजिह्वया विलिहन् सन् असृजो रक्तस्य लवैर्बिन्दुभिः अक्तास्सिक्ताः, अत एवाऽरुणाः केसरा आननञ्च यस्य सः, आन्त्रमालाधरः, क इव? द्विपहत्यया गजवधेन हरिः सिंहो यथा तद्वत्[9]।।३०।।

एवम्भूतो नखाङ्कुरैः उत्पादितं हृदयसरोजं यस्य तद्दैत्यशरीरं विसृज्य तस्य दैत्येन्द्रस्य अनुचरान् ,

1. w omits इत्यर्थः 2 w क्लमः 3 A,B,T omit महाजवः 4 womits महावेगः 5.w र 6. A,B,T add अहिते 7. w omits दुर्निरीक्ष्ये

8 w वक्त्रं 9 w omits तद्वत्

कथम्भूतान्? वराण्यायुधानि येषां तमनुपन्थाः अनुवृत्तिर्येषां तान् दोर्दण्डानां यूथानि यस्य सः, नखा एव शस्त्रपाणयस्तैः समन्तात् सहस्रशो न्यहनत् हतवान्।।३१।।

दैत्येवधे[1] व्यग्रस्य नृहरेराटोपमाह- **सटेति** द्वाभ्याम्। सटाभिरवधूताः प्रकम्पिताः जलदा मेघाः परापतन् व्यशीर्यन्त। तस्य नृहरेर्दृष्ट्या विमुष्टमपहृतं रोचिर्येषां तादृशाः ग्रहाः सूर्यादयोऽभूवन्। श्वासेन हताः पीडिता अम्भोधयः समुद्राः चुक्षुभुः सञ्चेलुः। निर्ह्रादेन भीता दिग्गिभा दिग्गजा मुदं हर्षं जहुः तत्यजुः।।३२।।

**विज॰** द्विसप्तलोकैकारेः केवलं तुच्छीकरणं भगवद्भक्तिवैशद्यान्न तत्त्वत इति नेत्याह -**न तदिति**। सत्त्वधामनि बलज्ञानसमाहारमूर्तौ पराक्रममूर्तौ[2] वा जगदादौ तमःपानं पुरुषरूपेणाऽनेन जगदावरकं तमःपानरतो हरे रसुर-भस्मीकरणं किमिति दर्शितम्। अथो लोकं विडम्बयतो हरे रसुरेण सह समरप्रकारं वर्णयति तत इति।।२५।।

तस्य गदाशिक्षणलाघवं वक्ति स तस्येति। हस्तोत्कलितः हस्ताद्गलित उत्प्लुतो वा।।२६।।

तस्य हरेर्विडम्बनम् अजानताममराणां निरूपणप्रकारं वक्ति-**असाध्विति**। हतौजसः भ्रष्टावष्टम्भा इव घनेन छदा छादनं येषां ते तथा मेघच्छायायां विलीना इव, लुप्तोपमेयं सर्वधिष्ण्यपाः सर्वनक्षत्रपतयः चन्द्रादयोऽमराः तदसाध्वमन्यन्तेत्यन्वयः। तत्र हेतुः तं मन्यमान इति, नृहरेः हस्तमुक्तोऽसुरः तं नृहरिं निजवीर्ये आत्मपराक्रमे शङ्कितं मन्यमानोऽभूदिति यत्तदिति हरेर्हस्तमुक्तोऽसुरः पराद्रवत् उताऽभ्यपतत्? इति संशयो माभूदित्याह - पुनस्तमिति। असज्जत सक्तोऽभूत्, युद्धाय सन्नद्धोऽभूदित्यर्थः। शतचन्द्रवर्मभिः शतचन्द्रवर्मभ्यां खड्गचर्मणीति प्रकृतत्वात् "भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः" (ऋग्वे.1-89-8) इत्यादिश्रुतेः छान्दसाभिप्रायेणाऽयं प्रयोगः। सम्भाव्यते च परिभ्रमणे शिक्षाप्रकर्षद्रष्टॄणां द्वे एव बहूनीव दृश्यन्त इत्यतो वा बहुवचनं युज्यते, अच्छिद्रं निरवकाशमिति क्रियाविशेषणेनैतदेव सूचयति। असुरवीर्यमाशङ्कमानो हरिः किमकरोदिति तत्राऽऽह हरिरिति।।२७,२८।।

विष्वक् परितः स्फुरन्तं भ्रमन्तमित्यनेनाऽपि शिक्षोत्कर्षं ध्वनयति। हरिः पुनर्ग्रहणेनाऽऽतुरमकरोदिति शेषः। अनेनाऽऽतुरस्वरं लक्ष्यति। तत्र दृष्टान्तमाह-व्याल इति। व्यालः सर्पः, खननशीलत्वादाखुः। ब्रह्मवररक्षणार्थमाह-द्वारीति। द्वारि अधस्तिरश्चीनदारुणि स्थित्वा उरावङ्के उत्तानतयाऽऽपात्य, अत्राऽपि ह्रस्वत्वं छान्दसम्। संरम्भेण द्वेषादात्यन्तिककोपेन दुष्प्रेक्ष्ये कराले लोचने यस्य, व्यात्ताननान्तं विवृतवदनस्याधरोष्ठम् असृग्वसया रुधिरबिन्दुनाक्ते रूषिते अत एवारुणकेसरानने यस्य स तथोक्तः स हरिस्सिंहः।।२९,३०।।

1 A,B,T धव्य॰ 2. A °मो वा

न केवलमेनमेव हतवान्, किन्तु तदनुचरानसुरा नित्याह-**नखाङ्कुरेति**। अहन् हतवान् नखशस्त्रपाणिभिः नखैः शस्त्रैः पाणिभिश्च। हरेर्दण्डानां यूथानुपथान् निकराकृष्टान्।।३१।।

तदवसरविक्रमं वक्ति-**सटाविधूता** इति। दिगिभा दिग्गजा मदं जहुस्त्यक्तवन्तः।।३२।।

**द्यौस्तत्सटोत्क्षिप्त[1] विमानसङ्कुला प्रोत्सर्पतक्ष्मा च पदातिपीडिता।**
**शैलास्समुत्पेतुरमुष्यरंहसा तत्तेजसा खं ककुभो न रेजिरे।।३३।।**

**ततस्सभायामुपविष्टमुत्तमे नृपासने संभृततेजसं विभुम्।**
**अलक्षितद्वैरथमत्यमर्षणं[2] प्रचण्डवक्त्रं न बभाज कश्चन।।३४।।**

**निशाम्य[3] लोकत्रयमस्तकज्वरं तमादिदैत्यं हरिणा हतं मृधे।**
**प्रहर्षवेगोत्कलिताननना[4] मुहुः प्रसूनवर्षैर्ववृषुस्सुरस्त्रियः।।३५।।**

**तदा विमानावलिभिर्नभस्स्थलं[5] दिदृक्षतां सङ्कुलमास नाकिनाम्।**
**सुरानका[6] दुन्दुभयो[7]ऽथ जघ्निरे गन्धर्वमुख्या ननृतुर्जगुः स्त्रियः।।३६।।**

**तत्रोपव्रज्य[8] विबुधा ब्रह्मेन्द्रगिरिशादयः।**
**ऋषयः पितरस्सिद्धा विद्याधरमहोरगाः।।३७।।**

**मनवः[9] प्रजानां पतयो गन्धर्वाप्सरचारणाः।**
**यक्षाः किम्पुरुषास्तात[10] वेतालाः[11] सहकिन्नराः।।३८।।**

**विष्णुपारिषदास्सर्वे[12] सुनन्दकुमुदादयः[-12]।**
**मूर्ध्नि बद्धाञ्जलिपुटा आसीनं तीव्रतेजसम्।**
**ईडिरे नरशार्दूलं नातिदूरचराः पृथक्।।३९।।**

**ब्रह्मोवाच**

**नतोऽस्म्यनन्ताय दुरन्तशक्तये विचित्रवीर्याय पवित्रकर्मणे।**
**विश्वस्य सर्गस्थितिसंयमान्गुणैस्स्वलीलया सन्दधतेऽव्ययात्मने।।४०।।**

---

1. W °क्षिप्त 2.M,Ma तं भैरव 3. A,B,G,J,M,Ma T °शं° 4. H,V हरिं 5. A,B,G,J,T °स्त° 6. H,V °कैर्दु 7.M,Ma यो हि 8. H.V तमुप ; M,Ma तदुप 9.w मनुः 10. H.V भूत 11. A,B,G,J,T सिद्ध 12- -12 A,B,G,J,M,Ma,T ते विष्णुपार्षदाः।

**श्रीध॰ द्यौरिति।** तस्य सटाभिरुत्क्षिप्तानि विमानानि तैस्सङ्कुला[1] व्याप्ता सती प्रोत्सर्पत स्वस्थानात्प्रकर्षेणोदसर्पत् चलिता[2]।।३३।।

**तत** इति। स्वभृत्यैश्वर्यमाश्चर्यमिव[3] मत्वा कौतूहलेन[4] तस्याऽऽसने उपविष्टं भयात्कोऽपि न बभाज नाऽसेवत। न लक्षितो द्वैरथः प्रतियोद्धा येन।।३४।।

**निशाम्येति।** लोकत्रयस्य मस्तकज्वरं शिरोव्यथामिव[5] दुस्सहम्। प्रहर्षस्य वेगेनोत्कलितानि विकसितानि आननानि यसां ताः सुरस्त्रियः[6] पुष्पवर्षैः[6] नृहरिं ववृषुः।।३५।।

**तदेति।** नाकिनां विमानावलिभिः[7] नभस्तलं सङ्कीर्णमासं[7]। सुराणामानकाः पटहा स्तैर्जाघ्नरे वादिताः। स्त्रियः अप्सरसो ननृतुः, गन्धर्वा[8] जगुः[8]।।३६,३७ ।

**मनव** इति। गन्धर्वाप्सरसश्चारणाश्चेत्यर्थः।।३८।।

**विष्विति।** नरशार्दूलं पुरुषोत्तमम्।।३९।।

**नत इति।** *"ब्रह्मादयो नृसिंहस्य शङ्कयाऽऽकुलचेतसः। आरादेवाऽस्तुवन् सप्तदशश्लोकैः पृथक्पृथक्"। अनन्तायाऽनन्तं त्वां[9] प्रसादयितुं नतोऽस्मि। अनन्तत्वे हेतुः दुरन्ता अनन्ताः[10] शक्तयो यस्य। तत्कुतः? विचित्राणि वीर्याणि प्रभावा यस्य तत्किमर्थम्? पवित्राणि श्रवणमात्रेण[11] शोधकानि[11] कर्माणि यस्य विचित्रवीर्यत्वमेवाह--विश्वस्येति। सन्दधते सम्यक्कुर्वते। एवमप्यव्ययात्मनेऽप्रच्युतस्वरूपाय।।४०।।

**वीर॰** तस्य नृहरेः[12], सटाभिरुत्क्षिप्तानि विमानानि तैस्सङ्कुला व्याप्ता द्यौः प्रोत्सर्पत इतस्ततश्चलिते वाऽभूत्। नृहरेः पद्भ्यामतीव पीडिता क्ष्मा भूमिरभूत्। अत एव तस्यासह्येन रंहसा वेगेन बलेन वा शैलाः समुत्पेतुः उत्प्लुत्य पतितवन्तः तस्य नृहरेस्तेजसा खं माकाशं कुकुभो दिशश्च न रेजिरे।।३३।।

ततोऽहमेव सर्वेश्वर इति लोकस्य प्रदर्शयितुं सभायामुत्तमे सिंहासने उपविष्टं, सम्भृतं सम्पूर्णं तेजो यस्य अलक्षितः न लक्षितो द्वैरथः प्रतियोद्धा येन, प्रचण्डमुग्रं वक्त्रं यस्य तं विभुं नृसिंहं कश्चन कोऽपि न बभाज नाऽसेवत। कोऽपि समीपं गन्तुं नाशक्नोदित्यर्थः।।३४।।

---

1. H,V add व्याकुला 2. H,V Omit चलिता 3. B Omits आश्चर्यं 4 H. V. add इव 5. A,B,J °थेव 6- -6 H V Omit 7- -7 H,V Omit 8- -8 H V Omit * श्रीधरीयोऽयं श्लोकः 9 H,V, Omit त्वां 10 H V Omit अनन्ताः 11- -11. H.V.Omit 12- -12 W Omits

लोकत्रयस्य मस्तकज्वरं शिरोव्यथावद्दुस्सहं तमादिदैत्यं हिरण्यकशिपुं हरिणा नृसिंहेन युद्धे हतं निशाम्य[1] दृष्ट्वा प्रहर्षवेगेन उत्कलितानि विकसितान्याननानि यासां ताः सुराणां स्त्रियः पुष्पवर्षैः पुनः पुनः नृहरिं ववृषुः।।३५।।

तदा दिदृक्षितां द्रष्टुमिच्छतां दर्शनार्थमागतानामित्यर्थः। नाकिनां देवानां विमानपङ्क्तिभिः नभस्स्थलं[2] सङ्कुलं[3] सम्बाधं[4] बभूव। सुराणामानकाः पटहास्तैर्दुन्दुभयो जघ्निरे तडिताः, *गन्धर्वश्रेष्ठाः ननृतुः स्त्रियः अप्सरसो जगुः।।३६।।

तत्रोपव्रज्य किञ्चित्समीपमागत्य ब्रह्मरुद्रप्रभृतयो देवादयः हे तात! मूर्ध्नि[5] बद्धाञ्जलिपुटानि यैस्ते, आसीन मुपविष्टं तीव्रं दुस्सहं तेजो यस्य तं श्रीनृसिंहं नातिदूरवर्तिनः पृथक् एकैकशः ईडिरे तुष्टुवुः।।३७-३९।।

तावदपारविविधविचित्रशक्तिवीर्यमकर्मायत्तजगद्व्यापारं जगत्कारणं स्तुवन् नमस्करोति ब्रह्मा-**नतोस्म्यहमिति**। अनन्ताय स्वरूपतस्त्रिविधपरिच्छेदरहिताय दुरन्तशक्तये अपारशक्तये अचिन्त्यशक्तये[6-6] वा शक्तिः स्वेतरसर्वसामर्थ्यनिर्वाहिका "जगत्प्रकृतिभावो मे यस्सा शक्तिरितीरिता[7]" इत्यादिषूक्ता। यद्वा, यदन्यैरशक्तत्वादघटितमिव विभाति, तद्घटनसामर्थ्यरूपा, यतस्त्वमुक्तविधदुरन्तशक्तिः अनन्तशक्तिः[8-8] अत एव मद्वरेण सर्वथाऽघटितमरणं दैत्यं हतवानसीति भावः। यतस्त्वमनन्तोऽत एवाऽचेतने स्तम्भेऽप्याविर्भूतोऽसी-त्यभिप्रायः। अनन्तपदेन हि सर्वव्यापित्वाद्देशपरिच्छेदराहित्यम्, सर्वकालवर्तित्वात्कालपरिच्छेदराहित्यम्, साक्षात्परम्परया सर्वप्रकारत्वेन सर्ववस्तुसामानाधिकरण्यार्हत्वाद्वस्तुपरिच्छेदराहित्यं विवक्षितम्, येन केनाऽपि प्राशस्त्येन स्वस्मादुत्कृष्टैः कैश्चिद्वस्तुभिरधरीकृतत्वाभावरूपं वा वस्तुपरिच्छेदराहित्यम्-इति त्रिविधपरिच्छेद-राहित्यं विवक्षितम्। नन्वस्त्वेवं स्वरूपं कृत्स्नजगदुदयविभवलयलीलस्य कियदेतद्दैत्यहननमित्यभिप्रयन् तावज्जगत्कारणत्वप्रयुक्तं विकारं निराह-विचित्रवीर्यमिति। वीर्यं नाम सर्वोपादानत्वे सर्वसाधारणे सर्वनियमने विकाररहितत्वम् ; यथोक्तम् -" विकारविरहो वीर्यं प्रकृतित्वेऽपि मे सदा" इत्यादि। विचित्रशब्देनैवंविधस्य वीर्यस्य अनितरसाधारण्यमुच्यते। पवित्रकर्मणे अकर्मायत्तजगद्व्यापाराय त्वद्व्यापारं शृण्वतां दुरितनिवर्तनक्षमव्या-पारायेति वा। गुणैः सर्वसत्वसर्वशक्तित्वादिभिः जगन्निमित्ततदुपादानत्वोपयुक्तैः स्वनियाम्यसत्त्वादिप्राकृतगुणैर्वा

---

1 A °शं° 2. A,B,T °भस्त° 3. W Omits सङ्कुलं 4 A,B,T सम्मदं *अत्रेवं भवितव्यम् - "गन्धर्वमुख्या जगुः, स्त्रियोऽप्सरसो ननृतुः"। -पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्। 5. W मूर्धसु 6- -6 W Omits 7 A,B,T °रुदी" 8- -8 W Omits 9. A,B,T °तो

कृत्स्नस्य विश्वस्य सर्गादीन् स्वलीलयैव, न तु कर्मणा सन्दधते विदधते अव्ययात्मने एवमप्यव्ययः विकाररहितः आत्मा स्वभावो यस्य, स्वभावतोऽपि विश्वस्य[1] विकाररहितायेत्यर्थः। स्वरूपतोऽपि विकारराहित्यस्योक्तत्वात्।।४०।।

**विज॰** प्रोत्सर्पत प्रोदसर्पत उद्गतेत्यर्थः।।३३।।

स्वभावस्थानं तस्य वक्ति-**तत** इति। सम्भृततेजसं राशीकृततेजसं, अलक्षितं न केनाऽपि दृष्टम्।।३४।।

नन्वयं जयः केनाऽपि न लक्षितः तदङ्कुरव्यक्त्यदर्शनादित्याशङ्क्यपुरुषकोपोपशमनं स्त्रीणामेव सुशकमिति भावेन, सुरस्त्रीपुष्पवर्षप्रकारमाह-निशम्येति। लोकत्रयस्य मस्तकज्वरं शिरोरोगायमाणं प्रहर्षातिरेकेणोत्कलितं विकसितमाननं यासां तास्तथा ताः।।३५।।

सुरस्त्रीवृष्टपुष्पसौरभ्याघ्राणेन किञ्चिच्छान्तकोपत्वादस्माकमप्ययमवसर इति मत्वा नानादेवानां नर्भासि विमानावलिसाङ्कुल्यप्रकारं वक्ति-**तदेति**। सुराणामानका दुन्दुभयः।।३६।।

चण्डक्षुब्धानां चित्ताह्लादकरी स्तुतिरेवेति भावेन ब्रह्मादीनामुपक्रममाह-**तदुपव्रज्येति**। ये पूर्वमुपगन्तुं तत्रसुः[2] ते ब्रह्मादयस्तं पृथगीडिर इत्यन्वयः।।३७।।

नातिदूरचराः किञ्चित्समीपवर्तिनः।।३८,३९।।

तत्र पृथक् पृथक् मतिलक्षणं स्तुतिप्रकारं ब्रूते, **नतोऽस्मीति** । गुणैस्सत्त्वादिभिः स्वलीलया स्वरूपभूतलीलया अव्ययात्मने नित्यदेहाय।।४०।।

**श्रीरुद्र उवाच**

**कोपकालो युगान्तस्ते हतोऽयमसुरोऽल्पकः।**

**तत्सुतं पाह्युपसृतं[3] भक्तं ते भक्तवत्सल।।४१।।**

**इन्द्र उवाच**

**प्रत्यानीताः परम भवता त्रायता नः स्वभागा दैत्याक्रान्तं[4] हृदयकमलं[5] त्वद्गृहं प्रत्यबोधि।**

**कालग्रस्तं कियदिदमहो नाथ शुश्रूषतां ते मुक्तिस्तेषां नहि बहुमता नारसिंहाऽपरैः किम् ।।४२।।**

---

1. A Omits विश्वस्य 2 B.M.Ma तत्रास 3 M.Ma °ह्यनु 4 W °न्ता 5 W °म

ऋषय ऊचुः

त्वं न स्तपः परममात्थ यदात्मतेजो येनेदमादिपुरुषात्मगतं ससर्ज।[1]
तद्विप्रलुप्तममुनाऽद्य शरण्यपाल रक्षागृहीतवपुषा पुनरन्वमंस्थाः।।४३।।

पितर ऊचुः

श्राद्धानि नोऽधिबुभुजे प्रसभं तनूजैर्दत्तानि तीर्थसमयेऽप्यपिबन्तिलाम्बु।[2-2]
तस्योदरान्नखविदीर्णवपाद्य आर्छत् तस्मै नमो नृहरयेऽखिलधर्मगोप्त्रे।[3]।।४४।।[4]

सिद्धा ऊचुः

यो नो गतिं योगसिद्धामसाधुरहार्षीद्योगतपोबलेन।
नानादर्पं तं नखैर्निर्ददार[5] तस्मै तुभ्यं प्रणमामो[6] नृसिंह।।४५।।

विद्याधरा ऊचुः

विद्यां पृथग्धारणयाऽनुराद्धां न्यषेधदज्ञो बलवीर्यदृप्तः।
स येन[7] संख्ये पशुवद्धतस्तं[8] मायानृसिंहं[9] प्रणताः स्म नित्यम्।।४६।।

नागा ऊचुः

येन पापेन रत्नानि स्त्रीरत्नानि हृतानि नः।
तद्वक्षःपाटनेनाऽऽसां दत्तानन्द नमोऽस्तु ते।।४७।।

मनव ऊचुः

मनवो वयं तव निदेशकारिणो दितिजेन देव परिभूतसेतवः।
भवता खलस्स उपसंहृतः प्रभो करवाम ते किमनुशाधि किङ्करान्।।४८।।

---

1 W °षांत्म 2- -2 M,Ma °पितॄन् सहार्द्धः 3 M,Ma भगवतं 4.M,Ma कमं 5 H,V °विंद 6.A,B,G,J,M,Ma,T ता: स्मो 7 H,V एव

8 H,V °स्त्वया 9 M,Maमहा°

**श्रीध०** रुद्रस्तु तत्कोपकालाभिज्ञो नाऽयं कोपावसर इति तं प्रार्थयते-**कोपेति।** सहस्रयुगान्त स्तव कोपस्य कालः कोपाऽयोग्यश्चाऽयमित्याह। अल्पकोऽत्यल्पः। अतः कोपानिवृत्त्या प्रह्लादं मा हिंसीरित्याह-तत्सुतमिति। यद्वाऽकालेऽप्ययं कापोऽस्य भक्तस्य रक्षणार्थमिति चेत् तर्हीदानीं कोपं त्यक्त्वा इमं पाहीत्यर्थः।।४१।।

**प्रत्यानीता** इति। इन्द्रस्तु नोऽस्माकं हविर्भागादिलाभः पुरुषार्थः, किन्तु तत्परिचर्यैव। भवता पुनरनेन संरम्भेण [1] स्व[2]कार्यमेव साधितं, तस्य च सिद्धत्वादुपसंहर एनं क्रोधमित्याशयेनाऽऽह-हे परम! नोऽस्मान् त्रायता रक्षता भवता स्वीया एव भागा दैत्यात्प्रत्याहताः; अन्तर्यामिणस्तवैव यज्ञेषु भोक्तृत्वात्। अस्मदीयं हृदयकमलं त्वद्गृहमेवैतावत्पर्यन्तं भयहेतुत्वेन अस्मत्स्मृतिपथे [3]नित्यं स्थितेन दैत्येनाऽऽक्रान्तं व्याप्तं सत् प्रत्यबोधि [4]भयापाकरणेन विकासं नीतम्। ननु तव त्रैलोक्यैश्वर्यसाधनार्थमयमुद्यम इति चेत्तत्राऽऽह-कालग्रस्तमिति। ते त्वाम् हे नारसिंह। नरस्य सिंहस्य चाऽऽकाराभ्यामाविर्भूत! [5]अपरैः स्वर्गादिभिः [-5]किम्।।४२।।

ऋषयस्तु तपः प्रवर्तनेन अस्माकं महाननुग्रहः कृत इत्याहुः-**त्वमिति।** त्वं नो यदात्थ परमं ध्यानलक्षणं तपः। परमत्वे हेतुः - आत्मनस्तव तेजः प्रभावरूपं तदेवाऽऽहुः येन तपसाऽऽत्मनिलीनमिदं विश्वं ससर्ज सृष्ट्वा [6]नसि, तदमुना दैत्येन विप्रलुप्तं कुण्ठितं सत्, हे शरण्यपाल! अद्य रक्षार्थं गृहीतेनाऽनेन वपुषा पुनरपि तपः कुरुतेत्य[7]नुज्ञातवानसि तस्मै ते नम इत्युत्तरश्लोकचतुर्थपादस्याऽनुषङ्गः।।४३।।

**श्राद्धानीति।** पितरस्तु श्राद्धोद्धरणेन परमोपकारिणं श्रीनृसिंहं प्रणमन्ति। श्राद्धानि श्रद्धायुक्तानि पिण्डादीनि नोऽस्मभ्यं पुत्रैर्दत्तानि प्रसभं बलाद्यः स्वयमधिकृत्य बुभुजे। किञ्च तीर्थस्नानसमये दत्तं तिलोदकमप्यर्पापवत्। तानि च तस्योदराद्य आर्छत् आहतवान्। कथम्भूतात्? नखैर्विदीर्णा वपा यस्य तस्मात्। वपाविदारणस्य तद्गतपिण्डोद्धरणमेव फलमिति भावः।।४४।।

**य** इति। योगसिद्धां गतिमणिमादिसिद्धिम्। नानाऽनेके दर्पा यस्य तम्। तस्मै तुभ्यं तं त्वामुद्दिश्य।।४५।।

**विद्यामिति।** विद्यामन्तर्धानादिलक्षणाम्। अनुराद्धां सम्प्राप्तां संख्ये युद्धे।।४६।।

**येनेति।** रत्नानि फणासु स्थितानि तथा स्त्रीरत्नानि चोत्तमाः स्त्रियः आसां स्त्रीणां दत्त आनन्दो येन तत्सम्बोधनम् [8]अस्मद्दत्तानन्देति। पाठान्तरे अस्माकं दत्त आनन्दो येनेति।।४७।।

---

1 H,V add एव 2.H,V तत्का 3.H,V Omit नित्यं 4 H,V तद्भया" 5- -5 H,V Omit 6. H,V "न् भावान् इति शेषः 7 H,V "त्यभ्यनु"

8- -8 H,V Omit

नृसिंहेनावलोकितास्सन्तो मूर्ध्नि बद्धाञ्जलयो मनवः प्रोचुः - **मनव** इति। मनवो वयं धर्मपालकाः परिभूतास्सेतवो वर्णाश्रमधर्ममर्यादा येषां ते। अनुशाधि अनुशिक्षय।।४८।।

**वीर॰** यद्ब्रह्मणोऽभिप्रेतं कृत्स्नजगत्सर्गादिकर्तुस्तव कियदेतदिति तदेव विशदयन् वात्सल्ययुक्तं स्तौति रुद्रः - **कोपकाल** इति। तव कोपकालो युगान्तः द्विपरार्धावसानम्, ते[1] कोपकाल इत्यनेन मदन्तर्यामितया मन्मुखेन संहर्ता त्वमेवेत्युक्तं भवति। अयन्तु कोपाविषय इत्याह-अय मल्पकोऽल्पबलो हतोऽतः कोपनिवृत्त्या हे भक्तवत्सल! तव भक्तं तत्सुतं तस्य[2] दैत्येन्द्रस्य सुतं उपसृतं त्वत्समीपमागमिष्यन्तं[3] पाहि संरक्ष[4]।।४१।।

इन्द्रस्तु स्वदुःखमावेदयन् संरक्षकं सर्वान्तरात्मानं समस्तपुरुषार्थदं स्तौति-**प्रत्यानीता** इति। हे परम! सर्वोत्कृष्ट! नोऽस्मान् त्रायता त्रात्रा भवता दैत्येनाऽऽक्रान्ताः प्रसह्य गृहीताः स्वभागाः स्वकीया यज्ञीयभागा अस्मदादिमुखेन त्वमेव[5] भोक्तेत्यभिप्रायेण स्वशब्दः प्रयुक्तः, प्रत्याहताः। दैत्याक्रान्तमिति द्वितीयान्तपाठे तु दैत्यभयाकुलमिति हृदयविशेषणम्। एवं दैत्यवधेन स्वभागप्रत्यानयनेन च त्वद्दृहं त्वदावासभूतमत एवाऽमलमस्माकं हृदयं प्रत्यबोधि, भयेन पूर्वं मुकुलितमिदानीं तदपाकरणेन विकासितं भवतेत्यनुषङ्गः[6]। त्वां सेवमानानामस्माकं त्वत्तो लौकिकपुरुषार्थं प्राप्तिरित्येतत्कियदित्याह-हे नाथ! स्वामिन्! ते शुश्रूषतां परिचर्यापराणामिदं लौकिकं पुरुषार्थं जातं कालेन नङ्क्ष्यमाणं कियत्, यत्किञ्चिदेतदित्यर्थः। तदेवाऽऽह तेषां त्वां परिचरतां मुक्तिरपि न बहुमता त्वत्सेवासुखासक्तानां मुक्तिरपि न परमं प्रयोजनम्। अतः हे नारसिंह! अपरैरवांचीनैः पुरुषार्थैः किम्? न किमपि, तेषामतितुच्छमर्वाचीनपुरुषार्थजातमिति भावः।।४२।।

ऋषयस्तु सर्वगुरुं साधुपरित्रातारं दुष्कृद्विनाशकञ्च तुष्टुवुः **त्वमिति**। परममुत्कृष्टं तपस्त्वद्ध्यानरूपं नोऽस्माकं त्वमात्थ उपदिष्टवानसि। तपो विशिंषन्ति, यत्तप आत्मन स्तव तेजः प्रकाशकम् अस्माकं त्वत्स्वरूपा-वेदकमित्यर्थः। येन च तपसा आदिपुरुषश्चतुर्मुखः इदं जगदात्मगतं परमात्मना त्वया गतमन्तरात्मतया व्याप्तं ससर्ज। आदिपुरुषात्मगत मित्यत्र "गूढोत्मा न प्रकाशते" इतिवत् सन्धिर्षः। आदिपुरुषात्मेति पाठे आदिपुरुषेति लुप्त-प्रथमान्तं पृथुक्पदम्। यद्वा, हे आदिपुरुष! इति सम्बोधनं, ससर्ज, ब्रह्मेति शेषः। तत् तपोऽमुना दैत्यन्द्रेण विप्रलुप्तं विशेषेण प्रलोपित मासित्। तदेवाधुना हे शरण्य! शरणमर्हतीति शरण्यः तथाभूत! हे पालक!

---

1 A,B,T Omit ते 2 W omits तस्य 3 A,B,T तत्सं" 2 W omits संरक्ष 5 A B T add यज्ञ 6 A,B,T "तो"

रक्षागृहीतवपुषा साधुपरित्राणार्थं गृहीतेन नरसिंहशरीरेण[1] पुनरन्वमंस्थाः अनुज्ञापितवान्। वः[2-] शत्रुर्मया विनाशितोऽतः[-2] पुनर्निर्भयं[3] तपः कुरुतेति नोऽनुज्ञापितवानसीत्यर्थः[4]।।४३।।

पितरस्तु स्वदुःखमावेदयन्तोऽखिलधर्मगोप्तारं हितकारिणं स्तुवन्तो नमस्कुर्वन्ति-**श्राद्धानीति**। अस्माकं तनूजैः पुत्रादिभिः अस्मदुद्देशेन दत्तानि श्राद्धानि श्राद्धसम्बन्धानि पिण्डानि यो दैत्यः प्रसभं बलात्स्वयमधिबुभुजेऽनुभूतवान्। तथा तीर्थसमये पुण्यतीर्थस्नानसमये अस्मत्तनूजैर्यद्दत्तं तिलोदकं तदप्यपिबत् तस्य दैत्यस्य उदरात्[5] श्राद्धादीनि तिलाम्बु च यः पुनरार्छत् आहृत्यास्माकं दत्तवान्। कथम्भूतादुदरात्? नखैर्विदारिता वपा यस्य तस्य। तस्मात् वपाविदारणस्य तद्गतपिण्डोद्धरणमेव फलमिति भावः। तस्मै समस्तधर्माणां गोप्त्रे रक्षित्रे नृहरये ते[6] नमः। [7-]तिलाम्ब्वसभ्य इत्यपि पाठः। तदाऽसभ्य इति दैत्येन्द्रविशेषणम्। तिलाम्बु तिलोदकमसभ्यः सभानर्हो यो दैत्येन्द्रोऽधिबुभुजे पीतवानित्यर्थः[-7]।।४४।।

सिद्धा अपि स्वकीययोगगत्यपहारकदैत्येन्द्रवधद्वारा स्वयोगगत्याधायकं परमसुहृदं वर्णयन्तो नेमुः[8] -**य** इति। योऽसाधुर्दुरात्मा दैत्यो नोऽस्माकं योगसिद्धां गतिं भक्तियोगप्राप्तां[9] गतिमणिमादिरूपां स्वयोगं[10] तपोबलेन अहार्षीदपहृतवान्, तं नानादर्पं नाना अनेकाः दर्पा यस्य तं नखैर्यो[11] वि ददार विदारितवान्, तस्मै तुभ्यं हे नृसिंह! वयं प्रणमामः[12]।।४५।।

विद्याधरा अपि तेनाऽपहृतविद्याप्रत्यादानेन हितकारिणं स्तुवन्तो नमन्ति-**विद्यामिति**। धारण्या मनोधारणयाऽनुराद्धां संसिद्धां विद्यामस्मत्सम्बन्धिनीमन्तर्धानादि लक्षणां योऽज्ञो मूर्खो बलवीर्याभ्यां गर्वितो दैत्येन्द्रो[13] न्यषेधन्निषेधितवान्[14]। बलं देहबलं , वीर्यं पराभिभवसामर्थ्यं स दैत्यो येन संख्ये युद्धे पशुवद्धतस्तं त्वां मायानृसिंहमात्मीयसङ्कल्पोपात्तनृसिंहतनुं नित्यं प्रणताः स्मः। कर्तरि क्तः। नमस्कृतवन्तः स्मेत्यर्थः।।४६।।

नागास्त्वेवं तदपहृतरत्नप्रदानेनानन्दकरं स्तुवन्तो नेमुः—**येनेति**। येन पापात्मना नोऽस्माकं रत्नानि स्त्रीरत्नानि नागकन्यकारूपाणि, रत्नानि चापहृतानि , तस्य वक्षोविदारणेनाऽऽसां स्त्रीणां दत्त आनन्दो येन तस्य सम्बोधनं, ते तुभ्यं नमोऽस्तु।।४७।।

---

1. W नृसिंहवपुषा 2- -2 W omits 3. W omits निर्भयं 4. W °वानित्यर्थः 5. W omits उदरात् 6. W omits ते 7- -7 Womits 8. A,B,T स्वयो 9- -9 W omits 10. A,B,T गेन त 11. W omits विददार 12. A,B,T प्रणताः स्मो नमस्कुर्मः 13. W omits दैत्येन्द्रः 14 . W omits निषेधितवान्

तवाज्ञापरिपालनरूपकैङ्कर्यविरोधिनिरसनेन कैङ्कर्याधापनरूपहितकारिणं स्तुवन्त स्तदेव प्रार्थयन्ते मनवः - **मनव** इति । वयं तव निदेशकारिणः कैङ्कर्यकारिणा मनव इति प्रसिद्धाः ते वयमेतावन्तं कालं येन दितिजेन दैत्येन[1] परिभूताः परिहापिताः सेतवः त्वत्कृताः वर्णाश्रममर्यादा येषां तादृशा बभूविम। अधुना स खलो दितिजस्त्वया उपसंहृतो हतः। हे प्रभो! निवृत्तकैङ्कर्यविरोधिनो वयं किं कैङ्कर्यं ते तुभ्यं करवाम, तथा किङ्करान्नोऽस्मान् अनुशाधि विविच्याज्ञापयेत्यर्थः[2]।।४८।।

**विज॰** येनाऽयमसुरो हतः स कोपकालो युगान्तो युगावसानोचितो नेदानीमत्यल्पासुरहनने। तस्मात्कोपं संहृत्याऽनुसृतं शरणं प्राप्तं तस्य सुतं प्रह्लादं रक्षेत्यन्वयः।।४१।।

हे परम! नस्त्रायता रक्षता भवता दैत्यहता यज्ञेषु स्वभागा अस्मद्योग्यहविर्भागाः प्रत्यानीता इत्यन्वयः। तपोबलेन दैत्येनाक्रान्तं निमीलितञ्च तव गृहं तव वासयोग्य हृदयकमलं प्रत्यबोधि विकसितंमस्माकम्, भवतेति शेषः। विरक्तिभक्तिभ्यामेव वशीकर्तुं यग्यो नान्येनेत्याशयेनाऽऽह-कालेति। नाथ! यदिदं स्वर्गादिस्थानं कालग्रस्तं कियत्सुखजनकम्? न किमपीति मत्वा भजन्ति[3] ते शुश्रूषतां त्वां सेवमानानां तेषां करगतामुक्तिरपि बहुमता न। हि यस्मात् तस्मात् हे नारसिंह! तेषां भक्तानां अपरैर्धर्मादिभिः प्राप्तैः किम्? इत्यन्वयः।।४२।।

हे आदिपुरुष! त्वं यदात्मतेज आत्मनो हरेर्ज्ञानलक्षणं तेजस्तपो नोऽस्माकं परमश्रेयसे आत्थ, येन तपसा आलोचनारूपेण महिम्नेदं समस्तमात्मगतं व्याप्तं हे शरण्यपाल! अमुना दैत्येन विप्रलुप्तं नष्टं तत्तपो जगद्रक्षार्थं गृहीतवपुषा नरसिंहात्मना पुनरप्यस्मान्प्रति कटाक्षमन्वमंस्थाः, उद्धरिष्यामीति शेषः। तप आलोचने इति धातोः "यस्य ज्ञानमयं तपः" (मुण्ड.उ. 1-1-9) इति श्रुतेश्च भगवज्ज्ञानसादृश्यादस्यात्मतेज इत्यभेदवचनं युज्यते। विप्रलोपस्तिरोधानं न स्वरूपनाशः।।४३।।

यो भवान् नखविदीर्यमाणवपान्नखविदारितान्त्रात् तस्य दैत्यस्योदरादार्छत्। ऋच्छ गतौ इति धातोः। श्राद्धान्यस्माकमगमयदित्यन्वयः।।४४।।

योगिसिद्धां अणिमाद्यष्टैश्वर्यलक्षणां गतिं योगः पवनविजयः तपः कायक्लेशलक्षणं, तयोर्बलेन नानाविधो दर्पो यस्य स तथा।।४५।।

पृथक् जगद्विलक्षणस्य हरेर्धारणयाऽखण्डोपासनयाऽनुरुद्धां लब्धां विद्या मन्तर्धानलक्षणाम्।।४६।।

---

1 W Omits दैत्येन 2 W °यस्वेत्यर्थः। 3 B.M.Ma °ति

आसां स्त्रीणामर्थे दत्तानन्द।।४७।।

निदेशकरिणः आज्ञाकारिणः।।४८।।

प्रजापतय ऊचुः

प्रजेशा वयं ते परेशाभिसृष्टा न येन प्रजा वै सृजामो निषिद्धाः।
स एष त्वया भिन्नवक्षा[1]नुशेते जगन्मङ्गलं सत्त्वमूर्तेऽवतारः।।४९।।

गन्धर्वा ऊचुः

वयं विभो ते नटनाट्यगायका येनाऽऽत्मसाद्वीर्य बलौजसा कृताः।
स एष नीतो भवता दशामिमां किमुत्पथस्थः कुशलाय कल्पते।।५०।।

चारणा ऊचुः

हरे! तवाङ्घ्रिपङ्कजं भवापवर्गमाश्रिताः।
[2-]यदेष साधु हृच्छय स्त्वयाऽसुरः समापित[-2]ः।।५१।।

यक्षा ऊचुः

वयमनुचरमुख्याः कर्मभिस्ते मनोज्ञैस्त इह दितिसुतेन प्रापिता वाहकत्वम्।
स[3] तु जनपरितापं[4] तत्कृतं जानता ते नरहर उपनीतः पञ्चतां पञ्चविंश[5]।।५२।।

किम्पुरुषा ऊचुः

वयं किम्पुरुषास्त्वं तु महापुरुष ईश्वरः।
अयं का[6]पुरुषो नष्टो धिक्कृतस्साधुभिर्यदा[7]।।५३।।

वैतालिका[8] ऊचुः

सभासु सत्रेषु तवाऽमलं यशो गीत्वा सपर्यां महतीं लभामहे।
यस्तां व्यनैषी[9] द्वशमेष[10] दुर्जनो दिष्ट्या हतस्ते भगवन्यथाऽऽमयः।।५४।।

1. M,Ma स्तु 2--2 W वयं समापित स्त्वया स एष साधु हृच्छयः 3 M,Ma अनुजः W नतज° 4. H,V °पी 5. W °श: 6 A,B,G,J,M,Ma कु 7. H,V स्सदा M,Ma यंत: 8. M,Ma वेताला 9. H,V स्तानैं 10 A,B,G,J,M,Ma,T °द्भ°

**किन्नरा ऊचुः**

**वयमीशकिन्नरगणास्तवाऽनुगा दितिजेन विष्टिममुनाऽनुकारिताः ।**
**भवता हरे सवृजिनोऽवसादितो नरसिंहनाथ विभवाय नो भव।।५५।।**

**विष्णुपार्षदा[1] ऊचुः**

**अद्यैतन्नरहरिरूपमद्भुतं[2] ते[3] दृष्टं नश्शरणद सर्वलोकशर्म।**
**सोऽयं ते विधिकर ईश विप्रशापात्तस्येदं[4] निधनमनुग्रहाय विद्मः।।५६।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे
प्रह्लादानुचरिते दैत्यराजवधेश्रीनृसिंहस्तवो नाम अष्टमोऽध्यायः।।८।।

**श्रीध॰** प्रजापतयोऽपि तदवलोकिताः प्रोचुः **प्रजेशा** इति। हे परेश! ते-त्वया अभिसृष्टा वयं प्रजेशा येन निषिद्धास्सन्तः प्रजा न सृजामः। स एष भिन्नं वक्षो यस्य, नु निश्चितं शेते मृतः। अतः परं प्रजाः सृजाम[5] इति हृष्यन्तः प्राहुः - हे सत्त्वमूर्ते! तवाऽयमवतारो जगतो मङ्गलम्।।४९।।

गन्धर्वा[6] अपि तदवलोकिताः प्रोचुः **वयमिति**[6]। हे विभो![7] वयं ते त्वदीया नटा नर्तका नाट्ये नृत्ये गायकाश्च। येन आत्मसात्[8] स्वाधीनाः कृताः। कथम्भूतेन? वीर्यं शौर्यं बलं शक्तिः ताभ्यामोजः प्रभावो यस्य तेन, स[9-] एष भवता[-9] इमां दशां मृतिं नीतः। उचितञ्चैतदित्याहुः-किमिति।।५०।।

**हरे** इति। भवापवर्गं संसारनिवर्तकम्। आश्रयणे हेतुः यद्यस्मात् साधूनां हृदि भयजनकत्वेन शेते तिष्ठतीति तथा। स एषोऽसुरस्त्वया समापितोऽन्तं नीतः।।५१।।

**वयमिति**। मनोज्ञैः कर्मभिः तवानुचरेषु[10] मुख्यः[11-] ते वयं दितिसुतेन शिबिकावाहकत्वं प्रापिताः[-11]। पञ्चतां मृत्युम्। हे पञ्चविंश! चतुर्विंशतितत्त्वनियामक!।।५२।।

---

1 H,V पारिषदा 2 A,B,G,J,M,Ma,T द्धरिनररूं 3 H,V वै 4. A,B,G,J,T,W "शाप्तस्त" 5. H,V स्रक्ष्याम: 6- -6. H,V Omit 7. B प्रभो
8. A,B,J, omit आत्मसात् 9- -9. H,V Omit 10 H,V Omit तव 11- -11 H,V Omit

किम्पुरुषा स्तुत्वां स्तोतुं के वयं वराका इत्याहुः-**वयमिति**। वयं किम्पुरुषास्तुच्छप्राणिनः, त्वन्तु महानद्भुतप्रभावः पुरुषः। नन्वयं महान्दैत्यो हत इति किं न वर्ण्यते इत्याशङ्क्य कियदेत दित्याहुः-अर्यामति। यदा साधुभिः भगवद्भक्तैः तिरस्कृत स्तदैव नष्टः।।५३।।

**सभास्विति**। सत्रेषु यज्ञेषु ते त्वया हतः, एतद्दिष्ट्या भद्रं कृतम्।।५४।।

**वयमिति**। अमुना दितिजेन विष्टिं निर्मूल्यं कर्म अनुनिरन्तरं कारिताः। अतः परं नो विभवाय समृद्धये भव।।५५।।

**अद्योति**। नोऽस्माकं, भक्तानां हे शरणद! आश्रयप्रद! सर्वेषां लोकानां शर्म मङ्गलमेतदद्भुतं रूपमद्यैव दृष्टं, न तु पूर्वम्। विधिकरः किङ्करः।।५६।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे

श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां अष्टमोऽध्यायः।। ८।।

**वीर०** सद्वारकतद्व्यापार रूपजगत्सर्गात्मकास्मद्व्यापार [2] विरोधिनिरसनेन तदधिकाराधायकां सर्वेषां शुभाधायकमूर्तिं तुष्टुवुः प्रजापतयः **प्रजेशा** इति। हे परेश! परेषां ब्रह्मादीनामपीश! ते त्वया अभिसृष्टा व्यष्टिसर्गार्थं त्वया सृष्टाः प्रजेशाः प्रजापतय [3] इति प्रसिद्धास्ते वयमेतत्पर्यन्तं येन दैत्येन्द्रेण निषिद्धास्सन्तः प्रजा न वै सृजामः न सृष्टवन्तः स एव दैत्यः त्वया भिन्नं विदीर्णं वक्षो यस्य तादृशोऽनुशेते। अतः परं प्रजाः स्रक्ष्यामः इति हृष्यन्त आहुः -हे सत्त्वमूर्ते! अप्राकृतशुद्धसत्त्वविग्रह! ते तवावतारो जगन्मङ्गलं जगतो मङ्गलावहः ।।४९।।

तन्मुखोल्लासार्थं नाट्यादि कैङ्कर्यविरोधिनिरसनेन तदाधायकं सुहृदं तुष्टुवुर्गन्धर्वाः-**वयमिति**। हे विभो! [4] ते तव नटनाट्यगायकाः नटा नर्तकाः नाट्ये कर्मणि गायकाश्च वयं येन एतावत्पर्यन्तं आत्मसात्कृताः स्वाधीनाः कृताः। कथम्भूतेन? वीर्यं शौर्यं बलं शक्तिः ताभ्यामोजः प्रभावो यस्य, तादृशेन स एष दैत्यो भवता निरतिशयकृपायुक्तेन [5] इमां दशां मरणमित्यर्थः, नीतः प्रापितः। तथा हि उत्पथस्थः उत्पथे कुमार्गे पापकर्मणि तिष्ठतीति तथा [6] कुशलाय क्षेमाय कल्पते किम्? क्षेमयुक्तो भवति किम्? न कल्पत एवेत्यर्थः।।५०।।

तत्पादपङ्कजपरिचर्याविरोधिनिरसनेन पुनस्तदाधायकं हितकरं तुष्टुवुश्चारणाः-**हरे** इति। हे हरे! आश्रितार्तिहर! भवापवर्गमैहिकामुष्मिकहेतुं तवाङ्घ्रिपङ्कजमाश्रिताः परिचरन्तो वयमनेन, निषिद्धा इति शेषः, स एषोऽसुरः साधूनां [7] प्रपन्नानां हृच्छयः हृदयरोगरूपस्त्वया समापितः उपसंहृत इत्यर्थः।।५१।।

1- -1. H,V Omit 2. W adds रूप 3. W Omits इति 4. W प्रभो 5- -5 W Omits 6- -6. W Omits 7. W Omits प्रपन्नानां

स्वदुःख मावेदयन्तस्तन्निवर्तकं सुखाधायकं वर्णयन्ति-**यक्षा वयमिति**। मनोज्ञैः कर्मभिर्वयं तवाऽनुचरश्रेष्ठा ते वयमिह तावद्दितिजेन वाहकत्वं यानादिवाहकत्वं भारवाहकत्वं वा प्रापिताः। हे नरहरे! तेन दितिजेन कृतं तव नतजनानां भक्तजनानां परितापं जानता ते[1] त्वया पञ्चविंशो दैत्येन्द्राख्यो जीवः पञ्चतां मृत्युमुपनीतः प्रापितः। "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यस्समुत्थाय तान्येवाऽनुविनश्यति" (बृह.उ. 4-4-12) इतिवत् पञ्चविंशस्य शरीर द्वारिका पञ्चताप्राप्तिरत्र विवक्षिता। पञ्चविंशेति पाठे हे जीवशरीरक! इति सम्बोधनम्। " स तु जनपरिताप" मिति पाठे येन दितिसुतेन वाहकत्वं नीताः स तु पञ्चविंश इत्यन्वयः।।५२।।

स्वनैच्यानुसन्धानपूर्वकमनितरसाधारणप्रभावं तुष्टुवुः किम्पुरुषाः**वयमिति**। वयं किम्पुरुषाः कुत्सिताः पुरुषाः, त्वन्तु महापुरुषः अनितरसाधारण गुणपूर्णः ईश्वरः सर्वान्तरात्मा च। अयं महान् दैत्यो हत स्त्वयेति किं न वर्ण्यते? इत्याशङ्क्य, कियदेत दित्याहुः - अयमिति। का पुरुषः ईषत्पुरुषः अस्मदपेक्षयाबलीयान्, त्वत्तोऽधम इति भावः। इषदर्थं "विभाषा पुरुषे" इति सूत्रेण कुशब्दस्य का देशः। यदा साधुभिर्धिक्कृतस्तिरस्कृतस्तदैव नष्टो नष्टप्रायः, अतः कियदेतत्तवेति भावः।।५३।।

अस्मत्सम्मानावहत्वद्गुणगानविरोधिनिरसनेन त्वयैव वयं बहुमता इत्याहुर्वैतालिकाः-**सभास्विति**। तवाऽऽमलं यशः सभासु सत्तेषु च गीत्वा वयं महतीं सपर्यां पूजां लभामहे तानस्मान् यो दुर्जनो दैत्यः स्ववशं यथा भवति तथाऽनैषीत्, स एष दुर्जनः। हे भगवन्! ते त्वया हतः एतद्दिष्ट्या भद्रं जातम्, दिष्ट्या दैवेन त्वयेति वाऽन्वयः। यथा आमयः यथा शिरोव्यथारूपो रोगः पीडाकारकः तद्रदयमासीत्किलेति शेषः।।५४।।

स्वदुःख मावेदयन्तः सर्वसुखाधायकं लोकार्तिहरं तुष्टुवुः किन्नराः - **वयमिति**। हे ईश! वयं किन्नरगणा इति प्रसिद्धास्तवाऽनुगाः अनुचरास्ते वयमेतावदमुना दितिजेन विष्टिमनुकारिताः मूल्यरहितं कर्मविष्टिः, तामनु निरन्तरं कारिताः। हे हरे! अनुचरार्तिहर! स वृजिनः पापात्मा दैत्यो भवता उपसादित उपसंहृतः। हे नरसिंह! हे नाथ! नोऽस्माकं विभवाय सुखसमृद्धये त्वं भव।।५५।।

स्वामिन्! अदृष्टपूर्वं रूपं द्विषतामप्यनुग्राहकं धृतवानसीत्याहुर्विष्णुपार्षदाः - **अद्येति**। नोऽस्माकं भक्तानां हे शरणद! आश्रयप्रद! निरतिशयपुरुषार्थसाधनभूतोपायप्रद! इति वा। सर्वेषां लोकानां शर्म सुखावहमेतदद्भूतं रूपं अद्यैव दृष्टं, न तु पूर्वम्। हे ईश! स्वामिन्! सोऽयं दैत्यस्तव विधिकरः निदेशकारी किङ्करः, स च विप्रैः

1 W Omits ते

सनकादिभिः शप्तः, मध्ये कैङ्कर्यविरोधो जात इति भावः। तस्य दैत्यस्येदं निधनं त्वत्कृत मनुग्रहाय पुनः कैङ्कर्यलाभरूपतदनुग्रहार्थमेवेति वयं जानीमः।।५६।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां अष्टमोऽध्यायः।।८।।

**विज०** हे परेश! त्वयाऽभिसृष्टाः येन दैत्येन निषिद्धा वयं प्रजा न सृजामो वै, स दैत्यस्त्वयैव तु इदानीं भिन्नवक्षाः शेते। तथाऽयमवतारो जगन्मङ्गलं जगति शुभसारभूतः जगतो मङ्गलमुद्दिश्य गृहीतो वा।।४९।।

नटो नटनं कथाबन्धवचनं, नाट्यं शृङ्गरादिभावदर्शनम्, एतयोर्गायकाः। एतदुक्तम्-"नटनन्तु कथाबन्धं नाट्यकं भावदर्शनम्" (गान्धर्वे) इति। वीर्यबलौजसा येन आत्मसात् आत्माधीनाः कृताः। कल्पते समर्थो भवति।।५०।।

साधून् हरन्तीति साधुहृतः सज्जनारयः तेषां श्रय आश्रयः साधूनां हृदयं श्रयति तापदत्वेनेति वा, समापितो विनाशं गमितः, भवस्यापवर्गस्य, त्यागो यस्मात्तत्तथा, तद्भवात्संसारान्मोक्षो यस्मात्तत्तथेति वा।।५१।।

पञ्चतां विनाशं, हे पञ्चविंश! चतुर्विंशानां मध्ये इति शेषः।।५२।।

किम्पुरुषाः पुरुषाभासाः।।५३।।

सत्रेषु सभासु सत्रकारिणः दिष्ट्या सुखं कर्तुम्।।५४।।

वेतनहीनतया क्रियमाणं कर्म विष्टिं, वृजिनं दुःखं करोतीति वृजिनः कर्त्रर्थः प्रत्ययः। सः अपसादितोऽपहत्य नाशितः, विभवाय संसारान्मुक्तये।।५५।।

हरिनरयोः सिंहनरयो रूपं, विधिकरो भृत्यः किं, विप्रशापात् असुरयोनिमाप्तस्य।।५६।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

सप्तमस्कन्धे अष्टमोऽध्यायः।।८।।

* * * *

# नवमोऽध्यायः

श्रीनारद उवाच[1-1]

एवं सुरादयः सर्वे ब्रह्मरुद्रपुरस्सराः।

नोपैतु मशकन्मन्यु[2] संरम्भं सुदुरासदम्।।१।।

साक्षाच्छ्रीः प्रेषिता देवैर्दृष्ट्वा तन्महदद्भुतम्।

अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वात् सा नोपेयाय शङ्किता।।२।।

प्रह्लादं प्रेषयामास ब्रह्माऽवस्थितमन्तिके।

तात प्रशमयोपेहि स्वपित्रे कुपितं प्रभुम्।।३।।

तथेति शनकै राजन् महाभागवतोऽर्भकः।

उपेत्य भुवि कायेन ननाम विधृताञ्जलिः।।४।।

स्वपादमूले पतितं तमर्भकं विलोक्य देवः कृपया परिप्लुतः।

उत्थाप्य तच्छीर्ष्ण्यदधात् कराम्बुजं कालाहि वित्रस्त[3] धियां कृताभयम्।।५।।

स तत्करस्पर्शधुताखिलाशुभः सपद्यभिव्यक्तपरात्मदर्शनः।

तत्पादपद्मं हृदि निर्वृतो दधौ हृष्यत्तनुः क्लिन्नहृदश्रुलोचनः।।६।।

अस्तौषीद्धरिमेकाग्रमनसा सुसमाहितः।

प्रेमगद्गदया वाचा तन्न्यस्तहृदयेक्षणः।।७।।

प्रह्लाद उवाच

ब्रह्मादयः सुरगणा मुनयोऽथ सिद्धाः सत्त्वैकतानमतयो वचसां प्रवाहैः।

नाराधितुं[4] पुरुगुणै रधुनाऽपि[5-5] पिप्रुः[6]किं तोष्टुमर्हति स मे हरिरुग्रजातेः।।८।।

---

1--1 A,G Omit 2. M,Ma सङ्ग्रहं 3. M,Ma निर्दष्ट 4 H,V नाराधनं. M,Ma नान्तं परस्य 5--5 M,Ma परतोऽप्यधुनाऽपि 6. H,V पप्रु.. M,Ma यान्ति; W पूर्ण.

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

नवमे ब्रह्मणा भीत्या चोदितोऽसुरबालकः। कोपं प्रशमयन्नस्तौन्नृसिंहमतिभीषणम्।।

"उग्रोऽप्यनुग्र एवाऽयं स्वभक्तानां नृकेसरी। केसरीव स्वपोतानामन्येषामुग्रविग्रहः" इत्याद्यागमोक्तां भक्तानुकम्पिता माह-**एवमिति** सप्तभिः। एवं दूरत एव स्थित्वा स्तुवन्तः मन्युना संरंभ आवेशो यस्य तम् उप समीपे[1] गन्तुं नाऽशक्नुवन्।।१।।

**साक्षादिति।** श्रीः[2] लक्ष्मीः देवैः प्रेषिताऽपि[2] महदद्भुतं तद्रूपं[3] दृष्ट्वा शङ्किता सती तं नोपयाय[4] नोपजगाम[5]। अद्भुतत्वे हेतुः-अदृष्टेति।।२।।

**प्रह्लादमिति।** उपेहि उपगच्छ।।३,४।।

**स्वेति।** काल एवाहिः तस्माद्वित्रस्ता धीर्येषां तेषां कृतमभयं येन तत्कराम्बुजम्[6]।।५।।

**स** इति। तस्य श्रीनृसिंहस्य[7] करस्पर्शेन धुतं निरस्तमखिलमशुभं यस्य। सपदि तत्क्षणमेवाभिव्यक्तमपरोक्षीभूतं[8] परात्मदर्शनं[9] ब्रह्मज्ञानं यस्य। निर्वृतस्सन् हृदि दधौ। हृष्यन्ती रोमाञ्चिता तनुर्यस्य क्लिन्नं प्रेम्णा[10] आर्द्रं हृद्यस्य। अश्रूणि लोचनयोः यस्य। परमपुरुषार्थतया दधौ न साधनत्वेनेत्यर्थः।।६।।

सुसमाधिमेवाऽह-**अस्तौषीदिति**। तस्मिन्नेव न्यस्तं हृदयमीक्षणे[11] च येनेति।।७।।

*"स्वस्मिन्नेव समस्तेषु तत्कृपामृतवृष्टये[12]। प्रह्लादः स्तौति सत्पद्यै द्विचत्वारिंशता हरिम्" तत्र तावदात्मनो भगवत्स्तुतौ अनधिकारमिवाशङ्क्याधिकारं भावयन्नाह-**ब्रह्मादय** इति पञ्चभिः[13]। मुनयो मननशीलाः सिद्धा ज्ञानिनोऽपि। कथम्भूताः? सत्त्व एवैकस्मिंस्तानो विस्तारो यस्याः सा मतिः येषां तथाविधा अपि वचसां प्रवाहैरपि तथा बहुभिः वक्ष्यमाणैर्गुणैरपि यमाराधयितुं न पिप्रुः[14] न पूर्णा न शक्ता इत्यर्थः। स हरिः मे[15] मया किं कथं तोष्टुं तोषं[16] प्राप्तुमर्हति। तत्र हेतुः। उग्रजातेः उग्रा[17] घोरा आसुरी जातिर्यस्य।।८।।

---

1. H,V omit समीपे 2- -2 H,V omit 3. H,V omit तत् 4 A,B,J omit नोपयाय 5 H,V omit नोपजगाम 6- -6 H,V omit 7- 7 H V omit 8. H,V °क्ष °9. A दर्शनं 10. A,B,J प्रेमार्द्रं 11. A,B,J °क्षणं *श्रीधरीयोऽयंश्लोकः 12. A,B,J °दृ° 13 A,B,J add म 14 H V पेपुः 15. A,B,J मम 16 A,B,J omit तोष्टुं 17 H,V omit उग्रजाते

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं प्रत्येकं ब्रह्मादिभिः संस्तुतमप्यशान्त संरम्भम् इतरैः [1]दुरासदं श्रीनृसिंहं चतुर्मुखप्रेषितः प्रह्लादः प्रसादयामासेत्याह देवर्षिः। एवं प्रत्येकम् इत्थं स्तुवन्तोऽपि ब्रह्मादयः सर्वे देवाः मन्युना संरम्भ आवेशो यस्य अतएवं दुरासदं दुष्प्रापं भगवन्तमुपैतुं समीपं गन्तुं नाऽशक्नुवन् समर्था न बभूवुः।।१।।

किं पुनः, निरतिशयप्रिया साक्षात्प्रसिद्धा श्रीर्लक्ष्मीरपि देवैः ब्रह्मादिभिः प्रेषिता पतिसमीपमर्हति प्रार्थिताऽप्यद्भुतं महानृसिंहरूपं दृष्ट्वा पूर्वमदृष्टमश्रुतञ्च यत्तददृष्टाश्रुतपूर्वं तस्य भावः तत्त्वं तस्माद्धेतोः शङ्किका सती नोपेयाय न समीपमगात्।।२।।

एवं स्थिते ब्रह्मा चतुर्मुखोऽन्तिके समीपेऽवस्थितं प्रह्लादं प्रेषयामास प्रेषणप्रकारमेवाऽऽह तातेत्यधंन[2]। हे तात! हे वत्स! स्वपित्रे कुपितं क्रुद्धं प्रभुं श्रीभगवन्तं प्रशमय प्रसन्नं कुरु। उपेहि समीपं गच्छेति।।३।।

हे राजन्! युधिष्ठिर! तथेत्यभ्युपगम्य भागवतश्रेष्ठोऽर्भकः प्रह्लादः शनकैः समीपमेत्य प्राप्य [3]विधृतो [4]बद्धोऽञ्जलिर्यन [4]तादृशो भुवि देहेन दण्डवन्नाम नमस्कृतवान्।।४।।

ततः स्वस्य पादयोः मूले पतितं तमर्भकं प्रह्लादं विलोक्य देवः श्रीनृसिंहः कृपया परिप्लुतः [5]परितः [5]प्लुतो व्याप्तः तमुत्थाप्य तस्य प्रह्लादस्य शिरसि स्वकराम्बुजं अदधात् निहितवान्। कथम्भूतं कालएवाऽहिः सर्पः तस्माद्वित्रस्ता भीता धीर्येषां तेषां कृतमभयं अभयप्रदानं येन तादृशं संसृतिभीरूणां कृताभयप्रदानमित्यर्थः।।५।।

स प्रह्लादः तस्य भगवतः करस्य स्पर्शेन धुतं निरस्तं [6]अखिलमशुभं यस्य तादृशः सद्य एव अभिव्यक्तौ प्रत्यक्षितौ परात्मानौ [7]स्वात्मपरमात्मानौ तयोर्दर्शनं याथात्म्यसाक्षात्कारात्मकं यस्य पूर्वं प्रत्यक्षतापन्नरूप भगवद्विषयज्ञानयुक्तः तत्करस्पर्शेन तु "ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन" (भ.गी. 11-54) इत्युक्तविधपरमात्मदर्शनयुक्त इत्यर्थः। अत एव निर्वृतः सुखितोऽत एव हृष्यत्तनुरुद्भिन्नरोमयुक्ततनुः क्लिन्नं प्रेमार्द्रं हृत् [8]हृदयं यस्य अश्रुण्या नन्दजानि [9]लोचनयो र्यस्य तादृशस्तस्य भगवतः पादाब्जं हृदि दधौ धृतवान्निरतिशयपुरुषार्थत्वेनानुसंहितवा-[10]नित्यर्थः।।६।।

---

1- -1 W omits 2. W omits अधंन 3. W omits विधृतो 4- -4 W नद्धाञ्जलिः कायेन बुधि 5- -5 W omits 6 W नि° 7- -7 W omits

8 W omits हृदयं 9. A.T जलानि 10. W omits इत्यर्थः

ततः प्रेमगद्गदया वाचा एकाग्रमनसा श्रीभगवदेक विषयेण मनसा हरिमस्तौ[1]च्च। कथम्भूतः? सुसमाहितः सुसमाधिमेवाह, तस्मिन्नेव न्यस्तं हृदयम् ईक्षणञ्च येनेति "हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तः" (कठ.उ. 2-6-9) इतिवच्चित्तबुद्धिवृत्तीनाम् एकविषयत्वाभिप्रायेणैकाग्रमनसा तन्न्यस्त हृदयेक्षण इति चोक्तम्।।७।।

स्तुतिमेवाह-ब्रह्मादय इत्यादि द्विचत्वारिंशच्छ्लोकैः। तावद्भगवत्स्तुतौ आत्मनोऽनधिकारमाशङ्कते-**ब्रह्मादय** इति। चतुर्मुख प्रभृतयो देवगणाः सत्त्वैकतानमतयः सत्त्वस्यैकताना मुख्याश्रयभूता मतिर्येषां ते केवल सत्त्वप्रधानमतय इत्यर्थः। अनेनाऽत्र "तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्" (भ.गी. 14-16) इत्युक्तरीत्या अतीन्द्रियार्थदर्शनयोग्यत्वं सूचितम्। एवं विधा अपि मुनयः सिद्धाश्च स्ववचसां प्रवाहैः स्तोमैः तथा वक्ष्यमाणैः बहुभिः गुणैरपि यमाराधयितुं स्तुत्यादिरूपाराधनद्वारा यस्य तोषमुत्पादयितुं अधुनाऽपि न पिप्रुः[2] आराधयितुं[3] न पर्याप्ता न समर्था इत्यर्थः। स हरिः उग्रा आसुरी जाति र्यस्य तस्य मे अनेन च वक्ष्यमाणगुणराहित्यमुक्तम्। ईदृशस्य मे मम[4] किं कथं तोष्टुं तोषं प्राप्तुमर्हति, वाङ्मनसाऽपरिच्छेद्य स्वरूपरूपगुणस्वभावविभूत्यादिको[5] भगवान्[6] विपुलबुद्धिभिः[7] ब्रह्मादिभिरपि स्तोतुमशक्यः कथमल्पबुद्धेः आसुरस्वभावस्य मम स्तुत्या कथं तुष्यादित्यर्थः।।८।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अत्रापि भक्तमाहात्म्यमेव प्रकटयति, ब्रह्मादि देवतास्तुत्यनन्तरं कथं कथाप्रसङ्ग इति श्रोतुरान्तरीं शङ्कां परिहर्तुमाह-एवमिति। एवं स्तुवन्तोऽपि उपेतुं समीपं गन्तुं मन्युसङ्ग्रहं कोपसारभूतं 'मन अवबोधन' इति धातुः"ज्ञानसारं प्रत्ययसारं" इति श्रुतेः। ज्ञानं विवक्षयेतत्। ननु, तर्हि कथं समीपं गन्तुं नाऽशकन्नित्युच्यते? इति चेदज्ञेयत्वज्ञापनायेति तात्पर्यम्। "न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति, तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत" (केन.उ. 1-3) इत्यादि श्रुतेरेतदेव दर्शयति-सुदुरासदर्मामति। सुखेन विषयीकर्तुमशक्यम्।।१।।

एतदेव विवृणोति-**साक्षादिति**। सरस्वत्यादि व्यावृत्त्यर्थं साक्षादिति। अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वादन्यैः साधारणैः जनैरिति शेषः। द्वावेतौ नित्यमुक्तौ इत्यादेः। तर्हि नोपेयाय शङ्कितेत्येतत्कथं घटतीति चेत् मयाऽपीश्वरः परिच्छेद्यो न भवति, किन्त्वन्यैरिति ज्ञापनाय असुरजनमोहनायेति वा "अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वादन्यैः साधारणैर्जनैः। नृसिंहं शङ्कितेव श्रीर्लोकमोहाय नो ययौ" (ब्रह्माण्डे) इति वाक्यसिद्धम्।।२।।

1. A,B,T °स्तौषीच्च 2 W पृणाः 3 W omits आराधयितुं 4 W omits मम 5 W omits गुण 6. W °वो 7- -7 W omits

ममेदानीं प्रह्लादे वात्सल्यातिशयोऽस्ति, भक्तानां मत्सेवातिशयफलाधिकार्यमिति भगवन्मनो ज्ञापनाय ब्रह्मणा प्रह्लादः प्रेषित इत्याशयेनाऽऽह-**प्रह्लादमिति**। अयमपि लक्ष्मीकान्तसमीपागमनहेतुरन्यथा प्रह्लादे वात्सल्यातिशयो न प्रकटितः स्यात्तदुक्तम् "प्रह्लादे चैव वात्सल्यं दर्शनाय हरेरपि। ज्ञात्वा मनस्तदा ब्रह्मा प्रह्लादं प्रेषयत्तदा" (ब्रह्माण्डे) इति प्रकृष्टो ह्लादो निर्वृतिर्यस्य स तथा इत्यनेन प्रह्लादशब्दनिरुक्तिः सूचिता। लक्ष्म्यादि वत्सलतां हित्वा प्रह्लादे तत्करणाद्धरे र्वैषम्यबुद्धिर्नाशङ्कनीया असुरजनमोहनार्थोपपत्तेः, उक्तञ्च "एकत्रैकस्य वात्सल्यं विशेषादर्शयेद्धरिः। अवरस्याऽपि मोहाय" (ब्रह्माण्डे) इति भक्त्यादि दानं नैव करोति, किन्तु वात्सल्यानुसारेणेत्यभिप्रायेण दर्शितं क्रमेणैवाऽपि वत्सल इत्युक्तं उपेहि उपेत्य।।३,४।।

नृहरेः प्रह्लादे वात्सल्यातिशयं दर्शयति-**स्वपादमूले** इति। ब्रह्मादिकराम्बुजेभ्यो हरेः कराम्बुजं विशिनष्टि-कालाहीति। कालाख्याहिना निर्दष्टा ग्रस्ता धीर्येषां ते तथा तेषाम्।।५।।

इतरकरस्पर्शवैशिष्ट्य दर्शनायेशकरस्पर्शफलाभिव्यक्तिं वक्ति। स **तत्कर** इति। स भगवत्करस्पर्श विधूतसमस्तपापत्वात् तत्क्षण एव सम्यगङ्कुरितपरमात्मज्ञानः अभिव्यक्तं परस्य हरेरात्मनः संसारिणश्च दर्शनं स्वरूपविषयज्ञानं यस्य स तथेति वा क्लिन्न हृद्भक्तिलक्षणामृतजलेनार्द्रीकृतान्तःकरणोऽश्रुणा युक्ते लोचने यस्य स तथा।।६।।

तत्त्वज्ञानमस्योत्पन्नमित्यस्य किं चिह्नमित्यतः तत्स्तुत्या व्यज्यत इति भावेन दर्शयति-**अस्तौषीदिति**।।७।।

सत्त्वे नित्याविर्भूत बलज्ञानसमाहार एक एव नाऽन्य इति वितानमतिः विस्तृतबुद्धिः येषां ते सत्त्वैकतानमतयः। यद्वा, सत्त्वे हरावेव नियतबुद्धयः अधुना परतः परस्य यस्यान्तं नाऽपि नैव यान्ति स हरिः उग्रजातेः असुरजातेः मे तोष्टुं स्तोतुमर्हति किमित्यन्वयः। "न ते विष्णौ" इति श्रुतेः।।८।।

**मन्ये[1] धनाभिजनरूपतपश्श्रुतौजःतेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः।**
**नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो भक्त्या तुतोष भगवान्[2]गजयूथपाय।।९।।**

**विप्रादिद्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।**
**मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं[3] पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः।।१०।।**

---

1. H,V मन्येऽधु° 2. M,Ma वान्नानु° 3- -3 M,Ma नात्मगेह प्राणः; W नेहितार्थप्राणः

**नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते।**
**यद्यज्ञनो भगवते विदधीतमानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः।।११।।**

**तस्मादहं विगतविक्लब ईश्वरस्य सर्वात्मना महि गृणामि यथा मनीषम्।**
**नीचोऽजया गुणविसर्गमनुप्रविष्टः पूयेत येन हि पुमाननुवर्णितेन।।१२।।**

**सर्वेह्यमी विधिकरास्तव सत्त्वधाम्नो ब्रह्मादयो वयमिवेश न चोद्विजन्तः।**
**क्षेमाय भूतय उताऽत्मसुखाय चास्य विक्रीडितं भगवतो रुचिरावतारैः।।१३।।**

**तद्यच्छ मन्यु मसुरश्च हतस्त्वयाऽद्य मोदेत साधुरपि वृश्चिकसर्पहत्या।**
**लोकाश्च निर्वृतिमिताः प्रतियान्तु सर्वे रूपं नृसिंह! विभवाय जनाः स्मरन्ति।।१४।।**

**नाऽहं बिभेम्यजित तेऽतिभयानकास्य जिह्वार्कनेत्र भ्रुकुटीरभसोग्रदंष्ट्रात्।**
**आन्त्रस्रजः क्षतजकेसरशङ्कुकर्णान् निर्हादभीत दिगिभादरिभिन्नखाग्रात्।।१५।।**

**त्रस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल दुस्सहोग्र संसारचक्रकदनाद्ग्रसतां प्रणीतः।**
**बद्धः स्वकर्मभिरुशत्तम तेंऽघ्रिमूलं प्रीतोऽपवर्गशरणं ह्वयसे कदा नु।।१६।।**

**श्रीध०** एवं हरितोषणे स्वस्यायोग्यता माशऽङ्क्य योग्यतां सम्भावयति-**मन्य** इति द्वाभ्याम्। अभिजनः सत्कुले जन्मरूपं सौन्दर्यं, श्रुतं पाण्डित्यं, ओज इन्द्रियनैपुणं, तेजः कान्तिः, प्रभावः प्रतापः, पौरुषं उद्यमो, बुद्धिः प्रज्ञा, योगोऽष्टाङ्गः। एते धनादयो द्वादशाऽपि गुणाः परस्य पुंस आराधनाय न भवन्ति। हि यतः केवलया भक्त्यैव गजेन्द्राय तुष्टोऽभवत्।।९।।

एवं भक्त्यैव केवलया हरेस्तोषः सम्भवतीत्युक्तमिदानीं भक्तिं विना नाऽन्यत्किञ्चित्तत्तोषहेतुरित्याह-**विप्रादिति**। पूर्वोक्ता धनादयो ये द्विषट्द्वादशगुणास्तै र्युक्ताद्विप्रादिति श्वपचं वरिष्ठं मन्ये। यद्वा, सनत्सुजातोक्ता द्वादशधर्मादयो गुणा द्रष्टव्याः। तदुक्तम् "धर्मश्च सत्यं च दमस्तपश्च अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षाऽनसूया। यज्ञश्च दानं च धृतिः शमश्च व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य" (भारते) इति। यद्वा "शमो दमस्तपः शौचं क्षान्त्यार्जव विरक्तताः। ज्ञानविज्ञानसन्तोषाः सत्यास्तिक्ये द्विषड्गुणाः" (भ.गी. 18-42) इति। कथम्भूताद्विप्रात् अरविन्दनाभस्य

1. H,V तत्त्वात्मने 2. M,Ma नहि 3. W तवेहि° 4 M,Ma वास्य 5. A,B,G,H,J,T,V यन्ति 6 A,B,G,H,J,T,V °याय 7 M,Ma क° 8 M Ma °कराहि
9 M,Ma त्वृशतां 10- -10 M,Ma भीतापवर्गमरणं समियां 11 H,V °पुण्यं 12 H,V जानादयो 13 H,V जानञ्च 14. A,B,J सुतत्र 15- -15 H.V omit

पादारविन्दाद्विमुखात्। कथम्भूतं श्वपचम्? तस्मिन्नरविन्दनाभेऽर्पिता मनआदयो येन तम्। ईहितं कर्म। वरिष्ठत्वे हेतुः, स एवम्भूतः श्वपचः सर्वं कुलं पूनाति। भूरिः मानो गर्वो यस्य स तु विप्र आत्मानमपि न पुनाति। कुतः कुलं? यतो भक्ति हीनस्यैते गुणा गर्वायैव भवन्ति न तु शुद्धयेऽतो हीन इति भावः।।१०।।

तर्हि किं धनाद्यर्पणेन [1]सम्मानं प्राकृत इव भगवानपेक्षते, नेत्याह-**नैवेति**। अयं प्रभुरीश्वरोऽविदुषोऽल्पकाञ्चनान्मानं पूजां आत्मनो अर्थे न वृणीते नेच्छति यतो निजलाभेनैव पूर्णः। तर्हि पूजां नेच्छत्येव तत्राऽऽह-करुणः कृपालुः अतो वृणीते च तत्र हेतुः-यद्यदिति। [2]यत् यत् यं यं मानं यद्वा यत् यस्मात् यत् येन धनादिना भगवते मानं विदधीत तदेवात्मने भवति नान्यत्[3]। यथा मुखे कृतैव तिलकादिश्रीः शोभा प्रतिबिम्बस्य भवति, न तु सक्षात्तस्यैव कर्तुं शक्यते तद्वत्।।११।।

यस्मादेवं भगवान् भक्त्यैव तुष्यति **तस्मादिति**। तस्मादहं नीचोऽपि विगतविक्लबो [4]गताशङ्कस्सन् ईश्वरस्य महि महिमानं सर्वप्रयत्नेन स्वमनीषानुसारेण अनुवर्णयामि। अजानतोऽपि स्तुतिकरणे हेतुमाह-नीच इति। येनैव महिम्नाऽनुवर्णितेन [5]अजया विद्यया [6]गुणविसर्गं संसार मनुप्रविष्टः पुमान्पूयेत शुद्ध्येत तन्महि। अन्यस्य तथा शोधकत्वाभावादित्यर्थः।।१२।।

तदेवमात्मनः स्तुतावनधिकारं परिहृत्य इदानीं तं स्तुवन् कोपोपसंहारं प्रार्थयते-**सर्वेहीति** द्वाभ्याम्। भो ईश! अमी उद्विजन्तो बिभ्यतः सर्वे ब्रह्मादयः सत्त्वमूर्तेस्तव विधिकरास्त्वन्नियोगकर्तारो भक्ता एव नाऽन्ये। न च वयमसुरा इव वैरभावेनैते भक्ताः, किन्तु श्रद्धयैव तव रुचिरैः [7]अवतारैः [8]विक्रीडितं विविधं क्रीडनमस्य विश्वस्य क्षेमादि प्रयोजनाय न तु भयोत्पादनाय।।१३।।

**तदिति।** तत्तस्मादेषां भयपरिहाराय मन्युं यच्छ उपसंहर। [9]यदर्थे अयं मन्युः स चासुरः साधूनां सन्तोषार्थमद्य हतः। अतःपरं क्रोधेन कार्याभावात्तं नियच्छ। नन्वन्येषां वधेन साधुः किं मोदेत तत्राह-वृश्चिकादेः परोपद्रवकारिणोऽन्यत [10]एव जातया हत्या वधेन तस्यैव तद्भद्रं जातमिति साधुरपि मोदेतैव। तर्हि बहूनां सुखावहत्वादमुं क्रोधं नत्यजामीति [11]चेत्तत्राह-लोकाश्च निर्वृतिं इताः प्राप्ताःसन्तः प्रतियन्ति क्रोधोपसंहारं प्रतीक्षन्ते तर्हि जनानां पुनर्भयाभावाय मन्युं धारयामीति चेत्तत्राह-रूपमिति। विभयाय भयनिवृत्त्यै एतद्रूपस्मरणादेव भयनिवृत्तिर्न मन्युधारणेन कृत्यमस्तीत्यर्थः।।१४।।

---

1 H,V सन्मानं 2. A,B,J omit यत् यत् 3 H,V °स्य 4 A,B,J गत ° 5 A,B,J omit अजया ° 6. A,B,J omit गुणविसर्गं 7. H,V omit अवतारैः 8 A,B,J omit विक्रीडितं 9. A,B,J यदर्थं 10 A,B,J omit एव 11 H,V त्यक्ष्या °

त्वं चेद्बिभेषि तर्हि त्यजामीति चेत्तत्राह-**नाहमिति**। भो अजित! तेऽस्माद्रूपादहं न बिभेमि, कथम्भूतात्? आस्यं च जिह्वा च अर्कसदृशनेत्राणि च भ्रुकुटीनां रभस आटोपश्च उग्रा दंष्ट्राश्चैतान्यातिभयानकानि यस्मिंस्तस्मात्। आन्त्रमय्यः स्रजः यस्मिंस्तदान्त्रस्रक् तस्मात्। क्षतजाक्ताः केसरा यस्मिन्। शङ्कुवदुन्नतौ स्तब्धौ कर्णा यस्मिन्, तच्च तच्च तस्मात्! निर्ह्रादेन भीता दिगिभा यस्मात्। अरीन् शत्रून् भिन्दन्तीत्यरिभिन्दि तानि नखाग्राणि यस्मिन्। एवम्भूतादपि ते रूपादहं न बिभेमि।।१५।।

महद्भयं त्वन्यदस्तीत्याह-**त्रस्तोऽस्मीति**। दुस्सहं यदुग्रं संसारचक्रे कदनं दुःखं तस्मादहं त्रस्तोऽस्मि। तत्र च ग्रसतां हिंस्राणां मध्ये स्वकर्मभिर्बद्धस्सन् प्रणीतो निक्षिप्तोऽस्मि, हे कृपणवत्सल! हे उशत्तम! कदानु त्वं प्रीतस्सन् अपवर्गरूपं शरणं तवाङ्घ्रिकमलं प्रति ह्वयसे मामाह्वयसि।।१६।।

**वीर०** एवमनधिकारं आत्मन आशङ्क्य पुनरधिकारं सम्भावयितुं तावद्भगवतो जातिगुणवृत्त्यादितारतम्यानादरेण भक्त्यैकतोष्यत्वमाह-**मन्य** इति द्वाभ्याम्। धनादयः परमपुरुषस्याराधनाय सन्तोषनिमित्ताराधनाय न भवन्ति इति मन्ये। किन्तु भक्तिरेव परमपुरुषसन्तोषाराधनाय भवतीति मन्य इत्यर्थः। कुतः हि यस्माद्भगवान् गजयूथपाय धनादिविरहिताय गजेन्द्राय भक्त्यैव तुतोष। तत्र धनं वित्तम्, अभिजनः सत्कुले जन्म, रूपं सौन्दर्यं तपः स्वधर्मः कृच्छ्रादिरूपं वाऽनशनरूपं वा, श्रुतं पाण्डित्यं, ओज इन्द्रियबलं, तेजः कायकान्तिः, प्रभावः प्रतापः, बलं शरीरं, पौरुषमुद्यमः, बुद्धिः प्रज्ञा, योगः प्राणजयः।।९।।

एवं धनाद्यभावेऽपि केवलभक्तेरेव श्रीभगवत्तोषहेतुत्वं निदर्शितम्। यतो भक्तेरेव श्रीभगवत्तोषहेतुत्वं अत एव इतरगुणसम्पत्त्यपेक्षया श्रीभगवद्भक्तिसम्पत्तिरेव श्रेयसीत्याह-**विप्रादिति**। द्विषड्गुणाः द्वादशगुणास्ते च- "धर्मश्च सत्यं च दमःश्रुतञ्च अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षाऽनसूया। दानं च यज्ञश्च धृतिः शमश्च व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य"।। (भारते) इति सनत्सुजातेनोक्ताः श्रीमहाभारते। एतैर्युक्तादरविन्दनाभस्य पादारविन्दाविमुखात् ब्राह्मणात् श्वपचं श्वपाकं वरिष्ठं श्रेष्ठं मन्ये। श्वपचं विशिनष्टि, तदर्पितेति तस्मिन्नरविन्दनाभे अर्पितास्समर्पिता मन आदयो येन तं तत्रेहितं कर्म तस्य श्रेष्ठत्वे ततो विप्रस्यावमत्वे च हेतू आह, स एवम्भूतः श्वपचः कुलं स्वकुलमपि पुनाति। भूरिः मानो गर्वो द्विषड्गुणप्रयुक्तो यस्य स तु विप्रः न तु आत्मानमपि पुनातीत्यर्थः। यद्यप्युक्ता एव गुणाः भगवद्भक्त्यनुग्राहका भक्तिश्च वेदान्तविहितब्रह्मोपासनात्मिका, तत्र चाधिकारस्त्रैवर्णि

1. A,B,J omit शत्रून् 2 H,V त्वदन्य° 3. A,B,J °भूतं 4 W omits आत्मनः 5- -5 W omits 6- -6 W omits7. A,B,T °तोक्ताः 8 W श्रेष्ठ्ये

कस्यैव न तु शूद्रस्य, एतच्च शारीरकापशूद्राधिकरणन्यायसिद्धम्। एवञ्च तत्र सुतरां श्वपाकस्याधिकारो न सम्भवतीति उक्तगुणयुक्तात् द्विजाद्भक्तियुक्तस्य[1] श्वपाकस्य परत्ववर्णनमनुचितम्, तथाप्यत्र प्रकरणे भक्ति शब्देन भक्तिः प्रपत्तिश्चोच्यते। प्रपत्तौ च सर्वेषां अधिकारो बहुप्रमाणप्रतिपन्नः, अत एव हि- "दैतेया यक्षरक्षांसि स्त्रियःशूद्रा व्रजौकसः। खगा मृगाः पापजीवाः सन्ति ह्यच्युतताङ्गताः" (भाग.7-7-54) इति स्त्रीशूद्रादीनामपि[2] भगवति भक्त्या तत्साधर्म्यापत्तिः उक्तोपपन्नाभवति। "वनङ्गतो यद्धरिमाश्रयेत, उपेत नारायण मादिदेवम्, मन्ये तदेतदखिलं परमस्य पुंसः, स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः" (भाग. 7-5-5) इति प्रपत्तिरपि कर्तव्यत्वेन पूर्वमुक्ता चेत्यतो न विरोधः। उपपादितश्चैतत्पुरस्तान्मन आदीनां भगवति समर्पणं नाम तच्छेषत्वेन तदायत्तसत्तादिमत्वेन चानुसन्धानरूपाध्यवसायात्मकज्ञानं, प्राणशब्दः प्रणाश्रयप्रत्यगात्मस्वरूपस्यापि उपलक्षकः। एवञ्चात्मात्मीयादि समर्पणेन भगवति न्यस्त रक्षाभरः श्वपाकोऽपि श्रीभगवत्तोषकत्वादुक्तविधात् विप्राच्छ्रेयानिति भावः।। तदुक्तं श्रीभगवता-"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव समन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।" (भ.गी. 9-30) "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थं अहं स च मम प्रियः" (भ.गी. 7-17) इत्यादि। "अपि पापेष्वभिरता मद्भक्ता पाण्डुनन्दन! मुच्यन्ते पातकैः सर्वैः पद्मपत्रमिवाम्भसा" इति।।१०।।

ननु परिपूर्णस्य भगवतो जातिगुणवृत्तादिविहीन[3] श्वपाकसमर्पितमन आदिभिः किं प्रयोजनम्? कथं ततस्तस्य तोषः? कथञ्च एतदेवंविधोऽपि मामनन्यभावेन भजन्नितरां मत्प्रियतम[4] इति श्रीभगवतोक्तम्? इत्यत्राह-**नैवेति**। प्रभुरीश्वरो निजलाभपूर्णः निजेन स्वाभाविकेन लाभेन समस्तकामावाप्त्या पूर्णः, अत एव मानं स्वाराधनरूपं कर्म नैव जगाद। आत्मने इत्यपकृष्यते आत्मने आत्मार्थं स्वप्रयोजनाय न जगादेत्यर्थः। किन्तु करुणो वृणीते करुणः करुणावान् "गुणवचनेभ्यो मतुपो लुग्वक्तव्यः" (वार्तिक. under अष्टा. 1-4-19) इति लुप्तमतुबन्तं पदं "लुक्तद्धित लुक्" (अष्टा 1-2-49) इति टापो लुक्। हेतुगर्भमिदं दयालुत्वात् विदुषो वृणीते प्रबुद्धजनान् स्वाराधनविधानेनाङ्गीकरोतीत्यर्थः। करुणयाऽराधकोज्जीवनार्थमेवाऽऽराधनं स्वीकरोतीति भावः[5]। तदेव विशदयति, यद्यदाराधनं भगवते जनो विदधीत करोति तच्चात्मने स्वार्थमेव भवति "यस्तुवन्स्तव्यतामेति वन्दमानश्च वन्द्यताम्" इति न्यायाद्भगवत्पूजनेन स्वयमपि पूज्या भवन्तीत्यर्थः। कथमन्यस्य पूजया[6] अन्यस्य पूज्यतेत्यपेक्षायां, तदधीनसत्तादिमतो वस्तुनः तत्सत्कारेण तत्साम्यावाप्तौ दृष्टान्तमाह यथा मुखश्रीः प्रतिमुखस्येति।

1 W °क्तश्च ° 2. W °द्राणामपि 3. A,B,T वि 4 A,B,T °य द्व° 5 W अर्थः 6. A,B,T पूजनेन

यथा साक्षादलङ्कारादिजन्या मुखस्य शोभा तदधीनच्छाया मुखस्य भवत्येवं भगवतः पूज्यता तदाराधकानां तथैव[1] भवतीत्यर्थः।" तद्यथा माता तरुणवत्सं वत्सो वा मातरम्, छायासत्त्वमनुगच्छेत् तथाप्रकारः" इति श्रुतिर्हि जीवस्य च्छायावदीश्वर पारतन्त्र्य मवगमयति। जनादविदुष इति पाठे। अविदुषः किञ्चिज्ज्ञादपि जनान्मानमात्मार्थं[2] न वृणीत इत्यर्थः।।११।।

एवं भगवतो भक्तयैकतोष्यत्वं तत्तोषस्य च भक्तोज्जीवनार्थत्वंचोक्तं तदेवं स्वस्योग्रजातेरपि तद्भक्तस्य तत्तोषकस्तुतौ अधिकारः सम्भावितः, यत एवम्भूतोऽहमतो यथामति तोष्यामीत्याह-**तस्मादिति**। यस्मान्द्रगवान् भक्तयैकतोष्यस्तस्मान्नीचोऽप्यहं तद्भक्तियुक्तोऽहं अत एव विगर्तावक्लवः गतशङ्कस्सन् सर्वात्मना करणत्रयेक्येन ईश्वरस्य भगवतो महि महिमानं यथामति गृणामि स्तौमि। किमीश्वरस्तुत्या[3] प्रयोजनमिति शङ्कां निराकुर्वन् तन्महानुवर्णनं[4] विशिनष्टि येन ईश्वरानुवर्णनेन[5], अनुवर्णितेनेति भावे क्तः, अजया प्रकृत्या गुणविसर्गं गुणकार्यं शरीरमनुप्रविष्टः पुमान्पूयेत शुद्ध्येत् स्तुत्या न तस्य कोऽप्यतिशयः, किन्तु, स्तुवत एवात्मविशुद्धिरूपोऽतिशय इति भावः।।१२।।

एवमात्मनः स्तुतौ अनधिकारं परिहृत्य तत्स्तुतिं प्रतिज्ञाय तं तुष्टुषुःतावत्कोपोपशमं प्रार्थयते-**सर्वे हीति** द्वाभ्याम्। हे ईश! वयमिव यथा वयं तव किङ्करा: तथा अमी सर्वे ब्रह्मादयोऽपि सत्त्वधाम्नस्तव विधिकराः किङ्करा एव। अस्त्वेवं ततः किमत आह उद्विजन्तः त्वत्कोपाद्विभ्यतो वर्तन्ते। अतो[6] मन्युं यच्छेन्यृत्तरेणान्वयः। सत्त्वधाम्न इत्यनेन शुद्धसत्त्वैकतानस्य तव कोपः स्वाभाविको न भवति, किन्तु लोकरक्षणेऽधिकृतस्य तव तद्रक्षणरूपक्रीडार्थमाहित इत्यभिप्रेतं, तदेव व्यनक्ति क्षेमार्थेति। अस्य जगतः क्षेमाय लब्धपरिरक्षणाय भृतये भोगायाऽलब्धलाभायात्मसुखाय ब्रह्मात्मकस्वात्मानन्दानुभवजसुखाय च भगवतः तवरुचिरैः सुन्दरैः अवतारैः नृसिंहाद्यवतारैः[7] विक्रीडितं, भावे क्तः, विविधा क्रीडा इत्यर्थः। इयं दुष्कृद्विषयक्रोधादिरूपा तव क्रीडा लोकक्षेमार्थमिति भावः। एवंविधक्रीडया हि दुष्कृद्विनाशद्वारा स्थितपरिपालनमपूर्वश्रेयःप्राप्तिः श्रवणादिना क्रीडामनुभवतो लोकस्य निश्शेषबन्धककर्मक्षयरूपमोक्षद्वारात्मसुखानुभूतिश्च भवेदित्येतदर्थं तव विक्रीडितमिति भावः।।१३।।

यतस्तव विक्रीडितं लोकस्य क्षेमाद्यर्थं तत्तस्माद्धेतोः हे नृसिंह! मन्युं यच्छ उपसंहर। इतःपरं न

1. W omits तथैव 2. A,B,T °र्थे 3. A,B,T °रस्य 4. A,B,T °र्दाभिः 5. A,B,T °रगुणानु° 6. A,B,T ततो 7. A,B,T °र्दाभिः

मन्युना प्रयोजनमस्तीत्याह-अधुनाऽसुरो मत्पिता त्वया हतः लोकाः निर्वृतिं सुखं इताः प्राप्ताश्च। ननु लोका[1] निर्वृतिं यान्तु नाम लोकान्तर्गतः साधुजनस्तु मत्कृतां इमां भूतहिंसां नाऽनुमोदेत। अत आह साधुरपि लोकः लोकोपद्रवकारि वृश्चिकसर्पादिहत्या मोदेत वृश्चिकसर्पादितुल्यस्य[2] मत्पितुर्हत्या साधुजनोऽपि मोदेतैवेत्यर्थः। हति शब्दः क्तिन्नन्तः। सर्वे ब्रह्मादयो निर्भयाः प्रतियान्तु, स्वस्थानानि प्रतिगच्छन्तु। इतःपरं इदं त्वद्रूपमभयाय जनाः स्मरन्ति।।१४।।

ननु ब्रह्मादय उद्विजन्त इति विशेषेण ब्रह्मादीनामेव क्रोधयुक्तान्मदुग्ररूपाद्भयं ब्रूषे त्वं तु न बिभेषि किमत आह-**नेति**। हेऽजित! तवास्माद्रूपादिति विशेष्याध्याहारः अहं न बिभेमि कथम्भूतात्? आस्यं च जिह्वा च अर्कसदृशे नेत्रे च भ्रुकुटीनां रभस आटोपश्च उग्रा दंष्ट्राश्च एतान्यतिभयानकानि यस्मिन्, आन्त्रमय्यः स्रजो यस्मिन्, क्षतजाः रुधिराक्ताः केसरा यस्मिन् तत् क्षतजकेसरं, शङ्कुवदुन्नतौ स्तब्धौ कर्णौ यस्मिंस्तच्छङ्कुकर्णं द्वयोर्बहुव्रीह्योः कर्मधारयः। क्षतजकेसरशङ्कुकर्णनिर्ह्रादेन भीता दिगिभा दिग्गजा यस्मात् तत्, पूर्वेण पुनः कर्मधारयः क्षतजकेसरशङ्कुकर्णनिर्ह्रादभीतदिगिभं तस्मादरीन् भिन्दन्तीति अरिभिन्दि तानि नखाग्राणि यस्मिन्नेवं भूताद्रूपादहं न बिभेमीत्यर्थः।।१५।।

तर्हि कुतो बिभेषि इत्यपेक्षायां इतो बिभेमीत्याह-**त्रस्तोऽस्मीति**। हे कृपणवत्सल! दुस्सहं यदुग्रं संसारचक्रे कदनं तस्मादहं त्रस्तः भीतोऽस्मि। कथम्भूतोऽहं ग्रसतां प्रणीतः ग्रसतामिति कर्तरि षष्ठी ग्रसद्भिः त्वच्छेषभूतं मत्स्वरूपं तिरोधापयद्भिः देहात्माभिमान-स्वतन्त्रात्माभिमान-ममकारादिभिः तत्र संसारे प्रणीतः प्रापितः[3] तन्मूलभूतैः कर्मभिश्च बद्धः निगलितः हे उशत्तम कमनीयतम! उक्तविधं मां प्रीतः मद्विषयकानरति शयप्रीतियुक्तस्त्वं ते तवाङ्घ्रिमूलं प्रति, कथम्भूतम् अङ्घ्रिमूलम्[4]? अपवर्गशरणमपवर्गोपायभूतं कदा न ह्वयसे, आह्वयसे[5], कदा मां त्वदङ्घ्रिमूलं प्रापयिष्यसि तावन्मामनुवर्तते[6] भयमितिभावः।।१६।।

**विज०** भक्त्या ननु भक्त्यैव यूथपाय गजेन्द्राय। "सेनानेतरि नागेन्द्रे यूथनाथः प्रकीर्तितः" इत्यभिधानम्। अनेन धनादिकमपि भक्त्युपबृंहितं सफलमित्युक्तं भवति।।९।।

इतोऽपि भक्तिरेव हरेः प्रसादे प्रधानसाधनमित्याह-**विप्रादिति**। द्विषड्गुणा द्वादशगुणा एतैर्युक्तात्। "ज्ञानं च सत्यं च दमः शमश्च अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया। दानं च यज्ञश्च तपः श्रुतं च महाव्रतं द्वादश ब्राह्मणस्य"

1. A,B,T omit लोकः 2 W °कादि 3. W omits प्रापितः 4. W omits अङ्घ्रिमूलं 5 W omits आह्वयसे 6 W °न्ममानु

(भारते) एतेभ्यः प्रवरो द्वादशेभ्यः सर्वांमपीमां पृथिवीं प्रशिष्यात् त्रिभिर्द्वाभ्यां एकतो वा विशिष्टो नाऽस्य समोऽस्तीति वेदितव्य इत्येते भक्तिमतएव सम्भवन्ति नाऽन्यस्य, क्वचित्सम्भवेऽप्यन्ततो न तेभ्योऽर्थः स्यात्। "अनेवं विन्महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एव" (बृह.उ.1-4-15) इति श्रुतेः। तस्माद्भक्तिरेव प्रयोजिकेति तात्पर्यम्, सकलं मन आदिकं पुनाति विषयोपरक्तं मलं निरस्य दर्पणवत्स्वच्छं करोति, जगत्पुनातीति वा। "यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः" (कठ.उ. 3-6) इति श्रुतेः। अन्यत्र बाधकमाह नत्विति। भूरिमानोऽहं कर्तेत्यभिमन्ता नैव पुनातीत्यन्वयः। "समर्थं मन्यसे यज्ञ कुन्तीपुत्रं वृकोदरम्। तन्मिथ्या हि न मे कृत्स्नं प्रभावं वेत्थ भारत।। मत्समो हि गदायुद्धे पृथिव्यां नास्ति भारत। नाऽऽसीत्कचिदतिक्रान्तो भविता वा न कश्चन" (भारत. 5-54-30, 31) इत्यादि भारते दुर्योधनोक्ताहङ्कारप्रतीतेरेवंविधो भूरिमान इत्यर्थः। "नाऽविरतो दुश्चरितान्नाऽशान्तो नाऽसमाहितः। नाऽशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानं नैवमाप्नुयात्" (कठ.उ.2-24) इति श्रुतेः। "शमोदमस्तपः शौचं क्षान्त्यार्जवविरक्तताः। ज्ञानविज्ञानसन्तोषाः सन्त्याज्येऽपि द्विषड्गुणाः" (भारते) इति केचित्।"सत्यं दमस्तपः शौचं सन्तोषो ह्रीः क्षमार्जवम्। ज्ञानं शमो दया ध्यानं विप्रस्यैतं द्विषड्गुणाः"-(भारते.) इति केचित्। असम्प्रदायज्ञैः उक्तत्वात् अत्र न ग्राह्य मेतन्मतद्वयमिति।।१०।।

ननु श्वपचं वरिष्ठं इतीदमसम्भावितं, वर्णहीनत्वेन तत्कृतसपर्यास्वीकारानुपपत्तेः। "नाऽहं तथाऽद्मि यजमान हविर्वितानैः" (भाग. 3-16-8) इत्यादौ। अन्यथा कथनाञ्चेति। तत्राह-**नैवेति**। अयं प्रभुरविदुषां ज्ञानोपदेशानधिकारिणः पूर्वचीर्णपुण्यनिचयास्तज्ज्ञानेन यथार्थतत्त्वज्ञानिनो वर्णहीनात् जनान्मानं पूजां वृणीते स्वीकरोति इति यत्तदात्मनोऽर्थे अप्राप्तप्राप्तये नैवेत्यन्वयः। कुतः इत्यत उक्तं निजेति। निजलाभेन नित्यानन्देन पूर्ण इति हेतुगर्भविशेषणम्। "कोह्येवान्यात्" (तैम.आ. 2-7) "यो वै भूमा तत्सुखम्" (छान्दो.उ. 7-23-1) इत्यादि श्रुतेः। ननु, स्वार्थाभावे सपर्यास्वीकारे किङ्कारणमिति तत्राह-करुण इति। करुणयतीति करुणः। "देवस्यैष स्वभावोऽयम्" "यमेवैष वृणुते" (कठ.उ. 2-22) इत्यादि श्रुतेः। कर्मणः क्षणभङ्गुरत्वात् कृपया तत्फलप्रदानाय तत्स्वीकारोपचार इति तात्पर्यम्। विद्वद्भिः क्रियमाणं मानं स्वार्थमपि किं न स्यादित्याशङ्क्य विशेषमाह-यद्यदिति। विद्वदविद्वद्भेदमन्तरेण समानो जनः भगवते यद्यन्मानं विदधीत तत्तदात्मने च स्वप्रयोजनायैवेत्युपगन्तव्यम्। अत्र दृष्टान्तमाह-प्रतिमुखस्येति। तथाऽलङ्कृतमुखश्रीः दर्पणादौ प्रतिफलितस्य प्रतिबिम्बलक्षणमुखस्य स्वालङ्कारमन्तरेण श्रीर्लभ्यते तथा स्वबिम्बभूतपरमात्मनो निर्दोषगुणराशिध्यान लक्षणमानेन तत्प्रतिबिम्बत्वात्स्वस्याऽपि निर्दोषसुखलक्षण श्रीर्लभ्यत इत्यर्थः। अनेन ब्रह्मादिजीवराशि

रत्यन्ततुच्छीभूत इति सूचितम्।"श्वपचादपि कष्टत्वं ब्रह्मेशानादयः सुराः" इत्यादेः। अयं तु नरसिंह आत्मन एव न प्रभुः, किन्तु सर्वस्याप्यतोऽखण्डैश्वर्यत्वात् चक्रवर्तीकरमिवाविदुषो जनान्मानं वृणीते। अनेन विद्वज्जनमानाङ्गीकारो व्याख्यातः, स्वतस्सिद्धत्वात्, ननु जनपदात् अर्थादानादिना राज्ञः स्वप्रयोजनोपलब्धिवदीश्वरस्याऽपि तथा स्यात्किम् न इत्याह-निजेति। ननून्मत्तः किमीश्वर इति तत्राह-करुण इति। कस्यार्थं मानकारणमिति तत्राह यद्यदिति। कथमिव यथा मुखस्य मुख्यस्य स्वामिनो राज्ञो मानलक्षणा श्रीः प्रतिमुखस्य राजमुखमनुवर्तमानस्य जनपदस्य परोपद्रवराहित्येन धनधान्यादि समृद्धिलक्षणा श्रीर्भवति तथा हरिविषया क्रियमाणा मानश्रीरनुरक्तजनस्य संसारशृङ्खलान्मोक्षलक्षणा श्रीर्भवतीत्यर्थः। "बलमानन्द ओजश्च" इत्यादेः। ननु, हरेः जन्मादिमत्त्वेन विशेषमाहात्म्यायोगात् देवदत्तवत्, अतो युक्तं विप्रादीतरजनपरिगृहीतत्वमिति तत्राह-नैवेति। अयं नृसिंह आत्मनो देहात्प्रभुः प्रभूत उत्पन्नो नैव, किन्तु स्तम्भात्, दृष्टत्वादिति शेषः। अदेहस्य जननायोगात् जननवतएव विषयसुखानुभवोपपत्तेः अतः कथं हरेः विषयानुभूतिरिति तत्राह-निजेति। सत्यं परतश्चेत्प्राप्तिः नाऽयं तथा निजो लाभो यस्य स तथा स्वतस्सिद्धानुभवश्च पूर्णो व्याप्तश्च। नहि व्याप्तस्य परिच्छिन्नगर्भवासादिकं युज्यते। "प्रादेशमात्रं पुरुषम्" इत्यादौ परिच्छेदप्रतीतेरितिचेत् "तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मम्" (तैत्ति.ना. 13 अनु) इति श्रुतेराकाशवदुपपत्तेः उपाधिकल्पनायां अनवस्थादिदोषापत्तेः अतः स्वभृत्यभाषितं सत्यं कर्तुं स्वस्य सर्वत्र व्याप्तिं दर्शयितुं इतरत्र जातवद्दर्शनमसुरजनमोहार्थमित्यादि ज्ञातव्यम्। स्वभृत्यभाषितस्य सत्यकरणायेत्येतत्कथमवगतमिति तत्राह-मानमिति। अविदुषः स्वरूपाज्ञानिनोऽस्माज्जनान्मानं वृणीते न केवलमस्माज्जनात्, किन्तु सर्वस्मादपि योग्यादित्याशयेनाह यद्यदिति। शेषं पूर्ववत्। श्वपचोऽपि भक्त एव वरीयान्नाभक्तस्तस्य द्वेषित्वेन दम्भार्थत्वेन विहितपूजाया अस्वीकारादित्यतो वाह-नेति। अयं हरिरविदुषो नित्यज्ञानिनोऽसुरजनादात्मनः स्वस्य मानं लोके दम्भाभिप्रायेण कृतपूजां नैव वृणीते, प्रत्युत अनर्थं च करोतीत्याह-करुण इति। 'कृ विक्षेपे' इति धातोः असुरजननिरसनशीलत्वादन्धं तम एव प्रापयतीत्यर्थः। "परा पूर्वेषाम्" इति श्रुतेः। तस्मादसुरजनकृतसपर्याऽनर्थजननीत्याशयेनाह यद्यदिति। आत्मने अनर्थायेति शेषः। यथा मुखश्रीः प्रधानभटयोग्यश्रीः प्रतिमुखस्याल्पस्य प्रतिभटस्य अनर्थाय मरणलक्षणाय, स्यादिति शेषः।।११।।

तस्माद्भक्तिरेव प्रयोजिकेत्याह-**तस्मादिति**। यस्मादचिन्त्यमहिमत्वात् सर्वात्मनेश्वरस्य स्वरूपं स्तोतुं न शक्नोमि तस्माद्विगतविक्लवो निर्धूतचापल्योऽहं यथामनीषं भक्त्या गृणामीत्यन्वयः। स्तुतेः फलमाह-नीचईति। अजया प्रकृत्या नीचगुणविसर्गं संसारमनुप्रविष्टं पुमान्येनानुवर्णितेन गुणसङ्कीर्तनेन पूयेत शुद्धो भवति, हि यस्मात्तेन संसारमोक्षो भवतीत्यर्थः।।१२।।

यथामनीषं गृणामीत्युक्तं विवृणोति-**सर्वं** इति। अमी वयं ब्रह्मादयश्च सर्वे सत्त्वधाम्नस्तव विधिकरा हि "विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशाविधर्मणि" इति श्रुतेः तत्र विशेषोऽस्ति यथा वयं उद्भिजन्तस्तथा ब्रह्मादयो नेवोद्भिजन्तः प्रधानभक्तत्वात्, कुत एतद्द्वयं विज्ञापयत इति तत्राह क्षेमायेति, अस्य हरे रुचिरावतारैः विक्रीडितम् अस्य जगतः क्षेमाद्यनेकप्रयोजनाय स्यादिति यदनेनास्मन्निधनेन अस्माकमुद्वेगो ब्रह्मादिरक्षणेन तेषामनुद्वेगश्च जायत इत्यर्थः।।१३।।

अथैवं कर्तव्यमित्याह-**तद्यच्छेति**। अद्य त्वया असुरो हतश्च यस्मात्तस्मान्मथ्नाति कलुषीकरोति-ज्ञानमिति। मन्युः कोपः इतरेषां एवं विधो, हरेस्तु स्वेदाधरस्फुरणादि विडम्बनलक्षणादिः तं यच्छ संहर, प्रसन्नभावं दर्शयेत्यर्थः। मन्युं च त्वद्विषयं ज्ञानं च यच्छ अनुगृहाणेत्यर्थः। "मन अवबोधने" इति धातोरिति वा त्वद्विषयं पूजालक्षणं यज्ञमिति वा। "मन्युः कोपे क्रतौ युद्धे" इत्यभिधानम्। सज्ञनानन्दाकाङ्क्षाऽपि भगवत्प्रसादकरीत्याशयेनाह-मोदेनेति। वृश्चिकसर्पलक्षणासुरहननेन साधुः सज्ञनोऽपि मोदेत साधुरपि मोदेतेति वा योगविभागः, वृश्चिकसर्पलक्षणासुरहत्या निर्वृतिमानन्दमिताःप्राप्ताः सर्वे लोकाः प्रतियान्तु, स्वगृहमिति शेषः। गत्वा किङ्कुर्वन्तीति तत्राह-रूपमिति। नृसिंह! जनाः तव नृसिंहाकारं रूपं दुरितानिवृत्तिलक्षणाय विभवाय स्मरन्तीत्यन्वयः। साधुरहिंसापरोऽपि वृश्चिकादिहत्या मोदेत। किम्पुनः सर्वलोकोपद्रवकृदसुरहत्या अतोवाह-मोदेतेति। हत्यामिति पाठे साधुः शास्त्रतत्त्वज्ञो दुष्टवृश्चिकादिहत्यां यथा मोदेत तथाऽहमपि भगवद्द्वेषित्वेन दुष्टत्वात्पितृहत्यां मोद इत्यभिप्रेत्यातोवाह-मोदेतेति। नृसिंहेति सम्बोधनं नामकरणाभिप्रायेणेति ज्ञातव्यम्।।१४।।

पूर्वं अज्ञातनामत्वादिति तव कोपाकुलरूपदर्शनाद्भीत्या लोकस्य स्मरणं न सम्भाव्यत इतिचेत तच्छमनं कर्तव्यमित्युक्तं तन्मम ज्ञाततत्त्वस्य विषयो न भवति मम भयं संसारचक्रादित्याह-**नाऽहमिति**। भयानकस्य ते तव रूपान्नबिभेमीत्यन्वयः। कीदृशात्? जिह्मे वक्रे अग्रियुक्ते नेत्रे यस्य तत्तथा, जिह्मया भ्रुकुट्या रभसो यस्य तत्तथा, उग्रे दंष्ट्रे यस्य तत्तथा, जिह्माग्रिनेत्रं च जिह्मा भ्रुकुटी रभसं च उग्रदंष्ट्रञ्च तत्तथा, तस्मादान्त्रमेव स्रक्माला यस्य तत्तथा, तस्मात्क्षतजेन रुधिरेण सिक्ताः केसराः यस्य तत्तथा, शङ्कुवत्स्थूणवत्स्तब्धौ कर्णौ यस्य तत्तथा, क्षतजकेसरं च शङ्कुकर्णं च तत्तथा, तस्मात् निर्ह्रादेन भीता दिगिभा दिग्गजा यस्य तत्तथा, तस्मात् अरिभिन्दिनखाग्राणि यस्य तत्तथा, तस्मात् अरीन् भिन्दन्तीत्यरिभिन्दि, नखानामग्राणि, दुःसहं चोग्रं च संसारचक्रं च यत्तेन सह कदनात् हिंसालक्षणाद्युद्धात् उशत्तम, सत्यकाम! भीतानामपवर्गं भीतिजनकं संसारनाशनम अरणं शरणं समियां यामि।।१५,१६।।

**यस्मात् प्रियाप्रियवियोगसयोगजन्म शोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानः।**
**दुःखौषधं तदपि दुःखमतद्धियाऽहं भूमन्भ्रमामि वद मे तव दास्ययोगम्।।१७।।**

**सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया लीलाकथास्तव नृसिंह विरिञ्चिगीताः।**
**अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन्गुणविप्रमुक्तो दुर्गाणि ते पदयुगालय हंस सङ्गः।।१८।।**

**बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह! नाऽऽर्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः।**
**तप्तस्य तत्प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्टः तावद्विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम्।।१९।।**

**यस्मिन्यतो यर्हि येन च यस्य यस्मात् यस्मै यथा यमुत यस्त्वपरः परो वा।**
**भावः करोति विकरोति पृथक्स्वभावः सञ्चोदितस्तदखिलं भवतः स्वरूपम्।।२०।।**

**श्रीध०** दास्ये सति मत्प्रतीतिरिति चेत्तर्हि नानायोनिषु क्लिश्यमानस्य मम दास्यज्ञानाभावात्त्वमेव तदुपादिशेति प्रार्थयते-**यस्मादिति**। यस्मात्प्रियेरप्रियैश्च यथासंख्यं वियोगसंयोगाभ्यां जन्म यस्य तेन शोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानोऽस्मि। दुःखस्य प्रतीकारः कार्य इति चेत्तत्राह-दुःखस्यौषधं प्रतीकारस्तदपि दुःखमेव। एवमप्यतद्धिया देहाद्यभिमानेन मुह्यामि। अतो हे भूमन्! विभो! मे तव दास्यरूपं योगं निस्तारोपायं वद।।१७।।

ननु दास्ययोगे[15] प्रवृत्तस्याऽपि तदन्तरायभूतानां पूर्वोक्तनानादुःखानां कुतः परिहारः? तत्राऽऽह-**स** इति। सोऽहं त्वद्दासस्सन् भो नृसिंह! तव लीलाकथाः अनुगृणन् दुर्गाणि महादुःखान्यञ्जसा तितर्मि तरामि न गणयिष्यामीत्यर्थः। तत्र हेतुः-गुणैः रागादिभिः विशेषेण प्रमुक्तस्सन्। तत्कुतस्ते पदयुगमेवालयो येषां भक्तानामतः[16] त एव हंसा ज्ञानिनः तैः सङ्गो यस्य मम सोऽहम्। कथम्भूतस्य कथाः? तत्राह-प्रियस्येत्यादि। कुतो ज्ञाताः? विरिञ्चेन गीताः तत्सम्प्रदायप्रवृत्ताः। तथा चाथर्वणी श्रुतिः "देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्" इत्यादि। दास्ये प्रवृत्तस्य भगवदनुग्रहेण[17] सत्सङ्गस्ततो वीतरागतया भगवद्गुणानुवर्णनं ततश्च न दुःखाभिभवः स्यादिति वाक्यार्थः।।१८।।

ननु दुःखैः तप्तस्य तत्प्रतीकारो[18] लोके प्रसिद्ध एव किं मद्दास्यादिना? तत्राह-**बालस्येति**। भो नृसिंह! तप्तस्य तत्प्रतिविधिः दुःखप्रतीकार इहलोके योऽञ्जसेष्टः सत्वयोपेक्षितानां तावदेव क्षणमात्रमेव न तु आत्यन्तिकः,

1 W °ताऽथ 2 W दिश 3 W °ञ्चि 4 M,Ma °स्तराम्य 5 W युक्तो 6 M,Ma वे ° 7 M,Ma आ° 8. M,Ma तर्पणावि ° 9. M,Ma °दं ° 10- -10 M,Ma तद्वत्प्रभो; W तावद्विभो 11 M,Ma त्वकृपासकानाम् 12. M,Ma omit यस्मात् 13. A,B,G,J,T °दु° 14 M,Ma भावं 15 A,B,J योगेन 16 A,B,J omit अतः 17 B,J भव ° 18. B,J एतत्प्र °

तदेवाऽऽह-बालस्य पितरौ शरणं रक्षकाविह न भवतस्ताभ्यां पाल्यमानस्याऽपि तस्य दुःखदर्शनात्। क्वचिदर्जा-गर्तादिषु ताभ्यामेव तद्बधदर्शनाच्च। न चार्तस्य रोगिणोऽगदमौषधं शरणं कृतेऽप्यौषधे मृत्युदर्शनात्। न चोदन्वति समुद्रे मज्जतः पुंसो नौः शरणं तया सह मज्जनदर्शनात्। अतस्त्वमेव शरणमित्यर्थः.. अथवैवं[1] काक्वा व्याख्येयम्-तप्तस्य तत्प्रतिविधिः य इह तावत्प्रसिद्धः स त्वदुपेक्षितानां किमङ्गसेष्टः? अपि तु नेष्ट एव। यद्वा, यस्तावदिह प्रतिविधिरिष्टः स किमङ्गसा नैवाङ्गसेत्यादि योज्यम्। बालस्येत्यादि पूर्ववदेव।।१९।।

ननु क्वचित्कुतश्चित् केनचित् कदाचित् कश्चित् रक्षकोऽपि दृश्यत एवेत्याशङ्क्य तत्राऽपि तत्तद्रूपेण[2] त्वमेव रक्षक इत्युररीकृत्य तस्यैव सर्वात्मनामाह-**यस्मिन्निति**। अपरोऽर्वाचीनः पित्रादिः परो ब्रह्मादिर्वा भावः कर्ता तत्तत्कारकैः यद्यत्करोति तत्सर्वं भवत एव स्वरूपं न तु पृथक् यस्मिन्नधिकरणे यतो निमित्तात् यर्हि यस्मिन्काले येन करणेन येन हेतुकर्त्रा सञ्चोदितश्च यस्य सम्बन्धि यस्मादपादानाद्यस्मै सम्प्रदानाय यदीप्सिततमं यः कर्तेत्येवं सप्तविभक्त्यर्थाः। यथा येनप्रकारेणेति क्रियाविशेषणभूतानामव्ययानामर्थः। पृथक्स्वभावः सत्त्वादि प्रकृतिं[3] करोत्युत्पादयति विकरोति रूपान्तरं नयतीति।।२०।।

**वीरः** ननु भयं चेत्तद्दुःखदर्शनजं किं तत्संसारचक्रे दुःखमित्यपेक्षायां तद्दर्शयन्नात्मानं विशिनष्टि-तस्मादित्यर्धेन। येन कर्मणाऽहं बद्धः तस्मात् कर्मणो निमित्तात् प्रियैरप्रियैश्च विषयैः यथासंख्यं वियोगसंयोगौ ताभ्यां जन्म उत्पत्तिर्यस्य तेन शोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानोऽहं, अतीव दुःखितोहमित्यर्थः। भ्रमामीत्यन्वयः। तर्हि दुःखनिमित्तकर्मनिवृत्त्युपायमनुतिष्ठेत्यपेक्षायामन्तरेण भवद्धास्यमन्यन्निश्शेषदुःखनिवृत्त्युपायभूतं नास्त्येव। कथञ्चित्सदपि दुःखात्मकमेवेत्याह-दुःखौषधमिति। यद्दुःखस्यौषधं प्रतीकारात्मकं तदपि दुःखं दुःखात्मकमित्यर्थः। दुःखस्य प्रतीकारोहि दुःखनिमित्तदुरितनिरसनेन भवति निश्शेष दुरितानिवर्तकं च किञ्चि-दन्यदस्ति। प्रतिपदोक्तप्रायश्चित्तादिकं न निश्शेष दुरितनिवर्तकं[5] प्रत्युत दुःखात्मकं चेत्यर्थः। अतो हे भ्रमन्! अतद्धिताय तज्जनहिताय न भवति, अतद्धियाऽहमिति पाठे अहं देहात्माभिमानेन भ्रमामि, अतः तव दास्ययोगं दिश तव नित्यदास्यसम्बन्धं देहि। वदेतिपाठे उपदिशनित्यप्रबुद्धत्वद्दास्य सम्बन्धवान् यथा भवेयं तथा मां अनुगृहाणेत्यर्थः।।१७।।

एवं कोपोपशमः प्रार्थितः भगवद्दास्यमेव दुःखौषधमिति चोक्तम्[6] -"पूयेत येन हि पुमाननुवर्णितेन" (भाग. 7-9-12) इति भगवद्वर्णनमात्मविशुद्धिलक्षकमित्युक्तम्[7]। अथ त्वदनुग्रहेण प्रबुद्धनित्यभवद्दास्य सम्बन्धोऽहं

1. H,V °चैवं 2. H,V omit तत् 3. A,B,J °तिः 4. A,B,T omit अहं 5 W omits दुरित 6. W °क्तः 7. A,B,T फलयेत्

यथामति त्वां स्तुवन् दुःखनिमित्तकर्मभिः विमुक्तः सर्वाणि दुःखानि यथा तरेयं तथा अनुगृहाणेत्याह- सोऽर्हमिति। सोऽहं त्वदनुग्रहेण प्रबुद्धनित्यभवद्दास्यसम्बन्धोऽहं सुहृदो हितैषिणः प्रियस्य मम निरतिशयप्रीतिविषयस्य परदेवतायाः तवब्रह्मादिभिःगीताः लीलारूपव्यापारविषयाः कथाःअनुगृणन् गुणविप्रयुक्तः सत्त्वादिगुणमूलक कर्मबन्धैः रागदिभिर्वा विमुक्तः ते तव पदयुगलमेवालयमाश्रयो येषां ते भक्ताः त एव हंसाः [1-]परिशुद्धा जनाः[-1] तैः सङ्गो यस्य तादृशः अज्ञः तितर्मि सुखेन अतितरामि तथाऽनुगृहाणेत्यभिप्रायः। अत्राऽयं क्रमः-तावत् त्वदनुग्रहेण सत्सङ्गः ततो भगवद्गुणवर्णनं ततो विरागः ततः त्वद्भक्त्या दुःखनिमित्तकर्मक्षयद्वारा संसृतेः तरणमिति।।१८।।

एतत्सर्वं त्वदनुग्रहेणैव भाव्यम्, न तु उपायान्तरेणेति कैमुत्यन्यायेन वक्तुं तावत् त्वदुपेक्षतानां न दुःखप्रतिक्रियाऽस्तीत्याह-**बालस्येति**। हे नृसिंह! इह लोके बालस्य त्वदुपेक्षितस्य पितरौ मातापितरौ न शरणं न रक्षकौ, एवमार्तस्य रोगपीडितस्य त्वदुपेक्षितस्य अगदमौषधं न शरणं, तथोदन्वति समुद्रे मज्जतस्त्वदुपेक्षतस्य नौः न शरणं, पित्रादिषु सत्स्वपि बालादीनां विनाशदर्शनादिति भावः। अतो हे विभो! इह लोके तप्तस्य दुःखितस्य तत्प्रतिविधिः तापप्रतीकारो यः तावत्प्रसिद्धः, स त्वदुपेक्षतानां[2] तनुभृतां किमङ्गसेष्टः[3]? अपि तु नेष्ट एव। बालादिदुःखोपशमने एव पित्रादयो न प्रभवः, किम्पुनः निश्शेषदुःखोपशमने न प्रभव इत्यतस्त्वदनुग्रहेणैव निश्शेषं दुःखात्मकसंसृति निवृत्तिरिति। संसृतिचक्रादुत्तारकः त्वमेवेतिभावः।।१९।।

यतः त्वमेवम्भूतोऽतः संसृतिचक्रपतितं त्वत्प्रपन्नं मामुत्तारयेति विज्ञापयिष्यन् त्वत्प्रपत्तिमन्तरेण न कोऽपि आत्मानं तारयितुं प्रभुरिति वक्तुं तावदाचार्यादिमुखेन कारितमपि त्वच्छरणवरणं त्वत्कारितमेव यतः तत्तत्क्रियाश्रयकर्त्रादिकारकषट्कसम्बन्धिशरीरकत्वेन च [4-]कालशरीरकत्वेन च[-4] त्वमेवाऽवस्थित इत्याह- **यस्मिन्निति**। यस्मिन्नित्यधिकरणकारकनिर्देशः, यत इति हेतुत्वशक्त्याश्रयं निर्दिश्यते, यर्हीत्यनेन कालः, येनेति करणत्वशक्त्याश्रयं, यस्येति सम्बन्धी, यस्मादित्यपादानत्वशक्त्याश्रयं यस्मै इति सम्प्रदानत्वशक्त्याश्रयं, यथेत्यनेनोक्ताधिकरणादिगतः प्रकारः, यदिति कर्मत्वशक्त्याश्रयं उतापि च इत्यनेन प्रयोजककर्तासञ्ज्ञोदित इत्यनेन, प्रयोज्यकर्ता तावेवापरः परश्च। यद्वा, पर उत्कृष्टः अपरोऽवमः भावः, पदार्थः सप्रकारकारकषट्करूपः सम्बन्धिरूपः कालरूपश्च यो यः पदार्थः पृथक्स्वभावः, प्रविभक्तः स्वभावो यस्य सः पृथक्स्वभावः कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाश्रयत्वमधिकरणत्वं द्रव्यगुणक्रि[5]यान्यतमनिरूपितत्वे तत्कारणत्वे च सति सव्यापारानव्यापारानिष्टत्वं हेतुत्वं धातूपात्तव्यापारजन्यफलाव्यवहितपूर्वव्यापाराश्रयत्वं करणत्वं, सम्बन्धसामान्याश्रयत्वं सम्बन्धित्वं,

1- -1 W omits 2. A,B,T add त्वामनाश्रितानां 3 A,B,T add शरीररमेव पोषणपराणां 4- -4 W omits 5. B °यान्विता °

प्रकृतधातूपात्तव्यापारानाविष्टत्वे सति तज्जन्यविभागाश्रयत्वमपादानत्वं, दानस्य कर्मणा क्रियया वा सम्बद्ध्यमानत्वं सम्प्रदानत्वं, धातूपात्तव्यापारव्यधिकरण तज्जन्यफलाश्रयत्वं कर्मत्वं, प्रकृतधातूपात्तव्यापारानुकूल व्यापाराश्रयत्वं प्रयोजकत्वं, धातूपात्तव्यापाराश्रयत्वं कर्तृत्वमित्येवं समविभक्त्यर्थानां प्रविभक्तस्वभावः, कालस्य त्वात्मव्यतिरिक्त परिच्छेदकत्वं स्वभावः। एवं पृथक्स्वभावः उच्चावचरूपः करोति उत्पादयति, विकरोति विनाशयति उत्पादनाश्रयो विनाशनाश्रयो वा भवति।तदखिलं कारकषट्कादिरूपं वस्तु भवतः स्वाभाविकं रूपं शरीरमित्यर्थः। एवं च सर्वभावान्तरात्मतया तच्छरीरकतयाऽवस्थितस्य तवैव सर्वे निग्रहानुग्रहादयः सद्वारकव्यापारा इति भावः।।२०।।

**विज॰** देवादियोनौ सुखसम्भवात्तस्मात् संसारचक्रात् कथं बिभेषीति तत्राह-**यस्मादिति**। देवादि सकलयोनिषु प्रियस्य वियोगोऽप्रियस्य संयोगः तयोर्जन्म यस्य स तथा स च शोकाग्निः तेन प्रियादिवियोगादिना जन्मना च यश्शोकाग्निस्तेन वा दह्यमानोऽहं यत्, दुःखपरिहारलक्षणं कर्म तदपि दुःखरूपमिति मत्वा अतद्धिया न तद्धीः अतद्धीः तया, दुःखपरिहारौषधज्ञानेन भ्रमामि। कुत्रगतेन केनौषधेन वा मे सुखं स्यादित्यनवस्थितं प्राप्तोऽस्मीति यस्मात्तस्मादिदमेव संसारनाशनमिति मत्वा भवन्तं प्रार्थये। किं तदाह-वदेति। तव दास्यलक्षणं योगमौषधं वद अनुगृहाणेत्यन्वयः।।१७।।

मदुपासनाद्युपायमन्तरेण दास्यमात्रेण तव किं स्यादित्याशङ्क्य बहुप्रयत्नसाध्यामुपासनां अन्तरेणोपायोऽस्तीत्याह-**सोऽहमिति**। गुणमयसंसाराद्विप्रमुक्तः पादयुगलमेवाऽऽलयमाश्रयो येषां ते तथा ते च हंसाः निस्सङ्गाः परमहंसाः तेषां सङ्गः सेवालक्षणो यस्य स तथा, दुर्गाणि कलत्रादीनि नरकाणि।।१८।।

नृसिंह! आर्तस्येत्यनेन सन्ध्यकरणेन दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः महद्वैलक्षण्यमस्तीति ज्ञापनाय अज्ञानजनबुद्ध्यवताराय चेति ज्ञातव्यम्। निदाघतप्तस्य जलादिना तर्पणविधिः आप्यायनलक्षणपरिहारः ज्वराद्यभिभूतस्य ज्वरादिपरिहारप्रकारो यत् इष्टः इष्टसाधनञ्च।।१९।।

ब्रह्माद्यन्यतम इष्टः किं न स्यादित्याशङ्क्य कर्तृत्वाद्यभिमतस्य ब्रह्मादेः सत्ताया अपि यदा यदधीनत्वं प्रामाणिकं तदा सर्वस्माद्धरेरिष्टत्वं किं वक्तव्यमिति भावेनाह-**यस्मिन्निति।** अपरः कालादिः यः परो ब्रह्मादिर्वा यस्मिन्नधिष्ठाने स्थित्वा यतो मृदादेः यर्हि यस्मिन्काले येन चक्रसलिलादिना यस्यादृष्टादेः सहायेन यस्मै जलाहरणाद्यर्थं यथाविधिना, यं भावं घटादिपदार्थं करोति, विकरोति सामान्यतो विशेषतो वा। कीदृशः पृथक्स्वभावः? कार्याद्विलक्षणस्वरूपः सञ्चोदितः त्वादृशेन पुरुषेण प्रेरितः तदखिलं कार्यकारणलक्षणं सर्वं भवतः स्वरूपञ्च

त्वदधीनसत्तात्मकमित्यन्वयः। "कर्तृकर्मक्रियादीनां सत्तावृत्तिस्तथैव च। विष्ण्वधीनं यतः सर्वं सर्वरूपस्तदुच्यते" (ब्रह्मतर्के) इति वचनात् न भेदोऽत्रेति बोद्धव्यम्।।२०।।

**माया मनः सृजति कर्ममयं बलीयः कालेन चोदितगुणानुमतेन पुंसः।**
**छन्दोमयं यदजयार्पितषोडशारं संसारचक्रमज कोऽतितरेत् त्वदन्यः।।२१।।**

**सत्यं हि नित्यविजितात्मगुणः स्वधाम्ना कालो वशीकृतविसृज्यविसर्गशक्तिः।**
**चक्रे विसृष्टमजयेश्वर षोडशारे निष्पीड्यमानमुपकर्ष विभो प्रपन्नम्।।२२।।**

**दृष्टा मया दिवि विभोऽखिलधिष्ण्यपानां आयुःश्रियं विभव इच्छति यानुनोऽयम्।**
**येऽस्मत्पितुः कुपितहासविजृम्भितभ्रूविस्फूर्जितेन लुलिताः स तु ते निरस्तः।।२३।।**

**तस्मादमूस्तनुभृतामहमाशिषो ज्ञ आयुःश्रियं विभवमैन्द्रियमाविरिञ्चात्।**
**नेच्छामि ते विलुलितानुरु विक्रमेण कालात्मनोपनय मां निजभृत्यपार्श्वम्।।२४।।**

**श्रीध.** अतोऽन्यस्य रक्षकस्याभावात् असंसारित्वाच्च नित्यमुक्तस्त्वमेव मां शरणागतं रक्षेति प्रार्थयते-**मायेति** द्वाभ्याम्। त्वदंशस्य पुंसोऽनुमतेनेक्षणरूपेणानुग्रहेण मनो मनःप्रधानं लिङ्गं मया सृजति। कथम्भूता? कालेन क्षोभिताः नोदिता गुणा यस्याः। कथम्भूतं मनः? कर्ममयं कुर्वद्रूपं बलीयो दुर्जयं छन्दोमयं वेदोक्त कर्मप्रधानं च। अजया जीवस्याविद्यया तद्भोगार्थमर्पिताः षोडशाराः षोडशविकारा यस्मिन् यदेवम्भूतं संसार चक्रात्मकं मनः तत्कोऽतितरेत्। भो अज! त्वदन्यः त्वत्तःपृथक्स्थितः त्वामभजन्नित्यर्थः।।२१।।

ननु ममाऽपि मायासम्बन्धात् कर्तृत्वाद्यविशेषाच्च त्वत्तः को विशेष इत्याह-**स** इति। स्वधाम्ना चिच्छक्त्या नित्यं विजिता आत्मनो बुद्धेः गुणा येन स हि त्वम्। यतः कालो मायाप्रेरकः अत एव वशीकृता विसृज्यानां कार्याणां विसर्गाणां साधनानां च शक्तिः येन। अत इक्षुदण्डवत् निष्पीड्यमानं मामुपकर्ष स्वसमीपं नय।।२२।।

ननु लोकपालानां भोगान् भुङ्क्ष्व पित्र्यं वा राज्यमिदं दास्यामि, किमिति संसारादुद्विजसे तत्राह-**दृष्टा** इति त्रिभिः। श्रियः सम्पदः। विभव उद्भवः आयुरादयो दृष्टा इति काक्षा तेषां तुच्छत्वं उक्तम्, तदेवाह-**येऽस्मत्पितुः** कोपहासविजृम्भितभ्रूभङ्गमात्रेण विध्वस्ताः स च त्वया निरस्तः।।२३।।

1. H,V च °2. H,V त्रियो 3. M,Ma °ना उरु 4. H,V omit मनो 5. H,V चोदिताः 6. A,B,J omit षोडश ° 7. A,B,J शक्तयः 8. A,B,J omit तेषां 9. A,B,J विकृत

यस्मादेवं, **तस्मादिति**। तस्मादाशिषो भोगान् ज: तत्परिपाकवित्[1] अहमैन्द्रियमिन्द्रियैः भोग्यं ब्रह्मणो भोगमभिव्याप्य किमपि नेच्छामि ते कालात्मना ऊरुविक्रमेण विलुलितान् विध्वस्तानणिमादीन् अपि।।२४।।

**वीर०** अथ त्वत्प्रपदनमन्तरेण कः पुमानतितरेत् संसारचक्रमित्याह-**मायामन** इति। त्वदन्यः त्वत्समाश्रयणविमुखःकः पुमान् संसारचक्रमतितरेत्, नकोपीत्यर्थः। संसारचक्रं चक्रवत्परिवर्तमानं संसारं चक्रशब्देन तत्र पतितस्य दृढतरावलम्बनमन्तरेण न यथा ततो निष्क्रमणं सम्भवति तथा संसारे पतितस्य आलम्बनभूतं श्रीभगवन्तं भवन्तमन्तरेण न तस्मादतितरणं सम्भवतीत्यभिप्रेतम् संसारं चक्रत्वेन रूपयन् तं विशिनष्टि, यद्यस्मिन्मनसि नाभिरूपे पुंसः परमपुरुषस्य अजया भगवन्मायया हेतुभूतया अर्पिताः षोडशज्ञान कर्मोभयेन्द्रियव्यापाराः दशप्राणापानादिरूपाः पञ्च प्राणवृत्तयः मनोवृत्तिश्चेति षोडश, एत एव अराणि यस्य तत्र तत्तज्ज्ञानकर्मोभयेन्द्रियव्यापाराणां मनोव्यापारानुविद्धत्वस्वाभाव्यात् तद्व्यापारपूर्वकत्वाच्च तदायत्तत्वेन तदर्पितत्वं मनोवृत्तेस्तु साक्षान्मनस एवाश्रयत्वात्तदर्पितत्वं, यद्यपि मनःपर्यन्तानां इन्द्रियाणां प्राणायत्तस्थितित्वेन प्राणव्यापारपूर्वकत्वेन च प्राणवृत्तीनां साक्षात्परम्परया वा न मन आश्रयः तथाऽपि मनोव्यापाराभावदशायां विद्यमानाऽपि प्राणवृत्तिरज्ञाता, अत एवाऽसत्प्रायेति, तद्वृत्तिसत्ताज्ञानस्य मनोव्यापारपूर्वकत्वान्नस्याः तदर्पितत्वमवगन्तव्यम्, यद्वा, अजया हेतुभूतयाऽर्पिताः षोडशैकादशेन्द्रियाणि पञ्चभूतानीति षोडशविकारा एवाराणि यस्य यदेतत्संसृतिचक्रमित्यन्वयः। संसारस्य सर्वेन्द्रियव्यापारपूर्वकत्वात् तद्वृत्तमवगन्तव्यम्। अस्मिन् पक्षे नाभित्वेन न किञ्चिदपि रूपितम्। यद्वा अजया नाभिरूपया हेतुभूतया चार्पिताः षोडशैकादशेन्द्रिय पञ्चभूतात्मकानि अराणि यस्येत्यर्थः। संसारचक्रस्यार्पितषोडशारत्वेऽजाया हेतुत्वमुक्तम्, सा किं साक्षादेव हेतुः? नेत्याह-मायेति। मनस्सृष्टिद्वारा हेतुरिति भावः। किं तर्हि तस्याः सहकारिकारणमत आह-कालेनेति। कालेन सह माया मनस्सृजति कालसहकृता प्रकृतिर्मनः सृजतीत्यर्थः। कालोऽपि न स्वरूपेण प्रकृतेर्मनस्सर्गे सहकारी अपि तु गुणक्षोभद्वारेति वदन्, कालं विशिनष्टि-चोदितगुणानुमतेनेति। चोदिताः कालेन क्षोभिताः सत्त्वादयः गुणाः तैरनुमतेन सहकृतेन स्वचोदितगुणत्रयसाचिवेन कालेन सहकृता भगवतो मायामनस्सृजति। संसारचक्रस्य दुस्तरत्वं भगवदाभिमुख्ये तु सुतरत्वं चाविष्कर्तुं मनो विशिनष्टि-कर्ममयमिति त्रिगुणात्मक प्रकृति परिणामरूपत्वेन स्वयमपि त्रिगुणात्मकत्वाद्रजोमयतया पुण्यपापरूपकर्मविषयप्रवृत्तिप्रचुरं बलीयः, अनर्तवत्यंदोषं

1. A,B,J °पाकं विद्वान्

छन्दोमयं सत्त्वानुयानाच्छास्त्रावगति-साधनप्रचुरम्। इच्छामयमित्यर्थस्तु अनुपपन्नः, छन्दशब्दः इच्छावापी, न तु छन्दश्शब्दः अनेन सत्त्वप्राचुर्येसति श्रीभगवदाभिमुख्येन संसृतिचक्रं सुतार्यमित्यभिप्रेतम् एवम्भूतं मनः सृजतीत्यन्वयः। तदेवं मनोदोषात् संसारानतिवृत्तिः त्वत्समाश्रयणविमुखस्येत्युक्तं भवति। त्वदन्यः कः संसारचक्रमतितरेत् इत्यनेन त्वदनन्यस्त्वतितरेदेवेति सूचितम्।।२१।।

तदेवाविष्कुर्वन् त्वदनन्यं मां संसारचक्रान्निर्गमयेति प्रार्थयते-**सत्वं हीति**। यः स्वमाया मनस्सर्गद्वारा संसृतिचक्रे जीवलोकं पातयति, स त्वमजया स्वकीयया मायया षोडशारे चक्रे संसारात्मके विसृष्टमत एव नितरां पीड्यमानं अधुना त्वां प्रपन्नं मां हे विभो! अपकर्ष संसृतिचक्रात् बहिर्निर्गमय[1] "य एव बन्धकः स एव मोचकः" इति न्यायेन त्वमेव ततो निर्गमयितुं समर्थ इति भावः। सामर्थ्यमेव दर्शयंस्तं विशिनष्टि-नित्येत्यादिना। आत्मगुणाः स्वशरीरभूतप्रकृतिगुणा नित्यं विजिता आत्मगुणा येन नित्यास्पृष्टदेहधर्मेण स्वधाम्ना स्वस्वरूपेणैव। यद्वा, विजितात्मगुणो यः स्व आत्मा तस्य धाम्ना प्रकाशेनैव वशीकृतविसृज्यविसर्गशक्तिः विविधं सृज्या विसृज्याः जीवास्तेषां विसर्गे शक्तिः यस्याः सा प्रकृतिः शक्तिर्वशीकृता येन स तथोक्तः। कालशरीरकश्च वशीकृतसंसृतिर्निमित्त प्रकृतित्वान्मोचयितुं त्वमेव प्रभुरिति भावः। नित्यविजितात्मेत्यादिना विसृज्य जीववर्गात् ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तात् वैलक्षण्यमुक्तम्। अतः संसारिजीववर्गे न कोऽपि तन्मोचने दक्षः। न हि स्वयं कारागृहबद्धोऽन्यं तादृशं मोचयितुं प्रभुरित्युक्तं भवति।।२२।।

ननु, त्वं बालस्सन्नेव किं संसारात् निर्विद्यसे भुङ्क्ष्व भोगानित्यत्राह-**दृष्टा** इति त्रिभिः। हे विभो! अयं संसारिजनो यानिच्छति कामयते ते अखिलधिष्ण्यपानां इन्द्रादीनामायुरादयो मया विविच्य दृष्टाः श्रियः भोग्यभोगोपकरणादि-समृद्धयः विभवः त्रिलोकाधिपत्यरूपमैश्वर्यम्। आयुरादयो दृष्टा इति काक्वा तुच्छत्वमुक्तं, तदेवाह- ये इति। येऽस्मत्पितुः कोपहासविकृतभ्रूभङ्गमात्रेण विलुलिताः ध्वस्ताः, स तु मत्पिता त्वया हतो निरस्तः।।२३।।

यस्मादायुरादयो मत्पितृदृष्टान्तेन तुच्छत्वेन दृष्टाः तस्मात्तनुभृतां देहिनाममूः आयुरादिरूपाः आशिषः ज्ञः तत्परिपाकं विद्वान्। अज्ञ इति च्छेदे, अज्ञस्सन्नहमैन्द्रियमिन्द्रियैरनुभाव्यमन्यदपि सुखमाविरिञ्चादब्रह्म-

1. W °हिर्गम°

णोऽनुभाव्यं अभिव्याप्याऽपि तथा कालात्मना कालरूपेण उरुविक्रमेण विपुलपराक्रमेण विपुलपादविक्षेपेण वा विलुलितान् विध्वस्तानणिमादीनपि न इच्छामि। अतो निजभृत्यानां स्वपार्षदानां[2] पार्श्वं समीपमेव मां प्रापय।।२४।।

**विज०** संसारचक्रं भक्त्या जनितं श्रीहरिप्रसादं विना दुस्तरं, प्रसादश्च निगृहीतमनसां दुस्साध्यो मनोमयत्वात् संसारचक्रस्य, अतः स एव सम्पाद्य इत्याशयेन संसारस्वरूपं निरूपयति-**मायेति**। चित्प्रकृत्याभिमत मायाप्रकृतिः उदितगुणानुमतेनोद्भूतरज आदि गुणानुसारिणा कालेन प्रेरितेनादृष्टेन च सहकारिणा पुंसो जीवस्य कर्ममयं नानाविकारकोशमत एव बलीयो निग्रहीतुमशक्यं छन्दोमयं सङ्कल्पविकल्पलक्षणेच्छात्मकं यन्मनः सृजति। हे अज! तन्मनोमूलं संसारचक्रं त्वदन्यः त्वदनुग्रहरहितः पुरुषः कोऽतितरेत्? न कोऽपीत्यन्वयः। केवलात्परिकरोपेतस्य बलाधिक्यं स्यादित्यभिप्रायेणाह अजयेति, अजया प्रकृत्याऽर्पिताः कल्पिता भिन्नवर्तिना मनसा सह षोडशेन्द्रियाणि पञ्चप्राणा एवारा दलस्थानीया यस्य तत्तथा तत्।।२१।।

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" (विष्णु.पु. 6-7-28) इति श्रुतेः सम्यक् नियुक्तं मुक्तिर्निमित्तं च त्वदनुग्रहेण स्यादित्याशयेनाह-**सत्वमिति**। यस्त्वं स्वधाम्ना नित्यं विजिता आत्मनो देहस्य गुणा जननादिलक्षणा धर्मा जीवस्य वा दुःखादिलक्षणा येन स तथा यश्च कलयति जानाति सर्वमिति कालो, वशीकृता स्वसमवेता विसृज्यस्य सुरनरादिनानाविधस्य जगतो विसर्गशक्तिः विविधसृष्टिः यस्मिन्स तथा। हे ईश्वर! स त्वं षोडशारे संसारचक्रे लिङ्गशरीरे वा अजया विसृष्टमुत्पन्नं, अत एव दुःखेन निष्पीड्यमानं तत्परिहाराय शरणं प्रपन्नं मां ततोऽपकर्ष उत्तर विभो। समुद्धरणसमर्थ!।।२२।।

त्वया कस्मात् स्वर्गाद्यैश्वर्यं नेष्यते, इत्याशङ्क्य तस्य नश्वरत्वादित्याशयेनाह-**दृष्टा** इति। अखिलानां धिष्ण्यपानां इन्द्रादीनां विभवो हिरण्यलक्षणोऽर्थः अस्मत्पितुः हिरण्यकशिपोः कुपितहासो दुर्हासस्तेन विजृम्भितयोः स्फुरितलक्षणयोः भ्रुवोः विस्फूर्जितेन विकासविशेषेण लुलिता विनाशिताः, स तु हिरण्यकशिपुरपि ते त्वया।।२३।।

यस्मात्क्षणभङ्गुराः तस्मात् ज्ञ। अनित्या इति जानन्नैन्द्रियं-श्रोत्रादीन्द्रियभोगयोग्यामिन्द्रियस्य विद्यमानं वा अविरिञ्चात् विरिञ्चपर्यन्तं निजभृत्यानां मुक्तानां पार्श्वम्।।२४।।

---

1 W omits स्व°

**कुत्राशिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णिरूपाः[1] क्वेदं कलेबरमशेषरुजां विरोहम्[2]।**
**निर्विद्यते न तु जनो यदपीति[3] विद्वान् कामानलं मधुलवैः शमयन्दुरापैः।।२५।।**

**क्वाऽहं रजःप्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मिन् जातः सुरेतरकुले क्व तवानुकम्पा।**
**न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः।।२६।।**

**नैषा परावरमतिर्भवतो ननु स्यात् जन्तोर्यथाऽऽत्मसुहृदो जगतस्तथाऽपि।**
**संसेवया सुरतरोरिव ते प्रसादः सेवानुरूप मुदयो[4] न परावरत्वम्।।२७।।**

**एवं जनं निपतितं प्रभवाहिकूपे कामाभिकाममनु यः प्रपतन्प्रसङ्गात्।**
**कृत्वाऽत्मसात् सुरर्षिणा[5] भगवन् गृहीतः सोऽहं कथं नु विसृजे तव भृत्यसेवाम्।।२८।।**

**श्रीध°** किञ्च। वर्तमानकालेऽपि न भोगार्हा इत्याह-कुत्रेति। श्रुतिः श्रवणं तदेव सुखं यासु ताः मृगतृष्णिकावन्मिथ्या भूताश्चाशिषः क्व? अशेषाणां रुजां रोगाणां विरोहम्[6] उद्भवस्थानं क्वचेदं कलेबरम्? एवं चेत्सर्वेऽपि जनः किं न विरज्यते तत्राह-यदपि यद्यपि इत्येवं विद्वानयं जनः तथाऽपि न निर्विद्यते विरक्तो न भवति। कुतः? काम एवाऽनलः तं मधुतुल्यैः सुखलवैः दुस्साधैरपि[7] शमयन् कामाग्निशमनव्यग्रस्य निर्वेदऽप्यवकाशो नास्तीत्यर्थः। यद्वाऽचिन्त्यमिदं त्वन्मायाचेष्टितमिति भावः।।२५।।

तर्हि त्वं कथं निर्विण्णोऽसि अनर्हेऽपि[8] मयि प्रवृत्तया त्वत्कृपयैवेत्याशयेनाऽऽह-क्वेति। रजसैव प्रभवो जन्म यस्य सः। समभ्यन्तं वा कुलविशेषणम्। तमोऽधिकं यस्मिंस्तस्मिन् सुरेतराणां[9] असुराणां कुले जातोऽहं क्व? क्व च तवानुकम्पा। तामेवाह-ब्रह्मादीनां शिरसि यो नैवाऽर्पितः स पद्मवत्सकल सन्तापहरः करः प्रसादः पुरुषार्थरूपो मे शिरस्यर्पित इति यत्। यत्[10] ययानुकम्पयेति वा।।२६।।

इदानीं[11] न च त्वयीदमतिचित्रमित्याह-**नैषेति**। एते ब्रह्मादय उत्तमा अयमसुरो नीच इत्येषा परावरमतिः जन्तोः प्राकृतस्य यथातथा भवतो नैव स्यात्। अत्र हेतुः जगतः आत्मनः सुहृदश्च। तर्हि सर्वत्र सत्प्रसाद एवं रूपश्च किं न स्यात्तत्राह-संसेवया तव प्रसादो भवति, तत्र च सेवानुरूपं तत्तदिच्छानुसारेण धर्मादीनामुदयो

1. A,B,G,J,T °ष्णि 2. A,B,G,J,T °हः 3. M,Ma °ह 4 M,Ma उ° 5. H,V °र ऋषिणा 6. A,B,J °हः 7. A,B,J °ध्यं 8 H,V omit अनर्हेऽपि 9- -9 A,B,J omit 10. H,V omit यत् 11 H,V omit इदानीं

भवति। एवं प्रसादवैचित्र्ये[1-] सत्यपि वैषम्याभावे दृष्टान्तःसुरतरुः यथा सेवकस्यैव सङ्कल्पानुसारेण फलं ददाति, न च विषमः तद्वत्। न परावरत्वमत्रकारणमिति शेषः।।२७।।

एतच्च त्वद्भृत्यकृपया मया प्राप्तमिति त्वद्भृत्यपार्श्वमेव मां नयेत्याशयेनाऽऽह-एवमिति। यथा त्वयाऽऽनुकम्पितोऽस्म्येवं नारदेनात्मसात्कृत्वा पूर्वमनुगृहीतः सोहं कथं नु त्वद्भृत्यसेवां विसृजामि। कथम्भूतोऽनुगृहीतोऽस्मि? प्रभवः एवाहिः तेन युक्तः कृपः तस्मिन् कामानभितः कामयमानं जनं निर्पाति[2] तमनुतप्तसङ्गात्प्रपतन्योऽहम्। तदेवं त्वद्भृत्यस्य नारदस्यानुग्रहेण त्वयाऽत्यन्तमनुकम्पितोऽस्मि। अयमेव च मम परमोऽनुग्रहो न पुनः इदमतितुच्छं मत्प्राणरक्षणादि।।२८।।

**वीर॰** किञ्च। श्रुतिः श्रवणं, तदेव सुखं यासु ताः, अत एव मृगतृष्णिरूपाः मरीचिकावदवस्थिताः आशिषः कुत्र? पुरुषार्थाभासा आशिषः केत्यर्थः? अशेषाणां रुजां रोगाणां विरोहः उद्भवस्थानं क्वचेदं कलेवरं, दुर्घटमेतदिति भावः। एवंचेत्सर्वोऽपि जनः किमिति संसारात् न निर्विद्यते तत्राह-निर्विद्यत इति। यद्वैषयिकं सुखं इतीत्थं मृगतृष्टिका तुल्यं विद्वान् जानन्नपि न निर्विद्यते विद्वानपीत्यपि शब्देन अविदुषो नितरां निर्वेदाभावः सूचितः। विदुषोऽप्यनिर्वेदे हेतुं वदन् विद्वांसं विशिनष्टि-दुरापैः दुःखेनाऽपि लब्धुमशक्यैः मधुलवैः वैषयिक सुखलेशैः काम एव अतलः तमुपशमयन् विषयासक्तस्सन् विद्वानपि न निर्विद्यत इत्यर्थः। विषयासक्तस्य निर्वेदेऽप्यवकाशो नास्तीति भावः।।२५।।

एवं तत्प्राप्तये तदनुग्रहं सम्प्रार्थ्य स्वशिरसि दुर्लभेन तत्करपल्लव निधानेनात्मनः कृतार्थतामाविष्करोति क्वेति। ईश! तमोऽधिके तमःप्रचुरे रजःप्रभावे रजसः उत्पत्तिस्थाने रजस्तमःकार्यकामक्रोधलोभादि मोहप्रचुरे सुरेतरकुले असुरकुले जातोऽहं क्व? क्व च तवानुकम्पा, दुर्घटमेतदित्यर्थः। किं तदित्यत्राह-ब्रह्मादीनां शिरसि यो नैवाऽर्पितः तेषामपि दुर्लभ इति भावः सः प्रसादः प्रसादसूचकः पद्मवत्[3] तापहरः करः मम शिरस्यर्पित इति यदेतत् दुर्घटमिति भावः। अतोऽहमलभ्यलाभेन कृतार्थोऽस्मि इति तात्पर्यम्।।२६।।

नैतावता तव वैषम्यादि दोषप्रसङ्ग इत्याह-नैषेति। यथा या जन्तोः प्राकृतस्य परावरमतिः उत्कृष्टापकृष्टबुद्धिः विषमाबुद्धिरिति यावत् सैषा बुद्धिर्भवतो नैव स्यात्। तदभावे हेतुं वदन् तं विशिनष्टि, जगत आत्मसुहृदः आत्मनोऽन्तरात्मनः सुहृदो हितैषिणश्च। आत्मन इत्यनेन जगतःशरीरत्वमवगम्यते। नहि कस्मिंश्चिच्छरीरे

1- -1 A,B,J omit 2. H,V omit नि 3. A,B,T °मिव

आत्मनः प्रीतिरन्यस्मिन्न प्रीतिरिति भावः। सर्वस्याऽपि जगतः स्वाभाविकसुहृद इति वाऽर्थः। तर्हि सर्वेष्वेकरूपो मत्प्रसादः किन्नस्यात्तत्राह-यद्यप्येवम्भूतः त्वं तथाऽपि वैषम्यरहितस्याऽपि ते[1] तव संसेवया प्रसादो भवति तत्र सेवानुरूपं तत्तदपेक्षानुसारेण धर्मादिपुरुषार्थानामुदयो भवत्यपेक्षानुरूपफलदत्वे दृष्टान्तः सुरतरोरिवेति। यथा सुरतरोः कल्पद्रुमस्य तत्तत्सेवकापेक्षानुसारेण फलप्रदत्वं, न च तावता तस्य वैषम्यं तद्वत् न परावरत्वं सर्वेष्वेकरूपप्रसादाभावे परावरत्वं वैषम्यं न कारणमित्यर्थः।।२७।।

एवमात्मनः तत्प्रसादेन कृतार्थतामाविष्कृत्याऽथ न केवलमधुनैव त्वत्प्रसादविषयोऽहं जातः, किन्तु यदा मातृगर्भस्थं मामनुजिघृक्षता त्वया सञ्चोदितेन सुरर्षिणाऽनुगृहीतस्तदैव त्वदनुग्रहविषयोऽभवम्। अतो जन्मन आरभ्य त्वयाऽनुगृहीतोऽहं त्वद्भृत्यपार्श्वं न विसृजामि[2] इत्याह-**एवमिति**। हे भगवन्! यः सुरर्षिणा नारदेन आत्मसात्कृत्वा आत्माधीनं कृत्वा " तदधीन वचने च " (अष्टा. 5-4-54) इति सातिप्रत्ययः। पूर्वं विषयपरवशत्वेन त्वदधीनं मां स्वाधीनं कृत्वेत्यर्थः। यद्वा,"अभिविधौ सम्पदा च" (अष्टा. 5-4-53) इति सातिः। अभिविधिश्च किञ्चिदन्यथात्वं पूर्वं भगवत्प्रातिकूल्येन स्थितं मां किञ्चित्त्वदनुकूलं कृत्वेत्यर्थः। गृहीतः तत्त्वत्रयोपदेशेनाऽनुगृहीतः सोऽहं इदानीं तव भृत्यसेवां दासानुदास्यं कथं नु विसृजे न कथञ्चिदपि त्यक्ष्यामीत्यर्थः। कथम्भूतोऽनुगृहीतोऽस्मि प्रभवः संसार एवाऽहिकूपः सर्पजुष्टकूपस्तस्मिन् कामाभिकामं काम्यन्त इति कामाः विषयाः शब्दादयस्तान् कामयमानं जनं[3] निपतितमनु अनुसृत्य तत्प्रसङ्गात्तस्य तत्र निपतितजनस्य यः प्रकृष्टः सङ्गस्तस्माद्धेतोः प्रपतन्नहं विषयासक्तचित्तजनसङ्गात् प्रभवाहिकूपे पतन्नहमित्यर्थः।।२८।।

**विज०** इतोऽपि संसारसुखं हेयमित्याह-**कुत्रेति**। श्रुतिं कर्णं सुखयन्तीति श्रुतिसुखा मृगतृष्णारूपा उष्णोदकसदृशाः अशेषाणां रुजां रोगाणां विशेषेण रोहे। यस्मात्तत्तथा। दुरापैः मधुलवैः उदर्बिन्दुकल्पैः सुखलेशैः कामाग्निं शमयन् शान्तिं कर्तुमिच्छन्, यदपि पर्यायेण कलेवरं विषयसुखं चेत्युभयं नश्वरं विद्वानयं जनः इहोभयस्मिन्नपि न तु निर्विद्यते निर्वेदं नैव प्राप्नोतीत्यन्वयः।।२५।।

हरेः भक्तवात्सल्यं प्रकटयन् प्रह्लादः तत्त्वज्ञानविधुरः इव अयोग्यजनमोहायाह-**क्वाऽहमिति** हे ईश्वर! तमोगुणप्रचुरे रजोगुणोत्पत्तिहेतौ अस्मिन् सुरेतरकुले असुरकुले जातोऽहं क? भक्तानुग्रहलक्षणा तवानुकम्पा क? मिथो विरुद्धस्वभावत्वात्। किञ्चोद्यमत्रेति तत्राह-न ब्रह्मण इति। निरन्तरसेवा मे दूरत्वेन इतरस्माद-

1 A.B.T omit ते 2 A.B.T °जे इ° 3 W omits जनं

धिकोदयोऽपीदानीं रमादीनां शिरसि नार्पितो मम शरसि तव पद्मकरः पद्मोदरप्रभावत्पाणिनिधानलक्षणः प्रसादोऽर्पित इति यत्तस्माच्चित्रं तव चरितमित्यर्थः। "श्रीर्ब्रह्म ब्राह्मीवीन्द्राहित्रिकं तत्स्त्रीपुरुष्टुताः तदन्ये च क्रमात्सर्वे सदा मुक्तौ सृतावपि। हरिभक्तौ च तज्ज्ञाने सुखेन नियमेन तु। परतः स्वतः कर्मतो वा न कथञ्चित्तदन्यथा" (ब्रह्मतर्के) इति वचनादुक्त एवाऽर्थ इति।।२६।।

सेवाधिक्यमेव फलाधिक्ये कारणं न त्वाभिजात्यादिकमित्यभिप्रेत्याह-**नैषेति**। यथा जन्तोर्या परावरमतिः तथैषा भवतो न स्यात् न तु कुत आत्मसुहृदः "तदेतत्प्रेत्य" (बृह.उ. 1-4-8) इति श्रुतेः। लोके यद्यप्याभिजात्यादिकं परावरत्वे निमित्तं तथाऽपि, लोकविलक्षणमहिमत्वात् भवतः प्रसादः जगतः संसेवया सेवानुगुणः फलाधिक्योदयःस्यात् "यावत्सेवापरे तत्त्वे तावत्सुखविशेषता" इति स्मृतेः। परावरत्वं च सेवानिमित्तं "शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते" (भ.गी. 6-41) इति वचनात्।।२७।।

नन्वेवं सेवानुरूपफलोदये शास्त्रीये सिद्धे त्वं किङ्करोषि इति तत्राह-**एवमिति**। फलोदयस्य सेवानुविधायित्वात् सोऽहं तव भृत्यसेवां कथं नु विसृजे, मम हितरूपत्वादित्यतः, त्वदत्यागे कारणमाह-जनर्मति। प्रभवाहिकूपे जन्माख्यसर्पविषकलिलसंसारगर्ते पतितं कामाः विषयाः तानभिकामयत इति कामाभिकामः तं जनं अनु तस्य जनस्य प्रकर्षेण सङ्गः जन्मलक्षणः तस्मात्प्रपतन् आत्मसात्कृत्वा आत्मीयेष्वेक इति बुद्धिं कृत्वा सुरऋषिणा गृहीतोऽनुगृहीतो यः सोऽहमिति यस्मात्तस्मादिति शेषः।।२८।।

**मत्प्राणरक्षण मनन्त! पितुर्वधञ्च[1] मन्ये स्वभृत्यऋषिवाक्य मृतं विधातुम्।**
**खड्गं प्रगृह्य यदवोचदसद्विधित्सु स्त्वामीश्वरो मदपरोऽवतु कं हरामि।।२९।।**

**एकस्त्वमेव जगदेतदमुष्य यत् त्वमाद्यन्तयोः ष्टथगवस्यसि मध्यतश्च।**
**सृष्ट्वा गुणव्यतिकरं निजमाययेदं नानेव तै रवसित स्तदनुप्रविष्टः।।३०।।**
**त्वं वा इदं सदसदीश भवां स्ततोऽन्यो माया यदात्मपरबुद्धि रियं ह्यपार्था।**
**यद्यस्य जन्म निधनं स्थिति रीक्षणं च तद्वै तदेव वसुकाल[2] वदुष्टितर्वोः[3]।।३१।।**

---

1. A,B,G,J,T,W °श्च 2. M,Ma खलु 3. A,B,G,H,J,T,V °द्°

**न्यस्येद मात्मनि जगद्विलयाम्बुमध्ये शेषे[1-] स्वतो[-1] निजसुखानुभवो निरीहः।**
**योगेन मीलितदृगात्मनि वीतनिद्र[2] स्तुर्ये[3] स्थितो न[4] तु तमो न गुणाश्च युङ्क्षे[5]।।३२।।**

**श्रीध०** न चेदं त्वया मदनुग्रहार्थं कृतं किन्त्वन्यार्थमित्याह-**मदिति** भो अनन्त! यदेतन्मत्प्राणरक्षणं मां हन्तुमुद्यतस्य मत्पितुर्वधश्च तदुभयं स्वभृत्यऋषिवाक्य मृतं सत्यं विधातुमित्यहं मन्ये। कुतः? यद्यस्मा दसदयुक्तं विधित्सुः खड्गं प्रगृह्याऽवोचत्। किं मदपरो मद्व्यतिरिक्तश्चेदीश्वरोऽस्ति तर्हि त्वामिदानीमवतु, तव कं शिरोऽहं हरामि इति। पाठान्तरेऽप्ययमेवार्थः, यद्यदाऽवोचत्तदा मत्प्राणरक्षणमिति वाऽन्वयः। एतच्च सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितमित्यत्रैव बहुधा व्याख्यातम्।।२९।।

न चेदं पक्षपातेन रक्षणं दैत्यहननं च त्वयि स्वाभाविकं, किन्तु मायागुणोपाधिकं सर्वात्मके त्वयि स्वत स्तदयोगादित्याह-**एक** इति। एतच्च जगत् त्वमेवैकः यद्यतोऽमुष्य आदावन्ते च पृथगवस्यसि विरामं करोषि सन्मात्रतया कारणत्वेनावधित्वेन च वर्तस इत्यर्थः। अतो मध्यतश्च त्वमेवऽ कुत स्तर्हि भेदप्रतीति स्तत्राह-निजमायया गुणपरिणामात्मकमिदं जगत् सृष्ट्वा तदनुप्रविष्टस्त्वं तैर्गुणैर्हेतुभूतैर्नानेव स्रष्टेव[7] रक्षक इव हन्तेव चावसितः प्रतीतः। तदुक्तं स्कन्धोपक्रमे- "निर्गुणोऽपि ह्यजोऽव्यक्तो भगवान् प्रकृतेः परः स्वमायागुणमाविश्य बाध्यबाधकतां गतः" (भाग. 7-1-6) इत्यादिना[8]।।३०।।

ननु, यद्येतत् जगदहमेव तर्हि जगतो वैषम्येण मम वैषम्यमपि किं न स्यादित्यत आह-**त्वमिति**! त्वं वा त्वमेवेदं सदसत्कार्यकारणात्मकं जगन्नतुत्वत्तः पृथक्। भवांस्तु ततोऽन्य आद्यन्तयोः पृथगवस्थानात् यद्यस्मादेव मतोऽयमात्मीयोऽयं पर इति या बुद्धिः साऽपार्था मायैव। कार्यकारणयोः[9-] परमं[-9] कारणाभेदं दृष्टान्तेन साधयति। यद्यतो यस्य जन्म ईक्षणं प्रकाशश्च यस्मिन्निधनं च स्थितिश्च तद्वै तदेव। वसुकाल[10-] वसुकालवदष्टितवोः[-10] अष्टि बीजं कारणं, तरुः कार्यं, तयोर्यथा वसुकालमात्रत्वम्। अयमर्थः कालशब्देन नीलत्वाद्यसाधारण गुणयोगात् पृथ्वी। वसुशब्देन वस्तुमात्रं भूतसूक्ष्मम् रसादि[11-] जलं[-11] वा तत्र तरोर्यथा पृथ्वीमय-बीजमात्रत्वं तस्य च यथा भूतसूक्ष्ममात्रत्वमेवं सर्वमपि कार्यकारणात्मक जगत्परमकारणात्मकमेवेति। तथा च

---

1- -1 A,B,G,J,T °शेषेऽऽत्मना; H,V शेषेतमां; M,Ma शेषासनां 2 A,B,G,H,J,T,V °पी° 3. M,Ma स्तुर्यं 4. M,Ma ननु 5. M,Ma युङ्क्षे

6. H,V करिष्यसि 7. A,B,J omit स्रष्टेव 8. H,V °दि। 9- -9 A,B,J omit 10- -10 A,B,T omit 11- -11 A,B,J omit

पारमर्षं सूत्रम् "तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः" (ब्र.सू. 2-1-14) इति। श्रुतिश्च "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छान्दो.उ. 6-4-1) इति।।३१।।

तत्र तावदन्ते पृथगवस्थानं दर्शयति **न्यस्येदमिति**। इदं जगत् आत्मन्येव[1] निक्षिप्य स्वसुखमेव अनुभवो[2] यस्य[3] निष्क्रियस्सन् प्रलयोदकमध्ये शयनं करोषि। तर्हि किं जीवस्येव ममापि तमोवृत्तिरूपा निद्राऽस्ति। नहि, योग एव तु बहिर्वृत्त्यभावसाम्यान्निद्रोच्यत इत्याह-योगेन मीलिते दृशौ येन। आत्मना स्वरूपप्रकाशेन निपीता निद्रा येन। यतस्तुर्येऽवस्थात्रयातिरिक्ते[3] स्वरूपे स्थितस्त्वं न तु सुप्त इवात्मनि[4] तमो युङ्क्षे योजयसि न पश्यसि न जाग्रत्स्वप्नयोरिव गुणान्विषयांश्चेत्यर्थः।।३२।।

**वीर०** यो नारदमुखेन मयि कृतः स एव परमोऽनुग्रहः, न चेदमिति तुच्छम् ; मत्प्राणरक्षादिरूपं, न चेदं त्वया मदनुग्रहार्थं कृतं किन्त्वन्यार्थमित्याह-**मत्प्राणरक्षणमिति**। हे अनन्त! यदेतन्मत्प्राणरक्षणं मत्पितुर्वधश्चेति तदुभयं स्वभृत्यऋषिवाक्यम् ऋतं सत्यं यथा[5] भवति तथा[5] विधातुं कर्तुं कृतमित्यहं मन्ये। स्वभृत्यऋषिवाक्य मित्यत्र निजभृत्यभाषित मित्यत्रेवाऽर्थो द्रष्टव्यः। किञ्च, यदस्मत्पिता विधित्सुः, मद्वधमिति शेषः। मां जिघांसुरित्यर्थः खड्गं प्रगृह्य मत्तोऽन्यश्चेदीश्वरस्त्वद्रक्षकोऽस्ति तर्हि स त्वामिदानीमवतु रक्षतु, तव कं शिरो हरामीति यदवोच दुक्तवान्, तदीश्वरान्तररहितत्ववचः असदसत्यं च विधातुं मत्प्राणरक्षादिकं त्वया कृतमित्यहं मन्ये इत्यर्थः।।२९।।

एवं कोपोपशमन प्रार्थनानुकूलोक्तं स्वाभिप्रेतं तद्दास्ययोगं सम्प्रार्थ्य इदानीं कृत्स्नचिदचिदात्मक जगदन्तरात्मानं तच्छरीरकं तदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं तदनन्यं स्तौति-**एक** इति। एतत्परिदृश्यमानं जगत् चिदचिदात्मकं कृत्स्नं जगदेकस्त्वमेव। एतदित्यनेन विभक्तनामरूपं चिदाचिदात्मकं जगन्निर्दिश्य तस्य त्वं शब्दवाच्यब्रह्मणोऽनन्यत्वं साध्यते। "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" (ब्र.सू. 2-1-14) इत्यत्र। यथैक इत्यनेन अविभक्तनामरूप चिदचिच्छरीरकत्वं कारणावस्थावस्थितमुच्यते, यथा "एकमेवाद्वितीयम्" (छान्दो.उ. 6-2-1) इत्यत्रैकशब्देन। तत्र हि वक्ष्यमाणनामरूपविभागनिबन्धनबहुत्वं प्रतिसम्बन्धैक्यं एकचिदचिच्छरीरकत्वं कारणावस्थावस्थित मुच्यते, यथा "एकमेवाऽद्वितीयम्" (छान्दो.उ. 6-2-1) इत्यत्रैकशब्देन। तत्रहि वक्ष्यमाणनामरूपविभाग निबन्धन बहुत्वप्रतिसम्बन्धैक्यं होकशब्दार्थः। अत्राऽप्येतच्छब्देन प्रसिद्ध परामर्शिना यदभिप्रेतं नामरूपविभागप्रयुक्तं बहुत्वं, तत्प्रतिसम्बन्ध्येकत्वं तद्विभागाभावनिबन्धनमुच्यते तदयमर्थः-यथा कारणावस्थायां घटशरावादि

1- -1 A,B,J आत्मनैव आत्मनि 2- -2 A,B,J अनुभवन् 3 A,B,J त्रयातीतं 4. A,B,J °ना 5- -5 W omits

नामरूपविभागरहित एकत्वेनावस्थितो मृत्पिण्डः पश्चात् घटादिरूपेण परिणमन्, नामरूपविभागविभक्तस्तेभ्योऽनन्य एव, एवं त्वमपि कारणावस्थायां नामरूपविभागानर्हचिदचिच्छरीरकतयैकत्वेनावस्थितो देवादिनामरूपविभागार्हस्थूल चिदचिच्छरीरकत्वेन परिणमंस्ततोऽभिन्न इति कार्यकारणयोरनन्यद्रव्यत्वात्त्वत्कार्यभूतजगदनन्यस्त्वं कार्यत्वकारणत्वयोस्सतो द्रव्यस्यावस्था विशेषरूपत्वेन सर्वावस्थास्वनुस्यूतं द्रव्यमेकमेवेतिभावः। तदेव सहेतुकमुपपादयति, यत् यस्मात्त्वममुष्य जगत आद्यन्तयोरवस्थयोः पृथगवस्थस्य आत्मानमिति शेषः। पृथक् मध्यावस्थारहितमात्मानमवस्यसि पर्यवसितं करोषि जगत आदौ सृष्टेः पूर्वं तस्यान्ते प्रलये चाऽऽत्मानं पर्यवशेषयसि, ततो मध्यतः मध्यावस्थायाञ्च त्वमेव। तथाहि कटकमुकुटादिकारणतया कटकाद्यवस्थातः पूर्व मवस्थितः स्वर्णपिण्डः कटकाद्यवस्थायाः पर्यवशेषितो मध्यतः कटकाद्यवस्थाया स्तदवस्थावतो द्रव्यान्न भिद्यते तद्वदिति भावः। एवं जगतोऽभिन्नत्वोपपादनेन जगदुपादानत्व मुक्तम्। अथ तन्निमित्तकारणत्वं वदन् उपादानत्व प्रयुक्तविकारित्वादि दोषपरिहारं सूचयन् कार्यावस्थायां नानात्वेनावस्थानञ्चाह सृष्ट्वेति। गुणव्यतिकरं सत्त्वादिप्राकृतगुणपरिणामात्मकमिदं जगत् निजमायया आत्मीय सङ्कल्परूपज्ञानेन सृष्ट्वा तत्सृष्टं जगदनुप्रविष्टो-ऽन्तरात्मतयाऽनुप्रविष्टः "तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत्" (तैत्ति.उ.2-6) इति श्रुत्युक्तरीत्या तावत्स्वानुप्रवेशेनैव सृष्टं जगच्चिदचिदात्मकं पुनः संरक्षणोपयुक्तसङ्कल्परूपज्ञानद्वारान्तरात्मतयाऽनुप्रविष्टः तैः स्वशरीरभूतैः चिदचिदात्मकैः देवादिकैः शरीरैर्नानेव भिन्न इवावसितः प्रतीतः। अतो देव मनुष्यादिभेदभिन्नं जगत्त्वमेवेति भावः। सृष्ट्वानुप्रविष्ट इति सृष्ट्यनुप्रवेशयोः एककर्तृकत्व कथनेन जगन्निमित्तकारणत्वं तञ्च निष्कृष्टविशेषांश-भूतस्वरूपस्यैवेति च फलितं, येनाकारेणानुप्रवेश स्तेनैवाकारेण स्रष्टृत्वमपि। एवञ्च विशिष्टाकारेणानुप्रवेशः तेनैवाकारेण स्रष्टृत्वं हि त्वाप्रत्ययस्वारस्या दवगम्यते। अनुप्रवेशश्च विशेष्याकारेणेति तेनैवाकारेण स्रष्टृत्वमपि। एवञ्च विशिष्टाकारेणोपादानत्वं विशेष्याकारेण तु निमित्तकारणत्वमित्युक्तं भवति। अत एव चेदं सृष्ट्वेतीदंशब्दनिर्दिष्टं सृष्टिं प्रति कर्मभूतं जगत् चिदचिदुभयात्मकमेव साक्षादुत्पत्त्याद्यवस्थाश्रयमित्यवगम्यते, अनुप्रविष्ट इत्यनेन तत्तदवस्थानिर्वोढुतयाऽन्तरात्मतयाऽनुप्रवेश कथनेन स्वविशेषणीभूतचिदचिद्द्वारा तद्गतोत्पत्त्याद्यवस्थाश्रयत्व मवगम्यते, अनुप्रविष्ट इत्यनेन आत्मत्वकथनेन साक्षाद्देहगत विकाराऽस्पर्शश्चोक्तः। अत एवोपादानत्व प्रयुक्तविकारित्वादिदोषश्च परिहृतः। जगतः शरीरत्वकथनेन शरीरशब्दबुद्धीनामाकृत्यधिकरण न्यायेन आत्मपर्यन्तत्वलाभोऽपि तस्य जगदनन्यत्वे हेतुरित्युक्तं भवति।।३०।।

ननु, त्वत्पित्रादयश्चतुर्मुखादिकमेवेश्वरं मन्यमानाः कृत्स्नं जगत्तत्कारणकं तदनन्य मभ्यदधत। त्वन्तु मदेककारणकं मदभिन्नं च जगन्मन्यसे तदेतद्विरुद्धमित्याशङ्कायां देहात्मबुद्धिवज्जीवेश्वरबुद्धेःभ्रान्तिरूपतां वदन्नुक्तमेव कार्यकारणयोरनन्यत्वं दृष्टान्तमुखेन दर्शयति-**त्वमिति**। हे ईश! सदसदात्मकं चिदचिदात्मकमिदं[1] जगत्त्वमेव चिदचिदात्मकजगत्कारणभूत स्तदनन्यश्चेश्वरस्त्वमेव, नाऽन्य[2] ईश्वर इत्यर्थः। ईशेति सम्बोधन स्वारस्यादिदं जगत्कारणभूत स्तदनन्य श्चेत्त्वमेवेत्यर्थः[-2]। आत्मनि जीवात्मनि परबुद्धिर्या ईश्वरबुद्धिः सा अपार्था अर्थशून्या मायाऽविद्याकार्यभूता अज्ञानमूला भ्रान्तिरूपेति यावत्। देहात्मवादवज्जीवेश्वरवादो[3]ऽपि भ्रममूल एवेत्यर्थः। यद्यत एवं तत स्तस्माज्जीवादन्य एव भवानीश्वरः। कर्मवश्यस्य जीवस्य एवंविधजगन्निमित्तोपादान-कारणत्वासंभवान्मुक्तस्य जगद्व्यापारवर्जनाच्चेति भावः। अतः चिदचिदात्मकं जगत्वमेव। ननु, मत्कारणकत्वमात्रेण कथं मदनन्यं जगत् तत्राह-यदिति। जन्म उत्पत्तिः, निधनं नाशः, स्थितिः पालनम्, ईक्षणं प्रकाशः, जन्मादिशब्दै स्तद्धेतुर्लक्ष्यते, यस्योत्पत्तिस्थितिविनाशप्रकाशानां युद्धेतुभूतं तद्वै तदेव तत्कार्यं स्वोपादानकारणादव्यतिरिक्तम् यद्वा, यद्यतः यस्य जन्मादयः तत्तदेव, तत्र दृष्टान्तद्वयमाह-वसुकालवदुष्टितर्वोरिति। वसुशब्दो वसुमतीं पृथ्वीं लक्षयति, यथा भानुशब्दो भानुमन्तं लक्षयति[4] प्रतिपादयति तद्वत्। उष्टिः प्रभातकालः तरुर्वृक्षः तयोर्जन्मादि हेतुभूतकालवद्वसुमतीवदिति व्युत्क्रमेणाऽऽन्वयः यथा प्रभातादिकालावयवाः स्वोपादानभूतमहाकालादनतिरिक्ताः यथा च वृक्षः पृथिव्या अनतिरिक्तः तद्वदित्यर्थः। "खलु कालवदुष्टितर्वो"रिति पाठे सत्येवं योजना-ईश्वरो जगदुपादानं निमित्तं चातस्तद्द्वन्दे[5] दृष्टान्तः। कालः प्रभातादिकालावयवानां कालतत्त्वमुपादानं, वृक्षादीनां तु निमित्तं यथा प्रभातादिः कालाव्यतिरिक्तः यथा वृक्षश्चाऽभूदस्ति भविष्यतीति कालाविनाभूतः प्रतीयते तद्वत् निमित्तोपादानभूतादीश्वराज्जगदव्यतिरिक्तमित्यर्थः। अष्टि तर्वोरित्यपि पाठः। तत्रैवं व्याचक्षते अष्टिर्बीजं कारणं, तरुः कार्यं, तयोर्यथा वसुकालात्मकत्वम्, अयमर्थः कालशब्देन नीलत्वादि साधारणगुणयेगात् पृथ्वी लक्ष्यते वसुशब्देन वस्तुमात्रं भूतसूक्ष्मम्। तत्र तरोर्यथा पृथ्वीमयबीजपरिणामात्मकत्वेन ततोऽभेदः तस्य च यथा भूत सूक्ष्मात्त्मकत्वं, एवं सर्वस्य जगतः परमकारणभूतपरमात्मात्मकत्वमेवेति।।३१।।

एवं जगतस्तदनन्यत्वं तदेकेश्वरत्वं तदेककारणत्वं चोक्तम्। अथ चतुर्मुखस्य तत्कार्यत्वं तदाहितसृष्ट्युपयुक्त-ज्ञानशक्त्यादिमत्त्वञ्च विवक्षु स्तावद्यदुक्तं विश्वस्याद्यन्तयोः पृथगवस्थानं तत्रान्ते पृथगवस्थितिप्रकारमाह-**न्यस्येति**।

---

1. W omits इदं 2- -2 W omits 3. W omits अपि 4. W omits लक्षयति 5. A,T °द्वदेव

इदं परिदृश्यमानं चिदचिदात्मकं जगत् आत्मनि न्यस्योपसंहृत्य शेषे शयानोऽसि शेषात्मनेति पाठे, शेषस्य कारणात्मनाऽवशिष्टस्य चिदचिद्द्रव्यस्य अन्तरात्मना स्वरूपेण आत्मनि स्वस्मिन्नेवावस्थित इत्यन्वयः। कथम्भूतः स्वतो निरुपाधिकं निजसुखस्यानुभवो यस्यात एव निरीहः निष्क्रियः योगेन निजसुखानुभवरूपयोगेन मीलितदृक् निवृत्तसङ्कल्परूपज्ञानः। मीलित दृशेति पाठे मीलितदृशा योगेन निवृत्तसङ्कल्परूपज्ञानावस्थानयोगेन विशिष्टइति शेषः। मीलितदृगित्यनेन प्रसक्तं निद्राप्रसङ्गं निराह-वीतनिद्रइति। आधारान्तरनैरपेक्ष्यमाह आत्मनि स्थित इति। कथम्भूते तुर्ये जाग्रदाद्यवस्थात्रयातीते। प्रथमान्तपाठोऽपि दृश्यते तत्राप्युक्त एवार्थः। तमः सूक्ष्मावस्था प्रकृतिः "अक्षर तमसि लीयते" (सु.बा.उ. 2-2) "आसीदिदं तमोभूतं " (मनु. 1-5) इति श्रौतस्मार्तप्रयोगात्। तम स्तद्गुणान्सत्त्वादींश्च न युङ्क्षे न सम्बध्नासि प्रकृतितद्गुणास्पृष्टो भवसीत्यर्थः।।३२।।

**विज०** स्वभृत्यभाषितमृतं कर्तुं स्तम्भादभूदिति यत्सूचितं पूर्वत्र, तदिदानीं स्पष्टमाह-मत्प्राणेति। मत्प्राणरक्षणं मम पितुर्वधं च स्वभृत्यनारदऋषिवाक्यं च असद्विधित्सुः खड्गं प्रगृह्य हिरण्यकशिपुर्यदि मदपर ईश्वरोऽस्ति स त्वा मवतु, तस्य तव कं शिरो हरामीतियदवोचत् तच्च ऋतं विधातुं अयमवतार इति मन्ये इत्यन्वयः।।२९।।

भ्रूविजृम्भणविभ्रंशितेन्द्राद्यैश्वर्यस्य मत्पितुर्हननमस्माकं चित्रं चेदपि न तव चित्रं, तस्य जगत्येकत्वात् जगच्च त्वत्सृष्टं त्वप्रविष्टं त्वदधीनसत्ताक मतः स्तम्भादाविर्भावोऽपि युक्तइत्याह-**एक** इति। अयमर्थः-एतज्जगत्त्वमेव नाऽन्यः। कुतः? एकः प्रधानः, प्राधान्यं च कुतोऽवगम्यत इति तत्राह-अमुष्य इति। अमुष्य जगत आद्यन्तयो रुत्पत्तेः पूर्वं विनाशादूर्ध्वं च मध्यतः स्थितिकाले च त्वमेवावस्यसि सन्निति निर्णीतोऽसि शास्त्रत इति यस्मात्। ननु जगत स्त्वद्विकारत्वेन वा त्वदवसानं युक्त मत्राह-पृथगिति, भिन्नत्वेनेत्यर्थः। पुनः सृष्टिकाले निजमायया स्वसामर्थ्येन स्वाधीनया चिदचित्प्रकृत्या चेदं गुणण्यतिकरं जगत्सृष्ट्वा तदनुप्रविष्ट स्त्वं तै र्भिन्नैः पदार्थैः निर्मितैः नानेव भिन्न इव, नतु भिन्न इत्यवसितोऽसीति यत्तस्माच्च। प्रतिदृशमिव नैकधाऽर्कमेकमिति स्वोक्तेः "इन्द्रोमायाभिः पूरुरूप ईयते" (बृह.उ. 2-5-15) इति श्रुतेश्च "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृह.उ. 6-4-19) इत्यादि श्रुत्या नानात्वस्य निषिद्धत्वात् नानेवानुविधावतीत्यादिनाऽनर्थ हेतुत्वाच्च भेददृष्टेः।।३०।।

हरेर्जगदन्यत्वस्य स्पष्ट मप्रतीतेः तदर्थं पूर्वपद्योक्तं विशदयति **त्वं** वा इति। हे ईश! इदं सदसच्चराचरलक्षणं *जगत्त्रयं सत्ताया अपि त्वदधीनत्वा दयं व्यपदेशो न तादात्म्यात्।* तत्त्वत स्तदात्मत्वं किं न स्यादिति तत्राह-भवानिति। ततो जगतो भवानन्योऽपि स्वतो भिन्नोऽपीत्यर्थः। मत्स्वातन्त्र्यवज्जगत्स्वातन्त्र्यमपि किं न स्यादुभयो

भेंदोऽपि दृढतरः स्यादितितत्राह-मायेति। आत्मेत्युपलक्षणम्, आत्मानात्मलक्षणस्य प्रपञ्चस्य परत्वबुद्धिः स्वातन्त्र्यज्ञानं यत्सेयं मायाऽविद्यमाना कुत इति तत्राह-अपार्थेति। श्रीनारायणस्य तव स्वातन्त्र्यज्ञानं यथा पुरुषार्थसाधनं तथाऽन्यस्य स्वातन्त्र्यज्ञानमनर्थहेतुरिति उभयं हिशब्देन सिद्धमिति दर्शयति। स्वतन्त्र जीवात्मकत्वात्स्वतन्त्रं जगदित्यतोवाह-मायेति। आत्मनो जीवस्य परत्वबुद्धिः जीवस्य परमैक्ये परमात्मना यज्जन्मादिकं क्रियते तदनेनाऽपि कर्तव्यम्। तदनुभवविरुद्ध मतो यद्यदधीनं जन्मादिकं तद्वस्तु तदेवेति प्राधान्यविवक्षया अभेदव्यपदेशोपपत्तेरिति प्रकारान्तरेण तद्गतिमाह यद्यस्येति। अयमर्थः-यस्य जगतो जन्मादिकं यद्यदधीनं तज्जगत्तदेवेत्युच्यते इति यत्तस्मात् जगत्त्वमेवेत्यर्थः। अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह-खल्विति। उष्टितवोः वृक्षदाहवृक्षयोः कालवत् कालाधीनत्ववत्। एतदेवाचार्यैः सम्यग्विवृतं यथा वृक्षश्च वृक्षदाहकश्च दैवकालाधीनत्वाद्दैवं कालश्चेत्युच्यते। एवञ्च त्वदधीनत्वात्सर्वस्य सर्वमित्युच्यते स्वतस्तद्भिन्नोऽपीति। "उष दाहे" इति धातुः। अत्र खलुशब्दः साक्षादैक्यनिषेधे वर्तते "अलं खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा" (अष्टा 3-4-18) इति सूत्रात् अलमैक्यकथानिष्टत्व मित्यर्थः। "य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि। स एवाऽह मस्मि। य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽह मस्मि" (छान्दो.उ. 4-11-1) इत्यादि श्रुतौ स्वस्याऽन्यस्य परमात्मत्त्वोपदेशः प्रतीयते, अतः कथं भेदः कथ्यते इत्यतो वाह-मायेति। आत्माऽहं च परोऽन्यश्च परश्च परमेश्वर एवेति, या बुद्धिरियमपार्था माया भ्रान्ति स्तस्मा त्तदधीनत्वात्तदन्तर्यामित्वेन स्थितत्वाच्च सोऽहमस्मीत्युच्यते, न तु तद्रूपत्वात्, एतदप्याचार्यै रुक्तम्।अहं चाऽन्यश्च परमेश्वर एवेत्यपार्था भ्रान्ति स्तदधीनत्वात्स इत्युच्यते न स्वरूपत्वादित्यर्थः। इति ईक्षणं ज्ञानम्।।३१।।

सत्त्वमाद्यन्तयोरित्यत्रान्ते श्रीहरिरवशिष्यते इत्युक्तं तं प्रकारं दर्शयति-**न्यस्येति**। विलयाम्बुमध्ये इदं जगदात्मनि स्वोदरे न्यस्य शेषासनो भूत्वा तुर्यस्थितो जाग्रदाद्यवस्थाप्रवृत्तिशून्यमूर्तौ स्थितस्त्वं तमः प्रकृतिं गुणान् सत्त्वादींश्चात्मनि युङ्क्षे[1]। ननु "प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्य पुरुषोत्तमः। क्षोभयामास" इत्यादौ प्रतीतेः[2] प्रास्ताऽज्ञानः[2]।।३२।।

**तस्यैव ते वपुरिदं निजकालशक्त्या सञ्चोदित[3] प्रकृति धर्मिण[4] आत्मगूढम्।**
**अम्भस्यनन्तशयना द्विरमत्समाधे र्नाभे रभूत् स्वकणिकावटवन्महाब्जम्[5]।।३३।।**

1. A,B युंक्षे 2- -2 A प्रतीतेरस्ताऽज्ञानः; Ma प्रतोत प्रवृत्तिशून्यमूर्ता अभूदित्यन्वयः निजसुखेत्यादिना तुरीयस्वभावं दर्शयति वीतनिद्रा निरस्तज्ञानः। 3. M,Ma °तं 4. A,B,G,H,J,T,V °र्मं° 5 H,V °ब्ज °

तत्सम्भवः कविरतोऽन्यदपश्यमानस्त्वां बीजमात्मनि ततं सबहिर्विचिन्वन्[1]।
नाऽविन्ददब्दशतमप्सु निमज्जमानो जातेऽङ्कुरे कथ मुहोपलभेत बीजम्[3]।।३४।।

सत्त्वात्मयोनिरति विस्मित आश्रितोऽब्जं[4] कालेन तीव्रतपसा परिशुद्धभावः।
त्वामात्मनीश भुवि गन्धमिवातिसूक्ष्मं भूतेन्द्रियाशयमये[5] विततं ददर्श।।३५।।

एवं सहस्रवदनाङ्घ्रि शिरःकरोरु नासास्यकर्णनयनाभरणायुधाढ्यम्[6]।
मायामयं सदुपलक्षणसन्निवेशं[7] दृष्ट्वा महापुरुषमाप मुदं विरिञ्चः।।३६।।

तस्मै भवान् हयशिरस्तनुवं[8] च बिभ्रद्वेदद्रुहावतिबलौ मधुकैटभाख्यौ।
हत्वाऽऽनयच्छ्रुतिगणांस्तु[9] रजस्तमश्च सत्त्वं तव प्रियतमां तनुमामनन्ति।।३७।।

इत्थं नृतिर्यगृषिदेव झषावतारै लोंकान् विभावयसि हंसि जगत्प्रतीपान्।
धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत्तं छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ[10] सत्त्वम्।।३८।।

नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ सम्प्रीयते[11] दुरितदुष्टमसाधु तीव्रम्।
कामातुरं हर्षशोक भयैषणार्तं[12] तस्मिन् कथं तव गतिं विमृशामि[13] दीनः।।३९।।

जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति मा वितृप्ता शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यत श्चपलदृक् क्व च कर्मशक्तिः बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति।।४०।।

श्रीध॰ इदानीं कारणत्वेनादावपि पृथगवस्थानं दर्शयन् मध्यतश्च त्वमेवेत्येतत्प्रपञ्चयति-तस्यैवेति चतुर्भिः। यस्त्वमम्भसि शेषे तस्यैव ते इदं जगद्वपुः स्वरूपं नाऽन्यस्य, यतस्त्वं मध्यतोऽपि स्याः[14] तस्य कथम्भूतस्य? निजया कालशक्त्या सञ्चोदिताः प्रकृतेर्धर्माः सत्त्वादयो येन। स्वरूपत्वे हेतुः-अनन्तशयनाच्छेषपर्यङ्काद्विरमन् समाधिर्यस्य तस्य तव नाभेः सकाशात्। एकार्णवोदके महाब्जं लोकपद्ममभूत्, कथम्भूतम्? आत्मनि त्वय्येव गूढं सत् स्वकणिकातः सूक्ष्माद्वटबीजान्महावट इव ।।३३।।

1. A,B,G,J,W स्व 2. A,B,G,J,T,W °चिन्त्य 3. M,Ma °मि° 4. A,B,G,H,J,T,V आस्थि ° 5. W °मयं 6. H,V °यता° 7. A,B,G,H,J,T,V लक्षित 8. H,V नुमत्र; नुमतां 9. H,V हत्वादिश ° 10. H,V °ऽसि सत्त्वम्; W °ऽस्यथत्वम् 11. W °तये 12. A,B,G,H,J,T,V भयै ° 13. H,V प्र° 14. A,B,J omit स्याः

तदेवं कारणत्वेनानुगतस्सन् मध्यतश्च त्वमेव वर्तस इत्युक्त मेतदेव शुद्धसत्त्वस्य ब्रह्मणोऽनुभवेन स्फुटयितुं तस्य प्राक्तनीमवस्थामाह-**तदिति**। तस्मिन्नब्जे सम्भवो यस्य सः कविर्ब्रह्मा। अतः पद्मादन्यदप-[1-]श्यमानस्सन्[-1] बीजमुपादानकारणभूतं त्वां तत[2]ं स्वस्मिन् व्याप्तं सन्तमपि नाविन्दत्। युक्तञ्चैतत्, उह-अहो अङ्कुरे जाते सति बीजं तदनुगतं कारणं पृथक्कथंनाम बहि[3-]रुपलभेत[-3] पुमान् पश्येत्।।३४।।

भवदुपासनया तु स्वस्मिन्नेव दृष्टवानित्याह-**सत्विति**। परावृत्त्याब्ज मास्थितस्सन्। तीव्रेण तपसा ध्यानेन। अनेन सन्मात्ररूपेणोपादानतया दर्शनमुक्तम्।।३५।।

ईश्वरत्वेन च दृष्ट्वा कृतार्थोऽभवदित्याह-**एवमिति**। एवमनेन प्रकारेण सहस्रमपरिमितानि यानि वदनादीनि तैराढ्यं समृद्धम्। मायामयं मायाप्रधानम्। सता प्रपञ्चेनोपलक्षितः सन्निवेशः पादादि रचना यस्य।।३६।।

तदा च भवांस्तस्यानुग्रहं कृतवानित्याह - **तस्माइति**। हयग्रीवमूर्तिं बिभ्रत्सन्। रजस्तमोरूपौ मधुकैटभाख्यौ हत्वा तस्मै श्रुतिगणान् समर्पितवान्। तत्र हेतुः-सत्त्वमिति।।३७।।

एकस्त्वमेवेत्यादिभिः अष्टभिः श्लोकैर्यदुक्तं पक्षपातेन रक्षणं तद्विपक्षवधश्च सत्त्वोपाधिको न तु स्वत इति तदुपसंहरति **इत्थमिति**। विभावयसि पालयसि हंसि घातयसि, कलौ तु तत्तु[4] न करोषि यतस्तदा त्वं छन्नोऽभवः। अतस्त्रिष्वपि युगेषु आविर्भावात्स एवम्भूतस्त्वं त्रियुग इति प्रसिद्धः।।३८।।

तदेवं भगवतस्तत्त्वं निरूप्य स्वस्य च तद्विचारयोग्यतां निवेदयन् प्रार्थयते **नैतदिति** त्रिभिः। असाधु बहिर्मुखम्। तीव्रं दुर्भ[5]रम्। हर्षशोकभयैः ईषणा[6]त्रयेणचार्तं दुःखितमपि त्वत्कथासु न संप्रीयते। तस्मिन्नेवम्भूते मनसि सति कथं तव तत्त्वं विचारयामि।।३९।।

किञ्च **जिह्वेति**। जिह्वा अवितृप्तासती, भो अच्युत! मा मां यतो मधुरादिरसस्तत आकर्षति, उदरं तु क्षुधासन्तप्तं सत् सद्य एव यत्किञ्चिदाहारमात्रं प्रति। चपला दृक् चक्षुः कर्मशक्तिः कर्मेन्द्रियाणि। लुनन्ति त्रोटयन्ति।।४०।।

**वीर॰** एव मुपसंहृत जगतः कारणतयाऽवस्थिताज्जगतः उत्पत्तिप्रकारं मध्यतस्तदन्यत्प्रदर्शनायाह-**तस्यैवेति**। तस्योक्तविधमवस्थितस्य तव नाभेर्वपुस्त्वच्छरीरभूतं जगदाकारं महाब्जमभूद्ब्रह्मभूव। कथम्भूतस्य

1- -1 A,B,J °श्यन् 2 A,B,J omit ततं 3- -3 A,B,J omit 4 A,B,J omit तु 5 A,B,J °र्धं° 6. A,B,J ण°

तव ? निजकालशक्त्या स्वांशभूतया कालाख्यया शक्त्या सञ्चोदिता क्षुभितगुणा प्रकृतिरेव धर्मः अपृथक्सिद्धविशेषणं यस्य तस्य अम्भसि अनन्तशयनादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी शेषपर्यङ्कादुत्थाय विरमन् समाधिः जगद्व्यापार वैमुख्येन अवस्थानुरूपो यस्य, सिसृक्षोरिति फलितोऽर्थः, एवम्भूतस्य तव नाभेः त्वच्छरीरभूतं जगदात्मक मात्मनि त्वयि निगूढं सूक्ष्मावस्थापन्नं महाब्जं स्वकणिकात् स्वबीजाद्वटवदभूदित्यर्थः।।३३।।

तत्सम्भवस्तन्महाब्जसम्भवः कविर्ब्रह्मा अतः पद्मादन्यदपश्यमानः स्वात्मन्यन्तरात्मतया ततं व्याप्तं बीजं पद्मस्य कारणभूतं त्वां स्वस्माद्बहिस्तथा अब्दशतं वर्षशतमप्सु निमज्जमानो विचिन्वन्नन्वेषयन्नाविन्दत नोपलब्धवान्। अहो! तथाहि, अङ्कुरे जाते बीजं कथमुपलभेत नोपलभेतैवेत्यर्थः। यथाऽङ्कुरे जाते सति ततः पृथक् स्थितं बीजं नोपलभते लोकस्तथा मत्कार्यभूतं जगदात्मकं पद्मं मदभिन्नमिति दर्शयितुं भवान् बहुधा विचिन्वताऽपि ब्रह्मणा नोपलब्ध इति भावः।।३४।।

ततो भगवदुपासनया स्वस्मिन्नेव दृष्टवानित्याह **सत्विति**। स तु विचिन्वन्नात्मयोनिर्ब्रह्मा अतिविस्मितः अब्दशतपर्यन्तान्वेषणेनाऽपि अनुपलम्भप्रयुक्तविस्मययुक्तः परावृत्त्यांब्जमाश्रितस्सन् तीव्रेण तपसा ध्यानेन परिशुद्धभावः परिशुद्धमनाः निरस्तत्वद्दर्शनविरोधिकर्मा हे ईश! त्वामात्मन्येव विततं व्याप्तं ददर्श। कथम्भूतं? भुवि गन्धमिवातिसूक्ष्मं स्वात्मनः पृथग्विभागानर्हम्। अतिसूक्ष्मभूतेति समस्तपाठे भुवि गन्धमिवात्मनि वितनं ददर्श, भुवि गन्धमिवेत्यवस्थानमात्रे दृष्टान्तः। अतिसूक्ष्माणि विभागानर्हाणि कारणात्मतामापन्नानि भूतान्याकाशादीनि इन्द्रियाण्याशयोऽन्तःकरणञ्च तन्मयं तत्प्रचुरमेवम्भूतं तावद्ददर्श।।३५।।

ततः सहस्रमपरिमितानि यानि वदनादीनि तैराढ्यं समृद्धमत एव मायामयमाश्चर्यरूपं सत् उपलक्षण सन्निवेशं सता सत्त्वेन नित्यत्वेन उपलक्षणीयः सन्निवेशः वदनाद्यवयवसंस्थानं[1] यस्य तं सता सूक्ष्मरूपेण सता प्रपञ्चेनोपलक्षितः सन्निवेशो वदनादिविन्यासो यस्य तमिति वा, एवम्भूतं महापुरुषं दृष्ट्वा विरिञ्चो ब्रह्मा मुदं हर्ष माप प्राप्तवान्।।३६।।

तदा च तं भवाननुगृहीतवान् इत्याह-तस्मा इति। तस्मै तीव्रतपसा परिशुद्धभावनया उक्तविधं त्वां दृष्टवते विरिञ्चाय भवान् हयशिरस्तनुतां हयग्रीवरूपं बिभ्रत् श्रुतिगणान् सृष्ट्युपायावेदकान् वेदगणान् आनीय

1 W omits सं

समर्पितान्। किं कृत्वा आनयत्[1]? रजस्तमश्च रजस्तमोरूपौ वेदद्रुहौ वेदापहारिणौ अतिबलौ मधुकैटभाख्यौ असुरौ हत्वा समर्पितवान् यतस्समर्पितवान् अत एव तव प्रियतमां तनुं हयशिरस्तनुं सत्त्वं शुद्धसत्त्वात्मिकाम् आमनन्ति धर्मस्थापनायोपात्तां तनुं शुद्धसत्त्वमयीमामनन्ति जानन्ति अवतारयाथात्म्यविद इति शेषः।।३७।।

एवं जगत उत्पत्तिप्रकार उक्तः, अथ रक्षाप्रकारमाह, इत्थमुचितकालेषु तैस्तैः स्वेच्छोपात्तैः शुद्धसत्त्वमयैः नृतिर्यगृषि देव झषावतारैः रामकृष्णवराहपरशुरामोपेन्द्रमत्स्यावतारैः अवतारान्तराणामपीदमुपलक्षणं, लोकान् विभावयसि पालयसि जगद्विरोधिनो रावणादीन् हंसि च। हे महापुरुष! युगानुवृत्तं कृतादियुगेष्वनुवृत्तं धर्मं वर्णाश्रममर्यादादिरूपं जगत्प्रतीपनिरसनेन पासि पालयसि, यतस्त्वं कलौयुगे छन्नोऽभवः आसीः। अथ ततः त्रियुगशब्दप्रवृत्तिनिमित्ताश्रयोऽसि कृतत्रेताद्वापरेष्वेवावतारमुखेनाविर्भावात्[2] त्रियुग इत्यभिधीयसे इत्यर्थः।।३८।।

एवं निखिल[3] जगदुदयविभवलयैककारणं तदन्तरात्मानं तच्छरीरकं संस्तुत्य यथावत्स्वरूपरूपादि विमर्शने मन्मनो न समर्थमिति वदन् किञ्चित्प्रार्थयते नैतदिति त्रिभिः। हे विकुण्ठनाथ! दुरितैः दुष्ट मत एवासाधुवृत्तिं कामातुरं विषयप्रवणं हर्षेणाभिमतविषयलाभे हर्षेण, तद्विपरीतविषयलाभे तु शोकेन[4] ईर्षणया[5] पुत्रदारधनैषणया[6]चार्तं मदीयं मनस्तव कथास्वेव न सम्यक् प्रीयते नासक्तं भवतीत्यर्थः। तस्मिन् मनस्येवं स्थिते सति दीनः विषयपारवश्येन दुःखितोऽहं तव गतिं याथात्म्यं कथं विमृशामि।।३९।।

न केवलं मन एव ममैवं जातं, किन्तु इन्द्रियान्तराण्यपीत्याह जिह्वेति। हे अच्युत! जिह्वा मा अवितृप्ता अतृप्ता सती एकतो मधुरादिरसान् प्रति मां विकर्षति तथा शिश्नोऽप्यतृप्तः त्वगादयश्च कुर्तार्श्चद्रिकर्षन्ति तत्तद्विषयभोगाय कर्षन्ति चपलदृक् चञ्चला दृष्टिः क्व चाभिमतरूपदर्शनाय विकर्षति। उदरशब्दः प्राणोपलक्षकः तथा कर्मशक्तिः क्रियाशक्तिः पाणिपादादिरपि विकर्षति, क्वचिद्गेहपतिं गृहस्थं बह्व्यः सपत्न्य इव देहपातम् इन्द्रियाणि लुनन्ति विकर्षन्ति इत्यर्थः।।४०।।

**विज॰** सृष्टेः प्रागित्युक्तं दर्शयति-**तस्येति**। तस्य तुरीयस्यास्य जगत्कारणस्य च कश्चिद्विशेषो नास्तीति द्योतनायैवकारः। आत्मनि देहे जठरे गूढं निलीनमिदं जगज्जगदात्मकं महाब्जं यस्य तव नाभे रभूत्तदब्जं तस्यैव ते वपुः सन्निधानविषयत्वात् प्रतिमास्थानीयम्। कीदृशं स्वरूपम्? भूतसृष्टिकालशक्त्या सञ्चोदितं सृष्टये प्रेरितं

1 W omits आनयत् 2 W omits एव 3 A,B,T अ॰ 4 W omits शोकेन 5. A,B,T एष॰ 6. A,B,T ॰र्ष॰

कटाक्षीकृतं कीदृशस्यास्य प्रकृतिधर्मिणः प्रकृतिप्ररेकधर्मवतः प्रलयोदकेऽनन्ताख्यशयनादुत्थाय विरमन् समाधिं कुर्वन् समाधिः योगिनिद्रालक्षणो यस्य स तथा तस्य। कथमिव? वटवत् वटलक्षणोंऽकुरो यथा स्वकर्णिकात् उत्पत्स्यमानकर्णिकात् कर्णिकाख्यवटबीजादित्यर्थः। नन्वयं विषमो दृष्टान्तः तथाहि-कर्णिका नाम वट बीजविकारो हि वटाख्याङ्कुरः, न चाऽयं प्रकृते सम्भवति। "निर्विकारोऽक्षरः शुद्धः" इति वचनात्, उच्यते स्वकर्णिकादिति लिङ्ग व्यत्ययेन कश्चिद्विशेषो विज्ञायते। कोऽयमिति चेदुच्यते। कर्णिका नामाऽदृश्या देवता सर्वस्थावरबीजानामभिमानिन्यपि वटाश्वत्थबीजयोर्विशेषतः सन्निहिता। अत स्तत्तद्बीजेभ्यः तदङ्कुरव्यञ्जनात्तत्प्रागपि तत्र स्थित्वा जाते त्युच्यते यथा, तथा श्रीहरेरपि प्रकृत्यादिस्वामित्वेन च तत्सन्निहितत्वेन च स्थित स्तत्कार्येष्वनुविष्टत्वेन जात इत्युच्यते। "आत्मन आकाशस्सम्भूतः" (तैत्ति.उ. 2-1-1) इत्यादौ श्रुतत्वात्। तत्राऽपि वटबीजा द्वटाङ्कुरस्य साक्षादुत्पत्तिर्वटवृक्षिणश्चेतनस्य चेतनाभिमाना दुत्पत्तिः उभयाभिमानिन्या देवताया अभिव्यञ्ज-कत्वेनाऽभिव्यक्ति स्तथा। यथा योग्यं सत्त्वतमो मिश्ररजोगुणान् जगदात्मनः पद्मस्य साक्षादुद्भवः पद्मिनो हिरण्यगर्भस्याऽभिमानजननं हरेः पुरुषान्तरेणाऽऽविर्भाव इत्यादिकमिति। "स्थावराणान्तु सर्वेषां देवता याऽभिमानिनी, विशेषाद्वटबीजे च अश्वत्थे च व्यवस्थिता। अदृश्या कर्णिका नाम सा वृक्षात्[1] व्यञ्जयत्यपि। अतो बीजाभिमानिप्रोक्ता सा जातेत्यङ्कुरे स्थिता। एवं हरिःकारणेषु स्थितः कार्यजनेरनु। कार्याण्यनुप्रविष्टस्सन् प्रथमं तत्र दृश्यते" (ब्रह्मतर्के) इत्यनेनोक्तविशेषो विज्ञायत इति न काऽपि शङ्काकार्येति, तस्मात् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरुप-पत्तिरस्तीति युक्तएव दृष्टान्तः।।३३।।

तत्र विरिञ्चस्य लोकपद्मलक्षणदेहाभिमानोत्पत्तिपूर्वकं हरेर्वटबीजाभिमानिदेवतावददृश्यत्वं प्रकटयं स्तस्य मीमांसामाह-तत्सम्भव इति। पद्मस्य प्रकृत्यात्मकत्वेन तस्मात्पद्मात्सम्भवो जननं यस्य स तथा, लोकात्मकत्वेन तस्मिन् देहस्थानीयेऽभिमानसम्भवो यस्य स तथा उभयोरप्यत्र विवक्षितत्वात्। अतः अब्जादन्यद्वस्तु न पश्यन्नप्सु निमज्जमानो निमज्ज्य मूलं विचिन्वन् लोके बीजादङ्कुरे जाते नष्टं बीजमिव पृथिव्यां कथमुपलभेत पुरुष इति तच्चिन्तां दर्शयन्नेवं विधः कविर्ब्रह्माऽऽत्मनि स्वस्मिन्नेव अब्जान्तस्तस्माद्बहिश्च विततं व्यञ्जकत्वा द्बीजदेवतावत् बीजमंज्ञत्वान्नाऽविदत् नोपलब्धवानित्यन्वयः।।३४।।

आत्मा परमात्मा योनिःकारणं यस्य स तथा। तु शब्देनैकस्य हरेर्बहुधा जन्माऽस्तीति विशेषं दर्शयति। स एव ब्रह्मा अब्दशतसंज्ञितेन कालेन विचिन्त्य विविधपृथिव्याद्याधाराणा मनुत्पन्नत्वादस्य केनाचिदाधारेण

1 A °न्

भवितव्यम्। लौकिके बीजनाशवत् नाशायोगात् सन्नपि न दृश्यते, कुतूहलमेतदिति अतिविस्मितोऽब्जमाश्रितः तपेति द्व्यक्षरं श्रुतवान्। तपसाऽहं द्रष्टुं शक्त इत्यनेनोक्त मभिजानन् तीव्रेण तपसा परिशुद्धान्तःकरणो भूतेन्द्रियाशये जगति विततं त्वामात्मनि स्वस्मिन् स्थितं ददर्शेत्यन्वयः। कथमिव? भुविव्याप्तमतिसूक्ष्मंगन्धाख्यदेवता-स्वरूपं यथा पश्यति योगी तथेत्यर्थः। गन्धाख्या देवता यद्वत्पृथिव्यां व्याप्य तिष्ठति एवं व्याप्तं जगत् विष्णुं ब्रह्मात्मस्थं ददर्श। हेति वाक्यं गन्धशब्देन देवताकथनं युक्तमिति **भावः**।।३५।।

यथा सूक्ष्मरूपं दृष्ट्वा मुमुदे तथा विराड्रूपमपि, तयो रीषदपि विशेषाभावादित्याह-**एवमिति**। अनेन ब्रह्माण्डशरीरी ब्रह्मा "पातालमेतस्य हि पादमूलम्" (भाग.2-1-26) इत्याद्युक्तं यद्रूपमपश्यत्तदेव पद्मजोऽपीति ज्ञातव्यम्। आत्मयोनिरिति विशेषणात् मायामयं ज्ञानरूपम् अनिर्वाच्याऽविद्यामायानामेति किंन स्यादित्यत्राऽऽह - सदिति। आनन्दादिलक्षणसमुदायरूपम्। अथ कस्मादुच्यते सदिति-"सन्तो ह्यस्मिन्नानन्द ओजो बलम्" इति स्पष्टश्रुतेः। "सन्निवेशश्च यः स्तोमः समुदायो गणः स्मृतः" इत्यभिधानम्। आनन्दादिलक्षणानां सन्निवेशो यस्मिन् स तथा। तं गुण गुणिनोरभेदात्स्वरूपत्वं सिध्यति। "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृह. उ. 3-9-28) इति श्रुतेः लक्षणत्वज्ञापनायाऽदिशब्देन ज्ञानग्रहणम्।।३६।।

रजस्तमस्स्वभावावतिबलौ वेदद्रुहौ मधुकैटभाख्यौ हत्वा श्रुतिगणाननयत्, आनीयाऽस्मै विरिञ्चाया-ऽवोचदिति शेषेणान्वयः। अनेनैतत्सिद्धमभूदित्याह-सत्त्वमिति।।३७।।

चतुष्पदधर्मं पासि यस्त्वं कलौ छन्नोऽभव इति यस्मात्तस्मात्सत्वं त्रियुग इति ख्यातः।।३८।।

एवं हरेर्भक्तवात्सल्यं विज्ञाप्य स्वशक्तिं विज्ञापयति-नैतदिति। येदेतन्मनस्तव कथासु न सम्प्रीयते तस्मिन्मनसि तव गतिं कथं विमृशामीत्यन्वयः। ईषणं, वित्तादीनामिति शेषः।।३९।।

मनस्समाधानाभावादन्येन्द्रियाण्यपि मत्पुरुषार्थविरुद्धानीत्याह-**जिह्वेति**। स्पर्धाभाषणशीलत्वाज्जिह्वा। दुस्सङ्गेन पुण्यश्लथनशीलत्वात् शिश्नः। "त्व च सम्पर्के" इति धातोः दुस्सम्पर्कशीलत्वात् त्वक्, उदात्फकृदं न मयतीति उदरम्। कर्मशक्तिरित्यनेन कर्मेन्द्रियाणि वागादीनि लक्षयति। गेहपतिं देहस्वामिनं, अन्यत्र गृहपतिम्।।४०।।

**एवं स्वकर्मपतितं भववैतरण्या मन्योन्यजन्ममरणाशनभीतभीतम्।**
**पश्यञ्जनं स्वपरविग्रहवैरमैत्रं हन्तेति पारचर पिपृहि मूढमद्य।।४१।।**

**कोऽन्वत्र तेऽखिलगुरो! भगवान्प्रयास उत्तारणेऽस्य भवसम्भवलोपहेतोः।**
**मूढेषु वै महदनुग्रह आर्तबन्धो। किं तेन ते प्रियजनाननुसेवतां नः।।४२।।**

**नैवोद्विजे भव दुरत्ययवैतरण्या स्त्वद्वीर्यगायनमहाऽमृतमग्नचित्तः।**
**शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थमायासुखायभरमुद्वहतो विमूढान्।।४३।।**

**प्रायेण देवमुनयः स्वविमुक्तिकामा मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।**
**नैतान्विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको नाऽन्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये।।४४।।**

**श्रीध०** न केवलमहमेक एवैवं कष्टां दशामापन्नः, किन्तु महाजनोप्येवमेव क्लिश्यति अतस्सर्वं जनं पालयेति प्रार्थयते-**एवमिति**। भवः संसार एव वैतरणी यमद्वारनदी, तस्याम्। अन्योन्यतो यानि जन्मादीनि तेभ्योऽतिभीतं स्वेषां परेषाञ्च विग्रहेषु देहेषु यथायथं वैरं मैत्रञ्च यस्य, एवं मूढं जनं पश्यंस्त्वम्। हे पारचर! तस्याः पारे स्थित नित्यमुक्त! हन्तेति अहो कष्टमित्येव मनुकम्प्याऽद्य पिपृहि वैतरण्या उत्तार्य पालय।।४१।।

एकेन मया कथं सर्वो जनस्तारणीय इति चेत् तत्राऽऽह-**कोन्विति**। को नु ते अत्र सर्वजनोत्तारणप्रयासो, नकोऽपि। कुतः अस्य विश्वस्य भवसम्भवलोपानामुत्पत्तिस्थितिसंहाराणां हेतोः ततोऽपि किमेतद्दुष्करमिति भावः। उचितञ्चैतदित्याह-मूढेष्विति। त्वाञ्च त्वदीयांश्च तारयिष्यामि, इमं दुराग्रहं मा कृथा इति चेत्तत्राऽऽह-तव ये प्रियजनाः प्रियतमाः भक्ताः ताननुसेवमानानां नोऽस्माकं तेनोत्तारणेन किम्! "कोऽति प्रयासोऽसुर बालका हरेः, कोऽन्वत्र तेऽखिलगुरो! भगवन्प्रयासः? प्रह्लादइत्थमुपमन्त्र्य मिथो नराणामीशेन सख्यमकरोदपनीयमायाम्" (भाग. 7-7-38) तद्भक्तजनसेवनयैव संसारवैतरणीनद्युत्तरणं भविष्यतीति भावः।।४२।।

ननु प्रियजनसेवामात्रेण कथं तव संसारतरणम् इत्याशङ्क्य तदेव विवृण्वन् परिहरति-**नैवेति**। हे पर! सर्वोत्तम! त्वद्वीर्यगायनमेव महामृतं, तस्मिन्मग्नं चित्तं यस्य सोऽहं भववैतरण्या नैवोद्विजे, किन्तु विमूढान्

1. H,V °भय 2. M,Ma °मति 3. A,B,G,J,M,Ma,T पी° 4. H,V मस्य; M,Ma सत्त्वम् 5. M,Ma °वमानः 6- -6. A,B,G,J,T परदुरत्यय; W परम हे भव 7. M,Ma तीर्थं 8. M,Ma °मत्त 9. M,Ma नु तं 10- -10 H,V परमार्थनिष्ठाः 11.W °ना ° 12- -12 H,V नाऽस्य त्वदन्य; W नाऽन्यं त्वदन्य 13. H,V Omit एव 14. A,B,J Omit देहेषु 15. A,B,J पी° 16. A,B,J णीम् 17- -17 A,B,J Omit 18- -18 H,V श्लोक कोऽतिप्रयासः 19- -19 A,B,J Omit 20- -20 A,B,J वत्साप्रह्लाद! त्वां तावत्तारयिष्यामितावतैव कतार्थः। स्याः, किमनेन निर्बन्धेन? इत्यत आह 21. H,V परमा

शोचामि, तानेवाऽऽह। ततो महामृता द्विमुखं चेतो येषां। प्रत्युत इन्द्रियार्थनिमित्तं यन्मायासुखं तदर्थं भरं कुटुम्बादिभारमुद्वहतः।।४३।।

त्वं तावन्मुक्तिं गृहाण, तांस्तु[1] तत्त्वज्ञा मुनय उपदेक्ष्यन्तीति चेत् तत्राऽऽह - **प्रायेणेति** न विमुमुक्षे विमुक्तिं नेच्छामि तर्ह्यन्यं कमपि प्रार्थयमामेव किमिति निर्बध्नासीति चेदत आह-त्वत्तोऽन्यमस्य जनस्य शरणं न पश्यामि।।४४।।

**वीर० न** केवलमहमेवेदृशीं दशां प्राप्तः किन्तु मदीयो जनोऽप्येवमेव क्लिश्यति। अतः सर्वं मदीयं जनं संसारान्मोचयेति प्रार्थयते - **एवमिति**। भव एव वैतरणी दुःखप्रदा यमलोकनदी तस्यां स्वकर्मभिः पुण्यपापात्मकैः पतितमन्योन्यं यानि मरणादीनि शत्रूणां पुत्रादिजन्मना स्वस्य भयं स्वस्य पुत्रादिजन्मना परेषां शत्रुभ्यः स्वस्य भयं स्वस्माच्छत्रूणामेवं परैः स्वद्रव्यभक्षणेन स्वस्य भयं, स्वेन परद्रव्यभक्षणे स्वस्मात्तेषामिति[2] यथासम्भवमूह्यम्। तेभ्यो जन्मजरामरणाशनेभ्योभीतभीतं भीतार्दापभीतं स्वेषां परेषाञ्च विग्रहे देहेषु यथायथं वैरं मेत्रञ्च यस्य तमेवमद्याऽपि[3] मूढमज्ञं जनं पश्यन् त्वं[4] हे पारचर। भववैतरणीपारे चरतीति तथा तस्य सम्बोधनम्, अतिपीपृहि, "पॄ पालनपूरणयोः" इति धातुः , अतीव पालयेत्यर्थः। यद्वा, अतिपिपृहि, हन्तेति अहो कष्टमित्यनुकम्य-भववैतरिण्या अतिपारय पारं नय, संसारान्मोचयेत्यर्थः।।४१।।

**ननु त्वदीयसर्वजनोत्तरणे** मम महान् प्रयासो भवेत्, नेत्याह-**कोन्विति**। हे अखिलानां गुरो हितोपदष्टः! हे भगवन्! ज्ञानशक्त्यादिषाड्गुण्यपूर्ण! अत्र[5] अस्मिन् मदीयजनस्योत्तारणे तव कोनुप्रयासः। न कोऽपीत्यर्थः। प्रयासाभावे हेतुं वदन् भगवन्तं विशिनष्टि-अस्य कृत्स्नस्य चिदचिदात्मकप्रपञ्चस्य भवसम्भवलोपहेतो रुत्पत्तिस्थितिलयकारणस्य कृत्स्नजगदुदयविभवलयलीलस्य मदीयजनोत्तारणे न कोऽपि प्रयास इति भावः। युक्तञ्चैतत्तवेत्याह-मूढेष्वज्ञेषु विशेषेण महता मनुग्रहो भवतीति। ननु मत्सेवा[6] मन्तरेणाऽहं नाऽतिपारयामि, अन्यथा सर्वमुक्तिप्रसङ्गः, ततऽऽह-हे आर्तबन्धो! किन्तेन आर्तबन्धुस्त्वमिति यत् तेन, नोऽऽस्माकं[7] किं त्वत्सेवया स्यात् तवार्तबन्धुत्वानवाहार्थं त्वत्सेवायामप्यशक्तावयमार्त्तानुकम्प्या इति भावः। सर्वमुक्तिप्रसङ्गं निराकुर्वन् आत्मनो विशिनष्टि। ते तव ये प्रियाः भक्तजनास्ताननुसेवतां त्वद्दासानुदास्यं कुर्वतामस्माक मित्यर्थः। तावन्मात्रमपेक्ष्य मज्जनोत्तारणोपपत्तेर्न सर्वमुक्तिप्रसङ्गश्चेति भावः। मामनुगृहीतवता त्वया मदीयजनस्य भवद्दासानुदास्यमपि सम्पाद्यमिति तात्पर्यम्।।४२।।

---

1. H,V, तेषां तु 2. A,B,T, °परेषां 3.W omits जरा 4.W omit त्वं 5 A,B,T Omit अत्र 6. A,B,T मम 7 W omits न.

इदमेवमयाप्रार्थनीयमित्यभिप्रयन्, नाऽहं भववैतरण्या बिभेमि, किन्तु तस्यां पतिष्यतो[1] मज्जना नवलोक्य दुःख्यामीत्याह-**नैवेति**। हे परम! दुरतिक्रमणीयो भवः संसारः स एव वैतरणी ततो नैवाऽह मुद्विजे, बिभेमि। उद्वेगाभावे हेतुं वदन्नात्मानं विशिनष्टि-त्वद्वीर्येति। त्वद्वीर्यगायनं त्वद्वीर्यसूचकगुणनामगायनमेव महदमृतं तस्मिन् मग्नं चित्तं यस्य सोऽहम् , अतो न मदर्थं, शोचे, किन्तु विशेषेण मूढान् मदीयान् प्रति शोचे, तदर्थं शोचे इत्यर्थः। तत्र हेतुं वदन् तान्विशिनष्टि-ततस्त्वदीयगानाद्विमुखं[2] चेतो येषाम्, इन्द्रियार्थाः शब्दादयो विषयास्तेषां मायासुखाय तदनुभवजन्यप्राकृतसुखाय[3] तदर्थं भरं कुटुम्बादिभारं उद्वहन्तीति तथा तान्।।४३।।

ननु, यथा श्रीनारदानुग्रहात्त्वं[4] मुमुक्षुस्तथा त्वदीया अपि महतामनुग्रहात् मुमुक्षवश्चेत्तान् मोक्षयिष्यामि, अतस्त्वमेव मुक्तिमिच्छेत्यत्राऽऽह-**प्रायेणेति**। हे देव! प्रायशो मुनय आत्मनामेव मुक्तिं कामयमाना विजने निर्जने अरण्यादिदेशे मौनं शुभाश्रयसंशीलनं कुर्वन्ति न तु परार्थनिष्ठाः[5] अन्येषां प्रयोजने निष्ठा येषान्ते भवन्ति, अत सतदनुग्रहो मदीयजनस्य दुर्लभ इति भावः। तत एतान्कृपणान्[6] विहाय अहमेको न मुमुक्षे न संसृतिबन्धं मोक्तुमिच्छामि। तर्हि अन्यं कमपि प्रार्थय मामेव किमिति। निर्बध्नासीति चेत्तत्राऽऽह भ्रमतः संसृतौ भ्राम्यतोऽस्य जनस्य त्वत् त्वत्तः अन्यं शरणं रक्षकं[7] रक्षणोपायभूतञ्च नाऽनुपश्यामि।।४४।।

**विज०** स्वैः परैश्च सह विग्रहलक्षणं वैरं विरुद्धाचरणं मैत्रञ्च यस्य तथा तं जनं पश्यन् अतः तमसो[8] भवस्य पारमिति पिपृहि अतिपारं गमय, मूढसत्त्वं मूढप्राणिनमसुरजातित्वात्, तिर्यग्जातित्वात्तामसमिव स्थितं गजेन्द्रं पारं नीत्वा यथा अपालयः तथा पारञ्च प्रापय्य मां पालयेति वा।।४१।।

मम संसारपारनेतृत्वं तव दुश्शकं नेत्याह-**क** इति। हे अत्र! अन्यपातृरहित! भगवन्! मम संसारोत्तारणे ते तव कोनु प्रयासो, न कोऽपि। अत्र जीवराशौ वा कुतो न प्रयास इति तत्राऽऽह-अस्येति। अस्य जगतो भवो जन्मसम्भवः स्थापनेन सम्भावनं लोपः संहारो येषां हेतोः कारणस्याऽस्य जगत उत्तारणे तव प्रयासो नास्ति, ममोत्तारणे कोन्विति वा। कुत इति तत्राऽऽह-भवेति। भवस्य संसारस्य सम्भवः उत्पत्तिः तस्य नाशहेतो स्तव किं प्रकृत इत्याशङ्क्य अस्मद्वात्सल्यमन्तरेण न किमपि प्रयोजनं तवेत्याह-मूढेष्विति। गजेन्द्रकल्पार्तजनबन्धो! मूढेष्वस्मासु यो महदनुग्रहस्तेन तव किं प्रयोजनं, न किमपीत्यर्थः। ननु, प्रयोजनाभावे किमर्थं तथा करणमित्याशङ्क्य स्वभाव इत्याशयेनाह-प्रियेति। प्रियजना ननु सेवमान स्त्वमिति यत्। स तव स्वभाव इति शेषः।।४२।।

1. A,B,T माणान् 2 A,B,T गायना ° 3 W °जप्रा ° 4 W दस्यानु 5 A,B,T परार्थम् 6. ना ° 7. A,B,T, Omit रक्षकं 8. A तमो

संसारभीरूणां संसारवैतरण्युत्तरणोपायः क इत्याऽऽशङ्क्य निरन्तरवेदान्तशास्त्रश्रवणमननार्दि येषामस्ति तेषां तद्भयं नास्ति। अन्यथा न कदाऽपि तत उत्तरणमित्याशयेनाऽऽह–**नैवेति**। त्वत्तीर्थं त्वद्विषयं वेदान्तशास्त्रं तस्य गायनं श्रुत्वा मत्वा व्याख्यापनञ्च तदेव महामृतं यत्तेन मत्तं हृष्टं विवशं वा चित्तं यस्य स तथा। एवं विधोऽहं संसारवैतरण्या नैवोद्विजे न बिभेमि। एवशब्देन त्वत्तीर्थसेवाभावे संसारकदनार्द्विभेमि तत्सम्भवेनेत्ययोगव्यवच्छेदः क्रियते। अनेनाऽसङ्गतं प्रह्लादस्तवन मित्येतदपि परिहतम्। "सत्स्वन्यत्र ततो दया" इति वचनात् इदञ्च भक्तिलक्षणमिति प्रकटयन्नाह-शोच इति। ते त्वत्तः इन्द्रियार्थेभ्यो विषयेभ्यो मायासुखं प्राकृत(तमस्स्व) स्वरूपं सुखं यत्तदर्थं भारं कुटुम्बभारम्।।४३।।

स्वेतरेषु क्रियमाणा कृपा स्वाश्रितेष्वेव कर्तव्यादेवादिभिः क्रियमाणत्वादित्यभिप्रेत्याह–**प्रायेणेति** देवामुनयश्च विजनेन एकान्तस्थलेन साधनेन सहिताः काष्ठमौनदिव्रतं चरन्ति। कीदृशाः? स्वकीयानां जनानां विमुक्तिः स्यादिति स्वविमुक्तिकामाः। स महतां स्वभाव इत्याह–परेति। परप्रयोजनतात्पर्योपेता देवेषु तात्त्विकैर्विशेषतो मुनिषु कैश्चिदेवेति। विशेषप्रकाशनायप्रायेणेति; तदुक्तम्–"आश्रितेषु कृपाकार्या विशेषात्तात्त्विकैस्सुरैः। मुनिभिश्च तथा कैश्चित्कैश्चित्कार्याऽखिलेष्वपि। तथाऽपि तात्त्विकसुराः कृपा विषयतां गताः। एत एव विमुच्यन्ते तदन्ये न कथञ्चन" (ब्रह्मतर्के) इति। यतो देवादयः स्वाश्रितेषु कृपां कुर्वन्ति अतोऽहमप्याश्रितानेतान् कृपणान् कृपाविषयान् विहाय एको न विमुमुक्षे, त्वमेको मत्प्रसादेन मुक्तो भव, अन्येऽन्येनवर्त्मनाऽमुक्तास्सन्त्विति, तत्राऽऽह-नाऽन्यमिति। स्वकर्मणा नानायोनिषु भ्रमतो ममाश्रितजनस्याऽनुकूलं त्वदन्यं शरणं नाऽनुपश्ये इत्यन्वयः।।४४।।

**यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्।**
**तृप्यन्ति[1] नेह कृपणा बहुदुःखभाजः कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः।।४५।।**

**मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्म व्याख्या रहो जपसमाधय आपवर्ग्याः।**
**प्रायः परं पुरुष! ते त्वजितेन्द्रियाणां वार्ताभवन्त्युत[2] न वाऽत्र तु दाम्भिकानाम्।।४६।।**

**रूपे इमे सदसती तव वेददृष्टे[3] बीजाङ्कुराविव नचाऽन्यदरूपकस्य।**
**युक्तास्समक्षमुभयत्र विचिन्वते त्वां योगेन वह्निमिव दारुषु नाऽन्यतः[4] स्यात्।।४७ ।।**

---

1. M,Ma देह 2. M,Ma °ल्यपि 3. A,B,G,J,T °सु° 4 H, V वाऽन्यतः

**त्वं वायुरग्निरवनिर्वियदम्बुमात्राः प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहाश्च।**
**सर्वं त्वमेव सगुणोविगुणश्च भूमन् नाऽन्यत्त्वदस्त्यपि मनो वचसा निरुक्तम्।।४८।।**

**श्रीध०** नन्वेते स्त्रीसम्भोगादिना सुखिन एव, न कृपणास्तत्राऽऽह - **यदिति**। करयोः कण्डूयनेन सङ्घर्षणेनेव दुःखमनुदुःखं यस्मिन्। तर्हि दुःखत्वादेव ततो निर्विद्य मुच्येरन्, तत्राऽऽह-कृपणाः कामुकाः बहुदुःखभाजोपीह गृहमेधिसुखे न तृप्यन्ति अलमिति न मन्यन्ते कण्डूतिवत् कामस्य दुस्सहत्वात्। ननु, केचित्कण्डूतिमपि सहन्ते, कामञ्चेत्यत्राह, त्वत्प्रसादात्तु कश्चिद्धीर एव मनसिजं कामं विषहेत, न तु सर्वे; अत्राऽपि कण्डूतिवदिति दृष्टान्तः।।४५।।

ननु मौनादिभिर्मोक्षसाधनैस्सुलभैव तेषामपि मुक्तिः, तत्राऽऽह - **मौनेति**। हे पुरुष! अन्तर्यामिन्! ये मौनादयो दश आपवर्ग्या अपवर्गहेतवः प्रसिद्धाः। रहो विवक्तवासः, ते तु प्रायसोऽजितेन्द्रियाणां इन्द्रियभोगाय अर्थार्थं विक्रीणतां वार्ताः जीवनोपाया भवन्ति। दाम्भिकानां वार्ता अपि भवन्ति वा, न वा, दम्भस्याऽनियत-फलत्वात्।।४६।।

तत्त्वज्ञानं[2] भक्तिं विना सकामैर्मौनादिभिर्न भवत्येवेत्याह-**रूपे** इति त्रिभिः बीजाङ्कुराविव प्रवाहापन्ने इमे सदसती कार्यकारणे एव ते रूपे उपलक्षणभूते वेदेन दृष्टे[3] प्रकाशिते। न चाऽन्यत् स्वसमवेतं गौरत्वादिकमिव देवदत्तादेः। कुतः ?अरूपकस्य प्राकृतरूपादिशून्यस्य। अतो युक्ता स्संयता एव भक्तियोगेन प्रत्यक्षं त्वामुभयत्र कार्ये कारणे च अनुगतं पश्यन्ति, मथनेन दारुषुवह्निमिव। नाऽन्यतः स्यात्[4]त्त्वज्ज्ञानमिति शेषः। यद्वा ज्ञानप्रकारमेवाऽह। एतदुभयमन्यतः प्रधानपरमाण्वादेर्नस्यात्। "स ऐक्षत" इत्यादिश्रुतेः। अत स्त्वमेव कारणत्वात् सर्वत्राऽनुस्यूत[5] इति।।४७।।

तदेवाऽऽह-**त्वं वायुरिति**। हृदयं मनः, चिच्चित्तम्, अनुग्रहोऽहङ्कारो देवता[6] वर्गो वा। सगुणः स्थूलः, विगुणः सूक्ष्मः मनश्च वचश्च मनोवचः तेन निरुक्तं प्रकाशितम्। किमपि त्वत्तोन्यन्नास्ति।।४८।।

**वीर०** ननु, त्वदीया जना न दैन्यं प्राप्ताः, किन्तु विषयानुभवेन दृप्ता एव। अतस्तेषां दैन्यापादनेन त्वं किमिति इत्थं प्रार्थयसे? तत्राऽऽह-**यदिति**। यन्मैथुनादिकं गृहमेधिनो गृहस्थस्य सुखं, तत्करयोः पाम्ना दूषित-

---

1 W °हञ्च 2 A,B,J त्वज्ज्ञानं 3.A,B,J सु ° 4 H,V °स्याङ्त्रा ° 5 H,V °मृत 6.H,V तदे °

योर्हस्तयोः कण्डूयनेन सङ्घर्षणेनेव तज्जन्यदुःखवत् दुःखदुःखं अतीवदुःखात्मकं दुःखादुपरिदुःखं दुःखादर्कामति वाऽर्थः। अत एव तुच्छम्। तर्हि तस्य दुःखत्वादेव ततो निर्विद्य मुमुक्षेयुः, तत्राऽऽह-कृपणाः कामिनः बहुदुःखभाजोपीह गृहमेधिसुखेन तृप्यन्ति अलमिति न मन्यन्ते; कण्डूतिवत् कामस्य दुस्सहत्वात्। अतस्ते स्वानर्थमेव न जानन्तीति भावः। ननु, केचित्कण्डूतिमपि सहन्ते, कामश्चेत्यत्राऽऽह-सत्यं, धीरश्चेत्त्वदनुग्रहाज्जितेन्द्रिय-श्चेन्मनसिजं कामं सहेत,न त्वजितेन्द्रिय इति भावः।।४५।।

तर्हि कश्चिन्मौनादिभिरुपायैरिन्द्रियाणि जयद्भिरपवर्गः साध्यः, तत्राऽऽह-**मौनेति** हे पुरुष! परम पुरुष! मौनादय आपवर्ग्याः जितेन्द्रियाणामपवर्गोपाया एवेति सत्यमेव। अजितेन्द्रियाणान्तु वार्ता जीवनोपाया भवन्ति "अयं मौनादिसम्पन्नस्ततोऽस्मैदेयम्" इति मन्यमानेभ्यः परेभ्यः लब्धवित्तो भवतीति जीवनोपाया भवन्ति[1] न[2] तु अपवर्गोपाया भवन्ति[2]। सतीन्द्रियजये मौनादय आपवर्ग्याः न तु तस्मिन्नसति, भवदनुग्रहाज्ज विषयवैतृष्ण्येन भवतिव्यमिति भावः। अपवर्गार्थतया अनुष्ठिता अपि मौनादयोऽजितेन्द्रियाणां वार्ता एव, न तु आपवर्ग्याः, किम्पुनर्दम्भार्थं कृता आपवर्ग्या न भवन्तीत्याह उतेति। दाम्भिकानां मौनादयो वार्ता अपि भवन्तीत्युत[3] न वा, किम्पुन रापवर्ग्या न भवन्तीति दाम्भिकानां दाम्भिकत्वे प्रकटे सति जीवनहेतवोऽपि न भवन्तीति उत न वा शब्दार्थः। तत्र मौनं वाङ्नियमः, व्रत मनशनादिरूपं, श्रुत मध्ययनम् तपःकृच्छ्रादि, अध्ययन मध्ययनजं पाण्डित्यं, स्वधर्मः स्ववर्णाश्रमोचितो धर्मः, व्याख्या अध्यापनं, रहो निर्जनदेशवसतिः, जपो मन्त्रजपः, समाधि र्ध्यानम्। मनसिजं विषहेत धीर इतीन्द्रियजयमूलकः कामजय इत्युक्तम्। तथा अजितेन्द्रियाणां वार्ता भवन्तीत्यनेन जितेन्द्रियाणान्तु आपवर्ग्या भवन्तीति सूचितम्।।४६।।

तर्हीन्द्रियजयः कथं स्यादित्यपेक्षायां सर्वात्मकनिरतिशयानन्दरूप ब्रह्मोपासननिष्ठस्य अर्थादेवेन्द्रियजयः स्यादिति वक्तुं तावत्तदुपासनाप्रकारं विवक्षुश्चेतनाचेतनयोः परमात्मशरीरत्वमाह-**रूपे** इति। इमे सदसती चिदचिद्द्रव्यरूपे बीजाङ्कुरा विवस्थिते अरूपकस्य कर्माधीनदेहरहितस्य तव वेददृष्टे वेदबोधिते रूपे शरीरं "य आत्मनि तिष्ठन्" "आत्मनोऽन्तरोयमात्मा न वेद" "यस्याऽऽत्मा शरीरं, यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवी मन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्" (बृ.ह.उ. 3-7-3) "यस्याऽक्षरं शरीरं" (सुबा.उ. 7-1) "यस्याव्यक्तं शरीरम्" (सुबा.उ. 2-7) इत्यादि वेदबोधिते[4] तव शरीर इत्यर्थः। बीडाङ्कुरौ इत्यनेन कदाचित्कारणावस्थया कदाचित्कार्यावस्थया चोभयधाऽवस्थिते उभे अपि चिदचिद्द्रव्ये तव शरीरभूते इत्युक्तं भवति। अरूपकस्य

1- -1 W Omits 2- -2 A,B,T Omit 3. A,B,T Omit इति 4 A,B,T °नश °

रूपे इत्यनेन तच्छरीरकत्वं न तव कर्माद्युपाधिप्रयुक्तमपि तु निरुपाधिकमित्युक्तं, यत उभयावस्थास्थितयोश्चिदचितो स्त्वच्छरीरत्वमत एव न चाऽन्यत्। अन्यदत्त्वदात्मकं किञ्चिदपि वस्तुनास्ति। एव मुभयत्र त्वच्छरीरभूत-योश्चिदचित्तोस्त्वां योगेनोपासनात्मकेन युक्तास्सन्तो मुनयो विचक्षते पश्यन्ति। तत्र दृष्टान्तः - वह्निमिव दारुषु, यथा दारुषु मथनाद्युपायेन वह्निं विचक्षते तद्वत्, अन्यतो योगादन्यत उपायान्तरान्नस्यात्, साक्षात्कार इति शेषः। उपायान्तरेण साक्षात्कारो न स्यादित्यर्थः।।४७।।

नचाऽन्यदित्यनेन अन्यत् त्वदात्मकं नास्तीत्युक्तं, नाऽन्यतः स्यादित्यनेनोपायान्तरादृश्यत्वञ्च। तदेतदुभयं प्रपञ्चयन् सर्वात्मकब्रह्मसाक्षात्कारादेव निश्शेष इन्द्रियजय इत्याह-त्वमिति द्वाभ्याम्। तावत्सर्वात्मकत्वं प्रपञ्चयति-त्वमिति। त्वमेव वाय्वादिरूपेणाऽवस्थितः, तच्छरीरकत्वेनाऽवस्थित इत्यर्थः। पूर्वं तवरूपे "तवरूपे" इति व्यतिरेकनिर्देशादत्राऽभेदनिर्देशाच्चेदं तादात्म्यं शरीरात्मभावनिबन्धनमित्यवगम्यते। तत्र मात्राः शब्दादयस्तन्मात्राः, प्राणाश्चेन्द्रियाणि, हृदयं मनः चिदनुग्रहं ज्ञानोत्पत्त्यनुग्राहकं हृदयविशेषणं चिदनुग्रहश्चेति पाठे ज्ञानोत्पत्त्यनुग्राहको महान् बुद्धितत्त्वात्मक उच्यते। किं बहुना, सगुणः सत्त्वादिगुणप्रयुक्तः प्रकृतिपरिणामात्मकः सर्वः पदार्थः विगुणः सत्त्वादिगुणरहितः तदपरिणात्मको जीववर्गश्च मनश्च वचश्च तयोस्समाहारो मनोवचः तेन निरुक्तं विषयीकृतं तदेतत्सर्वं त्वमेव त्वच्छरीरभूतमेव।।४८।।

**विज०** सुखानुभवार्थं हि मोक्षाकांक्षा, तच्छब्दादि विषयेभ्योऽपि स्यात् अतोऽजागलस्तनायितमोक्ष-सुखायको वा प्रेक्षावान् महाप्रयत्नं कुर्यादुन्मत्तमन्तरेण? इति तत्राऽऽह-**यन्मैथुनादिति**। मैथुनादिगृहस्थसुखं यत् तल्लब्ध्वा देहकृपणा देहमात्रपोषणपरायणा स्तृप्यन्ति, नाऽन्ये प्रेक्षावन्त इति शेषः। तर्दाप न सुलभमित्याह-बहुदुःखेति। तत्र बुद्धिमतैवं कार्यमित्याह-कण्डूतिवदिति। मनसिजंकामम्।।४५।।

मुमुक्षुभिः प्रथमत इन्द्रियजय एव समर्थनीयोऽन्यथा मुक्तिसाधनानामपि मौनादीनां लोके जीवनोपायमात्रत्वं भवतीत्याह-**मौनेति**। आपवर्ग्या मुक्तिहेतवः प्रायः सम्यग्भक्त्यनुष्ठिता इति शेषः। हे पुरुष परं न चेत् त एव अजितेन्द्रियाणां पुंसां वार्तास्तत्कालजीवनमात्रोपाया भवन्त्युत अपि सम्भावनामात्रं न तु मुख्यत इत्यर्थः। लोकमोहनार्थं मौनादिकमनुतिष्ठतां दाम्भिकानां तदपि न सेत्स्यतीत्याह अत्र जीवलोके वा यथा अजितेन्द्रियाणां

1- -1 W Omits 2 A.B.T Omits प्र

जीवनमात्रोपाया, न तथा दाम्भिकानां भवन्तीति। "वा विकल्पोपमानयोः" (उपमायां विकल्पे वा) (अम.को. 3-404) इत्यभिधानम्। न वा भवन्तीत्येकं वाक्यमिति वा।।४६।।

मौनादीनां क्लेशसाध्यत्वेनाऽसर्वाधिकारित्वात् सर्वाधिकारिकोपासनाविषयं निरूपर्यात-**रूपे** इति। इमे सदसती कार्यकारणे तवरूपे त्वद्वशत्वात्वत्सन्निधानयोग्ये। अत्र प्रमाणमाह-वेदेति।"द्वे वा व ब्रह्मणोरूपे" (बृह.उ. 2-3-1) इत्यादौ कार्यकारणत्वं किं विकारभावेन निमित्तनैमित्तिकभावे न चेत्याशङ्क्य यथायोग्यमित्यूह-नीयमित्यत्र दृष्टान्तमाह-बीजेति। व्याख्यातमेतत्-"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृह.उ. 5-6-18) इतिवत्। वेददृष्टेचेत्, किं साक्षाद्रूपे इति? नेत्याह-न चेति। अन्यद्विलक्षणं ज्ञानानन्दादिलक्षणं नैव कुतोऽत्राह-अरूपकस्येति। प्राकृतरूपाभावादित्यर्थ। महतां प्रत्यक्षश्चाऽत्र प्रमाणमित्याह-युक्ता इति। भक्तियोगेनोभयत्ररूपद्वये युक्ता, उपासनालक्षणध्यानेनेति शेषः। युक्ता योगिनः उभयत्र सन्निहितं त्वां पश्यन्तीति वा। दर्शनप्रकारमाह-वह्नर्मिति। योगेन मथनाद्युपायेन। अन्ययोगं निवारयति नाऽन्यत इति। भक्तियोगादन्यतोऽन्येनेति। साक्षात्स्वरूपादन्यत् प्राकृतं रूपं नैव। "अरूपमक्षरं ब्रह्म" इति श्रुतेः। अतो न साक्षाद्रूपे इति वा योजना। "साक्षात्स्वरूपापेक्षया स्वरूपादन्यरूपं न" इत्याचार्यविवरणमत्र प्रमाणम्।।४७।।

के ते कार्यकारणे इत्यत स्तन्नामनिर्देशः। तत्सत्ताप्रदत्वेन तद्वशत्वे तद्रूपत्वाभिप्राय इत्याशयेनाऽऽह--त्वमिति। चिदनुग्रहश्चेतन स्तन्मनसा वचसा निरुक्तं नत्वदन्यत् , त्वां विना प्रवृत्तिमन्नास्ति स गुणस्संसारी शौक्ल्यादिगुणयुक्तो वा। विगुणो मुक्त उत्पन्नानन्तरक्षणविशिष्ट पदार्थो वा।।४८।।

**नैते गुणा[1] न गुणिनो महदादयो ये सर्वे मनःप्रभृतयः सहदेवमर्त्याः।**
**आद्यन्तवन्त उरुगाय विदन्ति हि त्वामेवं[2] विमृश्य सुधियो[3] विरमन्ति शब्दात् ।।४९।।**
**तत्तेऽर्हत्तम[4]! नमः स्तुतिकर्मपूजाः कर्म स्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम्।**
**संसेवया त्वयि विनेति षडङ्गया किं भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत।।५०।।**

---

1.H,V, °णानुगु° 2.M,Ma हित्वा एवं; W हित्वादेवं 3. H,V मुनयो 4- -4 H,V तत्तेऽर्हसत्तम ! नमः स्तुतिकर्मपूजाः कर्मस्मृतिश्चरणयोः; M,Ma तत्त्वे मनोदर्शने दृगपि स्तुतौ च वाक्कर्मणि ह्यपि करौ; W तत्ते महत्तमनमः स्तुति कर्म पूजाः कर्मस्मृतिश्चरणयो.

**नारद उवाच**

**एतावद्वर्णित गुणो भक्त्या भक्तेन निर्गुणः।**
**प्रह्लादं प्रणतं प्रीतो यतमन्युरभाषत ।।५१।।**

**श्रीभगवानुवाच**

**प्रह्लाद ! भद्र ! भद्रं ते प्रीतोऽहं तेऽसुरोत्तम !**
**वरंवृणीष्वाभिमतं कामपूरोऽस्म्यहं नृणाम्।।५२।।**

**श्रीध०** अभक्तास्तु स्वस्मिन्नगतमपि त्वां न जानन्तीत्याह-**नैत** इति। एते गुणाद्यभिमानिनो देवाः आद्यन्तवन्तो जडोपाधित्वा दनाद्यन्तं निरुपाधिकं त्वां न विदन्ति। हि यस्मात् सुधियो विद्वांसः एवं विचार्य शब्दा दध्ययनादिव्यापारात् विरमन्ति, त्वामेव समाधिनोपासत इत्यर्थः। तथा च श्रुतिः "किमर्था वय मध्येष्यामहे किमर्थावयं यक्ष्यामहे" इति। "नाऽनुध्यायेद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्" इति। स्मृतिश्च "यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति । तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च" इत्यादिः।।४९।।

उपसंहरति-**तदिति**। हे अर्हसत्तम! नमस्स्तुतिकर्मपूजाः प्रणिपात स्तुतिकर्मार्पणानि कर्म च परिचर्या-चरणयोः स्मृतिश्च कथायां श्रवणञ्च इत्येवं षडङ्गया सम्यक्सेवया विना परमहंसानां गतौ प्राप्ये त्वयि जनः कथं भक्तिं लभेत? यस्मादेवं भक्तिं विना न मोक्षः न च भक्तिः संसेवया विना, अतः प्राक्प्रार्थितं त्वद्दास्ययोगमेव देहीति प्रकरणार्थः।।५०।।

**एतावदिति**। एतावन्तो वर्णिताः गुणाः यस्य। यतमन्यु रुपसंहत कोपः।।५१।।

**प्रह्लादेति**। कामान् पूरयतीति तथा; यद्वा पुरुषार्थप्रवाहोऽस्मीत्यर्थः।।५२।।

**वीर० नैत** इति। गुणाः सत्त्वादयः गुणिनः प्राकृतगुणपरिणामात्मकाः महदादयः आदिशब्देनाऽहङ्कार तन्मात्राऽऽकाशादिभूतानि विवक्षितानि। सहदेवमर्त्याः देवमर्त्यादिभिः सहिताः मनः प्रभृतयश्च करणानि करणिनश्च ये इत्यर्थः। त एते सर्वे त्वां न। विदन्ति। गुणाः न विदन्ति, गुणिनोऽपि न विदन्ति इति प्रत्येकान्वयाभिप्रायेण नञद्वयोपादानम् सकरणास्सर्वे देवमनुष्यादयः स्वान्तरात्मतया वसन्तमपि नत्वामुपायान्तरेण विदन्तीत्यर्थः।

1.M,Ma गत 2- -2 W वत्स! प्रह्लाद! 3 A,B,J. °धि 4 A,B,J उपर ° 5. A,B,J. °त्तम 6.A,B,J add सर्व 7. H,V एतावता 8- -8 W Omits

तत्र हेतुं वदं स्तान् विशिनष्टि आद्यन्तवन्त इति, कर्मायत्तोत्पत्तिविनाशिनः कर्मणासङ्कुचितज्ञानत्वान्नावदन्तीति भावः। मुनयः सर्वान्तरात्मभूतत्वत्स्वरूपमननशीलास्तु हे उरुगाय! त्वामेव सर्वात्मकब्रह्मानुसन्धानरूपयोगेन त्वत्साक्षात्कारविरोधि कर्मनिरसनेन विमृश्य विमर्शनपूर्वकं साक्षात्कृत्य शब्दात् शब्दादिविषयात् विरमन्ति । एव मेव हि निश्शेषमिन्द्रिय जय इति भावः।।४९।।

एवमुपासनात्मकभक्त्येकवेद्यत्वं निरतिशयानन्दरूपत्वत्स्वरूपविषयकभक्तियोगगतस्य अर्थादेव शब्दादिविषयेभ्यो विरामश्चोक्तः। सा च भक्तिः वक्ष्यमाणषडङ्गसेवया विना दुर्लभेतिवदन्नुपसंहरति-**तदिति**। हे महत्तम[1]! तव नमस्स्तुतिकर्म नमस्क्रिया नमस्कारः, स्तुतिक्रिया च पूजा अर्घ्यपाद्यादि निवेदनात्मिका, कर्म परिचर्यात्मकम् ; यद्वा-प्रथमकर्मशब्देन पादसेवनादिपरिचर्यात्मकं कर्म उच्यते, पूजाकर्म पूजात्मकं कर्म, चरणयोः स्मृतिः स्मरणं, कथायां विषयभूतायां श्रवणं कथाविषयकश्रवणञ्चेति इत्थं षड्ङ्गयासेवया विना परमहंसानां प्राप्ये त्वयि भक्तिं जनो लभेत किम्? तयैव लभेत।।५०।।

तदेवं प्रह्लादेन संस्तुतो नृसिंह स्तमुवाचेत्याह देवर्षिः **एतावदिति**। भक्तेन प्रह्लादेन भक्त्या एतावदेतावन्मात्रं वर्णितागुणा यस्य। एतावच्छब्देन गुणानामानन्त्यं सूचयति-निर्गुणो हेयगुणरहितः श्रीनृसंहः यतमन्युरूपसंहृतक्रोधः प्रीतः स्तुत्या हृष्टः "स महात्मा सुदुर्लभः" (भ.गी. 7-19) इत्युक्तरीत्या दुर्लभस्वभक्तलाभेन वा प्रीतः प्रणतं तं प्रह्लादमभाषतोवाच।।५१।।

तदेवाऽऽह-**प्रह्लादेति** त्रिभिः। हे प्रह्लाद! वत्स! ते भद्रमनिष्टनिवृत्तिरिष्टप्राप्तिश्च भवेत् कुतः? हे असुरोत्तम! यतोऽहं ते त्वया प्रीतः प्रीतिं प्रापितः, अत एवाऽभिलषितं वरं वृणीष्ववरय। अहं नृणा मर्थिनां कामपूरः, काम्यन्त इति कामाः धर्मादयः तान् पूरयति ददातीति तथाऽहमस्मि।।५२।।

**विज०** पृथिव्यादिमहत्तत्वान्तं पदार्थजातं कार्यकारणात्मना द्वित्वेन क्रोडीकृतं भगवद्रूपं ततो भिन्न मित्युक्तम्। इदानीं तदवस्थित परमात्मानं तदभिमानिनो देवा अपि साकल्येन न जानन्तीत्येवं विधानन्तमाहात्म्या-म्बुराशिरिति निश्चित्य तमुपासते सन्त इत्याह-**नेति**। गुणाः सत्त्वादिगुणाभिमानिनः, गुणिनो गुणविकाराः। सहदेवमर्त्या इत्यत्र देवशब्देन पृथग्विग्रहवन्त इन्द्रादयो गृह्यन्ते, सुधियो निश्चितशास्त्रार्थाः, शब्दाद्वेदादि शब्दराशिप्रमाणादेतं आद्यन्तवन्त स्त्वां न विदन्तीत्येवं विमृश्य विचार्योपास्य तत्प्रसादेन सन्दृश्य विरमन्ति, संसारादिति शेषः।

1 W हरे !

"यद्वाचाऽनभ्युदितम्" (केन. 3-1-4) इत्यादि श्रुतेः। शब्दाद्विरमन्तीत्यत्र शब्दत्यागोनाऽर्थः। किन्तु वेदेन निर्णीततत्त्वस्य तत्त्वे निरन्तरस्यन्दमानबुद्धिजलराशेः पुंसो हरिगुणानुस्मरणाऽऽयासो नास्तीति वा।।४९।।

श्रीनारायणप्रसाद एव पुरुषार्थसाधनमित्युक्तं, तस्य भक्तिज्ञाने तयोश्च षडङ्गोपासना साध्यं ध्यानं विना नाऽन्यदन्यथा न स्यादित्याशयेनाऽऽह-**तत्त्वे** इति। हि शब्देन अन्यथा जीवच्छव इत्याह। अपिशब्दात् पादौ तव क्षेत्रानुगमने नियोज्याविति ग्राह्यम्। एवं षडङ्गया सेवया विना मुमुक्षुः परमहंसानां गतौ आश्रयभूते त्वयि भक्तिं ज्ञानञ्च लभेत किम्? साधनान्तराभावात् नाऽऽप्रोतीत्यन्वयः। भक्तिज्ञानयोः हेतुहेतुमद्भावादेकग्रहणेन द्वयोर्ग्रहणं युज्यत इति भावः। "परा पूर्वेषां संङ्ख्या वृणक्ति" इति श्रुतेः।।५०।।

हरेरसुरेषु प्रद्वेषाशयात् प्रह्लादस्याऽपि तज्जातित्वेन तत्स्तुत्या कोपोपशमः स्यात्किम्? प्रत्युत आक्षेप करत्त्वेनाऽऽग्रौ शुष्केन्धनप्रक्षेपणवत् ज्वलनाय स्यादिति तत्राऽऽह - **एतावदिति**। योग्यतानुकूल्येन भक्त्य।भक्तेनेति विशेषणद्वयेन शङ्कानिरस्तेति ज्ञातव्यम्। जातित्वमप्रयोजकं भक्तिरेवेति सूचनेन देवदत्तवदुन्मत्तो न भवति भगवानिति सिद्धम्।।५१।।

मन्युशान्तेः किं गमकमिति तत्राऽऽह-**प्रह्लादेति**। वरदानसामर्थ्ये हेतुमाह-कामपूर इति। नृणां, भक्तानामिति शेषः।।५२।।

**मामप्रीणत आयुष्मन् दर्शनं दुर्लभं हि मे।**
**दृष्ट्वा मां न पुनर्जन्तुरात्मानं तप्तुमर्हति।।५३।।**

**प्रीणन्ति ह्यथ मां धीराः सर्वभावेन साधवः।**[1]
**श्रेयस्कामा महाभागा सर्वासामाशिषां पतिम्।।५४।।**[2]

**नारद उवाच**[3]

**एवं प्रलोभ्यमानोऽपि वरैर्लोकप्रलोभनैः।**
**एकान्तित्वाद्भगवति नैच्छत्तानसुरोत्तमः।।५५।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवेयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
सप्तमस्कन्धे प्रह्लादचरिते भगवत्स्तवो नाम नवमोऽध्यायः।।९।।

---

1.M,Ma माधवम् 2 M,Ma सर्वेषा 3--3 A,B,G,J,T,W Omit

**श्रीध॰ मामिति**। अप्रीणतः अप्रीणयतः। तमुमपूर्णकामत्वेन शोचितुम्।।५३।।

**प्रीणन्तीति**। प्रीणन्ति तोषयन्ति।।५४।।

**एवमिति**। एकान्तित्वात् निरुपाधिकभक्तत्वात्[1] ।।५५।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे

श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां नवमोऽध्यायः।।९।।

**वीर॰** हे आयुष्मन्! मामप्रीणतः प्रीतमकुर्वतः पुंसो दुर्लभं हि ममदर्शनं, मां दृष्ट्वा जन्तुर्देही पुनरात्मानं तमुमपूर्णकामत्वेन शोचितुं नाऽर्हति।।५३।।

अथाऽतो धीरा जितेन्द्रियाः श्रेयस्कामयमानाः महाभागा विवेकिनः साधवः सर्वासामाशिषां पुरुषार्थानां पतिं दातारं मां सर्वभावेन करणत्रयैक्येन प्रीणन्ति तोषयन्ति हि[2] खलु[-2]।।५४।।

एवं वराय चोदितोऽपि नैच्छदसुरोत्तम इत्याह नारदः - **एवमिति**। लोकानां विषयातुराणां प्रलोभनं विमोहकैः[3] वरैरेवमित्थं प्रलोभ्यमानोऽप्यसुरोत्तमः प्रह्लाद एकान्तभक्तत्वादनन्यप्रयोजनभगवद्भक्तियुक्तत्वात् तान् धर्मादीन् वरान्नैच्छत् नेयेष।।५५।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां नवमोऽध्यायः।।९।।

**विज॰** मत्प्रसाद एव दर्शनकारणमित्याह-**मामिति**। मामप्रीणतोऽप्रीणयतः मद्दर्शनफलञ्च पान्थदर्शन वन्नेत्याह-दृष्ट्वेति।।५३।।

यतो न तप्ता स्त्रैय्या तस्माद्वीरा माधवं मां प्रीणन्ति प्रीणयन्ति, केन सर्वभावेन पूर्णभक्त्या। माधव इत्यस्याऽर्थो मङ्गलं देवतापतिरित्यभिप्रायेणाह-सर्वेषामिति सर्वेषामविशेषेण या या अभिलषिता आशिषस्तासां तासा माशिषां पतिं पातृत्वेन दातारमित्यर्थः।।५४।।

1. A,J °धिकत्वात्; B °धिभक्तत्वात्। 2- -2 W Omits 3. W °नैः

प्रह्लादोऽपि सामान्यभक्तो न भवति, किन्तु भक्तोत्तम इति प्रकटनाय भगवता विप्रलुब्धोऽपि तान्वरान् नैच्छदित्याह-**एवमिति**। एकान्तित्वान्नैसर्गिकभक्तत्वात्।।५५।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

सप्तमस्कन्धे नवमोऽध्यायः।।९।।

* * * *

# दशमोऽध्यायः

## नारद उवाच

भक्तियोगस्य तत्सर्वमन्तरायतयाऽर्भकः।
मन्यमानो हृषीकेशं स्मयमान उवाच ह*।।१।।

## प्रह्लाद उवाच

[1]मा मां प्रलोभयोत्पत्त्याऽऽसक्तं कामेषु तैर्वरैः।
तत्सङ्गभीतो निर्विण्णो [2-]मुमुक्षुस्त्वामुपाश्रितः[-2]।।२।।

भृत्यलक्षणजिज्ञासु[3]र्भक्तं कामेषु[4] चोदयन्।
भवान् संसारबीजेषु हृदयग्रन्थिषु प्रभो।।३।।

नाऽन्यथा तेऽखिलगुरो[5] घटेत[6] करुणात्मनः।
•नष्टदृष्टे स्तमस्यन्धे [7]त्वमेकः पारदर्शनः।।
यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यस्स वै वणिक्।।४।।

sस वै स्वामी स वै भृत्यो गुणलुब्धौ न कार्मुकौ।
आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः।।
न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन् यो राति चाऽऽशिषः।।५।।

अहन्त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वञ्च स्वाम्यनपाश्रयः।
नाऽन्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव।।६।।

---

*विजय ध्वज पाठः 'उवाच हि' इति स्यादिति जायते 1. M,Ma मा मा 2- -2 W विमुमुक्षुरुपा 3 H,V भृत्यं 4 A,B,G,J,T °च्चोदयन्; M,Ma °च्चचोदयात् 5. M,Ma °रोर्घ° 6. H,M,Ma,V °टते •This half verse is not found in A,B,G,J,T Editions 7 M,Ma त्वं पारः sThis half verse is not found in A,B,G,J,T editions.

**यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ[1]।**
**कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्।।७।।**
**इन्द्रियाणि मनःप्राणा[2] आत्मा धर्मो धृतिर्मतिः।**
**ह्रीः श्रीस्तेजः स्मृतिस्सत्यं यस्य[3] नश्यन्ति जन्मना।।८।।**

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

दशमे त्वनुगृह्याऽमुं भक्तमन्तर्हिते हरौ। प्रसङ्गाद्धरिणा रुद्रे कृतोऽनुग्रह ईर्यते।।

**भक्तीति।** तत्सर्वं वरजातम्।।१।।

**मेति।** उत्पत्त्या स्वभावेनैव आसक्तं माम्। तेषां कामानां सङ्गाद्भीतः।।२।।

ननु किमहं भक्तं प्रलोभयामि, न हि, किन्तु वरं वृणीष्वेति वदतस्तवाऽभिप्रायोऽन्य एवेत्याह - **भृत्य-लक्षणेति।** हृदयस्य ग्रन्थिवत् बन्धकेषु। अन्यथाऽनर्थसाधने प्रवर्तनं न घटेत इत्यर्थः। कथमेवं भृत्यलक्षण ज्ञानं स्यात्, तत्राऽऽह - य इति। ते त्वत्तः।।३,४।।

**स** इति। ननु कामनयाऽपि सेव्यसेवकयोः स्वामिभृत्यभावः प्रसिद्धः, सत्यम्। सोपाधिकोऽसौ न तु तात्त्विक इत्याह। स्वामिन्यात्मन अशिषोऽपेक्षमाणो नैव भृत्यः। भृत्यहेतुकमात्मनः स्वाम्यमिच्छन् यो भृत्याय ददाति स च नैव स्वामी।।५।।

आवयोस्तु तात्त्विकोऽसौ इत्याह - **अहन्त्विति।** अनपाश्रयो निरभिसन्धिः। अन्यथा कामाद्यभिसन्धिना अर्थः प्रयोजनं नास्ति।।६।।

ननु तथाऽपि परमोदारस्य मम सन्तोषार्थं किमपि वृणीष्वेति चेदत आह - **यदीति।** [4]कामोऽभिसन्धिः[4] कामाङ्कुराणां असंरोहं अनुत्पत्तिं भवतः सकाशात्।।७।।

ननु कामोत्पत्तौ सत्यां को दोषस्तत्राऽऽह - **इन्द्रियाणीति।** इन्द्रियादीनि यस्य जन्मना नश्यन्ति इति, आत्मा देहः।।८।।

---

1 W °भः; 2. A,B,G,J,T °णः; 3. M,Ma येषां; 4- -4 A,B,J, omit;

# श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

[1]वरानिच्छायां हेतुं वदन् तं विशिंषन् भगवन्तं [2]प्रह्लादः [3]प्राहेत्याह देवर्षिः - **भक्तियोगस्येति**। तद्भगवता चोदितं धर्मादिवरजातं सर्वमनन्यप्रयोजन भक्तियोगस्यान्तरायतया विघ्नरूपतया मन्यमानः स्मयमानः, अहो मदभिप्रायज्ञो मदन्तरात्मा सन् मामेवं प्रलोभयतीति स्मयमानो हृषीकेशं भगवन्तमुवाच।।१।।

तदेवाह - **मेति** दशभिः। उत्पत्त्या स्वभावेनैव। कामेषु सक्तमासक्तमिति वा छेदः। उत्पत्तिप्रभृति कामेष्वासक्तं मां तैः कामरूपैः वरैः मा प्रलोभय प्रलुब्धं मा कुरु। यतोऽहं तत्सङ्गेन कामासक्त्या अनर्थावहया भीतः तत्र कामेषु निर्विण्णः संसृतिबन्धान्मोक्तुं इच्छुः त्वामुपाश्रितः शरणं गतः।।२।।

.वरं वृणीष्व [4]अभिमतम् इति वराय चोदयतः तव चोदनाद्वारा याचमानाय मह्यं न वरप्रदानेऽभिप्रायः, किन्तु भृत्यस्य मम मनःपरीक्षायामित्याह - **भृत्येति**। कामेषु भृत्यं मां चोदयन् भवान् भृत्यस्य अनन्यप्रयोजनत्वरूपं लक्षणं जिज्ञासुः सर्वज्ञोऽपि भवान् मन्मुखेन मन्मनःपरिजिज्ञासुरेव भृत्यं मां मन्मनः परीक्षार्थमेव मां भृत्यं कामेषु भवान् चोदितवानित्यर्थः। अचोदयदिति पाठः सुगमः। अन्यथा कारुण्यजलधेर्हितोपदेष्टुः भक्तानुग्राहकस्य अनर्थावहेषु कामेषु भृत्यं प्रति वरयाच्ञायै चोदना न घटत इत्याह - अन्यथा एवं चोदयतः तव भृत्यलक्षणाजिज्ञासुत्वाभावे तव करुणात्मनः कारुण्यमूर्तेरखिललोकहितोपदेष्टुः अहितरूपेषु दुःखरूपगर्भजन्मजरा[5]मरणादिरूपसंसारस्य बीजभूतेषु [6-]हृदयग्रन्थि[-6]षु हृदयग्रन्थिवद्दुर्मो[7]चेषु न घटेत चोदनेति शेषः। अतो भृत्यलक्षणाजिज्ञासुस्सन्नेव कामेषु मामचोदयदित्यर्थः। अत्र घटते करुणात्मन इत्यस्यानन्तरं क्वचित् "नष्टदृष्टेस्तमस्यन्धे त्वमेकः पारदर्शनः" इति पठ्यते। तत्राऽयमर्थः - इतोऽपि न कामेषु चोदना भवतो घटत इत्याह - नष्टदृष्टेरिति। अन्धे तमसि संसारात्मके नरके नष्टदृष्टेः स्वात्मपरमात्मयाथात्म्यज्ञानरहितस्य [8]पुंसः अन्धतमस्तरणोपायानभिज्ञस्य वा पुंसः त्वमेवैकः पारदर्शनोऽन्धतमसः पारभूतमात्मानं दर्शयतीति तादृशः। यत एवम्भूतः त्वं ततः तव न घटत इति।।३।।

न तु आशिषः कामयमानोऽपि भृत्यो मम दृश्यत एवेत्य आह - य इति। ते त्वत्तः निरतिशयपुरुषार्थस्वरूपात् यः पुमान् आशिषः कामानाशास्ते त्वत्सेवापूर्वकं प्रार्थयते। स तव न भृत्यः न भृत्यलक्षणलक्षितः। किं तर्हि? स तु [9]वणिक् वणिक्तुल्यः। यथा वणिक् यावत्स्वप्रयोजनमन्यमनुवर्तते तद्वत्सोपाधिकानुवृत्तिमानित्यर्थः।।४।।

1 W अनिच्छा° 2 W प्रह्लादं 3. W उवाचे° 4. A,B,T omit अभिमतम् 5 A,B,T omit जरा 6- -6 A,B,T omit 7 A,B,T °च्यं° 8 A,B,T omit पुंसः 9. A,B,T omit वणिक्

एवं भृत्यात्किञ्चित्प्रयोजनमपेक्ष्य तस्मै कामान्ददत:स्वमित्वमपि निरुपाधिकं नास्तीत्याह - **आशासान** इति। आत्मन: स्वस्य स्वामिन्याशिष: कामानाशासान: कामयमान: न वै भृत्य: भृत्यो न भवति। इदं दृष्टान्तार्थम्, अस्यार्थस्य पूर्वमुक्तत्वात्, यथाऽयं भृत्यो न भवति इत्यर्थ:। तथा भृत्यात्स्वाम्यं स्वामिन: प्रयोजनं स्वाम्यं, तदिच्छन् कामयमानो यो भृत्यायाऽऽशिषो राति ददाति स वै न स्वामी स्वामिशब्दवाच्य एव न भवति नित्यं निरुपाधिकं स्वमस्यास्तीति स्वामी इति नित्ययोगार्थं मत्वर्थीयाऽऽमिनच् प्रत्ययान्त स्वामिशब्द वाच्य एव न भवति, तस्य सोपाधिकस्वामित्वादिति भाव:। अत्र "राति चाऽऽशिष:" इत्यस्यानन्तरं "स वै स्वामी स वै भृत्यो गुणलुब्धौ न कामुकौ" इति क्वचित्पठयते। तत्राऽयमर्थ: - कौ तर्हि स्वामिभृत्यौ इत्यत आह - **स वा** इति। यौ गुणलुब्धौ परस्परानुरागजनक सद्गुणमात्रमोहितौ न कामुकौ परस्परं प्रयोजनान्तरमनपेक्षमाणौ अनुवर्तेते स एव भृत्य:, स एव स्वामीति।।५।।

आवयोस्तु [1]स्वस्वामिभाव: स्वाभाविक इत्याह - **अहमिति**। अहन्तु कीदृशो वा भवतु लोके भृत्य:, अहन्तु अकामोऽनन्यप्रयोजन: त्वद्भक्त [2]इति [3]शब्दार्थ:। त्वमनपाश्रय: स्वामीति। त्वद्भक्तोऽहमकामोऽनन्यप्रयोजन:। "स्वत्वमात्मनि सञ्जातं स्वामित्वं ब्रह्मणि स्थितम्।" (विष्णुधर्मे) "नाऽन्यथालक्षणं तेषां बन्धे मोक्षे तथैव च" (विष्वक्सेन संहिता) इत्युक्तरीत्या प्रबुद्धनित्यनिरुपाधिकत्वद्दास्योऽहम् त्वन्तु निरुपाधिकस्वामीत्यध्यवसायपूर्वकं नित्यं स्वस्य स्वाम्यनुवर्तनं स्वस्वरूपानुबन्धीत्यध्यवसायेन परिहतान्यप्रयोजन: त्वद्भक्तोऽस्मीत्यर्थ:। अतोऽन्यथा प्रकारान्तरेण आवयोरिह स्वस्वामिभावे अर्थ: प्रयोजनं नास्ति। राजसेवकयोरिवेति व्यतिरेकदृष्टान्त:। यथा राजसेवकयो: प्रयोजनान्तरमूलक: स्वस्वामिभाव:, तथा नाऽवयोरिति, तदेतत् [4]सर्वं सर्वज्ञस्त्वं जानास्येवेति भाव:।।६।।

अहो सर्वज्ञस्याऽपि किमेतद्वरयाच्ञायै चोदयत: सत्यसङ्कल्पस्य मम वचस: प्रत्याख्यानं तव शोभते? इति भगवदभिप्रायमभि[5]प्रयन् यदि भवतो मह्यं वरप्रदानेऽभिलाष:। तर्हीदं वरये इत्याह - **यदीति**। हे ईश! वरदश्रेष्ठ: त्वं यदि मह्यं कामानिष्टान्वरान् रासि [7]ददासि, तर्हि भवत: त्वत्तोऽहं मद्धृदये कामानां कामाङ्कुराणां असंरोहं अनुत्पत्तिरूपं वरं वृणे धर्मादिपुरुषार्थेच्छानुदयरूपं वरं याचे इत्यर्थ:।।७।।

---

1. A,B,T भृत्यस्वा° 2 A,B,T °द्भृत्य 3. A,B,T add तु 4. A,B,T omit सर्वं 5. A,B,T °प्रेत्य 6. A,B,T omit यदि 7. W दार्स्यसि

ननु कामोत्पत्तौ[1] सत्यां को दोषः? तत्राऽह-**इन्द्रियाणीति**। यस्य हृदये[2] सञ्जातकामाङ्कुरस्य कामान्कामयमानस्य इन्द्रियादीनि जन्मना जन्मपरम्परया नश्यन्ति, कामिनोऽन्ततः स्थावरत्वप्राप्तौ इन्द्रियमनः प्राणात्मन एव असत्प्राया भवन्ति, किं पुनः धर्मादय इति भावः। न हि इतोऽन्यः कश्चिदनर्थो विद्यत इति तात्पर्यम्। तत्र आत्मा प्रत्यगात्मा। धर्मो वर्णाश्रमानुगुणो भगवदाराधनरूपः, धृतिः धैर्यमिन्द्रियजयो द्वन्द्वसहिष्णुता वा। मतिः स्वात्मपरमात्मविषया। ह्रीः अनुचितकृत्यविषया लज्जा, श्रीः ज्ञानसम्पत्तिः ऐश्वर्यं वा।, तेजोऽनन्यापेक्षता। स्मृतिः हेयोपादेयाऽविस्मरणात्मिका।, सत्यं भूतहितत्वं, सत्यवचनं वा।।८।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अस्मिन्नध्याये भक्त्यैव पुरुषार्थो न द्वेषेण इत्येतत्प्रतिपादनं पुनः पुनः भक्तेः प्रधान्यज्ञापनाय, अन्यदासुरमोहनायेति तात्पर्यम्। वरानिच्छन् प्रह्लादो हरिं किं प्रत्युवाचेति हार्दं युधिष्ठिरप्रश्नं परिहरन्नारदः तत्र वक्तीत्याह - नारद इति। वयसा अर्भको, न तु ज्ञानेनेत्येतद्विशेषप्रकाशनाय हीति विशेषणम्। 'हि हेतौ' (वैज.को. 8-7-9) इत्यमरः।।१।।

ज्ञातसर्वेन्द्रियवृत्तित्वात् हृषीकेशेन त्वया मन्मनोगतं ज्ञातमिति यत् अतो मनः परीक्षणार्थं एतेः मनः प्रलोभनं न कुर्विति प्रार्थयते इत्याशयेनाऽऽह - **मा भेति** गुरुवचनमज्ञातेष्टबोधकत्वेन प्रमाणं स्यात्, इदं स्वभावत एव। ज्ञातेष्टबोधकत्वाद्यर्थमिव प्रतिभातीत्याशयवानाह - उत्पत्त्येति। आसक्तमिति लोकवृत्तान्तप्रदर्शनपरं प्रह्लादस्याऽर्भकावस्थामारभ्य विष्णुधर्मैकनिष्ठत्वात्। यतो विषयसङ्गिनामनर्थपरम्परा दृश्यते तत्तस्माद्विषण्णः। विषयिणो विषयासिद्ध्या तत्कालिकप्रसूतिनिर्वेदवत् नाऽयं निर्वेद इत्याह - मुमुक्षुरिति। अनेन प्रह्लादस्य अधिकारलक्षणसामग्री विद्यत इति दर्शितम्।।२।।

ननु, भगवद्वाक्यं क्वाऽपि विप्रलम्भकं न भवति "अजस्याऽऽवक्रचेतसः" (कठ.उ. 5-1) इति श्रुतेः। भवता तथैव प्रोच्यते। तथाच भगवद्वाक्यस्य अविश्वसनीयत्वं स्यादिति तत्राह - भृत्येति। चोदयात् चोदयति। "धियो यो नः प्रचोदयात्" (बृह.उ. 6.3-6) इति श्रुतेः।।३।।

---

1. W °त्त्यां 2. A,B,T हृदि.

वञ्चनार्थमेव तथोच्यत इति किं न स्यात्? अत्राऽऽह - **नान्यथेति**। अखिलगुरुत्वान्यथानुपपत्त्या न वञ्चनं युक्तमित्यर्थः। इतोऽपि भृत्यलक्षणजिज्ञासैव प्रयोजनं त्वद्वचनस्य, अन्यथा तवेष्टजनघातकत्वदोषापत्तिः स्यात् सा निर्दोषत्वेन न युक्तेत्याशयवानाह नष्टेति। न केवल मितरगुरुवन्मार्गमात्रप्रदर्शकः किन्तु गम्यञ्च। अतो विप्रलोभनं न युक्तम्, अतोवाऽऽह - नष्टेति। पारदर्शिनः पारञ्चान्तं द्रष्टुमिच्छतः ननु मत्प्राप्तिकामाय आशीर्दानवचनमस्तु नाम प्रलोभनं तत्कामुकस्य अभीष्टदानावचनेऽनाकाङ्क्षताभिधानं स्यादिति तत्राऽऽह यस्य इति। ते तव सकाशात् आशिषः सम्पदः सेवायाः। तर्हि स क इति तत्राऽऽह - स इति। "वणषणसम्भक्तौ" इति धातोः सम्भजनं विक्रेयं द्रव्यं प्रसार्य दानलक्षणं, तत्कर्ता वणिग्वै। हि अयञ्च किञ्चित्सुकृतकरणलक्षणदानेन भवादृशाङ्गनात् पुण्यलक्षणफलदानं करोतीति यस्मात्तस्माद्वणिगित्यर्थः। आशास्ते इच्छति। अनेन फलदस्य स्वामित्वञ्च विघटितं भवतीति दर्शितम्। तर्हि कयोः स्वामिभृत्यभावः? इति तत्राऽऽह - **स वा** इति। 'लुभ-गार्ध्ये' इति धातोः भक्त्यादि गुणोद्रेकाकाङ्क्षणौ गुणलुब्धौ, मिथः फलानि न कामुकौ।।४।।

ननु उभयोः फलकामित्वे को दोषः? इति तत्राऽऽह-**आशासान** इति।स्वामिनि समवेता आशिषः आत्मनः स्वस्य आशसानो यः स भृत्यो न वै नैव, किन्तु प्रतिभट एव। वरदानादिना भृत्यात् स्वस्य स्वामित्व-मिच्छन् यो भृत्यायाशिषो राति ददाति स स्वामी न च। कल्पित स्वामित्वेन तच्छब्दस्य मुख्यार्थालाभात्।।५।।

प्रकृते किमभूदिति तत्राऽऽह - **अहन्त्विति**। अनपाश्रयो भृत्यप्राप्यफलानाश्रयः स्वामी, अव्याहत स्वामीत्यर्थः। एतदेव द्रढयति, नान्यथेति। निष्कामत्वेन भृत्यत्वं मम अनपाश्रयत्वेन स्वामित्वम् तव[1], एतस्मादन्यथा प्रकारान्तरेण[2] आवयोः अर्थो नास्ति। किं तत्प्रकारान्तरम्? तत्राह - राजेति। इह लोके यथा राज्ञः सेवकस्य च स्वाज्ञानातिलङ्घनप्रीत्यादिलक्षणः चेतनादिलक्षणस्वार्थोऽस्ति। तथेति।।६।।

ननु, शास्त्रेषु प्रतिपाद्यमानसेव्यसेवकभावो ज्ञातृज्ञेयभावो दातृस्वीकर्तृभाव इत्यादि सम्बन्धि[3] सम्बन्ध-लक्षणार्थसम्भवादावयोः अर्थो नास्तीति निषेधः कथं क्रियते? इत्याशङ्कां परिहर्तुमाह - **यदीति**। "नान्यथेश्वरभाषितम्" इति वचनात् भवदुक्तमन्यथा मा भूदिति भीत्या च वृणे इत्यतो वाऽऽह **यदीति**। रा दाने इति धातुः। काम्यन्ते इति[4] कामाः अभिमता एव वराः तान्, कामानां विषयाणाम् असंरोहं सम्यगनुत्पादं नाम वरं वृणे इत्यन्वयः।।७।।

---

1 A,B, omit तव 2. A.B. °रान्त ° 3 A,B omit सम्बन्धि 4 A.B. omit इति.

केन दोषेण तेषामनुत्पादः प्रार्थ्यत इति तत्राऽऽह - **इन्द्रियाणीति**। येषां कामानां विषयाणां, जन्मना इन्द्रियादयो नश्यन्ति, तेषामिति शेषः। "सर्वेन्द्रियाणां जरयति तेजः" इति श्रुतेः आत्मभक्तिः।।८।।

**विमुञ्चति यदा कामान्मानवो मनसि स्थितान्।[1]**
**तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय[2-] कल्पते[-2]।।९।।***

**नमो भगवते तुभ्यं पुरुषाय महात्मने।**
**हरयेऽद्भुतसिंहाय ब्रह्मणे परमात्मने।।१०।।**

**नृसिंह[3-] उवाच[-3]**

**नैकान्तिनो[4] मे मयि जात्विहाशिष आशासतेऽमुत्र[5] च[6-] वै भवद्विधाः[-6]।**
**तथापि[7] मन्वन्तरमेतदत्र[8] दैत्येश्वराणामनुभुङ्क्ष्व भोगान्।।११।।**

**कथा मदीया जुषमाणः प्रियास्त्वमावेश्य मामात्मनि सन्तमेकम्।**
**सर्वेषु भूतेष्वधियज्ञमीशं यजस्व योगेन चकर्म हिन्वन्।।१२।।**

**भोगेन पुण्यं कुशलेन पापं कलेबरं कालबलेन[9] हित्वा।**
**कीर्तिं विशुद्धां सुरलोकगीतां विताय मामेष्यसि मुक्तबन्धः।।१३।।**

**य एतत्कीर्तयेन्मह्यं त्वया गीतमिदं नरः।**
**त्वाञ्च माञ्च स्मरन्काले कर्मबन्धाद्विमुच्यते[10]।।१४।।**

**प्रह्लाद[11-] उवाच[-11]**

**वरं वरय एतत्ते वरदेशान्महेश्वर[12]।**
**यदनिन्दत्पिता मे त्वामविद्वांस्तेज ऐश्वरम्।।१५।।**

**बद्धामर्षाशयः[13] साक्षात् सर्वलोकगुरुं प्रभुम्।**
**भ्रातृहेति मृषादृष्टिस्त्वद्भक्ते मयि चाघवान्।।१६।।**

---

1. M,Ma श्रितान् 2. M,Ma न भवायाऽव° *The following extra half verse is found in M,Ma Editions only. नारदेनोपदिष्टं मे तव मन्त्रमिमं स्मरे। 3- -3 H,V,W श्रीभगवानुवाच 4. W ये 5. H,V ह्या° 6- -6 A,B,G,J,T च ये भवद्विधाः; M,Ma तथा भवादृशाः 7 A,B,G,J,T अथा° 8 H,V add वै 9. A,B,G,H,J,M,Ma,T,V जवेन 10. A,B,G,J,T °त्र° 11- -11 W omits 12 H,V °श म° 13. A,B,G,J,T वि°. W वृ°

**श्रीध०** कामाभावे गुणमाह - **विमुञ्चतीति**। भगवत्त्वाय त्वत्समानैश्वर्याय। तथा च श्रुतिः "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा योऽस्य हृदि स्थिताः। अथमर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" (कठ.उ. 6-14) इति।।९।।

निर्दोषान् कामान् दातुमिच्छन्तं प्रत्याख्यास्यन्नमस्यति - **नम** इति।

सत्यमेकान्तभक्तस्त्वं तथापि मदाज्ञा करणीयेत्याह-**नेति**। मे एकान्तिनः कदाचिदपि इहाऽमुत्र च मय्याशिषो न वाञ्छन्त्येव तदाप्येतन्मन्वन्तरमात्रं भोगान् भुङ्क्ष्व।।११।।

ननु तर्हि बन्धः स्यादित्यत आह - **कथा** इति द्वाभ्याम्। सर्वेषु भूतेषु सन्तमेकमीशं यज्ञाधिष्ठातारं मामात्मन्यावेश्य यजस्व। तर्हि अनेनैवाऽपि[1] कर्मणा बन्धःस्यात्। नेत्याह योगेन मय्यर्पणेन कर्म हिन्वन् त्यजन् यजस्व।।१२।।

**भोगेनेति**। किञ्च भोगेन सुखानुभवेन प्रारब्धं हित्वा मुक्तबन्धस्सन् लोकानुग्रहार्थं कीर्तिञ्च विस्तार्य मां प्राप्स्यसि कुशलेन पुण्याचरणेन पापं हित्वेति बिभीषामात्रम्[2], अन्यथा तस्य राज्येऽप्रवृत्तेः। ननु तस्य प्राचीनं पापमस्ति "तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्" (ब्र.सू. 4-1-13) इति न्यायात् "तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते" (कौषी.उ.1) इति श्रुतेश्च। न चेदं प्रारब्धपापाभिप्रायं तस्य भोगेनैव क्षयात्, कुशलेन हित्वेति वचनानुपपत्तेः। न चाऽसावविद्वानिति वाच्यं भगवतैव कृतार्थत्वस्याऽनन्तरं वक्ष्यमाणत्वात्। अत एवं योगेन कर्म हिन्वन् इतीदमपि लोकसङ्ग्रहार्थं, कर्मणि प्रवर्तितस्यानुद्वेगमात्रायेति सर्वमनवद्यम्।।१३।।

किञ्च। **य इति**। त्वाञ्च माञ्चेदं मञ्चरित्रञ्च[3] स्मरन्नेतत् स्तोत्रं यः कीर्तयेत्सोऽपि कर्मबन्धाद्विमुच्यते कुतस्तव बन्धशङ्केत्यर्थः।।१४।।

ईश्वराज्ञया प्राप्तकर्माधिकारस्सन् पितृनिष्कृतिं प्रार्थयते त्रिभिः - **वरमिति**। वरं वरणीयमेतदपरं वृणे ते त्वत्तः।।१५।।

**बद्धेति**। बद्धोऽमर्षेण[4] क्रोधेनाऽऽशयो यस्य।।१६।।

**वीर०** निष्कामस्तु त्वां भजन् त्वत्साधर्म्यं प्राप्नोतीत्याह[5] - **विमुञ्चतीति**। यदा मानवो मनुष्यः स्वहृदि स्थितान् कामान् विमुञ्चति अनन्यप्रयोजनेन त्वां भजतीति भावः। हे पुण्डरीकाक्ष! तर्हि तदा स मानवः

1. H,V omit अपि 2. H,V °षिका 3. H,V °त° 4. A,B,J वि° 5. W आ°

[1]भगवत्त्वाय भगवतो भावः भगवत्त्वं तस्मै कल्पते। अपहतपाप्मत्वादिधर्माऽविर्भावाय कल्पते आविर्भूत गुणाष्ट[2]कत्वेन भगवता [3]समानधर्मो मुक्तो भवतीति यावत्।।९।।

मम हृदि कामानुदयरूपात् वरात् अन्यं वरं सर्वथा मा दा इति प्रार्थनाभिप्रायेण भगवन्तं नमस्करोति। ओमिति। भगवते पूर्णषाड्गुण्याय पुरुषाय सर्वा[4]त्मने महात्मने केवलं भक्तानुग्रहैकस्वभावाय हरये आश्रिता-र्तिहराय अद्भुतसिंहाय [5]मादृशसाधुपरित्राणार्थमुपात्तनृसिंहरूपाय ब्रह्मणे स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयबृहते परमात्मने लोकत्रयस्यान्तःप्रवेशेन भर्त्रे प्रणवप्रतिपाद्याय तुभ्यं नमः।।१०।।

एवं प्रत्याख्यातवरयाच्ञं प्रह्लादमाह भगवान् [6]श्रीनृसिंहः - **नैकान्तिन** इति चतुर्भिः। भवद्विधाः त्वादृशा मयि एकान्तिन एकान्तभक्ता अनन्यप्रयोजनेन भजन्तः मे मत्तः जातु कदाचिदपि इहाऽमुत्र च लोके आशिषः कामान्नाऽशासते यद्यपि न प्रार्थयन्ते तथापि एतन्मन्वन्तरपर्यन्तं अत्रैव लोके दैत्येश्वराणामधिपो, भूत्वेति शेषः। भोगान् भुङ्क्ष्व।।११।।

तर्हि बद्धः स्याम् इत्यत्राऽऽह - **कथा**इति। प्रियः मम निरतिशय प्रियः त्वं मदीयाः कथाः जुषमाणः सेवमानः, प्रिया इति पाठे, कथाविशेषणम्। मत्कथाः शृण्वन् त्वं न बद्धः स्या इति भावः। ननु अनिच्छन्तमपि बलात्कामेषु किमर्थं योजयसि इत्यत आह - आत्मनि सर्वेषु भूतेषु चान्तरात्मतया सन्तमधियज्ञं यज्ञाधिपतिं ईश्वरं मां भक्तियोगेन यजस्व आराधयस्व। किं कुर्वन्? मत्प्राप्तिविरोधिपुण्यपापात्मकं कर्म हिन्वन्नपनुदन्। मुमुक्षोरपि अभ्युपगतमत्प्राप्तिविरोधिप्रारब्धफलस्य सुखदुःखात्मकस्य अवश्यमनुभाव्यत्वात् अनिच्छन्तमपि त्वां कामेषु योजयामीति भावः।।१२।।

एतदेव व्यनक्ति - **भोगेनेति**।पुण्यमभ्युपगतप्रारब्धपुण्यकर्म तत्फलभोगेन हित्वा त्यक्त्वा अपनुद्य, पापमभ्युपगतप्रारब्धाख्यं पापं कर्म कुशलेन भोगेन हित्वा भोगकौशलेन हित्वेत्यर्थः। पापफलभोगस्य दुःखरूपत्वात् मनोविकारः स्यादिति यथामनो न विक्रियते तथा भोगकौशलेनेत्यर्थः। "दुखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः... (भ.गी.2.5.6) ..समदुःखसुखं धीरम्" (भ.गी.2-15) इत्याद्युक्तरीत्या अनुद्वेगवत्त्वादि भोगकौशलेनेति यावत्। कुशलेन पुण्येन यज्ञादिकर्मणा पापमभ्युपगतप्रारब्धमपुण्यं कर्म हित्वेति वाऽर्थः, अनुभवेकविनाश्यस्य पुण्यकर्मणा निवृत्त्यनुपपत्तेः। न चाऽत्र पापशब्दः सञ्चिताऽनभ्युपगतादि पापपरः तस्य भक्तियोगेनैव निवृत्तेः।

1. A omits भगवत्त्वाय 2. A,B,T °कवत्त्वे° 3. A,B,T वत्साधर्म्यमागतो 4 A,B,T °वांन्तरात्मने 5. W द्विजसा° 6 W omits श्रीनृसिंहः

न च भक्तियोगप्रतिबन्धकपापपरः, परिपूर्णभक्तियोगनिष्ठत्वात् प्रह्लादस्य तन्निवृत्तेः पूर्वमेव जातत्वात्। तस्मात् यथोक्त एवाऽर्थः। कालबलेन[1] कालवेगेन कलेबरं हित्वा कालवेगेन निर्मितेनानुभूतप्रारब्धावसाने कलेबरं हित्वेत्यर्थः। सुरलोकेऽपि गीयमानां स्वीयां कीर्तिं वितार्य विस्तीर्य मुक्तबन्धः मद्भक्तियोगेन विनष्टाश्लिष्टपूर्वोत्तरा-घरूपमत्प्राप्तिप्रतिबन्धको मामेष्यसि प्राप्स्यसि[2]।।१३।।

किञ्च, यः पुमान् त्वाञ्च माञ्च स्मरन् यदिदं मह्यं त्वया गीतं मत्स्तुत्यात्मकं स्तोत्रं कीर्तयेत् सोऽपि पुमान् काले प्रारब्धानुभवावसानकाले कर्मबन्धात् मत्प्राप्तिप्रतिबन्धकात् पुण्यपापात्मककर्मरूपात्[3] बन्धात् विमुच्यते त्वद्गीतकीर्तन[4] सञ्जात मद्भक्तियोगनिरस्तमत्प्राप्तिप्रतिबन्धककर्मबन्धाद्विमुक्तो भवतीत्यर्थः।।१४।।

ईश्वराज्ञया प्राप्त दैत्याधिपत्यः स्वपितुः निष्कृतिं प्रार्थयते त्रिभिः प्रह्लादः - **वरमिति**। हे महेश्वर! वरदानां ब्रह्मादीनामपि ईश्वरात् ते त्वत्तोऽहं एतद्वरं वृणे। किं तत्? यन्मे पिता ईश्वरस्य तव सम्बन्धितेजः प्रभावं अविद्वान् अजानन्।।१५।।

सर्वलोकहितोपदेष्टारं प्रभुं त्वामनिन्दत् निन्दितवान्। कथम्भूतः? त्वं भ्रातृहेति मृषादृष्टिः दुरभिमानयुक्तः, अत एव वृद्धामर्षाशयः प्रवृद्धो योऽमर्षः क्रोधः तद्युक्त आशयोऽन्तःकरणं यस्य तादृशः। इद्धेति पाठेऽपि अयमेवाऽर्थः। विद्धेति पाठे, विद्धो व्यथितः स चासौ अमर्षयुक्तान्तःकरणश्चेत्यर्थः। एवम्भूतस्त्वां सर्वलोकहितकरं[5] प्रभुमनिन्दत् इति यत्, यच्च त्वद्भक्ते मयि अघवान् द्रोहीति द्रोहं कृतवानिति।।१६।।

**विज०** ननु कामासंरोहोनाम काममोक्षो विवक्षितः, तस्मात्किं फलमिति तत्राह-**विमुञ्चतीति**। भवाय पुनर्जननाय।।९।।

भवन्नमनादि लक्षणाभक्तिश्च तत्फलमित्याह - **नम** इति। भगवत इत्यनेन किञ्चित्पूज्यमात्रवस्तुसिध्यति। अतः पुरुषायेत्यनेनापि कश्चिदेवेत्यतो - महात्मन इति। कोऽसौ इत्यतो हरय इति। हरिशब्दस्य अनेकार्थत्वादत्र क इत्यतोऽद्भुतेति, तिर्यक्प्राणिना त्वया किं स्यादित्यतो ब्रह्मण इति। अस्याप्यनेकार्थत्वादत्र क इत्यतः परमात्मन इति।।१०।।

अहन्त्वकाम इत्येकान्तभक्तलक्षणं यत्त्वयोक्तं, तत्सत्यम्, तथाऽपि मदाज्ञाकारिणः तव पुण्याभिवृद्धिः स्यात् अत एतत्कर्तव्यमित्याह - **नैकान्तिन** इति।किन्तदिति तत्राऽऽह - तथापीति।।११।।

---

1. A,B,T जवेन 2. A,B,T add इत्यर्थः 3 A,B,T omit बन्धात् 4 A,B,T °द्गत 5 A,B,T हितोपदेष्टारं

ननु कर्दमजलस्नानानिच्छया हि एतावन्तं कालं मया कण्ठशोषणमकारि, तदरण्यरोदनवत् व्यर्थमभूत्, यतः त्वं तत्रैव स्नाहीत्युपदिशसि, अतः त्वदाज्ञाऽनुलङ्घ्यात्वमेव जानासीति शङ्कारोगनिर्मूलनाय सुखसाध्यमौषधं विधास्यामीत्याशयवानाह - **कथा** इति। बहुवचनेन सर्वावतारादिकथा उपलक्षयति। भूतेष्वित्युपलक्षणम्। चरुपुरोडाशादिष्वपि यज्ञमूर्तिस्सन्निहित इति योगेन भक्तियुक्तध्यानेन हिन्वन् नाशयन्।।१२।।

नन्वेतावता मम किं कालान्तरभाविनी त्वत्प्राप्तिः स्यादेवेत्याह - **भोगेनेति**। मुक्तावनभिमतं पुण्यं भोगेन क्षपयित्वा प्रायश्चित्तादि कुशलकर्मणा पापं निर्मूलयित्वा विताय विस्तृत्य।।१३।।

मया तवोक्तयोगकरणाशक्तस्य अनायाससाध्यं योगमुपदिशामीत्युपसंहरति - **य** इति। मह्यं मामुद्दिश्य युक्तकाले।।१४।।

अभिमतं इत्युक्तत्वात् इमं त्वदभिमतं वरं वृणे इत्याह - **वरमिति**। ते सकाशात् अनेन दातृस्वीकर्तृभाव सम्बन्धोऽस्तीति ज्ञायेते।।१५,१६।।

**तस्मात्पिता मे पूयेत दुरन्ताद्दुस्तरादघात्।**
**पूतस्तेऽपाङ्गसन्दृष्टस्तदा कृपणवत्सल।।१७।।**

**श्रीभगवानुवाच**

**त्रिस्सप्तभिः पिता पूतः पितृभिस्सह तेऽनघ।**
**यत्साधोऽस्य कुले जातो भवान्वै कुलपावनः।।१८।।**

**यत्र यत्र च मद्भक्ताः प्रशान्तास्समदर्शिनः।**
**साधवस्समुदाचारास्ते पूयन्तेऽपि कीकटान्।।१९।।**

**सर्वात्मना न हिंसन्ति भूतग्रामेषु किञ्चन।**
**उच्चावचेषु दैत्येन्द्र मद्भावेन गतस्पृहाः।।२०।।**

---

1- -1 H,V शान्तया दृष्ट्या दृष्टः 2. W त्रि स° 3. A,B,G,J,T,W गृहे 4 H,V °म्मता° 5. A,B,G,J,M,Ma,T °यन्त्यपि 6 A,B,G,J,T,W °टाः

7. W °व विगत

**भवन्ति पुरुषा[1] लोके मद्भक्तास्त्वामनुव्रताः।**
**भवान्मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक्[2]।।२१।।**

**कुरुते[3] प्रेतकार्याणि पितुः पूतस्य सर्वशः।**
**मदङ्गस्पर्शनेनाऽङ्ग लोकान्यास्यति[4] सुप्रजाः।।२२।।**

**पित्र्यञ्च स्थानमातिष्ठ यथोक्तं ब्रह्मवादिभिः।**
**मय्यावेश्य मनस्तात कुरु कर्माणि मत्परः।।२३।।**

**नारद[5] उवाच[5]**

**प्रह्लादोऽपि तथा चक्रे पितुर्यत्साम्परायिकम्।**
**यथाऽऽह भगवान्राजन्नभिषिक्ते द्विजोत्तमैः।।२४।।***

**श्रीध॰ तस्मादिति।** तेऽपाङ्गेन सन्दृष्टोऽतः पूत एव। तथापि भो कृपणवत्सल! कार्पण्येन प्रार्थये इत्यर्थः।।१७।।

**त्रिस्सप्तभिरिति।** यद्यपि, कश्यपो मरीचिर्ब्रह्मा चेति तत्पितुस्त्रय एव पूर्वजाः, तथाऽपि त्रिस्सप्तभिस्सहेति प्राक्कल्पगतपित्रभिप्रायेणोक्तम्। यद्यस्मात्।।१८।।

**यत्रेति।** सम्यगुत्तम आचारो येषां ते, कीकटा अपि देशास्तत्तुल्या वंशाश्च पूयन्ते शुद्धा भवन्ति।।१९।।

ननु त्वद्भक्तानां, अयं महिमेति न चित्रम्। अहन्तु तादृशो न भवामीति चेत्, तत्राऽऽह - **सर्वात्मनेति** द्वाभ्याम्। मद्भावेन मद्भक्त्या विगतास्पृहा येषाम्।।२०।।

**भवन्तीति।** त्वामनुगता ये केचित्पुरुषाः तेऽपि एवंलक्षणास्सन्तो मद्भक्ता भवन्ति, अतो भवान्मे भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक् उपमानास्पदम्। श्रेष्ठः खल्वित्यर्थः।।२१।।

**कुर्विति।** मदङ्गस्पर्शनेन सर्वशः पूतस्य ते पितुः पापशङ्कैव नाऽस्ति। केवलं पुत्रकृत्यानि प्रेतकार्याणि कुरु।।२२।।

---

1. M,Ma पु॰ 2. H,V दृक् 3 A,B,G,J,T,W त्वं 4. H,V ॰न्यश्यन्ति 5 W श्रीशुक उवाच *An extra half verse is found in H,M.Ma,V Editions - H,V महाभागवतस्सोऽथ चक्रे राजन्वतीं भुवम्।। M,Ma प्रह्लादस्तु तथा कार्षीद्राज्यं निहतकण्टकम्।।

**पित्र्यमिति**। [1-] ब्रह्मवादिभिः [-1] वेदवादिभिः उक्तमनतिक्रम्य मत्परस्सन् कर्माणि कुरु।।२३,२४।।

**वीर०** तस्माद्दुस्तरा दघात् पापान्मे पिता पूयेत विशुद्धेत्, एतद्वरं वरये इत्यन्वयः। यद्यपि ते तवाऽपाङ्गेन सन्दृष्टोऽत एव पूत एव मम पिता तथापि हे कृपणवत्सल! कार्पण्येन प्रार्थये इत्यर्थः।।१७।।

एवं [2] प्रह्लादेन प्रार्थितो भगवान् [3] तमाह **त्रिस्सप्तभिरिति** षड्भिः। न केवलं तव पितैव पूतः, अपि तु हे अनघ! सप्तभिः पित्तृभिस्सह तव पिता त्रिः पूत इति त्रिवारमनुगृह्णामीत्यर्थः। त्रिसप्तभिरितिपाठे एकविंशतिपर्यन्तैः पितृभिस्सह पूत इत्यर्थः। कुतः? यत् यस्मात् हे साधो। [4-] महाभागवतैः [-4] कुलपावनो भवान् [5-] तस्य हिरण्यकशिपोः [-5] गृहे जातः। यद्यपि हिरण्यकशिपोः पितरः कश्यपो मरीचिः ब्रह्मा चेति त्रय एव, तथाऽपि प्राक्कल्पगतपित्राद्यभिप्रायेण त्रिसप्तभिरित्युक्तम्। मद्भक्तस्य तवजननात् एव इदं त्वत्कुलं पूतं इत्यभिप्रायः।।१८।।

एतदेव स्वभक्तप्रभावप्रदर्शनमुखेनाऽऽह - **यत्रेति**। समदर्शिनः कृत्स्नं जगत् ब्रह्मात्मकत्वेन पश्यन्तः प्रशान्ताः जितेन्द्रियाः, सम्यगुत्तमः आचारो येषां ते, साधवः परोपकारशीला मद्भक्ताः यत्र यत्र देशेसन्ति, ते कीकटा अपि कीकटकल्पा म्लेच्छदेशाः, अपिशब्दात्तत्प्रभवा अपि पूयन्ते शुद्धा भवन्ति।।१९।।

ननु, त्वद्भक्तानामयं प्रभाव इति न चित्रं, नाऽहं तु तादृशः इति चेत् तत्राऽऽह - **सर्वात्मनेति** द्वाभ्याम्। हे दैत्येन्द्र! लोके ये मद्भक्ताः पुरुषाः ते त्वां मद्भक्तश्रेष्ठमनुव्रता अनुवर्तमाना भवन्ति। त्वं यथा मद्भक्तश्रेष्ठः तथा वयमपि भगवद्भक्ता भवेम इति त्वत्पदवीमनुवर्तमाना मद्भक्ता भवन्ति। अतः सर्वेषां भक्तानां भवान् प्रतिरूपधृक् दृष्टान्तभूतः। अतस्त्वं भागवतोत्तमोत्तम इति भावः। तदनुवृत्तिप्रकारमेवाह [6] - उत्कृष्टेषु [7] अपकृष्टेषु च भूतग्रामेषु देवमनुष्यादिभूतसङ्घेषु सर्वात्मना करणत्रयेण न किञ्चिदपि हिंसन्ति, मद्भावेन मद्भक्त्या विगता स्पृहा येषां, मत्साम्यापत्तिनिस्पृहा इति वा। तादृशाश्चभवन्ति। त्वद्दृष्टान्तेनैवाऽत्मानं शिक्षयन्तीत्यर्थः।।२०,२१।।

अतस्सर्वथा पूतस्य विशुद्धस्य तव पितुः प्रेतकार्याणि दाहादिकर्माणि कुरु। अङ्ग। हे प्रह्लाद। शोभना प्रजाः [8] पुत्राः त्वद्रूपो यस्य सः त्वत्पिता मदङ्गस्पर्शनेन मच्छरीरसंस्पर्शनेन हेतुना लोकान्पुण्यलोकान् यास्यति प्राप्स्यति। पश्यतीति पाठे द्रक्ष्यतीत्यर्थः। वर्तमानसामीप्ये भविष्यति लट्।।२२।।

---

1- -1 H,V omit, 2. W omits प्रह्लादेन 3. W omits तं 4- -4 W omits 5- -5 W omits 6. A,B,T °माह 7. A,B,T omit अपकृष्टेषु

8. A,B,T omit पुत्राः।

पित्र्यं पितृसम्बन्धि पित्राधिष्ठितं महेन्द्रभवनं विहाय पित्र्यं दानवाधिपत्यस्थानमधितिष्ठेत्यर्भः। हे तात! मयि मन आवेश्य ब्रह्मवादिभिरुक्तमनतिक्रम्य कर्माणि मदाराधनरूपाणि, मत्परः अहमेव परस्तेषां कर्मणां फलं यस्य तादृशस्सन्[1] कुरु।।२३।।

एवमुक्तः प्रह्लादो यथोक्तमकरोदित्याह नारदः - **प्रह्लादोऽपीति**। हे राजन्! युधिष्ठिर! यथा भगवानाह तथैव प्रह्लादः पितुः यत्साम्परायिकं प्रेतोद्देशेन कर्तव्यं तत्सर्वं चक्रे। ततो द्विजोत्तमैः अभिषिक्तश्च बभूव दानवादीनां आधिपत्यं[2] अकरोदित्यर्थः[2]।।२४।।

**विज०** शुद्ध्यर्थं साधनान्तरानुष्ठानं नाऽपेक्षितमित्याऽऽह - पूत इति।।१७।।

न केवलमयमेव पिता पूतः, किन्तु जन्मान्तरेऽपि विद्यमानाः पितरः पूताः स्युः इत्याशयवानाऽऽह - **त्रिस्सप्तभिरिति**। सा विशुद्धिर्मत्कटाक्षपात्रीभूत त्वज्जन्मनेत्याह - यत्साधोऽस्येति।।१८।।

एतन्न्यायमन्यत्राऽतिदिशति - **यत्रेति**। कीकटा इति पाठे आभीरा इत्यर्थः।।१९।।

ननु त्वद्भक्तानां एवंविधमाहात्म्यं कस्मादित्याशङ्क्य तपोवृद्धिक्षयहेतुहिंसाद्यभावादित्याह - **सर्वात्मनेति**। सर्वात्मना यदपि किञ्चन कृकलासादिकमपि " तस्मात्प्राणभृतः प्राणं न विच्छिन्द्यादपि कृकलासस्य" इति श्रुतेः। तत्र निमित्तमाह - मद्भावेनेति। "ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टः" (भाग. 3-29-3) इति वचनात्सर्वत्र मम भावः सत्ताऽस्तीति, भावो भावना निरन्तरानुस्मरणं तेन गतस्पृहाः नष्टस्पर्धाः हिंसायाः कारणं निमित्ताभावान्नैमित्तिकाभावः इत्यर्थः।।२०।।

इह लोके ये मद्भक्ताः पुरुषाभवन्ति विद्यन्ते तेन हिंसन्तीत्यन्वयः। मद्भक्तेष्वपि तव विशेषोऽस्तीत्याह- भवानिति। प्रतिरूपधृक् दृष्टान्तस्थलभूतः। खलु शब्देन कांश्चिन्निषिध्य अवशिष्टानां सर्वेषामित्यर्थो गृह्यते तेन यावत्तावदित्यर्थः।"ऋते तु सात्त्विकान्देवान्नारदादींस्तथैवच। प्रह्लादादुत्तमः को नु विष्णुभक्तो जगत्रये" (स्कान्दे) इति वचनात्। "निषेधवाक्यालङ्कार जिज्ञासानुनये खलु" (अमः कोः 3-410) इत्यभिधानम्।।२१।।

मत्पिता भवद्द्वेषीति मत्वा तत्प्रेतकार्याणि न करोमीति मतिः मा भूत्। "श्रौतं स्मार्तं न लङ्घ्येत्" इति वचनात् मदाज्ञया तान्यपि कर्तव्यानि "नाऽवैष्णवाय दातव्यं नोदबिन्दुं न तण्डुलम्" इत्येतदसम्बन्धिविषयत्वेन सावकाशमित्याशयेनाऽऽह मदङ्गेति। सुप्रजाः सुपुत्रः।।२२।।

1 W omits सन् 2- -2 W °त्यं अभिषिक्तो बभूव इत्यर्थः।

पितृमेधं कृत्वा विरज्य वनं न व्रज किन्तु राज्यं कुर्वित्याह - पित्र्यमिति। राज्यं कुर्वन् पितृवल्लोकोपद्रवं न कुरु; किन्तु ब्रह्मवाद्युक्तधर्मेणेत्याह - यथोक्तमिति। न तावता पूर्यतेऽन्यच्च आवश्यकमित्याह-मयीति। कर्माणि सामादिविषयाणि पूजादीनि वा।।२३।।

भगवदाज्ञानुल्लङ्घनेन भगवत्प्रीतिः स्यादिति कृत्वा तदाज्ञाकरणप्रकारमाह - नारद इति। साम्परायिकं पारलौकिकम्।।२४।।

**प्रसादसुमुखं दृष्ट्वा ब्रह्मा नरहरिं हरिम्।**
**स्तुत्वावाग्भिः पवित्राभिः प्राह देवादिभिर्वृतः।।२५।।**

**ब्रह्मोवाच**

**देवदेवाऽखिलाध्यक्ष! भूतभावन! पूर्वज!**
**दिष्ट्या ते निहतःपापो लोकसन्तापनोऽसुरः।।२६।।**

**योऽसौ लब्धवरो मत्तः न वध्यो मम सृष्टिभिः।**
**तपोयोगबलोन्नद्धः[1] समस्तनिगमानहन्[2]।।२७।।**

**दिष्ट्याऽस्य तनयस्साधुर्महाभागवतोऽर्भकः।**
**त्वया विमोचितो मृत्यो दिष्ट्या त्वां[3] समितोऽधुना[4]।।२८।।**

**एतद्वपुस्तेभगवन् ध्यायतः प्रयतात्मनः।**
**सर्वतोगोप्तृ सन्त्रासान्मृत्योरपि जिघांसतः।।२९।।***

**नृसिंह उवाच[5-5]**

**मैवं[6] वरोऽसुराणां[7] ते प्रदेयः पद्मसम्भव।**
**वरः क्रूरनिसर्गणामहीनाममृतं यथा।।३०।।**

---

1. H,V °न्मत्तः 2. H,V °स्तान्नि° 3. H,V °मान्न° 4- -4 H,V °ताता द्भयङ्करात्; M,Ma °त्रातस्त्वयाऽधुना *The following three half verses are found in H,V Eds only. अहोऽयं सुहृद्धन्यः तेन लब्धोऽमुना लयः। सर्ववेदमये साक्षात् सर्वयज्ञतपोमये।। सर्वतीर्थमयोत्यङ्गे स्नातोऽग्राविव काञ्चनम्।। 5- -5 M,Ma,W श्रीभगवानुवाच 6. W नैवं 7 H,V सुरासु°; M,Ma विधोऽस°

**नारद उवाच**

**इत्युक्त्वा भगवान् राजन् ततश्चान्तर्दधे हरिः।**
**अदृश्यस्सर्वभूतानां पूजितः परमेष्ठिना।।३१।।**
**ततस्सम्पूज्य शिरसा ववन्दे परमेष्ठिनम्।**
**भवं प्रजापतिं देवान्प्रह्लादो भगवत्कलाः।।३२।।**

**श्रीध॰ देवेति।** मम सृष्टिभिः मया सृष्टैः भूतैः। समस्तान्निगमान् धर्मानित्यर्थः। अहन् हतवान् सत्वया हतः। एतद्दिष्ट्या भद्रम्।।२५-२७।।

**दिष्ट्येति।** दिष्ट्या साधुर्जातः इत्यन्वयात् न पौनरुक्त्यम्। समितः सम्यक्प्राप्तः।।२८।।

**एतदिति।** सर्वतस्सन्त्रासात्। गोप्तृरक्षकम्।।२९।।

**मैवमिति** एवं वरस्त्वया न प्रदेयः क्रूरो निसर्गः स्वभावो येषाम्। अमृतं क्षीरम्।।३०-३२।।

**वीर॰** ततः प्रसादाभिमुखं सुन्दरं मुखं यस्य तं नरहरिं श्रीनृसिंहरूपं हरिं आश्रितार्तिहरं भगवन्तं दृष्ट्वा ब्रह्मा चतुर्मुखः देवादिभिः परिवृतः पवित्राभिः वाग्भिः स्तुत्वा वाचां भगवद्गुणविषयकत्वेन लोकपावनकरत्वात् पवित्राभिः इत्युक्तम्। प्राहोवाच।।२५।।

तदेवं चतुर्मुखोक्तमाह - **देवेति** चतुर्भिः। हे देवदेव! देवानामपिदेव! ननु, त्वम् इन्द्रादि देवानामपि देवो नाऽहं तत्राह - हे अखिलाध्यक्ष! ननु सोऽपि त्वमेव तत्राऽऽह - हे भूतभावन! भूतानि भावयति उत्पादयतीति तथा। ननु, सोऽपि त्वमेव हे पूर्वज! ममाऽपि पूर्वं कारणत्वेनावस्थित! लोकानां सन्तापनकरोऽत एव पापोऽयमसुरो दिष्ट्या दैवात्, ते त्वया निहतः। दिष्ट्या हत इति तद्वरस्य दुष्करत्वं सूचितम्।।२६।।

तदेवाऽऽविष्कुर्वन् असुरं विशिनष्टि **योऽसाविति**। योऽसावसुरः मत्तः लब्धो वरो येन तादृशाः मम सृष्टिभिः मया सृष्टैः भूतैः न वध्यः हन्तुमशक्यः तपोयोग एव बलं तेनोन्नद्धः गर्वितः समस्तनिगमान् शास्त्रीयधर्मान् अहन् विनाशितवान्। स तु त्वया विनाशितः एतद्दिष्ट्या जातमिति भावः।।२७।।

---

1 A,B,G,J,T तत्रैवान्त॰ 2. H,V गिरिशं; M,Ma विधिवत् 3. A,B,G,J,M,Ma,T पतीन्. 4- -4 H,V omit 5- -5 A,B,J omit 6- -6 A,B,J omit 7- -7 W तदेवाह 8 A,B,T add तत्राऽऽह

[1]अस्यऽसुरस्य तनयो महाभागवतोऽर्भकः प्रह्लादः त्वया मृत्योः सकाशात् विमोचित इति, स च त्वामतीव क्रोधाविष्टं सम्यगितः प्राप्तोऽधुनेति चैतदपि दिष्ट्या जातमित्यर्थः।।२८।।

हे भगवन्, तवैतद्वपुः नृसिंहरूपं ध्यायतः प्रयतात्मनः समाहितमनसः पुंसस्सर्वतः सन्त्रासात् भयाद्गोप्तृ रक्षकं जिघांसतः हन्तुमिच्छतः मृत्योरपि सकाशाद्गोप्तृ। एतच्च प्रह्लाददृष्टान्तेन अस्माभिरनुमितमिति भावः।।२९।।

एवमभिहितः तमाह श्रीभगवान्नेति। हे पद्मसम्भव! इतः प्रभृति एवंविधो वरोऽसुराणां ते त्वया न प्रदेयः। क्रूरो निसर्गः स्वभावो येषां तेषां अहीनां सर्पाणाम् अमृतं क्षीरं, यथा क्षीरप्रदानेन[2] तद्वर्धनं यथा लोकोपद्रवकारि तद्वदिदं तेषां वरप्रदानमित्यर्थः।।३०।।

एवं ब्रह्माणमनुज्ञाप्य भगवान्[3] अन्तर्दधे[3] इत्याह - देवर्षिः[4] **इतीति**। हे राजन्! इति इत्यमुक्त्वा परमेष्ठिना[5] ब्रह्मणा[6] पूजितः भगवान्[7] हरिः तत्रैव सर्वभूतानाम् पश्यताम् अदृश्यः दर्शनाविषयो भवतीति तथा अन्तर्हितवान्[7]।।३१।।

ततः प्रह्लादः परमेष्ठिनं ब्रह्माणं भवं रुद्रं प्रजापतीन् मरीच्यादीन् देवानिन्द्रादींश्च भगवत्कलाः भगवदंशभूतान् सम्पूज्य शिरसा ववन्दे ननाम।।३२।।

**विज०** तत्राऽऽगतेषु देवेषु एकतमेनाऽपि संलापो हरेरभून्न वा? आद्ये केन? द्वितीये देत्येभ्य एषां को विशेषः? किञ्च सेव्यसेवकादि[8] भावाभावेन ब्रह्मविद्याधिकारोऽप्युत्पादितः स्यादित्याशङ्कां परिहरति - **प्रसादेति**। देवादिभिर्वृत इत्यनेन तैरपि स्वच्छन्दवचनं कृतमिति ज्ञातव्यम्।।२५।।

दिष्ट्या सुखमभूत्।।२६।।

[9]मम सकाशात् सृष्टं सर्जनमेषामस्ति ते मम सृष्टैरित्यर्थः।।१७।।

दिष्ट्या सज्जनसुखहेतुतः अधुना तस्मै दिष्ट्या सुखलक्षणो वरो दत्त इति शेषः।।२८।।

अनेन वपुषा न केवलं दैत्यहननमेव प्रयोजनं किन्तु अन्यच्चास्तीत्याह - एतदिति।।२९।।

एवं स्तुतो भगवान् कमनुग्रहमकार्षीत्तेषामिति तत्राऽऽह - श्रीभगवानिति। निसर्गतः क्रूराणां अमृतं पयः

---

1. A,B,T add किं तदाऽपि दिष्ट्या जातं किम्? 2. A,B,T दत्वेन 3- -3 अन्तर्दधे हरिः 4. A,B,T नारदः 5. W omits परमेष्ठिना 6. A,B,T omit ब्रह्मणा 7- -7 A,B,T सर्वप्राणिनां अदृश्यः हरिः, इत्युक्त्वाऽन्तर्दधेऽदृश्योऽभूत्।। 8. A,B °दिभावेन 9. Ma omits मम.

"देवान्ने सलिले क्षीरे त्वमृतं ना विमुक्तिगो" इति। अत्र हिरण्यकशिपुमन्तरेण अन्येषां न दातव्य इत्याज्ञा क्रियते न त्वस्य हि "यथा हिरण्यकस्याऽदादन्तःस्थितहरीरितः" (स्कान्दे) इत्यादिना स्वप्रेरितत्वावगमादिति।।३०।।

मद्भृत्यानामपि योग्यप्रत्यक्षत्वे "हरेरुपर्युपरिव्यवहारेण ध्यायन्ति देवमनुष्याः" इति श्रुतेः।, देवस्वभावो यस्स विहितः स्यादिति मत्वा तद्रक्षणार्थं तद्विग्रहेणादृष्टोऽभूदित्याह - नारद इति। सर्वभूतानामदृश्य इत्यनेन भक्तानुकम्पित्वं प्रदर्शितम्।।३१।।

अनन्तरं प्रह्लादेन ब्रह्मादयो देवाः सत्कृता, उत आत्मनो भगवदनुग्रहपात्रत्वेन अहम्भावेन धिक्कृताः? आद्ये वैष्णवाचारः प्रवर्तितः स्यात्। द्वितीये भगवच्छिक्षणं गजस्नानवत्स्यादिति तत्राऽऽह - **तत** इति। भगवतः कलालेशाः येषु तथा भगवतो भिन्नांशा वा।।३२।।

**ततः काव्यादिभिस्सार्धं मुनिभिःकमलासनः।**
**दैत्यानां दानवानाञ्च प्रह्लाद मकरोत्पतिम्।।३३।।**

**प्रतिनन्द्यततो देवाः प्रयुज्य परमाशिषः।**
**स्वधामानि ययूराजन्! ब्रह्माद्याः प्रतिपूजिताः[1]।।३४।।**

**एवं तौ पार्षदौ विष्णोः पुत्रत्वं प्रापितौ दितेः।**
**हृदि स्थितेन हरिणा वैरभावेन तौ हतौ।।३५।।**

**पुनश्च[2] विप्रशापेन[3] राक्षसौ तौ[4] बभूवतुः।**
**कुम्भकर्णदशग्रीवौ हतौ तौ रामविक्रमैः।।३६।।**

**शयानौ हृदि निर्भिन्नहृदयौ रामसायकैः।**
**तच्चित्तौ जहतु र्देहं यथा प्राक्तनजन्मनि।।३७।।**

**ता विहाऽथ[5] पुनर्जातौ शिशुपालकरूषजौ।**
**हरौ[6] वैरानुबन्धेन पश्यतस्ते समीयतुः।।३८।।**

1 H.V परि 2. H.M,Ma °न स्तौ 3. M,Ma पूर्वं 4 H,V द्वौ 5. H.V °हाऽपि; M,Ma °हाऽध्य 6. W हतौ

**एनः पूर्वकृतं यत्तत् राजानः कृष्णवैरिणः।**
**जहुस्ते[1] ते तदात्मानं कीटाःपेशस्कृतो[2] यथा।।३९।।**

**यथा[3-] यथा भगवतो भक्त्या परमयाऽभिदा[-3]।**
**नृपाश्चेद्यादय[4] स्साम्यं हरे स्तच्चिन्तया ययुः।।४०।।**

**श्रीध०** शिशुपालदन्तवक्त्रयोर्द्विषतोः श्रीकृष्णसायुज्यं कथमिति यत्पृष्टं तदेव तयोः पूर्वजन्मकथनादिभिः उपपादित मुपसंहरति-**एवमिति** सत्तभिः। दितेः पुत्रत्वं प्रापितौ, विप्रशापेनेत्यनुषङ्गः।।३३-३६।।

**शयानाविति।** तच्चित्तौ श्रीरामे चित्तं ययौ स्तौ[5-][-5]।।३७।।

**ताविति।** करूषजोदन्तवक्त्रः। हरौ सायुज्यं समीयतुः।।३८।।

**एन** इति। कृष्णनिन्दादिना पूर्वकृतञ्च यदेनः पापं तध्यानेन तदात्मानस्सन्तो जहुः। तदात्मत्वे दृष्टान्तः- कीटः पेशस्कृतो ध्यानेन यथा तदात्मा भवतीति।।३९।।

**यथेति।** अभिदा भेददर्शनशून्यया हरेः साम्यं सारूप्यम्।।४०।।

**वीर०** ततः[6-] कमलासनो[-6] ब्रह्मा काव्यादिभिःभार्गवादिभिः[7] मुनिभिः[8] सहितः प्रह्लादं दैत्यानां दानवानाञ्च पति मकरोत्।।३३।।

हे राजन्! ततो ब्रह्मादयः सर्वे देवाः प्रह्लादं प्रतिनन्द्य, अहो त्वत्प्रभावोऽनितरसाधारण इत्यभिनन्द्य परमाः श्रेष्ठाः[9] आशिषः प्रयुज्य प्रह्लादेन प्रतिपूजिताः स्वधामानि स्वकीयस्थानानि ययुः।।३४।।

तदेवं शिशुपालदन्तवक्त्रयोः भगवन्तं द्विषतोः कथं मुक्तिरिति युधिष्ठरप्रश्नस्य तत्पूर्वजन्मकथनादिमुखे नोक्तमुत्तरमुपसंहराति - एवमिति सप्तभिः। विष्णोः पार्षदौ स्थितौ, विप्रशापेन सनकादीनां शापेन दितेः पुत्रत्वमेवं प्रापितौ। वैरभावेन हेतुना स्वहृदि स्थितेन हरिणा नृसिंहरूपं बिभ्रता हतौ।।३५।।

पुनः कुम्भकर्णरावणाख्यौ राक्षसौ बभूवतुः तौ च रामस्य[10] दाशरथेः विक्रमैः[11] हतौ अभिभूतौ[12] इत्यर्थः।।३६।।

---

1 A,B,G,J,T स्त्वन्तः; H,V °स्तेऽपि 2. A,B,G,J,T,W °टः 3- -3 भगवतो भक्त्या परया चाऽभिदा यथा; M,Ma यथा भागवता भक्त्या परमयाऽभिदा 4. A,B,G,J,T,V °स्सात्म्यं 5- -5 H,V श्रीरामं चिन्तयन्तो 6- -6 W omits 7. W omits भार्गवादिभिः 8 A,B,T omit मुनिभिः 9. W omits श्रेष्ठाः 10 W राघवस्य 11 W omits हतौ 12. W इति शेषः

तौ च रामस्य राघवस्य सायकैः बाणैः निर्भिन्नं हृदयं ययोस्तौ युधि युद्धे शयानौ तच्चित्तौ तस्मिन् श्रीरामे एव चित्तं ययोस्तौ यथा प्राक्तनजन्मनि तद्वद्देहं जहतुः तत्यजतुः।।३७।।

तावेवेहशिशुपालकरूषजौ, करूषजो दन्तवक्त्रः शिशुपालदन्तवक्त्ररूपेण जातौ पुनर्हरिणा हतौ वैरानुबन्धेन हेतुना ते तव पश्यतस्सतः समीयतुः सायुज्यं प्रापतुः।।३८।।

न केवलं शिशुपालकरूषजावेव समीयतुः अपि त्वन्येऽपि राजानःकृष्ण वैरिणस्ते सर्वेऽपि यदेनः पापं पूर्वं कृतं तज्जहुः तत्यजुः, तदात्मानः कृष्णात्मानश्चाभवन्। यथा पेशस्कृतश्चिन्त्यमानाद्धेतोः कीटः स्तदात्मा भवति, तद्वत्। तदात्मानस्तत्तुल्यस्वभावा अभवन्नित्यर्थः। आत्मशब्दः स्वभाववाची। तस्यैवाऽऽत्मा स्वभावो येषान्ते इत्युपमानबहुव्रीहिः। अन्यथा दृष्टान्तवैघट्यात्। न हि कीटः पेशस्कृता ऐक्यं याति। किन्तु तस्य समानाकारो भवति। अत एव ह्यनन्तरग्रन्थे साम्यं ययुरित्युक्तम्।।३९।।

यथा अभिदा अनन्यया भक्त्या भगवतस्साम्यं यान्ति तद्भक्ता, स्तथा चैद्यादयोऽपि नृपास्तस्य भगवतश्चिन्तया संरम्भपूर्वकचिन्तया हरेस्साम्यं ययुः।।४०।।

**विज०** भगवच्चित्तज्ञेन ब्रह्मणा वा इद मन्वग्राहीत्याह - तत इति। अनेन भक्तेन भगवद्भक्तेषु यथायोग्यं प्रेम कर्तव्यमिति शास्त्राचारो दर्शितः।।३३।।

प्रह्लादवरदानान्तरं भगवता स्वाचारत्वेन यद्दर्शनमकारि तदस्माभिरनुष्ठेयमिति कृत्वा ब्रह्माद्या अपि स्वगृहान्ययुरित्याह - **प्रतिनन्द्येति**।।३४।।

इदानीं विशकलितोक्तमर्थं निक्षिप्योपसंहरति - एवमिति। हृदि स्थितेन वैरभावेन हेतुना हरिणा हतौ।।३५,३६।।

प्राक्तनजन्मनि जयविजयशब्दवाच्यौ पूर्वजन्मनि यथा तच्चित्तौ तथाऽत्रापीति शेषः। हिरण्यकशिपुः हिरण्याक्षाख्यः पूर्वजन्मनि यथा तथेति वा।।३७।।

वैरानुबन्धेन वैरोपसर्जनेनाऽनुबन्धेन स्नेहेन समीयतुः, हरिमिति शेषः। तत्रासुरौ तम ईयतु रित्यनु सन्धेयम्। सम्यग्भक्त्यैव श्रीहरिप्राप्तिः, तदभावेन तम एवेति द्योतनाय समित्युपसर्गः। "मधुकैटभौ भक्त्यभावाद्दूरौ भगवतो मृतौ। तम एव क्रमादाप्तौ भक्त्या चैद्यो हरिं ययौ।" (स्कान्दे) इति वचनात्।।३८।।

1. W omits तौच 2. W omits राघवस्य 3. A,B,T omit सायकैः 4. W omits बाणैः 5. A,B,T omit युद्धे शयानौ 6. A,B,T सन्त°

7- -7 तञ्ज उज्जहुः

अन्येषामपि सद्भावादेत॒दुपलक्षणार्थमुक्तमित्यभिप्रेत्याऽऽह - एव इति। अत्रापि वैरानुबन्धेन - त्यनुवर्तते। ये राजानः पौण्ड्रकादि शब्दवाच्यास्तेषु असुरदेहेषु आत्मा रूपविशेषो येषां ते तथा। तत्रापि तस्मिन् कृष्णे आत्मा चित्तं येषान्ते तथा तदनुष्ठितपुण्यफलस्वीकारार्थं तत्राविष्टा स्तद्भक्ता इत्यर्थः। ते भक्त्यैव यत्पूर्वकृतं तत्सम्बन्धप्राप्तमेनः पापं तज्जहुः, तद्धित्वा हर्याज्ञाकरणप्राप्तपुण्य प्रचयेन तं हरिमीयुः। त एव कृष्णवैरिणोऽनादिकाल मारभ्य भगवद्वेषिणः कृष्णाश्च तामसाश्च वैरिणःवैररूपिणो राजानो राजसाः तमः॒प्रकृतयो दैत्याः तदात्मानो द्वेषरूपिणः ते जन्मप्रभृति चीर्णं यदेनः तेन पापेन वैरानुबन्धेन निरन्तरवैरचिन्तया पूर्वकृतं ब्रह्मणा पूर्वं क्लृप्तं तमो जहुः जग्धुरित्यन्वयः। ओ हाङ्गतौ इति धातुः। इति 'सखे कहास्तेऽन्यस्य समुकुलं सुरं प्रवेके हास्ते' इति प्रयोगश्च। अन्तेभक्त्यादिसाधनसामग्र्यनन्तरं इतरत्र द्वेषपूर्त्यनन्तर मित्यत्र "तस्य तावदेव चिरत्" (छान्दो.उ. 6-14-2) इति श्रुतेः। "अनेवंवित् महत्पुण्यं कर्मकरोति तद्धास्यान्तकः क्षीयते" (बृह.उ. 1-4-15) इत्यादेश्च कीटाः पेशस्कृतचिन्तनया पेशस्कृताकार माप्नुवन्ति, नतु तदात्मत्वम्। अत्र प्रमाणम् - "पौण्ड्रके नरके चैव शाल्वे कंसे च रुक्मिणि। आविष्टा स्ते हरेर्भक्ता स्तद्भक्त्या हरि मीयिरे। असुरास्तु स्वयं तेतु महातमसि पातिताः" (स्कान्दे) इति वाक्यम्।।३९।।

अत्रापि तारतम्यमस्तीयाह - यथेति। भिदां विशेषम्। "भेदो विश्लेषे दलने" (विश्लेषे दारणे भेदः) (वैज.को. 6-1-42) इत्यभिधानम्। अभिदां असम्प्रज्ञातसमाध्यवस्थां ययुरिति वा। साम्यं निर्दोषत्वादि चतुर्भुजलक्षणम् अन्यथा कीटाः पेशस्कृतो ध्यानेन केचन पेशस्कृतो भवन्ति, न तु स एव पृथक् दृश्य मानत्वात्। - इत्ययं दृष्टान्तोऽनर्थः स्यादिति।।४०।।

**आख्यातं सर्वमेतत्ते यन्मां त्वं परिपृष्टवान्[1].**
**दमघोषसुतादीनां हरेः साम्य॒मपि द्विषाम्[2].।।४१।।**

**एषा ब्रह्मण्यदेवस्य कृष्णस्य च महात्मनः।**
**अवतारकथा पुण्या वधो यत्रादिदैत्ययोः।।४२।।**

**प्रह्लादस्यानुचरितं महाभागवतस्य च।**
**भक्तिर्ज्ञानं विरक्तिश्च याथात्म्यञ्चाऽस्य वै हरेः।।४३।।**

---

1- -1 H,V पृष्टवान्तृप; W नृप ! पृष्टवान् 2. A,B,G,J,T सात्म्य

**सर्गस्थित्यप्ययेशस्य गुणकर्मानु[1]वर्णनम्।**
**परावरेषां[2] स्थानानां कालेन[3] व्यत्ययो[4] महान्।।४४।।**

**धर्मो भागवतानाञ्च भगवान्येन गम्यते।**
**आख्यानेऽस्मिन्समाख्यातमाध्यात्मिक[5] मशेषतः।।४५।।**

**य एतत्पुण्य माख्यानं विष्णो वीर्योपबृंहितम्।**
**कीर्तयेच्छ्रद्धया श्रुत्वा कर्मपाशै[6] र्विमुच्यते।।४६।।**

**एतद्य आदिपुरुषस्य मृगेन्द्रलीलां दैत्येन्द्रयूथपवधं प्रयतः पठेत।**
**दैत्यात्मजस्य च सतां प्रवरस्य पुण्यं श्रुत्वानुभावमकुतोभयमेति लोकम्।।४७।।**

**यूयं नृलोके बत भूरिभागा लोकं पुनाना मुनयोभियान्ति[7]।**
**येषां गृहानावसतीति साक्षात् गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्।।४८।।**

**श्रीध०** प्रह्लादचरितार्थमुपसंहरीत - **एषेति** चतुर्भिः। अवतारः श्रीनृसिंहरूपः तस्य कथा आख्यातेति शेषः[8]।।४१,४२।।

**प्रह्लादेति।** प्रह्लादस्यानुचरित मित्यादेः समाम्नात मिति तृतीयेनान्वयः। अस्येत्यनेनोक्तं सर्गस्थित्यप्ययानां सृष्टि[9] स्थिति लयानां[-9] ईशस्य हरेः याथात्म्यं तत्त्वम्[10]। प्रह्लादेन[11] कृतं हरेर्गुणकर्मानुवर्णनञ्चेत्यर्थः।।४३।।

**सर्गेति।** परावरेषां[12] देवदैत्यादीनां यानि स्थानानि तेषां व्यत्ययो विपर्यासः।।४४।।

**धर्म** इति। आध्यात्मिकमात्मानात्मविवेकादि।।४५।।

एतच्छ्रवणादिफलमाह **य** इति द्वाभ्याम्। एतच्छ्रुत्वा यः कीर्तयेत्।।४६।।

**एत**दिति।[13] एतदेतां मृगेन्द्रस्य लीलाम्। तामेवाऽह दैत्येन्द्रस्य यूथपानाञ्च वधं यः शुचिस्सन्पठेत्। पुण्य मनुभावं प्रभावं, मतिनिश्चयं वा। लोकं वैकुण्ठम्।।४७।।

---

1. W वर्णितम् 2. H,V °प° 3. H,V कात्स्न्येन 4 M,Ma °ना° 5 A,B,G,J,T °माम्ना° 6. B पाशाद्वि° 7 A,B,G,J,T,W °यन्ति।

8. A omits शेषः 9- -9 A,B,J omit 10. H,V, omit तत्त्वम्। 11. A,B,J अनेन 12. H,V °प° 13. H,V omit एतत्

अहो प्रह्लादस्य भाग्यं येन देवो दृष्टो वयन्तु मन्दभाग्या इति विषीदन्तं प्रत्याह - यूयमिति त्रिभिः। तेषां युष्माकं गृहान्मुनयोऽभियान्ति[1] सर्वतस्समायान्ति। तत्कस्य हेतोः। येषु गृहेषु नराकारं गूढं सत् श्रीकृष्णाख्यं परं[2] ब्रह्म साक्षाद्वसतीति।।४८।।

**वीर०** हे नृप! त्वं मां यत्पृष्टवान् किं तद्द्विषतामपि दमघोषसुतादीनां शिशुपालादीनां[3-3] हरेस्साम्य मित्येतत्सर्वं ते तुभ्यम् आख्यातं कथितम्, मयेति शेषः।।४१।।

तदेवं प्रश्नस्योत्तरमुपसंहृत्य तदेतदाख्यानं विशिंषन् तत्कीर्तनश्रवणादि फल माह - **एषे**[4]त्यादिभिष्षड्भिः। ब्रह्मणि ब्रह्मकुले साधु ब्रह्मण्यः सचाऽसौ देव स्तस्य लोकत्रय मन्तःप्रविश्य बिभ्रतः कृष्णस्य इयमवतारकथा पुण्यापुण्यावहा यत्र कथायामादिदैत्ययोः हिरण्याक्षहिरण्यकशिप्वोः वधः प्रतिपाद्यते।।४२।।

तथा यत्र महाभागवतस्य प्रह्लादस्य चरित्रं भक्तिर्ज्ञानं विरक्तिश्च। भक्तिशब्देन भक्तियोगानुष्ठानप्रकारो विवक्षितः। विरक्तिशब्देन तदुत्पत्तिप्रकारः, ज्ञानशब्देन आत्मयाथात्म्यविवेचनपूर्वक तदनुसन्धानप्रकारः। एतत्सर्वं यत्र कथायां प्रतिपाद्यते इत्यर्थः।।४३।।

तथा जगत्सर्गस्थितिलयकारणस्य हरे र्याथात्म्यं तत्त्ववर्णनं तस्य गुणानां कर्मणाञ्च वर्णनम्, परावरेषां देवासुरादीनां यानि स्थानानि तेषां कालेन निमित्तेन महान्व्यत्ययो विपर्यासश्च।।४४।।

भगवान् येन गम्यते लभ्यते स भागवतानां धर्मश्च यञ्च आध्यात्मिकमात्मानमधिकृत्य वर्तमानं वस्तु चेति तदेतत्सर्वमस्मिन्नाख्याने सम्य गाख्यातम्।।४५।।

यः पुमान् एतद्विष्णोः वीर्येण पराक्रमादि गुणजातेन उपबृंहितं तत्प्रतिपादनेन विस्तीर्णम् अत एव पुण्य माख्यानं श्रद्धया श्रुत्वा कीर्तयेत्[5], स पुमान्कर्मपाशैः पुण्यपापात्मकैः कर्मभिरेव पाशैः विमुच्यते।।४६।।

किञ्च। यः पुमानादिपुरुषस्य मृगेन्द्रस्य सिंहस्येव या लीला दैत्येन्द्रयूथपवधात्मिका प्रतिपाद्या, यस्मिन् तदेतदाख्यानं प्रयत स्समाहितचित्तः सतां प्रवरस्य दैत्यात्मजस्य प्रह्लादस्य पुण्यं प्रभावञ्च श्रुत्वा पठेत पठेत् सोऽकुतो भयं कुतश्चिद्भयरहितं लोकं वैकुण्ठाख्यं[6] एति प्राप्नोति। पूर्वं कर्मपाशैः विमुच्यत इत्युक्तम्। अत्राऽकूतोभयं लोकमेतीत्युक्तम् कर्मपाशविमोचनद्वारा अकुतोभयं लोकमेतीत्यर्थः। अतोऽत्र नं पौनरुक्त्यम्।।४७।।

1. B,H,V यान्ति 2. H,V omit परं 3--3 W omits 4 A,B,T एर्षेति। 5 A,B,T ण्यन् 6. W ण्ठलोकं

अहो प्रह्लादस्य भाग्यं येन भगवान् दृष्टः वयन्तु मन्दभाग्या इति विषीदन्तं युधिष्ठिरमाह - **यूयमिति** त्रिभिः।नृलोके यूयमहो[1] बत भूरिभागाः अहो बहुभाग्यवन्तः, तदेवव्यञ्जयन् तान्विशिनष्टि, येषां युष्माकं गृहान् लोकं पुनानाः मुनयोऽभियान्ति सर्वतस्समायान्ति। तत्कुतः? मनुष्यलिङ्गं मनुष्यस्येव लिङ्गं शरीरं यस्य तत् परं ब्रह्म श्रीकृष्णरूपं गूढं प्रच्छन्नं सर्वेषां युष्माकं गृहानावसति इति हेतो स्समायान्ति।।४८।।

**विज०** ग्रन्थाधिकभयादुपसंहरति - आख्यात मिति। अतश्चैद्यादयो दमघोषसुतादीनामित्यादि बहुवारोक्तिर्भक्ते रनादिकालसम्बन्धित्वद्योतनार्था, अन्यथा वेनादीनामित्याद्युक्तिरपि स्यात्।।४९।।

श्रद्धाजननाय स्तौति - **एषेति**। ब्रह्मण्यदेवस्य रामस्य, च शब्दान्नरसिंहस्य यत्र कथायाम्।।४२।।

भक्त्यादिकमेव मुक्तिसाधनं न द्वेषादिकमित्येतदत्रप्रतिपाद्यते इत्युपसंहरति - प्रह्लादस्येति। भक्त्यादि लक्षणो धर्मश्चात्र कथित इत्यन्वयः।।४३।।

येनभक्त्यादि लक्षणधर्मेण हरिमितरेभ्यो। व्यावर्तयति-सर्गेति। अव्यत्ययो यथा स्थितत्वम्।।४४।।

आत्मानमधिकृत्य वर्तमानमिन्द्रियादिस्वरूपञ्च कथितमस्मिन्नाख्यान इत्याहुः - तदुपाख्यान इति। अत्रैव वै पार्षदौ। विष्णोरित्यावृतानुकथनञ्च भक्त्यादिकं मुक्तिसाधनं, न द्वेषादिकमिति ज्ञापनाय येन भागवत धर्मेणैव भगवान् गम्यते, न द्वेषादिनेति शेषः। "भक्तिर्ज्ञानं विरक्तिश्च नवमं श्रवणादिकम्। धर्मो भागवतः प्रोक्त स्तद्भक्तेषु तथा नव" (तन्त्रसारे) इति वचनात् भागवतधर्मेणैव श्रीहरिर्गम्यत इति कथमुच्यते भक्त्यादिना विनेतीयमाशङ्का परिहृता भक्त्यादेर्धर्मशब्दवाच्यत्वात् 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः' (भाग. 7-5 23) इत्यादि श्रवणादि नवकम्।।४५।।

अधुना आख्यानकीर्तनादिना यत्पुण्यं तदाह - य इति।।४६।।

सामान्यत उक्तं विवृणोति एतदिति।।४७।।

ननु प्रह्लादानुभवस्य अत्युत्तमत्ववर्णनेन युधिष्ठिरादीनां ततोऽधमत्वं प्रतीयत इति मन्दाशङ्कां परिहरति- **यूयमिति**। मुनय एतानिति यथाऽतीत्य वर्तयन्ति। बत विस्मये "खेदानुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणे बत !" (अम.को. 3-399) इति।।४८।।

---

1 W omits अहो.

स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्यं[1] कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः।
प्रियस्सुहृद्वः खलु मातुलेय आत्मार्हणीयो[2] विधिकृद्गुरुश्च।।४९।।

न यस्य साक्षाद्भवपद्मजादिभी रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम्।
मौनेन भक्त्युपशमेन पूजितः प्रसीदतामेष स सात्त्वतां पतिः।।५०।।*

*स एष भगवान् राजन्! व्यतनोद्विततं[3] यशः।
पुरा रुद्रस्य[4] देवस्य मयेनानन्तमायिना[5]।।५१।।

राजोवाच

कस्मिन् कर्मणि देवस्य मयोऽहञ्जगदीशितुः[6]।
यथा चोपचिता कीर्तिः कृष्णेनानेन[7] कथ्यताम्।।५२।।

नारद उवाच

निर्जिता असुरा देवै र्युध्यनेनोपबृंहितैः[8]।
मायिनां परमाचार्यं मयं शरणमाययुः[9]।।५३।।

स निर्ममे[10] पुर स्तिस्रो[11] हैमीरौप्यायसीर्विभुः[12]।
दुर्लक्ष्यापायसंयोगा[13] दुर्वितर्क्यपरिच्छदाः[14]।।५४।।

ताभिस्तेऽसुरसेनान्यो लोकांस्त्रीन् सेश्वरान्नृपः[15]।
स्मरन्तो नाशयाञ्चक्रुः पूर्ववैरमलक्षिताः।।५५।।

ततस्ते सेश्वरा लोका उपासाद्येश्वरं[16] विभो![16]।
त्राहि नस्तावकान्देव! विनष्टांस्त्रिपुरालयैः[17]।।५६।।

---

1. A,G,J,T मृग्य 2. H,V, आत्मा हरियों *According to M,Ma editions 10th canto ends here *According to M,Ma edition 11th canto begins here. 3. A,B,G,J,T,W °द्विततं 4. H,V भवस्य 5 H,V °नामित 6 M,Ma यशोऽभूज्ज° 7 H,V °न मम 8 H,V °द्धे येना° 9. H,V °मभ्ययुः 10. A,B,G,J,T,W निर्माय 11 H,V हेम°; M, Ma हैम 12 H,V °सीः प्रभुः 13. W °क्षोपा°; 14 W °ग 15 H,V दुर्लक्ष्यारु 16- -16 H,V °साद्योचिरे विभुम्; M,Ma °साद्येश्वरं ततः; W °साद्योचुरीश्वरम् 17 H,V °ष्टाः

**श्रीध॰** ननु कृष्णोऽस्माकं मातुलेयः, कथं ब्रह्मेत्युच्यते! तत्राऽह - **स वा** इति। सोऽयं ब्रह्मैव। कथम्भूतः? महद्भिर्विमृग्यं यत् कैवल्यनिर्वाणसुखं निरुपाधिः परमानन्दः तदनुभूतिरूपो[1] वो युष्माकं खलु प्रियस्सुहृदित्यादिरूपो भवति। विधिकृदाज्ञानुवर्ती।।४९।।

ननु परं ब्रह्म चेत् कथं द्व्यष्टसहस्रस्त्रीषु रतिः, कथं वा धर्माद्याचरणं तस्य? इत्याशङ्क्याऽऽह[2] - **नेति**। यस्य रूपं तत्त्वं भवादिभिरपि धिया स्वबुद्ध्या वस्तुतया इदमित्थमिति साक्षात्रोपवर्णितं स युष्माकं स्वयमेव प्रसन्नः। अस्माकन्तु मौनादिसाधनैस्तत्प्रसादः प्रार्थनीय एवेत्याह - मौनेनेति। स एष सात्त्वतानां पतिर्नः प्रसीदतु। न हि प्रह्लादस्य गृहेषु[3] परं ब्रह्म वसति, न च तद्दर्शनाय मुनयस्तद्गृहानभियन्ति[4], न च तस्य ब्रह्ममातुलेयादिरूपेण वर्तते, न च स्वयमेव ब्रह्म[5]प्रसन्नम्। अतो यूयमेव ततोऽप्यस्मत्तोऽपि भूरिभागा इति भावः।।५०।।

ननु अन्यैर्दुष्करं त्रिपुरभेदादिकं श्रीरुद्रः कृतवान्। स एवम्भूत ईश्वरोऽप्यस्य तत्त्वं न जानातीति कथमित्यपेक्षायां तस्याऽपि एतत्साहाय्यादेवाऽसौप्रभावो न केवलस्येति कक्तुमाख्यानमुपक्षिपति - **स एष** इति।।५१।।

**कस्मि**न्निति। राजा[6] युधिष्ठिर उवाच[6]। जगदीशितुर्देवस्य कीर्तिं कस्मिन्कर्मणि मयो हतवान्।।५२।।

**निर्जिता** इति। अनेन[7] श्रीकृष्णेनोपबृंहितैः संवर्धितैः।।५३।।

**स इति** । हैमी च रौप्या च आयसी चेति तिस्रः पुरो निर्माय, तेभ्यो ददाविति शेषः। दुर्लक्ष्यावपायसंयोगौ गमनाऽऽगमने यासाम्। दुर्वितर्क्याः परिच्छदा यासु।।५४।।

**ताभि**रिति। आसुराणां[8-8] सेनान्यः सेनापतयः पूर्ववैरं स्मरन्तः।।५५,५६।।

**वीर॰** ननु श्रीकृष्णोऽस्माकं मातुलेयः कथं ब्रह्मेत्युच्यते? तत्राऽह - **स वा** इति। स[9] वै सोऽयं श्रीकृष्णो ब्रह्मैव। किं तद्ब्रह्म? यदभिन्नः श्रीकृष्णो यन्महद्भिः[10-10] विमृग्यम् अन्वेषणीयं केवलं ध्येयमित्यर्थः। केवलनिर्दुःखसुखात्मकज्ञानरूपम् एवम्भूतब्रह्माभिन्नः श्रीकृष्णः[10-10] वो युष्माकं न केवलं मातुलेयोऽपि तु प्रियस्सुहृच्च। आत्मा अन्तरात्मा, अर्हणीयः पूज्यः विधिकृन्नियोगकारी, गुरुर्हितोपदेष्टा च। एवमनेकधा युष्माकं तत्सम्बन्धिनां भाग्यं

1. H,V रूपं 2. A,B,J इत्यत आह 3 H,V गृहं 4 H,V यान्ति 5. A,B,T Omit ब्रह्म 6- -6 H,V Omit 7. H,V येन 8- -8 A,B,J Omit 9. W Omits स वै 10- -10 A,B,T Omit

कियदिति वक्तव्यमिति भावः। महद्विमृग्यमित्यनेन महतामपि तत्स्वरूपं यथावद्दुरवगममित्युक्तम् । प्रियसुहृदित्यनेन तन्महद्विमृग्यं ब्रह्म स्वयमेव युष्माकं प्रसन्नमिति च।।४९।।

तन्महद्विमृग्यमेव प्रपञ्चयन् तत्प्रसादं प्रार्थयते - **नेति**। यस्य भगवतो रूपं भवपद्मजादिभिः [1-] रुद्रब्रह्मादिभिः [-1] धिया स्वमनीषया वस्तुतया याथात्म्येन नोपवर्णितम् उपवर्णितं विषयीकृतं न भवति, वाङ्मनसागोचरस्वरूपस्वभावत्वात् तैरेतावदित्युपवर्णितुमशक्यमित्यर्थः। किन्तु केवलं मौनेन शुभाश्रयसंशीलनरूपेण भक्त्युपासनात्मिकया प्रीतिरूपया उपशमेनेन्द्रियजयादिना च पूजितः आराधितः सः सात्त्वतां योगेश्वराणां पतिर्भगवान् मे मह्यं प्रसीदतां प्रसन्नो भवतु।।५०।।

एवं सम्प्रार्थ्य श्रीकृष्णस्य मनुष्यलिङ्गस्य परब्रह्मत्वसूचकमितिहासं प्रस्तोष्यन् तत्प्रश्नावसरप्रदानाय श्रीकृष्णं विशिनष्टि - **स** इति। हे राजन्! स एष भगवान् ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यादिषाड्गुण्ययुक्तः श्रीकृष्णः पुरा अनन्तमायिना अनन्ता बह्व्यो माया यस्य तेन मयेन निमित्तभूतेन रुद्रस्य देवस्य यद्विहतं यशः तद्व्यतनोत्। [2] तेनानेन रुद्रादीनामपि यश आदिगुणबृहत्त्वाधायकत्वकथनेन स्वयमबृहत् इतरेषां तदाधायकत्वायोगात् सामर्थ्यात्तस्याऽपि तल्लाभेन च परब्रह्मत्वं सूचितम्।।५१।।

तदेवं लब्ध[3]प्रश्नावसरो युधिष्ठिरः विहतयश उपचयप्रकारं बुभुत्सुः पृच्छति - **कस्मिन्निति**। जगदीशितुः भगवदायत्तजगदीशितृत्वस्य "विलोक्य भग्नसङ्कल्पं विमनस्कं वृषध्वजम्" (भाग.7-10-61) इत्यादिना भगवदायत्तसामर्थ्यस्य वक्ष्यमाणत्वाद्देवस्य रुद्रस्य कीर्तिः कस्मिन् कर्मणि अनेन श्रीकृष्णेन कर्त्रा मयेन निमित्तेन उपचिता वर्धिता तत्कथ्यताम्।।५२।।

इति पृष्ट आह देवर्षिः - **निर्जिता** इत्यादिना। अनेन रुद्रेणोपबृंहितैराहितबलैर्देवैः निर्जिता असुरा मायिनां [4-] परमाचार्यं [-4] परमाचार्याणामप्याचार्यं मयं शरणं जग्मुः।।५३।।

ततस्स विभुः समर्थो मयः, हेम्नो विकृतिर्हैमी, रूप्यस्य रजतस्य रौप्या, अयसो लोहस्य आयसी त्रयाणामितरेतरयोगद्वन्द्वः। तास्तिस्रः पुरो निर्माय, असुरेभ्यो ददाविति शेषः। पुरो विशिनष्टि। दुर्लक्ष्यः दर्शनाविषयः अपायः संयोगश्च यासां ता इमाः पुरः अत्राऽगताः, इतो गताश्चेति जनैरलक्षिता इत्यर्थः। तथा दुर्वितर्क्याः सार्वजनीनसाधारण्येन तर्कितुमशक्याः परिच्छदा उपकरणानि यासां ताः।।५४।।

1- -1 W Omits 2. W Omits तेन 3. A,B,T बृहद्यशः 4- -4 A,B,T Omit

ताभिर्विमानरूपाभिः अपेक्षितदेशगमनक्षमाभिः पुरीभिरसुरसेनान्यः[1] दैत्यसेनानायकाः हे नृप! अलक्षिताः देवैरदृश्यमानाः पूर्ववैरं स्मरन्तः सेश्वरान् सपालान् त्रीन् लोकान् नाशयाञ्चक्रुः नाशयितुमारब्धवन्त इत्यर्थः।।५५।।

ततस्ते सेश्वरा इन्द्रादिलोकपालैस्सहिता लोका जनाः ईश्वरं रुद्रमुपासाद्य प्राप्य आनतास्सन्त ऊचुः। तदेवाऽह - हे विभो! त्रीणि पुराणि आलयाः स्थानानि येषां तैर्विनष्टान् तावकान् त्वदीयान् अस्मान् हे देव। रुद्र[2]! पाहि पालयेति।।५६।।

**विज॰** ननु परब्रह्मणि मुक्तिगा इत्यतः परब्रह्मशब्देन विष्णुत्वनिश्चयः कथमिति? तत्राऽह - **स वा** इति। कैवल्येन अनासक्तत्वेन यन्निर्वाणसुखमशरीरसुखं तस्यानुभूतिरनुभवो यस्य स तथा, अनन्ययोग्यस्वरूपानन्दमनुभवतीत्यर्थः। अनेन विष्णुत्वं निरणायि। विधिकृदाज्ञाकारी, गुरुर्हितोपदेष्टा।।४९।।

ननु दुर्ज्ञेयरूपत्वं हि विष्णुलिङ्गं "न हि सुज्ञेयमणुर्द्योष आत्मा सः" इति श्रुतिः। स्वरूपानन्दानुभवित्वं सायुज्यभाजोऽप्यस्ति, अतः कथं निर्णयः? इति तत्राऽह - **न यस्येति**।।५०।।*

अस्मिन्नध्याये हरौ भक्तिविधानार्थं रुद्रमाहात्म्यकथनव्याजेन तन्माहात्म्यं प्रतिपाद्यते। अधुना- "तत्रैको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे" इत्यादिश्रुतेः प्रतीयमानरुद्रस्य अद्वितीयार्थत्वं प्रतिपाद्यमानैर्जनैः जनैः महाद्रव्यव्ययेन पूज्यमानस्य "ईशानस्सर्वविद्यानामीश्वरस्सर्वभूतानाम्" (मना.उ.10-8) इत्यादिमन्त्रैः स्तूयमानस्य सतः रुद्रस्याऽसुरावेशात्संशयो बभूव - इदं सर्वं भगवदधीनं न वेति। तत्र दयालुर्भक्तवत्सलः श्रीनारायणो रुद्रस्य तं संशयमपाचक्रे। कथं केनेति तत्राऽह - स एष इति। स भगवान्नृसिंहात्मना ब्रह्मदत्तवरेण दृप्तहिरण्यकशिपुपुरस्सरासुरजातिं निर्मूलयित्वा प्रह्लादादिभक्तसमुदायस्याऽनुग्रहीता[3] स एष युष्मद्बन्धुभूतः श्रीकृष्णः पुराकल्पविशेषे देवस्य हरेः स्तुतिध्यानादिकं कुर्वाणस्य रुद्रस्य रोदनाद्यवगततल्लक्षणस्य अत एव तन्नाम्नः शिवस्य अनन्तमायिना अनेकशतसहस्रमायावता अत एव अर्थादल्पेन मयेन वक्ष्यमाणप्रतीकारं कृत्वा तस्य रुद्रस्य भगवद्भक्तप्रधान इत्यादि यशो विततं त्रिपुरनाशनेन व्याप्तमकरोदात्मनोऽतिशयस्वामित्वेन तदनुग्राहकत्वेन च विमलमकृतेत्यन्वयः।।५१।।

"नापृष्टः कस्य चिद्ब्रूयात्" (सन्न्या.उ. 3-2-102) इति[4] वचनात्प्रसक्तं प्रमेयं विस्तृत्य श्रोतुं राजा पृच्छति - **कस्मिन्कर्मणीति**। कस्मिन् कर्मणि मयो विपरीतं चकार, येनेशितुर्देवस्य यशोऽभूत्? सा च कीर्तिः कृष्णेन यथायथमुपचिता प्रचिता, स कथाविशेषो मम कथ्यतामित्यन्वयः।।५२।।

1. W असुरसेना॰ 2 W Omits रुद्र! *श्रीविजयध्वजरीत्या अत्रैव दशमोऽध्यायस्समाप्तः। 3. A,B °हं कर्ता स॰ 4 A,B Omit इति

नारदः प्रश्नं परिहरति - **निर्जिता** इति। अनेन हरिणोपबृंहितैः अन्यसहायेन असुरा जिता इत्येतद्देवानां न दोषाय विष्णववेक्षणस्य[1] स्वतस्सिद्धत्वात् देवानां सापेक्षं (सत्वं) न तु दोषाय। "यत्र सिद्धमपेक्षितम्" (शब्दनिर्णये) इति वचनात्।।५३।।

मयेन त्रिपुरनिर्माणकर्म विपरीतं कृतमित्याह - **स निर्मम** इति। स तिस्रः दुर्लक्ष्यो दुर्ज्ञेयोऽपायसंयोगो नाशसम्बन्धोऽन्तः प्रवेशसम्बन्धो वा यासां तास्तथा। अत एव अदृश्यबहुतरायुधादिपरिकराः।।५४।।

असुरसेनान्यः असुरसेनानायकाः।।५५।।

सेश्वराः सहरयः। अत्राऽपि विष्णुसहितदेवानां रुद्रापेक्षित्वं[2] न दोषाय। त्रिपुरहननं रुद्रेण कार्यमिति हरिणा क्लृप्तत्वात्, इन्द्रादिभिर्वा।।५६।।

**अथाऽनुगृह्य भगवान्मा भैष्टेति सुरान्विभुः।**
**शरं धनुषि सन्धाय पुरेष्वस्त्रं[3] व्यमुञ्चत।।५७।।**

**ततोऽग्निवर्णा इषव उत्पेतुः सूर्यमण्डलात्।**
**यथा मयूखसन्दोहा नादृश्यन्त पुरो यतः।।५८।।**

**तैः स्पृष्टा[4] व्यसवस्सर्वे निपेतुस्त्रिपुरौकसः।**
**तानानीय महायोगी[5] मयः[6] कूपरसेऽक्षिपत्।।५९।।**

**सिद्धामृतरसस्पृष्टा[7] वज्रसारा महौजसः।**
**उत्तस्थुर्मेघदलना[8] वैद्युता इव वह्नयः।।६०।।**

**विलोक्य भग्नसङ्कल्पं विमनस्कं वृषध्वजम्।**
**तदाऽयं भगवान्विष्णुस्तत्रोपायमकल्पयत्[9]।।६१।।**

**वत्स आसीत्तदा ब्रह्मा स्वयं विष्णुरयं हि गौः।**
**प्रविश्य त्रिपुरं काले रसकूपामृतं[10] पपौ।।६२।।**

---

1. A,B °पे° 2. A,B °क्षितत्वं 3. M,Ma पुर्यामस्त्रं 4. M,Ma °सृ° 5 A.B,G,J.T,W °तुः स्म पु° 6. M.Ma °गः 7 H,V °सं क्षिप्ताः 8. W °नात् 9. M,Ma °स्तस्यो° 10. H,V तञ्च कृ°

**तेऽसुरा[1] ह्यपि पश्यन्तो न न्यषेधन्[2]विमोहिताः।**
**तद्विज्ञाय[3] मयो[4] योगी रसपालानिदं जगौ।।६३।।**

**स्मयन्विशोकश्शोकार्तान्स्मरन्दैवगतिञ्च ताम्।**
**देवोऽसुरो नरोऽन्यो[6] वा नेश्वरोऽस्तीह कश्चन।।६४।।**

**आत्मनोऽन्यस्य वा दिष्टं दैवेनापोहितुं द्वयोः।**
**अथाऽसौ शक्तिभिः स्वाभिश्शम्भोः प्राधनिकं[7] व्यधात्।।६५।।**

**श्रीध॰ अथेति।** अस्त्रमभिमन्त्रितं शरं पुरेषु व्यमुञ्चत[8]।।५७।।

**तत** इति। ततः शरात् सूर्यमण्डलात् मयूखसन्दोहा रश्मिसमूहा इव। यतो येभ्यः।।५८।।

**तैरिति।** कूपरसे[9] स्वयं निर्मितकूपामृते।।५९।।

**सिद्धेति।** वज्रसारा वज्रवद्दृढाङ्गाः, महौजसो महाबलाः मेघदलनाः मेघभेदिनो विद्युद्रूपा वह्नय इव।।६०,६१।।

**वत्सेति।** काले मध्याह्ने।।६२-६४।।

**आत्मन** इति। आत्मनो वा अन्यस्य वा द्वयोरपि वा दैवेन दिष्टमुपकल्पितमपोहितुंपरिहर्तुमिह कश्चिदपीश्वरः समर्थोनाऽस्ति। असौ श्रीकृष्णः प्रधनं सङ्ग्रामः तत्साधनं प्राधानिकम्[10-10]।।६५।।

**वीर॰** अथ तद्विज्ञापनानन्तरं तान् सुरान् माभैष्ट भयं माकार्ष्ट इत्यनुगृह्य भगवान् विभू रुद्रः धनुषि शरं बाणं सन्धाय अस्त्रं पाशुपतं तस्मिन्, संयोज्येति शेषः। पुरेषु व्यमुञ्चत।।५७।।

ततश्शरात् यथा सूर्यमण्डलात् मयूखसन्दोहाः रश्मिसमूहाः, तथा अग्निवर्णा इषवो बाणा उत्पेतुः। यतो येभ्य इषुभ्यः पुरो नाऽदृश्यन्त, जनैरिति[11-] शेषः। तावद्भिः इषुभिः प्रच्छन्ना[11-] बभूवुरित्यर्थः।।५८।।

---

1 H.V असुरा ° 2 W °धन्त मो ° 3 H,V तं वि ° 4 A,B,G,J,M,Ma,T महा° 5. A,B,G,J,T स्वयं वि°; M,Ma स्मरन्वि° 6 W नरः को वा 7 H,M,Ma,V °धा °8. B,H,V °त् 9 H,V Omit स्वयं 10- -10 A,B,J Omit 11- -11 W Omits.

तत[1]ः किम्? अत आह[-1] - तैरिषुभिः स्पृष्टास्ताडिताः त्रीणि पुराणि ओकांसि स्थानानि येषां ते असुराः सर्वे व्यसवः विगता असवः प्राणा येषां तादृशास्सन्तो निपेतुः पतितवन्तः। तान् व्यसूनसुरानानीय महायोगी मयः कूपरसे स्वयं विनि[2]र्मितकूपगते रसे मृतसञ्जीवयितिर, अक्षिपदपातयत्।।५९।।

ते च सिद्धामृतरसेन स्पृष्टा असुराः वज्रसारवत् दृढाङ्गाः महौजसः महाबलास्सन्तः मेघदलनात् मेघच्छेदात् विद्युद्रूपा बह्नय इव उत्तस्थुः उत्थितवन्तः।।६०।।

तथा भग्नस्सङ्कल्पो यस्य अत एव विमनस्कं दुःखितमनस्कं वृषध्वजं रुद्रं विलोक्याऽयं भगवान् श्रीकृष्णरूपो विष्णुः तत्र सिद्धामृतस्य विनाशे उपायमकल्पयत्।।६१।।

तदेवाऽह - **वत्स** इति। अयं श्रीकृष्णरूपो विष्णुः स्वयं गौः धेनु[3]ः आसीत्। ब्रह्मा चतुर्मुखो वत्स आसीत्। ततो गोरूपोऽयं विष्णुः सवत्सः त्रिपुरं त्रयाणां पुराणां समाहारः, तत्प्रविश्य काले मध्याह्ने रसकूपामृतं रस[4]रूपं कूप[-4]गतममृतं पपावपिबत् ।।६२।।

तेऽसुराः पिबन्तीं गां पश्यन्तोऽपि भगवन्मायाविमोहिताः न न्यषेधन् न न्यवारयन्। तत्पानं ज्ञात्वा महायोगी मयः रसं कूपामृतरसं पालयन्तीति तथा, तानसुरान् शोकार्तान् तां दैवगतिं स्मरन् अत एव विगतशोकः स्वयं स्मयन् इदं वक्ष्यमाणं जगौ[5] उवाच[6]।।६३।।

तदेवाऽह - **देव** इति। आत्मनोऽन्यस्य वा द्वयोरपि दैवेनेश्वरेण दिष्टमुपकल्पितं सुखं दुःखं वा अपोहितुमिह लोके दैवादन्यतमो यः कश्चि[7]द्देवादिनेश्वरः न प्रभुर्न समर्थः। दैव[8-]मेव सुखदुःखादिहेतुरित्यर्थः[-8]। अथ निश्शेषकूपामृतरसपानानन्तरम् असौ श्रीकृष्णः धर्मादिभिः स्वाभिश्शक्तिभिः शम्भो रुद्रस्य प्राधनिकं प्रधनं सङ्ग्रामः तत्साधनं यत् रथसूतादिरूपं तद्व्यधात्। क्रमेण धर्मादिशक्तिरेव रथादिरूपेणाऽकरोदित्यर्थः। स्वशक्त्याहितशक्तिमकरोदिति यावत्।।६४,६५।।

**विज०** विभुश्शिवः मा भैष्टेत्युक्त्वा । पुर्यामिति एकवचनं जातिविवक्षया।।५७।।

ततो धनुषो, मयूखसन्दोहाः रश्मिराश्यः, यतो यैश्शरैः, पुरः पुराणि।।५८।।

1- -1 W Omits 2. A,B,T Omit वि. 3 A,B,T धेनूरूपः 4- -4 A,B,T Omit 5. W Omits जगौ 6. W adds जगाद 7 W Omits देवादिः

8- -8 W omits

[1]सृष्टाः तप्ताः, व्यसवः गतप्राणाः, इदञ्च मयेन कृतं विपरीतमित्याशयवानाह - तानिति।।५९।।

सिद्धामृतरसो मृतसञ्जीवनरसः, तस्मिन् स्पृष्टाः स्नाताः, वैद्युता विद्युत्सम्बन्धिनः, चशब्देन जलादिना यथा नाशो नास्ति तथैषामिति सूचयति।।६०।।

कथं कृष्णेनोपचिता कीर्तिरितीमं प्रश्नं परिहर्तुमाह - **विलोक्येति**।।६१।।

कोऽसाविति तत्राऽह - **वत्स** इति। हिशब्देन विष्णुर्ब्रह्माणमपेक्षत इति न दोषायेति, तत्सङ्कल्पकारित्वेन सिद्धत्वादिति सूचयति। काले मध्यन्दिने।।६२।।

ग्रन्थान्तरासिद्धत्वात् हि शब्देन भगवन्मायायाः तन्मायातोऽपरिमितमाहात्म्यमस्तीति सूचयति। स्वकृतापराध प्रहाणाय स्वस्य भगवद्भक्तिप्रकटनाय च मयः तद्विषयज्ञानञ्च मम अस्तीत्यभिप्रायेणाऽह - तदिति। तद्दैत्यवधोपायकरणं किञ्चित्कालमसुराणां जयदायिनीमिदानीं देवानामिति देवगतिम्, किं तत्राऽह - देव इति। आत्मनः स्वस्य अन्यस्य देवदत्तस्य चेति द्वयोर्देवेन विष्णुना दिष्टं क्लृप्तं व्यप्रोहितुं अन्यथा कर्तुम् इह जीवराशौ देवोऽसुरोऽन्यो वा कश्चनेश्वरः समर्थो नाऽस्तीत्यतः तूष्णीम्भाव एव वरीयानित्यर्थः ।।६३,६४।।

ननु सिद्धरसपानं व्यर्थमिव प्रतिभाति, त्रिपुराणामनाशादित्याशङ्क्य तन्नाशसाधनमाह - अथेति। अथ दैत्यजीवनसाधनरसनाशानन्तरं स्वाभिश्शक्तिभिः भूम्यादिभिः शम्भोः [2]प्राधानिकं युद्धसाधनं रथादिकं व्यधादित्यन्वयः।।६५।।

**धर्मज्ञानविरक्त्यृद्धितपोविद्याक्रियादिभिः।**
**रथं सूतं ध्वजं वाहान् धनुर्वर्मशरादि यत्।।६६।।**
**सन्नद्धो रथमास्थाय शरं धनुरुपाददे।**
**शरं धनुषि सन्धाय मुहूर्तेऽभिजितीश्वरः।।६७।।**
**ददाह तेन दुर्भेद्याहरोऽथ त्रिपुरो नृप।**
**दिवि दुन्दुभयो नेदुर्विमानशतसङ्कुलाः।।६८।।**

1. A,B स्पृष्टाः 2. A,B °ध° 3. H,V °त्त्यर्थाः; M,Ma °त्त्याद्यादि 4. M,Ma °हं 5- -5 M,Ma सशरं धनुरादेद 6- -6 H,M,Ma,V भगवत्तेजसा गुप्तो ददाह त्रिपुरं 7 H,V शिवः 8 M,Ma °ले

**देवार्षिपितृसिद्धेशा जयेति कुसुमोत्करैः।**

**अवाकिरञ्जगुर्हृष्टा ननृतुश्चाऽप्सरोगणाः।।६९।।**

**एवं दग्ध्वा पुरस्तिस्रो भगवान्पुरहा नृप।**

**ब्रह्मादिभिः स्तूयमानः स्वधाम[1] प्रत्यपद्यत।।७०।।**

**एवंविधान्यस्य हरेः स्वमायया विडम्बमानस्य नृलोकमात्मनः।**

**वीर्याणि गीतान्यृषिभिर्जगद्गुरोर्लोकान् पुनानान्यपरं वदामि[2] किम्।।७१।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां

सप्तमस्कन्धे युधिष्ठिरनारदसंवादे त्रिपुरविजयो नाम दशमोऽध्यायः।।१०।।

**श्रीध॰ सन्नद्ध** इति। अभिजिति मध्याह्ने।।६६, ६७।।

**ददाहेति**। विमानशतानि सङ्कुलानि सङ्कीर्णानि येषां ते देवादयः।।६८-७०।।

आदित आरभ्य स्कन्धार्थं निगमयति - **एवंविधानीति**। नृलोकं नराकारमात्मनो विडम्बमानस्याऽनुकुर्वतः।।७१।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे

श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां दशमोऽध्यायः।।१०।।

**वीर॰** तत्र शक्तिर्नाम स्वापृथक्सिद्धविशेषणभूतकार्योपयुक्ता सा च धर्मादिरूपेण बहुविधा। तत्र धर्मशक्तिर्नाम साधुपरित्राणसामर्थ्यात्मिका। ज्ञानशक्तिरिह - "यस्सर्वज्ञस्सर्ववित् सर्वदर्शः स्वाधीनोऽनादिः सर्वेश्वरः सर्वदृक्" (मुण्ड. उ. 2-2-7) इत्यादिभ्योऽवगता सर्वसाक्षात्कारसामर्थ्यात्मिका। तथाचोक्तं श्रीमन्नाथमुनिभिः "योवेत्ति युगपत्सर्वं प्रत्यक्षेण सदा स्वतः" (न्यायतत्त्वम्-1) इति। "विरक्तिर्नाम सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः" (छान्दो.उ. 3-14-2) इति श्रुत्यवगतावाप्तसमस्तकामत्वेऽपि तदनादरेणाऽवस्थानसामर्थ्यात्मिका ऋद्धिर्नामैश्वर्यम् "एष सर्वेश्वरः कृष्णः" इत्यादिप्रमाणावगतं सर्वान्तरात्मत्वेन नियन्तृसामर्थ्यम्, तपश्शक्तिर्नाम[3] "स तपोऽतप्यत, सतपस्तप्त्वा, इदं सर्वमसृजत" (तैत्ति.उ. 2-6) इत्याद्यवगता जगद्रक्षणोपयुक्तसङ्कल्परूपज्ञानात्मिका, विद्या

1. H,V स्वं 2. W °दाम 3- -3 W तपो नाम

नाम "सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः" (छान्दो.उ. 8-1-5) इत्याद्यवगता सत्यसङ्कल्पात्मिका, सत्यसङ्कल्पत्वञ्च स्वावताराद्यपूर्वभोग्यान्तरसृष्टौ जगद्व्यापारादिषु चाऽमोघसङ्कल्पत्वम्, क्रिया नाम अघटितघटनात्मिका "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" (श्वेता.उ. 6-8) इत्याद्यवगता। आदिशब्देन बलवीर्यतेजआदयः। तत्र बलं श्रमप्रसङ्गरहितं सर्वधारणसामर्थ्यम्, "एष सेतुर्विधारणः"(मैत्र.उ. 77) इत्यादिभ्योऽवगतम्, वीर्यं नाम सर्वधारणेऽपि विकाररहितत्वम्, तेजः अस्वाधीनसहकार्यनपेक्षत्वम्। रथमिति वाहानश्वान्, वर्म कवचम्, आदिशब्देन प्रग्रहादिकं गृह्यते।।६६।।

भगवद्धर्मशक्त्यात्मकं रथमारुह्य सन्नद्धः क्वचित् ईश्वरो रुद्रः शरं धनुश्चोपाददे स्वीकृतवान्। ततो धनुषि शरं सन्धाय अभिजिति मुहूर्ते अभिजिन्नामके मुहूर्ते[1-] दिवसस्याष्टमे मुहूर्ते[-1]।।६७।।

भगवतः श्रीकृष्णस्य तेजसोक्तविधेन युक्तस्त्रिपुरं ददाह बाणप्रयोगद्वारेण दग्धवान्। हे नृप! तदा दिविदुन्दुभयो नेदुः दध्वनुः। विमानशतानि सङ्कुलानि येषां ते।।६८।।

देवर्ष्यादयः, जयेति वदन्त इति शेषः। उत्कर्षेण वर्तस्वेति वदन्तः कुसुमौत्करैः पुष्पवर्षैः शम्भुमवाकिरन् ववृषुः। अप्सरसां गणाश्च जगुर्ननृतुश्च।।६९।।

हे नृप! एवमित्थं तिस्रः पुरः पुरीर्दग्ध्वा पुरहा भगवान् रुद्रः ब्रह्मादिभिः स्तूयमानः स्वस्थानं प्रत्यपद्यत प्राप्तवान्।।७०।।

श्रीकृष्णस्य परब्रह्माभिन्नत्वसूचकप्रभावप्रतिपादनमुपसंहरन् प्रश्नान्तरावसरं प्रयच्छति - **एवमिति**। आत्मनः स्वस्य मायया सङ्कल्पेन, न तु कर्मणेति भावः। नृलोकं विडम्बमानस्य अनुकुर्वतः, इतरसजातीयचेष्टां कुर्वत इत्यर्थः। हरेराश्रितार्तिहरस्य लोकस्य हितोपदेष्टुरस्य श्रीकृष्णस्य ऋषिभिरस्मदादिभिर्गीतान्येवंविधानि वीर्याणि लोकं पुनानानि बहूनि सन्तीति शेषः। साकल्येन केनाऽपि वक्तुं न शक्यानीति भावः। अपरमन्यत्किं वदाम, अतोऽन्यत्किञ्चित्त्वया प्रष्टव्यमस्तीति चेत् तत्कथयामेत्यर्थः।।७१।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां दशमोऽध्यायः।।१०।।

1- -1 W Omits

**विज॰** धर्मादिबलोपेतत्वात् अभेद्यादिः किं तत्प्राधानिकमिति तदाह - रथमिति। भगवतो हरस्तेजसा गुप्तो रक्षितः।।६६,६७।।

यशोविततिप्रकारमाह - दिवीति। जयेत्युक्त्वा जगुरित्यनेन यशोविततिर्ज्ञायते।।६८,६९।।

ब्रह्मादिभिः ब्रह्मोत्पन्नैस्सनकादिभिः "इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवः" (ऋक्.सं. 7-46-1) इत्यादि वेदवाक्यैर्वा शम्भोः पुरदहनमाहात्म्यं यत्, तत् श्रीनारायणैकनिष्ठमित्याशयेन उपसंहरति - **एवं विधानीति**। अपरं भगवच्चरितं तद्वदेति शेषः। अपरमन्यत् वस्तु एवंविधमाहात्म्योपेतं किं वदामि, न किमपीति वा ।।७०,७१।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
सप्तमस्कन्धे दशमोऽध्यायः ।।१०।।

(विजयध्वजरीत्या एकादशोऽध्यायः समाप्तः )

* * * *

1. A,B °ध्व°

# एकादशोऽध्यायः

## श्रीशुक उवाच

श्रुत्वेहितं साधुसभासभाजितं महत्तमाग्रण्य उरुक्रमात्मनः।[1]
युधिष्ठिरो दैत्यपतेर्मुदा युतः[2] पप्रच्छभूयस्तनयं स्वयम्भुवः।।१।।

## युधिष्ठिर उवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मं सनातनम्।
वर्णाश्रमाचारयुतं यत्पुमान्विन्दते परम्।।२।।

भवान् प्रजापतेस्साक्षा दात्मजः परमेष्ठिनः।
सुतानां सम्मतो ब्रह्मंस्तपोज्ञानसमाधिभिः।।३।।

नारायणपरा विप्रा धर्मं[4] गुह्यं[5] यथा विदुः।
करुणास्साधवश्शान्तास्त्वद्विधा न तथाऽपरे।।४।।

## नारद उवाच

नत्वा भगवतेऽजाय लोकानां धर्महेतवे।[6]
वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायणमुखाच्छ्रुतम्।।५।।

योऽवतीर्यात्मनोंऽशेन दाक्षायण्यान्तु धर्मतः।
लोकानां स्वस्तयेऽध्यास्ते तपो बदरिकाश्रमे।।६।।

धर्ममूलं हि भगवान् सर्ववेदमयो हरिः।
स्मृतिश्च तद्विदां राजन् येन चाऽऽत्मा प्रसीदति।।७।।

---

1 W °मु° 2 M,Ma °दान्वितः 3 A,B,G,J,T,W याग 4 W धर्म 5. A,B,G,J,T परं 6. H,V सेतवे 7 A,B,G,H,T,V च्छ्रुतम् 8. A,B,G,H,J,T,V तं च

**सत्यं दया तपश्शौचं तितिक्षेक्षा[1] शमो दमः।**

**अहिंसा ब्रह्मचर्यञ्च त्यागः स्वाध्यायआर्जवम्।।८।।**

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तदेवं दशभिर्ज्ञान-भक्तियोगावुदीरितौ। अथ पञ्चभिरध्यायैः कर्मयोगोऽनुवर्ण्यते।।

एकादशे नृणां धर्माः साधारण्येन वर्णिताः। विशेषेण च वर्णानां मुख्याऽमुख्याश्च र्योषताम्।।

**श्रुत्वेति**। दैत्यपतेः प्रह्लादस्य साधूनां सभासु सभाजितं सत्कृतमीहितं चरितं श्रुत्वा पुनर्नारदं पप्रच्छ। कथम्भूतस्येहितम्? महत्तमानामग्रण्यो मुख्यस्य। तत्र हेतुः-उरुक्रमे आत्मा मनो यस्य।।१।।

**भगवन्निति**। श्रवणेच्छायां हेतुः। यद्यतो धर्मादनुष्ठितात्परं ज्ञानं भक्तिञ्च विन्दते।।२,३।।

ननु स्मृतिकारैः धर्म उक्त एव तत्राह-**नारायणपरा** इति।।४।।

**नत्वेति**। अजाय श्रीनारायणाय, तस्यैव मुखाच्छ्रुतम्।।५।।

तन्मुखादात्मनः श्रवणं सम्भावयन्विशिनष्टि-**य** इति।।६।।

प्रथमं तावद्धर्मे प्रमाणमाह-**धर्मेति**। धर्मस्य मूलं प्रमाणम्। स्मृतञ्च स्मृतिः। तद्विदां वेदविदाम्। येन चाऽऽत्मा मनः[2] प्रसीदति, तुष्यति च। तथा च याज्ञवल्क्यः- "श्रुतिः स्मृतिस्सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। सम्यक्सङ्कल्पजाः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्।।" (याज्ञ. स्मृ- 1-7) इति। मनुश्च "वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च" (मनु.स्मृ. 2-6) इति।।७।।

तत्र तावन्नरमात्रसाधारणधर्ममाह-**सत्यमिति** पञ्चभिः। तप एकादश्युपवासादि। ईक्षा युक्तायुक्तविवेकः। शमो मनसः संयमः। दमो बाह्येन्द्रियाणाम्। त्यागो दानम्। स्वाध्यायो यथोचितजपः।।८।।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदेवं श्रुतप्रह्लादचरितो[3]ऽपरं वदाम किमिति प्रश्नाय चोदितो युधिष्ठिरः वर्णाश्रमादि-धर्मान् तत्र तत्र

---

1. M,Ma °ज्या 2. H.V. omit मनः 3. W °त्रो

भगवद्भक्तियोगाङ्गत्वेनोक्तन् बुभुत्सुः पप्रच्छ देवर्षिमित्याह भगवान्बादरायणिः **श्रुत्वेति**। ऊरुविक्रमे भगवति आत्मा मनो यस्य तस्य दैत्यपतेः प्रह्लादस्य साधुसभाभिः सभाजितमनुसेवितम् [1-]आदृतं वा[-1] ईहितं चरित्रं श्रुत्वा मुदा हर्षेण अन्वितो युक्तो युधिष्ठिरः पुनर्महत्तमानामग्रण्यं प्रथमतो गण्यं स्वयम्भुवो [2]ब्रह्मणस्तनयं नारदं पप्रच्छ- "साधुसभासभाजितं महत्तमाग्रण्य उरुक्रमात्मनः" इति पाठान्तरम्। तत्र महत्तमानामग्रण्यः मुख्यस्य उरुक्रमे भगवति आत्मा मनो यस्य दैत्यपतेः प्रह्लादस्येहितं साधूनां सभायां सभाजितं सत्कृतं श्रुत्वेत्यर्थः।।१।।

प्रश्नमेवाह-**भगवन्निति** [3]त्रिभिः। हे भगवन्! अहं वर्णानां ब्राह्मणादीनाम् आश्रमाणां ब्रह्मचर्याद्याश्रमनिष्ठानां च आचारैर्युतं नृणां सनातनमनादिपरम्परागतं [4-]नत्वर्वाचीनपाषण्डिकल्पितं[-4] वर्णाश्रमाचारयुतं न तूत्पथप्रतिपन्न जनाचारयुतम्। एवंविधाद्धर्मादेव परमात्मानं विन्दत इति भावः। "वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्। विष्णुराराध्यते नाऽन्यः पन्थास्तत्तोषकारणम्" (विष्णु. पु. 3-8-9) इति स्मृतेः[4]। धर्मं श्रोतुमिच्छामि तच्छ्रवणेच्छायां हेतुं वदन्विशिनष्टि-यद्यस्माद्धर्मात्परं परमपुरुषं विन्दते भक्तियोगनिष्पत्तिद्वारा प्राप्नोतीत्यर्थः।।२।।

नन्वेतद्धर्मविदो बहवस्सन्ति, अतस्तं प्रतिनाऽहं प्रष्टव्यस्तत्राह-**भवानिति**। त्वमिवाऽन्ये धर्मं गुह्यं न विदुः, अतस्त्वमेव ब्रूहीति भावः। तदेव व्यञ्जयंस्तं[5-] विशिनष्टि-प्रजानां पत्युः परमेष्ठिनः साक्षाद्भवानात्मजः पुत्रः सर्वोऽपि धर्मः परमेष्ठिमुखोपदिष्ट इति ततो गृहीतधर्मरहस्यस्त्वमेव तद्वक्तुं समर्थ इति भावः। ननु परमेष्ठिनः सुता अपि बहवस्सन्तीत्यत्रा[6]ऽऽह-हे ब्रह्मन्! सुतानां मध्ये भवान् परमेष्ठिनः सम्मतः सुतः नितरां प्रीतिविषयः सुतः, अतो धर्मरहस्यं तेन तुभ्यमुपदिष्टं भवेदिति भावः।।३।।

ननु उपदिष्टधर्मरहस्योऽप्यहं तद्विस्मृतवानस्मि इत्यत्राऽऽह- तपआदिभिरुपायैः नारायणपराः नारायणः पर उत्कृष्ट उपास्यो येषां तादृशा विप्रा यूयं परं[7] धर्मगुह्यं विदुः भगवद्भक्त्यङ्गत्वेन वर्णाश्रमादिधर्ममनुतिष्ठतां युष्माकं न तद्विषया विस्मृतिरिति भावः। जानन्तो वयं रहस्यत्वादेव न कथयाम इति चेत् तत्राह-करुणा इति। करुणाः करुणावन्तः [8]करुणावतां मम धर्मरहस्याज्ञानप्रयुक्तदुःखस्य निराचिकीर्षा युक्तैवेति भावः। [9-]ननु तच्छ्रवणे त्वमनधिकारीति शङ्कां निराकुर्वन्विशिनष्टि शान्ता रागादिप्रयुक्तवैषम्यरहिताः किं तवैतद्रहस्योपदेशेन मम प्रयोजनं, तत्राऽऽह[-9]-साधवः स्वार्थनिरपेक्षपरोपकारशीलाः एवम्भूतास्त्वद्विधा एव न त्वपरे सन्तीत्यर्थः।।४।।

---

1- -1 W omits 2. W omits ब्रह्मणः 3. W omits त्रिभिः 4- -4 W omits तं 6. W °तआ° 7 W omits परं 8. W कारुण्यवतां 9- -9 W omits

एवमापृष्टो धर्मान्, भगवान् नारदस्तान्विवक्षुः स्वस्य साक्षात्तदुपदेष्टारं श्रीमन्नारायणं नमस्कुर्वन् प्रतिज्ञाय तं विशिनष्टि-**नत्वेति** द्वाभ्याम्। अजाय कर्मायत्तोत्पत्तिरहिताय[1], भगवते नारायणाय लोकानां यो धर्मस्तस्य हेतवे नारायणाय प्रवर्तकाय नत्वा नारायणमुखाच्छ्रुतं सनातनं धर्मं महं वक्ष्ये।।५।।

एवं प्रतिज्ञां कृत्वाऽथ[2] तन्मुखादात्मनः श्रवणं सम्भावयन् तं विशिनष्टि-**य** इति। यो भगवानात्मनोंऽशभूतेन नरेण सह दाक्षायण्यां दक्षदुहितरि मूर्तौ धर्मतो मूर्त्यां भर्तुर्धर्मादवतीर्य लोकानां स्वस्तये बदरिकाश्रमेऽद्याप्यध्यास्ते।।६।।

तावद्विवक्षिते धर्मे प्रमाणमाह-**धर्ममूलमिति**। धर्मस्य मूलं प्रमाणं धर्मप्रमापको भगवानेवेत्यर्थः। ननु, भगवतः प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तर्भूतत्वात्कथं तस्य धर्मप्रमापकत्वमिति शङ्कां निराकुर्वन् तं विशिनष्टि। सर्ववेदमयः ऋग्यजुस्सामादिसर्ववेदप्रचुरः न साक्षाद्धर्मे भगवान् प्रमाणमपि तु साक्षात्प्रमाणभूतसर्ववेदाविष्कार द्वारेति भावः। तदाविष्कारकत्वञ्च तस्य श्रूयते-"तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः" (सुबा.उ.2-1) इत्यादि। किञ्च, हे राजन्! तद्विदां वेदविदां स्मृतिश्च तद्धर्ममूलमित्यर्थः। तद्विदामित्यनेन स्मृतीनां स्वमूलभूतश्रुत्यनुमापनद्वारा धर्मप्रमापकत्वमिति सूचितम्। तद्विदां स्मृतस्य इत्यनेन अतद्वेदनमूलकशाक्यादिस्मृतिव्यावृत्तिः। स्मृतिश्चेति चशब्देन शिष्टाचारादिसङ्ग्रहः[3]। तदुक्तं मनुना"वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च" (मनु. स्मृ. 2-6) इति याज्ञवल्क्यस्य "श्रुतिस्मृतिस्सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। सम्यक्सङ्कल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्" (याज्ञ. स्मृ. 1-7) इति। धर्मं विशिनष्टि। येन धर्मेण स्वाराधनभूतेनाऽऽत्मा परमात्मा प्रसीदति परमात्मप्रसादहेतुत्वात् अवश्यं तच्छ्रवणादिकं[4] कर्तव्यमिति भावः।।७।।

एवं धर्मप्रमाणान्यभिधाय तावन्नृणां ये साधारणाः धर्माः तानाह-**सत्यमित्या**दिभिः पञ्चभिः। सत्यं भूतहितत्वं, दया स्वार्थनिरपेक्षपरदुःखासहिष्णुत्वम्, तपः अनशनादिरूपम्, शौचं स्नानादिजं शुचित्वम्, तितिक्षा शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता, ईक्षा हेयोपादेयविवेकः, शमोऽन्तरिन्द्रियजयः, दमो बाह्येन्द्रियजयः, अहिंसा करणत्रयेणापि परपीडानिवृत्तिः, ब्रह्मचर्यमनुचितकालेषु स्त्रीसङ्गराहित्यं, त्यागो लोभराहित्यं, स्वाध्यायो यथोचितमन्त्रजपः, आर्जवं मनोवाक्कायानामैकरूप्यम्।।८।।

---

1. W कर्मोत्पत्ति ° 2. W omits अथ 3. W °रसं 4. A.B.T °दि क°

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भगवद्भक्त्या यथावद्गीतवर्णाश्रमाचाराचरणेन समुत्पन्नापरोक्षज्ञानेन प्रसन्नो हरिः स्वस्वयोग्यां मुक्तिं ददातीत्येतदर्थमुत्तरेषामध्यायानामारम्भः। तत्र वर्णाश्रमधर्माँच्छ्रोतुकामो युधिष्ठिरो नारदं पृच्छतीत्याह - **श्रुत्वेति**। महत्तमानामग्रण्यस्य श्रेष्ठस्य उरुक्रमे हरावात्मा मनो यस्य स तथा, तस्य[1]। दैत्यपतेर्प्रह्लादस्य ईहितं चरितं साधु सभासु सभाजितं सम्भावितं महत्तमानां ब्रह्मादीनां उत्तमस्य दैत्यानामपि पत्युरुरुक्रमात्मनो नरसिंहस्येति वा।।१।।

धर्मं विशिनष्टि-वर्णेति। वर्णाश्रमाचारयुतम्, यु मिश्रणे इति धातुः।।२-५।।

पुरुषार्थोपयोगित्वाद्वक्तुमिच्छामीत्याह - **योऽवतीर्येति**। दाक्षायण्यां नाम्ना मूर्तौ धर्मतो धर्मप्रवर्तनार्थम्। "स्यादध्यधिक ईश्वरः" इत्यभिधानादीश्वरः तप उद्दिश्य बदरिकाश्रम आस्ते इत्यन्वयः। बदरिकाश्रमे तपोऽध्यास्ते इति वा।।६।।

तत्राऽनुष्ठानधर्मविषये ज्ञाते क्षिप्रप्रवृत्तिः स्यादधिकारिणामिति तमाह - **धर्ममूलमिति**। धर्ममूलं धर्म विषयः सर्ववेदमयः सर्ववेदप्रतिपाद्येषु प्रधानः। अनेन रुद्रादयो निवृत्ता इति ज्ञातव्यम्। न केवलं धर्मविषय् एव तत्प्रतिष्ठापकश्चेत्यतो धर्ममूलमित्यत्र प्रमाणं सर्ववेदमय इति। प्रमाणान्तरं चाऽस्तीत्याह - स्मृतिरिति। प्रमाणमिति शेषः। भगवत्प्रसादहेतुत्वात् प्रमाणमित्याह-येनेति। अनेन भगवत्तत्त्वज्ञैः स्मृतो धर्मो न कपिलादिभिः इत्युक्तं भवति।।७।।

विषयं निरूप्य सर्वसाधारणं सर्वधर्मसाधनमाह - **सत्यमिति**। सत्यादिचतुष्टयमन्तरङ्गं, तितिक्षादिक मुपाङ्गमिति ज्ञातव्यम्।।८।।

**सन्तोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।**
**नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्।।९।।**

**अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथाऽर्हतः।**
**तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव!।।१०।।**

1. A omits तस्य

**श्रवणं कीर्तनञ्चाऽस्य स्मरणं महतां गतेः।**
**सेवेज्याऽवनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्।।११।।**

**नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।**
**त्रिंशल्लक्षणवान्[1-]राजन् सर्वात्मा[-1] येन तुष्यति।।१२।।**

**संस्कारा[2] यदविच्छिन्नाः स द्विजो[3-]ऽजो जगाद यम्[-3]।**
**इज्याऽध्ययनदानानि विहितानि द्विजन्मनाम्।**
**जन्मकर्मावदातानां क्रियाश्च[4]ऽऽश्रमचोदिताः।।१३।।**

**विप्रस्याध्यापनादीनि[5] ततो[6]ऽन्यस्याऽप्रतिग्रहः।**
**राज्ञो वृत्तिः प्रजागोप्तु रविप्राद्वा करादिभिः।।१४।।**

**वैश्यस्तु वार्तावृत्तिः[7]स्यात् नित्यं ब्रह्मकुलानुगः।**
**शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा वृत्तिश्च स्वामिनो भवेत्।।१५।।**

**वार्ता विचित्रा[8] शालीनं[9] यायावरं[10] शिलोञ्छनम्।**
**विप्रवृत्तिश्चतुर्धेयं श्रेयसी चोत्तरोत्तरा।।१६।।**

**श्रीध०** सन्तोषो दैवलब्धेनाऽलम्बुद्धिः। समदृक्सेवा[11] समदृशां महतां सेवा। ग्राम्येहोपरमः प्रवृत्तकर्मभ्यो निवृत्तिः। विपर्ययेहेक्षा निष्फलक्रियाणामीक्षणम्। मौनं वृथालापनिवृत्तिः[12]। आत्मविमर्शनं देहादिव्यतिरिक्तात्मानुसन्धानम्।।९।।

**अत्रेति**। आत्मेति देवतेति च बुद्धिः।।१०।।

**श्रवणमिति**। अस्य श्रीकृष्णस्य। श्रवणादयो नव। इज्याऽर्चनम्।।११।।

**नृणामिति**। एवं त्रिंशल्लक्षणवान्।।१२।।

---

1--1 H,V °वान्साधुस्स °; M,Ma संयुक्तस्स °; W °वान्साक्षात्स ° 2 H,V यद्यविं°; M,Ma यद्यवि ° 3--3 M,Ma °ज्ञो वेदिकादयः 4. M,Ma °श्च निगमोदिताः 5. A,B,G,J,T °ध्ययनादीनि 6. A,B,G,J,T,W षडन्य° 7 A,B,G,J,T,W °श्च 8 M,Ma °त्र 9 A,B,G,J,T °न 10. A,B,G,H,J,T,V वर 11. H,M,Ma,V omit समदृक्सेवा 12. H,V °थाप्रला°

इदानीं वर्णधर्मान्वक्तुं द्विजानां लक्षणमाह-**सस्कारा** इति। संस्काराः[1] मन्त्रवन्तो गर्भाधानादयो यस्मिन्नविच्छिन्नाः स द्विजः। तर्हि शूद्रस्याऽपि संस्काराविच्छेदे सति द्विजत्वं स्यात्तत्राह। अजो ब्रह्मा यमेवम्भूत संस्काययुक्तं जगाद स द्विजः शूद्रं तु न मन्त्रवत्संस्काययुक्तं जगाद, न चोपनयनवन्तम्, अतो नाऽसौ द्विजः। तथा च स्मृतिः "विवाहमन्त्र संस्कारं शूद्रोऽपि लभतां सदा। न केनचित्समसृजच्छन्दसा तं प्रजापतिः" इति। श्रुतिश्च "गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत्, त्रिष्टुभा राजन्यं, जगत्या वैश्यं न केनचिच्छूद्रम्" इति। अतो विवाहव्यतिरिक्त-संस्कारस्य अनावश्यकत्वात् उपनयनस्य तु सर्वथा निषेधात्, न तस्य द्विजत्वमित्यर्थः। पाठान्तरे वैदिकादय इति गर्भाधानादय इत्यर्थः। त्रैवर्णिकानामावश्यकान्धर्मानाह-इज्येति। जन्मना विशुद्धेन कुलेन कर्मणा च आचारेण अवदातानां शुद्धानां, दुष्कुलानां दुराचाराणां च नैतानि विहितानीत्यर्थः। ब्रह्मचार्याद्याश्रमर्माविहिताः क्रियाश्च। शूद्रस्य तु वर्णधर्मा एव, आश्रमभेदकृतविशेषाभावात्।।१३।।

ब्राह्मणादीनां चतुर्णामपि वृत्तिरूपान् धर्मान् आह-**विप्रस्येति** सार्धैः सप्तभिः। विप्रस्य षट्कर्माणि विहितानीत्यनुषङ्गः। तत्र त्वध्यापनं याजनं प्रतिग्रहश्च जीविका। यथाऽऽह मनुः "षण्णान्तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका। याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः" (मनु. स्मृ. 10-76) इति। अन्यस्य क्षत्रियस्य अप्रतिग्रह इति। प्रतिग्रहातिरिक्तं याजनमध्यापनं च आपदि अनुजानाति। वक्ष्यति चाऽनन्तरमेव ऋते राजन्यमिति। श्रूयते च अजातशत्रुभीष्म[2]प्रभृतीनां[2] क्षत्रियाणामुपदेष्टृत्वादि। प्रजापालनेऽधिकृतस्य क्षत्रियस्य वृत्यान्तरमाह-राज्ञ इति। आदिशब्देन दुण्डशुल्कादि।।१४।।

**वैश्य** इति। वार्ता कृषिवाणिज्यादिलक्षणावृत्तिः यस्य सः शूद्रस्य द्विजानां[3] शुश्रूषा विहिता। स्वामिनो द्विजस्य तु शुश्रूषावृत्तिश्च भवेत्।।१५।।

विप्रस्य मुख्यानुकल्पभेदेन वृत्त्यन्तराण्याह-**वार्तेति**। वार्ता विचित्रा कृष्यादिरूपा। शालीनं धाष्ट्र्यं विनैव प्राप्तमयाचितम् यायावरं प्रत्यहं धान्ययाच्ञा। शिलं शालिक्षेत्रादौ स्वामित्यक्तकणिशोपादानम्। उञ्छनमापणादि पतितकणोपादानम्। शिलोञ्छनद्वयमेकीकृत्य चतुर्धेत्युक्तम्। श्रेयसी उत्तमा[4]वृत्तिः।।१६।।

---

1 H,V omit संस्काराः 2- -2 A,B,J अश्वपतिकैकय 3 H,V °जशु° 4 A,B,J omit वृत्तिः

**वीर०** सन्तोषो दैवाल्लब्धेनाऽलम्बुद्धिः। समदृक्सेवा, समदृशां महतां सेवा ग्राम्येहाभ्यः प्रवृत्तिकर्म चेष्टाभ्य[1] उपरमो निवृत्तिः, नृणां विपर्ययेहेक्षा निष्फलचेष्टानिरूपणम्। मौनं मितभाषणम्। आत्मविमर्शनं देहविलक्षणात्मयाथात्म्यपरिशीलनम्।।९।।

भूतेभ्यो यथायोग्यमन्नाद्यम् अन्नं[2] तदादेः संविभागः विभज्य प्रदानम् । तेषु भूतेषु आत्मदेवता बुद्धिः आत्मेति च देवतेति च बुद्धिः आत्मनः स्वस्य देवता दैवतं परमात्मा तद्बुद्धिः, ब्रह्मात्मकत्वबुद्धिरिति वा। स्वात्मतुल्यता बुद्धिः देवताबुद्धिश्चेति वा,[3] हे पाण्डव! भूतानां मध्ये नृषु मनुष्येषु[4] तु सुतराम् अतीव आत्मदेवताबुद्धिः[5] इत्यर्थः।।१०।।

महतां गतेः भक्तानां[6-6] शरण्यस्य भगवतः श्रवणं गुणश्रवणं, कीर्तनं गुणप्रतिपादकनामादि कीर्तनम् स्मरणं स्वरूपगुणविभूति स्मरणम्,सेवा पादपीडनादिरूपा, इज्या अर्घ्यपाद्यादि निवेदनरूपा, अवनतिः नमस्कृतिः प्रह्वीभावो वा, सख्यं सर्वात्मना आनुकूल्यम्, आत्मसमर्पणम् स्वात्मनस्तदनुबन्धिनश्च तदायत्तसत्तादिमत्त्वानुसन्धानं चेत्ययं त्रिंशल्लक्षणवान् सर्वेषां नृणां साधारणः परः उत्कृष्टो धर्मः उदाहृतः प्रदर्शितः, येन धर्मेण सर्वान्तरात्मा भगवान् तुष्यति प्रसन्नो[7-7] भवति[7] सोऽयं त्रिंशल्लक्षणवानित्यर्थः।।११,१२।।

एवं नृणां साधारणं धर्ममभिधाय अथ नरविशेषाणां ब्राह्मणादीनां वर्णानां त्रयाणामावश्यकान् धर्मान् विवक्षुस्तावत् त्रैवर्णिकसाधारण्येन द्विजत्वलक्षणमाह--**संस्कारा** इति। यद्यत्र संस्काराः गर्भाधानादयः षोडश अविच्छिन्नाः स द्विजः। ननु शूद्रस्यापि तदविच्छेदे द्विजत्वं स्यात्; तत्राह-अजो ब्रह्मा यमेवं[8] संस्कारयुक्तं जगाद। श्रुतिस्मृतिमुखेन स द्विजः। शूद्रन्तु न मन्त्रवत्संस्कारयुक्तं जगाद। न चोपनयनवन्तम्। अतो "नाऽसौ द्विजः" तथा च स्मृतिः- "विवाहमात्रं संस्कारं शूद्रोऽपि लभतां सदा। न केनचित्समसृजत् छन्दसा तं प्रजापतिः" इति। श्रुतिश्च "गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत् त्रिष्टुभा राजन्यम्, जगत्या वैश्यम्, न केनचिच्छूद्रम्"[9] इति। अतो विवाह व्यतिरिक्त संस्कारस्याऽभावात्, उपनयनस्य निषेधात् न तस्य द्विजत्वम् इति व्याचक्षते। वस्तुतस्तु द्विजत्वादिक मदृष्टविशेषसम्बन्धरूपं न जातिरूपं, न ब्राह्मणादेः, ब्राह्मण्यादिषु उत्पत्तिमात्ररूपं केवलसंस्कारमात्रवत्वं वा, अन्यथाऽऽदिकाले ब्रह्मणो मुखबाहूरुप्रभवानां[10] पश्चाद्विश्वामित्रप्रभृतीनाञ्च ब्राह्मण्याद्यभावप्रसङ्गात्। सन्तान

1. W omits चेष्टा 2. A,B,T अन्नभक्षणं 3 A,B,T add इष्टदेवताबुद्धि. 4 W omits मनुष्येषु 5 W omits इत्यर्थः 6- -6 W omits 7- -7 W omits 8. A,B,T °व 9. A,B,T add उच्यते 10. A,B,T °रुपत्र°

विशेषप्रसूतत्त्वादिकं च तादृगदृष्ट विशेषवत्वसूचकं, सन्तान विशेषोत्पतेः तन्मूलकसंस्कारादेश्च प्रकृष्टादृष्टकार्यत्वा दलौकिकप्रकर्षविशेषकारणत्वाच्च। एवञ्च 'कार्येण कारणानुमानम्' इति न्यायेन यत्र कार्यभूतास्संस्काराः अविच्छिन्नाः पित्रादिपरम्परयाऽविच्छिन्ना दृष्टाः स द्विज इत्यर्थः। सन्तानविशेषप्रभवत्वतन्मूलक संस्कारादिमत्त्वानुमितादृष्टसम्बन्धविशेषवान् द्विज इति यावत्। संस्काराश्च ब्राह्मणादेः ब्राह्मण्यादिषु प्रसूतस्यैव कर्तव्यत्वेन प्रजापतिना "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत" इत्यादि श्रुतिस्मृत्यादि मुखेन प्रगदिताः। तथा च यत्सन्तानविशेषप्रभावं संस्कारम् अजो जगाद तत्सन्तानप्रभावत्वानुमितादृष्टविशेषसम्बन्धवान् द्विज इति फलितोऽर्थः। त्रैवर्णिकानामावश्यकान् धर्मानाह-इज्येति। जन्मना कुलेन कर्मणा चाऽवदातानां शुद्धानां द्विजानां[1] त्रैवर्णिकानामिज्यादीनि स्वाश्रमचोदिताः ब्रह्मचर्याद्याश्रमेषु विहिताः क्रियाः चोदितानि विहितानि, एषामकरणे प्रत्यवायः इति भावः। तुर्याश्रमिणामनग्नित्वेन इज्याया अभावात् तदभिप्रयेण स्वाश्रमचोदिताः क्रियाः इत्युक्तम्। साग्नित्वे इज्यादीनि त्रीणि स्वाश्रमचोदिताः क्रियाश्चेत्येतानि विहितानि अनग्नित्वेत्वाश्रमचोदिताः क्रिया विहिता इत्यर्थः। अनाश्रमिणां विधुरादीनान्तु पूर्वोक्तत्रिंशल्लक्षणवान् धर्म इति भावः।।१३।।

एवं त्रैवर्णिकानां आवश्यकान् धर्मानभिधाय अथ तत्र विप्रस्य जीविकाधर्मानाह-**विप्रस्याध्यापनादीनीति**। आदिशब्देन याजनप्रतिग्रहौ विवक्षितौ। याजनाध्यापनप्रतिग्रहाः जीविकाधर्माः इज्याध्ययनदानानि त्वावश्यका धर्मा इत्यर्थः। एवं सम्भूय विप्रस्य षट् धर्माः। तथा चोक्तं मनुना- "षण्णान्तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका। याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः" (मनु.स्मृ. 10-76) इति। अथ क्षत्रियस्य जीविकाधर्मानाह अन्यस्याऽप्रतिग्रह इति। अत्र अन्यस्य क्षत्रियस्य अप्रतिग्रह इति। प्रतिग्रहातिरिक्तं याजनमध्यापनञ्च अनुजानाति। वक्ष्यति चाऽनन्तरमेव 'ऋते राजन्य' मिति। श्रूयते च अश्वपति कैकयप्रभृतीनां क्षत्रियाणामुपदेष्टृत्वादि। प्रजापालनेऽधिकृतस्य क्षत्रियस्य वृत्त्यन्तरमाह-राज्ञ इतीति व्याचक्षते। तच्चिन्त्यम् "प्रभुत्वादार्त्विज्यं सर्ववर्णानां स्यात्" इति द्वादशाध्यायान्त्याधिकरणे क्षत्रियादेर्याजनाध्यापनयोः प्रतिषिद्धत्वात्, तत्र हि दर्शपौर्णमासज्योतिष्टोमादिषु किं त्रिभिरपि द्विजातिभिरार्त्विज्यं कारयितव्यमुत ब्राह्मणैरेवेति संशय्य, तत्र त्रयोऽप्यार्त्विज्यमर्हन्ति विद्वत्त्वाद्वरणं पुनः पुरुषार्थमतः कर्म वैगुण्यं नास्ति। किञ्च याजनाध्यापन प्रतिग्रहाः ब्राह्मणस्यैव वृत्त्युपाया इति नियमः, पुरुषार्थतया स्मर्यते न क्रत्वर्थतया। तेन क्षत्रियवैश्यौ आर्त्विज्यं कुर्वन्तौ नियमातिक्रमात् कामं स्वधर्मात्प्रत्त्यवेयातां

1. W द्विजन्मनां

न क्रतोः कदाचित् गुणहानिः। तस्मात् त्रिभिरप्यार्त्विज्यं कारयितव्यमिति पूर्वपक्षं प्रापय्य "द्विजोत्तमानामार्त्विज्यं न तु क्षत्रियवैश्ययोः। ब्राह्मणार्त्विज्यनियमः क्रत्वर्थेनापि हि स्मृतः"।। यज्ञं व्याख्यास्याम इत्युपक्रम्य "ब्राह्मणानामार्त्विज्यम्" इति यज्ञसूत्रकाराः क्रत्वर्थेन स्मरन्तीति स्पष्टमेतत्। तथा च भगवद्रामायणेऽपि- "क्षत्रियो याजको यस्य चण्डालस्य विशेषतः। कथं सदसि भोक्तारो हविस्तस्य सुरर्षयः" (रामा. 1-59-13,14) इति। सुरा देवता ऋषयश्च ऋत्विग्भूता इति देवता हविर्भागनिराकरणात् क्रतुवैगुण्यमेव दर्शितम्। "राज याजक याज्यस्य विनश्यति यथा हविः" इति ब्राह्मणार्त्विज्ये हविर्विनाशः स्मृतः, लिङ्गानि च दर्शितानि "ब्राह्मणानामिदं हविः" इत्येवमादीनि। तस्मात् ब्राह्मणानामेव आर्त्विज्यं सिद्धमिति राद्धान्तितम्। तस्मात् न राजन्यवैश्ययोः याजनाध्यापनाधिकारः अश्वपति कैकयप्रभृतीनां यद्देदान्तेषु उपदेष्टृत्वमवगतम् न तदध्यापनरूपं, किन्तु सूतादीनामिव ब्रह्मस्वरूपतदुपासनाद्युपदेष्टृत्वरूपम्, अध्यापनं नाम स्वोच्चारणानुच्चारणाय शिष्योद्देश्येन भागद्वयात्मकवेदराशेः साङ्गस्य स्वरवर्णाद्यनपभ्रंशपूर्वकमुच्चारणम्। तस्मात् अप्रतिग्रह इत्यस्यायमर्थः। प्रतिग्रह ग्रहणं याजनाध्यापनयोरप्युपलक्षणम्। ये ब्राह्मणानां याजनाध्यापनप्रतिग्रहरूपा वार्तारूपा धर्माः न ते राजन्यादेर्जीविकाधर्मा इति। का तर्हि राजन्यादेः वृत्तिरित्याह-राज्ञ इति। तत्र राजन्यो द्विविधः प्रजापालनाधिकृतः, तदनधिकृतश्चेति, तावदाद्यस्य वृत्तिरनेनोच्यते। द्वितीयस्य तु ऋतानृताभ्यामित्यनेन वक्ष्यति। प्रजागोप्तुः प्रजापालनाधिकृतस्य राज्ञो राजन्यस्य अविप्रात् विप्रेतरात् करादिभिः वृत्तिः। स्वामिग्राह्यभागः करः तदादिभिः आदिशब्देन दण्डशुल्कादिकं विवक्षितम्। वाशब्देन प्रजापालनाधिकृतस्य तु वृत्त्यन्तरमेवेति सूचयति।।१४।।

अथ वैश्यस्याह-**वैश्य** इति। नित्यं ब्रह्मकुलं विप्रकुलमनुगच्छत्यनुवर्तते इति अनुगः तादृशस्सन् वार्ताकृषिवाणिज्यादिलक्षणा वृत्तिर्यस्य स भवेत्। अथ शूद्रस्य आवश्यकं धर्मं वृत्तिरूपञ्चाह-शूद्रस्येति। तत्र द्विजशुश्रूषा शूद्रस्यावश्यको धर्मः स्वामिनो वृत्तिश्च भवेत्। स्वामिदत्तेन अन्नादिना जीवनं भवेदित्यर्थः।।१५।।

एवं चतुर्णां वर्णानामावश्यकान् जीविकारूपांश्च धर्मानाभिधायाऽथ तेषामेव उक्तवृत्त्यलाभे वृत्त्यन्तराणि विवक्षुः तावद्ब्राह्मणस्य मुख्यानुकल्पभेदेन वृत्त्यन्तराण्याह-**वार्तेति**। विचित्रा वार्ता कृषिक्षादि रूपा, शालीनं धार्ष्ट्यं विनैव, प्राप्तमयाचितमित्यर्थः "शालीन कौपीने अधृष्टाकार्ययोः" (अष्टा. 5-2-20) इति निपातितः शालीनशब्दः इदं द्वितीयं यायाबर्यं यायावरः प्रवासी तस्य कर्म यायावर्यं प्रवासादिना याच्ञापूर्वकमर्जनम्। तृतीयं शिलोञ्छनम्। "उञ्छो धान्यशः आदानं, कणिशाद्यर्जनं शिलम्" (वैज को. 3-8-2) तदुभयमेकीकृत्य

चतुर्धेयं विप्रस्य वृत्तिः इत्युक्तम्। आसां चतसृणां वृत्तीनां पूर्वपूर्वोपेक्षया उत्तरोत्तरा श्रेयसी, ज्यायसी उत्तमेति यावत्। यद्यपि पूर्वं "विप्रस्याध्ययनादीनि षडन्यस्याऽप्रतिग्रहः" इति विप्रस्य प्रतिग्रहवृत्तेः कथितत्त्वात् , अत्र शालीनं यायावर्यमिति च न कथनीयम् तथाऽपि स एव प्रतिग्रहो याच्ञापूर्वक स्तदपूर्वकश्चेति द्विविध इति वक्तुं शालीनं यायावर्यञ्चोक्तम्।।१६।।

**विज॰** ग्राम्येहोपरमः विषयभोगेच्छानिवृत्तिः विषयविपर्ययेहेक्षा प्राणिनां स्वत एव निषिद्धकर्मचेष्टा ईहा तस्याः पर्यालोचनं मोक्षविपरीतप्रवृत्तिदर्शनं वा। मौनं मन्त्रार्थचिन्तनं प्रलापवर्जनं वा, आत्मविमर्शनमात्म विचारः।।९।।

तेषु नृषु आत्मदेवताबुद्धिः परमात्मा स्थित इति ज्ञानम्। सुतरामित्यनेन नृषु विशेषतः कर्तव्यमिति सूचयति। "अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियसंयमः। दमः क्ष्माऽऽर्जवं दानं सर्वेषां धर्मसाधनम्" (मनु. स्मृ. 10-63) इति स्मृतत्वादेषां धर्माङ्गत्वं न तु धर्मत्वमिति ज्ञातव्यम्।।१०।।

ननु तर्हि कोऽयं धर्मो नामेत्याशङ्क्य सर्वसाधारणं धर्ममाह-**श्रवणमिति**। महतां या गतिः स्थितिः तस्याः सेवा सङ्गतेः सेवेति वा। दास्यात्मसमर्पणयोरेकार्थत्वात् कथं पृथग्ग्रहणं कृतमित्याशङ्का-"अनाद्यनन्तकालेषु मुक्तौ संसार एव च। मयिस्थश्चोदयत्येको विष्णुर्मां सर्वदैव तु। इति सम्प्रीतिकं ज्ञानं विद्यादात्मसमर्पणम्। बहिश्चेश्वरदासत्वं दास्य मित्युच्यते बुधैः" (तन्त्रमालायाम्) इत्यनेन परिहरणीया अनाद्यनन्तकालं मयि स्थित्वा विष्णुस्सर्वत्र मां प्रेरयतीति प्रीतिपूर्वकज्ञानमात्मसमर्पणं, प्रतिमादिसन्निहितभगवद्दासत्वज्ञानं दास्यम्।।११।।

तारतम्य ज्ञानार्थं ब्रह्मादिविषयश्रवणादिभिरपि धर्मः स्यात् अतो विशिष्योच्यत इत्यत उक्तं पर इति "एष मे सर्व धर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः" (भारते.13-135-8) इति वचनात् समुदाहृत इति। समीचीनत्वं कुतः? अत्राऽऽह -त्रिंशल्लक्षणेति। अनन्तलक्षणस्य हरेः त्रिंशल्लक्षणयुक्तत्वं "तथाऽपि पुरुषाकारो भक्तानां त्वं प्रकाशसे" इति वचनात् भक्तप्रकाश्याकार विषयविवक्षया "सप्तपादश्चतुर्हस्तः" इत्यादि शास्त्रेषु पुरुषलक्षणस्य निरूपितत्वात् इदञ्च भक्तिप्रचयाय प्रोक्तमिति ज्ञायते। अनेन भगवत्तोषकरो धर्मो नाऽन्य इत्युक्तं भवति।।१२।।

एवं धर्मस्वरूपं निरूप्य तदधिकारिणं निरूपयति-**संस्कारा** इति। निषेकादि श्मशानान्ता ये संस्कारा स्ते यस्याऽविच्छिन्ना अखण्डिताः स द्विजः। स एवाधिकार्यत्रेति शेषः। अविच्छेद्यत्वेन कर्तव्यत्वे को हेतुरिति

तत्राह-वैदिकेति। वेदप्रतिपाद्यत्वेन प्रामाणिकत्वेन कर्तव्या इत्यर्थः। नन्विदं द्विजमात्रसामान्यं किन्नेत्याह- आदय इति। स्त्रीणां ब्राह्मणजातित्वेऽपि मन्त्रेण क्रिया एता इति यदतः शिष्टाचारत्वेन सङ्गृहीतत्वात् इदं वैदिकत्वेऽपि कर्तव्यत्वं, न तु स्त्रीणां वैदिकसंस्काराभावे यागानधिकारित्वमित्यस्य इदमेवोत्तरं वैदिकादय इति। वैदिका अवैदिकाश्च सन्तीत्यर्थः। तदुक्तम्-"निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः। गर्भाधानमृतौ पुंसःसवन स्पन्दनात्पुरा। षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तो मास्येते जातकर्म च। अहन्येकादशे नाम चतुर्थे मासि निष्क्रमः। षष्ठोऽन्नप्राशनं मासे चूडाकार्या यथा कुलम्। एवमेनश्शमं याति बीजगर्भ समुद्भवम्। तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः" (याज्ञ. स्मृ. 1-10-13) इत्यादि "तां पूषञ्छिवतमा मेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति। या न ऊरू उशती विश्रयाते यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम्" (ऋक्. 10-85-37) "उपोयमे परामृश्य मा मे दभ्राणि मन्यथाः। सर्वाहमास्मि रोमशा गन्धारिणामिवाम्बिका" इत्यादि संस्कारमन्त्राः। ब्राह्मणाः क्षत्रियवैश्याः शूद्राश्चत्वारो वर्णाः। तेषामाद्याः त्रयो द्विजाः। तेषां साधारणं धर्ममाह-इज्येति। "ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रावर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः" (याज्ञ. स्मृ.1-10) इति स्मृतेः। "इज्याध्ययनदानानि विप्रस्य क्षत्रियस्य च" (याज्ञ.स्मृ.1-39) इत्यादेः। एतान्यपि द्विजमात्रस्य न किन्तु विशिष्टानामित्याशयेनाऽऽह-जन्मेति। जन्मना कर्मणा वाऽवदातानां "कारीर्या यजेत वृष्टिकामः" "मलवद्वाससा न संवदेत्" इत्यादि वेदोचिताः क्रियाश्च विहिता इत्याह क्रिया इति।।१३।।

विशेषधर्ममाह-**विप्रस्येति**। अध्यापनयाजनप्रतिग्रहाः ततो ब्राह्मणादन्यस्य क्षत्रियादेः अप्रतिग्रहः "प्रतिग्रहाधिको विप्रो याजनाध्यापने तथा" इति वचनात् प्रतिग्रहादिनाऽपि प्रवृत्तिमभिप्रेत्य। राजादिवृत्तिमाह-राज्ञ इति। आदिशब्देन न्यायतो दण्डाद्यागतं धनं गृह्यते, प्रजागोमुरित्यनेन प्रजागुप्त्यैव ततो धनमाहर्तव्यम्। अन्यथा दुष्कृतमेवाऽऽदत्त इति सूचयति। वाशब्देन देवा गृह्यन्ते देवविप्रैर्विनेत्यर्थः। दण्डार्हविप्रमन्तरेण चेति।।१४।।

वार्ता कृषिगोरक्षवाणिज्यलक्षणा। स्वामिनः सकाशाज्जीवनञ्चेति शेषः। भृत्यानां स्वामिनः शुश्रूषा च वृत्तिरिति वा।।१५।।

विप्रवृत्तिं कण्ठोक्त्याह **वार्तेति**। अत्र वार्तादिकमापदीति ग्राह्यम्। विप्रानुज्ञया क्षत्रिय वैश्ययोस्तत्त्वविज्ञापनं धर्म इत्युच्यते।।१६।।

जघन्यो नोत्तमां वृत्ति मनापदि भजेन्नरः।
ऋते राजन्य मापत्सु सर्वेषामपि सर्वशः।।१७।।

ऋतामृताभ्यां जीवेत मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यां[1] जीवेत न[-1] श्ववृत्त्या कथञ्चन।।१८।।

ऋतमुञ्छशिलं प्रोक्तममृतं यदयाचितम्।
मृतन्तु नित्ययाच्ञा स्यात्प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्।।१९।।

सत्यानृतन्तु वाणिज्यं श्ववृत्तिर्नीचसेवनम्।
वर्जयेत्तां सदा विप्रो राजन्यश्च जुगुप्सिताम्।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो नृपः।।२०।।

शमो दमस्तपश्शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्।
ज्ञानं[2] दयाऽच्युतात्मत्वं सत्यञ्च ब्रह्मलक्षणम्।।२१।।

शौर्यं वीर्यं धृति स्तेज[3] स्त्याग आत्मजयः क्षमा।
ब्रह्मण्यता प्रसादश्च रक्षा च क्षत्रलक्षणम्।।२२।।

देवगुर्वार्यगो[4] भक्ति स्त्रिवर्ग[5]परितोषणम्[6]।
आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुण्यं[7] वैश्यलक्षणम्।।२३।।

शूद्रस्य सन्नति[8] श्शौचं सेवास्वामिन्यमायया।
अमन्त्रयज्ञो ह्यस्तेयं सत्यं[9-] गोविप्ररक्षणम्[-9]।।२४।।

**श्रीध०** वृत्तिष्वेव व्यवस्थां दर्शयन् आपद्वृत्तीराह - **जघन्य** इति। जघन्यो नीचः उत्तमामध्यापनादिरूपाम्। ऋते राजन्यं क्षत्रियस्तु प्रतिग्रहादन्यां भजेत्[10]।।१७।।

चतुर्विधां पूर्वोक्तां विप्रवृत्तिमितरेषामपि दर्शयन्नाह-**ऋतामृताभ्यामिति**।।१८।।

---

1- -1 H,V °नृतेन वा जीवेन्न° 2. M,Ma दानं 3 W °स्स्नेह° 4. A,B,G,J,T गुर्वच्युते 5. H,V वर्ण 6. A,B,G,J,T पो° 7 A.G,J,T °पुणं

8. M,Ma अन्ततः 9- -9 H,V गोविप्राणां च; M,Ma मोढ्यं गोविप्र 10 H,V °त

पूर्वोक्त[1-] वृत्त्यर्थं[-1] व्याचष्टे-**ऋतमिति**।।२९।।

**सत्येति**। तयोस्तद्वर्जने हेतुमाह-सर्ववेदमय इति।।२०।।

वर्णानाम[2]भिव्यञ्जकरूपान्धर्मानाह-**शम** इति चतुर्भिः। अच्युतात्मत्वं श्रीविष्णुपरत्वम्।।२१।।

**शौर्यमिति**। शौर्यं युद्धोत्साहः। वीर्यं प्रभावः। तेजः प्रागल्भ्यम्। त्यागो[3-] दानम्। आत्मनो मनसो जयः[-3]।।२२,२३।।

**शूद्रस्येति**। अमन्त्रयज्ञः नमस्कारेणैव पञ्चयज्ञानुष्ठानम्। तथा च याज्ञवल्क्यः-"नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्न हापयेत्" (याज्ञ. स्मृ. 1-121) इति।।२४।।

**वीर०** एवं विप्रस्य याजनाद्यलाभे वार्तादिरूपा वृत्तिः तत्रापि उत्तरोत्तरोत्तमत्वञ्चोक्तम्। अथोत्तरोत्तरवर्णस्य स्वस्ववृत्त्यलाभरूपा यदि पूर्वपूर्ववर्णस्य चोत्तरोत्तरस्य वा वृत्त्याश्रयं वक्तुं तावदनापदि तदाश्रयणं निषेधति-**जघन्य** इति। जघन्यवर्णो नरः अनापदि स्वस्ववृत्त्यलाभरूपाऽऽपदभावे उत्तमां पूर्वपूर्ववर्णसम्बन्धिनीं वृत्तिं न भजेन्नाऽश्रयेत्। आपत्सु तु राजन्यं विना राजन्यव्यतिरिक्तानां सर्वेषामपि यथालाभं सर्वा अपि वृत्तयः आश्रयणीया भवन्ति। सर्वेषां सर्वश इत्येतावत्युक्ते राजन्यस्य प्रजापालन प्रयुक्तकरादानरूपस्ववृत्त्यलाभरूपापदि यजनाध्यापन प्रतिग्रहादिरूप पूर्ववर्णवृत्त्याश्रयणं वार्ता शुश्रूषयोरुत्तरवर्णवृत्त्यांश्चाऽऽश्रयणं प्रसक्तम् ऋतेराजन्यमिति निषिध्यते।।१७।।

अथ विप्रराजन्ययोः स्वस्ववृत्त्यलाभरूपाऽऽपद्युपादेयां वृत्तिं निष्कृष्य दर्शयन्नुत्तरोत्तरवर्णसेवारूपां वृत्तिं प्रतिषेधति **ऋतामृताभ्यामिति**। ऋताद्यन्यतमेन जीवेत श्ववृत्त्या तु कथञ्चन न जीवेत। सर्वथा श्ववृत्तिं नाऽऽश्रयेदित्यर्थः।।१८।।

ऋतादिपदार्थानाह-**ऋतमित्यादिना** सार्धेन। स्पष्टोऽर्थः।।१९।।

न कथञ्चनेति व्याचष्टे-**वर्जयेदिति**। विप्रो राजन्यश्च तां नीचसेवां स्वोत्तरवर्णसेवां जुगुप्सितां निन्दितां परिवर्जयेत्। जुगुप्सितत्त्वमेव वदन् विप्रराजन्यौ विशिनष्टि-सर्ववेदमय इति। प्राचुर्ये मयट्, पूज्ययोः पूजकसेवा निन्दितेति भावः।।२०।।

अथ वर्णानामभिव्यञ्जकान् धर्मानाह-**शम** इति चतुर्भिः। शमादिपदानामर्थास्त्रिंशल्लक्षणधर्मा व्याख्याया मुक्ताः। तत्र शान्तिरक्रोधः, अच्युतात्मत्वमच्युतप्रवणचित्तत्त्वम्। शमादिकं ब्रह्मलक्षणम् ब्राह्मणकुलाभिव्यञ्जकमित्यर्थः।।२१।।

---

1- -1 A,B,J श्लोकं 2. H,V मपि 3- -3 H,V omit

**शौर्यमिति**। शौर्यादिक्षत्रलक्षणं क्षत्रियत्वाभिव्यञ्जकम्। तत्र शौर्यं स्वगृहे इव युद्धे प्रवेशसामर्थ्यम्। वीर्यं परैरनभिभाव्यत्वम्। धृतिः धैर्यमापद्यदुःखित्वम्। तेजः पराभिभवनसामर्थ्यम्[1]। त्यागः लोभरहित्यं दानशीलता, आत्मजयो देहजयः देहधर्मैः अनभिभाव्यत्वम् क्षमा सहिष्णुता। ब्रह्मण्यता ब्राह्मणकुलानुवृत्तिः। प्रसादोऽनुग्रहः रक्षा प्रजापालनम्।।२२।।

एवं देवादिभक्त्यादिकं वैश्यलक्षणम्। तत्र देवगुर्वार्यगोभक्तिः देवाश्च गुरवश्च आर्या ज्ञानवृद्धाः गावश्च एषां भक्तिः त्रिवर्गेण धर्मादिपुरुषार्थत्रयेण परितोषणं परितुष्टिः, अस्ति परलोक इति मतिः यस्य सः आस्तिकः, तस्य भावः आस्तिक्यम्, नित्यमुद्यमः अर्थार्जने प्रयत्नः तत्र नैपुण्यम्।।२३।।

शूद्रस्य सन्नत्यादिकं लक्षणमित्यनुषङ्गः। सन्नतिः पूर्ववर्णविषये नम्रता, शौचं स्नानादिजम्, स्वस्वामिन्यमायया निष्कपटभावेन सेवा। अमन्त्रयज्ञः नमस्कारेणैव च यज्ञानुष्ठानम्। तथा च याज्ञवल्क्यः- "नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्च यज्ञान्न हापयेत्" (याज्ञ. स्मृ. 1-121) इति। अस्तेयमचौर्यम्, सत्यमनृतावदनम्। गवां विप्राणाञ्च रक्षणम्।।२४।।

**विज०** तदभावे शूद्रस्य कथमिति तत्राह-**जघन्य** इति। जघन्यो नरः शूद्रोऽनापदि तत्सद्भावे उत्तमां वृत्तिं तत्त्वज्ञानलक्षणां न भजेत् न कुर्यादित्यन्वयः। आपदि तदभावे तदनुज्ञया कुर्यादित्यतोऽनापदीति विशेषणं पालनादि वृत्तिं वा। ननु वर्णहीनस्य कथमित्यस्य इदमेवोत्तरं जघन्यो वर्णहीनोऽनापद्युत्तमां वृत्तिं न भजेत्[2] "वर्णेष्वज्ञेषु वर्णस्तु न ज्ञानी स्यात्कथञ्चन" इति श्रुतिः। राजानं विना सर्वेषां विप्रादीनाम् आपद्युक्त सर्ववृत्तिभिः जीवने दोषो नास्तीत्याह ऋते राजन्यमिति।।१७।।

ऋतादीनामप्रतीतार्थत्वात् व्याचष्टे **ऋत**मित्यादिना। कर्षणं कृषिः।।१८,१९।।

श्ववृत्तिवर्जने हेतुमाह-सर्वेति। "सर्वा देवता वेद विदि ब्राह्मणे वसन्ति" इति श्रुतेः "नाऽविष्णुः पृथिवीपतिः" इत्यादेश्च।।२०।।

विप्रादीनां विविच्य ज्ञाने प्रथमं लक्षणमाह - **शम** इत्यादिना। अच्युतात्मत्वमच्युतमनस्कत्वम्।।२१।।

त्यागो दातव्ये मुक्तहस्तता, आत्मजयो मनोजयः।।२२।।

त्रिवर्गैः धर्मार्थकामैः ईश्वरपरितोषणं त्रयो वर्गा येषां ते त्रिवर्गाः। तेषां द्रव्यादिना परितोषणम्।।२३।।

---

1 A,B,T भवसा° 2. A,B °त

शूद्रस्याऽन्ततः सकृत्स्पृष्टाभिः अद्भिः आचमनलक्षणं शौचं "हृत्कण्ठतालुगाभिस्तु यथा संख्यं द्विजातयः। शुध्येरन् स्त्री च शूद्रश्च सकृत्स्पृष्टाभिरन्ततः" (याज्ञ. स्मृ. 2-21) इति वचनात् केशश्मश्रुनखाद्यधारणं मौढ्येन।।२४।।

**स्त्रीणान्तु[1] पतिदेवानां तच्छुश्रूषाऽनुकूलता।**
**तद्बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रतधारणम्।।२५।।**

**सम्मार्जनोपलेपाभ्यां गृहमण्डनवर्तनैः[2]।**
**स्वयञ्च मण्डिता नित्यं परिमृष्टपरिच्छदा।।२६।।**

**कामैरुच्चावचै स्साध्वी प्रश्रयेण दमेन च।**
**वाक्यैस्सत्यैः प्रियैः प्रेम्णा काले काले भजेत्पतिम्।।२७।।**

**सन्तुष्टाऽलोलुपा दक्षा धर्मज्ञा प्रियसत्यवाक्।**
**अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा पतिन्त्वपतितं भजेत्।।२८।।**

**या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा।**
**हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते।।२९।।**

**वृत्तिस्सङ्करजातीनां[3] तत्तत्कुलकृता भवेत्।**
**अचौराणामपापानामन्त्यजान्तेऽवसायिनाम्[4-4]।।३०।।**

**प्रायः स्वभावविहितो नृणां धर्मो युगे युगे।**
**वेददृग्भिः स्मृतो राजन् प्रेत्य चेह च शर्मकृत्।।३१।।**

**वृत्त्या स्वभावकृतया वर्तमानः स्वकर्मकृत्[5]।**
**हित्वा स्वभावजं कर्म शनैर्निर्गुणतामियात्।।३२।।**

**श्रीधः** स्त्रीधर्मानाह **स्त्रीणामिति** पञ्चभिः। पतिरेव देवो यासां, तस्य पत्युरेव शुश्रूषा[6-] पादसंवाहनादिभिः[-6] तदनुकूलता च हिताचरणं[7-] [-7] तस्य यद्व्रतं नियमः तस्य धारणमाचरणम्[8]। एतच्चतुष्टयं पतिव्रतानां लक्षणं धर्मश्च।।२५।।

1. A,B,G,J,T °ञ्च 2. A,G,J,T °ल 3. H,V जातानां 4- -4 H,V °मन्यजातावं. W °मन्त्य जान्ताव° 5. M,Ma °णि। 6- -6 H.V omit

7- -7 H,V omit 8. H,V omit आचरणं

किञ्च **सम्मार्जनेति**। सम्मार्जनोपलेपाभ्यामित्यादेः पतिं भजेदित्युत्तरेणान्वयः। परिमृष्टा उद्वर्तनादिना निर्मलीकृताः परिच्छदाः गृहोपकरणानि यथा।।२६,२७।।

किञ्च **सन्तुष्टेति**। सन्तुष्टा यथालाभेन तावन्मात्र भोगेप्यलोलुपा दक्षाऽनलसा प्रिया सत्या च वाग्यस्याः सर्वत्राऽपि अप्रमत्ताऽवहिता अपतितं महापातकशून्यम् यथाऽह याज्ञवल्क्यः- "आशुद्धेः सम्प्रतीक्ष्यो हि माहापातक दूषितः" (याज्ञ. स्मृ. 1-77) इति।।२८।।

**येति**। तत्परा सती भजेत्[1]। श्रीहरिमिव हर्यात्मना पत्या सह।।२९।।

प्रतिलोमजानुलोमजानां[2] वृत्तिमाह **वृत्तिरिति**। तत्तत्कुलकृता कुलपरम्पराप्राप्ता वंशपरम्पराप्राप्तमपि[3-3] चौर्यं[4] हिंसादिकञ्च[5] प्रतिषेधति-अचौराणामपापानाञ्चेति। तत्तत्प्रदर्शनार्थं कांश्चित्प्रतिलोमजविशेषानाह-अन्त्यजेति। "रजकश्चर्मकारश्च नटो बुरुड एव च। कैवर्तमेदभिल्लाश्च सप्तैते ह्यन्त्यजाः स्मृताः" अन्तेऽवसायिनस्तु[6] चण्डालपुल्कस मातङ्गादयः। तेषां परम्पराप्राप्तैव वस्त्रनिर्णेजनादिवृत्तिरित्यर्थः।।३०।।

श्रेष्ठादपि परधर्मान्नीचोऽपि स्वधर्म एव श्रेयानित्याह-**प्राय** इति। स्वभावेन सत्त्वादि प्रकृत्या[8] विहितो धर्मः शर्मकृत् सुखहेतुः स्मृतः। कैः? वेद एव दृक् चक्षुः येषां तैः। भगवता चोक्तम् "श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्" (भ.गी. 18-47) इति।।३१।।

ननु स्वाभाविकस्य कर्मणो बन्धहेतुत्वात् कथं सुखे[9] हेतुत्वम्? तत्राऽऽह **वृत्त्येति**।।३२।।

**वीर॰** अथ स्त्रीणां धर्मानाह-**स्त्रीणामिति**। पतिरेव देवो दैवतं यासां तासां स्त्रीणाम्। तस्य पत्युः शुश्रूषा परिचर्या तदनुकूलता च तस्य पत्युर्बन्धुषु पितृभ्रात्रादिषु अनुवृत्तिः। तस्य तु यद्व्रतं पत्यर्थं यो नियमस्तस्य धारणमेतच्चतुष्टयं पति देवतानां[10-10] पतिव्रतानां लक्षणं धर्मश्चेत्यर्थः।।२५।।

किञ्च सम्मार्जनोपलेपाभ्याम् गृहस्येति शेषः। गृहसम्मार्जनादिभिः पतिं भजे दित्युत्तरेणान्वयः। सेकः जल विक्षेपः, मण्डनं पिष्टैरलङ्कारः, वर्तनं नित्यं स्वगृह एवाऽवस्थानम्-एतैः कथम्भूता? स्वयं मण्डिता अलङ्कृता परिमृष्टाः विशोधिताः परिच्छदाः पात्रवस्त्रभूषणादयो[11] यया तादृशी।।२६।।

---

1. H,V °त 2. H,V °मजानां 3- -3 A,B,T omit 4. H,V चौर्यहिं° 5. H,V omit च 6. H,V अन्ता° 7. A,J चा° 8. H,V प्रवृ° 9 A,B,J सुख. 10- -10 A omits 11. A,B,T वस्त्राभू°

उच्चावचै र्नानाविधैः पत्युरपेक्षितैः कामैः प्रश्रयेण विनयेन दमेन उपशान्त्या सत्यैः प्रियैश्च वाक्यैः प्रेम्णा च काले काले उचितकालेषु सन्तुष्टा यथालाभेन तावन्मात्रभोगेऽप्यलोलुपा, दक्षाऽनलसा, धर्मज्ञा भर्तृशुश्रूषण मेव परं धर्मं जानातीति, प्रिया तथोक्ता सत्या च वाग्यस्याः सा वाक्यैः सत्यैरिति पतिविषये सत्यवाक्यमुक्तम्। प्रियसत्यवागित्यनेन तदितरविषयेऽपीत्यतो न पौनरुक्त्यम्।।२७।।

सर्वत्राऽप्यप्रमत्ता अवहिता, शुचिः परिशुद्धा स्निग्धा अनुरक्ता पतिं भजेत्। अपतितं महापातकरहितं पतिं भजेत्। तुशब्देन पतितं न भजेदिति सूचितम्। यदाऽऽह याज्ञवल्क्यः "आशुद्धेः सम्प्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषितः" (याज्ञ.स्मृ. 1-77) इति।।२८।।

एवंविधस्य भर्तृभजनस्य फलमाह **येति**। श्रीर्लक्ष्मीः हरिमिव या स्त्री हरिभावेन तत्परा, स पतिरेव परो दैवतं यस्याः सा पतिं भजेत्, सा हर्यात्मना हरिरूपेण हरिसमानरूपेण पत्या सह श्रीर्हरिणा सहैव हरेर्लोके मोदते शनैः पत्या सह मुक्ता भवेदित्यर्थः।।२९।।

अथ सङ्करजातीनां वृत्तिमाह-**वृत्तिरिति**। सङ्करजातयः प्रतिलोमजाः अनुलोमजाश्चेति द्विविधाः। तत्रोत्तरवर्णात् पूर्ववर्णायां स्त्रियां जाताः प्रतिलोमजाः। पूर्ववर्णा दुत्तरवर्णायां जातास्त्वनुलोमजाः। तेषां तत्कुलकृता कुलपरम्परा प्राप्तैव वृत्तिर्भवेदिति, कुलक्रमागतमपि चौर्यहिंसादिकं निषेधन् तान्विशिनष्टि-अचोराणामपापानाञ्चेति। तत्र प्रदर्शनार्थं काश्चित्प्रतिलोमजविशेषानाह-अन्त्यजाश्च अन्तेऽवसायिनश्च तेषां सङ्करजातीनामित्यन्वयः। तत्र "रजकश्चर्मकारश्च नटो बुरुड एव च। कैवर्त मेदभिल्लाश्च सप्तैते अन्त्यजातयः" अन्तेऽवसायिनस्तु चण्डाल पुल्कस मातङ्गादयः, तेषां परम्परा प्राप्तैव वस्त्रनिर्णेजनादि वृत्तिरित्यर्थः।।३०।।

"श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्" (भ.गी. 18-47) इति भगवदुक्तमर्थमाह-**प्राय** इति द्वाभ्याम्। हे राजन्! नृणां ब्रह्मक्षत्रादिरूपेणावस्थितानां सर्वेषामपि प्रायशः स्वभावविहितः सात्त्विकादि स्वभावानुसारेण विहितः। यद्वा भावः प्रकारः वर्णाश्रमादिरूपः स्वस्ववर्णाश्रमोद्देशेन विहित इत्यर्थः। इज्याध्यनादिरूपः स एव धर्म इहलोके प्रेत्याऽमुत्र च लोके शर्मकृत् सुखकृत् वेददृग्भिः मन्वादिभिः स्मृतः कथितः[1]।।३१।।

एवं वृत्तिरपि प्रातिस्विकी ज्यायसीति वदन् एवं वर्तमानस्य फलमाह-**वृत्त्येति**। स्वभावकृतया[2] वर्णाश्रमादि प्रयुक्तया[2] वृत्त्या अध्यापनादिरूपया जीविकया स्वकर्मणि इज्यादिरूपे वर्तमानः स्वस्वकर्माऽनुतिष्ठन् स्वभावजं

1. W omits कथितः 2- -2 A,B,T· स्वभावकृतया

सात्त्विकादि स्वभावप्रयुक्तं प्राकृतसत्त्वादि गुणवश्यताप्रयुक्तं बन्धकं पुण्यपापात्मकं कर्म हित्वा। "धर्मेण पापमपनुदति" (मना. उ. 17-6) "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा" (ईश.उ. 11) इत्यदिश्रुत्यर्थोऽत्र अभिसंहितः। शनैः निर्गुणतां सत्त्वादिगुणराहित्यं प्रकृतिसम्बन्धराहित्यं मुक्तिमिति यावत्। इयात् प्राप्नुयादिति। शनैरित्यस्य भगवदुपासन निर्वृतिद्वारा प्राप्नुयादित्याशयः।।३२।।

**विज॰** स्त्रीणां सामान्यलक्षणमाह-**स्त्रीणामिति**। अनुकूलता उक्तकारित्वं "यत्राऽऽनुकूल्यं दम्पत्यो स्त्रिवर्गस्तत्र वर्धते।" (याज्ञ. स्मृ. 1-74) "स्त्रीभिर्भर्तृवचः कार्यमेष धर्मः परं स्त्रियः" (याज्ञ. स्मृ. 1-77) इति वचनात्, तद्बन्धुषु भर्तृबन्धुषु भागिनेयादिषु तद्व्रतधारणं पातिव्रत्यं तस्य यद्व्रतं तदेवाऽस्याव्रतमिति वा।।२५।।

गृहमण्डनवर्तनैः गृहालङ्कारकरणैः।।२६।।

कामैः विषयैः।।२७।।

अलोलुपा अयोग्याभिलाषरहिता, अपतितं ब्रह्महत्यादि पातकरहितम्।।२८।।

अस्मिन् पत्यौ हरिः सन्निहितः इति या बुद्धिः स हरिभावः "हरिरस्मिन् स्थित इति स्त्रीणां भर्तरि भावना, शिष्याणाञ्च गुरौ नित्यं, शूद्राणां ब्राह्मणादिषु।भृत्यानां स्वामिनि तथा हरिभाव इतीरितः" (तन्त्रमालायाम्) इति वचनात्, न तयोरैक्यार्थः। हर्यात्मना हरेर्विशेषसन्निधानवता पत्या सह।।२९।।

क्षत्रियाद्विप्रस्त्री सूतानां विप्रात् क्षत्रियस्त्रीजातानां क्षत्रिया द्वैश्य स्त्रीसूतानां वैश्याच्छूद्रस्त्रीसूताना मित्येवं जातानां का वृत्तिरिति तत्राऽऽह-**वृत्तिरिति**। येषां जातिविशेषाः अम्बष्ठ निषाद पारशवादिनाम्ना ज्ञातव्याः, तदुक्तम्-"विप्रान्मूर्धावसिक्ता स्त्री राज्ञोऽम्बष्ठ विशोङ्कना" (याज्ञ.स्मृ. 1-71) इत्यादि। अध्ययनमन्तरेण अम्बष्ठादीनां संस्कारादिकं तत्कुलानुकूल्येन। तेषां गुणमाह-अचौराणामिति। [1]यत यस्याविहितं तत्करणं चौर्यम् तद्रहितम्। शूद्रात् ब्राह्मण्यां जाता अन्त्यजाः। रजकादि सप्तकारवः ततो जाताः। अन्तेऽवसायिनः पुल्कस[2]मतङ्गादयः येषां तत्कुलविहित एव धर्मः "ब्राह्मण्यां क्षत्रियात्सूतो वैश्याद्वैदेहिकस्तथा शूद्राज्जातस्तु [3]चाण्डालः सर्ववर्ण विगर्हितः" (याज्ञ. स्मृ. 1-93) इति च।।३०।।

तत्तद्वर्णैस्तत्तत्स्वभावेनाऽनुष्ठितस्य धर्मस्य फलमाह-**प्राय** इति। सात्त्विकादि स्वभावानुसारेण ब्राह्मणानां विहितः। अत्र प्रमाणमाह वेदेति। स्मृतो ग्रन्थस्वरूपेण कृतः। प्रेत्य परलोके- "नाऽऽश्रमः कारणं धर्मे

1. M,Ma यस्य 2. A,B मा॰ 3. A,B च॰

क्रियमाणो भवेद्धि सः। अतो यदात्मनोऽपथ्यं परस्य न तदाचरेत्" (याज्ञ. स्मृ. 3-65) "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" (भ.गी. 18-66) इत्यादिवचनात् भक्त्युपबृंहितस्य धर्मस्यापेक्षिताशेषपुरुषार्थहेतुत्वं न केवलस्येत्यभिप्रयेण प्राय इत्युक्तम्। तत्र तत्तद्विशेष[1]वर्णने ग्रन्थबाहुल्यं स्यात् इत्युपरम्यते।।३२।।

न केवलमनेन धर्मेण स्वर्गादिप्राप्तिः, अपि तु भक्त्यादिसाधनपूर्णेन मुक्तिरपि स्यादित्याह-**वृत्त्येति**। स्वभावेन स्वात्मना कृतया प्रेरितया सात्त्विकादिस्वभावपूर्णया वा [2]वृत्त्या जडलक्षणया भक्त्या वा योग्यतया स्व विहित कर्मणि वर्तमानः पुरुषः शनैश्शनैः बहूनां जन्मनामन्ते स्वभावजं कर्म पुण्यपापलक्षणं मुक्त्वा निर्गुणतां मुक्तिं "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" (छान्दो.उ. 1-1-10) इति श्रुतेः। ज्ञानपूर्वकमनुष्ठितो नित्यानन्दाविर्भावलक्षणपुरुषार्थस्य हेतुः यदप्यनेवंविन्महत्पुण्यं कर्म करोति "तद्धास्याऽन्ततः क्षीयत एव" (बृह.उ. 1-4-15) इति श्रुतेः। तत्त्वज्ञान पूर्वकं भगवद्भक्तप्रद्वेषोपरक्तः प्रवृद्धो धर्मो नित्यदुःखाविर्भावलक्षण पुरुषार्थस्य "त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापायज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते" (भ.गी. 9-20) इत्यादि, नित्यं प्रार्थनादिगुणोपरक्तो नित्यसत्त्वगुणनिमित्त सुखलक्षणस्येत्यादि।।३२।।

**उप्यमानं मुहुः क्षेत्रं स्वयं निर्वीर्यता मियात्।**
**न कल्पते पुन स्सूत्या[3] उप्तं बीजञ्च नश्यति।।३३।।**

**एवं कामाशयं चित्तं कामानामतिसेवया।**
**विरज्येत [4]यथा राजन्नाग्निवत्[5]कामबिन्दुभिः।।३४।।**

**यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभि[6]व्यञ्जकम्[7]।**
**यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्।।३५।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवेयासिक्यां अष्टादशसाहस्त्यां

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां

सप्तमस्कन्धे युधिष्ठिर नारद संवादे सदाचारनिर्णयो नाम एकादशोऽध्यायः।।११।।

---

1. A,B,M °षण 2.Ma प्रकृत्या 3. A,B,G,J,M,Ma,T °त्यै 4. B तथा 5 H,V °द्धत° 6. M,Ma °दि° 7. H,V सूचकम्

**श्रीध°** ननु काम्यानि कर्माणि कुर्वतः तत्फलोपभोगपरस्य कथं नैर्गुण्यं स्यात्? तदुक्तं प्रह्लादेन-"औपस्थ्यजैह्वयं बहुमन्यमानः कथं विरज्येत दुरन्तमोहः" (भाग. 7-6-13) इत्यादि। तत्राऽधिकारिभेदेन व्यवस्थां सदृष्टान्तामाह-**उप्यमानमिति** द्वाभ्याम्। पुनस्सूत्यै सस्यप्रसवाय।।३३।।

**एवमिति**। कामा आशेरते वासनारूपेण यस्मिंस्तत् कामाशयम्। अयं भावः-उत्कट वासनाविष्टस्य सहसैव कामत्यागासम्भवात् वेदोक्तनियमेन बहुशः कामान् भुञ्जानस्यैव नित्यनैमित्तिकैर्विशुद्धचेतसः तद्दोषदर्शनेन ययाति सौभरि प्रमुखानामिव शनैर्विरागो भवति यथा सवीर्यं क्षेत्रं शनै निर्वीर्यं भवति। यथा च प्रज्वलितोऽग्निर्न घृतबिन्दुभिः शाम्यति, महता तु घृतपूरेण शाम्यत्येव तद्वत्। प्रह्लादकृतस्तुतौ कौमार एव निवृत्युपदेशो मन्दवासनानामधिकारिणाम्। तदुक्तं तत्रैव-"बाला न दूषितधियो द्वन्द्वारामेरितेहितैः" (भाग. 7-5-56) इति। अतः सर्वमनवद्यम्।।३४।।

शमादिभिरेव ब्राह्मणादिव्यवहारो मुख्यो न जातिमात्रादित्याऽऽह-**यस्येति**। यद्यदि अन्यत्र वर्णान्तरेऽपि दृश्येत तद्वर्णान्तरं तेनैव लक्षणनिमित्तेनैव वर्णेन विनिर्दिशेत्। न तज्जातिनिमित्तेनेत्यर्थः।।३५।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे

श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां एकादशोऽध्यायः।।११।।

**वीर°** ननु स्वभावकृतया वृत्त्या स्वकर्मणि वर्तमानस्य पुनः कामक्रोधादि वर्धकबन्धककर्मसम्भावनया कथं नैर्गुण्यप्राप्तिरिति शङ्कां निराकर्तुं गृहस्थस्य ज्ञानवैराग्यवतः शास्त्राऽविरुद्धान्नपानादिसेवया रागवर्धकत्वाभावे तावदृष्टान्तमाह-**उप्यमानमिति**। यथा मुहुर्मुहुरुप्यमानं क्षेत्रं निर्वीर्यतामसारतां प्राप्नुयात्, पुनस्सूत्यै सस्यप्रसवाय न कल्पते न समर्थम्। अत एव उप्तं बीजञ्च नश्यति।।३३।।

तथा कामानामाशय माश्रयः चित्तं पुनः पुनः कामानामतीवसेवया विरज्येत नाग्निवदिति। घृतबिन्दुभिः अग्निरिव न वर्धत इत्यर्थः। यद्वा, यथा प्रज्वलितोऽग्निः घृतबिन्दुभिः न शाम्यति, किन्तु महता घृतपूरेण, तथा चित्तं कामबिन्दुभिः कामलेशैः न शाम्यति, महद्भिः कामैः इत्यर्थः।।३४।।

---

1 A,B,J omit उप 2- -2 H,V तन्निराकुर्वन् तत्र 3 H,V न्त° 4. A,J स्सूत्यै 5- -5 A,B,J omit 6. A,B,J कारेण 7 W °भ° 8. A,B,T °यं

9 A,B,T omit पुनः 10. A,B,T omit यद्वा 11. W omits चित्तं 12. A,B,T omit कामबिन्दुभिः 13. W omits कामलेशैः

शमादिभिरेव ब्राह्मणादिव्यवहारो मुख्यो न जातिमात्रादित्याऽऽह-**यस्येति**। यस्य पुंसो यल्लक्षणं वर्णाभिव्यञ्जकं प्रोक्तं "शमो दम स्तपः शौचम्" (भ.गी. 18-42) इत्यादिना, तद्यत् यद्यन्यत्रापि वर्णान्तरेऽपि दृश्येत तर्हि तद्वर्णान्तरं तेनैव लक्षणनिमित्तेनैव वर्णेन निर्दिशेत् न जातिनिमित्तेनेत्यर्थः।।३५।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां एकादशोऽध्यायः।।११।।

**विज०** ननु सगुणो धर्मः सगुणपुरुषार्थहेतुर्भवत्यनुकूलत्वात्, निर्गुणपुरुषार्थस्य कथं, विरुद्धत्वात्[1] इत्याशङ्क्य मनो हि पुरुषार्थकारणं तद्विषयोपरक्तं दुःखोदर्कविषयसुखाय स्यात् तदेव विषयाणां क्षणभङ्गुराणां दुःखोदर्काणां दुस्साधनत्वचिन्तया वैराग्यानलभर्जितं पुनस्तदङ्कुरीभावासमर्थं भगवच्चरणारविन्दभक्तिसलिल सिक्तं चेत्[2] तज्ज्ञानाङ्कुरीकरण[3] निदानं भवतीत्येतमर्थं सदृष्टान्तमाह **उप्यमानमिति**। यथा बीजैः उप्यमानं पुनः मेदुरसाधनहीनं क्षेत्रं केदारलक्षणं निर्वीर्यतां[3] सस्यजननशक्तिराहित्यमेति। तदेव स्फुटयति-पुनरिति। सूत्यै उत्पत्त्यै न केवलमुत्पादनासमर्थं किन्तु बीजनाशहेतुश्च।।३३।।

[4]एवं यथा[4] कामाशयं कामाशाविश्रमं[5] चित्तं विषयसेवासमये[6] दुःखस्य तदभावे सुखस्य च स्मरणसमर्थं मनःकामानां विषयाणामतिसेवया क्षयरोगादिहेतुभूतया द्रव्यादिनाशकारणानित्यसुखाय[7] विरज्येत विरक्तं भवति[7] असारता बुद्धिं प्राप्नोति इदं च योग्यानामेव नायोग्यानामिति। किञ्चिद्विषयसेवया किं स्यादिति तत्राह **यथेति**। कामानां बिन्दुभिः किञ्चित्सेवितैः मनो यथावत्पुरुषार्थहेतुतया न विरज्यते[8] विरक्तं[9] न भवति, पुनः तृष्णातिशयः स्यात्। कथमिव? मुखकान्तिहेतुत्वात् कामः आज्यं तद्विन्दुभिर्यथा अग्निर्वर्धते तथेति भावः[9]।।३४।।

*नन्वत्र वर्णादिज्ञानं यथा तारतम्यतत्पूजापि तद्योग्यस्य[10] निःश्रेयसी यस्य एतदभावे तद्धितकारणाद्यभीष्टा सिद्धिः स्यादिति तत्राह-**यस्येति**। यस्य ब्राह्मणादेः ब्राह्मणत्वादि व्यञ्जकं शमदमादिलक्षणं प्रोक्तं, शास्त्रत इति शेषः। तल्लक्षणं यद्यन्यत्र व्यक्तं दृश्येत अपिशब्देनाव्याप्त्यादिदोषाभावं सूचयति-तर्हीतरलक्षणेनैव तद्वस्तु ब्राह्मणादिकमिति निर्दिशेत् उपदिशेत्। गोः किं लक्षणमिति पृष्टः सास्नादिमान् गौरिति उपदिशति। यदा तदा

1. Ma °त्वं 2. Ma omits चेत् 3- -3 Ma omits 4- -4 Ma omits 5- -5 Ma omits 6- -6 Ma omits 7- -7 Ma omits 8 Ma °न्यत

9- -9 Ma omits *The commentary of Vijayadhwaja on 35th sloka is missing in Ma edition. 10 A,B यु°

पुच्छवत्वश्रृङ्गवत्वादि व्यभिचार्यविहाय यं गोपिण्डं सास्नादिमन्तं पश्यति, [1-] तदा इयं गौरिति [-1] यथा प्रत्येति तत्प्रयुक्तं व्यवहारं करोति। आम्नायोपदिशति च। तथाऽत्रापि विरक्तिबलभक्तिरेव ब्राह्मणादेः मुक्तिसाधनं लक्षणमिति सकलशास्त्र तात्पर्यार्थः ततः सैव बुभूषुभिः सम्पादनीयेति भावः।।३५।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

सप्तमस्कन्धे एकादशोऽध्यायः।।११।।

* * * *

1- -1 A,B omit

# द्वादशोऽध्यायः

## नारद उवाच

ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन् दान्तो गुरोर्हितम्।
आचरन्[1] दासवन्नीचो गुरौ सुदृढसौहृदः।।१।।

सायं प्रातरुपासीत गुर्वग्न्यर्कसुरोत्तमान्।
सन्ध्ये उभे च यतवाक् जपन् ब्रह्म समाहितः।।२।।

छन्दांस्यधीयीत गुरोराहूतश्चेत्[2] सुयन्त्रितः।
उपक्रमेऽवसाने च चरणौ शिरसा नमेत्।।३।।

मेखलाजिनवासांसि जटादण्डकमण्डलून्।
बिभृयादुपवीतं च दर्भपाणिर्यथोदितम्।।४।।

सायं प्रातश्चरेद्भैक्षं गुरवे तन्निवेदयेत्।
भुञ्जीत यद्यनुज्ञातो नो चेदुपवसेत् क्वचित्।।५।।

सुशीलो मितभुक्दक्षः श्रद्दधानो जितेन्द्रियः।
यावदर्थं व्यवहरेत् स्त्रीषु स्त्रीनिर्जितेषु च।।६।।

वर्जयेत् प्रमदागाथामगृहस्थो बृहद्व्रतः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्त्यपि यतेर्मनः।।७।।

केशप्रसाधनोन्मर्दस्नपनाभ्यञ्जनादिकम्।
गुरुस्त्रीभिर्युवतिभिः कारयेन्नात्मनो युवा।।८।।

---

1. M,Ma °रेद्दा° 2. M,Ma °श्च सु°

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्वादशे वर्ण्यते धर्मो ब्रह्मचारि वनस्थयोः। चतुर्णामाश्रमाणां च साधारण्येन कश्चन।।

वर्णादीनां धर्मा उक्ताः इदानीमाश्रमधर्मा उच्यन्ते। तत्राऽस्मिन् द्वादशेऽध्याये ब्रह्मचारिवानप्रस्थयोः[1] असाधारणाश्चातुर्वर्ण्यसाधारणाश्चोच्यन्ते[2]। त्रयोदशे यतेर्धर्माः। चतुर्दशे गृहस्थस्य। पञ्चदशे सर्वधर्मसारसङ्ग्रहः **ब्रह्मचारीति**। ब्रह्मचारी गुरुकुले आचार्यगृहे[3] वसन् गुर्वादीनुपसीतेत्युत्तरेणान्वयः।।१।।

तानाऽह - **सायमिति**[4]। ब्रह्म गायत्रीं जपन् सन्ध्यात्रयमुपासीत। उभे सन्ध्ये तु यतवाक्भवेत्[5]। सायं प्रातः सन्ध्याकालनिमित्तं मौनं कुर्यादित्यर्थः।।२।।

**छन्दांसीति**। उपक्रमे[6] आदौ अवसाने अन्ते[6] गुरोश्चरणौ नमेत्।।३।।

**मेखलेति**। यथोदितमिति[7]। "पालाशो दण्डो ब्राह्मणस्य" इत्यादिनियममनतिक्रम्य। जटाधारणं तु केशप्रसाधनाभावमात्रम्।।४,५।।

**सुशील** इति। यावदर्थं यथोपयोगमेव[8]।।६।।

**वर्जयेदिति**। बृहद्व्रतो ब्रह्मचर्यवान् गृहस्थव्यतिरिक्तः सर्वोऽपि प्रमदागाथां स्त्रीविषयकवार्तामपि[9] वर्जयेत्। तत्र हेतुः। इन्द्रियाणि बलवन्ति संयतस्यापि मनो हरन्तीति।।७,८।।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदेवं चातुर्वर्ण्यादिधर्मानभिधाय अथ चातुराश्रम्यधर्मान् विवक्षुस्तावत् ब्रह्मचर्याश्रमधर्मानाह - **ब्रह्मचारीति**। ब्रह्मचर्यं द्विविधमौपकुर्वाणं नैष्ठिकञ्चेति। तत्र गार्हस्थ्यादिवन्नैष्ठिकमप्यौपकुर्वाणपूर्वकमेवेति दर्शयितुं तावदौपकुर्वाणब्रह्मचर्यधर्मा उच्यन्ते। यो गुरुकुले वसन् स ब्रह्मचारी उपकुर्वद्[10]ब्रह्मचारीत्यर्थः। कथम्भूतो वसन्? दान्त उपशान्तः दासवन्नीचः स्वनैच्यमनुसन्दधत् गुरोर्हितमाचरन् गुरौ सुदृढं सौहार्दं यस्य तादृशः[11]।।१।।

किञ्च सायम्प्रातश्च गुरुमग्नीनर्कं सूर्यं सुरोत्तमं भगवन्तञ्च उपासीत। उभे सन्ध्ये प्रातः सायं च, यतवाङ्मौनी समाहितचित्तो ब्रह्म गायत्रीं जपन् गुर्वादीनुपासीतेत्यन्वयः।।२।।

1 H,V वनस्थयोः 2 A,B,J °श्चतुर्णा सा° 3- -3 A,B,J omit 4 H,V omit तानाह 5 A,B,J omit भवेत् 6- -6 H,V omit 7. H.V omit इति। 8 B adds °मात्र° 9- -9 A,B,J omit 10. A,B,T °र्वन् ब्र° 11 W सः

आहूतश्चेत्सुयन्त्रितः समाहितो गुरोः छन्दांसि वेदानधीयीत नित्यमध्ययनोपक्रमसमाप्त्योः गुरोः चरणौ शिरसा नमेत्।।३।।

यथाविहितं मेखलादीन्[1] बिभृयात् जटाधारणं तु केशप्रसाधनाभावमात्रं, दर्भं पवित्रं पाणौ यस्य सः।।४।।

सायं प्रातश्च भैक्षं भिक्षाकर्म चरेत् कुर्यात् तद्भिक्षया लब्धमन्नं गुरवे निवेदयेत् गुरोः पुरतो निदध्यात् ततो यदि गुरुणाऽभ्यनुज्ञातश्चेत् तदन्नं भुञ्जीत नोचेत् कदाचिदुपवसेत्। कदाचिदित्यनेन तन्मनःपरीक्षायै कदाचित् गुरुः नाज्ञापयेदिति सूच्यते।।५।।

मितं भुङ्क्ते इति यथा सुशीलः सुस्वभावः सदाचारो वा दक्षोऽनलसः श्रद्दधानः गुरूपदिष्टार्थेषु विश्वासयुक्तः जितानीन्द्रियाणि येन स्त्रीषु, स्त्रीभिर्निर्जिता ये स्त्रीवश्यास्तेषु च यावदर्थं यावत्प्रयोजनं व्यवहरेन्नाधिकं ताभिस्तैश्च सम्भाषेतेत्यर्थः।।६।।

प्रमदागाथां स्त्रीविषयां वार्तां वर्जयेत् यतः स्वयमगृहस्थो बृहद्व्रतः ब्रह्मचर्यवान् स्त्रीसङ्गादिरहितः। ननु तद्गाथामात्रेण को दोषः? तत्राह - इन्द्रियाणीति। इन्द्रियाणि, प्रमाथीनि बलवन्ति। अतः संयतचित्तस्यापि मनः, प्रमदागाथाश्रवणकथनादिना स्ववशङ्कुर्वन्ति अतस्तां परिवर्जयेत्[2] इत्यर्थः।।७।।

गुरुस्त्रीभिः गुरुपत्नीभिः अन्याभिश्च युवतिभिः[3] स्त्रीभिः केशप्रसाधनादिकं न कारयेत्।।८।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

नीचः प्रश्रितः हितं हिताचरणम्। मनोवाक्कायकर्मभिरिति शेषः।।१-४।।

क्वचिदपराधे सति! एकान्नादनवर्जनार्थमुपवसेदित्युक्तम्।।५।।

स्वार्थमात्रसिद्धिः तन्मात्रं यावदिति।।६।।

बृहद्व्रतो ब्रह्मचारी। स्त्र्यादिव्यवहारवर्जननिमित्तमाह - **इन्द्रियाणीति**। निर्जितेन्द्रियग्रामो यतिः। "ये निर्जितेन्द्रियग्रामा यतिनो यतयश्च ते" (अम.को. 2-442) इत्यभिधानात्।।७।।

प्रसाधनं संस्करणम्-"मधुमांसाञ्जनोच्छिष्टं शुल्कस्त्रीप्राणिहिंसनम्। भास्करालोकनाश्लीलपरिवादांश्च वर्जयेत्" (याज्ञ. स्मृ. 1-33) इत्यपव्याख्यानं न कर्तव्यम्।।८।।

1. A,B,T °नि 2. W omits इत्यर्थः। 3. A,B,T omit स्त्रीभिः

नन्वग्निः प्रमदा नाम घृतकुम्भपुमानतः[1-1]।
सुतामपि रहो जह्यादन्यदा यावदर्थकृत्।।९।।

कल्पयित्वाऽऽत्मना[2-2] यावदाभासमिदमीश्वरः।
द्वैतं तावन्न विरमेत् ततो ह्यस्य विपर्ययः।।१०।।

एतत्सर्वं[3] व्रतस्थस्य[4] समाम्नातं यतेरपि।
गुरुवृत्तिर्विकल्पेन गृहस्थस्यर्तुगामिनः।।११।।

अञ्जनाभ्यञ्जनोन्मर्दस्त्र्यवलेख्यामिषं[5] मधु।
स्रग्गन्धलेपालङ्कारांस्त्यजेयुर्ये धृतव्रताः।।१२।।

उषित्वैवं गुरुकुले द्विजोऽधीत्यावबुध्य च।
त्रयीं साङ्गोपनिषदं यावदर्थं यथाबलम्।।१३।।

दत्त्वा वरमनुज्ञातो गुरोः कामं यदीश्वरः।
गृहं वनं वा प्रविशेत् प्रव्रजेत् तत्र वा वसेत्।।१४।।

अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेष्वधोक्षजम्।
भूतैः स्वधामभिः पश्येदप्रविष्टं प्रविष्टवत्।।१५।।

एवंविधो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो यतिर्गृही।
चरन्[6-6] विदितविज्ञानः परं ब्रह्माऽधिगच्छति।।१६।।

**श्रीध०** न कारयेदित्यत्र हेतुः - **नन्विति**। रहः एकान्ते। अन्यदा केशप्रसाधनादिव्यतिरिक्तावसरे अनेकान्तावसरे वा यावदर्थं तदुक्तं कुर्यात्।।९।।

ननु, मिथ्यात्वादतिकश्मलत्वाच्च स्वयं त्यक्तप्रायं स्त्र्यादि जह्यादिति कोऽयमतिनिर्बन्धस्तत्राह - **कल्पयित्वेति**। आत्मना स्वरूपसाक्षात्कारेणेदं देहेन्द्रियाद्याभासमात्रं कल्पयित्वा निश्चित्य यावदसौ जीव ईश्वरः स्वतन्त्रो न

1- -1 A,G,J कुम्भसमः पुमान्; B कुम्भ मयः पुमान्; M,Ma कुम्भः पुमान्यतः 2- -2 M,Ma °येदाऽऽत्मनो; W °यत्याऽऽत्मना 3 M, Ma एतच्चाऽन्यत् 4. A,B,G,J,M,Ma,T गृह 5 A,B,G,J,T °ग्धा°; M,Ma °पा° 6- -6 M,Ma परं विन्दति विज्ञानं

भवेत् [1-]इत्युत्तरस्यानुषङ्गः[-1]: तावत् द्वैतं अहं पुमान् इयं स्त्रीत्यादिभेदो न विरमेत्। ततः किमत आह ततोहि द्वैतात्। विपर्ययो गुणाध्यासेन भोग्यताबुद्धिः। अतो जह्यादेवेत्यर्थः।।१०।।

**एतदिति**। एतत्सर्वं सुशीलः इत्याद्युक्तं गृहस्थस्य विशेषमाह - गुरुवृत्तिरिति।।११।।

**अञ्जनेति**। अञ्जनादीनां आमिषान्तानां द्वन्द्वैक्यम्। अञ्जनं शरीरस्य। अभ्यञ्जनं शिरसः। स्त्रियं चावलेख्यं[2] चित्रकर्म, स्त्रीणां कुड्यादौ लेखनं वा, तन्निरीक्षणं[3] वा, अत्राभ्यङ्गादि स्वरूपतो निषिध्यते। पूर्वं तु कथञ्चिदापादि प्राप्तमपि स्त्रीकर्तृकं निषिद्धमिति भेदः।।१२।।

**उषित्वेति**। अङ्गैः शिक्षादिभिः उपनिषद्भिश्च सहितां वेदत्रयीमधीत्यावबुध्य च तदर्थं च विचार्य। यावदर्थं स्वाधिकारानुसारेण।।१३।।

**दत्त्वेति**। यदीश्वरः शक्तस्तर्हि गुरोः काममपेक्षितं वरं दत्त्वा यथाधिकारं गृहस्थाश्रमं[4] सन्न्यासाऽश्रमं[5-] वा स्वीकुर्यात्। अत्र वनशब्दः शुचिदेशोपलक्षकः। "कुटुम्बे शुचौ देशे" (छान्दो.उ. 8-15) इति श्रुत्यनुरोधात्, न तु वानप्रस्थाश्रमोपलक्षकः, ब्रह्मचर्याव्यवहितोत्तरकाले तत्परिग्रहानुपपत्तेः। "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् यदि वा इतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहात् वनाद्वा" (जाबा. उ. 4) इति जाबालि श्रुतेः[-5]। तत्रैव[6] वसेत्। नैष्ठिकः स्यादित्यर्थः।।१४।।

**अग्राविति**। स्वधामभिः स्वाश्रयैर्भूतैर्जीवैस्सह तन्नियन्तृतया।।१५।।

**एवमिति**। चरन् एवमाचरन्। विदितं विज्ञानं विज्ञेयं येन सः।।१६।।

**वीर०** कुतस्तन्मात्रकरणे दोषः? तत्राऽह-**नन्विति**। अग्निः अग्निसदृशी प्रमदा[7] यथा चाऽतीवाग्निसहचरितं घृतकुम्भं क्षरति, तथा पुमानपि प्रमदासाहचर्यात् स्खलेदित्यर्थः[8-]। अतः सुतामपि पुत्रीमपि[9-] पुमान् रह[-9] एकान्ते जह्यात् त्यजेत्। अन्यदा केशप्रसाधनादिव्यतिरिक्तावसरे अनेकान्तावसरे वा यावत्तदुक्तं अर्थं प्रयोजनं तावन्मात्रं[10] करोतीति तादृशो भवेत्।।९।।

एवं ब्रह्मचारिणो धर्मानाभिधाय, यदुक्तं "सुशीलो मितभुक्" (भाग. 7-12-6) इत्यादि तद्यतिगृहस्थयोरपि

---

1- -1 A,B,J omit 2. A,B,J लेखां च 3. A,B,J क्षं वा 4. A,B,J °स्थाद्याश्र ° 5- -5 A,J स्वीकुर्यात्प्रव्रजेत् वा; B स्वीकुर्यात् 6 B adds वा 7. W omits प्रमदा 8- -8 A,B,T सहचारी सम्मुह्यो° 9- -9 W omits 10 W तन्मा°

ब्रह्मोपासननिष्ठयोरतिदेक्ष्यन् तावत् यावच्छरीरावसानमेवं धर्मा अनुष्ठेया इत्याह - **कल्पयतीति**। ईश्वरो भगवान् यावदिदमात्मन आभासं दृश्यं शरीरं कल्पयति प्रवृत्तिसमर्थं करोति। तावद्द्वैतं देवत्व, मनुष्यत्व ब्राह्मणत्वाद्यभिमानरूपं द्वैतं[1], भेदज्ञानमनुवर्तत इति शेषः। ननु[2] अनुवर्तताम्, ततःकिम्? तत्राह - अस्य पुंसस्ततोऽध्यासाद्विपर्ययः उत्तरोत्तरविपर्ययः देहात्मभ्रमः पुरुषार्थविपर्ययो वा भवति। तस्मात् यावद्द्वैतानुवृत्तिः स्वधर्मेभ्यो न विरमेत्। कल्पयित्वेति पाठान्तरम्। तत्र यावदिदं आभासं शरीरं तावदीश्वरः प्रभुः समर्थः[3] स्वधर्मानुष्ठानशक्तस्सन् आत्मनः स्वस्य द्वैतं मनुष्यत्व ब्राह्मणत्वादिभेदं कल्पयित्वा, स्थित इतिशेषः। देहात्माभिमानयुक्त इत्यर्थः। अत एव तावन्न विरमेत्, स्वधर्मादिति[4] शेषः। विरामे बाधकमाह हि यस्मादध्यासात् विरमाद्वाऽस्य विपर्ययः उत्तरोत्तर देहात्मभ्रमः। यद्वा, यावदिदं शरीरमनुवर्तते तावदिदं द्वैतं मनुष्यत्वादिकमात्मन आभासमात्रं कल्पयित्वा द्वैतं देहाकारो न तु आत्माकार इति कल्पयित्वा देहविलक्षणमात्मानमनुसन्धायेत्यर्थः। ईश्वरः कर्तुं समर्थः न विरमेत् स्वधर्मात् न[5] विरमेदित्यर्थः।।१०।।

उक्तं यतिगृहस्थयोरप्यतिदिशति - **एतदिति**। एतत्सुशील इत्यादिनोक्तं सर्वं व्रतस्थस्य ब्रह्मोपासन रूपव्रतनिष्ठस्य[6] यतेः तुर्याश्रमिणः, अपि शब्दात् गृहस्थस्यापि समाम्नातम्। तत्र गृहस्थस्य कञ्चिद्विशेषमाह[7] - गुरुवृत्तिरिति। गुर्वी वृत्तिः गुर्वनुवृत्तिः स्त्रीसङ्गराहित्यादिरूपा[8] ब्रह्मचर्यवृत्तिः गृहस्थस्य तु विकल्पेन कदाचिद्भवेत्, कदाचिन्नस्यात्। कदा न भवेत्? इत्यपेक्षायां तु[9] काले निर्दिशन् विकल्पे हेतुं च वदन् गृहस्थं विशिनष्टि- ऋतुगामिन इति। ऋतुगामित्वाद्गुरुवृत्तिविकल्प इति भावः। ऋतुकालेषु गुरुवृत्तिर्नास्तीति च भावः। अस्या उक्तेः दुष्करत्वाभिप्रायेण गुर्वितिविशेषणमुपात्तम्।।११।।

किञ्च। ये धृतव्रताः गृहस्थास्ते अञ्जनादीन् त्यजेयुः। अञ्जनाद्यामिषान्तानां द्वन्द्वैक्यम्। तत्र अञ्जन शरीरस्य तैलाद्यञ्जनम् शिरसः, अभ्यञ्जनमवशिष्टदेहस्य, उन्मर्दः उद्वर्तः, स्त्र्यवलेख्या[10] कुड्यादिषु स्त्रीप्रतिकृति लेखनम्। आमिषं मांसं, मधु मद्यम्। इदं क्षत्रियाद्यभिप्रायकम्। स्रक् च गन्धलेपश्च अलङ्कारश्च तान्।।१२।।

एवं ब्रह्मचर्याश्रमधर्मानभिधाय, अथ आश्रमान्तरधर्मान् विवक्षुः तावदाश्रमान्तराणाम् उक्तविध ब्रह्मचर्याश्रमपूर्वकत्वमाह - **उषित्वैवमिति** द्वाभ्याम्। द्विजः त्रैवर्णिकः एवमित्थं गुरुकुले उषित्वा साङ्गोपनिषदं

1 A,B,T omit द्वैतं 2 W omits ननु 3 W omits समर्थः 4. A,B,T omit स्व 5. W omits न विरमेत् 6. W स्थस्य 7. A,B,T किं° 8. W °त्यरूप 9 A,B,T तं 10. A,B,T °ख्या

साङ्गसशिरस्कां त्रयीं यथा बुद्धिबलं यावत्स्वापेक्षितमधीत्य अवबुध्य तदर्थं ज्ञात्वा। अवबध्येति पाठस्तु उचितः। "वेदमधीत्य अभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे" (छान्दो.उ. 8-15-1) इति श्रुत्यर्थस्याऽत्र प्रत्यभिज्ञानादवबध्य समावर्तनं कृत्वा।।१३।।

यदीश्वरः शक्तश्चेत्तर्हि गुरोः काममपेक्षितं वरं दत्त्वा गुरुणाऽभ्यनुज्ञातः गृहं वनं वा प्रविशेत्, गृहस्थाश्रमं सन्न्यासाश्रमं वा स्वीकुर्यादित्यर्थः। वनशब्दः शुचिदेशोपलक्षकः कुटुम्बे शुचौ देशे इति श्रुत्यनुरोधात्, न तु वानप्रस्थाश्रमोपलक्षकः। ब्रह्मचर्यानन्तरं तत्परिग्रहानुपपत्तेः, स हि गार्हस्थ्यानन्तरभावी "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्, गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्, यदिवेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वनाद्वा" (जाबा.उ. 4) इति जाबालिश्रुतेः, गार्हस्थ्यानन्तरं प्रव्रजेत्। प्रव्रजनमत्र[1] सन्न्यासाश्रमपरिग्रहो वानप्रस्थाश्रमपरिग्रहश्चेत्युभयविधं विवक्षितम्। यथेष्टं सन्न्यसेद्वनं वा प्रतिष्ठेतेत्यर्थः। तत्र वा वसेत् तत्र शब्देन ब्रह्मचर्यं गार्हस्थ्यञ्च विवक्षितम्। ब्रह्मचर्ये एव वा निष्ठितो भवेत्, गृहं प्रविश्यतत्रैव वा स्थितो भवेदित्यर्थः।।१४।।

एवं यथेष्टं परिगृहीतानां सर्वाश्रमाणां अनुगतं धर्मं तत्फलञ्चाऽह-द्वाभ्याम् - **अग्राविति**। अग्रार्विति तुर्याश्रमव्यतिरिक्ताश्रमाभिप्रायकम्, तस्याऽनग्रित्वात्। गुरौ अग्रौ आत्मनि स्वस्मिन् सर्वभूतेषु च अन्तः प्रविश्य नियमनपूर्वकं धारकतया, स्थितमिति शेषः। स्थितमधोक्षजं भगवन्तं पश्येत् अद्योक्षजो धाम आधारो येषां तैः भूतैः अप्रविष्टं पश्येत् व्याप्यवस्तुगतदोषासंस्पृष्टं पश्येत् प्रविष्टवञ्च पश्येत् अन्तर्बहिश्च व्याप्य स्थितत्वार्दाति भावः।।१५।।

एवंविधदर्शी ब्रह्मचर्याद्यन्यतमः[2] चरन्[3-] स्वाश्रमधर्मान् अनुतिष्ठन् विदितं विज्ञानं विज्ञेयं स्वात्मपरमात्मादि[3] याथात्म्यं येन तादृशः परं ब्रह्माधिगच्छति प्राप्नोति।।१६।।

**विज०** कुतो न कार्यमत्राह - **नन्विति** अन्यदा व्यवहारयोग्यसमये।।९।।

ननु बन्धनिवृत्त्यर्थं भगवदर्पणबुद्ध्या धर्मोऽनुष्ठेय इति विधीयते तस्य मिथ्यात्वेन स्वतएव निवृत्त्युपपत्तेः न तद्विधानमत्राऽवश्यकमित्याशङ्क्य ईश्वरकल्पितस्य मिथ्यात्वासम्भवेन। यद्बुद्ध्या यस्य शृङ्खलाबन्धः तस्य तत्प्रसादेन तन्निवृत्तिवदीश्वरप्रसादजनकधर्मग्रामो विधेयोऽन्यथा बन्धानुत्थितिरित्याशयवान् तस्येश्वरकल्पितत्वमाह **कल्पयेदिति**। यावन्तं कालमीश्वरः आत्मनो जीवस्य ज्ञानलक्षणरहितं ज्ञानवदवभासमानमिदमाभासमज्ञानं

1. A,B,T °न्तु 2. W त्तमं 3- -3 A, T omit

कल्पयेत्तावन्तं कालं द्वैतमयथार्थज्ञानं न विरमेत्, नापगच्छेत् ततोऽज्ञानादस्य विपर्ययो, बन्धोऽनुवर्तते[1] इति शेषः। तदुक्तम्- "बहुत्वेनैव वस्तूनां यथार्थज्ञानमुच्यते। अद्वैत ज्ञानमित्येव द्वैतज्ञानं तदन्यथा।। यथा ज्ञानं तथा वस्तु यथावस्तु तथा मतिः। नैव ज्ञानार्थयोर्भेदः तत एकत्ववेदनम्" (तन्त्र मालायाम्) इति च। ननु वर्णादेः विहितो धर्मग्रामः कियन्तं कालं अनुष्ठेयो, बहुसमयसाध्यत्वे दुःखप्रयासत्वेन अशक्त्यविरक्त्यानधिकारिकः स्यादित्याशङ्क्याऽह - **कल्पयेदिति**। यावदीश्वर इदमाभासं मिथ्याभूतं जगत्कल्पयेत् तावत् द्वैतं वर्णाश्रमादि धर्मलक्षणं न विरमेत् नाऽपगच्छेत्। ततोऽधिष्ठानं[2] ज्ञानं स्यात्, ततो विहितधर्मग्रामस्य विपर्ययो निवृत्तिरित्ययमर्थो हि शब्दसूचितया "सत्यसृष्टावशक्ता हि मायासृष्टिं वितन्वते" इति स्मृत्या विरुद्धत्वेनाऽनुपपन्नः ईश्वर इत्यनेन सत्यसृष्टिसामर्थ्यं सूचयति तात्पर्येण विधानं चानुपपन्नं, यत उक्त एवार्थः।।१०।।

नन्वयं धर्मो ब्रह्मचारिणो भवेदुत अन्यस्याऽपि सम्भवति? नाऽद्यः, अतिव्याप्तेः। न द्वितीयः, पृथग्विधानानुपपत्तिः, इत्यतोऽतिदेशन्यायेन यथासम्भवमन्यस्याऽपीत्याह - **एतदिति**। अन्यद्वक्ष्यमाणं न केवलं गृहस्थस्यैव, किन्तु यतेरपीत्याह - यतेरपीति। यथासम्भवमित्युक्तं विवृणोति गुरुवृत्तिरिति। गुरुवृत्तिः गुरौ वासः ब्रह्मचर्यं भिक्षावृत्तिरित्येतत्सर्वं गृहस्थस्य निवर्तत इत्यर्थः। विकल्पेन व्यवस्थित विकल्पेन, उदितानुदितहोमवदित्यर्थः। कुतो निवर्तत इति, तत्राऽह - ऋतुगामिन इति।।११।।

पञ्चयज्ञाद्याचरणायासेन कालयापनं कुर्वतो गृहस्थस्यापि व्रतधारणे ब्रह्मचारिवदभ्यञ्जनादिकं वर्जनीयमित्याह - **अञ्जनेति**। अवलेपं दर्पम्।।१२।।

अवबुध्य अर्थविचारं कृत्वा तत्त्वं ज्ञात्वा।।१३।।

गार्हस्थ्यधर्मस्य वानप्रस्थधर्मस्य यतिधर्मस्य चाऽनुष्ठानेन समर्थश्चेदेष्वभीष्टं कुर्यादित्याह - **यदीति**। "नैष्ठिको ब्रह्मचारी तु वसेदाचार्यसन्निधौ। तदभावेऽस्य तनये पत्न्यां वैश्वानरोऽपि च" (याज्ञ. स्मृ. 1-49) इति वचनात्। एतादृशस्य गुरौ वासोऽनुज्ञायते। अन्यस्य गुरोराज्ञया दूरं गत्वा गृहाश्रमः इति। तदुक्तम्- "गुरोराज्ञानुरोधेन दूरस्थो वा गृहीभवेत्" (तन्त्रमालायाम्) इति चेति।।१४।।

भगवदर्पणबुद्ध्या अग्र्यादौ क्रियमाणं कर्म तस्य बुद्ध्या कर्तव्यं, न तु तदैक्यबुद्ध्येत्याशयेनाऽऽह- **अग्राविति**। "स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै ददाति च। उपनीय ददद्वेदमाचार्यस्स उदाहृतः। एकदेश उपाध्याय

1. A,B वर्तते 2. A,B °ष्टानं

ऋत्विग्यज्ञकृदुच्यते। एते मान्या यथा पूर्वमेभ्यो माता गरीयसी" (याज्ञ.स्मृ. 1-34,35) इति वचनात्। गुरुशब्देन सर्व एते विवक्ष्यन्ते। स्वधामभिः आवासस्थानभूतैः अप्रविष्टं सर्वगतं प्रविष्टवत् स्थितम् अनुरूपवन्तम्। "अप्रविष्टस्सर्वगतः प्रविष्टस्त्वनुरूपवान्। एवं द्विरूपो भगवान् हरिरेको जनार्दनः" (तन्त्रमालायाम्) इति वचनात्।।१५।।

एवमाकारेण क्रियमाणस्य कर्मणःफलमाह - **एवंविध** इति।।१६।।

**वानप्रस्थस्य[1-1] वक्ष्यामि[2] नियमान्मुनि सम्मतान्।**
**यानातिष्ठन्मुनिर्गच्छेदृषिलोकमिहाञ्जसा।।१७।।**

**न कृष्टपच्यमश्नीया दकृष्टं[3] वाऽप्यकालतः।**
**अग्निपक्वमथाऽमं वा ह्यर्कपक्वमुताऽहरेत्[4]।।१८।।**

**वन्यैश्चरुपुरोडाशान् निर्वपेत्रित्यचोदितान्[5]।**
**लब्धे[6-] नवे नवेऽन्नाद्ये[-6] पुराणन्तु परित्यजेत्।।१९।।**

**अग्न्यर्थमेव शरणमुटजं वाऽद्रिकन्दरम्[7]।**
**श्रयेत हिमवाय्वग्नि वर्षार्कातपषाट्[8] स्वयम्।।२०।।**

**केश रोम नखश्मश्रु मलानि जटिलो दधत्।**
**कमण्डल्वजिने दण्डवल्कलादिपरिच्छदान्[9]।।२१।।**

**चरेद्वनेद्वादशाब्दा नष्टौ वा चतुरो मुनिः।**
**द्वावेकं वा यथा बुद्धिर्न विपद्येत कृच्छ्रतः।।२२।।**

**यदाऽकल्यः[10] स्वक्रियायां व्याधिभिर्जरयाऽथवा[11]।**
**आन्वीक्षिक्यां च[12] विद्यायां कुर्यादनशनादिकम्।।२३।।**

**आत्मन्यग्नीन्[13] समारोप्य सन्न्यस्याऽहम्ममात्मताम्।**
**कारणेषु न्यसेत् सम्यक् सङ्गतं तु यथार्हतः।।२४।।**

---

1--1 H,V,W वनस्थस्य तु 2. H,V,W °मो 3. A,B,G,J,T °ष्टञ्चाऽ° 4 A,B,G,J,M,Ma,T अ° 5. A,B,G,J,M,Ma,T °त्काल 6--6 M,Ma नयेन चात्रेन 7. A,B,G,J,T °राम् 8. M,Ma नात् 9. A,B,G,J, M,Ma,T °ग्नि 10. A,B,G,J,M,Ma,T °ल्पः 11. W °या तदा 12. A,B,G,J,T वा 13.H,V ग्नि°

**श्रीध० वानप्रस्थेति**। ऋषिलोकं महर्लोकम्।।१७।।

**नेति**। [1]कृष्टपच्यम् शाल्यन्नादिकम्[-1] अकृष्टमकृष्टपच्यम्। अकालतः पाककालात्पूर्वमेव निष्पन्नं [2]चूतशलाट्वादिकं तथा अग्निपक्वं आमञ्च नाश्नीयात्[-2] अर्कपक्वं फलादि [3]उत अपितु आहरेत् अश्नीयात्।।१८।।

**वन्यैरिति**। वन्यैः नीवारादिभिः [4]चरुपुरोडाशान्[-4] [5]कालचोदितान् नित्यान् [6]नवेनवे नूतने[-6], पुराणं पूर्वसञ्चितम्।।१९।।

**अग्न्यर्थमिति**। हिमादीन् [7]सहेत इति तथा।।२०।।

**केशेति**। केशादीन्[8]देहमलञ्च अप्रक्षालनेन धारयन्। कमण्डल्वादींश्च दधत्।।२१।।

**चरेदिति**। कृच्छ्रतस्तपःक्लेशाद्यथा बुद्धिः न नश्येत्तथा चरेत्।।२२।।

द्वादशाब्दाद्यनन्तरमपि यदि[9]धर्मानुष्ठाने शक्तस्तर्हि वन एव वसेत्। यदि तु ज्ञानाभ्यासे योग्यस्तर्हि सन्न्यसेदित्युत्तराध्याये वक्ष्यति। तदुभयरहितस्य तु यत्कृत्यं तदाह - **यदेति**। यदा अ[10]कल्योऽसमर्थः। आन्वीक्षिक्यां [11]विद्यायां ज्ञानाभ्यासे।।२३।।

अनशनादि करिष्यतः पूर्वकृत्यमाह - **आत्मनीत्यादि** [12]यावदध्यायपरिसमाप्ति। यथार्हतो यथायोग्यं स्वकारणेषु आकाशादिषु सङ्घातं देहं न्यसेत् प्रविलापयेत्।।२४।।

**वीर०** तावद्वानप्रस्थधर्मान् वक्तुं प्रतिजानीते - **वानप्रस्थस्येति**। मुनीनां सम्मतान् वानप्रस्थस्य नियमान् धर्मान् वक्ष्यामि। नियमान्विशिनष्टि - यान्नियमानिह लोकेऽनुतिष्ठन् मुनिरञ्जसा ऋषीणां लोकं महर्लोकं प्राप्यं भगवल्लोकं वा गच्छेत्।।१७।।

नियमानाह - **नेति**। कृष्टपच्यं कृष्याद्युपायैः निष्पन्नं शाल्यन्नादिकं नाऽश्नीयात्, वनस्थ इति शेषः। अकृष्टपच्यमपि फलमूलादिकमकालतः पाककालात्पूर्वमेव परिपाकावस्थायाः पूर्वमेव। तथा अग्निपक्वमामञ्च नाश्नीयात्। उत अपि तु अर्कपक्वं सूर्यकिरणपक्वं फलादिकमेव आहरेत् अश्नीयात्।।१८।।

एवं [13]वानप्रस्थस्य धर्म उक्तः। अथ आवश्यकान्नियमानाह - **वन्यैरिति**। वन्यैःनीवारादिभिः चरुपुरोडाशान् कालचोदितान्नित्यान्निर्वपेत्। नीवारादिनिष्पन्नैरेव चरुपुरोडाशैः यथोदित धर्मान् कुर्यादित्यर्थः। नवे नवे नूतने नूतने अन्नाद्ये अन्ने लब्धे पुराणं पूर्वसञ्चितमन्नाद्यं परित्यजेत्।।१९।।

---

1- -1 A,B,J omit 2- -2 A,B,J omit 3 A,B,J omit उत अपितु 4- -4 H,V omit 5 H,V °ले 6- -6 A,B,J omit 7 H,V सहते 8 A,B,J omit देह 9 A,B,J add स्व 10. A,B,J कल्पो 11. H,V omit विद्यायां 12 A,B,J °वत्समा ° 13. B,W वानस्थो

अग्न्यर्थमग्नीनां रक्षणार्थमेव उटजं पर्णशालात्मकं शरणं स्वगृहं कुर्यात्। अथवा अद्रिकन्दरं पर्वतगुहां वा श्रयेत, स्वयन्तु हिमञ्च वायुञ्च अग्निञ्च वर्षञ्च सूर्यातपञ्च तान् सहत इति हिमवाय्वग्निवर्षार्कातपषाट्।।२०।।

जटाः अस्य सन्तीति तादृशः केशादीन् देहमलञ्च अघमर्षणेन धारयन् कमण्डल्वादींश्च दधत् अग्निपरिच्छदाः स्रुक् स्रुवाद्युपकरणानि च[1] दधत्[1]।।२१।।

कृच्छ्रतः क्लेशात् यथा बुद्धिः न विपद्येत न नश्येत्तथा द्वादशाब्दान् संवत्सरान्, अष्टौ वा चतुरो वा अब्दौ द्वौ वा एकं वा अब्दं[2] चरेत्, नियमानिति अर्थः[3]।।२२।।

यदा द्वादशाब्दाद्यनन्तरं, व्याध्यादिभिरुतजरया वा स्वक्रियायां स्वकीयधर्माचरणे आन्वीक्षिक्यां आत्मविचाररूपायां विद्यायां तुरीयाश्रमधर्मे च अशक्तस्तदा अनशनादिकम्, आदिशब्देनाग्न्यारोपणादिकं वक्ष्यमाणं विवक्षितम्। तत्कुर्यात्।।२३।।

तदेवाऽह - **आत्मनीति**। अग्नीनात्मनि समारोप्य अहङ्कारममकारौ सन्न्यस्य त्यक्त्वा यथायोग्यं स्वस्वकारणे सङ्घातं भूतसङ्घातरूपं शरीरेन्द्रियजातादिकं सम्यक् न्यसेत् लीनमनुसन्दधीत।।२४।।

**विज०** ब्रह्मचारि वानप्रस्थनियमानां कृच्छ्रसाध्यत्वेन साम्यात्प्रथमाश्रमधर्मकथनानन्तरं वानप्रस्थधर्मानाह - **वानप्रस्थस्येति**। ऋषेः सर्वज्ञस्य लोकं वैकुण्ठं "त्वमग्रे प्रथमो अङ्गिराः" (ऋक्सं 1-31-1) इति श्रुतेः। "ऋषिर्हरौ तापसे च ज्ञानवत्यपि कीर्तितः" इति।।१७।।

कृष्टपच्यं कर्षणादिना पक्वं व्रीह्यन्नं, अकालतो विहितकालमुल्लङ्घ्य आममग्न्यादिना अनाप्तपाक-मामलकादि।।१८।।

वन्यैः देवव्रीह्यादिभिः कालचोदितान् तत्तत्कालविहितान्।।१९।।

अग्न्यर्थं अग्निरक्षार्थं उटजं पर्णशालाम्, शरणं गृहम् अन्यदा हिमादिकं श्रयेत, आतपनमातपः।।२०।।

अग्निपरिच्छदा दर्भादयः।।२१।।

न विपद्येत क्लिष्टो न भवेत्।।२२।।

अकल्पोऽसमर्थः आन्वीक्षिक्यां आत्मविचारलक्षणायाम्। अनशनम् अशनत्यागः, तत्राशक्तौ मासे गते पक्षेवा दिवसे वा प्राश्नीयादित्यादिकमादिपदेन गृहीतं, यथाऽऽह याज्ञवल्क्यः "पक्षे गते वा प्राश्नीयान्मासे वाऽहनि चागते" (याज्ञ. स्मृ. 3-50) इति।।२३।।

1- -1 W omits 2. A,B,T omit अब्दं 3. A,B,T शेषः

म्रियमाणेन पुरुषेणाऽध्यात्मं कार्यकारणजातं यत्तत्रेदं कार्यमेतस्मिन्कारणे विलीयते इति ध्यानं कर्तव्यमित्यभिप्रायेणाह - कारणेष्विति। सङ्घातं कार्यजातं न्यासो ज्ञानपूर्वकं ध्यानं "कार्यस्य कारणलयज्ञानमात्रं विलापनम्" (तन्त्रमालायाम्) इति वचनात्।।२४।।

**खे खानि वायौ निःश्वासांस्तेजस्यूष्माणमात्मवान्।**
**अप्स्वसृक् श्लेष्मपूयानि क्षितौ शेषं यथोद्भवम्।।२५।।**

**वाचमग्नौ स वक्तव्यामिन्द्रे शिल्पं करावपि।**
**पदानि[1] गत्या[2-] वयसि[-2] रत्योपस्थं प्रजापतौ।।२६।।**

**मृत्यौ पायुञ्च[3-] सोत्सर्गं[-3] यथास्थानं विनिर्दिशेत्।**
**दिक्षु श्रोत्रं सनादेन[4] स्पर्शेनाध्यात्मनि त्वचम्[5]।।२७।।**

**रूपाणि चक्षुषा राजन् ज्योतिष्यभिनिवेशयेत्।**
**अप्सु प्रचेतसा जिह्वां घ्रेयैर्घ्राणं क्षितौ न्यसेत्।।२८।।**

**मनो मनोरथैश्चन्द्रे बुद्धिं[6] बोध्यैः कवौ परे।**
**कर्माण्यध्यात्मना रुद्रे यदहं ममता[7] क्रियाः[8]।**
**सत्त्वेन चित्तं क्षेत्रज्ञे गुणैर्वैकारिकं परे।।२९।।**

**अप्सु क्षितिमपो ज्योतिष्यदे वायौ नभस्यमुम्।**
**कूटस्थे तच्छ्रमहति तदव्यक्तेऽक्षरे तु[9] तत्।।३०।।**

**इत्यक्षरतयाऽऽत्मानं चिन्मात्रमवशेषितम्।**
**ज्ञात्वाऽद्वयोऽथ विरमेत् दग्धयोनिर्यथाऽनलः[10]।।३१।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां
अष्टादशसाहस्र्यां श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
सप्तमस्कन्धे युधिष्ठिरनारदसंवादे सदाचारनिर्णयो नाम द्वादशोऽध्यायः।।१२।।

---

1 W पादौ च 2- -2 M,Ma गतिभिर्विष्णौ 3- -3 A,B,G,J,M,Ma,T पायुं विसर्गञ्च 4 W च स° 5. A,B,G,J,T स्पर्शम° 6. H,V द्धिबो° 7. M,Ma सम्मता 8. A,B,G,J,T °या। 9 A,B,G,J,T च 10. A,B,G,J,M,Ma,T °रिवाऽ°

**श्रीध**° तदेवं[1] विभज्य दर्शयति **खे** इति। खे आकाशे खानि देहगतच्छिद्राणि। आत्मवान् धीमान् शेषमस्थिमांसादिकठिनांशम्।।२५।।

एवं स्थूल शरीरस्य लयमुक्त्वा लिङ्गशरीररूपस्य अध्यात्मादित्रयस्य लयमाह - **वाचमित्यादिना**। तत्र यद्यपि यथोद्भवं लयस्य युक्तत्वादध्यात्मादीनां स्व-स्व-कारणेषु राजसाहङ्कारादिषु लयो वाच्यः, तथाऽपि इह तेषां लयभावनेयमद्वितीयात्मप्रतिपत्तिपरेति यथाकथञ्चिल्लये भाव्ये देवतानां प्रवर्तकत्वेन प्राधान्यादिन्द्रियतद्विषययोः देवतासु लयः कथ्यते। वक्तव्यसहितां वाचमग्नौ न्यसेत्। एवं सर्वत्र। पदानि पादौ वयसि विष्णौ।।२६।।

**मृत्याविति**। सनादेन शब्देनसह। अध्यात्मनि वायौ। अध्यात्मवदिति पाठे वायाविति ज्ञातव्यम्।।२७।।

**रुपाणीति**। ज्योतिषि आदित्ये रूपाणि[2]। रसगन्धयोः[3] स्वेन्द्रियाद्याकर्षकत्वेन प्राधान्यविवक्षया देवतासहितस्येन्द्रियस्य विषये लयमाह प्रचेतसा सह जिह्वां रसनामप्सु रसरूपासु। घ्राणशब्देन अश्विनोरप्युपलक्षणम्। अश्विभ्यां सह घ्राणं घ्रेयैः गन्धैरुपलक्षितायां क्षितावित्यर्थः।।२८।।

**मन इति**। परे कवौ ब्रह्मणि। अध्यात्मनाहङ्कारेण, अध्यात्मनामिति पाठे कर्माण्यहङ्कारञ्चेत्यर्थः। कथम्भूते रुद्रे? यद्यस्मात् अहम्ममता पूर्विका क्रिया भवति तस्मिन् सत्त्वेन चेतनया गुणैः गुणकार्यैः प्रागवशिष्टैः देवैस्सह। यद्वा, सत्त्वादिभिः गुणैः हेतुभूतैः। वैकारिकं भोक्तृत्वादि विकारवन्तं क्षेत्रज्ञं परे निर्विकारे ब्रह्मणि।।२९।।

ननु विकारवतः कथं परेऽविकारे[4] लयःस्यात्, विकारहेतूनां सर्वोपाधीनां लयद्वारेणेत्याह - **अप्स्विति**। अदो ज्योतिः। तच्च नभः कूटस्थेऽहंतत्त्वे। तच्च कूटस्थं महति महत्तत्त्वे। तदव्यक्ते प्रधाने तच्चाऽव्यक्तमक्षरे परमात्मनि।।३०।।

**इतीति**। इति सर्वोपाधिलयाद्धेतोः अवशेषितं चिन्मात्रमात्मानं क्षेत्रज्ञमक्षरतया ज्ञात्वा अद्वयस्सन् विरमेत्। दग्धकाष्ठो यथाऽनलः।।३१।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे

श्रीश्रीधरस्वमिविरचितायां भावर्थदीपिकायां

व्याख्यायां द्वादशोऽध्यायः।।१२।।

---

1. A,B,J, °व 2. A,H,J,V omit रूपाणि 3. A,B,J योस्त्विन्द्रि° 4 H,V omit अविकारे

**वीर०** तदेव सविस्तारमाह - **ख** इत्यादिना खे आकाशे खानि शरीरगतच्छिद्राणि प्रलीनानि भावयेत् निःश्वासान् देहगतानुच्छ्वासादीन् प्राणान् वायौ तथा ऊष्माणं तेजसि न्यसेत्। आत्मवान् धीमान् असृग्धिरं च श्लेष्म च पूयं मूत्रादिकञ्चेत्येतानि अप्सु शेषमस्थिमांसादिकं कठिनांशं क्षितौ - इत्येवं यथोद्भवं यद्यत उत्पन्नं तथा तदनतिक्रमेण स्वकारणेषु प्रलीनानि अनुसन्दधीत।।२५।।

एवम्भूतसङ्घातात्मकशरीरावयवानां यथोद्भवं स्व-स्वकारणे लयानुसन्धानमुक्तं, अथ सव्यापारणां वागादीन्द्रियाणां स्वाऽधिदैवतेषु लयानुसन्धानप्रकारमाह - **वाचमिति**। यद्यप्यधिदैवतेभ्यो नेन्द्रियाणामुत्पत्तिरिति तत्र तेषां लयानुसन्धानमसङ्गतं, तथाऽपि तेषां तत् प्रवर्तकत्वेन प्राधान्यात्तैः तावत्संश्लेषानुसन्धानं तेषामपि स्वकारणे लयानुसन्धानाय कथ्यते। वक्तव्यमुक्तिः भावेतव्यः सवक्तव्यां सोक्तिकां वाचं वागिन्द्रियमग्नौ अधिदैवते, विनिर्दिशेदित्युत्तरेणान्वयः। करौ शिल्पमादानादिरूपं व्यापारञ्च इन्द्रे तदधिदैवते गत्या सह पादौ वयसि कालात्मके विष्णौ रत्या सह उपस्थमिन्द्रियं प्रजापतौ अधिदैवते।।२६।।

जिह्वां रसनेन्द्रियमप्सु रसेषु विषयभूतेषु अप् शब्दो रसोपलक्षकः प्रचेतसा वरुणेन अधिदैवतेनसह, अभिनिवेशयेदित्यनुषङ्गः। त्रयाणां संश्लेषमात्रविवक्षया प्रचेतसेत्यप्रधाने तृतीया। घ्रेयैर्गन्धैर्विषयैस्सह घ्राणमिन्द्रियं क्षितौ, क्षितिशब्दोपलक्षितयोरश्विनोः न्यसेत्। मनोरथैः व्यापारैस्सह मन इन्द्रियं चन्द्रेऽधिदैवते, बोध्यैः विषयैस्सह बुद्धिं परे श्रेष्ठे कवौ चतुर्मुखे, अध्यात्मना आत्मनि देहे वर्तमाने नाऽहङ्कारेण सह तत्कर्माणि देहात्माभिमान रूपाणि अहङ्काराधिदैवते रुद्रे न्यसेत्। अहङ्कारकर्माण्येव दर्शयति - **यद्यस्मादहङ्कारात्** अहम्ममतात्क्रियाः। देहेऽहम्बुद्धिः देहानुबन्धिषु ममकारः, तन्मूलाः क्रियाः प्रवृत्तयश्च भवन्ति। चित्तं चित्तावस्थमन्तःकरणं सत्त्वेन सत्त्वगुणकार्यभूतस्वच्छत्व प्रकाशत्वादिरूपचित्तवृत्त्या सह क्षेत्रज्ञेऽधिदैवते न्यसेत् ततो वैकारिकं सात्त्विकाहङ्कारं गुणैः स्वकार्यभूतैः इन्द्रियैस्सह परे तत्कारणे महत्तत्त्वे न्यसेत्।।२८,२९।।

एवं वैकारिकाहङ्कारस्य महति लयानुसन्धानमुक्तम्, पूर्वं खे खानीत्यादिना तत्तत्कार्यप्रलयानुसन्धान-मुक्तम्। अथ तत्त्वैस्सह तत्कारणभूतस्य तामसाहङ्कारस्य महति लयानुसन्धान-प्रकारमाह - **अप्स्वित्यादिना**। तावत्क्षितिमप्सु, अपो ज्योतिषि, अदः ज्योतिर्वायौ, अमुं वायुं नभसि आकाशे, तञ्च कूटस्थे तामसाहङ्कारे, तञ्च महति महत्तत्त्वे, तञ्च महत्तत्त्वं अव्यक्ते चित्समष्टिसंसृष्टे अचित्समष्ट्यात्मके प्रधाने, तञ्चाक्षरे परमात्मात्मके जीवे न्यसेत्।।३०।।

अत[1] एवमवशेषितं प्रत्यगात्मानमक्षरतया परमात्मात्मकत्वस्वाभाविकस्वरूपतया[2] ज्ञात्वाऽद्वयः आत्मनि जातिगुणाद्यभिमान-रहितः विरमेत्। दग्धयोनिः निर्दग्धकाष्ठोऽनलोऽग्निः[3] यथा विरमति तद्वद्धर्मानुष्ठानेऽशक्तो वानप्रस्थ एवमनुसन्दधानो देहत्यागाय अनशनव्रतं कुर्यादित्यर्थः।।३१।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां द्वादशोऽध्यायः।।१२।।

**विज०** यथार्हत इत्युक्तं विवृणोति - **खे खानीति**। खे आकाशे खानि शरीरावच्छिन्नाकाशानि श्वासं शरीरवायुं बाह्यवायौ शरीरमूष्माणं कारणतेजसि आत्मवान् परमात्मज्ञानवान् वशीकृतमना वा, श्लेष्मपूयासृक्कार्याणि अप्सु लीयन्त इति चिन्तयेत्। शेषं गन्धं क्षितौ। नन्वाकाशादेः लाघवादीनामुत्पत्तेः कथमियतामेव लयश्चिन्त्यते? इति तत्राह - यथोद्भवमिति। "आकाशाल्लाघवं सौक्ष्म्यं शब्दं श्रोत्रं तथा बलम्। वायोस्तु प्रेरणा चेष्टा व्यूहनं सौक्ष्म्यमेव च। अग्नेस्तु दर्शनं शक्ति रौष्ण्यं रूपप्रकाशकम्।। रसेभ्यो रसनं शैत्यं स्नेहक्लेदनमार्दवम्। भूमेर्गन्धस्तथा घ्राणं गौरवं मूर्तिरेव च" इति वचनात् उत्पत्त्यनुसारेण लयश्चिन्तनीय इत्यर्थः।।२५।।

इदानीं वागादीन्द्रियाणां अग्न्यादिदेवताधीनत्वमपि चिन्तनीयमित्याह - **वाचमिति**। सवक्तव्यमिति क्रियाविशेषणम्। प्रजापतौ दक्षे।।२६।।

यथास्थानमित्यनेन अभिमानिनां अभिमन्यमानानां तत्तदुत्पत्तिकारणमनुसृत्येत्युच्यते सनादेन श्रोतव्येन सह, त्वचं त्वगिन्द्रियं स्पर्शेन सह, वायाविति शेषः।।२७।।

ज्योतिष्यादित्ये निवेशयेत् निविशतीति चिन्तयेत्। जिह्वां रसनेनेति शेषः। परे कवौ बृहस्पतौ। उशनसोऽपि कविशब्दवाच्यतात् तद्व्यावृत्त्यर्थं पर इति। अध्यात्मनाऽहङ्कारेण सह कर्माणि रुद्रे, तत्र हेतुः यदहमिति। क्रिया, यत् अहं सम्मता अहङ्कारादुत्पन्नत्वेन सम्मता इति यत्तस्मादिति शेषः। सत्त्वेन साधुपुण्य कर्मणा सह चित्तं क्षेत्रज्ञे हिरण्यगर्भे निवेश्य एतल्लक्षणं विलयं स्मृत्वा वैकारिकनामानं हिरण्यगर्भं गुणैस्सह क्षेत्रज्ञाख्ये परे परमात्मनि लक्ष्मीद्वारा लयमार्गं चिन्तयेत् - "चित्तं हिरण्यगर्भे तु विलाप्य परमात्मनि। क्षेत्रज्ञाख्ये लापयेच्च ततो नान्यत्स्मरेद्बुधः" (तन्त्रमालायाम्) इति चात्र मानम्।।२८,२९।।

---

1 W omits अतः 2- -2 A,B,T °त्मशरीरात्मकत्व° 3. W दाध°

इदानीमबादीनां लयप्रकारं निरूपयति - **अप्त्विति**। तच्च नभःकूटस्थे वैकारिकतैजस-तामस कूटरूपेऽहङ्कारतत्त्वे, तदहङ्कारतत्त्वं महति महत्तत्त्वे, तन्महत्तत्त्वमव्यक्ते, तदव्यक्त-मक्षरे हरौ विलयप्रकारं स्मरेत्। जडस्य स्वकारणैक्यमभिमानिनो जीवस्य प्रवेशलक्षणं तत्तत्कार्यस्थ हिरण्यगर्भस्य उत्तररूपेणैक्यं हिरण्यगर्भस्थहरेररपि उत्तरोत्तररूपैकीकरणमिति लयभेदन्तु शब्दो ज्ञापयति।।३०।।

इति शब्दो लयसमाप्ति-सूचकः। "कूटस्थोऽक्षर उच्यते" (भ.गी. 15-16) इति वचनात् अक्षरनाम्न्यां चित्-प्रकृतौ स्थित्वा अक्षरलक्षणनित्यत्वहेतुत्वादक्षरनामत्वेन स्थितमात्मानं परमात्मानं चिन्मात्रमवशेषितं सृष्ट्यादिव्यापारोदासीनं ज्ञात्वाऽद्वयो हरिव्यतिरिक्तवस्तुस्वातन्त्र्यस्मरणरहितोऽथ कृत्याद्विरमेदित्यन्वयः। कृत्याद्विरमोक्तिरत्र कथमित्याह - दग्धयोनिरिति। दग्धयोनिरिन्धनलक्षणा येन स तथा। यथाऽग्रे इन्धनदहनात्परं कृत्यं नास्ति, तथा श्रीनारायणोपासकस्य सविकासं तत्त्वज्ञानात्परं कृत्यं नेति भावः। "न हरिं स्मरतः कृत्यं दग्धेन्धनहुताशवत्" (तन्त्रमालायाम्) इति वचनात्।।३१।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

सप्तमस्कन्धे द्वादशोऽध्यायः।।१२।।

* * * *

# त्रयोदशोऽध्यायः

*(विजयध्वजरीत्या चतुर्दशोऽध्यायः)*

नारद उवाच

[1]कल्यस्त्वेवं परिव्रज्य देहमात्रावशेषितः।
ग्रामैकरात्रविधिना निरपेक्षश्चरेन्महीम्।।१।।

बिभृयाद्यद्यसौ [2]वासः कौपीनाच्छादनं परम्।
व्यक्तं न लिङ्गदण्डादेरन्यत्किञ्चिदनापदि।।२।।

एक एव चरेद्भिक्षुरात्मारामोऽनपाश्रयः।
सर्वभूतसुहृच्छान्तो नारायणपरायणः।।३।।

पश्येदात्मन्यदो विश्वं परे सदसतोऽव्यये[4]।
आत्मानञ्च परं ब्रह्म सर्वत्र सदसत्तमे।।४।।

सुप्तप्रबोधयोस्सन्धावात्मनो गतिमात्मदृक्।
पश्यन्बन्धञ्च मोक्षञ्च मायामात्रं न[5] वस्तुतः।।५।।

नाऽभिनन्देद्ध्रुवं मृत्युमध्रुवं वाऽ[6]स्य जीवितम्।
कालं परं प्रतीक्षेत भूतानां प्रभवाप्ययम्।।६।।

नाऽसच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम्।
[7]वादिवादांस्त्यजेत्तर्कान्पक्षं [8]कञ्चिन्न संश्रयेत्।।७।।

---

1. A,B,G,J,M,Ma T कल्प 2 H,V यदसौ 3. M,Ma दण्डाभ्याम° 4 M,Ma ऽद्वये 5 M,Ma च 6 M,Ma स्वजी° 7 A,B,G,J,T वाद . M,Ma अति 8. A,B,G,J,T कञ्चन

**न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाऽभ्यसेद्बहून्।**
**न व्याख्यामुपयुञ्जीत[1] नाऽऽरम्भानारभेत्क्वचित्।।८।।**
**न यतेराश्रमः प्रायो धर्महेतुर्महात्मनः।**
**शान्तस्य समचित्तस्य बिभृयादुत वा त्यजेत्।।९।।**
**अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्तार्थो मनीष्युन्मत्त[2]बालवत्।**
**कविर्मूकवदात्मानं[3] सदृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम्।।१०।।**

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

त्रयोदशे यतेर्धर्मः साधकस्योच्यते महान्।अवधूतेतिहासेन सिद्धावस्था च वर्ण्यते।।

**कल्येति**। एवं ध्यात्वा अकल्योऽनशनादिकं[4] कुर्यात्। आन्वीक्षिक्यां कल्य[5]स्त्वेवं ध्यात्वा परिव्रज्येति[6] सम्बन्धः। कियदत्र त्याज्यं, देहातिरिक्तं[7] सर्वमित्याह-देहमात्रेति। तस्य धर्मान्ग्रह ग्रामैकरात्रेति नवभिः।।१।।

**बिभृयादिति**। कौपीनं गुह्यमाच्छाद्यते[8] यावता, तावन्मात्रं परं केवल, मन्यदिति वा।।२।।

**त्यक्तमिति**। त्यक्तं प्रेषोच्चारणात्पूर्वमेव।।३।।

**पश्येदिति**। सदसतः परे कार्यकारणव्यतिरिक्ते।।४।।

नन्वात्मानं परं ब्रह्मेति कथं सामानाधिकरण्यनिर्देशः, न हि बद्धमुक्तयोरैक्यं सम्भवति? तत्राऽऽह-**सुप्तेति**। सुषुप्तौ[9] हि तमसावृतमात्मत्त्वं, जाग्रत्स्वप्नयोस्तु विक्षिप्तं प्रकाशते, सन्धौ तु न तमो नाऽपि विक्षेपः। अतस्तदात्मदृक् आत्मानं लक्षीकृत्य स्थितस्सन् आत्मनो गतिं तत्त्वं पश्यन् अत एव बन्धं मोक्षञ्च मायामात्रं पश्यन् आत्मानं परं ब्रह्म सर्वत्र पश्येदित्यन्वयः। तदुक्तं योगग्रन्थे-"निद्रादौ जागरस्यान्ते यो भाव उपजायते। तं भावं भावयेन्नित्यमुच्यते नेतरो यतिः" इति।।५।।

**नाऽभीति**। अस्य देहस्य प्रभवोऽप्ययश्च यस्मात्तं कालम्।।६।।

---

1 M,Ma जीवेत 2. W मुनिरुन्मत्त 3. M,Ma °नमदृश्यो 4 A,B,J, °कल्पांऽ° 5 A,B,J ल्प° 6 H,V व्रजेदिति° 7. A,B,J °हव्यति 8 H,V Omit गुह्यम् 9. H,V °भे

**नाऽसदिति**। असच्छास्त्रेषु अनात्मपरेषु जीविकां नक्षत्रविद्यादिवृत्तिं, वादिवादान्[1] जल्पवितण्डादिनिष्ठान् कञ्च कमपि पक्षं निर्बन्धेन न संश्रयेत्।।७।।

**नेति**। शिष्यान्[2] नाऽनुबध्नीत प्रलोभनादिना बलान्नापादयेत्, आरम्भान्मठादिव्यापारान्।।८।।

परमहंसस्य विशेषमाह-**न यतेरिति**। न यतेराश्रमो धर्मार्थः। कथम्भूतस्य यतेः[3]? महात्मनः। तस्य लक्षणं शान्तस्येत्यादि। प्राय इत्यस्याऽयं भावः-ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तं बहूदकादि लिङ्गमाश्रित्य सत्त्वशुद्ध्यर्थं यमान्नियमांश्चाचरन्नेव ज्ञानोत्पत्तौ यतेत, उत्पन्ने तु ज्ञाने न नियमैः कृत्यमस्ति। यमाश्च स्वत एव स्युः। अतस्तदा लिङ्गादिभिः प्रयोजनाभावात् लोकसङ्ग्रहार्थं धारयेद्वा त्यजेद्वेति।।९।।

तस्यैव ज्ञानदार्ढ्याभावे योगभ्रंशपरिहारार्थमाह-**अव्यक्तेति**। न बहिः व्यक्तं लिङ्गं यस्य व्यक्तोऽर्थः प्रयोजनमात्मानुसन्धानं यस्य सः। मनीष्यपि[4] उन्मत्तवद्बालवच्च, कविरपि मूकवदात्मानं नृणां तत्त्वदृष्ट्या[5] दर्शयेत्। ते यथा उन्मत्तादिरूपं मन्येरन् तथा वर्तेत। स्वदृष्ट्येति पाठे बाह्यानुसन्धानाभावेनेत्यर्थः।।१०।।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं स्वधर्मानुष्ठाने तुर्याश्रमधर्मे चाऽशक्तस्य वानप्रस्थस्यैवं अनुसन्धानपूर्वकानशनव्रतेन देहत्याग उक्तः। अथ तच्छक्तस्य तुर्याश्रमपरिग्रहं वदंस्तद्धर्मानाह त्रयोदशेनाध्यायेन[6]-**कल्य**[7] इति। आश्रमान्तरधर्माननुष्ठातुं[8] समर्थश्चेदेवमनुसन्दधत्परिव्रज्य सन्न्यस्य देहमात्रेणावशेषितः देहातिरिक्तं तदनुबन्धि सर्वं परित्यज्येत्यर्थः। ग्रामैकरात्रविधिना एकैकस्मिन् ग्रामे एकैकरात्रनयनविधिना निरपेक्षो महीं चरेत्।।१।।

यद्यसौ परिव्राट् त्यक्तं देहाद्यतिरिक्तं किञ्चित्[9] बिभृयाच्चेत् तर्हि कौपीनमाच्छाद्यते येन तच्चवासः परं केवलं बिभृयात्। दण्डकमण्डलुभ्यामन्यत्किञ्चिदपि अनापदि न बिभृयात्। दण्डपात्रग्रहणमुपवीत कटिसूत्रादेरप्यावश्यकस्योपलक्षणम्। अनापदीत्यनेन शीताद्यसहिष्णुत्वरूपापदि तु किञ्चित्त्रिवारकं वासोऽन्तरादिकमपि बिभृयादिति सूचितम्।।२।।

अनपाश्रयः परित्यक्तनियतनिवासदेशः एकोऽसहायः भिक्षुः भिक्षान्नोपजीवी आत्मारामश्चरेत्। सर्वेति।

---

1. A,B,J वाद° 2. H,V Omit शिष्यान् 3. H,V Omit यतेः 4- -4 A,B,J मनीषी 5 A,B,J Omit तत्त्व 6 W Omits अध्यायेन 7 A,T °ल्प 8. A,B,T °न 9. A,B,T °श्चन

सर्वभूतेषु तरतमेषु सुहृद्भगवदात्मकत्वानुसन्धानेन नितरामनुकूलः शान्तः क्रोधरहितः नारायण एव[1] परायणं प्राप्यं प्रापकमाधारश्चेति अध्यवसाययुक्त इत्यर्थः[2]।।३।।

सदसतः चिदचिद्भ्यां परे विलक्षणे अत एवाऽव्यये स्वरूपतः स्वभावतश्च विकाररहिते आत्मनि परमात्मनि अदः इदं विश्वं पश्येत्तदायत्तसत्तास्थितिप्रवृत्तिमत्त्वेन तच्छरीरत्वेन च पश्येदित्यर्थः। तथा परं ब्रह्म आत्मानं परमात्मानं सदसन्मये चिदचिदात्मके सर्वत्र जगति नियन्तृतयाऽऽत्मतया च स्थितं पश्येत्। एवं वासुदेवशब्दार्थानुसन्धानमुक्तम्।।४।।

**सुप्तेति**। सुप्तप्रबोधयोस्सन्धौ, सायंप्रातरित्यर्थः। यद्वा, तयोस्सन्धिः मध्यमावस्था स्वप्नावस्थायामित्यर्थः। तदानीं शयानदेहादात्मनोऽप्यतिरेकः[3] सुग्रहः। परमात्मनो विचित्रसृष्टियोगश्च-"न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते" इति श्रूयते[4]। एवञ्च सुप्तप्रबोधयोस्सन्धौ स्वप्नावस्थायामात्मदृक् देहविलक्षणप्रत्यगात्मस्वरूपविमर्शन परः आत्मनः परमात्मनो गतिं विचित्रपथरथयोगादिस्रष्टृत्वादिप्रकारं पश्येदनुसन्दधीत। तथा बन्धं मोक्षञ्च मायामात्रं न वस्तुत इति पश्येत्, बन्धादिकमीश्वरसङ्कल्परूपज्ञानाधीनं नत्वात्मस्वरूपप्रयुक्तमिति पश्येदित्यर्थः। मायाशब्दश्च ज्ञानपर्यायः "माया वयुनं ज्ञानम्" (वेद.नि.3-9) इति नैघण्टुकाः। बन्धमोक्षयोश्च परमात्मसङ्कल्पाधीनत्वं सूचितम्। "पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ" (ब्र.सू.3-1-4) इति बन्धमोक्षयोः प्रकृत्यन्वयव्यतिरेकरूपत्वाच्च मायामात्रत्वम्। ननु कथं मोक्षस्य स्वरूपप्रयुक्तत्वाभावः? बन्धप्रतियोगित्वादिति ब्रूमः। न ह्यबद्धस्य मोक्षसम्भवः।।५।।

ध्रुवं निश्चितं मृत्युम् अध्रुवमस्थिरं जीवितञ्च नाऽभिनन्देत् मृत्युमिति दृष्टान्तार्थं वा। यथा मृत्युं नाऽभिनन्दति तथा अध्रुवं जीवितमपि नाऽभिनन्देदिति परं केवलन्तु भूतानां प्रभवाप्ययौ यस्मात्, तमुत्पत्तिप्रलयहेतुं कालमेव प्रतीक्षेत कालगतिमेवाऽऽलोचयेदित्यर्थः।।६।।

असच्छास्त्रेषु अनध्यात्मशास्त्रेषु न सज्जेत न सक्तो भवेत्। जीविकां जीवनोपायभूतां वृत्तिं नोपजीवेत् अतिवादान् जल्पवितण्डादिनिष्ठान् तर्कान् त्यजेत्। कमपि पक्षमाग्रहेण नाऽऽश्रयेत्।।७।।

शिष्यान्नाऽनुबध्नीत वित्तलोभाभावादिति[5] भावः। बहून् ग्रन्थान् नैवाऽभ्यसेत् नैव पठेत्। व्याख्यां नोपयुञ्जीत

---

1 W Omits एव 2 W Omits इत्यर्थः 3 A,B,T °हात्म° 4 A,B,T श्रुतिः 5 A,B,T तद्वि°

न पाठयेदित्यर्थः। चित्तस्याऽन्यपरत्वप्रसङ्गादिति भावः। आरम्भान् माठपत्याद्यारम्भान् क्वचिदपि नाऽऽरभेत् न कुर्यात्। निग्रहानुग्रहादि वैषम्यप्रसङ्गादिति भावः, यद्वा[1-], आरम्भान् गृहाद्यारम्भान् नाऽऽरभेदित्यर्थः[-1]।।८।।

शान्तस्य समचित्तस्य महात्मनो यतेराश्रमः प्रायो न धर्महेतुः, अपि तु ज्ञानप्रयोजनकः। अतो धर्मं बिभृयाद्वा त्यजेद्वा। भरणत्यागौ व्यवस्थितविकल्पौ; ज्ञानहीनः सन्यासाश्रमनिष्ठः धर्मं प्रयोजनत्वेन बिभृयात्, ज्ञानवांस्तु धर्माख्यं फलं त्यजेदित्यर्थः। यद्वा, उपवासादिदेहक्लेशकररूपधर्मः शरीरदौर्बल्यमुखेन योगविघातु[2]को न चेत् त[3]तं बिभृयात्, विघातु[4]कश्चेत्तं त्यजेदित्यर्थः। यद्वा ननु शिष्यानुबन्धनग्रन्थाभ्यासव्याख्योपयोजनादिभिः कश्चिद्धर्म एव आर्जितः स्यादिति किमर्थं ते निषिध्यन्ते? इत्यत्राऽऽह-**नेति**। यदि यतेराश्रमो धर्मार्थस्स्यात् तर्हि कर्तव्याः स्युः शिष्यानुबन्धनादयः। स तु प्रायशो न धर्महेतुः। यत्याश्रमस्य धर्महेतुत्वाभावे हेतुं वदन् तं विशिनष्टि-शान्तस्येति। शान्तस्य जितेन्द्रियस्य धर्मसाध्यैहिकामुष्मिकशब्दादिविषयभो[5]गेच्छारहितस्य समचित्तस्य अधर्मस्येव धर्मस्याऽपि स्वफलजननद्वारा मुक्तिप्रतिबन्धकत्वज्ञानवत्त्वेन धर्माधर्मयोस्समचित्तस्य। प्राय इत्यनेन क्वचिद्यत्याश्रमस्याऽपि धर्महेतुत्वमस्त्येवेति सूचितम्। अतो यदि यतिः धर्मप्रयोजनकयत्याश्रमानिष्टश्चेत् शिष्यानुबन्धनादीन् बिभृयात्। धर्महेतुत्वाभावे तु त्यजेदित्यर्थः।।९।।

ननु शिष्यानुबन्धनाद्यभावे स्वस्य ज्ञानित्वादिमाहात्म्यं न प्रकाशितं स्या[6]दित्यत आह-**अव्यक्तलिङ्ग इति**। अव्यक्तलिङ्गोऽस्फुटचिह्नः स्वमाहात्म्यमनाविष्कुर्वन् वर्तेत यतिरिति भावः। तथा च शारीरकं सूत्रम्-"अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्" (ब्र.सू. 3-4-50) इति। श्रुतिश्च-"तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्" (बृह.उ.3-5-1) इति। बालस्य कर्म स्वमाहात्म्यानाविष्करणरूपं बाल्यं तेन तिष्ठासेदित्यर्थः। ज्ञानित्वाद्यनाविष्काराभिप्रायेण दृष्टान्तयति उन्मत्तबालवदिति, उन्मत्तवत् बालवच्च। किञ्च, अव्यक्तार्थः परैरविदित प्रयोजनः मुनिरालम्बसंशीलनशीलश्च वर्तेत। आलम्बसंशीलनं शुभाश्रयपरिशीलनम्। एतदेव "बाल्यञ्च पाण्डित्यञ्च निर्विद्याऽथ मुनिर्भवति" (बृह.उ. 3-5-1) इति मुनिशब्देन विहितम्, तद्विषयकञ्चेदं सूत्रम्-"सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्" (ब्र.सू.3-4-46) इति। न त्वत्र बालवदिति दृष्टान्तेन बालस्य यत्कर्म कामचारादिकं तदभिप्रेतम्। "नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्" (कठ.उ. 2-4) इति दुश्चरितस्य परिनिष्पन्नसाधनविरोधित्वश्रवणात्। मनीष्युन्मत्तबालवदिति पाठान्तरम्[7]। तत्र[8] मनीष्यप्यु-

1- -1 W Omits 2. A,B,T °तको 3 A,B,T Omit तं 4 A,B,T °त° 5 A,B,T °गादि 6 A T °दिति,B दित 7. A,B,T पाठे 8 A,B,T Omit तत्र

न्मत्तादिवञ्चरेदिति यथोक्त एवार्थः। कविर्विद्वानपि सुनिपुणं भाषितुं समर्थोऽपि स्वमात्मानं मूकवत्[1] मूकमिव नृणां दृष्ट्या दर्शयेत् यथोन्मत्तादिरूपं मन्येरन् तथा वर्तेत। स्वदृष्ट्येति पाठे स्वदृष्ट्या देहविलक्षणया[2] स्वात्मदृष्ट्येत्यर्थः।।१०।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

क्रमप्राप्तं यतिधर्मं निरूपयति-**कल्प** इति। एवमुक्तं कृच्छ्रं सोढुं कल्पः, अप्यर्थस्तुशब्दः। तर्हि परिव्रज्य सन्न्यस्य महीं चरेदित्यन्वयः। देहमात्रावशेषित इत्यनेन प्रव्रजनं विशिनष्टि-"अधीतवेदो जपकृतपुत्राद्यानन्ददोऽग्रिमान्। शक्त्या च यज्ञकृन्मोक्षे मनः कुर्यात्तु नाऽन्यथा" (याज्ञ.स्मृ.3.5.7) इति नियमं तुशब्देन वारयति। "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" (जाबा.उ. 4) इति विशेषविधानात्, ब्रह्मचारिणोऽपि तुर्याश्रमग्रहणोपपत्तेः। अत एव कल्प इत्युक्तम्, कामक्रोधादिसहजशत्रुजयसमर्थ इत्यर्थः। "उपनीय गुरुश्शिष्यं महाव्यावृत्तिपूर्वकम्। वेदमध्यापयेत्पश्चात् शौचाचारांश्च शिक्षयेत्" (याज्ञ,स्मृ. 1-15) इति वचनात्। ब्रह्मचारिणोऽध्ययन प्रारम्भेणाऽधीतवेदत्वं युज्यत इति वा। सन्न्यासाश्रमश्चतुर्धा भिद्यते-कुटीचको बहूदको हंसः परमहंस इति। तत्र परमहंसधर्मः कथ्यत इत्यर्थद्योतको वा तुशब्दो, निरपेक्षः अलोलुपः।।१।।

देहमात्रावशेषित इत्यस्यापवादमाह-**बिभृयादिति**। यद्यसौ भिक्षुरप्सु त्यक्तं वासः परं पश्चात्प्रतिनिधि लक्षणं बिभृयात् धर्तुमिच्छेत् तर्हि कौपीनलक्षणमाच्छादानं बिभृयात्। अथवा कौपीनं शीतातपनिवारकमेकमाच्छादनञ्च बिभृयात्। परं न बिभृयादित्यर्थः। "शीतातपनिवारार्थमेकमाच्छादनं यतेः। कौपीनात्परमित्याहुरेके नाऽन्यद्विना वपुः" इति वचनात्। कौपीनाच्छादनञ्चेत्येकवद्भावः। नन्वयं यतिरिति केन ज्ञातुं शक्येत? तत्राऽऽह-न लिङ्गेति। लिङ्गदण्डाभ्यां विना किञ्चिन्न बिभृयात्। लिङ्गं चक्रशङ्खादिमुद्राधारणं कमण्डल्वादिकं वा। "सर्वभूतहितश्शान्तस्त्रिदण्डी सकमण्डलुः" (याज्ञ.स्मृ.3-58) इति वचनात्। वाक्कायचेतसां यमनं त्रिदण्डित्वम्। लिङ्गदण्डाभ्यामिति विशेषणादेक एव तु लक्षणो दण्डोऽन्यथा परमहंसत्वं न स्यात्-"दण्डा वाग्देहचेतसाम्" (भाग.11-18-17) इति वक्ष्यति।।२।।

अनपाश्रयः ग्रामाद्यावासविधुरः। यथाऽऽह याज्ञवल्क्यः "एकारामः परिव्रज्यभैक्षार्थं ग्राममाश्रयेत्। अप्रमत्तश्चरेद्भैक्षं सायाह्नेऽनुपलक्षितः" (याज्ञ.स्मृ.13-58,54) इति वचनात्।।३।।

1. A,B,T Omit मूकवत् 2 W °णस्वा°

नारायणपरत्वं दर्शयति-**पश्येदिति**। अदो विश्वमात्मनि पश्येत्, तदाधारत्वेन स्थितमिति शेषः। आत्मनीति जीवः किं न स्यात्? इति तत्राऽऽह-पर इति। सदसतः परे उत्कर्ष वाचित्वेन विकल्पात् सर्वनामसंज्ञा नाऽस्ति। जीवस्य संसारित्वेन अनुत्कृष्टत्वात् नैतादृशोऽन्योऽस्तीत्याह-अद्वये इति । नैतावता पूर्यत इत्याह-आत्मानञ्चेति। सर्वत्र सदसन्मये जगति अवसितमात्मानं परं ब्रह्म पश्येत् ईदृशं नाम चिन्तनम्।।४।।

सुप्तप्रबोधयोः सुप्तिजाग्रतोः सन्धौ अरुणोदयकाले शयनप्रारम्भकाले च आत्मनः स्वस्य गतिं "सतां सौम्य तदा सम्पन्नो भवति" (छान्दो.उ. 6-8-1) "अतः प्रबोधोऽस्मात्" (ब्र.सू.3-2-8) इत्यादि प्रमाणबलात् परमात्माधीनलक्षणां स्थितिं हरेश्च स्वातन्त्र्यलक्षणं पश्यन् बन्धं मोक्षं मायामात्रं अयं हरेरिच्छया निर्मितं त्रातं पश्यन्वस्तुतः स्वातन्त्र्येण नाऽन्याधीनत्वेन पश्येत्।।५।।

मृत्युं ध्रुवमिति नाऽभिनन्देत् स्वजीवितं वा ध्रुवमिति। तर्हि कथं निश्चयः? इति तत्राऽऽह-कालमिति। भूतानां प्रभवाप्ययं कालाख्यभगवदधीनं प्रतीक्षेत। किं बहुना? सर्वं भगवदधीनमिति पश्येत्।।६।।

जीविकाञ्चेतनादिलक्षणां वेदवादमतीत्य तर्कान् वैशेषिकादिशास्त्रनिष्ठितान्, अप्रयोजकं पक्षं सिद्धान्तम् "नाऽप्रयोजनपक्षीस्यान्न वृथा शिष्यबन्धकृत्। न चोदासीनशास्त्राणि न विरुद्धानि नाऽभ्यसेत्" (समयाचारे)।।७।।

"न व्याख्ययोपजीवेत न निषिद्धान्समाचरेत्। एवम्भूतो यतिर्याति तदेकशरणो हरिम्" (समयाचारे) इति निर्णीतमाने बहून् ग्रन्थान् वैष्णवाभासान् मोक्षविरुद्धान् वात्स्यायनादीन् ज्योतिश्शास्त्रादीन्। व्याख्ययोपजीवनं न कुर्यात्, आरम्भान् निषिद्धान् कृष्यादीन्।।८।।

कृष्यादिनोत्पन्नद्रव्येण दानादिधर्मसम्पादनोपपत्तेः कथमारम्भान्नारभेत इत्युच्यत इति तत्राऽऽह-**न यतेरिति**। प्रायो यतेराश्रमो धर्महेतुर्न भवति, किन्तु निरन्तरोपासनया ज्ञानहेतुः। ज्ञानाधिकारे प्रवृत्तस्य कर्माधिकारप्रवृत्तिरधःपात हेतुः स्यात् ईश्वराज्ञोल्लङ्घनदोषापातात्। समे ब्रह्मणि चित्तं सततस्मरणसमर्थमन्तःकरणं यस्य स तथा। तस्यैवं विधस्य यतेः आश्रमलक्षणदण्डादिसाधारणं न चाऽवश्यकमित्याह-बिभृयादिति, यदाऽऽह याज्ञवल्क्यः-"नाऽऽश्रमः कारणं धर्मे क्रियमाणो भवेद्धि सः। अतो यदात्मनः पथ्यं परस्य न तदाचरेत्" (याज्ञ.स्मृ. 3-65)।।९।।

बाह्यलिङ्गाभावेऽपि आन्तरं लिङ्गमस्तीत्याह-**अव्यक्तेति**। अव्यक्तं जनेनाऽज्ञातं मानसं क्लृप्तं लिङ्गं यस्य स तथा। विद्यातपआदिभिरप्रकटितस्वरूपो वा। तर्ह्यस्य किं वक्तव्यमत्राऽऽह - व्यक्तार्थ इति। अपरोक्षीकृत

भगवत्स्वरूप लक्षणपुरुषार्थः। अनेन लिङ्गादिदण्डधारणमेवंविधस्य नावश्यकमन्यस्येत्युक्तं भवति। मनीषी निरन्तरमननशीलः। अव्यक्तस्वरूपं दर्शयति-अदृश्यः प्राकृतजना ज्ञेयः। कविरतिक्रान्तदर्शी।।१०।।

**अत्राऽप्युदाहरन्तीम मितिहासं पुरातनम्।**
**प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराजगरस्य च।।११।।**

**तं शयानं धरोपस्थे कावेर्यां सह्यसानुनि।**
**रजस्वलैस्तनूदेशैर्निगूढामलतेजसम् ।।१२।।**

**ददर्श लोकान्विचरन् लोकतत्त्वविवित्सया।**
**वृतोऽमात्यैः कतिपयैः प्रह्लादो भगवत्प्रियः।।१३।।**

**कर्मणाऽऽकृतिभिर्वाचा लिङ्गैर्वर्णाश्रमादिभिः।**
**न[1] विदन्ति जनाः यं वै सोऽसाविति नवेति च।।१४।।**

**तं नत्वाऽभ्यर्च्य विधिवत्पादयोश्शिरसा स्पृशन्।**
**विवित्सुरिदमप्राक्षीन्महाभागवतोऽसुरः।।१५।।**

**प्रह्लाद उवाच[2]।**

**बिभर्षिकायं पीवानं सोद्यमो भोगवान्यथा।**
**वित्तश्चेहोद्यमवतां[3] भोगो वित्तवतां[4] नु ह।।**
**भोगिनां खलु देहोऽयं पीवा भवति नाऽन्यथा।।१६।।**

**श्रीध०** परमहंसधर्ममेवेतिहासेन स्फुटयति-**अत्राऽपीति** यावदध्यायसमाप्ति। आजगरव्रतस्य मुनेश्च।।११।।

**तमिति**। धरोपस्थे भूपृष्ठे सह्याद्रेस्तटे, रजोभिर्धूसरैस्तनूदेशैर्देहावयवैः, निगूढममलं तेजे यस्य तम्।।१२,१३।।

**कर्मणेति**। कर्मादिभिर्जना यं न विदुस्तं पादयोश्शिरसा स्पृशन्नत्वा अप्राक्षीदित्युत्तरेण[6]ऽन्वयः।।१४,१५।।

---

1--1 M,Ma नाविन्दत जनो 2--2 A,B,G,J,T Omit 3. A,B,G,J,T °त्तश्चैवोद्य ;M,Ma °त्तं नेवाद्य 4. M,Ma भवतो 5. A,B,G,J,Ma,Ma,T वतामिह 6.H,V °त्यन्वयः।

बिभर्षीति उद्यमसहित इव भोगवानिव पीवानं स्थूलं देहं धारयसि, तत्र हेतुं वदेति तृतीयेनाऽन्वयः। उद्यमं विनैव मम भोगोऽस्तीति चेत्तत्राऽऽह-वित्तश्चेति।।१६।।

**वीर०** आजगरव्रतस्य सन्न्यासाश्रमानपेक्षितत्वेऽपि यदृच्छयोपनतसन्तोषस्य मोक्षविरोधिप्रवृत्त्युपरतेः ज्ञानानाविष्कारस्य च तदपेक्षितत्वात् तदवगमनाय तदितिहासं प्रस्तौति **अत्रापीति**। अत्र स्वमाहात्म्यानाविष्कारादिना ज्ञानिनोऽवस्थाने इतिहासमपि दृष्टान्तत्वेनोदाहरन्ति निदर्शयन्ति[1] इतिहासं विशिनष्टि-पुरातनं न त्वस्मत्कपोलकल्पितं प्रह्लादस्याजगरस्य अजगरव्रतस्थस्य[2] मुनेश्च संवादरूपम्।।११।।

तमजगरव्रतस्थं सह्यपर्वतस्य सानुनि कावेर्यां कावेरीतटे धरोपस्थे भूपृष्ठे शयानं रजस्वलैर्धूलिधूसरैस्त-नूदेशैः देहावयवैर्निगूढं प्रच्छन्नममलं तेजो देहकान्तिर्यस्य तम्, प्रह्लादो ददर्शेत्यन्वयः[3]।।१२।।

कथम्भूतः? भगवत्प्रियः कतिपयैरमात्यैः परिवृतो लोकानां तत्त्वस्य विवित्सया वेत्तुमिच्छया चरन् कर्मादिभिः, यं सोऽसौ भवति न भवति वेत्येवं जनाः न विदुः, तं पादयोः शिरसा स्पृशन् नत्वा विधिवदभ्यर्च्य, वेत्तुमिच्छुर्महाभागवतः प्रह्लाद इदं वक्ष्यमाणमप्राक्षीत्, पृष्टवान्।।१३,१५।।

तदेवाऽऽह बिभर्षीति सार्धं स्त्रिभिः[4]। सोद्यमः[5] उद्यमसहितः भोगवान् देहपोषणशीलो यथा तद्वत्त्वं पीवानं कायं देहं बिभर्षि-इति[6] सन्देहः। ननु[-6] उद्यमं विनैव मम प्रारब्धवशात्[7-] अत्रैव भोगः सम्प्राप्नोतीत्यत्राऽऽह-[-7] इहलोके तावदुद्यमवतामेव वित्तं धनं भवति[8-], वित्तवतामेव[-8] भोगः। त्वन्तु निरुद्यमः। कुतस्तव वित्तं, कुतस्तरां भोग इति भावः। अन्तरेणाऽपि भोगं मम देहः पीवा इत्यत्राऽऽह-भोगिनां[9-] भोगवतामिव[-9] देहः पीवा भवति भोगेनैव[10] पीवा भवति, अन्यथा तु कृशीभवति, तत्कथमन्तरेणाऽपि भोगं देहपुष्टिरिति भावः।।१६।।

**विज०** अत्रापरोक्षज्ञानाय यत्याचारे इतिहासशब्दार्थमाह-**पुरातनमिति**। आजगरस्य अजगरव्रतधारिणः।।११।।

सह्यसानुनि सह्याख्य पर्वततटे, कावेर्यां कावेर्युत्पत्तिक्षेत्रे, तनूदेशैः शरीरावयवैः।।१२।।

विवित्सया वेदितुमिच्छया।।१३।।

स एव देवदत्तोऽसौ, न वेति नाऽविन्दत न ज्ञातवान्।।१४,१५।।

---

1. W Omits नि 2. B परस्य 3. W Omits इत्यन्वयः 4- -4 बिभर्षीत्यादिना 5. W omits सोद्यमः 6- -6 W Omits 7- -7 W भोगोऽस्तीत्यत्राऽऽह 8- -8 W Omits 9- -9 W भोगिनामेव 10. A,B,T °न वै।

भोगवान् सम्पन्नः। ननु परिणममानस्य देहस्य पीनत्वं विशेषः। परिणामोऽपि कस्माच्चित्स्यात् मदिरासेव्यस्येव, किमत्र चोद्यम्; अत्राऽऽह-वित्तमिति। सत्यम्, कृष्याद्युद्योगवतो देहिनो व्रीह्यादि वित्तं भवतीह लोके, तद्वतां भोगः खलु, भोगिनामयं देहः पीनो भवति, हेत्वन्तरं नाऽस्तीत्याह-नाऽन्यथेति।।१६।।

**न ते शयानस्य निरुद्यमस्य ब्रह्मन्[1] नु हार्थो यत एव भोगाः[2]।**
**अभोगिनोऽयं तव विप्रदेहः पीवा यतस्तद्वद नः क्षमञ्चेत्।।१७।।**

**कविः[3] कल्पो निपुणदृक् चित्रप्रियकथस्समः।**
**लोकस्य कुर्वतः कर्म शेषे[4] तद्वीक्षिताऽपि वा[-4]।।१८।।**

**नारद उवाच**

**स इत्थं दैत्यपतिना परिपृष्टो महामुनिः।**
**स्मयमानस्तमभ्याह तद्वागमृतयन्त्रितः।।१९।।**

**ब्राह्मण उवाच**

**वेदेदमसुरश्रेष्ठ! भवान्नन्वार्यसम्मतः।**
**ईहोपरमयोर्नृणां पदान्यध्यात्मचक्षुषा[6]।।२०।।**

**यस्य नारायणो देवो भगवान् हृद्गतस्सदा।**
**भक्त्या केवलया[7] तुष्टो धुनोति ध्वान्तमर्कवत्।।२१।।**

**अथाऽऽपि ब्रूमहे प्रश्नांस्तव राजन्यथाश्रुतम्।**
**सम्भाषणीयो[8] हि भवानात्मन श्शुद्धिमिच्छता[9]।।२२।।**

**तृष्णया भववाहिन्या[10-] योग्यकामै[-10] रपूरया[11]।**
**कर्माणि कार्यमाणोऽहं नानायोनिषु योजितः।।२३।।**

**यदृच्छया लोकमिमं प्रापितः कर्मभिर्भ्रमन्।**
**स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं तिरश्चां पुनरस्य च।।२४।।**

---

1. M,Ma °न्निह° 2. A,B,G,J,T °गाः 3. A,B,G,J,M,Ma,T कल्पो 4- -4 M,Ma शेषे नक्षिप्त नीपि वा। 5. H,M,Ma,V पदमध्या° 6. H,V °चाम्° 7. A,B,G, J,T °याऽज्ञानं ; M,Ma °याऽऽश्लिष्टो 8. A,B,G,J,T वर्गी° 9. A,B,G,J,T °ताम् 10- -10 A,B,G,J,T योग्यै कामै ; M,Ma ग्राम्यकामै° 11.M.Ma °र्णया।

**श्रीध॰नेति**। नु इति निश्चये, ह इति प्रसिद्धौ। तवाऽर्थो नास्तीति प्रसिद्धमेवेत्यर्थः। यतोऽर्थादेव यतो हेतोः पीवा। क्षमं योग्यञ्चेत्।।१७।।

किञ्च, वित्तार्जनाद्यसमर्थोऽपि अयं जनः तदर्थमुद्यमं करोति, त्वन्तु समर्थोऽपि किमिति न करोषीत्याह-**कविरिति**। कविर्विद्वान्[1] कल्पो दक्षः निपुणदृक्चतुरः। चित्राः प्रिया लोकरञ्जनाः कथा यस्य। तथाऽपि लोकस्य कर्म कुर्वतः सतः शेषे। तद्वीक्षिताऽपि तत्तु[2] सर्वं पश्यन्नपि। [3-]पाठान्तरे न द्वेक्षि तत्कर्म न द्वेक्षि नौषि वा न च स्तौषीत्यर्थः[-3]।।१८।।

**सेति**। तस्य वागेव अमृतं, तेन यन्त्रितो वशीकृतस्सन्[4] प्राह।।१९।।

**वेदेति**। अध्यात्मचक्षुषाऽन्तर्दृष्ट्या भवान्वेदैव। आर्याणां ज्ञानिनां सम्मतो ननु भवान्। इदमिति यदुक्तं तदेवाह–नृणां ईहोपरमयोः प्रवृत्तिनिवृत्त्योः पदानि स्थानानि फलानीत्यर्थः।।२०।।

वेदेत्यत्र हेतुः-**यस्येति**। हृदि प्रविष्टस्सन् अज्ञानं धुनोति [5-]नाशयतीति[-5], अर्को यथा बहिर्ध्वान्तम्।।२१।।

**अथेति**। यथाश्रुतमित्यौद्धत्यपरिहारायोक्तम्।।२२।।

लोकः कर्मसु प्रवर्तते, त्वन्तु निवृत्तस्सन् किं शेषे इति यदुक्तं तत्राऽऽह-**तृष्णयेति** चतुर्भिः। भवप्रवाहकारिण्या यथोचितैरपि विषयैः पूरयितुमशक्यया तृष्णया कर्मसु प्रवर्त्यमानोऽहं पूर्वं नानायोनिषु प्रवेशितः।।२३।।

**यदृच्छयेति**। तयैव तृष्णयेमं[6] लोकं मनुष्यदेहं यदृच्छया प्रापितः। कथम्भूतं लोकम्? धर्मेण स्वर्गस्य द्वारं साधनम्। अधर्मेण तिरश्चां श्वसूकरादियोनेर्द्वारम्। मिश्राभ्यां ताभ्यां पुनरप्यस्य मनुष्यत्वस्य द्वारम्। सर्वतो निवृत्त्या अपवर्गस्य द्वारमित्यर्थः।।२४।।

**वीर॰** [7-]तदेव विवृण्वन् पृच्छति-**नेति**[-7]। हे ब्रह्मन्! शयानस्य अत एव निरुद्यमस्य निर्व्यापारस्य तव। ननु हाऽर्थः नूनं वित्तं नास्ति हि, नु इति निश्चये, ह इति प्रसिद्धौ। तवार्थो नास्तीति प्रसिद्धमेवेत्यर्थः। यतो वित्तादेव हेतोर्भोगाः देहपोषणादयो भवन्ति। अतो भोगरहितस्य तव देहो हे विप्र! यतो हेतोः पीवाऽभवत् तत्कारणं नोऽस्माकं [8-]क्षमञ्चेत्[-8] श्रोतुं योग्यञ्चेत् वद।।१७।।

---

1. A,B,J कल्पो 2. A,B,J Omit तु 3--3 H,V Omit 4. H,V Omit प्राह 5--5 A,H,J,V Omit 6. H,V Omit तृष्णया। 7- -7 W Omits

8- -8 A,B,T श्रोतुमिति शेषः। क्षमं योग्यञ्चेत्तर्हि वद कथय, अगोप्यञ्चेत्तर्हि वर्णयेत्यर्थः।

किञ्च, त्वं कविर्विद्वान् कल्यः[1] दक्षः निपुणदृक् चतुरः चित्राः प्रियाः लोकरञ्जनाः कथा यस्य सः, एवम्भूतोऽपि लोकस्य कर्म व्यापारं कुर्वतस्सतः तद्वीक्षिताऽपि सम उदासीनस्सन् तूष्णीं शेषे शयानोऽसि, तत्कारणञ्च वदेति भावः।।१८।।

एवं[2] दैत्यपतिना प्रह्लादेन पृष्टस्सन् महामुनिः तस्य प्रह्लादस्य वागेवाऽमृतं तेन यन्त्रितः चोदितः स्मयमानः तमभ्याहाऽभिमुखमुक्तवान्।।१९।।

तदेवाऽऽह-यावदध्यायसमाप्ति **वेदेति**। असुरश्रेष्ठ! इदं किन्तत् नृणामीहोपरमयोः प्रवृत्तिनिवृत्त्योः पदानि कारणानीति यत्तदिदं भवानध्यात्मचक्षुषा सर्वलोकमनोभिप्रायविषयकज्ञानेन वेद जानात्येव। कुतः? यतस्त्वमार्याणामतीन्द्रियदर्शिनां सम्मतोऽग्रेसरः।।२०।।

किञ्च। भगवान् षाड्गुण्यपूर्णः स्वतेजसा दीप्यमानो नारायणोऽनन्यप्रयोजनया भक्त्या तुष्टो यस्य त्वादृशस्य सदा हृद्गतस्सन् अर्कवत् सूर्यवत् ध्वान्तमज्ञानरूपमन्धकारं धुनोति निरस्यति। निश्शेषनिरस्ताज्ञानानां सर्वज्ञानां भवादृशां किमविदितमस्तीति भावः।।२१।।

यद्यप्येवम्, अथाऽपि हे राजन्! यथाश्रुतं तव प्रश्नान् प्रति ब्रूमहे प्रश्नानामुत्तराणि वदाम इत्यर्थः। यथाश्रुतमित्यौद्धत्यपरिहारायोक्तम्। आत्मनः शुद्धिमिच्छता पुंसा भवान्[3] त्वं अवश्यं सम्भाषणीयो हि।।२२।।

लोकः कर्मसु प्रवर्तते, त्वन्तु निवृत्तस्सन् किं शेषे इति यत्पृष्टं तत्र तावदुत्तरमाह-**तृष्णयेति** चतुर्भिः। अहन्तावत् योग्यैर्यथोचितैरपि कामैरपूरया पूरयितुमशक्यया भववाहिन्या जन्मपरम्पराकारिण्या तृष्णया विषयेच्छया कर्माणि पुण्यपापात्मकानि कार्यमाणः कर्मसु प्रवर्तमानः पूर्वं नानायोनिषु योजितः प्रयोजितः[4] प्रवेशितः।।२३।।

तैरेव कर्मभिः भ्रमन् यदृच्छया दैवादिमं लोकं मनुष्यजन्मप्रापितः। लोकं विशिनष्टि-स्वर्गमोक्षयोः तिरश्चां तिर्यक्त्वानां पुनरस्य मनुष्यत्वस्य च प्राप्तेः द्वारं कारणम्। धर्मेण स्वर्गस्य द्वारं ज्ञानसम्पादनेन तु अपवर्गस्य, अधर्मेण तिरश्चः[5] तिर्यक्त्वस्य पूर्वसजातीयसुकृताचरणेन तु पुनर्मनुष्यत्वस्य च कारणमित्यर्थः।।२४।।

**विज०** प्रकृतेऽपि तथा स्यादिति तत्राऽऽह-**न ते** इति। अर्थो वित्तं, यतो वित्तात्पीवेति यत्तस्मात् बत विस्मयो जायते। लोके निमित्तान्तराभावे सति पीनत्वं भोगित्वेन दृष्टम्। अत्र भोगित्वं न दृश्यते पीनत्वं तु दृश्यते। तस्मिन्निमित्तान्तरमस्ति तदस्माकं श्रोतुं क्षमञ्चेद्वदेत्यन्वयः।।१७।।

1. A,B,T °ल्पः 2. W इत्यं 3. W Omits भवान् 4. A,B,T Omit प्रयोजितः 5. W Omits तिरश्चः।

इतोऽपि निमित्तान्तरेण भाव्यम्, अन्यथा कवित्वादयो भोगिगुणा न स्युरित्याह-**कविरिति**। न चेत्तर्हि वेदाननुभवसि "अन्नमयं हि सौम्य! मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्" (छान्दो. उ. 6-5-1) इति श्रुतेः "यः कण्टकैर्वितुदति चन्दनैर्यश्च लिप्यति।अकृष्टोऽपरिकृष्टश्च समस्तस्य स तस्य च" इति श्रुतेः। सर्वस्य समः न द्वेक्षि न द्वेषं करोषि, नौषि स्तुतिं करोषि अनेन समत्त्वं विवृतण्।।१८।।

इतरत्र विरक्तया भक्त्या श्रीनारायणचरणारविन्दस्मरणमकरन्दपानमेव पीनत्वे निमित्तमिति परिहारमभिप्रेत्य प्रह्लादं प्रति ब्रूते इत्याह-नारद इति।।१९।।

ज्ञानिष्वेको भवानिदं वेदेत्यन्वयः। इदमिति किं केन साधनेन वेद, अत्राऽऽह-**वेदेति**। भवानध्यात्मचक्षुषा परमात्मनुग्रहोत्पन्नज्ञानेन नृणामीहोपरमयोः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणयोर्भागयोः पदं निश्चितं विषयस्थानं वेद, इति शेषः।।२०।।

देहिनामज्ञानसम्भवात् तेष्वेकत्वान्ममाऽपि तद्विषयं ज्ञानं नास्तीति किं न स्यादित्याशङ्क्य, सत्यम्, विशेषोऽस्ति तवेत्याह-**यस्येति**। हृद्गतत्वं सामान्यमिति मत्वा श्लिष्ट इत्युक्तं केवलया फलानामाकाङ्क्षया ध्वान्तमज्ञानलक्षणम् अन्यत्रान्धकारमज्ञानं तत्त्वाप्रतिपत्तौ कारणत्वेन दृष्टं यतस्तव नास्ति तस्माद्भवान् जानातीत्यर्थः।।२१।।

यद्यपि वक्तव्यांशो नास्ति अथाऽपि इदमप्राक्षीदित्येकविषयप्रश्नः कृतः, परिहारे प्रश्नानित्याद्यनेकविषयः; कथमयं सङ्गच्छते इति चेत्, निरुद्यमस्य वित्तं कथम्? निर्वित्तस्य भोगः कथम्? अभोगिनः पीनत्वं कथम्? इति प्रश्नानामपि बहुत्वात्, इदमित्यस्याव्ययत्वेन जातिविशेषत्वेन चोपपत्तेः। तव प्रश्नान् ब्रूमह इत्यनेन तदनुवादः क्रियते, उत परिहारः? नाऽऽद्योऽदर्शनात्, द्वितीयोऽपि तद्वाचकपदप्रयोगाभावात् अनुपपन्नः। तव प्रश्नानुद्दिश्य परिहारान् ब्रूमह इति पक्षोऽपि गौरवादयुक्त इति चेत्, उच्यते। "ब्रूञ्व्यक्तायां वाचि" इति धातोः व्यक्तिर्नाम स्पष्टीकरणं, तस्य परिहारार्थोपपत्तेः। यथा श्रुतमित्यनेनाऽपि स्पष्टीकरणप्रतीतेरिति। ननु, यदज्ञातज्ञापकं तदेवोपादेयं, न चेदं तथा, प्रह्लादस्य भगवदनुग्रहेण ज्ञाता शेषार्थत्वात्। अतः कस्मै स्पष्टीक्रियत इत्याशङ्क्य तदज्ञानमस्माभिर्न बोध्यते, किन्तु महत्सम्भाषणलक्षणार्थसेवयाऽन्तःकरणशुद्धिः स्यादिति मत्वा स्पष्टीक्रियत इत्याह-सम्भाषणीय इति। अनेन ब्रूमह इत्यात्मने पदार्थो विवृत इति ज्ञायते।।२२।।

निवृत्तिमार्ग एव संसारोन्मूलनहेतुरिति वक्तुं प्रवृत्तिमार्गस्तु नानादुःखहेतुत्वेन हेयः प्रेक्षावता इत्येतत्स्वानुभवसिद्धमित्याह-**तृष्णयेति**। भववाहिन्या नदीवद्वर्तमानया, संसारापादिकया वा। इतरनदीनामृतुभेदेन पूर्त्यपूर्ती स्यातां, नाऽस्याः कदाऽपि पूर्तिरित्याह-ग्राम्येति।।२३।।

यदृच्छया दैवेच्छया, लोकं शरीरम्। "अस्माल्लोकात्प्रेत्य" (तैत्ति. उ. 2-8-1) इति श्रुतेः। न केवलं स्वर्गादि द्वारं, किन्तु तिर्यगादिजन्मनोऽपि कारणमित्याह-तिरश्चामिति। अस्य मनुष्यशरीरस्याऽपि, द्वारमिति शेषः।।२४।।

**अत्राऽपि दम्पतीनाञ्च सुखायाऽन्यापनुत्तये।**
**कर्माणि कुर्वतां दृष्ट्वा निवृत्तोऽस्मि विपर्ययम्।।२५।।**

**सुखमस्याऽत्मनो रूपं सर्वेहोपरतिस्तनुः।[1-1]**
**मनस्संस्पर्शजान्दृष्ट्वा भोगान्[2-2] स्वप्स्यामि संविशन्।।२६।।**

**इत्येतदात्मनः[3] स्वार्थं सन्तं विस्मृत्य वै पुमान्।**
**विचित्रामसति द्वैते घोरामाप्नोति संसृतिम्।।२७।।**

**जलं तदुद्भवैश्छन्नं हित्वाऽज्ञो जलकाम्यया।**
**मृगतृष्णामुपाधावेत् तथान्यत्राऽर्थदृक् स्वतः।।२८।।**

**देहादिभिर्देवतन्त्रैरात्मनस्सुखमीहतः।**
**दुःखात्ययञ्चानीशस्य क्रियामोघाः कृताः[5] कृताः[6]।।२९।।**

**आध्यात्मिकादिभिर्दुःखैरविमुक्तस्य कर्हिचित्।**
**मर्त्यस्य कृच्छ्रोपनतैरर्थैः कामैः क्रियेत किम्।।३०।।**

**पश्यामि धनिनां क्लेशं लुब्धानामजितात्मनाम्।**
**भयादलब्धनिद्राणां सर्वतोऽभिविशङ्किनाम्[7]।।३१।।**

**राजतश्चोरतश्शत्रोः स्वजनात्पशुपक्षितः।**
**अर्थिभ्यः कालतः स्वस्मान्नित्यं प्राणार्थवद्भयम्।।३२।।**

---

1- -1 M,Ma °रतेर्हि यत् 2- -2 M,Ma गाञ्छस्तान्न संविशेत्। 3. H,V °नि 4.A,B,G,J.T य° 5. M, Ma °यं वा° 6. M,Ma °ताकृ° 7. H,V °तो हि; M,Ma °तोऽपि°; W तोऽति

**श्रीध॰ अत्रेति**। अत्राऽपि मनुष्यत्वेऽपि। अन्यापनुत्तये दुःखनिवृत्यै विपर्ययं दृष्ट्वा निवृत्तोऽस्मि।।२५।।

[1]ननु प्रवृत्त्या कदाचित्सुखं स्यादपि[2] निवृत्त्या तु किं स्यात्? इति चेत्तत्राऽऽह-**सुखमिति**। सुखमस्य जीवस्य स्वरूपमेव। तर्हि किं न प्रकाशते? तत्राऽऽह-सर्वेति। तनोतीति तनुः, सर्वक्रियानिवृत्तौ स्वत एव प्रकाशत इत्यर्थः। भोगांश्च मनस्संस्पर्शजान्मनोरथमात्रजानशाश्वतान् दृष्ट्वा स्वप्स्यामि निरुद्यमोऽस्मीत्यर्थः। तर्हि कदाचित्कथं भुङ्क्ते? तत्राऽऽह-संविशन् प्रारब्ध[3]भोगान् भुञ्जान इत्यर्थः।।२६।।

एवञ्चेत्कोऽपि संसारं न प्राप्नुयात्, तत्राऽऽह-**इतीति**। इत्येतदात्मनः सुखात्मकं रूपं स्वार्थं स्वस्मिन्नेव सन्तं पुरुषार्थं विस्मृत्य असत्यपि द्वैते।।२७।।

एतदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति-**जलमिति**। तदुद्भवैः तृणशैवालादिभिः [4]छन्नं हित्वा[4] जलकाम्यया जलेच्छया स्वत आत्मस्वरूपादन्यत्र पुरुषार्थं पश्यन्।।२८।।

एवं स्वस्य निरुद्यमत्वे कारणमुक्त्वा विणर्ययं दृष्ट्वेति यदुक्तं तद्विवृणोति **देहादिभिरिति** पञ्चभिः। ईहत इच्छतः [5]अथाऽपि अनीशस्य निर्दैवस्य पुनः पुनः प्रारब्धाः क्रियाः मोघा विफला एव भवन्ति।।२९।।

क्रियाणां सफलत्वेऽपि फलस्यानुपयोगमाह-**आध्यात्मिकादिभिरिति**। मर्त्यस्य मरिष्यतः कृच्छ्रेण दुःखेन उपनतैः प्राप्तैः।।३०।।

कृच्छ्रं विनैव प्राप्तेऽप्यर्थे दुःखं तदवस्थमित्याह-**पश्यामीति**।।३१।।

भयं प्रपञ्चयति-**राजत** इति। स्वस्मात् [6]आत्मन एव कथञ्चित्त्यागभोगविस्मरणादिना नाशः स्यादिति प्राणवतामर्थवताञ्च भयं नित्यम्।।३२।।

**वीर॰** अत्राऽपि अस्मिन्नपि मनुष्यजन्मनि स्वर्गापवर्गदेऽपि दम्पतीनां यन्मैथुनादिसुखं, तदर्थमन्यापनुत्तयो दुःखनिवृत्तये च कर्माणि कुर्वतां लोकानां विपर्ययं सुखार्थं कृतेभ्यः [7]कर्मभ्यः दुःखप्राप्तिरूपं विपर्ययं दृष्ट्वा निवृत्तोऽस्मि।।२५।।

ननु प्रवृत्त्या कदा[8]चित्सुखं स्यादपि, किं निवृत्त्या स्यात्? इत्यत्राऽऽह-**सुखमिति**। सुखमस्याऽत्मनः

1. H,V Omit ननु 2. A,B,J Omit अपि 3. H,V आरब्धान् भो॰ 4- -4 A,B,J Omit 5. A,B,J Omit अथाऽपि 6. A,B,J मत्तः 7. W omits कर्मभ्यः 8. W °चिदपि सु॰

प्रत्यागात्मनो रूपं स्वरूपमेव। अतो न तदर्थं यत्नः कार्य इति भावः। तर्हि स्वतः सुखरूप आत्मा तत्त्वेन किं नोपलभ्यते? इति शङ्कां निराकरोति - सर्वासामीहानां देहगतव्यापारागामुपरमः अभावोऽस्यात्मनः तनुराकारः निष्क्रियं सुखमेव तस्य तनुरित्यर्थः। कार्त्स्न्येनीहोपरमपूर्वकं तद्याथात्म्यविमर्शनेन सुखरूपतयोपलभ्यत इति भावः। यत एवमतो भोगान् शब्दादिविषयभोगान् मनसस्संस्पर्शजान् मनोरथमात्रजान् अशाश्वतान् दृष्ट्वा संविशन् आत्मयाथात्म्यावलोकने प्रविष्टोऽहं प्रारब्धानुभवे प्रविष्टो वा स्वप्स्यामि शयानोऽस्मि।।२६।।

तर्हि सर्वोऽपि लोकस्त्वमिव सुखरूपमात्मानं किं नोपलप्स्यते? इति शङ्कां निराकर्तुं स्वाभाविकसुखरूपात्मस्वरूपाविमर्शनमूलकदेहात्मभ्रमेण न शेते, किन्तु संसरतीत्याह-**इतीति**। इत्येतदात्मनः सुखात्मकं रूपं स्वार्थं स्वस्य पुरुषार्थरूपं स्वत एव सन्तं विस्मृत्य स्वत एव सन्तमात्मनः सुखरूपं स्वरूपात्मकं स्वपुरुषार्थं विस्मृत्येत्यर्थः। पुमान् देही असति स्वत आत्मन्यविद्यमानेऽपि द्वैते देवमनुष्यादिभेदे देवोऽहं, मनुष्योऽहमित्यभिमानरूपे द्वैतेभेदे निमित्ते द्वैतेनेत्यर्थः। विचित्रां गर्भजन्मजरामरणादिरूपाम् अत एव घोरां भयङ्करां संसृतिमाप्नोति।।२७।।

एतदेव दृष्टान्तमुखेनाऽऽह-**जलमिति**। जलं तदुद्भवैस्तृणशैवालादिभिश्छन्नं जलं हित्वा अज्ञो यथा जलकाम्यया मृगतृष्णां जलवत्प्रतीयमानामुपधावेत्तथा स्वतः सुखरूपमात्मनः स्वरूपं विस्मृत्याऽन्यत्र वैषयिकसुखेष्वर्थदृक् पुरुषार्थदृष्टिर्धावति लोकः , स्वत आत्मनोऽन्यत्र देहादौ पुरुषार्थदृग्वा।।२८।।

विपर्ययं दृष्ट्वा निवृत्तोऽस्मीत्येतदेव विवृणोति **देहादिभिरिति** पञ्चभिः। दैवतन्त्रैः कर्मायत्तैर्देहेन्द्रियादिभिः आत्मनः स्वस्य सुखं दुःखनिवृत्तिश्चेहतः इच्छतः अनीशस्य कर्मवशस्य पुंसः, कर्तरि षष्ठी। इच्छता कृताः कृताः पुनः पुनरारब्धाः क्रियामोघाः व्यर्थाः न सुखजनका नाऽपि दुःखनिवर्तकाश्च दृष्टा इति भावः।।२९।।

कथञ्चित्क्रियाणाममोघत्वेऽपि तज्जन्यं सुखमनुभूयमान-दुःखेभ्योऽल्पमित्याह-**आध्यात्मिकादिभिः**। आदिशब्देन आधिदैविकाधिभौतिके ग्राह्ये। तैः दुःखैः कर्हिचित्कदाचिदपि अविमुक्तस्य मर्त्यस्य मरणशीलस्य कृच्छ्रोपनतैः दुःखेनार्जितैः अर्थैर्वित्तैः[1] तन्निमित्तैः कामैश्च किं कियत्सुखं क्रियेत[2] न किमपीत्यर्थः।।३०।।

ननु धनार्जने हि दुःखं , लब्धधनानान्तु सुखमेवेत्यत्राऽऽह-**पश्यामीति**। धनिनां लब्धधनानामपि क्लेशं पश्यामि। क्लेशित्वे हेतुं वदन् धनिनो विशिनष्टि-लुब्धानामिति। लुब्धानामलब्धधनलिप्सया लब्धधनव्ययभयेन च

1. W omits अर्थैः 2- -2 Omits

क्लिश्यतामिति भावः। अजितात्मनाम जितेन्द्रियाणां कामानामपर्याप्त्या च क्लिश्यतामिति भावः। भयादलब्धा निद्रा यैस्तेषां चौरादयो धनमपहरेयुरिति भयाद्विगतनिद्राणामित्यर्थः[1]। इतोऽपि क्लेश इति भावः। भयेहेतुं वदन्विशिनष्टि- सर्वतः सर्वेभ्योऽप्यतीव विशङ्किकतानामपहरेयुरिति शङ्कां कुर्वताम्।।३१।।

एतदेव विवृणोति-**राजत** इति। राजादिभ्यः पशुतः पशुभ्यः[2] गजाश्वादिभ्यः[3] पक्षितः पक्षिभ्यः[4] सस्या-दिभक्षणार्थं प्रवृत्तेभ्यः कालतः स्वस्माद्दानभोगयोः प्रवृत्तात् स्वस्माच्च प्राणस्तत्तुल्यमर्थश्चैषा मस्तीति तथा, तेषां नित्यं भयमनुवर्तते।।३२।।

**विज०** कृष्याद्युद्योगवतो वित्तं स्यादित्यादिना यदुक्तं सुखं स्यादिति, तत्परिहरति-**अत्रापीति**। अत्राऽपि मनुष्यशरीरेऽपि दम्पतीनां विपर्ययं दुःखं दृष्ट्वा निवृत्तिमार्गमाश्रितोऽस्मीत्यन्वयः। अन्यापनुत्तये सुखादन्यस्य दुःखस्य निरासाय "सुखाय कर्माणि करोति लोको न तैस्सुखं नाऽन्यदुपारमं वा" (भाग. 3-5-2) इति स्वोक्तेः।।२५।।

कर्मणो निवृत्तस्य दुःखस्य निरासाय सुखावाप्तौ किमन्तरङ्गमित्याशङ्क्य यदि सुखं स्वरूपाद्भिन्नं, तर्हि तत्प्राप्तौ यत्नः कर्तव्यो, न चैवं स्वरूपत्वात्सुखस्य; तद्व्यक्तौ स्वरूपाच्छादक सर्वनिषिद्धकर्मनिवृत्त्याविर्भूतभगवत्प्रसाद एव मुख्यनिमित्त मित्याह-**सुखमिति**। "बलमानन्दओजश्च सहो ज्ञानमनाकुलम्। स्वरूपाण्येव जीवस्य व्यज्यन्ते परमाद्विभोः" इत्यादि हिशब्देन दर्शयति। अस्याऽऽत्मनो जीवस्य स्वरूपभूतं यत्सुखं तत्सर्वेहोपरतेः प्रसन्नात्सर्वा पूर्णेहा चेष्टा यस्य स सर्वेहः। "को ह्येवान्यात्" (तैत्ति. आ. 2-7) इति श्रुतेः। उपाधिकात्युद्रिक्तार्तिरानन्दो यस्य स उपरतिः। "यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" (तैति. उ. 2-7) इति श्रुतेः। सर्वेहश्च उपरतिश्च सर्वेहोपरतिः। तस्माद्धरेराविर्भवतीति शेषः। "उपोऽधिके च" (अष्टा० 1-4-87) इति सूत्रात्। ततः किम्? तत्राऽऽह- मनस्संस्पर्शजानिति। मनोधिष्ठितेन्द्रियाणां विषयैः संस्पर्शनात्सम्बन्धात् जातान् शस्तान् स्रगादिभोगान् न संविशेत् न सेवेत, बुद्धिमानिति शेषः।।२६।।

एतदङ्गीकारविरुद्धस्य बाधकमाह **इतीति**। आत्मन इत्येतदुक्तमित्येवं, तव सिद्धमिति शेषः। इतिशब्दः प्रकारवचनः। तत्र पुमान्सन्तं सदातनं स्वार्थं पुरुषार्थं विस्मृत्य असति भगवत्प्रसादेन निवर्तमाने द्वैतेऽन्यथाज्ञाने विषये विचित्रां सुरनरादि नानायोनिविषयां घोरां संसृतिमाप्नोतीत्यन्वयः।।२७।।

---

1.W. °द्विनि° 2 W omits पशुभ्यः 3. W °वा° 4 W omits पक्षिभ्यः

स्वतृष्णाया अनिवर्तकत्वात्संसारस्य घोरत्वमितीममर्थं सदृष्टान्तमाह-**जलमिति**। तदुद्भवैर्जलोद्भवैः शैवलादिभिरज्ञो ज्ञानरहितोऽजितेन्द्रियो मृगतृष्णां सूर्यमरीचिसम्पृक्तसलिलं यथोपधावेत्तथा स्वतः स्वतन्त्राद्धरेरन्यत्र देवदत्तादौ अर्थदृक् पुरुषार्थदर्शी।।२८।।

ननु पुरुषार्थसाधनत्वेन जातैर्देहादिभिरनुष्ठिताः क्रियाः सुखादिहेतवः स्युरित्याशङ्क्य भगवदर्पणबुद्धिचिकित्सारहिता व्यर्था इत्याह-**देहादिभिरिति**। या याः कृताः कृताः क्रियाः तास्तास्सर्वा अपि मोघाः। तत्र हेतुगर्भं विशेषणम्-अनीशस्येशविरुद्धस्य।।२९।।

इतोऽपि वित्तापादने न प्रयतनीयम् आध्यात्मिकादिक्लेशग्राहगृहीतत्वेन डुण्डुभग्रस्तमण्डूकवत् समृद्धशरीरबलाभावात् कृतान्तपाशबद्धगलस्य पुरतो निहितक्षीरासववद्व्यर्थं चित्तमित्याह-**आध्यात्मिकादिभिरिति**। कामैः शब्दादिविषयैः।।३०।।

कस्यचिददृष्टबलादुपार्जितवित्तस्य समृद्धशारीरबलस्याऽपि लोभाभिभूतमनस्कत्वेनाऽपि भोगो दुर्घट इत्याह-**पश्यामीति**।।३१।।

प्राणार्थवद्भयम् अर्थवतः प्राणभयं भवति, प्राणवतोऽर्थवतश्चेति वा।।३२।।

**शोकमोहभयक्रोधरागक्लैब्यश्रमादयः।**[1]
**यन्मूलाः स्युर्नृणां जह्यात् स्पृहां प्राणार्थयोर्बुधः।।३३।।**

**मधुकारमहासर्पौ लोकेऽस्मिन्द्वौ गुरूत्तमौ।**[2]
**वैराग्यं परितोषञ्च प्राप्ता यच्छिक्षया वयम्।।३४।।**

**विरामः सर्वकामेभ्यः शिक्षितो मे मधुव्रतात्।**
**कृच्छ्राप्तं मधुवद्वित्तं हत्वाऽप्यन्यो हरेत्पतिम्।।३५।।**[3]

**अनीहः परितुष्टात्मा यदृच्छोपनतादहम्।**
**नो चेच्छये बह्वहानि महाहिरिव सत्त्ववान्।।३६।।**

1. M,Ma °धाः 2. A,B,G,J,M,Ma,T °स्मिन्नो° 3. M,Ma °त°

**क्वचिदल्पं क्वचिद्भूरिभुञ्जेऽन्नं साध्वसाधु वा[1]।**

**क्वचिद्भूरिगुणोपेतं गुणहीनमुत क्वचित्।।३७।।**

**श्रद्धयोपहृतं[2] क्वाऽपि कदाचिन्मानवर्जितम्।**

**भुञ्जे, भुक्त्वाऽथ[3] कस्मिंश्चिद्दिवानक्तं यदृच्छया।।३८।।**

**क्षौमं दुकूलमजिनं चीरं वल्कलमेव वा।**

**वसेऽन्यदपि सम्प्राप्तं दिष्टभुक् तुष्टधीरहम्।।३९।।**

**क्वचिच्छये धरोपस्थे तृणपर्णाश्मभस्मसु।**

**क्वचित्प्रासादपर्यङ्के कशिपौ वा परेच्छया।।४०।।**

**श्रीध०** अतोऽनर्थहेतुत्वात् प्राणे[4] अर्थे च स्पृहा न कार्या इत्याह–**शोकेति**।।३३।।

नन्वेवमनर्थाननुभवन्तोऽपि न केचिद्विरज्यन्ते न च यथा लाभेन तुष्यन्ति। त्वन्तु कथं वैराग्यादिकं प्राप्तोऽसि? तत्राऽऽह–**मधुकारेति**। मधुमक्षिकाजगरौ, ययोश्शिक्षया वृत्तिपर्यालोचनया[5]।।३४।।

मधुकाराच्छिक्षितमाह–**विराग** इति। वित्तपतिं हत्वाऽन्योऽपि[6] वित्तं हरेदित्येवम्।।३५।।

अजगराच्छिक्षितमाह–**अनीह** इति। सत्त्ववान्धैर्यवान्।।३६।।

अनीहत्वे[7] हेतुत्वेन[7] यदृच्छया प्राप्तात्परितोषं प्रपञ्चयति - **क्वचिदल्पमिति**[8] षड्भिः।।३७,३८।।

**क्षौममिति**। चीरं जीर्णवस्त्रखण्डम् वसे परिदधे। दिष्टभुक् प्रारब्धकर्मफलभोगी[9]।।३९।।

**क्वचिदिति**। प्रासादमध्ये पर्यङ्के तत्राऽपि कशिपौ तूलिकायाम्[10]।।४०।।

**वीर०** न केवलं भयमेव, अपि तु शोकमोहभयादयः सर्वे यन्मूलाः यौ प्राणार्थावेव मूलं येषान्ते नृणां स्युर्भवेयुः। तस्माद्बुधः हेयोपादेयविवेकवान् तयोः प्राणार्थयोः स्पृहां जह्यात् त्यजेत्।।३३।।

यदुपदेशात् त्वमीदृशं निवृत्तिधर्ममास्थितः[11] तं कथयेत्यत्राऽऽह[11]–**मधुकारेति**। अस्मिन् लोके नोऽस्माकं

---

1- -1 A,B,G,J,T स्वाद्वस्वादु वा 2.A,B,G,J,T °पा° 3. Wभुञ्जेऽथ 4 B adds जीवने 5 A,B,J वृत्त° 6 A,B,J Omit आप 7- -7 A B J पीनत्वे हेतुं वदन् 8- -8 H, V,Omit 9 H, V,Omit कर्मफल 10- -10 H V,Omit 11- -11 W आश्रितोऽसीत्यत्राऽऽह

गुरुश्रेष्ठौ मधुकारमहासर्पौ मधुमाक्षिकाजगरावेव ईदृशधर्मशिक्षकौ भवतः[1] ; तदेवाऽऽह ययोः मधुकारमहासर्पयोः शिक्षया वृत्तिपर्यालोचनया वयं वैराग्यं परितोषं दैवाल्लब्धात् सन्तोषञ्च प्राप्ताः। तत्र मधुकाराद्वैराग्यं महासर्पात् परितोषञ्च प्राप्ता इत्यर्थः।।३४।।

एतदुभयं विवृणोति-**विराग** इति द्वाभ्याम्। तावत्सर्वेभ्यः कामेभ्यः[2] विरागो मया मधुव्रतात् मधुमक्षिकात्[3] शिक्षितः तच्छिक्षया मम वैराग्योदय इत्यर्थः। किं तच्छिक्षितम्? तदाह—यथा मधुव्रतैरितस्ततः पुष्पेभ्य आनीय क्वचिन्निवेशितं मधु तत्स्वामिनो मधुव्रतान् हत्वाऽन्यो हरति तथा मधुवत् दुःखेनाऽऽर्जितं धनमन्यः पतिं धनस्य पतिं हत्वा हरेत्—इत्येतन्मधुव्रताच्छिक्षितमित्यर्थः।।३५।।

अजगराच्छिक्षितमाह—**अनीह** इति। महाहिरिव अहमप्यनीहः निर्व्यापारः यदृच्छोपनताद्दैवाल्लब्धान्नादेः परितुष्टात्मा सन्तुष्टचित्तः नो चेत् यदृच्छेपनतं नो[4] प्राप्तश्चेत्तर्हि[4] सत्त्ववान् धैर्यवान् बहूनि अहानि शये शयानोऽस्मि।।३६।।

पीनत्वे हेतुत्वेन यदृच्छया प्राप्तात्परितोषं प्रपञ्चयति **क्वचिदल्पमिति**। क्वचित् कदाचित् अल्पं, कदाचिच्च भूरि बहु, क्वचिच्च साधु, क्वचिच्च असाधु असमीचीनममृष्टं, क्वचिच्च गुणवत् रसवत्, कदाचित् निर्गुणम्।।३७।।

कदाचिच्छ्रद्धयाऽऽनीतं, कदाचिन्निन्दापूर्वकमानीतं वा, अन्नादिकं भुञ्जे अद्मि। कदाचिद्दिवा नक्तञ्च यदृच्छया प्राप्तं भुञ्जे।।३८।।

एवं वस्त्रमपि दुकूलाद्यन्यतममन्यद्वा दैवाल्लब्धं वसे आच्छादयामि परिदधे च चीरं जीर्णवस्त्रञ्च। एवं दिष्टभुक् प्रारब्धभुक् सन्तुष्टचित्तश्चाऽऽहम्।।३९।।

क्वचिद्भूपृष्ठे एव क्वचिच्च तृणादिषु शये। क्वचिच्च प्रासादोपरि पर्यङ्के तत्राऽपि कशिपौ वा। तस्य दौर्लभ्यशङ्कां निराह-परेषामिच्छयेति[5]। इदमुत्तरत्राऽप्यनुषङ्गनीयम्।।४०।।

**विज०** ननु सर्वानर्थशमने किं कारणमित्याशङ्क्य स्पृहा सर्वापदो निदानम्। अतस्तत्त्याग एव प्रथमतः कारणमित्याह—**शोकेति**। या स्पृहा मूलं येषान्ते तथा प्राणेऽर्थे च स्पृहां वैष्णवसिद्धान्ते तार्द्वरोधिनो जनात् प्राणसङ्कटे प्राप्ते प्राणरक्षणे स्पृहाऽपि न कार्या किमुताऽर्थे इति प्रदर्शनाय प्राणग्रहणम्।।३३।।

---

1 W Omits भवतः 2 A,B,T, Omit कामेभ्यः 3 A,B,T भ्रमरात् 4- -4 W न चेत् 5- -5 W परेच्छयेति 6.W Omits अपि

वित्तवतः प्राणभयं वित्तस्पृहया शोकादिकं स्यादित्याद्युक्तमर्थं मधुकाराजगरदृष्टान्तेन बोधयति-**मधुकारेति**। गुरूत्तमाद्या शिक्षा साऽऽभ्यामेवाऽऽप्तेति गुरूत्तमावित्यूचे।।३४।।

यथा च मधुव्रतं हत्वाऽन्यो मधुहरति तथा वित्तापादकं हत्वा कृच्छ्रादर्जितं राजाद्यन्यतमो हरेत्। मधुव्रतस्थितिं दृष्ट्वा सर्वकामेभ्यो विरागः शिक्षितः।।३५।।

उदरपोषण प्रयत्नशून्योऽनीहः नो चेद्यदृच्छया प्राप्तञ्चेत् , महाहिरजगरः।।३६।।

भूरिगुणोपेतं कस्मिंश्चिद्दिवाऽह्न्येव भुक्त्वा नक्तं भुञ्जे, कस्मिंश्चिद्दिने नक्तं भुक्त्वा अह्नि भुञ्जे।।३७,३८।।

क्षौमं दुकूलमित्यादिकमेकस्मिञ्जन्मनि बहुजन्मनि चेति यथा योग्यमङ्गीकर्तव्यम्। [1]देवलब्धेन भुञ्जे इति दिष्टभुक् क्षौमाद्याच्छादनं गजादिभिश्चरणं क्षत्रजन्मनि प्रासादादिशयनं भूपृष्ठशयनञ्च, पश्वादिजन्मनि भस्मादौ शयनं श्वानादिजन्मनि बाल्ये च अजिनादि अजिनाद्याच्छादनं मृष्यादि जन्मनि अस्मिञ्जन्मनि जन्मान्तरे वा।।३९,४०।।

**क्वचत्स्रातोऽनुलिप्ताङ्गः सुवासाः [2]स्रग्[2]गलङ्कृतः।**
**रथेभाश्वैश्चरे[3] क्वाऽपि दिग्वासा ग्रहवद्विभो![4]।।४१।।**

**नाऽहं निन्दे न च स्तौमि स्वभावविषमं जनम्।**
**एतेषां श्रेय आशासे उतैकात्म्यं महात्मनि।।४२।।**

**विकल्पं जुहुयाच्चित्ते[5] तन्मनस्यर्थविभ्रमे[6]।**
**मनोवैकारिके हुत्वा तन्मायायां जुहोम्यनु[7]।।४३।।**

**आत्मानुभूतौ तां मायां जुहुयात्सत्यदृङ्मुनिः[8]।**
**ततो निरीहो विरमेत् स्वानुभूत्याऽऽत्मनि स्थितः।।४४।।**

**स्वात्मवृत्तं मयेत्थं ते सुगुप्तमपि[9] वर्णितम्।**
**व्यपेतं लोकशास्त्राभ्यां भवान् हि भगवत्प्रियः[10]।।४५।।**

---

1. A दैवाल्ल° 2- -2 °स्रग्व्यलङ्कृतः 3 M,Ma °श्चरन् 4- -4 M,Ma A,B,G,J,T यत्क्वचित् 5 A,B,G,J,T °त्तो 6 A,B,G,J,T तां म° 7 A,B,G,J,T °त्यनु; M,Ma त्यमुम् 8. H,V °त्तत्त्वद° 9 M,Ma °मनु° 10 A,B,G,J,T °त्परः

## नारद उवाच

**धर्मं पारमहंस्यं वै मुनेः श्रुत्वाऽसुरेश्वरः।**
**पूजयित्वा ततः प्रीत आमन्त्र्य प्रययौ गृहम्[1]।।४६।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवेयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां

सप्तमस्कन्धे यूधिष्ठिरनारदसंवादे यतिधर्मे त्रयोदशोऽध्यायः।।१३।।

**श्रीध॰ क्वचिदिति**। चरे विचरामि। क्वचिद् ग्रहवद्दिगम्बरो विचरामि।।४१।।

न च मानावमानकर्तृषु[2] मम वैषम्यमित्याह-**नाऽहमिति**। नाऽहं निन्दामि, न[3-] च स्तौमि[-3]। महात्मनि विष्णौ।।४२।।

एवम्भूततत्त्वेन स्थितावुपायमाह-**विकल्पमिति** द्वाभ्याम्। चित्ते[4] भेदग्राहकमनोवृत्तौ अर्थरूपो विभ्रमो यस्मिन् मनसि[5-] तन्मनो[-5] वैकारिकेऽहङ्कारे[6-] तमहङ्कारम्[-6] अनु अनन्तरं महत्तत्त्वद्वारेणेत्यर्थः।।४३।।

**आत्मेति**। सत्यमेव पश्यतीति तथा।।४४।।

**स्वेति**। मन्ददृष्ट्या लोकशास्त्राभ्यां व्यपेतं, न तु तत्त्वदृष्ट्या , यतो भवान् भगवत्प्रियः[7]।।४५,४६।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे

श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां त्रयोदशोऽध्यायः।।१३।।

**वीर॰** स्नातमनुलिप्तं चन्दनेन चाऽऽङ्गं यस्य, शोभनं वासो वस्त्रं यस्य सः, स्रग्भिरलङ्कृतः रथादिभिर्यानैः चरे सञ्चरे[8]। क्वचिच्च दिग्वासा दिगम्बरः ग्रहवच्चरे, हे विभो!।।४१।।

न च मानावमानादिकर्तृषु मम वैषम्यमित्याह-**नाऽहमिति**। स्वभावत एव विषमं जनं स्तुतिनिन्दयोः कर्तारं न स्तौमि न निन्दे च। किन्तु तेषां जनानां सर्वेषां श्रेयः धर्मादिरूपम् उताऽपि च महात्मनि भगवति ऐकात्म्यमेकचित्तत्वञ्च आशासे प्रार्थये।।४२।।

---

1 M,Ma °हान् 2 A,B,J °प° 3--3 H,V Omit 4 A,B,J चित्तौ 5--5 H,V Omit 6--6 H,V Omit 7 A,B,J °वत्परः। 8 A,B,T सञ्चरामि

इत्थमन्यस्याऽप्यवस्थितौ उपायमाह-**विकल्पमिति**। विकल्पं जतिरूपादिविकल्पं चित्ते मनोव्यापारं जुहुयात् प्रलीनं भावयेत्। तच्चित्तमर्थविभ्रमे देहात्मभ्रमहेतौ मनसि, मनश्च वैकारिके सात्त्विकाहङ्कारे, तच्च वैकारिकं मायायां मूलप्रकृतौजुहुयात्। सर्वत्र होमो नाम लयानुसन्धानरूपः।।४३।।

ताञ्च मायां आत्मानुभूतौ जुहुयात्। ततः सत्यं स्वात्मशरीरकं परमात्मानं पश्यतीति सत्यदृक् मुनिः तन्मननशीलः, निरीहो निश्चेष्टः, स्वानुभूत्यात्मनि परमात्मात्मके परिशुद्धजीवस्वरूपे स्थितः तदनुसन्धानपरः विरमेत्प्रारब्धावसाने कलेबरात् विरमेत्।।४४।।

उक्तं स्ववृत्तमुपसंहरति-**स्वात्मवृत्तमिति**। इत्थं मया गुप्तमपि स्वात्मनो मम वृत्तं मन्ददृष्ट्या लोकशास्त्राभ्यां व्यपेतं , न तु तत्त्वदृष्ट्या व्यपेतं बहिर्भूतं ते तुभ्यमुपवर्णितम् , हि यस्मात् भवान् भगवत्परः, अतो [1]गुप्तमपि वृत्तमुपवर्णितमित्यर्थः।।४५।।

एवं मुनिनोपवर्णितं पारमहंस्यं तुर्याश्रमनिष्ठानां गुणं श्रुत्वा असुरेश्वरः प्रह्लादः तं [2]यति प्रीतस्सन् पूजयित्वा आमन्त्र्य अनुज्ञाप्य स्वगृहं प्रति ययौ।।४६।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचान्द्रिकायां

व्याख्यायां त्रयोदशोऽध्यायः।।१३।।

**विज०** दिग्वासाः दिगम्बरः।। सत्त्वादिगुणस्वभावेन विषमं सात्त्विकराजसतामसभेदभिन्नं सर्वेभ्यो भयं मत्त इति यतिधर्मत्वात् भूतानां भद्रमेवाऽऽशासे। तत्राऽपि भगवत्स्वामित्वं न विस्मरामीत्याह-आशास इति। उतेत्याशास इत्यनुवर्तते। जगत एक एव स्वामीति भावमैकात्म्यम् उताऽऽशासे। कस्मिन्विषये? महात्मनि भगवद्विषये इत्यर्थः।।४१,४२।।

तुर्यावस्थेन विहितोपासनानन्तरमिदञ्च कर्तव्यं ब्रह्मप्राप्तिमार्गत्वादित्याह-**विकल्पमिति**। विकल्पं जगाञ्चित्ते मनोवृत्त्यभिमानिनि न्यसेज्जुहुयात्। जगाञ्चित्ताख्याग्न्यधीनमिति चिन्तयेत्। चित्तमग्निमर्थेषु भ्रममाणं भगवत्युपाधावमाने मनसि मनो नामेन्द्रियाधीनतया तिष्ठतीति चिन्तयेत्। मन इन्द्रं वैकारिके रुद्रे हुत्वा सञ्चिन्त्यामुं रुद्रं

1- -1 A,B,T गुप्तमुप 2. W Omits यति

मायायां प्रकृतिविकारे महत्तत्त्वे विरिञ्चे सञ्चिन्त्य तां मायां तं विरिञ्चं वाऽऽत्मानुभूतौ चित्प्रकृतौ जुहुयात् चिन्तयेत्। "चित्ताख्याग्रेरधीनं हि जगदेतद्विचिन्तयेत्। मनोनामेन्द्रवशगमग्निञ्च प्रति चिन्तयेत्" (समयाचारे) इति वा वाक्यात्सर्वमवगन्तव्यम्। अत जडकार्यस्य जडकारणात्मकत्वं चेतनस्य चेतनाधीनत्वं चिन्तनीयमित्यर्थः। तामाऽऽत्मानुभूतिं स्वानुभूतेर्लक्ष्म्या आत्मनि स्वामिनि पत्यौ निरन्तरं चिन्तयेत्। ततो मुनिरनन्तरं कृतकृत्यो "वेत्ता वेद्यस्य सर्वस्य मुनिस्सद्भिरुदाहृतः" (उत्पलमाला) इत्युत्पलमाला-वचनात्। किञ्च सत्यं साधुगुणपूर्णं विष्णुं पश्यतीति सत्यदृक् , स्वानन्दानुभवात्मनि स्वमहिम्नि स्थितः। "महिम्नि स्वे महीयते" (भाग. 1-3-34) इति वचनात्। स्वरूपानन्दज्ञानात्मनि ब्रह्मणि स्थित इति वा। निरीहः , अतएव निषिद्धचेष्टारहितो विरमेत्, कृत्यादिति शेषः।।४३,४४।।

प्रतिपादितमर्थं निगमयति–**स्वात्मेति**। मया स्वात्मनो मम वृत्तं तुभ्यमनुवर्णितमित्यन्वयः। स्वात्मनो जीवस्य वा परमात्मनो वा कीदृशम् मुखतो लोकशास्त्राभ्यां व्यपेतं रहितम्, आन्तरतो विपरीतत्वेन प्राप्तं शास्त्रसिद्धत्वाच्छास्त्रीयमित्यर्थः "अशास्त्रीयत्वान्मुखतः शास्त्रापेतमिदं विदुः। शास्त्रनिर्णयगम्यंत्वाच्छास्त्रीयमभिधीयते" (समयाचारे) इति वचनादुक्त एवार्थः। इदं सिद्धमभिप्रेत्याह–भवानिति।।४५।।

ततः प्रह्लादेन किं कृतमित्यतस्तद्गमनमाह–नारद इति। पारमहंस्यं परमहंसानां निवृत्तिमार्गस्थानां विद्यमानम्।।४६।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

सप्तमस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः।।१३।।

* * * *

# चतुर्दशोऽध्यायः

*(विजयध्वजरीत्या पञ्चदशोऽध्यायः)*

युधिष्ठर उवाच

गृहस्थ एतां पदवीं विधिना येन चाऽञ्जसा।[1]
यायाद्देवऋषे ब्रूहि मादृशो गृहमूढधीः।।१।।[2] [3]

नारद उवाच

*साधुपृष्टं महाराज! लोकान्साध्वनुगृह्णता।[4]
एतत्तुभ्यं प्रवक्ष्यामि नैष्कर्म्यं कर्मणो यतः।।२।।[5-] [-5] [6-] [-6]

गृहेष्ववस्थितो राजन् क्रियाः कुर्वन् गृहोचिताः।
वासुदेवार्पणं साक्षादुपासीत महामुनीन्।।३।।

शृण्वन् भगवतोऽभीक्ष्णमवतारकथामृतम्।
श्रद्दधानो यथाकालमुपशान्तजनावृतः।।४।।[7]

सत्सङ्गाच्छनकैस्सङ्गमात्मजायात्मजादिषु।[8]
विमुञ्चेन्मुच्यमानेषु स्वयं स्वप्नवदुत्थितः।।५।।[9]

यावदर्थमुपासीनो देहे गेहे च पण्डितः।
विरक्तो रक्तवत्तत्र नृलोके नरतां न्यसेत्।।६।।

ज्ञातयः पितरौ पुत्राः भ्रातरस्सुहृदः परे।[10]
यद्वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्ममः।।७।।[11]

---

1. H,V संवृतः 2. A,B,G,J,T यातिदे ° 3. H,V,W °रू° * This verse is not found in A,G,J,T editions 4 H,M,Ma V °काना मन् °
5- -5. H,M,Ma, V तत्त्वेन तदहं वक्ष्ये 6- -6. H,M,Ma,V येन कर्मणां 7 M,Ma द्रुतम् 8.M,Ma त° 9 A,B,G,J,M,Ma T °च्य °
10. A,B,G,J,M,Ma,T °दो परे 11. M,Ma अनु °

**दिव्यं भौमञ्चान्तरिक्षं वित्तमच्युतनिर्मितम्।**
**तत्सर्वमुपयुञ्जान[1] एतत्कुर्यात्स्वतो[2] बुधः।।८।।**

**यावद्भ्रियेतजठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम्।**
**अधिकं योऽभिमन्येत[3] सस्तेनो दण्डमर्हति।।९।।**

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुर्दशे गृहस्थस्य परमो धर्म ईर्यते। देशकालादिभेदेन पुंसः[4] श्रेयो विशेषकृत्।।

गृहस्थधर्ममुल्लङ्घ्यमोक्षं प्रति अन्तरङ्गत्वेन प्रथमं वनस्थयतिधर्मेष्वभिहितेषु[5] गृहस्थस्य मोक्षो न स्यादिति शङ्कितचित्तः पृच्छति **गृहस्थ** इति।।१।।

तस्य मोक्षधर्मानाह–**गृहेष्वित्यादि** यावदध्याय समाप्ति। साक्षाद्वासुदेवार्पणं यथा भवत्येवं कुर्वन्नुपासीत।।२-४।।

**सत्सङ्गादिति**। स्वयमेव मुच्यमानेषु वियुज्यमानेषु यथा स्वप्नादुत्थितः[7] पुमान् स्वप्नदृष्टेषु पुत्रादिषु सङ्गं विमुञ्चति तद्वत्।।५।।

नन्वेवम्भूतस्य दुर्जनैरभिभूयमानस्य कुतो गृहोचिताः क्रियाः स्युः? तत्राऽऽह **यावदर्थमिति** अन्तस्त्वनासक्तो बहिस्त्वासक्त इव नृलोके जनमध्ये नरतां मनुष्यतां[8] न्यसेत्, पुरुषाकार[9]माविष्कुर्यादित्यर्थः।।६।।

आग्रहन्तु क्वाऽपि न कुर्यादित्याह–**ज्ञातय** इति।।७।।

नन्वेवं सर्वानुमोदने वित्तक्षयप्रसङ्गात्कुतो जीवनं, कुतो वा कर्मकरणम्? तत्राऽऽह-**दिव्यमिति**। दिव्यं वृष्ट्यादिभिर्जातं धान्यादि। भौमं भूम्यां जातं सुवर्णादि[10-10] आन्तरिक्षमकस्मादेव प्राप्तम्। एवं स्वत एवाच्युतनिर्मितं दैवलब्धं यत्। एतत्पूर्वोक्तकर्मादि[11]।।८।।

दैवाद्भूरिलाभे जातेऽपि तत्राऽभिमानो न कार्य इत्याह **यावदिति**। भ्रियेत पूर्येत।।९।।

---

1 A.B.G.J.T भुञ्जान: M.Ma भुञ्जीरन् 2 M.Ma न स्वीकु 3 H.V °भि° 4 A.B.J पुन: 5 A.B.J Omit धर्मं 6. A B.J adJ तर्हि 7 H.V Omit स्वप्नात् 8 H.V मानृष्य 9 A,B,J °ष° 10- -10 A.B.J निधानादि 11 H.V °क्तक°

## श्रीवीरराघवविदुषालिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवमाश्रुताश्रमत्रयधर्मो गृहस्थाश्रमधर्मान् बुभुत्सुः पृच्छति युधिष्ठिरः **गृहस्थ** इति। हे देवऋषे![1] गृहेष्वेव मूढा धीर्यस्य गृहासक्तचित्तो मादृशो[2] गृहाश्रमस्थः पुमान् येन विधिना एतां पदवीं तुर्याश्रमिगम्यां पदवीं मार्गं[3], मुक्तिमित्यर्थः। यायात् प्राप्नुयात् तं विधिं ब्रूहि।।१।।

एवमापृष्टगार्हस्थ्यधर्मो देवर्षिः तत्प्रश्नमभिनन्दन् तान् धर्मान् वक्तुं प्रतिजानीते-**साध्विति**[4]। हे महाराज! जानताऽपि त्वया लोकान् साधु यथा तथाऽनुगृह्णता साधु पृष्टम्। एतत्त्वत्पृष्टं गार्हस्थ्यव्रतमहं तुभ्यं प्रवक्ष्यामि, यतः कर्मणः मया वक्ष्यमाणगार्हस्थ्यधर्मान् कर्मणां मुक्तिप्रतिबन्धकानां पुण्यपापात्मकानां निरासद्वारा नैष्कर्म्यं ज्ञानयोगलाभो भवेत्।।२।।

एवं प्रतिज्ञाय गार्हस्थ्यधर्मानाह-**गृहेष्वित्यादिना** यावदध्यायसमाप्ति। यद्यपि प्रथमाश्रमधर्मकथनानन्तरमेव एतदाश्रमधर्मवर्णनं युक्तं क्रमप्राप्तत्वात् , तथाऽपि गार्हस्थ्यधर्माणां बाहुल्यात्, महता प्रबन्धेन वर्णनीयत्वात् आश्रमान्तरधर्मवर्णनानन्तरं ते कथ्यन्ते, क्रमानादराद्वा। अत्रकेचिद्वदन्ति मोक्षान्तरङ्गत्वेन प्रथमं वनस्थर्यात धर्मानभिधाय पश्चाद्गृहस्थधर्मानभिदधातीति तन्मन्दम्-"अतस्त्वितरज्यायो लिङ्गाच्च" (ब्र.सू. 3-4-39) इति शारीरकन्यायेन ब्रह्मविद्यानुग्राहकाल्पधर्माश्रमान्तरापेक्षया तदनुग्राहकबहुधर्मकगार्हस्थ्यस्यैव अन्तरङ्गत्वात्, अतो यथोक्त एवाऽऽशयः। हे राजन्! गृहेष्ववस्थितःगृहाश्रमस्थः गृहोचिता आश्रमानुगुणाः क्रियाः कर्माणि सन्ध्योपासनपञ्चमहायज्ञादीनि आवश्यकानि साक्षाद्वासुदेवार्पणं यथा भवति तथा कुर्वन् फलसङ्गकर्तृत्वत्याग-पूर्वकंकुर्वन् महामुनीन् उपासीत भगवद्गुणमननशीलान् महाभागवतान् उपासीत सेवेतेत्यर्थः[5]।।३।।

कथम्भूतः? तेभ्यो भगवतः अवतारकथामृतमभीक्ष्णं पुनः पुनः यथाकालमावश्यकधर्मानुष्ठानावशेषितं कालमुपशान्तजनैस्सहितः श्रद्धापूर्वकं शृण्वन्।।४।।

एवं सतां सङ्गात् देहदारपुत्रादिषु शनकैस्सङ्गं विमुञ्चेत्, तेषु अहम्ममताद्यभिमानं त्यजेत्। एवं मुच्यमानेषु उक्ताभिमानविषयेषु सत्सु देहादिषु स्वप्नवदुत्थितो यथा स्वप्ने तद्विषये पुत्रादौ, तस्मादुत्थितः तत्कालमात्रानुभाव्यतां मन्यते[6]।।५।।

---

1 A,B,T add सन्ध्यभाव आर्षः। 2 A,B,T या° 3 W omits मार्गं 4 W omits तत् 5- -5 W omits 6 A B T भाव्यत

तथा देहे गेहे च, चशब्दात् दारादिषु च पण्डितः अस्थितरत्वात्पुरुषार्थज्ञानवान्, तत्र देहादौ स्वयं विरक्तोऽपि रक्तवदासक्तवत् यावदर्थं प्राणधारणापेक्षितमर्थमुपासीनः स्वीकुर्वन् नृलोके नरशरीरे[1] नरतां न्यसेत् अनुसन्दधीत, नरत्वादिकं देहगतं पश्येत्[2], नत्वात्मन्यनुसन्दधीतेत्यर्थः।।६।।

ज्ञात्यादय स्तेभ्योऽन्ये च यद्वदन्ति यच्चेच्छन्ति तत्स्वयं निर्ममः ममकाररहितो मोदेत अनुमोदेत।।७।।

यावदर्थपरिग्रह इत्येतदेव विवृणोति-यद्यद्भगवता निर्मितं प्रापितं दिव्यादिभेदभिन्नं वित्तं , तत्र दिव्यं वित्तं वृष्ट्यादिभिर्जातं धान्यादि, भौमं भूम्यां जातं सुवर्णादिरूपम्, आन्तरिक्षमकस्मादेव प्राप्तम्। यद्वा-दिव्यं वित्तमर्कालोकादि, आन्तरिक्षं वर्षं, भौमं तृणादि। तथैतत्सर्वमुपयुञ्जानो विनियुञ्जान अबुधोऽविवेकी चेत् स्वतः स्वत्वेन कुर्यात्। अबुधश्चेत्तदेतत्सर्वं स्वत्वेनाभिमन्येतेत्यर्थः। यद्वा बुध इत्यवच्छेदः। विवेकी तत्सर्वमुपयुञ्जानः एतद्यथोपयुक्तं स्वतःकुर्यात्, स्वत्वेन स्वीकुर्यात् देहधारणमात्रोपयुक्तमेव स्वीकुर्यादित्यर्थः।।८।।

अधिकं न स्वीकुर्यादित्यभिप्रयन् न तस्मिन् स्वत्वाभिमानं कुर्यादित्याह-**यावदिति**। हि[3] यस्मात्, यावज्जठरमुदरं भ्रियेत पूर्येत तावदेव स्वत्वं देहिना मुदरभरणोपयुक्ते एव हि देहिनां स्वत्वाभिमान इत्यर्थः। योऽधिकमपि[4] स्वत्वेनाऽभिमन्येत सपुमान् स्तेनश्चोर एव, यत एवं ततो दण्डमेवाऽर्हति। इह दण्डाभावेऽपि अमुत्रदण्डमर्हत्येव। यद्वा, संसृतिरूपं दण्डमर्हतीति भावः।।९।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

सर्ववर्णाश्रमाणां गृहाश्रममूलत्वात् सूचीकटाहन्यायेन वर्णाद्याश्रमधर्मं निरूप्य गृहाश्रमधर्मं निरूपयत्यस्मिन्नध्याये। तत्र "नाऽपृष्टः कस्यचिद्ब्रूयात्" (भार.12-276-34) इति न्यायात् युधिष्ठिरःपृच्छतीत्याह-युधिष्ठिर इति। एतां पदवीमन्याश्रमविषयां, विधिना प्रकारेण।।१।।

नैष्कर्म्यं मोक्षसाधनत्वम्।।२।।

गृहोचिताः क्रियाः पञ्चयज्ञलक्षणाः-"जप(पञ्च)यज्ञप्रसिद्ध्यर्थं विद्याञ्चाऽऽध्यात्मिकी जपेत्। बलिकर्मस्वधाहोमस्वाध्यायातिथिसत्क्रियाः। भूतपित्रमरब्रह्ममनुष्याणां महामखाः" (याज्ञ. स्मृ 1-101,102) इति याज्ञवल्क्यः। वासुदेवार्पणं कुर्वन्निति शेषः।।३।।

---

1 A,B,T नृ° 2 A,B,T अनुसन्दधीत 3. W omits हि 4 A,B,T add एवं हि

उपशान्तजनेन सन्न्यासिजनेन आदृतं कामितम्।।४।।

स्वप्नं दृष्ट्वोत्थितः स्वप्नदृष्टपदार्थसङ्गं यथा जहाति तथा जायादिसङ्गं मुञ्चेदित्यन्वयः।।५।।

यावदर्थो यावद्देहयात्राप्रयोजनो देहादावुपासीनोऽवतिष्ठमानस्तत्रदेहादौ रक्तवत् स्निग्धवत् नरतां नरत्वं न्यसेत् त्यजेत्, यतिर्भवेदित्यर्थः।।६,७।।

आन्तरिक्षं द्यावापृथिव्योर्मध्यभवमच्युतेन निर्मितं यद्रित्तमुपयुञ्जीरन् , लोका इति शेषः। तत्सर्वं जानन् स्वकीयमिति न स्वीकुर्यात्।।७।।

यावदर्थं इत्युक्तं विवृणोति-**यावदिति**। जठरं यावदन्तं भ्रियेत गृह्णाति , तावदन्तं स्वत्वं स्वकीयमिति स्वीकुर्यात्, ततोऽधिकादाने दण्डयोग्यमित्याह-अधिकमिति।।९।।

**मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप[1] विमक्षिकाः[2]।**
**आत्मवत्[3]पुत्रवत्पश्येत्, तैरेषामन्तरं कियत्।।१०।।**

**त्रिवर्गं नाऽतिकृच्छ्रेण भजेत गृहमेध्यपि।**
**यथादेशं यथाकालं यावद्दैवोपपादितम्।।११।।**

**आश्वाघान्तावसायिभ्यः[5] कामान्[6] संविभजेद्यथा।**
**अप्येकामात्मनो दारां[7] नृणां स्वत्वग्रहो[8] यतः।।१२।।**

**जह्याद्यदर्थे स्वान्प्राणान्[9] हन्याद्वा पितरं गुरुम्।**
**तस्यां स्वत्वं स्त्रियां जह्यात्[10] यस्तया ह्यजितो जितः।।१३।।**

**क्रिमिविड्भस्मनिष्ठान्तं[11] क्वेदं[12] नु स्वकलेबरम्।**
**क्व तदीयरतिर्भार्या क्वाऽयमात्मा नभश्छदः[13]।।१४।।**

---

1. M,Ma °खराश्व 2 A,B,G,J,T °पखगम° 3 M,Ma °कान् 4 A,B,G,J,M,Ma,T °नः पु° 5 M,Ma °श्वाघ्योन्ते 6 A,B,J न्ते° 7- -7. H,V अप्यकामहता दारा; M,Ma आत्मैतान्महतो दारान् 8 A,M,Ma °स° 9 A,B,G,J,T स्वप्रा° 10 A,B,G,J,M,Ma,T यत्नेन 11 A,B,G,J,M,Ma,T कृ° 12. A,B,G,J,M,Ma,T तुच्छ 13 A,B,G,J,M,Ma,T °र्दि.

**सिद्धैर्यज्ञावशिष्टार्थैः कल्पयेद्वृत्तिमात्मनः।**
**शेषे स्वत्वं त्यजन्प्राज्ञः पदवीं महता मियात्।।१५।।**

**देवेनृषीन् नृभूतानि पितॄनात्मानमन्वहम्।**
**स्ववृत्त्या गतवृत्तेन यजेत पुरुषं पृथक्।।१६।।**
**यर्ह्यात्मं नोऽधिकाराद्याः सर्वास्स्युर्यज्ञ सम्पदः।**
**वैतानिकेन विधिना ह्यग्निहोत्रादिना यजेत्।।१७।।**

**श्रीध०** अत एव यं कमपि स्वगृहं क्षेत्रं वा प्रविश्य भुञ्जानं न निवारयेदित्याह-**मृगेति**। मर्को मर्कटः, सरीसृपः सर्पः, विमक्षिकाः मक्षिकाश्च तैः पुत्रैरेषां मृगादीनां कियदन्तरम्।।९,१०।।

**त्रिवर्गमिति**। अतिकृच्छ्रेणाऽऽसाद्य न भजेतु किन्तु यावद्देवप्रापितं तावदेव भुञ्जीत।।११।।

**आश्वेति**। श्वानश्च अघाश्च पतिताः, अन्तावसायिनः नापितप्रभृतयः तानभिव्याप्य यथार्हं कामान् संविभजेत् स्वभोग्याद्विभज्य दद्यात्। यद्यपि एकैवाऽऽत्मनो दारा भार्या, तस्यामतिथिशुश्रूषणे नियुक्तायां स्वस्य शुश्रूषाहीयेत, यस्याञ्च नृणां स्वत्वग्रहो, ममैवेयमिति आग्रहः, तामेकामपि संविभजेत्, अतिथ्यादि शुश्रूषणे नियुञ्जीतेत्यर्थः। न तु अन्यथा मन्तव्यम्, यथार्हं संविभजेदित्युक्तत्वात्।।१२।।

एवञ्चेत् तेनेश्वरो वशीकृतः स्यादित्याह-**जह्यादिति**। यदर्थे यन्निमित्ते अन्यैरजितोऽपीश्वरः तेन जित एव।।१३।।

ननु कथमेवं तस्यां स्वत्वाभिमानो हातुं शक्यः, तत्त्वविचारेणेत्याह-**क्रिमीति**। क्रिमिविड्भस्मसुनिष्ठा पर्यवसानमन्ते यस्य तदीया देहार्थारतिर्यस्यां सा, स्वमहिम्ना नभोऽपि छादयतीति तथा।।१४।।

**सिद्धैरिति**। किञ्च सिद्धैः देवलब्धैः यज्ञावशिष्टार्थैः पञ्चयज्ञशेषैरन्नादिभिः। महतां निवृत्तानाम्।।१५।।

**देवानिति** एतद्विवृण्वन्नाऽऽह देवादीन्पञ्चयज्ञदेवताः आत्मानञ्च। एवं पृथक् पुरुषमन्तर्यामिणमेव यजेत।। १६,१७।।

**वीर०** यतोऽधिके स्वत्वाभिमानो दण्डहेतुः, अत एव तन्नक्षणे प्रवृत्तान्मृ गोष्ट्रादीन् आत्मनः स्वस्य पुत्रवत्पश्येत्

1. M,Ma °जेत्र° 2. A,B,G,J,M,Ma,T वि° 3. M,Ma करोऽस्ति ;W कारस्स्यात् 4. A,B,G,J,M,Ma,T अ° 5. A,B,J °पृ 6. A,B,J Omit विमक्षिकाः 7- -7. H,V Omit 8. A,B,J °पा° 9. A,B,J भजेत् 10. A,B,J °न्ते 11- -11 A,B,J चाण्डालादयः 12. A,B,J °ज्या° 13. A,B,J °थिशु° 14.A,B,J Omit सं 15. A,B,J °त्तम् 16.A,B,J कृ°

पुत्रानिव मन्येत, न तु निगृह्णीयादित्यर्थः। तथाहि-तैः पुत्रैस्सह एषां मृगादीनां कियदन्तरं, न किञ्चिदप्यन्तरं न किञ्चिदपि तारतम्यमस्तीत्यर्थः। तत्र मृगाः शुनकमार्जारादयः, मर्को मर्कटः, आखुः मूषकः सरीसृपा अन्ये सर्पणस्वभावा जन्तवः, विमक्षिकाः विशब्दः पादपूरणार्थः विशिष्टमक्षिका इति वा। [1]सरीसृप्खगेति वा पाठः[1]।।१०।।

विवृतमर्थमुपसंहरति-**त्रिवर्गमिति**। स्वयं गृहस्थोऽप्यनेन तदुपयुक्तवर्गत्रयनिष्ठता सूच्यते। अति-कृच्छ्रेणाऽतिप्रयासेन त्रिवर्गं धर्मार्थकामान् न भजेत न सेवेत। दैवात्प्राप्तैरेव तुष्येदित्यर्थः। तदेवाऽऽह-यावद्दैवेन देशकालानुगुण्येन प्रापितं तदेव यथोपयुक्तं भजेत।।११।।

धर्मान्तरमाह-श्वानश्चाघा अतिपाप्मानश्च [2]अन्तावसायिनः चाण्डालादयश्च तानभिव्याप्य तेभ्यो यथोचितं कामान् संविभजेत् यथाशक्ति तदपेक्षितानन्नादीन् दद्यादित्यर्थः। सङ्गमात्मजायासुतादिषु विमुञ्चेदित्युक्तम्, जायासङ्गत्यागमुपपादयति-अपीति। आत्मनः स्वस्यदारान् भार्यामेकामपि जह्यात्। तस्यां स्वत्वाभिमानं त्यजेदित्यर्थः। एतदेव वक्तुं तावत्तस्या दुस्त्यजत्वमाह-यतो यस्यां भार्यायां नृणां स्वत्वग्रहः ममेवेयमिति आग्रहः।।१२।।

यदर्थे यद्भार्यार्थं स्वकीयान्प्राणान् पितरं गुरुं वा हन्यात्। एवं दुस्त्यजाभार्येत्युक्तम्। एवम्भूतायां तस्यां स्त्रियां भार्यायां स्वत्वं जह्यात् स्वत्वाभिमानं न कुर्यादित्यर्थः। यः पुमानेवं जह्यात् तेन पुंसा अजितः कैरप्यजितः परमात्मा जितः [3]वशीकृतो[3] भवति।।१३।।

कथमेवं तस्यां स्वत्वाभिमानस्त्यक्तुं शक्यः। तत्त्वविचारेणेत्याह-**[4]क्रिमीति**। [5]क्रिमिर्बद्धभस्मसु निष्ठापर्यवसानमन्तो यस्या तदिदं कलेबरं क्व? तदीयादेहार्थारतिर्यस्यास्सा भार्या क्व? नभश्छदः आकाशस्याऽपि छादयिता आकाशतुल्यो निर्लेप इत्यर्थः , ईदृश आत्मा क्व? इत्येवं तत्त्वविचारेण जह्यादित्यर्थः।।१४।।

यावदर्थपरिग्रह इति, दैवाल्लब्धेष्वपि प्राणमात्रोपयुक्तान्नादिपरिग्रह उक्तः। इदानीं तैरपि यज्ञावशिष्टैरेवाऽर्थे रात्मनो वृत्तिं कल्पयेदित्याह-**सिद्धैरिति**। सिद्धैर्दैवाल्लब्धैः यज्ञावशिष्टैः पञ्चमहायज्ञादिभिः अवशेषितैरेवार्थैः अन्नादिभिः आत्मनः स्वस्य वृत्तिं प्राणधारणरूपां कल्पयेत् । शेषे यज्ञाद्यनुपयुक्ते स्ववृत्त्यनुपयुक्ते च दैवाल्लब्धेऽप्यर्थे स्वत्वाभिमानं त्यजेत्। प्राज्ञः एवंविधज्ञानवान् महतां पदवीं महद्भिर्गम्यां मुक्तिरूपां पदवीं प्राप्नुयात्।।१५।।

---

1- -1. W omits 2. A,B,T अन्तेऽव° 3- -3 W. omits 4. A,B,T कृ° 5 A,B,T कृ°

एतद्विवृण्वन्नाह–देवानृषीन् नृन् मनुष्यान्भूतानि पितॄंश्च[1] महायज्ञदेवता आत्मानञ्च स्ववृत्त्या याजनाध्यापनादि पूर्वोक्तवृत्त्या आगतेनार्जितेन वित्तेनाऽन्वहमहरहः पृथक् पुरुषं देवाद्यन्तरात्मानं परमपुरुषं यजेत, एकमेव परमपुरुषं देवादिशरीरभेदेनाऽन्तरात्मत्वेनाऽवस्थितमाराधयेदित्यर्थः।।१६।।

किञ्च। यर्हि यदाऽऽत्मनः स्वस्याऽधिकारः "अर्थो समर्थो विद्वांश्च" इत्युक्तोऽधिकारः स्यात्, तदा सर्वा यज्ञसम्पदः स्युरेव। यथाधिकारं सर्वे यज्ञाः कर्तव्या एवेत्यर्थः। वितानो यज्ञग्रन्थः श्रौतकल्पसूत्रादिरूपः तदुक्तेन विधिना अग्निहोत्रादिकर्मणा परमपुरुषं यजेत।।१७।।

**विज०** "आखुभुक्पृषदंशश्च मार्जरो मर्क उच्यते" इत्यभिधानम्। वयः पक्षिणः, अन्तरं भेदः, कियान् न कोऽपि, पराधीनत्वाविशेषात्।।१०।।

अतिकृच्छ्रेण शास्त्रविहितमार्गेण शूद्रप्रतिग्रहादिलक्षणेन गृहमेधी गृहस्थोऽपि सर्वाश्रयत्वेऽपि दैवोपपादितं यवादिव्रीहिजात, मयाचितोपपन्नं वा।।११।।

कर्माङ्गच्छेदाग्रहणं प्रयोजनं न ग्राम्यभोगः, तथात्वे तदाशापूरणस्य दुस्साध्यत्वेन तत्प्रयत्ने महान्दोष आपद्येत, तदभिप्रायेणाह–आत्वेति। यदर्थे येषामर्थे कामपूरणार्थं स्वप्राणान् जह्यात्, पितरं वा हन्यात्, तद्विरोधे सतीति शेषः। किञ्च। यतो येभ्यो नृणां सत्त्वग्रहो सत्त्वगुणग्राहो धैर्यनिग्रहो, भवतीति शेषः तानेतान्महतो दारानात्वा कामान्यथायोग्यं संविभज्य श्रेयसे, घटेतेति शेषः।।१२।।

यद्यङ्गना प्राणाद्यपहारिणी तर्हि तया श्रेयसे घटनं कथम्? इत्याशङ्क्याऽऽह–यस्यामिति। सत्त्वग्रह इत्यादिकमुत्तरत्राऽपि सम्बध्यते। अजितोऽपि यस्यास्सत्त्वग्रहः तस्यां स्त्रियां तेन सत्त्वेन जितो वशंगतः सपुमान् तस्यां स्त्रियां सत्वं जिह्यादित्यन्वयः। यदिस्वात्मान मुल्लङ्घ्य सा वर्तते तर्हि तस्यास्त्याग एव वरीयानित्यमुमर्थं हि शब्देन दर्शयति–"हताधिकारां मलिनां पिण्डमात्रोपजीविनीम् परिभूतामधश्शय्यां वासयेद्व्यभिचारिणीम्" (याज्ञ. स्मृ 1-70) इति च। "यत्राऽऽनुकूल्यं दम्पत्योः त्रिवर्गस्तस्य वर्धते। मृते जीवति वा पत्यौ या नाऽन्यमुपगच्छति। सेह कीर्तिमवाप्नोति मोदते चोमया सह" (याज्ञ. स्मृ. 1-74-75) इति "स्त्रीभिः भर्तृवचः कार्यमेषधर्मः परः स्त्रियाः" (याज्ञ. स्मृ. 1-77) इति च।।१३।।

1. A,B,T add पञ्च

ग्राम्यधर्मेण शरीरमेवाऽनित्यं क्षणिकं भयग्रस्तं भयमुपजायते, न तु नित्यम्। अतश्च नित्यदुःखं शरीरञ्च कृमिविड्भस्मावसायि न वरम् अनेनाऽऽकाशशरीरब्रह्मज्ञानं दुरुत्पादमेतत्करुणामन्तरेण। अतो दुःखहेतुत्वात् दुश्चरित्रस्त्रीत्याग एव श्रेयानित्याशयवानाह–कृमीति। तदीयदेहेन क्रियमाणारति यस्यास्सा तथा, आत्मा परमात्मा। अत्र आत्मा जीवः किं न स्यात् शरीरप्रसङ्गादित्यत उक्तं नभश्छदिरिति नभसश्छदिराच्छादनं यस्य स तथा, नभो व्याप्यावस्थित इत्यर्थः। "आकाशशरीरं ब्रह्म" (तैत्ति.उ. 1-6) इति श्रुतेः। "अणुह्येष आत्मा यं वा एते सनीतः पुण्यञ्च पापञ्च" इति श्रुतेः जीवस्याणुपरिमाणत्वेन सिद्धत्वात्।।१४।।

"यज देवपूजासङ्गति करणदानेषु" इति धातोः यज्ञो नारायणाख्यदेवपूजा, तत्करणावशेषितैः सिद्धैः ज्ञानसाधनयोग्यैरर्थैः स्ववृत्तिं देहयात्रालक्षणां कल्पयेत्। तत्राऽपि शेषे अवशिष्टे वस्तुनि स्वत्वं स्वकीयत्वं त्यजेद्यः सप्राज्ञो महतां सन्न्यासिनां पदवीमाप्नोतीत्यन्वयः।।१५।।

देवादियागेषु तदन्तर्यामित्वेन ततोऽभिन्नत्वेन भगवत्पूजैव विधेयेत्याशयेनाऽऽह–**देवानिति**।।१६।।

यर्हि यदाऽस्य यज्ञाधिकारोऽस्ति, यदा वा सर्वा यज्ञसम्पदः स्युस्तदा वैतानिकविधिनाऽग्निहोत्रविधिना वा यजेदित्यन्वयः।।१७।।

**नह्यग्निमुखतोऽयं वै भगवान्सर्वयज्ञभुक्।**
**इज्येत हविषा राजन् यथा विप्रमुखे हुतैः।।१८।।**

**तस्माद्ब्राह्मणदेवेषु मर्त्यादिषु यथार्हतः।**
**तेस्तैः कामैर्यजस्वैनं क्षेत्रज्ञं ब्राह्मणाननम्[1]।।१९।।**

**कुर्यादपरपक्षीयं[3] मासि प्रोष्ठपदे[4] द्विजः।**
**श्राद्धं पित्रोर्यथावित्तं तद्बन्धूनाञ्च वित्तवान्।।२०।।**

**अयने विषुवे कुर्यात्[5] व्यतीपाते दिनक्षये।**
**चन्द्रादित्योपरागे च द्वादश्यां[6] श्रवणेऽपि[7] च।।२१।।**

**तृतीयायां शुक्लपक्षे नवम्यामथ कार्तिके।**
**चतसृष्वप्यष्टकासु हेमन्ते शिशिरे तथा।।२२।।**

1. M,Ma जेद्धेनं 2.A,B,G,H,J,T,V °णानु 3 A,B,G,J,T °द्धा° 4 A,B,G,J,T प्रो° 5 M,Ma कुर्द्धां 6 A,B,G,J,T °दशी 7 A,B,G,J M,Ma,T °पु

**माघे च सितसप्तम्यां मघाराका समागमे।**
**[1]राकयाचानुमत्या वा मासर्क्षाणि युतान्यपि।।२३।।**

**द्वादश्यामनू[2]राधा स्याच्छ्रवण स्तिस्र उत्तराः।**
**तिसृष्वेकादशी [3]वाऽस्तु [4]जन्मर्क्षश्रोणयोगयुक्।।२४।।**

**त एते श्रेयसः काला नृणां श्रेयोविवर्धनाः।**
**कुर्यात्सर्वात्मनैतेषु श्रेयोऽमोघं तदायुषः।।२५।।**

**श्रीध०** न पुनरतिनिर्बन्धो यज्ञार्थं कार्य इत्याह–**नहीति**। विप्रमुखे हुतैरन्नादिभिर्यथा इज्येत पूज्येत न तथा अग्निमुखतो हविषा इज्येत।।१७।।

**तस्मादिति**। ब्राह्मणेषु च देवेषु पञ्चयज्ञदेवतासु च मर्त्यादिष्वन्येष्वपि नरेषु पश्वादिषु च क्षेत्रज्ञमन्तर्यामिणं ब्राह्मणा ननु मर्त्यादि यजने ब्राह्मण यजनानन्तरमन्येषु यजस्व। पाठान्तरे ब्राह्मणा आननं यस्य तम्।।१८,१९।।

**कुर्यादिति**। [5]प्रोष्ठपदे भाद्रपदे।।२०,२१।।

**तृतीयायामिति**। शुक्लपक्षे [6]अक्षयतृतीयायामित्यर्थः। हेमन्ते शिशिरे च मार्गशीर्षादिमासचतुष्टयेऽपि याश्चतस्रोऽष्टका स्तासु।।२२।।

**माघे** इति। सम्पूर्णचन्द्रा पौर्णमासी राका, न्यूनचन्द्रासेवाऽनुमतिः। [7]ताभ्यां मासर्क्षाणि तत्तन्मासनामप्रवृत्ति निमित्तानि नक्षत्राणि युतानि यदा स्यु स्तदा । तदुक्तं त्रिकाण्ड्याम् "पुष्ययुक्ता पौर्णमासी पौषीमासेतु यत्र सा। नाम्ना स पौषो माघाद्याश्चैव मेकादशाऽपरे" (अम.को.1-122) इति।।२३।।

**द्वादश्यामिति**। अनुराधा श्रवण उत्तराफाल्गुनी उत्तराषाढा उत्तराभा[8-]द्रेति तिस्र उत्तराः[-8] द्वादश्यां यदा स्यु[9]:, आसूत्तरास्वेकादशी वा यदा स्यात्तदा च। जन्मर्क्षश्रोणयोगयुक्जन्मनक्षत्रस्य श्रवणस्य वा योगेन युक्तं दिनम्। [10]यद्वा, योगग्रहणं सम्बन्धबाहुल्य[11]ज्ञापनार्थम्।।२४।।

---

1 M,Ma काया वाऽ° 2 M,Ma °नु° 3 याऽऽसु ; M,Ma चाऽऽसु 4 M,Ma °न्मर्क्षं सौम्य° 5. A,B,T प्रौ° 6. A,B,J °च्य 7. A,B,J तथा

8- -8 A,B,J भाद्रपदा वा 9 A,B,J स्यात् 10 A,B,G यदातदा 11 A.B.J °त्न्यार्थम्।।

न केवलं श्राद्धस्यैवैते कालाः, किन्तु धर्ममात्रस्येत्याह - **त एत** इति द्वाभ्याम्। तदेवाऽऽयुषः अमोघं साफल्यमित्यर्थः।।२५।।

**वीर०** अग्निमुखाराधनाद्विप्रमुखाराधनमतीव भगवतस्तोषकृदित्याह–नहीति। हे राजन्! विप्रमुखे हुतैरन्नादिभिर्यथाऽयं सर्वयज्ञभुक् भगवानिज्येताऽऽराध्येत न तथाऽग्निमुखतो हविषाऽऽराध्येत।।१७।।

तस्माद्ब्राह्मणेषु देवेषु[1-] पञ्चमहायज्ञदेवेषुमर्त्यादिषु[-1] च यथाशक्ति यथायोग्यञ्च तैस्तैः कामैरन्नादिभिः ब्राह्मणाननं ब्राह्मणा एवाऽऽननं मुखं यस्य तमेनं क्षेत्रज्ञं परमात्मानं देवाद्यवस्थजीवशरीरकं वा यजस्वाऽऽराधय। ब्राह्मणाननन्विति पाठे ब्राह्मणेषु यजनानन्तरमन्येषु मर्त्यादिषु यजस्वेत्यर्थः। युधिष्ठिरस्य गृहस्थत्वात् तवाऽप्येवमाराधनमवश्यं कर्तव्यमित्यभिप्रायेणाऽऽह[2]-यजस्वेतिमध्यमपुरुष प्रयोगः।।१९।।

किञ्च प्रौष्ठपदे[3] भाद्रपदेमासि द्विजः त्रैवर्णिको धनवांश्चेत् यथावित्तं वित्तानुसारेण पित्रोर्मातापित्रोः तद्बन्धूनाञ्च अपरपक्षीयं कृष्णपक्षीयं श्राद्धं महालयाख्यं कुर्यात्।।२०।।

किञ्च। अयनादिषु कालेषु पित्रोः श्राद्धं कुर्यादित्यन्वयः। तत्राऽयनं कर्कटसङ्क्रान्तिर्मकरसङ्क्रान्तिश्च। मेषतुले विषुवसंज्ञिके। तथा च वृद्धवसिष्ठः–"झषकर्कटसङ्क्रान्ती द्वे तूदग्दक्षिणायने। विषुवे तु तुलामेषे गोलमध्ये ततोऽपराः" इति कुहुर्नष्टेन्दुकला चन्द्रादित्ययो रुपरागो ग्रहः।।२१।।

शुक्लपक्षे तृतीयायां अक्षतृतीयायामित्यर्थः[4]। कार्तिकेमासे[5], शुक्लपक्षे नवम्यां हेमन्ते शिशिरे च ऋतौ चतसृष्वप्यष्टकासु मार्गशीर्षादिमासचतुष्टयकृष्णाष्टमीषु।।२२।।

माघेमासि सितसप्तम्यां शुक्लसप्तम्यां मघानक्षत्रपौर्णमास्यो स्संयोगकाले च। सम्पूर्णचन्द्रा पौर्णमासी राका कलाहीनचन्द्रा पौर्णमासी अनुमतिः, ताभ्यां युक्तानि यानिमासक्षाणि मासनाम प्रवृत्तिनिमित्तानि नक्षत्राणि तदुपलक्षितेषु च कालेषु।।२३।।

यद्वा-द्वादश्यामनूराधाश्रवणमुत्तरा फल्गुनी[6] उत्तराषाढोत्तराभाद्रेति तिस्र उत्तरा वा स्युः। आसूत्तरासूत्का-सु तिसृषु एकादशी वा यदा स्यात् तदा च जन्मर्क्षश्रोणयोगयुक् जन्मनक्षत्रस्य श्रवणनक्षत्रस्य वा योगेन युक्तः कालः तदा च योगग्रहणं सम्बन्धबाहुल्यज्ञापनाय[7]।।२४।।

---

1- -1 W Omits 2. W Omits आह 3. W प्रो° 4 A,B,T °क्षयतृ° 5 W °सि 6. A,B,T फा° 7 A.B.T Add इति सूचितम्।

न केवलं श्राद्धस्यैवेते कालाः, किन्तु धर्ममात्रस्येत्याह-**त** इति द्वाभ्याम्। त एते अयनादयः नृणां श्रेयसः श्रेयस्साधनधर्मानुष्ठानस्य योग्या श्रेयो वर्धयन्तीति तथा। तादृशाः कालाः। तस्मात्सर्वात्मना करणत्रयैक्येन एषुकालेषु श्रेयः श्रेयस्साधनं वक्ष्यमाणं स्नानादिकमनुतिष्ठेत्। तदेवह्यायुषः अमोघममोघत्वं साफल्यमित्यर्थः।।२५।।

**विज॰** ननु मुख्यं होमादिकरणं भगवत्प्रीतिजनकं किम्? तत्राऽऽह **न हीति**।।१८।।

उपसंहारमुखेनोक्तार्थं निर्धारयति-तस्मादिति। ब्राह्मण आननं यस्य स तथा तम्।।१९।।

ननु यज्ञसम्भारे सति विशिष्टफलप्रदः कालः क इति तत्राऽऽह-**कुर्यादिति**। प्रौष्ठपदे कन्याख्ये सिंहमासामावास्यामारभ्य कन्यमावास्यापर्यन्ते, तत्राऽपि अपरपक्षीयकाले श्राद्धं कुर्यादिति उपर्यप्यन्वेतव्यम्। तद्बन्धूनां पितृमातृबन्धूनां पितामहमातामहादीनाम्।।२०।।

अयने उत्तरदक्षिणसंज्ञे, विषुवे संवत्सरान्तसङ्क्रमणे कुह्राममावास्यायां, श्रवणेषु श्रवणादित्रिषु च शब्दात् सप्तम्यादि त्रिषु त्रयोदश्याञ्च। तदुक्तम्-"सप्तम्यादि त्रयञ्चैव तथाचैव त्रयोदशी। चतस्रस्त्वष्टकाः प्रोक्तास्सर्वपक्षाद्विशेषतः" (समयाचारे) इति।।२१।।

वृश्चिकमासामावास्यामारभ्यमकरमासामावासापर्यन्तः कालो हेमन्तः, तदुपरिकालः शिशिरः। "हेमन्ते शिशिरे चैव नित्यश्राद्धे गुणोत्तरम्" (समयाचारे) इति वचनात् अयमपि विशिष्टकालः।।२२।।

राका पौर्णमासी मघापौर्णमास्योस्सङ्गमे "शशिनि सिनीवाली स्याद्दृष्टे नष्टे कुहू रमावास्या। अनुमति रूने राका सम्पूर्णे पौर्णमासी च" (हला.को. 1-112) इति हलायुधः। राकयाऽनुमत्या युतानि मासनक्षत्राणि।।२३।।

यास्तिस्रः श्रवणादितारा:, आसु तारासु प्राप्तैकादशी पुण्यकालः अत्र **श्राद्धकरणञ्च** विकल्पः। एकादश्यां श्राद्धकरणस्य निषिद्धत्वात्, न वैष्णवसिद्धान्तिनस्तदाचरन्ति, त्रैविद्याश्चरन्ति च वा, यथैकादशी पुण्यदिनम्, अत्र क्रियमाणं कर्म सफलं, तथा तिसृष्वपि तारास्विति वा। जन्मनक्षत्रं श्राद्धकाल इति शेषः। सौम्ययोगयुक् मृगशिरस्सम्बन्धयुक्तं दिनञ्च।।२४,२५।।

**एषु स्नानं जपो होमस्तपो[1] देवद्विजार्चनम्।**
**पितृदेवनृभूतेभ्यो यद्दत्तं तद्ध्यनश्वरम्।।२६।।**

1 A,B,G,J,M,Ma T °मोव्रतं

संस्कारकालो जायाया अपत्यस्याऽऽत्मन स्तथा।
प्रेतसंस्थामृताहश्च[1] कर्मण्यभ्युदये नृप।।२७।।

अथ देशान्प्रवक्ष्यामि धर्मादिश्रेय आवहान्।
स वै पुण्यतमोदेशः सत्पात्रं यत्र लभ्यते।।२८।।

बिम्बं[2] भगवतो यत्र सर्वमेतच्चराचरम्[3]।
यत्र हि[4] ब्राह्मणकुलं तपोविद्यादयान्वितम्।।२९।।

यत्र यत्र हरेरर्चा स देशः श्रेयसां पदम्।
यत्र गङ्गादयो नद्यः पुराणेषु च विश्रुताः ।।३०।।

सरांसि पुष्करादीनि क्षेत्राण्यर्हाश्रितान्युत।
कुरुक्षेत्रं गय[5] शिरः प्रयागः पुलहाश्रमः।।३१।।

नैमिशं[6] फल्गुनं[7] सेतुः प्रभास्तेऽथ कुशस्थली।
वाराणसी मधुपुरी पम्पा बिन्दु सरस्तथा।।३२।।

नारायणाश्रमो नन्दा सीतारामाश्रमादयः।
सर्वे कुलाचला राजन्! महेन्द्रमलयादयः।।३३।।

**श्रीध० संस्कार काल** इति-जायायाः पुंसवनादि, अपत्यस्य जातकर्मादि। आत्मनो यज्ञदीक्षादि। प्रेतस्य संस्था दहनादि। मृताहश्च सांवत्सरिकम्।[8] तथा अन्यस्मिन्नपि अभ्युदयार्थे कर्मणि श्रेयः कुर्यादित्यनुषङ्गः।।२६,२७।।

**अथेति**। यत्र यस्मिन् सर्वं[9] एतच्चराचरमस्ति तस्य भगवतो बिम्बं रुपम्, सत्पात्रं यत्र लभ्यते स वै पुण्यतमोदेशः।।२८-३०।।

**यत्रेति**। अर्हैरुत्तमैराश्रितानि,[10-] उत अपि च[-10]।।३१,३२।।

**नारायणेति**। सीताया रामस्य च आश्रम आदिर्येषाम्। द्वयोः पृथग्ग्रहणं वियोगकालाभिप्रायेण।।३३।।

---

1. M,Ma °हस्सुक 2. M,Ma विश्वं भा° 3. M,Ma जगदेत° 4. A,B.G,J.M.Ma,T ह 5 H,V,W हय 6 A,B.G,J.M.Ma T °षं 7 A B.G J,T,W, फा° 8. A,B,J यदा 9 A,B,J Omit सर्वं 10- -10 A,B,J Omit

**वीर०** एषु कालेषु कृतं यज्ञपादिकं यज्ञ पित्राद्युद्देशेन दत्तम्, भावे क्तः। दानञ्च तद्धयनश्वरमक्षय्य-फलसाधनम्।।२६।।

किञ्च। हे नृप! जायाऽपत्यात्मनां संस्कारकाले-तत्र जायायाः संस्कारः पुंसवनादिः, अपत्यस्य संस्कारो जातकर्मादिः, आत्मनः स्वस्य संस्कारो यज्ञदीक्षादिः-एतेषां कालेषु यदा प्रेतस्य संस्थादहनादि कर्ममृताहश्च तदा अन्यस्मिन्नभ्युदयार्थे कर्मणि कृतं स्नानादिकम् अनश्वरमिति पूर्वेणान्वयः।।२७।।

एवं श्रेयस्कराः काला उक्ताः। अथ देशान्वक्तुं प्रतिजानीते-**अथेति**। कर्मादिश्रेयस आवाहनाधायकान् देशान् प्रवक्ष्यामि। तावदयं मुख्यो देशः श्रेयस्कर इत्याह स इति। यत्र देशे सत्पात्रं लभ्यते।।२८।।

यत्र यस्मिन् सर्वमेतच्चराचरमाधेयतया नियाम्यतया चाऽस्ति, तस्य भगवतो बिम्बं, यत्र च देशे वर्तते, यत्र च देशे तपोविद्यादयाभिर्युक्तं ब्राह्मणकुलं वर्तते।।२९।।

यत्र यत्र देशे हरेर्भगवतोऽर्चा पूजाप्रवर्तते स सर्वोऽपि देशः पुण्यतमः श्रेयसां पदं श्रेयस्साधनधर्मानुष्ठान योग्यं स्थानम्। किञ्च। यत्र येषु देशेषु पुराणेषु प्रसिद्धाः गङ्गादयो नद्यस्सन्ति।।३०।।

तथा पुष्कर प्रभृतीनि सरांसि च यत्र[1] सन्ति इति[2] पूर्वेण सम्बन्धः। उत किञ्च। यानि चार्हाश्रितानि महात्माभि-रधिष्ठितानि क्षेत्राणि सन्ति[3]। तान्येव प्रदर्शयति[4]-कुरुक्षेत्रमिति। यद्वा, कुरुक्षेत्रादिव्यतिरिक्तक्षेत्राभिप्रायेणोक्त महाश्रितानीति। गयस्यासुरस्य शिरः तत्पतनस्थानं, गयेत्यर्थः। प्रयागो गङ्गायमुनयोस्सङ्गमस्थानं, पुलहाश्रमः शालग्रामक्षेत्रम्।।३१।।

फल्गुनी नदी गयायामेव तत्स्थानं फाल्गुनम्। सेतुः रामसेतुः प्रभासः प्रत्यक्सरस्वतीसङ्गमस्थानं, कुशस्थलीद्वारवती, पम्पा पम्पातटम्[5] बिन्दुसरः कर्दमाश्रमः।।३२।।

नारायणाश्रमो बदरिकाश्रमः, नन्दा अलकनन्दातटं सीतारामयोराश्रमः चित्रकूटाद्रिः। एतत्प्रभृतयः तथा हे राजन्! महेन्द्रमलयादयः, सर्वे कुलगिरयश्च।।३३।।

**विज०** सत्पात्रं विशिनष्टि-विश्वमिति। यस्मिन्देशे भागवतास्तस्मिंश्चराचरं सर्वं जगदस्तीति ज्ञातव्यम्। "यतिर्यस्य गृहे भुङ्क्ते तत्र भुङ्क्ते हरिस्स्वयम्। हरिर्यस्य गृहे भुङ्क्ते तत्र भुङ्क्ते **जगत्त्रयम्**" इति वचनात्।।२६-२९।।

1. W Omits यत्र 2--2 W Omits 3. W Omits सन्ति 4 A,B,T Omit प्र 5- -5 A.B,T सरोवरम्।

अर्चाः शालग्रामादि-प्रतिमाः पुराणेषु भागवतादिषु विश्रुताः।।३०।।

कृष्णावेण्यादयश्च, क्षेत्राणि पुरुषोत्तमादीनि अर्हैः पूज्यैरगस्त्यादिभिराश्रितानि अधिष्ठितानि।।३१।।

[1]फल्गुनं स्थानं हरपुरं, कन्यातीर्थं वा "कन्यापुरं फाल्गुनं स्यात्स्थानं हरपुरञ्च तत्" इत्यभिधानम्। वाराणसी पुरी काशी।।३२,३३।।

**एते पुण्यतमादेशा हरेरर्चाश्रिताश्च ये।**
**एतान्देशान्निषेवेत श्रेयस्कामो ह्यभीक्ष्णशः।**
**धर्मो [2]ह्यत्रेहितः पुंसां सहस्राधि-फलोदयः।।३४।।**

**पात्रं [3]तत्र निरुक्तं वै कविभिः पात्रवित्तमैः।**
**हरिरेवैक उर्वीश यन्मयं [4]सचराचरम्।।३५।।**

**[5]देवर्ष्यर्हत्सु वै सत्सु [5]तत्र [6]ब्रह्मात्मजादिषु।**
**राजन्यदग्रपूजायां मतः पात्रतयाऽच्युतः।।३६।।**

**जीवराशिभिराकीर्ण [7]आण्डकोशाङ्घ्रिपो महान्।**
**तन्मूलत्वादच्युतेज्या सर्वजीवात्मतर्पणम्।।३७।।**

**पुराण्यनेन सृष्टानि नृतिर्यगृषिदेवताः।**
**शेते जीवेन रूपेण पुरेषु पुरुषो ह्यसौ।।३८।।**

**श्रीध० एते** इति। अर्चाश्रिताश्च स्थिरप्रतिमाश्रिताः पूर्वन्तु शालग्रामशिलार्चनदेश[8][9] उक्त[10] इत्यपौनरुक्त्यम्। अत्र एषु देशेषु ईहितः कृतः। सहस्रगुणमधिकस्य फलस्योदयो यस्मात्स तथा।।३४।।

[11]अथपात्रमाह-**पात्रमिति**। हरिरेवपात्रं निरुक्तं निर्णीतम्।।३५।।

तदेवाऽऽह **देवेति**। देवेषु च ऋषिषु चार्हत्सुच तपोयोगादिसिद्धेषु ब्रह्मात्मजादिषु सनकादिष्वपि सत्सु तत्र त्वदीये राजसूये यद्यस्मात् अच्युत एव पात्रतया सम्मतः।।३६।।

---

1. A, फा° 2. M,Ma ह्यत्रोदितः 3. A,B,G,J,T त्वत्र; M,Maचाऽत्र 4 A,B,C,J,T वैः; M,Ma च 5- -5 H,V देवर्ष्यर्हत्सुसत्स्वत्र . W देवेष्वर्हतसुसत्स्वत्र 6. H,V,W ब्रह्म° 7 H,V,W अ° 8. A,B,J °लाद्यर्च° 9 A,B,J °शाः 10. A,B,J °का: 11- -11 H,V Omit

सम्मतत्वे हेतुमाह-**जीवेति**। जीवराशिभिर्व्याप्तो ब्रह्माण्डकोश एव योऽङ्घ्रिपःसर्वजीवानामात्मनश्च तर्पणम्।।३७।।

एतदेव पुरुष नामनिरुक्त्या द्रढयति-**पुराणीति**। नृतिर्यगादिरूपाणि पुराणि शरीराणि, तेष्वन्तर्यामिरूपेण प्रत्यगंशेन च यतः शेते अतः पुरुष इति प्रसिद्धः।।३८।।

**वीर०** तथा ये हरेरर्चास्थिरा पूजा प्रतिमा वा तया आश्रिताः अधिष्ठिता स्त एते सर्वे पुण्यतमादेशाः बिम्बं भगवतो यत्रेति शालग्रामशिलाद्यर्चनदेश उक्तः। अत्रतु वेङ्कटाद्रिस्थानादीन्युच्यन्ते इत्यपौनरुक्त्यम्। श्रेयस्कामः पुमानभीक्ष्णशः पुनः पुनरेतान् देशान्नितरां सेवेत।।३४।।

पुंसां यत्फलसाधनत्वे यो धर्म उदितो विहितः स एषु देशेषु कृतः सहस्रगुणमधिकस्य फलस्य उदयो यस्मात्तादृशो भवेत्। एवं देश काला वुक्तौ। अथ पात्रमाह-**पात्रन्विद्यादिना**। हे उर्वीश! पात्रवित्तमैः सत्पात्रयाथात्म्यविद्भिः कविभिः हरिरेक एव पात्रं निरुक्तम्, हरिरेक एव सत्पात्रमिति निर्णीतमित्यर्थः। पात्रं पूज्यसमर्हणीयं वस्तु। हरिं विशिनष्टि - एतच्चराचरात्मकं जगद्यन्मयं यद्धरिप्रचुरम्। एतेन[1] तत्समर्हणेन सर्वे समर्हिता भवन्तीति सूचितम्।।३५।।

हरेरेव पात्रत्वं यतो राजसूयेऽधुनात्वयैव दृष्टमित्याऽऽह-**देवेष्विति**। हे राजन्! देवेषु ऋषिषु अर्हत्सु तपोयोगादिसिद्धेषु ब्रह्मादिषु सनकादिष्वपि सत्सु, तत्रत्वदीयराजसूये यद्यस्मादच्युत एवाऽग्रपूजायां पात्रतया मतोज्ञातः।।३६।।

हरेस्समर्हणेन सर्वेषामर्हणं कृतप्रायमित्याह-**जीवेति**। जीवराशिभिराकीर्णो व्याप्तः ब्रह्माण्डकोश एव यो महानाङ्घ्रिपोवृक्षः, तस्य मूलत्वात् कारणत्वात् अच्युतस्येज्याऽऽराधनं सर्वेषां जीवात्मनां तर्पणं तृप्तिकरं, यथाङ्घ्रिपस्य मूलेऽर्पितं जलं तच्छाखोपशाखानां वृद्धिकरं तथा ब्रह्माण्ड कोशमूलभूतेऽच्यते कृते कृतमर्हण मण्डान्तर्गतेषु सर्वेषु कृतप्रायमेवेत्यर्थः। अतः स एवोत्तमं पात्रमिति भावः। इतरत्राऽपि तद्दृष्ट्यैवार्हणं कार्यमिति च।।३७।।

एतदेव पुरुष नाम निरुक्त्या द्रडयति-**पुराणीति**। मनुष्यतिर्यग्ऋषिदेवतारूपाणि पुराणि शरीरात्मकानि अनेन भगवता सृष्टानि। सृष्टेषु च पुरेषु यतो भगवान् जीवेन रूपेण जीवाख्येन शरीरेण "यस्याऽऽत्मा शरीरम्"

1 W अनेन

(वृह.उ. 3-7-22) इति श्रुतेः। पुरे शेते अतोऽसौ पुरुषः। पुरुषशब्दः पुष्कलप्रवृत्तिनिमित्ताश्रायः। पुरे शेते इति पुरुषः, शकारस्य षकारः अकारस्य उकारश्च व्यत्ययात्। "अन्येष्वपि दृश्यते" (अष्टा. 3-2-101) इति डश्च। जीवेन रूपेणेत्यनेन केवलं सर्वकारणत्वादेव तदर्हर्ण तत्कार्यपर्यन्तपर्यवसन्नम्। अपि तु तत्तदन्तरात्मतया तत्तद्रूपेणाऽवस्थितत्वाच्चेत्युक्तं भवति[1]।।३८।।

**विज॰** हरेरर्चाश्रिताः हरिक्षेत्रादयः ; पुनर्वचनं सर्वस्मात्तेषां श्रैष्ठ्यद्योतनाय। एतद्देशनिषेवणेन किं विशेष फलमिति। तत्राऽऽह-धर्म इति। " कृष्णातरङ्गसम्भूतपवनस्पर्शमात्रतः। निर्धूतपातकास्सर्वेजना विष्णुपदं ययुः" इत्यादिशास्त्रेषु सहस्राधिकफलोदयत्वेनोदितः।।३४।।

पात्रेष्वपि तारतम्यमस्ति। तत्र मुख्यपात्रं हरिरित्याह-**पात्रमिति**। पात्रतारतम्यवित्तमैः कविभिः पात्रञ्च निरुक्तं वै मुख्यत्वेन निर्णीतं हीत्यन्वयः। किं तत्? इत्यत उक्तं हरिरिति। चराचरं यन्मयं यत्स्वामिकं यद्याप्तं सर्वं यस्मात्तस्मात् हरिरेव मुख्यं पात्रमित्यन्वयः।।३५।।

इदं भवतोऽपि सिद्धमित्याह-**देवेति**। ब्रह्मात्मजादिषु सत्सु, देवाश्च ऋषयश्च देवर्षयः त एवार्हन्तः पूजायोग्याः येष्वपि सत्सु तत्र तत्र यज्ञशालाया मच्युतो गुणतोऽवयवतः स्वरूपतश्च च्युतिरहितत्वात् श्रीनारायणोऽग्रपूजायां पात्रतया मतः त्वयाज्ञात इति यदतो मुख्यपात्रं हरिरित्यवधारणा युक्ता।।३६।।

किञ्च। प्रत्येकं पूजाऽपि न विधेया, भगवत्पूजया तत्तृप्तिसम्भवात्, तन्मूलत्वात्तेषाम्। तरुमूलनिषेवणञ्च शाखानामिवेति मुख्यवैष्णवसिद्धान्तमाह-जीवराशिभिरिति।।३७।।

ननु मुख्यपात्रालाभे विहितकर्मानुष्ठानविषयाभावेन तद्विधानं व्यर्थमित्याशङ्क्य तत्तद्योग्यपात्रं वक्तुं कञ्चन सृष्टिप्रकारमाह-**पुराणीति**। अनेन दयालुना हरिणा नृतिर्यगादिसंज्ञितानि पुराणि शरीराणि सृष्टानीत्यन्वयः। ततः किम्? तत्राऽऽह-शेते इति। श्रीहरि रेषु पुरेषु भोगायतनेषु जीवेन रूपेण स्वप्रतिबिम्बेन सह शेते इति यत्तस्मात् असौ पुरुष इत्युच्यते, जीवोऽपि तत्रामेति शेषः "पुरिशयनात्पुरुषः" इति श्रुतिं हिशब्देन सूचयति।।३८।।

**तेष्वीशो[2] भगवान्राजन्! तारतम्येन वर्तते।**
**तस्मात्पात्रं हि पुरुषो यावानात्मा यथेयते।।३९।।**

---

1. W Omits भवति। 2. A,B,G,J,T तेष्वेषु

**दृष्ट्वातेषां मिथो नृणामवज्ञानात्मनां[1] नृप।**
**त्रेतादिषु हरेरर्चा क्रियायै कविभिः कृता।।४०।।**
**ततोऽर्चायां हरिं केचित् श्रद्धाय[2] च सपर्यया।**
**उपासत उपास्ताऽपि[3] नाऽर्थदा पुरुषद्विषाम्।।४१।।**
**पुरुषेष्वपि राजेन्द्र! सुपात्रं ब्राह्मणं विदुः।**
**तपसा विद्यया तुष्ट्या धत्तेवेदं हरेस्तनुम्।।४२।।**
**नन्वस्य ब्राह्मणा राजन्! कृष्णस्य जगदात्मनः।**
**पुनन्तः[4] पादरजसा त्रिलोकीं दैवतं महत्।।४३।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवेयासिक्यां

अष्टादशसाहस्र्यां श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां

सप्तमस्कन्धे सदाचारनिर्णयो नाम चतुर्दशोऽध्यायः।।१४।।

**श्रीध॰ तेष्विति**। तारतम्येन तिर्यगादिभ्यः पुरुषे यस्मादाधिक्येन वर्तते, तस्मात्पुरुषः पात्रम्। तत्राऽपि यावानात्मा ज्ञानांशो यथायथा ईयते[5] तप आदियोगेन यत्र यत्र प्रतीयते तथा तथाऽऽसौ पात्रमित्यर्थः। तथा च श्रुतिः। "पुरुषत्वे चाविस्तरामात्मा" इत्यादि।।३९।।

तर्हि प्रतिमादौ हरेः किमिति पूजां कुर्वन्ति? तत्राऽऽह-**दृष्ट्वेति** द्वाभ्याम्। मिथोऽवज्ञानमसम्मानः। तस्मिन्नात्मा बुद्धिर्येषां तेषां भावं दृष्ट्वा क्रियायै पूजाद्यर्थम्।।४०।।

**तत** इति। हरिमुपासते। उपासिताऽप्यर्चापुरुषद्वेषिणामर्थदा न भवति पुरुषेषु द्वेषं हित्वा अर्चिता सती साऽपि मन्दाधिकारिणां पुरुषार्थप्रदा भवत्येवेत्यर्थः।।४१।।

पुरुषेष्वेवजात्या तप आदिभिश्च पुनर्विशेषान्तरमाह-**पुरुषेष्वपीति**। यो धत्ते तं सुपात्रं विदुः।।४२।।

एतदेव कैमुतिकन्यायेन द्रढयति-**नन्वस्येति**।।४३।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे

श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां चतुर्दशोऽध्यायः।।१४।।

---

1. M,Ma °ज्ञामात्मनो; A,B,G,J,T ज्ञानात्मतां 2--2 A,B,G,J,T संश्रद्धाय 3. M,Ma °सार्हि 4. H,V पुरतः; W पुनतः 5. H,V Omit ईयते 6 A,B T °मुन्य

**वीर०** इतोऽपि पुरुषशब्दवाच्यः स्वसमर्हणेन अन्येषां तदाधायकश्चेत्याह-**तेष्विति**। हे राजन्! तिर्यगादिभ्य स्तेषु पुरुषेषु तारतम्येन स्वकीयज्ञानशक्त्यादिगुणाविर्भाव तारतम्येन वर्तते भगवान्। अतोऽसौ पुरुषः पुरु अधिकं पुरुषेषु शेते इति पुरुषः; यत एवम्भूतोऽत स्तद्दृष्ट्यैवाऽर्हणमर्हणीयेषु सर्वेषु पुरुषेषु विधेयमिति भावः। यतो देवमनुष्यादि पुरेष्वन्तर्यामितया[1] जीवशरीरकतया च भगवान् वर्तते। यतश्च सर्वे पुरुषदेवादयो भगवच्छरीरभूताः, तेन तारतम्यं[2] व्याप्ताश्च। तस्मादात्मा परमात्मा पुरुषः परमपुरुषो यावान् यावद्गुणाविर्भाववान् यथा यत्र यत्र ईयते प्रतीयते तत्तत्पात्रं यत्र यत्राऽधिकं भगवतो ज्ञानशक्त्यादिगुणाविर्भावस्तत्तदुत्तमं पात्रं, न्यूनाविर्भाववत्तु अनुत्तममिति भावः। तदेवं भगवत एवोत्तमपात्रत्वमितरेषामपि तदात्मकत्वेनैवाऽर्हणीयत्वं, तदाविर्भावानुसारेण व्यवस्थितमिति चोक्तम्।।३९।।

ननु भगवतस्तदात्मकानां पुरुषाणामेवार्हणीयत्वे स्मृतिकारादिभिराराधनीयत्वे विहिता हरिप्रतिकृतिः पूजिता न फलदा स्यादिति चेत् भूतद्रोहिणां व्यर्थैवेत्याह-**दृष्ट्वेति** द्वाभ्याम्। मिथोऽवज्ञानं तिरस्कारः। तस्मिन्नात्मा बुद्धिर्येषां तेषां भावं दृष्ट्वा, हे नृप! हरेः क्रियायै पूजार्थमर्चा प्रतिमा कविभिः त्रेतादिषु युगेषु कृता पूज्यत्वेन विहिता। त्रेतादिष्वित्यनेन प्रायशः कृते सर्वात्मना ब्राह्मोपासनमेव विहितमिति सूचितम्।।४०।।

तत[3]ः तत्राऽऽर्चायां पूजार्थप्रतिमायां केचिद्धरिं श्रद्धाय[4] श्रद्धापूर्वकमुपासते। एव मुपास्ता आराधिताऽप्यर्चा पुरुषद्विषां भगवदात्मकान् पुरुषान् द्विषन्तीति पुरुषद्विषः तेषां नार्थदा न पुरुषार्थदा भवति, पुरुषान् बहुमन्य-मानानामेव अर्चाराधनं फलवदित्यर्थः।।४१।।

यदुक्तं, "तस्मात्पात्रं हि पुरुषः[5] यावानात्मा यथेयते"[5] इति तद्विवृणोति-**पुरुषेष्विति**। हे राजेन्द्र! पुरुषेष्वपि ब्राह्मणं सुपात्रं विदुः सुपात्रयाथात्म्यविदः। सुपात्रत्वे हेतुं वदन् विशिनष्टि-इदं ब्राह्मणात्मकं सुपात्रं तपसाऽनशनेन विद्यया आत्मयाथात्म्यज्ञानपूर्वकभगवदुपासनरूपविद्यया, तुष्ट्या दैवाल्लब्धसन्तोषेण च। इदं स्वधर्मशमदमा-दीनामप्युपलक्षणम्। एभिर्गुणैर्हरेस्तनुं धत्ते बिभर्ति। व शब्दः पादपूरणार्थः, एवकारार्थो वा। हरेरेव तनुं धत्ते इत्यर्थः।।४२।।

---

1. A,B,T पुरुषेष्व° 2. W तरतमं 3. A,B,T Omit ततः 4. A,B,T Omit संश्र° 5--5 A,B,T पुरुषः इत्यादि

एतदेव कैमुतिकन्यायेन[1] द्रढयति-**नन्वस्येति**। ननु[2] हे राजन्! न त्रिलोकीं पादरजसा पुनतः[3] पवित्रीकुर्वतः[4] जगदन्तरात्मनः श्रीकृष्णस्यापि ब्राह्मणा महद्दैवतं किमुताऽन्येषामस्मद्विधानां ब्राह्मणा दैवतमित्यर्थः।।४३।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां चतुर्दशोऽध्यायः।।१४।।

**विज०** ईशो भगवांस्तेषु पुरेषु स्थितः पुरुषनामसु जीवेषु च तारतम्येन तत्तद्भक्त्यादिगुणतारतम्यानुसारेण सन्निधानतारतम्येन वर्तत इति यस्मात्तस्मात् तत्तद्योग्यानुसारेण पुरुषो जीवराशिश्च पात्रं तदन्तर्यामिहरिस्मरणपूर्वकमिति शेषः। अत्र सन्निधानतारतम्यमेव हरेः, न तु स्वरूपतारतम्यम्। तदुक्तम्-"ब्रह्मादि स्थावरान्तेषु न विशेषो परेक्वचित्। व्यक्तिमात्रविशेषेण तारतम्यं वदन्ति च" (समयाचारे) इति। अत्रापीत्थम्भावमाह-यावानिति। पुरुषे तु आत्मा यावान्महिम्ना यथा येन प्रकारेण ज्ञायते तदानुकूल्येन जीवराशिः पात्रमित्यर्थः।।३९।।

हरिप्रतिमापूजायाः पुरुषस्थितपुरुषनाम्नो हरेः पूजा सम्यक् फलवतीत्याशयेनाऽऽह-**दृष्टेति**। कविभिस्तेषां नृणां मिथः आत्मनो हरेरेवज्ञां दृष्ट्वा त्रेतायां सपर्याक्रियायै हरेरर्चा कृता यस्मात्।।४०।।

ततः केचित्संश्रद्धया सपर्यया अर्चायां हरिमुपासते ये तेषां पुरुषस्थित हरिद्विषां सा उपासा ऐहिकफलमन्तरेण परमपुरुषार्थ प्रदा न भवतीत्यन्वयः।।४१।।

मुख्यपात्रमाह-**पुरुषेष्विति**। कीदृशो ब्राह्मणो मुख्यं पात्रमित्यत स्तद्विशिनष्टि-तपसेति। तनुं प्रति मास्थानम्। अत्र "शिलावत्प्रतिमास्सन्तो विप्राद्याश्च हरेः स्मृताः" (समयाचारे) इति वचनात् विप्रादिमात्रं हरिशिलास्थानीयं न, किन्तु तप आदिगुणविशिष्टब्राह्मणकुलम्। अन्यथा हरेरर्चैषा सा पुरुषार्थप्रदा न स्यादिति। तदुपासां विनिन्द्य सुपात्रं ब्राह्मणं विदुरिति कथनं व्यर्थं स्यात्। अत एव ब्राह्मण इति तत्पदं प्रायोजि।।४२,४३।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

सप्तमस्कन्धे चतुर्दशोऽध्यायः।।१४।।

(श्रीविजयध्वजरीत्या पञ्चदशोऽध्यायः।।१५।।)

* * * *

1. W °मुत्यन्या° 2. A,B,T Omit ननु 3. A,B,T °न्तः 4. A,B,T °न्तः।

# पञ्चदशोऽध्यायः

नारद उवाच

कर्मनिष्ठा द्विजाः केचित्तपोनिष्ठा नृपाऽपरे।
स्वाध्यायने[1] प्रवचने ह्यन्ये[2-] च ज्ञानयोगयोः[-2]।।१।।

ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यान्यानन्त्यमिच्छता।
दैवे च तदभावे स्यात् इतरेभ्यो यथाऽर्हतः।।२।।

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा।
भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि श्राद्धे कुर्यान्नविस्तरम्।।३।।

देशकालोचितश्रद्धा द्रव्यपात्रार्हणानि च।
सम्यग्भवन्ति नैतानि विस्तरात्स्वजनार्पणात्।।४।।

देशे काले च सम्प्राप्ते[3-] मुन्यन्यं[-3] हरिदैवतम्।
श्रद्धया विधिवत्प्राप्ते न्यस्तं कामधुगक्षयम्।।५।।

देवर्षिपितृभूतेभ्य आत्मने स्वजनाय च।
अन्नं संविभजन्पश्येत् सर्वं[4-] तत्पुरुषात्मकम्[-4]।।६।।

न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाऽद्याद्धर्मतत्त्ववित्।
मुन्यन्ने[5] स्यात्पराप्रीतिः यथा न पशुहिंसया।।७।।

---

1--1,A,B,G,J,M,Ma,T येऽन्ये; 2--2. A,B,G,J,T ये केचिज्ज्ञाः, M,Ma अन्ये च ज्ञा°। 3--3. M,Ma न मुत्पन्नं। 4--4 M,Ma सर्वतः पु°

5. A,B,G,J,T मुन्यन्नैः, M,Ma मुनीनां

**नैतादृशः परो धर्मो नृणां सद्धर्ममिच्छताम्।**
**न्यासो दण्डस्य भूतेषु मनोवाक्कायजस्य यः।।८।।**

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ततः पञ्चदशे सर्व वर्णाश्रमनिबन्धनम्। सारतः सङ्ग्रहेणाऽथ वर्ण्यते मोक्षलक्षणम्।।

सर्वेषामपि मोक्षधर्माणां सारसङ्ग्रहार्थमध्यायप्रारम्भः[1]। तत्र श्राद्धगतान्विशेषानाह-**कर्मनिष्ठा** इति। स्वाध्यायादिषु, परिनिष्ठिता इति शेषः।।१।।

**ज्ञानेति।** कव्यानि पितॄनुद्दिश्य देयानि। दैवे च कर्मणि[2] हव्यान्यपि तस्मै ज्ञाननिष्ठाय[3-] देयानि[-3] । यथार्हत इति सर्वत्र ज्ञानादितारतम्येन।।२, ३।।

ननु विस्तरः कुतः प्राप्ते ये निषिध्यते? तत्राह-**देशेति**। स्वजनानामर्पणात्। जामाता चेन्नियम्यते तत्पित्रादयः कथं वर्ज्याः इत्येवं प्राप्ता द्विस्तरादित्यर्थः।।४।।

**देशे** इति। मुन्यन्नमारण्यं व्रीह्यादि हरिः[4-] दैवतं यस्य[-4] हरये निवेदितं[5] इत्यर्थः।।५।।

**देवेति।** सर्वं[6] पुरुषात्मक मीश्वरस्वरूपम्[7]।।६,७।।

**नेति।** दण्डस्य न्यासो हिंसायास्त्यागो य एतादृशोऽन्यो धर्मो[8] नास्ति।।८।।

## श्रीवीरराघवविदुषालिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तपसा विद्ययेत्यादिना ब्राह्मणेष्वपि तप आदिगुण तारतम्येन पात्रत्वं तारतम्येन व्यवस्थितमिति सूचितम्। तदेव[9] विवृण्वन् सुपात्रायैव श्राद्धादिष्वन्नादिकं दद्यादिति वदन्नन्यानपि श्राद्धीयनियमानाह देवर्षिः **कर्मनिष्ठा** इत्यादिना। हे नृप! केचिद्द्विजाः त्रैवर्णिकाः कर्मनिष्ठाः स्ववर्णाश्रमोचितकर्मनिष्ठाः। केचिच्च अनशनादितपोनिष्ठाः, केचित् स्वाध्याये प्रवचने अध्यापने च परिनिष्ठिताः। केचिच्च ज्ञानयोगयोरुभयोरपि, निष्ठिता इति शेषः। ज्ञानमात्मयाथाम्यज्ञानपूर्वकं भगवदुपासनात्मकम्। यागोऽनभिसंहितफलकर्मयोगः।।१।।

---

1. H,V प्यारम्भः 2 A,B,T, Omit कर्माणि 3- -3.A,B,J. Omit 4- -4. A,B,T हरिदैवतं। 5. A,B,T सत् 6.A,B,T. Omit सर्वं। 7. H,V Omit स्व 8. H,V Omit धर्मः 9. A,B,T एतः

तत्र ज्ञाननिष्ठाय ज्ञानकर्मयोगानुगृहीतभगवदुपासनात्मकज्ञानयोगनिष्ठाय पितॄनुद्दिश्य देयानि कव्यानि श्राद्धान्नादीनि आनन्त्यमपरिमितं फलं मोक्षरूपं फलमिच्छतां पुंसां देयानि। तथा दैवे च कर्मणि हव्यान्यपि ज्ञाननिष्ठायैव देयानि । तदभावे ज्ञाननिष्ठस्याऽलाभे[1] इतरेभ्यः कर्मनिष्टादिभ्योऽपि यथायोग्यं ज्ञानादितारतम्येन देयानि[2]।।२।।

दैवे विश्वेदेवस्थाने द्वौ ब्राह्मणौ पितृकार्ये पितृप्रयोजने, पित्रर्थमिति यावत्। त्रीन् ब्राह्मणानुभयत्र द्वयोरपि स्थानयोरेकैकं वा ब्राह्मणं भोजयेत्। सुसमृद्धोऽपि धनाढ्योऽपि एवं ब्राह्मणान् भोजयेत् , न तु श्राद्धे विस्तरं कुर्यात्।।३।।

श्राद्धे[3] विस्तराद्दोषमाह - **देशेति**। देशकालपात्राणि यथोक्तान्येव। उचिता श्रद्धा विश्वासः, कर्तव्यविषयात्वरा वा, अर्हणं पूजासाधनं तानि समीचीनान्यपि स्वजनार्पणाद्विस्तारान्नसम्यग्भवन्ति, विगुणान्येव[4] स्युरित्यर्थः। ननु कुतो विस्तरः प्राप्तः येन निषिध्यते - इति शङ्कां वारयितुं स्वजनार्पणात् इत्युक्तम् स्वजनानामर्पणात् दौहित्रो निमन्त्रितश्चेत् तत्पुत्रादयः कथं वर्ज्या इत्याद्येवम्प्राप्ताद्विस्तरा दित्यर्थः।।४।।

श्राद्धे विष्ण्वर्थमपि ब्राह्मणं भोजयेदित्याह-**देश**इति। देशे पूर्वोक्ते, कालेऽपरपक्षादिरूपं मृताहादिरूपे च काले प्राप्ते कर्तव्यत्वेन प्राप्ते श्राद्धे पात्रे सत्पात्रे विधिवच्छ्रद्धया न्यस्तं मुन्यन्नमारण्यं व्रीह्यादिजमप्यन्नं कामधुक् कामदमक्षयफलदं मुक्तिसाधनञ्चेत्यर्थः।।५।।

सर्वाश्रमसाधारणान् कांश्चिद्धर्मानाह-**देवर्षीति**। देवादिभ्य आत्मने स्वजनाय बन्धुजनाय चाऽन्नं विभजेत् विभज्य दद्यात्। तद्देवादिकं सर्वं प्राणिजातं पुरुषात्मकं भगवदात्मकं पश्येत्।।६।।

आमिषं मांसं श्राद्धे पित्राद्युद्देशेन न दद्यात्। इदं क्षत्रियाभिप्रायकम्। धर्मयाथात्म्यवित्[5] स्वयमप्यामिषं नाद्यात्[6] नाऽश्नीयात्। यथा मुन्यन्नैरपि परा उत्कृष्टा पित्रादीनां प्रीतिः स्यात्, तथा पशुहिंसया न स्यात्।।७।।

किञ्च। सद्धर्ममिच्छतां नृणामेतादृश एव पर उत्कृष्टो धर्मः। कोऽसौ? यो भूतेषु मनोवाक्कायजस्य दण्डस्य न्यासस्त्यागः करणत्रयेण भूतद्रोहाभाव एव नृणां परो धर्म इत्यर्थः। एतादृशः अन्यः परो धर्मो नास्तीति

1.A,B,T °Sभावे। 2. A,B,T देयं स्यात्। 3.A,B,T श्राद्धविस्तरात्। 4. W omits एव। 5. A,B,T add तथा। 6 A,B,T Omit नाद्यात्

भावः। न दद्यादामिषमित्यनेन पशुमृगादिहिंसागर्भमांसादिद्रव्यकश्राद्धादेरपि मुन्यन्नेनापि कृतं श्राद्धादिकं नितरां पित्रादीनां प्रीतिकृदित्युक्तम्। नैतादृश इत्यनेन भूतहितमेवोत्कृष्टधर्म इत्युक्तम्[1]।।८।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

कर्ममार्गो ज्ञानमार्गश्च कार्याणां कारणेषु लयः प्रवेशलक्षणश्च तत्साधनञ्च प्रपञ्चस्वरूपञ्च निरूपयत्यस्मिन्नध्याये। तत्र प्रथमतो ब्राह्मणादपि ज्ञाननिष्ठमुत्तमं पात्रं दैवोपलब्धेन द्रव्येणैव नित्यनैमित्तिकक्रियाकरणं धर्माधर्मविवेकश्च कथ्यते। तत्र ब्राह्मणान्विवेचयति कर्मेति। कर्मनिष्ठा गृहस्थाः , तपोनिष्ठा वानप्रस्थाः, स्वाध्यायनिष्ठा ब्रह्मचारिणः, प्रवचननिष्ठा कुटीचकाः, बहूदकाश्च, योगनिष्ठा हंसाः, ज्ञाननिष्ठाः परमहंसाः।।१।।

तत्र सन्ततेरानन्त्यं मुक्तिश्चेच्छता ज्ञाननिष्ठाय परमहंसाय कव्यानि पितृभ्यो दीयमानान्यन्नानि दातव्यानीति विधिरित्यन्वयः। दैवे कर्मणि च तस्मा इति शेषः। तदभावे परमहंसाभावे इतरेभ्यो हंसादिभ्यः श्राद्धादिदानं स्यात्। तत्राऽपि यथार्हतः यथायोग्यम्।।२।।

अत्र भोक्तुस्संख्या नियमानाह - **द्वाविति**।।३।।

कुतो विस्तारो न कर्तव्य इति तत्राह - **देशेति**। स्वजनार्पणात् आत्मीयार्पणलक्षणात् विस्तारदैतानि देशकालोचितश्राद्धादीनि सम्यक् न भवन्तीति यत्तस्मात् विस्तारं न कुर्यादिति पूर्वेणान्वयः।।४-६।।

यतेः श्राद्धभोजने मुख्याधिकारित्वे मांसविधानं कथमुपपद्यत इति तदपवादत्वेन विधत्ते - न **दद्यादिति**। शास्त्रान्तर विधिमोहितेन केनचित्कामपरिमोक्षणेन मस्करिणा न भोक्तव्यमिति विधत्ते - न चेति। न च श्राद्धभङ्ग इत्याह–धर्मेति। " विना मांसेन मधुना विना दक्षिणयाऽऽशिषा।अक्षयं भवति श्राद्धं यतिषु श्राद्धभोजिषु। ग्रामे वा नगरेऽरण्ये ज्ञातभिक्षुर्वसेद्यदि। तमन्तरेण यच्छ्राद्धं तदाऽसुरमथो भवेत्।" इत्यादिस्मृतेः। तद्विधायकशास्त्रमासुरजनमोहनार्थत्वेन देशकालविशेषविषयत्वेन वा योजनीयम्। आमिषाभावे भोक्तुः सौहित्याभावेन पितॄणां सौहित्यं नस्यादिति , तत्राह–मुनीनामिति। मुनीनां संयमिनां यथा मांसानदनेन पराप्रीतिः सौहित्यं स्यात्, तथा पशुहिंसया जातमांसेन न स्यात्। यथा मुनीनां । पितॄणां यतिभोजनेन पराप्रीतिः तथा पशुहिंसाजातामिषभोजनेन

1. W omits उक्तम्।

न स्यादिति द्विरावृत्त्या योजनीयम्। "वाचंयमे च सर्वज्ञे मुनिशब्दः पितृष्वपि" इत्यभिधानम्। मुनीनां सर्वज्ञानां देवानां यथा परमा प्रीति स्तथा पशुहिंसालक्षणेन योगेन नेति वा।।७।।

श्राद्धे चतुर्थाश्रम्येव पूज्य[1] इति प्रायिकः, तद्धर्मो यस्यास्ति सोऽपि मान्य इत्याशयेनाह - **नैतादृश** इति। सद्धर्ममिच्छतां नृणां भूतेषु मनोवाक्कायकर्मजस्य दण्डस्य न्यासः सन्त्यागो य एतादृशो धर्मः परोऽन्यो नास्ति। अयमेव मख्यो धर्मः। तस्मादेतादृशधर्मोऽपि श्राद्धे मान्य इत्याशयः। "वेणुभिर्न भवेद्यतिः" (भा.ग. 11-18-17) इति वक्ष्यति। न केवलं पश्वालम्भनलक्षणहिंसाभावान्मुनीनां प्रीतिजनकोऽपि तु मन आदिना क्रियमाणदण्डलक्षण हिंसाभावोऽपीत्यतो वाह - **नेति**।।८।।

**एके कर्ममयान् यज्ञान् ज्ञानिनो यज्ञवित्तमाः।**
**आत्मसंयमनेऽनीहा जुह्वति ज्ञानदीपिते।।९।।**

**द्रव्ययज्ञैर्यक्ष्यमाणान्[2] दृष्ट्वा भूतानि बिभ्यति।**
**एष माऽकरुणो हन्यादतज्ज्ञो ह्यसुतृब्ध्रुवम्।।१०।।**

**तस्माद्दैवोपपन्नेन मुन्यन्नेनाऽपि[3] धर्मवित्।**
**सन्तुष्टोऽहरहः कुर्यान्नित्यनैमित्तिका[4]: क्रियाः।।११।।**

**विधर्मः परधर्मश्चाऽप्याभास उपमा छलः।**
**अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत्त्यजेत्।।१२।।**

**धर्मबाधो विधर्मस्स्यात् परधर्मोऽन्यचोदितः।**
**उपधर्मस्तु पाषण्डो[6] दम्भो वा शब्दभिच्छलः[7]।।१३।।**

**यस्त्विच्छया[8] कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमः[9] पृथक्।**
**स्वभावविहितो धर्मः कल्पतेऽस्योपशान्तये[10]।।१४।।**

---

1. A,B Omit पूज्य। 2.A,B,G,J,M,Ma,T, माण 3. M,Ma नैव। 4. H,M,Ma,V,W °काः। 5. A,B,G,J,M,Ma,T °श्च आ°। 6. A,B,G,J,M,Ma,T °ख°। 7. M,Ma धर्मभि°। 8. W यस्स्वेच्छया। 9. A,B,G,J,T °मात्पृ°। 10- -10 A,B,G,J,T कस्यनेष्टः प्र °, H,V कल्पतोऽन्योप °; M,Ma कल्पतेऽस्योप°

**धर्मार्थमपि नेहेत यात्रार्थं वाऽधनो धनम्।**
**अनीहानीहमानस्य महाहेरिव वृत्तिदा।।१५।।**

**सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत्सुखम्।**
**कुतस्तत्कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः।।१६।।**

**श्रीध०** अतएवोत्तमाधिकारिणो बाह्यनिकर्माणि त्यजन्तीत्याह - **एक** इति। अनीहा निष्कामाः। ज्ञानदीपिते आत्मस्फूर्तिमत्यात्मसंयमने जुह्वति। मनो नियम्य तदन्तरायतया त्यजन्तीत्यर्थः। तदुक्तं **सर्वज्ञसूक्ते** -"प्रत्यक्स्फूर्ति रसस्फूर्तिः स्वानुष्ठानविघातकम्[1]। संलक्ष्य संत्यजेत्कर्म त्यजन्विघ्नहतोऽन्यथा" इति।।९।।

**द्रव्येति**। मा मामेष ध्रुवं हन्यादिति। कुतः अकरुणः। तत्कुतः? असुतृप्प्राणतर्पकः तत्किम्? अतज्ज्ञः आत्मतत्त्वानभिज्ञः। तथा च श्रुतिः-"न तं विदाथ[2] य[3] इदं जजानान्यद्युष्माक मन्तरं भवति नीहारेण प्रावृता जल्प्या चाऽसृतृप उक्थशासश्चरन्ति"[4] इत्यादि।।१०।।

प्रस्तुतमनुवर्णयति[5] - **तस्मादिति**।।११।।

**विधर्म** इति। अधर्मवत् साक्षान्निषिद्धवत्।।१२।।

क्रममनादृत्य पञ्चापि व्याचष्टे - **धर्मेति**। धर्मबाधो धर्मबुद्ध्याऽपि यस्मिन् क्रियमाणे स्वधर्मबाधः। अन्यस्य चोदितोऽन्यस्य परधर्मः। वेदविरुद्धो[6] यः स पाषण्डः। धर्मवत् आभासमानो यः स दम्भः। धर्मलक्षणरहितो धर्मवदाभासमानो वा यः स दम्भः। लोकं प्रलोभ्य धनापहरणार्थं क्रियमाणो यः सोऽपि दम्भः। छलधर्मं व्याचष्टे शब्दभिदिति। स च द्विविधः-अर्थच्छलः शब्दच्छल इति। अर्थच्छलो यथा - गां दद्यादित्युक्ते मरिष्यन्त्या गोर्दानम्। शब्दच्छलो यथा-दशावरान् भोजयेदित्युक्ते दशभ्योऽवरानिति। धर्मभृदिति पाठे धर्मशब्दमात्रं बिभर्तीति[-6] तथा।।१३।।

**य** इति। स्वधर्मानुष्ठानानन्तरं धर्मभूयस्त्वार्थमपि परधर्मो[7] नाऽनुष्ठेयोऽनुपयोगादित्याह - स्वभावविहित इति।।१४।।

---

1. A,B,J तनुनिष्ठावि° 2. A,B,J °थ 3. A,B,J इमा 4. A,B,J इति 5. A,B,J °वर्त° 6- -6. A,B,J उपमेति व्याचष्टे उपधर्मस्त्विति। शब्दस्य भिन्नेदः अन्यथा व्याख्यानं यस्मिन्। यथा दशावरान् भोजये दित्युक्ते दशभ्योऽवरानिति। शब्दभृदितपाठे धर्मशब्दमात्रं बिभर्तीति तथा यथा गांदद्यादित्युक्ते मरिष्यन्त्या गोर्दानम्। 7. H,V परो

**धर्मार्थ** मिति। किञ्च। अधनो धर्मार्थं धनं नेहेत नापेक्षेत, धनार्थं न व्याप्रियेतेति वा दैवोपपन्नेनैव स्वधर्म सिद्धे रुक्तत्वात्। यात्रार्थमपि नेहेतेत्येतत्प्रपञ्चयति - अनीहेत्यादि[1] सार्धैष्षड्भिः।।१५,१६।।

**वीर०** यत[2] एव केचिज्ज्ञाननिष्ठा हिंसागर्भद्रव्ययज्ञान् जहति, ज्ञाननिष्ठाश्च भवन्तीत्याह - **एक** इति। य ज्ञवित्तमा यज्ञयाथाम्त्यविदः अनीहा निष्कामाः केचित् ज्ञानिनः पूर्वोक्तोत्कृष्टधर्मज्ञानवन्तः कर्ममयान् यज्ञान् पशुपुरोडाशादि द्रव्यकान् यज्ञान् ज्ञानदीपिते आत्मसंयमने जुह्वति, ज्ञानेन परमात्मोपासनात्मकेन दीपिते प्रज्वलिते आत्मनो मनसः संयमनो[3] नियमस्तस्मिन् योगाग्नावित्यर्थः। तत्र जुह्वति। "तस्यैवं विदुषो यज्ञस्याऽऽत्मा यजमानः, श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदि मालोमानि बर्हिः" (म.ना. 3-18-1) इत्यादि पुरुषविद्योक्तविधया क्रियामयान् यज्ञान् हित्वा ज्ञानमयान् यज्ञान् अनुतिष्ठन्तीत्यर्थः।। ९ ।।

एवं जुह्वतामयं भाव इत्याह - **द्रव्ययज्ञा** इति द्रव्ययज्ञैः पशुपुरोडाशादियज्ञैः यक्ष्यमाणं दृष्ट्वा भूतानि पश्वादीनि एष यक्ष्यमाणो निर्घृणोऽज्ञश्चासुतृप् अस्माकमसुभिः तृप्यतीति तादृशः मां ध्रुवं हन्यादिति बिभ्यतीत्यशयेन द्रव्ययज्ञान् हित्वा ज्ञानयज्ञाननुतिष्ठन्तीत्यर्थः ।। १० ।।

तस्मात्पूर्वोक्तभूतसुहृत्त्वरूपोत्कृष्टधर्मवित्पुमान् दैवादुपनतेन मुन्यन्नेनापि, न तु मांसादिना अहरहः नित्यनैमित्तिकाश्च क्रियाः सन्तुष्टः कुर्यात्। यद्यप्यत्र "मुन्यन्नैः स्यात्परा प्रीतिस्तथा न पशुहिंसया" (भाग. 7-15-7) इत्यनेन "द्रव्ययज्ञैर्यक्ष्यमाणम्" (भाग. 7-15-10) इत्यनेन च मांसश्राद्धाग्नीषोमीयादि कर्मणां हिंसागर्भत्वेन पापमिश्रत्वं प्रतीयते। तच्च "अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्" (ब्र.सू.3-1-25) इति शारीरकाधिकरणन्यायविरुद्धम्। तत्र ह्यग्नीषोमीयादिकर्मणां पशुहिंसादिरूपपापमिश्रत्वेनाऽशुद्धियुक्तत्वं परिचोद्य, नैतद्युक्तम्; कुतः? शब्दात् अग्नीषोमीयादेः संज्ञपनस्य स्वर्गलोकप्रीतिहेतुतया हिंसात्वाभावशब्दात्पशोर्हि संज्ञपननिमित्तां स्वर्गलोकप्राप्तिं वदन्तं शब्दमामनन्ति "हिरण्य शरीरं ऊर्ध्वं स्वर्गं लोकमेति" इत्यादिकमतिशयिताभ्युदयसाधनभूतो व्यापारोऽल्पदुःखदोऽपि न हिंसा, प्रत्युत रक्षणमेव। तथा च मन्त्रवर्णः "न वा उ वैतत्प्रयासेन रिष्यसि देवा इदेषो पथिभि सुगेभिः यत्र यान्ति सुकृतो नापि दुष्कृतस्तत्रत्वादेवः सविता दधातु" इति चिकित्सितञ्च। तादात्विकाल्पदुःखकारिणमपि रक्षकमेव वदन्ति पूजयन्ति च तज्ज्ञा इति हिंसात्वाभावस्सिद्धान्तितः। तथाऽप्यत्र हिंसागर्भत्वमात्रे पश्वादिहिंसायाश्च सर्वभूतसुहृदां ज्ञानिनामननुरूपत्वे च तात्पर्यं, न तु यागीय हिंसायाः

1.A,B,J हेति। 2. A,B,T add एवमत°, 3. A,B,T संयमो। 4. W Omits पाप

पापत्वेऽपि। अत एव केवलं भूतानि बिभ्यतीत्येतावदेवोक्तं, न तु तद्धिंसायाः पापत्वमपीत्यतो न शारीर-कन्यायविरोधः।।११।।

तदेवं प्रातिस्विकान् साधारणांश्च वर्णाश्रमधर्मानभिधाय, अथ तेषां धर्माभासेभ्यो विवक्तत्वज्ञापनाय तान् सङ्गृह्य दर्शयन् तेषां त्याज्यत्वमाह - **विधर्म** इति । विधर्मादयः पञ्चैते[1] धर्माभासा अधर्मस्य वृक्षरूपस्य शाखाः शाखाभूताः। तत स्तान् धर्मयाथात्म्यवित् अधर्मवत् त्यजेत्।।१२।।

विधर्मादीन् पञ्च व्याचष्टे - **धर्मबाध** इति। धर्मबुद्ध्या यस्मिन् क्रियमाणे स्वधर्मबाधः स्यात् स विधर्म इत्यर्थः। अन्यस्य क्षत्रियादेश्चोदितो विहितो धर्मः स ब्राह्मणादेः परधर्मः। उपधर्म इति पाषण्डः वेदविरुद्धागमोक्तः दम्भो वा परवञ्चनार्थो वा उपधर्म इत्यर्थः। छलं व्याचष्टे - शब्दभिच्छल इति। शब्दस्य प्रमापकस्य भित् अन्यथा व्याख्यानं यस्मिन्। यद्वा द्वादशावरान् भोजयेदित्युक्ते द्वादशसंख्याकेभ्योऽवरान् एकादश दश वेत्यादि! शब्दभृदिति पाठे धर्मशब्दमात्रं बिभर्तीति तथा यथा गां दद्यादित्युक्ते मरिष्यन्त्या गोर्दानमिति[2]।।१३।।

आभासं व्याचष्टे - **यस्त्विति** पुम्भिः स्वेच्छया पृथक् चतुर्भ्यः आश्रमेभ्यः पृथक्कल्पितः आश्रमोऽवधूतादिः स्वधर्मानुष्ठानानन्तरमपि, धर्मभूयस्त्वार्थमपि परधर्मो नाऽनुष्ठेयोऽनुपयोगादित्याह - स्वभावेति। स्वभावेन विहितः[3] ब्राह्मणादिस्वभावानुगुण्येनाऽभिहित इज्यादिरूपः, स एवास्योपशान्तये मनःप्रशान्तये कल्पते, अतो न परधर्मस्योपयोग इत्यर्थः।।१४।।

एवं भगवदुपासनाङ्गभूतावर्णाश्रमधर्मा उक्ताः। अथ प्रधानभूतभगवदुपासनात्मकाष्टाङ्गयुक्तभक्ति-योगानुष्ठानप्रकारं वक्ष्यन् तावत्तद्विरोधिनां कामक्रोधलोभभयशोकमोहदम्भतापत्रयनिद्रादीनां जयोपायानाह - **धर्मार्थमपी**त्यादिना, "पूर्तमिष्टं तथा सत्" इत्यन्तेन। तत्र तावदसन्तोषस्य लोभात्मकस्यानर्थावहत्वं तन्निमित्ताया धनलिप्सायास्त्याज्यत्वञ्च वक्तुं दैवादुपनते नैव द्रव्येण स्वधर्मं देहधारणञ्च कुर्यात्, न तु तदर्थं धनं कामयेतेत्याह - धर्मार्थमिति। अधनो निर्धनः पुमान् स्वधर्मार्थमपि यात्रार्थं देहधारणार्थमपि वा धनं वित्तं नेहेत न कामयेत। यत्रार्थमपि नेहेतेत्येतत्प्रपञ्चयति - अनीहेति सार्धेषड्भिः। महाहेरिव अनीहमानस्य यात्रार्थं धनार्थमपि[4] चेष्टामकुर्वतः दैवोपनतेन प्राणान् धारयमाणस्येत्यर्थः। अनीहाऽकामना एव वृत्तिदा जीवनावहा दैवादुपनतेन जीवतोऽकामयमानस्याऽकामनैव नितरां सुखजननद्वारा वृत्तिदेति भावः।।१५।।

1. A,B,T पञ्चेमे। 2. W Omits इति। 3. A,B,T Omits विहितः। 4. W Omits अपि

तदेवाह - **सन्तुष्टस्येति।** निरीहस्य सन्तुष्टस्य दैवाल्लब्धेन सन्तुष्टस्य स्वात्मारामस्य स्वस्यात्मान्तरात्मापरमपुरुषः तस्मिन् रममाणस्य स्वशरीरक ब्रह्मानन्दानुभवपरस्य यत्सुखं तत्कामलोभेन, काम्यन्त इति कामाः, शब्दादयो विषयाः तेषु लोभेन सङ्गेन निमित्तेन अर्थेहया धनेच्छया कामलोभनिमित्तकधनेच्छया सर्वा दिशः प्रतिधावतो भ्राम्यमाणस्य पुंसः कुतो हेतोर्भवति; अनीहया यत्सुखं तदीहया नास्तीत्यर्थः।।१६।।

**विज॰** श्राद्धादिकर्मग्रामो यत्यादिपात्रमुद्दिश्य कर्तव्यमित्यभिहितम्। अधुना परमभागवतास्तदपि न कुर्वन्तीत्याशयेनाह - **एक** इति। "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" (भ. गी 18-66) इति शिक्षिताः। एके भगवदेकार्पितदेहयात्राज्ञानिनः कर्ममयान् श्राद्धादियज्ञा नात्मसंयमने मनस्संयमनाग्नौ जुह्वति मानसयोगं कुर्वन्तीत्यन्वयः। आत्मसंयमनं विशिनष्टि - ज्ञानेति। ज्ञानेन्धनदीपिते यज्ञवित्तमाः मानस यज्ञप्रयोगपटवः। अनीहा इति हेतुगर्भविशेषणम् निवृत्तमार्गप्रवृत्तत्वादित्यर्थः।।९।।

ननु द्रव्ययज्ञं सन्त्यज्य ज्ञानयज्ञकरणे किं कारणमित्याशङ्क्य भूतभयजनकहेतुत्वेन निरयहेतुरयमित्याशयेनाऽह - **द्रव्येति**। एष द्रव्ययज्ञकारिसमुदायो मा मां हन्यादिति भूतानि बिभ्यतीत्यन्वयः। "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इति विहितत्वात्तदुक्तं कुर्वतो दृष्ट्वा कथं भयं स्यात्? इत्यत उक्तमतज्ज्ञ इति। विध्यभिप्रायमजानन् "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः" (भ.ग. 4-24) इत्यादिविहितविधेरभिप्रायः। अत एवाऽकरुण इत्युक्तम्। एतादृशोऽसुरदेश्य इत्याशयोनोक्तमसुरतृप् इति। "नीहारेण प्रावृताजल्प्या चाऽसुतृप उक्थशासश्चरन्ति" (ऋक्सं.10-82.7) इति श्रुतिः हीत्यनेन गृह्यते। ध्रुवमित्ययं शब्दः श्रीहरिविमुखस्याऽनर्थं निश्चाययति। "असुन्वन्तं समं जहि दूणाशं यो न ते मयः" (ऋक्सं. 1-176-4) इति श्रुतेः। ते मयस्त्वत्प्रधानकः दूणाशं दुर्नाशं असुन्वन्तं सुन्वद्विरोधिनम्। अन्यथा "सुन्वन्तं वा पराचिच्छीर्षा ववृजुस्त इन्द्रायज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः" इति श्रुतेः।।१०।।

ननु, तर्हि "नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्यवाय जिहासया" इति विधानं व्यर्थमिति तदुपायमाह - **तस्मादिति**। दैवोपपन्नेनाऽयाचितादिविधिना प्राप्तेन नीवारादिना, तदभावे उत्पन्नेन फलशाकादिना।।११।।

धर्मवित्त्वं नाम तत्प्रतिपक्षधर्मभेदलक्षणे ज्ञाते शुद्धं स्यादित्यतस्तच्छाखा आह - **विधर्म** इति।।१२।।

अधर्मवद्विधर्मादीनां स्वरूपं दर्शयति - **धर्मेति**। अधर्मवद्धर्मपीडनं विधर्मः। अन्यस्य क्षत्रियादेश्चोदितो विहितो धर्मो ब्राह्मणेनाऽनुष्ठीयमानः परधर्मः। दम्भेन क्रियमाणो धर्मः दम्भः, स चोपधर्म इत्युच्यते। धर्मशब्दार्थमिच्छतां धारको हि धर्मः , तमर्थं भिनत्तीति स छलधर्म इत्युच्यते।।१३।।

पुम्भिः काम्यफलेच्छया कृतो यो धर्मः स आभास इत्युच्यते,हि शब्दः इयानेषां भेद इत्याह - धर्मप्रतिपक्षभेद स्वरूपमुक्त्वा धर्मप्रयोजनमाह - आश्रम इति। हि शब्द उत्तरत्राऽपि सम्बध्यते। तेन वर्णं लक्षयति - यो ब्राह्मणादिवर्णो यश्च ब्रह्मचर्याद्याश्रमः अत्र तत्तत्स्वभावानुसारेण भगवदर्पणबुद्ध्या पृथक् पृथक् विहितो यो धर्मः सजीवस्योपशान्तये संसारनिर्मूलनाय कल्प्यते समर्थ्यते, शास्त्रेष्विति शेषः। स्वभावपदसामर्थ्यात्सात्त्विको धर्मो मुक्तिहेतुर्नाऽन्यः। राजसतामसः स्वर्गनरकादिहेतुः - "धर्मो भवत्यधर्मोऽपि कृतो भक्तैस्तवाच्युत! पापं भवति धर्मोऽपि यो न भक्तैः कृतो हरे" इति वचनात्। अस्य जीवस्योपशान्तये, मोक्षयेति वा।।१४।।

ननु निष्कर्मणा पुरुषेण धर्मकरणं दुस्साध्यम् अर्थाभावात्। तस्मादधनेन तदर्थं कृष्यादिकं कर्मकर्तव्यमिति तत्राह - **धर्मार्थमिति**। तर्हि देहादि यात्रार्थं कर्मकर्तव्यम् अन्यथा तन्नाशेन पुरुषार्थानुदय इति तत्राह - अनीहेति। अत्रानीहा स्वदेहपोषणायासनिवृत्तिः। महाहे रजगरस्य।।१५।।

निरन्तरं भगवदुपासनामृतपायिनोऽनीहा परमानन्दकारणमित्याह - **सन्तुष्टस्येति**। यदृच्छया सन्तुष्टस्य यत्सुखं कामलोभेन कामभोगेच्छयाऽर्थेहया धनयाचनप्रवृत्त्या च दिशोधावतः पुंसः कुतः कस्मात् कर्मणस्तत्सुखं लभ्यते! इत्यन्वयः।।१६।।

**सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः [1]शिवमया दिशः।**
**शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदश्शिवम्।।१७।।**

**सन्तुष्टः [2]केन वा राजन्नवर्तेताऽपि वारिणा।**
**औपस्थ्यजैह्व्य[3] कार्पण्या[4] द्वृहपालायते जनः।।१८।।**

**असन्तुष्टस्य विप्रस्य तेजो विद्या तपो यशः।**
**स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन ज्ञानञ्चैवावकीर्यते।।१९।।**

**कामस्यान्तं हि[6] क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यान्तं[7] फलोदयात्।**
**जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः।।२०।।**

---

1. A,B,G,J,T सुखं 2. A,B,G,J,M,Ma,T केन 3. W °स्थ 4. H,V,W °ह्व 5. M,Ma °वती° 6. A,B,G,J,T च 7. A,B,G,J,M,Ma,T स्यैनत्फ°

**पण्डिता बहवो राजन् बहुज्ञा स्संशयच्छिदः।**

**सदसस्पतयोप्येके असन्तोषात्पतन्त्यधः।।२१।।**

**असङ्कल्पाज्जयेत्कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।**

**अर्थेऽनर्थेक्षयालोभं[1] भयं तत्त्वावमर्शनात्।।२२।।**

**आन्वीक्षिक्याशोकमोहौ दम्भं महदुपाश्रयात्[2]।**

**योगान्तरायान्मौनेन हिंसां कायाघनीहया[3]।।२३।।**

**कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात्समाधिना ।**

**आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया।।२४।।**

**श्रीध॰ सदेति।** उपानहौ पदोः[4] पादयोर्यस्य स उपानत्पत्, तस्य।।१७।।

**सन्तुष्ट** इति। गृहपालः श्वा, तद्वदाचरति।।१८,१९।।

**कामस्येति।** क्षुधा तृषा च जनः कामस्यान्तं याति। अन्नोदकातिरिक्तकामान्ताराभावात्। क्रोधस्य चान्तं[5] याति, एतस्य क्रोधस्य यत्फलं हिंसा तस्योदयान्निष्पत्तेः। दिशो जित्वाऽपि भुवो भुक्त्वाऽपि लोभस्य नैवाऽन्तं यातीत्यर्थः।।२०,२१।।

इदानीं कामादिजयोपाया नाह-**असङ्कल्पादिति** चतुर्भिः। जयेदिति यथापेक्षमन्वेति। अर्थेऽनर्थदर्शनेन, तत्त्वावमर्शनात् अद्वैतानुसन्धानेन।।२२।।

**आन्वीक्षिक्येति**। आन्वीक्षिक्या आत्मानात्मविवेकेन महतां सात्त्विकानां सेवया योगस्यान्तरायान् लोकवार्तादीन्।।२३।।

**कृपयेति**। येभ्यो भूतेभ्यो भयं जायते[6] तेष्वेव कृपया हिताचरणेन। दैवं देवोपसर्गनिमित्तं वृथा मनः पीडादि। तदुक्तं याज्ञवल्क्येन-"विमना विफलारम्भसंसदित्यनिमित्ततः"(याज्ञ.स्मृ. 1-274) इति। आत्मजं देहजं योगवीर्येण प्राणायामादिबलेन सत्त्वनिषेवया सात्त्विकाहारादिना।।२४।।

**वीर॰** एवं दैवोपनतया यात्रयाऽर्थेच्छायास्त्याज्यत्वमुक्तम्। अथाऽसन्तोषस्य दुःखहेतुत्वं वक्तुं तावत् सन्तोषस्य सुखहेतुत्वमाह-**सदेति**। सदा सन्तुष्टं दैवादुपनतेनैव सन्तुष्टं मनो यस्य तस्य पुंसस्सर्वादिशः सुखमयाः,

1. A,B,G,J,M,Ma,T अर्थान॰ 2. A,B,G,J,T ॰पासया 3. M,Ma कामा॰ 4. A,B,J,Omit पदोः 5. A,B,J ॰वाऽन्तं 6. A,B,J जायेत

यत्र क्वाऽपि गतस्य तस्य सुखमेवेत्यर्थः। यथा उपानहौ पादत्राणे[1] पादयोः यस्य स उपानत्पत् तस्योपानत्पदः शर्करादिभ्योऽपि शिवं सुखमेव तद्वत्।।१७।।

हे राजन्! सन्तुष्टश्चेत्कोनु पुमान् वारिणाऽपि न वर्तेत, सन्तुष्टश्चेत्[2] वारिणाऽपि यात्रां विधाय सुख्यतीत्यर्थः। असन्तुष्टश्चेज्जनः औपस्थ्यजैह्वयकार्पण्यादुपस्थाजिह्वासुखार्थदैन्यान्निमित्तात् गृहपालायते गृहपालः श्वा, तद्वत् आचरति।।१८।।

किञ्च। असन्तुष्टस्य ब्राह्मणस्य तेज आदयः स्रवन्ति। तेजो ब्रह्मवर्चसं, विद्या शास्त्रजन्यं ज्ञानं, तप अनशनादि रूपं, यशः प्रथा तथेन्द्रियलौल्येन इन्द्रियार्थासक्त्या, ज्ञानं विवेकादिजन्यमवकीर्यते च विक्षिप्यते च अपगच्छतीत्यर्थः।।१९।।

किञ्च। कामक्रोधादयः सावधिकाः,, लोभस्त्वसन्तोषात्मको निरवधिक इत्याह-**कामस्येति**। जनः कामक्रोधलोभवान् जनः क्षुत्तृड्भ्यां, निवृत्ताभ्यां इति शेषः। निवृत्ताभ्यां क्षुत्तृड्भ्यां निमित्तभूताभ्यां कामस्यान्तं याति अन्नोदकादिना क्षुत्पिपासादौ निवृत्तेसति अन्नादिव्यतिरिक्तकामान्तराभावात् कामस्यान्तं गच्छतीति भावः। तथा क्रोधस्याऽऽप्यन्तं तत्फलोदयात् तस्य क्रोधस्य यत्फलं परपीडनादि रूपं तस्योदयान्निष्पत्तेर्हेतोर्याति, लोभस्यान्तं तु भुवो दिशो जित्वा भुक्त्वाऽपि नैव याति।।२०।।

अत एव हे राजन्! बहवः पण्डिताः शास्त्रजन्यज्ञानवन्तः बहुज्ञाः बहुविधलौकिकवैदिकन्यायाभिज्ञाः अत एव संशयान् छिन्दन्तीति तथा, अत एव सदसः सभायाः पतयोऽप्येके जना असन्तोषाद्धेतोरधो नरके पतन्ति।।२१।।

एवमसन्तोषस्य अनर्थावहत्वमुक्तम् , अथ कामादीनां जयोपाया नाह-**असङ्कल्पा**दिति चतुर्भिः। असङ्कल्पात् भोगार्हताबुद्धिवर्जनात् कामं शब्दादिविषयस्पृहां जयेत्। क्रोधन्तु कामविवर्जनात्, जयेदित्यनुषङ्गः। क्रोधः कामानुभवविरोधिविषयकोऽमर्षः। लोभन्त्वसन्तोषात्मकम् अर्थानर्थेक्षया अर्थे धने अनर्थेक्षया अनर्थहेतुत्व-दर्शनेन जयेत्[3]। भयन्तु तत्त्वावमर्शनात् चिदचिदीश्वरयाथात्म्यरूपतत्त्वत्रयानुसन्धानात्।।२२।।

आन्वीक्षिक्या "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि" (भ.गी. 2-27) इत्यादि पर्यालोचनयेत्यर्थः। जातस्य विनाशो ध्रुव इति पर्यालोचनया शोकमोहौ, दम्भन्तु महता

1. W क्षणे 2.A,B,T ष्स्तु 3. W omits जयेत्

मदाम्भिकानां ज्ञानिनामुपासनया सेवया योगान्तरायान् योगस्यान्तरायभूतान् लोकवार्तादींस्तु मौनेन, भूतहिंसां कायाद्यनीहया स्वदेहादिषु निस्पृहया जयेत्[1]।।२३।।

भूतजं दुःखमाधिभौतिकं दुःखं कृपया येभ्यो भूतेभ्यः स्वस्य दुःखं तेष्वेव कृपया, दैवमाधिदैविकं दुःखं समाधिना इदं प्राप्तमेव किमस्माभिर्विधेयमिति एवं मनस्समाधानेन, आत्मजं देहजमाध्यात्मिकं दुःखं योगवीर्येण योगबलेन प्राणायामादिना, निद्रां सत्त्वनिषेवया सात्त्विकाहारसेवनेन जह्यात्।।२४।।

**विज॰** दुस्त्यजेषु विषयेषु सर्वतो दिशं जाग्रत्सु निष्कर्मणः कथं सुखमुपलभ्यते? इति तत्राऽऽह – सदेति। "यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः" (भ.गी. 3-17) इत्यादेः एतमर्थं निदर्शयति-शर्करेति , शिवं सुखमाप्नोतीति शेषः। शर्कराः पाषाणशकलानि।।१७।।

अन्नाद्यर्जनाऽऽयासाभावेऽपि प्राणधारणार्थं पानीयादिप्रयत्नः स्यादेव "आपोमयः प्राणाः" (छान्दो.उ. 6-5-4) इति श्रुतेः। इति तत्राऽऽह–सन्तुष्ट इति केन वा येनकेनाऽपि प्रयत्नमन्तरेणोपनतेन द्रव्येण लोकविलक्षणेन परमात्मना वा सन्तुष्टः विषयालम्बुद्धिमान्वारिणाऽपि न वर्तेतेत्यन्वयः। ननु सर्वात्मना सर्वनिषेधस्य कोऽभिप्रायः- इत्याशङ्क्य किञ्चिदभ्यनुज्ञाते महान्दोषः स्याज्जलस्यन्दनवत्। विधिं विना स्वतन्त्रवज्जनस्य कार्पण्यदर्शनाच्चेत्याह- औपस्थ्येति गृहं पालयतेऽसौ गृहपालः सारमेयः तद्वच्चरति "कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलो व्रणी पूयक्लिन्नः क्रिमिकुलशतैरावृततनुः। क्षुधाऽऽक्रान्तो जीर्णोह्यपि वरकपालार्पितगलः शुनीमन्वेति श्वाहतमपि च हन्त्येव मदनः" (भर्तृ. शृङ्गा. 78) इत्यादेः।।१८।।

उक्तार्थानङ्गीकारे बाधकमाह–**असन्तुष्टस्येति**। तेजः शापानुग्रहशक्तिः, रेतो लक्षणं वा, विद्या शास्त्रविषया ज्ञानं मनोत्थमखण्डं शास्त्रानुपेक्षिदीपज्वाला निभमवकीर्यते विक्षिप्यते शिल्पनिक्षिप्तपांसुखण्डवन्नश्यतीत्यर्थः। कृ विक्षेपे इति धातोः। वृषभविषाणाहतसेतुवत्। सुडागमाभावः छान्दसः। "अवकीर्णी क्षतव्रतः" (अम. को. 2-453) इत्यभिधानम् असन्तुष्टस्य विषयानलाम्बुद्धेः।।१९।।

अत्राऽनलम्बुद्धिर्द्वेधा-विषयाणामुपर्युपरि भोगतृष्णैका, द्वितीया विश्रान्तविश्राणने तत्पर्याप्तं भवतीत्यतो न व्ययामि, किन्तु राशीकरोमीत्याकाङ्क्षा। तत्र प्रथमाया अलाभे कामः क्रोधश्च तयोरुभयोः शान्तिरनायाससाध्या।

1. W omits जयेत्

द्वितीयाया लोभापरपर्याया नाशो दुस्साध्य इत्याह-**कामस्येति**। जनोऽङ्कुरिताभ्यां क्षुत्तृड्भ्यां कामस्योपस्थादि विषयतृष्णापरपर्यायस्य अन्तं नाशं याति। कुत इत्यत उक्तं हीति। "विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः" (भा.गी. 2-59)। इति स्मृतेः प्रसिद्धेः । एतत्फलोदयात् एतयोः क्षुत्तृषोरशनपानलक्षणभोगाभ्यां तृप्तिलक्षणफलोत्पत्तेः तदलाभोत्पन्नस्य क्रोधस्य च शान्तिं याति । दिशो जित्वा भुवो भुक्त्वाऽपि लोभस्यान्तं यागाद्युपाधिना वित्तव्ययेच्छालक्षणं न यातीत्यन्वयः ।। २० ।।

ननु बहुत्यागेन वित्तव्ययेन स्वयं नष्टः स्यात् "अल्पसारस्तु यो मोहाद्विस्तारं कर्तुमिच्छति। स विनश्यति दुर्मेधा नारिकेलाम्बुकं यथा" इति वचनात्। तस्माल्लोभो महान्गुणो देहयात्राहेतुत्वादित्यात्राऽऽह-**पण्डिता** इति। पाण्डित्यं नाम सभाकम्पादिदोषराहित्यं, तत्पूर्वस्याऽपि किं न स्यादित्यत उक्तं बहुज्ञा इति। सार्वज्ञ्यं घटदीपप्रभावन्नेत्याह- संशयच्छिद इति। एवंविधधर्मवन्तः के इति तत्राऽऽह-सदसस्पतय इति। एतादृशाश्च केचनेत्याह-एक इति। एवंविधा अपि असन्तोषाल्लोभादधः कीटकादियोनौ पतन्तीति यस्मात्तस्मात् अवैष्णवविषय एव लोभो गुणो न तु वैष्णवविषय इति भावः। एके असन्तोषादिति सन्धिकार्याभावः। यदि तर्हि इति पदद्वयाध्याहारसूचनार्थः। न्द्येवं विधा असन्तोषाद्यथायोग्यं यथालब्धद्रव्यं यथा पात्रं न नियुञ्जते, तर्ह्यधःपतन्तीत्यभ्युपगमसिद्धान्तोऽयं, न केवलमसन्तुष्टस्य विद्यादिनाशः, अपि तु अधःपातः स्यादित्यतोवाऽऽह-पण्डिता इति।।२१।।

इदानीं कामदिजयोपायमाह-**असङ्कल्पादिति**। अत्र सङ्कल्पोऽपि द्विविधः-पुण्यविषयः पापविषयश्चेति। अत्राऽसङ्कल्पात्पापविरुद्धपुण्यविषयादित्यर्थः। कामान् निषिद्धान्। क्रोधः कामितालाभकारणः, कारणनाशेन कार्यनाश इत्यर्थः। अनर्थकार्यस्य लोभस्य नाशः केनेति तत्राऽऽह-अर्थेति। अर्थेषु राजादिनिमित्तानर्थदर्शनेन असद्व्ययो नश्वरफलहेतुरिति निरीक्षणेन च तत्त्वावमर्शनात् तत्त्वज्ञानात् भयं वैष्णवसिद्धान्तसञ्चलनं "भीभयसञ्चलनयोः" इति धातुः।।२२।।

शोकमोहौ देहगतान्तःकरणस्यैव नाऽन्यस्य स्वतश्चिदानन्दस्वरूपस्याऽसम्भवात् इत्यादिकया आन्वीक्षिक्या अनुकूलतर्कोपेतव्याप्तिज्ञानेन। आत्मन्यविद्यमानमहिमारोपो दम्भः। महतां प्रावण्यादिगुणाकराणां आत्मस्तुति-लज्जितानां पुरुषाणां निरन्तरनिषेवया सद्गुणाभ्यासलक्षणया योगान्तरायान् भगवदुपासनाविघ्नान् मौनेन सम्भाषण वर्जनेन जयेदिति शेषः। कामाद्यनीहया कामादिनिषिद्धेच्छाराहित्येन विवादलक्षणां हिंसां जयते[1] इत्यन्वयः।।२३।।

1. A,B जयेत्।

भूतजं भौतिकं दुःख मुन्मादिकं वा कृपया मन्त्रौषधसामर्थ्येन। "कृपू सामर्थ्ये" इति धातुः। अनुक्रोशलक्षणगुणेन वा। दैवमाधिदैविकं दुःखं समाधिना इन्द्रादिदेवताध्यानेन "यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तांध्याये द्वषट्करिष्यन्" "कारीर्या यजेत वृष्टिकामः" इति श्रुतेः अनावृष्ट्यादिदुःखं जह्यात्। क्षीरसागरतरङ्गसीकाप्लुतश्रीनारायणध्यानेन वा। आत्मजमाध्यात्मिकं दुःखं योगवीर्येण अष्टाङ्गसामर्थ्येन पवनवशीकरणेनेत्यर्थः। सत्त्वनिषेवया सत्त्विकपुरुष-निषेवया निद्रामज्ञानम्।।२४।।

**रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वञ्चोपशमेन च।**
**एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा[1] जयेत्।।२५।।**

**यस्य साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।**
**[2-]मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य[-2] सर्वं कुञ्जरशौचवत्।।२६।।**

**एष वै भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः।**
**योगेश्वरैर्विमृश्याङ्घ्रिर्लोकोऽयं मन्यते नरम्।।२७।।**

**षड्वर्गसंयमैकान्ताः सर्वा नियमचोदनाः[3]।**
**तदन्ता यदि नो योगानावहेयुः श्रमावहाः।।२८।।**

**यथा वार्तादयो ह्यर्था[4] योगस्यार्थं[5] न बिभ्रति।**
**अनर्थाय भवेयुस्ते पूर्तमिष्टं[6] तथा सतः।।२९।।**

**यश्चित्तविजये[7] यत्तः स्यान्निस्सङ्गोऽपरिग्रहः[8]।**
**एको विविक्तशरणो भिक्षुर्भैक्षमिताशनः[9]।।३०।।**

**देशे शुचौ समे राजन्नास्थाप्यासनमात्मनः[10]।**
**स्थिरं समं सुखं तस्मिन् आसीतर्ज्वङ्ग ओमिति।।३१।।**

**प्राणापानौ सन्निरुन्ध्यात्पूरकुम्भकरेचकैः[11]।**
**यावन्मनस्त्यजेत्कामान् स्वनासाग्रनिरीक्षणः।।३२।।**

---

1. M,Ma मनसा 2--2. M,Ma अभिसन्धिश्रुतस्तस्य 3. M,Ma °गा° 4. H,V ह्यर्थान् ; M,Ma विद्याः 5. M,Ma पुंसस्स्वार्थं 6. M,Ma °श्च 7. M,Ma °येच्छुः 8. M,Ma निष्प° 9. A,B,G,J,T °भिक्षा° 10. A,B,G,J,T राजन्संस्थां 11. H,V,W °रुध्या।°

**श्रीध०** ननु कथं गुरौ भक्त्या सर्वस्य जयः स्यात्, तस्याऽपि मनुष्यत्वेन तदवस्थत्वात्! तत्राऽऽह-**यस्येति**। मर्त्यासद्धीर्मनुष्य इति दुर्बुद्धिः। तस्य शास्त्रश्रवणं कुञ्जरस्नानवद्व्यर्थम्।।२५,२६।।

ननु गुरोरपि[1] पितृपुत्रादयः[2] तं[3] नरमेव मन्यन्ते, अत आह-**एष** इति। एष गुरुः साक्षाद्भगवानेव भवेत्[4], लोकस्य नरोऽसाविति बुद्धिर्भ्रान्तिरित्यर्थः। यद्वा स[5] हि तत्पुत्रादेर्मनुष्यबुद्ध्या प्रतीयमानोऽपि गुरुर्भगवानेव[6] भवेत्, यथैष श्रीकृष्ण इत्यर्थः।।२७।।

एवं सर्वैः उपायैः कामादिवेगं जित्वा नियतेन्द्रियो भूत्वा आत्मध्यानपरो[7] भवेत्। अन्यथा तं प्रति सर्वशास्त्रवैफल्यं स्यादित्याह-**षड्वर्गेति**। सर्वा अपि नियमचोदनाः इष्टापूर्तादिविधयः षडिन्द्रियवर्गस्य यस्संयमः तस्मिन्नेवैकस्मिन् अन्तो यासां तदेकपरा इत्यर्थः । न च तावताऽपि चरितार्था इत्याह-तदन्तास्सत्येऽपि यदि योगात् धारणाध्यानसमाधीन् नो आवहेयुः न साधयेयुः तर्हि केवलं श्रमावहा एवेत्यर्थः।।२८।।

एतदेव दृष्टान्तेनाऽऽह-**यथेति**। यथा वार्तादयः कृष्यादयोऽर्थान्[8] तत्फलानि च योगस्यार्थं मोक्षं न साधयन्ति[9] प्रत्युतानर्थाय संसारायैव। असतो बहिर्मुखस्य इष्टापूर्ताद्यपि तथा।।२९।।

एवं योगं प्रयुञ्जतोऽपि[10] यस्य कुटुम्बादि सङ्गेन चित्तं विक्षिप्येत, तस्य कृत्यमाह-**य इति**। यश्चित्तविजये यत्त उद्युक्तः स भिक्षुः स्यात् सन्न्यसेत्। तथा च स्मृतिः-"द्वन्द्वाहतस्य गार्हस्थ्यं ध्यानभङ्गादिकारणम्। लक्षयित्वा गृही स्पष्टं सन्न्यसेदविचारयन्" इति। भैक्षेण[11] प्राप्तं मितमशनं यस्य सः।।३०।।

**देश** इति। ऋजु सममङ्गं यस्य सः यथा सुखं भवत्येवमासीत ओमिति , उच्चारयन्निति शेषः।।३१,३२।।

**वीर०** रजस्तमश्च सत्त्वेन सात्त्विकाहाराद्युपजातसत्त्वगुणवृद्ध्या सत्त्वमन्तःकरणमुपशमेन हर्षाजनन मुखेन एतदुक्तं कामादिरूपं सर्वं पुरुषो गुरौ भक्त्या त्वञ्जसा सुखेनैव जयेत्।।२५।।

गुरुभक्त्यभावे सर्वं कामादि जयात्मकं व्यर्थमित्याह-यस्येति। साक्षाद्भगवति "आचार्यं मां विजानीयात्" इत्युक्तरीत्या भगवदभिन्नत्वेन दर्शनीये, ज्ञानमेव दीपः, तत्प्रदे महोपकर्तरि गुरौ यस्य पुंसो मर्त्यबुद्धिः "सोऽपि

---

1.H,V, Omit अपि 2. A,B,T Omit पितृ 3. H,V ते 4. H,V, Omit भवेत् 5. A,B,J न 6. A,B,J °वान्तभ° 7. A,B,T Omit आत्म 8. A,B,J °ऽर्थाः 9. H,V, add साधयेयुः 10. A,B,J Omit प्र 11. A,B,J भिक्षया

मादृश एव कश्चिन्मर्त्यः" इति बुद्धिः तस्य श्रुतमध्ययनं सर्वं कामादिजयादिकञ्च कुञ्जरशौचतुल्यं, यथा कुञ्जरस्य स्नानं पुनर्धूलिप्रक्षेपेण कृतमप्यकृतं[1], तद्वदित्यर्थः।।२६।।

गुरोर्भगवत्त्वं श्रीकृष्णदृष्टान्तेनाऽऽह-**एष** इति। एषश्रीकृष्णः साक्षात्प्रकृतिपुरुषयोरीश्वरोऽत एव योगेश्वरैरस्मदादिभिः विमृग्यौ ध्येयौ अङ्घ्री पादौ यस्य सः भगवानेव, नाऽऽत्रसन्देहः। एवम्भूतमपि यं श्रीकृष्णं नरं मन्यते, तत्स्वरूपानभिज्ञो लोकस्तथा गुरुयाथात्म्यानभिज्ञस्तं नरं मन्यते तद्याथत्म्यवित्तु साक्षाद्भगवन्तं मन्यते इत्यर्थः।।२७।।

एवं गुरुभक्त्यभावे सर्वं विफलमित्युक्तम्। अथ आवश्यकानां सर्वेषां वर्णाश्रमधर्माणां[2] इन्द्रियजयार्थत्वं तदभावे तद्वैयर्थ्यमिन्द्रियपर्यन्तानामपि, तेषां भगवदुपासनात्मकयोगनिष्पादकत्व एव साफल्यम्, अन्यथा वैफल्यञ्चाऽऽह-**षड्वर्गेति**। सर्वा नियमचोदनाः वर्णाश्रमानुगुणावश्यकधर्मनियमविधयः। चोदनाशब्देन चोद्यमुपलक्ष्यते, चोदिता धर्मा इत्यर्थः यद्वा, नियमस्य चोदना येषु ते धर्माः। षड्वर्गः मनःपर्यन्तषडिन्द्रियवर्गः, तस्य संयमो नियमः तदेकान्ताः तदेकप्रयोजना इत्यर्थः। अन्यथा तेषां वैफल्यमेवेति भावः। तदन्ताः षड्वर्गनियमपर्यन्ता अपि यदि[3] योगान् योगावयवान् धारणाध्यानसमाधीन् नाऽऽवहेयुः न साधयेयुः तर्हि केवलं श्रमावहा एवेत्यर्थः।।२८।।

एवमावश्यकधर्माणामिन्द्रियजयद्वारा योगावहत्त्वमेव साफल्याम्, अन्यथा केवलश्रमफलत्वञ्चोक्तम्। अथ वृत्तिधर्माणामपि योगप्रयोजनकत्वाभावे[4] वैयर्थ्यं, प्रत्युत अनर्थावहत्वं तैस्सहावश्यकानामपि वैयर्थ्यञ्चाऽऽह-**यदेति**। वार्तादयो ह्यर्थावृत्तेर्जीवनस्येमे वार्ता अर्था याजनादयः यदा योगस्यार्थं न बिभ्रति योगानुष्ठानैकप्रयोजनं जीवनं न बिभ्रति न पुष्णन्ति न कुर्वन्ति, तदाऽनर्थाय नैरर्थक्याय भवेयुः। असदर्थव्ययरूपानर्थाय भवेयुरिति वा। तथा सतः तथा वर्तमानस्य वार्तानर्थान् योगैकप्रयोजनजीवनमात्रोपयुक्तानकुर्वतः पुरुषस्य पूर्तं स्मार्तं कर्म, इष्टं यागादिकं वैदिककर्मवाऽनर्थक्याय भवेताम्।।२९।।

अथेन्द्रियजयपर्यन्तस्ववर्णाश्रमधर्मकामादिजयनिष्ठस्य भगवद्भक्तियोगानुष्ठानप्रकारमाह-**य** इत्यादिना। यः पुमान् चित्तस्य विजये यत्त आयत्तो दक्षः स्यात् तर्हि निःसङ्गः त्यक्तकुलपुत्रादिसङ्गोऽपरिग्रहः

---

1. W °कृतवत् 2. A,B,T वर्णधर्माणामाश्रमधर्माणाञ्च 3. A, Omits यदि 4. A,B,T °जक°

शरीरमात्रावशेषितः भिक्षुस्तुर्याश्रमीभूयात्। भिक्षुर्भूत्वा चैकोऽसहायः विविक्तशरणः निर्जनदेशेऽवस्थितः भैक्षं भिक्षयालब्धं मितञ्चाशनमन्नं यस्य। भैक्षं मितञ्चाश्नातीति वा। कर्तरि ल्युः।।३०।।

शुचौ परिशुद्धे समे अनिम्नोन्नते च देशे हे राजन्! आत्मनः स्वस्याऽऽसनं "चैलाजिनकुशोत्तरम्" इत्युक्तविधमास्थाप्य स्थिरं चाञ्चल्यरहितं सुखञ्च यथा भवति तथा, तस्मिन्नासने आसीत उपविशेत्। ऋज्वङ्गः ऋजु अवक्रमङ्गं यस्य ऋजुकायस्सन्, ओमित्यनुसन्दधदिति शेषः।।३१।।

पूरकुम्भकरेचकैः प्राणापानौ वायू सम्यक् निरुन्ध्यात्। अपानेन प्राणाभिभवो रेचकः प्राणेन अपानाभिभवः पूरकः, उभयोस्समानः कुम्भकः। यावन्मनः कामान् शब्दादि-विषयां स्त्यजेत्, नाऽनुसन्दधीत, तावत् स्वस्य नासाया अग्रं निरीक्षते इति निरीक्षणः, कर्तरि ल्युः।।३२।।

**विज०** सत्त्वगुणेन रजस्तसी, उपशमेन भगवन्निष्ठया सर्वत्राऽपि भगवद्भक्तिरेव प्रयोजिकेत्याशयेनाऽह एतदिति।।२५।।

विपक्षे बाधकमाह-यस्येति। अभिसन्धिरतिक्रमणं भक्त्यनुसन्धानराहित्यं, अवज्ञतेति यावत्।।२६।।

कथमवज्ञाप्रकारः? इति तत्राऽऽह-एष इति। एष एवंविधमाहात्म्योपेतो लोको यं नरं सुखदुःख-भोक्तारं मन्यत इत्येव-मवज्ञाप्रकार इत्यर्थः।।२७।।

ननु हरेः प्रकृतिनिलीनत्वेन नरत्वं सम्भाव्यते "तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्प्रकृतौ लीनः संसारमेति सञ्चत्यञ्चाऽभवत्" (ऋ.क्सं. 10-129-3) इति श्रुतेः, इति तत्राऽऽह-षड्वर्गेति। सर्वा निगमचोदनाः "सन्ध्यामुपासीत" इत्यादिवेदविधयोऽपि हरौ भक्तियोगं न कुर्युः; तर्हि श्रमावहाः क्लेशहेतव एवेत्यन्वयः। आवहन्ति चेत्कथङ्कारमित्यत उक्तं-षडिति। षडिन्द्रियाणां संयमो विषयादाहृत्य हर्येकविषयीकरणलक्षणः तस्मिन्नेवैकान्तो निश्चयेन तात्पर्यं यासां ताः। तथाऽऽन्यतात्पर्यं किन्नस्यादिति तत्राऽऽह-तदन्ता इति। तस्य भक्तियोगस्य अन्तो निर्णयो यासां ता स्तथा। यथा षड्वर्ग-संयमैकान्ताः सर्वा निगमचोदनाः, तदन्ता निगमाः यदि योगं नो आवहेयुरिति वा।।२८।।

इष्टापूर्तादिना पुरुषस्य पुरुषार्थसम्भवेन तद्विधायि वेदः पूर्णार्थो लभत इत्यतो वेदस्य श्रमावहत्वं कथम्? अत्राऽऽह-यथेति। यस्य पुंसो या वार्तादयो विद्याः ता अर्थं न बिभ्रति; प्रत्युताऽनर्थाय भवेयुश्च। तथाऽसतस्तस्य पूर्तमिष्टञ्चाऽर्थं न विधत्त इत्यन्वयः। पूर्तादेरनित्यफलहेतुत्वेन निन्दितत्वात्, तदर्थविधायित्वं

वेदस्य जुगुप्सितम्। अतस्तद्विधाने श्रमावहत्त्वं प्रकटमित्यर्थः। "इष्टापूर्तं मन्यमानावरिष्ठम्" (मुण्ड. उ. 1-2-10) इत्यादिश्रुतेः।।२९।।

यदि नो योगमित्यत्र योगशब्देन ध्यानञ्चोच्यते, तदा तद्ध्यानं ध्येये मनो निधायोपासनापरपर्यायं भवेत् तत्र जलचरस्येव अनवस्थानस्य मनसो जयेन सफलं स्यात्! अतस्तदुपायमाह-**यश्चित्तेति**। यश्चित्तविजयेच्छुः स्यात् स ओमिति मन्त्रमुच्चार्य तस्मिन्नाऽसीतेत्यन्वयः। तद्विजयोपायमाह-निस्सङ्ग इति। निस्सङ्गत्वं कथम्? अत्राऽऽह-निष्परिग्रह इति। तत्फलमेक इति। एकस्याऽपि स्वजनरहितस्य जनतामध्यस्थितस्य नानावार्ताश्रवणेन विक्षिप्तस्य पुंसो मनोजयः कथमुपपद्यते? इत्यत उक्तं-विविक्ते एतदपि गृहस्थस्य न घटते इत्यत उक्तं भिक्षुरिति। तस्याऽप्यशनचिन्तया द्वितीयापेक्षयोक्तं न युक्तमित्यत उक्तं भैक्ष्येति। भैक्ष्यमपि बहुसम्पन्नं न योगोपयोगिस्यादित्यत उक्तं-मितेति।।३०।।

ऋज्वङ्गः समीकृत कायशिरोग्रीवः।।३१,३२।।

**यतो यतो निस्सरति मनः कामाहतं[1] भ्रमत्।**
**ततस्तत उपाहृत्य हृदि रुन्ध्याच्छनैर्बुधः।।३३।।**

**एवमभ्यसतश्चित्तं कालेनाऽल्पीयसा यतेः[2]।**
**[3-]अनिशं तस्य[-3] निर्वाणं यात्यनिन्धनवह्निवत्।।३४।।**

**कामादिभिरनाविद्धं प्रशान्ताखिलवृत्ति यत्।**
**चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टं नैवोत्तिष्ठेत कर्हिचित्।।३५।।**

**यः प्रव्रज्य गृहात्पूर्वं त्रिवर्गवपनात्पुनः।**
**[4]यदि सेवेत तान्भिक्षुः [5-]सवान्ताश्यनपत्रपः[-5]।।३६।।**

**[6]यैः स्वदेहः स्मृतो नाऽऽत्माऽमर्त्यो विट्[7]क्रिमिभस्मसात्[8]।**
**[9-]त एवामुं स्वसात्कृत्वा श्लघ्यावयन्ति ह्यसत्तमाः[-9]।।३७।।**

---

1. A,B,G,J,M,Ma,T °म° 2. M,Ma मुनेः 3--3 M,Ma अविषण्णं च 4. M,Ma यदा 5--5. A,B,G,J स वै वान्ताश्यपत्रपः ; M,Ma स पापो निरपत्रपः 6. M,Ma यस्य दे° 7. A,B,G,J,M,Ma,T कृ° 8 M,Ma °वत् 9--9 A,B,G,J,T त एन मात्म°, M,Ma मेवस्वात्म°

**गृहस्थस्य क्रियात्यागो व्रतत्यागो वटोरपि।**
**तपस्विनो ग्रामसेवा भिक्षोरिन्द्रियलोलता[1]।।३८।।**

**आश्रमापशदा[2]ह्येते खल्वाश्रम विडम्बना[3]:।**
**देवमायाविमूढां स्तानुपेक्षेताऽऽनुकम्पया।।३९।।**

**आत्मानञ्चे द्विजानीयात् परं[4] ज्ञानधुताशय[5]:।**
**किमिच्छन्कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति लम्पट:।।४०।।**

**श्रीध॰ एव**मिति। एवमनिशमभ्यसत[6]स्तस्य यतेश्चित्तं निर्वाणं शान्तिं याति।।३३,३४।।

न च पुनर्विक्षिप्यतेत्याह **-कामे**ति। कामादिभिरक्षुभितं यच्चित्तं[7] तन्नोत्तिष्ठेत्। यत: प्रशान्ता अखिला वृत्तयो यस्य, कुत: ब्रह्मसुखेन स्पष्टम्।।३५।।

यस्तु प्रव्रज्यां कृत्वाऽपि भोगमभिलिप्सु[8]: स्यात्, तं निन्दति-**य** इति।। त्रयाणां धर्मादीनां वर्ग: आ समन्तादुप्यते यस्मिंस्तस्मात् गृहात् तान् धर्मादीन् वान्ताशी छर्दितभोजी निर्लज्जश्च स[9]:।।३६।।

न चेदमघटितं दृष्टत्वा दित्याह-**यैरिति**। यै: पूर्वं स्वदेहोऽनात्मादिरूप: स्मृतश्चिन्तित: त एव पुनरेन्मात्मेति मत्वा श्लाघयन्ति स्तावयन्ति[10] हि।।३७।।

यतिमुपलक्षणीकृत्य अन्यानपि स्वधर्मत्यागिनो निन्दति-गृहस्थस्येत्यादि[12] द्वाभ्याम्।।३८,३९।।

नन्वात्मतत्त्वज्ञस्य भिक्षोरिन्द्रियलौल्येऽपि को दोष: तत्राऽऽह-**आत्मान**मिति। आत्मानं परं ब्रह्मचेज्ज्ञानीयात् ज्ञानेन धुता निरस्ता आशया वासना यस्य तस्य ज्ञानिनो लौल्यमेव न सम्भवतीत्यर्थ:। तथा च श्रुति:- "आत्मानञ्चे द्विजानीयादयमस्मीति पूरुष:। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसञ्चरेत्[14]।।" (बृह.उ.4-4-12) इति।।४०।।

**वीर॰** कामैश्शब्दादिविषयज्ञानै: हृतं विक्षिप्तं सत् मनोभ्रमत् यतो यत: यं यं विषयं निस्सरति विषयीकरोति, ततस्ततो विषयात् तन्मन: उपाहृत्य प्रत्याहृत्य बुधस्तत्प्रत्याहारवित् हृदि हृदयस्थे शुभाश्रये

1. B,M,Ma लौल्यता 2. A,B,G,J,M,Ma,T °स° 3. A,B,G,J,T °म्बका: M,Ma °म्बिन: 4. M,Ma एवं 5. M,Ma धृ° 6. A,B,J °स्य° 7. A,B,J °प्ये 8. H,V, Omit यत् 9. H,V वि° 10. A,B,J omit स: 11- -11. A, Omits 12. A,B,J Omit स्व 13. A,B,J Omit आदि 14. A,B,J °ञ्चर°

शनैर्निरुन्ध्यात् शुभाश्रयचिन्ताप्रवणं कुर्यत्। अत्र नियमोऽर्थसिद्धः। चित्तविजय इति नियम उक्तः। स्थिरं सुखमासीतेत्यासनम्। प्राणापानावित्यादिना प्राणायामः यावन्मन इत्यादिना। ततस्तत उपाहृत्य इत्यन्तेन प्रत्याहारः, निरुन्ध्याच्छनैर्बुध इत्यनेन ध्यान धारणे चोक्ते।।३३।।

अथ समाधिमाह-**एवमिति** द्वाभ्याम्। एवमनिश महरहः सर्वदा नाऽभ्यसतः तस्य यतेश्चित्तमल्पीय सैवकालेन निर्वाणं याति, बहिर्वृत्तिविनाशं याति। अनिन्धनवह्निवत् यथाऽनिन्धनः ज्वालाधूमादिरहितोऽङ्गाररूपेणा वशेषितोऽग्निस्तद्वत् इत्यर्थः।।३४।।

न तु विक्षिप्तम्भवतीत्याह-**कामेति**। यद्यस्मात् कामादिभिः शब्दादिविषयानुध्यानादिभिः अनाविद्धमसङ्क्रान्तं प्रशान्ता अपगता अखिला वृत्तयो व्यापारात्मका यस्य तादृशं चित्तमभूत्। तस्मात्तच्चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टं ब्रह्मानुभवसुखाविद्धं सत् कर्हिचिदपि नैवोत्तिष्ठेत शुभाश्रयान्न प्रच्युतं भवति। अयमेव समाधिर्यत् ब्रह्मानुभवमग्नचित्ततेति।।३५।।

एवमष्टाङ्गयुक्तभगवद्भक्तियोगनिष्ठं तत्फलत्वेन त्रिवर्गं कामयमानं यतिं निन्दति-**य** इति। त्रिवर्गस्य धर्मार्थकामरूपस्य अवपनात् क्षेत्रभूतात् गृहात्प्रव्रज्य पुन र्यः पुमान् तान् धर्मादीनेव सेवेत स वै भिक्षुर्निरपत्रपो निर्लज्जो वान्ताशी छर्दितान्नभक्षी उद्गीर्णान्नभक्षयितृतुल्य इत्यर्थः। यद्वा प्रव्रज्याऽपि पुनर्भोगासक्तं यतिं निन्दति य इति।।३६।।

न चेदमघटितं दृष्टत्वा दित्याह-**यैरिति**। यैः परिव्राड्भिः पूर्वं स्वदेहो नाऽऽत्मा स्मृतः, आत्मत्वेन न निश्चितः किन्तु, आत्मनः व्यतिरिक्तो मर्त्यः मरणशीलः विट्क्रिमिभस्मसाञ्च अन्ततः क्रिम्याद्यवस्था-मापत्स्यमानश्चिन्तितः। त एव पुनस्तमेनं देहमेव आत्मसात्कृत्वा आत्माभिन्नं कृत्वा श्लाघयन्ति हि केचिदसत्तमाः परिव्राज इत्यर्थः।।३७।।

भोगासक्तयतिनिन्दाप्रसङ्गात्तेन सह आश्रमान्तरस्थानपि स्वधर्मादित्यागिनो निन्दति-**गृहस्थस्येति**। क्रियात्यागः स्ववर्णाश्रमोचितक्रियात्यागः। वटोर्ब्रह्मचारिणो व्रतत्यागः गुरुकुलवासादिव्रतत्यागः, तपस्विनो वानप्रस्थस्य ग्रामसेवा पुनः ग्रामवासः भिक्षोः सन्न्यासिन इन्द्रियलोलता।।३८।।

---

1. A,B,T °कृ°

एते आश्रमापशदा[1] येषां गृहस्थादीनां चतुर्णां क्रियात्यागादयः त एते आश्रमेषु आश्रमस्थेषु अपशदा[2] निकृष्टा इत्यर्थः। एते ह्याश्रमान् विडम्बयन्त्यनुकुर्वन्तीत्याश्रमविडम्बिनः। विडम्बनमात्रमेवैषां नत्वाश्रम सिद्धिरित्यर्थः। अतस्तान् भगवन्मायया विमूढान्, अनेन नित्यनिरतिशयानन्दरूपपरमात्मप्राप्तिसाधनभूततदुपासन तदङ्गधर्मानुष्ठानोपयुक्तमनुष्यजन्मवर्णाश्रमादिरूपसामग्रीं लब्ध्वाऽपि ये स्वधर्मादित्यागिन स्ते नूनं देवमाया-मोहिता इत्युक्तं भवति। अनुकम्पया अहो इमे उच्चपतिताः , किं विधेयमित्येवमनुकम्पापूर्वकचिन्तया तान् उपेक्षेत[3] नाऽनुवर्तेतेत्यर्थः।।३९।।

स्वात्मपरमात्मतत्त्वज्ञस्य ब्रह्मानुभवसुखतृप्तस्य तु यतेरिन्द्रियलौल्यमेवाऽसम्भावितं, तस्य देवमायया मोहाभावादित्याह-**आत्मानमिति**। परं प्रकृतिपुरुषविलक्षणमात्मानम्, यद्वा, आत्मानं परंपरमपुरुषञ्च विजानीयाच्चेत् तज्ज्ञानेन निर्धूतवासनः कस्य कामाय इष्टसम्पत्तये लम्पटः किमिच्छन् देहं पुष्णाति देहपोषणेन स्वात्मनः परमपुरुषस्य च नेष्टं सम्पद्यते। अतः तत्त्यजत्येवेत्यर्थः। यद्वा इच्छन् शब्दादिविषयान् कामयमानः कस्य स्वपरयोरन्यतरस्य कस्यकामायेष्टार्थं देहं पुष्णाति किम्? न पुष्णात्येवेत्यर्थः। कस्य कामायेत्यनेन देहपोषणं न स्वात्मनो नाऽपि परमात्मनश्च सुखाधायकं, तयोः स्वत एव निरतिशयसुखरूपत्वादिति सूच्यते। निरतिशयानन्दपरमात्मोपासनात्मकतदनुभवतृप्तो निहीनदेहपोषणज सुखार्थं[4] न यतत एव। किन्तु परमात्मप्राप्तय एव यतत इति सूचितम्। देवमाया विमूढा नित्यनेन परमानन्दरूपपरमाप्तप्राप्तिसाधनानुष्ठानोपयुक्त शरीरेन्द्रियादिसामग्रीं लब्ध्वाऽपि येन यतन्ते ते देवमायाविमूढा इति चोक्तम्।।४०।।

**विज॰** उपाहृत्य हृदिस्थिते हरौ।।३३।।

इन्धनरहितो वह्निर्यथा निर्वाणं नाशं याति तथाचित्तं प्राकृतं नाशमेति। अप्राकृतं स्वरूपभूतं शरीराभिमानरहितं ब्रह्म यातीत्यन्वयः। "बाणं शरीरं सम्प्रोक्तं बाणो बलिसुते शरे" इत्यभिधानम्। "निर्वाणममृतमक्षरं ब्रह्म" इत्यभिधानम् ।।३४।।

एवं विषयीकृतब्रह्मणोऽप्राकृतस्य चित्तस्य स्वभावफलमाह-कामादिभिरिति। यच्चित्तं कामादि भिरनाविद्धत्वात् प्रशान्ताखिलवृत्तित्वाच्च ब्रह्मपूर्णसुखरूपं स्पष्टं विषयीकुर्वत् तत्कर्हिचित् ततो नोत्तिष्ठेत ततोऽन्यत्र न गच्छतीत्यर्थः।।३५।।

---

1. A,B,T स॰ 2. A,B,T स॰ 3. W Omits उपेक्षेत 4. A,B,T निरीहो

ननु, कस्यचिच्चेतोऽन्यत्र गच्छति चेत् किं दूषणमित्याशङ्क्य तस्य पापकरणत्वेन सर्वहास्यत्वं दूषणमित्याशयेनाऽऽह-यः प्रव्रज्येति। त्रिवर्गवपनात् धर्मार्थकामबीजानामावपनक्षेत्रभूतात् तान् तान् कामादीन् यदा सेवेत तर्हि[1] इति शेषः।।३६।।

एवंविधा असुरजातय इत्यभिप्रायेणाऽऽह-यस्येति। यस्य देहिनः[2] अनात्मा देहो विट्कृमिभस्मवत् स्मृतः तस्य तमेव देहं तत्सदृशमेव भोगायतनं स्वात्मसात्कृत्वा अहमेवाऽऽत्मेति कृत्वा ये देहं श्लाघयन्ति ते असत्तमा असुरा इत्यन्वयः ।। "आत्मैवहायान्" इति श्रुतिं हि शब्देन सूचयति। यैः स्वदेह इति पाठे यैर्मर्त्यै रनात्मा स्वदेहो विट्कृमिभस्मवत्स्मृतः, ते तमेव स्वात्मसात्कृत्वा श्लाघयन्ति तर्हि असत्तमा इत्यन्वयः।।३७।।

न केवलं यतेराश्रमत्यागे दूषणमपि तु गृहस्थानामपि स्वधर्मत्यागे दोषः स्यादित्याह-**गृहस्थस्येति**। यत्यादेः कस्य कस्य धर्मत्यागे दोषः स्यादित्यतोवाऽऽह-गृहस्थस्येति। वटोर्ब्रह्मचारिणः यदि गृहस्थादीनां क्रियात्यागादयस्सन्ति तर्ह्येते आश्रमापसदा हीत्यन्वयः।।३८।।

नन्वेतावताऽपि फलं स्यात्किं नेत्याह खल्विति आश्रमान् विडम्बयन्ति अनुकुर्वन्तीत्याश्रमविडम्बिनः खलु आश्रमफलाहेतुत्वादित्यर्थः। निषेधवाक्यालङ्कारादौ खलु शब्द प्रयोगात् (अम.को 3-410) न चैते पुण्याशयामान्या इत्याऽऽह-देवेति। अतो भगवन्महिमेति भगवद्विषयैवाऽनुकम्पा प्रेमविशेषः।।३९।।

यतः स्वधर्मत्यागी निन्द्यः, अतो विहितातिरेकेण देहपोषो न युक्त इत्याह-**आत्मानमिति**। विवेकज्ञानेन धृताशयः वशीकृतान्तःकरणः पुरुषः आत्मानं स्वस्वरूपं परमात्मानञ्च विजानीयात् चेत् तर्हि स किं सुखमिच्छन् कस्य हेतोः सुखस्यार्थे वा लम्पटो। रागी इन्द्रियलोलुपो भूत्वा देहं पुष्णातीत्यन्वयः। "सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा सुखं त्यजेत्" इति वचनम्।।४०।।

**आहुश्शरीरं रथमिन्द्रियाणि हयानभूषून्[3] मनइन्द्रियेशम्।**
**वर्त्मानि मात्रा धिषणाञ्च सूतं सत्त्वं बृहद्बन्धु रनीशसृष्टम्[4]।।४१।।**

**अक्षं दशप्राणमधर्मधर्मौ चक्रेऽभिमानं रथिनञ्च जीवम्।**
**धनुर्हितस्य प्रणवं पठन्ति शरन्तु जीवं परमेव लक्ष्यम्।।४२।।**

---

1- -1 Ma न जहाति 2. Ma देहस्य 3. M,Ma ष्णुं 4. M,Ma ष्धाम

**रागोद्वेषश्च लोभश्च शोकमोहौ भयं मदः।**

**मानोऽवमानोऽसूया च माया हिंसा च मत्सरः।।४३।।**

**रजः प्रमादः क्षुन्निद्रा शत्रवस्त्वेव मादयः।**

**रजस्तमः प्रकृतयः सत्त्वप्रकृतयः क्वचित्।।४४।।**

**यावन्नृकायरथमात्रवशोपकॢप्तं धत्ते गरिष्ठ चरणार्चनया निशातम्।**

**ज्ञानासिमच्युतबलोऽथ निरस्तशत्रुः स्वाराज्यतुष्ट उपशान्त इदं विजह्यात्।।४५।।**

**नोचेत्प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता नीत्वोत्पथं विषयदस्युषु निक्षिपन्ति।**

**ते दस्यवः सहयसूतममुं तमोऽन्धे संसारकूप उरुमृत्युभये क्षिपन्ति।।४६।।**

**प्रवृत्तञ्च निवृत्तञ्च द्विविधं कर्मवैदिकम्।**

**आवर्तते प्रवृत्तेन निवृत्तेनाऽश्नुतेऽमृतम्।।४७।।**

**हिंस्रं द्रव्यमयं काम्यमग्निहोत्राद्यशान्तिदम्।**

**दर्शश्च पूर्णमासश्च चातुर्मास्यं पशुः सुतः।।४८।।**

**श्रीध०** अज्ञस्य तु लौल्येन नरकपातापत्ते रप्रमत्तेन सदा तत्त्वज्ञाने यतितव्यमितीममर्थम् - "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च" (कठ.उ. 3-3) इत्यादि श्रुत्युक्तरथरूपकद्वारेणाऽह - आहुरिति षड्भिः। इन्द्रियेशं मनोऽभीषून् रश्मीनाहुः। मात्राः शब्दादिविषयान् वर्त्मानि गन्तव्यदेशानाहुः। सत्त्वं चित्तं बृहद्देहव्यापि बन्धुरं बन्धनं चित्तं विना ह्यनिबद्धमिव शरीरं भवति। ईशसृष्टमिति बन्धनकर्तात्वीश एवेत्यर्थः।।४१।।

**अक्षमिति**। प्राणादयः पञ्च "नागश्च कूर्मः कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः" (अम.को. अधिकपाठ) इत्येवं दशविधं प्राणमक्षम् अभिमान महङ्कारं जीवं रथिनं शुद्धं जीवं शरं परं ब्रह्म लक्ष्यम्। यथा धनुषा शरो लक्ष्ये निपात्यते तथा प्रणवेन जीवो ब्रह्मणि निपात्यते इत्यर्थः।।४२।।

**राग** इति। रागादयो जेतव्याः शत्रवः। रागः प्रेमातिशयः लोभः धनादौ मत्सरः जायापत्यादौ।।४३।।

**रज** इति। तत्र रजोऽभिनिवेशः। क्वचिदारूढसमाधेः सत्त्वप्रकृतयोऽपि परोपकारादि प्रवृत्तयः शत्रवः।।४४।।

---

1 M,Ma °ऽभि 2. H,V °मिम° 3. A,B,G,J,M,Ma,T कल्पं 4- -4. A,B,G,J,T लोदध दस्त°; M,Ma °लं दधदस्त° 5. H,V °नन्द° 6. A,B,G,J,T °र्तेत 7. M,Ma °स्य: 8. M,Ma पुनः 9. A,B,T °दीन् 10. H,V न्धं 11. A,B,J °नं साह° 12- -12 A,B,J Omit

**याव**दिति। नृकायरूपं रथमात्मवशे उपक्लृप्तं[1-1] इन्द्रियादिपरिकरो यस्मिंस्तथा भूतं यावद्धते तावदेव गरिष्ठानां गुरूणां चरणसेवया निशातं[2] ज्ञानखड्गं बिभ्रदच्युताश्रयस्सन् निरस्तशत्रु रुपशान्तः स्वानन्देन तुष्टोभूत्वेदं रथादिकमुपेक्षेतेत्यर्थः।।४५।।

अच्युताश्रयाभावे बाधकमाह - **नोचे**दिति। असन्तो बहिर्मुखा ये इन्द्रियवाजिनः सूतश्च ते उत्पथं प्रवृत्तिमार्गं नीत्वा विषयाख्येषु दस्युषु निक्षिपन्ति हयैस्सूतेन च **सहवर्ध**मान[3] तमोऽन्धे तमसाव्याप्ते, उरु मृत्युभयं यस्मिन्।।४६।।

ननु वेदविहितेष्टापूर्तादिकारिणः पुंसः कथमेतदनर्थप्राप्तिः[4] स्यादित्याशङ्क्य वेदोक्त कर्मणां द्वैविध्यं दर्शयन् फलभेदमाह - **प्रवृत्त**[5] मित्यादि दशभिः।।४७।।

**हिंस्र**मिति। हिंस्रं श्येनादिकर्म अशान्तिदमत्यासक्तियुक्तम्। आदिशब्दार्थविवरणं दर्शश्चेति। पशुः पशुयागः। सुतः सोमयागः।।४७।।

**वीर॰** न केवलं मयैव शरीरेन्द्रियादेः परमात्मप्राप्तिसाधनानुष्ठानोपयुक्तसामग्रीत्वमुच्यते, अपि तु उपनिषद्वाक्यान्यपि - "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव चाबुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च। इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयां स्तुषे गोचरान्। सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" (कठ. उ. 3-3) इत्यादीनि संसाराध्वनः पारं वैष्णवं पदं प्रेप्सुः[6] तमात्मानं रथित्वेन तच्छरीरादीनि रथरथाङ्गत्वेन रूपयित्वा तदाहुरित्याह - **आहुरिति**। शरीरादीन् रथादिभावेन रूपयन्तस्तेषां परमात्मप्राप्तिसाधनानुष्ठानोपयुक्तसामग्रीत्वमभीष्टदेशप्रेप्सो-र्विजिगीषोश्च प्रसिद्ध रथादीनां साधनत्वमित्याहु[7]र्वेदान्ता इत्यर्थः। शरीरं रथं रथस्थानीयम्, इन्द्रियाणि हयानश्वान्, इन्द्रियाणामश्वस्थानीयानामीशं मुख्यं मनः, अभीषून् रश्मीन्, रज्जूरिति यावत्। मात्राः शब्दादीन् वर्त्मानि मार्गस्थानीयान्, धिषणां बुद्धिं सूतं सारथिं, सत्त्वं बलं बृहत् दृढं बन्धुरं देहादीनां बन्धनम्। ईशसृष्टमिति यथायोग्यं विभक्तिविपरिणामेन शरीरादीनां विशेषणम्। ईशेन परमात्मनासृष्टमीशसृष्टम्।।४१।।

दशानां प्राणानां समाहारो दशप्राणं, प्राणादिपञ्चक नागकूर्मकृकर[8]देवदत्तधनञ्जयाख्योपप्राणप्रञ्चकात्मकम् अक्षमक्षस्थानीयम् अधर्मधर्मौ पुण्यपापे चक्रे पुण्यपापात्मकयोः कर्मणोरेव रथत्वरूपितशरीरप्रवृत्तिहेतुत्वा-

1--1 A,B,J °शः उपकल्पः 2. A,B,T °शितम् 3. A,B,J वर्त° 4. A,B,J °वमन° 5 A,B,J °त्तश्चेति। 6 W °प्सन्त° 7. W °वा° 8 A,B,T °ल

त्तदायत्तत्वेन च चक्रत्वेन रूपणम्। अभिमानिनं देहाभिमानिनं जीवं रथिनमाहुः। तस्य रथिनः प्रणवमोङ्कारं धनुः पठन्त्याहुः। शरन्तु जीवं, परं परमात्मानन्तु लक्ष्यं पठन्ति। "प्रणवो धनुश्शरोह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।" (मुण्ड. उ. 2-2-4) इति ह्यन्यत्राप्युक्तम्। विप्रकृष्ट योश्शर लक्ष्ययोरिव जीवपरयोः सम्बन्ध ज्ञापनहेतुत्वात् प्रणवो धनुरुक्तम्। रथित्वेन रूपित एव जीवः शरत्वेनाऽपि रूप्यते।।४२।।

तत्र[1] जेतव्यानाह - **राग** इति। रागः शब्दादिविषयासक्तिः द्वेषः तद्विरोधिविषयाऽप्रीतिः लोभोऽसन्तोषः, मोहः कार्याकार्याऽविवेकः, भय मागामिदुःखदर्शनजं प्रतिकूलज्ञानं, मदो गर्वः, मानो बहुमानः, अवमान स्तिरस्कारः, असूया गुणेषु सत्स्वपि दोषाविष्कारः,माया वञ्चनं, हिंसा भूतद्रोहः, मत्सरः परकृतद्रोहचिन्ता।।४३।।

रजः क्रोधः स चामर्षः, प्रमादोऽनवधानता, एवमादयः एतत्प्रभृतयश्शत्रवो जेतव्याः। त एते रजस्तमः प्रकृतयः, क्वचित्सत्त्वप्रकृतयश्च, रजस्तमसी प्रकृती कारणे येषां ते, सत्त्वं प्रकृतिः कारणं येषान्ते चेति बहुव्रीहिः। रजस्तमसोरन्यतरमिश्रसत्त्वप्रकृतय इत्यर्थः।।४४।।

तदेवं शरीरेन्द्रियमनोविषयबुद्धिबलप्राणधर्माधर्मजीवाः रथरथाङ्गादिरथ्यादिभावेन परमात्म प्राप्त्युपायसाधनानुष्ठानोपयुक्तत्वज्ञापनाय रूपिताः प्रणवजीवेशास्तुजीवपरयो स्सम्बन्धज्ञानजनकत्वपरमात्मैक शेषत्वप्राप्यत्वज्ञापनाय धनुश्शरलक्ष्यभावेन रूपिताः। हेयत्वज्ञापनाय रागादय श्शत्रुत्वेन रूपिताः। अथ यस्यैते रथादयो वशेतिष्ठन्ति स एवाऽध्वनः पारं वैष्णवं[2] पदमाप्नोतीति "सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" (कठ. उ. 3-9) इति श्रुतेरर्थमभिप्रयन् रथादिकमपि[3] उपेक्षेत इत्याह - **यावदिति**[3]। यावच्छरीरं समीहित साधने दक्षं स्ववशञ्च तावदेव ज्ञानासिना जितरागादिशत्रुः मुक्तिसाधन मनुतिष्ठन् शरीरादिषु निःस्पृहो भवेदित्याह - यावदिति नृकायरथं नरशरीर रूपं रथं यावदात्मवशोपक्लृप्तं स्वाधीनतयोपक्लृप्तं यथा भवति तथा धत्ते। तावदेव गरिष्ठानां महतां चरणार्चनया लब्धं निशातं ज्ञानरूपं खड्गं दधत् बिभ्राणः अस्त्राः निरस्ताः शत्रवो रागादयो येन, अच्युतः स्वाश्रितान्नच्यावयतीति[4] अच्युतः। भगवानेव बलं यस्य तादृश उपशान्तः रागाद्यकलुषितचित्तः स्वाराज्यतुष्टः स्वराडकर्मवश्यः तस्यभावः स्वाराज्यं मुक्तैश्वर्यं तेन तुष्टः अवश्यमच्युतः स्वाराज्यं दास्यतीति सन्तुष्ट इदं नृकाय रथादिकं विजह्यादुपेक्षेत, तेषु स्पृहारहितो भवेदित्यर्थः। इदमिति[5]-[6] संसारकफलं वा विवक्षितम्।।४५।।

---

1 W Omits तत्र 2. A,B,T ण्व 3- -3 W Omits 4. Wआ° 5- -5 A,B,T इदमेतद्धि

यद्युक्तविधो न स्यात् तदा तस्याऽनर्थमाह - **नेति**। नोचेदुक्तविधो न भवेत्[1] तदा प्रमत्तमिमं देहिन मसन्तो बहिर्मुखा इन्द्रियवाजिनः इन्द्रियाण्येवाऽश्वाः, सूतो बुद्धिश्चैते उत्पथं प्रवृत्तिमार्गं नीत्वा विषयरूपेषु दस्युषु निक्षिपन्ति। ते विषयाख्या दस्यवः हयैस्सूतेन च सह वर्तमान ममुं प्रमत्तं देहिनम् उर्वधिकं मृत्युभयं यस्मिन्नन्धे तमसि अन्धतामिस्रनरकतुल्ये संसारकूपे क्षिपन्ति।।४६।।

तदेवं वर्णाश्रमधर्मान् तदनुग्राह्यं भक्तियोगं शरीरेन्द्रियादीनां तदनुष्ठानोपयुक्तत्वं तैरनुष्ठितेन वर्णाश्रम-धर्मानुगृहीतेन भक्तियोगेन स्वाराज्यप्राप्तिं सांसारिकफललिप्सयाऽनुष्ठितानान्तु धर्माणां संसृतिरूपानर्थावहत्वञ्चाऽभिधाय अथ तेषामेव धर्माणामिष्टापूर्तभेदेन द्वैविध्यं सांसारिकफलसाधनत्वेन कृतानां प्रवृत्त कर्माख्यत्वं, पुनरावृत्तिहेतुत्वम्, उपसनानुग्राहकतया कृतानान्तु निवृत्त[2] कर्माख्यत्वं, तस्याऽपुनरावृत्तिहेतुत्वञ्चाऽह - **प्रवृत्त**मिति। वैदिकं वेदविहितं कर्मप्रवृत्तं निवृत्तमिति द्विविधम्। तत्र प्रवृत्तेन कर्मणा आवर्तते फलानुभवाय लोकान्तरं प्राप्य तत्र तदनुभूय अवशिष्टेन कर्मणा ततः पुनरिहाऽवर्तते। निवृत्तेन तु अमृतमश्नुते, तत्फलरूपममृतं मुक्तिं प्राप्य ततः पुनर्नाऽवर्तते।।४७।।

प्रवृत्तनिवृत्तभेदभिन्नस्य वैदिकस्यैव कर्मणः तत्स्वरूपमिष्टसंज्ञकत्वञ्च वक्तुं तद्विशिंषन् तदवान्त-रभेदान्दर्शयति-हिंस्रमिति। अग्निहोत्रनामधेयकं कर्म आदिर्यस्य तदग्निहोत्रादि। आदिशब्दग्राह्यान्दर्शयति-दर्शश्चेति। दर्शादयश्शब्दाः कर्म नामधेयानि। पशुः पशुयागः। सुतः सोमयागः।।४८।।

**विज॰** नन्वयं देहो हेयश्चेत्किमनेनाऽर्थ इत्याशङ्क्य महाप्रयोजन मस्ति, एवं कृतज्ञेदित्याशयेनाऽह - **आहु**रिति। अभीषुं प्रग्रहं इन्द्रियेशं श्रोत्रादीन्द्रियनेतारं, मात्राविषयाः, धिषणा बुद्धिः, ईशस्य धामगृहस्थानीयं, सत्त्वमन्तःकरणविशेषणम्।।४१।।

दशप्राणं प्राणदशक मक्षमाहुरिति सर्वत्र योज्यम् । प्राणाऽपानव्यानोदानसमाननागकूर्मकृकरदेवदत्त-धनञ्जयनामानो दशप्राणाः अधर्मधर्मौ पापपुण्यलक्षणे चक्रे शकटपद स्थानीये। अभिमान महङ्कारलक्षणं जीवं रथिनं पठन्ति इत्यन्वयः। शरन्तु जीवमित्यत्र तु शब्दे नैतत्प्रवृत्तिविशेषभेदं सूचयति, न तु स्वरूपभेदम्। "प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा" (मुण्ड.उ. 2-2-4) इति श्रुतेः। अथ देवरथस्तस्य वाग्बुद्धिरिति च परं ब्रह्म।।४२।।

अस्य रथिनो जेतव्यानाह - राग इत्यादिना "अपूज्ये पूज्यबुद्धिस्तु मानस्सद्भिरुदाहृतः" इति। "मानोऽभिमानोवज्ञे च परिमाणे च पूजने" इतिं च। अभिमानोऽर्थादिदर्पे ज्ञाने प्रणयहिंसयोः इति च। मायां कैतवं, रागादय

1. W चेत् 2. W ॰त्ति

आन्तरीयाश्शत्रवः, बाह्याश्शत्रवः सहोदरादयः। आदिशब्देन दुन्दुभ्यादयः सुग्रीववाल्यादयः। ते सर्वे शत्रवो रागादय उपायेन परिहर्तव्या इति शेषः।।४२,४४।।

एवं वर्णनोपयोगमाह - **यावदिति**। नृकायरथं मनुष्यशरीराख्य रथं, 'रथगतौ' इति धातोर्ज्ञानसाधनत्वात् तच्छब्दशब्दितं यावदात्मवशोपकल्पं स्ववशत्वेन कल्पितं धत्ते। तावद्गरिष्ठचरणार्चनया महापुरुषश्रीपादपूजनेन निशातं धौतं ज्ञानासिं दधत् अच्युतो बलं यस्य सः तथा। अक्षरितं बलं यस्य स तथेति वा। अस्तशत्रुः निरस्तरागादिशत्रुः स्वाराज्येनेश्वरेण दृष्टेन तुष्टो विषयालम्बुद्धिमान् उपशान्तः पूर्वस्मादाधिक्येनोपात्तभगवन्निष्ठः पुरुष इदं संसाराख्यं हेयत्वेन सर्पनिर्मोकवत् क्लृप्तं वस्तु जह्यादित्यन्वयः।।४५।।

इतोऽन्यथाऽस्य मुक्तिरेव न सेत्स्यतीत्याह - **नोचेदिति**। नोचेदिन्द्रियग्राममात्मवशं कृत्वा ज्ञानासिना संसारानुच्छेदः शब्दादिविषयाभिलाषश्चेद्यदि तर्हि असन्तोषिता इन्द्रियहयबुद्धिसूताः प्रमत्तं रागान्धीभूतचक्षुषममुं रथिनं उत्पथमशास्त्रमार्गं नीत्वा शब्दादिविषयलक्षणेषु दस्युषु दुःखाकरेषु चौरेषु निक्षिपन्ति। ते विषयचौराः सहयसूतं इन्द्रियबुद्धिसूतमिमं रथमुरु मृत्युभये तमो लक्षणज्ञानान्धे चक्षुरविषये संसारकूपे क्षिपन्तीत्यन्वयः।।४६।।

ननु 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिशक्यार्थश्रवणसमनन्तरं तदुक्तकर्मणि प्रवर्तमानदुष्प्रापापारसंसारकूपे पातयन्तीति कथमुच्यते? तस्याऽपि वैदिकत्वेनाऽङ्गीकार्यत्वात् अन्यस्य सर्वधर्मपरित्यागस्याऽवैदिकस्याऽपि संसारोच्छेदकत्वञ्च कथम्? "सर्वधर्मान् परित्यज्य" (भ.गी. 18-66) इति स्मृतेः? इति तत्राऽह - **प्रवृत्तञ्चेति**। च समुच्चये। द्विविधमित्यनेनात्यन्तभिन्नविषयत्वं दर्शयति - यद्यप्यनेवंवित् महापुण्यं कर्म करोति "तद्धाऽस्यान्ततः क्षीयते" (बृह.उ. 1-4-15) "नारायणोऽसौऽपरमो विचिन्त्यः" इत्यादिना परमवैदिकत्वाच्च।।४७।।

कीदृशं तत्प्रवृत्तं, येनाऽनुष्ठितेन पुनरावृत्तिः स्यादिति, तत्राऽह - हिंस्र इत्यादिना। अश्वत्थादि द्रव्यच्छेदनात्मकत्वाद्धिंस्रमशान्तिदं मुक्तिविपरीतफलप्रदम्।।४८।।

**एतदिष्टं प्रवृत्ताख्यं हुतं प्रहुतमेव च।**
**पूर्वं सुरालयारामकूपाजीव्यादिलक्षणम्।।४९।।**

---

1.H,V ष्वृ°

द्रव्यसूक्ष्मविपाकश्च[1] धूमो रात्रि रपक्षयः।
अयनं दक्षिणं सोमो दर्श ओषधि वीरुधः।।५०।।

अन्नं रेत इति क्ष्मेशः पितृयानं[2] पुनर्भवः।
एकैकशश्चानुपूर्व्यात्[3-] भूत्वा[-3] भूत्वेहजायते।।५१।।

निषेकादिश्मशानान्तैः संस्कारैस्संस्कृतोद्विजः।
इन्द्रियेषु क्रियायज्ञान् ज्ञानदीपेषु जुह्वति।।५२।।

इन्द्रियाणिमनस्यूर्मौ[4] वाचि वैकारिकं मनः।
वाचं[5] वर्णसमाम्नाये तमोङ्कारे स्वरे न्यसेत्।।
ओङ्कारं बिन्दुनादे[6]तु[7] तन्तु प्राणेमहत्यमुम्।।५३।।

अग्निस्सूर्योदिवाप्राह्णः[8] शुक्लोराकोत्तरं[9] स्वराट्।
विश्वोऽथ[10] तैजसः प्राज्ञस्तुर्य आत्मासमन्वयात्[11]।।५४।।

देवयानमिदं प्राहुर्भूत्वाभूत्वाऽनुपूर्वशः।
आत्मयाज्युपशान्तात्मा ह्यात्मस्थो न निवर्तते।।५५।।

य एते पितृदेवानामयने वेदनिर्मिते।
शास्त्रेण चक्षुषावेद जनस्थोऽपि न मुह्यति।।५६।।

**श्रीधः एतदिति**। हुतं वैश्वदेवम्। प्रहुतं बलिहरणम्। एतत्सर्वमिष्टमुच्यते। एतदेव यदिकाम्यमशान्तिदञ्च तर्हि प्रवृत्ताख्यमपीत्यर्थः। आजीव्यं प्रपादि[12]।।४९।।

प्रवृत्तेन कर्मणा आरोहावरोहाभ्यां आवृत्तिप्रकारमाह - **द्रव्येति** द्रव्यस्य चरुपुरोडाशादेः[13] सूक्ष्मो विपाकः परिणामो देहान्तरारम्भकः "येन सम्परिष्वक्तो गच्छति य एव पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" इति

1. M,Ma °सूक्ष्म° 2. W °णं 3- -3. A,B,G,J,T °श्येनानुपूर्व ; M,Ma स्यानुपूर्व्या च 4.M,Ma °स्येवं 5. M,Ma तां तु 6. A,B,G,J,T बिन्दौ 7. A,B,G,J,T तं 8.M,Ma वायुः 9.M,Ma रः 10. A,B,G,J,T विश्वश्च 11.M,Ma यः 12. H,V °दादि 13.H,V Omit चरू

श्रूतावप्च्छब्देनोक्तेः। पाठान्तरे द्रव्यशब्देन तत्तदभिमानिन्योदेवताः[1-1]। तेजोमात्राशब्दोक्तानीन्द्रियाणि ऊष्मविपाकशब्देन हृदयाग्रप्रद्योतः। तथा च श्रुतिः - स इमास्तेजोमात्रास्समभ्यददानो हृदयमेवान्वक्रामत् इति। तथा "तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेनैष आत्मा निष्क्रामति" (बृ.ह. उ. 4-4-2) इति धूमादिशब्दैः[2] तत्तदभिमानिन्यो देवताः। तत्रापक्षयः कृष्णपक्षः। सोमः सोमलोकः। तत्र भुक्तभोगस्यावरोहणप्रकारमाह-दर्श[3] इत्यादि। दर्श[4] इति विपरीत लक्षणया विशिष्टभोगक्षयशोकाग्निना देहलयेनादर्शनमुच्यते। एतदुक्तं भवति - भूतसूक्ष्मयुक्तो धूमाद्यातिवाहिकदेव ताभिस्सोमलोकं प्रापित स्तद्भोगावसाने विलीनदेहो वृष्टद्वारेणौषधिवीरुधादि साम्यापत्ति क्रमेण जायते। एवं पुनर्भवहेतु पितृयानं प्रवृत्तकर्ममार्गः इति।।५०।।

**अत्रमिति**। क्ष्मेश! हे भूपते! पुनर्भवमेवाऽह - एकैकशः[5] प्रत्येकं आनुपूर्व्यात्[6-6] क्रमेण भूत्वाभूत्वा तत्साम्यं[7] प्राप्येह भूमौ जायते।।५१।।

तत्राऽदिकारणमाह[8] - निषेकादीति। नित्यादिकार्यप्येवं[9] जनमलभत इत्यर्थः। निवृत्तकर्मनिष्ठस्य उपासनादिविशेषमुपदिशन् आर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकप्राप्तिमाह - इन्द्रियेष्वित्यादिना। यद्वा द्रव्ययज्ञेषु हिंसाया दुर्निवारत्वादतिमुख्यं[10] निवृत्तकर्मैव दर्शयन्नाह - ज्ञानेन दीप्यन्त इति तथा तेषु। इन्द्रियव्यापाराणामिष्टापूर्तादीनामिन्द्रियतावन्मात्रतां भावयन्नित्यर्थः[11]। एव मुत्तरत्राऽपि।।५२।।

ऊर्मौ दर्शनादिसङ्कल्पमूले[12] मनसि वैकारिकं विकारयुक्तं मनोवाचि विद्यावि[13]लक्षणया वाचा हि मनः कर्तृत्वादिविकारं भजति। वर्णानां समाम्नाये समुदाये तद्विशेषत्वाद्वाचः स्वरेऽकारादिस्वरत्रयात्मके, ओङ्कारं बिन्दौ, तञ्च नादञ्च प्राणे सूत्रात्मनि महति ब्रह्मणि।।५३।।

**अग्निरिति**। तत्तदभिमानिन्यो देवताः ताः प्राप्नोतीति पूर्ववत्। दिवाऽहः, प्राह्णस्तस्यैवान्तः। एका शुक्लपक्षस्यान्तः। यद्वा प्राणो[14] राका इति च पुराणमतम्। उत्तरन्त्वयनम्। स्वराट् ब्रह्मा। एवं ब्रह्मलोकं गतस्य भोगावसाने मोक्षप्रकारमाह - विश्व इति। विश्वः स्थूलोपाधिः स स्थूलं सूक्ष्मे विलाप्य सूक्षोपाधि स्तैजस भवति। सूक्ष्मं कारणे विलाप्य कारणोपाधिः प्राज्ञो भवति। कारणञ्च सर्वत्र[15]साक्षित्वे नाऽन्वयात् साक्षिस्वरूपे विलाप्य तुर्यो भवति। तेषाञ्च व्यभिचारिणां साक्ष्याणां[16] लये शुद्ध आत्मा भवति; मुच्यते इत्यर्थः।।५४।।

1- -1 A,B,J Omit 2. A,Vशब्देन 3. H,V भोक्तृ 4. A,B,J Omit दर्श इति 5. A,B,J °कस्येन 6- -6 A,B,J Omit 7.A,B,J सान्निध्यं 8.A,B,J °ऽऽधिकारिणं 9. A,B,J अन्यस्त्विष्टादि 10. H,V दुर्वारत्वात् 11. °यति ; B,J °यन्ति 12. A,B,J रूपे 13. A,B,J °ध्यादि 14 H,V प्राणे 15. A,B,J सर्वसा ° 16.H,V सूक्ष्मा °

**देवयानमिति**। यथोत्तरो भूत्वा भूत्वा निवर्तते तथा न निवर्तत इत्यर्थः।।५५।।

**य** इति। वेदेन[1] निर्मिते ते "धूममभिसम्भवन्ति" इत्यादिना, 'तेऽर्चिरभि सम्भवन्ति' इत्यादिना च निश्चयेन विविच्य ज्ञापिते इत्यर्थः। जनस्थोऽपि देहस्थोऽपि न मुह्यति।।५६।।

**वीर॰** हुतं वैश्वदेवं, प्रहुत्तं बलिहरणम्। तदेतत्सर्वं वैदिकं कर्म इष्टमिष्टाख्यम्[2]। यद्येतदेव कर्म हिंस्रद्रव्यमयं हिंसाविषयद्रव्यप्रचुरम्। हिंस्रमितिपाठे पश्वादिहिंसागर्भं पुरोडाशादिद्रव्य प्रचुरञ्चकाम्यं स्वर्गादि-कामार्थमशान्तिदं पूर्वोक्तरागाद्यनिवृत्तिदं स्यात्, तदा प्रवृत्ताख्यम्[3] अकाम्यं शान्तिदं स्यात् तदा निवृत्ता-ख्यमित्यर्थः। अथ पूर्तसंज्ञकं कर्माऽह - पूर्तमिति। देवालयादि निर्माणरूपं कर्मपूर्तम्। आजीव्यमाजीविका।।४९।।

तत्र प्रवृत्तिधर्मपरायणस्य त्रैवर्णिकस्य तत्फलानुभवाय लोकान्तरारोहणमार्गं, फलानुभवावसाने, ततः पुनरेव रोहणमार्गमेवं सञ्चरतो भूतसूक्ष्मपरिष्वक्तत्वञ्चाऽह **द्रव्येत्या**दिना सार्धद्वयेन। निषेकादिश्मशानान्तैः गर्भाधानादिश्मशानान्तैः संस्कारैः[4] संस्कृतो द्विजस्त्रैवर्णिकः इष्टापूर्तं दत्तकारी देहात्यागानन्तरं द्रव्यसूक्ष्मविपाकः द्रव्याणां पृथिव्यादिभूतानां सूक्ष्मा[5] विपाकाः सूक्ष्मावस्था यस्य सूक्ष्मावस्थपृथिव्यादिभूतयुक्तः भूतसूक्ष्मपरिष्वक्त इति यावत्। हे क्ष्मेश! पृथिवीपते! धूमादयश्शब्दाः तदभिमानिदेवतापराः। तत्र अपक्षयः अपरपक्षः अयनं दक्षिणं दक्षिणायनं सोमश्चन्द्रः। इति शब्दः प्रत्येकमन्वेति। धूम इति रात्रिरिति तानेकैकश आनुपूर्व्येण भूत्वा भूत्वा। भूप्राप्तावात्मनेपदीति भवतिरत्र प्राप्त्यर्थकः। प्राप्य प्राप्येत्यर्थः। धूमादिक्रमेण चन्द्रं प्राप्य तत्राऽमृ-तमयशरीरयुक्त इष्टादि कर्मफल मनुभूय ततः दर्शः दर्शस्य चन्द्रकलाक्षयहेतुत्वादिना दर्शशब्देन चन्द्रं प्राप्तस्याऽमृतमय शरीरनाशो लक्ष्यते। विनष्टामृतमयशरीर इत्यर्थः। चन्द्रमसः स्थानात् क्रमेणौषध्यादीन् प्राप्येहलोके जायते। एतच्च पितृयानं पुनर्भवहेतुरित्यर्थः। यद्वा, चन्द्रपर्यन्तं पितृयानं ततो रेतःपर्यन्तं पुनर्भवयानमित्यर्थः। तत्र दक्षिणायनसोमयोर्मध्ये पितृलोकः आकाशश्च द्रष्टव्यः। ओषधेः पूर्वं क्रमेणाऽकाशवायुधूमाभ्रमेघवर्षाणि द्रष्टव्यानि। तत्राऽरोहणं धूमरात्र्यपरपक्षदक्षिणायनषण्मासपितृलोकाकाशचन्द्रक्रमेण। अवरोहणन्तु चन्द्रमसः स्थानात् आकाशवायुधूमाभ्रमेघवर्षौषधीवीरुदन्यतरान्नरेतःक्रमेणेत्यर्थः। यथा च श्रूयते छान्दोग्ये-" अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रे रपरपक्षमपरपक्षाद्यान् षड् दक्षिणेति मासां स्तानेवैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं

1 H,V °दनि °2. W omits इष्टं 3. W °त्या 4. A omits संस्कारैः 5. W °क्ष्मविं

तं देवा भक्षयन्ति तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वाथैतमेवाऽध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथैतमाकाश माकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वा अभ्रं भवति अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति। इह व्रीहि यवा ओषधिवनस्पतय स्तिलमाषाजायन्तेऽतो वै खलुदुर्निष्प्रपतरं योयो ह्यन्नमत्ति योयोरेतस्सिञ्चति तद्भय एव भवति तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा चाण्डालयोनिं वा अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डाल योनि वा" (छान्दो.उ. 5-10-3 to 7) इति। तत्रारोहणदशायां धूमाद्यभिमानिदेवतालोकगमनमेव धूमादि भावः। अवरोहणे त्वाकाशवायुधूमाभ्रमेघवर्षेषु तद्भावो नाम तत्संसर्गकृततत्सादृश्यापत्तिरेव "तत्स्वाभा-व्यापत्तिरुपपत्तेः" (ब्र.सू. 3-1-22) इति शारीरकन्यायात्। व्रीह्यादिभावो नाम जीवान्तराधिष्ठित व्रीह्यादि संश्लेष मात्रम् " अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात्" (ब्र.सू.3-1-24) इति न्यायात्। एवं वाऽन्वयः द्रव्यसूक्ष्मविपाक इति द्रव्यसूक्ष्मविपाकादय इत्येते सोमपर्यन्ताः पितृयानं, दर्शादयोरेतः पर्यन्ता पुनर्भवः गर्भाधानादिश्मशानान्तैः संस्कृत इष्टादिकारी आनुपूर्व्यात् क्रमेण भूत्वा भूत्वा रात्र्यादीन् प्राप्य प्राप्य पुनरिह जायते इति।।५०,५१।।

अथापुनर्भवं देवयानं वक्तुं तेन जिगमिषोर्निवृत्तधर्मनिष्ठस्य तावत्कृत्यमनुसन्धानमाह - इन्द्रियेष्विति द्वाभ्याम्। ज्ञानदीपेषु ज्ञानदीपकेषु चक्षुरादीन्द्रियेषु क्रियायज्ञान् कर्मेन्द्रिय व्यापारान् जुह्वति, देवयानेन जिगूमिषव इति शेषः। चक्षुरादिभिर्ज्ञानेन्द्रियैः पाणिपादादिकर्मेन्द्रियाणि नियच्छेयुरित्यर्थः। इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि सङ्कल्पविकल्पादिरूपोर्मिमति मनसि जुह्वति मनसा तानि नियच्छेयुरित्यर्थः। वैकारिकं सत्त्वोत्तरं वाचि शास्त्रात्मिकायां मनः मनसः उच्छास्त्रप्रवृत्तिं निरुन्ध्युः[1] इत्यर्थः। वाचं वर्णसमाम्नायमोङ्कारेऽन्तर्गतं विदुःतमोङ्कारं बिन्दुनादे चतुर्थ्यां मात्रायां, बिन्दुनादञ्च प्राणि प्राणसहचारिणि मकारवाच्ये जीवे वाचकत्वेनान्तर्भावयेयुः। अमुं जीवं महति महदात्मनि परब्रह्मणि समर्पयेयुरिति मुमुक्षोरनुसन्धानप्रकार उक्तः।।५२,५३।।

अथ तस्य गतिहेतुभूतमर्चिरा दिमार्गमंशतोदर्शयति - अग्निरिति। अग्न्यादि शब्दाः तदाभिमानि[2] देवतापराः। अत्र न क्रमविवक्षा, श्रौतक्रमविरोधात्। ननु सर्योऽग्निरनन्तरं दिवसादिभ्यः पूर्वं श्रूयते, किन्त्वेवं "तद्य इत्थं विदुर्येचेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते, तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति, अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेतिमासांस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं, चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स

1. A,B,T °ध्यात् 2. W °न

एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्थाः" (छन्दो.उ.5-10-1,2) इति। अत्र संवत्सरादनन्तरं वायुं विद्युतोऽनन्तरं वरुणेन्द्रौ च जानीयात्। कौषीतकिब्राह्मणे "एतं देवयानं पन्थानमापद्याऽग्निलोकमागच्छति [1]सवायुलोकं[-1] सवरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकम्" (कौषी.उ. 1-3) इति श्रवणात् . स्वराडत्रामानवः प्रजापतिर्वा। अयञ्च सकलश्रुत्यविरोधेन निर्णीतः क्रमो वरदगुरुभिरभिहितः - "अग्निरहस्सित पक्षानुदगयना-ब्दमरुदर्केन्दून्। अपि वैद्युतवरुणेन्द्रप्रजापती - नातिवाहिकानाहुः" इति पूर्वाह्णोराका चाऽनधीत शाखान्तरेष्वामन्तव्यौ। उत्तरं उत्तरायणम्। एवं मुक्तप्राप्यभगवल्लोकमार्गो दर्शितः। तत्र प्राप्यस्य भगवतः चतुर्व्यूहविशिष्टतामाह - विश्व इति। यथा सर्वज्ञसंहितायाम् "सृष्टिस्थित्यन्तकारिण्यश्शक्तयस्तत्र ऊर्जिताः" इत्युपक्रम्य "अकारशक्तिर्विश्वाख्या उकाराख्यातु तैजसी। मकारशक्तिः प्राज्ञाख्या तासां रूपं पुनः शृणु" इत्यादिना जाग्रदाद्यवस्थान्वयादिक मुक्त्वा "एतस्तिस्रो दशास्तिस्रः शक्तीः सम्प्रीणयन्ति ताः। अनिरुद्धादिरूपा स्ता भोक्तुश्शक्तीर्विचिन्तयेत्। अर्धमात्रा धिया दिव्याऽप्रकाशार्थप्रकाशिका। वासुदेवमयीं शक्तिं विद्धितामनुपस्कृताम्" इत्युक्तम्। अतः सृष्ट्यधिष्ठाता जाग्रदवस्था-निर्वाहकोऽनिरुद्धो विश्वस्थित्याधिष्ठाता, स्वप्ननिर्वाहकः प्रद्युम्नस्तैजसः संहतिशक्त्यधिष्ठाता सुषुप्तिनिर्वाहकः सङ्कर्षणः प्राज्ञः। एतेचाकारोकारमकारवाच्याः। सर्वकारणभूतः सर्वशक्तिर्मोक्षप्रदः प्रणवार्थ मात्रावाच्यो वासुदेव स्तुर्यश्चतुर्थमात्रासहितप्रणवस्य पूर्वमनुसन्धेयतया प्रकृतत्वादेवं तस्यार्थः फलदशायां प्राप्यतयोक्तः। इदं प्रदर्शनार्थ-मुक्तम्। परव्यूहविभवादि सर्वावस्थाविशिष्टो भगवान्मुक्तप्राप्य इत्यर्थः। समन्वयात्सर्वेषां व्यूहादीनां प्राप्यान्तर्भावादित्यर्थः।।५४।।

इदं देवयानं प्राहुः, वेदान्ता इति शेषः। आत्मयाजी परमात्मोपासकः अनुपूर्वशः क्रमेणार्चिरादीन् प्राप्य उपशान्तः निश्शेषनिवृत्त आत्मा प्रकृतिर्यस्य तादृशः आत्मनि परमात्मनिस्थितः आधेयतयास्थितः आत्मन्याविर्भूता-पहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकयुक्ते ब्रह्मात्मके स्वस्वरूपे स्थितः उक्तविधब्रह्मशेषत्वेनाऽऽत्मानमनुभवन्नित्यर्थः पुनस्ततो न निवर्तते। एवं देवयानपथगो भूत्वा न निवर्तते जन्ममरणादिकं तद्धेतुभूतपुनरावृत्तिञ्च न प्राप्नोतीत्यर्थः।।५५।।

"नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन। तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन!" (भ.गी. 8-27) इति श्रीभगवदुक्तमार्गद्वयचिन्ताफलमाह - य एत इति। यः पुमान्मुमुक्षुः वेदनिर्मिते वेदबोधिते एते पितृदेवानामयने वर्त्मनि देवयानपितृयाने शास्त्रात्मकेन चक्षुषा वेद। सोऽपि पुमान्न मुह्यति। जनस्थोऽपीति पाठे देहस्थोऽपीत्यर्थः। स्वानुष्ठेयभगवद्भक्तियोगे मोहं न प्राप्नोतीत्यर्थः।।५६।।

1- -1 A omits

**विज०** हुतं वैश्वदेवं प्रहुतं हुत्वा बलिहरणं एतद्द्वयमिष्टम्। सुरालयादि विपाकान्ताः पूर्तम्। आजीव्यास्सर्वसेव्याः कुट्टिममूला विस्तृतशाखास्तरवः।।४९।।

द्रव्यमूष्मविपाकः पुरोडाशादिद्रव्यजनितापूर्वं फलम्। धूम इत्यादिना धूमादिशब्दवाच्या देवताश्चात्र गृह्यन्ते इति ज्ञातव्यम्। अपक्षयः कृष्णपक्षः। सोमश्चन्द्रः। पर्वदर्शशब्देन तत्प्रयुक्तकर्मविशेषः। अत्र तु तदभिमानिदेवा उच्यन्ते। अनेन मार्गेण गतस्य गतिप्रकारमाह - ओषधीति। पितृयानं गतः अम्बुवृष्ट्यादिद्वारेण भुवं प्रातः ओषध्यादिर्भवति।।५०।।

अन्नरूपेण पितरं प्रविश्य रेतोरूपेण मातरञ्चेति। पुनः पुनर्भवतीति पुनर्भवः, स्यादिति शेषः। न केवल मोषध्यादिभावोऽस्य किन्तु धूमादिभावोऽप्यस्तीतिभावेनोक्तं विशदयति एकैकस्येति। अत्राऽनुपूर्व्याक्रमात् "अथ इमेग्राम इष्टा पूर्तेदत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति" (छान्दो.उ. 5-10-3)इत्युपक्रम्य "यो यो ह्यन्नमत्ति यो यो रेतस्सिञ्चति तद्रूप एव भवत्यन्ते" (छान्दो.उ. 5-10-6) अनेनाऽयमर्थः प्रपञ्च्यते ।।५१।।

अत्र च "त इह रमणीयचरणाभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा" (छान्दो.उ. 5-10-7) इत्यादेरभिप्रायं दर्शयति - निषेकादीति। निषेको रेतस्सेकः अनेनाऽपि पुनर्भव इत्यस्य भावो विवृत इति ज्ञायते। देवयानापरपर्यायार्चिरादिमार्गाभिमानिदेवचक्रं वदिष्यन् तन्मार्गगतावित्थम्भूतसाधनमाह - इन्द्रियेष्विति। क्रियायज्ञान् क्रियात्मकयज्ञाभिमानिदेवान् ज्ञानं दीपयन्ति जनयन्तीति ज्ञानदीपानि, ज्ञानमेव दीपो येषां तानि तथा तेष्विन्द्रियेषु इन्द्रियाभिमानिदेवेषु जुह्वति, हवनं नाम तत्तद्वशत्वेन स्मरणम्, तदुक्तम् - "यज्ञाभिमानिनो देवान् स्मरन्तीन्द्रियमानिनम्। वशगांस्तान्मनोमानिसुरेन्द्रस्य वशेस्थितान्। वेदात्मिकायाः पार्वत्याः तं तां रुद्रवशे स्थिताम्। वर्णत्रयात्मकं रुद्रं शेषेतु प्रणवात्मके। बिन्दुरूपे सरस्वत्यां तं तां तस्यां पुनर्न्यसेत्। मूलस्थानादरूपायां ता वाचौ तं जनार्दने। प्रकृत्या मथवा प्राणं तामेव पुरुषोत्तमे" (ब्रह्मतर्के) इति।।५२।।

इन्द्रियाणि तदाभिमानिदेवान् मनसि मनोभिमानीन्द्रवशे, तानेवं पूर्ववत्स्मरन्तीति शेषः। विशिष्टाकारपराक्रमलक्षणं कर्माऽस्याऽस्तीति वैकारिकं मनोभिमानिनमिन्द्रं वाचि वेदाभिमानिन्यां पार्वत्यां, तामुमां वर्णसमाम्नाये पदवर्णस्वरक्रमाणां सम्यगाम्नायः सम्प्रदायोऽनन्यथापाठलक्षणो यस्मिन् स तथा अकारोकारमकाराणां त्रयाणां वर्णानां समाम्नायो मेलनं यस्मिन् ओङ्कारे स तथा। तस्मिन् तदभिमानिरुद्रे, स्थितामिति शेषः। तु शब्देन

भार्याभर्तृभावं पूर्वस्माद्विशिनष्टि। तं रुद्रम् ओङ्काराभिमानिनि स्वं परमात्मानं रमयतीति स्वरः शेषः तस्मिन् स्थितं न्यसेत् मनस्तद्विषयं करोति ।।५३।।

तमोङ्कारं शेषं बिन्दुनादे बिन्दुनादरूपसरस्वत्यां तदाधारत्वेन स्थितम्। तुशब्देन पूर्वयोरेकत्र त्वमत्रस्वस्वामिभावं सूचयति - तां बिन्दुरूपां मूलाधारस्थानादरूपायां प्रकृतिनाम्न्यां सरस्वत्यामेकीभूय। स्थितिशब्देन तयोरेकत्वं दर्शयति - तं तां नादरूपां प्राणे प्रकृष्टानन्दरूपे वायौ स्थिताम्। अत्रापि तुना भार्याभर्तृभावमाह- अमुं वायुं महति जनार्दने स्थितं स्मरेत्। अथवा प्राणनामानं वायुं महति प्रधाने प्रकृतिशब्दवाच्ये स्थितममुमक्षरं प्रकृतिनामानं महति पुरुषोत्तमे स्थितमिति, महतिशब्दो द्विरावृत्त्या व्याख्येयः। एतत्सर्वं बिन्दुरूपसरस्वत्यां तं तां तस्यां पुनर्न्यसेत् - इत्यादि पूर्वोक्तेन मानेन सविस्तरमुक्तम्। इदानीमर्चिरादिमार्गे देहादुत्क्रान्तस्य ज्ञानिनः प्राप्यान् देवानाह - **अग्निरिति**। दिवा दिवसगभिमानिनी, शुक्लः शुक्लपक्षाभिमानिनी, राकापूर्णमास्यभिमानिनी, उत्तरमुत्तरायणाभिमानिनी, स्वराडिन्द्रः।।५४।।

अत्र न केवलमग्न्यादय एव प्राप्याः, अपितु विश्वाद्या अनिरुद्धाद्या भगवतो मूर्तिविशेषाश्च प्राप्या इत्याशयेनाऽह विश्व इति। अथ शब्देन अनिरुद्धादिग्रहणं तेषामुभयेषां विष्णुरूपत्वं सूचयति - "विश्वाद्या अनिरुद्धाद्या स्ते द्विधा समुपकीर्तिताः। विष्णुरूपास्तदन्ये च तान्सर्वान्याति मोक्षगः" (ब्रह्मतर्के) इत्युक्तेः। किञ्चाऽन्ये च दिवस्पुत्रास्तन्निकटवर्तिनस्सन्ति तेऽप्यथशब्देन सूचिताः। "तदन्ये च दिवस्पुत्रास्सर्वेच द्युसमीपगाः। ते दिवं प्रापयन्त्येनं सवायुं सहरिं पृथक्। विश्वादिरूपं तुर्यश्च वासुदेवश्च नाऽपरः" (ब्रह्मतर्के) इत्युक्तेः गतिक्रमोऽप्यनेन ज्ञातव्यः। न परं विश्वादिकमेवाप्तव्यं, किन्तु तन्मूलरूपो हरिराप्तव्य इत्याह - **आत्मेति**। आत्मा विश्वादिरूपो हरिः सम्यगन्वीयते अनेन ज्ञानेनेति समन्वयः। तदुक्तं स हरिं पृथग्विश्वादिरूपमिति वासुदेवः तुर्यादन्यो नेत्याह- -तुर्य इति। तुर्य आत्मा वासुदेवः। अत सातत्यगमने इति धातोः सततगमनं व्याप्तिः "यश्चाऽस्य सततो भावः" इतिश्रुतेः। सर्वत्र वसनशीलत्वात् क्रीडारूपत्वात् जपाकुसुमाद्युपाध्यनाविद्धस्फटिकवन्निर्मलज्ञानरूपत्वाद्वासुदेवः "शुद्धस्फटिकसङ्काशं वासुदेवं निरञ्जनम्" इति स्मृतिः। "ऐकात्म्यप्रत्ययं सारं प्रपञ्चोपशमं शिवम्। अद्वैततुर्यं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः" इति स्मृतेः। "तुर्यश्च वासुदेवश्च नाऽपरः" (ब्रह्मतर्के) इति च। किञ्च मार्गस्थानां सर्वेषां देवानामपि परमात्मनि समन्वयोऽस्तीति ज्ञापनाय समन्वय इत्युक्तम्। एतस्य नाम निर्दिशति देवयानमिति। "संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणञ्चोत्तरञ्च" (प्रश्न. उ. 1-9) इत्यारभ्य 'एतस्मान्न पुनरावर्तन्ते इत्येष विरोधः' (प्रश्न.उ. 3-1-10) इत्यन्तं वेदान्ताः प्राहुरित्यन्वयः। अस्य फलमाह भूत्वेति। अनुपूर्वशः क्रमेणोपर्युपरि

सुखादिभिरधिकोभूत्वाऽऽत्मस्थो मुक्तो न निवर्तत इत्यन्वयः। कुतः। आत्मयाजी परमात्मपूजकत्वात् पुनरावृत्तीच्छाऽपि तस्य नाऽस्तीति भावेनाऽह - उपशान्तात्मेति। पूर्णानन्दस्वरूपः धूमादिमार्गवदस्याऽपि पुनरावृत्तिभीरस्ति किमित्यतो भूत्वेति।।५५।।

ननु किमेतज्ज्ञानेन प्रयोजनम्? येनाऽवश्यं वक्तव्यतामियात् इति तत्राऽह - य एते इति जनस्थो देहस्थः-"तद्य इत्थं विदुर्येऽत्रारण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते ते धियमभिसम्भवन्ति" (छान्दो.उ. 5-10-1) इत्यादिना शास्त्रेण केवलं मोहं प्राप्नोति नीचां गतिमपि न यातीत्यतोऽपीत्युक्तम्। "भक्तिमान्मार्गविन्नैव नीचां गतिमवाप्नुयात्" (ब्रह्मतर्के) इति स्मृतेः ।।५६।।

**आदावन्ते जनानां[1] यो बहिरन्तः परावरम्।**
**ज्ञानं ज्ञेयं वचो वाच्यं तमो ज्योतिश्च[2-] यत्स्वयम्[-2]।।५७।।**

**अबाधितोऽपि[3] ह्याभासो यथा वस्तुतया स्मृतः।**
**दुर्घटत्वादैन्द्रियकं तद्वदर्थविकल्पितम्।।५८।।**

**क्षित्यादीनामिहार्थानां छाया[4] न कतमाऽपि[5] हि।**
**न सङ्घातो विकारोऽपि न पृथक् नान्वितो[6] मृषा।।५९।।**

**धातवोऽवयवित्वाच्च तन्मात्रावयवैर्विना।**
**नस्युर्ह्यसत्यवयविन्यसन्नवयवोऽन्ततः[7-]।।६०।।**

**स्यात्सादृश्यभ्रमस्ताव द्विकल्पे सति वस्तुनः।**
**जाग्रत्स्वप्नौ[8] यथा स्वप्ने तथा विधिनिषेधता।।६१।।**

**भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं तथाऽऽत्मनः।**
**वर्तयत्स्वानुभूत्येह त्रीन्स्वप्नान्धुनुते मुनिः।।६२।।**

---

1 A,B,G,J,T °नां सत्; M,Ma °नाशं 2--2 A,B,G,J,T °स्त्वयं स्वयम्; म Ma °श्च सत्स्वयम् 3. A,B,G,J,T,V आ° 4 H,V अद्वयः 5 H,V मोडं 6. M,Ma °तोऽपिवा 7. M,Ma °न्यासन्नावयवा इव 8. A,B,G,J,T °त्स्वापौ

**कार्यकारणवस्त्वैक्य[1]दर्शनं पटतन्तुवत्।**
**अवस्तुत्वा द्विकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते।।६३।।**

**यद्ब्रह्मणि परे साक्षात्सर्वकर्मसमर्पणम्।**
**मनोवाक्तनुभिः पार्थ! क्रियाद्वैतं तदुच्यते।।६४।।**

**श्रीध॰** तत्र हेतुमाह-**आदाविति**। जनानां देहादी[2]नां आदौ कारणत्वेन अन्तेचावधित्वेन यत्सत्तथा बहिर्भोग्यमन्तर्भोक्तृ[3] परमपरञ्चोज्झनीचम्। तमोऽप्रकाशः, ज्योतिः प्रकाशः, तत्तु सर्वमयं ज्ञानी स्वमेव, न तस्माद्व्यतिरिक्तं वस्तु किञ्चिदस्ति, येनमुह्येदित्यर्थः।।५७।।

ननु नहि कथं पृथगर्थस्तस्याऽपि प्रतीयते, तत्राऽह आबाधित इति। आबाधित स्तर्कविरोधेन सर्वतो बाधितोऽप्याभासः प्रतिबिम्बादिः। वस्तुतया यथा स्मृतस्तद्वदैन्द्रियकं सर्वमर्थत्वेन विकल्पितं नतु परमार्थतः, दुर्घटत्वात्।।५८।।

तदेवाऽह - **क्षित्यादीनामिति**। क्षित्यादीनां पञ्चभूतानां[4] अद्वयः ऐक्यबुद्ध्यालम्भनरूपं देहादिसङ्घाता-रम्भपरिणामानां मध्ये? कतमोऽप्यन्यतमोऽपि[5][6] न भवति। न तावत्तेषां सङ्घातो वृक्षाणामिव वनम्। एकदेशाकर्षणेन[7] सर्वाकर्षणानुपपत्तेः। नह्येकस्मिन्वृक्षे आकृष्टे सर्वं वनमाकृष्यते। अतो न सङ्घातः[8]। न च विकार आरब्धावयवी[9]। अपि शब्दान्न परिणामोऽपि। कुतः स किं आरब्धेभ्यः[10-10] स्वावयवेभ्यो वा परिणतेभ्यो वा पृथक्, तदन्वितो वा? न तावदत्यन्तं पृथक्, तथाऽप्रतीतेः। नचाऽन्वितः। स किं प्रत्यवयवं सर्वोऽप्यन्वेति, अंशेन वा। आद्ये अङ्गुलिमात्रेऽपि देहबुद्धिः स्यात्। द्वितीये तस्याऽप्यंशाङ्गीकारे सति अनवस्था स्यात्। अतो मृषैवेत्यर्थः।।५९।।

एवं देहादेर्मिथ्यात्वमुक्त्वा तद्धेतूनां क्षित्यादीनामपि मिथ्यात्मत्वमाह[11]-**धातव** इति। दधतीतिधातवो[12] महाभूतानि। तन्मात्रैः सूक्ष्मैरवयवैर्विना न स्युः, अवयवित्वात्तेषामपि। तर्ह्यवयवस्सत्य इति चेत्तत्राऽह-उक्तप्रकारेणावयविन्यसति अवयवोऽप्यन्ततोऽसन्नेव स्यात्। अवयवप्रतीत्यन्यथानुपपत्तिं विना तत्सद्भावे प्रमाणाभावादित्यर्थः। तदुक्तं पञ्चमस्कन्धे। "एवं निरुक्तं क्षिति शब्दवृत्तम्" (भाग. 5-12-9) इत्यादि।।६०।।

---

1.A,B,G,J,T °म °2. A,B,J °नामा° 3.A,B,J परावर° 4. A,B,J छाया 5. A,B,J °तमा° 6 A,B,J तमा° 7. A,B,J कर्षणे 8--8. A,B,J Omit 9 A,B,J °ब्धो° 10--10 A,B,J,Omit 11. A,B,J °ध्यात्व 12 A,B,J धारयन्तीति

नन्वेवमवयविनोऽभावे आगमापायिषु बाल्यादिषु सोऽयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञा न स्यात्। तदुक्तं भट्टैः "आविर्भावतिरोभावधर्मकेष्वनपायि यत्"। तत्राऽह - **स्यादिति**। वस्तुनः परमात्मनो विकल्पे भेदेऽसति। यद्वा-वस्तुनोऽविद्याया विकल्पे सति पूर्वरूपारोप सादृश्यात्सा एवेति भ्रमः स्यात्। स च तावदेव या वदविद्यानिवृत्तिः। ननु सर्वमिथ्यात्वे शास्त्रस्य विधिनिषेधकता कथम्? तत्राऽह - स्वप्नमध्ये जाग्रत्स्वापव्यवस्था यथेति ।।६१।।

इदानीमुक्तमेवाद्वैतं भावनात्रयोपदेशेन दृढीकरोति**भावाद्वैत**मिति चतुर्भिः। वर्तयन्नालोचयन्। स्वानुभूत्या आत्मतत्त्वानुभवेन। त्रीन् स्वप्नात् जाग्रदादीन्। "त्रय आवसथा स्त्रयः स्वप्नाः" इति श्रुतेः यद्वा वस्तुनि भेदबुद्धिरेकः स्वप्नः। ततः तत्तदधिकारभेदेन कर्मभेदबुद्धि र्द्वितीयः। ततः सत्कर्मसाधितमेतत्फलं ममैव भोग्यमिति तृतीयः। तान्धुनुते निवर्तयति।।६२।।

भावाद्वैतमाह-**कार्येति**। उत्पत्तेरनन्तरं पटस्य तन्तूनामैक्यमिव विकल्पस्य अवस्तुत्वात् मिथ्यात्वात् कार्यकारणयोर्वस्त्वैक्यस्य दर्शनमालोचनं भावाद्वैतमुच्यते।।६३।।

क्रियाद्वैतमाह - **यदिति**। मनोवाक्तनुभिः कृतानां सर्वेषां कर्मणां यत्परे ब्रह्मणि समर्पणं तैः समर्पणमिति वा। उद्देश्यफलभेदो हि क्रियाभेदे हेतुः। ईश्वरार्पणे च क्रियाणां तदभावात् ब्रह्मगतज्ञानं क्रियाशक्तय एव कर्माणि कारयन्तीति आलोचनं क्रियाद्वैत मुच्यते।।६४।।

**वीर॰** अथ प्राप्यतया प्रकृतस्य भगवतः सर्वात्मकत्वमाह - **आदाविति**। आदौ सृष्ट्यादौ अन्ते प्रलये च मध्यस्थानां जनानामन्तर्बहिश्च सन् वर्तमानः। किञ्च यत् परावर उत्कृष्टापकृष्टं वा। तत्रोत्कृष्टमाह-ज्ञानं ज्ञानात्मकं जीवस्वरूपं ज्ञेय मचिद्वस्तु, परं वचोनाम वाच्यं रूपं नाम रूपात्मकं चिदचिदात्मकं सर्वं वस्तु इत्यर्थः। तमो मूल प्रकृतिः, ज्योतिः समष्टिजीवश्चेति एतत्सर्वं साक्षादयमेव परमात्मैव परमात्मात्मकमेवेत्यर्थः।।५७।।

---

1. A,B,J,Omit एवं 2. A,B,J ज्ञानं 3. A,B,J पूर्वा 4. H.V Omit ननु 5. A,B,J Omit स्वप्नात् 6. A,B,J °स्तुभे° 7 A,B,J °तस्त° 8. A,B,J मत्क 9- -9. A,B,J Omit 10.A,B,J मर्शन° 11- -11 A,B,J तन्तुरेव न पट इति। 12–12 A,B,J Omit 13. A,B,J Omit सर्वेषां 14- -14 A,B,J Omit 15 H.V दहे 16- -16 A,B,J, तदभावात् क्रियाणामद्वैतम्। 17. W °परं

एवं सर्वात्मकत्वमभिधाय तस्यैव प्राप्यस्य ब्रह्मणो निरतिशयपुरुषार्थत्वज्ञापनाय प्राकृतदेहस्य तदनुभाव्यशब्दादिविषयाणाञ्च अपुरुषार्थत्वमाह - **अबाधित** इति। आभासो दृश्यो देहः स अबाधितोऽविनष्टोऽपि, अनुवर्तमानेऽपि अवस्तुतया अपुरुषार्थतया स्मृतः। एवं शब्दाद्यर्थरूपेण विकल्पितमैन्द्रियकवस्तुजातमप्यवस्तु अपुरुषार्थम्। यद्वा - अहङ्कारगोचरं शरीरं यथाऽनित्यहेयं, तथा ममकारगोचरः शब्दादिरप्यपुरुषार्थः, न स्थिरः, तस्य अनित्यपुरुषार्थतया दुर्घटत्वादित्यर्थः। यद्वा - आभासः स्वप्नदेहः स तदानीमनिवृत्तोऽपि प्रबोधवेलाया मवस्तुतया अनात्मतया स्मृतः जात्यादिविकल्पितजाग्रच्छरीरमपि तद्वदनात्मा आत्मधर्माणां नित्यत्वादीनां तत्र दुर्घटत्वादित्यर्थः।।५८।।

शरीरस्य सर्वत्र सर्वकाले सर्वस्मिन्नपि आत्मना विना स्थित्यभावात् शरीरमप्यात्मा स्यादिति। शङ्कानिरासार्थमाह-क्षित्यादीनामिति। क्षित्यादीनां पृथिव्यादिपरिणामरूपाणां वृक्षाणां छाया सङ्घातादिष्वर्थेषु न कतमोऽपि सङ्घातविकारपृथग्भूततया यावद्द्रव्यभाविषु न कश्चिदपीत्यर्थः। तदेव विवृणोति - न सङ्घात इति। वृक्षसङ्घातो न छाया, नाऽपि वृक्षविकारः, नाऽपि वृक्षात्पृथक्, वृक्षं हित्वा स्थातुं न योग्यः नाऽन्वितः नाऽविनाभूतः यावद्वृक्षसत्ताकं नाऽन्वितोऽपि, अर्थाभिप्रायः पुंलिङ्गनिर्देशः। मृषा अनित्या एवं शरीरमप्यात्मना विना स्थित्यभावात् प्रतिच्छायासदृशं, न चाऽत्मसङ्घातः शरीरं न चाऽत्म विकारः नचाऽत्मानं हित्वा तिष्ठति, न यावदात्मभावी अनित्यत्वात्; अतो नाऽत्मा शरीरमित्यर्थः।।५९।।

शरीरस्याऽनित्यत्वादात्मप्रतिपत्त्यर्थं तत्तुल्यन्यायेषु पृथिव्यादिष्वनित्यत्वमुपपादयति - **धातव** इति। पृथिव्यादयो धातवः अवयवित्वात् सङ्घातरूपत्वात् तन्मात्रावयवैर्विना न स्युः, अवयविनाशे सङ्घातो नश्यतीत्यर्थः। सङ्घातरूपत्वमेव प्रतिपादयति - असतीति। यतोऽवयवसङ्घातरूपोऽवयवी। अत एवावयविन्यसति विनष्टे अन्ततोऽवयवोऽसन्नेव। अवयविन्यनुपलभ्यमानेऽवयवा एव धातवो नह्युपालभ्यन्ते। एवमवयवित्वादनित्यं शरीरं, नित्यमात्मा न भवतीत्यर्थः।।६०।।

तर्हि स्थूलोऽहमिति प्रतीतिः कथम्? इत्यपेक्षायां भ्रान्तिरित्याह - स्यात्सादृश्यमिति। तत्र संसर्गनिमित्ता भ्रान्तिरिति प्रतिपत्त्यर्थं सादृश्यनिमित्तत्वं प्रतिक्षिपति - **स्यादिति**। द्वयोरप्यर्थयोर्ज्ञानादिगुणविकल्पे सति कस्यचिद्वस्तुनः केनचित्सादृश्यं भ्रममभेदनिमित्तं स्यात्। देहात्मनोस्तु समानजातिगुणाद्यभावात् सादृश्य

मनुपपन्नम्। उष्णं जलमितिवत्[1] संसर्गभ्रम इत्यर्थसिद्धम्। एवमात्मविषयक ज्ञानाभावेऽपि जानामि न जानामीति विभागप्रतिपत्तौ दृष्टान्तमाह - जाग्रत्स्वप्नाविति। कश्चित्सुप्तिवेलायामेव सुप्तं प्रबुद्धश्चाऽत्मानं पश्यति। यदा प्रबुध्यते तदा स्वप्नदृष्टप्रबोधो न वास्तव इति बुध्यते। एव मनात्मविदां संसारिणां कदाचित् अहञ्जानामीति ज्ञानं निषेधश्च आत्मयाथात्म्यज्ञानाननुवृत्तावेव भवत इति विधिनिषेधता विधिनिषेधौ स्वप्नदृष्टस्वप्नप्रबोधतुल्यावित्यर्थः। संसारिणामात्मज्ञानाभावात् बाह्यार्थविषयज्ञानमपि अज्ञानतुल्यमित्युक्तं भवति। यथा-"तज्ज्ञानमज्ञानमतोऽन्यदुक्तम्" इति। शास्त्रविरुद्धार्थविषयज्ञानभ्रान्तिरियं ज्ञानिनां नाऽस्तीत्याह - भावाद्वैतमिति। यद्वा एवं देहविलक्षणात्मज्ञानिनामपि यावत् स्थूलोऽहं ब्राह्मणोऽहमिति देहात्मभ्रमानुवृत्तिराप्रयाणं तावद्विधिनिषेधात्मकशास्त्रावश्यकतेत्याह जाग्रत्स्वप्नाविति। यथा स्वप्ने जाग्रत्स्वप्नौ जाग्रत्स्वप्नावस्थे स्वप्नपर्यन्तावेव। प्रबुद्धस्य तु तावुभौ निवर्तेते, तद्वदित्यर्थः[2]।।६१।।

एवं यावद्देहात्मभ्रमानुवृत्तिस्तावद्विधिनिषेधता स्थूलोऽहं ब्राह्मणोऽहमिति प्रतीतेर्देहात्मनोरभेदे भ्रममूलकत्वेन प्रतिषिद्धे किमेव मेव सर्वमद्वैतं भ्रमविषयम्। उत किञ्चित्प्रमितिविषयं[3] अपि अस्तीत्याशङ्कायां यच्छास्त्रानुमतमद्वैतं तत्प्रमाविषयं तन्मुमुक्षो रनुसन्धेयमेवेति वक्तुं तदनुमतं त्रिविधमद्वैतं दर्शयन् तदनुसन्धानस्य भ्रममूलकद्वैतत्रयनिरासकत्वमाह - भावाद्वैतमिति। यथा देहात्मनोर्भेदः शास्त्रानुमतोऽनुसन्धेयः तथा भावाद्वैतादिरूपं त्रिविधमद्वैतमात्मनः स्वस्य वर्तयन्। यद्वा - आत्मनो मनसो वर्तयन् मनसि प्रतिष्ठितं कुर्वन्नध्यवस्यन्निति यावत्। इह मुनिः परपरमात्मोपासकः स्वानुभूत्या देहविलक्षणब्रह्मात्मकस्वात्मयाथात्म्यानुभवेन त्रीन् स्वप्नान् भावाद्वैत, कर्माद्वैत, द्रव्याद्वैतनामानि भ्रमात्मकानि धुनुते निरस्यति।।६२।।

भावाद्वैतादिस्वरूपं विवृण्वन् त्रिविधभ्रान्तिनिरासं श्लोकत्रयेण विवृणोति - कार्येति। तत्रोपादानस्य कार्यस्य चानन्यत्वपरो भावाद्वैतविषयः श्लोकः यत्कार्यकारणयोर्वस्तुनोरैक्यदर्शनं तद्भावाद्वैतं कार्यकारणयोरैक्ये पटतन्तुवदिति दृष्टान्तः। यथा तन्तूनामेव व्यतिषङ्गविशेषभाजां नामरूपात्मकावस्थान्तरापत्त्या पटावस्थत्वमिति पटस्य तेभ्योऽनन्यत्वं तद्वत्कृत्स्नं जगच्चिदचिदीश्वरात्मकं सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टात् ब्रह्मणोऽनन्यत् इत्येतद्भावाद्वैतं; भावयोः कार्यकारणवस्तुनोरद्वैतं भावाद्वैतम्। अवस्तुत्वा द्विकल्पस्येत्यनेन भावाद्वैतं निरस्यति। विकल्पस्य उपादानातिरिक्तद्रव्यकल्पनरूपज्ञानस्य[4]ऽवस्तुत्वाद्वस्तुशून्यत्वान्नभावयोर्द्वैतं, किन्तु अद्वैतमेवेत्यर्थः। एव मसत्कार्यवादभ्रमो निरस्तः।।६३।।

1. A,B,T Omit °वत् 2- -2 W Omits 3. A,B,T Omit अपि 4. A,B,T °पा°

क्रियाद्वैतं विवृणोति - **यदिति**। हे पार्थ! साक्षात्परे ब्रह्मणि यत्करणत्रयेण सर्वकर्मणां समर्पणं तत्क्रियाणा-मद्वैतम्। भगवदाराधनत्वेन सर्वकर्मणामेकफलावच्छेदः[1] क्रियाद्वैतम्। अनेन कर्मणामीश्वरप्रीतिमनपेक्ष्य स्वातन्त्र्येण फलवत्तभ्रमो निरस्तः।।६४।।

**विज०** जाग्रदाद्यवस्थाप्रवर्तकविश्वादीन् कल्पितानतिक्रम्य प्रपञ्चोपशमं तुर्यात्मा भूत्वा निर्द्वन्द्व आस्ते इति केचिद्व्याचक्षते, तन्मतदूषणायाऽह - आदाविति। आदावुत्पत्तिकाले मुक्तिकाले च यज्जनानाशं जननं विनाशश्च 'जनी प्रादुर्भावे' इत्यस्मात् टापि कृते जनेति रूपं सिध्यति। वध्यघातकभावो मार्जारमूषकवत्। यश्च बहिरन्तर्विद्यमानं परावरमुत्तमाधमं, भूतं भविष्यद्वा यश्च ज्ञानादिकं सर्वस्य ग्लापकत्वात् ग्लानिजनकत्वात्, तमः प्रकृतिर्ज्योतिः तदवभासकः स्वप्रकाशश्च यः तदेतत्सर्वं स्वयं तुर्यात्मा श्रीहरितत्सत्ताया अपि तदधीनत्वात्स इत्युच्यते, न तु तदात्मकत्वात् "पुरुष एवेदं सर्वम्" (पु.सू. 1-1) इति श्रुतेः। आदौ यथा तदधीनत्वं तथाऽन्तेऽपि श्रीनारायणाधीनत्वमित्यतोवाऽह - आदाविति। उक्तार्थः श्लोकः निरूपचरितापराधीनत्वं हरेरेव न मुक्तस्याऽपीत्यतो वाऽह - **आदाविति**। आदावन्ते उत्पत्तेः प्रागूर्ध्वं अयं परमात्मा वर्तत इति शेषः। कथङ्कारमत्राऽह - जनेति। जनकत्वेन नाशकत्वेनेत्यादिरूपेण सर्वकर्तृत्वस्वातन्त्र्येण तच्छब्दवाच्यत्वं हरेरप्युक्तं तमश्शब्दस्य ग्लापकत्वादिति। णिच् प्रत्ययान्तत्वेन विवरणादयमर्थो ज्ञायत इति।।५७।।

ननु सत्तायाः तदधीनत्वं प्रामाणिकञ्चेत् ब्रह्मत्वेनोक्तिर्घटेत, ततः काऽत्रयुक्तिरित्याशङ्क्योपपादयति अबाधित इति। प्राकृतवैकृतलक्षणकार्येषु विशिष्टकान्तिमत्तयाऽऽभासते विद्योतत इत्याभासो देहः प्रतिबिम्बलक्षणो यथा वस्तुतया "वसनाद्वासयेद्वस्तु नित्याऽप्रतिहतत्वतः" इति स्मृतेर्वस्तु परमात्मा तत्त्वेन स्मृतः। "इदं हि विश्वं भगवानिवेतरः" "इन्द्रो मायाभिः" (बृह.उ. 4-5-19) इत्यादिना। ननु देहस्य सत्त्वे तत्सत्ताया भगवदधीनत्वेन तद्वक्तुं युक्तं तस्य दग्धपटाभासवदर्थक्रियानर्हत्वात् इति तत्राऽह - **अबाधित** इति। शुक्तिकायां प्रतिभासितं रजतं वल्यकरणाद्यर्थक्रियानर्हत्वेन नेदं रजतमिति बाधितं स्याद्यथा न तथाऽयं बाधतः, हानोपानाद्यर्थक्रियायोग्यत्वात्। अपिशब्दोऽत्र स्वातन्त्र्यशङ्कां सूचयति। हिशब्देन प्रत्यक्षासिद्धत्वेन दग्धपटाभासवैलक्षण्यं दर्शयति, तद्वत्तथैन्द्रियकमिन्द्रियविषयं घटपटादिकम्। अर्थशब्दो भावप्रधानः अर्थत्वे नार्थक्रियाख्यं प्रयोजनतया कल्पितं समर्थितं, परमात्मनेति शेषः। "कर्तृकर्मक्रियादीनां सत्तावृत्तिस्तथैव च विष्ण्वधीनं यतः" इति वचनात्,

1. A,B,T ग्लाच्छे

अर्थक्रियासामर्थ्यस्य भगवदधीनत्वेन "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छान्दो.उ. 3-14-1) इति सर्वस्य तत्त्वं युक्तमिति भावः। एवमनङ्गीकारे बाधकमाह - दुर्घटत्वादिति ईश्वरादन्येन कर्तुमशक्यत्वात्।।५८।।

दुर्घटत्वमेव दर्शयति - **क्षित्यादीनामिति** क्षित्यादीनामर्थानां पदार्थानां कतमाऽपिछाया कतमोऽपि प्रकारः विचार्यमाणे सति, न घटत इति शेषः। "छायारीतिः प्रकाशश्च भावश्चेत्यभिधीयते" (शब्दनिर्णये) इत्याभिधानम्। इह कार्यप्रपञ्चे। हिशब्दो हेत्वर्थः। निर्धारणार्थवाचिना तमप् प्रत्ययेन कस्याऽपि प्रकारस्याऽसम्भवोक्तेः परमेश्वर कल्पितत्वेनैतत्कार्यं सत् इति वक्तुं युक्तम् प्रकारभावमुपपादयति - न सङ्गत इति। परमेश्वर कल्पनामन्तरेण कार्यं भवतीति वदन् प्रष्टव्यो भवति क्षितिलक्षणं कार्यं केवलमपां पुञ्जः तद्विकारो वा तद्व्यतिरेकेणोत्पन्नं वा वृक्षद्वयसंयोगवदुभयोः संयोगमात्रं वा? न प्रथम इत्याह नेति। अयं सङ्गतो नाऽसम्भवात् क्षितेः कठिनावयवारब्धत्वात्, केवलमपीन्द्रियवत्त्वेन तत्कार्ये पर्वतादीनां मज्जनापत्त्या क्षितेः स्वरूपलयप्राप्तेःआधाराभावेन सर्वप्राणिप्राणनाश-प्रसङ्गात्। न द्वितीय इत्याह - विकार इति। अत्र नञः अध्याहारः कर्तव्यः। अपां विकारोऽपि नोपपद्यते कालुष्यादिलक्षणविकारमात्रेण क्षितित्वानुपपत्तेः। न तृतीय इत्याह - न पृथगिति अब्द्रयः क्षितेः पृथक्स्थित्य दर्शनात्। नाऽपि चतुर्थ इत्याह - नाऽन्वित इति। सहावस्थान मात्रेणकार्योत्पत्त्यदर्शनात्। क्षित्यादीनामर्थानां पदार्थानां मध्ये कतमाऽपि छाया, कतमोऽपि भावः पदार्थः कार्यजननशक्तिमान् न घटते विचारासहत्वात्। तथाहि- "अद्भ्यः पृथिवी" (तैत्ति.आ. 1-2) इति श्रूयते। तत्र प्रस्तुताशक्तिमन्तरेण केवलानामपांपृथिवीजनकत्वं कथमिति वा। शेषं पूर्ववत्।।५९।।

ननु विश्लिष्टानां पदार्थानामन्योन्यं महत्कार्योत्पत्तावसामर्थ्यमस्तु, संश्लिष्टानां नेयमनुपपत्तिरित्याशङ्क्य श्रीनारायण कटाक्षबीजमन्तरेणावयवाऽवयविनोरप्यनुपपत्तिः स्यदेवेत्याह - धातव इति धातवः क्षित्यादि प्रपञ्च भूतादिपदार्थाः। तन्मात्रावयवैर्विना गन्धादिव्यतिरेकेण सुरभि गन्धवती पृथिवी, शङ्खभास्वरं सलिलमित्यादि व्यावर्तकधर्माभावे स्वरूपाभावप्राप्तिरेव स्यादित्यर्थः। अवयवित्वादिति न ह्यवयविनोऽवयवाभावे अवयविव्यवहारो युक्तः। तस्मात् च शब्द एवार्थे, समुच्चयार्थे वा। प्रत्यक्षसिद्धत्वादवयवित्वाच्चेति। अयं निर्णयः कुत्र दृष्टः इति तत्राऽह - असतीति इव यथा आसमन्तात् सन्नावयवाः सर्वात्मना तन्तुलक्षणाः। अवयवा नष्टा यदि तर्ह्यसदवयविनि तन्तुरहिते पटे पटव्यवहारोऽपि नष्ट इति शेषः। तन्तुव्यतिरेकेण पटाभावात्। यथा अवयवाभावे अवयवी नाऽस्ति, तथा अवयविनि निवृत्ते अवयवा अपि निवृत्ताः स्युरित्यतोवाऽऽह - आसन्नावयवा अपि नष्टाः स्युरित्यर्थः।

यथा आसन्नावयवा आतानवितानावयवत्वसंसर्गं प्राप्ताः तन्तुलक्षणा अवयवाः प्रागसत्यवयविनि पटे पटव्यवहारं न जनयन्ति। तथा गन्धाद्यवयवाः प्रागसत्सु क्षित्यादिषु पश्चात् क्षित्यादिव्यवहारं न जनयन्तीत्यतस्तदभावे तदभावः स्पष्टः इत्यन्वयव्यतिरेकौ दर्शिताविति ज्ञातव्यमिति। एवं दुर्घटत्वेनाऽविद्याकल्पित प्रपञ्चस्याऽविद्याबाधानन्तर मनुवृत्तस्याऽपि न वस्तुतत्त्वमिति कल्पनमनुपपन्नं "विश्वं सत्यं मघवाना युवोरिदापश्चन प्रमिनन्तिव्रतम् वा" "यद्धि युक्त्या विरुध्येत तदीशकृतमेव हि" इति श्रुतिस्मृति प्रसिद्धां युक्ति हि शब्देन दर्शयति- "असत्यस्याऽवयविन्यासन्नावयवा न च" इति केचित्पठन्ति। अयमर्थः-गन्धावयवव्यतिरेकेण पृथिव्याद्यवयविनो न स्युश्चेत्, किं नश्चिन्नमिति तत्राऽह - असतीति क्षित्यामवयविन्यसति गन्धाद्यवयवा एव नाऽसन्नित्यन्वयः। अवयवाभावेऽवयव्यभावेन कारणाभावापत्त्या सर्वासत्त्व प्रसङ्गलक्षणोच्छेद इति भावः।।६०।।

नन्ववयवाऽवयविनोः सादृश्यमात्रेण तस्याऽयमवयव इति व्यवहारः, तस्मात्तद्व्यतिरेकेण सोऽपिनास्तीति कथमापद्यत इति तत्राऽह - **स्यादिति**। सत्यम्, सादृश्यभ्रमः स्यात् तावत् कस्मिन् सतीति तत्राऽह - विकल्प इति। वस्तुनो विकल्पे भेदे सतीत्यन्वयः। यथा पट्टणादिषु रूप्यमवलोक्य तत्संस्कारवतः सहस्रकिरण सम्पर्केण च काशमानं क्वाऽपि शुक्तिकाशकलं सन्दृश्य द्वयोः सादृश्यमात्रादिदं रजतमिति भ्रमो दृश्यते। तथा क्षित्यादेर्गन्धादेर्भेदे वस्तुसादृश्यमात्रेण व्यवहारः स्यात्। न चाऽत्र भेदो दृश्यते, स्वरूपहानेः। अतोऽवयवाभावेऽ-वयव्यभाव आपद्यते स्वरूपत्वादिति भावः। पटस्य प्रत्येकं तन्तुना भेदेऽपि समुदायरूपेणाऽभेदादुक्तं युक्तमिति। नन्ववयविपदार्थसद्भावे इयं चिन्ता स एव नाऽस्ति, परमाणव एव पुञ्जीभूयकार्यं जनयन्तीत्यङ्गीकार्यत्वात्प्रतिक्षपां विनाशाच्च अभेदग्राहि प्रत्यभिज्ञायाश्च संस्कार जनित सादृश्यमात्र विषयतया भ्रान्तित्वादित्यतो वाऽऽह- स्यादिति। वस्तुनो भेदे सति तदुक्तं सत्यं स्यात्, तदेव नास्ति। एकत्वस्य साक्षिप्रत्यक्षेणाऽनुभूयमानत्वात्, साक्षिणोभ्रान्तित्वे सर्वस्य विनाशसाधकस्याऽपि व्याप्ति ग्राहकप्रमाण प्रामाण्यस्य साम्यात् परमाणुपुञ्जपक्षेऽपि निगदितदोषानिस्तारात् परमाणुभिर्विना पुञ्जाभावेन स्वरूपं न स्यात्। अतो दुर्घटघटकेन केनचिद्भवितव्यम्। स चादृष्ट कर्मणोश्चेतनाश्रयत्वेन पृथक् सामर्थ्याभावात् चेतन एव भवेत्। चेतनसामान्यस्याहिताकरणादिना पारतन्त्र्यप्रतीतेर्निरवयवत्वेन प्रवृत्त्यनुपपत्तेश्च। तत्प्रवर्तकत्वेनाऽघटितघटकत्वेन माहात्म्याकरपरमचेतनपरिकल्पनैव शरीरपदार्थोपादानभूतपृथिव्यादियोगो दृश्यत इति सिद्धम्। "कार्यकारणवस्तूनां विशेषो न निरूपितः तथापीशेच्छयैवाऽसौ दृश्यते नियतोऽपि च" (शब्दनिर्णये) इति स्मृतेः। एतादृशो विशेषः कुत्र दृष्ट इति तत्राऽह

जाग्रदिति। यथा स्वप्रेजाग्रदिदमयं स्वप्र इति। विशेष ईश्वरेच्छया दृश्यते -"य एव स्वप्रान्दर्शयति" इति श्रुतेः। "न तत्र रथानरथयोगो न पन्थानो भवन्ति अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजतः" (बृह.उ. 4-3-10) इत्यादेः। स्वप्ने प्रतीयमानं सर्वमीश्वरेच्छाकर्तृकमिति ज्ञायते। तथा विधिनिषेधविशेषोऽपीश्वरकल्पनयैव प्रवर्तत इत्याह - तथेति। "अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि महाविधित्वं, "अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायिन्या गवा सोमं क्रीणाति" इत्याद्यवान्तर विधित्वम्। तथा "ब्राह्मणो न हन्तयः" इत्यादि महानिषेधत्वं, "न मृषावदेत्" इत्याद्यवान्तरनिषेधत्वञ्चेश्वरेच्छाकृप्तमित्यन्वयः। "स इदं सर्वमसृजत" इत्यादेः सङ्कोचे कारणाभावान्मुख्यार्थ एवाऽङ्गीकर्तव्यः। अत्र तत्तद्विशेषस्य परमेश्वरकृप्तत्वनिश्चयाय मिथ्याभूत जाग्रत्त्वग्रहणं, न तु तद्वत्स्वप्नस्याऽपि मित्थात्वनिश्चयाय, तस्यार्थक्रियाकारित्वेन सत्यत्वनिश्चयात्। अनेन सर्वस्य मिथ्यात्वे रज्जुसर्पस्य मिथ्यात्वं रज्जुखण्डं सत्यमितीयं व्यवस्था कुत इत्याशङ्क्य मिथ्याभूतस्वप्नेऽपि जाग्रत्स्वप्नव्यवहारवत् व्यवहारमात्रमत्रचेत्यादि-श्रुत्योच्यते इति।।६१।।

एवं सर्वस्मादात्मन उपकारकत्वेन प्रेष्ठत्वाद्येन विना तत्प्रसादो न भवेद्यस्मिन् सति सञ्जाघटीतिभगवति तत्समर्पणसमये तं भावनाप्रकारं दर्शयति भावेति। मुनिः शास्त्रतत्त्वज्ञानी आत्मनः भावाद्वैतं, क्रियाद्वैतं तथा द्रव्याद्वैतञ्चैव वर्तयन् स्मरणं कुर्वन् स्वानुभूत्याविर्भूतस्वरूपज्ञानेन इह जगति सतस्त्रीन् स्वप्नान् जाग्रदाद्यवस्थानु-भवनिमित्ताज्ञानशब्दवाच्यानर्थान् धुनुते निरस्यतीत्यन्वयः।।६२।।

किन्तद्भावाद्वैतादिकं येन तदवश्यमनुध्येयमिति तदाह - कार्यकारणेति। महदादिकार्येषु प्रकृतितद्गुणा-ख्यकारणेषु च स्थितस्य वस्तुनो नित्याप्रतिहतस्य हरेरेकत्वदर्शनम्, तत्कथमिव? पटतन्तुवत्। पटस्य तन्तूनाञ्च अभेदलक्षणैकत्वं यथा प्रामाणिकं तथेत्यर्थः। "प्रकृतिं पुरुषञ्चैव प्रविश्य पुरुषोत्तमः" इत्यादेः मृद्घट इति सामानाधिकरण्येन कार्यकारणयोरभेदोक्त्या श्रीहरिसम्बन्धप्रतीतेः प्रकृतासङ्गतं स्यान्निदर्शनञ्चैकत्वप्रदर्शनपरमित्युक्त एवार्थः। प्रतीतार्थं परित्यज्य अप्रतीतार्थकथने किं कारणमत्राऽह - **अवस्तुत्वादिति**। घटादिप्रपञ्चस्याऽनित्यत्वेन प्रतिहतत्वात् स्वत एव कार्योत्पादनसामर्थ्याभावात् अवस्तुत्वात् असामर्थ्यत्वात् विशिष्टत्वान्मिलितत्वात् कार्यजननशक्त्यभावाद्वा। इदञ्च भगवन्माहात्म्यप्रकटनं गुणं युगपदाविशन् इति स्वोक्तेः कार्यकारणानुविष्टानां भगवद्रूपाणामत्यैक्यं एकत्वम् "तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत्" (तैत्ति.उ. 2-6) "समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिरुच्यते इति ज्ञानपूर्वकमुपासनं कार्यमिति शेषः।।६३।।

"न ऋतेत्वत्क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवं चित्रमर्च" इति क्रियाद्वैतम्।।६४।।

आत्मजायासुतादीनामन्येषामपि[1] देहिनाम्।
यत्स्वार्थकामयोरैक्यं द्रव्याद्वैतं तदुच्यते।।६५।।

यद्यस्य चानिषिद्धं[2] स्याद्येन यत्र यतो नृप।
स ते नेहेत कर्माणि नरो नाऽन्यै रनापदि।।६६।।

एतैरन्यैश्च वेदोक्तैर्वर्तमानः स्वकर्मभिः।
गृहेऽप्यस्य गतिं यायाद्राजंस्तद्भक्तिभाङ्[3]नरः।।६७।।

यथा हि यूयं नृपदेव! दुस्त्यजादापद्गणादुत्तरताऽऽत्मनः[4] प्रभोः[5]।
यत्पादपङ्केरुहसेवया भवा[6]नहार्षीन्निर्जितदिग्गजः[7] क्रतून्[8]।।६८।।

अहं पुराऽभवं कश्चिद्गन्धर्व उपबर्हणः।
नाम्नाऽतीते महाकल्पे गन्धर्वाणां सुसम्मतः।।६९।।

रूपपेशलमाधुर्यसौगन्ध्यप्रियदर्शनः।
स्त्रीणां प्रियतमो नित्यं मत्तस्तु[9] पुरुलम्पटः।।७०।।

एकदा देवसत्रे तु गन्धर्वाप्सरसां गणाः।
उपहूता विश्वसृग्भिर्हरिगाथोपगायने।।७१।।

अहञ्च[10-] गायंस्तद्विद्वान्[-10] स्त्रीभिः परिवृतो गतः।
ज्ञात्वा विश्वसृजस्तन्मे हेलनं शेपुरोजसा।।
याहि त्वं शूद्रतामाशु नष्टश्रीः कृतहेलनः।।७२।।

**श्रीध०** द्रव्याद्वैतमाह[11-] - **आत्मेति**[-11]। आत्मनः स्वस्य जायादीनाञ्च। स्वस्य अर्थश्च कामश्च तयोर्देहादीनां पञ्चभूतात्मकत्वेन भोक्तुश्च परमात्मत्वेनाभेदालोचनेनाऽनर्थकामयोर्यदैक्यदर्शनं[12-], द्रव्याद्वैतमित्यर्थः[-12]।।६५।।

---

1. A,B,G,J,M,Ma T °षां सर्वं° 2. A,B,G,J,M,Ma T वा° 3. H,V °मान्नरः 4. M,Ma °रितानन्नु 5. A,M,Ma,T प्रभो! 6. H,V °नहारिषीन्नि° W °न्महर्षिभिर्नि° 7. W दिग्जनः 8. M,Ma °तुः 9. H,V °स्सन्पुरु; M,Ma °स्ततपुर ; W °श्च पुरु 10- -10 H,V,W अगायं तद्विदित्वाहं; M,Ma अगायं स्तद्विदित्वाऽहं। 11- -11 A,B,J Omit 12- -12 A,B,J Omit

उक्तानाश्रमधर्मान्संक्षिप्याऽह - **यदिति**। यद्द्रव्यम्। येनोपायेन, यतस्सकाशात्।।६६।।

प्रस्तुतमुपसंहरति - **एतैरिति**। अस्य श्रीकृष्णस्य गतिम्। तद्भक्तिमान्[1] तस्य भक्तः।।६७।।

एतच्च[2] सर्वसाधारणमुक्तम्। भक्तस्य तु भक्तिरेव सर्वपुरुषार्थहेतुरिति पाण्डवानेव लक्ष्यीकृत्याऽह - **यथा हीति**। हे नृपदेव! नृपैर्देवैश्च सहायैर्दुस्त्यजादिति वा। आत्मनः श्रीकृष्णादेव प्रभोः[3-] उत्तरत उदतरत - अत्र आर्षत्वादात्मनेपदत्वम्[-3] [4-]अडभावश्च[-4]। उत्कर्षेण अतरदित्यर्थः। यथाऽभवत्[5]। तमेव[6] भजेदिति[7] शेषः। यद्वा यथा आपद्गणादुत्तीर्णो[8] भवान्, यथा च क्रूतूनहार्षीत्। (अत्र[9-] रेफषकारयोर्विश्लेष आर्षः।[-9]) तथा श्रीकृष्णादेव तारकात् संसारादप्युत्तरतेत्यर्थः।।६८।।

श्रीकृष्णसेवा महतामवज्ञया भ्रश्यति, तत्कृपया च सिध्यति इति दर्शयन्[10] स्वपूर्ववृत्तान्तमाह - **अहमिति** सार्धैः पञ्चभिः। नाम्ना उपबर्हणः।।६९।

**रूपेति**। पेशलं सौकुमार्यम्, रूपादिभिः प्रियं दर्शनं यस्य।।७०,७१।।

**अहमिति**। तदाह्वानं विद्वान् उन्मत्तस्सन् गायन्नेव गतः।।७२।।

**वीर॰** द्रव्याद्वैतं विवृणोति - **आत्मेति**। अर्थशब्दो धनपरः। कामशब्दः काम्यस्रक्चन्दनादिभोग्यवस्तुविषयः। स च भोगोपकरणभोगस्थानादि प्रदर्शनार्थः। यदर्थकामयोरात्मजायादिसर्वदेहिनामैक्यं तद्द्रव्याद्वैतम्। वित्तगृहक्षेत्रपात्रस्रक्चन्दनादीनामात्मजायाद्यनेकभोक्तृवर्गसाधारणत्वं द्रव्याद्वैतमित्यर्थः। ते एतेन गृहादीनां स्वासाधारणत्वभ्रमो निरस्तः। यद्वा द्रव्ययोः चिदचिद्द्रव्ययोरद्वैतं द्रव्याद्वैतम्। तत्र चिदचिदद्वैतं दर्शयति - **आत्मजायेति**। आत्मादीनां सर्वदेहिनां जीवानां ज्ञानैकाकारत्वेनैकरूपेण दर्शनं चिदद्वैतं प्रकाराद्वैतम्। अर्थकामादीनां [11-]सर्वेषां अचित्परिणामरूपत्वेन दर्शनमचिदद्वैतम्[-11] - एवं प्रतिशरीरं जीवानामन्याकारभ्रमः अर्थकामादीनां अचिदन्य-परिणामरूपत्वभ्रमश्च निरस्तः। ज्ञानाद्वैतमिति पाठेऽप्येवंविधदर्शनं ज्ञानाद्वैतमित्यर्थः।।६५।।

न केवलं त्रिविधमेवाऽद्वैतमनुसन्धेयम्, अपि तु अन्यदपि शास्त्रानुमतञ्चेत्तदपीत्याह - **यदिति**। हे नृप! येन शास्त्रेण यस्य पुंसो यस्य वस्तुनो यतो यस्माद्वस्तुनः सकाशाद्यदद्वैतमनिषिद्धं किन्त्वनुमतं , स पुमान्

1. A,B,J °भाक् 2. A,B,J एतत्स° 3- -3. A,B,J Omit 4- -4. A,B,J अडभाव आर्षः 5. A,B,J °ते° 6. A,B,J °थावत् 7 A,B,J भजतेति 8 A,B,J °र्णस्त्वम् 9- -9 A,B,J Omit 10. A,B,J Omit स्व। 11- -11 A,B,T Omit

तेनाऽद्वैतेनाऽनुसन्धीयमानेनेति शेषः। तदनुसन्धानपूर्वकमेव कर्माणि कर्तव्यानीहेत कुर्यात्। अन्यैः शास्त्रनि-[1]षिद्धैस्तु न कुर्यात्। यतोऽयमनापदि न विद्यते। आपत्संसारो यतस्तस्यां ज्ञाननिष्ठायां वर्तमानः। यथा- "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छान्दो.उ. 6-4-1) "यावत्सर्वात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन!" इत्यादि शास्त्रेण भावाद्वैतादिकं प्रतिपाद्यते, न तथा प्रकाराद्वैतप्रकार्यद्वैतगुरुदेवताद्वैतादिकमपि शास्त्रैः प्रतिपाद्यत इति तदप्युपादेयमेवेत्यभिप्रायेणाऽयं श्लोकः प्रवृत्तः। तत्र प्रकार्यद्वैतं नामब्रह्माद्वैतं "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छान्दो.उ. 3-14-1) इत्यादि ब्रह्मप्रकरणे[2]षु सामानाधिकरण्येन ब्रह्माद्वैतप्रतिपादनात्, सामानाधिकरण्यस्य च प्रकारभेदविशिष्टप्रकारैकपरत्वाच्च ब्रह्माद्वैतमेव प्रकार्यद्वैतं "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" (कठ.उ. 5-13) इत्यादिश्रुतिभिः जीवस्वरूपभेदप्रतिपादनेन स्वरूपेणाभेदानुपपत्तेः, बद्धमुक्तादिव्यवस्थानुपपत्तेः, सुखादिव्यवस्थानुपपत्तेश्च क्वचिज्जीवैकत्वप्रतिपादनं प्रकारैक्याभिप्रायकमेवेति तदद्वैतमेव प्रकाराद्वैतम्। "आचार्यं मां विजानीयात्" "आचार्यदेवो भव" (तैत्ति.उ. 1-11-1) "आचार्यस्सहरिस्साक्षात् चररूपो न संशयः" इत्यादिभिर्गुरु[3]देवतादीनामद्वैतं प्रतिपाद्यत एव।।६६।।

यत्पृष्टं "गृहस्थ एतां पदवीं विधिना येन चाऽञ्जसा। यायाद्देव ऋषे ब्रूहि ; मादृशो गृहमूढधीः" (भाग. 7-14-1) इति तस्योत्तरमुपसंहरति - **एतैरिति**। हे राजन्! वेदोक्तैरिति। वेदशब्दस्तन्मूलकस्मृतिपुराणादीनामपि प्रदर्शनार्थः। वेदादिभिरुक्तैः कर्तव्यत्वेनोक्तैरेतैर्भावाद्वैतानुसन्धानादिभिरित्यन्यैर्देहात्मजीवेश्वरादिभेदानुसन्धानैः स्वस्ववर्णाश्रमोचितकर्मभिश्च तस्य भगवतो भक्तिभाक् भक्तिं कुर्वन् गृहेऽपि जनः गृहस्थोऽपि जनोऽस्य श्रीकृष्णस्य गतिं[4] यायान्मुक्तिं प्राप्नुयादित्यर्थः।।६७।।

"मादृशो गृहमूढधीः" (भाग.7-14-1) इत्यनेनाभिप्रेतां स्वस्य मुक्तिदौर्लभ्यशङ्कां किम्पुनर्न्यायेन निराकरिष्यमाणः तावच्छ्रीकृष्णसेवयैव तरिष्यसीत्याह - यूयमिति। हे नृप देव! यथा प्रभोः सर्वशक्तेरात्मनोऽन्तरात्मनः श्रीकृष्णादेव हेतोर्यूयं दुस्त्यजादापदां गणादुत्तरत। अडभावः, अन्तादेशाभाव, आत्मनेपदञ्च आर्षाणि। उदतरत उत्तीर्णाः यथा च भवान् यस्य श्रीकृष्णस्य पादपङ्कजयोः सेवया हेतुभूतया निर्जिता दिग्जना दिक्पालका येन तादृशस्सन् महर्षिभिः स क्रतूनकार्षीदिति शेषः। तथा तस्यैव सेवया मोक्ष्यसे इत्यध्याहारः।।६८।।

1. A,B,T प्रनिषि° 2. A,B,T णो सा° 3. B,T दै° 4- -4 A,B,T Omit

लब्धतदीयसेवामात्रेण हेतुना मादृशानां मुक्तिसम्भवे, किं पुनस्साक्षाल्लब्धतत्सेवानां तादृशानामिति[1] प्रतिपादनार्थं स्वस्य[2] पूर्वजन्मवृत्तान्तमाह - **अहमिति**। अतीते ब्रह्मकल्पे पूर्वजन्मन्यहं नाम्नोपबर्हण इति प्रसिद्धः कश्चिद्गन्धर्वः अभूवम्। आत्मानं विशिनष्टि - गन्धर्वाणां सुसम्मतः।।६९।।

रूपादिभिः प्रियदर्शनः प्रियं यथा भवति तथा दृश्यत इति तथा। रूपं सौन्दर्यम् पेशलं सौकुमार्यम्, दृष्टिचित्तापहारित्वेन रसावहत्वम्, सौगन्ध्यं स्रक्चन्दनादि गन्धवत्त्वम्। रूपादिभिर्प्रियं दर्शनं यस्येति वा। स्त्रीणां नित्यं सदा प्रियतमः मत्तः उर्वीधिकं लम्पटः विषयलालसः, एवम्भूतोऽहं स्थितः।।७०।।

तत्रैकदा देवसत्रे हरिगुणानुभवात्मकब्रह्मसत्रे विश्वसृड्भिः प्रजापतिभिः हरिकथागायने निमित्ते तदर्थमप्सरसां गणाः।उपहूताः।।७१।।

तथाऽहमपि तद्गन्धर्वाह्वानं जानन् स्त्रीभिः परिवृतः गायन् हरीतरगाथा गायन् तत्र गतः। अगायन्निति पाठे अगायन्नेव गत इत्यर्थः। तत् ते मम हेलनमपराधं ज्ञात्वा विश्वसृजः ओजसा तपोबलेन शेपुः। शापमेवाऽह-याहीति। कृतं हेलनं येन सत्वं नष्टा श्रीः गन्धर्वशोभा यस्य स तादृशः आशु शूद्रयोनिं प्राप्नुहीति।।७२।।

**विज०** आत्मजायादीनामन्येषाञ्च देवदत्तादीनां भगवदधीनत्वदर्शनम्। यद्यच्च अर्थकामयोरैक्यं भगवद्विष-यत्वदर्शनम् तत्सर्वं द्रव्याद्वैतम्। "मन्ये तदर्पितमनोवचनात्मगेहप्राणः पुनाति" (भाग. 7-9-10) इत्यादिनोच्यत इत्यन्वयः। अनेन जीवस्य श्रीहरिणा द्वैतमुच्यते। तत्रैव चाद्वैतशब्दार्थग्रहणं न तु स्वरूपैक्यमिति शिक्षा ग्राह्येति ज्ञायत इति।।६५।।

उपासनाप्रकारं निरूप्याऽधुना अर्चनादिप्रकारं दर्शयति - **यद्यस्येति**। यस्य पुरुषस्य येन द्रव्येण यत्र यस्मिन्देशे काले वा यतोऽ स्मादुपात्तमनिबद्धं श्रुतिस्मृतिलोकविहितं स नरस्तेन तस्मिन् देशे काले वा तस्मात्पुरुषादाप्तेन कर्माणि पूजालक्षणानीहेत कुर्यात्, अन्यैर्निषिद्धैर्न कुर्यादित्यन्वयः। नन्वेवं तर्ह्यापद्युपरम एव प्राप्त इति तत्राऽह - अनापदीति।।६६।।

एतैरनापदि विहितैरन्यैरापदिविहितैः अस्य हरेर्गतिं ज्ञानं स्थानं वा यायादिति लडर्थे लिङ्, आप्नोतीत्यर्थः।।६७।।

---

1. A,B,T °शामि° 2. A,B,T स्वपू°

उक्तमर्थमनुभवसिद्धं करोति - **यथेति**। दिग्गजशब्देन दिक्पालानुपलक्षयति। तस्य सेवा, कर्तव्येति शेषः।।६८।।

ममाप्यनुभवसिद्धं दर्शयितुं स्वचरितमाह - **अहमिति**। कश्चिदित्यात्मानं निन्दयति। अथ नाम्ना उपबर्हणो-गन्धर्व इति। पूर्वम् अतीते महाकल्पे अतीतब्रह्मकाले "ब्रह्मकालः परश्चेति महाकल्पश्च कीर्तितः" (शब्दनिर्णये) इति।।६९।।

तत्पुरलम्पटः तासां पुरे गृहे लम्पटः स्थातुमुत्सुकमनाः।।७०।।

गन्धर्वादिगणा अगायन्।।७१।।

तद्विदित्वा गतः स्त्रीभिः परिवृतोऽगायं हेलनं विश्वसृजां पुरतः स्त्रीभिस्सम्भूय मदोपरक्तगानलक्षणम्।।७२।।

**तावद्दास्यामहं जज्ञे तत्राऽपि ब्रह्मवादिनाम्।**
**शुश्रूषयाऽनुषङ्गेण प्राप्तोऽहं ब्रह्मपुत्रताम्।।७३।।**

**धर्मस्ते गृहमेधीयो वर्णितः पापनाशनः।**
**गृहस्थो येन पदवीमञ्जसा न्यासिनामियात्।।७४।।**

**यूयं नृलोके बत भूरिभागा लोकं पुनाना मुनयोऽभियान्ति।**[1]
**येषां गृहानावसतीति साक्षाद् गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्।।७५।।**

**स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्यं कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः।**
**प्रियस्सुहृद्वः खलु मातुलेय आत्माऽर्हणीयो विधिकृद्गुरुश्च।।७६।।**

**न यस्य साक्षाद्भवपद्मजादिभी रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम्।**
**मौनेन भक्त्युपशमेन पूजितः प्रसीदतामेष स सात्त्वतां पतिः।।७७।।**

**श्रीशुक उवाच**

**इति देवर्षिणा प्रोक्तं निशम्य भरतर्षभः।**
**पूजयामास सुप्रीतः कृष्णञ्च प्रेमविह्वलः।।७८।।**

1. A,G, यन्ति।

**कृष्णपार्थावुपामन्त्र्य पूजितः प्रययौ मुनिः।**

**श्रुत्वा कृष्णं परं ब्रह्म पार्थः परमविस्मितः।।७९।।**

**इति दाक्षायणीनान्ते पृथग्वंशाः प्रकीर्तिताः।**

**देवासुरमनुष्याद्या लोका यत्र चराचराः।।८०।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां

सप्तमस्कन्धे प्रह्लादानुचरिते युधिष्ठिरनारदसंवादे सदाचारनिर्णयो नाम

पञ्चदशोऽध्यायः ।।१५।।

।। इति सप्तमः स्कन्धः समाप्तः।।

**श्रीध॰** त्वन्तु कृतार्थ एवेति हर्षेण [1-]**यूयमित्यादि**श्लोकत्रयमेव पुनश्च पठति[-1]।।७३-७८।।

[2-]अनन्तरोक्तः, 'इति देवर्षिणा' इत्यादिश्लोकत्रितयस्याऽप्यर्थः स्पष्टतर एवेति[-2] धिया नैव व्याख्यातम्।।७९,८०।।

[3-]सप्तमस्कन्धगूढार्थपदभावार्थदीपिका। संसेव्यतां सदा सद्भिर्यतिश्रीधरनिर्मिता[-3]।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे

श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां पञ्चदशोऽध्यायः।।१५।।

।। समाप्तश्चाऽयं सप्तमस्कन्धः।।

**वीर॰** तावत्तदाऽहं दास्यां शूद्र्यां जज्ञे जातः। तत्राऽपि शूद्रजन्मन्यपि ब्रह्मवादिनां शुश्रूषयाऽनुषङ्गेण तत्सङ्गेन च हेतुनाऽस्मिन्कल्पे ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्य पुत्रतां प्राप्तः।।७३।।

अध्यायद्वयोक्तार्थमुपसंहरन् तच्छ्रवणतदनुष्ठानफलमाह - **धर्म** इति। ते तुभ्यं गृहमेधीयो धर्मो वर्णितः। [4-]कथम्भूतः[-4]? पापनाशनः येन गृहमेधीयेन धर्मेण श्रुतेनाऽनुष्ठितेन च गृहस्थः न्यासिनां भगवति सन्न्यस्तात्मनां पदवीं मुक्तिरूपां इयात्प्राप्नुयादित्यर्थः[5]।।७४।।

---

1- -1 A,B,J पुनः पूर्वश्लोकानेव पठति। 2- -2 A,B,J यूयमिति शेषं स्पष्टम्।।७३-८०।। 3- -3 H,V Omit 4- -4 W Omits 5. W Omits इत्यर्थः

त्वन्तु कृतार्थ एव इति हर्षेण पूर्वश्लोकानेव पुनः पठति - **यूयमिति**। श्लोकाः पुरस्तादेव व्याख्याताः। कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः निर्दोषनिर्दुःखसुखरूपविज्ञानमयः विधिकृन्नियोगकारी, वस्तुतया इदन्तया।।७५,७७।।

स्कन्धादौ उपक्रान्तम् - "अत्रैवोदाहृतः पूर्वमितिहासः सुरर्षिणा" (भाग.7-1-12) इति नारदयुधिष्ठिर-संवादमुपसंहरति भगवान् शुकः - **इतीति**। [1]इति इत्थं देवर्षिणा प्रोक्तं निशाम्याऽऽकर्ण्य भरतर्षभो युधिष्ठिरः [2]सुप्रीतः कृष्णं श्रवणवेलायां पार्श्वे स्थितं, चशब्दादेवर्षिञ्च प्रेम्णा विह्वलः पूजयामास।।७८।।

ततः पूजितो देवर्षिः कृष्णपार्थावुपामन्त्र्य अनुज्ञाप्य ताभ्यामनुज्ञातः प्रययौ। पार्थो युधिष्ठिरः श्रीकृष्णं परब्रह्माभिन्नं श्रुत्वा परमविस्मितः निरतिशयाश्चर्ययुक्तो बभूव।।७९।।

यत्पृष्टं षष्ठस्य तृतीयाध्यायादौ "देवासुरनृणां सर्गो नागानां मृगपक्षिणाम्" (भा.गी. 6-4-1) इत्यादिना तस्योत्तरं ततः प्रभृत्येतावत्पर्यन्तेनोक्तम्। उत्तरप्रश्नान्तराऽवसरप्रदानाय उपसंहरति - **इतीति**। [3]इति इत्थं दाक्षायणीनां-दित्यादीनां वंशाः पृथक् तत्तत्परम्परानुपूर्व्या प्रकीर्तिताः। [4]कथम्भूताः[4]यत्र वंशेषु देवादयश्चराचरात्मकाः, जाता इति शेषः। यद्यपि दाक्षायणी वंशवर्णनोपसंहारः षष्ठान्त एव कर्तव्यस्तत्रैव समाप्तेः। तथाऽपि तद्वंशान्तर्भूतदिति-जप्रसङ्गानुप्रसक्तशङ्कापरिहारतदनुप्रसक्तवर्णनात्मकत्वादस्य स्कन्धस्यैतदन्त एव दाक्षायणीवंशवर्णन-मुपसंहृतमित्यवगन्तव्यम्।।८०।।

इति श्रीवत्सान्वयपयःपारावाररराकासुधाकरस्य सर्वाविद्यानिषेधश्चक्रवर्तिनः
श्रीशैलगुरोस्सुतेन तच्चरणकमलपरिचर्याप्रसादिततत्सूक्तिसमधिगत
श्रीमद्भागवतार्थहृदयेन श्रीवैष्णवदासेन श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां
श्रीमद्भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां व्याख्यायां सप्तमस्कन्धे पञ्चदशोऽध्यायः।।१५।।

।। समाप्तोऽयं सप्तमस्कन्धः।।

**विज०** तावत्तदानीमेव अनुषङ्गेण निरन्तरसेवालक्षणसङ्गेन भक्त्या वा "तीव्रस्नेहोऽनुषङ्गोऽथ नैरन्तर्यानुसेवनम्" इत्यभिधानम्।।७३।।

अत इत्येतदपास्तं निगमयति - **धर्म** इति। न्यासिनां पदवीं निवृत्तिमार्गं, अर्चिरादिमार्गेण वैकुण्ठं वा।।७४।।

यूयमित्यादिपद्यमुक्तार्थम्।।७५।।

1. A,B,T Omit इति 2. A,B,T सुशान्तः 3. A,B,T Omit इति 4- -4 W Omits.

कैवल्येन प्रकृतिप्राकृतमिश्रराहित्येनाऽप्तं यत् निर्वाणसुखं स्वरूपसुखं तस्यानुभूतिरनुभवो यस्य स तथा।।७६,७७।।

यत्र यस्य प्रेमरसस्तत्र सस्नातः।।७८, ७९।।

परमप्रमेयमुपसंहरति - **इतीति**। दाक्षायणीवंशस्य शाखोपशाखाभेदेन वर्णितत्वात्। इतिशब्दः समाप्ति वचनः। यत्र येषु वंशेषु ज्ञानमात्रं विहाय स्थावरसङ्ग्रहणाय चराचरा इति।।८०।।

भुजविलसितशौर्यं भुजङ्गदमजितं विष्णुम्। वन्दे भुजगशयनं भुजयुगकल्पितग्रीवम्।।

पदरत्नावलिर्ह्येषा सप्तमस्कन्ध सङ्गता। तुलसीव हरेः प्रीत्यै भूयाद्विभववारिधेः।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

सप्तमस्कन्धे पञ्चदशोऽध्यायः।।१५।।.

।। विजयध्वजरीत्या षोडशोऽध्यायः।।१६।।

।।समाप्तोऽयं सप्तमस्कन्धः।।

* * * *

# श्रीः

# श्रीमद्भागवत सप्तमस्कन्धस्थश्लोकपादानुक्रमणिका


| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **अ** | | | |
| अकरोदघमात्मजे | 4 | 44 | d |
| अकुतश्चिद्भयोऽमरः | 5 | 47 | b |
| अकृष्टपच्या तस्यासीत् | 4 | 16 | a |
| अकृष्टं वाऽप्यकालतः | 12 | 18 | b |
| अक्षं दश प्राणमधर्म- | 15 | 42 | a |
| अगृहस्थो बृहद्व्रतः | 12 | 7 | b |
| अग्निपक्वमथाऽऽमं वा(हि) | 12 | 18 | c |
| अग्निवत्कामबिन्दुभिः | 11 | 34 | d |
| अग्निस्सूर्यो दिवा प्राह्णः | 15 | 54 | a |
| अग्निहोत्रादिना यजेत् | 14 | 17 | d |
| अग्निहोत्राद्यशान्तिदम् | 15 | 48 | b |
| अग्नौ गुरावात्मनि च | 12 | 15 | a |
| अग्न्यर्थमेव शरणम् | 12 | 20 | a |
| अग्रहीत् स्वेन तेजसा | 4 | 15 | d |
| अङ्कमारोप्य पाण्डव | 5 | 4 | b |
| अचौराणा मपापानाम् | 11 | 30 | c |
| अजेयमजरामरम् | 3 | 1 | b. |
| अज्ञानमूलोऽपार्थोऽपि | 7 | 27 | c |
| अञ्जनाभ्यञ्जनोन्मर्द- | 12 | 12 | a |
| अञ्जसा न्यासिना मियात् | 15 | 74 | d |
| अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन्गुण | 9 | 18 | c |
| अण्डकोशाङ्घ्रिपो महान् | 14 | 37 | b |
| अतज्ज्ञो ह्यसुतृब्ध्रुवम् | 15 | 10 | d |
| अतपद्विष्वगीरितः | 3 | 4 | d |
| अतः शोचत मा यूयम् | 2 | 60 | a |
| अत्राऽपि दम्पतीनाञ्च | 13 | 25 | a |
| अत्राऽप्युदाहरन्तीमम् | 2 | 27 | a |
| अत्राऽप्युदाहरन्तीमम् | 13 | 11 | a |
| अत्रैव मृग्यः षुरुषः | 7 | 23 | c |
| अत्रैवोदाहृतःपुण्यः | 1 | 12 | c |
| अथतान् श्लक्ष्णया वाचा | 5 | 55 | a |
| अथ देशान्प्रवक्ष्यामि | 14 | 28 | a |
| अथदैत्यसुतास्सर्वे | 8 | 1 | a |
| अथ नित्यमनित्यं वा | 2 | 49 | a |
| अथाऽऽचार्यसुतस्तेषाम् | 8 | 2 | a |
| अथाऽनुगृह्य भगवान् | 10 | 57 | a |
| अथाऽपि ब्रूमेहप्रश्नान् | 13 | 22 | a |
| अथाऽऽसौ शक्तिभिःस्वाभिः | 10 | 65 | c |
| अदान्तगोभिर्विशति तामिस्रम् | 5 | 30 | c |
| अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन् | 8 | 18 | c |
| अदृश्यस्सर्वभूतानाम् | 10 | 31 | c |
| अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वात् | 9 | 2 | c |
| अदो वायौ नभस्यमुम् | 12 | 30 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अद्यैतन्नरहरिरूपमद्भुतम् | 8 | 56 | a |
| अद्राक्षमहमेतत्ते | 3 | 18 | a |
| अधर्म शाखाः पञ्चेमाः | 15 | 12 | c |
| अधिकं योऽभिमन्येत | 14 | 9 | c |
| अधुना शापनिर्मुक्तौ | 1 | 45 | c |
| अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मनः | 7 | 39 | a |
| अध्यात्मविद्ब्रह्म गतिं लभेत | 7 | 21 | d |
| अध्यास्ते सर्वधिष्ण्येभ्यः | 3 | 9 | c |
| अध्यास्ते स्म त्रिविष्टपम् | 4 | 8 | b |
| अध्युवासाखिलर्धिमत् | 4 | 8 | f |
| अध्रुवं वाऽस्य जीवितम् | 13 | 6 | b |
| अनन्तपारः कविरन्तरात्मा | 3 | 30 | d |
| अनन्तप्रियभक्तत्वैनाम् | 7 | 11 | c |
| अनन्तानुचरो बली | 7 | 10 | d |
| अनन्ताव्यक्तरूपेण | 3 | 34 | a |
| अनर्थाय भवेयु स्ते | 15 | 29 | c |
| अनर्थैरर्थसङ्काशैः | 7 | 47 | c |
| अनापदि भजेन्नरः | 11 | 17 | b |
| अनिच्छतीनां निर्हारम् | 2 | 35 | c |
| अनित्यमयथोत्थितम् | 2 | 58 | d |
| अनिर्देश्योऽविकल्पितः | 6 | 28 | d |
| अनिशं तस्य निर्वाणम् | 15 | 34 | c |
| अनीहं हरिमीश्वरम् | 7 | 50 | d |
| अनीहः परितुष्टात्मा | 13 | 36 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अनीहानीहमानस्य | 15 | 15 | c |
| अनीहायास्सुखावृतः | 7 | 44 | d |
| अनुज्ञायेदमब्रवीत् | 5 | 51 | b |
| अनुमोदेत निर्ममः | 14 | 6 | d |
| अन्तराय तयाऽर्भकः | 10 | 1 | b |
| अन्तर्वत्नी स्वगर्भस्य | 7 | 14 | c |
| अन्तस्सभायां न ददर्श तत्पदम् | 8 | 17 | c |
| अन्ति साऽप्यकुतो भया | 7 | 13 | b |
| अन्धा यथान्धैरुपनीयमाना | 5 | 31 | c |
| अन्धीकृतात्मा स्वोत्सङ्गात् | 5 | 33 | c |
| अन्नं रेत इति क्ष्मेश | 15 | 51 | a |
| अन्तं संविभजन्पश्येत् | 15 | 6 | c |
| अन्नाद्यादेः संविभागे | 11 | 10 | a |
| अन्य एष तथाऽन्योऽहम् | 5 | 12 | c |
| अन्यत्किञ्चिदनापदि | 13 | 2 | d |
| अन्यत्राऽलब्धशरणाः | 4 | 21 | c |
| अन्त्यजान्तेऽवसायिनाम् | 11 | 30 | d |
| अन्यथेदं विधास्येऽहम् | 3 | 11 | a |
| अन्यदा यावदर्थकृत् | 12 | 9 | d |
| अन्यस्मादपि चायुधैः | 3 | 36 | b |
| अन्यांश्चासुर बालकान् | 5 | 2 | d |
| अन्ये च ज्ञानयोगयोः | 15 | 1 | d |
| अन्येषामपि देहिनाम् | 15 | 65 | b |
| अन्योन्यजन्ममरणाशनभीत- | 9 | 41 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अन्वयव्यतिरेकेण | 7 | 24 | a |
| अपत्यस्याऽऽत्मनस्तथा | 14 | 27 | b |
| अपापमसुरस्सुतम् | 5 | 44 | d |
| अपुण्यस्येव सत्क्रियाः | 5 | 41 | d |
| अप्याभास उपमा छलः | 15 | 12 | b |
| अप्येकामात्मनो दाराः | 14 | 12 | c |
| अप्रतिद्वन्द्वतां युद्धे हि | 3 | 37 | c |
| अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा | 11 | 28 | c |
| अप्रमेयाऽनुभावोऽयम् | 5 | 47 | a |
| अप्रविष्टं प्रविष्टवत् | 12 | 15 | d |
| अप्सु क्षिति मपो ज्योतिः | 12 | 30 | a |
| अप्सु प्रचेतसा जिह्वाम् | 12 | 28 | c |
| अप्स्वसृक् श्लेष्मपूयानि | 12 | 25 | c |
| अबाधितोऽपि ह्याभासः | 15 | 58 | a |
| अभक्ष्यमाणा अबला वृकादिभिः | 2 | 38 | c |
| अभिक्रमन्पुत्रवधेप्सुरोजसा | 8 | 17 | a |
| अभिचारावपातनैः | 5 | 43 | b |
| अभिमानोऽखिलात्मनः | 1 | 24 | d |
| अभिव्यनग् जगदिदम् | 3 | 26 | c |
| अभिषिक्ते द्विजोत्तमैः | 10 | 24 | d |
| अभोगिनेयं तव विप्रदेहः | 13 | 17 | c |
| अमन्त्रयज्ञो ह्यस्तेयम् | 11 | 24 | c |
| अमराजयकाङ्क्षिणः | 7 | 6 | b |
| अमृतं यदयाचितम् | 11 | 19 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अमोघं विन्दते फलम् | 7 | 43 | d |
| अमोघानुग्रहो विभुः | 4 | 3 | b |
| अम्बाम्ब हे वधूः पुत्राः | 2 | 20 | a |
| अम्भस्यनन्तशयनाद्विरमत्समाधेः | 9 | 33 | c |
| अम्भोधयःश्वासहता विचुक्षुभुः | 8 | 32 | c |
| अयथापूर्वमोजसा | 3 | 11 | b |
| अयनं दक्षिणं सोमः | 15 | 50 | c |
| अयने विषुवे कुर्यात् | 14 | 21 | a |
| अयने वेदनिर्मिते | 5 | 56 | b |
| अयं कापुरुषो नष्टः | 8 | 53 | c |
| अयं मे भ्रातृहा नूनम् | 5 | 35 | a |
| अरूपा मेघनिस्वना | 4 | 25 | b |
| अर्कपक्वमुताऽऽहरेत् | 12 | 18 | d |
| अर्कोऽस्तं सन्यवर्तत | 2 | 35 | d |
| अर्चनं वन्दनं दास्यम् | 5 | 23 | c |
| अर्थिभ्यःकालतःस्वस्मात् | 13 | 32 | c |
| अर्थैः कामैः क्रियेत किम्? | 13 | 30 | d |
| अर्थोऽनर्थे क्षया लोभम् | 15 | 22 | c |
| अलक्षितद्वैरथमत्यमर्षणम् | 8 | 34 | c |
| अलक्षितोऽग्नौ पतितः पतङ्गः | 8 | 24 | c |
| अलिङ्गे लिङ्गभावना | 2 | 25 | b |
| अलिङ्गे लिङ्गवानिव | 2 | 24 | d |
| अवसानात्मनां नृप! | 14 | 40 | b |
| अवतारकथा पुण्या | 10 | 42 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अवतारकथामृतम् | 14 | 4 | b |
| अवधीद्विषमो यथा | 1 | 1 | d |
| अवस्तुत्वाद्विकल्पस्य | 15 | 63 | c |
| अवाकिर ञ्जगुर्हृष्टाः | 10 | 69 | c |
| अविक्रियः स्वदृग्घेतुः | 7 | 19 | c |
| अविद्वांस्तेज ऐश्वरम् | 10 | 15 | d |
| अविप्राद्वा करादिभिः | 11 | 14 | d |
| अविमुक्तस्य कर्हिचित् | 13 | 30 | b |
| अविवेकश्च चिन्ता च | 2 | 26 | c |
| अविवेकेन कल्पितम् | 1 | 22 | d |
| अविषह्यं सुरद्विषः | 7 | 9 | b |
| अव्यक्त आत्मा पुरुषः पुराणः | 3 | 33 | d |
| अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्तार्थः | 13 | 10 | a |
| अशपन् कुपिता एवम् | 1 | 37 | a |
| अशान्तकामो हरते कुटुम्बी | 6 | 21 | d |
| अश्रद्धेय इवाऽऽभाति | 1 | 33 | c |
| अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ताः | 7 | 22 | a |
| असङ्कल्पाज्जयेत्कामम् | 15 | 22 | a |
| असन्तुष्टस्य विप्रस्य | 15 | 19 | a |
| असन्तोषात्पतन्त्यधः | 15 | 21 | d |
| असन्नवयवोऽन्ततः | 15 | 60 | d |
| असाध्वमन्यन्त हतौकसोऽमराः | 8 | 27 | a |
| असारं ग्राहितो बालः | 5 | 26 | c |
| असृग्लवाक्तारुणकेसराननः | 8 | 30 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अस्तौषीद्धरिमेकाग्र- | 9 | 7 | a |
| अस्पन्दप्रणयानन्द- | 4 | 42 | c |
| अस्माकमयशस्कृतः | 5 | 16 | b |
| अस्माकं विधम प्रभो | 4 | 47 | d |
| अहञ्च गायं स्तद्विद्वान् | 15 | 72 | a |
| अहन्त्वकामस्त्वद्भक्तः | 10 | 6 | a |
| अहन् समन्तान्नखशस्त्रपाणिः | 8 | 31 | c |
| अहं पुराऽभवं कश्चित् | 15 | 69 | a |
| अहं ममेत्यसद्भावम् | 7 | 20 | c |
| अहाद्यःपञ्चहायनः | 5 | 36 | d |
| अहार्षीद्योगतपोबलेन | 8 | 45 | b |
| अहार्षीन्निर्जितदिग्गजःक्रतून् | 15 | 68 | d |
| अहिंसाब्रह्मचर्यञ्च | 11 | 8 | c |
| अहीनाममृतं यथा | 10 | 30 | d |
| अहो अकरुणो देवः | 2 | 53 | a |
| अहो अत्यद्भुतं ह्येतत् | 1 | 15 | a |
| अहो अमीषां वयसाऽधिकानाम् | 2 | 37 | a |
| अहो किमेतन्नृमृगेन्द्ररूपम् | 8 | 19 | d |
| अहो वयं धन्यतमा यदत्र | 2 | 38 | a |
| अहो विधात्राऽकरुणेन नः प्रभो | 2 | 33 | a |
| **आ** | | | |
| आक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम् | 7 | 37 | b |
| आख्यातं सर्वमेतत्ते | 10 | 41 | a |
| आख्यानेऽस्मिन्समाम्नातम् | 10 | 45 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| आचरन्दासवन्नीचः | 12 | 1 | c |
| आजीव्यांश्चिच्छिदुर्वृक्षान् | 2 | 15 | c |
| आत्मजं योगवीर्येण | 15 | 24 | c |
| आत्मजः परमेष्ठिनः | 11 | 3 | b |
| आत्मजायात्मजादिषु | 14 | 5 | b |
| आत्मजायासुतादीनाम् | 15 | 65 | a |
| आत्मत्वात्सर्वभूतानाम् | 6 | 25 | c |
| आत्मनश्शुद्धि मिच्छता | 13 | 22 | d |
| आत्मन स्सुख मीहतः | 13 | 29 | b |
| आत्मना त्रिवृता चेदम् | 3 | 27 | a |
| आत्मने उपशिक्षताम् | 5 | 53 | b |
| आत्मने स्वजनाय च | 15 | 6 | b |
| आत्मनो गतिमात्मदृक् | 13 | 5 | b |
| आत्मनोऽन्यस्य वा दिष्टम् | 10 | 65 | a |
| आत्मनोऽर्थे प्रियैषिणः | 6 | 2 | b |
| आत्मनो लक्षणैः परैः | 7 | 20 | b |
| आत्मन्यग्नीन्समारोप्य | 12 | 24 | a |
| आत्मयाज्युप शान्तात्मा हि | 15 | 55 | c |
| आत्मवत्पुत्रवत्पश्येत् | 14 | 10 | c |
| आत्मवत्सर्वभूतानाम् | 4 | 32 | c |
| आत्मसंयमनेऽनीहा | 15 | 9 | c |
| आत्मस्थो न निवर्तते | 15 | 55 | d |
| आत्माधर्मो धृतिर्मतिः | 10 | 8 | b |
| आत्मानञ्च परं ब्रह्म | 13 | 4 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| आत्मानञ्चेद्विजानीयात् | 15 | 40 | a |
| आत्मानमजितेन्द्रियः | 6 | 15 | b |
| आत्मानमप्रतिद्वन्द्वम् | 3 | 1 | c |
| आत्मानं तमुमर्हति | 9 | 53 | d |
| आत्मानं स्वजने वशः | 6 | 5 | b |
| आत्मा नित्योऽव्ययश्शुद्धः | 7 | 19 | a |
| आत्मानुभूतौ तां मायाम् | 13 | 44 | a |
| आत्मापायमबुद्धयः | 2 | 57 | b |
| आत्मा रामोऽनपाश्रयः | 13 | 3 | b |
| आत्मार्हणीयो विधिकृद्गुरुश्च | 10 | 49 | d |
| आत्मार्हणीयो विधिकृद्गुरुश्च | 15 | 76 | d |
| आत्मौपम्येन सर्वत्र | 7 | 55 | c |
| आदाय शिरसाऽऽदृताः | 2 | 13 | b |
| आदावन्ते जनानां यः | 15 | 57 | a |
| आद्यन्तयोः पृथ गवस्यसि मध्यतश्च | 9 | 30 | b |
| आद्यन्तवन्त उरुगाय विदन्ति हि त्वाम् | 9 | 49 | c |
| आध्यात्मिकमशेषतः | 10 | 45 | d |
| आध्यात्मिकादिभिर्दुःखैः | 13 | 30 | a |
| आनीयतामरे वेत्रम् | 5 | 16 | a |
| आन्त्रस्रजः क्षतजकेसरशङ्कुकर्णान् | 9 | 15 | c |
| आन्वीक्षिक्याञ्च विद्यायाम् | 12 | 23 | c |
| आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ | 15 | 23 | a |
| आपद्गणादुत्तरतात्मनः प्रभोः | 15 | 68 | b |
| आभासमिदमीश्वरः | 12 | 10 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| आभासो ह्यात्मनः पृथक् | 15 | 14 | b |
| आमन्त्र्य प्रययौ गृहम् | 13 | 46 | d |
| आयुर्लवादद्यवयवैः क्षिणोषि | 3 | 31 | b |
| आयुः श्रियं विभवमैन्द्रियमाविरिञ्चात् | 9 | 24 | b |
| आयुः श्रियो विभव इच्छति याञ्चनोऽयम् | 9 | 23 | b |
| आरभ्य कलभाषाणात् | 1 | 17 | b |
| आरोप्याऽङ्कमवघ्राय | 5 | 21 | a |
| आलक्ष्यभीत स्त्वरितः | 8 | 2 | c |
| आवर्तते प्रवृत्तेन | 15 | 47 | c |
| आवेहयुः श्रमावहाः | 15 | 28 | d |
| आवेश्य तदघं हित्वा | 1 | 29 | c |
| आवेश्य मामात्मनि सन्तमेकम् | 10 | 12 | b |
| आशासतेऽमुत्र च वैभवद्विधाः | 10 | 11 | b |
| आशासानो न वै भृत्यः | 10 | 5 | c |
| आश्रमापशदा ह्येते | 15 | 39 | a |
| आश्रुत्य परिदेवितम् | 2 | 36 | b |
| आश्वाद्यान्तावसायिभ्यः | 14 | 12 | a |
| आश्वास्येहोष्यतां वत्से | 7 | 12 | c |
| आसक्तं कामेषु तैर्वरैः | 10 | 2 | b |
| आसिञ्चन्विकसद्वक्त्रम् | 5 | 21 | c |
| आसीतर्ज्वङ्ग ओमिति | 15 | 31 | d |
| आसीनञ्चाहनन् शूलैः | 5 | 40 | c |
| आसीनं तीव्रतेजसम् | 8 | 39 | d |
| आसीनः पर्यटन्नश्नन् | 4 | 39 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| आसुरं भावमुन्मुच्य | 6 | 30 | c |
| आस्तिक्य मुद्यमो नित्यम् | 11 | 23 | c |
| आस्ते संस्पर्शनिर्वृतः | 4 | 42 | b |
| आस्तेऽस्या जठरे वीर्यम् | 7 | 9 | a |
| आस्यतां यावत्प्रसवम् | 7 | 9 | c |
| आह चेदं रुषा घूर्णः | 2 | 2 | a |
| आहतान् बालको भूत्वा | 2 | 36 | c |
| आहाऽमर्षरुषाऽऽविष्टः | 5 | 34 | a |
| आहुश्शरीरं रथमिन्द्रियाणि | 15 | 41 | a |
| आहूतश्चेत्सुयन्त्रितः | 12 | 3 | b |
| आहेक्षमाणः पापेन | 8 | 4 | c |
| आह्लाद उद्गायति क्वचित् | 4 | 40 | d |

## इ

| | | | |
|---|---|---|---|
| इच्छन् यो राति चाऽऽशिषः | 10 | 5 | f |
| इज्यमानोहविर्भागान् | 4 | 15 | c |
| इज्याध्ययनदानानि | 11 | 13 | c |
| इज्येत हविषा राजन् | 14 | 18 | c |
| इतरेभ्यो यथाऽर्हतः | 15 | 2 | d |
| इति तच्चिन्तया किञ्चित् | 5 | 48 | a |
| इति तं विविधोपायैः | 5 | 18 | a |
| इति ते भर्तृनिर्देशम् | 2 | 13 | a |
| इति दाक्षायणीनां ते | 15 | 80 | a |
| इति देवर्षिणा प्रोक्तं | 15 | 78 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| इति दैत्यपतेर्वाक्यम् | 2 | 61 | a |
| इति नः सुमहाभाग ! | 1 | 3 | a |
| इति पुंसाऽर्पिता विष्णौ | 5 | 24 | a |
| इति भूतानि मनसा | 7 | 34 | c |
| इति भेदगता सती | 5 | 12 | d |
| इति भ्राम्यति मे बुद्धिः | 1 | 20 | a |
| इति मे निश्चिता मतिः | 1 | 26 | d |
| इति विज्ञापितो देवैः | 3 | 14 | a |
| इति शुश्रुम निर्बन्धम् | 3 | 12 | a |
| इतिहासं पुरातनम् | 2 | 27 | b |
| इत्थं नृतिर्यगृषिदेवझषावतारैः | 9 | 38 | a |
| इत्यक्षरतयाऽऽत्मानम् | 12 | 31 | a |
| इत्युक्तस्तां विहायेन्द्रः | 7 | 11 | a |
| इत्युक्त्वादिभवो देवः | 3 | 22 | a |
| इत्युक्त्वा भगवान् राजन् | 10 | 31 | a |
| इत्युक्त्वा लोकगुरुणा | 4 | 30 | a |
| इत्युक्त्वोपरतं पुत्रम् | 5 | 33 | a |
| इत्येतदात्मनः स्वार्थम् | 13 | 27 | a |
| इदमाह युधिष्ठिर ! | 5 | 21 | d |
| इदमाह सुरेश्वरः | 2 | 19 | d |
| इदं शरिरं पुरुषस्य मोहजम् | 2 | 42 | a |
| इन्द्रस्तु राज महिषीम् | 7 | 6 | c |
| इन्द्रस्यार्थे कथं दैत्यान् | 1 | 1 | c |
| इन्द्रियाणि प्रमाथीनि | 12 | 7 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| इन्द्रियाणि मनस्यूर्मौ | 15 | 53 | a |
| इन्द्रियाणि मनः प्राणाः | 10 | 8 | a |
| इन्द्रियेषु क्रियायज्ञान् | 15 | 52 | c |
| इन्द्रे शिल्पं करावपि | 12 | 26 | b |
| इमन्तु पाशै वरुणस्य बद्धम् | 5 | 50 | a |
| **ई** | | | |
| ईक्षात्रयी नयदमौ विविधा च वार्ता | 6 | 32 | b |
| ईडिरे नरशार्दूलम् | 8 | 39 | c |
| ईयते गुणसर्गया | 6 | 29 | d |
| ईश्वराराधनेन च | 7 | 32 | d |
| ईहता मनुसं सृतिम् | 6 | 14 | d |
| ईहोपरमयोर्नृणाम् | 13 | 20 | c |
| **उ** | | | |
| उच्चावचेषु दैत्येन्द्र ! | 10 | 20 | c |
| उटजं वाऽद्रिकन्दरम् | 12 | 20 | b |
| उताहो ते स्वतोऽभवत् | 5 | 10 | b |
| उतैकात्म्यं महात्मनि | 13 | 42 | d |
| उत्तस्थुर्मेघदलनाः | 10 | 60 | c |
| उत्तारणोऽस्य भवसम्भव लोकहेतोः | 9 | 42 | b |
| उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रन्ते | 3 | 17 | a |
| उत्थाप्ययतच्छीर्ष्यदधात् कारम्बुजम् | 9 | 5 | c |
| उत्थाय प्राञ्जलिः प्रह्वः | 3 | 25 | a |
| उत्थित स्तप्तहेमाभः | 3 | 23 | e |
| उत्पेतुस्सूर्यमण्डलात् | 10 | 58 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| उत्सहेत विमोचितुम् | 6 | 15 | d |
| उन्नीतानां स्वकर्मभिः | 2 | 21 | d |
| उपक्रमे ऽवसाने च | 12 | 3 | c |
| उपतस्थु र्हृषीकेशम् | 4 | 23 | c |
| उपधर्मस्तु पाषण्डः | 15 | 13 | c |
| उपशान्त जनावृतः | 14 | 4 | d |
| उपहूता विश्वसृग्भिः | 15 | 71 | c |
| उपालभन्ते शिक्षार्थम् | 4 | 46 | c |
| उपासत उपास्ताऽपि | 14 | 41 | c |
| उपासतोपायनपाणिभिर्विना | 4 | 13 | c |
| उपासने स्वे हृदि छिद्रवत्सतः | 7 | 40 | b |
| उपासाद्येश्वरं विभो ! | 10 | 56 | b |
| उपासीत महामुनीन् | 14 | 3 | d |
| उपेक्षेताऽनुकम्पया | 15 | 39 | d |
| उपेतनारायणमादिदेवम् | 6 | 24 | c |
| उपेत्य भुवि कायेन | 9 | 4 | c |
| उप्तं बीजञ्च नश्यति | 11 | 33 | d |
| उप्यमानं मुहुः क्षेत्रम् | 11 | 33 | a |
| उभयन्त्वविवेकतः | 7 | 49 | d |
| उवाच विद्वांस्तन्निष्ठाम् | 5 | 55 | c |
| उवाच स्मयमानस्तान् | 7 | 1 | c |
| उशीनराणामसि वृत्तिदः पुरा | 2 | 33 | c |
| उशीनरेन्द्रं विधिना तथा कृतम् | 2 | 31 | a |
| उशीनरेष्वभूद्राजा | 2 | 28 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| उषित्वैवं गुरुकुले | 12 | 13 | a |
| **ऊ** | | | |
| ऊर्ध्वबाहुर्नभो दृष्टिः | 3 | 2 | c |
| **ऋ** | | | |
| ऋतमुञ्छशिलं प्रोक्तम् | 11 | 19 | a |
| ऋतामृ ताभ्यां जीवेत | 11 | 18 | a |
| ऋतेऽजितादात्मन उत्पथस्थितान् | 8 | 10 | c |
| ऋते राजन्यमापत्सु | 11 | 17 | c |
| ऋषयः पितर स्सिद्धाः | 8 | 37 | c |
| ऋषिणाऽनुगृहीतं माम् | 7 | 16 | c |
| ऋषित्वञ्चाऽसुरात्मजाः | 7 | 53 | b |
| ऋषिभिर्नारदादिभिः | 1 | 5 | b |
| ऋषिलोकमिहाञ्जसा | 12 | 17 | d |
| ऋषिं पर्यचरत्तत्र | 7 | 14 | a |
| ऋषिः कारुणिकस्तस्याः | 7 | 15 | a |
| ऋषीन् पितृपतीन्मुनीन् | 4 | 6 | b |
| **ए** | | | |
| एक एव चरेद्भिक्षुः | 13 | 3 | a |
| एक एव परो ह्यात्मा | 6 | 27 | c |
| एक एव पृथग्गुणान् | 4 | 18 | d |
| एकदा देव सत्रे तु | 15 | 71 | a |
| एकदा ब्रह्मणः पुत्राः | 1 | 35 | a |
| एकदाऽसुरराट्पुत्रम् | 5 | 4 | a |
| एकराजं व्यधित्सत | 3 | 1 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| एकराड्विषयान् प्रियान् | 4 | 19 | b |
| एकस्त्वमेव जगदेत दमुष्य यत्त्वम् | 9 | 30 | a |
| एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः | 7 | 19 | b |
| एकः प्रियसुहृत्तमः | 4 | 32 | d |
| एकान्तभक्तिर्गोविन्दे | 7 | 57 | c |
| एकान्तित्वाद्भगवति | 9 | 55 | c |
| एकान्तिनां भगवतस्तदकिञ्चनानाम् | 6 | 33 | c |
| एकैकमुभयत्र वा | 15 | 3 | b |
| एकैकशक्यानाऽनुपूर्व्याम् | 15 | 51 | c |
| एको विविक्तशरणः | 15 | 30 | c |
| एतत्कुर्यात्स्वतो बुधः | 14 | 8 | d |
| एतत्कौतूहलं ब्रह्मन्! | 4 | 47 | c |
| एतत्तुभ्यं प्रवक्ष्यामि | 14 | 2 | c |
| एत त्सर्वं गुरौ भक्त्या | 15 | 25 | c |
| एतत्सर्वं व्रतस्थस्य | 12 | 11 | a |
| एतदाख्यातमर्हसि | 1 | 34 | d |
| एतदिष्टं प्रवृत्ताख्यम् | 15 | 49 | a |
| एतद्द्वारो हि संसारः | 7 | 27 | a |
| एतद्य आदिपुरुषस्य मृगेन्द्रलीलाम् | 10 | 47 | a |
| एतद्वपुस्ते भगवन्! | 10 | 29 | a |
| एतद्वेदितु मिच्छामः | 1 | 16 | a |
| एतान्देशान्निषेवेत | 14 | 34 | c |
| एताभ्यां गुरुपुत्राभ्याम् | 6 | 35 | c |
| एतावद्ब्राह्मणायोक्त्वा | 5 | 15 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| एतावद्वर्णितगुणः | 9 | 51 | a |
| एतावानेव लोकोऽस्मिन् | 7 | 57 | a |
| एते कर्ममयान् यज्ञान् | 15 | 9 | a |
| एते पुण्यतमा देशाः | 14 | 34 | a |
| एतेषां श्रेय आशासे | 13 | 42 | c |
| एतैरन्यैश्च वेदोक्तैः | 15 | 67 | a |
| एनः पूर्वकृतं यत्तत् | 10 | 39 | a |
| एभि र्द्वादशभिर्विद्वान् | 7 | 20 | a |
| एभिस्त्रिवर्णैः पर्यस्तैः | 7 | 26 | a |
| एव मभ्यसतश्चित्तम् | 15 | 34 | a |
| एव मैश्वर्यमत्तस्य | 4 | 20 | a |
| एवं कामाशयं चित्तम् | 11 | 34 | a |
| एवं कुलिङ्गं विलपन्तमारात् | 2 | 56 | a |
| एवं कृष्णे भगवति | 1 | 28 | a |
| एवं गुणैर्भ्राम्यमाणे | 2 | 24 | a |
| एवं जनं निपतितं प्रभवाहिकूपे | 9 | 28 | a |
| एवं तौ षार्षदौ विष्णोः | 10 | 35 | a |
| एवं दग्ध्वा पुर स्तिस्रः | 10 | 70 | a |
| एवं दुरुक्तै र्मुहुरर्दयन् रुषा | 8 | 15 | a |
| एवं दैत्यसुतैः पृष्टः | 7 | 1 | a |
| एवं निर्जितषड्वर्गैः | 7 | 35 | a |
| एवं प्रलोभ्यमानोऽपि | 9 | 55 | a |
| एवं प्रियाप्रियै र्योगः | 2 | 25 | c |
| एवं ब्रुवंस्त्वभ्यपतद्गदायुधः | 8 | 24 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| एवं यूयमपश्यन्त्यः | 2 | 57 | a |
| एवं लब्धवरो दैत्यः | 4 | 4 | a |
| एवंविधान्यस्य हरेः स्वमायया | 10 | 71 | a |
| एवं विधो ब्रह्मचारी | 12 | 16 | a |
| एवं विप्रकृते लोके | 2 | 16 | a |
| एवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात् | 9 | 49 | d |
| एवं विलपतीनां वै | 2 | 35 | a |
| एवं वृतः शतधृतिः | 4 | 1 | a |
| एवं शप्तौ स्वभवनात् | 1 | 38 | a |
| एवं सहस्रवदनाङ्घ्रिशिरःकरोरु- | 9 | 36 | a |
| एवं सुरादयस्सर्वे | 9 | 1 | a |
| एवं स्वकर्मपतितं भववैतरण्याम् | 9 | 41 | a |
| एवं हि लोकाः क्रतुभिः कृता अमी | 7 | 42 | a |
| एष आत्मविपर्यासो हि | 2 | 25 | a |
| एष बुद्धिविपर्ययः | 5 | 9 | d |
| एष माऽरुणो हन्यात् | 15 | 10 | c |
| एष मे बह्वसाधूक्तः | 5 | 45 | a |
| एष वै भगवान् साक्षात् | 15 | 27 | a |
| एषा ब्रह्मण्यदेवस्य | 10 | 42 | a |
| एषु स्नातं जपो होमः | 14 | 26 | a |
| **ऐ** | | | |
| ऐकपत्यञ्च देहिनाम् | 3 | 37 | d |
| **ओ** | | | |
| ओजस्सहः सत्त्व बलेन्द्रियात्मा | 8 | 9 | b |
| ओङ्कारं बिन्दुनादे तु | 15 | 53 | e |
| ओं नमो भगवते तस्मै | 4 | 24 | a |
| **औ** | | | |
| औपस्थ्यजैह्म्यकार्पण्यात् | 15 | 18 | c |
| औपस्थ्यजैह्म्यं बहुमन्यमानः | 6 | 19 | c |
| **क** | | | |
| क आत्मा कः परो वाऽत्र | 2 | 60 | c |
| कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः | 9 | 45 | d |
| कण्डूयनेन करयो रिव दुःखदुःखम् | 8 | 45 | b |
| कतमोऽपि न वेनः स्यात् | 1 | 31 | a |
| कथञ्चिन्नेक्षते पृथक् | 1 | 25 | d |
| कथ मसीन्महात्मनि | 1 | 47 | b |
| कथयिष्ये हरेः कथाम् | 1 | 5 | d |
| कथं तस्मिन् भगवति | 1 | 19 | a |
| कथं त्वजातपक्षांस्तान् | 2 | 55 | a |
| कथं प्रियाया अनुकम्पितायाः | 6 | 17 | a |
| कथं विना स्याम सुहृत्तमेन ते | 2 | 34 | b |
| कथं विरज्येत दुरन्तमोहः | 6 | 19 | d |
| कथा मदीयाजुषमाणः प्रियास्त्वम् | 10 | 12 | a |
| कदाचिन्मानवार्जितम् | 13 | 38 | b |
| कमण्डलुजले नैक्षत् | 3 | 22 | c |
| कमण्डल्वजिने दण्ड- | 12 | 21 | c |
| करवाम ते किमनु शाधि किङ्करान् | 8 | 48 | d |
| करालदंष्ट्रं करवाल चञ्चल | 8 | 21 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| करा लदंष्ट्रोग्रदृष्ट्या | 2 | 3 | a |
| करिष्यत्यसमञ्जसः | 5 | 36 | b |
| करुणास्साधवश्शान्ताः | 11 | 4 | c |
| करोत्यतो विपर्यासम् | 7 | 43 | c |
| कर्मणा कृतिभिर्वाचा | 13 | 14 | a |
| कर्मणां त्रिगुणात्मनाम् | 7 | 30 | b |
| कर्मण्यभ्युदये नृप ! | 14 | 27 | d |
| कर्मनिष्ठा द्विजाः केचित् | 15 | 1 | a |
| कर्मपाशै र्विमुच्यते | 10 | 46 | d |
| कर्मबन्धा द्विमुच्यते | 10 | 14 | d |
| कर्मभिस्तनुते देहम् | 7 | 49 | c |
| कर्मस्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम् | 9 | 50 | b |
| कर्माणि कार्यमाणोऽहम् | 13 | 23 | c |
| कर्माणि कुर्वतां दृष्ट्वा | 13 | 25 | c |
| कर्माणिलोभादवितृप्तकामः | 6 | 19 | b |
| कर्माण्याध्यात्मना रुद्रे | 12 | 29 | c |
| कर्माण्यारभते देही | 7 | 49 | a |
| कलत्रपुत्रवित्ताप्तान् | 7 | 5 | a |
| कलाक्षराणामनुरक्तचित्तः | 6 | 17 | d |
| कलानामिव वृक्षस्य | 7 | 18 | c |
| कलेबरं कालबलेन हित्वा | 10 | 13 | b |
| कल्पतेऽस्योपशान्तये | 15 | 14 | d |
| कल्पयित्वाऽऽत्मना यावत् | 12 | 10 | a |
| कल्पयेद्वृत्तिमात्मनः | 14 | 15 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| कल्पान्ते कालसृष्टेन | 3 | 26 | a |
| कल्पान्ते वैष्णवादिभिः | 3 | 11 | d |
| कल्यस्त्वेवं परिव्रज्य | 13 | 1 | a |
| कविः कल्यो निपुणदृक् | 13 | 18 | a |
| कविभिः पात्रवित्तमैः | 14 | 35 | b |
| कविर्मूकवदात्मानम् | 13 | 10 | c |
| कशिपौ वा परेच्छया | 13 | 40 | d |
| कश्शत्रुः क उदासीनः | 6 | 4 | a |
| कषायीभूतलोचनः | 5 | 34 | b |
| कस्मात् स्तम्भेन दृश्येत | 8 | 13 | d |
| कस्मिन् कर्मणि देवस्य | 10 | 52 | a |
| कामपूरोऽस्म्यहं नृणाम् | 9 | 52 | d |
| कामस्यान्तं हि क्षुत्तृड्भ्याम् | 15 | 20 | a |
| कामं नयतु मां देवः | 2 | 54 | a |
| कामातुरं हर्षशोकभयेषणार्त | 9 | 39 | c |
| कामादिभिरनाविद्धम् | 15 | 35 | a |
| कामाद्द्वेषाद्भयात्स्नेहात् | 1 | 29 | a |
| कामानलं मधुलवैः शमयन्दुरापैः | 9 | 25 | d |
| कामानामतिसेवया | 11 | 34 | b |
| कामानां हृद्यसंरोहम् | 10 | 7 | c |
| कामात्कामयते काम्यैः | 7 | 45 | a |
| कामान्सविभजेद्यथा | 14 | 12 | b |
| कामाभिकामनुयः प्रपतन्प्रसङ्गात् | 9 | 28 | b |
| कामैस्तैस्साधु मानयेत् | 7 | 34 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कामैरुच्चावचैस्साध्वी | 11 | 27 | a | किन्तैर्गुणव्यतिकरादिह ये(द्धाः)स्वसिद्धाः | 6 | 31 | b |
| कारणेषु न्यसेत्सम्यक् | 12 | 24 | c | किमन्यैः काल निर्धूतैः | 3 | 11 | c |
| कारयेन्नात्मनो युवा | 12 | 8 | a | किमर्धेनात्मनो हि मे | 2 | 54 | b |
| कार्यकारणवत्त्वैक्यम् | 15 | 63 | a | किमिच्छन्कस्य वा हेतोः | 15 | 40 | c |
| कालग्रस्तं कियदिदमहोनाथ शुश्रूषतां ते | 8 | 42 | c | किमुतानुवशान्साधून् | 4 | 47 | a |
| कालनाभं महानाभम् | 2 | 18 | c | किमुताऽन्ये भवादृशाः | 4 | 36 | d |
| कालस्तावत्प्रतीक्ष्यतम् | 4 | 27 | d | किमुत्पथस्थः कुशलाय कल्पते | 8 | 50 | d |
| कालं चरन्तं सृजतीश आश्रयम् | 1 | 11 | a | किमु व्यवद्गितापत्य | 7 | 46 | a |
| कालं परं प्रतीक्षेत | 13 | 6 | c | किमेतैरात्मन स्तुच्छैः | 7 | 47 | a |
| कालात्मनोपनय मां निजभृत्यपार्श्वम् | 9 | 24 | d | कियान्देहभृतोऽसुराः | 7 | 48 | b |
| कालात्मनोश्च नित्यत्वात् | 3 | 10 | c | किं तेन ते प्रियजनाननुसेवतां नः | 9 | 42 | d |
| कालाहिवित्रस्तधियां कृताभयम् | 9 | 5 | d | किं तोष्टुमर्हति स मे हरिरुग्रजातेः | 9 | 8 | d |
| काले काले भजेत्पतिम् | 11 | 27 | d | किं मित्रं चेह आत्मनः | 6 | 4 | b |
| कालेन चोदितगुणानुमतेन पुंसः | 9 | 21 | b | कीटः पेशस्कृता रुद्धः | 1 | 27 | a |
| कालेन जातो विवृत्तो विनश्यति | 2 | 42 | d | कीटाः पेशस्कृतो यथा | 10 | 39 | d |
| कालेन तीव्रतपसा परिशुद्धभावः | 9 | 35 | b | कीदृशः कस्य वा शापः | 1 | 33 | a |
| कालेन व्यत्ययो महान् | 10 | 44 | d | कीर्तनैर्गुणकर्मणाम् | 7 | 33 | b |
| कालेनाल्पीयसा यतेः | 15 | 34 | b | कीर्तयेच्छ्रद्धया श्रुत्वा | 10 | 46 | c |
| कालेनेश्वरमूर्तिना | 7 | 18 | d | किर्तिं विशुद्धां सुरलोकगीताम् | 10 | 13 | c |
| कालेनैतावताऽऽयुष्मन् | 5 | 22 | c | कुटुम्बपोषाय वियन्निजायुः | 6 | 20 | a |
| कालो महान् व्यतीयाय | 4 | 20 | c | कुड्यायां तमनुस्मरन् | 1 | 27 | b |
| कालो वशीकृतं विसृज्य विसर्गशक्तिः | 9 | 22 | b | कुतस्तत्कामलोभेन | 15 | 16 | c |
| कावेर्यां सह्यसानुनि | 13 | 12 | b | कुतो भद्राऽसतां मतिः | 5 | 29 | d |
| काव्यान्यानन्त्यमिच्छता | 15 | 2 | b | कुत्राऽऽशिषः श्रुतिसुखामृगतृष्णिरूपाः | 9 | 25 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| कुम्भकर्णदशग्रीवौ | 10 | 36 | c |
| कुरु कर्माणि मत्परः | 10 | 23 | d |
| कुरुक्षेत्रं गयशिरः | 14 | 31 | c |
| कुरुते प्रेतकार्याणि | 10 | 22 | a |
| कुर्यात्सर्वात्मनैतेषु | 14 | 25 | c |
| कुर्यादनशनादिकम् | 12 | 23 | d |
| कुर्यादपरपक्षीयम् | 14 | 20 | a |
| कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत्प्रियं चलाः | 7 | 41 | d |
| कुलभेदकराधम ! | 8 | 6 | b' |
| कुलाङ्गारस्य दुर्बुद्धेः | 5 | 16 | c |
| कुलिङ्गमिथुनं तत्र | 2 | 51 | a |
| कुलिङ्गस्तां तथाऽपन्नाम् | 2 | 52 | c |
| कूजद्भिर्नूपुरैर्देव्यः | 4 | 11 | a |
| कूटस्थ आत्मा परमेष्ठ्यजो महान् | 3 | 31 | c |
| कूटस्थे तच्च महति | 12 | 30 | c |
| कूपाजीव्यादिलक्षणम् | 15 | 49 | d |
| कृच्छ्राप्तं मधुव द्वित्तम् | 13 | 35 | c |
| कृतानां बीजसंज्ञितः | 7 | 51 | d' |
| कृतोऽधुना येन शुचां विवर्धनः | 2 | 33 | d |
| कृत्तमूले वनस्पतौ | 2 | 9 | b |
| कृत्वा कटोदकादीनि | 2 | 17 | c |
| कृत्वाऽट्टहासं खरमुत्स्वनोल्बणम् | 8 | 28 | c |
| कृत्वाऽऽत्मसात्सुरर्षिणा भगवान्गृहीतः | 9 | 28 | c |
| कृपणं पर्यदेवयन् | 2 | 52 | f |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| कृपणं माऽनुशोचन्त्या | 2 | 53 | c |
| कृपया प्रहसन्निव | 5 | 55 | d |
| कृपया भूतजं दुःखम् | 15 | 24 | a |
| कृष्णग्रहगृहीतात्मा | 4 | 38 | c |
| कृष्ण चक्रहतांहसौ | 1 | 45 | d |
| कृष्णञ्च प्रेमविह्वलः | 15 | 78 | d |
| कृष्णपार्थावुपामन्त्र्य | 15 | 79 | a |
| कृष्णस्य च महात्मनः | 10 | 42 | b |
| कृष्णस्य जगदात्मनः | 14 | 43 | b |
| कृष्णेनानेन कथ्यताम् | 10 | 52 | d |
| केचित्खनित्रै र्बिभिदुः | 2 | 15 | a |
| केचित्परशु पाणयः | 2 | 15 | d |
| केवलानुभवानन्द | 6 | 29 | a |
| केशप्रसाधनोन्मर्द- | 12 | 8 | a |
| केशरोमनखश्मश्रु- | 12 | 21 | a |
| केशिन्यां विश्रवस्सुतौ | 1 | 43 | b |
| कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः | 10 | 49 | b |
| कैवल्य निर्वाण सुखानुभूतिः | 15 | 76 | b |
| को गृहेषु पुमान् सक्तम् | 6 | 15 | a |
| कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरेः | 7 | 40 | a |
| को न्वत्र तेऽखिलगुरो भगवान्प्रयास | 9 | 42 | a |
| को न्वर्थतृष्णां विसृजेत् | 6 | 16 | a |
| कोपकालोयुगान्तस्ते | 8 | 41 | a |
| कोपावेश चलद्गात्रः | 8 | 3 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| कोपोज्ज्वलद्भ्यां चक्षुर्भ्यांम् | 2 | 2 | c |
| को वै दिव्यसमाः शतम् | 3 | 19 | d |
| कौपीनाच्छादनं परम् | 13 | 2 | b |
| कौमार आचरेत्प्राज्ञः | 6 | 6 | a |
| क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः | 4 | 15 | b |
| क्रन्दन्तीं कुररीमिव | 7 | 7 | b |
| क्रिमि विड्भस्म निष्ठान्तम् | 14 | 14 | a |
| क्रियतामाशु माचिरम् | 2 | 5 | d |
| क्रियते भक्तिरीश्वरे | 7 | 35 | b |
| क्रियते भगवत्यद्धा | 5 | 24 | c |
| क्रियाद्वैतं तदुच्यते | 15 | 64 | d |
| क्रिया मोघाः कृताः कृताः | 13 | 29 | d |
| क्रियायै कविभिः कृता | 14 | 40 | d |
| क्रियाश्चाश्रमचोदिताः | 11 | 13 | f |
| क्रियाः कुर्वन्गृहोचिताः | 14 | 3 | b |
| क्रीडतो याति विंशतिः | 6 | 12 | b |
| क्रीडान्धा मा प्रमाद्यथ | 6 | 1 | d |
| क्रीडामृगो यन्निगडो विसर्गः | 6 | 23 | d |
| क्रुद्धस्य यस्य कम्पन्ते | 8 | 7 | a |
| क्रोधस्यान्तं फलोदयात् | 15 | 21 | b |
| क्रोधं कामविवर्जनात् | 15 | 22 | b |
| क्लिश्यमानस्य कर्मभिः | 7 | 48 | d |
| क्वचिच्छयेधरोपस्थे | 13 | 40 | a |
| क्वचित्तद्भावनायुक्तः | 4 | 41 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| क्वचित्प्रासादपर्यङ्के | 13 | 40 | c |
| क्वचित्स्नातोऽनुलिप्ताङ्गः | 13 | 41 | a |
| क्वचिदल्पं क्वचिद्भूरि | 13 | 37 | a |
| क्वचिद्धसति तच्चिन्ता- | 4 | 40 | c |
| क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीम् | 4 | 42 | a |
| क्वचिद्भूरिगुणोपेतम् | 13 | 37 | c |
| क्वचिद्रुदति वैकुण्ठ- | 4 | 40 | a |
| क्व तदीयरतिर्भार्या | 14 | 14 | c |
| क्वाऽयमात्मा नभच्छदः | 14 | 14 | d |
| क्वाऽसौ यदि स सर्वत्र | 8 | 13 | c |
| क्वाऽहं रजःप्रभव ईश तमोधिकेऽस्मिन् | 9 | 26 | a |
| केदं कलेबरमशेषरुजां विरोहम् | 9 | 25 | b |
| केदं नु स्वकलेबरम् | 14 | 14 | b |
| क्षयिष्णवस्सातिशया न निर्मलाः | 7 | 42 | b |
| क्षारशीधु घृतक्षौद्र | 4 | 17 | c |
| क्षितौ शेषं यथोद्भवम् | 12 | 25 | d |
| क्षित्यदिनामिहार्थानाम् | 15 | 59 | a |
| क्षित्वा परुषया वाचा | 8 | 4 | a |
| क्षुरान्तजिह्वं भ्रुकुटीमुखोल्बणम् | 8 | 21 | b |
| क्षेत्रज्ञं ब्राह्मणाननम् | 14 | 19 | d |
| क्षेत्राण्यर्हाश्रितान्युत | 14 | 31 | b |
| क्षेत्रारामाश्रमाकरान् | 2 | 14 | b |
| क्षेत्रेषु देहेषु तथाऽऽत्मयोगैः | 7 | 21 | c |
| क्षेत्रेषु योगैस्तदभिज्ञ आप्नुयात् | 7 | 21 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| क्षेमाय भवमाश्रितः | 6 | 10 | b |
| क्षेमाय भूतय उतात्मसुखायचाऽस्य | 9 | 13 | c |
| क्षेमाय विजयाय च | 3 | 13 | d |
| क्षेमायेच्छाप्रसूतये | 7 | 14 | d |
| क्षौमं दुकूल मजिनम् | 13 | 39 | a |
| **ख** | | | |
| खगा मृगाः पापजीवाः | 7 | 56 | c |
| खटे खर्पटघोषांश्च | 2 | 14 | c |
| खड्गं प्रगृह्य यदवोचदसद्विधित्सुः | 9 | 29 | c |
| खड्गं प्रगृह्योत्पतितो वरासनम् | 8 | 15 | c |
| खल्वाश्रमविडम्बनाः | 15 | 39 | b |
| खे खानि वायौ निःश्वासान् | 12 | 25 | a |
| **ग** | | | |
| गन्धर्व उपबर्हणः | 15 | 69 | b |
| गन्धर्वगरुडोरगान् | 4 | 5 | d |
| गन्धर्वमुख्या ननृतुर्जगुःस्त्रियः | 8 | 36 | d |
| गन्धर्वसिद्धा ऋषयोऽस्तुवन्मुहुः | 4 | 14 | c |
| गन्धर्वाणां सुसम्मतः | 15 | 69 | d |
| गन्धर्वाप्सरचारणाः | 8 | 38 | b |
| गन्धर्वाप्सरसां गणाः | 15 | 71 | b |
| गन्धै र्वायुमिवाऽन्वयात् | 7 | 26 | d |
| गरदानै रभोजनैः | 5 | 43 | d |
| गिरा गद्गदयाऽगृणात् | 3 | 25 | d |
| गीत्वा सपर्यां महतीं लभामहे | 8 | 54 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| गीयते परमं पुण्यम् | 1 | 5 | a |
| गुण कर्म निबन्धनः | 7 | 27 | b |
| गुण कर्मानुवर्णनम् | 10 | 44 | b |
| गुणलुब्धौ न कामुकौ | 10 | 5 | b |
| गुणव्यतिकरे तथा | 6 | 27 | b |
| गुणसङ्गा जनिर्मृतिः | 7 | 29 | b |
| गुणहीनमुत क्वचित् | 13 | 37 | d |
| गुणेषु गुणसाम्ये च | 6 | 27 | a |
| गुणैरलमसंख्येयैः | 1 | 37 | a |
| गुणैर्महद्भिरुपासकः | 4 | 31 | d |
| गुणैर्वैकारिकं परे | 12 | 29 | f |
| गुरवे तन्निवेदयेत् | 12 | 5 | b |
| गुरुगेहे द्विजातिभिः | 5 | 7 | b |
| गुरुणैवं प्रति प्रोक्तः | 5 | 29 | a |
| गुरुणोक्तं सुतानयम् | 8 | 3 | b |
| गुरुपुत्र मुवाचेदम् | 5 | 25 | c |
| गुरुवृत्तिर्विकल्पेन | 12 | 11 | c |
| गुरुशुश्रूषया भक्त्या | 7 | 32 | a |
| गुरुष्वीश्वरभावनः | 4 | 33 | d |
| गुरुस्त्रीभिर्युवतिभिः | 12 | 8 | c |
| गुरूक्तमपि न ग्राह्यम् | 6 | 2 | c |
| गुरूणां कुलनन्दन ! | 5 | 10 | d |
| गुरोः कामं यदीश्वरः | 12 | 14 | b |
| गुरौ सुदृढसौहृदः | 12 | 1 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| गुर्वग्न्यर्कसुरोत्तमान् | 12 | 2 | b |
| गूढं परं ब्रह्ममनुष्यलिङ्गम् | 10 | 48 | d |
| गूढं परं ब्रह्ममनुष्यलिङ्गम् | 15 | 75 | d |
| गृहपालायते जनः | 15 | 18 | d |
| गृहमण्डनवर्तनैः | 11 | 26 | b |
| गृह मानीतमाहूय | 5 | 8 | a |
| गृहमेधीयकर्मसु | 5 | 54 | b |
| गृहस्थ एतां पदवीम् | 14 | 1 | a |
| गृहस्थस्य क्रियात्यागे | 15 | 38 | a |
| गृहस्थस्यतुंगामिनः | 12 | 11 | d |
| गृहस्थितं तद्विहतं विनश्यति | 2 | 40 | b |
| गृहस्थो येन पदवीम् | 15 | 74 | c |
| गृहं वनं वा प्रविशेत् | 12 | 14 | c |
| गृहान्मनोज्ञोरुपरिच्छदांश्च | 6 | 18 | c |
| गृहा महीकुञ्जरकोशभूतयः | 7 | 41 | b |
| गृहेऽपि गुप्तोऽस्य हतो न जीवति | 2 | 40 | d |
| गृहेऽप्यस्य गतिं यायात् | 15 | 67 | c |
| गृहेष्ववस्थितो राजन् | 14 | 3 | a |
| गुह्यन्ते कविभिर्मुहुः | 4 | 35 | b |
| गोपायेत हरिस्त्वाऽद्य | 8 | 14 | c |
| गोप्यः कामाद्भयात्कंसो | 1 | 30 | a |
| गोविन्द परिरम्भितः | 4 | 39 | d |
| गोषु विप्रेषु राजसु | 4 | 28 | b |
| ग्रन्थान्नैवाऽभ्यसेद्बहून् | 13 | 8 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ग्रहाश्च तद्दृष्टिविमृष्टरोचिषः | 8 | 32 | b |
| ग्रामैकरात्रविधिना | 13 | 1 | c |
| ग्राम्येहोपरमः शनैः | 11 | 9 | b |
| ग्रीवोरुवक्षःस्थलमल्पमध्यमम् | 8 | 22 | b |
| **घ** | | | |
| घटेतकरुणात्मनः | 10 | 4 | b |
| घनच्छदा भारत सर्वधिष्ण्यपाः | 8 | 27 | b |
| घृणेर्माया वनौकसः | 2 | 7 | b |
| घृतकुम्भ पुमानतः | 12 | 9 | b |
| घोरामाप्नोति संसृतिम् | 13 | 27 | d |
| घ्नन्त्यो मुहुस्तत्पदयोरुपापतन् | 2 | 31 | d |
| घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्तिः | 9 | 40 | c |
| घ्रेयैर्घ्राणं क्षितौ न्यसेत् | 12 | 28 | d |
| **च** | | | |
| चकार तद्वधोपायान् | 5 | 42 | c |
| चक्रपाणे यदृच्छया | 5 | 14 | d |
| चक्रुर्यत्साम्परायिकम् | 2 | 59 | d |
| चक्रेऽभिमानं रथिन श्चजीवम् | 15 | 42 | b |
| चक्रे विसृष्टमजयेश्वर षोडशारे | 9 | 22 | c |
| चक्षुषा भाग्यमाणेन | 2 | 23 | c |
| चतसृष्वप्यष्टकासु | 14 | 22 | c |
| चतुर्थोऽस्योदितो दमः | 5 | 16 | d |
| चत्वारः परमाद्भुताः | 4 | 31 | b |
| चन्द्रादित्योपरागे च | 14 | 21 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| चन्द्रांशुगौरै श्छुरितं तनूरुहैः | 8 | 22 | c |
| चरणौ शिरसा नमेत् | 12 | 3 | d |
| चरतो दुश्चरं तपः | 3 | 8 | b |
| चरन्विदितविज्ञानः | 12 | 16 | c |
| चरन्तमच्छिद्रमुपर्यधो हरिः | 8 | 28 | b |
| चरन्तो भुवनत्रयम् | 1 | 35 | d |
| चराचरं निग्रहसङ्ग्रहे प्रभुः | 2 | 39 | d |
| चरेद्वने द्वादशाब्दाः | 12 | 22 | a |
| चातुर्मस्यं पशुस्सुतः | 15 | 48 | d |
| चित्तस्य चित्तेर्मन इन्द्रियाणाम् | 3 | 29 | c |
| चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टम् | 15 | 35 | c |
| चित्रप्रियकथः समः | 13 | 18 | b |
| चिदचिच्छक्तियुक्ताय | 3 | 34 | c |
| चिन्ताशबलचेतनः | 4 | 40 | b |
| चिन्मात्र मवशेषितम् | 12 | 31 | b |
| चीरं वल्कलमेव वा | 13 | 39 | b |
| चुक्षुभुर्नद्युदन्वन्तः | 3 | 5 | a |
| **छ** | | | |
| छन्दांस्यधीयीत गुरोः | 12 | 3 | a |
| छन्दोमयं यदजयार्पितषोडशारम् | 9 | 21 | c |
| छन्नः कलौ यदभिस्त्रियुगोऽथ स त्वम् | 9 | 38 | d |
| छाया न कतमाऽपि हि | 15 | 59 | b |
| छिन्द्यात्तदङ्गं यदुताऽऽत्मनोऽहितम् | 5 | 37 | c |
| छिन्धि नस्संशयं सौम्य ! | 6 | 36 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| छिन्धि भिन्धीति वादिनः | 5 | 40 | b |
| छिन्नायुधभुजं मृधे | 2 | 30 | d |
| **ज** | | | |
| जगच्च किञ्चित् व्यातिरक्त मस्ति | 3 | 32 | b |
| जगत्तस्थुरिति द्विधा | 7 | 23 | b |
| जगन्मङ्गलं सत्त्वमूर्तेऽवतारः | 8 | 49 | d |
| जगुर्महेन्द्रासन मोजसा स्थितम् | 4 | 14 | a |
| जगृहु र्निरवद्यत्वात् | 8 | 1 | c |
| जग्मतुर्विष्णुपार्षदौ | 1 | 46 | d |
| जघन्यो नोत्तमां वृत्तिम् | 11 | 17 | a |
| जज्ञाते तौ दितेः पुत्रौ- | 1 | 39 | a |
| जज्वलुश्च दिशो दश | 3 | 5 | d |
| जटादण्डकमण्डलून् | 12 | 4 | b |
| जटादीधितिभी रेजे | 3 | 3 | a |
| जडवत्तन्मनस्तया | 4 | 38 | b |
| जनस्थोऽपि न मुह्यति | 15 | 56 | d |
| जनो याति न लोभस्य | 15 | 20 | c |
| जन्तोर्यथाऽऽत्मसुहृदो जगतस्तथाऽपि | 9 | 27 | b |
| जन्मकर्मा व दातानाम् | 11 | 13 | e |
| जन्मक्षश्रोणयोगयुक् | 14 | 24 | d |
| जन्माद्याः षडिमे भावाः | 7 | 18 | a |
| जपन् ब्रह्मसमाहितः | 12 | 2 | d |
| जयकाले तु सत्त्वस्य | 1 | 8 | a |
| जयेति कुसुमोत्करैः | 10 | 69 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| जरया ग्रस्तदेहस्य | 6 | 12 | c |
| जलं तदुद्भवैश्छन्नाम् | 13 | 28 | a |
| जहार लोकपालानाम् | 4 | 7 | c |
| जहा सर्बुद्धिर्बालानाम् | 5 | 6 | c |
| जहुस्ते ते तदात्मानः | 10 | 39 | c |
| जह्याद्यदर्थे स्वान्प्राणान् | 14 | 13 | a |
| जह्याऽऽसुरं भावमिमं त्वमात्मनः | 8 | 10 | a |
| जाग्रत्स्वप्नौ यथा स्वप्ने | 15 | 61 | c |
| जात स्सुरेतरकुले क्व तवाऽनुकम्पा | 9 | 26 | b |
| जातेऽङ्कुरे कथमु होपलभेत बीजम् | 9 | 34 | d |
| जातोऽयं कण्ट कद्रुमः | 5 | 17 | b |
| जिघांसुरकरोन्नाना- | 1 | 41 | c |
| जितं त्वयैकेन जगत्रयं भ्रुवोः | 5 | 49 | a |
| जितात्मनोज्ञस्य समस्य देहिनाम् | 8 | 11 | c |
| जितोऽहं दितिनन्दन | 3 | 20 | d |
| जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः | 15 | 20 | d |
| जिह्वार्कनेत्रभ्रुकुटी रभसोग्रदंष्ट्रात् | 9 | 15 | b |
| जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति मा वितृप्ता | 9 | 40 | a |
| जीवत्यनाथोऽपि तदीक्षितो वने | 2 | 40 | c |
| जीवराशीभिराकीर्ण- | 14 | 37 | a |
| जुहुयात्सत्यदृङ्मुनिः | 13 | 44 | b |
| जुह्वति ज्ञान दीपिते | 15 | 9 | d |
| ज्ञात ज्ञेय चतुष्टयम् | 5 | 19 | b |
| ज्ञातयस्तमुपासत | 2 | 28 | d |
| ज्ञातयः पितरौ पुत्राः | 14 | 7 | a |
| ज्ञातयोऽपि सुयज्ञस्य | 2 | 59 | c |
| ज्ञातयो मेनिरे सर्वम् | 2 | 58 | c |
| ज्ञातं मे तस्य दौरात्म्यम् | 4 | 27 | a |
| ज्ञातीनां नः कुटुम्बिनाम् | 6 | 14 | a |
| ज्ञात्वाऽद्वयोऽथ विरमेत् | 12 | 31 | c |
| ज्ञात्वा विश्वसृजस्तन्मे | 15 | 72 | c |
| ज्ञानञ्चैवाऽव कीर्यते | 15 | 19 | d |
| ज्ञानदीपप्रदे गुरौ | 15 | 26 | b |
| ज्ञानदीपेषु जुह्वति | 15 | 52 | d |
| ज्ञाननिष्ठाय देयानि | 15 | 2 | a |
| ज्ञानं ज्ञेयं वाचो वाच्यम् | 5 | 57 | c |
| ज्ञातं तदेतदखिलं दुरवापमाह | 6 | 33 | a |
| ज्ञानं दयाच्युतात्मत्वम् | 11 | 21 | c |
| ज्ञानं विज्ञान संयुतम् | 6 | 34 | b |
| ज्ञानासि मच्युत बलोऽथ निरस्तशत्रुः | 15 | 45 | c |
| ज्ञानिनो यज्ञवित्तमाः | 15 | 9 | b |
| ज्योतिरादिरिवाऽऽभाति | 1 | 9 | a |
| ज्योतिष्यभिनिवेशयेत् | 12 | 28 | b |
| **त** | | | |
| त इह दितिसुतेन प्राणिना वाहकत्वम् | 8 | 52 | b |
| त एते श्रेयसः कालाः | 14 | 25 | a |
| त एवामुं स्वसात्कृत्वा | 15 | 37 | c |
| तञ्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः | 9 | 11 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तज्ञाऽपि स्वेन तेजसा | 2 | 46 | d |
| तञ्चित्तौ जहतुर्देहम् | 10 | 37 | c |
| तच्छुश्रूषाऽनुकूलता | 11 | 25 | b |
| तत एनं गुरुर्ज्ञात्वा | 5 | 19 | a |
| तत्तश्चान्तर्दधे हरिः | 10 | 31 | b |
| ततस्त आशिषस्सर्वाः | 3 | 21 | a |
| ततस्तत उपाहृत्य | 15 | 33 | c |
| ततस्ते सेश्वरा लोकाः | 10 | 56 | a |
| तत स्तौ राक्षसौ जातौ | 1 | 43 | a |
| तत स्सभायामुपविष्ट मुत्तमे | 8 | 34 | a |
| तत स्सम्पूज्य शिरसा | 10 | 32 | a |
| ततः काव्यादि भिस्साधम् | 10 | 33 | a |
| ततोऽग्रिवर्णा इषवः | 10 | 58 | a |
| ततो जगाम भगवान् | 4 | 3 | a |
| ततो निरीहो विरमेत् | 13 | 44 | c |
| ततोऽन्यस्याऽप्रतिग्रहः | 11 | 14 | b |
| ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम् | 7 | 39 | d |
| ततोऽभिपत्याऽभ्यहनन्महासुरः | 8 | 25 | c |
| ततो मन्मातर मृषिः | 7 | 12 | a |
| ततो यतेन कुशलः | 6 | 10 | a |
| ततो विदूरत्परिहृत्य दैत्याः | 6 | 24 | a |
| ततो विपर्ययः क्लेशः | 2 | 47 | c |
| ततोऽर्चायां हरिं केचित् | 14 | 41 | a |
| ततो हरौ भगवति | 7 | 55 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ततो ह्यस्य विपर्ययः | 12 | 10 | d |
| तत्कालानुगुणोऽभजत् | 1 | 8 | d |
| तत्तत्कुलकृता भवेत् | 11 | 30 | b |
| तत्तु कालस्य दीर्घत्वात् | 7 | 16 | a |
| तत्तेजसा खं ककुभो न रेजिरे | 8 | 33 | d |
| तत्तेनैव विनिर्दिशेत् | 11 | 35 | d |
| तत्तेऽर्हत्तम नमः स्तुतिकर्मपूजः | 9 | 50 | a |
| तत्त्वे चित्त मधारयत् | 2 | 61 | d |
| तत्र तत्र प्रलोभनम् | 2 | 50 | d |
| तत्र ब्रह्मात्मजादिषु | 14 | 36 | b |
| तत्र ह प्रेतबन्धूनाम् | 2 | 36 | a |
| तत्राऽनुयानं तव वीर पादयोः | 2 | 34 | c |
| तत्राऽपि ब्रह्मवादिनम् | 15 | 73 | b |
| तत्पत्न्यश्चोहुरूर्मिभिः | 4 | 17 | b |
| तत्पादपद्मं हृदि निर्वृतो दधौ | 9 | 6 | c |
| तत्पादाम्बुरुहध्यानात् | 7 | 33 | c |
| तत्प्रत्यनीकानसुरान्सुरप्रियः | 1 | 11 | g |
| तत्प्रयासो न कर्तव्यः | 6 | 9 | a |
| तत्राऽपि राघवो भूत्वा | 1 | 44 | a |
| तत्राऽऽसीनं सुरऋषिम् | 1 | 14 | a |
| तत्रैवान्तरधीयत | 2 | 59 | b |
| तत्रोपव्रज्य विबुधाः | 8 | 37 | a |
| तत्रोपायमकल्पयत् | 10 | 61 | d |
| तत्रोपायसहस्राणाम् | 7 | 31 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तत्सङ्गभीतो निर्विण्णः | 10 | 2 | c |
| तत्सम्भवः कविरतो यदपश्यमानः | 9 | 34 | a |
| तत्सर्वमुपयुञ्जातः | 14 | 8 | c |
| तत्साधु मन्येऽसुरवर्यदेहिनाम् | 5 | 5 | a |
| तत्सुतं पाह्यपसृतम् | 8 | 41 | c |
| तथा कामदुघा द्यौश्च | 4 | 16 | c |
| तथा न यस्य कैवल्यात् | 1 | 24 | c |
| तथाऽन्यत्राऽर्थदृक् स्वतः | 13 | 28 | d |
| तथाऽपि मन्वन्तर मेत दत्र | 10 | 11 | c |
| तथाऽपि वितराम्यङ्ग ! | 4 | 2 | c |
| तथा पुमान्सर्वगुणाश्रयः परः | 2 | 43 | d |
| तथा मे भिद्यते चेतः | 5 | 14 | c |
| तथाविधिनिषेधता | 15 | 61 | d |
| तथेति गुरुपुत्रोक्तम् | 5 | 51 | a |
| तथेति शतकै राजन् ! | 9 | 4 | a |
| तथेत्यवात्सीद्देवर्षे ! | 7 | 13 | a |
| तथोदकैः पार्थिव तैजसैर्जनः | 2 | 42 | c |
| तदन्ता यदि नो योगान् | 15 | 28 | c |
| तदप्यध्रुवमर्थदम् | 6 | 6 | d |
| तदर्धमजितात्मनः | 6 | 11 | b |
| तदव्यक्तेऽक्षरे तु तत् | 12 | 30 | d |
| तदहं वर्धमानेन | 3 | 10 | a |
| तदा कृपणवत्सल ! | 10 | 17 | d |
| तदाऽयं भगवान्विष्णुः | 10 | 61 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तदा पुमान् मुक्तसमस्तबन्धनः | 7 | 38 | a |
| तदा प्रजानां कदनम् | 2 | 13 | a |
| तदा विमाना वलिभिर्नभःस्थलम् | 8 | 36 | a |
| तदैव तस्मिन्निनदोऽतिभीषणः | 8 | 16 | a |
| तद्दर्शन महोत्सवः | 3 | 24 | d |
| तद्धि ह्यनन्तस्य महत्समर्हणम् | 8 | 10 | d |
| तद्बन्धुष्वनुवृत्तिश्च | 11 | 25 | c |
| तद्बन्धूनाञ्च वित्तवान् | 14 | 20 | d |
| तद्ब्रह्म निर्वाणसुखं विदुर्बुधाः | 7 | 39 | c |
| तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः | 7 | 38 | b |
| तद्यच्छ मन्युमसुरश्च हतस्त्वयाऽद्य | 9 | 14 | a |
| तद्दक्षः पाटनेनाऽऽसाम् | 8 | 47 | c |
| तद्वदर्थ विकल्पितम् | 15 | 58 | d |
| तद्वधात्प्राणिनां वधः | 1 | 24 | b |
| तद्वागमृतयन्त्रितः | 13 | 19 | d |
| तद्विज्ञाय मयो योगी | 10 | 63 | c |
| तद्विप्रलुप्तममुनाऽद्य शरण्यपाल ! | 8 | 43 | c |
| तद्वै तदेव वसुकालदुष्टितर्वोः | 9 | 31 | d |
| तन्न्यस्त हृदयेक्षणः | 5 | 57 | b |
| तन्न्यस्त हृदयेक्षणः | 9 | 7 | d |
| तन्मनस्यर्थविभ्रमे | 13 | 43 | b |
| तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् | 5 | 24 | d |
| तन्मयोऽनु चकार ह | 4 | 41 | d |
| तन्मातरं रुषद्भानुम् | 2 | 19 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तन्मात्रा वयवैर्विना | 15 | 60 | b | तमङ्ग मत्तं मधुनोरुगन्धिना | 4 | 13 | a |
| तन्मायायां जुहोत्यनु | 13 | 43 | d. | तमपृच्छन्हि सामभिः | 5 | 8 | d |
| तन्मूलत्वादच्युतेज्या- | 14 | 37 | c | तमसो यक्षरक्षांसि | 1 | 8 | c |
| तन्वन्परां निर्वृतिमात्मनो मुहुः | 4 | 43 | c | तमः प्रमद्येत यथा विमूढः | 6 | 22 | d |
| तपन्तं तपसा लोकान् | 3 | 16 | a | तमादिदैत्यं हरिणा हतं मृधे | 8 | 35 | b |
| तपसा विद्यया तुष्ट्या | 14 | 42 | c | तमापुरनुचिन्तया | 1 | 28 | d |
| तपसे मन्दराचलम् | 7 | 2 | b | तमोङ्कारे स्वरे न्यसेत् | 15 | 53 | d |
| तपसो न न्यवर्तत | 7 | 13 | d | तमो ज्योतिश्च यत्स्वयम् | 5 | 57 | d |
| तपः परमदारुणम् | 3 | 2 | b | तयोः कुलिङ्गी सहसा | 2 | 51 | c |
| तपस्विनो ग्रामसेवा | 15 | 38 | c | तरवोऽपि चला यथा | 2 | 23 | b |
| तपस्सिद्धोऽ सि काश्यप! | 3 | 17 | b. | तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष! | 10 | 9 | c |
| तपः परममास्थितः | 3 | 12 | b | तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभिः | 7 | 33 | d |
| तपोज्ञान समाधिभिः | 11 | 3 | d | तव राजन्यथाश्रुतम् | 13 | 22 | b |
| तपो देवद्विजार्चनम् | 14 | 26 | b | तवाऽथाऽपि निवेद्यते | 3 | 8 | d |
| तपो निष्ठा नृपाऽपरे | 15 | 1 | b | तवासनं द्विजगवाम् | 3 | 13 | a |
| तपोनिष्ठेन भवता | 3 | 20 | c | तस्कारस्सेवको वणिक् | 6 | 16 | d |
| तपो बदरिकाश्रमे | 11 | 6 | d | तस्मात्केनाऽप्युपायेन | 1 | 31 | c |
| तपो योग प्रभावानाम् | 3 | 38 | c | तस्मात्पात्रं हि पुरुषः | 14 | 39 | c |
| तपो योग बलोन्नद्धः | 10 | 27 | c | तस्मात्पिता मे पूयेत | 10 | 17 | a |
| तपो योग समाधिना | 3 | 9 | b. | तस्मात्सर्वेषु भूतेषु | 6 | 30 | a |
| तपो योगसमाधिना | 3 | 10 | b | तस्माददृष्टश्रुतदूषणं परम् | 7 | 42 | c |
| तपो विद्या क्रियादिभिः | 10 | 66 | b | तस्मादर्थाश्च कामाश्च | 7 | 50 | a |
| तपो विद्या दयान्वितम् | 14 | 29 | d | तस्मादमूस्तनुभृता महमाशिषोज्ञः | 9 | 24 | a |
| तप्तस्य तत्प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्टः | 9 | 19 | c | तस्मादहं विगतविक्लब ईश्वरस्य | 9 | 12 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तस्माद्देवोपपन्नेन | 15 | 11 | a | तस्येदं निधनमनुग्रहाय विद्वः | 8 | 56 | d |
| तस्मा द्ब्राह्मणदेवेषु | 14 | 19 | a | तस्यै नमोऽस्तु काष्ठायै | 4 | 22 | a |
| तस्माद्भवद्भिः कर्तव्यः | 7 | 30 | a | तस्यैव ते वपुरिदं निजकालशक्त्या | 9 | 33 | a |
| तस्माद्वैरानुबन्धेन | 1 | 25 | a | तस्योग्रदण्डसंविग्नाः | 4 | 21 | a |
| तस्मिन्कथं तव गतिं विमृशामि दीनः | 9 | 39 | d | तस्योदरान्नखविदीर्ण वपाद्य आर्च्छत् | 8 | 44 | c |
| तस्मिन्कूटेऽहिते नष्टे | 2 | 9 | a | तंतं जनपदं यात | 2 | 12 | c |
| तस्मिन्महाभागवते | 4 | 44 | a | तं तु प्राणे महत्यमुम् | 15 | 53 | f |
| तस्मिन्महेन्द्रभवने महा बलः | 4 | 12 | a | तं नत्वाऽभ्यर्च्य विधिवत् | 13 | 15 | a |
| तस्मिंस्तपः तप्यमाने | 3 | 3 | c | तं प्रणम्य दिवौकसः | 4 | 30 | b |
| तस्मै तुभ्यं प्रणमामो नृसिंह | 8 | 45 | d | तं भवांश्छेत्तुमर्हति | 1 | 3 | d |
| तस्मै नमो नृहरयेऽखिलधर्मगोप्त्रे | 8 | 44 | d | तं मन्यमानो निजवीर्यशङ्कितम् | 8 | 27 | c |
| तस्मै भगवते नमः | 3 | 34 | d | तं विक्रमन्तं सगदं गदाधरः | 8 | 26 | a |
| तस्मै भगवते नमः | 5 | 11 | d | तं शयानं धरोपस्थे | 13 | 12 | a |
| तस्मै भवान्हयशिरस्तनुवञ्च बिभ्रत् | 9 | 37 | a | तं श्येनवेगं शत चन्द्रवर्त्मभिः | 8 | 28 | a |
| तस्य चोपशमं भूमन् | 3 | 7 | c | तं सुनिर्भर्त्स्य कुपितः | 5 | 15 | c |
| तस्य व्यक्तस्वभावस्य | 2 | 7 | a | तात प्रशमयोपेहि | 9 | 3 | c |
| तस्यदैत्यपतेः पुत्राः | 4 | 31 | a | तातेमे दुर्लभाः पुंसाम् | 4 | 2 | a |
| तस्य मूर्ध्न स्समुद्भूतः | 3 | 4 | a | तादृशान् गुरुदेवतान् | 4 | 47 | b |
| तस्य मे भीतवन्मूढ | 8 | 7 | c | तानानीय महायोगी | 10 | 59 | c |
| तस्य शान्तिं करिष्यामि | 4 | 27 | c | तानाह करुणो मैत्रः | 5 | 57 | c |
| तस्यागुणैरन्यतमो निबध्यते | 2 | 41 | d | ताभिस्तेऽसुरसेनान्यः | 10 | 55 | a |
| तस्याऽबलाऽक्रीडनमाहु रीशितुः | 2 | 39 | c | ताम्रश्मश्रुशिरोरुहाः | 5 | 39 | d |
| तस्याऽयं किल सङ्कल्पः | 3 | 8 | a | ता ये नैवाऽनुभूयन्ते | 7 | 25 | c |
| तस्यां स्वत्वं स्त्रियां जह्यात् | 14 | 13 | c | तारतम्येन वर्तते | 14 | 39 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तावत्कर्म निबन्धनम् | 2 | 47 | b |
| तावत्स्वत्वं हि देहिनाम् | 14 | 9 | b |
| तावद्दास्यामहं जज्ञे | 15 | 73 | a |
| तावद्यात भुवं यूयम् | 2 | 10 | a |
| तावद्विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम् | 9 | 19 | d |
| ताविहाऽथ पुनर्जातौ | 10 | 38 | a |
| तावेव क्षत्रियौ जातौ | 1 | 45 | a |
| तिग्मदंष्ट्रा करालास्या | 5 | 39 | c |
| तितिक्षेक्षा शमो दमः | 11 | 8 | b |
| तिरश्चां पुनरस्य च | 13 | 24 | d |
| तिरश्चीनेन चक्षुषा | 8 | 4 | d |
| तिर्यगूर्ध्वमधो लोकाः | 3 | 4 | c |
| तिसृष्वेकादशी वाऽस्तु | 14 | 24 | c |
| तुर्य आत्मा समन्वयात् | 15 | 54 | d |
| तुर्ये स्थितो न तु तमो न गुणांश्च युङ्क्षे | 9 | 32 | d |
| तुष्टः प्राह तमाभाष्य | 1 | 21 | c |
| तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्य | 6 | 31 | a |
| तृणपर्णाश्मभस्मसु | 13 | 40 | b |
| तृतीयायां शुक्लपक्षे | 14 | 22 | a |
| तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःख भाजः | 9 | 45 | c |
| तृष्णया भाव वाहिन्या | 13 | 23 | a |
| तेजः प्रभावबलपौरुष बुद्धियोगाः | 9 | 9 | b |
| तेजस्यूष्माण मात्मवान् | 12 | 25 | b |
| तेजो विद्या तपो यशः | 15 | 19 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ते तु तद्गौरवात्सर्वे | 5 | 56 | a |
| ते दस्यवः सहयसूतममुं तमोऽन्धे | 15 | 46 | c |
| तेन तप्ता दिवं त्यक्त्वा | 3 | 6 | a |
| ते पूयन्तोऽपि कीटकान् | 10 | 19 | d |
| तेषामपि बलोद्योगम् | 7 | 4 | a |
| तेषामाविरभूद्वाणी हि | 4 | 25 | a |
| तेषामुदेत्यघं काले | 5 | 27 | c |
| तेष्वात्मदेवताबुद्धिः | 11 | 10 | c |
| तेष्वीशो भगवान्राजन् | 14 | 39 | a |
| तेऽसुरा ह्यपि पश्यन्तः | 10 | 63 | a |
| तैरेषा मन्तरं कियत् | 14 | 10 | d |
| तैस्तैर्द्रोहैरसद्धर्मैः | 5 | 45 | c |
| तैस्तैः कामै र्यजस्वैनम् | 14 | 19 | c |
| तैः स्पृष्टा व्यसवस्सर्वे | 10 | 59 | a |
| तौ राज्ञा प्रापितं बालम् | 5 | 2 | a |
| त्यक्तक्रीडापरिच्छदाः | 5 | 56 | b |
| त्यक्तं न लिङ्गदण्डादेः | 13 | 2 | c |
| त्यक्ताः पितृभ्यां न विचिन्तयामः | 2 | 38 | b |
| त्यजेत कोशस्कृदेवेहमानः | 6 | 19 | a |
| त्यजेयुर्ये धृतव्रताः | 12 | 12 | d |
| त्याग आत्मजयः क्षमा | 11 | 22 | b |
| त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् | 11 | 8 | d |
| त्रय एव हि तद्गुणाः | 7 | 22 | b |
| त्रयीं साङ्गोपनिषदम् | 12 | 13 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| त्रयो लोकास्सहेश्वराः | 8 | 7 | b |
| त्रय्या चतुर्होत्रक विद्यया च | 3 | 30 | b |
| त्रस्तोऽस्म्यहं कृपण वत्सलदुस्सहोग्र- | 9 | 16 | a |
| त्राहि नस्तावकान्देव ! | 10 | 56 | c |
| त्रिभिर्लोकाय कल्पताम् | 1 | 38 | d |
| त्रिभिस्तपो योग बलौजसां पदम् | 4 | 13 | d |
| त्रिलोकीं दैवतं महत् | 14 | 43 | d |
| त्रिवर्ग परितोषणम् | 11 | 23 | b |
| त्रिवर्गस्योपपाद- | 5 | 18 | d |
| त्रिवर्गं नाऽतिकृच्छ्रेण | 14 | 11 | a |
| त्रिवर्गा वमनात्पुनः | 15 | 36 | b |
| त्रिस्सप्तभिः पिता पूतः | 10 | 18 | a |
| त्रिंशल्लक्षण वान्राजन् | 11 | 12 | c |
| त्रीन्स्वप्रान्धुनुते मुनिः | 15 | 62 | d |
| त्रेतादिषु हरेरर्चा | 14 | 40 | c |
| त्रैलोक्य लक्ष्म्यायतनम् | 4 | 8 | e |
| त्वञ्च स्वाम्यनपाश्रयः | 10 | 6 | b |
| त्वत्तः परं नाऽपरमप्यनेजत् | 3 | 32 | a |
| त्वद्भक्ते मयि चाऽघवान् | 10 | 16 | d |
| त्वद्विधा न तथाऽपरे | 11 | 4 | d |
| त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः | 9 | 43 | b |
| त्वमीशिषे जगतस्तस्थुषश्च | 3 | 29 | a |
| त्वमेक आत्माऽऽत्मवता मनादिः | 3 | 30 | c |
| त्व मेकः पारदर्शनः | 10 | 4 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| त्वमेव कालोऽनिमिषो जनानाम् | 3 | 31 | a |
| त्वया कृतज्ञेन वयं महीपते | 2 | 34 | a |
| त्वया गीतमिदं नरः | 10 | 14 | b |
| त्वया न प्राप्स्यते संस्थाम् | 7 | 10 | c |
| त्वया विमोचितो मृत्योः | 10 | 28 | c |
| त्वयाऽसुरः समापितः | 8 | 51 | d |
| त्वं जीवलोकस्य च जीव आत्मा | 3 | 31 | d |
| त्वं न स्तपः परममात्थ यदात्मतेजः | 8 | 43 | a |
| त्वं वायुरग्नि र्खनिर्वियदम्बुमात्राः | 9 | 48 | a |
| त्वं सप्ततन्तून् वितनोषि तन्वा | 3 | 30 | a |
| त्वाञ्च माञ्च स्मरन् काले | 10 | 14 | c |
| त्वामात्मनीश भुवि गन्धमिवातिसूक्ष्मम् | 9 | 35 | c |
| त्वामीश्वरो मदपरोऽवतु कं हरामि | 9 | 29 | d |
| त्वांबीजमात्मनि ततं स बर्हिर्विचिन्वन् | 9 | 34 | b |
| त्वां वा इदं सदसदीशभवांस्ततोऽन्यः | 9 | 31 | a |
| **द** | | | |
| दग्धयोनिर्यथाऽनलः | 12 | 31 | d |
| दण्डपारुष्ययोर्यथा | 1 | 23 | b |
| दत्तानन्द नमोऽस्तु ते | 8 | 47 | d |
| दत्तानि तीर्थसमयेऽप्यपिबत्तिलाम्बु | 8 | 44 | b |
| दत्त्वा वरमनुज्ञातः | 12 | 14 | a |
| ददर्श लोकान्विचरन् | 13 | 13 | a |
| ददहुः पत्तनानि च | 2 | 14 | d |
| ददाम्यसुरपुङ्गव ! | 3 | 21 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ददाह तेन दुर्भेद्या | 10 | 68 | a |
| दधार लोकपालानाम् | 4 | 18 | c |
| दधिक्षीरामृतोदकाः | 4 | 17 | d |
| दन्तवक्त्रश्च दुर्मतिः | 1 | 17 | d |
| दन्तवक्त्रश्च पाण्डव ! | 1 | 32 | b |
| दमघोष सुतः पापः | 1 | 17 | a |
| दमघोषसुतादीनाम् | 10 | 41 | c |
| दम्भं महदुपाश्रयात् | 15 | 23 | b |
| दम्भो वा शब्दभिच्छलः | 15 | 13 | d |
| दयां कुरुत सौहृदम् | 6 | 30 | b |
| दर्भपाणि र्यथोदितम् | 12 | 4 | d |
| दर्श ओषधि वीरुधः | 15 | 50 | d |
| दर्शनं दुर्लभं हि मे | 9 | 53 | b |
| दर्शनं नाऽफलं मम | 3 | 21 | d |
| दर्शनं पटतन्तुवत् | 15 | 63 | b |
| दर्शश्च पूर्णमासश्च | 15 | 48 | c |
| दष्टो लोकोपतापनः | 7 | 3 | b |
| दस्यून्पुराषण्णविजित्य लुम्पतः | 8 | 11 | a |
| दंशभक्षितदेहस्य | 3 | 18 | c |
| दाक्षायण्यान्तु धर्मतः | 11 | 6 | b |
| दानवानिदमब्रवीत् | 2 | 3 | d |
| दान्तेन्द्रियप्राण शरीरधी स्सदा | 4 | 34 | c |
| दारागारधनादयः | 7 | 46 | b |
| ासवत्सन्नतार्याङ्घ्रिः | 4 | 33 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| दिक्षु श्रोत्रं सनादेन | 12 | 27 | c |
| दिग्गजैर्दन्दशूकेन्द्रैः | 5 | 43 | a |
| दिग्वाससः शिशून्मत्वा | 1 | 36 | c |
| दिग्वासा ग्रहवद्विभो ! | 13 | 41 | d |
| दितिजेन देव परिभूतसेतवः | 8 | 48 | b |
| दितिजेन विष्टिममुनाऽनुकारिताः | 8 | 55 | b |
| दितिञ्च जननीं गिरा | 2 | 19 | b |
| दितिराकर्ण्य सा स्नुषा | 2 | 61 | b |
| दिदृक्षतां सङ्कुलमास नाकिनाम् | 8 | 36 | b |
| दिवं देवाः परित्यज्य | 2 | 16 | c |
| दिवं स्पृशत्कायमदीर्घपीवर- | 8 | 22 | a |
| दिवानक्तं यदृच्छया | 13 | 38 | d |
| दिवि दुन्दुभयो नेदुः | 10 | 68 | c |
| दिवि स्थातुं न शक्नुमः | 3 | 7 | b |
| दिव्यं भौम ञ्चान्तरिक्षम् | 14 | 8 | a |
| दिव्येनामोघराधसा | 3 | 22 | d |
| दिष्टभुक् तुष्टधीरहम् | 13 | 39 | d |
| दिष्ट्या ते निहतः पापः | 10 | 26 | c |
| दिष्ट्या त्वां समितोऽधुना | 10 | 28 | d |
| दिष्ट्याऽस्य तनयस्साधुः | 10 | 28 | a |
| दिष्ट्या हतस्ते भगवत्यथाऽऽमयः | 8 | 54 | d |
| दीनया किं करिष्यति | 2 | 53 | d |
| दीनः स्वमात्मानमलं समर्थः | 6 | 23 | b |
| दीनेन जीवता दुःखम् | 2 | 54 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| दीप्तार्चिरिव वायुना | 1 | 20 | b |
| दुद्रुवुस्सर्वतो दिशम् | 7 | 4 | d |
| दुरन्ता दुस्तरादधात् | 10 | 17 | b |
| दुरन्वयानुक्रमणो निरूप्यते | 5 | 13 | b |
| दुरवग्राह्य धामनि | 1 | 19 | b |
| दुरापूरेण कामेन | 6 | 13 | a |
| दुराशया ये बहिरर्थमानिनः | 5 | 31 | b |
| दुरासदं सर्वनिजेतरायुध- | 8 | 23 | a |
| दुर्गाणि ते पदयुगालय हंससङ्गाः | 9 | 18 | d |
| दुर्घटत्वादैन्द्रियकम् | 15 | 58 | c |
| दुर्मित्रारछद्मवेषिणः | 5 | 27 | b |
| दुर्लक्ष्यापायसंयोगा | 10 | 54 | c |
| दुर्लभं मानुषं जन्म | 6 | 6 | c |
| दुर्लभैर्कान्तिनामपि | 1 | 15 | b |
| दुर्वितर्क्य परिच्छदाः | 10 | 54 | d |
| दुष्करेण मनस्विभिः | 3 | 20 | b |
| दुष्प्रेक्ष्य भ्रुकुटीमुखः | 2 | 3 | b |
| दुस्सङ्ग दीनस्य मनः शमं व्यधात् | 4 | 43 | d |
| दुःखात्ययञ्चानीशस्य | 13 | 29 | c |
| दुःखौषधं तदपि दुःखमतद्धियाऽहम् | 9 | 17 | c |
| दृप्तस्योच्छास्त्रवर्तिनः | 4 | 20 | b |
| दृश्यते चलतीव भूः | 2 | 23 | d |
| दृश्यरूपेण च स्वयम् | 6 | 28 | b |
| दृष्टं नश्शरणद सर्वलोकशर्म | 8 | 56 | b |
| दृष्टा देहस्य नाऽऽत्मनः | 7 | 18 | b |
| दृष्टानर्थानपि ध्यातुः | 7 | 28 | c |
| दृष्टा मया दिवि विभोऽखिलधिष्ण्यपानाम् | 9 | 23 | a |
| दृष्ट्वा तन्महदद्भुतम् | 9 | 2 | b |
| दृष्ट्वा तेषां मिथो नृणाम् | 14 | 40 | a |
| दृष्ट्वा भूतानि बिभ्यति | 15 | 10 | b |
| दृष्ट्वा महाद्भुतं राजा | 1 | 13 | a |
| दृष्ट्वा महापुरुषमाप मुदं विरिञ्चः | 9 | 36 | d |
| दृष्ट्वा मां न पुनर्जन्तुः | 9 | 53 | c |
| देवगुर्वार्थगो भक्तिः | 11 | 23 | a |
| देवदेव जगत्पते | 3 | 6 | d |
| देवदेवाऽखिलाध्यक्ष ! | 10 | 26 | a |
| देवमायाविमूढांस्तान् | 15 | 39 | c |
| देवयानमिदं प्राहुः | 15 | 55 | a |
| देवर्ष एतदिच्छामः | 4 | 45 | a |
| देवर्षिपितृभूतानाम् | 2 | 11 | c |
| देवर्षिपितृभूतेभ्यः | 15 | 6 | a |
| देवर्षिपितृसिद्धेशाः | 10 | 69 | a |
| देवर्षिर्दृष्टवान्पथि | 7 | 7 | d |
| देवर्षीन् रजसोऽसुरान् | 1 | 8 | b |
| देवर्षे मानयन्वचः | 7 | 11 | b |
| देवर्ष्यर्हत्सुवै सत्सु | 14 | 36 | a |
| देवानृषीन् नृभूतानि | 14 | 16 | a |
| देवासुरमनुष्याद्याः | 15 | 80 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| देवासुरमनुष्येन्द्रान् | 4 | 5 | c |
| देवाः स्थानानि भेजिरे | 3 | 3 | d |
| देवोद्यानश्रिया जुष्टम् | 4 | 8 | a |
| देवोऽसुरो नरोऽन्यो वा | 10 | 64 | c |
| देवोऽसुरो मनुष्यो वा | 7 | 52 | a |
| देशकालोचितश्रद्धा | 15 | 4 | a |
| देशेकाले च सम्प्राप्ते | 15 | 5 | a |
| देशे शुचौ समे राजन् | 15 | 31 | a |
| देहमात्रावशेषितः | 13 | 1 | b |
| देहयोगेन देहिनाम् | 6 | 8 | b |
| देहसम्बन्धसम्बन्धम् | 1 | 34 | c |
| देहस्तु सर्वसङ्घातः | 7 | 23 | a |
| देहं पुष्णाति लम्पटः | 15 | 40 | d |
| देहादिभिर्देवतन्त्रैः | 13 | 29 | a |
| देहादौ मोहजं त्यजेत् | 7 | 20 | d |
| देहानुच्चावचान्विभुः | 2 | 46 | b |
| देहे गेहे च पण्डितः | 14 | 6 | b |
| देहेनात्मानुवर्तिना | 7 | 49 | b |
| देहेन्द्रियासु हीनानाम् | 1 | 34 | a |
| दैतेय चन्दनवने | 5 | 17 | a |
| दैतेयापशब्दस्य यत् | 4 | 27 | b |
| दैतेया यक्षरक्षांसि | 7 | 56 | a |
| दैत्यदानववन्दितौ | 1 | 39 | b |
| दैत्यराजगृहान्तिके | 5 | 1 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| दैत्याक्रान्तं हृदयकमलं त्वद्बृहं प्रत्यबोधि | 8 | 42 | b |
| दैत्यात्मजस्य च सतां प्रवरस्य पुण्यम् | 10 | 47 | c |
| दैत्यानां दानवानाञ्च | 10 | 33 | c |
| दैत्येन्द्र तपसा तप्ते | 3 | 7 | a |
| दैत्येन्द्रयूथपवधं प्रयतः पठेत | 10 | 47 | b |
| दैत्येन्द्रं दर्शयामास | 5 | 19 | c |
| दैत्येन्द्रः परिशङ्कितः | 5 | 42 | b |
| दैत्येन्द्रानुचरैर्मुहुः | 2 | 16 | b |
| दैत्येश्वराणामनुभुङ्क्ष्व भोगान् | 10 | 11 | d |
| दैत्येषु सङ्गं विषयात्मकेषु | 6 | 24 | b |
| दैवं जह्यात्समाधिना | 15 | 24 | b |
| दैवं सम्पद्विपत्पदम् | 6 | 4 | d |
| दैवे च तदभावे स्यात् | 15 | 2 | c |
| दैवेनापोहितुं द्वयोः | 10 | 65 | b |
| दैवेनैकत्र नीतानाम् | 2 | 21 | c |
| दोर्दण्डयूथोऽनुपथान् सहस्रशः | 8 | 31 | d |
| द्यौस्तत्सटोक्षिप्तविमानसुङ्कुला | 8 | 33 | a |
| द्रव्यपात्रार्हणानि च | 15 | 4 | b |
| द्रव्ययज्ञैर्यक्ष्यमाणान् | 15 | 10 | a |
| द्रव्यसूक्ष्मविपाकश्च | 15 | 50 | a |
| द्रव्याद्वैतं तदात्मनः | 15 | 62 | b |
| द्रव्याद्वैतं तदुच्यते | 15 | 65 | d |
| द्वन्द्वारामेरिते हितैः | 5 | 56 | d |
| द्वन्द्वारामोपवर्णिताम् | 5 | 53 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| द्वादश्यामनुराधा स्यात् | 14 | 24 | a |
| द्वादश्यां श्रवणेऽपि च | 14 | 21 | d |
| द्वार्यूर आपत्य ददार लीलया | 8 | 29 | c |
| द्वावेकं वा यथा बुद्धिः | 12 | 22 | c |
| द्वास्थौ तान् प्रत्यषेधताम् | 1 | 36 | d |
| द्विजैस्तमसि पातितः | 1 | 16 | d |
| द्विजोऽधीत्याऽवबुध्य च | 12 | 13 | b |
| द्विमूर्धं स्त्र्यक्षशम्बर | 2 | 4 | b |
| द्विविधं कर्म वैदिकम् | 15 | 47 | b |
| द्वेषा श्चैद्यादयो नृपाः | 1 | 30 | b |
| द्वैतं तावन्न विरमेत् | 12 | 10 | c |
| द्वौ दैवे पितृ कार्ये त्रीन् | 15 | 3 | a |
| **ध** | | | |
| धत्ते गरिष्ठ चरणार्चनया निशातम् | 15 | 45 | b |
| धत्ते वेदं हरे स्तनुम् | 14 | 42 | d |
| धत्तेऽसावात्मनो लिङ्गम् | 2 | 22 | c |
| धनुर्वर्म शरादि यत् | 10 | 66 | d |
| धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति | 15 | 42 | c |
| धर्म ज्ञान विरक्त्यृद्धि- | 10 | 66 | a |
| धर्मज्ञा प्रियसत्यवाक् | 11 | 28 | b |
| धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत् | 15 | 12 | d |
| धर्मबाधो विधर्मः स्यात् | 15 | 13 | a |
| धर्म मर्थञ्च कामञ्च | 5 | 52 | a |
| धर्ममूलं हि भगवान् | 11 | 7 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| धर्मस्ते गृहमेधीयः | 15 | 74 | a |
| धर्मस्य च परायणम् | 2 | 11 | d |
| धर्मस्य तत्त्वं ज्ञानञ्च | 7 | 15 | c |
| धर्महेतुर्महात्मनः | 13 | 9 | b |
| धर्मं पारमहंस्यं वै | 13 | 46 | a |
| धर्मं भागवतं शुद्धम् | 6 | 34 | c |
| धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत्तम् | 9 | 38 | c |
| धर्मादयः किमगुणेन च काङ्क्षितेन | 6 | 31 | c |
| धर्मादिश्रेय आवहान् | 14 | 28 | b |
| धर्मान्भागवतानिह | 6 | 6 | b |
| धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्गः | 6 | 32 | a |
| धर्मार्थमपि नेहेत | 15 | 15 | a |
| धर्माश्च यदपाश्रयाः | 7 | 50 | b |
| धर्मा ह्यस्योपदेष्टव्याः | 5 | 51 | c |
| धर्मे मयि च विद्वेषः | 4 | 28 | c |
| धर्मो भागवतानाञ्च | 10 | 45 | a |
| धर्मो ह्यत्रेहितः पुंसाम् | 14 | 34 | c |
| धातवोऽवयवित्वाञ्च | 15 | 60 | a |
| धात्रे विज्ञापयामासुः | 3 | 6 | c |
| धातवोऽर्थेहयां दिशः | 15 | 16 | d |
| धिक्कृतस्साधुभिर्यदा | 8 | 53 | d |
| धुनोति ध्वान्तमर्कवत् | 13 | 21 | d |
| धूमो रात्रि रपक्षयः | 15 | 50 | b |
| ध्यानेनाऽच्युतसात्मताम् | 1 | 46 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ध्यायतः प्रयतात्मनः | 10 | 29 | b |
| **न** | | | |
| न करिष्यति चाऽपरे | 3 | 19 | b |
| न कल्पते पुनस्सूत्यै | 11 | 33 | c |
| न कृष्टपच्य मश्नीयात् | 12 | 18 | a |
| न केवलं मे भवतश्च राजन् | 8 | 8 | a |
| नखाङ्कुरोत्पाटितहृत्सरोरुहम् | 8 | 31 | a |
| नखैर्यथाऽहिं गरुडो महाविषम् | 8 | 29 | d |
| न चाऽद्याद्धर्मतत्त्ववित् | 15 | 7 | b |
| न चेद्गुरुमुखीयन्ते | 5 | 29 | c |
| न तत्र हाऽत्मा प्रकृतावपि स्थितः | 2 | 41 | c |
| न तथा भक्तियोगेन | 1 | 26 | c |
| न तथा विन्दते क्षेमम् | 6 | 9 | c |
| न तद्विचित्रं खलु सत्त्वधामनि | 8 | 25 | a |
| न तस्य चिन्त्यं तव नाथ चक्ष्महे | 5 | 49 | c |
| न तेऽधुना पिधीयन्ते | 4 | 35 | c |
| न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम् | 5 | 31 | a |
| न ते शयानस्य निरुद्यमस्य | 13 | 17 | a |
| न तेषां युगप द्राजन् | 1 | 7 | c |
| नतोऽस्म्यनन्ताय दुरन्तशक्तये | 8 | 40 | a |
| नत्वा कृष्णाय मुनये | 1 | 5 | c |
| नत्वा भगवतेऽजाय | 11 | 5 | a |
| नदति क्वचिदुत्कण्ठः | 4 | 41 | a |
| न ददर्श प्रतिच्छन्नम् | 3 | 15 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| न दद्यादामिषं श्राद्धे | 15 | 7 | a |
| नदन्तो भैरवान्नादान् | 5 | 40 | a |
| नदनृसिंहं प्रति दैत्यकुञ्जरः8 | 8 | 24 | b |
| न दानं न तपो नेज्या | 7 | 54 | a |
| न नरैर्न नृपैरपि | 3 | 36 | d |
| ननाम विधृताञ्जलिः | 9 | 4 | d |
| ननाम शिरसा भूमौ | 3 | 24 | c |
| ननु स्युर्विप्लवा गिर : | 8 | 12 | d |
| ननृतुश्चाप्सरो गणाः | 10 | 69 | d |
| न न्यषेधन्विमोहिताः | 10 | 63 | b |
| नन्वग्निः प्रमदा नाम | 12 | 9 | a |
| नन्वस्य ब्राह्मणा राजन् | 14 | 43 | a |
| न पुरा विवशं बाला | 6 | 2 | a |
| न पृथक्काऽन्वितो मृषा | 15 | 59 | d |
| न बुध्यतेऽर्थं विहितं प्रमत्तः | 6 | 20 | b |
| न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमायाः | 9 | 26 | c |
| न भिद्येताऽस्य धीर्यथा | 5 | 7 | d |
| न भूमौ नाऽम्बेर मृत्युः | 3 | 36 | c |
| न मत्प्रणीतं न परप्रणीतम्5 | 5 | 28 | a |
| नमुचे पाक इल्वल ! | 2 | 4 | d |
| नमो भगवते तुभ्यम् | 10 | 10 | a |
| नमो विज्ञानमूर्तये | 3 | 28 | b |
| न यतेराश्रमः प्रायः | 13 | 9 | a |
| न यस्य साक्षात् भवपद्मजादिभिः | 10 | 50 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| न यस्य साक्षात् भवपद्मजादिभिः | 15 | 77 | a |
| नयेन प्रजा वै सृजामो निषिद्धाः | 8 | 49 | b |
| नरसिंह ! नाथ ! विभवाय नो भव | 8 | 55 | d |
| नरहर उपनीतः पञ्चतां पञ्चविंशः | 8 | 52 | d |
| नरो नाऽन्यैरनार्पाद | 15 | 66 | d |
| नर्तेऽन्यं विद्महे गुरुम् | 6 | 35 | b |
| न वध्यो मम सृष्टिभिः | 10 | 27 | b |
| नवम्यामथ कार्तिके | 14 | 22 | b |
| न वर्तेताऽपि वारिणा | 15 | 18 | b |
| न विदन्ति जना यं वै | 13 | 14 | c |
| न विपद्येत कृच्छ्रतः | 12 | 22 | d |
| न विपद्येत पुष्कलम् | 6 | 10 | d |
| न विस्मरति मेऽनार्यम् | 5 | 46 | c |
| न वृत्तं न बहुज्ञता | 7 | 53 | d |
| न वेद जगदीदृशम् | 4 | 38 | d |
| न वैशिशूनां गुणदोषयोः पदम् | 5 | 49 | d |
| न व्याख्या मुपयुञ्जीत | 13 | 8 | c |
| न शशाक यदा हन्तुम् | 5 | 44 | c |
| न शिष्या ननुबध्नीत | 13 | 8 | a |
| न शौचं न व्रतानि च | 7 | 54 | b |
| न श्रद्दध्यान्मतं तस्य | 6 | 3 | c |
| न श्रोता नानु वक्ता वा | 2 | 45 | a |
| नश्वरवृत्त्या कथञ्चन | 11 | 18 | d |
| नष्टश्रीः कृतहेलनः | 15 | 72 | f |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| नष्टदृष्टेस्तमस्यन्धे | 10 | 4 | c |
| नष्टौ वा चतुरो मुनिः | 12 | 22 | b |
| न सङ्घातो विकारोऽपि | 15 | 59 | c |
| न स भृत्यस्स वै वणिक् | 10 | 4 | f |
| न साधु मनसा मेने | 5 | 3 | c |
| न साधु मेने तच्छिक्षाम् | 5 | 53 | c |
| न स्युर्ह्यसत्यवर्यविनि | 15 | 60 | c |
| न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यम् | 10 | 5 | e |
| न ह्यग्रिमुखतोऽयं वै | 14 | 18 | a |
| न ह्यच्युतं प्रीणयतः | 6 | 25 | a |
| न ह्यस्यार्थः सुरगणैः | 1 | 2 | a |
| नातिदूरचराः पृथक् | 8 | 39 | f |
| नाऽतृप्यदजितेन्द्रियः | 4 | 19 | d |
| नाऽदृश्यन्त पुरो यतः | 10 | 58 | d |
| नाऽधुनाऽप्यजहात्स्मृतिः | 7 | 16 | d |
| नानादर्पं तं नखैर्निर्ददार | 8 | 45 | c |
| नानायोनिषु योजितः | 13 | 23 | d |
| नानाश्चर्यप्रदं नभः | 4 | 16 | d |
| नाऽनुशोचन्ति तद्विदः | 2 | 49 | b |
| नाऽनुसन्दध एतानि | 4 | 39 | c |
| नानेव तैरवसितस्तदनुप्रविष्टः | 9 | 30 | d |
| नाऽन्तर्बहिर्दिवा नक्तम् | 3 | 36 | a |
| नाऽन्धं विविशतुस्तमः | 1 | 18 | d |
| नाऽन्यत् त्वदस्त्यपि मनो वचसा निरुक्तम् | 9 | 48 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नाऽन्यथा तेऽखिलगुरो | 10 | 4 | a. | नाऽवेक्षमाणा स्त्वरिताः | 7 | 5 | c |
| नाऽन्यथा शक्यते कर्तुम् | 2 | 49 | c | नाऽशक्नोद्धन्तु मुद्यमैः | 1 | 42 | d |
| नाऽन्यथेहाऽऽवयोरर्थः | 10 | 6 | c | नाऽसच्छास्त्रेषु सज्जेत | 13 | 7 | a |
| नाऽन्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये | 9 | 44 | d | नासाऽस्य कर्मनयनाभरणायुधाढ्यम् | 9 | 36 | b |
| नाऽभिनन्देद्ध्रुवं मृत्युम् | 13 | 6 | a | नाऽऽस्थाप्यासनमात्मनः | 15 | 31 | b |
| नाभेरभूत्स्वकणिकावटवन्महाब्जम् | 9 | 33 | d | नाऽहं निन्दे न च स्तौमि | 13 | 42 | a |
| नाम्नाऽतीते महाकल्पे | 15 | 69 | c | नाहं बिभेम्यजित तेऽतिभयानकाऽऽस्य | 9 | 15 | a |
| नाऽयं मृगो नाऽपि नरो विचित्रम् | 8 | 19 | c | निगूढामलतेजसाम् | 13 | 12 | d |
| नारदादेव दर्शनात् | 6 | 34 | d | नितरा मनुपूर्वशः | 5 | 52 | b |
| नारदो भगवानृषिः | 1 | 21 | b. | नित्यआत्माऽव्ययश्शुद्धः | 2 | 22 | a |
| नाऽऽरम्भानारभेत्क्वचित् | 13 | 8 | d | नित्यनैमित्तकाः क्रियाः | 15 | 11 | d |
| नाऽऽराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसः | 9 | 9 | c | नित्यं तद्व्रतधारणम् | 11 | 25 | d |
| नाऽऽराधितुं पुरुगुणै रधुनाऽपि पिप्रुः | 9 | 7 | c | नित्यं प्राणार्थवद्धयम् | 13 | 32 | d |
| नारायण गुणान्प्रति | 1 | 3 | b | नित्यं ब्रह्मकुलानुगः | 11 | 15 | b |
| नारायणपरायणः | 13 | 3 | d | नित्यानन्दरसोदधेः | 7 | 47 | d |
| नारायणपरा विप्राः | 11 | 4 | a | निद्रां सत्त्वनिषेवया | 15 | 24 | d |
| नारायणमुखाच्छ्रुतम् | 11 | 5 | d | निधेहि भीतो नपलायते यथा | 5 | 50 | b |
| नारायणाश्रमो नन्दाः | 14 | 33 | a | निन्दनस्तव सत्कार | 1 | 22 | a |
| नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः | 7 | 37 | d. | निपेतु स्त्रिपुरौकसः | 10 | 59 | b |
| नारायणो नरसखःकिल नारदाय | 6 | 33 | b | निपेतुस्सग्रहास्ताराः | 3 | 5 | c |
| नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः | 9 | 19 | b | निमीलिताक्षं जगृहे महाजवः | 8 | 28 | d |
| नाऽर्थदा पुरुषद्विषाम् | 14 | 41 | d | नियच्छ मन्युं कददाःस्ममानः | 5 | 28 | d |
| नाऽलं द्विजत्वंदेवत्वम् | 7 | 53 | a | नियमान्मुनिसम्मतान् | 12 | 17 | b |
| नाऽविन्ददब्दशतमप्सु निमज्जमानः | 9 | 34 | c | निरपेक्षश्चरेन्महीम् | 12 | 1 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| निरम्बुर्धारयेत्प्राणान् | 3 | 19 | c |
| निरस्यत महीतले | 5 | 33 | d |
| निरीक्षन्धूम्रमम्बरम् | 2 | 2 | d |
| निरीक्ष्य भृशदुःखितः | 2 | 52 | d |
| निरूप्यतामिह स्वार्थः | 7 | 48 | a |
| निर्गुणोऽपि ह्यजोऽव्यक्तः | 1 | 6 | a |
| निर्जिता असुरा देवैः | 10 | 53 | a |
| निर्दग्धबीजानुश्यो महीयसा | 7 | 38 | c |
| निर्बन्धेन युधिष्ठिर ! | 5 | 42 | d |
| निर्मितं विश्वकर्मणा | 4 | 8 | d |
| निर्वपेन्नित्यचोदितान् | 12 | 19 | b |
| निर्विद्यते न कुटुम्बरामः | 6 | 20 | d |
| निर्विद्यते न तु जनो यदपीति विद्वान् | 9 | 25 | c |
| निर्वैराय प्रशान्ताय | 4 | 29 | a |
| निर्वैरेण भयेन वा | 1 | 25 | b |
| निर्ह्रादभीतदिगिभादरिभिन्नखाग्रात् | 9 | 15 | d |
| निर्ह्रादभीतादिगिभा विचुक्रुशुः | 8 | 32 | d |
| निवृत्तेनाऽश्रुतेऽमृतम् | 15 | 47 | d |
| निवृत्तोऽस्मि विपर्ययम् | 13 | 25 | d |
| निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान् | 7 | 36 | a |
| निशम्य भरतर्षभ | 15 | 78 | b |
| निशम्याऽसुरयूथपाः | 7 | 4 | b |
| निशम्यैतत्सुतवचः | 5 | 25 | a |
| निशाम्य निर्ह्रादमपूर्वमद्भुतम् | 8 | 17 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| निशाम्य लोकत्रयमस्तकज्वरम् | 8 | 35 | a |
| निषेकादि श्मशानान्तैः | 15 | 52 | a |
| निषेकादिष्ववस्थासु | 7 | 48 | c |
| निषेव माऽकिञ्चन सङ्गलब्धया | 4 | 43 | b |
| निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् | 5 | 32 | d |
| निष्पीड्यमानमुपकर्ष विभो प्रपन्नम् | 9 | 22 | d |
| निष्फलं यदसौ रात्र्याम् | 6 | 11 | c |
| निस्सारयतं नैर्ऋताः | 5 | 34 | d |
| नीचोऽजयागुणविसर्गमनुप्रविष्टः | 9 | 12 | c |
| नीडेमे मातरं प्रजाः | 2 | 55 | d |
| नीतौ पुनर्हरेः पार्श्वम् | 1 | 46 | c |
| नीत्वोत्पथं विषय दस्युषु निक्षिपन्ति | 15 | 46 | b |
| नीयमानां भयोद्विग्नाम् | 7 | 7 | a |
| नूनमेतद्विरोधेन | 5 | 47 | c |
| नृणामयं परोधर्मः | 11 | 12 | a |
| नृणां धर्मं सनातनम् | 11 | 2 | b |
| नृणां धर्मो युगे युगे | 11 | 31 | b |
| नृणां विपर्ययेहेक्षा | 11 | 9 | c |
| नृणां श्रेयोविवर्धनाः | 14 | 25 | b |
| नृणां सद्धर्ममिच्छताम् | 15 | 8 | b |
| नृणां स्वत्वग्रहो यतः | 14 | 12 | d |
| नृतिर्यगृषिदेवताः | 14 | 38 | b |
| नृपाश्चैद्यादयस्साम्यम् | 10 | 40 | c |
| नृपासने सम्भृततेजसां विभुम् | 8 | 34 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| नृलोके नरतां न्यसेत् | 14 | 6 | d |
| नृसिहंरूपं तदलं भयानकम् | 8 | 20 | b |
| नेच्छामि ते विलुलितानुरुविक्रमेण | 9 | 24 | c |
| नेति नेतीत्यतत्त्यजन् | 7 | 23 | d |
| नेतु र्महस्यनागसम् | 7 | 8 | b |
| नेश्वरोऽस्तीह कश्चन | 10 | 64 | d |
| नेष्ये त्वाऽद्य यमक्षयम् | 8 | 6 | d |
| नैकान्तिनो मेमयिजात्विहाशिषः | 10 | 11 | a |
| नैच्छत्तानसुरोत्तमः | 9 | 55 | d |
| नैतत्पूर्वषयश्चक्रुः | 3 | 19 | a |
| नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ ! | 9 | 39 | a |
| नैतादृशः परो धर्मः | 15 | 8 | a |
| नैतान्विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एकः | 9 | 44 | c |
| नैते गुणानगुणिनो महदादयो ये | 9 | 49 | a |
| नैनं प्राप्स्यथ शोचन्त्यः | 2 | 57 | c |
| नैपुण्यं वैश्यलक्षणम् | 11 | 23 | d |
| नैमिशं फल्गुनं सेतुः | 14 | 32 | a |
| नैर्ऋतास्ते समादिष्टाः | 5 | 39 | a |
| नैव गुर्वनुशिक्षितम् | 8 | 1 | d |
| नैवाऽघमपरे यथा | 4 | 46 | d |
| नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णः | 9 | 11 | a |
| नैवाऽसुरेभ्यो विद्वेषः | 1 | 2 | c |
| नैवोत्तिष्ठेत कर्हिचित् | 15 | 35 | d |
| नैवोद्विजे भवदुरत्ययवैतरण्याः | 9 | 43 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| नैषा परावरमतिर्भवतो ननु स्यात् | 9 | 27 | a |
| नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिम् | 5 | 32 | a |
| नैष्कर्म्यं कर्मणो यतः | 14 | 2 | d |
| नैसर्गिकीयं मतिरस्य राजन् | 5 | 28 | c |
| नो चेच्छये बह्वहानि | 13 | 36 | c |
| नो चेत्प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूताः | 15 | 46 | a |
| नो चेदुपवसेत्क्वचित् | 12 | 5 | d |
| नोद्विग्नचित्तो व्यसनेषु निःस्पृहः | 4 | 34 | a |
| नोद्वेगश्चागुणस्य हि | 1 | 2 | d |
| नोपजीवेत जीवकाम् | 13 | 7 | b |
| नोपैतुमशकन्मन्यु | 9 | 1 | c |
| न्यक्कारार्थं कलेबरम् | 1 | 22 | b |
| न्यवर्तन्त गतोद्वेगाः | 4 | 30 | c |
| न्यषेधदज्ञो बलवीर्यदृप्तः | 8 | 46 | b |
| न्यस्तक्रीडनको बालः | 4 | 38 | a |
| न्यस्तं कामधुगक्षयम् | 15 | 5 | d |
| न्यस्येदमात्मनि जगद्विलयाम्बुमध्ये | 9 | 32 | a |
| न्यहनच्छापमुक्तये | 1 | 44 | b |
| न्यासो दण्डस्य भूतेषु | 15 | 8 | c |
| **प** | | | |
| पक्षं कञ्चिन्न संश्रयेत् | 13 | 7 | d |
| पक्षिणां निर्मितोऽन्तकः | 2 | 50 | b |
| पञ्चषड्वायनार्भकाः | 1 | 36 | a |
| पञ्चानां पुरुषं प्रति | 1 | 31 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| पण्डिता बहवो राजन् | 15 | 21 | a |
| पतन्तौ तैः कृपालुभिः | 1 | 38 | b |
| पतिन्त्वपतितं भवेत् | 11 | 28 | d |
| पतिर्महान्भूतगुणाशयेशः | 3 | 29 | d |
| पतिं महिष्यः प्रसमीक्ष्य दुःखिताः | 2 | 31 | b |
| पतिंवर्षशतैरपि | 2 | 57 | d |
| पत्या श्रीरिव मोदते | 11 | 29 | d |
| पथि च्युतं तिष्ठति दिष्टरक्षितम् | 2 | 40 | a |
| पदवीं महता मियात् | 14 | 15 | d |
| पदानि गत्या वयसि | 12 | 26 | c |
| पदान्यध्यात्मचक्षुषा | 13 | 20 | d |
| पद्मरागासनानि च | 4 | 10 | b |
| पप्रच्छकथ्यतां वत्स ! | 5 | 4 | c |
| पप्रच्छ भूयस्तनयं स्वयम्भुवः | 11 | 1 | d |
| पप्रच्छ विस्मितमनाः | 1 | 14 | c |
| पम्पाबिन्दुसरस्तथा | 14 | 32 | d |
| पयःफेननिभाश्शय्याः | 4 | 10 | c |
| परञ्चाऽऽत्मानमेव च | 2 | 60 | b |
| परधर्मोऽन्यचोदितः | 15 | 13 | b |
| परपक्षसमाहिताः | 5 | 6 | b |
| परमां प्राप निर्वृतिम् | 5 | 20 | d |
| परमेष्ठी निजासनम् | 3 | 9 | d |
| परस्य दमकर्तुर्हि | 1 | 24 | e |
| परस्य निर्गुणस्याऽपि | 7 | 29 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| परं ज्ञानधुताशयः | 15 | 40 | b |
| परंब्रह्माऽधिगच्छति | 12 | 16 | d |
| पराय महते नमः | 3 | 27 | d |
| परावरेषां स्थानानाम् | 10 | 44 | c |
| परावरेषु भूतेषु | 6 | 26 | a |
| परिक्रम्य दिवं ययौ | 7 | 11 | d |
| परिगृह्य मृतं पतिम् | 2 | 35 | a |
| परिपृष्टो महामुनिः | 13 | 19 | b |
| परिमृष्टपरिच्छदा | 11 | 26 | d |
| परिष्वज्य चिरं दोर्भ्याम् | 5 | 20 | c |
| परितो भृगुदक्षाद्यैः | 3 | 14 | c |
| परे ब्रह्मण्यनिर्देश्ये | 5 | 41 | a |
| परेऽवरेऽमी स्थिरजङ्गमा ये | 8 | 8 | c |
| परे सदसतोऽव्यये | 13 | 4 | b |
| परोऽप्यपत्यं हितकृद्यथौषधम् | 5 | 37 | a |
| पर्यतप्यद्रुषा शुचा | 2 | 1 | d |
| पर्युपासत राजेन्द्र ! | 5 | 57 | a |
| पर्वताक्रमणैरपि | 5 | 44 | b |
| पशुबुद्धिर्विपद्यते | 5 | 12 | b |
| पश्यञ्जनं स्वपरविग्रहवैरमैत्रम् | 9 | 41 | c |
| पश्यतस्ते समीयतुः | 10 | 38 | d |
| पश्यतां सर्वलोकानाम् | 1 | 19 | c |
| पश्यध्वं मति वैषम्यम् | 6 | 14 | a |
| पश्यन्बन्धञ्च मोक्षञ्च | 13 | 5 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| पश्यामि धनिनां क्लेशम् | 13 | 31 | a |
| पश्येदात्मन्यदो विश्वम् | 13 | 4 | a |
| पाठयामासतुः पाठ्यान् | 5 | 2 | c |
| पात्रं तत्र निरुक्तं वै | 14 | 35 | a |
| पादमूले मधुद्विषः | 1 | 37 | d |
| पादयोः पतितं बालम् | 5 | 20 | a |
| पादयोश्शिरसा स्पृशन् | 13 | 15 | b |
| पादाङ्गुष्ठाऽऽश्रितावनिः | 3 | 2 | d |
| पादारविन्दरजसाप्लुतदेहिनां स्यात् | 6 | 33 | d |
| पादारविन्द विमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् | 9 | 10 | b |
| पापिष्ठामासुरीं योनिम् | 1 | 37 | e |
| पापेन पापोऽभक्षीति | 7 | 3 | c |
| पारमेष्ठ्यं जगत्पते | 3 | 13 | b |
| पार्थः परमविस्मितः | 15 | 79 | d |
| पार्षदप्रवरौ विष्णोः | 1 | 32 | c |
| पार्ष्णि ग्राहेण हरिणा | 2 | 6 | c |
| पितरः पुत्रवत्सलाः | 4 | 46 | b |
| पितरि प्रस्थितेऽस्माकम् | 7 | 2 | a |
| पिताऽदात्साधवे ह्यघम् | 4 | 45 | d |
| पितुर्यत्साम्परायिकम् | 10 | 24 | b |
| पितुः पुत्रस्य सर्वशः | 10 | 22 | b |
| पितुः पुत्राय यो द्वेषः | 4 | 47 | e |
| पितृदेवनृभूतेभ्यः | 14 | 26 | c |
| पितृभिस्सह तेऽनघ ! | 10 | 18 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| पितृयानं पुनर्भवः | 15 | 51 | b |
| पितृवद्दीनवत्सलः | 4 | 33 | b |
| पितृव्यहन्तुर्यः पादौ | 5 | 35 | a |
| पितॄनामानमन्वहम् | 14 | 16 | b |
| पित्र्यञ्च स्थान मातिष्ठ | 10 | 23 | a |
| पिपीलिकाभिराचीर्ण | 3 | 15 | c |
| पिपीलिकैरहिरिव | 7 | 3 | a |
| पीवाभवति नाऽन्यथा | 13 | 16 | f |
| पीवायतस्तद्वदनः क्षमं चेत् | 13 | 17 | d |
| पुत्रत्वं प्रापितौ दितेः | 10 | 35 | b |
| पुत्रशोकं क्षणात्त्यक्त्वा | 2 | 61 | c |
| पुत्रं हन्तुं मनोदधे | 8 | 3 | d |
| पुत्रान् विप्रतिकूलान्स्वान् | 4 | 46 | a |
| पुत्रान् स्मरंस्तादुहितृहृदय्या | 6 | 18 | a |
| पुनन्तः पादरजसा | 14 | 43 | c |
| पुनश्च विप्रशापेन | 10 | 36 | a |
| पुनस्तमासज्जत खड्गचर्मणी | 8 | 27 | e |
| पुनःपुनश्चर्वितचर्वणानाम् | 5 | 30 | d |
| पुनः श्रीलोकयोर्हेतुः | 6 | 5 | c |
| पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः | 9 | 10 | d |
| पुमानेक स्समन्वयात् | 7 | 22 | d |
| पुरग्राम व्रजोद्यान | 2 | 14 | a |
| पुराणन्तु परित्यजेत् | 12 | 19 | d |
| पुराणेषु च विश्रुताः | 14 | 30 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| पुराण्यनेन सृष्टानि | 14 | 38 | a |
| पुरा रुद्रस्य देवस्य | 10 | 51 | c |
| पुरुषाय महात्मने | 4 | 24 | b |
| पुरुषाय महात्मने | 10 | 10 | b |
| पुरुषो वाऽपि राजेन्द्र | 14 | 42 | a |
| पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत् | 15 | 25 | d |
| पुरेषु पुरुषो ह्यसौ | 14 | 38 | d |
| पुरेष्वस्त्रं व्यमुञ्चत | 10 | 57 | d |
| पुलोमन् शकुनादयः | 2 | 5 | b |
| पुष्णन् स्वलोकाय न कल्पते वै | 6 | 22 | b |
| पुंसः स्वप्न इवाऽप्यते | 7 | 27 | d |
| पुंसः स्वार्थः परःस्मृतः | 7 | 57 | b |
| पुंसां यन्मायया कृतः | 5 | 11 | b |
| पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम् | 11 | 35 | b |
| पुंसो वर्षशतं ह्यायुः | 6 | 11 | a |
| पूजयामास सुप्रीतः | 15 | 78 | c |
| पूजयित्वा ततः प्रीतः | 13 | 46 | c |
| पूजितः परमेष्ठिना | 10 | 31 | d |
| पूजितः प्रययौ मुनिः | 15 | 79 | b |
| पूजितोऽसुरवर्येण | 4 | 3 | c |
| पूतस्तेऽपाङ्गसन्दृष्टः | 10 | 17 | c |
| पूयेत येन हि पुमाननुवर्णितेन | 9 | 12 | d |
| पूरकुम्भकरेचकैः | 15 | 32 | b |
| पूर्तमिष्टं तथा सतः | 15 | 29 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| पूर्तं सुरालयाराम | 15 | 49 | c |
| पूर्ववैरमलक्षिताः | 10 | 55 | d |
| पूर्वेषामपि पूर्वजाः | 1 | 36 | b |
| पृच्छतेऽजातशत्रवे | 1 | 12 | d |
| पृथग्वंशाः प्रकीर्तिताः | 15 | 80 | b |
| पौरोहित्याय भगवान् | 5 | 1 | a |
| प्रकीर्णकेशं स्तब्धाक्षम् | 2 | 30 | a |
| प्रकृतेर्नाऽऽत्मनो गुणाः | 1 | 7 | b |
| प्रगृह्यवेगेन जितश्रमो मृधे | 8 | 27 | f |
| प्रचण्डवक्त्रं न बभाञ्ज कश्चन | 8 | 34 | d |
| प्रजानां ज्वलितोल्मुकैः | 2 | 15 | f |
| प्रजेशा वयं ते परेशाभिसृष्टाः | 8 | 49 | a |
| प्रतप्तचामीकरचण्डलोचनम् | 8 | 20 | c |
| प्रतापितैरूर्जितचण्डशासनः | 4 | 12 | d |
| प्रतिनन्द्य ततो देवाः | 10 | 34 | a |
| प्रतिनन्द्याऽशिषाऽसुरः | 5 | 20 | b |
| प्रतिमानं प्रकुर्वन्ति | 4 | 36 | c |
| प्रत्यगात्मस्वरूपेण | 6 | 28 | a |
| प्रत्यानीताः परमभवता त्रायता नः स्वभागाः | 8 | 42 | a |
| प्रत्याहूय महाबुधः | 5 | 55 | b |
| प्रदेयः पद्मसम्भव | 10 | 30 | b |
| प्रधानपरयो राजन् | 1 | 22 | c |
| प्रधानपुम्भ्यां नरदेव सत्यकृत् | 1 | 11 | b |
| प्रधानपुरुषेश्वरः | 15 | 27 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्रपायामिव सुव्रते | 2 | 21 | b |
| प्रभासोऽथ कुशस्थली | 14 | 32 | b |
| प्रमत्तस्यापयाति हि | 6 | 13 | d |
| प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् | 11 | 19 | d |
| प्रयागः पुलहाश्रयः | 14 | 31 | d |
| प्रयान्ति परमं पदम् | 7 | 29 | f |
| प्रयासेऽपहते तस्मिन् | 5 | 42 | a |
| प्रयुज्य परमाशिषः | 10 | 34 | b |
| प्रवाहोपरमो धियः | 7 | 30 | d |
| प्रविश्य त्रिपुरं काले | 10 | 62 | c |
| प्रवृत्तञ्च निवृत्तञ्च | 15 | 47 | a |
| प्रवेकविद्रावितदैत्यदानवम् | 8 | 23 | b |
| प्रव्रजेत्तत्र वा वसेत् | 12 | 14 | d |
| प्रशस्य श्लक्ष्णया वाचा | 5 | 8 | c |
| प्रशान्तकामो रहिताऽसुरोऽसुरः | 4 | 34 | d |
| प्रशान्तं समदर्शनम् | 1 | 42 | b |
| प्रशान्ताखिलवृत्ति यत् | 15 | 35 | b |
| प्रशान्तास्समदर्शिनः | 10 | 19 | b |
| प्रश्रयावनतं दान्तम् | 8 | 5 | a |
| प्रश्रयेण दमेन च | 11 | 27 | b |
| प्रश्रितावनताय च | 5 | 52 | d |
| प्रसादसुमुखं दृष्ट्वा | 10 | 25 | a |
| प्रसीदतामेष स सात्त्वतां पतिः | 10 | 50 | d |
| प्रसीदतामेष स सात्त्वतां पतिः | 15 | 77 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्रसूनवर्षैं ववृषुःसुरस्त्रियः | 8 | 35 | d |
| प्रहर्षवेगोत्कलिता मना मुहुः | 8 | 35 | c |
| प्रह्लादभद्र भद्रं ते | 9 | 52 | a |
| प्रह्लादमकरोत्पतिम् | 10 | 33 | d |
| प्रह्लादमतदर्हणम् | 8 | 4 | b |
| प्रह्लादस्य च संवादम् | 13 | 11 | c |
| प्रह्लादस्याच्युतात्मनः | 1 | 47 | d |
| प्रह्लादस्यानुचरितम् | 10 | 43 | a |
| प्रह्लादं केशवप्रियम् | 1 | 41 | b |
| प्रह्लादं ग्राहयामास | 5 | 18 | c |
| प्रह्लाद ! त्वं वयञ्चाऽपि | 6 | 35 | a |
| प्रह्लादं दैत्ययाजकाः | 5 | 8 | b |
| प्रह्लादं नयकोविदम् | 5 | 2 | b |
| प्रह्लादं प्रणतं प्रीतः | 9 | 51 | c |
| प्रह्लादं प्रेषयामास | 9 | 3 | a |
| प्रह्लादं सर्वमर्मसु | 5 | 40 | d |
| प्रह्लादानूच्यतां तात ! | 5 | 22 | a |
| प्रह्लादाय यदा द्रुह्येत् | 4 | 29 | c |
| प्रह्लादायोचतू राजन् ! | 5 | 52 | c |
| प्रह्लादोऽपि तथा चक्रे | 10 | 24 | a |
| प्रह्लादो भगवत्कलाः | 10 | 32 | d |
| प्रह्लादो भगवत्प्रियः | 13 | 13 | d |
| प्रह्लादोऽभून्महांस्तेषाम् | 4 | 31 | c |
| प्राणापानौ सन्निरुन्ध्यात् | 15 | 32 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्राणा ह्यस्थिषु शेरते | 3 | 18 | d |
| प्राणेन मुख्येन पतिः प्रजानाम् | 3 | 29 | b |
| प्राणेन्द्रियमनोबुद्धि | 3 | 28 | c |
| प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च | 9 | 48 | b |
| प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् | 6 | 16 | b |
| प्रादहन् शरणान्यन्ये | 2 | 15 | e |
| प्रादात्तत्तपसा प्रीतः | 4 | 1 | c |
| प्रादादुभयमीश्वरः | 7 | 15 | b |
| प्रापितः कर्मभिर्भ्रमन् | 13 | 24 | b |
| प्राप्ता यच्छिक्षया वयम् | 13 | 34 | d |
| प्राप्तिश्चैद्यस्य विद्विषः | 1 | 15 | d |
| प्राप्तोऽहं ब्रह्मपुत्रताम् | 15 | 73 | d |
| प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणाम् | 8 | 46 | c |
| प्रायः स्वभावविहितः | 11 | 31 | a |
| प्रायेण देवमुनयः स्वविविक्तकामाः | 9 | 44 | a |
| प्रायेण मेऽयं हरिणोरुमायिना | 2 | 23 | c |
| प्राह देवादिभिर्वृतः | 10 | 25 | d |
| प्राह मैनां सुरपते | 7 | 8 | a |
| प्रिय आत्मेश्वरस्सुहृत् | 6 | 7 | d |
| प्रिय स्सुहृद्वः खलु मातुलेय | 10 | 49 | c |
| प्रियस्सुहृद्वः खलु मातुलेय | 15 | 76 | c |
| प्रियावियोगातुरमश्रुकण्ठम् | 2 | 56 | b |
| प्रीणनाय मुकुन्दस्य | 7 | 53 | c |
| प्रीणन्ति ह्यथ मां धीराः | 9 | 54 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्रीतोऽपवर्गशरणं ह्वयसे कदा नु | 9 | 16 | d |
| प्रीतोऽहं तेऽसुरोत्तम ! | 9 | 52 | b |
| प्रीत्या महाक्रतौ राजन् | 1 | 12 | c |
| प्रीयतेऽमलया भक्त्या | 7 | 54 | c |
| प्रेक्षमाणो दृशा विभुम् | 3 | 25 | b |
| प्रेतसंस्था मृताहश्च | 14 | 27 | c |
| प्रेतान्भूतपतीनपि | 4 | 6 | d |
| प्रेत्यचेह च शर्मकृत् | 11 | 31 | d |
| प्रेत्येह चाऽथाप्यजितेन्द्रियस्तत्- | 6 | 21 | c |
| प्रेमगद्गदया वाचा | 9 | 7 | c |
| प्रोक्तौ पुनर्जन्मभिर्वा | 1 | 38 | c |
| प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति | 7 | 36 | d |
| प्रोत्सर्पत क्ष्मा च पदातिपीडिता | 8 | 33 | b |
| **ब** | | | |
| बद्धः स्वकर्मभि रुशत्तम ! तेऽङ्घ्रिमूलम् | 9 | 16 | c |
| बद्धाञ्जलिमवस्थितम् | 8 | 5 | b |
| बद्धामर्षाशयः साक्षात् | 10 | 16 | a |
| बभूव येनाण्डकटाह मस्फुटत् | 8 | 16 | b |
| बलिहारास्तवाभिभूः | 3 | 7 | f |
| बहवस्तद्गतिं गताः | 1 | 29 | d |
| बहिरन्तःपरावरम् | 15 | 57 | b |
| बहुज्ञास्संशयच्छिदः | 15 | 21 | b |
| बह्वायासोऽसुरात्मजाः | 6 | 25 | b |
| बह्व्यस्सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति | 9 | 40 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| बाध्यबाधकतां गतः | 1 | 6 | d |
| बाल एवं प्रवदति | 2 | 58 | a |
| बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह ! | 9 | 19 | a |
| बालस्यान्तःपुरस्थस्य | 6 | 36 | a |
| बालस्येवाऽस्थिरात्मनः | 2 | 7 | d |
| बाला अदूषितधियः | 5 | 56 | c |
| बालानामपि हीश्वरौ | 6 | 35 | d |
| बालानिति कुतस्तुभ्यम् | 5 | 9 | a |
| बालिशौ यातमाश्वतः | 1 | 37 | f |
| बालोऽप्यजडधीरयम् | 5 | 46 | b |
| बिभर्षि कायं पीवानम् | 13 | 16 | a |
| बिभृयादुत वा त्यजेत् | 13 | 9 | d |
| बिभृयादुपवीतञ्च | 12 | 4 | c |
| बिभृयाद्यद्यसौ वासः | 13 | 2 | a |
| बिभ्रता सौकरं वपुः | 1 | 40 | d |
| बिभ्रद्धेममयंवपुः | 4 | 4 | b |
| बिम्बं भगवतो यत्र | 14 | 29 | a |
| बीजनिर्हरणं योगः | 7 | 30 | c |
| बीजाङ्कुराविव न चाऽन्यदरूपकस्य | 9 | 47 | b |
| बुद्धिभेदः परकृतः | 5 | 10 | a |
| बुद्धिभेदैः क्रियोद्भवैः | 7 | 26 | b |
| बुद्धिमेकान्तसंस्थितम् | 8 | 2 | b |
| बुद्धिश्च पुंसो वयसार्यसेवया | 5 | 50 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| बुद्धिं बोध्यैः कवौ परे | 12 | 29 | b |
| बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः | 7 | 25 | a |
| ब्रह्मक्षत्रसमेधितम् | 2 | 10 | b |
| ब्रह्मचारी गुरुकुले | 12 | 1 | a |
| ब्रह्मणे परमात्मने | 10 | 10 | d |
| ब्रह्मण्यः शीलसम्पन्नः | 4 | 32 | a |
| ब्रह्मण्यता प्रसादश्च | 11 | 22 | c |
| ब्रह्मन्नृहार्थो यत एव भोगाः | 13 | 17 | b |
| ब्रह्मबन्धो किमेतत्ते | 5 | 26 | a |
| ब्रह्मरुद्रपुरस्सराः | 9 | 1 | b |
| ब्रह्मलोकं ययुस्सुराः | 3 | 6 | b |
| ब्रह्मशापमुपेयुषः | 4 | 20 | d |
| ब्रह्मादयस्सुरगणा मुनयोऽथ सिद्धाः | 9 | 8 | a |
| ब्रह्मादयो येन वशंप्रणीताः | 8 | 8 | d |
| ब्रह्मादयो वय मिवेश न चोद्विजन्तः | 9 | 13 | b |
| ब्रह्मादयो ह्येष भिनत्ति मे मतम् | 5 | 13 | d |
| ब्रह्मादिभिः स्तूयमानः | 10 | 70 | c |
| ब्रह्माद्याः प्रतिपूजिताः | 10 | 34 | d |
| ब्रह्मा नरहरिं हरिम् | 10 | 25 | b |
| ब्रह्मान्तस्स्थावरादिषु | 6 | 26 | b |
| ब्रह्मावस्थितमन्तिके | 9 | 3 | b |
| ब्रह्मेन्द्र गिरिशादयः | 8 | 37 | b |
| ब्रूहि मे भगवन्येन | 1 | 47 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ब्रूह्येतदद्भुततमम् | 1 | 20 | c |
| **भ** | | | |
| भक्तं कामेषु चोदयन् | 10 | 3 | b |
| भक्तं ते भक्तवत्सल | 8 | 41 | d |
| भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम् | 7 | 38 | d |
| भक्तियोगस्य तत्सर्वम् | 10 | 1 | a |
| भक्तिर्ज्ञानं विरक्तिश्च | 10 | 43 | c |
| भक्तिश्चेन्नवलक्षणा | 5 | 24 | b |
| भक्तिं कुरुत दानवाः | 7 | 55 | b |
| भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत | 9 | 50 | d |
| भक्त्या केवलया तुष्टः | 13 | 21 | c |
| भक्त्या तुतोष भगवान् गतयूथपाय | 9 | 9 | d |
| भक्त्या परमया भिदा | 10 | 40 | b |
| भक्त्या परमया सती | 7 | 14 | b |
| भक्त्या भक्तेन निर्गुणः | 9 | 51 | b |
| भक्त्यैकयेशं भजताऽऽत्मलब्धये | 7 | 42 | d |
| भक्षिताङ्गं पिपीलिकैः | 3 | 22 | a |
| भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि | 11 | 2 | a |
| भगवत्तेजसा स्पृष्टम् | 1 | 42 | c |
| भगवत्त्वाय कल्पते | 10 | 9 | d |
| भगवत्यकरोद्द्वेषम् | 4 | 4 | c |
| भगवत्यखिलात्मनि | 5 | 41 | b |
| भगवन्नात्रकारणम् | 1 | 20 | d |
| भगवन्निन्दया वेनः | 1 | 18 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भगवद्भक्तिवर्धनम् | 1 | 4 | d |
| भगवानात्मभूर्नृप | 3 | 14 | b |
| भगवानास्त ईश्वरः | 7 | 34 | b |
| भगवानीश्वरोऽव्ययः | 6 | 27 | d |
| भगवान्पुरहा नृप ! | 10 | 70 | b |
| भगवान्प्रकृतेः परः | 1 | 6 | b |
| भगवान्येन गम्यते | 10 | 45 | b |
| भगवान्सर्वयज्ञभुक् | 14 | 18 | b |
| भगवान् हृद्गतस्सदा | 13 | 21 | b |
| भङ्गुरोऽपेत्युपैति च | 7 | 45 | d |
| भजताऽनीहयाऽऽत्मानम् | 7 | 50 | c |
| भजत्युत्सृजति ह्यन्यः | 2 | 46 | c |
| भजन्ति भजमानस्य | 2 | 7 | c |
| भजन्मुकुन्दचरणम् | 7 | 52 | c |
| भजेच्छ्रीरिव तत्परा | 11 | 29 | b |
| भजेत गृहमेध्यपि | 14 | 11 | b |
| भण्यतां श्रोतुकामानाम् | 5 | 9 | c |
| भयं तत्त्वावमर्शनात् | 15 | 22 | d |
| भयादलब्धनिद्राणाम् | 13 | 31 | c |
| भर्त्रा वै शूलपाणयः | 5 | 39 | b |
| भवतस्तु वृणे वरम् | 10 | 7 | d |
| भवता खलस्य उपसंहृतः प्रभो | 8 | 48 | c |
| भवतामपि भूयान्मे | 7 | 17 | a |
| भवता हरे स वृजिनोऽवसादितः | 8 | 55 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भवत्स्वपि नयैः किं स्यात् | 6 | 4 | c |
| भवन्ति काले न भवन्ति सर्वशः | 2 | 41 | b |
| भवन्ति पुरुषा लोके | 10 | 21 | a |
| भवं प्रजापतिं देवान् | 10 | 32 | c |
| भवान्नन्वार्य सम्मतः | 13 | 20 | b |
| भवान्प्रजापतेस्साक्षात् | 11 | 3 | a |
| भवान्प्रणीतो दृगगोचरां दशाम् | 2 | 33 | b |
| भवान्मे खलु भक्तानाम् | 10 | 21 | c |
| भवान्वै कुल पावनः | 10 | 18 | d |
| भवान्संसारबीजेषु | 10 | 3 | c |
| भवान् हि भगवत्प्रियः | 13 | 45 | d |
| भवापवर्गमाश्रिताः | 8 | 51 | b |
| भवाय श्रयसे भूत्यै | 3 | 13 | c |
| भावःकरोति विकरोति पृथक्स्वभावः | 9 | 20 | c |
| भावाद्वैतं क्रियाद्वैतम् | 15 | 62 | a |
| भावाद्वैतं तदुच्यते | 15 | 63 | d |
| भावयंस्तर्जनादिभिः | 5 | 17 | b |
| भिक्षुर्भैक्षमिताशनः | 15 | 30 | d |
| भिक्षोरिन्द्रियलोलता | 15 | 38 | d |
| भिद्यते परबुद्धिभिः | 5 | 6 | d |
| भुङ्क्षे स्थितो धामनि पारमेष्ठ्ये हि | 3 | 33 | c |
| भुञ्जीत यद्यनुज्ञातः | 12 | 5 | c |
| भुञ्जेऽन्नं साध्वसाधु वा | 13 | 37 | b |
| भुञ्जे भुक्त्वाऽथ कस्मिंश्चित् | 13 | 38 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भुवि चेरु रलक्षिताः | 2 | 16 | d |
| भूतग्रामेषु किञ्चन | 10 | 20 | b |
| भूतभावन पूर्वज ! | 10 | 26 | b |
| भूतसन्तापनं वृकम् | 2 | 18 | b |
| भूतानामिहसंवासः | 2 | 21 | a |
| भूतानां प्रभवाप्ययम् | 13 | 6 | d |
| भूतानां भगवान् स्वयम् | 1 | 1 | b |
| भूतानि तैस्तैर्निजयोनिकर्मभिः | 2 | 41 | a |
| भूतेन्द्रियमनोलिङ्गान् | 2 | 46 | a |
| भूतेन्द्रियाशयमये विततं ददर्श | 9 | 35 | d |
| भूतेभ्यश्च यथार्हतः | 11 | 10 | b |
| भूतेभ्यस्त्वद्विसृष्टेभ्यः | 3 | 35 | c |
| भूतेष्वथ महत्सु च | 6 | 26 | d |
| भूतैर्महद्भिः स्वकृतैः | 7 | 51 | c |
| भूतैः स्वधामभिः पश्येत् | 12 | 15 | c |
| भूत्वा भूत्वाऽनुपूर्वशः | 15 | 55 | b |
| भूत्वा भूत्वेह जायते | 15 | 51 | d |
| भूमन्भ्रमामिवद मे तव दास्ययोगम् | 9 | 17 | d |
| भूय एवाऽसुरः सुतम् | 5 | 29 | b |
| भूरिणा रुधिरेण वै | 2 | 8 | b |
| भृत्यलक्षणजिज्ञासुः | 10 | 3 | a |
| भृत्याप्ता ममतास्पदः | 7 | 46 | d |
| भोगान् स्वप्स्यामि संविशन् | 13 | 26 | d |
| भोगिनां खलु देहोऽयम् | 13 | 16 | e |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भोगेन पुण्यं कुशलेन पापम् | 10 | 13 | a |
| भोगो वित्तवतां नु ह | 13 | 16 | d |
| भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि | 15 | 3 | c |
| भो भो दानवदैतेयाः | 2 | 4 | a |
| भौतिकेषु विकारेषु | 6 | 26 | c |
| भ्रातरस्सुहृदः परे | 14 | 7 | b |
| भ्रातरं मे गतव्यथः | 2 | 8 | d |
| भ्रातर्येवं विनिहते | 2 | 1 | a |
| भ्राता मे दयितस्सुहृत् | 2 | 6 | b |
| भ्रातुर्वध मनुस्मरन् | 4 | 4 | d |
| भ्रातृपुत्रा नसान्त्वयन् | 2 | 17 | d |
| भ्रातृवत्सदृशे स्निग्धः | 4 | 33 | c |
| भ्रातृहेति मृषा दृष्टिः | 10 | 16 | c |
| भ्रातॄन्स्वसॄर्वा पितरौ च दीनौ | 6 | 18 | b |
| **म** | | | |
| मघा राका ममागमे | 14 | 23 | b |
| मच्छूलभिन्नग्रीवस्य | 2 | 8 | a |
| मतः पात्रतयाऽच्युतः | 14 | 36 | d |
| मति र्न कृष्णे परतः स्वतो वा | 5 | 30 | a |
| मत्तस्तु पुरुलम्पटः | 15 | 70 | d |
| मत्प्राणरक्षणमनन्तपितुर्वधञ्च | 9 | 29 | a |
| मथित्वा कवयोऽन्ततः | 1 | 9 | d |
| मदङ्गस्पर्शनेनाऽङ्ग ! | 10 | 22 | c |
| मदन्यो जगदीश्वरः | 8 | 13 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| मद्दर्शनं हि भूतानाम् | 4 | 26 | c |
| मद्भक्ता स्त्वमनुव्रताः | 10 | 21 | b |
| मद्भावेन गतस्पृहाः | 10 | 20 | d |
| मधुकार महासर्पौ | 13 | 34 | a |
| मनवः प्रजानां पतयः | 8 | 38 | a |
| मनवो वयं तव निदेशकारिणः | 8 | 48 | a |
| मनसा सुसमाहितः | 9 | 7 | b |
| मनस्यविकलः पुमान् | 2 | 24 | b |
| मनस्संस्पर्शजान् दृष्ट्वा | 13 | 26 | c |
| मनः कामाहतं भ्रमत् | 15 | 33 | b |
| मनः कृष्णे निवेशयेत् | 1 | 31 | d |
| मनीष्युन्मत्तबालवत् | 13 | 10 | b |
| मनोधत्स्व न सन्ति विद्विषः | 8 | 10 | b |
| मनो मनोरथैश्चन्द्रे | 12 | 29 | a |
| मनोमयत्वात्सर्वार्थाः | 7 | 28 | a |
| मनोवाक्कायजस्य सः | 15 | 8 | d |
| मनोवाक्तनुभिः पार्थ ! | 15 | 64 | c |
| मनो वैकारिके हुत्वा | 13 | 43 | c |
| मन्दभाग्याः प्रतीक्षन्ते | 2 | 55 | c |
| मन्देन विधुरायुषा | 2 | 54 | d |
| मन्यते साधु यद्भवान् | 5 | 4 | d |
| मन्यन्त एके स्वजिताजितो दश | 8 | 11 | b |
| मन्यमानो हृषीकेशम् | 10 | 1 | c |
| मन्ये तदर्पितमनो वचने हितार्थं प्राणम् | 9 | 10 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यम् | 6 | 32 | c |
| मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौजः | 9 | 9 | a |
| मन्ये स्वभृत्य ऋषिवाक्यमृतं विधातुम् | 9 | 29 | b |
| मम आद्याय बीजाय | 3 | 28 | a |
| ममाऽहमिति पार्थिव ! | 1 | 23 | d |
| मयं शरण माययुः | 10 | 53 | d |
| मयः कूपरसो क्षिपत् | 10 | 59 | d |
| मयेनाऽनन्तभायिना | 10 | 51 | d |
| मयोऽहञ्जगदीशितुः | 10 | 52 | b |
| मय्यावेश्यमनस्तात ! | 10 | 23 | c |
| मरणाय प्रयोजितः | 4 | 47 | f |
| मर्त्यस्य कृच्छ्रोपनतैः | 13 | 30 | c |
| मर्त्यस्य ते ह्यमर्त्यस्य | 3 | 21 | c |
| मर्त्याद्रिषु यथार्हतः | 14 | 19 | b |
| मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य | 15 | 26 | c |
| मर्त्यास्तन्मयतामियात् | 1 | 26 | b |
| मर्त्योविट्क्रिमिभस्मसात् | 15 | 37 | b |
| मलानि जटिलो दधत् | 12 | 21 | b |
| महत्तमाग्रण्य उरुक्रमात्मनः | 11 | 1 | b |
| महत्सङ्गो दुरन्वयः | 6 | 36 | b |
| महापुरुष ईश्वरः | 8 | 53 | b |
| महाभागवतस्य च | 10 | 43 | b |
| महाभागवतोत्तमः | 7 | 1 | b |
| महाभागवतो महान् | 7 | 10 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| महाभागवतोऽर्भकः | 9 | 4 | b |
| महाभागवतोऽर्भकः | 10 | 28 | b |
| महा भागवतोऽसुरः | 5 | 57 | d |
| महाभागवतोऽसुरः | 13 | 15 | d |
| महाभागे महात्मनि | 4 | 44 | b |
| महामना निर्जितलोक एकराट् | 4 | 12 | b |
| महामारकता भुवः | 4 | 9 | b |
| महाहिरिव सत्त्ववान् | 13 | 36 | d |
| महाहेरिव वृत्तिदा | 15 | 15 | d |
| महिमानं तथा ऽऽत्मनः | 3 | 38 | b |
| महिषी कालयन्त्रिता | 2 | 52 | b |
| महीयसां पादरजोऽभिषेकम् | 5 | 32 | c |
| महेन्द्रभवनं साक्षात् | 4 | 8 | c |
| महेन्द्रमलयादयः | 14 | 33 | d |
| महोरथं तार्क्ष्यसुतो यथाऽग्रहीत् | 8 | 26 | b |
| माघे च सितसप्तम्याम् | 14 | 23 | a |
| मातरं मम चाऽग्रहीत् | 7 | 6 | d |
| मातृमृष्टमलङ्कृतम् | 5 | 19 | d |
| मातृष्वसेयो वश्चैद्यः | 1 | 32 | a |
| मातृष्वस्रात्मजौ तव | 1 | 45 | b |
| मातृहीना न्बिभर्म्यहम् | 2 | 55 | b |
| मादृशो गृहमूढधीः | 14 | 1 | d |
| मानवो मनसि स्थितान् | 10 | 9 | b |
| मानस्तम्भविवर्जितः | 4 | 33 | f |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते | 9 | 11 | b |
| मानोऽवमानोऽसूया च | 15 | 43 | c |
| मा भैष्ट विबुधश्रेष्ठाः ! | 4 | 26 | a |
| मा भैष्टेति सुरान्विभुः | 10 | 57 | b |
| मामनादृत्य दुर्मते | 5 | 26 | d |
| मामप्युद्दिश्य निर्मलम् | 7 | 15 | d |
| मामप्रीणत आयुष्मन् | 9 | 53 | a |
| मा मां प्रलोभयोत्पत्त्या | 10 | 2 | a |
| माययान्तर्हितैश्वर्यः | 6 | 29 | c |
| मायया विसृजन्गुणान् | 2 | 22 | d |
| मायानृसिंह प्रणताः स्म नित्यम् | 8 | 46 | d |
| मायाभिस्सन्निरोधैश्च | 5 | 43 | c |
| माया मनःसृजति कर्ममयं बलीयः | 9 | 21 | a |
| मायामनुज ईश्वरे | 1 | 28 | b |
| मायामयं सदुपलक्षणसन्निवेशम् | 9 | 36 | c |
| मायामात्रं न वस्तुतः | 13 | 5 | d |
| माया यदात्म परबुद्धिरियं ह्यपार्था | 9 | 31 | b |
| मायायोगोऽनुवर्तते | 2 | 47 | d |
| मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान् | 9 | 43 | d |
| मायाहिंसा च मत्सरः | 15 | 43 | d |
| मायिनां परमाचार्यम् | 10 | 53 | c |
| मार्कण्डेय मुखात्प्रभो ! | 1 | 44 | d |
| मासर्क्षाणि युतान्यपि | 14 | 23 | d |
| मासि प्रोष्ठपदे द्विजः | 14 | 20 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| माहात्म्यं तस्य सूच्यते | 1 | 37 | b |
| मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम् | 5 | 30 | b |
| मीमांसमानस्य समुत्थितोऽग्रतः | 8 | 20 | a |
| मुकुन्द चरणाम्बुजम् | 6 | 9 | d |
| मुक्तःस्वेनैव तेजसा | 5 | 45 | d |
| मुक्तादामपरिच्छदाः | 4 | 10 | d |
| मुक्तिस्तेषां न हि बहुमता नारसिंहाऽपरैः | 8 | 42 | d |
| मुख्योऽप्यत्र महा नसुः | 2 | 45 | b |
| मुग्धस्य बाल्ये कैशोरे | 6 | 12 | a |
| मुञ्च मुञ्च महाभाग ! | 7 | 8 | c |
| मुनिभिः कमलासनः | 10 | 33 | b |
| मुनीनामुपशृण्वताम् | 1 | 14 | d |
| मुने राजगरस्य च | 13 | 11 | d |
| मुनेर्दुष्ट मिवेन्द्रियम् | 5 | 38 | d |
| मुनेःश्रुत्वा सुरेश्वरः | 13 | 46 | b |
| मुन्यन्तं हरिदैवतम् | 15 | 5 | b |
| मुन्यन्तेनाऽपि धर्मवित् | 15 | 11 | b |
| मुन्यन्तैः स्यात्परा प्रीतिः | 15 | 7 | c |
| मुमुक्षुस्त्वा मुपाश्रितः | 10 | 2 | d |
| मुमूर्षूणाञ्च मन्दात्मन् | 8 | 12 | c |
| मुहुःश्वस्वन्वक्ति हरे जगत्पते | 7 | 37 | c |
| मुहूर्तेऽभिजितीश्वरः | 10 | 67 | a |
| मुह्यन्ति यद्वर्त्मनि वेदवादिनः | 5 | 13 | c |
| मूढा यमनुशोचथ | 2 | 44 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| मूढेषु वै महदनुग्रह आर्त बन्धो ! | 9 | 42 | c |
| मूर्धन्यश्रुकलाम्बुभिः | 5 | 21 | b |
| मूर्ध्नि बद्धाञ्जलिपुटाः | 8 | 39 | c |
| मृगतृष्णा मुपाधावेत् | 13 | 28 | c |
| मृगोष्ट्रखर मर्काखुः | 14 | 10 | a |
| मृतन्तु नित्य याच्ञा स्यात् | 11 | 19 | c |
| मृते न प्रभृतेन वा | 11 | 18 | b |
| मृत्युर्माभून्मम प्रभो ! | 3 | 35 | d |
| मृत्युर्मे भविता न वा | 5 | 47 | d |
| मृत्योरपि जिघांसतः | 10 | 29 | d |
| मृत्यौपायुञ्च सोत्सर्गम् | 12 | 27 | a |
| मेखलाजिनवासांसि | 12 | 4 | a |
| मेदस्त्वङ्मांसशोणितम् | 3 | 15 | d |
| मेनिरे चाऽसुरं हतम् | 4 | 30 | d |
| मैवं वरोऽसुराणां ते | 10 | 30 | a |
| मोक्ष्योर्थ पदवीं गतः | 7 | 9 | d |
| मोदेतसाधुरपि वृश्चिकसर्प हत्या | 9 | 14 | b |
| मोहेन च बलीयसा | 6 | 13 | b |
| मौनमात्मविमर्शनम् | 11 | 9 | d |
| मौनव्रत श्रुततपोध्ययनस्वधर्म- | 8 | 46 | a |
| मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः | 9 | 44 | b |
| मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः | 10 | 50 | c |
| मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः | 15 | 77 | c |
| म्लान श्रिय मधोमुखम् | 5 | 48 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **य** | | | |
| यइच्छयेशःसृजतीद मव्ययः | 2 | 39 | a |
| य एत त्कीर्तयेन्मह्यम् | 10 | 14 | a |
| य एतत्पुण्य माख्यानम् | 10 | 46 | a |
| य एते पितृदेवानाम् | 5 | 56 | a |
| य एव रक्षत्यवलुम्पते च यः | 2 | 39 | b |
| य एष रजन्नपि काल ईशिता | 1 | 11 | e |
| यक्षरक्षः पिशाचेशान् | 4 | 6 | c |
| यक्षाः किम्पुरुषास्तात | 9 | 38 | c |
| यक्षो गन्धर्व एव च | 7 | 52 | b |
| यजस्व योगेन च कर्म हिन्वन् | 10 | 12 | d |
| यजेत पुरुषं पृथक् | 14 | 16 | d |
| यज्ञो धर्ममयः पुमान् | 2 | 11 | b |
| यत आयुर्व्ययः परम् | 6 | 9 | b |
| यतमन्युरभाषत | 9 | 51 | d |
| यतो न कश्चित् क्व च कुत्र विद्वान् | 6 | 23 | a |
| यतो यतो निस्सरति | 15 | 33 | a |
| यत्तत्रगुरुणा प्रोक्तम् | 5 | 3 | a |
| यत्पादपङ्केरुहसेवया भवान् | 15 | 68 | c |
| यत्पुमा न्विन्दते परम् | 11 | 2 | d |
| यत्र गङ्गादयो नद्यः | 14 | 30 | c |
| यत्र चित्रवितानानि | 4 | 10 | a |
| यत्र स्फाटिककुड्यानि | 4 | 9 | c |
| यत्र यत्र च मद्भक्ताः | 10 | 19 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यत्र यत्र द्विजा गावः | 2 | 12 | a | यथाऽभ्रपिहितं रविम् | 3 | 16 | b |
| यत्र यत्र हरे रर्चा | 14 | 30 | a | यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन् | 5 | 14 | a |
| यत्र विद्रुम सोपानाः | 4 | 9 | a | यथा मनोरथः स्वप्नः | 2 | 48 | c |
| यत्र हि ब्राह्मणकुलम् | 14 | 29 | c | यथा मयूख सन्दोहाः | 10 | 58 | c |
| यत्राऽऽत्मा हरिरीश्वरः | 4 | 22 | b | यथाऽम्भसा प्रचलिताः | 2 | 23 | a |
| यतोद्भवस्तत्र गतं मनुष्यम् | 2 | 37 | c | यथा यथा भगवतः | 10 | 40 | a |
| यत्सर्वत्र तदीक्षणम् | 7 | 57 | d | यथायैरञ्जसा रतिः | 7 | 31 | d |
| यत्साधोऽस्य कुलेजातः | 10 | 18 | c | यथा वस्तुतया स्मृतः | 15 | 58 | b |
| यत्स्वार्थ कामयोरैक्यम् | 15 | 65 | c | यथा वातादयो ह्यर्थाः | 15 | 29 | a |
| यथाचोपचिताकीर्तिः | 10 | 52 | c | यथा विप्रमुखे हुतैः | 14 | 18 | d |
| यथा त्रिवर्गं गुरुभिः | 5 | 53 | a | यथा वैरानुबन्धेन | 1 | 26 | a |
| यथा दुःखमयत्नतः | 6 | 8 | d | यथा संलभते रतिम् | 7 | 35 | d |
| यथा देशं यथा कालम् | 14 | 11 | c | यथास्थानं विनिर्दिशेत् | 12 | 27 | b |
| यथा न पशुहिंसया | 15 | 7 | b | यथाऽऽहभगवान्राजन् | 10 | 24 | c |
| यथा नभः सर्वगतं न सज्जते | 2 | 43 | c | यथाहि पुरुषस्येह | 6 | 7 | a |
| यथाऽनलो दारुषु भिन्न ईयते | 2 | 43 | a | यथाहि यूयं नृपदेव! दुस्त्यजात् | 15 | 68 | a |
| यथाऽनिलो देहगतः पृथक् स्थितः | 2 | 43 | b | यथोक्तब्रह्मवादिभिः | 10 | 23 | b |
| यथा नृसिंहौजसि सोऽसुरस्तदा | 8 | 24 | d | यथोपजोषं भुञ्जानः | 4 | 19 | c |
| यथाऽऽन्त्रमाली द्विपहत्यया हरिः | 8 | 30 | d | यथोपानत्पदश्शिवम् | 15 | 17 | d |
| यथाऽन्धोह्यन्धनायकः | 6 | 3 | d | यदनर्थेऽर्थकल्पनम् | 6 | 2 | d |
| यथा पृथग्भौतिकमीयते गृहम् | 2 | 42 | b | यदनिन्दत्पिता मे त्वाम् | 10 | 15 | c |
| यथा प्राक्तनजन्मनि | 10 | 37 | d | यदन्यत्राऽपि दृश्येत | 11 | 35 | c |
| यथा भक्त्येश्वरे मनः | 1 | 29 | b | यदर्थ इह कर्माणि | 7 | 43 | a |
| यथा भगवतीश्वरी | 4 | 35 | d | यदर्थमिह पूरुषां | 7 | 45 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| यदशिक्षद्गुरोर्भवान् | 5 | 22 | d |
| यदहम्ममताक्रियाः | 12 | 29 | d |
| यदाऽकल्यःस्वक्रियायाम् | 12 | 23 | a |
| यदा ग्रहग्रस्तइव क्वचिद्धसति | 7 | 37 | a |
| यदाऽऽचार्यः परावृत्तः | 5 | 54 | a |
| यदाऽतिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदम् | 7 | 36 | c |
| यदात्मजाय शुद्धाय | 4 | 45 | c |
| यदादेवेषु वेदेषु | 4 | 28 | a |
| यदा सिसृक्षुः पुर आत्मनः परः | 1 | 10 | a |
| यदि दास्यस्यभिमतान् | 3 | 35 | a |
| यदि रासीशमे कामान् | 10 | 7 | a |
| यदिश्रद्दधते वचः | 7 | 17 | b |
| यदि सेवेत तान्भिक्षुः | 15 | 36 | c |
| यदीश्वरे भगवति | 7 | 31 | c |
| यदुक्तया न प्रबुध्येत | 6 | 3 | a |
| यदृच्छयाऽऽगतस्तत्र | 7 | 7 | c |
| यदृच्छया लोक मिमम् | 13 | 24 | a |
| यदृच्छोपनता दहम् | 13 | 36 | b |
| यदेष सर्वभूतानाम् | 6 | 7 | c |
| यदेष साधु हृच्छयः | 8 | 51 | c |
| यद्गत्वा न निवर्तन्ते | 4 | 22 | c |
| यद्गुणेष्वर्थदृग्वचः | 2 | 48 | b |
| यद्दत्तं तद्धयनश्वरम् | 14 | 26 | d |
| यद्धस्तमुक्तोनृहरिं महाऽसुरः | 8 | 27 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| यद्ब्रह्मणि परे साक्षात् | 15 | 64 | a |
| यद्ब्रह्मपद मव्ययम् | 1 | 18 | b |
| यद्भागवत माहात्म्यम् | 1 | 4 | c |
| यद्यज्ञनो भगवते विदधीतमानम् | 9 | 11 | c |
| यद्यस्य चाऽनिषिद्धं स्यात् | 15 | 66 | a |
| यद्यस्य जन्म निधनं स्थितिरक्षणञ्च | 9 | 31 | c |
| यद्वदन्ति यदिच्छन्ति | 14 | 7 | c |
| यन्नरिष्यति कर्हिचित् | 3 | 38 | d |
| यन्निबन्धोऽभिमानोऽयम् | 1 | 24 | a |
| यन्मयं स चराचरम् | 14 | 35 | d |
| यन्मां त्वं परिपृष्टवान् | 10 | 41 | b |
| यन्मूलाःस्युर्नृणां जह्यात् | 13 | 33 | c |
| यन्मूलोन्मूल परशोः | 5 | 17 | c |
| यन्मेऽर्पितश्शिरसिपद्मकरः प्रसादः | 9 | 26 | d |
| यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छम् | 9 | 45 | a |
| यम एत दुपाख्याय | 2 | 59 | a |
| यमस्यप्रेतबन्धूनाम् | 2 | 27 | c |
| यमःस्वयमुपागतः | 2 | 36 | d |
| यया तुष्यत्यधोक्षजः | 6 | 30 | d |
| ययौ दैत्येश्वराश्रमम् | 3 | 14 | d |
| यर्ह्यात्मजोऽधिकाराद्याः | 14 | 17 | a |
| यश्चित्तविजये यत्तः | 15 | 30 | a |
| यस्त आशिष आशास्ते | 10 | 4 | e |
| यत्तया ह्यजितो जितः | 14 | 13 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| यस्तां व्यनैषीद्वशमेष दुर्जनः | 8 | 54 | c |
| यस्ते शरणमीप्सितः | 8 | 14 | d |
| यस्तया मन्दभाग्योक्तः | 8 | 13 | a |
| यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिः | 15 | 14 | a |
| यस्त्विहेन्द्रियवानात्मा | 2 | 45 | c |
| यस्मात्प्रियाप्रियवियोग सयोगजन्म- | 9 | 17 | a |
| यस्मिन्महागुणा राजन् | 4 | 35 | a |
| यस्मिन्यतो यर्हि येन च यस्य यस्मात् | 9 | 20 | a |
| यस्मै यथा यमुत यस्त्वपरः परो वा | 9 | 20 | b |
| यस्य नश्यति जन्मना | 10 | 8 | d |
| यस्य नारायणो देवः | 13 | 21 | a |
| यस्य नैसर्गिकी रतिः | 4 | 37 | d |
| यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तम् | 11 | 35 | a |
| यस्य साक्षाद्भगवति | 15 | 26 | a |
| यातना मृत्युहेतवे | 1 | 41 | d |
| याति तत्साम्यतां भद्रे ! | 2 | 24 | c |
| यात्यकल्पस्य विंशतिः | 6 | 12 | d |
| यात्यनिन्धनवद्विवत् | 15 | 34 | d |
| यात्रार्थं वाऽधनो धनम् | 15 | 15 | b |
| याथात्म्यञ्चाऽस्य वै हरेः | 10 | 43 | d |
| यानातिष्ठन्मुनिर्गच्छेत् | 12 | 17 | c |
| यान् वृणीषे वरान्मम | 4 | 2 | b |
| या पतिं हरिभावेन | 11 | 29 | a |
| यायाद्देवऋषे ! ब्रूहि | 14 | 1 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| यायावर्यं शिलोञ्छनम् | 11 | 16 | b |
| यावत्तेभर्तु रागमः | 7 | 12 | d |
| यावदर्थमुपासीनः | 14 | 6 | a |
| यावदर्थं यथा बलम् | 12 | 13 | d |
| यावदर्थं व्यवहरेत् | 12 | 6 | c |
| यावद्गुरुर्भार्गव आगमिष्यति | 5 | 50 | d |
| यावद्दैत्यपतिर्घोरात् | 7 | 13 | c |
| यावद्दैवोपपादितम् | 14 | 11 | d |
| यावद्बिभ्रयेत जठरम् | 14 | 9 | a |
| यावन्नृकाय रथ मात्मवशोपकल्पम् | 15 | 45 | a |
| यावन्मनस्त्यजेत्कामान् | 15 | 32 | c |
| यावल्लिङ्गान्वितो ह्यात्मा | 2 | 47 | a |
| यावानात्मा यथोच्यते | 14 | 39 | d |
| याहि त्वं शूद्रतामाशु | 15 | 72 | e |
| युक्तात्मन्यफला आसन् | 5 | 41 | c |
| युक्तास्समक्ष मुभयत्र विचिन्वते त्वाम् | 9 | 47 | c |
| युद्धोद्यमं परं चक्रुः | 7 | 2 | c |
| युधिष्ठिरो दैत्यपतेर्मुदा युतः | 11 | 1 | c |
| युध्यनेनोपबृंहितैः | 10 | 53 | b |
| युवां वासं न चाऽर्हथः | 1 | 37 | b |
| यूयं नृलोके बत भूरिभागाः | 10 | 48 | a |
| यूयं नृलोके बत भूरिभागाः | 15 | 75 | a |
| यूयं भक्त्या वयं नृप ! | 1 | 30 | d |
| येनचाऽऽत्मा प्रसीदति | 11 | 7 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| येन पापेन रत्नानि | 8 | 47 | a |
| येन यत्र यतो नृप ! | 15 | 66 | b |
| येनाऽऽत्मसाद्वीर्यबलौजसा कृताः | 8 | 50 | b |
| येनेद मखिलं ततम् | 3 | 34 | b |
| येनेद मादिपुरुषात्मगतं ससर्ज | 8 | 43 | b |
| येनेन्द्रियप्राणमनोगुणां स्त्वम् | 3 | 33 | b |
| येषां गृहा नावसतीति साक्षात् | 10 | 48 | c |
| येषां गृहा नावसतीति साक्षात् | 15 | 75 | c |
| येऽस्मत्पितुः कुपितहास विजृम्भितभ्रू | 9 | 23 | c |
| यैः स्वदेहः स्मृतो नाऽऽत्मा | 15 | 37 | a |
| योगस्यार्धं न बिभ्रति | 15 | 29 | b |
| योगान्तरायान्मौनेन | 15 | 23 | c |
| योगेन मीलितदृगात्म निवीतनिद्रः | 9 | 32 | c |
| योगेन वह्निमिव दारुषु नाऽन्यतःस्यात् | 9 | 47 | d |
| योगेश्वरैर्विमृश्याङ्घ्रिः | 15 | 27 | c |
| योग्यकामैरपूरया | 13 | 23 | b |
| योऽतिमात्रं विकत्थसे | 8 | 12 | b |
| यो न हिंस्या द्धर्मकामम् | 6 | 5 | a |
| यो नो गतिं योगसिद्धामसाधुः | 8 | 45 | a |
| योऽन्धेन तमसाऽऽवृतम् | 3 | 26 | b |
| योऽ वतीर्यात्मनोंशेन | 11 | 6 | a |
| यौऽसो लब्धवरो मत्तः | 10 | 27 | a |
| यं कीणात्यसुभिःप्रेष्ठैः | 6 | 16 | c |
| यं साधु गाथा सदसि | 4 | 36 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| यं स्वधिष्ण्योपगतन्त्वजादयः | 8 | 16 | c |
| यः प्रव्रज्य गृहात्पूर्वम् | 15 | 36 | a |
| यः श्रोता योऽनुवक्ते ह | 2 | 44 | c |
| यः स्वीयपारक्यविभिन्नभावः | 6 | 22 | c |
| **र** | | | |
| रक्षागृहीतवपुषापुनरन्वमंस्थाः | 8 | 43 | d |
| रक्षा च क्षत्रलक्षणम् | 11 | 22 | d |
| रजस्तमस्कान् प्रमिणो त्युरुश्रवाः | 1 | 11 | n |
| रजस्तमश्च सत्त्वेन | 15 | 25 | a |
| रजस्तमः प्रकृतयः | 15 | 44 | c |
| रजस्तमोभ्यां रहिते | 1 | 37 | c |
| रजस्वलैस्तनूदेशैः | 13 | 12 | c |
| रजस्सत्त्वतमो धाम्ने | 3 | 27 | c |
| रजस्सृजत्येष पृथक् स्वमायया | 1 | 10 | b |
| रजःकुण्ठमुखाम्भोजम् | 2 | 30 | c |
| रजः प्रमादः क्षुन्निद्रा | 15 | 44 | a |
| रत्नस्तम्भेषु पश्यन्ति | 4 | 11 | c |
| रत्नाकराश्च रत्नौघान् | 4 | 17 | a |
| रत्योपस्थं प्रजापतौ | 12 | 26 | d |
| रथं सूतं ध्वजं वाहान् | 10 | 66 | c |
| रथेभाश्वै श्चरे क्वाऽपि | 13 | 41 | c |
| रभसादृष्टदच्छदम् | 2 | 30 | b |
| रसकूपामृतं पपौ | 10 | 62 | d |
| रसपालानिदं जगौ | 10 | 63 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| राकयाचाऽनुमत्या वा | 14 | 23 | c |
| राक्षसौ तौ बभूवतुः | 10 | 36 | b |
| रागक्लैब्यश्रमादयः | 13 | 33 | b |
| रागो द्वेषश्च लोभश्च | 15 | 43 | a |
| राजतश्चोरतश्शत्रोः | 13 | 32 | a |
| राजन्यदग्रपूजायाम् | 14 | 36 | c |
| राजन्यश्च जुगुप्सिताम् | 10 | 20 | d |
| राजसूये महाक्रतौ | 1 | 13 | b |
| राजसेवकयोरिव | 10 | 6 | d |
| राजं स्तद्भक्तिभाङ्नरः | 15 | 67 | d |
| राजानः कृष्णवैरिणः | 10 | 39 | b |
| राजा पाण्डुसुतः क्रतौ | 1 | 14 | b |
| राज्य कोशबलामात्य- | 7 | 46 | c |
| राज्ञ आवेदय द्यथा | 8 | 2 | d |
| राज्ञस्तद्वच आकर्ण्य | 1 | 21 | a |
| राज्ञां ये गृहमेधिनाम् | 5 | 51 | d |
| राज्ञो वृत्तिः प्रजागोप्तुः | 11 | 14 | c |
| रामवीर्यं श्रोष्यसि त्वम् | 1 | 44 | c |
| रायः कलत्रं पशव स्सुतादयः | 7 | 41 | a |
| रावणः कुम्भकर्णश्च | 1 | 43 | c |
| रिपवोऽपि सुरा नृप ! | 4 | 36 | b |
| रिपोरभिमुखे श्लाघ्यः | 2 | 20 | c |
| रुदन्त्य उच्चैर्दयिताङ्घ्रिपङ्कजम् | 2 | 32 | a |
| रुधिरप्रियं तर्पयिष्ये | 2 | 8 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| रुषा नृसिंहं गदयोरुवेगया | 8 | 25 | d |
| रुषा प्रस्फुरिताधरः | 5 | 25 | d |
| रूप पेशल माधुर्य- | 15 | 70 | a |
| रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम् | 10 | 50 | b |
| रूपं धियावस्तुतयोपवर्णितम् | 15 | 77 | b |
| रूपं नृसिंह ! विभवाय जनाःस्मरन्ति | 9 | 14 | d |
| रूपाणि चक्षुषा राजन् | 12 | 28 | a |
| रूपे इमे सदसती तव वेदहृष्टे | 9 | 47 | a |
| रेमेऽभिवन्द्याङ्घ्रियुगः सुरादिभिः | 4 | 12 | c |
| रोगः पातकिनामिव | 5 | 27 | d |
| **ल** | | | |
| लब्धे नवे नवेऽन्नाद्ये | 12 | 19 | c |
| लय मीयतुरञ्जसा | 1 | 19 | d |
| लिङ्गात्मनोर्लिङ्गगुणाश्च सन्ति | 1 | 11 | d |
| लिङ्गैर्वर्णाश्रमादिभिः | 13 | 14 | b |
| लीलाकथास्तवनृसिंहविरिञ्चगीताः | 9 | 18 | b |
| लुब्धकेन प्रलोभिता | 2 | 51 | d |
| लुब्धको विपिने कश्चित् | 2 | 50 | a |
| लुब्धानामजितात्मनाम् | 13 | 31 | b |
| लोकतत्त्वविवित्सया | 13 | 13 | b |
| लोकसन्तापनोऽसुरः | 10 | 26 | d |
| लोकस्य कुर्वतः कर्म | 13 | 18 | c |
| लोकं पुनानामुनयोऽभियान्ति | 10 | 48 | b |
| लोकं पुनानामुनयोऽभियान्ति | 15 | 75 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| लोका न यावन्नङ्क्ष्यन्ति | 3 | 7 | e |
| लोकानां धर्महेतवे | 11 | 5 | b |
| लोकानां स्वस्तयेऽध्यास्ते | 11 | 6 | c |
| लोकान् पुनानाऽन्यपरं वदामि किम् | 10 | 71 | d |
| लोकान्यास्यति सुप्रजाः | 10 | 22 | d |
| लोकान्विभावयसि हंसि जगत्प्रतीपान् | 9 | 38 | b |
| लोकान्साध्वनुगृह्णता | 14 | 2 | b |
| लोका यत्र चराचराः | 15 | 80 | d |
| लोकाश्च निर्वृतिमिताः प्रति यान्तु सर्वे | 9 | 14 | c |
| लोकांश्च त्रीन् महासुरः | 4 | 5 | b |
| लोकां स्त्रीन् सेश्वरान् नृप ! | 10 | 55 | b |
| लोकेऽस्मिन्द्वौ गुरुत्तमौ | 13 | 34 | b |
| लोकोऽयं मन्यते नरम् | 15 | 27 | d |
| **व** | | | |
| वक्ष्ये सनातनं धर्मम् | 11 | 5 | c |
| वचो वस्सर्वताशिशवम् | 6 | 1 | b |
| वज्रसंहननो युवा | 3 | 23 | d |
| वज्रसारामहौजसः | 10 | 61 | b |
| वत्स आसीत्तदा ब्रह्मा | 10 | 62 | a |
| वत्सप्रह्लाद भद्रं ते | 5 | 9 | a |
| वधोपायाश्च निर्मिताः | 5 | 45 | b |
| वधो यत्राऽदिदैत्ययोः | 10 | 42 | d |
| वध्यता माश्वयं वध्यः | 5 | 34 | c |
| वध्यमानास्सुरैर्भीताः | 7 | 4 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| वनं गतो यद्धरि माश्रयेत | 5 | 5 | d |
| वन्यैश्चरुपुरोडाशान् | 12 | 19 | a |
| वयमनुचरमुख्याः कर्मभिस्ते मनोज्ञैः | 8 | 52 | a |
| वयमीशकिन्नरगणास्तवाऽनुगाः | 8 | 55 | a |
| वयस्यान् पश्यत मृतान् | 6 | 1 | c |
| वयस्यै र्बालकैस्तत्र | 5 | 54 | c |
| वयं किं पुरुषास्त्वन्तु | 8 | 53 | a |
| वयं विभो ते नटनाट्यगायकाः | 8 | 50 | a |
| वरदेशान्महेश्वर ! | 10 | 15 | b |
| वरदोऽहमनुप्राप्तः | 3 | 17 | c |
| वरंवरय एतत्ते | 10 | 15 | a |
| वरं वृणीष्वाऽभिमतम् | 9 | 52 | c |
| वरः क्रूरनिसर्गाणाम् | 10 | 30 | c |
| वरान्मे वरदोत्तम ! | 3 | 35 | b |
| वरान् यदति दुर्लभान् | 4 | 2 | d |
| वरांस्तस्याऽऽशु दुर्लभान् | 4 | 1 | d |
| वरांस्त्वं वरदर्षभ | 10 | 7 | b |
| वरैर्लोकप्रलोभनैः | 9 | 55 | b |
| वर्जयेत्तां सदा विप्रः | 11 | 20 | c |
| वर्जयेत्प्रमदागाथाम् | 12 | 7 | a |
| वर्णाश्रमाचारयुतम् | 11 | 2 | c |
| वर्णितः पापनाशनः | 15 | 74 | b |
| वर्तमानः स्वकर्मकृत् | 11 | 32 | b |
| वर्तमानः स्वकर्मभिः | 15 | 67 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| वर्तमानोऽविदूरेवा | 5 | 46 | a |
| वर्तयन् स्वानुभूत्येह | 15 | 62 | c |
| वर्त्मानिमात्राधिषणाञ्च सूतम् | 15 | 41 | c |
| वर्षार्कातपषाट्स्वयम् | 12 | 20 | d |
| वल्कलादिपरिच्छदान् | 12 | 21 | d |
| वल्मीकतृणकीचकैः | 3 | 14 | d |
| ववन्दे परमेष्ठिनम् | 10 | 32 | b |
| वशमानीय विश्वजित् | 4 | 7 | b |
| वसन्दान्तो गुरोर्हितम् | 12 | 1 | b |
| वसेऽन्यदपि सम्प्राप्तम् | 13 | 39 | c |
| वाक्यै स्सत्यैःप्रियैःप्रेम्णा | 11 | 27 | c |
| वाचमग्रौ स वक्तव्याम् | 12 | 26 | a |
| वाचं वर्णं समाम्नाये | 15 | 53 | c |
| वाचि वैकारिकं मनः | 15 | 53 | b |
| वाची शतन्त्या मरुदग्नि बद्धाः | 5 | 31 | d |
| वादिनो वासवादयः | 7 | 3 | d |
| वादि वादां स्त्यजेत्तर्कान् | 13 | 7 | c |
| वानप्रस्थस्य वक्ष्यामि | 12 | 17 | a |
| वानप्रस्थो यतिर्गृही | 12 | 16 | b |
| वाराणसी मधुपुरी | 14 | 32 | c |
| वार्ताभवन्त्युत न वाऽत्र तु दाम्भिकानाम् | 9 | 46 | d |
| वार्ता विचित्रा शालीन | 11 | 16 | a |
| वासुदेवार्पणं साक्षात् | 14 | 3 | c |
| वासुदेवे परे तत्त्वे | 1 | 15 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| वासुदेवे भगवति | 1 | 13 | c |
| वासुदेवे भगवति | 7 | 35 | c |
| विकल्पं जुहुयाच्चित्ते | 13 | 43 | a |
| विकल्पे सति वस्तुनः | 15 | 61 | b |
| विकाराष्षोढशाचार्यैः | 7 | 22 | a |
| विकारैर्व्यक्ति मीयुषो | 3 | 28 | c |
| विक्रीडतो यद्वदहिर्गरुत्मतः | 8 | 26 | d |
| विक्रीडितं भगवतो रुचिरावतारैः | 9 | 13 | d |
| विचरत्समदृश्यत | 2 | 51 | b |
| विचित्रवीर्याय पवित्रकर्मणे | 8 | 40 | b |
| विचित्रामसति द्वैते | 13 | 27 | c |
| विजृम्भणत्रस्त समस्त धिष्ण्यम् | 5 | 49 | b |
| विटपा इव शुष्यन्ति | 2 | 9 | c |
| विडम्बमानस्य नृलोक मात्मनः | 10 | 71 | b |
| वितत्य जालं विदधे | 2 | 50 | c |
| वितत्रसु र्येन सुरारियूथपाः | 8 | 17 | d |
| वितथाभिनिवेशोऽयम् | 2 | 48 | a |
| विताय मामेष्यसि मुक्तबन्धः | 10 | 13 | d |
| वित्तञ्चेहोद्यमवताम् | 13 | 16 | c |
| वित्तमच्युतनिर्मितम् | 14 | 8 | b |
| वित्तेषु नित्याभिनिविष्ट चेताः | 6 | 21 | a |
| विदधुः कदनप्रियः | 2 | 13 | d |
| विदन्त्यात्मान मात्मस्थम् | 1 | 9 | c |
| विद्याधरमहोरगाः | 8 | 37 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| विद्याधरा अप्सरसश्च पाण्डव ! | 4 | 14 | d |
| विद्यार्थरूपजन्मादि | 4 | 33 | e |
| विद्यां पृथग्धारणयाऽनुरुद्धाम् | 8 | 46 | a |
| विद्याःकलास्ते तनवश्च सर्वाः | 3 | 32 | c |
| विद्वन्मान्यसकृन्नरः | 7 | 43 | b |
| विद्वानपीत्थं दनुजाः कुटुम्बम् | 6 | 22 | a |
| विद्वांश्च दोषं परवित्तहर्तुः | 6 | 21 | b |
| विद्वषो दयिते पुत्रे | 1 | 47 | a |
| विधत्स्वानन्तरं युक्तम् | 3 | 12 | c |
| विधर्मः परधर्मश्च | 15 | 12 | a |
| विधिना येन चाऽञ्जसा | 14 | 1 | b |
| विधेहि यदि मन्यसे | 3 | 7 | d |
| विनष्टां स्त्रिपुरालयैः | 10 | 56 | d |
| विना ज्ञानेन देहिनाम् | 2 | 60 | f |
| विनिद्रा वायु भोजनाः | 4 | 23 | d |
| विन्दते तत्स्वरूपताम् | 1 | 27 | d |
| विपक्षं श्रयताऽसता | 5 | 26 | b |
| विपश्यतां लोकगतिं विमोहः | 2 | 37 | b |
| विप्रचित्ते मम वचः | 2 | 5 | a |
| विप्रवृत्तिश्चतुर्धेयम् | 11 | 16 | c |
| विप्रशापात्पदच्युतौ | 1 | 32 | d |
| विप्रस्याध्ययनादीनि | 11 | 14 | a |
| विप्रात् द्विषड्गुणयुता दरविन्दनाभ | 9 | 10 | a |
| विबुधा दानवान्प्रति | 7 | 2 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| विभावसु रिवैधसः | 3 | 13 | f |
| विभ्रष्टाभरणस्रजम् | 2 | 29 | b |
| विमनस्कं वृषध्वजम् | 10 | 61 | b |
| विमानशतसङ्कुलाः | 10 | 68 | d |
| विमुञ्चति यदा कामान् | 10 | 9 | a |
| विमुञ्चेन्मुच्यमानेषु | 14 | 5 | c |
| विमृशद्भिरसत्वरैः | 7 | 24 | d |
| विमोचितुं वामदृशां विहार- | 6 | 23 | c |
| विमोहितधियां दृष्टः | 5 | 11 | c |
| वियोगः कर्मसंसृतिः | 2 | 25 | d |
| विरक्तो रक्तवत्तत्र | 14 | 6 | c |
| विरज्येत यथा राजन् | 11 | 34 | c |
| विरराम महामतिः | 5 | 15 | b |
| विरागः सर्वकामेभ्यः | 13 | 35 | a |
| विलक्ष्य विस्मितः प्राह | 3 | 16 | c |
| विलज्जो नृत्यति क्वचित् | 4 | 41 | b |
| विलोक्य देवः कृपया परिप्लुतः | 9 | 5 | b |
| विलोक्यभग्नसङ्कल्पम् | 10 | 61 | a |
| विविक्त इति होचतुः | 5 | 48 | d |
| विवित्सुरिद मप्राक्षीत् | 13 | 15 | c |
| विवृत्तताम्राक्षमशेषधिष्ण्यपाः | 4 | 13 | b |
| विवेकास्मृतिरेव च | 2 | 26 | d |
| विवेकेनोशताऽऽत्मना | 7 | 24 | b |
| विव्याध कालप्रहितो विलीनः | 2 | 56 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| विशीर्णरत्नकवचम् | 2 | 29 | a |
| विशुद्धानुभवानन्द- | 4 | 24 | c |
| विश्वस्य सर्गस्थिति संयमान्गुणैः | 8 | 40 | c |
| विश्वावसुस्तुम्बुरु रस्मदादयः | 4 | 14 | b |
| विश्वोऽथ तैजसः प्राज्ञः | 15 | 54 | c |
| विष्णु र्द्विजक्रियामूलः | 2 | 11 | a |
| विष्णुपक्षैः प्रतिच्छन्नैः | 5 | 7 | c |
| विष्णुपारिषदास्सर्वे | 8 | 39 | a |
| विष्णुप्राणादिवौकसः | 2 | 9 | d |
| विष्णोर्दासवदर्चति | 5 | 35 | d |
| विष्णो र्नालायितोऽर्भकः | 5 | 17 | d |
| विष्णो र्लोकं यदृच्छया | 1 | 35 | b |
| विष्णोर्वा साध्वसौ किं नु? | 5 | 36 | a |
| विष्णोर्वीर्योपबृंहितम् | 10 | 46 | b |
| विष्णोः पादोपसर्पणम् | 6 | 7 | b |
| विष्वक् स्फुरन्तं ग्रहणातुरं हरिः | 8 | 29 | a |
| विष्वग्भुजानीक शतं नखायुधम् | 8 | 22 | d |
| विसृज्य तस्यानुचरानुदायुधान् | 8 | 31 | b |
| विस्तरात्स्वजनार्पणात् | 15 | 4 | d |
| विस्फूर्जितेन लुलितास्सतु ते निरस्ताः | 9 | 23 | d |
| विस्रस्तकेशाभरणाः शुचं नृणाम् | 2 | 32 | c |
| विहितानि द्विजन्मनाम् | 11 | 13 | d |
| वीरं माऽर्हथ शोचितुम् | 2 | 20 | b |
| वीर्याणि गीतान्यृषिभिर्जगद्गुरोः | 10 | 71 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| वीर्याणि लीलातनुभिःकृतानि | 7 | 36 | b |
| वृतः काव्यः किलाऽसुरैः | 5 | 1 | b |
| वृतोऽमात्यैः कतिपयैः | 13 | 13 | c |
| वृत्तिश्च स्वामिनो भवेत् | 11 | 15 | d |
| वृत्तिस्सङ्करजातीनाम् | 11 | 30 | a |
| वृत्तीश्चकुल्याःपशुभृत्यवर्गान् | 6 | 18 | d |
| वृत्त्यास्वभावकृतया | 11 | 32 | a |
| वेताला स्सहकिन्नराः | 8 | 38 | d |
| वेददृग्भिःस्मृतो राजन् | 11 | 31 | c |
| वेदद्रुहावतिबलौमधुकैटभाख्यौ | 9 | 37 | b |
| वेदा वर्णाश्रमाः क्रियाः | 2 | 12 | b |
| वेदितुं तव सुव्रत! | 4 | 45 | b |
| वेदेदमसुरश्रेष्ठ | 13 | 20 | a |
| वैकुण्ठपुरवासिनाम् | 1 | 34 | b |
| वैतानिकेन विधिना हि | 14 | 17 | c |
| वैदूर्यस्तम्भपङ्क्तयः | 4 | 9 | d |
| वैद्युता इव वह्नयः | 10 | 60 | d |
| वैरभावेन तौ हतौ | 10 | 35 | d |
| वैराग्यं परितोषञ्च | 13 | 34 | c |
| वैरानुबन्धतीव्रेण | 1 | 46 | a |
| वैरेण पूतपाप्मानः | 1 | 28 | c |
| वैशारदी धीः श्रद्धातः | 7 | 17 | c |
| वैश्यस्तु वार्ता वृत्तिःस्यात् | 11 | 15 | a |
| वैषम्यमिह भूतानाम् | 1 | 23 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| व्यक्तं त्वं मर्तुकामोऽसि | 8 | 12 | a |
| व्यक्तं जन्माप्ययप्रोक्तम् | 7 | 29 | c |
| व्यक्तं विभो स्थूल मिदं शरीरम् | 3 | 33 | a |
| व्यतनो द्विततं यशः | 10 | 51 | b |
| व्यतीपाते दिनक्षये | 14 | 21 | b |
| व्यपेतं लोकशास्त्राभ्याम् | 13 | 45 | c |
| व्यलुम्पन्राजशिबिरम् | 7 | 6 | a |
| व्यवसायेन तेनैव | 3 | 30 | a |
| व्यसुभिर्वाऽसुमद्भिर्वा | 3 | 37 | a |
| व्याख्यारहो जपसमाधय आपवर्ग्याः | 9 | 46 | b |
| व्यात्तान नान्तं विलिहन्स्व जिह्वया | 8 | 30 | b |
| व्यात्तास्यनासं हनुभेद भीषणम् | 8 | 21 | d |
| व्याधिभिर्जरयाऽथवा | 12 | 23 | b |
| व्यापकोऽसङ्गघनावृतः | 7 | 19 | d |
| व्याप्तिञ्च भूतेष्वखिलेषु चाऽऽत्मनः | 8 | 18 | b |
| व्याप्य व्यापक निर्देश्यो हि | 6 | 28 | c |
| व्यालो यथाऽऽखुं कुलिशाक्षतत्वचम् | 8 | 29 | b |
| व्रतत्यगो वटोरपि | 15 | 38 | b |
| व्रियतामीप्सितो वरः | 3 | 17 | d |
| **श** | | | |
| शकुनिं शम्बरं धार्ष्टिम् | 2 | 18 | a |
| शण्डामार्का वौशनसौ | 5 | 48 | c |
| शण्डामर्कौ सुतौ तस्य | 5 | 1 | c |
| शतबाहो ! हयग्रीव ! | 2 | 4 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| शत्रव स्त्वेवमादयः | 14 | 44 | b |
| शनैर्निर्गुणतामियात् | 11 | 32 | d |
| शपतो रसकृद्विष्णुम् | 1 | 18 | a |
| शब्दयन्त्य इतस्ततः | 4 | 11 | b |
| शमोदमस्तपश्शौचम् | 11 | 21 | a |
| शम्भोः प्राधनिकं व्यधात् | 10 | 65 | d |
| शयान मसृगाविलम् | 2 | 29 | d |
| शयानस्येव न स्वतः | 7 | 29 | d |
| शयानः प्रपिबन् ब्रुवन् | 4 | 39 | b |
| शयानौ हृदि निर्भिन्न | 10 | 37 | a |
| शयिष्यमाण स्तम ईरयत्यसौ | 1 | 10 | d |
| शरणं ययुरच्युतम् | 4 | 21 | d |
| शरनिर्भिन्नहृदयम् | 2 | 29 | c |
| शरन्तु जीवं परमेव लक्ष्यम् | 15 | 42 | d |
| शरं धनु रुपाददे | 10 | 67 | b |
| शरं धनुषि सन्धाय | 10 | 57 | c |
| शरं धनुषि सन्धाय | 10 | 67 | c |
| शरीरं पौरुषं यावत् | 6 | 10 | c |
| शरीरिण स्संसृति चक्रशातनम् | 7 | 39 | b |
| शर्कराकण्टकादिभ्यः | 15 | 17 | c |
| शान्तस्य समचित्तस्य | 13 | 9 | c |
| शान्तास्सन्न्यासिनोऽमला | 4 | 22 | d |
| शासनं किम्बलोऽत्यगाः | 8 | 7 | d |
| शास्त्रेण चक्षुषा वेद | 15 | 56 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| शिक्षितो मे मधुव्रतात् | 13 | 35 | b |
| शिरः कायाद्धरामि ते | 8 | 14 | b |
| शिशुपाल करूषजौ | 10 | 38 | b |
| शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् | 9 | 40 | b |
| शुक्लो राकोत्तरं स्वराट् | 15 | 54 | b |
| शुद्धानिनोऽधिबुभुजे प्रसभंतनूजैः | 8 | 44 | a |
| शुन श्शेप इव प्रभुः | 5 | 46 | d |
| शुश्रुवेऽनुपपाठ च | 5 | 3 | b |
| शुश्रूषतीनां दिश यत्र यास्यसि | 2 | 34 | d |
| शुश्रूषयाऽनुषङ्गेण | 15 | 73 | c |
| शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा | 11 | 15 | c |
| शूद्रस्य सन्तति श्शौचम् | 11 | 24 | a |
| शूराणां वध ईप्सितः | 2 | 20 | d |
| शूल मुद्यम्य सदसि | 2 | 3 | c |
| शृणुतानन्तरं सर्वे | 2 | 5 | c |
| शृण्वत्या स्सदः कथाः | 1 | 21 | d |
| शृण्वन् भगवतोऽभीक्ष्णम् | 14 | 4 | a |
| शेते जीवेन रूपेण | 14 | 38 | c |
| शेतेऽन्धं प्रापित स्तमः | 6 | 11 | d |
| शेषं गृहेषु सक्तस्य | 6 | 13 | c |
| शेषं सुखं जीवति यद्विवर्जनात् | 5 | 37 | d |
| शेषे तद्वीक्षिताऽपि वा | 13 | 18 | d |
| शेषे स्वतो निजसुखानुभवो निरीहः | 9 | 32 | b |
| शेषे स्वत्वं त्यजन्प्राज्ञः | 14 | 15 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| शैलाद्रोणीभिराक्रीडम् | 4 | 18 | a |
| शैला स्समुत्पेतु रमुष्य रंहसा | 8 | 33 | c |
| शोकमोहभयक्रोध | 13 | 33 | a |
| शोकमोहभयप्रदाः | 7 | 28 | d |
| शोकमोहौ भयंमदः | 15 | 43 | b |
| शोकश्च विविधः स्मृतः | 2 | 26 | b |
| शोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानः | 9 | 17 | b |
| शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थम् | 9 | 43 | c |
| शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेजः | 11 | 22 | a |
| श्रद्दधानो जितेन्द्रियः | 12 | 6 | b |
| श्रद्दधानो यथा कालम् | 14 | 4 | c |
| श्रद्धयातत्कथा याञ्च | 7 | 33 | a |
| श्रद्धया विधिवत्पात्रे | 15 | 5 | c |
| श्रद्धयोपहृतं क्वाऽपि | 13 | 38 | a |
| श्रद्धया च सपर्यया | 14 | 41 | b |
| श्रयेत हिम वाय्वग्नि | 12 | 20 | c |
| श्रवण स्तिस्र उत्तराः | 14 | 24 | b |
| श्रवणं कीर्तनञ्चाऽस्य | 11 | 11 | a |
| श्रवणं कीर्तनं विष्णोः | 5 | 23 | a |
| श्राद्धं पित्रो र्यथावित्तम् | 14 | 20 | c |
| श्राद्धे कुर्यान्न विस्तरम् | 15 | 3 | d |
| श्रुतमेतन्मयापूर्वम् | 6 | 34 | a |
| श्रुतेषु दृष्टेषु गुणेष्ववस्तुदृक् | 4 | 34 | b |
| श्रुत्वा कृष्णं परं ब्रह्म | 15 | 79 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| श्रुत्वा तदनुवर्णितम् | 8 | 1 | b |
| श्रुत्वा तदप्रियं दैत्यः | 8 | 3 | a |
| श्रुत्वाऽनुभाव मकुतोभयमेति लोकम् | 10 | 47 | d |
| श्रुत्वा पुत्र गिरो दैत्यः | 5 | 6 | a |
| श्रुत्वा स्वधामाप्ययमङ्ग मेनिरे | 8 | 16 | d |
| श्रुत्वेहितं साधुसभसभाजितम् | 11 | 1 | a |
| श्रूयतां किन्त्वविदितं | 3 | 8 | c |
| श्रेयसीचोत्तरोत्तरा | 11 | 16 | d |
| श्रेयस्कामा महाभागाः | 9 | 54 | c |
| श्रेयस्कामोह्यभीक्ष्णशः | 14 | 34 | d |
| श्रेयोऽमोघं तदायुषः | 14 | 25 | d |
| श्रेयो विघाता दायासात् | 6 | 14 | c |
| श्लक्ष्णया देशकालज्ञः | 2 | 19 | c |
| श्लाघयन्तिह्यसत्तमाः | 15 | 37 | d |
| श्ववृत्तिर्नीचसेवनम् | 11 | 20 | b |
| श्वसन् प्रकृतिदारुणः | 8 | 5 | d |
| श्वित्रो न जातो जिह्वायाम् | 1 | 18 | c |
| **ष** | | | |
| षड्वर्गसंयमैकान्ताः | 15 | 28 | a |
| **स** | | | |
| स इत्थं दैत्यपतिना | 13 | 19 | a |
| स इत्थंनिर्जित ककुप् | 4 | 19 | a |
| स ईश्वरः काल उरुक्रमोऽसौ | 8 | 9 | a |
| स उत्तमश्लोकपदारविन्दयोः | 4 | 43 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| स एव तं शाकुनिक श्शरेण | 2 | 56 | c |
| स एव वर्णाश्रमिभिः | 4 | 15 | a |
| स एव विश्वं परमस्स्वशक्तिभिः | 8 | 9 | c |
| स एष आत्मास्वपरेत्यबुद्धिभिः | 5 | 13 | a |
| स एष त्वया भिन्नवक्षा नु शेते | 8 | 49 | c |
| स एष नीतो भवता दशा मिमाम् | 8 | 50 | c |
| स एष भगवान् राजन्! | 10 | 51 | a |
| सख्यमात्मनिवेदनम् | 5 | 23 | d |
| सख्यमात्मसमर्पणम् | 11 | 11 | d |
| सङ्कल्प इह कर्मणः | 7 | 44 | b |
| सङ्गंरहस्यं रुचिरांश्च मन्त्रान् | 6 | 17 | b |
| सङ्गेन साधुभक्तानाम् | 7 | 32 | c |
| सङ्घातन्तु यथार्हतः | 12 | 24 | d |
| सङ्घाता न्न विविच्यते | 1 | 9 | b |
| सचाऽन्यः प्राणदेहयोः | 2 | 45 | d |
| सञ्चोदितप्रकृतिधर्मिण आत्मगूढम् | 9 | 33 | b |
| सञ्चोदित स्तदखिलं भवतः स्वरूपम् | 9 | 20 | d |
| सटावधूता जलदाः परापतन् | 8 | 32 | a |
| सतत्करस्पर्शधुताखिलाशुभः | 9 | 6 | a |
| स तत्कीचकवल्मीकात् | 3 | 23 | a |
| स तत्रतत्रोभयसिद्धि माप्नुयात् | 1 | 11 | c |
| स तस्य हस्तोत्कलित स्तदाऽसुरः | 8 | 26 | c |
| सतीं परपरिग्रहम् | 7 | 8 | d |
| स तु जनपरितापं तत्कृतं जानता ते | 8 | 52 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| स तेनेहेत कर्माणि | 15 | 66 | c |
| स तेपे मन्दर द्रोण्याम् | 3 | 2 | a |
| सत्त्वञ्चोपशमेन च | 15 | 25 | b |
| सत्त्वप्रकृतयः क्वचित् | 15 | 44 | d |
| सत्त्वं तवप्रियतमां तनुमामनन्ति | 9 | 37 | d |
| सत्त्वंबृहद्वन्धुरमीश सृष्टम् | 15 | 41 | d |
| सत्त्वं रजस्तम इति | 1 | 7 | a |
| सत्त्वं विचित्रासुरिरंसु रीश्वरः | 1 | 10 | c |
| सत्त्वं सुरगणान् विष्णु रुपबृंहय ते मुहुः | 1 | 12 | b |
| सत्त्वं सुरानीक मिवैधयत्यजः | 1 | 11 | f |
| **सत्त्वेन** चित्तं क्षेत्रज्ञे | 12 | 29 | e |
| सत्त्वैकतान मतयो वचसां प्रवाहैः | 9 | 8 | b |
| सत्पात्रं यत्र लभ्यते | 14 | 28 | d |
| सत्यञ्च ब्रह्मलक्षणम् | 11 | 21 | d |
| सत्यसन्धो जितेन्द्रियः | 4 | 32 | b |
| सत्यं कथय मामृषा | 5 | 9 | b |
| सत्यं गोविप्ररक्षणम् | 11 | 24 | d |
| सत्यं दया तपश्शौचम् | 11 | 8 | a |
| सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितम् | 8 | 18 | a |
| सत्यात्मन स्सख्यु रशेषदेहिनाम् | 7 | 40 | c |
| सत्यानृतं तु वाणिज्यम् | 11 | 20 | a |
| सत्यानृताभ्यां जीवेत | 11 | 18 | c |
| सत्वं हि नित्यविजितात्मगुणः स्वधाम्ना | 9 | 22 | a |
| सत्वात्मयोनि रतिविस्मित आश्रितोब्जम् | 9 | 35 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सत्त्सङ्गा च्छनकै स्सङ्गम् | 14 | 5 | a |
| सदसस्पतयोऽप्येके | 15 | 21 | c |
| सदाऽऽप्रोतीहया दुःखम् | 7 | 44 | c |
| सदा सन्तुष्टमनसः | 15 | 17 | a |
| सदा समुद्विग्रधियामसद्ग्रहात् | 5 | 5 | b |
| सदीनो राजसेवकः | 5 | 15 | d |
| स दृष्ट्या दर्शये नृणाम् | 13 | 10 | d |
| स देशः श्रेयसां पदम् | 14 | 30 | b |
| सद्विजोऽजो जगाद यम् | 11 | 13 | b |
| सधूमोग्रिस्तमोमयः | 3 | 4 | b |
| सन दृश्येत कर्हिचित् | 2 | 44 | d |
| सनन्दनादयो जग्मुः | 1 | 35 | c |
| स निरीक्ष्याम्बरे देवम् | 3 | 24 | a |
| स निर्ममे पुरस्तिस्रः | 10 | 54 | a |
| सन्ति विस्मृत्य वै पुमान् | 13 | 27 | b |
| सन्ति ह्यच्युततां गताः | 7 | 56 | d |
| सन्ति ह्यसाधवो लोके | 5 | 27 | a |
| सन्तुष्टस्य निरीहस्य | 15 | 16 | a |
| सन्तुष्टः केन वा राजन् | 15 | 18 | a |
| सन्तुष्टा लोलुपा दक्षाः | 11 | 28 | a |
| सन्तुष्टोऽहरहः कुर्यात् | 15 | 11 | c |
| सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम् | 11 | 21 | b |
| सन्तोषः समदृक् सेवा | 11 | 9 | a |
| सन्दष्ट दशन च्छदः | 2 | 2 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सन्दीपयत वृश्चत | 2 | 12 | d |
| सन्दोहाय यतोऽभयम् | 4 | 24 | d |
| सन्ध्ये उभे च यतवाक् | 12 | 2 | c |
| सन्नद्धो रथ मास्थाय | 10 | 67 | a |
| सन्नादयन्ती ककुभः | 4 | 25 | c |
| सन्न्यस्याहम्ममात्मताम् | 12 | 24 | b |
| सपत्नैर्घातितःक्षुद्रैः | 2 | 6 | a |
| सपत्नैर्निहतो युद्धे | 2 | 28 | c |
| सपद्यभिव्यक्तपरात्मदर्शनः | 9 | 6 | b |
| सप्तद्वीपवती मही | 4 | 16 | b |
| सभासु सत्रेषु तवाऽमलं यशः | 8 | 54 | a |
| समस्तनिगमानहन् | 10 | 27 | d |
| समः प्रियसुहृद्ब्रह्मन् | 1 | 1 | a |
| समाम्नातं यतेरपि | 12 | 11 | b |
| समहितधियोऽमलाः | 4 | 23 | b |
| समुक्त सङ्गैः रिषितोऽपवर्गः | 6 | 24 | d |
| समुक्तान्ध्योऽतिदुर्लभः | 6 | 5 | d |
| समुन्नीय निजाश्रमम् | 7 | 12 | b |
| समेनाऽत्युपधावनैः | 2 | 6 | d |
| सम्परेतस्य दुःखितः | 2 | 17 | b |
| सम्प्रत्यमर्षी गोविन्दे | 1 | 17 | c |
| सम्प्रीयते दुरित दुष्टमसाधुतीव्रम् | 9 | 39 | b |
| सम्बन्धा द्वेष्णयः स्नेहात् | 1 | 30 | c |
| सम्भवश्च विनाशश्च | 2 | 26 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सम्भाषणीयो हि भवान् | 13 | 22 | c |
| सम्भोजशयनासनैः | 5 | 38 | b |
| सम्मार्जनोपलेपाभ्याम् | 11 | 26 | a |
| सम्यग्भवन्ति नैतानि | 15 | 4 | c |
| सम्यग्विधार्यतां बालः | 5 | 7 | a |
| स यदाऽनुवृतःपुंसाम् | 5 | 12 | a |
| स येन संख्ये पशुवद्धत स्तम् | 8 | 46 | c |
| स रक्षिता रक्षति योहि गर्भे | 2 | 38 | d |
| सरांसि पुष्करादीनि | 14 | 31 | a |
| सरीसृपविमक्षिकाः | 14 | 10 | b |
| सर्गस्थानसमाम्नायैः | 7 | 24 | c |
| सर्गस्थित्यप्ययेशस्य | 10 | 44 | a |
| सर्पः पदा हत इव | 8 | 5 | c |
| सर्व एव वयं मुने | 1 | 16 | b |
| सर्व कर्मसमर्पणम् | 15 | 64 | b |
| सर्वगस्सर्ववित्परः | 2 | 22 | b |
| सर्वजीवात्मतर्पणम् | 14 | 37 | d |
| सर्वतो गोप्तृसन्त्रासान् | 10 | 29 | c |
| सर्वतोऽभिविशङ्किनाम् | 13 | 31 | d |
| सर्वत्र तापत्रय दुःखितात्मा | 6 | 20 | c |
| सर्वत्र लभ्यते दैवात् | 6 | 7 | c |
| सर्वत्र सदसन्मये | 13 | 4 | d |
| सर्वदेवमयो नृपः | 11 | 20 | f |
| सर्वभावेन साधवः | 9 | 54 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| सर्व भूतसुहृच्छान्तः | 13 | 3 | c |
| सर्वभूतात्मनीश्वरे | 7 | 55 | d |
| सर्वभूतात्मभूतं तम् | 1 | 42 | a |
| सर्वभूतेष्वधोक्षजम् | 12 | 15 | b |
| सर्वमेत च्चराचरम् | 14 | 29 | b |
| सर्वमैन्द्रियकं मृषा | 2 | 48 | d |
| सर्वर्तुषु गुणान् द्रुमाः | 4 | 18 | b |
| सर्वलाभार्पणेन च | 7 | 32 | b |
| सर्वलोकगुरुं प्रभुम् | 10 | 16 | b. |
| सर्वलोकोपतापिनौ | 1 | 43 | d |
| सर्व वेदमयो विप्रः | 10 | 20 | e |
| सर्व वेदमयो हरिः | 11 | 7 | b |
| सर्वश्रेयोपपत्तये | 4 | 26 | d |
| सर्वसत्त्वपतीञ्जित्वा | 4 | 7 | a |
| सर्वं कुञ्जरशौचवत् | 15 | 26 | d |
| सर्वं तत्पुरुषात्मकम् | 15 | 6 | d |
| सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन् | 9 | 48 | c |
| सर्वात्मना न हिंसन्ति | 10 | 20 | a. |
| सर्वात्मना महिगृणामि यथामनीषम् | 9 | 12 | b |
| सर्वात्मा येन तुष्यति | 11 | 12 | d |
| सर्वा नियमचोदनाः | 15 | 28 | b |
| सर्वावयवसम्पन्नः | 3 | 23 | c |
| सर्वासा माशिषां पतिम् | 9 | 54 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| सर्वास्स्युर्यज्ञ सम्पदः | 14 | 17 | b |
| सर्वाःशिवमयादिशः | 15 | 17 | b |
| सर्वे कुलाचला राजन्! | 14 | 33 | d |
| सर्वे प्राणपरीप्सवः | 7 | 5 | d |
| सर्वेमनःप्रभृतयःसहदेवमर्त्याः | 9 | 49 | b |
| सर्वेऽर्थकामाःक्षणभङ्गुरायुषः | 7 | 41 | c |
| सर्वे लोका स्सपालकाः | 4 | 21 | b |
| सर्वे विस्मितचेतसः | 2 | 58 | b |
| सर्वेषामपि भूतानाम् | 7 | 51 | a |
| सर्वेषा मपि सर्वशः | 11 | 17 | d |
| सर्वेषां प्रतिरूपधृक् | 10 | 21 | d |
| सर्वेषां भद्रमस्तु वः | 4 | 26 | b |
| सर्वेषां लोकपालानाम् | 3 | 38 | a |
| सर्वेषां समुदाहृतः | 11 | 12 | b |
| सर्वेषु भूतेष्वधियज्ञ मीशम् | 10 | 12 | c |
| सर्वेहोपरति स्तनुः | 13 | 26 | b |
| सर्वेह्यमी विधिकरास्तवसत्त्वधाम्नः | 9 | 13 | a |
| सर्वैं रुपायै र्हन्तव्यः | 5 | 38 | a |
| सलिला मीलितेक्षणः | 4 | 42 | d |
| स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्यम् | 10 | 49 | a |
| सवा अयं ब्रह्म महद्विमृग्यम् | 15 | 76 | a |
| स वा आशु विनश्यति | 4 | 28 | d |
| स वान्ताश्यनपत्रपः | 15 | 36 | d |
| स विजित्य दिशस्सर्वाः | 4 | 5 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| स वै देहस्तु पारक्यः | 7 | 45 | c |
| स वै पुण्यतमोदेश | 14 | 28 | c |
| स वै बल बलिनाञ्चापरेषाम् | 8 | 8 | b |
| स वै स्वामी स वै भृत्यः | 10 | 5 | a |
| ससत्त्वमेवं परितोऽपि पश्यन् | 8 | 19 | a |
| सस्तेनो दण्डमर्हति | 14 | 9 | d |
| सह ओजो बलान्वितः | 3 | 23 | b |
| सह देहेन नश्वरैः | 7 | 47 | b |
| संरम्भ दुष्प्रेक्षकराललोचनो | 8 | 30 | a |
| सहस्राधिफलोदयः | 14 | 34 | f |
| संरभ्य भययोगेन | 1 | 27 | c |
| संरम्भं सुदुरासदम् | 9 | 1 | d |
| संवर्ताक इवांशुभिः | 3 | 3 | b |
| संवादं तं निबोधत | 2 | 27 | d |
| संशय स्सुहाञ्जातः | 1 | 3 | c |
| संसार कूप उरुमृत्युभये क्षिपन्ति | 15 | 46 | d |
| संसार चक्रकदनाद्ग्रसतां प्रणीतः | 9 | 16 | b |
| संसार चक्र मज कोऽतितरेत् त्वदन्यः | 9 | 21 | d |
| संसेवया त्वपि विनेति षडङ्गया किम् | 9 | 50 | c |
| संसेवया सुरतरोरिव ते प्रसादः | 9 | 27 | c |
| संस्कारकालो जायायाः | 14 | 27 | a |
| संस्कारा यदविच्छिन्नाः | 11 | 13 | a |
| संस्कारै स्संस्कृतो द्विजः | 15 | 52 | b |
| साक्षाच्छ्रीःप्रेषिता देवैः | 9 | 2 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| साक्षान्निःश्रेयसात्मनः | 1 | 2 | b |
| साद्रिद्वीपा चचाल भूः | 3 | 5 | b |
| साधयिष्ये तथाऽऽत्मनः | 3 | 10 | d |
| साधव स्समुदाचाराः | 10 | 19 | c |
| साधुपृष्टं महाभाग ! | 1 | 4 | a |
| साधुपृष्टं महाराज | 14 | 2 | a |
| साधूनामभयङ्करी | 4 | 25 | d |
| साधो स्वमोहप्रभवाः कुतः परे | 8 | 11 | d |
| सा नोपेयाय शङ्किता | 9 | 2 | d |
| सामान्यतःकिं विषयोपपादनैः | 7 | 40 | d |
| सायं प्रातरुपासीत | 12 | 2 | a |
| सायं प्रात श्चरेद्वैक्षम् | 12 | 5 | a |
| सायुज्यं चेदिभूभुजः | 1 | 13 | d |
| सारङ्गुषाञ्चरणयोरुपगायतां नः | 6 | 31 | d |
| साऽसज्यत शिच स्तन्त्याम् | 2 | 52 | a |
| सिञ्चन्त्य अस्त्रैः कुच कुङ्कुमारुणैः | 2 | 32 | b |
| सिद्धचारणविद्याध्राः | 4 | 6 | a |
| सिद्धत्वादिह सर्वतः | 6 | 25 | d |
| सिद्धामृतरसस्पृष्टाः | 10 | 60 | a |
| सिद्धैर्यज्ञावशिष्टार्थैः | 14 | 15 | a |
| सीतारामाश्रमादयः | 14 | 33 | b |
| सुखमस्याऽऽत्मनो रूपम् | 13 | 26 | a |
| सुख मैन्द्रियकं दैत्याः | 6 | 8 | a |
| सुखाय दुःखमोक्षाय | 7 | 44 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सुखायान्यापनुत्तये | 13 | 25 | b. |
| सुगुप्तमपि वर्णितम् | 13 | 45 | b |
| सुतरां नृषु पाण्डव ! | 10 | 10 | d |
| सुतं महाभागवतं महाऽसुरः | 8 | 15 | b |
| सुतानां सम्मतो ब्रह्मन् | 11 | 3 | c |
| सुतामपि रहो जह्यात् | 12 | 9 | c |
| सुतो वदत्येष तवेन्द्रशत्रो ! | 5 | 28 | b |
| सुदत्य स्सुन्दरं मुखम् | 4 | 11 | d |
| सुनन्दकुमुदादयः | 8 | 39 | b |
| सुपात्रं ब्राह्मणं विदुः | 14 | 42 | b. |
| सुप्तप्रबोधयो स्सन्धौ | 13 | 5 | a |
| सुप्तस्त्वज्ञाननिद्रया | 6 | 3 | b |
| सुयज्ञ इति विश्रुतः | 2 | 28 | b |
| सुयज्ञो नन्वयं शेते | 2 | 44 | a |
| सुरानकादुन्दुभयोऽथ जघ्निरे | 8 | 36 | c |
| सुरासुरमहोरगैः | 3 | 37 | b |
| सुवासाःस्रगलङ्कृतः | 13 | 41 | b |
| सुशीलो मितभुग् दक्षः | 12 | 6 | a |
| सुषुप्तिरिति वृत्तयः | 7 | 25 | b. |
| सुहृत्सुतस्त्रेहसित श्शिशूनाम् | 6 | 17 | c |
| सुहृल्लिङ्गधरःशत्रुः | 5 | 38 | c |
| सूदयध्वं तपो यज्ञ- | 2 | 10 | c |
| सृजत्यवति लुम्पति | 3 | 27 | b |
| सृजत्यवत्यत्ति गुणत्रयेशः | 8 | 9 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सृजत्त्य आक्रन्दनया विलेपिरे | 2 | 32 | d |
| सृष्ट्वा गुणव्यतिकरं निज माययेदम् | 9 | 30 | c |
| सृष्ट्वा चराचरमिदम् | 3 | 9 | a |
| सेतुप्राकार गोपुरान् | 2 | 15 | b |
| सेवानुरूप मुदयो न परावरत्वम् | 9 | 27 | d |
| सेवा स्वामिन्यमायया | 11 | 24 | b |
| सेवेज्या ऽवनति र्दास्यम् | 11 | 11 | c |
| सोद्यमो भोगवान्यथा | 13 | 16 | b |
| सोऽध्यक्षः पुरुषः परः | 7 | 25 | d |
| सोपहूतः कृतक्षणैः | 5 | 54 | d |
| सोऽयंते विधिकर ईश विप्रशापात् | 8 | 56 | c |
| सोऽयं निष्किल्बिषः साक्षात् | 7 | 10 | a |
| सोऽसाविति नवेति च | 13 | 14 | d |
| सोऽहं कथं नु विसृजे तव भृत्यसेवाम् | 9 | 28 | d |
| सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवतायाः | 9 | 18 | a |
| सोऽहं विकत्थमानस्य | 8 | 14 | a |
| सौगन्ध्यप्रियदर्शनः | 15 | 70 | b |
| सौहृदं दुस्त्यजं पित्रोः | 5 | 36 | c |
| स्तब्धं मच्छासनोद्वृत्तम् | 8 | 6 | c |
| स्तब्धोर्ध्वकर्णं गिरिकन्दराद्भुत- | 8 | 21 | c |
| स्तम्भस्यमध्यदनुनिर्जिहानम् | 8 | 19 | b |
| स्तम्भं ततोऽति बलःस्वमुष्टिना | 8 | 15 | d |
| स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम् | 8 | 18 | d |
| स्तुत्वा वाग्भिः पवित्राभिः | 10 | 25 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| स्तूयमानः प्रजेश्वरैः | 4 | 3 | d |
| स्त्रियश्शूद्रा व्रजौकसः | 7 | 56 | b |
| स्त्रियाऽकरुणया विभुः | 2 | 53 | b |
| स्त्रीणान्तु पतिदेवानाम् | 11 | 25 | a. |
| स्त्रीणां प्रियतमो नित्यम् | 15 | 70 | c |
| स्त्रीत्वान्मातुस्तिरोदधे | 7 | 16 | b |
| स्त्रीबालानाञ्च मे यथा | 7 | 17 | d |
| स्त्रीभिः पीरवृतो गतः | 15 | 72 | b |
| स्त्रीरत्नानि हतानि नः | 8 | 47 | b |
| स्त्रीषु स्त्रीनिर्जितेषु च | 12 | 6 | d |
| स्त्र्यवलेख्यामिषं मधु | 12 | 12 | b |
| स्थानानि सहतेजसा | 4 | 7 | d |
| स्थिरं समं सुखं तस्मिन् | 15 | 31 | c. |
| स्नपनार्घ्यञ्जनादिकम् | 12 | 8 | b |
| स्नैहपाशै र्दृढै र्बद्धम् | 6 | 15 | c |
| स्नेहात्कामेन वा युञ्ज्यात् | 1 | 25 | c |
| स्नेहादकल्पः कृपणः | 2 | 52 | e |
| स्पर्शेनाध्यात्मनि त्वचम् | 12 | 27 | d |
| स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः | 5 | 32 | b |
| स्पृहां प्राणार्थयो र्बुधः | 13 | 33 | d |
| स्फुरत्सटाकेसरजृम्भिताननम् | 8 | 20 | d |
| स्मयन्विशोक श्शोकार्तान् | 10 | 64 | a. |
| स्मयमान उवाच ह | 10 | 1 | d |
| स्मयमान स्तमभ्याह | 13 | 19 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| स्मरणं पादसेवनम् | 5 | 23 | b |
| स्मरणं महतां गतेः | 11 | 11 | b |
| स्मरन्तो नाशयाञ्चक्रुः | 10 | 55 | c |
| स्मरन्दैवगतिञ्च ताम् | 10 | 64 | b |
| स्मरन् मदनुभाषितम् | 7 | 1 | d |
| स्मृतिश्च तद्विदां राजन् | 11 | 7 | c |
| स्मृतोऽनेन समुद्यतेन किम् | 8 | 23 | d |
| स्याद्धेद्विस्रम्भकारणम् | 6 | 36 | d |
| स्यात्सादृश्य भ्रमस्तावत् | 15 | 61 | a |
| स्यान्निस्सङ्गोऽपरिग्रहः | 15 | 30 | b |
| स्रग्गन्धलेपालङ्काराान् | 12 | 12 | c |
| स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन | 15 | 19 | c |
| स्वजना त्पशुपक्षितः | 13 | 32 | b |
| स्वतेजसा यो नु पुराऽपिबत्तमः | 8 | 25 | b |
| स्वदेहजोऽप्यामय वत्सुतोऽहितः | 5 | 37 | b |
| स्वधाम प्रत्यपद्यत | 10 | 70 | d |
| स्वधामानि ययू राजन् | 10 | 34 | c |
| स्वधीतं किञ्चि दुत्तमम् | 5 | 22 | b |
| स्वनासाग्रनिरीक्षणः | 15 | 32 | d |
| स्वपराभि निवेशेन | 2 | 60 | e |
| स्वपरासद्ग्रहाश्रयम् | 5 | 3 | d |
| स्वपादमूले पतितं तमर्भकम् | 9 | 5 | a |
| स्वपित्रे कुपितं प्रभुम् | 9 | 3 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| स्वप्रजागरयो स्समाः | 7 | 28 | b |
| स्वभावविषमं जनम् | 13 | 42 | b |
| स्वभावविहितो धर्मः | 15 | 14 | c |
| स्वभाव श्शोचतामपि | 2 | 49 | d |
| स्वमायागुण माविश्य | 1 | 6 | c |
| स्वयञ्च मण्डिता नित्यम् | 11 | 26 | c |
| स्वयमाकर्षसन्निधौ | 5 | 14 | b |
| स्वयं ज्योतिःस्वरोचिषा | 3 | 26 | d |
| स्वयं त्रिभुवनेश्वरः | 3 | 12 | d |
| स्वयं निर्वीर्यता मियात् | 11 | 33 | b |
| स्वयं विष्णुरसं हि गौः | 10 | 62 | b |
| स्वयं सुधर्मा अपि शोचन्त्यपार्थम् | 2 | 37 | d |
| स्वयं स्वप्नवदुत्थितः | 14 | 5 | d |
| स्वरूपमात्मनोबुध्येत् | 7 | 26 | c |
| स्वरूपः परमेश्वरः | 6 | 29 | b |
| स्वर्गापवर्गयो र्द्वारम् | 13 | 24 | c |
| स्वर्णं यथा ग्रावसु हेमकारः | 7 | 21 | a |
| स्वलीलया सन्दधतेऽव्ययात्मने | 8 | 40 | d |
| स्ववृत्त्या गतवृत्तेन | 14 | 16 | c |
| स्वसुताय महात्मने | 4 | 29 | b |
| स्वस्तिमान् स्याद्यथा वयम् | 7 | 52 | d |
| स्वःपरश्चेत्यसद्ग्राहः | 5 | 11 | a |
| स्वात्मवृत्तं मयेत्थं ते | 13 | 45 | a |
| स्वात्मारामस्य यत्सुखम् | 15 | 16 | b |
| स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्सपुंसः | 6 | 32 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| स्वाध्ययने प्रवचने हि | 15 | 1 | c |
| स्वाध्याय व्रतदानिनः | 2 | 10 | d |
| स्वानुभूत्यात्मनि स्थितः | 13 | 44 | d |
| स्वामिन्याशिष आत्मनः | 10 | 5 | d |
| स्वाराज्यतुष्ट उपशान्त इदं विजह्यात् | 15 | 45 | d |
| स्वीयः पारक्य एव वा | 2 | 60 | d |
| **ह** | | | |
| हताः स्म नाथेति करैरुरो भृशम् | 2 | 31 | c |
| हतोऽयमसुरोऽल्पकः | 8 | 41 | b |
| हतो हिरण्यकशिपुः | 1 | 40 | a |
| हतौ तौ रामबिक्रमैः | 10 | 36 | d |
| हत्वाऽनयच्छ्रुतिगणांस्तु रजस्तमश्च | 9 | 37 | c |
| हत्वाऽऽ प्यन्यो हरेत्पतिम् | 13 | 35 | d |
| हनिष्येऽपि वरोर्जितम् | 4 | 29 | d |
| हन्तार्भका मे शृणुत | 6 | 1 | a |
| हन्तेति पार चरपीपृहि मूढमद्य | 9 | 41 | d |
| हन्या द्वा पितरं गुरुम् | 14 | 13 | b |
| हया न भीष्मन इन्द्रियेशम् | 15 | 41 | b |
| हरन्त्यपि यतेर्मनः | 12 | 7 | d |
| हरयेऽद्भुतसिंहाय | 10 | 10 | c |
| हरिगाथोपगायने | 15 | 71 | d |
| हरिणा क्रोडमूर्तिना | 2 | 1 | b |
| हरिणा सिंहरूपिणा | 1 | 40 | b |
| हरिदासाभिमर्शनः | 1 | 33 | b |
| हरि रन्यद्विडम्बनम् | 7 | 54 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| हरि रात्मेश्वरः प्रियः | 7 | 51 | b |
| हरि रेवैक उर्वीश | 14 | 35 | c |
| हरि श्मश्रु मदोत्कचम् | 2 | 18 | d |
| हरिसञ्चिन्तया सर्वे | 7 | 29 | e |
| हरि स्सर्वेषु भूतेषु | 7 | 34 | a |
| हरे तवाङ्घ्रिपङ्कजम् | 8 | 51 | a |
| हरे रर्चाश्रिताश्च ये | 14 | 34 | b |
| हरे रेकान्तिनां भवः | 1 | 33 | d |
| हरे श्चरित मद्भुतम् | 1 | 4 | b |
| हरे स्तञ्चिन्तया ययुः | 10 | 40 | d |
| हरे स्सात्म्यमपि द्विषाम् | 10 | 41 | d |
| हरोऽथ त्रिपुरो नृप ! | 10 | 68 | b |
| हरौ वैरानुबन्धेन | 10 | 38 | c |
| हर्यात्मना हरे र्लोके | 11 | 29 | c |
| हर्षाश्रुपुलकोद्भेदः | 3 | 25 | c |
| हसं स्तं हंसवाहनः | 3 | 16 | d |
| हंसवाहमधिष्ठितम् | 3 | 24 | b |
| हित्वाऽ ज्ञो जलकाम्यया | 13 | 28 | b |
| हित्वाऽऽत्मपातं गृहमन्धकूपम् | 5 | 5 | c |
| हित्वा स्वभावजंकर्म | 11 | 32 | c |
| हित्वा स्वान् सुहृदोऽधमः | 5 | 35 | b |
| हिम वाय्वग्निसलिलैः | 5 | 44 | a |
| हिरण्यकशिपुर्ज्येष्ठः | 1 | 39 | c |
| हिरण्यकशिपुर्भ्रातुः | 2 | 17 | a |
| हिरण्य कशिपु स्तदा | 5 | 25 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| हिरण्य कशिपुः पुत्रम् | 1 | 41 | a |
| हिरण्यकशिपू राजन् ! | 2 | 1 | c |
| हिरण्यकशिपू राजन् ! | 3 | 1 | a |
| हिरण्य कशिपू राजन् ! | 4 | 44 | c |
| हिरण्यकशिपू रुषा | 5 | 33 | b |
| हिरण्य कशिपो रथ | 4 | 1 | b |
| हिरण्यगर्भोऽसि बृहत्रिपृष्ठः | 3 | 32 | d |
| हिरण्याक्षो धरोद्धारे | 1 | 40 | c |
| हिरण्याक्षोऽनुजस्ततः | 1 | 39 | d |
| हिंसा केनाऽस्य कल्प्येत | 1 | 24 | f |
| हिंसा तदभिमानेन | 1 | 23 | a |
| हिंसा कायाद्यनीहया | 15 | 23 | d |
| हिंस्रं द्रव्यमयं काम्यम् | 15 | 48 | a |
| हुतं प्रहुत मेव च | 15 | 49 | b |
| हृत्सारं महदद्भुतम् | 3 | 18 | b |
| हृदयग्रन्थिषु प्रभो ! | 10 | 3 | d |
| हृदयौ रामसायकैः | 10 | 37 | b |
| हृदि रुन्ध्याच्छनैर्बुधः | 15 | 33 | d |
| हृदि स्थितेन हरिणा | 10 | 35 | c |
| हृष्यत्तनुक्लिन्नहृदश्रुलोचनः | 9 | 6 | d |
| हे दुर्विनीत मन्दात्मन् | 8 | 6 | a |
| हेमन्ते शिशिरे तथा | 14 | 22 | d |
| हेलनं शेपु रोजसा | 15 | 72 | d |
| हैमीरौप्यायसी र्विभुः | 10 | 54 | b |
| ह्रास उल्लास एव वा | 1 | 7 | d |
| ह्रीः श्री स्तेजः स्मृतिः सत्यम् | 10 | 8 | c |

* * * *

# श्रीः

# व्याख्यानोद्धृतानां प्रमाणवचनानां आकरनिर्देशनी

## सप्तमः स्कन्धः

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| | | | **अ** | | |
| 1 | 8 | 18 | अकुतश्चिद्भयोऽमरः | श्रीध. | भाग. 7-5-47 |
| 2 | 8 | 18 | अकुतश्चिद्भयोऽमरः | वीर. | भाग.7-5-45 |
| 3 | 9 | 32 | अक्षरं तमसि लीयते | वीर. | सुबा.उ.2-2 |
| 4 | 3 | 32 | अक्षरात्परतः परः | श्रीध. | मुण्ड.उ.2-1-4 |
| 5 | 3 | 30 | अग्निमीळे पुरोहितम् | विज. | ऋक्. सं.1-1-1 |
| 6 | 15 | 54 | अग्निरहस्सितपदानुद० | वीर. | |
| 7 | 15 | 61 | अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो | विज. | |
| 8 | 15 | 10 | अग्नीषोमीयं पशुमालभेत | विज. | |
| 9 | 6 | 29 | अचिन्त्यम व्यपदेश. | विज. | |
| 10 | 1 | 24 | अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम् | विज. | भ.गी.2-24 |
| 11 | 10 | 3 | अजस्यावक्रचेतसः | विज. | कठ.उ.5-1 |
| 12 | 7 | 26 | अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णाम् | विज. | म.ना.उ.8-4 |
| 13 | 7 | 16 | अणुरेष धर्मः | विज. | कठ.उ.1-21 |
| 14 | 14 | 14 | अणुर्ह्येष आत्मा यं वा | विज. | |
| 15 | 1 | 10, 11 | अणोरणीयान्महतो महीयान् | विज. | कठ.उ.2-20 |
| 16 | 3 | 27 | अणोरणीयन्महतो महीयान् | विज. | कठ.उ.2-20 |
| 17 | 14 | 3 | अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च | वीर. | ब्र.सू.3-4-39 |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 18 | 13 | 5 | अतः प्रबोधोऽस्मात् | विज. | ब्र.सू.3-2-8 |
| 19 | 2 | 47 | अतिभिन्नस्वरूपौ तौ जीवेशा० | विज. | गारुडे |
| 20 | 1 | 19 | अत्युत्कटैः पुण्यपापैरिहैव | विज. | |
| 21 | 15 | 78 | अत्रैवोदाहृतः पूर्वम् | वीर. | भाग. 7-1-12 |
| 22 | 15 | 51 | अथ इमे ग्राम इष्टापूर्ते | विज | छान्दो.उ. 5-10-2 |
| 23 | 3 | 32 | अथ कस्मादुच्यते–गुणाः | विज | |
| 24 | 2 | 48 | अथनित्यमनित्यञ्च | वीर | भाग.7-2-49 |
| 25 | 15 | 50, 51 | अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते | वीर. | छन्दो.उ.5-10-3 to 7 |
| 26 | 1 | 11 | अथायद्देवेभ्यः सत्यमिति | वीर. | |
| 27 | 2 | 37 | अदर्शनादिहाऽऽयानः पुनः | विज | भारते |
| 28 | 9 | 2 | अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वादन्यैः | विज | ब्रह्माण्डे |
| 29 | 7 | 27 | अदृष्टेर्जीवपरयोर्भेद. | विज | ब्रह्मतर्के |
| 30 | 15 | 59 | अद्भ्यः पृथिवी | विज | तैत्ति.आ.1-2 |
| 31 | 1 | 36 | अधिकारस्थितश्चैव | विज | तन्त्रसारे |
| 32 | 3 | 9 | अधिशीङ्स्थासां कर्म | विज | अष्टा.1-4-46 |
| 33 | 4 | 8 | अधिशीङ्स्थासां कर्म | विज | अष्टा.1-4-46 |
| 34 | 13 | 1 | अधीतवेदो जपकृत् | विज | याज्ञ.स्मृ.3-57 |
| 35 | 1 | 25 | अननुभूति रवधुन्वानः | विज | |
| 36 | 1 | 9 | अनश्नन्न्यो अभिचाकशीति | वीर. | मुण्ड. उ. 3-1-1, |
| 37 | 1 | 11 | अनादिनियताश्चैव | विज | ब्रह्मतर्के |
| 38 | 11 | 11 | अनाद्यनन्तकालेषु | विज० | |
| 39 | 13 | 10 | अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् | वीर. | ब्र.सू.3-4-50 |
| 40 | 2 | 48 | अनाशी परमार्थश्च | वीर. | विष्णु.पु.2-14-24 |
| 41 | 1 | 28 | अनुचिन्तेति तां प्राहुः | विज | शब्दनिर्णये |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 42 | 1 | 45 | अनुबन्ध स्तु भक्तिः | विज | प्रकाशिकायाम् |
| 43 | 1 | 24 | अनृतेन हि प्रत्यूढाः | वीर. | छान्दो.उ.8-3-2 |
| 44 | 9 | 10 | अनेवंविन्महत्पुण्यम् | विज. | बृह.उ. 1-4-15 |
| 45 | 10 | 39 | अनेवंविन्महत्पुण्यम् | विज. | बृह.उ. 1-4-15 |
| 46 | 3 | 32 | अन्तर्बहिश्च तत्सर्वम् | विज. | म.ना.उ. 9-5 |
| 47 | 7 | 24 | अन्तर्बहिश्च तत्सर्वम् | विज. | म.ना.उ. 9-5 |
| 48 | 6 | 28 | अन्तर्यामी प्रत्यगात्मा | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 49 | 2 | 26 | अन्तर्हिरण्यकादीनाम् | विज. | पाद्मे |
| 50 | 1 | 6 | अन्तः प्रविष्टश्शास्ता | वीर. | तैत्ति आ. 3-11 |
| 51 | 5 | 31 | अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः | विज. | कठ.उ.2-5 |
| 52 | 13 | 18 | अन्नमयं हि सौम्य | विज. | छान्दो.उ. 6-5-1 |
| 53 | 15 | 50,51 | अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् | वीर. | ब्र.सू. 3-1-24 |
| 54 | 1 | 25 | अन्यावेशकृतं यत्तु | विज. | |
| 55 | 4 | 32 | अन्येषां हरिसाम्यन्तु | विज. | स्कान्दे |
| 56 | 4 | 35 | अन्येषां हरिसाम्यन्तु | विज. | स्कान्दे |
| 57 | 14 | 38 | अन्येष्वपि दृश्यते | वीर. | अष्टा. 3-2-101 |
| 58 | 5 | 12 | अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति | विज. | बृह . उ. 1-4-10 |
| 59 | 5 | 12 | अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 60 | 1 | 31 | अपगतदोषानुबन्धो भग | वीर. | |
| 61 | 1 | 6 | अपरेयमितस्त्वन्याम् | वीर. | भ.गी.7-5 |
| 62 | 9 | 20 | अपि चेत्स दुराचरः | वीर. | भ.गी. 9-30 |
| 63 | 9 | 20 | अपि पापेष्वभिरता | वीर. | |
| 64 | 15 | 43,44 | अपूज्ये पूज्यबुद्धिस्तु | विज. | |
| 65 | 7 | 44 | अप्रत्ययेन करणमनीह | विज. | |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 66 | 12 | 15 | अप्रविष्टस्सर्वगतः | विज. | तन्त्रमालायाम् |
| 67 | 15 | 43,44 | अभिमानोर्थादि दर्पे | विज. | |
| 68 | 7 | 22 | अभिमान्यपेक्षया-स्मृतः | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 69 | 9 | 28 | अभिविधौ सम्पदा च | वीर. | अष्टा.5-4-53 |
| 70 | 7 | 27 | अभेदनिश्चयाद्याति तमो | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 71 | 4 | 13 | अयसभागेष्वपि तु | विज. | स्कान्दे |
| 72 | 8 | 18 | अयं महान् संस्थां न | वीर. | |
| 73 | 8 | 18 | अयं महांस्त्वया संस्थाम् | श्रीध. | |
| 74 | 9 | 46 | अयं मौनादि सम्पन्नः | वीर. | |
| 75 | 15 | 61 | अरुणया पिङ्गाक्ष्यैक | विज. | |
| 76 | 9 | 47 | अरूपमक्षरं ब्रह्म | विज. | |
| 77 | 7 | 27 | अर्थः स्याद्विषये | विज. | वैज. को. 6-1-3 |
| 78 | 14 | 17 | अर्थो समर्थो विद्वांश्च | वीर. | |
| 79 | 9 | 31 | अलं खल्वोः प्रतिषेधयोः | विज. | अष्टा. 3-4-18 |
| 80 | 15 | 21 | 'अल्पसारन्तु यो मोहात् | विज. | |
| 81 | 15 | 19 | अवकीर्णो क्षतव्रतः | विज. | अम.को. 2-453 |
| 82 | 1 | 25 | अवजानन्ति मां मूढाः | विज. | भ.गी. 9-11 |
| 83 | 7 | 51 | अविक्रियः स्वदृग्वश्यः | विज. | भाग.7-7-19 |
| 84 | 11 | 31 | अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा | वीर. | ईशा.उ.11 |
| 85 | 7 | 19 | अविनाशीवारेऽयमात्मा | श्रीध. | बृह.उ.4-5-14 |
| 86 | 2 | 37 | अव्यक्तादीनि भूतानि | श्रीध. | भ.गी.2-28 |
| 87 | 13 | 45 | अशास्त्रीयत्वान्मुखत | विज. | समयाचारे |
| 88 | 15 | 11 | अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् | वीर. | ब्र.सू. 3-1-25 |
| 89 | 11 | 13 | अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत | वीर. | |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 90 | 7 | 19 | असङ्गो ह्ययं पुरुषः | श्रीध. | बृह.उ.6-3-15 |
| 91 | 7 | 19 | असङ्गो ह्ययं पुरुषः | विज. | बृह.उ.6-3-15 |
| 92 | 2 | 23 | असमं समतामेति | विज. | षाड्गुण्ये |
| 93 | 3 | 30 | असंसार्थव्ययो मुक्तः | विज. | |
| 94 | 15 | 10 | असुन्वन्तं समं जहि | विज. | ऋक्:सं.1-176-4 |
| 95 | 1 | 28 | असुर्यानाम ते लोकाः | विज. | ईशा.उ.3 |
| 96 | 6 | 28 | अस्थूलमनण्वहस्वम् | वीर. | बृह.उ.3-8-8 |
| 97 | 13 | 24 | अस्माल्लोकात्प्रेत्य | विज. | तैत्ति.उ. 2-8-1 |
| 98 | 2 | 58 | अहम्ममाभिमानादि- | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 99 | 1 | 43 | अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनः | वीर. | |
| 100 | 11 | 10 | अहिंसासत्यमस्तेयम् | विज. | मनुस्मृ. 10-63 |
| | | | **आ** | | |
| 101 | 15 | 54 | आकारशक्तिर्विश्वाख्या | वीर. | सर्वज्ञसंहिता |
| 102 | 14 | 14 | आकाशशरीरं ब्रह्म | विज. | तैत्ति.उ.1-6 |
| 103 | 12 | 25 | आकाशाल्लाघवं सौक्ष्मम् | विज. | |
| 104 | 7 | 19 | आकाशो नीलिमोद | विज. | |
| 105 | 14 | 10 | आखुभुक्पृषदंशश्च | विज. | |
| 106 | 15 | 66 | आचार्यदेवो भव | वीर. | तैत्ति.उ.1-11-1 |
| 107 | 15 | 66 | आचार्यस्स हरिस्सक्षात् | वीर. | |
| 108 | 15 | 27 | आचार्यं मां विजानीयात् | वीर. | |
| 109 | 15 | 66 | आचार्य मां विजानीयात् | वीर. | |
| 110 | 9 | 33 | आत्मन आकाशस्सम्भूतः | विज | तैत्ति.उ.2-1-1 |
| 111 | 6 | 26 | आत्मवत्सर्वभूतानाम् | वीर. | भाग.7-4-31 |
| 112 | 15 | 40 | आत्मानञ्चेद्विजानीयात् | विज. | बृह.उ.4-4-12 |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 113 | 5 | 12 | आत्मानमन्तर्यमये | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 114 | 15 | 41 | आत्मानं रथिनं विद्धि | श्रीध. | कठ.उ. 3-3 |
| 115 | 15 | 41 | आत्मानं रथिनं | वीर. | कठ.उ. 3-3 |
| 116 | 7 | 27 | आत्मा नित्योऽव्ययः | वीर. | |
| 117 | 3 | 30 | आत्मा प्रेष्ठे स्वरूपे च | विज. | |
| 118 | 15 | 37 | आत्मैव हायान् | विज. | |
| 119 | 8 | 10 | आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः | वीर. | भ.गी. 6-5 |
| 120 | 1 | 8 | आत्यन्तिकेन सत्त्वेन | वीर. | भाग. 3-6-28 |
| 121 | 4 | 13 | आदित्यावसवो रुद्राः | विज. | स्कान्दे |
| 122 | 4 | 35 | आन्महतः | वीर. | अष्टा. 6-3-46 |
| 123 | 6 | 4 | आपत्सु मित्रं जानीयात् | विज. | शिशुपालवधम् |
| 124 | 15 | 18 | आपोमयः प्राणः | विज. | छान्दो.उ. 6-5-4 |
| 125 | 15 | 61 | आविर्भावतिरोभाव | श्रीध. | |
| 126 | 11 | 18 | आशुद्धेः सम्प्रतीक्ष्यो हि | श्रीध. | याज्ञ.स्मृ. 1-77 |
| 127 | 11 | 28 | आशुद्धेः सम्प्रतीक्ष्यो हि | वीर. | याज्ञ.स्मृ. 1-77 |
| 128 | 9 | 44 | आश्रितेषु कृपाकार्या | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 129 | 9 | 32 | आसीदिदं तमोभूतम् | वीर. | मनु.स्मृ. 1-5 |
| 130 | 5 | 13 | आह तद्ब्रह्मणोऽधीनाः | विज. | ब्रह्मतर्के |
| | | | **इ** | | |
| 131 | 11 | 13 | इज्याध्ययनदानानि | विज. | याज्ञ.स्मृ. 1-39 |
| 132 | 15 | 58 | इदं हि विश्वं भगवानिवेतरः | विज. | |
| 133 | 1 | 11 | इन्द्रस्यार्थे कथम् | विज. | भाग. 7-1-1 |
| 134 | 2 | 48 | इन्द्रियाद्यभिमानेन | विज. | प्रकाशिकायाम् |
| 135 | 9 | 30 | इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपः | विज. | बृह.उ. 2-5-15 |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 136 | 15 | 58 | इन्द्रोमायाभिः | विज. | बृह.उ.4-5-19 |
| 137 | 10 | 70 | इमा रुद्राय स्थिरधन्वने | विज. | ऋक्सं 7-46-1 |
| 138 | 7 | 48 | इष्टापूर्तं बहुधा जातम् | वीर. | म.ना.उ.1-6 |
| 139 | 6 | 2 | इष्टापूर्तं मन्यमानाः | विज. | मुण्ड.उ.1-2-10 |
| 140 | 15 | 29 | इष्टापूर्तं मन्यमानाः | विज. | मुण्ड.उ.1-2-10 |
| | | | **ई** | | |
| 141 | 10 | 51 | ईशानस्सर्वभूतानाम् | विज. | म.ना.उ.10-8 |
| 142 | 7 | 10 | ईश्वरस्य च सौहार्दम् | वीर. | |
| 143 | 10 | 20 | इश्वरो जीवकलया प्रविष्टः | विज. | भाग.3-29-34 |
| | | | **उ** | | |
| 144 | 9 | 1 | उग्रोऽप्यनुग्र एवाऽयम् | श्रीध. | |
| 145 | 11 | 16 | उञ्छः कणश आदानम् | वीर. | वैज.को.3-8-2 |
| 146 | 13 | 1 | उपनीय गुरुश्शिष्यम् | विज. | याज्ञ.स्मृ.1-15 |
| 147 | 4 | 13 | उपायनं ददुस्सर्वे | विज. | स्कान्दे |
| 148 | 1 | 31 | उपायो भक्तिरुद्दिष्टः | विज. | शब्दनिर्णये |
| 149 | 6 | 28 | उपेत नारायणम् | वीर. | |
| 150 | 7 | 30 | उपोऽधिके च | विज. | अष्टा, 1-4-87 |
| 151 | 13 | 26 | उपोऽधिके च | विज. | अष्टा, 1-4-87 |
| 152 | 11 | 13 | उपो यमे परामृश्य | विज. | |
| 153 | 7 | 38 | उभावग्निर्वायुश्च | वीर | छान्दो.उ.8-1-3 |
| | | | **ऋ** | | |
| 154 | 6 | 32 | ऋग्वेदो यजुर्वेदस्साम | विज. | |
| 155 | 7 | 19 | ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् | श्रीध. | श्वेता.उ. 4-8 |
| 156 | 10 | 21 | ऋते तु सात्त्विकान्देवान् | विज. | स्कान्दे |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 157 | 1 | 26 | ऋते ब्रह्माणमव्ययम् | विज. | हरिवंशे |
| 158 | 11 | 14 | ऋते राजन्यम् | वीर. | |
| 159 | 12 | 17 | ऋषिर्हरौ तापसे च | विज. | |
| | | | **ए** | | |
| 160 | 9 | 34 | एकत्रैकस्य वात्सल्यम् | विज. | ब्रह्माण्डे |
| 161 | 5 | 11 | एकमेवाऽद्वितीयम् | विज. | छान्दो. उ. 6-2-1 |
| 162 | 7 | 19 | एकमेवाऽद्वितीयम् | श्रीध. | छान्दो. उ. 6-2-1 |
| 163 | 9 | 30 | एकमेवाऽद्वितीयम् | वीर. | छान्दो. उ. 6-2-1 |
| 164 | 13 | 3 | एकारामः परिव्रज्य | विज. | याज्ञ.स्मृ. 3-58,59 |
| 165 | 5 | 32 | एको देवस्सर्वभूतेषु | श्रीध. | श्वेता.उ.6-11 |
| 166 | 6 | 6 | एतद्धि दुर्लभतरम् लोके | विज. | भ.गी.6-42 |
| 167 | 2 | 45 | एतद्वाणमवष्टभ्य | विज. | |
| 168 | 15 | 55 | एतस्मान्न पुनरावर्तन्ते | विज. | प्रश्न.उ. 1-10 |
| 169 | 5 | 14 | एतस्य वा अक्षरस्य | विज. | बृह.उ. 3-8-9 |
| 170 | 1 | 33 | एतं देवयानम् | वीर. | कौषी.उ. 1-3 |
| 171 | 15 | 54 | एतं देवयानं पन्थानः | वीर. | कौषी.उ. 1-3 |
| 172 | 15 | 54 | एतास्तिस्रो दशास्तिस्रः | वीर. | सर्वज्ञसंहिता 1-3 |
| 173 | 15 | 60 | एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्तम् | श्रीध. | भाग. 5-12-9 |
| 174 | 11 | 12 | एष मे सर्वधर्माणाम् | विज. | भाग. 13-135-8 |
| 175 | 6 | 7 | एष सर्वेश्वरः | विज. | बृह.उ. 6-4-22 |
| 176 | 10 | 66 | एष सर्वेश्वर कृष्णः | वीर. | |
| 177 | 10 | 66 | एष सेतुर्विधरणः | वीर. | मैत्रा.उ. 7-7 |
| 178 | 3 | 33 | एष ह्यानन्दमादत्ते | विज. | |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 179 | 6 | 7 | एष ह्येव साधुकर्म | वीर. | कौषी.उ.2-8 |
| | | | **ऐ** | | |
| 180 | 15 | 55 | ऐकात्म्यप्रत्ययं सारम् | विज. | |
| | | | **ओ** | | |
| 181 | 5 | 23 | ओमित्यात्मानं युञ्जीत | वीर. | म.ना.उ.17-15 |
| 182 | 6 | 32 | ओमित्यात्मानं युञ्जीत | वीर. | म.ना.उ.17-15 |
| | | | **औ** | | |
| 183 | 11 | 33 | औपस्थ्यजैह्व्यं बहु- | श्रीध. | भाग.7-6-13 |
| | | | **क** | | |
| 184 | 1 | 24 & 25 | कथञ्चिन्नेक्षते पृथक् | विज. | |
| 185 | 14 | 32,33 | कन्यापुरं फाल्गुनं स्यात् | विज. | |
| 186 | 7 | 50 | करणं कारणे कार्ये | विज. | वैज.को.7-3-9 |
| 187 | 9 | 20 | कर्तृकर्मक्रियादीनाम् | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 188 | 15 | 58 | कर्तृकर्मक्रियादीनाम् | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 189 | 7 | 42 | कर्मचितो लोकः | श्रीध. | छान्दो.उ.8-1-6 |
| 190 | 1 | 25 | कर्मणा मनसा वाचा | विज. | |
| 191 | 1 | 6 | कर्मवश्या गुणा ह्येते | वीर. | विष्णुपु. 2-13-70 |
| 192 | 1 | 8 | कर्मवश्या गुणा ह्येते | वीर. | विष्णुपु. 2-13-70 |
| 193 | 7 | 33 | कलौ सङ्कीर्त्य केशवम् | विज. | |
| 194 | 6 | 31 | काङ्क्षतो मोक्षगमपि | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 195 | 11 | 13 | कारीर्या यजेत वृष्टिकामः | विज. | |
| 196 | 15 | 24 | कारीर्या यजेत वृष्टिकामः | विज. | |
| 197 | 7 | 26 | कार्यकरणबद्धौ | विज. | |
| 198 | 15 | 61 | कार्यकरणवस्तूनाम् | विज. | शब्दनिर्णये |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 199 | 12 | 24 | कार्यस्य कारणलयज्ञान | विज. | तन्त्रमालायाम् |
| 200 | 8 | 9 | कालाद्भवन्ति भूतानि | विज. | |
| 201 | 9 | 49 | किमर्था वयमध्येष्यामहे | श्रीध. | |
| 202 | 5 | 30 | कुटुम्बी शुचौ देशे | विज. | |
| 203 | 12 | 14 | कुटुम्बे शुचौ देशे | श्रीध. | छान्दो.उ. 8-15-1 |
| 204 | 12 | 31 | कूटस्थोऽक्षर उच्यते | विज. | भ.गी. 15-16 |
| 205 | 15 | 18 | कृशः काणः खञ्जश्श्रवण- | विज. | भर्तृ.शृङ्गा 78 |
| 206 | 14 | 34 | कृष्णातरङ्गसम्भूत | विज. | |
| 207 | 7 | 36 | केचिद्भक्ताः प्रनृत्यन्ति | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 208 | 9 | 42 | कोऽतिप्रयासः | श्रीध. | भाग. 7-7-38 |
| 209 | 7 | 24 | को न आत्मा किं ब्रह्म | विज. | |
| 210 | 3 | 31 | को ह्येवाऽन्यात्कः प्राण्यात् | वीर. | तैत्ति.आ. 2-7 |
| 211 | 7 | 48 | को ह्येवाऽन्यात्कः प्राण्यात् | वीर. | तैत्ति.आ. 2-7 |
| 212 | 9 | 11 | को ह्येवाऽन्यात्कः प्राण्यात् | विज. | तैत्ति.आ. 2-7 |
| 213 | 13 | 26 | को ह्येवाऽन्यात् | विज. | तैत्ति.आ. 2-7 |
| 214 | 8 | 18 | कौन्तेय! प्रतिजानीहि न मे | श्रीध. | भ.गी. 9-31 |
| 215 | 8 | 18 | कौन्तेय प्रतिजानीहि | वीर. | भ.गी. 9-31 |
| 216 | 11 | 14 | क्षत्रियो याजको यस्य | वीर. | रामा. 1-59-13, 14 |
| 217 | 6 | 6 | क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकम् | विज. | भ.गी. 9-21 |
| 218 | 7 | 19 | क्षेत्रज्ञः पुरषो ह्यात्मा | विज. | |
| | | | **ख** | | |
| 219 | 10 | 48 | खेदानुकम्पासन्तोष | विज. | अम.को 3-399 |
| | | | **ग** | | |
| 220 | 2 | 49 | गतासूनगतासूंश्च | विज. | भ.गी.2-11 |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 221 | 11 | 13 | गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत् | श्रीध. | |
| 222 | 1 | 8 | गुणप्रवाहपतितः | वीर. | विष्णुपु. 2-13-69 |
| 223 | 9 | 21 | गुणवचनेभ्यो मतुपो लुक् | वीर. | वार्तिक, अष्टा 1-4-19 |
| 224 | 6 | 28 | गुणसर्गया मायया | वीर. | |
| 225 | 5 | 27 | गुरोरप्यवलिप्तस्य | विज. | रामा. 2-21-13 |
| 226 | 12 | 14 | गुरोराज्ञानुरोधेन | वीर. | तन्त्रमालायाम् |
| 227 | 8 | 43 | गूढोत्मा न प्रकाशते | वीर. | |
| 228 | 15 | 67 | गृहस्थ एतां पदवीम् | वीर. | भाग. 7-14-1 |
| 229 | 1 | 30 | गोप्यः कामयुता भक्ताः | विज. | ब्रह्मतर्के |
| | | | **घ** | | |
| 230 | 2 | 7 | घृणिर्विभावसौ | विज. | |
| | | | **च** | | |
| 231 | 2 | 46 | चक्षुराद्यामनो जीवः | विज. | गारुडे |
| 232 | 12 | 29 | चित्तं हिरण्यगर्भे तु | विज. | तन्त्रमालायाम् |
| 233 | 13 | 43 | चित्ताख्याग्रे रथौनं हि | विज. | समयाचारे |
| 234 | 8 | 22 | चन्द्रो होग्रिहिमांशौ | विज. | |
| 235 | 15 | 31 | चैलाजिनकुशोत्तरम् | विज. | |
| | | | **छ** | | |
| 236 | 15 | 59 | छायारीतिः प्रकाशश्च | विज. | शब्दनिर्णये |
| | | | **ज** | | |
| 237 | 8 | 40 | जगत्प्रकृतिभावो मे | वीर. | |
| 238 | 7 | 18 | जनितोऽत विष्णोः | विज. | |
| 239 | 14 | 3 | जप(पञ्च) यज्ञप्रसिद्ध्यर्थं | विज. | याज्ञ स्मृ.1-101,102 |
| 240 | 1 | 33 | जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्याम् | विज. | |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 241 | 7 | 25 | जाग्रदादेः परो द्रष्टा | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 242 | 7 | 25 | जाग्रदाद्याः कर्म चैव | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 243 | 15 | 24 | जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः | वीर. | भ.गी.2-27 |
| 244 | 7 | 18 | जातः कंसवधार्थाय | विज. | |
| | 3 | 9 | जानतामपि कर्तव्यम् | विज. | नारदीये |
| 245 | 7 | 10 | जायमानं हि पुरुषम् | वीर. | भार.12-336-38 |
| 246 | 2 | 46 | ज्ञाता च मन्ता च | विज. | गारुडे |
| 247 | 9 | 6 | ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन | वीर. | भ.गी. 11-54 |
| 248 | 9 | 10 | ज्ञानञ्च सायञ्च दमः | विज. | भारते |
| 249 | 9 | 1 | ज्ञानसारं प्रत्ययसारम् | विज. | |
| 250 | 1 | 8 | ज्ञानं यदा तदा | वीर. | भ.गी. 14-11,12,13 |
| | | | **झ** | | |
| 251 | 14 | 21 | झषकर्कटसङ्क्रान्ती द्वे | वीर. | वृद्धवासिष्ठम् |
| | | | **त** | | |
| 252 | 15 | 52 | तइह रमणीयचरणा- | विज. | छान्दो.उ. 5-10-7 |
| 253 | 15 | 61 | तज्ज्ञानमज्ञानमतो- | वीर. | |
| 254 | 1 | 10 & 11 | तत्र तत्रान्वितो विष्णुः | विज. | |
| 255 | 1 | 31 | तत्र तं.... ह्यवशोऽपि सः | वीर. | भ.गी.6-43,44 |
| 256 | 9 | 8 | तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् | वीर. | भ.गी. 14-16 |
| 257 | 10 | 51 | तत्रैको रुद्रो न द्वितीयः | विज. | |
| 258 | 10 | 13 | तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते | श्रीध. | कौषी.उ.1 |
| 259 | 7 | 26 | तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत् | विज. | तैत्ति.उ. 2-6 |
| 260 | 9 | 30 | तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत् | वीर. | तैत्ति.उ. 2-6 |
| 261 | 15 | 64 | तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत् | विज. | तैत्ति.उ. 2-6 |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 262 | 15 | 50, 51 | तत्स्वभाष्यापत्तिरुपपत्तेः | वीर. | ब्र.सू.3-1-22 |
| 263 | 1 | 23 | तथाऽपि करुणो विष्णुः | विज. | ब्रह्माण्डे |
| 264 | 11 | 12 | तथाऽपि पुरुषाकारः | विज. | |
| 265 | 3 | 9 | तथाऽप्याचरतां कुर्युः | विज. | प्रकाशिकायाम् |
| 266 | 10 | 13 | तदधिगमउत्तर | श्रीध. | ब्र.सू.4-1-13 |
| 267 | 9 | 28 | तदधीनवचने च | वीर. | अष्टा.5-4-54 |
| 268 | 7 | 18 | तदधीनं शरीरञ्च ज्ञात्वा | विज. | |
| 269 | 9 | 30 | तदन्यत्वमारम्भणशब्दा- | वीर. | ब्र.सू.2-1-14 |
| 270 | 9 | 31 | तदन्यत्वमारम्भणशब्दा- | श्रीध. | ब्र.सू.2-1-14 |
| 271 | 1 | 11 | तदनुप्रविश्य सत्यत्यञ्चा | वीर. | तैत्ति.उ.2-6 |
| 272 | 15 | 55 | तदन्ये च दिवस्पुत्राः | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 273 | 2 | 44 | तदव्यक्तमाह हि | विज. | ब्र.सू.3-2-22 |
| 274 | 1 | 33 | तदव्यक्तमाह हि | विज. | ब्र.सू.3-2-22 |
| 275 | 1 | 32 | तदुपर्यपि बादरायणः | वीर. | ब्र.सू.1-3-26 |
| 276 | 1 | 1 | तदेतत्प्रेत्य | विज. | बृह.उ.1-4-8 |
| 277 | 6 | 7 | तदेतत्प्रेत्य | विज. | बृह.उ.1-4-8 |
| 278 | 9 | 27 | तदेतत्प्रेत्य | विज. | बृह.उ.1-4-8 |
| 279 | 7 | 40 | तद्दूरे तदन्तिके | विज. | ईशा.उ.5 |
| 280 | 11 | 31 | तद्धाऽस्यान्ततः क्षीयते | विज. | बृह.उ. 1-4-15 |
| 281 | 15 | 47 | तद्धाऽस्यान्ततः क्षीयते | विज. | बृह.उ.1-4-15 |
| 282 | 1 | 43 | तद्धैतत्पश्यन् | वीर. | बृह.उ.1-4-10 |
| 283 | 15 | 54 | तद्य इत्थं विदुर्ये च | वीर. | छान्दो.उ. 5-10,1,2 |
| 284 | 15 | 56 | तद्य इत्थं विदुर्ये च | वीर. | छान्दो.उ. 5-10,1 |
| 285 | 9 | 21 | तद्यथा मातातरुणवत्सं | वीर. | |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 286 | 7 | 40 | तद्यथेह कर्मचितो | वीर. | छान्दो.उ.8-1-6 |
| 287 | 7 | 19 | तद्ब्रह्मवेदाऽहं ब्रह्माऽस्मि | विज. | |
| 288 | 3 | 9 | तपसा विद्यया वाऽपि | विज. | प्रकाशिकायाम् |
| 289 | 3 | 34 | तमआसीत्तमसा गूढमग्रे | विज. | यजुर्वे. 2-8-9 |
| 290 | 6 | 29 | तमसा गूढमग्रे | विज. | यजुर्वे. 2-8-9 |
| 291 | 7 | 37 | तमात्मस्थं योऽनुपश्यन्ति | वीर. | गुह्यका.उ.44 |
| 292 | 1 | 28 | तमेवं विद्वानमृत इह | वीर. | पु.सू.1-7 |
| 293 | 2 | 41 | तयोरन्यः पिप्पलं स्वादु | वीर. | मुण्ड.उ.3-1-1 |
| 294 | 7 | 21 | तरति शोकमात्मवित् | विज. | छान्दो.उ.7-1-3 |
| 295 | 14 | 42 | तस्मात्पात्रं हि पुरुषः | वीर. | |
| 296 | 1 | 28 | तस्मात्पिता मे पूयेत | विज. | भाग.7-10-17 |
| 297 | 10 | 20 | तस्मात्प्राणभृतः प्राणम् | विज. | |
| 298 | 13 | 10 | तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यम् | वीर. | बृह.उ. 3-5-1 |
| 299 | 10 | 39 | तस्य तावदेव चिरम् | विज. | छान्दो.उ.6-14-2 |
| 300 | 2 | 45 | तस्य वाङ्मनसि | विज. | छान्दो.उ.6-8-6 |
| 301 | 11 | 7 | तस्य ह वा एतस्य | वीर. | सुबा.उ.2-1 |
| 302 | 15 | 50 | तस्य हैतस्य हृदयस्य | श्रीध. | बृह.उ.4-4-2 |
| 303 | 9 | 11 | तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मम् | विज. | तैत्ति.ना.13 |
| 304 | 15 | 9 | तस्यैवं विदुषो यज्ञस्य | वीर. | म.ना.उ.18-1 |
| 305 | 1 | 25 | तानहं द्विषतः क्रूरान् | विज. | भ.गी.16-19, 20 |
| 306 | 11 | 13 | तां पूषञ्छिवतमा | विज. | |
| 307 | 2 | 41 | तुच्छयेनाभ्वपिहितम् | विज. | ऋक्सं-10-129-3 |
| 308 | 15 | 28 | तुच्छ्येनाभ्वपिहितम् | विज. | ऋक्सं-10-129-3 |
| 309 | 15 | 55 | तुर्यश्च वासुदेवश्च | विज. | ब्रह्मतर्के |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 310 | 1 | 9 | तेजोऽसितं त्रेधा विधीयते | विज. | छान्दो.उ.6-5-3 |
| 311 | 8 | 18 | तेषामहं समुद्धतो मृत्यु | श्रीध. | भ.गी.12-7 |
| 312 | 8 | 18 | तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु | वीर. | भ.गी.12-7 |
| 313 | 1 | 28 | तेषां सततयुक्तानां | वीर . | भ.गी.10-10 |
| 314 | 15 | 62 | त्रय आवसथाः त्रयः स्वप्नाः | श्रीध. | |
| 315 | 6 | 32 | त्रैगुण्यविषया वेदाः | श्रीध. | भ.गी.2-45 |
| 316 | 11 | 31 | त्रैविद्या मां सोमपाः | विज. | भ.गी.9-20 |
| 317 | 6 | 2 | त्रैविद्या मां सोमपाः | विज. | भ.गी.9-20 |
| 318 | 12 | 17 | त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा | विज. | ऋक्सं 1-31-1 |
| | | | **द** | | |
| 319 | 13 | 2 | दण्डो वाग्देहचेतसाम् | विज. | भाग.11-18-17 |
| 320 | 1 | 6 | दधिस्थघृतवत्काष्ठे | विज. | भविष्यत्पर्वणि |
| 321 | 1 | 9 | दधिस्थघृतवत्काष्ठे | विज. | भविष्यत्पर्वणि |
| 322 | 2 | 56 | दार्वाघाटो दारुकुट्टः | विज. | |
| 323 | 7 | 3 | दिष्ट्या समुपजोषश्च | विज. | अम.को.3-421 |
| 324 | 4 | 27 | दुःखरूपोऽऽपि संसारः | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 325 | 7 | 13 | दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः | वीर. | भ.गी.2-56 |
| 326 | 10 | 2 | दुरशोभनदुःखयोः | विज. | वैज.को.8-7-4 |
| 327 | 7 | 19 | दृष्टा देहस्य नाऽऽत्मनः | वीर. | |
| 328 | 9 | 11 | देवस्यैष स्वभावोऽयम् | विज. | |
| 329 | 2 | 6 | देवानां दानवानाञ्च सामान्य- | विज. | |
| 330 | 10 | 30 | देवान्ने सलिले क्षीरे | विज. | |
| 331 | 15 | 79 | देवासुरनृणां सर्गः | वीर. | भाग.6-4-1 |
| 332 | 9 | 18 | देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन् | श्रीध. | |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 333 | 1 | 11 | देशकालौ गुणांश्चैव | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 334 | 2 | 43 | देहदारुगतौ प्राण | विज. | वामने |
| 335 | 2 | 47 | देहाभिमानी त्वेकोऽत्र | विज. | गारुडे |
| 336 | 9 | 20 | दैतेया यक्षरक्षांसि | वीर. | भाग 7-7-54 |
| 337 | 2 | 40 | दैवाधीनं जगत्सर्वम् | विज. | |
| 338 | 5 | 11 | दैवी ह्येषा गुणमयी | वीर. | भ.गी.7-14 |
| 339 | 15 | 11 | द्रव्ययज्ञैर्यक्ष्यमाणम् | वीर. | भाग.7-15-10 |
| 340 | 1 | 10 & 11 | द्रव्यं कर्म च कालश्च | विज. | भाग. 2-5-14, 2-10-12 |
| 341 | 2 | 41 | द्रव्यं कर्म च कालश्च | विज. | भाग. 2-5-14, 2-10-12 |
| 342 | 3 | 34 | द्रव्यं कर्म च कालश्च | विज. | भाग. 2-5-14, 2-10-12 |
| 343 | 15 | 31,32 | द्वन्द्वृहतश्च गार्हस्थ्यम् | श्रीध. | |
| 344 | 7 | 38 | द्वासुपर्णौ(र्णा) | वीर. | मुण्ड.उ. 3-1-1 |
| 345 | 11 | 14 | द्विजोत्तमानामार्त्विज्यम् | वीर. | |
| 346 | 9 | 47 | द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे | विज. | बृह.उ. 2-3-1 |
| | | | **ध** | | |
| 347 | 7 | 41 | धनं हि पुरुषो लोके | श्रीध. | |
| 348 | 9 | 10 | धर्मश्च सत्यञ्च दमः | श्रीध. | भारते |
| 349 | 9 | 10 | धर्मश्च सत्यञ्च-बाह्य | वीर. | भारते |
| 350 | 11 | 31 | धर्मेण पापमपनुदति | वीर. | म.ना.उ.17-6 |
| 351 | 15 | 14 | धर्मो भवत्यधर्मोऽपि | विज. | |
| 352 | 10 | 3 | धियो योनः प्रचोदयात् | विज. | बृह.उ.6-3-6 |
| | | | **न** | | |
| 353 | 15 | 64 | न ऋते त्वत्क्रियते | विज. | |
| 354 | 8 | 50 | नटनन्तु कथाबन्धम् | विज. | गान्धर्वे |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 355 | 15 | 10 | न तं विदाऽथ य इदम् | श्रीध. | |
| 356 | 9 | 8 | न ते विष्णौ | विज. | |
| 357 | 9 | 1 | न तत्र चक्षुर्गच्छति | विज. | केन.उ.1-3 |
| 358 | 15 | 61 | न तत्र रथा रथयोगाः | विज. | बृह.उ.4-3-10 |
| 359 | 8 | 18 | न नरैर्न मृगैरपि | श्रीध. | भाग.7-3-36 |
| 360 | 2 | 44 | ननु च स्याद्विरोधादौ(धोक्तौ) | विज. | अम.को.3-425 |
| 361 | 3 | 30 | न भारती मेऽङ्गमृषोप | विज. | भाग.2-6-33 |
| 362 | 11 | 24 | न मस्कारेण मन्त्रेण | वीर. | याज्ञ.स्मृ.1-121 |
| 363 | 15 | 61 | न मृषावदेत् | विज. | |
| 364 | 7 | 29 | न मे भक्तः प्रणश्यति | वीर. | भ.गी.9-31 |
| 365 | 3 | 11 | न यत्र माया न रजः | विज. | |
| 366 | 15 | 11 | न वा उ वै तत्प्रयासेन | वीर. | |
| 367 | 1 | 11 | न विष्णोर्विषमत्वन्तु | विज. | स्कान्दे |
| 368 | 13 | 8 | न व्याख्ययोपजीवेत | विज. | समयाचारे |
| 369 | 2 | 45 | न स दृश्येत | विज. | |
| 370 | 1 | 24 | न हन्यते हन्यमाने शरीरे | विज. | भ.गी.2-20 |
| 371 | 12 | 31 | न हरिंस्मरतः कृत्यम् | विज. | तन्त्रमालायाम् |
| 372 | 6 | 1 to 6 | न हि कल्याणकृत्कश्चित् | वीर. | भ.गी.6-40 |
| 373 | 2 | 60 | न हि देहादिरात्मा | विज. | ब्रह्मवैवर्ते |
| 374 | 10 | 50 | न हि सुज्ञेमणुर्ह्येष | विज. | |
| 375 | 6 | 30 | न ह्यच्युतं प्रीणयतः | वीर. | भाग.7-6-19 |
| 376 | 7 | 38 | न ह्यच्युतं प्रीणयतः | वीर. | भाग.7-6-19 |
| 377 | 15 | 42 | नागः कूर्मश्च कृकरो देव | श्रीध. | अम.को.(अधिकपाठः) |
| 378 | 9 | 49 | नाऽनुध्यायेद्बहूञ्छब्दान् | श्रीध. | |
| 379 | 8 | 18 | नान्तर्न बहिः | श्रीध. | भाग7-3-36 |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 380 | 10 | 6 | नाऽन्यथालक्षणम् | वीर. | विष्वक्सेनसंहिता |
| 381 | 10 | 7 | नाऽन्यथेश्वरभाषितम् | विज. | |
| 382 | 7 | 52 | नाऽन्यः पन्था अयनाय विद्यते | वीर . | पु.सू. 7 |
| 383 | 2 | 44 | नाऽन्योतोऽस्ति द्रष्टा | विज. | बृह.उ.5-7-23 |
| 384 | 10 | 52 | नाऽपृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् | विज. | भार.12-276-34 |
| 385 | 14 | 1 | नाऽपृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् | विज. | भार.12-276-34 |
| 386 | 8 | 18 | नाभावान्यविरोधेषु | विज. | |
| 387 | 15 | 47 | नारायणोऽसौ परमः | विज. | |
| 388 | 13 | 10 | नाऽविरतो दुश्चरितात् | वीर. | कठ.उ.2-4 |
| 389 | 9 | 10 | नाऽविरतो दुश्चरितात् | वीर. | कठ.उ.2-4 |
| 390 | 11 | 20 | नाऽविष्णुः पृथिवीपतिः | विज. | |
| 391 | 7 | 32 | नाऽवैष्णवाय दातव्यम् | विज. | |
| 392 | 10 | 22 | नाऽवैष्णवाय दातव्यम् | विज. | |
| 393 | 11 | 31 | नाऽऽश्रमः कारणं धर्मे | विज. | याज्ञ.स्मृ.3-65 |
| 394 | 13 | 9 | नाऽऽश्रमः कारणं धर्मे | विज. | याज्ञ.स्मृ.3-65 |
| 395 | 7 | 29 | नाऽहं वेदैर्न तपसा | वीर. | भ.गी.11-53 |
| 396 | 9 | 11 | नाऽहं तथाऽद्मि यजमानः | विज. | भाग. 3-16-8 |
| 397 | 6 | 4 | निक्षिप्योदर्चिषं कक्षे | विज. | शिशु.वधम् 2-1 |
| 398 | 8 | 23 | निजमात्मीय नित्ययोः | विज. | वैज.को.6-4-9 |
| 399 | 15 | 11 | नित्यनैमित्तिके कुर्यात् | विज. | |
| 400 | 2 | 42 | नित्यो नित्यानाम् | वीर. | कठ.उ.5-13 |
| 401 | 15 | 66 | नित्यो नित्यानाम् | वीर. | कठ.उ.5-13 |
| 402 | 13 | 5 | निद्रादौ जागरस्यान्ते | श्रीध. | |
| 403 | 1 | 25 | निन्दनस्तवसत्कारे | वीर. | भाग.7-1-22 |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 404 | 1 | 19 | नियमाद्भुज्यते पुम्भिः | विज. | भारते ( ?) |
| 405 | 7 | 19 | निरवद्यं निरञ्जनम् | श्रीध. | श्वेता.उ.6-19 |
| 406 | 9 | 30 | निर्गुणोऽपि ह्यजोऽव्यक्तः | श्रीध. | भाग.7-1-6 |
| 407 | 3 | 19 | निर्नेश्चय(निर्णय)निषेधयोः | विज. | अम.को.3-408 |
| 408 | 15 | 34 | निर्वाणममृतमक्षरं ब्रह्म | विज. | |
| 409 | 9 | 33 | निर्विकारोऽक्षरश्शुद्धः | विज. | |
| 410 | 11 | 13 | निषेकद्याः श्मशानान्ताः | विज. | याज्ञ.स्मृ.1-10-13 |
| 411 | 10 | 21 | निषेधवाक्यालङ्कार | विज. | अम.को.3-410 |
| 412 | 15 | 19 | निषेधवाक्यालङ्कारादौ | विज. | अम.को.3-410 |
| 413 | 7 | 19 | निष्कलं निष्क्रियं शान्तम् | श्रीध. | श्वेता.उ.6-19 |
| 414 | 13 | 7 | नीडप्रयोजनपक्षी स्यात् | विज. | समयाचारे |
| 415 | 15 | 10 | नीहारेण प्रावृता जल्प्या | विज. | ऋक्सं. 10-82-7 |
| 416 | 8 | 18 | नूनमेतद्विरोधेन मृत्युः | श्रीध. | भाग.7-5-47 |
| 417 | 8 | 18 | नूनमेतद्विरोधेन मृत्युः | वीर. | भाग.7-5-47 |
| 418 | 15 | 55 | नैते सृतीपार्थ जानन् | वीर. | भ.गी.8-27 |
| 419 | 12 | 14 | नैष्ठिको ब्रह्मचारी तु | विज. | याज्ञ.स्मृ.1-49 |
| 420 | 9 | 30 | नेह नानाऽस्ति किञ्चन | विज. | बृह.उ.6-4-19 |
| 421 | 6 | 1-6 | नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति | वीर. | भ.गी.2-40 |
| | | | **प** | | |
| 422 | 12 | 23 | पक्षे गते वा प्राश्नीयात् | विज. | याज्ञ.स्मृ.3-50 |
| 423 | 9 | 11 | परा पूर्वेषाम् | विज. | |
| 424 | 9 | 50 | परा पूर्वेषां संख्या वृणक्ति | विज. | |
| 425 | 13 | 5 | पराभिध्यानात्तु तिरोहितम् | वीर. | ब्र.सू.3-1-4 |
| 426 | 3 | 13 | पराभूतं वशस्थञ्च | विज. | शब्दनिर्णये |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 427 | 6 | 28 | परावरेषु भूतेषु | वीर. | भाग.7-6-20 |
| 428 | 3 | 32 | परावेरेषु यस्मात्त्वम् | विज. | पाद्मे |
| 429 | 4 | 5 | परोऽरिपरमात्मनोः | विज. | वैज.को. 6-5-49 |
| 430 | 9 | 36 | पातालमेतस्य हि | विज. | भाग.2-1-26 |
| 431 | 7 | 33 | पानेन ते देवकथा | विज. | भाग.3-5-45 |
| 432 | 1 | 31 | पार्थ नैवेह नाऽमुत्र | वीर. | भ.गी.6-40 |
| 433 | 8 | 22 | पीतेऽरुणे सिते गौरे | विज. | अम.को.3-344 |
| 434 | 12 | 4 | पालाशो दण्डो ब्राह्मणस्य | श्रीध. | |
| 435 | 6 | 6 | पुनरप्रथमे भेदे | विज. | अम.को.3-408 |
| 436 | 14 | 38 | पुरि शयनात्पुरुषः | विज. | |
| 437 | 15 | 57 | पुरुष एवेदं सर्वम् | विज. | पु.सू.1-1 |
| 438 | 14 | 39 | पुरषत्वे च विस्तरात्मा | श्रीध. | |
| 439 | 1 | 28 | पुरुषस्सपरःपार्थ | वीर. | भ.गी.8-22 |
| 440 | 14 | 23 | पुष्ययुक्तापौर्णमासी | श्रीध. | अम.को.1-122 |
| 441 | 9 | 18 | पूयेत येन हि पुमाननु | वीर. | भाग.7-9-12 |
| 442 | 7 | 19 | पूर्णस्य पूर्णमादाय | श्रीध. | बृह.उ.5-1-1 |
| 443 | 1 | 31 | पूर्वाभ्यासेन कौन्तेय! | वीर. | भ.गी.6-44 |
| 444 | 10 | 39 | पौण्ड्रके नरके चैव | विज. | स्कान्दे |
| 445 | 9 | 32 | प्रकृतिं पुरुषञ्चैव | विज. | |
| 446 | 15 | 64 | प्रकृतिं पुरुषञ्चैव प्रविश्य | विज. | |
| 447 | 15 | 42 | प्रणवो धनुश्शरः | वीर. | मुण्ड.उ.2-2-4 |
| 448 | 15 | 42 | प्रणवो धनुश्शरः | विज. | मुण्ड.उ.2-2-4 |
| 449 | 11 | 14 | प्रतिग्रहाधिकते विप्रः | विज. | |
| 450 | 15 | 9 | प्रत्यक्स्फूर्तिरसत्स्फूर्तिः | श्रीध. | |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 451 | 6 | 30 | प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः | विज. | भ.गी.16-18 |
| 452 | 2 | 21 | प्रपापानीयशाला स्यात् | विज. | हला.को.1-142 |
| 453 | 11 | 14 | प्रभुत्वादार्त्विज्यं सर्व- | वीर. | |
| 454 | 2 | 44 | प्रश्नावधारणानुज्ञा | विज. | अम.को. 3-403 |
| 455 | 9 | 3,4 | प्रह्लादे चैव वात्सल्यम् | विज. | ब्रह्माण्डे |
| 456 | 1 | 2,3 | प्राकृतगुणसम्बद्धस्य | विज. | |
| 457 | 2 | 45 | प्राणो वै मुख्यः | श्रीध. | |
| 458 | 9 | 11 | प्रादेशमात्रं पुरुषम् | विज. | |
| 459 | 3 | 26 | प्रायस्तु स्तुतिशब्देषु | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 460 | 1 | 25 | प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् | विज. | भ.गी.7-17 |
| 461 | 9 | 20 | प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् | वीर. | भ.गी.7-17 |
| 462 | 1 | 28 | प्रीतिपूर्वमनुध्यानं भक्तिः | वीर. | |
| 463 | 1 | 27 | प्रीतिः स्नेहस्तथा योगः | विज. | शब्दनिर्णये |
| 464 | 6 | 9 | प्लुवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः | विज. | मुण्ड.उ.1-2-7 |
| | | | **ब** | | |
| 465 | 7 | 33 | बर्हायिते ते नयने नराणाम् | विज. | भाग.2-3-22 |
| 466 | 8 | 8 | बलमानन्द ओजश्च | विज. | |
| 467 | 9 | 11 | बलमानन्द ओजश्च | विज. | |
| 468 | 13 | 26 | बलमानन्द ओजश्च | विज. | |
| 469 | 12 | 10 | बहुत्वेनैव वस्तूनाम् | विज. | तन्त्रमालायाम् |
| 470 | 15 | 34 | बाणं शरीरं सम्प्रोक्तम् | विज. | |
| 471 | 1 | 6 | बाध्यादिस्थः | विज. | भविष्यत्पर्वणि |
| 472 | 11 | 34 | बालानदूषितधियः | श्रीध. | भाग.7-5-56 |
| 473 | 13 | 10 | बाल्यञ्च पाण्डित्यञ्च | वीर. | बृह.उ.3-5-1 |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 474 | 6 | 6 | बाल्ये विद्यां निषेवेत | विज. | |
| 475 | 5 | 14 | बुद्धिभेदः परकृतः | वीर. | भाग.7-5-10 |
| 476 | 15 | 69 | ब्रह्मकालः परश्चेति | विज. | शब्दनिर्णये |
| 477 | 11 | 13 | ब्रह्माक्षत्रियविट्शूद्राः | विज. | याज्ञ.स्मृ.1-10 |
| 478 | 12 | 14 | ब्रह्मचर्यं समाप्य | श्रीध. | जाबा.उ.4 |
| 479 | 12 | 14 | ब्रह्मचर्यं समाप्य | वीर. | जाबा.उ.4 |
| 480 | 3 | 32 | ब्रह्मणोऽप्यधिकं | विज. | पाद्मे |
| 481 | 1 | 24 | ब्रह्मविदाप्नोति परम् | विज. | तैत्ति.उ.2-1-1 |
| 482 | 5 | 27 | ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात् | श्रीध. | याज्ञ.स्मृ. 3-209 |
| 483 | 5 | 27 | ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात् | वीर. | याज्ञ.स्मृ. 3-209 |
| 484 | 3 | 13 | ब्रह्माणमभजद् ब्रह्म | विज. | स्कान्दे |
| 485 | 3 | 32 | ब्रह्माणं तद्गुणैः स्तौति | विज. | पाद्मे |
| 486 | 14 | 39 | ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु | विज. | समयाचारे |
| 487 | 7 | 32 | ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः | विज. | भ.गी.4-24 |
| 488 | 15 | 10 | ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः | विज. | भ.गी.4-24 |
| 489 | 3 | 11 | ब्रह्मा स्वयम्भूर्द्रुहिणः | विज. | शब्दनिर्णये |
| 490 | 11 | 14 | ब्राह्मणानामर्त्विज्यम् | वीर. | |
| 491 | 11 | 14 | ब्राह्माणानामिदं हविः | वीर. | |
| 492 | 11 | 30 | ब्राह्मण्यां क्षत्रियात्सूतः | विज. | याज्ञ.स्मृ.1-93 |
| | | | **भ** | | |
| 493 | 15 | 56 | भक्तिमान्मार्गविन्नैव | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 494 | 10 | 45 | भक्तिर्ज्ञानं विरक्तिश्च | विज. | तन्त्रसारे |
| 495 | 1 | 25 | भक्त्या त्वनन्यया शक्यः | विज. | भ.गी.11-54 |
| 496 | 7 | 31 | भक्त्या मामभिजानाति | श्रीध. | भ.गी.18-55 |
| 497 | 8 | 27 | भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः | विज | ऋक्सं. 1-89-8 |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 498 | 15 | 50 | भूतसूक्ष्मयुक्तो धूमात् | श्रीध. | |
| 499 | 8 | 18 | भूतेभ्यस्त्वद्विसृष्टेभ्यः | श्रीध. | भाग.7-3-35 |
| 500 | 8 | 18 | भूतेभ्यस्त्वद्विसृष्टेभ्यः | वीर. | भाग.7-3-35 |
| 501 | 1 | 6 | भूमिरापोऽनलो वायुः | वीर. | भ.गी.7-4 |
| 502 | 7 | 22 | भूमिरापोऽनलो वायुः | वीर. | भ.गी.7-4 |
| 503 | 3 | 34 | भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम | विज. | |
| 504 | 10 | 40 | भेदो विशेषे दलने | विज. | वैज.को. 6-1-42 |
| 505 | 8 | 18 | भौतिकेषु विकारेषु | श्रीध. | भाग. 7-6-26 |
| 506 | 8 | 18 | भौतिकेषु विकारेषु | वीर. | भाग. 7-6-26 |
| | | | **म** | | |
| 507 | 3 | 13 | मधुकैटभयोश्चैव | विज. | ब्रह्माण्डे |
| 508 | 10 | 38 | मधुकैट भौभक्त्यभावात् | विज. | स्कान्दे |
| 509 | 12 | 8 | मधुमांसाञ्जनोच्छिष्टम् | विज. | याज्ञ.स्मृ.1-33 |
| 510 | 9 | 22 | मन एव मनुष्याणां कारणं | विज. | विष्णुपु. 6-7-28 |
| 511 | 9 | 14 | मन्युः कोपे क्रतौ युद्धे | विज. | |
| 512 | 15 | 65 | मन्ये तदर्पितमनो- | विज. | भाग.7-9-10 |
| 513 | 1 | 25 | ममात्मपरदेहेषु | वीर. | भ.गी.16-18,19 |
| 514 | 11 | 13 | मलव द्वाससा न संवदेत् | विज. | |
| 515 | 7 | 32 | मत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः | विज. | |
| 516 | 2 | 58 | महदादि यथोत्थञ्च | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 517 | 3 | 31 | महानज आत्मा | वीर. | |
| 518 | 3 | 32 | महाविद्याः कलाश्चैव | विज. | पाद्मे |
| 519 | 13 | 43 | महिम्नि स्वे महीयते | विज. | भाग 1-3-34 |
| 520 | 1 | 26 | मागधाद्या यथा नित्यम् | विज. | हरिवंशे |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 521 | 15 | 68 | मादृशो गृहमूढधीः | वीर. | भाग.7-14-1 |
| 522 | 15 | 43,44 | मानोऽभिमानावज्ञे च | विज. | |
| 523 | 13 | 5 | मायावयुनं ज्ञानम् | वीर. | वेदनि.3-9 |
| 524 | 5 | 23 | मुक्तस्याऽपि ममान्तःस्थो | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 525 | 15 | 11 | मुन्यन्नैः स्यात्परा प्रीतिः | वीर. | भाग.7-15-7 |
| 526 | 7 | 22 | मूलप्रकृतिरविकृतिः | श्रीध. | सांख्य.3 |
| 527 | 1 | 25 | मोघाशा मोघकर्माणः | विज. | भ.गी.9-12 |
| | | | **य** | | |
| 528 | 7 | 48 | य आत्मदा बलदा | वीर. | तैत्ति.सं4-1-8 |
| 529 | 1 | 9 | य आत्मनि तिष्ठन् | वीर. | बृह.उ. 3-7-22 (काण्वपाठः) |
| 530 | 9 | 47 | य आत्मनि तिष्ठन् | वीर. | शत.प.14-5-30 |
| 531 | 6 | 4 | य उदास्ते स्वकार्येषु | विज. | शिशुवधम् |
| 532 | 9 | 23 | य एव बन्धकस्स एव | वीर. | |
| 533 | 9 | 31 | य एष आदित्ये | विज. | छान्दो.उ.4-11-1 |
| 534 | 15 | 61 | य एष स्वप्नान्दर्शयति | विज. | |
| 535 | 3 | 30 | यज्ञस्सवोऽध्वरो यागः | विज. | आम.को.2-412 |
| 536 | 15 | 52 | यज्ञाभिमानिनो देवान् | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 537 | 14 | 29 | यतिर्यस्यगृहे भुङ्क्ते | विज. | |
| 538 | 7 | 24 | यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते | श्रीध. | तैत्ति.उ.3-1 |
| 539 | 7 | 24 | यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते | विज. | तैत्ति.उ.3-1 |
| 540 | 7 | 31 | यत्करोषि यदश्नासि | श्रीध. | भ.गी.9-27 |
| 541 | 4 | 13. | यत्र क्व च यशः स्थानम् | विज. | स्कान्दे |
| 542 | 10 | 53 | यत्र सिद्धमपेक्षितम् | विज. | शब्दनिर्णये |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 543 | 11 | 25 | यत्राऽनुकूल्यं दम्पत्योः | विज. | याज्ञ.स्मृ.1-74 |
| 544 | 14 | 13 | यत्राऽनुकूल्यं दम्पत्योः | विज. | याज्ञ.स्मृ.1-74,75 |
| 545 | 7 | 26 | यथा गन्धयुतोऽनिलः | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 546 | 1 | 25 | यथा भक्त्येश्वरे मनः | वीर. | भाग.7-1-29 |
| 547 | 7 | 27 | यथा स्वप्ने शिरश्छेदं | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 548 | 10 | 30 | यथा हिरण्यकस्य | विज. | स्कान्दे |
| 549 | 2 | 23,24 | यथोदचालनात् | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 550 | 1 | 25 | यदनिन्दत्पिता मे | विज. | भाग.7-10-15 |
| 551 | 13 | 1 | यदहरेव विरजेत्तदहरेव | विज. | जाबा.उ.4 |
| 552 | 9 | 49 | यदा ते मोहकलिलम् | श्रीध. | |
| 553 | 10 | 9 | यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते | श्रीध. | कठ.उ. 6-14 |
| 554 | 11 | 31 | यदेव विद्यया करोति | विज. | छान्दो.उ.1-1-10 |
| 555 | 13 | 26 | यदेष आकाश आनन्दः | विज. | तैत्ति.उ.2-7 |
| 556 | 2 | 47 | यदोत्सृजति देहं सहरिः | विज. | गारुडे |
| 557 | 15 | 60 | यद्धि युक्त्या विरुध्येत | विज. | |
| 558 | 9 | 49 | यद्वाचाऽनभ्युदितम् | विज. | केन.उ.1-4 |
| 559 | 7 | 42 | यन्न दुःखेन सम्भिन्नम् | श्रीध. | |
| 560 | 1 | 25 | यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः | विज. | कठ.उ.2-22 |
| 561 | 1 | 28 | यमेवैष वृणुते तेन | वीर. | कठ.उ.2-22 |
| 562 | 5 | 13 | यमेवैष वृणुते तेन | विज. | कठ.उ.2-22 |
| 563 | 9 | 11 | यमेवैष वृणुते तेन | विज. | कठ.उ.2-22 |
| 564 | 15 | 55 | यश्चाऽस्य सततो भावः | विज. | |
| 565 | 9 | 10 | यस्तु विज्ञानवान्भवति | विज. | कठ.उ.3-6 |
| 566 | 15 | 17 | यस्त्वात्मरतिरेव स्यात् | विज. | |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 567 | 7 | 19 | यस्मिन्द्यौः पृथिवी च | श्रीध. | मुण्ड.उ.2-2-5 |
| 568 | 8 | 43 | यस्य ज्ञानमयं तपः | विज. | मुण्ड.उ.1-1-9 |
| 569 | 7 | 32 | यस्य देवे पराभक्तिः | विज. | श्वेता.उ. 6-23 |
| 570 | 9 | 47 | यस्याऽक्षरं शरीरम् | वीर. | सुबा.उ.3-7-1 |
| 571 | 14 | 38 | यस्याऽऽत्मा शरीरम् | वीर. | बृह.उ.3-7-22 |
| 572 | 9 | 47 | यस्याव्यक्तं शरीरम् | वीर. | सुबा.उ.2-7 |
| 573 | 15 | 24 | यस्यै देवतायै हविः | विज. | |
| 574 | 9 | 21 | यस्तुवन् स्तव्यतामेति | वीर. | न्यायात् |
| 575 | 10 | 66 | यस्सर्वज्ञस्सर्ववित् | वीर. | मुण्ड.उ.2-2-7 |
| 676 | 1 | 43 | यं यं वाऽपि स्मरन् | विज. | भ.गी.8-6 |
| 677 | 13 | 18 | यः कण्टकैर्वितुदति | विज. | |
| 578 | 1 | 31 | यः पुत्रः पितरं द्वेष्टि | वीर. | |
| 579 | 9 | 47 | यः पृथिव्यां तिष्ठन् | वीर. | बृह.उ.3-7-3 |
| 580 | 11 | 13 | यान ऊरूउशती विश्र | विज. | ऋक्सं.10-85-37 |
| 581 | 6 | 7 | यावत्सेवा परे तत्त्वे | विज. | |
| 582 | 9 | 27 | यावत्सेवा परे तत्त्वे | विज. | |
| 583 | 2 | 47 | यावद्देहान्वितो विष्णुः | विज. | गारुडे |
| 584 | 7 | 38 | यावान्वाऽय माकाशः | वीर. | छान्दो.उ. 8-1-3 |
| 585 | 8 | 10 | युद्धोद्यमं परं चक्रुः | विज. | भाग. 7-7-2 |
| 586 | 15 | 50 | येन सम्परिष्वक्तो गच्छति | श्रीध. | |
| 587 | 12 | 7 | ये निर्जितेन्द्रियग्रामा यतिनः | विज. | अम.को.2-442 |
| 588 | 4 | 13 | योगस्सन्नहनोपाय | विज. | अम.को.3-179 |
| 589 | 1 | 11 | योग्यताया स्तन्नियत्या | विज. | स्कान्दे |
| 590 | 7 | 39 | योऽयं बहिर्वा पुरुषा | विज. | छान्दो.उ. 3-12-7 |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 591 | 15 | 52 | यो यो ह्यन्नमत्ति यो यो | विज | छान्दो.उ.5-10-6 |
| 592 | 1 | 9 | यो विज्ञाने तिष्ठन् | वीर. | बृह.उ.3-7-22 |
| 593 | 1 | 31 | यो विष्णुम् | वीर. | |
| 594 | 10 | 66 | यो वेत्ति युगपत्सर्वम् | वीर. | न्यायतत्त्वम्-1 |
| 595 | 9 | 11 | यो वै भूमा तत्सुखम् | विज. | |
| | | | **र** | | |
| 596 | 11 | 30 | रजकश्चर्मकारश्च नटः | श्रीध. | |
| 597 | 11 | 30 | रजकश्चर्मकारश्च नटः | वीर. | |
| 598 | 1 | 43 | राक्षसीमासुरीञ्चैव | विज. | भ.गी. 9-12 |
| 599 | 11 | 14 | राजयाजकयाज्यस्य | वीर. | |
| | | | **ल** | | |
| 600 | 1 | 10 & 11 | लिङ्गं शरीरे चिह्ने च | विज. | |
| 601 | 2 | 45 | लिङ्गं स्वरूपमुद्दिष्टम् | विज. | शब्दनिर्णये |
| 602 | 9 | 21 | लुक् तद्धितलुक् | वीर. | अष्टा.1-2-49 |
| 603 | 2 | 48 | लेपाभिमानी जीवस्तु | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 604 | 1 | 6 | लोकवत्तु लीला कैवल्यम् | विज. | ब्र.सू.2-1-33 |
| | | | **व** | | |
| 605 | 5 | 23 | वनङ्गतो यद्धरिमाश्रयेत | वीर. | भाग.7-5-5 |
| 606 | 9 | 20 | वनङ्गतो यद्धरिमाश्रयेत | वीर. | भाग.7-5-5 |
| 607 | 1 | 25 | वरतोऽपि न मुच्यन्ते | विज. | |
| 608 | 11 | 2 | वर्णाश्रमाचारवता | वीर. | विष्णु.पु.3-8-9 |
| 609 | 11 | 17 | वर्णेष्वज्ञेषु वर्णस्तु | विज. | |
| 610 | 15 | 7 | वाचं यमे च सर्वज्ञे | विज. | |
| 611 | 9 | 31 | वाचारम्भणं विकारः | श्रीध. | छान्दो.उ.6-4-1 |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 612 | 15 | 66 | वाचारम्भणं विकारः | श्रीध. | छान्दो.उ.6-4-1 |
| 613 | 9 | 46 | वा विकल्पोपमानयोः | विज. | अम.को.3-404 |
| 614 | 15 | 58 | वासनाद्वासयेद्वस्तु | विज. | |
| 615 | 8 | 40 | विकारविरहो वीर्यम् | वीर. | |
| 616 | 7 | 19 | विज्ञातारमरे केन | श्रीध. | बृह.उ.4-5-5 |
| 617 | 8 | 52 | विज्ञानघन एवैतेभ्यः | वीर. | बृह.उ.4-4-12 |
| 618 | 6 | 28 | विज्ञानमानन्दं ब्रह्म | वीर. | बृह.उ.3-9-28 |
| 619 | 9 | 36 | विज्ञानमानन्दं ब्रह्म | विज. | बृह.उ.3-9-28 |
| 620 | 9 | 47 | विज्ञानमानन्दं ब्रह्म | विज. | बृह.उ.3-9-28 |
| 621 | 4 | 45 | विद्वेषो दयिते पुत्रे | विज. | भाग.7-1-47 |
| 622 | 15 | 7 | विना मांसेन मधुना | विज. | |
| 623 | 2 | 23, 24 | विप्रयज्ञादिमूलन्तु | विज. | ब्राह्मे |
| 624 | 11 | 30 | विप्रान्मूर्धावसिक्ता स्त्री | विज. | याज्ञ.स्मृ.1-71 |
| 625 | 8 | 53 | विभाषे पुरुषे | वीर. | |
| 626 | 15 | 24 | विमनाविफलारम्भः | श्रीध. | याज्ञ.स्मृ.1-274 |
| 627 | 10 | 52 | विलोक्य भग्नसङ्कल्पम् | वीर. | भाग.7-10-61 |
| 628 | 11 | 13 | विवाहमात्रसंस्कारम् | श्रीध. | |
| 629 | 11 | 13 | विवाहमात्रसंस्कारम् | वीर. | |
| 630 | 15 | 60 | विश्वं सत्यं मघवाना | विज. | |
| 631 | 15 | 55 | विश्वाद्या अनिरुद्धाद्यास्ते | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 632 | 1 | 11 | विषमत्वन्तु दोषाय | विज. | तन्त्रनिर्णये |
| 633 | 15 | 20 | विषयाविनिवर्तन्ते | विज. | भ.गी.2-59 |
| 634 | 5 | 31 | विषयाविष्टचित्तानाम् | श्रीध. | |
| 635 | 1 | 11 | विष्णुनैव ततो नित्यम् | विज. | ब्रह्मतर्के |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 636 | 3 | 13 | विष्णुपद्मासनावुक्तौ | विज. | |
| 637 | 2 | 9,10 | विष्णुभक्तेश्च | विज. | प्रकाशसंहितायाम् |
| 638 | 2 | 11 | विष्णुभक्तेश्च | विज. | प्रकाशसंहितायाम् |
| 639 | 2 | 23, 24 | विष्णुर्द्विजक्रियामूलः | विज. | ब्राह्मे |
| 640 | 6 | 30 | विष्णोर्गृहीत्वाद्भुतेषु | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 641 | 9 | 13 | विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा | विज. | |
| 642 | 7 | 53 | वृत्तं स्वरूपे चरिते | विज. | वैज.को. 6-5-76 |
| 643 | 15 | 8 | वेणुभिर्न भवेद्यतिः | विज. | भाग.11-18-17 |
| 644 | 13 | 43 | वेत्ता वेद्यस्यसर्वस्य | विज. | उत्पलमाला |
| 645 | 12 | 13 | वेदमधीत्य अभिसमावृत्य | वीर. | छान्दो.उ. 8-15-1 |
| 646 | 5 | 13 | वेदाऽहमेतं पुरुषं महान्तम् | विज. | पु.सू.2-1 |
| 647 | 11 | 7 | वेदोऽखिलो धर्ममूलम् | श्रीध. | मनुस्मृ. 2-6 |
| 648 | 11 | 7 | वेदोऽखिलो धर्ममूलम् | वीर. | मनुस्मृ.2-6 |
| 649 | 1 | 35 | वैकुण्ठः कल्पितो येन | वीर. | भाग.8-5-4 |
| 650 | 7 | 51 | व्यञ्जनाञ्जगतो विष्णुः | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 651 | 1 | 24 | व्यत्ययोऽतिशयकुत्सन | विज. | |
| 652 | 15 | 66 | व्यवसायात्मिकाबुद्धिः | वीर. | भ.गी.2-41, 2-44 |
| | | | **श** | | |
| 653 | 3 | 34 | शक्यत्वाच्छक्तयो भार्याः | विज. | |
| 654 | 6 | 11 | शतायुर्वै पुरुषः | विज. | |
| 655 | 9 | 10 | शमो दमस्तपश्शौचम् | श्रीध. | भ.गी.18-42 |
| 656 | 9 | 10 | शमो दमस्तपश्शौचम् | विज. | भारते |
| 657 | 11 | 35 | शमो दमस्तपश्शौचम् | वीर. | भ.गी.18-42 |
| 658 | 14 | 23 | शशिनि सिनीवाली स्यात् | विज. | हलाय.को.1-112 |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 659 | 11 | 16 | शालीन कौपीने अधृष्टा | वीर. | अष्टा.5-2-20 |
| 660 | 1 | 43 | शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वाम | वीर. | ब्र.सू.1-1-30 |
| 661 | 14 | 43 | शिलावत्प्रतिमास्सन्तः | विज. | समयाचारे |
| 662 | 3 | 34 | शिष्येणोपाध्याय आगतः | विज. | |
| 663 | 13 | 2 | शीतातपनिवारार्थम् | विज. | |
| 664 | 9 | 27 | शुचीनां श्रीमतां गेहे | विज. | भ.गी.6-41 |
| 665 | 15 | 55 | शुद्धस्फटिकसङ्काशम् | विज. | |
| 666 | 6 | 1 | शुद्धे महाविभूत्याख्ये | वीर. | विष्णुपु.6-5-72-79 |
| 667 | 10 | 45 | श्रवणं कीर्तनं विष्णोः | विज. | भाग.7-5-23 |
| 668 | 9 | 26 | श्रीर्ब्रह्मब्राह्मीवीन्द्राः | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 669 | 11 | 7 | श्रुतिः स्मृतिस्सदाचारः | श्रीध. | याज्ञ.स्मृ.1-7 |
| 670 | 11 | 7 | श्रुतिः स्मृतिस्सदाचारः | वीर. | याज्ञ.स्मृ.1-7 |
| 671 | 11 | 31 | श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः | श्रीध. | भ.गी.18-47 |
| 672 | 11 | 31 | श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः | वीर. | भ.गी.18-47 |
| 673 | 10 | 22 | श्रौतं स्मृति न लङ्घयेत् | विज. | |
| 674 | 9 | 11 | श्वपचादप कष्टत्वम् | विज. | |
| | | | **ष** | | |
| 675 | 7 | 18 | षड्विकाराः शरीरस्य | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 676 | 11 | 14 | षण्णान्तु कर्मणामस्य | श्रीध. | मनुस्मृ.10-76 |
| 677 | 11 | 14 | षण्णान्तु कर्मणामस्य | वीर. | मनुस्मृ.10-76 |
| | | | **स** | | |
| 678 | 15 | 61 | सइदं सर्वमसृजत | विज. | |
| 679 | 7 | 19 | स इमां लोकानसृजत | श्रीध. | ऐत.उ.1-2 |
| 680 | 15 | 50 | स इमास्तेजो मात्राः | श्रीध. | |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 681 | 6 | 6 | स एवास्माज्जीवघनात् | विज. | |
| 682 | 7 | 23 | स एष नेति नेतीत्यात्मा | विज. | बृह.उ.6-5-15 |
| 683 | 5 | 57 | स एष प्राणः | विज. | बृह.उ.1-2-3 |
| 684 | 9 | 47 | स ऐक्षत | श्रीध. | |
| 685 | 3 | 13 | सकामन्तु तपः क्रूरम् | विज. | प्रकाशिकायाम् |
| 686 | 10 | 39 | सखे कहास्तेऽन्यस्य | विज. | |
| 687 | 12 | 15 | सगुरुर्यः क्रियाःकृत्वा | विज. | याज्ञ.स्मृ.1-34.35 |
| 688 | 7 | 26 | सजीवेन सह स्थानात् | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 689 | 7 | 33 | सञ्चिन्तयेद्भगवतः | विज. | भाग.3-28-21 |
| 690 | 10 | 66 | सतपोऽतप्यत | वीर. | तैत्ति.उ.2-6 |
| 691 | 2 | 22 | सता सौम्य तदा सम्पन्नः | विज. | छान्दो.उ.6-8-1 |
| 692 | 13 | 5 | सता सौम्य तदा सम्पन्नः | विज. | छान्दो.उ.6-8-1 |
| 693 | 7 | 25 | सत्त्वबुध्यादिशब्दैस्तु | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 694 | 2 | 41 | सत्त्वं सुखे सञ्जयति | विज. | भ.गी.14-9 |
| 695 | 10 | 66 | सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः | वीर. | छान्दो.उ.8-1-5 |
| 696 | 12 | 10 | सत्यसृष्टावशक्ता हि | विज. | |
| 697 | 6 | 28 | सत्यं ज्ञानमनन्तम् | वीर. | तैत्ति.उ.2-1-1 |
| 698 | 7 | 19 | सत्यं ज्ञानमनन्तम् | श्रीध. | तैत्ति.उ.2-1-1 |
| 699 | 9 | 10 | सत्यं दमस्तपश्शौचम् | विज. | भारते |
| 700 | 9 | 43 | सत्स्वन्यत्र ततो दया | विज. | |
| 701 | 2 | 46 | सदेहान् भजते | विज. | गारुडे |
| 702 | 9 | 36 | सन्तो ह्यस्मिन्नानन्दः | विज. | |
| 703 | 15 | 28 | सन्ध्यामुपासीत | विज. | |
| 704 | 9 | 36 | सन्निवेशश्च यः स्तोमः | विज. | |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 705 | 7 | 24 | सन्मूलास्सौम्येमास्सर्वाः | वीर. | छान्दो.उ.6-8-6 |
| 706 | 11 | 12 | सप्तपादश्चतुर्हस्तः | विज. | |
| 707 | 14 | 21 | सप्तम्यादित्रयश्चैव | विज. | समयाचारे |
| 708 | 2 | 48 | सप्तसु प्रथमा | विज. | शब्दनिर्णये |
| 709 | 10 | 13 | समदुःखसुखं धीरम् | वीर. | भ.गी.2-15 |
| 710 | 15 | 64 | समधिगतोऽस्मि विधूत | विज. | |
| 711 | 9 | 10 | समर्थं मन्यसे यच्च | विज. | भार.5-54-30,31 |
| 712 | 9 | 51 | स महात्मा सुदुर्लभः | वीर. | भ.गी.7-19 |
| 713 | 6 | 4 | समूलघातमघ्नन्तः | विज. | शिशुपालवधम् |
| 714 | 7 | 19 | सम्राडिति होवाच | श्रीध. | |
| 715 | 6 | 32 | सर्वदेवयजनं विद्या | विज. | |
| 716 | 11 | 31 | सर्वधर्मान् परित्यज्य | विज. | भ.गी.18-66 |
| 717 | 15 | 9 | सर्वधर्मान् परित्यज्य | विज. | भ.गी.18-66 |
| 718 | 15 | 47 | सर्वधर्मान् परित्यज्य | विज. | भ.गी.18-66 |
| 719 | 13 | 2 | सर्वभूतहितश्शान्तः | विज. | याज्ञ.स्मृ. 3-58 |
| 720 | 10 | 66 | सर्वमिदमभ्यात्तोवाक्य | वीर. | छान्दो.उ. 3-14-2 |
| 721 | 2 | 46 | सर्वस्य ज्ञानदो हरिः | विज. | गारुडे |
| 722 | 3 | 32 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म | विज. | छान्दो.उ. 3-14-1 |
| 723 | 15 | 58 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म | विज. | छान्दो.उ. 3-14-1 |
| 724 | 15 | 66 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म | वीर. | छान्दो.उ. 3-14-1 |
| 725 | 8 | 9 | सर्वं पदं हस्तिपदे निमग्नम् | वीर. | |
| 726 | 11 | 20 | सर्वा देवता वेदविदि | विज. | |
| 727 | 3 | 11 | सर्वार्थान्विपरीतांश्च | वीर. | भ.गी 18-32 |
| 728 | 10 | 8 | सर्वेन्द्रियाणां जरयति | विज. | |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 729 | 7 | 24 | सर्वेश्वरा घोषवन्तः | विज. | |
| 730 | 1 | 10,11 | स वै बलं बलिनाञ्च | विज. | भाग.7-8-8 |
| 731 | 6 | 6 | सस्यमिव मर्त्यःसूच्यते | विज. | |
| 732 | 13 | 10 | सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण | वीर. | ब्र.सू.3-4-46 |
| 733 | 7 | 39 | स हिसर्वमनोवृत्तिप्रेरकः | विज. | |
| 734 | 15 | 55 | संवत्सरो वै प्रजापतिः | विज. | प्रश्न.उ.1-9 |
| 735 | 4 | 8 | साक्षात्प्रत्यक्षतुर्ययोः | विज. | अम.को. 3-398 |
| 736 | 6 | 28 | सारञ्जुषां चरणयोः | वीर. | भाग. 7-6-25 |
| 737 | 6 | 8 | सुखस्यानन्तरं दुःखम् | विज. | |
| 738 | 13 | 25 | सुखाय कर्माणि करोति | विज. | भाग 3-5-2 |
| 739 | 15 | 40 | सुखार्थी वा त्यजेद्विद्याम् | विज. | |
| 740 | 15 | 10 | सुन्वन्तं वा पराचिच्छीर्षा | विज. | |
| 741 | 12 | 10 | सुशीलो मितभुक् | वीर. | भाग.7-12-6 |
| 742 | 15 | 54 | सृष्टिस्थित्यन्तकारिण्यः | वीर. | सर्वज्ञसंहिता |
| 743 | 9 | 9 | सेनानेतरि नागेन्द्रे | विज. | |
| 744 | 5 | 54 | सैष दाशरथी रामः | विज. | |
| 745 | 5 | 54 | सोक्षिन्नु भद्रा क्षुमता | विज. | |
| 746 | 5 | 54 | सोऽचिलोपे चेत्पादपूरणम् | श्रीध. | अष्टा. 6-1-134 |
| 747 | 15 | 45 | सोऽध्वनः पारमाप्नोति | वीर. | कठ.उ. 3-9 |
| 748 | 11 | 25 | स्त्रीभिः भर्तृवचःकार्यम् | विज. | याज्ञ.स्मृ- 1-77 |
| 749 | 14 | 13 | स्त्रीभिः भर्तृवचःकार्यम् | विज. | याज्ञ.स्मृ- 1-77 |
| 750 | 8 | 9 | स्थाणुमन्ये प्रपद्यन्ते | विज. | |
| 751 | 9 | 33 | स्थावराणान्तु सर्वेषाम् | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 752 | 1 | 28 | स्नेहादन्नं ददातीति | विज. | ब्रह्माण्डे |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 753 | 7 | 50 | स्पष्टाद्युच्चारणाभेदे | विज. | |
| 754 | 11 | 6 | स्यादध्याधिक ईश्वरः | विज. | |
| 755 | 3 | 13 | स्युरेव तु पुनर्वै वेति | विज. | अम.को 3-427 |
| 756 | 4 | 5 | स्वतो भक्ता हिरण्याद्याः | विज. | पाद्मे |
| 757 | 10 | 6 | स्वत्वमात्मनि सञ्जातम् | वीर. | विष्णुधर्मे |
| 758 | 1 | 11 | स्वभावतः प्रियत्वात्तु | विज. | ब्रह्मतर्के |
| 759 | 1 | 9 | स्वमायागुणमाविश्य | वीर. | भाग.7-1-6 |
| 760 | 2 | 50 | स्वयं सधर्माअपि शोचन्ति | वीर. | भाग.7-2-37 |
| 761 | 1 | 25 | स्वर्गकामो यजेत | विज. | |
| 762 | 15 | 47 | स्वर्गकामो यजेत | विज. | |
| 763 | 5 | 3,4 | स्वातन्त्र्यात्स्व इति प्रोक्तः | विज. | |
| 764 | 10 | 66 | स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च | वीर. | श्वेता.उ.6-8 |
| | | | **ह** | | |
| 765 | 1 | 1 | हतपुत्रा दितिः | श्रीध. | भाग.6-18-23 |
| 766 | 1 | 1 | हतपुत्रा दितिः | वीर. | भाग.6-18-23 |
| 767 | 11 | 29 | हरिरस्मिन् स्थित इति | विज. | तन्त्रमलायाम् |
| 768 | 7 | 34 | हरिस्सर्वेषु भूतेषु | विज. | भाग.7-7-32 |
| 769 | 5 | 37 | हरीतकी मनुष्याणाम् | विज. | |
| 770 | 10 | 31 | हरेरुपर्युपरि व्यवहारेण | विज. | |
| 771 | 6 | 14, 15 | हित्वाऽऽत्मपातं गृहमन्धकूपम् | वीर. | भाग.7-5-5 |
| 772 | 1 | 43 | हिरण्यकशिपुर्भूतम् | विज. | गारुडे |
| 773 | 1 | 25 | हिरण्यकशिपुश्चाऽपि | विज. | भाग.7-10-15 |
| 774 | 1 | 47 | हिरण्यकशिपुः पुत्रम् | वीर. | भाग 7-1-41 |
| 775 | 3 | 32 | हिरण्यकोशं रजसा परिवृतम् | विज. | |

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | In commentary | Particulars of sources etc. |
|---|---|---|---|---|---|
| 776 | 3 | 32 | हिरण्यगर्भस्समवर्तताऽग्रे | वीर. | तैत्ति. सं 4-1-8-3 |
| 777 | 15 | 11 | हिरण्यशरीरमूर्ध्वं स्वर्ग | वीर. | |
| 778 | 10 | 1 | हि हेतौ | विज. | वैज.को. 8-7-9 |
| 779 | 14 | 13 | हताधिकारां मलिनाम् | विज. | याज्ञ.स्मृ 1-70 |
| 780 | 11 | 24 | हत्कण्ठतालुनाभिस्तु | विज . | याज्ञ.स्मृ 2-21 |
| 781 | 9 | 7 | हृदा मनीषा मनासाऽभिक्लृप्तः | वीर. | कठ.उ.2-6-9 |
| 782 | 7 | 37 | हृदि ह्ययमात्मा प्रतिष्ठितः | वीर. | प्रश्न उ.3-6 |
| 783 | 14 | 22 | हेमन्ते शिशिरे चैव | विज. | समयाचारे |

* * * *

# BHAGAVATA

## MAHĀPURĀNAM

OF MAHARṢI VĒDAVYĀSA

SKANDHA - VIII

EDITED BY

Dr. N.C.V. NARASIMHA CHARYA

Hanh Om

# ŚRĪMAD
# BHĀGAVATA
# MAHĀPURĀNAM

*of Maharṣi Vedavyasa*

## SKANDHA - VIII

**With the Commentaries :**

*Bhavarthadipika of Sri Sridharaswami Bhagavatachandrachandrika of Sri Vira Raghavacharya Padaratnavali of Sri Vijayadhvaja Tirtha*

**Edited by**


Panditaraja Sahitya Visarada, Vacaspati, Stromani Vidwan,
Recipient of President's Certificate of Honour
**Dr. N. C. V. Narasimhacharya,** M.A., B.O.L.
SPECIAL OFFICER
**SRI BHAGAVATA PROJECT**
T.T. Devasthanams, Tirupati



Published by
EXECUTIVE OFFICER
**Tirumala Tirupati Devasthanams**
Tirupati
**2004**

**Srimad Bhagavatamahapuranam - Skandha - VIII.**
Edited by
Dr. N.C.V.Narasimhacharya

T.T.D. Religious Publications Series No. 653

First Edition 2004

**Price: Rs. 90.00**

Copies-1000

***Published by:***
**Sri Ajeya Kallam, I.A.S.,**
Executive Officer,
T.T.Devasthanams,
Tirupati

Cover Design
P. Siva Prasad, TTD

*Laser Typeset by*
YENCY GRAPHICS
TIRUPATI

Printed at
**Chennai Micro Print Pvt Ltd, Chennai-29.**
**Ph : 044 - 23740099**

श्री नमो वेङ्कटेशाय

श्रीवेदव्यासमहर्षिप्रणीतम्

# श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

## अष्टमः स्कन्धः

[illegible]

[illegible]

[illegible]

राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्तेन

**डॉ. यन्. सि. वि. नरसिंहाचार्येण** [illegible]

[illegible]

**परिष्कृतम्**


तिरुमल तिरुपति देवस्थान

कार्यनिर्वहणाधिकारिभिः

प्रकाशितम्

2004

# TIRUMALA TIRUPATI DEVASTHANAMS

# TRUST BOARD

## Chairman

**Sri D.K.Audikesavulu**

## Members

**Dr.D. Ramanaidu Ex M.P.**

**Sri G. Ganga Reddy Ex M.P.**

**Smt. Gundu Sudha Rani**

**Sri . G. Srinivasulu**

**Sri Manoj Kumar Santhalia**

**Dr. V.R. Panchamukhi**

**Sri K.V. Ramanachary**
Commissioner, Endowments, A.P.,
Ex-Officio Member

**Sri Ajeya kallam,** I.A.S.,
Executive Officer
T.T.Devasthanams
Ex-Officio Member-Secretary

# THE CRITICAL EDITION OF SRIMAD BHAGAVATA

## THE EDITORIAL BOARD


**Ex-Officio Chairman**

**Sri Ajeya kallam, IAS**
**Executive Officer**

**MEMBERS**

**1. Dr. Medasani Mohan,**
Director,
Sri Annamacharya Project,
T T Devasthanams, Tirupati

**2. Prof. H.S. Brahmananda**
Secretary,
Dharma Prachara Parishad,
T T Devasthanams, Tirupati

**3. Prof.S.Sudarsana Sarma**
Professor & Head
Dept of Sahitya
R S Vidyapeetha, Tirupati

**4. Prof. K. Pratap**
Professor & Head
Dept of Sanskrit,
S V University, Tirupati

**5. Dr. G.S.R.Krishna Murthy**
Reader,
Dept of Sahitya,
R S Vidyapeetha, Tirupati

**6. Dr. N.S. Ramamoorthy**
Editor
T T Devasthanams Tirupati

**Convener**
**Prof. Samudrala Lakshmanaiah**
Special Officer,
Sri Bhagavata Critical Edition Project,
T T Devasthanams Tirupati

हरिः ओम्

लोकोद्धारैकदीक्षापर निगममहाहर्म्यधर्म्यप्रदीपः
स्वाङ्घ्रिद्वन्द्वप्रपन्नाखिलदुरितनमोध्वंसिपुण्यप्रदीपः।
दिक्चक्रेभ्यो नरेभ्यः प्रकटितसरणिः स्नेहदीप्रः प्रदीपः
युष्मानस्मान्समस्तानवतु वृषगिरिस्थास्तुमङ्गल्यदीपः।।

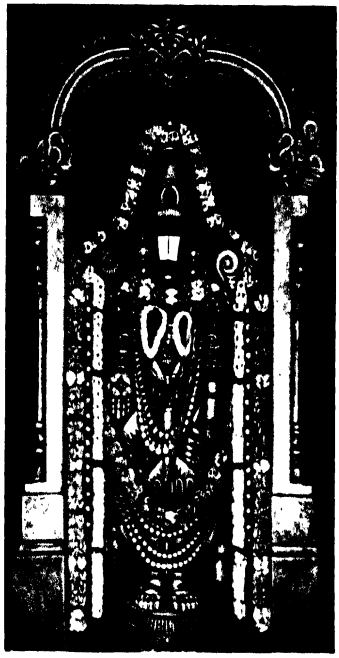

श्रीमद्भागवतं पुराणमखिलाम्नायैकसारः क्व वा?
प्रज्ञादुर्विधकिम्यचानधिषणाः शैक्षाः क्व वा मादृशाः?
भक्त्या चापलतस्तथाऽपि च परिष्कर्तुं वयं व्यापृताः,
एतत् प्राभृतयाम वेङ्कटपतेः पादाब्जयोः, स्वीक्रियात्।।

"ईशानां जगतोऽस्य वेङ्कटपतेर्विष्णोः परां प्रेयसीं
तद्वक्षःस्थलनित्यवासरसिकां तत्क्षान्तिसंवर्धनीम्।
पद्मालङ्कृतपाणिपल्लवयुगां पद्मासनस्थां श्रियं
वात्सल्यादिगुणोज्ज्वलां भगवतीं वन्दे जगन्मातरम्।।"

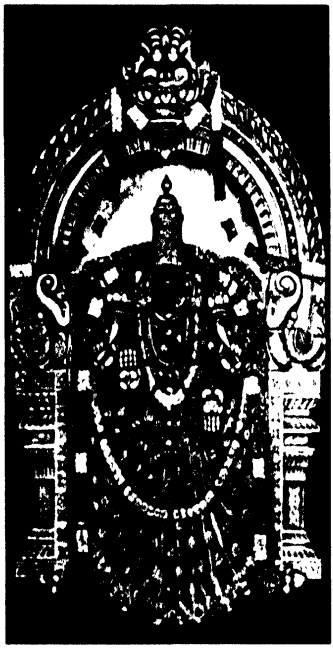

श्रीमद्वेङ्कटनायकस्य हृदयं द्वेधा विधायाऽऽत्मनो
मूर्तिं शर्म्वदियं कृपामृतझरीस्नानस्विनी भार्गवी।
उद्धर्तुं निखिलानगण्यविषमाहावह्निदग्धात्मनो
जन्तून् सन्निदधाति विश्वजननी पद्मावती रक्षताम्।।

# CONTENTS


1 Foreword ..... I
2 Introduction - English ..... II
3 Introduction - Sanskrit ..... IV
4 List of Abbreviations (Editions) ..... VI
5 List of Abbreviations (Texts cited) ..... VII
6 Contents of each canto (in prose) ..... IX
7 Contents of each canto (in slokas) ..... X
8 Process of Reciting Sri Bhagavata ..... XII

**9.Srimad Bhagavata Mahapuranam:-**

| **Text.** | **Page** |
|---|---|
| Canto 1 | 1 |
| Canto 2 | 19 |
| Canto 3 | 30 |
| Canto 4 | 53 |
| Canto 5 | 62 |
| Canto 6 | 90 |
| Canto 7 | 106 |
| Canto 8 | 124 |
| Canto 9 | 141 |
| Canto 10 | 152 |
| Canto 11 | 167 |
| Canto 12 | 181 |
| Canto 13 | 203 |
| Canto 14 | 213 |
| Canto 16 | 230 |
| Canto 17 | 252 |
| Canto 18 | 263 |
| Canto 19 | 273 |
| Canto 20 | 292 |
| Canto 21 | 305 |
| Canto 22 | 316 |
| Canto 23 | 331 |
| Canto 24 | 342 |
| Appendix-I | 1to55 |
| Quarter verse Index | |
| Appendix-II | 1to13 |
| Citation Index | |

# FOREWORD

Our country Bharath has a glorious past Its glory is based on its ancient spirituality Not only in the past but also at present India is well-known for its spiritual eminence Our Vedas Sastras Puranas including Ramayana Mahabharata and Srimad Bhagavatam contain the essential tenets of spirituality

Srimadbhagavata is famous for its exposition of Bhakti yoga It can be understood only by sincere devotion not by scholarship

T T D is publishing a large number of religious books in various languages and they are being received well by the devotees

Sri Bhagavatam Project was established by the T T D to bring out the Critical Edition of Sanskrit Bhagavatam with different commentaries Eminent scholars endeavoured to bring out this edition after perusing many editions of the epic

The first Skandha and three volumes of tenth Skandha have already been published The fourth Skandha is in the process of printing This volume is the eighth Skandha containing the interesting stories of Gajendra Moksha Kshirasagara Mathanam and Vamanavatara etc The Chief Editor of this volume Dr N C V Narasimhacharya reached the lotus feet of Lord even before the publication of this valuable edition

It is hoped that the readers would receive the present volume also with due devotion and make the efforts of the T T D fruitful

TIRUPATI

Dt 15 - 4 – 2004

**Ajeya Kallam,**

Executive Officer

T T Devasthanams Tirupati

# INTRODUCTION

Bhagavatam is considered as Bhashyam to Gayatri Mantra The propagation of this holy work as per the twelfth Chapter of Bhagavata is as follows In the very beginning, Srimannarayana, narrated this to Brahma Brahma taught it to Narada. Vedavyasa received it from Narada. Suka learnt it from Vedavyasa and Pareekshit received this light of knowledge from Sage Suka

There is another tradition regarding the propagation of this work Sage Krishna Dwaipayana, after composing Bhagavata, taught it to his disciple Romaharshana Suta, the latter's son learnt it from his father This scripture was explained by Suta, later to Sages like Sounaka in the forest of Naimisa

There is also a third tradition, which says that Sankarshana was enlightened on this epic by Lord Srimannarayana Himself, whereas, Sankarshana explained it to Sage Sanatkumara etc The latter enlightened about it to Sankhyayana, Sankhyayana to Parasara, Parasara to Maitreya and Maitreya to Vidura respectively

These different traditions indicate the wide popularity of this text

In this eighth Skandha of Bhagavatam interesting stories like Gajendra Moksha, Kshirasagaramathana, Vamanavatara, and Matsyavatara are found The ego-centric Jeeva becomes an animal, and enters the lake of Samsara and is caught by the Crocodile of infatuation Inspite of his efforts, he fails to get released from the grip of the Crocodile Finally, he surrenders to the Lord and attains liberation This is the essence of Gajendra Moksha Devotees are accustomed to read Gajendra Moksha daily, as it is auspicious to do so

The story of Churning of the milky ocean also is very interesting Our heart is compared to Kshira Sagara It is full of good as well as bad ideas Bad ideas are to be discarded as poison Good ideas are to be welcomed like gems But both of them are impediments in the path of immortality The aspirant should not slacken his efforts till he attains the final goal of immortality

That is why Bhartruhari said "The Gods were not satisfied by merely finding the gems Nor they were afraid by the dreadful poison They did not rest till they obtained the Ambrosia The brave do not give up their efforts till they achieve success"

The story of Balichakravarthi is also very fascinating Bali followed the ninth way of devotion i e Atmanivedana He gave away everything in his possession to Lord Vamana and thereby received abundant grace of the Lord This Skandha ends with the description of Matsyavatara, one of the ten Avataras of Lord Vishnu All these stories are of high spiritual value

This Skandha was edited by well-known Sanskrit scholar, recipient of President s award and our Guru Sriman Dr N C V Narasimhacharya Swami He reached the Lotus feet of the Lord even before the publication of this book

The scholars who assisted in preparing this edition are 1 Sriman K C Jayachandra Sastri 2 Sriman U Venkatramaiah and 3 Sriman A Varada Rajan who deserve the gratitude of the readers

The research assistants, namely, Sri S B S Bhattacharya, Smt S Purnavalli and Dr S Dasaratha also deserve our commendation Sri I Venkateswara Rao and others who helped immensely in proof reading of the work also deserve our gratitude

Sri Ajeya Kallam IAS, the revered Executive Officer of the TTD and Dr V R Panchamukhi, the well-known Sanskrit scholar, the revered Chancellor of Rashtriya Sanskrit Vidya Peetha Tirupati and Hon Member of the TTD Board and Dr Medasani Mohan the Director of Annamacharya Project and other members of the advisory committee of the Bhagavata project are offered our deep gratitude for their keen interest and co-operation in bringing out this edition

Tirupati
Dt 15-04-2004

Samudrala Lakshmanaiah,
Special Officer,
Sri Bhagavata Project T T D

# निवेदनम्

**कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा**
**तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा।**
**योगीन्द्राय तदात्मनाऽथ भगवद्रातात्र कारुण्यतः**
**तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि।।**

(भाग.12-13-19)

इति गायत्रीभाष्यभूतस्य भागवतस्य प्रबाधनक्रमः श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे निर्दिष्टः। आदौ श्रीमन्नारायणेन चतुर्मुखब्रह्मणे भागवतमिदं प्रबोधितम्। तदनु ब्रह्मणा नारदाय, नारदेन बदव्यासाय, व्यासेन च योगिश्रेष्ठाय शुकाय, शुकेन च भगवद्रक्षिताय परीक्षिते चाय भागवताख्यो ज्ञानप्रदीपः विभासितः इति निरूपितम्।

भागवतप्रचारविषये अन्योऽपि कश्चन सम्प्रदायः श्रूयते। कृष्णद्वैपायनः नारदप्रेरितः भागवतं निर्माय स्वशिष्याय रोमहर्षणाय उपदिदेश। रोमहर्षणोऽपि स्वपुत्राय सूतायोपदिष्टवान्। सूतोऽपि नैमिशारण्ये शौनकादिमुनीनुद्दिश्य भागवतपुराणमिदं बोधयामासेत्यपि ज्ञायते।

किञ्च भागवते तृतीयस्कन्धे अपरोऽपि कश्चन सम्प्रदायः विलोक्यते। श्रीमन्नारायणेन सङ्कर्षणमुद्दिश्य भागवततत्त्वमुपदिष्टमिति। सङ्कर्षणेन सनत्कुमाराय., सनत्कुमारेण साङ्ख्यायनाय, साङ्ख्यायनेन पराशराय, पराशरेण मैत्रेयाय, मैत्रेयेण विदुराय च तत्त्वमिदं प्रबोधितमिति।

एवमेते भिन्नाभिन्नास्सम्प्रदायाः श्रीमद्भागवतस्य विशिष्टतां तस्य प्रचारातिशयं च निवेदयन्ति।

भागवतस्य अष्टमस्कन्धे गजेन्द्रोपाख्यानम्, क्षीरसागरमथनं, भगवतो वामनस्य प्रादुर्भावः, बलिबन्धनं, मत्स्यावतारकथा चेति प्रशस्ताः केचन कथाघट्टाः पठ्यन्ते।

अहङ्कारेण निबद्धः जीवः पशुप्रायस्सन् संसारह्रदं प्रविश्य मोहग्राहेण परिपीडितो भवतीति, अन्ते भगवन्तं श्रीमन्नारायणं प्रपद्यैव तदनुग्रहेण ततः विमुक्तो भवतीति अयं परमार्थः गजेन्द्रमोक्षणे सुरुचिरं निरूपितः।

गजेन्द्रमोक्षणघट्टं भक्ता केचित् अनुदिनं पठन्ति। "**स्वर्ग्यं यशस्यं कलिकल्मषापहं दुःस्वप्ननाशं**" (भाग.8-11-14) इत्यादिना भागवते गजराजमोक्षणं परिकीर्तितम्।

क्षीरसागरमथनकथाऽपि अतीव रमणीया भवति। अस्माकं हृदयमेव क्षीरसागरः, तत्र परिहरणीयाः विषतुल्याः दोषाः एवं उपादेयानि बहूनि गुणरत्नान्यपि सन्ति। साधकः ध्यानादिसाधनैः अमृतत्वप्राप्त्यै दृढप्रयत्नं कुर्यात्। साधनकाले विघ्नपरम्परा भवत्येव। तामतिक्रम्य लक्ष्यसिद्धिपर्यन्तं प्रयत्नपरो भवेदिति तत्त्वार्थः अत्र बोध्यते।

उक्तं च भर्तृहरिणा --

**'रत्नैर्महाब्धेस्ततुषुर्न देवाः न भेजिरे भीमविषेण भीतिम्।**
**सुधां विना न प्रययुर्विरामं न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः।।'** इति।

बलिचक्रवर्तिन कथाऽपि नितरां हृद्या भवति। प्रह्लादेन प्रतिपादितासु नवविधासु भक्तिषु अन्तिमां आत्मनिवेदनरूपां भक्तिमाश्रित्य सर्वस्वार्पणं कृत्वा वामनरूपेण विष्णुना बलि अनुगृहीत।

दशावतारेषु अन्यतमस्य मत्स्यावतारस्य कथाऽपि अस्मिन् स्कन्धे पठ्यते।

विद्वद्रत्नं राष्ट्रपतिपुरस्कारेण सम्मानिते, बहुभाषाविदुषि अस्मद्दुरभि श्रीमद्भि डा.यन्.सि.वि.नरसिंहाचार्य स्वामिभि व्याख्यानत्रयसमलङ्कृतोऽयं ग्रन्थः महता श्रमेण परिष्कृतः। ग्रन्थप्रकाशनात्पूर्वमेव ते महाभागाः यशःशरीरा बभूवुः।

अस्य ग्रन्थस्य परिष्करणं सम्पादनं च बहुधा उपकृतवन्तः श्रीमन्तः कं.सि.जयचन्द्रशास्त्रिणः, यं.वङ्कटरामय्यनामानः, आ.वरदराजनाम्नश्च कृतज्ञताञ्जलिमर्हन्ति एव श्रीमान् यस्.वि.यस् भट्टाचार्यः, श्रीमन्तौ एस् पुण्यवल्ली-एस् दशरथश्च कृतज्ञतामर्हन्ति।

मुद्रणसमये अक्षरशोधनकर्मणि सहकारं प्रदत्तवन्तः श्रीमन्तः श्री.पी.वङ्कटभरण्यः महोदयाः, एव अन्ये च धन्यवादान् अर्हन्ति।

किञ्च अस्य ग्रन्थस्य मुद्रणं नितरां श्रद्धा प्रदर्शितवद्भ्यः तिरुमलदेवस्थानाधिकारिभ्यः श्री अजय कुमार IAS महाशयेभ्यः, एव तिरुमलदेवस्थानमण्डलीसदस्येभ्यः विद्वद्रत्नेभ्यः डा.वी आर पद्मनाभ्यमहोदयेभ्यः, अध्यक्षाय प्राजक्ट् निदेशकेभ्यः डा.महमान मोहन महाशयेभ्यः एव अन्येभ्यश्च भागवतपरिष्करणमार्गदर्शक मण्डलीसदस्येभ्यः सादरं कृतज्ञताञ्जलयः समर्पयन्ति।

व्याकरणसमस्तं व्यर्थीकृतं भवन्तु।

तिरुपति

[illegible]

**समुद्राल लक्ष्मणय्य**
विशिष्टाधिकारी
श्रीभागवतपरिष्करण परिषत्
तिरुमलदेवस्थानम्

## LIST OF ABBREVIATIONS

(of the Edition of Srimad Bhagavata Mahapuranam being referred to)

1.A. Edited by Sri Krishna Sankara Sastri - contains about 30 commentaries - Printed in Devanagari Script At Ahmedabad,Gujarat.

2. B. Printed in Devanagari Script at Brindavan - contains 9 commentaries.

3. G Contains text only - Printed at Gita Press, Ghorakhpur - in Devanagari Script.

4. H. Contains Sridhara's Commentary - Edited by Sri Hayagriva Sastry Printed in Telugu Script at Madras.

5 J Contains Sridharacharya's Commentary - Edited by Prof J.L Sastri - in Devanagari Script

6 M Contains the commentary of Sri Vijaya Dhvaja Tirtha - printed in Devanagari Script, Madhva Edition

7.Ma Contains the commentary of Sri Vijaya Dhvaja Tirtha - printed in Devanagari Script, Another Madhva Edition[4]

8 T Contains the commentary of Sri Veera Raghavacharya - printed in Telugu Characters-Published by Sri Tridandi Srimannarayana Ramanuja Jeer Swami

9 V Contains the commentary of Sridharacharya - Printed at Vavilla Press, Madras in Telugu Script

10 W Contains the commentary of Sri Veera Raghavacharya - Printed inTelugu characters - Published by the Maharaja of Wanaparti Samsthan, Andhra

## LIST OF ABBREVIATIONS

Commentaries

1. **श्रीध०** श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका
2. **वीर०** श्रीवीरराघवविदुषालिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका
3. **विज०** श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

# Texts cited in commentaries and their Abbreviations

| Abbreviation | Name of the Book | Abbreviation | Name of the Book |
|---|---|---|---|
| अथ . शिखा उ | अथर्वशिखोपनिषत् | नृ . उ . ता . उ . | नृसिंह उत्तरतापिन्युपनिषत् |
| अद्वै उ | अद्वैतोपनिषत् | | पञ्चतन्त्रे |
| - | अध्यात्मे | - | परमसंहिता |
| - | अभिधानम् | | पाञ्चरात्रे |
| अम को | अमरकोश | | पाद्मपुराणम् |
| अष्ट | अष्टाध्यायी | पु सू | पुरुषसूक्तम् |
| - | आदबुद्धसंहिता | | प्रकाशिकायाम् |
| आगम प्रा | आगमप्रामाण्यम् | प्रश्न उ | प्रश्नोपनिषत् |
| आप श्रौ सू | आपस्तम्बश्रौत सूत्रम् | बृह उ | बृहदारण्यकोपनिषत् |
| - | आम्नाय | | ब्रह्मतर्के |
| ईश उ | ईशावास्योपनिषत् | | ब्रह्मवैवर्ते |
| उणा सू | उणादिसूत्राणि | ब्र सू | ब्रह्मसूत्राणि |
| - | उत्पलमाला | | ब्राह्म |
| कक स | कक संहिता | | भट्टिकायाम् |
| कत उ | कठरुद्रोपनिषत् | भ गी | भगवद्गीता |
| कठ उ | कठोपनिषत् | भर स | भरद्वाजसंहिता |
| - | कणिलाद | | भागवततन्त्रे |
| कुमार स | कुमारसम्भवम् | भाग | भागवतम् |
| कौषी उ | कौषीतक्युपनिषत् | | भविष्यत्पुराण |
| - | क्रियायोग | भारत आनु | भारत आनुशासनिकपर्व |
| | गारुड | भारत आरण्य | भारत आरण्यपर्व |
| | गोपाल | भारत उद्योग | भारत उद्योगपर्व |
| - | चाक्रायण श्रौत | भारत शान्ति | भारत शान्तिपर्व |
| छान्दो उ | छान्दोग्योपनिषत् | मनु स्मृ | मनुस्मृति |
| जित स्ता | जितन्तास्त्रम् | | महाकौर्मे |
| - | तत्त्वनिर्णय | | माहात्म्य |
| - | तत्त्वभागवत | म ना उ | महानारायणोपनिषत् |
| तैत्ति आ | तैत्तिरीय आरण्यकम् | महा उ | महोपनिषत् |
| तैत्ति उ | तैत्तिरीयोपनिषत् | माण्डू उ | माण्डूक्योपनिषत् |
| तैत्ति स | तैत्तिरीयसंहिता | | माध्यन्दिनश्रौत |
| - | दत्त | मुण्ड उ | मुण्डकोपनिषत् |
| - | नारदीय | मैत्री उ | मैत्रायण्युपनिषत् |
| निरा . उ | निरालम्बोपनिषत् | याज स्मृ | याज्ञवल्क्यस्मृतिः |
| - | निरुक्तम् | रामा | रामायणम् |

| Abbreviation | Name of the Book | Abbreviation | Name of the Book |
|---|---|---|---|
| - | रुद्रः | शार्ङ्ग . पद्ध . | शार्ङ्गधरपद्धतिः |
| - | लक्ष्मीतन्त्र | - | शिशुपालवधम् |
| वर . स्तव: | वरदराजस्तवः | श्वेता . उ . | श्वेताश्वतरोपनिषत् |
| - | वामनं | सुबा उ . | सुबालोपनिषत् |
| - | वाराहं | सुभा . | सुभाषितरत्नभाण्डागारम् |
| - | वररुचि: | सूर्य . उ . | सूर्योपनिषत् |
| विष्णु . ध . पु . | विष्णुधर्मोत्तरपुराणम् | - | स्कान्दं |
| विष्णु . पु . | विष्णुपुराणम | - | षाड्गुण्यं |
| | विश्वकर्मसंहिता | - | हरिवंशे |
| वै . नि . | वैजयन्तीघण्टु: | हला . को . | हलायुधकोश |
| - | शब्दनिर्णय | - | हेमचन्द्रः |

# श्रीमद्भागवत अष्टमस्कन्धीयानां अध्यायानां
## विषयानुक्रमणी


| अध्याय संख्या | विषय |
|---|---|
| १ | स्वायम्भुवादिमन्वन्तरचतुष्टयवर्णनं यज्ञावतारचरितं च। |
| २ | गजेन्द्रोपाख्यानं गजग्राह युद्धवर्णनम्। |
| ३ | गजेन्द्रकर्तृकं भगवत्स्तवनं ग्राहाद् गजेन्द्रस्य मोक्षणं च। |
| ४ | गजग्राहस्य पूर्वजन्मचरितं तपारुद्धारश्च। |
| ५ | स्वतन्त्रोक्षुषमन्वन्तरवर्णनम्,चाक्षुषोऽजितावतारवर्णनम्, अमरगणानां देवैः सह ब्रह्मणा कृतं भगवत्स्तवनं च। |
| ६ | भगवदाज्ञया देवानामसुरैः सन्धाय समुद्रमन्थनोपक्रमणं। |
| ७ | समुद्रमन्थनारम्भः समुद्रादुद्भूतहालाहलविषभक्षणं शंभोर्देवैः स्तुतस्य भगवतः शिवस्य विषपानं च। |
| ८ | दशमस्कन्धोक्तरत्नानामुत्पत्तिः लक्ष्म्याः आविर्भावः तस्याः भगवतः वरणं च। देवाश्च हृतं सुधाकलशं भगवता मोहनीरूपधारणम्। |
| ९ | देवानाममृतपानं दैत्यवञ्चनं राहुशिरश्छेदश्च। |
| १० | देवासुरसंग्रामस्य दैत्यमायानिर्माणं च प्राकट्य मायानिरासश्च। |
| ११ | बलेः पराजयः, दैत्यानां विनाशः, नारदस्य युद्धसमाप्तिः, शुक्रद्वारा बलेः संजीवनं च। |
| १२ | भगवतो मोहनीरूपं दृष्ट्वा महादेवस्य मोहः। |
| १३ | भगवतः सावर्णिमन्वन्तरावतारवर्णनम्। |
| १४ | मन्वादीनां पृथक्पृथक्कर्मानुसरणम्। |
| १५ | बालकर्तृकं स्वमायाविनयं, देवानां पलायनं च। |
| १६ | कश्यपस्य देवमातुः अदितेः पयोव्रतोपदेशः। |
| १७ | व्रतसन्तुष्टस्य भगवतः अदितेः वरदानम्, आदितेगर्भस्थस्य भगवतः स्तुतिः ब्रह्मकर्तृकं स्तवनं च। |
| १८ | भगवतो वामनस्य प्रादुर्भावः, मुनिभिर्यज्ञस्थलस्य तस्य बालवटुरूपधारणम्, बालकर्तृकं भगवतो गर्भस्तवनं च। |
| १९ | बालवामनस्य बलेः पदत्रयभूमियाचनम्, शुक्रद्वारा दानस्य निषेधः। |
| २० | बालकर्तृकं पदत्रयीमितभूमिदानं भगवतो विराट्रूपग्रहणं च। |
| २१ | बालबन्धनं भगवतो बन्धनं च। |
| २२ | बालवचनं ब्रह्मणा वचनं भगवत्कृतं बलेः प्रशमनं तस्मै वरदानं च। |
| २३ | बलेः सुतललोकगमनं वामनस्यापन्द्वारपालकत्वं च। |
| २४ | मन्वन्तरावतारकथा। |

# श्रीमद्भागवतमहापुराण

## अष्टमस्कन्धस्थानां चतुर्विंशत्यध्यायानां

## अध्यायार्थसङ्ग्रहश्लोकाः

तत्र तु प्रथमे स्वायम्भुवस्स्वारोचिषस्तथा।
उत्तमस्तामसश्चेति चतुर्मन्वनिरूपणम्।।
स्वायम्भुवेऽन्तरेऽनन्तदुरन्तगुणवर्णनात्।
मुदितः परिपप्रच्छ सर्वमन्वन्तरस्थितिम्।।१।।

तुर्ये मन्वन्तरे प्रोक्तं गजेन्द्रस्य विमोक्षणम्।
द्वितीयादित्रिभि स्तन्तु विस्तरेणोपवर्ण्यते।।
द्वितीये तु गजेन्द्रस्य गर्जीभिः क्रीडतो जले।
दैवाद्ग्राहगृहीतस्य हरिस्मृतिरुदीर्यते।।२।।

तृतीयेन गजेन्द्रेण स्तुतो हरिरुपेत्य तम्।
समुद्धार ग्राहाच्च ग्राहं देवलशापतः।।३।।

चतुर्थे तु तयोर्ग्राहः प्राप गन्धर्वतां पुनः।
गजं स्वपार्षदं कृत्वा हरिर्नित्यं निजं पदम्।।४।।

अमृताख्यानमष्टाभिरध्यायैरनुवर्ण्यते।
स्वभक्तपक्षपातेन यत्र योषायितं प्रभोः।।
पञ्चमे पञ्चमं चाथ षष्ठं चाकथयन्मनुं।
विप्रशापाच्च निश्श्रीकैः कृता देवैर्हरिस्तुतिः।।५।।

षष्ठे पुनस्स्तुतिर्विष्णावाविर्भूते सुरैः कृता।
तन्मन्त्राच्चासुरैस्साकममृतार्थं महोद्यमः।।६।।

सप्तमे मन्थनोद्भूतविषभीत्याखिलैर्जनैः।
स्तुतस्सन् कृपया रुद्रः पपौ विषमितीर्यते।।७।।

अष्टमे मथ्यमानेऽब्धौ लक्ष्म्या विष्णौ वृतेऽसुरैः।
धन्वन्तरेर्हृते सोमे मोहिन्युद्भव इर्यते।।८।।

नवमे मोहितैर्दैत्यैरर्पितेऽमृतभाजने।
तद्भञ्जनेन देवेभ्योऽमृतं दत्तं तयेर्यते।।९।।

दशमे मत्सरादैत्यैरारब्धे तु मृधे सुरैः।
दैत्यमायाविषण्णेषु देवेष्वाविर्बभौ हरिः।।
तदेवममृतावाप्तिर्नाभक्तानामितीरितम्।
भक्तमत्सरतः प्राणहानिः पुनरुदीर्यते।।१०।।

एकादशे तु भगवत्कृपयातिबलोद्धतैः।
अमरैस्समरे दैत्या बलिप्रभृतयो जिताः।।११।।

द्वादशे मोहिनीरूपविभ्रमालोकनोत्सुकम्।
भवं संमोहयामास हरिः पुनरसान्त्वयत्।।
अमृद्यन्नसुरा विष्णुमायया न तदद्भुतम्।
इति वक्तुं महादेवमोहोऽर्यामति वर्ण्यते।।१२।।

त्रयोदशे तु वर्ण्यन्ते सप्तमादीन्यनुक्रमात्।
मन्वन्तराणि सर्वाणि षड्विधानि पृथक्पृथक्।।१३।।

चतुर्दशे तु सर्वेषां मन्वादीनां यथायथम्।
पृथक्कर्माणि वर्ण्यन्ते भगवद्वंशवर्तिनाम्।।१४।।

अत्रेर्यते नवाध्याय्यां वामं वामनचेष्टितम्।
निग्रहाच्छलतो यत्र बलेर्भूयाननुग्रहः।
बलिं पञ्चदशे विश्वजिताचार्यो ह्ययाजयन्।
ततोऽसौ स्वर्गमजयद्भयाद्देवा निलिल्यिरे।।१५।।

षोडशे पुत्रनाशेन शोचन्त्या अदितेः पतिः।
प्रार्थितः कश्यपः प्राह पयोव्रतमितीर्यते।
यद्वा--
षोडशे कश्यपोऽदित्या प्रार्थितो लीनपुत्रया।
महच्छ्रेयस्करं तस्यै पयोव्रतमुपादिशत्।।१६।।

ततस्सप्तदशेऽदित्या कृते तस्मिन् व्रते हरिः।
तत्कामपूरणायादौ तत्पुत्रोऽभूदितीर्यते।।१७।।

ततस्त्वष्टादशे भूत्वा वामनस्सत्कृतोऽखिलैः।
बलेर्यज्ञं गतस्तेन चोक्तो वृणु वरानिति।।१८।।

ऊनविंशे तु हरिणा याचिते च पदत्रयम्।
प्रतिश्रुते च बलिना जानन् गुरुरवारयत्।।
यद्वा--
स्तुत्वाऽर्थितो भगवता स बलिस्त्रिपदीमिताम्।
वामनायोनविंशे क्ष्मां दास्यन् शुक्रेण वार्यते।।
दातुस्स्तुतिस्स्वयं तुष्टिरित्यादि प्रस्तुतोचितम्।
वक्तव्यामति भिक्षुं शिक्षयन्नाह वामन.।।१९।।

विंशे गुरूक्तिमुल्लङ्घ्य दत्तां क्ष्मां बलिना हरिः।
प्रतिगृह्याखिलान् लोकान् विश्वरूपो विचक्रमे।।
यद्वा-
विंशे त्वनतभोताऽसौ ज्ञात्वाऽपि कपटं हरे।
ददौ पृथ्वीं तदा विष्णुस्सहसाऽवर्धताद्भुतम् ।।२०।।

एकविंशे पदापूर्तिमिषेण बलिबन्धनम्।
विष्णुना कृतमुत्कर्षं तस्य ख्यापयितुं जने।।२१।।

द्वाविंशे तु प्रसन्नस्सन् प्रस्थाप्य सुतलं बलिम्।
दत्त्वा वरान् हरिर्नूनं गत्वा तद्द्वारपोऽभवत्।।
समर्पिततनूवित्तनिर्मलाचलभक्तिभिः।
छलितो बलिना चित्रं स्वमेवार्पयदच्युतः।।२२।।

त्रयोविंशे बलौ याते सुतलं सर्पतामहे।
उपेन्द्रेण दिव गत्वा पूर्ववन्मोदते हरिः।।२३।।

चतुर्विंशे भगवतः कथा मत्स्यस्वरूपिणः।
विविच्यते यतस्सत्यव्रतरक्षा महार्णवे।।
तनुं तनुं प्रदर्श्यादौ निजैश्वर्यनिदर्शनात्।
मत्स्यं पृच्छति पृथ्वीशो लीलया वामनोपमम् ।।२४।।

## श्रीमद्भागवतपाठविधिः

स्नातः शुचि भूत्वा प्राणा नायम्य त्रिराचम्य च मङ्गलपाठपूर्वकं भगवन्तं प्रणमेत्। तदनु सञ्जितैः षोडशोपचारै र्मानसोपचारैर्वा व्यासं शुकं वासुदेवं श्रीमद्भागवतग्रन्थं च सादरं सविनयं सभक्तिभावं सम्पूजयेत्। ततः पाठा- रम्भात् प्राक् 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' इति द्वादशाक्षरमन्त्रम् 'ओं क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' इति गोपालमन्त्रं वाऽष्टोत्तरशतवारं जपेत्। पश्चादेवं विनियुञ्जीत -

## विनियोगः

ओं अस्य श्रीमद्भागवताख्यस्तोत्रमन्त्रस्य नारद ऋषिः, बृहती छन्दः, श्रीकृष्णः परमात्मा देवता, ब्रह्म बीजम्, भक्तिः शक्तिः, ज्ञानवैराग्ये कीलकम् मम श्रीमद्भागवत्प्रसादसिद्ध्यर्थं पाठे विनियोगः।

## ऋष्यादिन्यासः

'नारदर्षये नमः' शिरसि। 'बृहतीच्छन्दसे नमः' मुखे। 'श्रीकृष्णपरमात्मदेवतायै नमः' हृदि। 'ब्रह्मबीजाय नमः' गुह्ये। 'भक्तिशक्तये नमः' पादयोः। ज्ञानवैराग्यकीलकाय नमः' नाभौ। श्रीमद्भागवत्प्रसादसिद्ध्यर्थकपाठविनियोगाय नमः सर्वाङ्गे। द्वादशाक्षरमन्त्रेण हृदयाद्यङ्गन्यासं करन्यासं च कुर्यात्। अथवाऽधोऽङ्कितरीत्याऽङ्गन्यासकरन्यासौ विदध्यात्-

## अङ्गन्यासः

ओं क्लां हृदयाय नमः। ओं क्लीं शिरसे स्वाहा। ओं क्लूं शिखायै वषट्। ओं क्लैं कवचाय हुम्। ओं क्लौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ओं क्लः अस्त्राय फट्।

## करन्यासः

ओं क्लां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ओं क्लीं तर्जनीभ्यां नमः। ओं क्लूं मध्यमाभ्यां नमः। ओं क्लैं अनामिकाभ्यां नमः। ओं क्लौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ओं क्लः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

## अथ ध्यानम्

कस्तूरीतिलकं ललाटफलके वक्षःस्थले कौस्तुभं नासाग्रे नवमौक्तिकं करतले वेणुं करे कङ्कणम्।
सर्वाङ्गे हरिचन्दनं च कलयन् कण्ठे च मुक्तावलिं गोपस्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपालचूडामणिः।।
अस्ति स्वस्तरुणीकराग्रविगलत्कल्पप्रसूनाप्लुतं वस्तु प्रस्तुतवेणुनादलहरीनिर्वाणनिर्व्याकुलम्।
स्रस्तस्रस्तनिबद्धनीविविलसद्गोपीसहस्रावृतं हस्तन्यस्तनतापवर्गं मखिलोदारं किशोराकृतिं।।

इत्येवं ध्यात्वा पाठमारभेत।

## श्रीमद्भागवतसप्ताहपारायणस्य दैनन्दिनविश्रामस्थलानि निम्नाङ्कितपद्येषु निरूपितानि

मनुकर्दमसंवादपर्यन्तं प्रथमेऽहनि। भरताख्यानपर्यन्तं द्वितीयेऽहनि वाचयेत्।।
तृतीये दिवसे कुर्यात् सप्तमस्कन्धपूरणम्। कृष्णाविर्भावपर्यन्तं चतुर्थे दिवसे वदेत्।।
रुक्मिण्युद्वाहपर्यन्तं पञ्चमेऽहनि शस्यते। श्रीहंसाख्यानपर्यन्तं षष्ठेऽहनि वदेत्सुधीः।।
सप्तमे तु दिने कुर्यात् पूर्तिं भागवतस्य वै। एवं निर्विघ्नतासिद्धिं विपर्यय इतोऽन्यथा।।

हरिः ओम्

# श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

ओं नमो भगवते वासुदेवाय

## अष्टमः स्कन्धः

## प्रथमोऽध्यायः

राजोवाच

स्वायम्भुवस्येह गुरो! वंशोऽयं विस्तराच्छ्रुतः ।
यत्र विश्वसृजां सर्गो मनू नन्यान्वदस्व नः ।। १।।

यत्र यत्र हरेर्जन्म कर्माणि च महीयसः ।
गृणन्ति कवयो ब्रह्मं स्तानि नो वद शृण्वताम् ।।२।।

सर्वमन्वन्तरे ब्रह्मन्भगवान्विश्वभावनः ।
कृतवान्कुरुते कर्ता यतीतेऽनागतेऽद्य वा ।।३।।

ब्रह्मरातः उवाच

मनवोऽस्मिन्व्यतीताद्यैः कल्पे स्वायम्भुवादयः ।
आद्यस्तु कथितो यत्र देवादीनाञ्च सम्भवः ।।४।।

### श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

नमः श्रीपरमहंसास्वादित चरण कमलचिन्मकरन्दाय भक्तजनमानसमानवासाय श्रीरामचन्द्राय ।।

अथाऽष्टमे चतुर्विंशत्यध्यायैर्मनुवर्णनम् । तत्सुते ऋषिदेवेन्द्रैर्मूर्तिभिश्च हरेस्सह ।।

प्रतिमन्वन्तरं चैव मन्वाद्या षट् पृथक्पृथक् । प्रवर्तयन्ति सद्धर्मान्पालयन्त्याचरन्ति च ।।

अतो मन्वन्तरस्योक्तं सद्धर्म इति लक्षणम् । येन वै क्रियमाणेन नरो न निरयं व्रजेत् ।।

तत्र तु प्रथमे स्वायम्भुवे स्वारोचिषस्तथा । उत्तमे तामसश्चेति चतुर्मन्वन्तरस्य वर्णनम् ।।

स्वायम्भुवऽन्तरऽनन्तदुरन्तगुणवर्णनात् । मुदित परिपप्रच्छ सर्वमन्वन्तरस्थितिम् ।

स्वायम्भुवस्येत्यादि त्रिभिः । यत्र विश्वसृजां मरीच्यादीनां मनुकन्यासु पुत्रपौत्रादिसर्गः ।।१।।

1--1 H V विष्णुरात उवाच 2 M Ma मन्वन्तर * The following half verse is found in H M MaV edns as follows यत्र धर्माश्च विविधा चातुर्वर्ण्याश्रिता शुभाः 3 M Ma मन्वन्तर 4--4 ABGJ M Ma वर्णस्मिन्नन्तरे 5 ABGJ M Ma T ब्रह्मन् । 6 ABGJ M Ma T मन्वन्तर 7 H V तु चैव । 8 ABJ स्यात

**यन्नेति।** महीयसो हरेः। अत्र गरीयसः[1] महौजसः इत्यादि विविध पाठभेदाः मास्माभिः आदृताः[1] ।।२।।

**सर्वेति।** यस्मिन्नतीते यत्कृतवान्, यस्मिन्नागते यत्कर्ता करिष्यति, अद्य वा वर्तमाने यत्करुते, तद्वदस्व[2] इत्यन्वयः ।।३।।

**मनव** इति। अस्मिन्कल्पे षण्मनवो व्यतीताः गताः[3] ।।४।।

## श्रीवीरराघवविदुषालिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तृतीये "स्वायम्भवस्य च मनोर्वंशः परमसम्मतः" इति पृष्टं तद्वंशकथनं प्रक्रम्य तावत्तत्र तद्दुहितुः देवहूत्या वंशः कथितः। चतुर्थे तु आकूतिदेवहूत्यो स्तद्दुहित्रो र्देवहूतिदुहितॄणां वंशमभिधाय अथ स्वायम्भुवपुत्रवंशमुपक्रम्य तावदुत्तानपदसन्तति[4] सावशेषामभिधाय अन्तरा गर्भिणीन्यायेन प्रसङ्गात् प्रियव्रतस्य वंशः पञ्चमे कथितः। षष्ठे तु पुनः प्रसक्तानुप्रसक्तकथनानन्तर मुत्तानपद एव वंशोऽवशिष्टः कथितः। सप्तमे तु तदनुप्रसक्तमुक्तम् । तदेवं स्वायम्भुवमनुवंशकथनव्याजेन बहुधा भगवतो जन्मकर्मगुणादिषूपवर्णितेषु[5] पुन स्तानेव शुश्रूषुः तुल्यन्यायादन्येष्वपि मनुवंशेषु कथ्यमानेषु हरे र्जन्मादिकथनमर्थात्प्रसक्तमेव भविष्यतीति आलोच्य प्राधान्येनाऽन्यान्मनून् सवंशान् पृच्छति राजा - **स्वायम्भुवस्येति** त्रिभिः। तत्रोक्त मनुवर्दति पादत्रयेण। हे गुरो! गुरोरिति पाठे गुरोस्त्वतः इह वृत्ते ग्रन्थे स्वायम्भुवस्य मनोर्वंशो विस्तराच्छ्रुतः। वंशं विशिनष्टि। यत्र वंशे विश्वसृजां मरीच्यादीनां मनुकन्यासु पुत्र पौत्रादि रूपः सर्गः अथ नोऽस्मध्यमन्यान् मनून् वदस्व सचरित्रान् सवंशान् कथयेत्यर्थः ।।१।।

यत्र यत्र मन्वन्तरे महीयसः निस्समाभ्यधिकस्य हरेः जन्मानि अवताररूपाणि कर्माणि चेष्टितानि च कवयो विद्वांसः गायन्ति। तान्यपि चरित्राणि श्रृण्वतां श्रोतुं प्रवृत्तानां नः अस्माकं वद कथय।२।।

हे ब्रह्मन्! यस्मिन् मन्वन्तरे मनो रन्तरमवस्थानदशा तस्मिन् , विश्वभावनः विश्वपालको भगवान् कृतवान् यस्मिन्नतीते यत् कृतवान् यस्मिन्नागते यत्कर्ता करिष्यति। यस्मिन्नद्य वर्तमाने यत्करोति तद्वदेत्यन्वयः ।।३।।

एव मापृष्टो मुनिराह - **मनव** इति। अस्मिन् कल्पे स्वायम्भुवादयः षण्मनवो व्यतीताः। तत्राऽऽद्यः स्वायम्भुवो मनुः तुभ्यं कथितः, सचरित्रः सवंशश्च[6] कथितः ।।४।।

1- -1 ABJ क्वचिद्दुरुपाठान्तरमस्ति तदुपेक्षितमस्माभि । 2 ABJ "दत्व", 3 HJV Omit गता । 4 ABJ "पाद म"। 5 ABJ "षु व" 6- -6 ABTयत्र देवादीना सम्भवश्च।

# श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अस्तावि श्रुतिमस्तकेन मनुना स्वायम्भुवेनाऽपि यो येनारक्षि जगत्त्रयं च मुनिभिः स्वात्मानु विद्धात्मभिः।।

येनामोचि गजाधिपः क्रकचवज्रक्रूरेण नक्राननात् क्षीराम्भोधिरमन्थि येन धृतभूः सोऽयं हरिः पातु नः ।।

येनाधारि गिरिः पपे च विबुधैर्येनामृतं प्रेरितैः। येनातापि सुरद्विषां च हृदयं शर्वोप्यमोहि स्त्रिया।।

येनामायि जगन्त्यबन्धि च बलिर्येनाप्यदायि श्रुतिः। धात्रे येन निहत्य मत्स्यवपुषा दैत्यं तमीडे हरिम्।।

सप्तमस्कन्धवाराशौ निमज्योन्मज्य शुद्धधी। अष्टमस्कन्ध सद्व्याख्याऽमृतं पातुमुपक्रमे।।

अत्रापि हरिभक्तिरेव भगवन्मनःकथनानिपुणेति विधातुमनन्तोपनिषदर्थभूतस्य हरेः जगद्रक्षणादि माहात्म्य निरूप्यते तत्रापि विमलतरमुरुमथनदुरितहर चरितामृतपानाऽऽप्यायितप्राणो विस्मृताऽनशनक्लेशः परीक्षिच्छुकमच्युतकथानुवादपूर्वकर्माभिलषितात्यन्तश्रोतव्यकथां प्रार्थयत - **राजेति**। अन्यान् स्वायम्भुवव्यतिरिक्तान्।।१।।

तत्रापि तत्प्रसङ्ग विशेषकथापि वक्तव्यत्याह - **यत्रेति**। महोदयस महत्तमस्य हरेः ।।२-३।।

अस्मिन्वैवस्वतान्तरे स्वायम्भुवप्रभृति वैवस्वतान्ता. सप्त मनवो व्यतीतप्राया उच्यन्ते, अत्र सप्तसु आद्य कथित इत्यन्वय ।।४।।

**आकूत्यां देवहूत्यां च दुहित्रोस्तस्य वै मनोः।**
**धर्मज्ञानोपदेशार्थं भगवान्पुत्रतां गतः ।।५।।**

**कृतं पुरा भगवतः कपिलस्यानुवर्णितम्।**
**आख्यास्ये भगवान्यज्ञो यद्धकार कुरूद्वह! ।।६।।**

**विरक्तः कामभोगेषु शतरूपापतिः प्रभुः।**
**विसृज्य राज्यं तपसा सभार्यो वनमाविशत् ।।७।।**

**सुनन्दायां वर्षशतं पदैकेन भुवं स्पृशन्।**
**तप्यमानस्तपो घोरमिदमन्वाह भारत! ।।८।।**

**श्रीध० आकूत्यामिति**। तस्य मनोर्दुहित्रोः देवहूत्याम् आकूत्यां च कपिल यज्ञमूर्तिभ्यां पुत्रतां गतः प्राप्तः ।।५-७।।

1 A B 'कार्यि'. 2 W मूर्तिभ्यां पुत्रतां प्राप्त भगवान स यज्ञश्च 3-3 W गुप्त त्वया। 4 H V वर्णनम । 5 M Ma 'माह स। 6-6 H J V Omit 7 H V Omit त्र

**सुनन्दायामिति।** घोरं दुश्चरं तपस्तप्यमानः। समाधावनुभूतमिदं वक्ष्यमाणं निद्रितोच्छ्वसितवत् विस्मित इव उपदिशन् इव अनुवदन् इव च अष्टभिः श्लोकैरन्वाह ।।८।।

**वीर०** तस्य स्वायम्भुवस्य मनोर्दुहित्राः आकूत्यां देवहूत्यां च भगवान् महेश्वरः सर्वेश्वरो[1] मूर्तिभ्यां कपिलाख्य[2] यज्ञाख्य[2] मूर्तिभ्यां पुत्रत्वं प्राप्तः ।।५।।

तत्र भगवतः कपिलस्य अनुवर्णितं[3] तृतीयस्कन्धे इति शेषः । अनुवर्णितं चरित्रं त्वया हे भरतर्षभ[4]! श्रुतमत्र अधुना यज्ञाख्या भगवान् यज्ञकार तच्चेष्टितं, हे कुरूद्वह! आख्यास्ये कथयिष्यामि। यद्यपि मन्वन्तरान्तरकथनमत्र प्रतिज्ञातव्यं तेषामेव प्राधान्येन पृष्टत्वात्। तथापि भावज्ञो मुनिः भगवद्गुणकर्मजन्मादि शृश्रूषयाऽपृष्टमित्यालक्ष्याद्य मन्वन्तरस्यस्य यज्ञाख्यस्य भगवतः चरित्रस्य अकथितत्वात्तदेव कथयितुं प्रतिजानीते, अथोत्तरकथनेन[5] मन्वन्तरान्तरकथनमपि[6] प्रसक्तमेव भविष्यतीति मुनेरभिप्रायः ।।६।।

तत्र यज्ञस्य भगवतः चरित्रं विवक्षुः तदुपोद्घातत्तया स्वायम्भुवस्य मनोर्वृत्तान्तमाह - **विरक्त** इत्यादिना। यद्यपि कपिलोऽपि तन्मन्वन्तरावतारस्य एव, तथापि तस्य जगत्पालनाधिकृतत्वात्केवलं ज्ञानयोगप्रवर्तनाधिकृतत्वात् तच्चरित्रस्य कथितत्व प्रदर्शनाच्च यज्ञो यच्चकार तदाख्यास्ये इत्युक्तम् । शतरूपाया पति भर्ता विभु स्वायम्भुवो मनु , काम्यन्त इति कामा शब्दादया विषयाः तेषां भोगेषु विरक्तः राज्य विसृज्य तपस तप कर्तुं सभार्यो वनम् आविशत् ।।७।।

सुनन्दाया सुनन्दातीर पदनकनेव भुव स्पृशन् वर्षशतं घोर दुश्चरं तपस्तप्यमान कुर्वाणो हे भारत! इद वक्ष्यमाणमन्वाह जजाप ।।८।।

**विज०** अत्रापि शतरूपापतिपालनादि विषयमनुदितं यज्ञमूर्तिं चरितं वक्तुमाह-**आकूत्यामिति** ।।९।।

कपिलस्य हर. कृत चरितं पुरा तृतीयस्कन्धे ।।६,७।।

सुनन्दायां त्रिधा भिन्नायां विष्णुपद्यां एतस्याम् अन्याह स्तुतिरूपां उपनिषदमाह ।।८।।

**मनुरुवाच**

***[7]यं न चेतयते विश्वं[8] विश्वं चेतयते न यम्[8] ।**
**यो जागर्ति शयानेऽस्मिन्नायं तं वेद वेद सः ।।९।।**

1 T Omit सर्वेश्वर 2 2 ABT °ख्यज्ञ° पाख्या 3 ABT Omit अनुवर्णित 4--4 W Omit 5 W थन 6 ABT °न्तरक°
*An additional half verse is found in HV I dns as follows -वामुदवा वसन्यत्र सव दहत्यनन्यहक ।
7--7 M Ma येनाय तपत 8--8 M Ma विश्वोयं यतस्तप

आत्मावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्चिज्जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ।।१०।।

यं न पश्यति पश्यन्तं चक्षुर्यस्य न रिष्यति।
तं भूतनिलयं देवं सुपर्णमुपधावत ।।११।।

न यस्याद्यन्तं मध्यानि स्वः परो नान्तरं बहिः ।
विश्वस्यामूनि यद् यस्मात् विश्वं च तदृतं महत्।।१२।।

स विश्वकायः पुरुहूत ईशः सर्वस्य गोप्ता ह्यजरः पुराणः।
धत्तेऽस्य जन्माद्य जयाऽऽत्मशक्त्या तां विद्ययोदस्य निरीह आस्ते।।१३।।

अथाग्र ऋषयः कर्मांणिहन्तेऽकर्म हेतवे।
ईहमानोऽपि पुरुषः प्रायोऽनीहां प्रपद्यते।।१४।।

ईहते भगवानीशो न हि तत्र विषज्जते।
आत्मलाभेन पूर्णार्थो नावसीदन्ति येऽनु तम्।।१५।।

तमीहमानं निरहङ्कृतं बुधं निराशिषं पूर्णमनन्यचोदितम्।
नृन् शिक्षयन्तं निजवर्त्मसंस्थितं प्रभुं प्रपद्येऽखिल धर्मभावनम्।।१६।।

**श्रीध० यर्नति।** यत् चिदात्मना विश्व चेतयते चेतनाभवति। विश्व तु य न चेतयते न चेतनीकरोति स्वत एव चिद्रूपत्वात्। तत्र हेतु अस्मिन् शयाने स्वपति या जागर्ति साक्षितया वर्तते। अहो चित्र, नायं जनस्तत् वेद स तु इम वेद ।।९।।

तस्यश्वरत्व दर्शयन् लोकस्य हितमुपदिशति - **आत्मेति।** आत्मना ईश्वरेणाऽऽवास्यं व्याप्तं चेतन्याभ्या सत्याय विश्व सर्व जगत्यां लोके यत्किञ्चित् जगद्भूतजातम् आत्मतत्त्वभरण यत्किञ्चित्

1 ABGJ M MaT विश्व 2 2 M Ma यद्गत्या जगत्या 3 M Ma यत्र 4 M Ma रिष्य 5-5 ABGJT न यस्याद्यन्तौ मध्य च M Ma यस्याद्यन्तौ न मध्य च 6-6 ABGJT सत्य स्वयन्तरत्र M Ma सत्य परस्यान्तरत्र 7 ABGJT प्रवाण H V प्रजा,प्र 8 H V कमणा 9 M Ma हेतव 10 ABGJT M MaT न हि 11 H V वा 12 M Ma बुधे 13 M Ma नाच W स्वान हि 14 M MA मुहान 15 J Omits स्व 16 H V यम्

त्यक्तं दत्तं धनं तेनैव भुञ्जीथा भोगान् भुङ्क्ष्व। यद्वा तेन हेतुना त्यक्तेन ईश्वरार्पणेनैव भुञ्जीथाः न स्वार्थम् कस्यस्वित्कस्यचिदपि धनं मा गृधो माभिकाङ्क्षीः। यद्वा कस्यस्विर्दति कस्याऽन्यस्य धनमस्ति यतो धनाकाङ्क्षा क्रियतेत्यर्थः। तथा च श्रुतिः - "ईशावास्यम्"(ईशा उ. १.) इति व्याख्येयमेव ॥१०॥

ननु यदि मे मयं व्याप्तानि तर्हि चक्षुरादिभिः किं न प्रतीयते तत्राह यमिति। यं पश्यन्तं जनश्चक्षुर्वा न पश्यति चक्षुराद्यविषयत्वात्। नहि प्रमातारं प्रमाणं विषयीकरोतीति भावः। तथा च श्रुतिः - 'चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' (बृह. उ. ४.४.१८) ननु तर्हि घटनाशे दण्डदनस्य तद्विषयं चाक्षुषं ज्ञानमिवेश्वरस्यापि स्वरूपभूतं तद्विषयं ज्ञानं नश्यतेत्राह, यस्य तु पश्यतश्चक्षुर्ज्ञानं न विद्यते, न नश्यति। तत्तदाकारेणोत्पन्नाया वृत्तेरेव नाशो न स्वतःसिद्धज्ञानस्य, नहि सांवृतप्रकाशः प्रकाश्यनाशे नश्यतीति भावः। भूतानि निलयो यस्य तं सर्वान्तर्यामिणं तथाऽपि सूरीणां शोभनपतनमसङ्गमुपधावत भजध्वम् ॥११॥

तत्स्वरूपस्य नित्यत्वमव्यापादयन्नाह स **यस्येति**। अमूर्त्याद्यन्तादीनि विश्वस्य यस्मात् भवन्ति विश्वं, यं यत यद्रूपम् अत एव अत्यभिधारित्वात्, तदेव सत्यं महत्तारिपूर्णं ब्रह्म ॥१२॥

ननु विश्वं चेत् तद्रूपं तर्हि तस्य कुतो जन्माद्यभावः स्वप्रकाशत्वं वा, कुतः, कथं वा जगज्जन्मादिकर्तृत्वेन विवर्णेण सत्यत्वं पूर्णत्वं वा तत्राह **स** इति। स ईशोऽजः सत्यश्च स्वप्रकाशश्च पुराणश्च निर्विकारो विश्वं मायया यस्य, पूर्णेण हृतानि नामानि यस्य, तथाविधोऽपि यतोऽस्य विश्वस्य जन्मादि स्वशक्त्या मायया भवति तं च नित्यसिद्धया विद्यया तदस्य हित्वा निष्क्रिय एवास्ते ॥१३॥

**अर्थात्**। यस्मादेवमाभ्यां कर्म कर्तृत्वादि सत्यस्य नैष्कर्म्येणास्ते अतः अस्माद्धेतोः ऋषयोऽप्यग्रे आदौ कर्माणि कुर्वाणाः। किमर्थं अकर्महेतवे मोक्षार्थम्। पाठान्तरं कर्मनाशाय हि यस्मात् ईहमानाः कुर्वाणाः अनीहाम अकर्मत्वम् ॥१४॥

सन्नीहमानः कर्माभरवर्णितः काशकार इव बध्यते तत्राह **ईहत** इति, अतस्तमनुवर्तमाना ये ते नायसीदन्ति न विषीदन्ति ॥१५॥

1 ABJ भोगान् 2 Omits च 3 A adds अत 4 Ha 5 Omits स 6 HV स 7 HV पश्यन्ती 8 ABJ तस्य स्व 9 HV Omit यत 10 AB Omit अत 11 HV Omit कुत 12 HV Omit कथं वा 13 HV रेण 14 ABJ च 15 Omit अज 16 ABJ कर्म 17 ABJ अत 18 18 HV Omit 19 HV कृ 20 ABJ तेव

तदेवं लोकानुग्रहाय विश्वसृष्ट्यादि यः करोति श्रीरामकृष्णाद्यवतारैश्च वेदोक्तमर्यादया यो वर्तते तं शरणं व्रजामीत्याह- **तमिति।** निजवत्मं नरावतारानुरूपो मार्गस्तत्र सम्यक् स्थितमत ईहमानं कर्माचरन्तम् तथाऽपि जीववैलक्षण्यमाह। निरहङ्कृतं निराशिषमनन्य चोदितमिति च । निरहङ्कारत्वे हेतुः। बुधम् निराशीष्टे हेतुः पूर्णम्। अनन्यनियुक्तत्वे हेतुः प्रभुम्, तथाऽपि कर्मानुष्ठाने हेतुः नृन्स्वाचारेण शिक्षयन्तम्। तत्किमर्थं तत्राह - अखिलान् धर्मान् भावयति प्रवर्तयतीति तथा तम् ।।१६।।

**वीर०** तत्रूपितां मन्त्रोपनिषदमवाह - **येनेति।** विश्व जगद्यन परमात्मना चेतयते प्रवृत्तिक्षमं भवति सत्तास्थितिप्रवृत्तिमद्भवतीत्यर्थः। यं परमात्मान विश्वं कर्तृ न चेतयत तत्रोभयत्र हेतुमाह - य इति। अस्मिंल्लोके शयाने सति स्वात्मपरमात्मयाथात्म्यज्ञानाभावेन मायापारवश्येन देहात्मभ्रमादिना च शयानतुल्ये सति यो जागर्ति सर्वं युगपत्साक्षात्करोति अयं लोकस्तं परमात्मानं न वेद स तु परमात्मा लोकं वेद अत्र विश्वशब्दो जीववर्गपर अचेतनवर्गस्य परमात्मनाऽपि चेतनीकर्तुमशक्यत्वात्तस्य ज्ञातृत्वप्रसक्त्याभावेन नायं वेदेति निषेधायोगाच्च। यथा अचेतनं न वेद तद्वत् चेतनोऽपि, न त वेदेति दृष्टान्ताभिप्रायेण चिदचिदात्मक जगत्परो वा, चेतयते इत्यत्र 'चितीसज्ञाने' इति ण्यन्ताण्णिचश्चेति कर्तर्यात्मनेपद, तत्र शब्दादिविषय साक्षात्कारात्मकज्ञानं प्रकृत्यर्थं तदाश्रया जीववर्गस्तत्र कर्ता तदनुकूल्यव्यापाराऽन्तः प्रविश्य नियमनादिरूपो ण्यन्तार्थः तत्र कर्ता यर्नेति निर्दिष्ट परमात्मा, एव च यदेतत्सर्वशब्दादिविषय साक्षात्कारात्मकं ज्ञानं तदनुकूलतयान्तः प्रविश्य नियन्तुः परमात्मनः अधीनोमिति फलितोऽर्थः। एवं शब्दतः प्रवृत्तिस्तदधीनेत्युक्तम्, अन्तःप्रविश्य नियन्तृस्वरूपप्रयोजककर्तृत्वकथनेन जीववर्गस्य तस्मिंति शरीरत्वप्रतीत्या शरीरस्य आत्मायत्तसत्तास्थितित्वलाभात् एव च 'यन चेतयत विश्वं' इत्यनेन कृत्स्नं जगत् तदायत्तसत्तास्थितिप्रवृत्तिमदित्युक्तं भवति। यता यदधीनसत्तादिमज्जगदत एव यं न चेतयते न तं स्वायत्तसत्तादिमन्तं करोतीति विश्वं चेतयते न यम् इत्यस्यार्थः। परमात्मनश्चेतयितृत्वे विश्वस्य तदभावे च नित्य प्रकृत्यपारवश्येन युगपत्सर्वसाक्षात्कर्तृत्व हेतुतयोच्यते या जागर्ति शयानेऽस्मिन्नित्यनेन यता जागर्ति अत एव तं शयानो न वेद किन्तु जाग्रत् स एव तद्विश्वं वेदत्यर्थः। यन चेतयत इत्यस्य श्लोकस्य स्थाने क्वचित् पुस्तकेषु - 'वासुदेवो वसत्येष सर्वदेहेष्वनन्यदृक्। यनाय तपन विश्वं विश्वर्वायं यतस्तप.'।। इति श्लोकः

1- -1 ABJ 'मयाधर्मति 2 ABJ-ज व 3 HV 'शयत्व' 4- -4 W Omit 5- -5 ABJ कृत्स्न 6 ABT स्वात्माय"

पठ्यते। तत्रायमर्थः - अनन्य इत्यनन्यापेक्ष. युगपत्सर्वसाक्षात्कर्ता - सर्वेषु चिदचिदात्मकेषु देहेषु वसति यतस्तत एष वासुदेवः। वासुदेवशब्दप्रवृत्तिनिमित्ताश्रयः तत्र अनन्यदृगित्यनेन देवशब्दार्थः उक्तः। अन्यानपेक्षस्वतेजसा दीप्यमानत्वं हि देवशब्दार्थः, वसत्येष सर्वदर्शीत्यनेन वासु शब्दार्थ उक्तः इदमधिकरण व्युत्पत्तिरूपलक्षण वसतीति वासु वसत्यस्मिन्निति वा वासुरिति द्वेधा व्युत्पत्तेस्तत्र तत्र प्रदर्शितत्वात्। अनन्यदर्शन विशिनष्टि - यतोऽनन्यदर्शनेनायं वासुदेवो विश्व तपते पर्यालोचयति विश्वस्य सृष्टि - स्थित्यादिकमालोचयतीत्यर्थः। यत एवम्भूतमनन्यदर्शनं ततः तपः विश्वपर्यालोचनात्मकत्वमापन्नम्। अनन्यदर्शन विशिनष्टि - कृत्स्नस्य चिदचिदात्मकविश्वस्य कारणभूतमिति यं चेतयत इत्यनेनान्तः प्रविश्य नियन्तृत्वरूप प्रयोजयितृत्व सूचितम् ॥९॥

तदेव व्याचष्टे लोक शिक्षयमाणम "ईशावास्यमिदं सर्वम्" (ईशा उ 1) इति मन्त्रमेव श्लोकरूपेण पठति **आत्मेति**। ईशशब्दस्थाने आत्मशब्दपाठ एव विशेषः। जगत्यां यज्जगत् चेतनाचेतनात्मकं सर्वमिदं वस्तु आत्मना परमात्मनाऽन्तः प्रविश्य नियमनपूर्वकं भर्त्रा आवास्यम् अधिष्ठेयं यतः सर्वमात्मवास्यमतस्तेन परमात्मनात्मनः अनधिष्ठितब्रह्मात्मकं स्वतन्त्रं वस्तुनि न भुञ्जीथाः, नानुभवेः अब्रह्मात्मकं स्वतन्त्रं वस्तु न मन्यस्वेत्यर्थः। कर्मणा फलानुभागविषयत्व विवक्षया त्यक्त इति समर्मा प्रयुक्ता, मागृधः तच्छेषभूतं सर्वं दहनदनुबन्ध्यादिकं स्वात्मशरीरत्वेन माकाङ्क्षीरित्यर्थः। कृत्स्नस्य तच्छेषत्वमेव काङ्क्षा दर्शयति-कस्य स्विद्धनमिति। कृत्स्नमात्मात्मीयादिकं कस्य स्विद्धनं न कस्यापि स्व किन्तु तस्यैवेति भावः ॥१०॥

या नागतीति सर्वसाक्षात्कर्तृत्व सूचितम्। तदेव व्याचष्टे तमेव भजनीय भजत, हे लोकाः! इत्याह- **यमिति**। यस्य चक्षुर्ज्ञानं न विद्यते न क्षयमाप्नोति जीवस्येव न सङ्कोच यास्यतीत्यर्थः। अत एव नित्यमसङ्कुचिता पारिच्छिन्नज्ञानेन युगपत्सर्व पश्यन्त साक्षात्कुर्वन्तं य न पश्यति कर्मणा सङ्कुचितज्ञानो लोकः न साक्षात्करोति त सर्वज्ञामिष्टप्राप्तिपरिहारनियतनक्षम देवं स्वतेजसा दीप्यमानं भूताना निलयमाश्रयं धारकमिति यावत् सुपर्णं "द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते" (मुण्ड उ. 3-1-1) इति सुपर्णत्वेन रूपितम्। अनेन जीवाविनाभावेन तदन्तरात्मतया तद्धितकारितया च अवस्थितमिति लभ्यते, उपधावत भजत ॥११॥

1 ABT नन्यान्यां 2 ABT एष 3 ABT इत्यतो 4 ABT add इति

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' इति सर्वस्य तदात्मकत्वेन तद्व्यतिरिक्तं स्वनिष्ठं वस्तु नास्तीत्युक्तम्। अथ सर्वस्य तत्कारणकत्वाच्च न तदन्यदित्याह - नेति। तस्य सर्वकारणत्वं वक्तुं तस्यापि कारणान्तरशङ्कां व्युदस्यति। न यस्याद्यन्तौ मध्यञ्चेति, कार्यमेव वस्त्वाद्यन्तादिमध्यवत्स्वयमाद्यादिविरहात्सर्वकारणमित्यर्थः। कारणत्वञ्च निमित्तत्त्वरूपमुपादानत्वरूपं चोभयमप्यभिप्रेत तत्र निमित्तत्त्वप्रयुक्तं वैषम्यं परिहरति - स्वः परश्च यस्य नास्तीति, देवमनुष्यादि वैचित्र्यस्य तत्तज्जीवकर्ममूलकत्वान्न तस्यानुग्राह्यो निग्राह्यश्च स्वतोऽस्तीति भावः। "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य" (छान्दो.उ. 6-3-2) इत्यादि श्रुत्यवगतं सृष्टेः अनुप्रवेशपूर्वकत्वं सूचयन् जीवानुप्रवेशयोग्यतामाह - यस्य नान्तरं बहिरिति तिलेषु तैलस्येव वेद्याममेरिव न व्यवस्थिता व्याप्तिः किन्तु बहिरन्तस्साधारण्येन यस्य जीवादिषु व्याप्तिरित्यर्थः। यस्मादेवं भूतात् परमात्मनः विश्वस्याऽमूनि आद्यन्तमध्यानि सृष्टिलयरक्षणानि भवन्ति। यस्मादिति हेत्वर्थे पञ्चमी। यतो हेतु भूतादुपादानात् विश्वस्यादिः यतो यस्मिन् हेतुभूतेऽधिकरणे विश्वस्य लयः यतो येन हेतुभूतेन कर्त्रा, विश्वस्य रक्षणं भवतीत्यर्थः। यत् यत एवं विश्वोपादानभूतस्तस्माद्विश्वमपि तदेव तदनन्यदेव जगदाकारेण परिणत स एव अवतिष्ठत इति ततोऽनन्यदेव जगदित्यर्थः उपादानत्वप्रयुक्तं विकारित्वं परिहरति - ऋतमिति। ऋतं सत्य स्वरूपतः स्वभावतश्च विकाररहितमित्यर्थः। विकाराणां स्वशरीरभूताचिदचिद्द्वारकत्वात्स्वतो निर्विकारमेव कारणत्वोपयुक्तसर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वादि गुणयोगमाह - महदिति। गुणैर्महत् निरतिशयबृहदित्यर्थः ।।१२।।

श्लोकचतुष्टयप्रतिपादित विशेषण - सामर्थ्यलब्धगुणविशेषैः सम्भूय विशिनष्टि स इति। सः श्लोक चतुष्टयगतयच्छब्दैर्निर्दिष्टस्य प्रतिनिर्देशपरः तच्छब्दः विश्वं काय शरीरं यस्य विश्वकायः, अत एव पुरुभिर्देवमनुष्यादिनामाभिः शरीरवाचिभि आत्मपर्यन्तबोधकः शब्दैः हूयतेऽभिधीयत इति पुरुहूतः, सत्यः निर्विकारः, विश्वकायोऽपि विश्वगतविकारैः अस्पृष्ट इत्यर्थः। ईशः सर्वावस्थ चेतनाचेतनयोः नियन्ता, स्वयं ज्योतिः। स्वप्रकाशः अनन्यापेक्षप्रकाश इत्यर्थः। अज जीववत्कर्मायत्तोत्पत्ति रहितः पुराणः जगत्कारणभूतः पुरापि न वो वा, अस्य विश्वस्य जन्मादिकामात्मन स्वस्य शक्त्या अंशभूतया अजया प्रकृत्या करोति, ताञ्च अजां विद्यया नित्याविभूतापरिच्छिन्नस्वयाथात्म्यविषयक ज्ञानानंदस्य परिहृत्य तदपरवशो भूत्वा निरीहः जीववदीहारहितः स्वानन्दानुभवपूर्त्या अवाप्तसमस्तकामाऽनाहतकामः "सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः" (छान्दो.उ. 3-14-2,3) इति श्रुतेः। आस्ते सर्वान्तरात्मतयाऽवतिष्ठतीत्यर्थः ।।१३।।

1 W Omits शब्दै

निरीह आस्ते इत्यतदेव व्यञ्जयितुं तावज्जीवस्य तदभावमाह - **अथेति।** अथ नन्वग्रे प्रथममृषयो जीवा द्रष्टृत्वात् कर्म हेतवे कर्महेतुर्यस्य तस्मै कर्मसाध्यसुखरूपफलार्थं कर्माणीहन्ते फलसाधनतया कुर्वन्तीत्यर्थः। अनेन जीवस्यापरिपूर्णत्वं सूचितं, कर्मानुसारि बद्धयायत्त प्रवृत्तिमज्जीव प्रेरयितृत्वाच्च परमात्मनः प्रथमं जीवस्यैव प्रवृत्तेरग्रे ऋषयः कर्माणीहन्ते इत्युक्तम्। एवमीहमानोऽपि पुरुषो जीवः प्रायशोऽनीहां प्रपद्यते, स्वार्थाहितकर्मसाध्य फल निस्पृहां प्रायः प्रपद्यते, सुखार्थतया कृतैः कर्मभिः दुःखप्राप्तौ तत्र निस्पृहामेव, प्रायशः प्रतिपद्यत इत्यर्थः। सुखार्थतया विहितानां कर्मणां प्रायशो दुःखजनकत्वदर्शनात् "प्रायोऽनीहां प्रपद्यते" इत्युक्तम्।।१४।।

भगवान् षाड्गुण्यपरिपूर्णः ईशः परमात्मा तु ईहते जीवकर्मानुगुणमन्तरात्मतया यद्यपि प्रेरयति तथाऽपि न हि तत्र विषज्जत स्वप्रयजीवकर्मसाध्ये फले रक्तो न भवति तत्र हेतुं वदन् तं विशिनष्टि। आत्मलाभेन नित्यं स्वानन्दानुभवलाभेनैव पूर्णः समग्रः अर्थः पुरुषार्थो यस्य तादृशः अतो न विषज्जत इत्यर्थः। न केवल स एव न विषज्जतेऽपि तु तमनु ये तमनुवर्तमाना ये जनास्तेऽपि नावसीदन्ति कर्मफलेषु सक्ता न खिद्यन्ति परमात्मन आत्मलाभपरिपूर्णार्थत्वेन कामानासक्तयोस्त्वा जीवस्याऽपूर्णत्वमेव संहत्वे हेतुरित्युक्तं भवति ईहमानाप्यनीहां प्रपद्यत इत्यनेन जीवस्य सुख स्पृहा दुःख तु निःस्पृहेत्युक्तम् ।।१५।।

उक्त विशेषणसामर्थ्यं लब्धगुण विशेषं विशिनष्टि शरण व्रजति **तमिति।** तम् उक्तविधम् ईहमानं जीवकर्मानुगुण प्रयत्नं निरहङ्कृतमहङ्कारराहित बुधं सर्वज्ञं निराशिषं निरीहं पूर्णमात्मलाभेनैव पूर्णम् अनन्यचोदितमनन्यप्रयं स्वात् स्वानुवर्तिना भक्तजनान् शिक्षयन्तं स्वसमानान् आपादयन्तं निजवर्त्मसंस्थितं स्वस्वभावेस्थित प्रभु सर्वशक्तिम् अखिलान् धर्मान् भावयति पालयतीति तम् अहं प्रपद्ये शरणं व्रजामि।।१६।।

**विज०** कीदृशीत्यतोऽर्थतः तामुपलक्षयति **येनेति।** अयमादित्यो येन हरिणा प्रेरितो विश्वं तपते प्रकाशयति विश्वस्य वीर्यं वीर्यप्रद तपा यतो भवति अस्मिन सुर्य शयाने निद्रामाचरति सति यो हरिर्जागर्ति अयं सूर्यस्तं हरिं न वेद, स हरि तमादित्य वदत्यन्वयः। "भयात्तपति सूर्यः" (कठ उ.6-3) "भीषोदेति सूर्यः" (तैत्ति.उ.2-8) इति श्रुत। यो न वेदति वेदति च अनेन "आप्राद्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्" (ऋग्वे.1-115-1) इत्यादि श्रुति प्रतीत सर्वाधिपत्याऽऽदित्यस्य श्रीहरयधीनत्व वर्णनेन निरतिशयमाहात्म्य युक्तं हरेरिति ज्ञातव्यं, अयं वो येन नियतो विश्व सुखदुःखादिक तपते अनुभवति "तप आलोचने" इति धातुः। आलोचन ज्ञानं स एवाऽनुभवः।

"स्वाद्वत्यनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति" (मुण्ड.उ. 3-1-1) इति श्रुतेः। हरिनियत अनुभवतीति कुत इति तत्राह विश्ववीर्यमिति। विश्वस्य वीर्यभूतं तपोऽनुभवो यस्मद्भवति "एष ह्येव आनन्दयाति"(तैत्ति.उ. 2-7) इति श्रुतेः आनन्दयति सुखयति, जीवमिति शेषः, तस्मादित्यर्थः अस्मिन् जीवे शयाने सति "सतासौम्य" (छान्दो.उ. 6-8-1) इति श्रुतेः। यो जागर्ति "न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः (माण्डू.उ.कारिका. 14) इति श्रुतेः, "तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते" (छान्दो.उ. 6-8-1) इति च। अयं जीवस्तं न वेद। "न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाक् वा गच्छति न मनो न विद्म न विजानीम" (केन.उ. 1-6) इति श्रुतेः। स हरिः सर्वं वेद "यः सर्वज्ञः" (मुण्ड.उ. 1-1-9) इति श्रुतेःइति वा।।९।।

न राज्यादिवत् सूर्यप्रेरकत्वं हरेः किन्तु तदन्तस्थितित्वेनापीत्याभिप्रेत्याह **आत्मेति**। इदं सूर्यादि विश्वम् आत्मन ईशस्यावास्यम् आवासयोग्यं स्वसृष्टत्वात् इदमित्यनेन कियत्कवलीक्रियते इति तत्राह - यज्जगत्यामिति। जगत्यां प्रकृतौ यज्जगत् स्थावरजङ्गमलक्षणं प्रकृतावित्युक्तद्योत्पन्नमनुत्पन्नं च यत्सर्वं स्वव्यतिरिक्तं कवलीक्रियते प्रकृतिरावास योग्येति कैमुत्यन्यायेन सिद्धा "प्रकृतिं पुरुषं च" (भ.गी. 13-19) इति वचनाच्च। अस्त्वावासयोग्यत्वं ततः किं तत्राह-मन इति। हे मनः यत इदमीशस्य विद्यमानं तेन कारणेन तेनेशेन त्यक्तेन दत्तेन धनेन भुञ्जीथाः स्वीकुरु, शरीरयात्रामिति शेषः। यतस्त्वं तदधीनसत्ताकः अत एवं न कुर्वित्याह - मागृध इति। कस्य परमानन्दरूपस्य हरेः चिदानन्दस्वरूप ज्ञानलक्षणं धनं मागृधः तेनैक्यमाप्नुवानीत्याकाक्षां न कुरु। अतोऽनर्थहेतुत्वादित्यर्थः। भगवता दत्तं (१) कस्यचिद्धनं मदीयमिति श्रद्धां न कुर्विति वा। "ईशावास्यम् "(ईशा.उ. 1) इति श्रुतेः।।१०।।

ननु किमस्य लक्षणं येन तत्सद्भावे - नेदं तदावास्यं स्यादिति तत्राह - **यन्नेति**। स्वप्रसादमन्तरेण अज्ञेयत्वं सर्वज्ञत्वं नित्याविनष्टचक्षुष्त्वञ्च तस्यैव लक्षणं मुख्यं "अदृश्यऽनात्म्यऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते" (तैत्ति उ. 2-7-1) "यच्चक्षुषानपश्यति येन चक्षूंषि पश्यति" (केन.उ. 3-1-7) इति श्रुतेः। न रिष्यति न नश्यति सुपर्णं पूर्णानन्दं उपधावत भजत ।।११।।

लक्षणान्तरमाह - **यस्येति**। पर इत्युपलक्षणं अपरोऽपि परोऽपि च अत्र परापरवस्तुनोः स्वातन्त्र्यं निषिध्यते न तु शून्यत्वं तद्दत महत् ब्रह्मेत्यर्थः। "तदेवतं तदु सत्यमाहुः" (म.ना.उ. 1-6) इति श्रुतिः ।।१२।।

इदं च ब्रह्मलक्षणमित्याह - **स विश्वेति**। आत्मशक्त्या आत्मभार्यया प्रकृत्यास्य जगतो जन्मादि धत्ते

यस्य तां प्रकृतिं विद्ययोदस्य निरस्य निरीहः सृष्ट्यादिशून्य आसते स ब्रह्मनामा परमात्मेत्यन्वयः। प्रलये विश्वं कार्यं यस्य[1] विश्वकायः उदारान्तर्गतप्रपञ्च इत्यर्थः। सृष्टौ विश्वमेव काः शरीरं यस्य स तथा प्रतिमास्थानीय प्रपञ्च इत्यर्थः। अत पुरुहूतः पुरूणि बहूनि हूतानि नामानि यस्य स तथा "सर्वनामा सर्वकर्मा" इति श्रुतेः। सर्वनामवाच्यत्व हतुरीश इति। तत्तच्छब्द प्रवृत्तिनिमित्तसामर्थ्योपेत इत्यर्थः। तत्तदापचारकामत्याभप्रत्याह - सत्यमिति। तत्तन्नामवाच्ये तत्तत्साधुगुणसद्भावे सामर्थ्यमिदमस्तीति वक्तुमुचितं स एव कथमित्यत्रा वाह सत्यमिति। साधुगुणपूर्णम इदं च लक्षणान्तरं परज्योतिरिति। "परज्योतिरूपं सम्पद्यते" इति श्रुत्या मुक्तप्राप्यत्वमुच्यते तदेवाननाच्यते इति परज्योतिः सूर्याद्यन्यतमः किं न स्यादित्यतोऽत्र पुराण इति।।१३।।

एव सिद्धे यस्तु तत्साधनतन साधनमाह - **अथेति।** यतो ज्ञानप्रतिबन्धके दुष्कर्मणि सति सर्वं दुस्साधन स्यादिति। अथ लोक सङ्ग्रहार्थं क्रियतोऽग्र कर्महन्तवे दुष्कर्मपरिहाराय यागादि कर्मणीहन्ते कुर्वन्तीति विज्ञाय ज्ञानार्थी पुरुष इहमान कर्म कुर्वाणो विधृत दुष्कर्मोऽनीहां निवृत्तिपदवी प्राप्य प्रायो बहुलं ज्ञान प्रपद्यत इत्यन्वय। कर्मफलार्थी अन्यथाऽपि भवतीति प्राय इत्युक्तम। अनेन "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" (ईशा.उ १.२) इति श्रुतिगतोक्ता। आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथा विधानं गुरोः कर्माणि रतिविशेषेण समावृत्य कुटुम्बी शुचौ देश स्वाध्यायमधीयानो धार्मिको विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्रतीर्थेभ्य "स खल्वेव वद वर्तयन्यावदायुषम" (छान्दो.उ 8-15-1) इति श्रुतेः हिंसादन गृहीता ।।१४।।

न केवलमेषव एव लोकसङ्ग्रहार्थं कर्माण्याचरन्ति अपि तु श्रीहरेरपीति भावेन आह इहते इति। कर्मानीभिषङ्ग वैमुख्यन्यायमाह नावसीदन्तीति। य तमनुवर्तन्त तेऽपि नावसीदन्ति इति किमुत श्रीहरेरित्यन्वय ।।१५।।

पुरुषेण फलानीच्छता कर्म कर्तव्य मात्मविदोऽपि भावेन स्वातोत्याह- **तमीहमानमिति।** बुधे इहमानं निजवर्त्ममूढा स्तत्कर्म शिक्षयन्त प्रभु प्रपद्य इत्यन्वय ।।१६।।

1- 1 A B Ma Omit 2 A B [illegible] Ma [illegible] 3 Ma Omits [illegible] 4 Ma [illegible]

## श्रीशुक उवाच

इति मन्त्रोपनिषदं व्याहरन्तं समाहितम्।
दृष्ट्वाऽसुरा यातुधाना जग्धुमभ्यद्रवन् क्षुधा।।१७।।

तां स्तथाऽवसितान् वीक्ष्य यज्ञस्सर्वगतो हरिः।
यामैः परिवृतो देवैर्हत्वाऽशासत् त्रिविष्टपम् ।।१८।।

स्वारोचिषो द्वितीयस्तु मनुरग्नेः सुतोऽभवत्।
द्युमत्सुषेणरोचिष्मत्प्रमुखास्तस्य चात्मजाः।।१९।।

तत्रेन्द्रो रोचनस्त्वासीद् देवाश्च तुषितादयः।
ऊर्जस्तम्भादयस्सप्त ऋषयो ब्रह्मवादिनः।।२०।।

ऋषेस्तु वेदशिरसस्तुषिता नाम पत्न्यभूत्।
तस्यां जज्ञे ततो देवो विभुरित्यभिविश्रुतः।।२१।।

अष्टाशीति सहस्राणि मुनयो ये धृतव्रताः।
अन्वशिक्षन्व्रतं तस्य कौमारब्रह्मचारिणः।।२२।।

तृतीय उत्तमो नाम प्रियव्रतसुतो मनुः।
पवनः सृञ्जयो यज्ञ होत्राद्यास्तत्सुता नृप!।।२३।।

वसिष्ठतनयास्सप्त ऋषयः प्रमदादयः।
सत्या देवश्रुता भद्रा देवा इन्द्रस्तु सत्यजित् ।।२४।।

**श्रीध० इतीति।** समाहितमपि सन्तं मन्त्रोपनिषदं मन्त्ररहस्यं व्याहरन्तं दृष्ट्वा सुमोत्थितवद्विवशमिव मन्वाना असुरा यातुधानाश्च क्षुधा निर्मितेन जग्धुमनुमभ्यद्रवन्नभिदुद्रुवुः।।१७।।

**तानिति।** यामैः स्वपुत्रैः। त्रिविष्टपं स्वर्गमपालयत् स्वयमेवेन्द्रो बभूवेत्यर्थः। तत्र प्रतिमन्वन्तरं मन्वादयः षडन्ये भवन्ति। तथा हि सुतो द्वादशो वक्ष्यति। "मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः

1 M Ma क्षुधा 2 M Ma श्रा 3 M Ma श्रात W श्रोत 4 H V पा 5 H V "या 6 ABGJ M Ma T वद" 7-7 H V, Omit 8 ABJ चुर्मि 9 ABJ add अन्य

ऋषयोऽशावतारश्च हरेः षड्विधमुच्यते"(भाग. 12-7-15) इति। तत्राद्यो हि स्वायम्भुवो मनुः। प्रियव्रतोत्तानपादौ मनुपुत्रौ। यामादयो देवाः। मरीचिप्रमुखाः सप्त ऋषयः। यज्ञो हरेरवतारः इन्द्रश्च स एवेति तन्मन्वन्तरं षड्विधमतत् तच्च चतुर्थस्कन्धोपक्रमे निरूपितम् ।।१८।।

द्वितीयादिषु त्रिषु मन्वन्तरेषु मन्वादि षट्कमाह - **स्वारोचिषो द्वितीयस्त्विति**। यावत् गजेन्द्रमोक्षप्रश्नम् ।।१९-२१।।

त्रिभिरसाधारणं चरितमाह - **अष्टाशीति सहस्राणि** इति।।२२-२४।।

**वीर०** इति इत्थं मन्वन्तरमुपनिषदं व्याहरन्तं जपन्तं समाहितं चित्तं स्वयम्भुवं मनुं दृष्ट्वा असुरा यातुधानाश्च क्षुधा निमित्तेन जग्धुमनुमभ्यद्रवन् ।।१७।।

तथाऽर्यमितान मनु हन्तु समुद्धास्तानसुरान् यातुधानाश्च दृष्ट्वा सर्वगतः सर्वान्तरात्मा भगवान् यज्ञाख्य यामै युगपत प्रसूतैः स्वपुत्रैर्देवैः परिवृतः तान् हत्वा त्रिविष्टपं स्वर्गमशासत् अपालयत् स्वयमेव इन्द्रो बभूवेत्यर्थः । तत्र प्रतिमन्वन्तरं मन्वादयः षडन्ये अन्ये भवन्ति तथाहि सूता द्वादश वक्ष्यति - "मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्रा सुरेश्वरः । ऋषयोऽशावतारश्च हरेः षड्विधमुच्यते"।। (भाग. 12-7-15) इति।

तत्राद्य स्वायम्भुवो मनुः प्रियव्रतोत्तानपादौ मनुपुत्रौ तोषप्रतोषसन्तोषभद्रशान्तीडस्पतीध्मकविविभुस्वह्नु सुदेव रोचनाख्या द्वादश यज्ञस्य पुत्रा एतत्प्रभृतयो देवाः मरीचिप्रमुखाः सप्तर्षयः यज्ञो हरेरवतार इन्द्रश्च स एव यद्यपि पृथगिन्द्राभावात् षाड्विध्यं नास्ति, तथाऽपि अत्र मन्वन्तरे यज्ञो भगवानेव इन्द्राधिपत्ये जगद्रक्षणेऽधिकृतत्वान्नात तदधिकारद्वयमपेक्ष्य षाड्विध्यमुपपादनीयम्।।१८।।

द्वितीयादिषु त्रिषु मन्वन्तरेषु मन्वादिकमाह - **स्वारोचिष** इति। यावद्गजेन्द्र मोक्षप्रश्नम्। अग्नेः सुतः स्वारोचिषाख्यः मनुर्द्वितीयोऽभवत - द्युमदादयस्तस्यात्मजाः ।।१९।।

तत्र द्वितीय मन्वन्तरे रोचना भगवती यज्ञस्य पुत्र एवेन्द्रो बभूव, देवास्तु तद्व्यतिरिक्तास्तुषितसंज्ञास्तोषादयः एकादश, आदिशब्दादन्ये च अभवन् ऊर्जस्तम्भादयः सप्त ब्रह्मवादिनो ऋषयो बभूवुः। एव मन्वादयः षडुक्ताः ।।२०।।

1 ABJ ऋषयः 2 ABJ व 3 ABJ तद्भवतु

अथावतारमाह - **ऋषेरिति**। वेदशिरसः ऋषेस्तुषितेति प्रसिद्धा भार्या बभूव। तस्यां तुषितायां भगवान्देवैः प्रार्थित इति शेषः। विभुरिति प्रसिद्धो जज्ञे ।।२१।।

विभोर्भगवतोऽसाधारणं चरित्रमाह - **अष्टाशीतीति**। तस्य कौमारब्रह्मचारिणः तस्य विश्वाख्यस्य भगवतो व्रतमाचार मन्वशिक्षन्नृनुसृतवन्तः ।।२२।।

प्रियव्रतस्य सुतः उत्तमाख्यस्तृतीयो मनुः, तस्योत्तमस्य मनोः सुताः सवनादयः अभवन् ।।२३।।

प्रमदादयः वसिष्ठस्य सुताः सप्तर्षयः सत्यादि संज्ञिकाः देवगणाः इन्द्रस्तु सत्यजिदाख्यः ।।२४।।

**विज०** मन्त्रवर्णेन युक्तोपनिषदम् ।।१७-१८।।

तस्य स्वारोचिषस्य ।।१९।।

नाम्ना रोचनः ।।२०।।

नाम्ना विभुः ।।२१।।

तस्य विभोः ।।२२-२४।।

**धर्मस्य सूनृतायां तु भगवान्पुरुषोत्तमः।**
**सत्यसेन इति ख्यातो जातः सत्यव्रतैस्सह ।।२५।।**

**सोऽनृतव्रतदुश्शीलानसतो यक्षराक्षसान्।**
**भूतद्रुहो भूतगणांश्चावधीत् सत्यजित्सखः ।।२६।।**

**चतुर्थ उत्तमभ्राता मनुर्नाम्नाऽथ तामसः।**
**वृषा ख्यातिर्नरः केतुरित्याद्या दश तत्सुताः ।।२७।।**

**सत्यका हरयो वीरा देवास्त्रिशिख ईश्वरः।**
**ज्योतिर्व्योमादयस्सप्त ऋषयस्तामसेऽन्तरे ।।२८।।**

**देवा वैधृतयो नाम विधृतेस्तनया नृप।**
**नष्टाः कालेन यैर्वेदा विधृताः स्वेन तेजसा ।।२९।।**

1- -1 W Omits 2 W Omits अभवन 3 A,B,T संज्ञिका 4 A,B,G,J, M,Ma, T, सत्या" 5 M,Ma "सूत 6 A,B,G,J, M,Ma, T च 7 M,Ma "च" 8 A,B,G,J,T नृपु M,Ma नृप 9 A,B,G,J,T "धामाद M,Ma "धानाद"

**तत्रापि जज्ञे भगवान्हरिण्यां हरिमेधसः।**
**हरिरित्याहृतो येन गजेन्द्रो मोचितो ग्रहात्।।३०।।**

**श्रीध० स** इति। सत्यजित इन्द्रस्य सखा सन् ।।२५-२६।।

**चतुर्थ** इति। उत्तमस्तृतीयो मनुः तस्य भ्राता तामसश्चतुर्थो मनुः ।।२७।।

**सत्यका** इति। त्रिशिखस्तामा ईश्वर इन्द्रः आसीत् ।।२८।।

अन्यानपि त्रिशिखपराक्रमान् सुरान् आह - **देवा वैधृतय** इति।।२९।।

**तत्रेति**। हरिमेधसः पत्न्या हरिण्या नाम्ना हरिरित्याहृतो व्याहृतः। ग्राहात् ग्राहात् ।।३०।।

**वीर०** अवतारमाह धर्मस्य सुनृताख्यायां भार्यायां भगवान्पुरुषोत्तमः सत्यसेनाख्यो जातः, सः सत्यव्रतादिभिः देवैः सहितः सत्यजित इन्द्रस्य सखा भूत्वा यक्षराक्षसानवधीत् ।।२५।।

तान् त्रिशिखान् **स** इति। अनृतमेव व्रतं येषां ते दुष्टं शीलं येषां ते दुःशीला, न च ते तान् असतः दुरात्मनः भूतानि दुह्यन्तीति तथा तान् ।।२६।।

चतुर्थस्तु मनुरुत्तमस्य भ्राता प्रियव्रतसुतः स च नाम्ना तामस इति प्रसिद्धिः। वृषादयो दश तस्य तामसस्य मनोः सुताः ।।२७।।

सत्यकादिसंज्ञा देवगणाः, त्रिशिखः ईश्वरः इन्द्रः ।।२८।।

अन्यानपि त्रिशिखपराक्रमान्सुरानाह - **देवा** इति। हे नृप! विधृतेस्तनया वैधृतय इति प्रसिद्धा स्तामस मन्वन्तरे देवा बभूवुः तान्त्रिशिखाष्टि येवैर्भूतिभिः स्वेन तपसा स्वबुद्धिबलेन वेदा विधृताः, कथम्भूताः। कालेन नष्टा विस्मृताः अभ्यस्तपरम्पराद्यभावादिति भावः। एवं मन्वादयः पञ्चोक्ताः ।।२९।।

अवतारमाह **तत्रापीति**। चतुर्थेऽपि मन्वन्तरे हरिमेधसो भर्तुः हरिण्यां भार्यायां भगवान् हरिरित्याहृतः व्याहृतः हयाख्यो जज्ञे प्रश्नावसरे प्रयच्छन् तं त्रिशिखाष्टि येन हरिनाम्ना भगवता ग्राहात् मकरात् गजेन्द्रो मोचितः ।।३०।।

**विज०** सत्यजितस्तृणं स्मृतं ।।२५-२९।।

आहृत आहृतः ।।३०।।

1- - 1 H V Omit 2 H J V Omit नाम 3 H J V Omit आसीत 4 ABJ देवा 5- - 5 H J V Omit

**परीक्षिदुवाच**

**बादरायण एतत्ते श्रोतुमिच्छामहे वयम् ।**
**हरिर्यथा गजपतिं ग्राहग्रस्तममुमुचत्।।३१।।**

**त त्कथा सुमहत्पुण्यं धन्यं स्वस्त्ययनं शुभम्।**
**यत्र यत्रोत्तमश्लोको भगवान्गीयते हरिः।।३२।।**

**सूत उवाच**

**परीक्षितैवं स तु बादरायणिः प्रायोपविष्टेन कथासु चोदितः।**
**उवाच विप्राः प्रतिनन्द्य पार्थिवं मुदा मुनीनां सदसि स्म शृण्वताम् ।।३३**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
अष्टमस्कन्धे मन्वन्तरानुचरिते प्रथमोऽध्यायः ।।१।।

**श्रीध० बादरायण** इति। अमुमुचत् मोचयामास।।३१।।

**तदिति।** श्रवणेच्छायां हेतुः। तत्कथासु तासु कथासु। सा कथैव वा सुमहत्पुण्यम् पुण्यस्य विशेषणं धन्यमित्यादि।।३२-३३।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां प्रथमोऽध्यायः।।१।।

**वीर०** लब्धावसरः पृच्छति राज्ञा - **बादरायण** इति। हे बादरायण! वयं मतच्छ्रोतु मिच्छामहे। किन्तत् ? हयाख्यो भगवान् यथा ग्राहग्रस्तं गजेन्द्रं ममुमुचत् मोचयामासेत्यतत् ।।३१।।

श्रवणेच्छायां हेतुं वदन् पृष्टं विशिनष्टि - **तदिति।** तन्मया पृष्टं गजेन्द्रमोक्षणरूपं हरेश्चरित्रं कथासु मध्ये महत्पुण्यम्। यद्वा तत्कथा गजेन्द्रमोक्षणरूपा मया पृष्टा कथा सुमहत्पुण्यं महापुण्यावहं महच्छब्दस्य आत्वाभाव आर्षः। सामान्याभिप्रायेण प्रतिनिर्देश नपुंसकनिर्देशः। धन्यं धनावहं कृतार्थत्वावहं वा, स्वस्त्ययनं शुभावहम् ! अत एव महत् गुणवत्तमं पुण्यत्वादिकं श्रवणपठनद्वारेत्यवगन्तव्यम्। पुण्यत्वादौ हेतुमाह -

1- -1 A,B,G,J, M,Ma,T गजावाच 2- -2 M,Ma तत्कथास्मुमहा पुण्या धन्या 3 M,Ma ना 4 H,V, शिवम W, महत M,Ma शुभा । 5 W, श्रीशुक

यत्रेति। यासु यासु कथासु हरि र्गश्रितानाघहरो भगवान् गीयते सा सा कथा पुण्यादिगुणयुक्ता हीत्यर्थः। यद्वा - यत्र यत्र कथायां हरि र्गीयते सा सा पुण्यादिगुणयुक्ता। अतो गजेन्द्रमोक्षकथायामपि हरि र्गीयत एवेति साऽपि पुण्यावहा। अत स्तामपि शृश्रूषितां कथयेत्यर्थः।।३२।।

एव मापृष्टगजेन्द्रमोक्षकथा भगवान् बादरायणिः तां कथयामासेत्याह सूतः - **परीक्षितेति**। हे विप्राः! प्रायोपविष्टेन परीक्षिता राज्ञा कथासु हरिकथाकथन चोदितः प्रवर्तितः स बादरायणिः व्यासपुत्रः एवमित्थं, पृष्ट इति शेष। प्रार्थितं परीक्षितं प्रतिनन्द्य, अहो साधु पृष्टम् इत्यभिनन्द्य सदसि सभायां मुनीनां शृण्वतां स ता मुवाच, पृष्टा, कथामिति शेष ।।३३।।

इति श्रीमद्भागवत अष्टमस्कन्ध

श्रीवीरराघवीयदृषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां प्रथमाऽध्यायः ।।१।।

**विज०** हे विप्रा ! इति सूत शौनकादीन् सम्बोधयति ।।३२-३३।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे

श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्या

टीकायां प्रथमाऽध्याय ।।१।।

oooOooo

# द्वितीयोऽध्यायः

## श्रीशुक उवाच

आसीद्गिरिवरो राजन् त्रिकूट इति विश्रुतः।
क्षीरोदेनावृतःश्रीमान् योजनायुत मुच्छ्रितः।।१।।

तावता विस्तृतः पर्यक् त्रिभिः शृङ्गैः पयोनिधिम्।
दिशश्च रोचयन्नास्ते रौप्यायसहिरण्मयैः ।।२।।

अन्यैश्च ककुभस्सर्वा रत्नधातुविचित्रितैः।
नानाद्रुमलतागुल्मैः निर्घोषैर्निर्झराम्भसाम्।।३।।

स चावनिज्यमानाङ्घ्रिः समन्तात्पय ऊर्मिभिः।
करोति श्यामलां भूमिं हरिन्मरकताश्मभिः।।४।।

सिध्दचारणगन्धर्वैः विद्याधर महोरगैः।
किन्नरैरप्सरोभिश्च क्रीडद्भि र्जुष्टकन्दरः।।५।।

यत्र सङ्गीतसन्नादैः नंदद्गुहममर्षया।
अभिगर्जन्ति हरयः श्लाघिनः परशङ्कया।।६।।

नानारण्य पशुव्रात सङ्कुलद्रोण्यलङ्कृतः।
चित्रद्रुमसुरोद्यानकलकण्ठविहङ्गमः।।७।।

सरित्सरोभि रच्छोदैः पुलिनैःमणिबालुकैः।
देवस्त्रीमज्जनामोद सौरभाम्ब्वनिलै र्युतः।।८।।

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तुर्ये मन्वन्तरे प्रोक्तं गजेन्द्रस्य विमोक्षणम्। द्वितीयादि त्रिभि स्तन्तु विस्तरेणोपवर्ण्यते।।

द्वितीये तु गजेन्द्रस्य गजीभिः क्रीडतो जले। देवाद्ग्राहगृहीतस्य हरिस्मृति रुदीर्यते।।

**आसीदिति**। आसीत् अस्ति ।।१।।

1 A,B,G,J,T दिश ख 2 H,V मदावानस्य M,Ma मदा वर्णस्य 3 M,Ma शृंगैः 4 A,B,G,J,M,Ma,T ...य 5 W दर्शिक 6 M,Ma भाकर्ति 7 H,V आस्त

**तावतेति।** तावता योजनायुतेन। पर्यक् परितः त्रिकूटसमाख्याबीजमाह - त्रिभिः शृङ्गैः मुख्यैः सुवर्णरौप्यलोहमयैः ।।२।।

**अन्यैरिति।** अन्यैश्च शृङ्गैः निर्झराम्भसां निर्घोषैश्च ककुभः सर्वा रोचयन्नास्त इति पूर्वेणैवान्वयः। कथम्भूतैः शृङ्गैः रत्नैः धातुभिश्च विचित्रैः । नानाविधानां द्रुमलतानां गुल्मा येषु तैः ।।३।।

**स इति।** पयसः ऊर्मिभिः समन्तादवनिज्यमाना अङ्घ्रयो मूलान्ता यस्य हरिद्रः पलाशवर्णः ।।४,५।।

**यत्रेति।** किन्नरादीनां सङ्गीतसम्राटः नदन्त्यो गुहा यस्मिन्प्रदेशे तमभिगर्जन्ति। हरयः सिंहाः। अमर्षया असहनेन परशङ्कया प्रतिस्पर्धिसिंहशङ्कया ।।६।।

**नानेति।** नाना य आरण्याः पशवः तेषां व्रातैः सङ्कुलाभिः द्रोणीभिः अलङ्कृत आस्ते। किञ्च, चित्रा द्रुमा येषु तेषु मृगोद्यानेषु कलकण्ठा मधुरस्वना विहङ्गमा यस्मिन् ।।७।।

**सरिदिति।** किञ्च। स्वच्छादकैः सरित्सरोभिर्युतं । मणय एव वालुका येषु तैः पुलिनैश्च युतः। दयस्त्रीणां मज्जनेन य आमोदः तेन सौरभयुक्तानि अम्बूनि तानिलाश्च तेन युत आस्ते ।।८।।

## श्रीवीरराघवविदुषालिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

उक्तमर्थमाह आसीदित्यादिना अध्यायत्रयेण। ग्राहग्रहणात्प्राक्तनी गजेन्द्रस्यावस्थां वक्तुं तावत् तदायासस्थानं त्रिकूटाचलं वर्णयति **आसीदिति।** हे राजन् त्रिकूट इति प्रसिद्धः कश्चित् गिरिश्रेष्ठः, आसीत्। स च क्षीरसमुद्रणाऽऽवृतः, क्षीराब्धिद्वीपस्थ इत्यर्थः। श्रीमान् शोभावान् रत्नादिसमृद्धिमान् वा योजनायुतोन्नतः ।।१।।

परितः स्तावता योजनायुतेन विस्तृतश्च। त्रिकूटसमाख्याबीजमाह - रौप्यायसहिरण्मयैः त्रिभिः शृङ्गैः मुख्यैः पर्यन्तेषु दिशः रोचयन्नद्याप्यास्ते ।।२।।

तथा रत्नैर्धातुभिः गैरिकादिभिश्च विचित्रैः रन्यैश्च शृङ्गैः ककुभो दिशः रोचयन् आस्ते इति पूर्वेणान्वयः।

नानाविधैः द्रुमैः लतानां गुल्मैः लताभिः गुल्मैश्चेति वा। निर्झराम्भसां गिरिनदीजलानां घोषैश्च रोचयन्नास्त इति पूर्वेणान्वयः ।।३।।

स च त्रिकूटः पयोदधेः ऊर्मिभिः परितः अवनिज्यमाना विशोध्यमाना अङ्घ्रयः प्रत्यन्तपर्वता यस्य। सदेति पाठान्तरम्। तदा सदा नित्यमवनिज्यमानाङ्घ्रिरित्यर्थः।

1 -1 A,B,J Omit 2- -2 B,H,J,V Omit 3 A,B,J इव 4 H,V युक्त 5 A,B,I पयोध क्षीराब्ध 6- -6 A,B,T पाठ

हरिद्भिः पल्लशवर्णैः मरकतात्मकैः अश्मभिः पाषाणैः श्यामलां भूमिं करोति बिभर्तीत्यन्वयः ।।४।।

क्रिडद्भिः सिद्धादिभिः जुष्टा द्रोणयः यस्य कन्दरेति पाठान्तरम्। तदा सिद्धादिभिः जुष्टा सेविता कन्दरा शिखरमूलभूमिः यस्येत्यर्थः। किन्नरादीनां सङ्गीतसन्नादैः नदन्त्यो गुहा यस्मिन्प्रदेशे तमभिगर्जन्ति प्रतिगर्जन्ति हरयः सिंहाः। कथम्भूताः? परशङ्कया सिंहान्तरागमनशङ्कयानिमित्तेन[1] अमर्षया असहनेन श्लाघिनः स्ववीर्यश्लाघायुक्ताः[2] ।।५,६।।

नानाविधा ये आरण्याः अरण्यप्रभवाः पशवो महिषादयः तेषां व्रातैस्सङ्घैः सङ्कुलाभिः व्याप्ताभिः द्रोणीभिः अलङ्कृतः[3] किञ्च, चित्रा द्रुमा येषु तेषु देवोद्यानवनेषु कलकण्ठा मधुरस्वराः विहङ्गमा यस्मिन् ।।७।।

किञ्च। सरितश्च सरांसि च तै रच्छोदैः निर्मलोदकयुक्तैः मणय एव वालुका येषु तैः पुलिनैश्च देवस्त्रीणां मज्जनेन य आमोदः तेन सौरभेण युक्तान्यम्बून्यनिलाश्च तैश्चयुक्तः आस्ते।।८।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अत्र शरण्येषु शश्वदप्रतिहतशरण्य. श्रीभगवानेवेति दर्शनाय गजेन्द्रविषय ईतिहासः कथ्यते। क्षीरोदेन क्षीरसमुद्रेण।।१।।

पर्यक् परिवृतः रौप्यायसहिरण्मयैः रजतायोहेममयैः त्रिभिः श्रृङ्गैः पयोनिधि दिशश्च रोचयन् विद्योतयन् ।।२।।

अन्यै र्नानाधातुमयैः शृङ्गैश्च, रोचयन्निति शेष. ।।३।।

निर्णिज्यमानाङ्घ्रिः प्रक्षाल्यमानप्रत्यन्तपर्वतः शुभैः अन्याश्मनाविद्धै मरकताश्मभि रिन्द्रनील रत्नै र्भूमि श्यामलां नीलां करोतीति।।४।।

यश्च सिद्धादिभि. नित्यनिषेवितगृहः ।।५।।

किन्नरादि सङ्गीतसन्नादै. नदद्गुहं प्रतिध्वनितगुहं स्थलमभ्युदिश्य प्रतिगजशङ्कयाऽमर्षया असह्यमानबुद्ध्या श्लाघिनः प्रशस्याः हरयः सिंहाः गर्जन्ति।।६।।

चित्रा द्रुमा येषु तथा तानि च सुराणामुद्यानानि चित्रद्रुमसुरोद्यानानि तेषु कलकण्ठाख्या. विहङ्गमा यत्र स तथा।।७।।

1 A,B,T "नमूलया 2 W "घिन 3 A,B,T add अस्ति

अच्छोदैः निर्मलजलैः मणिलक्षणानि वालुकानि येषु तानि तथा तैः। देवस्त्रीणां मज्जनादुत्पन्नो य आमोदः तस्मादुद्भूतं यत् सौरभं परिमललक्षणं, तेनाक्ता भाविता अतिस्निग्धा ये स्ते। "आमोदोत्थः (विमर्दोत्थः) परिमलः" (अम.को. 1-149) इत्यमरः ।।८।।

तस्य द्रोण्यां भगवतो वरुणस्य महात्मनः।
उद्यानमृतुमन्नाम[1] ह्याक्रीडं सुरयोषिताम्।।९।।

सर्वतोऽलङ्कृतं दिव्यैः नित्यपुष्पफलद्रुमैः।
मन्दारैः पारिजातैश्च पाटलाशोकचम्पकैः ।।१०।।

चूतैः प्रियालैः पनसैः राजैः राजातकैरपि।
क्रमुकैर्नालिकेरैश्च खर्जूरैः बीजपूरकैः।।११।।

मधुकैः सालतालैश्च तमालैरसनार्जुनैः।
अरिष्टोदुम्बरप्लक्षैर्वटैः किंशुक चन्दनैः।।१२।।

पिचुमन्दैः कोविदारैः सरलैः सुरदारुभिः।
द्राक्षेक्षुरम्भाजम्बूभिर्बदर्यक्षाभयामलैः।।१३।।

बिल्वैः कपित्थैर्जम्बीरैर्वृतो भल्लातकैरपि।
तस्मिन् सरस्सु विपुलैलसत्काञ्चनपङ्कजम्।।१४।।

कुमुदोत्पलकह्लार शतपत्र श्रियोर्जितम्।
मत्तषट्पदनिर्घुष्टं शकुन्तैः कलनिस्वनैः।।१५।।

हंसकारण्डवाकीर्णं चक्राह्वैः सारसैरपि।
जलकुक्कुटकोयष्टि दात्यूहकुलकूजितम्।।१६।।

श्रीध० तस्येति। तस्य द्रोण्या वरुणस्योद्यानं मास्तं, सुरयोषिता आसमन्तात् क्रीडा यस्मिन्। नाम्ना ऋतुमन्तं ।।९।।

गिरिवनादि सर्वं श्रेयमिति वक्ष्यति अतो गिरि मुपवर्ण्य वनं वर्णयति - **सर्वतोऽलङ्कृतमिति।**

1 A,B,G,J, M,Ma,T ऋ 2 A,B,G,J,T त्व 3 A,B,G,J, M,Ma,T कोदाम 4 M Ma ॠ 5 -5 A,B,G,J, T नीच कलम्बने 6 -6 B,H,J,V Omit

नित्यं पुष्पाणि च फलानि च येषु तैर्द्रुमैः। अत एव ऋतुमदिति समाख्यायुक्तम् पुनः गिरिं वर्णयति - मन्दारै रिति चतुर्भिः, मन्दारादिभि वृत इत्यन्वयः ।।१०।।

**चूतैरिति।** चूताम्रयोरवान्तरभेदः ।।११,१२।।

**पिचुमन्दैरिति।** अक्षो विभीतकः। अभया हरीतकी, आमलो धात्री तैः।।१३।।

**बिल्वैरिति।** तस्मिन् गिरौ सर आस्ते। तद्वर्णयति सुविपुलमित्यादि सार्धैः पञ्चभिः। लसन्ति काञ्चनपङ्कजानि यस्मिन्।।१४।।

**कुमुदेति।** कुमुदादीनां श्रिया ऊर्जितम् समृद्धम् कलः स्वनो येषां तैः शकुन्तैश्च निर्घुष्टम्।।१५।।

**हंसेति।** चक्राह्वै चक्रवाकैः सारसैरप्याकीर्णम् जलकुक्कुटादीनां कुलैः कूजितम्।।१६।।

**वीर०** "ये मां त्वाञ्च सरश्येदम्" (भाग.8-4-17) इत्यादिना गिर्यादिवर्णनं सर्वं ध्येयमिति वक्ष्यति भगवान् अतो गिरिमुपवर्ण्य वनं वर्णयति - तस्य उत्तरविधस्य त्रिकूटस्य द्रोण्यां महात्मनो वरुणस्य ऋतुमदाख्य मुद्यान वनमस्ति। कथम्भूतम्? सुरयोषिता माक्रीडं विहारस्थानम् ।।९।।

नित्यं फलानि पुष्पाणि च येषां तैः द्रुमैः परितोऽलङ्कृतं, द्रुमानेव कांश्चिदर्शयति - मन्दारैरिति। मन्दारादिभिः परिवृतः। वन प्रदेशापेक्षया पुंलिङ्गनिर्देशः। तस्मिन्नुद्याने सरोऽस्ति। कथम्भूतम्? सुविपुलं विस्तृतं, लसन्ति काञ्चनमयानि पद्मानि यस्मिन् ।।१०-१४

कुमुदादीनां श्रियोर्जितं समृद्धं, मत्तै मधुपानमत्तैः षट्पदैः भृङ्गैः कलो मधुरः स्वनो येषां तैः। शकुन्तैः पक्षिभिश्च निर्घुष्टं ध्वनितम्।।१५।।

हंसैः कारण्डवैश्च आकीर्णं सङ्कुलं चक्रवाकैः सारसैरप्याकीर्णम्। समस्तेनाप्याकीर्णपदेन प्रधानत्वात्सापेक्षेणाप्यन्वयः। जलकुक्कुटादीनां कुलैः कूजितम्। कलेति पाठान्तरम। तत्र कलं मधुर मर्थाति यथा तथा कूजितम् ।।१६।।

**बिज०** आक्रीडम् क्रीडारङ्गम् ।।९।।

चूतोऽङ्गना प्रियः, प्रियालः स्फुटो नाम वृक्षः द्रुमिलदेशभवः चूतो वा। आम्रः पिकोदरो माकन्दनामा स चूतः, आम्रातकः आम्रवृक्षः, सालः सर्जीवशेषः, अरिष्टो बृहत्पत्रः पिचुमन्दविशेषः, किंशुकः पलाशः।।१०-१२।।

1--1 B,H,J,V Omit 2- -2 B,H,J,V Omit 3- -3 B,H,J,V Omit 4 B,H,J,V Omit समृद्धम 5 B,H,J,V Omit चक्रवाके 6 B,H,J,V Omit अपि 7 W क्रीडा 8 A,B,T Omit परि

पिचुमन्दः ह्रस्वपत्रः, रोमशनामा वा। सरलः जीरवृक्षः गुग्गुलु वा।।१३ - १६।।

मत्स्यकच्छपसञ्चार चलत्पद्मरजः पयः।
कदम्बवेतस नलनीपवञ्जुलकैर्वृतम।।१७।।

कुन्दैः कुरबकाशोकैः शिरीषैः कुटजेङ्गुदैः।
कुब्जकैः स्वर्णयूथीभिर्नागपुन्नागजातिभिः।।१८।।

मल्लिकाशतपत्रैश्च माधवीजालकादिभिः।
शोभितं तीरजैश्चान्यै नित्यर्तुभि रलं द्रुमैः।।१९।।

तत्रैकदा तद्गिरिकाननाश्रयः करेणुभिर्वारणयूथपश्चरन्।
सकण्टकं कीचकवेणुवेत्रवद्विशालगुल्मं प्ररुजन्वनस्पतीन् ।।२०।।

यद्गन्धमात्राद्धरयो गजेन्द्रा व्याघ्रादयो व्यालमृगा सखड्गाः।
महोरगाश्चापि भयाद्द्रवन्ति सगौरकृष्णा शरभाश्चमर्यः।।२१।।

वृका वराहा महिषर्क्षशल्या गोपुच्छसालावृकमर्कटाश्च।
अन्यत्र क्षुद्रा हरिणा शशादय श्चरन्त्यभीता यदनुग्रहेण।।२२।।

सघर्मतप्तः करिभिः करेणुभिः वृतो मदच्युत्कलभै रभिद्रुतः।
गिरि गरिम्णा परितः प्रकम्पयन् निषेव्यमाणोऽलिकुलैर्मदाशनैः ।।२३।।

सरोऽनिलं पङ्कजरेणुरूषितं जिघ्रन्विदूरान् मदविह्वलेक्षणः।
वृतः स्वयूथेन तृषार्दितेन तत् सरोवराभ्याशमथाऽगमद्द्रुतम् ।।२४।।

**श्रीध० मत्स्येति।** मत्स्याना कच्छपानाञ्च सञ्चारेण चलता पद्मानां रजसा युक्तं पयो यस्मिन तत ।।१७,२८।।

**मल्लिकेति।** नित्यमृतव. फलपुष्पादिसम्पत्तिहेतवो येषा तैरलं शोभितम्।।१९।।

**तत्रेति।** तत्रैव सति, एकदा तद्गिरिकाननाश्रयो वारणयूथपः करेणुभिः हस्तिनीभिस्सह चरन् तृषार्दितेन स्वयूथेन वृत सरोवरस्य अभ्याश समीपमगमदिति पञ्चमेनान्वयः। किं कुर्वन्? कीचकवेणुवेत्र

1 M Ma 2 A,B,G 11 3 M Ma 4 M Ma 5 M Ma 6 ABGI M MaT 7 M Ma 8- 8 B,H,N Omit

वन्तं विशालं महान्तं गुल्मं लतादिसन्दर्भं वनस्पतींश्च प्ररुजन् प्रभञ्जन्।।२०।।

**यदिति।** कथम्भूतः? यस्य गन्धमात्रा द्वरयः सिंहा, गजेन्द्रादयश्च भयाद्द्रवन्ति पलायन्ते।।२१।।

**वृका इति।** वृकादयः क्षुद्राः अल्प-प्राणिनोऽन्यत्र तद्दृष्टिपथं त्यक्त्वा चरन्ति।।२२।।

**स** इति। पुनः कीदृशः घर्मतप्तः। मदच्युत् मदस्रावी कलभैः करिशाबकैः अनुगतः गरिम्णा गुरुत्वेन मद मश्नन्तीति तथा तैः।।२३।।

**सर** इति। पङ्कजपरागमिश्रं सरस्सम्बन्धिनं वायुं जिघ्रन्।।२४।।

**वीर०** मत्स्यानां कच्छपानाञ्च सञ्चारेण च चलतां चलानां पद्मानां रजसा युक्तं पयो जलं यस्मिन् कदम्बादिभिः युतम् ।।१७।।

कुन्दादिभिश्शोभितम् इत्युत्तरेणान्वयः ।।१८।।

नित्य मृतवः फलपुष्पादिसम्पत्तिहेतवो येषां तै रन्यैश्च तीरजैः द्रुमैः अलमलङ्कृतम् अलमत्यर्थं शोभितमितिवाऽन्वयः।।१९।।

तत्रैवं स्थिते एकदा तद्गिरिकाननाश्रयः वारणयूथपः गजेन्द्रः करणुभिः गजीभिः चरन् तृषार्दितेन स्वयूथेन वृतस्तस्य सरोवरस्याभ्याशं समीपमगमदिति पञ्चमेनान्वयः। किङ्कुर्वन्? कण्टकैस्सहितं कीचकवेणुवेत्रवन्तं विशालं गुल्मं लतादि सन्दर्भं वनस्पतींश्च प्ररुजन प्रभञ्जन्।।२०।।

तमेव विशिनष्टि - यस्य गजेन्द्रस्य गन्धमात्रात् वायुप्रसारमात्रात् सिंहप्रभृतया मृगाः प्रतिपक्षिणो गजाश्च भयात्पलायन्ते।।२१।।

अन्ये क्षुद्रा हरिण्यादयो मृगास्तु यस्य गजेन्द्रस्य अनुग्रहेणाऽनु ज्ञानेन अभीता निर्भयाश्चरन्ति चेरुः।।२२।।

स गजेन्द्रो घर्मणाऽऽतपेन तप्तः मदस्राविकरिभिः करेणुभिः कलभैश्च अनुद्रुतः मदस्राविभिः कलभैश्चाऽनुद्रुत इति वा। गरिम्णा स्थौल्येन गिरिं प्रकम्पयन् मदमश्नन्तीति तथा तैरालिकुले निषेव्यमाणः।।२३।।

सरसः सम्बन्धिन मनिलं वायुं पङ्कजरेणुभिः रूषितं व्याप्तं विदूरादेव जिघ्रन् मदेन विह्वले चलिते ईक्षणे यस्य तृषा पिपासया अर्दितेन पीडितेन स्वयूथेन वृतः तत्सरोवराभ्याशं द्रुतं सत्वर मगात् ।।२४।।

1 B.H.J.V Omit महान्त 2 A ल्प प्र 3- -3 B.H.J.V Omit 4- -4 B.H.J.V Omit

**विज०** अशाकः सितरक्तपुष्पभेदेन द्विविधः, कुरवकः कुटजः कुब्जकं भ्रमरीपुष्पं स्वर्णकृतमालः कमलम् पृथक् ।।१७,१८।।

शतपत्रं जालकं मुकुलिका लता। "अलन्द्रुमः स विज्ञेयो नित्यपुष्पफलोद्रुमः" इत्यभिधानम्। तस्मिन्नुद्याने सरोवरास्तेत्यन्वयः। तत्राद्याने तत्सरोवराभ्याशे माद्यदित्यन्वयः ।।१९।।

मकण्टक विशालगुल्मं वनस्पतीश्च प्ररुजन् ।।२०।।

हरिप्रभृतिमर्कटान्ता यस्य गन्धमात्रात् अद्भुतभयात् द्रवन्तीत्यन्वयः। खड्गो मृगविशेषः, व्यालमृगः सर्पाकारो मृगः, उत्कण्ठ्यान्य ह्रस्वक्षुद्रा हरिणादयो मृगविशेषा यदनुग्रहेण अभीतास्तरन्ति सिंहादि भयराहित्यात ।।२१-२३।।

सरस्यम्बुनिधायाम ।।२४।।

विगाह्य तस्मिन्नमृताम्बु निर्मलं हेमारविन्दोत्पलरेणुवासितम्।
पपौ निकामं निजपुष्करोद्धृतं ह्यात्मान मद्भिः स्नपयन्गतक्लमः।।२५।।

* स्वपुष्करेणोद्धृत शीकराम्बुभिः निपाययन्संस्नपयन्यथा गृही।
घृणी करेणुः कलभांश्च दुर्मदो नाऽचष्टकृच्छ्रकृपणोऽजमायया।।२६।।

तं तत्र कश्चिन्नृप! दैवचोदितो ग्राहो बलीयांश्चरणे रुषाऽग्रहीत्।
यदृच्छयैवं व्यसनं गतो गजो यथाबलं साऽतिबलो विचक्रमे।।२७।।

तथाऽऽतुरं यूथपतिं करेणवो विकृष्यमाणं तरसा बलीयसा।
विचुक्रुशुर्दीनधियोऽपरे गजाः पाणिग्रहा स्तारयितुं न चाशकन्।।२८।।

नियुध्यतोरेवमिभेन्द्रनक्रयोर्विकर्षतोरन्तरतो बहिर्मिथः।
समास्सहस्रं व्यगमन् महीपते स प्राणयोश्चित्र ममंसतामरः।।२९।।

ततो गजेन्द्रस्य मनोबलौजसां कालेन दीर्घेण महानभूद्व्ययः।
विकृष्यमाणस्य जलेऽवसीदतो विपर्ययोऽभूत्सकलं जलौकसः।।३०।।

इत्थं गजेन्द्रः स यदाऽऽप सङ्कटं प्राणस्य देही विवशो यदृच्छया।
अपारयन्नात्मविमोक्षणे चिरं दध्यावि मां बुद्धिमथाभ्यपद्यत।।३१।।

1 A,B मकृ 2 A,B,G,J M Ma L ः * This verse No 26 is not found in M edition 3 H V ग्रहण , M,Ma घृणान W घृणान 4 H,V हरा W हरा 5 मा

**न मा मिमे ज्ञातय आतुरं गजाः कुतः करिण्यः प्रभवन्ति मोचितुम्।**
**ग्राहेण पाशेन विधातु रावृतो ह्यहञ्च तं यामि परं परायणम् ।।३२।।**

**यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात् प्रचण्डवेगा दभिधावतो भृशम्।**
**भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भयात् मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि।।३३।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवेयासिक्या अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्या संहितायां अष्टमस्कन्धे
मन्वन्तरानुवर्णने गजेन्द्रोपाख्याने द्वितीयोऽध्याय. ।।२।।

**श्रीध० विगाह्येति।** निजेन पुष्करेण कराग्रेणोद्धृतम्। गतक्लमस्सन निकाम पपौ।।२५-२७।।

**तथेति।** दीनधियः करेणव. तं केवलं विचुक्रुशु । अपरे गजास्तु पाशिग्रहा स्सन्तोऽपि तं तारयितुं नाऽशकन्[2] ।।२८-२९।।

**तत** इति। मन उत्साहशक्ति , बलं शरीरम, ओज ऐन्द्रिय, तेजाम। सकलं बलादि। विपर्ययो विपरीतं, अधिकम् जलौकसो ग्राहस्य ।।३०।।

**इत्थमिति।** स इत्थं यदा प्राणस्य सङ्कटमवाप, यत्ना दही ।।३१।।

तां बुद्धिमवाह **नमामिति।** अहं न च प्रभवामि यत्ना ग्राहरूपेण कराल विधातु पाशनाऽऽवृत , तथाऽपि तं पर परमेश्वरं परया ब्रह्मादीना मयन माश्रयभूत यामि शरणं व्रजामि।।३२।।

कोऽसौ यं शरणं यामि? तत्राऽऽह य कश्चनेति। अन्तक एवोरगस्तस्मात्। तमरणं शरणमामीह व्रजेम। यद्भयादित्यत्र श्रुतिः - "भीषाऽस्माद्वात पवत भीषादेति सूर्य भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम:"(तैत्ति उ. ३-२-८) इति।।३३।।

इति श्रीमद्भागवत अष्टमस्कन्ध
श्रीश्रीधरस्वामिविरचिताया भावार्थदीपिकाया
व्याख्याया द्वितीयोऽध्याय ।।२।।

**वीर०** तस्मिन् सरसि विगाह्य प्रवेशपूर्वकं विलोड्य कह्लारादीना गणैर्भयोसित परिमलित निर्मलं जल स्वपुष्करेण तुण्डाग्रेण उद्धृत काम यथेष्ट पपौ अपिबत आर्द्र सरो जल आत्मानं स्नापयन गतश्रमो बभूव, गतक्लमः पपौबिति वाऽन्वयः ।।२५।।

1 A.B.G.J. M.Ma.T [illegible] 2 [illegible] B.H.J.V Omit 3 A.B.J [illegible] 4 B.H.J.V Omit [illegible] 5 H.V Omit [illegible] 6 B.H.J.V Omit [illegible] 7 B.H.J.V Omit [illegible] 8 A.B.T [illegible]

स्वपुष्करेणोद्धृतैः शीकराम्बुभिः जलबिन्दुभिः दुर्मदान् कलभान् करिपोतकान् करेणूश्च यथा गृही गृहासक्ति स्तथा[1] [2]निपाययन् [3]संस्नपयंश्च गृणन् बृंहितं कुर्वन्, अजमायया भगवन्मायया यदागतं कृच्छ्रं दुःखं तन्नाचष्ट नाऽऽलोचितवानित्यर्थः [4] ।।२६।।

कृच्छ्रमेव दर्शयन्नाह - स इति। हे नृप। तत्र सरसि दैवेन प्रारब्धकर्मानुगुणं प्रवृत्तेनेश्वरेण चोदितः - कश्चिद्बलीयान् ग्राहो मकरः तं गजेन्द्रं चरणे पादे रुषा क्रोधेनाऽग्रहीज्जग्राह। यदृच्छया दैवात्प्राप्तं व्यसनं दुःखं गतः प्राप्तः, सोऽतिबलः गजेन्द्रो यथाबलं विचक्रमे त्याजयितुं पराक्रममकरोत्।।२७।।

तदा बलीयसा ग्राहेण तरसा बलेन विकृष्यमाण मत एव आतुरं दुःखितं गजेन्द्रं प्रति दीनधियः करेणवो विचुक्रुशुः रुरुदुः। प्रार्ष्णिग्रहाः पृष्ठतः उपोद्बलका अन्ये गजा स्तारयितुं दुःखात्तारयितुं मोचयितुं [5]न चाऽशकन् [5]नाऽशक्नुवन्।।२८।।

हे महीपते! इत्थं गजेन्द्रग्राहयो र्मिथोऽन्तरतो बहिश्च विकर्षतोस्सतोः सहस्रं समा स्संवत्सराः व्यगमन्नतिक्रान्ताः बभूवुः। सप्राणयो स्तयोस्समानबलयोः तद्विकर्षणरूपं कर्म तदा सुराः चित्रं विचित्रं मेनिरे।।२९।।

ततः सहस्रसमानन्तरं दीर्घेण भूयसा कालेन जले विकृष्यमाणस्य अत एव अवसीदतः खिद्यतो गजेन्द्रस्य मनआदीनां व्ययः क्षयोऽभूत्। तत्र मन उत्साहशक्तिः बलं शरीरम्, ओज एन्द्रियम्। जल मोक आश्रयो यस्य तस्य ग्राहस्य तु इदं हेतुगर्भम्। सकलं मन आदिकं विपर्ययोऽभूत् , अधिकमभूदित्यर्थः।।३०।।

स गजेन्द्र इत्थं प्राणस्य सङ्कटं संशयं यदा प्राप, यतः सोऽपि देही देहभृत् तदा विवश आत्मनः स्वस्य मोक्षणेऽपारयन् असमर्थस्सन् चिरं दध्यौ चिन्तितवान्। अथ चिन्तनानन्तरं इमां वक्ष्यमाणां बुद्धिम[6]भ्यपद्यत कृतवान् ।।३१।।

तामेवाऽह - नेति। आतुरं पीडितं मामिमे ज्ञातयो गजा एव मोचितुं न प्रभवन्ति। अहन्तु प्रभुरेव न, कुतः कथं करिण्यः प्रभवेयुः? अतो विधातुः [7]दैवस्य पाशरूपेण ग्राहेणाऽऽवृतोऽहं त मेव विधातारं केवलं परम् उत्कृष्टमयनं शरणं रक्षणोपायं यामि अध्यवस्यामीत्यर्थः। यत्सङ्कल्पान्ममाऽयं ग्राहग्रहस्तमेव शरणं व्रजामीत्यर्थः।।३२।।

---

1. A,B,T add कृपावान् 2.W Omits नि 3. W Omits स 4. W Omits इत्यर्थ. 5- -5. A,B,T Omit 6 A,B,T 'मन्व' 7. A,B,T दै"

कोऽसौ शरण्यः? विधातेत्यत आह - य इति। बलिनोऽन्तं करोतीत्यन्तकः। "अन्येष्वपि दृश्यते" (अष्टा. 3-2-101) इति डः। अन्तको मृत्युः स एव उरगः महासर्पः तस्मात्प्रचण्डवेगात् दुस्सहवेगात् अभिधावतो निमित्तात् भृशं नितरां भीतं प्रपन्नञ्च यः कश्चन योऽय मीशः परिपाति यस्य च भयान्मृत्युरपि प्रधावति, तदादिष्टस्वव्यापारे प्रवर्तते तमरणं शरणं ईमहि प्राप्नुयाम। यद्वा यः कश्चनेशः अवश्यं यः कश्चिदीश्वरो भविता कोऽसौ योऽन्तकोरगाद्भीतं प्रपन्नं[1] पाति यस्य च भयान्मृत्युः प्रधावति तं शरणं व्रजेम इत्यर्थः। ईशे इति सप्तम्यन्तपाठोऽपि दृश्यते। तदा यस्येशे ईशने यः कश्चिन्नास्ति, "न तस्येशे कश्चन" (म.ना.उ. 1-10.) इति श्रुतेः। यश्च मृत्युभयाद्भीतं प्रपन्नं परिपाति यस्य च भयान्मृत्युः प्रधावति "मृत्यु धांवति पञ्चमः" (कठ.उ. 6-3) इति श्रुतेः। त मरणमीमहीत्यर्थः। इति बुद्धिमभ्यपद्यतेत्यन्वयः ।।३३।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

**बिज०** हे नृप ! पादाक्रान्तनिमित्तरुषा यथाबलं यथाशक्ति विचक्रमे विक्रमं कृतवान् ।।२७-२९।।

इन्द्रियादीना मवसादनप्राप्ता वुत्तम्भन शक्तिः सहः, प्राणशक्तिः बलं, शरीरसामर्थ्य मोजः ।।३०।।

अपारयन् पारङ्गन्तु मशक्तः।।३१।।

कर्मलक्षणपाशेन ग्राहेण रुद्धः उपद्रवं प्राप्तः विधातुः दैवान्मोक्षितुम्।।३२।।

कश्चन लोक विलक्षणः यः ईशः बलिनोऽन्तकाख्यसर्पाद्भीतं प्रपन्नं प्रपाति, यस्य भयान्मृत्युरन्तको दुर्गा वा प्रधावति "मृत्यु धांवति पञ्चमः"(कठ.उ. 6.3) इति श्रुतेः। तमीश मरणं शरण मीमहि प्राप्नुम इत्यन्वयः ।३३।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

1. A,B,T add परि

000O000

# तृतीयोऽध्यायः

**श्रीशुक उवाच**[1]

**एवं व्यवसितो बुद्ध्या समाधाय मनो हृदि।**
**जजाप परमं जप्यं[2] प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितम्।।१।।**

**गजेन्द्र उवाच**[3]

**ओं नमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम्।**
**पुरुषायाऽऽदिबीजाय परेशायाऽभिधीमहि[4]।।२।।**

**यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम्।**
**योऽस्मात्परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम्।।३।।**

**यः स्वात्मनीदं निजमाययार्पितं क्वचिद्विभातं क्व च तत्तिरोहितम्।**
**अविद्धदृक् साक्ष्युभयं तदीक्षते स आत्ममूलोऽवतु मां परात्परः।।४।।**

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तृतीये स[5] गजेन्द्रेण स्तुतो हरिरुपेत्य तम्। समुद्दधार तं ग्राहात्,ग्राहं देवलशापतः।।

**एवमिति**। जप्यं[6] स्तोत्रम्। प्राग्जन्मनि इन्द्रद्युम्नसंज्ञे।।१।।

**नम इति**। तस्मै नमो नमनमभिधीमहि अभिध्यायेम केवलं ग्राहगृहीतत्वेन कायप्रणतेरशक्यत्वात्। स्वस्य तज्ज्ञानं सम्भावयितुं विशिनष्टि। यतश्चिद्रूपात् एतद्देहादिचिदात्मकं चेतनं भवति। तदुक्तम् - "येन चेतयते विश्वम्" (भाग. 8-1-9) इति। तत्र हेतुः। पुरुषाय पूर्षु[7] कारणत्वेन प्रविष्टाय। ननु प्रकृतिपुरुषौ कारणमिति प्रसिद्धं, तत्राऽऽह - आदिः प्रकृतिः बीजं पुरुषस्तद्रूपाय। प्रविष्टत्वेऽपि जीववत्पारतन्त्र्यं वारयति - परेशायेति।।२।।

परमैश्वर्यं विवृण्वन्नाह यावदध्यायपरिसमाप्ति[8] - **यस्मिन्निति**। यस्मिन्नधिष्ठाने यत उपादानात् येन कर्त्रा यश्च स्वयमेवेदं विश्वं भवति। अस्मात्कार्यात् परस्मात्कारणाच्च यः परस्तं स्वयम्भुवं स्वतस्सिद्धं प्रपद्ये शरणं व्रजामि।।३।।

1- - 1 H,V,W बादरायणि रुवाच 2. A,B,G,J,M,Ma,T,W, जा" 3- -3. H,V,W,Omit 4. M,Ma "च च धी" 5.A,B,J,"तु 6. A,B,J, add जाप्यं 7 H,V,Omit पूर्षु 8- -8. A,B,J, यावत्समाप्ति

विश्वहेतुत्वं[1] स्वतस्सिद्धत्वञ्चोक्तमिदानीं विश्वप्रकाशकत्वं[2] स्वप्रकाशकत्वञ्च[2] वर्णयन्प्रार्थयते **यः स्वात्मनीति**। विभातमभिव्यक्तं सत् क्वचित्प्रलये तिरोहितं लीनं सत्। तदुभयं कार्यं कारणञ्च साक्षी संवीक्षते[3]। साक्षित्वे हेतुः। अविद्धादृक् अलुप्तदृष्टिः। आत्ममूलः स्वप्रकाशः[4]। कुतः? परात्प्रकाशकात् चक्षुरादेरपि परः[5] तस्यापि[5] प्रकाशक इत्यर्थः। "चक्षुषश्चक्षुः" (केन.उ.1-2) इत्यादि श्रुतेः।।४।।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

"तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्। यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन। पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः" (भ.गी.6-43,44) इति भगवदुक्तरीत्या एवङ्कृतनिश्चयो गजेन्द्रः पूर्वजन्माभ्यस्तं जजापेत्याह मुनिः - **एवमिति**। एवं नमामीत्यादिश्लोकद्वयोक्तरीत्या व्यवसितः निश्चितमनाः मनो हृदि समाधाय हृदयस्थं कृत्वा विषयान्तरेभ्यः प्रत्याहृत्य प्राग्जन्मनि इन्द्रद्युम्नाख्यजन्मनि अनुशिक्षितं अभ्यस्तं परमं जप्यं स्तोत्रं जजाप।।१।।

जप्यमेवाऽऽह - ओं इत्यादिना। तावत् - "कारणन्तु ध्येयः" (अथर्वशिखोप.उ. 3) इति श्रुत्युक्तविधया जगत्सृष्ट्यादि कारणं प्रकृतिपुरुषविलक्षणं नमस्कृत्य शरणं व्रजति - **ओमिति**। "ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः" (भ.गी. 17-23) इत्युक्तरीत्या ब्रह्मणो निर्देशपरः ओङ्कारः ब्रह्मणे इत्यर्थः। ओङ्काराभिप्रेतब्रह्मशब्द प्रवृत्तिनिमित्त गुण बृहत्त्वं भगवत इत्यनेन पूर्णषाड्गुण्यवाचिना स्पष्टीकृतम्। एवं कारणत्वोपयुक्तगुणयोग उक्तः। एवंविधाय तस्मै भगवते नमः। कोऽसौ भगवान् यं नमस्करोषि इत्यत्र तं लक्षयन् तद्ध्यानं प्रतिजानीते। यतो भगवत एतच्चिदात्मकं चित्संसृष्टमचेतनात्मकं चिदचिदात्मकमिति यावत्। यत एवमत आदिबीजाय परमकारणाय, अत एव परेषां ब्रह्मादीनामपीशाय परमपुरुषाय अभिधीमहि अभिध्यायेम ध्यायतेर्लिङि आर्षत्वादात्मनेपदे विकरणाभावे सम्प्रसारणे च रूपम्। "क्रियया ऽभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्" (वार्तिक.829) इति वचनेन पत्यै शेते इत्यादाविव ध्यानक्रियायाः सम्बध्यमान विवक्षया सम्प्रदानसंज्ञायां पुरुषायेति चतुर्थी। सत्यं परं धीमहीत्यादौ तु आप्यमानत्वविवक्षया कर्मसंज्ञायां द्वीतीया। यत इति हेत्वर्थे पञ्चमी। हेतुत्वञ्चाऽधिकरणोपादानकर्त्रादिसाधारणम्। ततश्च यस्मिन् यतः येनेति विवक्षितं तदन्वयानुगुणानि लीनजातरक्षितादिपदानि अध्याजिहीर्षितानि।।२।।

1 A"त्वञ्चोक्त" 2- -2.A Omits 3.H,V.सन् समी" 4.A,B,J ,स्वयं 5- -5 A Omits

तदेतत्सर्वमभिप्रेत्य विशदयन् शरणं व्रजति - **यस्मिन्निति**। इदं चिदचिदात्मकं जगद्यस्मिन् प्रलीनं सृष्टेरप्ययपूर्वकत्वात् लयाधिकरणत्वसूचनाय तावत् यस्मिन्नित्युक्तम्। यत उपादानभूतात् सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्टा-देतत्स्थूलचिदचिद्विशिष्टात्मकं जगज्जातं, येन कर्त्रा सृष्टं रक्षितञ्च। येनेति तन्त्रेण स्रष्टृत्वं रक्षितृत्वञ्च उभयमपि विवक्षितम्। तथा यस्मिन्नित्यनेन सृज्यमानचिदचिदधिकरणत्वमपि विवक्षितम्। यत इदमित्यनेन जगद्ब्रह्मणोरुपादानोपादेयभाव उक्तः। तत्कृतं तयोर्मिथोऽनन्यत्वमाह य इदं स्वयमिति। इदं सर्वं यदात्मकमित्यर्थः। उपादानत्वप्रयुक्तं विकारित्वं परिहरति योऽस्मात् , परस्माच्च परः इति। अस्मात्स्वरूपान्यथाभावमापद्यमानादचेतनजातात्परो विलक्षणः यः स्वभावान्यथाभावमापद्यमानो जीवः तस्माच्च परो विलक्षणः स्वरूपेण स्वभावेन च विकाररहितः, चिदचिद्द्वारकत्वाद्विकाराणामिति भावः। तमेवम्भूतं स्वयम्भुवं स्वायत्तसत्तादिमन्तं, न तु जीववत् अन्यायत्तसत्तादिमन्तमित्यर्थः। प्रपद्ये [1]शरणं गतोऽस्मीत्यर्थः[1]। यद्यप्यत्र गत्यर्थेन पदातिना बुद्ध्यर्थेन सता अध्यवसायमात्रमुपस्थाप्यते, तथाऽपि प्रमाणानुसारात् , अरणं तमीमहीति पूर्वत्रशरणशब्द पर्यायस्य अरणशब्दस्य प्रयोगाच्च प्रार्थनाद्यन्वित रक्षाभरन्यासं करोमीत्युच्यते। तथा चोच्यते - "अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्, तदेकोपायता याच्ञा प्रपत्तिश्शरणागतिः" (विष्वक्सेन संहिता) इति रक्षाप्रार्थनन्तु समनन्तरश्लोकेषु 'अवतु मां परात्पर' इत्यादिषु स्फुटम्। इयञ्च गजेन्द्रेण विहिता प्रपत्तिः मुक्त्यर्थैव, न तु प्राणसंरक्षणार्था - "गजेन्द्रो भगवत्स्पर्शाद्विमुक्तोऽज्ञान बन्धनात् , प्राप्तो भगवतो रूपं पीतवासाश्चतुर्भुजः"(भाग. 8-4-6) इति तत्फलतया मुक्तेरेव वक्ष्यमाणत्वादिति भावः ।।३।।

यस्मिन्निदमित्यनेन अभिप्रेतं सृष्टिसंहारविषयचेतनाचेतनात्मकजगदधिकरणत्वं विवृण्वन् सृष्ट्याद्युपयुक्त सावर्ज्यादिगुणयुक्तं [2]स्वरक्षायै प्रार्थयते य इति। आत्मनि स्वस्मिन्नेव यः क्वचित्कदाचित् निजमाययाऽऽत्मीयसङ्कल्पेन विभातं प्रकाशितं देवादिनामरूपविभागत्वेन प्रकाशितम्। क्वचिच्च तिरोहितं नामरूपविभागत्यागेन सूक्ष्मरूपतया प्रलीनमित्यर्थः। इदमुभयं कार्यावस्थं कारणावस्थञ्च चिदचिदात्मकं जगत् अविच्छिद्दृक् नित्यं सङ्कोचविकासादिरहितापरिच्छिन्नधर्मभूतज्ञानाश्रयः साक्षी सर्वज्ञश्च सन्नीक्षते स आत्ममूलः अनन्यकारणः परात्प्रधानात् पराञ्जीवात् परो विलक्षणः मामवतु। परस्माच्च पर इत्युपादानत्व-

1- -1.H.V.Omit 2 A,B,J. Omit स्व

प्रयुक्तविकारप्रसङ्गपरिजिहीर्षयोक्तम्। अत्र तु जीवान्तरस्यापि स्वसदृशत्वे स्वरक्षणासामर्थ्यसूचनायोक्तम्। अवत्विति प्रार्थिता रक्षाऽत्र यावदनिष्टपरिहारपूर्वकेष्टप्रापणरूपा। सा च मुक्तिरेव। ब्रह्मविदो गजेन्द्रस्य केवलप्राणमात्ररक्षाप्रार्थनानुपपत्तेः। "जिजीविषे नाऽहमिह" (भाग. 8-3-25) इति। "मादृक्प्रपन्न पशुपाशविमोक्षणाय" (भाग. 8-3-17) इति स्पष्टन्तदुक्तेश्च। अत एव सर्वज्ञो भगवान् तदभिप्रायमालोच्य मुक्ति मेवाऽदादिति विभावनीयम् ।।४।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

ध्यानपूर्वकस्तुत्या प्रसन्नाद्धरेः गजेन्द्रस्य प्राहापदो मोक्षो यथाऽभूत्तथा संसारग्राहादपि मोक्षो भगवत्प्रसादेन स्यादिति प्रदर्शनाय तन्मोक्षप्रकारो निरूप्यतेऽस्मिन्नध्याये। किं प्रकारो गजेन्द्रः शरणमयासीदिति तं प्रकारं दर्शयितुमाह- **एवमिति**। जाप्यं मन्त्रं[2] तिर्यग्योनेः अनधिकारिणः एतदसम्भावितमिति तत्राऽऽह[-2] प्रागिति।।१।।

एतच्चिदानन्दात्मकं चेतनजातं यतो यस्मादेव आप्ताभीष्टं तस्मा इति। हिशब्देन पुरुषादिविशेषणानां "परात्परं पुरुशयं पुरुषमीक्षते" (प्रश्न.उ. 5-5) इति श्रुतिसिद्धं दर्शयति।।२।।

मन्त्रोक्तविशेषण विवरणपूर्वकं ध्यानमाह - **यस्मिन्निति**। इदं जगद्यस्मिन् हरौ प्रतीयते "यत्प्रयान्ति" (तैत्ति.उ. 3-1) इति श्रुतेः। इदं यतो यस्माच्चैव जायते "यतो वा इमानि भूतानि" (तैत्ति.उ. 3-1) इति श्रुतेः। चशब्देन अन्यस्मादुत्पातं निवारयति। इदं येन ब्रह्मणा प्रवर्तते। "येन जातानि जीवन्ति" (तैत्ति.उ. 3-1) इति श्रुतेः। इदं विश्वं यः स्वयं प्राप्तसत्तादिकः "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"(छान्दो.उ. 3-14-1) इति श्रुतेः। ननु यः स्वयमित्यनेन तादात्म्यं किं न स्यादिति तत्राऽऽह-अस्मादिति। अस्मात् प्रत्यक्षप्रपञ्चात् , परस्मात् परोक्षान्मुक्तप्रपञ्चाच्च पर उत्तमो यस्तं स्वायम्भुवं स्वतएव प्राप्तसत्ताकं शरणं प्रपद्ये इत्यन्वयः। "उत्पन्नस्याऽपि यत्सत्ता हरेस्तत्स इतीर्यते। हरेः विश्वं भिन्नमपि परमोऽसौ यतो विभुः"(ब्रह्मतर्के) इति वचनान्न तादात्म्यमत्रोच्यते किमु ततः प्राप्तसत्ताकं जगदिति।।३।।

पूर्वोक्तार्थं भेदस्पष्टीकरणाय विवृणोति - **यः स्वात्मनीति**। यो भवान् क्वचिज्जाग्रति विभातं क्व च सुषुप्तौ तिरोहितं अप्रकाशितं, तदुभयं तदिदं जगत् निजमायया स्वेच्छया स्वात्मनि स्वोदरे अर्पितमीक्षते

1 A,B,J Omit वि 2- -2 A Omits

इत्यन्वयः। ननु शरीरे स्थित्वा ईक्षते चेज्जीववल्लुप्तज्ञानत्वेन ईक्षणायोगः स्यादिति , तत्राऽऽह - अविद्धदृगिति। तर्हि कथमीक्षत इति तत्राह - साक्षीति। स मामवत्वित्यन्वयः। आत्मा स्वयमेव मूलं कारणं प्रतिष्ठा च सत्तावान् तथा अनेन स्वयम्भूशब्दो विवृतः "स्वे महिम्नि" (छान्दो.उ. 7-24-1)इति श्रुतेः। "अक्षरात्परतः परः" (मुण्ड.उ. 2-1-4) इति च। क्वचिच्छतुर्मुखादौ[1] विभातं क्वच अस्मदादौ[-1] तिरोहितमिति वा।।४।।

**कालेन पञ्चत्वमितेषु कृत्स्नशो लोकेषु पालेषु च सर्वहेतुषु।**
**तमस्तदाऽऽसीद्गहनं गभीरं यस्तस्य पारेऽभिविराजते विभुः।।५।।**

**न यस्य देवा ऋषयः पदं विदुः जन्तुः पुनः कोऽर्हति गन्तुमीरितुम्।**
**यथा नटस्याऽऽकृतिभिर्विचेष्टतो दुरत्ययानुक्रमणः स माऽवतु।।६।।**

**दिदृक्षवो यस्य पदं सुमङ्गलं[2] विमुक्तसङ्गा मुनयः सुसाधवः।**
**चरन्त्यलोकव्रतमव्रणं वने भूतात्मभूताः[3] सुहृदस्स मे गतिः ।।७।।**

**न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा न नामरूपे गुणदोष एव वा।**
**तथाऽपि लोकाप्ययसम्भवाय[4] यः[5] स्वमायया तान्यनुकालमृच्छति।।८।।**

**श्रीध०** तिरोहितमीक्षत इत्येतत्प्रपञ्चपूर्वकं, दुर्ज्ञेयत्वं वदन्प्रार्थयते **कालेनेति** द्वाभ्याम्। पञ्चत्वमितेषु नाशं प्राप्तेषु गहनं दुरवगाहम्। गभीरमनन्तम्। तस्य तमसः। "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" (श्वेता.उ. 3-8) इत्यादि[6] श्रुतेः।।५।।

अत एव देवादयो यस्य स्वरूपं न विदुः। जन्तुरर्वाचीनः कोऽपि[7] गन्तुं ज्ञातुमीरितुं वक्तुं वा। दुरत्ययं दुर्गममनुक्रमणं चरितं कथनं वा यस्य सः मा माम्।।६।।

कथं तर्हि "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति"(श्वेता.उ.3-8) "नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (पु.सू.7) इति श्रुतिः। इत्याशङ्क्य तज्ज्ञानोपायं कथयन्नाऽऽह - **दिदृक्षव** इति। अलोकव्रतं ब्रह्मचर्यादि। अव्रणमच्छिद्रम्। भूताना मात्मभूता भूतेष्वात्मदृष्टयः सन्तः। स मे गतिरस्तु ।।७।।

दुरत्ययानुक्रमणत्वं प्रपञ्चयन्नणमति **न विद्यत** इत्यादिना। लोकानामप्ययः प्रलयस्सम्भवो जन्म तयोः

1- -1 A. Omits 2.H,V हि म" 3M,Ma सर्वात्मभूत 4 M,Ma "कस्य च स" 5 H,V,WOmit य 6.A,B,J, इति 7. H,V,Omit कोऽपि

द्वन्द्वैक्यम्। तदर्थं यः तानि जन्मादीनि स्वीकरोति, तस्मै नम इत्युत्तरेणान्वयः ।।८।।

**वीर०** "क्वचित्तिरोहितं तमीक्षते" (भाग. 8-3-4) इत्युक्तं, तद्गतितिरोभूय कां दशामापद्यते, स च तद्दशायां कथम्भूतोऽवस्थित ईक्षते? इत्यपेक्षायां तद्दर्शयति - **कालेनेति**। कालेन द्विपरार्धावसानरूपेण कालेन निमित्तेन सर्वस्य जगतो हेतुषु सर्वेषु हेतुषु वा, पृथिव्यादि तत्त्वेषु, तत्कार्येषु लोकेषु तत्पालकेषु ब्रह्मादिषु च पञ्चत्वं लयमितेषु प्राप्तेषु सत्सु, गहनमतिसूक्ष्मत्वात् दुरवबोधं गभीरं परिच्छेत्तुमशक्यं अणुत्वादिनाऽपि परिच्छेत्तुमशक्यम् निरतिशय सूक्ष्मदशापन्नत्वादिति भावः। एवं विधं तम आसीत्। "नाऽसदासीन्नो सदासीत् तदानीं तम आसीत्" (ऋक्.सं. 10-129-1) इति श्रुतेः। तमश्शब्दो निरतिशय सूक्ष्मदशापन्नाचिद्द्रव्यवाची - "अक्षरं तमसि लीयते तमः परे देव एकीभवति" (सु.बा.उ. -2) इति श्रुतेः। तदैवम्भूतस्य तमसः पारे योऽभिविराजते। पारोऽत्र पालनं नियमनरूपं "पॄ पालन पूरणयोः" इति धात्वर्थानुरोधात्। उक्तविधतमोनियमने कार्याक्षमत्वापादनरूपे[1], स्थित इति शेषः। विराजते प्रकाशते न तु जीववत् सङ्कुचितज्ञानो भवतीत्यर्थः।।५।।

क्वचिद्विभातमीक्षत इत्युक्तम्। कीदृशं तस्येक्षणम्? इत्यपेक्षायां तत्तद्देवमनुष्याद्यवस्थजीवसम्बन्धि-नानाविधविचित्रकर्मानुगुणनियमनरूपत्वादित्यन्तया दुरवबोधमिति वक्तुं तावत् तत्स्वरूपस्य दुर्ज्ञेयत्वात्तदीक्षणमपि दुरवबोधमेवेति दर्शयितुं स्वरूपस्य दुर्ज्ञेयत्वं वदन् , तं स्वरक्षायै प्रार्थयते - **न यस्येति**। देवाः सुत्त्वप्रचुराः "तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्" (भ.गी. - 14-6) इत्यतीन्द्रियार्थं दर्शनयोग्यत्वं सूच्यते। ऋषयो योगिनः। अनेनाऽपि तदेव सूच्यते। अत एव यस्य पदं, पद्यते इति पदं स्वरूपं न विदुः अन्योऽर्वाचीनो जन्तुः प्राणी तत्पदं गन्तुं यथावद्वोद्धुं ईरितुं वक्तुञ्च कः पुनरर्हति? तत्र दृष्टान्तः - यथा आकृतिभिः वेषैः विचेष्टतो नटस्य 'अयमसौ' इति तत्स्वरूपमतज्ज्ञाः न विदुः तथेत्यर्थः। स एवं दुरवबोधस्वरूपः अत एव दुरत्ययानुक्रमणः दुर्गमव्यापारः इत्थन्तया दुरवबोधनियमनरूपव्यापारयुक्तो मामवतु। यद्वा नटस्येवाकृतिभिः देवादिविचित्रशरीरैः विचेष्टतो जीवद्वारा विचेष्टतो यस्येति वाऽन्वयः। अकृतिभिः अवतारविशेषैः विचेष्टतो यस्येति वाऽर्थः।।६।।

दुरवगमत्वोक्तिप्रसक्तामनुपास्यत्वशङ्कां निराचिकीर्षुः तस्य[2] नटस्येति दृष्टान्तसामर्थ्यलब्धं[3] कैश्चित्सुबोधत्वं वदन् तस्यैव स्वरक्षोपायत्वमध्यवस्यति - **दिदृक्षव** इति। सुमङ्गलं नित्यसुख रूपं यस्य

1. A,T "पेण 2. H,V. Omit तस्य 3. A,B,J ,"धर्म्य"

स्वरूपं दिदृक्षवः साक्षात्कर्तुमिच्छवो मुनयः विमुक्तस्सङ्गा दारागारादिषु शब्दादिविषयेषु वा यैस्ते सुसाधवः अन्यैरपि साधूनां धर्मैर्युक्ताः भूतेषु उच्चावचेष्वात्मभूता आत्मतुल्यतां प्राप्ताः स्वात्मसमदर्शिनस्सन्तो वने अरण्ये अव्रणमच्छिद्रमलोकव्रतमितरैः जनैः कर्तुमशक्यं व्रतमुपासनात्मकं चरन्ति उपासनात्मक व्रतपरिशुद्धमनसा तत्पदं साक्षात्कुर्वन्त्येवेति भावः। तथा च श्रुतिः - "हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तः" (कठ.उ. 6-3) "दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः"(कठ.उ. 3-12) इति, "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टम्" (कठ.उ. 2-12) "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्" (मुण्ड.उ.1-1-6) "न मांसचक्षुरभिवीक्षते तम्" "न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्" (कठ.उ. 6-9) इत्याद्यदृश्यत्वश्रुतयस्तु योगापरिशुद्धमतिभिरग्राह्यत्वं वदन्तीति भावः। स एवम्भूतो मे गतिः, रक्षोपाय इत्यर्थः।।७।।

एवंदृश्यत्वादृश्यत्वश्रुतीनां विषयविभागोऽर्थात्प्रदर्शितः। अथ तुल्यन्यायतया "अजायमानः" (पु.सू.2-1) "निष्कलं निष्क्रियं" (श्वेता.उ.6-19) "तदरूपमनामयम्" इत्यादि जन्मादिप्रतिषेधपराणां "बहुधा विजायते"(पु.सू.2-1) "यस्य चैतत्कर्म स वै वेदितव्यः" (कौषी.उ.4-18) "सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः" (छान्दो.उ. 3-14-4) "हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते"(छान्दो.उ. 1-6-6) इत्यादिनां जन्मादि प्रतिपादनपराणाञ्च श्रुतीनां विषयविभागं दर्शयन् स्तौति- **नेति**। यद्यपि यस्य जन्मादयो न सन्ति जीवस्येव कर्मायत्ता न सन्तीति भावः। तथाऽपि लोकानां दुष्कृतामत्ययो विनाशः सम्भवः साधूनां परित्राणं तयोस्समाहारः तस्मै तदर्थं तानि जन्मादीन्यनुकालं "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति" (भ.गी. 4-7) इत्याद्युक्तकालेषु इत्यर्थः। स्वमायया आत्मीयसङ्कल्पेन ऋच्छति प्राप्नोति स्वीकरोति अकर्मायत्तानि जन्मादीनि स्वेच्छयैवोपादत्त इत्यर्थः। तत्र दोषो विकारः इममेव विषयविभागमभिप्रेत्य वरदगुरुभिरयं श्लोकोऽभिहितः - "यद्ब्रह्मणो गुणशरीरविकारभेदकर्मादिगोचरविधिप्रतिषेधवाचः। अन्योन्यभिन्नविषयानविरोधगन्धमर्हन्ति तत्र विधयः प्रतिषेधवाच्याः" इति। यस्तानि ऋच्छति स मे गतिरिति पूर्वेणान्वयः।।८।।

**विज०** परात्परत्वं स्पष्टयन् दुर्ज्ञेयत्वमाह **कालेनेत्यादिश्लोकद्वयेन**। लोकेषु पृथिव्यादिभूतकार्येषु साकल्येन पञ्चत्वं पृथिव्यादिपञ्चभूतात्मतामितेषु सर्वहेतुषु पृथिव्यादिसर्वकारणेषु, चशब्दात् महदादिषु लीनेषु स्वस्वकारणतामापेषु सत्सु यत्तद्गहनं दुर्ज्ञेयं गभीरम् अत एव अगाधं तम आसीत्। यो विभुः तस्य तमसः पारे तमस्सम्पर्करहितदेशेऽभिविराजते स्वतो नेत्याह, कालेनेति, कालनाम्ना हरिणा ।।५।।

देवादयो यस्य पदं न विदुरिति यत् अतः पुनः को जन्तुः तत्पदं गन्तुम् ईरितुं वक्तुमर्हतीत्यन्वयः। हनुमदाद्याकृतिभिः तत्तदाकारानुसारेण विचेष्टमानस्य नटस्य स्वरूपं यथा न ज्ञायते तथेति सदुरत्ययानुक्रमणो दुर्ज्ञेयपरिक्रमणो हरिः मां अवत्वित्यन्वयः ।।६।।

हरेरेवंविधस्वरूपसद्भावे मानमाह **विदृक्षव** इति। अव्रणमक्षतम् अलोकव्रतं लोकैः कर्तुमशक्यं सृष्ट्यादिव्रतं यस्य स तथा, तम्।।७।।

देवदत्तवत् जन्माद्यभावात् दुर्ज्ञेयत्वं युक्तमित्यभिप्रेत्याह - **न विद्यत** इति। आमघटादिश्यामादिगुणवत् नश्वरगुणो नास्ति दोषः कुत एवशब्देन "निरनिष्टो निरवद्यः" इति श्रुतिं सूचयति। सत्त्वादिनिमित्तदोषश्च नास्तीति वा दोषो नास्त्येव गुणयुतदोषश्च नास्तीति वा यद्यपि देवदत्तस्येव हरेर्जन्मादिकं नास्ति। तथाऽपि स्वमायया स्वमहिम्ना स्वेच्छया वा लोकस्य तदाश्रय प्राणिनां च सम्भवाय सुखादिप्राप्तिलक्षणजननाय तानि जन्मादीनि सर्जनादिकालमनुसृत्य ऋच्छति पाप्नोतीत्यन्वयः। लोकत्रयसम्भवायेति केचित्पठन्ति।।८।।

**तस्मै नमः परेशाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।**
**अरूपायारुरूपाय नम आश्चर्य कर्मणे।।९।।**

**नम आत्मप्रदीपाय साक्षिणे परमात्मने।**
**नमो गिरां विदूराय मनसश्चेतसामपि।।१०।।**

**सत्त्वेन प्रतिलभ्याय नैष्कर्म्येण विपश्चिता।**
**नमः कैवल्यनाथाय निर्वाणसुखसंविदे।।११।।**

**नमश्शान्ताय घोराय गूढाय[1] गुणधर्मिणे[2]।**
**निर्विशेषाय साम्याय नमो ज्ञानघनाय च।।१२।।**

**क्षेत्रज्ञाय नमस्तुभ्यं सर्वाध्यक्षाय साक्षिणे।**
**पुरुषायात्ममूलाय मूलप्रकृतये नमः।।१३।।**

**सर्वेन्द्रियगुणद्रष्ट्रे सर्वप्रत्ययहेतवे।**
**असताच्छाययोक्ताय[3] सदाभासाय ते नमः ।।१४।।**

1. A,B,G,J,M,Ma,T,W मू° 2. M,Ma कर्मणे 3- -3 H,V असताच्छाययोक्ताय, M,Ma असत्याच्छ विमुक्ताय

**नमो नमस्तेऽखिलकारणाय निष्कारणायाद्भुतकारणाय।**
**सर्वागमाम्नायमहार्णवाय नमोऽपवर्गाय परायणाय ।।१५।।**

**गुणारणिच्छन्नचिदूष्मपाय तत्क्षोभविस्फूर्जितमानसाय।**
*** नैष्कर्म्यभावेन विवर्जितागम स्वयं प्रकाशाय नमस्करोमि।।१६।।**

**श्रीध० तस्मै** इति। ब्रह्मणे ब्रह्मरूपाय अनन्तशक्तये उरुरूपाय अत आश्चर्याणि कर्माणि यस्य तस्मै परेशाय नमः।।९।।

**नम** इति। आत्मप्रदीपाय प्रकाशान्तरस्य अविषयाय। कुतः? साक्षिणे प्रकाशकाय परमात्मने जीवनियन्त्रे। अत एव गिरां विदूराय अप्राप्याय। चेतासां चित्तवृत्तीनाम्। तथा च श्रुतिः -"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तैत्ति.उ. 2-9) इति।।१०।।

**सत्त्वेनेति।** एवमपि विपश्चिता निपुणेन। नैष्कर्म्येण सन्न्यासेन। सत्त्वेन शुद्धेन। "सन्न्यास योगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः"(मुण्ड.उ. 3-2-6) इति श्रुतेः। प्रतिलभ्याय प्रत्यक्त्वेन प्राप्याय। निर्वाणसुखसंविदे मोक्षानन्दानुभूतये।।११।।

**नम** इति। शान्ताय सत्यानुसारिणे, घोराय रजोऽनुसारिणे मूढाय तमोगुणधर्मिणे, सत्त्वादिधर्मानुसारिणे ज्ञानघनाय चेति निर्विशेषत्वेऽपि प्रधानवैलक्षण्यमुक्तम्।।१२।।

**क्षेत्रज्ञायेति।** साक्षिण इति सर्वाध्यक्षत्वेऽपि निर्विकारत्वमुक्तम्। आत्मनां क्षेत्रज्ञानां मूलाय मूलस्य प्रधानस्याऽपि प्रकृतये उद्भवहेतवे। तत्र हेतुः। पुरुषाय पूर्वमेव सते। तथा च श्रुतिः। "पूर्वमेवाऽहमिहाऽऽसमिति तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम्" इति। पूर्णायेति वा।।१३।।

**सर्वेति।** सर्वेन्द्रियाणां ये गुणाः विषयाः तेषां द्रष्ट्रे। सर्वे प्रत्यया इन्द्रियवृत्तयो हेतवो ज्ञापका यस्य तस्मै। तदेवाऽऽह - असताऽहङ्कारादिप्रपञ्चेन। छाययाऽसद्रूपया उक्ताय,जलस्थप्रति बिम्बेनबिम्बमिव सूचिताय। तत्र हेतुः सद्रूपो विषयेष्वाभासो यस्य तस्मै। तदुक्तं तृतीये - "यथा जलस्य आभासः" (भाग.3-27-12) इत्यादिना। पाठान्तरे असत्यस्य छाययाऽध्यासेनोक्ताय युक्ताय, तदधिष्ठानायेत्यर्थः।।१४।।

**नमो नम** इति। अखिलकारणाय सर्वकारकरूपाय अत एव स्वयं निष्कारणाय। कारणत्वेऽपि

---

1- -1. M,Ma नारायणायार्तिविनाशनाय 2 M, Ma "दु" * This hlaf verse is not found in M,Ma Editions. 3.W. भावाय 4. A,B,J, अरूपाय 5- -5. B,H,J,V Omit 6 A,B,J, का" 7. B,H,J,V Omit जलस्थ 8- -8 A "च्चं यथा सूच्यते तथा सू 9. A "नो" 10. A,B,J, "ण"

मृदादिवद्विकारं वारयति - अद्भुतकारणायेति। एवम्भूतत्वे प्रमाणमाह। सर्वे आगमाः पाञ्चरात्रादयः आम्नायाश्च वेदाः, तेषां महार्णवाय स्रोतसामिव पर्यवसानस्थानाय अपवर्गाय मोक्षरूपाय। अतः परायणाय उत्तमानामाश्रयाय।। १५।।

**गुणेति**। गुणा एव अरणिः तथा छन्नः चिदूष्मपो ज्ञानाग्निः तस्मै। तेषां गुणानां क्षोभे कार्ये विस्फूर्जितं, बहिर्वृत्तिकं मानसं यस्य। "सोऽकामयत बहु स्याम्" (तैत्ति.उ. 2-6) इति श्रुतेः। नैष्कर्म्यमात्मतत्वं तस्य भावेन भावनया विवर्जिता आगमाः विधिनिषेधलक्षणा यैस्तेषु स्वयमेव प्रकाशो यस्य तस्मै।।१६।।

**वीर०** एवं शरण्यत्वोपयुक्तगुणकथनपूर्वकं स्वरक्षायै शरणमुपगम्य, अथ पात्रपरिवेषित बहुव्यञ्जनोपेतान्नादिभोजन प्रवृत्तन्यायेन, झञ्झामारुतविधूतचूतादिफलादानप्रवृत्तन्यायेन च पौन रुक्त्यक्रमावनादृत्य उक्तैरनुक्तैश्च गुणैः यथामत्युपस्थितैः शरण्यत्वोपयुक्तैः स्तुवन् प्रणमति - **तस्मा** इति। परेषां ब्रह्मादीनामपि ईशाय अनन्ताः शक्तयः सृष्ट्यादिशक्तयो यस्य, न विद्यते रूपं कर्मायत्तं शरीरं यस्य उरूणि बहूनि रूपाणि अकर्मायत्तानि स्वेच्छोपात्तन्यप्रकृतानिरूपाणि[1] यस्य, आश्चर्यं लोकविसजातीयत्वेन अद्भुतं कर्म जगद्व्यापाराद्यात्मकं यस्य।।९।।

आत्मनैव दीप्यत इत्यात्मदीपः तस्मै स्वयंप्रकाशाय साक्षिणे सर्वस्य युगपत्साक्षाद्द्रष्टे परमात्मने लोकत्रयमाविश्य प्रशासनेन भर्त्रे, गिरां मनसश्चेतसामपि विदूराय अविषयाय वाङ्मनसाऽपरिच्छेद्य स्वरूप स्वभावाय चित्तावस्थस्य मनसः सत्त्वप्रचुरत्वेन अधिकार्यविषयीकरणयोगत्वसूचनाय मनसः पृथक् चेतसामपीत्युक्तम्।।१०।।

विपश्चिता ज्ञानिना कर्त्ता सत्त्वेन विशुद्धेन अनन्यप्रयोजनेन नैष्कर्म्येण उपासनात्मकनिवृत्तिधर्मेण उपलभ्याय कैवल्यं प्रकृतिसम्बन्धराहित्यं मोक्ष इति यावत् , तस्याधिपतये - निर्वाणसुखसंविदे निर्दुःखानन्दज्ञानस्वरूपाय।।११।।

शान्ताय अशनायापिपासाशोकमोहजरामृत्युरूपषड्ऊर्मिरहिताय। यद्वा साधूनां शान्ताय प्रसन्नाय, घोराय खलानामुग्राय, गूढाय संसारिणां प्रच्छन्नाय गुणधर्मिणे सत्त्वादिगुणानामाश्रयाय निर्विशेषाय हेयगुणरहिताय सत्त्वादिगुणाश्रयत्वेऽपि तदवश्यायेत्यर्थः। साम्याय वैषम्यादि रहिताय, ज्ञानघनाय क्वचिदपि

---

1.W Omits रूपाणि

जाड्यरहिताय। [1]यद्वा, शान्ताय अतिसौम्यमाधुर्यसौशील्यादिगुणगणलक्षितमधुरमूर्तये, घोराय अतिभयानकात्युग्रश्रीनृसिंहरूपाय, गूढाय अन्तर्यामिरूपाय उत्पादिनाप्रकटितरूपायेत्यर्थः। मूढायेति पाठे केष्वपि स्वस्वरूपादन्यत्र केष्वपि अदर्त्तचित्ताय सर्वत्रानासक्ताय स्वात्मारामाय सदा स्वानन्द तुष्टायेत्यर्थः[1] ।।१२।।

क्षेत्रज्ञशरीरकाय सर्वाध्यक्षाय, सर्व भूताधिपत्य साक्षिणे सर्वद्रष्ट्रे पुरुषाय अन्तः प्रविश्य नियन्त्रे आत्ममूलाय स्वयं कारणान्तररहिताय मूलप्रकृतये सर्वोपादानभूताय।।१३।।

सर्वेषामिन्द्रियाणां तद्गुणानां शब्दादि विषयाणाञ्च युगपत्सदा द्रष्ट्रे सर्वप्रत्ययहेतवे संशय विपर्ययादि सर्वधर्मप्रत्ययहेतवे, असता सततपरिणामिन्या छायया छायावदपृथक्सिद्धया मायया, उक्ताय सूचिताय जडत्वेन स्वयं प्रवृत्तिशून्यया मायया प्रवर्तयितृत्वेन सूचितायेत्यर्थः। उक्तायेति पाठान्तरम्। तदा युक्तायेत्यर्थः। यद्वा, गूढाय गुणधर्मिणे, निर्विशेषाय साम्याय, ज्ञानघनायेति अचेतनसमष्टिशरीरकत्वमुक्तम्। तत्र गूढाय तमोमयाय गुणधर्मिणे सत्त्वादिगुणानामाश्रयाय निर्विशेषाय पृथिव्यादिविशेषरहिताय। "महदाद्या विशेषान्ताः" (विष्णुःपु.1-2-53) इति प्रयोगात्। साम्याय गुणसाम्यावस्थाय, अज्ञानघनायेति वा छेदः। तदा जाड्यस्वभावायेत्यर्थः। गूढत्वादिकञ्च "काठिन्यवान्यो बिभर्ति" (विष्णुःपु.1-14-28) इतिवत्प्रकृतिद्वारकं विशेषणं क्षेत्रज्ञाय सर्वाध्यक्षाय साक्षिणे पुरुषायेति समष्टिजीवशरीरकत्वमुच्यते। क्षेत्रज्ञाय "एतद्योवेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञइति तद्विदः" (भ.गी. 13-1) इत्युक्तविधक्षेत्रज्ञाय सर्वाध्यक्षाय करणाधिपतये साक्षिणे बुद्धीन्द्रियादीनां साक्षाद्द्रष्ट्रे पुरुषाय सर्वशरीरान्तर्वर्तिने। एतान्यपि सद्वारकाण्येव विशेषणानि [2]शेषानि। 'सर्वेन्द्रियगुणद्रष्ट्रे' इति श्लोके तु व्यष्टिजीवशरीरकनमस्कारः तत्रासता अनित्यया छायया छायावत्सानुबन्धया वासनया अक्ताय रूषिताय। उक्तायेति पाठे सूचिताय आश्रयमन्तरेण वासनया अनुपचित्तेः , तथा सूचितायेति भावः। स्वप्रकाशय इमान्यपि सद्वारकाण्येव विशेषणानि इतराणि तु अद्वारकाणीति विवेकः ।।१४।।

अखिलकारणाय सर्वकारकशरीरकाय, निष्कारणाय स्वयं कारकान्तरासाध्याय अद्भुतकारणाय मृदादिवत् स्वरूपपरिणामरहितकारणस्वरूपाय। सर्वे आगमाः पाञ्चरात्रादय, आम्नायाः [3]ऋगादयो वेदाश्च तेषां महार्णवाय स्रोतसामिव पर्यवसानभूमये, अपवर्गाय मोक्षहेतुभूताय, परायणाय [4]परमाश्रयाय परमप्राप्याय [5]ते तुभ्यं नमः[5] ।।१५।।

1- -1 W. Omits 2. W Omits शेषानि 3. W Omits ऋगादयः 4- -4. W Omits 5- -5. W Omits

गुणारणिच्छन्नचिदूष्मपाय सत्त्वादिगुणात्मिका प्रकृतिरेव अरणिः तत्सञ्छन्नं जीवसमष्टि रूपमूष्माणमग्निं पिबति संहारकाले स्वस्मिन्नुपसंहृत्य यो निदधाति स तथोक्तस्तस्मै तत्क्षोभविस्फूर्जित मानसाय। मानसशब्दो मनःकार्यसङ्कल्पपरः तत्क्षोभे चिदचितोः विक्षोभकाले सृष्टिकाले स्फुरितसङ्कल्पाय नैष्कर्म्यं मोक्षः तत् येन भाव्यते तस्मै निवर्तितागमस्वयंप्रकाशाय "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तैत्ति.उ. 2-9) [1]इत्युक्तप्रकारेण वाङ्मनसापरिच्छेद्य ज्ञानस्वरूपायेत्यर्थः। नैष्कर्म्यभावेनेति पाठे नैष्कर्म्यभावेन मोक्षलाभेन निवर्तितः आगमः शास्त्रं यैस्तेषां स्वयमेव प्रकाशमानाया मुक्तिपर्यन्ता हि शास्त्रवश्यता। मुक्तानान्तु निवर्तितागमानाम् अकर्मवश्यानां तत्फलतया प्रकाशमानायेत्यर्थः ।।१६।।

**विज०** अनन्तरातीतश्लोकोक्तार्थं विवरणपूर्वकं यच्छब्दविशिष्टं तच्छब्दावच्छिन्नं च नमति - **तस्मा** इति।।९।।

अरूपायेत्युक्तं विवृणोति - **नम आत्मेति**। आत्मप्रदीपाय स्वतःप्रकाशाय आत्मनः जीवस्य स्वरूपज्ञानप्रकाशाय वा ।।१०।।

अरूपप्राप्तिसाधनज्ञानं तत्सद्भावे ज्ञानिप्राप्यत्वलक्षणं मानमित्यभिप्रायेण नमति - **सत्त्वेनेति**। विपश्चितां सत्त्वेन ज्ञानेन प्रतिलभ्याय प्राप्याय "बलज्ञानसमाहारः सत्त्वं केवलमेव च" इत्यभिधानम्। नैष्कर्म्येण निवृत्तिधर्मलब्धेन।।११।।

उरुरूपायेत्युक्तरूपविशिष्टं तात्पर्यादरूपविशिष्टञ्च नमति, शान्तायेत्यनेन सत्त्वप्रवर्तक वासुदेवादिरूपं लक्षयति। घोरायेत्यनेन रजःप्रवर्तकजामदग्न्यादिरूपम् मूढायेत्यनेन तमःप्रवर्तकवराहादिरूपम्। गुणकर्मण इत्यनेन तत्तद्योनिविशिष्टगुणकर्मवते, ज्ञानघनायेत्यनेनाऽरूपस्य शून्यत्वं निवारयति सत्त्वेनेत्याद्युक्तविशेषण समुच्चयार्थः[3] चकारः ।।१२।।

रूप्यरूपित्वेन निरूप्यमाणस्य हरेः मिथो न कोऽपि विशेषोऽस्तीति ज्ञापयितुमुभययोग्य विशेषणविशिष्टत्वेन नमति - **क्षेत्रज्ञायेति**। सर्वाध्यक्षाय सर्वस्वामिने आत्मैव मूलं यस्य तथा तस्मै आत्मनां मूलाय वा।।१३।।

साक्षिशब्दविवरणपूर्वकमस्मदादि ज्ञाने हेतुत्वेनाऽस्मदादि प्रपञ्चाद्भिन्नं नमति। **सर्वेति**। असत्या

1.W. इति प्र" 2 A "त्यतोऽरू" 3. A.B, "यक"

दस्वतन्त्रात्प्रपञ्चाद्विमुक्ताय सन्निर्दोषा आभासो देहो यस्य स तथा। तस्मै "सत् देहः सुखगन्धश्च" इत्यादेः। अनेन प्राकृतरूपं नास्तीत्युक्तं भवति सन्नाभासः प्रकाशो यस्य स तथा तस्मा इति वा। "परज्योतिः उपसम्पद्यते" (छान्दो.उ.8-12-3) इति श्रुतेः।।१४।।

अखिलकारणत्वादि विशिष्टत्वेनोक्तः क इत्याशङ्क्य श्रीनारायण एव, नान्य इति तन्नामनिर्देशपूर्वकं पूर्वोक्तानुक्तविशेषणविशिष्टत्वेन नमति **नमो नम** इति। सर्वैरागमैः पञ्चरात्रादिभिः, आम्नायैः ऋगादिभिः वेदैश्च समुद्राय।।१५।।

सर्वप्रत्ययहेतव इत्येतद्विशेषणं विवृण्वन्नाह - **गुणेति**। गुणारणिच्छन्नं सत्त्वादिगुणलक्षणकाष्ठे छन्नं चिदुष्मज्ञानाख्यं ज्योतिर्यत् तत्पाति रक्षतीति स तस्मै "बलमानन्द ओजश्च" इत्यादेः। अन्यथा तद्रक्षणकथनं व्यर्थं स्यात् शान्ताय इत्यादिना यद्गुणलुब्धत्वं तद्विडम्बनमात्रं इत्यभिप्रेत्याह-तत्क्षोभेति। तत्क्षोभे गुणविक्षोभेऽपि विस्फूर्जितं समुच्छ्वसितं मानसं यस्य स तथा तस्मै। गुणशक्त्युद्रेकावस्थायामपि मनोविकाररहिताय इत्यर्थः ।।१६।।

* **माद्दक्प्रपन्नपशुपाशविमोक्षणाय मुक्ताय भूरिकरुणाय नमोऽलयाय।**
**स्वांशेन सर्वतनुभृन्मनसि प्रतीत प्रत्यग्दृशे भगवते बृहते नमस्ते।।१७।।**

**आत्मात्मजाप्तगृहवित्तजनेषु सक्तैः दुष्प्रापणाय गुणसङ्गविवर्जिताय।**
**मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय।।१८।।**

**यं धर्मकामार्थविमुक्तिकामा भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति।**
**किञ्चाशिषो रात्यपि देहमव्ययं करोतु मेऽदभ्रदयो विमोक्षणम् ।।१९।।**

**एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः।**
**अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलं गायन्त आनन्द समुद्रमग्नाः ।।२०।।**

**तमक्षरं ब्रह्म परं परेशमव्यक्तमाध्यात्मिकयोगगम्यम्।**
**अतीन्द्रियं सूक्ष्ममिवातिदूरं अनन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे।।२१।।**

**यस्य ब्रह्मादयो देवा वेदा लोकाश्चराचराः।**
**नामरूपविभेदेन फल्ग्व्या च कलया कृताः।।२२।।**

---

*These three half verses beginning with माद्दक्प्रपन्न, स्वांशेन सर्व, आत्मात्मजाप्त are not found in M.Ma editions.
1. W मनोलयाय 2. M.Ma यु" 3. A.B.G.J.T, "न्त्वा" 4. H.M.Ma.V किञ्च" 5. M.Ma त्प्रधाना. 6. M.Ma य" 7 H,Vमीड्य 8. M.Ma जल्या. W फल्ग्वा

**यथाऽर्चिषोऽग्नेः सवितुर्गभस्तयो निर्यान्ति संयान्त्यसकृत् स्वरोचिषः।**
**तथा यतोऽयं गुणसम्प्रवाहो बुद्धिर्मनः खानि शरीरसर्गाः ।।२३।।**

**स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यक् न स्त्री न षण्डो न पुमान् न जन्तुः।**
**नाऽयं गुणः कर्म न सन्नचाऽसन् निषेधशेषो जयतादशेषः।।२४।।**

**श्रीध० मादृगिति**। मादृक् मद्विधश्चाऽसौ प्रपन्नः पशुः तस्य पाशोऽविद्या तस्य विशेषेण मोक्षणं येन। तत्र योग्यतामाह- मुक्ताय। मोचने हेतुः, भूरिः करुणा यस्य। अतः तत्र अर्थे अलयाय अनलसाय। स्वांशेनान्तर्यामिरूपेण सर्वेषां तनुभृतां मनसि प्रतीता प्रख्याता या प्रत्यक्दृक् तस्मै। तथा च श्रुतिः - "य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानमन्तरो यमयति" (बृह.उ. 3-7-22) इति। भगवते सर्वेषां तनुभृतां नियमने[2] समर्थाय। तेषां मनःस्थितत्वेऽपि बृहतेऽपरिच्छिन्नाय।।१७।।

**आत्मेति**। अन्तःस्थत्वेऽपि देहादिष्वासक्तैः दुष्प्रापणाय प्राप्तुमशक्याय[3]। तत्र हेतुः। गुणसङ्गेन विवर्जिताय। अत एव मुक्तात्मभिः देहादिष्वनासक्तैश्चिन्तिताय। तैःपरिभावितं रूपमाह-ज्ञानात्मन इत्यादिना।।१८।।

**यमिति**। इष्टां गतिं कामितं धर्मादिफलं प्राप्नुवन्त्येव, न तु तावदेव। किन्तु यास्तैरकामिता अन्या अप्याशिषो राति। देहमव्ययं जरामरणरहितं[4] राति[4]। एवं योऽदभ्रदयः स मे विमोक्षणमेव केवलं करोतु नाऽधिकं प्रार्थये।।१९।।

एतावदप्यहं भक्तिसुखानभिज्ञत्वेन वाञ्छामि इत्याह[5] एकान्तिन इति। यस्य तु एकान्तभक्ता न किञ्चिदर्थं[6] वाञ्छन्ति, तं परेशं[7] परमेश्वरं ईडे स्तौमीत्युत्तरेणान्वयः। तेषां निष्कामत्वे हेतुः ये वै भगवतः सर्वज्ञान् मुक्तान् प्रपन्नास्सेवितवन्तः।।२०।।

**तमिति**। अत्यद्भुतत्वसुमङ्गलत्वप्रदर्शनार्थमक्षरत्वादीनि[8] विशेषणानि[9]।।२१।।

परिपूर्णत्वं प्रदर्शयन्नाह त्रिभिः - **यस्येति**। यस्य[10] फलव्या च स्वल्पयैव कलयाऽशेन कृताः, स जयतादिति तृतीयेनाऽन्वयः।।२२।।

**यथेति**। कथं कृता इत्यपेक्षायां दृष्टान्तौ यथार्चिषोऽग्निरिति प्रवाहे दृष्टान्तः। सवितु गंभस्तय इत्यानन्त्ये। निर्यान्त्युद्गच्छन्ति संयान्ति लीयन्ते गुणसम्प्रवाहमेवाऽऽह- बुद्धिर्मनः खानीति। खानि[11] करणानि

---

1 M,Ma सर्गः; W. वर्गाः। 2. II,V "म स" 3. B आ" 4- -4. A,B,J Omit 5 A,B,J Omit इत्याह 6. A,B,J क" 7. H,V Omit परेशं 8. A,B,J "तसु" 9. H,V "दिवि" 10. H,V Omit यस्य 11. II,V Omit खानि

शरीरसर्गाः कार्यदेहप्रवाहाश्च यतो भवन्ति सः ।।२३।।

अत एव देवादीनां मध्ये एकोऽपि[1] न भवति इत्याह[2]-स इति। न जन्तुर्लिङ्गत्रयशून्यं प्राणिमात्रमपि न, किन्तु सर्वस्य निषेधेऽवधित्वेनाऽवशिष्यत[3] इति निषेधशेषो मायया अशेषोऽशेषात्मकश्च जयतात् मद्विमोक्षणायाऽऽविर्भवतु।।२४।।

**वीर०** मादृशो यः प्रपन्नः पशुश्च तस्य यः पाशः कर्मबन्धस्तस्य विमोक्षणं यस्मात्तस्मै, तं मोक्षयतीति वा। सः तस्मै मुक्ताय स्वयं प्रकृतिपारवश्यरहिताय, भूरिकरुणाय दयासमुद्राय मनोलयाय मनसो लयः शब्दादिविषयेभ्यो वैमुख्यं यत्प्रावण्यात् तस्मै, नमोऽलयायेति पाठेऽलयायेति च्छेदः। न विद्यते लयो नाशो यद्भजनादित्यलयः तस्मै "न मे भक्तः प्रणश्यति" (भ.गी. 9.31) इति भगवदुक्तेः। योगदशायां जीवशरीरकतया गृह्यमाणत्व माह - स्वांशेनेति। प्रत्यक्शब्दोऽहम्बुद्धिबोध्यजीवविषयः। स्वांशेनेति भावप्रधानो निर्देशः। स्वांशेन विशिष्टवस्त्वेकदेशत्वेनाकारेण सर्वयोगिनां मनसि प्रतीतो यः प्रत्यक् अहम्बुद्धिबोध्यो जीवस्तस्य दृक् तद्विषयकं ज्ञानं यस्य तस्मै, स्वांशभूत जीवान्तरात्मत्वेन तद्रूपतया प्रतीयमानायेत्यर्थः।।१७।।

देहपुत्रमित्रादिषु सक्तैर्दुःखेनापि प्राप्तुमशक्याय गुणाश्शब्दादयो विषयाः, तेषु सङ्गः तेन विवर्जितस्तस्मै शब्दादिविषयसङ्गरहितायेत्यर्थः[4]। मुक्तात्मभिः रागादिनिर्मुक्तमनोभिः स्वहृदये परिभाविताय मुहुर्मुहु रभ्यस्ताय ज्ञानस्वरूपायेश्वराय सर्वनियन्त्रे।।१८।।

धर्मादिचतुर्विधपुरुषार्थान् कामयमाना यं भजन्तः इष्टां स्वाभिप्रेतां गतिं धर्मादिफलं प्राप्नुवन्त्येव। न तु तावदेव, किन्तु यस्मै[5] अकामिता अन्या अप्याशिषो राति ददाति अव्ययमक्षरञ्च देहं राति स्वदेहतुल्यं देहञ्च ददाति मुक्तिञ्चेति यावत्। सोऽदभ्रदयोऽपारकरुणो मम विमोक्षणं करोतु, मुक्तिं ददातु इत्यर्थः[6]।।१९।।

मूर्खत्वादहं मुक्तिं प्रार्थये। एकान्तिनस्तु तामपि न प्रार्थयन्ते इत्याह- एकान्तिन इति। एकान्तिनोऽनन्यप्रयोजनाः भगवत्प्रपन्नाः यस्य[7] यस्मात्कञ्चनार्थं मुक्तिमपि न वाञ्छति वै। अनिच्छायां हेतुं वदन् तान्विशिनष्टि। अत्यद्भुतं सुमङ्गलञ्च यस्य चरित्रं गायन्तः तद्गुणानुभवानन्दसमुद्रमग्नाः ।।२०।।

तमक्षरं नित्यं परं ब्रह्म परेशं[8] परेषामपीशं[9], अव्यक्तं चक्षुराद्यगम्यं आध्यात्मिकयोगेन भक्तियोगेनैव गम्यम्, अत एवाऽतीन्द्रियं इन्द्रियाविषयं, सूक्ष्ममणोरप्यणीयांसम्। इवशब्देन महतो महीयांसमिति लभ्यते।

1. A,B,J कोऽपि 2. A,B,J Omit इत्याह 3. H,V Omit अव 4. W Omits इत्यर्थः 5 A,B,T यस्तै 6. W Omits इत्यर्थः. 7 A,B,T Omit यस्य 8 W Omits परेश 9. A,B,T ईशानाम"

अतिदूरमुपायान्तरागम्यत्वात्। यद्वा सूक्ष्ममतिदूरम् च यद्वस्तु तदेवातीन्द्रियं त्रिविधपरिच्छेदरहितम्, आदौ भवमाद्यम् , परिपूर्णमन्तर्बहिश्च व्याप्य वर्तमानमवाप्तसमस्तकामं वा स्तौमि।।२१।।

चतुर्मुखप्रभृतयो देवाश्चराचरात्मका लोका वेदाश्च नामरूपविभागेन यस्य फल्व्या कल्या कृताः। "तस्याऽयुताऽयुतशतैककलांशकांशे विश्वं विचित्र चिदचित्प्रविभागवृत्तम्" इत्युक्तविधया निर्माय धृता इत्यर्थः। यस्येत्यस्य स वै इत्युपरिष्टादन्वयः।।२२।।

कथं कृता इत्यपेक्षायां दृष्टान्तौ। तत्राद्यः प्रवाहे द्वितीयस्त्वानन्त्ये दृष्टान्तः। यथाऽग्नेरर्चिषः, यथा च सवितुर्गभस्तयो मरीचयोऽसकृन्निर्यान्ति उद्गच्छन्ति[1], संयान्ति पुनस्तत्रैव लीयन्ते, स्वरोचिषः स्वांशभूता रोचिषः। हेतुगर्भमिदम्। स्वरोचिष्ट्वान्निर्यान्ति संयान्तिचेत्यर्थः। तथा बुद्धिर्मनः, खानि इन्द्रियाणि, शरीरवर्गाः देवादिशरीर-संङ्घाश्च[2] इत्ययं गुणसम्प्रवाहः, गुणपरिणामरूपः प्रपञ्चो यतो निर्याति यत्र संयाति यदंशत्वादिति भावः।।२३।।

य एवम्भूतः स वै न देवादीनां मध्ये कतमोऽपि देवत्वादिजातिरहित इत्यर्थः। तथा स्त्रीत्वादिलिङ्ग रहितः न जन्तुः नाऽपि प्राणी गुणः कर्म चाऽयं न भवति गुणरहितः[3] कर्मरहितश्च[3] इत्यर्थः। अत एव न सत् , न जीववर्गान्तर्भूतः, न च असत् नाऽप्यचेतनवर्गान्तर्भूतः चिदचितो रेव जात्याद्याश्रयत्वादिति भावः। जात्यादिरूपो न भवतीति वाऽर्थः। किन्तु निषेधशेषः जात्यादिषु "ओं नमोभगवते" इत्याद्युक्तकल्याणगुणाश्रयत्वेऽप्रतिषिद्धे सति यस्तद्गुणाश्रयतयाऽवशिष्यते यश्चाशेषः अशेषाश्रयः साक्षात्परम्परान्यतरसम्बन्धेन जात्यादीनामाश्रयः। तत्र चिदचितोः साक्षादाश्रयः, जात्यादीनान्तु चिदचिद्द्वारेति विवेकः। एवम्भूतः[4] स जयतात् सर्वोत्कृष्टत्वं प्राप्नोतु। यद्वा जि अभिभवे इति धातुः ज्ञेयः[5] तदा[5] जयतात् अभिभवतात् , मम स्वप्राप्तिविरोधिवर्गं निरस्यत्वित्यर्थः।।२४।।

**विज०** स्वतन्त्रोऽपि भक्तवश्यो भवतीत्याह - युक्तात्मभिरिति। वशीकृतमनआदीन्द्रियैः पुरुषैः। ज्ञानघनायेत्यनेन ज्ञानं किं स्वरूपमुतभिन्नमुच्यते? इति विकल्पावकाशो नास्तीत्याह - ज्ञानेति। न केवलं ज्ञानं गुणोऽस्य अन्येऽपि सन्तीत्याशयेनाऽऽह - भगवत इति। गुणानां गुणिनो भेदे "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृह.उ. 3-9-28) इति व्यवहारानुपपत्तिरित्याऽऽशङ्क्योभयविधव्यवहारघटकत्वशक्तियोगोऽस्याऽस्तीत्या-शयेनाऽऽह - ईश्वरायेति।। १७,१८।।

---

1. A,B,J उद्भवन्ति 2. A,B,T सङ्घातश्च 3- -3. A,B,T गुणै कर्मभिश्च रहितः 4- -4. W Omits 5- -5 W Omits

मोक्षादि सर्वपुरुषार्थावाप्तिरप्यस्मादेव स्यात् तदर्थमन्यसेवा न कार्येत्याशयेनाऽऽह - यमिति। यं भजन्ते तत्प्रसादादिष्टां गतिमाप्नुवन्तीत्यन्वयः ननु अवान्तरपुत्राद्याशाप्राप्तयेऽन्यसेवाऽपेक्षितेति तत्राऽऽह - किञ्चेति। पुत्राद्याशिषोऽपि प्राप्नुवन्तीति शेषः। मोक्षं ददातीति न निराकारलक्षणं, किन्तु अनाद्यनन्तकालीनं साकारं ददातीत्याह - रातीति। राति ददाति मयोक्ताष्वाशीष्षु इयमेवाऽऽशीः प्रार्थ्यत इत्याह - करोत्विति।।१९।।

आशीः प्रार्थनमल्पभक्तलक्षणं, यत एकान्तभक्तैस्तन्न क्रियत इत्याह - एकान्तिन इति।ये एकान्तिनस्ते, यस्य सकाशात्कञ्चन पदार्थं न वाञ्छन्ति तं परेशं ईडे[1] इत्यन्वयः। एकान्तिन इत्यस्य विवरणं भगवत्प्रधाना इति। अनाकाङ्क्षणे निमित्तमाह - यश्चरितमिति।।२०।।

"अक्षरात्सम्भवतीह विश्वं" (मुण्ड.उ. 1-1-7) "एतस्य वा अक्षरस्य"(बृह.उ. 3-8-9) "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तैत्ति.उ. 2-1-1) "परात्परं परमः पराध्र्यः" "अव्यक्तमचलं शान्तम्" "अध्यात्मयोगेन सुनिष्ठितेन मत्वा देवं शोकमोहौ जहाति" "विमे कर्णा पतयतः सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं प्रपद्ये तद्दूरे तद्वदन्तिके" इत्याद्युपनिषत्प्रतिपाद्यं मया स्तूयत इति द्योतनाय अक्षरादिशब्दप्रयोग इत्यनेन न पुनरुक्तिः पदानामिति ज्ञायते। न क्षरन्तीत्यक्षरं, जीवव्यावृत्त्यर्थं परं ब्रह्मेति। ब्रह्मणि मुक्तव्यावृत्त्यर्थं परेशमिति। आराधनेऽप्यनुग्रहमन्तरेण न व्यज्यत इति अव्यक्तं प्रसादे सति ज्ञायत इत्यध्यात्मयोगगम्यमिति। वागादीन्द्रियमतीत्य वर्तमानत्वादतीन्द्रियम् "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तैत्ति.उ. 3-2-4) इति श्रुतेः। यथा सूक्ष्मं तथा महान्तमिति सूचनाय इव शब्दः। "अणोरणीयान्"(कठ.उ. 2-20) इति श्रुतेः आनन्त्यघटनाय परिपूर्णमिति।।२१।।

ब्रह्मादिस्थावरान्तं जगत् यस्य भिन्नांशो न तु स्वरूपांश इति ज्ञानं मुक्तिसाधनं नाऽन्य दित्याशयेनाऽऽह यस्येति। यस्य कलया जल्प्या वचसा वाचेति पाठेऽप्ययमेवाऽर्थः। "गीर्वाग्वाणी भारती च ब्राह्मीला गौस्सरस्वती" इत्यभिधानम्।।२२।।

गुणसम्प्रवाह इत्यस्य विवरणं बुद्धिरित्यादि। अनेन जगत्प्रवाहस्य नित्यत्वं ज्ञापितमिति ज्ञातव्यम्।।२३।।

अधुना श्रीनारायणसद्भावे प्रमाणदर्शनपूर्वकं स्तौति - स इति। यस्मात् गुणसम्प्रवाहः स देवासुरमर्त्य तिर्यक्जाति र्न वै यस्मादित्यन्वयः। यतो बहुव्यक्तद्यभावात् विशेषतो निषेधति न स्त्रीति। नियतस्त्रियाद्याकारा भावात् न जन्तुः कृमिलक्षणः। अमूर्ताकारोऽपि नाऽस्तीत्याह - नाऽयमिति। देवादिशरीरकारण

1. A Omits ईडे

पृथिव्याद्यन्यतमोऽपि न स्यादित्याह - न सन्निति। इति मूर्तामूर्तनिषेधेन शेषो यस्य सः निषेधशेषः, ततो विलक्षणत्वेन परिशेषप्रमाणसिद्धः स जयतात्। ममाऽनर्थभूतसंसारमभिभूय वर्ततामित्यन्वयः। तत्स्वरूपमाह- अशेष इति। परिपूर्णत्वेन सिद्धः निषेधशिष्टश्चेत् उच्छिष्टवत्त्यागयोग्य इत्यतोवाऽऽह अशेष इति। परिपूर्णत्वेन सिद्धः "स एषआत्मा नेति नेति" (बृह.उ.3-9-26) इत्यदि श्रुतेः ।।२४।।

**जिजीविषे नाऽहमिहामुया किं अन्तर्बहिश्चावृतयेभयोन्या।**
**इच्छामि कालेन न यस्य विप्लवः तस्याऽऽत्मलोकावरणस्य मोक्षणम्[1] ।।२५।।**

**सोऽहं विश्वसृजं विश्वमविश्वं विश्ववेदसम्।**
**विश्वात्मानमजं ब्रह्म प्रणतोऽस्मि परं पदम्[2]।।२६।।**

**योगरन्धितकर्माणो हृदि योगविभाविते।**
**योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोऽस्म्यहम् ।।२७।।**

**नमो नमस्तुभ्य मसह्यवेग शक्तित्रयायाखिल धीगुणाय।**
**प्रपन्नपालाय दुरन्तशक्तये कदिन्द्रियाणामनवाप्यवर्त्मने[3]।।२८।।**

**नाऽयं वेद स्वमात्मानं यच्छक्त्याऽहन्धिया हतम्[4]।**
**तं दुरत्यय माहात्म्यं भगवन्तं[5] नतोऽस्म्यहम्।।२९।।**

## श्रीशुक उवाच

**एवं गजेन्द्रमुपवर्णित निर्विशेषं ब्रह्मादयो विविधलिङ्गभिदा भिमानाः।**
**नैते यदोपससृपुर्निखिलात्मकत्वात् तत्राखिलामरमयो[6] हरि राविरासीत्।।३०।।**

**तं तद्वदार्तमुपलभ्य जगन्निवासः स्तोत्रं निशम्य दिविजैस्सह संस्तुवद्भिः ।**
**छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमानः[7] चक्रायुधोऽभ्यगमदाशु[8] यतो गजेन्द्रः ।।३१।।**

**सोन्तस्सरस्युरुबलेन गृहीत आर्तो दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं ख उपात्तचक्रम्।**
**उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रात् नारायणाखिलगुरो भगवन्नमस्ते।।३२।।**

**तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसाऽवतीर्य स ग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार।**
**ग्राहाद्विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रं सम्पश्यतां हरिरमूमुचदुस्त्रियाणाम्।।३३।।**

1. A,B,G,J,T °क्षम् 2. H,V °स्मीश। 3. M,Ma बुद्धीन्द्रि° 4 B ततम्; H,M,Ma,V,W हतः। 5. A,B,G,H,J,T,V ०वन्तामतो० 6. M,Ma °वरो 7 H.V स उह्य° 8. M,Ma °ह्याग°।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां
अष्टादशसाहस्र्यां श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
अष्टमस्कन्धे गजेन्द्रमोक्षणे तृतीयोऽध्यायः।।३।।

**श्रीध० जिजीविषे** इति। न च प्राहाच्छरीरस्य मोक्षणेनाऽहं जीवितुमिच्छामि। तत्र हेतुः अमुया अन्तर्बहिश्चाविवेकव्याप्तया[1] गजजात्या[2] किं प्रयोजनम्? आत्मलोकस्यात्मप्रकाशस्य यदावरणमज्ञानं तस्यैव तु मोक्षमिच्छामि। यस्य मोक्षस्य कालेन नाशो नास्ति। यद्वा देहस्य बन्धो देहनाशे गजयोनिर्न[3]श्येदेव किं तन्मोक्षप्रार्थनेन आत्मलोकावरणस्य तु कालेन विप्लवो नास्ति ज्ञानैकनिवर्त्यत्वात्। अतस्तस्यैव मोक्षमिच्छामि इत्यर्थः।।२५।।

**सोऽहमिति**। सोऽहं मुमुक्षुः। विश्वं विश्वरूपम्। अविश्वं विश्वव्यतिरिक्तं च। विश्वं वेदो धनमुपकरणं यस्य तम्। विश्वस्यात्मानं च। केवलं प्रणतोऽस्मि न तु तं जानामि।।२६।।

**योगेति**। योगं विना दुर्ज्ञानत्वादित्याह[5]। योगेन भगवद्धर्मेण रन्धितानि दग्धानि कर्माणि येषां ते यं प्रपश्यन्ति।।२७।।

तर्हि सर्वेऽपि योगमेव किं ना स्थितास्तत्राह - **नम** इति द्वाभ्याम्। असह्यो वेगो रागादिलक्षणो यस्य तथाभूतं शक्तित्रयं यस्य तस्मै। बहिश्चाखिलधियां सर्वेन्द्रियाणां गुणाय शब्दादिरूपेण प्रतीयमानाय। अतः कदिन्द्रियाणां कुत्सितानीन्द्रियाणि येषां तेषामनवाप्यं वर्त्म यस्य।।२८।।

**नाऽयमिति**। यच्छक्त्या यस्य मायया[6] अहन्धीस्तया हतः[7] अयं[7] जनो न वेद दुरत्ययं माहात्म्यं यस्य तम्, इतः[8] आश्रितोऽस्मि[8]।।२९।।

**एवमिति**। उपवर्णितं निर्विशेषं मूर्तिभेदं विना परं तत्त्वं येन तम्। विविधात्त्वं चासौ लिङ्गभिदा मूर्तिभेदस्तस्यामभिमानो येषां ते। अत एव[9] ते यदा नोपजग्मुः तत्र तदा अखिलामरमयः सर्वदेवमयमूर्तिः।।३०।।

**तमिति**। उपलभ्य[10] ज्ञात्वा स्तोत्रं च निशम्य श्रुत्वा[10] दिविजैर्देवैः सह छन्दोमयेन छन्दांसि[11] सामानि तन्मयेन[11] इति[12] शैध्यायोक्तम्।।३१।।

**स इति**। उरुबलेन[13] ग्राहेण[13]। खे दृष्ट्वा। उपात्तं उद्यतं चक्रं येन ।।३२।।

1. A केन 2. H,V, यान्या 3. B,H,J,V, Omit गजयोनि 4. H,V, "क्षणमि" 5. A,B,J, "ज्ञेय" 6 A,B,J, add या 7- -7. A,B,J हतमावृतमयं 8- -8. A इत, अस्मि आश्रितो भवामि। 9. A,B,J एते 10- -10. B,H,J,V Omit 11- -11 B,H,J,V Omit 12. H,V अति 13- -13. B,H,J,V,Omit

**तमिति** गरुडोऽपि मन्दगतिरिति ततः सहस्रावतीर्यारिणा चक्रेण विपाटितं मुखं यस्य। उन्नियाणां देवानाम्।।३३।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां तृतीयोऽध्यायः।।३।।

**वीर०** स्वाभिप्रायमाविष्करोति - **जिजीविष** इति। नाहं जीवितुमिच्छामि। तत्र हेतुरमुयाऽन्तर्बहिश्चावृतयाऽहङ्कारममकारास्पदभूतयेत्यर्थः। इभयोन्या गजजन्मना किम्? न कोऽपि पुरुषार्थ इत्यर्थः। किन्त्वात्मलोकावरणस्य मोक्षणम् इच्छामि, लोक्यत इति लोकः आत्माख्यलोकस्य आवरणरूपात् कर्मणो मोक्षणमिच्छामि। यद्वा, आत्मनो लोकः धर्मभूतज्ञानं तस्यावरकात्कर्मणो मोक्षम् इच्छामि यस्य मोक्षणस्य कालेन निमित्तेन न विप्लवो न पुनरावृत्तिस्तं मोक्षमिच्छामीत्यन्वयः।।२४।।

सोऽहमात्मलोकावरणस्य मोक्षणमिच्छुरहं विश्वस्य स्रष्टारं विश्वं विश्वशरीरकम् , अविश्वं विश्वविलक्षणं, विश्ववेदनं सर्वविदम्। विश्ववेदसमिति [1]पाठे विश्वस्य वेदसं धनं पुरुषार्थरूपम् इत्यर्थः। यद्वा, विश्वं वेदो धनं शेषभूतं यस्य स तम् इत्यर्थः। विश्वस्यान्तःप्रविश्य भर्तारम् अजं कर्मायत्तोत्पत्त्यादिरहितं गुणपूर्णं परमप्राप्यं नतोऽस्मि, परमप्राप्यं परं केवलं नतोऽस्मीति वा। प्रणाममन्तरेण तत्प्रसादनोपायं न जानामीति भावः।।२५,२६।।

योगेनोपासनात्मकेन रन्धितानि दग्धानि कर्माणि दर्शनविरोधीनि पुण्यपापात्मकानि येषां ते, योगिनः योगेन विभाविते विशोधिते हृदि यं प्रपश्यन्ति साक्षात्कुर्वन्ति तं, [2]योगेशं [3-]योगिनाम् ईशमहं[-3] नतोऽस्मि शक्तास्त्वेवं योगविशुद्धमनसा साक्षात्कुर्वन्ति तत्कर्तुमशक्तोऽहं तु केवलं नतोऽस्मीति भावः।।२७।।

असह्योऽप्रतिहतो वेगो व्यापारो यस्य तत्। शक्तीनां सृष्ट्यादिशक्तीनां त्रयं यस्य तस्मै। शक्तिक्रियायेति पाठान्तरम्। तदा अप्रतिहता शक्तिः अघटितघटनात्मिका क्रिया जगत्सृष्ट्यादिरूपा च यस्य तस्मै , अखिलाः धीगुणाः धीगतसंशयविपर्ययाद्यवस्थाः यस्मात्सः तथोक्तस्तस्मै, प्रपन्नानां पालाय रक्षित्रे, दुरन्ता अपारा शक्तिर्यस्य कदिन्द्रियाणामजितेन्द्रियाणां अनवाप्यं दुरवगमं वर्त्म याथात्म्यं यस्य [4-]तस्मै तुभ्यं नमो नमः[-4]।।२८।।

[5-]अयं जनो यस्य[-5] शक्त्या मायया हेतुभूतया अहन्धिया देहात्माभिमानेन यन्मायामूलक देहात्माभिमानेन हतं हतप्रायं स्वमात्मानं न वेद तं दुरत्ययमाहात्म्यमनतिक्रमणीयमहिमानं[6] भगवन्तमहं

1. W पाठान्तरम्। 2. A,B,T Omit योगेशं 3- -3. W Omits 4- -4. A Omits 5- -5. Omits 6. W माहात्म्यं

नतोऽस्मि इतोऽस्मीति[1-1] पाठान्तरम्। तदा प्रपन्नोऽस्मीत्यर्थः[2]।।२९।।

एवमित्थमुपवर्णितं निर्विशेषं हेयगुणवर्जितभगवत्स्वरूपं येन तम्। यद्वा, ब्रह्मादिषु कस्यचिदसाधारणशब्दविशेषरहितत्वं येन वर्णितं स तथोक्तस्तं गजेन्द्रमत एवैते ब्रह्मादयो यदा नोपससृपुः नोपजग्मुः। कथम्भूतास्सन्तः? लिङ्गं शरीरं नानाविधनामरूपाभिमानवन्तः। यद्वा, लिङ्गं चिह्नं चतुर्मुखत्वहंसवाहनत्वादिरूपं तस्य भिदा त्र्यक्षत्ववृषभवाहनत्वशूलपाणित्वादेर्व्यावृत्तिस्तस्याभिमानो येषां ते, परस्पराव्यावृत्तचतुर्मुखत्वं हंसवाहनत्वं त्र्यक्षत्ववृषभवाहनत्वसहस्राक्षत्वैरावतवाहनत्वादि लिङ्गाभिमानयुक्ताः गजेन्द्रोपवर्णितचिह्नेषु अस्मदसाधारणानि लिङ्गानि न कानिचिदपि सन्तीत्यभिमानयुक्तास्सन्त इति फलितोऽर्थः। तत्र तदा हरिः हयाख्यो भगवान् अखिलामरमयः अखिलदेवप्रचुरः। "स आत्मा अङ्गान्यन्या देवताः" (तैत्ति.उ.1-5-1) इति श्रुतेः। निखिलात्मकत्वात् निखिलानां गजेन्द्रोपवर्णितानां[3] गुणानामात्मकत्वादाश्रयत्वाद्धेतोराविरासीदाविर्बभूव। स्तोत्रे ब्रह्मविष्णुशिवादिशब्दरहितेऽप्युक्तविशेषणानां ब्रह्मादिष्वसम्भवात्र ते समागताः वस्तुसामर्थ्यात् पुरुषोत्तम एव विशेषणानामन्वितत्वात् स एव आगत इति भगवतो वास्तवाऽनवच्छिन्नमाहात्म्ययोगो दर्शितः।।३०।।

ग्राहेण आविर्भावप्रकारमेवाह - **तमिति**। तद्वत्तथा आर्त्तं ग्राहेण पीडितं गजेन्द्रमुपलभ्य ज्ञात्वा दृष्ट्वा तत्कृतं स्तोत्रं च निशम्य श्रुत्वा। कुतः? यतोऽयं जगन्निवासः जगति कृत्स्ने अन्तरात्मतया वसतीति तथा। अत उपलभ्य निशम्य च छन्दोमयेन त्रिवृद्गायत्र्यादि च्छन्दोरूपत्वेनोपास्यमानशिरश्चक्षुराद्यवयवत्वाच्छन्दः प्रचुरस्तेन गरुडेन समुह्यमानः, अनेन शैघ्र्यातिशयः सूचितः। चक्रं सुदर्शनमायुधं यस्य, तादृशः संस्तुवद्भिर्देवैस्सह यत्र गजेन्द्रः तत्राशु अभ्यगमदभिजगाम।।३१।।

अन्तःसरस्युरुबलं यस्य तेन ग्राहेण गृहीतो अत एवाऽऽर्तः स गजेन्द्रो गरुत्मति गरुडे स्थितमिति शेषः। उपात्तं धृतं चक्रं येन तं हरिं खेऽन्तरिक्षे दृष्ट्वा साम्बुजं करं तुण्डमुद्धृत्य "रिक्तहस्तेन नोपेयाद्राजानं दैवतं गुरुम्" इत्युक्तन्यायेन गृहीतं[6] सरसिजं करम् उद्धृत्येत्यर्थः। कृच्छ्रात्काञ्चिद्गिरमाह, गिरमेव दर्शयति-नारायणायेत्यादि।।३२।।

ततः पीडितं गजेन्द्रं वीक्ष्याऽजो हरिः कृपया सहसा आशु अवतीर्य गरुडोऽपि मन्दगतिरिति ततोऽवरुह्याऽऽशु त्वरया सग्राहं गजेन्द्रं सरस उज्जहारोद्धृत्य बहिर्निष्कषितवान्। ततोऽरिणा चक्रेण विपाटितं

1--1 A Omits 2 W Omits इत्यर्थः.3 W "नगु" 4. A,B,T "माऽऽह 5.A,B,T शृण्वताम्" 6 A,B,T "नाम्भुजं

[1]छिन्नं मुखं यस्य तस्मात् ग्राहात् गजेन्द्रं उत्त्रियाणां देवानां पश्यतां सतां अमूमुचत् मोचयामास।।३३।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां तृतीयोऽध्यायः ।।३।।

**विज०** ज्ञानसाधनमन्तरेणानेन शरीरेण चिरं रक्षितेन किं प्रयोजनमित्याशयेनाऽऽह - **जिजीविष** इति। अहं शरीरेऽन्तर्बहिश्चावृतयाऽमुयेभयोन्या प्रकृत्या किं न किमपि इति यस्मात्तस्मादिह तन्निर्मिते [2]शरीरे चिरं न जिजीविषे न जीवितुमिच्छामि इत्यन्वयः। स्वारम्भककर्मक्षये स्वयं नाशात् किमर्थं न जिजीविषे इत्यर्थतः इत्यतोलिङ्गलिङ्गशरीरनाश एव प्रार्थ्यत इत्याह - इच्छामीति। तस्यात्मलोकावरणस्य स्वज्ञानावरकस्य लिङ्गशरीरस्य मोक्षणं नाशमिच्छामीत्यन्वयः। अस्यापि कालेन नाशः किं न स्यादत्राह - कालेनेति। विप्लवो नाशः अनेनात्मज्ञानमन्तरेण लिङ्गशरीरस्य नाशो नास्ति सति तस्मिन् तत्स्यादित्युक्तं भवति "तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मुण्ड.उ. 2-2-9) इति श्रुतेः।।२५।।

ननु गुणोपसंहारलक्षणोपासना वेदान्तज्ञानेन सम्भवेत्तिर्यग्योनित्वेन तदनधिकारादात्म ज्ञानासम्भवाल्लिङ्गशरीरनाशे आशामात्रं तव स्यादित्याशङ्क्य अस्मज्ज्ञातिविहितप्रणामेनापि प्रसन्नेश्वरप्रसादात् उत्पन्नज्ञानेन तत्स्यादित्यतस्तमाचरति-**सोऽहमिति**। यो हं लिङ्गशरीरमोक्षमाकाङ्क्षे सो हं परम्पदं प्राप्तव्योत्तमं प्रणतोऽस्मीत्यन्वयः। सर्वस्मादस्योत्तमत्वं कुत इत्यतः तदुपपादकविशेषणैः सिद्धमित्याह- विश्वसृजमित्यादिना विश्वसृजत्वाद्विश्वं तर्हि मृद्घटवत् तदात्मकत्वमापन्नमिति नेत्याह-अविश्वमिति। जगतो विलक्षणं स्वसृष्ट पदार्थप्रविष्टत्वाद्विश्वं बहिष्टत्वाद्विश्वमिति वा, दुर्भगशरीरस्थत्वेऽपि ज्ञानलोपो नेत्याह - विश्ववेदसमिति। विश्वं वेत्तीति सर्वज्ञमित्यर्थः । सर्वज्ञत्वं चास्यैव सुलभमित्याह - विश्वेति। विश्वं व्याप्य वर्तमानं , विश्वम् आदत्त इति वा विश्वस्य स्वामीति वा विश्वात्मानं जगत्स्रष्टुरस्य जगदाकारेण परिणामः किम् नेत्याह - अजमिति। अहङ्कारात्मा रुद्रोत्युच्यत इति नेत्याह ब्रह्मेति। वेदो नेत्याह - परमिति। मुक्तो नेत्याह - पदमिति।।२६।।

ज्ञानप्रत्यक्षमीश्वरसद्भावे प्रमाणमित्याशयेन नमति - **योगेति**। योगेन रन्धितानि दग्धानि कर्माणि येषां ते तथा।।२७।।

ननु तत्तच्छक्तिमतः तत्तत्कर्म दृष्टं हरेस्तु सृष्ट्यादि कर्म कथम्? इत्याशङ्क्य तत्तच्छक्तिविशिष्टत्वेन तं

1. A,B,T भिन्नं 2- -2 A,B,Omit

नमति - **नम** इति। असह्या वेगो यासां ताः तथा तादृशीनां शक्तीनां उत्पत्तिस्थितिसंहारविषयाणां उत्साहमन्त्रप्रभुविषयाणां वा त्रयं यस्य स तथा तस्मै उत्पत्यादिशक्तयश्च ज्ञानवत एव युक्ता इत्याह - अखिलेति। न चेताः शक्तयो देवदत्तशक्तिवत् परिमिता इत्याशयवानाह - दुरन्तेति। परिच्छिन्नत्वमनुमानेन साध्यत इति चेत् तत्राऽऽह बुद्धीति। हेतोऽश्रयाऽसिद्धत्वेन अनुमानानुदयात् ।।२८।।

हरेः स्तुतिफलं दर्शयति - **नायमिति**। यः स्वमात्मानं न वेद न जानाति पूर्वमिति शेषः।।२९।।

अनन्तरं किमभूदत्राह - **एवमिति**। उपवर्णितं निर्विशेषं समं ब्रह्म येन स तथा तं पृथिव्यादिविलक्षणं ब्रह्म येन स तथा तमितिवा अवतारमूलरूपयोः विशेषो नास्तीति वा निर्विशेषं तदिति वा "पूर्णमदः पूर्णमिदम्" (बृह.उ. 5-1-1) इति श्रुतेः। विविधानि लिङ्गानि पद्मवज्रादीनि वा हंसवृषभादीनि वा एवं भिदया भेदेन जातोऽभिमानः, अहं पद्मपाणिरहं वज्रपाणिरित्यादि लक्षणो येषां तथा स्रष्टृत्व संहर्तृत्वादिलक्षणो वा ये ब्रह्मादय एते यदा गजेन्द्रं नोपससृपुः तदा सकल देवनाथो हरिः यत्र गजेन्द्रः तत्राऽविरासीत्। तत्स्थ एव तत्र प्रत्यक्षीभूतो न तु दूरादागत्य कुत इति तत्राह - निखिलेति। सर्वव्यापकत्वात् [1-] निखिलगुरोः नहि परिच्छिन्नस्य सर्वगुरुत्वं घटते इत्यादि हेतुगर्भविशेषणम् नहि गुरोः आज्ञामन्तरेण गच्छन्ति [-1] सन्तः यद्वा, ब्रह्मादीनां अनागमे निमित्तमाह - निखिलेति। हरेः सर्वस्वामित्वाद्धरेः पूर्वमागमने प्रयोजनासिद्धेरित्यर्थः।।३०।

तद्वत् यथादर्शने कृपोदेति तथा तम्।।३१।।

अखिलगुरो नहि परिच्छिन्नस्य सर्वगुरुत्वं घटत इति नारायणेत्यादिहेतुगर्भविशेषणम्।।३२।।

ततः फलितमाह - **तं वीक्ष्येति**। उस्रियाणां देवानां "उस्रिया विजया देवा आदित्या अमराः सुराः" इत्यभिधानम्।।३३।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
तृतीयोऽध्यायः।।३।।

1- -1 A,B,Omit

000O000

# चतुर्थोऽध्यायः

## श्रीशुक उवाच

तदा देवर्षिगान्धर्वा ब्रह्मेशानपुरोगमाः।
मुमुचुः कुसुमाऽऽसारं शंसन्तः कर्म तद्धरेः।।१।।

नेदुर्दुन्दुभयो दिव्या गन्धर्वा ननृतुर्जगुः।
ऋषयश्चारणाः सिद्धाः तुष्टुवुः पुरुषोत्तमम्।।२।।

योऽसौ ग्राहः सवै सद्यः परमाश्चर्यरूपधृत्[1]।
मुक्तो देवलशापेन हूहू गन्धर्वसत्तमः।।३।।

प्रणम्य शिरसाऽधीशमुत्तमश्लोकमव्ययम्।
अगायत यशोधाम कीर्तन्य[2] गुणसत्कथम् ।।४।।

सोऽनुकम्पित ईशेन परिक्रम्य प्रणम्य तम्।
लोकस्य पश्यतो लोकं स्वमगान्मुक्तकिल्बिषः।।५।।

गजेन्द्रो भगवत्स्पर्शात् विमुक्तोऽज्ञानबन्धनात्।
प्राप्तो भगवतो रूपं पीतवासाश्चतुर्भुजः ।।६।।

स वै पूर्वमभूद्राजा पाण्ड्यो द्रविडसत्तमः।
इन्द्रद्युम्न इति ख्यातो विष्णुव्रत परायणः।।७।।

स एकदाऽऽराधनकाल आत्मवान् गृहीतमौनव्रत ईश्वरं हरिम्।
जटाधरस्तापस आप्लुतोऽच्युतं तमर्चयामास कुलाचलाश्रमः।।८।।

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुर्थे तु तयोर्ग्राहः प्राप गन्धर्वतां पुनः। गजं स्वपार्षदं कृत्वा हरिर्निन्ये निजं पदम्।।

य इति। हूहूसंज्ञो गन्धर्वसत्तमः। असौ देवलस्य शापेन ग्राहो जातः। स वै स[7] तु ततः सद्यो मुक्तस्सन् उत्तमश्लोकमगायतेत्यन्वयः। एवं हि इतिहासोत्तमे कथा। सरसि स्त्रीभिः क्रीडन्नसौ हूहूः[8] स्नातुं

1 A,B,G,J,M,Ma,T "कृ 2. H.V "ध्य" 3 H,V स्वमा", W. समा" 4. A,B,G,J,M,Ma,T सम" 5 H,V "पं" 6. M,Ma "च: 7. H.V.Omit स तु । 8 B,H,J Omit हूहू

[1]सरःप्रविष्टं देवलं पादे प्रगृह्य विचकर्ष स च प्रकुपितो ग्राहो भवेति शशाप तेन च प्रसादितस्सन् उवाच। एवमेव गजेन्द्रं गृह्णीष्व ततश्च गजेन्द्रमुद्धरन् हरिः त्वामपि मोचयिष्यतीति।।१-३।।

**प्रणम्येति**। कथम्भूतम्? यशसो धाम आश्रयम् . अतः कीर्तन्याः कीर्तनीयाः गुणाः सती कथा च यस्य तम्।।४।।

**स इति** । स्वं लोकं गन्धर्वलोकम् ।।५,६।।

[2]स वै इति। स गजेन्द्रः पूर्वं द्रविडेषु सत्तमः श्रेष्ठः पाण्ड्यदेशाधिपतिः, इन्द्रद्युम्न इति ख्यातो राजाऽभूत्[2]।।७।।

कुलाचले मलयाद्रौ आश्रमो यस्य।।८।।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

[3]तदा किमभूत्? तदाह[3] - **तदेति**। तदा गजेन्द्रमोचनदशायां ब्रह्मरुद्रमुख्या देवादयः तत् गजेन्द्रमोक्षणरूपं[4] हरेः कर्म अद्भुतं शंसन्तः प्रशंसन्तः कुसुमवर्षं मुमुचुः।।१।।

[5]तथा दिव्याः दुन्दुभयः नेदुः गन्धर्वा ननृतुः जगुश्च ऋषिप्रभृतयः पुरुषोत्तमं हरिं तुष्टुवुः।।२।।

योऽसौ ग्राहः [6]स पूर्वस्मिन् जन्मनि हूहूनाम गन्धर्वश्रेष्ठः सः देवलस्य शापेन निमित्तेन ग्राहो जातः स वै ग्राहो देवलस्य शापेन मुक्तः, सद्यः परमाश्चर्यरूपधृत् प्राक्तनाद्भुततमगन्धर्वरूपधृत् ।।३।।

उत्तमश्लोकमव्ययं यशसो धाम आश्रयम् अतः कीर्तन्याः कीर्तनीयाः गुणाः सत्कथाश्च यस्य तमधीशं हरिं शिरसा प्रणम्यागायतेत्यन्वयः।।४।।

एवमितिहासोत्तमे कथा सरसि स्त्रीभिः सह क्रीडन्नसौ हूहूः स्नातुं प्रविष्टं देवलं प्रगृह्य विचकर्ष स च प्रकुपितो ग्राहो भवेति शशाप स च प्रसादितस्सन्नुवाच एवमेव गजेन्द्रं गृह्णीष्व, ततश्च गजेन्द्रमुद्धरन् हरिः त्वामपि मोचयिष्यतीति ईशेन हरिणा गानप्रीतेनानुकम्पितः अनुकम्पाविषयीकृतः स गन्धर्वस्तमीशं परिक्रम्य प्रदक्षणीकृत्य प्रणम्य च लोकस्य ब्रह्मादिजनस्य पश्यतःसतः मुक्तं किल्बिषं देवलशापरूपं यस्य तादृशस्सन्[7] स्वलोकमगात्[8]।।५।।

1. A,B,J Omit सरः 2- -2 B,H,J,V Omit 3- -3. W Omits 4. A "हारू" 5. WOmits तथा 6. W Omits सः 7. W Omits सन् 8. W. स्वकीयं लो"

गजेन्द्रस्तु भगवतो हरेः स्पर्शाद्धेतोरज्ञानबन्धनात्कर्मबन्धनाद्विमुक्तः भगवतः रूपं प्राप्तः भगवतः[1] सारूप्यं प्राप्तः। तदेव दर्शयति पीतं पिशङ्गं वासो वस्त्रं यस्य चत्वारो भुजा यस्य सः।।६।।

गजेन्द्रस्य[2] पूर्वजन्मवृत्तान्तमाह- स वा इति। स वै गजेन्द्रः पूर्वस्मिन् जन्मनि पाण्ड्यदेशपतिः द्रविडेषु श्रेष्ठः इन्द्रद्युम्नाख्यः राजा बभूव। स च विष्णुव्रतपरायणः विष्णुव्रतं श्रीविष्णुभजनात्मकं तदेव परमुत्कृष्टमयमनुष्ठेयं यस्य तादृशः आसीत्।।७।।

एवं स्थिते जटा धरतीति[3] तथा तापसः तपोनिष्ठः कुलाचले मलयाद्रावाश्रम आश्रयो यस्य तादृशः स इन्द्रद्युम्नः एकदा भगवदाराधनकाले समाहितचित्तस्सन् गृहीतं मौनात्मकं व्रतं येन तादृश ईश्वरं हरिं समर्चयामास।।८।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

प्रणष्टदुरितस्य हरौ निरतिशयभक्तिः स्यादिति तन्नाशसाधनादिनिरूप्यतेऽस्मिन्नध्याये। तत्र प्रथमं देवादीनां पुष्पवर्षादिकं भगवत्प्रीतिसाधनमाह- **तदेति**। यदा गजेन्द्रम् अमुमुचत्तदा।।१,२।।

स पश्चात्पूर्वचीर्णं पुण्योदयेनाऽऽविर्भूतज्ञानो हरिं स्तुत्वा तत्प्रसादेन देवलशापेन। तृतीया पञ्चम्यर्थे, तस्माच्छापान्मुक्तः, परमाश्चर्यरूपधृक् हरिं शिरसा प्रणम्य यशोधामागायतेत्यन्वयः। कीर्तनीया गुणरूपाः सत्यः कथा यस्य स तथा तं यस्मिंस्तथेति वा। अनेन हरिगुणकीर्तनरूपं गानं गायकशापादिमोक्षसमर्थमित्युक्तं भवति।। ३-५।।

ननु किमनेनान्यगुणकीर्तनेन? इदानीं गजेन्द्रस्य भगवत्यात्या किमभूदित्यतुशङ्क्य स्तुत्या प्रसन्नस्य हरेर्दर्शनेन मुक्तकिल्बिषस्य तत्सारूप्यं फलमभूदित्याह - गजेन्द्र इति।।६।।

हरेर्नाममात्रतोऽवाप्तविष्णुप्रसादः पूर्वं कः? इति तत्राऽऽह- **स वा** इति।।७।।

गजेन्द्रयोनिप्राप्तिनिमित्तं वक्तुमुपोद्घातं रचयति - **स एकदेति**।।८।।

**यदृच्छया तत्र महायशा मुनिः समागमच्छिष्यगणैः परिश्रितः।**
**तं वीक्ष्य तूष्णीमकृतार्हणादिकं रहस्युपासीनमृषिश्चुकोप ह।।९।।**

1.W."वत्सा" 2. A,B,T "इषु" 3.A,B,T बिभर्तीति

तस्मा इमं शापमदादसाधु रथं दुरात्माऽकृतबुद्धिरत्र[1]
विप्रावमन्ता विशतां तमोऽन्धं[2] यथा गजःस्तब्धमतिः[3] स एव।।१०।।

श्रीशुक उवाच

एवं शप्त्वा गतोऽगस्त्यो भगवान् नृप सानुगः।
इन्द्रद्युम्नोऽपि राजर्षिः दिष्टं तदुपधारयन्[4]।।११।।

आपन्नः कौञ्जरीं योनिं आत्मस्मृतिविनाशिनीम्।
हर्यर्चनानुभावेन यद्गजत्वेऽप्यनुस्मृतिः।।१२।।

एवं विमोक्ष्य गजयूथपमब्जनाभः तेनापि पार्षदगतिं गमितेन युक्तः।
गन्धर्वसिद्ध विबुधैरनुगीयमान कर्माद्भुतं[5] स्वभवनं[6] गरुडासनोऽगात्।।१३।।

एवं[7] महाराज तवेरितो मया कृष्णानुभावो गजराजमोक्षणम्।
स्वर्ग्यं यशस्यं कलिकल्मषापहं दुस्स्वप्ननाशं कुरुवर्य शृण्वताम्।।१४।।

यथानुकीर्तयन्त्येतच्छ्रेयस्कामा[8] द्विजातयः[9]।
शुचयः प्रातरुत्थाय दुःस्वप्नाद्युपशान्तये।।१५।।

इदमाह हरिः प्रीतो गजेन्द्रं कुरुसत्तम।
शृण्वतां सर्वभूतानां सर्वभूतमयो विभुः।।१६।।

**श्रीध० यदृच्छयेति**। तूष्णी रहस्युपासीनं वीक्ष्य ऋषिः[10-] अगस्त्यः[-10]।।९।।

शापमेवाह - **तस्मा** इति। असाधुरित्यादि अकृताऽशिक्षिता बुद्धिर्यस्य, गजो यथा स्तब्धमतिः तथैवाऽयम्, अतः स एव गज एव भवत्विति शेषः।।१०।।

**एवमिति**। दिष्टं[11] दैवप्रापितं तदुपधारयन् आलोचयन्[12] ।।११।।

**आपन्न** इति। कौञ्जरीं योनिमापन्नः। तर्हि पश्चात् कथं स्मृतिर्जाता तत्राह - हरेरर्चनानुभावेनेति[13]।।१२।।

**एवमिति**। अद्भुतं स्वभवनमगात्[14]।।१३।।

**एवमिति**। एतद्गजराजमोक्षणं नाम कृष्णानुभावस्तव ईरितः। कथम्भूतम्? तत्राह स्वर्ग्यमित्यादि। दुःस्वप्नं नाशयतीति तथा।।१४।।

---

1 A,B,G,J,M,Ma,T "द्य 2- -2. M,Ma मद्धेलनात्प्राविशतां तमिस्र 3. M,Ma सदोषः 4. M,Ma "धत् 5. A,B,G,J,M,Ma,T "रुप 6. H,M,Ma,V भु" 7. A,B,G,J,T एतन्म" 8.M,Ma अ" 9. W.द्विजोत्तमा. 10- -10. B,H,J,V Omit 11. B दैवार्पितं 12 H,V "क" 13. A,B,T "नस्यानु" 14 H.V भु"

**यथेति**। अतः श्रेयस्कामा ये एतद्यथावत् अनुकीर्तयन्ति।।१५।।

अनेनश्रेयो भवतीति कुतो ज्ञातं साक्षात् भगवद्वचनादेवेत्याह - इदमाहेत्यादि[1-] यावदध्यायपरिसमाप्तिः[-1]।।१६।।

**वीर०** तदा शिष्यगणैः परिवृतो महायशा मुनिरगस्त्यो यदृच्छया तत्र इन्द्रद्युम्नाश्रमे समागतः तमिन्द्रद्युम्नं तूष्णीमवस्थितमकृतमसमर्पितमर्घ्यादिकं येन तं रहसि एकान्ते उपासीनमुपविष्टं वीक्ष्य ऋषिरगस्त्यश्चुकोप हेति कष्टे ईदृशस्यापि महन्निग्रहविषयता[2] बभूवेति खिद्यति मुनिः।।९।।

तस्मै इन्द्रद्युम्नाय शापमदादृषिः इत्यनुषङ्गः। शापमेवाह - असाधुरिति। अयं इन्द्रद्युम्नोऽसाधुः दुरात्मा अकृता अशिक्षिता बुद्धिर्यस्य तादृशोऽद्याधुना विप्रावमन्ता विप्रानस्मानवमन्यते परिभवतीति तथा, अतो हेतोः तमिस्रमज्ञानं विशतां प्राप्नोतु, यथा गजः स्तब्धमतिः तथैवायमज्ञो भवतु स एव गज एव भवत्विति शेषः।।१०।।

हे नृप ! एवं[3] इत्थं शप्त्वा भगवानगस्त्यः सानुगः सशिष्यो गतः ययौ तत इन्द्रद्युम्नोऽपि राजर्षिः तदगस्त्यशापात्मकं दिष्टं प्रारब्धमेव उपधारयन् निश्चिन्वन् आत्मनः परमात्मनः स्मृतिविनाशिनीं कौञ्जरीं योनिमापन्नः प्राप्तः तर्हि पश्चात्कथं तत्[4] स्मृतिर्जाता तत्राह - गजत्वेऽप्यनुस्मृतिरिति यत् तत् हर्यर्चनानुभावेन पूर्वजन्मनि भगवदाराधनप्रभावेन अभूदित्यर्थः।। ११,१२।।

एवमित्थं गजयूथपं गजेन्द्रं विमोक्ष्य पार्षदत्वं प्रापितेन तेनापि गजेन्द्राख्यजीवेनापि अपि-शब्दात्स्वपार्षदैश्च युक्तोऽब्जनाभो हरिर्गन्धर्वादिभिरुपगीयमानं कर्म यस्य गरुडआसनं वाहनं यस्य सः अद्भुतं स्वभवनं अगात्[5] ययौ इत्यर्थः।।१३।।

यत्पृष्टं "बादरायण एतत्ते" (भाग.8-1-31) इत्यादिना तस्योत्तरमुक्तम् उपसंहरन् गजेन्द्रमोक्षकथाश्रवणफलमाह - एतदिति। हे महाराज! एतद्गजेन्द्रमोक्षणरूपः कृष्णानुभावः हरिप्रभावः तव तुभ्यं मयेरितः कथितः। इदं गजेन्द्रमोक्षणं[6] श्रृण्वतां जनानां स्वार्ग्यं स्वर्गसाधनं यशस्करं कलिकल्मषापहं कलौ युगे यत्कल्मषं तदपहन्तीति तथा, कलिः कलहः तन्निमित्तं पापं हन्तीति[7] तथा तदिति[8-] वा। हे कुरुवर्य! दुस्स्वप्ननाशं दुस्स्वप्नं नाशयतीति तथा।।१४।।

1- -1. A,B,J "दिना यावत्स" 2. A,B,T "हा" 3. A,B,T Omit एवं 4. A,B,T Omit तत् 5. A,B,T Omit अगात् 6. W गजराज 7. A,B,T हरतीति 8- -8. A,B,T Omit

अतः श्रेयस्कामा द्विजातयः त्रैवर्णिकाः प्रातरुत्थाय शुचयः शुचीभूताः दुस्स्वप्नाद्युपशान्तये एतद्यथावदनुकीर्तयन्ति।।१५।।

अनेन कीर्तितेन दुस्स्वप्नाद्युपशान्तिर्भवति इति कुतो ज्ञायते ? इत्यपेक्षायां भगवद्वचनादेवेत्याह - इदमिति। हे कुरुसत्तम! सर्वभूतानां श्रुण्वतां [1]सतां सर्वभूतप्रचुरो विभुर्हरिः प्रीतो गजेन्द्रं प्रति इदं वक्ष्यमाणमाह ।।१६।।

विज० उपगीयमानानि कर्माणि यस्य स तथा, अगाल्लोकदृष्ट्या तु तत्रैवान्तर्दधे इत्यर्थः।।९-१३।।

दुःस्वप्नस्य नाशो यस्माद्गजेन्द्रमोक्षणात्तत्तथा ताम् ।।१४-१६।।

## श्रीभगवानुवाच

ये मां त्वां च सरश्चेदं गिरिकन्दरकाननम्।
यत्र कीचकवेणूनां गुल्मानि सुरपादपान्।।१७।।

शृङ्गाणीमानि धिष्ण्यानि ब्रह्मणो मे शिवस्य च
क्षीरोदं मे प्रियं धाम श्वेतद्वीपं च भास्वरम्।।१८।।

श्रीवत्सं कौस्तुभं मालां गदां कौमोदकीं मम।
सुदर्शनं पाञ्चजन्यं सपर्णं पतगेश्वरम्।।१९।।

शेषं च मत्कलां सूक्ष्मां श्रियं देवीं मदाश्रयम्।
ब्रह्माणं नारदमृषिं भवं प्रह्लादमेव च ।।२०।।

मत्स्यकूर्मवराहाद्यैरवतारैः कृतानि मे।
कर्माण्यनन्तपुण्यानि [2]सूर्यं सोमं हुताशनम्[-2]।।२१।।

प्रणवं सत्यमव्यक्तं [3]गोविप्रान् धर्ममव्ययम्।
दाक्षायणी [4]धर्मपत्नीः [5]सोमकश्यपयोरपि।।२२।।

गङ्गां सरस्वतीं नन्दां कलिन्दीं सितवारणम्।
ध्रुवं ब्रह्म ऋषीन्सप्त पुण्यश्लोकांश्च मानवान्।।२३।।

1.A,B,T Omit सतां 2- -2. M,Ma सूर्यसोमहुताशनान् 3.M,Ma "मक्षयम् 4. M,Ma णी ध" 5. M,Ma क्षी

**उत्थायापररात्रान्ते प्रयताः सुसमाहिताः।**
**स्मरन्ति मम रूपाणि मुच्यन्ते तेंऽहसोऽखिलात्।।२४।।**

**ये मां स्तुवन्त्यनेनाऽङ्ग! प्रतिबुध्य निशात्यये।**
**तेषां प्राणात्यये चाहं ददामि विपुलां मतिम्।।२५।।**

**श्रीशुक उवाच**

**इत्यादिश्य हृषीकेशः प्राध्माय जलजोत्तमम्।**
**हर्षयन्विबुधानीकमारुरोह खगाधिपम्।।२६।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां
अष्टादशसाहस्र्यां श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
अष्टमस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

**श्रीध०** ये इति। प्रसङ्गादन्यस्यापि स्मरणे फलमुच्यते। सर्वेषां द्वितीयान्तानां स्मरन्ती त्यष्टमेनान्वयः।।१७-२१।।

**प्रणवमिति**। अव्यक्तं मायाम्। अव्ययं धर्मं भक्तिलक्षणम्। सोमकश्यपयोरपि पत्नीर्दाक्षायणीः।।२२।।

**गङ्गामिति**। सितवारणमैरावतम्।।२३।।

**उत्थायेति**। प्रयताः सिद्धाः। सुसमाहिताः एकाग्रचित्ताः मम रूपाणि मद्विभूतीः ।।२४-२५।।

**इतीति**। जलजोत्तमं शङ्खवरं, प्राध्माय वादयित्वा।।२६।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

**वीर०** भगवदुक्तिमेव दर्शयति। य इत्यादिना विमलां मति मित्यन्तेन। ये जनाः त्वां मां च एतत्सरोवरादींश्चापररात्रान्ते प्रभाते उत्थाय स्मरन्ति तेऽखिलांहसो मुच्यन्ते इत्युत्तरत्रान्वयः, गिर्यादीनां समाहारद्वन्द्वः, वेत्रादीनाम् इतरेतरयोगद्वन्द्वः तेषां गुल्मानि सन्दर्भविशेषात्मकानि सुरपादपान्मन्दारादीन् ।।१७।।

1.A,B,G,J,T ह्रोनसो" 2.A,B,G,J,M,Ma,T "म" 3. M,Ma ग" 4.A,B,G,J,T ग" 5- -5. B,H,J,V Omit 6.A,B,J ग"

इमानि त्रिकूटस्य श्रृङ्गाणि प्रसङ्गादन्येषामपि प्रातःस्मर्तव्यतामाह - ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्य मे हरेः शिवस्य च धिष्ण्यानि स्थानानि त्रयाणां त्रिकूटगिरि श्रृङ्गाणां ब्रह्मादिस्थानाभिप्रायेण वा इमानीत्युक्तं क्षीरोदं क्षीरसागरं मम प्रियं स्थानं भास्वरं श्वेतद्वीपञ्च।।२८।।

तथा मम श्रीवत्सादीन् तत्र मालां वनमालां कौमोदकीनाम्नीं गदां पतगेश्वरं[1] पतगानां पक्षिणामीश्वरं सुपर्णं गरुडम्।।१९।।

शेषमनन्तं कथम्भूतं मत्कलां सूक्ष्मां दुष्प्रतर्क्यमत्कलाभूतमित्यर्थः। अहमेवाश्रयो यस्यास्तां देवीं श्रियं महालक्ष्मीं, ब्रह्माणं चतुर्मुखं, ऋषिं नारदं, भवं रुद्रम्।।२०।।

मम मत्स्याद्यवतारैः कृतान्यनन्तपुण्यानि श्रृण्वतामिति शेषः। यानि कर्माणि चरितानि तानि च सोमं चन्द्रं हुताशनम् अग्निम्।।२१।।

प्रणवं ओङ्कारं, सत्यं भूतहितरूपं धर्मं, अव्यक्तं प्रधानमव्ययं धर्मं भगवद्भक्तियोगलक्षणं[2], दाक्षायणीः दक्षदुहितृः, धर्मस्य पत्नीः सोमकश्यपयोरपि पत्नीः।।२२।।

नन्दाम् अलकनन्दां, कालिन्दीं यमुनां, सितवारणम् ऐरावतं, ध्रुवमौत्तानपादिं, सप्तब्रह्मऋषीन् पुण्यश्लोकान्[3], पुण्येन श्लोक्यन्ते कथ्यन्त इति पुण्यश्लोकास्तान् धार्मिकान् मानवांश्च।।२३।।

प्रातरुत्थाय ये स्मरन्ति कथम्भूताः प्रयताः सुसमाहिताश्च नियमितान्तर्बाह्येन्द्रियाः कथम्भूतानि सर आदीनि मम रूपाणि मच्छरीर भूतानि ते स्मर्तारोऽखिलाघहसः पापान्मुच्यन्ते दुःस्वप्नादिनिमित्तेभ्यः सर्वपापेभ्यो मुच्यन्त इत्यर्थः।।२४।।

ये च जनाः निशात्यये निशापगमे प्रभाते प्रतिबुद्ध्य अनेन त्वत्कृतेन स्तोत्रेण मां स्तुवन्ति तेषां प्राणात्यये प्रयाणकाले विमलां मद्विषयां मतिमहं ददामि।।२५।।

इतीत्थमादिश्य आज्ञाप्य हृषीकेशो हरिः जलजोत्तमं शङ्खश्रेष्ठं प्राध्माय ध्वनयित्वा ब्रह्मादिदेवता वर्गं हर्षयन् खगाधिपं गरुडं अरुरोह आरुह्य स्वभवनमगादित्यर्थः।।२६।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

1- -1W.Omits 2. W Omits योग 3- -3. A,B,T Omit

**विज०** अपररात्रान्ते अरुणोदयप्रारम्भे उत्थाय त्वां मां चेत्यादिकं स्मरन्ति, ते सर्वस्मादंहसो मुच्यन्ते इत्यन्वयः ।।१७-२४।।

नन्वस्तु पापक्षयोऽस्मात्तद्विषयज्ञानं कस्मादित्यतस्तत्साधनमाह-**ये मामिति**। प्राणात्यये देहोत्क्रमणे।।२५।।

जलजोत्तमं शङ्खोत्तमम् ।।२६।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावल्यां
टीकायां चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

ooo0ooo

# पञ्चमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

राज न्नुदित मेतत्ते हरेः कर्माघनाशनम्।
गजेन्द्रमोक्षणं पुण्यं रैवतंत्वन्तरंशृणु।।१।।

पञ्चमो रैवतो नाम मनु स्तामससोदरः।
बलिविन्ध्यादय स्तस्य सुता अर्जुनपूर्वकाः।।२।।

विभुरिन्द्र स्सुरगणा राज न्भूतरयादयः।
हिरण्यरोमा वेदशिरा ऊर्ध्वबाह्वादयो द्विजाः।।३।।

पत्नी विकुण्ठा शुभ्रस्य वैकुण्ठै स्सुरसत्तमैः।
तयोः स्वकलया जज्ञे वैकुण्ठो भगवान्स्वयम्।।४।।

वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः।
रमया प्रार्थ्यमानेन देव्या तत्प्रियकाम्यया।।५।।

तस्यानुभावः कथितो गुणाश्च परमोदयाः।
भौमान् रेणून् स विममे यो विष्णोर्वर्णयेद्गुणान्।।६।।

षष्ठस्तु चक्षुषः पुत्रश्चाक्षुषोनाम वै मनुः।
पुरुःपुरुषसुद्युम्नप्रमुखाश्चाक्षुषात्मजाः।।७।।

इन्द्रो मन्द्रद्रुम स्तत्र देवा आप्यादयो गणाः।
मुनय स्तत्र वै राजन् हविष्मद्वीरकादयः।।८।।

तत्रापि देवस्सम्भूत्यां वैराजस्याभवत्सुतः।
अजितो नाम भगवानंशेन जगतः पतिः।।९।।

पयोधिं येन निर्मथ्य सुराणां साधिता सुधा।
भ्रममाणोऽम्भसि धृतः कूर्मरूपेण मन्दरः।।१०।।

1. M,Ma "प" 2 H, V प्रति" M.Ma बल" 3. W "का" 4 A,B,G,J,M,Ma,T "श्च" 5 A,B,G,J,T पूरुपूरुष; M,Ma पुरः पुरुष" 6. A,B,G,J,T मन्त्र 7. H,V द्युम्न , M,Ma द्रुत 8 H,V आपाद्यया 9. M,Ma पयोब्धि"

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अमृताख्यानमष्टाभिरध्यायैरनुवर्ण्यते। स्वभक्तपक्षपातेन यत्र योषायितं प्रभोः।

पञ्चमे पञ्चमञ्चाथषष्ठं चाऽकथयन्मनुम्। विप्रशापाच्च निश्श्रीकैः कृता देवै हरिः स्स्तुतिः।

**पञ्चम** इति। तामसश्च चतुर्थो मनुः तस्य सोदरो भ्राता।।१-५।।

**तस्येति** तस्य वैकुण्ठसंज्ञस्य हरे रनुभावः सनकादिशापेन दैत्यतां प्राप्ताभ्यां स्वपार्षदाभ्यां वराहादि रूपेण युद्धादिलक्षणः, गुणाश्च ब्रह्मण्यतादयः परमोदयाश्च महर्द्धयः कथिता स्तृतीय स्कन्धादिषु।।६-१०।।

## श्रीवीरराघवविदुषालिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं तामसमन्वन्तरकथन प्रसङ्गानुप्रसक्तं गजेन्द्रमोक्षोपवर्णन मनुवदन् पञ्चममन्वन्तरं श्रोतुं चोदयति मुनिः - **राजन्निति**। हे राजन् ! एतत्पुण्यतमं गजेन्द्रमोक्षणात्मकं हरेः कर्म अघनाशनं दुरितनिवर्तकं मे मया ते तुभ्यं कथितम्। अथ पञ्चमं रैवतं मन्वन्तरं शृणु।।१।।

तत्र पञ्चमो मनुः रैवत इति प्रसिद्धः। स च तामसस्य प्रियव्रतात्मजस्य सोदरः, तस्य रैवतस्य मनोः सुताः पुत्रास्तु बलिविन्ध्यादयः। ते च अर्जुनः पूर्वोख्यो येषां तादृशाः।।२।।

इन्द्रस्तु विभुरिति प्रसिद्धः। हे राजन्! भूतदयादयः भूतदयप्रभृतयः देवाः, हिरण्यरोमादयः सप्तर्षयः।।३।।

एवं मन्वादयः पञ्चोक्ताः। अथावतार माह - **पत्नीति**। शुभ्रस्य भर्तुः विकुण्ठाख्या पत्नी, तयो र्विकुण्ठाशुभ्रयोर्भगवान् कलया अंशेन वैकुण्ठ इति प्रसिद्धोऽन्यैश्च वैकुण्ठाख्यैः सुरसत्तमै स्सह जज्ञेऽवतीर्णः।।४।।

वैकुण्ठाख्यं भगवन्तं विशिनष्टि - **वैकुण्ठ इति**। देव्या रमया लक्ष्म्या प्रार्थ्यमानेन येन वैकुण्ठेन भगवता तस्या लक्ष्म्याः प्रियं कर्तुमिच्छया वैकुण्ठः वैकुण्ठाख्यो लोकः कश्चिदण्डान्तर्वर्ती कल्पितः। स च लोकालोकपर्वतस्यैर्जनैः नमस्कृतः लोकालोकपर्वतोपरि निर्मित इति भावः।।५।।

तस्य वैकुण्ठस्य भगवतोऽनुभावः सनकादिशापेन दैत्यतां प्राप्ताभ्यां जयविजयाभ्यां वराहादि रूपेण युद्धादिलक्षणः प्रभावो गुणाश्च ब्रह्मण्यतादयः परमोदया; महर्द्धयश्च कथिताः। तृतीयसप्तमस्कन्धादिषु कथिताः

1- -1. A,B,J. कृतां देवैर्हरेः स्तुतिम् 2. H.J Omit च 3. W. "कृतग" 4. A,B,T Omit ते 5. W, Omits अथ 6. A,B, "च"

संङ्ग्रहेण कथिता[1]: कात्स्न्नेनाऽधुना कथयेत्यत्राऽऽह - भौमानिति यः पुमान् विष्णोः गुणान्वर्णयन् साकल्येनेति शेषः। स भौमान् भूसम्भवान् रेणून् विममे गणयेत् , भौमानां रेणूनां गणनवद्विष्णोः गुणानां साकल्येन वर्णनमशक्यमित्यर्थः। यद्यपि वराहावतार; स्वायम्भुवमन्वन्तरारम्भकालिकः तृतीयस्कन्धे उक्तः, जयविजययोः सनकादिशापेन दैत्यताप्राप्तिस्तु रैवतमन्वन्तर इति तस्यानुभावः कथितः इत्येतदसङ्गतम्। तथाऽपि दंष्ट्राग्रेण भूमिमुद्धृत्य यावद्धिरण्याक्षसमागम स्तावत्समुद्रे विहरति सति वाराहेऽस्मिन्मन्वन्तरे दैत्यतां प्राप्तो जयस्तेन हत इत्यवगन्तव्यम्। न चैव मपि तद्वधस्य वराहावतारानुभावत्वात् वैकुण्ठावतारानुभावत्व कथनमसङ्गतम् इति वाच्यम्। अवताराणां भिन्नत्वेऽप्यवतारिणो भगवतः एकत्वात् पार्षदयोः दैत्यत्व प्राप्तेः वैकुण्ठावतार समकालिकत्वात् तद्धननस्याऽप्येतत्सङ्कल्पमूलकत्वाच्चेति विभावनीयम्।।६।।

षष्ठं मन्वन्तरमाह - **षष्ठस्त्विति**। षष्ठस्तु मनुश्चक्षुषः पुत्रश्चाक्षुष इति प्रसिद्धः, पूर्वादय श्चाक्षुषस्य मनोरात्मजाः।।७।।

**इन्द्रस्तु** मन्द्रद्रुम इति प्रसिद्धः। तत्र मन्वन्तरे आप्यादयो [2]गणा देवगणाः; हे राजन् ! तत्र मन्वन्तरे हविष्मदादयः सप्तर्षयः। एवं मन्वादयः पञ्चोक्ताः।।८।।

अवतार माह - **तत्रापीति**। तत्राऽपि षष्ठेमन्वन्तरेवैराजस्य भर्तुः सम्भूत्याख्यायां भार्यायांजगती पतिः भगवान् अंशेनाऽजित इति प्रसिद्धोऽभवत्।।९।।

अवतारप्रश्नावसरं प्रयच्छन् [3]अजिताख्यं भगवन्तं[3] विशिनष्टि - **पयोधि** मिति। येनाऽजितेन पयोधिं क्षीरोदधिं निर्मथ्य सुराणां सुधाऽमृतं साधिता सम्पादिता। येन च कूर्मरूपेणाऽम्भसि भ्रममाणो मन्दरोऽद्रिः पृष्ठे धृतः।।१०।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भक्त्या स्तुवतः पुरुषस्याऽपि प्रसन्नो भवति हरि रित्ययमर्थः प्रतिपाद्यतेऽस्मिन्नध्याये तत्राऽदौ क्रम प्राप्तमन्वन्तराधिप कथां प्रसञ्जयति - **राजन्निति**। रेवतस्य विद्यमानं रैवतम्।।१।।

बलविन्ध्यावादी येषां ते तथा। अर्जुनः पूर्वः प्रधानो येषान्ते तथा।।२।।

विभु र्विभुनामा हरिः द्विजाः सप्तर्षयः।।३।।

1- -1. A Omits 2. W.Omits गणा 3- - 3. A,B,T आजित

विकुण्ठायाः [1-]पुत्रो वैकुण्ठः[-1], तयो विकुण्ठाशुभ्रयोः [2-]कलयापि अंशेन[-2]।।४-५।।

भौमान् रेणून् पृथ्वीरजांसि विममे मानं संख्यां करोति।।६।।

पुत्रा उज्यन्ते इति शेषः चाक्षुषात्मजाः पुरुषादय इत्यन्वयः।।७।।

अत्रादिशब्दार्थो ग्रन्थान्तरा दवगन्तव्यः।।८-१०।।

**राजोवाच**

**यथा भगवता ब्रह्मन्! मथितः क्षीरसागरः।**
**यदर्थं वा यतश्चाद्रिं दधाराम्बुचरात्मना।।११।।**

**यथाऽमृतं सुरैः प्राप्तं [3]किंवाऽन्यदभवत्ततः।**
**एत द्भगवतः कर्म वदस्व परमाद्भुतम्।।१२।।**

**त्वया सङ्कीर्त्यमानेन[4] महिम्ना सात्वतां पतेः।**
**नाऽतितृप्यति[5] मे चित्तं सुचिरं तापतापितम्।।१३।।**

**सूत उवाच**

**[6-]विष्णुरातेन सम्पृष्टो भगवान् बादरायणिः[-6]।**
**अभिनन्द्य हरे वीर्यं [7-]मभ्याचष्टु प्रचक्रमे[-7]।।१४।।**

**श्रीशुक उवाच**

**यदा युद्धेऽसुरै र्देवा बाध्यमानाशिशतायुधैः[8]।**
**गतासवो निपतिता नोत्तिष्ठेरन् [9-]पुनश्चते[-9]।।१५।।**

**यदा दुर्वाससश्शापात्[10] सेन्द्रा लोका स्त्रयो नृप।**
**निश्श्रीकाश्चाऽभवं स्तत्र नेशुरिज्यादयः क्रियाः।।१६।।**

**श्रीध० यथेति**। यतो हेतोः अम्बुचरात्मना कूर्मरूपेण।।११।।

यथाऽमृत मिति। सुराणां साधिता सुधेत्युक्त्वा युद्धाद्यपि सूचितमं अतः पृच्छति किञ्चाऽन्य दिति ।।१२-१४।।

**यदेति**। नोत्तिष्ठेरन् न पुनर्जीवन्तिस्मेत्यर्थः।।१५।।

**यदेति**। दुर्वाससा हि कदाचिन्मार्गे गच्छन्त मिन्द्रं दृष्ट्वा स्वकण्ठस्था माला तस्मै दत्ता, तेन च

1- -1. A,B Omit 2- -2. A Omits B,Ma कलयांशेन 3.A,B,G,J,T किञ्चान्य,, M,Ma किमन्य" 4.A,B,G,J,T त्वया सङ्कृत्य, M,Ma त्वयेन्यं कथ्य 5. W. नैव 6- -6. A,B,G,T,M,Ma,T सम्पृष्टो भगवानेवं द्वैपायन सुतो द्विजः 7- -7 H,V "माख्यातु मुप" 8.A,B,G,J,M,Ma,T बाध्यय" 9- -9.A,B,G,J,M,Ma,T स्मभूयशः 10. M,Ma "स शापेन, W.स शशापेन

श्रीमदेनाऽनादृत्य ऐरावतस्य कुम्भयो र्निक्षिप्ता। स च गजोमत्तः पद्भ्यां तां मालां चूर्णीचकार। ततः कुपितो दुर्वासा स्तं शशाप। त्रिभिलोकै स्सह [1]त्वं निश्श्रीको भव इति - तदेत दाह - यदा दुर्वाससश्शापा दिति। इज्यादयो यागाद्याः।१६।।

**वीर०** लब्धावसरः पृच्छति राजा - **यथेति** त्रिभिः। हे ब्रह्मन्! भगवताजितेन यथा क्षीरसागरो मथितः यया रीत्या मथितः, यदर्थं येषां प्रयोजनार्थं मथितः यतश्च हेतो रम्बुचरात्मना कूर्म रूपेणाद्रिं मन्दरं दधार।।११।।

येन च प्रकारेण देवैरमृतं लब्धं, ततो मथनादन्यत् अमृताद्यतिरिक्तमपि वस्तु किं किमभवत्? एत त्पयोदधिमथनात्मकं भगवतोऽद्भुतं कर्म वदस्व।।१२।।

स्वस्थशुश्रूषांव्यनक्ति - **त्वयेति**। त्वया सम्यक् कीर्त्यमानेन सात्त्वतां पते भगवतो महिम्ना मे चित्तं नैव तृप्यति। अतृप्तौ हेतुं वदं श्चित्तं विशिनष्टि - सुचिरं बहुकालं तापेनाध्यात्मिकादितापत्रयेण तापितं दुःखितम्।।१३।।

एवमापृष्टो भगवान् बादरायणिः प्रश्नमभिनन्द्य कथयामासेत्याह सूतः - **सम्पृष्ट** इति। हे द्विजाः! इत्थं सम्पृष्टो भगवान् द्वैपायनसुत श्शुकः राज्ञः प्रश्नमभिनन्द्य हरे र्वीर्य माहात्म्यं अभ्याचष्टुं कथयितुं प्रचक्रमे आरेभे।।१४।।

[2]तदेवाह [2] - यदेत्या[3]द्यष्टभि रध्यायैः। पयोदधिनिर्मथनात्मकं भगवतश्चरित्रं वक्तुं तावत्तादुपोद्घातं प्रपञ्च यति द्वाभ्यामध्यायाभ्याम्। यदाऽसुरैः कर्तृभिः निशितायुधैः साधनै र्युध्यमाना देवाः गतप्राणाः निपातिताः। बहुशः पुन र्नोत्तिष्ठेरन् नाऽजीवन् स्म।।१५।।

यदा च दुर्वाससोमुनेः शापेनेन्द्रेणसहितास्त्रयो लोकाः निश्श्रीका निर्लक्ष्मीकाः निस्सम्पदोऽभवन्। दुर्वाससा हि कदाचिन्मार्गे गच्छन्त मिन्द्रं दृष्ट्वा स्वकण्ठमाला कृपया तस्मै दत्ता। तेन च इन्द्रेण श्रीमदेन अनादृत्य माला ऐरावतस्य कुम्भे निक्षिप्ता। स च मत्तः पद्भ्यां मालां चूर्णीचकार। ततः कुपितो दुर्वासास्तं शशाप त्रिभिलोकैस्सह त्वं निश्श्रीको भवेति तदेत दुक्तं - यदा दुर्वाससश्शापेनेति। तत्र तदा इज्यादयो यागादयः क्रियाः नेशु र्न समर्थाः श्रियं वर्धयितुं नाशक्नुव न्नित्यर्थः।।१६।।

**विज०** यथाकथं यतःकुतः, अम्बुचरात्मना कूर्मरूपेण।।११,१२।।

तापैः आध्यात्मिकादिदुःखैः तापितं क्लेशितम्।।१३।।

---

1. H,V Omit त्वम् 2- -2. W.Omits 3 W. "त्यादिना अष्ट" 4.W Omits त्वं

सूतः शौनकादिसंवादाविस्मरणार्थं राज्ञा पृष्टः श्रीशुक स्तस्य चोद्यं परिहर्तुं मुपक्रमत इत्याह - **सूत** इति।।१४।।

कथ मुपक्रान्तवानिति तत्राऽऽह - **यदेति**। गतासवः प्राणबलरहिताः यदा च नोत्तिष्ठेरन् यदा च निश्श्रीका अभवन् तत्र तदा इज्यादयः क्रियाः नेशुरित्यन्वयः।।१५-१६।।

**निशाम्यैतत्सुरगणा महेन्द्रवरुणादयः।**
**नाध्यगच्छन्स्वयं मन्त्रैः मन्त्रयन्तो विनिश्चयम्।।१७।।**

**ततो ब्रह्मसभां जग्मु र्मेरो र्मूर्धनि सर्वशः।**
**सर्वं विज्ञापयान्चक्रुः प्रणताः परमेष्ठिने।।१८।।**

**स विलोक्येन्द्रवाय्वादीन् निस्सत्त्वान्विगतप्रभान्।**
**लोकानमङ्गलप्राया नसुरान् यथा विभुः।।१९।।**

**समाहितेन मनसा संस्मरन्पुरुषं परम्।**
**उवाचोत्फुल्लवदनो देवान्स भगवान्परः।।२०।।**

**अहं भवो यूयमथासुरादयो मनुष्यतिर्यग्द्रुम घर्मजातयः।**
**यस्यावतारांशकला विसर्जिता व्रजाम सर्वे शरणं तमव्ययम्।।२१।।**

**न यस्य वध्यो न च रक्षणीयो नोपेक्षणीयादरणीय पक्षः।**
**तथाऽपि सर्गस्थितिसंयमार्थं धत्ते रजस्सत्व तमांसि काले।।२२।।**

**अयं तु तस्य स्थितिपालनक्षणः सत्वं जुषाणस्य भवाय देहिनाम्**
**तस्माद् व्रजाम श्शरणं जगद्गुरुं स्वानां स नो दास्यति शंसुरप्रियः।।२३।।**

**श्रीशुक उवाच**

**इत्याभाष्य सुरान्वेधाः सह देवै ररिन्दम।**
**अजितस्य पदं साक्षाज्जगाम तमसः परम्।।२४।।**

**श्रीध०** स इति। असुरान् अयथा देववैलक्षण्येन बलपुष्ट्यादियुक्ता न्विलोक्येत्यर्थः।।१७ - १९।।

**समाहितेति**। हरिं शरणं गता स्सन्तो यथापूर्वं सर्वं प्राप्स्याम इति हर्षेणोत्फुल्लं विकसितं वदनं यस्य।।२०।।

---

1- -1. M,Ma "न्सुरां ह्येव 2. A,B,G,J,T"ोऽ" 3. W."द" 4. B त" 5. A,B,G,J,M,Ma,T अ" 6. A,B,G,J,T च 7. A,B,G,J,M,M,T धा" 8. W लोकात 9. H,V नैपुण्या"

**अहमिति**। मनुष्यादयो जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजाः, यस्यावतारः पुरुष स्तस्यांशो ब्रह्मा, तस्य कल्प मरीच्यादय स्ताभि र्विसर्जिताः, पुत्रपौत्रादिद्वारा जनिताः।।२१।।

ननु तर्हि सर्वेष्वसौ समः स्यात् , किं तच्छरणाश्रयण। सत्यम् , यद्यप्येवं, तथाऽपि अस्मत्पक्षपाती भविष्यतीत्याशयेनाह - न यस्येत्यादिद्वाभ्याम्।।२२।।

**अर्यमिति**। स्थितिपालनस्य क्षणः कालः, अतः सुरप्रियस्सन् स्वीयानां नः शं सुखं करिष्यति।।२३।।

**इतीति**। यत्र क्षीराब्धौ हरे र्वासस्तदेव तमसः परं पदं स्थानम्। यद्वा लोकालोकाद्रेः परतो यत्तमः ततः परं स्थानं जगाम।।२४।।

**वीर०** तदा सुरगणः इन्द्रादिदेवगणः एतत्त्रैलोक्यस्य निश्श्रीकत्वं पतितानां देवानाम् अनुत्थानञ्च निशाम्य दृष्ट्वा स्वयं मन्त्रैर्मन्त्रयन्तोऽपि आलोचनानि कुर्वन्तोऽपि विनिश्चयं सश्रीकत्वाद्यावहोपायनिश्चयं नाध्यगच्छन् न प्रापुः।।१७।।

ततो निश्चयानधिगमनानन्तरं मेरो मूर्धनि स्थितां ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्य सभां सर्वशः सर्वे जग्मुः। तत्र गत्वा सर्वे प्रणताः कृतप्रणामाः परमेष्ठिने ब्रह्मणे विज्ञापयाञ्चक्रुः।।१८।।

ततः श्रुत्वा ब्रह्मा किमकरोदित्यत आह - स इति। ततः स परमेष्ठी विगतप्रभान् निस्तेजस्कान् निस्सत्वान् बलहीनानिन्द्र वाय्वादीन् देवगणान् अमङ्गलान् मङ्गल रहितानिव स्थितान् त्रीन् लोकांश्च विलोक्य तथा असुरान् देवगणाद्विलक्षणान् तेजोबलादि युक्तांश्च विलोक्य सुरानाहेत्युत्तरेणान्वयः विभुर्ब्रह्मा।।१९।।

समीहितेनैकाग्रेण मनसा परमपुरुषं संस्मरन् परमपुरुष शरणवरणेन यथापूर्वं सर्वं प्राप्स्याम इति हर्षेणोत्फुल्लं विकसितं वदनं यस्य स भगवान् ब्रह्मा देवानिन्द्रप्रमुखान् सुरान् देवानुवाच।।२०।।

तदेवाह - अर्हमिति त्रिभिः। अस्मदादयः सर्वे यस्य भगवतोऽवतारः सृष्ट्याधिकृतोऽनिरुद्धः तस्यां शकलया अंशांशेन ज्ञानशक्त्यादिगुणलेशेन विसर्जिताः उत्पादिताः, तमेवाव्ययं भगवन्तं शरणं व्रजाम गच्छाम। यः स्रष्टा स एवास्माकं रक्षिता अतस्तमेव शरणं व्रजाम। इतोऽन्यो न कश्चिदुपायोऽस्तीति भावः। तत्राहं चतुर्मुखः, भवो रुद्रः, यूयं देवाः, द्रुमाः वृक्षाः, धर्मजादयः स्वेदजोद्भिज्जादयः।।२१।।

1. A,B,J "ति 2. B,H,J,V Omit पदं 3. A,B,J "कात्प" 4. A,B,T "घ यन्तो" 5. A,B,T add इत्यर्थः 6. A,B,T add विज्ञापनं चक्रुः इत्यर्थः 7- -7. W Omits 8- -8. तथाऽमङ्ग लग्रायान् 9- -9. W Omits 10.W ०णाविल० 11- -11. W.Omits 12. A,B,T Omit प्र 13. W Omits सुरान् 14. A,B,T "च्छे" 15 A,BT ब्रह्मा 16 A,B,T "त" 17. A,B,T "जा"

ननु तेन यथा वयं सृष्टास्तथाऽसुरा अपि। अत स्ताभ्निगृह्य वैषम्यादिप्राकृतगुणरहितः कथ मस्मान् रक्षिष्यतीत्याशङ्कां निराह - न यस्येति द्वाभ्याम्। तत्र अर्धेनाक्षेपः, सार्धेन तु परिहारः। यद्यप्यस्य वैषम्यनैर्घृण्यादिप्राकृतगुणरहितस्य वध्यादिपक्षो नाऽस्ति, तथाऽपि जगतः सृष्ट्याद्यर्थं, काले सृष्ट्याद्युपभुक्तकाले रजस्सत्वतमांसि धत्ते बिभर्ति। त्रिगुणोन्मेषनिमित्तकर्मानुगुणं प्रवर्तत इत्यर्थः।।२२।।

तर्हि[1-] रजआदि धत्तां नाम, तथाऽपि प्रकृते किमायातमिति चेत् , तत्राऽह - अयन्त्विति। देहिनां भवाय सत्तायै स्थितये इत्यर्थः। सत्वं जुषाणस्य सत्वगुणोन्मेषनिमित्त कर्मानुगुणं प्रवृत्तस्य तस्य भगवतोऽयं स्थितिपालनक्षणः स्थित्यात्मकपालनस्य कालः, सत्त्वप्रधानदेवादिपालनकालोऽय मिति भावः। यत एवं तस्मात्सर्वे वयं जगद्धितकारिणं शरणं व्रजामः रक्षणोपायत्वेन अध्यवस्यामः। स्वानां शरण व्रजनमात्रेण स्वीयत्वेन परिगृहीतानामस्माकं शं सुखं दास्यति यतोऽयं भगवान्[2-] -[2] स्वत एव सुराः प्रिया यस्य तादृशः।।२३।।

[3-]एवं ब्रह्मा सुरा न्प्रत्युक्त्वा अजितस्य भगवतः स्थानं तस्सुरैस्सह जगामेत्याह भगवान् बादरायणिः - इतीति। हे अरिन्दम! [4]कामक्रोधादिदमन! राजन्! इतीत्थं [5]सुरान्देवान् आभाष्य वेधाः[6] ब्रह्मा सर्वं[7-] जगद्वि दधाति सृजतीति तथा तादृशश्चतुर्मुखः[7] देवैस्सह लोकात् यत् परं अलोकाख्यं तमः तस्मा त्तमसः परं अजितस्य भगवतः[8] -[8] पदं स्थानं जगाम [9]ययौ।।२४।।

बिज० यदा देवा निश्चयं नाऽध्यगच्छन् , तत स्तदा ब्रह्मसभां जग्मु रित्यन्वयः।।१७-१९।।

परं पूरकं, सृष्ट्येति शेषः।।२०।।

घर्मजातयः स्वेदजाः।।२१।।

यस्य वध्यादयो न सन्ति।।२२।।

तस्य हरे रयं कालः स्थिति पालनावसरः। धास्यति ददाति, शं सुखम्।।२३।।

अजितस्य हरेः।।२४।।

**तत्राऽदृष्ट स्वरूपाय श्रुतपूर्वाय वै[10-] -[10] विभो।**
**स्तुतिमब्रूत[11] दैवीभिः[12] गीर्भिस्त्ववहितेन्द्रियः।।२५।।**

1--1.W.Omits 2- -2. W.Omits 3- -3.W.Omits 4- -4.W.Omits 5. W.Omits सुरान् 6. A,B,T Omit ब्रह्मा 7- -7. W.Omits 8- -8. W.Omits 9. W.Omits ययौ 10- -10. M,Ma चाऽभ्यधात् , W.चाऽभिभोः 11. W "त 12. M,Ma मब्रुतं

## ब्रह्मोवाच

अविक्रियं सत्य मनन्तमाद्यं गुहाशयं निष्कलमप्रतर्क्यम्।
मनोऽग्रयानं वचसाऽनिरुक्तं नमामहे देववरं वरेण्यम्।।२६।।

विपश्चितं प्राणमनोधियात्मनामर्थेन्द्रियाभासमनिद्र मव्रणम्।
छायातपौ यत्र न गृध्रपक्षौ तमक्षरं खं त्रियुगं व्रजामहे।।२७।।

अजस्य चक्रन्त्वजयेर्यमाणं मनोमयं पञ्चदशार माशु।
त्रिणाभि विद्युच्चल मष्टनेमि यदक्षमाहुस्तमृतं प्रपद्ये।।२८।।

यदेकवर्णं तमसः परं तं दलोकमव्यक्तमनन्त पारम्।
आसाञ्चकारोप सुपर्णमेन मुपासते योगरथेन धीराः।।२९।।

न यस्य कश्चाति तितर्ति मायां यया जनो मुह्यति वेदनार्थम्।
तं निर्जितात्मात्मगुणं परेशं नमामि भूतेषु समं चरन्तम्।।३०।।

इमे वयं यत्प्रियया तन्वा सत्त्वेन सृष्टा बहिरन्त राविः।
गतिं न सूक्ष्मा मृषयश्च विद्महे कुतोऽसुराद्या इतरप्रधानाः।।३१।।

पादौ महीयं स्वकृतैव यस्य चतुर्विधो यत्र हि भूतसर्गः।
स मे महापूरुष आत्मतन्त्रः प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः।।३२।।

**श्रीध० तत्रेति**। दैवीभि र्लोकेऽप्रसिद्धाभिः वैदिकीभिः गीर्भिः स्तुति मकरोत्।।२५।।

**अविक्रिय** मिति। देववरं त्वां नमामहे नमाम। हे देववर त्वां नमामहे इति वा वरत्वे हेतुः - सत्यम्। कुतः ? अविक्रियम्। तत्कृतः अनन्तमाद्यञ्च अनादिम्। आद्यन्तवन्तो हि वृद्ध्यादिविक्रियायुक्ता भवन्ति। किञ्च गुहाशयम् सर्वान्तरम्। कुतः ? निष्कलम् निरुपाधिम्। तत्कुतः ? अप्रतर्क्यम्। तत्कुतः मनोऽग्रयानं मनसोऽपि जविष्टम्। मनः प्राप्ये स्थाने ततः प्रागेव विद्यमानत्वात्। तथा च श्रुतिः - "अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वं मर्षत्। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्" (ईश.उ.4) इति। वचसा अनिरुक्तम् , अविषयत्वात् - "यद्वाचाऽनभ्युदितम् येन वागभ्युद्यते" (केन.उ.1-4) इति श्रुतेः मनो-

1- -1. H V.W Omit 2. M.Ma "इल" 3. A,B,G,J,T यएक 4. M.Ma स" 5. M.Ma "पत्र" 6. M.Ma पिर्पति 7. A,B,G,J,T "म 8. M.Ma यत्कृपयैव 9. M.Ma "रे विभो। 10. A,B,G,J,M,Ma, T से 11. B,H,J,V Omit नमाम 12. H,V "प्राप्यस्था" 13. H,V इत्यादि

वचसोरगोचरत्वात् अप्रतर्क्यम्। यथेष्टं वा। सर्वेषां हेतुहेतुमद्भावः।।२६।।

**विपश्चित** मिति। किञ्च, प्राणादीनां विपश्चितं ज्ञातारम् । आत्मा अहङ्कारो देहो वा, न तु तव्यतिरिक्तं ज्ञेयमस्तीत्याह। अर्थो विषयः इन्द्रियाणि तद्ग्राहकाणि, तदुभयरूपेणाभासत इति तथा तम्। तथाऽप्यनिद्रं स्वप्रद्रष्टृवदज्ञानरहितम्। कुतः? अव्रण मदेहम्। अत एवाऽक्षरम् , ख [1]माकाश मिव व्यापिनञ्च। सर्वत्र हेतुः, यत्र यस्मिन् गृध्रपक्षौ जीवपक्षपातिनौ छायाऽऽतपौ अविद्या च तन्निवर्तिका विद्या च नास्ति तं त्रियुगं त्रिषु युगेष्वाविर्भवन्तं शरणं [2]व्रजामहे [3]व्रजामः ।।२७।।

तदेवमविक्रियत्वादिभिः [4-]सर्वज्ञत्वादिभिश्च[-4] सत्यत्वं वरेण्यत्वञ्चोक्तम् । संसार चक्राधारत्वेनाऽपि तदेव दर्शयन्नाऽऽह - **अजस्येति**। अजस्य जीवस्य चक्रं चक्रवदावर्तमानं देहादि। अजया मायया प्रेर्यमाणं योऽक्षो यस्य [5]यदक्षं यदधिष्ठानमाहुः, तमृतं सत्यं प्रपद्ये। कथम्भूतं चक्रम्? मनोमयं मनःप्रधानम्। [6]ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च[-6] कर्मेन्द्रियाणि पञ्च, पञ्च प्राणाश्चेत्येवं पञ्चदश अरा यस्य । आशु शीघ्रगम्। त्रयो गुणा नाभि रिव मध्ये यस्य, विद्युदिव चलं [7]नस्थिरम् , अष्टौ प्रकृतयो नेमय इवावरणानि यस्य।।२८।।

सर्वजीवनियन्तृत्वादिना च वरिष्ठत्वमाह - **यदिति** य उपसुपर्णं जीवसमीपे तन्नियन्तृत्वेनासाञ्जकार आस्ते स्म। "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते" (श्वेता.उ.4-6) इति श्रुतेः। यद्वा भक्तरक्षार्थं[8] गरुडस्योपरि [9]य उपविष्ट इत्यर्थः। तर्हि देहस्थत्वाद्भक्तरक्षणदि क्रियावेशाद्वा[10] जीवसाम्यं स्या, त्तत्राह - एकवर्णं ज्ञानैकस्वरुपं, तमसः, प्रकृतेः परमलोकमदृश्यमव्यक्तं निर्विकल्प मनन्तपारं कालतो देशतश्चापरिच्छिन्नम् तद्वह्यैवम्[11] अप्रच्युतस्वरूपत्वात् न जीवसाम्यम्। "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" (श्वेता.उ.4-6) इति विशेषश्रवणादित्यर्थः। अत एव [12]यमेनं धीरा योगेन रथेन प्राप्तिसाधने नोपासते भजन्ते तं नमामेत्युत्तरेणान्वयः।।२९।।

मायानियन्तृत्वेनापि जीवसाम्यं परिहरन् वरिष्ठत्वमाह - **न यस्येति**। यस्य मायां कश्च कश्चिदपि नातितितर्ति नातिक्रामति। कथम्भूतम् जनो यया मुह्यति, अर्थमात्मस्वरूपं न तु वेद। निर्जित्त आत्मा आत्मशक्तिर्माया च, तद्गुणाश्च येन तम्।।३०।।

1. B,H,J,V, Omit आकारा° 2. B,H,V Omit व्रजामहे 3. A Omits व्रजामः, B,J,व्रजाम 4- -4. B Omits 5. B,H,J,V Omit यदक्षं 6- -6. A,B,J दस्नेंद्रियाणि 7. B,H,J,V Omit नस्थिरम् 8 A "क्षणा" 9. H,V Omit य. 10. H,V "यादे° 11. A,B,J "ब्र यः अ" 12. H,V Omit एनं

अर्थं न वेदेति यदुक्तं, तत्प्रपञ्चयन्नाह - **इमे वय** मिति। इमे वयं देवा ऋषयश्च यस्य प्रियया तन्वा सत्त्वेनैव सृष्टा अपि बहिश्च अन्तश्च सत्ताप्रकाशाभ्या मावि: प्रकटे मपि सूक्ष्मां गतिं निरुपाधिस्वरूपं न विद्य: इतरप्रधाना रजस्तमोमया:, कुतो विदु:। तं नमा मेति पूर्वेणान्वय: ।।३१।।

इदानीं वैराजरूपेण स्तुवन्प्रार्थयते - **पादौ महीति** द्वादशभि:। यत्र मह्यां जरायुजादिभूतसर्ग: स मही यस्य पादौ स न: प्रसीदतु। आत्मतन्त्र: पदादिमत्त्वेऽपि न तत्परतन्त्र:। कुत:? ब्रह्म अप्रच्युतरूप:। तत्कुत:? महती विभूति रैश्वर्य यस्य स:।।३२।।

**वीर०** तत्र पदे अदृष्टस्वरूपाय। "न मां सचक्षुरभिवीक्षते तम्"। इत्याद्युक्तरीत्या स्वस्य दुर्दर्शनत्वं ज्ञापयितु मदृष्टं ब्रह्मादिभि: कैदाऽपि न दृष्टे स्वरूपं यस्य तस्मै। श्रुतपूर्वाय पूर्वं श्रुत: वेदशास्त्रादिभि रिति श्रुतपूर्व: तस्मै। अजिताख्यो भगवान् अवतीर्ण: इत्येतावन्मात्रं ब्रह्मादिभि: श्रुतं, नतु दृष्ट इति भाव:। एवं विधाय तस्मै, प्रणम्येति शेष:। स्तवहितेन्द्रिय: स्तवाय हितेन्द्रिय: स्तोतुं समहितेन्द्रियो ब्रह्मा दैवीभि: औपनिषदर्थानुकारिणीभि: गीर्भि: आभिभो: स्वयमनभिभूत: इतरानभिभवति जयतीत्यभिभु: अजित:, तस्य स्तुतं भावेक्त:, स्तुति मब्रूत, उवाच अकरोदित्यर्थ:।।२४।।

स्तुत मेवाह - **अविक्रिय** मित्यादिना। तावत् प्रकृतिपुरुषविलक्षणं तत्तदुपनिषत्प्रतिपाद्यं परमात्मस्वरूपं विशोध्य नमस्कृत्य शरणं व्रजति - **अविक्रिया** मिति द्वाभ्याम्। हे देव! त्वां माम: नमस्कुर्म:। बहुवचनमिन्द्रादिदेवताभिप्रायकम्। कथ म्भूतम्! वरं श्रेष्टं, निस्समाभ्यधिकम् अत एव वरणीयम्। वर मित्यनेन - "न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते" (श्वेता.उ.6-8) इति श्रुत्यर्थस्सूचित:। देव वरेण्य शब्दाभ्यां गायत्र्यर्थ:। वरत्वे हेतु: - मनोऽग्रयानम् । वचसाऽनिरूक्तम् , मनसोऽग्रे अविषयत्वेन योऽनिवर्तत इति तथा। वचसा निर्वक्तुमशक्यं, वाङ्मनसाविषयमित्यर्थ:। सर्वं हि चेतनाचेतनात्मकं जगद्वाङ्मनसयो: विषयम् अत एववरम्। परमात्मातु तदविषयत्वाद्वर इत्यर्थ:। यद्यपि परमत्माऽपि योगपरिशुद्धमनोविषयो वेदान्त वाग्विषयश्च, तथाऽपि इयत्तया ताभ्यामपि परिच्छेत्तुमशक्योऽनन्तस्वरूपस्वभावत्वादिति भाव:। वाङ्मनसाविषयत्वे हेतु रप्रतर्क्य मिति। प्रकृतिपुरुष सजातीयत्वेन तर्कितु मशक्यम्। यत्प्रतर्क्यं तदेव वाङ्मनसविषयमिति भाव:। अप्रतर्क्ये हेतु: - निष्कलमिति। कला अवयवा:। निरवयवं कर्मायत्तप्राकृत-

1.A,B,B,J. "हिरन्मय 2. A,B,J "टा" 3.W.Omits कदापि 4- -4. W. अदृष्टं 5- -5. W. Omits

शरीररहित मित्यर्थः। यत्सकलं तदेव प्रतर्क्यमिति भावः। आकाशादिक मपि सकल मेवेति तात्पर्यम्। तर्हि ईदृशः कुत्रास्ते? इत्यत आह - गुहाशयम् अस्मदादि हृदयगुहायामेव शयं[1] शयानं वसन्त मित्यर्थः। स तर्हि किं जीवः? " हृदि ह्यय मात्मा प्रतिष्ठितः" (प्रश्न.उ. 3-6) इति श्रवणात्रेत्याह - आद्यम् आदौ भवमाद्यम्, हृदयावस्थजीवानामपि उपादानकारणतया आदौ वर्तमानम् गुहाशयत्वप्रयुक्तं परिच्छिन्नत्वं वारयति - अनन्त मिति। उपासकानुग्रहाय, अन्तरात्मतया नियमनाय च हृदयावच्छिन्नत्वेऽपि स्वरूपतो देशकालवस्तुपरिच्छेद रहितम् आद्यत्वप्रयुक्तं स्वरूपतः स्वभावतश्च प्रकृतिपुरुषयोरिव प्राप्तं विकारं वारयति। अविक्रियं सत्यमिति अविक्रियं प्रकृतिरिव स्वरूपान्यथाभावरूपविकाररहितम्। सत्यम् , पुरुष इव स्वभावान्यथाभावरूपविकार[2] रहितम्। सद्वारकत्वाद्विकारस्याद्यत्वेऽपि स्वरूपतः स्वभावतश्च निर्विकारमेवेति भावः। अत्र प्रतिपदं "सत्यं ज्ञानमनन्तम्"(तैत्ति.उ. 2-1-1) निष्क्रियं निष्कलं शान्तं निरवद्यम् (श्वेता.उ. 6-19) "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितम्" (कठ.उ. 2-12) "अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्" (ईश.उ. 3-4) "यद्वाचाऽनभ्युदितम् ( केन.उ.1-4 ) इत्यादि श्रुत्यर्थोनुसन्धेयः।।२६।।

अन्यैरपि प्रकृतिपुरुषयो रसम्भावितैः गुणै देवं[3] विशिंषन् शरणं व्रजति - **विपश्चित** मिति। प्राणदीनां विपश्चितं साक्षात्कर्तारम् , तत्रात्मानो जीवाः। न हि सर्वप्रकृतिविकारजीवयुगपत्साक्षात्कर्तृत्वमेकस्य जीवस्य सम्भावितमिति भावः। अर्थाः शब्दादयो विषयाः, तद्ग्राहकाणि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि च। तेषामाभासं प्रकाशकं, जीवानामर्थेन्द्रियप्रकाशकमित्यर्थः। अनिद्रम् निद्राग्रहणं जाग्रदाद्यवस्थात्रयोपलक्षणम् अवस्थात्रय रहितमित्यर्थः। तत्र हेतुः - अन्नणं कर्मायत्तशरीररहितम्। तत्रापि हेतुः छायातपौ अज्ञानं तन्मिश्रं ज्ञानञ्च गृध्रपक्षौ - "गृधू अभिकाङ्क्षायाम्" रागादिमत्पुरुषाश्रयौ यत्र यस्मिन् न स्तः तादृशमक्षरम्। अश्नोते स्सरप्रत्ययः। सर्वव्यापकम्। तत्र दृष्टान्तः - ख माकाशमिव व्याप्त मित्यर्थः। त्रियुगं पूर्णषाड्गुण्यं कृतादि-युगत्रयाविर्भाववन्तं वा व्रजामहे, शरणमिति शेषः।।२७।।

पुनरप्यसाधारणेन धर्मान्तरेण विशिंषन् शरणं व्रजित - **अजस्येति**। मनोमयं चक्रं यदक्षं यः परमात्मा अक्षो यस्य तत्तथोक्तम् यच्छब्दस्य प्रतिनिर्देशः तमिति तं परमात्मानम् ऋतं सत्यम् प्रपद्ये शरणं व्रजामीत्यन्वयः। मनोव्यापारमूलकं संसाररूपं चक्रं अजस्य भगवतोऽजया मायया ईर्यमाणं प्रवर्त्यमानं पञ्चदशारं दशेन्द्रियपञ्चवृत्तिप्राणारम्। त्रिणाभि त्रयस्सत्त्वादयो गुणा एव नाभिर्यस्य तत्,

1. A,B,T Omit शयं 2- -2. W. Omits 3. W.Omits देव

अनुकूलप्रतिकूलेदासीनवृत्त्युपेतं वा। अष्ट नेमि "भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धि रेव च अहङ्कारः" (भा.गी. 7-4) इत्यष्टप्रकृतय एव नेमिर्यस्य विद्युदिव चलं यः परमात्मा अक्ष माश्रयो यस्य तत्, तत्सङ्कल्पमूलक मित्यर्थः। आशु शीघ्रं गच्छतीति तथा।।२८।।

एवं बन्धदत्वरूपोऽनितरसाधारणधर्म उक्तः। अथ मुक्तिदत्वं सूचयन् मुक्तगम्यं लोकं विशिनष्टि - **यदेक** मिति। यदेकवर्णमेकप्रकारं केवलं शुद्धसत्त्वमयमित्यर्थः। तमसः प्रकृतिमण्डलात्परं परस्ताद्विद्यमानम्, "क्षय तमस्य रजसः पराके "(ऋक् . 7-100-5) "आदित्य वर्णं तमसः परस्तात्"(श्वेता . उ . 3-8) इति श्रुतेः। स्थान मिति शेषः। अलोकं संसारिभिः द्रष्टु मशक्यम्। अव्यक्तं रागादि दोषै र्विशेषेणाऽक्तं न भवतीत्यव्यक्तम्। उपसुपर्णं " यत्र पूर्वे साध्यास्सन्ति देवाः" (पु.सू.16) इत्युक्तनित्यसिद्धात्मकाः। सुपर्णा हंसाः, तेषां समीपं सन्निकृष्टं तदधिष्ठितमित्यर्थः। अनन्तपारं निरवधिं "त्रिपादस्यामृतं दिवि" छान्दो.उ.3-12-6) इति श्रुतेः। एवम्भूतं पदं य आसाञ्चकार उपविवेश अधिष्ठितवानित्यर्थः। यञ्च धीराः योगपथेन योगमार्गेण उक्तविधपदप्राप्तये उपासते। यच्छब्दस्य तमित्युत्तरत्राऽन्वयः। तमृत मिति पूर्वेण वा। उपसुवर्ण मिति पाठे उपेत्यस्य आसाञ्चकारेत्यनेन सम्बन्धः। उपसर्गस्य व्यवहितत्वेन प्रयोगःआर्षः। सुवर्णं सुवर्णवत्प्रकाशबहुलं पदं य उपासाञ्चकार उपविष्टवानित्यर्थः।।२९।।

एवं मुमुक्षुभिः उपास्यत्वं मुक्तप्राप्यत्वं नित्यविभूत्यधिपतित्वञ्चाऽनितरसाधरणमुक्तम्। अनेन मुक्तिदत्व मप्यनितर साधारणं सूचितम्। तदेव व्यञ्जयन् नमस्करोति **नेति**। कश्चिदप्ययं जनो मत्प्रभृति जनो यस्य भगवतो मायां नाऽतितितर्तिनाऽतिक्रामति - " दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते"( भ.गी. 7-14) इति भगवदुक्तार्थोऽत्र अनुसन्धेयः। नाऽतितितर्ति, किन्तु तया मुह्यति। अत एव भूतेषु समं सह चरन्तम् अन्तरात्मतया नियमयन्तम् अर्थं परमपुरुषार्थस्वरूपं यं परमात्मानं न वेद न जानाति। यत्प्रसादात्तु अतितितर्ति न मुह्यति वेद चेतिभावः। तं भूतेषु समञ्चरन्तमपि निर्जितात्मात्मगुणम्। एक आत्मशब्दो देहपरः अपस्तु जीवपरः। चिदचिद्दोषास्पृष्टमित्यर्थः। अत एव परेषामस्माक मपीशं नमामः।।३०।।

कश्चाऽप्यस्य मायां नातितितर्तीत्यनेन अस्य दुरवगमचेष्टितंत्वं सूचितम्। तदेव व्यक्तीकरोति - **इमे** इति इमे वयं देवा ऋषयश्च यस्य प्रियया तन्वा शरीरभूतेन सृष्टा अपि " तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकम्"

1- - 1. W. Omits 2 A,B,T Omit सवर्णं 3. W. "त्यन्वयः

( भ.गी. 14-6) इत्युक्तविधसत्त्वगुणप्रधाना अपीति भावः। अत एव बहिरन्तरश्च आविः अविर्भूतज्ञाना अपि यस्य भगवतो गतिं चेष्टां सूक्ष्मां दुर्विभाव्यां न विद्महे। उक्तविधां वयमेव न विद्महेकुत इतरप्रधानाः रजस्तमः प्रधाना असुराद्या जानीयुः।।३१।।

**यदेकवर्ण** मिति। नित्यविभूत्यधिपतित्व मुक्तम्। अथ लीलाविभूत्यधिपतित्वमनितरसाधारणं वक्तुं कृत्स्नजगदन्तर्गतानां पृथिव्यबादिनां[1] तदवयवत्वेन तच्छरीरकत्वं तत्प्रभवत्वञ्च वदन् तं पुरुषसूक्तप्रतिपाद्य-विराड्रूपमुभयविभूत्यधिपतित्वरूपमहाविभूत्यात्मकाऽनितरसाधारणधर्मयुक्तं वारं वारं अनुस्मरन् तत्प्रसादं प्रार्थयते पादौ इत्यादि द्वादशभिः। इयं मही पृथ्वी[2] यस्य स्वकृतैवा स्वेन सृष्टैव। "पद्भ्यां भूमिः" (पु.सू.13) इति श्रुतेः, पादौ स महाविभूतिब्रह्मशब्दवाच्यो नः प्रसीदतामित्यन्वयः। महीं विशिनष्टि - यत्र मह्यां चतुर्विधः जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जरूपोभूतसर्गो भवति। "पुमान्न देवो न नरो न पशुः न च पादपः" (विष्णु. 2-13-98) इत्युक्त चतुर्विधो वा स भगवान् आत्मतन्त्रः स्वतन्त्रः महापुरुषः परमपुरुषो वै राजपुरुषो वा नोऽस्माकं प्रसन्नो भवतु।।३२।।

**विज०** नित्यत्वेनाद्भुताभिः देवस्य हरेः विद्यमानाभिः हरिगुणगणान् प्रतिपादिकाभिः। न न्वादरणीय पक्षो नास्तीति कथं सङ्गच्छते? "परा पूर्वेषाम्" इति श्रुतेः देवानां भगवत्पक्षत्वावगमात् अत्राऽपि देवार्थममृत मथनात् इतिचेत् न। भक्तिवशः पुरुषः "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः"(कठ.उ. 2-22) इत्यादिश्रुतेः देवाना मनुग्राह्यत्वात्तत्पक्षत्वं, स्वार्थं न, इति विवेकात्। "अनुग्राह्यतया पक्षा देवानात्मार्थतो हरेः" (ब्रह्मतर्के) इति वचनात्।।२५।।

वेदशिरोविशारदाना मस्मिं स्तोत्रेऽधिकार इति ज्ञापयन् ब्रह्मा वेदान्तोत्क विशेषणविशिष्टत्वेन **स्तौतीत्याह - ब्रह्मेति**। "निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्" (श्वेता.उ.6-19) सत्यं ज्ञानमनन्तम्"(तैत्ति.उ.2-1-1) आत्मा वा इदमेक एवाऽग्र आसीत्। (ऐत.उ.1-1-1) "हृदय आहितं यत् नैषा तर्केण मति रापनेया" (कठ.उ. 2-9) "नहि सुज्ञेय अणुरेष धर्मः(कठ.उ. 1-21) "महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः" (तैत्रा.उ. 6-32) "विद्यानां प्रथमो वक्ता" "यद्वाचाऽनभ्युदितम्" (केन.उ. 1-5) "यो देवानां नामधा एक एव" "तत्सवितुर्वरेण्यम्" (म.न.उ.11-7) इत्यादिश्रुतयः प्रतीकतो ग्राह्याः, बहुश्रुतिसङ्ग्रहरूपत्वात् पूर्वोत्तर सम्बन्धोऽत्र नान्वेषणीयः।।२६।।

1. A,B,T 'त्यादीनां 2. A,B,T Omit पृथ्वी

प्राणमनोधियात्मनां विपश्चितं वेदितारम् "यः प्राणे तिष्ठन्" (बृह.उ. 3-7-16) "प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः" (बृह.उ. 4-4-18) इत्यादयः "आत्मनि तिष्ठन्" (बृह.उ.3-7-22) इत्यादि । अर्थानीन्द्रियाणि च आभासयति दीपयतीत्यर्थोन्द्रियाभासः,अर्थेन्द्रियाणां सन्निकर्षमुत्पाद्य तद्विषयं ज्ञानं जनयतीत्यर्थः। "यस्य तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (कठ.उ. 6-2-15) यस्ततो भयविच्छदः एवमस्यामेतद्विद्धि[2] अनिद्रम् अस्वप्नमस्रणम् अकायं[3] लिङ्गशरीररहितम् अक्षतं वा। यत्र यस्मिन् हरौ गृध्रस्य सर्वं काङ्क्षमाणस्य जीवस्य पक्षौ पतत्रवद्वर्तमानौ पृथक् अधोर्ध्वमार्गहेतू छायातपौ अविद्याशास्त्रजन्य विद्याल्क्षणौ न स्तः "छायात्वविद्या सम्प्रोक्ता जन्यविद्या तपः स्मृतम् जीवगृध्रस्य तौ पक्षावध ऊर्ध्वपथोः पृथक्रतौ विष्णोस्तु न विद्यते नित्यविद्या स्वरूपिणः" (ब्रह्मतर्के) इति वचनादुक्त एवार्थ इति तं त्रियुगं व्रजामह इत्यन्वयः। त्रीणि युगानि यस्य स तथा तं, तेष्ववतारा दिति "स्वयम्भू स्त्रियुगः कृष्णः शार्ङ्गी दामोदर स्तथा" इत्यभिदानम्। "अक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्" "एत द्ध्येवाऽक्षरं ब्रह्म" (कठ.उ.2-16) खं सुखरूपं ज्ञानरूपं वा। "कं ब्रह्म, खं ब्रह्म" (छान्दो.उ.4-10-4)।।२७।।

अजस्य विष्णो रथीनं चक्रं पुनः प्रवाहरूपेण परिवर्तमानत्वात् चक्रसंज्ञं जगत् यः केशवोऽक्ष मक्षस्थानीयो यस्य तत् यदक्ष माहुः तमृतं प्रपद्ये इत्यन्वयः। चक्रं न वृत्तं तदेवर्त मित्यादि[4] चक्रञ्चेत्केन चिदीर्यमाणं परिवर्तते। अस्य किं प्रेरक मित्यत उक्तम् अजयेति "कार्यते ह्यवशःकर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः (भ.गी.3-5) इति। अस्य वैलक्षण्यमाह - मनोमय मिति। कान्यस्याराणीत्यत्राह - पञ्चदशारमिति। श्रोत्रदीनि दश, शब्दादयः पञ्च, पृथिव्यादीनि वा प्राणादयो वा पञ्च एत एवाराणि दलानि[5] यस्य तत्तथा, तत् आशु शीघ्रभ्रमं व्याप्तं वा। त्रिणाभिः त्रयोगुणास्सत्त्वादयो नाभिः यस्य तत्तथा। यदक्ष मित्यनेनोक्तं केशवाधारत्वं स्पष्टयति - विद्युद्बल मित्यादिना विद्युत् विशेषेण द्योतमानत्वात् ब्रह्म बल माधारो यस्य तत्तथा। "विद्युद्ब्रह्मोत्युपासीत" "जगच्चक्रस्याक्षभूतो बलरूपश्च केशवः"(ब्रह्मतर्के) इति च। देवासुरमनुष्यादयोऽष्टौ नेमि र्यस्य तत्तथा तत्।।२८।।

इदानीं तुरीयमूर्तिं नमति - **यदिति**। एकोवर्णो यस्य तदेकवर्णं स्वरव्यञ्जनविभाग विवक्षा मन्तरेण व्यक्तेरेकत्वम्[6] , अन्यथा षोडशस्वरा इति संख्यानुपपत्तिः। ओमित्ये तदक्षर मिदं सर्वं "प्रणवं हीश्वरं विद्यात् सर्वस्य हृदये स्थितम्। सर्वव्यापिनमोङ्कारम्" तमसोऽज्ञानात्परं तद्रहितमित्यर्थः। तुरीयं तत्सर्वदृक् सदा

1. A,B,M "न" दिवि 2. Ma. adds अज 3. Ma. adds हि 4. Ma. Omits इत्यादि 5 A. Omits दलानि 6 Ma. °रनेकं

प्रकृतेः परं वा। "अक्षरात्परतःपरः" (मुण्ड.उ.2-1-2) "कूटस्थोऽक्षर उच्यते" उत्तमः पुरुषः(भ.गी.15-16) सत् सत्यं ज्ञानं अवसादयति नाशयत्यज्ञानं "न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः" निर्दोषज्ञानं वा ऐकात्म्य प्रत्ययसारम् 'षद्ल गतौ' इति धातुः। अलोकं लोकव्यवहाराविषयम् , अदृष्टमव्यवहार्यमलक्षणम् , अचिन्त्य मव्यपदेश्यम् अत एव अव्यक्तम् अनन्तपारम् अन्तपारवर्जितम् पारं पूरणम् , समुदायो मात्राणा मिति शेषः। अनन्तमात्रमित्यर्थः इति वा। अमात्रोऽनन्तमात्रश्च। धीराः योगरथेन भक्तिपूर्वकध्यानलक्षणरथेन यदुपासते भजन्ति "ओङ्कार आत्मैव संविशति आत्मनाऽऽत्मानम् य एवं वेद" (माण्डू.उ.12) यश्चोपसुपर्णपत्रं सुपर्णपक्षसमीपे जीवाख्यवाहनपृष्ठे आसाञ्चकार उपविवेश। "सर्वस्य हृदये स्थितः", "य आत्मनि तिष्ठन्" (बृह.उ.3-7-22) "द्वा सुपर्णा सयुजा" (मुण्ड.उ.3-1-1)।।२९।।

जनो यया मायया वेदन्तार्थं ज्ञानविषयं हरिं प्रति ज्ञानाख्यपुरुषार्थं वा। मुह्यति "अनीशया शोचति मुह्यमानः"(मुण्ड.उ.3-1-2) कञ्चन तामसप्रकृतिः यस्य तां मायां नाऽति तितर्ति नाऽतिक्रामति अत्येतुं समर्थो न भवति। सात्त्विकश्चे दस्य प्रसादेन जानाति। "अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते" (माण्ड.उ. गौडपा. का. 1-16) "यमेवैष वृणुते" (कः.उ.2-22) तं नमामीत्यन्वयः। नितरां जित आत्मा आत्मगुणाश्च येन स तथा तम् "निवृत्तेस्सर्व दुःखाना मीशानः प्रभुरव्ययः" (आगम.10) "एको देवः सर्व भूतेषु गूढः" (श्वेता.उ.6-11) "स एष सर्वेश्वरः एष सर्व एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य" (नृ.पू.ता.4-2)।।३०।।

सात्त्विकानामपि भगवत्कटाक्षवीक्षामन्तरेण तज्ज्ञानं दुरापमित्यर्थादुक्तं तत् स्पष्ट माह - इम इति। विभो! यत्कृपयैव येन सत्त्वेन गुणेन सृष्टाः येन बहिरन्तरञ्च सृष्टाश्चेमे वयं यस्य तव सूक्ष्मां गतिं विश्वव्यापिनीं सच्चिदानन्दाकृतिं न विद्महे, यदनुग्रहमन्तरेण इति शेषः। न च ज्ञानाभावात् तज्ज्ञानाभाव इत्याह - ऋषयश्च ज्ञानिनोऽपि; अन्यथा ब्रह्मादीना मप्राधान्यं स्यात् कैमुत्यन्याय माह - कुत इति। हेतुगर्भ विशेषण माह - इतरेति। इतर स्तमोगुणः प्रधानो येषां ते, तथा।।३१।।

स्वकृतेयं मही यस्य पादाविव न स्वरूपपादौ यत्र यस्यां मह्यां जरायुजादिचतुर्विधो भूतसर्गः स वै स एव प्रसीदता मित्यन्वयः। महापुरुषः पुरुषोत्तमः महा द्विविधं भवनं यस्य स तथा। विविधभवन मेकस्य कथ मुपपद्यते इति तत्राह - बह्य अपरिच्छिन्न गुणपूर्णत्वात्। अथ कस्मा दुच्यते ब्रह्मेति? "बृहन्तो ह्यस्मिन्

गुणाः" इति श्रुतेः। पादावित्यनेन "पादोऽस्य विश्वाभूतानि" (पु.सू.2) इति श्रुत्युक्तार्थः:। "पातालमेतस्य हि पादमूलम्" (भाग.2-1-26) इति स्मृत्युक्तार्थश्चेति उभयं वक्ष्यत इति ज्ञातव्यम्।।३२।।

**अम्भस्तु यद्रेत उदारवीर्यं सिध्यन्ति जीवन्त्युत वर्धमानाः**
**लोकास्त्रयोऽथाखिललोकपालाः प्रसीदतां नः[1] स महाविभूतिः।।३३।।**

**सोमं[2] मनो यस्य समामनन्ति दिवौकसां वै बल मन्ध आयुः।**
**ईशो नगानां प्रजनः प्रजानां प्रसीदतां नः[3] स महाविभूतिः।।३४।।**

**अग्निं मुखं यस्य तु जातवेदाः जातः क्रियाकाण्ड निमित्तजन्मा।**
**अन्तःसमुद्रे[4] तु पधन्स्वधातून् प्रसीदतां नः स महाविभूतिः।।३५।।**

**यच्छक्तिरासी त्तरणि र्देवयानं त्रयीमयो ब्रह्मण एष धिष्ण्यम्।**
**द्वारञ्च मुक्ते रमृतस्य मृत्योः प्रसीदतां नस्स महा विभूतिः।।३६।।**

**प्राणादभूद्यस्य चराचराणां प्राणोस्सहो[6] बल[7] मोजश्च वायुः।**
**अन्वास्म सम्राजमिवाऽनुगा[8] वयं प्रसीदतां नस्स महाविभूतिः।।३७।।**

**श्रोत्रा दिशो यस्य हृदश्च खानि प्रजज्ञिरे खं पुरुषस्य नाभ्याः[9]।**
**प्राणेन्द्रियात्मासुशरीरकेतनं[10] प्रसीदतां नस्स महाविभूतिः।।३८।।**

**बलान्महेन्द्र स्त्रिदशाः प्रसादान्मन्योर्गिरीशो[12-] धिषणाद्विरिञ्चः[12-]।**
**खेभ्यश्च छन्दां स्यृषयो मेढ्रतः[13] कः प्रसीदतां न स्य महाविभूतिः।।३९।।**

**श्रीर्वक्षसः पितरश्छायया ऽऽसन् धर्मःस्तनादितरः पृष्ठतोऽभूत्।**
**द्यौर्यस्य शीर्ष्णोऽप्सरसो विहायात्[14] प्रसीदतां नस्स महाविभूतिः।।४०।।**

**श्रीध० अम्भ** इति। उदारं वीर्यं शक्तिः यस्य तदम्भोयस्य रेतः स नः प्रसीदतु। उदारवीर्यता माह - यतोऽम्भसो लोकादयः सिध्यन्ति जायन्ते।।३३।।

**सोम** मिति। यस्सोमो देवाना मन्धेऽन्नम्, अत एव बल मायुश्च। नगानां वृक्षानाम्। प्रकर्षेण जनयति वर्धयतीति प्रजनः तम्, यस्य मनः समामनन्ति[15], स नः प्रसीदतु।।३४।।

---

1. A,B,G,J,M,Ma,T ब्रह्म 2. H,V,W सोमो 3. H,V,W ब्रह्म" 4. A,B,G,J,T, "द्रेऽनुणचरन्त्व, M,Ma द्रे पञ्चतर स्त्व" 5. A,B,G,J,T,W "तस्य मृत्यु: 6. A,B,G,J,M,Ma,T "णा" 7. M,Ma add वै 8. H,V,W "नुग" 9. M,Ma नाभे. 10. M, Ma स्व 11 A,B,G,J,T "केतं, M,Ma बन्धु: 12- -12. H,V "गिरित्रो परुषा: M,Ma "गिरीशोऽशरणा": W.गिरित्रो हर्षा" 13. M,Ma "तस्तु प्र" 14. A,B,G,H,J,M,Ma,T.V "रात् 15 H,VOmit न:

**अग्नि रिति**। अग्निर्यस्य तु मुखं जातः। कथम्भूतः जातं वेदो धनं यस्मात्। क्रियाकाण्डं तत्प्रतिपाद्यं कर्म तन्निमित्तं जन्म यस्य अन्तस्समुद्रे उदरमध्ये स्वधातू न्याकार्हा नेवान्नादीन् अनुपचन्[1]। प्रसिद्धसमुद्रेऽपि बडबानल[2]रूपेण उदकान्येवाऽनुपचन् अग्निः[3]।।३५।।

**यदिति** एष तरणिः आदित्यो[4] यस्य चक्षुः आसीत्। कथम्भूतः? देवयानमर्चिरादिमार्गदेवता। त्रयीमयः "सैषा त्रय्येव विद्या तपति" इति श्रुतेः। ब्रह्मणो धिष्ण्य मुपासनास्थानम्। "य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः" (छन्दो.उ.1-6-6) इति श्रुतेः मुक्तेर्द्वारं देवयानत्वात्, अमृतञ्च पुण्यलोकत्वात्। मृत्युञ्च कालात्मकत्वात्। एवम्भूत स्तरणिः यस्य चक्षुः स नः प्रसीदतु[5]।।३६।।

**प्राणादिति**। कथम्भूतो वायुः चराचराणां **सह** आदिधर्मवान् प्राणः यं प्राणं वयं बुद्ध्याद्यधिष्ठितारो देवाः सभ्राजं भृत्या इव अन्वास्म अनुसृत्य स्थिताः। एवम्भूतो वायुः यस्य प्राणादभूत् सः तत्र[6] सहो मनस उत्साहः, बलंशारीरम्, ओज ऐन्द्रियम्[6]।।३७।।

**श्रोत्रादिति**। स्वानि देहगतानि छिद्राणि, प्राणः पञ्चवृत्तिः, इन्द्रियाणि च आत्मा मनश्च असवो नागकूर्मादयः, शरीरञ्च तेषां केतनम्[7] आश्रयभूतं स्वं यस्य पुरुषस्य नाभ्याः प्रजज्ञे, सः ।।३८।।

**बलादिति**। यस्य बलान्महेन्द्रोजज्ञे। त्रिदशा[8] देवाः धिषणात् बुद्धेः[8]। छन्दांसि ऋषयश्च स्वेभ्यः। कः प्रजापतिः।।३९।।

**श्रीरिति**। इतरोऽधर्मः।।४०।।

**वीर०** तथा अम्भो[9] जलं यद्रेतः[10] यस्य कार्यभूतं त्रयो लोकाः लोकपालाश्च सिध्यन्ति, यत[11] इति शेषः यस्मादुत्पद्यन्ते जीवन्ति येनेति शेषः। वर्धमानाः यत्रेति शेषः। स ब्रह्म शब्दवाच्यो महाविभूति नः प्रसीदताम् ।३३।।

सोमं चन्द्रमसं यस्य मनो वदन्ति "चन्द्रमा मनसो जातः" (पु.सू.) इत्यादिश्रुतयः[12]। सोमं विशिनष्टि - य स्सोमो दिवौकसां देवानाम् अन्धमन्नम्, अमृतकरत्वात्[13], अत एव बलमायुश्च। नगानां वृक्षाणां प्रजानां चराणाञ्च प्रकर्षेण जनयति वर्धयतीति प्रजनः। अत एव तेषामीशो यः सोमः तं यस्य मनो वदन्ति मनसो जातं, विराड्रूपस्य मनःस्थानीयञ्च वदन्ति स ब्रह्म महाविभूतिर्नः प्रसीदताम्। बलादीनि परमात्मविशेषणानि

1. H,VOmit अनुपचन् 2. A,B,T बाडब" 3- -3. A,B,J add यस्य मुख सः 4 H,V Omit आदित्यः 5- -5. H.V. Omit 6- -6. B,H,J,VOmit 7 A,B,J "तमा" 8- -8. B,H,J,V,Omit 9. W.Omit जल 10 A,B,T यत्कार्यं 11 A,B,T Omit यत: 12. - - 12 A,B,T इति श्रुतेः 13 A,B,T add इति भाव.

वा। देवादीनां यश्च बलादिहेतुः स ईशो ब्रह्म महाविभूतिः प्रसीदितामिति।।३४।।

तथा यस्याऽग्निर्मुख मुच्यते। "मुखादिन्द्रश्चाऽग्निश्च"(पु.सू.1-6) इत्यादि श्रुतिभिः यस्य मुखस्थानीयो मुखाज्जातश्चाऽग्निः स ब्रह्म महाविभूतिः प्रसीदता मित्यन्वयः। यस्य मुखमग्नि र्जात इति वाऽन्वयः अग्निं विशिनष्टि - जातवेदाः जातं स्वस्विन् निहितं चारु पुरोडाशादिकमिन्द्रादिभ्यो वेदयति 'विद्लाभे' प्रापयति इति जातवेदाः, तथा क्रियाकाण्डनिमित्तजन्मा क्रियाकाण्डनिमित्तं यज्ञादिक्रियाकलापात्मकवेदपूर्व भागार्थानुष्ठाननिमित्तं जन्मायस्य सः। अन्तस्समुद्रे समुद्रो देहम् "त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्" इति न्यायेन जलांश प्रचुरत्वात् अन्तस्समुद्रे देहमध्ये जाठररूपेण स्वधातून् स्वाधिष्ठितदेहस्थान्[2] शुक्लशोणितादि सप्तधातून्, पचन् परिणमयन्। एवम्भूतोऽग्नि र्यस्य मुखं सः प्रसीदताम्।।३५।।

तथा तरणिरादित्यो यस्य चक्षुरासीत्। "चक्षोस्सूर्यो अजायत" (पु.सू. 1-6) इति श्रुतेः। स महाविभूतिः नो[3]ऽस्माकं प्रसीदताम्। तरणिं विशिनष्टि - देवयानमर्चिरादिमार्गभूतः, त्रयीमयः ऋग्यजुस्साम प्रचुरः, स[4] एष तरणिः ब्रह्मणः परस्य धिष्ण्यं स्थानं "य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते"(छान्दो.उ.1-6-6) इति श्रुतेः। ब्रह्मण उपासनस्थान मित्यर्थः। मुक्त द्वारं देवयानत्वात्[5] अमृतञ्च अमृतसाधनं पुण्यानुष्ठानकालज्ञापकत्वात्[6] मृत्युः उदयास्तमयाभ्याम् आयुर्व्यय करत्वात्एवम्भूतस्तरणिर्यस्य चक्षुः स महाविभूतिः प्रसीदताम्।।३६।।

तथा यस्य प्राणाद्वायुरभूत् "प्राणाद्वायुरजायत"(पु.सू.1-6)इति श्रुतेः। स महाविभूतिः प्रसीदताम् कथम्भूतो वायुः? चराचराणां भूतानां सह आदिर्जनयिता। तत्र सहो मनसो बलम्। [7]बलं दैहिकम्। ओज इन्द्रियाणां बलं, प्राणः पञ्चवृत्तिमान्, यं पञ्चवृत्तिं प्राणं वायुं बुद्ध्याद्यधिष्ठातृदेवताः, सम्राजं सार्वभौम भृत्याः इव अन्वास्म अनुवर्तिनः स एवम्भूतो वायुः यस्य प्राणा दभूत् स प्रसीदताम्।।३७।।

तथा यस्य श्रोत्रा द्दिशो जज्ञिरे - "दिशः श्रोत्रात् पुरुषसूक्ते (पु.सू.1-6) श्रवणात्। स्वानि देहगतच्छिद्राणि हृदा जज्ञिरे हृदया दुद्भूवुः। पुरुषस्य वैराजस्य नाभ्याः खमन्तरिक्षं जज्ञे। "नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्" (पु.सू. 1-6) इति श्रुतेः। प्राणशब्दः कर्मेन्द्रियपरः, इन्द्रियशब्दो ज्ञानेन्द्रियपरः आत्मामनः, असुशब्दः पञ्चवृत्ति प्राणवायुपरः शरीरञ्च इत्येतेषां केतनं आश्रयं खं यस्य नाभ्यजज्ञे स प्रसीदताम्।।३८।।

---

1 - -1. A,B,T इत्यन्वयः 2. A,B,T add धातून् 3. W Omits अस्माकम् 4. W Omits सः 5.A,B,T add इति भावः 6.A,B,T इति भावः 7.A,B,T Omit बलं

यस्य बलान्महेन्द्रो जज्ञे। प्रसादात् त्रिदशा जज्ञिरे। मन्योः क्रोधात् गिरित्रो रुद्रः, हर्षाद्विरिञ्चो ब्रह्मा, खेभ्यः छन्दांसि गायत्र्यादीनि। "छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्" (पु.सू.1-4) इति श्रुतेः ऋषयश्च खेभ्यो विवरेभ्यः जज्ञिरे।मेढ्रात् कः प्रजापतिः, मेढ्राधिष्ठाता सः प्रसीदताम्।।३९।।

तथा यस्य वक्षसः श्रीस्समत् जज्ञे। छायया छायातः पितर आसन्, स्तनाद्धर्मः, पृष्ठतः इतरोऽधर्मः, शीर्ष्णः शिरसः द्यौः। "शीर्ष्णो द्यौस्समवर्तत" (पु.सू.1-6) इति श्रुतेः। विहासादप्सरसः आसन् सः प्रसीदताम्।।४०।।

**विज०** इदञ्चैकं महाविभूतित्वं हरेर्युक्तमित्याह - **अम्भ** इति। त्रयोलोका अथ अखिलल्लोकपालाश्च उदारवीर्यं उत्कृष्टबलं यदम्भो यस्य रेतो भवति तेन वर्धमानाः सिध्यन्ति सिद्धा अवाप्तफला भवन्ति जीवन्ति उत अन्तरमपि तृप्तिलक्षणं जीवन मापुवन्ति अपि सोऽर्चंत परं तस्यार्चत आपो जायन्ते "आपो नारा इति प्रोक्ताः आपो वै नरसूनवः" (विष्णु.पु.1-4-6) "यद्यत्प्रथमंममृतं तद्वसव उपजीवन्ति"इत्यादि सूर्य सोमयमेन्द्रादीन् महेन्द्रादीन्वा विनाऽन्ये अखिलल्लोकपाला अद्भिर्जीवन्ति। किञ्चापां सोमस्य च जीवनप्रदा इन्द्राद्या इतीमं विशेषं तुशब्दो ज्ञापयति। इममेव विशेषं तुशब्दो ज्ञापयति इति कुतः अन्यत्किं न स्यात् इतीयं शङ्का "सूर्य सोम यमेन्द्रादी नृतेऽन्ये लोकपा अपि। अद्भि र्जीवन्ति सोमाञ्च महेन्द्रादीनृतेऽखिलाः। अपां सोमस्य चेन्द्राद्याः सर्वे वै जीवनप्रदाः (ब्रह्मतर्के) इत्यनया परिहृतेति ज्ञायते। महती विभूतिः सूर्यसोमविधि विशेषकल्पकैश्वर्यलक्षणा यस्य स तथा एवं विधः क इति तत्राह ब्रह्मेति।।३३।।

यो दिवौकसां बल मन्ध आयुर्वै बलाद्यभिवृद्धिहेतुः यश्च नगानां वृक्षाणामङ्कुर जननसामर्थ्य प्रदत्वेनेशः यश्च प्रजानां प्रजनः सुरतानन्दगर्भलक्षणहेतुः तं सोमं यस्य मनः स मामनन्तीत्यन्वयः। तं देवाना मन्नम्, इन्द्रादीन् ऋते इति शेषः। अथ यच्चतुर्थ ममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति, सोमेन सुखेन इति। सोमं यस्य मन स्समामनन्ति, यो देवानां बलादिहेतुः, यश्च नगाना मीशो यश्च प्रजानां प्रजनः स हरिः प्रसीदताम् इति वा। सोमेन देवादि बलप्रदत्वेन महाविभूतिः "सोमोदद्गन्धर्वाय, सोमः प्रथमः", (मन्त्रप्रश्ने) "ब्रह्मा देवानां पदवीं कवीना मृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणां श्येनं गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमःपवित्रमत्येति रेभन्" (म.ना.उ.8-4) अथवा देवादिबलप्रदमहाविभूतिकः।।३४।।

---

1.W स्वयं 2.A.B.T "त्त" 3 - - 3 A,B,Ma Omit

अग्नि र्यस्य मुखं मुखाज्जातः। "सप्तसुप्रथमा" इति पञ्चम्यर्थे प्रथमा। मुखमाश्रित्य वर्तते च। अग्रणीत्वादग्निरिति[1] अग्निशब्दस्याऽन्यत्र प्रपत्तिसम्भवात् कथं निर्णयः स्या दिति तत्राह - जातवेदा इति "अग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीत् जातवेदा वा अहमस्मि"(केन.उ. 3-4) इति। जातं सर्वं वेत्तीति जातवेदश्शब्दस्याऽपि सावकाशत्वेन पूर्वोक्तसंशयानिस्तारः स्यादिति तत्राह क्रियेति। क्रियाकाण्डमेव निमित्तं तत् तथा तेन जन्म यस्य स तथा "अग्निर्वै देवानां मुखं हृदयतमः" इति श्रुतेः। अग्निमुखेन इन्द्रादि देवतानां स्वर्हविर्भागप्राप्त्यर्थमग्निहोत्रादौ मथनादिना अग्नेः प्रसिद्धस्य जन्मोपपत्तिरिति तद्वसव उपजीवन्ति अग्निनैव मुखेनेति च अग्नेः पाचकत्वशक्तिरपि श्रीहरिर्निनयतेत्यभिप्रायेणाह अन्तस्समुद्रे उदरान्तः स्थित्वा स्वधातून् स्वाधीनानि चतुर्विधान्यन्नानि पचतो जरयतः "अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुः तत्पुरीषं भवति। यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणुस्तन्मन"(छान्दो.उ.3-6-5-1) इति। "पचाम्यन्नं चतुर्विधम्" (भ.गी.15-14) इति सर्वोपकारकाग्निजनकत्वलक्षणमहाविभूतिः[2]। तुना वाचोऽपि हरे र्मुखं क्षेत्रमिति सूचयति "वाचो वह्नेर्मुखं क्षेत्रम्" इति स्वोक्तेः।।३५।।

तरणिः सूर्यः यस्य चक्षुष आसीत् इत्यन्वयः। "चक्षोस्सूर्यो अजायत"(पु.सू.1-6) तरन्त्यनेन संसारं पुरुषाः इति तरणिरिति नाम सूचितमर्थं स्पष्ट माह - **देवेति**। देवानां संसारं मुक्त्वा गतानां यानं मार्गः उत्तरायणमार्गदेवतेत्यर्थः। अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मान मन्विष्य आदित्यमभिज्ञायते त्रय्यामीयत इति त्रयीमयः। वेदप्रतिपाद्येषु प्रधानं वा। त्रयीमयाय त्रिगुणात्मधारिणे एष तरणिः ब्रह्मणः परमात्मनो धिष्ण्यमभिव्यक्तस्थानम् "यश्चात्सावादित्ये" (तैत्ति.उ.2-8) "ध्येयस्सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती" मृत्यो स्संसारात् मुक्ते द्वारम्, द्वयोर्मुक्तयोः कस्या इति तत्राऽऽह[3] - अमृतस्येति। विदुषां विषयस्येत्यर्थः स यावत्क्षिप्येन्मन स्तावदादित्यं गच्छत्येतयैव खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं विरोधोऽविदुषाञ्चामृतस्य[4] मुक्तेर्मृत्योश्च प्राप्तिहेतुरिति वा। एवं विधमाहात्म्योपेतसूर्यजनकमहाविभूतिः।।३६।।

चराचराणां सहो बलजो हेतुः स्वयञ्च तादृग्गुणः अधिभौतिकं वायुरध्यात्मं प्राणो यस्य हरेः प्राणात्सह आदिगुणवदात्मनोऽभूत् "आत्मन एष प्राणो जायते नान्वरिष्टप्राण उवाच मा मोह मपद्यथ अहमेवैत न्पञ्चविधमात्मानं विभज्यैतत् बाणमवष्टभ्य विधारयामि" (प्रश्न.उ.3-3) इति ते प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति एषोऽग्नि

1.A "दग्निश 2. Ma omit महा" 3. A,B अ° 4. Ma adds विषयस्य

स्तपत्येष सूर्यः प्राणैकऋषिरत्र विश्वस्य सत्पतिः वय मासाद्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः वयं यज्ञ सम्राज मन्वास्म वयं प्राणनामानं चक्रवर्तिनमनुवर्तिन माहव इव प्राणचतुर्मुखयोरेकत्वादिवेति अन्यत्रावधारणार्थं यथा सम्राडे[1] वाधिकृतान्नियुङ्क्ते एतान् ग्रामानधितिष्ठस्वेति। एवमेवैष प्राण इतरान्प्राणान् पृथगेव सन्निधत्ते पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणःस्वयं, प्रतिष्ठित इति शेषः। सम्राजं यं भगवन्तमन्वास्मैवेति वा। सर्वोत्तम प्राणजनकमहाविभूतिः "प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः" (बृह.उ.4-4-18)।।३७।।

यस्य श्रोत्रा दिशो, यस्य हृदयाञ्च खानीन्द्रियाणि, यस्य पुरुषस्य नाभेश्च खमाकाश इत्यते प्रजज्ञिरे इत्यन्वयः। अत्र " चन्द्रमा मनसो जातः" (पु.सु.1-6) इत्यारभ्य "दिशः श्रोत्रात्" (पु.सु.1-6) इत्यन्तं वाक्यं प्रमाणं दर्शयति। तैजसाहङ्कारगुणव्यञ्जकहृदयादीन्द्रियाणीत्यर्थः। तैजसानीन्द्रियाणीत्युक्तेः। "सहस्रशीर्षा पुरुषः" (पु.सु.1-1) प्रसन्नो भवत्वित्यन्वयः। प्राणेन्द्रियाणि व्याप्य तिष्ठतीति प्राणेन्द्रियात्मा ब्रह्मणो वा एतानि करणानि "एतत्सर्वं परे आत्मनि सम्प्रतिष्ठते पृथिवी च" (प्रश्न.उ.4-70) इत्यारभ्य प्राणश्च विधारयितव्यश्च इत्यनेन काठकोपनिषद्गतेन वाक्येन सविस्तर उच्यते स्वशरीरभूतायाः पृथिव्याः बन्धुः "यस्य पृथिवी शरीरम्" (बृह.उ. 3-7-3) दिङ्नामदेवतादिसर्जनप्रतीतं[2] स महाविभूतित्वं।।३८।।

गुणगुणिनोरभेदाभिप्रायेणाह - बला दिति। बलादिगुणेभ्यः इन्द्रादीना मुद्भवः निर्दोषत्वेन मन्युरहितस्य न मन्युस्वभावः। तादृक्स्वभावरूपीति सर्जनाभिप्रायाद्दर्शितः[3]। "कारणगुणः कार्येषु समवैति" इति न्यायरक्षणार्थञ्च अशरणात्स्वाधिष्ठानाल्लयोदधौ पृथिव्याद्यधिष्ठानाभावात् स्वमहिम्न एवेत्यर्थः। 'किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणे स्वे महिम्नि धिषणा' दिति केचित्पठन्ति। सप्तेन्द्रियैः सप्तच्छन्दांसि ऋषयः प्रजापतयः, "क स्तस्य मेढ्रम्" (भाग.2-1-32) इत्युक्तेः विरिञ्चादि देवजनकमहाविभूतिः।।३९,४०।।

**विप्रो मुखाद्ब्रह्म[4] च यस्य गुह्यं राजन्य आसीद्भुजयोर्बलञ्च।**
**ऊर्वोर्विडोजोऽङ्घ्रिरवेदशूद्रौ[5] प्रसीदतां[5] न स्स महाविभूतिः।।४१।।**

**लोभोऽधरात्प्रीति रुपर्यभूद् द्युतिर्नस्तः पशव्यः[6] स्पर्शेन कामः।**
**भ्रुवोर्यमः पक्ष्मभवस्तु कालः प्रसीदतां न स्स महाविभूतिः।।४२।।**

**द्रव्यं वयः कर्मगुणान्विशेषं[7] यद्योगमाया विहितान्[8]वदन्ति।**
**यद्विभाव्यं प्रबुधावबोधं[9] प्रसीदतां नस्स महाविभूतिः।।४३।।**

1. A,B, "डि" 2. A,B,M "तम" 3. A,B,Ma "त 4. A,B,G,J,T मुखं ब्रह्म 5- -5 M,Ma "विशोऽङ्घ्रे रभवन् च शूद्राः 6. M,Ma "ष्य" 7. M,Ma "णाश्च 8. M,Ma "ताः व" 9. A,B,G,J, H,T,V "धापबाधं

**नमोऽस्तु तस्मा उपशान्तशक्तये स्वाराज्यलाभप्रतिपूरितात्मने।**
**गुणेषु मायारचितेषु वृत्तिभिर्न सज्जमानाय नमस्स्वभूतये।।४४।।**

**स त्वं नो दर्शयात्मान मस्मत्करणगोचरम्।**
**प्रपन्नानां दिदृक्षूणां सस्मितं ते मुखाम्बुजम्।।४५।।**

**तै स्तैः स्वेच्छाधृतै रूपैः काले कलि स्वयं विभो।**
**कर्म दुर्विषहं यन्नो भगवां स्तत्करोति हि।।४६।।**

**क्लेशभूर्यल्पसाराणि कर्माणि विफलानि हि।**
**देहिनां विषयार्तानां न तथैवाऽर्पितं त्वयि।।४७।।**

**नावमः कर्मकल्पोऽपि विफलायेश्वरार्पितः।**
**कल्पते पुरुषस्यैष सह्यात्मा दयितो हितः।।४८।।**

**श्रीध०** विप्र इति विड्वैश्यः। ओजोनैपुण्यं तस्य वृत्तिः अङ्घ्रिः अङ्घ्रिजावित्यर्थः। अवेदशूद्रौ अवे दो वंदव्यतिरिक्ता शुश्रूषा वृत्तिः तद्वृत्तिमान्। शूद्रश्च। "ऊर्वो विशोऽङ्घ्रेरभवंश्च शूद्राः" इति पाठान्तरं सुगमम्।।४१।।

**लोभ** इति। उपर्युत्तरोष्ठात्। नस्तः नगसिकातः। द्युतिः कान्तिः पशव्यः पशूनां हितः कामः स्पर्शनाभूत्।।४२।।

**द्रव्य** मिति। द्रव्यं भूतानि वयः काल; विशेषः भौतिकप्रपञ्चः। यत् यस्मात् दुर्विभाव्यम्। कुतः प्रबुधापबाधं विव्दद्भि रपोह्यमानम्। पाठान्तरे प्रबुधानां मायेत्यवबोध्यो यस्मिन्नित्यर्थः।।४३।।

तदेव सप्रपञ्च मुपवर्ण्य निष्प्रपञ्चं उपवर्णयन् प्रणमति **नमोऽस्त्विति**। वृत्तिभि र्दर्शनादिभिः नभस्वान्वायुः तस्यैव ऊति र्लीला यस्य तस्मै।।४४।।

**स** इति। ते सस्मितं मुखाम्बुजं दिदृक्षूणां नोऽस्मच्चक्षूरादिकरण गोचरं यथा भवत्येवंञ्चात्मानं दर्शय।।४५।।

भक्तेच्छानुवर्तित्वं च तव बहुशो दृष्टमेवेत्याह **तैस्तैरिति**। यन्नो दुर्विषहमशक्यं कर्म तद्भवान् स्वय मेव करोति हि।।४६।।

1 M,Ma परि 2 A,B,G,H,J,T,V नभस्वद्रूपयं 3. M,Ma "रः 4. M,Ma प्रयताना 5. M,Ma कृ" 6- -6. H,V,W भवान्वै तत्कं, M,Ma भगवान् थे क"7. A,B,G,J,T ला. M,Ma च 8. H.V. "र्ता" 9. M,Ma "ध" 10. M,Ma "व 11. A "पुणं 12. A,B,J Omit वृत्ति 13- -13 H,V विड ड्घे र" 14. A,B,J "लभ् 15. A,B,J "ञ्चत 16. B,J, अनु" 17. B,J Omit ते 18.A,B,J "द्भगवां

न च बहिर्मुखानामिव त्वद्भक्तानामस्माकं त्वय्यर्पितानि पूर्वपुण्यानि विपरीतफलानि भवितु महन्तीत्याह क्लेशो इति। क्लेशो भूरि येषु, अल्पं सारं फलं येषु। यद्वा, विफलान्येव सकामानां कर्माणि, त्वय्यर्पितं तु न तथा।।४७।।

तत्र अवैफल्यमुपपादयति - **नेति** अवमोऽल्पोऽपि कर्मकल्पः कर्माभासोऽपि[1] ईश्वरार्पितश्चेत् विफलाय आयासाथ[2] न कल्पते हि यस्मात् स एष ईश्वरः पुरुषस्यात्मा, अत एव दयितो हितश्च। न ह्यात्मनि दयिते हिते[3] चाऽर्पितं निष्फलं स्यात्।।४८।।

**वीर०** तथा यस्य मुखा द्विप्रः विप्रकुलं, गुह्यमतीन्द्रियार्थावबोधि ब्रह्म वेदाश्चासीत्। "ऋ च स्सामानि जज्ञिरे" (पु.सू.1-4) "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्"(पु.सू.1-5)इति श्रुतिः। भुजयोर्बाहुभ्यां राजन्यो, बलञ्चासीत्। बाहू राजन्यः कृतः (पु.सू.1-5) इति श्रुतिः। ऊर्वो विट् वैश्यः ओजो नैपुण्यं तस्य वृत्तिश्च, अङ्घ्रिः अङ्घ्रिजा वित्यर्थः अवेदशूद्रौ अवेदः वेदव्यतिरिक्ता शुश्रूषा वृत्तिः, तद्वृत्तिमान् शूद्रश्च। 'विडङ्घ्रेरभवश्च शूद्रः' इति पाठान्तरं सुगमम्। ' ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत' (पु.सू.1-6) इति श्रुतेः।।४१।।

अधरादधरोष्टात् लोभः, उप र्युत्तरोष्टात् प्रीतिरभूत्। नस्तः नासिकातः द्युतिः कान्तिः। पशव्यः पशूनां हितः, कामः स्पर्शेनाभूत्, भ्रुवोर्यमः, कालः पक्ष्मभवः पक्ष्मणो जातः। सः प्रसीदताम्।।४२।।

किं बहुना? द्रव्यं भूतपञ्चकम्, वयः कालम्, कर्मजीवा दृष्टं गुणान् सत्वादीन्, विशेषं ब्रह्माण्डं, तदुपलक्षितं कार्यवर्गञ्च यस्य योगमायया ईक्षणात्मकसङ्कल्पेन विहितान्वदन्ति। द्रव्यादिकारणात्मकं विशेष रूपकार्यात्मकञ्च सर्वं वस्तु सत्सङ्कल्पविहितं वदन्ति इत्यर्थः। अत एव यद्य त्स्वरूपं दुर्विभाव्यं चेतनाचेतनसजातीयत्वेन चिन्तयितुमशक्यं प्रबुधावबोधं प्रकृष्टविद्वदवबोधं स महाविभूतिनः प्रसीदताम्।।४३।।

एवं कार्यावस्थप्रपञ्चशरीरकं वैराजपुरुषं प्रसाद्य अथ कारणावस्थं नमस्करोति - **नम इति**। उपशान्तशक्तये सर्गाद्यनभिमुखचिदचित्कालादिशक्तये, स्वराट् स्वतन्त्रं स्वस्वरूपं तस्य भावो याथात्म्यं स्वाराज्यं तस्य लाभेन स्वानन्दानुभवेनेत्यर्थः। तेन प्रतिपूरित आत्मा स्वरूपं यस्य तस्मै, स्वतन्त्रानवधिकानन्द स्वस्वरूपानुभवपूर्त्याऽवाप्तसमस्तकामायेत्यर्थः। मायया रचितेषु गुणेषु न सज्जमानाय लीलारसविमुखाय स्वभूतये स्वाभाविकैश्वर्याय तस्मै नमो नमः।।४४।।

---

1. H.V Omit अपि 2. H.V. श्रमाय 3 B.J Omit हिते

एवं प्रकृतिपुरुषविलक्षणं विभूतिद्वयाधिपं सर्वकारणं भगवन्तं प्रसाद्य नमस्कृत्य स्वाभिप्रेतं विज्ञापयितुं तावत्तद्दर्शनं प्रार्थयति - **सत्व** मिति। उक्तविध स्त्वमात्मानं दिव्यमङ्गल विग्रहं दिदृक्षूणां प्रपन्नानां नोऽस्माकमस्मच्चक्षुरादिकरणगोचरं यथा भवति तथा सस्मितं ते मुखाम्बुजं दर्शय।।४५।।

ननु, "न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्" (क.उ.उ. 6-9) इति श्रुत्युक्तविधया[1] चक्षुराद्यगोचरोऽहं कथं त्वच्चक्षुरादिकरणविषयः स्याम् इत्यत्राह - तै स्तै रिति। हे विभो! काले काले "यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थान मधर्मस्य" (भ.गी.4-7) इत्युक्तकाले स्वेच्छाधृतैः, न तु पुण्यपापात्मक कर्मणा[2] धृतैः रूपैरवतारैः भवान्नोऽस्माकं दुर्विषहं दुरासदं दुष्करं कर्म करोति हि। अघटितघटनात्मकक्रियाशक्ते स्तव स्वविग्रहदर्शयितृत्वं न दुर्घटमिति भावः।।४६।।

सत्यम्, आत्मानं सकृत्स्तुतिकर्मणा हेतुना कथ दर्शयेयम्? - इत्यत्राऽऽह- **क्लेशोति**। विषयार्तानां अनुकूलविषयालाभदुः खपीडितानां देहिनां क्लेशो भूरिः, येष्वल्पः सारः सुखं येषु, ततः कर्मधारयः तानि कर्माणि यथा विफलानि भवन्ति, तथा त्वय्यर्पितं कर्म न विफलं भवति हि।।४५।।

कर्मकल्पोऽपि धर्माभासोऽपि[3], अवमः लौकिकव्यापारोऽपि ईश्वरे त्वय्यर्पितश्चेत् विफलाय न कल्पते, न विफलो भवति हि, यस्मात्स एवेश्वरः पुरुषस्यात्मा अत एव दयितः प्रियः हितश्च न ह्यात्मनि दयिते हिते चाऽर्पितं कर्म निष्फलं स्यादित्यर्थः।।४८।।

**विज०** उपरि उत्तरोष्ठात् प्रीतिः द्युतिः कान्तिश्च, पशव्यं पशुजीवनम्। नस्तो नासिकायाः, स्पर्शेन गुणेन जातः कामः स्त्रीविषयः, कालो मृत्युः।।४१,४२।।

द्रव्यं भूतपञ्चकं,वय आयुर्लक्षणं, कर्म त्रिविधं गुणा भक्त्याद्यदयः शुक्लादयो वा। शेषं स्वभाव जीवकालादयः यस्य हरे योगमायया स्वरूपभूतेच्छया विहता उपेक्षिताः पतन्ति प्रच्युता भवन्तीत्यन्वयः। "द्रव्यं कर्म च कालश्च" (भाग.2-5-14) इति। किञ्च, यद्दुर्विभाव्यं एवंविधमिति भावयितु मशक्यं - स वा एष आत्मा, नेति। किञ्च, प्रबुद्धज्ञानिनां अवबोधो ज्ञानं यस्मात्तथा। अनेन स्वानुग्रहेण स्वविषयज्ञानं सुशक मित्युक्तं भवति। "अज्ञानं ज्ञानदो विष्णुः 'यमेवैष वृणुते' (कट.उ. 2-28) इत्यादि। द्रव्यादि सत्ता प्रदत्वेन ब्रह्माद्यचिन्त्यमहिमत्वेन ज्ञानदातृत्वेन परिपूर्णैश्वर्यः प्रसीदतामित्यन्वयः। नवत्वसंख्याविशिष्टं द्रव्यम्। 'वय गतौ इति धातोः वयति अवगच्छत्यनेन, नीलोत्पल मित्यादिव्यवहारं पुरुष इति वय स्समवायः, उत्क्षेपणादीनि

1 W Omits श्रुति° 2.A,B,T कर्मधृते 3 A,B,T क°

पञ्च कर्माणि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धादिचतुर्विंशतिगुणाः, सामान्यविशेषौ शेष मित्यनेनोच्यते। एते यद्योगमायया विहता अहितीकृताः पतन्ति पातयन्त्यधः, पुरुषमिति शेषः। नरकहेतव इत्यर्थः। विषकण्ठ कणभक्षशङ्करो त्रिदशबलपञ्चशिखाक्षपादवादान्महदपि सुविचार्य लोकतन्त्रं भगवदुपास्तिमृतेन सिद्धि रस्तीति प्रमितेनाऽयमुक्तार्थ इति सिद्धम् कणादाक्षपादमतज्ञानात् सिद्धिर्माभूत्, अद्वैतज्ञानेन सा स्या दिति तत्राह - यदिति। अद्वैतमतोक्तविधया भावयितु मशक्यम्। अनेनाऽन्येऽपि दुर्वादिवादा अपि निरस्ता इति ज्ञातव्यम्। कर्मणा पुरुषार्थ सिद्धिः स्यात्तर्हि इति, नेत्याह - प्रबुधेति। अनेन भाट्टादिमतमपि प्रत्युक्तम्।।४३।।

उपात्सर्वाधिकाद्विष्णोः शान्ता आनन्दमूर्तयो यासां ताः तादृश्य शक्तयो भार्या यस्य स तथा, तस्मै "निवृत्तस्पष्टशक्तये" इति च स्वाराज्यलाभः स्वयम्प्रकाशमानानन्दः, तेन परिपूरित आत्मा यस्य स तथा तस्मै। नित्याविर्भूतानन्दस्वरूपायेत्यर्थः। मायया स्वाधीनप्रकृत्या रचितेषु निर्मितेषु गुणेषु विषयेषु वा प्रवर्तमानायाऽपि तद्योग्याभिर्वृत्तिभिः दुःखलक्षणाभिः न सज्जमानाय निरवद्यत्वेन दुःखानुभूतिरहितायेत्यर्थः। स्वभूतये स्वयम्भुवे स्वरूपपूर्णैश्वर्यायेति वा।।४४।।

अस्मत्कारण गोचरोऽस्मदिन्द्रियविषयो भूत्वा ।।४५।।

भक्तानुकम्पामन्तरेण तवाऽन्यत्कृत्यं न विद्यते इत्याशये नाह - तैस्तैरिति हे विभो! यद्यदा नोऽस्माकं दुर्विषहं सोढु मशक्यं कर्म दुःखलक्षण मसुरादेः, स्या दिति शेषः। तदा भगवान् स्वयमसुरादेः दुर्विषहं कर्म पराक्रमलक्षणं करोतीति वा इत्यन्वयः। कथम्? स्वेच्छाकृतै स्तैस्तै रूपैः "यदा यदा हि धर्मस्य" (भ.गी.4-7) इति स्मृति हिंशब्देन गृहीता।।४६।

ज्ञान मेव मुक्तिसाधनं, न कर्म तन्मतदूषणात् इत्यभिप्रायो यदि, तर्हि कर्मकरणं व्यर्थमित्याशङ्क्य, सत्यम्, भगवदर्पणाख्यचिकित्साभावे साऽस्ति चेत् फलवदित्याशयेनाह - क्लेशेति। विषयार्तानां देहिनां कर्माणि विफलानि विरुद्धफलानि, अनभीष्टफलानीत्यन्वयः। कथं भूरिक्लेशानि अल्पसाराणिचेश्वरार्पितं कर्म तथाऽनर्पितवद्विफलं न स्यादित्यन्वयः।।४७।।

साङ्गं कर्म ईश्वरार्पितं सफलमस्तु, अनङ्गं कथमिति तत्राह-नेति पुरुषस्य कर्मकल्पः कर्माभासः अङ्ग-साकल्येन रहितः अत एवाधर्मोऽपि यदीश्वरार्पितः, तर्हि विफलाय न कल्पते। किन्तु फलवानेव स्या दित्यन्वयः। तत्र किं कारणम्? अत्राह - स इति। यत्प्रीत्यै कर्म करोति स आत्मा परमात्मा हितः

प्रेक्ष्येष्टकारी दयितोऽनिमित्तबन्धुः हि यस्मात्तस्मात् इति शेषः। नाधर्मं इति केचित्पठन्ति स्मृत्यविहितः "सर्वधर्मान् परित्यज्य" (भगी. 18-66) इत्युक्तेः।।४८।।

**यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम्।**
**एव माराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि।।४९।।**

**नमस्तुभ्य मनन्ताय दुर्वितर्क्यात्मकर्मणे।**
**निर्गुणाय गुणेशाय सत्वस्थाय च साम्प्रतम्।।५०।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
अष्टमस्कन्धे अमृतमथने पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

**श्रीध०** अनन्तफलत्व माह - यथेति। यथा हि मूलावसेचनं स्कन्धानां शाखानाञ्च भवति।।४९।।

एवं सत्यपि त्वदर्पितकर्मणां त्वद्भक्ताना मस्माकं यन्निमित्त मिदं दुःख मिति [1]तत्त्वमेव वेत्सीत्याशये [2]नाह नमः इति। दुर्वितर्क्याणि आत्मकर्माणि स्वभावचेष्टितानि यस्य तस्मै।।५०।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

**वीर०** ईश्वरार्पितस्य स्वल्पस्याऽपि कर्मणोऽनल्पफलत्व माह - **यथेति**। यथाहि तरोः मूलावसेचनं मूले जलावसेचनं स्कन्धानां शाखानाञ्च भवति, एव मात्मनः परमात्मनः विष्णोः आराधनं सर्वेषां हि सर्व पुरुषर्थानां साधनं भवतीत्यर्थः।।४९।।

स्तुति नमस्कारादि कर्मणा विना नाऽन्यस्त्वत्तोष हेतु रस्तीत्यभिप्रयन्नाह - **नम** इति। दुर्वितर्क्याणि इतर सजातीयत्वेन विभाविंतु मशक्यानि आत्मकर्माणि स्वचेष्टितानि यस्य तस्मै, अनन्ताय त्रिविधपरिच्छेद रहिताय, निर्गुणाय हेयगुण रहिताय, सत्त्वादि गुणानां नियन्त्रे, सत्वस्थाय सत्त्वगुणोन्मेषनिमित्त कर्मानुगुण मधुना प्रवर्तमानाय तुभ्यं नमः। साम्प्रतं नमस्कार एव युज्यते ईदृशं त्वां प्रसादयितुं नम एव युज्यते नाऽन्य[3]उपाय इत्यर्थः। यद्वा, गुणत्रयोन्मेषनिमित्तकर्मानुगुणं प्रवर्तमानायाऽपि साम्प्रतमधुना सत्त्वस्थायेति वाऽन्वयः।।५०।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवत चन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

1. A,B,J कि" 2. A,B,J Omit तत् 3. A,B,T add एव

**विज०** ननु यजतेत्यादि विहित कर्म परित्यज्य भगवदेकाराधनाया मितरदेवता तृप्यभावेनाऽपुरुषार्थः स्यादिति, तत्राह-यथेति। स्कन्धानां शाखानां तृप्तिं जनयतीति शेषः। तेनाङ्कुरफलपुष्पसमृद्धिलक्षणपुरुषार्थो यथा भवति, तथा सर्वेषामिन्द्रादीनामात्मनः स्वस्यापि तृप्यानन्दानुभवलक्षणपुरुषार्थः स्यादिति भावः। "मुखादिन्द्रश्चाऽग्निश्च" (पु.सू. 1-6) इत्यादिवाक्यं हिशब्देन दर्शयति। तेनेन्द्रादीनां श्रीनारायणशाखिशाखात्वं दर्शितं भवति। तथाहीतिवत् यथाहीत्येकं वाक्यम्।।४९।।

अनन्तायेत्यनेन मुखाम्बुजमिति परिच्छिन्नत्वशङ्कां निवारयति - दुर्वितर्क्येत्यादिना। न स्वरूपस्य आनन्त्यम्, अपि तु तत्कर्मणामप्युच्यते निर्गुणायेत्यनेन शबलत्वं निवारयति गुणेशायेत्यनेन। गुणैः प्रवर्तमानस्यापि गुणसम्पर्कप्राप्तं दोषं निरुणद्धि - सत्त्वस्थायेत्यनेन गुणै र्योगपद्य प्रतीतिं[1] निवारयति साम्प्रत मित्यनेन। सत्त्वगुणयुक्तत्वं स्थितिकालञ्च दर्शयति यतस्त्वं सत्त्वगुणप्रवर्तकोऽधुना। तस्मादस्मानापदः पालयेति चार्थः।।५०।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
पारमहंस्यां संहितायां श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां टीकायां
अष्टमस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

---

1. A,B प्रतीतं

oooOooo

# षष्ठोऽध्यायः

### श्रीशुक उवाच

एवं स्तुत स्सुरगणै र्भगवान् हरिरीश्वरः।
तेषा माविरभूद्राजन् सहस्राकोंदयद्युतिः।।१।।

तेनैव [1]महसा सर्वे देवाः प्रतिहतेक्षणाः।
नापश्यन्स्वं दिशः क्षोणी मात्मानञ्च कुतो विभुम्।।२।।

विरिञ्चो भगवान्दृष्ट्वा सह शर्वेण [4]तां [4]तनुम्।
[5]स्वच्छां [6]मरकतश्यामां कञ्जगर्भारुणेक्षणाम्।।३।।

तप्तहेमावदातेन लसत्कौशेयवाससा।
प्रसन्नचारुसर्वाङ्गी [8]सुमुखीं [9]सुन्दरभ्रुवम्।।४।।

महामणिकिरीटेन केयूराभ्याञ्च भूषिताम्।
कर्णाभरणनिर्भातकपोलश्रीमुखाम्बुजाम्।।५।।

काञ्चीकलापवलयहारनूपुर शोभिताम्।
कौस्तुभाभरणां लक्ष्मीं बिभ्रतीं वनमालिनीम्।।६।।

सुदर्शनादिभिः स्वास्त्रै र्मूर्तिमद्भि रुपासिताम्।
तुष्टाव देवप्रवरः सशर्वः पुरुषं परम्।।
सर्वामरगणै स्साकं सर्वाङ्गै रवनीङ्गतैः।।७।।

### ब्रह्मोवाच

अजातजन्मस्थिति संयमायाऽगुणाय निर्वाणसुखार्णवाय।
अणो रणिम्नेऽपरिगण्यधाम्ने महानुभावाय नमो नमस्ते।।८।।

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

षष्ठे पुनः स्तुति विष्णा वाविर्भूते सुरैः कृता। तन्मन्त्राञ्चाऽसुरै स्साक ममृतार्थे महोद्यमः

**एवमिति**। सहस्राकांणामुदये द्युतिरिव द्युतिः यस्य ।।१।।

1. M,Ma "स" 2. A,G "णि" 3. M,Ma "ङ्गाग्रतो 4- -4. M,Ma भारता! 5. M,Ma "च्छं 6. M,Ma श्यामं 7. M,Ma "णम् 8. M,Ma "ङ्ग 9 M,Ma "स्वं 10 M, Ma "तम् 11. M,Ma "जम् 12. M,Ma "तम् 13- -13 M,Ma "णलक्ष्म 14. M,Ma "तं 15. M,Ma "मम्। 16. M,Ma "तम् 17 M,Ma स्साकं 18. A,B,G,J,M,Ma,T "नि" 19. M,Ma "य 20. H,M,Ma V,W "गु"

**तेनेति**। महसा तेजसा प्रतिहतानीक्षणानि चक्षूंषि योषाम्।।२।।

**विरिञ्च** इति। तामाविर्भूतां तनुं विरिञ्चो दृष्ट्वा तुष्टावेति पञ्चमेनान्वयः। कञ्जगर्भवदरुणे ईक्षणे यस्याः।।३।।

**तातेति**। तप्तहेमवदवदातेन पीतेन लसता[1] कौशेयवाससा युक्ताम्। प्रसन्नानि चारूणि सर्वाण्यङ्गानि यस्याः शोभनं मुखं यस्याः, सुन्दरे भ्रुवौ यस्याः ।।४।।

**महामणीति**। महान्तो मणयो यस्मिंस्तेन किरीटेन।कर्णा भरणे कुण्डले ताभ्यां निर्भातौ यौ कपोलौ ताभ्यां श्रीर्मुखाम्बुजे यस्याः।।५।।

**काञ्चीति**। कौस्तुभ आभरणं कण्ठे यस्याः लक्ष्मीं वक्षसि बिभ्रतीम्।।६।।

**सुदर्शनेति**। देवप्रवरो ब्रह्मा! सर्वाङ्गै रवनीङ्गतैः[2] साष्टाङ्गं प्रणतैः ।।७।।

* 'अनावि राविरासेयं नाऽभूताऽभूदितिस्तुवन्[3] ब्रह्माऽभिप्रैति सत्यत्वविभुत्वे[4] भगवत्तनोः'। श्रीमूर्तेरय माविर्भाव एव नतु अस्मदादिवत् जन्मादि तवाऽस्तीत्याह **अजातेति**। न जाता जन्मादयो यस्य कुतः? अगुणाय। अतो निर्वाणसुखस्याणवाय', अपारमोक्षसुखस्वरूपायेत्यर्थः[5]। तथाऽप्यणो रप्यणिम्नेऽतिसूक्ष्माय दुर्ज्ञानत्वात्[6]। वस्तुतस्तु अपरिगण्य मियत्तातीतं धाम मूर्तिर्यस्य तस्मै। नचैतदसम्भावितम् यतो महा नचिन्त्योऽनुभावो यस्य तस्मै ।।८।।

## श्रीवीरराघवविदुषालिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं संस्तुतो भगवानाविर्बभूवेत्याह मुनिः **एवमिति**। हे राजन्। इत्थं संस्तुतः[7] सम्यक्स्तुतः हरि रीश्वरो भगवान् सहस्राणामर्काणां सूर्याणामुदये द्युतिरिव द्युति[8] र्यस्य सः। अभूतोपमेयम् तेषां ब्रह्मादीनाम्, पुर इति शेषः। आविर्बभूव प्रकटोऽभूत्[9-9]।।१।।

तेन महसा तेजसा प्रतिहतानि ईक्षणानि येषान्ते, सर्वे देवाः स्वादीनेवनाऽपश्यन्, कुतः विभुमाविर्भूतं पश्येयुरित्यर्थः।।२।।

भगवान्विरिञ्चो ब्रह्मा, शर्वेण रुद्रेण सह तां भगवतस्तनुं दृष्ट्वा तुष्टावेति पञ्चमेनान्वयः। तनुं विशिनष्टि निर्मलमिन्द्रनीलवच्छायां कञ्जगर्भवदरुणे इक्षणे यस्यास्ताम्।।३।।

1.H,V "त्का" 2. A,B,J "नि" * श्रीधरीयोऽयंश्लोकः 3. A,B,J चुवन् 4. A,B,J नित्य" 5. A,B,J Omit स्व 6. B दुर्ज्ञेय" 7.W Omits संस्तुतः 8. A,B,T Omit द्युतिरिव 9--9 W Omits

तप्तहेमवदवदातेन विशुद्धेन पिशङ्गेन च लसता कौशेयवाससा, युक्तामिति शेषः। प्रसन्नानि चारूणि सुन्दराणि च सर्वाण्यङ्गानि यस्याः, सुन्दरं मुखं यस्याः, सुन्दरे भ्रुवौ यस्याम्।।४।।

महान्तो मणयो यस्मिन्, तेन किरीटेन केयूराभ्याञ्च अलङ्कृतां कर्णाभरणे कुण्डले ताभ्याम् नितरां भातौ यौ[1] कपोलौ ताभ्यां श्रीः शोभा मुखाम्बुजे यस्या स्ताम्।।५।।

काञ्चीकलापादिभिः शोभितां कौस्तुभ आभरणं कण्ठे यस्यास्तां लक्ष्मी वक्षसि बिभ्रतीं, वनमाला अस्या मस्तीतितथा ताम्।।६।।

मूर्तिमद्भिः पुरुषाकृतिभिः स्वकीयैस्सर्वैः सुदर्शनादिभिरस्त्रैः रुपासितां सेव्यमानां सशर्वः[2] रुद्रेण सहितः[2] देवप्रवरो ब्रह्मा सर्वाङ्गै रवनीं भूमिं गतैः प्राप्तैः[3] देवैः साष्टाङ्ग प्रणतैः देवैस्सह परं पुरुषं तुष्टाव।।७।।

तावत्स्तोतुं प्रवृत्तः कर्मायत्तजन्मादिरहितं निरस्तनिखिलदोषं ज्ञानानन्दादि कल्याणगुणोदधिं सर्वान्तरात्मान मपरिच्छिन्नस्वरूपं महा प्रभावं नमस्करोति - **अजातेति**। न जाता जन्मादयः कर्मायत्ता यस्य। तत्र हेतु रगुणाय सत्त्वादि प्राकृत गुणवश्यत्व प्रतिभटाय, निर्वाणसुखार्णवाय, निर्दुःखानन्दमहोदधये, अणोर्जीवाऽदर्प्यणम्ने अन्तरात्मतया तदन्तःप्रवेशयोग्याय अपरिच्छेद्यस्वरूपाय महाप्रभावाय तुभ्यं नमो नमः।।८।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

ज्ञानवत् ज्ञानपूर्वकं यथा तत्त्वस्तुतिरपि हरेः प्रीतिजननी त्येतमर्थं प्रपञ्चयत्यस्मिन्नध्याये। तत्राऽऽदौ हरेराविर्भाव प्रकारं वक्ति एवमित्यादिना, बह्माणं पुरस्कृत्येति शेषः।।१।।

आत्मानं स्वान् जातावेकवचनम् ,अग्रतः स्थितम् ।।२,३।।

अवदातेन पीतेन "अवदातोऽरुणे पीते श्वेते श्यामे च कथ्यते" इति। वाससोपलक्षितम्।।४।।

कपोलश्रिया युक्तमुखाम्बुजम्।।५।।

कलापो भूषणं, लक्ष्मलाञ्छनं श्रीवत्स नाम ।।६।।

देवप्रवरः ब्रह्मा।।७।।

अजाय विष्णवे, "अजा विष्णु हर च्छागाः" (अम.को 3-187) इत्यतोऽजशब्दस्योभयत्रवृत्तावपि अत्र

1. A.B.T. Omit यौ 2--2 W सरुद्र 3. A B.T. add युक्ते.

विष्णु रेवोच्यते - सर्वेति। सर्वकारणत्वेन निर्देशात् ततः परत्वप्रतीतेः जन्मस्थिति संयमाय जन्मादीनां तदेकाधीनत्वात् तथोक्तिः, गुणाय " विज्ञान मानन्दं ब्रह्म" (बृह.उ.3-9-28) इति श्रुते रभिप्रायात् गुणत्वोक्तिः। निर्वाण सुखार्णवाय शरीराभिमानानुत्थ सुख समुद्राय अपरिगण्यमहिम्ने।।८।।

रूपं तवैतत्पुरुषर्षभेज्यं श्रेयोर्थिभिर्वैदिकतान्त्रिकेण।[1]
योगेन धात स्सह न त्रिलोकान् पश्याम्यमुष्मिन्नुह विश्वमूर्तौ[2]।।९।।[3]

* त्वय्यग्र आसी त्वयि मध्य आसीत्त्वय्यन्तआसीदिदमात्मतन्त्रे।
त्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यं घटस्य मृत्स्नेव परः परस्मात्।।१०।।

त्वं माययाऽऽत्माश्रयया स्वयेदं निर्माय विश्वं तदनुप्रविष्टः।
पश्यन्ति युक्ता मनसा मनीषिणो गुणव्यपाये[4]ऽप्यगुणं विपश्चितः।।११।।

यथाऽग्नि मेधस्यमृतञ्च गोषु भुव्यन्नमम्बूद्यमने[5] न[6] वृत्तिम्।
योगै र्मनुष्या अधियन्ति हि त्वां गुणेषु बुद्ध्या कवयोऽधियन्ति[7]।।१२।।

तं त्वां[8] वयं नाथ! समुज्जिहानं सरोजनाभाति चिरेप्सितार्थम्।
दृष्ट्वा गता निर्वृति मद्यसर्वे गजादवार्ता इव गाङ्ग मम्भः।।१३।।

सत्वं विधत्स्वाऽखिल लोकपाला वयं यदर्था स्तव पादमूलम्।
समागता स्ते बहिरन्त रात्मन् किंवाऽद्य[9] विज्ञाप्य मशेषसाक्षिणः।।१४।।

अहं गिरित्रश्च सुरादयो ये दक्षादयोऽग्रे रिव केतवस्ते।
किं वा विदामेश! पृथग्विभाविता[11] विधत्स्व शं नो द्विजदेवमन्त्रम्[12]।।१५।।[10]

## श्रीशुक उवाच

एवं विरिञ्चादिभिरीडित स्तद्विज्ञाय तेषां हृदयं यथैव[13]।
जगाद जीमूत गभीरया गिरा बध्दाञ्जलीन्संवृत[14] सर्वकारकान्[15]।। १६।।

1. M,Ma "कैश्च 2. M,Ma "-भव 3. M,Ma "तै * This versa is found in M,Ma edition as follows - त्वय्यग्रआसी दिद" मात्मतन्त्रे त्वमादि रन्तो जगतोऽस्य मध्यम्। घटस्य मृत्स्नेन परः परस्मात् त्वमवधाऽ शेषमशेष नामा ।।१०।। 4. A,B,G,J,M,Ma,T "वाये 5. M,Ma त्वनने 6. A,B,G,J,T चवृत्तिम्। M,Ma तथोर्व्यां 7. A,B,G,J,T योवदन्ति।; M,Ma यो वयन्ति। 8 H,M,Ma,V,W त्वा 9. A,B,G,J,T कि वाऽन्य; H,V किञ्चाद्य 10 M,Ma "वे" 11. A,G,J "भाता 12. M,Ma मित्रा 13. A,B,G,J,T त" 14. A "म्भृ" 15. M,Ma "कामान्

**श्रीध०** तन्मूर्तेः सनातनत्वमपरिमेयत्वञ्चोपपादयति - **रूपमिति**। हे पुरुषर्षभ! [1]पुरुषोत्तम! हे धातः। एतत्तव रूपं वैदिकेन तान्त्रिकेण च योगेनोपायेन श्रेयोऽर्थिभिः सदा इज्यं पूज्यम्। अतो नेदमिदानीमपूर्वं जातमिति भावः। ननु यूयं देवाः [2]सदा पूज्यत्वेन प्रसिद्धाः? सत्यम्, सर्वेष्वत्रैवाऽन्तर्भूता इत्याह - उ अहो! ह स्फुटम्। अमुष्मिंस्त्वयि नोऽस्मान् [3]त्रीन् लोकांश्च सह पश्यामि तत्र हेतुः - विश्वं मूर्तौ यस्य, अतस्तवैतद्रूपं परिच्छिन्नमपि न भवतीति भावः।।९।।

विश्वमूर्तित्व मेवाऽऽह - **त्वयीति**। घटस्य मृत्तिका यथा आदिरन्तश्च मध्यञ्च तथा त्वमस्य जगतः। तत्र हेतुः - परस्मात्प्रधानादपि परः।।१०।।

मृत्तिकादृष्टान्तेन परिणामं प्राप्तं वारयति - **त्वमिति**। स्वया स्वाधीनया अत एव गुणानां [4]व्यपाये परिणामेऽपि अगुणमेव त्वां युक्ताः पश्यन्ति। मनीषिणो विवेकिनः। विपश्चितः शास्त्रज्ञाः।।११।।

एत देव सदृष्टान्त माह - **यथेति**। यथाऽग्निं [5]एधसि काष्ठे [6]मथनेन। अमृत माज्यं गोषु दोहनादिना। भुव्यन्नं व्रीह्यादि कर्षणादिना। अम्बु च खननेन उद्यमनेन [7]पुरुषकारेण [8]वाणिज्यादिना वृत्तिं जीविकाम्। यद्वा, अम्बु उद्यमनेन [9]घटीयन्त्रादिनोद्धरणेन, [10]योगे [11]रुपायै मनुष्या अधियन्ति प्राप्नुवन्ति। [12]तथा कवय स्त्वां बुद्ध्या गुणेष्वधियन्ति [13]विदन्ति च ।।१२।।

**तमिति**। हे नाथ। हे सरोजनाभ! अतिचिरादीप्सितमर्थं तं योगैक प्राप्यं त्वां सम्यक् उज्जिहानमाविर्भवन्तं प्रत्यक्षतो दृष्टाऽद्य वयं निर्वृतिं गताः। दवार्ता दावाग्नि पीडिताः।।१३।।

यद्विधेयं तत्कथयतेति [14]चेत् - तत्राऽऽह **सत्वमिति**। हे अन्तरात्मन्! अशेषसाक्षिणस्ते बहिः किं वाऽन्यैः [15]विज्ञाप्यमस्ति।।१४।।

यूय मेव किञ्चित्कुरुतेति चेत्तत्राह - **अहमिति**। अग्नेः केतवो विस्फुलिङ्गा इव ते त्वत्तो वयं पृथक् [16]विभाविता स्सन्तः आत्मनः शंश्रेयः किं वा विद्मः। अतस्त्व मेव द्विजानां देवानाञ्च मन्त्रं विधत्स्व। इदं कुरुते त्युपायमुपदिशेत्यर्थः ।।१५।।

**एवमिति**। [17]तत् हृदयं मन्त्र उपदेष्टव्य इत्यभिप्रेतं यथा तथैव विज्ञाय जगाद। संवृतानि नियमितानि सर्वाणि [18]कारकाणि करणानि इन्द्रियाणि ये स्तान्।।१६।।

1. A,B,J Omit पुरुषोत्तम 2. A,B,J Omit सदा 3. H,V त्रिलोकां 4. A,B,J "वा" 5. A,B,J Omit एधसि 6. H,V मन्थ" 7. A,J "मने पु" 8. A,J "कारे 9. A,B,J "मने 10. A,B,J "रणे 11. H,V Omit उपायै: 12. A,B,J यथा 13. A,B,J वदन्ति 14. A,B,J "चेति 15. B "ऽज्ञै: 16. A "भाता 17. B,H,J,V Omit तत् 18. A,B,J Omit करणानि

**वीर०** अजातजन्मस्थिति संयमायेत्यनेन प्रकृतस्य दर्शितरूपस्य कर्मायत्तत्वं सूचितम्। तदेव रूपं विशिंषन् स्तौति - **रूपमिति**। हे पुरुषर्षभ! तत्तद्रूपं श्रेयोर्थिभिः कर्तृभिः वैदिकतान्त्रिकेण वेदपञ्चरात्रादि तन्त्राभ्यां मवबोधितेन योगेन साधनेन इत्थ माराधनीयं तस्मिन् रूपे विश्वं साक्षात्कृत्याऽह - हे धातः। अमुष्मिन्नुह [1]अस्मिन् हि रूपे सहत्रिलोकान् त्रिलोकैस्सह नोऽस्मान्पश्यामि। आर्षत्वात्सहयोगेऽपि तृतीयाया अभावः। त्रिलोकी[2] नित्यत्र कर्मधारयः दर्शनहेतुं वदन् रूपं विशिनष्टि - विश्वमूर्तौ विश्वाश्रयमूर्तौ विश्वमूर्ते! इति पाठान्तरम्। तदा हे विश्वमूर्ते [3]इति सम्बोधनम्[3]।।९।।

विश्वमूर्तित्वमेव प्रपञ्चयति - **त्वयीति**। इदं विश्वमगग्रे मध्ये अन्तेच त्वय्येवाश्रय भूतेऽन्तरात्मन्यासीत्, अविनाभूतमासीत्। अत एवाद्याद्यवस्थं विश्वं त्वमेव। यद्यदवस्थं यदपृथक्सिद्धं तत्ततोऽभिन्नमिति भावः। अनेन जगदुपादानत्वमुक्तम्। उपादानोपादेययो रभेदप्रसिद्धं दृष्टान्तमाह। घटस्योपादे-यस्य मृदुपादानभूता यथा न तस्माद्भिन्ना तथेत्यर्थः। उपादानत्वप्रयुक्तं विकारित्वं वारयति - परः परस्मादिति। परस्मात्स्वरूपात् अन्यया भाववदचेतनाद्यः परः विलक्षणो जीवः तस्मा दपि स्वभावान्यथाभाववतः परो विलक्षणः स्वभावतोऽपि विकाररहित इत्यर्थः। उपादानत्वेऽपि तस्य सद्वारकत्वात् निर्विकारत्व मिति भावः।।१०।।

एवं विश्वोपादानत्वात् त्वं विश्व मूर्तिरित्युक्तम्। अथ विश्वस्यान्तरात्मत्वादपि त्वं विश्वमूर्तिरिति वक्तुं विश्वस्य स्रष्टृत्वं तदन्तरात्मतयाऽनुप्रवेशञ्चाह - **त्वमिति**। आत्माश्रयया स्वापृथक्सिद्धया स्वया स्वनियाम्यया माययेदं जगन्निर्माय सृष्ट्वा तदनुप्रविष्टः। " तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्" (तैति.उ. 2-6) इति श्रुत्यर्थोऽत्रानुसन्धेयः। अनुप्रविष्टमपि अनुप्रवेष्टव्य गतदोषास्पृष्टं "सत्यञ्चाऽनृतञ्च सत्यमभवत्" (तैत्रि.उ. 2-6) इति श्रुत्यर्थयाथात्म्यविदः पश्यन्तीत्याह। पश्यन्तीति गुणव्यपायो[4] पि, गुणानां व्यपायो[5]ऽन्यथाभावः परिणाम इति यावत्। गुणानां परिणामेऽपि त्वां, तत्राऽनुप्रविष्टं त्वामगुणं चेतनाचेतनगत हेयगुणरहितं विपश्चितः "सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत्" इत्यादि शास्त्रार्थ याथात्म्य विदः मनीषिणः तत्प्रतिपाद्यार्थयाथात्म्योपासनपराः युक्ताः सुसमाहितचित्ताः मनसा योग[6]परिशुद्धेन मनसा साधनेन पश्यन्ति साक्षात्कुर्वन्ति। 'सत्यञ्च' इत्यादिश्रुते रयमर्थः - परमात्मनः चिदचित्सङ्घातरूप जगदाकारपरिणामे च परमात्म

1.A,B,T आमृष्मिन् 2. W"काद्व" 3--3. W Omits 4. A "वा" 5. A "वा" 6.W Omits सु"

शरीरभूत चिदंशगताः सर्व एवाऽपुरुषार्थाः, तथा अचिदंशगता स्सर्वे विकाराः परमात्मनि कार्यत्वं तदवस्थयो स्तयो र्नियन्तृत्वेनाऽत्मत्वम्। परमात्मा च तयोः स्वशरीर भूतयो नियन्तृतयाऽऽत्मभूतः तद्गतपुरुषार्थै र्विकारैश्च न स्पृश्यते। अपरिच्छिन्नज्ञानानन्दमयः सर्वदैकरूप एव जगत्परिवर्तनलीलयाऽवतिष्ठते। विचित्र चिदचिद्रूपेण विक्रियमाण मपि ब्रह्म सत्यमेवाऽभवत्, निरस्तनिखिलदोषगन्ध मपरिच्छिन्न ज्ञानानन्दमेकरूप मेवाऽभवदिति[1]।।११।।

मनसा साधनेन पश्यन्तीत्यत्र दृष्टान्तान्वदन् उक्तमेवाऽर्थ मुपपादयति - **यथेति**। काष्ठादिष्वग्न्यादी न्यथा योगै रुपायैः; तत्र यथाऽग्नि मेधसि काष्ठे मथनेनोपायेन, यथा चाऽमृतं क्षीरं गोषु दोहनेन, यथा भुव्यन्नं कृष्याद्युपायेन, यथा वा वृत्तिं जीवनभूतमम्बुजलं मुत्खननेनोपायेन पश्यन्ति। उद्यमनेनेति पाठे स एवार्थः। तथा कवयः[2] विपश्चितो मनीषिणो मनुष्या बुद्ध्या योगविशुद्धया गुणेषु गुणपरिणामात्मकेषु सचेतनेषु पदार्थेषु त्वा मविक्रियमेकरूपमधियन्ति। " इकस्मरणे " इति धातुः, विदन्ति साक्षात्कुर्वन्तीत्यर्थः।।१२।।

तद्दर्शनेनाऽऽत्मनो नितरां सुखितत्वं वदन् मत्प्रयोजनं कुर्विति प्रार्थयते - **तमिति** द्वाभ्याम्। हे नाथ! हे सरोजनाभ। अतिचिरादीप्सितमर्थं पुरुषार्थस्वरूपं उज्जिहानमाविर्भवन्तं तमुक्तविधं त्वां दृष्ट्वा सर्वे वयं निर्वृतिमानन्दं गताः, यथा दवार्ताः दावाग्नि पीडिताः गजाः गाङ्गं मम्भः[3] जलं प्राप्य निर्वृतिं प्राप्नुवन्ति।।१३।।

तथा स त्व मुक्तविधः त्वं, हे अखिल लोकपाल! यदर्थाः यत्प्रयोजनाः यत्कामयमानाः वयं तव पादमूलं समागताः शरणं गताः, तत्प्रयोजनं विधत्स्व कुरु। यद्विधेयं तत्कथयेत्यत्राऽऽह - हे बहिरन्तरात्मन्! बहिरन्तश्च व्यापिन्! अशेषसाक्षिणः सर्व युगपत् साक्षात्कुर्वतः तव सर्वज्ञस्य विज्ञाप्यं किं वाऽस्ति। न किमीत्यर्थः।।१४।।

तर्हियूय मेव किञ्चित् कुरुतेत्यत्राऽऽह - **अहमिति**। अहं ब्रह्मा गिरित्रो रुद्रः ये च सुरादयो दक्षादयश्च प्रजापतयश्च सर्वे वयमग्रे: केतवः विस्फुलिङ्गा इव। ते त्वत्तः पृथग्भाविता स्सन्तः आत्मनः स्वानां[4] शं सुखं किं वा विद्मः, न किमपि। आत्मसुखसाधनं न विद्म इत्यर्थः। अतस्त्वमेव, हे ईश! द्विजानां देवानाञ्च मन्त्रं सुखकारिणीमालोचनां विधत्स्व। इदं कुरुतेत्युपायमुपदिशेत्यर्थः।।१५।।

एवं स्तुतो विज्ञापितञ्च तानाह भगवानित्याह मुनिः - एवमित्थं ब्रह्मादिभिः ईडितः स्तुतो भगवां स्तेषां विरिञ्चादीनां तद्धृदयमभिप्रायं यथावद्विज्ञाय मेघनिर्ह्रादवद्गम्भीरया गिरा, बद्धा अञ्जलयो यैः, संवृतानि नियमितानि कारकाणीन्द्रियाणि यैः, तान्विरिञ्चादीन् जगाद।।१६।।

1 A,B,T त्यर्थः 2. A,B,T Omits कवयः 3 A,B,T Omit अम्भः 4. W Omits स्वानां

**बिज०** हे पुरुषर्षभ! मोक्षादि पुरुषार्थ काङ्क्षिभिः वैदिकै स्तान्त्रिकैश्च यदेतत्तव रूपं हे धातः! अमुष्मिन् रूपे योगेन सह त्रिलोकान् पश्यामि। हे विश्वमूर्ते! त्वं नश्शरणं भवेत्यन्वयः। भुवीति पाठे आधारे इत्यर्थः।।९।।

**इव** यथा घटस्यादिरन्तो मध्यञ्च मृत्ला [1]प्रशस्ता मृदेवोत्तम कारणं, सल्लिलाद्यवान्तरम्, तथा त्वमपि अस्य जगतः [2]आदिः परस्मात्परः उत्तमहेतुः। अत्र मृद्वदुपादानकारणं न ब्रह्म, किन्तु तदधीनसत्ताकत्वात् दृष्टान्तोपादानमित्याशयेनाऽऽह - त्वमेवेति। च शब्देन ब्रह्मोपादानकत्वे सर्वस्य चेतनत्वापत्ति प्रसङ्गं सूचयति। अयमर्थोऽत्र विवक्षित इति कुतोऽवगतमिति तत्राऽऽह - अशेषेति ।।१०।।

ननु सृष्टिसंहृतिकर्तृत्वात् तदाद्यन्तत्वमस्तु, मध्यत्वं कथमिति तत्राऽऽह - **त्वमिति**। आत्मै वाऽऽश्रयो यस्या स्सा तथा तया अत एव स्वया स्वकीयत्वेनाऽभिमतया मायया प्रकृत्या इदं विश्वं निर्माय त्वं तदनुप्रविष्ट इति यस्मात् त्वां मध्यं वदन्तीति शेषः। "तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत्" (तैत्ति. उ. 2-6) इति श्रुतिः अत्र किं मानमिति तत्राऽऽह - पश्यन्तीति। मनीषिणो बुद्धिमन्तो मनसा मननलक्षणविचारेण युक्ता एवं पश्यन्तीति यत् तद्दर्शनं मानमित्यन्वयः। नन्वेवं तर्हि गुणसम्पर्किणो गुणदोषलोपः स्यात्? नस्यात्। अत्रा पीदमेव मानमित्याह - गुणेति। विपश्चितो गुणव्यवाये गुणकार्य समूहे स्थितमप्यगुणं गुणनिमित्त दोषरहितं त्वां, पश्यन्तीति शेषः। इतोऽपि ब्रह्म उपादान कारणं न, किन्तु निमित्तमेवेत्याशयेनाऽऽह-त्वमिति। माययेदं विश्वं निर्माय तदनुप्रविष्ट इति मनसा युक्ता मनीषिणो गुणकार्ये जगति विषयं अगुणं गुणव्यतिरिक्तं कारणं निमित्तमेव त्वां पश्यन्तीत्यन्वयः। विपश्चितः पण्डिताः दर्शनपटव इत्यर्थः। अनेन विद्वद्दर्शन मत्र प्रमाणमिति दर्शितम् ।।११।।

गुणकार्ये स्थितं गुणदोषरहितं पश्यन्तीत्युक्तं, कथं तत्र पश्यन्तीति तत्राऽऽह - **यथेति**। यथा एधआदिषु अग्न्यादीनधियन्ति अधिगच्छन्ति तथा कवयो बुद्ध्यागुणेषुत्वामवयन्ति, जानन्तीत्यन्वयः। उर्व्या उत्खनने सति अम्बु यथा, तथा शब्दः समुच्चये। अमृतं क्षीरं घृतं वा। भेदस्य दोषलेपराहित्यस्य च ज्ञापनाय अग्निनिदर्शनम्। सर्वस्मात्सारः स्वभक्तमुक्तिद इति ज्ञापनायाऽमृत दृष्टान्तः। उपजीव्यत्वज्ञापनाय अन्नं यथेति। भूयस्त्वतापहरत्व स्त्वदर्शनाय अम्बु यथेति।।१२।।

---

1. Ma Omits प्रशस्ता 2. A,B,M आद्यादि.

यस्त्वं सर्वोत्तमत्वोपजीव्यत्वादि गुणसम्पन्नः, वयं तं त्वां दृष्ट्वाऽद्य निर्वृतिं गता इत्यन्वयः। अतिचिरेण कालेन वाञ्छितार्थं समुज्जिहानं विचार्यमाणे सति सर्वोत्तमं भगवन्तम् उन्नतीकुर्वाणं दवार्ता वनवह्निक्लिष्टाः, गाङ्गं गङ्गासम्बन्धि।।१३।।

योऽर्थो येषां ते यदर्था यत्प्रयोजना अखिललोकपाला वयं तव पादमूलं समागताः। स त्वं तदर्थं मस्मभ्यं विधत्स्वेत्यन्वयः। तर्हि सोऽर्थः कः? इति तत्राऽऽह - ते बहिरिति। हे आत्मन्! स्वात्मन्! बहिरन्तस्साक्षिणः ते तवाऽद्य विज्ञाप्यं किं वाऽस्ति? न किमपीत्यन्वयः। अतोऽस्मदभीष्टं भवतस्सिद्ध मित्यर्थः।।१४।।

इतोऽप्यस्माभि र्विज्ञाप्यं नाऽस्ति, यतो वयं तव किङ्करा इति भावेनाऽह - **अहमिति**। यथा केतवः ज्वालाः अग्नेरुत्पद्यन्ते तमेवाऽऽश्रिताः एवं मदादयस्सर्वे त्वदुत्पन्नत्वात्त्वत्किङ्करा इत्यर्थः। किङ्करत्वं विशदयति किं वेति। ईशसृष्ट्यादि कर्तृत्वेन पृथक् पृथक् विभाविताः प्रख्याता वयं किं वा विधेम, कां तवाऽऽज्ञां कुर्मः? हे द्विजदेवमित्र! नोऽस्माकं तवाऽऽज्ञाकरणलक्षणं [1] शं विधत्स्व, इदं कुरुध्वमित्याज्ञापय। गिरित्र स्सदाशिवः।।१५।।

हृदय मभिप्रायम् जीमूतो मेघः संवृतसर्वकामान् अप्रकाशितस्वाभिप्रायान्।।१६।।

**एक एवेश्वर स्तस्मिन् सुरकार्ये सुरेश्वरः।**
**विहर्तुकाम स्तानाह समुद्रोन्मथनादिभिः।।१७।।**

## श्रीभगवानुवाच

**हन्त ब्रह्मन्नहो शम्भो! हे देवा! मम भाषितम्।**
**शृणुताऽवहिता स्सर्वे श्रेयो वः स्याद्यथा [2] सुराः।।१८।।**

**[3] यात दानवदैतेयै स्तावत्सन्धि र्विधीयताम्**
**कालेनाऽनुगृहीतै स्तै र्यावद्वो भव आत्मनः।।१९।।**

**अरयोऽपिहि सन्धेया स्सति कार्यार्थगौरवे।**
**अहिमूषकवत्[4-] पश्चात् [4] अर्थस्य पदवीं गतैः।।२०।।**

---

1. A,B,Ma "णश 2. M.Ma पुरा। 3. M,Ma यातुधानैश्च 4- -4. A,B,J,M,Ma,T "वहेवाह्य, B "वहेवाअ"

**अमृतोत्पादने यत्नः क्रियता मविलम्बितम्।**
**यस्य पीतस्य वै जन्तुर्मृत्युग्रस्तोऽमरो[1] भवेत्।।२१।।**

**क्षिप्त्वा क्षीरोदधौ सर्वा वीरुत्तृणलतौषधीः।**
**मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा च[2] वासुकिम्।।२२।।**

**सहायेन मया देवा निर्मन्थध्वं मतन्द्रिताः।**
**क्लेशभाजो भविष्यन्ति दैत्या यूयं फलग्रहाः।।२३।।**

**यूयं तदनुमोदध्वं यदीच्छन्त्यसुरा[3] स्सुराः।**
**न संरम्भेण सिद्ध्यन्ति सर्वेऽर्था स्सान्त्वया यथा।।२४।।**

**श्रीध०** ईश्वरस्याऽपि तथैवाऽभिप्रेत मित्याह - **एक** इति। सुरेश्वरो[4] भगवान्[4] एक एकेश्वरः समर्थोऽपि सुरासुरैस्सह[5] विहर्तुकामः तानाह[5] ।।१७।।

**हन्तेति**। हे सुराः! हे देवाः! अन्ये च गन्धर्वादयः।।१८।।

**यातेति**। वः आत्मनः स्वतो यावद्भवो वृद्धि र्भवति।।१९।।

**अस्य** इति। अर्थस्य प्रयोजनस्य पदवीं सिद्धिं प्राप्तैः, पक्षा दहिमूषकवत् वध्यघातकभावेन वर्तितव्य[6] मिति शेषः। यद्वा सर्पग्राहिणा[7] पेटिकायां निरुद्धोऽहिः यथा निर्गमद्वारविधानार्थ प्रथमं मूषकेण सन्धिं विधत्ते[8], पश्चात्तमेव कदाचिद्भक्षयति, तथा अर्थमार्गप्रवृत्तैः प्रथमं सन्धेया इत्यर्थः।।२०।।

**ततस्तैस्सह** यत्कार्यं तदाह - **अमृतेति**। यस्य अमृतस्य पीतस्य सतः।।२१।।

**क्षिप्त्वेति**। नेत्रं रज्जुम्।।२२।।

**सहायेनेति**। ननु तर्हि, तेऽप्यमृतपानेन अमराः स्युः, तत्राऽऽह - क्लेशभाजइति।।२३।।

बलिभिस्सहकारिभिः साध्या अर्थाः तदनुसरणं विना न सिध्यन्तीति कृत्वा सामदिकमुपदिशति - **यूयमिति** द्वाभ्याम्। हे सुराः। संरम्भेण सम्भ्रमेण, सान्त्वया सामार्गेण, यथा सिध्यन्ति ।।२४।।

**वीर०** सुरेश्वरो भगवान् स्वयमेक एव सुराणां कार्ये ईश्वरः कर्तुं समर्थोऽपि समुद्रोन्मथनादिभिः विहर्तुकामः विहर्तु मिच्छुः तानाह ।।१७।।

---

1. H,V,S मृतो 2. A,B,G,J,M,Ma,T तु 3. A,B,G,J,M,Ma,T यदि" 4- -4. B,H,J,V Omit 5- -5. B,H,J,V Omit 6. H.V 'तुं' 7- -7. B,H,J,V, Omit 8. H.V Omit वि

उक्तिमेवाऽह -**हन्तेति**। हन्तेति दुलेभ स्वप्रसादलाभप्रयुक्तमाश्चर्यं द्योतयति। हे ब्रह्मन्! हे शम्भो ! हे देवाः हे सुराः! अवान्तरभेदाभिप्रायेण सुरा देवाश्चेति सम्बोधन द्वयम्! अन्ये गन्धर्वादयश्च सर्वे यूयं वो युष्माकं यथा श्रेय स्स्यात्तथा मम भाषित मवहितचित्तास्सन्तः शृणुत। अमरा इति पाठान्तरम्। तदा श्रेयो दर्शयति - यथा अमरा मृत्युरहिताः स्युरिति ।।१८।।

तावद्दानवैर्दैतेयैश्च सन्धि विधीयताम्। सख्यं क्रियताम्। कीदृशैः[1]? कालेनाऽनुगृहीतैः कालवशादनुकूलतां प्राप्तैः, न ते सन्धिं यास्यन्तीति शङ्का न कार्येति भावः। तै रसुरै र्वो युष्माक मात्मनः स्वत एव यावद्भवां वृद्धिः स्यात्, तावत् सन्धिर्विधीयतामिति पूर्वेणाऽन्वयः।।१९।।

"कार्यार्थिनः कुतोऽगर्वः" इति न्यायेन अरयोऽपि सन्धेया एवेत्याह - **अरयोपीति**। कर्तव्य प्रयोजनस्य गौरवे भूयस्त्वे सति तदर्थं मरय श्शत्रवोऽपि सन्धेया एवहि। हे देवाः! अर्थस्य प्रयोजनस्य पदवीं सिद्धिं गतैः प्राप्तैः पश्चादहिमूषकवत् वध्यघातुकभावेन, वर्तितव्यमिति शेषः। यद्वा पेटिकायां निरुद्धोऽहिर्यथा निर्गमद्वार विधानार्थं मूषकेण सन्धिं विधत्ते, पश्चात्तमेव भक्षयति। तथा अर्थस्य पदवीं प्रवृत्तैः प्रथमं सन्धेया इत्यर्थः।।२०।।

तत स्तै स्सह यत्कार्यं तदाह - **अमृतेति**। स्पष्टोऽर्थः। अमृतं विशिनष्टि - यस्याऽमृतस्य पीतस्य सतः मृत्युग्रस्तोऽपि अमरो मृत्युरहितो भवेत्। यस्य पीतस्येति सम्बन्धमात्रेण षष्ठी। येन पीतेनामृतेन मृत्युग्रस्तो रमरो भवेदित्यर्थः।।२१।।

अमृतोत्पादनयत्नं विवृणोति - **क्षिप्त्वेति**। वीरुधः गुल्मानि, तृणानि लताश्चौषधयश्च, इमास्सर्वाः क्षीरोदधौ क्षिप्त्वा मन्दरं पर्वतं मन्थानं मन्थनदण्डं कृत्वा वासुकिं नेत्रं रज्जुं कृत्वा।।२२।।

मया सहायेन, हे देवाः। अतन्द्रिताः यूयं निर्मन्थध्वम्। ननु तेऽप्यमृतपानेन अमराः स्युः। तत्राऽऽह - क्लेशभाज इति। दैत्यास्तु केवलं क्लेशभाजो भविष्यन्ति, यूयमेव फलग्राहाः अमृतपासिनो भविष्यथेत्यर्थः।।२३।।

बलिभिस्सहकारिभिः साध्या अर्थाः तदनुसरणं विना न सेत्स्यन्तीति सामादिकमुपदिशति - **यूयमिति** द्वाभ्याम्। हे सुराः, यदसुरा इच्छन्ति तदेव यूय मनुमोदध्वम्, सान्त्वया साधुमार्गेण सर्वेऽर्था यथा सिध्यन्ति न तथा संरम्भेण क्रोधेन सिध्यन्ति[2]।।२४।।

1.W omits कीदृशैः। 2 A,B,T, add इत्यर्थः।

विज० यतो ब्रह्मादयः श्रीनारायणं शरणं प्रापुः, तस्मादेकएवेश्वरः सुरकार्य विषये ईश्वरः समर्थः।। १७।।

आरम्भे यथा येन विधिना युष्माकं श्रेयः स्यात् तं विधिं यातुधानै राक्षसै रनुगृहीतैः ऐकमत्येन गृहीतैः वः आत्मनो युष्मदात्मेनो भवः श्रेयो, वृद्धिर्वा[1-1]।।१८, १९।।

हे देवाः! कार्यार्थगौरवे कर्तव्यस्य प्रयोजनस्य गुरुत्वे सति अर्थस्य प्रयोजनस्य पदवीं गतैर्भवद्भि रसुरा अरयोऽपि सन्धेया हीत्यन्वयः। कथमिव? अहिमूषकयोरिव। "यावन्मयूर सन्त्रस्तः सर्पो मूषकवेश्मनि। निलीय निर्भयः पश्चाद्भक्षित्वा मूषकं गतः" इति तान्त्रिकायाम्। 'सन्ति कार्यार्थ गौरवात्' इति पाठे कार्यार्थं गौरवादरयोऽपि सन्धेया इति न्यायास्सन्ति - इत्यन्वयः। अहिमूषक सन्धानमिव सर्पग्राहिणा सर्पमूषकौ गृहीत्वा फलकोर्ध्वद्वारखर्वमञ्जूषायां निहितौ। तत्रोपोषित स्सर्पोऽमनुत एकमूषिकादनात् वर मनेन सन्धिं कृत्वा इतो निर्याणमिति। मूषकमभाषत - "हे मूषक! उन्नतीभूत मत्फणाग्रे स्थित्वा त्वत्कृत फलकरन्ध्रेण आवां निर्गच्छाव ततः स्वस्थौ स्याव" इति। तेन तौ निर्गत्य स्थितं मार्जारभीतं मूषकं भक्षयित्वा सर्पोऽप्ययासीदिति किंवदन्ती।।२०।।

अविलम्बितं शीघ्रं, यस्य शक्त्या, वैशब्देन योग्यतां सूचयति ।।२१।।

नेत्रं रज्जुम्, " रज्जौ चक्षुषि नेत्रं स्या ज्जाटाया मपि नेतरत्" इत्याभिधानम् ।।२२,२३।।

इच्छन्ति, कार्यसिद्धिमिति शेषः। सन्धानं वा, संरम्भेण द्वेषेन कोपेन वा, सान्त्वया क्रियया ।।२४।।

**न भेतव्यं कालकूटा द्विषाज्जलधिस्सम्भवात्।**
**लोभः कार्यो न वो[2] जातु रोषः कामश्च[3] वस्तुषु।।२५।।**

**श्रीशुक उवाच**

**इति देवान् समादिश्य भगवान्पुरुषोत्तमः।**
**तेषा मन्तर्दधे राजन्। स्वच्छन्द गतिरीश्वरः ।।२६।।**

**अथ तस्मै भगवते नमस्कृत्य पितामहः।**
**भवश्च जग्मतुः स्वं स्वं धामोपेयुर्बलिं सुराः।।२७।।**

---

1- -1. Ma Omits. 2, B वै 3. A,B,G,J,M,Ma,T स्तु 4. M,Ma धामधेयु:

**दृष्ट्वारीनप्यसंयत्ताञ्जात क्षोभान्स्वनायकान्।**
**न्यषेध दैत्यराट् श्लोक्यः सन्धिविग्रहकालवित्।।२८।।**

**ते वैरोचनि मासीनं गुप्तञ्चाऽसुरयूथपैः।**
**श्रिया परमया जुष्टं जितमाशेषमुपागमन्।।२९।।**

**महेन्द्रः श्लक्ष्णया वाचा सान्त्वयित्वा महामतिः।**
**अभ्यभाषत तत्सर्वं शिक्षितं पुरुषोत्तमात्।।३०।।**

**तदरोचत दैत्यस्य तत्राऽन्ये येऽसुराधिपाः।**
**शम्बरोऽरिष्टनेमिश्च ये च त्रिपुरवासिनः।।३१।।**

**ततो देवासुराः कृत्वा संविदं कृत सौहृदाः।**
**उद्यमं परमं चक्रु रमृतार्थे परस्परम्।।३२।।**

**श्रीध०** नेति। वस्तुषु मथनादुत्पन्नेषु।। २५,२६।।

**अथेति**। सुरास्तु बलिमुपेयुः उपजग्मुः।।२७।।

**दृष्ट्वेति**। असंयत्तानपि दृष्ट्वा स्वनायकान् स्वभटान् युद्धोद्युक्तान् न्यषेधत्। श्लोक्यः कीर्त्यर्हः।।२८।।

**ते इति**। वैरोचनिं बलिम्। जित मशेषं त्रैलोक्यं येन तम्।।२९।।

**महेन्द्र** इति। तत्सर्वं ममृतोन्मथनादि।।३०।।

**तदिति**। तत्र ये अन्ये चाऽसुराधिपाः पौलोमकालकेयादयः, शम्बरादयश्च, तेभ्यश्चाऽरोचत।।३१।।

तत इति। संविदं समयम्।।३२।।

**वीर०** किञ्च। जलधिसम्भवात्काल कूटाख्या द्विषात् न भेतव्यं नोद्वेजितव्यं, रुद्रो ग्रसिष्यतीति भावः। तथा वस्तुषु मथनादुत्पन्नेषु लोभः,कामः जातु कदाचिदपि रोषश्च न वै कार्यः।।२५।।

इतीत्थं देवान्समादिश्य आज्ञाप्य भगवान्पुरुषोत्तमः अजितः तेषां ब्रह्मादीनां, पश्यतां सतामिति शेषः। हे राजन्! अन्तर्दधे अन्तर्हितवान् यतः स्वच्छन्दगति र्यथेच्छाव्यापारः ईश्वरः।।२६।।

अथ भगवतोऽन्तर्धानानन्तरं तस्मै तिरोहिताय भगवते नमस्कृत्य पितामहो ब्रह्मा, भवो रुद्रश्च स्वं स्वं स्थानं जग्मतुः, सुरा इन्द्रादयस्तु बलिं वैरोचनिं उपेयु रुपजग्मुः।।२७।।

---

1- -1. M,Ma नच सम्भ्रान् जातक्ष्वेला न्स्व° 2- -2. M,Ma राहुश्चे 3. M,Ma तेऽन्य रोचन्त 4. A,B,G,J,M,Ma T परन्तप। 5- -5. A, युद्धोद्यतान्; B,J, Omit 6. W Omits किञ्च 7. A,B,T "दन्त"

अरीन् शत्रूनप्यसंयत्तान् युद्धायानुद्यतान् देवान्दृष्ट्वा श्लेक्ष्यः, स्तुत्यः, दैत्यराट् बलिः, जातक्षोभान् सुरान् हन्तु मुद्यतांश्च स्वनायकान् असुरसेनामुख्यान् न्यषेधत् न्यवारयत्। यत स्सः सन्धिविग्रहयोः सन्धिवैरयोः काल मुचितं वेत्ति इति तथा।।२८।।

ते देवा असुरयूथपैः गुप्तमासीनं परमया श्रिया सम्पदा जुष्टं युक्तं, जिता अशेषा देवादयो येन तं वैरोचनिं बलिं उपागमन् [1]समीप मुपविविशुः[1]।।२९।।

तत इन्द्रो महामतिः श्लक्ष्णया मृद्या वाचा सान्त्वयित्वा सामोपायेन प्रसन्नं कृत्वा पुरुषोत्तमा[2]दजितात् यश्शिक्षितं तत्सर्वममृतोत्पादन प्रयत्नरूपमकथयत्।।३०।।

तदिन्द्रोक्तं दैत्यस्य बलेर्ये च शम्बरादयोऽसुराधिपाः ये च त्रिपुरवासिनः तेषाञ्च अरोचत [3]रुचिकरमभूत्[3]।।३१।।

ततो देवाश्चासुराश्च ते सर्वे संविदं समयं सङ्केतं कृत्वा परस्परं कृतं सौहृदं यैस्ते, हे परन्तप! अमृतार्थं परममुद्यमं यत्नं चक्रुः।।३२।।

**विज०** वो युष्माभिः ।।२५।।

तेषां पश्यताम्।।२६,२७।।

क्ष्वेलोदर्पः सिंहनादो वा, स्वो नायको येषां ते तथा।।२९, ३०।।

तेऽसुराः दैत्यस्य भृत्याः।।३१।।

संविदं सन्धिलक्षणवार्ताम्।।३२।।

**ततस्ते मन्दरगिरिं मोजसोत्पाट्य दुर्मदाः।**
**नदन्त उदधिं निन्यु श्शक्ताः परिघबाहवः।।३३।।**

**दूरभारोद्वहश्रान्ताः शक्रवैरोचनादयः।**
**अपारयन्त स्तं वोढुं विवशा विजहुः पथि।।३४।।**

**[4]निपतन्स गिरिस्तत्र बहूनमरदानवान्।।**
**चूर्णयामास महता भारेण कनकाचलः।।३५।।**

---

1- -1. W Omits 2. W Omits अजितात् 3- -3. W Omits 4. H.V न्यपतत्स

**तां स्तथा भग्नमनसो भग्नबाहूरुकन्धरान्।**
**विज्ञाय भगवांस्तत्र बभूव गरुडध्वजः।।३६।।**

**गिरिपातविनिष्पिष्टा न्विलोक्यामरदानवान्।**
**कटाक्षैर्जीवयामास निर्जरा निर्व्रणा न्यथा।।३७।।**

**गिरिञ्चाऽऽरोप्य गरुडे हस्तेनैकेन लीलया।**
**आरुह्य प्रययावब्धिं सुरासुरगणैर्वृतः।।३८।।**

**अवरोप्य गिरिं स्कन्धात् सुपर्णः पततां वरः।**
**ययौ जलान्त उत्सृज्य हरिणा स विसर्जितः।।३९।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
अष्टमस्कन्धे मन्दराचलनयनं नाम षष्ठोऽध्यायः।।६।।

**श्रीध० तत** इति। परिघा इव बाहवो येषाम् ।।३३ - ३८।।

**अवरोप्येति**। विसर्जितः प्रस्थापितः। सुपर्णे तत्र स्थिते वासुकेः आगमनायोगादिति भावः।।३९।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां षष्ठोऽध्यायः।।६।।

**वीर०** उद्यममेवाऽऽह - ततस्ते देवासुराः दुर्मदाः परिघा इव बाहवो येषां ते मन्दर गिरि मोजसा बलेनोत्पाट्य नदन्तः शक्त्या धारणशक्त्या क्षीरोदधिं निन्युः प्रापयितुं प्रवृत्ता बभूवुः।।३३।।

शक्रवैरोचनिप्रभृतयः सर्वे दूरभारोद्वहनेन श्रान्ताः अत एव मन्दरगिरिं वोढुमपारयन्तोऽशक्नुवन्तः विवशाः पथि गिरिं विजह्रुस्तत्यजुः।।३४।।

निपतन् स च गिरिः तत्र पात्यमानो बहूनमरानसुरांश्च चूर्णयामास, यतस्स गिरिः महता भारेण कनकाचलः मेरुतुल्यः।।३५।।

तदा तान् असुरदानवान् भग्नमनसः भग्नोत्साहान् कांश्चित् भग्ना बाहव ऊरवः कन्धराश्च येषां तान्विज्ञाय भगवान्गरुडध्वजो गरुडारूढः आविर्बभूव।।३६।।

---

1- -1. A,B,G,J,M,MaT इंक्षयाजी० 2. W °णानु" 3- -3. W Omits 4. A,B,T Omit तान् 5. A,B,T सुर"

गिरिपातेन विनिष्पिष्टां श्चूर्णीकृतान् असुरान्दानवांश्च विलोक्य ईक्षयाऽमृतदृष्ट्या निर्जरान् देवान् निर्व्रणान् यथावज्जीवयामास। असुरांस्तु नाऽजीवयदिति भावः।।३७।।

तत एकेनैव हस्तेन लीलया गिरि मृद्धृत्य गरुडे आरोप्य स्वयमप्यारुह्य सुरगणै वृतः पयोधिं प्रययौ।।३८।।

ततः पततां पक्षिणां वरः श्रेष्ठ स्सुपर्णो गरुडः स्कन्धाद्गिरिमवरोप्य जलान्ते जलसमीपे उत्सृज्य निधाय हरिणाऽनुविसर्जितः प्रस्थापितः ययावगात् । सुपर्णे तत्रस्थिते वासुकेरागमनासम्भवात् तदागमनाय विसर्जितो ययाविति भावः।।३९।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां षष्ठोऽध्यायः।।६।।

**विज०** दुर्मदाः दुस्सहमदाः।।३३।।

दूरदेशं प्रति भारो भरणं यस्य स दूरभारो गिरि स्तस्य उद्वहो वहनं तेन श्रान्ताः अपारयन्तः पारं गन्तु मशक्नुवन्तः ।।३४,३५।।

नाम्ना गरुडध्वज इति रूपधारी बभूव।।३६,३७।।

सुपर्णो गरुडः जलान्ते जलमध्ये। अत्र सुपर्ण इति कथनेन इदं तात्पर्यमवबोद्धव्यम्। वैवस्वतरैवतमन्वन्तरयोरमृतमथन मस्ति। तत्र वैवस्वत मन्वन्तरेऽनन्तनाम्ना गरुडेनोढो गिरिः, सुपर्णनाम्नोढो रैवतमन्वन्तरे "अनन्तोढो मन्दरस्तु यदा वैवस्वतान्तरम्। अमृतार्थे सुपर्णोढो रैवतस्यान्तरे मनोः" (ब्राह्मे) इत्यनेनेति निश्चयोक्तेरिति।।३९।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां अष्टमस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः।।६।।

---

1. A,B,T सुरा

oooOooo

# सप्तमोऽध्यायः

## श्रीशुक उवाच

ते नागराज मामन्त्र्य फलभागेन वासुकिम्।
परिवीय[1] गिरौ तस्मिन् नेत्रमब्धिं मुदान्विताः।।१।।

आरेभिरे सुरायत्ता[2] मथितुं तेऽमृतार्थिनः[3]।
हरिः पुरस्ताद्गृहे पूर्वं देवास्ततोऽभवन्।।२।।

तन्नैच्छन् दैत्यपतयो महापुरुषचेष्टितम्।
न गृह्णीमो वयं पुच्छमहेरङ्गममङ्गलम्।।३।।

स्वाध्यायश्रुतसम्पन्नाः प्रख्याता जन्मकर्मभिः।
इति तूष्णीं स्थितान्दैत्यान् विलोक्य पुरुषोत्तमः।।
स्मयमानो विसृज्याग्रं पुच्छं जग्राह सामरः।।४।।

कृतस्थान विभागास्ते[4] ह्येवं कश्यपनन्दनाः।
ममन्थुः परमायत्ताः अमृतार्थं[5] पयोनिधिम्।।५।।

मथ्यमानेऽर्णवे[6] सोऽद्रि[7] रनाधारो ह्यपोऽविशत्।
ध्रियमाणोऽपि बलिभिर्गौरवात्पाण्डुनन्दन!।।६।।

ते तु[8] निर्विण्णमनसः परिम्लानमुखश्रियः।
आसन्स्वपौरुषे नष्टे दैवेनाऽतिबलीयसा।।७।।

विलोक्य विघ्नेशविधिं[9] स ईश्वरो[10] दुरन्तवीर्योऽवितथाभिसन्धिः।
कृत्वा वपुः काच्छपमद्भुतं महत्प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार।।८।।

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

सप्तमे मथनोद्भूत विषभीत्याऽखिलैर्जनैः। स्तुतस्सन् कृपया रुद्रः पपौ विषमितीर्यते।

त इति फलभागेन तवाऽप्यमृते भागो भविष्यतीत्यामन्त्र्य[11] सम्मन्त्र्य वासुकिं नेत्रं गिरौ परिवीय

---

1. M,Ma "धाय 2. A,B,G,J,T सं 3- -3. A,B,G,J,T अमृतार्थं कुरूद्वह; M,Ma अमृतार्थं कुरूद्वह 4. A,B,G,J, M,Ma,T "स्त एवं 5. A,B,G,J,T तार्थं 6. H,V "नाऽर्णं 7 A यो" 8. A,B,G,J,M,Ma,T सु" 9. M,Ma गति 10. A,B,G,J,M,Ma,T तदेश्वरो 11. H,V Omit आमन्त्र्य

संवेष्ट्य अब्धिं मथितुमारेभिरे वासुकेर्मुखं तीव्रं दैत्यान्ग्राहयितुमेव, पूर्वं हरिः पुरस्तान्मुखं जगृहे। देवा अपि ततोऽभवन्मुखं जगृहुः ।।१-४।।

**कृतेति**। कृतो धारणे स्थानविभागो यैः ।।५,६।।

**त इति**। दैवेन हेतुना स्वपौरुषे नष्टे सति।।७।।

**विलोक्येति**। विघ्नेशस्य विधिं तेन रचितं विघ्नम्। अवितथः सत्योऽभिसन्धिः सङ्कल्पो यस्य ।।८।।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ते देवासुराः फलभागेन तवाऽप्यमृतभागो भविष्यतीत्येवं वासुकि मामन्त्र्य सम्प्रार्थ्य नेत्रीभूतं तं गिरौ परिवीय परिवेष्ट्य मुदा युक्ताः।।१।।

अमृतार्थे अब्धिं मथितुमारब्धाः हे कुरूद्वह। वासुकेस्तीव्रं मुखं दैत्यान् ग्राहयितुमेव पूर्वं हरिः पुरस्तात् मुखं जगृहे। ततो देवा अभवन्, मुखं जगृहुः ।।२।।

तन्मुखग्रहणरूपं महापुरुषस्य हरेश्चेष्टितं असुराधिपा नैच्छन्। स्वाध्यायश्रुतसम्पन्नाः वेदशास्त्राध्ययन सम्पन्नाः जन्मभिः कर्मभिश्च प्रसिद्धाः वय ममङ्गलं हीनं अहेः अङ्गं पुच्छं न गृह्णीम इत्यभिप्रायेण तूष्णीं स्थितान् दैत्यान् विलोक्य भगवान्पुरुषोत्तमः ।।३,४।।

स्मयमानो मुखं विसृज्य अमरैस्सहितः पुच्छञ्जग्राह - एवमित्थं कृतो ग्रहणस्थानविभागो यैस्ते कश्यपस्य नन्दनाः देवासुराः।।५।।

परमधिकमायत्ताः उद्यताः पयोनिधिं अमृतार्थं ममन्थुः। अर्णवे पयोदधौ मथ्यमाने सति अनाधारोऽद्रिः मन्दरोऽपोऽविशत् अपामधोभागं प्रविष्टोऽभूत्।।६।।

हे कुरुनन्दन! बलिष्ठैर्देवासुरैः ध्रियमाणोऽप्यद्रिः गौरवाद्भारभूयस्त्वात्, अपोऽविशदिति पूर्वेणान्वयः। ते देवासुरास्तु अतिबलीयसा दैवेन हेतुना स्वपौरुषे विनष्टे सति निर्विण्णमनसः अत एव परिम्लानमुखश्रियो बभूवुः ।।७।।

विघ्नेशस्य विघ्नाधिदैवतस्य विष्वक्सेनस्य तत्पार्षदस्य वा कस्यचिद्द्विरदवक्त्रादे र्विधिं चरितं तद्विघ्नं विलोक्य तथा सत्यसङ्कल्पः दुरन्तवीर्यः अपारबलो भगवानीश्वरोऽजितः महत् बृहत् अद्भुतञ्च काच्छपं

1. A मथि 2- -2 H.V Omit 3. ABT Omit तं 4. W Omits पूर्वं 5 ABT दैत्या" 6 ABT निकृष्टं 7- -7. ABT महोरग" 8. A,B,T add अपि

वपुर्धृत्वा तोयं जलं प्रविश्य गिरिं मन्दरम् उज्जहार[1] उद्धृतवानित्यर्थः ।।८।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हालाहलनाम तमोगुणजन्यमन्यथाज्ञानलक्षणम्, सुरानाम राजसा अज्ञानलक्षणाः। अमृतंनाम सात्त्विकं ज्ञानलक्षणं मुक्तिसाधनम् इत्याद्युत्पत्तिकथनेन महामहात्म्यं[2] स्पष्टयतेऽत्राध्यायद्वये। तत्राऽऽदौ मथनप्रकारं शास्त्रश्रवणलक्षणं कथयति - **ते नागराजेति**। परिधाय वेष्टयित्वा।।१।।

देवाः ततः पूर्वमभवन्नित्यन्वयः।।२,३।।

अर्थवादेनामङ्गलत्वमुपपादयति **स्वाध्यायेति**।।४,५।।

अपोऽविशत् जलमध्यं प्रविष्टः ।।६,७।।

विघ्नेशेनाऽधो गतिर्यस्य स तथा। तद्गिरिं, काच्छपं कच्छपस्य विद्यमानम्।।८।।

**तमुत्थितं वीक्ष्य कुलाचलं पुनः समुद्यता[3] निर्मथितुं सुरासुराः।**
**दधार पृष्ठेन सलक्षयोजनप्रस्तारिणा द्वीप इवाऽपरो महान्।।९।।**

**सुरासुरेन्द्रैर्भुजवीर्यवेपितं[4] परिभ्रमन्तं गिरिमङ्ग पृष्ठतः।**
**बिभ्रत्तदावर्तन मादिकच्छपो मेनेऽङ्ग कण्डूयन मप्रमेयः।।१०।।**

**तदा[5] सुरानाविश[6] दासुरेण रूपेण तेषां बलवीर्य मीरयन्।**
**उद्दीपयन्[7] देवगणांश्च विष्णुर्दैवेन नागेन्द्र मबोधरूपः।।११।।**

**उपर्यगेन्द्रं गिरिराडिवाऽन्य आक्रम्य हस्तेन सहस्रबाहुः।**
**तस्थौ दिवि ब्रह्मभवेन्द्रमुख्यै रभिष्टुवद्भिः सुमनोऽभिवृष्टः[8]।।१२।।**

**उपर्यधश्चाऽऽत्मनि गोत्रनेत्रयोः परेण ते प्राविशता समेधिताः।**
**ममन्थुरब्धिं तरसा मदोत्कटा महाद्रिणा क्षोभितनक्रचक्रम्।।१३।।**

**अहीन्द्रसाहस्रकठोरदृङ्मुख[9]श्वासाग्निधूमाहतवर्चसोऽसुराः।**
**पौलोमकालेयबलीत्वलादयो[10] दावाग्निदग्धास्सरला[11] इवाऽभवन्।।१४।।**

1. W. Omits उज्जहार 2. M Omits महा 3. A,B,G,J,M,Ma,T "त्थि" 4. W वेग 5. A,B,G,J,M,Ma,T तथा 6. M,Ma "णां वि" 7. H.V."भेव" 8. H.V.सृष्टः; M,Ma "वृष्टया 9. M,Ma करालादि" 10. A,B,G,H,J,T,V द" 11- -11. M,Ma "शलभा इवाऽपतन्

**देवांश्च तच्छ्वासशिखाहतप्रभान् धूम्राम्बरस्रग्वरकञ्चुकाननाम्।**
**समभ्यवर्षन्भगवद्वशा घना ववुः समुद्रोर्म्युपगूढवायवः।।१५।।**

**मथ्यमानान् तथा सिन्धोः देवासुरवरूथपैः।**
**यदा सुधा न जायेत निर्ममन्थाऽजितः स्वयम्।।१६।।**

**श्रीध० तमिति**। लक्षयोजनः प्रस्तारो विस्तारोऽस्यास्तीति तथा तेन पृष्ठेन ।।९।।

**सुरासुरेति**। तस्य गिरे रावर्तनं भ्रमणमङ्गकण्डूयनं मेने ।।१०।।

**तदेति**। आसुरेणाऽसुराकारेण, दैवेन देवाकारेणरूपेणाऽविशत् ।।११, १२।।

**उपरीति**। आत्मनि देवदैत्यमध्ये तत्तदाकारेण गोत्रे दार्ढ्यरूपेण नेत्रे अभेद्याबोधरूपेण। परेण हरिणा क्षोभितं नक्राणां चक्रं समूहो यस्मिन् ।।१३।।

**अहीन्द्रेति**। दृशश्च मुखानि च श्वासाश्च। अहीन्द्रस्य साहस्रमपरिमिताः कठोरा ये दृगादयः तेभ्यो निर्गताभ्यां अग्निधूमाभ्यामाहतं वर्चो येषां ते। सरला द्रुमविशेषाः ।।१४।।

**देवानिति**। देवांस्तु भगवद्वशा घनाः समभ्यवर्षन्। समुद्रोर्मिभिः उपगूढा वायवश्च शीतला ववुर्वान्ति स्म। कथम्भूतान् ? तस्याहीन्द्रस्य श्वासशिखाभि र्हता प्रभा येषाम्। धूम्राण्यम्बरादीनि येषाम्।।१५, १६।।

**वीर०** तमुत्थितं कुलाचलं मन्दरं वीक्ष्य सुराश्चाऽसुराश्च पुनर्निर्मथितुं समुत्थिता बभूवुः। गिरिं बिभ्रतं कूर्मरूपिणं वर्णयति- दधारेति। लक्षं योजनानि प्रस्तारो विस्तारोऽस्यास्तीति तथा तेन पृष्टेन दधार, मन्दर मिति शेषः कथम्भूतः? अपरो द्वीप इव जम्ब्वादिद्वीप इव। महान्विपुलदेहः।।९।।

सुरासुरश्रेष्ठैः कर्तृभिः भुजानां वेगेन बलेन वेपितं कम्पितं भ्रमन्तं गिरिं, अङ्ग! हे राजन्! पृष्ठे बिभ्रद-प्रमेयोऽपरिच्छिन्न बलशक्त्यादि युक्त्यादियुक्त आदिकच्छपरूप स्तदावर्तनं गिरिभ्रमणमङ्गकण्डूयनं मेने ।।१०।।

एवं जले कच्छपवपुषा गिरिं बिभ्रदेव विष्णुः पुनरसुरानसुररूपेणाऽऽविशत्। कथम्भूतः? तेषा मसुराणां बलंवीर्यञ्च ईरयन्नेधयमानः, तथा दैवेन रूपेण देवगणान् बलवीर्यादिक मुद्दीपयन्नाऽऽविशत् नागेन्द्रं वासुकि मबोधरूपः निद्रारूपः चकारात् नागेन्द्ररूपश्चेत्यर्थः। अज्ञः पृथक्स्वरूप एव सर्वबलोत्साह वीर्याणि प्रावर्धयदिति भावः। इन्द्रादिरूपः प्राविशत्।।११।।

1. M,Ma "भाम्ब" 2.W "न्मध" 3. H,V न 4. H,V "न्धो 5- -5. H V "न वि" 6- -6. B,H,J,V Omit 7. H,V "चरू" 8. H,V "खाभिभि. 9- -9. W Omits 10- -10. W. Omits

अगेन्द्रमुपरि गिरेरुपरि अपरो गिरिराडिव सहस्रबाहु रेकेन हस्तेन गिरिमाक्रम्य पुनर्दिव्याभितः स्तुवद्भिः ब्रह्मादिभिः कर्तृभिः सुमनोभिः पुष्पैः [1]करणैरभिवृष्टः तस्थौ ।।१२।।

[2]गिरे रुपर्यधस्तद्गोत्रनेत्रयोः गिरिनेत्रयो रात्मनि देवासुरषु च प्राविशता परेण परमात्मना समेधिताः समुपोद्बलिताः अत एव मदोत्कटा देवासुराः तरसा बलेन महाद्रिणा मन्दरेण क्षोभितं नक्राणां चक्रं [3]समूहो यस्मिन् तमद्रिं ममन्थुः ।।१३।।

[4]तथा दृशः [5]नेत्राणि च मुखानि च श्वासाश्च अहीन्द्रस्य वासुकेः साहस्रमपरिमिताः कठोरा ये दृगादयः तेभ्यो निर्गताभ्या मग्निधूमाभ्यां हतं वर्चो येषां तेऽसुराः पौलोमादयः दावाग्निदग्धाः सरला द्रुमविशेषाः, त इवाऽभवन् ।।१४।।

देवांस्तु मघवद्वशा [6]इन्द्राधीनाः घना मेघाः समभ्यवर्षन् । कथम्भूतान्? तस्य वासुके र्यः श्वास स्तस्य शिखया हता प्रभा येषां, धूम्राणि निश्वासधूमाक्तानि अम्बराणि वस्त्राणि स्रग्वराणि कञ्चुकानि आननानि च येषां तान् । किञ्च, समुद्रस्योर्मिभिः तरङ्गैः उपगूढाः संवृताः वायवः पवनाश्च ववुः प्रसस्रुः ।।१५।।

यदा देवासुरै र्मथ्यमानादप्यब्धेः अमृतं न जायेत तदा भगवानजितः स्वयमेव निर्ममन्थ [7]मन्थनं चकार[-7] ।।१६।।

**विज०** तस्य गिरे रावर्तनं परिभ्रमणं कण्डूयनं मेने इत्यन्वयः ।।९,१०।।

तमोगुणप्रवर्तकं रूपं यस्य स अबोधरूपः तिर्यग्रूप इति वा ।।११, १२।।

आत्मन्यन्तः ।।१३।।

अहीन्द्रस्य साहस्रसंख्यां गतानि करालानि च दिश इव विस्तृतानि च मुखानि अहीन्द्र साहस्रकराल दिङ्मुखानि तेषां निःश्वासा एवाऽग्रयः निःश्वासाग्रय स्तेषां धूमै राहतं वर्चो येषां ते तथा ।।१४।।

अम्बरं वस्त्रं, कञ्चुकः कूर्पासकम् ।।१५, १६।।

**मेघश्यामः कनकपरिधिः [8]कर्णविद्योतविद्युन्मूर्धि [9]भ्राजद्विलुलितकचः [-9]स्रग्धरो [10]रक्तनेत्रः ।**
**जैत्रै र्दोर्भिर्जगदभयदै र्दन्दशूकं गृहीत्वा मथ्नन् मथ्ना प्रतिगिरि रिवाऽशोभताऽथोद्धृताद्रिः ।।१७।।**

**निर्मथ्यमाना [11]दुदधे रभूद्विषं महोल्बणं [12]हालहलाद्ध मग्रतः ।**
**सम्भ्रान्तमीनोन्मकराहिकच्छपा त्तिमिद्विपग्राहतिमिङ्गिलाकुलात् ।।१८।।**

---

1. W Omits करणै. 2. A,B,J गिरि" 3. W Omits समूहः 4. W Omits तथा 5.W Omits नेत्राणि 6.W इन्द्रवशाः 7- -7.W Omits
8. W कण्ड 9- -9. मूर्ध्नाऽक्रामन् विथति चलितस्स्रग्भरो 10. H,V कण्डः 11. A,B,G,J,M,Ma,T "धो धृ" 12. W "ख्य

तदुग्रवेगं दिशि दिश्युपर्यधो विसर्पदुत्सर्पदसह्य मप्रति[1]।
भीताः प्रजा दुद्रुवु रङ्ग सेश्वरा अरक्ष्यमाणा शशरणं सदाशिवम्।।१९।।

विलोक्य तं देववरं त्रिलोक्या भवाय देव्याभिमतं[2] मुनीनाम्।
आसीन मद्रावपवर्गहेतो स्तपोजुषाणं स्तुतिभिः प्रणेमुः।।२०।।

प्रजापतय[1] ऊचुः

देव देव महादेव भूतात्मन् भूत भावन।
त्राहिनश्शरणापन्नां स्त्रैलोक्यदहना द्विषात्।।२१।।

त्वमेकः सर्वजगतामीश्वरो[4] बन्धमोक्षयोः।
तं त्वा मर्चन्ति कुशलाः प्रपन्नार्तिहरं गुरुम्।।२२।।

गुणमय्या स्वशक्त्याऽस्य सर्गस्थित्यप्ययान् विभो।
धत्से यदा स्वदृग्भूमन् ब्रह्मविष्णुशिवाभिधाम्।।२३।।

त्वं ब्रह्म परमं गुह्यं सदसद्भावभावनम्[5]।
नानाशक्तिभिराभातस्त्वमात्मा जगदीश्वरः[6]।।२४।।

**श्रीध० मेघश्याम** इति। उद्धृतोऽद्रिः[7] येन स उद्धृताद्रिर्भगवान् परमपुरुषोऽनन्तर मशोभतेत्यन्वयः[8]। कथम्भूतः कनकपरिधिः पीतवासाः कर्णयोः विद्योतमाना विद्युत्कुण्डलल्लक्षणा यस्य। तथा मूर्ध्नि भ्राजन्तो विलुलिताः कचा यस्य स तथा जैत्रैः जिष्णुभिः। दन्दशूकं सर्पम्। मध्ना[9] मन्दराख्येन मध्नन्[9] प्रतिर्गिरिः प्रतिद्वन्द्वी पर्वतः।।१७।।

**निर्मर्थ्येति**। हालहलमित्याह्वा नाम यस्य। सम्भ्रान्ता मीना उद्गता मकरादयश्च यस्मिं स्तस्मात् तिमयो मत्स्याः तदादिभि[10] राकुलाश्च[11] ।।१८।।

**तदिति**। तद्विषम्। अप्रति अप्रतिमम्। प्रतिक्रियाशून्य मिति वा। कुतः, उग्रो वेगो यस्य। तदेवाऽऽह - दिशि दिशीति। दिशि[12] दिशि सर्वासु दिक्षु विसर्पत् विसारि। यद्वा - उग्रा वेगा रोमाञ्च स्वेदादयो यस्मादत एव असह्यं[13] विलोक्य भीता अन्येन केनाप्यरक्ष्यमाणाः सदाशिवं शरणं दुद्रुवुः जग्मुः ।।१९।।

**विलोक्येति**। त्रिलोक्या भवाय[14] उद्भवाय देव्यासहाऽद्रौ कैलासे आसीनं तथाऽपि मुनीनामभिमतं तेषा मेवाऽपवर्गाय तपो जुषाणम्।।२०।।

1 M,Ma बीयम् 2. M,Ma "युतं 3. "जा ऊ" 4 A,B,G,J,M,Ma,T "त ई" 5 A,B,G,J,T "न 6. M,Ma "स.7. A,B,G,J धृ" 8. A,B,G,J धृ" 9- -9. B,H, J,V Omit 10- -10. B,H,J,V तिम्यादिभि 11. H,V "लात। 12- -12. B,H,J,V Omit 13 A असह्यबीयं 14. B,H,J,V Omit भवाय

*" निर्गुणं सगुणञ्चैव शिवं हरि पराक्रमैः। स्तुवन्तश्च प्रजेशाना नामन्यन्तान्तरं तयोः।" ।।२१, २२।।

नन्वेवम्भूतो विष्णुरिति प्रसिद्धं, तत्राऽऽहुः। **गुणमय्येति**। अस्य जगतो यदा सर्गादीन्धत्से तदा, हे भूमन् स्वदृक् स्वतस्सिद्ध ज्ञानस्त्वं ब्रह्मादिसंज्ञां धत्से।।२३।।

तत्र हेतुः **त्वं ब्रह्मेति**। सदसतो भावान् देवतिर्यगादिरूपान् भावयतीति तथा। सृज्यन्तु त्वद्व्यतिरिक्तं नास्तीत्याऽऽहुः। आत्मैव त्वं नानाशक्तिभिर्जगद्रूपेणाऽऽभातः तस्मा दीश्वरः ।।२४।।

**वीर०** मथ्नन्तमजितं वर्णयति - **मेघश्याम** इति। मेघ इव श्यामः "उपमानानि सामान्य वचनैः" (अष्टा 2-1-55) इति समासः। कनकपरिधिः कनकपरिधानः पीताम्बरः। कण्ठे द्योतमानविद्युन्निभाभरणः वियत्याकाशे मूर्ध्ना सकिरीटेनाक्रामन् चलितां स्रजं वनमालां बिभर्तीति तादृशः। रक्ते नेत्रे यस्य सः। जगता मभयप्रदैः दोर्भि र्भुजैः दन्दशूकं सर्प गृहीत्वा मथ्ना गिरिणा आब्धिं मथ्नन् अधोधृताद्रिः[2] अजितोऽपरो गिरिरिवाऽशोभत।।१७।।

एवं निर्मथ्यमाना दुदधेः प्रथमम् उल्बणं दुस्सहं हालहलाख्यं विषमुदभूत्। कथम्भूता दुदधेः? सम्भ्रान्ता मीना उद्गता मकरादयश्च यस्मिं स्तस्मात्। तिम्यादिभि र्मत्स्यविशेषैराकुलाञ्च ।।१८।।

विषं विशिंषस्ततो भीतानां प्रजानां सदाशिवप्रपत्तिमाह - तदितितद्विषमप्रति प्रतिक्रियाशून्य मप्रतिमं वा। कुतः? उग्रः वेगो यस्य तदेवाऽऽह - दिशि दिशि प्रतिदिशम् उपर्यधश्च विसर्पत् उत्सर्पत् उद्गच्छच्च। एवं विधं तद्विषं, दृष्ट्वेति शेषः। अङ्ग हे राजन्। सेश्वरा स्सपालाः प्रजाः त्रिलोकस्थाः अरक्ष्यमाणा स्सदाशिवं शरणं दुद्रुवुः जग्मुः ।।१९।।

त्रिलोक्याः भवाय समृद्ध्यै दैव्या भवान्या सहाऽद्रौ कैलासे आसीन मपवर्गहेतो स्तपो जुषाणं मुनीनामभिमतं देववरं सदाशिवं विलोक्य स्तुतिभिः प्रणेमुः तुष्टुवुः प्रणेमुश्च।।२०।।

स्तुतिमेवाऽऽह - देवदेवेत्यादिना व्यक्तिस्ते अव्यक्तकर्मण इत्यन्तेन। तत्र परमकारणभूत भगवदसाधारणैः धर्मैः, आरोपितै र्वा तैः स्तुतिः क्रियते इति सर्व मुपपन्नम्, रुद्रवाचिशब्दानां शास्त्रदृष्ट्या रुद्रशरीरकपरमात्मपर्यन्तत्वेन वा, रुद्रस्य परमात्मावेशावताररूपत्वा द्वा सर्वं घटते। हे देवाना मपि देव! हे सर्वभूतान्तरात्मन्। हे भूतभावन! भूतस्रष्टः। शरणं गतानस्मान् त्रैलोक्यं दहतीति त्रैलोक्यदहनः। कर्तरि ल्युः। तस्मात् विषात् त्राहि पाहि।।२१।।

* श्रीधरीयोऽयं श्लोकः। 1. H,V यस्मा० 2- -2. W अधोक्षजः

सर्वस्य जगतो बन्धमोक्षयो स्त्वमेक एवेश्वरः तमेवम्भूतं प्रपन्नदुःखहरं त्वामेव कुशलाः सुधियः अर्चन्त्याराधयन्ति। मोक्षेश्वरत्वम् उपायोपदेशद्वारकम् इत्यभिप्रायेण विशिनष्टि - गुरुमिति ।।२२।।

गुणमय्या त्रिगुणात्मिकया स्वशक्त्या स्वांशभूतया मायया अस्य जगतः यदा सर्गादीन् विधत्से करोषि, तदा हे विभोः। हे स्वदृक् स्वप्रकाश, हे भूमन्। ब्रह्मविष्णुशिवाभिधां धत्से बिभर्षि ।।२३।।

गुह्यमौपनिषदं परमं सदसद्भावनं चिदचिद्रूप पदार्थभावनं परं ब्रह्मत्वमेव।"ब्रह्म दृष्टिरुत्कर्षात् " (ब्र.सू. 4-1-5) इति न्यायेन एवं विषाद्भीताः स्तुवन्ति, अत एव ब्रह्मत्वेन स्तुत मप्यात्मानं अब्रह्मभूतं ज्ञात्वा वक्ष्यति रुद्रः - "अहो बत। भवान्येतत् प्रजानां पश्य वैशसम् ---------- पुंसः कृपयतो भद्रे! सर्वात्मा प्रीयते हरिः" प्रीते हरौ भगवति " (भाग .8-7-37 & 40) इति आपन्नानामब्रह्मणि मयि ब्रह्मत्वेन स्तुतिं पश्येति भवान्यै दर्शयित्वा अवश्यं भूतदयया भगवान् सर्वान्तरात्मा परब्रह्मभूतः तुष्यतीति वक्ष्यति। तस्मात् न रुद्रे परत्वभ्रमः कार्यः। तस्माद्रुद्रशरीरकपरमात्मगताः सर्वे चैतत्प्रकरणोदिता धर्माः इत्यवगन्तव्यम्" भूयसां स्या द्बलीयस्त्वम्" इति न्यायेन भगवत्पारम्यस्य प्रायशोऽस्मिन्पुराणे प्रतिपादनात्। नानाशक्तिभि राभातश्चिदचित्कालादि शक्तिविशिष्टतयाऽऽभातः प्रपञ्च स्त्वमेव जगदीश्वर स्तदन्तरात्मा च त्वमेव ।।२४।।

**विज०** कनकपरिधिः कनककाञ्चीकः कर्णविद्योत विद्युत् इति लुप्तोपमेय मिति कर्णशब्दप्रयोगेन कुण्डलद्वयमुपलक्ष्यते तेनैवं योजनीयम्। विशिष्टो द्योतो ययोस्ते विद्योते, कर्णयो र्विद्योते विशिष्टदीप्तिनी विद्युद्रूपे इव कुण्डले यस्य स तथा विलुलिता विचलिता वनस्रग्वनमाला तां धारयतीति मूर्ध्नि शोभमानविलुलितवनस्रग्धरः दन्दशूकं नागेन्द्रं, मध्ना मन्दराख्येन ।।१७।।

उन्मकराः उन्मुखमकराः उत्तिमयः उत्पतिततिमिमत्स्याः सम्भ्रान्तैः मीनादिभिः आकुलदब्धेः।।२८।।

दुद्रुवुः शीघ्रं जग्मुः ।।१९ - २२।।

यदा सर्गादीन् धत्से तदा ब्रह्माद्यभिधां धत्से ।।२३।।

सदसद्भावा देवासुरतिर्यगादयः तान् भावयति उत्पादयति वर्धयति वशीकरोति चेति अतः सदसद्भाव भावनम्। अनेन ब्रह्मशिवयो रन्तर्यामित्वेन स्थितमेव जगदुत्पत्त्यादि करोतीति निरणायि। नानाशक्तिभिः आभासः आ समन्ताद्भासो भासनं यस्य स तथा ।।२४।।

त्वं शब्दयोनिर्जगदादिरात्मा प्राणेन्द्रियद्रव्यगुणस्वभावः।
कालः क्रतुस्सत्यमृतञ्च धर्म स्त्वय्यक्षरं यत्त्रिवृ दामनन्ति ।।२५।।

अग्निर्मुखं तेऽखिलदेवतात्मा क्षितिं त्रिदुर्लोक भवाङ्घ्रिपङ्कजम्।
कालं गतिं तेऽखिलदेवतात्मन् दिशश्च कर्णौ रसनां जलेशम्।।२६।।

नाभि र्नभस्ते श्वसनं नभस्वान् सूर्यश्च चक्षूंषि जलं स्मरेतः।
परावरात्माश्रयणं तवात्मा सोमो मनो द्यौर्भगवञ्छिरस्ते ।।२७।।

कुक्षिस्समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घा रोमाणि सर्वौषधिवीरुधस्ते।
छन्दांसि साक्षात्तव सप्तधातव स्त्रयीमयात्मन् हृदयं स धर्मः।।२८।।

मुखानि पञ्चोपनिषद स्तवेश यैस्त्रिंशदष्टोत्तरमन्त्रवर्गः।
यत्तच्छिवाख्यं परमात्मतत्त्वं देव! स्वयञ्ज्योति रवस्थिति स्ते ।।२९।।

छाया त्वधर्मोर्मिषु यैर्विसर्गो नेत्र त्रयं सत्त्वरजस्तमांसि।
साक्षान्मनु श्शास्त्रकृत स्तवेक्षा च्छन्दोमयो देव! ऋषिः पुराणः।।३०।।

नते गिरित्राऽखिल लोकपाल विरिञ्च वैकुण्ठ सुरेन्द्र गम्यम्।
ज्योतिः परं यत्र रजस्तमश्च सत्त्वं न यद्ब्रह्म निरस्तभेदम्।।३१।।

कामाध्वरात्रिपुर कालगराद्यनेक भूतद्रुहः क्षपयतः स्तुतये न तत्ते।
यस्त्वन्तकाल इद मात्मकृतं स्वनेत्र वह्निस्फुलिङ्गशिखया भसितं न वेद ।।३२।।

श्रीध० स्वतस्सिद्धज्ञानत्व मुपपादयन्तो जगदात्मना आभानप्रकारमाहुः - त्वमिति। त्वं शब्दस्य वेदस्य योनिः, अतः स्वतस्सिद्धज्ञानः। त्वं जगदादिर्महत्तत्त्वम्। आत्मा चाऽहङ्कारः। कथम्भूतः? प्राणेन्द्रियद्रव्याणां कारणभूता गुणा यस्य, राजसादित्रिविध इत्यर्थः। स्वभावादयश्च त्वमेव। तत्र क्रतुस्सङ्कल्पः सत्यमृतञ्चेति यो धर्मः स च त्वम्। महदादि स्वरूपत्वे हेतुः त्रिवृत् त्रिगुणात्मकं यदक्षरं प्रधानं त्वयि त्वदाश्रयं तदामनन्ति। यद्वा एवम्भूते त्वयि त्रिवृदक्षरं प्रणवं प्रकाशकमाहुरित्यर्थः ।।२५।।

---

1- -1. M,Ma कालोर्गतिस्तेऽ 2 A,B,G,J,M,Ma,T "त्मनो 3. A,B,G,J,M,Ma,T रसनं 4. M,Ma "शः 5. H,V "परा 6. A,B,G,J,T सर्वधर्मः 7. M,Ma "धत्तवे" 8. H,V चिदाख्यं 9. A,B,G,J,T "मार्थ" 10. M,Ma "मृंडयं" 11. A,B,G,J,T साख्यात्मनः; W साक्ष्यात्मन 12. W बेद 13. M,Ma ह" 14 M,Ma यत्त्व 15. M,Ma तवेश। 16. H,V "नमु" 17. H,V. "स

**अग्निरिति**। अखिलदेवतात्मा "अग्नि स्सर्वा देवताः" इति श्रुतेः। सोऽग्नि स्ते मुखम्। हे लोकभव द्वितीयान्तेषु विदुरित्यस्य सम्बन्धः।।२६।।

**नाभिरिति**। परे अवरे[1] च ये आत्मानो जीवा स्तेषा माश्रय[2] स्ते[3] तवाऽऽत्मा अहङ्कारः ।।२७।।

**कुक्षिरिति**। हे त्रयीमयात्मन् वेदत्रयमूर्ते।।२८।।

**मुखानीति**। पञ्चोपनिषदः[4-] अत्र वर्णाधिक्य मार्षम्[-4] तत्पुरुषाघोरसद्योजातवामदेवेशानरूपाः मन्त्राः। यै र्मुखै रष्टोत्तरत्रिंशन्मन्त्राणां वर्गः। तेषामेव मन्त्राणां पदच्छेदेन अष्टोत्तरत्रिंशत्कलात्मका मन्त्रा इत्यर्थः अवस्थिति रुपरतावस्था।।२९।।

**छायेति**। अधर्मस्योर्मिषु दम्भलोभादिषु[5] ते छाया। यै रूर्मिभिः विसर्गः प्रतिसर्गः संहारः। यद्वा, यैः सत्त्वादिभिः विविधः सर्गः, तानि[6] ते नेत्रत्रयम्। हे देव छन्दोमय ऋषिर्वेदः स तवेक्षा ईक्षणम्। साक्षान्मनुरिति पाठे मनुर्वेदः। तमेवाह छान्दोमय इति[7-] ।।३०।।

[8-]तदेवाऽऽहं[-8]- **नेति**। हे गिरित्र, ते परं ज्योति रखिलानां लोकपालादीनां गम्यं न भवति। कुतः? यत्र रज आदि नास्ति। किं तज्ज्योतिः। यन्निरस्तभेदं ब्रह्म ।।३१।।

**कामेति**। कामश्चाध्वरश्च दक्षयज्ञः त्रिपुरादयश्च ये अनेकभूतद्रुहः[9] तान् क्षपयतः संहरत स्ते तत्कर्म स्तुतये न भवति। अत्यल्पमेतदित्यर्थः। गरभक्षणस्यापि[10] अवश्यम्भावित्वेन सिद्धवन्निर्देशः। स्तुतयेऽलं न भवतीत्यत्र हेतुः। यस्तु भवान् स्वनेत्रवह्निविस्फुलिङ्गस्य शिखयेदं जगद्भसितं भस्मसाङ्गातं न वेद नाऽऽलोचयत्यपि[11]।।३२।।

**वीर०** त्वमेव[12] शब्दयोनिः शास्त्रप्रमाणकः जगदादिः जगत्कारणभूतः आत्मा "आत्मन आकाश स्सम्भूतः" (तै.त्ति.उ. 2-1-1) इत्युक्त स्त्वमेव द्रव्यं भूतपञ्चकं स्वभावो विशेषणं प्राणेन्द्रियद्रव्यगुणस्वभावः प्राणादिविशेषणवानित्यर्थः। कालादिशरीरकश्च त्वमेव। त्वच्छरीरको यः परमात्मा स एव कालादिशरीरक इति तात्पर्यं, सत्यमृतं "ऋतं सत्यं परं ब्रह्म" ( म.ना.उ.10-10) इत्युक्तं निर्विकारं सर्वान्तरात्मभूतं ब्रह्मत्वमेवेत्यर्थः, धर्मः धर्मशरीरक स्तदाराध्यो वा त्वमेव। त्रिवृत्रयाणां वृद्वर्तनं यस्मिंस्तत्। अकारोकार मकारात्मकमक्षरं प्रणवं त्वय्येवाऽऽमनन्ति त्वद्विषयक मेवाऽऽमनन्तीत्यर्थः।।२५।।

1. H.V "च" 2. A,B,J Omit ते 3. H,V Omit तव 4- -4. A,B,J Omit 5. B,H,J,V Omit ते छाया 6. B,H,J,V Omit ते 7--7. H.V Omit 8- -8. A,B,J Omit 9. H.V add ते 10 ABJ क्षपण 11. H.V "ड" 12. W Omits त्वमेव

विराड्रूपं स्तुवन्ति - अग्नि रिति। अखिलदेवतात्मा " अग्नि स्सर्वा देवता" इति सर्वदेवतामयत्वेन श्रुतोऽग्नि स्ते तव मुखम् क्षितिं पृथ्वीं हे लोकभव! तवाङ्घ्रिपङ्कजं [1]पादपद्मं[-1] विदुः। कालंतु अखिलदेवतात्मनः तव गतिं विदुः। तथा दिश स्तवकर्णौ [2]विदुः। जलेशं वरुणं तव रसनं [3]जिह्वां विदुः।।२६।।

नभ [4]आकाश स्तव नाभिः, नभस्वान् वायुः तव[5]श्वसनं श्वासः, सूर्य स्तव चक्षूंषि नेत्राणि, जलं तवरेतः, तवात्मा परेऽवरे च ये आत्मानो जीवा स्तेषामाश्रयणमाश्रयः आधारः सोमश्चन्द्र स्तव मनः, हे भगवन्! द्यौः [6]स्वर्लोक स्तव शिरः ।।२७।

समुद्रा स्तव कुक्षिः, गिरयः पर्वतास्तु अस्थिसमुदायाः सर्वा ओषधयो वीरुधश्च तव रोमाणि, छन्दांसि गायत्र्यादीनि साक्षात्तव सप्त धातवः। हे त्रयीमयात्मन्! वेदप्रचुर मूर्ते! स प्रसिद्धो वेदोदितो धर्मः तव हृदयम्।।२८।।

हे ईश! पञ्चोपनिषदः तत्पुरुषाघोरसद्योजातवामदेवेशानात्मका[7]ः, पञ्चानुवाका स्तव मुखानि मुखव्यापरात्मका इत्यर्थः। मुखानि विशिनष्टि - यै र्मुखैः त्रिंशदष्टोत्तरमन्त्रवर्गाः आष्टोत्तरत्रिंशन्मन्त्राणां वर्गाः तेषामेव मन्त्राणां परिच्छेदेन अष्टोत्तरत्रिंशत्कलात्मका मन्त्रा इत्यर्थः। हे देव! यत्स्वप्रकाशं शिवाख्यं" पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युतम्"(म.ना.उ. 9.3) इति प्रसिद्धं परमात्मतत्त्वं तत् ते तवाऽवस्थिति स्वस्थानं परमात्मशरीरत्वेन तदपृथक्सिद्धत्वेन अवस्थितिः त्वमिति[8] तात्पर्यम् ।।२९।

अधर्मस्योर्मिषु दम्भलोभादिषु तव छाया अप्रकाशः अधर्मोर्मयस्तव छायाभूता इत्यर्थः। यै स्सत्त्वादिभिः गुणैः विसर्गः प्रपञ्चसृष्टिः तानि सत्त्वरजस्तमांसि तव नेत्रत्रयम्। हे देव! छन्दोमयः गायत्र्यादि छन्दःप्रचुरः पुरातनः ऋषिर्वेदः साक्ष्यात्मनः सर्वज्ञस्याऽऽत्मनः शास्त्रप्रणेतुस्तव ईक्षा ईक्षणं [9]ज्ञानमित्यर्थः ।।३०।।

हे गिरित्र! हे अखिललोकपाल! ते तव परंज्योतिः स्वप्रकाशं स्वरूपं विरिञ्च्यादिभि र्गम्यं न भवति, वैकुण्ठः उपेन्द्रः सुरेन्द्रः सुरेन्द्रसमभिव्याहारात् तस्याऽप्यगम्यत्वमति स्तुतिः। यद्वा, अस्य प्रकरणस्य रुद्रशरीरक परमात्मस्तुतिपरत्वात् परमात्मस्वरूपस्य अपरिच्छिन्नत्वेन तेनाऽपीयत्तयाऽवगन्तुमशक्यत्वात् - वैकुण्ठेनाऽप्यगम्यत्वमुक्तम्। ज्योति र्विशिनष्टि - यत्र ज्योतिषि रज आदयः प्राकृतगुणाः न सन्ति यद्ब्रह्म यच्च निरस्तदेवमनुष्यादि भेदम् ।।३१।।

1- -1. W Omits 2. W Omits विदुः 3. W Omits जिह्वा 4. W Omits आकाशः 5. W Omits श्वसन 6. W omits स्वर्लोकः 7. ABT "क" 8. ABT "तः 9- -9. W Omits

कामश्चाध्वरश्च दक्षश्च त्रिपुरादयश्च येऽनेकभूतद्रुहः तान् क्षपयतः संहरत स्ते तव स्तुतये तत्कामादि क्षपणात्मकं कर्म न भवति तत्कर्मत्वत्स्तुतये न भवति।, अत्यल्पमेत दित्यर्थः। तदेव वक्तुं विशिनष्टि - यो भवांस्तु आत्मकृतं स्वसृष्ट मिदं जगत् अन्तकाले स्वनेत्रवह्निस्फुलिङ्ग स्य शिखया भसितं भस्मसाद्भूतं न वेद न जानातीत्यर्थः ।।३२।।

**विज०** शब्दयोनि शक्तिकारणं यस्य स तथा प्राणादि सत्ताप्रदः तत्तत्स्वभावप्रवर्तकः क्रतुः सत्यकामः सङ्कल्पप्रवर्तको वा सत्यं सच्चिदानन्दरूपं ऋतुमेकप्रकारं धारकत्वाद्धर्मः यत् त्रिवृदाकारादि वर्णत्रयात्मकं तदक्षरं प्रणवलक्षणं त्वयि त्वद्वाचकत्वेन प्रवर्तत इत्यामनन्ति " ओ मित्येकाक्षरम्" (भ.गी. 8-15) इत्यादि वेदान्ताः ।।२५।।

अखिलदेवतात्मा अखिलदेवताभ्यो हविर्भागदाता हेलोकभव जगत्कर्तः। अखिलदेवतान्तर्यामिणः।।२६।।

द्रुहिण स्तवात्मा सत्त्वलक्षणं चित्तम्।।२७,२८।।

"ईशान स्सर्वविद्यानाम्" (मना.उ.10-8) इत्यादिपञ्चमन्त्राः यै मंत्रैः त्रिंशदष्टोत्तरमन्त्रवर्गः अष्टत्रिंशत्कलालक्षणः मन्त्रसमूहः उत्पन्न इति शेषः। यच्छिवाख्यं तद्वस्तु तेऽवस्थितिरवस्थानं, तदनुग्रहादिति शेषः ।।२९।।

यैः सत्त्वादिभिः सर्गो भवति तानि सत्त्वादीनि तव नेत्रत्रयं साक्षान्मनुः शास्त्रकृतः तवेक्षा। ततो जातः देवर्षिस्तव छन्दोमयः इच्छातो जातः ।।३०।।

यत्तव परंज्योतिः रूपं तद्विरिञ्चादिभिर्गम्यं न सर्वात्मनेति शेषः। निरस्तभेदम् " नेह नानास्ति किञ्चन (बृह उ. 4-4-19) इति श्रुतेः ।।३१।।

कामाद्यनेकभूतहिंसकस्य क्षपयत स्संहरत स्तव स्तुतये तद्जगत् न शक्तं कुतः - इति तत्राह- यदिति। हे ईश! प्रलयकाले तव स्वस्य नेत्रस्य नेत्रवह्नेः स्फुलिङ्गशिखया भसितं भक्षितमिदमात्मकृतं जगदिति यत्तस्मा दित्यन्वयः। अत्र हरेति पदोपादाना दियं स्तुतिः श्रीहरिविषयेति ज्ञायते। "सर्वात्मा प्रीयते हरिः" (भाग. 8-7-40) इति वक्ष्यमाणवाक्याच्च। "तत्र तत्र स्तुतिपदैर्हरिरेव तु तद्गतः। स्तूयतेऽतो युक्तमेव-गुणाधिक्य वचोऽपि तु" (ब्राह्मे) इति वचनाच्च ।।३२।।

---

1--1 ABMa तच्छक्तिः

ये त्वात्मरामगुरुभि र्हृदि चिन्तिताङ्घ्रिद्वन्द्वं चरन्त मुमया तपसाभितप्तम्।[1]
कत्थन्त उग्रपरुषं निरतं श्मशाने ते नूनमृतिमविदंस्तव[2] हातलज्जाः[3] ।।३३।।

तत्तस्य ते सदसतोः परतः परस्य नाऽङ्ग[7] स्वरूपगमने प्रभवन्ति भूम्नः।
ब्रह्मादयः किमुत संस्तवने वयन्तु तत्सर्गसर्गविषया अपि शक्तिमात्रम्[8]।।३४।।

एतत्परं प्रपश्यामो न[9] परं ते महेश्वर।
मृडनाय हि लोकस्य व्यक्ति स्तेऽव्यक्तकर्मणः।।३५।।

श्रीशुक उवाच

तद्वीक्ष्य व्यसनं तासां कृपया भृशपीडितः।
सर्वभूतसुहृदेव इद माह सतीं प्रियाम् ।।३६।।

श्रीशिव उवाच[10-10]

अहो बत भवान्येतत् प्रजानां पश्य वैशसम्।
क्षीरोदमथनोद्भूतात् कालकूटा दुपस्थितम्।।३७।।

आसां प्राणपरीप्सूनां विधेयमभयं हि नः[11]।
एतावान्हि[12] प्रभो रर्थो यद्दीन परिरक्षणम्[13]।।३८।।

प्राणैः स्वैः प्राणिनः पान्ति साधवः क्षणभङ्गुरैः।
बद्धवैरेषु भूतेषु मोहितेष्वात्ममायया ।।३९।।

पुंसः कृपयतो भद्रे सर्वात्मा प्रीयते हरिः।
प्रीते हरौ भगवति प्रीयेऽहं सचराचरः।।
तस्मा दिदं गरं भुञ्जे प्रजानां स्वस्तिरस्तु मे।।४०।।

श्रीध० तदेवं नित्यं परानुग्रहे[14] व्यग्रं त्वां ये निन्दन्ति तेऽतिमूर्खा इत्याहुः - ये त्विति[15]। ये त्वां[16] उमया सह चरन्तं तस्यां नितरां रतं कामिनं कत्थन्ते प्रलपन्ति, तथा श्मशाने चरन्त मुग्रं क्रूरं परुषञ्च हिंस्रं कत्थन्ते। कथम्भूतम्? आत्मारामाश्च ते गुरवो विश्वहितोपदेष्टारः तै र्हृदि चिन्तित मङ्घ्रिद्वन्द्वं यस्य तथाभूतमपि तपसाऽभितप्तमपि। ते नूनं तव ऊर्तिं अविदन् अविदन् इति काकुः त्वल्लीलां नैव विदु रित्यर्थः।

---

1. M,Ma °से 2. M,Ma कथ्यन्त 3. MMa वपु° 4. H.V. नितरां 5- -5. M,Ma भूतभूतिमविदस्तव 6. H,M,Ma,V हीन 7. M,Ma नाऽन्त: 8. M,Ma भक्ति° 9. W नाऽप° 10- -10. H,M,Ma,V,W Omit 11. A,B,G,J,M,Ma,T मे। 12. H,V °वांश्च 13. A,B,G,J,M,Ma,T पालनम् 14. H,V Omit तत् 15. A,B,J °हव्य° 16. A,B,J तु

अतो हीनलज्जाः[1] त्यक्तत्रपाः। कथमात्मारामैः सेवितचरणयुगलस्य ते[2-] कामित्वं सम्भवति[-2]? कथं वा तपसाऽभितप्तस्य शान्तस्योग्रत्वं परुषत्वं वा सम्भवतीत्यविचार्यैवप्रलपन्ती[3]त्यर्थः ।।३३।।

आस्तान्तावत् निन्दकानां वार्ता महान्तोऽपि तव तत्त्वं न जानन्तीत्याहुः- **तदिति**। तत्तस्मात्तव स्वरूपस्य गमने ज्ञाने ब्रह्मादयोऽपि न समर्थाः, संस्तवने तु कृतश्शक्ताः स्युः, तत्र वयं कथं प्रभवेम? यतस्तेषां सर्गोऽत्यन्तं[4] अर्वाचीनाः। तथाऽपि यदेतत्तव[5] स्तवनमेत दात्मशक्तिपरिमितमात्र मित्यर्थः ।।३४।।

तदेवाऽऽहुः - **एतत्पर** मिति। न[6] परं रूपं तथाऽपि त्वद्दर्शनादेव कृतार्था वयमित्याहुः मृडनाय हीति। [7-]अव्यक्तकर्मणः अतर्क्यलीलस्य[-7] ।।३५, ३६।।

मत्प्रभाव मविचार्य विषपाने प्रवृत्तं मां कथञ्चिदियं प्रिया वारयतीति[8] शङ्कया तामनुज्ञापयन्नाह - **अहो बतेति** सार्धैश्चतुर्भिः वैशसम् दुःखम् ।।३७।।

**आसामिति**। प्राणपरीप्सूनां प्राणरक्षणेच्छूनां, मे मया प्रभोः समर्थस्य। अर्थः कार्यम्।।३८।।

किञ्च-**प्राणैरिति**। बद्धवैरेषु भूतेषु परस्परं जिघांसत्सु ।।३९।।

**पुंसइति**। कृपयतः कृपां कुर्वतः पुंसः। मे मत्तः स्वस्तिः शोभना सत्ता, सुखेन जीवित मस्त्वित्यर्थः।।४०।।

**वीर०** एवम्भूतं त्वां ये निन्दन्ति ते मूर्खा इत्याह - **येत्विति**। ये तु त्वां उमया भवान्या सह चरन्तं नितरां कामिनं कत्थन्ते प्रलपन्ति। तथा श्मशाने चरन्त मुग्रं क्रूरं परुषं हिंस्रञ्च कत्थन्ते। कथम्भूतम्? आत्मारामाश्च ये गुरवो विश्वहितोपदेष्टारः तैर्हृदिचिन्तित मङ्घ्रिद्वन्द्वं यस्य तथाभूतमपि तपसाऽभितप्तं ते नूनं तव ऊतिम्, अविदन् इति काकुः। त्वदीहितं नैव विदुरित्यर्थः। अत स्ते हातलज्जाः गतत्रपाः यानि कानिचित् त्वन्निन्दावचनानि तेषां निन्दान्यायेन इतरस्तुतौ तात्पर्यमिति भावः।।३३।।

एवम्भूतं त्वां ब्रह्मादयो बोद्धुमेव न प्रभवः, किं पुनः स्तोतुम् वयन्तु न सुतरां प्रभव इत्याहुः - **तदिति**। तत्तस्मात् उक्तविधत्वात्तव सदसतोः चिदचितोः कार्यावस्थयोः परतः कारणावस्थयोश्च परस्य विलक्षणस्य भूम्नो व्यापकस्य ते तव स्वरूपावगमने स्वरूपावबोधने ब्रह्मादयोऽप्यञ्जसा न प्रभवन्ति किमुत संस्तवने न प्रभवन्तीति तत्र वयं कथं प्रभवेम? कुतः यतस्तेषां सर्गसर्गविषयाः वयं तत्सृष्टसृष्टा वयं इत्यर्थः। अतो

---

1. A,B,J हात 2- -2. H,V कामात्वादिकं इति भाव.। 3. A,B,J "पादि" 4. A,B,J "न्तावां" 5. H.V Omit तव 6. H.V नाऽप" 7- -7. B,H,J,V Omit 8. A,B,J येदिति।

यदेतत् त्वत्स्तवनमपि[1] अस्मच्छक्तिमात्रं शक्त्यनुसारमात्रेण कृत मित्यर्थः ।।३४।।

नन्वेते सर्वे धर्मा स्त्वदुक्ताः परमात्मासाधारणाः, अहन्तु पुण्योपचिताधिकारविशेषभाक् कश्चिज्जीव इत्यत्राऽऽहुः - **एतदिति**। हे परमेश्वर! ते त्वत्तः पर मुत्कृष्टमपरमधमञ्च तत्वं न पश्यामः न जानीमः। किन्तु लोकस्य मृडनाय सुखापादनाय तवाऽव्यक्तकर्मणो व्यक्तिरित्येतत्तु जानीम इत्यर्थः। नूनं[2] भवान्[2] परमात्मा भवतु मा वा सर्वस्यापि चिदचिदात्मकस्य जगत स्तदात्मकत्वात् तदायत्तसत्तादिमत्त्वेन विना स्वनिष्ठस्वरूप स्वभावयोरभावात् तद्दृष्या तद्धर्मै रेव सर्वं वस्तु स्तोतव्य मित्येव तुष्टुविमेति भावः[3] ।।३५।।

[4]एवमुक्तो देवः प्रियामाहेत्याह शुकः - **तदिति**[4] । एवं भृशमधिकं ईडितः स्वस्मिन्नविद्यमानै रपि परमात्मासाधारणै र्गुणै रीडितः स्तुतो देवो रुद्रः तासां प्रजानां तत्कालकूटा दुपस्थितं व्यसनं दुःखं वीक्ष्य सर्वभूतसुहृत् प्रियां सतीं भवानीम् इदं वक्ष्यमाणमाह ।।३६।।

विषपाने प्रवृत्तं मां इयं प्रिया वारयेदिति शङ्कया ता मनुज्ञापयन्नाह - **अहोइति** सार्धं श्लुतुभिः। हे भवानि! अहो बत, महत्कष्टम् एतत् प्रजानां वैशसं दुःखं पश्य। वैशसं विशिनष्टि - क्षीराब्धेर्मथनात् - यदुद्भूतं कालकूटाख्यं विषं तस्मात्समुपस्थितं सम्प्राप्तम्[5] ।।३७।।

प्राणपरीप्सूनां जिजीविषूणां आसां प्रजानां मे मया अभयं विधेयं हि, यस्मात् प्रभोः समर्थस्यार्थः कर्तव्यप्रयोजन मेतावानेव कियान् यद्दीनानां परिपालनम् इत्येतावानेव ।।३८।।

तथाहि साधवः क्षणभङ्गुरैः हेतुगर्भ मिदं, स्वैः स्वकीयैः प्राणैः प्राणिनः पान्ति रक्षन्ति, किं प्राणिरक्षयेत्यत आह-आत्ममायया भगवन्मायया मोहितेषु अत एव परस्परं बद्धवैरेषु भूतेषु ।।३९।।

कृपयतः कृपांकुर्वतः पुंसः हे भद्रे! सर्वान्तरात्मा भगवान् प्रीयते। किं तत्प्रीत्या? अत आह - षाड्गुण्यपूर्णोहरौ प्रीते सति सचराचरोऽह मपि प्रीये नितरामानन्दयुक्तो भवामि। तस्मादिदं गरं विषं भुञ्जे भोक्ष्ये मे मत्तः प्रजानां स्वस्ति रस्तु। अय मनव्ययः स्वस्तिशब्दः सुखार्थकः। अत एव प्रयोगात्। "दैवी स्वस्ति रस्तु नः" (पु.सू.शान्ति पाठः 7) इत्यादि श्रुतिप्रयोगाच्च ।।४०।।

**विज०** ये त्वा ममुया उमाया अर्थे तपसे चरन्तम् अत एवाऽभितप्तं, श्मशाने निरतम्, अत एवोऽग्रवपुषं घोराकारं कत्थन्ते भाषन्ते ते तव भूतभूतिं पूर्णैश्वर्यम् अविदो न जानन्तः, अत एव निर्लज्जाः ।।३३।।

---

1. W Omits अपि 2- -2. W च 3. A,B,J Omit भाव. 4- -4. W. Omits 5. A,B,J add इत्यर्थः।

यत स्तव चर्यादुर्बोधातत्तस्मात् सदसतोः परतः प्रकृतेः परस्य तस्य भूम्नः ते स्वरूपगमने ब्रह्मादयोऽन्तर्यामिविषये विरिञ्चादयः अन्यत्र सनकादयो नाऽज्ञः प्रभवन्ति, वयं ब्रह्मपुत्राः स्तवने न प्रभवाम इति किमुत? वयं न तन्निकटवर्तिनोऽपीत्याह - तत्सर्गेति। तस्य ब्रह्मणः सृष्टिप्रवाहे निपतिताः, तर्हि क्रियमाणा केय मिति तत्राऽह - भक्तिमात्रमिति अस्मत्स्तुतिः भक्तिप्रकटनमात्रमित्यर्थः। तु शब्दोऽर्चनाद्योतकः ।।३४।।

अव्यक्तकर्मणस्ते व्यक्ति लोकस्य मृडनाय पालनाय इत्येतत्परं केवलं प्रपश्यामः परमन्यत्तवप्रयोजनं न पश्याम इत्यन्वयः। हे महेश्वर! परं तवैतद्रूपं पश्यामः तवान्तर्यामिरूपं परं हरिं न पश्यामः एतद्रूपप्रयोजन माह - मृडनायेति। व्यक्तिस्त्रिनेत्रादि लक्षणाकृतिः ।।३५, ३६।।

वैशसं नाशलक्षणम् ।।३७, ३८।।

पान्ति रक्षन्ति ।।३९।।

कृपयतः कृपाङ्कुर्वतः, गरं विषम् ।।४०।।

## श्रीशुक उवाच

एव मामन्त्र्य भगवान्भवानीं विश्वभावनः।
तद्विषं जग्धु मारेभे [1]प्रभावज्ञाऽन्वमोदत[1]।।४१.।

ततः करतलीकृत्य व्यापि हालाहलं विषम्
अभक्षयन्महादेवः कृपया भूतभावनः ।।४२।।

तस्याऽपि दर्शयामास स्ववीर्यं [2]जलकल्मषम्[3]।
यच्चकार गले नीलं तच्च साधोर्विभूषणम्।।४३।।

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः।।४४।।

निशम्य कर्म तच्छम्भो र्देवदेवस्य मीढुषः।
प्रजा दाक्षायणी ब्रह्मा वैकुण्ठश्च शशंसिरे ।।४५।।

प्रस्कन्नं पिबतः [4]पाणेः यत्किञ्चिज्जगृहुः स्म तत्।
वृश्चिकाहिविषौषध्यो दन्दशूकाश्च येऽपरे।।४६।।

---

1- -1. H,V तं भवान्यन्व" 2. M,Ma गत" 3. A,B,G,J,M,Ma,T "घः 4. W प्राणे·

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
अष्टमस्कन्धेऽमृतमथने सप्तमोऽध्यायः ।।७।।

**श्रीध० एवमिति**। जग्धुमत्तुम् ।।४१।।

**तत** इति। करतलीकृत्य करतलपरिमित मात्र कृत्वा ।।४२।।

**तस्येति**। जलकल्मषो जलदोषो विषं यस्मा त्तं गले नीलं चकार साधोः कृपालोः ।।४३ - ४५।।

प्रस्कन्नमिति। प्रस्कन्नं गलितं। अपरे च ये सविषा स्तेऽपि जगृहुः। अनेन विषस्य तीव्रतोक्ता ।।४६।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां सप्तमोऽध्यायः।।७।।

**वीर०** एव मित्थं भवानी मामन्त्र्यऽनुज्ञाप्य विश्वसुखकरो भगवान् रुद्रः तद्विषं जग्धु मत्तु मारेभे। तत्प्रभावज्ञा भवानी अन्वमोदत अनुमोदितवती ।।४१।।

ततः तदनुमोदनानन्तरं सर्वतो व्यापि हालाहलाख्यं विषं करतलीकृत्य करतलुमात्रपरिमितं कृत्वा भूतसुखकरो महादेवः कृपया अभक्षयत् ।।४२।।

जलकल्मषरूपं विषं स्ववीर्यं स्वबलं तस्यापि रुद्रस्यापि दर्शयामास, यस्मात्तं रुद्रं गले नीलं चकार। तच्च नैल्यं साधोः रुद्रस्य विशेषेण भूषण मेवाऽभूत्। जडकल्मष इति पाठान्तरम्। तदा दुस्सहं विषं कथं जरयामासेत्यत्राह - जडकल्मषः जडाना मितरेषामेव कल्मषो बाधकमित्यर्थः ।।४३।।

कृपालूना मियं परिपाटीत्याह - **तप्यन्त** इति। [1]प्रायशः साधवः साधु कुर्वन्ति परकार्यमिति साधवः, स्वार्थनिरपेक्षपरकार्यप्रसाधनस्वभावाः जनाः प्रायशो लोकतापेन स्वयमपि तप्यन्ते न तद्यर्थम्, अपि तु अखिलान्तरात्मनः परमपुरुषस्याऽऽराधनं तोषहेतुः।।४४।।

मीढुषः आश्रिताशीर्वर्षुकस्य शम्भोर्देवस्य तद्विषपानरूपं कर्म श्रुत्वा प्रजाः दाक्षायणी भवानी ब्रह्मा च वैकुण्ठो भगवांश्च शशंसिरे प्रशंसितवन्तः[2]।।४५।।

शम्भो विषं पिबत स्सतां यत्किञ्चित्प्रस्कन्नं गलितं विषं तत् वृश्चिकादयः प्राणैः जगृहुः। विषौषध्यः काकतुण्डकरवीरादयः दन्दशूकाः दंशनस्वभावाः अन्ये जन्तवः, सर्पाणामुक्तत्वात्।।४६।।

1.W Omits प्रायशः. 2. A,B,T add इत्यर्थं.

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां सप्तमोऽध्यायः ।।७।।

**विज०** भवान्या स्तदात्मार्धत्वात् विषभोजनं किं न निवारितमिति तत्राऽऽह - तत्प्रभावज्ञेति ।।४१।।

[1]गले कण्ठे कल्मषं यस्य स तथा। तस्य विषस्य स्ववीर्यं स्वरूपभूतवीर्यम्।।४२।।

किं तद्वीर्यम् इति तत्राऽऽह - यदिति। साधो देवस्य भूषण मभूत् न दूषणमित्यर्थः ।।४३।।

लोकोपकारार्थ मेव विषपानमित्याशयेनाऽऽह - तप्यन्त इति। अनेन किमस्य प्रयोजनमिति तत्राह - परमेति ।।४४।।

शशंसिरे इत्यनेन रुद्रस्य यशोऽर्थं हरिणा विषं न पीतमिति ज्ञायते - "रुद्रस्य यशसोऽर्थाय स्वयं विष्णुर्विषं विभुः। न सञ्जहे समर्थोऽपि वायुश्चोचे प्रशान्तये" (बाह्ये) इति वचनाच्च ।।४५।।

विषौषध्यः लाङ्गलीप्रभृतयः ।।४६।।

इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थविराचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां सप्तमोऽध्यायः।।७।।

---

1. Ma Omits गले

oooOooo

# अष्टमोऽध्यायः

## श्रीशुक उवाच

पीतेगरे वृषाङ्केण प्रीतास्तेऽमरदानवाः।[1]
ममन्थुस्तरसा सिन्धुं हविर्धानी ततोऽभवत्।।१।।

तामग्निहोत्रिमृषयो जगृहुर्ब्रह्मवादिनः।
यज्ञस्य देवयानस्य[2] मेध्याय हविषे नृप।।२।।

तत उच्चैःश्रवा नाम हयोऽभूच्चन्द्रपाण्डुरः।[3]
तस्मिन् बलिः स्पृहाञ्चक्रे नेन्द्र ईश्वरशिक्षया।।३।।

तत ऐरावतो नाम वारणेन्द्रो विनिर्गतः।
दन्तैश्चतुर्भिः श्वेताद्रे[4] र्हरन् शृङ्गवतो महिम्[4]।।४।।

*[5]कौस्तुभाख्यमभूद्रत्नं पद्मरागो महोदधेः।
तस्मिन् हरिः स्पृहाञ्चक्रे वक्षोऽलङ्करणे मणौ[5]।।५।।

ततोऽभवत्पारिजातः सुरलोकविभूषणः।[6]
पूरयत्यर्थिनो योऽर्थैः शश्वद्भुवि यथा भवान् ।।६।।

ततश्चाप्सरसो जाता निष्कग्रीवास्सुवाससः।[7]
रमण्य स्स्वर्गिणां वल्गु गतिलीलावलोकनैः।।७।।

ततश्चाविरभूत्साक्षाच्छ्रीरमा भगवत्परा।[8]
रञ्जयन्ती दिशः कान्त्या विद्युत्सौदामनी[9] यथा।।८।।

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अष्टमे मथ्यमानेऽब्धौ लक्ष्म्या विष्णौ वृतेऽसुरैः। धन्वन्तरे हृते सोमे मोहिन्युद्भव ईर्यते।।

पीत इति। हविर्धानी सुरभिः।।१।।

1. H.V. ते सुर 2. M,Ma पा" 3. H.V "ण्डरः 4- -4. A,B,G,J,T "इहंरन्भगवतो महिम्; H.V, "इहंरन् शृङ्गवतोमहि, M,Ma "भो हरिस्तं तु समग्रहीत् *This verse is not found in H,M,Ma,v Edns. 5- 5. W ततो गजा. करिण्योऽहो कौस्तुभ क्षाभवत्नृप। पद्मरागे 6. A,B,G,J,T "णम् 7. A,B,G,J,M,Ma,T "कण्ठय" 8. M,Ma वत्रिया। 9. B,H,V "मि"

**तामिति**। देवयानस्य ब्रह्मलोकमार्गं प्रापकस्य यज्ञस्य सम्बन्धिने हविषे।।२।।

**तत उच्चैरिति**। ईश्वरशिक्षया प्रागेवकृतया।।३।।

**तत इति**। [1-]भगवतो [-1]यः श्वेताद्रिः कैलासस्तस्य [2]महिं महिमानम्। दन्तैः शिखरतुल्यैः[3] हरन् चन्द्रवत्पाण्डर[4] इत्यनुषङ्गः।।४-६।।

**ततश्चेति**। वल्गुभिः गत्यादिभिः स्वर्गिणां रमण्यो रतिकर्त्र्यः।।७।।

**ततश्चाविरिति**। सुदामा पर्वतः तत्रैकस्यांदिशि जाता सौदामिनी। [5]स्फटि[6]मणिमयगिरिशृङ्गेषु अधिकं स्फुरन्ती विद्युदिव कान्त्या दिशो रञ्जयन्ती श्रीः सम्पत् साक्षान्मूर्तिधारिणी सती सैव भगवत्परा रमा आविरभूदित्यर्थः।।९।।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थं वृषाङ्केण रुद्रेण गरे विषे पीते भक्षिते सति ते [7]सर्वे अमराः दानवाद्ये न्द्रादयो वैरोचनादयश्च [8-]प्रीताः हृष्टास्सन्तः[-8] तरसा बलेन सिन्धुं ममन्थुः। ततस्तस्मिन् सिन्धावेवं मथ्यमाने सति ततो विषादनन्तरं हविर्धानी सुरभिः काम धेनुरभवत्।।१।।

तां हविर्धानीं अग्निहोत्रीं दधिपयोघृतादिहविःप्रदानेन अग्निहोत्रादि वैदिककर्मनिष्पादिनीं ब्रह्मवादिनः ऋषयः जगृहुः स्वीकृतवन्तः। किमर्थम्? हे नृप! देवयानस्य देवा यान्त्यस्मिन् कर्मणि इति देवयानं तस्य यज्ञस्य सम्बन्धिने मेध्याय हविषे पय आदि हविरर्थम्।।२।।

ततो हविर्धान्युद्भवानन्तरं चन्द्रवत्पाण्डुरः शुभ्रो हयः उच्चैःश्रवा इति प्रसिद्ध [9]उद्भूव। तस्मिन्नुच्चैःश्रवसि हये ईश्वरशिक्षया "लोभःकार्यो न वै जातु रोषः कामस्तु वस्तुषु" (भाग.8-6-25) [10-]इत्याद्युक्तरीत्या[-10] शिक्षया इन्द्रः स्पृहां न चक्रे। उच्चैःश्रवस्युत्पन्नामपि स्पृहामभिव्यक्तां न चक्रे। किन्तु मनस्येवाऽधादिति भावः। [11-]बलिः स्पृहां चक्रे इत्यर्थः[-11]।।३।।

तत उच्चैःश्रवस उदयानन्तरं ऐरावताख्यो वारणेन्द्रो गजश्रेष्ठः विनिर्गतः। कथम्भूतः भगवतो रुद्रस्य [12-]श्वेताद्रिः कैलासं तस्य [-12]महिं माहात्म्यं शोभां चतुर्भिर्दन्तैः शिखरतुल्यैर्हरन् चन्द्रवत्पाण्डुर इत्यनुषङ्गः।।४।।

---

1- -1. H,V Omit 2. H,V महि 3. A,B,J कल्पैः 4. A,B,J, 'ण्डुरः 5. A,B,J 'मनी 6. A,B,J कादिम' 7. A,B,T सुरा 8- -8. A,B,T Omit 9. A,T उद्भूतः। 10- -10. W इति पूर्वं कृतया भगवतः 11- -11. W. Omits 12- -12. A,B,T 'भ्रेः कैलासस्य

ततोऽष्टौ दिग्गजा अभवन्। ततो हे नृप! अभ्रम्वादयोऽष्टौ करिण्योऽभवन्। ततो महोदधेः कौस्तुभाख्यं रत्नमभूत्[1], स च पद्मरागो मणिः तस्मिन् महामणौ भगवान् हरिः वक्षसोऽलङ्करणे निमित्ते स्पृहामकुर्वत्।।५।।

ततः पारिजातो वृक्षः सुरलोकस्य विभूषणरूपोऽभवत्[2]। कथम्भूतः? यः शश्वत् सदाऽर्थिनः अर्थः पूरयति[3]। पूरयन् अर्थान्[4] पूरयन् भुवि भवान् यथाऽर्थान् पूरयति अर्थिनामर्थान् तथाभूत[5] इत्यर्थः[6]।।६।।

ततश्चाप्सरसः उद्बभूवुः। कथम्भूताः? निष्कग्रीवाः[7] स्वर्णाभरणविशेषकण्ठ्यः शोभनानि वासांसि यासां ताः स्वर्गिणां स्वर्गतानां सुन्दरगतिभिः लीलावलोकनैश्च रमण्यः प्रियाः स्वर्गिणां रतिकर्त्र्य[8] इत्यर्थः।।७।।

ततः साक्षात् श्रीर्लक्ष्मीराविरभूत्। कथम्भूता? भगवत्परा भगवदनन्यार्हा कान्त्या दिशो रञ्जयन्ती प्रकाशयन्ती यथा सौदामनी[9] विद्युत् तद्वत्। सुदामापर्वतः तेनैकस्यां[10] दिशि जाता सौदामनी स्फटिकादिमयगिरिशृङ्गेष्वधिकं स्फुरन्ती विद्युदिव कान्त्या दिशो रञ्जयन्तीत्यर्थः।।८।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

किमर्थं जगृहु रिति तत्राऽऽह - यज्ञस्येति। हविषे यज्ञस्य देवानां सोमपानस्य च मेध्याय देवानां सोमपानं यस्मिंस्तथा। तस्येति वा।।१-५।।

सुरलोकं विभूषयतीति सुरलोकविभूषणः।।६।।

निष्कमाभरणविशेषः, रमण्यो रमणीयाः।।७।।

रुच्या विशिष्टं द्योतयतीति विद्युत्, सा च सौदामनी।।८।।

**तस्यां चक्रुः स्पृहां सर्वे ससुरासुरमानवाः।**
**रूपौदार्यवयोवर्ण महिमाक्षिप्तचेतसः।।९।।**

**तस्या आसनमाभिन्ये[11] महेन्द्रो महदद्भुतम्।**
**मूर्तिमत्यस्त्रिरिच्छ्रेष्ठा हेमकुम्भै र्जलं शुचि।।१०।।**

**आभिषेचनिका भूमिराहरत् सकलौषधीः।**
**गावः पञ्च पवित्राणि वसन्तो मधुमाधवौ[12]।।११।।**

---

1. W. "ग: म" 2. A,B,T"भूतो" 3. W. Omits पूरयन् 4. W. Omits अर्थान्। 5- -5. W. Omits 6- -6. A,B,T Omit 7. B,W कण्ठा: 8. W. Omits इत्यर्थः। 9. A,B,T "नि" 10. A,B,T तत्रै" 11. M,Ma "आऽऽ" 12. M,Ma "वन्

**ऋषयः कल्पयाञ्चक्रुरभिषेकं यथाविधि।**
**जगुर्भद्राणि गन्धर्वा नटयश्च ननृतुर्जगुः।।१२।।**

**मेघामृदङ्गपणवमुरजानकगोमुखान्।**
**व्यनादयञ्शङ्खवेणु वीणास्तुमुलनिस्स्वनान्।।१३।।**

**ततोऽभिषिषिचुर्देवीं श्रियं पद्मकरां सतीम्।**
**दिग्गजाः पूर्णकलशैः सूक्तवाकैर्द्विजेरितैः।।१४।।**

**समुद्रः पीतकौशेयवाससी समुपाहरत्।**
**वरुणः स्रजं वैजयन्तीं मधुना मत्तषट्पदाम्।।१५।।**

**भूषणानि विचित्राणि विश्वकर्मा प्रजापतिः।**
**हारं सरस्वती पद्मजो नागाश्च कुण्डले।।१६।।**

**श्रीध० तस्यामिति**। तस्या रूपादिमहिम्ना आक्षिप्तं चेतो येषाम्।।९।।

भगवद्वक्षसि स्थितया श्रिया विलोकितानां देवानां यथा पूर्वं सर्वसम्पत्प्राप्ति मसुराणाञ्च तद्विपर्ययं वक्तुं तस्याः अभिषेकादिमहोत्सवपूर्वकं ब्रह्मादिपरिहारेण भगवत्प्राप्तिप्रकारं तावदाह - तस्या आसनमित्यारभ्य अथाऽऽसीद्वारुणीत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन।।१०।।

**आभिषेचनिका** इति। आभिषेचनिकाः अभिषेकोचिताः। पञ्चपवित्राणि पञ्चगव्यानि। मधुमाधवौ चैत्रवैशाखौ तद्भवं फलपुष्पादि। पाठान्तरेऽपि द्वन्द्वैक्ये स एवाऽर्थः। मधुमासे भवं मध्विति वा।।११।।

**ऋषय** इति। अभिषेक मभिषेकोचितं विधिम्। नट्यो नटानां स्त्रियः।।१२।।

**मेघा** इति। शङ्खवेणुवीणाश्च व्यनादयन्। तुमुलो निःस्वनो येषां तान्मृदङ्गादीन्।।१३।।

**वीर०** तस्यां रूपादिमहिम्ना आक्षिप्तं चेतश्चित्तं येषां ते सर्वे ससुरासुरदानवाः स्पृहाञ्चक्रुः।।९।।।

भगवद्वक्षसि स्थितया श्रिया विलोकितानां देवादीनां यथापूर्वं सर्वसम्प्रत्प्राप्तिमसुराणां तद्विपर्ययञ्च वक्तुं तस्या अभिषेकादिमहोत्सवपूर्वकं ब्रह्मादिपरिहारेण भगवत्प्राप्तिप्रकारमाह - तस्या आसनं इत्यादिना अथाऽसीद्वारुणी इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। तस्या रमायाः उपवेशनार्थं महदद्भुतं च सिंहासनम् इन्द्र आनीय

---

1. M,Ma नार्यश्च। 2. M,Ma 'रु' 3. M,Ma 'तु' 4. A,B,G,J,M,Ma,T 'दिगिभाः 5. A,B,G,J,T 'वाक्यैः 6.A,B,J सुराणां 7. A,B,J Omit सर्व 8. A,B,T Omit तस्याः 9. A,B,J आह 10. A,B,J 'दिना 11. A,B,T Omit चेतः 12. W.Omits चित्तं 13. A,BT 'ह्नःस्थि'

समर्पितवान्।[1] गङ्गायमुनादयः सरिच्छ्रेष्ठाः मूर्तिमत्यः[2] देहयुक्ताः[3] सत्यः हेमकुम्भैः शुद्धं जलमानिन्यिरे।।१०।।

भूमिरपि मूर्तिमती सती आभिषेचनिका अभिषेकोचिता ओषधीः सकलाः आहरदानिन्ये। गावस्तु पञ्च पवित्राणि पञ्चगव्यानि आजह्रुः। वसन्तः ऋतुः मूर्तिमान् मधुमाधवौ चैत्रवैशाखभवफलपुष्पाणि [4]आहरदित्यनुषङ्गः। पाठान्तरे द्वन्द्वैक्येऽपि स एवाऽर्थः। मधुमासे भवं मध्विति वा।।११।।

ततः ऋषयोऽभिषेकं [5]यथाविधि[5] अभिषेकोचितविधिं यथावत्कल्पयाञ्चक्रुः। गन्धर्वा भद्राणि मङ्गलानि जगुः नट्यः नटानां स्त्रियः ननृतुः जगुश्च।।१२।।

मेघा मूर्तिमन्तो मृदङ्गादीन्वाद्यविशेषान् शङ्खवेणुवीणाश्च व्यनादयन्। तुमुलो निस्स्वनो येषां तान्मृदङ्गादींश्च।।१३।।

ततः पद्मकरां सतीं श्रियं दिग्गजाः पूर्णकलशैः सर्वौषधीयुक्तैः सरिच्छ्रेष्ठा नीतैः द्विजेरितैः सूक्तवाकैरभिषेचनिकमन्त्रैस्सह अभिषिषिचुः अभिषिक्तवन्तः।।१४।।

तत स्समुद्रः पीतकौशेयवाससी समर्पितवान्। ततो वरुणः मधुना मधुपानेन मत्ताः षट्पदाभृङ्गाः यस्यां तां वैजयन्तीं वनमालां, समुपाहरदित्यनुषङ्गः।।१५।।

विश्वकर्मा प्रजापतिः भूषणानि, सरस्वती हारम् अजो ब्रह्मा पद्मं, नागाश्च कुण्डले समुपाहरन्।।१६।।

**बिज०** रूपादिमहिम्ना ।।९,१०।।

आभिषेचनिकाः अभिषेकयोग्याः साधनानि पञ्चपवित्राणि गोमयादीनि। माधवं स्वकालसम्भवम्।।११,१२।।

शङ्खादीनां तुमुलः निस्स्वनो येषु ते तथा ।।१३ - १६।।

**ततः कृत स्वस्त्ययनोत्पलस्रजं नदद् द्विरेफां परिगृह्य पाणिना**
**बभाल वक्त्रं सुकपोलकुण्डलं सव्रीडहासं दधती सुशोभनम्।।१७।।**

**स्तनद्वयं [6]चारुकुशोदरी समं निरन्तरं चन्दनकुङ्कुमोक्षितम्।**
**[7]इतस्ततो नूपुरवल्गुशिञ्जितैः विसर्पती हेमलतेव सा बभौ।।१८।।**

---

1. A,B,T गङ्गायमुनाः 2. A,B,T Omit मूर्तिमत्यः 3. W. Omits देहयुक्ताः 4. A,B,T add उप 5- -5. W. विधिं 6. A,B,G,J,M,Ma,T चाऽति 7. A,B,G,J,M,Ma,T तं

विलोकयन्ती निरवद्यमात्मनः पदं ध्रुवं नाऽव्यभिचारिसद्गुणम्।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धचारण त्रैविष्टपेयादिषु नाऽन्वविन्दत।।१९।।

नूनं तपो यस्य न मन्यु निर्जयो ज्ञानं क्वचित्तद्ध न सङ्गवर्जितम्।
कश्चिन्महांस्तस्य न कामनिर्जयः स ईश्वरः किं परतो व्यपाश्रयः।।२०।।

धर्मः क्वचित्तस्य न भूत सौहृदं त्यागः क्वचित्तस्य न मुक्तिकारणम्।
वीर्यं न पुंसोऽस्त्यजवेगनिष्कृतं न हि द्वितीयो गुणसङ्गवर्जितः।।२१।।

क्वचिच्चिरायुर्नहि शीलमङ्गलं क्वचित्तदप्यस्ति न वैद्य माधवः।
यत्रोभयं कुत्र च सोऽप्यमङ्गलः सुमङ्गलः कश्चन काङ्क्षते हि माम्।।२२।।

श्रीशुक उवाच

एवं विमृश्याव्यभिचारि सद्गुणैः वरं निजैराश्रयतोऽगुणाश्रयम्।
वव्रे वरं सर्वगुणै रपेक्षितं रमा मुकुन्दं निरपेक्षमीप्सितम्।।२३।।

तस्यां स देश उशतीं नवकञ्जमालां माद्यन्मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टाम्।
तस्थौ निधाय निकटे तदुरः स्वधाम सव्रीडहासविकसन्नयनेन धाता।।२४।।

**श्रीध०** विलोकयन्तीति। पदमाश्रयः ध्रुवं नित्यमव्यभिचारिणो नित्याः सन्तो गुणाः यस्मिन् तन्नाऽन्वविन्दत। क्वचिदपि कस्यचिद्दोषस्य सद्भावात्।।१८ - १९।।

तदेवाऽऽह - **नूनमिति**। त्रिभिः मन्युनिर्जयो नास्ति दुर्वासःप्रभृतिषु। क्वचित् गुरुशुक्रादिषु। सङ्गवर्जितं ज्ञानं नास्ति महत्वेऽपि ब्रह्मसोमादौ न कामनिर्जयः। परतो व्यपाश्रयः परापेक्ष इन्द्रादिः, स किमीश्वरः।।२०।।

**धर्म इति**। न भूतसौहृदम्, परशुरामादिषु न मुक्तिकारणं त्यागः शिबिप्रभृतिषु। पुंसः कार्तवीर्यादेः वीर्यमस्ति। अजवेगनिष्कृतं कालवेगेन निष्कृतं परिहतन्तु त्यक्तं न भवति। अपि तु कालवेगनाशितमेवेति भावः गुणसङ्गवर्जित सनकादि द्वितीयो मम परो नहि समाधि निष्ठत्वात्।।२१।।

**क्वचिदिति**। चिरायुष्यपि मार्कण्डेयादौ शीलमङ्गलं च नास्ति इन्द्रिय दमनशीलत्वात्। क्वचित्तद

1. M,Ma "शा" 2. H.V "तस्य 3. A,B,G,J,T "तत्र 4. A,B,G,J,T "तत्र: M,Ma तद्ध 5- -5. A,G,J,T Omit 6. M,Ma "न पदं 7- -7. A,B,G,J,T "काश्रयतया गु": H.V "काश्रयता गु", M,Ma "काश्रयि सद्" 8. M,Ma निधाय 9. M,Ma भीता 10. A adds प्रतिरूपम् 11. A. adds तपस्विषु 12. B,H,J,V Omit क्वचित् 13. A. adds तत् 14. A,B,J Omit निष्कृतं 15. A,B,J Omit त्यक्तं 16- -16. A,B,J Omit 17. A,B,J वरो

प्यस्ति हिरण्यकशिपुप्रभृतौ आयुषस्तु[1] स्थैर्यं न वेद्यम् दुर्विज्ञानम्[2] भगवद्द्वेषेण अकस्मादेव मृत्युसम्भवात्। यत्र कुत्र च श्रीरुद्रे मार्कण्डेयादिवत् इन्द्रियदमनाद्यभावात् शीलमङ्गलञ्च आयुर्निश्चयश्चेत्युभयमस्ति न चाऽन्यः पूर्वोक्तः कश्चिद्दोषः, तथाऽपि सोऽप्यमङ्गलः श्मशानवासाद्यमङ्गलचेष्टितः। श्रीमुकुन्दं लक्ष्मीकृत्याऽऽह - कश्चेति। कश्चित्सुमङ्गलो निरवद्यश्च स तु मां न हि कांक्षते आत्मारामत्वात्।।२२।।

**एवमिति**। एवं विमृश्य रमा निरपेक्षमपि मुकुन्दमेव वरं वव्रे। तत्किम्? अव्यभिचारिभिः सद्भिः धर्मज्ञानादिभिः गुणैः निजैकाश्रयतया च नैरपेक्ष्येण वरं सर्वोत्तमम्। तत्र हेतुः अगुणाश्रयं प्रकृतिगुणातीतम्। पाठान्तरेऽप्ययमेवार्थः। अत एव स्वस्याः[3] ईप्सितम्। किञ्च,सर्वैर्गुणैरणिमादिभिरपेक्षितं वृतम्। अयं भावः - यद्यपि स्वयमात्मारामत्वेनाऽन्यनिरपेक्षः[4], तथाप्याश्रिता अणिमादिसिद्धीर्यथा नोपेक्षते तथा[5] मामपि नोपेक्षेत[6]। तावतैव तत्सेवयाऽहं कृतार्था स्यां किमन्यैः प्राकृतैरिति तमेव वृतवतीति।।२३।।

तदेवाऽऽह - **तस्येति** तस्यांसदेशे कमनीयां नवकञ्जमालां निधाय तदनुग्रहं प्रतीक्षमाणा तूष्णीं तस्य निकटे तस्थौ। कथम्भूतां मालाम्?माद्यन्तो ये मधुव्रताः तेषां वरूथस्य[7] यूथस्य गिरा उपघुष्टां नादिताम्। कथम्भूताः श्रीः सव्रीडहासेन[8] विकसत् प्रफुल्लं यन्नयनं तेन[8] तस्योरः स्वधाम याता सती वक्षः प्रतीक्षमाणा तस्थावित्यर्थः।।२४।।

**वीर०** ततः कृतस्वस्त्ययना कृतमङ्गलाश्रया श्रीः नदन्ते द्विरेफा भ्रमरा यस्यां ताम्, उत्पलस्रजं पाणिना परिगृह्य निरस्तनिखिलदोषस्य समस्तकल्याणगुणाकरस्य स्वाभिमतस्य पुंसः कण्ठे निधातुं परिगृह्णेति भावः। चचाल कथम्भूता सती शोभनयोः कपोलयोः कुण्डले प्रतिफलन्ती[9-9] यस्मिन्, सव्रीडो हासःयस्मिंस्तत् सुशोभनमतिसुन्दरं वक्त्रं दधती।।१७।।

तथा चन्दनकुङ्कुमाभ्यां उक्षितं सिक्तं लिप्तं समं निरन्तरञ्च यत् स्तनद्वयं तञ्च चारु सुन्दरं कृशञ्चोदरञ्च दधती ततः सा श्रीः नूपुराणां वल्गुभिः मधुरैः शिञ्जितैः विसर्पती इतस्ततः चलन्ती हेमलतेव बभौ।।१८।।

तत आत्मनः स्वस्याः पदमाश्रयं ध्रुवं नित्यमव्यभिचारिणो नित्याः स्वाभाविकाः[10-10] सन्तः कल्याणाः[11] गुणाः यस्मिंस्तत्। निरवद्यं निरस्तहेयगुणम्। एवम्भूतं पदं गन्धर्वादिमध्ये विलोकयन्ती विचारयन्ती नाऽन्वविन्दत नाऽपश्यत्। क्वचित्कस्यचिद्दोषस्य दर्शनेन नाऽन्वविन्दतेति भावः।।१९।।

---

1. A,B,J, Omit तु 2. A,J दुर्ज्ञानम्; B. दुर्ज्ञानम् 3. A,B,J 'स्य 4. H,V Omit अन्य 5. A,B,J तद्वत् 6. H, V 'क्षते 7. A,B,J Omit यूथस्य 8- -8. B,J विकसन्नयनं तेन; H.V विकसन्नयनान्तेन 9- -9. A,B,T प्रचलती 10- -10. W. Omits 11. A,B,T 'णगु'

तदेवाऽऽह - नूनमिति त्रिभिः। यस्य रुद्रदुर्वासःप्रभृतेस्तपस्त्वस्ति, तस्य मन्युनिर्जयस्तु नास्ति। नूनमिति निश्चये। यस्य तु गुरुशुक्रादेः ज्ञानमस्ति, न तस्य ज्ञानं सङ्गवर्जितम्; किन्तु फलसङ्गादियुक्तमेव। कश्चिद्ब्रह्मादिर्महान् तथाऽपि न तस्य कामनिर्जयोऽस्ति, दुहितुरेव पत्नीत्वेन गृहीतत्वादिति भावः। यः परतो व्यपाश्रयः परापेक्षैश्वर्याश्रयः इन्द्रादिः स किमीश्वरः ? अनीश्वर एवेति भावः।।२०।।

क्वचित् यमादौ धर्मोऽस्ति तथाऽपि न भूतसौहृदमस्ति। त्यागः क्वचित् शिबिप्रभृतिष्वस्ति यस्त्यागः शिब्यादिगतः स न मुक्तिकारणं न मुक्तिहेतुः। पुंसः कार्तवीर्यादेः वीर्यमस्ति तथाऽपि तदजवेगेन कालवेगेन निष्कृतं परिहृतन्तु न भवति। द्वितीयः भगवतोऽन्यः कश्चिदपि सनकादिभिरपि सत्त्वादिप्राकृतगुणसङ्गवर्जितो न भवति। "न तदस्ति पृथिव्यां वा दिविदेवेषु वा पुनः सत्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः"(भ.गी.18-40) इत्युक्तरीत्या गुणत्रय निर्मुक्तस्य श्रीभगवदन्यस्य कस्याऽपि जन्तोरभावात् इति भावः।।२१।।

क्वचिन्मार्कण्डेयादौ चिरायुरस्ति न तु शीलं मङ्गलञ्चास्ति इन्द्रियदमनधर्मशीलत्वादिति भावः। क्वचित्तदप्यस्तिचेत् आयुषः स्थैर्यं न वेद्यं न निश्चेयम्। कुत्रचिद्रुद्रादौ उभयं चिरायुष्यं शीलञ्चाऽस्ति, तथापि सरुद्रादिः अमङ्गलः अमङ्गलवेषः। श्रीभगवन्तं लक्ष्यीकृत्याऽऽह - यश्च कार्त्स्न्येन सद्गुणाश्रयनिरवद्य नि रतिशय मङ्गलमूर्तिर्भगवान्, स तु मां न हि काङ्क्षते, स्वत एव पूर्णत्वात् इति भावः।।२२।।

एवमित्थं विमृश्य रमा लक्ष्मीः निरपेक्षमपि मुकुन्दमेव वरं पतिं वव्रे। तत्र हेतुं वदन् मुकुन्दं विशिनष्टि अव्यभिचारिभिः अनितरसाधारणैः मङ्गलगुणैर्निजैः स्वकीयैः निरुपाधिकैः आश्रयतः आश्रयणात् वरं सर्वोत्कृष्टम् अगुणाश्रयं सत्त्वादिप्राकृतगुणानाश्रयञ्च। निजैराश्रयतागुणाश्रयं इति पाठान्तरम्। तदा निजै रव्यभिचारिसद्गुणैराश्रयतयाऽप्राकृतगुणाश्रयं वरमुत्कृष्टमित्यर्थः। सर्वगुणैराश्रयणसौकर्यावहैः आश्रयणीयत्वे-नाऽपेक्षितम् अत एव ईप्सितं आप्तुमिच्छाविषयं मुकुन्दं वरं वव्रे।।२३।।

उक्तवरणप्रकारमेवाऽऽह - तस्येति। तस्य मुकुन्दस्य अंसदेशे स्कन्धप्रदेशे कमनीयां नवकञ्जमालां निधाय तदनुग्रहं प्रतीक्षमाणा तूष्णीं तस्य निकटे तस्थौ। कथम्भूतां मालाम्? माद्यतां मधुपानमत्तानां मधुव्रतानां भ्रमराणां वरूथस्य समुदायस्य गिरोपघुष्टां ध्वनिताम्। कथम्भूता श्रीः? सव्रीडहासेन विकसत् वदनं तेन तस्य भगवत उरो वक्षः स्वधाम स्वाश्रयं याता तद्वक्षः स्वाश्रयत्वेन प्रतीक्षमाणा सतीत्यर्थः।।२४।।

---

1. A,B,T 'ग्रह' 2. A,B,T परशुरामादौ 3- -3. W.Omits 4. A,B,T 'मादिषु 5.W. Omits दमन 6. A,B,T 'स्ते 7. A,B,T लक्ष्मीः

विज० वक्त्रं समं स्तनद्वयञ्च दधती।।१७,१८।।

आत्मनः स्वस्य निर्दोषं गन्धर्वादिषु पदं स्थानं पतिलक्षणं स्थानं नाऽन्वविन्दतेत्यन्वयः।।१९।।

ननु पदमनुपलभ्य किं पुंश्चली जातेत्याशङ्कां श्लोकद्वयेन परिहरति - नूनमिति। यस्य तपोऽस्ति तस्य मन्युर्निर्जयो नास्ति नूनं निश्चये। "नूनं तर्केऽथनिश्चये " तर्कनिश्चितयोर्नूनम् (वैज.को.8-7-22) इत्यभिधानात् इति तर्कयामि वा। " विधिनोक्तेन मार्गेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः शरीर शोषणं प्राहुस्तापसा स्तप उत्तमम्" इति अनेन ऋषितया नारदादयः प्रतिषिद्धाः। क्वचित्पुंसि ज्ञानमस्ति तस्य ज्ञानं सङ्गवर्जितं फलस्नेहरहितं न स्यात्। नूनमिति अत्राप्यनुकृष्यते अनेन बृहस्पत्यादयो निषिद्धाः। कश्चिद्ब्रह्मा तत्र महानस्ति तस्य ब्रह्मणः कामनिर्जयो नास्ति "प्रजापतिः स्वां दुहितरं अभ्यध्यायत्" इति श्रुतेः। " कस्मै देवाय हविषा विधेम" (श्वेता.उ.4-13) इति च यः परतो व्यपाश्रयः परमन्यमाश्रयत इति सः ईश्वरः किम्? नैव। अनेन रुद्रादिर्निवारितः।।२०।।

तर्हि दण्डपाणिः स्यादिति तत्राऽऽह धर्म इति। क्वचित् संयमिन्यां धर्मोऽस्ति तस्य धर्मस्य भूतेषु दया नास्ति, निरनुक्रोशाधिकार प्रवृत्तत्वात्। क्वचित्कस्मिंश्चित्पुंसि पुण्यलक्षणो धर्मोऽस्ति तस्य प्राणिषु सौहृदं दुर्लभमिति सामान्यनिषेधो वा। तत्र त्यजनञ्च अर्थिभ्यो देवतादिभ्यो वा। न्यायार्जितधनादिदानं त्यागः। तत्र मुक्तिकारणं न भवति भगवदर्पणबुद्ध्या अननुष्ठितत्वात्। हानोपादानात् विलक्षणत्यागाधिकारित्वात् वायुरपि मुक्तिकारणं न; "मोक्षदस्तु जनार्दनः" इति वचनाद्वा। अनेन वायुर्लक्ष्यते। क्वचित्पुंसो वीर्यं तापादि दुःखनिवारकमस्ति, तदजवेगनिष्कृतं न, कालचक्र विजयि न भवति अनेन चन्द्रो निवारितः "क्षीणः क्षीणः प्रविशति" इति वचनात्। गुणसङ्गवर्जितो द्वितीयो नहि हरिं विनेति शेषः।।२१।।

क्वचिद्वस्तुनि चिरायुरस्ति चेत् तस्य शीलमङ्गलं नहि चिरजीविवत् क्वचिद्वस्तुनि तच्छीलमप्यस्ति तर्ह्यायुषो न वेद्यम् आयुर्ज्ञानं दुश्शकमित्यर्थः। कुत्र च क्वाऽपि तत्र यस्मिन् पुंसि उभयमायुः शीलञ्च सोऽपि पुमानमङ्गलः गर्वितः, सुमङ्गलः कश्चन लोकविलक्षणो मुक्तिजातीयो मां काङ्क्षते यदि सोऽपि न भवतीति शेषः।।२२।।

एवमिन्द्रादीनपि विमृश्य दोषानुक्त्वारमा मुकुन्दं परं पदं वव्रे इत्यन्वयः। अव्यभिचारिणो नाऽतिव्यप्तास्सन्तः अव्यात्यसम्भवाख्यदोषरहिताः गुणा लक्षणानि च यस्य स तथा तं

निजाश्चैकाश्रयिणश्चैकस्मिन्नेव वर्तमानाश्च सन्तश्च तप आदिगुणां येषां ते तथा तेषां पुंसामाश्रयं निजत्वादेकाश्रयित्वं "निजमात्मीयनित्ययोः" (वैज.को. 6-4-9) इति तत्तत्सत्ताप्रदत्वेन तदाश्रयत्वं युक्तं भक्त्यादि सर्वगुणैरपेक्षितत्वं न त्वन्यथा सौशील्यादि गुणे वा का च काङ्क्षत इत्यस्यापवादमाह - निरपेक्षमिति। तर्हि न कश्चन तस्मिन्नादरं करोतीति तत्राऽऽह - ईप्सितमिति। "एष ब्रह्माऽतिवृद्धस्तपति दिनपतिश्चञ्चले मातरिश्वा दिग्वासा नीलकण्ठस्त्रिदशपतिरसौ गर्वितः क्षीयतेऽब्जः। इत्थं देव्या विचिन्त्य भ्रमरकुल कलागीत शब्द प्रफुल्ला दत्ता माल्य मुरारेस्सुरतरुकुसुमाल्लङ्कृता पातु युष्मान् " इति पुराणज्ञा व्याचक्षते।।२३।।

तस्य हरेरंसे माल्यं निवीय निधाय तस्थावित्यन्वयः। उशतीमिष्टसाधनीभूतां कान्तां वा व्रीडया सह वर्तमानः सव्रीडः स चाऽसौ हासः सव्रीडहासः तेन विकसितनयनेन स्वस्या धाम तस्य हरेः उरः पश्यन्तीति शेषः भीता शरीरकम्पोपेता। अयञ्च शृङ्गारविशेषः "अनाद्यनन्तकालञ्च विष्णुमेवाश्रिता रमा। अन्येषां ज्ञापनार्थाय दोषानुक्त्वेतरान् जहौ" (ब्राह्मे) इति वचनात्। अधुना हरेर्लक्ष्मी प्राप्तिर्ना[1]ऽपूर्वमिति शङ्का परिहर्तव्या। स्वस्याः स्त्रियः इत्युत्तरश्लोकविशेषणसामर्थ्याच्च।।२४।।

**तस्याः[2] श्रिय स्त्रिजगतो जनको जनन्या वक्षो निवास मकरोत्परमं विभूतेः।**
**श्रीः स्वाः[3] प्रजाः सकरुणेन निरीक्षणेन यत्र स्थितैधयत साधिपतीं स्त्रिलोकान्।।२५।।**

**शङ्खतूर्यमृदङ्गानां वादित्राणां च[4] निस्स्वनः।**
**देवानुगानां सस्त्रीणां नृत्यतां गायतामभूत्।।२६।।**

**ब्रह्मरुद्राङ्गिरोमुख्याः सर्वे विश्वसृजो विभुम्।**
**ईडिरेऽवितथैर्मन्त्रै स्तल्लिङ्गै पुष्पवर्षिणः।।२७।।**

**श्रिया विलोकिता देवाः सप्रजापतयः प्रजाः।**
**शीलादिगुणसम्पन्ना लेभिरे निर्वृतिं पराम्।।२८।।**

**निस्सत्वा लोलुपा राजन् निरुद्योगा हतत्विषः[5]।**
**यदा चोपेक्षिता लक्ष्म्या बभूवु र्दैत्यदानवाः।।२९।।**

---

1. A,B भं पू 2. M,Ma स्व 3. M,Ma स्वाः 4. A,B,G,J,T पृथुस्वनः ; M,Ma पृथक्स्वनः
5. A,B,G,J,M,Ma,T गतप्रभाः

**अथाऽऽसी द्वारुणी देवी कन्या कमललोचना।**
**असुरा जगृहुस्तां वै हरेरनुमतेन ते।।३०।।**

**अथोदधेर्मथ्यमानात् काश्यपैरमृतार्थिभिः।**
**उदतिष्ठन्महाराज पुरुषः परमाद्भुतः।।३१।।**

**दीर्घपीवरदोर्दण्डः कम्बुग्रीवोऽरुणेक्षणः।**
**श्यामलस्तरुणस्त्रग्वी सर्वाभरणभूषितः।।३२।।**

**श्रीध०** भगवानपि त्रैलोक्याभिवृद्धये स्ववक्षः तस्याः स्थानं ददावित्याह - **तस्या** इति। विशिष्टा भूतयो विभवाः यस्यास्तस्याः त्रिजगतो जनन्याः श्रियः[1] परमं सुस्थिरं, [2]यत्र वक्षसि[2] ऐधयताऽवर्धयत्।। २५,२६।।

**ब्रह्मेति**। तल्लिङ्गैः विष्णु प्रतिपादकैः अवितथैः यथार्थैः ।।२७ - २९।।

**अथेति** । वारुणी वरुणदैवत्यं यदन्नं तन्मयी सुरा।।३०,३१।।

**दीर्घेति**। दीर्घौ पीवरौ दोर्दण्डौ यस्य। कम्बुग्रीवः शङ्खनाभिरिव त्रिरेखा सुवृत्ता ग्रीवा यस्य।।३२।।

**वीर०** त्रिजगतो जनन्यास्तस्याः अखिलविभूत्याश्रयभूतायाः श्रियः, त्रिजगद्भूतकृतो भगवान् स्वं वक्ष एव परं निवासस्थानमकरोत्, यत्र वक्षसि स्थिता श्रीः सकरुणेन निरीक्षणेन स्वाः प्रजाः साधिपतीं स्त्रिलोकांश्च ऐधयत अवर्धयत्।।२५।।

तदा शङ्खादीनां वाद्यानां सस्त्रीणां देवानुगानां गन्धर्वादीनां नृत्यतां गायतां च पृथक्पृथक् महान् ध्वनिरभूत्।।२६।।

तदा ब्रह्मादयस्सर्वे विश्वस्य स्रष्टारः पुष्पाणि वर्षन्तः विभुं भगवन्तं तल्लिङ्गैः भगवद्गुणप्रतिपादकैरवितथैस्सत्यैः यथावत्स्थितार्थप्रतिपादकैः न त्वाऽऽरोपितगुणप्रतिपादकैरित्यर्थः। मन्त्रैरीडिरे तुष्टुवुः।।२७।।

देवाः सप्रजापतयः प्रजाश्चश्रिया विलोकिताः शीलादिगुणसम्पन्नाः परां निर्वृतिमानन्दं लेभिरे।।२८।।

दैत्या दानवाश्च यदा लक्ष्म्योपेक्षिताः तदैव हे राजन् निस्सत्त्वाः निर्बलाः अत एव निरुद्योगाः त्यक्तलज्जाः लोलुपाः विमोहशीलाः बभूवुः।।२९।।

अथ श्रिय उद्गमनानन्तरं वारुणी देवी वरुणदैवत्यं यत्तन्मयी सुराधिदेवता कन्या कमले इव लोचने [3]यस्याः सा आसीदुद्भभूव। ताञ्च हरेरनुज्ञया ते असुरा जगृहुः।।३०।।

---

1. A. adds त्रिजगतो जनको हरिः 2- -2. B,H,J,V Omit 3. A,B,T add नेत्रे

अथ अमृतार्थिभिः काश्यपैर्देवासुरैः मध्यमानादुदधेः हे राजन्! परमाद्भुतः पुरुषः उदतिष्ठदुद्भूत।।३१।।

तं विशिनष्टि - दीर्घौ पीवरौ च दोर्दण्डौ [1]भुजौ यस्य कम्बुवच्छङ्खवत् त्रिरेखा वृत्ता च ग्रीवा यस्य, अरुणे ईक्षणे यस्य [2]श्यामलः मेघ इव श्यामः तरुणो युवा स्रग्वी वनमाली सर्वैराभरणैरलङ्कृतः।।३२।।

विज० ऐधयत अवर्धयत्।।२५।।

"काहले गोमुखे तूर्यदुन्दुभौ च प्रचक्षते" इति च।।२६।।

तल्लिङ्गैः श्रीलक्षणोपेतैः श्रीसूक्ते रित्यर्थः।।२७ - २९।।

वारुणी सुराभिमानिनी देवता च ।।३०।।

काश्यपैर्देवासुरैः परममुत्तममद्भुत माश्चर्यमाहात्म्यं यस्य स तथा।।३१।।

कम्बुग्रीवः रेखात्रयाङ्कितगलः।।३२।।

पीतवासा महोरस्कः सुमृष्टमणिकुण्डलः।
[3]स्निग्धकुञ्चित कोशान्त स्सुभग स्सिंहविक्रमः।।३३।।

[4]अमृतापूर्णकलशं बिभ्रद्वलयभूषितः।
स वै भगवतः साक्षाद्विष्णोरंशांशसम्भवः।।३४।।

धन्वन्तरिरिति ख्यातः आयुर्वेददृगिज्यभाक्।
तमालोक्याऽसुरास्सर्वे कलशञ्चाऽमृताभृतम्[5]।।३५।।

लिप्सन्तः सर्ववस्तूनि कलशं तरसाऽऽहरन्।
नीयमानेसुरैस्तस्मिन् कलशेऽमृतभाजने।।३६।।

विषण्णमनसो देवाः हरिं शरणमैभ्ययुः[6]।
इति तदैन्यमालोक्य भगवान्भृत्यकामकृत्।।
मा खिद्यतामृतार्थं वः साधयिष्ये स्वमायया[7]।
*इत्युक्त्वा सान्त्वयन् देवान् तत्रैवाऽन्तर्दधे हरिः।।३७।।

---

1.W. Omits भुजौ 2. A,B,T Omit श्यामलः 3. M,Maनील 4. M,Ma "तस्य पू" 5. M,Ma "ह" 6. A,B,G,J,M,Ma, T "भायथुः 7. A,B,G,J,M,Ma, T "त मिषोऽर्थं * This verse is not found in A,B,G,J,M,Ma, T Edns.

**मिथः कलिरभूत्तेषां तदर्थे तर्षचेतसाम्।**
**अहं पूर्वं महं पूर्वं न त्वं न त्वमिति प्रभो।।३८।।**

**देवाः स्वं[1] भागमर्हन्ति ये तुल्यायासहेतवः।**
**सत्रयाग इव[2] ह्यस्मिन्नेष धर्मः सनातनः।।३९।।**

**इति स्वान्प्रत्यषेधन्वै दैतेया जातमत्सराः।**
**दुर्बलाः प्रबलान् राजन् गृहीतकलशान्मुहुः।।४०।।**

**श्रीध० पीतेति** । स्निग्धः कुञ्चितश्च केशानामन्तो यस्य।।३३,३४।।

**धन्वन्तरिरिति**। इज्यभाक् यज्ञभाग भोक्ता। अमृतेन आभृतं परिपूर्णम्।।३५,३६।।

**विवण्णेति**।[4] दैत्यानां परस्परं कलहोत्पादनेन योगमायया च मोहिन्या वोऽर्थं साधयिष्यामि, अतो माखिद्यतेत्याहेति शेषः।।३७।।

तदेवऽऽह-**मिथ** इति। तर्षः कामः, तद्युक्तानि चेतांसि येषाम्। **इत्येवं** समबलानां कलिरभूत् ।।३८।।

दुर्बलानान्तु आक्रोशप्रकारमाह - **देवा** इति द्वाभ्याम्। ये देवाः तुल्य[5] आयासे[6] हेतवस्साधकाः। तुल्य आयासो हेतुश्च धनादिर्येषामिति वा। सत्रयागे यथा सर्वेषां समं फलं तद्वत्। तथा च श्रुतिः। "ऋद्धिकामा स्सत्रमासीरन्" इति। "ये यजमानास्ते ऋत्विजः" इति च।।३९,४०।।

**वीर०** पीते वाससी यस्य बृहद्विपुल मुरो वक्षो यस्य सुमृष्टे निर्णिक्ते मणिमये कुण्डल यस्य, नीलः कुञ्चितः कुटिलः केशानामन्तोऽग्रभागो यस्य सः सुभगः सुकुमारः सर्वावयवसुन्दरो वा, सिंहस्येव विक्रमः पादविन्यासो यस्य।।३३।।

अमृतेन पूर्णं कलशं बिभ्राणः वलयैः अलङ्कृतः। कोऽसावित्यत्राऽऽह - **स**[6] **वै** इति। स वै साक्षाद्भगवतो हरेरंशांशेन सम्भवो यस्य।।३४।।

स तु धन्वन्तरिरिति प्रसिद्धः आयुर्वेदस्य द्रष्टा इज्यभाग् यागभोक्ता। तममृतकलशं बिभ्रतं धन्वन्तरिमालोक्य सर्वेऽसुराः सर्ववस्तूनि मथनादुत्पन्नानि लिप्सन्तः, अमृतेन आभृतं सम्पूर्णं कलशं तरसा बलेन, आशु वा आहरन्[7] आहृतवन्तः[8]। अमृतभाजने तस्मिन् कलशे दैत्यैर्नीयमाने हृते सति।।३५,३६।।

---

1. M,Ma स्वं 2. A,B,G,J,M,Ma,T इवैतस्मिं 3. H,V 'ति' 4. A,B,J, add मिथः 5- -5. A,B,J तुल्येनाऽऽयासेन 6. W. Omits स वै 7. W. अ° 8- -8. W. Omits

देवा विषण्णमनसः खिन्नचित्ता हरिं शरणमाययुः। इत्थं तेषां देवानां दैन्यमालोक्य [1]भृत्यानां काममिष्टं [2]अभीष्टं करोतीति तथा। भगवान्मिथो दैत्यानां परस्परं कलहोत्पादनेन योगमायया मोहिन्या वो युष्माकमर्थं साधयिष्यामि, अतो माखिद्यतेत्याह - इतीत्थमुक्त्वा देवान् सान्त्वयन् हरिः तत्रैवान्तर्दधे।।३७।।

मिथः कलहमेवाऽऽह - मिथ इति। [3]मिथः तदर्थेऽमृतनिमित्ते तर्षः कामः तद्युक्तानि चेतांसि येषां तेषां दैत्यानां [4]परस्परं कलिः कलहो बभूव। [5]कलहप्रकारमाह - अहमिति। हे प्रभो राजन्! अहं पूर्वमह मेव पूर्वं पास्यामि न त्वमित्यादि, एवं कलिरभूदित्यर्थः।।३८।।

तत्र दुर्बलानां दैत्यानामाक्रोशप्रकार माह - देवा इति। देवा अपि स्वममृतभागमर्हन्ति; कुतः? यतो येऽपि देवास्तुल्याया स हेतवस्तुल्येनायासेन हेतवस्साधकाः यथा सत्रयागे -"य एव यजमानाः त एव ऋत्विजः" इति यजमानाभिन्नऋत्विक्कर्तृके बहुयजमानके च सर्वेषां समं फलं तद्वदयमेव सनातनो धर्मः।।३९।।

इतीत्थं हे राजन्! स्वान् गृहीतकलशान् प्रबलान् दैत्यान् दुर्बलान् दैतेया जातमत्सरास्सन्तो मुहुर्मुहुः प्रत्यषेधन् न्यवारयन्।।४०।।

**विज०** नीलकुञ्चितकेशान्तः नीलकुञ्चितकेशस्वभावः "अन्तस्त्ववसिते मृत्यौ स्वभावे परमात्मनि" (वैज.को. 6-5-5) इति।।३३।।

अमृतस्येति षष्ठी तृतीयार्थे, अमृतेन पूर्णं कलशमित्यर्थः।।३४।।

इज्यभाक् अमृतलक्षणमाहृतमाहारो यस्मिन्स तथा - "तेषां सत्याञ्चालनार्थं हरिर्धन्वन्तरिर्विभुः। समर्थोऽप्यसुराणाञ्च स्वहस्तादमुचत्सुधाम्" (ब्राह्मे) इति वचनात्। दैत्यैः हरिहस्तात् अमृतं हृतं न त्वशक्तत्वादिति दर्शनरहस्यम्।।३५-३७।।

तर्षचेतसाम् तृष्णायुक्तमनसाम्।।३८।।

यथा सत्रयागे सर्वेषां समानं फलम्।।३९,४०।।

**एतस्मिन्नन्तरे विष्णुः सर्वोपायविदीश्वरः।**
**योषिद्रूपमनिर्देश्यं दधार परमाद्भुतम्।।४१।।**

---

1. A,B,T भक्तानां 2. W. Omits अभीष्टं 3. W. Omits मिथः 4. A,B,T मिथः 5. A,B,T मेवाऽऽह।

**प्रेक्षणीयोत्पलश्यामं सर्वावयवसुन्दरम्।**
**समानकर्णाभरणं सुकपोलोन्नसाऽऽननम्।।४२।।**

**नवयौवननिर्वृत्तस्तनभारकृशोदरम्।**
**मुखामोदानुरक्तालि[2]हुङ्कारोद्विग्नलोचनम्।।४३।।**

**बिभ्रत् स्वकेशभारेण मालामुत्कृष्टमल्लिकाम्।**
**सुग्रीवकण्ठाभरणं सुभुजाङ्गदभूषितम्।।४४।।**

**विरजाम्बर संवीत नितम्ब द्वीपशोभया।**
**काञ्च्या प्रविलसद्वल्गु चलच्चरणनूपुरम् ।।४५।।**

**सव्रीडस्मितविक्षिप्त भ्रूविलासावलोकनैः।**
**दैत्ययूथपचेतस्सु काममुद्दीपयन्मुहुः।।४६।। ***

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
अष्टमस्कन्धे भगवन्मायोपलम्भनं नाम अष्टमोऽध्यायः।।८।।

**श्रीध०** तद्रूपं वर्णयति **प्रेक्षणीयेति** पञ्चभिः प्रेक्षणीयमुत्पलमिव श्यामम्। सर्वेष्ववयेषु सुन्दरम्। समानयोः कर्णयोःआभरणे यस्मिन् , सुकपोलञ्च तत् उत्कृष्टनासिकञ्च आनने[8] यस्मिन् ।।४१।४२।।

**नवेति**। नवयौवनेन[9] निर्वृत्तयोः प्रवृद्धयोः[10] स्तनयोः भारेणेव[11] कृशमुदरं यस्मिन् मुखस्यामोदः[12] सौरभः तस्मिन् अनुरक्तानाम् अलीनाम् हुङ्कारेण उद्विग्ने लोचने यस्मिन्[12]।।४३।।

**बिभ्रदिति**। सुष्ठु ग्रीवा यस्मिन् कण्ठे आभरणं यस्मिन् तञ्च तञ्च। शोभना ग्रीवा येन तत्कण्ठाभरणं यस्मिन्निति वा। सुभुजयोः अङ्गदाभ्यां भूषितम्।।४४।।

**विरजेति**। विरजाम्बरेण[13] निर्मलवाससा[13] संवीतो नितम्ब एव द्वीपो विशालत्वात्तत्र शोभा यस्यास्तया काञ्च्या[14] कर्षणोल्लसत्[14] वल्गु यथा भवत्येवं चलतोश्चरणयोर्नूपुरे यस्मिन्।।४५।।

**सव्रीडेति**। सव्रीडेन स्मितेन सह विक्षिप्ता कम्पिता या भ्रूः तस्या विलासेन सह यान्यवलोकनानि[15] तैः, दैत्ययूथपानां चेतस्सु[16] मुहुः काममुद्दीपयन्।।४६।।

---

1. M,Ma निष्पन्द 2.H,V,W हु° 3. M,Ma भूषणम्। 4. W. जोऽम्ब° 5- -5. M,Ma तं चित्रं वध्नीय 6. H,V कपोलस° 7. M,Ma स्फुटञ्च° *अनेन श्लोकेन विजयध्वजरीत्या अष्टमोऽध्यायः न परिसमाप्यते परन्तु अनुवर्तते। 8. A,B,J °नं 9.A B,J °वननि° 10. A,B,J Omit प्रवृद्धयोः 11. A,B,J °गे च 12- -12. A,B,J Omit 13- -13. B,H,J,V Omit 14- -14. A,B,J प्रकर्षेण विलसत् 15. A,B,J °किता°16. H,V add मुहुः

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वमिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां अष्टमोऽध्यायः ।।८।।

**वीर०** एतस्मिन् समये सर्वोपायविद्भगवान् ईश्वरो विष्णुः परमाद्भुतं केनाप्यदृष्टपूर्वमनिर्देश्यं देवादिस्त्रीसजातीयत्वेन[1] निर्देष्टुमशक्यं योषिद्रूपं दधार।।४१।।

तद्रूपं वर्णयति पञ्चभिः। प्रेक्षणीयमुत्पलमिव[2] श्यामं सर्वेष्ववयवेषु सुन्दरम् , समानयोः कर्णयोः आभरणे यस्मिन् सुकपोलञ्च तदुन्नतनासिकञ्च आननञ्च यस्मिन्।।४२।।

नवयौवनेन निर्वृत्तयोः प्रवृत्त्योः वर्तुलयोश्च स्तनयोर्भारेण कृशमुदरं यस्मिन् , मुखस्यामोदेन अनुरक्तानामलीनां झङ्कारेणोद्विग्ने चञ्चले लोचने यस्मिन्।।४३।।

उत्फुल्लानि मल्लिकाकुसुमानि यस्यां तां मालां स्वकेशभारेण केशपाशेन बिभ्राणं शोभना ग्रीवा यस्मिन् तत् कण्ठे आभरणानि च यस्मिन् तच्च शोभनयोः भुजयोः अङ्गदाभ्यां भूषितम्।।४४।।

विरजोऽम्बरेण संवीतः नितम्ब एव द्वीपः विशालत्वात् तद्वच्छोभा यस्याः तथा काञ्च्या प्रकर्षेण विलसत् वल्गु सन्दरं यथा भवति, एवं चलतोः[3] चरणयोः नूपुरे यस्मिन्।।४५।।

सव्रीडस्मितेन सह विक्षिप्ता कम्पिता या भ्रूः तस्याः विलासेन सह यान्यवलोकनानि तैः दैत्ययूथपानां चेतस्सु मुहुर्मुहुः काममुद्दीपयत्।।४६।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां अष्टमोऽध्यायः।।८।।

**विज०** सुकपोलोन्नतनासिकया युक्तमाननं यस्य तत्तथा।।४१,४२।।

नवयौवनेन निष्पन्दतोर्निश्चलतोः स्तनयोर्भारेण कृशं तनुतरं उदरं यस्य तत्तथा। मुखपरिमलेऽनुरक्तानां निरतानां अलीनां भृङ्गाणां हुङ्कारेण झङ्कारेण उद्विग्ने भ्रान्ते लोचने यस्य तत्तथा, सुष्ठु शोभना ग्रीवा यस्य तत्तथा शोभनं कण्ठाभरणं यस्य तत्तथा। शोभनैः भुजाङ्गदैः विभूषितम्।।४३,४४।।

---

1. A,B,T Omit स्त्री 2. A,B,T 'वत् । 3. A.B.T चञ्चलयोः

वधूनां विद्यमानानां वध्रीया तया शोभया चित्रं काञ्च्या च चित्रं, प्रविलसच्छोभमानं वा यथा वल्गु कर्णरमणीयं तथा स्फुटती शब्दंकुर्वती चरणनूपुरे यस्य तत्तथा।।४५।।

सव्रीडस्मितेन विक्षिप्तैः भ्रूविलासैः युक्तैरवलोकनैः उद्दीपयत् ज्वलयत्।।४६।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
अष्टमस्कन्धे अष्टमोऽध्यायः।।८।।

विजयध्वजरीत्या अत्र अध्यायसमाप्तिर्न विद्यते।।

oooOooo

# नवमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या अष्टमोऽध्यायः अनुवर्तते)

श्रीशुक उवाच

अन्योन्यतस्सुधा पात्रं हरन्तस्त्यक्तसौहृदाः।
क्षिपन्तो दस्युधर्मेण ह्यायान्तीं ददृशुः स्त्रियम्।।१।।

अहो रूप महो धाम ह्यहो अस्या नवं वयः।
इति ते तामनुद्रुत्य पप्रच्छुर्जातहृच्छयाः।।२।।

का त्वं कञ्जपलाशाक्षि! कुतो वा किं चिकीर्षसि।
कस्याऽसि वद वामोरु! मथ्नन्तीव मनांसि नः।।३।।

न वयं त्वाऽमरे दैत्यैः सिद्धगन्धर्वचारणैः।
नाऽस्पृष्टपूर्वा जानीमो योगेशैश्च कुतो नृभिः।।४।।

नूनं त्वं विधिना सुभ्रु! प्रेषिताऽसि शरीरिणाम्।
सर्वेन्द्रियमनःप्रीतिं विधातुं सघृणेन किम्।।५।।

सा त्वं नः स्पर्धमानानामेकवस्तुनि मानिनि!
ज्ञातीनां बद्धवैराणां शं विधत्स्व सुमध्यमे।।६।।

वयं काश्यप दायादा भ्रातरः कृतपौरुषाः।
विभजस्व यथान्यायं नैव भेदो यथा भवेत्।।७।।

इत्युपामन्त्रितो दैत्यैः मायायोषिद्वपुर्हरिः।
प्रहस्य रुचिरापाङ्गैः निरीक्षन्निदमब्रवीत्।।८।।

श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

नवमे मोहितै दैत्यै रर्पितेऽमृतभाजने। तद्वञ्चनेन देवेभ्योऽमृतं दत्तं तयेर्यते।।*

---

1- -1. A,B,G,J,T ते न्योन्यतोऽसुराः पात्रं, M,Ma तेऽन्योन्य तस्सुधदापात्र 2- - 2 A,B,G,J,T धर्माण आ", धर्मेण आ" 3. A,B,G,J,M,Ma,T अहो 4 A,B,G,J,M,Ma,T मभि" 5- -5 स्पृष्ट पूर्वान्तु 6. A,B,G,J,M,Ma,T लोकै" 7. A,B,G,J,T सुभ्रू 8. M,Ma भामिनि 9. A,B,G,J,MaT, क" * H,V,add - इयञ्च अध्यायार्थ सूचिका कारिका केषुचित् व्याख्यान ग्रन्थेषु अन्यथा वर्तते तथाहि: "विमोह्य नवमे दैत्यान्, क्षीतन्वाऽपाययन्सुरान्। सुधां तमशिशरच्छित्वारक्ष देवानितीर्यते"।

**अहो इति**। अहोरूपं सौन्दर्यं, धाम द्युतिरिति वदन्तः[1] का त्वमित्यादिना[2] पप्रच्छुः।।१,२।।

**कात्वमिति**। मथ्नन्तीव क्षोभयन्तीव ।।३।।

कस्याऽसी त्वयुक्तपृष्ट[3] मस्माभिः, यत स्त्वं न केन चिद्भुक्तपूर्वेत्याहुः - **नेति** द्वाभ्याम्[4]। त्वा त्वाम् अमरादिभि रस्पृष्टपूर्वां न जानीम इति न[5] अपितु जानीम एव।।४।।

[6]अस्माकमिदं त्वद्दर्शनन्तु ईश्वरेणैव सम्पादितमित्याहुः - **नूनमिति**। सर्वेन्द्रियाणाञ्च मनसश्च प्रीतिं विधातुं[7] विधात्रा सघृणेन[8] किं प्रेषिताऽसि? किं वा यदृच्छयै[9] वाऽऽगताऽसि! नैवम् , दैवेन[10] नूनं प्रेषितैवेत्यर्थः।।५,६।।

**वयमिति**। भेदो विग्रहो यथा न भवेत्तथा।।७,८।।

## श्रीवीरराघवविदुषालिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं विधं रूपं विभ्रतीं आयान्तीं तां स्त्रियमन्योन्यं त्यक्तसौहृदाः अत एव क्षिपन्तः सुधापात्रं चौर्यधर्मेण हरन्तः ते[11] दैत्या ददृशुः।।१।।

दृष्ट्वा च अहो रूपं सौन्दर्यम् , अहो धाम द्युतिः, अहो अस्या योषितो नवं वयः इति वदन्तस्ते दैत्याः तां योषित मभिद्रुत्य अभिमुख मागत्य जात हृच्छयाः सञ्जातकामाः पप्रच्छुः।।२।।

प्रश्नप्रकारमेवाऽऽह - **का त्वम्** इत्यादिना। हे कञ्जपलाशाक्षि! का त्वम्? किञ्जातीया? कुत आगता? त्वं किं चिकीर्षसि कर्तुं मिच्छसि? कस्याऽसि कस्य सम्बन्धिन्यसि? वद, हे वामोरु! नोऽस्माकं मनांसि मथ्नन्तीव क्षोभयन्तीव वर्तसे।।३।।

कस्याऽसीत्ययुक्तमुक्तमस्माभिः, यत स्त्वं न केनचित् स्पृष्टपूर्वा इत्यूचुः - **नेति**। त्वा ममरादिभिर-स्पृष्टपूर्वां न जानीम इति न, किन्तु जानीम एव। अमरादिभिरेवास्पृष्टपूर्वा, कुतो नृभिः स्पृष्टपूर्वा भवेरित्यर्थः[12]।।४।।

आस्तामिदं त्वद्दर्शनन्तु ईश्वरेणैव कारितमित्याहुः - **नूनमिति**। हे सुभ्रु! शरीरिणामस्माकं सर्वेन्द्रियाणां प्रीतिं विधातुं[13] सघृणेन सकृपेण विधिना ईश्वरेण त्वं प्रेषिता किम्? नूनं न यदृच्छया आगताऽसि, किन्तु[14] नूनं दैवेनैव प्रेषिताऽसि[15] इत्यर्थः।।५।।

---

1. A, adds सम्भ्रमेण 2 A,B,J 'दि प" 3. A,B,J उक्तं 4. H,V,Omit द्वाभ्याम् 5 H.V.किन्तु 6. A,B,J आस्ता मिदं 7. A,B,J Omit विधाता 8. A,B,J Omit कि 9. B,J, Omit एव 10. A,B,J Omit दैवेन 11. W Omits ते 12. W Omits इत्यर्थः 13. W Omits सघृणेन 14. A,B,T Omit किन्तु 15. W 'तेत्यर्थः

हे मानिनि! अत्रैकस्मिन्वस्तुनि अमृतनिमित्ते स्पर्धमानानां परस्पर मभिभवतां बद्धवैराणां ज्ञातीना मस्माकं हे सुमध्यमे सं विधत्स्व सन्धिं कुरु, सम्यक् विभजस्वेति वा।।६।।

कश्यपस्य[1] दायादाः पुत्राः भ्रातरश्च अधुना कृतं पौरुषं कलहनिमित्तं यै स्ते वयमतो यथान्यायं अमृतं विभजस्व, भेदः[2] कलहो यथा न भवेत् तथा[3] विभजस्व।।७।।

दैत्यैरित्थमुपामन्त्रितश्चोदितः प्रमोदितः[4] श्लाघितोऽलभ्यलाभभूतो[5] माया योषिद्वपुः आत्मीय सङ्कल्पोपात्त स्त्रीवपु र्हरिः प्रहस्य सुन्दरै रपाङ्गैः निरीक्ष न्निरीक्षमाणः इदं वक्ष्यमाणमब्रवीत्।।८।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

त्वा त्वाम् ।।१-४।।

विधिना विरिञ्चेन ।।५।।

शं विधत्स्व, शंविधानं मनस्सन्तोषं कुरु।।६,७।।

मायया इच्छया अङ्गीकृत स्त्रीदेहः।।८।।

### श्री भगवानुवाच

कथं[5] कास्यपदायादाः पुंश्चल्यां[6] मयि सङ्गताः।
विश्वासं पण्डिता[7] जातु कामिनीषु न यान्ति[8] हि।।९।।

सालावृकाणां स्त्रीणाञ्च स्वैरिणीनां सुरद्विषः।
सख्यान्याहु रनित्यानि नूनं नूनं विचिन्वताम्।।१०।।

### श्रीशुक उवाच

इति ते क्ष्वेलितै स्तस्या आश्वस्तमनसोऽसुराः।
जहसुर्भावगम्भीरं ददुश्चाऽमृतभाजनम्।।११।।

ततो गृहीत्वाऽमृतभाजनं हरि र्बभाष ईषत्स्मित शोभया गिरा।
यद्यभ्युपेतं क्व च साध्वसाधु वा कृतं मया वो विभजे सुधामिमाम्।।१२।।

इत्यभिव्याहृतं तस्या आकर्ण्याऽसुरयूथपाः[10]।
अप्रमाणविद स्तस्या स्तत्तथेत्यन्वमंसत।।१३।।

---

1. W का" 2. A,B,T Omit भेद· 3. A,B,T, Omit विभजस्व 4- -4. Omits 5. A,B,G,J,M,Ma,T क" 6. Ma,M "ल्यामपि 7. A,B,G,J,T, "तो 8. A,B,G,J,T यांति 9. M,Ma "जेत्सु" 10 A,B,G,J,M,Ma,T पुङ्गवा·

**अथोपोह्य कृतस्नाना हुत्वा च हविषाऽनलम्।**
**दत्वा गोविप्रभूतेभ्यः कृतस्वस्त्ययना द्विजैः।।१४।।**

**यथोपजोषं वासांसि परिधायाऽहतानि ते।**
**कुशेषु प्राविशन्सर्वे प्राङ्कुलेष्वभिभूषिताः।।१५।।**

**प्राङ्मुखेषूपविष्टेषु सुरेषु दितिजेषु च।**
**धूपामोदित शालायां जुष्टायामाज्यदीपकैः।।१६।।**

**श्रीध० कथमिति**। सङ्गता अनुसृताः।।९।।

**सालावृकाणामिति**। हे सुरद्विषः।।१०।।

**इतीति**। भावेन केनाप्यभिप्रायेण गम्भीरं यथा भवत्येवं जहसुः।।११।।

**तत** इति। ईषत्स्मितेन शोभा यस्या स्तया मया कृतं साधु वा असाधु यद्याभ्युपेतं अङ्गीकृतं तर्हि विभजे।।१२।।

**इतीति**। असुरयूथपाः दैत्यश्रेष्ठाः प्रमाण मियत्ता मजानन्तः।।१३,१४।।

**यथेति**। यथोपजोषं यथाप्रीति अहतस्य लक्षणम् "अहतं यन्त्रनिर्मुक्तं मुक्तं वासः स्वयम्भुवा। शस्तं तच्छुभकार्येषु तावन्मात्रेण सर्वदा" इति। प्रागग्रेषु कुशेषु विविशुः।।१५।।

**प्राङ्मुखेति**। धूपै रामोदितायां सुरभीकृतायां शालायाम्।।१६।।

**वीर०** तदेवाऽऽह - कथमिति। हे कास्यपदायादाः। पुंश्चल्यां मयि कथं सङ्गताः अनुसृताः हि यस्मात् पण्डितः कदाचिदपि कामिनीषु पुंश्चलीषु विश्वासं न याति, न प्राप्नोति न कुरुते इत्यर्थः।।९।।

हे सुरद्विषः! सालावृकाणां स्वैरिणीनां स्त्रीणाञ्च सख्यान्यनित्यान्याहुः। अनित्यत्वे हेतुं वदन् सालावृकान् स्त्रीश्च विशिनष्टि - नवं नवं विचिन्वताम् अन्वेषताम्।।१०।।

इतीत्थं तस्या मोहिन्याः क्ष्वेलितैः परिहासवचनैः विश्वस्तं मनो येषान्तेऽसुराः भावेन केनाऽप्यभिप्रायेण गम्भीरं यथा भवत्येवं जहसुः हसितवन्तः, अमृत पात्रञ्च ददुः।।११।।

ततोऽमृतभाजनं गृहीत्वा योषिद्रूपो हरि रीषत्स्मितेन शोभा यस्या स्तया गिरा बभाषे। तदेवाऽऽह -

1. A,B,G,J,M,Ma,T प्राग्रेष्वभि 2 A,B,G,J,M,Ma,T "या माल्या" 3- -3, A,B,J "ताङ्गीकुरुत 4 A,B,J पुङ्गवाः 5- -5. A,B,J तन्मात्रालिक्ष्येषु 6. A,B,T क"

यदीति। क्वचित् साध्वसाधु वा मया कृतं यद्यभ्युपेतं युष्माभिरङ्गीकृतं स्यात् तर्हीमां सुधां वो युष्मभ्यं विभजे।।१२।।

इतीत्थं तस्या मोहिन्या अभिव्याहृतं वाक्य माकर्ण्य असुरश्रेष्ठाः तस्या अप्रमाणविदः प्रमाणं तद्वाक्यनिश्चयः[1], तमजानन्तः तथेति यथेच्छं कुर्विति अन्वमंसत अनुजज्ञिरे।।१३।।

अतः तस्या अनुज्ञया उपोष्य कृतं स्नानं यैस्तेऽसुराः सुराश्च हविषा चरुणा अनलमग्निं हुत्वा विप्रेभ्यो भूतेभ्योऽन्येभ्यश्च गाः गवादीनि यथायोग्यं दत्वा द्विजैः कृतं कारितं स्वस्त्ययनं मङ्गलाचरणं येषाम्।।१४।।

ते देवा असुराश्च यथोपजोषं यथाप्रीति अहतानि नूतनानि सद्योयन्त्राग्निर्मुक्तानि वस्त्राणि परिधाय [2]वसित्वा अभितो भूषिताः सर्वे प्राङ्कूलेषु प्रागग्रेषु कुशेषु सर्वे प्राविशन् उपविविशुः।।१५।।

ततो धूपै रामोदितायां माल्यै र्दीपैश्च जुष्टायामलङ्कृतायां दीपितायाञ्च शालायां [3]प्रागग्रेषु दर्भेषु[-3] [4]पूर्वाभि मुखेषु[-4] सुरासुरेषु उपविष्टेषु सत्सु।।१६।।

**विज०** पुंश्चल्यां पुंश्चलीशील[5]गुणवत्याम्।।९।।

नूत्नम् नूतनम्।।१०।।

क्ष्वेलिभिः छलमिश्रवचनैः।।११।।

अभ्युपेतमङ्गीकृतम्।।१२।।

प्रमाणमियत्ता।।१३-१६।।

**तस्यां नरेन्द्रकरभो[6]रुरुशङ्कुल श्रोणीतटालसगतिर्मदविह्वलाक्षी।**
**सा कूजती कनकनूपुरशिञ्जितेन कुम्भस्तनी कलशपाणिरथाऽऽविवेश।।१७।।**

**तां श्रीसखीं[7] कनककुण्डल चारुकर्ण नासा कपोलवदनां परदेवताख्यात्।**
**संवीक्ष्य सम्मुहु[8] रूत्स्मित [9]वीक्षितेन देवासुरा पविगलितस्तनपट्टिकान्ताम्।।१८।।**

**असुराणां सुधादानं सर्पाणामिव दुर्नयम्।**
**मत्वा जातिनृशंसानां न [10]तां व्यभजदच्युतः।।१९।।**

1. A,B,T add निर्णयः 2. W. Omits वसित्वा 3- -3 A,B,T Omit 4- -4. A Omits 5. A. Omits शील 6. M,Ma लस 7. M,Ma "भू" 8. H,V,"रुद्धय, W. रुत्समय 9 A,B,G,J,M,MaT वीक्षणेन 10. M,Ma तान्

**कल्पयित्वा पृथक्पङ्क्तिं तभयेषां जगत्पतिः।**
**तां श्रोपवेशयामास स्वासु स्तासु च पङ्क्तिषु।।२०।।**

**दैत्यान्गृहीत कलशो वञ्चयन्नुपसङ्करैः।**
**दूरस्थान्पाययामास जरामृत्युहरां सुधाम्।।२१।।**

**ते पालयन्त स्समय मसुरा स्तत्कृतं नृप।**
**तूष्णी मास न्कृतस्नेहाः स्त्रीविवादजुगुप्सया।।२२।।**

**तस्यां कृतातिप्रणयाः प्रणयापाय कातराः।**
**बहुमानेन चाऽऽबद्धाः नोचुः किञ्चिन विप्रियम्।।२३।।**

**देवलिङ्ग प्रतिच्छन्नः स्वर्भानु र्देव संसदि।**
**प्रविष्टस्सोममपि बद्धन्द्राकाभ्याञ्च सूचितः।।२४।।**

**श्रीध०** अथ तस्यां शालायां हे नरेन्द्र! सा कलशपणि राविवेश। कथम्भूता? "मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः" (अम.को.2-341) इत्यमरः। करभ सदृशौ सुवृत्तावूरु यस्या स्सा उशत् कमनीयं दुकूलं यस्मिंस्तेन श्रोणीतटेन। विशालयाश्रोण्या अलसा मन्दा गतिर्यस्यास्सा। पाठान्तरे करभसदृशयोः ऊर्वोः लसत् दुकूलं यस्यास्सा चाऽसौ श्रोणीतटेनलसगतिश्च। मदेन विह्वले अक्षिणी यस्याः ।।१७।।

**तामिति।** तां श्रिय स्सखीं संवीक्ष्य देवाश्चाऽसुराश्च सम्मुमुहुः। कथम्भूताम्? कनकमये कुण्डले यस्या स्सा चाऽसौ चारवः कर्णादयो यस्या स्सा च ताम्। विगलितः विस्रस्तः स्तनपट्टिकाया अन्तो यस्याः।।१८।।

एवं तान्मोहयित्वा यत्कृतवां स्तदाह - **असुराणामिति** त्रिभिः असुराणां सुधादानं सर्पाणां क्षीरदान मिव दुर्नय मन्याय्यं मत्वा तां सुधां तेभ्यो न व्यभजत्। अयं भावः - दैत्यै र्मदीयं साध्वसाधु वा सर्व मनुमतमेव । अतो मद्भक्तान्देवानेव सुधां पाययिष्यामि। किञ्च तै र्यथान्यायं विभजस्वेत्युक्तम् न चैतेभ्यो जात्यैव क्रूरेभ्यो दानं न्याय्यम्। अतस्तेभ्यः सुधां न ददामीति।।१९।।

1. A,B,G,H,T,V स्वेषु स्वेषु 2- -2. M,Ma हरं सुरान् 3. A,B,G,J,M,Ma,T "स्स्वकृतं 4. M,Ma प्रविश्य सो" 5- -5. H,V Omit 6- -6. A,B,J देवासुरा. 7. A,B,J Omit वि 8. A,B,G दद्या"

**कल्पयित्वेति।** पङ्क्तीः पृथग्विविक्ताः कल्पयित्वा विधाय तासु पङ्क्तिषु स्वेषु स्वेषु तत्तत्सजातीयेषु[1] तांश्चाऽसुरानपि प्रतारणार्थमेव उपवेशयामास।।२०।।

**दैत्यानिति।** उपसञ्चरैः बहुमान प्रियवाक्यादिना तानतिक्रम्याऽतिक्रम्य गमनैः दूरस्थानपि देवानेव[2]।।२१।।

**त इति।** तथा कृतः स्नेहो येषु। स्त्रिया सह विवादस्य जुगुप्सया।।२२।।

**तस्यामिति।** कृतोऽतिप्रणयः स्नेहो यैः। प्रणयापायेन कातराभीतः। एते तावत्कृपणाः पूर्वं किञ्चित्पिबन्तु[3], यूयन्तु धीराः क्षणं प्रतीक्षध्वमित्यादि बहुमानेन आबद्धा नियन्त्रिताः। समयपालनादिभिः षड्भिरेतैः कारणै अप्रियं किञ्चिदपि नोचुः, किन्तु तूष्णीमासन्।।२३।।

**देवेति।** देवपङ्क्तावचन्द्रार्कयो र्मध्ये प्रविष्टः सोम ममृत मपिबत्।।२४।।

**वीर०** अथ तस्यां शालायां हे नरेन्द्र! अमृतकलशः[4] पाणौ यस्याः सा मोहिनी आविवेश। कथम्भूता? "करस्य करभो बहिः" (अम.को.2-341) करभसदृशौ सुवृत्तौ ऊरू यस्या स्सा। उशत् कमनीयं दुकूलं यस्मिं स्तेन श्रोणीतटेन विशालया श्रोण्या अलसा मन्दा गति र्यस्या स्सा। पाठान्तरे करभ सदृशयो रूर्वोः लसद्दुकूलं यस्या स्साचाऽसौ श्रोणीतटेनाऽलसा गति र्यस्या स्सा च, मदेन विह्वले अक्षिणी यस्यास्सा, कनकनूपुराणां शिञ्जितेन कूजती ध्वनन्ती, कुम्भा विव स्तनौ यस्या स्सा।।१७।।

तां श्रीसखीं श्रियमिव स्थितां श्री सहायिनीं वा भगवद्रूपत्वात्। कनकमयो कुण्डले यस्या स्साचाऽसौ, चारवः कर्णादयो यस्या स्साचताम्, विगलितो विस्रस्तः स्तनपट्टिकाया अन्तो यस्या स्तां परदेवताख्यां परदेवतारूपां तां संवीक्ष्य देवासुरा स्तस्या उत्स्मय वीक्षितेन[5] सास्मित[5] वीक्षणेन सम्मुमुहुः।।१८।।

एवं तान्मोहयित्वा यत्कृतवां स्तदाह - **असुराणामिति** त्रिभिः। जातिनृशंसानां स्वभावतः क्रूराणा मसुराणां सुधादानं[6] सर्पाणां क्षीरमिव दुर्नय मन्याय्यं मत्वा तां सुधामसुरेभ्यो न व्यभजत् अच्युतः, यतोऽसा वाश्रितान् न च्यावयती त्यच्युतः। अयं भावः - दैत्यै र्मदीयं साध्वसाधुवा सर्वमनुमत मेव। अतो मा माश्रितान्देवानेव सुधां पाययिष्यामि। किञ्च तैर्यथान्यायं विभजस्व इति चोक्तम्, न तेभ्यो जात्यैव क्रूरेभ्योऽमृत दानं न्याय्याम्। अत स्तेभ्य स्सुधां न दास्यामीति।।१९।।

उभयेषां पङ्क्तीः पृथग्विभक्ताः कल्पयित्वा तान्देवानसुरांश्च स्वासु स्वासु पङ्क्तिषूपवेशयामास।।२०।।

1. A,B,J तत्समजा 2. A,B,T Omit एव 3. H,V तावत् 4 W. "ग" 5- -5. A,B,T Omit 6. A,B,T "ने

गृहीतकलशः श्रीभगवान् योषिद्रूपः उपसञ्चरैः समीप गमन बहुमान प्रियवाक्यादिभिः दैत्यान्वञ्चयन् दूरस्थानपि देवानेव जरामृत्युहरां[2] सुधां पाययामास।।२१।।

ते अलब्ध सुधा अपि दैत्याः स्वकृतं समयं साध्वसाधु वा त्वत्कृतमनुमन्यामहे इति पूर्वकृतं सङ्केतं पालयन्तः हे नृप! कृतस्तस्यां स्नेहा यैस्ते तादृशाश्च, स्त्रीविवादस्य जुगुप्सिततया च तूष्णी मेवाऽऽसन्[3]।।२२।।

तस्यां कृतः अतिप्रणयः अतिस्नेहो यैस्ते प्रणयापायेन कातराः भीताः 'एते तावत्कृपणाः पूर्व किञ्चि त्पिबन्तु, यूयन्तु धीराः क्षणं प्रतीक्षध्वम्' इत्यादि बहुमानेन च आबद्धाः नियन्त्रिताश्च किञ्चिदपि विप्रियं नोचुः समयपालनादिभिः षड्भिरेतैः कारणै रप्रियं किञ्चिदपि नोचुः। किन्तु तूष्णीमासु रित्यर्थः।।२३।।

देवलिङ्गेन देवता वेषेण प्रतिच्छन्नः तिरोधापितस्ववेषः[5] स्वर्भानुः राहुः देवानां पङ्क्तौ प्रविष्टः सोम ममृत मपिबत्। चन्द्रार्काभ्यां सूचितः।।२४।।

**विज०** कलभो गजपोतः तत्करवच्छोभमानयो रूर्वोर्लसता दुकूलेन युतं श्रोणीतटं यस्यास्सा। कलभो वंशाङ्कुरः तद्वद्वर्तमानयोर्वा अलसगतिः अलसा मन्दा गति र्यस्यास्सा, तथा शिञ्जितेन शब्दितेन। 'शिजि अव्यक्ते शब्दे' इति धातुः[6] ।।१९।।

कनककुण्डल चारुकर्णाभ्यां नासाकपोलाभ्याञ्च युक्तं[7] वदनं यस्या स्सा तथा, ताम्।।१८।।

"सुधा पयसि देवान्ते गुण पक्वपयोमृदि" इति वचनात्। सर्पाणां पयोदान मिव तानुद्दिश्य।।१९।।

आली श्रेणी श्रिया पङ्क्ति[8] सभयोस्तति रुच्यते इति।।२०।।

उपसञ्चरैः समीपगमनादि नर्मव्यवहारैः।।२१।।

कृतस्नेहाः छिन्न स्नेहाः। कृञ् छेदने इति धातुः। पूर्वं सम्पन्नस्नेहा अधुना नष्टस्नेहा इत्यर्थः।।२२।।

प्रणयस्य अपाय उपशमनं सम्भवतीति कातरा भीताः।।२३,२४।।

**चक्रेण क्षुरधारेण जहार पिबत शिरः।**

**हरि स्तस्य कबन्धस्तु सुधयाऽप्लावितोऽपतत्।।२५।।**

---

1. A,B,T नेन्द्रियव्यापारादर 2- -2. A,B,T Omit 3. W. Omits एव 4. W "मासन् ।।२३।। 5. A,B,T "तात्मरोष.। 6. A,B शिञ्जि" 7. Ma. Omits युक्त 8. A समयो", M ०रुभयो"

शिरस्त्वमरतां नीत मजो ग्रह मचीक्लृपत्[1]।
यस्तु पर्वणि चन्द्रार्का वभिधावति वैरधीः।।२६।।

पीतप्रायेऽमृतेदेवै र्भगवान् लोकभावनः।
पश्यतामसुरेन्द्राणां स्वरूपं[2] जगृहे विभुः।।२७।।

एवं सुरासुरगणा स्समदेशकालहेत्वर्थकर्ममतयोऽपि[4] फले विकल्पाः।
तत्राऽमृतं सुरगणाः फल मञ्जसाऽऽपुर्यत्पादपङ्कजरजश्श्रयणान्न दैत्याः।।२८।।

[5]यद्युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभि[5] देहात्मजादिषुनृभि[6] स्तदसत्[7] पृथक्त्वात्।
तैरेव सद्भवति यत्क्रियतेऽपृथक्त्वा[8] सर्वस्य तद्भवति मूलनिषेचनं तत्।।२९।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
अष्टमस्कन्धे अमृतमथने नवमोऽध्यायः।।९।।

**श्रीध० चक्रेणेति।** हरिः पिबत[9] स्तस्य शिरो जहार। अप्लावितोऽसंस्पृष्टः ।।२५।।

**शिर इति।** ग्रहं सूर्यादिवत् ग्रह त्वाधिकारिणम्।।२६,२७।।

हरिभक्ताना मेवोद्यमः फलति नाऽन्येषामित्येव माख्यान तात्पर्य माह - **एवमिति।** समादेशादयो येषाम्। हेतुर्मन्दराद्रिः। अर्थः समुद्रे क्षिप्तं वीरुधादि[10]। विविधः कल्पः फलं केषाञ्चिज्जातं, केषाञ्चिन्नेति वैचित्र्य मेषां ते फले वैषम्यवन्तो बभूवुरित्यर्थः। तदेवाऽऽह तत्र तेषु यस्य पादपङ्कजरजश्श्रयणाद्देवा अमृतं फल मापुः। स एव सेव्य इत्यर्थः। यत्तदोर्नित्य सम्बन्धात्।।२८।।

एतदेवोपपादयति - यदिति। असुः प्राणः। वसु धनम् प्राणादिभि र्देहात्मजादिषु नृभि र्यद्युज्यते प्रयुज्यते देहाद्यर्थं यत्क्रियते इत्यर्थः। तदसत् व्यर्थ भवति। कुतः? अपृथक्त्वात् भेदाश्रयत्वात्। शाखानिषेचनव त्तैरेव प्राणादिभिः ईश्वरोद्देशेन यत्क्रियते तत्तु तन्महाफलं भवति। कुतः[11]? पृथक्त्वादीश्वरस्य सर्वत्रानुषक्त्वात्[12]। तत्र दृष्टान्तः - यत्तरोर्मूल निषेचनं तद्यथा सर्वस्य स्कन्धशाखादेरपि भवतीति[13]। यद्वा ल्यब्लोपे पञ्चम्यौ। पृथक्त्वं पर्यालोच्य भेददृष्ट्या देहाद्युद्देशेच यत्क्रियते, तदसत्। अपृथक्त्वं पर्यालोच्य ईश्वर दृष्ट्या तैरेव तेष्वेव च यत्क्रियते तत्सद्भवतीति, शेषं समानम्।।२९।।

---

1. H,V,"करत् 2. A,B,G,J,T स्य रू" 3. A,B,G,J,T हरिः 4- -4. M,Ma योगगतयोपि 5- -5. M,Ma यद्युद्यतेवृथ 6. M,Ma "वा" 7. M,Ma पुरस्तात् 8. M,Ma च तस्मिन् 9. A,B,J Omit पिबत 10. A "नृणादि 11. A,B,J Omit कुतः 12. A,B,J गतत्वात् 13. H,V Omit इति

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां नवमोऽध्यायः।।९।।

**वीर०** हरिः सोमं पिबतः स्वर्भानोः शिरः क्षुरस्येव धारा यस्य तेन चक्रेण जहार चिच्छेद। तस्य स्वर्भानोः कबन्धः सुधया अप्लावितः असंस्पृष्टोऽपतत्। अमृतस्य कण्ठाद्धो निस्सरणात्पूर्वमेव अस्य[1] शिरसः छिन्नत्वात् अमृतसंस्पर्शाभावात् कबन्धः पतितः।।२५।।

शिरस्तु अमृतसंस्पर्शात् अमरत्वं प्राप्तम्। अजो ब्रह्मा ग्रह मचीक्लृपत् अकल्पयत् सूर्यादिवच्चारेण प्रजानां[2] शुभाशुभसूचकं ग्रहमचोकरदित्यर्थः। यस्तु ग्रहत्वं प्रापितो राहो मूर्धा वैरधीः पर्वसु चन्द्रार्कौ अभिधावति।।२६।।

देवै स्मृते पीतप्राये सति। प्रायग्रहणादमृतस्य अवशेषस्सूच्यते लोकभावनः लोकपालको भगवान् विभुः सुरेन्द्राणां पश्यतां सतां स्वरूपं[3] पौरुषं रूपं जगृहे गृहीतवान्[4]।।२७।।

श्रीभगवन्तम्[5] आश्रितानामेव उद्यमफलं नाऽन्येषामिति एव माख्यानतात्पर्यमाह - **एवमिति**। एव मित्थं समास्तुल्या देशादयो येषां तादृशा अपि। तत्र देशः क्षीरोदधितीरम्। कालः मथनसमयः[6], हेतुः मन्दराद्रिणा मथनम्। अर्थः अमृतरूपं प्रयोजनम् , कर्म मथनानुकूलं मतिः अन्योन्यमेकप्रयोजन विषया - एवं विधा अपि फले विकल्पाः फलवैषम्यवन्तो बभूवुः। केषाञ्चित्फलमन्येषां नेति वैषम्यमभवदित्यर्थः। तदेवाऽह-तत्र देवासुराणां मध्ये देवगणा एव अमृत रूपं फलम्, अञ्जसा सुखेनाऽऽपुः प्रापुः। कुतः? यस्य भगवतः पादपङ्कजयो रजसस्समाश्रयणात्[7]। तदनाश्रयणात् दैत्यास्तु न प्रापुः वैषम्यं[8] जीवनिष्ठमेव, न तु परमात्मनिष्ठमिति दिक्[8]।।२८।।

किञ्च[9] **यदिति**। असुः प्राणः, वसु धनम्, देहात्मजादिषु निमित्तेषु देहाद्यर्थेनृभिः प्राणादिभि र्यद्युज्यते यत्क्रियते इत्यर्थः। तदेतत् असत् व्यर्थम्, शाखानिषेचनवत् व्यर्थं भवति। कुतः? पृथक्त्वात् तस्य कर्मणः अहम्ममतादि पृथगभिमानगर्भत्वात्। तै रेव प्राणादिभिर्याक्रियते सर्वान्तरात्मनो भगवतः सर्वकारणस्य प्रीतये क्रियते तत्तु सत् महाफलं भवति। कुतः? अपृथत्वात् सर्वान्तरात्मतया सर्वमूलतया च सर्वत्राऽनुस्यूतत्वात्। तत्र दृष्टान्तः - यत्तरो मूले सेचनं यथा सर्वस्य स्कन्ध शाखादे रपि भवति तद्वत्। यद्वा - पृथक्त्वादपृथक्त्वादिति[10] च

1. W. Omits अस्य1. 2 A,B,T प्राणिनां 3. A,B,T, add स्वकीयं 4- -4. W. Omits 5 A,B,T add एव 6. W. कालः 7. A,B,T add हेतोः 8- -8. W. Omits 9. W. Omits किञ्च 10. W. "लवदेवे"

ल्यब्लोपे पञ्चमी। देहात्मजादीनां पृथक्त्व मालोच्य अब्रह्मात्मकत्वं पश्यन् केवलदेहाद्यर्थं प्राणादिभि र्यत्क्रियते कर्म तद्विफलम्, ब्रह्मात्मकत्वमालोच्य तदाराधन बुद्ध्यातु कृतं लौकिकमपि कर्म सफलमेवेत्यर्थः ।।२९।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां नवमोऽध्यायः।।९।।

**विज०** समा देशादयो येषान्ते तथाऽपि विफलै र्विशिष्ट फलैः विकल्प्याः विकल्प योग्या अभूवन्। कथम्? तत्राऽऽह तत्रेति। तत्राऽपि हेतुमाह - यत्पादेति। फलवैफल्ये विशेषण विशिष्ट कल्पनार्हा इति ।।२५-२८।।

नन्वसुरादीनामपि शिवादि देवार्चनासद्भावात् कथं तै र्विशिष्टफलं नाऽवाप्त मित्याशङ्क्य श्रीहरि चरणारविन्द प्रणामाभावात् नाऽप्तमित्याशयेनाह - यदीति। नृभिः पुरुषैः पुरस्तादुद्यतेषु फल दानाभिमुखेषु देहात्मजादिषु यदर्चनादिकं वित्तादिभिः क्रियते यदि तर्ह्यपि तदसत्कर्म विशिष्टफलं न भवति। कुत इति तत्राऽऽह- उद्यतेष्विति उत्कृष्ट फल मुद्दिश्य य त्तेषूपरतेषु विशिष्ट शक्त्यभावादिति द्विरावृत्त्या योजनीयम्। तर्हि कथङ्कारं तद्भवतीति तत्राऽऽह - तैरिति। यदीत्यनुवर्तते। यदि तैः पूर्वोक्तैः वित्तादिभिरेवचाऽस्मिन् हरौ यत्कर्म क्रियते तर्हि तत्पूर्णफलं भवति। हरिभक्तिमात्रेण देवाद्युद्दिष्टद्रव्यै स्तदर्चनाभावे कथं तत्पूर्णफलं स्यात्? इति तत्राऽऽह - सर्वस्येति। यन्मूलभूतस्य हरे रर्चनलक्षणं निषेचनं तत्सर्वस्य देवतादेः तन्निषेचनफलं भवति, हरिभक्तिमन्तरेण शिवाद्यर्चनेन असुराणां विशिष्टफलं नाऽभूत्। तस्मात् तद्भक्त्या भाव्यमिति इदं मुक्तितमसो निदर्शना योक्तमिति ज्ञातव्यम्। "देहात्मजादिष्वेव महाद्वारं तदभावादात्मा महनीयः" इति वचना दित्यतोवाऽऽह - यदीति। देहात्मजादिष्विति केचित्पठन्ति तत्रैवं योजनिका-पुरस्ता देहान्तरावाप्तेः पूर्वमेवाऽऽसन् वित्तादिव्यय एव नाऽन्य इत्यर्थः। इति शेषं समम्।।२९।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे परमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
अष्टमस्कन्धे नवमोऽध्यायः।।९।।
(विजयध्वजरीत्या अष्टमोऽध्यायः)

---

1--1. A,B एवाऽनन्यः

oooOooo

# दशमोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या नवमोऽध्यायः)

### श्रीशुक उवाच

इति दानवदैतेया नाऽविन्दन्नमृतं[1] नृप।
युक्ताः कर्मणि दैवाच्च[2] वासुदेवपराङ्मुखाः।।१।।

साधयित्वाऽमृतं राजन् पाययित्वा[3] स्वकान्सुरान्।
पश्यतां सर्वभूतानां ययौ गरुडवाहनः।।२।।

सपत्नानां परां[4] सिद्धिं दृष्ट्वा ते[5] दितिनन्दनाः।
अमृष्यमाणा उत्पेतुर्देवान्प्रत्युद्यतायुधाः।।३।।

तत स्सुरगणा स्सर्वे सुधया[6] पीतयैधिताः।
प्रति संयुयुधुः शस्त्रै र्नारायणपदाश्रयाः[7]।।४।।

तत्र दैवासुरो[8] नाम रणः परमदारुणः।
रोधस्युदन्वतो राजन् तुमुलो रोमहर्षणः।।५।।

तत्राऽन्योन्यं सपत्ना स्ते संरब्धमनसो रणे।
समासाद्याऽसिभिर्बाणै र्निजघ्नुर्विविधायुधैः[9]।।६।।

शङ्खतूर्यमृदङ्गानां भेरीडमरुणां[10] महान्।
हस्त्यश्वरथपत्तीनां नदतां[11] निस्स्वनोऽभवत्।।७।।

रथिनो रथिभिस्तत्र पत्तिभिस्सह पत्तयः।
हयाहयै रिभाश्चेभैः समसज्जन्त संयुगे।।८।।

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

दशमे मत्सरा दैत्यै रारब्धेतु मृधे सुरैः। दैत्यमायाविषण्णेषु देवे ष्वाविर्बभौ हरिः।

तदेव ममृतावाप्ति र्नाऽभक्ताना मितीरितम्। भक्तमत्सरतः प्राणहानिः पुन रुदीर्यते।

**तत्र दैवेति** रणः सङ्ग्रामः उदन्वतः समुद्रस्य रोधसि तीरे बभूव।।१-५।।

1. B,W "विद" 2. A,B,G,J,M,Ma,T,W यत्ताश्च 3. M,Ma "त्वाऽमृतं सु" 4. A,B,G,J,M,Ma,T परामृद्धि 5. M,Ma च
6 H,V "रु" 7 H,M,Ma,V परायणाः 8 B,M,Ma दे" 9 M,Ma वि" 10 A,B,G,J,M,Ma,T "रि" 11. M,Ma व"

**तत्रेति** । अन्योन्यं समासाद्य निजघ्नुः ।।६-८।।

## श्रीवीरराघवविदुषालिखिता भागवचन्द्रचन्द्रिका

समदेशकाल हेत्वर्थकर्ममतीना मपि श्रीभगवन्तमनाश्रितानां न केवलं फलाप्राप्तिरेव, प्रत्युत प्राणहानि श्चेति वक्तु ममृतालाभप्रयुक्तसंरम्भाणां दैत्यानां आदितेयै स्सह युद्धमाह अध्यायद्वयेन। हे नृप! इति इत्थं दानवा[1] दैतेयाश्च अमृतं नाऽविदन् (नाऽविन्दन्) न लब्धवन्तः। तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि कर्मणि मथनकर्मणि युक्तायत्ताश्चानुकूलकर्मवन्तोऽपि वासुदेवपराङ्मुखाः, अतो नाऽविदन् (नाऽविन्दन्) इत्यर्थः।।१।।

हे राजन्! इत्थं भगवानमृतं साधयित्वा स्वकान् स्वाश्रितान् सुरान् सुधां[2] पाययित्वा सर्वभूतानां पश्यतां सतां श्रीगरुडवाहनस्सन् जगाम।।२।।

तत स्सपत्नानां देवानां परां सिद्धिं फलप्राप्तिं दृष्ट्वा ते दैत्याः अमृष्यमाणाः[3-3] असहमानाः[4-4] सन्तः उद्यतानि उद्धृतानि आयुधानि यै स्ते देवान्प्रति उत्पेतुः अभिदुद्रुवुः।।३।।

ततस्सुरगणा अपि पीतया सुधया एधिता आहितबलाः नारायणपदाश्रयाश्च शस्त्रास्त्रैः प्रति संयुयुधुः।।४।।

तत्रोदन्वतः क्षीराब्धेः[5] रोधसितीरे दैवासुर इति प्रसिद्धः परमदारुणोऽतिभीषण स्तुमुल स्सङ्कुलः पश्यतां शृण्वताञ्च रोमहर्षणो रोमहर्षणजनको रण स्सङ्ग्रामो बभूव।।५।।

तमेवाऽनुवर्णयति - **तत्रेति**। तदा सपत्नाः ते देवासुराः संरब्धं क्रुद्धं मनः येषान्ते, रणे अन्योन्यं समासाद्य बाणैः विविधै रायुधैश्च निजघ्नुः।।६।।

भेर्यादीनां शङ्खादीनाञ्च नदतां हस्त्यश्वपदातीनाञ्च महान्निस्स्वनो बभूव।।७।।

तत्र[6] रथ्यादयो रथ्यादिभिरेव द्वन्द्वसंयुगे[7] समसज्जन्त युयुत्सया सङ्गता बभूवुः।।८।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भगवत्प्रसादजातेन ज्ञानेन पापप्रणाशो भवत्येव नान्येनेत्येतन्निदर्शनाय देवासुरयुद्धं वर्णयति अध्यायद्वयेन। तत्राऽऽदौ हरे रदर्शन प्रकारमाह - **इतीति**।।१।।

यया वदृश्योऽभूदिति।।२-३।।

1. A,B,T दैत्याश्च 2. W. Omits सुधां 3- -3. A,B,T Omit 4- -4. W. Omits 5. W. क्षीरोदधेः 6. W. Omits 7. A,B,T सङ्गरे।

एधिताः वर्धिताः ।।४।।

उदन्वतः समुद्रस्य रोधसि तीरे।।५-८।।

**उष्ट्रैः केचिद्[1]द्विपैः केचिदपरेऽभिययुः खरैः।**
**केचिन्नरमुखै र्[2]हंसै र्द्वीपिभि र्हरिभि र्भटाः।।९।।**

**गृध्रैः कङ्कै र्वृकै[3] रन्ये श्येन भासै स्तिमिङ्गिलैः।**
**शरभै र्महिषैः खड्गै र्गोवृषै र्गवयारुणैः।।१०।।**

**शिवाभि राखुभिः केचित् कृकलासै श्[4]शुनै र्नरैः।**
**बस्तै रेके कृष्णसारैः हंसै रन्ये च सूकरैः।।११।।**

**अन्ये जलस्थल खगै स्सत्त्वै र्विकृतविग्रहैः।**
**सेनयो रुभयो राजन् विविशुस्तेऽग्रतोऽग्रतः।।१२।।**

**चित्रध्वज पटै राजन् आतपत्रै स्सितोऽमलैः।**
**महाधनै र्वज्रदण्डैः [5]व्यजनै र्बार्ह चामरैः।।१३।।**

**वातोद्धूतोत्तरीयै[6]ः [7]उष्णिषैर्वर्मभूषणैः।**
**स्फुरद्भि र्विशदै[8] श्शस्त्रै स्सुतरां सूर्यरश्मिभिः।।१४।।**

**देवदानववीराणां ध्वजिन्यौ पाण्डुनन्दन।**
**रेजतु र्वीरमालाभि र्यादसा मिव सागरौ[9]।।१५।।**

**वैरोचनि र्बलि स्संख्ये सोऽसुराणां चमूपतिः।**
**यानं वैहायसं नाम कामगं मयनिर्मितम्।।१६।।**

**श्रीध० चित्रेति।** चित्रध्वजपटादिभिश्च सितै रमलै रातपत्रैश्च [12]व्यजनैः बार्हैः चामरैश्च।।९-१३।।

**वातेति।** वातेनूद्धूतैः उत्तरीयैः उष्णीषैश्च सूर्यरश्मिभिः सुतरां स्फुरद्भिः।।१४।।

**देवेति।** देवदानववीराणां ध्वजिन्यौ वीराणां मालाभिश्च [13]राजिभिः यादसां मालाभिः सागराविव रेजतु रिति त्रयाणामन्वयः। यादोभिरिति वा।।१५।।

1. A,B,G,J,T "दिपैः ; M,Ma "द्विपै. 2. A,B,G,J,T रे युयुधुः 3. A,B,G,J,M,Ma,T "वंकै 4. A,B,G,J,M,Ma,T "श्शशै" 5. M,Ma विधाजन्बार्हा" 6. M,Ma "ततमोष्णीषै; 7. M,Ma सत्कृतै वर्म; H.V सुरश्मिवर्म; W. वनद्भिर्वर्म 8. H,V विशै: 9. M, Ma "चि" 10. M,Ma "रै" 11. A,B,G,J,T "चनो च" 12. H.V Omit "व्यजनै: 13 H,V Omit राजिभि:

**वैरोचनि** रिति। संख्ये युद्धे असुराणां या चमू: तस्या: पति: स बलिर्यानमास्थित:।।१६।।

**वीर०** तत्र देवेषु असुरेषु च केचित् , केचिद्भटा: उष्ट्रादिभिर्वाहनै: अभिसंययु: अभिदुद्रुवु:। गौरमुखै रिति ऋक्षै रित्यस्य विशेषणम्। रक्तमुखै र्वानरै रित्यर्थ:। हरिभि स्सिंहै:, तिमिङ्गिलै र्मत्स्यविशेषै: गोभि र्धेनुभि: वृषै र्बलीवर्दैश्च अत्रैव गोबलीवर्दन्याय: प्रदर्शित:।।९,१०।।

शिवा: सृगालविशेषा: ताभि:, बस्तै र्मेषै:।।११।।

जले स्थले, खे आकाशे च गच्छन्तीति तथा तै: विकृतविग्रहै: सत्त्वैर्जन्तुभि: वाहनभूतै: उभयो र्देवासुरसम्बन्धिन्यो: सेनयो: अग्रतोऽग्रत: हे राजन्! विविशु:।।१२।।

हे राजन् ! चित्रध्वजपटै: सितै श्शुभ्रैरमलै र्महाधनै रनर्घै:, वज्रदण्डै रातपत्रै: तथा वज्रदण्डैर्व्यजनै: अनर्घै श्चामरै:।।१३।।

वातेनोद्धूतै रुत्तरीयै रुष्णीषै: ध्वनद्भि: कवचै र्भूषणैश्च। विशदै: निघर्षणेन निर्मलीकृतै: सूर्यरश्मिभि: नितरां स्फुरद्भि: शस्त्रैश्च।।१४।।

वीराणां मालाभिश्च देवासुराणां ध्वजिन्यौ सेने रेजतु: यादसामिव सागरौ यथा यादसां मालाभिस्सागरौ समुद्रौ तद्वत्।।१५।।

असुराणां या चमू: सेना तस्या: पति र्वैरोचनो बलि र्वैहायसाख्यं यानं विमान मास्थित: अधिष्ठित:, उदये उदय गिरौ स्थितश्चन्द्र इव रेजे। यानं विशिनष्टि कामगं कामं यथेच्छं गच्छतीति तथा, मयेन निर्मितम्।।१६।।

**विज०** तेषा मारोह साधनान्याह - उष्ट्रै रित्यादिना। द्विजै: पक्षिभि:।।९।।

खड्गैर्मृगविशेषै:। अरुणैर्वन सत्त्वविशेषै:।।१०-१२।।

बार्हचामरै: पिच्छविरचितचामरै:।।१३,१४।।

वीचिमालाभि: यादसां जलजन्तूनां वरूथिनी यथा।।१५,१६।।

**सर्वसाङ्ग्रामिकोपेतं सर्वाश्चर्यमयं विभो।**
**अप्रतर्क्यं मनिर्देश्यं दृश्यमान मदर्शनम्।।१७।।**

**आस्थित स्तद्विमानाग्र्यं सर्वानीकाधिपै र्वृत:।**
**वालव्यजन छत्राद्यै: रेजे चन्द्र इवोदये।।१८।।**

1- -1. B,H,J,V Omit 2- -2. W. Omits 3- -3. W. हरय: सिंहा: 4. A,B,T शृ" 5. W. Omits चित्र 6- -6. A,B,T Omit 7.W. 'ङ" 8. A,B,G,J,M,Ma,T प्रभो! 9. A,B,G,J,M,Ma,T छत्राग्रपे:

तस्याऽऽसन् सर्वतो यानैः पृतना[1] पतयोऽसुराः।
नमुचिः शम्बरो बाणो विप्रचित्ति रयोमुखः।।१९।।

द्विमूर्धा कालनाभोऽपि प्रहेतिर्हेति[2] रिल्वलः।
शकुनि र्भूतसन्त्रासो[3] बज्रदंष्ट्रो विरोचनः।।२०।।

हयग्रीव श्शङ्कुशिराः कपिलो मेघदुन्दुभिः।
तारक क्षोग्रदृक्[4] शुम्भो निशुम्भो जम्भ उत्कलः।।२१।।

अरिष्टोऽरिष्टनेमिश्च मयश्च त्रिपुराधिपः।
अन्ये पौलोमकालेया निवात कवचादयः।।२२।।

अलब्धभागा स्सोमस्य केवलं क्लेशभागिनः।
सर्व एते रणमुखे बहुशो निर्जितामराः।।२३।।

सिंहनादा[5] न्विमुञ्चन्तः शङ्खान्दध्मुर्महारवान्।
दृष्ट्वा सपत्ना नुत्सिक्तान् बलभित्कुपितो भृशम्।।२४।।

ऐरावतं दिक्करिण मारूढो[6] वियति स्वराट्।
यथा स्रवत्प्रस्रवण मुदयाद्रि महर्पतिः।।२५।।

तस्याऽऽसन्सर्वतो देवा नानावाह ध्वजायुधाः।
लोकपाला स्सहगणै र्वाय्वग्नि वरुणादयः।।२६।।

तेऽन्योन्य मभिसंवृत्य[7] क्षिपन्तो नामभि[8] र्मिथः।
आह्वयन्तो विशन्तोऽग्रे युयुधुर्द्वन्द्वयोधिनः।।२७।।

**श्रीध० आस्थित** इति। उदये[9] उदयगिरिशिखरे स्थितश्चन्द्र इव रेजे, इति त्रयाणामन्वयः।।१८-२४।।

**ऐरावत** मिति। स्रवन्ति प्रस्रवणानि यस्मिन्निति मदधारा सादृश्यम्।।२५।।

**तस्येति**। नानावाहादीनि येषां ते देवाः असुराश्च मिथः अभिसङ्गम्य[10-] नामभिर्नामानि गृहीत्वा क्षिपन्त स्तिरस्कुर्वन्तो[-10] युयुधुः।।२६,२७।।

1. A,B,G,J,M,Ma,T यूथानां 2. A,B,G,J,M,Ma,T "थ 3. A,B,G,J,M,Ma,T सन्तापो 4. A,B,G,J,M,Ma,T "क्षक्र" 5. M,Ma "द्दं वि" 6. A,B,G,J,T इश्शुभे 7. A,B,G,J,M,Ma,T "सृत्य 8 A,B,G,J,T मर्मभि" 9. A. Omits उदये 10- -10. B,H,J,V Omit

**वीर०** सर्वै स्सङ्ग्रामसाधनैः अस्त्रशस्त्रादिभि र्युक्तं सर्वेषामप्याश्चर्यकरं महद्विफल मप्रतर्क्यं विमानान्तरसजातीयत्वेन तर्कितुमप्यशक्यम् अनिर्देश्य मनियतप्रदेशावस्थानत्वेन क्वचिद्देशे नियमेन स्थितमिति निर्देष्टु मशक्यं, क्वचिद्दृश्यमान मपि पुनरप्यदर्शन मदृश्यं द्रष्टुमशक्यं, तेजस्वित्वा द्विमानस्य श्रेष्ठं यद्यानं तदास्थित इत्यन्वयः। कथम्भूतः? सर्वै स्सेनाधिपतिभिः व्यजनच्छत्रचामरादिभिश्च वृतः।।१७,१८।।

तस्य बले स्समन्ता द्यूथानां पतयोऽसुराः स्वस्वयानै स्सहाऽऽसन् परिवृत्य तस्थुः। यूथपती नेव कांश्चिन्निर्दिशति - नमुचिरिति।।१९-२२।।

एते सर्वे सोमस्याऽमृतस्य अलब्धो भागो यैः ते केवलं क्लेशमात्रं प्राप्तास्सन्तः पूर्वं रणमुखे बहुशो निर्जिता अमरा यै स्ते।।२३।।

सिंहनादान् विमुञ्चन्तः कुर्वन्तः, महान् रवो येषां तान्, शङ्खान् दध्मुः ध्वनयामासुः। एव मुद्धतान् शत्रू नसुरान् दृष्ट्वा स्वराट् बलभित् इन्द्रः नितरां कुपितः।।२४।।

दिक्करिण मैरावत मधिरूढः वियत्याकाशे, अवस्थित इति शेषः। कः कमिव? स्रवन्ति प्रस्रवणानि यस्मिन् मदधारासादृश्य मनेनाऽभिप्रेतं तमुदयाद्रि मारूढोऽहर्पतिस्सूर्यो यथा, तद्वत्।।२५।।

तस्येन्द्रस्य सर्वतः परितो देवा नाना विविधानि आयुधादीनि येषां ते आसन्, तं परिवेष्ट्य तस्थुः. स्वगणै स्सहिता वाय्वादयो लोकपालाः।।२६।।

ते दैत्याश्च अन्योन्यमभिमुखं समीप मागत्य परस्परं क्षिपन्तः तिरस्कुर्वन्तो नामभि राह्वयन्तो विशन्तश्चाऽग्रे द्वन्द्वयोधिनो युयुधुः।।२७।।

**विज०** साङ्ग्रामिकं युद्धसाधनम्।।१७-२२।।

सोमस्य अमृतस्य।।२३।।

उत्सिक्तान् बलगर्वितान्।।२४।।

स्रवत्प्रस्रवणं च्योतत्प्रस्रवणं च्योतन्मदजलम् अन्यत्र निरन्तरस्यन्दमान निर्झरम्, अहर्पति स्सूर्यः।।२५-२७।।

---

1. W. Omits अपि 2. W. "नश्च" 3. A,B,T "रयादिभिश्च 4 A,B,T add ते 5. A,B,T नादं 6. A,B,T Omit कः/-7 A.B.J Omit

युयोध बलि रिन्द्रेण तारकेण गुहोऽस्यत[1]।
वरुणो हेतिनाऽयुध्यत् मित्रो राजन्प्रहेतिना।।२८।।

यमस्तु कालनाभेन विश्वकर्मा मयेन वै।
शम्बरो युयुधे त्वष्ट्रा सवित्रा तु विरोचनः।।२९।।

पराजितेन[2] नमुचि रश्विनौ वृषपर्वणा।
सूर्यो बलिसुतै र्देवो बाणज्येष्टै[3] श्शतेन[4] च।।३०।।

राहुणा च तथा सोमः पुलोम्ना युयुधेऽनिलः[5]।
निशुम्भशुम्भयो र्देवी भद्रकाली तरस्विनी[6]।।३१।।

वृषाकपिस्तु जम्भेन महिषेण विभावसुः।
इल्वल स्सह वातापिः[7] ब्रह्मपुत्रै ररिन्दम।।३२।।

कामदेवेन दुर्मर्ष उत्कलो मातृभि स्सह।
बृहस्पति स्तूशनसा[8] नरकेण शनैश्चरः।।३३।।

मरुतो निवातकवचैः कालेयै र्वसवोऽमराः।
विश्वे देवास्तु पौलोमैः रुद्राः क्रोधवशै स्सह।।३४।।

त एव माजा वसुरा स्सुरेन्द्रा द्वन्द्वेन सहत्य[9] नियुध्यमानाः[10]।
अन्योन्यमासाद्य निजघ्नुरोजसा जिगीषवस्तीक्ष्णशरासितोमरैः[11]।।३५।।

भुशुण्डिभिश्चक्रगद[12] र्ष्टिपट्टिशैः[13] शक्त्युल्मुकैः[14] प्रास परश्वधै रपि।
निस्त्रिंशभल्लैः परिघै स्समुद्गरै स्सभिण्डिवालैश्च[15] शिरांशि चिच्छिदुः[16]।।३६।।

श्रीध० द्वन्द्वान्येवाऽऽह - युयोधे त्यादि सप्तभिः। अस्यत अस्यत् अयुध्यतेत्यर्थः[17-17]।।२८,२९।।

पराजितेनेति। सूर्यो देव एक[18] एव - शतेन बलिसुतैः, बाणोज्येष्ठो येषां तैः ।।३०।।

राहुणेति। निशुम्भशुम्भाभ्याम् देवी।।३१-३६।।

---

1. H,V गुहस्तथा, M,Ma दिवस्पति. 2. A,B,G,J,M,Ma,T अप" 3. M,Ma "हश" 4, M,Ma सह 5. M,Ma "नल: 6. M,Ma नराशिनी 7 H,V "पीत्र" 8 A,B,G,J,T "श्रो" 9 M,Ma संहत्य 10 A,B,G,J,M,Ma,T च यु" 11. M,Ma शरांश चिक्षिपु: 12. A,B,G,J,T भु" M,Ma भृ" 13. H,V "दृष्टि" M,Ma दार्ष्टि 14. H,V पट्टसै: 15. A,B,G,J,T सभिन्दिपालेश्च; M,Ma सभिण्डिपालेश्च 16 A,B,J "ति 17- -17. H,V,Omit 18. H,V Omit एक

वीर० इन्द्रान्येवाऽऽह - युयोधेत्यादिभि स्सप्तभिः। बलिर्वैरोचनिः इन्द्रेण सह, तारकेण असुरेणः गुहः कुमारः अस्यत अयुध्यत इत्यर्थः। हे राजन्! मित्रः प्रहेतिना अयुध्यत।।२८।।

विरोचनः बलेः पिता अन्यो वा असुरः दैत्यः सूर्यो देवः एक एव बले स्सुतैः बाणज्येष्ठैः बाणो ज्येष्ठो येषां तैः शतसंख्याकै रयुध्यतेत्यर्थः।।२९,३०।।

सोमश्चन्द्रः पुलोम्ना दैत्येन अनिलो वायुरयुध्यतानिशुम्भ शुम्भयो स्ताभ्यां तरस्विनी बलवती भद्रकाली देवी अयुध्यत।।३१।।

वातापि सहित इल्वलः ब्रह्मपुत्रैः मरीच्यादिभिः। हे अरिन्दम!।।३२।।

मातृभि र्ब्राह्म्यादिभिः सह उत्कलोऽसुरः, उशनसा शुक्रेण बृहस्पतिः, नरकेण असुरेण शनैश्चरः।।३३।।

कालेयैः कालकेयैः।।३४।।

एवमित्थ माजौ युद्धे त एते सुरासुरश्रेष्ठाः द्वन्द्वेन सङ्घीभूय नियुध्यमानाः परस्परं समीप मेत्य जेतु मिच्छवः तीक्ष्णैः शरादिभिः बलेनाऽन्योन्यमाजघ्नुः शिरांसि चिच्छिदुश्च।।३५,३६।।

(२८ - ३६ श्लोकानां विजयध्वजीयव्याख्या नास्ति)

गजास्तुरङ्गा स्सरथाः पदातयः सारोहबाहा विविधा विखण्डिताः।
निकृत्तबाहूरुशिरोधराङ्घ्रय शिछन्नध्वजे ध्वासतनुत्रभूषणाः।।३७।।

तेषां पदाघात रथाङ्गचूर्णिता दायोधना दुल्बण उत्थित स्तदा।
रेणुर्दिशः खं द्युमणिञ्च छादयन् त्यवर्तताऽसृक्स्रुतिभिः परिप्लुतात्।।३८।।

शिरोभि रुद्धृत्त किरीटकुण्डलैस्संरम्भदृग्भिः परिदष्टदच्छदैः।
महाभुजै स्साभरणै स्सहायुधै स्सा प्रास्तुता भूः करभोरुभि र्बभौ।।३९।।

कबन्धा स्तत्र चोत्पेतुः पतित स्वशिरोऽक्षिभिः।
उद्यतायुध दोर्दण्डै राधावन्तो भटान्मृधे।।४०।। 12

बलि र्महेन्द्रं दशभिः त्रिभि रैरावतं शरैः।
चतुर्भि श्चतुरो वाहा नेकेनारोह मार्दयत्।।४१।।

1. W. चनः 2- -2. W. Omits 3. A. Omits असुरः 4- -4. W. Omits 5. W. Omits बृहस्पतिः 6. M,Ma "धरांघ्रय" 7. H,V ध्वजज्यासित"; M,Ma ध्वजज्यासत" 8. M,Ma उत्थित 9 H,M,Ma,V "तः 10. A,B,G,J,T,W "रुद्धृत 11. H,V "ब" 12. A,B,G,J,T सा प्रा"; M,Ma सम्प" 13. H,V "ताज्याकर" 14. M,Ma तैश्च शि" 15. H,V भटा.मृधे ; W भटाःरणे 16.A,B,G,J,M,Ma,T "माच्छं"

**स ता नापतत शक्र स्तावद्भि श्शीघ्रविक्रमः।**
**चिच्छेद निशितैर्भल्लै रसम्प्राप्तान् हसन्निव।।४२।।**

**तस्य कर्मोत्तमं वीक्ष्य दुर्धष श्शक्ति माददे।**
**तां ज्वलन्तीं महोल्काभां हस्तस्था मच्छिन्नद्धरिः।।४३।।**

**तत श्शूलं ततः प्रासं तत स्तोमरमृष्टयः।**
**यद्य दुषित आदद्यात् सर्वं त द्व्यच्छिन द्विभुः।।४४।।**

**ससर्जाऽथाऽऽसुरीं माया मन्तर्धानं गतोऽसुरः।**
**ततः प्रादुर भूच्छैलः सुरानीकोपरि प्रभो।।४५।।**

**ततो निपेतु स्तरवो दह्यमाना दवाग्निना।**
**शिला स्स्फटङ्कशिखरा श्चूर्णयन्त्यो द्विषद्बलम्।।४६।।**

**श्रीध० गजा** इति। आरोहन्ती त्यारोहा वाह्यास्तैः सहिता अन्ये च वाहाः, पूर्वन्तु केवला गजादय उक्ताः। कथम्भूताः निकृत्ता बाह्वादयो येषां। छिन्नानि ध्वजादीनि येषान्ते।।३७।।

**तेषा** मिति। तेषां देवादीनां पदाघातै रथाङ्गैश्च चूर्णिता दायोधनात् रणभूमे रुत्थितो रेणुः दिशः खं द्युमणिञ्च सूर्यञ्च छादयं स्तदैव खादेन्यवर्तत। कथम्भूतात्? असृक्स्रुतिभिः रक्तक्षरणैः परिप्लुतात् सिक्तात्। यद्वा परिप्लवनाद्धेतोर्न्यवर्तत। भावे क्तः। रक्तधाराणां तत्पर्यन्तमुच्छ्लना दित्यर्थः। प्रथमान्तपाठे रेणोर्विशेषणम्।।३८।।

**शिरोभि** रिति। शिरोभिर्महाभुजैश्च करभसदृशै रूरुभिश्च सा रणभूः प्रकर्षेणाऽऽस्तृता सती बभौ। कथम्भूतै श्शिरोभिः उद्वृत्ता न्युत्पतितानि किरीटानि कुण्डलानि च येभ्य स्तैः संरम्भयुक्ता दृशो येषु तैः। परिदष्टा दच्छदा ओष्ठा येषु तैः।।३९।।

**कबन्धा** इति। पतितानि यानि स्वशिरांसि तत्रत्यै रक्षिभिः, तैः पश्यन्त इत्यर्थः। उद्यतान्यायुधानि यै स्तै र्दोर्दण्डै र्युक्ताः।।४०।।

**बलि** रिति। वाहा नैरावतपादरक्षकान्। आरोहं गजयन्तारम् आर्दयत् विव्याध।।४१,४२।।

**तस्येति**। दुर्मर्षोऽसहमानो बलिः ।।४३ - ४५।।

---

1. H,V "मैः 2. A,B,G,J,M,Ma,T दुर्मर्ष" 3. A,B,G,J,M,Ma,T यद्यच्छत्रं समादद्यात् 4. A,B,G,J,M,Ma,T तद" 5. A,B,G,J,M,Ma,T "न" 6. M,Ma वि" 7. M,Ma "यन्तो" 8. A,B,G "लं 9. H,V "ञ्च" 10. A उद्भूता ; J. उद्भूता" 11. H.V. Omit स्व 12. A,B,J आर्च्छ" 13 A,B,J "हतो

**तत** इति। टङ्कव त्तीक्ष्णाग्रैः शिखरै स्सहिताः।।४६।।

**वीर०** गजादयः आरोहन्तीत्यारोहाः तै स्सहिताः अन्ये च वाहाः नानाविधाः खण्डिता निकृत्ताः नितरां छिन्ना बाह्वादयो येषां, छिन्नानि ध्वजादीनि येषान्ते बभूवुः।तत्र इष्वासो निषङ्गः, तनुत्रं कवचम्।।३७।।

तेषां देवादीनां पदाघातै रथाङ्गैश्च चूर्णिता दायोधनात् युद्धभूमे रुत्थितो रेणु रुल्बणो निबिडः दिशः खं द्युमणिं सूर्यञ्च छादयन् पश्चात् न्यवर्तत। निवृत्तौ हेतुंवदन् आयोधनं विशिनष्टि - असृक्स्रुतिभिः रुधिरप्रस्रवणैः परितः प्लुता त्सिक्तात्।।३८।।

सा युद्धभूमिः शिरोभि र्महाभुजैः करभसदृशोरुभिश्च प्रावृता सती बभौ। शिरांसि विशिनष्टि उद्धूतानि उत्क्षिप्तानि किरीटानि[1] येभ्यः संरम्भयुक्ताः दृशो येषु परिदष्टा दच्छदा दन्तच्छदा अधरोष्टा येषु तैः। भुजान्विशिनष्टिसाभरणै स्सहायुधै रिति च।।३९।।

किञ्च, **कबन्धा** इति। तत्र मृधे युद्धे पतितानि यानि स्वशिरांसि, तत्रत्यै रक्षिभिः पश्यन्तः कबन्धाः शिरो रहितदेहाः[2] उत्पेतुः कथम्भूताः? उद्यतानि[3] आयुधानि यैस्तै र्दोर्दण्डै भुजदण्डै[4] स्सह धावन्तो भटा इव अवस्थिताः[5]। महामृधे इति पाठान्तरम्।।४०।।

बलेः[6] पराक्रम माह - **बलि** रिति[6]। बलि र्दशभि श्शरैः[7] इन्द्रम् त्रिभि श्शरैः ऐरावतञ्च, चतुर्भिश्चतुरो वाहान् ऐरावतपादरक्षकान्, एकेन शरेण आरोहं गजयन्तार मार्दयत् अपीडयत्।।४१।।

स शक्रः ता नापततः शरान् असम्प्राप्तानेव तावद्भिःनिशितै र्भल्लैश्शरैः प्रहसन्निव शीघ्रविक्रमः धनुर्विद्या कुशल श्चिच्छेद।।४२।।

तस्येन्द्रस्य तदुत्तमं धनुः कौशलं कर्म वीक्ष्य दुर्मर्षोऽसहमानो बलि श्शक्ति माददे गृहीतवान्, प्रयोक्तु[8]मिति[8] शेषः महोल्काया[9] इव भा[9] यस्या स्तां ज्वलन्तीं शक्तिं करस्थामेव हरिरिन्द्रश्चिच्छेद।।४३।।

ततो बलि र्यद्यच्छूलादिकं शस्त्रमाददे तत्सर्वं समर्थः इन्द्र श्चिच्छेद।।४४।।

अथाऽसुरो बलिः स्वयं तिरोहितः आसुरीं मायां ससर्ज। कीदृशीं माया[10] मित्यत्र तामेव दर्शयति तत इति सार्धं[11] षड्भिः[11]। हे प्रभो! सुरसैन्यस्य उपरिष्टात् शैलोऽद्रिः मायिकः प्रादुर्बभूव।।४५।।

तस्माच्छैला तरवो वृक्षाः निपेतुः। कथम्भूताः? दवाग्निना दह्यमानाः तथा टङ्कवत् तीक्ष्णाग्रै श्शिखरैः

---

1. A,B,T "टाद्रीनि 2- -2. W. Omits 3. उद्य" 4. W. Omits भुजदण्डैः 5. W. Omits अव 6- -6. W. Omits 7. A,B,T Omit शरैः 8- -8. A,B,T "ग कर्तुमि" 9- -9. W. "कस्येवाऽऽभा" 10. A,B,T मायाम् 11- -11. W. Omits

सहिताः शैलाः द्विषतां देवानां बलं चूर्णयन्तो निपेतुः।।४६।।

**विज०** ज्यया मौर्व्या आसम् आसनम् यत्तद्धनुः तनुत्रं कवचम्।।३७,३८।।

उद्वृत्तं विपर्यस्तं रहितं वा दच्छदै रोष्टैः सम्प्रास्तृता सञ्छादिता।।३९।।

कबन्धाः शिरोरहित देहाः।।४०-४२।।

हरि रिन्द्रः।।४३।।

ऋष्टयः ऋष्टीः ।।४४,४५।।

विटङ्कशिखराः उन्नतशृङ्गाः विस्तृतप्राग्रा वा।।४६।।

**महोरगा स्समुत्पेतु र्दन्दशूका स्सवृश्चिकाः।**
**सिंहव्याघ्रवराहाश्च मर्दयन्तो महागजाः[1]।।४७।।**

**यातुधान्यश्च शतशा शःशूल हस्ता विवाससः।**
**छिन्धि भिन्धीति वादिन्य स्तथा[2] रक्षोगणाः प्रभो[3]।।४८।**

**ततो महाघना व्योम्नि गम्भीरपरुषस्वनाः।**
**अङ्गारा न्मुमुचुर्वातै राहताः स्तनयित्नवः।।४९।।**

**सृष्टो दैत्येन सुमहान् वह्निः पवन[4]सारथिः।**
**सांवर्तक[5] इवात्युग्रो विबुधध्वजिनी मधाक्[6]।।५०।।**

**तत स्समुद्र उद्वेल स्सर्वतः प्रत्यदृश्यत।**
**प्रचण्डवातै रुद्धूत[7] तरङ्गावर्तभीषणः।।५१।।**

**एवं दैत्यैर्महाघोरै[8] रलक्ष्यगतिभीषणैः।**
**सृज्यमानासु मायासु विषेदु स्सुरसैनिकाः।।५२।।**

**न तत्प्रतिविधिं यत्र विदु रिन्द्रादयो नृप।**
**ध्यातः प्रादु रभूत्तत्र भगवान्भूतभावनः[9]।।५३।।**

---

1. A,B,G,J,T महागजान् ; M,Ma महासुरान् 2. H,V 'दा 3. M,Ma विभो 4. A,B,G,J,M,Ma,T श्वसन" 5. H,V सं" 6. H,V 'त् 7. M, Ma "रुद्धूत 8. A,B,G,J,M,Ma,T मायै" 9. A,B,G,J,M,Ma,T "वान्विश्व"

**तत स्सुपर्णा सकृताङ्घ्रिपल्लवः पिशङ्गवासा नवकञ्जलोचनः।**

**अदृश्यताष्टायुध बाहु रुल्लसच्छ्री कौस्तुभानर्घ्यकिरीटकुण्डलः।।५४।।**

**श्रीध० तत** इति। स्तनयित्नवः सनिर्घाता महामेघाः अङ्गारान्, मुमुचुः इत्यनुषङ्गः।।४९।।

**सृष्टइति**। अधाक्, आर्षः, अधाक्षी दित्यर्थः।।५०।।

**तत** इति। उद्धुतै स्तरङ्गैः, आवर्तैश्च भीषणः।।५१।।

**एवमिति**। एव मन्यैश्च दैत्यैः सृज्यमानासु।।५२।।

**नेति**। यत्र यदातत्र तदा, तै र्ध्यात स्सन्।।५३।।

**तत** इति। अष्टौ आयुधयुक्ता बाहवो यस्य श्रीश्च कौस्तुभश्च अनर्घ्यं किरीटश्च कुण्डले च उल्लसन्ति श्री कौस्तुभादीनि यस्मिन्।।५४।।

**वीर०** दंशनस्वभावाः वृश्चिकै स्सहिता महोरगाश्च समुत्पेतुः। सिंहादयो महागजाश्च नर्दयन्तः शब्दयन्तः, समुत्पेतु रित्यनुषङ्गः।।४७।।

विवाससः नग्नाः शूलहस्ता श्शतशस्सहस्रशश्च यातुधान्यः भिन्धि छिन्धीतिवादिन्यः समुत्पेतुः ततो रक्षोगणाश्च हे प्रभो!।।४८।।

ततो व्योम्नि गम्भीरः परुषः कठोरश्च स्वनो येषान्ते महाघनाः महामेघा वातै राहताः स्तनयित्नवः गर्जन्तः अङ्गारान् मुमुचुः।।४९।।

दैत्येन बलिना सृष्टो महान् विपुलः श्वसनसारथिः वायु सनाथो वह्निः सांवर्तकः प्रलयानल इव अत्युग्रो विबुधध्वजिनीं देवानां चमूं अधाक् अदहत्।।५०।।

ततः सर्वत श्चतुर्दिक्षु समुद्रः प्रत्यदृश्यत, देवै रिति शेषः। कथम्भूतः? उद्वेलः मर्यादातिगः प्रचण्डै र्मारुतै रुद्धुतै स्तरङ्गैरावर्तैश्च भीषणः।।५१।।

यथा बलिना एव मन्यैश्च महामायै रलक्ष्यगतिभि युद्धे मायासु सृज्यमानासु सतीषु सुरसैनिकाः विषेदुः दुःखिता बभूवुः।।५२।।

हे नृप! यत्र यदा इन्द्रादय स्तत्प्रतिविधिं मायाप्रतिक्रियां न विदुः तदा, तैर्ध्यातो भगवान् विश्वभावनः प्रादुरभूत्।।५३।।

---

1. M,Ma,W "नर्घ" 2--2. B,H,J,V Omit 3--3 H,V अधात् वर्णलोप आर्षः 4. B. अनर्घं 5 A,B,T Omit महाघनाः 6. झञ्झामा"

**कथम्भूतः** प्रादुर्बभूवेत्यत्राऽऽह - **तत** इति। ततः इन्द्रादेर्ध्यानानन्तरं गरुडस्यांसे स्कन्धे कृतौ निहितौ अङ्घ्रिपल्लवौ येन, पिशङ्गं वासो वस्त्रं यस्य, नवकञ्जं इव लोचने यस्य, अष्टौ आयुधयुक्ताः बाहवः यस्य, श्रीश्च कौस्तुभश्च अनर्घ किरीटश्च कुण्डले च उल्लसन्ति श्रीकौस्तुभादीनि यस्मिन् एवम्भूतोऽदृश्यत इति पूर्वेणाऽन्वयः।।५४।।

**विज०** महोरगा अजगराः दन्दशूकाः दंशनशीला स्सर्पाः।।४७,४८।।

स्तनयित्नवः सनिर्घाता मेघाः।।४९।।

सांवर्तकः प्रलयाग्निः अधाक् अदहत्।।५०।।

उद्वेलः तीरमतिक्रान्तः।।५१,५२।।

यत्र यदा, तत्र तदा ध्यातः।।५३,५४।।

**तस्मिन्प्रविष्टेऽसुरकूट कर्मजा माया विनेशु महिना महीयसा।**
**स्वप्नो यथाहि प्रतिबोध आगते हरि स्मृति स्सर्व विपद्विमोक्षणम्।।५५।।**

**दृष्ट्वा मृधे गरुडवाह मिभारिवाह आविध्य शूल महिनोदथ कालनेमिः।**
**तच्छीलया गरुडमूर्ध्नि पतद्गृहीत्वा तेनाऽहनन्नृप! सवाह मरिं त्र्यधीशः।।५६।।**

**मालीसुमाल्यतिबलौ युधि पेततुर्यच्चक्रेण कृत्तशिरसावथ माल्यवांस्तु।**
**आहत्य तिग्मगदयाऽहन दण्डजेन्द्रं तावच्छिरोऽच्छिन दरेनदतोऽरिणाऽऽद्यः।।५७।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्री वैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
अष्टमस्कन्धे देवासुरसङ्ग्रामे दशमोऽध्यायः।।१०।।

**श्रीध० तस्मिन्निति**। असुराणां कूटकर्ममन्त्रादिप्रयोगः तस्माज्जाताः महिना महिम्नाहरेः स्मृति रेव सर्वासां विपदां विमोक्षणरूपा, किमुत हरेः प्रवेश इत्यर्थः।।५६।।

**दृष्ट्वेति**। इभारिवाहः सिंहवाहः। अहिनोत् चिक्षेपलीलयैव तद्गृहीत्वा अहनत् अहन्। हे नृप!।।५६।।

**मालीति**। यस्य चक्रेण कृत्तशिरसौ पेततुः, तं तथाभूत मप्याहत्य संहत्य अण्डजेन्द्रं गरुड महनत्। तं हन्तुं गदा मुन्निन्ये इत्यर्थः। आद्यो हरिः।।५७।।

---

1- -1. Omits इति पूर्वेणान्वयः 2. M,Ma "महतां 3. A,B,G,J,T "सः , 4. M,Ma "सि M,Ma स्वाप्नो यथाऽहि: 5. M,Ma "भी 6. M,Ma "हा" 7. A,B,G,J,M,Ma,T "स्तम् 8. A,B,T Omit वि 9. H,V "तद् 10. H,V Omit अहन् 11. A,B,J सङ्घट्य

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां दशमोऽध्यायः।।१०।।

**वीर०** तत[1]ः किम् अत आह[-1] - तस्मिन् भगवति प्रविष्टे आविर्भूते सति असुराणां कूटकर्ममन्त्रादि प्रयोगः तस्माद्भाता स्सर्वा मायाः महीयसो[2-]ऽनेकमायाविनाशकस्य हरे[-2] र्भगवतो महिना महिम्नैव[3] विनेशुः विनष्टा बभूवुः, यथा प्रतिबोधे आगते जागरे प्राप्ते सति स्वप्नो नश्यति, तद्वदित्यर्थः[4]। हि यतः हरेः स्मृतिरेव सर्वासां विपदां विमोक्षणमपहन्तृ[5], किमुत श्रीभगवतः प्रादुर्भावः आपदाम्[6] अपहर्तेति वक्तव्यमिति भावः।।५५।।

मृधे युद्धे गरुडवाहं श्रीभगवन्तं दृष्ट्वा इभारिवाहः सिंहवाहनः[7] कालनेमिरसुरः शूल माविध्य भ्रामयित्वाऽहिनोत् चिक्षेप, तस्य गरुडस्य मूर्धनि[8] आपतत्[9] च्छूलं गृहीत्वा, हे नृप! तेनैव शूलेन व्यधीशः त्रिलोकेश्वरो[10] भगवान् सवाहम् इभारिवाहनसहितम् अरिम्[11] शत्रुम् कालनेमिमहनत् हतवा[12] नित्यर्थः।।५६।।

ततोऽतिबलौ मालिसुमाल्याख्यौ असुरौ यस्य भगवतश्चक्रेण कृत्तशिरसौ छिन्नशिरसौ युधि पेततुः। तत्र मालिनो विक्रमं कथयन् तस्य शिरश्छेदनं श्रीभगवच्चक्रकृतमाह-अथेति। अथ कालिनेमिवधानन्तरं माल्यवान् माली तं भगवदधिष्ठितं अण्डजेन्द्रं गरुडं तीक्ष्णया गदयाऽऽहत्य सङ्घट्य अहनत्ताडितवान्। तावन्नदतोऽरे र्माल्यवतः[13] शिरोऽरिणा चक्रेण आद्यो भगवांश्चिच्छेद। अत्र माल्यवच्छब्दो न श्रीरामायण प्रसिद्धमाल्यवद्विषयः, अपितु असुरान्तरविषयः[14]।।५७।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां दशमोऽध्यायः।।१०।।

**विज०** असुरकूटकर्मजाः असुरकपटकर्मजाताः। अत्र कैमुत्यन्यायमाह - हरिस्मृतिरिति। सर्व विपद्विनाशिनी, किमुत हरि रितीति।।५५।।

अहिनोत् अहितान् अमुञ्चत्। अरीनसुरान् वहतीत्यरिवाहः कुम्भकारशब्दवत् अण् प्रत्ययान्तः। अरिः सिंहो वाहो यस्य स तथा। इभारिवाह इति पाठे स्पष्टोऽर्थः।।५६।।

आहत्य भ्रामयित्वाऽण्डजेन्द्रो गरुडः आद्यो हरिः अरिणा चक्रेण नदतोऽरेः कालनेमेः शिरोऽच्छिन्न

1- -1. W. Omits 2- -2. W Omits 3 W. Omits एव 4.W. Omits इत्यर्थः 5. A,B,T हन्तृ 6. W. "पदपह" 7. W. "वाहः 8. W. मूर्धि 9. A,B,T Omit पतत् 10. A,B,T केशो 11. W Omits शत्रुं 12. W. Omits इत्यर्थः 13. W. मालिनः 14. A,B,T परः।

दित्यन्वयः। अच्छिनदिति क्रियापदशक्ते द्विवारं कालनेम्यादीन् हतवान्हरिः इत्येषोऽर्थोऽभिविज्ञायते। 'छिदि(र) द्वैधीभावे' इति द्वैधीभावश्रवणात् "उशना जीवयामास" (भाग.8-11-47) इत्युत्तरवाक्याच्च द्विवारं हति रस्ति "कालनेम्यादय स्सर्वे हरिणा निहता अपि। शुक्रेणोज्जीविता स्सन्तः पुनस्ते वै निपातिताः"(ब्राह्मे) इति वचनाच्च निश्चितोऽयमर्थ इति।।५७।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या नवमोऽध्यायः)

oooOooo

# एकादशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या दशमोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

अथो [1]सुरा स्ते प्रतिलब्धचेतसः परस्य पुंसः [2]परमानुकम्पया।
जघ्नुर्भृशं शक्रसमीरणादय स्तांस्तान् रणे यै रभिसङ्गताः [3]पुरा।।१।।

वैरोचनाय संरब्धो भगवान्याकशासनः।
उदयच्छद्यदा वज्रं प्रजा हाहेति चुक्रुशुः।।२।।

वज्रपाणिस्तमाहेदं तिरस्कृत्य पुरःस्थितम्।
मनस्विनं [4]सुसंरब्धं विचरन्तं महामृधे।।३।।

नटवद्बहुमायाभि र्मायेशान्नो जिगीषसि।
जित्वा बालान् निबद्धाक्षान् [5]नटो हरति तद्धनम्।।४।।

आरुरुक्षन्ति मायाभि [6]रुत्सिसृप्सन्ति [7]ये दिवम्।
तान्दस्यून्विधुनोम्यज्ञ! [8]पूर्वस्माच्च पदा दधः।।५।।

सोऽहं दुर्मायिनस्तेऽद्य वज्रेण शतपर्वणा।
शिरो हरिष्ये मन्दात्मन् घटस्व ज्ञातिभिस्सह।।६।।

बलिरुवाच

सङ्ग्रामे वर्तमानानां [10]कालचोदितकर्मणाम्।
कीर्तिं जयोऽजयो मृत्युः सर्वेषां स्युरनुक्रमात्।।७।।

[11]तमिमं कालरशनं [12]जनं पश्यन्ति सूरयः।
न हृष्यन्ति न शोचन्ति तत्र यूयमपण्डिताः[13]।।८।।

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

* एकादशे तु भगवत्कृपयाऽति बलोद्धतैः। अमरैस्समरे दैत्या बलिप्रभृतयो जिताः।।

---

1--1. A,B,G,J,M,Ma,T "ताः प्रत्युपल" 2. A,G,J,M,Ma,T "धा" 3. A,B,G,J,M,Ma,T सह" 4. A,B,G,J,M,Ma,T सु सम्पन्न 5. M,Ma नभो 6. H,V "रुत्सर्पन्ति च, M,Ma "रुत्सि सृप्यन्ति 7. W add "च 8. A,B,G,J,M,Ma,T ज्ञान् 9. H,V ज्ञापरादधः 10. M,Ma "लनो" 11. A,B,G,J,T तदिदं 12. A,B,G,J,M,Ma,T जना. 13. M,Ma "न:" *According to H,V Editions,

*एकादशेतु देवेषु दैत्यघातिषु नारदः। देवा नवारय च्छुक्रो मृतान्दैत्या नजीवयत्।।
वैरोचनायेति उदयच्छत् उन्निन्ये।।१-३।।

**नटवदिति**। निबद्धानि अक्षीणि येषां तान्बालान् जित्वा नटः कपटवृत्तिः यथा तेषां धनं हरति, तथा हे मूढ! मायेशा नस्मान् जेतु मिच्छसि।।४।।

मत्प्रभावं शृण्वित्याह - **आरुरुक्षन्ति** इति। आरुरुक्षन्ति आरोढुमिच्छन्ति ये च उत्सिसृप्सन्ति[1] उल्लङ्घितुमिच्छन्ति[2], मोक्षमिच्छन्तीत्यर्थः। अधो विधुनोमि पातयामि।।५-७।।

**तमिति**। कालरशनं कालयन्त्रितम्। अतो न हृष्यन्ति। तत्र एवं विवेके यूय मपण्डिता अनिपुणाः।।८।।

## श्रीवीरराघवविदुषालिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथो अथ परमपुरुषस्य परया[3] उत्कृष्टया कृपया प्रत्युपलब्धम् आसुरीभि र्मायाभि रभिभूतं चेतो येषां ते शक्रवाय्वादयो देवा युद्धे पुरा पूर्वं ये दैत्यै र्विरोचनादिभिः अभिसंहिताः द्वन्द्वशः सङ्गताः, योद्धुमिति शेषः, तान् भृशंजघ्नुः।।१।।

तदेव प्रपञ्चयति-**वैरोचनायेति**। भगवान्पाकशासनः इन्द्रः सुसंरब्धः नितरां क्रुद्धः वैरोचनाय बलये यदा वज्र मुदयच्छत् बलिं हन्तु मुद्धृतवान् तदा प्रजाः हाहेति[4] हाहाकारं कुर्वत्य श्चुक्रुशुः रुरुदुः।।२।।

वज्रं पाणौ यस्य स इन्द्रः महायुद्धे विचरन्नं सुसंरब्धं मनस्विनं युयुत्सुं पुरतः स्थितं वैरोचनिं तिरस्कृत्य इदं वक्ष्यमाणमाह।।३।।

तावत्तिरस्कार प्रकारमाह - **नटवदिति** द्वाभ्याम् - तत एकेन वच आह - सोहमिति। हे मूढ! मायेशान् नः अस्मान् नटवत् मायाभिर्जेतु मिच्छसि। दृष्टान्तमेवोपपादयति - जित्वेति। निबद्धानि अक्षीणि येषां तान् बालान् अज्ञान् जित्वा नटः कपट वृत्तिः यथा तेषां धनमपहरति[5], तथा।।४।।

मत्प्रभावं शृण्विति वदंस्तिरस्करोति - हे अज्ञ! मूढ[6]! पूर्वस्मात्पूर्वलब्धात् अधोऽधस्तनात् पदात् स्थानात् ये आरुरुक्षन्ति ओरोढुमिच्छन्ति उत्तरोत्तरं लोकं मारोढुमिच्छन्ति असुराः, ये च मायाभिर्दिवं स्वर्गं[7] उत्सिसृप्सन्ति उत्सर्पितु मिच्छन्ति तान् दस्युप्रायान् दुष्टजन्तु तुल्यान् अधुना विधुनोमि हन्मि।।५।।

---

^ According to A,B,J Editions 1. H,V उत्सर्पन्ति 2. A,B,J उल्लङ्घयितु ० 3. A,B,T परमया 4. A,B,T Omit हाहेति 5. W. Omits अप 6 W. Omits मूढ 7. W Omits स्वर्गं

दुर्मायिन स्तव शिरः सोऽहं शतं पर्वाणि यस्य तेन वज्रेण आयुधेन हरिष्ये। हे मन्दात्मन्! ज्ञातिभिस्सह घटस्व यथाबलं विक्रमस्व।।६।।

इत्थं तिरस्कृत उक्तश्चाऽऽह बलिः - **सङ्ग्राम** इति त्रिभिः। कालेन चोदितानि सुखदुःखजयापजयादि फलदानाय प्रवर्तितानि कर्माणि येषां तेषां सङ्ग्रामे युद्धे वर्तमानानां कीर्त्यादयः सर्वेषामनुक्रमात् कीर्त्यादि निमित्त कर्मपरिपाकानुक्रमात् स्युरेव। भवतामपि न सर्वदा कीर्त्यादतो बभूवुः। किन्तु तत्तन्निमित्त कर्मपरिपाकदशाया मेवेति, अस्माक मपि तथैवेति भावः।।७।।

तमिममनुक्रमेण[1] कीर्त्यादिमन्तं जनं कालरशनं काल यान्त्रितं कालोन्मिषित कर्मफलभोक्तारं सूरयः पण्डिताः पश्यन्ति। अत स्ते कीर्तिजयमृत्युषु न हृष्यन्ति, तद्विपरीते तु न शोचन्ति च। तत्रैवंविधे विवेके यूय मपण्डिताः अनिपुणाः।।८।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

देवासुरयुद्धमुपक्रम्य हरिणा चक्रेण कालनेमेः शिरोऽच्छिन्नमिति उपसंहृतम्। तत्राऽमरा मृता उत पलायिताः? विनष्टमरणधर्माणां तेषां विनाशायोगात्पलायनमेव ग्राह्यम्। भगवताऽनुगृहीत बलानां तद प्ययुक्तम्। अतस्तैः किमकारीति तत्राऽऽह - **अथो** इति। अनेन हरे रनुग्रहेणैव जयोऽन्यथा पराजय इत्यय मर्थः स्पष्टित इति ध्वनयति।।१।।

तत्र बलिवासवयोः प्रसक्तं युद्धं किमभूत्। अत्राऽऽह - **वैरोचनायेति**।।२।।

तत्र शत्रुं प्रहरिष्यता योधेन स्वपौरुषं प्रकाश्य प्रहर्तव्यमिति न्याय मनुसन्दधानो वज्रमुद्धृत्य वज्रपाणि स्तं वक्ति **वज्रपाणिरिति**।।३।।

स्वपौरुष प्रकटनमपि प्रतिभटनिन्दापूर्वक मित्यतस्तं निन्दति, जित्वेति। कश्चित्खलु इन्द्रजालादिना निबद्धाक्षान् बालान् जित्वा नभ आकाशञ्चाऽऽच्छाद्य तेषां धनं यथा हरति, तथा ये मायाभिः कपटमिश्रनैः दिवं परलोकमारुरुक्षन्ति, ततोऽपि उत्सिसृक्ष्यन्ति[2] ऊर्ध्वं गन्तु मिच्छन्ति अहं तान् दस्यून् पूर्वस्मा च्चक्रवर्तिपदात् अधो विधुनोमि। च शब्दात् तत स्ततो विधूयाऽधो निक्षिपामि। कदापि ऊर्ध्वदर्शन रहितान्करोमीत्यर्थः। यत्र नार्य पच्यवमुपच्यवञ्च शिक्षित इत्यत्र यथोपमा लुप्ता तथाऽत्राऽपि। "मायाभि स्तूत्सिसृप्सन्त मिन्द्राद्या मारुरुक्षतः अवदस्यून् रधूनुथाः" इत्यृचं प्रमाणयन्ति।।४-७।।

---

1. W. "भकी" 2. A,B सृजन्ति

[1-]रशनं रज्जुः [-1] ।।८।।

न वयं मन्यमानानामात्मानं तत्र साधनम्।
गिरो व स्साधु शोच्यानां गृह्णीमो मर्मताडनाः।।९।।

[2-]श्रीशुक उवाच[-2]

इत्याक्षिप्य विभुं वीरो नाराचै वीरमानदः।[3]
आकर्णपूर्णं रहन दाक्षेपै[4] राहतं पुनः।।१०।।

एवं निराकृतो देवो वैरिणा तथ्यवादिना।
नाऽमृष्य तदधिक्षेपं तोत्राऽऽहत इव द्विपः।।११।।

[5]प्राहिणो त्कुलिशं तस्मा[6] अमोघमरिमर्दनम्।[7] [8]
सयानो न्यपतद्भूमौ छिन्नपक्ष इवाऽचलः।।१२।।

सखायं पतितं दृष्ट्वा जम्भो बलिसखस्सुहृत्।
अभ्यया त्सौहृदं सख्युर्हतस्याऽपि विचिन्तयन्।।१३।।

स सिंहवाह आसाद्य गदामुद्यम्य रंहसा।
जत्रावताडय च्छक्रं गजञ्च सुमहाबलः।।१४।।

गदा प्रहारव्यथितो भृशं विह्वलितो गजः।
जानुभ्यां धरणीं स्पृष्ट्वा कश्मलं परमं ययौ।।१५।।

ततो रथो मातलिना हरिभि र्दशशतै र्युतः।[13] [14]
आनीतो द्विपमुत्सृज्य रथ मारुरुहे विभुः।।१६।।

तस्य तत्पूजयन् कर्म यन्तु दानवसत्तमः।[15]
शूलेन ज्वलता तन्तु स्मयमानोऽहनन्मृधे।।१७।।

सेहे रुजं सुदुर्मर्षां[16] सत्त्वमालम्ब्य मातलिः।
इन्द्रो जम्भस्य सङ्क्रुद्धो वज्रेणाऽपाहरच्छिरः।।१८।।

---

1- -1. A. Omits 2- -2. H,V,W Omit 3. A,B,G,J,M,Ma,T मर्दनः 4. M,Ma ०दाशुगौः 5. A,B,G,J,M,Ma,T प्राहरत् 6. H,V स्मोहमो° 7. A,B,G,J,M,Ma, "घम्मर" 8. A,B,G,J "न: 9. W. "टपात" 10. H,V भिन्न 11. W. "त्सु" 12. A,B,G,J,T समाचरन्; M,Ma स्वमाचरन् 13. H,V हरीदं°, M,Ma हरिदं 14. A,B,G,J,M,Ma,T "र्युत: 15. M,Ma शत्रोर्ग° 16. M,Ma "ग

**श्रीध नेति।** तत्र कीर्तिं जयादावात्मानं देहं[1] साधनं मन्यमानां वो गिरो न गृह्णामः, मर्मसु[2] ताडनं याभिस्ताः[2]।।९।।

**इतीति।** विभु मिन्द्रम्। वीरो[3] बलिः।।१०।।

**एवमिति।** तोत्र मङ्कुशः[4], तेनाऽऽहत इव।।११।।

**प्राहिणोदिति।** सयानो विमानसहितः। बलिः[5] भूमौ पपात[5]।।१२-१६।।

**तस्येति।**[6] यन्तुः मातलेः, तस्य इन्द्रस्य, आनयनं कर्म,पूजयन् जम्भः तं शूलेन अभ्यहनत्[6]।।१७-१८।।

**वीर०** तत्र कीर्त्यादावात्मानं देहं साधनं साधकं मन्यमानानां, अत एव साधुभिः शोच्यानाम्, अहो! अज्ञा एते इत्येवं शोच्यानां वो युष्माकं मर्मताडनाः मर्मसु ताडनं याभिस्ताः गिरो वयं न गृह्णीमो न साधु मन्यामहे।।९।।

इत्थं विभुमिन्द्र माक्षिप्य अधिक्षिप्य वीराणामानदो वीरो वैरोचनिः आक्षेपै रधिक्षेपवाक्यैः आहतं पुनः आकर्णान्तमाकृष्टैः नाराचै राहनत्।।१०।।

यथार्थवादिना वैरिणा बलिना एवं निराकृतः तिरस्कृतो[7] देव इन्द्रः तेन बलिना कृतमधिक्षेपं नाऽमृष्यत् नाऽसहत। तोत्रमङ्कुशः[8], तेन आहतो द्विपो गज इव।।११।।

किन्तु, तस्मै बलये अमोघमप्रतिहत मरीणां मर्दनं घातुकं[9] वज्रं कुलिशं प्राहरत् प्रायुङ्क। हे नृप! तस्मात्कुलिशप्रहारात् छिन्नपक्षः पर्वत इव सविमानो भूमौ, न्यपतदिति शेषः। "शयानो न्यपतद्भूमौ" इति पाठान्तरे तु न शेषः। "शयानो नृप!" इति पाठे तु शयानो बभूवेत्यर्थः[10]। बलेः सखा सुहृच्च जम्भोऽसुरःसखायं बलिं भूमौ पतितं दृष्ट्वा हतस्याऽपि सख्युर्बलेः सुहृदम्, भावप्रधानो निर्देशः, सौहार्दमाचरन् अभ्ययात् इन्द्रस्याऽभिमुखम्, अगादित्यर्थः।।१२,१३।।

सिंहो वाहो[11] वाहनं यस्य सः महाबलोजम्भः समीपमागत्य रंहसा बलेन वेगेन वा गदा मुद्यम्य शत्रुमिन्द्रं जत्रौ कण्टस्य मूलदेशे अताडयत्, तथा गजञ्च अताडयत्।।१४।।

भृशं गदा प्रहारेण व्यथितः अत एव विह्वलितो गज ऐरावतो जानुभ्यामवनीं स्पृष्ट्वा परं दुःखं लेभे।।१५।।

---

1. A,B,J Omit देहं 2--2. H,V Omit 3. H,V Omit वीरो बलिः 4. H,V "शम् 5- -5. A,B,J Omit 6- -6. A,B,J Omit 7. W. Omits तिरस्कृतः 8. A,B,T "श 9. A,B,T "त 10 A,B,T अभूदित्यर्थः 11. A,B,T Omit वाहो

ततो गजस्य [1]कश्मलं [2]दुःखं दुष्टवता मातलिना हरिद्वर्णैर्दशशतैः सहस्रसंख्याकैरश्वैर्युक्तो रथ आनीतः। त मानीतं रथं विभुरिन्द्रो गज मैरावत मुत्सृज्य आरुरुहे आरूढवान्।।१६।।

तस्य यन्तुर्मातलेः तत्कर्म रथानयनरूपं कर्म पूजयन् अहो! एवं विधेन सारथिना भवितव्यमित्येवं बहु मानयन् ज्वलता प्रकाशमानेन शूलेन तं मातलिं स्मयमानो युद्धे अहनत्।।१७।।

सत्त्वं धैर्यमवलम्ब्य मातलि र्दुस्सहा मपि रुजं शूलघातजां व्यथां सेहे असहत। ततः संक्रुद्ध इन्द्रो वज्रेण जम्भस्य शिरः अपाहरत् चिच्छेद।।१८।।

**विज०** तत्र जयादौ आत्मानं स्वं कारणं मन्यमानानां वो गिरः साध्विति न गृह्णीमः, मर्मण्येव ताडनं यासां ता स्तथोक्ताः।।९-१८।।

**जम्भं श्रुत्वा हतं तस्य ज्ञातयो नारदादृषेः।**
**नमुचिश्च बलः पाक [3]स्तत्रोपेयु स्त्वरान्विताः।।१९।।**

**वचोभिः [4]परुषै रिन्द्रं [5]घट्टयन्तोऽस्य मर्मसु।**
**शरैरवाकिरन्मेघा धाराभिरिव पर्वतम्।।२०।।**

**[6]हरीन्दशशतान्[7]याजौ हर्यश्वस्य बलश्शरैः।**
**ताबद्भि रर्दयामास युगपल्लघुहस्तवान्।।२१।।**

**शताभ्यां मातलिं पाको [8-]रथञ्च [-8]तिलशः पृथक्।**
**सकृत्सन्धान मोक्षेण तदद्भुत मभूद्रणे।।२२।।**

**नमुचिः पञ्चदशभिः स्वर्णपुङ्खैर्महेषुभिः।**
**आहत्य व्यनदत्संख्ये सतोय इव तोयदः।।२३।।**

**सर्वतश्शरकूटेन [9]शत्रुं सरथसारथिम्।**
**छादयामासुरसुराः प्रावृट्सूर्यमिवाम्बुदाः।।२४।।**

**अलक्षयन्तस्तमतीव विह्वला विचुक्रुशु र्देवगणा स्सहानुगाः।**
**अनायका श्शत्रु [10-]बलेन निर्जिताः [-10]वणिक्पथा भिन्ननवो यथाऽर्णवे।।२५।।**

---

1. A,B,T Omit कश्मलं 2. W. Omit दुःखं 3. A,G,J,T "स्तत्राऽऽपेतु" 4. H,V परौ 5. A,B,G,J,M,Ma,T "न्द्र मर्म" 6. W. हरि "द" 7. M,Ma "नाजौ 8--8. A,B,G,J,M,Ma,T रथं साबयवं 9. A,B,G,J,M.Ma,T शक्रं 10- -10. H,V बलेर्विमर्दिताः W बलेर्विसर्जिता

**नत स्तुराषाडिषुबद्धपञ्जरा द्विनिर्गत स्साश्वरथध्वजाग्रणीः।**
**बभौ दिशः खं पृथिवीञ्च रोचयन् स्वतेजसा सूर्य इव क्षपात्यये।।२६।।**

**निरीक्ष्य पृतनां देवः परैरभ्यर्दितां मृधे।**
**उदयच्छ द्रिपुं हन्तुं वज्रं वज्रधरो रुषा।।२७।।**

**स तेनैवाष्टधारेण शिरसी बलपाकयोः।**
**ज्ञातीनां पश्यतां राजन् जहार जनयन्भयम्।।२८।।**

**श्रीध० जम्भमिति**। नमुचि, बलः, पाकश्चेति त्रयः आजग्मुः।।१९,२०।।

त्रयाणां पृथग्विक्रमानाह **हरीनिति** त्रिभिः हर्यश्वस्येन्द्रस्य तावद्भि र्दशभिश्शतैः।।२१,२२।।

**नमुचिरिति**। आहत्य इन्द्रं विद्ध्वा।।२३।।

**सर्वत** इति। प्रावृट् कालीनं सूर्यम्।।२४।।

**अलक्ष्यन्तेति**। वणिक्पथा वणिजः। भिन्ना नौ र्येषां ते (भिन्ननवः) अत्र दीर्घा भावः आर्षः।।२५।।

**तत** इति। तुराषाडिन्द्रः। अश्वादि सहितो विनिर्गतः। अग्रणीस्सारथिः।।२६-२८।।

**वीर०** तस्य जम्भस्य ज्ञातयो नमुचिबलपाकाख्या त्रयो नारदादृषेः जम्भं हतं श्रुत्वा त्वरयाऽन्विताः तत्र युद्धदेशे उपेयु राजग्मुः।।१९।।

ते परुषैर्वचोभिरिन्द्रं घट्टयन्तः ताडयन्तः तिरस्कुर्वन्तः अस्य इन्द्रस्य मर्मसु स्थानेषु मेघा जलधाराभिः पर्वतमिव शरैरवाकिरन्।।२०।।

बलपाकनमुचीनां त्रयाणां विक्रमान् क्रमेणैकैकेनाऽऽह **हरिमिति**। बलोऽसुरः आजौ युद्धे हर्यश्व स्येन्द्रस्य दशशतानि, अश्वानामिति शेषः। हरिमिन्द्रञ्च तावद्भिः एकाधिकदशशतैश्शरैः युगपत् अर्दयामास ताडयामास। असौ बलो लघुहस्तवान् शरसन्धानोपयुक्त कौशलाख्य लाघव युक्त हस्तवानित्यर्थः।।२१।।

पाकोऽसुरः शताभ्यां, शराणामिति शेषः। मातलिं रथञ्च पृथक् पृथक् अवयवशश्च युगपदेव शरसन्धान तन्मोक्षणयोगेन, रणे अर्दयामासेत्यनुषङ्गः। तत् सकृत्सन्धानमोक्षणं पृथगवयवशोऽर्दनात्मकञ्च कर्म अद्भुतमभवत्।।२२।।

---

1. H,V पुङ्ख; W पुङ्ख 2. M,Ma "वीं" "वि" 3. W. शरैः 4. A,B,G,J,M,Ma,T "रणे 5- -5. H,V तेनै शित" 6- -6. A,B,J Omit 7. A,B,T अर्दयन्तः 8. A,B,T सङ्ग्रामे 9- -9. A,B,T Omit

नमुचिस्तु स्वर्णमयाः पुङ्खाः मूलप्रान्तदेशाः येषां तैः पञ्च दशभिर्महद्भिरिषुभिः इन्द्रमाहत्य प्रताड्य सजलो मेघ इव स्वयं संख्ये व्यनद दध्वान।।२३।।

ततस्सर्वेऽसुराः प्रावृट्कालिकं सूर्यं मेघा इव रथसारथियुक्तमिन्द्रं सर्वतः शरवर्षेण छादयामासुः।।२४।।

तदा तमिन्द्र मलक्षयन्तोऽपश्यन्तः सहानुगाः सर्वे देवगणाः अतीव विह्वलचित्ता[1] अनायका विचुक्रुशुः। यथा महार्णवे भिन्ना नौर्येषां ते। (भिन्ननावः) दीर्घाभाव आर्षः। अत एव विसर्जिता वणिक्पथाः वाणिज्यवृत्तयः क्रोशन्ति, तद्वत्।।२५।।

तत स्तुराषाडिन्द्रः बाणपुङ्खानां पञ्जरात् साश्वरथध्वजसारथिर्विनिर्गतः क्षपात्यये निशावसाने सूर्य इव स्वतेजसा दिशः खमाकाशं पृथिवीञ्च प्रकाशयन् बभौ।।२६।।

असुराणां शरैरभ्यर्दितां पीडितां स्वसेनां निरीक्ष्य देवो वज्रधरः शक्रो रणे रिपूनसुरान् हन्तुं रुषा वज्र मुदयच्छत् उद्धृतवान्।।२७।।

[2]स इन्द्रोऽष्टौ धारा यस्य तेनैव वज्रेणैव बलपाकयो रसुरयोः शिरसी मूर्धानौ जहार चिच्छेद। किं कुर्वन्? हे राजन्! पश्यतां बलपाकयोः ज्ञातीनां, महत् भयं जनयन्।।२८।।

**विज०** शताभ्यां शतद्वयेन सन्धानयुक्तमोक्षेण मौर्व्या सन्धानं ततो मोक्षणञ्च सकृद्युगपदिति तत्कर्म करण, अपश्यतामिति शेषः।।१९-२४।।

भिन्ननवः भिन्ननावः।।२५।।

तुराषाडिन्द्रः "आखण्डलस्तुराषाट्" ( हला.को.1-53) इति हलायुधः ।।२३-२८।।

**नमुचि स्तद्वधं दृष्ट्वा शोकामर्षरुषान्वितः।**
**जिघांसुरिन्द्रं नृपते! चकार परमोद्यमम्।।२९।।**

**अश्मसारमयं शूलं घण्टावद्धेमभूषणम्।**
***प्रगृह्याऽभ्यद्रवत् क्रुद्धो[3] हतोऽसीति विभर्त्सयन्।**
**प्राहिणोद्देवराजाय निनदन्मृगराडिव।।३०।।**

1. A,B,T लितचि" 2. A,B,T Omit सः *विजयध्वजरीत्या श्लोकानुपूर्वी इत्य मस्ति -प्रगृह्याऽभ्यद्रवत्क्रुद्धो नमुचि दनि वोत्तमः। तदा विध्य महावीर्यो हतोऽसीति विसर्जयन्। 3. A,B,G,J,T विनर्त्सयन् 4. H,V,M विनदन्

तदाऽऽपतद्गगनतले [1]महाजवं विचिच्छिदे हरिरिषुभिस्सहस्रधा।
[3-]तमाहनन्नृप! [-3]कुलिशेन कन्धरे रुषाऽन्वित स्त्रिदशपति शिरोऽहरत्।।३१।।

[5-]न तस्य हि [-5]त्वच मपिवज्र ऊर्जितो बिभेद यःसुरपति नौजसेरितः।
तदद्भुतं परमतिवीर्य वृत्रभित् तिरस्कृतो नमुचिशिरोधरत्वचा।।३२।।

तस्मादिन्द्रोऽबिभेच्छत्रो वज्रः प्रतिहतो यतः।
किमिदं दैवयोगेन [6-]भूतं लोकविमोहनम्[-6]।।३३।।

[7-]येन पूर्वं महाद्रीणां [-7]पक्षच्छेदः [8]प्रजाक्षये।
कृतो निविशतां भारैः पतत्त्रैः पततां भुवि।।३४।।

तपस्सारमयं त्वाष्ट्रं वृत्रो येन विपाटितः।
अन्ये चाऽ[10]तिबलोपेताः सर्वास्त्रै रक्षतत्वचः।।३५।।

सोऽयं प्रतिहतो वज्रो मया मुक्तोऽसुरेऽल्पके।
नाऽहं तदाददे दण्डं ब्रह्मतेजोऽप्यकारणम्।।३६।।

**श्रीध० नमुचिरिति**। शोकामर्षाभ्यां युक्तया रुषा क्रोधेन अन्वितस्सन्[11] इन्द्रं हन्तुं परमोद्यमं[12] चकार।।९।।

**अश्मेति**। घण्टावत् घण्टाभिर्युक्तम्।।३०,३१।।

**नेति**। अतिवीर्यम् वृत्तं भिनत्तीति तथा।।३२-३३।।

**येनेति**। [13]तथा पतत्त्रैः पक्षैः।।३४।।

**तप इति**। सारमयं वीर्याधिकं त्वाष्ट्रं तप एव वृत्त्रः सयेन वज्रेण मया विपाटितः।।३५।।

**स इति**। दण्डं लगुडतुल्यं [14]कुलिशम्। ब्रह्मतेजो दधीचेः सामर्थ्यम्।।३६।।

**वीर०** ततो नमुचिः तयो र्बलपाकयोर्वधं दृष्ट्वा शोकामर्षाभ्यां युक्तया रुषा युक्तः, हे नृप! तं शक्रं हन्तु मिच्छुः परममुद्यमं यत्नं चकार।।२९।।

उद्यममेवाऽऽह - **अश्मेति**। अश्मसारमयं लोहमयं घण्टावत् घण्टाभिर्युक्तं हेमभूषणं शूलं प्रगृह्य

---

1. H,V महाबलात् , W. महोत्कषत् 2. M,Ma नि" 3- -3. H,V तथाऽऽगतंनृप 4. A,B,G,J,M,Ma,T हरन् 5- -5. M,Ma ततोऽस्य न 6- -6. H,V भूतलोकं मुमोहयत् , W. भूतलोक विमोहयत् 7- -7 A,B,G,J,M,Ma,T येन म पूर्वं महीणां 8. A,B,G,J,M,Ma,T "त्य" 9. H,V "बस" 10. A,B,G,J,M,Ma,T "ऽणि 11. A,B,T Omit सन् 12. A,B,J "द्योगं 13. H,V Omit तथा 14. H,V Omit कुलिशम्

क्रुद्धोऽभ्यद्रवत्। ततो हतोऽसीति विभर्त्सयन्[1] भ्रामयन् सिंहइव विनदन्[2] विनर्दन्[3] देवराजायेन्द्राय प्राहिणोत् प्रायुङ्क्त ।।३०।।

गगनतले महोल्कावत् आपतच्छूलमिन्द्रः शरै स्सहस्रधा विचिच्छिदे चिच्छेद। हे नृप! ततः[4] रुषायुक्तः त्रिदशपतिरिन्द्रः तं नमुचिं कन्धरे कण्ठे कुलिशेन[5] वज्रेण आसमन्तात् हनन् भिन्दन् तस्य शिरोऽहरत् हर्तुं मारब्धवान्।।३१।।

यः सुरपतिनेन्द्रेण ओजसा बलेन ईरितः प्रयुक्तः ऊर्जितः बलवान् वज्रस्सः तस्य नमुचे स्त्वचं चर्माऽपि न बिभेद भेत्तुं नाऽशक्नोदित्यर्थः। अतिवीर्यं वृत्रमभिनदिति तथाभूतो वज्रः नमुचेश्शिरोधरत्वचा तिरस्कृतः इत्येतत्परमद्भुतम्, आसीदिति शेषः।।३२।।

तस्माच्छत्रोः नमुचेः इन्द्रोऽबिभेत् भीतः बभूव[6]। कुतः? यतो वज्रः प्रतिहतो बभूव। तस्य भयनिमित्तां चिन्तां दर्शयति। इदं वज्र विहतिः[7] इत्येतत् किं दैवयोगेन भूतं जातम्। किं वा लोकं विमोहयज्जातम्? लोकमोहनार्थं जातमित्यर्थः।।३३।।

अन्यथा क्वाऽपि अप्रतिहतेन वज्रेण नैवं भवितव्यम् इत्याह **येनेति**। मे मया कर्त्रा येन वज्रेण। यच्छब्दस्य सोऽयमित्युपरिष्टात् तच्छब्देनाऽन्वयः। पूर्वं मद्रीणां पक्षच्छेदः कृतः, कथम्भूतानाम्? भारैः पतत्रैः पक्षैः भुवि पततां प्रजात्यये प्रजानाशने निमित्ते विशताञ्च।।३४।।

किञ्च! त्वाष्ट्रं त्वष्टु स्सम्बन्धि सारमयं वीर्याधिकं यत्तपः स एव वृत्रः त्वाष्ट्रं तप एव वृत्रः स येन वज्रेण विपाटितः। किञ्च अन्ये चाऽधुना बलिजम्भपाकबलादयोऽति बलाः अत एव सर्वै र्वज्रेतरै रस्त्रै रक्षताः त्वक् येषां ते निपातिताः।।३५।।

सोऽयमेवंविधो वज्रो मया तेनैव मया प्रयुक्तोऽल्पके तुच्छोऽसुरे नमुचौ प्रतिहतो बभूव। ब्रह्मतेजः दधीच[8] ऋषेः सामर्थ्यरूपमपि अधुना अकारणं निष्कारणं दण्डं लगुडतुल्यं जातम्। तं[9] वज्रं नाऽऽददे न परिगृह्णामि।।३६।।

**विज०** हरिरिन्द्रः आकाशतले आपतन्महावेगं शूलमिषुभि स्सहस्रधा विचिच्छिदे नितरामच्छिनत्। कन्धरे कण्ठे शिरो हरन् छिन्दन् तमहनदित्यन्वयः।।३१।।

---

1. A,B,T वितर्जयन् 2. W. Omits विनदन् 3. A,B,T Omit विनर्दन् 4. W. Omits ततः 5. A,B,T add शितेन 6. A,B,T अभवत् 7. A,B,T प्रतिहतिः 8. A,B,T "चे: सा" 9. A,B,T Omit त

ततः किमभूत्? तत्राऽऽह- तत इति। तिरस्कृतो धिक्कृतः।।३२।।

भूतं ग्रहलक्षणम्।।३३।।

पतत्रैः पततां भारैः भुवि निविशतामद्रीणाम्।।३४।।

तपस्स्मरम् अयम् इति पदच्छेदः।।३५,३६।।

इति शक्रं विषीदन्त माह वागशरीरिणी।
नाऽयं शुष्कै रथोनार्द्रैर्वध मर्हति दानवः।।३७।।

मयाऽस्मै वद्वरो दत्तो मृत्यु[1] र्वैनाऽऽर्द्रशुष्कयोः।
अतोऽन्य श्चिन्तनीय स्ते ह्युपायोमघवन् रिपोः।।३८।।

तां दैवीं गिर माकर्ण्य मघवा[3] सुसमाहितः।
ध्यायन् फेनमथाऽपश्यदुपाय मुभयात्मकम्।।३९।।

न शुष्केण नचाऽऽर्द्रेण जहार नमुचे श्शिरः।
तं तुष्टुवु र्मुनिगणा माल्यैश्चाऽवाकिरन्विभुम्।।४०।।

गन्धर्वमुख्यौ जगतुः विश्वावसुपरावसू।
देवदुन्दुभयो नेदु र्नर्तक्यो ननृतु र्मुदा।।४१।।

अन्येऽप्येवं प्रति द्वन्द्वान् वाय्वग्निवरुणादयः।
सूदयामासु रस्त्रौघै र्मृगान्केसरिणो यथा।।४२।।

ब्रह्मणा प्रेषितो देवान्देवर्षिर्नारदो नृप।
वारयामास विबुधान् दृष्ट्वा दानवसंक्षयम्।।४३।।

नारद उवाच

भवद्भिरमृतं प्राप्तं नारायणभुजाश्रयैः।
श्रिया समेधिता स्सर्वे उपारमत विग्रहात्।।४४।।

**श्रीध० मयेति।** आर्द्रशुष्काभ्यां मृत्युर्नैवेति।।३७-३९।।

---

1. A,B,G,J,M,Ma,T "त्युर्नैवा" 2 A,B,G,J,M,Ma,T उ" 3 A,B,G,J,M,Ma,T "वान्सु" 4. W माल्यानिचाऽकि" 5. H,V "का:" 6--6. H,V देवो देवर्षिर्ना " , W देवो भगवान्ना"

उभयात्मकत्व मेवाऽऽह - नेति। न शुष्केण नचाऽऽर्द्रेण फेनेन! तथा च श्रुतिः - "अपां फेनेन नमुचे शिर इन्द्रोदवर्तयत्" इति ।।४०-४४।।

**वीर०** इति विषीदन्त मित्थं क्लिश्यन्त मिन्द्रमशरीरिणी परा देवता वाक् उवाच। तदेवाऽऽह नेति सार्धेन। अयं दानवो नमुचिः शुष्कै रथो आर्द्रैरपि वधं नाऽर्हति।।३७।।

कुतःयतो मयाऽस्मै नमुचये यो[1] वरो दत्तः। कोऽसौ? आर्द्र शुष्काभ्यां मृत्युरस्य नैव भूया दित्येषः। अतो वज्रस्य शुष्कत्वात् न तेनाऽयं हन्यते। किन्तु हे मघवन्! अस्य रिपोर्वधार्थं त्वया अन्य एवोपायः चिन्तनीयः।।३८।।

[2]एवम्भूतां दैवी गिरं श्रुत्वा मघवा इन्द्रः सुसमाहितो भूत्वा ध्यायन् नाऽऽर्द्र शुष्कात्मकं वस्तु चिन्तयन् तदुभयात्मकं वस्तु फेनमपश्यत्, फेनमुभयात्मकं निश्चितवान्।।३९।।

तदेवाऽऽह - न शुष्केण न चार्द्रेण, किन्तूभयात्मकेन फेनेन तदुपलिप्तेन वज्रेण नमुचे शिरो जहारेत्यर्थः। तं नमुचे र्हन्तारमिन्द्रं मुनिगणा स्तुष्टुवुः। माल्यानि पुष्पाणि च [3]अकिरन् ववर्षुः।।४०।।

गन्धर्वं श्रेष्ठौ [4]विश्वावसु परावसू[4] जगतुः गानं चक्रतुः। देव दुन्दुभयो नेदु र्दध्वनुः, नर्तक्यः स्त्रियः मुदा ननृतुः।।४१।।

यथेन्द्र स्तथाऽन्येऽपि वाय्वादयः प्रतिद्वन्द्वा न स्त्रौघैः सिंहाः क्षुद्रमृगानिव सूदयामासुर्जघ्नुः।।४२।।

एवं देवै र्दानवेषु हन्यमानेषु दानवसंक्षयं दृष्ट्वा यावद्दानव संक्षयो भविष्यतीत्यालोचितवता ब्रह्मणा चतुर्मुखेन प्रेषितो भगवान्नारदः हे नृप! विबुधा[5]निन्द्रादीन् [6]वारयामास।।४३।।

नारदकृत निवारण प्रकार[7]मेवाऽऽह - भवद्भिरिति। नारायणस्य भुज एवाऽऽश्रयो येषां तैः ; हेतुगर्भ मिदम्। भवद्भिरमृतं लब्धम् पीतमिति यावत्। तथा श्रिया त्रैलोक्यलक्ष्म्या च सर्वे समेधिताः। अतोऽधुना विग्रहात्कलहात् उपारमत।।४४।।

**विज०** कुतो नाऽर्हति वधम्? अत्राऽह - मयेति। कोऽयं वरः? इति तत्राऽऽह - मृत्युरिति।३७-४४।।

1 W यद्वरो" 2 A,B,T add इति 3 A,B,T अत्रा किं" 4 -- 4 A,B,T विश्वा वसुः परावसुश्च 5 A,B,T "धर्वभानी" 6 A,B,T निवा" 7 A,B,T "माऽऽह

## श्रीशुक उवाच

**संयम्य मन्युसंरंभं मानयन्तो मुनेर्वचः।**
**उपगीयमानानुचरै[1] र्ययुस्सर्वे त्रिविष्टपम्।।४५।।**

**येऽवशिष्टा रणे तस्मिन् नारदानुमतेन ते।**
**बलिं विपन्नमादाय ह्यस्ताद्रिं[2] मुपागमन्।।४६।।**

**[3]तदाऽविनष्टावयवान् विद्यमानशिरोधरान्।**
**उशना जीवयामास सञ्जीविन्या स्वविद्यया।।४७।।**

**बलिश्चोशनसा स्पृष्टः प्रत्यापन्नेन्द्रियस्मृतिः।**
**पराजितोऽपि नाऽखिद्य लोकतत्त्वविचक्षणः।।४८।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां अष्टमस्कन्धे
देवासुरसङ्ग्रामे एकादशोऽध्यायः।।११।।

**श्रीध० संयम्येति**। अनुचरै रनुगीयमाना इत्यर्थः। उपगीयमानै रनुचरैस्सहेति वा।।४५,४६।।

**तदेति**। [4]विनष्टा अवयवा येषाम्। विद्यमाना शिरोधरा येषां तान्।।४७।।

**बलिरिति**। प्रत्यापन्नानि पुनः प्राप्तानीन्द्रियाणि स्मृतिश्च येन सः।।४८।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्याया एकादशोऽध्यायः।।११।।

**वीर०** एवम्भूतं मुनेर्नारदस्य वचो मानयन्तो देवाः मन्युं तत्प्रयुक्तं युद्धोद्यमञ्च [5]संयम्य उपसंहृत्य सर्वे इन्द्रादयो देवाः अनुचरै रुपगीयमानाः सन्धिरार्षः। त्रिविष्टपं स्वर्गलोकं ययुः।।४५।।

तत स्तस्मिन् रणे ये हतावशिष्टा दानवाः दैत्याश्च ते सर्वे नारदस्याऽनुज्ञया विपन्नं वज्रप्रहारेण भूमौ शयानं बलिमादाय अस्ताद्रिम् [6]उपजग्मुः।।४६।।

तत्राऽस्ताद्रौ उशना भार्गवः [7]अविनष्टा अवयवाः येषां, विद्यमाना शिरोधरा येषां तानसुरान् आत्मनः

1. B,M,Ma गीयमाना अनु° 2. A,B,G,J,M,Ma,T अ° 3. A,B,G,J,M,Ma,T तत्राऽ°; H,V तदा वि° 4. A,B,T अवि° 5. A,B,T Omit संयम्य 6. A,B,T ययु. 7. A,T Omit अविनष्टाः

स्वस्य[1] सम्बन्धिन्या। अनेन अनितरसाधारणत्वं सूचितम्। मृतसञ्जीविन्याख्यया विद्यया मन्त्रविद्यया जीवयामास[2]।।४७।।

बलिश्च उशनसा संस्पृष्टः प्रत्यापन्नानि पुनः प्राप्तानि इन्द्रियाणि स्मृतिश्च येन सः। पराजितोऽपि नाऽखिद्यत्[3] नाऽखिद्यत।[4] तत्कृतः? यतोऽसौ[5] लोकतत्त्वविचक्षणः लोकानां प्रकृति संसृष्टजीवानां यत्तत्त्वं कर्मायत्त जयापजय सुखदुःखादि फलभोक्तृत्वरूपं, तत्र विचक्षणः तत्परिशीलन निपुणः।।४८।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकादशोऽध्यायः।।११।।

**विज०** ते च अनुचरैः सङ्गीयमाना इत्यर्थः। संरम्भं द्वेषोद्रेकम्।।४५ - ४८।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
अष्टमस्कन्धे एकादशोऽध्यायः।।११।।

(विजयध्वजतीर्थरीत्या दशमोऽध्यायः)

1 A,B,T स्वस्य 2. A,B,T add इत्यर्थः 3. A,B,T Omit नाऽखिद्यत 4. W. Omits तत् 5. A,B,T Omit असौ

oooOooo

# द्वादशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच[1]

वृषध्वजो निशम्येदं योषिद्रूपेण दानवान्।
मोहयित्वा सुरगणान् हरिं स्तोम मपाययत्।।१।।

वृष मारुह्य गिरिश स्सर्वभूतगणैर्वृतः।
सह देव्या[2] ययौ द्रष्टुं यत्रास्ते मधुसूदनः।।२।।

सभाजितो भगवता सादरं सोमया भवः।
सूपविष्ट उवाचेदं प्रतिपूज्य स्मयन्हरिम्।।३।।

श्रीमहादेव उवाच[3]

देव देव जगद्व्यापिन्! जगदीश जगन्मय।
सर्वेषामपि भावानां त्वमात्मा हेतुरीश्वरः।।४।।

*आद्यन्तौ[4] चास्य यन्मध्यमिदमन्यदहं बहिः।
यस्याव्ययस्य नैतानि तत्सत्यं ब्रह्म चिद्भवान्।।५।।

तवैव चरणाम्भोजं श्रेयस्कामा निराशिषः।
विसृज्योभयतस्सङ्गं मुनयस्समुपासते।।६।।

त्वं ब्रह्म पूर्णममृतं विगुणं विशोकमानन्द मात्र मविकार मनन्य दन्यत्।
विश्वस्य हेतु रुदयस्थिति संयमाना मात्मेश्वरश्च तदपेक्षतयाऽनपेक्षः[6]।।७।।

एकस्त्वमेव सदसद्द्वयमद्वयञ्च स्वर्णं कृताकृत मिवेह न वस्तुभेदः।
अज्ञानतस्त्वयि जनैर्विहितो विकल्पो यस्माद्गुणव्यतिकरो[7] निरुपाधिकस्य[8]।।८।।

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्वादशे मोहिनीरूपविभ्रमालोकनोत्सुकम्। भवं सम्मोहयामास हरिः पुन रसान्त्वयत्।।
अमुह्यन्नसुरा विष्णुमायया न तदद्भुतम्। इति वक्तुं महादेवमोहोऽयमुपवर्ण्यते।।

---

1--1. A,B,G,J,T श्री बादरायणिरुवाच 2--2. W. सहोमया 3--3. H,M,Ma,V,W Omit 4 M,Ma मेव * This verse is not found in M,Ma Edns , 4. A,B,G,J,T, "न्ता वस्य 5. A,B,G,J,T यतोऽव्य" 6. M,Ma "दु" 7. A,B,G,J,T "दूणेव्यं " 8. M,Ma "ह्य"

**वृषध्वज** इति । श्रीहरिस्सोममपायदितीदं निशम्य स यत्रास्ते तत्र तद्रूपं द्रष्टुम् , यया वित्युत्तरेणान्वयः ।।१,२।।

**सभाजित** इति। सोमया उमया सह।।३।।

*त्वयि किञ्चित्र चाश्चर्यं वयन्त्वाश्चर्यमानसाः। इति वक्ष्यन्महादेवस्तुष्टाव हरिमष्टभिः। त्वयि महामायाविनि परमेश्वरे नहि किल[1] किञ्चिदघटितमिव। वयन्तु परमकौतूहलेन द्रष्टु मागता इति बहुधा सम्बोधयन् स्तौति - **देवदेवेति** । हे देवदेव! कुतोऽहं देवानां देव इत्यत आह - हे जगद्व्यापिन्! तत्कुतः? हे जगन्मय! तर्हि किं प्रधानम् न? हे जगदीश! तच्च कुतः? तत्राह - सर्वेषामपि त्वं हेतुः, अत ईश्वरः। आत्मा[2] च आत्मत्वाच्च न जडं प्रधानं त्वमित्यर्थः।।४।।

ननु जगन्मयत्वोक्त्या जगत उत्पत्त्यादिनाऽसत्यत्वे न[3] च जाड्ये न च ममापि किं तथात्वं ब्रूषे? नहि नहीत्याह - **आद्यन्ताविति**। अद्यन्तौ मध्यञ्चास्य जगतो यतो ब्रह्मणो भवन्ति, यस्य चाऽव्ययस्य एतान्याद्यन्त मध्यानि न सन्ति। यच्च ब्रह्म इदं[4] कार्यास्पदं[4] दृश्यमहङ्करणास्पदं[5] द्रष्टृ च बहिर्भोग्यमन्यद्भोक्तृ च। अयञ्च[6] धर्मो जगत एव नत्वव्ययस्य[6]। तत्तस्मात्[7] सत्यञ्च चिद्रूपञ्च ब्रह्मैव भवान्। अतो न तव विकारादि शङ्केत्यर्थः।।५।।

तवैवम्भूतत्वे मुमुक्षूणामाचारः प्रमाणमित्याह - **तवै** वेति । उभयत इहाऽमुत्र च सङ्गं त्यक्त्वा।।६।।

ननु ब्रह्मैवचेदहंतह्यसङ्गोदासीनस्य मम चरणाम्भोजोपासनया[8] किं तेषाम्? तत्राह - **त्व** मिति। ब्रह्मत्वेऽपि त्वं नात्यन्त मुदासीनः, किन्तु विश्वस्य प्रपञ्चस्य उदयादीनां हेतुः, तदुपाधीना मात्मनां जीवाना मीश्वरश्च तत्तत्फलदाता[9]। तर्हि किं राजादिवत्कयाऽप्यपेक्षया सेवकेभ्यः सेवाफलं[10] ददामि नहि[11] नहि अनपेक्ष एव त्वम् । तर्हि किमीश्वरत्वेन? तत्राह - तै रात्मभि स्तत्फलदानार्थ मपेक्ष्यत इति तदपेक्षः तस्य भाव स्तदपेक्षता, तथा! अनपेक्षत्व मेव दर्शयितुं तदीयं ब्रह्मत्वं विशिनष्टि । पूर्णममृतञ्च सुखरूपम्। विषयसुख वैलक्षण्यार्थमाह - अविकारं नित्य मानन्द मात्रञ्च। कुतः ? विशोकम् तत्कुतः? विगुणम्। किञ्च, अनन्यत् न विद्यतेऽन्यद्यस्मात् तस्मात्[12]। ब्रह्मव्यतिरिक्ताभावादपि[13] निरपेक्ष स्त्वमित्यर्थः। तर्हि सर्वात्मकत्वे तत्तद्विकार

* श्रीधरीयोऽयं श्लोकः 1 A,B,J Omit 2. B,H,J,V Omit आत्माच 3. H,Vomit नहि 4 - - 4. A,B, इदंकारास्पदं 5. A,B,J "रास्पदं " 6 - - 6. B,H,J,V Omit 7. B,H,J,V Omit तस्मात् 8. A. "म्बु" 9. H,V Omit तत् 10 A,B,J Omit सेवा 11. H,V, Omit नहि 12. A,B,J Omit तस्मात् 13 H,V तद्वा"

प्रसङ्गो दुर्वारः। तत्राह - अन्यत् सर्वतोव्यतिरिक्तञ्च कारणत्वात्। न ह्येवम्भूतसुखात्मकब्रह्मस्वरूपस्य तवान्यापेक्षाऽस्ति। अतः केवलं भक्तानुग्रहार्थमेव तवैश्वर्यम् न स्वार्थं मित्यर्थः।।७।।

अन्यत्व मनन्यत्वञ्च एकस्य कुत इत्याशङ्क्य दृष्टान्तेनोपपादयति - एक इति। सदसत्कार्यकारणरूपं, द्वयमद्वयञ्च परमकारणं त्वमेवैकः। कृतं कुण्डलादिरूपं द्वयमकृतञ्च केवलमद्वयं स्वर्णं यथैकमेव तद्वदेवेह त्वयि, वस्तुतो भेदो नास्ति। कथं तर्हि भेदप्रतीतिः? तत्राह - अज्ञानत इति। कुतः यस्मान्निरुपाधिकस्यैव, तवायं गुणैर्व्यतिकरो भेदेन स्वतः।।८।।

## श्रीवीरराघवविदुषालिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

भगवन्मायया दैत्या मुमुहु रिति न विचित्रम्, यतो रुद्र एव मुमोह इति वक्तु मध्यायः प्रवर्तते - **वृषध्वज** इति। हरिः योषिद्रूपेण दानवान्मोहयित्वा सुरगणान् सोम मपायय दितींदं निशम्य[1] श्रुत्वा वृषध्वजो रुद्रो भवान्या सह वृष मारुह्य सर्वै र्भूतगणैः प्रमथादिभिः परिवृतो यत्र मधुसूदनो वर्तते तत्र योषिद्रूपं द्रष्टुं जगाम।।१,२।।

सोमया उमया सह सादरं यथा तथा भगवता सभाजितः सत्कृते। भवो रुद्रः सम्यगुपविष्टो हरिंप्रतिपूज्य स्मय न्निदं वक्ष्यमाण मुवाच। प्रतिपूजाऽत्र स्तुतिः।।३।।

तामेवाह - देवदेवेत्यादिभि रष्टाभिः[2]। तत्र असुरसम्मोहनाय धृतं योषिद्रूपं मह्यं[3] दर्शयेति प्रार्थयितुकामो नटेनेव बला नसुरान् वञ्चयितुं मया धृतं कपटपुंश्चलीरूपं द्रष्टुं किमिच्छसीति माप्रत्याचष्टेति अभिप्रयन् कृत्स्न जगदुदय विभव लयबन्धमोक्षलीलस्य अचिन्त्यविविध विचित्रशक्तेस्तव तद्योषिद्रूपं धर्मं प्रतिपक्षजगदुपद्रव कृद सुरमोहनेन तद्विनाशार्थत्वात् रामकृष्णादिरूपवत् लीलया आत्मीयसङ्कल्पेन धृतं दर्शनीय मेव। अन्यथा प्रकृतिपुरुषविलक्षणस्य अवाप्तसमस्तकामस्य निरतिशयानन्दमहोदधेः तवेदं प्राकृतास्येव न घटते इति वक्तुमनितरसाधारणैर्धर्मैः सम्बोधयति देवदेवेति। हे देवदेव! देवाना मस्मदादीनामपि देव! हे जगद्यापिन्। जगद्यापित्वं न वाय्वाकाशादिवत् तूष्णीम्, अपितु प्रशासनेत्यभिप्रायेण सम्बोधयति जगदीशेति। हे[4] जगदीश! हे जगत्प्रशासितः! जगच्छब्दः कार्यावस्थचिदचिदात्मकजगत्परः। न केवलं जगदीशः, अपितु तद्रूपश्चेत्यभिप्रायेण सम्बोधयति जगन्मयेति। हे जगत्प्रचुर! तत्प्रचुरत्वञ्च तच्छरीरकत्वेनेत्यभिप्रेत्य

1. A,B,T Omit निशम्य 2. A,B,T "ष्ट" 3. W. मे 4. W. Omits हे जगदीश!

तत्प्रतिसम्बन्ध्यात्मात्वमेवेत्याह- सर्वेषा मपि चेतनाचेतनात्मकानां भावानां पदार्थानामात्मा त्वमेव। आत्मत्व मन्तः प्रविश्य धारकत्वम्। न केवलमात्मैव अपि तु हेतुः कारणभूत ईश्वरः कारणावस्थ चिदचिन्नियन्ता च त्वमेवेत्यर्थः[1]।।४।।

एवं कार्य कारणोभयावस्थचिदचिदात्मकत्वं कृत्स्नजगत्कारणत्वञ्चोक्तम्[2]। तत्र कारणत्वम्उपादानत्वरूपं निमित्तत्वरूपञ्चेति द्विविध मभिप्रेतम्। तत्र ताव दुपादानत्व मुपपादयन् तत्प्रयुक्तं विकारं परिहरति - **आद्यन्ता** विति। यत इति 'सार्वविभक्तिक स्तसिः'। ततश्च यतो यस्मिन् येन यदिति लभ्यते। अस्य जगत आद्यन्तौ - आदिः सृष्टिः उत्पत्तिः, यतः सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्टात् अस्यान्तो लयो यस्मिन्, अस्य मध्यं स्थितिर्येन, यच्चेदं विश्वं, यच्चाऽन्यत् जगतो विलक्षण महं प्रत्यगर्थशरीरकं बहिः परागर्थशरीरकञ्च, यस्याव्ययस्य प्रकृतिपुरुषगतविकार रहितस्य च एतान्याद्यन्त मध्यानि न सन्ति एतेषां शरीरभूत चिदचिद्गतत्वादिति भावः। तदेवम्भूतं सत्यं स्वरूपतः स्वभावतश्च विकाररहितं चित् नित्या सङ्कुचिता परिच्छिन्न ज्ञानाश्रयं, तदात्मकत्वञ्च ब्रह्मस्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयबृहत् भवानेव। आद्यन्ता वित्यादिना जगत्कारणत्वे नोक्तस्य स्वरूपं विशोध्यते - तत्सत्यं ब्रह्मचिदिति। यथा "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"(तैत्ति.उ 2.1.1) इत्यनेन जगत्कारणत्ववादिवाक्योक्तं स्वरूपं विशोध्यते। तद्वत् सत्यादिवाक्यार्थोऽत्रानुसन्धेयः।।५।।

सत्यशब्देन सत्यशब्दस्य चिद्ब्रह्मशब्दाभ्यां ज्ञानानन्तपदयोश्चात्र प्रत्यभिज्ञानात्। कश्च ध्येयः, "कारणन्तु ध्येयः" (अथ.शिखा.उ.2 17) इति जगत्कारणत्वं समनियतत्वमुपास्यत्वमनितरसाधारणत्वाञ्चाऽऽह[3] **तवै** वेति। यतो जगत्कारणभूतस्त्वमतस्तवैव चरणाम्भोजं निःश्रेयसकामा मुमुक्षवः उभयत इहामुत्र च सङ्गं त्यक्त्वा निराशिषः अनन्यप्रयोजना मुनयो मननशीला[4] भक्ताः[4] त्वत्स्वरूपरूपगुणविभूति मननशीला इत्यर्थः[5]। समुपासते सम्यक् विघ्नैरनभिभूयमानास्सन्तः उपासते समीपमासते इत्यर्थः[5]।।६।।

अथ लीलार्थ मेव योषिद्रूप मुपात्तम्, अन्यथा प्रकृति पुरुष विलक्षणस्य प्राकृतवन्न घटते इत्यभिप्रयन् प्रकृति पुरुषयो रसम्भावितैर्धर्मै र्विशिष्टं वेदान्तवेद्यं जगन्निमित्तकारणं स्तौति - **त्वमिति**। त्वं ब्रह्मस्वरूपेणगुणैश्च निरतिशय बृहत् ब्रह्म शब्दवाच्यं परमात्वतत्त्वं त्वमेव। किं तद्ब्रह्म, यत्पूर्णं सर्वव्याप्यमृतं स्वरूपतः स्वभावतश्च विकार रहितं ब्रह्मामृतशब्दाभ्यां सत्यादिवाक्योदितं प्रत्यभिज्ञापितम्। पूर्ण पदेन

1. W. Omits इत्यर्थः 2- -2. A,B,T Omit 3. W. णमाऽऽह 4- -4. W. Omits 5- -5. W. उपासते

"तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" ( श्वेता.उ. 3-9 ) इति वाक्योदितम्। अत्र पूर्णशब्दः कर्तरि क्तान्तः। विगुणं स्थौल्यादि गुणरहितम्। अनेन "अस्थूल मनण्वह्रस्वम्" (बृह.उ. 3-8-8) इत्याद्यस्थूलादि वाक्योदितं प्रत्यभिज्ञापितम्। विशोक मित्यनेन "य एष आत्माऽपहतपाप्मा" ( मैत्रा.7-7 )इत्यादि दहरवाक्योदितम्, आनन्दमात्र मित्यनेन "विज्ञान मानन्दम्" ( बृह.उ. 3-9-28 ) इत्यादिवाक्योदितम्। मात्रचा दुःख सम्भेदव्युदासः। अविकार मित्यनेन "निष्क्रियं निष्कलम्" (श्वेता.उ.6-19) इत्यादिवाक्योदितं निरवद्यत्व प्रत्यभिज्ञानात् अन्यत् सर्व शरीरकत्वात् सर्वकारणत्वाच्च सर्वस्मात् प्रकृति पुरुषात्मका जगतोऽनन्यत्। अनेन "एतदात्म्य मिदं सर्वम्" ( छान्दो.उ. 6-8-7 ) "तत्सत्यम्" (छान्दो.उ. 6-8-7 ) "स आत्मा" (छान्दो.उ.6-8-7 ) "अयमात्मा ब्रह्म" ( बृह.उ. 6-4-5 ) "तत्वमसि" ( छान्दो.उ. 6-8-7 ) "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छान्दो.उ.3-14-1) इत्यादि वाक्यार्थः प्रत्यभिज्ञापितः। अन्यत् शरीराच्छरीरिणो भिन्नत्वात् अन्यत्। अनेन "य आत्मनि तिष्ठन्" ( ब्रह्म.उ.3-7-22 ) "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" (बृह.उ.3-7-3 ) इत्यादि श्रुत्यर्थः प्रत्यभिज्ञापितः। विश्वस्योदय स्थिति संयमानां सृष्टिस्थितिलयानां हेतुरित्यनेन "सदेव सौम्येद मग्र आसीत्" (छान्दो.उ. 6-2-1 ) "अनेन जीवे नाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतना स्सत्प्रतिष्ठाः" (छान्दो.उ. 6-3-2 ) इत्यादि कारणवाक्यार्थः आत्मेश्वर अनन्येश्वरः अनेन[1] "पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम्" (म.ना.उ. 9-3 ) "न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते" ( श्वेता.उ. 6-8 ) "स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः" (छान्दो.उ. 7-24-1 ) इत्यादि श्रुत्यर्थोऽनुसंहितः। यद्वा, विश्वस्य चिदाचिदात्मकस्य आत्मा तदुदय स्थितिसंयमानां व्यापाराणां तदपेक्षतया कर्मभूतोक्तविधपरमात्मस्वरूपापेक्षतया तदुदयादीना मीश्वरः कर्तृभूतश्चेत्यर्थः। अनेन पूर्वमभिप्रेतं निमित्तकारणत्व मुपपादितं भवति। एवम्भूतोऽपि त्व मनपेक्षः अपेक्षा रहितः अनादरः सर्वमिदं कल्याणगुणजात मभ्याददानोऽप्यनादरः। अनेन " सर्व मिदमभ्यातोऽवाक्यनादरः" (छान्दो.उ. 3-14-2 ) इति श्रुत्यर्थोऽनुसंहितः। अवाप्त समस्त कामत्वेन अपेक्षणीयत्वाभावा दनादरः। अत एव अवाक् अजल्पाकः, परिपूर्णैश्वर्यत्वात् " ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्तं निखिलं जगत्तृणीकृत्य जोषमासीनः" इति श्रुत्यर्थः [2]प्रत्यभिज्ञापित इत्यर्थः[2]।।७।।

अनन्यदन्य दित्युक्ते अनन्यत्वान्यत्वे उपपादयति - एक इति। सदसत् चिदचिदुभयात्मकं जगत्त्वमेक

1. A Omits अनेन 2- - 2. W. Omits

एव। कार्यभूता च्चिदचिदुभयात्मकत्वात् जगतः तत्कारण भूतस्त्वमभिन्न एवेत्यर्थः। कार्यकारणयो रभेदादिति भावः। ननु कार्यकारणाभ्यां सजातीयाभ्यामेव भवितव्यम्। कार्यञ्च जगत् चिदचिदात्मकम्। अहन्तु तदुभय विलक्षणत्वेन त्वयैवाभिहित इत्याशङ्कां निराचिकीर्षुर्विशिनष्टि - **एक** इति। एकः नामरूपविभागानर्हसूक्ष्म चिदचिच्छरीरकत्वेन एकः सदसदात्मकजगद्गतभेदस्य नानारूपविभागप्रयुक्तत्वेन तत्प्रतिसम्बन्ध्येकत्वं तदभावप्रयुक्तमत्रैकशब्दार्थः एवञ्च सालक्षण्यात् कार्य कारणभावस्तयो रभेदश्चोपपन्न इति भावः। कार्यकारणयो रभेदे दृष्टान्तमाह - अद्वयमिति। कृताकृतं कार्यकारणावस्थं स्वर्णमद्वय मेकमेव, तद्वत्। इह कार्यकारणयोर्जग द्ब्रह्मणो र्न वस्तुभेदः। न वस्तुभेद इत्यनेन कार्यत्वकारणत्वावस्थयोरवस्थातद्वतोश्च भेदेऽपि अवस्थावतो र्वस्तुनोः कार्यकारणयोः न[1] भेदः। कारणद्रव्यमेव अवस्थान्तरापन्नं कार्यमित्युक्तम्। अनेनासत्कार्यवादव्युदासः सूचितः तमेवोपपादयति - त्वयि कार्यकारणरूपे त्वयि, विकल्पो[2] विभेदः जनै र्वैशेषिकादिभिः अज्ञानकल्पितः बुद्धिशब्दान्तरादीनामवस्थाभेदेनाप्युपपत्ते र्वस्तुभेदोऽज्ञानकल्पित इति भावः। यतोऽयं गुणव्यतिकरः गुणपरिणामात्मकः प्रपञ्चः निरुपाधिकस्य प्रकृतिपुरुषाभ्यां निष्कृष्टस्वरूपस्य तव सम्बन्धी त्वच्छरीरभूतः ततस्त्वत्स्वरूपं शरीरभूतात् गुणव्यतिकरात् द्वयं भिन्नञ्चेत्यर्थः।।८।।

**विज०** भगवज्ज्ञानसाधनभक्तिविधानार्थं देवोत्तमरुद्रादिसम्भाव्यमहिमा वर्ण्यतेऽस्मिन्नध्याये। तत्र विष्णुशिवयोः संवाद प्रकारं वक्तुमाह - **वृषध्वज** इति। हरिः सुरगणान् सोम मपाययदिति यदिदं निशम्य।।१,२।।

सह उमया। "सोषामविन्दत्सस्वासो अग्निं सो अर्केण विबबाधे तमांसि सेन्द्रभवोयमवथ यूय मिन्द्रश्च मत्यः" इत्यादिवत्।।३।।

हेतुर्निमित्तकारणम्, अदृष्टादिवन्नेत्याह - आत्मेति। न जीव इत्याह - ईश्वर इति।।४।।

ईश्वरश्चेच्छिवः किं न तस्य स्वातन्त्र्येणोपास्यमानत्वासम्भवात् अस्य मोक्षार्थिभिः तथात्वा दित्याह - **तवेति**।।५,६।।

उपास्यमानमपि शबलं किं न स्यादिति तत्राह - **त्वं ब्रह्मेति**। ब्रह्मपदार्थ माह पूर्णमिति। अविनाशिनः पूर्णत्वं युक्तमित्याह अमृतमिति। अमृतत्वं कुत इति तत्राह - विगुण मिति । अत एव विशोकम् आनन्दमात्रम्। अतोऽपि शोको नास्त्यस्य षड्विकार रहितम्। एतादृश मन्यन्नास्तीत्याह - अनन्य

1. A,B,T अ" 2. A,B,T Omit वि 3 B,M,Ma सेह"

दिति; स्वगत भेदविवर्जितं वा, अन्यत् जगत इति शेषः सर्वस्माद्भिन्नमित्यर्थः। जगत्कारणस्य तदुदासीनस्य च एकत्वप्रकटनाय पुनरुक्तमाह विश्वस्येति। एवंविधं ब्रह्म प्रकृत्यादिकमपेक्ष्य, अनपेक्ष्यापि कर्तुं समर्थं मित्याह - तदुपेक्षतयेति।।७।।

एतत्कथमिति तत्राह - एक इति। यथा कुण्डलाद्यात्मना कृतं प्रकृत्यात्मनात्वकृतं स्वर्णमेकमेव। इह स्वर्णे वस्तुतो भेदो नास्ति तथा सदादिवस्तुषु स्थितत्वात् तत्स्वभावप्रवर्तकत्वेन सदादि शब्दवाच्यस्त्व मप्येक एव। इदमपि सामर्थ्यां भावे न युक्तम्। अतो निरतिशय सामर्थ्य मस्य अवगम्यत इति भावः। स्थानभेदादेकस्य परमात्मनो भेदकल्पनमज्ञानमूलमित्याह - अज्ञानत इति। जनैरज्ञानतस्त्वयि विकल्पो भेदो विहितो यस्मा त्तस्मादवस्तुभूत इति शेषः। विहत इति पाठे अज्ञानतस्त्वयि विकल्प इति यस्मात्तस्मात् विहतो नष्ट इत्यर्थः। भेदकल्पनायां का प्रामिरिति तत्राह - गुणेति। गुणानां व्यतिकरो मिथः कार्यार्थ समवायविशेषो यस्मात्सः तत्तत्कार्येषु तत्तत्प्रवर्तकत्वेन तत्स्थत्वात्तदाशङ्केति भावः। ननु स्वतो भेदाभावेऽपि उपाधिभेदात्स स्यादिति तत्राह - निरुपाधिक इति। उपाधिसद्भावे तद्भेदात्सोऽस्तीति शङ्कितुं शक्यते, स एव नास्ति, आनन्दमात्रमिति निर्धारितत्वात्। पुनर्वचनं मन्दाशङ्कानिवारणार्थमिति।।८।।

त्वां ब्रह्म केचिदवयन्त्युत धर्ममेके[1] एके परं सदमतोः पुरुषं परेशम्।
[2-]अन्ये वदन्ति[-2] नवशक्तियुतं परं त्वां केचिन्महापुरुषमव्ययमात्मतत्त्वम्[3]।।९।।

नाऽहं परायुरुषयो न मरीचिमुख्याः जानन्ति यद्विरचितं खलु सत्त्वसर्गाः।
[illegible] नृषितचेतस ईश दैत्यमर्त्यादयः किमु [illegible] इन्द्रवृत्ताः।।१०।।

स त्वं [4-]समोहितमदः[-4]स्थितिजन्मनाशं[5] भूतेहितञ्च जगतो भवबन्धमोक्षौ।
[illegible] विशति [illegible] चराचराख्यं मर्त्यं तदात्मकतया [illegible] वगमो[7]ऽवरुन्त्से।।११।।

अवतारा मया दृष्टा रममाणस्य ते गुणैः[8]।
सोऽहं[9] तद्द्रष्टु मिच्छामि यत्ते योषिद्वपुर्धृतम्।।१२।।

येन सम्मोहिता दैत्याः पायिताश्चाऽमृतं सुराः।
तं[10] दिदृक्षव आयाताः परं कौतूहलं हि नः।।१३।।

---

1. H,V अन्ये 2- -2. A,B,G,J,T,W अन्येऽवयन्ति 3 A,B,G,J,M,Ma,T तत्त्वम् 4- -4. M,Ma समीरसि तत. 5 M,Ma नाशान् 6. M,Ma त्वं 7. M,Ma "मोनुतिस्ते ; W. "मोऽनुभुङ्क्ते 8. B. गुणा 9. M,Ma "च 10 A,B,G,J,M,Ma,T तर्हि"

**श्रीशुक उवाच**

**एव मभ्यर्थितो विष्णु र्भगवान् शूलपाणिना।**
**प्रहस्य भावगम्भीरं गिरिशं प्रत्यभाषत।।१४।।**

**श्रीहरिः उवाच**[1]

**कौतूहलाय दैत्यानां योषिद्वेषो मया धृतः[2]।**
**पश्यता सुरकार्याणि गते[3] पीयूषभाजने।।१५।।**

**तत्तेऽहं दर्शयिष्यामि दिदृक्षो स्सुरसत्तम।**
**कामिनां बहु[4] मन्तव्यं सङ्कल्पप्रभवोदयम्।।१६।।**

**श्रीध०** अत एवं[5] त्वां बहुधा वर्णयन्ति। तत्त्वतस्तु केऽपि न जानन्तीत्याह - **त्वामिति** द्वाभ्याम् त्वां ब्रह्म वेदान्तिनोऽवयन्ति मन्यन्ते। त्वामेव धर्मं मीमांसका मन्यन्ते। प्रकृतिपुरुषयोः परं पुमांसं सांख्याः। "विमलोत्कर्षिणी[6] ज्ञाना क्रिया योगा तथैव च प्रज्ञा सत्या तथेशानाऽनुग्रहा नवशक्तयः[6]" इत्येवं नवशक्तियुतं परं पाञ्चरात्राः, महापुरुषं पातञ्जलाः।।९।।

**नेति**। परायुर्ब्रह्मा सत्त्वासर्गाः सत्त्वगुणेन सृष्टाः अपि येन त्वया विरचितं विश्वमपि खलु तत्त्वतो न जानन्ति। किं पुनस्त्वाम्। हे ईश! अभद्रं राजसं तामसञ्च वृत्तमुत्पत्तिः वृत्तिश्च[7] येषां ते न जानन्तीति किमु वक्तव्यम्।।१०।।

किन्तु त्वं तत्सर्वं जानासीत्याह - **सत्वमिति**। स त्वं सर्वमवरुन्त्से व्याप्नोषि जानासि। किं तत्सर्वम्? समीहितं स्वकृतं[8] अदःस्थितजन्मनाशममुष्य जगतो जन्मादि, भूतानामीहितञ्च, जगतो भवबन्ध मोक्षौ[9] च। व्याप्तौ दृष्टान्तः - चराचराख्यं देहजातं खञ्च यथा वायुराविशति तथा। कथमवरुन्त्से? तदात्मकतया तस्य सर्वस्य आत्मतयेत्यर्थः। आत्मत्वे हेतुः, अवगमो ज्ञानरूप इति।।११।।

एवं स्तुत्वा प्रस्तुतं विज्ञापयति - **अवतारा** इति - द्वाभ्याम्।।१२ - १४।।

**कौतूहलायेति** । सुरकार्याणि योषिद्वेषेण भविष्यन्तीति पश्यता। अयं भावः - अवश्यं

1- -1. A,B,G,J,M,Ma,T श्री भगवानुवाच 2. A,B,G,J,M,Ma,T कृतः 3. M,Ma हृते
4- -4. M,Ma तत्कामिनाञ्च 5. A,B,J एव 6- -6. A,B,J विमला उत्कर्षिणी ज्ञाना क्रिया योगा प्रज्ञी सत्या ईशाना अनुग्रहा च
7. A,B,J Omit वृत्तिश्च 8. B,J Omit स्व 9. H,V °क्षं

तावदुन्मत्तान्दैत्यान्वञ्चयित्वा देवेभ्योऽमृतं देयम्। न चैवं वैषम्यं रूपान्तरेण कर्तुमुचितम्। अतो वञ्चन मोहनादिसारं कामिनीरूपं मया धृतमिति।।१५।।

**तदिति**। तद्रूपं दर्शयिष्यामि सङ्कल्पप्रभवः कामः तस्योदयो यस्मात्।।१६।।

**वीर०** एवं अनन्यत्वान्यत्वे उपपादिते। तदेवं प्रकृतिपुरुषविलक्षणत्वेन वेदान्तवेद्य स्त्वमेवेति स्तुतम्। किं बहुना? "सर्वे वेदा यत्पद मामनन्ति, वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः वेदान्त कृद्वेदविदेवचाऽहम्" ( भ.गी. 15 - 15) इत्याद्युक्तरीत्या निगमागमादिषु सर्वत्र धर्मब्रह्मादिशब्दैः व्यवह्रियमाण स्त्वमेवेत्याह - त्वां ब्रह्मेति। केचिद्वेदोत्तरभागाः त्वां ब्रह्म अवयन्ति; मन्यन्ते ब्रह्मेति बोधयन्ति। केचिद्वेदान्तिनो ब्रह्मेति व्यवहरन्तीत्यर्थः। एके मीमांसकाः धर्ममवयन्ति। यद्यप्यपूर्वाख्यं क्रियाजन्यं ते धर्म मन्यन्ते, तथाऽपि "फलमत उपपत्तेः" (ब्र.सू. 3.7.37) इति शारीरकन्यायेन अपूर्वस्याऽपि भगवत्प्रसाद रूपत्व मकामेनाऽपि तै रवश्यं वाच्य मिति यागादि क्रियाया भगवदाराधनरूपत्वेन तत्प्रतिपादकस्य वेदपूर्व भागस्य आराध्ये अलौकिक श्रेयस्साधने सिद्धधर्मरूपे तस्मिन्नेव पर्यवसानात्, तत्राऽपि तात्पर्यवृत्त्या भगवानेव प्रतिपाद्यते इत्यभिप्रायेण धर्म मेकेऽवयन्तीत्युक्तम्। तथा चोक्तम् - "ये च वेदविदो विप्राः येचाऽध्यात्मविदो जनाः। ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम्" ( भारत.उ 48 - 26 ) इति। एके सेश्वरसांख्याः यौगिकाश्च तत्र वेदान्तविरुद्ध तत्त्वापोहेन इतरद्ग्राह्यम्। निरीश्वर सांख्यस्मृतिस्तु निर्मूलेवेति भावः। सदसतोः प्रकृति पुरुषयोः परं विलक्षणं परेशशब्दवाच्य मवयन्ति। अन्ये केचित् पाञ्चरात्रास्तु नवशक्तियुतम्- "विमलो-त्कर्षिणी ज्ञाना क्रिया योगा ततः परम्। प्रह्वा सत्या तथेशानाऽनुग्रहा नव शक्तयः" इत्युक्त नवशक्तियुतं परं निस्समाभ्यधिकं अव्ययं निर्विकारं स्वतन्त्रं महापुरुषमवर्यान्ति।।९।।

न कार्त्स्न्येन त्वद्गुणान् स्तोतुं वयं प्रभवामः, यतस्त्वया सृष्टं विश्वमेव तत्त्वतो न जानीमः [1]इत्यत आह - **नेति**। अहं रुद्रः, परायु र्ब्रह्मा मरीच्यादयो ऋषयः त एते वयं सत्त्ववर्गाः[2] जन्तुसमूहाः यस्य तव मायया सङ्कुचितज्ञानाः यत्त्वया विरचितं विश्वमेव तत्त्वतो न जानीमः, किं पुनरनन्तत्वत्स्वरूप गुणादिकमस्मदादय एव न जानन्ति। किं पुनः शश्वत् सदा अभद्रवृत्ताः ज्ञानसङ्कोचकात्मकाऽमङ्गल कर्मपरायणाः दैत्यमर्त्यादयो न जानन्तीति।।१०।।

1. W. इत्याह 2. A स"

त्वमेक एव अपरिच्छिन्नस्वरूपस्वभावः सर्वज्ञ इत्याह - **स इति**। स त्वमुक्तविधस्त्वं सर्वं तदात्मकतया सर्वान्तरात्मकतया, व्याप्येति शेषः, अवरुन्त्से जानासि। कथम्भूतः? अवगमः ज्ञानस्वरूपः, सर्वात्मकतया शास्त्रेणाऽवगम्यो वा। किं तत्सर्वं समीहितं स्वकृतम् अदोऽमुष्यजगतः स्थितिसृष्टिनाशानां समाहारः। तत् भूतानां ईहितञ्च जगतो भवरूपं बन्धं मोक्षञ्च - इत्येतत्सर्वम्। अवभुङ्क्ते इति पाठान्तरम्। तदा अन्तरात्मतया अवगमः। अवगच्छतीत्यवगमः, कर्तरि पचाद्यजन्तः। जानन्नवभुङ्क्ते, लीलारसमनुभवसीत्यर्थः। व्योम्नो दृष्टान्तः - चराचरात्मकं वस्तु वायुः खमाकाशञ्च यथा आविशति तद्वदिति।।११।।

एवं प्रतिपूज्य प्रस्तुतं विज्ञापयति - अवतारा इति द्वाभ्याम्। गुणैः सर्वज्ञत्वसर्वान्तरात्मत्वादिभिः कल्याणगुणैः रममाणस्य लीलारसमनुभवतः तवाऽवतारा वराहादयो बहवो मया दृष्टाः। योषिद्वपन्तु न दृष्टम्। सोऽहं दृष्टबहुभवदवतारोऽहमधुना यत् ते त्वया धृतं योषि द्वपुः तत् द्रष्टुमिच्छामि।।१२।।

येन योषिद्वपुषा दैत्यास्सम्मोहिता सुरास्त्वमृतं पायिताः तद्योषिद्वपुः दष्टुमिच्छवो वयमागताः। तद्दर्शनेऽस्माकमधिकं कौतूहलं वर्तते।१३।।

[1]एवं मुक्तो भगवान् रुद्रं प्रत्यभाषतेत्याह शुकः - एवमिति। [2]**एव** मित्थं शूलपाणिना रुद्रेणाभ्यर्थितः [3]प्रार्थितो भगवान् भावगम्भीरं केनचि दभिप्रायेण गम्भीरं यथा तथा प्रहस्य रुद्रं प्रत्यभाषत।।१४।।

तदेवाह **कौतूहलायेति** द्वाभ्याम्। पीयूषभाजने अमृतकलशे गते दैत्यैरपहृते सति सुरकार्याणि योषिद्वेषेण भविष्यन्तीति पश्यता आलोचयता मया दैत्यानां कौतूहलाय योषिद्वेषः [4]धृतः उपात्तः।।१५।।

तत्ते दिदृक्षोरहं दर्शयिष्यामीत्यन्वयः। पश्यतेत्यस्यायं भावः - अवश्यं तावदुन्मत्तान् दैत्यान्वञ्चयित्वा देवेभ्योऽमृतं देयम्। न चेदं वैषम्यम्। रूपान्तरेण [5]तथा कर्तुं मुचितम्। अतो वञ्चनमोहनादिसारं कामिनीरुपं मया धृत मिति। कथम्भूतं योषि[6]द्वपुः? कामिनां बहुमन्तव्यम् कामुकै र्बहुमाननीयम्। सङ्कल्पप्रभवः कामः, तस्यो दयो यस्मात्तादृशम्।।१६।।

**विज०** एकस्य नानामतविषयत्वं न भिन्नस्येत्याह - **त्वामिति**। केचिद्वेदान्तिनः त्वां ब्रह्मेत्यवयन्ति अवगच्छन्ति, एके स्मार्ताः धारकत्वा द्धर्मम् , एके पौराणिकाः परेशं त्वां सदसतोः परं पुरुषम् अन्ये पाञ्चरात्रिकाः त्वां विमलोत्कर्षिणी ज्ञानेत्यादि नवशक्तियुतं परं वदन्ति। केचि देकान्तिनः त्वामव्यय मात्मतन्त्रं महापुरुषमभिवदन्तीत्यन्वयः।।९।।

---

1- -1. W. Omits 2. A,B,T इति 3. Omits प्रार्थित 4. W. Omits धृतः 5. W. Omits तथा 6. A,B,T द्वपम्

तद्विषयज्ञानसामग्र्यभावात् नानात्वकल्पना इत्याशयेनाह - **नाऽह** मिति। सत्त्वसर्गाः सात्त्विकाः, अत्रापि निमित्तमाह - **यन्माययेति**।।१०।।

जन्मस्थित्यादीनां भिन्नकर्तृत्वेन नानात्वं किं न स्यादिति तत्राह - **स त्व** मिति। यो ब्रह्माद्यविज्ञात-स्वरूपः स जगतः स्थितिजन्मनाशान् भूतै रीहितश्च बन्धमोक्षावपि समीहसि करोषि हि, यस्मा त्तस्मान्नानात्मकत्वं भ्रान्तिरिति भावः। अथ आसु कल्पनासु एकविषया ततोऽन्या किं तव स्तुतिरिति तत्राऽह - **वायु** रिति। यथा वायुः स्वं चराचराख्यं सर्वं प्रविशति तथा भिन्नश्च तथा सर्वस्य त्वदात्मकतया त्वद्व्याप्तत्वेनाऽवगमो ज्ञानं ते तव नुतिः स्तुतिः स्या दित्यन्वयः। अनेन धर्मादि प्रवर्तकत्वेन तत्तच्छब्द वाच्यत्वा वगमः स्तुति रित्युक्तं भवति।।११।।

तव स्तुत्या कोऽभिप्राय इति तत्राह - **अवतारा** इति। अस्तु दृष्टिः ततः किमिदानीमपेक्षितमिति तत्राह - सोऽहमिति।।१२ - १५।।

सङ्कल्पप्रभवस्य कामस्योदयो यस्माद्वपुषः तत्तथा, तद्वपुः कामिनीनां च मन्तव्यमिति प्रयोगः "गन्तव्या ते वसतिरलका नाम" (मेघदूतम् ) इतिवत्कृद्योगे षष्ठी। चशब्दादकामिनीना मिति ग्राह्यम्।।१६।।

## श्रीशुक उवाच

**इति ब्रुवाणो भगवां स्तत्रैवाऽन्तरधीयत।**
**सर्वतश्चारणं श्चक्षुर्भव आस्ते सहोमया।।१७।।**

**ततो ददर्शोपवने वरस्त्रियं विचित्रपुष्पारुणपल्लवद्रुमे।**
**विक्रीडतीं कन्दुकलीलया लसद्दुकूलपर्यस्तनितम्बमेखलाम्।।१८।।**

**आवर्तनोद्वर्तनकम्पितस्तनप्रकृष्टहारोरुभरैः पदे पदे।**
**प्रभज्यमानामिव मध्यतश्चलत्पदप्रवालं नयतीं ततस्ततः।।१९।।**

**दिक्षु भ्रमत्कन्दुकचापलैर्भृशं प्रोद्विग्नतारायतलोललोचनाम्।**
**स्वकर्णविभ्राजितकुण्डलोल्लसत्कपोलनीलालकमण्डिताननाम्।।२०।।**

1--1. H,V,W श्री नारद उवाच 2. M,Ma वि" 3 W "क्षुद्भ" 4--4. M,Ma लालकुण्डलोल्लसत्कपोलालक

श्लथदुकूलं कबरीञ्च विच्युतां सम्ग्रथ्नतीं वामकरेण वल्गुना।
विनिघ्नती मन्यकरेण कन्दुकं विमोहयन्तीं जगदात्ममायया।।२१।।

तां वीक्ष्य देव इति कन्दुकलीलयेषद्व्रीडास्फुटस्मितविसृष्टकटाक्षमुष्टः।
स्त्रीप्रेक्षणप्रतिसमीक्षणविह्वलात्मा नात्मानमन्तिक उमां स्वगणांश्च वेद।।२२।।

तस्याः कराग्रान्दुत् कसको यदा गतो विदूरं तमनुव्रजन्त्याः।
वासस्ससूत्रं लघु मारुतोऽहरद्भवस्य देवस्य किलानुपश्यतः।।२३।।

एवं तां रुचिरापाङ्गीं दर्शनीयां मनोरमाम्।
दृष्ट्वा तस्यां मनश्चक्रे विलज्जन्त्यां भवः किल।।२४।।

**श्रीध०** तत इति। विचित्राणि पुष्पाणि अरुणाः पल्लवाश्च येषां ते द्रुमाः यस्मिन्। लस दुकूलेन पर्यस्ते परिवृते नितम्बे मेखला यस्या स्ताम्।।१५-१८।।

**आवर्तनेति।** उत्पतत्पतत्कन्दुकलीलावशेन ये आवर्तनोद्वर्तने नमनोन्नमने ताभ्यां कम्पितयोः स्तनयोः प्रकृष्ट हाराणाञ्च उरुभारैः प्रतिपदं मध्ये प्रभज्यमानामिव चलत्पदमिव प्रवालवत्कोमलं ततस्ततो नयन्तीम्।।१९।।

**दिक्षिवति।** दिक्षु भ्रमतः कन्दुकस्य चापलैश्चाञ्चल्यैः भृशं प्रोद्विग्नतारे आयते लोले चञ्चले लोचने यस्याः। स्वकर्णाभ्यां विभ्राजिते ये कुण्डले ताभ्यामुल्लसन्तौ कपालौ ताभ्यां नीलालकैश्च मण्डित-माननं यस्याः।।२०।।

**श्लथदिति।** सम्ग्रथ्नतीं बध्नन्तीम् जगद्विमोहयन्तीम्।।२१।।

**तामिति।** तां वीक्ष्य देवः श्रीरुद्रः आत्मान मन्तिके स्थितां उमां, स्वगणांश्च न वेद। कथम्भूतः, इति एवम्भूतया कन्दुकलीलया या ईषद्व्रीडा तया अस्फुटं स्मितं तेन सह विसृष्टो यः कटाक्षः तेन मुष्टो वञ्चितः अत एव स्वयं यत् स्त्रियाः प्रेक्षणं तथा च यत् प्रतिसमीक्षणं ताभ्यां विह्वल आत्मा मनो यस्य।।२२।।

**तस्या** इति। तं कन्दुकमनुव्रजन्त्याः स्त्रियाः लघु सूक्ष्मं वासः ससूत्रं काञ्चीसहितम्।।२३।।

**एव** मिति। विषञ्जन्त्यां लज्जाकुञ्चितकटाक्षैरात्मानं निरीक्षमाणायाम्।।२४।।

1. M,Ma "लां 2- -2. H,V,W "ङ्गान्यतमेन 3. M,Ma मृष्टः ; W. मुष्णः 4. M,Ma निर्वृतात्मा 5. A,B,G,J,T व्रजस्त्रियः 6. M,Ma "स्सु सूक्ष्मं 7. A,B,G,H,J,T,V "च" 8. H,V Omit चञ्चले 9. B,H,J,V Omits यत् 10. H,V Omit तं 11. A,B,J Omit लज्जा

**वीर०** इत्थमुक्त्वाऽन्तर्हितो भगवान् योषितं स्वनिर्मितां काञ्चिदुपवने[1] दर्शयामासेत्याह मुनिः - **इतीति** इत्थं ब्रुवाणोऽभिदधानो[2] भगवान् तत्रैवान्तर्हितो बभूवरुद्रस्तु उमया भवान्या सह सर्वतः परितः[3] चक्षुः प्रसारयन् परितः पश्यन्नास्ते तत्रै[4] वासाञ्चक्रे।।१७।।

तत स्तत्र विचित्राणि पुष्पाणि अरुणाः पल्लवाश्च येषां ते द्रुमा यस्मिन् तस्मिन्नुपवने वरस्त्रियं श्रेष्ठां स्त्रियं ददर्श भव इति अनुषङ्गः[5]। भगवन्निर्मिता काचिदियं स्त्री न तु स्वयं पुरुषोत्तम एव स्त्रीरूपं, परिजग्राहेति[6] विज्ञायते। "प्राद्रवत्सा पृथुश्रोणी माया देवविनिर्मिता" ( भाग. 8-12-30 ) "आत्मानं देवमायया जडीकृतं" (भाग. 8-12-35 ) "यन्मे दुस्तरया स्वैरं मोहितोऽस्यङ्ग मायया" (भाग.8-12-38 ) इत्यनन्तरोक्तिभिः तथाऽवगमात्। कथम्भूताम्[7] वरस्त्रियं कन्दुकलीलया[8-9] कन्दुकस्य क्रीडया विक्रीडतीम्, पाकं पचतीतिवत् निर्देशः। कन्दुकक्रीडां कुर्वतीमित्यर्थः। यद्वा कन्दुकलीलयेति हेत्वर्थे तृतीया कन्दुकक्रीडाजन्यरसानुभवार्थं कन्दुकक्रीडां कुर्वतीमित्यर्थः। लसद्दुकूलेन पर्यस्ते परिवीते नितम्बे मेखला यस्या स्ताम्।।१८।।

उत्पतत्कन्दुकलीलावशेन ये आवर्तनोद्वर्तने नमनोन्नमने, ताभ्यां कम्पितयोः स्तनयोः प्रकृष्टहाराणाञ्च उरुभरैः पदे पदे प्रतिपदं[9-9] मध्ये प्रभज्यमानामिव स्थितां चलत्पदं[10-10] प्रवालमिव पदप्रवालं, तदितस्ततः नयन्तीम् ।।१९।।

विक्षुद्भ्रमतः[11] कन्दुकस्य चापलै श्चाञ्चल्यैः भृशं प्रोद्विग्ने तारे कनीनिके ययो स्ते आयते लोचने यस्यास्तां स्वकर्णाभ्यां विभ्राजिते कुण्डले ताभ्याम् ताम् उल्लसन्तौ कपोलौ ताभ्याञ्च नीलालकैश्च मण्डितमाननं यस्या स्ताम्।।२०।।

श्लथद्विच्युतं दुकूलं विच्युतां कबरीं धम्मिल्लञ्च वल्गुना सुन्दरेण वामहस्तेन सन्नह्यतीं बध्नतीम्। अन्यतरेण दक्षिणकरेण[12] कन्दुकं निघ्नतीम् आत्मनः स्वसम्बन्धिन्यामायया कपटवृत्त्या जगत् विमोहयन्तीम्।।२१।।

तां वीक्ष्य देवो रुद्रः आत्मानम्, अन्तिकस्थितामुमां स्वगणांश्च न वेद कथम्भूतः देवः[13] इति? या कन्दुकलीला तया ईषद्व्रीडा तया अस्फुटं अप्रकटं[14] स्मितं तेन सह विसृष्टो यः कटाक्षः तेन मुष्टो वञ्चितः

1. W Omits उपवने 2. W Omits ब्रुवाणः 3. A,B,T सर्वतः 4. W Omits तत्रैव 5. A,B,T शेषः 6. A,B,T Omit परि 7- -7. A,T Omit 8- -8. A,B,T Omit 9- -9. W Omits 10- -10. A,B,T चलत्पदमेव प्रवालवत्कोमलं 11. A,B,T °लु भ्र° 12. A,B,T Omit दक्षिण 13. W Omits देवः 14. W Omits अप्रकटं

अत एव स्वयं यत् स्त्रियाः प्रेक्षणं तया च प्रतिसमीक्षणं ताभ्यां विह्वलः परवश[1] आत्मा मनो यस्य तथाभूतः।।२२।।

सः क्रीड्यमानः कन्दुकः यदा तस्याः कराग्रात् विदूरं गतः तदा तं कन्दुकमनुव्रजन्त्याः स्त्रियाः लघु सूक्ष्मं वासः ससूत्रं काञ्चीसहितं मारुतो देवस्य रुद्रस्य पश्यतस्सतः अहरत्[2] जहार[3] किल।।२३।।

एवमेवम्भूतां मारुतेनापहृतवाससम्, नग्ना मिति यावत्, रुचिरस्सुन्दरोऽपाङ्गो यस्याः दर्शनीयाम्, अति सुन्दरीत्वादिति भावः। मनोरमां मनोज्ञां[4] तां दृष्ट्वा रुद्रः तस्यां विलज्जत्यां लज्जया कुञ्चितकटाक्षैरात्मानं निरीक्षमाणायां मनश्चक्रे किल।।२४।।

**विज०** लसन्ती नितम्बे पर्यस्ता परिवृता दुकूलो परिमेखला यस्यास्सा, तथा ताम्।।१७,१८।।

आवर्तनमवाङ्मनमनमुद्वर्तनमुन्नमनं, ताभ्यां कम्पितयोः आरब्ध चञ्चलयोः स्तनयो र्गुणतः प्रकृष्टहारस्य च उरुभरैः पदे पदे मध्यप्रदेशे भज्यमानामिव स्थितां ततस्ततः तत्र तत्र चलत्पदपल्लवं नयन्तीं प्रचालयन्तीम्।।१९।।

भ्रमतः कन्दुकस्य चापलैश्चलभावैः प्रोद्विग्ने चञ्चले तारे कनीनिके ययोस्ते प्रोद्विग्नतारे ते च आयते च लोले च लोचने यस्यास्सा तथा। तां स्वकर्णयोर्विभाजिते च लोलकुण्डले च स्वकर्णविभ्राजितलोलकुण्डले ताभ्यां उल्लसद्भ्यां कपोलाभ्यामलकैश्च मण्डितमाननं यस्यास्सा तथा ताम्।।२०।।

सन्नह्यतीं बध्नतीम् आत्ममायया स्वरूपशोभावैचित्र्येण।।२१।।

व्रीडासहितेन स्मितेन स्फुटेन प्रफुल्लेन विसृष्टेन दिक्षु मुक्तेन च कटाक्षेण मूढः स्त्रीप्रेक्षणप्रति[5] समीक्षणाभ्यां निर्वृत आह्लादितः आत्मा यस्य सः तथा, सः।।२२।।

स्त्री रुद्रं पश्यति, रुद्रः स्त्रियं पश्यतीति भावेन तं कन्दुकमनुव्रजन्त्याः स्त्रियाः[6]।।२३।।

विलज्जन्त्यां लज्जाभावं कुर्वन्त्याम्।।२४।।

**ततोऽपहृतविज्ञानस्तत्कृतस्मरविह्वलः।**
**भवान्या अपि पश्यन्त्या गतह्रीस्तत्पदं ययौ।।२५।।**

**सा तमायान्तमालोक्य विवस्त्रा व्रीडिता भृशम्।**
**निलीयमाना वृक्षेषु हसन्ती नाऽन्वतिष्ठत।।२६।।**

1. W Omits परवशः 2. A,B,T Omit अहरत् 3. W Omits जहार 4. A,B,T Omit मनोज्ञां 5. A °णास°; B,M,Ma °णास°; Omit प्रति 6. M,Ma °यः

तामन्वगच्छद्भगवान् भवः प्रमथितेन्द्रियः।
कामस्य च वशं नीतः करेणुमिव यूथपः।।२७।।

सोऽनुव्रज्यातिवेगेन गृहीत्वानिच्छतीं स्त्रियम्।
केशबन्ध उपानीय बाहुभ्यां परिषस्वजे।।२८।।

सोपगूढा भगवता करिणा करिणी यथा।
इतस्ततः प्रसर्पन्ती विप्रकीर्णशिरोरुहा।।२९।।

आत्मानं मोचयित्वाऽङ्ग सुरर्षभभुजान्तरात्।
प्राद्रवत्सा पृथुश्रोणी माया देव विनिर्मिता।।३०।।

तस्यासौ पदवीं रुद्रो विष्णोरद्भुतकर्मणः।
प्रत्यपद्यत कामेन वैरिणेव विनिर्जितः।।३१।।

तस्यानुधावतो रेतश्चस्कन्दामोघरेतसः।
शुष्मिणो यूथपस्येव वाशितामनुधावतः।।३२।।

**श्रीध० तथेति।** तत्पदं तस्यास्समीपं ययौ।।२५-२९।।

**आत्मान** मिति। आङ्ग! हे राजन्! सुरर्षभ भुजान्तरात् महेशबाहुमध्यप्रदेशात्।।३१,३१।।

**तस्येति।** शुष्मिणः मत्तस्य वाशितां पुष्पवतीं गजीम्।।३२।।

**वीर०** तयाऽपहतविवेकः अत एव तया कृत उत्पादितः स्मरः कामः तेन विह्वलः, अत एव गता ह्रीर्यस्य - " कामातुराणां न भयं न लज्जा" इति न्यायात्। एवम्भूतो रुद्रो भवान्याः पश्यन्त्यास्सत्या अपि तत्पदं तस्याः समीपं ययौ गतः।।२५।।

तमायान्तं रुद्रं विलोक्य सा स्त्री विगतवस्त्रा, अत एव भृशं व्रीडिता अत एव वृक्षेषु निलीयमाना तिरोभवन्ती हसन्ती नाऽन्वतिष्ठत क्वचित् स्थिरं न तस्थौ।।२६।।

तामननुतिष्ठन्तीं भगवान् भवोऽन्वगच्छत्। कथम्भूतः? प्रमथितानि क्षोभितानीन्द्रियाणि यस्य कामवश्यतां प्राप्तः यथा यूथपो गजः करेणुमिभीमनुगच्छति तद्वत्।।२७।।

1. A,B,G,J,T मुषिते", M,Ma व्यथिते" 2. W "त्वा सा 3. H,V विष्णु" 4. M,Ma "णा च 5- -5. A,B,J, Omit 6- -6. A,B,J Omit 7. A,B,T Omit अत एव 8. A,B,T "दधाना

सोऽनुगतो रुद्रोऽतिवेगेन समीपमेत्य अनिच्छन्तीमपि स्त्रियं केशबन्धे गृहीत्वा आत्मसमीपं[1] प्रापय्य बाहुभ्यामालिङ्गितवान्।।२८।।

यथा करिणा गजेन करिणी तथा भगवता रुद्रेण उपगूढा परिष्वक्ता विप्रकीर्णाः शिरोरुहाः केशाः यस्यास्सा। इतस्ततः प्रसर्पन्ती सुरर्षभस्य रुद्रस्य भुजयोरन्तरान्मध्यात् आत्मानं बलान्मोचयित्वा, अङ्ग हेराजन्! देवेन भगवता विनिर्मिता सा पृथुश्रोणी मायामोहिनी, भगवन्मायानिर्मिता वा सा योषित् प्राद्रवत् प्राधावत्।।२९,३०।।

वैरिणा कामेन विनिर्जित इवासौ रुद्रस्तस्याऽद्भुतकर्मणः विष्णो विष्णुविनिर्मितायाः योषितः पदवी मन्वगच्छत्।।३१।।

शुष्मिणः मत्तस्य यूथपस्य[2] गजस्य वाशितां पुष्पवती गजां अनुधावता इव तस्य तामनुधावतोऽमोघरेतसो रुद्रस्य रेत स्कन्द अक्षरत्।।३२।।

**विज०** नान्वतिष्ठत नानुकूलाऽभूत्।।२५-३०।।

वैरिणा पुरुषार्थविरोधिना, विरुद्धप्रेरणावता वा।।३१।।

शुष्मिणो वीर्यवतो वाशितां मैथुनेच्छावतीं करिणीम्।।३२।।

**यत्र यत्रापतन्मार्गे[3] रेतस्तस्य महात्मनः।**
**तानि रौप्यस्य हेम्नश्च क्षेत्राण्यासन्महीपते।।३३।।**

**सरित्सरस्सु शैलेषु वनेषूपवनेषु च।**
**यत्र क्व चासनृषयस्तत्र सन्निहितो हरः।।३४।।**

**स्कन्ने रेतसि योऽपश्य दात्मानं[5] देवमायया।**
**जडीकृतं नृपश्रेष्ठ सद्यवर्तत कश्मलात्।।३५।।**

**अथावगतमाहात्म्य आत्मनो जगदात्मनः।**
**अपरिज्ञेयवीर्यस्य[6] न मेने तदुहाद्भुतम्।।३६।।**

1. A,B,T स्व" 2. A,B,T Omit गजस्य 3 A,B,G,J,M,Ma,T "न्महां 4. A,B,G,J,T, सूप्यस्य , M,Ma रुद्रस्य 5. H,V विष्णु" 6- -6. H,V दिहाद्भुतम् , M,Ma तदुदाहतम् (ताम् )

**तमविक्लव मव्रीडमालक्ष्य मधुसूदनः।**
**उवाच परमप्रीतो बिभ्रत्स्वां पौरुषीं तनुम्।।३७।।**

**श्रीभगवानुवाच**

**दिष्ट्या त्वं विबुधश्रेष्ठ! स्वां निष्ठामात्मना स्थितः।**
**[1]यन्मे स्त्रीरूपया [-1]स्वैरं मोहितोऽस्यङ्ग [2]मायया।।३८।।**

**को नु मेऽतितरेन्मायां विषक्तस्त्वदृते पुमान्।**
**तांस्तान्विसृजतीं भावान्दुस्तरामकृतात्मभिः।।३९।।**

**सेयं गुणमयी माया न त्वामभिभविष्यति।**
**मया समेता कालेन कालरूपेण भागशः।।४०।।**

**श्रीध० सरिदिति।** एवं तामनुधावन् हरः सरित्सरस्सु शैलादिषु च सन्निहितो बभूव।।३३,३४।।

**[3]स्कन्न** इति। कश्मलम् मोहातिरेकात् जडीकृतं कर्तव्याकर्तव्यशून्यतया कृतम्[-3]।।३५।।

**अथेति।** [4]जगदात्मनोऽवगतं माहात्म्यं येन सः आत्मनः तदुह देवमायया जडीकरणं अद्भुतं न मेने[-4]।।३६।।

**[5]तमिति।** अविक्लवं स्वस्थम्[-5]।।३७।।

**दिष्ट्येति।** [6]आत्मना स्वयम्[-6]। स्वां निष्ठां प्रकृतिम्।।३८।।

**[7]कोन्विति।** विषक्तो मोहपाशयन्त्रितः त्वदृते त्वां विना भावान् चेष्टाविशेषान्[-7]।।३९।।

**सेति।** कालेन सृष्ट्यादिनिमित्तेन मया कालरूपेण भागशो रजआद्यंशेन। समेता मदधीना सती।।४०।।

**वीर०** अमोघरेतस्त्वमेवाह - **यत्रेति।** मह्यां यत्र यत्र स्थले महात्मनस्तस्य रुद्रस्य रेतोऽपतत्, तानि स्थलानि हे महीपते! रौप्यस्य रजतस्य [8]हेम्नस्सुवर्णस्य च क्षेत्राण्यासन् बभूवुः।।३३।।

किञ्च। यत्र क्वच यत्र सरिदादिषु रेतोऽपतत्तत्र रुद्रस्सन्निहितो बभूव। तत्र तदुपासका ऋषयश्च आसन् [9]अवात्सुः।।३४।।

1- -1. M,Ma यतो दुस्तरया 2. A,B,G,J,T "च" 3- -3. A,B,J Omit 4- -4. H,V Omit , B,J तदृहदेवमायया जडीकरणम् 5- -5. B,H,J,V Omit 6- -6. B,H,J,V Omit 7- -7. B,H,J,V Omit 8. W Omits हेम्न: 9. A,B,T बभूवु:

एवं रेतसि स्कन्ने सति देवमायया योषिता जडीकृतमात्मानं स रुद्रोऽ पश्यत्। ततः हे नरश्रेष्ठ! कश्मलात्कामात् सम्यवर्तत।।३५।।

अथानन्तरम्, अपरिज्ञेयं परितो ज्ञातुमशक्यं वीर्यं चेष्टितं यस्य तस्य जगदात्मनः परमात्मनो यन्माहात्म्यं तदवगतं [1]ज्ञातं येन स तथाभूतो रुद्रः तदुह तद्धि योषिद्रूपं तच्चेष्टितञ्च महदद्भुतं अदृष्टाश्रुतपूर्वं मेनेऽमन्यत।।३६।।

[2]ततो भगवान्मधुसूदनः स्वां तिरोधापितां पौरुषीं तनुं बिभ्रदाविर्भावयन्, स्वयमाविर्भूत[3] इत्यर्थः। अविक्लवं दृष्टमव्रीडं निर्लज्जञ्च तं रुद्र माल्क्ष्य नितरां प्रीत स्सन्[4] जगाद।।३७।।

तदेवाह - **दिष्ट्येत्यादि**[5]भिः त्रिभिः। हे विबुधश्रेष्ठ! त्वं स्वां निष्ठां प्रकृतिं कामविकारराहित्यं दैवा दात्मना स्वेनैवावस्थितः स्थितः लब्धवान् मन्मायाया दुरत्ययत्वादितिभावः। [6]तदुरत्ययत्वमेवाह - यदिति[6]। अङ्ग हे रुद्र! यद्यस्मात्त्वं मे मम मायया दुस्तरया स्वैरं यथे च्छं, नितरामित्यर्थः। मोहितोऽसि, [7]मोहं प्रापितोऽसि इत्यर्थः[7]। एवं मोहितस्य स्वनिष्ठालाभो दैवात्सम्पन्न इति भावः।।३८।।

दुस्तरत्व मेवाह - **कोन्विति**। त्वां विना को नु पुमान् मम मायां विषक्तः [8]आसक्तः, विषयासक्तोऽ तितरेत्? विषक्तः इत्यनेन जितेन्द्रियस्तु मत्प्रपन्नोऽतितरेदेवेति सूचितम्। कथम्भूताम्? अकृतात्मभिः अजितेन्द्रियैः दुस्तरांस्तांस्तान् भावान् कामक्रोधादीन् विसृजन्तीम्[9]।।३९।।

एवं स्वमायया दुस्तरत्वमभिधाय तां विशिंषन् तया तस्य अनभिभवमनुगृह्णाति - सेयमिति। सेय मुक्तविधा त्रिगुणात्मिका कालेन कालशरीरकेण मया सृष्ट्याद्युचितकालेन भागशः रज आद्यंशेन समेता व्याप्ता माया त्वां नाभिभविष्यति मोहितं न करिष्यतीत्यर्थः।।४०।।

**बिज०** रुद्रस्य क्षेत्राणि हेम्नश्च क्षेत्राणि स्वर्णाकाराण्यासन्।।३३।।

क्व च यत्र क्व च सरिदादिषु रेतः क्षेत्रेषु ऋषय आसन् तत्र भवश्च सन्निहितोऽभवत्।।३४।।

बुद्धिभ्रंशकरं कश्मलं निवृत्तमिति यद्यस्मात् अथ तस्मात्तदुदाहृतां तां ग्राम्योक्तिम्।।३५,३६।।

अविक्लवं स्वस्थम्। अव्रीडं कामजनकलज्जारहितम्।।३७।।

स्वां निष्ठाम् भक्तिलक्षणाम् आत्मना मनसा। कुत इति तत्राह - यत इति।।३८।।

1. W Omits ज्ञातं 2. W Omits ततः 3. A,B,T "रभूदेव 4. W Omits सन् 5. A,B,T "तिभिः 6- -6. W तदेवाह 7- -7. W Omits 8. A,B,T Omit आसक्तः 9. A "जतीम्

दुरन्ते जीवराशौ कश्चिन्मायां तरेत् वैचित्र्यादिति तत्राह - ऋते त्वदिति। विषये विषक्तः' ये ये विषयपाशबन्धकाः तांस्तान् भावान् "कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्" (कठ.उ.4-1) इति श्रुतेः मायातरणपटूनां सद्भावात्कथं कोन्वित्याक्षिप्यते? इति तत्राह - दुस्तरामिति।।३९।।

मदनुग्रहवतः सुतरेत्याह- सेय मिति। भागशः एकदेशेनापि।।४०।।

श्रीशुक उवाच

एवं भगवता राजन्! श्रीवत्साङ्केन सत्कृतः।
आमन्त्र्य तं परिक्रम्य सगणः स्वालयं ययौ।।४१।।

[1]आत्मांशभूतां तां मायां भवानीं भगवान्भवः।
[2]शृण्वतां ऋषिमुख्यानां [3]प्रीत्याऽऽचष्टाथ भारत[3]!।।४२।।

[4]श्रीरुद्र उवाच[4]

[5]अथि [6]ह्यपश्य स्त्वमजस्य मायां परस्य पुंसः परदेवतायाः।
अहं कलानामृषभो विमुह्ये ययावशोऽन्ये किमुतास्वतन्त्राः।।४३।।

यं मामपृच्छस्त्वमुपेत्य योगात् [7]समासहस्रान्त उपारतं वै।
स [8]एष साक्षात्पुरुषः पुराणो न यत्र कालो विशते [9]न वेदः।।४४।।

श्रीशुक उवाच

इति तेऽभिहितस्तात! विक्रमश्शार्ङ्गधन्वनः।
सिन्धोर्निर्मथने येन धृतः पृष्ठे महाचलः।।४५।।

एतन्मुहुः कीर्तयतोऽनुशृण्वतो न रिच्यते जातु समुद्यमः क्वचित्।
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनं समस्तसंसारपरिश्रमापहम्।।४६।।

असदविषयमङ्घ्रिभावगम्यं प्रपन्नान् अमृतममरवर्यानाशय त्सिन्धुमध्यम्।
कपटयुवतिवेषो मोहयन्यस्सुरारीन् तमहमुपसृतानां कामपूरं नतोऽस्मि।।४७।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
अष्टमस्कन्धे शङ्करमोहनं नाम द्वादशोऽध्यायः।।१२।।

1. H,V स्वात्मानु ; W स्वात्माश 2. A,B,G,J,M,Ma,T शसता 3. M,Ma प्रीत्यानूद्दा मुवाचह , W प्रत्याचष्टाऽथ भारत 4- -4. A,B,G,J,M,Ma,T Omit 5. A,B,G,J,T अपि 6. A,B,G,J,M,Ma,T व्यपं 7. H,M,Ma,V समास्यं 8. H,V एष 9. W यश्चवेद ; H,V न वेद 10. B श्र

**श्रीध० आत्मांशेति।** [1-] विष्णोरंशभूतां तां स्तुवतां सतां हे भारत[-1]! ।।४१,४२।।

* **अथेति।** अयि हे पार्वति![2]! कलानां अणिमादि सिद्धीनां[3-] [-3] ऋषभोऽपि[4] अवशः अस्वाधीनोऽपि[5] विमुह्ये[6] अपश्यः[7] दृष्टवत्यसि[8]।।४३।।

**यमिति।** [9-] वर्षसहस्रान्ते योगात्समाधेः उपारतं मां किं ध्यायसीति त्वं यमपृच्छः स एष यत्र कालो न विशते अपरिच्छिन्नत्वात्। न च वेदः अगोचरत्वात्[-9]।।४४।।

अष्टाध्यायार्थनिगमनम् - **इतीति**।।४५।।

एतत्कीर्तनादेः[10] फलमाह - **एत** दिति।।४६।।

भगवता कृतं भक्तपक्षपातं स्मरन्नमस्करोति - **असदिति**। असतामविषयम्। भावो भजनं तेन गम्यमङ्घ्रिं प्रपन्नान् शरणागतान्[11] सिन्धुमध्यं सिन्धोर्मथनेन जातममृतं य आशय दभोजयत्।।४७।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
द्वादशोऽध्यायः।।१२।।

**वीर०** एव मित्थं हे राजन्! भगवता श्रीवत्साङ्केन यत्कृतोऽनुगृहीतो रुद्रस्तं श्रीवत्साङ्कमामन्त्र्य अनुज्ञाप्य ते नानुज्ञातस्तं परिक्रम्य प्रणम्य च सगणः सप्रमथादिगणः स्वालयं कैलासाद्रिं जगाम।।४१।।

अथानन्तरं हे भारत! ऋषिमुख्यानां शृण्वतां[12] भगवान् भवः आत्मनोऽंशभूतां शरीरार्धभूतां तां भवानीं प्रत्यचष्ट उवाच।।४२।।

तद्रेवाह - **अपीति** द्वाभ्याम्। परदेवताया अजस्य कर्मायत्तोत्पत्तिरहितस्य परमपुरुषस्य मायां त्व मप्यपश्यः मायामाहात्म्यं अपश्यः किमित्यर्थः। तदेव दर्शयति - कलानां विद्याना मृषभोऽधिपतिः अवशः पारवश्यरहितोऽप्यहं[13] यथा मायया मुह्ये मोहितवानस्मि। किम्पुनः अस्वतन्त्राः मर्त्यदैत्यादयो मुह्यन्तीति।।४३।।

---

1- -1. B,H,J,V Omit * This commentary is not found in B,J edns. 2. A प्रिये 3- -3. A विमूर्तीनां 4. H,V Omit ऋषभोऽपि 5. A अपरवशः 6. H,V Omit अपि 7. H,V Omit विमुह्ये 8. A व्यपश्य 9- -9. B,H,J,V Omit 10. A,B,J °नादौ 11. H,V Omit शरणागतान् 12 A,B,T पश्यतां 13. A,B,T °तवानप्यहं

समासहस्रान्ते अनेकसंवत्सरसहस्रपर्यन्तं तपस्तात्वा तदन्ते योगात्तपोयोगादुपारतं निवृत्तं मां त्वं यदपृच्छः त्वदुपास्यं वस्तु किमिति पृष्टवत्यसि। स मया उपासितः साक्षादेष एव पुराणः पुरुषः यत्र यस्मिन् पुराणे पुरुषे कालो न विशति यं कालेन कलयति, कालाऽपरिच्छिन्न इत्यर्थः। यश्च कालादिकं सर्वं वस्तुजातं युगपत् साक्षाद्वेद सर्वज्ञ इत्यर्थः[1]।।४४।।

अष्टाध्याय्यर्थं निगमयति मुनिः[2] - **इतीति**। हे तात! इति[3] वात्सल्यात्सम्बोधनम्[3]। हे राजन्! इति[4] इत्थं शार्ङ्गधन्वनोऽजितस्य विक्रमः ते तुभ्यं मया अभिहितः कथितः[5]। कोऽसौ? येनाजितेन कूर्मरूपिणा सिन्धोः क्षीरोदधेः निर्मथने कर्मणि[6] महाचलो मन्दराचलः पृष्ठे धृतः।।४५।।

तदाष्टाध्याय्याः[7] कीर्तनादि फलमाह - एतदिति। एतत्सिन्धोः निर्मथनादिकं पुनः पुनः कीर्तयतः कथयतः; शृण्वतश्च समुद्यमः प्रयत्नः[8] क्वचिदपि देशे जातु कदाचिदपि काले न रिष्यति, रीङ्क्षये, न नङ्क्ष्यति[9] न विफलो भविष्यतीत्यर्थः। कुतः? यद्यस्मात् उत्तम श्लोकस्य भगवतो गुणानामनुवर्णनं समस्तानां संसारश्रमाणां त्रयाणामाध्यात्मिकादीनां[10] तापानामपहन्तृ।।४६।।

भक्तपक्षपातं स्मरन् नमस्करोति - **असदिति**। मथो मथनं, तत्र जातं मथ्यं सिन्धोर्मथने जातममृतं यः कपटयुवतिवेषः सुरारीन् दैत्यान् मोहयन् प्रपन्नानमरश्रेष्ठानाशयदपाययत्, तमसतामजितेन्द्रियाणा मविषयोऽङ्घ्रिः यस्य तं भावेन भक्त्या गम्यमुपसृतानामात्मानमनुवर्तमानानां कामानिष्टार्थान् पूरयतीति तथा, तं नतोऽस्मि। कर्तरि क्तः। नमस्कृतवानस्मीत्यर्थः[11]।।४७।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां व्याख्यायां

द्वादशोऽध्यायः।।१२।।

**विज०** भागश एकदेशेनाऽपि उत्तमश्लोकस्य हरेः गुणानुवर्णनं समस्तसंसारपरिभ्रमविनाशन मिति यद्यस्मात्तस्मात् निरन्तरमेतदनुशृण्वतः कीर्तयतः पुरुषस्य समुद्यमः समीचीनः प्रयत्नो जातु न रिष्यते न नश्यति । 'रीङ्क्षये'।।४१-४६।।

---

1. A,B,T add अपिवेद 2. W Omits मुनिः 3- -3. W Omits 4. A,B,T Omits इति 5. W Omits कथितः 6 A,B,T काले 7. A,B,T Omit तत् 8. Omits प्र 9. A,B,T add न नश्यति 10. A,B,T "कादिता" 11. W Omits इत्यर्थः

निरन्तर मनुस्मरणार्थं पूर्वोक्तगुणविशिष्टत्वेन तं श्रीनारायणं नमति - **असदविषय** मिति। यो भावेन भक्त्या गम्यं प्राप्यञ्च असतामभक्तानामविषयमङ्घ्रिप्रपन्नानमरवर्यान् सिन्धोर्मथनोद्भूतममृत माशयदपाययन्। कीदृशः कपटयुवतिवेषः सुरारीनसुरान् मोहयन् उपसृतानां शरणागतानां पुंसां कामपूर मष्टदं तमिमं श्रीनारायणं नतोऽस्मीत्यन्वय.। अनेन एवंविधे भगवति भक्तिः कर्तव्येति सिद्धमित्युक्तं भवति।।४७।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
अष्टमस्कन्धे द्वादशोऽध्यायः।।१२।।

oooOooo

# त्रयोदशोऽध्यायः

## श्रीशुक उवाच

मनुर्विवस्वतः पुत्रः श्राद्धदेव इति श्रुतः।
सप्तमो वर्तमानो यस्तदपत्यानि मे शृणु।।१।।

इक्ष्वाकुर्नभगश्चैव[1-1] धृष्ट शर्यातिरेव च।
नरिष्यन्तोऽथ नाभागः सप्तमो दिष्ट उच्यते।।२।।

करूषकः[2] पृषधश्च दशमो वसुमान् स्मृतः।
मनोर्वैवस्वतस्यैते दश पुत्राः परन्तप!।।३।।

आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवा मरुद्गणाः।
अश्विनावृभवो[3] राजन्निन्द्रस्तेषां पुरन्दरः।।४।।

कश्यपोऽत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वामित्रोऽथ गौतमः।
जमदग्निर्भरद्वाज इति सप्तर्षयः[4] स्मृताः।।५।।

अत्राऽपि[5] भगवज्जन्म कश्यपाददितेरभूत्।
आदित्यानामवरजो विष्णुर्वामनरूपधृत्[6]।।६।।

संक्षेपतो मयोक्तानि सप्त मन्वन्तराणि ते।
भविष्याण्यपि[7] वक्ष्यामि विष्णोश्शक्त्यन्वितानि[8] च।।७।।

विवस्वतश्च द्वे जाये[9] विश्वकर्मसुते उभे।
संज्ञा छाया च राजेन्द्र! ये प्रागभिहिते तव।।८।।

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

त्रयोदशे तु वर्ण्यन्ते सप्तमादीन्यनुक्रमात्। मन्वन्तराणि सर्वाणि षड्विधानि पृथक्पृथक्।।

सप्तमादिमन्वन्तराण्याह - मनु रित्यादिना यावदध्यायसमाप्ति।।१-३।।

**आदित्या** इति। आदित्यादयो देवा इत्यन्वयः।।४,५।।

---

1- -1. M,Ma कुश नभश्चैव 2. A,B,G,J,M,Ma,T "षश , H,V "शक. 3. H,V "अभो 4. H,V,W ते ऋषय. 5. H,V त" 6. A,B,G,J,M,Ma,T "क 7. A,B,G,J,M,Ma,T "ण्यथ 8. A,B,G,J,T "कथा" 9. M,Ma भार्ये

**अत्रेति**। भगवतो जन्म अवतारः। तमेवाऽऽह - आदित्यानां विवस्वानर्यमा पूषेत्याद्युक्तानां मध्ये अवरं जन्म यस्य सः।।६।।

**संक्षेपत** इति। शक्त्या अवतारेणान्वितानि।।७।।

अष्टमं मनुं वक्तुं कथामाह - **विवस्वत** इति त्रिभिः।।८।।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदेवं षष्ठं चाक्षुषमन्वन्तरं सचरित्राजितावतारं निरूप्याऽथ सप्तमादिमन्वन्तराण्याह मुनिः यावदध्यायसमाप्ति - **मनुरिति**। अधुना विद्यमानः सप्तमो मनुः विवस्वतः पुत्रः श्राद्धदेव इति प्रसिद्धः। तस्य श्राद्धदेवस्याऽपत्यानि पुत्रान् कथयतो मे मत्तः शृणु।।१।।

हे परन्तप! इक्ष्वाकादयश्चैते दश वैवस्वतस्य मनोः पुत्राः।।२,३।।

देवानाह - **आदित्या** इति। आदित्यादयो देवा इत्यन्वयः। इन्द्रमाह - हे राजन्! तेषां देवानामधिपतिः[1] इन्द्रः पुरन्दराख्यः।।४।।

सप्तर्षीनाह - **कश्यप** इति।।५।।

अवतारमाह - **अत्रापीति**। अत्राऽपि सप्तमे मन्वन्तरे कश्यपात्पितुः अदितेर्मातुश्च भगवज्जन्माऽभूत्, भगवानवततारेत्यर्थः। स च विष्णुः उपेन्द्राख्यो वामनरूपं धरतीति तथा आदित्यानां विवस्वानर्यमा पूषेत्यादीनां षष्ठस्कन्धोक्तानां मध्ये अवरं जन्म यस्य सः, आदित्यानां कनीयानित्यर्थः।।६।।

एवं वर्तमानं सप्तममन्वन्तरमुक्तम्, षडतीतान्युक्तानि। अथ भविष्याणि अष्टमादिमन्वन्तराणि विवक्षुः उक्तान्यनुवदति - **संक्षेपत** इति। एवं सप्त मन्वन्तराणि संक्षेपतः तुभ्यं मयोक्तानि, अथ भविष्याणि वक्तुं प्रतिजानीते - भविष्याणीति। अथ[2] विष्णोः शक्तिभिरंशैः, अवतारैरिति यावत् अन्वितानि भविष्याणि मन्वन्तराण्यष्टमादीनि वक्ष्यामि। विष्णोः शक्त्यन्वितानि इत्यनेन तेषामवश्यश्रोतव्यत्वं सूच्यते।।७।।

अष्टमं मन्वन्तरं वक्तुं तावत्तदुपोद्घातरूपां कथामाह - **विवस्वत** इत्यादिभिः[3-3] त्रिभिः। विश्वकर्मणः प्रजापते र्दुहितरौ उभे संज्ञाच्छायानाम्न्यौ विवस्वतः द्वे भार्ये। हे राजेन्द्र! ये संज्ञाच्छाये तव तुभ्यं मया प्राक् षष्ठस्कन्धेऽभिहिते उक्ते।।८।।

---

1. A,B,T Omit देवानाम् 2. W Omits अथ 3- -3. A,B,T इति

# श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

प्रासङ्गिकं समाप्य अवशिष्टश्राद्धदेवादिमनुकथाकथनेन हरे र्माहात्म्यमेव वर्णयति कतिपयैरुत्तरैः अध्यायैः। तत्र श्राद्धदेवः कस्य पुत्रः? इति तत्राऽऽह - **मनुरिति**।।१।।

श्राद्धदेवस्यापत्यानि तत्र देवनामानि सप्तऋषिनामानि हरेरवतारविशेषश्च वक्ति - **इक्ष्वाकु**रित्यादिना।।२-६।।

मन्दानां प्रमेयविज्ञानार्थमुत्तरमन्वन्तराणि प्रतिजानीते - भविष्याणीति ।।७ - ८।।

**तृतीयां बडबामेके[1-] तासां[-1] संज्ञासुतास्त्रयः।**
**यमो यमी श्राद्धदेवश्छायायाश्च सुताञ्छृणु।।९।।**

**सावर्णि स्तपती[2] कन्या भार्या संवरणस्य या।**
**शनैश्चरस्तृतीयोऽभूदश्विनौ बडबात्मजौ।।१०।।**

**अष्टमेऽन्तर[3] आयाते सावर्णिर्भविता मनुः।**
**निर्मोह[4] विरजस्काद्याः सावर्णेस्[5]तनया नृपाः[6]।।११।।**

**तत्र देवास्सुतपसो विरजा अमृतप्रभाः[7]।**
**तेषां विरोचनसुतो बलिरिन्द्रो भविष्यति।।१२।।**

**दत्त्वेमां याचमानाय विष्णवे यः पदत्रयम्।**
**राद्धमिन्द्रपदं[8] हित्वा[9] ततस्सिद्धिमवाप्स्यति।।१३।।**

**योऽसौ भगवता बद्धः प्रीतेन सुतले पुनः।**
**निवेशितोऽधिके स्वर्गादधुनाऽऽस्ते स्वराडिव।।१४।।**

**गालवो दीप्तिमान्रामो द्रोणपुत्रः कृपस्तथा।**
**ऋष्यशृङ्गः पिताऽस्माकं भगवान्बादरायणः।।१५।।**

**इमे सप्तर्षयस्तस्मिन्[10] भविष्यन्ति स्वयोगतः।**
**इदानीमासते राजन्! स्वे स्व आश्रममण्डले।।१६।।**

---

1- -1. M,Ma "या बडबा नाम 2. H,V,W "तिः 3 M,Ma " रे याते 4 A,B,G,J,T "क" 5. A,B,G,J,T "वर्णित" 6. A,B,G,J,M,Ma,T नृप! 7. M,Ma "जाः 8. H,V,W भुक्त्वा 9. M,Ma "सि 10. A,B,G,J,M,Ma,T "स्तत्र

**श्रीध० तृतीयामिति** । एके बडबां तृतीयामाहुः। मम तु संज्ञैव बडबेति मतम्। तदुक्तं षष्टे - "सैव भूत्वाऽथ बडबा नासत्यौ सुषुवे भुवि" (भाग.6-6-40) इति। यमश्च यमी च यमुना श्राद्धदेवश्चेति त्रयस्सुताः ।।९।।

**सावर्णिरिति**। सावर्णिः पुत्रः ।।१०-१२।।

**दत्त्वेति**। पदत्रयं याचमानाय इमां सर्वां महीं सप्तमे मन्वन्तरे दत्त्वा अष्टमे मन्वन्तरे विष्णोः प्रसादेन च राद्धं लब्धमिन्द्रपदं हित्वेत्यर्थः।।१३-१४।।

**गालव इति**। रामः परशुरामः, द्रोणपुत्रोऽश्वत्थामा ।।१५।।

**इमे** इति। इदानीन्तु स्वयोगत आसते।।१६।।

**वीर०** बडबाख्यां विवस्वतस्तृतीयां भार्यां एके आहुः। मम तु [1-]नैव बडबेति मतम्[-1]। " सैव भूत्वाऽथ बडबा नासत्यौ सुषुवे भुवि " ( भाग. 6-6-40) इति [2-]षष्ठस्कन्धोक्तेः[-2]। तासां तिसृणां भार्याणां मध्ये संज्ञायाः सुताख्यः। सुता च सुतौ च सुताः। " पुमान् स्त्रिया " ( अष्टा० 1-2-67 ) इत्येकशेषः। एका सुता द्वौ सुतौ इत्यर्थः। अथ छायायाः सुतान् शृणु। अत्रापि पूर्ववदेकशेषः। तदेवाऽऽह - यमश्च यमी च यमुनानदी च श्राद्धदेवश्चेति त्रयः सुता इत्यर्थः।।९।।

तदेवाऽऽह - सावर्णिः सुतः तपत्याख्या कन्या सुता या तपतिः संवरणस्य भार्या कथिता। शनैश्चरस्तृतीयः, सावर्णिशनैश्चरौ द्वौ [3]पुत्रौ तपतिः एका सुता चेत्यर्थः। अश्विनौ तु बडबायाः सुतौ ।।१०।।

अथ अष्टममन्वन्तरषट्कमाह - अष्टम इत्यादिना, नवमो दक्षसावर्णिरित्यतःप्राक्तनेन ग्रन्थेन। अष्टमेमन्वन्तरे आयाते सति सावर्णि विवस्वत एव पुत्रो मनुः [4]भविता भविष्यति। निर्मोहादयः सावर्णेर्मनोः पुत्रा भवितारः।।११।।

तत्र मन्वन्तरे सुतप आद्याख्या देवगणाः, तेषां देवगणानां [5]अधिपतिरिन्द्रो विरोचनसुतो बलिः भविष्यति।।१२।।

तं विशिनष्टि - **दत्त्वेति** द्वाभ्याम्। यो बलिः पदत्रयं याचमानाय विष्णवे वामनाय इमां पृथ्वीं दत्त्वा [6]विष्णोः प्रसादात् राद्धं लब्धं इन्द्रपदं हित्वा, अनुभवपूर्वकं हित्वेत्यर्थः। ततः सिद्धिं मुक्तिमवाप्स्यति।।१३।।

---

1- -1. A,B,T नैवमेव 2- -2. W Omits 3. W सुतौ 4. A,B,T Omit भविता 5. W 'प. 6. A,B,T तत्र

योऽसौ बलिर्भगवता बद्धः पुनः प्रीतेन तेनैव भगवता सुतले स्वर्गादप्यधिके लोके निवेशितोऽधुना स्वराडिन्द्र इवाऽऽस्ते।।१४।।

अत्र मन्वन्तरे भविष्यतः सप्तर्षीनाह- गालव इति। रामः परशुरामः, द्रोणपुत्रोऽश्वत्थामा, कृपः कृपाचार्यः।।१५।।

इमे गालवादयः स्वयोगतः स्वयोगप्रभावात् सप्तर्षयो भविष्यन्ति। हे राजन् ! इदानीं त एते गालवादयः स्वकीयाश्रमस्थानेषु वर्तन्ते।।१६।।

**विज०** तासां संज्ञा छाया बडबानां मध्ये संज्ञासुता एत इत्याह - यम इति।।९-१२।।

बलेरिन्द्रपदानन्तरं का सिद्धिरिति तत्राऽऽह - दत्त्वेमामिति। पदत्रयं याचमानाय विष्णवे इमां पृथिवीं दत्त्वा राद्धं सिद्धमिन्द्रपदं हित्वा यो बलिः ततस्सिद्धिं मुक्तिमवाप्स्यतीत्यन्वयः।।१३।।

इदानीं कुत्राऽऽस्त इत्यत आह - य इति। स्वराडिव इन्द्र इव।।१४,१५।।

स्वयोगतः अच्युतनिष्ठालक्षणयोगात् इदानीं कुत्राऽऽसत इति तत्राऽऽह - इदानीमिति।।१६।।

**देवगुह्यात्सरस्वत्यां सार्वभौम इति प्रभुः।**
**स्थानं पुरन्दराद्धृत्वा बलये दास्यतीश्वरः।।१७।।**

**नवमो दक्षसावर्णिर्मनु वरुणसम्भवः।**
**धृतकेतु र्दीप्तकेतु रित्याद्यास्तत्सुता नृपाः।।१८।।**

**पारा मरीचिगर्भाद्या देवा इन्द्रोऽद्भुतस्स्मृतः।**
**द्युतिमत्प्रमुखास्तत्र भविष्यन्त्यृषयस्ततः।।१९।।**

**आयुष्मतोऽम्बुधारायामृषभो भगवत्कला।**
**भविता येन संराद्धां त्रिलोकीं भोक्ष्यतेऽद्भुतः।।२०।।**

**दशमो ब्रह्मसावर्णिरुपश्लोकसुतो महान्।**
**तत्सुता भूरिषेणाद्या हविष्मत्प्रमुखा द्विजाः।।२१।।**

---

1. A,B,T "श्रमेषु 2. A Omits इत्यतः 3. H,V वेदगुह्यां ; B,M,Ma देवगुह्यां 4. M,Ma "मपतिः 5. A,B,G,J,M,Ma,T भूत" 6. W "तान् 7. A,B,G,J,M,Ma,T नृप! 8. H,V परो मरीचिगं ; M,Ma परा मरीचिग" ; W धाता मरीचिगं 9. W "च इन्द्र श्रुत. 10. M,Ma "वान् किल 11. M,Ma सन्वातो ; W संरुद्धां 12 W "ते श्रुतः

*तत्रापि जन्म भविता हरेर्विश्वसृजो[1] गृहे।
[2]अमूर्तिरिति विख्यातो येनाप्यायेत वै जगत्।।
हविष्मान्सुकृतिस्सत्यो [3]जटामूर्तिस्तदा द्विजाः।
[4]सुवासन विरुद्धाद्या[5] देवाश्शम्भुस्सुरेश्वरः।।२२।।

विष्वक्सेनो विषूच्यान्तु शम्भोस्सख्यं[7] करिष्यति।
[8]जातोंऽशांशेन भगवान्गृहे विश्वसृजो[9] विभुः।।२३।।

मनुर्वै धर्मसावर्णिरेकादशम आत्मवान्।
अनागता[10] स्तत्सुताश्च सत्यधर्मादयो दश।।२४।।

श्रीध० [11]पारा इति। अद्भुत इन्द्रः[11]।।१७-२१।।

हविष्मत्प्रमुखा इत्युक्तानामेव केषाञ्चिन्नामान्याह - **हविष्मानिति**।।२२।।

**विष्वक्सेन** इति। विषूच्यां जातस्सन्।।२३।।

**मनुरिति**। एकादशम इत्यादिरार्षः।।२४।।

**वीर०** अवतारं तञ्चरितञ्चाऽऽह - **देवगुह्यादिति**। ईश्वरो भगवान् देवगुह्यात्सरस्वत्यामवतीर्णः सार्वभौम इति प्रसिद्धो विभुः समर्थः, अत एव पुरन्दरात् सप्तममन्वतरस्थादिन्द्रात् स्थानमिन्द्रपदं हत्वाऽपनीय बलये दास्यति। अत्रेदमनुसन्धेयम् - चाक्षुषाख्ये षष्ठे मन्वन्तरे यदा दुर्वासस[12]शापेन गतश्रीरिन्द्रोऽजितशरणवरणात् तत्सहायोऽमृतं प्राश्य बलिं विजित्य सश्रीकः सदेवगणस्त्रिलोकाधिपत्यं कृतवान् तदा बलिः भार्गवैराहितबलः तमिन्द्रमुच्चाट्य त्रिविष्टपमधितस्थौ। तदा पुनरदित्याऽऽराधितो भगवानादित्याना[13] मनुजो वामनो भूत्वा पदत्रययाच्ञाव्याजेन बलेस्त्रिविष्टपं गृहीत्वा इन्द्राय पुरन्दराय प्रदाय बलिमनुगृह्णन् इदमाह - "एष मे प्रापितः स्थानं दुष्प्रापममरैरपि। सावर्णेरन्तरस्याऽयं भवितेन्द्रो मदाश्रयः।। तावत्सुतलमध्यास्ते विश्वकर्मविनिर्मितम्" (भाग 8-22-31,32 ) इति तदेवमनुगृहीतस्तत्प्रभृतिसुतले[14]ऽधिवसन् आयास्यत्यष्टमे मन्वन्तरे तदाऽवतरिष्यमाणेन सार्वभौमाख्येन भगवता पुरन्दरादपनीय दत्तेन्द्रपद इन्द्रो भविष्यति। ततस्तदाधिपत्यावसाने सिद्धिमवाप्स्यतीति।।१७।।

---

*An extra verse is found in H,Ma,V editions 1. M,Ma सृजां 2. M,Ma श्रीमू° 3. M,Ma कृत° 4. A,B,G,J,M,Ma,T जयो 5. H,V सुत्रम्माणो 6. W "बुधाद्या 7. शशक्ति विधास्यति 8. A,B,G,J,T जातस्त्वांशेन ; M,Ma जातश्शान्तस्तु 9. M,Ma सृजां 10. M,Ma "त" 11- -11. H,V Omit 12. A,B,T "सश्शा" 13. A,B,T "भवरजो 14. A,B,T "लमधि"

नवममन्वन्तरषट्कमाह - **नवम** इति। वरुणसम्भवः वरुणस्य पुत्रः दक्षसावर्णिरिति प्रसिद्धो मनुः नवमो[1] भविता भविष्यति[2]। तस्य सुताः धृतकेत्वादयो भविष्यन्ति[3-3]।।१८।।

धात्रादयो[4] देवगणा इन्द्रस्तु श्रुतः इति प्रसिद्धो भविता द्युतिमत्प्रभृतयस्सप्तर्षयः भविष्यन्ति[5]।।१९।।

एवं मन्वादयः पञ्चोक्ताः सचरित्रमवतारमाह - **आयुष्मत** इति। अम्बुधारायां भार्यायाम् आयुष्मतः सकाशात् भगवानवतीर्णः ऋषभ इति प्रसिद्धो भविता, येनऋषभेण संरुद्धां रक्षितां त्रिलोकीं श्रुताख्य इन्द्रो भोक्ष्यते पालयिष्यति।।२०।।

दशममन्वन्तरषट्कमाह - **दशम** इति। उपश्लोकस्य सुतो महान् सुगुणः ब्रह्मसावर्णिरिति प्रसिद्धो दशमो मनुर्भविता। तस्य ब्रह्मसावर्णेर्मनोः सुताः भूरिषेणाद्याः द्विजाः। सप्तर्षयस्तु हविष्मत्प्रभृतयः।।२१।।

एतानेव कांश्चिन्निर्दिशति - **हविष्मानिति**। सुवासनादयो देवगणाः भविष्यन्ति[6]। सुरेश्वर इन्द्रस्तु शम्भुः भविष्यति[7]।।२२।।

अवतारमाह - विष्वक्सेनो विभुर्भगवान् विश्वजितो गृहे तद्भार्यायां विषूच्यां स्वांशेनाऽवतीर्णः शम्भोरिन्द्रस्य सख्यं करिष्यति।।२३।।

एकादशमन्वन्तरषट्कमाह - **मनुरिति**। आत्मवान् प्रशस्तमनस्को धर्मसावर्णिरिति प्रसिद्धः एकादशो मनुर्भविष्यति। एकादशम इत्यार्षम्। तस्य धर्मसावर्णेस्सुताः दश सत्यधर्मादयोऽनागताः भवितारः।।२४।।

**विज०** स्थानं स्वर्गम्।।१७-१९।।

अम्बुधारायां स्त्रियां येन ऋषभेण सन्नातोऽद्भुतो नामेन्द्रः।।२०-२२।।

शम्भोरिन्द्रस्य शान्तः[8] शान्ताख्यः।।२३।।

अनागतो भविष्यन्।।२४।।

**विहङ्गमाः कामगमा निर्वाणाः[9] रुचयस्सुराः।**
**इन्द्रस्तु[10] वैधृतस्तेषामृषयश्चारुणादयः।।२५।।**

**आर्यकस्य[11] सुतस्तत्र धर्मसेतुरिति स्मृतः।**
**वैधृतायां[12] हरेरंशः त्रिलोकीं धारयिष्यति।।२६।।**

1. W Omits नवमः 2. W Omits भविष्यति 3- -3 W Omits 4. A,B,T "धाः 5. A,B,T भवितारः 6. A,B,T भवितारः 7. A,B,T भविता 8. A Omits शान्तः 9 A,B,G,J,M,Ma,T "णाः" 10. A,B,G,J,T, ञ वैधृतस्ते , M,Ma "ञेव धृतिस्ते " W स्तु वै धृवस्ते 11. A,V सू" 12. H,V "तो यो

**भविता रुद्रसावर्णी राजन्द्वादशमो मनुः।**
**देववानुपदेवश्च देवश्रेष्ठादयस्सुताः।।२७।।**

**ऋतुधामा च तत्रेन्द्रो देवाश्च हरितादयः।**
**ऋषयश्च तपोमूर्तिस्तपश्चाग्नीध्रकादयः।।२८।।**

**स्वधामाख्यो हरेरंशस्साधयिष्यति तन्मनोः।**
**अन्तरं सत्यसहसः सूनृतायास्सुतो विभुः।।२९।।**

**मनुस्त्रयोदशो भाव्यो देवसावर्णिरात्मवान्।**
**चित्रसेन विचित्राद्या देवसावर्णिदेहजाः।।३०।।**

**देवास्सुकर्मसुत्रामसंज्ञा इन्द्रो दिवस्पतिः।**
**निर्मोकतत्त्वदर्शाद्या भविष्यन्त्यृषयस्तदा।।३१।।**

**देवहोत्रस्य तनय उपहर्ता दिवस्पतेः।**
**योगेश्वरो हरेरंशो बृहत्यां सम्भविष्यति।।३२।।**

**श्रीध० स्वधामेति।** तस्य मनोरन्तरं साधयिष्यति। सत्यतपसः या सूनृता स्त्री तस्याः सुतस्सन्।।२५-३१।।

**देवेति।** दिवस्पतेरिन्द्रस्य उपहर्ता सम्पादकः देवहोत्रस्य बृहत्यां सम्भविष्यति।।३२।।

**वीर०** विहङ्गमाद्या देवगणाः, तेषामधिपतिरिन्द्रस्तु ध्रुव इति प्रसिद्धो भविता ऋषयः सप्तर्षयस्त्वरुणादयः।।२५।।

अवतारमाह - **अर्थकस्येति** । आर्यकस्य भार्यायां वैधृतायां जातोऽवतीर्णः हरेरंशस्तत्र मन्वन्तरे धर्मसेतुरिति प्रसिद्धो भविष्यति। स च त्रिलोकीं धारयिष्यति रक्षिष्यति।।२६।।

हे राजन्! द्वादशो मनुः रुद्रसावर्णिरिति प्रसिद्धो भविता। तस्य सुता देवादयः।।२७।।

तत्र मन्वन्तरे ऋतुधामाख्य इन्द्रः। हरितादयो देवगणाः। सप्तर्षयस्तु तपःप्रभृतयः।।२८।।

1. H,V भद्र ; M.Ma मेरु" 2. A,B,G,J,M,Ma "वश्रेष्ठा" 3. A,B,G,J,M,Ma,T ऋत" 4. A,G,J,T "स्वा"; B "खा" 5. H,V, तपसः 6. H,V, 'ह 7. A,B,J सहसः 8- -8. B,H,J,V Omit 9- -9. B,H,J,V Omit 10- -10. B Omits 11. A,B,T, Omit ऋषयः 12. A,B,T भविता 13- -13. A,B,T Omit 14. A,B,T ऋत"

स्वसुधामाख्यो हरेरंशावतारः, तस्य मनोः रुद्रसावर्णेरन्तरं साधयिष्यति। स च सत्यसहस्सूनृतयोः सुतः।।२९।।

त्रयोदशो मनुः देवसावर्णिरिति प्रसिद्धो भाव्यः भविता। देवसावर्णेर्देहाज्जाताः तत्सुताः चित्रसेनादयः।।३०।।

सुकर्मादिसंज्ञकाः देवगणाः, इन्द्रस्तु दिवस्पतिरिति प्रसिद्धो भविता। तदा मन्वन्तरे ऋषयस्सप्त ऋषयो निर्मोकादयो भविष्यन्ति।।३१।।

देवहोत्रस्य भर्यायां बृहत्यां हरेरंशः सम्भविष्यति, स च योगेश्वराख्यो देवहोत्रस्य तनयो दिवस्पतेरिन्द्रस्य उपहर्ता इष्टसम्पादको भविता।।३२।।

**विज०** दिवस्पतिनामा ।।२५-३२।।

**मनुर्वा इन्द्रसावर्णिश्चतुर्दशम एष्यति।**[1]
**उरुगम्भीरवस्वाद्या[2] इन्द्रसावर्णिवीर्यजाः।।३३।।**

**पवित्राश्चाक्षुषा[3] देवाः शुचिरिन्द्रो भविष्यति।**
**अग्निर्बाहु श्शुचिश्शुक्रो[4] मागधाद्यास्तपस्विनः।।३४।।**

**सत्रायणस्य[5] तनयो बृहद्भानुस्तदा हरिः।**
**वितानायां[6] महाराज क्रियातन्तून्वितायिता।।३५।।**

**राजंश्चतुर्दशैतानि त्रिकालानुगतानि ते।**
**प्रोक्तान्येभिर्मतः[7] कल्पो युगसाहस्रपर्ययः।।३६।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहस्यां संहितायां
अष्टमस्कन्धे मन्वन्तरानुवर्णनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः।।१३।।

**श्रीध० सत्रायणस्येति।** क्रियातन्तून् कर्मसन्ततीः वितायिता विस्तारयिष्यति।।३३-३५।।

**राजन्निति।** युगसाहस्रेण पर्ययः परिवर्तो यस्य युगसहस्रप्रमाण इत्यर्थः।।३६।।

---

1. M,Ma "ते 2- -2. A,B,G,J,T उरुगम्भीरबुद्धाद्या , M,Ma जन्तुभीरवयांद्या 3. M,Ma विचित्रा" 4 A,B,G,J,M,Ma,T "शुद्धो
5. M,Ma नारायणस्य 6. H,V वितानाय , M,Ma विनतायां 7. A,B,G,J,M,Ma,T "मित.

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां त्रयोदशोऽध्यायः।।१३।।

**वीर०** चतुर्दशो मनुस्त्विन्द्रसावर्णिर्रुत प्रसिद्धः एष्यति भविष्यति। तद्वीर्यजाः तत्सुताः उर्वादयः।।३३।।

देवगणास्तु पवित्रादिसंज्ञिताः। इन्द्रश्शुचिरिति प्रसिद्धः भविष्यति। तपस्विनःसप्तर्षयो अग्र्यादयः।।३४।।

हरिर्भगवान् सत्रायणस्य तनयो बृहद्भानुरिति प्रसिद्धो भविष्यति। हे महाराज! स च बृहद्भानुः वितानायां सत्रायणस्य भार्यायां जातः क्रियातन्तून् यज्ञकर्मसन्तानान् वितायिता विस्तारयिष्यति।।३५।।

मन्वन्तरकथनमुपसंहरति - **राजन्निति**। हे राजन् ! त्रिकालानुगतानि भूतवर्तमान भविष्यत्कालानुगतानि तत्र भूतानि षट् वर्तमानमेकं भविष्याणि सप्त इत्येवं चतुर्दशमन्वन्तराणि ते तुभ्यं मया प्रोक्तानि। एभिश्चतुर्दशभिर्मन्वन्तरैः कल्पः दैनन्दिनात्मकः कल्पः। स च युगसाहस्रपरिमितः युगानां कृतादीनां सहस्रवारं पर्ययः परिवृत्तिर्यस्मिन् स तथाभूतः।।३६।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां त्रयोदशोऽध्यायः।।१३।।

**विज०** क्रियातन्तून् क्रियासमुदायान् वितायिता विस्तारं कारयिता।।३३-३५।।

त्रिकालानुगतानि अतीतवर्तमानभविष्यत्संज्ञान् त्रिकालान् अनुवर्तमानानीति। त्रिलोकानुगतानीति पाठे स्पष्टोऽर्थः। ते तव मितः प्रमाणीकृतः।।३६।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
अष्टमस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः।।१३।।

oooOooo

# चतुर्दशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या त्रयोदशोऽध्यायः)

[1-]श्रीविष्णुरात उवाच[-1]

मन्वन्तरेषु भगवन्[2]! यथा मन्वादय स्त्विमे[3]।
यस्मिन् कर्मणि ये येन नियुक्ता स्तद्वदस्व नः[4]।।१।।

[5-]ब्रह्मरात उवाच[-5]

मनवो मनुपुत्राश्च मुनयश्च महीपते।
इन्द्रास्सुरगणाश्चैव सर्वे पुरुषशासनाः।।२।।

यज्ञादयो याः कथिताः पौरुष्य स्तनवो नृप।
मन्वादयो जगद्यात्रां नयन्त्याभिःप्रचोदिताः।।३।।

चतुर्युगान्ते कालेन ग्रस्ताञ्छ्रुतिगणान्यथा।
तपसा ऋषयोऽपश्यन् यतो धर्म स्सनातनः।।४।।

ततो धर्मं चतुष्पादं मनवो हरिणोदिताः।
युक्ता स्सञ्चारयन्त्यद्धा स्वे स्वे काले महीं नृप।।५।।

पालयन्ति प्रजापाला यावदन्तं विभागशः।
यज्ञभागभुजो देवा ये चाऽन्येऽत्रानुकीर्तिताः[6-]।।६।।

इन्द्रो भगवता दत्तां त्रैलोक्यश्रिय मूर्जिताम्।
भुञ्जानः पाति लोकांस्त्रीन् कामं लोके प्रवर्षति।।७।।

ज्ञानञ्चाऽनुयुगं ब्रूते[7] हरिस्सिद्धस्वरूपधृत्[8]।[9]
ऋषिरूपधरः कर्म योगं योगेशरूपधृत्[10]।।८।।

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुर्दशे तु सर्वेषां मन्वादीनां यथायथम्। पृथक्कर्माणि वर्ण्यन्ते भगवद्वशवर्तिनाम्।

---

1- -1. A,B,G,J,M,Ma,T राजो वाच 2. M,Ma 'वान् 3. W स्त्वमी 4 A,B,G,J,M,Ma,T मे 5- -5. A,B,G,J,M,Ma,T ऋषिरुवाच 6- -6. A,B,G,J,T ये च तत्राऽन्विताश्च तै ; M,Ma ये च तत्राऽनुकीर्तिताः 7. M,Ma 'ज्ञातुयुगं 8. H,V स्सिद्धेश 9. A,B,G,J,M,Ma,T 'क् 10. A,B,G,J,M,Ma,T 'क्

**मनव** इति। पुरुषेणेश्वरेण यज्ञाद्यवतारैः[1] शास्यन्ते नियुज्यन्ते इति तथा।।१,२।।

तदेवाऽऽह - **यज्ञादय** इति।।३।।

ऋष्यादीनां कर्माण्याह - **चतुर्युगान्त** इंत चतुर्भिः। यतो येभ्यः श्रुतिगणेभ्यः।।४।।

**तत** इति। उदिता उक्ताः। युक्ताः[2] संयतास्सन्तो महीं धर्मं सञ्चारयन्ति ; मह्यां धर्मं प्रवर्तयन्तीत्यर्थः।।५।।

**पालयन्तीति**। प्रजापाला मनुपुत्रास्तं धर्मं पालयन्ति। यावदन्तं यावन्मन्वन्तरावसानम्। विभागशः पुत्रपौत्रादिक्रमेण। ये चाऽन्येद्यावापृथिव्यादयः अत्र[3] कर्मणि भोक्तृत्वेनाऽन्वितास्तैश्च सह।।६,७।।

प्रसङ्गादूपान्तरै रपि जगद्यात्राप्रवर्तन माह **ज्ञानमिति** द्वाभ्याम्। सिद्धेशाः[4] सनकादयः। ऋषयो याज्ञवल्क्यादयः। योगेशा दत्तात्रेयादयः। तत्तद्रूपस्सन् ज्ञानं कर्म च योगञ्च ब्रूते।।८।।

## श्रीवीरराघवविदुषालिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं मन्वन्तरेषु कथितेषु प्रसङ्गान्मन्वादीनां कृत्यं पृच्छति राजा - **मन्वन्तरेष्विति**। हे भगवन्! मन्वन्तरेष्वमी उक्ता मन्वादयः, आदिशब्दग्राह्या स्तत्पुत्रादयः पञ्चअमी मन्वादयः येन यस्मिन् कर्मणि ये नियुक्ताः तन्नोऽस्मभ्यं वदस्व प्रत्येकं मन्वादीनां कृत्यं वदेत्यर्थः[5]।।१।।

तत्र येनेति पृष्टं नियोक्तारं तावदाह मुनिः - **मनव** इति। हे महीपते! मन्वादयः पञ्चैते सर्वे पुरुषेणेश्वरेण यज्ञाद्यवतारैः शास्यन्ते नियुज्यन्त इति तथा।।२।।

तदेवाऽऽह - **यज्ञादय** इति। हे नृप! पौरुष्यः परमपुरुषस्य सम्बन्धिन्यः तनवोऽवताराः या यज्ञादयः कथिताः आभिस्तनुभिः प्रचोदिता नियुक्ता मन्वादयः जगद्यात्रां नयन्ति जगत्पोषणं कुर्वन्तीत्यर्थः।।३।।

एवं भगवदवतारो नियोक्ता, मन्वादयो नियोज्याः जगद्यात्रानयनं तेषां कर्मेत्युक्तम्। अथ कथं जगद्यात्रां नयन्तीत्यपेक्षायां तावदृषीणां कर्माऽऽह - **चतुर्युगान्त** इति। पूर्वपूर्वमन्वन्तरावसाने कालेनाऽध्येत्रभाव युक्तकालेन ग्रस्तान् विप्लुतान् श्रुतिगणान् पुनर्यथावदृषयः सप्त ऋषयः तपःप्रभावेनाऽपश्यन् साक्षात्कृत्य प्रवर्तितवन्त इत्यर्थः। श्रुतिगणान्विशिनष्टि - यतो येभ्यः श्रुतिगणेभ्यः सनातनो धर्मः, अवबुध्यते इति शेषः।।४।।

---

1. A "शाव" 2. H,V Omit युक्ताः 3. A,B,J यत्र 4. A,B,J "द्धा : 5. A,B,T वदस्वेत्यर्थः

मनूनां कर्माऽऽह - **तत** इति। ततः ऋषिभिः यथावत् श्रुतिगणदर्शनानन्तरं तदवबोधितं स्वं स्वप्रवर्त्यं[1] चतुष्पादं धर्मं हरिणा यज्ञादिरूपिणा उदिता उक्ता नियुक्ता इत्यर्थः। संयतास्सन्तो मनवः अद्धा साक्षात् स्वे स्वे काले युगानुरूपं महीं मह्यां सञ्चारयन्ति उपदेशेन[2] प्रवर्तयन्ति।।५।।

मनुपुत्राणां कृत्यमाह - **पालयन्तीति**। प्रजापाला मनुपुत्राः तं धर्मं यावदन्तं यावन्मन्वन्तरावसानं विभागशः पुत्रपौत्रादिक्रमेण वर्णाश्रमविभागेन च पालयन्ति। देवानां कर्माऽऽह - यज्ञेति। ये च ऋषिपितृभूतमनुष्याः यत्र पञ्चमहायज्ञादौ कर्मण्यन्विताः भोक्तृत्वेनाऽन्विताः तै स्सह देवा यज्ञभागभुजः तद्भोक्तारः।।६।।

इन्द्रस्य कृत्यमाऽऽह[3] - **इन्द्र** इति। भगवता यज्ञादिरूपिणा दत्तां अत एवोर्जितां प्रभूतां त्रैलोक्यश्रिय मनुभवन् त्रीन् लोकान् पाति। कथं पातीत्यत्राह कामं यथेष्टं लोकेऽभिवर्षति वृष्ट्या पातीत्यर्थः।।७।।

अथाऽवतारस्य कृत्यमाह - **ज्ञानमिति**। चशब्देन मन्वादिनियोजनं समुच्चीयते। हरि र्यज्ञाद्यवताररूपः सिद्धरूपधृत् कपिलादिरूपधृत्[4] ज्ञानं युगानुरूपं ब्रूते उपदिशति।।८।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

यथा कथं प्रवृत्त इति शेषः। ये इमे मन्वादयो येन पुरुषेण यस्मिन् कर्मणि नियुक्ताः प्रेरिता वर्तन्ते, तत्सर्वम्।।१,२।।

कोऽयं पुरुष इति तत्राह - **यज्ञादय** इति। मन्वादिकालमारभ्य तेन यज्ञनाम्ना हरिणा प्रचोदिता मन्वादयो जगद्यात्रां जगत्स्थितिं नयन्तीत्यन्वयः। यतः श्रुतिगणेभ्यः सनातनो धर्मः सिद्धः, ऋषयः तान् श्रुतिगणान् यथावत्तपसाऽपश्यन्।।३,४।।

तत स्तदुक्तविधिना हरिणा चोक्ता मनव स्तं चतुष्पादं धर्मं मद्धा सञ्चारयन्ति।।५।।

प्रजापाला नृपाश्च स्वस्वकाले विभागशो यावदन्तं कर्मक्षयपर्यन्तं महीं पालयन्तीत्यन्वयः।।६,७।।

सिद्धस्वरूपः ज्ञानमुपदिशति, ऋषिरूपधरो हरिः कर्म, योगेश्वररूप धृग्योगम्।।८।।

**सर्गं[5] प्रजेशरूपेण दस्यून् हन्यात्[6] स्वराड्वपुः।**
**कालरूपेण सर्वेषा मभावाय[7] पृथग्गुणः।।९।।**

**स्तूयमानो जनैरेभि र्मायया नामरूपया।**
**विमोहितात्मभिर्नानादर्शनै र्न च दृश्यते।।१०।**

1. A,T स्वं 2. A,T °ज्ञान् 3. A,B,T कर्माऽऽह 4. A,B,T °क् 5 M,Ma सर्वं 6. M,Ma हन्ति 7. H,M,Ma,V,W °म°

**एत त्कल्पविकल्पस्य प्रमाणं परिकीर्तितम्।**
**यत्र मन्वन्तराण्याहु श्चतुर्दश पुराविदः।।११।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
अष्टमस्कन्धे चतुर्दशोऽध्यायः।।१४।।

**श्रीध० सर्गमिति**। प्रजेशा मरीच्यादयः तेन रूपेण, सर्गं करोतीति शेषः। स्वराड्वपू राजमूर्तिः। सर्वेषामभावाय भवति पृथग्विधा गुणाः शीतोष्णादयो यस्य।।९।।

**स्तूयमान** इति। नामरूपात्मिकया मायया विमोहितात्मभि रेभिर्जनैः नानादर्शनैः [1]अनेकशास्त्रैः स्तूय मानो निरूप्यमाणोऽपि नैव दृश्यत इत्यर्थः।।१०।।

प्रासङ्गिकं निरूप्य प्रस्तुत मेवोपसंहरति **एतदिति** । एतत् कल्पविकल्पस्य अवान्तरकल्पस्य[2]।।११।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां चतुर्दशोऽध्यायः।।१४।।

**वीर०** प्रजेशरूपेण मरीच्यादिरूपेण, सर्गं करोतीति शेषः। स्वराड्वपुः राजमूर्तिस्सन् तदनु प्रवेशेनेत्यर्थः[3]। दस्यून् दुष्टसत्त्वात् हन्यात् पुनः कालरूपेण सर्वेषामभावाय लयाय च भवति। कथम्भूतः? पृथग्गुणः सृष्ट्याद्युपयुक्तगुणविशिष्टः।।९।।

नामरूपया नामरूपभाजा मायया विमोहितानि मनांसि येषां तैः अत एव नानादर्शनैः ज्ञानैकाकारेषु आत्मसु देवमनुष्यादिनानाबुद्धिं कुर्वद्भिरेभिर्जनैः केवलं स्तूयमान एव शास्त्रेण निरूप्यमाण एव। न तु दृश्यते इत्यर्थः।।१०।।

प्रासङ्गिकं निरूप्य "मनवोऽस्मिन् व्यतीताः स्युः कल्पे स्वायम्भुवादयः" (भाग. 8-1-4) इति मन्वन्तरकथनार्थतया प्रस्तुतं कल्पमेवोपसंहरति - **एतदिति**। कल्पविकल्पस्य कल्पभेदस्य अवान्तरकल्पस्य, दैनन्दिनकल्पस्येत्यर्थः। एतच्चतुर्दशमन्वन्तरात्मकं प्रमाणं परिकीर्तितं, कोऽसौ कल्पविकल्पः पुराविदः कल्पविकल्पयाथात्म्यविदः यत्र कल्पविकल्पे मन्वन्तराणि चतुर्दश आहु रूचुः।।११।।

---

1. B,H,J,V Omit अनेक 2. B,H,J,V add प्रमाणमुक्तं यत्र चतुर्दशमन्वन्तराण्याहुः 3. W ति भावः

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्याया चतुर्दशाऽध्यायः।।१४।।

**विज०** प्रजापतिरूपेण सर्गंकरोति स्वराड्वपुः क्षत्रवपुः दस्यून्हन्ति। पृथग्गुणः अयथार्थज्ञान जनकतमोगुणप्रवर्तकः।।९।।

एभिः ऋष्यादिभिः स्तूयमानो दृश्यते, नामरूपरहितया अदृश्यत्वादिस्वभावविशिष्टया मायया अव्यक्तशब्दवाच्यया मोहितात्मभिः जनैः कल्पितैः नानादर्शनैः अद्वैतादिनानाविधशास्त्रै र्न दृश्यते, न ज्ञायते। च शब्दात् द्वैतज्ञानेन दृश्यत इति ग्राह्यम्। "अन्यमीशस्य महिमान मिति वीतशोकः" इति श्रुतेः।।१०।।

उपसंहरति - **एतदिति**। पुराविदो यत्र यस्मिन् कल्पे चतुर्दशमन्वन्तराण्याहुः, तस्य कल्पस्य एत त्प्रमाणमुक्तम्। यस्मिन् अवान्तरमन्वन्तराण्याहुः, तस्य विकल्पस्य एतत्प्रमाणं परिकीर्तितं, शास्त्रान्तरे इति शेषः। इति कल्पविकल्पस्य कल्पभेदस्येति वा।।११।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
चतुर्दशोऽध्यायः।।१४।।

( विजयध्वजरीत्या त्रयोदशोऽध्यायः)

oooOooo

# पञ्चदशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या चतुर्दशोऽध्यायः)

विष्णुरात उवाच[1-1]

बलेः पदत्रयं भूमेः कस्माद्धरिरयाचत।
भूतेश्वरः[2] कृपणबल्लब्धार्थोऽपि बबन्ध तम्।।१।।

एतद्वेदितु मिच्छामो महत्कौतूहलं हि नः।
यज्ञेश्वरस्य पूर्णस्य बन्धनञ्चाऽप्यनागसः[3]।।२।।

श्रीशुक उवाच

पराजितश्रीरसुभिश्च हापितस्त्विन्द्रेण[4] राजन्भृगुभिस्सजीवितः।
सर्वात्मना तानभजद्भृगून्बलिः शिष्यो महात्मार्थनिवेदनेन[5]।।३।।

तं ब्राह्मणा भृगवः प्रीयमाणा अयाजयन्विश्वजिता त्रिणाकम्[6]।
जिगीषमाणं विधिनाऽभिषिच्य महाभिषेकेण महानुभावाः।।४।।

ततो रथः काञ्चनपट्टबद्धो[7] हयाश्च हर्यश्वतुरङ्गवर्णाः।
ध्वजश्च सिंहेन विराजमानो हुताशनादास हविर्भिरिष्टात्[8]।।५।।

धनुश्च दिव्यं पुरटोपनद्धं तूणावरिक्तौ कवचञ्च दिव्यम्।
पितामहस्तस्य ददौ च माला मम्लानपद्मा[9] जलजञ्च शुक्रः।।६।।

एवं स विप्रार्जितयोधनार्थः तैः कल्पितस्वस्त्ययनोऽथ विप्रान्।
प्रदक्षणीकृत्य कृतप्रणामः प्रह्लादमामन्त्र्य नमश्चकार।।७।।

अथाऽऽरुह्य रथं दिव्यं भृगुदत्तं महारथः।
सुस्नग्धरोऽथ[10-10] सन्नह्य धन्वी खड्गी धृतेषुधिः।।८।।

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका।

अत्रेर्यते नवाध्याय्यां[11] वामं वामनचेष्टितम्। निग्रहच्छलतो[12] यत्र बलेर्भूया ननुग्रहः।।
बलिं पञ्चदशे विश्वजिताऽऽचार्या अयाजयन्[13]। ततोऽसौ स्वर्गमजयद्भयाद्देवा निलिल्यिरे।।

1- -1. A,B,G,J,M,Ma,T राजोवाच 2. A,G,J,T भूत्वे" 3. M,Ma "नं वाऽ" 4. A,B,G,J,T "तो ही" ; M,Ma "त इ" 5. M,Ma महान्त्वार्थं" 6. H,M,Ma,V "लो" 7 .A,B,G,J,T "न" 8. M,Ma "रिद्धात् 9. A,B,G,J,M,Ma,T पुष्पां 10- -10. H,V "र सरभसो ; M,Ma "रोऽथ सन्नद्ध" , W "रसुसन्नद्ध" 11. H,V, व्या 12. H,V "हा" 13. H,V ह्य"

**बलेरिति।** ईश्वरः स्वयं कृपणवत् कस्मात् हेतोरयाचत, लब्धार्थो भूत्वाऽपि तं कस्माद्बबन्ध?।।१,२।।

तत्र तावद्बले त्रिलोकीमपहर्तुं याच्ञादिच्छलं[1] कृतवानिति वक्तुं ब्राह्मणाराधनबलेन बलेः अकाण्ड एव स्वर्गविजयक्रममाह - **पराजितश्रीरित्यादिना।** यावदध्यायपरिसमाप्ति[2]। युद्धे पराजिता श्रीर्येन सः। इन्द्रेणाऽसुभिश्च त्याजितस्सन्। भृगून् भृगोर्वंश्यान् शुक्रादीन्। महात्मा उदारचित्तः। अर्थानां निवेदनेनाऽर्पणेन।।३।।

**तमिति।** त्रिलोकं[3] स्वर्गं जेतुमिच्छन्तं विश्वजिता यागेनाऽयाजयन्। महाभिषेकेण ऐन्द्रेण बहुच ब्राह्मणे[4] प्रसिद्धेन।।४।।

**तत इति।** हर्यश्वस्येन्द्रस्य ये तुरङ्गास्तेषामिव वर्णो हरितो येषाम्।।५।।

**धनुरिति।** पुरटं सुवर्णम्। तूणौ इषुधी। अरिक्तौ अक्षय्यशरौ। पितामहः पद्मादः जलजं शङ्खम्।।६।।

**एवमिति।** विप्रैरार्जितः सम्पादितो योधनार्थो युद्धपरिकरो यस्य तै रेव कल्पितं कृतं स्वस्त्ययनं मङ्गलवाचनादि यस्य। आमन्त्र्य पृष्ट्वा।।७।।

**अथेति।** अथाऽऽरुह्य रराजेति द्वयोरन्वयः। सुस्रग्धरः शोभनमालाधरः सन्नह्य[5] कवचं न्यस्य।।८।।

## श्रीवीरराघवविदुषालिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं मन्वन्तराण्याकर्ण्य "दत्त्वेमां याचमानाय विष्णवे यः पदत्रयम्" (भाग.8-13-13) इति सङ्ग्रहेणोक्तं, हरेर्वामनरूप[6]स्य चरित्रं विस्तरेण बुभुत्सुः पृच्छति राजा-बलेरिति द्वाभ्याम्। हरिः स्वयमीश्वरः अवाप्तसमस्तकामो भूत्वा कृपणवत् कस्माद्धेतोः बलेः सकाशात् भूमेः पदत्रयमयाचत? लब्धार्थोऽपि याच्ञया लब्धपदत्रयोऽपि कस्माद्धेतोः तं बलिं बबन्ध?।।१।।

एतद्याच्ञाबन्धनादिकं हरेःकर्म वेदितुमिच्छामो वयं अत्रैतच्छ्रवणे नोऽस्माकं परमधिकं कुतूहलं[7] वर्तते। एतच्छब्दनिर्दिष्टमाह पूर्णस्य अवाप्तसमस्तकामस्य यज्ञेश्वरस्य भगवतः, कर्तरि षष्ठी। यज्ञेश्वरेणाऽनागसो निरपराधस्य[8] बलेः बन्धनं, चकारात् याचनञ्च।।२।।

[9]एवमापृष्टः सविस्तरं तच्चरित्रमाह मुनिर्नवभिरध्यायैः। तत्र तावद्बलेः त्रिलोकीमपहर्तुं मुपायान्तरमपश्यन्

---

1. A,B,J "छनं 2. A,B,J Omit परि 3. A,B,J. "णा" 4. A,B,J "ण 5. B,H,J,V Omit सन्नह्य 6. A,B,T Omit रूप
7. A,B,T कौतू" 8. A,B,T "धिना 9. A,B,T add इत्येतत्

याच्ञां कृतवानिति वक्तुं तावद्बलेः गुरुसेवाबलेन स्वर्गप्राप्तिक्रममाह - पराजितश्रीरित्यादिना यावदध्याय समाप्ति। हे राजन्! इन्द्रेण दैत्यासुरे[1] युद्धे पराजिता गृहीता[2] श्रीः जयलक्ष्मीर्यस्य[3] सः असुभिः प्राणैश्च हापितः त्याजितः। पुनर्भृगुभिः शुक्रादिभिः[4] जीवितः जीवनं प्रापितो भृगूणां शिष्यो बलिः[5] तान् भृगूनेव सर्वात्मना करणत्रयैक्येन महात्मा उदारमना अर्थानवेदनेन[6] धनसमर्पणेन[7] न केवलं शुष्कभक्त्याद्येत्यर्थः। अभजत् आराधितवान्[7]।।३।।

तं भजन्तं त्रिणाकं स्वर्गं जेतुमिच्छन्तं बलिं महानुभावा ब्राह्मणा भृगवः प्रीयमाणास्सन्तः विश्वजिता यागेनाऽयाजयन्। किं कृत्वा? महाभिषेकेण बहुचब्राह्मण प्रसिद्धेनाऽभिषिच्य।।४।।

ततो विश्वजिद्यागे हविर्भिरिष्टाद्धुताशनात् रथादय आसन्। तत्र तावत्काञ्चनपरिकरबद्धो रथ आविर्बभूव। ततो हयश्वस्य इन्द्रस्य तुरङ्गाणामिव वर्णो हरितो येषां ते हया उद्बभूवुः ततस्सिंहेन विराजमानो ध्वजः।।५।।

ततः[8] पुरटोपनद्धं काञ्चनपरिकरबद्धं धनु ररिक्तौ अक्षयौ तूणौ इषुधी दिव्यं कवचञ्चाऽऽसन्। पितामहः प्रह्लादस्तस्य बलेः, सम्प्रदानस्य सम्बन्धविवक्षया षष्ठी। तस्मै आम्लानानि पद्मानि यस्यां तां मालां ददौ, शुक्रः जलजं शङ्खं ददौ इत्यनुषङ्गः।।६।।

एवं विप्रैः भृगुभिः अर्जितः सम्पादितो योधनार्थो युद्धपरिकरो यस्य स बलि स्तैर्विप्रैः कल्पितं कृतं स्वस्त्ययनं मङ्गलवाचनादिकं यस्य तादृशोऽथ विप्रान्परिक्रम्य तेभ्यः कृतः प्रणामो येन सः प्रह्लादं आमन्त्र्य पृष्ट्वा तस्मै[9] नमश्चकार।।७।।

अथ भृगुभिः दत्तंदिव्यमनर्घं रथमारुह्य स बलिः रराजेत्यन्वयः। कथम्भूतः? स्रग्धरः मालाधरः सुसन्नद्धः कवची धन्वी धनुर्धरः धृतः इषुधिः येन सः।।८।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

लब्धार्थः स्वीकृतत्रैलोक्यः।।१।।

पूर्णस्य ईश्वरस्य याच्ञा, अनागसो बलेर्बन्धनं यत्, एतत्।।२।।

---

1. A,B,T 'रसु' 2. W Omits गृहीता 3. A,B,T राज्य 4. A,B,T भृगवा' 5. A,B,T add बैरोचनिः 6- -6. W Omits 7- -7. W अभजत् 8. W Omits ततः 9. A,T Omits तस्मै

असुभिः प्राणैः हापितो विजितः स्वार्थनिवेदनेन सर्वस्वसमर्पणेन अभीष्टार्थविज्ञापनेन वा तान् भृगून् सर्वात्मना अभजत्।।३।।

विश्वजिता सर्वस्वदक्षिणात्मना यागेन, महाभिषेकेण मन्त्रपूतस्नानविशेषेण।।४।।

हर्यश्वस्य इन्द्रस्य तुरङ्गाणां वर्णो येषां ते तथा इन्द्राश्ववर्णसदृशवर्णा इत्यर्थः। इद्धात् दीप्तात्।।५।।

पुरटोपनद्धम् सुवर्णबद्धम्। अरिक्तौ बाणैरशून्यौ अक्षयसायकावित्यर्थः। जलजं शङ्खम्।।६।।

योधनार्थो युद्धसाधनम् विप्रात् भृगोः।।७।।

स्रग्धरो मालाधरः।।८।।

हेमाङ्गदलसद्बाहुः स्फुरन्मकरकुण्डलः।
रराज रथमारूढो धिष्ण्यस्थ इव हव्यवाट्।।९।।

तुल्यैश्चर्यबलश्रीभिः[1] स्वयूथै[2] दैत्ययूथपैः।
पिबद्भिरिव खं दृग्भिः दहद्भिः[3] परिधीनिव।।१०।।

वृतो विकर्षन्महती मासुरीं ध्वजिनीं विभुः।
ययाविन्द्रपुरीमृद्धां कम्पयन्निव रोदसी[4]।।११।।

रम्यामुपवनोद्यानैः श्रीमद्भिर्नन्दनादिभिः।
कूजद्विहङ्गमिथुनै र्गायन्मत्तमधुव्रतैः।।१२।।

प्रवालफल पुष्पोरु भारशाखामरद्रुमैः।
हंससारसचक्राह्व कारण्डव कुलाकुलाः।
नलिन्यो यत्र क्रीडन्ति प्रमदास्सुरसेविताः।।१३।।

आकाशगङ्गया देव्या वृतां परिखभूतया।
प्राकारेणाऽग्निवर्णेन साट्टालेनोन्नतेन च।।१४।।

रुक्मपट्टकवाटैश्च[5] द्वारैः स्फटिकगोपुरैः[6]।
जुष्टां विभक्तप्रपथां विश्वकर्मविनिर्मिताम्।।१५।।

---

1. M,Ma बय 2. H,V सरथै ; W सयूथै 3. H,V हर्गद्भि ; W हर्गद्भि 4. A,B,G,J,T,V,W "रौ" स्मृद्धा 5. A,B,G,J,M,Ma,T "पा" 6 M,Ma स्फा"

**सभाचत्वररथ्याढ्यां विमानै र्न्यर्बुदैर्युताम्।**
**शृङ्गाटकैर्मणिमयै र्वज्रविद्रुमवेदिभिः।।१६।।**

**श्रीध०** हेमाङ्गदेति। हेमाङ्गदाभ्यां लसन्तौ बाहू यस्य। धिष्ण्यस्थो भवने प्रज्वालितः[2] कुण्डस्थ आहवनीय इवेति वा।।९।।

**तुल्येति।** तुल्यमैश्वर्यं नियन्तृत्वं[3] बलञ्च श्रीश्च येषां तैः निजयूथभूतैः[4-4] दैत्ययूथपैः[5] वृतो ययाविति द्वयोरन्वयः। परिधीन् दिशः।।१०।।

**वृत इति।** स्वृद्धां[6] अतिसमृद्धाम्।।११।।

धिक् राज्यसुखम्[7]। तथाविधामपि[8] पुरीमकस्मादेव परित्यज्य इन्द्रादयः पलायिता इति वैराग्यार्थमिन्द्रपुरीं अनुवर्णयति रम्यामिति सार्धैः एकादशभिः। उपवनानि फलप्रधानानि[9] निकटस्थानि[10] वा[11], उद्यानानि पुष्प प्रधानानि दूरस्थानि वा[12], तै रम्याम्। कूजन्ति विहङ्गमिथुनानि[13] येषु। गायन्तो मत्ता मधुव्रता येषु।।१२।।

**प्रवालेति।** प्रवालादीनामुरुभारो[14] यासु ताः शाखा येषां तेऽमरद्रुमा येषु तैः। यत्र यासु सुरसेविताः प्रमदाः क्रीडन्ति ता हंसादिकुलैः आकुला व्याप्ता नलिन्यः सरांसि यत्र येषु सन्ति तैः उपवनोद्यानैः रम्यामिति पूर्वेणैवाऽन्वयः।।१३।।

**आकाशेति।** किञ्च परिखाभूतया[15] आकाशगङ्गया वृताम्। प्राकारेण सौवर्णेन च आवृताम्।अट्टालाः प्राकारोपरिरचितानि उन्नतानि युद्धस्थानानि तत्सहितेन।।१४।।

**रुक्मेति।** रुक्मपट्टानि[16] कवाटानि[17] येषु तैः द्वारै रत्नान्तरैः स्फटिकमयैः गोपुरैश्च पुरद्वारैः जुष्टाम् संवृताम्[18]। विभक्ताः प्रपथा राजमार्गा यस्याम्।।१५।।

**सभेति।** सभा उपवेशस्थानानि चत्वाराण्यङ्गणानि रथ्यारथमार्गाः[19] तै राढ्यां सम्पन्नाम्। न्यर्बुदं दशकोटयः[20] तैः गणनीयैः अनन्तैः विमानैः युताम्। वज्रविद्रुममय्यो वेदयो येषु तैः शृङ्गाटकैः चतुष्पथैः युताम्।।१६।।

**वीर०** हेमाङ्गदाभ्यां लसन्तौ बाहू यस्य स्फुरती मकरकुण्डले यस्य तथाभूतो रथमारूढो रराज। क इव? धिष्ण्यस्थः वने प्रज्वलितः हव्यवाट् अग्निरिव कुण्डस्थः आहवनीय इवेति वा।।९।।

---

1. A,B, वने 2. A,B,J 'ज्व' 3. B,H,J,V Omit नियन्तृत्वं 4- -4. B,H,J,V Omit 5. H,V, दैत्यैः यू' 6. H,V, ऋ' 7. A,B,J, राज्य 8. H,V Omit अपि 9. H,V 'त्ता' 10. A,H,J,V 'टानि 11. H,V च 12. H,V च 13. H,V 'ग 14. H,V भा' 15. H,V 'घ 16. A adds पट्टमुपरिबन्धः 17. A,B,J, 'पा' 18. A,B,J Omit संवृताम् 19. A,B,J उप 20. A 'टयः

दैत्ययूथपैर्वृतः स्वृद्धां इन्द्रपुरीं ययौ इत्यन्वयः। कथम्भूतैः तुल्यमैश्वर्यं बलं श्रीश्च येषां तैः सयूथैः ससैन्यैः[1] दृग्भिः खं अन्तरिक्षं पिबद्भिरिव परिधीन् दिशो दहद्भिरिव स्थितैः।।१०।।

कथम्भूतस्सन् विभुः समर्थः महतीमासुरीं ध्वजिनीं सेनां विकर्षन् प्रस्थापयन् रोदसी द्यावापृथिव्यौ कम्पयन्निव।।११।।

समृद्धिमेव दर्शयितुं इन्द्रपुरीं वर्णयति रम्यामिति। सार्धैरेकादशभिः। श्रीमद्भिः फलपुष्पादिसमृद्धिमद्भिः नन्दनादिभिः उपवनैः उद्यानवनैश्च रम्याम्। तत्रोपवनानि फलप्रधानानि निकटस्थानि वा, उद्यानानि पुष्पप्रधानानि दूरस्थानि वा। कथम्भूतैः? कूजन्ति विहङ्गमिथुनानि येषु, गायन्तो मधुना[2] मत्ता मधुव्रता येषु तैः।।१२।।

प्रवालादीनां उरुभारो यासु ताः शाखा येषां ते अमरद्रुमा येषु तैः, यत्र यासु सुरसेविताः प्रमदाः क्रीडन्ति ताः हंसादिकुलैः आकुला व्याप्ता, नलिन्यः सरांसि यत्र येषु तैः उपवनोद्यानैः, रम्यामिति पूर्वेणान्वयः।।१३।।

किञ्च, परिखाभूतया देव्या देवस्य त्रिविक्रमस्य पादाङ्गुष्ठजया आकाशगङ्गया प्राकारेण च जुष्टामित्यन्वयः। कथम्भूतेन? अग्निरिव वर्णो यस्य तेन सुवर्णमयेनेति भावः। अट्टालाः प्राकारोपरि रचितानि युद्धस्थानानि, तत्सहितेन उन्नतेन च एवम्भूतेन[3] प्राकारेण[3]।।१४।।

रुक्मपट्टानि कवाटानि[4] येषु तैः अवान्तरद्वारैः स्फटिकमयैः गोपुरैः पुरद्वारैश्च जुष्टाम्, विभक्ताः प्रपथाः राजमार्गाः यस्यां, विश्वकर्मणा विनिर्मिताम्।।१५।।

सभादिभिः आढ्यां सुन्दरीं[5] सम्पन्नां वा तत्र सभा आवेशस्थानानि, चत्वराणि अङ्गणानि रथ्याः उपमार्गाः, न्यर्बुदं दशकोटयः ताभिर्गणनीयैः अनन्तैः विमानैः युतां, वज्रविद्रुममय्यो वेदयो वेदिकाः येषु तैः शृङ्गाटकैः चतुष्पथैः युताम्।।१६।।

**विज०** धिष्ण्यस्थ आहवनीयादिस्थाने स्थितः हव्यवाडग्निः।।९-१३।।

यत्र इन्द्रपुर्यां यत्र नलिनीषु परिखभूतया दीर्घिकावद्वर्तमानया।।१४।।

पट्टमुपरिबन्धः।।१५।।

न्यर्बुदैः इत्युपलक्षणम्; अनेकैः इत्यर्थः।।१६।

---

1. A Omits ससैन्यैः 2. W "धुम" 3- -3. A,B,T इति । 4. A,B, "वा" 5. A,B,T "रां

यत्र नित्यवयोरूपाः श्यामा विरजवाससः।
भ्राजन्ते रूपवन्नार्यो ह्यर्चिर्भिरिव वह्नयः।।१७।।

सुरस्त्रीकेशविभ्रष्टनवसौगन्धिकस्रजाम्।
यत्राऽऽमोदमुपादाय मार्ग आवाति मारुतः।।१८।।

हेमजालविनिर्गच्छद्धूपेनाऽगरुगन्धिना।
पाण्डुरेण प्रतिच्छन्नमार्गं यान्ति सुरस्त्रियः।।१९।।

मुक्तावितानैर्मणिहेमकेतुभिः नानापताकावलभीभिरावृताम्।
शिखण्डिपारावतभृङ्गनादितां वैमानिकस्त्रीकलगीतमङ्गलाम्।।२०।।

मृदङ्गशङ्खानक दुन्दुभिस्वनैः स तालवीणामुरजैश्च वेणुभिः।
नृत्यैस्सवाद्यैरुपदेवगीतकैः मनोरमां स्वप्रभया जितप्रभाम्।।२१।।

यां न व्रजन्त्यधर्मिष्ठाः भूतधर्म द्रुहश्शठाः।
मानिनः कामिनो लुब्धाः षड्भिर्हीना व्रजन्ति यत्।।२२।।

तां देवधानीं स वरूथिनीपतिः बहिस्समन्ताद्रुरुधे पृतन्यया।
आचार्यदत्तं जलजं महास्वनं दध्मौ प्रयुञ्जन्भयमिन्द्रयोषिताम्।।२३।।

मघवांस्तमभिप्रेत्य बलेः परममुद्यमम्।
सर्वदेवगणोपेतो गुरुमेतदुवाच ह।।२४।।

**श्रीध० यत्रेति**। नित्यं वयस्तारुण्यं रूपं च सौकुमार्यं यासां ताः श्यामाः षोडशवर्षाः विरजानि दिव्यानि वाससि यासां ताः रूपवन्नार्यः स्वलङ्कृताः स्त्रियः यत्र यस्यां भ्राजन्ते।।१७।।

**सुरेति**। सुरस्त्रीणां केशेभ्यो विभ्रष्टानां नवसौगन्धिकस्रजाम् आमोदमुपादाय।।१८।।

**हेमेति**। हेमगवाक्षेभ्यो हिरण्मयगवाक्षेभ्यो निर्गच्छता धूपेन सुरस्त्रियः अप्सरसः।।१९।।

**मुक्तेति**।मुक्तामयैः वितानैः मणिहेममयैः केतुभिश्च ध्वजैः नानापताकायुक्ताभिः वलभीभिश्च विमानानां पुरोभागैः आवृतां व्याप्ताम्। वैमानिकस्त्रीणां कलगीतैः मङ्गलाम्।।२०।।

---

1. H,M,Ma,V,W "र्चः अ" 2. A,B,G,J,M,Ma,T "लाक्ष" 3. A,B,G,J,M,Ma,T "भे° 4. A,G,J,M,Ma,T "गु" 5. H,V, पाण्ड" 6. A,B,G,J,T प्रिया. 7 A,B,G,J,M,Ma,T "जर्ष्टि" 8. W नृत्तैः 9. H,V न यां ; W यत्र 10. A,B,G,J,M,Ma,T खला भूत" 11. A,B,G,J,M,Ma,T एभि" 12. H,V,W "न्ति याम् ; M,Ma "न्त्युत 13. M,Ma "द" 14- -14. B,H,J,V Omit 15. B,H,J,V Omit उपादाय 16- -16. B,H,J,V Omit 17 A,B,J "भे" 18. A,B,J प्रिया:

**मृदङ्गेति।** उपदेवानां गन्धर्वादीनां गीतकैश्च मनोरमाम्। जिताप्रभा साक्षाद्दीप्यधिष्ठात्री देवता यथा ताम्। अन्यैः अजितप्रभामिति वा। जितग्रहामिति[1-] पाठान्तरे जिताग्रहाः सूर्यादयो यथा।।२१।।

**यामिति।** यत् याम्।।२२।।

**तामिति।** पृतन्यया सेनया।।२३,२४।।

**वीर०** नित्यं वयस्तारूण्यं, रूपं सौकुमार्यञ्च यासां ताः श्यामाः यौवनमध्यस्थाश्च, विरजं निर्मलं वासो यासां ताः, रूपवत्यः नार्यः स्त्रियः अर्चिर्भिः शिखाभिः वह्नय इव यत्र यस्यां राजन्ते ते[2-] इत्यर्थः[-2]।।१७।।

यत्र यस्यां सुरस्त्रीणां केशेभ्यो विभ्रष्टानां नवसौगन्धिकस्रजामामोदमुपादाय मारुतो हेमगवाक्षेभ्यो विनिर्गच्छता धूपेनागरुसुगन्धिना[3] सह मार्गे वहति ताम्।।१८।।

यस्यां मार्गे पाण्डुरेण पटेन प्रतिच्छन्ने मार्गे सुरस्त्रियोऽप्सरसः यान्ति सञ्चरन्ति ताम्।।१९।।

मुक्तामयैः वितानैः मणिहेममयैः केतुभिश्च नानाविधानां पताकानां आवलिभिश्च विराजितां, शिखण्ड्यादिभिः नादितां वैमानिकस्त्रीणां मधुरगीतैः मण्डिताम्।।२०।।

मृदङ्गादीनां स्वनैः तालादिध्वनिसहितैः नृत्तैः सवाद्यैः उपदेवानां गन्धर्वादीनां गीतकैश्च मनोरमां स्वप्रभया जिता प्रभा साक्षाद्दिव्यगीताद्यधिष्ठात्री देवता यया 'तामन्यै रजितप्रभाम्' इति वा। पाठान्तरे जिताः ग्रहाः सूर्यादयो यया ताम्।

यत् यां, सामान्ये नपुंसकम्। अधर्मिष्ठादयो न व्रजन्ति इतः प्रेत्य न प्राप्नुवन्ति। खलाः[4] दुरात्मानः शठाः मूर्खा मानिनोऽहङ्कारिणः लुब्धाः वञ्चकाः।।२२।।

तामेवम्भूतां देवधानीममरावतीं बहिस्समन्ताद्वरूथिन्याः सेनायाः पतिः स बलिः पृतन्यया सेनया रुरुधे। तत इन्द्रयोषितां भयमुत्पादयन् आचार्येण शुक्रेण दत्तं महास्वनं शङ्खं दध्मौ।।२३।।

मघवानिन्द्रः तं बलेः परममधिकं उद्योगं ज्ञात्वा सर्वैः देवानां गणैः उपेतो बृहस्पतिं इत्थमुवाच।।२४।।

**विज०** शृङ्गाटकैः चत्वरमण्डपैः वज्ररत्नविद्रुमखचितवेदिभिः, श्यामाः षोडशवर्षाः।।१७।।

सौगन्धिकैः स्थलचम्पकैः रचिताः स्रजः तासामामोदं परिमलमुपादाय।।१८।।

जालाक्षं गवाक्षम्।।१९,२०।।

---

1- -1. A,B,J Omit 2- -2. W Omits 3. W Omits सु 4. A,T omit खलाः

जितसूर्यादिग्रहाम्।।२१।।

एभिरधर्मादिभिः।।२२।।

पृतन्यया पृतनया।।२३,२४।।

भगवन्नुद्यमो[1] भूयो[2] बलेनः पूर्ववैरिणः।
अविषह्यमिमं[3] मन्ये केनाऽऽसीत्तेजसोर्जितः[4]।।२५।।

नैनं[5] कश्चित्कुतो वाऽपि प्रतिव्योढुमधीश्वरः।
पिबन्निव मुखेनेदं लिहन्निव दिशो दश।
दहन्निव दिशो[7] दृग्भिः संवर्तार्चिरिवोत्थितः।।२६।।

ब्रूहि कारणमेतस्य दुर्धर्षत्वस्य[8] यद्रिपोः।
ओजस्सहो बलं तेजो यत एतत्समुद्यमः[9]।।२७।।

गुरुरुवाच

जानामि मघवन् शत्रो रुग्नतेरस्यकारणम्।
शिष्यायोपभृतं तेजो गुरुभिर्ब्रह्मवादिभिः[10]।।२८।।

*भवद्विधो भवान्वापि वर्जयित्वेश्वरं हरिम्।
नाऽस्य[11] शक्तः पुरः स्थातुं कृतान्तस्य यथा जनाः[-11]।।२९।।

तस्मान्त्रिलयमुत्सृज्य यूयं सर्वे त्रिविष्टपम्।
यातकालं प्रतीक्षन्तो यतः शत्रोर्विपर्ययः।।३०।।

एष विप्रबलोदर्कः सम्प्रत्यूर्जितविक्रमः।
तेषामेवावमानेन[12] सानुबन्धो विनङ्क्ष्यति[13]।।३१।।

एवं सुमन्त्रितार्थास्ते गुरुणार्थानुदर्शिना।
हित्वा त्रिविष्टपं जग्मुर्गीर्वाणाः कामरूपिणः।।३२।।

श्रीध भगवन्निति। केन हेतुनैवं तेजसोर्जित आसीत्।।२५।।

---

1. M,Ma "तो 2. A,B,G,J,M,Ma,T भूयान्व" 3. M,Ma "दं 4. M,Ma सा सम: 5. H,V "वं 6. M,Ma "तो" 7. H,V यतो ; W नभो 8. A,B,G,J,M,Ma,T म" 9. M,Ma एव स" 10. A,B,G,T भृगुभि" * H,V,W प्रकाशेषु पूर्वार्धमुत्तरार्धत्वेन उत्तरार्धं पूर्वार्धत्वेन मुद्रितम्। 11- -11. H,V,W नचास्याद्य क्षणमपि स्थातु शक्नोति सम्मुखो। 12. M,Ma ए" 13. A,B,G,J,T "ब"

**नेति।** प्रतिव्योढुं अपाकर्तुम्।।२६।।

**ब्रूहीति।** यतः यस्मात्[1] कारणादेतस्य ओजआदि, तत्कारणं[2] ब्रूहि। यत ओज आदेः। एतस्य बलेस्समुद्यमः[3]।।२७।।

**जानामीति।** उपभृतं सञ्चितम्।।२८,२९।।

तत्रोचितं मन्त्रमाह - **तस्मादिति** । तस्माद्यूयं त्रिविष्टपमुत्सृज्य निलयमदर्शनं यात। यतः कालात्।।३०।।

केनाऽस्य विपर्ययः स्यादित्यत आह **एषइति।** विप्राणां बलेनोदर्क उत्तरोत्तरमधिकं फलं यस्य सः।।३१।।

**एवमिति।** सुमन्त्रितोऽर्थः कार्यं येषां ते निलयं जग्मुः।।३२।।

**बीर०** तदेवाऽऽह- **भगवन्निति** सार्धैस्त्रिभिः[4]। हे भगवन्! पूर्ववैरिणो दैवासुरे युद्धे पराजितस्य बलेरधुनाऽयं महानुद्यमः। इममुद्यमं सोढुमशक्यं मन्ये। केन हेतुना अयं तेजसोर्जित आसीत्?।।२५।।

एनं बलिं कोऽपि पुमान् केनाऽप्युपायेन अपाकर्तुं न प्रभुः। अयं मुखेनेदं जगत्पिबन्निव दश दिशो लिहन्निव उत्थितः प्रलयाग्निरिव दृग्भिः नभो दहन्निव आस्ते।।२६।।

मम शत्रोः बलेः दुर्धर्षत्वस्यैतस्य कारणं ब्रूहि। यतः कारणात् ओज आदिः तत्प्रयुक्तः समुद्यमश्चेत्येतदासीत्। तत्र ओज इन्द्रियबलं, सह उत्साहो, मानसं, बलं दैहिकम्।।२७।।

एवं विज्ञापित आह गुरुः - **जानामीति।** हे मघवन् अस्य त्वच्छत्रोः बलेः औन्नत्यस्य[5] कारणमहं जानामि। किं तत्? यत्[6] ब्रह्मवादिभिः शुक्रादिभिः शिष्याय बलये उपभृतमाहितं तेज इत्येतत्।।२८।।

अतो भगवन्तं विनाऽन्यः कश्चिद्भवद्विधः[7], भवादृशः[8] साक्षाद्भवान्वा अस्य सम्मुखे क्षणमपि स्थातुं न शक्नोति।।२९।।

**मन्त्रमाह - तस्मादिति।** तस्मात् जेतुमशक्यत्वात् सर्वे यूयं त्रिविष्टपं त्यक्त्वा निलयमदर्शनं यात गच्छत। कथम्भूताः? यतः येन कालेन शत्रोः पराजयो नौन्नत्यं वा भविष्यति तं कालं प्रतीक्षमाणास्सन्तः।।३०।।

कोऽसौ स[9] कालः तत्राऽऽह अयमधुना विप्राणां बलेनोदर्कउत्तरोत्तरमधिकं फलं यस्य ऊर्जितः

---

1. A,B,J Omit यस्मात् 2- -2. B,H,J,V Omit. 3. B,H,J,V Omit बले 4- -4. W Omits 5. A,B,T 'त्यका' 6. W Omits यत् 7. W Omits भवद्विधः 8. A,B,T Omit भवादृशः 9.A,B,T Omit सः

बलीभूतः विक्रमो यस्य, तादृश आस्ते, स पुनः तेषां विप्राणामेवावमानेन[1] हेतुना सानुबन्धः ससमृद्धिः विनङ्क्ष्यति, तं कालं प्रतीक्षमाणा[2] इत्यर्थः।।३१।।

एवमित्थमर्थानुदर्शिना तत्तत्कालोचितकर्तव्यप्रयोजनाभिज्ञेन बृहस्पतिना सम्यगालोचिताः गीर्वाणाः सुरास्त्रिविष्टपं त्यक्त्वा कामरूपिणस्सन्तः जग्मुः।।३२।।

**विज०** असौ बलिः तेजसा केन ब्रह्मणा समः। केन केनापीति वा।।२५।।

प्रतिवोढुं प्रतियोद्धुं वारयितुं वा इदं जगद्यतः।।२६।।

ओज आदय, एष समुद्यमश्च यतः मद्रिपोः एतस्य दुर्धर्षत्वस्य कारणं ब्रूहीत्यन्वयः।।२७।।

गुरुभिः भृगुभिः यतः कारणात्।।२८,२९।।

त्रीणि विष्टपानि महरादिस्थानानि यस्मिन् तत्तथा।।३०।।

एष बलिः विप्राणां बललक्षणमुत्तरफलं यस्य स तथा। कुत इति तत्राऽऽह - सम्प्रतीति।।३१,३२।।

**देवेष्वथ[3] विलीनेषु[4] बलि वैरोचनः पुरीम्।**
**देवधानीमधिष्ठाय वशं निन्ये जगत्त्रयम्।।३३।।**

**तं विश्वजयिनं शिष्यं भृगवः शिष्यवत्सलाः।**
**शतेन हयमेधाना मनुव्रतमयाजयन्।।३४।।**

**ततस्तदनुभावेन भुवनत्रयविस्तृताम्।**[5]
**कीर्तिं दिक्षु वितन्वानः स रेजे[6] उडुराडिव।।३५।।**

**बुभुजे च श्रियं स्वृद्धां[7] द्विजदेवोपलम्भिताम्।**
**कृतकृत्य मिवाऽऽत्मानं मन्यमानो महामनाः।।३६।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
अष्टमस्कन्धे पञ्चदशोऽध्यायः।।१५।।

**श्रीध० तमिति।** एवं प्राप्तमिन्द्रपदं स्थिरीकर्तुं, अयाजयन्। अनुव्रतं अनुवर्तिनम्।।३३-३५।।

**बुभुजेति।** द्विजदेवै ब्राह्मणैः उपलम्भितां प्रापिताम्।।३६।।

---

1. A,B,T "ण" 2. A,B,T "क्षन्त 3. M,Ma "त्रि" 4. A,B,G,J,T "त्रि" 5. A,B,G,J,M,Ma,T "ध्रु" 6. H,V "जेधु 7. M,Ma "ध्र"

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्याया पञ्चदशोऽध्यायः।।१५।।

**वीर०** एवं देवेष्वन्तर्हितेषु सत्सु, अथ वैरोचनो बलिः देवधानीं पुरीं अधिष्ठाय लोकत्रयं स्ववशमकरोत्।।३३।।

ततस्तं विश्वजयिनं शिष्यमनुव्रतं बलिं तद्वत्सला भृगवो हयमेधानां शतेन [1]अश्वमेधानां शतेन[1] अयाजयन् प्राप्तमिन्द्रपदं स्थिरीकर्तुं अयाजयन् [2]इत्यर्थः।।३४।।

ततो हयमेधयागशतप्रभावेण लोकत्रयव्याप्तां कीर्तिं वितन्वानः स बलिः [3]चन्द्रमा इव रराज।।३५।।

**द्विजदेवैः** ब्राह्मणैः उपलम्भितां प्रापितां सुसमृद्धां श्रियं सम्पदं बुभुजे। कथम्भूतः? महामनाः दीर्घसङ्कल्पः आत्मानं, कृतं कृत्यं कर्तव्यप्रयोजनं येन तं,कृतार्थमिव मन्यमानः।।३६।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां पञ्चदशोऽध्यायः।।१५।।

**विज०** द्विजाः भृगवः त एवमभीष्टं दातृत्वेन देवाः उपलम्भितां प्रापिताम्।।३३-३६।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
अष्टमस्कन्धे पञ्चदशोऽध्यायः।।१५।।

(विजयध्वजरीत्या चतुर्दशोऽध्यायः।।१४।।)

1--1. A,B,T Omit 2. W Omits इत्यर्थ. 3 A,B,T चन्द्र

oooOooo

# षोडशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या पञ्चदशोऽध्यायः)

### श्रीशुक उवाच

एवं पुत्रेषु नष्टेषु देवमाताऽदितिस्तदा।
हृते त्रिविष्टपे दैत्यैः पर्यतप्यदनाथवत्।।१।।

एकदा कश्यपस्तस्या आश्रमं भगवानगात्।
निरुत्सवं निरानन्दं समाधेर्विरतश्चिरात्।।२।।

स पत्नीं दीनवदनां कृतासनपरिग्रहः।
[1]संभाजितो यथान्याय मिदमाह कुरूद्वह!।।३।।

अप्यभद्रं न विप्राणां भद्रे लोकेऽधुना[2] गवाम्।
न धर्मस्य न लोकस्य मृत्योश्छन्दानुवर्तिनः।।४।।

अपि वाऽकुशलं[3] किञ्चित् गृहेषु गृहमेधिनि।
धर्मस्यार्थस्य कामस्य यत्र योगो ह्ययोगिनाम्[4]।।५।।

अपि वाऽतिथयो[5] ह्यत्र कुटुम्बासक्तया त्वया।
गृहादपूजिता याताः प्रत्युत्थानेन वा क्वचित्।।६।।

गृहेषु येष्वतिथयो[6] नाऽर्चिताः सलिलैरपि।
यदि निर्यान्ति ते नूनं फेरुराजगृहोपमाः[7]।।७।।

[8]अप्यग्नयस्ते[9] वेलायां न हुता हविषा सति।
त्वयोद्विग्नधिया भद्रे! प्रोषिते मयि कर्हिचित्।।८।।

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

षोडशे पुत्रनाशेन शोचन्त्या अदितेः पतिः। प्रार्थितः कश्यपः प्राह पयोव्रतमितीर्यते।। यद्वा-

षोडशे कश्यपोऽदित्या प्रार्थितो लीनपुत्रया। महच्छ्रेयस्करं तस्यै पयोव्रतमुपाविशत्।।

---

1. H,V सम्भावितो 2.A,B,G,J,M,Ma,T "नाऽऽगतम् 3. M,Ma किं वा 4. M,Ma "नाम् 5. A,B,G,J,M,Ma,T योऽभ्येत्य 6. W योऽर्चि" 7. M,Ma प्रेत" 8. M,Ma अथो" 9. A,B,G,J,M,Ma,T "स्तु

इदानीं श्रीवामनावतारप्रसङ्गमाह - **एवमिति** - यावदध्यायपरिसमाप्ति। नष्टेषु अदृश्येषु सत्सु।।१,२।।

**स** इति। स कश्यपः पत्नीमिदमाह।।३।।

दीनवदनत्वादिकमालक्ष्य बहुधा विकल्पयन्पृच्छति - **अप्यभद्रमिति** सप्तभिः। हे भद्रे! मृत्योश्छन्दमिच्छामनुवर्तत इति तथा। मृत्युवशवर्तिनो जनस्येत्यर्थः।।४।।

**अपीति**। हे गृहमेधिनि! अपि वा किं वा गृहेषु धर्मादेः किञ्चिदकुशलमिति काङ्क्षा प्रश्नः। यत्र येषु गृहेषु अयोगिनामपि योगः स्वधर्मादिना योगफलं भवति।।५।।

**अपि वेति**। किं वा, त्वया अपूजिता एवाऽभ्येत्य गृहाद्याताः।।६।।

**गृहेष्विति**। नार्चिता अनर्चिताः सन्तो यदि निर्गच्छन्ति ते गृहाः फेरुराजः सृगालराजः तदीयविवरतुल्याः।।७।।

**अपीति**। वेलायां होमकाले कर्हिचिन्न हुताः किम्?।।८।।

## श्रीवीरराघवविदुषालिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं बलेरिन्द्राधिपत्यप्राप्तिप्रकार मभिधाय अथ भगवतो वामनावतारप्रकारं प्रस्तोष्यन् तदुपोद्घातरूपां कथां तावत्प्रस्तौति मुनिः - **एवमिति**। इत्थं पुत्रेष्विन्द्रादिषु नष्टेष्वदृश्येषु सत्सु दैत्यैः त्रिविष्टपे हृते च सति देवमाता अदितिः अनाथवत् असहाया इव पर्यतप्यत्।।१।।

एवं परितप्यन्त्यामदित्यां कदाचिद्भगवान् कश्यपः चिरात् समाधेर्विरतः तस्या अदितेराश्रममाजगाम। कथम्भूतम्? निर्गतः उत्सवः यस्मात्, निर्गत आनन्दो यस्मात्, तम्।।२।।

स कश्यपः कृत आसनपरिग्रहो येन सः, यथान्यायं सभाजितः सम्यक् पूजितः हे कुरूद्वह! दीनं वदनं यस्यास्तां पत्नीमिदं वक्ष्यमाणमाह।।३।।

दीनवदनामालक्ष्य बहुधा विकल्पयता कश्यपेन पृष्टमाह - **अपीति** सप्तभिः। अपीति प्रश्नद्योतकमव्ययम्। हे भद्रे! अधुना लोके विप्राणां गवां धर्मस्य लोकस्य जनस्य, कथम्भूतस्य मृत्योः छन्दमिच्छामनुवर्तत इति तथा तस्य च अभद्रम् अकुशलं न हि।।४।।

हे गृहमेधिनि! अपि वा किं गृहेषु धर्मादेः किञ्चिदकुशलमिति काङ्क्षा प्रश्नः। गृहान्विशिनष्टि - यत्र येषु

1. A,B,J त्यादि 2- -2. A,B,J यावत्समाप्ति। 3. A,B,T तारं 4- -4. W Omits

गृहेषु अयोगिनामपि योगः स्वधर्मादिना योगफलं भवति। यद्वा अयोगिनामेव योगः आसक्तिः योगिनान्तु नेत्यर्थः।।५।।

अतिथयः आगत्य कुटुम्बासक्तया त्वया प्रत्युत्थानादिना कदाचिदप्यपूजितास्सन्तो गृहात् याता गताः किं वा।।६।।

यद्यतिथयोऽभ्येत्य येषु गृहेषु सलिलैरपि अनर्चितास्सन्तो निर्गच्छन्ति। तर्हि ते गृहाः नूनं सृगालनाथ बिलतुल्या एव।।७।।

हे सति! हे भद्रे ! मयि प्रोषिते प्रस्थिते सति उद्विग्नधिया त्वया अग्नयः आहवनीयादयः त्वदधीनाः हविषा वेलायामुदिते सूर्ये "प्रातर्जुहोति" इत्युक्तप्रातरादिकाले न हुताः किं वा?।।८।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

तस्या अदित्याः।।१-३।।

आदित्यलोके विप्राणामभद्रं नाऽऽगतमपि? किं, धर्मस्य अभद्रं नागतमपि? किम् अर्थस्य अभद्रं नाऽऽगतमपि? छन्दानुवर्तिनो मृत्योस्सकाशात् अभद्रं लोकस्य नाऽऽगतं किम्? अयोगिनां संसारिणां यत्र येषु धर्मादियोगोऽस्ति तेषु किञ्चिदप्यकुशलं न हीति तत्राऽनुकर्षः कर्तव्यः।।४-६।।

प्रेतराजगृहोपमाः श्मशानतुल्याः।।७।।

वेलायामिति, योग्यकाले प्रोषिते गृहादन्यत्र स्थिते।।८।।

**यत्पूजया कामदुघान्[1] याति[2] लोकान्गृहव्रतः[3]।**
**ब्राह्मणोऽग्निश्च वै विष्णोः सर्वदेवात्मनो मुखम्।।९।।**

**अपि सर्वे कुशलिनस्तव पुत्रा मनस्विनि।**
**लक्षयेऽस्वस्थमात्मानं भवत्या लक्षणैरहम्।।१०।।**

**अदितिरुवाच**

**भद्रं द्विजगवां ब्रह्मन् धर्मस्याऽस्य जनस्य च।**
**त्रिवर्गस्य परं क्षेत्रं गृहमेधिन् गृहा इमे।।११।।**

---

1. W दुहा 2. M,Ma यान्ति 3. A,B,G,J,T °हान्वितः, M,Ma °हान्विताः

अग्रयोऽतिथयो भृत्या भिक्षवो ये च[1] लिप्सवः।
सर्वं भगवतो ब्रह्मन् अनुध्यानान्न रिष्यति।।१२।।

को नु मे भगवन्कामो न सम्पद्येत मानसः।
यस्या भवान् प्रजाध्यक्ष एवं धर्मान्प्रभाषते।।१३।।

तवैव मारीच[2] मनश्शरीरजाः प्रजा इमास्सत्त्वरजस्तमोजुषः।
समो[3] भवांस्तासु[4] सुराविषु प्रभो तथाऽपि[5] भक्तं[5] भजते महेश्वरः।।१४।।

तस्मादीश[6] भजन्त्या मे श्रेयश्चिन्तय सुव्रत।
हतश्रियो हतस्थानान्सपत्नैः[7] पाहि नः प्रभो[8]।।१५।।

परे विवासिता साऽहं मग्ना व्यसनसागरे।
ऐश्वर्यं श्रीर्यशःस्थानं हतानि प्रबलैर्मम।।१६।।

**श्रीध० अपीति**। भवत्या आत्मानं मनः अस्वस्थमप्रकृतिस्थं लक्षणैर्मुखम्लान्यादिभिः[9] लक्षयामि ।।९,१०।।

अस्वास्थ्यकारणमन्यदस्तीति वक्तुं त्वत्पृष्टमभद्रादिकं नाऽस्तीत्याह - **भद्रमिति** द्वाभ्याम्। इमे गृहास्त्रिवर्गस्य परं क्षेत्रमुद्भवस्थानम्। त्रिवर्गोऽपि यथावद्वर्तत इत्यर्थः।।११।।

**अग्रय** इति। भगवतस्तवाऽनुध्यानं यन्मया क्रियते तस्मादग्रयोऽतिथय इत्यादि सर्वं न रिष्यते न हीयते।।१२।।

प्रस्तुतं विज्ञापयितुमाह - **कोन्विति**।।१३।।

सम्पाद्यं काममाह - **तवैवेति** चतुर्भिः।।१४।।

**तस्मादिति**। सपत्नैर्दैत्यैर्हृता श्रीः येषाम्। हृतं स्थानं येषामिति पुत्राभिप्रायेण बहुवचनम्।।१५,१६।।

**वीर०** किञ्च[10], अग्नीन्विशिनष्टि **यत्पूजयेति**। कामानिष्टार्थान् दोग्धीति तथा तान् तया येषामग्नीनां पूजया गृहान्वितः[11] गृहस्थः पुमान् पुण्यलोकान् याति प्राप्नोति। किञ्च, ब्राह्मणोऽग्निश्च सर्वदेवताशरीरकस्य विष्णोर्मुखं, वै निश्चये। "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्"(पु.सू.1-6) "मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च"(पु.सू. 1-6) इत्यादि श्रुतेः इति भावः।।९।।

---

1. W बलीप्सवः 2. H,V हे देव! 3. M,Ma मनोरथं ता" 4. A,B,G,J,T "तास्वसु" 5- -5. M,Ma यथा विभागं 6. M,Ma "दंश 7. H,M,Ma,V,W "नाः स" 8. H,V प्रजाः 9. H,V नादि" 10 W Omits किञ्च 11 W Omits गृहान्वित.

हे मनस्विनि! ते सर्वे पुत्राः कुशलिनोऽपि कुशलिन एव हि? किमालक्ष्य एवं पृच्छसीत्यत्राऽऽह - भवत्या आत्मानं मनः अस्वस्थमप्रकृतिस्थं वदनदैन्यादिभिश्चिह्नैरहं लक्षये तव चित्तमस्वस्थं लक्षयित्वाऽहं पृच्छामीति भावः।।१०।।

एवं [1]पृष्टा [2]सती अदितिः अस्वास्थ्यकारणमन्यदिति वक्तुं तत्पृष्टमभद्रादिकं नाऽस्तीत्याह - **भद्रमिति** द्वाभ्याम्। हे ब्रह्मन्! द्विजादीनां भद्रमेव तथा हे गृहमेधिन्! त्रिवर्गस्य धर्मार्थकाम[3]रूपस्य यत्परं क्षेत्रमुद्भवस्थानं तद्गृहं गृहाश्रमश्च अग्न्यादयः पूजेप्सवश्चेति एतत्सर्वं हे ब्रह्मन्! भगवतस्तव अनुध्यानात् मया क्रियमाणाद्धेतोः न रिष्यति न नङ्क्ष्यति न हीयते इत्यर्थः।।११,१२।।

अनुध्यानान्न रिष्यति इत्येतदेव काङ्क्षा दर्शयति - **को न्विति**। हे भगवन्! मे मानसो मनोविषयः मनसा काङ्क्षितः कामः को नु न सम्पद्येत, सर्वोऽपि कामः सम्पत्स्यत एवेत्यर्थः। कुतः? यतो भवान् प्रजाध्यक्षः प्रजानां पतिस्सन् यस्या मे त्वद्धर्मपत्न्याः एवंविधान् धर्मान् प्रभाषते उपदिशति। उपदेशेनैवं विधान् धर्मान् त्वय्यनुष्ठापयति सति को नु कामो दुर्लभ इति भावः।।१३।।

तर्हि किं तव चित्तास्वास्थ्यनिमित्तमित्यपेक्षायां तद्विज्ञापयितुं, तदयं नाऽपाकुर्यादित्याशङ्कया तावत्तं प्रसादयति - **तवेति**। हे मारीच! सत्त्वादिप्रधाना इमास्सर्वाः प्रजा देवाः दैत्याश्च तवैव मनसः शरीराच्च जाताः। अतो भवान् तासु [4]सुरादिषु प्रजासु यद्यपि समः समदर्शनः तथाऽपि हे प्रभो! महेश्वरो भगवान् भक्तं भजतेऽनुवर्तते भक्त पक्षपाती भगवानित्यर्थः। प्रभोरिति पाठे प्रभोः तव भक्तं महेश्वरो भवान् भजत इत्यर्थः।।१४।।

तस्मात् भक्तानुभजनस्वभावत्वात् [5]त्वं त्वां भजन्त्याः मे मम श्रेयः श्रेय उपायं चिन्तयाऽऽलोचय। हे सुव्रत! कस्तवाऽधुना श्रेयोविपर्ययः तत्राऽऽह - सपत्नै दैत्यै र्हृता श्रीर्येषां, हृतानि स्थानानि येषां तान् अस्मान् अस्मत्पुत्रान् पाहि पालय। [6]यतः[7] हे प्रभो! [8]पालनसमर्थस्त्वम् इत्यर्थः[8]।।१५।।

सा त्वत्पत्नीत्वेन असम्भावितदुःखाऽहम् अधुना परैर्दैत्यैर्विवासिता स्वस्थानादुच्चाटिता, पुत्रेषु स्वाभेदाभिमानेनाऽहं [9]विवासितेत्युक्तम्। दुःखसागरे मग्नाऽभवम्, अधुना प्रबलैर्दैत्यैः मम ऐश्वर्यादीन्यपहृतानि। तत्र ऐश्वर्यमाधिपत्यं, श्रीः [10]भोग्यादिसम्पत्, स्थानं निवासदेशः।।१६।।

---

1. W adds आ 2. A,B,T Omit सती 3. A,B,T "मस्य 4. A,B,T असु" 5. W Omits त्वं 6. A,B,T add इत्यर्थः 7. W Omits यतः 8- -8 W Omits 9. A,B,T ग्रायेण 10. A,B,T भोगा"

**विज०** सर्वदेवात्मनो विष्णोर्मुखं ब्राह्मणोऽग्निश्चेति द्वयम्।।९।।

हि यस्मात् अस्वस्थम्।।१०,११।।

इमे गृहा अग्रयश्च इत्यादि सर्व भगवतोऽनुध्यानात् न रिष्यति न क्षिणोति।।१२।।

यस्या मम प्रजानां कुशलाकुशलयोः अध्यक्षः साक्षित्वेन द्रष्टा [1]भगवानेवंविधान् धर्मान् प्रवक्तीति यत्।।१३।।

यथाविभागं सच्चादिगुणानुकूल्येन अद्य दैत्यानां मनोरथं साधयतीत्यभिप्रायः।।१४।।

अंशं देवताभागं तव देहार्धं व्यवहारार्थं वा, हृतस्थानाः हृतस्वर्गस्थानाः।।१५।।

पुनरुक्तमेव विशिनष्टि - **परैरिति**। मम पुत्राणामिति शेषः।।१६।।

**यथा तानि पुरस्साधो प्रपद्येरन् ममात्मजाः।**
**तथा विधेहि कल्याण्या[2] धिया कल्याणकृत्तम।।१७।।**

**श्रीशुक उवाच**

**एवमभ्यर्थितोऽदित्या कस्तामाह [3]हसन्निव[4]।**
**अहो मायाबलं विष्णोः स्नेहबद्धमिदं जगत्।।१८।।**

**क्व देहो भौतिकोऽनात्मा क्व चाऽऽत्मा प्रकृतेः परः।**
**कस्य के पतिपुत्राद्या मोह एव हि कारणम्।।१९।।**

**उपतिष्ठस्व पुरुषं भगवन्तं जनार्दनम्।**
**सर्वभूतगुहावासं वासुदेवं जगद्गुरुम्।।२०।।**

**स विधास्यति ते कामान् हरिर्दीनानुकम्पनः।**
**अमोघा भगवत्सेवा नेतरेति मतिर्मम।।२१।।**

**अदितिरुवाच**

**केनाऽहं विधिना ब्रह्मन्! उपस्थास्ये जगद्गुरुम्।**
**यथा मे सत्यसङ्कल्पो विदध्यात्स मनोरथम्।।२२।।**

---

1. A,B भवा" 2. A,B,G,J,M,Ma,T "णं 3. A,B,G,J,M,Ma,T स्मय" 4. H,V,W add कश्यप उवाच 5. W कश्यपमे 6. A,B,G,J,M,Ma,T "वद्भक्तिर्न " 7. A,B,G,J,M,Ma,T "त्यतिम् 8. M,Ma "धाति

**आदिश[1] त्वं द्विजश्रेष्ठ विधिं तदुपधावनम्।**
**आशु तुष्यति मे देवः[2] सीदन्त्यास्सह पुत्रकैः।।२३।।**

कश्यप उवाच

**एतन्मे भगवान्पृष्टः प्रजाकामस्य पद्मजः।**
**यदा[3]ऽऽह ते प्रवक्ष्यामि व्रतं केशवतोषणम्।।२४।।**

**श्रीध० एवमिति।** कः कश्यपः। प्रथमं तावत्पुत्रस्नेहं त्याजयितुं विस्मयव्याजेनैव तत्त्वमुपदिशति - अहो इति सार्धेन।।१८-१९।।

अत्राऽपरितुष्यन्तीं प्रत्याह - **उपतिष्ठस्वेति** द्वाभ्याम्।।२०।।

**स** इति। नन्वेवम्भूतकामप्राप्तिहेतुः देवान्तरसेवा प्रसिद्धा तत्राऽऽह - अमोघेति।।२१।।

**केनेति।** स[4] यथा च मे मनोरथं विदध्यात्।।२२।।

**आदिशेति।** यथा च मे आशु तुष्यति तथा तत्सेवाप्रकारमादिश।।२३।।

**एतदिति।** मे मया पृष्टः पद्मजो मे यद्व्रतमाह - एतत्ते तव प्रवक्ष्यामीत्यन्वयः।।२४।।

**वीर०** एतानि मत्पुत्राः पुनर्यथा पूर्ववत्प्रतिपद्येरन् प्राप्नुयुः यथा येनोपायेन प्रपद्येरन्निति वा। तथा हे साधो! हे कल्याणकृच्छ्रेष्ठ! कल्याणधिया शुभालोचनया विधेहि कुरु।।१७।।

एवमित्थम् अदित्या प्रार्थितः कः प्रजापतिः कश्यपः स्मयन्निव तामदितिमाह।।१८।।

तदेवाऽऽह - **अहो** इति। प्रथमं तावत्पुत्रस्नेहं त्याजयितुं विस्मयव्याजेन तत्त्वमुपदिशति अहो इति सार्धेन। अहो[5] विष्णोर्मायाया बलं कियत् इदं जगत् स्नेहबद्धं पुत्रादिषु स्नेहपाशेन बद्धमित्येतत् भौतिकः भूतपञ्चकपरिणामरूपो देहः क्व? प्रकृतेः परो भिन्न आत्मा प्रत्यगात्मा क्व? परस्परमेव मत्यन्त विलक्षणयोः देहात्मनोरभेदः अत्यन्तमसम्भावित इत्यर्थः। एवमसम्भावितभेदयोर्देहात्मनोः मध्ये कस्येमे पुत्राद्याः। कस्य सम्बन्धिनः? किं देहस्य[6]? किं वा आत्मनः? अयम्भावः तावन्नात्मनः साक्षात्पुत्रादिभिः सम्बन्धः, अपि तु देहद्वारा। देहस्य भौतिकत्वेन उपचयादिविकारित्वेन च अनित्यत्वात् तत्सम्बन्धिषु पुत्रादिषु[7] स्नेहोऽज्ञानमूलक इति तदेवाऽऽह - मोह एव हि कारणमिति। देहात्मभ्रम एवाऽत्र स्नेहे कारणमित्यर्थः।।१९।।

एवं तत्त्वोपदेशेन अपरितुष्यन्तीं प्रत्याह - **उपतिष्ठस्वेति** द्वाभ्याम्। वासुदेवमुपतिष्ठस्व आराधय,

---

1. W 'शस्व 2. H,V 'व। 3. M,Ma 'हं ते 4. A,B,J Omit स: 5. A,B,T Omit अहो 6. W adds सम्बन्धिनः 7. A,B,T Omit पुत्रादिषु

वासुदेवाराधनस्य समीहितसाधनत्वं सूचयन् तं विशिनष्टि - जगद्गुरुं जगत आराधकस्य त्रैकस्य गुरुं हितकारिणं, [1]काऽधिवसन् हितं करोति? अतो विशिनष्टि - सर्वेषां भूतानां गुहासु हृदयकुहरेषु आवासो यस्य तम्, अनेन वासुदेवशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं दर्शितम्। ननु, किं विशेषेण वासुदेवमेव उपतिष्ठस्वेति वदसि? इत्यतो विशिनष्टि - जनार्दनमिति। ' अर्द गतौ याचने च ' इति धातुः, जनैः श्रेयस्कामैः अर्द्यते याच्यते इति [2]जनार्दनः, स एव याचनीय इति भावः। तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि - भगवन्तं षाड्गुण्यपूर्णं, देवतान्तरस्य दरिद्रत्वादिति भावः। वदान्यत्वमाह - पुरुषमिति। पुरु अधिकं षणोति ददातीति पुरुषः तम्। 'षणु - दाने' इति धातोः "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" इति डः। "य आत्मदा बलदाः" ( नृ.पू.ता.उ. 2-12 ) "एको बहूनां यो विदधाति कामान्" (श्वेता.उ. 6-13) इत्यात्मपर्यन्तदातृत्वेन प्रसिद्ध इति भावः।।२०।।

पुरुषजनार्दनपदाभ्यामभिप्रेतं विशदयन्नाह - स इति। स पुरुषो जनार्दनः ते तव कामान् विधास्यति पूरयिष्यति। अनेन उदाहृतश्रुत्यर्थोऽनुसंहितः। स च पुरुषशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूत इति च दर्शितम्। न केवलं कामानां विधाता, अपि तु हरिराश्रितार्तिहरश्च। नाऽहं तमाराधितुं प्रभवामीति शङ्कामपनुदन्विशिनष्टि - दीनानुकम्पनः दीनेषु किञ्चिदानुकूल्ययुक्तेषु विपुलापराधिष्वपि निरतिशयकृपायुक्तः। भगवतः पूर्णषाड्गुण्य[3]-युक्तस्य अवाप्तसमस्तकामस्यैव सेवा अमोघा सफला नेतरा [4]न देवतान्तरसेवेति मम मतिः, मतमित्यर्थः, देवतान्तरस्य अनवाप्तसमस्तकामत्वादिति भावः।।२१।।

एवमुपदिष्टानिष्ट निरसनेष्टप्रापणसमर्थोपाया तदुपायानुष्ठान प्रकार बुभुत्सया पृच्छत्यदितिः - केनेति द्वाभ्याम्। हे भगवन्! अहं केन विधिना जगत्पतिं भगवन्तं [5]उपस्थास्ये[-5] भजेयम्? यथा येन प्रकारेण भजमानाया मम स सत्यसङ्कल्पो भगवान्मनोरथं विदध्यात्।।२२।।

हे द्विजश्रेष्ठ! पुत्रैस्सह क्लिश्यन्त्याः मम यथा च देवो भगवानाशु तुष्यति तथा तं तद्भजनप्रकारात्मकं विधिमादिशस्व उपदिश।।२३।।

एवं पुनरापृष्टो भगवान्कश्यपः पयोव्रताख्यं भगवदाराधनात्मकं कर्मोपदेक्ष्यन् तस्मिन् विस्रम्भार्थं साम्प्रदायिकत्वं वदन् तत्कथनं प्रतिजानीते - एतदिति। प्रजाः पुत्रान् कामयमानस्य मे मया पृष्टो भगवान् पद्मजो ब्रह्मा यत्पयोव्रताख्यं कर्माऽऽह तत्केशवस्य सन्तोषकरं कर्म ते तुभ्यं प्रवक्ष्यामि।।२४।।

---

1. W काऽव° 2. A,B,T Omit जनार्दनः 3. W °ण्यस्य 4. A,B,T Omit न 5- -5 W Omits

विज० अनात्मा जडात्मकः, मोहोऽज्ञानम्।।१७-२०।।

इतराः इतरदेवादिविषयाः।।२१।।

सत्यसङ्कल्पो हरिः।।२२।।

तदुपधावनं तस्य हरेः सेवाविषयम्, आशु तुष्यति, येनेति शेषः।।२३।।

यदेतद्व्रतं तद्वक्ष्यामि।।२४।।

फाल्गुनस्याऽमले पक्षे द्वादशाहं पयोव्रतम्[1]।
अर्चयेदरविन्दाक्षं भक्त्या परमयाऽन्वितः।।२५।।

सिनीवाल्यां मृदाऽऽलिप्य स्नायात्क्रोडविदीर्णया।
यदि लभ्येत वै स्रोतस्येतं मन्त्रमुदीरयेत्[2]।।२६।।

त्वं देव्याऽऽदिवराहेण रसायाः स्थानमिच्छता।
उद्धृताऽसि नमस्तुभ्यं पाप्मानं मे प्रणाशय।।२७।।

निर्वर्तितात्मनियमो[3] देवमर्चेत्समाहितः।
अर्चयेत्[4] स्थण्डिले सूर्ये जले वह्नौ गुरावपि।।२८।।

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महीयसे।
सर्वभूतनिवासाय वासुदेवाय साक्षिणे।।२९।।

नमोऽव्यक्ताय सूक्ष्माय प्रधानपुरुषाय च।
चतुर्विंशद्गुणज्ञाय[5] गुणसंख्यानहेतवे[6]।।३०।।

नमो द्विशीर्ण त्रिपदे[7] शतुश्शृङ्गाय तन्तवे।
सप्तहस्ताय यज्ञाय त्रयीविद्यात्मने नमः।।३१।।

नमश्शिवाय रुद्राय नमश्शक्तिधराय च[8]।
सर्वविद्याधिपतये भूतानां पतये नमः।।३२।।

---

1. A,B,G,J,M,Ma,T व्रतः 2. H,V 'मुदाहरेत् 3. H,M,Ma,V निव° 4. A,B,G,J,M,Ma,T अर्चायां 5. H,V,W 'ज्ञ गु' 6. M,Ma 'स्था' 7. M,Ma,W 'चं 8- -8. M,Ma 'स्साधारणाय च।

**श्रीध० फाल्गुनस्येति।** अमले शुक्ले।।२५।।

तत्राऽऽदौ पूर्वेद्युः कृत्यमाह - **सिनीवाल्यामित्यारभ्य**[1] " ब्रह्मचार्यथ तद्रात्र्याम् " (भाग.8-16-44) इत्यन्तेन ग्रन्थेन। यदि लभ्येत तर्हि क्रोडविदीर्णया वन्यवराहोत्खातया आलिप्य।।२६।।

तत्र मन्त्रः ' त्वं देवि!' इति। हे देवि! त्वं रसाया उद्धृताऽसि।।२७।।

**निर्वर्तितेति।** निर्वर्तित आत्मनियमो नित्यनैमित्तिको येन।।२८।।

तत्राऽऽवाहनादौ नवमन्त्रानाह-**नमस्तुभ्यमिति**। पाद्यादौ विशेषतस्तु द्वादशाक्षरं वक्ष्यति।।२९।।

**नम इति।** चतुर्विंशतिगुणाः तत्त्वानि जानातीति तथा तस्मै। गुणसंख्यानस्य[2] हेतवे सांख्यप्रवर्तकाय।।३०।।

एवं सामन्यतो नत्वा गुणावतारान्प्रणमति त्रिभिः। तत्राऽऽदौ मन्त्रोक्तयज्ञरूपेण विष्णोः प्रणामो **नम इति**। द्वे शीर्षे यस्य। त्रयः पादा यस्य। तन्तवे फलविस्तारकाय। त्रय्यां विद्यायामात्मा यस्येति त्रिधा बद्ध इत्यस्याऽर्थ उक्तः। तथा च मन्त्रः - " चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश" (मना.उ. 8-10-1) इति[3]। "मार्गमुद्रवदालूनः सोऽयं प्राज्ञैर्यथायथम्। विष्णुस्तु यज्ञरूपेण स्तूयते तेन[4] तत्त्वतः"। अस्यार्थः[5] - मार्गः विष्ण्वाराधनं तस्मिन् या मुत् तां गच्छन्ति ये सायैर्गीयते वा ते मुद्राः भक्ताः ते विद्यन्ते एषु ते मुद्रवन्तः तैः आलूनः व्याप्तः साक्षात्कृतः इत्यर्थः। निवृत्तिमार्गलभ्यं अमृदानन्दं तत्प्रापकं उपासनामार्गं मुदं गच्छन्ति ते मार्गमुद्राः तत्प्रवर्तकाः आचार्याः ते विद्यन्ते। एषु अर्वाचीनेषु ते मार्गमुद्रवः तैः आलूनः पृथक्त्वेनोपासित इत्यर्थः। पाठान्तरे मुदं वहन्तीति मार्गमुद्वहन्तः तैः आलूनः पृथक्त्वेनोपासित इत्यर्थः। किञ्च पूर्वोदाहृतश्रुत्यर्थोऽपि यास्काचार्यैः विवृतः[6]। चत्वारि[7] शृङ्गेति। वेदा एव उक्तास्त्रयोऽस्य पादाः इति[8] सवनानि त्रीणि। द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये। सप्तहस्तासः सप्तच्छन्दांसि त्रिधा बद्धः[9] मन्त्रब्राह्मणकल्पैर्वृषभो रोरवीति रोरवणमस्य सवनक्रमेण ऋग्भिः यजुर्भिः सामभिः "यदेनमृग्भिः शंसन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः[10] स्तुवन्ति।" महादेव[11] इत्येष हि महान् देवो यद्यज्ञो मर्त्यां आविवेश इत्येष हि मनुष्यानाविशति यजनाय[12] इति।।३१,३२।।

---

1. A,B,J "दिना 2. H,V "नाः" 3. B इति।। ३१,३२ ।। (According to B edn the commentary ends here ) 4 A,J अनेन 5- -5. A,J Omit 6. A,J add तथा च यास्कः 7. A,J बा एन 8 A,J Omit इति 9. A,J add त्रेधा बद्धः 10. H,V Omit सामभिः 11- -11. H,V Omit

**वीर०** एवं प्रतिज्ञाय तदेवाऽऽह - **फाल्गुनस्येत्यादिना** यावदध्यायसमाप्ति। फाल्गुनस्य मासस्य अमले शुक्ले पक्षे द्वादशाहं द्वादशाहसाध्यं पयोव्रताख्य कर्म, कर्तव्यमिति शेषः। तेन पयोव्रतेन परमया अव्यभिचरितया भक्त्या यक्तोऽरविन्दाक्षमर्चयेत्। अन्वित इति पुंलिङ्गनिर्देशेन[1] एतन्मे पद्मज आह इत्यनेन ते प्रवक्ष्यामीत्यनेन च स्त्रीपुरुषसाधारणमेतद्व्रतानुष्ठानमिति सूचयति।।२५।।

तत्रादौ पूर्वेद्युः कृत्यमाह - **सिनीवाल्या** मित्यादिना "ब्रह्मचार्यथ तद्रात्र्याम्" (भाग.8-16-44) इत्यन्तेन। दृष्टेन्दुकलायाममावास्यायां यदि लभ्येत तर्हि क्रोडविदीर्णया अरण्यवराहोत्खातया मृदा मृत्तिकया देहमालिप्य स्रोतसि नद्यामिमं मन्त्रं वक्ष्यमाणं जपन् स्नायादुदीरयेदिति तदालेपनसमये एतन्मन्त्रमुदीरयेदित्यर्थः।।२६।।

मन्त्रमेवाऽऽह - **त्वमिति**। "उद्धृताऽसि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना" (मना.उ. 4-5) इति मन्त्रार्थानुवादकोऽयं मन्त्रः। हे देवि! हे भूदेवते![2]! स्थानं तव यथास्थान मिच्छता वराहेण श्रीभगवता त्वं रसायाः रसातलादुद्धृताऽसि। तुभ्यं नमः मम पापं प्रणाशय इतीयं मन्त्रमुदीरयन् मृदाऽऽलिप्य स्नायात्।।२७।।

ततो निर्वर्तितः सम्यगनुष्ठितः आत्मनियमः सन्ध्योपासनादिर्येन[3] तादृशः समाहितचित्तो हरिमभ्यर्चयेत्। कुत्राऽर्चयेत्? इत्यत्राऽऽह - **अर्चयेदिति**। स्थण्डिलादिषु पञ्चस्वप्यर्चयेत्[4]। तत्र स्थण्डिलं रङ्गवल्यादिभिः[5] अलङ्कृतां[5] भूमिः, जलं विशुद्धकुम्भसम्भृतम्[6]।।२८।।

तत्राऽऽवाहने[7] नव मन्त्रानाह - **नम** इति। अत्रायं विवेकः - अत्र प्रधानो मन्त्रो वासुदेवद्वादशाक्षरः वासुदेवं जगद्गुरुम् उपतिष्ठस्व इत्युक्तत्वात् "गन्धमाल्यादिभिश्चाऽर्चेत् द्वादशाक्षरविद्यया" (भाग.8-16-39) "जुहुयान्मूलविद्यया जपेदष्टोत्तरं शतम्" (भाग. 8-16-40) इति वक्ष्यमाणत्वाच्च। नमस्तुभ्यमित्यादयस्तु आवहनोपचारमन्त्रा इति। तत्राऽऽद्यो मन्त्रो द्वादशाक्षरार्थानुवादी भगवद्वासुदेव शब्दाभ्यां तत्प्रत्यभिज्ञानात्। सर्वभूतनिवासाय इत्यनेन वासुदेवशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमुक्तम्, सर्वभूतनिवासाय, अत एव वासुदेवशब्दवाच्यायेत्यर्थः। वसतीति वासुः, वसत्यस्मिन्निति वा वासुः। 'वस - निवासे' इति धातोः कर्तर्यधिकरणे च औणादिकः। आद्ये सर्वभूतेषु निवसत्यन्तरात्मतयेति सर्वभूतनिवासः तस्मै। द्वितीये तु सर्वभूतानामाधेयानां वासुः आधारभूतः तथा तस्मै। साक्षिणे इत्यनेन देवशब्दार्थ उच्यते। साक्षी साक्षाद्द्रष्टा सर्व

---

1. A,B,T Omit लिङ्ग 2. A,T "वि! ते 3. W सन्ध्यो " 4. W adds इत्यर्थः 5- -5. A,T Omit 6. A,B,T "ङ्ग 7. W Omits नव

चेतनाऽचेतनाद्यात्मकं वस्तुजातं साक्षात्पश्यन् दृश्यधर्मैरस्पृष्टः साक्षीत्युच्यते। देवशब्दस्याऽप्ययमेवाऽर्थः। स्वतेजसा दीप्यमानो हि देवः महीयसे पुरुषाय इत्यनेन " वेदाऽहमेतं पुरुषं महान्तम् " (पु.सू. 2-1) इति पुरुषसूक्तप्रत्यभिज्ञानात् 'तत्र चैतम्' इत्येतच्छब्देन पूर्वोक्तजगत्कारणत्वतदुपयुक्तगुणपौष्कल्यवतः परामर्शात् तस्य जगत्कारणत्वादिगुणजातस्य मन्त्रप्रतिपाद्यवासुदेवविशेषणत्वमवगम्यते, तदेवम्भूताय तुभ्यं नमः। सर्वत्र मन्त्रेषु[1] नमश्शब्दप्रयोगः स्वप्रयोक्त्रभिप्रायको ज्ञेयः[2]।।२९।।

यदि स[3] एवम्भूतो भगवान् सर्वभूतनिवासः सर्वसाक्षी च भवति[3] तर्हि सर्वैः[4] कथं[5] न दृश्यते? इत्यत्राऽऽह - नमोऽव्यक्तायेति। अयं मन्त्रस्तु "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुश्श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" ( मुण्ड.उ.1-6 ) इत्युपनिषत्प्रतिपाद्यपरमात्मस्वरूपप्रकाशकः अव्यक्तादिशब्दैरद्रेश्यसूक्ष्मभूतयोनित्वादिप्रत्यभिज्ञानात् अव्यक्ताय व्यक्तैरिन्द्रियैश्चक्षुरादिभिः न व्यज्यते न दृश्यते इत्यव्यक्तः तथा[6] तस्मै अद्रेश्यायेत्यर्थः। तत्र हेतुः सूक्ष्माय निरतिशयसूक्ष्मजीवान्तरात्मतया प्रवेशयोग्यत्वेन ततोऽपि सूक्ष्माय सूक्ष्मत्वप्रयुक्तं परिच्छिन्नत्वं वारयति - प्रधानपुरुषायेति। प्रधानपुरुषाय[7-7] प्रकृतिपुरुषरूपायेत्यर्थः। तद्रूप्यमत्र प्रकृतिपुरुषसमानाधिकृतत्वं, तच्च शरीरात्मभावननिबन्धनं शरीरबुद्धिशब्दानामात्मपर्यन्तत्वाभिप्रायेणाभेदनिर्देशः। एवञ्च सर्वान्तःप्रवेशयोग्यतया सूक्ष्मस्याप्याकाशस्येव प्रकृतिपुरुषान्तरात्मतया अनुप्रविष्टस्य स्वरूपमपरिच्छिन्नमेवेति भावः। प्रधानपुरुषायेति कारणावस्थाचिद्रूपत्वमुक्तम्। अथ कार्यावस्थतद्रूपत्वमाह - चतुर्विंशद्गुणाय[8] गुणभूतचतुर्विंशतितत्त्वाभिज्ञाय। गुणभावो विशेषणत्वं, शरीरत्वमिति यावत्। शरीरमपि हि आकृतिगुणादिवदपृथक्सिद्धविशेषणमेवेत्यभिप्रायः। अपृथक्सिद्धविशेषणविषयबुद्धिशब्दयोः तद्विशेष्य पर्यन्तत्वमाकृत्यधिकरणन्यायसिद्धम्। न केवलं चतुर्विंशति तत्त्वान्तरात्मतया तद्रूपत्वम्, अपि तु तत्कारणतयाऽपीत्याह - गुणसंख्यान हेतव इति। गुणानां सत्त्वादीनां चतुर्विंशतितत्वरूपेण कार्यावस्थानां संख्यानं गणनं तस्य हेतवे कारणभूताय गुणानां चतुर्विंशतिधा गणनायास्तेषां कार्यतापत्तिमूलकत्वात्तस्य तत्कारणत्वात् तद्धेतुत्वेन संख्यानहेतुत्वमपीत्यवगन्तव्यम्। यद्वा संख्यानं प्रमितिः, गुणसंख्यानस्य सत्त्वादिगुणानां प्रमितेः चतुर्विंशतिधा परिणतानां सत्त्वादिगुणानां प्रमितेः तद्विषयकप्रमायाः हेतवे। तत्प्रमाहेतुत्वञ्च तत्कारणत्वद्वारा इत्यवगन्तव्यम्। यद्वा गुणसंख्यानयोर्हेतवे।

1. A,B,T Omit 'त्र 2. W Omits ज्ञेयः 3- -3. W सर्वभूतनिवासः 4. W Omits सर्वैः 5. W कि 6. W Omits तथा 7- -7. W Omits 8. W गु°

संख्यानमत्र व्यष्टिप्रत्यगात्मस्वरूपम् अहमित्येवं सम्यक् स्वस्मै प्रकाशमानत्वात्। गुणशब्देन गुणकार्यभूतं चतुर्विंशतितत्त्वात्मकमचेतनद्रव्यमुच्यते। तयोर्हेतवे कारणभूतायेत्यर्थः ।।३०।।

एवं "यद्भूतयोनिम्" इति श्रुतिस्थभूतयोनिशब्दार्थ उक्तः। प्रधानपुरुषायेत्यादि पदत्रयेण कार्यकारणोभयावस्थ प्रकृतिपुरुषशरीरकत्वेन तत्कारणत्वेन च रूपात्मकस्य जगतः तद्विशेषणत्वमुक्तम्। अथ नामात्मकप्रपञ्चस्य तद्बोधकत्वेन तद्विशेषणत्वमाह - नम इति। अयं मन्त्रः " चत्वारि शृङ्गाः त्रयो अस्य पादाः द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश " (मना.उ.8-10) इति मन्त्रप्रकाशितशब्दात्मकप्रपञ्चविशेषणपरमात्मस्वरूपप्रकाशकः तस्मिन् हि मन्त्रे शब्दात्मकप्रपञ्चो वृषभत्वेन रूप्यते। शब्दश्च वर्णात्मको ध्वन्यात्मकश्चेति द्विविधः। वर्णात्मकोऽपि पुनः साध्वसाधुभेदेन द्विविधः, साधुश्च वेदरूपेण, तन्मूलकस्मृतीतिहासादिरूपेण च द्विविधः। तत्र "अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी नाम्ना यतस्सर्वाः प्रसूतयः। वेदशब्देभ्य एवाऽऽदौ देवादीनां स निर्ममे" (भारत.12-238-56) इत्याद्युक्तरीत्या कृत्स्नजगत्सृष्टेः वेदार्थालोचनमूलकत्वात्, वेदस्य प्राधान्यात् स च तन्मूलकस्मृत्यादिश्च साधुशब्दात्मकः प्रपञ्चो वृषभत्वेनाऽस्मिन् मन्त्रे रूप्यते। तदयं मन्त्रार्थः - महो देवः महान्देवः शब्दात्मको देवः। देवस्य परमात्मनो बोधकत्वाद्वा उपचाराद्देवः मर्त्यान् नश्वरान् देवमनुष्याद्यर्थान् परमात्मशरीरभूतान् आविवेश बोधयितुं प्रवृत्त इत्यर्थः। वृषभो रोरवीति प्रसिद्ध द्विशृङ्गचतुष्पादेकमूर्धवृषभविजातीय वृषभरूपः रोरवीति शब्दं करोति शब्दात्मकतामापन्न इत्यर्थः। विजातीयवृषभत्वेन तं रूपयति - चत्वारीति। अस्य शब्दात्मनो वृषभस्य शृङ्गाश्चत्वारि चत्वारः नामाख्यातनिपातोपसर्गाः त्रयो भूतभविष्यद्वर्तमानकालाः पादा आख्यातादीनां भूतादिकालोपाधिना विहितत्वाच्छब्दानां कालसाहचर्याच्च तेषां भूतादीनां पादत्वेन रूपणम्। द्वे शीर्षे प्रवृत्तिनिमित्तं तदाश्रयश्चेति द्वे शिरसी। सप्त विभक्तयो हस्तासः हस्ताः " आङ्गसेरसुक् " (अष्टा.7-1-50) इत्यसुगागमः। त्रिधा बद्धः उरसि कण्ठे शिरसि च बद्धः, स्थानत्रये एव शब्दानामाविर्भावादिति भावः इति। प्रकृतमन्त्रार्थस्तु त्रयीविद्यात्मने, त्रयीविद्या वेदविद्या तदात्मने तद्विशेषणकाय। तद्विशेषणकत्वञ्च तद्बोधयत्वरूपं विवक्षितम्। रूपात्मकप्रपञ्चस्य परमात्मनोऽपृथक्सिद्धविशेषणत्वात् अपृथक्सिद्धविशेषणवाचिशब्दानां विशेष्यपर्यन्त बोधकत्वस्वाभाव्यात् निगमागमादिशब्दजातबोध्यायेति फलितोऽर्थः। "काठिन्यवान्यो बिभर्ति" (विष्णु.पु.1-14-28) इत्यादिवत् द्विशीर्षत्वादिकं साक्षात्रयीविद्याविशेषणम् परमात्मनस्तु सद्वारकं

1--1. A,B,T Omit

विशेषणमित्यवगन्तव्यम्। तन्तवे तनोति यज्ञादिक्रियाकलापं विस्तारयति विस्तृत्य प्रकाशयतीति तन्तुस्तस्मै यज्ञाय। यज्ञो विष्णुः - "यज्ञो वै विष्णुः" (तैत्ति.सं.1-5-6) इति श्रुतेः। " यज्ञायाऽऽचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते" इति स्मृतौ यज्ञशब्दस्य विष्णौ प्रयोगाच्च। यज्ञाय विष्णुप्रकाशकाय। पूर्वोत्तरभागाभ्यां कर्मब्रह्मप्रतिपादकायेत्यर्थः। केचिदत्र यज्ञरूपेण विष्णुः स्तूयते इत्युक्त्वा, चत्वारिशृङ्गेति वेदा वा, एतदुक्ताः त्रयोऽस्य पादा इति सवनानि त्रीणि, द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये सप्तहस्तासः सप्त छन्दांसि, त्रिधा बद्धः त्रेधा बद्धो मन्त्रब्राह्मणकल्पैर्बद्धो वृषभो रोरवीति रोरवणं सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुर्भिस्सामभिः "यथैन मृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति" इति यास्कनिरुक्तमुदाहृत्य व्याचक्षते।।३१।।

तदेवं नामरूपात्मकजगदन्तरात्मत्वेन तत्कारणत्वेन च प्रकृतकर्माराध्यस्य वासुदेवस्य तद्विशेषणकत्वमुक्तम्। ननु, जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वं ब्रह्मरुद्रादिगतं न वासुदेवगतमित्याशङ्कायां यद्ब्रह्मादिगतं जगत्स्रष्टृत्वादिकं तदन्तरात्मतयाऽनुप्रविष्टस्य तच्छरीरकस्य तद्द्वारा तस्यैव विशेषणमित्यभिप्रायेण तद्रूपत्वमुच्यते - **नमश्शिवायेति** श्लोकद्वयेन[1]। तत्र शिवत्वादिधर्माणां प्रतर्दनाधिकरणन्यायेन इन्द्रद्वारा त्वाष्ट्रहन्तृत्वादीनामिव रुद्रब्रह्मशरीरकस्य परमात्मनः भूतानीति[2] सद्वारक विशेषणत्वमवगन्तव्यम्। शक्तिधराय अम्बिकापतये इत्यर्थः।।३२।।

**विज०** पयोव्रत इति पुंलिङ्गप्रयोगः सर्वसाधनत्वज्ञापनार्थः। मृदो विशेषमाह - क्रोडेति। वराहखातया स्रोतः स्यन्दमानं जलं तत्र स्नानं कुर्यादित्यर्थः।।२५,२६।।

रसायाः रसातलात्, स्थानमिच्छता, भूतानामिति शेषः।।२७।।

[3]निवर्तितात्मनियमः कृतसन्ध्योपासनादिकः।।२८,२९।।

गुणसंस्थानहेतवे कपिलात्मने।।३०।।

[4]" द्विशीर्षे चत्वारिशृङ्गाः" (म.ना.उ.8-10) इति श्रुतेः। " चत्वारि शृङ्गा वेदास्तु पादास्त्रिसवनानि च। [5]प्रायणीयं शिरस्त्वेकमन्यच्चोदयनीयकम्। हस्तास्तु सप्त च्छन्दांसि, तैर्गृह्णति फलान्यसौ। मन्त्रब्राह्मणकल्पैस्तु त्रिधा बद्ध इतीर्यते। शस्त्रोद्गातृस्तुतिरवै रोरवीत्यृत्विजो मुखात्। वृषभो महान्त्यधर्मत्वात् देवस्तु फलभावनात्"। इति। तन्तवे व्याप्ताय सन्तति हेतवे च। त्रयीविद्यानां सोमपानाम् आत्मने अन्तर्यामिणे।।३१,३२।।

1. A,B,T Omit 2. W Omits भूतानीति 3. A,B निर्वं " 4. M द्वे 5. M,Ma "प"

नमो हिरण्यगर्भाय प्राणाय जगदात्मने।
योगैश्वर्यशरीराय नमस्ते योगहेतवे।।३३।।

नमस्त आदिदेवाय[1] देवदेवाय ते नमः।
नारायणाय ऋषये नराय हरये नमः।।३४।।

नमो मरकतश्यामवपुषेऽधिगतगतश्रिये।
केशवाय नमस्तुभ्यं नमस्ते पीतवाससे।।३५।।

त्वं सर्ववरदः पुंसां वरेण्य वरदर्षभ।
अतस्ते श्रेयसे[2] धीराः पादरेणुमुपासते।।३६।।

अन्ववर्तन्त यं देवाः श्रीश्च[1-3] यत्पादपद्मयोः।
स्पृहयन्त इवाऽऽमोदं भगवान्मे प्रसीदताम्।।३७।।

एतैर्मन्त्रैर्हृषीकेशमावाहनपुरस्कृतम्[4]।
अर्चयेच्छ्रद्धया युक्तः पाद्योपस्पर्शनादिभिः।।३८।।

[5-]अर्चयित्वा गन्धमाल्यैः[-5] पयसा स्नापयेद्विभुम्[6]।
वस्त्रोपवीताभरणपाद्योपस्पर्शनैस्ततः।
गन्धधूपादिभिश्चाऽर्चेत् द्वादशाक्षरविद्यया।।३९।।

शृतं[7] पयसि नैवेद्यं शाल्यन्नं विभवे सति।
ससर्पिस्सगुडं दत्त्वा जुहुयान्मूलविद्यया।।४०।।

**श्रीध० नम** इति। प्राणाय सूत्रात्मने। योगैश्वर्यं शरीरं यस्य।।३३,३४।।

**नम** इति। अधिगता प्राप्ता श्रीः येन तस्मै।।३५,३६।।

**अन्ववर्तन्तेति**।[8] यत्पादपद्मयोरामोदं स्पृहयन्त इव देवाश्च श्रीश्च यमन्ववर्तन्त, स मे प्रसीदतु।।३७।।

**एतैरिति**। आवाहनेन पुरस्कृतं[9-] सन्निधापितम्[-9]।।३८,३९।।

**शृतमिति**। पयसि शृतं पक्वं पायसम्[10]। मूलविद्यया द्वादशाक्षरेणैव।।४०।।

---

1. A,B,G,J,T साक्षीभूताय 2. M,Ma तपसा 3- -3 A,B,G,J,T श्रीश्च तत्पाद , M,Ma श्री विनिर्जित° 4. M,Ma °स्सरम् 5- -5. A,B,G,J,T अर्चित्वा गन्धमाल्याद्यैः , M,Ma अर्चित गन्धमाल्याद्यैः 6. A,B,G,J,T स्न° 7. W शृतं 8. A,B,J त° 9- -9 A,B,J सम्मानितम्। 10. H,V Omit पायसम्

वीर० हिरण्यगर्भाय चतुर्मुखरूपेणाऽवस्थिताय प्राणायति सर्वाणि भूतानीति प्राणः तस्मै। " को ह्येवाऽन्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् " (तैत्ति.उ. 2-7) इति श्रुतेः। प्राणशरीरकत्वाद्वा प्राणः जगदन्तरात्मने ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तजगदन्तरात्मत्वमेव तत्समानाधिकृति निमित्तमिति भावः। योगैश्वर्यशरीराय योगैश्वर्यनिर्वाहकाय तन्निर्वाहकत्वं योगस्मृतिप्रणेतृत्वरूपकारणत्वेनेत्याह योगहेतवे योगस्मृतिकर्त्रे इत्यर्थः। इदं विशेषणद्वयं साक्षाच्चतुर्मुखस्य, तद्द्वारा तु परमात्मन इत्यवगन्तव्यम्।।३३।।

उक्त विशेषणसामर्थ्यलब्धैरन्यैरप्यसाधारणधर्मैः विशिष्टनमस्करोति मन्त्रः नमस्त इति आदिदेवाय ब्रह्मरुद्रादिदेवानामपि[1] आदिभूताय कारणभूतायेत्यर्थः। अयमुक्तसर्वकारणत्वसामर्थ्यलब्धोऽर्थः। शब्दार्थस्तु आदिश्चाऽसौ देवः तस्मा इति। अत एव देवानामपि देवाय अधिपतये स्वतेजसा दीप्यमानानां ब्रह्मादिदेवानामपि अन्तरात्मतया दीप्यमानायेति वा। नारायणाय नाराणां प्राप्याय प्रापकाय आधाराय च नाराय नित्याय ऋषये सर्वज्ञाय। यद्वा, नारायणाय ऋषये नराय च नरनारायणऋषिरूपेणावतीर्णाय हरये आश्रितार्तिहन्त्रे।।३४।।

मरकतवदिन्द्रनीलवत् श्यामं वपुर्यस्य अधिगता नित्यसंश्लिष्टा श्रीर्महालक्ष्मीर्येन तस्मै। केशवादिद्वादशमूर्तीनां उपलक्षकः केशवशब्दः केशवादिद्वादशमूर्तिरूपेणावस्थितायेत्यर्थः। पिशङ्गं वासो[2] वस्त्रं यस्य तस्मै।।३५।।

हे वरेण्य! अनेन गायत्रीप्रतिपाद्यत्वं सूचितम्। हे वरदश्रेष्ठ! त्वमेव यतः सर्ववरदः ततः तवैव पादरेणुमिष्टप्राप्तये धीरा उपासते सेवन्ते।।३६।।

श्रीर्लक्ष्मीः देवाः ब्रह्मादयश्च यत्पादपद्मयोरामोदं स्पृहयन्तः कामयमाना इव यमनुसृतवन्तः स भगवान् पूर्णषाड्गुण्यो वासुदेवो मह्यं प्रसीदतु[3]।।३७।।

इत्येतैर्मन्त्रैरावाहनेन[4] पुरस्कृतं सन्निधापितं हृषीकेशं पाद्योपस्पर्शनं[5] पाद्यसमर्पणं तदादियेषां तैः आसनार्घ्यै। आदिशब्देन ग्राह्ये पाठक्रमस्त्वविवक्षितः[6] आसनार्घ्यपाद्यैरर्चयेदित्यर्थः।।३८।।

एवं एतैरर्चित्वा गन्धमाल्यैः गन्धपुष्पैस्सह पयसा गन्धादिसहितेन क्षीरेण शुद्धजलेन च विभुं वासुदेवं स्नापयेदित्यर्थः[7]। ततो वस्त्रादिभिरभ्यर्च्य गन्धादिभिरर्चेत्।आदिशब्देन दीपमधुपर्काचमनानि ग्राह्याणि। द्वादशाक्षरविद्ययेति पूर्वोत्तरान्वयि आसनाद्युपचाराश्चाऽनयैव कार्याः।।३९।।

1. A,B,T "द्रादीना" 2. W Omits वस्त्रं 3. W "नात्। 4. A,B,T "नपु" 5. A,B,T पाद्याऽऽचमनं 6. W Omits पाठ 7. W Omits इत्यर्थः

तथा तयैव विद्यया विभवे सति पयसि क्षीरे शृतं[1] पक्वं शाल्यन्नं ससर्पिः घृतेन[2] सहितं[2] सगुडञ्च नैवेद्यं दत्वा समर्प्य उक्तद्वादशाक्षरविद्यया जुहुयात्।।४०।।

**विज०** हिनोति दुःखं, राति सुखमिति हिरण्यं रेतो लक्षणं गर्भं यस्य स तथा तस्मै।।३३-३५।।

यतो वरदर्षभः अतः।।३६।।

श्रिया विनिर्जिते पद्मे ययोस्तौ तथा तयोः पादयोरामोदं स्पृहयन्तो देवा यमन्ववर्तन्त स भगवान्।।३७।।

उपस्पर्शनमाचमनम्।।३८।।

द्वादशाक्षरविद्यया ओं नमो भगवते वासुदेवायेति।।३९।।

पयसि शृतं पायसान्नम्।।४०।।

**निवेदितं तद्भक्ताय[3] दद्यात् भुञ्जीत वा स्वयम्।**
**दत्त्वाऽऽचमनमर्चित्वा ताम्बूलञ्च निवेदयेत्।।४१।।**

**जपेदष्टोत्तरशतं स्तुवीत[4] स्तुतिभिः[5] प्रभुम्।**
**कृत्वा प्रदक्षिणं भूमौ प्रणमेद्दण्डवन्मुदा।।४२।।**

**कृत्वा शिरसि तच्छेषं[6] देवमुद्वासयेत्ततः।**
**श्रावरान्भोजयेद्विप्रान् पायसेन यथोचितम्।।४३।।**

**भुञ्जीत तैरनुज्ञातः शेषं[7] सेष्टः[7] सभाजितैः।**
**ब्रह्मचार्यथ तद्रात्र्यां श्वो भूते प्रथमेऽहनि।।४४।।**

**स्नातः[8] शुचिर्यथोक्तेन विधिना सुसमाहितः।**
**पयसा स्नापयित्वाऽर्चेत् यावद्व्रतसमापनम्।।४५।।**

**पयोभक्षव्रतमिदं चरेद्विष्णवर्चनादृतः।**
**पूर्ववज्जुहुयादग्निं ब्राह्मणांश्चाऽपि भोजयेत्।।४६।।**

---

1. W शृतं 2- -2. W Omits 3. H,V तु भक्ताय ; W तु तद्भोक्ते 4- -4 W स्तुवन्स्तत्स्तु" 5. M,Ma °णां 6. A,B,G,J,T °चां 7- -7. M,Ma इतशेषं 8. M,Ma प्रातः 9. W °पयन्नर्चेत् 10. A,B,G,J,M,Ma,T भक्षो

एवन्त्वहरहः कुर्यात् द्वादशाहं पयोव्रतम्[1]।
हरेराराधनं होममहर्णं द्विजतर्पणम्।।४७।।

प्रतिपद्दिनमारभ्य यावच्छुक्लत्रयोदशी[2]।
ब्रह्मचर्यमधः स्वप्नं स्नानं त्रिधवणं चरेत्[3]।।४८।।

**श्रीध० जयेदिति।** पूर्वोक्ताभिरन्याभिश्च स्तुतिभिः।।४१,४२।।

**कृत्वेति।** तस्य शेषं निर्माल्यम्। द्वावरौ येषां तान्। असम्भवे द्वावपि भोजयेदित्यर्थः।।४३।।

**भुञ्जीतेति।** सभाजितैः तैः अनुज्ञातस्सन्। शेषं[4] सेष्टः बन्धुभिस्सहितः। तस्यां रात्र्यां ब्रह्मचारी सन् श्वो भूते प्रभाते सति।।४४,४५।।

**पय इति।** पय एव भक्ष आहारो यस्य।।४६,४७।।

**प्रतिपदिति।** अधः स्वप्नं शयनम्।।४८।।

**वीर०** [5]ततः यद्भगवते निवेदितमन्नं पायसं तत् सति लाभे भोक्त्रे ब्राह्मणाय दद्यात्, नो चेत् स्वयं वा भुञ्जीत। तत आचमनं दत्त्वा ताम्बूलं निवेदयेत् समर्पयेत्।।४१।।

ततो द्वादशाक्षरं मन्त्रं अष्टोत्तरशतं जपेत्। स्तोत्रैः[6] वैदिकतान्त्रिकस्तुतिभिः[6] भगवन्तं स्तुवीत। ततः प्रदक्षिणं कृत्वा दण्ड्वत् भूमौ मुदा हर्षेण प्रणमेत्।।४२।।

[7]तच्छेषां निर्माल्यं पुष्पादिकं शिरसि धृत्वा ततो भगवन्तमुद्वासयेत्। द्वावरौ येषां तान् विप्रान् यथाविधि पायसेन भोजयेत् द्वयरानित्यनेन असति सम्भवे[8] द्वावपि वा[9] भोजयेत्, न त्वेकमिति विवक्षितम्। ततः सम्यक् पूजितैः तैर्विप्रैरनुज्ञातः सेष्टः बन्धुभिस्सहितः शेषं शिष्टमन्नादिकं भुञ्जीत। अथ तद्रात्र्यां ब्रह्मचारी स्त्रीसङ्गरहितः, शयीतेति शेषः। अथ प्रथमेऽहनि श्वो भूते प्रभाते।।४३-४४।।

स्नातः शुचिः समाहितचित्तो यथोक्तेन विधानेन पयसा स्नापयन्, भगवन्तमिति शेषः। [10]स्नपनग्रहणमाह्वानादीनामप्युपलक्षणम् यावद्व्रतसमाप्ति एवमभ्यर्चेदित्यर्थः।।४५।।

पयः क्षीरमेव भक्ष आहारो यस्य सः, [11]विष्णोरर्चने आदरयुक्त इदं व्रतं कुर्यात्। पूर्ववदग्नौ जुहुयात्, विप्रांश्च भोजयेत्।।४६।।

---

1. A,B,G,J,T,W ततः। 2. M,Ma चतुर्दशी 3. M,Ma स्वापं 4. A,B,J Omit शेषं 5. W Omits ततः 6- -6. W Omits 7. W 'चं 8. A,B,J Omit विभवे 9. A,B,T Omit वा 10. W स्ना° 11- -11. W विष्ण्वर्चनायां

एवमहरहः द्वादशदिनपर्यन्तं स्वयं पयोभक्षः हरेराराधनं द्विजभोजनं तदर्हणं ब्रह्मचर्यमधश्शयनं त्रिकालस्नानञ्च इत्येतत्सर्वं यावच्छुक्लत्रयोदशीपर्यन्तं कुर्यात्। 'द्वादशाहं पयोव्रतम्' इति पाठे द्वादशदिनसाध्यं पयोव्रताख्यं कर्म हरेः आराधनादिरूपं चरेदित्यर्थः।।४७,४८।।

**विज०** तच्छेषं पुष्पं द्रवमाणम्।।४१-४३।।

द्यवरान् अवरपक्षेऽपि द्वावपेक्षितौ। मुख्यपक्षस्तु द्वादशेति।।४४-४८।।

**वर्जयेदसदालापं[1] भोगानुच्चावचांस्तथा।**
**अहिंस्रस्सर्वभूतानां वासुदेवपरायणः।।४९।।**

**त्रयोदश्यामथो विष्णोः स्नपनं[2-] पञ्चकैर्विभोः[-2]।**
**कारयेच्छास्त्रदृष्टेन विधिना विधिकोविदैः।।५०।।**

**पूजाञ्च महतीं कुर्यां द्वित्तशाठ्यविवर्जितः।**
**चरुं निरूप्य पयसि शिपिविष्टाय विष्णवे।।५१।।**

**सूक्तेन[3] तेन पुरुषं यजेत सुसमाहितः।**
**नैवेद्यञ्चाऽधिगुणवत् दद्यात्पुरुषतुष्टिदम्[4]।।५२।।**

**आचार्यं ज्ञानसम्पन्नं वस्त्राभरणधेनुभिः।**
**तोषयेदृत्विजञ्चैव तद्धि ह्याराधनं[5] हरेः।।५३।।**

**भोजयेत्तान् गुणवता सदन्नेन शुचिस्मिते।**
**अन्यांश्च ब्राह्मणान्युक्तान्[6] ये च तत्र समागताः।।५४।।**

**दक्षिणां गुरवे दद्यादृत्विग्भ्यश्च यथार्हतः।**
**अन्नाद्येनाश्वपाकेभ्यः[7] प्रीणयेत्समुपागतान्।।५५।।**

**भुक्तवत्स्वथ[8] सर्वेषु[9] दीनान्धकृपणादिषु[10]।**
**विष्णोस्तत्प्रीणनं विद्वान्भुञ्जीत सह बन्धुभिः।।५६।।**

---

1. W 'लापान् 2- -2. M,Ma स्नापनं स्नापकै' 3. A,B,G,J,M,Ma,T श्रुतेन 4. A,G,J,T 'ति ; B,M,Ma 'पि 5. A,B,G,J,M,Ma,T तद्विद्या' 6. A,B,G,J,M,Ma,T 'क्तस्या 7. A,B,G,J,M,Ma,T 'पाकांश्च 8. A,B,G,J,M,Ma,T भुक्तवत्सु च 9. M,Ma विप्रेषु 10. A,B,G,J,T 'णेषु च

**श्रीध०** त्रयोदश्यामिति। पञ्चकैः पञ्चामृतैः।।४९-५६।।

**वीर०** अथ वर्ज्यानाह - **वर्जयेदिति**। नानाविधान् असद्भिः आलापान् वर्जयेत्। यद्वा असदालापान् तथेन्द्रियान्तरव्यापारान् असतः त्यजेदित्यर्थः। तथा सर्वभूतसम्बन्धिहिंसारहितः वासुदेवानुसन्धानपरो भवेत्।।४९।।

एवं द्वादशसु दिनेष्वतीतेषु अथ त्रयोदश्यां पञ्चभिरमृतैः साधनैश्चतुर्भिः ऋत्विग्भिः आचार्येण चेति पञ्चभिर्वा शास्त्रोक्तेन विधिना तदभिज्ञैः प्रयोज्यकर्तृभिः विष्णोः स्नपनं कारयेत्।।५०।।

वित्तलोभमकुर्वाणो विष्णोर्महतीं सर्वोपचारयुक्तां पूजां कुर्यात्। क्षीरे चरुं हविः शिपिविष्ट विष्णुदेवताकं कारयित्वा, शिपिविष्टो निरतिशयतेजोयुक्तः सुसमाहितचित्तः परमपुरुषं पुरुषसूक्तेन षोडशऋग्भिः यजेत होमेन तमाराधयेदित्यर्थः। ततः परमपुरुषप्रीतिकरं षड्रसोपेतं नैवेद्यं भगवते समर्पयेदित्यर्थः।।५१,५२।।

ततो वस्त्रादिभिर्ज्ञानसम्पन्नमाचार्यं यथावित्तं द्विजांश्च तोषयेत्। हि यस्मात् तदाचार्यद्विजतोषणं विष्णोरेवाऽऽराधनं भवति तस्मात्तांस्तोषयेदित्यर्थः।।५३।।

गुणवता षड्रसयुक्तेनाऽन्नेन हे शुचिस्मिते! तान् पूजितान् आचार्यब्राह्मणान् ये चाऽन्ये तत्र समागतास्तांश्च युक्तान् भोक्तुं योग्यान्भोजयेत्।।५४।।

ततो गुरवे ऋत्विग्भ्यश्च स्ववित्तानुसारेण दक्षिणां दद्यात्। श्वपाकपर्यन्तेभ्यः समागतान् सर्वान् अन्नादिभिस्तोषयेत्।।५५।।

एवं दीनादिष्वपि भुक्तवत्सु तत्सत्कारं विष्णोरेव तोषकरं जानन् स्वयमपि बन्धुभिस्सह भुञ्जीत।।५६।।

**विज०** स्नापकैः स्नानसाधनैः।।४९,५०।।

शिपिषु रश्मिषु विष्टः शिपिविष्टः शिपौ गरुडे विष्टः तस्मै वा।।५१।।

मधुरादिगुणवत्।।५२-५६।।

**नृत्तवादित्रगीतैश्च स्तुतिभिः स्वस्तिवाचकैः।**
**कारयेत्तत्कथाभिश्च पूजां भगवतोन्वहम्।।५७।।**

**एतत्पयोव्रतं नाम पुरुषाराधनं परम्।**
**पितामहेनाऽभिहितं मया ते समुदाहृतम्।।५८।।**

1. W Omits इत्यर्थः 2. A,B,G,J,M,Ma,T नृत्य 3. M,Ma 'चनैः 4. M,Ma मम

त्वञ्चाऽनेन महाभागे सम्यगर्चय[1] केशवम्।
आत्मना शुद्धभावेन[2] नियतात्मा भजाव्ययम्।।५९।।

अयं वै सर्वयज्ञाख्यः सर्वव्रतमिति[3] स्मृतम्।
तपस्सारमिदं भद्रे! दानञ्चेश्वरतर्पणम्।।६०।।

त एव नियमास्साक्षात्त एव च क्रतूत्तमाः[4]।
तपोदानं[5] व्रतं यज्ञो येन तुष्यत्यधोक्षजः[5]।।६१।।

तस्मादेतद्व्रतं[6] भद्रे! प्रयता श्रद्धया यज[7]।
भगवान्परितुष्टस्ते वरमाशु[8] विधास्यति।।६२।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
अष्टमस्कन्धे अदितिपयोव्रतकथनं नाम षोडशोऽध्यायः।।१६।।

**श्रीध० एतदिति।** मया च ते समुदाहृतम्।।५८-५९।।

**अयमिति।** सर्वयज्ञाख्योऽयं यज्ञः सर्वव्रतमिति च स्मृतमेतद्व्रतम्।।६०-६१।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां षोडशोऽध्यायः।।१६।।

**वीर०** आद्यन्तदिनद्वयं मध्ये द्वादश इत्येवं चतुर्दशस्वहस्सु नृत्तादिभिस्सह भगवतः पूजां कारयेत्।।५७।।

तदेवं पयोव्रताख्यं कर्म उपदिश्य पुनर्विश्वासायोक्तं साम्प्रदायिकत्वं स्मारयन् निगमयन् अनेन भगवन्तमाराधयेत्याह - **एतदिति।** पुरुषः परमपुरुष आराध्यते येन तत्तथा। परं श्रेष्ठम् एतत्पयोव्रतं नाम प्रसिद्धं मह्यं पितामहेनोपदिष्टं मम, मया च तुभ्यं सम्यगभिहितम्।।५८।।

हे महाभागे! त्वमपि सम्यगनुष्ठितेन अनेन पयोव्रतेन विशुद्धः भावो भक्तिर्यस्मिन् तेन आत्मना मनसा भजनीयमव्ययं केशवं भज आराधय।।५९।।

1. A,B,G,J,M,Ma,T सम्यक् चीर्णेन 2. M,Ma भजनीयं 3. M,Ma मिदं 4. A,B,G,J,M,Ma,T यमोत्तमाः 5- -5. H,V,W Omit 6. M,Ma °वं व्रतं 7. A,B,G,J,M,Ma,T चर 8. A,B,G,J,M,Ma,T वरानाशु

प्रकृतं व्रतं[1] स्तौति - **अयमिति**। सर्वयज्ञाख्योऽपि[2] व्रतरूपो यज्ञः इदं व्रतं सर्वव्रतं स्मृतम्[2]। सर्वयज्ञव्रततुल्यमिदं एकं[3] व्रतमित्यर्थः। किञ्च, हे भद्रे! सर्वतपस्सारतुल्यं तथा सर्वदानतुल्यञ्च इदं व्रतं कुतः? चशब्दो हेत्वर्थः। च यतः हेतोरिदमीश्वरतर्पणम्[4] ईश्वरः तर्प्यतेऽनेनेति तत्[5]तथा ईश्वरतृप्तिकरत्वेन सर्वयज्ञादिसमकक्ष्यमित्यर्थः।।६०।।

यमनियमादयोऽपि ईश्वरतोषकरा एव सफलाः, अन्ये तु व्यर्था एवेत्याह - **त एवेति**। येन नियमादिनाऽधोक्षजः तुष्यति, त एव नियमादिशब्दवाच्याः अन्ये त्वाभासरूपा व्यर्था एवेत्यर्थः।।६१।।

तस्मात्सर्वयज्ञादिभिस्तुल्यत्वात् ईश्वरतोषकत्वाच्च, हे भद्रे! समाहिता त्वं श्रद्धया एतद्व्रतमनुतिष्ठ, तेन तुष्टो भगवांस्तवाऽऽशु वरान् दास्यति।।६२।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां षोडशोऽध्यायः।।१६।।

**विज०** " तपस्सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्। सिद्धान्तश्रवणञ्चैव ह्रीर्मतिश्च जयो[6] व्रतम्।। एते च नियमाः प्रोक्तास्तांश्च सर्वान् पृथक्शृणु।। अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयाऽऽर्जवम्। क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचञ्चैते यमाः स्मृताः " ( वाराह.उ. 5-13 ) इति।।५७-६२।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
अष्टमस्कन्धे षोडशोऽध्यायः।।१६।।

---

1. A,B,T Omit व्रतं 2- -2. A,B,T Omit3. A,B,T पर्यो' 4. W Omits हेतोः 5. A,B,T Omit तत् 6. A,B जपो

oooOooo

# सप्तदशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

इत्युक्ता साऽदिती राजन्! स्वभर्त्रा कश्यपेन वै।
अन्वतिष्ठ द्व्रतमिदं द्वादशाहमतन्द्रिता।।१।।

चिन्तयन्त्येकया[1] बुद्ध्या महापुरुष मीश्वरम्[2]।
प्रगृह्येन्द्रियदुष्टाश्वान् मनसा बुद्धिसारथिः।।२।।

मनश्चैकाग्रया बुद्ध्या भगवत्यखिलात्मनि।
वासुदेवे समाधाय चचार ह पयोव्रतम्।।३।।

तस्याः[3] प्रादुरभूत्तात! भगवानादिपूरुषः।
पीतवासाश्चतुर्बाहुः शङ्खचक्रगदाधरः।।४।।

तं नेत्रगोचरं वीक्ष्य सहसोत्थाय सादरम्।
ननाम भुवि कायेन दण्डवत्प्रीतिविह्वला।।५।।

सोत्थाय बद्धाञ्जलि रीडितुं स्थिता नोत्सेह आनन्दजलाकुलेक्षणा।
बभूव तूष्णीं पुलकाकुलाकृति स्तद्दर्शनात्युत्सवगात्रवेपथुः।।६।।

प्रीत्या शनैर्गद्गदया गिरा हरिं तुष्टाव सा देव्यदितिः कुरूद्वह।
उद्वीक्षती सा पिबतीव चक्षुषा रमापतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम्।।७।।

अदिति रुवाच

यज्ञेश! यज्ञपुरुषाच्युत! तीर्थपाद! तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गल नामधेय।
आपन्नलोकवृजिनोपशमोदयाऽऽद्य शं नः कृधीश! भगवन्नसि[4] दीननाथः।।८।।

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ततः सप्तदशेऽदित्या कृते तस्मिन् व्रते हरिः। तत्कामपूरणायादौ तत्पुत्रोऽभूदितीर्यते।।

सेति। प्रीतिविह्वलत्वादेव सा बद्धाञ्जलिस्सती स्थिता केवलमीडितुं पुनर्नोत्सेहे न शशाक, अपि तु

1. M,Ma "यत्ये" 2- -2. M,Ma भगवन्तमधोक्षजम् 3. B तस्मात्प्रा" 4. M,Ma "यन्नवसमननाथ।

तूष्णीं बभूव। कथम्भूता? आनन्दजलै राकुले ईक्षणे यस्याः। पुलकैराकुला आकृति र्देहो यस्याः। तस्य दर्शनेन योऽत्युत्सवस्तेन गात्रे वेपथुः कम्पो यस्याः।।१-६।।

**प्रीत्येति।** तुष्टाव पिबतीव उद्वीक्षमाणेति च क्रियाभेदात् 'सा' इत्यस्य पदस्य द्विरुक्ति रदोषः।।७।।

* "अयत्नतो विनिर्जित्य दैत्या नत्यूर्जितानपि। भक्ता न्रक्षितुमीशस्त्वमित्यस्तौ ददिति स्त्रिभिः" यशेशेत्यादिदशभिः सम्बोधनैस्तवाशक्यं किमपि नास्तीति वदन्ती प्रार्थयते। शं नः कृधि कुरु। यतो दीनानां नाथोऽसि त्वम्। तीर्थं श्रवः कीर्तिर्यस्य, श्रवणमेव मङ्गलं यस्य, तन्नामधेयं यस्य, आपन्नानां शरणं[1] गतानां लोकानां[2] वृजिनोपशमः[3] उदयो यस्य।।८।।

## श्रीवीरराघवविदुषालिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एव मुपदिष्टपयोव्रताऽदितिः तदन्वतिष्टदित्याह मुनिः -**इतीति।** इति इत्थं, हे राजन्! स्वभर्त्रा कश्यपेन[4] उक्ता उपदिष्टव्रता सा अदितिः अतन्द्रिता समाहिता द्वादशाह मिदं पयोव्रत मन्वतिष्ठत्।।१।।

अथं[5] अनुष्ठानप्रकारमेवाह[6] - **चिन्तयन्तीति** द्वाभ्याम्। महापुरुषमीश्वरं वासुदेवमेकया अनन्यविषयया बुद्ध्या चिन्तयन्ती पयोव्रतं चचारेत्यर्थः। किं कृत्वा? बुद्धिः सारथिः मनोनिग्रहोपायभूता यस्यास्सा मनसा इन्द्रियाण्येव दुष्टसत्त्वाः तान्प्रगृह्य निगृह्य।।२।।

मनश्च एकाग्रया अनन्यविषयया बुद्ध्या सर्वान्तरात्मनि षाड्गुण्यपूर्णे वासुदेवे समाधाय स्थिरं कृत्वा तस्यामदित्यामित्थं व्रतमनुतिष्ठन्त्यां सत्यां भगवान् वासुदेवः प्रादुरासीत्। कथम्भूतः? पीते पिशङ्गे वाससी यस्य, चत्वारो बाहवो यस्य सः, शङ्खादीन्बिभ्राणः।।३,४।।

तं नेत्रगोचरं वासुदेवं समीक्ष्य अदितिराशूत्थाय प्रीत्या विह्वला सती कायेन दण्डवद्भूमौ ननाम[7] नमस्कृतवती।।५।।

प्रीतिविह्वलत्वादेव सा बद्धाञ्जलिः तूष्णीं स्थिता केवलमीडितुं स्तोतुं[8] पुनर्नोत्सेहे न शशाक। कथम्भूता? आनन्दजलैः आकुले ईक्षणे अक्षिणी यस्याः सा, पुलकै राकुला आकृतिर्देहो यस्या स्सा, तस्य भगवतो दर्शनमेव निरतिशयोत्सवः तेन गात्रे शरीरे वेपथुः कम्पो यस्यास्सा।।६।।

ततो हे कुरूद्वह! अदिति र्देवी शनैः गद्गदया गिरा प्रीतिपूर्वकं हरिं तुष्टाव। कथम्भूता सा? श्रियःपति

---

* श्रीधरीयोऽयं श्लोकः। 1. A,B,T "णाग" 2. A,B,J Omit लोकानां 3 A,B,J शमाय 4. W का" 5. W Omits अथ 6. A,B,T "रमाह 7. A,T Omit ननाम 8. W Omits स्तोतुं

मुद्वीक्ष्य चक्षुषा पिबन्तीव स्थिता सती तुष्टाव। पिबन्तीव उद्वीक्ष्य इति च क्रिया भेदात्सा इत्यस्य पदस्य द्विरुक्तिरदुष्टा इति ज्ञेयम्[1]।।७।।

"इष्टापूर्तं बहुधा जातं जायमानं विश्वं बिभर्ति" ( म.ना.उ. 1-6 ) "अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च" (भगी.9-24) इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रसिद्धं यत् यज्ञेश्वरत्वादिकं तदधुना दर्शयन्निव[2] दुर्लभोऽप्यल्पीयसाऽपि मत्कृतेनाऽऽराधनेन आविर्भूतोऽसीत्यभिप्रायेण सम्बोधयन्ती प्रार्थयते **यज्ञेशेति**। हे यज्ञेश! यज्ञानां प्रभो! हे यज्ञ पुरुष! यज्ञभोक्तः। आश्रितान्नच्यावयतीति अच्युतः तस्य सम्बोधनम्। तीर्थं गङ्गादिरूपं पादे यस्य, तीर्थं विशुद्धं श्रवः कीर्तिर्यस्य। हे तीर्थश्रवः। श्रवणमेव मङ्गलं यस्य तत् नामधेयं यस्य, आपन्नानां शरणागतानां लोकानां दुःखोपशमाय उदय आविर्भावो यस्य सः, नोऽस्माकं शं सुखं कृधि कुरु। यत स्त्वं हे[3] भगवन्! षाड्गुण्यपूर्ण[3]! दीनानां मादृशादीनां नाथोऽसि।।८।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

अव्यक्तस्वभावोऽपि भक्त्या भजमानस्य पुंसः प्रत्यक्षो भवति भगवानित्येत मर्थं दर्शयत्यध्यायद्वयेन। तत्र अदित्याः भक्त्या व्रताचरणप्रकारं वक्ति - **इत्युक्तेति** ।।१-३।।

तद्व्रताचरणफलमाह - **तस्या** इति।।४-५।।

तस्याः भक्तिलक्षणं प्रदर्शयति - **सेति**। पुलकेन रोमाञ्चेन आकुला व्याप्ता आकृतिः तनुर्यस्या स्सा तथा। पुन स्तया किमकारीति तत्राऽऽह - तद्दर्शनेति। तद्दर्शनमेवाऽत्युत्सवः तन्निमित्तो गात्रवेपथुः देहकम्पो यस्याः सा तथा।।६।।

तस्याः मुग्धभावं दर्शयति - उद्वीक्षतीति।।७।।

स्वाभीष्टोदयकरगुणविशिष्टत्वेन स्तौति - **यज्ञेशेति**। यज्ञपुरुष अच्युत इत्यनेन गुणान्तराणि समुच्चिनोति। तानि कानीति तत्राऽऽह - तीर्थपादेत्यादि। तीर्थस्य शास्त्रस्य श्रवः श्रवणं याभ्यां ते तीर्थश्रवसी, ते च श्रवणेचेति। तीर्थश्रवश्श्रवणे ते मङ्गलयतीति तीर्थ श्रव श्श्रवणमङ्गलं, तच्च नामधेयं नाम, यस्य स तथा तस्य सम्बुद्धिः तीर्थश्रवश्श्रवणमङ्गलनामधेय। आपन्नस्य लोकस्य वृजिनं दुःखं तस्योपशमनार्थं परिहारार्थं मुदयो अवतारो यस्य स तथा तस्य सम्बुद्धिस्तथा, कृधि कुरु, अवसन्ननाथ क्षीणजनरक्षक!।।८।।

---

1- -1. W Omits 2. A.B,T °न्नीव 3- -3. W Omits

विश्वाय विश्वभवनस्थितिसंयमार्थं[1] स्वैरं गृहीतपुरुशक्तिगुणाय भूम्ने।
स्वस्थाय शश्वदुपबृंहितपूर्णबोधव्यापादितात्मतमसे हरये नमस्ते।।९।।

आयुः परं वपुरभीष्ट मतुल्यलक्ष्मी र्द्यौर्भूरसाः सकलयोग गुणास्त्रिवर्गः।
ज्ञानञ्च केवल मनन्त भवन्ति तुष्टात् त्वत्तोनृणां किमु सपत्नजयादि राशीः[2]।।१०।।

श्रीशुक उवाच

अदित्यैवं स्तुतो राजन् ! भगवान् पुष्करेक्षणः।
क्षेत्रज्ञस्सर्वभूताना मिति होवाच भारत!।।११।।

श्रीभगवानुवाच

देवमात र्भवत्या मे विज्ञातं चिरकाङ्क्षितम्।
यत्सपत्नै र्हृतश्रीणां व्यावितानां[3] स्वधामतः।।१२।।

तान्विनिर्जित्य समरे दुर्मदा नसुरर्षभान्।
प्रतिलब्धजयश्रीभिः पुत्रै रिच्छस्युपासितुम्।।१३।।

इन्द्रज्येष्ठैः स्वतनयैः हतानां युधि विद्विषाम्।
स्त्रियो रुदन्ती रासाद्य द्रष्टु मिच्छसि दुःखिताः।।१४।।

आत्मजान्सुसमृद्धांस्त्वं प्रत्याहृतयशश्श्रियः।
नाकपृष्ठ मधिष्ठाय क्रीडतो द्रष्टुमिच्छसि।।१५।।

प्रायोऽधुना तेऽसुरयूथनाथा अवारणीया[4] इति देवि! मे मतिः।
यत्तेऽनुकूलेश्वरविप्रगुप्ता न विक्रमस्तत्र सुखं ददाति।।१६।।

**श्रीध विश्वायेति।** भूम्ने[5] महते नमः। महत्त्वे हेतवः विश्वाय विश्वस्य भवनस्थिति संयमार्थं स्वैरं गृहीताः पुरुशक्ते र्मायया गुणा येन तस्मै। तथाऽपि स्वस्थाय अप्रच्युतस्वरूपाय। कुतः? शश्व दुपबृंहितो नित्योर्जितो यः पूर्णबोध स्तेन व्यापादितं नित्यनिरस्तमात्मनि तमो मायालक्षणं येन तस्मै।।९।।

अस्मदीयमनोरथपूरण मीषत्करमेव तवेति कैमुत्य न्यायेनाऽऽह - **आयुरिति।** आयुः परं ब्रह्मायुः

1. A,B,G,J,M,Ma,T "य 2- -2. M,Ma किमुपसन्नजनाधिनाश. 3 M,Ma बाधितानां 4. A,B,G,J,T अपा" 5. A adds हे आद्य!

[1]अपि द्यौश्च भूश्च रसातलञ्च द्योभूरसाः। द्यौरिति पृथक्पाठे भूश्च रसाश्च बिलस्वर्गाः इति विग्रहः। रसेति पाठे त्रीणि पदानि। सकला योगगुणा अणिमादयः।।१०।।

**अदित्येति।** क्षेत्रज्ञोऽन्तर्यामी।।११।।

**देवेति।** सपत्नैः हृता श्रीर्येषां, स्वधामत ध्यावितानाञ्च पुत्राणां सम्बन्धि यत्तद्भवत्या स्थिर माकांक्षितम् मया विज्ञातम्।।१२।।

कांक्षितमेवाऽऽह - **तानिति** त्रिभिः। प्रतिलब्धो जयश्च श्रीश्च यैस्तैः पुत्रैः सहोपासितुमेकत्र स्थातुमिच्छसि।।१३,१४।।

**आत्मजानिति।** प्रत्याहतं यशश्च श्रीश्च यै स्तान्।।१५।।

**प्राय** इति। [2]अवारणीया अनतिक्रमणीयाः। यद्यस्मात् अनुकूल ईश्वरः कालो येषां तैः विप्रैः गुप्ता रक्षिताः। अनुकूलै रीश्वरैः समर्थैः विप्रै र्गुप्ता इति वा।।१६।।

**वीर०** [3]किञ्च - विश्वाय विश्वरूपाय अत एव अत्राऽऽविर्भूतोऽसीति भावः। हरये तुभ्यं नमः। विश्वरूपत्वे हेतुः - विश्वेति। [4]विश्वभवनस्थितिसंयमाय[4] विश्वस्य सृष्ट्यादि कारणाय विश्वस्योपादान कारणत्वात् तदन्तरात्मतया पालकत्त्वाच्च तद्रूपायेत्यर्थः। कारणत्वमन्तरात्मत्वञ्च समानाधिकृतौ निबन्धन मिति भावः। निर्विकारस्य मम कथं विश्वकारणत्वम्? अत आह - स्वैरं यथा तथा गृहीताः उरुशक्तेः विविधविचित्रपरिणामशक्तेः मायया गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि येन। स्वैरमित्यनेन जीवस्येव न गुणवश्यतेत्युक्तम्। गृहीतेत्यादिना प्रकृतिपुरुषशरीरकस्य तव विश्वकारणत्वं न स्वरूपेणेत्यत स्तेन निर्विकारत्वमेवेति सूचितम्। कारणत्वोपयुक्तं सार्वज्ञ्य सर्वशक्तित्वादि कल्याणगुणयोगमाह - भूम्न इति। कल्याणगुणैर्भूम्ने महते। यद्वा - स्वैरं गृहीतेति प्रकृतिवैशिष्ट्यमुक्तम्। भूम्ने इत्यनेन पुरुषवैशिष्ट्यमुच्यते। भूमा व्यापकः जीवेष्वप्यन्तरात्मतया व्यापी तस्मा इत्यर्थः। एवं प्रकृतिपुरुष वैशिष्ट्येऽपि तद्गत दोषास्पर्श माह - स्वस्थायेति। स्वरूपेण गुणैश्च यथावत्स्थिताय, नत्वन्यथाभाव मापद्यमानाय, तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि - शश्वादिति। शश्वत् सदा उपबृंहितमाविर्भूतं, पूर्णं कल्याणगुणपरिपूर्णं मपरिच्छिन्नानन्दात्मकं यत् स्वरूपं तस्य बोधेन याथात्म्यदर्शनेन व्यापादितं निरस्तम् आत्मतमः आत्मनां जीवानामाच्छादकं तमोऽज्ञानं येन तस्मै। जीवानां स्वपरयाथात्म्याज्ञानाभावप्रयुक्ताज्ञानेन स्वभावान्यथात्वम्, अचेतनस्यतु परिणामस्वभावत्वात्

1. A,B,T add पुनः 2. A,B,T अपा° 3. W Omits किञ्च 4- -4. W Omits

स्वरूपान्यथात्वम्। परमात्मनस्तु तव नित्याऽसङ्कुचितापरिच्छिन्न ज्ञानानन्द स्वरूपयाथात्म्यानुभवेन तदुभयं दूरतो निरस्तमिति भावः।।९।।

अस्मदीयमनोरथपूरणमीषत्करमेव त्वयेति कैमुत्यन्यायेनाऽऽह - **आयुरिति।** हे अनन्त! तुष्टात्प्रसन्नात्त्वत्तो नृणामायुरादय एव सुलभा भवन्ति, किमुत शत्रु विजयादिसम्पत्तिस्सुलभा[2] भवतीत्यर्थः। तत्र आयुः परं ब्रह्मायुरप्यतुल्यं, निरुपमं वपुः शरीरं बलपराक्रमसौन्दर्यादियुक्तं, शरीरमिति भावः। अभीष्टलक्ष्मीः भोग्यभोगोपकरणादिसम्पत् द्यौश्च भूश्च रसातलञ्च द्योभूरसाः, द्यौरिति पृथक्पाटे भूश्च रसाश्च बिलस्वर्गा इति विग्रहः। सकला योगगुणा अणिमादयः त्रिवर्गो धर्मार्थकामाः केवलं निस्संशयं ज्ञानम्।।१०।।

हे राजन्! इत्यमदित्या संस्तुतो भगवान् पुष्करेक्षणः सर्वभूतानां क्षेत्रज्ञः क्षेत्रान्तर्भूतमनोवृत्तिज्ञः जीवशरीरको वा इति वक्ष्यमाणप्रकारेण उवाच। हेति हर्षे विस्मये वा, हे भारत!।।११।।

[3]उक्तिमेवाऽऽह - [4-]देवमातरित्यादिना[-4] [5]नवाभिः। स्वस्य क्षेत्रज्ञत्वमेव दर्शयन्निव अदिते हार्दं माविष्कर्तुं प्रतिजानीते - देवमातरित्यर्धेन। हे देवमातः! भवत्या चिरकाङ्क्षितं[6] तत् मे मया विज्ञात मेव। किन्तदित्यत्र तदाविष्करोति यदिति सार्धैस्त्रिभिः। सपत्नै दैत्यैः हृता श्रीर्येषां स्वस्थानाच्चयावितानां विवासितानां स्वपुत्त्राणां सम्बन्धि यदैश्वर्यं तत्त्वया चिरकाङ्क्षितं तन्मया ज्ञातमित्यन्वयः।।१२।।

किञ्च तान्सपत्नान् दुष्टो मदो येषां तानसुरर्षभान् युद्धे विनिर्जित्य प्रतिलब्धो जयः श्रीश्च यैस्तैः पुत्रैः सह उपासितुम् एकत्र स्थातुमिच्छसि।।१३।।

इन्द्रो ज्येष्ठो येषां तैः स्वतनयैः युधि हतानां शत्रूणां स्त्रियो भर्तृसमीपम् आसाद्य रुदन्तीः दुःखिताश्च द्रष्टुमिच्छसि।।१४।।

प्रत्याहृतं प्रत्यानीतं यशः श्रीश्च यै स्तान् सुसमृद्धान् नाकपृष्ठं स्वर्गमधिष्ठाय, क्रीडतः आत्मजान् द्रष्टु मिच्छसीत्येतत्सर्वं त्वत्कांक्षितमित्यर्थः।।१५।।

एवं तदभिप्रेतमाविष्कृत्य तत्र यत् - 'तान्विनिर्जित्य समरे' इत्यभिप्रेतं तदधुना मयापि कर्तुं न शक्यम् इति वदन्समरादन्य एव उपायश्चिन्तनीय इत्याह - **प्राय** इति द्वाभ्याम्। हे देवि! अधुना ते दैत्याः प्रायशः यद्यप्यवारणीया अजेया इत्येव मे मतिः अवारणीया इत्यहम् अभ्यवश्यामीत्यर्थः। कुतः? यद्यस्मात् ते दैत्या

---

1. W "नयेन 2. W "भेती° 3. A,T उक्त 4- -4 A,B,T Omit 5 W. Omits नवाभि 6. W "त मया

अधुना अनुकूल ईश्वरः कालरूपो येषां तैः विप्रैर्गुप्ताः। अतो अस्मदादिभिः तेषु कृतो विक्रमः पराक्रमः सुखं न दास्यति सुखहेतु र्न भविष्यति।।१६।।

**विज०** [1]विश्वाय विश्वनाम्ने विश्वस्य भवनस्थितिसंहारा यस्मात्सः तथा तस्मै, स्वैरं स्वेच्छया गुणाः सत्त्वादयः व्यापादितात्मतमसे विनाशिताज्ञानाय।।९।।

परमायुर्द्विपरार्द्धावसानलक्षणं च यच्च तदादयो नृणां तुष्टा त्त्वत्तो भवन्ति यत्तस्मात उपसन्नजनाधिनाशः किं, शरणागतजनमनोदुःखनाशो भवतीति किं वक्तव्यं, योगगुणोऽणिमादिः।।१०,११।।

भवत्या सपत्नैः स्वर्गात् बाधितानां उच्चाटितानाम् हृतश्रीणाम्, आकृष्टसम्पदां पुत्राणामर्थे यच्चिरं कांक्षितं तन्मया विज्ञातमित्यन्वयः।।१२।।

किन्तदिति तत्राह - **ताम्विनिर्जित्येति**। उपासितुं, मामिति शेषः।।१३।।

इदञ्चाकाङ्क्षितमित्याह - **इन्द्रेति**। इन्द्रः ज्येष्ठो येषां ते तथा तैः।।१४,१५।।

नैतत् क्षिप्रसाध्यमित्याह - **प्राय इति**। कुतोत्राह - यत्ते इति। अनुकूलैः [2]ईश्वरैः विप्रैः गुप्ता रक्षिता इति यत्तस्मात् तत्र तेषु।।१६।।

**[3]तथाप्युपायो मम देवि! चिन्त्यः सन्तोषितस्य व्रतचर्यया ते।**
**ममार्चनं नार्हति गन्तुमन्यथा श्रद्धानुरूपं फलहेतुकत्वात्।।१७।।**

**त्वयार्चितश्चाहमपत्यगुप्तये पयोव्रतेनानुगुणं समीडितः।**
**स्वांशेन पुत्रत्वमुपेत्य ते सुतान् [4]गोप्तास्मि मारीचतपस्य[5]वस्थितः।।१८।।**

**[6]उपधाव पतिं भद्रे! प्रजापतिमकल्मषम्।**
**[7-]मां च भावयती पत्याव[-7]ेवं रूपमवस्थितम्।।१९।।**

**नैतत् परस्मात् आख्येयं [8]देवगुह्यं कथञ्चन।**
**सर्वं सम्प[9]द्यते देवि! दे[10]वगुह्यं सुसं[11]वृतम्।।२०।।**

**श्रीशुक उवाच**

**एतावदुक्त्वा भगवान् तत्रैवाऽन्तरधीयत।**
**अदितिर्दुर्लभं लब्ध्वा हरेर्जन्मात्मनि प्रभोः।।२१।।**

1. M Omits विश्वाय 2. M,Ma °रविप्रैः 1. A,B,G,J,T अ° 4. M,Ma पातास्मि 5. A,B,G,J,T °विहितः 6. M,Ma उपा° 7- -7. M,Ma मां च भावयतेऽपत्यमेवं; H,V मां च भावयती पत्या देवं°; W धारयिष्यसि मां पत्या देवं 8. A,B,G,J,T गृह्यापि 9. W °म्पद्यते 10. M,Ma °गुह्यात् 11. M,Ma °तात्

**उपाधावत् पतिं भक्त्या परया कृतकृत्यवत्।**
**स वै समाधियोगेन कश्यपस्तदबुध्यत।।२२।।**

**प्रविष्टमात्मनि हरेरंशं ह्यवितथेक्षणः।**
**सोऽदित्यां वीर्यं माधत्त तपसा चिरसम्भृतम्[1]।।**
**समाहितमना राजन् दारुण्यग्निं यथाऽनिलः।।२३।।**

**अदितेर्धिष्ठितं[2] गर्भं[2] भगवन्तं सनातनम्।**
**हिरण्यगर्भो विज्ञाय समीडे ब्रह्मनामभिः[3]।।२४।।**

**श्रीध० तथेति।** मम मया चिन्त्य एव। तत्र हेतुः - सन्तोषितस्येत्यादि। श्रद्धानुरूपमिच्छानुसारेण फलहेतुत्वात्।।१७।।

**त्वयेति।** मारीचस्य तपसि अवस्थितस्सन्[4] गोप्तास्मि पालयिष्यामि।।१८।।

**उपधावेति।** अतः पतिमुपधाव भजस्व।।१९।।

**नेति।** देवानां गुह्यं रहस्यं सर्वं सुसंवृतं सुगुप्तं सत् सम्पद्यते सिध्यति।।२०।।

**एतावदिति।** प्रभोर्हरेरात्मनि जन्म लब्ध्वा।।२१,२२।।

**प्रविष्टमिति।** अवितथमीक्षणं दृष्टिर्यस्य सः। अनिलो यथा सर्वत्र समोऽपि दारुणि संघर्षेण वनदाहकमग्निमाधत्ते एवं स्वयं पुत्रेषु सर्वेषु[5] समोऽपि दैत्यक्षपणार्थं[6] वीर्यमाधत्तेत्यर्थः।।२३।।

**अदितेरिति।** अदित्याः[7] गर्भमाधिष्ठितम्[7] अधिष्ठाय स्थितम्। सन्धिरार्षः[8]। समीडे[8] तुष्टाव इत्यर्थः[9]।।२४।।

**वीर०** यद्यप्येवमद्यापि हे देवि! तव व्रतचर्यया तोषितस्य मे मया काश्चिदुपायाश्चिन्तनीय एव, कुतः? यतो मदाराधनमन्यथागन्तुं विफलीभवितुं नार्हति, तत्कुतः? मदाराधनस्य कर्तुः श्रद्धानुसारमिच्छानुसारेण फलहेतुकत्वात्, फलहेतुकृत्त्वादिति पाठे फलहेतुं करोतीति फलहेतुकृत् तस्य भावः तत्त्वं, तस्मादादिकारणत्वादित्यर्थः।।१७।।

चिन्त्यमुपायं दर्शयति - **त्वयेति।** पुत्ररक्षणाय त्वया पयोव्रतेनाहम् अनुगुणं[10] यथार्थं सम्यगर्चितः स्तुतश्चातोऽहं मारीचतपस्यवस्थितः कश्यपतपःफलं प्रदानेऽवस्थितः[11] स्वांशेन तव पुत्रत्वम् उपेत्य तव सुतान्

---

1. M,Ma सञ्चितम् 2- -2. H,V अदित्याधिष्ठितं गर्भं, M,Ma अदित्यां निहितं गर्भं; W अदित्या निहितं गर्भं 3. A,B,G,J,M,Ma,T गुह्य° 4- -4. A,B,J अधिष्ठायस्थितस्सन् 5. B,H,J,V Omit सर्वेषु 6. A,B,J °णं 7- -7. A,B,J धिष्ठितम् 8- -8. A,B,J Omit 9. H,V Omit इत्यर्थः 10. W. Omits अनुगुणं 11. W Omits प्र

गोप्तास्मि गोपायिष्यामि। स्वान्स्वेनेति पाठे स्वेनाजहत्स्वभावस्वरूपेणाहं तव पुत्रत्वमुपेत्य स्वान् त्वत्सम्बन्धिनः पुत्रान् गाप्तास्मीत्यर्थः।।१८।।

अतो हे भद्रे। पतिमकल्मषं प्रजापतिं कश्यपमुपधाव, अनुवर्तस्व, पत्या[1] भर्त्रा निमित्तेन मां गर्भे धारयिष्यसि, कथम्भूतं रूपम्? वामनरूपमवस्थितं[2] स्वसङ्कल्पेनाददानं देवं स्वतेजसा[3] देदीप्यमानम्।।१९।।

अन्येन पृष्टयापि त्वयैतन्मदुक्तं कथञ्चिदपि नान्यस्मै कथनीयं, हे देवि! देवरहस्यं सर्वं गुप्तं, सदेव सम्पत्स्यते फलदं भविष्यति।।२०।।

एतावदभिधाय तत्रैव भगवानन्तर्दधे अथादितिः स्वस्यां भगवतोऽवतारं दुर्लभं प्राप्य कृतार्थेव श्रद्धायुक्तया भक्त्या, परयेति पाठे अनन्यया पतिमन्वर्वतत। तदनुवर्तनं स्वस्मिन् प्रविष्टं हरेरंशञ्च सः[4] कश्यपः[5] समाधियोगेन योगदृष्ट्या अन्वबुध्यत विज्ञातवान्[6] यतोऽयमवितथेक्षणः अवितथमीक्षणं दृष्टिर्यस्य सः।।२१,२२।।

ततः सः कश्यपः तपसा हेतुना चिरं सम्भृतं धृतं वीर्यं तस्याम् आदित्यामाधत्त निहितवान् कश्यपं प्रविष्टस्य भगवतो येन केनापि रूपेण अदित्युदरप्रवेश व्याजमात्र कथनमिदं न तु जीवस्येव वीर्यसंश्लेषकथन परमित्यवगन्तव्यम्। कथमाधत्तेत्याह - हे राजन्! सर्वत्र समोपि वायुर्दारुणि सङ्घर्षणेन यथा वनदाहकमाग्निमाधत्ते, एवं स्वयं पुत्रेषु समोऽपि दैत्यक्षपणं वीर्यमाधत्तेत्यर्थः।।२३।।

ततोऽदितेर्गर्भे निष्ठितं[7] प्रविष्टं सनातनं भगवन्तं ज्ञात्वा हिरण्यगर्भः चतुर्मुखः[8] भगवदसाधारणगुण प्रतिपादकै[9] र्नामभिः समीडे समीपे तुष्टाव इत्यर्थः[10]।।२४।।

**बिज०** तर्ह्युपायाभावदुपरम एव श्रेयानिति तत्राह - **अथेति**। मम सकाशान्मम व्रतचर्यया वा श्रद्धानुरूपमिति क्रियाविशेषणं, ममार्चनमन्यथा फलराहित्येन गन्तुं नार्हति। यथा श्रद्धा तथा फलहेतुकत्वात् पुरुषार्थलक्षणफलस्य निमित्तत्वात्, कप्रत्ययः स्वार्थमतिसाधयति।।१७,१८।।

उपाधाव[11] उपास्व अपत्यम् अपत्यत्वेन।।१९।।

परस्मै शत्रवे।।२०-२२।।

किमवबुद्धमिति तत्राह - **प्रविष्टमिति**।।२३,२४।।

---

1. W. Omits पत्या 2. A,B,T 'भं रू' 3. W 'सातीव्य' 4. A,B,T Omit सः 5. W का' 6. A,B,T Omit वि 7. A,B,T अधि 8. W. ब्रह्मा 9. A,B,T 'दनै: 10. A,B,T Omit इत्यर्थः। 11. A,B उपधाव

**ब्रह्मोवाच**

**जयोरुगाय भगवन्! उरुक्रम!नमोस्तु ते।**
**नमो ब्रह्मण्यदेवाय त्रिगुणाय नमो नमः।।२५।।**

**नमस्ते पृश्निगर्भाय वेदगर्भाय वेधसे।**
**त्रिनाभाय त्रिपृष्ठाय शिपिविष्टाय विष्णवे।।२६।।**

**त्वमादिरन्तो भुवनस्य मध्यमनन्तशक्तिं पुरुषं यमाहुः।**
**कालो भवानाक्षिपतीश विश्वं स्रोतो यथाऽन्तः पतितं गभीरम्।।२७।।**

**त्वं वै प्रजानां स्थिरजङ्गमानां प्रजापतीनामपि सम्भविष्णुः।**
**दिवौकसां देव दिवश्च्युतानां परायणं नौरिव मज्जतोऽप्सु।।२८।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
अष्टमस्कन्धे सप्तदशोध्यायः।।१७।।

**श्रीध० नम** इति। अदितेरेव पूर्वस्मिन् जन्मनि पृश्निरिति नाम तस्या गर्भाय अर्भकाय। वेदा गर्भे यस्य। यद्वा वेदानां गर्भाय वेदेषु प्रकाशमानायेत्यर्थः। त्रयो लोका नाभौ यस्य स त्रिनाभः तस्मै। त्रयाणां लोकानां पृष्ठे उपरि स्थिताय। शिपि शब्देन पशवो जीवाः तेष्वन्तर्यामितया प्रविष्टाय। " यज्ञो वै विष्णुः पशवः शिपिर्यज्ञ एव पशुषु प्रतितिष्ठति " ( तैत्ति.सं. 1-5-6 ) इति श्रुतेः। यद्वा शिपयो रश्मयस्तैर्वेष्टितायेत्यर्थः। तथापि विष्णवे व्यापिने।।२५,२६।।

**त्वमिति।** अन्तः पतितं तृणादि यथा गभीरं स्रोत आक्षिपत्याकर्षति तथा कालात्मा भवान् विश्वमाक्षिपति आकर्षति।।२७।।

**त्वं वा** इति। प्रजानां प्रजापतीनां च त्वमेव सम्भविष्णुः उत्पादनशीलोऽसि। अयं भावः न ह्येवम्भूतस्य तव जन्मादिसम्भवः किन्तु देवानां प्रजापतीनां प्रजानां च परमाश्रयत्वेन तत्कार्यसाधनाय अवतारोऽयम् अतः तान्स्वर्गाच्युतान् पुनः स्वर्गे स्थापयेति।।२८।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां सप्तदशोऽध्यायः।।१७।।

---

1- -1. H,V Omits 2. M,Ma पृश्निगर्भाय 3. M,Ma त्रिगुणाय; W. त्रिणाभाय 4. M,Ma यथाऽप्सः 5. A,B,G,J,M,Ma,T "मसि 6. M,Ma सम्भविष्ट: 7. A adds तत्रापि 8 H,V Omit आक्षिपति 9. A,B,J Omit आकर्षति 10. A,B,J Omit प्रजानां 11. H,V सञ्जनिष्णुः 12- -12. H,V Omit

**वीर०** [1]गुणनामभिः हिरण्यगर्भकृतां [2]स्तुतिमेवाह - [3]जयेति यावदध्यायसमाप्ति। हे [4]भगवन्! [5]षाड्गुण्यपूर्ण! हे उरुक्रम! उरवः क्रमाः पादविन्यासाः करिष्यमाणाः यस्य तथाभूत इत्यर्थः। जय सर्वोत्कृष्टतां प्राप्नुहि ते तुभ्यं नमोस्तु ब्रह्मकुले साधवो ब्रह्मण्यास्तेषां देवाय तस्मै देवायेति वा, त्रिगुणाय सृष्ट्याद्युपयुक्त रज आदि गुणत्रयनियन्त्रे [6]इत्यर्थः।।२५।।

अदितिरेव [7]पूर्वस्मिन् जन्मनि पृश्निरिति नाम, तस्या गर्भाय, वेदो गर्भे यस्य वेदानां [8]गर्भायेति वा। वेधसे विधात्रे। त्रयो लोका नाभ्यां यस्य तस्मै, त्रयाणां लोकानां पृष्टे उपरि परमव्योम्नि स्थिताय। शिपयो जीवास्तेष्वन्तर्यामितया प्रविष्टाय। " यज्ञो वै विष्णुः पशवः शिपिर्यज्ञ एव पशुषु प्रतितिष्ठति " (तैत्ति.सं.1-5-6) इति श्रुतेः। यद्वा शिपयो रश्मयः तैः वेष्टितायेत्यर्थः। विष्णवे व्यापिने।।२६।।

भुवनस्य विश्वस्य त्वमेवादिमध्यान्तकारणभूतः यमपरिमितशक्तिं परमपुरुषमाहुः। " परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च " ( श्वेता.उ.6-8 ) इत्यादयो वेदान्ताः। स त्वमेव कालशरीरको भवानेव विश्वमाक्षिपति प्रवर्तयति, यथान्तःपतितं तृणादिकं स्रोतःप्रवाहः आक्षिपति तद्वत्।।२७।।

प्रजानामस्मदादीनां प्रजापतीनां च त्वमेव सम्भविष्णुः उत्पादनशीलोसि। अयं भावः - न ह्येवम्भूतस्य तव जीवस्येव कर्मणा जन्मादिसम्भवः। किन्तु देवानां परमाश्रयत्वेन तत्कार्यसाधनायावतारोऽयम्। अतस्तान् स्वर्गच्युतान् [9]पुनः स्वर्गे [10]स्थापयेति आश्रयत्वे दृष्टान्तः। अप्सु मज्जतः पुंसो नौर्यथा तद्वत् सुराणामाश्रयभूत इत्यर्थः।।२८।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां सप्तदशोऽध्यायः।।१७।।

**विज०** पृश्न्यां गर्भो यस्य स तथा तस्मै वेदगर्भाय सद्यो जन्म शक्तये त्रीणि पृष्टानि वैकुण्ठादीनि यस्य स तथा तस्मै।।२५,२६।।

गभीरं स्रोतो नदी आक्षिपति तीरं प्रति नयति।।२७,२८।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीविजयध्वजतिर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां सप्तदशोऽध्यायः।।१७।।

---

1. A,B,T गुह्य" 2. A,B,T 'तिमाह 3- -3. जयेत्यादिना यावत्समाप्ति 4. A,B,T Omit भगवन्। 5. W Omits षाड्गुण्यपूर्ण। 6. W Omits इत्यर्थः। 7. A,B,T पूर्वज" 8. W Omits इति 9. W Omits पुन. 10. W Omits इति

oooOoooo

# अष्टादशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

इत्थं विरिञ्चिस्तुतकर्मवीर्यः प्रादुर्बभूवामृतभूरदित्याम्।
चतुर्भुजः शङ्खगदाब्जचक्रः पिशङ्गवासा नलिनायतेक्षणः।।१।।

श्यामावदातो मणिराजकुण्डलत्विषोल्लसच्छ्रीवदनाम्बुजः पुमान्।
श्रीवत्सवक्षा वलयाङ्गदोल्लसत्किरीटकाञ्चीगुणहारनूपुरः।।२।।

मधुव्रतव्रातविघुष्टया स्वया विराजितः श्रीवनमालया हरिः।
प्रजापतेर्वेश्मतमः स्वरोचिषा विनाशयन् कण्ठनिविष्टकौस्तुभः।।३।।

दिशः प्रसेदुः सलिलाशयास्तदा प्रजाः प्रहृष्टा ऋतवो गुणान्विताः
द्यौरन्तरिक्षं क्षितिरग्निजिह्वा गावो द्विजाः संजहृषुर्नगाश्च।।४।।

श्रोणायां भाद्रद्वादश्यां मुहूर्तेऽभिजिति प्रभुः।
सर्वे नक्षत्रताराद्याश्चक्रुस्तज्जन्म दक्षिणम्।।५।।

द्वादश्यां सवितातिष्ठन्मध्यंदिनगतोऽहनि।
विजया नाम सा प्रोक्ता यस्यां जन्म विदुर्हरेः।।६।।

शङ्खदुन्दुभयो नेदुः मृदङ्ग पणवानक
चित्रवादित्र तूर्याणां निर्घोषस्तुमुलोऽभवत्।।७।।

प्रीताश्चाप्सरसोऽनृत्यन्गन्धर्वप्रवरा जगुः।
तुष्टुवुर्मुनयो देवा मनवः पितरोऽग्रयः।।८।।

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ततस्त्वष्टादशे भूत्वा वामनः सत्कृतोऽखिलैः। बलेर्यज्ञं गतस्तेन चोक्तो वृणु वरानिति।।

**इत्थमिति।** इत्थं विरिञ्चेन स्तुतं कर्म देवकार्यलक्षणं वीर्यं च प्रभावो यस्य स हरिरदित्यां प्रादुर्बभूवेति त्रयाणामन्वयः। अमृतभूर्मृत्युजन्मशून्यः शङ्खगदाब्जचक्राण्यस्य सन्तीति तथा। अर्श आदित्वेन

---

1. M,Ma "ञ्चि" 2. A,B,G,J,M,Ma,T चार 3 M,Ma "त श्रीवं " 4. A,B,G,J,M,Ma,T श्रवण 5. W सर्व 6. A,B,G,J,M,Ma,T "तो नप! 7.M,Ma भेर्यांम्" 8. M,Ma पतय:9- -9.A,B,J यज्ञं गततत" 10- -10.A,B,J सत्कृत्योक्तो वरान्, वृणु

मत्वर्थीयोऽच् प्रत्ययः। अविसर्गपाठे स चासौ पिशङ्गवासाश्च।।१।।

**श्यामेति।** [1-]श्यामावदातः श्यामेषु प्रवरः[-1]। झषराजो मकरस्तदाकारयोः कुण्डलयोस्त्विषा उल्लसन्ती श्रीर्वदनाम्बुजे यस्य। श्रीवक्षो वक्षसि यस्य। वलयैरङ्गदैश्च सहोल्लसन्ति किरीटादीनि यस्य।।२।।

**मधुव्रतेति।** श्रीमत्या वनमालया विराजितः। वेश्मगतं तमः।।३।।

**दिश** इति। अग्रिजिह्वा देवाः। नगाः पर्वताः।।४।।

तत्प्रादुर्भावसमयमाह - **श्रोणायामिति।** भाद्रपदशुक्लद्वादशी श्रवणद्वादशीति प्रसिद्धा तस्याम्। तत्रापि श्रोणायां श्रवणस्थे चन्द्र इत्यर्थः। तत्रापि श्रवणस्य प्रथमांशेऽभिजिति नक्षत्रे तच्च श्रुत्या दर्शितम्। "अभिजिन्नाम नक्षत्र मुपरिष्टादाषाढानामधस्ताच्छ्रोणायाः" इति। एवं विशिष्टे मुहूर्ते [2]सुसमये प्रभुः प्रादुर्बभूवेत्यर्थः। किञ्च नक्षत्रण्यान्यश्विन्यदीनि ताराशब्देन [3]ताराः ग्रहाः गुरुशुक्रादयस्ते आद्या येषां ते सूर्यादयोऽपि सर्वे तस्य जन्मदक्षिणमुदारं चक्रुः। जन्ममुहूर्ते गुणा बहवो बभूवुरित्यर्थः।।५।।

विशेषान्तरमाह - **द्वादश्यामिति।** यस्यां द्वादश्यां हरेर्जन्म तत्तस्यामहन्येव विदुः। [5]तस्य मध्यन्दिन गतः सविताऽतिष्ठत्। [6]अनेन अभिजिन्मुहूर्ते जन्म उक्तं[-6] सा च द्वादशी विजया नाम प्रोक्तेत्यन्वयः।।६।।

**शङ्खेति।** शङ्खादयो [7]येषामन्येषां च चित्रतूर्याणां निर्घोषोऽभवत्।।७।।

**प्रीता** इति। देवा मनव इत्यादीनां कुसुमैः समवाकिरन्निति तृतीयेनान्वयः।।८।।

## श्रीवीरराघवविदुषालिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं ब्रह्मणा समीडितो भगवानवततारेत्याह मुनिः - **इत्थमिति।** इत्थं विरिञ्चेन स्तुतं कर्म देवकार्य लक्षणं वीर्यम् उरुक्रमत्वादिप्रभावश्च यस्य सोऽमृतभूः कर्मायत्तमरणोत्पत्तिरहितः मोक्षप्रदो वा भगवान् अदित्यामाविर्बभूव, कथम्भूतः? चत्वारो भुजा यस्य शङ्खादयो अस्य सन्तीति तथा अर्श आदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्, पिशङ्गे वाससी यस्य नलिनवत् सुन्दरे आयते चेक्षणे नेत्रे यस्य।।१।।

श्यामश्चासावदातो निर्मलः झषराजो मकरस्तदाकारयोः कुण्डलयोः त्विषा उल्लसन्ती श्रीर्वदनाम्बुजे यस्य श्रीवत्सो वक्षसि यस्य वलयैरङ्गदैश्च सहोल्लसन्ति किरीटादीनि यस्य।।२।।

---

1- -1. B,H,J,V Omit 2. B,H,J,V Omit सुसमये 3. A,B,J Omit ताराः 4 H,V "णा" 5. A,B,J तदा च 6- -6 B,H,J,V Omit 7. A,B,J ये तेषां"

मधुव्रतानां भृङ्गानां समूहेन विघुष्टया स्वयाऽसाधारणया श्रीमत्या वनमालया विराजितः विभुः सर्वज्ञः प्रजापतेः कश्यपस्य वेश्मगतं तमः स्वकान्त्या विनाशयन्नपनुदन् कण्ठे निविष्टः धृतः कौस्तभो यस्य सः, आविर्बभूवेति पूर्वेणान्वयः।।२।।

तदा दिशः सल्लिलानि जनानामन्तःकरणानि च प्रसेदुः प्रसन्ना बभूवुः, प्रजाः प्रहृष्टाः ऋतवः प्रावृडादयः गुणान्विताः स्वस्वगुणयुक्ता बभूवुः तथा द्युप्रभृतयो, नगाः पर्वताश्च यथानुरूपं प्रसेदुः सञ्जहृषुः हर्षयुक्ताश्च बभूवुः। तत्र अग्निजिह्वा देवाः अग्नेर्जिह्वा शिखा वा।।४।।

प्रादुर्भावकालमाह - **श्रोणायामिति**। श्रवणद्वादशी भाद्रपदशुक्लद्वादशीति प्रसिद्धा तस्यामपि श्रोणायां श्रवणर्क्षस्थे सति चन्द इत्यर्थः। तत्रापि श्रवणस्य प्रथमांशे अभिजिन्नामके मुहूर्ते माध्यन्दिने। तच्च श्रुत्या दर्शितम् "अभिजिन्नाम नक्षत्रमुपरिष्टादाषाढानामधस्ताच्छ्रोणायाः" इति। एवं विशिष्टे मुहूर्ते भगवान् प्रादुर्बभूवेति पूर्वेणान्वयः। किञ्च नक्षत्राण्यश्विन्यादीनि, ताराः गुरुशुक्रादयः, आदिशब्देन चन्द्रसूर्यादयः ते सर्वे तस्य भगवतो जन्म दक्षिणमुदारं चक्रुः।।५।।

द्वादश्यां तस्यां तिथौ अहनि सूर्यो मध्यन्दिनगतो बभूव सा च द्वादशी विजयेति प्रसिद्धाभूत्, का? यस्यां द्वादश्यो हरेर्जन्म विदुरिति।।६।।

तदा शङ्खादयो मृदङ्गादयश्च नेदुः दध्वनुः तथा विचित्रवादित्रादीनां तुमुलो निर्घोषश्च अभवत्।।७।।

अप्सरसः प्रीता ननृतुः गन्धर्वश्रेष्ठाः जगुः, मुनिप्रभृतयो यथायोग्यं तुष्टुवुः जगुर्ननृतुश्च प्रशशंसुः।।८।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अमृतभूः मुक्ताश्रयो विष्णुः।।१।।

झषराजो मत्स्यश्रेष्ठः मकरः तदाकारकुण्डलत्विषा।।२।।

वेश्मतमः गुहान्धकारः।।३।।

सल्लिलाशयाः ह्रदाः अग्निजिह्वा देवाः।।४।।

श्रोणायां श्रावणे मासि अभिजिति मध्यन्दिने।।५।।

श्रवणद्वादश्यामतिष्ठत्तदा सा द्वादशी विजया नाम अनेन संज्ञान्तरं विधीयते।।६।।

शङ्खादयो, नेदुरिति शेषः।।७,८।।

1. A,B,T "ण प्र" 2. A,B,T म" 3. W Omits अभूत् 4. Omits इति।

सिद्धविद्याधरगणाः सकिम्पुरुषकिन्नराः।
चारणा यक्षरक्षांसि सुपर्णभुजगोत्तमाः[1]।।९।।

गायन्तोऽतिप्रशंसन्तो[2] नृत्यन्तो विबुधानुगाः[3]।
अदित्या आश्रमपदं कुसुमैः समवाकिरन्।।१०।।

दृष्ट्वाऽदितिस्तं निजगर्भसम्भवं परं पुमांसं मुदमाप विस्मिता।
गृहीतदेहं निजयोगमायया प्रजापतिश्चाह जयेति विस्मितः।।११

यत् तद्वपुर्भाति विभूषणायुधै रव्यक्तचिद्व्यक्तमधारयद्धरिः।
बभूव तेनैव स वामनो वटुः संपश्यतोर्दिव्यगतिर्यथा नटः।।१२।।

तं वटुं वामनं दृष्ट्वा मोदमाना महर्षयः।
कर्माणि कारयामासुः पुरस्कृत्य प्रजापतिम्।।१३।।

तस्योपनीयमानस्य सावित्रीं सविताब्रवीत्।
बृहस्पतिर्ब्रह्मसूत्रं मेखलां कश्यपो ददौ[4]।।१४।।

ददौ कृष्णाजिनं भूमिः दण्डं सोमो वनस्पतिः।
कौपीनाच्छादनं माता द्यौश्छत्रं जगतः[5] पतेः।।१५।।

कमण्डलुं वेदगर्भः कुशान्सप्तर्षयो ददुः।
अक्षमालां महाराज सरस्वत्यव्ययात्मनः[6]।।१६।।

**श्रीध०** विस्मयान्तरमाह - यत्तदिति। यत्तद्वपुर्हरिरधारयत् प्रकटितवांस्तेनैव वपुषा मातापित्रोः सम्पश्यतोरेव वामनो वटुर्बभूव। दिव्यगतिरद्भुतचेष्टितः। स्वयं कथम्भूतः? अव्यक्तचिद्रूपः कथमधारयत् - भातिर्दीप्तिर्विभूषणानि च आयुधानि च तैर्व्यक्तं यथा भवति तथा।।९-१२।।

**तमिति**। कर्माणि जातकर्मादीनि।।१३,१४।।

**ददाविति**। वनस्पतिः वनानां पतिः सोमः।।१५,१६।।

**वीर०** अदित्या आश्रमपदं कुसुमैः अवाकिरंश्च।।९,१०।।

---

1. A,B,G,J,T "पर्णा भु" 2. H,M,Ma,V "तोऽभिप्रशंसन्तो; W "तः प्रशसंसुस्तं 3. M,Ma "धाःनराः; 4. A,B,G,J,T "अपोऽददात् 5. H,V ०त्ती पते।, W "त्ती पतेः। 6. M,Ma "क्ष"

तं परमपुरुषं निजगर्भसम्भूतं दृष्ट्वा अदितिः विस्मिता सती नितरां मुदमवाप तथा प्रजापतिः कश्यपश्च निजयोगमायया सहजशक्तियोगयुक्तसङ्कल्परूपज्ञानेन यद्वा, योग एव माया तया आश्चर्यरूपशक्ति योगेनेत्यर्थः। गृहीतो देहो दिव्यविग्रहो येन तं दृष्ट्वा प्रजापतिः ब्रह्मा जयेत्याह।।११।।

विस्मयान्तरमाह - **यत्तदिति।** विभूषणैः कौस्तुभादिभिः आयुधैः, शङ्खचक्रादिभिश्च युक्तमिति शेषः। एवम्भूतं यद्वपुः स्वासाधारणत्वेन प्रकाशते नित्यविभूत्यादौ तद्वपुरादौ अव्यक्तचिद्रूपः प्रकृतिपुरुषशरीरको भगवान् अधारयत् आविश्चकार। ततः तेनैव वपुषा पित्रोः सम्पश्यतोः सतोः स भगवान् दिव्यगतिरनितरसाधारणचेष्टो वामनो वटुर्बभूव। वटुसन्निवेशात् वामनशब्दवाच्यो बभूव। यथा नटः पूर्वपूर्ववेषं विहाय वेषान्तरमुपादत्ते तद्वदित्यर्थः[1]।।१२।।

तं भगवन्तं वामनशब्दवाच्यं वटुसन्निवेशं दृष्ट्वा महर्षयः संहृष्टास्सन्तः प्रजापतिं कश्यपं पुरस्कृत्य कर्माणि जातकर्मादीनि कारयामासुः।।१३।।

तस्य वामनस्योपनीयमानस्य उपनयनेन संस्क्रियमाणस्य सविता सावित्री मुपदिष्टवान् बृहस्पत्यादयो ब्रह्मसूत्रादीनि ददुः।।१४।।

तत्र भूमिर्भूम्यधिष्ठात्री देवता[2] वनस्पतिः वनानां[3] पतिः सोमश्चन्द्रः द्यौस्तदाभिमानिनी देवता।।१५।।

हे महाराज! अव्ययात्मनः अपक्षयादिरहितस्वरूपस्य सरस्वती अक्षमालामदात्।।१६।।

**विज०** सुपर्णः[4] भुजगोत्तमश्च।।९-११।।

यस्त्वभावतो व्यक्तवदव्यक्तमेव तद्वपुरनुकम्पया विभूषणायुधैः व्यक्तं भाति हरिः तादृशं वपुरधारयत् यद्वपुरव्यक्तवद्भाति हरिः तद्वपुः विभूषणायुधैः व्यक्तमधारयदिति वा। स एव दिव्यगतिरनभिभूतज्ञानो हरिः तेन विभूषणायुधविशिष्टेन रूपेण पित्रोः सम्पश्यतोः सतोर्वामनो वटुः बभूवेत्यन्वयः। मूलरूपावतारूपयोरभेद ज्ञापनायैव मुच्यते यथा नट इति तदभिप्रायेण।।१२-१६।।

**तस्मा इत्युपनीताय यक्षराट् पात्रिकामदात्।**
**भिक्षां भगवती साक्षात् उमादादम्बिका सती।।१७।।**

**स ब्रह्म वर्चसेनैवं[5] सभां सम्भावितो वटुः।**
**ब्रह्मर्षिगणसङ्घुष्टामत्यरोचत[6] मारिषः[7]।।१८।।**

---

1. W Omits इत्यर्थः 2- -2. W Omits 3- -3. A.B.T Omit 4 A,B "र्णा 5 M,Ma "व 6. A,B,G,J,M,Ma,T "जु" 7. M,Ma "मन्व"

समिद्धमाहितं वह्निं कृत्वा परि समूहनम्।
परिस्तीर्य समभ्यर्च्य समिद्भिरजुहोद्द्विभुः।।१९।।

श्रुत्वाऽश्वमेधैर्यजमानमूर्जितं बलिं भृगूणामुपकल्पितैस्ततः।
जगाम तत्राऽखिलसारसम्भृतो भारेण गां सन्नमयन् पदे पदे।।२०।।

तं नर्मदायास्तट उत्तरे बलेः ये[2] ऋत्विजस्ते भृगुवत्स[3]संज्ञिके।
प्रवर्तयन्तो भृगवः क्रतूत्तमं व्यचक्षताऽऽरादुदितं यथा रविम्।।२१।।

[4]तं ऋत्विजो यजमानः सदस्याः [5]हतत्विषो वामनतेजसा नृप!।
सूर्यः [6]किलायात्युत वा विभावसुः सनत्कुमारोऽथ दिदृक्षया क्रतोः।।२२।।

इत्थं सशिष्येषु भृगुष्वनेकधा वितर्क्यमाणो[7] भगवान्स वामनः।
[8]सदण्डछत्रं सजलं कमण्डलुं विवेश बिभ्रद्धयमेधवाटम्।।२३।।

मौञ्ज्या मेखलया वीतमुपवीताजिनोत्तरम्।
जटिलं वामनं विप्रं मायामाणवकं हरिम्।।२४।।

प्रविष्टं वीक्ष्य भृगवः सशिष्यास्ते सहाग्निभिः।
प्रत्यगृह्णन्समुत्थाय संक्षिप्तास्तस्य तेजसा।।२५।।

**श्रीध तस्मा** इति। पात्रिकां भिक्षापात्रीम्।।१७।।

**स** इति। स एवं सम्भवितो मारिषः श्रेष्ठो वटुः ब्रह्मवर्चसेन ब्रह्मर्षिगण [9]सङ्घुष्टां तां सभामतिक्रम्यारोचत।।१८,१९।।

यदर्थं वटुर्बभूव तदाह **श्रुत्वेति** यावदध्यायपरिसमाप्ति[10]। यजन्तं भृगूणां भृगुभिः उपकल्पितैः प्रवर्तितैः। अखिलेन सारेण बलेन सम्भृतः सम्पूर्णः।।२०।।

**तमिति**। नर्मदाया उत्तरे तटे भृगुवत्ससंज्ञके[11] क्षेत्रे क्रतूत्तमं प्रवर्तयन्तो ये बलेः ऋत्विजो भृगवस्ते[12] तं व्यचक्षताऽपश्यन्। आरात्समीप एव उदितं रविमिव।।२१।।

**तमिति**। तम् [13]आगच्छन्तम्[13] ऋत्विगादयः सूर्यः किलेत्येवमादि, व्यतर्कयन्निति शेषः।।२२।।

1. A,B,G,J,M,Ma,T द्विज. 2. A,B,G,J,T ये ऋत्विजः:; M,Ma "यज्ञर्त्विज ० 3. A,B,G,J,T कच्छ संज्ञके 4. A,B,G,J,T त ऋत्विज , M,Ma तत्रर्त्विजो 5. M,Ma हत" 6. M,Ma किमाऽऽयात्यथ 7. W "तर्कमानेषु 8. A,B,G,J,T छत्रं सदण्डं 9. A,B,J सङ्घ" 10- -10. A,B,J "त्यादियावत्समाप्ति। 11. A,B,J कच्छ 12. H,V Omit से 13- -13. A,B,J Omit

**इत्थमिति।** हयमेधवाटमश्वमेधमण्डपं विवेश।।२३।।

**मौञ्ज्येति।** उपवीताजिनमुपवीतबद्धतमजिनमेव उत्तरमुत्तरीयं यस्य तम्।।२४।।

**प्रविष्टमिति।** संक्षिप्ता अभिभूताः सन्तः।।२५।।

**वीर०** इत्थमुपनीयमानाय वामनाय यक्षराट् वैश्रवणः पात्रिकां भिक्षापात्रमदात्। भवानी भिक्षामदात्।।१७।।

स एवं सम्भावितो मारिषः श्रेष्ठः पूज्यः वटुः ब्रह्मवर्चसेन युक्तः[1] तां[2] ब्रह्मर्षिगणेन[3] सङ्कुष्टां सभामप्यतिक्रम्य[4] सभाया निर्गतो व्यरोचतेत्यर्थः। यद्वा रुचिरत्र व्यर्थगर्भः सभामतीव व्यरोचयदित्यर्थः।।१८।।

विभुः कश्यपः समिद्धं ज्वलन्तं श्रेष्ठं[5] तं उपनयनाग्निं[6] परिसमूहनम् ऋजुं कृत्वा परिस्तीर्य सम्यगभ्यर्च्य च समिद्भिः हुतवान्।।१९।।

ततो भगवान् वामनो भृगूणां तैः उपकल्पितैः कारितैः अश्वमेधैः यजन्तमूर्जितं बलिं[7] वैरोचनिं श्रुत्वा तत्र जगाम। कथम्भूतः? अखिलेन सारेण बलेन सम्भृतः पूर्णः अत एव भारेण गां भूमिं प्रतिपदं सन्नमयन् नम्राङ्कुर्वन्[8]।।२०।।

नर्मदाया उत्तरे तटे भृगुवत्साख्ये[9] क्षेत्रे क्रतूत्तमं प्रवर्तयन्तो ते[10] बलेः, ऋत्विजो भृगवस्तं वामनं दूरात् व्यचक्षतापश्यन्। कथम्भूतम्? उदितं सूर्यमिव स्थितम् आरात् समीप एव उदितं रविमिवेति वा।।२२।।

हे नृप! वामनस्य तेजसा अपहततेजस्काः यजमानो बलिः सभ्या ऋत्विजश्च भृग्वादयः[11] सूर्यः किलाऽऽयातीत्येवमादि, व्यतर्कयन्निति शेषः। किं वा विभावसुरग्रेरायातीति[12]। उत क्रतोर्दिदृक्षया सनत्कुमार आयातीति[13]।।२२।।

इतीत्थं सशिष्येषु स यजमानेषु भृगुषु वितर्कमाणेषु[14]सत्सु स भगवान् वामनः सदण्डं छत्रं जलपूर्णं कमण्डलुञ्च बिभ्रद्धयमेधवाटमश्वमेध[15] वाटिकां[15] विवेश।।२३।।

मौञ्ज्या मेखलया वीतं[16] बद्धकटिमुपरिधृतोपवीताजिनमुपवीतोपरिधृतमजिनमुत्तरीयं यस्येति वा। जटिलं[17] सशिखं वामनाख्यमात्मीयसङ्कल्पोपात्तमाणवकसन्निवेशं हरिं प्रपन्नार्तिहरं[18] वामनं दृष्ट्वेत्युत्तरेणान्वयः[18]।।२४।।

1. W Omits युक्तः 2 A,B,T Omit ता 3 W "णम" 4 A,B,T "त्य" 5. W Omits श्रेष्ठ तं 6. A,B,T °धाग्नि 7. A,B,T Omit बलिं 8. A,B,T निम्रा 9 A,B,T कच्छा 10 A,B,T Omit ते 11 W Omits भृग्वादयः 12. W Omits इति 13. W. Omits इति 14 A,B,T Omit सत्सु 15- -15 W वाटिका 16. W Omits वीतं 17. W आर्द्र 18- -18. W Omits

एतं[1] यज्ञवाटे[2] प्रविष्टं दृष्ट्वा सयजमाना भृगवोऽग्निभिः सह वामनस्य तेजसा संक्षिप्ताः सङ्कुचित प्रकाशास्सन्तः समुत्थाय प्रत्यगृह्णन् सत्कृतवन्तः।।२५।।

**विज०** पात्रिकाम् भिक्षापात्रम् उमा उमेति सस्य विशेषव्यावृत्त्यर्थम् अम्बिकेति।।१७।।

सभां प्राप्यात्यरोचत सभामरोचयदिति वा। मारिषः पूज्यः।।१८-१९।।

भृगूणामुपकल्पितैः अश्वमेधैः यजमानं यष्टारं बलिं श्रुत्वा तत्र जगाम अखिलसारैर्गुणैः सम्भृतः पूर्णः भारेण गरिम्णा।।२०।।

भृगुवत्सेति संज्ञा यस्य स तथा तस्मिन्।।२१-२२।।

वाटं शालाम्।।२३।।

आवीतं परिवृतम्।।२४,२५।।

**यजमानः प्रमुदितो दर्शनीयं मनोरमम्।**
**रूपानुरूपावयवं तस्मा आसनमाहरत्।।२६।।**

**स्वगतेनाभिवन्द्याथ[3] पादौ भगवतो बलिः।**
**अवनिज्यार्चयामास मुक्तसङ्गं[4] मनोरमम्।।२७।।**

**तत्पादशौचं[5] कलिकल्मषापहं स धर्मविन्मूर्ध्न्यदधात् सुमङ्गलम्।**
**यद् देवदेवो गिरिशश्चन्द्रमौलिः दधार मूर्ध्ना परया च भक्त्या।।२८।।**

**बलिरुवाच**

**स्वागतं ते नमस्तुभ्यं ब्रह्मन् किं करवाम[6] ते।**
**ब्रह्मर्षीणां तपस्साक्षात् मन्ये त्वाऽऽर्यवपुर्धरम्।।२९।।**

**अद्य नः पितरस्तृप्ता अद्य नः पावितं कुलम्।**
**अद्य स्विष्टः क्रतुरयं यद्भवानागतो गृहान्।।३०।।**

**अद्याग्नयो मे सुहुता यथाविधि द्विजात्मज! त्वच्चरणावनेजनैः।**
**हतांहसो वार्भिरियं च भूरभूत्[7] तथा पुनीता तनुभिः पदैस्तव।।३१।।**

---

1. W Omits एतं 2. A,B,T Omit यज्ञवाटे 3. A,B,G,J,M,Ma,T "न" 4. A,B,G,J,T,W "सङ्गम" 5. A,B,G,J,T जन 6. H,V "णि 7. A,B,G,J,T भूरहोतथा; M,Ma भूमिरद्धा

**यद्यद्भवान् वाञ्छति तत्प्रतीच्छ मे त्वामर्थिनं विप्रसुतानुतर्कये।**
**गां काञ्चनं गुणवद्वाऽथधाम मृष्टं तथान्नमथवा विप्र कन्याम्।**
**ग्रामान् सम्मृद्धांस्तुरगान् गजान् वा रथोत्तमानर्हतम प्रतीच्छ मे।।३२।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यांअष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
अष्टमस्कन्धे अष्टादशोऽध्यायः।।१८।।

**श्रीध० यजमान** इति। रूपस्यानुरूपा अवयवा यस्य तम्, दृष्टेति शेषः।।२६,२७।।

**तदिति।** चन्द्रमौलिश्चेत्यन्वयः। अप्यर्थे चकारः। चन्द्रमौलिरपि गङ्गारूपं यन्मूर्ध्नि दधारेत्यर्थः।।२८।।

**स्वागतमिति।** हे आर्य! त्वा त्वां साक्षात्प्रत्यक्षं ब्रह्मर्षीणां तप एव मन्ये। कथम्भूतं तपः? वपुर्धरं मूर्तिधारि।।२९,३०।।

**अद्येति।** हे द्विजात्मज! त्वच्चरणावने जनैर्वाभिर्हतमहो यस्य तस्य मे। पुनीता पवित्रीकृता।।३१।।

**यदिति।** मे मत्तः प्रतीच्छ गृहाण। हे अर्हत्तम! पूज्यतम।।३२।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां अष्टादशोऽध्यायः।।१८।।

**वीर० तदेवाह - यजमान** इति। रूपस्यानुरूपा अवयवा यस्य तमत एव मनोरमं हृद्यमत एव दर्शनीयं वामनं, दृष्टेति शेषः। यजमानो बलिस्तस्मै आसनं समर्पितवान्।।२६।।

अथ बलिस्तं स्वागतेनाभिनन्द्य स्वागतं पृष्ट्वा तस्य भगवतः पादादर्वानिज्य प्रक्षाल्य मुक्तसङ्गानां योगिनां मनस्सु क्रीडन्तं भगवन्तं तमर्चयामास।।२७।।

ततः स्वधर्मवित् स्वानुरूपधर्मज्ञो बलिः कलिकल्मषस्यापहन्तृ अत एव सुमङ्गलं तस्य भगवतः पादयोः सम्बन्धि शौचं पवित्रं प्रक्षालनोदकं मूर्ध्न्यदधात्। पादशौचं विशिनष्टि देवदेवो ब्रह्मा, चन्द्रमौलिः गिरिशो रुद्रश्च परया उत्कृष्टया भक्त्या मूर्ध्ना यत् पादशौचं गङ्गारूपं दधार ततः तमुवाचेति शेषः।।२८।।

**तदेवाह - स्वागतमिति** साद्धैश्चतुर्भिः। हे ब्रह्मन्! ते त्वया स्वागतं, तुभ्यं नमः। ते किङ्करवाम?

1- -1. A,B,G,J,T,M,Ma,T यद् यद् वटो वांछसि 2 A,B,G,J,T वद्धाम 3 A,B,G,J,T ग्रपयमुत. M,Ma ग्रमुत वा
4- -4. A,B,G,J,M,Ma,T रथास्तथार्हतम सम्प्रतीच्छ 5 A B,J ग्रां 6- -6 A,B,J Omit , 7 A,B,J "न" 8 W Omits उत्कृष्टया
9- -9. W Omits

किङ्करा वयमित्यर्थः, आर्यवपुर्धरं[1] श्रेष्ठवपुर्धरं त्वा[2] त्वां[3] साक्षात् प्रत्यक्षं ब्रह्मर्षीणां तपो मन्ये तप एव मूर्तीभूतं[4] मन्ये।।२९।।

यत् यस्मात् भवानस्माकं गृहानागतस्ततोऽस्माकं पितरस्तृप्ता बभूवुः, कुलं च पवित्रमभूत्, अयं क्रतुश्च यथावदनुष्ठितो बभूव।।३०।।

अद्य मे अग्नयश्च यथाविधि सुहुता सुष्ठुहुता बभूवुः। हे द्विजात्मज! त्वच्चरणावने जनैर्वाभिः जलैर्हतमंहः पापं यस्य तस्य मम सम्बन्धिनी इयं भूर्भूमिस्तनुभिस्तनुभिरस्मच्छरीरैस्सह[5] तव[6] पदैः पादविन्यासैः[7] पुनीता पवित्रीकृताऽऽसीत्।।३१।।

हे विप्रसुत! त्वामर्थिनं याचितारमनुतर्कये आलक्षये अतो हे वटो! वामन[8]! यद्यद्वाञ्छसि कामयसे तत्तन्मे मत्तः प्रतीच्छ प्रतिगृहाण[9] यद्वाञ्छसीति यच्छब्दाभिप्रेतानेव कांश्चिद्दर्शयति - **गामिति।** गां[10] भूमिं धेनुं[11] वा, गुणवद्भोग्यभोगोपकरणादिसमृद्धिमत् धाम गृहं तथा, मृष्टमन्नं वा हे विप्र अथो[12] वा अथवा हे अर्हत्तम[13]! गवादीनन्यद्वा[14] यत्किञ्चित् कामयसे तन्मत्तः प्रतिगृहाण।।३२।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां अष्टादशोऽध्यायः।।१८।।

**विज०** तनुभिः रेणुभिः कोमलै र्वा।।२६-३१।।

प्रतीच्छ गृहाण।।३२।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां अष्टादशोऽध्यायः।।१८।।

1. A,B,T दृढधरं 2. W Omits त्वा 3. A,B,T Omit त्वा 4. A,B,T "ति 5. W Omits भूः 6. A,B,T Omit तव 7. A,B,T Omit वि 8. W Omits वामन 9 A,B,T add इत्यर्थः। यद्यदिति। 10. A,B,T Omit गा 11. A,B,T Omit वा 12 A,B,T उत वा 13. A "त्तम 14. A,B,T "दिभ्योऽन्य"

oooOooo

# एकोनविंशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

इति वैरोचनेर्वाक्यं धर्मयुक्तं ससूनृतम्।
निशम्य भगवान्प्रीतः प्रतिनन्द्येदमब्रवीत्।।१।।

श्रीभगवानुवाच

वयस्तवैतज्जनदेव सूनृतं कुलोचितं धर्मयुतं यशस्करम्।
यस्य प्रमाणं भृगवः साम्पराये पितामहः कुलवृद्धः प्रशान्तः।।२।।

न ह्येतस्मिन्कुले कश्चिन्निस्सत्त्वः कृपणः पुमान्।
प्रत्याख्याता प्रतिश्रुत्य यो वाऽदाता द्विजातये।।३।।

न सन्ति तीर्थे युधि वार्थिनार्थिताः पराङ्मुखा ये त्वमनस्विनो नृप।।
युष्मत्कुले यद्यशसाऽमलेन प्रह्लाद उद्भाति यथोडुपः खे।।४।।

यतो जातो हिरण्याक्षश्चरन्नेक इमां महीम्।
प्रतिवीरं दिग्विजये नाविन्दत गदायुधः।।५।।

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ऊनविंशे तु हरिणा याचिते च पदत्रये। प्रतिश्रुते च बलिना जानन्भृगुरवारयत्।। यद्वा -

स्तुत्यार्थितो भगवता स बलिस्त्रिपदीमिताम्। वामनायोनविंशे क्ष्मां दास्यन् शुक्रेण वार्यते।।

दातुः स्तुतिः स्वयं तुष्टिरित्यादि प्रस्तुतोचितं। वक्तव्यमिति भिक्षुं शिक्षयन्नाह वामनः वच इत्यारभ्य षोडशभिः श्लोकैः - वच इति। हे जनदेव! साम्पराये पारलौकिके धर्मे पितामहश्च प्रह्लादः प्रमाणं, दृष्टान्तरूपेण वर्तत इत्यर्थः।।१,२।।

न हीति । निस्सत्त्वस्य लक्षणं यो द्विजातये याचकाय प्रत्याख्याता न ददामीति वक्ता। कृपणस्य लक्षणं प्रथमं प्रतिश्रुत्य यो पश्चात् न दातेति।।३।।

नेति। तीर्थे दानावसरे। यद्यस्मिन्युष्मत्कुले।।४।।

यत इति। यतो यस्मिञ्जातः।।५।।

---

1. H,V,W सु° 2. A,B,G,J,T धा° 3. A,B,G,J,T नृपा. 4. A,B,J स्तु 5- -5. A,B,G,J वयस्तवैतदिति षोडशभिः। 6- -6. A,B,J Omit 7. A,B,J वा 8- -8. H,V Omit

## श्रीवीराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदेवं याच्ञायै चोदितो भगवान् स्वपदत्रयपरिमितां[1] भूमिं वियाचिषुस्तदप्रत्याख्यानाय प्रतिश्रुतं दृढीकृतुं बलिं प्रशंसन्नाहेत्याह, मुनिः। इत्युक्तविधं धर्मयुक्तं सूनृतं सत्यं मधुरं च बलेर्वचः आकर्ण्य[2] प्रीतस्तं प्रतिनन्द्येदं वक्ष्यमाणमुवाच।।१।।

तदेवाह - **वच** इत्यादिना यावदर्थपरिग्रह इत्यन्तेन। हे जनदेव! तव वचः सूनृतत्वादि गुणयुक्तं[3] युक्तं च एतत्कुतः, यतः यस्य भगवतः साम्पराये परलोकसाधनधर्मनिर्णये तव पितामहः कुलवृद्धः प्रशान्तश्च प्रह्लाद एव प्रमाणं, तद्वृत्त्यैव तत्सन्तानरूपाणां भवतामपि वृत्तिः तादृश्येवेत्यनुमीयत इति भावः।।२।।

तदेव विशदयति **न हीति**। अस्मिंस्त्वदीये कुले कश्चिदपि पुमान् निस्सत्त्वः कृपणश्च न हि, न जातः न जनिष्यते नाऽधुना वर्तते च। तत्र निस्सत्त्वस्य लक्षणं यो द्विजाताये याचकाय प्रत्याख्याता न ददामीति वक्तेति, कृपणस्य लक्षणं प्रथमं प्रतिश्रुत्य यो वाऽदातेति।।३।।

हे नृप! तीर्थे दानावसरे सति अर्थिना याचकेन अर्थिता याचितास्तथा युद्धे पराङ्मुखा ये चामनस्विनोऽस्वतन्त्राश्च अस्मिन् कुले त्रिपुरुषं न सन्त्येव, तीर्थे याच्ञां अन्तरेणापि[4] ददातीत्यर्थः। यत् यस्मिन् कुले खे आकाशे चन्द्र इवाऽमलेन यशसा प्रह्लादः उद्भाति नितरां चकास्ति।।४।।

युधि पराङ्मुखा न सन्तीत्येतदुपपादयति **यत** इत्यादिना। यतो यस्मिन् कुले जातो हिरण्याक्षः एकोऽसहायो दिग्विजये निमित्ते इमां कृत्स्नां महीं चरन् गदैवायुधं यस्य तादृशः प्रतिपक्षं वीरं न लेभे।।५।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अनेनाध्यायद्वयेन बलेर्भक्तिविशेषं दर्शयति - **इतीति**। इतिशब्देन हरेर्माहात्म्यसूचकं वाक्यमुक्तमिति सूचयति।।१।।

जनदेव! नृप! साम्पराये पितामहः प्रमाणम्।।२।।

सर्वे स्तुति प्रसन्ना एव अभीष्टं कुर्वन्तीत्यतस्तत्सिद्धिप्रकारं वचनं वक्ति **न हीति**। यः पुमानिति प्रत्येकमभिसम्बद्ध्यते। प्रत्याख्याता नास्तीति वक्ता अदाता।।३।।

तीर्थे पात्रे अर्थिना धनं युद्धं चार्थयमानेन पराङ्मुखा अमनस्विन इत्येतद्विशेषणद्वयं यथायोग्यं

1. W Omits स्व 2. A,B,T श्रुत्वा 3. A,B,T Omit गुण 4. A,B,T विनापि

सम्बन्धितव्यम्, अमनस्विनो हीनमनस्का यद्यस्मात् उद्भाति उत्कृष्टतया द्योतते। उडुपश्चन्द्रः।।४,५।।

यं विनिर्जित्य कृच्छ्रेण विष्णुः क्ष्मोद्धार आगतम्[1]।
नात्मानं जयिनं मेने तद्वीर्यं भूर्यनुस्मरन्।।६।।

निशम्य तद्वधं भ्राता हिरण्यकशिपुः पुरा।
हन्तुं भ्रातृहणं क्रुद्धो जगाम निलयं हरेः।।७।।

[2]तमापतन्तमालोक्य शूलपाणिं कृतान्तवत्।
चिन्तयामास कालज्ञो विष्णुर्मायाविनां वरः।।८।।

यतो यतोऽहं तत्रासौ मृत्युः प्राणभृतामिव।
अतोऽहमस्य हृदयं प्रवेक्ष्यामि पराग्दृशः।।९।।

एवं स निश्चित्य रिपोः शरीरं[3] आधावतो निर्विविशेऽसुरेन्द्र।
श्वासानिलान्तर्हितसूक्ष्मदेहः तद्प्राणरन्ध्रेण[4] विविग्नचेताः।।१०।।

**श्रीध० यमिति।** क्ष्मोद्धारे भूम्या उद्धरणे।।६-८।।

**यत इति।** पराग्दृशो बहिर्दृष्टेः।।९।।

**एवमिति।** अतो हृदये स्थितं मां न ज्ञास्यतीत्येवं सः[5] निश्चित्य श्वासानिलेऽन्तर्हितः सूक्ष्मो देहो यस्य। विविग्नम् अतिकम्पितं चेतो यस्य। अकम्पितचित्त इति वास्तवोऽर्थः।।१०।।

**वीर०** क्ष्मोद्धारे भूम्युद्धरणे[6]। विष्णुर्वराहरूपो यं हिरण्याक्षं कृच्छ्रेण अतिप्रयासेन विनिर्जित्य हत्वा जयिनमात्मानममन्यत। अतस्तस्य हिरण्याक्षस्य वीर्यं भूरि अनवधिकं इत्यनुस्मर अभिजानीहि।।६।।

तथा तस्य हिरण्याक्षस्य वधं श्रुत्वा तस्य भ्राता हिरण्यकशिपुः पुरा क्रुद्धो भ्रातुर्हन्तारं विष्णुं हन्तुं हरेर्निलयं स्थानं जगाम।।७।।

शूलपाणिं मृत्युवदापतन्तं तं हिरण्यकशिपुं विज्ञाय, दुर्जयं ज्ञात्वा मायाविनां श्रेष्ठः तत्तत्कालप्रयोजनाऽभिज्ञो[7] विष्णुः इत्थं चिन्तयामास।।८।।

---

1. H,V "तः; M,Ma "ते 2. A,B,G,J,M,Ma,T तमापान्तं समा" 3. A,B,G,J,M,Ma,T "रमा" 4. A,B,G,J,T तत्प्राण"
5. A,B,J Omit सः 6. W "द्धारे 7. A,B,T "नकर्तव्याऽभि

तत्कृतां चिन्तामेव दर्शयति-यत्र यत्र अहं गमिष्यामि तत्र तत्र सर्वत्राऽसौ हिरण्यकशिपुः प्राणभृतां मृत्युरिवावतिष्ठतेऽतोऽधुना पराग्दृशः बहिर्दृश्यमानोऽहमस्य दैत्यस्य हृदयमेव प्रवेक्ष्यामि।।९।।

इतीत्थं स विष्णुः विनिश्चित्य, हे असुरेन्द्र! आधावतः तदर्थं तत्र सञ्चरतो रिपोः हिरण्यकशिपोः शरीरं निर्विविशे प्रविवेश। तत्रापि हृदये प्रविष्टं मा ज्ञास्यतीति, एवं निश्चित्य श्वासानिलेऽन्तर्हितः सूक्ष्मदेहो यस्य, तस्य घ्राणरन्ध्रेण विविग्नर्मातकम्पितं चेतो यस्य, तादृशो बभूव। तत्रापि प्रविष्टं ज्ञास्यतीति विनिश्चित्य घ्राणरन्ध्रसञ्चारिश्वासवायुना[1] सह चञ्चलः तदविभक्तो बभूवेत्यर्थः।।१०।।

**विज०** कृच्छ्रेणेति मोहवचनं कृतः कृतिनस्तान् श्रयते यत्तेन पराक्रमेणेत्यर्थ इति वा, क्ष्मायाः भूमेः उद्धारे उद्धरणकाले कृच्छ्रेणागते प्राप्ते सति भूरि तस्य वीर्यं पराक्रममनुस्मरन्नपि आत्मानं जयिनं तदानीमेवात्मजयं न मेने, किन्तु नित्यजयिनं मेने इत्यर्थः। यद्वा क्ष्माया उद्धारो येन स तथा स विष्णुना परमपुरुषोयं विनिर्जित्य तत्स्वकीयं वीर्यं तद्भूर्यनन्तमनुस्मरन्नात्मानं जयिनं जयशीलोपेतं मेन इति।।६,७।।

मायाविनां ज्ञानिनां वरः मोक्षादिवरदाता।।८।।

पराग्दृशः बाह्यदृष्टेः "पराञ्चिखानि व्यवृणोत्" (कठ.उ.4-1) इति श्रुतेः। परं दूरमञ्चतीति पराग्दूरस्थं वस्तु पश्यति इति पराग्दृक् तस्य दूरस्थवस्तुदर्शिन इत्यर्थ इति वा।।९।।

तद्घ्राणरन्ध्रेण तस्य घ्राणद्वारेण।।१०।।

**स तन्निकेतं परिमृश्य शून्यमपश्यमानः कुपितो ननाद।**
**क्ष्मां द्यां[2] दिशः खं विवरान्समुद्रान्विष्णुं विचिन्वन्न ददर्श वीरः।।११।।**

**अपश्यन्निति होवाच मयान्विष्टमिदं जगत्।**
**भ्रातृहा मे गतो नूनं यतो नाऽवर्तते पुमान्।।१२।।**

**वैरानुबन्ध एतावानामृत्योरिह देहिनाम्।**
**अज्ञानप्रभवो मन्युरहम्मानोपबृंहितः।।१३।।**

**पिता प्रह्लादपुत्रस्ते तद्विद्वान्विष्णुतत्परः[3]।**
**स्वमायुर्द्विजलिङ्गेभ्यो देवेभ्योऽदात्स याचितः।।१४।।**

---

1. A,B,T श्वसने वा 2. W गां 3. A,B,G,J,M,Ma,T द्विजवत्सलः

**भवानाधरितान्धर्मानास्थितो गृहमेधिभिः।**

**ब्राह्मणैः पूर्वजैः शूरैरन्यैश्चोद्दामकीर्तिभिः।।१५।।**

**श्रीध० स** इति। न ददर्श, अन्तःप्रविष्टत्वात्।।११।।

**अपश्यन्निति**। पुमान्यतः सकाशान्नावर्तते तद्ह्यैव नूनं गतो नित्यमुक्तित्वार्दति वास्तवोऽर्थः।।१२।।

एवं मृत्युपर्यन्तमखण्डं विष्णौ वैरं यत्कृतवान्, तदुचितमेव तस्याप्रतिद्वन्द्वमहाबलपराक्रमस्य शूराहंमान विजृम्भितक्रोधानुबन्धस्य अस्य कथं नामासौ शूरशिरोमणिर्जीवन्नेव कातरवद्वैरमुपेक्षितवानित्याशयेनाऽऽह - वैरानुबन्ध इति। वैरानुबन्ध एतावानमृत्योर्भवति। देहिनां देहे निगूढाभिमानवतां शूराणां तथाऽहम्मानेनोपबृंहितो मन्युश्च भवत्येव। यतोऽज्ञानप्रभवः अज्ञानानवृत्तेः प्राक् पौरुषत्यागो मान्द्यमेवेत्यर्थः।।१३।।

तदेवं पूर्वजान्स्तुत्वा तत्पितरं स्तौति - **पितेति**। द्विजवेषधारिणो मद्वैरिणो देवा एते न तु द्विजा इति तद्विद्वानपि स याचितस्सन् स्वीयमायुर्देवेभ्योऽपि वैरिभ्यो ददौ।।१४,१५।।

**वीर०** ततः स दैत्यस्तन्निलयं शून्यं परितोऽन्विष्य तमपश्यमानः कुपितो ननाद, जितं मयेति सिंहनादं कृतवान्, ततः पुनः क्ष्मां पृथिवीं गां दिवं दिशः खमन्तरिक्षं विवरमतलादिकं समुद्रांश्च विचिन्वन् वीरो दैत्यो विष्णुं न ददर्श।।११।।

अपश्यन्नित्थमुवाच तदेवाह - इदं कृत्स्नं जगत् मयान्विष्टमन्वेषितं मम भ्रातृहन्ता तु क्वापि न दृश्यते, स तु यतः यं प्राप्य न पुनरावर्तते तत्र नूनं गतः। तस्याभिप्रायेण तु मृताऽभवार्दति भावः।।१२।।

अधुना न मद्विषयवैरानुबन्ध तस्यास्तीत्याहेत्याह - **वैरानुबन्ध** इति। इह लोके देहिनां वैरानुबन्ध एतावानेव, कियान्? यः आमृत्योः मरणपर्यन्तं इत्येतावानेव। कुतः? यतो मन्युः क्रोधोऽज्ञानप्रभवः देहविलक्षणात्मस्वरूपाज्ञानजः स देहात्माभिमानेषु उपबृंहितः प्रकटीकृतो भवति। देहे विनष्टे सति मन्युरपि प्रशाम्यतीति मृत्युपर्यन्त एव वैरानुबन्धस्ततः स उपेक्षणीय इति भावः।।१३।।

एवं पितामहप्रपितामहयोः तीर्थादौ अर्थितत्वापराङ्मुखत्वादि गुणयोगमभिधाय अथ पितुर्गुणानाह - **पितेति**। प्रह्लादस्य पुत्रस्तव पिता विरोचनस्तु, तद्विद्वान् पितृपितामहयोर्वृत्तिं विद्वांस्तद्वृत्त्यभिज्ञः, किं च

---

1. M,Ma "ता ध" 2. A,B,J "मुक्त" , B "मुक्त" 3- -3. B Omits 4. A,B,J Omit अस्य 5. A,B,J "शङ्कयाऽऽह 6. A,B,J "ना" 7- -7. H,V Omit 8- -8. B,H,J,V "भ्यो ददौ 9. W Omits य 10 A,B,T यत

द्विजवत्सलः द्विजरूपधारिषु देवेषु वत्सलः, अत एव द्विजलिङ्गेभ्यः द्विजवेषधारिभ्यो देवेभ्यः याचकेभ्यः स्वकीयमायुः समाहितो ददौ, यद्वा द्विजरूपधारिणो देवा एते न तु द्विजा इति तद्विद्वानपि स याचितः सन् स्वीयमायुर्देवेभ्यो ददौ इत्यन्वयः।।१४।।

तदेवं पित्रादीन् स्तुत्वाऽथ तं प्रशंसति **भवानिति**। गृहमेधिभिः बाह्मणै र्भृगुप्रभृतिभिस्तथा पूर्वजैः विरोचनादिभिः विपुलकीर्तिभिः शूरैश्चाचरिताननुष्ठितान् धर्मान् भवानास्थितः।।१५।।

**विज०** निकेतं जगतामिति शेषः। तस्य हरेर्वैकुण्ठं परिमृश्येति वा।।११।।

यतो गत स्ततः।।१२।।

क्रोधहेतुको वैरानुबन्ध इत्याह - अज्ञानेति।।१३।।

प्रह्लादस्य यः पुत्रः स तव पिता विरोचनः तान् द्विजरूपिणो देवान्विद्वान् द्विजानां लिङ्गं वेषो येषां ते, तथा तेभ्यो देवेभ्यः स्वमायुरदादित्यन्वयः।।१४।।

किञ्च यदब्राह्मणैरनुष्ठितं तन्ममाभीष्टमिति प्रकटनाय भवानप्याचरतीत्याह - **भवानिति**। आचरिताऽनुष्ठाता अन्यै राजादिभिः।।१५।।

**तस्मात्त्वत्तो महीमीषद्वृणेऽहं वरदर्षभात्।**
**पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र सम्मितानि पदा मम।।१६।।**

**नान्यत्ते कामये राजन्वदान्याज्जगदीश्वरात्।**
**नैनः प्राप्नोति वै विद्वान्यावदर्थपरिग्रहः।।१७।। ***

**बलिरुवाच**

**अहो ब्राह्मणदायाद वाचस्ते वृद्धसम्मताः।**
**त्वं बालो बालिशमतिः स्वार्थं प्रत्यबुधो यथा।।१८।।**

**मां वचोभिः समाराध्य लोकानामेकमीश्वरम्।**
**पदत्रयं वृणीते योऽबुद्धिमान्द्वीपदाशुषम्।।१९।।**

---

1. A,T Omit देवेभ्यः 2. A,B,T Omit तत् 3. M,Ma °भ! 4. M,Ma नान्यत्ते 5. H,V नैव 6. A,G,J,M,Ma,T प्रति 7. M,Ma °हात् *An additional half verse is found in H,V only. अधिकं योऽधिकाङ्गेत स स्तेनो दण्डमर्हति। 8. M,Ma तेऽवृ° 9. H,V,W यो वृणीते 10- -10. H,V बुद्धिमान्द्विपदाशिषम्; M,Ma बुद्धिमानिवदाशुषम्; W बुद्धिमन्द्विपदाशुषम्

**न पुमान्मामनुव्रज्य भूयो याचितुमर्हति।**
**तस्माद्वृत्तिकरीं भूमिं वटो कामं प्रतीच्छ मे।।२०।।**

**श्रीध तस्मादिति।** मम पदा सम्मितानीति त्रिविक्रमपदाभिप्रायेण। न चानृतवादः, तत्रापि स्वपदत्वानपायात्।।१६।।

**नान्यदिति।** यावदर्थमेव प्रतिग्रहो यस्य सः।।१७।।

ईश्वरस्यापि याच्ञाप्रकारं चोक्त्वा बलेर्बन्धनप्रश्नोत्तरत्वेन तस्य गर्वातिरेकेण अधिक्षेपप्रकारमाह - **अहो** इति त्रिभिः। ते तव वाचो वृद्धानां सम्मतास्त्वं तु बालो बालिशमतिश्च बालिशानामज्ञानामिव मतिर्यस्य। अत एव स्वार्थं प्रति यथावदबुधः। वस्तुतस्तु बाल इवाबालिशमतिश्चेति पदच्छेदः। स्वार्थं प्रत्यबुधः भक्तानामेवार्थं बुध्यसे न स्वार्थम्। परिपूर्णस्य तव तद्व्यतिरेकेण स्वार्थाभावादित्यर्थः।।१८।।

अबुधत्वमेवाह - **मामिति।** दीपस्य दाशिषं दाश्वांसं दातारम्। अबुद्धिमान् वस्तुतस्तु बुद्धिमानित्येव पदच्छेदः।।१९।।

**नेति।** कामं यथेच्छं सम्यक् पादप्रसारणेनेत्यर्थः। अत एव तथा करिष्यति।।२०।।

**वीर०** तदेवं प्रतिश्रुताऽप्रत्याख्यानाय पित्रादिभिः सह तं स्तुत्वाऽथ याचते - **तस्मादिति।** तस्मात्तवैतादृशकुलप्रसूतत्वादुक्तगुणात् वरदश्रेष्ठा ते त्वत्तोऽहं ईषन्मही पृथ्वीं वृणे याचे। कियतीमित्यत्राह। पदानि त्रीणि त्रिपदपरिमितामित्यर्थः, कस्य त्रिपदपरिमितां इत्यत्राह - हे दैत्येन्द्र! मम पदा पादेन सम्मितानि परिच्छिन्नानि इति, इदं त्रिविक्रमपदाभिप्रायेण, न चायमनृतवादः, तत्रापि स्वपदत्वाऽनपायात्।।१६।।

एतदेव नान्यद् वृणे इत्याह - **नान्यदिति।** हे राजन्! जगदीश्वरादपि तत्रापि वदान्यादपि त्वत्त एतावदेव वृणे नान्यत् कामये। यावदर्थस्यैवापेक्षितार्थस्यैव उपयुक्तार्थस्यैव प्रतिग्रहो यस्य, वरिग्रह इति पाठेऽपि स एवार्थः, विद्वान् एनः पापं न प्राप्नोति अधिकार्थलिप्सुस्तु पापी भवतीति भावः।।१७।।

एवं याचितः तदभिप्रायानभिज्ञ आह - बलिः **अहो** इति त्रिभिः। हे ब्राह्मणदायाद! ब्राह्मणसुत! तव वाचस्तु वृद्धानां सम्मताः। अथापि त्वं बालः हेतुगर्भमिदम्। अत एव बालिशमतिः बालिशाना मज्ञानामिव मतिः यस्य सः, अत एव स्वार्थं प्रति यथावदबुधः।।१८।।

1. A,B,G,J,T °भूप 2. A,B,J °नपगमात् 3. B परि 4 B,H,J,V Omit तव 5 A Omits बालः 6. A,B,J Omit पद° 7. A,B,J add इति च 8. A,B,J Omit दाश्वांसं 9. A,B,J Omit पद 10. B adds इति

अबुधत्वमेवाह - **मामिति**। लोकानामेकमद्वितीयं ईश्वरं मां वचोभिः वृद्धसम्मतैराराध्य प्रसाद्य यो भवान् पदत्रयमत्यल्पस्वकीयपदत्रयपरिमितं भूभागं वृणीते. द्वीपस्य जम्ब्वादेर्दाशुषं दातारं माम्, अविद्वान् अतो बालिशमतिर्भवानित्यर्थः।।१९।।

मामुपन्रज्य मां याचित्वा पुमान् कश्चित् भूयोऽन्यं याचितुं नार्हति, तस्मात् हे वटो! कामं यथेच्छं वृत्तिकरीं विपुलां भूमिं मे मत्तः प्रतीच्छ प्रतिगृहाण।।२०।।

**विज०** यस्मात्त्वं पुण्यवतां कुले जातो धर्मकर्त्ता तस्मात्। पदानीति बहुवचनोक्त्या भीतिर्माभूदित्याह - **त्रीणीति**। तेषां च महत्त्वेन भयशङ्का, तदवस्थेति तत्राह, सम्मितानीति।।१६।।

इतोपि महत्तरं कामं वदस्व दास्यामीति तत्राह - **नेति**। वदान्याद्दानशीलात्। राजप्रतिग्रहात्तव दोषो न स्यात्किम्? नेत्याह - नेति। यावता प्रतिग्रहणे स्वप्रयोजनं सिद्ध्यति तावतः प्रतिग्रहात् आदानात् "अजीविष्यान्निमान्नखादन्" इति श्रुतेः। विद्वान् प्रतिग्रहदोषदहनपटुर्ज्ञानवान्।।१७।।

अवृद्धसम्मताः कुतोऽत्राह - **त्वमिति**। बुद्धिवैशद्ये बालत्वमप्रयोजकमत्राह -•बालिशेति। जडमतिः स्वप्रयोजनं ज्ञातुं न शक्यत इत्यर्थः।।१८।।

कथमेतदवगतमत्राह-**मां वचोभिरिति**। अबुद्धिमान् दाशुषं दानशीलं, बुद्धिमानिति व्यतिरेको वा।।१९।।

कुतो मामपहससीति तत्राह - **न पुमानिति**।।२०।।

**श्री[1]भगवानुवाच**

**यावन्तो विषयाः[2] श्रेष्ठास्त्रिलोक्यामजितेन्द्रियम्।**
**न शक्नुवन्ति ते सर्वे प्रतिपूरयितुं नृप।।२१।।**

**त्रिभिः क्रमैरसन्तुष्टो द्वीपेनापि न पूर्यते।**
**नववर्ष समेतेन समद्वीपवरेच्छया[4]।।२२।।**

**समद्वीपाधिपतयो नृपा वैन्यगयादयः[5]।**
**अर्थैः कामैर्गता नान्तं तृष्णाया इति नश्श्रुतम्।।२३।।**

**यदृच्छयोपपन्नेन सन्तुष्टो वर्तते सुखम्।**
**नासन्तुष्टस्त्रिभिर्लोकै रजितात्मोपसादितैः।।२४।।**

---

1- -1. H,V Omit 2. A,B,G,J,M,Ma,T ये" 3. W "यान् 4. M,Ma ध" 5. H.V सृगा", M,Ma गदा"

**पुंसोऽयं संसृतेर्हेतु रसन्तोषोऽर्थकामयोः।**
**यदृच्छयोपपन्नेन सन्तोषो मुक्तये स्मृतः।।२५।।**

**श्रीध०** पुनरपि निस्पृहत्वमेवाविष्कुर्वन्नाह - **यावन्त** इत्यादिना[1] सप्तभिः।।२१।।

**त्रिभिरिति**। नववर्षसमेतेन द्वीपेनापि। सप्तानां द्वीपवराणामिच्छया।।२२।।

**सप्तेति**। तृष्णाया अन्तं न गता इत्यस्माभिः श्रुतम्।।२३।।

**यदृच्छयेति**। असन्तुष्टस्तु प्राप्तैस्त्रिभिर्लोकैरपि न सुखं वर्तते।।२४,२५।।

**वीर०** पुनर्याचिताधिकनिस्स्पृहत्वमेवाविष्कुर्वन्नाह वामनः[2] - **यावन्त** इति सप्तभिः। हे नृप! त्रिलोक्यां यावन्तो विषया देशास्ते सर्वेऽपि प्रतिगृह्यमाणाः सन्तोऽजितेन्द्रियान् पूरयितुं नालं, ऋद्धिमतः कर्तुं न शक्नुवन्ति।।२१।।

यदुक्तं द्वीपदाशुषमविद्वानित्यत्राह त्रिभिः, क्रमैः पादैः असन्तुष्टः पुमान्नवखण्डयुक्तेन जम्बूद्वीपेनापि न पूर्यते। अपूर्णौ हेतुमाह। सप्तद्वीपवरेच्छया सप्तानां द्वीपवराणामिच्छया हेतुना द्वीपेनापि न पूर्यते।।२२।।

तर्हि सप्तद्वीपां महीं दास्ये[3] प्रतीच्छेत्यत्राह - **सप्तेति**। वैन्यः पृथुः गयश्चादिः येषां ते नृपाः सप्तानां द्वीपानां मधिपतयोऽपि अर्थैः कामैश्च तृष्णाया अन्तं न गताः अर्थकामतृष्णाया अन्तमवधिं न प्राप्ताः इति नोऽस्माभिः श्रुतम् उत्तरोत्तरमसन्तुष्टस्यार्थकामतृष्णाया अनुवृत्तेरिति भावः।।२३।।

एवमसन्तुष्टस्य सुखं च नास्तीति वक्तुं तावत् सन्तुष्टस्य सुखमस्तीत्याह - **यदृच्छयेति**। दैवाल्लब्धेन सन्तुष्टस्तु सुखं वर्तते[4] सुखं[4] यथा तथाऽऽस्ते अजितात्माऽजितेन्द्रिय अत एवोपसादितैः प्राप्तैस्त्रिभिर्लोकैः असन्तुष्टस्तु न सुखं वर्तते।।२४।।

सन्तोषासन्तोषौ न केवलं सुखदुःखमात्रहेतू अपि तु संसृतिमुक्तिहेतू[5] अपीत्याह **पुंस** इति। अर्थकामयोर्विषययो योऽसन्तोषः स पुंसः संसारस्य हेतुः यश्च दैवाल्लब्धेन सन्तोषः स मुक्तये स्मृतः हेतुः[6] इत्यनुषङ्गः।।२५।।

**विज०** युदुक्तं वृत्तिकरी भूमिं प्रतिगृहाणेति तदजितेन्द्रियं प्रति व्यर्थीमत्याशयेनाह - श्रीभगवानिति। अजितेन्द्रियमलम्बुद्धिरहितं पुरुषमिति शेषः।।२१।।

एतदेवोपपादयति - **त्रिभिरिति**। न नदीद्वीपोऽत्र कथ्यत इत्याह, नवेति, कुतोऽत्राह - सप्तेति।।२२।।

नैतावतापि पूर्तिरित्याह - **सप्तेति**। अन्तमवसानम् अर्थैः कामैः अर्थसम्पादितकामैर्वा।।२३।।

---

1. A,B,J Omit आदिना 2. W भगवान् 3 W Omits दास्ये 4- -4. A,B,J Omit 5 A,B,T मुक्तया स्मृतौ 6 A,B,T इत्यर्थः

सन्तोषशब्दाभिप्रायं वदन्नलम्बुद्धिरेव सुखसाधनमित्याह - **यदृच्छयेति**। व्यतिरेकमाह नासन्तुष्ट इति। उपसादितैरवाप्तैः सुखं न वर्तत इति पूर्वेणान्वयः।।२४।।

इतोऽपि सन्तोष एवापाद्यः सुखहेतुत्वादन्यस्यानर्थहेतुत्वाच्चेत्याह - **पुंस** इति। अर्थकामयोरसन्तोषः।।२५।।

**यदृच्छालाभतुष्टस्य तेजो विप्रस्य वर्धते।**
**तत्प्रशाम्यत्यसन्तोषादम्भसेवाऽऽशुशुक्षणिः।।२६।।**

**तस्मात्त्रीणि पदान्येव वृणे त्वां[1] वरदर्षभ!।**
**एतावतैव सिद्धोऽहं वित्तं यावत्प्रयोजनम्।।२७।।**

**श्रीशुक उवाच**

**इत्युक्तः प्रहसन्[2]राह वाञ्छितं[3] प्रतिगृह्यताम्।**
**वामनाय महीं दातुं जग्राह जलभाजनम्।।२८।।**

**विष्णवे क्ष्मां प्रदास्यन्तमुशना ह्यसुरेश्वरम्[4]।**
**जानंश्चिकीर्षितं विष्णोः शिष्यं प्राह विदां वरः।।२९।।**

**शुक्र[5] उवाच**

**एष वैरोचने साक्षाद्भगवान्विष्णुरव्ययः।**
**कश्यपाददितेर्जातो देवानां कार्यसाधकः।।३०।।**

**श्रीध० यदृच्छेति**। आशुशुक्षणिरग्निः।।२६।।

**तस्मादिति**। सिद्धोऽहं कृतार्थः एतावतैव सर्वस्वापहारसिद्धेरिति गूढोऽभिप्रायः। तदेवाहावित्तं हि यावत्प्रयोजनमेव सुखम्। अधिकस्य क्लेशावहत्वादित्यर्थः।।२७-३०।।

**वीर०** किञ्च, दैवाल्लब्धेन तुष्टस्य विप्रस्य तेजो वर्धते, असन्तोषात्तु तत्तेजः प्रशाम्यति नश्यति। यथा जलेन आशुशुक्षणिः अग्निः तद्वत्।।२६।।

तस्मात् सन्तोषस्यैव श्रेयस्करत्वात्। हे नृपोत्तम! त्रीण्येव पदानि त्वां वृणे याचे एतावतैवाहं सिद्धः कृतार्थः। वित्तं हि यावत्प्रयोजनमेव, सुखदं इति शेषः। अधिकं तु दुःखदमिति भावः।।२७।।

---

1 A,B,G,J,M,Ma,T त्वद्वरदर्षभात् 2. A,B,G,T M,Ma,T स ह" 3. A,B,G,J,T वाञ्छातः 4. A,B,G,J,M,Ma,T अ" 5. M,Ma उशना

इति इत्यमुक्तो बलिः प्रहसंस्तर्हि प्रतिगृह्यतामित्याह - एवमुक्त्वा वामनाय भूमिं दातुं जलभाजनं[1] गृहीतवान्।।२८।।

तदा वामनाय पृथिवीं दास्यन्तं दातुमुद्युक्तमसुरेश्वरं शिष्यं बलिं[2] विष्णोः चिकीर्षितं[3] कर्तुमिष्टं[3] जानन् उशनाः शुक्रो विदां कालत्रयविदां श्रेष्ठः प्राह[4]।।२९।।

तदेवाऽऽह यावदध्याय समाप्ति - एष इति। हे वैरोचने! एष वामनः साक्षाद्भगवानव्ययो विष्णुरेव, देवानां कार्यसाधकः कार्यं साधितु मित्यर्थः। कश्यपात् प्रजापते रदितेरवतीर्णः पदत्रयव्याजेन लोकत्रयं प्रतिगृह्य देवेभ्यो दातुमवतीर्णः इति भावः।।३०।।

**विज०** तेजो बलादिकम् "तेजो बले प्रभावे(च)ऽग्ने ज्योतिष्यर्चिषि रेतसि। नवनीतेऽनले धर्मे दाने हस्तिमदेऽपि च" ( वैज.को.6-3-14,15 ) इति। तत्तेजः आशुशुक्षणिः अग्निः "आशुशुक्षणिरर्केऽग्नौ (यज्वन्यप्यासु तीवलः)" (वैज.को.8-1-50) इति।।२६।।

यतः सन्तुष्टोऽहं तस्माद्यावत्प्रयोजनं वित्तं स्वीकुर्यादिति, शेषः।।२७-२८।।

उशना विदुषा गुरुणा शिष्याय हितोपदेशः कर्तव्य इति शिक्षयन्नाह - **विष्णव** इति।।२९-३०।।

**प्रतिश्रुतं त्वयैतस्मै यदनर्थमजानता।**
**न साधुमन्ये दैत्यानां महानुपगतोऽनयः।।३१।।**

**एष ते स्थानमैश्वर्यं श्रियं तेजो यशस्ततम्[6]।**
**दास्यत्याच्छिद्य शक्राय मायामाणवको हरिः।।३२।।**

**त्रिभिः क्रमैरिमांल्लोकान्विश्वकायः क्रमिष्यति।**
**सर्वस्वं विष्णवे दत्त्वा मूढ वर्तिष्यसे कथम्।।३३।।**

**क्रमतो गां पदैकेन द्वितीयेन दिवं विभोः।**
**खं च कायेन महता तार्तीयस्य कुतो गतिः।।३४।।**

**निष्टां[7] ते नरके मन्ये ह्यप्रदातुः प्रतिश्रुतम्।**
**प्रतिश्रुतस्य योऽनीशः प्रतिपादयितुं भवान्।।३५।।**

---

1. A,B,T पात्रं 2. W Omits बलिं 3- -3. W Omits 4. A,B,T उवाच 5. W Omits अदितेः 6. A,B,G,J,M,Ma,T यशश्चुतम् 7. M,Ma तं नरकं

**श्रीध० प्रतिश्रुतमिति**। अनयोऽन्यायः।।३१।।

अन्यायमेवाह - **एष** इति।।३२।।

ननु मया पदत्रयमेव प्रतिश्रुतं नाधिकं तत्राह - **त्रिभिरिति**। क्रमतामिति चेत्तत्राह- सर्वस्वमिति।।३३।।

तथापि प्रतिश्रुतं सम्पादनीयमेवेति चेत्तत्राह **क्रमत** इति द्वाभ्याम्। एकेन पदा पादन्यासेन भूमिं क्रममाणस्येत्यर्थः। तार्तीयस्य तृतीयपादन्यासस्य।।३४,३५।।

**वीर०** एवं विधाय तस्मै स्वानर्थ मजानता त्वया यत् प्रतिश्रुतं तत् साधु न मन्ये। कुतः? यतो दैत्यानां महाननयोऽन्याय उपगतः उपस्थितः।।३१।।

अन्यायमेवाह - **एष** इति। एष मायामाणवकः आत्मसङ्कल्पोपात्तमाणवक सन्निवेशो हरिर्वामनस्तव स्थानादिकं विपुलं यशश्च आच्छिद्य अपनीय इन्द्राय दास्यति।।३२।।

ननु मया पदत्रयमेव प्रतिश्रुतं नाधिकं तत्राह - **त्रिभिरिति**। विश्वकायो विश्वरूपो भूत्वेत्यर्थः। त्रिभिः पादविन्यासैः इमांस्त्रीन् लोकान् क्रमिष्यते परिच्छिद्य ग्रहीष्यतीत्यर्थः। क्रमतामिति चेत् तत्राह - सर्वस्वमिति। हे मूढ! सर्वस्वं विष्णवे वामनरूपायास्मै दत्वा कथं वर्तिष्यसे? तव स्थितिरपि दुर्लभेति भावः।।३३।।

तथापि प्रतिश्रुतं सम्पादनीयमेवेत्यत्राह **क्रमत** इति द्वाभ्याम्। एकेन पदा पादविन्यासेन गां भूमिं द्वितीयेन दिवं, हे विभो! महता कायेन ख मन्तरिक्षं च क्रमतः क्रममाणस्य भगवतः तृतीयस्य पादविन्यासस्य का गतिः? तृतीयपादस्याऽस्पदाभावात्, तथापि प्रतिश्रुतं न सम्पादितमेव स्यादित्यर्थः।।३४।।

अत एव प्रतिश्रुतमप्रदातुः तव नरके निष्ठां अवस्थितिं मन्ये, कुतः? यो भवान् प्रतिश्रुतस्य प्रतिश्रुतं पूरयितुमसमर्थः।।३५।।

**विज०** बन्धनाद्यनर्थमजानता त्वया एतस्मै वामनाय प्रतिज्ञातं यत्तत्साधु न मन्य इत्यन्वयः। कुतोऽत्राहदैत्यानामिति। अनयोः दुःखहेतुरनीतिः।।३१।।

तदुपपादयति - **एष** इति। विश्वकायः।।३२,३३।।

त्रिपदक्रमणप्रकारं स्पष्टयति - **क्रमत** इति। तार्तीयस्य तृतीयपदस्य।।३४।।

---

1- -1. A,B,T Omit 2. H,V "मिति 3. A,B,T "यपा"

प्रतिश्रुतमदातुः निष्ठान्तं प्रतिश्रुतदानपर्यन्तं नरकं दुःखं मन्ये नरकमेवोपपादयति - प्रतिश्रुतस्येति।।३५।।

**न तद्दानं प्रशंसन्ति येन वृत्तिर्विपद्यते।**
**दानं यज्ञस्तपः कर्म लोके वृत्तिमतो यतः।।३६।।**

**धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।**
**पञ्चधा विभजन्वित्तमिहामुत्र च मोदते।।३७।।**

**अत्रापि बह्वृचैर्गीतं शृणु मेऽसुरसत्तम।**
**सत्यमोमिति यत्प्रोक्तं यन्नेत्याहानृतं हि तत्।।३८।।**

**सत्यं पुष्पफलं विद्यादात्मवृक्षस्य गीयते।**
**वृक्षेऽजीवति तत्र स्यादनृतं मूलमात्मनः।।३९।।**

**तद्यथा वृक्ष उन्मूलः शुष्यत्युद्वर्ततेऽचिरात्।**
**एवं नष्टानृतः सद्य आत्मा शुष्येन्न संशयः।।४०।।**

**श्रीध०** तथापि सर्वस्वदानात्कीर्तिस्तावद्भविष्यतीति चेत्तत्राह - **न तद्दानमिति**। तपः चित्तैकाग्र्यम्। कर्म पूर्तम्, ननु तर्हि प्रतिश्रुत्य नेति कथमनृतं वाच्यं तत्राह - दानमित्यादि सार्धं षड्भिः।।३६,३७।।

**अत्रापीति**। अत्रापि सत्यानृतव्यवस्थायाम् बह्वृचै ऋग्वेदिभिः। बह्वृचश्रुत्या हि प्रथमम् - "ओमिति सत्यं नेत्यनृतम्" इत्यादिना सत्यानृतयोर्लक्षणपूर्वकं स्तुतिनिन्दाभ्यां सत्यं विहितमनृतं च निषिद्धम्। अनन्तरं च 'पराग्वा एतद्रिक्तमक्षरम्' इत्यादिना सत्ये दोषान् अनृते च गुणानुक्त्वा - "तस्मात्काल एव दद्यात्काले न दद्यात्तत्सत्यानृते मिथुनीकरोति" इत्युपसंहारेण वृत्तिसङ्कटादिष्वनृतमप्यनुज्ञातम्, तामिमं श्रुत्यर्थं दर्शयन्नाह - ओमित्यङ्गीकारेण यत्प्रोक्तं तत्सत्यम्। नेति यदाह तदेवानृतम् ।।३८।।

तत्तु सत्यमीषदनृतं विना न सिध्यतीत्याशयेनाह - **सत्यमिति**। सत्यं पुष्पफलं विद्याज्ज्ञानीयात्। आत्मवृक्षस्य देहरूपस्य वृक्षस्य। कुतः। गीयते श्रुत्योच्यते इत्यर्थः। आत्मवृक्षस्य जीवितः इति पाठान्तरं तु सुगमम्। यद्यपि श्रुत्या - "वाचः सत्यं पुष्पफलं च" इत्युक्तम्। तथापि वाचो देहनिर्वाहाधीनत्वा-दात्मवृक्षस्येति प्रस्तुतानुसारेणोक्तम्। भवतु पुष्पफलस्थानीयं सत्यं, ततः किमत आह वृक्षे

1. M,Ma "कवृ" 2. M,Ma "ध्वासुर" 3.M,Ma जीवत 4 M,Ma तत्र 5- -5 A,B,J Omit 6- -6. B,H,J,V Omit 7. H,V Omit कुतः 8- -8. B,H,J,V Omit 9. H,V "रं मु"

देहे अजीवति सति[1] तत् पुष्पफलं न स्यात्। 'सा न स्यात्' इति पाठे श्रुत्युक्ताया वाचः परामर्शः। अतः[2] देहश्चानृतेन रक्षणीय इत्याह - अनृतं त्वात्मनो देहस्य मूलम्।।३९।।

एतदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति - **तदिति**। तद्यथा वृक्ष उत्पाटितमूलः शुष्यत्यचिरादेवोद्वर्तते पतति च, एवं नष्टमनृतं यस्य स आत्मा देहः शुष्येत्। यद्यपि च श्रुत्या - "[3]इदमेवानृतं वदन्नात्मानमाविर्मूलं करोति" इत्येवं निन्दयाऽनृतं निषिद्धं, तथाप्युपसंहारानुसारेण तत्केवलानृतविषयमित्यभिप्रेत्यैवं व्याख्यातम्। 'दयेत्तत्वेतेन'[4] इति च तत्रैवोक्तेः[5]। तथा च श्रुतिः - " ओमिति सत्यं नेत्यनृतं तदेतत्पुष्पं फलं वाचो यत्सत्यं स हीश्वरो[6] यशस्वी कल्याणकीर्तिर्भविता पुष्पं हि फलं वाचः सत्यं वदन्त्येतन्मूलं[7] वाचो यदनृतं तद्यथा वृक्ष आविर्मूलः शुष्यति स उद्वर्तत एवमेवानृतं वदन्नाविर्मूलमात्मानं करोति स शुष्यति स उद्वर्तते तस्मादनृतं न वदेद्दयेत्तत्वेतेन[8] " इति येनानेन[9] त्वनृतेन दयेत्[10] संकटेष्वात्मानं रक्षेदिति श्रुत्यर्थः।।४०।।

**वीर०** तथापि सर्वस्वदानात् कीर्तिः तावद्भविष्यतीत्यत्राह - **नेति**। येन दानेन वृत्तिर्जीविका विपद्यते विप्लुता भवति तद्दानं न प्रशंसन्ति आर्याः, कुतः? यतो लोके वृत्तिमतः जीविकावत एवं पुंसः सम्बन्धीन्येव[11] दानादीनि धर्मादिहेतवः जीविकाविपत्तिकरदानादिभिः धर्मादयः प्रत्युत नश्यन्तीत्यर्थः।।३६।।

अतो विद्वान् वित्तं पञ्चधा तत्र स्वजनाय स्वजनपुष्टये[12] धर्मादि पञ्चकार्थतया विभजन्नेव इहामुत्र च लोके मोदते।।३७।।

ननु तर्हि प्रतिश्रुत्य नेति कथमनृतं वाच्यम्? तत्राह सार्धैः षड्भिः। अत्रापि सत्यानृतव्यवस्थायां बह्वृचैर्गीतं यत् तत् कथयतो मत्तः श्रृणु। बह्वृचश्रुत्या हि प्रथमम् "ओमिति सत्यं नेत्यनृतं तदेतत् पुष्पं फलं वाचो यत् सत्यं स हीश्वरो यशस्वी कल्याणकीर्तिः भवतोरीश्वरः" इत्यादिना सत्यानृतयोर्लक्षणपूर्वकं स्तुतिनिन्दाभ्यां सत्यं विहितं अनृतं च निषिद्धम्। अनन्तरं "परागवा एतद्रिक्तमक्षरम्" इत्यादिना सत्ये दोषाननृते च गुणानुक्त्वा "तस्मात् काल एव दद्यात् काले न दद्यात् सत्यानृते मिथुनीकरोति" इत्युपसंहारेण वृत्तिसङ्कटादिषु अनृतमप्यनुज्ञातम्। तमिमं श्रुत्यर्थं दर्शयन्नाह - सत्यमिति। ओमित्यङ्गीकारेण यत् प्रोक्तं तत् सत्यं नेति यदाह तदेवानृतम्।।३८।।

तत् सत्यमीषदनृतं विना न सिध्यतीत्याशयेनाह - सत्यं पुष्पफलं विद्यात् जानीयात् आत्मवृक्षस्य

1. A,B,T Omit सति 2. B,H,J,V Omit अतः 3. A,B,T एव 4. A,B,T त त्वे" 5. A,B,J तथैवो" 6. A,B,J 'हे' 7. A,B,J वदत्यथैतन्मूलं 8. A,B,J त त्वे 9. A,B,J एतेना" 10. A,B,J 'त 11. W Omits एव 12. A,B,T तुष्टये

देहरूपस्य वृक्षस्य, कुतः, गीयते श्रुत्या उच्यते इत्यर्थः, जीवतः इति पाठान्तरं तु सुगमं, यद्यपि श्रुत्या " वाचः सत्यं पुष्पं फलं च " इत्युक्तम्। तथापि वाचो देहनिर्वाहाधीनत्वात् आत्मवृक्षस्येति प्रस्तुतानुसारेणोक्तं भवति। पुष्पफलस्थानीयं सत्यं, ततः किमत आह - वृक्षे देहे अजीवति तत् पुष्पफलं न स्यात्। सा न स्यादिति पाठे श्रुत्युक्ताया वाचः परामर्शः। देहश्चानृतेन रक्षणीय इत्याह, अनृतं तु आत्मनो देहस्य मूलम्, तथा च श्रुतिः - "दयेत त्वेनेन" इति [1]एनेन त्वनृतेन दयेत सङ्कटेष्वात्मानं रक्षेदित्यर्थः।।३९।।

एतदेव [2]दृष्टान्तेन स्फुटयति - तद्यथा वृक्षः उत्खातमूलः शुष्यति, अचिरादेव उद्वर्तते पतति च, एव नष्ट मनृतं यस्य स आत्मा देहः शुष्येत् सर्वस्वदाने देहः शुष्येदिति भावः।।४०।।

**विज०** तस्य तव दानं कुतो न प्रशंसन्तीति तत्राह - येनेति। वृत्तिर्जीवनं विपद्यते नश्यतीति येन तस्मादिति शेषः। " सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते " (भ.गी.2-34) इति, स्मृतेर्वृत्तिः जीवनसाधनं वा नष्टं स्यात्। तत्राशे किञ्चिन्नम्? अत्राह, दानमिति।।३६।।

अर्थाय कोशवृद्धये क्रियादिव्यवहाराय वा।।३७।।

किमन्यत्त्वदुक्तेः प्रमाणमित्याशङ्क्य बह्वृचां वाक्यं प्रमाणमित्याह अत्रापीति। बह्वृचैः ऋग्वेदिभिः किन्तद्गीतमित्यर्थतः प्रतीकयति - सत्यमिति। ओमिति यत्प्रोक्तं अर्थिनं प्रति तत्सत्यं तथेति संवेदनीयमित्यर्थः। नेति यदाह अर्थिनं प्रति तदनृतं, हिशब्द उभयो विरोधमाह।।३८।।

कुतोऽत्राह - **सत्यमिति**। पुष्पमेव फलं यस्य, तत्पुष्पफलं जीवतः प्राणधारकस्य आत्माख्यवृक्षस्य सत्यं पुष्पफलं विन्द्यात् पुष्पञ्च फलञ्च पुष्पफलमिति वा यथाऽशुष्कस्य वृक्षस्य पुष्पफले स्यातां तथात्मनः सत्यलक्षणे पुष्पफले विन्द्यादित्यर्थः। तदुक्तं " पुष्पं हि फलं वाचः सत्यं वदति " इति आत्मवृक्षेऽजीवति शुष्कलक्षणमरणे सति तत्सत्यलक्षणं पुष्पफलं न स्यात्। आत्मनः आत्मवृक्षस्य अनृतं सर्वस्वादानलक्षणं मूलं स्थितिकारणं "अथैतन्मूलं वाचो यदनृतम्" इति च।।३९।।

विपक्षे बाधकमाह - **तद्यथेति**। तद्यथा तथोदाहरिष्यामः उन्मूलः उत्खातशिफः वृक्षः शुष्यति अचिरादुद्वर्तते नश्यति च, एवं नष्टानृतः नष्टमूलः, सद्यस्तत्क्षणमेव शुष्येत्, शुष्यति नश्यति, तद्यथा वृक्ष आविर्मूलः शुष्यति, स उद्वर्तत, एवमेवानृतं [3]वदन्नाविर्मूलमात्मानं करोति स शुष्यति "स उद्वर्तते तस्मादनृतं [3]न वदेत्" इति च।।४०।।

1. A,B,T एतेन 2. A,B,T "न्ततः 3- -3. A Omits

**पराग्रिक्तमपूर्णं वा अक्षरं यत्तदोमिति।**
**तद्यत्किञ्चोमिति ब्रूयात् तेन रिच्येत वै पुमान्।।**
**भिक्षवे सर्वमोङ्कुर्वन्नाऽलं कामेभ्य आत्मने।।४१।।**

**अथैतत्पूर्णमभ्यात्मं यच्च नेत्यनृतं वचः।**
**सर्वं नेत्यतिथिं ब्रूयात्स दुष्कीर्तिः श्वसन्मृतः।।४२।।**

**स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे।**
**गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्।।४३।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
अष्टमस्कन्धे उत्तरार्धे वामनप्रादुर्भावो नाम एकोनविंशोऽध्यायः।।१९।।

**श्रीध०** सर्वदा स्त्यवचनेन देहो न निर्वहेदिति स्फुटीकर्तुं सत्यस्य दोषान् अनृतस्य गुणानाह - **परागिति** द्वाभ्याम्। यदोमित्यक्षरं तत्पराक् पराञ्चति दूरेऽर्थं गृहीत्वा व्रजतीति पराक्, रिक्तमिति श्रुतिपदस्य व्याख्यानमपूर्णं वै इति। तत्तस्मादर्थिने यत्किञ्चिदोमिति दास्यामीति ब्रूयात्तेन रिच्येत शून्यो भवेत्। किञ्च भिक्षवे सर्वमोङ्कुर्वन्दास्यामीत्यङ्गीकुर्वन्नात्मने कामाय नालं पर्याप्तो न भवति। तस्य भोगो न सिध्यतीत्यर्थः। तथा च श्रुतिः "पराग्वा एतद्रिक्तमक्षरं यदेतदोमिति तद्यत्किञ्चोमित्याहात्रैवास्मै तद्रिच्यते स यत्सर्वमोङ्कुर्यात् रिच्यादात्मानं स कामेभ्यो नालं स्यात्" इति।।४१।।

**अथैतदिति।** नेति यदनृतं वच एतत्पूर्णमर्थव्ययाभावात्। अभ्यात्मं चेति चकारस्यान्वयः। आत्मनोऽभिमुखमन्यस्यार्थं माकर्षतीत्यभ्यात्मम्। यो हि नित्यं मम किञ्चिदपि नास्ति इति न किमपि दास्यामि इति ब्रूते स हि तेनानृतेन परेषामर्थानाकर्षतीति प्रसिद्धम्। ननु तर्हीदमनृतमेव सर्वदा सेव्यं स्यान्नेत्याहसर्वमिति। तथा च श्रुतिः- "अथैतत्पूर्णमभ्यात्मं यन्नेति स यत्सर्वं नेति ब्रूयात्पापिकाऽस्य कीर्तिर्जायेत सैनं तत्रैव हन्यात्" इति।।४२।।

अतो वृत्तिसङ्कटादिष्वनृतं न दोषायेत्युपसंहरति **स्त्रीष्विति**। स्त्रीषु प्रोत्साहनेन वशीकरणे, नर्मणि

1. A,B,G,J,T यत्किञ्चिदो" 2. H,V स न ; M,Ma न स 3 M,Ma रिच्येत 4 A,B,G,J,T " न चा" 5. H,V "ध्यात्मं 6. A,B,G,J,T "त्यनृतः M,Ma "त्यर्थिनं 7. M,Ma "तिश्च सन्मृतः 8. M,Ma नर्म 9 A B,J "वा 10. H,V रेहेन 11- -11 B,H,V दूरेऽर्थं गृहीत्वाऽङ्गतीति 12. H,V "दव्या" 13. A Omits दास्यामीति 14. A,B,J न्यूनो 15. A,B,J कामेन 16.H,V अध्या० 17.A,B,J "रात्र" 18 H,V "त्यध्या" 19- -19.A,B,J सोदामीति ब्रूते 20.H,V "मिव 21.H,V "मध्या" 22. H,V जायते 23.H,V "कारेण

परिहासे, विवाहे च वरादिस्तुतौ, गवां ब्राह्मणानां च हितार्थम्, हिंसायां च कस्यचित्प्रातायाम्। तथा च याज्ञवल्क्यः "वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत्" (याज्ञ.स्मृ. 5-83) इति। तथा च श्रुतिः - "तस्मात्काल[1] एव दद्यात्काले न दद्यात्तत्सत्यानृते मिथुनीकरोति" इति।।४३।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां एकोनविंशोऽध्यायः।।१९।।

**वीर०** सर्वदा सत्यं वदतो देहो न निर्वहेदिति स्फुटीकर्तुं सत्यस्य दोषान् अनृतस्य गुणांश्चाह - **परागिति** द्वाभ्याम्। यदोमित्यक्षरं सर्वस्वं दास्यामीत्यङ्गीकारार्थकमक्षरं, तत्पराक् पराक्शब्दव्याख्यानं रिक्तमिति तस्यापि व्याख्यानमपूर्णमिति। तथा च श्रुतिः "पराग्वा एतादिक्तमक्षरं यदेतदोम्" इति सर्वस्वदाने कृते वृत्त्यभावेन देहस्यापि विनाशात् दातुर्विपत्त्या दानसाद्गुण्याभावात् ओमित्यक्षरं असाद्गुण्यवत् दानप्रतिज्ञापरत्वेन अपरिपूर्णं स्यादित्यर्थः। किञ्चिद्दोमिति ब्रूयात्। किञ्चिद्दास्यामीति यद्वाक्यं, तेन वाक्येन पुमान् दाता रिच्येत, अवशिष्येतेत्यर्थः। दत्तावशिष्टे नात्मनो वृत्तिं कल्पयन् जीवेत्। अतस्तद्वाक्यं साद्गुण्यवद्दानप्रतिश्रुतिपरत्वेन परिपूर्णं स्यादिति भावः। तथा च श्रुतिः - "न यत्सर्वं मोङ्कुर्यात् रिक्तं चात्मानं स कामेभ्यो नालं स्यात्" इति। यः सर्वमोंकुर्यात् स आत्मानं रिक्तं कुर्यादित्यर्थः। स कामेभ्यो नालं स्यादित्यस्य अर्थमाह - भिक्षव इति। भिक्षवे याचकाय सर्वं स्वं[2] ओं कुर्वन् दास्यामीति प्रतिश्रृण्वन् पुमानात्मने कामेन, काम्यत इति कामो जीवनम्, अध्ययनेन वसतीतिवत्, हेत्वर्थे तृतीया, तस्मै नालं न शक्तः स्यादित्यर्थः, अतः किञ्चिदेव देयमिति भावः "अथैतत्पूर्णमभ्यात्मं[3] यन्नेति यत्सर्वं नेति ब्रूयाद्वा पापिकाऽस्य कीर्तिर्जायेत सैनं तत्रैव हन्यात्" इति श्रुत्यर्थमाह अथेति। नेति यदनृतं वचः एतत्पूर्णं अर्थव्ययाभावात्, अभ्यात्मं चेति चकारस्यान्वयः। आत्मनोऽभिमुखमन्यस्यार्थमाकर्षतीत्यभ्यात्मं, यो हि नित्यं मम किञ्चिदपि नास्ति सोदामीमि ब्रूते, स हि तेनानृतेन परेषामर्थानामाकर्षतीति प्रसिद्धम्। तर्हि इदमनृतं अमृतमिव सर्वदा सेव्यं स्यात् नेत्याह - सर्वमिति। सर्वं नेति यो ब्रूयात् स दुष्कीर्तिः अतः किञ्चिद्देयमित्यर्थः। यद्वा किञ्चिद्दास्यामीति प्रतिश्रवणादपि किञ्चिदपि न दस्यामीत्येतदेव, तर्हि ज्यायः सुतरामर्थव्ययाभावादिति परिचोद्य तत्प्रतिक्षिपति - अथैतदिति। अथ नन्वभ्यात्मं याचकाभिमुखं यन्नेति किञ्चिदपि नेत्यनृतं, यद्वचस्तदेतत् पूर्णं[4] सति वित्ते नेति वचसो

1. H.V. "कालेन 2. A,B,T Om॥ स्वं 3. A,B,T "ध्या 4. A,T पूर्ण

मिथ्यार्थपरत्वात् अनृतमित्युक्तं, तदनूद्य प्रतिक्षिपति - यदिति। यत् सर्वं नेति, किञ्चिदपि नेति ब्रूयात्, स दुष्टा कीर्तिर्यस्य तादृशः स्यात्, श्रुतौ वाशब्दः पक्षविपरिवृत्त्यर्थकः, भवत्वित्यत्राह - श्वसन् मृतः स जीवन्नपि मृतप्राय इत्यर्थः। अनेन " सैनं तत्रैव हन्यात् " इति वाक्यविशेषो व्याख्यातः। सा दुष्टा कीर्तिरेनं सति वित्ते किञ्चिदपि नेति, याचकं प्रति, वक्तारं, तत्रैव जीवद्दशायामेव हन्यादिति तदर्थः।।४१-४२।।

अतो वृत्तिसङ्कटादिषु अनृतं न दोषायेत्युपसंहरति - स्त्रीष्विति। स्त्रीषु प्रोत्साहनेन वशीकारे। नर्म-कर्मणि परिहासे विवाहे वरादिस्तुतौ वृत्त्यर्थे जीविकार्थे, गवां ब्राह्मणानां च हितार्थे, हिंसायां कस्यचित् प्राप्तायां अनृतं न निन्दितं भवेदित्यर्थः। तथा च याज्ञवल्क्यः - " वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत् " इति। तथा च श्रुतिः "तस्मात् काल एव दद्यात् सत्यानृते मिथुनीकरोति" इति।।४३।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकोनविंशोऽध्यायः।।१९।।

विज० यत्तदोमित्यक्षरमेतदपूर्णं सर्वस्वं पराक्परविषयं रिक्तं पृथक्कृतं अर्थिनं सर्वस्वं दत्तमित्यर्थस्य वाचकं वदेदित्यर्थः। "परागवा एतद्रिक्तमक्षरं यदेतदोम्" इति च। फलितमाह - तदिति। तत्तस्मात्पुमान्यत्किञ्च स्वजीवनातिरिक्तं धनं ओं दास्यामीति ब्रूयात्, ब्रवीति स न रिच्येत वै न नश्यतीत्यन्वयः। तद्यत्किञ्चोमित्याहात्रैवास्मै, तद्रिच्यत इति रिच्यते सम्पन्नो भवतीत्यर्थः। तात्पर्यादुक्तं बाधकान्तरेण द्रढयति, भिक्षव इति। भिक्षवे याचमानाय सर्वमोङ्कुर्वन् सर्वस्वं ददत् कामेभ्यो विषयाणां दत्तत्वादात्मने नालम्, आत्मनो भोज्यभावेन पर्याप्तो न भवति नष्टो भवतीत्यर्थः।।४१।।

अथ तस्मान्नेत्यनृतं यद्वच एतदभ्यात्मम् आत्मानं प्रति पूर्णं सर्वस्वदाने स्वजीवनं सम्पन्नं भवतीत्यर्थः। अतिथिं प्रति सर्वं न दास्यामीति ब्रूयात्तर्हि आत्मानं पूर्णं सर्वस्वं जीवनं समृद्धं भवतीति पूर्वेण सम्बन्धः। पूर्णं सम्पन्नं, किञ्च नेत्यतिथिं प्रति ब्रूयात् इति, योगविभागः कर्तव्यः। तथाहि अतिथिं प्रति किञ्चन न दास्यामीति ब्रूयात् तर्हि स दुष्कीर्तिश्च सन्मृतो जीवन्मृतश्च भवति। एतदुक्तं भवति, याचकाय सर्वस्वदाने स्वजीवन नाशः किञ्चिदप्यादाने च अदृष्टविरोधेन दुष्कीर्त्या जीवन्मृतत्वं स्यात्तस्माद्यावद्धितं कर्तव्यमिति। "स यत्सर्वमोङ्कुर्यांद्रिच्यादात्मानं स कामेभ्यो नालं स्यादथैतत्पूर्णमभ्यात्मं, यन्नेति ब्रूयात्पापिकाऽस्य कीर्तिर्जायेत सैनं तत्रैव हन्यात्तस्मात्काल एव दद्यात् काले न दद्यात्तत्सत्यानृते मिथुनीकरोति तयोर्मिथुनात्प्रजायते भूयान्भवति

1. A,B,T 'वद्दशायामेव

यो वै तां वाचं वेद " इति आत्मानं रिच्यात् शून्यं कुर्यात्।।४२।।

ननु प्रतिश्रुताऽप्रदाने महान्दोषः स्यादित्याशङ्क्य एव न स्यादित्याह - स्त्रीष्विति। नर्मे नर्मणि हिंसायां त्रैवर्णिकविषयायाम्। "न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले प्राणात्यये सर्वधनापहारे" इत्यादि सिद्धमेतत्।।४३।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टमस्कन्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थकृत पदरत्नावल्यां
टीकायां एकोनविंशोऽध्यायः।।१९।।

oooOooo

# विंशोऽध्यायः

## श्रीशुक उवाच

बलिरेवं गृहपतिः कुलाचार्येण भाषितः।
तूष्णीं भूत्वा क्षणं राजन् उवाचावहितो गुरुम्।।१।।

## बलिरुवाच

सत्यं भगवता प्रोक्तं धर्मोऽयं गृहमेधिनाम्।
अर्थं कामं यशो वृत्तिं[1] यो न बाधेत कर्हिचित्।।२।।

स चाहं वित्तलोभेन प्रत्याचक्षे कथं द्विजम्।
प्रतिश्रुतं[2] ददामीति प्राह्लादिः कितवो यथा।।३।।

नह्यसत्यात्[3] परो[4]ऽधर्म इति होवाच भूरियम्।
सर्वं सोढुमहं[5] मन्ये[6] ऋतोऽलीकपरं[7] नरम्।।४।।

नाहं बिभेमि निरयात् नाधन्यादसुखार्णवात्।
न स्थानच्यवनान्मृत्योर्यथा विप्रप्रलोभनात्[8]।।५।।

यद्यद्धास्यति लोकेऽस्मिन् सम्परेतं[9] धरादिकम्[10]।
तस्य त्यागनिमित्तं[11] किं[12] विप्रस्तुष्येन्न[13] तेन चेत्।।६।।

श्रेयः कुर्वन्ति भूतानां साधवो दुस्त्यजासुभिः।
दध्यङ्शिबिप्रभृतयः को विकल्पो धरादिषु।।७।।

यैरियं बुभुजे[14] युद्धे[15] दैत्येन्द्रैरनिवर्तिभिः।
तेषां कालोऽग्रसील्लोकान् न यशोऽधिगतं भुवि।।८।।

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

विंशे गुरूक्ति मुल्लङ्घ्य दत्तां क्ष्मां बलिना हरिः। प्रतिगृह्याखिलान्लोकान् विश्वरूपो विचक्रमे।।

यद्वा-

विंशे त्वनृतभीतोऽसौ ज्ञात्वाऽपि कपटं हरेः। ददौ पृथ्वीं[16-] तदा[-16] विष्णुः सहसाऽवर्धताद्भुतम्।।

1. H,V,W वृत्तीः; M,Ma वृत्तं 2. A,B,G,J,M,Ma,T "त्य 3. H,V हि स" 4. H,V परो धर्मः 5. A,B,G,J,T सोढु" 6. A,B,G,J,M,Ma,T "ल 7. W मेने 8. A,B,G,J,T प्रलम्भ" 9. M,Ma "तो 10. A,B,G,J,T धना" 11. M,Ma तस्यात्या" 12. A,B,G,J,M,Ma,T "ने 13. M,Ma "त 14. M,Ma भुज्यते 15. A,B,G,J,M,Ma,T ब्रह्मन् । 16- -16.A,B,J ददावेव ततो

**सत्यमिति**। भगवता त्वया प्रोक्तं सत्यम्, किं तत्? योऽर्थकामादिकं न बाधेत सोऽयं[1-] हि[-1] गृहमेधिनां धर्म इति।।१,२।।

**सेति**। कथं प्रत्याचक्षे निराकरोमि।।३,४।।

नन्वप्रत्याख्याने दोषा उक्तास्तत्राह - **नाहमिति**। अधन्याद्दारिद्र्यात् मृत्योरपि।।५।।

किञ्च[2] यद्यद्धरादिकं[3] तत्सर्वं सम्परेतं मृतं पुरुषं हास्यति त्यक्ष्यत्येव। एतत्किमिति[4] जीवतैव स्वयं न देयमिति भावः। तथापि तावत् वृत्तिसङ्कटपरिहारार्थमर्थः देय[5] इति चेत्, तत्राह - तस्येति। विप्रक्षेत्तेनार्थेन दत्तेनापि न तुष्येत्तर्हि तस्यार्थस्य त्यागे दाने किं निमित्तं न किञ्चित्। याचितादल्पस्य दाने विप्रस्यासन्तोषेण दानं व्यर्थमेव स्यात्, अतस्तद्याचितं सर्वं देयं न किञ्चिदिति भावः पाठान्तरे यद्यद्दास्यति तस्य अत्यागे किं निमित्तं, तेन चेत् विप्रः तुष्यतीत्यर्थः।।६।।

नन्[7-] विप्रो यदि न तुष्येत्[-7] तर्हि न देयमेवेति चेत् तत्राह - **श्रेय** इति। दुस्त्यजैरसुभिरपि। को विकल्पो विचारः।।७।।

**यैरिति**। यैः दैत्येन्द्रैः युद्धेऽनिवर्तिभिरयं भूर्बुभुजे उपभुक्ता, तेषां इहलोकान् परलोकांश्च भोगानिति वा कालोऽग्रसीत् संहतवान्, न तु भुवि तैरधिगतं प्राप्तं यशोऽग्रसीत्। अतः कीर्तिरेव साध्या नान्यदिति भावः।।८।।

## श्रीवीरराघवविदुषालिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवमुशनसोक्तो बलिस्तमुवाचेत्याह - मुनिः - **बलिरिति**। कुलाचार्येण शुक्रेणेत्थमुक्तः गृहपतिः यजमानो बलिः क्षणं तूष्णीमवस्थाय, हे राजन्। अवहितः प्रकृतमध्यवस्यन् गुरुमुशनसमाह।।१।।

तदेवाह - **सत्यमिति**। भगवता त्वया यदुक्तं तत् सत्यम्, सोऽयं गृहस्थानां धर्मः, यः त्वदुक्तो धर्मः कर्हिचिदपि गृहमेधिनामर्थादीन् न बाधेत, न विहन्ति, अतः सत्यं गृहमेधिनां धर्मः।।२।।

तथापि सः[8] गृहस्थोऽप्यहं प्रह्लादपौत्रः[9] ददामीति प्रतिश्रुत्य अधुना धूर्तवत्[10] वित्तलोभेन द्विजं कथं प्रत्याचक्ष्ये[11] निराकरोमि।।३।।

ननु अप्रत्याख्याने दोषाः उक्तास्तत्राह - **न हीति**।असत्यात्परो[12] अन्योऽधर्मो नास्तीति इयं भूमिराह हि।

---

1- -1. B,J, स हि; H,V सः 2. B,J Omit किञ्च 3. A,B,J "ना" 4. A,B,J तत्किं" 5. A,B,J दीयतामिति 6- -6. A,B,J, Omits 7- -7. A,B,J Omit 8. A,B,T Omit सः 9. W Omits प्रह्लादपौत्र. 10. W Omits धूर्तवत् 11. A,B,T Omit प्रत्याचक्ष्ये 12. W Omits परः

किं तथाविधं भूमेर्वचस्त्वयोपलब्धम्? इत्यत्राह - सर्वमिति। यत इयं भूरलीकपरमनृतपरम्[1] अनृतवादिनमृते विना सर्वं मेरुमन्दरादिकमपि वोढुं धर्तुं अलं[2] समर्थमात्मानं मेने अमन्यत। साक्षात्तस्याः तथाविधोक्तभावेप्यलोकपरो नरस्तस्या दुर्भरत्वेनानुमत इति भावः। मन्ये इति पाठान्तरम्[3]। तदा[4] अलीकपरं नरं विनाऽहं सर्वं वोढुं सोढुं[5] अलं मन्ये, अलीकपरन्तु न सहे कथमहं तत्सहे इत्यर्थः। सोढुमिति पाठस्तु[6] सुगमः।।४।।

किञ्च, यथा विप्रप्रलोभनात्[7] विप्रविषयेऽनृतवदनाद्यथाहं बिभेमि तथा निरयादिभ्यो न बिभेमि। तत्राधन्यं दारिद्र्यम्।।५।।

किञ्च यद्धद्धरादिकं[8] तत्सर्वं सम्परेतं मृतं पुरुषमस्मिन्नेव[9] लोके हास्यति त्यक्ष्यति, तत्किमिति जीवतैव स्वयं[10] न देयमिति भावः। तथापि तावद्वृत्तिसङ्कटपरिहारार्थं किञ्चिद्दीयतामित्यत्राह - तस्येति। येनार्थेन दत्तेनापि न तुष्येद्विप्रस्तर्हि तस्यार्थस्य त्यागे दाने किं निमित्तं[11], न किञ्चित्, याचितादन्यस्य दाने विप्रस्यासन्तोषात् तद्दानं व्यर्थमेव स्यात्, अतस्तद्याचितं सर्वं देयं न किञ्चिदिति भावः।।६।।

ननु, यदि किञ्चिद्दत्तेन न तुष्येद्विप्रः तर्हि न देयमेवेत्यत्राह - श्रेय इति। साधवः परोपकार-प्रसाधनस्वभावाः[12] दध्यङ्डादयः दुस्त्यजैः असुभिः प्राणैरपि भूतानां श्रेयः प्रकुर्वन्ति धरादिषु को विकल्पः को विचारः?।।७।।

सर्वथा कीर्तिरेव सम्पादनीयेत्यभिप्रायेणाह यैरिति। हे ब्रह्मन् यैर्दैत्येन्द्रैः अस्मत्प्रपितामहादिभिः युद्धेष्वनिवर्तिभिः इयं भूमिः बुभुजे उपभुक्ता, तेषां लोकान् भोगान् कालोऽग्रसीत् संहृतवान्, तैर्भुव्यधिगतं लब्धं यशः कीर्तिन्तु नाग्रसीत्[13] सा तु अधुनात्यनुवर्तते इति भावः।।८।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भक्तिविधानार्थं त्रिविक्रमावतारमाहात्म्यं वक्ति अस्मिन्नध्याये, तत्राऽदौ बलेः सत्यसन्ध निश्चयमाह - **बलिरिति** ।।१।।

यो दानादि धर्मार्थादिकं स्वजीवनसाधनं न बाधेत न नश्यति[14]। सोऽयं गृहस्थानां धर्म इति यदुक्तं तत्सत्यम् अबाधितमित्यन्वयः।।२।।

1. W Omits अनृतपरं 2. A,B,T Omit अलं 3. A,B,T पाठे 4 A,B,T Omit तदा 5. A,B,T Omit सुढुं 6. A,B,T पाठः 7. A,B,T प्रलम्भ" 8. A,B,T "ना 9. A,B,T Omit एव 10. A,B,T Omit स्वयं 11- -11. W Omits 12. A,B,T Omit प्र 13. W Omits सा तु 14. A,B नाशयेत्

तथैवानुष्ठेयो धर्म इति नेत्याह - स इति। यो ददामीति प्रतिज्ञाय स्थितः सोऽयं प्रत्याचक्षे न दास्यामीति निषेधं करोमीति कुतः प्राह्लादिः कितवो धूर्तः।।३-५।।

ननु वित्तलोभाभावे स्वजीवनहानिः स्यात् इत्याशङ्क्य दानेन विप्रालम्बुद्धिरेव प्रयोजिका नान्येत्याशयेनाह - तस्येति। यत्प्रतिश्रुतं तेन वित्तेन विप्रो यदि तुष्येत तर्हि तस्य वित्तस्यात्यागे अदाने निमित्तं कारणं किं, न किमपि।।६।।

स्वजीवनं कारणञ्चेन्नेत्याह - श्रेय इति। के ते साधव इति तत्राह - दध्यङ्डिति। दध्याङ्डाथर्वणो देवेभ्यः स्वदेहं, शिबिः कपोताय, ततः प्रकृते, किन्तत्राह - को विकल्पः इति। दित्सितेषु धरादिषु विकल्पः दास्यामि न वेति संशयः कः? न कोऽपीत्यर्थः।।७।।

सति विभवेऽर्थिनि च प्राप्ते लोभा ददातृणामैहिकामुष्मिक सुखं न सेत्स्यतीत्याशयेनाह - यैरियमिति अनिवर्तिभिः युद्ध इति शेषः। कालो यमः स्वर्गादिलोकानग्रसीत् ग्रस्तवान् " ये लोका दानशीलानां स तानाप्नोति पुष्कलान् (याज्ञ.स्मृ. 9-213) इति स्मृतिसिद्धलोका न सन्तीत्यर्थः।।८।।

सुलभा युधि विप्रर्षे! ह्यनिवृत्तास्तनुत्यजः।
न तथा तीर्थ आयाते श्रद्धया ये धनत्यजः।।९।।

मनस्विनः कारुणिकस्य शोभनम् यदर्थिकामोपनयेन दुर्गतिः[1]।
कुतः पुनर्ब्रह्मविदां भवादृशां ततो वटोरस्य ददामि वाञ्छितम्।।१०।।

यजन्ति यज्ञक्रतुभिर्यमादृता भवन्त आम्नाय विधानकोविदाः।
स एष[2] विष्णुर्वरदोऽस्तु वा परो दास्याम्यमुष्मै क्षितिमीप्सितां मुने।।११।।

यद्यप्यसावधर्मेण मां बध्नीयादनागसम्[3]।
तथाप्येनं न हिंसिष्ये धृतब्रह्मतनुं रिपुम्[4]।।१२।।

एष एव उत्तमश्लोके न जिहासति यद्यशः।
हत्वा मैनां हरेद्युद्धे शयीत निहतो मम[5]।।१३।।

1. M,Ma 'र्थ ' 2. A,B,G,J,T एव 3. A,B,G,J,T यद' 4. A,B,G,J,T भीतं; M,Ma लीनं 5. A,B,G,J,T,M,Ma,T मया

**श्रीशुक उवाच**

**एवमश्रद्धितं शिष्यमनादेशकरं गुरुः।**
**शशाप दैवप्रहितः सत्यसन्धं मनस्विनम्।।१४।।**

**[1-] शुक्र उवाच [-1]**

**दृढं पण्डितमान्यज्ञः स्तब्धोऽस्यस्मदुपेक्षया।**
**मच्छासनातिगो यस्त्वमचिराद्भ्रश्यसे श्रियः।।१५।।**

**[3-] श्रीशुक उवाच [-3]**

**एवं शप्तस्स्वगुरुणा सत्यान्न चलितो महान्।**
**वामनाय ददावेनामर्चित्वोदकपूर्वकम्।।१६।।**

**श्रीध०** देहत्यागादपि धनत्यागे कीर्तिर्भवतीत्याह - **सुलभा** इति। तनुं त्यजन्तीति तनुत्यजः तथा। तीर्थे पात्रे अतोऽतिदुष्करो धनत्याग एव मया कार्य इति भावः।।९।।

तर्हि निर्धनत्वेन दैन्यं स्यादिति चेत् तत्राह - **मनस्विन** इति। यादृशतादृशानामप्यर्थिनां कामोपनयेन कामपूरणेन दुर्गतिर्दैन्यमिति यत्तत् शोभनं भद्रमेव भवादृशानां तु कामोपनयेन दुर्गतिः, शोभनमिति किम्पुनर्वक्तव्यमित्यर्थः।।१०।।

ननु नायं वटुः किन्तु विष्णुस्तव शत्रुरित्युक्तं तर्हि, सुतरामेव दास्यामीत्याह - **यजन्तीति**। परः शत्रुर्वाऽस्तु।।११,१२।।

**एष** इति। यद्यदि यशो न जिहासति तर्हि युद्धेऽयं मा मां हत्वैनां भूमिं हरेच्छयीत वा। सम्यक् ज्ञातःसन् ममचित्ते शयीतेति वास्तवोऽर्थः।।१३।।

**एवमिति**। अश्रद्धितमजातश्रद्धम्।।१४-१६।।

**वीर०** देहादपि प्रियस्य धनस्य त्यागादेव कीर्तिर्भवतीत्याह - **सुलभा** इति। हे विप्रर्षे! युधि युद्धे तनुं देहं त्यजन्तीति तथा तादृशाः सुलभाः बहवः अनुवृत्ताः जात बभूवुरित्यर्थः। तथा तीर्थे सत्पात्रे श्रद्धया ये सर्वस्वं त्यजन्ति ते नाऽनुवृत्ताः। अतोऽतिदुष्करो धनत्याग एव मया कार्य इति भावः। अतिवृत्ता इत्यपि पाठः।।९।।

---

1- -1. A,B,G,J,M,Ma,T Omit 2. H,V "च" 3- -3. A,B,G,J,M,Ma,T Omit 4. W पूर्विकाम् 5. H,V Omit तनुत्यजः 6. H,V "मितिभावः 7. H,V Omit यत् 8. H,V Omit अयं 9. B,H,J,V Omit मा 10. A,B,T Omit युधि 11. W Omits युद्धे 12. W "न्तः 13. W Omits ते 14- -14. W Omits

तर्हि निर्धनत्वेन दैन्यं स्यादित्यत्राह मनस्विन इति। अर्थिनां कामपूरणेन दुर्गतिर्दैन्यमिति यत्तन्मनस्विनो विवेकिनः कारुणिकस्य शोभनं भद्रमेव किं पुनर्भवादृशां[1] ब्रह्मविदां तद्भद्रमेवेति वक्तव्यं ततोऽस्य वटोर्वाञ्छितं ददामि[2]।।१०।।

ननु नायं वटुः किन्तु विष्णुस्तव शत्रुः इत्युक्तं[3] तर्हि तु[4] सुतरामेव दास्यामीत्याह यजन्तीति। वेदोक्तयज्ञाद्यनुष्ठानकुशलाः भवन्तः आदृतास्सन्तः क्रतुभिर्यज्ञैश्च ससोमकैरसोमकैश्च यागैर्यं विष्णुं यजन्ति आराधयन्ति स एष वटुवेषो विष्णुरधुना मम वरदो वा परः शत्रुर्वाऽस्तु सर्वथाऽस्मै भूमिं ईप्सितां हे मुने! दास्याम्येव।।११।।

तर्हि तृतीयपादस्याऽऽस्पदाभावेन हेतुना त्वां बध्नीयात् असौ[5] अत आह **यदीति**। अनागसं सर्वस्वसमर्पणेन निरपराधिनं[6] मामसावधर्मेण यदि बध्नीयात्तथाप्येनं धृतब्राह्मणशरीरं[7-7] न हिंसिष्ये न हनिष्यामि बन्धनमप्यनुमन्ये नाहं बिभेमीति पूर्वमेवोक्तत्वादिति भावः।।१२।।

किञ्चैष यद्युत्तमश्लोकः विष्णुस्तर्हि यशः कीर्तिं[8] न जिहासति त्यक्तुं नेच्छति सर्वस्वं प्रतिगृह्य मां बध्वा स्वकीयं विपुलं यशः न विहन्तीति भावः। किन्तु मां युद्धे हत्वा एनां भूमिं हरेत् मां हन्तुमसमर्थश्चेत् मया निहतो युद्धे शयीत वा[9-] इति तु नार्थः। किन्तु शयीत इति काकुः किं शयीत न शयीत एवेति दिक्[-9]।।१३।।

इत्थमश्रद्धितं श्रद्धाऽस्य संज्ञातेति[10-] श्रद्धितः, तारकादित्वात् इतच्, न श्रद्धितः[-10] अश्रद्धितः तं स्वस्याऽऽज्ञामस्वीकुर्वाणं[11] शिष्यं बलिं गुरुः[12-] उशनाः[-12] शुक्रो[13] दैवचोदितः शशाप। शापानर्हत्वं सूचयन्विशिनष्टि सत्ये सन्धा अभिसन्धिः यस्य तं प्रशस्तमनस्कम्।।१४।।

शापमेव दर्शयति **दृढमिति**। त्वं दृढं नूनं पण्डितमात्मानं मन्यसे इति तथा। वस्तुतस्तु अज्ञः, अत एव स्तब्धः सर्वस्वनाशप्रसक्तावाप्यलं[14] पटुरस्मीति[15] गर्वयुक्तस्त्वं[16-] मच्छासनमतिक्रान्तवान्[-16] अतस्त्वं मम गुरोरुपेक्षायाऽचिरादेव श्रियस्त्रैलोक्याधिपत्याद्भ्रश्यसि।।१५।।

इति इत्थं स्वगुरुणा[17] शप्तोऽपि सत्यात् न चलितो महान् दृढसङ्कल्पो बलिर्वामनाय अर्चित्वोदकपूर्विकामेनां[18] भूमिं[19] ददौ।।१६।।

1. W शानां 2. W "नि 3. A,B,T Omit इत्युक्तं 4. W Omits तु 5. W Omits असौ 6. W "धं 7- -7. W विप्रतनु 8. A Omits कीर्तिं 9- -9. W Omits 10- -10. A,B,T न सञ्जातेति 11. W स्वाम्या" 12- -12. A,B,T Omit 13. W Omits शुक्रः 14. W अलम्मटोऽसि 15. W Omits इति 16- -16. W यतस्त्वं 17 A,B,T Omit स्व 18. W "दपू" 19. W "मिमां

**विज०** पात्राभावान्न दास्यन्ति तस्मिन् सति दातारः सुलभा इति तत्राह - युधीति। यथा युधि युद्धा दनिवृत्तास्तनुत्यजः शरीरत्यागिनः सुलभास्तथा तीर्थे पात्रे प्राप्ते श्रद्धया धनत्यजः धनदातारो न सुलभा इत्यन्वयः। "तीर्थं मन्त्राद्युपाध्याये शास्त्रेष्वम्भसि पावने। पात्रोपायावतारेषु स्त्री पुष्पे योनियज्ञयोः" (वैज.को.6-3-13,14) इति यादवः।" पराचिच्छीर्षावनृजुस्त इन्द्रावज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः "[1] इति।।९।।

ननु सर्वस्व दाने स्वजीवनहानि लक्षणक्लेशः स्यादिति यदुक्तं तत्राह - **मनस्विन इति**। अर्थकामाय याचमानाय कामितार्थदानेनोपनयो गृहम्प्रति प्रस्थापनं यत्तेन दुर्गतिः दारिद्र्यलक्षणनाशो भवतीति यत्तत् कारुणिकस्य मनस्विन उदारस्य शोभनमिहामुत्रसुखसाधनं स्यात् भवादृशां ब्रह्मविदां सर्वस्वदानात् क्लेशः सुखहेतुरिति किम्पुनः किमु वक्तव्यम्। फलितमाह तत इति।।१०।।

अयं वटुरपि यः कश्चन न भवतीति दर्शयन् स्वस्य हरिविषयं ज्ञानं सूचयन्नाह - **यजन्तीति**। क्रतुभिः सङ्कल्पैः सप्ततन्तुसंज्ञैर्वा।।११।।

ब्रह्मतनुं ब्राह्मणं वटुम्।।१२।।

जिहासति त्यक्तुमिच्छति मा मां एनां गाम्।।१३।।

अश्रद्धितं अश्रद्धयोपेतं प्रहितः प्रेरितः, सत्यसन्धं सत्यप्रतिज्ञम्।।१४-१६।।

**विन्ध्यावलिस्तदाऽऽगत्य पत्नी जालकमालिनी।**
**आनिन्ये कलशं हैममवनेजन्यपां भृतम्।।१७।।**

**यजमानः स्वयं तस्य श्रीमत्पादयुगं मुदा।**
**अवनिज्यावहन्मूर्ध्नि तदपो विश्वपावनीः।।१८।।**

**तदाऽसुरेन्द्रं दिवि देवतागणा गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणाः।**
**तत्कर्म सर्वेऽभिगृणन्त आर्जवं[2] प्रसूनवर्षैर्ववृषुर्मुदान्विताः।।१९।।**

**नेदुर्मुहुर्दुन्दुभयस्सहस्रशो गन्धर्वकिम्पूरुषकिन्नरा जगुः।**
**मनस्विनानेन कृतं सुदुष्करं विद्वानदाद्यद्रिपवे जगत्त्रयम्।।२०।।**

**तद्वामनं रूपमवर्धताद्भुतं हरेरनन्तस्य गुणत्रयात्मकम्।**
**भूः खं दिशो द्यौर्विवराः पयोधयः तिर्यङ्नृदेवा मुनयो[3] यदासत[4]।।२१।।**

---

1. A,B,G,J,T 'पि 2. H,V अस्तुवन् ; W आदरात् ; M,Ma आर्च 3. A,B,G,J,M,Ma,T ऋषयो 4. M,Ma 'सन्

**काये बलिस्तस्य महाविभूतेः सहर्त्विगाद्यार्य सदस्य एतत्।**
**ददर्श विश्वं त्रिगुणं गुणात्मके भूतेन्द्रियार्थाशयजीवयुक्तम्।।२२।।**

**रसामयष्टाङ्घ्रितलेऽथ पादयोः महीं महीधान्पुरुषस्य जङ्घयोः।**
**पतत्रिणो जानुनि विश्वमूर्ते रूर्वोर्गणं मारुतमिन्द्रसेनः।।२३।।**

**सन्ध्यां विभोर्वाससि गुह्य ऐक्षत् प्रजापतीञ्जघने आत्मपुरुष्यान्।**
**नाभ्यां नभः कुक्षिषु सप्तसिन्धून् उरुक्रमस्योरसि ऋक्षमालाम्।।२४।।**

**श्रीध० विन्ध्यावलिरिति।** जालकं मुक्ताभरणविशेषस्तन्मालावती। अवनेजनीनामपां कलशम्। भृतं पूर्णम्।।१७-२०।।

**तदिति।** अवर्धत "यद्यद्भवान् वाञ्छति तत्प्रतीच्छ मे" (भाग:8.18-32) इति बलिना पूर्वमुक्तत्वात्। गुणत्रयमात्मनि यस्य तत् अत एव भूः खमित्यादयो यद्यस्मिन् आसत स्थितवन्तः।।२१।।

**काये** इति। ऋत्विगादि सहितो बलिस्तस्य हरेः काये एतद्विश्वं ददर्श।।२२।।

तदेव प्रपञ्चयति **रसामित्यादि** पादोनैः सप्तभिः। रसामयस्तलम् मारुतं गणं वायुसङ्घम्। इन्द्रस्य सेनेव सेना यस्य सः। इन्द्रपदे स्थितत्वात्। अचष्ट ऐक्षत।।२३।।

सन्ध्यामिति। ऐक्षत् ऐक्षत आत्मा स्वयं बलिर्मुख्यो येषां तानसुरान्। ऋक्षमालां नक्षत्रपङ्क्तिम्।।२४।।

**वीर०** तदेव प्रपञ्चयति - **विन्ध्यावलिरिति।** बलेः पत्नी विन्ध्यावलिरिति प्रसिद्धा सा जालकमालिनी जालकं मुक्ताभरणविशेषः, तन्मालिनी तदा आगत्यावनेजनीनां पादप्रक्षालनार्थानामपामद्भिः भृतं पूर्णं हैमं कलशमानिन्ये आनीतवती।।१७।।

ततो यजमानो बलिः तस्य भगवतो वामनस्य श्रीमत्पादद्वन्द्वं मुदा प्रक्षाल्य तदपः प्रक्षालनीः अपः विश्वपावनीर्मूर्ध्न्यवहत्।।१८।।

तदा दिवि स्थिता देवगणाः गन्धर्वादयश्च निर्भयास्सन्तः सर्वे तस्य बलेर्दानरूपं कर्माभितः प्रशंसन्तः आदरादसुरेन्द्रं बलिं प्रसूनवर्षं मुदा युक्तास्सन्तो ववृषुः।।१९।।

दुन्दुभयः सहस्रशो नेदुः गन्धर्वादयो जगुः गानप्रकारमेव दर्शयति मनस्विनाऽनेन बलिना

1. M,Ma मरुता 2. H,M,Ma,V स्वा 3. M,Ma मुख्यम् 4. M,Ma ऋक्ष 5- -5. H,V Omit 6- -6. A,B,J वाञ्छत: प्रतिगृह्यताम् 7. A,B,J 'मिति 8- -8. B,H,J,V Omit 9- -9. H,V Omit 10- -10. A,B,J, Omit 11. W Omits सा 12. A,B,T Omit बलिं

कृतमितरैर्दुष्करं हि यतोऽयं विद्वान् त्रिपदे पादत्रयाय त्रिविक्रमाय वा जगत्रयमदात्।।२०।।

इत्येवं सर्वेष्वभिगृणत्सु सत्सु तत्, यद्धरेरनन्तस्य वामनं रूपं तदद्भुतं यथा तथा अवर्द्धत वाच्छितं प्रतिगृह्यताम् इति बलिना पूर्वमुक्तत्वाल्लोकत्रयमपि वाच्छितं प्रतिग्रहीतुमवर्द्धतेति भावः। तदेधितं रूपं विशिनष्टि, गुणत्रयं गुणत्रयात्मकं जगदात्मनि स्वस्मिन्यस्य तत् अत एव भूः खमित्यादयो यस्मिन्नासत स्थिताः।।२१।।

तदा ऋत्विगादि सहितो बलिर्महाविभूतेस्तस्य भगवतः काये गुणत्रयपरिणामात्मक जगदाश्रयभूते भूतपञ्चकादियुक्तमेतत्कृत्स्नं विश्वं ददर्श।।२२।।

तदेव प्रपञ्चयति - **रसामिति** पादोनैः सप्तभिः पादतले रसां रसातलमधोलोकमचष्टापश्यत् तथा पादयोः महीं पुरुषस्य भगवतो जङ्घयोर्महीध्रान् पर्वतान् जानुनि पतत्रिणः विश्वमूर्तेर्भगवतः ऊर्वोर्मारुतं गणं वायुसङ्घमिन्द्रसेनो बलिः इन्द्रस्य सेनेव सेना यस्य स इन्द्रपुरे स्थितत्त्वादचष्टेत्यनुषङ्गः। ऐक्षदित्यपकर्षो वा।।२३।।

विभोर्वाससि वस्त्रे सन्ध्यां जघने आत्मा स्वयं बलिर्मुख्यो येषां तान् प्रजापतीनसुरान् नाभ्यां नभोऽन्तरिक्षं कुक्षिषु सप्तसिन्धून् समुद्रान् उरुक्रमस्य भगवतः उरसि नक्षत्रपङ्क्तिम्।।२४।।

**विज०** जालकैः कुड्मलैः कृता मालऽस्या अस्तीति जालकमालिनी "कोरक जालक कलिका कुड्मलमुकुलानि तुल्यानि" (हला.को.2-31) इति हलायुधः अपां भृतं पूर्णजलं अवनेजनी प्रक्षालनमिच्छन्ती।।१७,१८।।

आर्य ज्ञानिनम् असुरेन्द्रम्।।१९।।

विद्वान्दानफलं शत्रुरिति वा स्वजातिरिपवे वामनाय जगत् त्रयमदादिति यत्तस्मादनेन मनस्विना बलिना सुदुष्करं कृतमित्युक्त्वा जगुः।।२०।।

भूखादयो यस्मिन् रूपे आसन् सावकाशं स्थिताः तद्वामनमणुतरं रूपमवर्धतेत्यन्वयः। गुणत्रयस्यात्माकृतिर्येन तत्तथा तत् " आत्मा जीवे धृतौ देहे स्वभावे परमात्मनि। यत्नेऽर्केऽग्नौ मतौ वातेऽप्याखूः सूकरमूषिकौ " (वैज.को.6-1-6,7) इति यादवः।।२१।।

अर्थाः शब्दादयः आशयो मनो[2] बुद्धिर्वा।।२२।।

महीध्रान् पर्वतान्। इन्द्रसेनो बलिः।।२३।।

1. A,B,T Omit यत् 2. A,B, Omit मनः

स्वात्ममुख्यं भृत्येषु मुख्यं ऋक्षमालां नक्षत्रपङ्क्तिम्।।२४।।

**हृद्यङ्ग! धर्मं स्तनयोर्मुरारेः ऋतं च सत्यञ्च मनस्यथेन्द्रम्।**
**श्रियं च वक्षस्यरविन्दहस्तां कण्ठे च सामादि समस्तरेफान्[1]।।२५।।**

**इन्द्रप्रधानानमरान्भुजेषु तत्कर्णयोः ककुभो द्यौश्च मूर्ध्नि।**
**केशेषु मेघाञ्श्वसनं नासिकायां अक्ष्णोश्च सूर्यं वदने च वह्निम्।।२६।।**

**वाण्याञ्च छन्दांसि रसे जलेशं भ्रुवोर्निषेधञ्च विधिञ्च पक्ष्मसु।**
**अहश्च रात्रिञ्च परस्य पुंसो मन्युं ललाटेऽधर एव लोभम्।।२७।।**

**स्पर्शे च कामं नृप रेतसोऽम्भः[3] पृष्ठे त्वधर्मं क्रमणेषु यज्ञम्।**
**छायासु मृत्युं हसिते च मायां तनूरुहेष्वोषधिजातयश्च[4]।।२८।।**

**नदीश्च[5] नाडीषु शिला नखेषु बुद्धावजं देवगणानृषींश्च।**
**प्राणेषु गात्रे स्थिरजङ्गमानि सर्वाणि[6] भूतानि ददर्श वीरः।।२९।।**

**श्रीध० हृदीति।** अङ्ग हे राजन्! समस्तान् वेदान्[7] शब्दान्।।२५।।

**इन्द्रेति।** द्यौश्च द्याञ्च।।२६।।

**वाण्यामिति।** रसे रसने।।२७।।

**स्पर्श** इति। रेतसा[8] रेतसि। क्रमणेषु पादन्यासेषु ओषधिजातयः ओषधजातीश्च।।२८।।

**नदीरिति।** प्राणेष्विन्द्रियेषु।।२९।।

**वीर०** अङ्ग ! हे राजन्! हृदि धर्मं मुरारेः स्तनयोः। ऋतञ्च सत्यञ्च शब्दसत्यमर्थसत्यञ्च तदभिमानि देवतामित्यर्थः[9]। अथ मनसि चन्द्रमसं, वक्षस्यरविन्दं हस्ते यस्यास्तां श्रियं लक्ष्मीं, कण्ठे सामानि समस्तान् रेफांश्च शब्दादीन्।।२५।।

भुजेषु इन्द्रः प्रधानो मुख्यो येषां तान् सुरान् तस्य भगवतः कर्णयोः ककुभः दिशः मूर्ध्नि द्यौः द्याञ्च केशेषु मेघान् नासिकायां श्वशनं श्वासात्मकं वायुं, बाह्यवायोरुक्तत्वादक्ष्णोर्नेत्रयोः सूर्यं, वदने मुखे वह्निम्।।२६।।

1. A,B,G,J,M,Ma,T "नि 2. H,V वेदान् 3. H,V "तसा 4. M,Ma "ष्वोषधिवीरुधश्च 5. M,Ma "दा" 6. H,V,W हरेरनन्तस्य विलक्षणानि; M,Ma लणार्थमात्रेण विवृद्धमूर्तेः 7. A,B,J रेफाश्च 8. A,B,J "तसो 9. W "मितिभावः

वाण्यान्तु च्छन्दांसि वेदान्, रसने रसनेन्द्रिये, जलेशं वरुणं, भ्रुवोर्निषेधं निवृत्यात्मकं शास्त्रार्थं विधिं प्रवृत्त्यात्मकं शास्त्रार्थं च पक्ष्मसु अहश्च रात्रिञ्च परमपुरुषस्य ललाटे मन्युं अधरोष्टे लोभम्।।२७।।

स्पर्शे त्वगिन्द्रिये कामं, रेतसि जलं, पृष्टे त्वधर्मं, क्रमणेषु पादन्यासेषु यज्ञं, छायासुमृत्यु मन्तकं, हसिते मायां तनूरुहेषु लोमसु ओषधीजातीः।।२८।।

नाडीषु नदीः, नखेषु शिलाः बुद्धौ अजं बह्माणं देवगणानृषींश्च, प्राणेषु इन्द्रियेषु गात्रे चराचरात्मकानि भूतानि, [1]सर्वाणि परस्परविलक्षणान्यपश्यत्।।२९।।

**विज०** समस्तरेफान् सर्वशब्दान्।।२५,२६।।

रसे रसनायां मन्युं क्रोधाभिमानिनं देवम्।।२७।।

रेतस उद्भूतम्।।२८,२९।।

**सर्वात्मनीदं भुवनं निरीक्ष्य सर्वेऽसुराः कश्मलमापुरङ्ग।**
**सुदर्शनं चक्रमसह्यतेजो धनुश्च शार्ङ्गं स्तनयित्नु घोषम्।।३०।।**

**पर्जन्यघोषो जलजः पाञ्चजन्यः कौमोदकी विष्णुगदा तरस्विनी।**
**[2]विद्याधरोऽसिः शतचन्द्रयुक्तः तूणोत्तमावक्षयसायकौ च।।३१।।**

**सुनन्दमुख्या उपतस्थुरीशं [3]स्वपार्षदमुख्याः सहलोकपालैः।**
**स्फुरत्किरीटाङ्गदमीनकुण्डल श्रीवत्सरत्नोत्तममेखलाम्बरैः।।३२।।**

**मधुव्रतस्रग्वनमालया वृतो रराज राजन्भगवानुरुक्रमः। ***
**क्षितिं पदैकेन बलेर्विचक्रमे नभः शरीरेण दिशश्च बाहुभिः।।३३।।**

**पदं द्वितीयं क्रमतस्त्रिविष्टपं न वै तृतीयाय तदीयमण्वपि।**
**उरुक्रमस्याङ्घ्रिरुपर्युपर्यथो महर्जनाभ्यां तपसः परं गतः।।३४।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
अष्टमस्कन्धे विंशोऽध्यायः।।२०।।

**श्रीध० सर्वेति।** सर्वात्मनीत्यादिवाक्यान्तरम्। सुदर्शनमित्यादीनाम् ईशमुपतस्थुः इत्युत्तरेणान्वयः।।३०।।
**पर्जन्येति।** विद्याधर संज्ञोऽसिः [7-]शतचन्द्रं वर्म तेन [-7]युक्तः।।३१।।

1. W Omits सर्वाणि 2. M,Ma वे" 3. A,B,G,J,M,Ma,T Omit स्व 4. A,B,G,J,M,Ma,T पालाः। *An additional Indf half verse is found bracketed in H,V edns(शतह्रदायुक्तमहाघनो यथा)5.M,Ma यस्य 6.M,Ma" यंबोदिवो 7- -7.A,B,J Omit

**सुनन्देति।** [1]सुनन्दमुख्याः सुनन्दादयश्च ते एव पार्षदमुख्याः[1] मीनकुण्डले मकरकुण्डले। स्फुरन्ति किराटादीनि यस्य सः।।३२।।

**मधुव्रतेति।** मधुव्रतानां स्रजो यस्यां तथा वनमालया श्रीवत्सादिभिश्चावृतो व्याप्तः। उरुक्रमत्वमेवाह - क्षितिमिति ।।३३।।

**पदमिति।** द्वितीयं पदं क्रमतो विक्षिपतस्त्रिविष्टपं तदीयं किञ्चिन्मात्रं जातम्। तृतीयाय तु न किञ्चिदपि। तत्र हेतुः - उरुक्रमस्याङ्घ्रिस्त्रिविष्टपात् उपर्युपरि गच्छन् महर्जनलोकाभ्यां[2] तपसश्च परं गतः सत्यलोकं गत इति।।३४।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
टीकायां विंशोऽध्यायः।।२०।।

**वीर०** इत्थं सर्वात्मनि कृत्स्नजगदाश्रयभूते भगवतीदं भुवनं विश्वं निरीक्ष्य अङ्ग हे राजन् सर्वेऽसुराः कश्मलं किमेतदित्याश्चर्यं दुःखं वा प्रापुः। [3]सुदर्शनचक्रमित्यादीनामीशं भगवन्तम् उपतस्थुरित्युत्तरेणान्वयः। चक्रं विशिनष्टि सुदर्शनाभिधं असह्यं तेजो यस्य धनुर्विशिनष्टि - शार्ङ्गाभिधं स्तनयित्नोरिव घोषो यस्य तत्।।३०।।

जलजं शङ्खं विशिनष्टि - पाञ्चजन्याभिधः पर्जन्यस्येव घोषो यस्य सः, गदां विशिनष्टि कौमोदक्याभिधा तरस्विनी बलवती। असिं खड्गं विशिनष्टि विद्याया आधारः विद्याधराभिधो वा तस्यैव नन्दक इति नामान्तरञ्च तं चन्द्राकाराणि मण्डलानि यस्य तेन चर्मणा खेटाख्येन युक्तः तूणोत्तमौ तूणश्रेष्ठौ विशिनष्टि- अक्षयसायकाभिधौ इदमन्वर्थं नाम।।३१।।

सुनन्दनः मुख्यः आदिर्येषां ते हरेः पार्षदाश्च लोकपालैः सहिता ईशमुपतस्थुः, ईशस्य समीपे स्व स्वस्थानेषु स्थितवन्त इत्यर्थः। तदा हे राजन्! उरुक्रमो भगवान् स्फुरद्भिः किरीटादिभिः मधुव्रतानां स्रक् पङ्क्तिः यस्यां तया वनमालया च आवृतो व्याप्तोऽलङ्कृत इति यावत्, रराज तत्र मीनाकारे कुण्डले रत्नोत्तमः कौस्तुभः, कुण्डलेत्यन्तस्य पृथक् पदत्वे, स्फुरन्ति किरीटादीनि यस्य सः श्रीवत्सादिभिः वनमालया च आवृतो रराजेत्यर्थः।।३२।।

उरुक्रमत्वमेवाह - बलेः सम्बन्धिनीं क्षितिं [4]भूमिं एकेन पदा शरीरेण नभोऽन्तरिक्षं बाहुभिर्दिशः विचक्रमे आक्रान्तवान्।।३३।।

1- -1. A,B,J Omit 2. B,H,J,V "नाभ्यां 3 W Omits सुदर्शन 4. A,B,T Omit

एवमाक्रम्य द्वितीयं पदं त्रिविष्टपं क्रमतः हरेः तृतीयाय पादाय तदीयं बलेः सम्बन्ध्यण्वपि वस्तु नासीत्। तत्र हेतुः त्रिविक्रमस्य अङ्घ्रिः द्वितीयः[1] त्रिविष्टपादुपर्युपरि गच्छन् महर्जनाभ्यां तपसश्च परं सत्यलोकं गत इति।।३४।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां विंशोऽध्यायः।।२०।।

**विज०** वैद्याधरो विद्याधरसम्बन्धी।।३०-३२।।

कियत्पर्यन्तं अवर्धत इति तत्राह - क्षितिमिति।।३३,३४।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
अष्टमस्कन्धे विंशोऽध्यायः।।२०।।

1. A,B,T Omit द्वितीयः

oooOooo

# एकविंशोऽध्यायः

## श्रीशुक उवाच

सत्यं[1] समीक्ष्याब्जभवो नखेन्दुभिः हतस्वधामद्युतिरावृतोऽभ्यगात्।
मरीचिमिश्रा ऋषयो बृहद्व्रताः सनन्दनाद्या नरदेव योगिनः।।१।।

वेदोपवेदानियमानयान्विताः[2] तर्केतिहासाङ्गपुराणसंहिताः।
ये चापरे[3] योगसमीरदीपितज्ञानाग्निना रन्धितकर्मकल्मषाः।।२।।

ववन्दिरे यत्स्मरणानुभावतः स्वायम्भुवं धाम गता अकर्मकम्।
अथाङ्घ्रये प्रोन्नमिताय विष्णोः उपाहरत्पद्मभवोऽर्हणोदकम्[4]।।
समर्च्य भक्त्याऽभ्यगुणाच्छुचिश्रवा यन्नाभिपङ्केरुहसम्भवः स्वयम्।।३।।

धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र।
स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि[5] लोकत्रयं भगवतो विशदेवकीर्तिः।।४।।

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एकविंशे पदापूर्तिमिषेण बलिबन्धनम्। विष्णुना कृतमुत्कर्षं तस्य ख्यापयितुं जने।।

उरुक्रमस्याङ्घ्रिस्तपसः परं गत इत्युक्तं, ततः किं वृत्तं तदाह - **सत्यमिति**। सत्यं सत्यलोकं प्राप्तं तमङ्घ्रिं समीक्ष्याब्जभवोऽभ्यगात्। तथा[6] मरीचिमिश्राः[7] ऋषयश्चेति द्वयोरन्वयः। कथम्भूतोऽब्जभवः? हरेरङ्घ्रेर्नखा एवेन्दवस्तैर्हता स्वधाम्नो द्युतिर्यस्य तं, तस्य[8] लोकं, स्वयञ्च तैरावृतश्छन्नः। हे नरदेव! बृहद्व्रता योगिनश्च।।१।।

**वेदेति**। अङ्गानि शिक्षादीनि। पुराणानि तत्संहिताश्च। योग एव समीरस्तेन दीपितं ज्ञानमेवाग्निस्तेन रन्धितं दग्धं कर्मकल्मषं कर्ममलं येषाम् ते।।२।।

**ववन्दिरे** इति। ते च सर्वे तमङ्घ्रिं ववन्दिरे। यस्याङ्घ्रेः स्मरणानुभावतः। अकर्मकं कर्मभिरप्राप्यम्। विष्णोरङ्घ्रये स्वयं यस्य नाभिपङ्केरुह सम्भवस्तस्य विष्णोरङ्घ्रिं सम्यगभ्यर्च्य[9]।।३।।

**धातुरिति**। लोकत्रयं निमार्ष्टि[10] पवित्रयति।।४।।

## श्रीवीरराघवविदुषालिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

त्रिविक्रमस्याङ्घ्रिस्तपसः परङ्गत इत्युक्तम्। ततः किं वृत्तं तदाह - **सत्यमित्यादिना**। सत्यं सत्यलोकं

---

1. M,Ma स तं 2. A,B,G,J,T "मान्विताः यमाः तर्के" M,Ma मान्विताः तर्के" 3. M,Ma वा" 4. M,Ma "णादिकम् । 5. H,V सम्प्रतिनिर्मार्ष्टि 6. H,V तदा 7. A,B,J "श्रादयश्चेति 8- -8. A,B,J Omit 9. A,B,J समर्च्य 10. H,V निर्ममार्ष्टि

गतवन्तमङ्घ्रिं समीक्ष्य अब्जभवो ब्रह्मा तदङ्घ्रेः नखेन्दुभिः हता स्वधाम्नो द्युतिर्यस्य तादृशः आदरयुक्तोऽभ्यगात्। तथा मरीच्यादयः ऋषयः। हे नरदेव! ब्रह्मनिष्ठाः सनन्दनादयो योगिनश्च।।१।।

वेदादयः तदभिमानिदेवताः अन्ये च तल्लोकवासिनः योग एव समीरो वायुस्तेन दीपितेन ज्ञानाग्निना रन्धितं दग्धं कर्म पुण्यपापरूपं कर्म तदेव कल्मषं येषां ते तत्र नयान्विताः मीमांसन्यायोपेताः वेदोपवेदरूपा निगमाः, तत्र ऋगादयो वेदाः, आयुर्वेदादयः उपवेदाः, अङ्गानि शिक्षादीनि, पुराणानि [1]ब्राह्मादीनि, संहिता पाञ्चरात्रादयः, त एते तत्तदभिमानिनो देवगणाः मरीच्यादयश्च ये च अकर्मकं ज्ञानयोगप्रचुरं स्वायम्भुवं धाम सत्यलोकं गताः, तत्रोषितवन्तः, ते सर्वे ववन्दिरे, तमङ्घ्रिमिति शेषः। यत्स्मरणप्रभावतः यस्य भगवदङ्घ्रेः स्मरणप्रभावात् स्वायम्भुवं धाम गताः इत्यनेन विच्छिन्नभगवद्भक्तियोगानां केषाञ्चित् तन्निष्पत्तये प्राक्तनारब्धयोगप्रभावात् चतुर्मुखलोकप्राप्तिरित्यभिप्रेतम्। नत्विदं क्रममुक्त्यभिप्रायकं, तस्या अप्रामाणि-कत्वादिति[2] भावः। अथ शुचिश्रवाः विमलकीर्तिः पद्मभवो ब्रह्मा [3]स्वयं यस्य नाभिकमल[4]सम्भवः तस्य, विष्णोरङ्घ्रये प्रोन्नमिताय प्रकृष्टमूर्ध्वं प्रसृताय अर्हणादिक मर्घ्यादिकम् उपाहरत् समर्पितवान्। एवं सम्यगभ्यर्च्य भक्त्याऽभ्यगुणादस्तौत्।।२,३।।

तदा हे नरेन्द्र! धातुः पद्मजस्य कमण्डलुजलं तद्भगवत्पादयोः प्रक्षालनार्थं निक्षिप्तं सत् उरुक्रमस्य पादयोरवनेजनेन प्रक्षालनेन निमित्तेन पवित्रतया स्वर्धुनी द्युनदी अभूत्। सा स्वर्धुनी भगवतः कीर्तिरिव विशदा निर्मला नभसि ध्रुवमण्डले पतती, नभसोऽधः स्रवन्ती, लोकत्रयंनिमार्ष्टि पवित्रीकरोति।।४।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

सर्वस्वापहरणेपि भगवद्भक्तस्याण्वपि मनोदुःखं न स्यादिति दर्शयितुमुत्तराध्यायारम्भः, तत्रादौ ब्रह्मणोऽतिथेरागमने पादार्चनादिगार्हस्थ्य - धर्मप्रदर्शनप्रकारं वक्ति - सत्यमिति। हता स्वधाम्नः सत्यनाम्नो द्युतिर्यस्य स तथा, नखेन्दुभिः हरेरिति शेषः। आवृतः, परिवारैरिति शेषः। अभ्यगात्पाददेश-मिति शेषः।।१,२।।

यस्य हरेः स्मरणाऽनुभावः निरन्तरोपास्तिप्रभावस्तस्मात् "अनुभावः प्रभावे स्यान्निश्चये भावसूचके" इति यादवः, स्वायम्भुवं स्वयम्भुवो ब्रह्मणो विद्यमानं धाम गृहं सत्यलोकं गताः मरीचिप्रधानास्तस्य अकर्मणा

1. W Omits ब्राह्मादीनि 2. W Omits इति भावः 3. A Omits स्वयं 4. A,B,T "लादुत्पत्तिः

ज्ञानेन प्राप्यं यत्तत्पदं ववन्दिरे इत्यन्वयः। यस्य हरेस्तस्य विष्णोस्तत्कमण्डलुजलं स्वर्धुनी स्वर्गङ्गा नदी अभूत्। निमार्ष्टि शुद्धं करोति।।३,४।।

**ब्रह्मादयो लोकनाथाः स्वनाथाय समाहृताः।**
**सानुगा बलिमाजहुः संक्षिप्तात्मविभूतये[1-] [-1]।।५।।**

**तोयैः समर्हणैः स्रग्भिर्दिव्यगन्धानुलेपनैः।**
**धूपदीपैस्सुरभिभिर्लाजाक्षतफलोत्तमैः[2-] [-2] [3]।।६।।**

**स्तवनैर्जयशब्दैश्च तद्वीर्यमहिमाङ्कितैः[4-] [-4]।**
**नृत्तवादित्रगीतैश्च शङ्खदुन्दुभिनिस्स्वनैः[5]।।७।।**

**जाम्बवान्[6] नृक्षराजस्तु भेरीशब्दैर्मनोजवः।**
**विजयं दिक्षु सर्वासु महोत्सवमघोषयत्।।८।।**

**महीं सर्वां हतां दृष्ट्वा त्रिपदव्याजयाच्ञया।**
**ऊचुः स्वभर्तुरसुरा दीक्षितस्यात्यमर्षिताः।।९।।**

**दैत्या ऊचुः[7-] [-7]**

**न वा अयं ब्रह्मबन्धुः विष्णुर्मायाविनां वरः।**
**द्विजरूपप्रतिच्छन्नो देवकार्यं चिकीर्षति।।१०।।**

**श्रीध० ब्रह्मादय** इति। संक्षिप्ता उपसंहृता आत्मविभूतिः स्वविस्तारो येन तस्मै। यथापूर्वं वामनरूपेण स्थितायेत्यर्थः।।५-८।।

**महीमिति।** त्रिपदव्याजयाच्ञया[8-] [-8] त्रिपदविषया या व्याजयाच्ञा[9-] [-9] कपटयाच्ञा तया स्वभर्तुर्बलेर्महीं हतां दृष्ट्वा[10-] [-10] अत्यमर्षितास्सन्तः ऊचुः।।९।।

किमूचुस्तदाह - **न वै** इति। सार्धैस्त्रिभिः।।१०।।

**वीर०** ततः संक्षिप्ता उपसंहृता आत्मविभूतिः स्वदेहविस्तारो येन तस्मै यथापूर्वं वामनरूपेण स्थिताय स्वनाथाय भगवते, लोकानां नाथाः सानुगाः ब्रह्मादयः बलिं पूजां तोयादिभिः समाजहुः[11] कृतवन्तः।।५।।

1- -1. M,Ma असंक्षिप्तात्मभूतये 2- -2. A,B,G,J,M,Ma,T धूपैर्दीपैः सु" 3. A,B,G,J,M,Ma,T फलाङ्कुरैः। 4- -4. M,Ma कीर्तिभिर्नियमा" 5. A,B,G,J,T नृत्य" 6. H,V,W "नृक्षाधिपतिः 7- -7. A,G,J,M,Ma,T Omit 8- -8. B,H,J,V Omit 9- -9. H,V याञ्चा 10- -10. H,V Omit 11. W. Omits समाजहुः

तत्र समर्हणैः तोयैः अर्घ्यादिजलैः सुरभिभिरिति स्रगादीनां विशेषणम्। * उत्कराः अङ्कुराः तैः।।६।।

स्तवनैः स्तोत्रैः [1-] भगवद्वीर्यमहिमाङ्कितैः [-1]।।७।।

[2] तदा ऋक्षाणामधिपतिः जाम्बवान् [3] मनोजवः [4] मनोवेगः आगत्य भेरीशब्दैः सर्वासु दिक्षु विजयसूचकं महोत्सवरूपं घोषं कारयामास।।८।।

त्रिपदविषया व्याजयाच्ञा कपटयाच्ञा तया हतामपहृतां सर्वां भूमिं दृष्ट्वा सर्वे दैत्या दीक्षितस्य स्वभर्तुः [5] बलेः अग्र इति शेषः। ऊचुः स्वभर्तुर्महीं हृतां दृष्ट्वेति वाऽन्वयः।।९।।

तेषामुक्तिमेवाऽऽह - न वा [6] इति [7-] सार्धैस्त्रिभिः [-7]। अयं वामनो ब्रह्मबन्धुर्द्विजो न भवति किन्तु मायाविनां श्रेष्ठो विष्णुरेव द्विजरूपेण तिरोधापितस्वरूपस्सन् देवानां कार्यं कर्तुमिच्छति।।१०।।

**विज०** असंक्षिप्ता सङ्कोचरहिता अपरिमितात्मभूतिः स्वरूपश्रीर्येन स तथा तस्मै। "भूतिः श्रीर्जन्म भस्मनि " इति च।। ५-९।।

अयं ब्रह्मबन्धुः न वै किंस्विद्विष्णुः।।१०।।

**अनेन याचमानेन शत्रुणा वटुरूपिणा।**
**सर्वस्वं नो हृतं भर्तुर्न्यस्तदण्डस्य बर्हिषि।।११।।**

**सत्यव्रतस्य सततं दीक्षितस्य विशेषतः।**
**नानृतं भाषितुं शक्यं [8] ब्रह्मण्यस्य दयावतः।।१२।।**

**तस्मादस्य वधो [9] धर्मो भर्तुः शुश्रूषणं [10] च नः।**
**[11-] श्रीशुक उवाच [-11]**
**इत्यायुधानि जगृहुर्बलेरनुचराऽसुराः।।१३।।**

**ते सर्वे वामनं हन्तुं [12] शूलपट्टिशपाणयः।**
**[13-] अनिच्छन्तो बलेराज्ञां [-13] प्राद्रवञ्जातमन्यवः।।१४।।**

**तानभिद्रवतो दृष्ट्वा दितिजानीकपान्नृप।**
**प्रहस्यानुचरा विष्णोः प्रत्यषेधन्नुदायुधाः।।१५।।**

*फलोत्करैः इति वीरराघवसम्मतः पाठ इति लक्ष्यते। 1- -1. W Omits 2. A,B,T Omit तदा 3. A,B,T Omit मनोजवः 4. W Omits मनोवेगः 5. A,B,T Omit बलेः 6. A,B,T "माऽऽह 7- -7. W Omits 8. H,V ब्राह्मणस्य 9. H,V धर्म्यो 10. H,V परम् 11- -11. A,B,G,J,M,Ma,T Omit 12. H,V,W "ट्टं" 13- -13. A,B,G,J,M,Ma,T अनिच्छतो बले राजन्

**श्रीध० तस्मादिति।** अनुचराश्च ते असुराश्च।।११-१५।।

**वीर०** याचमानेन वटुरूपिणा अनेन विष्णुना बर्हिषि यज्ञे निमित्ते न्यस्तः त्यक्तो दण्डः दुरात्मविषयो येन तस्य नोऽस्माकं भर्तुः सर्वस्वमपहृतम्।।११।।

नेदमस्मद्भर्तुरनुचितं कृत्यं किन्तु वामनस्यैवेत्यभिप्रायेणाहुः सततं सत्यव्रतस्य तत्रापि विशेषतो दीक्षितस्य यज्ञदीक्षायां स्थितस्य ब्रह्मण्यस्य दयावतश्च भर्तुस्तेनानृतं भाषितुं न शक्यम्।।१२।।

तस्मादस्य वामनस्यैवानुचितकारित्वादस्य वध एव न्याय्यस्तदेवास्मद्भर्तुः परमधिकं शुश्रूषणम्। इतीत्थं वदन्तो बलेर्भृत्याः दैत्या आयुधानि गृहीतवन्तः ।।१३।।

सर्वे तेऽसुराः शूलादयः पाणिषु येषां ते बलेराज्ञामप्यनिच्छन्तो, जात उत्पन्नो मन्युरेषां ते वामनं हन्तुं प्राद्रवन् प्रदुद्रुवुः।।१४।।

हे नृप! तान् वामनस्याभिमुखमागच्छतः दैत्यान् दृष्ट्वा नन्दादयो विष्णोः पार्षदाः उत् उद्यतानि आयुधानि यैस्ते, प्रहस्य अहो, अस्मै पराक्रमं कर्तुमिच्छन्तीति परिहासं कृत्वेत्यर्थः। प्रत्यषेधन् निवारयामासुः।।१५।।

**विज०** ।।११-१५।।

**नन्दः सुनन्दोऽथ जयो विजयः प्रबलोद्बलौ।**
**कुमुदः कुमुदाक्षश्च विष्वक्सेनः पतत्रिराट्।।१६।।**

**जयन्तः श्रुतदेवश्च पुष्पदन्तोऽथ सात्वतः।**
**सर्वे नागायुतप्राणाः चमूस्ते जघ्नुरासुरीः।।१७।।**

**हन्यमानान्स्वकान्दृष्ट्वा पुरुषानुचरैर्बलिः।**
**वारयामास संरब्धान्काव्यशापमनुस्मरन्।।१८।।**

**बलिरुवाच**

**हे विप्रचित्ते! हे राहो! हे हेते श्रूयतां वचः।**
**मा युध्यत निवर्तध्वं न नः कालोऽयमर्थकृत्।।१९।।**

1- -1. W Omits 2. A,B,G,J,M,Ma,T बलः 3. A,B,G,J,T चमूं ते; M,Ma स्वां स्वां ते 4. A,B,G,J,M,Ma,T 'सुरीम्। 5- -5. A,B,G,J,M,Ma,T Omit 6. A,B,G,J,T नेमे

**यः प्रभुः सर्वभूतानां सुखदुःखोपपत्तये।**
**तं नातिवर्तितुं दैत्याः पौरुषैरीश्वरः पुमान्।।२०।।**

**श्रीध० हे विप्रचित्ते** इति। अर्थकृदनुकूलः।।१६-१९।।

**य** इति। पौरुषैस्तं कालमतिवर्तितुं पुमानीश्वरः समर्थो न भवति।।२०।।

**वीर०** सर्वे चैते नन्दादयो गजायुतबलाः नागायुतप्राणाः इति बलस्य न्यूनतानिवृत्तौ तात्पर्यम्। अतिशयित[1] बला इति भावः। [2-]नन्दादयः विष्णुपार्षदाः[-2] नागायुतप्राणा इति चमूविशेषणं वा। आसुरीः सेनाः[3] जघ्नुः[4] हतवन्तः।।१६,१७।।

परमपुरुषपार्षदैः हन्यमानान् स्वकीयान् दैत्यान् दृष्ट्वा बलिः शुक्रस्य शापं " अचिरात् भ्रश्यसे श्रियः " (भाग. 8-20-15) इत्युक्तविधमनुस्मरन् अतीवक्रुद्धान् दैत्यान्[5] वारयामास[6]।।१८।।

वारणप्रकारमेवाऽऽह - हे **विप्रचित्ते** इति षड्भिः। हे विप्रचित्त्यादयः! मद्वचः श्रूयतां, युष्माभिरिति शेषः। किं तत्? युद्धं न कुरुत किन्तु ततो निवर्तध्वं नोऽस्माकं अयं कालोऽर्थकृदनुकूलो न भवति।।१९।।

हे दैत्याः! यः कालरूपो भगवान् सर्वभूतानां प्रभुः यदा दुःखदस्तदा तदुपपत्तये आनुकूल्याय सुखाय निमित्ताय चेति यावत्। पुमान् कालवश्यः पौरुषैः स्वकीयबलपराक्रमादिभिः अतिवर्तितुं नेश्वरो न समर्थः।।२०।।

**विज०** स्वां स्वां स्वस्य प्राप्तां असुरसेनाम्।।१६-१९।।

पौरुषैः पुरुषकारैः।।२०।।

**यो नो भवाय प्रागासीदभवाय दिवौकसाम्।**
**स एष भगवानद्य वर्तते तद्विपर्ययम्[7][8]।।२१।।**

**बलेन सचिवैर्बुध्या दुर्गैर्मन्त्रौषधादिभिः।**
**सामादिभिरुपायैश्च[9] कालं नात्येति वै जनः।।२२।।**

**भवद्भिर्निर्जिता ह्येते बहुशोऽनुचरा हरेः।**
**दैवेनर्द्धैस्त[10] एवाद्य युधि जित्वा नदन्ति नः।।२३।।**

1. A,B,T 'शयव' 2- -2. W Omits 3. A,B,T चमूः 4. A,B,T समाजघ्नुः 5. A,B,T Omit दैत्यान् 6. A,B,T add अपि 7. A,B,G,J,M,Ma,T एव 8. M,Ma यः। 9. M,Ma दुर्गम' 10. दैवेनेद्धे; M,Ma दैवरुद्धा' ; W दैवोग्रद्धे'

**एतान्वयं विजेष्यामो यदि दैवं प्रसीदति।**
**तस्मात्कालं प्रतीक्षध्वं यो नोऽर्थत्वाय कल्पते।।२४।।**

## श्रीशुक उवाच

**पत्युर्निगदितं श्रुत्वा दैत्यदानवयूथपाः।**
**रसां निर्विविशू[1] राजन्विष्णुपारिषदार्दिताः[2]।।२५।।**

**श्रीध० भवद्भिरिति।** हरेरनुचरा देवाः दैवेन इद्धैः[3] समृद्धैर्भवद्भिः।।२१-२३।।

**एतानिति।** अर्थत्वायाऽऽनुकूल्याय।।२४,२५।।

**वीर०** यः कालरूपो भगवान् पूर्वमस्माकं भवाय सुखायासीत्। स एवाधुना तद्विपर्ययमस्माकं दुःखदो भूत्वा दिवौकसां देवानां भवाय वर्तते।।२१।।

अतो जनो बलादिभिः उपायैः कालात्मकमीश्वरं नात्येति नातिक्रामति। सचिवा मन्त्रिणस्तत्कर्मभिरिति भावः।।२२।।

कालप्रभावं पश्यतेत्याह - **भवद्भिरिति।** दैवेनोन्नद्धैः भवद्भिरेते हरे र्भगवत इन्द्रस्य वाऽनुचराः देवाः प्रायशो निर्जिताः त एवाधुना नोऽस्मान् युद्धे जित्वा नदन्ति सिंहनादान् कुर्वन्ति नन्दन्ति वा, धातूनामनेकार्थत्वात्।।२३।।

यदि दैवमस्माकं अनुकूलं भवति तर्हि तान् वयं विजेष्यामः, तस्मात् कालं प्रतीक्षध्वं, कम्? यः कालो नोऽस्माकमर्थत्वायानुकूल्याय भवति तं कालं प्रतीक्षध्वम्।।२४।।

एवं पत्युर्बलेर्निगदितं श्रुत्वा विष्णुपारिषदैः[4] पीडिताः दैत्याः हे राजन्! रसां रसातलं निर्विविशुः।।२५।।

**विज०** रसां रसातलम् ।।२१-२५।।

**अथ तार्क्ष्यसुतो ज्ञात्वा विराट् प्रभुचिकीर्षितम्[5]।**
**बबन्ध वारुणैः पाशैर्बलिं सौत्येऽहनि क्रतौ[7]।।२६।।**

**हाहाकरो महानासीद्रोदस्योः सर्वतोदिशम्।**
**गृह्यमाणेऽसुरपतौ[9] विष्णुना प्रभविष्णुना।।२७।।**

1. M,Ma निर्वि° 2. A,B,G,J,M,Ma,T पार्षदताडिताः 3. A,B,J ऋद्धैः 4. A,B,T पार्षदैः 5. M,Ma विभु 6. H,V सु° 7. B,M,Ma क्रतोः 8. H,V निगृह्य° 9. W दैत्यपतौ

**तं बद्धं वारुणैः पाशैर्भगवानाह वामनः।**
**नष्टश्रियं स्थिरं[1] प्राज्ञमुदारयशसं नृप।।२८।।**

**पदानि त्रीणि दत्तानि भूमेर्मह्यं त्वयाऽसुर।**
**द्वाभ्यां क्रान्ता मही सर्वा तृतीयमुपकल्पय।।२९।।**

**यावत्तपत्यसौ गोभिर्यावदिन्दुः सहोडुभिः।**
**यावदग्निः[2] सपर्जन्यः तावती भूरियं तव।।३०।।**

**श्रीध०** **अथेति**। विषु पक्षिषु राजत इति विराट्। प्रभोश्चिकीर्षितं ज्ञात्वा। अयमर्थः - अस्य सर्वस्वापहारेण ममेत्यभिमानं सन्त्याज्य[3] इदानीं देहस्वीकारेणाहङ्कारमपि त्याजयित्वा परमानुग्रहं कर्तुमिच्छति न चानेन तुल्योऽन्यः कोऽपि सत्यसन्धो धीरो वाऽस्तीति तद्यशःप्रख्यापनार्थं किञ्चित्पातयितुमिच्छतीति[4] प्रभोरभिप्रायं ज्ञात्वा तं बबन्धेति। सौत्येऽहनि सोमाभिषवदिने।।२६।।

**हाहाकार** इति। रोदस्योः द्यावापृथिव्योः ।।२७-२९।।

**यावदिति**। असौ सूर्यः।।३०।।

**वीर०** अथ विभोः वामनस्य चिकीर्षितं ज्ञात्वा विराट्विशेषेण राजत इति तथा, तार्क्ष्यसुतो गरुडः सौत्येऽहनि सोमाभिषवदिने वारुणैः पाशैः बलिं बबन्ध। विभोश्चिकीर्षितं ज्ञात्वा इत्यस्य अयमर्थः। अस्य सर्वस्वापहारेण ममेत्यभिमानं सन्त्याज्य इदानीं देहस्वीकारेण अहङ्कारमपि त्याजयित्वा परमानुग्रहं कर्तुमिच्छति न चानेन तुल्योऽन्यःकोऽपि सत्यसन्धो वीरो वाऽऽस्तीति तद्यशःप्रख्यापनाय किञ्चिद्यातयितुमपीच्छतीति प्रभोरभिप्रायं ज्ञात्वा तं बबन्धेति।।२६।।

प्रभविष्णुना सर्वशक्तिना विष्णुना दैत्यानां पत्यौ बलौ[5] गृह्यमाणे बध्यमाने सति रोदस्योः द्यावापृथिव्योः सर्वदिक्षु महान् हाहाकार आसीत्।।२७।।

अथ भगवान् वामनस्तं वारुणैः पाशैर्बद्धं [6]बलिं [7]उवाच। कथम्भूतम्? नष्टा श्रीः यस्य तं स्थिरचित्तं प्राज्ञं विवेकिनं उदारं विपुलं यशो यस्य तम्।।२८।।

उक्तिमेवाह - **पदानीत्यादिना**[8] यावदध्यायसमाप्ति। हे असुर! त्वया भूमे त्रीणि पदानि मह्यं दत्तानि

---

1. A,B,G,J,M,Ma,T "रप्रज्ञ" 2. A,B,G,J,M,Ma,T "इर्वाति 3. H,V "जितं 4. H,V "द्या" 5. A,B,T add नि 6. A,B,T Omit बलिं 7. A,B,T इत्युवाच। 8. A,B,T "ति या"

दास्यामीति प्रतिश्रुतानि, तत्र द्वाभ्यां पदाभ्यां सर्वा धुलोकादिसहिता भूमिः क्रान्ता परिच्छिद्य प्रतिगृहीता[1]। अधुना तृतीयं पदं उपकल्पय देहि।।२९।।

यावदसौ सूर्यः किरणैस्तपति तथेन्दुर्यावदुडुभिः नक्षत्रैस्सह प्रकाशते तथा सपर्जन्यो[2] अग्निः यावदास्ते[2] तावत्येव हि त्वत्सम्बन्धिनीयं भूमिः।।३०।।

**विज०** विराट् पक्षिराट् क्रतोस्सौत्येऽहनि क्रतोः सोमपानदिवसे।।२६-२९।।

पदत्रयमितं भूरमिता अतः कथम्? तृतीयमुपकल्पय इत्युच्यते इति तत्राह - यावदिति।।३०।।

**पदैकेन मया क्रान्तो भूर्लोकः[3] खं दिशस्तनोः[3]।**
**स्वर्लोकस्तु द्वितीयेन पश्यतस्ते स्वमात्मना[4]।।३१।।**

**प्रतिश्रुतमदातुस्ते निरये वास इष्यते।**
**विश त्वं निरयं तस्माद्गुरुणा चानुमोदितः।।३२।।**

**वृथा मनोरथस्तस्य दूरः[5] स्वर्गः पतत्यधः।**
**योऽर्थिनेऽर्थं[6] प्रतिश्रुत्य नाऽलं तदुपपादने[6]।।३३।।**

**विप्रलब्धो ददानीति[7] त्वयाऽहं चाढ्यमानिना।**
**तदलीकफलं[8] भुङ्क्ष्व निरयं[9] कतिचित्समाः।।३४।।**
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
अष्टमस्कन्धे बलिनिग्रहो नाम एकविंशोऽध्यायः।।२१।।

**श्रीध० पदेति।** मया आत्मनेत्यन्वयः। व्यापिनेत्यर्थः। खं च दिशश्च तनोः तन्वा। ते खं त्वदीयं सर्वस्वम्।।३१।।

**प्रतिश्रुतमिति।** गुरुणा शुक्रेणानुमोदितस्सन्।।३२।।

एवमुक्तेऽपि निरयपरिहारार्थं स्वर्गभ्रंशपरिहारार्थं[10] च मनोरथं कुर्वन्तं प्रत्याह - वृथेति। यः प्रतिश्रुतस्याप्रदानेन[11] याचकं विप्रलम्भते तस्य मनोरथो वृथैव, स्वर्गाच्च तस्य दूरत[12] एव, स चाधः पतत्येव।।३३।।

---

1. A,B,T परि 2- -2. A,B,T पर्जन्यो मेघो यावद्वर्षति 3- -3. M,Ma के विवरः सह 4. M,Ma मयात्म 5. A,B,G,J,T दूरे; M,Ma दूर 6- -6. A,B,G,J,T प्रतिश्रुतस्यादानेन योऽर्थिनं विप्रलम्भते।; M,Ma विप्रायप्रतियोश्रुत्य न तदर्पयते कश्चित्। M,Ma प्रकाशयोः अत्र श्लोके पूर्वार्धं उत्तरार्धयोः व्यत्ययो वर्तते। 7. A,B,G,J,M,Ma,T दामी" 8. A,B,G,J,M,MaT तव्य° 9. H,V 'ये 10. H,V स्वर्गात् 11. A,B,J 'ध्याऽदा" 12. A,B,J दूर

**विप्रलब्ध** इति। त्वया चाहं विप्रलब्धः तस्मात् व्यलीकस्यानृतस्य फलं[1] निरये[2] भुङ्क्ष्वेत्यर्थः।।३४।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
अष्टमस्कन्धे एकविंशोऽध्यायः।।२१।।

**वीर०** सोऽयं कृत्स्नो भूर्लोकः[3] मया आत्मनैकेनैव पदेन क्रान्तः खं दिशश्च तनोः तन्वा क्रान्ताः तथा ते तव पश्यतस्सत एव स्वं[4] स्वकीयः स्वर्लोकस्तु द्वितीयेन पदेन क्रान्तः।।३१।।

प्रतिश्रुतं तृतीयं पदमदातुस्तव नरके एव निवास इष्यते तस्मात् प्रतिश्रुताऽदानात् गुरुणा शक्रेणाऽनुमोदितश्च च शब्दो हेत्वर्थः। गुरुणा शप्तत्वात् चेत्यर्थः। निरयं[5] नरकं[6] प्रविश।।३२।।

एवमुक्तेऽपि निरयपरिहारार्थं स्वर्गात् भ्रंशपरिहारार्थं च मनोरथं कुर्वन्तं प्रत्याऽऽह - **वृथेति**। यः पुमान् प्रतिश्रुत्य तदर्पितं प्रतिश्रुतं नार्पयते न ददाति तस्य मनोरथः प्रायशो व्यर्थ एव स्वर्गश्च तस्य दूर एव स चाधःपतत्येव।।३३।।

त्वया च आढ्यमात्मानं मन्यत इति तादृशः तेनाधुना ददामीत्येवं प्रति श्रुतवताऽहं विप्रलब्धो वञ्चितः तस्माद्व्यलीकफलमनृतफलरूपं[7] नरकं कतिचित्समाः संवत्सरान् भुङ्क्ष्व।।३४।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
अष्टमस्कन्धे एकविंशोऽध्यायः।।२१।।

**विज०** अस्तु भूमेरियत्ता, तथापि लक्षणशास्त्रलक्षितपदस्याणुत्वेन तन्मितत्वेन किमनुपपन्नमित्या शङ्क्येदं पदमलौकिकमित्याशयेनापूर्तिमाह - **पदेति**।।३१।।

आत्मना प्रतिश्रुतं स्ववित्तमदातुस्तव यतो नष्टप्रतिज्ञस्तस्मात्।।३२।।

किञ्च, यः प्रतिश्रुतं न पूरयति तस्य स्वर्गमाप्नुवानीति मनोरथो मृषा भवति। प्रतिश्रुतैकदेशदानेनापि मनोरथः स्यादिति चेत्सत्यं, तत्फलं स्वर्गं प्राप्नोति पुनस्ततोऽदानदोषेण निकृष्टां तिरश्चां योनिमाप्नोतीत्याह - दूरमिति। अधःपतित्वा दूरं यातीत्यर्थः।।३३।।

---

1. H,V अलीकफलं 2. A,B,J निरयं 3. A,B,T add सः 4 A,B,T स्वः 5. A,B,T Omit निरयं 6. W Omits नरकं 7.A तत्ता वद्या°

प्रतिश्रुतैकदेशदानात्फलप्राप्तिः स्यादित्यभ्युपगम्य चेदमुक्तं तव तदपि न स्यात्किन्तु निरयनिवास एव विप्रलम्भदोषादित्याह - विप्रलब्ध इति। तत्तस्माद्वलीकफलमनृतफलम्।।३४।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
अष्टमस्कन्धे एकविंशोऽध्यायः।।२१।।

oooOooo

# द्वाविंशोऽध्यायः

## श्रीशुक उवाच

एवं विप्रकृतो राजन्! बलिर्भगवताऽसुरः।
भिद्यमानोऽप्यभिन्नात्मा प्रत्याहाऽविक्लवं वचः।।१।।

## बलिरुवाच

यद्युत्तमश्लोक! भवान्ममेरितं वचो ह्यलीकं[1] सुरवर्य![2] मन्यते[3]।
करोम्यृतं तन्न भवेत्प्रलम्भनं पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम्।।२।।

बिभेमि नाहं निरयात्पदच्युतो न पाशबन्धाद्व्यसनाद्दुरत्ययात्।
नैवार्थकृच्छ्राद्भवतो विनिग्रहात् असाधुवादाद्भृशमुद्विजे यथा।।३।।

पुंसां श्लाघ्यमहं[4] मन्ये दण्डमर्हत्तमार्पितम्।
यं न माता पिता भ्राता सृहृदश्चाऽऽदिशन्ति हि[5]।।४।।

त्वं नूनमसुराणां नः पारोक्ष्यः[6] परमो गुरुः।
यो नोऽनेकमदान्धानां विभ्रंशं चक्षुरादिशत्[8]।।५।।

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्वाविंशे तु प्रसन्नस्सन् प्रस्थाप्य सुतलं बलिम्। दत्त्वा वरान्हरि नूनं[9] गत्वा[10] तद्द्वारपोऽभवत्।।

समर्पिततनूवित्तनिर्मलाचलभक्तिभिः[11]। चलितो[12] बलिनाचित्रं स्वमेवार्पयदच्युतः।।

**एवमिति**। विप्रकृतोऽपकृतः। भिद्यमानः सत्याच्चाल्यमानोऽपि[13] निश्चलचित्तो[14] बलिः।।१।।

**यदीति**। हे उत्तमश्लोकेति कटाक्षप्रार्थनासूचकः[15-15]। मम वच ईरितं प्रतिश्रुतं न तावदलीकम्[16]। त्वया कपटेन वामनतया भिक्षित्वा रूपान्तरस्याविष्कृतत्वात्। एवमपि यदि भवान् अलीकम्[17] अनृतं[18] मन्यते तथापि ऋतमेवाहं करोमि। मदुक्तं विप्रलम्भनं न भवतु। मे शीर्ष्णि निजं तृतीयं पदं कुरु, न च द्वाभ्यां विश्वं क्रान्तवतो, मे तव शिरः पदपर्याप्तं[19] न भवतीति मन्येथाः। वित्तेन चेत् पदद्वयं जातं तर्हीदमधिकमेव स्यात्। वित्तादपि वित्तवतोऽधिकत्वादिति भावः।। २।।

---

1. A,B,G,J,M,Ma,T ब्य" 2. M,Ma सुरर्षभ! 3. M,Ma से 4. A,B,G,J,M,Ma,T लमं 5. M,Ma "ह्य दि" 6. M,Ma "ह्यं 7. M,Ma तद्भ्रंशं 8. M,Ma "शः 9. A,B,J न्यून 10. A,B,J मत्वा 11. A,B,J "तः 12. A,B,J छलि" 13. B,J सत्वा 14. A,B,J मानः।।१।। 15- -15. A,B,J कटाक्षः 16. A,B,J "ह्य" 17. A,B,J "ब्य" 18. A,B,J Omit अनृतं 19. A,B,J पाद

ननु च " आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि। आत्मानं सततं रक्ष्ये द्दारैरपि धनैरपि (मनुस्मृ.7-213) इत्यादिवचनात् आत्मभयपरिहाराय सर्वस्वं त्यज्यते, त्वं तु कुतो भीतस्सन् आत्मानं न[1] पासि अत आह - **बिभेमीति**। [2]पदच्युतः स्थानभ्रष्टः[2] असाधुवादादपकीर्तेर्यथाऽहं भृशमुद्विजे निरयादिभ्यो, न तथा बिभेमि। [3]व्यसनात् दुःखात् अर्थकृच्छ्रात् दारिद्र्यात् निग्रहात् दण्डादपि[3]।।३।।

ननु मया [4]कृतात् निग्रहात्[4] तव अपकीर्तिर्जातैव, नैवेत्याह - **पुंसामिति**। अर्हत्तमैः अर्पितम्, [5]यं दण्डं मात्रादयोऽपि न ह्यादिशन्ति नैवार्पयन्ति। हितैषिणा त्वया निगृहीतोऽहं श्लाघ्य एवास्मीति भावः।।४।।

नन्वहं देवानां हितैषी न असुराणाम्, तत्राह - त्वं नूनमिति। पारोक्ष्यः शत्रुच्छलेन वर्तमानः ।।५।।

## श्रीवीरराघवविदुषालिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं भगवतोपालब्धो बलिः तं उवाचेत्याह मुनिः - **एव**मिति। हे राजन्! इत्थं भगवता विप्रकृतः विप्रलब्धः भिद्यमानः सत्याच्चाल्यमानोऽपि बलिरभिन्नमचलितं मनो यस्य सः, अविक्लवमदीनं गम्भीरं [6]वचो भगवन्तं प्रत्याह[6]।।१।।

वच एवाह - **यद्युत्तमश्लोकेत्यादिभिः** दशभिः। हे उत्तमश्लोक? मे मयोक्तं वचो यदि यद्यपि भवान् व्यलीकमनृतं मन्यते तथापि हे सुरर्षभ! तत्सत्यमेवाहं करोमि तदुक्तं प्रलम्भनं न भवतु मम शीर्ष्णि तृतीयं निजं पदं निधेहि।।२।।

सर्वतो रक्षणीयमात्मानं मह्यं समर्पयन् न बिभेषि किमित्यत आह - **बिभेमीति**। निरयादिभ्यो नाहं तथा बिभेमि, कथम्? यथा असाधुवादादनृतवदनादपकीर्तेर्वा भृशमुद्विजे तत्र पदच्युतिः स्थानभ्रंशः दुरत्ययादनतिक्रमणीयात् व्यसनात् दुःखात् अर्थकृच्छ्रात् अर्थव्ययात्।।३।।

ननु, मया निगृहीतस्य तवाकीर्तिरेव नेत्याह - **पुंसामिति**। योग्यतमेन अर्पितं कारितं दण्डमहं पुंसां श्लाघ्यतमं यशस्करमेव मन्ये हि यस्माद्यं दण्डं मात्रादयोऽपि मयि नैवार्पयन्ति।।४।।

किञ्च त्वमस्माकं अनुग्रहीतैवेत्याह - **त्वमिति**। त्वमस्माकं पारोक्ष्यो गरुरसमक्षं हितकारी कथमेतत् ज्ञातम्? इत्यत आह - यो भवाननेकैः शौर्यवीर्यादिप्रयुक्तैर्मदैरन्धानामस्माकं विभ्रंशं तन्मदापनोदकं चक्षुरिवाऽदिशत्।।५।।

---

1. A,B,J अर्पयसि 2- -2. B,H,J,V Omit 3- -3. B,H,J,V Omit 4- -4.A,B,J निगृहीतत्वात् 5. H,V Omit यं 6- -6. W वचआह

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

बलिः स्वात्मनोऽलीकं प्रकारान्तरेण परिहर्तुमाह - एवमिति।।१।।

प्रलम्भनं वञ्चकफलम्। विप्रलम्भनं कथं न भवेदिति तत्राह - पदमिति।।२।।

स्वात्मनो ह्रीलक्षणसामग्रीमाह - बिभेमीति।।३।।

अभिन्नात्मत्वं दर्शयति - पुंसामिति।।४।।

पारोक्ष्यं साक्षात्कारमन्तरेण तस्य मदस्य भ्रंशो येन तत्तथा।।५।।

**यस्मिन् वैरानुबन्धेन रूढेन विबुधेतराः।**
**बहवो लेभिरे सिद्धिं यामु[1] हैकान्तयोगिनः।।६।।**

**तेनाऽहं निगृहीतोऽस्मि भवता भूरिकर्मणा।**
**बद्धश्च वारुणैः पाशैः नानुब्रीडे[2] न च[3] व्यथे।।७।। ***

**पितामहो मे भवदीयसम्मतः प्राह्लाद आविष्कृतसाधुवादः।**
**भवद्विपक्षेण विचित्रवैशसं सम्प्रापितस्त्वत्परमः स्वपित्रा।।८।।**

**किमात्मनाऽऽनेन जहाति योऽन्ततः[4] किं रिक्थहारैः स्वजनाख्यदस्युभिः।**
**किं जायया संसृतिहेतुभूतया मर्त्यस्य गेहैः किमिहायुषो व्ययः।।९।।**

**इत्थं स निश्चित्य पितामहो महानगाधबोधो भवतः पदाम्बुजम्[5]।**
**ध्रुवं प्रपेदे ह्यकुतोभयं जनात् भीतः स्वपक्षक्षपणस्य सत्तमः।।१०।।**

**श्रीध०** शत्रुत्वं पुनर्भक्तानिव अस्माननुग्रहीतुमेवेत्याह - **यस्मिन्निति**। उ अहो! ह प्रसिद्धौ[6]।।६।।

अतो नात्र मम लज्जा नापि दुःखमित्याह - **तेनेति**। तेन गुरुणा भवता।।७।।

किञ्च योऽयं दण्डरूपो ममानुग्रहस्त्वया कृतः, स तु त्वद्भक्तपौत्रत्वेन नत्वहं अनुग्रहस्य पात्र मित्याशयेनाह - **पितामह** इति। भवदीयानां सम्मतः। यतः आविष्कृतः साधुवादो यस्य। त्वमेव परमः आश्रयो यस्य सः। अतो भवतो विपक्षेण विद्विषा हिरण्यकशिपुना विचित्रं वैशसं हिंसां सम्प्रापितोऽपि देहादीनामसारतां

---

1.M,Ma यामिहे 2. A,B,G,J,T नानिब्रीडे , M,Ma नब्रीडे 3.M,Ma वि' *The following additional verses are found in H,V editions. (सुशोभनमिदं मन्ये मम स्लाघ्यतमं प्रभो! यो मा बबन्ध चोद्धर्तुं भूत्वा मे ह्यक्षिगोचरः 4. M,Ma यो मुहं 5.A,B,G,J,M,Ma,T पादपद्मम्। 6.A,B,J प्रसिद्धम्

निश्चित्याकुतोभयं ध्रुवञ्च भवतः पादपद्ममेव प्रपेदे। अथ तस्मादहमपि दैवेन तस्यैव भाग्येन तवान्तिकं नीत इति चतुर्णामन्वयः।।८।।

**किमिति।** अन्ततः आयुषो अन्ते। रिक्थहारैः पुत्रैः। इह गेहेषु केवलमायुषो व्यय एव, न तु सुखं किञ्चित्।।९।।

**इत्थमिति।** स प्रसिद्धो महान् स्वपक्षं दैत्यकुलं क्षपयतीति तथा तस्यापि।।१०।।

**वीर०** किञ्च यस्मिन् त्वयि वैरानुबन्धेन बहवो दैत्याः सिद्धिं लेभिरे। कां सिद्धिम्? यां हि सिद्धिमेकान्तयोगिनोऽनन्यप्रयोजनत्वद्भक्तियोगनिष्ठा लभन्ते।।६।।

तेन एवम्भूतेन भूरिकर्मणा अचिन्त्यविविधविचित्रचेष्टितेन भवता निगृहीतो वारुणैः पाशैर्बद्धश्चाप्यहं न व्रीडे न[1] लज्जे न दुःख्यामि च त्वत्कृतनिग्रहबन्धनयोः नितरां मम यशस्करत्वादिति भावः।।७।।

किञ्चास्मत्पितामहः प्रह्लादः सद्गुणाश्रयः शरीरतदनुबन्ध्यादिषु हेयतां निश्चित्य परमपुरुषार्थरूपं त्वत्पादारविन्दं शरणं गतः तथा अहमपि दैवात्त्वत्समीपं नीतः त्वां प्रपद्य इत्याह - पितामह इत्यादिभिश्चतुर्भिः। मे पितामहः प्रह्लादः भवदीयानां भागवतानां सम्मतः, अत एवाविष्कृतः साधुवादः कीर्तिर्यस्य सः स्वपित्रा भवतो विपक्षेण शत्रुणा हिरण्यकशिपुना विचित्र[2]वैशसं[2] नानाविधं दुःखं सम्प्रापितोऽपि त्वमेव परमः सर्वविधबन्धुः निरतिशयपुरुषार्थश्च यस्य तादृशः इत्यर्थः[3]।।८।।

मरणशीलस्य पुंसः आत्मादिभिः देहादिभिः किम्? न किमपि न कोपि पुरुषार्थः। किन्तु केवलमायुषो व्यय एवेति निश्चितवानिति शेषः। अन्यथा पुनः पितामह इत्यस्यानन्वयापत्तेः। यः अन्ततो जहाति देहिनं तेनाऽनेनाऽत्मना देहेन किमित्यन्वयः। रिक्थहारैः दायादैः स्वजन इत्याख्या व्यवहारो येषां तैः दस्युभिः दस्युतुल्यैः स्वजनैरित्यर्थः। संसृतेः हेतुभूतया भार्यया किम्[4]।।९।।

सोऽस्मत्पितामहो महान् सद्गुणाश्रयोऽगाधबोधः अपरिमितज्ञानसम्पन्नः सत्तमो भागवतश्रेष्ठः प्रह्लादः संसारिजनसङ्गाद्भीतस्सन् स्वपक्षं दैत्यकुलं क्षपयतीति तथा तस्यापि भवतः नास्ति कुतोऽपि भयं यस्मात्तत्पादपद्मं ध्रुवं नित्यपुरुषार्थरूपं प्रपेदे शरणं जगाम।।१०।।

**विज०** ततो वैरानुबन्धेन वैरयुतस्नेहेन।।६-७।।

ननु कुतो व्यथाद्यभावः इत्याशङ्क्य श्रुतप्रह्लादमाहात्म्यानुस्मरणादित्याशयेनाह - पितामह इति।

1.A,B,T नातिलज्जामि 2--2.W Omits 3.W Omits इत्यर्थः 4.W Omits किम्?

साधुरिति वादः साधुवादः स्तुतिलक्षणः विचित्रवैशसं नानाहिंसनं त्वमेव परमो यस्य स तथा।।८।।

श्रीप्रह्लादः कया चर्यया अतिप्रियदेहादिकमुत्सृज्य श्रीहरिचरणैकशरणमापेति तत्राह - **किमिति**। यो येनात्मना देहेन मुदं जहाति तद्वियोगलक्षणमरणेनेति शेषः। तस्य पुंसः तेन देहेन किम्? न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः। रिक्थहारैः पितृधनस्वीकारयोग्यैरेभिरायुषो व्ययो नाश इति यत्तस्मात् दुर्जन सङ्गाद्भीतः स्वपक्षोऽसुरजनः तस्य नाशकस्य।।९-१०।।

**अथाहमप्यात्मरिपोस्तवान्तिकं दैवेन नीतः प्रसभं त्याजितश्रीः।।**
**इदं कृतान्तान्तिकवर्ति जीवितं यथाऽध्रुवं स्तब्धमतिर्न बुध्यते।।११।।**

**श्रीशुक उवाच**

**तस्येत्थं भाषमाणस्य प्रह्लादो भगवत्प्रियः।**
**आजगाम कुरुश्रेष्ठ! राकापतिरिवोत्थितः।।१२।।**

**तमिन्द्रसेनः स्वपितामहं श्रिया विराजमानं नलिनायतेक्षणम्।**
**प्रांशुं पिशङ्गाम्बरमञ्जनत्विषं प्रलम्बबाहुं सुभगं समैक्षत।।१३।।**

**तस्मै बलिर्वारुणपाशयन्त्रितः समर्हणं नोपजहार पूर्ववत्।**
**ननाम मूर्ध्नाऽश्रुविलोललोचनः सव्रीडनीचीनमुखो बभूव ह।।१४।।**

**स तत्र हाऽऽसीनमुदीक्ष्य सत्पतिं हरिं सुनन्दाद्यनुगैरुपासितम्।**
**उपेत्य भूमौ शिरसा महमना ननाम मूर्ध्ना पुलकाश्रुविक्लवः।।१५।।**

**श्रीध० अथेति**। अथ तस्मात् अहमपि दैवेन तस्यैव भाग्येन तव अन्तिकं नीतः। प्रसभं बलात्त्याजिता श्रीर्यस्य। यया श्रिया स्तब्धमतिः सन् पुमानिदं जीवितमध्रुवं न बुध्यते। कथम्भूतम्? कृतान्तस्यान्तिकवर्ति मृत्योः सन्निहितम्।।११।।

**तस्येति**। राकापतिः पूर्णेन्दुः।।१२।।

**तमिति**। अञ्जनत्विषं श्यामम्।।१३।।

**तस्मा** इति। स्वकृताहङ्कारादिरूपापराधस्मरणेन सव्रीडं नीचीनं अधोमुखं यस्य सः।।१४।।

**स** इति शिरसा नमन्नेवोपेत्य मूर्ध्ना ननाम। बलेस्तत्कृतमनुग्रहं दृष्ट्वा पुलकैरश्रुभिश्च, विक्लवो विह्वलः।।१५।।

---

1.W त" 2. A,B,G,J,M,Ma,T सुनन्दन" 3. M,Ma तरसा 4. M,Ma विह्वलः 5- -5. A,B,J Omit

**बीर०** तथा अहमपि दैवात्प्रसभं बलात्त्वजिता श्रीर्यस्य तादृशः आत्मनो मम रिपोस्तवान्तिकं समीपं नीतस्त्वत्पादपद्मं प्रपद्य इति शेषः। श्रियं विशिनष्टि, यया श्रिया स्तब्धमतिरपहृतज्ञानः पुमान् कृतान्तस्य मृत्योः सन्निधानवर्त्यपीदं जीवितमध्रुवमस्थिरं न बुध्यते न मन्यते।।११।।

तस्य बलेरित्थं भाषमाणस्य सतः हे कुरुश्रेष्ठ! उदितो राकापतिश्चन्द्र इव प्रकाशमानो भगवत्प्रियः प्रह्लादस्तत्राजगाम।।१२।।

तमागतं स्वपितामहं प्रह्लादम् इन्द्रसेनो बलिः सम्यगैक्षताऽपश्यत्। कथम्भूतम्? श्रिया कान्त्या विराजमानं कमलवदायते ईक्षणे यस्य प्रांशुं निर्मलमञ्जनत्विषं श्यामलं प्रलम्बावाजानुलम्बौ बाहू यस्य तं सुभगं सुन्दरम्।।१३।।

तस्मै प्रह्लादाय पूर्ववदर्घ्यादिपूर्वकमर्हणं न चक्रे, तत्र हेतुः - वारुणैः पाशैर्यन्त्रितः बद्धः किन्तु केवलं मूर्ध्ना ननाम नमस्कृतवान्। ततोऽश्रुभिर्विलोले लोचने यस्य सः सव्रीडं नीचीनमधः कृतं मुखं यस्य तादृशो बभूव।।१४।।

ततः स महामनाः प्रह्लादः सतां भागवतानां पतिं सुनन्दनन्दनादिभिः[1] पार्षदैस्सेव्यमानं तत्रोपविष्टं हरिं वामनं निरीक्ष्य पुलकैरश्रुभिश्च विक्लबो विह्वलस्सन् उपेत्य शिरसा भूमौ नमस्कृतवान्। उक्तवांश्चेति[2] शेषः।।१५।।

**विज०** ममाप्ययमेव निश्चय इति भावेनाह - अथेति असुरजातित्वात् मम शत्रुभूतस्य त्वया त्याजितराज्यश्रीः बुभूषुणेयं श्रीर्बलादपि त्याज्या अन्यथा अनर्थयोग एवेति भावेनाऽह - **इदमिति**। यथा श्रिया स्तब्धमतिः कृतान्तान्तिकवर्तीदं जीवितं न जानातीत्यन्वयः।।११।।

शुकः प्रह्लादस्य भक्त्यतिशयं दर्शयितुं बलेः स्तवनेव भगवद्भक्तिविशेषमाज्ञायागमनमिति तदागमनमाह-शुक इति।।१२।।

प्रांशुमुन्नतम्।।१३।।

सव्रीडत्वेन नीचीनमर्वाचीनं मुखं यस्य स तथा।।१४-१५।।

**प्रह्लाद उवाच**

**त्वयैव दत्तं पदमैन्द्रमूर्जितं हृतं तदेवाऽद्य[4] तथैव शोभनम्।**
**मन्ये महानस्य कृतो ह्यनुग्रहो विभ्रंशितो यच्छ्रिय[5] आत्ममोहनात्।।१६।।**

---

1. W सुनन्दादिभिः 2. A,B,T उवाचचेति 3. H,V मध्युतं , W मथितो 4. M,Ma त्वयैवाऽऽद्य 5. M,Ma 'तोप्य'

**यथा हि विद्वानपि मुह्यते[1] यतः तत्को[2] विचष्टे गतिमात्मनो यथा।**
**तस्मै नमस्ते जगदीश्वराय वै नारायणायाऽखिल[3] कर्मसाक्षिणे।।१७।।**

**श्रीशुक उवाच**

**तस्याऽनुशृण्वतो राजन् प्रह्लादस्य कृताञ्जलेः।**
**हिरण्यगर्भो भगवान् उवाच मधुसूदनम्।।१८।।**

**बद्धं वीक्ष्य पतिं साध्वी तत्पत्नी भयविह्वला।**
**प्राञ्जलिः प्रणतोपेन्द्रं बभाषेऽश्रु[4]मुखी नृप।।१९।।**

**विन्ध्यावलिरुवाच**

**क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः।**
**कर्तुः प्रभोस्तव किमस्यत आवहन्ति त्यक्तह्रियस्त्वदवरोपितकर्तृवादाः।।२०।।**

**श्रीध० त्वयेति।** न ह्यैन्द्रं पदमेतदीयं त्वयाऽपहृतं किं तु स्वीयमेव, पुनः स्वीकृतं, तच्च शोभनमेव कृतम्। तत्र हेतुः - मन्य इति। यद्यस्माच्छ्रीरेव यदात्मनो[5] मोहनं तस्माद्विभ्रंशितः।।१६।।

विमोहनत्वमेवाह - **ययेति।** यया श्रिया विद्वानपि यतः संयतोऽपि मुह्यति[6] तत्तस्यां[7] सत्यां कोऽन्यः पुमानात्मनो गतिं तत्त्वं यथावद्विचष्टे पश्यति तस्मै महाकारुणिकाय।।१७।।

तस्य प्रह्लादस्यानुशृण्वत उवाचेति किञ्चिद्वक्तुं प्रवृत्त इत्यर्थः।।१८।।

तदैव विन्ध्यावलिरपि वक्तुं प्रवृत्ता, ताञ्च सम्मानयन् हिरण्यगर्भः क्षणं तूष्णीं स्थितः। अतः तस्या एव वाक्यं प्रथममवतारयति **बद्धं वीक्ष्येति।।१९।।**

**क्रीडेति।** त्रिजगतः कर्तुः प्रभोः पालकस्य अस्यतः संहर्तुश्च ईश्वरस्य तवान्ये किमावहन्ति किं समर्पयन्ति। त्वयाऽवरोपितः कर्तृवादः कर्तारः स्वतन्त्रा वयमिति वादमात्रमपि येषां ते। [8]अयं भावः - लोकत्रयं [9]समर्पितं तृतीयपादाय देहं समर्प्य प्रतिश्रुतमृतं करोमीति देहादिषु स्वाम्याविष्कारेण ब्रुवन्नयं कुबुद्धिर्निर्लज्जश्च यतस्त्वमेव सर्वस्यापि स्वामी, अतो मन्दबुद्धिमेनं केवलं कृपया विमुच्य पालयेति।।२०।।

**वीर०** तदेवाह - **त्वयैवेति** द्वाभ्याम्। ऐन्द्रं पदं त्वयैवाऽस्मै दत्तं कुतः? यतस्त्वं तत्प्राप्तिसाधनेन विश्वजिता यागेनार्चितः आराधितः यद्दत्तं तदिदानीमपहृतं तच्च शोभनमेव कृतं, शोभनत्वमेव व्यनक्ति - **मन्य**

---

1. M,Ma जनः 2. H,V तां को वि" ; M,Ma तत्कोपिः, W ततो वि" 3. A,B,G,J,M,Ma,T लोक 4. A,B,G,J,M,Ma,T "बाष्पमुखी 5. A,B,J "त्मनो" 6. H,V "ते 7. H,V Omit तत् 8. Adds तथापि त्यक्तलज्जाः तत्र स्वाम्यं कुर्युः। 9. A,B,J मयार्पितं

इति। यद्यस्मात् श्रीरेवात्ममोहनं तस्मादयं विभ्रंशितः इति यत् सोऽयमस्य महाननुग्रह एवं[1] त्वया कृत इति मन्ये अन्यथाऽयं श्रीमदात् स्वपरयाथात्म्यज्ञानरहितो विनश्येदिति भावः।।१६।।

किञ्च यया श्रिया विद्वानपि यतः संयतोऽपि मुह्येत् ततस्तस्यां सत्यां कः पुमान् आत्मनो गतिं स्वरूपं यथावद्विचष्टे पश्यति? कथमिति शेषः। कथं विचष्टे? न कथञ्चिदपि पश्यतीत्यर्थः। तस्मै महोपकर्त्रे जगतामीश्वराय सर्वज्ञाय नारायणाय तुभ्यं नमः। केवलं नमस्कर्तुं शक्नुमः न तु एवं कुरु एवं न कुर्विति विधातुं शक्नुम इति भावः।।१७।।

प्रह्लादस्याभिप्रेतमाविष्कर्तुं हिरण्यगर्भस्तमुवाचेत्याह - मुनिः **तस्येति।** बद्धाञ्जलेः[2] प्रह्लादस्य श्रृण्वतस्सतो भगवान्हिरण्यगर्भो मधुसूदनमुवाच किञ्चिद्वक्तुमुद्युक्त[3] इत्यर्थः। तथैव विन्ध्यावलिरपि किञ्चिद्विज्ञापयितुं प्रवृत्ता, ताञ्च सम्मानयन् हिरण्यगर्भः ब्रह्मा[4] क्षणं तूष्णीमवस्थितोऽतस्तस्या एव वचः प्रथममवतारयति बद्धमिति श्लोकः स्पष्टार्थः।।१८-१९।।

तदेवाह - **क्रीडार्थमिति।** ते त्वया स्वस्य क्रीडार्थमिदं कृत्स्नं जगत्कृतं सृष्टं तत्र तस्मिन् त्वत्क्रीडोपकरणभूते त्वत्सृष्टे जगति अपरे केचित्कुबुद्धयः स्वाम्यं[5] स्वत्वबुद्धिं कुर्युः अस्वे स्वत्वबुद्धिं कुर्वन्ति[6] अत एव त्यक्ता ह्रीः लज्जा यैस्ते अन्तरात्मना त्वया अवरोपिताः आरोपिताः कर्तृवादाः वयं स्वतन्त्रा इति वादा येषां ते वादमात्रेणापि स्वामित्व[7] रहिता इत्यर्थः। एवंविधास्ते कर्तुः स्रष्टुः, प्रभोः पालकस्य, अस्यतः संहर्तुश्च तव किमावहन्ति किं समर्पयन्ति? किञ्चित्स्वमस्तिचेत् समर्पयेयुः तदभावात् किं समर्पयन्तीति भावः। कां हानिं कुर्वन्ति? न तव कदाचिदपि हानिरिति[8] वाऽर्थः। अयम्भावः - लोकत्रयं मयार्पितं तृतीयपादाय देहं समर्प्य प्रतिश्रुतमृतं करोमीति देहादिषु स्वाम्याविष्कारेण ब्रुवन्नयं कुबुद्धिर्निर्लज्जश्च त्वमेव सर्वस्य स्वामी अतो मन्दबुद्धिमेनं विमुच्य पालयेति, अयमेव प्रह्लादस्याप्यभिप्रायः।।२०।।

**विज०** आत्मनो मोहहेतुभूतया श्रिया विभ्रंशितो विगलित इति यदयं महाननुग्रहोऽस्य कृत इति मन्ये। तत्तस्मात्कः पुमानात्मनो गतिं यथावदभिचष्टे न कोऽपि। यथाऽऽत्मनः स्वस्य गतिं सर्वत्र स्वातन्त्र्य लक्षणमभिचष्टे तथा कः परमात्मनो गतिं स्थितिं स्वातन्त्र्यलक्षणां पश्यति, श्रीमदान्धत्वात् न पश्यतीति वा।।१६-१९।।

स्वभर्तृगर्वोद्रेकं कटाक्षीकृत्य भगवन्तं समीडे क्रीडार्थमिति। ते त्वयेदं त्रिजगत् आत्मनः क्रीडार्थं

1. A,T एव 2. W कृताञ्जलेः 3. A,T °मुद्यत 4. W Omits ब्रह्मा 5. A,B,T add तु तत्र 6. A,B,T कुर्वन्तः 7. A,B,T add स्व 8. A,B,T °निरपीति

कृतमिति सङ्गिरन्ते केचित् " क्रीडार्थं सृष्टिरित्येके" इति श्रुतेः। हे ईश! तत्रापरे कुधियोऽसुरप्रकृतयः आत्मनः स्वाम्यं कुर्युः वयमस्य स्वामिन इति जल्पन्ति जल्पं कुर्वन्ति। तत्रापि तुशब्दो महाविशेषं प्रकाशयति तेन तव स्वाम्यस्य न कामपि हानिमापादयन्ति इत्याह - कर्तुरिति। त्वयाऽवरोपितो विचालितोऽहङ्कर्तेति विवादो येषां[1] ते तथा अत एव त्यक्तलज्जास्ते कुधियोऽस्य जगतः कर्तुः प्रभोरधिपतेस्तव किमावहन्ति, न किमपि हानिं कुर्वन्तीत्यर्थः। समर्थेऽधिपतौ प्रभुरिति च।।२०।।

**ब्रह्मोवाच**

**भूतभावन! भूतेश! देवदेव जगन्मय!।**
**मुञ्चैनं हतसर्वस्वं नायमर्हति निग्रहम्।।२१।।**

**कृत्स्नाऽनेन[2] तु[2] दत्ता भूर्लोकाः कर्मार्जिताश्च ये।**
**निवेदितञ्च सर्वस्वमात्माऽविक्लवया धिया।।२२।।**

**यत्पादयोरचलधीः[3] सलिलं प्रदाय दूर्वाङ्कुरैरपि विधाय सतीं सपर्याम्।**
**अप्युत्तमां[4] गतिमसौ भजते त्रिलोकीं दाश्वानविक्लवमनाः कथमार्तिमृच्छेत्[5]।।२३।।**

**श्रीवामन उवाच[6]**

**ब्रह्मन्! यमनुगृह्णामि तद्वित्तं[7] विधुनोम्यहम्।**
**यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मां चाऽवमन्यते।।२४।।**

**यदा कदाचिज्जीवात्मा संसरन् निजकर्मभिः।**
**नानायोनिष्वनीशोऽयं पौरुषीं गतिमाव्रजेत्।।२५।।**

**श्रीध०** तदेवं प्रह्लादस्य विन्ध्यावलेश्च परमार्थोक्त्या प्रसन्नो हरिः। ब्रह्मा तु, लोकदृष्ट्यैव विज्ञापयति **भूतभावनेति** त्रिभिः[9]।।२१।।

निग्रहानर्हत्वे हेतुः **कृत्स्नेति**। सर्वस्वमेवाह - आत्मेति अविह्वलया[8]।।२२।।

तदेव कैमुत्तिकन्यायेनाऽह - **यदिति**। यस्य तव पादयोः सलिलमात्रमपि प्रदाय सर्वोऽपि जन अत्युत्तमां[10] गतिं प्राप्नोति तस्मै तुभ्यमसौ बलिस्त्रिलोकीं दाश्वान् दत्तवान् स[11] आर्तिं कथं प्राप्नुयात्।।२३।।

---

1. Ma Omits वि 2- -2. A,B,G,J,M,Ma,T कृत्स्ना तेऽनेन 3. A,B,G,J,M,Ma,T "रशठ 4.H,V अत्यु° 5. M,Ma दत्त्वा नधि" 6. A,B,G,J,M,Ma,T श्री भगवानुवाच 7. A,B,G,J,T,W "शो 8- -8. B,H,J,V Omits 9. A,B,J "त्य" 10. A,B,J Omit अति 11. H,V Omit सः

[1]ननु अर्थापहारः कोऽन्यमनुग्रहः? तत्राऽह - **ब्रह्मन्निति**। यन्मदः यैरर्थैर्मदो यस्य सः। अत एवस्तब्धोऽनम्रः सन्। मदस्तम्भहेतूनामर्थानामपहार एवानुग्रह इत्यर्थः।।२४।।

दुर्लभं पुरुषजन्म कथञ्चिल्लब्धवतो जीवस्य जन्मादिनिमित्तो गर्वो महाहानिकरः तस्य च नाशो मदनुग्रहादेवेत्याह - यदेति द्वाभ्याम्। अनीशः परतन्त्रस्सन् निजैः कर्मभिः नानायोनिषु [2]क्रिमिकीटकादिषु संसरन्।।२५।।

**वीर०** इममेवाभिप्रायमाविष्कर्तुं सम्बोधयन् स्पष्टमाह - **ब्रह्मा भूतभावनेति**। हे भूतभावन? भूतस्रष्टः! भूतेश! भूतान्तरात्मन्। अन्तरात्मतया पालकेत्यर्थः। हे देव देव! देवानां जगत्संहर्तॄणां रुद्रादीनामपि देव! जगच्छरीरक! हृतं सर्वस्वं यस्मात्तमेनं बलिं मुञ्च, अयं निग्रहं प्राप्तुं नार्हति।।२१।।

निग्रहानर्हत्वमेवाह - **कृत्स्नेति**। कृत्स्ना भूमिः, ये च कर्मणा सम्पादिता इन्द्रादिलोकास्ते चेत्येतत्सर्वस्वं तथाऽविक्लवया अदीनया बुद्ध्या आत्मा देहश्च अनेन बलिना ते तुभ्यं दत्ताः अतोऽयमनिग्राह्य इति भावः।।२२।।

एतदेव कैमुत्यन्यायेनाह-**यत्पादयोरिति**। अशठधीरमूर्खधीः यस्य तव पादयोः सलिलं विधायाऽर्घ्यजलं समर्घ्य दूर्वाङ्कुरैरपि पूजां विधायोत्तमां गतिमपि भजते [3]प्राप्नोति। अयं तु बलिरविक्लवमनाः स्थिरचित्तस्सन् त्रिलोकीं दाश्वान् दत्तवान् अतः कथमयमार्तिं प्राप्नुयात्? तस्मादेनं विमुञ्चेत्यर्थः।।२३।।

एवं विज्ञापितो भगवान् इममनुग्रहीतुमेवेत्थं मया कृतमित्याह, [4]यावदध्यायसमाप्ति[4] **ब्रह्मन्निति**। हे ब्रह्मन्? अहं तावद्यमनुग्रहीतुमिच्छामि तस्य विशोऽर्थान् विधुनोम्यपहरामि तावदनर्थहेत्वर्थापहार एव प्रथमो मदनुग्रह इत्यर्थः अर्थस्यानर्थहेतुत्वमाह-यन्मदः यस्य धनस्य सम्बन्धी मदो यस्य [5]तादृशः अत एव स्तब्धो विवेकरहितः अनम्रो वा पुरुषो लोके [6]मदन्तरात्मस्थं जगत् मां तदन्तर्वर्तिनं[6] माञ्चाऽवमन्यते तिरस्करोतीत्यर्थः[7]।।२४।।

एवमवमानेनानयैश्च कर्मभिरिह लोके नानायोनिषु संसरन् तिर्यक्स्थावरादिषु जन्म प्राप्नुवन्नयं जीवात्मा कर्मवश्यः यदा कदाचित् यादृच्छिकसुकृतविशेषात् पौरुषीं गतिं पुरुषजन्म प्राप्नुयात्।।२५।।

**विज०** बन्धनादिकमासुरजन्मदोषापहरणाय त्वया कृतं न तु द्वेषात् अन्यथा तव वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातां, न तद्युक्तमित्याशयेनाह - यत्पादयोरिति। न विक्लवमनाः सर्वस्वदानादप्यहीनमनाः।।२१-२३।।

---

1. A,B,J adds तस्यविशोर्थान् 2.A,B,J कृ° 3. A,T Omit प्राप्नोति 4- -4. W Omits 5. W सः यन्मदः 6- -6. W Omits 7. W Omits इत्यर्थः

यद्यपि ब्रह्मा भगवदभिप्रायं वेत्ति तथापि इतरेषां तज्ज्ञापनाय स्वाभिप्रायं वक्ति ब्रह्मन्निति। ब्रह्मन् प्रजापते! यन्मदः यद्वित्तनिमित्तमदः।।२४।।

नानायोनिष्य उत्तमत्वेन मदोद्रेकहेतोरपि पुरुषयोनेर्यदृच्छया प्राप्तौ मदनुगृहीतस्य पुंसो मदो नैवोत्पद्यत इत्याह - **यदा कदाचिदिति**। अयं जीवात्मा निजकर्मभिः नानायोनिषु संसरन् कदाचिद्दैववशात् पौरुषीं गतिमाव्रजेत्।।२५।।

**जन्मकर्मवयोरूपविद्यैश्वर्यधनादिभिः।**
**यद्यस्य न भवेत् स्तम्भस्तत्रायं मदनुग्रहः।।२६।।**

**मानस्तम्भनिमित्तानां जन्मादीनां समन्ततः।**
**सर्वश्रेयः प्रतीपानां हन्त! मुह्येन्न मत्परः।।२७।।**

**एष दानवदैत्यानामग्रणीः कीर्तिवर्धनः।**
**अजैषीदजयां मायां सीदन्नपि न मुह्यति।।२८।।**

**[1]क्षीणरिक्थश्च्युतः[-1] स्थानात् क्षिप्तो बद्धश्च [2]रशिभिः।**
**ज्ञातिभिश्च परित्यक्तो यातनामनुयापितः।।२९।।**

**गुरुणा भर्त्सितः शप्तो जहौ सत्यं न सुव्रतः।**
**छलैरुक्तो मया धर्मो नायं त्यजति [3]सत्यथम्।।३०।।**

**श्रीध० जन्मेति**। तत्र पौरुष्यां गतौ जन्मादिभिरस्य[4] यदि स्तम्भो न भवेत् तर्हि अयं मदनुग्रह एव।।२६।।

कथं तर्हि ध्रुवादिभ्योऽर्थसम्पदो [5]अददाः इति चेत्तत्राह - **माने इति**। मान एव स्तम्भोऽनम्रता तस्य निमित्तभूतानां समन्ततः [6]सर्वशः सर्वश्रेयः प्रतिकूलानां जन्मादीनां सत्त्वेऽपि जन्मादिभिरिति वा। हन्त [7]इति खेदे[-7]। हे ब्रह्मन् मत्परो न मुह्येदतो भक्तस्येच्छया सम्पदोऽपि ददामि। अभक्तस्तु मुह्येदिति। [8]तदहङ्कारापहाररूपमेव तस्यानुग्रहं करोमीति भावः।।२७।।

अस्य च इदानीं मत्परत्वादन्यैः दुष्प्रापमपि दास्यामीति वक्तुं तस्य मोहाभावमाह **एष** इति त्रिभिः।।२८-२९।।

---

1- -1. H,V क्षीणार्द्धिर्भ्रंशितः ; M,Ma क्षणार्द्धिर्भ्रंशितः 2. A,B,G,J,M,Ma,T शत्रुभिः 3. A,B,G,J,M,Ma,T सत्यवाक् 4. A,B,J °रेण्यस्य 5. A,B,J ददासीति 6. H,V Omit सर्वशः 7- -7. H,V Omit इति खेदे 8. A,B,J तदपहा°

"न ह्येतस्मिन् कुले कश्चिन्निस्सत्त्वः कृपणः पुमान्" (भाग.8-19-3) इत्यादिना च्छलेनैव मया धर्म उक्तस्तथाऽपि तं धर्मं अयं न त्यजति अतः सत्यवाक्।।३०।।

**वीर०** तत्रापि जन्मादिभिर्यस्य पुरुषस्य स्तम्भो मदः अनम्रता वा न भवेत्तत्र तद्विषये अयं स्तम्भाभाव एव मदनुग्रहो ज्ञेयः। तत्र[1] जन्म सत्कुले। कर्म भगवत् परिचर्यादि, वयो यौवनादि। विद्या श्रौत स्मार्तादिः। बुद्धिर्विवेकात्मिका, धनं वित्तम्[1]।।२६।।

कथं तर्हि ध्रुवादिभ्यः सम्पदो ददासि? इत्यत्राह - **मानेति**। मानो गर्वः स्तम्भोऽनम्रताऽविवेको वा तयोर्निमित्तानां जन्मादीनां पूर्वग्रन्थपरिगणितानां समन्ततः सर्वश्रेयःप्रतिकूलानां सद्भावेऽपीति शेषः। मत्परस्तेषु न मुह्येदित्यर्थः। हन्त! हे ब्रह्मन्।।२७।।

अस्य चेदानीं मत्परत्वादन्यैः दुष्प्रापमपि दास्यामीति वक्तुं तस्य मोहाभावमनुगृह्णाति - **एष** इति त्रिभिः। एष बलिः दानवानां दैत्यानाञ्च अधिपतिः कीर्तिवर्द्धनश्च अजयां दुर्जयाम् मम मायामजैषीज्जयेदित्यर्थः।।२८।।

कीर्तिवर्द्धनत्वमेव प्रपञ्चयति - क्षीणं रिक्थं धनं यस्य सोऽपि स्थानात् च्युतोऽप्याधिपत्यात् भ्रष्टोऽपि शत्रुभिरधिक्षिप्तोऽपि बद्धो[2]ऽपि ज्ञातिभिः परित्यक्तोऽपि यातनां प्रापितोऽपि।।२९।।

गुरुणा उशनसा भर्त्सितोऽपि शप्तोऽपि सुव्रतः दृढसङ्कल्पः सत्यं न तत्याज तथा मया छलेनैव धर्म उक्तः तथाप्ययं सत्यवाक् तं धर्मं न त्यजति।।३०।।

**विज०** तत्र पौरुषगतौ यद्यस्य जीवात्मनो मदर्घनादौ स्तम्भस्तन्द्रीलक्षणा न भवेत्तर्ह्ययं मदनुग्रहः मत्कटाक्षपातलक्षण इति ज्ञातव्यम्।।२६।।

स्वभक्तलक्षणमाह - मानस्तम्भेति, पञ्चम्यर्थे जन्मादीनामिति षष्ठी।।२७।।

एतल्लक्षणदर्शनाय दवीयान्मार्गो न गन्तव्यः किन्त्वत्रैवेति भावेनाह - एष दानवेति अजयाम् अजेयां न जयो यस्याः सा अजयेति।।२८।।

यातनाम् तीव्रवेदनाम्।।२९।।

सत्यत्यागनिमित्तक्षीणत्वादिकं प्राप्तोऽपि सत्यं न त्यक्तवानित्यन्वयः।।३०।।

**एष[3] मे प्रापितं[4] स्थानं दुष्प्रापममरैरपि।**
**सावर्णेरन्तरस्यायं भवितेन्द्रो मदाश्रयः।।३१।।**

---

1- -1. W Omits 2. W Omits बद्धोऽपि 3. M,Ma एवं 4. A,B,G,J,M,Ma,T ०तः

तावत् सुतलमध्यास्तां विश्वकर्मविनिर्मितम्।
यत्राऽऽधयो व्याधयश्च क्लमस्तन्द्री[1] पराभवः[2]।।
नोपसर्गा निवसतां सम्भवन्ति ममेक्षया।।३२।।

इन्द्रसेन महाराज याहि भो भद्रमस्तु ते।
सुतलं स्वर्गिभिर्प्रार्थ्यं ज्ञातिभिः परिवारितः।।३३।।

न त्वामभिभविष्यन्ति लोकेशाः किमुताऽपरे।
त्वच्छासनातिगान् दैत्यांश्चक्रं मे सूदयिष्यति।।३४।।

रक्षिष्ये सर्वतोऽहं त्वां सानुगं सपरिच्छदम्।
सदा सन्निहितं वीर तत्र मां द्रक्ष्यते भवान्।।३५।।

तत्र दानवदैत्यानां सङ्गात्ते भाव आसुरः।
दृष्ट्वा ममानुभावं वै सद्यः कुण्ठो विनङ्क्ष्यति।।३६।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
अष्टमस्कन्धे बलिनिग्रहो नाम द्वाविंशोऽध्यायः।।२२।।

**श्रीध० एव** इति। मे मया मदाश्रयः[4] अहमेवाश्रयः पालको यस्य सः।।३१।।

स्थानं प्रापित इति यदुक्तं तदेव स्थानमाह **तावदिति**। तावत्सावर्णिमन्वन्तरपर्यन्तं सुतलमध्यास्तामधिवसत्वित्यर्थः। यद्यस्मिन्निवसतां व्याध्यादयो ममेक्षया न सम्भवन्ति।।३२।।

एवं ब्रह्माणं प्रत्युक्त्वा करुणापरवशः साक्षाद्बलिं प्रत्याह - **इन्द्रसेनेति** चतुर्भिः।।३३।।

**नेति**। त्वच्छासनमतिगच्छन्ति अतिवर्तन्ते इति तथा तान्।।३४।।

**रक्षिष्येति**। तथापि भगवद्वियोगात् तदनिच्छन्तं प्रत्याह - सदेति।।३५।।

**तत्रेति**। सङ्गात् य आसुरो भावः सः सद्यः[5] कुण्ठो मन्दस्सन्[5] विनङ्क्ष्यति।।३६।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टमस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां द्वाविंशोऽध्यायः।।२२।।

---

1. A,B,G,J,T यत्रा° 2. A,B,G,J,T स्तन्द्रा ; H,V स्तन्द्रिः 3. A,B,G,J,M,Ma,T मदनु 4. A,B,J Omit मदाश्रय 5- -5. H,V Omit:

**वीर०** अस्य मोक्षप्रदानं सङ्कल्पयति एव इति। अमरैरपि प्राप्तुमशक्यं स्थानं मल्लोकं प्रापितः प्रापयिष्यत इत्यर्थः। देहावसाने मुक्तो भविष्यतीति[1] भावः, जीवदशायाम् इन्द्राधिपत्यं भविष्यदनुगृह्णाति, सावर्णेरिति। सावर्णेर्मनोरन्तरस्य सम्बन्धीन्द्रोयं बलिरहमेवाश्रयो यस्य स भविता भविष्यति। सावर्णिमन्वन्तरेऽयमिन्द्रो भविष्यतीत्यर्थः।।३१।।

आधुनिकं सुतलल्लोकाधिपत्यमनुगृह्णाति तावदधुना विश्वकर्मणा विनिर्मितं सुतलं लोकमध्यास्ताम् तत्राधिपतिर्भूत्वाऽधिवसत्वित्यर्थः। सुतलं विशिनष्टि - यत्र सुतले निवसताम् आध्यादयो मत्कटाक्षेण हेतुना न सम्भवन्ति तत्राधयो मनःपीडा, व्याधयो दैहिकाः, क्लमः ग्लानिः, तन्द्री अनवधानता पराभवः शीतोष्णादिभिरभिभवः उपसर्गोऽन्योप्युपद्रवः।।३२।।

एवं ब्रह्माणमुक्त्वाऽथ बलिमुवाच हे इन्द्रसेन महाराज! ज्ञातिभिः परिवृतस्त्वं सुतलं स्वर्गिभिरपि प्रार्थ्यं लोकं याहि गच्छ तत्र तव भद्रमेव मेऽनुग्रहादस्तु[2]।।३३।।

तत्र वसन्तं त्वां लोकेशा इन्द्रादयोऽपि नाभिभविष्यन्ति किमु वक्तव्यम् अपरे नाभिभविष्यन्तीति, ये च तत्र त्वदाज्ञातिलङ्घिनो दैत्यास्तान् मम चक्रं सुदर्शनं सूदयिष्यति हनिष्यति।।३४।।

सर्वेभ्योऽपि उपद्रवेभ्यस्त्वां सानुगं सपरिच्छदं सोपकरणमहं रक्षिष्ये, किञ्च हे वीर! तत्र सुतले सदा सन्निहितं त्वद्द्वारि वसन्तं मां भवान् द्रक्ष्यते।।३५।।

किञ्च, दैत्यानां सङ्गाद्धेतोस्तव य आसुरो भावः स तत्र मम[3] अनुभावं दृष्ट्वा सद्यः कुण्ठः प्रतिहतो विनङ्क्ष्यति। मदनुभावाद्भवानासुरं भावं त्यक्ष्यतीत्यर्थः।।३६।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
अष्टमस्कन्धे व्याख्यायां द्वाविंशोऽध्यायः।।२२।।

**विज०** भवतास्मै किमनुगृह्यते त्वद्भक्तायेति तत्राह - एवमिति। किं तत्स्थानमत्राह - सावर्णेरिति।।३१।।

तर्हि तावत्पर्यन्तमाशयोद्रेकवदेवंविधं क्लेशमनुभूय स्थीयतां किम्? तत्राह - तावत् सुतलमिति। तत्रान्येषामपि क्लेशानुभवो नास्ति किम्पुनरस्येति भावेन वक्ति, यत्राधय इति। उपसर्गा उपद्रवाः।।३२।।

---

1 W भवतीति 2. W वदनु 3. W मत्प्रस्तावं

भवदाज्ञामन्तरेणेमं कथं गमिष्यामीति शङ्का माभूदित्याह - **इन्द्रसेनेति**। मृतवदेकः कथं गमिष्यामीत्यत उक्तं ज्ञातिभिरिति।।३३।।

स्वर्गस्थैरर्थं चेत् स्पर्धया लोकेशा मामुपद्रविष्यन्तीति तत्राह - न त्वामिति। राज्यं त्यक्त्वा गतस्य तव शासने वयं न तिष्ठाम इति तिष्ठतां दण्डमाह - त्वच्छासनेति।।३४।।

किम्बहुनोक्तेन, सर्वतो मद्रक्षावज्रं तवास्तीत्याह - सर्वत इति। न केवलं सन्निधानविशेषाद्रक्ष्यामि किन्तु प्रत्यक्षत एवेत्यत उक्तं तत्र मामिति।।३५।।

तत्राप्ययमनर्थस्तदवस्थ एव दानवादीनां संसर्गादिति च शङ्का माभूदित्याह - तत्र दानवेति। सद्यःकुण्ठः इत्येकं पदं, सद्यःकुण्ठः छेदो यस्य स तथा अवनङ्क्ष्यतीति विनङ्क्ष्यतीति पाठे निर्मूलो भविष्यतीत्यर्थः।।३६।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
अष्टमस्कन्धे द्वाविंशोऽध्यायः।।२२।।

oooOooo

# त्रयोविंशोऽध्यायः

### श्रीशुक उवाच

इत्युक्तवन्तं पुरुषं पुरातनं महानुभावोऽखिलसाधुसम्मतः।
बद्धाञ्जलिर्बाष्पकलाकुलेक्षणो भक्त्युद्रलो[1] गद्गदया गिराऽब्रवीत्।।१।।

### बलिरुवाच

अहो प्रणामस्य[2] कृतः समुद्यमः[3] प्रपन्नभक्तार्थविधौ समाहितः।
यल्लोकपालैस्त्वदनुग्रहोऽमरैरलब्धपूर्वोऽपशदेऽसुरेऽर्पितः[4]।।२।।

### श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वा हरिमानम्य ब्रह्माणं सभवं ततः।
विवेश सुतलं प्रीतो बलिर्मुक्तः सहानुगैः[6]।।३।।

एवमिन्द्राय भगवान् प्रत्यानीय[7] त्रिविष्टपम्।
पूरयित्वाऽदितेः काममशासत्सकलं जगत्।।४।।

लब्धप्रसादं[8] निर्मुक्तं पौत्रं वंशधरं बलिम्।
निशाम्य भक्तिप्रवणः प्रह्लाद इदमब्रवीत्।।५।।

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

त्रयोविंशे बलौ याते सुतलं सपितामहे। उपेन्द्रेण दिवं गत्वा पूर्ववन्मोदते हरिः।।

**इतीति।** बाष्पस्य कलाभिर्बिन्दुभिराकुले ईक्षणे यस्य। भक्त्या उद्रल उत्कण्ठः।।१।।

**अहो** इति। अहो त्वत्प्रणामस्य[9] महिमा, यदर्थं कृतः समुद्यम एव प्रपन्नानां भक्तानां योऽर्थस्तस्य विधौ अभक्तेऽपि तस्य सम्पादने समाहितोऽप्रमत्तस्सन्[10] स्थितः। कुतः? यद्येनोद्यमेन[11] लोकपालैरमरैः सत्त्वप्रधानैरप्यलब्धपूर्वः त्वदनुग्रहः अपशदे नीचे असुरे[12] राजसे मय्यर्पितः। अयं भावः - परमेश्वराय तुभ्यमहं-वराकस्त्रिलोकीं दत्तवानित्येतदास्तां, प्रणामोऽपि न सम्यक्कृतः। किन्तु तदर्थमुद्यममात्रं कृतं, तेन च कर्मतपोदानादिकोटिभिरप्यलभ्यः त्वदनुग्रहः सम्पादितः, अहो त्वत्प्रणामप्रभावाश्चर्यमिति।।२,३।।

**एवमिति।** अशासदुपेन्द्रस्सन् पालयामास।।४,५।।

---

1.M,Ma °त्कलो 2.A,B,G,J,T प्रणामाय ; M,Ma प्रसादोऽस्य 3.M,Ma °तः 4.M,Ma °स्त्न° 5.A,B,G,J,M,Ma,T °स° 6.A,B,G,J,M,Ma,T °सुरैः° 7.M,Ma प्रीत्याऽऽ° 8.M,Ma °दनि° 9.H,V °मस्य म° 10.A,B,J Omit सन् 11.H,V Omit यत् 12.B,H,J,V Omit असुरे

## श्रीवीरराघवविदुषालिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं अनुगृहीतो बलिः भगवन्तं तमाह इत्याह मुनिः - इतीति। इति इत्थं उक्तवन्तं पुराणपुरुषं भगवन्तं गद्गदया गिरा अब्रवीत्। कथम्भूतः? भक्त्या उद्गलः उत्कण्ठः हर्षबाष्पबिन्दुभिः आकुले ईक्षणे यस्य सः, अखिलानां साधूनां सम्मतः महान् अनुभावः उक्तविधो यस्य सः।।१।।

तदेवाह - अहो इति। अहो! त्वत्प्रणामस्य प्रभाव इत्याह, प्रणामाय प्रणामार्थं कृतः समुद्यम एव प्रपन्नानां भक्तानां योऽर्थः अभिमतः तस्य विधौ सम्पादने समीहितोऽप्रमत्तः स्थितः, कुतः? यत् येन उद्यमेन लोकपालैरमरैः सत्त्वप्रधानैरप्यलब्धपूर्वः त्वदनुग्रहोऽपशदे नीचे असुरे मयि समर्पितः।।२।।

इत्थं हरिमुक्त्वा प्रणम्य ततो ब्रह्माणं रुद्रं च आनम्य, मुक्तः पाशेभ्य इति शेषः। प्रीतो बलिरनुगैस्सह सुतलं लोकं विवेश प्रवेष्टुमुद्युक्तो बभूवेत्यर्थः।।३।।

ततः इत्थं बलेर्गृहीतं त्रिविष्टपं भगवान् इन्द्राय प्रत्यादिष्ट प्रददौ। एवमदितेः काममिष्टं पूरयित्वा सकलं जगत् अशासत् उपेन्द्रस्सन् पालयामास।।४।।

ततो लब्धो भगवत्प्रसादो येन तं पाशेभ्यो निर्मुक्तं पौत्रं वंशवर्धनं बलिं निशाम्य दृष्ट्वा प्रह्लादः भक्तितत्परो [1]भक्तिप्रेमसुधारससमुद्रे परिप्लुत[1] इत्यर्थः वक्ष्यमाणमुवाच।।५।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भगवति भक्तिमतः पुरुषस्य किमपि दुस्साध्यं नास्ति इत्येतत्प्रपञ्चयतेऽस्मिन्नध्याये। तत्र बलेर्ह्यशाकरणं वक्तुमाह - इत्युक्तवन्तमिति। भक्तेरुत्कल उद्रेको यस्य स तथा।।१।।

समुद्यतः ऊर्ध्वं वर्धमानस्यास्य तव प्रसादो अहो कुतो विस्मय इत्यत उक्तं - कृत इति। स्वेनेति शेषः। इतोऽपि विस्मय इत्याह - प्रपन्न इति। समाहितः एकाग्रीकृतोऽन्यत्रानवसरदुस्थ इत्यर्थः। त्वमपि तेष्वेकः किं न स्याः इत्यत आत्मानं धिक्करोति - यल्लोकेति। असुरजातावप्यपशदे अधमे अलब्धपूर्व इति यथायोग्यमिति ज्ञातव्यम्।।२-४।।

लब्धप्रसादश्च निर्मुक्तश्च तम्।।५।।

---

1--1. W Omits

प्रह्लाद उवाच

नेमं विरिञ्चो लभते प्रसादं न श्रीर्न शर्वः किमुतापरे[1] ये।
यन्नोऽसुराणामसि दुर्गपालो विश्वाभिवन्द्यैरपि वन्दिताङ्घ्रिः।।६।।

यत्पादपद्ममकरन्दनिषेवणेन ब्रह्मादयः शरणदाश्रुवते विभूतिम्[2]।
कस्माद्वयं कुसृतयः खलयोनयस्ते दाक्षिण्यदृष्टिपदवीं भवतः प्रणीताः।।७।।

चित्रं तवेहितमहोऽमितयोगमाया लीलाविसृष्टभुवनस्य विशारदस्य।
सर्वात्मनः समदृशो विषमस्स्वभावो भक्तप्रियो यदसि कल्पतरुस्वभावः।।८।

श्रीभगवानुवाच

वत्स प्रह्लाद भद्रं ते प्रयाहि सुतलाऽऽलयम्[3]।
मोदमानः स्वपौत्रेण ज्ञातीनां सुखमावह[4]।।९।।

नित्यं द्रष्टासि मां तत्र गदापाणिमवस्थितम्।
महर्शनमहाह्लादध्वस्तकर्मनिबन्धनः[5]।।१०।।

**श्रीध०** नेति। दुर्गपालोऽसि[6], " रक्षिष्ये सर्वतोऽहं त्वाम् " (भाग.8-22-35) इत्युक्तत्वात्।।६।।

**यदिति**। हे शरणद! आश्रयप्रद! ये कुसृतयो दुर्वृत्ताः खलयोनय उग्रजातयश्च ते वयं तस्य भवतो दाक्षिण्यदृष्टेः पदवीं कस्माद्धेतोः प्रणीताः प्रापिताः[7]। बहुमानेन चित्तानुवर्तनं दाक्षिण्यं तेन या दृष्टिस्तद्विषयतां प्रापिताः।।७।।

भक्तप्रियत्वादिति चेत्तर्हि **चित्रमिति**। एवं तवेहितम्। अहो चित्रम्। किं तत्? सर्वात्मनः समदृशश्च स्वभावो विषम इति यत्। सर्वात्मत्वे चित्रचरितत्वे हेतुः - अमिताऽचिन्त्या योगमाया तस्या[8] या लीला[9] तया विसृष्टानि विरचितानि भुवनानि येन तस्य अहोऽमितयोगमाया इत्यत्र सन्धिरार्षः। समदृक्त्वे हेतुः - विशारदस्य सर्वज्ञस्य। अथवा भक्तप्रियत्वेऽपि तव वैषम्यं नास्त्येव। यतः कल्पतरुस्वभावस्सन् भक्तप्रियोऽसि। न हि कल्पतरुराश्रितानामेव कामान्पूरयन्नपि विषमो भवतीत्यर्थः।।८,९।।

**नित्यमिति**। महर्शनेन यो महाह्लादः[9] तेन ध्वस्तं कर्मनिबन्धनमज्ञानं यस्य।।१०।।

**वीर०** तदेवाह - नेति त्रिभिः। अहो तवेदं दुर्लभानुग्रहस्यापि सौलभ्यं परत्वं च अनितरसाधारणमिति

---

1.A,B,G,J,M,Ma,T ते 2.A,B,G,J,M,Ma,T 'तीः 3.M,Ma 'लातलम् 4.W मुदमा' 5.M,Ma न्यस्त 6.A,V Omit असि 7.A,B,J Omit प्रापिताः 8--8.H,V तथा लीलया 9.H,V महानाह्लादः

विस्मयपूर्वकं विज्ञापयति - नेति। इममस्मद्विषयं तवानुग्रहं चतुर्मुखलक्ष्मीरुद्रा अपि न लेभिरे। येऽपरे[1] इन्द्रादयो न लेभिरे इति किमु वक्तव्यं, एवं तत्प्रसादस्य दौर्लभ्यं क्वचिद्विषयविशेषे सौलभ्यं चोक्तम्। कुतः? एतद्विपरीत मित्यत आह - यद्यस्मादसुराणां क्रूरस्वभावानामपि नोऽस्माकं दुर्गपालः दुःखात् त्राता भवसि। अथ परत्वमाह - विश्वाभिवन्द्यैः सकलजगत्पूज्यैः ब्रह्मादिभिरप्यभिवन्दितौ अङ्घ्री यस्य सः त्वम् असुराणां नो दुर्गपालोऽसीत्यनेन नास्मद्गुणदर्शनेन अस्मासु तव प्रसादवृत्तिः किन्तु केवलं कृपयैवेति सूचितम्।।६।।

तदेव व्यञ्जयन्नाह - **यदिति**। हे शरणद! श्रेयस्साधनप्रद! अनेन स्वहितमपि वयं न विद्म इति सूचितम्। ब्रह्मादयो यस्य तव पादपद्मयो र्यो मकरन्दः तस्य सेवया विभूतिमैश्वर्यं सृष्ट्याद्यधिकारमश्नुवते प्राप्नुवन्ति, अनेन परत्वं स्पष्टीकृतम्। ते एवम्भूतस्य तव दाक्षिण्यदृष्टिपदवीमनतिक्रमणीयताहेतुकृपादृष्टिविषयतां कस्माद्धेतोर्वयं कुसृतयः कुमतयः खलयोनय उग्रजातयश्च प्रणीताः प्रापिताः केवलं कृपया एवेति भावः। पूर्वं विरिञ्चादयोऽपि इमं[2] प्रसादं न लभन्ते[3] इत्यनेन तत्सेवया विना तत्प्रसादाविषयत्वमुक्तम्। अत्र तु तत्सेवया तद्विषयत्वमित्यतो न विरोधः।।७।।

एवं तर्हि प्राकृतवत् कञ्चिदनुगृह्णन् कञ्चिच्च निगृह्णन् अहमपि विषमस्वभाव एवेति किं मां प्रशंससीत्यत्राह - **चित्रमिति**। तव ईहितं निग्रहानुग्रहादिरूपमहो विचित्रं न तु कर्मवश्य प्राकृतेहितसजातीयमित्यर्थः। वैचित्र्ये हेतुं वदन् अकर्मवश्यतां व्यञ्जयन् विशिनष्टि - अमितेति। अमितशक्तियुक्तसङ्कल्पज्ञानेन निमित्तेन अनायाससृष्टभुवनस्य इत्यर्थः। विशारदस्य सृष्ट्युपयुक्तसार्वज्ञ्यादि कल्याणगुणगणयुक्तस्य कृत्स्नचिदचिदन्तरात्मनः अत एव समदृशः वैषम्यनैर्घृण्यादिरहितस्यैव तव भक्ताप्रियो भवसीति यदयमविषम एव स्वभावः न तु विषमः। तत्र दृष्टान्तं वदन् विशिनष्टि - कल्पतरोः स्वभाव इव स्वभावो यस्य स त्वम् इति। न हि कल्पतरोराश्रितार्थपूरणेन वैषम्यापादनं युक्तमिति भावः।।८।।

एवं विज्ञापितस्तं भगवानुवाच - **वत्सेति**। हे प्रह्लाद! तव भद्रमस्तु। सुतलाख्यं बिलस्थानं प्रयाहि गच्छ। तत्र स्वपौत्रेण बलिना सह मोदमानः ज्ञातीनां मुदं हर्षमावह[4] प्रापय।।९।।

तत्र सुतले नित्यं सदा अवस्थितं सन्निहितं[5] गदा पाणौ यस्य तं मां द्रष्टासि द्रक्ष्यसि नित्यं द्रष्टासि इति वा सम्बन्धः। नित्यं मद्दर्शनेन यो महानाह्लाद आनन्दः तेन ध्वस्तं कर्मरूपं निबन्धनं संसृतिहेतुः यस्य तादृशो भविष्यसीति।।१०।।

---

1.A ते 2.A,B,T इत्थं 3.A,B,T लेभिरे 4.A,B,T Omit आवह 5.W Omits सन्निहितं

**विज०** विश्वाभिवन्द्यैर्ब्रह्मादिभिरभिवन्दिताङ्घ्रिः श्रीकान्तोऽसुराणामपि नो दुर्गपालो द्वारपाल आसीदिति यदिमं प्रसादं विरिञ्चादयो न लभन्त[1] इत्यन्वयः।।६।।

कुसृतयः कुत्सितमार्गास्तत्र हेतुमाह - खलयोनय इति। तस्य ते तव कस्माद्धेतोः दाक्षिण्यदृष्टिपदवीं प्रणीताः भक्तानुकम्पित्वमन्तरेणेति शेषः। " यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः " (कठ.उ.2-22) इति श्रुतेः।।७।।

भगवत्स्वरूपत्वादीहितमपि[2] लोकविलक्षणमिति भावेनाह - **चित्रमिति**। तव चित्रं नानाविधमीहितं चेष्टितमहो " अहो हि विस्मये" (वैज.को.8-8-16) इति यादवः। तत्कथमिति तत्राह-विषमेति। विषमस्वभावोऽसि भक्तप्रियोऽसि, कल्पतरुस्वभावोऽसि यत्तस्माद्विस्मयः समदृशो विषमस्वभावत्त्वं सर्वात्मनो भक्तप्रियत्वेन कल्पतरुस्वभावत्वं च विस्मयहेतुरित्यर्थः।।८।।

बलिप्रह्लादयोर्भगवद्भक्तत्वेऽपि बलेः बन्धनादिदुःखमभूत् तत्किन्निमित्तमिति शङ्का - "बलिरप्यसुरावेशात् स्तुवन्नपि जनार्दनम्। आक्षिपत्यन्तरा क्वापि, प्रह्लादो नित्यभक्तिमान्" (ब्रह्माण्डे) इत्यनेन परिहर्तव्या। आक्षेपफलं दुःखमित्यर्थः।।९,१०।।

श्रीशुक उवाच

आज्ञां भगवतो राजन् प्रह्लादो बलिना सह।
बाढमित्यमलप्रज्ञो मूर्ध्न्याधाय कृताञ्जलिः।।११।।

परिक्रम्याऽऽदिपुरुषं सर्वासुरचमूपतिः।
प्रणतस्तदनुज्ञातः प्रविवेश महाबिलम्।।१२।।

अथाहोशनसं[3] राजन्! हरिर्नारायणोऽन्तिके।
आसीनमृत्विजां मध्ये सदसि ब्रह्मवादिनाम्।।१३।।

ब्रह्मन्सन्तनु शिष्यस्य कर्म च्छिद्रं वितन्वतः।
यत्तत्कर्मसु वैषम्यं ब्रह्मदृष्टं समं भवेत्।।१४।।

शुक्र उवाच

कुतस्तत्कर्म वैषम्यं यस्य कर्मेश्वरो भवान्।
यज्ञेशो यज्ञपुरुषः सर्वभावेन पूजितः।।१५।।

---

1. M,Ma लभ्यते 2. M भवत्स्व° ; Ma तत्र स्व° 3. W त°

**श्रीध०** **ब्रह्मन्निति**। कर्म वितन्वतः शिष्यस्य यच्छिद्रमन्तरं न्यूनं जातं तत्सन्तनु विस्तारय सन्धत्स्व। यजमानं विना कथं सङ्घातव्यमिति न वाच्यमित्याह - **यत्तदिति**। **ब्रह्मदृष्टं ब्राह्मणैर्दृष्टमेव समं भवेत्**। किं पुनरनुष्ठितमित्यर्थ।।११-१४।।

**कुत इति**। भवान्यस्य सर्वेणापि भावेन[1] वस्तुमात्रेण पूजितस्तस्य कर्मसु कुतो वैषम्यम्? कथम्भूतः[2]? कर्मणामीश्वरः प्रवर्तकः। यज्ञेशो यज्ञस्य[3] फलदः, यज्ञमयश्च पुरुषः।।१५।।

**वीर०** एवंविधां भगवत आज्ञां शिरसा बाढमित्याधायाऽभ्युपेत्य, हे राजन्! अमला प्रज्ञा स्वात्मपरमात्मयाथात्म्यविषया यस्य सः प्रह्लादो बलिना सह कृताञ्जलिः[4] बद्धाञ्जलिस्सन्।।११।।

आदिपुरुषं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणतः कृतप्रणामः सर्वेषामसुराणां चम्वाः सेनायाः अधिपतिर्भूत्वा तेन भगवता अनुज्ञातो महाबिलं सुतलं विवेश।।१२।।

अथ तत्प्रवेशानन्तरं हे राजन्! भगवान् नारायणः समीपे सभायां ब्रह्मवादिनामृत्विजां मध्ये आसीनमुपविष्टमुशनसं शुक्रमुवाच।।१३।।

तदेवाह - **ब्रह्मन्निति**। हे ब्रह्मन्! वितन्वतो यजमानस्य शिष्यस्य बलेः यत् यज्ञस्य छिद्रं कर्मसु वैषम्यं वैगुण्यरूपं तद्ब्रह्मदृष्टं वेदबोधितं समं वैषम्यरहितमविगुणं यथा भवेत्तथा सन्तनु करु।।१४।।

एवमुक्तः शुक्रस्तावत् प्रकृतकर्मणि वैगुण्यमेव नास्तीति विज्ञापयति-**कुत** इति द्वाभ्याम्। तस्य बलेः कर्मणो वैगुण्यं कुतः? न कस्मादपीत्यर्थः। वैषम्याभावे हेतुमाह - यस्य येन बलिना कर्तरि षष्ठी। सर्वभावेन करणत्रयेण सर्वकर्मणामीश्वरः यज्ञेशः यज्ञपुरुषश्च भवान्[5] यतः पूजितोऽतो न वैषम्यमित्यर्थः। कर्मेश्वर इति सर्वकर्मप्रवर्तकत्वमुक्तम्। यज्ञेश्वर इति यज्ञफलप्रदत्वं, यज्ञपुरुष इति यज्ञशरीरकत्वं, तद्भोक्तृत्वं च इत्यपौनरुक्त्यम्।।१५।।

**विज०** कर्म वितन्वतोऽस्य यत्तद्ब्रह्मभिः ब्राह्मणैर्दृष्टं निरूपितं कर्मसु वैषम्यमन्तरायोऽपहतिः यथासमं विहितफलप्रदत्वेन समर्थः भवेत् तथा तव शिष्यस्य बलेः कर्मणो वैषम्यलक्षणमपराधं सन्तनु परिहृतं कुरु, कर्मरन्ध्रं समुन्नतं कुरु वा। "छिद्रं रन्ध्रापराधयोः" (वैज.को.६-३-९) इत्यभिधानम्। **ब्रह्मणा दृष्टं वा**।।११-१४।।

---

1.A adds देहगेहादिना 2--2.A Omits 3.A यज्ञफलप्रदः ; B,J यज्ञफलदः 4.A,B,T Omit कृताञ्जलिः 5.A,B,T भगवान्

सति छिद्रे तत्परिहारः तदेव नास्ति, अस्ति चेदपि तव नामसङ्कीर्तनं निश्छिद्रं करोतीति वक्ति उशनेत्याह - शुक्र इति। यज्ञपुरुषो भवान्यस्य बलेः कर्मेश्वरः कुतः? यज्ञेश इत्यनेन सर्वयज्ञस्वामित्वं तव विद्यते किमुत एतद्यज्ञस्वामित्वं बलेस्त्वद्भक्तत्वादिति सूचितम्। तस्य बलेः कर्म वैषम्यं कुतो हेतोः स्यादित्यन्वयः। सर्वभावेन सर्वदानेन पूजित इत्यस्माच्च।।१५।।

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः।
सर्वं करोति निश्छिद्रमनुसङ्कीर्तनं[1] तव।।१६।।

तथापि वदतो भूमन् करिष्याम्यनुशासनम्।
एतच्छ्रेयः परं पुंसां यत्तवाज्ञाऽनुपालनम्।।१७।।

[2-] श्रीशुक उवाच [-2]

[3]प्रतिनन्द्य हरेराज्ञामुशना भगवानिति।
यज्ञच्छिद्रं [4]समाधत्त बलेर्विप्रर्षिभिस्सह।।१८।।

एवं बलेर्महीं राजन्! भिक्षित्वा वामनो हरिः।
ददौ भ्रात्रे महेन्द्राय त्रिदिवं यत्परैर्हृतम्।।१९।।

प्रजापतिपतिर्ब्रह्मा देवर्षिमनुभूमिपैः[5]।
दक्षभृग्वङ्गिरोमुख्यैः कुमारेण भवेन च।।२०।।

कश्यपस्यादितेः प्रीत्यै सर्वभूतभवाय च।
लोकानां लोकपालानामकरोद्वामनं पतिम्।।२१।।

**श्रीध०** आस्तां तावत् पूजा मन्त्रत इति। यस्मान्मन्त्रतः स्वरादिभ्रंशेन, तन्त्रतो व्युत्क्रमादिना, देशतः कालतश्च, अर्हतः पात्रतः, वस्तुतस्तु[6] दक्षिणादिना यच्छिद्रं न्यूनं तत्सर्वं तव [7]नाम[8]सङ्कीर्तनमात्रमेव निश्छिद्रं करोतीति ।।१६,१७।।

**प्रतिनन्द्य** इति। हरेराज्ञां प्रतिनन्द्य बलेः यज्ञच्छिद्रं समाधत्त सन्दधे। पाठान्तरे समाधाय तदाज्ञां, सम्पादितवानिति शेषः।।१८,१९।।

---

1. A,G,J,T 'ं नाम 2- -2. M,Ma Omit 3. A,B,G,J,M,Ma,T अभि 4.M,Ma समतनोत् 5. A,B,G,J,M,Ma,T पितृ 6. A,B,J 'ञ्च' 7. H,V Omit नाम 8. B,H,J,V अनुकीर्तन

**प्रजापतिरिति**। देवाश्च ऋषयश्च भूमिपाश्च मनवस्तैस्सहितः।।२०-२१।।

**वीर०** किं वक्तव्यम्? एतत् यत्तव पूजनम् अवैषम्यावहमिति यतः तव[1-] नाम्नः सङ्कीर्तनमेव[-1] तदावहमित्याह - मन्त्रत इति। मन्त्रतन्त्रदेशकालयोग्यवस्तुभ्यो यच्छिद्रं मन्त्रादीनां यद्वैगुण्यमित्यर्थः। तत्सर्वं तव नामसङ्कीर्तनमेव निश्छिद्रं करोति।।१६।।

यद्यप्येवं नास्त्येव वैषम्यं तथापि, हे भूमन्! गदतस्तव अनुशासनं करिष्याम्येव यतस्तव आज्ञानुपालनमिति यदेतत् पुंसां परमं श्रेयः।।१७।।

इतीत्थं हरेराज्ञां प्रतिनन्द्य भगवान् उशनाः शुक्रः बलेर्यज्ञस्य छिद्रमृषिभिस्सह समाधत्त समादधे।।१८।।

इत्थमुपवर्णितं भगवतो वामनस्य चरित्रमुपसंहरति - **एवमिति**। हे महाराज! यत्परैः अपहृतं तत्त्रिदिवमित्थं बलेः सकाशाद्याचित्वा वामनरूपो हरिः भ्रात्रे महेन्द्राय ददौ।।१९।।

तदा प्रजापतिर्ब्रह्मा चतुर्मुखः देवैः ऋषिभिः पितृभिः भूमिपैः मनुतत्पुत्रैर्दक्षादिभिश्च सह कश्यपस्य अदितेश्च प्रीत्यै सर्वभूतानां भवाय विभवाय योगक्षेमार्थं च लोकानां तत्पालकानां च पतिं वामनमकरोत्।।२०-२१।।

**बिज०** तवानुसङ्कीर्तनं मन्त्रतः तन्त्रतः छिद्रं सर्वं देशकालोचितवस्तुतो यथा तथा निश्छिद्रं पूर्णं करोतीत्यन्वयः।।१५-२०।।

**वेदानां[2-] सर्वदेवानां[-2] धर्मस्य तपसः[3] श्रियः।**
**मङ्गलानां व्रतानां च कल्पं[4] स्वर्गापवर्गयोः।।२२।।**

**उपेन्द्रं कल्पयाञ्चक्रे[5] पतिं सर्वविभूतये।**
**तदा सर्वाणि भूतानि भृशं मुमुदिरे नृप।।२३।।**

**ततस्त्विन्द्रः पुरस्कृत्य देवयानेन वामनम्।**
**लोकपालैर्दिवं निन्ये ब्रह्मणा चानुमोदितः।।२४।।**

**प्राप्य त्रिभुवनं चेन्द्र उपेन्द्रभुजपालितम्[6]।**
**श्रिया परमया जुष्टो मुमुदे गतसाध्वसः।।२५।।**

---

1- - 1. A,B,T त्वन्नामकीर्तनमेव 2- -2. H,V देवानां सर्वदेवानां 3. A,B,G,J,M,Ma,T यशसः 4. H,V कल्पं 5. H,V °क्र इति 6. A,B,G,J,T °तः

**श्रीध०** **वेदानामिति।** ननु लोकादीनां पतिरिन्द्रोऽस्त्येव सत्यम्, तथापि वेदादीनां[1] कल्पं[2] पालने दक्षम्।।२२।।

**उपेन्द्रमिति।** वामनमुपेन्द्रं कल्पयाञ्चक्रे।।२३।।

**तत इति।** देवयानेन[3] मार्गेण विमानेनेति वा।।२४,२५।।

**वीर०** वेदादीनां कल्पं समर्थं, पालने इति शेषः। उपेन्द्रं सर्वभूतानां विभूतये पतिं कल्पयाञ्चक्रे अकरोत्।।२२।।

तदा सर्वाणि भूतानि नितरां मुमुदिरे। ' मुद - हर्षे ' इति धातुः।।२३।।

ततो ब्रह्मणाऽनुमोदितः इन्द्रो लोकपालैस्सह वामनं भगवन्तं देवयानेन देववाह्ययानेन दिवं प्रतिनिन्ये प्रापयामास।।२४।।

तत उपेन्द्रस्य भगवतः भुजपालितं त्रिभुवनं प्राप्य त्रिभुवनाधिपतिर्भूत्वा इन्द्रः निर्भयः परमया श्रिया सम्पदा जुष्टो मुमुदे।।२५।।

**विज०** ततः बलियज्ञशालायाः।।२१-२५।।

**ब्रह्मा शर्वः कुमारश्च भृग्वाद्या मुनयो नृप!।**
**पितरः सर्वभूतानि सिद्धा वैमानिकाश्च ये।।२६।।**

**सुमहत्कर्म तद्विष्णोर्गायन्तः परमाद्भुतम्।**
**धिष्ण्यानि स्वानि ते जग्मुरदितिञ्च शशंसिरे।।२७।।**

**सर्वमेतन्मयाऽऽख्यातं भवतः कुलनन्दन!।**
**उरुक्रमस्य चरितं श्रोतॄणामघमोचनम्।।२८।।**

**पारं महिम्न उरु विक्रमतो गृणानो[4] यः पार्थिवानि[5] विममे स रजांसि मर्त्यः[5]।**
**किं जायमान उत जात उपैति मर्त्य इत्याह मन्त्रदृगृषिः पुरुषस्य यस्य।।२९।।**

**य इदं देवदेवस्य हरेरद्भुतकर्मणः।**
**अवतारानुचरितं शृण्वन् याति परां गतिम्।।३०।।**

**क्रियमाणे कर्मणीदं दैवे पित्र्येऽथ मानुषे[6]।**
**यत्र यत्रानुकीर्त्येत तत्तेषां सुकृतं विदुः।।३१।।**

1. H,V देवादीनां 2. H,V कल्पं 3. A adds तत्संज्ञक° 4. M,Ma मुराः 5- -5. M,Ma °न्यपि कविर्विममे रजांसि। 6. M,Ma मानवे

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
अष्टमस्कन्धे त्रयोविंशोऽध्यायः।।२३।।

**श्रीध० सर्वमिति**। एतच्चरितमाख्यातमिति विशेषोक्त्या अन्यान्यपि सन्तीत्युक्तम्।।२६-२८।।

तानि तर्हि निश्शेषाणि वर्णनीयानीत्यपेक्षायामाह - **पारमिति**। उरु बहुधा विक्रमतो विष्णोर्महिम्नः पारं यो गृणानो भवति स मर्त्यः पार्थिवानि रजांस्यपि विममे गणितवान्। यथा पार्थिवपरमाणुगणनमशक्यं तथा विष्णोर्गुणगणनमप्यशक्तमित्यर्थः। तथा च मन्त्रः - "विष्णोर्नु कं वीर्याणि" प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि योऽस्कभाय उत्तरम्। सधस्तं विचक्रमान त्रेधोरूगायः" (ऋक्.म.1-154-1) इति। एतदेव[1] मन्त्रान्तरार्थं सूचयन्नाह - यस्य पुरुषस्य पूर्णमहिम्नः पारं मन्त्रदृगृषिर्वसिष्ठ इति एवमाह - कथम्? किं जायमानो जातो वा उपैति न कोऽपीति वदन् अनन्तत्वेनैवाहेत्यर्थः। तथा च मन्त्रः - "न ते विष्णो! जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप " इति।।२९।।

**य इति**। य इदं शृण्वन्[2] भवति स परां गतिं याति।।३०।।

**क्रियमाण इति**। सुकृतं यथावत्कृतं विदुः।।३१।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टमस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां त्रयोविंशोऽध्यायः।।२३।।

**वीर०** ततो हे नृप! सर्वे ब्रह्मादयो वैमानिका विमानारूढाश्च तद्विष्णोर्वामनस्य सुमहदनितरसाधारणं अत एव परमाद्भुतं कर्म चरित्रं गायन्तः स्वस्वस्थानानि जग्मुः अदितिं च शशंसिरे तद्बुद्ध्य।।२६,२७।।

हे कुरुनन्दन! श्रोतॄणां शृण्वतां दुरितहरं सर्वमस्मद्बुद्धिगोचरमेतदुरुक्रमस्य चरितं भवतो मया कथितं, सर्वं मयाऽऽख्यातमित्यनेन स्वमतिविषयं सर्वमाख्यातमित्यभिप्रेतं, न तु उरुक्रममहिम्नः परिच्छिन्नत्वमित्यर्थः[3]।।२८।।

तदेव व्यञ्जयितुं तन्महिम्नोऽनवच्छिन्नत्वमाह - **पारमिति**। यो मर्त्यः पुमानुरुक्रमस्य महिम्नः पारमवधिं गृणानो भवति स मर्त्यः पृथिव्या इमानि पार्थिवानि रजांसि विममे गणयेत् यथा पार्थिवानां रजसां गणना कर्तुमशक्या तथा उरुक्रमस्य गुणानामपीत्यर्थः। पार्थिवानि रजांसि वा बुद्धिमान् महता कालेन गणयेत् न तु उरुक्रमस्य गुणानिति वाऽर्थः। तथा च श्रूयते - " विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि"

---

1. H,V एवमेव 2. H,V add गुणन् 3. W Omits इत्यर्थः

(ऋक्.म.1-154-1) इति। तथाहि - यस्य पुरुषस्य उरुक्रमस्य महिम्नः पारं जातः जायमानो जनिष्यमाणो वा मर्त्यः उपैति किं, नोपैत्येवेति मन्त्रद्रष्टा ऋषिः वसिष्ठादिराह।।२९।।

प्रकृतावतारचरित्रश्रवणादिफलमाह - य इति। यः कश्चिदेतदद्भुतकर्मणो देवानां ब्रह्मादीनामपि देवस्य वामनस्य अवतारानुचरितं शृण्वन् परां गतिं मुक्तिरूपां याति प्राप्नोति।।३०।।

यत्र यत्र देवमनुष्यपित्रादि सम्बन्धिनि क्रियमाणे कर्मणि इदमवतारानुचरितं कीर्त्यते तत्तेषां सम्बन्धि कर्म सुकृतं सुष्ठु अविगुणं यथा भवति तथा कृतं विदुः, तज्ज्ञा इति शेषः। श्रौतस्मार्तसर्वकर्मसाङ्गुण्यापादकं एतच्चरित्रश्रवणादिकमित्यर्थः।।३१।।

इति श्रीमद्भागवते अष्टमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां त्रयोविंशोऽध्यायः।।२३।।

विज० ब्रह्मादिमहिमातिरिक्तमहिमत्वे मुरारेश्चरितस्य संसाराख्याघसङ्घातविघातदक्षत्वं घटतामपि तत्कथमित्याशङ्क्य, प्रमाणपूर्वकं तदाह पारं महिम्न इति। " विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम् " (ऋक्.म.1-154-1) " न ते विष्णो जायमानो न जातः " (ऋक्.7-99-2) इति मन्त्रदृग्वेदद्रष्टा ऋषिरित्याह यस्य पुरुषस्य यो मर्त्यः पार्थिवानि रजांसि पार्थिवपरमाणून्विममे मानङ्करोत्यपि। छन्दसि " व्यत्ययो बहुलम्" (अष्टा.1-85-77) इति वचनात् लडर्थे लिट्। जातो जायमानः उत जनिष्यमाणो वा समर्थः महिम्नः पारं समाप्तिम् उपैति किम्? नैवोपैतीत्यन्वयः। पुरुषः क इति तत्राह - मुरारेरिति। स यदुतिल्क इति नेत्याह, उरु विक्रमत इति। उरु महद्यथा भवति तथेति क्रियाविशेषणं, कविरप्यतिक्रान्तदर्श्यपीति वा।।२६-२९।।

यस्तस्याद्भुतकर्मणो देवदेवस्य हरेः अवतारानुचरितं शृण्वन् वर्तते स परां गतिं वैकुण्ठाख्यां यातीत्यन्वयः।।३०।।

अन्यविषयकर्मसमयेऽपि कीर्त्यमानमिदं भगवत्कर्मपूर्णफलप्रदं करोतीत्याह - क्रियमाण इति। अथ मङ्गले दैवप्रभृतिकर्मणि क्रियमाणे सति इदमवताराऽनुचरितं यत्र यत्र कर्मणि कीर्त्यते तेषां पुंसां तत्तत्कर्म सुकृतं पूर्णफलदानसमर्थं विदुः ज्ञानिन इति शेषः।।३१।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
अष्टमस्कन्धे त्रयोविंशोऽध्यायः।।२३।।

oooOooo

# चतुर्विंशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या त्रयोविंशोऽध्यायः)

### मत्स्यावतारकथा प्रारम्भघट्टः

**राजोवाच**

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामो[1] हरेरद्भुतकर्मणः।
अवतारकथामाद्यां मायामत्स्यविडम्बनम्।।१।।

यदर्थमदधाद्रूपं मात्स्यं लोकजुगुप्सितम्।
तमःप्रकृतिदुर्मर्षं कर्मग्रस्त इवेश्वरः।।२।।

एतन्नो भगवन्सर्वं यथावद्वक्तुमर्हसि।
उत्तमश्लोकचरितं सर्वलोकसुखावहम्[3]।।३।।

**सूत उवाच**

इत्युक्तो विष्णुरातेन भगवान्बादरायणिः।
उवाच चरितं विष्णोर्मात्स्यरूपेण यत्कृतम्[4]।।४।।

**श्रीशुक उवाच**

गोविप्रसुरसाधूनां छन्दसामपि चेश्वरः।
रक्षामिच्छंस्तनूर्धत्ते धर्मस्यार्थस्य चैव हि।।५।।

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुर्विंशे भगवतः[5] कथा मत्स्यस्वरूपिणः। विविच्यते[5] यतः सत्यव्रतरक्षा महार्णवे।।

तनुं तनुं प्रदर्श्यादौ[6] निजैश्वर्यनिदर्शनात्। मत्स्यं पृच्छति पृथ्वीशो लीलया वामनोपमम्।।

**भगवन्निति**। मायया मत्स्यविडम्बनं मत्स्यरूपानुकरणं यस्यां निरूप्यते[7] ताम्।।१।।

ननु कस्मादकस्मादेव मत्स्यावतारश्रवणेच्छा, श्रीवामनावतारसादृश्यादित्याह[8] - **यदर्थमिति** द्वाभ्याम्। दुर्मर्षं दुस्सहम्।।२।।

**एतदिति**। बलेरनुग्रहाय जुगुप्सितमपि याचकरूपं धृतवानिति[9] युक्तमुक्तम्। यदर्थं तु लोकजुगुप्सितं मात्स्यं रूपमधारयत् एतन्नो यथावद्वक्तुमर्हसीत्यर्थः।।३,४।।

---

1.A,B,G,J,M,Ma,T °मि 2.M,Ma °धं° 3.W मलापठम् 4.A,B,G,J,M,Ma,T °भं ° 5--5.A,B,J प्रसङ्गेन मत्स्यरूपस्य शार्ङ्गिणः लीलोच्यते 6.A,B,J विद° 7.H,V Omit निरूप्यते 8.A,B,J Omit अवतार 9. A धृत्वा बबृधेति ; B धृतवानिति

सामान्येनावतारप्रयोजनमाह - **गोविप्रेति**।।५।।

## श्रीवीरराघवविदुषालिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदेवं श्रुतवामनावतारतच्चरित्रोऽवतारप्रसङ्गात् मात्स्यमवतारं शुश्रूषुः पृच्छति राजा-**भगवन्निति** त्रिभिः। हे भगवन्! मुने! अद्भुतकर्मणो हरेराद्यावतारकथां श्रोतुमिच्छामि। कथम्भूताम्? मायामत्स्य-विडम्बनामद्भुतमत्स्यसजातीयचेष्टानुकारो यस्यां प्रतिपाद्यस्तां, कथाया आद्यत्वं तदवतारप्राथम्यप्रयुक्त मित्यवगन्तव्यम्।।१।।

स्वयमीश्वरोऽपि कर्मग्रस्तः कर्मवश्य इव जीववत्तमस्स्वभावं दुर्मर्षं क्रोधि अत एव लोकैः जुगुप्सितं निन्दितं मात्स्यं रूपं यदर्थं यस्मै प्रयोजनाय अधात्[1] धृतवान्।।२।।

हे भगवन्! मुने! एतत् सप्रयोजनं सर्वं मत्स्यावतारचरित्रं यथावत् वक्तुमर्हसि। श्रोतव्यत्ववक्तव्यत्व-योर्हेतुं वदंश्चरित्रं विशिनष्टि सर्वेषां लोकानां शृण्वतां वदतां च मलमघमपहन्तीति तथा तत्।।३।।

इत्थं आपृष्टमत्स्यावतारचरित्रो भगवान् बादरायणिः यथावद्वर्णयामासेत्याह सूतः **इतीति**। विष्णुरातेन परीक्षिता इत्थमुक्तः, पृष्टो भगवान् बादरायणिः श्रीशुको विष्णोश्चरितं उवाच। किं तत्? यन्मत्स्यरूपेण कृतम्।।४।।

तदेवाह - [2]गोविप्रेत्यादिना[-2] [3]यावत्समाप्ति[-3]। यदर्थमदधाद्रूपमिति विशेषतः पृष्टमत्स्यावतारप्रयोजनं वक्ष्यंस्तावत् सर्वावतारसाधारणं प्रयोजनमाह - **गोविप्रेति**। गवां विप्राणां सुराणां साधूनां छन्दसां वेदानां तदुदितधर्ममर्यादानां च रक्षामिच्छन् धर्मार्थादिपुरुषार्थचतुष्टयप्रदानार्थं च तनूः मत्स्यादिमूर्तीः ईश्वरो धत्ते बिभर्ति।।५।।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अंशिज्ञानवदंशज्ञानमपि मुक्तिसाधनं गुणाद्यविशेषादिति दर्शनाय मत्स्यावतारचरितमनुवर्तयत्य-[4]स्मिन्नध्याये। तत्र श्रुतवामनावतारचरितसुधापानाद्वितृष्ण इव पुनरपि राजा दशावताराणामादित्वेन मत्स्यावतारमाहात्म्यं श्रोतुं पृच्छति - राजेति, मायामत्स्यस्य विडम्बनं यस्यां सा तथा।।१।।

कथं जुगुप्सितमभूदिति तत्राह - **तमःप्रकृतीति**। तमः स्वभावो यस्य स तथा, दुर्मर्षं सोढुमशक्यं, कर्मग्रस्तो जीवः।।२।।

1. A,T अदधात् 2- -2. A,B,T Omit 3- -3. W Omit 4.A,B 'ध्या °

लोकजुगुप्सितं चेत्किमिति वक्तव्यमत्राह - उत्तमेति।।३-५।।

**उच्चावचेषु भूतेषु चरन्वायुरिवेश्वरः।**
**नोच्चावचत्वं भजते निर्गुणत्वाद्धियो गुणैः।।६।।**

**आसीदतीतकल्पान्ते ब्राह्मो नैमित्तिको लयः।**
**समुद्रोपप्लुतास्तत्र लोका भूरादयो नृप।।७।।**

**कालेनाऽऽगतनिद्रस्य धातुः शिशयिषोर्जले।**
**मुखतो निस्सृतान्वेदान् हयग्रीवोऽन्तिकेऽहरत्।।८।।**

**ज्ञात्वा तु दानवेन्द्रस्य हयग्रीवस्य चेष्टितम्।**
**दधार शफरीरूपं भगवान्हरिरीश्वरः।।९।।**

**तत्र राजर्षिः कश्चिन्नाम्ना सत्यव्रतो महान्।**
**नारायणपरोऽतप्यत् स नृपः सलिलाशनः।।१०।।**

**श्रीध०** जुगुप्सितत्वं परिहरति - **उच्चावचेष्विति**। धियो गुणैः यान्युच्चावचानि भूतानि तेषु नियन्तृत्वेन चरन्नपि ईश्वरो नोच्चावचत्वं भजते, निर्गुणत्वात्, शुद्धसत्त्वमयैर्मत्स्याद्यवतारैरुच्चावचत्वशङ्का केति भावः।।६।।

विशेषतो मत्स्यावतारप्रयोजनमाह - **आसीदिति** त्रिभिः। ब्रह्मणो निद्रायां भवो ब्राह्मः तेनैव निमित्तेन जातो नैमित्तिकः। समुद्रे उपप्लुता निमग्नाः।।७।।

**कालेनेति**। अन्तिके निस्सृतान्।।८।।

**ज्ञात्वेति**। शफरीरूपं मत्स्यरूपम्।।९।।

प्रयोजनान्तरञ्च लीलाप्रकारञ्चाह - **तत्रेत्यादिना** यावदध्यायपरिसमाप्ति।।१०।।

**वीर०** यदशङ्कितं लोकजुगुप्सितं तमःप्रकृतिदुर्मर्षमिति सावद्यत्वं तत्परिहरति - **उच्चेति**। उत्कृष्टेष्वपकृष्टेषु च देवमनुष्यतिर्यगादिभूतेषु चरन् तत्सजातीयजन्मकर्मादिकं कुर्वन्नपि ईश्वर उच्चावचत्वं कर्मायत्तदेवमनुष्यादितारतम्यं न भजते यथा वायुः सर्वत्र व्याप्नुवन्नपि न व्याप्यगतधर्मैः स्पृश्यते तद्वत्, अत्र हेतुं

---

1. M,Ma योऽनघ 2. H,V 'न ग' 3. A,B,G,J,M,Ma,T 'धेली 4. H,V 'न्नु' 5. A,B,G,J,M,Ma,T तद्यान' 6- -6. A,B,G,J,T तपः स सलिलाशनः ; M,Ma तपस्तत्सलिलाशये 7. A,B,J add कृतः पुनः 8. A,B,J 'द्याकारै' 9. A,B,J 'ङ्केति 10. A,B,J 'न्नु' 11- -11. A,B,J तत्र राजऋषिरित्यादि यावत्समाप्ति

वदन् विशिनष्टि य ईश्वरो गुणैर्हेयगुणप्रतिभटैः कल्याणगुणैः निर्गुणत्वात् सत्त्वादिप्राकृतगुणरहितत्वाद्धि नोच्चावचत्वं भजत इति - " न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्तिभिर्गुणैः " (भ.गी.18-40) इत्युक्तरीत्या कर्ममूलकसत्त्वादिगुणत्रयसम्बन्धनिमित्तदेवमनुष्याद्युच्चावचत्वं सर्वजीवसाधारणम्। भगवतस्तु गवादिरक्षार्थं स्वेच्छोपात्ताप्राकृतदेवमनुष्यादि सजातीयदिव्यतनोः स्वस्वभावमजहतः कर्मायत्तदेहसम्बन्धतत्प्रयुक्तावद्यत्वं नास्तीत्यर्थः। यद्वा धिय इति छेदः। धीशब्देन प्रकृतिर्लक्ष्यते तद्गुणैः सत्त्वादिभिः हेतुभूतैः उच्चावचत्वं न भजते, कुतः? निर्गुणत्वात् सत्तादिप्राकृतगुणरहितत्वात्, निर्गुणत्वादित्यनेन जीववत्सत्त्वादिगुणपारवश्यं निषिध्यते न तु गुणनियन्तृत्वमपि। तथा सति " प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः " (श्वेता.उ.6-16) इति गुणेशत्व श्रवणविरोधापत्तेः।।६।।

एवं सामान्यतोऽवतारप्रयोजनं तद्यथात्म्यं चाभिधाय विशेषतो मत्स्यावतारप्रयोजनमवतारकालं चाह - **आसीदिति** त्रिभिः। अतीतस्यातिक्रान्तस्य कल्पस्यान्तेऽवसाने, ब्राह्मो नाम नैमित्तिको लय असीत् ब्रह्मणो निद्रायां भवो ब्राह्मः तेनैव निमित्तेन जातो नैमित्तिकः तत्र तदा प्रलयकाले भूरादयः त्रयो लोकाः समुद्रे उपप्लुताः निमग्ना आसन्।।७।।

कालेन दिनावसानरूपकालेन निमित्तेनागतनिद्रस्य सम्प्राप्तनिद्रस्यात एव शिशयिषोः शयितुमिच्छोर्धातुः ब्रह्मणो मुखात् निस्सृतान् गलितान् वेदानन्तिके समीपवर्ती हयग्रीवाख्यो दानवेन्द्रोऽपहृतवान् अन्तिके निस्सृतानिति वा सम्बन्धः।।८।।

तदा दानवश्रेष्ठस्य हयग्रीवस्य तच्चेष्टितं ज्ञात्वेश्वरो हरिर्भगवान् शफरीरूपं मात्स्यं रूपं दधार, हयग्रीवाख्यं दानवं निहत्य वेदान् ब्रह्मणे प्रत्यर्पयितुं मत्स्यरूपेणावततारेति विशेषतः प्रयोजनमुक्तम्, शफरीति स्त्रीत्वमविवक्षितम्। मत्स्यरूपेणावतीर्णः इत्यर्थः।।९।।

एवं सामान्यतो विशेषतश्चावतारप्रयोजनमभिधाय अथावतरणप्रकारं वक्तुमितिहासं प्रस्तौति-तत्रेति। तत्र तस्मिन्नेवातीते कल्पे कश्चित्सत्यव्रताख्यो राजर्षिः महान् अक्रोधाद्यात्मगुणयुक्तः नारायणः परः प्राप्यो यस्य तादृशो बभूव। स च सलिलमेवाशनं यस्य तादृशस्तपोऽतप्यत् चचार।।१०।।

**विज०** ननु उच्चावचेषु सुरनरादिसंज्ञेषु भोगायतनशरीरेषु वर्तमानस्य हरेरिन्द्रियगुणैरवलेपोऽपि सम्भाव्यते देवदत्तवदिति तत्राह - **उच्चावचेष्विति**। धीशब्देन इन्द्रियाण्युपलक्षयति।।६।।

आदित एव वक्तुमुपक्रमते - आसीदिति। समुद्रैरूपप्लुता आलीनाः।।७।।

अन्तिके विदूरतः।। ८-१०।।

**योऽसावस्मिन्महाकल्पे तनयः स विवस्वतः।**
**श्राद्धदेव इति ख्यातो मनुत्वे हरिणाऽर्पितः।।११।।**

**एकदा कृतमालायां कुर्वतो जलतर्पणम्।**
**तस्याञ्जल्युदके काचिच्छफर्येकाऽभ्यपद्यत।।१२।।**

**सत्यव्रतोऽञ्जलिगतां सह तोयेन भारत!**
**उत्ससर्ज नदीतोये शफरीं द्रविडेश्वरः[1]।।१३।।**

**तमाह सातिकरुणं महाकारुणिकं नृप[2]!**
**मत्स्य उवाच[3]**
**यादोभ्यो ज्ञातिघातिभ्यो दीनां मां दीनवत्सल!**
**कथं विसृजसे राजन्! भीतामस्मिन् सरिज्जले।।१४।।**
**श्रीशुक उवाच[4]**

**स[5] आत्मनोऽनुग्रहार्थं प्रीत्या मत्स्यवपुर्धरम्।**
**अजानन्नक्षणार्थाय शफर्याः स मनो दधे।।१५।।**

**श्रीध०** य इति स एव श्राद्धदेव इति ख्यातः।।११।।

**एकदेति**। कृतमालायां नद्याम्।।१२-१५।।

**वीर०** सत्यव्रतं विशिनष्टि - य इति। योऽतीतकल्पे सत्यव्रताख्यो राजर्षिः स एव अस्मिन् महाकल्पे विवस्वतस्तनयः श्राद्धदेव इति प्रसिद्धः मनुत्वे मनोरधिकारे[6] हरिणा भगवता अर्पितः निहितः मनुः कारितः इत्यर्थः।।११।।

एकदा कृतमालायां नद्यां जलतर्पणं कुर्वतस्तस्य सत्यव्रतस्य अञ्जल्युदके काचिदेका असहाया शफरी अभ्यपद्यत अदृश्यत। प्राप्तवती वा स्त्रीत्वमविवक्षितम्। "इत्युक्तः सोऽनयन्मत्स्यं समुद्रे प्राक्षिपज्झषम्"। " क्षिप्यमाणः", "तेन वदता तमाह" इत्यादिषु पुंस्त्वनिर्देशस्य बहुलमुपलप्स्यमानत्वात्।।१२।।

---

1. H,V द्रविलेश्वरः ; W द्रमिडेश्वरः 2. A,B,G,J,M,Ma,T नृपम् 3- -3. A,B,G,J,M,Ma,T Omit 4- -4. A,B,G,J,M,Ma,T Omit 5. A,B,G,J,T तमा° 6. A,B,T कारत्वे

ततो हे भारत! द्रमिडदेशाधिपः[1] सत्यव्रतः तां शफरीं अञ्जलिगतां तोयेनाञ्जलिस्थेन सह नदीतोये तत्याज।।१३।।

तं त्यक्तवन्तं महाकारुणिकं नृपं सत्यव्रतं सा शफरी अतिकरुणं यथा भवति[2] तथा उवाच। तदेवाह - यादोभ्य इति। हे राजन्! ज्ञातीनस्मान् घातयन्तीति तथा तेभ्यः ज्ञातयश्च ते घातिनश्च तेभ्य इति वा यादोभ्यो जलचरेभ्यो भीताम् अत एव दीनां मां हे दीनवत्सल! कथमस्मिन् सरिज्जले बहुजलचराक्रान्ते विसृजसे त्यजसि।।१४।।

इत्येवमुक्तः स राजा सत्यव्रतः आत्मनः स्वस्यानुग्रहार्थं प्रीत्या मत्स्यमूर्तिं बिभ्राणं साक्षात् भगवन्तमजानन् शफरीरक्षणार्थं मनो दधे मनश्चक्रे।।१५।।

विज० कोऽसौ सत्यव्रत इति तत्राह - योऽसाविति।।११,१२।।

अञ्जलितोयेन।।१३,१४।।

स मनुः शफर्याः रक्षणार्थाय।।१५।।

तस्या दीनतमं[3] वाक्यमाश्रुत्य स महीपतिः।
कलशाप्सु निधायैनां[4] दयालुर्निन्य आश्रमम्।।१६।।

सा तु तत्रैकरात्रेण वर्धमाना कमण्डलौ।
अलब्धाऽऽत्मावकाशा[5] सा[6] विदमाह महीपतिम्।।१७।।

मत्स्य उवाच[7-7]

नाहं कमण्डलावस्मिन्कृच्छ्रं वस्तुमिहोत्सहे।
कल्पयौकः सुविपुलं यत्राहं निवसे सुखम्।।१८।।

श्रीशुक उवाच[8-8]

स एनां तत आदाय न्यधादौदञ्चनोदके।
तत्र क्षिप्ता मुहूर्तेन हस्तत्रयमवर्धत।।१९।।

न म एतदलं राजन्! सुखं वस्तुमुदञ्चनम्।
पृथु देहि पदं मह्यं यत्त्वाहं शरणङ्गता।।२०।।

---

1. A,B,T 'वि' 2.W Omits भवति 3. A,B,G,J,M,Ma,T 'तं 4. H,V 'तां 5. A,B,G,J,T 'ब्धा' 6. A,B,G,J,M,Ma,T 'शं वा इदं' 7- -7. A,B,G,J,M,Ma,T Omit 8--8 A,B,G,J,M,Ma,T Omit 9.H,V यात्वां

श्रीध० नाहमिति। यत्राहं सुखं निवसामि तदोकः स्थानं कल्पय।।१६-१८।।

स इति। औदञ्चनोदके मणिकस्थे जले।।१९,२०।।

वीर० ततस्तस्याः शफर्याः दीनतरमुक्तं वाक्यमाकर्ण्य स महीपतिः सत्यव्रतः दयालुरेनां शफरीं कलशाप्सु कमण्डलुजले निधाय स्वाश्रमं प्रति निन्ये प्रापयामास।।१६।।

ततः सा शफरी तत्र कमण्डलौ एकरात्रेण वर्धमाना सती कमण्डलोरात्मना पूर्णत्वादलब्ध आत्मन अवकाशो यया सा च महीपतिं सत्यव्रतं प्रति इदं वक्ष्यमाणमुवाच।।१७।।

तदेवाह - नेति। अस्मिन् कमण्डलौ अहं कृच्छ्रं सङ्कटं यथा भवति तथा वस्तुं वासं कर्तुं नोत्सहे, अतः सुविपुलमोकः स्थानं कल्पय यत्राहं सुखं निवसामि तादृशमोकः कल्पयेत्यर्थः।।१८।।

एवमुक्तः सः सत्यव्रतः ततः कमण्डलोः एनां शफरीमादाय औदञ्चनोदके विपुलकटाहोदके मणिकोदके वा न्यधात् निहितवान्। तत्रौदञ्चनोदके क्षिप्ता सा शफरी मुहूर्तेन कालेन हस्तत्रयमवर्धत।।१९।।

तथा वर्धमाना पुनरप्याह - हे राजन्! मे मम सुखं वस्तुं एतदुदञ्चनं नाऽलं न पर्याप्तं ततो मह्यं पृथु विपुलं पदं स्थानं देहि कल्पय यतः त्वामहं शरणङ्गता।।२०।।

विज० अलब्धात्मावकाशमिति क्रियाविशेषणम्।।१६-१८।।

उदञ्चनं माणिक्यं हस्तत्रयं व्यामत्रयम्।।१९।।

पदं स्थानम्।।२०।।

*तत आदाय सा राज्ञा क्षिप्ता राजन् सरोवरे।
तदावृत्त्यात्मना सर्वं[1] महामीनोऽन्ववर्धत।।२१।।

मीन[2] उवाच[2]

नैतन्मे स्वस्त्वये राजन्नुदकं सल्लिलौकसः।
निधेहि रक्षायोगेन ह्रदे मामविदासिनि।।२२।।

श्रीशुक[3] उवाच[3]

इत्युक्तः सोऽनयन्मत्स्यं तत्र तत्राविदासिनि।
जलाशये सम्मितं तं समुद्रे प्राक्षिपज्झषम्।।२३।।

---

*M,Ma add श्रीशुक उवाच 1.A,G,J,T सोऽयं ; B तोयं 2--2. A,B,G,H,J,T,V,W Omit 3- -3. A,B,G,H,J,T,V,W Omit

**क्षिप्यमाणस्तमाहेदमिह मां मकरादयः।**
**अदन्त्यतिबला वीर न मां उत्स्रष्टुमर्हसि।।२४।।**

**एवं विमोहितस्तेन वदता वल्गुभारतीम्।**
**तमाह को भवानस्मान्मत्स्यरूपेण मोहयन्।।२५।।**

**श्रीध० नेति।** रक्षायोगेन रक्षाया योगेन उपायेन। यथा महाह्रदप्रातेरर्वाक् जलं विना न शुष्येयं तेन उपायेन निधेहि। अविदासिनि अनुपक्षये।।२१,२२।।

**इतीति।** सम्मितं तत्तज्जलाशयपरिमितं सन्तम्।।२३-२५।।

**वीर०** इत्युक्तेन सत्यव्रतेन तत उदञ्जनादादाय सरोवरे क्षिप्ता सती हे राजन्! तत्सरोवरमावृत्य कृत्स्नमभिव्याप्य महामीनरूपेण व्यवर्धत।।२१।।

पुनस्तथा वर्धमान उवाच - हे राजन्! सल्लिलमेव ओकः स्थानं यस्य तस्य मम स्वस्तये सुखाय सुखं वस्तुं एतत् सारसं जलं नालं सल्लिलौकसः सरसः सम्बन्ध्ये तदुदकं मम स्वस्तये न भवतीति वाऽन्वयः। अतो रक्षाया योगेन उपायेन अविदासिनि अनुपक्षयजले महाह्रदे निधेहि।।२२।।

इत्युक्तः स सत्यव्रतः तं मत्स्यमुत्तरोत्तरविपुले तत्र तत्र जलाशये अनयत् पुनस्तत्तज्जलाशयेन सम्मितं परिमितं तं मत्स्यं समुद्रे प्राक्षिपत्।।२३।।

समुद्रे च क्षिप्यमाणो झषः तं सत्यव्रतं इदमाह - हे वीर! इह समुद्रे मकरादयोऽतिबलाः जलचराः मामदन्ति अत्स्यन्ति, अतो मामिह समुद्रे त्वं त्यक्तुं नार्हसीति।।२४।।

इत्येवं वल्गुभारतीं सुन्दरवाचं वदता तेन मत्स्यरूपिणा भगवता विमोहितः सत्यव्रतः तं मत्स्यमाह - 'को भवानित्यादिना' इति ब्रुवाणम् इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन, अस्मान् मत्स्यरूपेण मोहयन् भवान् क इति प्रश्नः।।२५।।

**विज०** तत्सरोवरं आत्मना शरीरेणाऽऽवृत्य व्याप्य।।२१।।
अविदासिनि अगाधे अभिन्नसेतौ वा।।२२।।

अनन्तरं किमकरोदिति तत्राह - **इत्युक्त** इति। जलाशये ह्रदे असम्मितमसमानं सम्मितं समानं वा।।२३-२५।।

1- -1. A,B,G,J,M,Ma,T मा नेहोत्स्राष्टु 2- -2. H,V Omit 3. A,B,J Omit सन्तम् 4. A,B,T रक्षां विधेहीति। 5.W Omits इति।

**नैवंवीर्यो जलचरो दृष्टोऽस्माभिः श्रुतोऽपि वा[1]।**
**यो भवान् योजनशतमह्नाऽभिव्यानशेऽमरः[2][3]।।२६।।**

**नूनं त्वं भगवन्साक्षाद्धरिर्नारायणोऽव्ययः।**
**अनुग्रहाय भूतानां धत्से रूपं जलौकसाम्।।२७।।**

**नमस्ते पुरुषश्रेष्ठ स्थित्युत्पत्त्यप्ययेश्वर।**
**भक्तानां नः प्रपन्नानां मुख्यो ह्यात्मागतिर्विभो[4]।।२८।।**

**सर्वे लीलावतारास्ते भूतानां भूतिहेतवः[5]।**
**ज्ञातुमिच्छाम्यदो रूपं यदर्थं भवता धृतम्[6]।।२९।।**

**न तेऽरविन्दाक्ष पदोपसर्पणं मृषा भवेत्सर्वसुहृत्प्रियात्मनः।**
**यथेतरेषां पृथगात्मनां सतामदीदृशो यद्वपुरद्भुतं हि नः।।३०।।**

**श्रीध० नैवमिति।** अभिव्यानशेऽभितो व्याप्तवान्।।२६,२७।।

**नम इति।** मुख्यः सत्य आत्मा च गतिश्चाश्रयः।।२८,२९।।

**नेति।** हे अरविन्दाक्ष! पृथगात्मनां देहाद्यभिमानिनां सतामितरेषां पदोपसर्पणं यथा मृषा भवेत् तथा सर्वसुहृत्प्रियात्मनस्तव पदोपसर्पणं मृषा न भवेत्, यद्यस्मान्नो भक्तानामद्भुतं वपुरदीदृशो दर्शितवानसि। [7]पृथगात्मनो सतामिति[-7] पाठान्तरे पृथगात्मनो भेददर्शिनः पुंसः। असतां [8]अपरिच्छिन्नानां पदोपसर्पणं यथा मृषेत्यर्थः।।३०।।

**वीर०** कश्चित् मत्स्यविशेष एवाहमिति चेन्नेत्याह - **नेति।** एवंविधप्रभाववान् कश्चिदपि जलचरोऽस्माभिः न दृष्टः नापि श्रुतश्च। एवं वीर्यं इत्युक्तं वीर्यं दर्शयन् विशिनष्टि - य इति। यो भवान् अह्ना कालेन योजनशतमभिव्यानशे अभितो व्याप्तवान्।।२६।।

अतस्त्वं न केवलं मत्स्यः किन्त्वमरो देवः तत्रापि न ब्रह्मादिष्वमरेषु कश्चित् अपि तु साक्षादव्ययः निर्विकारो भगवान् हरिर्नारायणः त्वं नूनं निश्चितमेतदित्यर्थः। तर्हि नारायणस्य मम नैवंविध आकारः किन्तु चतुर्भुजत्वाद्याकारः इत्यतः आह - अनुग्रहायेति। भूतानामनुग्रहाय देवमनुष्यादिभूतान्यनुग्रहीतुं जलौकसां मत्स्यानां रूपं धत्से मात्स्यं रूपं बिभर्षीत्यर्थः।।२७।।

1.A,B,G,J,T च 2.H,V "होऽभि; M,Ma "ह्नाय 3.A,B,G,J,M,Ma,T "नशे सरः 4.A,B,G,J,T "त्म" 5.M,Ma "वे 6.A,B,G,J,M,Ma,T यदर्थं 7- -7. A,B,J Omit 8.A,B,J Omit अ"

कोऽसौ नारायणः? इत्यपेक्षायां तं लक्षयन् नमस्करोति - **नम इति**। हे पुरुषोत्तम! हे जगदुत्पत्ति स्थितिलयकारणभूत! हे विभो! भक्तानां प्रपन्नानां चाऽस्माकं मुख्यः नायकोऽन्तरात्मा गतिः स्वप्राप्युपायभूतः " स तत्र पर्येति " (छान्दो.उ.8-12-3) " स उत्तमः पुरुषः " (छान्दो.उ.8-12-3) " यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते " (तैत्ति.उ.3-1) " स कारणं करणाधिपाधिपः " (श्वेता.उ.6-9) " य आत्मनि तिष्ठन् " (बृह.उ.3-7-22) " अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा " (तैत्ति.आ.3-11) " अमृतस्यैष सेतुः " (मुण्ड.उ.2-2-5) " नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम् " (मुण्ड.उ.1-1-6) इत्यादिवेदान्तवेद्यो निखिलजगदुदय विभवलयलीलः आत्मेश्वरः सर्वान्तर्गतः सिद्धोपायभूतः पुरुषोत्तमो यः स नारायणः स एवाधुना मत्स्यरूपेणावतीर्णः इति भावः। एवम्भूताय ते तुभ्यं नमः। भक्तानां प्रपन्नानां इति प्रपत्त्युपकृत भक्तियोगनिष्ठानां इत्युक्तम्।।२८।।

अनितरसाधारणप्रभावेन त्वं नारायण एवेति निश्चिनोमि। तथा अवतारा अपि सर्वे लोकहितार्था एवेति वेद्म्येव। किन्त्वेतदवतारप्रयोजनं विशेषतो ज्ञातुमिच्छामीत्याह - **सर्व** इति। ते तव सर्वे लीलावताराः लीलयोपात्ता अवताराः लीलावताराः लीलापदेन अवताराणां अकर्ममूलत्वमुक्तं भूतानां देवादीनां, भूतिः विभवः तद्धेतव इति सामान्यतोऽवतारप्रयोजनं जानाम्येवेति भावः। किन्तु यदर्थं यस्मै प्रयोजनविशेषाय अत एतन्मात्स्यं रूपं भवता[1] धृतं तत्प्रयोजनं ज्ञातुमिच्छामि।।२९।।

अनीश्वरभजनवन्मद्भजनं न मुधेति दर्शयितुमिदं मात्स्यं रूपं प्रादर्शि[2] भवतेति जानामीत्यभिप्रायेणाह - **नेति**। हे अरविन्दाक्ष! तव पदोपसर्पणं श्रीपादारविन्दभजनं पृथगात्मनां अब्रह्मात्मकस्वतन्त्रात्माभिमानिनां सतां इतरेषां पदोपसमर्पणमिव न मृषा भवेत् न व्यर्थं भवेत् इत्यर्थः[3]। अवैयर्थ्ये हेतुं वदन् विशिनष्टि - सर्वसुहृत् प्रियात्मनः सर्वेषां सुहृदः प्रियस्यान्तरात्मनश्च, यद्वा[4], सतां सर्वसुहृत् प्रियात्मन इति वाऽन्वयः। तत्पक्षे सतां साधूनां सर्वप्रकारेण सुहृत् प्रियश्च आत्मा स्वरूपं यस्य यो वेति दिक्[4]। एतद्विपरीतत्वात् इतरेषां पादोपसर्पणं मृषेति भावः। कुत एतद्विपरीतं न मृषेत्यत आह - हि यस्मात् यदिदमद्भुतं मात्स्यं वपुः नोऽस्माकं भजतामदीदृशः दर्शितवान्।।३०।।

**विज०** एवंविधं वीर्यं यस्य सः एवंवीर्यः, अह्ना झटिति व्यानशे व्याप्तः।।२६।।

---

1.A,B,T भगवता 2.A,B,T प्रदर्शितं 3 A,B,T Omit इत्यर्थः 4- -4. W Omits

विशेषसम्बन्धित्वान्नारं ज्ञानं तदयनं यस्य स तथा ज्ञानाश्रयः कश्चिच्चेतन एव नारायणः किं न स्यादित्यतः साक्षाद्धरिरिति तुरीयमूर्तिः।।२७,२८।।

यदर्थं यत्प्रयोजनाय भवता आदौ मत्स्यरूपं धृतं तत् प्रयोजनपूर्वकं ज्ञातुमिच्छामीत्यन्वयः।।२९।।

अहं त्वत्स्वरूपज्ञाने योग्य इत्याह - न ते इति। हे अरविन्दाक्ष! यथा पृथगात्मनां भिन्नविषयबुद्धीनां इतरेषां ते तव पदोपसर्पणं मुधा वृथा भवेत् तदप्येवंवित् महत्पुण्यं कर्मकरोति " तद्धास्यां ततः क्षीयते " (बृह.उ.1-4-15) इति श्रुतिः। अत एव पृथगित्युक्तं, सतां तथा न स्यात् तत्र हेतुमाह - अदीदृश इति। तव अद्भुतं नोऽस्माकं इतरमत्स्यविलक्षणत्वादाश्चर्यं यद्वपुः, ' डु वप् बीजसन्ताने ' इति धातोः, जगदुत्पादनसमर्थं रूपं अदीदृशः दर्शितवानिति हि यस्मात् सन्त एतद्रूपज्ञाने योग्या इत्यर्थः। तव विषमस्वभावत्वात् तथा त्वमिति नेत्याह - सर्वेति।।३०।।

श्रीशुक उवाच

इति ब्रुवाणं नृपतिं जगत्पतिः सत्यव्रतं मत्स्यवपुर्युगक्षये।
विहर्तुकामः प्रलयार्णवेऽब्रवीच्चिकीर्षितं कान्तजनप्रियः प्रभुः[1][2]।।३१।।

श्रीभगवानुवाच

सप्तमेऽद्यतनादूर्ध्वमहन्येतदरिन्दम।
निमङ्क्ष्यत्यप्ययाम्भोधौ त्रैलोक्यं भूर्भुवादिकम्।।३२।।

त्रिलोक्यां[3] लीयमानायां संवर्ताम्भसि वै तदा।
उपस्थास्यति नौरेका[4] विशाला त्वां मयेरिता।।३३।।

त्वं तावदोषधीः सर्वा बीजान्युच्चावचानि च।
सप्तर्षिभिः परिवृतः सर्वसत्त्वोपबृंहितः।।३४।।

आरुह्य बृहतीं नावं विचरिष्यस्यविक्लवः।
एकार्णवे निरालोके ऋषीणामेव वर्चसा।।३५।।

श्रीध० इतीति। एकान्तजना भक्ताः तेषां[5] प्रियाण्येव चिकीर्षितानि येन[5]।।३१।।

1. A,B,G,J,T "कीर्षुरका", H,V "कीर्षितका" 2.A,B,G,J,T प्रियम् 3. H,V,W त्रै 4. A,B,G,J,M,Ma नौः काचित् 5- -5. A,B,J प्रिया यस्य

**सप्तम इति**। अप्ययाम्भोधौ प्रलयार्णवे। भूर्भुवआदिकमित्यर्थः।।३२।।

**त्रिलोक्यामिति**। संवर्ताम्भसि प्रलयोदके। त्वामुपस्थास्यति प्राप्स्यति।।३३।।

**त्वमिति**। ओषधीः, आदायेति शेषः।।३४।।

**आरुह्येति**। ऋषीणामेवाऽऽलोकेन विचरिष्यसि।।३५।।

**वीर०** इतीत्थं भाषमाणं सत्यव्रतं प्रति मत्स्यवपुर्जगदीश्वरो भगवांश्चिकीर्षितमब्रवीत्, कथम्भूतः? प्रलयार्णवे विहर्तुकामः विहारप्रयोजनं दर्शयन् विशिनष्टि - कान्तजनप्रियः कान्तजनानां भक्तजनानां प्रियः प्रभुश्च भक्तजनानां प्रीतिं कर्तुमवतीर्ण इति भावः।।३१।।

एवं पृष्टावतारप्रयोजनविशेषो मत्स्यमूर्तिः भगवान् तत्प्रयोजनविशेषमाह - **सप्तम** इति नवभिः[1]। हे अरिन्दम! अद्यतनादह्नः यस्मिन्नहनि मदवतारः तस्मादह्न आरभ्य सप्तमे अहनीदं भूर्भुवादिकं त्रैलोक्यं प्रलयाम्भोधौ प्रलयोदधौ निमङ्क्ष्यति मग्नं भविष्यति।।३२।।

संवर्ताम्भसि प्रलयोदके त्रिलोक्यां लीयमानायां सत्यां तदा काचिन्मयेरिता प्रेरिता उपकल्पिता विशाला विपुला नौः नौका त्वामुपस्थास्यति त्वत्समीपे स्थास्यतीत्यर्थः।।३३।।

तदा त्वं सर्वा ओषधीर्बीजानि च नानाविधानि नाव्यारोप्येति शेषः। सप्तर्षिभिः सहितः सर्वैः सत्त्वैः जन्तुभिरुपबृंहितः उपश्लिष्टः।।३४।।

बृहतीं विपुलां नावमारुह्य अविक्लवः दैन्यरहितः विचरिष्यसि निरालोको सूर्याद्यालोकरहिते एकार्णवे ऋषीणां वर्चसैवोपलक्षितम्।।३५।।

**विज०** विषयसुखप्रेरकत्वप्रियः " तदेतत्प्रेयः " (बृह.उ.1-4-8) इति श्रुतेः।।३१।।

अद्यतनादह्न ऊर्ध्वं सप्तमेऽहनि निमङ्क्ष्यति निमग्नं भविष्यति, अप्ययाम्भोधौ प्रलयसमुद्रे।।३२।।

संवर्ताम्भसि प्रलयजले उपस्थास्यति समीपमागमिष्यति।।३३।।

सर्वैः सत्त्वैः प्राणिभिः, उपबृंहितः पूरितः।।३४।।

निरालोके तमःप्राये ऋषीणां वर्चसा प्रकाशेनैव नाऽन्येन।।३५।।

**दोधूयमानां तां नावं समीरेण बलीयसा।**
**उपस्थितस्य मे शृङ्गे निबध्नीहि महाहिना।।३६।।**

---

1. W Omits नवभिः

**अहं त्वामृषिभिस्साकं सहनावमुदन्वति।**
**विकर्षन्विचरिष्यामि यावद्ब्राह्मी निशा प्रभो।।३७।।**

**मदीयं महिमानञ्च परब्रह्मेति शब्दितम्।**
**वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे सम्प्रश्नैर्विवृतं हृदि।।३८।।**

**श्रीशुक उवाच**

**इत्थमादिश्य राजानं हरिरन्तरधीयत।**
**सोऽन्ववैक्षत तं कालं यं हृषीकेश आदिशत्।।३९।।**

**आस्तीर्य दर्भान्प्राक्कूलान्राजर्षिः प्रागुदङ्मुखः।**
**निषसाद हरेः पादौ चिन्तयन्मत्स्यरूपिणः।।४०।।**

**श्रीध० दोधूयमानामिति।** महाहिना वासुकिना।।३६,३७।।

**मदीयमिति।** मे मयाऽनुगृहीतं प्रसादीकृतं हृदि अपरोक्षं वेत्स्यसि ज्ञास्यसि। त्वया कृतैः सम्प्रश्नैर्मया विवृतं प्रकाशितं सन्तम्।।३८-४०।।

**वीर०** बलीयसा प्रचण्डेन समीरेण प्रलयवायुना दोधूयमानां नितरां कल्पमानां तां महतीं नावमुपस्थितस्य सन्निहितस्य मम शृङ्गे वासुकिना सर्पेण, उपस्थितेनेति शेषः। तेन बन्धनेन साधनेन निबध्नीहि।।३६।।

तदाहमुदन्वति प्रलयार्णवे ऋषिभिः सहितां महतीं नावं विकर्षन् यावद्ब्रह्मणः चतुर्मुखस्येयं ब्राह्मी निशा रात्रिः प्रवर्तते तावद्विचरिष्यामि।।३७।।

परं ब्रह्मेति शब्दितं परब्रह्मशब्दाभिहितं मदीयं महिमानञ्च वेत्स्यसि महिम्नः ब्रह्मशब्दवाच्यत्वं तस्य ब्रह्मशब्दप्रवृत्तिनिमित्ताश्रयत्वेन निरतिशयबृहत्त्वं हि ब्रह्मशब्दार्थः। कथम्भूतम्? मया अनुगृहीतं मयोपदिष्टमित्यर्थः, सम्प्रश्नैस्त्वत्कृतैर्हृदि विवृतम्। अत्र केचिद्व्याचक्षते, *अत्रोक्तः प्रलयः किं महाप्रलयः? उत दैनन्दिनो वेति? तत्र तावद्ब्रह्मलोकलय इति "योऽसावस्मिन् महाकल्पे" (भाग. 8-14-1) इति चोक्तेः महाप्रलय इति। [5]प्राप्तं नेति ब्रूमः। महाप्रलये पृथिव्यादीनामवशेषासम्भवात् यावद्ब्राह्मी निशेत्याद्युक्तिविरोधाच्च अतो दैनन्दिन इति युक्तम्, न च एतदपि सङ्गच्छते - सांवर्तकैः अनावृष्ट्यादिभिः विना अकस्मादेव सप्तमेऽहनि

1.A,B,G,J,M,Ma,T परं ब्र" 2 W "ध्यनु" 3--3.A,B,G,J,T,V,W Omit 4.B,H,J,V Omit ज्ञास्यसि *- -* अत्रोक्तः इत्यारभ्य: दिगिति पर्यन्तः ग्रन्थ भाग. A,B प्रकाशयो, कुण्डलीकृत.। 5. A,B,T add तावत्

त्रैलोक्यं निमङ्क्ष्यति इति मत्स्योक्तेरनुपपत्तेः यच्चोक्तं प्रथमस्कन्धे - " रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषान्तरसम्प्लवे। नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद्वैवस्वतं मनुम् "।। (भाग.1-3-15) इति तदपि तदा दुर्घटं न हि। प्रलयद्वयेऽपि महीमय्यां नाव्यारोहः सम्भवति। न च चाक्षुषमन्वन्तरे प्रलयोऽस्ति तथा च सति सप्तमो मनुः वैवस्वत इत्यपि दुर्घटं स्यात् " त्वं तावदोषधीः सर्वाः " (भाग.8-24-34) इत्यादिनिर्देशोऽपि न सङ्गच्छते न हि तदा ओषध्यादीनां सत्त्वानां चाऽवशेषः सम्भवति तस्मात् अन्यथा वर्ण्यते नैवायं वास्तवः कोऽपि प्रलयः किन्तु सत्यव्रतस्य ज्ञानोपदेशायाविर्भूतो भगवान् वैराग्यार्थमकस्मात् प्रलयमिव दर्शयामास यथा अस्मिन्नेव वैवस्वते[1] मन्वन्तरे मार्कण्डेयाय दर्शितवान् तदपेक्षयैव च महाकल्पेऽस्मिन्निति विशेषणं सङ्गच्छते तथा च " ततस्समुद्र उद्वेलः सर्वतः समदृश्यत " (भाग.8-10- 51) इति तस्यैव तथा दर्शनमुक्तमित्येषा दिगिति* । अत्रेदं वक्तव्यं यदि वैराग्यजननद्वारा ज्ञानोपदेशार्थमाविर्भूतो भगवान् वैराग्यार्थं सत्यव्रतायैव अकस्मात् प्रलयदर्शनं, तर्हि - "आसीदतीतकल्पान्ते ब्राह्मो नैमित्तिको लयः" (भाग.8-24-7) इत्यादेः, " कालेनाऽऽगतनिद्रस्य धातुः शिशयिषोर्बली। मुखतो निस्सृतान् वेदान् " (भाग.8-24-8) इत्यादेश्च अवतारकालप्रदर्शनपरस्य अवतारप्रयोजनप्रदर्शनपरस्य चोपक्रमस्य ग्रन्थस्यासङ्गत्यापत्तेः, तत्र 'कालेनाऽऽगतनिद्रस्य धातुः शिशयिषोः' इति स्वरसतः सुव्यक्तं दैनन्दिनप्रलयावगमात् सत्यव्रतस्यैव प्रलयप्रदर्शने हयग्रीवाख्यासुरेण वेदापहरणस्य[2] कथनानुपपत्तेश्च तत्र राजर्षिः कश्चिदित्यादिनाऽतीतकल्पे सत्यव्रतस्य सतः पुनः तस्मिन् कल्पे "योऽसावस्मिन्महाकल्पे " (भाग.8-24-11) इत्यादिना वैवस्वतमनुत्वकरण कथनानुपपत्तेश्च, न हि चाक्षुष एव मन्वन्तरे सत्यव्रतत्वेन अवस्थितस्य तस्मिन्नेव मन्वन्तरे वैवस्वतमनुत्वेन अवस्थानकथनमुपपन्नम्, न हि सत्यव्रतस्याकस्मात् प्रलयप्रदर्शनमात्रेण धातुः शिशयिषोर्मुखतो वेदानां निस्सृतिरसुरेण तदपहृतिश्च सम्भवति। तस्मादतीतदैनन्दिनकल्पावसानिक एव प्रलयोऽत्र विवक्षितः, न च श्रीमत्स्योक्तिविरोधः सांवर्तकानां अनावृष्ट्यादीनां शब्दतोऽनुपात्तानामप्यर्थतोऽत्र विवक्षितत्वात्। मा भूद्वा कल्पविशेषावसाने अनावृष्टिः। वृष्टिस्तु " वर्धमानो महामेघैर्वर्षद्भिस्समदृश्यत " (भाग.8-24-41) इत्युक्तैव। न च प्रथमस्कन्धवचनस्य दौर्घट्यं दैनन्दिनकल्पविशेषावसाने महीमय्यां नावि ओषध्यादीनामारोपसम्भवात् चाक्षुषान्तरशब्देन चाक्षुषमन्वन्तरयुक्तो वर्तमानो दैनन्दिनकल्पो लक्ष्यते तस्मात् प्राक्तनो यः सम्प्लवःअतीतकल्पावसानिकः

1. A,B,T "तम" 2. A,B,T "हारस्य।

तस्मिन्नावि आरोप्येत्यर्थः। न च औषध्यादीनामवशेषासम्भवः तदविशेषस्यैतत् ग्रन्थादेवावगमात् कल्पविशेषे तदवशेषोपपत्तेश्चेति।।३८।।

एवं राजानं सत्यव्रतमाज्ञाप्य हरिः मत्स्यरूपः तत्रैवान्तर्हितवान्। ततः सत्यव्रतः यं कालं हृषीकेशो मत्स्यमूर्तिरादिशत् "सप्तमेऽद्यतनादूर्ध्वमहन्येतदरिन्दम!" (भाग.8-24-32) इति निर्दिष्टवान् तमेव कालं अन्ववैक्षत प्रतीक्षितवान्।।३९।।

राजर्षिः सत्यव्रतः दर्भान् प्रागग्रानास्तीर्य तेषु प्रागुदङ्मुखः ईशान्याभिमुखो निषसाद उपविष्टवान्। कथम्भूतस्सन्? श्रीमत्स्यरूपिणो हरेर्भगवतः श्रीपादौ चिन्तयन्।।४०।।

**विज०** दोधूयमानां इतस्ततोऽत्यन्तं कम्प्यमानां निबध्नीहि निबन्धनं महाऽहिना पाशेन।।३६।।

ब्राह्मी ब्रह्मसम्बन्धिनी।।३७।।

तव सम्यक् प्रश्नैः हृदि विवृतं स्पष्टीकृतं मयाऽनुगृहीतं मदीयं ब्रह्मेति शब्दितं महिमानं ज्ञास्यसि।।३८।।

अन्ववैक्षत प्रतीक्ष्याऽऽस्थितः।।३९,४०।।

**ततस्समुद्र उद्वेलः सर्वतः प्लावयन् महीम्।**
**वर्धमानो महामेघैर्वर्षद्भिः समदृश्यत।।४१।।**

**ध्यायन्भगवतः[2] पादौ ददृशे नावमागताम्।**
**तामारुरोह विप्रेन्द्रैरादायौषधिवीरुधः।।४२।।**

**तमूचुर्मुनयः प्रीता[3] राजन् ध्यायस्व केशवम्।**
**स वै नः सङ्कटादस्मादविता[4] शं विधास्यति।।४३।।**

**सोऽनुध्यातस्ततो राज्ञा प्रादुरासीन्महार्णवे।**
**एकशृङ्गधरो मत्स्यो हैमो नियुतयोजनः।।४४।।**

**निबध्य नावं तच्छृङ्गे यथोक्तो हरिणा पुरा।**
**वरत्रेणाहिना तुष्टस्तुष्टाव मधुसूदनम्।।४५।।**

---

1.A,B,T "धा" 2.A,B,G,J,M,Ma,T "वदादेशं 3. M,Ma "ता 4. "नाशं

**श्रीध० निबध्येति**। वरत्रेण दोरकरूपेण[1]।।४१-४५ ।।

**वीर०** ततस्तत्रैवं सत्यव्रते चिन्तयति सति वर्षद्भिः महामेघैर्वर्धमानः समुद्रः उद्वेलः मर्यादातिगः सर्वतो महीं प्लावयन् निमज्जयन् समदृश्यत, सत्यव्रतेनेति शेषः।।४१।।

तदा सत्यव्रतः श्रीभगवतो मत्स्यरूपिण आदेशं ध्यायन् सन्निहितां नावं दृष्टवान् तत ओषधीः वीरुधः बीजानि च आदाय विप्रेन्द्रैः सप्तर्षिभिस्सह सत्यव्रतः तां सन्निहितां नावम् आरुरोह।।४२।।

ततस्तं सत्यव्रतं मुनयः सप्तर्षय ऊचुः हे राजन्! केशवं ध्यायस्व स केशवः नोऽस्मात्सङ्कटात् रक्षिष्यति शं सुखं विधास्यति करिष्यतीति।।४३।।

एवमुक्तेन राज्ञा सत्यव्रतेनानुध्यातो भगवान् प्रादुर्बभूव। कथम्भूतः? एकं[2] शृङ्गं धरतीति तथा हैमः स्वर्णाभः नियुतयोजनः[3] लक्षयोजनपरिमितकायः।।४४।।

ततो हरिणा पूर्वं यथोक्तः तथैव वरत्रेण दोरकरूपेण अहिना महासर्पेण वासुकिना[4] नावं तस्य[5] मत्स्यरूपिणो भगवतः[5] शृङ्गे निबध्य शृङ्खलितां[6] कृत्वेत्यर्थः। सन्तुष्टचित्तो मधुसूदनं हरिं तुष्टाव स्तुतिं चकारेत्यर्थः[6]।।४५।।

**विज०** अविनाशं विनाशविरोधिजीवानां[7] शं सुखं अविनाशं सुखयुक्तं पदं विधास्यतीति वा।।४१-४४।।

वरत्रेण पाशेन मधुवन्मधु संसारं सूदितवानिति मधुसूदनः तम्।।४५।।

**राजोवाच**

**अनाद्यविद्योपहतात्मसंविदस्तन्मूलसंसारपरिश्रमातुराः।**
**यदृच्छयेहोपसृता यमाप्नुयुर्विमुक्तिदो नः परमो गुरुर्भवान्।।४६।।**

**मनोऽबुधो यं निजकर्मबन्धनः सुखेच्छया कर्म समीहतेऽसुखम्।**
**यत्सेवया तां विधुनोत्यसन्मतिं ग्रन्थिं विभिन्द्याद्धृदये[8] स नो[9] गुरुः।।४७।।**

**यत्सेवयाऽग्नेरिव रुद्ररोदनं पुमान्विजह्यान्मलमात्मनस्तमः।**
**भजेत वर्णं[10] निजमेष सोऽव्ययो भूयात्स ईशः परमो गुरोर्गुरुः।।४८।।**

**न यत्प्रसादायुतभागलेशमन्ये च देवा गुरवो जनास्स्वयम्।**
**कर्तुं समेताः प्रभवन्ति पुंसस्तमीश्वरं त्वां शरणं प्रपद्ये।।४९।।**

---

1. H,V Omit दोरक 2. A,B,T "क 3. W "नपरि 4. W Omits वासिकिना 5- -5. W मत्सस्य 6- -6. सन्तुष्टचित्तः हरिं तुष्टाव 7. A,B जीविनां 8. A,B,G,J,T स भि" 9. A,B,G,J,T दय 10. W "व

**सच्चक्षुरन्धस्य यथाग्रणीः कृतस्तथा जनस्याविदुषो बुधो गुरुः।**
**त्वमर्कदृक् सर्वदृशां समीक्षणो वृतो गुरुर्नः सुगतिं बुभुत्सताम्।।५०।।**

**श्रीध०** "सागरं तारयिष्यन्तं तरिष्यन्निव सागरम्। सत्यव्रतो गुरुत्वेन तुष्टाव हरिमष्टभिः।।" अत्रेदं चिन्त्यम् - किमयं महाप्रलयो दैनन्दिनो वेति। तत्र तावत् ब्राह्मो लय इति " योऽसावस्मिन्महाकल्पे " (भाग.8-24-11) इति चोक्तेर्महाप्रलय इति प्राप्तम्। नेति ब्रूमः, महाप्रलये पृथिव्यादीनामवशेषासम्भवात्, 'यावद्ब्राह्मी निशा' इत्याद्युक्तिविरोधाच्च। अतो दैनन्दिन इति युक्तम्। न चैतदपि सङ्गच्छते, सांवर्तकानां वृष्ट्यादिभिर्विना अकस्मादेव सप्तमेऽहनि त्रैलोक्यं निमङ्क्ष्यतीति मत्स्योक्तेरनुपपत्तेः। यच्चोक्तं प्रथमस्कन्धे - "रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषान्तरसम्प्लवे। नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद्वैवस्वतं मनुम् "।। इति। तदपि तदा दुर्घटं, न हि प्रलयद्वयेऽपि महीमय्यां नाव्यारोहः सम्भवति, न च चाक्षुषमन्वन्तरे प्रलयोऽस्ति, तथा च सति सप्तमो मनुर्वैवस्वत इत्यपि दुर्घटं स्यात्। " त्वं तावदोषधीः सर्वाः " (भाग.8-24-34) इत्यादि निर्देशोऽपि न सङ्गच्छते न हि तदा ओषध्यादीनां सत्त्वानां चाऽवशेषः सम्भवति। तस्मादन्यथा वर्ण्यते। नैवायं वास्तवः कोऽपि प्रलयः, किन्तु सत्यव्रतस्य ज्ञानोपदेशायाविर्भूतो भगवान् वैराग्यार्थमकस्मात् प्रलयमिव दर्शयामास। यथाऽस्मिन्नेव वैवस्वतमन्वन्तरे मार्कण्डेयाय दर्शितवान्। तदपेक्षयैव महाकल्पेऽस्मिन्निति विशेषणं सङ्गच्छते। तथा च - "ततस्समुद्र उद्वेलः सर्वतस्समदृश्यत" इति तस्यैव तदा दर्शनमुक्तमित्येषा दिक्। प्रस्तुतं स्तोत्रं व्याख्यास्यामः। तत्र नानायोनिषु संसरतः स्वस्य भगवत्कृपयैव तत्प्राप्तिं दृष्ट्वा मुक्तये तमेव प्रार्थयते - **अनादीति**। अनादिर्याऽविद्या तयोपहता आवृत्ता आत्मसंवित् एषां ते, अत एवाविद्यामूलैः संसारपरिश्रमैरातुरा इह संसारे यदृच्छया यदनुग्रहादेवोपसृता आश्रितास्सन्तो यमाप्नुयुः प्राप्नुवन्ति स भवानेव साक्षान्नो गुरुस्सन् ग्रन्थिं भिन्द्यात् इत्युत्तरेणान्वयः।।४६।।

ननु वैराग्यं विना कुतो मुक्तिस्तर्हि तस्य त्वत्सेवैकफलत्वात्सेवामादिशेत्याशयेनाह - **जन** इति। अबुधोऽयं जनः असुखं यथा भवति तथा कर्म समीहते। तां असन्मतिं सुखेच्छां धुनोति। नो हृदयरूपं ग्रन्थिं स विभिन्द्यात्। यतः स एव परमो गुरुः।।४७।।

ननु यज्ञदानादिभिः सत्त्वशुद्धिं विना कथं ग्रन्थिभेदः स्यात्तत्राह - **यत्सेवयेति**। यस्य सेवयैव पुमान्

---

1. A,B,G,J,T अ" 2. A,B,G,J,M,Ma,T,W "बोऽबु 3. M,Ma "मर्थ " 4. A,B,G,J,T "स्व" * श्रीधरीयोऽयं श्लोकः। 5. A,B,J "कैरनावृं 6. A यथा , B तथा 7. A,B,J आत्मनः संवित् एषां 8- -8. M,V प्राप्नुयुः 9. A,B,J Omit असन्मतिं 10. A,B,J Omit धुनोति 11. A,B,J Omit वि

आत्मनो मनसो मलं तमो विजह्यात्। एष हीनमलो निजं वर्णञ्च [1]सत्त्वस्वरूपं [2]भजेत। स ईशो नो गुरुर्भूयात्। यतः स एव गुरोरपि परमो गुरुः। मलहानौ [3]दृष्टान्तः - रुद्ररोदनं [4-]रुद्रस्य रोदनं [-4]रजतम्। "यदरोदीत्त द्रुद्रस्य रुद्रत्वं यदश्वशीर्यत तद्रजतं हिरण्यमभवत्।" इति श्रुतेः। [5]तद्वत् यथाग्नेः सम्पर्कान्मलं जहाति [6]स्ववर्णं भजते न तु क्षालनादिभिस्तथा न यज्ञादिभिर्मलत्यागः, किन्तु त्वत्सेवयैव। तेषां तु सेवाङ्गत्वमेवेति भावः।।४८।।

परमेश्वरत्वं परमगुरुत्वञ्च प्रपञ्चयन्नाह - **नेति**। यत्प्रसादस्यायुतभागस्तस्य लेशमात्रमपि अन्ये देवादयः [8]सर्वे समेता अपि स्वयं तन्निरपेक्षास्सन्तः कर्तुं न प्रभवन्ति।।४९।।

तदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयन्नाह - स **चक्षुरिति**। अविदुषो जनस्य [9-]बुधो [-9]विद्वान् गुरुः तथैव। [10]त्वन्तु अर्कप्रकाशवत्स्वत एव दृक् ज्ञानं यस्य सोऽर्कदृक्। अतः सर्वदृशां सर्वेन्द्रियाणां समीक्षणः प्रकाशकः[11]। अत एव [12]सुगतिं बोद्धुमिच्छद्भिर्नोऽस्माभिर्गुरुर्वृतोऽसि।।५०।।

**वीर०** स्तोत्रमेवाह - अनाद्यविद्येत्यादिना [13-]इत्युक्तवन्त इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन[-13]। " वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे सम्प्रश्नैर्विवृतं हृदि " (भाग.8-24-35) इति [14-]श्रीभगवतैव[-14] तत्त्वप्रश्नाय सञ्चोदितः सत्यव्रतः तावत् तत्त्वजिज्ञासुः अनादिदेहात्मभ्रान्तिस्वतन्त्रात्मभ्रान्तिरूपाज्ञानमूलकर्मवासनाभिः संसरतां जीवानां " ईश्वरस्य च सौहार्दं यदृच्छा सुकृतं तथा विष्णोः कटाक्षः " इत्युक्तरीत्या केवलं प्रथमोपकर्तुः श्रीभगवत्कृपयैव सदाचार्यसम्बन्धो नान्यथेत्यवबोधयितुं त्वत्कृपयैव परमगुरोस्तव प्राप्यस्य सान्निध्यं गत इत्यभिप्रयन् स्तौति - **अनादीति**। अनाद्यविद्यया देहात्माभिमानादिरूपेणानाद्यज्ञानेन उपहता [15]अपगता आत्मसंवित् स्वात्मपरमात्मयाथात्म्यज्ञानं येषां ते, अत एव तन्मूलेन अनाद्यविद्योपहतात्मज्ञाननिमित्तेन संसारपरिश्रमेण तापत्रयेणातुराः दुखिताः, जनाः इति शेषः। इह संसारे यदृच्छया यादृच्छिकसुकृतमूलया त्वत्कृपयेत्यर्थः। उपसृताः सदाचार्यद्वारा संश्रितास्सन्तो यं प्राप्नुयुः स भवानेव विमुक्तिदः मुक्त्युपायभूतः यं प्राप्नुयुरित्यनेन प्राप्यत्वमुक्तम्। विमुक्तिद इत्यनेन प्रापकत्वमुक्तम्। नोऽस्माकं परमो गुरुश्चाभूत्[16] परमः नितरां प्राप्य; गुरुः तत्त्वप्रश्नप्रेरणया हितोपदेष्टृत्वेन अज्ञाननिवर्तनेन चोपायभूतश्चासीदित्यर्थः।।४६।।

जनस्य [17]अनाद्यविद्ययोपहतात्मसंवित् त्वं तन्मूलकदेहसुखार्थप्रवृत्तिं पुनर्भगवत्सेवया

---

1. A,B,J Omit सत्त्व 2. A,B,J भजेत् 3. A,J हाने ; B हीने 4- -4. H,V Omit 5. A,B,J तत् 6. A,B,J स्वं 7. A,B,J °भेति 8. H,V Omit सर्वे 9- -9. A,B,J °स्याबुधोऽवि 10. B,H,V Omit त्वन्तु 11. H,V °शः 12. A स्वगतिं 13- -13. W Omits 14- -14. W Omits 15. A,B,T तिरोहिता 16.W ०भवत् 17. W °शोप°

अविद्या निवृत्तिकथनेन तस्य गुरुशब्दप्रवृत्तिनिमित्ताश्रयत्वं च वदन् स्वाविद्यानिवृत्तये तं प्रार्थयते - **जन इति**। जनः जन्ममरणादि भाक् जीववर्गः अबुधः देहात्माद्यभिमानवान् निजकर्मबन्धनः पुण्यपापात्मकानादिकर्मवश्यः सुखेच्छया शब्दादिवैषयिक - सुखसम्पादनेच्छया असुखं दुःखं यथा तथा कर्म समीहते चेष्टते करोतीति यावत्। पुनर्यस्य तव सेवया तामसन्मतिं देहात्माभिमानस्वतन्त्रात्माभिमानादिरूपामसतीं मतिं विधुनोति निरस्यति स गुरुः हितोपदेष्टा अज्ञाननिवर्तकश्च भवान् नोऽस्माकं ग्रन्थिम् असन्मतिरूपां भिन्द्यात् अपनुद्यात्।।४७।।

न केवलं भगवत्सेवा असन्मतिमेव निरस्यति अपि तु तन्मूलभूतं कर्म पुण्यपापात्मकमात्मस्वरूप तिरोधायकमपीति वदन् तं स्वहितोपदेशाज्ञाननिवर्तनार्थं प्रार्थयते - **यदिति**। पुमान् मुमुक्षुर्यस्य तव सेवया आत्मनस्तमः तमोवत्तिरोधायकं मलं पुण्यापुण्यकर्मात्मकं पापं जह्यात् त्यजेत्। तत्र दृष्टान्तः - रुद्ररोदनं रजतपिण्डः सुवर्णपिण्डो वा। " यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वं यदश्रवसि यत्तद्रजतं हिरण्यमभवत् " इति श्रौतप्रसिद्धेः। स तु यथाग्नेः सेवया न तु क्षालनादिना मलं जह्यात् निजवर्णं स्वासाधारणं वर्णं भजेत च। तद्वदिति रुद्ररोदनमलस्य अग्निसम्पर्कान्योपायानपनोद्यत्वदृष्टान्तकथनेन आत्मनो मलस्यापि भगवत्सेवेतरानपनोद्यत्वमभिप्रेतं स ईश्वरो नोऽस्माकं गुरु र्भूयात् अतः स एव गुरोरपि परमो गुरुः अर्वाचीनगुरुणामपि " आचार्यं मां विजानीयात् " (भाग.11-17-27) इति तदात्मकत्वस्मरणात् तद्व्यतिरिक्तो न कश्चिद्गुरुरस्तीति भावः।।४८।।

यत्सेवया आत्मनो मलं विजह्यादित्यनेन मुक्तिविरोधिपापकर्मनिवर्तकत्वकथनेन तस्यैव मोक्षप्रदत्वमुक्तम्। तदेव व्यतिरेकमुखेनापि वदन् देवतान्तराणाममुक्तिदत्वं च वदंस्तमेव शरणं व्रजति- **नेति**। पुंसः भगवत्सेवाविधुरस्य पुंसः अन्ये देवाः सर्वे समेता अपि स्वयं निरपेक्षास्सन्तो गुरवोऽपि सन्तः यत्प्रसादायुतभागलेशं यस्य भगवतः तव प्रसादस्यायुतभागः अयुतसंख्याकानां भागानां मध्ये य एको भागः तस्य लेशं कर्तुं न प्रभवन्ति मोक्षप्रदानासमर्था इत्यर्थः। तं मुक्तिदं ईश्वरं सर्वान्तरात्मानं त्वां शरणं प्रपद्ये मुक्त्युपायत्वेन अध्यवस्यामि।।४९।।

देवतान्तराणां तत्प्रसादायुत भागलेशकरणासमर्थत्वे कर्मवश्यत्वतन्मूलकासर्वज्ञत्वादिकमेव हेतुरित्यभिप्रयन् अज्ञलोकस्य ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य अज्ञाननिवर्तनोपयुक्तसार्वज्ञादिगुणयुक्तं त्वामेव गुरुं वृणोमीत्याह - **सचक्षुरिति**। अन्धस्य चक्षुरिन्द्रियरहितस्य पुंसो यथा सचक्षुः पुमान् अग्रणीः पुरतो नेता कृतः

वृतः तथाऽविदुषः स्वात्मरक्षणोपयुक्तज्ञानेनापि विरहितस्य जनस्य जन्ममरणादिभाजो ब्रह्मप्रभृति जीववर्गस्य त्वमर्कदृक् अर्कप्रकाशवत् स्वत एव दृक् ज्ञानं यस्य सः, अर्क एव दृक् यस्येति वा। " चक्षोस्सूर्योऽजायत " (पु.सू.1-6), " अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ " (मुण्ड.उ.2-1-4) इत्यादिश्रुतेः अनेन सर्वज्ञत्वमुक्तम्, सर्वदृशां समीक्षणः प्रकाशकस्यपि प्रकाशकत्वशक्तिप्रदः " तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति " (कठ.उ.6-2-15) इति श्रुतेः। अनेन ज्ञानप्रदत्वमुक्तम्। एवम्भूतस्त्वं सुगतिं समीचीन त्वत्प्राप्त्युपायं बुभुत्सतां बोद्धुमिच्छतामस्माकं गुरुर्वृतः कर्तरि षष्ठी[1] बोद्धुमिच्छद्भिः गुरुत्वेन वृत इत्यर्थः।।५०।।

**बिज०** अनाद्यविद्योपहतात्मसंवित् परमात्मज्ञानं येषां ते तथा सा विद्या मूलं कारणं यस्य सः तन्मूलः, स च संसारः तन्मूलसंसारः तस्मिन् परिभ्रमः ततः आतुराः क्लिष्टाः यदृच्छया पूर्वजन्मार्जितपुण्याभिमुखीभूतदेवेच्छया इह लोके विशिष्टजन्मोपसृताः पुरुषाः यमाप्नुयुः स परमो गुरुर्भवान्नो विमुक्तिदोऽस्त्वित्यन्वयः।।४६।।

कर्मनिर्मूलनं भगवत्सेवनमेवेत्याह - **जन** इति। आत्मीयकर्मणा बन्धनं यस्य स तथा अयमबुधो जनः सुखमाप्नुयानि इतीच्छया कर्म समीहते ततः सुखं दुःखमाप्नोति इति यत्ततो बुधो जनो यस्य ईश्वरस्य सेवया कर्मविषयाम् असन्मतिं विधुनोति अतः कर्मनिर्मूलनं चाप्नोति, गुरुर्ज्ञानोपदेष्टा स नो हृदये स्थितां ग्रन्थिं कर्मपाशकृतां भिन्द्यादित्यन्वयः।।४७।।

एष पुमान् यत्सेवया आत्मनस्तमोलक्षणं मलं विजह्यात् जहाति निजं वर्णं परमात्मगतिं आनन्दस्वरूपं च भजेत भजते। कथमिव? अग्निदाहलक्षणसेवया रुद्ररोदनं हिरण्यं स्वमलं दशविधं जह्यात्[2] जहाति निजवर्णं शास्त्रसिद्धं स्वरूपं भजति यथा तथेत्यर्थः। किञ्च स जीवः पुनरव्ययोऽसंवृतः आवरणरहितो भवति 'व्येञ् संवरणे ' इति धातोः। गुरोर्गुरुः स परमो नो मुक्तिदो भूयादित्यन्वयः। ईशः मुक्तिदानसमर्थः ईः लक्ष्मीः तस्याः शं यस्मात् स इति वा। " जातरूपं श्रीमुकुटं हिरण्यं रुद्ररोदनम् " इत्यभिधानम्। स भवान् अव्यय इति वा।।४८।।

अन्ये देवाः अन्ये गुरवो जनाश्च स्वयं समेताः मिलिताः पुंसः यस्य हरेः प्रसादायुतभागलेशं कर्तुं न प्रभवन्ति, तदनुग्रहमन्तरेणेति शेषः। अहं तं त्वामीश्वरं शरणं यामीत्यन्वयः।।४९।।

---

1--1.W Omits 2. A,B Omit जह्यात्

यथाऽन्धस्य पुंसः सचक्षुर्दृष्टिमानग्रणीः अग्रतो गन्ता कृतः यथा चाऽविदुषो जनस्य बुधो जनो गुरुः कृतः, शास्त्रविशारदैरिति शेषः। तथा सुगतिं बुभुत्सतां बोद्धुमिच्छतां नोऽर्थदृक् पुरुषार्थद्रष्टा सर्वदृशां सर्वेन्द्रियाणां समीक्षणः साक्षी त्वं गुरुर्वृतः, ज्ञानोपदेशकत्वेनेति शेषः। अचक्षुरिति पाठे अयमर्थः - त्वामन्तरेणेतरेषां गुरुत्वं पुरुषार्थानुपयोगिसम्यग्ज्ञानहीनत्वादित्याह - अचक्षुरिति। यथाऽन्धस्याऽचक्षुषोऽन्धोऽग्रणीः कृतो भवति तथाऽविदुषो जनस्याबुध एवं गुरुर्भवति। " अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः " (कठ.उ.2-5), " उभावप्यश्रुतग्रन्थौ उभावपि जडात्मकौ " इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः त्वञ्चार्थदृक् शिष्यस्यापेक्षितपुरुषार्थदर्शी। कुतः ? दर्शनसाधनत्वेन दृशोऽपीन्द्रियाणि तेषां साक्षित्वादस्माकं गुरुत्वेन वृत इति।।५०।।

**जनो जनस्यादिशतेऽसतीं गतिं[1] यया[2] प्रपद्येत दुरत्ययं तमः।**
**त्वमव्ययं[3] ज्ञानममोघमञ्जसा[4] प्रपद्यते येन जनो निजं पदम्।।५१।।**

**त्वं सर्वलोकस्य सुहृत्प्रियेश्वरो ह्यात्मा गुरुर्ज्ञान मभीष्टसिद्धिदः[5]।**
**अथापि[6] लोको न भवन्तमन्धधीर्जानाति सन्तं हृदि बद्धकामः।।५२।।**

**तं त्वामहं देववरं वरेण्यं प्रपद्य ईशं प्रतिबोधनाय।**
**छिन्ध्यर्थदीपै र्भगवन्वचोभिर्ग्रन्थीन्हृदय्यान्विवृणु[7] स्वमोकः[8]।।५३।।**

## श्रीशुक उवाच

**इत्युक्तवन्तं नृपतिं भगवानादिपूरुषः।**
**मत्स्यरूपी महाम्भोधौ विहरंस्तत्त्वमब्रवीत्।।५४।।**

**पुराणसहितां दिव्यां सांख्ययोगक्रियावतीम्।**
**सत्यव्रतस्य राजर्षेरात्मगुह्यमशेषतः।।५५।।**

**श्रीध०** किञ्च प्राकृतो गुरुरनर्थहेतुरेवेत्याह[9] - **जन** इति। आदिशते उपदिशति। असतीं[10] गतिम् अर्थकामादिगतिम्[11]। तमः संसारम्।।५१।।

ननु तर्हि सर्वोऽपि लोको मामेव किं नोपसर्पति[12], अज्ञानादित्याह - **त्वमिति**। प्रियश्चासौ ईश्वरश्च।।५२।।

---

1. A,B,G,J,T मतिं 2. M,Ma तथा 3. A,B,G,J,T त्वं त्वव्ययं 4.H.V "व्ययज्ञा" 5. A,B,G,J,M,Ma,T "द्धि" 6. A,B,G,J,M,Ma,T म" 7. M,Ma भि" 8. H,V स्वलोकः 9. A,B,J "रित्याह 10. A,B,J म" 11.A,B,J "म" 12. A,B,J सर्पति

अहं तु त्वामेव शरणं यामीत्याह - तं त्वामिति। प्रतिबोधनायोपदेशाय। अर्थदीपैः परमार्थप्रकाशकैः। हृदये भवान् ग्रन्थीन् अहङ्कारादीन्। स्वलोकः[1] स्वरूपं[2] विवृणु प्रकाशय।।५३।।

**इतीति**। नृपतिं प्रति।।५५।।

**पुराणेति**। पुराणसंहितां मत्स्यपुराणमशेषतोऽब्रवीदित्यनुषङ्गः।।५५।।

**वीर०** युक्तञ्चैतत् इतरेषां गुरुम्, अन्यानामनर्थहेतुत्वात् भवतस्तु निरतिशयपुरुषार्थहेतुत्वादित्याह - **जनं** इति। जनः जन्ममरणादिभाक् संसारी जीवः गुरुत्वाभिमानवान् जनस्य संसारिणो जीवस्यासतीं गतिमर्थकामाद्युपायम् आदिशते आज्ञापयति बोधयतीत्यर्थः। तदादिष्टगतेरसत्त्वं दर्शयन् विशिनष्टि - ययेति। यया संसारिणोपदिष्टया गत्या अन्ततो दुरत्ययमनतिक्रमणीयं तमः स्वपरस्वरूपतिरोधायकं संसृतिरूपं प्रपद्यते प्राप्नोति, त्वं तु अव्ययमक्षय्यफलप्रदं केवलानन्दैकहेतुममोघं फलाविनाभाविज्ञानं स्वपरयाथात्म्यगोचर-ज्ञानमादिशत इत्यनुषङ्गः। तुशब्देन निरस्तनिखिलदोषत्वसमस्तकल्याणगुणगणत्वादिना जगद्वैलक्षण्यमभिप्रेतम्। तदादिष्टज्ञानस्य निरतिशयपुरुषार्थहेतुत्वं दर्शयन्[3] विशिनष्टि - अञ्जसेत्यादिना। येन त्वदादिष्टेन ज्ञानेन जनोऽञ्जसा सुखेनैव निजं वैष्णवं पदं स्थानं प्रपद्यते। निजमित्यनेन यथा तुशब्देन भगवतो निरस्त निखिलदोषत्वेन समस्तकल्याणगुणात्मकत्वेन च जनाद्वैलक्षण्यमभिप्रेतं तदा तत्पदस्य निरस्तनिखिलदुःखमिश्रत्वादिक्षुद्रत्वादिदोषत्वेन निरतिशयकेवलानन्दादिमत्त्वेन च वैलक्षण्यमभिप्रेतम्। अञ्जसा इत्यनेन जनोपदिष्टयाऽसत्यापि गत्या तत्फलभूतार्थकामादेरपि दुःखप्राप्यत्वमभिप्रेतम्।।५१।।

ननु जनविलक्षणो निरतिशयपुरुषार्थप्रदश्चेत् अहमेव सर्वैरपि किं न समाश्रीये? इत्यत्राऽऽह[4] - **त्वमिति**। सर्वलोकस्य अनालोचितविशेषाशेषलोकस्य त्वं सुहृत् हितैषी प्रियः प्रीतिविषयश्चासौ ईश्वरोऽन्तः प्रविश्य नियन्ता, आत्मा धारकः, गुरुर्हितोपदेष्टा, ज्ञानं ज्ञानप्रवर्तकोऽभीष्टसिद्धिदश्च[5] अथापि यद्यप्युक्तविधः त्वं तथापि हृदयकमल एव वसन्तं भवन्तम् उक्तविधं न सर्वो लोको जानाति। अज्ञाने हेतुं वदन्[6] लोकं विशिनष्टि - अन्यधीर्हृदि बद्धकाम इति। अन्यधीः देहतदनुबन्धितद्भोग्यार्थकामादिषु पुरुषार्थदृष्टिः न तु देह विलक्षणात्मपरमात्मयाथात्म्यधीः अत एव बद्धकामः शब्दादिविषयलिप्सुः।।५२।।

अथोक्तविधं भगवन्तं प्रपद्य ज्ञानोपदेशार्थं प्रार्थयते - **तं त्वामिति**। तमुक्तविधं देववरं "तं देवतानां

---

1. A,B,J "भो" 2. A,B,J स्वं 3. A,B,T वदन् 4. A इत्याऽऽह 5. A,B,T "करश्च 6. A,B,T तथा"

परमञ्च दैवतम् " (श्वेता.उ.5-7) इति श्रुत्युक्तरीत्या निस्समाभ्यधिकदैवतम् अत एव वरेण्यं वरणीयं ईशञ्च त्वामहं प्रतिबोधनाय स्वात्मपरमात्मयाथात्म्यज्ञानाय तदुपदेशार्थमिति भावः। प्रपद्ये शरणं व्रजामि। अतो, हे भगवन्! अर्थदीपैः परमपुरुषार्थभूत परमात्मस्वरूपप्रकाशकैर्वचोभिः हृदय्यान् मद्धृदयगतान् ग्रन्थीन् ग्रन्थिवदनिर्मोच्यान् देहात्माभिमानादीन् भिन्धि अपाकुरु, स्वं स्वकीयम् ओकः स्वरूपं स्थानं वा विवृणु प्रकाशय।।५३।।

इतीत्थं प्रार्थयमानं नृपतिमुद्दिश्य भगवानादिपुरुषो मत्स्यरूपी महाम्भोधौ प्रलयार्णवे विहरन् तत्त्वं तत्त्वप्रतिपादकं पुण्यं अब्रवीत् उपदिष्टवान् तत्त्वप्रतिपादकं पुराणमुपदिदेशेत्यर्थः।।५४।।

तदेवाह - **पुराणेति**। दिव्यां देवस्य स्वस्य सम्बन्धिनीं प्रतिपादिकां देवेन स्वेनैव प्रणीतां वा सांख्यं प्रकृतिविलक्षणात्मस्वरूपयाथात्म्यज्ञानं, योगो भगवद्भक्तियोगः, क्रिया नित्यनैमित्तिकादि क्रियायोगः, त एते प्रतिपाद्यत्वेनास्यां सन्तीति तथा तां पुराणसंहितां मात्स्यपुराणरूपां संहितां तथात्मनो गुह्यं रहस्यं चाशेषतः कार्त्स्न्येन सत्यव्रतस्य अब्रवीत् इत्यनुषङ्गः।।५५।।

**विज०** एतदेव विवृणोति - **जन** इति। जनो जननाद्यभिमानी तादृशस्य जनस्यासतीं गतिं इहामुत्र च उरुफलदं ज्ञानमादिशति। यथा येन ज्ञानेन दुरत्ययं तमः नित्यदुःखात्मकमन्धं तमः प्राप्नोति, तादृशमिति शेषः, यथेति पाठे यथोपदिष्टेन दुरत्ययं तमःप्राप्येत तथोपदिशति, नसन्नासन्नसत् इत्याद्याकारेणेत्यर्थः। " अन्धंतमः प्रविशन्ति " इति श्रुतेः। ज्ञानस्य सत्त्वे द्वैतभङ्ग इति तत्राह - त्वमिति। जनो येन ज्ञानेन निजं पदं निर्दोषत्वेन त्वद्रूपसदृशं सच्चिदानन्दलक्षणमञ्जसा अव्यवधानेन प्रपद्यते यच्चाव्ययमक्षयं यच्चामोघमव्यभिचारितया फलसमर्पकं त्वं तदेव ज्ञानमादिशसीत्यन्वयः।।५१।।

इतोऽपि त्वदुपदिष्टज्ञानमेवापेक्षितपुरुषार्थसाधनं नान्यत्, अनिमित्तबन्धुत्वादिगुणपूर्णत्वेन सिद्धत्वेन वञ्चनाशङ्कानास्पदत्वादित्याशयेनाह - **त्वमिति**। सुहृत्प्रत्युपकारशून्यः प्रियश्चेश्वरश्च विषयसुखस्यापीश्वर इति वा, आत्मा पूर्णानन्दः, गुरुर्ज्ञानोपदेष्टा जानातीति ज्ञानम्, अभीष्टसिद्धिरपेक्षितपुरुषार्थसाधकः लोकः सुहृत्त्वादिगुणवन्तं कुतो न जानातीति, तत्राह - तथापीति। यद्यप्यनिमित्तबन्धुः तथाऽपि लोको भवन्तं न जानाति, कुतः? अन्धधीः नष्टज्ञानत्वात्, ज्ञाननाशः कस्मादित्यत उक्तं हृदीति। दूरस्थत्वान्न तज्ज्ञानमित्यत उक्तं सन्तमिति। हृदीत्येतत् उभयत्र योज्यम्।।५२।।

---

1 W ई 2. A,B,T ह्रि 3- -3. W Omits 4- -4. A,B,T Omit

इदानीं स्वार्थं प्रकाशयति - तं त्वामिति। प्रतिबोधनाय त्वत्स्वरूपविषयज्ञानायाऽहं यो ज्ञानोपदेष्टृत्वादिगुणोपेतस्तं त्वां शरणं प्रपद्ये इत्यन्वयः। देवोत्तमत्वादयमेव शरण्य इति भावेनोक्तं-देववरमिति। सौन्दर्यादिगुणभावेन त्वद्भक्तिरुदेतीति भावेनोक्तं - वरेण्यमिति। उक्तगुणा अन्यत्र व्यभिचारिणो, नेत्याह - ईशमिति। अन्यथेश्वरत्वाऽनुपपत्तिः, हृदय्याम् अहङ्कारसम्भूतां ग्रन्थिम् अर्थस्य दीपकैः प्रकाशकैः। " मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु " (भ.गी.18-65) इत्यादिलक्षणवचोभिः, किञ्च स्वमोकः स्वस्वरूपं स्वाश्रमं वैकुण्ठं वा विवृणु प्रकाशयेत्यन्वयः। " ओकसी मन्दिराऽऽश्रमौ " इति च ।।५३,५४।।

सांख्ययोगक्रियावर्ती ज्ञानभक्तिकर्मयोगवर्ती पुराणसंहितामब्रवीत्, इदं श्रद्धेयमिति भावेनोक्तम् - आत्मगुह्यमिति। आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता इतिवदुपदिष्टैव शिष्टं नास्तीत्यत उक्तम् - अशेषत इति।।५५।।

**सोऽश्रौषीद्[1]ऋषिभिस्साकमात्मतत्त्वमसंशयम्।**
**नाव्यासीनो भगवता प्रोक्तं ब्रह्म सनातनम्।।५६।।**

**अतीत[2]प्रलयापाय उत्थिताय च[3] वेधसे।**
**हत्वाऽसुरं हयग्रीवं वेदान्प्रत्याहरद्धरिः।।५७।।**

**स तु सत्यव्रतो राजन्[5] ज्ञानविज्ञानसंयुतः।**
**विष्णोः प्रसादात्कल्पेऽस्मिन्नासीद्वैवस्वतो मनुः।।५८।।**

**सत्यव्रतस्य राजर्षेर्मायामत्स्यस्य शार्ङ्गिणः।**
**संवादं महदाख्यानं[6] श्रुत्वा मुच्येत किल्बिषात्।।५९।।**

**अवतारं[7] हरेर्योऽयं[8] कीर्तयेदन्वहं नरः।**
**सङ्कल्पास्तस्य सिध्यन्ति स याति परमां गतिम्।।६०।।**

**प्रलयपयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मुखेभ्यः श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्त हत्वा।**
**दितिजमकथयच्च[9] ब्रह्म सत्यव्रतानां[10] तमहमखिलहेतुं जिह्ममीनं नतोऽस्मि।।६१।।**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां अष्टमस्कन्धे
मत्स्यावतारचरितानुवर्णनं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः।।२४।।

1. A,B,G,J,M,Ma,T अश्रौ 2. M,Ma "ते प्र" 3. A,B,G,J,M,Ma,T स 4. W दिश" 5. A,B,G,J,M,Ma,T राजा 6. M,Ma "तं" 7. A,B,G,J,T "त्तारे 8. M,Ma "ऽमुं 9. A,B,G,J,T "वचो 10. M,Ma "ताय

**श्रीध० अतीतेति**। अतीतः पूर्वो यः प्रलयः तस्यापायेऽवसाने।।५७-५९।।

**अवतारमिति**। योऽयं हरेरवतारस्तं यः कीर्तयेत्[1]।।६०।।

**प्रलयेति**। [2-]दितिजं हयग्रीवं हत्वा तेनोपनीतं श्रुतिगणं प्रत्युपादत्त प्रत्यानीतवान्[-2] सत्यव्रतानां सत्यव्रतस्य ऋषीणाञ्च 'छत्रिणो गच्छन्ति' इतिवत् लिङ्गसमवाय[3]न्यायात् बहुवचनम्। जिह्ममीनं मायामत्स्यम्।।६१।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टमस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां चतुर्विंशोऽध्यायः।।२४।।

**वीर०** तदेतद्भगवता उपदिष्टमात्मनः प्रत्यगात्मनः तत्त्वं याथात्म्यं सनातनं ब्रह्म तद्याथात्म्यं च ऋषिभिस्सह नाव्युपदिष्टसत्यव्रतो निस्संशयं यथा भवति तथा शुश्राव।।५६।।

ततो हरिरतीतः पूर्वो यः प्रलयः तस्यापाये अवसाने उत्थिताय, शयनादिति शेषः। वेधसे चतुर्मुखाय वेदान् हयग्रीवेणापहृतान् तमसुरं हत्वा प्रत्याहृत्य[4] अदिशत् ददौ।।५७।।

ततः स तु स एव सत्यव्रतो राजा ज्ञानविज्ञानाभ्यां संयुतः आगमोत्थविवेकोत्थज्ञानाभ्यां युक्तः, विष्णोः प्रसादात् अनुग्रहादेव अस्मिन् कल्पे वैवस्वतो मनुरभूत्।।५८।।

एवमुपवर्णितमत्स्यावतारचरित्रो मुनिः तदाख्यानश्रवणादिफलम्[5]आह - **सत्यव्रतस्येति** मायामत्स्यस्य अद्भुतमत्स्यरूपिणः स्वसङ्कल्पोपात्तमत्स्यरूपिणो वा शार्ङ्गिणः हरेः सत्यव्रतस्य राजर्षेः मनोश्च[6] संवादरूपमिदमाख्यानं श्रुत्वा पुमान् किल्बिषात् स्वर्गापवर्गश्रेयोविरोधिनः पापात् मुक्तो भवेत्।।५९।।

यो नरो हरेरमुमवतारं तच्चरित्रमन्वहमहरहः कीर्तयेत् तस्य नरस्य सर्वे सङ्कल्पाः मनोरथाः सिध्यन्ति, जीवद्दशायामिति शेषः। देहावसाने तु स नरः परमां गतिं मुक्तिं यातीत्यर्थः[7]।।६०।।

मत्स्यावतारचरित्रकथनान्ते सुखप्रतिपत्तये तदवतारप्रधान[8]प्रयोजनानि संगृह्णन्नमस्करोति मुनिः - **प्रलयेति**। यः प्रलयपयसि प्रलयार्णव[9]जले, विहरन्निति शेषः। सुप्ता अप्रबुद्धा शक्तिः सृष्टिशक्तिर्यस्य तस्य निद्राभिभूतत्वादिति भावः। अत एव तस्य धातुः ब्रह्मणो मुखेभ्यः अपनीतं निस्सृतं श्रुतिगणं हयग्रीवेण असुरेणापहृतं तं दितिजमसुरं हत्वा प्रत्युपादत्त प्रत्याहृत्य धात्रे ददावित्यर्थः। तथा सत्यव्रतानां सत्यव्रतस्य ऋषीणां च ' छत्रिणो गच्छन्ति ' इतिवत् लिङ्गसमवायात् बहुवचनम्। ब्रह्म तद्याथात्म्यप्रतिपादकं

---

1. A,B,J add प्र 2- -2. B,H,J,V Omit 3. A,B,J "यात् 4. W आहृत्य 5. A,B,T "णफ" 6. W. Omits मनोः 7. W Omits इत्यर्थं, 8. A,B,T Omit प्रधान 9. W "वे,

पुराणमकथयत् तमखिलहेतुं सर्वकारणकारणभूतं जिह्ममीनं कपटमीनं हरिमहं नतोऽस्मि, नत इति कर्तरि क्तः, नमस्कृतवानस्मीत्यर्थः।।६१।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां चतुर्विंशोऽध्यायः।।२४।।

**विज०** नावि जलयाने।।५६।।

प्रलयानामपाये अतीते सति ततः उत्थिताय वेधसे ब्रह्मणे प्रत्याहरत् दैत्यहृतान् तान् ज्ञात्वा प्रत्याहृत्य दत्तवानित्यर्थः।।५७-५९।।

संवादस्य पापहरत्वे अवतारकथाकीर्तनेन किं प्रयोजनमत्राह - **अवतारमिति**। अस्तु श्रवणफलं, कीर्तनेन किं फलमित्यतो वाऽऽह - अवतारमिति।।६०।।

बुद्धिसङ्ग्रहार्थमवतारकथां सङ्कलय्य कथयति - **प्रलयेति**। सुप्तशक्तेर्विषयोपरतेन्द्रियशक्तेः कार्यानभिमुखीभूतप्रकृतिशक्तेर्वा अपनीतं निस्सृतं दैत्येन नीतं, जिह्ममीनं मायामत्स्यम् - "अनन्तशक्तिर्भगवान्मत्स्यरूपी जनार्दनः। क्रीडार्थं याचयामास स्वयं सत्यव्रतं नृपम्।।" इत्यनेन तमाह सात्विकरुणं महाकारुणिकमित्यादिना विक्रीडितमिति ज्ञातव्यम्।।६१।।

पदरत्नावलिर्नाम अष्टमस्कन्धसङ्गता। प्रीत्यै मत्स्यात्मनो विष्णोरस्तु निर्दोषवर्ष्मणः।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टमस्कन्धे
पारमहंस्यां संहितायां श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां चतुर्विंशोऽध्यायः।।२४।।

(विजयध्वजरीत्या त्रयोविंशोऽध्यायः।।२३।।)

oooOooo

# श्रीमद्भागवत अष्टमस्कन्धस्थश्लोकपादानुक्रमणिका


| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| **अ** | | | |
| अकरोद्वामनं पतिम् | 23 | 21 | d |
| अक्षमालां महाराज। | 18 | 16 | c |
| अक्षरं यत्तदोमिति | 19 | 41 | b |
| अक्ष्णोश्च सूर्य वदने च वह्निम् | 20 | 26 | d |
| अगाधबोधो भवतः पादपद्मम् | 22 | 10 | b |
| अगायत यशोधाम | 4 | 4 | c |
| अगुणाय निर्वाणसुखार्णवाय | 6 | 8 | b |
| अग्रयोऽतिथयो भृत्याः | 16 | 12 | a |
| अग्निर्बाहुश्शुचिश्शुक्र· | 13 | 34 | c |
| अग्निर्मुखं तेऽखिलदेवतात्मा | 7 | 26 | a |
| अग्निर्मुख यस्य तु जातवेदा | 5 | 35 | a |
| अग्रणीः कीर्तिवर्धनः | 22 | 28 | b |
| अङ्गारान्मुमुचुर्वातै. | 10 | 49 | c |
| अचिराद्भ्रश्यसे श्रिय | 20 | 15 | d |
| अजस्य चक्रन्त्वजयेर्यमाणम् | 5 | 28 | a |
| अजातजन्मस्थितिसंयमाय | 6 | 8 | a |
| अजानन् रक्षणार्थाय | 24 | 15 | c |
| अजितस्य पदं साक्षात् | 5 | 24 | c |
| अजितात्मोपसादितै. | 19 | 24 | d |
| अजितो नाम भगवान् | 5 | 9 | c |
| अजो ग्रहमचीक्लृपत् | 9 | 26 | b |
| अजो नागाश्च कुण्डले | 8 | 16 | d |
| अजैषीदजयां मायाम् | 22 | 28 | c |
| अज्ञानतस्त्वयि· जनैर्विहितो | 12 | 8 | c |
| अज्ञानप्रभवो मन्यु. | 19 | 13 | c |
| अणोरणिम्नेऽपरिगण्यधाम्ने | 6 | 8 | c |
| अतस्ते श्रेयसे धीराः | 16 | 36 | c |
| अतीतप्रलयापाये | 24 | 57 | a |
| अतीतेऽनागतेऽद्य वा | 1 | 3 | d |
| अतीन्द्रियं सूक्ष्ममिवातिदूरम् | 3 | 21 | c |
| अतोऽन्यश्चिन्तनीयस्ते (हि) | 11 | 38 | c |
| अतोऽहमस्य हृदयम् | 19 | 9 | c |
| अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलम् | 3 | 20 | c |
| अत्यरोचत मारिषः | 18 | 18 | d |
| अत्राऽपि बहुचैर्गीतम् | 19 | 38 | a |
| अत्राऽपि भगवज्जन्म | 13 | 6 | a |
| अथ तस्मै भगवते | 6 | 27 | a |
| अथ तार्क्ष्यसुतो ज्ञात्वा | 21 | 26 | a |
| अथाऽग्र ऋषयः कर्माणी | 1 | 14 | a |
| अथाङ्घ्रये प्रोन्नमिताय विष्णोः | 21 | 3 | a |
| अथाऽपि लोको न भवन्त | 24 | 52 | c |
| अथाऽऽरुह्य रथं दिव्यम् | 15 | 8 | a |
| अथावगतमाहात्म्यः | 12 | 36 | a |
| अथाऽऽसीद्वारुणी देवी | 8 | 30 | a |
| अथाऽहमप्यात्मरिपोः तवान्ति- | 22 | 11 | a |
| अथाहोशनसं राजन् | 23 | 13 | a |
| अथैतत्पूर्णमध्यात्मम् | 19 | 42 | a |
| अथोदधेर्मथ्यमानान् | 8 | 31 | a |
| अथोपोष्य कृतस्नाना | 9 | 14 | a |
| अथो सुरास्ते प्रतिलब्धचेतस. | 11 | 1 | a |
| अदअन्त्यतिबला वीर ! | 24 | 24 | c |
| अदितिश्च शशंसिरे | 23 | 27 | d |
| अदितिर्दुर्लभं लब्ध्वा | 17 | 21 | c |
| अदितेर्धिष्ठितं गर्भम् | 17 | 24 | a |
| अदित्या आश्रमपदम् | 18 | 10 | c |
| अदित्यैवं स्तुतो राजन्! | 17 | 11 | a |
| अदीदृशो यद्वपुरद्भुतं हि न· | 24 | 30 | d |
| अदृश्यताऽष्टायुधबाहुरुल्लसत् | 10 | 54 | c |
| अद्य नः पावित्रं कुलम् | 18 | 30 | b |
| अद्य नः पितरस्तृप्ता· | 18 | 30 | a |
| अद्य स्विष्टः क्रतुरयम् | 18 | 30 | c |
| अद्याग्रयो मे सुहुता यथाविधि | 18 | 31 | a |
| अधुनाऽऽस्ते स्वराडिव | 13 | 14 | d |
| अनन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे | 3 | 21 | d |
| अनन्तशक्ति पुरुषं यमाहुः | 17 | 27 | b |
| अनागतास्तत्सुताश्च | 13 | 24 | c |
| अनादेशकरं गुरु | 20 | 14 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अनाद्यविद्योपहतात्मसंविदः | 24 | 46 | a | अपश्यन्निति होवाच | 19 | 12 | a |
| अनाधारोह्यपोऽविशत् | 7 | 6 | b | अपश्यमानः कुपितो ननाद | 19 | 11 | b |
| अनायकाश्शत्रुबलेन निर्जिताः | 11 | 25 | c | अपारणीया इति देवि मे मतिः | 17 | 16 | b |
| अन्नाद्येनाश्वपाकेभ्यः | 16 | 55 | c | अपारयन्तस्तं वोढुम् | 6 | 34 | c |
| अनिच्छन्तो बले राजा | 21 | 14 | c | अपारयन्नात्मविमोक्षणे चिरम् | 2 | 31 | c |
| अनिवृत्तास्तनुत्यजः | 20 | 9 | b | अपि वा कुशलं किञ्चित् | 16 | 5 | a |
| अनुग्रहाय भूतानाम् | 24 | 27 | c | अपि वाऽतिथयो ह्यत्र | 16 | 6 | a |
| अनुध्यानान्न रिष्यति | 16 | 12 | d | अपि सर्वे कुशलिनः | 16 | 10 | a |
| अनुव्रतमयाजयन् | 15 | 34 | d | अप्रतर्क्यमनिर्देश्यम् | 10 | 17 | c |
| अनुसङ्कीर्तनं तव | 23 | 16 | d | अप्रदातुः प्रतिश्रुतम् | 19 | 35 | b |
| अनृतं मूलमात्मनः | 19 | 39 | d | अप्रमाणविदस्तस्याः | 9 | 13 | c |
| अनेन याचमानेन | 21 | 11 | a | अप्यग्रयस्ते वेलायाम् | 16 | 8 | a |
| अन्तरं सत्यसहसः | 13 | 29 | c | अप्यभद्रं न विप्राणाम् | 16 | 4 | a |
| अन्तर्धानं गतोऽसुरः | 10 | 45 | b | अप्युत्तमां गतिमसौ भजते त्रिलो- | 22 | 23 | c |
| अन्तर्बहिश्चावृतये भयोन्या | 3 | 25 | b | अबुद्धिमान् द्वीपदाशुषम् | 19 | 19 | d |
| अन्तस्समुद्रे नु पचन्स्वधातून् | 5 | 35 | c | अभक्षयन्महादेवः | 7 | 4 | c |
| अन्यत्र क्षुद्रा हरिणाः शशादयः | 2 | 22 | c | अभवाय दिवौकसाम् | 21 | 21 | b |
| अन्यांश्च ब्राह्मणान्युक्तान् | 16 | 54 | c | अभवाय पृथग्गुणः | 14 | 9 | d |
| अन्ये च देवा गुरवो जनाःस्वयम् | 24 | 49 | b | अभिगर्जन्ति हरयः | 2 | 6 | c |
| अन्ये चाऽपि बलोपेताः | 11 | 35 | c | अभिधावति वैरधीः | 9 | 26 | d |
| अन्ये जलस्थलखगैः | 10 | 12 | a | अभिनन्द्य हरेर्वीर्यम् | 5 | 14 | c |
| अन्ये पौलोमकालेयाः | 10 | 22 | c | अभिषेकं यथाविधि | 8 | 12 | b |
| अन्ये वयन्ति नवशक्तियुतं परं | 12 | 9 | c | अभिष्टुवद्भिः सुमनोऽभिवृष्टः | 7 | 12 | d |
| अन्यैश्च ककुभस्सर्वाः | 2 | 3 | a | अभ्यभाषत तत्सर्वम् | 6 | 30 | c |
| अन्यैश्चोद्दामकीर्तिभिः | 19 | 15 | d | अभ्ययात्सौहृदं सख्युः | 11 | 13 | c |
| अन्योन्यतस्सुधा पात्रम् | 9 | 1 | a | अभ्याचष्टुं प्रचक्रमे | 5 | 14 | d |
| अन्योन्यमासाद्य निजघ्नुरोजसा | 10 | 35 | c | अमृतममर वर्यानाशयत्सिन्धुम- | 12 | 47 | b |
| अन्येऽप्येवं प्रतिद्वन्द्वम् | 11 | 42 | a | अमृतापूर्णकलशम् | 8 | 34 | a |
| अन्वतिष्ठद्व्रतमिदम् | 17 | 1 | c | अमृतार्थे पयोनिधिम् | 7 | 5 | d |
| अन्ववर्तन्त यं देवाः | 16 | 37 | a | अमृतार्थे परस्परम् | 6 | 32 | d |
| अन्वशिक्षन्व्रतं तस्य | 1 | 22 | c | अमृतोत्पादने यत्नः | 6 | 21 | a |
| अन्वास्म सम्राजमिवानुगा वयम् | 5 | 37 | c | अमृत्योरिह देहिनाम् | 19 | 13 | b |
| अपराजितेन नमुचिः | 10 | 30 | a | अमृष्यमाणा उत्पेतुः | 10 | 3 | c |
| अपरिज्ञेय वीर्यस्य | 12 | 36 | a | अमोघमरिमर्दनम् | 11 | 12 | b |
| अपरेऽभिययुः खरैः | 10 | 9 | b | अमोघा भगवत्सेवा | 16 | 21 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अम्भसेवाऽऽशुशुक्षणिः | 19 | 26 | d | अवतारा मया दृष्टाः | 12 | 12 | a |
| अम्भस्तु यद्रेत उदारवीर्यम् | 5 | 33 | a | अवतारैः कृतानि मे | 4 | 21 | b |
| अम्लानपद्मां जलजञ्च शुक्रः | 15 | 6 | d | अवधीत्सत्यजित्सखः | 1 | 26 | d |
| अयन्तु तस्य स्थितिपालनक्षणः | 5 | 23 | a | अवनिज्याऽर्चयामास | 18 | 27 | c |
| अयन्दुरात्माऽकृतबुद्धिरत्र | 4 | 10 | b | अवनिज्याऽवहन्मूर्ध्नि | 20 | 18 | c |
| अयं वै सर्वयज्ञाख्यः | 16 | 60 | a | अवनेजन्यपां भृतम् | 20 | 17 | d |
| अयाजयन्विश्वजिता त्रिणाकम् | 15 | 4 | b | अवरोप्य गिरिं स्कन्धात् | 6 | 39 | a |
| अयि ह्यपश्यस्त्वमजस्य मायाम् | 12 | 43 | a | अविक्रियं सत्यमनन्तमाद्यम् | 5 | 26 | a |
| अरक्ष्यमाणाश्शरणं सदाशिवम् | 7 | 19 | d | अविता शं विधास्यति | 24 | 43 | d |
| अरयोऽपि हि सन्धेयाः | 6 | 20 | a | अविद्धदृक् साक्ष्युभयं तदीक्षते | 3 | 4 | c |
| अरिष्टोदुम्बरप्लक्षैः | 2 | 12 | c | अविश्वं विश्ववेदसम् | 3 | 26 | b |
| अरिष्टोऽरिष्टनेमिश्च | 10 | 22 | a | अविषह्यमिमं मन्ये | 15 | 25 | c |
| अरूपायोरुरूपाय | 3 | 9 | c | अव्यक्तचिद्व्यक्तमधारयद्धरिः | 18 | 12 | b |
| अरेभिरे सुरायत्ताः | 7 | 2 | a | अव्यक्तमाध्यात्मिकयोगगम्यम् | 3 | 21 | b |
| अर्चयित्वा गन्धमाल्यैः | 16 | 39 | a | अशासत् सकलं जगत् | 23 | 4 | d |
| अर्चयेच्छ्रद्धया युक्तः | 16 | 38 | c | अश्मसारमयं शूलम् | 11 | 30 | a |
| अर्चयेत्स्थण्डिले सूर्ये | 16 | 28 | c | अश्विनावृभवो राजन् | 13 | 4 | c |
| अर्चयेदरविन्दाक्षम् | 16 | 25 | c | अश्विनौ बडबात्मजौ | 13 | 10 | d |
| अर्चित्वोदकपूर्वकम् | 20 | 16 | d | अश्विनौ वृषपर्वणा | 10 | 30 | b |
| अर्चिभिरिव वह्नयः | 15 | 17 | d | अष्टमेऽन्तर आयाते | 13 | 11 | a |
| अर्चिर्भिर्वर्मभूषणैः | 10 | 14 | b | अष्टाशीति सहस्राणि | 1 | 22 | a |
| अर्थस्य पदवीं गतैः | 6 | 20 | d | असताच्छाययोक्ताय | 3 | 14 | c |
| अर्थं कामं यशो वृत्तिम् | 20 | 2 | c | असतो यक्षराक्षसान् | 1 | 26 | b |
| अर्थेन्द्रियाभासमनिद्रमव्रणम् | 5 | 27 | b | असदविषयमङ्घ्रि-भावगम्यं | 12 | 47 | a |
| अर्थैः कामैर्गता नान्तम् | 19 | 23 | c | असन्तोषोऽर्थकामयोः | 19 | 25 | b |
| अर्हणं द्विजतर्पणम् | 16 | 47 | d | असम्प्राप्तान् हसन्निव | 10 | 42 | d |
| अलक्षयन्तस्तमतीव विह्वलाः | 11 | 25 | a | असाधुवादाद्भृशमुद्विजे यथा | 22 | 3 | d |
| अलक्ष्यगतिभीषणैः | 10 | 52 | b | असुरा जगृहुस्तां वै | 8 | 30 | c |
| अलब्धपूर्वोऽपशदेऽसुरेऽर्पितः | 23 | 2 | d | असुराणां सुधादानम् | 9 | 19 | a |
| अलब्धभागास्सोमस्य | 10 | 23 | a | असुरानयथा विभुः | 5 | 19 | d |
| अलब्धाऽऽत्मावकाशाऽसौ | 24 | 17 | c | असुरास्तत्कृतं नृपः | 9 | 22 | b |
| अलोकमव्यक्तमनन्तपारम् | 5 | 29 | b | अस्तं गिरिमुपागमन् | 11 | 46 | d |
| अवतारकथामाद्याम् | 24 | 1 | c | अस्मत्करणगोचरम् | 5 | 45 | b |
| अवतारं हरेर्योऽयम् | 24 | 60 | a | अहङ्कलानामृषभो विमुह्यो | 12 | 43 | e |
| अवतारानुचरितम् | 23 | 30 | c | अहञ्च तं यामि परं परायणम् | 2 | 32 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अहन्येतदरिन्दम ! | 24 | 32 | b |
| अहम्पूर्वमहम्पूर्वम् | 8 | 38 | c |
| अहम्मानोपबृंहितः | 19 | 13 | d |
| अहश्च रात्रिश्च परस्य पुंसः | 20 | 27 | c |
| अहं गिरिश्च सरादयो ये | 6 | 15 | a |
| अहं भवो यूयमथाऽसुरादयः | 5 | 21 | a |
| अहं त्वामृषिभिस्साकम् | 24 | 37 | a |
| अहिमूषकवत्पश्चात् | 6 | 20 | c |
| अहिंस्रस्सर्वभूतानाम् | 16 | 49 | c |
| अहीन्द्रसाहस्रकठोरदंष्ट्रुख | 7 | 14 | a |
| अहेरङ्गममङ्गलम् | 7 | 3 | d |
| अहो अस्या नवं वयः | 9 | 2 | b |
| अहो प्रणामस्य कृतस्समुद्यमः | 23 | 2 | a |
| अहो बत भवान्येतत् | 7 | 37 | a |
| अहो ! ब्राह्मणदायाद ! | 19 | 18 | a |
| अहो मायाबलं विष्णोः | 16 | 18 | c |
| अह्नाऽभिव्यानशेऽमरः | 24 | 26 | d |
| अंशं ह्यवितथेक्षणः | 17 | 23 | b |
| अंशेन जगतः पतिः | 5 | 9 | d |
| **आ** | | | |
| आकर्णपूर्णैरहनत् | 11 | 10 | c |
| आकर्ण्यासुरयूथपाः | 9 | 13 | b |
| आकाशगङ्गया देव्या | 15 | 14 | a |
| आकूत्यां देवहूत्याञ्च | 1 | 5 | a |
| आक्रम्य हस्तेन सहस्रबाहुः | 7 | 12 | b |
| आक्रीडं सुरयोषिताम् | 2 | 9 | d |
| आक्षेपैराह तं पुनः | 11 | 10 | d |
| आख्यास्ये भगवान् यज्ञः | 1 | 6 | c |
| आचार्यदत्तं जलजं महास्वनम् | 15 | 23 | c |
| आचार्यं ज्ञानसम्पन्नम् | 10 | 53 | a |
| आजगाम कुरुश्रेष्ठ ! | 22 | 12 | c |
| आज्ञां भगवतो राजन् | 23 | 11 | a |
| आतपत्रैस्सितामलैः | 10 | 13 | b |
| आत्मगुह्यमशेषतः | 24 | 55 | d |
| आत्मजान्सुसमृद्धांस्त्वम् | 17 | 15 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| आत्मतत्त्वमसंशयम् | 24 | 56 | b |
| आत्मना शुद्धभावेन | 16 | 59 | c |
| आत्मनो जगदात्मनः | 12 | 36 | b |
| आत्मलाभेन पूर्णार्थः | 1 | 15 | c |
| आत्मवृक्षस्य गीयते | 19 | 39 | b |
| आत्मस्मृतिविनाशिनीम् | 4 | 12 | b |
| आत्मागुरुर्ज्ञानमभीष्टसिद्धिदः | 24 | 52 | b |
| आत्मात्मजागृह्यवित्तजनेषु सक्तैः | 3 | 18 | a |
| आत्मानञ्च कुतो विभुम् | 6 | 2 | d |
| आत्मानमद्भिः स्नपयन् गतक्लमः | 2 | 25 | d |
| आत्मानं तत्र साधनम् | 11 | 9 | b |
| आत्मानं देवमायया | 12 | 35 | b |
| आत्मानं मोचयित्वाऽङ्ग ! | 12 | 30 | a |
| आत्मावस्थमिदं सर्वम् | 1 | 10 | a |
| आत्माविक्लबया धिया | 22 | 22 | d |
| आत्मा शुष्येन्न संशयः | 19 | 40 | d |
| आत्मांशभूतां तां मायाम् | 12 | 42 | a |
| आत्मेश्वरश्च तदपेक्षतयाऽनपेक्षः | 12 | 7 | d |
| आदायौषधिवीरुधः | 24 | 42 | d |
| आदित्यानामवरजः | 13 | 6 | c |
| आदित्या वसवोरुद्राः | 13 | 4 | a |
| आदिश त्वं द्विजश्रेष्ठ ! | 16 | 23 | a |
| आद्यन्तावयवस्य यन्मध्यम् | 12 | 5 | a |
| आद्यस्तु कथितो यत्र | 1 | 4 | c |
| आधावतो निर्विविशे सुरेन्द्र ! | 19 | 10 | b |
| आधावन्तो भटान्मृधे | 10 | 40 | d |
| आनन्दमात्र मविकारमनन्यदन्यत् | 12 | 7 | b |
| आनिन्ये कलशं हैमम् | 20 | 17 | c |
| आनीतो द्विपमुत्सृज्य | 11 | 16 | c |
| आपन्नलोकवृजिनोपशमोदयाऽऽद्य | 17 | 8 | c |
| आपन्नः कौञ्जरीं योनिम् | 4 | 12 | a |
| आभिषेचनिका भूमिः | 8 | 11 | a |
| आमन्त्र्य तं परिक्रम्य | 12 | 41 | c |
| आम्रैराम्रातकैरपि | 2 | 11 | b |
| आयान्तीं ददृशुः स्त्रियम् | 9 | 1 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| आयुर्वेददृगिज्यभाक् | 8 | 35 | b |
| आयुष्मतोऽम्बुधारायाम् | 13 | 20 | a |
| आयुःपरं वपुरभीष्टमतुल्यलक्ष्मी | 17 | 10 | a |
| आयोधनादुल्बण उत्थितस्तदा | 10 | 38 | b |
| आरुरुक्षन्ति मायाभिः | 11 | 5 | a |
| आरुरोह खगाधिपम् | 4 | 26 | d |
| आरुह्य प्रययावब्धिम् | 6 | 38 | c |
| आरुह्य बृहतीं नावम् | 24 | 35 | a |
| आरूढो वियति स्वराट् | 10 | 25 | b |
| आर्यकस्य सुतस्तत्र | 13 | 26 | a |
| आलक्ष्य मधुसूदनः | 12 | 37 | b |
| आवर्तनोद्वर्तनकम्पितस्तन | 12 | 19 | a |
| आवाहनपुरस्कृतम् | 16 | 38 | b |
| आविध्य शूल महिनोदथ | 10 | 56 | b |
| आशु तुष्यति मे देवः | 16 | 23 | c |
| आश्रमं भगवानगात् | 16 | 2 | b |
| आश्रुत्य स महीपतिः | 24 | 16 | b |
| आश्वस्तमनसोऽसुराः | 9 | 11 | b |
| आसन्स्वपौरुषे नष्टे | 7 | 7 | c |
| आसाञ्चकारोपसुपर्णमेनम् | 5 | 29 | c |
| आसां प्राणपरीप्सूनाम् | 7 | 38 | a |
| आसीदतीतकल्पान्ते | 24 | 7 | a |
| आसीद्गिरिवरो राजन् | 2 | 1 | a |
| आसीद्वैवस्वतो मनुः | 24 | 58 | d |
| आसीनमद्रावपवर्गहेतोः | 7 | 20 | c |
| आसीनमृत्विजां मध्ये | 23 | 13 | c |
| आसुरीं ध्वजिनीं विभुः | 15 | 11 | b |
| आस्तीर्य दर्भान्प्राङ्कूलान् | 24 | 40 | a |
| आस्थितस्तं विमानाग्र्यम् | 10 | 18 | a |
| आस्थितो गृहमेधिभिः | 19 | 15 | b |
| आहतास्तनयित्नवः | 10 | 49 | d |
| आहत्य तिग्मगदयाऽहनदण्डम् | 10 | 57 | c |
| आहत्य व्यनदत्संख्ये | 11 | 23 | c |
| आहरत्सकलौषधीः | 8 | 11 | b |
| आह वागशरीरिणी | 11 | 37 | b |
| आहो रूपमहो धाम हि | 9 | 2 | a |
| आह्वयन्तो विशन्तोऽग्रे | 10 | 27 | c |
| **इ** | | | |
| इक्ष्वाकुर्नभगश्चैव | 13 | 2 | a |
| इच्छामि कालेन न यस्य विप्लवः | 3 | 25 | c |
| इतस्ततः प्रसर्पन्ती | 12 | 29 | c |
| इतस्ततो नूपुरवल्गुशिञ्जितैः | 8 | 18 | c |
| इति तद्दैन्यमालोक्य | 8 | 37 | c |
| इति तूष्णीं स्थितान् दैत्यान् | 7 | 4 | c |
| इति ते क्ष्वेलिभिस्तस्याः | 9 | 11 | a |
| इति ते तामनुद्रुत्य | 9 | 2 | c |
| इति तेऽभिहितस्तात | 12 | 45 | a |
| इति दानवदैतेयाः | 10 | 1 | a |
| इति देवान्समादिश्य | 6 | 26 | a |
| इति ब्रुवाणं नृपतिं जगत्पतिः | 24 | 31 | a |
| इति ब्रुवाणो भगवान् | 12 | 17 | a |
| इति मन्त्रोपनिषदम् | 1 | 17 | a |
| इति वैरोचने वाक्यम् | 19 | 1 | a |
| इति शक्रं विषीदन्तम् | 11 | 37 | a |
| इति सप्तर्षयः स्मृताः | 13 | 5 | d |
| इति स्वान्प्रत्यषेधन्वै | 8 | 40 | a |
| इति होवाच भारत! | 17 | 11 | d |
| इति होवाच भूरियम् | 20 | 4 | b |
| इत्थं गजेन्द्रः स यदापसङ्कटम् | 2 | 31 | a |
| इत्थमादिश्य राजानम् | 24 | 39 | a |
| इत्थं विरिञ्चस्स्तुतकर्मवीर्यः | 18 | 1 | a |
| इत्थं स निश्चित्य पितामहो महान् | 22 | 10 | a |
| इत्थं सशिष्येषु भृगुष्वनेकधा | 18 | 23 | a |
| इत्यभिव्याहृतं तस्याः | 9 | 13 | a |
| इत्याक्षिप्य विभुं वीरः | 11 | 10 | a |
| इत्यादिश्य हृषीकेशः | 4 | 26 | a |
| इत्याद्या दश तत्सुताः | 1 | 27 | d |
| इत्याद्यास्तत्सुता नृपाः | 13 | 18 | d |
| इत्याभाष्यसुरान्वेधाः | 5 | 24 | a |
| इत्यायुधानि जगृहुः | 21 | 13 | c |

| | अध्याय. | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| इत्याह मन्त्रदृगृषिः पुरुषस्य यस्य | 23 | 29 | d |
| इत्युक्तवन्तं नृपतिम् | 24 | 54 | a |
| इत्युक्तवन्तं पुरुषं पुरातनम् | 23 | 1 | a |
| इत्युक्तस्सोऽनयन्मत्स्यम् | 24 | 23 | a |
| इत्युक्तः प्रहसन्नाह | 19 | 28 | a |
| इत्युक्ता सा दिती राजन् | 17 | 1 | a |
| इत्युक्तो विष्णुरातेन | 24 | 4 | a |
| इत्युक्त्वा सान्त्वयन् देवान् | 8 | 37 | g |
| इत्युक्त्वा हरिमानम्य | 23 | 3 | a |
| इत्युपामन्त्रितो दैत्यैः | 9 | 8 | a |
| इदमन्यदहं बहिः | 12 | 5 | b |
| इदमन्वाह भारत! | 1 | 8 | d |
| इदमाह कुरुद्वह! | 16 | 3 | d |
| इदमाह महीपतिम् | 24 | 17 | d |
| इदमाह सतीं प्रियाम् | 7 | 36 | d |
| इदमाह हरिः प्रीतः | 4 | 16 | a |
| इदं कृतान्तान्तिकवर्तिजीवितम् | 22 | 11 | c |
| इदानीमासते राजन् | 13 | 16 | c |
| इन्द्रज्येष्ठैस्स्वतनयैः | 17 | 14 | a |
| इन्द्रद्युम्न इति ख्यातः | 4 | 7 | c |
| इन्द्रद्युम्नोऽपि राजर्षिः | 4 | 11 | c |
| इन्द्रप्रधानानमरान् भुजेषु | 20 | 26 | a |
| इन्द्रसावर्णिवीर्यजाः | 13 | 33 | d |
| इन्द्रसेन! महाराज! | 22 | 23 | a |
| इन्द्रस्तु वैधृतस्तेषाम् | 13 | 25 | c |
| इन्द्रस्तेषां पुरन्दरः | 13 | 4 | d |
| इन्द्रास्सुरगणाश्चैव | 14 | 2 | c |
| इन्द्रेणराजन्भृगुभिस्सजीवितः | 15 | 3 | b |
| इन्द्रो जम्भस्य सङ्क्रुद्धः | 11 | 18 | c |
| इन्द्रो भगवता दत्ताम् | 14 | 7 | a |
| इन्द्रो मन्द्रद्रुमस्तत्र | 5 | 8 | a |
| इमे वयं यत्प्रिययैव तन्वा | 5 | 31 | a |
| इमे सप्तर्षयस्तस्मिन् | 13 | 16 | a |
| इल्वलस्सहवातापिः | 10 | 32 | c |
| इह मां मकरादयः | 24 | 24 | b |
| इहाऽमुत्र च मोदते | 19 | 37 | d |

ई

| | अध्याय. | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ईडिरेऽवितथैर्मन्त्रैः | 8 | 27 | c |
| ईशो नगानां प्रजनः प्रजानाम् | 5 | 34 | c |
| ईश्वरो बन्धमोक्षयोः | 7 | 22 | b |
| ईहते भगवानीशः | 1 | 15 | a |
| ईहन्ते कर्महेतवे | 1 | 14 | b |
| ईहमानोऽपि पुरुषः | 1 | 14 | c |

उ

| | अध्याय. | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| उच्चावचेषु भूतेषु | 24 | 6 | a |
| उत्कलो मातृभिस्सह | 10 | 33 | b |
| उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह | 3 | 32 | c |
| उत्तमश्लोकचरितम् | 24 | 3 | c |
| उत्तमश्लोकमव्ययम् | 4 | 4 | b |
| उत्थायापररात्रान्ते | 4 | 24 | a |
| उत्थिताय स वेधसे | 24 | 57 | b |
| उत्ससर्ज नदीतोये | 24 | 13 | c |
| उत्सिसृप्सन्ति ये दिवम् | 11 | 5 | b |
| उदकं सल्लिलौकसः | 24 | 22 | b |
| उदतिष्ठन्महाराज! | 8 | 31 | c |
| उदयच्छद्यदा वज्रम् | 11 | 2 | c |
| उदयच्छद्रिपुं हन्तुम् | 11 | 27 | c |
| उदयाद्रि महर्पतिः | 10 | 25 | d |
| उदारयशसं नृप! | 21 | 28 | d |
| उद्दीपयन् देवगणांश्च विष्णुः | 7 | 11 | c |
| उद्धृताऽसि नमस्तुभ्यम् | 16 | 27 | c |
| उद्यतायुधदोर्दण्डैः | 10 | 40 | c |
| उद्यमं परमं चक्रुः | 6 | 32 | c |
| उद्यानमृतुमन्नाम हि | 2 | 9 | c |
| उद्वीक्षती सा पिबतीव चक्षुषा | 17 | 7 | c |
| उन्नतेरस्य कारणम् | 15 | 28 | b |
| उपगीयमानानुचरैः | 11 | 45 | c |
| उपतिष्ठस्व पुरुषम् | 16 | 20 | a |
| उपधाव पतिं भद्रे! | 17 | 19 | a |
| उपयंधश्चाऽऽत्मनि गोत्रनेत्रयोः | 7 | 13 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| उपर्युगेन्द्रं गिरिराडिवान्यः | 7 | 12 | a |
| उपवीताजिनोत्तरम् | 18 | 24 | b |
| उपश्लोकसुतो महान् | 13 | 21 | b |
| उपस्थास्यति नौरेका | 24 | 33 | c |
| उपस्थास्ये जगद्गुरुम् | 16 | 22 | b |
| उपस्थितस्य मे शृङ्गे | 24 | 36 | c |
| उपहर्ता दिवस्पतेः | 13 | 32 | b |
| उपाधावत्पतिं भक्त्या | 17 | 22 | a |
| उपायमुभयात्मकम् | 11 | 39 | d |
| उपायो मघवन् रिपोः | 11 | 38 | d |
| उपारमत विग्रहात् | 11 | 44 | d |
| उपासते योगरथेन धीराः | 5 | 29 | d |
| उपाहरत्पद्मभवोऽर्हणोदकम् | 21 | 3 | b |
| उपेत्य भूमौ शिरसा महामनाः | 22 | 15 | c |
| उपेन्द्रभुजपालितम् | 23 | 25 | b |
| उपेन्द्रं कल्पयाञ्चक्रे | 23 | 23 | a |
| उभयेषां जगत्पतिः | 9 | 20 | b |
| उमाऽदादम्बिका सती | 18 | 17 | d |
| उरुक्रम नमोऽस्तु ते | 17 | 25 | b |
| उरुक्रमस्य चरितम् | 23 | 28 | c |
| उरुक्रमस्याऽङ्घ्रिरुपर्युपर्यथो | 20 | 34 | c |
| उरुक्रमस्योरसि चक्षमालाम् | 20 | 24 | d |
| उरुगम्भीरवस्वाद्याः | 13 | 33 | c |
| उवाच चरितं विष्णोः | 24 | 4 | c |
| उवाच परमप्रीतः | 12 | 37 | c |
| उवाच मधुसूदनम् | 22 | 18 | d |
| उवाच विप्राः प्रतिनन्द्य पार्थिवम् | 1 | 33 | c |
| उवाचाऽवहितो गुरुम् | 20 | 1 | d |
| उवाचोत्फुल्लवदनः | 5 | 20 | c |
| उशना असुरेश्वरम् | 19 | 29 | b |
| उशना जीवयामास | 11 | 47 | c |
| उशना भगवानिति | 23 | 18 | b |
| उष्ट्रैः केचिदिभैः केचित् | 10 | 9 | a |
| **ऊ** | | | |
| ऊचुस्स्वभर्तुरसुराः | 21 | 9 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ऊर्जस्तम्भादयस्सप्त | 1 | 20 | c |
| ऊर्ध्वबाह्वादयो द्विजाः | 5 | 3 | d |
| ऊर्वोर्गणं मारुतमिन्द्रसेनः | 20 | 23 | d |
| ऊर्वोर्बिजौजोऽङ्घ्रिरवेदशूद्रौ | 5 | 41 | c |
| **ऋ** | | | |
| ऋतञ्च सत्यञ्च मनस्यथेन्दुम् | 20 | 25 | b |
| ऋतुधामा च तत्रेन्द्रः | 13 | 28 | a |
| ऋतोऽलोकपरं नरम् | 20 | 4 | d |
| ऋत्विग्भिश्च यथार्हतः | 16 | 55 | b |
| ऋषभो भगवत्कला | 13 | 20 | b |
| ऋषयश्च तपोमूर्तिः | 13 | 28 | c |
| ऋषयश्चारणास्सिद्धाः | 4 | 2 | c |
| ऋषयश्चारुणादयः | 13 | 25 | d |
| ऋषयस्तामसोऽन्तरे | 1 | 28 | d |
| ऋषयः कल्पयाञ्चक्रुः | 8 | 12 | a |
| ऋषयः प्रमदादयः | 1 | 24 | b |
| ऋषयो ब्रह्मवादिनः | 1 | 20 | d |
| ऋषिरूपधरः कर्म | 14 | 8 | c |
| ऋषीणामेव वर्चसा | 24 | 35 | d |
| ऋषेस्तु वेदशिरसः | 1 | 21 | a |
| ऋष्यशृङ्गः पिताऽस्माकम् | 13 | 15 | c |
| **ए** | | | |
| एक एवेश्वरस्तस्मिन् | 6 | 17 | a |
| एकदा कश्यपस्तस्याः | 16 | 2 | a |
| एकदा कृतमालायाम् | 24 | 12 | a |
| एकवस्तुनि मानिनि! | 9 | 6 | b |
| एकशृङ्गधरो मत्स्यः | 24 | 44 | c |
| एकस्त्वमेव सदसत् द्वयमद्द्वयञ्च | 12 | 8 | a |
| एकादशम आत्मवान् | 13 | 24 | b |
| एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं | 3 | 20 | a |
| एकार्णवे निरालोके | 24 | 35 | c |
| एको नारोह मार्दयत् | 10 | 41 | d |
| एके परं सदसतोः पुरुषं परेशम् | 12 | 9 | b |
| एतच्छ्रेयः परः पुंसाम् | 23 | 17 | c |
| एतत्कल्पविकल्पस्य | 14 | 11 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| एतत्पयोव्रतं नाम | 16 | 58 | a |
| एतत्परं प्रपश्यामः | 7 | 35 | a |
| एतद्भगवतः कर्म | 5 | 12 | c |
| एतद्वेदितुमिच्छामः | 15 | 2 | a |
| एतन्नो भगवान्सर्वम् | 24 | 3 | a |
| एतन्मुहुः कीर्तयतोऽनुशृण्वतः | 12 | 46 | a |
| एतन्मे भगवान्पृष्टः | 16 | 24 | a |
| एतस्मिन्नन्तरे विष्णुः | 8 | 41 | a |
| एतं मन्त्रमुदीरयेत् | 16 | 26 | d |
| एतान्वयं विजेष्यामः | 21 | 24 | a |
| एतावतैव सिद्धोऽहम् | 19 | 27 | c |
| एतावदुक्त्वा भगवान् | 17 | 21 | a |
| एतावान् हि प्रभोरर्थः | 7 | 38 | c |
| एतैर्मन्त्रैर्हृषीकेशम् | 16 | 38 | a |
| एवन्त्वहरहः कुर्यात् | 16 | 47 | a |
| एवमभ्यर्थितोऽदित्या | 16 | 18 | a |
| एवमभ्यर्थितो विष्णुः | 12 | 14 | a |
| एवमश्रद्धितं शिष्यम् | 20 | 14 | a |
| एवमामन्त्र्य भगवान् | 7 | 41 | a |
| एवमाराधनं विष्णोः | 5 | 49 | c |
| एवमिन्द्राय भगवान् | 23 | 4 | a |
| एवं कश्यपनन्दनाः | 7 | 5 | b |
| एवं गजेन्द्रमुपवर्णित निर्विशेषम् | 3 | 30 | a |
| एवं तां रुचिरापाङ्गीम् | 12 | 24 | a |
| एवं दैत्यैर्महाघोरैः | 10 | 52 | a |
| एवं धर्मान्प्रभाषते | 16 | 13 | d |
| एवं नष्टानृतस्सद्यः | 19 | 40 | c |
| एवं निराकृतो देवः | 11 | 11 | a |
| एवं पुत्रेषु नष्टेषु | 16 | 1 | a |
| एवं बलेर्महीं राजन्! | 23 | 19 | a |
| एवं भगवता राजन्! | 12 | 41 | a |
| एवं महाराज तवेरितो मया | 4 | 14 | a |
| एवं रूपमवस्थितम् | 17 | 19 | d |
| एवं विप्रकृतो राजन्! | 22 | 1 | a |
| एवं विमृश्याऽव्यभिचारि सद्गुणैः | 8 | 23 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| एवं विमोक्ष्य गजयूथप मज्जनाभः | 4 | 13 | a |
| एवं विमोहितस्तेन | 24 | 25 | a |
| एवं विरिञ्चादिभिरीडितस्तत् | 6 | 16 | a |
| एवं व्यवसितो बुद्ध्या | 3 | 1 | a |
| एवं शप्तः स्वगुरुणा | 20 | 16 | a |
| एवं शप्त्वा गतोऽगस्त्यः | 4 | 11 | a |
| एवं स निश्चित्य रिपोश्शरीरम् | 19 | 10 | a |
| एवं स विप्रार्जितयोधनार्थः | 15 | 7 | a |
| एवं सुमन्त्रितार्थास्ते | 15 | 32 | a |
| एवं सुरासुरगणाः समदेशकाल | 9 | 28 | a |
| एवं स्तुतस्सुरगणैः | 6 | 1 | a |
| एष एव उत्तमश्लोकः | 20 | 13 | a |
| एष ते स्थानमैश्वर्यम् | 19 | 32 | a |
| एष दानवदैत्यानाम् | 22 | 28 | a |
| एष धर्मस्सनातनः | 8 | 39 | d |
| एष मे प्रापितं स्थानम् | 22 | 31 | a |
| एष विप्रबलोदर्कः | 15 | 31 | a |
| एष वैरोचने साक्षात् | 19 | 30 | a |
| **ऐ** | | | |
| ऐरावतं दिक्करिणम् | 10 | 25 | a |
| ऐश्वर्यं श्रीर्यशः स्थानम् | 16 | 16 | c |
| **ओ** | | | |
| ओजसोत्पाट्य दुर्मदाः | 6 | 33 | b |
| ओजस्सहो बलं तेजः | 15 | 27 | c |
| **क** | | | |
| कञ्च गर्भारुणेक्षणाम् | 6 | 3 | d |
| कटाक्षैर्जीवयामास | 6 | 37 | c |
| कण्ठे च सामादि समस्तरेफान् | 20 | 25 | d |
| कत्थन्त उग्रपरुषं निरतं श्मशाने | 7 | 33 | c |
| कथं काश्यपदायादाः | 9 | 9 | a |
| कथं विसृजसे राजन् | 24 | 14 | e |
| कदम्बवेतसनल | 2 | 17 | c |
| कदिन्द्रियाणामनवाप्य वर्त्मने | 3 | 28 | d |
| कन्या कमलल्लोचना | 8 | 30 | b |
| कपट युवतिवेषो मोहयन्तः | 12 | 47 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कपिलस्यानुवर्णितम् | 1 | 6 | b | कल्पं स्वर्गापवर्गयोः | 23 | 22 | d |
| कपिलो मेघदुन्दुभिः | 10 | 21 | d | कल्पे स्वायम्भुवादयः | 1 | 4 | b |
| कपोलनीललकमण्डिताननाम् | 12 | 20 | d | कश्चिन्महांस्तस्य न कामनिर्जयाः | 8 | 20 | c |
| कपोलश्रीमुखाम्बुजाम् | 6 | 5 | d | कश्मलं परमं ययौ | 11 | 15 | d |
| कबन्धास्तत्र चोत्पेतुः | 10 | 40 | a | कश्यपस्तदबुध्यत | 17 | 22 | d |
| कमण्डुलुं वेदगर्भः | 18 | 16 | a | कश्यपस्यादितेः प्रीत्यै | 23 | 21 | a |
| कम्पयन्निव रोदसी | 15 | 11 | d | कश्यपाददिते रभूत् | 13 | 6 | b |
| कम्बुग्रीवोऽरुणेक्षणः | 8 | 32 | b | कश्यपाददिते र्जातः | 19 | 30 | c |
| करिणा करिणी यथा | 12 | 29 | b | कश्यपोऽत्रिर्वसिष्ठश्च | 13 | 5 | a |
| करिष्याम्यनुशासनम् | 23 | 17 | b | कस्तमाह हसन्निव | 16 | 18 | b |
| करूषकः पृषध्रश्च | 13 | 3 | a | कस्माद्धरिरयाचत | 15 | 1 | b |
| करेणुभिर्वारण यूथपश्चरन् | 2 | 20 | b | कश्माद्वयं कुसृतयः खलयोनयस्ते | 23 | 7 | c |
| करेणुमिव यूथपः | 12 | 27 | d | कस्य के पतिपुत्राद्याः | 16 | 19 | c |
| करोति श्यामलां भूमिम् | 2 | 4 | c | कस्याऽसि वद वामोरु | 9 | 3 | c |
| करोतु मेऽदभ्रदयो विमोक्षणम् | 3 | 19 | d | काञ्चीकलापवलय | 6 | 6 | a |
| करोम्यृतं तन्नभवेत्प्रलम्भनम् | 22 | 2 | c | काञ्चा प्रविलसद्वल्गु | 8 | 45 | c |
| कर्णाभरण निर्भात | 6 | 5 | c | का त्वं कञ्जपलाशाक्षि | 9 | 3 | a |
| कर्तुं समेताः प्रभवन्ति पुंसः | 24 | 49 | c | कामगं मयनिर्मितम् | 10 | 16 | d |
| कर्तुः प्रभोस्तवकिमस्यत | 22 | 20 | c | कामदेवेन दुर्मर्षः | 10 | 33 | a |
| कर्मग्रस्त इवेश्वरः | 24 | 2 | d | काममुद्दीपयन् मुहुः | 8 | 46 | d |
| कर्मच्छिद्रं वितन्वतः | 23 | 14 | b | कामस्य च वशं नीतः | 12 | 27 | c |
| कर्म दुर्विषहं यन्मः | 5 | 46 | c | कामं लोके प्रवर्षति | 14 | 7 | d |
| कर्माणि कारयामासुः | 18 | 13 | c | कामाध्वरत्रिपुरकालगराद्यनेक | 7 | 32 | a |
| कर्माणि च महीयसः | 1 | 2 | b | कामाय स्वजनाय च | 19 | 37 | b |
| कर्माणि विफलानि हि | 5 | 47 | b | कामिनां बहुमन्तव्यम् | 12 | 16 | c |
| कर्माण्यनन्तपुण्यानि | 4 | 21 | c | कामिनीषु न यान्ति हि | 9 | 9 | d |
| कर्माद्भुतं स्वभवनं गरुडा | 4 | 13 | d | काये बलिस्तस्य महाविभूतेः | 20 | 22 | a |
| कलकण्ठविहङ्गमः | 2 | 7 | d | कारण्डव कुलाकुलाः | 15 | 13 | d |
| कलशञ्चाऽमृताभृतम् | 8 | 35 | d | कारये च्छास्त्रदृष्टेन | 16 | 50 | c |
| कलशं तरसाऽहरन् | 8 | 36 | b | कारयेत्तत्कथाभिश्च | 16 | 57 | c |
| कलशाप्सु निधायैनाम् | 24 | 16 | c | कालकूटादुपस्थितम् | 7 | 37 | d |
| कलशोऽमृतभाजने | 8 | 36 | d | कालचोदित कर्माणाम् | 11 | 7 | b |
| कल्पते पुरुषस्यैषः | 5 | 48 | c | कालरूपेण भागशः | 12 | 40 | d |
| कल्पयित्वा पृथक्पङ्क्तीः | 9 | 20 | a | कालरूपेण सर्वेषाम् | 14 | 9 | c |
| कल्पयौकः सुविपुलम् | 24 | 18 | c | कालं गतिं तेऽखिलदेवतात्मन् | 7 | 26 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालं नात्येति वै जन: | 21 | 22 | d | कुन्दै: कुरबकाशोकै: | 2 | 18 | a |
| काल: क्रतुसत्यमृतञ्च धर्म: | 7 | 25 | c | कुब्जकै: स्वर्णयूथीभि: | 2 | 18 | c |
| कालिन्दीं सितवारणम् | 4 | 23 | b | कुमारेण भवेन च | 23 | 20 | d |
| काले काले स्वयं विभो | 5 | 46 | b | कुमुद: कुमुदाक्षश्च | 21 | 16 | c |
| कालेन दीर्घेणमहानभूद्भय: | 2 | 30 | b | कुमुदोत्पलकह्लार | 2 | 15 | a |
| कालेन पञ्चत्व मितेषु कृत्स्नश: | 3 | 5 | a | कुम्भस्तनी कलशपाणिरथाविवेश | 9 | 17 | d |
| कालेनाऽऽगत निद्रस्य | 24 | 8 | a | कुर्वतो जल तर्पणम् | 24 | 12 | b |
| कालेनाऽनुगृहीतै स्तै: | 6 | 19 | c | कुलाचार्येण भाषित: | 20 | 1 | b |
| कालेयै र्वसवोऽमरा: | 10 | 34 | b | कुलोचितं धर्मयुतं यशस्करम् | 19 | 2 | b |
| कालो भवानाक्षिपतीश विश्वं | 17 | 27 | c | कुशान्सप्तर्षयो ददु: | 18 | 16 | b |
| काव्यशाप मनुस्मरन् | 21 | 18 | d | कुशेषु प्राविशन्सर्वे | 9 | 15 | c |
| काश्यपै स्मृतार्थिभि: | 8 | 31 | b | कुशुमै स्समवाकिरन् | 18 | 10 | d |
| किञ्चाशिषोरात्यपि देहमव्ययम् | 3 | 19 | c | कूजद्विहङ्गमिथुनै: | 15 | 12 | c |
| किञ्चिज्जगृहु: स्म तत् | 7 | 46 | b | कूर्मरूपेण मन्दर: | 5 | 10 | d |
| किन्नरैरप्सरोभिश्च | 2 | 5 | c | कृकलासै श्शुनै र्नरै: | 10 | 11 | b |
| किमात्मनानेन जहाति योऽन्तत: | 22 | 9 | a | कृच्छ्रं वस्तु मिहोत्सहे | 24 | 18 | b |
| किमिदं दैवयोगेन | 11 | 33 | c | कृतकृत्यमिवात्मानम् | 15 | 36 | c |
| किरीटकाञ्चीगुणहारनूपुर: | 18 | 2 | d | कृतवान् कुरुते कर्ता हि | 1 | 3 | c |
| किं जायमान उतजातउपैतिमर्त्य: | 23 | 29 | c | कृतस्थानविभागस्ते हि | 7 | 5 | a |
| किं जायया संसृतिहेतुभूतया | 22 | 9 | c | कृतस्वस्त्ययना द्विजै: | 9 | 14 | d |
| किं रिक्थहारै:स्वजनाख्य दस्युभि: | 22 | 9 | b | कृतं पुरा भगवत: | 1 | 6 | a |
| किं वाऽद्य विज्ञाप्यमशेषसाक्षिण: | 6 | 14 | d | कृतं मया वो विभजे सधामिमाम् | 9 | 12 | d |
| किं वाऽन्यदभवत्तत: | 5 | 12 | b | कृतान्तस्य यथा जना: | 15 | 29 | d |
| किं वा विदामेश पृथग्विभाता: | 6 | 15 | c | कृतासन परिग्रह: | 16 | 3 | b |
| कीर्तन्यगुण सत्कथाम् | 4 | 4 | d | कृतो निविशतां भारै: | 11 | 34 | c |
| कीर्तयेदन्वहं नर: | 24 | 60 | b | कृत्वा परिसमूहनम् | 18 | 19 | b |
| कीर्तिर्जयोऽजयोमृत्यु: | 11 | 7 | c | कृत्वा प्रदक्षिणं भूमौ | 16 | 42 | c |
| कीर्तिं दिक्षु वितन्वान: | 15 | 35 | c | कृत्वा वपु: काच्छपमद्भुतं महत् | 7 | 8 | c |
| कुक्षिस्समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घा: | 7 | 28 | a | कृत्वा शिरसि तच्छेष | 16 | 43 | a |
| कुटुम्बासक्तया त्वया | 16 | 6 | b | कृत्स्नाऽनेन तु दत्ताभू: | 22 | 22 | a |
| कुतस्तत्कर्म वैषम्यम् | 23 | 15 | a | कृपया भूतभावन: | 7 | 42 | d |
| कुत: करिण्य: प्रभवन्ति मोचितुम् | 2 | 32 | b | कृपया भृशपीडित | 7 | 36 | b |
| कुत: पुनर्ब्रह्मविदां भवादृशाम् | 20 | 10 | c | कृष्णानुभावो गजराजमोक्षणम् | 4 | 14 | b |
| कुतो वा किं चिकीर्षसि | 9 | 3 | b | केचिद्गौरमुखै र्ऋक्षै: | 10 | 9 | c |
| कुतोऽसुराद्या इतरप्रधाना: | 5 | 31 | d | केचिन्महापुरुष मव्ययमात्मतत्त्वम् | 12 | 9 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| केनाऽऽसी त्तेजसोर्जितः | 15 | 25 | d | क्षिपन्तो नामभिर्मिथः | 10 | 27 | b |
| केनाहं विधिना ब्रह्मन् | 16 | 22 | a | क्षिप्ता राजन्सरोवरे | 24 | 21 | b |
| केयूराभ्याञ्च भूषिताम् | 6 | 5 | b | क्षिप्तो बद्धश्च रश्मिभिः | 22 | 29 | b |
| केवलं क्लेशभागिनः | 10 | 23 | b | क्षिप्त्वा क्षीरोदधौ सर्वाः | 6 | 22 | a |
| केशबन्ध उपानीय | 12 | 28 | c | क्षिप्यमाण स्तमाहेदम् | 24 | 24 | a |
| केशवाय नमस्तुभ्यम् | 16 | 35 | c | क्षीणरिक्थश्च्युतः स्थानात् | 22 | 29 | a |
| केशेषु मेघाञ्छसनं नासिकायाम् | 20 | 26 | c | क्षीरोदमथनोद्भूतात् | 7 | 37 | c |
| को नु भगवन्कामः | 16 | 13 | a | क्षीरोदं मे प्रियं धाम | 4 | 18 | c |
| कोनु मेऽतितरेन्मायाम् | 12 | 39 | a | क्षीरोदेनाऽऽवृतः श्रीमान् | 2 | 1 | c |
| को विकल्पो धरादिषु | 20 | 7 | d | क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानाम् | 17 | 11 | c |
| कौतूहलाय दैत्यानाम् | 12 | 15 | a | क्षेत्रज्ञाय नमस्तुभ्यम् | 3 | 13 | a |
| कौपीनाच्छादनं माता | 18 | 15 | c | क्षेत्राण्यासन्महीपते | 12 | 33 | d |
| कौमारब्रह्मचारिणः | 1 | 22 | d | क्ष्मां द्यां दिशः खं विवरान् | 19 | 11 | c |
| कौमोदकी विष्णुगदा तरस्विनी | 20 | 31 | b | खड्ग कायेन महता | 19 | 34 | c |
| कौस्तुभाख्यमभूद्रत्नम् | 8 | 5 | a | खर्जूरैर्बीजपूरकैः | 2 | 11 | d |
| कौस्तुभाभरणां लक्ष्मीम् | 6 | 6 | c | खेभ्यश्च छन्दां स्यृषयो मेदूतः कः | 5 | 39 | c |
| क्रमतो गां पदैकेन | 19 | 34 | a | **ग** | | | |
| क्रमुकैर्नालिकेरैश्च | 2 | 11 | c | गङ्गां सरस्वतीं नन्दाम् | 4 | 23 | a |
| क्रियता मविलम्बितम् | 6 | 21 | b | गजश्च सुमहा बलः | 11 | 14 | d |
| क्रियमाणे कर्मणीदम् | 23 | 31 | a | गजा दवार्ता इव गाङ्गमम्भः | 6 | 13 | d |
| क्रियातन्तून्वितायिता | 13 | 35 | d | गजास्तुरङ्गास्सरथाः पदातयः | 10 | 37 | a |
| क्रीडतो द्रष्टु मिच्छामि | 17 | 15 | d | गजेन्द्र मोक्षणं पुण्यम् | 5 | 1 | c |
| क्रीडद्भि र्जुष्टकन्दरः | 2 | 5 | d | गजेन्द्रं कुरुसत्तम | 4 | 16 | b |
| क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् | 22 | 20 | a | गजेन्द्रो भगवत्स्पर्शात् | 4 | 6 | a |
| क्रमस्तन्द्री पराभवः | 22 | 32 | d | गजेन्द्रो मोचितो ग्रहात् | 1 | 30 | d |
| क्लेशभाजो भविष्यन्ति | 6 | 23 | c | गतह्रीस्तत्पदं ययौ | 12 | 25 | d |
| क्लेशभूर्यल्पसाराणि | 5 | 47 | a | गतासवो निपतिताः | 5 | 15 | c |
| क्वचात्मा प्रकृतेः परः | 16 | 19 | b | गतिलीलाविलोकनैः | 8 | 7 | d |
| क्वचिच्चिरायुर्न हि शील | 8 | 22 | a | गतिं न सूक्ष्मामृषयश्च विद्महे | 5 | 31 | c |
| क्वचित्तदप्यस्ति न वेद्यमायुषः | 8 | 22 | b | गते पीयूष भाजने | 12 | 15 | d |
| क्वचिद्विभातं क्वचतत्तिरोहितम् | 3 | 4 | b | गतो विदूरं तमनुव्रजाम्रियाः | 12 | 23 | b |
| क्व देहो भौतिकोऽनात्मा | 16 | 19 | a | गदापाणिमवस्थितम् | 23 | 10 | b |
| क्षितिं पदैकेन बले विचक्रमे | 20 | 33 | c | गदाप्रहार व्यथितः | 11 | 15 | a |
| क्षितिं विदुर्लोकभवाङ्घ्रिपङ्कजम् | 7 | 26 | b | गदामुद्यम्य रंहसा | 11 | 14 | b |
| क्षिपन्तो दस्युधर्माण हि | 9 | 1 | c | गदां कौमोदकीं मम | 4 | 19 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| गन्धधूपादिभि श्चार्चेत् | 16 | 39 | e |
| गन्धर्व किम्पूरुष किन्नराजगुः | 20 | 20 | b |
| गन्धर्वप्रवराजगुः | 18 | 8 | b |
| गन्धर्वमुख्यौ जगतुः | 11 | 41 | a |
| गन्धर्वयक्षासुरसिद्धचारण | 8 | 19 | c |
| गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणाः | 20 | 19 | b |
| गन्धर्वसिद्धविबुधैरुपगीयमान | 4 | 13 | c |
| गन्धर्वानानृतु जंगुः | 4 | 2 | b |
| गम्भीर परुष स्वनाः | 10 | 49 | b |
| गायन्त आनन्द समुद्रमग्नाः | 3 | 20 | d |
| गायन्तः परमाद्भुतम् | 23 | 27 | b |
| गायन्तोऽतिप्रशंसन्तः | 18 | 10 | a |
| गायन्मत्त मधुव्रतैः | 15 | 12 | d |
| गालवो दीप्तिमान्नामः | 13 | 15 | a |
| गावः पञ्च पवित्राणि | 8 | 11 | c |
| गावो द्विजाः सञ्जहषुर्नगाश्च | 18 | 4 | d |
| गां काञ्चनं गुणवद्वाऽथ धाममृष्टम् | 18 | 32 | c |
| गिरिकन्दरकाननम् | 4 | 17 | b |
| गिरिञ्जाऽऽरोप्य गरुडे | 6 | 38 | a |
| गिरिपात विनिष्पिष्टान् | 6 | 37 | a |
| गिरिशं प्रत्यभाषत | 12 | 14 | d |
| गिरिं गरिम्णा परितः प्रकम्पयन् | 2 | 23 | c |
| गिरोवः साधुशोच्यानाम् | 11 | 9 | c |
| गीर्भिस्त्ववहितेन्द्रियः | 5 | 25 | d |
| गीर्वाणाः कामरूपिणः | 15 | 32 | d |
| गुणमय्या श्चशक्त्याऽऽस्य | 7 | 23 | a |
| गुणव्यवायेऽत्यगुणं विपश्चितः | 6 | 11 | d |
| गुणसख्यान हेतवे | 16 | 30 | d |
| गुणारणिच्छन्नचिदूष्मपाय | 3 | 16 | a |
| गुणाश्च परमोदयाः | 5 | 6 | b |
| गुणेषु बुद्ध्या कवयोऽधियन्ति | 6 | 12 | d |
| गुणेषु माया रचितेषु वक्तिभिः | 5 | 44 | c |
| गुणेषु माया रचितेषु वक्तिभिः | 5 | 44 | c |
| गुप्तश्चाऽऽसुरयूथपैः | 6 | 29 | b |
| गुरुणा चाऽनुमोदितः | 21 | 32 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| गुरुणा भर्त्सित श्शप्तः | 22 | 30 | a |
| गुरुणार्थाऽनुदर्शिना | 15 | 32 | b |
| गुरुभिर्ब्रह्मवादिभिः | 15 | 28 | d |
| गुरुमेत दुवाच ह | 15 | 24 | d |
| गुल्मानि सुरपादपान् | 4 | 17 | d |
| गुहाशयं निष्कलमप्रतर्क्यम् | 5 | 26 | b |
| गूढाय गुणधर्मिणे | 3 | 12 | b |
| गुणन्ति कवयो ब्रह्मन् | 1 | 2 | c |
| गृध्रैः कङ्कैर्वृकैरन्ये | 10 | 10 | a |
| गृहमेधिन्गृहा इमे | 16 | 11 | d |
| गृहादपूजिता याताः | 16 | 6 | c |
| गृहीतकलशान् मुहुः | 8 | 40 | d |
| गृहीत देहं निजयोगमायया | 18 | 11 | c |
| गृहीतमौनव्रत ईश्वरं हरिम् | 4 | 8 | b |
| गृहीत्वाऽनिच्छतीं स्त्रियम् | 12 | 28 | b |
| गृहे विश्वसृजो विभुः | 13 | 23 | d |
| गृहेषु गृहमेधिनि | 16 | 5 | b |
| गृहेषु येष्वतिथयः | 16 | 7 | a |
| गृह्णीमो मर्मताडनाः | 11 | 9 | d |
| गृह्यमाणोऽसुरपतौ | 21 | 27 | c |
| गोपुच्छसालावृक मर्कटाश्च | 2 | 22 | b |
| गोप्ताऽस्मि मारीचतपस्यवस्थितः | 17 | 18 | d |
| गोब्राह्मणार्थे हिंसायाम् | 19 | 43 | c |
| गोविप्रसुरसाधूनाम् | 24 | 5 | a |
| गोविप्रान् धर्ममव्ययम् | 4 | 22 | b |
| गोवृषैर्गवयारुणैः | 10 | 10 | d |
| गौरवात्पाण्डुनन्दन | 7 | 6 | d |
| ग्रन्थान्हृदय्यान् विवृणुस्वमोकः | 24 | 53 | d |
| ग्रन्थि विभिन्द्याद्धृदय स नो गुरुः | 24 | 47 | d |
| ग्रस्ताञ्छुतिगणान्यथा | 14 | 4 | b |
| ग्रामान्समृद्धां स्तुरगान् गजान्वा | 18 | 32 | e |
| ग्राहग्रस्तममूमुचत् | 1 | 31 | d |
| ग्राहा द्विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रम् | 3 | 33 | c |
| ग्राहेण पाशेन विधातु रावृतो हि | 2 | 32 | c |
| ग्राहो बलीयां श्चारणे रुषाऽग्रहीत् | 2 | 27 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| घटस्य मृत्स्नेव परः परस्मात् | 6 | 10 | d |
| घटस्व शातिभि स्सह | 11 | 6 | d |
| घट्टयन्तोऽस्य मर्मसु | 11 | 20 | b |
| घण्टावद्धेम भूषणम् | 11 | 30 | b |
| घृणी करेणूः कलभांश्च दुर्मदः | 2 | 26 | c |
| **च** | | | |
| चकार परमोद्यमम् | 11 | 29 | d |
| चक्रं मे सूदयिष्यति | 22 | 34 | d |
| चक्रायुधोऽभ्यगमदाशु यतो गजेन्द्रः | 3 | 31 | d |
| चक्राह्वैस्सारसैरपि | 2 | 16 | b |
| चक्रुस्तज्जन्मदक्षिणम् | 18 | 5 | d |
| चक्रेणकृत्तशिरसा वथ माल्यवांस्तु | 10 | 57 | b |
| चक्रेण क्षुरधारेण | 9 | 25 | a |
| चक्षुर्यस्य न रिष्यति | 1 | 11 | b |
| चचार ह पयोव्रतम् | 17 | 3 | d |
| चचाल वक्त्रं सुकपोल कुण्डलं | 8 | 17 | c |
| चतुर्दश पुराविदः | 14 | 11 | d |
| चतुर्दशम एष्यति | 13 | 33 | b |
| चतुर्भि श्चतुरावाहान् | 10 | 41 | c |
| चतुर्भुजश्शङ्खगदाब्ज चक्रः | 18 | 1 | c |
| चतुर्युगान्ते कालेन | 14 | 4 | a |
| चतुर्विधो यत्र हि भूतसर्गः | 5 | 32 | b |
| चतुर्विंशद्गुणज्ञाय | 16 | 30 | c |
| चतुर्थ उत्तमभ्राता | 1 | 27 | a |
| चतुश्शृङ्गाय तन्तवे | 16 | 31 | b |
| चन्द्रार्काभ्याञ्च सूचितः | 9 | 24 | d |
| चमूस्ते जघ्नुरासुरीः | 21 | 17 | d |
| चरन्नेक इमां महीम् | 19 | 5 | b |
| चरन्त्यभीता यदनुग्रहेण | 2 | 22 | d |
| चरन्त्यलोकव्रतमव्रणं वने | 3 | 7 | c |
| चरन्वायु रिवेश्वरः | 24 | 6 | b |
| चरुं निरूप्य पयसि | 16 | 51 | c |
| चरे द्विष्ववर्चनादृतः | 16 | 46 | b |
| चलच्चरणनूपुरम् | 8 | 45 | d |
| चलत्पद्मरजः पयः | 2 | 17 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| चस्कन्दामोघरेतसः | 12 | 32 | b |
| चाक्षुषो नाम वै मनुः | 5 | 7 | b |
| चारणा यक्षरक्षांसि | 18 | 9 | c |
| चिकीर्षितं कान्त जनप्रियः प्रभुः | 24 | 31 | d |
| चिच्छेद निशितैर्भल्लैः | 10 | 42 | c |
| चित्रद्रुम सुरोद्यान | 2 | 7 | c |
| चित्रध्वज पटै राजन् | 10 | 13 | a |
| चित्रवादित्र तूर्याणाम् | 18 | 7 | c |
| चोग्रसेन विचित्राद्याः | 13 | 30 | c |
| चित्रं तवेहित महोऽमितयोगमाया | 23 | 8 | a |
| चिन्तयन्त्येकया बुध्या | 17 | 2 | a |
| चिन्तयन्मत्स्यरूपिणः | 24 | 40 | d |
| चिन्तयामासकालज्ञः | 19 | 8 | c |
| चूतैः प्रियालैः पनसैः | 2 | 11 | a |
| चूर्णयन्त्यो द्विषद्बलम् | 10 | 46 | d |
| चूर्णयामास महता | 6 | 35 | c |
| च्यावितानां स्वधामतः | 17 | 12 | d |
| छन्दसामपि चेश्वरः | 24 | 5 | b |
| छन्दांसि साक्षत्तव सप्तधातवः | 7 | 28 | c |
| छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमानः | 3 | 31 | c |
| छन्दोमयो देव ऋषिः पुराणः | 7 | 30 | d |
| छलै रुक्तो मयाधर्मः | 22 | 30 | c |
| छादयामासु रसुराः | 11 | 24 | c |
| छायातपौ यत्र न गृध्रपक्षौ | 5 | 27 | c |
| छाया त्वधर्मोर्मिषु यैर्विसर्गः | 7 | 30 | a |
| छायायाश्च सुताञ्छृणु | 13 | 9 | d |
| छायासु मृत्युं हसिते च मायाम् | 20 | 28 | c |
| छिन्धिभिन्दीति वादिन्यः | 10 | 48 | c |
| छिन्ध्यर्थदीपैः भगवन्वचोभिः | 24 | 53 | c |
| छिन्न ध्वजेष्वास तनुभूषणाः | 10 | 37 | d |
| छिन्न पक्ष इवाऽचलः | 11 | 12 | d |
| **ज** | | | |
| जगदीश जगन्मय | 12 | 4 | b |
| जगाद जीमूतगभीरया गिरा | 6 | 16 | c |
| जगाम तत्राखिलसारसम्भृतः | 18 | 20 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| जगाम तमसः परम् | 5 | 24 | d | जातस्सत्यव्रतैस्सह | 1 | 25 | d |
| जगाम निल्यं हरेः | 19 | 7 | d | जातः क्रियाकाण्डनिमित्तजन्मा | 5 | 35 | b |
| जगुर्भद्राणि गन्धर्वाः | 8 | 12 | c | जातोंऽशांशेन भगवान् | 13 | 23 | c |
| जगृहुर्ब्रह्मवादिनः | 8 | 2 | b | जानन्ति यद्विरचितं खलु | 12 | 10 | b |
| जग्धुमभ्यद्रवन् क्षुधा | 1 | 17 | d | जानंश्चिकीर्षितं विष्णो | 19 | 29 | c |
| जघ्नुर्भृशं शक्र समीरणादयः | 11 | 1 | c | जानाति सन्तं हृदि बद्धकामः | 24 | 52 | d |
| जग्राह जलभाजनम् | 19 | 28 | d | जानामि मघवञ्छत्रोः | 15 | 28 | a |
| जजाप परमं जाप्यम् | 3 | 1 | c | जानुभ्यां धरणींस्पृष्ट्वा | 11 | 15 | c |
| जटाधर स्तापस आप्लुतोऽच्युतम् | 4 | 8 | c | जाम्बवानृक्षराजस्तु | 21 | 8 | a |
| जटा मूर्ति स्तदा द्विजाः | 13 | 22 | b | जिगीषमाणं विधिनाऽभिषिच्य | 15 | 4 | c |
| जटिलं वामनं विप्रम् | 18 | 24 | c | जिगीषव स्तीव्रशरासितोमरैः | 10 | 35 | d |
| जडीकृतं नृपश्रेष्ठा | 12 | 35 | c | जिघांसुरिन्द्रं नृपते | 11 | 29 | c |
| जत्रावताडय च्छक्रम् | 11 | 14 | c | जिघ्नन्विदूरान्मदविह्वलेक्षणः | 2 | 24 | b |
| जनं पश्यन्ति सूरयः | 11 | 8 | b | जिजीविषे नाऽह मिहाऽमुया | 3 | 25 | a |
| जनो जनस्यादिशतेऽसतीं गतिम् | 24 | 51 | a | जिताशेष मुपागमन् | 6 | 29 | d |
| जनोऽबुधोऽयं निजकर्मबन्धनः | 24 | 47 | a | जित्वा बाल्यान् निबद्धाक्षान् | 11 | 4 | c |
| जन्तुः पुनः कोऽर्हति गन्तुमीरितुम् | 3 | 6 | b | जुष्टायां माल्यदीपकैः | 9 | 16 | d |
| जन्मकर्मवयोरूप | 22 | 26 | a | जुष्टां विभक्तप्रपथाम् | 15 | 15 | c |
| जन्मादीनां समन्ततः | 22 | 27 | b | जुहुयान्मूलविद्यया | 16 | 40 | d |
| जपे दष्टोत्तरशतम् | 16 | 42 | a | जैत्रैर्दोर्भिर्जगदभयदैर्वन्दशूकं | 7 | 17 | c |
| जमदग्नि र्भरद्वाजः | 13 | 5 | c | ज्ञातयो नारदा दृषेः | 11 | 19 | b |
| जम्भं श्रुत्वा हतं तस्य | 11 | 19 | a | ज्ञातिभिश्च परित्यक्तः | 22 | 29 | c |
| जम्भोबलि सखस्सुहृत् | 11 | 13 | b | ज्ञातिभिः परिवारितः | 22 | 33 | d |
| जयन्त श्श्रुतदेवश्च | 21 | 17 | a | ज्ञातीनां पश्यतां राजन् | 11 | 28 | c |
| जयोरुगाय भगवन् | 17 | 25 | a | ज्ञातीनां बद्धवैराणाम् | 9 | 6 | c |
| जरामृत्युहरां सुधाम् | 9 | 21 | d | ज्ञातीनां सुखमावह | 23 | 9 | d |
| जलकुक्कुट कोयष्टि | 2 | 16 | c | ज्ञातु मिच्छाम्यदो रूपम् | 24 | 29 | c |
| जलाशये सम्मितं तम् | 24 | 23 | c | ज्ञात्वा तु दानवेन्द्रस्य | 24 | 9 | a |
| जले वह्नौ गुरावपि | 16 | 28 | d | ज्ञानञ्च केवल मनन्तभवन्ति | 17 | 10 | c |
| जहसु र्भावगम्भीरम् | 9 | 11 | c | ज्ञानञ्चानुयुगं ब्रूते | 14 | 8 | a |
| जहार जनयन्भयम् | 11 | 28 | d | ज्ञानविज्ञान संयुतः | 24 | 58 | b |
| जहार नमुचे शिरः | 11 | 40 | b | ज्ञानं क्वचित्तच्च न सङ्गवर्जितम् | 8 | 20 | b |
| जहार पिबत शिरः | 9 | 25 | b | ज्ञानाग्निना रन्धित कर्मकल्मषाः | 21 | 2 | d |
| जहौ सत्यं न सुव्रतः | 22 | 30 | b | ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय | 3 | 18 | d |
| जात क्षोभान्स्वनायकान् | 6 | 28 | b | ज्योतिर्धामादयस्सप्त | 1 | 28 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ज्योतिः परं यत्र रजस्तमश्च | 7 | 31 | c |
| झङ्कारोद्विग्न लोचनम् | 8 | 43 | d |
| त | | | |
| त एव च क्रतूत्तमाः | 16 | 61 | b |
| त एव नियमा स्साक्षात् | 16 | 61 | a |
| त एव माजावसुरास्सुरेन्द्राः | 10 | 35 | a |
| तञ्च साधो विभूषणम् | 7 | 43 | d |
| तत आदाय सा राज्ञा | 24 | 21 | a |
| तत उच्चैश्श्रवा नाम | 8 | 3 | a |
| तत ऐरावतो नाम | 8 | 4 | a |
| ततश्चाऽप्सरसो जाताः | 8 | 7 | a |
| ततश्चाऽऽविरभूत्साक्षात् | 8 | 8 | a |
| तत श्शूलं ततः प्रासम् | 10 | 44 | a |
| तत स्तदनुभावेन | 15 | 35 | a |
| ततस्तुराषाडिषु बद्धपञ्जरात् | 11 | 26 | a |
| ततस्ते मन्दरगिरिम् | 6 | 33 | a |
| तत स्तोमर मृष्टयः | 10 | 44 | b |
| ततस्त्विन्द्रः पुरस्कृत्य | 23 | 24 | a |
| ततस्समुद्र उद्वेलः | 10 | 51 | a |
| ततस्समुद्र उद्वेलः | 24 | 41 | a |
| ततस्सिद्धिमवाप्स्यति | 13 | 13 | d |
| ततस्सुपर्णा सकृताङ्घ्रि पल्लवः | 10 | 54 | a |
| ततस्सुरगणा स्सर्वे | 10 | 4 | a |
| ततः करतलीकृत्य | 7 | 42 | a |
| ततः कृतस्वस्त्ययनोत्पलस्रजम् | 8 | 17 | a |
| ततः प्रादु रभूच्छैलः | 10 | 45 | c |
| ततो गजेन्द्रस्य मनोबलौजसाम् | 2 | 30 | a |
| ततो गृहीत्वाऽमृतभाजनं हरिः | 9 | 12 | a |
| ततो ददर्शोपवने वरस्त्रियम् | 12 | 18 | a |
| ततो देवासुराः कृत्वा | 6 | 32 | a |
| ततो धर्मं चतुष्पादम् | 14 | 5 | a |
| ततो निपेतु स्तरवः | 10 | 46 | a |
| ततोऽपहृत विज्ञानः | 12 | 25 | a |
| ततो ब्रह्मसभां जग्मुः | 5 | 18 | a |
| ततोऽभवत्पारिजातः | 8 | 6 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ततोऽभिषिषिचुर्देवीम् | 8 | 14 | a |
| ततो महाघनाव्योम्नि | 10 | 49 | a |
| ततो रथः काञ्चनपट्टबद्धः | 15 | 5 | a |
| तता रथा मातलिना | 11 | 16 | a |
| ततो वटोरस्य ददामि वाञ्छितम् | 20 | 10 | d |
| तत्कथा सुमहत्पुण्यम् | 1 | 32 | a |
| तत्कर्णयोः ककुभो द्यौश्च मूर्ध्नि | 20 | 26 | b |
| तत्कर्म सर्वेऽभिगृणन्त आर्जवम् | 20 | 19 | c |
| तत्कृतस्मर विह्वलः | 12 | 25 | b |
| तत्को विचष्टे गतिमात्मनो यथा | 22 | 17 | b |
| तत्क्षोभविस्फूर्जित मानसाय | 3 | 16 | b |
| तत्तथेत्यन्वमंसत | 9 | 13 | d |
| तत्तस्य ते सदसतोः परतः परस्य | 7 | 34 | a |
| तत्तेषां सुकृतं विदुः | 23 | 31 | d |
| तत्तेऽहं दर्शयिष्यामि | 12 | 16 | a |
| तत्पत्नी भयविह्वला | 22 | 19 | b |
| तत्पादशौचं कलिकल्मषापहं | 18 | 28 | a |
| तत्प्रशाम्य त्यसन्तोषात् | 19 | 26 | c |
| तत्र क्षिप्ता मुहूर्तेन | 24 | 19 | c |
| तत्र तत्राविदासिनि | 24 | 23 | b |
| तत्र दानवदैत्यानाम् | 22 | 36 | a |
| तत्र देवा स्सुतपसः | 13 | 12 | a |
| तत्र दैवासुरो नाम | 10 | 5 | a |
| तत्र मां द्रक्ष्यते भवान् | 22 | 35 | d |
| तत्र यूय मपण्डिताः | 11 | 8 | d |
| तत्र राज ऋषिः कश्चित् | 24 | 10 | a |
| तत्र सन्निहितो हरः | 12 | 34 | d |
| तत्राऽखिलामरमयो हरि | 3 | 30 | d |
| तत्राऽदृष्टस्वरूपाय | 5 | 25 | a |
| तत्राऽन्योन्यं सपत्नास्ते | 10 | 6 | a |
| तत्राऽन्ये येऽसुराधिपाः | 6 | 31 | b |
| तत्राऽपि जज्ञे भगवान् | 1 | 30 | a |
| तत्राऽपि देवः सम्भूत्याम् | 5 | 9 | a |
| तत्राऽमृतं सुरगणाः फल | 9 | 28 | c |
| तत्राऽयं मदनुग्रहः | 22 | 26 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तत्रेन्दो रोचनस्त्वाऽऽसीत् | 1 | 20 | a | तदाऽसुरेन्द्रं दिविदेवतागणाः | 20 | 19 | a |
| तत्रैकदा तद्गिरि काननाश्रयः | 2 | 20 | a | तदुग्रवेगं दिशि दिश्युपर्यधः | 7 | 19 | a |
| तत्रैवान्तरधीयत | 12 | 17 | b | तद्घ्राणरन्ध्रेण विविग्नचित्ताः | 19 | 10 | d |
| तत्रैवान्तरधीयत | 17 | 21 | b | तद्दर्शनात्युत्सवगात्र वेपथुः | 17 | 6 | d |
| तत्रैवान्तर्दधे हरिः | 8 | 37 | h | तद्दिदृक्षव आयाताः | 12 | 13 | c |
| तत्रोपेयुस्त्वरान्विताः | 11 | 19 | d | तद्धिह्याराधनं हरेः | 16 | 53 | d |
| तत्सत्यं ब्रह्मचिद्भवान् | 12 | 5 | d | तद्यत्किञ्चि दोमिति ब्रूयात् | 19 | 41 | c |
| तत्सर्गसर्ग विषया अपि शक्तिमा- | 7 | 34 | d | तद्यथा वृक्ष उन्मूलः | 19 | 40 | a |
| तत्सुता भूरिषेणाद्याः | 13 | 21 | c | तद्वामनं रूप मवर्धताद्भुतम् | 20 | 21 | a |
| तथा जनस्याऽविदुषो बुधोगुरुः | 24 | 50 | b | तद्वित्तं विधुनोम्यहम् | 22 | 24 | b |
| तथाऽऽतुरं यूथपतिं करेणवः | 2 | 28 | a | तद्विद्वान्विष्णुतत्परः | 19 | 14 | b |
| तथाऽन्नमथवा वा विप्रकन्याम् | 18 | 32 | d | तद्विषं जग्धुमारेभे | 7 | 41 | c |
| तथाऽपि भक्तं भजते महेश्वरः | 16 | 14 | d | तद्वीक्ष्यव्यसनं तासाम् | 7 | 36 | a |
| तथाऽपि लोकाप्ययसम्भवाय यः | 3 | 8 | c | तद्वीर्य महिमाङ्कितैः | 21 | 7 | b |
| तथापि वदतो भूमन् | 23 | 17 | a | तद्वीर्यं भूर्यनुस्मरन् | 19 | 6 | d |
| तथाऽपि सर्गस्थिति संयमार्थम् | 5 | 22 | c | तनयस्स विवस्वतः | 24 | 11 | b |
| तथा पुनीता तनुभिः पदैस्तव | 18 | 31 | d | तनूरुहे ष्वोषधिजातयश्च | 20 | 28 | d |
| तथाऽप्युपायो मम देवि चिन्त्यः | 17 | 17 | a | तन्नैच्छ्दैत्यपतयः | 7 | 3 | a |
| तथाऽप्येनं न हिंसिष्ये | 20 | 12 | c | तन्मूलसंसारपरिश्रमातुराः | 24 | 46 | b |
| तथा यतोऽयं गुणसम्प्रवाहः | 3 | 23 | c | तपश्चाग्नीध्रकादयः | 13 | 28 | d |
| तथा रक्षोगणाः प्रभो | 10 | 48 | d | तपसा ऋषयोऽपश्यन् | 14 | 4 | c |
| तथा विधेहि कल्याण्या | 16 | 17 | c | तपसा चिरसंभृतम् | 17 | 23 | d |
| तदद्भुत मभूद्गणे | 11 | 12 | d | तपस्ससलिलाशनः | 24 | 10 | d |
| तदद्भुतं परमतिवीर्य वृत्रभित् | 11 | 32 | c | तप स्सारमयं त्वाष्ट्रम् | 11 | 35 | a |
| तदपत्यानि मे श्रृणु | 13 | 1 | d | तपस्सार मिदं भद्रे | 16 | 60 | c |
| तदपो विश्वपावनीः | 20 | 18 | d | तपो जुषाणं स्तुतिभिः प्रणेमुः | 7 | 20 | d |
| तदरोचत दैत्यस्य | 6 | 31 | a | तपो दानं व्रतं यज्ञः | 16 | 61 | c |
| तदर्थे तर्ष चेतसाम् | 8 | 38 | b | तप्त हेमावदातेन | 6 | 4 | a |
| तदलीकफलं भुङ्क्ष्व | 21 | 34 | c | तप्यन्ते लोकतापेन | 7 | 44 | a |
| तदा देवर्षि गन्धर्वाः | 4 | 1 | a | तप्यमान स्तपो घोरम् | 1 | 8 | c |
| तदा पतद्गगनतले महाजवम् | 11 | 31 | a | तमक्षरं खं त्रियुगं व्रजामहे | 5 | 27 | d |
| तदाऽविनष्टावयवान् | 11 | 47 | a | तमक्षरं ब्रह्मपुरं परेशम् | 3 | 21 | a |
| तदावृत्यात्मना सर्वं | 24 | 21 | c | तमर्चयामास कुला चलाश्रमः | 4 | 8 | d |
| तदा सर्वाणि भूतानि | 23 | 23 | c | तमविक्लबमव्रीडम् | 12 | 37 | a |
| तदा सुरा नाविशदासुरेण | 7 | 11 | a | तमस्तदाऽऽसीद्गहनं गभीरम् | 3 | 5 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तमह मखिल हेतुं जिह्ममीनं | 24 | 61 | d | तस्मादीश भजन्त्या मे | 16 | 15 | a |
| तमह मुपसृतानां कामपुरं | 12 | 47 | d | तस्मादेतद्व्रतं भद्रे | 16 | 62 | a |
| तमः प्रकृति दुर्मर्षम् | 24 | 2 | c | तस्माद्भक्तिकरीं भूमिम् | 19 | 20 | c |
| तमापतन्त मालोक्य | 19 | 8 | a | तस्माद्व्रजाम शरणं जगद्गुरुम् | 5 | 23 | c |
| तमाले रसनार्जुनैः | 2 | 12 | b | तस्मा न्निलयमुत्सृज्य | 15 | 30 | a |
| तमालोक्याऽसुरा स्सर्वे | 8 | 35 | c | तस्मिन्प्रविष्टेऽसुरकूटकर्मजा | 10 | 55 | a |
| तमाह को भवानस्मान् | 24 | 25 | c | तस्मिन्बलिः स्पृहा ञ्चक्रे | 8 | 3 | c |
| तमाहनन्नृप कुलिशेन कन्धरे | 11 | 31 | c | तस्मिन् सरस्युविपुलं | 2 | 14 | c |
| तमाह साऽति करुणम् | 24 | 14 | a | तस्मिन्हरिः स्पृहाञ्चक्रे | 8 | 5 | c |
| तमिन्द्रसेनः स्वपितामहं श्रिया | 22 | 13 | a | तस्मै नमस्ते जगदीश्वराय वै | 22 | 17 | c |
| तमिमं कालरशनम् | 11 | 8 | a | तस्मै नमः परेशाय | 3 | 9 | a |
| तमीश्वरं त्वां शरणं प्रपद्ये | 24 | 49 | d | तस्मै बलिर्वारुण पाशयन्त्रितः | 22 | 14 | a |
| तमीहमानं निरहङ्कृतं बुधं | 1 | 16 | a | तस्य कर्मोत्तमां वीक्ष्य | 10 | 43 | a |
| तमुत्थितं वीक्ष्य कुलाचलं पुनः | 7 | 9 | a | तस्य तत्पूजयन् कर्म | 11 | 17 | a |
| तमूचुर्मुनयः प्रीताः | 24 | 43 | a | तस्य त्यागनिमित्तं किम् | 20 | 6 | c |
| तयोस्स्वकलया जज्ञे | 5 | 4 | c | तस्य द्रोण्यां भगवतः | 2 | 9 | a |
| तरङ्गावर्तभीषणः | 10 | 51 | d | तस्या आसन मानिन्ये | 8 | 10 | a |
| तरोर्मूलावसेचनम् | 5 | 49 | b | तस्या ञ्चक्रुः स्पृहां सर्वे | 8 | 9 | a |
| तर्केतिहासाङ्गपुराण संहिताः | 21 | 2 | b | तस्याञ्जल्युदके काचित् | 24 | 12 | c |
| तल्लिङ्गे पुष्पवर्षिणः | 8 | 27 | d | तस्यात्मलोकावरणस्यमोक्षणम् | 3 | 25 | d |
| तल्लीलयागरुडमूर्ध्नि पतद्गृहीत्वा | 10 | 56 | c | तस्या दीनतमं वाक्यम् | 24 | 16 | a |
| तव पुत्रामनस्विनि | 16 | 10 | b | तस्याऽनु धावतो रेतः | 12 | 32 | a |
| तवैव चरणाम्भोजम् | 12 | 6 | a | तस्यानुभावः कथितः | 5 | 6 | a |
| तवैव मारीच मनश्शरीरजाः | 16 | 14 | a | तस्याऽनुश्रृण्वतो राजन् | 22 | 18 | a |
| तस्थौ दिविब्रह्मभवेन्द्रमुख्यैः | 7 | 12 | c | तस्याऽपि दर्शयामास | 7 | 43 | a |
| तस्थौ निधाय निकटे तदुरः | 8 | 24 | c | तस्याऽऽसन्सर्वतो देवाः | 10 | 26 | a |
| तस्मा आसन माहरत् | 18 | 26 | d | तस्याऽऽसन्सर्वतो यानैः | 10 | 19 | a |
| तस्मा इत्युपनीताय | 18 | 17 | a | तस्याऽसौ पदवीं रुद्रः | 12 | 31 | a |
| तस्मा इमं शाप मदादसाधुः | 4 | 10 | a | तस्यां कृताति प्रणयाः | 9 | 23 | a |
| तस्मात्कालं प्रतीक्षध्वम् | 21 | 24 | c | तस्यां जज्ञे ततो देवः | 1 | 21 | c |
| तस्मात्त्रीणि पदान्येव | 19 | 27 | a | तस्यां नरेन्द्र करभोरुरुशद्गुकूल | 9 | 17 | a |
| तस्मात्त्वत्तो महीमीषत् | 19 | 16 | a | तस्यां सदेश उशतीं नवकञ्जमा- | 8 | 24 | a |
| तस्मादस्य वधो धर्मः | 21 | 13 | a | तस्याः कराम्रात स तु कन्दुको | 12 | 23 | a |
| तस्मादिदं गरं भुञ्जे | 7 | 40 | e | तस्याः प्रादुरभूत्तात | 17 | 4 | a |
| तस्मादिन्द्रोऽबिभेच्छत्रोः | 11 | 33 | a | तस्याः श्रिय स्त्रिजगतो जनको | 8 | 25 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| तस्येत्थं भाषमाणस्य | 22 | 12 | a |
| तस्योपनीयमानस्य | 18 | 14 | a |
| तं ऋत्विजो यजमानस्सदस्या: | 18 | 22 | a |
| तं तत्र कश्चिन्नृप! दैवचोदित: | 2 | 27 | a |
| तं तद्ददार्तमुपलभ्य जगन्निवास: | 3 | 31 | a |
| तं तुष्टुवु र्मुनिगणा: | 11 | 40 | c |
| तं त्वा मचंन्ति कुशला: | 7 | 22 | c |
| तं त्वा महं देववरं वरेण्यम् | 24 | 53 | a |
| तं त्वां वयं नाथ! समुज्जिहानम् | 6 | 13 | a |
| तं दुरत्यय माहात्म्यम् | 3 | 29 | c |
| तं नर्मदाया स्तट उत्तरे बले: | 18 | 21 | a |
| तं नाऽतिवर्तितुं दैत्या: | 21 | 20 | c |
| तं निर्जितात्मात्मगुणम् परेशं | 5 | 30 | c |
| तं नेत्र गोचरं वीक्ष्य | 17 | 5 | a |
| तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम् | 3 | 3 | d |
| तं बद्धं वारुणै: पाशै: | 21 | 28 | a |
| तं ब्रह्मणा भृगव: प्रीयमाणा: | 15 | 4 | a |
| तं भूतनिलयं देवम् | 1 | 11 | c |
| तं वटुं वामनं दृष्ट्वा | 18 | 13 | a |
| तं विश्वजयिनं शिष्यम् | 15 | 34 | a |
| तं वीक्ष्यतूष्णीमकृतार्हणादिकम् | 4 | 9 | c |
| तं वीक्ष्य पीडित मजस्सहसा | 3 | 33 | a |
| ता नभिद्रवतो दृष्ट्वा | 21 | 15 | a |
| तानि नो वदशृण्वताम् | 1 | 2 | d |
| तानि रौप्यस्य हेम्नश्च | 12 | 33 | c |
| तान्दस्यून्विधुनोम्यज्ञ! | 11 | 5 | c |
| तान्विनिर्जित्य समरे | 17 | 13 | a |
| तामग्निहोत्रीमृषय: | 8 | 2 | a |
| तामन्वगच्छद्भगवान् | 12 | 27 | a |
| ता मारुरोह विप्रेन्द्रै: | 24 | 42 | c |
| ताम्बूलञ्च निवेदयेत् | 16 | 41 | d |
| तारकश्चोग्रदृक् शुम्भ: | 10 | 21 | c |
| तारकेण गुहोऽस्यत | 10 | 28 | b |
| तार्तीयस्य कुतो गति: | 19 | 34 | d |
| तावच्छिरोऽच्छिन दरे | 10 | 57 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| तावता विस्तृत: पर्यक् | 2 | 2 | a |
| तावती भूरियं तव | 21 | 30 | d |
| तावत्सन्धि विधीयताम् | 6 | 19 | b |
| तावत्सुतल मध्यास्ताम् | 22 | 32 | a |
| तावद्भि रर्दयामास | 11 | 21 | c |
| तावद्भिरशीघ्र विक्रम: | 10 | 42 | b |
| तासां संज्ञासुता स्त्रय: | 13 | 9 | b |
| तां ज्वलन्तीं महोल्काभाम् | 10 | 43 | c |
| तां देवधानीं वरूथिनीपति | 15 | 23 | a |
| तां दैवीं गिरमाकर्ण्य | 11 | 39 | a |
| तां विद्ययोदस्य निरीह आस्ते | 1 | 13 | d |
| तां वीक्ष्य देव इति | 12 | 22 | a |
| तां श्लोपवेशयामास | 9 | 20 | c |
| तां श्रीसखीं कनककुण्डलचारु | 9 | 18 | a |
| तां स्तथा भग्न मनस: | 6 | 36 | a |
| तां स्तथाऽवसितान्वीक्ष्य | 1 | 18 | a |
| तां स्ताम्रणे यै रभिसङ्गता: पुरा | 11 | 1 | d |
| तां स्ता न्विसृजतीं भावान् | 12 | 39 | c |
| तिमि द्विपग्राहतिमिङ्गलाकुलात् | 7 | 18 | d |
| तिरस्कृतो नमुचि शिरोधरत्वचा | 11 | 32 | d |
| तिरस्कृत्य पुर: स्थितम् | 11 | 3 | b |
| तिर्यङ्नृदेवा मुनयो यदासत | 20 | 21 | d |
| तीर्थश्रव: श्रवणमङ्गल नामधेय: | 17 | 8 | b |
| तुमुलो रोम हर्षण: | 10 | 5 | d |
| तुल्यैश्वर्य बल श्रीभि: | 15 | 10 | a |
| तुषिता नाम पत्न्यभूत् | 1 | 21 | b |
| तुष्टाव देव प्रवर: | 6 | 7 | c |
| तुष्टाव मधुसूदनम् | 24 | 45 | d |
| तुष्टाव सा देव्यदिति: कुरूद्वह | 17 | 7 | b |
| तुष्टुवुर्मुनयो देवा: | 18 | 8 | c |
| तुष्टुवु: पुरुषोत्तमम् | 4 | 2 | d |
| तूणावरिक्तौ कवचञ्च दिव्यं | 15 | 6 | b |
| तूणोत्तमावक्षयसायकौ च | 20 | 31 | d |
| तूष्णी मासन्कृतस्नेहा: | 9 | 22 | c |
| तूष्णीम्भूत्वा क्षणं राजन् | 20 | 1 | c |
| तृतीय उत्तमो नाम | 1 | 23 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तृतीय मुपकल्पय | 21 | 29 | d | त्रयीविद्यात्मने नमः | 16 | 31 | d |
| तृतीय बड़बामेके | 13 | 9 | a | त्रयोदश्या मथो विष्णोः | 16 | 50 | a |
| तृष्णाया इति नः श्रुतम् | 19 | 23 | d | त्राहि न श्शरणापन्नान् | 7 | 21 | c |
| तेजो विप्रस्थ वर्धते | 19 | 26 | b | त्रिकालानुगतानि ते | 13 | 36 | b |
| ते तु निर्विण्ण मनसः | 7 | 7 | a | त्रिकूट इति विश्रुतः | 2 | 1 | b |
| ते तुल्याया स हेतवः | 8 | 39 | b | त्रिणाभि विद्युद्वाल मष्टनेमि | 5 | 28 | c |
| तेनत्यक्तेन भुञ्जीथा | 1 | 10 | c | त्रिगुणाय नमो नमः | 17 | 25 | d |
| तेन रिच्येत वै पुमान् | 19 | 41 | d | त्रिदिवं य त्परै र्हतम् | 23 | 19 | d |
| ते नागराज मामन्त्र्य | 7 | 1 | a | त्रिनाभाय त्रिपृष्ठाय | 17 | 26 | c |
| तेनाऽपिपार्षदगतिं गमितेन युक्तः | 4 | 13 | b | त्रिपदव्याजयाच्ञया | 21 | 9 | b |
| तेनाऽहनन्नृप सवहि मरिंद्र्यधीशः | 10 | 56 | d | त्रिभिरैरावतं शरैः | 10 | 41 | b |
| तेनाऽहं निगृहीतोऽस्मि | 22 | 7 | a | त्रिभिः क्रमै रसन्तुष्ट | 19 | 22 | a |
| तेनून मूर्ति मखिदंस्तवहातलङ्गाः | 7 | 33 | d | त्रिभिः क्रमै रिमान् लोकान् | 19 | 33 | a |
| तेनैव महसा सर्वे | 6 | 2 | a | त्रिभिः श्रृङ्गैः पयोनिधम् | 2 | 2 | b |
| तेऽन्योन्यमभिसंवृत्य | 10 | 27 | a | त्रिलोकीं धारयिष्यति | 13 | 26 | d |
| ते पालयन्त स्समयम् | 9 | 22 | a | त्रिलोकीं भोक्ष्यतेऽद्भुतः | 13 | 20 | d |
| ते वैरोचनि मासीनम् | 6 | 29 | a | त्रिलोक्या मजितेन्द्रियम् | 19 | 21 | b |
| तेषाङ्कालोऽग्रसील्लोकान् | 20 | 8 | c | त्रिलोक्यां लीयमानायाम् | 24 | 33 | a |
| तेषामन्तर्दधे राजन् | 6 | 26 | c | त्रिवर्गस्य परं क्षेत्रम् | 16 | 11 | c |
| तेषामाविरभूद्राजन् | 6 | 1 | c | त्रैलोक्यादहनाद्विषात् | 7 | 21 | d |
| तेषामेवावमानेन | 15 | 31 | c | त्रैलोक्याश्रिय मूर्जिताम् | 14 | 7 | b |
| तेषां पदाघात रथाङ्गचूर्णितात् | 10 | 38 | a | त्रैलोक्यं भूर्भुवादिकम् | 24 | 32 | d |
| तेषां प्राणात्यये चाऽहम् | 4 | 25 | c | त्रैविष्टपेयादिषुनान्वविन्दत | 8 | 19 | d |
| तेषां विरोचन सुतः | 13 | 12 | c | त्वच्छासनाति गान्दैत्यान् | 22 | 34 | c |
| ते सर्वे वामनं हन्तुम् | 21 | 14 | a | त्वञ्चाऽनेन महाभागे | 16 | 59 | a |
| तैरेव सद्भवति यत्कियतेऽपृथक्त्वा- | 9 | 29 | c | त्वत्तोनृणां किमु सपत्नजयादिराशीः | 17 | 10 | d |
| तेस्तै स्स्वेच्छाधृतै रूपैः | 5 | 46 | a | त्वमर्कदृक् सर्वदृशां समीक्षणः | 24 | 50 | c |
| तैः कल्पिस्वस्त्ययनोऽथविप्रान् | 15 | 7 | b | त्वमव्ययं ज्ञान ममोघ मञ्जसा | 24 | 51 | c |
| तोत्राहत इव द्विपः | 11 | 11 | d | त्वमात्मा जगदीश्वरः | 7 | 24 | d |
| तोयै स्सर्हणै स्स्रग्भिः | 21 | 6 | a | त्वमात्मा हेतु रीश्वरः | 12 | 4 | d |
| तोषये हत्विज श्चैव | 10 | 53 | c | त्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यम् | 6 | 10 | c |
| त्यक्तह्रियस्त्वदवरोपित कर्तृवादाः | 22 | 20 | d | त्वमादि रन्तो भुवनस्यमध्यम् | 17 | 27 | a |
| त्यागः क्वचित्तस्य न मुक्तिकारणम् | 8 | 21 | b | त्वमेक स्सर्व जगतां | 7 | 22 | a |
| त्रयीमयात्मन् हृदयं स धर्मः | 7 | 28 | d | त्वयार्चित श्चाऽऽहमपत्यगुप्तये | 17 | 18 | a |
| त्रयीमयो ब्रह्मण एष धिष्ट्यम् | 5 | 36 | b | त्वया सङ्कीर्त्यमानेन | 5 | 13 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| त्वयाऽहञ्चाढ्यमानिना | 21 | 34 | b |
| त्वयैव दत्तं पदमैन्द्रमूर्जितम् | 22 | 16 | a |
| त्वयोद्विग्नधिया भद्रे | 16 | 8 | c |
| त्वय्यक्षरं यन्त्रिवृदामनन्ति | 7 | 25 | d |
| त्वय्यग्र आसी त्त्वयिमध्य आसीत् | 6 | 10 | a |
| त्वय्यन्त आसीदिदमात्मतन्त्रे | 6 | 10 | b |
| त्वं तावदोषधीस्सर्वाः | 24 | 34 | a |
| त्वं देव्यदि वराहेण | 16 | 27 | a |
| त्वं नून मसुरणां नः | 22 | 5 | a |
| त्वं बालो बालिशमतिः | 19 | 18 | c |
| त्वं ब्रह्म परमं गुह्यं | 7 | 24 | a |
| त्वं ब्रह्म पूर्णं ममृतं विगुणं | 12 | 7 | a |
| त्वं मायया ऽऽत्माश्रययास्वयेदम् | 6 | 11 | a |
| त्वं वै प्रजानां स्थिरजङ्गमानाम् | 17 | 28 | a |
| त्वं शब्दयोनि र्जगदादिरात्मा | 7 | 25 | a |
| त्वं सर्वलोकस्य सुहृत् प्रियेश्वरो हि | 24 | 52 | a |
| त्वं सर्व वरदः पुंसाम् | 16 | 36 | a |
| त्वा मर्थिनं विप्रसुताऽनृतर्कये | 18 | 32 | b |
| त्वां ब्रह्म केचिदवयन्त्युत धर्ममेके | 12 | 9 | a |
| त्विषोल्लसच्छ्रीवदनाम्बुजः पुमान् | 18 | 2 | b |
| द | | | |
| दक्षभृग्वाङ्गिरोमुख्यैः | 23 | 20 | c |
| दक्षादयोऽग्रेरिव कतेवस्ते | 6 | 15 | b |
| दक्षिणां गुरवे दद्यात् | 16 | 55 | a |
| दण्ड मर्हत्तमार्पितम् | 22 | 4 | b |
| दण्डवत्प्रीति विह्वला | 17 | 5 | d |
| दण्डं सोमो वनस्पतिः | 18 | 15 | b |
| दत्त्वागोविप्रभूतेभ्यः | 9 | 14 | c |
| दत्त्वाऽऽचमन मर्चित्वा | 16 | 41 | c |
| दत्त्वेमां याचमानाय | 13 | 13 | a |
| ददर्श विश्वं त्रिगुणं गुणात्मके | 20 | 22 | c |
| ददामि विपुलां मतिम् | 4 | 25 | d |
| ददुश्चामृत भाजनम् | 9 | 11 | d |
| ददृशे नावमागतम् | 24 | 42 | b |
| ददौ कृष्णाजिनं भूमिः | 18 | 15 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ददौ भ्रात्रे महेन्द्राय | 23 | 19 | c |
| दद्यात्पुरुष तुष्टिदम् | 10 | 52 | d |
| दद्या द्भुञ्जीत वा स्वयम् | 16 | 41 | b |
| दधार परमाद्भुतम् | 8 | 41 | d |
| दधार पृष्टेन सलक्षयोजन | 7 | 9 | c |
| दधार मूर्ध्ना परया च भक्त्या | 18 | 28 | d |
| दधार शफरी रूपम् | 24 | 9 | c |
| दधाराऽम्बु चरात्मना | 5 | 11 | d |
| दध्मौ प्रयुञ्जन्भयमिन्द्रयोषिताम् | 15 | 23 | d |
| दध्यङ् शिबिप्रभृतयः | 20 | 7 | c |
| दध्या विमांबुद्धि मथाभ्यपद्यत | 2 | 31 | d |
| दन्तै श्चतुर्भि श्श्वेताद्रेः | 8 | 4 | c |
| दन्द्रशूकाश्च येऽपरे | 7 | 46 | d |
| दन्दशूकास्सवृश्चिकाः | 10 | 47 | b |
| दयालुर्निन्य आश्रमम् | 24 | 16 | d |
| दर्शनीयं मनोरमम् | 18 | 26 | b |
| दर्शनीयां मनोरमाम् | 12 | 24 | b |
| दर्शनै र्नच दृश्यते | 14 | 10 | d |
| दशपुत्राः परन्तप | 13 | 3 | d |
| दशमो ब्रह्म सावर्णिः | 13 | 21 | a |
| दशमो वसुमान्स्मृतः | 13 | 3 | b |
| दस्यून्हन्यात् स्वराड्वपुः | 14 | 9 | b |
| दहद्भिः परिधीनिव | 15 | 10 | d |
| दहन्निव दिशो दृग्भिः | 15 | 26 | e |
| दह्यमाना दवाग्निना | 10 | 46 | b |
| दाक्षायणी धर्मपत्नीः | 4 | 22 | c |
| दाक्षिण्यदृष्टि पदवीं भवतः प्रणीताः | 23 | 7 | d |
| दात्यूह कुल कूजितम् | 2 | 16 | d |
| दानञ्चेश्वर तर्पणम् | 16 | 60 | d |
| दानं यज्ञ स्तपः कर्म | 19 | 36 | c |
| दारुण्यग्निं यथाऽनिलः | 17 | 23 | f |
| दावाग्निदग्धाः सरला इवाऽभवन् | 7 | 14 | d |
| दाश्वान विक्लबमनाः कथमार्ति | 22 | 23 | d |
| दास्यत्याच्छिद्य शक्राय | 19 | 32 | c |
| दास्याम्यमुष्मै क्षितिमीप्सितां मुने | 20 | 11 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| दिक्षु भ्रमत्कन्दुक चापलैर्भृशं | 12 | 20 | a | दूरस्या न्यायमामास | 9 | 21 | c |
| दिग्गजाः पूर्णकलशैः | 8 | 14 | c | दूरः स्वर्गः पतत्यधः | 21 | 33 | b |
| दितिज मकथयच्च ब्रह्म | 24 | 61 | c | दूर्वाङ्कुरैरपि विधाय सतीं सपर्याम् | 22 | 23 | b |
| दितिजानीकयान् नृप ! | 21 | 15 | b | दृढं पण्डितमान्यज्ञः | 20 | 15 | a |
| दिदृक्षवो यस्य पदं सुमङ्गलम् | 3 | 7 | a | दृश्यमान मदर्शनम् | 10 | 17 | d |
| दिदृक्षो स्सुरसत्तम | 12 | 16 | b | दृष्टोऽस्माभिश्श्रुतोऽपिवा | 24 | 26 | b |
| दिवौकसां देव दिवश्च्युतानाम् | 17 | 28 | c | दृष्ट्वा गता निर्वृतिमद्य सर्वे | 6 | 13 | c |
| दिवौकसां वै बलमन्ध आयुः | 5 | 34 | b | दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं ख उपात्त | 3 | 32 | b |
| दिव्यगन्धानुलेपनैः | 21 | 6 | b | दृष्ट्वा तस्यां मनश्चक्रे | 12 | 24 | c |
| दिशश्च कर्णौ रसनां जलेशम् | 7 | 26 | d | दृष्ट्वा ते दितिनन्दनाः | 10 | 3 | b |
| दिशश्चरोचयन्नाऽऽस्ते | 2 | 2 | c | दृष्ट्वा दानव संक्षयम् | 11 | 43 | d |
| दिशः प्रसेदु स्सलिलाशयास्तदा | 18 | 4 | a | दृष्ट्वाऽदितिस्तं निजगर्भसम्भवम् | 18 | 11 | a |
| दिष्टं तदुपधारयन् | 4 | 11 | d | दृष्ट्वा ममानु भावं वै | 22 | 36 | c |
| दिष्ट्या त्वं विबुधश्रेष्ठ ! | 12 | 38 | a | दृष्ट्वा मृधे गरुडवाहमिभारिवाहः | 10 | 56 | a |
| दीक्षितस्य विशेषतः | 21 | 12 | b | दृष्ट्वारीनप्यसंयत्तान् | 6 | 28 | a |
| दीक्षितस्यात्यमर्षिताः | 21 | 9 | d | दृष्ट्वा सपत्ना नुत्सिक्तान् | 10 | 24 | c |
| दीनान्ध कृपणादिषु | 16 | 56 | b | दृष्ट्वाऽसुरा यातुधानाः | 1 | 17 | c |
| दीनां मां दीनवत्सल | 24 | 14 | d | देवकार्यं चिकीर्षति | 21 | 10 | d |
| दीर्घपीवरदोर्दण्डः | 8 | 32 | a | देवगुह्यं कथञ्चन | 17 | 20 | b |
| दुकूल पर्यस्तनितम्बमेखलाम् | 12 | 18 | d | देवगुह्यं सुसंवृतम् | 17 | 20 | d |
| दुरत्ययानुक्रमणः समाऽवतु | 3 | 6 | d | देवगुह्यात्सरस्वत्याम् | 13 | 17 | a |
| दुरन्तवीर्योऽवितथाभिसन्धिः | 7 | 8 | b | देवज्येष्ठादय स्सुताः | 13 | 27 | d |
| दुर्गैर्मन्त्रौषधादिभिः | 21 | 22 | b | देवदानव वीराणाम् | 10 | 15 | a |
| दुर्धर्षत्वस्य यद्रिपोः | 15 | 27 | b | देवदुन्दुभयो नेदुः | 11 | 41 | c |
| दुर्धर्ष श्शक्ति माददे | 10 | 43 | b | देव देव जगद्व्यापिन् | 12 | 4 | a |
| दुर्बलाः प्रबलान् राजन् | 8 | 40 | c | देव देव जगन्मय | 22 | 21 | b |
| दुर्मदा नसुरर्षभान् | 17 | 13 | b | देव देव महादेव | 7 | 21 | a |
| दुर्वितर्क्यात्म कर्मणे | 5 | 50 | b | देवदेवस्य मीढुषः | 7 | 45 | b |
| दुष्प्रापणायगुणसङ्गविवर्जिताय | 3 | 18 | b | देवदेवाय ते नमः | 16 | 34 | b |
| दुष्प्राप ममरै रपि | 22 | 31 | b | देवधानी मधिष्ठाय | 15 | 33 | c |
| दुस्तरा मकृतात्मभिः | 12 | 39 | d | देवमर्चेत्समाहितः | 16 | 28 | b |
| दुस्वप्ननाशं कुरुवर्य शृण्वताम् | 4 | 14 | d | देवमातर्भवत्यामे | 17 | 12 | a |
| दुस्स्वप्नाद्युपशान्तये | 4 | 15 | d | देवमाता दिति स्तदा | 16 | 1 | b |
| दुहित्रो स्तस्य वै मनोः | 1 | 5 | b | देव मुद्वासयेत्ततः | 16 | 43 | b |
| दूरभाराद्वहश्रान्ताः | 6 | 34 | a | देवयानेन वामनम् | 23 | 24 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| देवर्षिपितृभूमिपै: | 23 | 20 | b | दैत्या दानव यूथपा: | 21 | 25 | b |
| देवर्षि नारदो नृप ! | 11 | 43 | b | दैत्य यथप चेतस्सु | 8 | 46 | c |
| देवलिङ्ग प्रतिच्छन्न: | 9 | 24 | a | दैत्यान्गृहीत कलश: | 9 | 21 | a |
| देववानुपदेवश्च | 13 | 27 | c | दैत्या यूयं फलग्रहा: | 6 | 23 | d |
| देवसावर्णि देहजा: | 13 | 30 | d | दैत्येन्द्रै रनिवर्तिभि: | 20 | 8 | h |
| देवसावर्णि रात्मवान् | 13 | 30 | b | दैवेनर्द्धस्त एवाऽद्य | 21 | 23 | c |
| देवस्त्रीमङ्गनामोद | 2 | 8 | c | दैवेन नागेन्द्रमबोधरूप: | 7 | 11 | d |
| देवस्वयञ्ज्योति रवस्थितिस्ते | 7 | 29 | d | दैवेन नीत: प्रसभं त्याजित श्री: | 22 | 11 | b |
| देवहोत्रस्य तनय: | 13 | 32 | a | दैवेनातिबलीयसा | 7 | 7 | d |
| देवा आद्यादयो गणा: | 5 | 8 | b | दैवे पित्र्येऽथ मानुषे | 23 | 31 | b |
| देवा इन्द्रस्तु सत्यजित् | 1 | 24 | d | दोधूयमानां तां नावम् | 24 | 36 | a |
| देवइन्द्रोऽद्भुत स्स्मृत: | 13 | 19 | b | द्युतिमत्प्रमुखास्तत्र | 13 | 19 | c |
| देवादीनाञ्च सम्भव: | 1 | 4 | d | द्युमत्सुषेणरोचिष्मत् | 1 | 19 | c |
| देवानां कार्यसाधक: | 19 | 30 | d | द्यौरन्तरिक्षं क्षितिरग्निजिह्वा | 18 | 4 | c |
| देवानुगानां सस्त्रीणाम् | 8 | 26 | c | द्यो र्भूरसा: सकल योग गुणास्त्रिवर्ण: | 17 | 10 | b |
| देवान्प्रत्युद्यतायुधा: | 10 | 3 | d | द्यौर्यस्य शीर्ष्णोऽप्सरसोविहासत् | 5 | 40 | c |
| देवान्स भगवान्पर: | 5 | 20 | d | द्यौ श्छत्रं जगत: पते: | 18 | 15 | d |
| देवा वैधृतयो नाम | 1 | 29 | a | द्रव्यं वय: कर्मगुणान्विशेषम् | 5 | 43 | a |
| देवाश्च तुषितादय: | 1 | 20 | b | द्रष्टुमिच्छसि दु:खिता: | 17 | 14 | d |
| देवाश्च हरितादय: | 13 | 28 | b | द्राक्षेक्षुम्भा जम्बूभि: | 2 | 13 | c |
| देवाश्शम्भु स्सुरेश्वर: | 13 | 22 | d | द्रोणपुत्र: कृप स्तथा | 13 | 15 | b |
| देवासुर वरूथपै: | 7 | 16 | b | द्वन्द्वं चरन्तमुमया तपसाऽभितप्तम् | 7 | 33 | b |
| देवासुरा विगलितस्तनपट्टिकान्ताम् | 9 | 18 | d | द्वन्द्वेन संहत्य च युध्यमाना: | 10 | 35 | b |
| देवा स्त्रिशिख ईश्वर: | 1 | 28 | b | द्वादशाक्षर विद्यया | 16 | 39 | f |
| देवा स्सुकर्मसुग्राम | 13 | 31 | a | द्वादशाह मतन्द्रिता | 17 | 1 | d |
| देवास्त्वं भागमर्हन्ति | 8 | 39 | a | द्वादशाहं पयो व्रतम् | 16 | 25 | b |
| देवांश्चतच्छ्वसशिखाहतप्रभान् | 7 | 15 | a | द्वादशाहं पयोव्रतम् | 16 | 47 | b |
| देवा: प्रतिहतेक्षण: | 6 | 2 | b | द्वादस्यां सविता तिष्ठन् | 18 | 6 | a |
| देवेभ्योऽदात्सयाचित: | 19 | 14 | d | द्वाभ्यां क्रान्ता मही सर्वा | 21 | 29 | c |
| देवेष्वथ निलीनेषु | 15 | 33 | a | द्वारञ्च मुक्ते रमृतञ्च मृत्यो: | 5 | 36 | c |
| देव्या तत्प्रियकाम्यया | 5 | 5 | d | द्वारै: स्फाटिकगोपुरै: | 15 | 15 | b |
| देशकालार्हव स्तुत: | 23 | 16 | b | द्विजदेवोपलम्भितम् | 15 | 36 | b |
| देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत्पृथ- | 9 | 29 | b | द्विजरूप प्रतिच्छन्न: | 21 | 10 | c |
| देहिनां विषयार्तानाम् | 5 | 47 | c | द्विजात्मज ! त्वच्चरणावनेजने: | 18 | 31 | b |
| दैतेया जातमत्सरा: | 8 | 40 | b | द्वितीयेन दिवं विभो: | 19 | 34 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| द्विमूर्धा कालनाभोऽपि | 10 | 20 | a | धूमेना गुरुगन्धिना | 15 | 19 | b |
| द्वीपिभिर्हरिभिर्भटाः | 10 | 9 | d | धूम्राम्बरस्रग्वरकञ्चुकाननान् | 7 | 15 | b |
| द्वीपेनाऽपि नपूर्यते | 19 | 22 | b | धृतकेतु र्दीप्ति केतुः | 13 | 18 | c |
| द्यवरान्भोजये द्विप्रान् | 16 | 43 | c | धृत ब्रह्मतनुं रिपुम् | 20 | 12 | d |
| ध | | | | धृतः पृष्टे महाचलः | 12 | 45 | d |
| धत्ते रजस्सत्त्व तमांसिकाले | 5 | 22 | d | धृष्टश्शर्याति रेव च | 13 | 2 | b |
| धत्तेऽस्य जन्माद्यजयाऽत्मशक्त्या | 1 | 13 | c | ध्यातः प्रादुरभूत्तत्र | 10 | 53 | c |
| धत्से यदा स्वदृग्भूमन् | 7 | 23 | c | ध्यायन् फेन मथाऽपश्यत् | 11 | 39 | c |
| धत्से रूपं जलौकसाम् | 24 | 27 | d | ध्याय न्भगवतः पादौ | 24 | 42 | a |
| धनुश्च दिव्यं पुरटोपनद्धम् | 15 | 6 | a | ध्रियमाणोऽपि बलिभिः | 7 | 6 | c |
| धनुश्च शार्ङ्गं स्तनयित्नुघोषम् | 20 | 30 | d | ध्रुवं प्रपेदे ह्यकुतोभयं जनात् | 22 | 10 | c |
| धन्य स्वस्त्ययनं शुभम् | 1 | 32 | b | ध्रुवं ब्रह्म ऋषीन्सप्त | 4 | 23 | c |
| धन्वन्तरि रिति ख्यातः | 8 | 35 | a | ध्वजश्च सिंहेन विराजमानः | 15 | 5 | c |
| धन्वी खड्गीधृतेषुधिः | 15 | 8 | d | ध्वजिन्यौ पाण्डु नन्दन | 10 | 15 | b |
| धर्मज्ञानोप देशार्थम् | 1 | 5 | c | ध्वस्त कर्मनिबन्धनः | 23 | 10 | d |
| धर्मयुक्तं स सूनृतम् | 19 | 1 | b | न | | | |
| धर्मसेतु रिति स्मृतः | 13 | 26 | b | न गृह्णीमो वयं पुच्छम् | 7 | 3 | c |
| धर्मस्य तपसः श्रियः | 23 | 22 | b | न जिहासति यद्यशः | 20 | 13 | b |
| धर्मस्य सूनृतायान्तु | 1 | 25 | a | नटवद्गूढमायाभिः | 11 | 4 | a |
| धर्मस्याऽर्थस्य कामस्य | 16 | 5 | c | नटो हरति तद्धनम् | 11 | 4 | d |
| धर्मस्यार्थस्य चैव हि | 24 | 5 | d | नट्यश्च ननृतुर्जगुः | 8 | 12 | d |
| धर्मस्याऽस्य जनस्य च | 16 | 11 | b | न तत्प्रतिविधिं यत्र | 10 | 53 | a |
| धर्मः क्वचित्तस्य न भूतसौहृदम् | 8 | 21 | a | न तथा तीर्थ आयाते | 20 | 9 | c |
| धर्मः स्तनादितरः पृष्ठतोऽभूत् | 5 | 40 | b | न तथैवाऽर्पितं त्वयि | 5 | 47 | d |
| धर्माय यशसेऽर्थाय | 19 | 37 | a | न तद्दानं प्रशंसन्ति | 19 | 36 | a |
| धर्मोऽयं गृहमेधिनाम् | 20 | 2 | b | न तस्य हि त्वचमपि वज्र ऊर्जितः | 11 | 32 | a |
| धातुः कमण्डलुजलन्तदुरुक्रमस्य | 21 | 4 | a | न तां व्यभजदच्युतः | 9 | 19 | d |
| धातुः शिशयिषो जले | 24 | 8 | b | न ते गिरित्राऽखिललोकपाल | 7 | 31 | a |
| धामोपेयुर्बलिं सुराः | 6 | 27 | b | न तेऽरविन्दाक्ष! पदोपसर्पणम् | 24 | 30 | a |
| धाराभिरिव पर्वतम् | 11 | 20 | d | न त्वं न त्वमिति प्रभो! | 8 | 38 | d |
| धिया कल्याण कृत्तम | 16 | 17 | d | न त्वामभिभविष्यति | 12 | 40 | b |
| धिष्ण्यस्थ इव हव्यराट् | 15 | 9 | d | न त्वामभिभविष्यन्ति | 22 | 34 | a |
| धिष्ण्यानि स्वानि ते जग्मुः | 23 | 27 | c | नदतां निस्वनोऽभवत् | 10 | 7 | d |
| धूपामोदित शालायाम् | 9 | 16 | c | नदद्बहुममर्षया | 2 | 6 | b |
| धूपै र्दीपै स्सुराभिभिः | 21 | 6 | c | नदद्भिरेफां परिगृह्यपाणिना | 8 | 17 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नदन्त उदधिं निन्युः | 6 | 33 | c | नमुचिस्तद्वधं दृष्ट्वा | 11 | 29 | a |
| नदीश्च नाडीषु शिला नखेषु | 20 | 29 | a | नमुचिः पञ्चदशभिः | 11 | 23 | a |
| न धर्मस्य न लोकस्य | 16 | 4 | c | न मेने तदु हाऽद्भुतम् | 12 | 36 | d |
| न नः कालोऽयमर्थकृत् | 21 | 19 | d | नमो गिरां विदूराय | 3 | 10 | c |
| ननाम भुवि कायेन | 17 | 5 | c | नमो ज्ञानघनाय च | 3 | 12 | d |
| ननाम मूर्ध्ना पुलकाश्रुविक्लवः | 22 | 15 | d | नमो द्विशीर्ष्णे त्रिपदे | 16 | 31 | a |
| ननाम मूर्ध्नाश्रु विलोललोचनः | 22 | 14 | c | नमो नमस्तुभ्यमसह्यवेग | 3 | 28 | a |
| ननाम रूपे गुणदोष एव वा | 3 | 8 | b | नमो नमस्तेऽखिलकारणाय | 3 | 15 | a |
| नन्दस्सुनन्दोऽथ जयः | 21 | 16 | a | नमोऽपवर्गाय परायणाय | 3 | 15 | d |
| न परं ते महेश्वर! | 7 | 35 | b | नमो ब्रह्मण्यदेवाय | 17 | 25 | c |
| न पाशबन्धाद्यसनाद्गुरत्ययात् | 22 | 3 | b | (ओं) नमो भगवते तस्मै | 3 | 2 | a |
| न पुमान्मामनुव्रज्य | 19 | 20 | a | नमो मरकतश्याम- | 16 | 35 | a |
| नभश्शरीरेण दिशश्च बाहुभिः | 20 | 33 | d | नमोऽव्यक्ताय सूक्ष्माय | 16 | 30 | a |
| न भेतव्यं कालकूटात् | 6 | 25 | a | नमोऽस्तु तस्मा उपशान्त शक्तये | 5 | 44 | a |
| नम आत्मप्रदीपाय | 3 | 10 | a | नमो हिरण्यगर्भाय | 16 | 33 | a |
| नम आश्चर्य कर्मणे | 3 | 9 | d | न यत्प्रसादायुतभागलेशम् | 24 | 49 | a |
| न म एतदलं राजन्! | 24 | 20 | a | न यत्र कालो विशते न वेदः | 12 | 44 | d |
| नमश्शक्तिधराय च | 16 | 32 | b | नयन्त्याभिः प्रचोदिताः | 14 | 3 | d |
| नमश्शान्ताय घोराय | 3 | 12 | a | न यशोऽधिगतं भुवि | 20 | 8 | d |
| नमश्शिवाय रुद्राय | 16 | 32 | a | न यस्य कश्चातितितर्तिमायाम् | 5 | 30 | a |
| नमस्कृत्य पितामहः | 6 | 27 | b | न यस्य देवा ऋषयः परं विदुः | 3 | 6 | a |
| नमस्तुभ्यमनन्ताय | 5 | 50 | a | न यस्य वध्यो न च रक्षणीयः | 5 | 22 | a |
| नमस्तुभ्यं भगवते! | 16 | 29 | a | न यस्याद्यन्तमध्यानि | 1 | 12 | a |
| नमस्ते आदिदेवाय | 16 | 34 | a | नवमो दक्षसावर्णिः | 13 | 18 | a |
| नमस्ते पीतवाससे | 16 | 35 | d | न वयं त्वाऽमरैर्दैत्यैः | 9 | 4 | a |
| नमस्ते पुरुषश्रेष्ठ! | 24 | 28 | a | न वयं मन्यमानानाम् | 11 | 9 | a |
| नमस्ते पृश्निगर्भाय | 17 | 26 | a | नवयौवननिर्वृत्त | 8 | 43 | a |
| नमस्ते योगहेतवे | 16 | 33 | d | नववर्षसमेतेन | 19 | 22 | c |
| नमः कैवल्यनाथाय | 3 | 11 | c | नवसौगन्धिकस्रजाम् | 15 | 18 | b |
| नमामहे देववरं वरेण्यम् | 5 | 26 | d | न वा अयं ब्रह्मबन्धुः | 21 | 10 | a |
| नमामि भूतेषु समं चरन्तम् | 5 | 30 | d | न विक्रमस्तत्र सुखं ददाति | 17 | 16 | d |
| नमामि मे ज्ञातय आतुरं गजाः | 2 | 32 | a | न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा | 3 | 8 | a |
| न मां स्रष्टुमर्हसि | 24 | 24 | d | न वै तृतीयाय तदीयमण्वपि | 20 | 34 | b |
| नमुचिश्च बलः पाकः | 11 | 19 | c | नरकेण शनैश्चरः | 10 | 33 | d |
| नमुचिश्शम्बरो बाणः | 10 | 19 | c | नराय हरये नमः | 16 | 34 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नरिष्यते जातु समुद्यमः क्वचित् | 12 | 46 | b | नानारण्य पशुव्रात | 2 | 7 | a |
| न रिष्यन्तोऽथ नाभागः | 13 | 2 | c | नानावाहध्वजायुधाः | 10 | 26 | b |
| नर्तक्यो ननृतुर्मुदा | 11 | 41 | d | नानाशक्तिभिराभातः | 7 | 24 | c |
| नलिन्यो यत्र क्रीडन्ति | 15 | 13 | e | नानुव्रीडे न च व्यथे | 22 | 7 | d |
| न शक्नुवन्ति ते सर्वे | 19 | 21 | c | नाऽध्यगच्छन्स्वयं मन्त्रैः | 5 | 17 | c |
| न शुष्केण न चाऽऽर्द्रेण | 11 | 40 | a | नाऽनृतं भाषितुं शक्यम् | 21 | 12 | c |
| न श्रीर्न शर्वः किमुताऽपरे ये | 23 | 6 | b | नाऽनृतं स्याज्जुगुप्सितम् | 19 | 43 | d |
| नष्टश्रियं स्थिरं प्राज्ञम् | 21 | 28 | c | नाऽन्यत्ते कामये राजन्! | 19 | 17 | a |
| नष्टाः कालेन यैर्वेदाः | 1 | 29 | c | नाऽपश्यन्स्वं दिशः क्षोणीम् | 6 | 2 | c |
| न सज्जमानाय नमस्व दूतये | 5 | 44 | d | नाभिर्नभस्ते श्वसनं नभस्वान् | 7 | 27 | a |
| न सन्ति तीर्थे युधि चार्थिनाऽर्थिताः | 19 | 4 | a | नाभ्यां नभः कुक्षिषु सप्तसिन्धून् | 20 | 24 | c |
| न सम्पद्येत मानसः | 16 | 13 | b | नामरूपविभेदेन | 3 | 22 | c |
| न संरम्भेण सिध्यन्ति | 6 | 24 | c | नाऽमृष्यन्तदधिक्षेपम् | 11 | 11 | c |
| न साधुमन्ये दैत्यानाम् | 19 | 31 | c | नाम्ना सत्यव्रतो महान् | 24 | 10 | b |
| नस्तः पशव्यः स्पर्शेन कामः | 5 | 42 | b | नाऽयमर्हति निग्रहम् | 22 | 21 | d |
| न स्त्री न षण्डो न पुमान् न जन्तुः | 3 | 24 | b | नाऽयं गुणः कर्म न सन्नचाऽसन् | 3 | 24 | c |
| न स्थानच्यवनान्मृत्योः | 20 | 5 | c | नाऽयं तं वेद वेद सः | 1 | 9 | d |
| न हि तत्र विषज्जते | 1 | 15 | b | नाऽयं त्यजति सत्पथम् | 22 | 30 | d |
| न हि द्वितीयो गुणसङ्ग वर्जितः | 8 | 21 | d | नाऽयं वेद स्वमात्मानम् | 3 | 29 | a |
| न हुता हविषा सतिः | 16 | 8 | b | नाऽयं शुष्कैरथ नाऽऽर्द्रैः | 11 | 37 | c |
| न हृष्यन्ति न शोचन्ति | 11 | 8 | c | नारदानुमतेन वै | 11 | 46 | b |
| नह्यसत्यात्परोऽधर्मः | 20 | 4 | a | नाराचैर्वीर मानदः | 11 | 10 | b |
| नह्येतस्मिन्कुले कश्चित् | 19 | 3 | a | नारायण पदाश्रयाः | 10 | 4 | d |
| नाकपृष्ठमधिष्ठाय | 17 | 15 | c | नारायणपरोऽतप्यत् | 24 | 10 | c |
| नागपुन्नागजातिभिः | 2 | 18 | d | नारायणभुजाश्रयैः | 11 | 44 | b |
| नाऽचष्ट कृच्छ्रं कृपणोऽजमायया | 2 | 26 | d | नारायणाखिलगुरो भगवन्नमस्ते | 3 | 32 | d |
| नाऽङ्गः स्वरूपगमने प्रभवन्ति | 7 | 34 | b | नारायणाय ऋषये | 16 | 34 | c |
| नातितृप्यति मे चित्तम् | 5 | 13 | c | नारायणायाऽखिल कर्मसाक्षिणे | 22 | 17 | d |
| नाऽत्मान मन्त्रिक उमां स्वगणांश्च | 12 | 22 | d | नाऽर्चितास्सल्लिलैरपि | 16 | 7 | b |
| नाऽऽत्मानं जयिनं मेने | 19 | 6 | c | नाऽलं कामेभ्य आत्मने | 19 | 41 | f |
| नाऽधन्यादसुखार्णवात् | 20 | 5 | b | नाऽलं तदुपपादने | 21 | 33 | d |
| नाऽध्यगच्छन्स्वयं मन्त्रैः | 5 | 17 | c | नाऽवमः कर्मकल्पोऽपि | 5 | 48 | a |
| नानाद्रुमलतागुल्मैः | 2 | 3 | c | नाऽवसीदन्ति येनु तम् | 1 | 15 | d |
| नानापताकावलभीभिरावृतम् | 15 | 20 | b | नाऽविन्दत गदायुधः | 19 | 5 | d |
| नानायोनिष्वनीशोऽयम् | 22 | 25 | c | नाऽविन्दन्नमृतं नृप | 10 | 1 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नाव्यासीनो भगवता | 24 | 56 | c | निर्घोषस्तुमुलोऽभवत् | 18 | 7 | d |
| नाऽसन्तुष्टस्त्रिभिर्लोकैः | 19 | 24 | c | निर्घोषैर्निर्झराम्भसाम् | 2 | 3 | d |
| नासा कपोलवदनं परदेवताख्याम् | 9 | 18 | b | निर्जराग्निर्व्रणान्यथा | 6 | 37 | d |
| नाऽस्पृष्टपूर्वां जानीमः | 9 | 4 | c | निर्मथ्यमानादुदधेरभूद्विषम् | 7 | 18 | a |
| नाऽस्य शक्तः पुरस्स्थातुम् | 15 | 29 | c | निर्मन्थ्यमतन्द्रिताः | 6 | 23 | b |
| नाऽहं कमण्डलवाऽस्मिन् | 24 | 18 | a | निर्ममन्थाऽजितस्स्वयम् | 7 | 16 | d |
| नाऽहं तदाददे दण्डम् | 11 | 36 | c | निर्माय विश्वं तदनुप्रविष्टः | 6 | 11 | b |
| नाऽहं परायु ऋषयो न मरीचिमु- | 12 | 10 | a | निर्मोकतत्त्वदर्शाद्याः | 13 | 31 | c |
| नाऽहं बिभेमि निरयात् | 20 | 5 | a | निर्मोकविरजस्काद्याः | 13 | 11 | c |
| निकृत्तबाहूरुशिरोधराङ्घ्रयः | 10 | 37 | c | निर्यान्ति संयान्त्यसकृत्स्वरोचिषः | 3 | 23 | b |
| निजघ्नुर्विविधायुधैः | 10 | 6 | d | निर्वर्तितात्मनियमः | 16 | 28 | a |
| नितम्बद्वीपशोभया | 8 | 45 | b | निर्वाणसुखसंविदे | 3 | 11 | d |
| नित्यर्तुभिरलं द्रुमैः | 2 | 19 | d | निर्वाणाः रुचयस्सुराः | 13 | 25 | b |
| नित्यं द्रष्टासि मां तत्र | 23 | 10 | a | निर्विशेषाय साम्याय | 3 | 12 | c |
| नित्यं पुष्पफलद्रुमैः | 21 | 10 | b | निलीयमाना वृक्षेषु | 12 | 26 | c |
| निधेहि रक्षायोगेन | 24 | 22 | c | निवातकवचादयः | 10 | 22 | d |
| निनदन्मृगराडिव | 11 | 30 | f | निवेदितञ्च सर्वस्वम् | 22 | 22 | c |
| निपतन्सगिरिस्तत्र | 6 | 35 | a | निवेदितं तद्भक्ताय | 16 | 41 | a |
| निपाययन्संस्नपयन्यथागृही | 2 | 26 | b | निवेशितोऽधिके स्वर्गात् | 13 | 14 | c |
| निबध्नीहि महाहिना | 24 | 36 | d | निशम्य कर्म तच्छम्भोः | 7 | 45 | a |
| निबध्य नावं तच्छृङ्गे | 24 | 45 | a | निशम्य तद्वधं भ्राता | 19 | 7 | a |
| निमङ्क्ष्यत्यप्ययाम्भोधौ | 24 | 32 | c | निशाम्य भक्तिप्रवणः | 23 | 5 | c |
| नियतात्मा भजाऽव्ययम् | 16 | 59 | d | निशाम्य भगवान्प्रीतः | 19 | 1 | c |
| नियुङ्क्तास्तद्वदस्व नः | 14 | 1 | d | निशाम्यैतत्सुरगणाः | 5 | 17 | a |
| नियुध्यतोरेवमिभेन्द्रनक्रयोः | 2 | 29 | a | निशुम्भशुम्भयोर्देवी | 10 | 31 | c |
| निरन्तरं चन्दनकुङ्कुमोक्षितम् | 8 | 18 | b | निशुम्भो जम्भ उत्कलः | 10 | 21 | d |
| निरयं कतिचित्समाः | 21 | 34 | d | निश्श्रीकाश्चाऽभवंस्तत्र | 5 | 16 | c |
| निरये वा स इष्यते | 21 | 32 | d | निषसाद हरेः पादौ | 24 | 40 | c |
| निराशिषं पूर्णमनन्यचोदितम् | 1 | 16 | b | निषेधशेषो जयतादशेषः | 3 | 24 | d |
| निरीक्षन्निदमब्रवीत् | 9 | 8 | d | निषेव्यमाणोऽलिकुलैर्मदाशनैः | 2 | 23 | d |
| निरीक्ष्य पृतनां देवः | 11 | 27 | a | निष्कग्रीवास्सुवाससः | 8 | 7 | b |
| निरुत्सवं निरानन्दम् | 16 | 2 | c | निष्कारणायाऽद्भुतकारणाय | 3 | 15 | b |
| निरुद्योगा हतत्विषः | 8 | 29 | b | निष्टां ते नरके मन्ये हि | 19 | 35 | a |
| निर्गुणत्वाद्धियो गुणैः | 24 | 6 | d | निस्त्रिंशभल्लैः परिघै स्समुद्गरैः | 10 | 36 | c |
| निर्गुणाय गुणेशाय | 5 | 50 | c | निस्सत्त्वः कृपणः पुमान् | 19 | 3 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| निस्सत्त्वान् विगतप्रभान् | 5 | 19 | b |
| निस्सत्त्वा लोलुपा राजन्! | 8 | 29 | a |
| नीपवञ्जुलकैर्वृतम् | 2 | 17 | d |
| नीयमानेऽसुरैस्तस्मिन् | 8 | 36 | c |
| नूनं नूनं विधिन्वताम् | 9 | 10 | d |
| नूनं तपो यस्य न मन्युनिर्जयः | 8 | 20 | a |
| नूनं त्वं भगवान्साक्षात् | 24 | 27 | a |
| नूनं त्वं विधिना सुभ्रु! | 9 | 5 | a |
| नृत्तवादित्रगीतैश्च | 16 | 57 | a |
| नृत्तवादित्रगीतैश्च | 21 | 7 | c |
| नृत्यतां गायतामभूत् | 8 | 26 | d |
| नृत्यन्तो विबुधानुगाः | 18 | 10 | b |
| नृत्यैस्सवाद्यैरुपदेवगीतकैः | 15 | 21 | c |
| नृपा वैन्यगदादयः | 19 | 23 | b |
| नृन् शिक्षयन्तं निजवर्म संस्थितम् | 1 | 16 | c |
| नेतरेति मतिर्मम | 16 | 21 | d |
| नेत्रत्रयं सत्त्वरजस्तमांसि | 7 | 30 | b |
| नेत्रमब्धिं मुदान्विताः | 7 | 1 | d |
| नेत्रं कृत्वा तु वासुकिम् | 6 | 22 | d |
| नेदुर्दुन्दुभयो दिव्याः | 4 | 2 | a |
| नेदुर्मुहुर्दुन्दुभयस्सहस्रशः | 20 | 20 | a |
| नेन्द्र ईश्वरशिक्षया | 8 | 3 | d |
| नेमं विरिञ्चो लभते प्रसादम् | 23 | 6 | a |
| नेशुरिज्यादयः क्रियाः | 5 | 16 | d |
| नैतत्परस्मा आख्येयम् | 17 | 20 | a |
| नैतन्मे स्वस्तये राजन् | 24 | 22 | a |
| नैते यदोपससृपुर्निखिलात्मकत्वात् | 3 | 30 | c |
| नैनं कश्चित्कुतोवाऽपि | 15 | 26 | a |
| नैनः प्राप्नोति वै विद्वान् | 19 | 17 | c |
| नैव भेदो यथा भवेत् | 9 | 7 | d |
| नैवं वीर्यो जलचरः | 24 | 26 | a |
| नैवार्थकृच्छ्राद्भवतो विनिग्रहात् | 22 | 3 | c |
| नैवेद्यञ्चाऽधिगुणवत् | 10 | 52 | c |
| नैष्कर्म्य भावेन विवर्जितागम- | 3 | 16 | c |
| नैष्कर्म्येणविपश्चिता | 3 | 11 | b |
| नोचुः किञ्चन विप्रियम् | 9 | 23 | d |
| नोञ्चावचत्वं भजते | 24 | 6 | c |
| नोत्तिष्ठेरन् पुनश्च ते | 5 | 15 | d |
| नोत्स्नेह आनन्दजलाकुलेक्षणा | 17 | 6 | b |
| नोपसर्गा निवसतां | 22 | 32 | e |
| नोपेक्षणीयादरणीय पक्षः | 5 | 22 | b |
| न्यधादौदञ्चनोदके | 24 | 19 | b |
| न्यषेधद्दैत्यराट् श्लोक्यः | 6 | 28 | c |
| न्यस्तदण्डस्य बर्हिषि | 21 | 11 | d |
| **प** | | | |
| पक्षच्छेदः प्रजाक्षये | 11 | 34 | b |
| पञ्चधाविभजन्वित्तम् | 19 | 37 | c |
| पञ्चमो रैवतं नाम | 5 | 2 | a |
| पतत्रिणो जानुनि विश्वमूर्तेः | 20 | 23 | c |
| पतत्रैः पततां भुवि | 11 | 34 | d |
| पतितस्व रोक्षिभिः | 10 | 40 | b |
| पतिं सर्वविभूतये | 23 | 23 | b |
| पत्तिभिस्सह पत्तयः | 10 | 8 | b |
| पत्नीजालकमालिनी | 20 | 17 | b |
| पत्नीविकुण्ठा शुभ्रस्य | 5 | 4 | a |
| पत्युर्निगदितं श्रुत्वा | 21 | 25 | a |
| पदत्रयं वृणीते यः | 19 | 19 | c |
| पदप्रवालं नयतीं ततस्ततः | 12 | 19 | d |
| पदं तृतीयं कुरुशीर्णी मेनिजम् | 22 | 2 | d |
| पदं द्वितीयं क्रमतस्त्रिविष्टपम् | 20 | 34 | a |
| पदंध्रुवं चाऽऽव्यभिचारिसद्गुणम् | 8 | 19 | b |
| पदानि त्रीणि दत्ताणि | 21 | 29 | a |
| पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र | 19 | 16 | c |
| पदैकेन भुवं स्पृशन् | 1 | 8 | b |
| पदैकेन मयाऽऽक्रान्तः | 21 | 31 | a |
| पदैकेन महोदधेः | 8 | 5 | b |
| पपौ निकामं निजपुष्करोद्धृतम् हि | 2 | 25 | c |
| पप्रच्छुर्जातहृच्छयाः | 9 | 2 | d |
| पयसा स्नापयित्वाऽर्चेत् | 16 | 45 | c |
| पयसा स्नापयेद्विभुम् | 16 | 39 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पयोधिं येन निर्मथ्य | 5 | 10 | a | पश्यता सुरकार्याणि | 12 | 15 | c |
| पयोभक्षव्रतमिदम् | 16 | 46 | a | पश्यतां सर्वभूतानाम् | 10 | 2 | c |
| पयोव्रतेनानुगुणं समीडितः | 17 | 18 | b | पश्यन्ति युक्ता मनसामनीषिणः | 6 | 11 | c |
| परब्रह्मेति शब्दितम् | 24 | 38 | b | पश्याम्यमुष्मिन्नृह विश्वमूर्तौ | 6 | 9 | d |
| परमाराधनं तद्धि | 7 | 44 | c | पाटलाशोकचम्पकैः | 2 | 10 | d |
| परमाश्चर्य रूपधृत् | 4 | 3 | b | पाण्डुरेण प्रतिच्छन्न | 15 | 19 | c |
| परया कृतकृत्यवत् | 17 | 22 | b | पाण्ड्यो द्रविडसत्तमः | 4 | 7 | b |
| परस्य पुंसः परदेवतायाः | 12 | 43 | b | पादरेणुमुपासते | 16 | 36 | d |
| परस्य पुंसः परयानुकम्पया | 11 | 1 | b | पादावनेजन परिव्रतया नरेन्द्र ! | 21 | 4 | b |
| परं कौतूहलं हि नः | 12 | 13 | d | पादौ भगवतो बलिः | 18 | 27 | b |
| परं पुमांसं मुदमाप विस्मिता | 18 | 11 | b | पादौ महीयं स्वकृतैव यस्य | 5 | 32 | a |
| पराग्रिक्तमपूर्णं वा | 19 | 41 | a | पादोपस्पर्शनादिभिः | 16 | 38 | d |
| पराङ्मुखायेत्वमनस्विनो नृपः | 19 | 4 | b | पाद्योपस्पर्शनैस्ततः | 16 | 39 | d |
| पराजितश्रीरसुभिश्च हापितः | 15 | 3 | a | पाप्मानं मे प्रणाशय | 16 | 27 | d |
| पराजितोऽपि नाऽखिद्यत् | 11 | 48 | c | पाययित्वा स्वकान् सुरान् | 10 | 2 | b |
| परायणं नौरिव मज्जतोऽप्सु | 17 | 28 | d | पायसेन यथोचितम् | 12 | 43 | d |
| परावरात्माश्रयणं तवात्मा | 7 | 27 | c | पायिताश्चाऽमृतं सुराः | 12 | 13 | b |
| परिक्रम्य प्रणम्यतम् | 4 | 5 | b | पारं महिम्न उरु विक्रमतोगृणानः | 23 | 29 | a |
| परिक्रम्यादिपुरुषम् | 23 | 12 | a | पारामरीचि गर्भाद्याः | 13 | 19 | a |
| परिधाया हतानि ते | 9 | 15 | b | परोक्ष्यः परमो गुरुः | 22 | 5 | b |
| परिभ्रमन्तं गिरिमङ्गपुष्ठतः | 7 | 10 | b | पार्ष्णिग्रहा स्तारयितुं नचाऽशकन् | 2 | 28 | d |
| परिम्लान मुखश्रियः | 7 | 7 | b | पालयन्ति प्रजापालाः | 14 | 6 | a |
| परिवीय गिरौ तस्मिन् | 7 | 1 | c | पिचुमन्दै कोविदारैः | 2 | 13 | a |
| परिस्तीर्य समभ्यर्च्य | 18 | 19 | c | पितरस्सर्वभूतानि | 23 | 26 | c |
| परीक्षितैवं सतु बादरायणिः | 7 | 33 | a | पिताप्रह्लाद पुत्रस्ते | 19 | 14 | a |
| परेणते प्रविशता समेधिताः | 7 | 13 | b | पितामहस्तस्य ददौ च मालाम् | 15 | 6 | c |
| परेशायाऽभिधीमहि | 3 | 2 | d | पितामहः कुलवृद्धः प्रशान्तः | 19 | 2 | d |
| परैरभ्यर्दितां मृधे | 11 | 27 | b | पितामहेनाभिहितम् | 16 | 58 | c |
| परैर्विवासिता साहम् | 16 | 16 | a | पितामहो मे भवदीयसम्मतः | 22 | 8 | a |
| पर्जन्यघोषो जलजः पाञ्चजन्यः | 20 | 31 | a | पिबद्भिरिव स्व दृग्भिः | 15 | 10 | c |
| पर्यतप्यदनाथवत् | 16 | 1 | d | पिबन्निव मुखेनेदम् | 15 | 26 | c |
| पवनः सृञ्जयो यज्ञ | 1 | 23 | c | पिशङ्गवासा नलिनायतेक्षणः | 18 | 1 | d |
| पवित्राश्चाक्षुषादेवाः | 13 | 34 | a | पिशङ्गवासा नवकञ्जलोचनः | 10 | 54 | b |
| पश्यतस्ते स्वमात्मना | 21 | 31 | d | पीतप्रायेऽमृते देवैः | 9 | 27 | a |
| पश्यतामसुरेन्द्राणाम् | 9 | 27 | c | पीतवासामहोरस्कः | 8 | 33 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पीतवासाश्चतुर्बाहुः | 17 | 4 | c | पौरुषीं गतिमाव्रजेत् | 22 | 25 | d |
| पीतवासाश्चतुर्भुजः | 4 | 6 | d | पौरुषैरीश्वरः पुमान् | 21 | 20 | d |
| पीते गरे वृषाङ्केण | 8 | 1 | a | पौरुष्य स्तनवो नृप | 14 | 3 | b |
| पुच्छं जग्राह सामरः | 7 | 4 | f | पौलोमकालेयबलील्वलादयः | 7 | 14 | c |
| पुण्यश्लोकांश्च मानवान् | 4 | 23 | d | प्रकृष्ट हारोरुभरैः पदे पदे | 12 | 19 | b |
| पुत्रैरिच्छास्युपासितम् | 17 | 13 | d | प्रख्याता जन्मकर्मभिः | 7 | 4 | b |
| पुमान्विजह्यान्मलमात्मनस्तमः | 24 | 48 | b | प्रगृह्याऽद्रवत्क्रुद्धः | 11 | 30 | c |
| पुरस्कृत्य प्रजापतिम् | 18 | 13 | d | प्रगृह्येन्द्रिय दुष्टाश्वान् | 17 | 2 | c |
| पुराणसंहितां दिव्याम् | 24 | 55 | a | प्रचण्डवातैरुद्धूत | 10 | 51 | c |
| पुरुषस्याऽखिलात्मनः | 7 | 44 | d | प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम् | 2 | 33 | b |
| पुरुषः परमाद्भुतः | 8 | 31 | d | प्रजज्ञिरे खं पुरुषस्य नाभ्याः | 5 | 38 | b |
| पुरुषानुचरै र्बलिः | 21 | 18 | b | प्रजा इमास्सत्त्व रजस्तमोजुषः | 16 | 14 | b |
| पुरुषाय महीयसे | 16 | 29 | b | प्रजाकामस्य पद्मजः | 16 | 24 | b |
| पुरुषायाऽऽत्ममूलाय | 3 | 13 | c | प्रजादाक्षायणी ब्रह्मा | 7 | 45 | c |
| पुरुषायादिबीजाय | 3 | 2 | c | प्रजानां पश्य वेशसम् | 7 | 37 | b |
| पुरुषाराधनं परम् | 16 | 58 | b | प्रजानां स्वस्तिरस्तुमे | 7 | 40 | f |
| पुल्निर्मणिवालुकैः | 2 | 8 | b | प्रजापति पतिर्ब्रह्मा | 23 | 20 | a |
| पुलोम्ना युयुधेऽनिलः | 10 | 31 | b | प्रजापतिमकल्मषम् | 17 | 19 | b |
| पुष्पदन्तोऽथ सात्त्वतः | 21 | 17 | b | प्रजापतिश्चाऽऽह जयेतिविस्मितः | 18 | 11 | d |
| पुंश्चल्यां मयि सङ्गताः | 9 | 9 | b | प्रजापतीञ्चघने आत्ममुख्यान् | 20 | 24 | b |
| पुंसः कृपयतो भद्रे | 7 | 40 | a | प्रजापतीनामपि सम्भविष्णुः | 17 | 28 | b |
| पुंसां श्लाघ्यमहं मन्ये | 22 | 4 | a | प्रजापतेर्वैश्यतमः स्वरोचिषा | 18 | 3 | c |
| पुंसोऽयं संसृतेर्हेतुः | 19 | 25 | a | प्रजा हाहेति चुक्रुशुः | 11 | 2 | d |
| पूजाञ्च महतीं कुर्यात् | 16 | 51 | a | प्रजाः प्रहृष्टा ऋतवो गुणान्विताः | 18 | 4 | b |
| पूजां भगवतोऽन्वहम् | 16 | 57 | d | प्रणतस्तदनुज्ञातः | 23 | 12 | c |
| पूरयत्यर्थिनो योऽर्थैः | 8 | 6 | c | प्रणताः परमेष्ठिने | 5 | 18 | d |
| पूरयित्वाऽदितेः कामम् | 23 | 4 | c | प्रणतोऽस्मि परं पदम् | 3 | 26 | d |
| पूरुः पुरुष मुद्युम्न | 5 | 7 | c | प्रणमेद्दण्डवन्मुदा | 16 | 42 | d |
| पूर्ववज्जुहुया दग्निम् | 16 | 46 | c | प्रणम्य शिरसाऽधीशम् | 4 | 4 | a |
| पूर्वस्माच्च पदादधः | 11 | 5 | d | प्रणयापायकातराः | 9 | 23 | b |
| पूर्वं देवास्ततोऽभवन् | 7 | 2 | d | प्रणवं सत्यमव्यक्तम् | 4 | 22 | a |
| पृतनापुतयोऽसुराः | 10 | 19 | b | प्रतिनन्द्य हरे राज्ञाम् | 23 | 18 | a |
| पृथु देहि पदं मह्यम् | 24 | 20 | c | प्रतिनन्द्येदमब्रवीत् | 19 | 1 | d |
| पृष्टे त्वधर्मं क्रमणेषु यज्ञम् | 20 | 28 | b | प्रतिपद्दिनमारभ्य | 16 | 48 | a |
| पौत्रं वंशधरं बलिम् | 23 | 5 | b | प्रतिपादयितुं भवान् | 19 | 35 | d |

| | अध्याय | श्लोक | पाद | | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| प्रतिपूज्य स्मयन्हरिम् | 12 | 3 | d | प्रमदास्सुरसेविताः | 15 | 13 | f |
| प्रतिपूरयितुं नृप ! | 19 | 21 | d | प्रमाणं परिकीर्तितम् | 14 | 11 | b |
| प्रतिबुध्य निशात्यये | 4 | 25 | b | प्रमुखश्चाक्षुषात्मजाः | 5 | 7 | d |
| प्रतिवीरं दिग्विजये | 19 | 5 | c | प्रमुखास्तस्य चात्मजाः | 1 | 19 | d |
| प्रतिव्योढुमधीश्वरः | 15 | 26 | b | प्रयताश्रद्धया यज | 16 | 62 | b |
| प्रतिलब्धजयश्रीभिः | 17 | 13 | c | प्रयतास्सुसमाहिताः | 4 | 24 | b |
| प्रतिश्रुतमदातुस्ते | 21 | 32 | a | प्रयाहि सुतलालयम् | 23 | 9 | b |
| प्रतिश्रुतस्य योऽनीशः | 19 | 35 | c | प्रलम्ब बाहं सुभगं समैक्षत | 22 | 13 | d |
| प्रतिश्रुतं त्वयैतस्मै | 19 | 31 | a | प्रलयपयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मुखेभ्यः | 24 | 61 | a |
| प्रतिश्रुतं ददामीति | 20 | 3 | c | प्रवर्तयन्ते भृगवः क्रतूत्तमम् | 18 | 21 | c |
| प्रतिसंयुयुधुश्शस्त्रैः | 10 | 4 | c | प्रवाल फल पुष्पोरु | 15 | 13 | a |
| प्रत्यगृह्णन्समुत्थाय | 18 | 25 | c | प्रविवेश महाबिलम् | 23 | 12 | d |
| पत्यग्दृशे भगवते बृहते नमस्ते | 3 | 17 | d | प्रविश्य तोयंगिरि मुज्जहार | 7 | 8 | d |
| प्रत्यपद्यत कामेन | 12 | 31 | c | प्रविष्ट मात्मनि हरेः | 17 | 23 | d |
| प्रत्यषेधन्नुदायुधाः | 21 | 15 | d | प्रविष्टस्सोममपिबत् | 9 | 24 | c |
| प्रत्याख्याता प्रतिश्रुत्य | 19 | 3 | c | प्रविष्टं वीक्ष्य भृगवः | 18 | 25 | a |
| प्रत्याचक्षे कथं द्विजम् | 20 | 3 | b | प्रवेक्ष्यामि परान्दृशः | 19 | 9 | d |
| प्रत्यानीय त्रिविष्टपम् | 23 | 4 | b | प्रसन्नचारुसर्वाङ्गीम् | 6 | 4 | c |
| प्रत्यापन्नेन्द्रियस्मृतिः | 11 | 48 | b | प्रसीदतां नस्समहाविभूतिः | 5 | 33 | d |
| प्रत्याहाऽविक्लबं वचः | 22 | 1 | d | प्रसीदतां नस्समहाविभूतिः | 5 | 34 | d |
| प्रत्याहृत यशश्श्रियः | 17 | 15 | b | प्रसीदतां नस्समहाविभूतिः | 5 | 35 | d |
| प्रत्युत्थानेन वा क्वचित् | 16 | 6 | d | प्रसीदतां नस्समहाविभूतिः | 5 | 36 | d |
| प्रदक्षिणीकृत्य कृतप्रणामः | 15 | 7 | c | प्रसीदतां नस्समहाविभूतिः | 5 | 37 | d |
| प्रधान पुरुषाय च | 16 | 30 | b | प्रसीदतां नस्समहाविभूतिः | 5 | 38 | d |
| प्रधमाय जलजोत्तमम् | 4 | 26 | b | प्रसीदतां नस्समहाविभूतिः | 5 | 39 | d |
| प्रपद्य ईशं प्रतिबोधनाय | 24 | 53 | b | प्रसीदतां नस्समहाविभूतिः | 5 | 40 | d |
| प्रपद्यते येन जनो निजं पदम् | 24 | 51 | d | प्रसीदतां नस्समहाविभूतिः | 5 | 41 | d |
| प्रपद्येरन्ममाऽऽत्मजाः | 16 | 17 | b | प्रसीदतां नस्समहाविभूतिः | 5 | 42 | d |
| प्रपन्नपालाय दुरन्तशक्तये | 3 | 28 | c | प्रसीदतां नस्समहाविभूतिः | 5 | 43 | d |
| प्रपन्नभक्तार्थविधौ समाहितः | 23 | 2 | b | प्रसीदताम्ब्रह्म महाविभूतिः | 5 | 32 | d |
| प्रपन्नानां दिदृक्षूणाम् | 5 | 45 | c | प्रसून वर्षैर्ववृषुर्मुदान्विताः | 20 | 19 | d |
| प्रपन्नार्तिहरक्रुरुम् | 7 | 22 | d | प्रस्कन्नं पिबतः पाणेः | 7 | 46 | a |
| प्रभज्यमानामिवमध्यतश्चलत् | 12 | 19 | c | प्रस्तारिणा द्वीप इवाऽऽपरोमहान् | 7 | 9 | d |
| प्रभावज्ञान्वमोदत | 7 | 41 | d | प्रहस्य भाव गम्भीरम् | 12 | 14 | c |
| प्रभुं प्रपद्येखिलधर्म भावनम् | 1 | 16 | d | प्रहस्य रुचिरापाङ्गैः | 9 | 8 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्रहस्याऽनुचराविष्णोः | 21 | 15 | c |
| प्रहेतिर्हेतिरिल्वलः | 10 | 20 | b |
| प्रह्लाद आविष्कृत साधुवादः | 22 | 8 | b |
| प्रह्लाद इदमब्रवीत् | 23 | 5 | d |
| प्रह्लाद उद्भाति यथोडुपः खे | 19 | 4 | d |
| प्रह्लादमामन्त्र्य नमश्चकार | 15 | 7 | d |
| प्रह्लादस्य कृताञ्जलेः | 22 | 18 | b |
| प्रह्लादो बलिना सह | 23 | 11 | b |
| प्रह्लादो भगवत्प्रियः | 22 | 12 | b |
| प्राकारेणाऽग्नि वर्णेन | 15 | 14 | c |
| प्राङ्कूलेष्वभिभूषिताः | 9 | 15 | d |
| प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितुम् | 3 | 1 | d |
| प्राग्युखेषूपविष्टेषु | 9 | 16 | a |
| प्राञ्जलिः प्रणतोपेन्द्रम् | 22 | 19 | c |
| प्राणस्य देही विवशोयदृच्छया | 2 | 31 | b |
| प्राणादभूद्यस्य चराचराणाम् | 5 | 37 | a |
| प्राणाय जगदात्मने | 16 | 33 | b |
| प्राणास्सहो बलमोजश्च वायुः | 5 | 37 | b |
| प्राणेन्द्रिय द्रव्य गुणस्वभावः | 7 | 25 | b |
| प्राणेन्द्रियात्मासुशरीरकेतनम् | 5 | 38 | c |
| प्राणेषु गात्रे स्थिरजङ्गमानि | 20 | 29 | c |
| प्राणैः स्वैः प्राणिनः पान्ति | 7 | 39 | a |
| प्रादुरासीन्महार्नवे | 24 | 44 | b |
| प्रादुर्बभूवामृतभूरदित्याम् | 18 | 1 | b |
| प्राद्रवञ्जातमन्यवः | 21 | 14 | d |
| प्राद्रवत्सापृथुश्रोणी | 12 | 30 | c |
| प्राप्तो भगवतो रूपम् | 4 | 6 | c |
| प्राप्यत्रिभुवनञ्चेन्द्रः | 23 | 25 | a |
| प्रायोऽधुनातेऽसुरयूथनाथाः | 17 | 16 | a |
| प्रायोऽनीहां प्रपद्यते | 1 | 14 | d |
| प्रायोपविष्टेन कथासुचोदितः | 1 | 33 | b |
| प्रावृट्सूर्यमिवाम्बुदाः | 11 | 24 | d |
| प्राहिणोत्कुल्लिशं तस्मा | 11 | 12 | a |
| प्राहिणोद्देव राजाय | 11 | 30 | e |
| प्राह्लादिः कितवो यथा | 20 | 3 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्रांशुं पिशङ्गाम्बरमञ्जनत्त्विषम् | 22 | 13 | c |
| प्रियव्रतसुतोमनुः | 1 | 23 | b |
| प्रीणयेत्समुपागतान् | 10 | 55 | d |
| प्रीताश्चाप्सरसोऽनृत्यन् | 18 | 8 | a |
| प्रीतास्तेऽमरदानवाः | 8 | 1 | b |
| प्रीतेन सुतले पुनः | 13 | 14 | b |
| प्रीते हरौ भगवति | 7 | 40 | c |
| प्रीत्याऽऽचष्टाऽथभारत ! | 12 | 42 | d |
| प्रीत्यामत्स्य वपुर्धरम् | 24 | 15 | b |
| प्रीत्या शनैर्गद्गदयागिरा हरिम् | 17 | 7 | a |
| प्रीत्येऽहं स चराचरः | 7 | 40 | d |
| प्रेक्षणीयोत्पलश्यामम् | 8 | 42 | a |
| प्रेषिताऽसिशरीरिणाम् | 9 | 5 | b |
| प्रोक्तं ब्रह्मसनातनम् | 24 | 56 | d |
| प्रोक्तान्येभिर्मतः कल्पः | 13 | 36 | c |
| प्रोद्विग्न तारायतलोल लोचनम् | 12 | 20 | b |
| प्रेषिते मयिकर्हिचित् | 16 | 8 | d |
| **फ** | | | |
| फलभागेन वासुकिम् | 7 | 1 | b |
| फल्गव्या च कलयाकृताः | 3 | 22 | d |
| फल्गुनस्याऽमले पक्षे | 16 | 25 | a |
| फेरु राज गृहोपमाः | 16 | 7 | d |
| **ब** | | | |
| बदर्यक्षाभयामलैः | 2 | 13 | d |
| बद्धवैरेषु भूतेषु | 7 | 39 | c |
| बद्धश्च वारुणैः पाशैः | 22 | 7 | c |
| बद्धं वीक्ष्य पतिं साध्वी | 22 | 19 | a |
| बद्धाञ्जलिर्बाष्पकलकुलेक्षणः | 23 | 1 | c |
| बद्धाञ्जलीन्संवृतसर्वकारकान् | 6 | 16 | d |
| बन्धनञ्चाऽप्यनागसः | 15 | 2 | d |
| बबन्धवारुणैः पाशैः | 21 | 26 | c |
| बभाष ईषत्स्मितशोभयागिरा | 9 | 12 | b |
| बभाषेऽवाङ्मुखी नृप ! | 22 | 19 | d |
| बभूवगरुडध्वजः | 6 | 36 | d |
| बभूव तूष्णींपुलकाकुलाकृतिः | 17 | 6 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| बभूव तेनैव स वामनो वटुः | 18 | 12 | c | बिभ्रतीं वनमालिनीम् | 6 | 6 | d |
| बभूवुर्दैत्यदानवाः | 8 | 29 | d | बिभ्रत्तदावर्तनमादिकच्छपः | 7 | 10 | c |
| बभौ दिशः खं पृथिवीचरोचयन् | 11 | 26 | c | बिभ्रत्स्वकेशभारेण | 8 | 44 | a |
| बलभित्कुपितो भृशम् | 10 | 24 | d | बिभ्रत्स्वां पौरुषीं तनुम् | 12 | 37 | d |
| बलयेदास्यतीश्वरः | 13 | 17 | d | बिभ्रद्वलयभूषितः | 8 | 34 | b |
| बलान्महेन्द्रस्त्रिदशाः प्रसादात् | 5 | 39 | a | बिल्वैः कपित्थैर्जम्बीरैः | 2 | 14 | a |
| बलिरिन्द्रो भविष्यति | 13 | 12 | d | बीजाव्युच्चावचानि च | 24 | 34 | b |
| बलिरेवं गृहपतिः | 20 | 1 | a | बुद्धावजं देवगणानृषींश्च | 20 | 29 | b |
| बलिर्भगवताऽसुर | 22 | 1 | b | बुद्धिर्मनः खानि शरीरसर्गाः | 3 | 23 | d |
| बलिर्महेन्द्रं दशभिः | 10 | 41 | a | बभुजे च श्रियं स्वृद्धाम् | 15 | 36 | a |
| बलिर्मुक्तस्सहाऽनुगैः | 23 | 3 | d | बृहत्यां सम्भविष्यति | 13 | 32 | d |
| बलिर्वैरोचनः पुरीम् | 15 | 33 | b | बृहद्भानुस्तदा हरिः | 13 | 35 | b |
| बलिविन्ध्यादयस्तस्य | 5 | 2 | c | बृहस्पति ब्रह्मसूत्रम् | 18 | 14 | c |
| बलिश्चोशनस स्पृष्टः | 11 | 48 | a | बृहस्पति स्तूशनसा | 10 | 33 | c |
| बलिंभृगूणामुपकल्पितैस्ततः | 18 | 20 | b | ब्रह्मचर्यमधस्स्वप्नम् | 16 | 48 | c |
| बलिं विपन्नमादाय हि | 11 | 46 | c | ब्रह्मचार्यथ तद्रात्र्याम् | 16 | 44 | c |
| बलिं सौत्येऽहनिक्रतौ | 21 | 26 | d | ब्रह्मणाचाऽनुमोदितः | 23 | 24 | d |
| बलेन सचिवैर्बुद्ध्या | 21 | 22 | a | ब्रह्मणा प्रेषितो देवान् | 11 | 43 | a |
| बलेरनुचरासुराः | 21 | 13 | d | ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये | 3 | 9 | b |
| बलेर्नः पूर्ववैरिणः | 15 | 25 | b | ब्रह्मणोमे शिवस्य च | 4 | 18 | b |
| बलेर्विप्रर्षिभिस्सह | 23 | 18 | d | ब्रह्मण्यस्य दयावतः | 21 | 12 | d |
| बलेः पदत्रयं भूमेः | 15 | 1 | a | ब्रह्मतेजोऽप्यकारणम् | 11 | 36 | d |
| बलेः परमुद्यमम् | 15 | 24 | b | ब्रह्मदृष्टं समं भवेत् | 23 | 14 | d |
| बस्तैरेके कृष्णसारैः | 10 | 11 | c | ब्रह्मन् किं करवाम ते | 18 | 29 | b |
| बहवोलेभिरे सिद्धिम् | 22 | 6 | c | ब्रह्मन्यमनुगृह्णामि | 22 | 24 | a |
| बहिस्समन्ताद्रुरुधे पृतन्यया | 15 | 23 | b | ब्रह्मन् सन्तनुशिष्यस्य | 23 | 14 | a |
| बहुमानेन चाऽबद्धाः | 9 | 23 | c | ब्रह्मपुत्रैररिन्दम | 10 | 32 | d |
| बहुशो निर्जितामराः | 10 | 23 | d | ब्रह्मरुद्राङ्गिरोमुख्याः | 8 | 27 | a |
| बहुशोऽनुचरा हरेः | 21 | 23 | b | ब्रह्मर्षि गणसङ्कुष्टाम् | 18 | 18 | c |
| बहूनमरदानवान् | 6 | 35 | b | ब्रह्मर्षीणां तपस्साक्षात् | 18 | 29 | c |
| बाढमित्यमलप्रज्ञः | 23 | 11 | c | ब्रह्मविष्णुशिवाभिधाम् | 7 | 23 | d |
| बाणज्येष्ठैः शतेन च | 10 | 30 | d | ब्रह्माणं नारदमृषिम् | 4 | 20 | c |
| बादारायण एतत्ते | 1 | 31 | a | ब्रह्माणं सभवं ततः | 23 | 3 | b |
| बाहुभ्यां परिषस्वजे | 12 | 28 | d | ब्रह्मादयश्शरणदश्रुवतेविभूतिम् | 23 | 7 | b |
| बिभेमि नाऽहं निरयात्पदच्युतः | 22 | 3 | a | ब्रह्मादयः किमुतसंस्तवने वयन्तु | 7 | 34 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| ब्रह्मादयो लोकनाथा: | 21 | 5 | a |
| ब्रह्मादयोविविधलिङ्ग भिदाभिमाना: | 3 | 30 | b |
| ब्रह्मशर्व: कुमारश्च | 23 | 26 | a |
| ब्रह्मेशानपुरोगमा: | 4 | 1 | b |
| ब्राह्मणांश्चाऽपि भोजयेत् | 16 | 46 | d |
| ब्राह्मणै: पूर्वजै: शूरै: | 19 | 15 | c |
| ब्राह्मणोऽग्निश्च वै विष्णो: | 16 | 9 | c |
| ब्राह्मो नैमित्तिको लय: | 24 | 7 | b |
| ब्रूहिकारणमेतस्य | 15 | 27 | a |
| **भ** | | | |
| भक्तप्रियो यदसिकल्पतरुस्वभाव: | 23 | 8 | d |
| भक्तानां न: प्रपन्नानाम् | 24 | 28 | c |
| भक्त्या परमयाऽन्वित: | 16 | 25 | d |
| भक्त्युद्रेलोगद्गदयागिराऽब्रवीत् | 23 | 1 | d |
| भगवन्च्छ्रोतुमिच्छाम: | 24 | 1 | a |
| भगवत्यखिलात्मनि | 17 | 3 | b |
| भगवन्तं जनार्दनम् | 16 | 20 | b |
| भगवन्तं नतोऽस्म्यहम् | 3 | 29 | d |
| भगवन्तं सनातनम् | 17 | 24 | b |
| भगवन्नुद्यमो भूयो | 15 | 25 | a |
| भगवानादि पुरुष: | 17 | 4 | b |
| भगवानादिपुरुष: | 24 | 54 | b |
| भगवानाह वामन: | 21 | 28 | b |
| भगवान्नीयते हरि: | 1 | 32 | d |
| भगवान् नृप! सानुग: | 4 | 11 | b |
| भगवान् परितुष्टस्ते | 16 | 62 | c |
| भगवान् पाकशासन: | 11 | 2 | b |
| भगवान्पुत्रताङ्गत: | 1 | 5 | d |
| भगवान्पुरुषोत्तम: | 1 | 25 | b |
| भगवान्पुरुषोत्तम: | 6 | 26 | b |
| भगवान्पुष्करेक्षण: | 17 | 11 | b |
| भगवान्बादरायण: | 13 | 15 | d |
| भगवान्बादरायणि: | 5 | 14 | b |
| भगवान्बादरायणि: | 24 | 4 | b |
| भगवान्भूतभावन: | 10 | 53 | d |
| भगवान्भृत्यकामकृत् | 8 | 37 | d |
| भगवान्मेप्रसीदताम् | 16 | 37 | d |
| भगवान् लोकभावन: | 9 | 27 | b |
| भगवान्विश्वभावन: | 1 | 3 | b |
| भगवान्विष्णुरव्यय: | 19 | 30 | b |
| भगवान् शूलपाणिना | 12 | 14 | b |
| भगवान्हरिरीश्वर: | 24 | 9 | d |
| भगवांस्तत्करोति हि | 5 | 46 | d |
| भग्न बाहूरुकन्धरान् | 6 | 36 | b |
| भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति | 3 | 19 | b |
| भजेत वर्णं निजमेषसोऽव्यय: | 24 | 48 | c |
| भद्रकाली तरस्विनी | 10 | 31 | d |
| भद्रं द्विजगवां ब्रह्मन्! | 16 | 11 | a |
| भद्रे! लोकेऽधुनाऽगवाम् | 16 | 4 | b |
| भर्तुश्शुश्रूषणञ्च न: | 21 | 13 | b |
| भव आस्ते सहो मया | 12 | 17 | d |
| भवत: कुलनन्दन! | 23 | 28 | b |
| भवता भूरिकर्मणा | 22 | 7 | b |
| भवत्या लक्षणैरहम् | 16 | 10 | d |
| भवद्भिश्मृतं प्राप्तम् | 11 | 44 | a |
| भवद्भिर्निर्जिताह्येते | 21 | 23 | a |
| भवद्विधो भवान्वाऽपि | 15 | 29 | a |
| भवद्विपक्षेण विचित्र वैशसम् | 22 | 8 | c |
| भवन्त आम्नायविधानकोविदा: | 20 | 11 | b |
| भवश्च जग्मतु: स्वं स्वम् | 6 | 27 | c |
| भवस्य देहस्य किलानुपश्यत: | 12 | 23 | d |
| भवं प्रह्लादमेव च | 4 | 20 | d |
| भव: प्रमथितेन्द्रिय: | 12 | 27 | b |
| भवानाचरितान्धर्मान् | 19 | 15 | a |
| भवानीं भगवान्भव: | 12 | 42 | b |
| भवानीं विश्वभावन: | 7 | 41 | b |
| भवान्या अपि पश्यन्त्या: | 12 | 25 | c |
| भवायदेव्याभिमतं मुनीनाम् | 7 | 20 | b |
| भविता येन संराद्धम् | 13 | 20 | c |
| भवितारुद्रसावर्णि: | 13 | 27 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| भवितेन्द्रो महाश्रयः | 22 | 31 | d | भूतेहितञ्जगतोभवबन्धमोक्षौ | 12 | 11 | b |
| भविष्यन्ति स्वयोगतः | 13 | 16 | b | भूत्वेश्वरः कृपणवत् | 15 | 1 | c |
| भविष्यन्त्यृषयस्ततः | 13 | 9 | d | भूमेर्मह्यं त्वयाऽसुर | 21 | 29 | b |
| भविष्यन्त्यृषयस्तदा | 13 | 31 | d | भूयात्सईशः परमोगुरोर्गुरुः | 24 | 48 | d |
| भविष्याण्यपि वक्ष्यामि | 13 | 7 | c | भूयो याचितुमर्हति | 19 | 20 | b |
| भारशाखामरद्रुमैः | 15 | 13 | b | भूर्लोकः खं दिशस्तनोः | 21 | 31 | b |
| भारेण कनकाचलः | 6 | 35 | d | भूषणानि विचित्राणि | 8 | 16 | a |
| भारेण गां सन्नमयन्पदेपदे | 18 | 20 | d | भूः खं दिशो द्यौर्विवराः पयोधयः | 20 | 21 | c |
| भार्या संवरणस्य या | 13 | 10 | b | भृगवश्शिष्यवत्सलाः | 15 | 34 | b |
| भिक्षवे सर्वमोङ्कुर्वन् | 19 | 41 | e | भृगुदत्तं महारथः | 15 | 8 | b |
| भिक्षवो येच लिप्सवः | 16 | 12 | b | भृग्वाद्या मुनयो नृप! | 23 | 26 | b |
| भिक्षां भगवती साक्षात् | 18 | 17 | c | भृशं मुमुदिरे नृप! | 23 | 23 | d |
| भिक्षित्वा वामनो हरिः | 23 | 19 | b | भृशंविह्वलितो गजः | 11 | 15 | b |
| भिद्यमानोप्यभिन्नात्मा | 22 | 1 | c | भेरीऽमरुणां महान् | 10 | 7 | b |
| भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भयात् | 2 | 23 | c | भेरीशब्दैर्मनोजवः | 21 | 8 | b |
| भीतः स्वपक्षपणस्य सत्तमः | 22 | 10 | d | भोगबुद्धावचांस्तथा | 16 | 49 | b |
| भीतामस्मिन् सरिज्जले | 24 | 14 | f | भोजयेत्तान् गुणवता | 16 | 54 | a |
| भीताः प्रजादुद्दुवुरङ्गसेश्वरः | 7 | 19 | c | भौमान्रेणून् स विममे | 5 | 6 | c |
| भुक्तवत्स्वथ सर्वेषु | 16 | 56 | a | भ्रममाणोऽम्भसि धृत | 5 | 10 | c |
| भुञ्जानः पाति लोकांस्त्रीन् | 14 | 7 | c | भ्राजन्ते रूपवन्नार्योहि | 15 | 17 | c |
| भुञ्जीत तैरनुज्ञातः | 16 | 44 | a | भ्रातरः कृतपौरुषाः | 9 | 7 | b |
| भुञ्जीत सह बन्धुभिः | 16 | 56 | d | भ्रातृहामे गतोन्नूनम् | 19 | 12 | c |
| भुवनत्रय विश्रुतम् | 15 | 35 | b | भ्रुवोर्निषेधञ्च विधिञ्च पक्ष्मसु | 20 | 27 | b |
| भुव्यन्नमम्बूद्यमनेन वृत्तिम् | 6 | 12 | b | भ्रुवोर्यमः पक्ष्मभवस्तु कालः | 5 | 42 | c |
| भुशुण्डिभिक्षुक्रगदर्दिपट्टिशैः | 10 | 36 | a | भ्रूविलासावलोकनैः | 8 | 46 | b |
| भूतद्रुहः क्षपयतः स्तुतयेन तत्ते | 7 | 32 | b | **म** | | | |
| भूतद्रुहो भूतगणांश्च | 1 | 26 | c | मग्नाव्यसनसागरे | 16 | 16 | b |
| भूतधर्म द्रुहश्शटाः | 15 | 22 | b | मघवान्सुसमाहित | 11 | 39 | b |
| भूतभावन भूतेश! | 22 | 21 | a | मघवांस्तमभिप्रेत्य | 15 | 24 | a |
| भूतं लोक विमोहनम् | 11 | 33 | d | मङ्गलानां व्रतानाञ्च | 23 | 22 | c |
| भूतात्मन् भूत भावन! | 7 | 21 | b | मच्छासनातिगो यस्त्वम् | 20 | 15 | c |
| भूतात्मभूतास्सुहृदस्समे गतिः | 3 | 7 | d | मत्तषट्पदनिर्घुष्टम् | 2 | 15 | c |
| भूतानां पतये नमः | 16 | 32 | d | मत्वा जातिनृशंसानाम् | 9 | 19 | c |
| भूतानां भूतिहेतवः | 24 | 29 | b | मत्स्यकच्छपसञ्चार | 2 | 17 | a |
| भूतेन्द्रियार्थाशयजीवयुक्तम् | 20 | 22 | d | मत्स्यकूर्मवराहाद्यैः | 4 | 21 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| मत्स्यरूपीमहाम्भोधौ | 24 | 54 | c |
| मत्स्यरूपेण मोहयन् | 24 | 25 | d |
| मथितः क्षीरसागरः | 5 | 11 | b |
| मथितं तेऽमृतार्थिनः | 7 | 2 | b |
| मद्गन्मद्गाप्रतिगिरिवाऽशोभता- | 7 | 17 | d |
| मथ्यन्तीव मनांसिनः | 9 | 3 | d |
| मथ्यमानात्तथासिन्धोः | 7 | 16 | a |
| मथ्यमानेऽर्णवे सोऽद्रिः | 7 | 6 | a |
| मदीयं महिमानञ्च | 24 | 38 | a |
| मद्दर्शनमहाह्लाद | 23 | 10 | c |
| मधुनामत्तषट्पदाम् | 8 | 15 | d |
| मधुव्रतव्रातविघुष्टया स्वया | 18 | 3 | a |
| मधुव्रतस्रग्वनमालया वृतः | 20 | 33 | a |
| मधूकैस्सालतालैश्च | 2 | 12 | a |
| मध्यन्दिनगतेऽहनि | 18 | 6 | b |
| मनवः पितरोऽग्रयः | 18 | 8 | d |
| मनवो मनुपुत्रश्च | 14 | 2 | a |
| मनवोऽस्मिन्व्यतीताष्ट | 1 | 4 | a |
| मनवो हरिणोदिताः | 14 | 5 | b |
| मनश्चैकाग्रया बुद्ध्या | 17 | 3 | a |
| मनसश्चेतसामपि | 3 | 10 | d |
| मनसा बुद्धिसारथिः | 17 | 2 | d |
| मनस्विनं सुसम्पन्नम् | 11 | 3 | c |
| मनस्विनः कारुणिकस्यशोभनम् | 20 | 10 | a |
| मनस्विनाऽनेन कृतं सुदुष्करम् | 20 | 20 | c |
| मनुत्वे हरिणाऽर्पितः | 24 | 11 | d |
| मनुरग्रेस्सुतोऽभवत् | 1 | 19 | b |
| मनुर्नाम्नाय तामसः | 1 | 27 | b |
| मनुर्वरुणसम्भवः | 13 | 18 | b |
| मनुर्वा इन्द्रसावर्णिः | 13 | 33 | a |
| मनुर्विवस्वतः पुत्रः | 13 | 1 | a |
| मनुर्वै धर्मसावर्णिः | 13 | 24 | a |
| मनुस्तामससोदरः | 5 | 2 | b |
| मनुष्यतिर्यग्द्रुमधर्मजातयः | 5 | 21 | b |
| मनुस्त्रयोदशो भाव्यः | 13 | 30 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| मनूनन्यान्वदस्वनः | 1 | 1 | d |
| मनोऽग्रयानं वधसानिरुक्तम् | 5 | 26 | c |
| मनोमयं पञ्चदशारमाशु | 5 | 28 | b |
| मनोरमां स्वप्रभयाजितप्रभान् | 15 | 21 | d |
| मनोर्वैवस्वतस्यैते | 13 | 3 | c |
| मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रम् | 23 | 16 | a |
| मन्त्रयन्तो विनिश्चयम् | 5 | 17 | d |
| मन्थानं मन्दरं कृत्वा | 6 | 22 | c |
| मन्दारैः पारिजातैश्च | 2 | 10 | c |
| मन्माययामुषितचेतस ईश !दैत्य | 12 | 10 | c |
| मन्यमानो महामनाः | 15 | 36 | d |
| मन्युललाटेऽधर एव लोभम् | 20 | 27 | d |
| मन्ये त्वाऽऽर्य वपुर्धरम् | 18 | 29 | d |
| मन्ये महानस्य कृतो ह्यनुग्रहः | 22 | 16 | c |
| मन्योर्गिरीशोधिषणाद्विरिञ्चः | 5 | 39 | b |
| मन्वन्तरेषु भगवन् | 14 | 1 | a |
| मन्वादयो जगद्यात्राम् | 14 | 3 | c |
| ममन्थुरब्धिं तरसा मदोत्कटाः | 7 | 13 | c |
| ममन्थुस्तरसासिन्धुम् | 8 | 1 | c |
| ममन्थुः परमायत्ताः | 7 | 5 | c |
| ममाऽर्चनं नाऽर्हति गन्तुमन्यथा | 17 | 17 | c |
| मयश्च त्रिपुराधिपः | 10 | 22 | b |
| मया ते समुदाहृतम् | 16 | 58 | d |
| मयान्विष्टमिदं जगत् | 19 | 12 | b |
| मया मत्तेऽसुरेऽल्पके | 11 | 36 | b |
| मया समेताकालेन | 12 | 40 | c |
| मयाऽस्मै यद्वरो दत्तः | 11 | 38 | a |
| मरीचिमिश्र ऋषयो बृहद्व्रताः | 21 | 1 | c |
| मरुतोनिवातकवचैः | 10 | 34 | a |
| मर्त्यस्य गेहैः किमिहायुषो व्ययः | 22 | 9 | d |
| मर्त्यादयः किमुत शश्वदभद्रवृत्ताः | 12 | 10 | d |
| मर्दयन्तो महागजाः | 10 | 47 | d |
| मल्लिकाशतपत्रैश्च | 2 | 19 | a |
| महत्कौतूहलं हि नः | 15 | 2 | b |
| महर्जनाभ्यां तपसः परं गतः | 20 | 34 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| महाकारुणिकं नृप ! | 24 | 14 | b | मानिनः कामिनो लुब्धाः | 15 | 22 | c |
| महाद्रिणा क्षोभित नक्रचक्रम् | 7 | 13 | d | मायया नामरूपया | 14 | 10 | b |
| महाधनैर्वज्रदण्डैः | 10 | 13 | c | माया देवविनिर्मिता | 12 | 30 | d |
| महानुपगतोऽनयः | 19 | 31 | d | मायामत्स्यविडम्बनम् | 21 | 1 | d |
| महानुभावाय नमो नमस्ते | 6 | 8 | d | मायामत्स्यस्य शार्ङ्गिणः | 24 | 59 | b |
| महानुभावोऽखिलसाधुसम्मतः | 23 | 1 | b | मायामाणवकं हरिम् | 18 | 24 | d |
| महापुरुषचेष्टितम् | 7 | 3 | b | मायामाणवको हरिः | 19 | 32 | d |
| महापुरुषमीश्वरम् | 17 | 2 | b | मायायोषिद्वपुर्हरिः | 9 | 8 | b |
| महाभिषेकेण महानुभावाः | 15 | 4 | d | मायाविनेशुर्महिना महीयसा | 10 | 55 | b |
| महाभुजैस्साभरणैस्सहायुधैः | 10 | 39 | c | मायुध्यत निवर्तध्वम् | 21 | 19 | c |
| महामणिकिरीटेन | 6 | 5 | a | मायेशान्नोजिगीषसि | 11 | 4 | b |
| महामीनोऽन्ववर्धत | 24 | 21 | d | मार्गआवाति मारुतः | 15 | 18 | d |
| महिमाक्षिप्तचेतसः | 8 | 9 | d | मार्गे यान्ति सुरस्त्रियः | 15 | 19 | d |
| महिम्ना सात्त्वतां पतेः | 5 | 13 | b | मालामुत्फुल्लमल्लिकाम् | 8 | 44 | b |
| महिषेण विभावसुः | 10 | 32 | b | मालीसुमाल्यतिबलौ युधिपेततुर्यत् | 10 | 57 | a |
| महीं महीध्रान्पुरुषस्य जङ्घयोः | 20 | 23 | b | माल्यैश्चाऽवाकिरन्विभुम् | 11 | 40 | d |
| महीं सर्वां हतां दृष्ट्वा | 21 | 9 | a | मां बध्नीयादनागसम् | 20 | 12 | d |
| महेन्द्रवरुणादयः | 5 | 17 | b | मां वचोभिस्समाराध्य | 19 | 19 | a |
| महेन्द्रः श्लक्ष्णया वाचा | 6 | 30 | a | मित्रो राजन्प्रहेतिना | 10 | 28 | d |
| महेन्द्रे महदद्भुतम् | 8 | 10 | b | मिथः कलिरभूत्तेषम् | 8 | 38 | a |
| महोत्सवमघोषयत् | 21 | 8 | d | मुक्तसङ्गं मनोरमम् | 18 | 27 | d |
| महोरगश्चाऽपि भयाद्रवन्ति | 2 | 21 | c | मुक्तात्मभिस्स्वहृदये परिभाविताय | 3 | 18 | c |
| महोरगास्समुत्पेतुः | 10 | 47 | a | मुक्ताय भूरिकरुणाय नमोऽलयाय | 3 | 17 | b |
| महोल्बणं हालहलाह्वमग्रतः | 7 | 18 | b | मुक्ताविताननैर्मणिहेमकेतुभिः | 15 | 20 | a |
| माखिद्यतामृतार्थं वः | 8 | 37 | e | मुक्तो देवलशापेन | 4 | 3 | c |
| मागधाद्या स्तपस्विनः | 13 | 34 | d | मुखतोनिस्सृतान्वेदान् | 24 | 8 | c |
| मागृधः कस्यस्विद्धनम् | 1 | 10 | d | मुखानि पञ्चोपनिषस्तवेश | 7 | 29 | a |
| माञ्च भावयती पत्यौ | 17 | 19 | c | मुखामोदानुरक्तालिः | 8 | 43 | c |
| मात्स्यरूपेण यत्कृतम् | 24 | 4 | d | मुख्योह्यात्मागतिर्विभो ! | 24 | 28 | d |
| मात्स्यं लोकजुगुप्सितम् | 24 | 2 | b | मुच्यन्ते तेंऽहसोऽखिलात् | 4 | 24 | d |
| मादृक्प्रपन्नपशुपाशविमोक्षणाय | 3 | 17 | a | मुद्धैनं हृतसर्वस्वम् | 22 | 21 | c |
| माद्यन्मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टम् | 8 | 24 | b | मुदा मुनीनी सदसिस्म शृण्वताम् | 1 | 33 | d |
| माधवीजालकादिभिः | 2 | 19 | b | मुनयश्च महीपते ! | 14 | 2 | b |
| मानयन्तो मुनेर्वचः | 11 | 45 | b | मुनयस्तत्र वै राजन् | 5 | 8 | c |
| मानस्तम्भनिमित्तानाम् | 22 | 27 | a | मुनयस्समुपासते | 12 | 6 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| मुनयो ये धृतव्रताः | 1 | 22 | b |
| मुमुचुः कुसुमासारान् | 4 | 1 | c |
| मुमुदे गतसाध्वसः | 23 | 25 | d |
| मुरजानकगोमुखान् | 8 | 13 | d |
| मुहूर्तेऽभिजिति प्रभुः | 18 | 5 | b |
| मूढवर्तिष्यसे कथम् | 19 | 33 | d |
| मूर्तिमत्यस्सरिच्छ्रेष्ठाः | 8 | 10 | c |
| मूर्तिमद्भिरुपासिताम् | 6 | 7 | b |
| मूर्ध्निभ्राजद्विलुलितकचः स्रग्धरो- | 7 | 17 | b |
| मूर्ध्न्याघ्रायाय कृताञ्जलिः | 23 | 11 | d |
| मूलप्रकृतये नमः | 3 | 13 | d |
| मृगान् केसरिणो यथा | 11 | 42 | d |
| मृडनाय हि लोकस्य | 7 | 35 | c |
| मृत्युग्रस्तोऽमरो भवेत् | 6 | 21 | d |
| मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि | 2 | 33 | d |
| मृत्युः प्राणभृतामिव | 19 | 9 | b |
| मृत्युर्वैनाऽर्द्रशुक्रयोः | 11 | 38 | b |
| मृत्योश्छन्दानुवर्तिनः | 16 | 4 | d |
| मृदङ्गपणवानकाः | 18 | 7 | b |
| मृदङ्गशङ्खानकदुन्दुभिस्वनैः | 15 | 21 | a |
| मृषाभवेत् सर्वसुहृत्प्रियात्मनः | 24 | 30 | b |
| मेखलां कश्यपोऽददौ | 18 | 14 | d |
| मेघश्यामकनकपरिधिः कर्णविद्यो- | 7 | 17 | a |
| मेघामृदङ्गपणव | 8 | 13 | a |
| मेध्याय हविषे नृप! | 8 | 2 | d |
| मेनेऽङ्गकण्डूयनमप्रमेयः | 7 | 10 | d |
| मेरो मूर्धनि सर्वशः | 5 | 18 | b |
| मोदमानः स्वपौत्रेण | 23 | 9 | c |
| मोदमाना महर्षयः | 18 | 13 | b |
| मोह एव हि कारणम् | 16 | 19 | d |
| मोहयित्वा सुरगणान् | 12 | 1 | c |
| मोहितेष्वात्ममायया | 7 | 39 | d |
| मोहितोऽस्यङ्गमायया | 12 | 38 | d |
| मौञ्ज्या मेखलया वीतम् | 18 | 24 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **य** | | | |
| य इदं देवदेवस्य | 23 | 30 | a |
| यक्षराट्पात्रिकामदात् | 18 | 17 | b |
| यज्ञकार कुरूद्वह | 1 | 6 | d |
| यज्ञकार गले नीलम् | 7 | 43 | c |
| यज्ञक्षुरासीत्तरणिर्देवयानम् | 5 | 36 | a |
| यज्ञ नेत्यनृतं वचः | 19 | 42 | b |
| यच्छक्याऽहन्धिया हतम् | 3 | 29 | b |
| यजन्ति यज्ञक्रतुभिः यमादृताः | 20 | 11 | a |
| यजमानः प्रमुदितः | 18 | 26 | a |
| यजमानः स्वयं तस्य | 20 | 18 | a |
| यजेत सुसमाहितः | 10 | 52 | b |
| यज्ञच्छिद्रं समाधत्त | 23 | 18 | c |
| यज्ञभाग भुजो देवाः | 14 | 6 | c |
| यज्ञस्य देवयानस्य | 8 | 2 | c |
| यज्ञस्सर्वगतो हरिः | 1 | 18 | b |
| यज्ञादयो याः कथिताः | 14 | 3 | a |
| यज्ञेशयज्ञपुरुषाऽच्युततीर्थपाद | 17 | 8 | a |
| यज्ञेशो यज्ञपुरुषः | 23 | 15 | c |
| यज्ञेश्वरस्य पूर्णस्य | 15 | 2 | c |
| यत एतच्चिदात्मकम् | 3 | 2 | b |
| यत एतत्समुद्यमः | 15 | 27 | d |
| यतश्शत्रोर्विपर्ययः | 15 | 30 | d |
| यतो जातो हिरण्याक्षः | 19 | 5 | a |
| यतो धर्मस्सनातनः | 14 | 4 | d |
| यतो नावर्तते पुनान् | 19 | 12 | d |
| यतो यतोऽहं तत्राऽऽसौ | 19 | 9 | a |
| यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत् | 1 | 10 | b |
| यत्तत्कर्मसु वैषम्यम् | 23 | 14 | c |
| यत्तच्छिवाख्यं परमात्म तत्त्वम् | 7 | 29 | c |
| यत्तद्वपुर्भाति विभूषणायुधैः | 18 | 12 | a |
| यत्तवाऽऽज्ञानुपालनम् | 23 | 17 | d |
| यत्तेऽनुकूलेश्वरविप्रगुप्ता | 17 | 16 | c |
| यत्ते योषिद्वपुर्धृतम् | 12 | 12 | d |
| यत्पादपङ्कजरजश्श्रयणान्नदैत्याः | 9 | 28 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यत्पादपद्ममकरन्दनिषेवणेन | 23 | 7 | a | यथा विप्रप्रलोभनात् | 20 | 5 | d |
| यत्पादयोरचलधी: सलिलं प्रदाय | 22 | 23 | a | यथा स्रवत्प्रस्रवणम् | 10 | 25 | c |
| यत्पूजया कामदुघान् | 16 | 9 | a | यथा हि स्कन्धशाखानाम् | 5 | 49 | a |
| यत्त्वाऽहं शरणं गता | 24 | 20 | d | यथेतरेषां पृथगात्मनां सताम् | 24 | 30 | c |
| यत्र क्वचाऽऽसन्नृषय: | 12 | 34 | c | यथोक्तो हरिणा पुरा | 24 | 45 | b |
| यत्र नित्यवयोरूपा: | 15 | 17 | a | यथोपजोषं वासांसि | 9 | 15 | a |
| यत्र मन्वन्तराण्याहु: | 14 | 11 | c | यदक्षमाहुस्तमृतं प्रपद्ये | 5 | 28 | d |
| यत्र यत्र हरेर्जन्म | 1 | 2 | a | यदनर्थमजानता | 19 | 31 | b |
| यत्र यत्रानुकीर्त्येत | 21 | 31 | c | यदर्थमददाद्रूपम् | 24 | 2 | a |
| यत्र यत्राऽपतन्मार्गे | 12 | 33 | a | यदर्थं वा यतश्चाद्रिं | 5 | 11 | c |
| यत्र यत्रोत्तमश्लोक: | 1 | 32 | c | यदर्थिकामोपनयेन दुर्गति: | 20 | 10 | b |
| यत्र योगो ह्ययोगिनाम् | 16 | 5 | d | यदर्थे भवता धृतम् | 24 | 29 | d |
| यत्र विश्वसृजां सर्ग: | 1 | 1 | c | यदा कदाचिज्जीवात्मा | 22 | 25 | a |
| यत्र सङ्गीतसन्नादै: | 2 | 6 | a | यदा चोपेक्षिता लक्ष्म्या | 8 | 29 | c |
| यत्र स्थितैधयत साधिपतीं | 8 | 25 | d | यदादुर्वाससश्शापात् | 5 | 16 | a |
| यत्राधयो व्याधयश्च | 22 | 32 | c | यदा युद्धेऽसुरैर्देवा: | 5 | 15 | a |
| यत्राऽऽमोदमुपादाय | 15 | 18 | c | यदा सुधा न जायेत | 7 | 16 | c |
| यत्राऽऽस्ते मधुसूदना: | 12 | 2 | d | यदाह ते प्रवक्ष्यामि | 16 | 24 | c |
| यत्राऽहं निवसे सुखम् | 24 | 18 | d | यदिच्छन्त्यसुरास्सुरा: | 6 | 24 | b |
| यत्रोभयं कुत्र च सोऽप्यमङ्गल: | 8 | 22 | c | यदि दैवं प्रसीदति | 21 | 24 | b |
| यत्सपत्नैर्हृतश्रीणाम् | 17 | 12 | c | यदि निर्यान्ति ते नूनम् | 16 | 7 | c |
| यत्सेवयाग्नेरिव रुद्ररोदनम् | 24 | 48 | a | यदि लभ्येत वै स्रोतसि | 16 | 26 | c |
| यत्सेवया तां विधुनोत्यसन्मतिम् | 24 | 47 | c | यदुत्तमश्लोकगुणानु वर्णनम् | 12 | 46 | c |
| यथागज: स्तब्धमति: स एव | 4 | 10 | d | यदृच्छया तत्र महायशा मुनि: | 4 | 9 | a |
| यथाऽग्निमेधस्यमृतञ्च गोषु | 6 | 12 | a | यदृच्छयेहोपसृतायमाप्नुयु: | 24 | 46 | c |
| यथा तानि पुत्रस्साधो! | 16 | 17 | a | यदृच्छयैवं व्यसनं गतो गज: | 2 | 27 | c |
| यथा नटस्याकृतिभिर्विचेष्टत: | 3 | 6 | c | यदृच्छयोपपन्नेन | 19 | 24 | a |
| यथानुकीर्तयन्त्येतत् | 4 | 15 | a | यदृच्छयोपपन्नेन | 19 | 25 | c |
| यथा बलं सोऽतिबलो विचक्रमे | 2 | 27 | d | यदृच्छालाभतुष्टस्य | 19 | 26 | a |
| यथा भगवता ब्रह्मन् | 5 | 11 | a | यदेकवर्णं तमस: परं तत् | 5 | 29 | a |
| यथामत्वादयस्त्विमे | 14 | 1 | b | यद्गजत्वेऽप्यनुस्मृति: | 4 | 12 | d |
| यथाऽमृतं सुरै: प्राप्तम् | 5 | 12 | a | यद्गन्धमात्राद्धरयो गजेन्द्रा: | 2 | 21 | a |
| यथा मे सत्यसङ्कल्प: | 16 | 22 | c | यद्दीनपरिरक्षणम् | 7 | 38 | d |
| यथाऽर्चिषोऽग्ने: सवितुर्गभस्तय: | 3 | 23 | a | यद्देवदेवो गिरिशश्चन्द्रमौलि: | 18 | 28 | c |
| यथावद्वक्तुमर्हसि | 24 | 3 | b | यद्दर्विभाव्यं प्रबुधावबाधम् | 5 | 43 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यद्भवानागतो गृहान् | 18 | 30 | d | यस्य कर्मेश्वरो भवान् | 23 | 15 | b |
| यद्यदृषित आदद्यात् | 10 | 44 | c | यस्य पीतस्य वै जन्तुः | 6 | 21 | c |
| यद्यद्धास्यति लोकेऽस्मिन् | 20 | 6 | a | यस्य प्रमाणं भृगवस्साम्पराये | 19 | 2 | c |
| यद्यद्भवान् वाञ्छति तत्प्रतीच्छ मे | 18 | 32 | a | यस्य ब्रह्मादयो देवाः | 3 | 22 | a |
| यद्यत्यसावधर्मेण | 20 | 12 | a | यस्याभवान्प्रजाध्यक्षः | 16 | 13 | c |
| यद्याभ्युपेतं क्व च साध्वसाधु वा | 9 | 12 | c | यस्यावतारांशकलाविसर्जिताः | 5 | 21 | c |
| यद्यस्यनभवेत्स्तम्भः | 22 | 26 | c | यस्याऽव्ययस्य नैतानि | 12 | 5 | c |
| यद्युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभिः | 9 | 29 | a | यस्यां जन्म विदुर्हरेः | 18 | 6 | d |
| यद्युत्तमश्लोकभवान्ममेरितम् | 22 | 2 | a | यं ऋत्विजस्ते भृगुवत्स संज्ञके | 18 | 21 | b |
| यद्योगमायाविहितान्वदन्ति | 5 | 43 | b | यं धर्मकामार्थविमुक्तिकामाः | 3 | 19 | a |
| यन्तुर्दानवसत्तमः | 11 | 17 | b | यं न पश्यति पश्यन्तम् | 1 | 11 | a |
| यन्नाभिपङ्केरुहसम्भवः स्वयम् | 21 | 3 | d | यं न मातापिता भ्राता | 22 | 4 | c |
| यन्नेत्याहाऽनृतं हि तत् | 19 | 38 | d | यं मामपृच्छस्त्वमुपेत्य योगात् | 12 | 44 | a |
| यन्नोऽसुराणामसि दुर्गपालः | 23 | 6 | c | यं विनिर्जित्य कृच्छ्रेण | 19 | 6 | a |
| यन्मदः पुरुषः स्तब्धः | 22 | 24 | c | यं हृषीकेश आदिशत् | 24 | 39 | d |
| यन्मे स्त्रीरुपया स्वैरम् | 12 | 38 | c | यःकश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात् | 2 | 33 | a |
| यमस्तु कालनाभेन | 10 | 29 | a | यः पार्थिवानि विममे सरजांसिमर्त्यः | 23 | 29 | b |
| यमो यमी श्राद्धदेवः | 13 | 9 | c | यः प्रभुस्सर्वभूतानाम् | 21 | 20 | a |
| यया जनो मुह्यति वेदनाऽर्थम् | 5 | 30 | b | यः स्वात्मनीदं निजमाययाऽर्पितम् | 3 | 4 | a |
| यया ध्रुवं स्तब्धमतिर्न बुध्यते | 22 | 11 | d | यातकालं प्रतीक्षन्तः | 15 | 30 | c |
| यया प्रपद्येत दुरत्ययं तमः | 24 | 51 | b | यात दानवदैतेयैः | 6 | 19 | a |
| ययाऽवशोऽन्ये किमुतास्वतन्त्राः | 12 | 43 | d | यातनामनुयापितः | 22 | 29 | d |
| ययाविन्द्रपुरीमृद्धाम् | 15 | 11 | c | यातिलोकान्गृहव्रतः | 16 | 9 | b |
| यया हि विद्वानपि मुह्यते यतः | 22 | 17 | a | यातुधान्यश्च शतशः | 10 | 48 | a |
| ययुस्सर्वे त्रिविष्टपम् | 11 | 45 | d | यादसामिव सागरौ | 10 | 15 | d |
| ययौ गरुडवाहनः | 10 | 2 | d | यादोभ्यो ज्ञाति घातिभ्यः | 24 | 14 | c |
| ययौ जलान्त उत्सृज्य | 6 | 39 | c | यानं वैहायसं नाम | 10 | 16 | c |
| यल्लोकपालैस्त्वदनुग्रहोऽमरैः | 23 | 2 | c | यामुहैकान्तयोगिनः | 22 | 6 | d |
| यस्तस्य पारेऽभिविराजते विभुः | 3 | 5 | d | यामैः परिवृतो देवैः | 1 | 18 | c |
| यस्तु पर्वणि चन्द्रार्कौ | 9 | 26 | c | यावच्छुक्लत्रयोदशी | 16 | 48 | b |
| यस्त्वन्तकाल इदमात्मकृतं स्वनेत्र | 7 | 32 | c | यावत्तपत्यसौ गोभिः | 21 | 30 | a |
| यस्माद्गुणैर्व्यतिकरो निरुपाधिकस्य | 12 | 8 | d | यावदग्निः सपर्जन्यः | 21 | 30 | c |
| यस्मिन् कर्मणि ये येन | 14 | 1 | c | यावदन्तं विभागशः | 14 | 6 | b |
| यस्मिन्निदं यतश्चेदम् | 3 | 3 | a | यावदर्थपरिग्रहः | 19 | 17 | d |
| यस्मिन्वैरानुबन्धेन | 22 | 6 | a | यावदिन्दुस्सहोडुभिः | 21 | 30 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| यावद्ब्राह्मी निशा प्रभो! | 24 | 37 | d |
| यावद्भो भव आत्मनः | 6 | 19 | d |
| यावद्व्रतसमापनम् | 16 | 45 | d |
| यावन्तो विषयाः श्रेष्ठाः | 19 | 21 | a |
| याहि भो भद्रमस्तु ते | 22 | 33 | b |
| यां न व्रजन्त्यधर्मिष्ठाः | 15 | 22 | a |
| युक्तः कर्मणि दृष्टाञ्च | 10 | 1 | c |
| युक्तास्सञ्चारयन्त्यद्धा | 14 | 5 | c |
| युगपल्लघुहस्तवान् | 11 | 21 | d |
| युग साहस्रपर्ययः | 13 | 36 | d |
| युधि जित्वा नदन्तिनः | 21 | 23 | d |
| युयुधुर्द्वन्द्वयोधिनः | 10 | 27 | d |
| युयोध बलिरिन्द्रेण | 10 | 28 | a |
| युष्मत्कुले यद्यशसाऽमलेन | 19 | 4 | c |
| यूयं तदनुमोदध्वम् | 6 | 24 | a |
| यूयं सर्वे त्रिविष्टपम् | 15 | 30 | b |
| ये च तत्र समागताः | 16 | 54 | d |
| ये च त्रिपुरवासिनः | 6 | 31 | d |
| येचाऽन्येऽत्रानुकीर्तिताः | 14 | 6 | d |
| येचाऽपरे योगसमीरदीपित | 21 | 2 | c |
| येत्वात्मपरामगुरुभिर्हृदिचिन्तिताङ्घ्रि | 7 | 33 | a |
| येन चेतयतो विश्वम् | 1 | 9 | a |
| येन तुष्यत्यधोक्षजः | 16 | 61 | d |
| येन पूर्वं महाप्रीणाम् | 11 | 34 | a |
| येन वृत्तिर्विपद्यते | 19 | 36 | b |
| येन सम्मोहिता दैत्याः | 12 | 13 | a |
| येनेदं य इदं स्वयम् | 3 | 3 | b |
| ये प्रागभिहिते तव | 13 | 8 | d |
| ये मां त्वाञ्च सरञ्चेदम् | 4 | 17 | a |
| ये मां स्तुवन्त्यनेनाऽङ्ग! | 4 | 25 | a |
| येऽवशिष्टारणे तस्मिन् | 11 | 46 | a |
| यैरियं बुभुजे युद्धे | 20 | 8 | a |
| यैस्त्रिंशदष्टोत्तरमन्त्रवर्गः | 7 | 29 | b |
| योगरन्धितकर्माणः | 3 | 27 | a |
| योगं योगेशरूपधृत् | 14 | 8 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| योगिनो यं प्रपश्यन्ति | 3 | 27 | c |
| योगेन धातरसहनखिलोकान् | 6 | 9 | c |
| योगेशं तं नतोऽस्म्यहम् | 3 | 27 | d |
| योगेशैश्च कुतो नृभिः | 9 | 4 | d |
| योगेश्वरो हरेरंशः | 13 | 32 | c |
| योगैर्मनुष्या अधियन्ति हि त्वाम् | 6 | 12 | c |
| योगैश्वर्यं शरीराय | 16 | 33 | c |
| योजनायुतमुच्छ्रितः | 2 | 1 | d |
| यो जागर्ति शयानेऽस्मिन् | 1 | 9 | c |
| यो न बाधेत कर्हिचित् | 20 | 2 | d |
| यो नोऽनेकमदान्धानाम् | 22 | 5 | c |
| यो नो भवाय प्रागासीत् | 21 | 21 | a |
| यो नोऽर्थत्वाय कल्पते | 21 | 24 | d |
| यो भवान्योजनशतम् | 24 | 26 | c |
| योऽर्थिनेऽर्थं प्रतिश्रुत्य | 21 | 33 | c |
| यो वा दाता द्विजातये | 19 | 3 | d |
| यो विष्णोर्वर्णयेद्गुणान् | 5 | 6 | d |
| योऽसावस्मिन्महाकल्पे | 24 | 11 | a |
| योऽसौ ग्राहस्स वै सद्यः | 4 | 3 | a |
| योऽसौ भगवता बद्धः | 13 | 14 | a |
| योऽस्मात्परस्माच्च परः | 3 | 3 | c |
| योषिद्रूपमनिर्देश्यम् | 8 | 41 | c |
| योषिद्रूपेण दानवान् | 12 | 1 | b |
| योषिद्वेषो मयाधृतः | 12 | 15 | b |
| **र** | | | |
| रक्षामिच्छंस्तनूर्धत्ते | 24 | 5 | c |
| रक्षिष्ये सर्वतोऽहं त्वाम् | 22 | 35 | a |
| रञ्जयन्ती दिशः कान्त्या | 8 | 8 | c |
| रणः परमदारुणः | 10 | 5 | b |
| रत्नधातुविचित्रितैः | 2 | 3 | b |
| रथञ्च तिलशः पृथक् | 11 | 12 | b |
| रथमारुरुहे विभुः | 11 | 16 | d |
| रथिनो रथिभिस्तत्र | 10 | 8 | a |
| रथोत्तमानर्हतम प्रतीच्छ मे | 18 | 32 | f |
| रमण्यः स्वर्गिणां वल्गु | 8 | 7 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| रममाणस्य ते गुणैः | 12 | 12 | b | रोधस्युदन्वतो राजन्! | 10 | 5 | c |
| रमया प्रार्थ्यमानेन | 5 | 5 | c | रोमाणि सर्वौषधिवीरुधस्ते | 7 | 28 | b |
| रमापतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम् | 17 | 7 | d | रोषः कामश्च वस्तुषु | 6 | 25 | d |
| रमामुकुन्दं निरपेक्षमीप्सितम् | 8 | 23 | d | रौप्यायस हिरण्मयैः | 2 | 2 | d |
| रम्यामुपवनोद्यानैः | 15 | 12 | a | **ल** | | | |
| रराज रथमारुढः | 15 | 9 | c | लक्षयेऽस्वस्थमात्मानम् | 16 | 10 | c |
| रराज राजन्भगवानुरुक्रमः | 20 | 33 | b | लब्धप्रसादं निर्मुक्तम् | 13 | 5 | a |
| रसामचष्टाङ्घ्रितलेऽथ पादयोः | 20 | 23 | a | लब्धार्थोऽपि बबन्ध तम् | 15 | 1 | d |
| रसायाः स्थानमिच्छता | 16 | 27 | b | लसत्काञ्चन पङ्कजम् | 2 | 14 | d |
| रसां निविविशू राजन्! | 21 | 25 | c | लसत्कौशेयवाससा | 6 | 4 | b |
| रहस्युपासीनमृषिश्चुकोप ह | 4 | 9 | d | लाजाक्षत फलौत्तमैः | 21 | 6 | d |
| राकापतिरिवोत्थितः | 22 | 12 | d | लिप्सन्तस्सर्वभूतानि | 8 | 36 | a |
| राजन्द्वादशमो मनुः | 13 | 27 | b | लिहन्निव दिशो दश | 15 | 26 | d |
| राजन् ध्यायस्व केशवम् | 24 | 43 | b | लीलाविसृष्ट भुवनस्य विशारदस्य | 23 | 8 | b |
| राजन्मुदितमेतत्ते | 5 | 1 | a | लेभिरे निर्वृतिं पराम् | 8 | 28 | d |
| राजन्भूतरयादयः | 5 | 3 | b | लोकतत्त्व विचक्षणः | 11 | 48 | d |
| राजन्य आसीद्भुजयोर्बलञ्च | 5 | 41 | b | लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः | 21 | 4 | d |
| राजर्षिः प्रागुदङ्मुखः | 24 | 40 | b | लोकपालास्सह गणैः | 10 | 26 | c |
| राजं श्चतुर्दशैतानि | 13 | 36 | a | लोकपालैर्दिवं निन्ये | 23 | 24 | c |
| राद्धमिन्द्रपदं हित्वा | 13 | 13 | c | लोकस्य पश्यतो लोकम् | 4 | 5 | c |
| राहुणा च तथा सोमः | 10 | 31 | a | लोकं माञ्चाऽवमन्यते | 22 | 24 | d |
| रुक्मपट्टकवाटैश्च | 15 | 15 | a | लोकानमङ्गलप्रायान् | 5 | 19 | c |
| रुद्राः क्रोधवशैस्सह | 10 | 34 | d | लोका भूरादयो नृप! | 24 | 7 | d |
| रुषान्वितस्त्रिदशपतिः शिरो हरन् | 11 | 31 | d | लोकानामेकमीश्वरम् | 19 | 19 | b |
| रूढेन विबुधेतराः | 22 | 6 | b | लोकानां लोकपालानाम् | 23 | 21 | c |
| रूपं तवैतत्पुरुषर्षभेज्यम् | 6 | 9 | a | लोकास्त्रयोऽथाखिल लोकपालाः | 5 | 33 | c |
| रूपानुरूपावयवम् | 18 | 26 | c | लोकाः कर्मार्जिताश्च ये | 22 | 22 | b |
| रूपेण तेषां बलवीर्यमीरयन् | 7 | 11 | b | लोकेशाः किमुताऽपरे | 22 | 34 | b |
| रूपौदार्यवयोवर्ण | 8 | 9 | c | लोके वृत्तिमतो यतः | 19 | 36 | d |
| रेजतुर्वीरमालाभिः | 10 | 15 | c | लोकेषु पालेषु च सर्वहेतुषु | 3 | 5 | b |
| रेजे चन्द्र इवोदये | 10 | 18 | d | लोको लोकनमस्कृतः | 5 | 5 | b |
| रेणुर्दिशः खं द्युमणिञ्च छादयन् | 10 | 38 | c | लोभः कार्यो न वो जातु | 6 | 25 | c |
| रेतस्तस्य महात्मनः | 12 | 33 | b | लोभोऽधरात्प्रीतिरुपर्यभूत् द्युतिः | 5 | 42 | a |
| रैवतन्त्वन्तरं श्रृणु | 5 | 1 | d | **व** | | | |
| रोदस्योस्सर्वतो दिशम् | 21 | 27 | b | वक्षो निवास मकरोत्परमं विभूतेः | 8 | 25 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वक्षोऽलङ्करणे मणौ | 8 | 5 | d | वर्धमाना कमण्डलौ | 24 | 17 | b |
| वच स्तवैत ज्ञनदेव सूनृम् | 19 | 2 | a | वर्धमानो महामेघै: | 24 | 41 | c |
| वचोभि: परुषै रिन्द्रम् | 11 | 20 | a | वर्षद्भि: समदृश्यत | 24 | 41 | d |
| वचो ह्यलीकं सुखदं मन्यते | 22 | 2 | b | ववन्दिरे यत्स्मरणानुभावत: | 21 | 2 | e |
| वञ्चयन्नुप सङ्गरै: | 9 | 21 | b | ववुस्समुद्रोर्म्युपगूढवायव: | 7 | 15 | d |
| वज्रदंष्ट्रो विरोचन: | 10 | 20 | d | वव्रे वरं सर्वगुणै रपेक्षितम् | 8 | 23 | c |
| वज्रपाणि स्तमाहेदं | 11 | 3 | a | वशं निन्ये जगत्त्रयम् | 15 | 33 | d |
| वज्र विद्रुम वेदिभि: | 15 | 16 | d | वसन्तो मधुमाधवौ | 8 | 11 | d |
| वज्रं वज्रधरो रुषा | 11 | 27 | d | वसिष्ठ तनया स्सप्त | 1 | 24 | a |
| वज्र: प्रतिहतो यत: | 11 | 33 | b | वस्त्राभरण धेनुभि: | 10 | 53 | b |
| वज्रेण शतपर्वणा | 11 | 6 | b | वस्त्रोपवीता भरण: | 16 | 39 | c |
| वज्रेणापाहरच्छिर: | 11 | 18 | d | वह्निस्फुलिङ्गशिखया भसितं न वेद | 7 | 32 | d |
| वटै: किंशुकचन्दनै: | 2 | 12 | d | वह्नि: श्वसनसारथि: | 10 | 50 | b |
| वटो कामं प्रतीच्छ मे | 19 | 20 | d | वंशोऽयं विस्तराच्छ्रुत: | 1 | 1 | b |
| वणिक्पथा भिन्ननवो यथार्णवे | 11 | 25 | d | वाच स्ते वृद्ध सम्मता: | 19 | 18 | d |
| वत्स प्रह्लाद भद्रन्ते | 23 | 9 | a | वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्ना: | 3 | 20 | b |
| वदता वल्गुभारतीम् | 24 | 25 | b | वाञ्छितं प्रतिगृह्यताम् | 19 | 28 | b |
| वदस्व परमाद्भुतम् | 5 | 12 | d | वाण्यास्त्रा धन्दांसि रसे जलेशम् | 20 | 27 | a |
| वदान्या ज्ञगदीश्वरात् | 19 | 17 | d | वातोद्धूतोत्तरोष्णीषै: | 10 | 14 | a |
| वधमर्हति दानव: | 11 | 37 | d | वादित्राणां च निरस्वन: | 8 | 26 | b |
| वध्यमाना शिशितायुधै: | 5 | 15 | b | वामनाय ददा वेनाम् | 20 | 16 | c |
| वनेषूपवनेषु च | 12 | 34 | b | वामनाय महीं दातुम् | 19 | 28 | c |
| वपुषेऽधिगतश्रिये | 16 | 35 | b | वायुर्यथा निशाति खड्ग चरा- | 12 | 11 | c |
| वयं कस्यपदायादा: | 9 | 7 | a | वाय्वग्नि वरुणादय: | 10 | 26 | d |
| वयं यदर्था स्तवपादमूलम् | 6 | 14 | b | वाय्वग्नि वरुणादय: | 11 | 42 | b |
| वरत्रेणाऽहिना तृष्ट: | 24 | 45 | c | वारणेन्द्रो विनिर्गत: | 8 | 4 | b |
| वरं निजैराश्रयतोऽगुणाश्रयं | 8 | 23 | b | वारयामास विबुधान् | 11 | 43 | c |
| वरामाशु विधास्यति | 16 | 62 | d | वारयामास संरब्धान् | 21 | 18 | c |
| वरुणस्य महात्मन: | 2 | 9 | b | वालव्यजन छत्राद्यै: | 10 | 18 | c |
| वरुणस्त्रजं वैजयन्तीम् | 8 | 15 | c | वाससी समुपाहरत् | 8 | 15 | b |
| वरुणो हेति नाऽयुध्यत् | 10 | 28 | c | वास: ससूत्रं लघुमारुतोऽहरत् | 12 | 23 | c |
| वरेण्य वरदर्षभ | 16 | 36 | b | वासिता मनुधावत: | 12 | 32 | d |
| वर्जयित्वेश्वरं हरिम् | 15 | 29 | b | वासुदेवपराङ्मुखा: | 10 | 1 | d |
| वर्जये दसदालपम् | 16 | 49 | a | वासुदेवपरायण: | 16 | 49 | d |
| वर्तते तद्विपर्ययम् | 21 | 21 | d | वासुदेवं जगद्गुरुम् | 16 | 20 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वासुदेवाय साक्षिणे | 16 | 29 | d | विधिना विधिकोविदैः | 16 | 50 | d |
| वासुदेवे समाधाय | 17 | 3 | c | विधिना सुसमाहितः | 16 | 45 | b |
| विकर्षतोरन्तरतो बहिर्मिथः | 2 | 29 | b | विधिं तदुपधावनम् | 16 | 23 | b |
| विकर्षन् विचरिष्यामि | 24 | 37 | c | विधृतास्स्वेन तेजसा | 1 | 29 | d |
| विकृष्यमाणस्य जलेऽवसीदतः | 2 | 30 | c | विधृते स्तनया नृप | 1 | 29 | b |
| विकृष्यमाणं तरसा बलीय सा | 2 | 28 | b | विधेय मभयं हि नः | 7 | 38 | b |
| विक्रमश्शार्ङ्गधन्वनः | 12 | 45 | b | विनाशयान् कण्ठनिविष्टकौस्तुभः | 18 | 3 | d |
| विक्रीडतीं कन्दुकलीलया लसद् | 12 | 18 | c | विनिघ्नतीमन्यकरेण कन्दुकम् | 12 | 21 | c |
| विगाह्य तस्मिन्नमृताम्बुनिर्मलम् | 2 | 25 | a | विनिर्गतः साश्वरथध्वजाग्रणीः | 11 | 26 | b |
| विचरन्तं महामृधे | 11 | 3 | d | विन्ध्यावलि स्तदाऽऽगत्य | 20 | 17 | a |
| विचरिष्यस्यविक्लवः | 24 | 35 | b | विपर्ययोऽभूत्सकलं जलौकसः | 2 | 30 | d |
| विचिच्छिदे हरिरिषुभिस्सहस्रधा | 11 | 31 | b | विप्रश्चितं प्राणमनोधियात्मानाम् | 5 | 27 | a |
| विचित्रपुष्पारुण पल्लवद्रुमे | 12 | 18 | b | विप्रकीर्ण शिरोरुहा | 12 | 29 | d |
| विचुक्रुशु दीनांधियोऽपरे गजाः | 2 | 28 | c | विप्रचित्तिरयोमुखः | 10 | 19 | d |
| विचक्रुशु र्देवगणा स्सहानुगाः | 11 | 25 | b | विप्रलब्धो ददानीति | 21 | 34 | a |
| विजयं दिक्षु सर्वासु | 21 | 8 | c | विप्रस्तुष्येन्न तेन चेत् | 20 | 6 | d |
| विजयः प्रबलोद्बलौ | 21 | 16 | b | विप्रावमन्ता पिशतां तमोऽन्धम् | 4 | 10 | c |
| विजया नाम सा प्रोक्ता | 18 | 6 | c | विप्रोमुखाद्ब्रह्म च यस्य गुह्यम् | 5 | 41 | a |
| विज्ञातं चिरकाङ्क्षितम् | 17 | 12 | b | विफलायेश्वरार्पितः | 5 | 48 | b |
| विज्ञाय तेषां हृदयं यथैव | 6 | 16 | b | विबुधध्वजिनी मधाक् | 10 | 50 | d |
| विज्ञायभगवां स्तत्र | 6 | 36 | c | विभजस्व यथा न्यायम् | 9 | 7 | c |
| वितर्क्यमाणो भगवान्सवामनः | 18 | 23 | b | विभुरित्यभिविश्रुतः | 1 | 21 | d |
| वित्तशाठ्य विवर्जितः | 16 | 51 | b | विभुरिन्द्रः सुरगणाः | 5 | 3 | a |
| वित्तं याव त्प्रयोजनम् | 19 | 27 | d | विभेद यः सुरपतिनौजसेरितः | 11 | 32 | b |
| वितानायां महाराज | 13 | 35 | c | विभ्रशं चक्षु रादिशत् | 22 | 5 | d |
| विदध्यात्समनोरथम् | 16 | 22 | d | विभ्रंशितो यच्छ्रिय आत्ममोहनात् | 22 | 16 | d |
| विदुरिन्द्रादयो नृप! | 10 | 53 | b | विमानै र्न्यर्बुदै र्युताम् | 15 | 16 | b |
| विद्यमान शिरोधरान् | 11 | 47 | b | विमुक्तसङ्गा मुनयः सुसाधवः | 3 | 7 | b |
| विद्याधरमहोरगैः | 2 | 5 | b | विमुक्तिदो नः परमोगुरुर्भवान् | 24 | 46 | d |
| विद्याधरोऽसिः शतचन्द्रयुक्तः | 20 | 31 | c | विमुक्तोऽज्ञान बन्धनात् | 4 | 6 | b |
| विद्युत्सौदामनी यथा | 8 | 8 | d | विमोहयन्तीं जगदात्ममायया | 12 | 21 | d |
| विद्यैश्वर्यं धनादिभिः | 22 | 26 | b | विमोहितात्मभिर्नाना | 14 | 10 | c |
| विद्वानदाद्यद्रिपवे जगत्रयम् | 20 | 20 | d | विरक्तः कामभोगेषु | 1 | 7 | a |
| विधत्स्व शं नो द्विजदेवमन्त्रम् | 6 | 15 | d | विरजा अमृतप्रभाः | 13 | 12 | b |
| विधातुं सघृणेन किम् | 9 | 5 | d | विरजाम्बर संवीत | 8 | 45 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| विराजमानं नलिनायतेक्षणं | 22 | 13 | b | विश्वे देवा मरुद्गणा: | 13 | 4 | b |
| विराजित: श्रीवनमालया हरि: | 18 | 3 | b | विश्वे देवा स्तु पौलोमै: | 10 | 34 | c |
| विराट् प्रभुचिकीर्षितम् | 21 | 26 | b | विषक्त स्त्वदृते पुमान् | 12 | 39 | b |
| विरिञ्च वैकुण्ठसुरेन्द्रगम्यम् | 7 | 31 | b | विषज्जन्त्यां भव: किल | 12 | 24 | d |
| विरिञ्चो भगवान्दृष्ट्वा | 6 | 3 | a | विषण्णमनसो देवा: | 8 | 37 | a |
| विलोकयन्ती निरवद्यमात्मन: | 8 | 19 | a | विषाङ्गलधिसम्भवात् | 6 | 25 | b |
| विलोक्य तं देववरं त्रिलोक्या: | 7 | 20 | a | विषेदुस्सुरसैनिका: | 10 | 52 | d |
| विलोक्य पुरुषोत्तम: | 7 | 4 | d | विष्णवे क्ष्मां प्रदास्यन्तम् | 19 | 29 | a |
| विलोक्य विघ्नेशविधिं स ईश्वर: | 7 | 8 | a | विष्णवे य: पदत्रयम् | 13 | 13 | b |
| विलोक्यामरदानवान् | 6 | 37 | b | विष्णुना प्रभविष्णुना | 21 | 27 | d |
| विवशा विजहु: पथि | 6 | 34 | d | विष्णुपरिषदार्दिता: | 21 | 25 | d |
| विवस्त्रा व्रीडिता भृशम् | 12 | 26 | b | विष्णुरातेन सम्पृष्टो | 5 | 14 | a |
| विवस्वतश्च द्वे जाये | 13 | 8 | a | विष्णुर्मायाविनां वर: | 19 | 8 | d |
| विविशुस्तेऽग्रतोऽग्रत: | 10 | 12 | d | विष्णुर्मायाविनां वर: | 21 | 10 | b |
| विवेश बिभ्रद्धयमेधवाटम् | 18 | 23 | d | विष्णुर्वामनरूपधृत् | 13 | 6 | d |
| विवेश सुतलं प्रीत: | 23 | 3 | c | विष्णुव्रत परायण: | 4 | 7 | d |
| विशत्वं निरयं तस्मात् | 21 | 32 | c | विष्णुं विचिन्वन्न ददर्श वीर: | 19 | 11 | d |
| विशालगुल्मं प्ररुजन्वनस्पतीन् | 2 | 20 | d | विष्णु: क्ष्मोद्धार आगतम् | 19 | 6 | b |
| विशाला त्वां मयेरिता | 24 | 33 | d | विष्णोरद्भुत कर्मण: | 12 | 31 | b |
| विश्वकर्म विनिर्मिताम् | 15 | 15 | d | विष्णो रंशांशसम्भव: | 8 | 34 | d |
| विश्वकर्म विनिर्मिताम् | 22 | 32 | b | विष्णो श्शक्त्यन्वितानि च | 13 | 7 | d |
| विश्वकर्मसुते उभे | 13 | 8 | b | विष्णोस्तत्प्रीणनं विद्वान् | 16 | 56 | c |
| विश्वकर्मा प्रजापति: | 8 | 16 | b | विष्णो: प्रसादात्कल्पेऽस्मिन् | 24 | 58 | c |
| विश्वकर्मा मयेन वै | 10 | 29 | b | विष्वक्सेन: पतत्रिराट् | 21 | 16 | d |
| विश्वकाय: क्रमिष्यति | 19 | 33 | b | विष्वक्सेनो विषूच्यान्तु | 13 | 23 | a |
| विश्वञ्च तद्दतं महत् | 1 | 12 | d | विसर्पती हेमलतेव सा बभौ | 8 | 18 | d |
| विश्वस्य हेतु रुदयस्थिति संयमा- | 12 | 7 | c | विसर्प दुत्सर्पदसह्यमप्रति | 7 | 19 | b |
| विश्वस्यामूनि यद्यस्मात् | 1 | 12 | c | विसृज्य राज्यं तपसे | 1 | 7 | c |
| विश्वं चेतयते न यम् | 1 | 9 | b | विसृज्योभयतस्सङ्गम् | 12 | 6 | c |
| विश्वात्मान मजं ब्रह्म | 3 | 26 | c | विहङ्गमा: कामगमा: | 13 | 25 | a |
| विस्वाभिवन्द्यैरपि वन्दिताङ्घ्रि: | 23 | 6 | d | विहरं स्तत्त्व मब्रवीत् | 24 | 54 | d |
| विश्वामित्रोऽथ गौतम: | 13 | 5 | b | विहर्तु काम स्तानाह | 6 | 17 | c |
| विश्वाय विश्वभावनस्थिति संयमार्थं | 17 | 9 | a | विहर्तुकाम: प्रलयार्णवेऽब्रवीत् | 24 | 31 | c |
| विश्वावसु परावसु | 11 | 41 | b | वीणास्तुमुलनिस्स्वनान् | 8 | 13 | d |
| विश्वासं पण्डिता जातु | 9 | 9 | c | वीरुत्तृणलतौषधी: | 6 | 22 | b |

| | अध्याय | श्लोक: | पाद: | | अध्याय | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वीर्यं नपुंसोऽस्त्यजवेगनिष्कृतम् | 8 | 21 | c | वैरिणेव विनिर्जित: | 12 | 31 | d |
| वृका वराहा महिषर्क्षशल्या: | 2 | 22 | a | वैरोचनाय संरब्ध: | 11 | 2 | a |
| वृक्षेऽजीवति तन्नस्यात् | 19 | 39 | c | वैरोचनिर्बलिसंख्ये | 10 | 16 | a |
| वृत स्स्वयूथेन तृषार्दितेन तत् | 2 | 24 | c | व्रजाम सर्वे शरणं तमव्ययम् | 5 | 21 | d |
| वृतां परिरव भूतया | 15 | 14 | b | व्रतं केशवतोषणम् | 16 | 24 | d |
| वृतो गुरुर्नस्सुगतिं बुभुत्सताम् | 24 | 50 | d | व्रीडा स्फुटस्मित विसृष्ट | 12 | 22 | b |
| वृतो भल्लातकैरपि | 2 | 14 | b | व्यक्ति स्तेऽव्यक्तकर्मण: | 7 | 35 | d |
| वृतो मदत्युत्कलभैरभिद्रुत: | 2 | 23 | b | व्यचक्षताऽऽरादुदितं यथा रविम् | 18 | 21 | d |
| वृत्रो येन विपाटित: | 11 | 35 | b | व्यजनै र्बाहं चामरै: | 10 | 13 | d |
| वृतो विकर्ष न्महतीम् | 15 | 11 | a | व्यनादयच्छङ्खवेणु | 8 | 13 | c |
| वृत्त्यर्थं प्राणसङ्कटे | 19 | 43 | b | व्यवर्ततासृक् स्रुतिभि: | 10 | 38 | d |
| वृथा मनोरथ स्तस्य | 21 | 33 | a | व्याघ्रादयो व्याल्मृगास्सखड्गा: | 2 | 21 | b |
| वृणे त्वां वरदर्षभात् | 19 | 27 | b | व्यापादितात्म तमसे हरये | 17 | 9 | d |
| वृणोऽहं वरदर्षभात् | 19 | 16 | b | व्यापि हालाहलं विषम् | 7 | 42 | b |
| वृश्चिका हि विषौषध्य: | 7 | 46 | c | व्याहरन्तं समाहितम् | 1 | 17 | b |
| वृषध्वजो निशम्येदम् | 12 | 1 | a | श | | | |
| वृषमारुह्य गिरिश: | 12 | 2 | a | शकुनि र्भूत सन्त्रासो | 10 | 20 | c |
| वृषाकपि स्तु जम्भेन | 10 | 32 | a | शकुन्तैश्च कलस्वनै: | 2 | 15 | d |
| वृषा ख्यातिर्नर: केतु: | 1 | 27 | c | शक्ता: परिघबाहव: | 6 | 33 | d |
| वेत्र कीचकवेणूनाम् | 4 | 17 | c | शक्ति त्रयायाऽखिलधीगुणाय | 3 | 28 | b |
| वेत्स्य स्यनुगृहीतं मे | 24 | 38 | c | शक्युल्मुकै: प्रासपरश्वधैरपि | 10 | 36 | b |
| वेदगर्भाय वेधसे | 17 | 26 | b | शक्रवैरोचनादय: | 6 | 34 | b |
| वेदानां सर्वदेवानाम् | 23 | 22 | a | शङ्खचक्रगदाधर: | 17 | 4 | d |
| वेदान् प्रत्याहरद्धरि: | 24 | 57 | d | शङ्खतूर्यमृदङ्गानाम् | 8 | 26 | a |
| वेदा लोकाश्चरा चरा: | 3 | 22 | b | शङ्खतूर्यमृदङ्गानाम् | 10 | 7 | a |
| वेदोपवेदा नियमानयान्विता: | 21 | 2 | a | शङ्खदुन्दुभयो नेदु: | 18 | 7 | a |
| वैकुण्ठश्च शशंसिरे | 7 | 45 | d | शङ्खदुन्दुभिनिस्स्वनै: | 21 | 7 | d |
| वैकुण्ठ: कल्पितो येन | 5 | 5 | a | शङ्खान्दध्मुर्महारवान् | 10 | 24 | b |
| वैकुण्ठे स्सुरसत्तमै: | 5 | 4 | b | शतपत्रश्रियो जितम् | 2 | 15 | b |
| वैकुण्ठो भगवान्स्वयम् | 5 | 4 | d | शतरूपापति: प्रभु: | 1 | 7 | b |
| वैधृतायां हरे रंश: | 13 | 26 | c | शताभ्यां मातलिं पाक: | 11 | 22 | a |
| वैमानिक स्त्री कल गीतमङ्गलाम् | 15 | 20 | d | शतेन हयमेधानाम् | 15 | 34 | c |
| वैराजस्याऽभवत्सुत: | 5 | 9 | b | शत्रुणा बटुरूपिणा | 21 | 11 | b |
| वैरानुबन्ध एतावान् | 19 | 13 | a | शत्रुं सरथसारथिम् | 11 | 24 | b |
| वैरिणा तथ्यवादिना | 11 | 11 | b | शनैश्चर स्तृतीयोऽभूत् | 13 | 10 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| शफरीं द्रविडेश्वर: | 24 | 13 | d | शूलपाणिं कृतान्तवत् | 19 | 8 | b |
| शफर्या स्स मनो दधे | 24 | 15 | d | शूलहस्ता विवाससः | 10 | 48 | b |
| शफर्येकाभ्यपद्यत | 24 | 12 | d | शूलेन ज्वलता तन्तु | 11 | 17 | c |
| शम्बरोऽरिष्टनेमिश्च | 6 | 31 | c | शृङ्गाटकै र्मणिमयै: | 15 | 16 | c |
| शम्बरो युयुधे त्वष्ट्रा | 10 | 29 | c | शृङ्गाणीमानि धिष्ण्यानि | 4 | 18 | a |
| शम्भौ स्सख्यं करिष्यति | 13 | 23 | b | शृणुताऽवहिता स्सर्वे | 6 | 18 | c |
| शयीत निहतो मम | 20 | 13 | d | शृणु मे सुरसत्तम | 19 | 38 | b |
| शरभै र्महिषै: खड्गै: | 10 | 10 | c | शृण्वतां वृष्णि मुख्यानाम् | 12 | 42 | c |
| शरैखाकिरन्मेघा: | 11 | 20 | c | शृण्वतां सर्वभूतानाम् | 4 | 16 | c |
| शशाप दैव प्रहित: | 20 | 14 | c | शृण्वन् याति परां गतिम् | 23 | 30 | d |
| शश्वद्भुवि यथा भवान् | 8 | 6 | d | शृतं पयसि नैवेद्याम् | 16 | 40 | a |
| शं न: कृधीश भगवन्नसि | 17 | 8 | d | शेषञ्च मत्कलां सूक्ष्माम् | 4 | 20 | a |
| शं विधत्स्व सुमध्यमे | 9 | 6 | d | शेषं सेष्ट स्सभाजितै: | 16 | 44 | b |
| शंसन्त: कर्म तद्धरे: | 4 | 1 | d | शोकामर्ष रुषान्वित: | 11 | 29 | b |
| शाल्यन्नं विभवे सति | 16 | 40 | b | शोभितं तीरजैश्चान्यै | 2 | 19 | c |
| शिक्षितं पुरुषोत्तमात् | 6 | 30 | d | श्यामल स्तरुण: स्रग्वी | 8 | 32 | c |
| शिखण्डिपारावतभङ्गनादितम् | 15 | 20 | c | श्यामावदातो झषराजकुण्डल | 18 | 2 | a |
| शिपिविष्टाय विष्णवे | 10 | 51 | d | श्यामा विरजवाससः | 15 | 17 | b |
| शिपिविष्टाय विष्णवे | 17 | 26 | d | श्येनभासै स्तिमिङ्गिलै: | 10 | 10 | b |
| शिरसी बलपाकयो: | 11 | 28 | b | श्रद्धया ये धनत्यज: | 20 | 9 | d |
| शिरस्त्वमरतां नीतम् | 9 | 26 | a | श्रद्धानुरूपं फलहेतुकत्वात् | 17 | 17 | d |
| शिरीषै: कुटजेङ्गुदै: | 2 | 18 | b | श्राद्धदेव इति ख्यात: | 24 | 11 | c |
| शिरोभिरुद्धूतकिरीटकुण्डलै: | 10 | 39 | a | श्राद्धदेव इति श्रुत: | 13 | 1 | b |
| शिरो हरिष्ये मन्दात्मन् | 11 | 6 | c | श्रियञ्च वक्ष स्यरविन्दहस्ताम् | 20 | 25 | c |
| शिला सटङ्कशिखरा: | 10 | 46 | c | श्रियं तेजो यशस्ततम् | 19 | 32 | b |
| शिवाभि राखुभि: केचित् | 10 | 11 | a | श्रियं देवीं मदाश्रयम् | 4 | 20 | b |
| शिष्यं प्राह विदां वर: | 19 | 29 | d | श्रियं पद्मकरां सतीम् | 8 | 14 | b |
| शिष्यायोपभृतं तेज: | 15 | 28 | c | श्रिया परमया जुष्टम् | 6 | 29 | c |
| शिष्यो महात्माऽर्थ निवेदनेन | 15 | 3 | d | श्रिया परमया जुष्ट: | 23 | 25 | c |
| शीलादिगुण सम्पन्ना: | 8 | 28 | c | श्रिया विलोकिता देवा: | 8 | 28 | a |
| शुचय: प्रातरुत्थाय | 4 | 15 | c | श्रिया समेधिता स्सर्वे | 11 | 44 | c |
| शुचि रिन्द्रो भविष्यति | 13 | 34 | b | श्रीकौस्तुभानर्घ्य किरीट | 10 | 54 | d |
| शुष्मिणो यूथप स्येव | 12 | 32 | c | श्रीमत्पादयुगं मुदा | 20 | 18 | b |
| शुष्य त्युद्वर्ततेऽचिरात् | 19 | 40 | b | श्रीमद्भि: नन्दनादिभि: | 15 | 12 | b |
| शूलपाहिश पाणय: | 21 | 14 | b | श्रीरामा भगवत्परा | 8 | 8 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| श्रीवक्षसः पितरश्छायया सन् | 5 | 40 | a |
| श्रीवत्सरत्नोत्तम मेखलाम्बरैः | 20 | 32 | d |
| श्रीवत्सवक्षा वलयाङ्गदोल्लसत् | 18 | 2 | c |
| श्रीवत्सं कौस्तुभं मालाम् | 4 | 19 | a |
| श्रीवत्सोङ्केन सत्कृतः | 12 | 41 | b |
| श्रीश्च यत्पादपद्मयोः | 16 | 37 | b |
| श्रीः स्वाः प्रजास्सकरुणेन निरीक्ष- | 8 | 25 | c |
| श्रुतपूर्वाय वै विभो | 5 | 25 | b |
| श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्तहत्वा | 24 | 61 | b |
| श्रुत्वा मुच्येत किल्बिषात् | 24 | 59 | d |
| श्रुत्वाऽश्वमेधैर्यजमान मूर्जितम् | 18 | 20 | a |
| श्रेय श्चिन्तय सुव्रत | 16 | 15 | b |
| श्रेय स्कामा द्विजातयः | 4 | 15 | b |
| श्रेयस्कामा निराशिषः | 12 | 6 | b |
| श्रेयः कुर्वन्ति भूतानाम् | 20 | 7 | a |
| श्रेयोर्थिभि स्त्रैदिकतान्त्रिकेण | 6 | 9 | b |
| श्रेयो वस्स्याद्यथा सुराः | 6 | 18 | d |
| श्रोणायां भाद्र द्वादश्याम् | 18 | 5 | a |
| श्रोणीतटालसगतिर्मदविह्वलाक्षी | 9 | 17 | b |
| श्रोतुमिच्छामहे वयम् | 1 | 31 | b |
| श्रोतृणा मघमोचनम् | 23 | 28 | d |
| श्रोत्रा दिशो यस्य हृदश्च खानि | 5 | 38 | a |
| श्लथदुकूलं कबरीञ्च विच्युताम् | 12 | 21 | a |
| श्लघिनः परशङ्कया | 2 | 6 | d |
| श्वासाग्नि धूमाहतवर्चसोऽसुराः | 7 | 14 | b |
| श्वासानिलान्तर्हित सूक्ष्मदेहः | 19 | 10 | c |
| श्वेतद्वीपञ्च भास्वरम् | 4 | 18 | d |
| श्वो भूते प्रथमेऽहनि | 16 | 44 | d |
| षाड्भिर्हीना व्रजन्ति यत् | 15 | 22 | d |
| षष्ठश्च चक्षषः पुत्रः | 5 | 7 | a |
| **स** | | | |
| स आत्मनोऽनुग्रहार्थम् | 24 | 15 | a |
| स आत्ममूलोऽवतु मां परात्परः | 3 | 4 | d |
| स ईश्वरः किं परतोव्यपाश्रयः | 8 | 20 | d |
| स एकदाऽराधनकाल आत्मवान् | 4 | 8 | a |
| स एनां तत आदाय | 24 | 19 | a |
| स एष भगवानद्य | 21 | 21 | c |
| स एष विष्णुर्वरदोऽस्तु वा परः | 20 | 11 | c |
| स एष साक्षात्पुरुषः पुराणः | 12 | 44 | c |
| स कण्टकं कीचकवेणुवेत्रवत् | 2 | 20 | c |
| स किम्पुरुष किन्नराः | 18 | 9 | b |
| सकृत्सन्धानमोक्षेन | 11 | 12 | c |
| सखायं पतितं दृष्ट्वा | 11 | 13 | a |
| सख्यान्याहु रनित्यानि | 9 | 10 | c |
| सगणः स्वालयं ययौ | 12 | 41 | d |
| सगौरकृष्णाः शरभाश्चमर्यः | 2 | 21 | d |
| सग्राह माशु सरसः कृपयोज्जहार | 3 | 33 | b |
| स घर्मतप्तः करिभिः करेणुभिः | 2 | 23 | a |
| सङ्कल्पप्रभवोदयम् | 12 | 16 | d |
| सङ्कल्पा स्तस्य सिध्यति | 24 | 60 | c |
| सङ्कल्पाण्यलङ्कृतः | 2 | 7 | b |
| सङ्गातेभाव आसुरः | 22 | 36 | b |
| सङ्ग्रामे वर्तमानानाम् | 11 | 7 | a |
| स चक्षुरन्धस्य यथाऽग्रणीः कृतः | 24 | 50 | a |
| स चावनिज्यमानाङ्घ्रिः | 2 | 4 | a |
| स चाऽहं वित्तलोभेन | 20 | 3 | a |
| सञ्जीविन्या स्वविद्यया | 11 | 47 | d |
| स तत्र हाऽऽसीन मुदीक्ष्यसत्पतिम् | 22 | 15 | a |
| स तत्रिकेतं परिमृश्यशून्यम् | 19 | 11 | a |
| सता नापततश्शक्रः | 10 | 42 | a |
| सताल वीणामुरजैश्च वेणुभिः | 15 | 21 | b |
| सति कार्यार्थं गौरवे | 6 | 20 | b |
| स तु सत्यव्रतो राजन्! | 24 | 58 | a |
| सतेनैवाष्ट धारेण | 11 | 28 | a |
| सतोय इव तोयदः | 11 | 23 | d |
| सत्त्व मालम्ब्य मातलिः | 11 | 18 | b |
| सत्त्वस्थाय च साम्प्रतम् | 5 | 50 | d |
| सत्त्वं जुषाणस्य भवाय देहिनाम् | 5 | 23 | b |
| सत्त्वं न यद्ब्रह्म निरस्तभेदम् | 7 | 31 | d |
| सत्त्वेन प्रतिलभ्याय | 3 | 11 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सत्त्वेन सृष्टा बहिरन्त राविः | 5 | 31 | b | सन्तोषो मुक्तये स्मृतः | 19 | 25 | d |
| सत्त्वै विकृतविग्रहैः | 10 | 12 | b | सन्धिविग्रहकालवित् | 6 | 28 | d |
| सत्यका हरयो वीराः | 1 | 28 | a | सन्ध्यां विभोर्वाससि गुह्य ऐक्षत् | 20 | 24 | a |
| सत्यधर्मादयो दश | 13 | 24 | d | सन्नह्यतीं वामकरेण वल्गुना | 12 | 21 | b |
| सत्य मोमिति यत्प्रोक्तम् | 19 | 38 | c | सपत्नानां परां सिद्धिम् | 10 | 3 | a |
| सत्यव्रतस्य राजर्षेः | 24 | 55 | c | सपत्नीं दीनवदनाम् | 16 | 3 | a |
| सत्यव्रतस्य राजर्षेः | 24 | 59 | a | सपत्नैः पाहि नः प्रभो | 16 | 15 | d |
| सत्यव्रतस्य सततं | 21 | 12 | a | सप्तद्वीप वरेच्छया | 19 | 22 | d |
| सत्यव्रतं मत्स्यवपुर्युगक्षये | 24 | 31 | b | सप्तद्वीपाधिपतयः | 19 | 23 | a |
| सत्यव्रतोऽञ्जलिं गतां | 24 | 13 | a | सप्त मन्वन्तराणि ते | 13 | 7 | b |
| सत्यसन्धं मनस्विनम् | 20 | 14 | d | सप्तमेऽद्यतना दूर्ध्वम् | 24 | 32 | a |
| सत्यसेन इति ख्यातः | 1 | 25 | c | सप्तमो दिष्ट उच्यते | 13 | 2 | d |
| सत्यं पुष्पफलं विद्यात् | 19 | 39 | a | सप्तमो वर्तमानो यः | 13 | 1 | c |
| सत्यं भगवता प्रोक्तम् | 20 | 2 | a | सप्तर्षिभिः परिवृतः | 24 | 34 | c |
| सत्यं समीक्ष्याब्जभवो नखेन्दुभिः | 21 | 1 | a | सप्तहस्ताय यज्ञाय | 16 | 31 | c |
| सत्या देवश्रुता भद्रा | 1 | 24 | c | सप्रजापतयः प्रजाः | 8 | 28 | b |
| सत्यान्न चलितो महान् | 20 | 16 | b | सप्राणयो श्चित्रममंसताऽमराः | 2 | 29 | d |
| सत्र यागइवह्यस्मिन् | 8 | 39 | c | स ब्रह्मवर्चसे नैवम् | 18 | 18 | a |
| सत्रायणस्य तनयः | 13 | 35 | a | सभा चत्वर रथ्याढ्याम् | 15 | 16 | a |
| सत्त्वं नो दर्शयात्मानम् | 5 | 45 | a | सभाजितो भगवता | 12 | 3 | a |
| सत्वं विधत्स्वाऽखिललोकपालाः | 6 | 14 | a | सभाजितो यथा न्यायम् | 16 | 3 | c |
| सत्वं समीहितमदः स्थिति जन्म- | 12 | 11 | a | सभार्यो वनमाविशत् | 1 | 7 | d |
| सदण्डं छत्रं सजलं कमण्डलम् | 18 | 23 | c | सभां सम्भावितो वटुः | 18 | 18 | b |
| सदन्नेन शुचिस्मिते | 16 | 54 | b | सभिण्डिवालैश्च शिरांसि चिच्छिदुः | 10 | 36 | d |
| सदसद्भाव भावनम् | 7 | 24 | b | समन्तात्पय ऊर्मिभिः | 2 | 4 | b |
| सदसि ब्रह्मवादिनम् | 23 | 13 | d | समभ्यवर्षन्भगवद्वशाधनाः | 7 | 15 | c |
| सदाभासाय ते नमः | 3 | 14 | d | समर्च्य भक्त्याऽभ्य गृणाच्छुचि- | 21 | 3 | c |
| सदा सन्निहितं वीर ! | 22 | 35 | c | समर्हणं नोपजहार पूर्ववत् | 22 | 14 | b |
| स दुष्कीर्तिः श्वसन्मृतः | 19 | 42 | d | समसज्जन्त संयुगे | 10 | 8 | d |
| सद्यः कुण्ठो विनङ्क्ष्यति | 22 | 36 | d | समस्तसंसार परिश्रमापहम् | 12 | 46 | d |
| सधर्मविन्मूर्ध्न्यदधात्सुमङ्गलम् | 18 | 28 | b | समागतास्ते बहिरन्तरात्मन् | 6 | 14 | c |
| सनत्कुमारोऽथ दिदृक्षया क्रतोः | 18 | 22 | d | समागमच्छिष्यगणैः पराश्रितः | 4 | 9 | b |
| सनन्दनाद्या नरदेव ! योगिनः | 21 | 1 | d | समाधाय मनो हृदि | 3 | 1 | b |
| सन्तुष्टो वर्तते सुखम् | 19 | 24 | b | समाधे विरतश्चिरात् | 16 | 2 | d |
| सन्तोषितस्य व्रतचर्यया ते | 17 | 17 | b | समानकर्णाभरणम् | 8 | 42 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| समासहस्रान्त उपारतं वै | 12 | 44 | b | सरोवराभ्याश मथाऽऽगमद्द्रुतम् | 2 | 24 | d |
| समासाद्याऽऽसिभिर्बाणैः | 10 | 6 | c | सर्गास्थित्यप्ययान्विभो | 7 | 23 | b |
| समा स्सहस्रं व्यगमन्महीपते | 2 | 29 | c | सर्ग प्रजेश रूपेण | 14 | 9 | a |
| समाहित मना राजन् | 17 | 23 | e | सर्पाणा मिव दुर्नयम् | 9 | 19 | b |
| समाहितेन मनसा | 5 | 20 | a | सर्व एते रणमुखे | 10 | 23 | c |
| समिद्ध माहितं वह्निम् | 18 | 19 | a | सर्वत श्चारयं श्चक्षुः | 12 | 17 | c |
| समिद्धि रजुहो द्विभुः | 18 | 19 | d | सर्वत श्शर कूटेन | 11 | 24 | a |
| समीडे ब्रह्मनामभिः | 17 | 24 | d | सर्वतः प्रत्यदृश्यत | 10 | 51 | b |
| समीरेण बलीयसा | 24 | 36 | b | सर्वतः प्लावयन्महीम् | 24 | 41 | b |
| समुद्यता निर्मथितुं सुरासुराः | 7 | 9 | b | सर्वतोऽलङ्कृतैर्दिव्यैः | 2 | 10 | a |
| समुद्रः पीतकौशेय | 8 | 15 | a | सर्वदेव गणोपेतः | 15 | 24 | c |
| समुद्रे प्राक्षिपज्झषम् | 24 | 23 | d | सर्वदेवात्मनो मुखम् | 16 | 9 | d |
| समुद्रोन्मथ नादिभिः | 6 | 17 | d | सर्वप्रत्ययहेतवे | 3 | 14 | b |
| समुद्रोपप्लुता स्तत्र | 24 | 7 | c | सर्वभावेन पूजितः | 23 | 15 | d |
| स मे महापुरुष आत्मतन्त्रः | 5 | 32 | c | सर्वभूतगणै र्वृतः | 12 | 2 | b |
| समो भवां स्ता स्वसुरादिषु प्रभो | 16 | 14 | c | सर्वभूतगुहावासम् | 16 | 20 | c |
| सम्परेतं धरादिकम् | 20 | 6 | b | सर्वभूतनिवासाय | 16 | 29 | c |
| सम्पश्यतां हरि रमूमुच दुस्त्रियाणाम् | 3 | 33 | d | सर्वभूत भवाय च | 23 | 21 | b |
| सम्पश्यतो दिव्यगति यथानटः | 18 | 12 | d | सर्वभूतमयो विभुः | 4 | 16 | d |
| सम्प्रत्यूर्जित विक्रमः | 15 | 31 | b | सर्वभूत सुहृद्देव | 7 | 36 | c |
| सम्प्रश्रै र्विवृतं हृदि | 24 | 38 | d | सर्वमन्वन्तरे ब्रह्मन् | 1 | 3 | a |
| सम्प्रापितस्त्वत्परमः स्वपित्रा | 22 | 8 | d | सर्वमेतन्मयाऽऽख्यातम् | 23 | 28 | a |
| सम्भवन्ति ममेक्षया | 22 | 32 | f | सर्वलोक सुखावहम् | 24 | 3 | d |
| सम्भ्रान्तमीनोन्मकराहिकच्छपात् | 7 | 18 | c | सर्वविद्याधिपतये | 16 | 32 | c |
| सम्मितानि पदा मम | 19 | 16 | d | सर्वव्रतमिति मृतम् | 16 | 60 | b |
| सम्यगर्चय केशवम् | 16 | 59 | b | सर्वश्रेयः प्रतीपानाम् | 22 | 27 | c |
| स याति परमां गतिम् | 24 | 60 | d | सर्व सत्त्वोपबृहितः | 24 | 34 | d |
| सयानो न्यपत द्भूमौ | 11 | 12 | c | सर्वसाङ्ग्रामिकोपेतम् | 10 | 17 | a |
| सरलैस्सुरदारुभिः | 2 | 13 | b | सर्वस्य गोप्ताह्यजरः पुराणः | 1 | 13 | h |
| सरस्वत्यव्ययात्मनः | 18 | 16 | d | सर्वस्य तद्भवति मूलनिषेचनं यत् | 9 | 29 | d |
| सरित्सरस्सु शैलेषु | 12 | 34 | a | सर्वस्वं नो हृतं भर्तुः | 21 | 11 | c |
| सरित्सरोभिरच्छोदैः | 2 | 8 | a | सर्वस्वं विष्णवे दत्त्वा | 19 | 33 | c |
| स रेज उडुराडिव | 15 | 35 | d | सर्वं करोति निश्छिद्रम् | 23 | 16 | c |
| सरोजनाभाति चिरोप्सितार्थम् | 6 | 13 | b | सर्वं तदच्छिन द्विभुः | 10 | 44 | d |
| सरोऽनिलं पङ्कजरेणुरूषितम् | 2 | 24 | a | सर्वं तदात्मकतयावगमोऽवरुन्त्से | 12 | 11 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सर्वं नेत्यतिथिं ब्रूयात् | 19 | 42 | c | सविलोक्येन्द्रवाय्वादीन् | 5 | 19 | a |
| सर्वं भगवतो ब्रह्मन् | 16 | 12 | c | सविश्वकायः पुरुहूत ईशः | 1 | 13 | a |
| सर्वं विज्ञापयाञ्चक्रुः | 5 | 18 | c | स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यक् | 3 | 24 | a |
| सर्वं सम्पद्यते देवि | 17 | 20 | c | स वै नस्सङ्कटा दस्मात् | 24 | 43 | c |
| सर्वं सोढुमहं मन्ये | 20 | 4 | c | स वै पूर्वं मभूद्राजा | 4 | 7 | a |
| सर्वागमाम्नाय महार्णवाय | 3 | 15 | c | स वै भगवत स्साक्षात् | 8 | 34 | c |
| सर्वाङ्गैरवनिङ्गतैः | 6 | 7 | f | स वै समाधियोगेन | 17 | 22 | c |
| सर्वाणि भूतानि ददर्श वीरः | 20 | 29 | d | सव्रीड नीचीनमुखो बभूव | 22 | 14 | d |
| सर्वात्मनस्समदृशो विषमः | 23 | 8 | c | स व्रीडस्मित विक्षिप्त | 8 | 46 | a |
| सर्वात्मना तानभजद्भृगून् बलिः | 15 | 3 | c | स व्रीडहास विकसन्नयनेन याता | 8 | 24 | d |
| सर्वात्मनीदं भुवनं निरीक्ष्य | 20 | 30 | a | स व्रीडहासं दधती सुशोभनम् | 8 | 17 | d |
| सर्वात्मा प्रीयते हरिः | 7 | 40 | b | स शर्वः पुरुषं परम् | 6 | 7 | d |
| सर्वाध्यक्षाय साक्षिणे | 3 | 13 | b | स शिष्या स्ते सहाग्निभिः | 18 | 25 | b |
| सर्वानीकाधिपै र्वृतः | 10 | 18 | b | स सर्जाथासुरीं मायाम् | 10 | 45 | a |
| सर्वाभरणभूषितः | 8 | 32 | d | ससर्पि स्सगुडं दत्त्वा | 16 | 40 | c |
| सर्वामरगणैस्साकम् | 6 | 7 | e | स सिंहवास आसाद्य | 11 | 14 | a |
| सर्वावयव सुन्दरम् | 8 | 42 | b | सा सुरासुर मानवाः | 8 | 9 | b |
| सर्वाश्चर्यमयं विभो | 10 | 17 | b | सस्मितं ते मुखाम्बुजम् | 5 | 45 | d |
| सर्वासुर चमूपतिः | 23 | 12 | b | सह तोयेन भारत | 24 | 13 | b |
| सर्वास्त्रै रक्षतत्वचः | 11 | 35 | d | सह देवै ररिन्दम | 5 | 24 | b |
| सर्वेनक्षत्र ताराद्याः | 18 | 5 | c | सह देव्या ययौ द्रष्टुम् | 12 | 2 | c |
| सर्वे नागायुत प्राणाः | 21 | 17 | c | सह नाव मुदन्वति | 24 | 37 | b |
| सर्वेन्द्रिय गुणद्रष्ट्रे | 3 | 14 | a | सहार्त्विगाचार्य सदस्य एतत् | 20 | 22 | b |
| सर्वेन्द्रिय मनःप्रीतिम् | 9 | 5 | c | सह शर्वेण तां तनुम् | 6 | 3 | b |
| सर्वे पुरुषशासनः | 14 | 2 | d | सहसोत्थाय सादरम् | 17 | 5 | b |
| सर्वेऽर्थास्सान्त्वया यथा | 6 | 24 | d | सहस्रार्कोदय द्युतिः | 6 | 1 | d |
| सर्वे लीलावतारास्ते | 24 | 29 | a | सहायेन मया देवाः | 6 | 23 | a |
| सर्वे विश्वसृजो विभुम् | 8 | 27 | b | सह्यात्मा दयितो हितः | 5 | 48 | d |
| सर्वेषामपि भावानाम् | 12 | 4 | c | संक्षिप्तात्म विभूतये | 21 | 5 | d |
| सर्वेषा मात्मनश्च हि | 5 | 49 | d | संक्षिप्ता स्तस्य तेजसा | 18 | 25 | d |
| सर्वेषां स्यु रनुक्रमात् | 11 | 7 | d | संक्षेपतो मयोक्तानि | 13 | 7 | a |
| सर्वेसुराः कश्मलमापुरङ्ग ! | 20 | 30 | b | संज्ञा इन्द्रो दिवस्पतिः | 13 | 31 | b |
| सर्वोपाय विदीश्वरः | 8 | 41 | b | संज्ञा छाया च राजेन्द्र ! | 13 | 8 | c |
| सवित्रातु विरोचनः | 10 | 29 | d | संन्यवर्तत कश्मलात् | 12 | 35 | d |
| स विधास्यति ते कामान् | 16 | 21 | a | संयम्य मन्युसंरम्भम् | 11 | 45 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| संरब्धमनसो रणे | 10 | 6 | b | सावित्रीं सवितान्नवीत् | 18 | 14 | b |
| संरम्भदृग्भि: परिदष्टदच्छदै: | 10 | 39 | b | सांख्य योग क्रियावतीम् | 24 | 55 | b |
| संवर्ताग्निरिवोत्थित: | 15 | 26 | f | सांख्यात्मन शास्त्रकृत स्तवेक्षा | 7 | 30 | c |
| संवर्ताम्भसि वै तदा | 24 | 33 | b | सांवर्तक इवात्युग्र: | 10 | 50 | c |
| संवादं महदाख्यानम् | 24 | 59 | c | सिद्ध गन्धर्व चारण: | 9 | 4 | b |
| संविदं कृत सौहृदा: | 6 | 32 | b | सिद्धचारणगन्धर्वै: | 2 | 5 | a |
| संवीक्ष्य सम्मुमुहु रुत्स्मित | 9 | 18 | c | सिद्ध विद्याधरगणा: | 18 | 9 | a |
| संसर न्निज कर्मभि: | 22 | 25 | b | सिद्ध वैमानिकाश्च ये | 23 | 26 | d |
| संस्मरन्पुरुषं परम् | 5 | 20 | b | सिध्यन्ति जीवन्त्युत वर्धमाना: | 5 | 33 | b |
| सा कूजती कनकनूपुरशिञ्जितेन | 9 | 17 | c | सिनीवाल्यां मृदाऽऽलिप्य | 16 | 26 | a |
| साक्षिणे परमात्मने | 3 | 10 | b | सिन्धो निर्मथने यंत्र | 12 | 45 | c |
| साट्टालेनोन्मतेन च | 15 | 14 | d | सिंहनादान्विमुञ्चन्त: | 10 | 24 | a |
| सा तमायान्त मालोक्य | 12 | 26 | a | सिंहव्याघ्रवराहाश्च | 10 | 47 | c |
| सा तु तत्रैक रात्रेण | 24 | 17 | a | सीदन्त्या स्सहपुत्रकै: | 16 | 23 | d |
| सा त्वं न: स्पर्धमानानाम् | 9 | 6 | a | सीदन्नपि न मुह्यति | 22 | 28 | d |
| सादरं सोमया भव: | 12 | 3 | b | सुकपोलोन्नसाननम् | 8 | 42 | d |
| साधयित्वाऽमृतं राजन् | 10 | 2 | a | सुखदु:खोपपत्तये | 21 | 20 | b |
| साधयिष्यति तन्मनो: | 13 | 29 | b | सुखं वस्तुमुदञ्चनम् | 24 | 20 | b |
| साधयिष्ये स्वमायया | 8 | 37 | f | सुखेच्छया कर्मसमीहतेऽसुखम् | 24 | 47 | b |
| साधव: क्षणभङ्गुरै: | 7 | 39 | b | सुग्रीवकण्ठाभरणम् | 8 | 44 | c |
| साधव: प्रायशो जना: | 7 | 44 | b | सुचिरं तापतापितम् | 5 | 13 | d |
| साधवो दुस्त्यजासुभि: | 20 | 7 | b | सुतरां सूर्यरश्मिभि: | 10 | 14 | d |
| सानुगं सपरिच्छदम् | 22 | 35 | b | सुतलं स्वर्गिभि: प्रार्थ्यम् | 22 | 33 | c |
| सानुगा बलिमाजह्रु: | 21 | 5 | c | सुता अर्जुन पूर्वका | 5 | 2 | d |
| सानुबन्धो विनङ्क्ष्यति | 15 | 31 | d | सुदर्शनञ्चक्रम सह्यतेज: | 20 | 30 | c |
| सान्त्वयित्वा महामति: | 6 | 30 | b | सुदर्शनं पाञ्चजन्यम् | 4 | 19 | c |
| सा प्रस्तुता भू: करभोरुभिर्बभौ | 10 | 39 | d | सुदर्शनादिभि: स्वास्त्रै: | 6 | 7 | a |
| सामादिभिरुपायैश्च | 21 | 22 | c | सुधया पीतयैधिता: | 10 | 4 | b |
| सारोह वाहा विविधा | 10 | 37 | b | सुधयाऽऽप्लावितोऽऽपतत् | 9 | 25 | d |
| सार्वभौम इति प्रभु: | 13 | 17 | b | सुनन्द मुख्या उपतस्थुरीशम् | 20 | 32 | a |
| साल्वृकाणां स्त्रीणाञ्च | 9 | 10 | a | सुनन्दायां वर्षशतम् | 1 | 8 | a |
| सावर्णि र्भविता मनु: | 13 | 11 | b | सुपर्णा भुजगोत्तमा: | 18 | 9 | d |
| सावर्णि स्तपती कन्या | 13 | 10 | a | सुपर्णमुपधावत | 1 | 11 | d |
| सावर्णेरन्तरस्याऽयम् | 22 | 31 | c | सुपर्णं पतगेश्वरम् | 4 | 19 | d |
| सावर्णस्तनया नृपा: | 13 | 11 | d | सपर्ण: पततां वर: | 6 | 39 | b |

| | अध्याय: | श्लोक | पाद: | | अध्याय: | श्लोक | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सुभगस्सिंह विक्रम: | 8 | 33 | d | सोऽदित्यां वीर्यमाधत्त | 17 | 23 | c |
| सुभुजाङ्गदभूषितम् | 8 | 44 | d | सोऽनुकम्पित ईशेन | 4 | 5 | a |
| समङ्गल: कञ्चनकाञ्चते हि माम् | 8 | 22 | d | सोऽनुध्यात स्ततो राज्ञा | 24 | 44 | a |
| सुमहत्कर्म तद्विष्णो: | 23 | 27 | a | सोऽनुव्रज्यातिवेगेन | 12 | 28 | a |
| सुमुखीं सुन्दरभ्रुवम् | 6 | 4 | d | सोऽनृतव्रत दुश्शीलान् | 1 | 26 | a |
| सुमृष्टमणिकुण्डल: | 8 | 33 | d | सोऽन्तस्सरस्युरुबलेन गृहीत आर्त: | 3 | 32 | a |
| सुरकार्ये सुरेश्वर: | 6 | 17 | b | सोऽन्ववैक्षत तं कालम् | 24 | 39 | c |
| सुरर्षभ भुजान्तरात् | 12 | 30 | b | सोपगूढा भगवता | 12 | 29 | a |
| सुरलोक विभूषण: | 8 | 6 | b | सोमकश्यपयो रपि | 4 | 22 | d |
| सुरस्त्री केश विभ्रष्ट: | 15 | 18 | a | सोमं मनो यस्य समामनन्ति | 5 | 34 | a |
| सुराणां साधिता सुधा | 5 | 10 | b | सोमो मनो द्यौर्भगवाञ्छिरस्ते | 7 | 27 | d |
| सुरानीको परि प्रभो | 10 | 45 | d | सोऽयं प्रतिहतो वज्र: | 11 | 36 | a |
| सुरासुरगणै र्वृत: | 6 | 38 | d | सोऽश्रौषी र्ऋषिभिस्साकम् | 24 | 56 | a |
| सुरासुरेन्द्रै र्भुजवीर्यवेपितम् | 7 | 10 | a | सोऽसुराणां चमूपति: | 10 | 16 | b |
| सुरेषु दितिजेषु च | 9 | 16 | b | सोऽहं तद्द्रष्टु मिच्छामि | 12 | 12 | c |
| सुलभा युधि विप्रर्षे हि | 20 | 9 | a | सोऽहं दुर्मायिन स्तेऽद्य | 11 | 6 | a |
| सुवासन विरुद्धाद्या: | 13 | 22 | c | सोऽहं विश्वसृजं विश्वम् | 3 | 26 | a |
| सुस्रग्धरोऽथ सन्नह्य | 15 | 8 | c | सौरभाम्र्व्वानलैर्युत: | 2 | 8 | d |
| सुहृदश्चाऽऽदिशन्ति हि | 22 | 4 | d | स्कन्ने रेतसि सोऽपश्यत् | 12 | 35 | a |
| सूक्तावाके द्विजेरित: | 8 | 14 | d | स्तनद्वयञ्चातिकृशोदरीसमं | 8 | 18 | a |
| सूक्तेन तेन पुरुषम् | 10 | 52 | a | स्तनभारकृशोदरम् | 8 | 43 | b |
| सूदयामासु रस्त्रौघै: | 11 | 42 | c | स्तब्धोऽस्यस्मदुपेक्षया | 20 | 15 | b |
| सूनृताया स्सुतो विभु: | 13 | 29 | d | स्तवनैर्जयशब्दैश्च | 21 | 7 | a |
| सूर्पविष्ट उवाचेदम् | 12 | 3 | c | स्तुतिभि: स्त्रिस्तिवाचकै: | 16 | 57 | b |
| सूर्यश्च चक्षूंषि जलं स्मरेत: | 7 | 27 | b | स्तुतिमद्भूत दैवीभि: | 5 | 25 | c |
| सूर्य सोमं हुताशनम् | 4 | 21 | d | स्तुवीत स्तुतिभि: प्रभुम् | 16 | 42 | b |
| सूर्य: किलाऽऽयान्युत वा | 18 | 22 | c | स्तूयमानो जनैरेभि: | 14 | 10 | a |
| सूर्यो बलि सुतै र्देवो | 10 | 30 | c | स्त्रोत्रं निशम्य दिविजैस्सह | 3 | 31 | b |
| सृज्यमानासु मायासु | 10 | 52 | c | स्त्रियो रुदन्ती रासाद्य | 17 | 14 | c |
| सृष्टो दैत्येन सुमहान् | 10 | 50 | a | स्त्रीप्रेक्षण प्रतिसमाक्षण | 12 | 22 | c |
| सेनयो रुभयो राजन्! | 10 | 12 | c | स्त्रीविवाद जुगुप्सया | 9 | 22 | d |
| सेन्द्रा लोकास्त्रयो नृप! | 5 | 16 | b | स्त्रीषु नर्म विवाहे च | 19 | 43 | a |
| सेयं गुणमयी माया | 12 | 40 | a | स्थानं पुरन्दरा द्धृत्वा | 13 | 17 | c |
| सेहेरुजं सुदुर्मर्षम् | 11 | 18 | a | स्थित्युत्पत्त्यप्ययेश्वर | 24 | 28 | b |
| सोत्थाय बद्धाञ्जलिरीडितुं स्थिता | 17 | 6 | a | स्नपनं पञ्चके विभो: | 16 | 50 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| स्नात शुचि र्यथोक्तेन | 16 | 45 | a |
| स्नानं त्रिषवणं चरेत् | 16 | 48 | d |
| स्नायात्कोडविदीर्णया | 16 | 26 | b |
| स्निग्धकुञ्चित केशान्तः | 8 | 33 | c |
| स्नेह बद्धमिदं जगत् | 16 | 18 | d |
| स्पर्शे च कामं नृप रेतसोऽम्भः | 20 | 28 | a |
| स्पृहयन्त इवामोदम् | 16 | 37 | c |
| स्फुरत्किरीटाङ्गदमीनकुण्डल | 20 | 32 | c |
| स्फुरद्भिविशदै श्शस्त्रैः | 10 | 14 | c |
| स्मरन्ति मम रूपाणि | 4 | 24 | c |
| स्फुरन्मकरकुण्डलः | 15 | 9 | b |
| स्मयमानो विसृज्याग्रम् | 7 | 4 | e |
| स्मयमानोऽहन न्मृधे | 11 | 17 | d |
| स्रोतो यथाऽन्तः पतितं गभीरम् | 17 | 27 | d |
| स्वकर्णविभ्राजित कुण्डलोल्लसत् | 12 | 20 | c |
| स्वच्छन्दगति रीश्वरः | 6 | 26 | d |
| स्वच्छां मरकत श्यामाम् | 6 | 3 | c |
| स्वतेजसा सूर्य इव क्षपात्यये | 11 | 26 | d |
| स्वधामाख्यो हरे रंशः | 13 | 29 | a |
| स्वनाथाय समाहताः | 21 | 5 | b |
| स्वपार्षदमुख्या स्सहलोकपालैः | 20 | 32 | b |
| स्वपुष्करेणोद्धृत शीकराम्बुभिः | 2 | 26 | a |
| स्वप्नो यथाहि प्रतिबोध आगते | 10 | 55 | c |
| स्वभर्त्रा कश्यपेन वै | 17 | 1 | b |
| स्व मगान्मुक्त किल्बिषः | 4 | 5 | d |
| स्वमायया तान्यनुकालमृच्छति | 3 | 8 | d |
| स्वमायु र्द्विजलिङ्गेभ्यः | 19 | 14 | c |
| स्वयम्प्रकाशाय नमस्करोमि | 3 | 16 | d |
| स्वयूथै र्दैत्ययूथपैः | 15 | 10 | b |
| स्वर्ग्यं यशस्यं कलिकल्मषापहम् | 4 | 14 | c |
| स्वर्णपुङ्खै र्महेषुभिः | 11 | 23 | b |
| स्वर्णं कृताकृत मिवेह न वस्तु | 12 | 8 | b |
| स्वर्धुन्यभून्नभसि सापतती निमार्ष्टि | 21 | 4 | c |
| स्वर्भानु र्दैवसंसदि | 9 | 24 | b |
| स्वर्लोकस्तु द्वितीयेन | 21 | 31 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| स्ववीर्यं जलकल्मषम् | 7 | 43 | b |
| स्वस्थाय शश्वदुपबृंहितपूर्णबोध | 17 | 9 | c |
| स्वं रूपं जगृहे विभुः | 9 | 27 | d |
| स्वः परो नाऽन्तरं बहिः | 1 | 12 | b |
| स्वागतं ते नम स्तुभ्यम् | 18 | 29 | a |
| स्वागते नाऽभिनन्द्याऽथ | 18 | 27 | a |
| स्वाध्याय श्रुतसम्पन्नाः | 7 | 4 | a |
| स्वानां स नो दास्यति शं सुरप्रियः | 5 | 23 | d |
| स्वाम्यन्तु तत्र कुधियोऽपरईशकुर्युः | 22 | 20 | b |
| स्वायम्भुवस्येह गुरो | 1 | 1 | a |
| स्वायम्भुवं धाम गता अकर्मकम् | 21 | 2 | f |
| स्वाराज्यलाभप्रतिपरितात्मने | 5 | 44 | b |
| स्वरोचिषो द्वितीयस्तु | 1 | 19 | a |
| स्वार्थं प्रत्यबुधो यथा | 19 | 18 | d |
| स्वासु स्वासु च पङ्क्तिषु | 9 | 20 | d |
| स्वां निष्ठा मात्मना स्थितः | 12 | 38 | b |
| स्वांशेन पुत्रत्व मुपेत्य ते सुतान् | 17 | 18 | c |
| स्वांशेन सर्वतनुभृन्मनसि प्रतीत | 3 | 17 | c |
| स्वे स्व आश्रममण्डले | 13 | 16 | d |
| स्वे स्वे काले महीं नृप ! | 14 | 5 | d |
| स्वैरं गृहीत पुरुशक्ति गुणाय भूम्ने | 17 | 8 | b |
| स्वैरिणीनां सुरद्विषः | 9 | 10 | b |
| **ह** | | | |
| हतत्विषो वामन तेजसा नृप ! | 18 | 22 | b |
| हतस्याऽपि विचिन्तयन् | 11 | 13 | d |
| हतस्वधामद्युति रावृतोऽभ्यगात् | 21 | 1 | b |
| हतानां युधि विद्विषाम् | 17 | 14 | b |
| हतांहसो वार्भिरियञ्च भूरभूत् | 18 | 31 | c |
| हतोऽसीति विभर्त्सयन् | 11 | 30 | d |
| हत्वा मैनां हरे शुद्धे | 20 | 13 | c |
| हत्वाऽशासत् त्रिविष्टपम् | 1 | 18 | d |
| हत्वाऽसुरं हयग्रीवम् | 24 | 57 | c |
| हन्त ब्रह्मन्नहो शम्भो ! | 6 | 18 | a |
| हन्त !मुह्येन्न मत्परः | 22 | 27 | d |
| हन्तुं भ्रातृहणं क्रुद्धः | 19 | 7 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| हन्यमानान् स्वकान्दृष्ट्वा | 21 | 18 | a | हयंश्चस्य बलश्शरैः | 11 | 21 | b |
| हयग्रीवश्शङ्कुशिराः | 10 | 21 | a | हर्षयन्विबुधानीकम् | 4 | 26 | c |
| हयग्रीवस्य चेष्टितम् | 24 | 9 | b | हविर्धानी ततोऽभवत् | 8 | 1 | d |
| हयग्रीवोऽन्तिकेऽहरत् | 24 | 8 | d | हविष्मत्प्रमुखा द्विजाः | 13 | 21 | d |
| हयाश्च हयंश्च तुरङ्गवर्णाः | 15 | 5 | b | हविष्मद्वीरकादयः | 5 | 8 | d |
| हया हयैरिभाश्चेभैः | 10 | 8 | c | हविष्मान्सुकृतिस्सत्यः | 13 | 22 | a |
| हयोऽभूच्चन्द्रपाण्डुरः | 8 | 3 | b | हसन्ती नाऽन्वतिष्ठत | 12 | 26 | d |
| हरन्तस्त्यक्तसौहृदाः | 9 | 1 | b | हस्तत्रयमवर्धत | 24 | 19 | d |
| हरन्शृङ्गवतो महिम् | 8 | 4 | d | हस्तस्थामच्छिनद्धरिः | 10 | 43 | d |
| हरिणा स विसर्जितः | 6 | 39 | d | हस्तेनैकेन लीलया | 6 | 38 | b |
| हरिण्यां हरिमेधसः | 1 | 30 | b | हस्त्यश्वरथपत्तीनाम् | 10 | 7 | c |
| हरिन्मरकताश्मभिः | 2 | 4 | d | हंसकारण्डवाकीर्णम् | 2 | 16 | a |
| हरिभिर्दशशतैर्युतः | 11 | 16 | b | हंस सारसचक्राह्व | 15 | 13 | c |
| हरिरन्तरधीयत | 24 | 39 | b | हंसैरन्ये च सूकरैः | 10 | 11 | d |
| हरिरित्याहृतो येन | 1 | 30 | c | हारनूपुरशोभिताम् | 6 | 6 | b |
| हरिर्दीनाऽनुकम्पनः | 16 | 21 | b | हारं सरस्वती पद्मम् | 8 | 16 | c |
| हरिर्नारायणोऽव्ययः | 24 | 27 | b | हाहाकारो महानासीत् | 21 | 27 | a |
| हरिर्नारायणोऽन्तिके | 23 | 13 | b | हित्वा त्रिविष्टपं जग्मुः | 15 | 32 | c |
| हरिर्यथा गजपतिम् | 1 | 31 | c | हिरण्यकशिपुः पुरा | 19 | 17 | b |
| हरिस्तस्य कबन्धस्तु | 9 | 25 | c | हिरण्यगर्भो भगवान् | 22 | 18 | c |
| हरिस्मृतिस्सर्वविपद्विमोक्षणम् | 10 | 55 | d | हिरण्यगर्भो विज्ञाय | 17 | 24 | c |
| हरिस्सिद्धस्वरूपधृत् | 14 | 8 | b | हिरण्यरोमावेदशिराः | 5 | 3 | c |
| हरिस्सोममपाययत् | 12 | 1 | d | हुताशनादास हविर्भिरिष्टात् | 15 | 5 | d |
| हरिं शरणमभ्ययुः | 8 | 37 | b | हुत्वा च हविषाऽनलम् | 9 | 14 | b |
| हरिं सुनन्दाद्यनुगैरुपासितम् | 22 | 15 | b | हूहूर्गन्धर्वसत्तमः | 4 | 3 | d |
| हरिः पुरस्ताज्जगृहे | 7 | 2 | c | हृतश्रियो हतस्थानान् | 16 | 15 | c |
| हरीन्दशशतान्याजौ | 11 | 21 | a | हृतं तदेवाऽद्य तथैव शोभनम् | 22 | 16 | d |
| हरेरद्भुतकर्मणः | 23 | 30 | b | हृतानि प्रबलैर्मम | 16 | 16 | d |
| हरेरद्भुतकर्मणः | 24 | 1 | b | हृते त्रिविष्टपे दैत्यैः | 16 | 1 | c |
| हरेरनन्तस्य गुणत्रयात्मकम् | 20 | 21 | b | हृदि योगविभाविते | 3 | 27 | b |
| हरेरनुमतेन ते | 8 | 30 | d | हृद्यङ्ग ! धर्मस्तनयोः मुरारेः | 20 | 25 | a |
| हरेराराधनं होमम् | 16 | 47 | c | हेत्वर्थकर्ममतयोऽपि फले विकल्पाः | 9 | 28 | b |
| हरेर्जन्माऽऽत्मनि प्रभोः | 17 | 21 | d | हे देवा मम भाषितम् | 6 | 18 | b |
| हरेः कर्मांघनाशनम् | 5 | 1 | b | हेमकुम्भैर्जलं शुचि | 8 | 10 | d |
| हर्यर्चनाऽनुभावेन | 4 | 12 | c | हेमजालविनिर्गच्छत् | 15 | 19 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| हेमाङ्गदलसद्बाहुः | 15 | 9 | a | हैमो नियुतयोजनः | 24 | 44 | d |
| हेमारविन्दोत्पलरेणुवासितम् | 2 | 25 | b | होत्राद्यास्तत्सुता नृप! | 1 | 23 | d |
| हे विप्रचित्ते हे राहो! | 21 | 19 | a | ह्रदे माम विदासिनि | 24 | 22 | d |
| हे हे ते श्रूयतां वचः | 21 | 19 | b | | | | |

000O000

श्रीः APPENDIX-II

# व्याख्यानोद्धृतानां प्रमाणवचनानां आकरनिर्देशनी

## अष्टमःस्कन्धः

| S.No | Adhyaya No | Sloka No | TEXT QUOTED | In commentary | Particular of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| | | | अ | | |
| 1. | 3 | 5 | अक्षरं तमसि लीयते | वीर | सुबा.उ.2 |
| 2. | 3 | 4 | अक्षरात्परतः परः | विज | मुण्ड.उ.2-1-4 |
| 3. | 5 | 29 | अक्षरात्परतः परः | विज | मुण्ड.उ.2-1-2 |
| 4. | 3 | 21 | अक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् | विज | मुण्ड.उ.1-1-7 |
| 5. | 5 | 27 | अक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् | विज | मुण्ड.उ.1-1-7 |
| 6. | 24 | 50 | अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ | वीर | मुण्ड.उ.2-1-4 |
| 7. | 5 | 35 | अग्निर्वा अहमस्मीति | विज | केन.उ. 3-4 |
| 8. | 5 | 35 | अग्निर्वै देवानां मुखं हृदयतमः | विज | |
| 9. | 7 | 25 | अग्निस्सर्वा देवताः | श्रीध | |
| 10. | 7 | 26 | अग्निस्सर्वा देवताः | श्रीध | |
| 11. | 3 | 8 | अजायमानः | वीर | पु.सू.-2-1 |
| 12. | 6 | 8 | अजाविष्णुहरच्छागाः | विज | अम.को.3-187 |
| 13. | 19 | 17 | अजीविष्यन्निमान्नखादन् | विज | |
| 14. | 5 | 43 | अज्ञानां ज्ञानदो विष्णुः | विज | |
| 15. | 3 | 21 | अणोरणीयान् | विज | कठ.उ.2-20 |
| 16. | 19 | 41-42 | अथैतत्पूर्णमध्यात्मं यन्नेति | वीर | |
| 17. | 19 | 42 | अथैतत्पूर्णमध्यात्मं यन्नेति स | श्रीध | |
| 18. | 19 | 39 | अथैतन्मूलं वाचो यदनृतम् | विज | |
| 19. | 1 | 11 | अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने | विज | तैत्ति.उ.2-7-1 |
| 20. | 3 | 21 | अध्यात्मयोगेन | विज | |
| 21. | 6 | 39 | अनन्तोढो मन्दरस्तु | विज | ब्राह्मे |
| 22. | 3 | 3 | अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे | वीर | विश्वक्सेनसंहिता |
| 23. | 16 | 31 | अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा | वीर | भार.12-238-56 |
| 24. | 5 | 30 | अनादिमायया | विज | मण्डू.गौड.पादा..1-16 |
| 25. | 8 | 24 | अनाद्यनन्तकालश्च | विज | ब्राह्मे |
| 26. | 5 | 30 | अनीशया शोचति मुह्यमान | विज | मुण्ड.उ.3-1-2 |
| 27. | 5 | 25 | अनुग्राह्यतया पक्षा | विज | ब्रह्मतर्के |
| 28. | 5 | 26 | अनेजदेकं मनसो---- | श्रीध | ईशा.उ.4 |
| 29. | 5 | 26 | अनेजदेकं मनसो---- | वीर | ईशा.उ.4 |
| 30. | 1 | 12 | अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य | वीर | छान्दो.उ.6-3-2 |
| 31. | 12 | 7 | अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य | वीर | छान्दो.उ.6-3-2 |

| S.No | Adhyaya No | Sloka No | TEXT QUOTED | In commentary | Particular of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| 32. | 8 | 33 | अन्तस्त्ववसिते मृत्यौ स्वभावे | विज | वैज.को.6-5-5 |
| 33. | 24 | 28 | अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां | वीर | तैत्ति.आ.3-11 |
| 34. | 24 | 51 | अन्धतमं प्रविशन्ति | विज | |
| 35. | 24 | 50 | अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः | वीर | कठ.उ.2-5 |
| 36. | 5 | 35 | अन्नमग्निं त्रेधा | विज | छान्दो.उ.6-5-1 |
| 37. | 14 | 10 | अन्यमीशस्य महिमानमिति वीतशोक | विज | |
| 38. | 16 | 20 | अन्येभ्योऽपि दृश्यते | वीर | वार्तिक. under अष्टा 3-2-101 |
| 39. | 2 | 32 | अन्येष्वपि दृश्यते | वीर | अष्टा 3-2-101 |
| 40. | 11 | 40-44 | अपां फेनेन नमुचेश्शिर इन्द्रोवर्तयत् | श्रीध | |
| 41. | 18 | 5 | अभिजिन्नाम नक्षत्रमुपरिष्टादाषाढना | श्रीध | |
| 42. | 18 | 5 | अभिजिन्नाम नक्षत्रमुपरिष्टात् | वीर | |
| 43. | 24 | 28 | अमृतस्यैष सेतुः | वीर | मुण्ड.उ.2-2-5 |
| 44. | 12 | 7 | अयमात्मा ब्रह्म | वीर | बृह.उ.6-4-5 |
| 45. | 2 | 19 | अलब्धुमः स विज्ञेयो नित्यपुष्य | विज | |
| 46. | 6 | 4 | अवदातोऽरुणे पीते श्वेते श्यामे च | विज | |
| 47. | 3 | 21 | अव्यक्तमचलं शान्तम् | विज | |
| 48. | 12 | 7 | अस्थूलमनण्वह्रस्वम् | वीर | बृह.उ.3-3-8-8 |
| 49. | 9 | 15 | अहतं यन्त्रनिर्मुक्तमुक्तं वासः | श्रीध | भ.गी.9-24 |
| 50. | 7 | 24 | अहो बत भवान्येतत् | वीर | भाग 8-7-37 to 40 |
| 51. | 23 | 8 | अहो हि विस्मये | विज | वैज.को.8-8-16 |
| | | | **आ** | | |
| 52. | 11 | 26-28 | आखण्डलस्तुराषाट् | विज | हला.को.1-53 |
| 53. | 1 | 14 | आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य | विज | छान्दो.उ.8-15-1 |
| 54. | 24 | 48 | आचार्यं मां विजानीयात् | वीर | भाग.11-17-27 |
| 55. | 16 | 31 | आञ्जसे रसुक् | वीर | अष्टा.7-1-50 |
| 56. | 7 | 25 | आत्मन आकाश स्सम्भूतः | श्रीध | तैत्ति.उ.2-1-1 |
| 57. | 5 | 37 | आत्मन एष प्राणो जायते | विज | प्रश्न.उ.3-3 |
| 58. | 20 | 23 | आत्मा जीवे कृतौ देहे स्वभावे | विज | वैज.को.6-1-6,7 |
| 59. | 12 | 18 | आत्मानं देवमायया जडीकृतम् | वीर | भाग.8-12-35 |
| 60. | 5 | 26 | आत्मा वा इदमके एवाग्र आसीत् | विज | ऐत.उ.1-1-1 |
| 61. | 3 | 5 | आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् | श्रीध | श्वेता.उ.3-8 |
| 62. | 5 | 29 | आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् | वीर | श्वेता.उ.3-8 |
| 63. | 22 | 3 | आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान् रक्षेत् | श्रीध | मनुस्मृ.7-213 |
| 64. | 5 | 33 | आपो नारा इति प्रोक्ताः | विज | विष्णु.पु.1-4-6 |
| 65. | 1 | 9 | आप्राद्या वा पृथिवी अन्तरिक्षम् | विज | ऋग्वे-1-115-1 |

| S.No | Adhyaya No | Sloka No | TEXT QUOTED | In commentary | Particular of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| 66. | 2 | 8 | आमोदोत्थः (विमर्दोत्थे) परिमलः | विज | अम.को.1-149 |
| 67. | 9 | 20 | आली श्रोणी श्रिया पङ्क्ति | विज | |
| 68. | 19 | 26 | आशुशुक्षणिरर्केऽग्नौ | विज | वैज.को.8-1-50 |
| 69. | 24 | 37-38 | आसीदतीत कल्पान्ते ब्राह्मो | वीर | भाग.8-24-7 |
| | | | इ | | |
| 70. | 17 | 8 | इष्टापूर्तं बहुधाजातं जायमानं | वीर | मना.उ.1-6 |
| 71. | 7 | 29 | ईशानस्सर्वविद्यानाम् | श्रीध | मना.उ.10-8 |
| 72. | 1 | 10 | ईशावास्यम् | श्रीध | ईशा.उ.1 |
| 73. | 1 | 10 | ईशावास्यम् | विज | ईशा.उ.1 |
| 74. | 1 | 10 | ईशावास्यमिदं सर्वम् | वीर | ईशा.उ.1 |
| 75. | 24 | 46 | ईश्वरस्य च सौहार्दं यदृच्छया | वीर | |
| | | | उ | | |
| 76. | 3 | 3 | उत्पन्नस्यापि यत्सत्ता | विज | ब्रह्मतर्के |
| 77. | 16 | 27 | उद्धृताऽसि वराहेण कृष्णेन | वीर | म.ना.उ.4-5 |
| 78. | 7 | 17 | उपमानानि सामान्यवचनैः | वीर | अष्टा.2-1-55 |
| 79. | 24 | 50 | उभावप्यश्रुतग्रन्थौ उभावपि | वीर | |
| 80. | 10 | 57 | उशना जीवयामास | विज | भाग.8-11-47 |
| 81. | 3 | 33 | उस्रिया विजया देवा आदित्या | विज | |
| 82. | 5 | 41 | ऊरू तदस्य यद्वैश्यः | वीर | पु.सू.1-6 |
| | | | ऋ | | |
| 83. | 5 | 41 | ऋचस्सामानि जज्ञिरे | वीर | पु.सु.1-4 |
| 84. | 7 | 25 | ऋतं सत्यं परं ब्रह्म | श्रीध | म.ना.उ.10-10 |
| 85. | 8 | 39/40 | ऋद्धिकामास्सत्रमासीरन् | श्रीध | |
| | | | ए | | |
| 86. | 5 | 30 | एको देवः सर्वभूतेषु गूढः | विज | श्वेता.उ.6-11 |
| 87. | 16 | 20 | एको बहूनां यो विदधाति | वीर | श्वेता.उ.6-13 |
| 88. | 5 | 38 | एतत्सर्वं परे आत्मनि | विज | प्रश्न.उ.4-7 |
| 89. | 5 | 27 | एतद्धत्येवाक्षरं ब्रह्म | विज | कठ.उ.2-16 |
| 90. | 3 | 14 | एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ- | वीर | भगी.13-1 |
| 91. | 3 | 21 | एतस्य वा अक्षरस्य | विज | बृह.उ.3-8-9 |
| 92. | 19 | 40 | एवमेवानृतं त्वदन्नात्मानमावि | श्रीध | |
| 93. | 12 | 7 | एष आत्माऽपहतपाप्मा | वीर | मैत्र.उ.7-7 |
| 94. | 8 | 23 | एष ब्रह्मातिवृद्धस्तपति | विज | |
| 95. | 13 | 17 | एष मे प्रापितः स्थानं | वीर | |
| 96. | 1 | 9 | एष ह्येव आनन्दयाति | विज | तैत्ति.उ.2-7 |

| S.No | Adhyaya No | Sloka No | TEXT QUOTED | In commentary | Particular of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| 97. | 12 | 7 | ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् | वीर | छान्दो.उ.6-8-7 |
| | | | **ओ** | | |
| 98. | 24 | 53/54 | ओकसी मन्दिराश्रममौ | विज | वैजको.को.6-3-4 |
| 99. | 5 | 29 | ओङ्कार आत्मैव | विज | माण्डू.उ.12 |
| 100. | 19 | 38 | ओमिति सत्यम् | वीर | |
| 101. | 19 | 40 | ओमिति सत्यं नेत्यनृतं | श्रीध | |
| 102. | 7 | 25 | ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म | विज | भगी.8-13 |
| 103. | 3 | 2 | ओं तत्सदिति निर्देशो | वीर | भगी.17-23 |
| 104. | 3 | 24 | ओं नमो भगवते | वीर | भाग.8-3-2 |
| | | | **क** | | |
| 105. | 9 | 17 | करस्य करभो बहिः | वीर | अम.को.2-341 |
| 106. | 12 | 39 | कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मान मैक्षत् | विज | कठ.उ.4-1 |
| 107. | 5 | 39/40 | कस्तस्य मेढ्रात् | विज | भाग.2-1-32 |
| 108. | 8 | 20 | कस्मै देवाय हविषा विधेम | विज | श्वेता.उ.4-13 |
| 109. | 5 | 27 | कं ब्रह्म खं ब्रह्म | विज | छान्दो.उ.4-10-4 |
| 110. | 3 | 14 | काठिन्यवान्यो बिभर्ति | वीर | विष्णु.पु.1-14-28 |
| 111. | 16 | 31 | काठिन्यवान्यो बिभर्ति | वीर | विष्णु.पु.1-14-28 |
| 112. | 3 | 2 | कारणन्तु ध्येयः | वीर | अथ.शिखा.उ-3 |
| 113. | 12 | 6 | कारणन्तु ध्येयः | वीर | अथ.शिखा.उ.2-17 |
| 114. | 5 | 28 | कार्यते ह्यवशः कर्म | विज | भगी.3-5 |
| 115. | 10 | 57 | कालनेम्यादयः सर्वे | विज | ब्राह्मे |
| 116. | 24 | 37/38 | कालेनागत निद्रस्य धातोः | वीर | भाग.8-24-8 |
| 117. | 8 | 26 | काहले गोमुखे तूर्यदुन्दुभौ च | विज | |
| 118. | 1 | 114 | कुर्वन्नेवेह कर्माणि | विज | ईशा.उ.2 |
| 119. | 5 | 29 | कूटस्थोऽक्षर उच्यते | विज | भगी.15-16 |
| 120. | 20 | 27/28 | कोरकजालक कलिका- | विज | हला.को.2-31 |
| 121. | 16 | 33 | को ह्येवाऽन्यात्कः प्राण्या | वीर | तैत्ति.उ.2-7 |
| 122. | 3 | 2 | क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि | वीर | वार्तिक.8-29 |
| 123. | 22 | 20 | क्रिडार्थं सृष्टिरित्येके | विज | श्रुतिः |
| 124. | 3 | 5 | क्वचित्तिरोहितम् तदीक्षते | वीर | भाग.8-3-4 |
| 125. | 5 | 29 | क्षयं तमस्यरजसः पराके | वीर | ऋक.सं.7-100-5 |
| 126. | 8 | 20 | क्षीणः क्षीणः प्रविशति | विज | |
| 127. | 3 | 3 | गजेन्द्रो भगवत्स्पर्शात् | वीर | भाग.8-4-6 |
| 128. | 12 | 16 | गन्तव्या ते वसति रलका नाम | विज | मेघदूतम् -7 |
| 129. | 16 | 29 | गन्धमाल्यादिभिश्चाऽर्चेत् | वीर | भाग.8-16-39 |

| S.No | Adhyaya No | Sloka No | TEXT QUOTED | In commentary | Particular of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| 130. | 3 | 23 | गीर्वाग्वाणी भारती च | विज | |
| 131. | 1 | 11 | चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रम् | श्रीध | बृह.उ.4-4-18 |
| 132. | 3 | 4 | चक्षुषश्चक्षुः | श्रीध | केन.उ.1-2 |
| 133. | 5 | 36 | चक्षोस्सूर्यो अजायत | वीर | पु.सू.1-6 |
| 134. | 5 | 36 | चक्षोस्सूर्यो अजायत | वीज | पु.सू.1-6 |
| 135. | 24 | 50 | चक्षोस्सूर्यो अजायत | वीर | पु.सु.1-6 |
| 136. | 16 | 31 | चत्वारिशृङ्गास्त्रयो अस्य | श्रीध | म.ना.उ.10-1 |
| 137. | 16 | 31 | चत्वारि श्रृङ्गास्त्रयो अस्य पादाः | वीर | म.ना.उ.10-1 |
| 138. | 16 | 31/32 | चत्वारि शृङ्गा वेदास्तु | वीज | |
| 139. | 5 | 34 | चन्द्रमा मनसो जातः | वीर | पु.सू.1-6 |
| 140. | 5 | 38 | चन्द्रमा मनसो जातः | विज | पु.सू.1-6 |
| 141. | 5 | 39 | छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् | वीर | पु.सु.1-4 |
| 142. | 5 | 27 | छाया त्वविद्या सम्प्रोक्ता | विज | ब्रह्मतर्के |
| 143. | 23 | 11/14 | छिद्रं रन्ध्रापराधयोः | विज | वैज.को.6-3-9 |
| 144. | 5 | 28 | जगच्चक्रस्याक्षभूतो | विज | ब्रह्मतर्के |
| 145. | 24 | 48 | जातरूपं श्रीमुकुटं हिरण्यं | विज | |
| 146. | 3 | 4 | जीजीविषे नाऽहमिह | वीर | भाग.8-3-25 |
| 147. | 16 | 29 | जुहुयान्मूलविद्यया जपेदष्टोत्तरं त | वीर | भाग.8-16-40 |
| 148. | 24 | 37/38 | ततः समुद्र उद्वेलः सर्वतः समदृश्यत | वीर | भाग.8-10-51 |
| 149. | 12 | 7 | तत्सत्यम् स आत्मा | वीर | छान्दो.उ.6-8-7 |
| 150. | 5 | 26 | तत्सवितुर्वरेण्यम् | वीज | म.ना.उ.11-7 |
| 151. | 6 | 11 | तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् | वीर | तैत्ति.उ.2-6 |
| 152. | 6 | 11 | तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत् | विज | तैत्ति.उ.2-6 |
| 153. | 12 | 7 | तत्त्वमसि | वीर | छान्दो.उ.6-8-7 |
| 154. | 7 | 32 | तत्र तत्र स्तुतिपदैर्हरिरेव तु | विज | ब्राह्मे |
| 155. | 3 | 1 | तत्र तं बुद्धिसंयोगं | वीर | भ.गी.6-43-44 |
| 156. | 3 | 6 | तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् | वीर | भ.गी.14-6 |
| 157. | 5 | 31 | तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकम् | वीर | भ.गी.14-6 |
| 158. | 3 | 8 | तदरूपमनामयम् | वीर | |
| 159. | 24 | 31 | तदेततप्रेयः | विज | बृह.उ.1-4-8 |
| 160. | 1 | 12 | तदेवर्तं तदु स्त्यमाहुः | विज | म.ना.उ.1-6 |
| 161. | 24 | 30 | तद्धास्यां ततः क्षीयते | विज | बृह.उ.1-4-15 |
| 162. | 16 | 57/61 | तप स्सन्तोष आस्तिक्यं यमाः | विज | वराह.उ.5-13 |
| 163. | 24 | 50 | तमेव भान्त मनुभाति सर्वं | वीर | कठ.उ.6-2-15 |

| S.No | Adhyaya No | Sloka No | TEXT QUOTED | In commentary | Particular of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| 164. | 3 | 7 | तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति | श्रीध | श्वेता.उ.3-8 |
| 165. | 5 | 29 | तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति | श्रीध | श्वेता.उ.3-4-6 |
| 166. | 19 | 38 | तस्मात् काल एव दद्यात् काले | वीर | |
| 167. | 19 | 43 | तस्मात्काल एव दद्यात्काले न | श्रीध | |
| 168. | 1 | 9 | तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते | विज | छान्दो.उ.6-8-1 |
| 169. | 3 | 25 | तस्मिन्दृष्टे परावरे | विज | मुण्ड.उ.2-2-9 |
| 170. | 3 | 22 | तस्याऽयुताऽयुतशतैक | वीर | |
| 171. | 3 | 7 | तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टम् | वीर | कठ.उ.2-12 |
| 172. | 5 | 26 | तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टम् | वीर | कठ.उ.2-12 |
| 173. | 24 | 53 | तं देवतानां परमं च दैवतम् | वीर | श्वेता.उ.5-7 |
| 174. | 20 | 9 | तीर्थं मन्त्राद्युपाध्याये शास्त्रेषु | विज | वैज.को.6-3-13,14 |
| 175. | 19 | 26 | तेजो बले प्रभावे(च)ऽन्ने | विज | वैज.को.6-3-14-15 |
| 176. | 12 | 7 | तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् | वीर | श्वेता.उ-3-9 |
| 177. | 8 | 35 | तेषां सत्याञ्चालनार्थं | विज | ब्राह्मे |
| 178. | 5 | 29 | त्रिपादस्यामृतं दिवि | वीर | छान्दो.उ.3-12-6 |
| 179. | 24 | 37/38 | त्वं तावदोषधीः सर्वाः | वीर | भाग.8-24-34 |
| 180. | 24 | 46 | त्वं तावदोषधीः सर्वाः | श्रीध | भाग.8-24-34 |
| | | | द | | |
| 181. | 15 | 1 | दत्त्वेमां याचमानाय विष्णवे | वीर | भाग.8-13-13 |
| 182. | 19 | 39 | दयेतत्त्वेमेन | वीर | |
| 183. | 5 | 38 | दिशः श्रोत्रात् | वीर | पु.सू.1-6 |
| 184. | 5 | 38 | दिशः श्रोत्रात् | विज | पु.सू.1-6 |
| 185. | 3 | 7 | दृश्यते त्वग्र्यया | वीर | कठ.उ.3-12 |
| 186. | 9 | 29 | देहात्मजादिष्वेव महाद्वारं | विज | |
| 187. | 7 | 40 | दैवी स्वस्तिरस्तु नः | वीर | पु.सू.शान्तिपाठः |
| 188. | 5 | 30 | दैवी ह्येषा गुणमयी | वीर | भ.गी.7-14 |
| 189. | 5 | 43 | द्रव्यं कर्म च कालश्च | विज | भाग.2-5-14 |
| 190. | 1 | 11 | द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया | वीर | मुण्ड.उ.3-1-1 |
| 191. | 5 | 29 | द्वा सुपर्णा सयुजा | श्रीध | श्वेता.उ.4-6 |
| 192. | 5 | 29 | द्वा सुपर्णा सयुजा | विज | मुण्ड.उ.3-1-1 |
| 193. | 5 | 36 | ध्येयस्सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती | विज | |
| 194. | 3 | 7 | न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् | वीर | कठ.उ.6-9 |
| 195. | 5 | 46 | न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् | वीर | कठ.उ.6-9 |
| 196. | 1 | 9 | न तत्र चक्षु र्गच्छति न वाक् | विज | केन.उ.1-3 |
| 197. | 5 | 26 | न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते | वीर | श्वेता.उ.6-8 |

| S.No | Adhyaya No | Sloka No | TEXT QUOTED | In commentary | Particular of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| 198. | 12 | 7 | न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते | वीर | श्वेता.उ-6-8 |
| 199. | 8 | 21 | न तदस्ति पृथिव्यां वा | वीर | भ.गी.18-40 |
| 200. | 24 | 6 | न तदस्ति पृथिव्यां वा | वीर | भ.गी.18-40 |
| 201. | 2 | 33 | न तस्येशे कश्चन | वीर | म.ना.उ.1-10 |
| 202. | 23 | 26/29 | न ते विष्णो जायमानो न जातः | विज | ऋक.मं.7-99-2 |
| 203. | 5 | 29 | न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये | विज | माण्डू.उ.का.14 |
| 204. | 1 | 9 | न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये | विज | माण्डू.उ.कारिक-14 |
| 205. | 3 | 7 | न मांसचक्षुरभिवीक्षते तम् | वीर | |
| 206. | 5 | 25 | न मांसचक्षुरभिवीक्षते तम् | वीर | |
| 207. | 3 | 17 | न मे भक्तः प्रणश्यति | वीर | भ.गी.9-31 |
| 208. | 19 | 41/42 | न यत्सर्वं मोंकुर्यात् रिक्तं | वीर | |
| 209. | 19 | 43 | न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले | विज | |
| 210. | 5 | 26 | न हि सुज्ञेय अणुरेषधर्मः | विज | कठ.उ.1-21 |
| 211. | 22 | 30 | न ह्येतस्मिन् कुले कश्चिन्निःसत्त्व | श्रीध | भाग.8-19-3 |
| 212. | 3 | 7 | नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय | श्रीध | पु.सू. 7 |
| 213. | 5 | 38 | नाभ्या आसीदन्तरिक्षम् | वीर | पु.सू.1-6 |
| 214. | 3 | 5 | नाऽसदासीन्नो सदासीत् तदानीं | वीर | ऋक्.सं.10-129-1 |
| 215. | 8 | 23 | निजमात्मीय नित्ययोः | विज | वैज.को.6-4-9 |
| 216. | 24 | 28 | नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम् | वीर | मुण्ड.उ.1-1-6 |
| 217. | 3 | 8 | निरनिष्ठो निरवद्यः | विज | |
| 218. | 5 | 30 | निवृत्तेः सर्वदुःखानां | विज | आगम.10 |
| 219. | 5 | 26 | निष्कलं निष्क्रियं शान्तं | वीर | श्वेता.उ.6-19 |
| 220. | 5 | 26 | निष्कलं निष्क्रियं शान्तम् | विज | श्वेता.उ.6-19 |
| 221. | 12 | 7 | निष्कलम् निष्क्रियं | वीर | श्वेता.उ.6-19 |
| 222. | 8 | 20 | नूनं तर्केऽर्थनिश्चये | विज | वैज.को.8-7-22 |
| 223. | 7 | 31 | नेह नानास्ति किञ्चन | विज | बृह.उ.4-4-19 |
| 224. | 5 | 26 | नैषा तर्केण मतिरापनेया | विज | कठ.उ.2-9 |
| | | | प | | |
| 225. | 5 | 35 | पचाम्यन्नं चतुर्विधम् | विज | भगी.15-14. |
| 226. | 7 | 25 | पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं | श्रीध | म.ना.उ.9-3 |
| 227. | 12 | 7 | पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम् | वीर | म.ना.उ.9-3 |
| 228. | 5 | 32 | पद्भ्यां भूमिः | वीर | पु.सू.13 |
| 229. | 3 | 14 | परं ज्योतिः उपसम्पद्यते | विज | छान्दो.उ.8-12-3 |
| 230. | 19 | 38 | पराग्वा एतद्रिक्तमक्षरम् | श्रीध | |
| 231. | 19 | 38 | पराग्वा एतद्रिक्तमक्षरम् | वीर | |

| S.No | Adhyaya No | Sloka No | TEXT QUOTED | In commentary | Particular of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| 232. | 19 | 41 | पराग्वा एतद्रिक्तमक्षरं यदेतदोमिति | श्रीध | |
| 233. | 19 | 41/42 | पराग्वा एतद्रिक्तमक्षरं यदेतदोम् | वीर | |
| 234. | 19 | 41 | पराग्वा एतद्रिक्तमक्षरं यदेतदोम् | विज | |
| 235. | 19 | 9 | पराञ्चिखानि व्यवृणोत् | विज | कठ.उ.4-1 |
| 236. | 3 | 21 | परात्परं परमः परार्ध्यः | विज | |
| 237. | 3 | 2 | परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते | विज | प्रश्न.उ.5-5 |
| 238. | 5 | 25 | परा पूर्वेषाम् | विज | |
| 239. | 17 | 27 | परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते | वीर | श्वेता.उ.6-8 |
| 240. | 5 | 32 | पातालमेतस्य हि पादमूलम् | विज | भाग.2-1-26 |
| 241. | 5 | 32 | पादोऽस्य विश्वाभूतानि | विज | पु.सू.2 |
| 242. | 5 | 32 | पुमान्न देवो न नरो | वीर | विष्णु.पु.2-13-98 |
| 243. | 13 | 9 | पुमान् स्त्रिया | वीर | अष्टा.1-2-67 |
| 244. | 19 | 39 | पुष्पं हि फलं वाचः सत्यं | विज | |
| 245. | 3 | 30 | पूर्णमदः पूर्णमिदम् | विज | बृह.उ.5-1-1 |
| 246. | 3 | 13 | पूर्वमेवाऽह मिहाऽऽसमिति | श्रीध | |
| 247. | 1 | 10 | प्रकृतिं पुरुषं च | विज | भ.गी.13-19 |
| 248. | 8 | 20 | प्रजापतिः स्वां दुहितरं अभ्यध्यायत् | विज | |
| 249. | 5 | 29 | प्रणवं हीश्वरं | विज | |
| 250. | 24 | 6 | प्रधान क्षत्रेज्ञपति र्गुणेशः | वीर | श्वेता.उ.6-16 |
| 251. | 16 | 8 | प्रातर्जुहोति | वीर | |
| 252. | 12 | 18 | प्राद्रवत्सा पृथुश्रेणी माया | वीर | भाग.8-12-30 |
| 253. | 5 | 27 | प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः | विज | बृह.उ.4-4-18 |
| 254. | 5 | 37 | प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः | विज | बृह.उ.4-4-18 |
| 255. | 5 | 37 | प्राणाद्वायुरजायत | वीर | पु.सू.1-6 |
| 256. | 12 | 9 | फलमत उपपत्तेः | वीर | ब्र.सू.3-7-37 |
| | | | ब | | |
| 257. | 3 | 11 | बलज्ञान समाहारः सत्त्वं केवल मेव च | विज | |
| 258. | 3 | 16 | बलमानन्द ओजश्च | विज | |
| 259. | 23 | 9/10 | बलिरप्यसुरावेशात् स्तुवन्नपि | विज | ब्रह्माण्डे |
| 260. | 3 | 8 | बहुधा विजायते | वीर | पु.सू. 2-1 |
| 261. | 4 | 14 | बदारायण एतत्ते | वीर | भाग. 8-1-31 |
| 262. | 5 | 41 | बाहू राजन्यः कृतः | वीर | पु.सू. 1-5 |
| 263. | 5 | 32 | बृहन्तो ह्यस्मिन् गुणाः | विज | |
| 264. | 16 | 26 | ब्रह्मचार्यथ तद्राज्याम् | श्रीध | भाग.8-16-44 |
| 265. | 7 | 24 | ब्रह्म दृष्टिरुत्कर्षात् | वीर | ब्रसू.4-1-5 |

| S.No | Adhyaya No | Sloka No | TEXT QUOTED | In commentary | Particular of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| 266. | 3 | 21 | ब्रह्मविदाप्नोति परम् | विज | तैत्ति.उ.2-1-1 |
| 267. | 5 | 34 | ब्रह्मा देवनां पदवीं | विज | महा.भा. 8-4 |
| 268. | 5 | 41 | ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् | वीर | पु.सू. 1-6 |
| 269. | 16 | 9 | ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् | वीर | पु.सू. 1-6 |
| 270. | 1 | 9 | भयात्तपति सूर्यः | विज | कठ.उ. 6-3 |
| 271. | 2 | 33 | भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति | श्रीध | तैत्ति.उ. 2-8 |
| 272. | 1 | 9 | भीषोदेति सूर्यः | विज | तैत्ति.उ. 2-8 |
| 273. | 5 | 28 | भूमिरापोऽनलो वायुः | वीर | भ.गी. 7-4 |
| | | | **म** | | |
| 274. | 9 | 18 | मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य | श्रीध | अम.को. 2-341 |
| 275. | 14 | 11 | मनवोऽस्मिन् व्यतीता षट् | वीर | भाग. 8-1-4 |
| 276. | 24 | 53/54 | मन्मना भव मद्भक्तो | विज | भ.गी. 18-65 |
| 277. | 1 | 18 | मन्वन्तरं मनुर्देवाः मनुपुत्राः | श्रीध | भग. 12-7-15 |
| 278. | 1 | 18 | मन्वन्तरं मनुर्देवाः मनुपुत्राः | वीर | भाग. 12-7-15 |
| 279. | 5 | 26 | महतो भूत निःश्वसितमेत- | विज | मैत्रा.उ.6-32 |
| 280. | 3 | 14 | महदाद्या विशेषान्ताः | वीर | विष्णु.पु. 1-2-53 |
| 281. | 3 | 4 | माद्दक्प्रपन्नपशुपाशविमोक्षणाय | वीर | भाग. 8-3-17 |
| 282. | 11 | 4/7 | मायाभिस्तूपसिसृप्सन्तमिन्द्राद्या | विज | |
| 283. | 16 | 31 | मार्गमुद्भवदालूनः | श्रीध | |
| 284. | 5 | 35 | मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च | वीर | पु.सू.1-6 |
| 285. | 5 | 49 | मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च | विज | पु.सू.1-6 |
| 286. | 16 | 9 | मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च | वीर | पु.सू.1-6 |
| 287. | 2 | 33 | मृत्युर्धावति पञ्चमः | वीर | कठ.उ.6-3 |
| 288. | 2 | 33 | मृत्युर्धावति पञ्चमः | विज | कठ.उ.6-3 |
| 289. | 8 | 20 | मोक्षदस्तु जनार्दनः | विज | |
| | | | **य** | | |
| 290. | 16 | 20 | य आत्मदा बलदा | वीर | नृ.पू.तापिनी.उ.2-12 |
| 291. | 3 | 17 | य आत्मनि तिष्ठन् | श्रीध | बृह.उ.3-7-22 |
| 292. | 5 | 27 | य आत्मनि तिष्ठन् | विज | बृह.उ.3-7-22 |
| 293. | 5 | 29 | य आत्मनि तिष्ठन् | विज | बृह.उ.3-7-22 |
| 294. | 12 | 7 | य आत्मनि तिष्ठन् | वीर | बृह.उ.3-7-22 |
| 295. | 24 | 28 | य आत्मनि तिष्ठन् | वीर | बृह.उ.3-7-22 |
| 296. | 8 | 39 | य एव यजमानाः त एव | वीर | |
| 297. | 5 | 36 | य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः | श्रीध | छान्दो.उ.1-6-6 |
| 298. | 5 | 36 | य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः | वीर | छान्दो.उ.1-6-6 |

| S.No | Adhyaya No | Sloka No | TEXT QUOTED | In commentary | Particular of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| 299. | 1 | 11 | यच्चक्षुषा न पश्यति येन | विज | केन.उ.1-7 |
| 300. | 16 | 31 | यज्ञायाऽऽचरतः कर्म समग्रं | वीर | |
| 301. | 16 | 31 | यज्ञो वै विष्णुः | वीर | तैत्ति.सं.1-5-6 |
| 302. | 17 | 25/26 | यज्ञो वै विष्णुः पशवः | श्रीध | तैत्ति.सं.1-5-6 |
| 303. | 17 | 26 | यज्ञो वै विष्णुः | वीर | तैत्ति.सं.1-5-6 |
| 304. | 3 | 3 | यज्ञो वा इमानि भूतानि | विज | तैत्ति.उ.3-1 |
| 305. | 24 | 28 | यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते | वीर | तैत्ति.उ.3-1 |
| 306. | 3 | 10 | यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य | श्रीध | तैत्ति.उ.2-9 |
| 307. | 3 | 16 | यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य | वीर | तैत्ति.उ.2-9 |
| 308. | 3 | 21 | यतो वाचो निवर्तन्ते | विज | तैत्ति.उ.2-4 |
| 309. | 3 | 7 | यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम् | वीर | मुण्ड.उ.1-6 |
| 310. | 16 | 30 | यत्तदद्रेश्य मग्राह्यमगोत्रं | वीर | मुण्ड.उ.1-6 |
| 311. | 3 | 3 | यत्प्रयन्ति | विज | तैत्ति.उ.3-1 |
| 312. | 5 | 29 | यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति | वीर | पु.सू.1-6 |
| 313. | 3 | 14 | यथा जलस्थ आभासः | श्रीध | भाग.3-27-12 |
| 314. | 16 | 31 | यथैवमृग्भिः शंसन्ति | वीर | |
| 315. | 24 | 48 | यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम् | श्रीध | |
| 316. | 24 | 48 | यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वं | वीर | |
| 317. | 3 | 8 | यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिः | वीर | भ.गी.4-7 |
| 318. | 5 | 46 | यदा यदा हि धर्मस्य | वीर | भ.गी.4-7 |
| 319. | 5 | 46 | यदा यदा हि धर्मस्य | विज | भ.गी.4-7 |
| 320. | 16 | 31/32 | यदेन मृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिः | श्रीध | |
| 321. | 3 | 8 | यद्ब्रह्मणो गुणशरीर | वीर | |
| 322. | 16 | 31 | यद्भूतयोनिम् | वीर | |
| 323. | 5 | 33 | यद्यत्प्रथममभृतं | विज | |
| 324. | 20 | 21 | यद्यद्भवान् वाञ्छति तत्प्रतीच्छ | श्रीध | भाग.8-18-32 |
| 325. | 5 | 26 | यद्वाचाऽनभ्युदितं येन | श्रीध | केन.उ.1-4 |
| 326. | 5 | 26 | यद्वाचाऽनभ्युदितम् | वीर | केन.उ.1-4 |
| 327. | 5 | 26 | यद्वाचाऽनभ्युदितम् | विज | केन.उ.1-5 |
| 328. | 12 | 18 | यन्मे दुस्तरया स्वैरं | वीर | भाग.8-12-38 |
| 329. | 5 | 25 | यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः | विज | मुण्ड.उ.2-22 |
| 330. | 5 | 30 | यमेवैष वृणुते | विज | कठ.उ.2-22 |
| 331. | 5 | 43 | यमेवैष वृणुते | विज | कठ.उ.2-22 |
| 332. | 23 | 7 | यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः | विज | कठ.उ.2-22 |
| 333. | 5 | 36 | यश्चाऽसावादित्ये | विज | तैत्ति.उ.2-8 |

| S.No | Adhyaya No | Sloka No | TEXT QUOTED | In commentary | Particular of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| 334. | 3 | 8 | यस्य चैतत्कर्म स वै वेदितव्यः | विज | कौषी.उ.4-1-8 |
| 335. | 5 | 38 | यस्य पृथिवी शरीरम् | विज | बृह.उ.3-7-3 |
| 336. | 5 | 27 | यस्य भासा सर्वमिदं विभाति | विज | कठ.उ.6-2-15 |
| 337. | 12 | 7 | यः पृथिव्यां तिष्ठन् | वीर | बृह.उ.3-7-3 |
| 338. | 5 | 27 | यः प्राणे तिष्ठन् | विज | बृह.उ.3-7-16 |
| 339. | 1 | 9 | यः सर्वज्ञः | विज | मुण्ड.उ.1-1-9 |
| 340. | 12 | 9 | ये च वेदविदो विप्राः ये च | वीर | भार.3-48-26 |
| 341. | 3 | 1 | येन चेतयते विश्वम् | श्रीध | भाग.8-1-9 |
| 342. | 3 | 3 | येन जातानि जीवन्ति | विज | तैत्रि.उ.3-1 |
| 343. | 2 | 9 | ये मां त्वाञ्च सरश्चेदम् | वीर | भाग.8-4-17 |
| 344. | 8 | 39/40 | ये यजमानास्ते ऋत्विजः | श्रीध | |
| 345. | 20 | 8 | ये लोका दानशीलानां स | विज | याज्ञ.स्मृ.9-213 |
| 346. | 5 | 26 | यो देवानां नामधा एक एव | विज | |
| 347. | 24 | 46 | योऽसावस्मिन्महाकल्पे | श्रीध | भाग.8-24-11 |
| 348. | 24 | 37/38 | योऽसावस्मिन्महाकल्पे | वीर | भाग.8-24-11 |
| | | | र | | |
| 349. | 6 | 22 | रज्ञौ चक्षुषि नेत्रं स्यात् | विज | |
| 350. | 3 | 32 | रिक्तहस्तेन नोपेयाद्राजानं | वीर | |
| 351. | 7 | 45 | रुद्रस्य यशसोऽर्थाय | विज | ब्राह्मे |
| 352. | 24 | 37/38 | रूपं स जगृहे मात्स्यं | वीर | भाग.1-3-15 |
| 353. | 8 | 3 | रूपं लोभः कार्यो न वै जातु रोषः | वीर | भाग.8-6-25 |
| | | | व | | |
| 354. | 19 | 43 | वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र | श्रीध | याज्ञ.स्मृ.5-83 |
| 355. | 24 | 37/38 | वर्धमानो महामेघैः वर्षद्भि | वीर | भाग.8-24-41 |
| 356. | 19 | 39 | वाचः सत्यं पुष्पं फलं च | वीर | |
| 357. | 5 | 35 | वाचो वह्नेर्मुखं क्षेत्रम् | विज | |
| 358. | 3 | 17/18 | विज्ञानमानन्दं ब्रह्म | विज | बृह.उ.3-9-28 |
| 359. | 6 | 8 | विज्ञानमानन्दं ब्रह्म | विज | बृह.उ.3-9-28 |
| 360. | 12 | 7 | विज्ञानमानन्दं | वीर | बृह.उ.3-9-28 |
| 361. | 5 | 26 | विद्यानां प्रथमो वक्ता | विज | |
| 362. | 5 | 28 | विद्युद्ब्रह्मेत्युपासीत | विज | श्रुतिः |
| 363. | 8 | 20 | विधिनोक्तेन मार्गेण | विज | |
| 364. | 12 | 9 | विमलोत्कर्षिणी ज्ञाना क्रिया | वीर | |
| 365. | 23 | 29 | विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रावोचं | वीर | ऋक्.मं.1-154-1 |
| 366. | 23 | 26/29 | विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रावोचं | विज | ऋक्.मं.1-154-1 |

| S.No | Adhyaya No | Sloka No | TEXT QUOTED | In commentary | Particular of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| 367. | 24 | 46 | वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे सम्प्रश्ने | वीर | भाग.8-24-35 |
| 368. | 16 | 29 | वेदाह मेतं पुरुषं महान्तम् | वीर | पु.सू.1-6 |
| 369. | 23 | 26/29 | व्यत्ययो बहुलम् | विज | अष्टा.1-85-77 |
| 370. | 5 | 40 | शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत | वीर | पु.सू.1-6 |
| | | | **स** | | |
| 371. | 3 | 30 | स आत्मा अङ्गान्यन्या | वीर | तैत्ति.उ.1-5-1 |
| 372. | 24 | 28 | स उत्तमः | वीर | छान्दो.उ.8-12-3 |
| 373. | 3 | 24 | स एष आत्मा नेति नेति | विज | बृह.उ.3-9-26 |
| 374. | 5 | 30 | स एष सर्वेश्वरः | विज | नृ.पूर्व.उ.4-2 |
| 375. | 24 | 28 | सकारणं कारणाधिपाधिपः | वीर | श्वेता.उ.6-9 |
| 376. | 24 | 28 | स तत्र पर्येति | वीर | छान्दो.उ.8-12-3 |
| 377. | 1 | 9 | सतासौम्य | विज | छान्दो.उ.6-8-1 |
| 378. | 6 | 11 | सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत् | वीर | तैत्ति.उ.2-6 |
| 379. | 5 | 26 | सत्यं ज्ञानमनन्तम् | वीर | तैत्ति.उ.2-1-1 |
| 380. | 5 | 26 | सत्यं ज्ञानमनन्तम् | विज | तैत्ति.उ.2-1-1 |
| 381. | 12 | 5 | सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म | वीर | तैत्ति.उ.2-1-1 |
| 382. | 12 | 7 | सदेव सौम्येदमग्र आसीत् | वीर | छान्दो.उ.6-2-1 |
| 383. | 3 | 14 | सदेहः सुखगन्धश्च | विज | |
| 384. | 3 | 11 | सन्न्यास योगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः | श्रीध | मुण्ड.उ.3-2-6 |
| 385. | 24 | 39 | सप्तमेऽद्यतनादूर्ध्वमह- | वीर | भाग.8-24-32 |
| 386. | 19 | 36 | सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणा | विज | भ.गी.2-34 |
| 387. | 19 | 42 | स यत्सर्वमोङ्कार्याद्रच्यादात्मानं | विज | |
| 388. | 3 | 8 | सर्व कर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः | वीर | छान्दो.उ.3-14-4 |
| 389. | 5 | 48 | सर्वधर्मान्परित्यज्य | विज | भ.गी.18-66 |
| 390. | 1 | 13 | सर्वनामा सर्वकर्मा | विज | |
| 391. | 1 | 13 | सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः | वीर | छान्दो.उ.3-14-2,3 |
| 392. | 12 | 7 | सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः | वीर | छान्दो.उ.3-14-2,3 |
| 393. | 5 | 29 | सर्वस्य हृदये स्थितः | विज | |
| 394. | 3 | 3 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म | विज | बृह.उ.3-14-1 |
| 395. | 12 | 7 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म | वीर | छान्दो.उ.3-14-1 |
| 396. | 7 | 32 | सर्वात्मा प्रीयते हरिः | विज | भाग-8-7-40 |
| 397. | 12 | 9 | सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति | वीर | भ.गी.15-15 |
| 398. | 5 | 38 | सहस्रशीर्षा पुरुषः | विज | पु.सू.1-1 |
| 399. | 9 | 19 | सुधा पयसि देवात्रे | विज | |
| 400. | 5 | 33 | सूर्य सोम यमेन्द्रादीन् | विज | ब्रह्मतर्के |

| S.No | Adhyaya No | Sloka No | TEXT QUOTED | In commentary | Particular of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| 401. | 19 | 41/42 | सैनं तत्रैव हन्यात् | वीर | |
| 402. | 13 | 9 | सैव भूत्वाऽथ बडबा नासत्यौ | श्रीध | भाग.6-6-40 |
| 403. | 13 | 9 | सैव भूत्वाऽथ बडबा नासत्यौ | वीर | भाग.6-6-40 |
| 404. | 5 | 36 | सैषा त्रय्येव विद्या तपति | श्रीध | |
| 405. | 12 | 3 | सैषामविन्दत्सस्वासो अग्निं | विज | |
| 406. | 3 | 16 | सोऽकामयत बहुस्याम् | श्रीध | तैत्ति.उ.2-6 |
| 407. | 5 | 34 | सोमो ददद्गन्धर्वाय सोमः | विज | मन्त्रप्रश्ने |
| 408. | 5 | 27 | स्वयम्भूस्त्रियुगः | विज | |
| 409. | 1 | 9 | स्वाद्वत्त्यनश्नन् अन्यो | विज | मुण्ड.उ.3-1-1 |
| 410. | 3 | 4 | स्वे महिम्नि | विज | छान्दो.उ.7-24-1 |
| 411. | 12 | 7 | स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः | वीर | छान्दो.उ.7-24-1 |
| | | | ह | | |
| 412. | 3 | 8 | हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते | वीर | छान्दो.उ.1-6-6 |
| 413. | 5 | 26 | हृदय आहितं यत् | विज | |
| 414. | 3 | 7 | हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तः | वीर | कठ.उ.6-9 |
| 415. | 5 | 26 | हृदि ह्ययमात्मा प्रतिष्ठितः | वीर | प्रश्न.उ.3-6 |

ooo0ooo

Hari Om

# ŚRĪMAD

# BHĀGAVATA

# MAHĀPURĀṆAM

## *of Maharṣi Vedavyāsa*

## SKANDHA-IX

***With the Commentaries :***

Bhavarthadipika of Sri Sridharaswami, Bhagavatachandrachandrika of Sri Vira Raghavacharya, Padaratnavali of Sri Vijayadhvaja Tirtha

**Edited by**


Panditaraja, Sahitya Visarada, Vachaspati, Siromani, Vidwan,
Recipient of President's Certificate of Honour

**Dr. N.C.V. Narasimhacharya,** M A B O L,

SPECIAL OFFICER

**SRI BHAGAVATA PROJECT,**

T T Devasthanams, Tirupati



Published by

**Executive Officer,**

Tirumala Tirupati Devasthanams,

2005

**Srimad Bhagavatamahapuranam - Skandha-IX**

Edited by

**Dr. N.C.V. Narasimhacharya**

T.T D. Religious Publications Series No. 654

First Edition - 2005

Price Rs

Copies . 1000

*Published by*

**Sri A.P.V.N. Sarma,** I A S
Executive Officer,
T T Devasthanams,
Tirupati

*Cover Design*

**P. Siva Prasad, T.T.D.**

*DTP Work by*

**Vinayaka Graphics,**
Tirupati, Ph . 0877-5572402

*Printed at*

Adisri Screens, Tirupati

ओ नमो वेङ्कटेशाय

श्रीवेदव्यासमहर्षिप्रणीतम्

# श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

## नवमः स्कन्धः

श्रीश्रीधरस्वामिविरचिताभावार्थदीपिका, श्रीवीरराघवनिर्मिता श्रीभागवतचन्द्रचन्द्रिका,
श्रीविजयध्वजविलिखिता पदरत्नावली चेति त्रिभिः व्याख्यानैः भूषितम्

पण्डितराजः, साहित्यविशारदः, वाचस्पतिः, शिरोमणिः, विद्वान् इति बिरुदभाजा
**राष्ट्रपतिपुरस्कारग्रहीत्रा**
**डॉ. यन्. सि. वि. नरसिंहाचार्येण** यम्.ए., बि. ओ. यल्.,
(विशिष्टाधिकारी, श्रीमद्भागवतशोधपूर्णपरिष्करणपरिषत्)
**परिष्कृतम्**

तिरुमल तिरुपति देवस्थान
**कार्यनिर्वहणाधिकारिभिः**
**प्रकाशितम्**
२००५

हरिः ओम्

ईशानां जगतोऽस्य वेङ्कटपतेर्विष्णोः परां प्रेयसीं
तद्वक्षःस्थलनित्यवासरसिकां तत्क्षान्तिसंवर्धनीम् ।
पद्मालङ्कृतपाणिपल्लवयुगां पद्मासनस्थां श्रियं
वात्सल्यादिगुणोज्ज्वलां भगवतीं वन्दे जगन्मातरम् ।

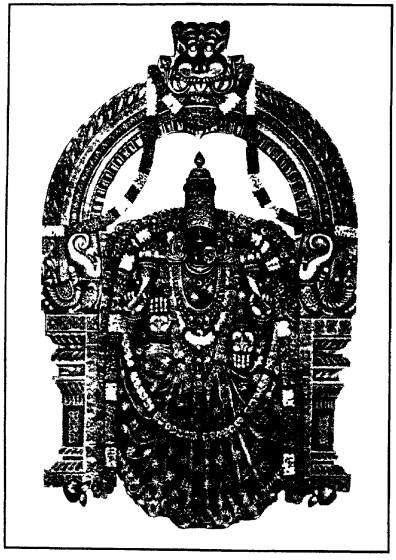

श्रीमद्वेङ्कटनायकस्य हृदये द्वेधा विधायाऽऽत्मनो
मूर्तिं शश्वदियं कृपामृतझरीस्रोतस्विनी भार्गवी ।
उद्धर्तुं निखिलानगण्यविषमांहोवह्निदग्धात्मनो
जन्तून् सन्निदधाति विश्वजननी पद्मावती रक्षतात् ॥

हरिः ओम्

लोकोद्धारैकदीक्षापरनिगममहाहर्म्यधर्मप्रदीपः
स्वाङ्घ्रिद्वन्द्वप्रपन्नाखिलदुरिततमोध्वंसिपुण्यप्रदीपः ।
दिङ्मूढेभ्यो नरेभ्यः प्रकटितसरणिः स्नेहदीप्रः प्रदीपः
युष्मानस्मान्समस्तानवतु वृषगिरिस्थास्नुमङ्गल्यदीपः ॥

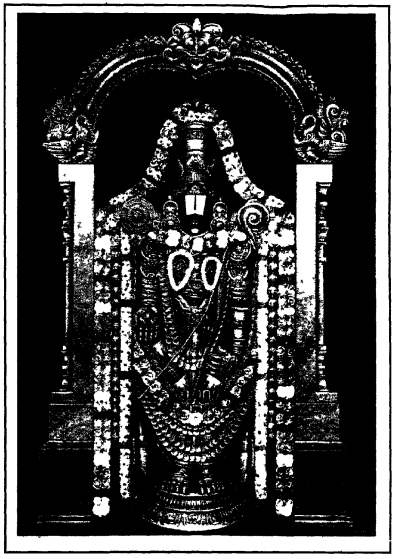

श्रीमद्भागवतं पुराणमखिलाम्नायैकसारः क्व वा ?
प्रज्ञादुर्विधकिम्पचानधिषणाः शैक्षाः क्व वा मादृशाः ?
भक्त्या चापलतस्तथाऽपि च परिष्कर्तुं वयं व्यापृताः,
एतत् प्राभृतयाम वेङ्कटपतेः पादाब्जयोः, स्वीक्रियात् ॥

TIRUMALA TIRUPATI DEVASTHANAMS, TIRUPATI

# TRUST BOARD

## CHAIRMAN

*Sri T. Subbi Rami Reddy*, M.P.,
RAJYASABHA

## MEMBERS

Sri Janga Krishnamurthy, M.L.A.,

Sri Sama Ganesh Reddy

Sri N. Srinivasan

Sri M. Navaneeswara Reddy

Sri Gokaraju Ramaraju

Dr. Chadalawada Sudha, M.S., FRCSC.,

Sri N. Nageswara Rao, M.A.,

Sri K. Prem Sagar Rao

Sri D. Sridhar Babu, M.L.A.,

Sri J.P. Murthy, I.A.S.,
PRINCIPAL SECRETARY TO GOVT.
REVENUE (ENDTS.) A.P
MEMBER (EX-OFFICIO)

Sri I. Venkateswarlu, I.A.S.,
COMMISSIONER, ENDOWMENTS, A.P.
MEMBER (EX-OFFICIO)

Sri B. Karunakara Reddy, I.A.S.,
CHAIRMAN, TUDA
MEMBER (EX-OFFICIO)

Sri A.P.V.N. Sarma, I.A.S.
EXECUTIVE OFFICER
TIRUMALA TIRUPATI DEVASTHANAMS
MEMBER - SECRETARY (EX-OFFICIO)

# The Critical Edition of Srimad Bhagavata

## The Editorial Board


Chairman

**Sri Ajeya kallam**, I.A.S.
Executive Officer
T.T.Devasthanams

MEMBERS

1. **Dr. Medasani Mohan**
Director
Sri Annamacharya Project,
T.T.Devasthanams, Tirupati.

2. **Prof. H.S. Brahmananda**
Secretary,
Dharma Prachara Parishad,
T.T.Devasthanams, Tirupati.

3. **Prof. S. Sudarsana Sarma**
Professor & Head
Dept. of Sahitya
R.S. Vidyapeetha, Tirupati.

4. **Prof. K. Pratap**
Professor & Head
Dept. of Sanskrit
S.V. University, Tirupati.

5. **Dr. G.S.R. Krishna Murthy**
Reader
Dept. of Sahitya,
R.S. Vidyapeetha, Tirupati.

Co-ordinated Member

6. **Dr. N.S. Ramamoorthy**
Editor,
T.T. Devasthanams

Convener

**Prof. Samudrala Lakshmanaiah**
Special Officer, Bhagavata Project.
T.T.Devasthanams.

# CONTENTS


| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | Foreword | . . . . . | I |
| 2. | Introduction - English | .... ..... | II |
| 3 | Introduction - Sanskrit | . ..... | IV |
| 4. | List of Abbreviations - (Editions) | ..... | VI |
| 5. | List of Abbreviations - (Texts cited) | . ..... | VII |
| 6. | Contents of each canto (in prose) | ... ..... | IX |
| 7. | Contents of each canto (in slokas) | .... ..... | X |
| 8. | Process of Reciting of Bhagavata | ..... | XII |
| 9. | SRIMAD BHAGAVATA MAHAPURANAM | | |

| Tex | Page | Tex | Page |
|---|---|---|---|
| Canto 1 | 1 | Canto 15 | 206 |
| Canto 2 | 15 | Canto 16 | 220 |
| Canto 3 | 26 | Canto 17 | 235 |
| Canto 4 | 37 | Canto. 18 | 241 |
| Canto 5 | 68 | Canto 19 | 258 |
| Canto 6 | 78 | Canto 20 | 269 |
| Canto 7 | 96 | Canto 21 | 286 |
| Canto 8 | 109 | Canto 22 | 298 |
| Canto 9 | 123 | Canto 23 | 313 |
| Canto 10 | 140 | Canto 24 | 324 |
| Canto 11 | 161 | **Appendix -I** | 1 to 86 |
| Canto 12 | 174 | Quarter Verse Index | |
| Canto 13 | 179 | **Appendix-II** | 87 to 9 |
| Canto 14 | 187 | Citation Index | |

# Foreword

Ancient Indian literature is very vast. Vedas, Vedangas, Darshanas and Puranas etc. form part of it.

Puranas play a very prominent role in explaining the meaning of the holy Vedas. They contain beautiful stories, through which the purport of the Vedas is amply brought out.

There are 18 Puranas, authored by Sri Vedavyasa, who also wrote Mahabharata to spread Dharma. Even after writing Mahabharata and other puranas, he could gain no mental peace. Therefore, as per the advice of sage Narada, he composed Srimad Bhagavata, which has become highly popular throughout the country.

There are many commentaries on Bhagavata, amongst which, the commentaries explaining the Advaita, Visistadvaita and Dwaita traditions are very famous. They were written by Sridharacharya, Sri Veera Raghavacharya and Sri Vijayadhwaja Teertha, respectively.

T.T.D. established Sri Bhagavatha Project with the intention of publishing the edited text and the above commentaries Editing of the whole work has been completed and the printing is now under progress.

This is the ninth skandha of Srimad Bhagavata. Late Sriman N C.V. Narasimhacharya, the well known Sanskrit Scholar and recipient of President's award, prepared this critical edition, with meticulous care. He deserves our gratitude.

We hope the readers as well as educational institutions would utilise this book, thereby making the efforts of the TTD fruitful.

**(AJEYA KALLAM)**
**EXECUTIVE OFFICER**
**T.T.DEVASTHANAMS**

**TIRUPATI**

# Introduction

This is the ninth Skandha of Srimad Bhagavata, which explains vividly the account of both the Solar and Lunar dynasties. Ikshvaku, Ambarisha, Mandhata, Khatwanga, Janaka etc. belong to the Solar dynasty, in which Lord Sri Rama, who is considered to be Poornavatara of Maha Vishnu, was also born.

Similarly, Nahusha, Yayati, Gadhi, Dushyanta, Bharata, Ranti Deva etc. were born in the Lunar dynasty in which, Lord Sri Krishna, considered to be paripurnavatara, was also born.

An account of Parasurama one of the other Avataras is also given in this Skandha.

Vamsa and Vamsanucharita are part of the five characteristics of the Puranas. These two are explained elaborately in this skandha. There are many kings, endowed with special virtues like worshipping the Lord, knowledge of Vedas and truthfulness whose history is described in this skandha.

Srimad Bhagavata contains ten characteristics like Sarga and Visarga. Isanukatha is one of them, which is described prominently by way of narrating the events related to Avataras of the Lord.

The stories of Ambarisha, Soubhari and Yayati etc. are beautifully described in this book.

Ambarisha was the son of Nabhaga. His devotion towards Maha - Vishnu knew no bounds, by which the ego and pride of the sage Durwasa were curtailed. Vyasa describes the deep devotion of Ambarisha in the verses 18 to 20 of the 4th chapter of this skandha. He says that Ambarisha utilised every part of his body constantly in the service of the Lord.

That's why Lord Maha Vishnu protected Ambarisha from the fury of sage Durwasa. When Durwasa approached Lord Vishnu for protection, Maha Vishnu said, "I am in the hands of my devotees, My heart is entirely occupied by them. I am fond of my devotees, they are my very heart, and I am their's. They know nothing except Me. I know nothing except them". (Bhagavatam 9-4-63,68)

In this way the greatness of the devotees and the affection of the Lord towards them were described aptly.

The story of Soubhari also is very interesting. After witnessing the amorous play of the male fish in the river Yamuna, he wishes to marry and lead similar happy life of a house holder. After becoming a hourse-holder and a father of many children, he gets disillusioned with his life and declares that one should not be attached to samsara; and should have control over his senses and has to resort to meditate solitarily. (Bhagavatam 9-6-51)

The story of Yayati is also similar. He enjoys material pleasures for a long time and gets vexed in the end. He says "Carnal desires cannot be wiped out by enjoying them. They increase like fire with the ghee". (Bhagavatam 9-19-14)

In this manner, in the 9th Skandha of Srimad Bhagavata, the transiency of the sense pleasures, the value of non-attachment and devotion are brought out effectively.

The other details about the text and the three commentaries included in it, are already given, in the introduction of the first Skandha itself.

This Skandha was edited by well-known Sanskrit Scholar, recipient of President's award, and Our Guru, Sriman Dr. N.C.V. Narasimhacharya Swami. He reached Lotus feet of the Lord, even before the publication of this book.

The scholars who assisted in preparing this edition are : 1. Sriman K.C. Jayachandra Sastri, 2. Sriman U Venkatramaiah and 3. Sriman Varada Rajan, who deserve the gratitude of the readers.

The research assistants, namely Sri S.B.S. Bhattacharya, Dr. S.Poornavalli and Dr. S. Dasaratha also deserve our commendation. Sri I. Venkateswara Rao and others who helped immensely in proof reading of the work also deserve our gratitude.

Sri Ajeya Kallam, IAS, the revered Executive Officer of the Tirumala Tirupati Devasthanams and Dr. Medasani Mohan, the Director of Annamacharya project and other members of the Advisory committee of the Bhagavata project are offered our deep gratitude for their keen interest and co-operation in bringing out this edition.

**Samudrala Lakshmanaiah,**
Special Officer,
Sri Bhagavata Project,
T.T.Devasthanams

Tirupati.

# निवेदनम्

श्रीमद्भागवतस्य नवमः स्कन्धोऽयम् । अस्मिन् स्कन्धे सूर्यस्य चन्द्रस्य च वंशौ अतिविस्तृततया वर्णितौ ।

सूर्यवंशे इक्ष्वाकुः, अम्बरीषः, मान्धाता, खट्वाङ्गः, जनकः इत्यादयो नृपाः सम्बभूवुः। पूर्णावतारः श्रीरामचन्द्रोऽपि अस्मिन्नेव वंशे उद्भूव ।

एवं चन्द्रवंशे नहुष·, ययातिः, गाधि·, दुष्यन्तः, भरत·, रन्तिदेवः, धृतराष्ट्रः इत्यादय· अनेके राजानः जन्म लेभिरे। अपि च परिपूर्णावतार· श्रीकृष्णोऽपि अत्रैव जातो बभूव। अवतारेष्वन्यतमस्य परशुरामस्यापि चरित्रमस्मिन् स्कन्धे पठ्यते ।

वंशस्य वंशानुचरितस्य च वर्णनं पुराणलक्षणेषु अन्यतमं भवति। तच्चास्मिन् स्कन्धे बहुधा निरूपितमस्ति। अत्र अभिहितेषु राजसु बहवः विशिष्टलक्षणलक्षिता· श्रूयन्ते। भगवत· अर्चनया, वेदविज्ञानेन, सत्यनिष्ठया चेत्येवं तत्तद्गुणै· प्रसिद्धा· भूपाला अनेके अत्र परिकीर्त्यन्ते।

सर्गविसर्गादिदशलक्षणलक्षितं महापुराणं भागवतमिति प्रसिद्धम्। तत्र ईशानुकथाप्रतिपादनात्मकं लक्षणं परशुरामस्य श्रीरामस्य श्रीकृष्णस्य च चरित्राणां प्रस्तावेन व्यक्तीकृतं भवति।

अम्बरीष - सौभरि - ययात्यादीनां परमरमणीयानि चरित्राणि पाठकानां हृदयानि रञ्जयन्ति।

नाभागस्य पुत्र· अम्बरीष· भगवद्भक्तिधुरन्धरो बभूव। तस्य भक्त्यतिशयः दुर्वाससः अहङ्कारस्य भञ्जक आसीत्। अम्बरीषस्य भगवद्भक्ति· भगवता व्यासेन एवं वर्णिता दृश्यते -

*स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।*
*करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥*
*मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम् ।*
*घ्राणञ्च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥*
*पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ।*
*कामञ्च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ॥* (भाग - 9-4-18,19,20)

भक्तपालनतत्परो भगवान् दुर्वासस आग्रहात् अम्बरीषस्य परिरक्षणे जागरूको बभूव। उक्तं च भगवता -

*अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।*
*साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥* (भाग•9-4-63)
*साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्त्वहम्।*
*मदन्यं ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥* (भाग•9-4-68)

एवमत्र भगवद्भक्तानां महिमा भगवत भक्तरक्षणसमुद्यमश्च सुष्ठु प्रतिपादितौ ।

यमुनाजले मैथुनसुखमनुभवतो मीनराजस्य निर्वृतिं विलोक्य संसारसुखे जातस्पृह· सौभरि· ब्रह्मचर्यं परित्यज्य गृहस्थो भवति। बहुकालं संसारसुखमनुभूय अन्ते विरक्तस्सन् एवं ब्रवीति -

***सङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः सर्वात्मना न विसृजेद्बहिरिन्द्रियाणि।***

***एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे युञ्जीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत्प्रसङ्गः ॥*** (भाग - 9-6-51)इति।

ययातिरपि एवमेव चिरकालं लौकिकसुखान्यनुभूय विरक्तस्सन् एवं प्रकटयति ।

***न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।***

***हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥१४॥*** (भाग - 9-19-14) इति।

एवं भागवतस्य नवमस्कन्धे सौभरिययातिचरित्रद्वारा विषयसुखानां अशाश्वतत्वं, अल्पत्वं, वैराग्यस्य भगवद्भक्तेश्च महत्त्वं बन्धविमोचकत्वञ्च मनोज्ञतया निरूपितानि ।

यदुवंशवर्णनसन्दर्भे भगवत श्रीकृष्णस्य अवतारसूचनेन स्कन्धोऽयं समाप्तिमुपगच्छति।

पण्डितपरिष्कृतेऽस्मिन् ग्रन्थे मूलभागस्य एवं व्याख्यानानां च विषयेऽवधेया अंशाः प्रथमस्कन्धस्थपीठिकात· अवगन्तुं शक्यन्ते ।

विद्वद्वर्यै· राष्ट्रपतिपुरस्कारेण सम्मानितै , बहुभाषानिपुणै· अस्मद्गुरुभि श्रीमद्भि डा.यन्.सि.वि. नरसिंहाचार्यस्वामिभि व्याख्यानत्रयसमलङ्कृतोऽयं ग्रन्थ महता श्रमेण परिष्कृत । ग्रन्थप्रकाशनात्पूर्वमेव ते महाभागा यशश्शरीरा बभूवु ।

अस्य ग्रन्थस्य परिष्करणे सम्पादने च बहुधा उपकृतवन्त श्रीमन्त· के. सि. जयचन्द्रशास्त्रिण , यु. वेङ्कटरामय्यनामान , आ. वारदराजन्नाह्वयाश्च कृतज्ञताऽञ्जलिमर्हन्ति, एवं श्रीमान् यस्.बि.यस्. भट्टाचार्यः, डा. यस्. पूर्णवल्ली, डा. यस्. दशरथश्च कृतज्ञतामर्हन्ति।

मुद्रणसमये अक्षरशोधनकर्मणि सहकार प्रदत्तवन्त श्रीमन्त श्री.ऐ. वेङ्कटेश्वररावु महोदया , एवं अन्ये च धन्यवादान् अर्हन्ति।

किञ्च अस्य ग्रन्थस्य मुद्रणे नितरां श्रद्धा प्रदर्शितवद्भ्य ति.ति.दे श्रीकार्यनिर्वहणाधिकारिभ्य श्री. अजेय कल्ल IAS महाशयेभ्यः, अन्नमाचार्य प्राजेक्ट्, निदेशकेभ्य डा. मेडसानि मोहन् महाशयेभ्य एवं अन्येभ्यश्च भागवतपरिष्करणमार्गदर्शक-मण्डलीसदस्येभ्य सादरं कृतज्ञताऽञ्जलय· समर्प्यन्ते ।

''लोकास्समस्तास्सुखिनो भवन्तु'

तिरुपति

**समुद्राल लक्ष्मणय्य**

विशिष्टाधिकारी

श्रीभागवतपरिष्करणपरिषत्

ति.ति. देवस्थानम्

# LIST OF ABBREVIATIONS

(of the Edition of of Srimad Bhagavata Mahapuranam being referred to)

1.A. Edited by Sri Krishna Sankara Sastri-contains about 30 commentaries - Printed in Devanagari Script at Ahmedabad, Gujarat.

2.B. Printed in Devanagari Script at Brindavan-contains 9 commentaries.

3.G. Contains text only-Printed at Gita Press, Ghorakhpur-in Devanagari Script.

4.H. Contains Sridhara's Commentary-Edited by Sri Hayagriva Sastri. Printed in Telugu Script at Madras.

5.J. Contains Sridharacharya's Commentary-Edited by Prof. J.L. Sastri. Printed in Devanagari Script.

6.M. Contains the commentary of Sri Vijaya Dhvaja Tirtha-Printed in Devanagari Script- Another Madhva Edition.

7.Ma. Contains the commentary of Sri Vijaya Dhvaja Tirtha-Printed in Devanagari Script- Another Madhva Edition.

8. Contains the commentary of Sri Vira Raghavacharya- Printed in Telugu Script - Published by Sri Tridandi Srimannarayana Ramanuja Jeer Swami.

9.V. Contains the commentary of Sri Sridharacharya-Printed at Vavilla press, Madras in Telugu Script.

10.W. Contains the Commentary of Sri Viraraghavacharya - Printed in Telugu Script - Published by the Maharaja of Vanaparti Samsthan, Andhra Pradesh

## LIST OF ABBREVIATIONS

Commentaries

१. **श्रीध०** - श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

२. **वीर०** - श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

३. **विज०** - श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

# Texts cited in commentaries and their Abbreviation

| Abbreviation | Name of the Book | Abbreviation | Name of the Book |
|---|---|---|---|
| अथ. शिखा. उ. | अथर्वशिखोपनिषत् | तैत्ति.सं. | तैत्तिरीयसंहिता |
| अद्वै.उ. | अद्वैतोपनिषत् | - | दत्त |
| - | अध्यात्मे | - | नारदीये |
| - | अभिधानम् | निरा.उ. | निरालम्बोपनिषत् |
| अम.को. | अमरकोश | - | निरुक्तम् |
| अष्टा. | अष्टाध्यायी | निरा.उ. | नृसिंह उत्तरतापिन्युपनिषत् |
| | अहिर्बुध्न्यसंहिता | - | पञ्चतन्त्रम् |
| आगम.प्रा. | आगमप्रामाण्यम् | - | परमसंहिता |
| आप.श्रौ.सू. | आपस्तम्बश्रौतसूत्रम् | - | पाञ्चरात्रम् |
| - | आग्नेय | - | पाद्मपुराणम् |
| ईशा.उ. | ईशावास्योपनिषत् | पु.सू. | पुरुषसूक्तम् |
| उणा.सू. | उणादिसूत्राणि | - | प्रकाशिकायाम् |
| | उत्पलमाला | प्रश्न.उ. | प्रश्नोपनिषत् |
| ऋक्.सं. | ऋक् सहिता | बृह.उ. | बृहदारण्यकोपनिषत् |
| ऐत.उ. | ऐतरेयोपनिषत् | | ब्रह्मतर्के |
| कठ.उ. | कठोपनिषत् | | ब्रह्मवैवर्ते |
| | कापिलेये | ब्र.सू. | ब्रह्मसूत्राणि |
| कुमार.स. | कुमारसम्भवम् | | ब्राह्मे |
| कौषी.उ. | कौषीतक्युपनिषत् | | भद्रिकायाम् |
| | क्रियायोगे | भ.गी. | भगवद्गीता |
| | गारुडे | भर.सं. | भरद्वाजसंहिता |
| | गोपाल | | भागवततन्त्रम् |
| | चाक्रायणश्रुति | भाग. | भागवतम् |
| छान्दो.उ. | छान्दोग्योपनिषत् | - | भविष्यत्पुराणे |
| जित.स्तो. | जितन्तास्तोत्रम् | भारते आनु. | भारते आनुशासनिकपर्व |
| - | तत्त्वनिर्णये | भारते. आरण्य | भारते आरण्यपर्व |
| | तन्त्रभागवते | भारते. उद्योग | भारते उद्योगपर्व |
| तैत्ति.आ. | तैत्तिरीय आरण्यकम् | भारते. शान्ति | भारते शान्तिपर्व |
| तैत्ति.उ. | तैत्तिरीयोपनिषत् | मनु.स्मृ. | मनुस्मृति |

| Abbreviations | Name of the Book | Abbreviation | Name of the Book |
|---|---|---|---|
| - | महाकौर्मे | विष्णु ध.पु. | विष्णुधर्मोत्तरपुराणम् |
| - | माहात्म्ये | विष्णु.पु. | विष्णुपुराणम् |
| म.ना.उ. | महानारायणोपनिषत् | - | विष्वक्सेनसंहिता |
| महा.उ. | महोपनिषत् | वे.नि | वेदनिघण्टु· |
| माण्डू उ. | माण्डूक्योपनिषत् | | शब्दनिर्णये |
| - | माध्यन्दिनश्रुति | शार्ङ्ग.पद्ध. | शार्ङ्गधरपद्धति |
| मुण्ड उ. | मुण्डकोपनिषत् | | [illegible]म् |
| मैत्रा.उ | मैत्रायण्युपनिषत् | श्वेता.उ | श्वेताश्वतरोपनिषत् |
| याज्ञ.स्मृ | याज्ञवल्क्यस्मृति | [illegible] | सुबालोपनिषत् |
| रामा | रामायणम् | [illegible] | सुभाषितरत्नभाण्डागारम् |
| - | रुद्र | [illegible] | सूर्योपनिषत् |
| - | लक्ष्मीतन्त्रे | - | [illegible] |
| वर.स्तव | वरदराजस्तव | - | षाड्गुण्ये |
| - | वाम[illegible] | - | हरिवंशे |
| - | वाराह | हला. को. | हलायुधकोश |
| - | वररुचि | [illegible] | हेमचन्द्र |

## श्रीमद्भागवतनवमस्कन्धीयानां अध्यायानां

# विषयानुक्रमणी


१. सूर्यवंशवर्णनं वैवस्वतमनो· पुत्रस्य स्त्रीभावापत्तिश्च ।

२. पृषध्रकविकरूषनरिष्यन्तदिष्टानां वंशविस्तार· ।

३. शर्यातिवंशः सुकन्याचरितं रेवतकन्याचरितं च ।

४. नभागवंशवर्णनं नाभागचरितम्, अम्बरीषोपाख्यानं दुर्वास पलायनं च ।

५. अम्बरीषानुग्रहेण दुर्वाससो दु·खनिवृत्ति·, अम्बरीषप्रशंसा, तस्य भगवद्रूपतापत्तिश्च ।

६. इक्ष्वाकुवंशवर्णनं तत्र मान्धातुश्चरितं सौभर्युपाख्यानं च ।

७. त्रिशङ्कुकथा हरिश्चन्द्रचरितं च ।

८. सगरचरित्रम् ।

९. गङ्गावतरणकथा भगीरथवृत्तं सौदासचरितं च ।

१०. श्रीरामचरितम् ।

११. श्रीरामादिवंशवर्णनं श्रीरामस्य साकेतवासिभि सह स्वपदारोहणं च ।

१२. इक्ष्वाकूणां कुशादिसुमित्रान्ताना वर्णनम् ।

१३. निमिवंशवर्णनम् - निमेर्देहत्यागो विदेहवंशश्च ।

१४. चन्द्रवशवर्णनम् बुधस्य जन्म, तस्मान्मनुपुत्र्यामिलाया जातस्य पुरूरवस उपाख्यानं च ।

१५ ऋचीकजमदग्निपरशुरामचरितं सहस्रार्जुनवधश्च ।

१६. जमदग्निवध , परशुरामद्वारा क्षत्रियाणां सहार , विश्वामित्रवंशवर्णनं च ।

१७. क्षत्रवृद्धरजिरम्भानेनसां वंशवर्णनम् ।

१८. ययातिचरितम् ।

१९. ययातेर्गृहत्याग ।

२०. पुरुवशवर्णन तत्र दुष्यन्तभरतयोश्चरितम् ।

२१. भरतवश रन्तिदेवचरितम् ।

२२ दिवोदासादिवंशकथनम्, ऋक्षवशे पाण्डवाद्युत्पत्तिश्च ।

२३. अनुद्रुह्युतुर्वसुयदूना वंशवर्णनम् ।

२४. यदुवंशवर्णनं तत्र श्रीकृष्णावतारसूचनम् ।

## श्रीमद्भागवतमहापुराण

### नवमस्कन्धस्थाना चतु। ।त्यध्यायाना।

# अध्यायार्थसङ्ग्रहश्लोकाः

त्रयोदशभिरध्यायै· सूर्यवंशोऽनुवर्ण्यते ।
एकादशभिरध्यायैस्सोमवंशस्ततः परैः ॥
तत्र तु प्रथमेऽध्याये वैवस्वतसुतान्वये।
सोमवंशप्रवेशोक्त्यै सुद्युम्नस्त्रीत्वमुच्यते ॥१॥

द्वितीये मनुपुत्राणां द्वावपुत्रौ विरागत ।
करूशकादि पञ्चानां वंशानाह लघुक्रमात् ॥२॥

तृतीये मनुपुत्रस्य शर्याते कीर्त्यतेऽन्वय ।
यत्र सौकन्यमाख्यान रैवतश्च महाद्भुतम् ॥३॥

चतुर्थे मनुपुत्रस्य नभगस्य कथोच्यते।
तत्सूनोश्चाम्बरीषस्य कृत्या प्रतिहता यत ॥४॥

पञ्चमे विष्णुचक्रं तु प्रसाद्य प्राणसङ्कटात्।
दुर्वासा रक्षितस्तेन तथा तद्वृत्तमीर्यते ॥५॥

षष्ठारम्भेऽम्बरीषस्य वंशमुक्त्वा तत परम्।
षष्ठाद्यष्टभिरध्यायैरिक्ष्वाकोर्वंश उच्यते॥
तत्र षष्ठे शशादादिर्मान्धात्रन्तो निरूप्यते।
प्रसङ्गात्सौभरेराख्या मान्धातृतनयापते ॥६॥

मान्धातुरन्वय प्रोक्त सप्तमे यत्र गीयते।
पुरुकुत्सस्य चाऽऽख्यानं हरिश्चन्द्रस्य चोत्तमम् ॥७॥

अष्टमे रोहितस्योक्तो वंशो यत्राऽभवन्नृप ।
सगर कपिलाक्षेपान्निर्दग्धा यस्य सूनव ॥८॥

अष्टमे रोहितस्योक्तो वंशो यत्राऽभवन्नृप·।
सगरः कपिलाक्षेपान्निर्दग्धा यस्य सूनवः ॥९॥

दशमे प्राह खट्वाङ्गवंशे श्रीरामसम्भवम्।
तच्चरित्रञ्च लङ्केशं हत्वाऽयोध्यागमावधि।
यद्वा - दशमे रामचरितमाविर्भावपुरस्सरम्।
शुकेन वर्ण्यते पुण्यमभिषेकोत्सवावधि॥॥१०॥

ततश्चैकादशेऽयोध्यामावसन्ननुजैः सह।
यज्ञादि यच्चकारेशो रामस्तदनुवर्ण्यते ॥
यद्वा - राम एकादशे यज्ञैरीजे राष्ट्रेष्ववासयत्।
कुशादीन् वृत्तिरुदिता प्रजानां राघवस्य च ॥११॥

द्वादशे रामपुत्रस्य कुशस्यान्वय उच्यते।
एवमिक्ष्वाकुपुत्रस्य शशादस्येरितोऽन्वय·॥
यद्वा - आरभ्योक्त्वा कुशं भूपान् ऐक्ष्वाकान्द्वादशे गतान्।
भविष्यतस्सुमित्रान्तान् बृहद्रणमुखान्वदत्॥१२॥

इक्ष्वाकोरेव पुत्रस्य निमेर्वंशस्त्रयोदशे।
वर्ण्यते जज्ञिरे यत्र ब्रह्मज्ञा जनकादयः॥
यद्वा - त्रयोदशेऽरिषड्वर्गजयी राजान्ववायकृत्।
ऐक्ष्वाकस्य निर्मेर्देहान्मथिताज्जनकोऽभवत् ॥१३॥

चतुर्दशादिभि सोमवंशमाहाऽऽसमाप्तित·।
यस्मिन्नैलादयो भूपा· कीर्त्यन्ते पुण्यकीर्तय· ॥
चतुर्दशे गुरो पत्न्यां तारायां सोमजाद् बुधात्।
जातश्चैल षडुर्वश्यामायुमुख्यानजीजनत्॥
यद्वा - चतुर्दशेऽत्रिजात्सोमात् गुरो पत्न्यां बुधोऽजनि।
सोपास्तोर्वैशीं तज्जस्ससङ्केतं पुरूरवाः॥१४॥

ततः पञ्चदशे गाधिरैलपुत्रान्वयेऽजनि।
यद्गैहित्रसुतो रामः कार्तवीर्यमहन् रुषा ॥
यद्वा - उक्ताः पञ्चदशे वंशा श्रुतायाः प्रमुखोत्थिताः।
अर्जुनं गाधिजा पौत्रो रामो हन्तेति चेरितम्॥१५॥

षोडशेऽ थार्जुनसुतैर्जमदग्नौ हते मुहुः।
रामात्क्षत्रवधः प्रोक्तो विश्वामित्रस्य चान्वयः॥
यद्वा -तीर्थान्यटन् प्रसूभ्रातॄन् रामोऽहन् षोडशे नृपान्।
गाधेः पुत्रोऽभवद्विप्रः तद्वंशोऽभूदनेकशः ॥१६॥

आयो. सप्तदशे त्वैलज्येष्ठपुत्रस्य पञ्चसु।
सुतेषु क्षत्रवृद्धादिचतुर्णां वंशवर्णनम्।
यद्वा - वंशान् सप्तदशेऽवादीत् ऐलज्येष्ठसुतोऽयुष·।
पुत्रैरम्भरजिक्षत्र वृद्धानेनोभिराहितान् ॥१७॥

अष्टादशे ययातेस्तु नाहुषस्य कथोच्यते।
यस्य पञ्चसु पुत्रेषु कनीयानग्रहीज्जराम्॥
यद्वा - आयुषो ज्येष्ठपुत्रस्य नहुषस्याग्रजस्सुत :
ययाति पूरुमकृताष्टदशे नृपमात्मजम्॥१८॥

ऊनविंशे ययातिः स्वं चेष्टितं नन्वजोपमम्।
देवयानीं समाश्राव्य विरक्तो मुक्तिमाप्तवान् ॥
भुक्तभोगामजां हास्यन्नजवद्वृत्तिमात्मन ।
विडम्बयन्प्रियामाह निर्वेदयितुमात्मवान् ॥१९॥

विंशे पितृप्रसादाप्तराजासनमहोन्नते· ।
पूरोर्वंशे तु दौष्यन्तेर्भरतस्येर्यते यश· ॥२०॥

एकविंशे तु दौष्यन्ते सुतस्याऽन्वय उच्यते ।
रन्तिदेवाजमीढादेर्यत्र कीर्ति प्रतन्यते ॥
यद्वा - एकविंशे भरद्वाजपुत्रमन्युसुतान्वय.।
वर्ण्यते रन्तिदेवाऽजमीढाद्या यत्र वंशिन· ॥२१॥

द्वाविंशे तु दिवोदासवंशमुक्त्वाऽथ वर्णिता. ।
ऋक्षवंशे जरासन्ध पार्थदुर्योधनादय ॥
यद्वा -दिवोदासात्तु पाञ्चालवशो द्वाविंश उच्यते ।
वशान्तरादाजमीढचैद्यमागधकौरवा ॥२२॥

त्रयोविंशेत्वनो र्द्रुह्योस्तुर्वसोश्चान्वय· क्रमात् ।
यदोश्च वंशोऽनुक्रांतो यावज्ज्यामघसम्भव ॥
यद्वा - त्रयोविंशेऽन्वयानुक्त्वा शुकोनुप्रमुखै कृतान् ।
द्यामखावधिमाचख्यौ यदोर्वंशं महत्तरम् ॥२३॥

चतुर्विंशे विदर्भस्य पुत्रत्रयसमुद्भवा ।
वंशा नानामुखा प्रोक्ता रामकृष्णोद्भवावधि ॥
यद्वा -'चतुर्विंशे विदर्भादि वर्ण्यते यदुजान्वय ।
यत्रासीद्भगवान् ख्याते वृष्यन्धकमुखैर्नृपै ॥२४॥

# श्रीमद्भागवतपाठविधिः

स्नातः शुचिर्भूत्वा प्राणानायम्य त्रिराचम्य च मङ्गलपाठपूर्वकं भगवन्तं प्रणमेत्। तदनु सञ्चितैः षोडशोपचारैर्मानसोपचारैर्वा व्यासं शुकं वासुदेवं श्रीमद्भागवतग्रन्थं च सादरं सविनयं सभक्तिभावं सम्पूजयेत्। ततः पाठारम्भात् प्राक् ' ओं नमो भगवते वासुदेवाय' इति द्वादशाक्षरमन्त्रम् 'ओं क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' इति गोपालमन्त्रं वाऽष्टोत्तरशतवारं जपेत्। पश्चादेवं विनियुञ्जीत-

## विनियोगः

ओं अस्य श्रीमद्भागवताख्यस्तोत्रमन्त्रस्य नारद ऋषिः, बृहती छन्द , श्रीकृष्णः परमात्मा देवता, ब्रह्म बीजम्, भक्तिः शक्ति , ज्ञानवैराग्ये कीलकम्, मम श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थं पाठे विनियोग ।

## ऋष्यादिन्यासः

'नारदर्षये नम ' शिरसि। 'बृहतीच्छन्दसे नम ' मुखे। 'श्रीकृष्णपारमात्मदेवतायै नम.' हृदि। 'ब्रह्मबीजाय नमः' गुह्ये। 'भक्तिशक्तये नमः' पादयो.। 'ज्ञानवैराग्यकीलकाय नम ' नाभौ। श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थकपाठविनियोगाय नम सर्वाङ्गे। द्वादशाक्षरमन्त्रेण हृदयाद्यङ्गन्यास करन्यास च कुर्यात्। अथवाऽधोऽङ्कितरीत्याऽङ्गन्यासकरन्यासौ विदध्यात्-

## अङ्गन्यासः

ओं क्लां हृदयाय नम । ओ क्ली शिरसे स्वाहा। ओ क्लूं शिखायै वषट्। ओं क्लैं कवचाय हुम्। ओं क्लौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ओ क्ल अस्त्राय फट्।

## करन्यासः

ओ क्लां हृदयाय नम । ओं क्लीं तर्जनीभ्यां नम । ओं क्लूं मध्यामाभ्या नम । ओं क्लैं अनामिकाभ्यां. नम । ओं क्लौं कनिष्ठिकाभ्यां नम । ओं क्ल करतलकरपृष्ठाभ्यां नम ।

## अथ ध्यानम्

कस्तूरीतिलकं ललाटफलके वक्षःस्थले कौस्तुभं नासाग्रे नवमौक्तिक करतले वेणुं करे कङ्कणम्।
सर्वाङ्गे हरिचन्दन च कलयन् कण्ठे च मुक्तावलिं गोपस्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपालचूडामणि ॥
अस्ति स्वस्तरुणीकराग्रविगलत्कल्पप्रसूनाप्लुतं वस्तु प्रस्तुतवेणुनादलहरीनिर्वाणनिर्व्याकुलम्।
स्रस्तस्रस्तनिबद्धनीविविलसद्गोपीसहस्रावृत हस्तन्यस्तनतापवर्गमखिलोदारं किशोराकृति॥

इत्येवं ध्यात्वा पाठमारभेत।

## श्रीमद्भागवतसप्ताहपारायणस्य दैनन्दिनविश्रामस्थलानि निम्नाङ्कितपद्येषु निरूपितानि

मनुकर्दमसंवादपर्यन्त प्रथमेऽहनि। भरताख्यानपर्यन्तं द्वितीयेऽहनि वाचयेत् ।
तृतीये दिवसे कुर्यात् सप्तमस्कन्धपूरणम्। कृष्णाविर्भावपर्यन्तं चतुर्थे दिवसे वदेत् ॥
रुक्मिण्युद्वाहपर्यन्त पञ्चमेऽहनि शस्यते। श्रीहसाख्यानपर्यन्त षष्ठेऽहनि वदेत्सुधी ।
सप्तमे तु दिने कुर्यात् पूर्ति भागवतस्य वै। एवं निर्विघ्नतासिद्धिर्विपर्यय इतोऽन्यथा॥

# श्रीमद्भागवत

# नवमस्कन्धः

## प्रथमोऽध्यायः

[1] विष्णुरात उवाच[-1]

**मन्वन्तराणि सर्वाणि त्वयोक्तानि श्रुतानि मे।**
**वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य हरेस्तत्र कृतानि च ॥१॥**

**योऽसौ सत्यव्रतो नाम राजर्षिर्द्रविडेश्वरः[2]।**
**ज्ञानं योऽतीतकल्पान्ते लेभे पुरुषसेवया ॥२॥**

**स वै विवस्वतः पुत्रो मनुरासीदिति श्रुतम् ।**
**ततः[3] तस्य सुताः प्रोक्ता[4] इक्ष्वाकुप्रमुखा नृपाः ॥३॥**

**तेषां वंशं पृथक् ब्रह्मन्! वंशानुचरितानि[5] च ।**
**कीर्तयस्व महाभाग! नित्यं शुश्रूषतां हि नः ॥४॥**

### श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

गुणाय गुणतावाप्त्यै वृणुते करुणानिधिम्। तमहं शरणं यामि परमानन्दमाधवम् ॥
त्रिगुणाष्टभिरध्यायै र्वैवस्वतसुतान्वयं । नवमे कृष्णसत्कीर्तिप्रसङ्गाय वितन्यते ॥
एवमुक्तोऽष्टमस्कन्धे सद्धर्मस्मृत्यवशोधकं । कर्तृपालकवक्त्रादिमन्वादीनां निरूपणैः ॥
सद्धर्मशुद्धसत्त्वानामन्तरङ्गेशसत्कथा। सोमसूर्यान्वयाऽऽख्यानैरधुना सङ्गतोच्यते॥

तत्र तु -

त्रयोदशभिरध्यायै सूर्यवंशोऽनुवर्ण्यते । एकादशभिरध्यायै स्सोमवंशस्तत परैः ॥
तत्र तु प्रथमेऽध्याये वैवस्वतसुतान्वये। सोमवंशप्रवेशोक्त्यै सुद्युम्नस्त्रीत्वमुच्यते॥
उक्तानुवादपूर्वकं वैवस्वतमनोर्वंशं पृच्छति - **मन्वन्तराणीति** पञ्चभिः ॥२-४॥

---

1- -1 ABGJMMaT राजोवाच 2 H V विले , W मिडे 3 ABGJT , त्वत्त M Ma त्वया 4 ABGJT ताश्चोक्ता 5 ABJT श्या

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचान्द्रिका

[1-] पूर्वस्क न्धान्ते [-1] "स तु सत्यव्रतो राजा ज्ञानविज्ञानसंयुतः। विष्णोः प्रसादात्कल्पेऽस्मिन्नासीद्वैवस्वतो मनुः" ॥ (भाग.8-24-58) इति प्रकृतस्य भगवत्पूर्णानुग्रह विषयस्य महाभाग्यवतस्य वर्तमानस्य सप्तमस्य वैवस्वतमनोर्वंशं "सप्तमो वर्तमानो य स्तदपत्यानि मे श्रृणु। इक्ष्वाकुश्च नृगश्चैव" (भाग. 8-13-1,2) इत्यादिना सङ्गहेणोक्ता विस्तरतो बुभुत्सुरुक्तानुवादपूर्वकं पृच्छति राजा - **मन्वन्तराणी**त्यादिभि· पञ्चभि· । यान्यष्टमादौ मया पृष्टानि मन्वन्तराणि तेष्ववतीर्णेन भागवता कृतानि वीर्याणि च तानि सर्वाणि त्वया वर्णितानि मे मया श्रुतानि च ॥१॥

तथा योऽसावतीतकल्पे [2] द्रमिडदेशाधिप· सत्यव्रताख्यो राजर्षिरतीतकल्पावसाने परमपुरुषस्य सेवया हेतुभूतया स्वपर -याथात्म्यज्ञानं लेभे प्राप्तवान् ॥२॥

स एव सत्यव्रतोऽस्मिन् कल्पे विवस्वत पुत्रो भूत्वा मनुर्वैवस्वताख्य· सप्तमो मनुरासीदिति च त्वत्तो मया श्रुतमि-त्युक्तानुवाद· । अथ प्रष्टव्यं पृच्छति - तस्य वैवस्वतस्य मनोर्ये सुता इक्ष्वाकुप्रभृतयः त्वया कथिताः मया श्रुताश्च तेषा मिक्ष्वाकादीनां पृथक्पृथग्वंशं, तद्वंशजानां चरितानि चाऽधुना , हे ब्रह्मन्। महाभाग। सर्वज्ञ। श्रोतुमिच्छतां नोऽस्माकं कथय ॥३,४॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

कमलाकान्तं कमलाक्षं विमलानन्दं प्रणम्य च।
नृपवंशस्कन्धविलासं नवमस्कन्धं विवृणोमि॥

अस्मिन् स्कन्धे राजवंशवर्णनेन श्रीनारायणे भक्तिविधानार्थं भागवन्माहात्म्यमेव प्रपञ्चते। तत्र वृत्तवर्तिष्यमाणस्कन्धयो स्सङ्गतिप्रदर्शनाय वृत्तानुवादपूर्वकं वैवस्वतमनोः पुत्राणां तद्वशानां अनुवंशं तच्चरितानि च राजा शुकं पृच्छति। **मन्वन्तराणी त्यादिना**- 'वद्र विक्रमानित्यन्तेन' ॥१-४॥

**ये भूता ये भविष्याश्च भवन्त्यद्यतनाश्च ये ।**
**तेषां नः पुण्यकीर्तीनां [3] पूर्वेषां वद विक्रमान् ॥५॥**

---

1- -1 AB omit 2 AB द्रवि 3 ABGT MMaJ स

सूत उवाच

एवं परीक्षिता राज्ञा सदसि ब्रह्मवादिनाम् ।
पृष्टः प्रोवाच भगवान् शुकः परमधर्मवित् ॥ ६॥

श्रीशुक उवाच

श्रूयतां मानवो वंशः प्राचुर्येण[1] परन्तप !
न शक्यते विस्तरेण[2] वक्तुं वर्षशतैरपि ॥ ७ ॥

परावरेषां[3] भूतनामात्मा यः प्रकृतेः[4] परः ।
स एवाऽऽसीदिदं विश्वं कल्पान्तेऽन्यन्न किञ्चन ॥८॥

तस्य नाभेस्समभवत्पद्मकोशो[5] हिरण्मयः ।
तस्मिञ्जज्ञे महाराज स्वयम्भूर्भूतभावनः[6] ॥९॥

मरीचिर्मनसस्तस्य[7] जज्ञे तस्याऽपि कश्यपः ।
दाक्षायण्यां ततोऽदित्यां विवस्वानभवत्सुतः ॥ १० ॥

ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञायामास भारत ।
श्रद्धायां जनयामास दशपुत्रान् स आत्मवान् ॥११॥

इक्ष्वाकुनृगशर्यातिदिष्टधृष्टकरूषकान् ।
नरिष्यन्तं पृषध्रञ्च नभागञ्च[8] कविं[9] विभुम् ॥१२॥

**श्रीध०** अनुक्तं वशं वक्तुं पूर्वोक्तमेव तावद्वंशं तत्प्रवर्तकं श्रीनारायणमाराभ्यानुस्मारयति **परावरेषामिति** पञ्चभिः ॥ ५-११॥

**इक्ष्वाकिति**। नाभागश्चेति पाठेऽपि नभाग एव नाभाग । कविः[10] इत्यस्य वसुमानित्यपि नामान्तरसद्भावात् । अष्टमस्कन्धीय त्रयोदशाध्यायप्रतिपादितनामानुक्रमणिकायाः न कोऽपि विरोध । विष्णुपुराणे हरिवंशे च वैवस्वतस्य इक्ष्वाकुप्रभृतिपुत्र नवकमेव

---

1 M Ma सक्षेपेण 2 ABGJMMaT स्तरतो 3 HMMaV "प" 4 ABGJMMaT पुरुष 4 M Ma रुदस्तात्स प 6 ABGJMMaT भूभ्रतुरानन 7 MMa र्मा 8 M Ma "ना" 9 ABGJMMaT भु । 10 - 10 ABJ Omit

अभिहितम् । न दशमस्य कवे· बाल्य एव मृतत्वात्, एवमेव अत्र द्वितीये अध्याये विवेश कैशोरवयाः पराक्रतिम् (भाग. 9-2-15) इति वक्ष्यमाणत्वात्[10] ॥१२॥

**वीर०** तस्य वैवस्वतस्य मनोर्वंशे ये भूता अतीता ये च भविष्या भाविनो ये चाऽद्यतना वर्तमानाश्च भवन्ति, तेषां सर्वेषां पुण्या पुण्यावहा कीर्तिर्येषां पूर्वेषां सर्वेषां विक्रमान्वद चरित्राणि कथय। पुण्यकीर्तीनामित्यनेन तद्विक्रमाणामश्रोतव्यत्वशङ्का निरस्ता ॥५॥

एवं रज्ञा पृष्टो भगवान् बादरायणि वैवस्वतमनुवंशं तद्वश्यचरित्राणि[1] च यथावद्वक्तुमुपचक्रमे इत्याह सूत· - **एवमिति।** इत्थं ब्रह्मवादिनामृषीणां सदसि राज्ञा परीक्षिता पृष्ट परमधर्मवित् भागवतगुणवर्णनस्य उत्कृष्टधर्मत्वाभिज्ञो भगवान् शुक प्रोवाच॥ ६॥

तदेवाह श्रूयतामित्यादिना तावद्वैवस्वतमनुवंशमाचिख्यासुस्तंद्वंश्यानां तच्चरित्राणाञ्च आनन्त्यात्कार्स्न्येन वक्तुं श्रोतुञ्चाशक्यत्वात् प्राधान्येन काश्चित्तद्वंशपरम्परा कथयामीत्यभिप्रयन्नाह - **श्रूयता**मित्यादिना। हे परन्तप । मानव मनो[2] वैवस्वतमनोस्सम्बन्धी वंश प्राचुर्येण कथयतो मत्त श्रूयताम् । प्राचुर्येणेत्यनेन साकल्येन वक्तुं श्रोतुञ्चाशक्य इत्यभिप्रेतम् - तदेवाह - न शक्यत इति, स्फुटार्थ ॥ ७ ॥

मनोरर्वाचीना तद्वशपरम्परा विवक्षुस्तावत्तत पूर्वपरम्परामाह - **परावरेषामिति** चतुर्भि । इदं परिदृश्यमानं स्थूलचिदचिदात्मक ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं कृत्स्नं जगत् - अतीतकल्पान्ते स एवाऽऽसीत् । कोऽसौ? यदात्मकं जगदासी दित्यत्राऽऽह - य परावरेषामुच्चावचानां भूतानामात्मा अन्त प्रविश्य धारक परमपुरुष स्थूलचिदचिच्छरीरक परमात्मा प्रलयदशाया नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मचिदचिच्छरीरकत्वेन कारणतयाऽवस्थितो बभूवेत्यर्थ.। अन्यत्स्वसमानं कारणं वस्तु नाऽऽसीदित्यर्थ । "स एवाऽऽसीदिदं विश्वं कल्पान्ते" इत्यनेन "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" (छान्दो उ.6-2-1) इति श्रुत्यर्थ· प्रत्यभिज्ञापित । अन्यन्न किञ्चन इत्यनेन "एकमेवाऽद्वितीयम्" (छान्दो उ.6-2-1) इत्यस्यार्थ । मनो वंशस्य पूर्वावधिद्योतनाय पञ्चपुरुषान्तरितत्वेऽपि साक्षाद्भगवद्वंशप्रसूतत्वख्यापनाय च परावरेषामित्यादि श्लोकत्रय प्रवृत्तम् ॥८॥

तस्य प्रलयदशायां सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकत्वेनावस्थितस्य कारणभूतस्य "बहु स्यां प्रजायेय" (तैत्ति उ.2-1) इत्युक्तविधसिसृक्षानन्तरं महदादिपृथिव्यन्ततत्त्वोत्पत्तिद्वारा तैरारब्धे ब्रह्माण्डे गर्भोदकेषु शयानस्य अनिरुद्धरूपिणो भगवतो नाभे हिरण्मय प्रकाशबहुल पद्मकोश त्रिभुवनात्मक पद्मकोश समभवदित्यर्थ । हे महाराज । तस्मिन्नाभिपद्मे चतर्मखो ब्रह्मा सम्बभूव॥९॥

---

1 A तद्वश 2 TW Omit मनो

तस्य चतुर्मुखस्य मनस· मरीचिर्जज्ञे। 'मानस ' इति पाठे तस्य मरीचिर्मानसः पुत्रो जज्ञे इत्यर्थ । तस्यापि मरीचे. कश्यप· पुत्र सम्बभूव। तस्य कश्यपस्य भार्यायां दक्षदुहितरि अदित्यां विवस्वान् सुत· समभवत् ॥ १०॥

ततस्तस्य विवस्वत संज्ञाख्यायां भार्यायां श्राद्धदेवो मनुर्वैवस्वत· समभत्। तत प्रशस्तमनस्को वैवस्वतो मनु· श्रद्धायां भार्यायां दश पुत्रान् जनयामास ॥ ११॥

तानाह - **इक्ष्वाक्रिति**। इक्ष्वाकादीन् दश[1] पुत्रान्[1] जनयामासेति पूर्वेणान्वय ॥ १२॥

**विज०** विक्रमान् वशे जातानां पुरुषाणा चरितानि ॥ ५ ॥

राज्ञाऽभिषिक्तानां प्रजापालनादिलक्षण परमो धर्मस्तं वेत्तीति ॥ ६,७ ॥

आत्माऽप्यन्तर्यामी इदं विश्वं स एवाऽऽसीत्, तदधीनमेवाऽभूत्, न तु स्वतन्त्रं किञ्चन, प्रधानादिकमपि "तस्माद्धान्यं न पर· किञ्चनाऽऽस" इति श्रुते ॥८॥

उदस्तात् उदभूत्। स्वयम्भूरित्यस्य विष्णावपि च वृत्तेरित्यतश्चतुरानन इत्युक्तम् । "विष्णु. स्वयम्भू रथभुक् स्वभूर्विश्वपति· पति " इत्यभिधानम् ॥९॥

मानसो मनोर्जात तत कश्यपात् ॥१०॥

ततो विवस्वतो मनो पुत्रानाह - श्रद्धायामित्यादिना। आत्मवान् वशीकृतमना ॥११,१२॥

**अप्रजस्य मनोः पूर्वं वसिष्ठो भगवान् किल ।**
**मित्रावरुणयोरिष्टिं प्रजार्थमकरोद्[2]विभुः ॥१३॥**
**[3]ततः श्रद्धा मनोः पत्नी होतारं समयाचत।**
**दुहित्रर्थमुपागम्य प्रणिपत्य पयोव्रता ॥१४॥**
**प्रेषितोऽध्वर्युणा होता[4] ध्यायंस्त[5]त्सुसमाहितः।**
**[6-]हविषि व्यचरत्तेन[6] वषट्कारं गृणन्द्विजः ॥१५॥**

**होतुस्तद्व्यभिचारेण कन्येला नाम साऽभवत्।**
**तां विलोक्य मनुः प्राह नाऽतिहृष्टमना गुरुम् ॥१६॥**

---

1--1 TW Omit 2 ABGJT "त्र" 3 ABGJMMaT तत्र 4 MMa दध्यौ त" 5 HV व्यचत्तदा 6--6 H M Ma V गुहीते तेन हविषि, W वाचा तेन गृहीतेन

भगवन् किमिदं जातं कर्म वो ब्रह्मवादिनाम् ।
विपरीतमहो कष्टं मैवं स्याद्ब्रह्मविक्रिया ॥१७॥

यूयं मन्त्रविदो युक्तास्तपसा दग्धकिल्बिषाः ।
कुतस्सङ्कल्पवैषम्यमनृतं विबुधेष्विव ॥१८॥

तन्निशम्य वचस्तस्य भगवान्प्रपितामहः ।
होतुर्व्यतिक्रमं ज्ञात्वा बभाषे रविनन्दनम् ॥१९॥

एतत्सङ्कल्पवैषम्यं होतुस्ते व्यभिचारतः ।
तथाऽपि साधयिष्येऽङ्ग सुप्रजास्त्वं स्वतेजसा ॥२०॥

**श्रीध०** सूर्यपौत्रस्य सुद्युम्नस्य स्त्रीत्वे सति बुधात्पुरूरव प्रभृतिसोमवंशसञ्चारं वक्तुं सप्रस्तावमिलोपाख्यानमाह - अप्रजस्य मनो· पूर्वमित्यादिना यावदध्यायसमाप्ति **अप्रजस्येति**। पूर्वमिक्ष्वाकुप्रभृतीनामुत्पत्ते· प्राक् ॥१३॥

**तत** इति । दुहित्रर्थं मम कन्या यथा भवेत् तथा यजेति होतारं सम्यगयाचत। पय एव व्रतमाहारो नियतो यस्या· ॥१४॥

**प्रेषित** इति। अध्वर्युणा हे होत । यजेति प्रेषितो होता तेन गृहीते हविषि सति तत्तया प्रार्थितं ध्यायन् व्यचरत् अयजत्। तदध्यायत्समाहित इति पाठान्तरे आध्यायत् वाचा वषट्कारं गृणन् वौषडित्युच्चारयन् ॥१५, १६॥

**भगवन्निति**। ब्रह्मविक्रिया मन्त्रान्यथात्वम् ॥१७, १८॥

**तदिति**। प्रपितामहो वसिष्ठः ॥१९॥

**एतदिति**। व्यभिचारत अन्यवृत्ति मनस्कत्वात् , सुप्रजास्त्वं सुपुत्रवत्त्वम् ॥२०॥

**वीर०** सूर्यपौत्रस्य सुद्युम्नस्य स्त्रीत्वे सति बुधात्पुरूरवःप्रभृति सोमवंशप्रवृत्तिं वक्तुं सप्रस्तावमिलोपाख्यानमाह - **अप्रजस्येति**। पूर्वम् इक्ष्वाकुप्रभृतीनामुत्पत्ते· प्राक् अपुत्रस्य मनोः प्रजार्थं पुत्रार्थं मित्रावरुणदेवताकामिष्टिं मनोराचार्यो भगवान् वसिष्ठ अकरोत् अयाजयदित्यर्थ ॥१३॥

---

1 ABGJT °पर्यय 2 HV °ष्वपि 3 ABGJT ते 4 H V त्रसुत 5 H V यमो 6- -6 ABJ Omit 7 A B ,omitt आध्यायत्; H V अ० 8 - - 8 ABJ Omit

ततस्तत्र यागे क्रियमाणे सति मनो· पत्नी श्रद्धा पयोव्रता पयः क्षीरमेव व्रतमाहारो नियतो[1] यस्यास्सा, होतारमुपागम्य होतुस्समीपमागत्य प्रणिपत्य नमस्कृत्य च दुहित्रर्थमयाचत। कन्या मम यथा भवेत् तथा यजेति प्रार्थितवतीत्यर्थ· ॥१४॥

ततोऽध्वर्युणा प्रेषित· 'होत र्यजेति' प्रेषितो होता सुष्ठु समाहितचित्त तत्तथा प्रार्थितं ध्यायन् वाचा वषट्कारं गृणन् वषडित्युच्चरन् गृहीतेन तेन हविषा, अयजदिति शेष ॥१५॥

ततो होतुस्तद्व्यभिचारेण यजमानसङ्कल्पविपरीतसङ्कल्परूपेण व्यभिचारेण इलेति प्रसिद्धा सा कन्या बभूव[2]या श्रद्धया याचिता सैव कन्या सम्बभूव, न तु मनुना याचित पुत्र इत्यर्थ·। तां सम्भूतां कन्यां विलोक्य नातीव हृष्टं मनो यस्य तादृश· गुरुं वसिष्ठमाह ॥१६॥

उक्तिमेवाह **भगवन्निति** द्वाभ्याम्। हे भगवन्! ब्रह्मवादिनां वो युष्माकं इदं कर्म युष्माभिरनुष्ठितमिदं कर्म विपरीतं जातं किम् सङ्कल्पितफलविपरीतफलदं खल्वित्यर्थः। अस्तु को दोष·? इत्यत[3] आह अहो कष्टमिति। किं तत्कष्टम् ?तत्राऽऽह मैवमिति। ब्रह्मविक्रिया मन्त्रविकार·। मन्त्रशक्तिविपर्यास· मैवं स्यात् एवं भवितुं नार्हतीत्यर्थ·। मन्त्रशक्तिविपर्यय एव महत्कष्टमित्यर्थः ॥१७॥

ब्रह्मवादिनां वः इत्यनेनाऽभिप्रेतं विवृणोति **यूयमिति**। यूयं मन्त्रविद मन्त्रस्वरूपतद्विनियोगतदर्थविदः युक्तास्समाहितचित्ता· तपसा दग्धं किल्बिषं चिन्तितविपरीतफलदं येषां ते, तदेवम्भूतानां युष्माकं कुत· कस्माद्धेतो सङ्कल्पवैषम्यं चिन्तितवैषम्यमभूत्, तत्र विबुधेष्वनृतमिवेति दृष्टान्त । यथा विबुधेष्वनृतं भवितुं नार्हति तथा भवत्सु भवितुमनर्हं सङ्गल्प वैषम्यं कस्माद्धेतोर्बभूवेत्यर्थ· ॥१८॥

एवमुक्तस्तमाह वसिष्ठ इत्याह मुनि तदेव मुक्तं मनोर्वचो निशम्य श्रुत्वा नोऽस्माकं पितामहः, अस्य प्रेत्यादिः प्रपितामह· भगवान् वसिष्ठ· होतुर्व्यतिक्रमं सङ्कल्पविपर्यासं ज्ञात्वा रविनन्दनं मनुं बभाषे उवाच ॥१९॥

[4]तदेवाऽह **एतदिति**। होतुर्व्यभिचारात् विपरीतसङ्कल्परूपाद्धेतो·तवैतत्सङ्गल्पवैषम्यं चिन्तितवैषम्यं यद्यप्यभूत्, तथाऽप्यहं स्वतेजसा स्वतपोबलेन सुप्रजास्त्वं साधयिष्ये कन्याया एव पुंस्त्वं साधयिष्ये इत्यर्थ ॥ २०॥

**विज०** अप्रजस्य अपुत्रस्य इक्ष्वाकुप्रभृतिपुत्रोत्पत्ते· पूर्वं मित्रावरुणयोरिष्टिं मित्रावरुणदैवत्याम् ॥१३, १४॥

सुसमाहित एकाग्रचित्त· तच्छ्रद्धयोक्तं दध्यौ वषट्कारं मन्त्रविशेषं वा गृणन्, स्वकर्माऽकरोदिति शेषः ॥१५॥

तस्य कर्मणो व्यभिचारेण विपक्षवर्तिना हेतुना वाङ्निमित्तत्वादिला - "वाणी सरस्वती भाषा वागिडेला प्रकीर्तिता" इति ॥१६॥

---

1 A,B ०मो 2 TW omit श्रद्धया 3 A B त्राऽऽह 4 TW Omit तदेवाह

इदं जातं किमिति तत्राऽऽह - कर्मेति। ब्रह्मवादिनां वः कर्म विपरीतं पुत्रार्थिनः कन्या फलमभूत्। अतः किमिदमिति कुतूहलयामि। अत्रैवम्भूतेऽप्यन्यत्र मा भूदित्याह मैवमिति। ब्रह्मविदां व· क्रिया मैवम्भूदित्यर्थः ॥१७॥

कचित् स्खलने अन्यत्रापि नियमो न स्यादित्याशकङ्क्य क्वचिदप्यन्यथात्वं न युक्तं युष्माकमित्याह - **यूयमिति**। "मैत्रावरुणीमिष्टिं कुर्यात्पुत्रकाम·" इत्यादि मन्त्रहृदयज्ञा· यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां ध्यायेद्वषट् करिष्यन् इति वचनात् मनोयोगयुक्ता·, न च दोषादन्यथात्वं मनस इत्याह तपसेति। यूयमेवंविधास्तेषु युष्मासु सङ्कल्पवैषम्यं चिन्तितस्याऽन्यथात्वं कुतो न कुतोऽपि सम्भाव्यते कृत इति तत्राह - अनृतमिति। न हि देवेष्वनृतं हष्टचरं[1] "तस्मा दनृतं न वदेत्" इति श्रुते· ॥१८, १९॥

होतुर्व्यभिचारतः ध्यानस्याऽन्यथात्वलक्षणात् ॥ २०॥

**एवं व्यवसितो राजन् ! भगवान् स महायशाः।**
**अस्तौषीदादिपुरुषमिलायाः पुंस्त्वकाम्यया ॥२१॥**

**तस्मै कामवरं तुष्टो भगवान् हरिरीश्वर.।**
**ददाविलाऽभवत्तेन सुद्युम्नः पुरुषर्षभः ॥२२॥**

**स एकदा महाराज! विचरन्मृगयां वने ।**
**वृत· कतिपयामात्यैरश्वमारुह्य सैन्धवम् ॥२३॥**

**प्रगृह्य रुचिरं चापं शरांश्च परमाद्भुतान् ।**
**दंशितोऽनुमृगं वीर जगाम दिशमुत्तराम् ॥२४॥**

**स कुमारो[2] वनं मेरोरधस्तात्प्रविवेश ह।**
**यत्राऽऽस्ते भगवाञ्छर्वो[3] रममाणस्सहोमया ॥२५॥**

**तस्मिन्प्रविष्ट एवाऽसौ सुद्युम्नः परवीरहा।**
**अपश्यत् स्त्रियमान्मानमश्वञ्च बडबां नृप! ॥२६॥**

**तदा[4] तदनुगास्सर्वे आत्मलिङ्गविपर्ययम् ।**
**दृष्ट्वा विमनसोऽभूवन् वीक्षमाणा परस्परम् ॥२७॥**

---

1 AB Omit दुष्टचर 2 MMa सुकु० 3 MMa ·च्छम्भू० 4 ABGJMMaT तथा

## राजोवाच

**कथमेवंविधो देशः केन वा भगवान् कृतः।**
**प्रश्नमेनं समाचक्ष्व परं कौतूहलं हि नः ॥२८॥**

**श्रीध०** [3]**एवमिति**। आदिपुरुषं श्रीहरिं, स भगवान् वसिष्ठः अस्तौषीत्, तत्तन्मन्त्राणां यथोक्तप्रायश्चित्ताद्यनुष्ठानेन यथाविध्यनुष्ठितकर्मणामिव फलप्रदातारं हरिं प्रार्थयामासेत्यर्थः[3] ॥२१-२८॥

**वीर०** एवं प्रतिज्ञाय भगवान् वसिष्ठ तथैव साधितवानित्याह मुनि - **एवमिति**। हे राजन्! इत्थं व्यवसित निश्चययुक्त स महायशाः एवं विपुलकीर्तिर्भगवान् वसिष्ठ आदिपुरुषं भगवन्तम् इलायाः कन्यायाः पुंस्त्वकाम्यया पुंस्त्वसम्पादनेच्छया अस्तौषीत् ॥२१॥

तत ईश्वरो भगवान् हरिः तत्कृतेन स्तोत्रेण तुष्ट प्रसन्नः तस्मै वसिष्ठाय कामं वरमिष्टमिलायाः पुंस्त्वरूपं वरं ददौ। ततः तेन वरेण हेतुना सा इला सुद्युम्नाख्य पुरुषश्रेष्ठो बभूव ॥२२॥

स वीर सुद्युम्न कदाचित् हे महाराज! वने मृगयां चरन् मृगया[4] कर्तुमित्यर्थ । कतिपयैरमात्यैर्मन्त्रिभि परिवृत सैन्धवं सिन्धुदेशोद्भवमश्वमारुह्य रुचिरं सुन्दर दृढञ्च चापं धनु , तथाऽद्भुतान् निशितान् शरांश्च प्रगृह्य दंशित कवचित उत्तरा दिश प्रति अनुमृगं प्रतिमृगं जगाम विचचार ॥२३, २४॥

एव विचरन् स कुमार सुद्युम्नो मेरो पर्वतस्याऽधस्तात्स्थित वन प्रविवेश। हेत्याश्चर्ये खेदे च । तत्प्रदेशस्य पुन स्त्रीत्वापत्तिहेतुत्वात् खेद , पराक्रमातिशयादाश्चर्यञ्च। वन विशिनष्टि - यत्रेति। यत्र वने भगवान् शर्वो रुद्र उमया सह रममाण आस्ते तद्वन प्रविवेश इलावृतवर्षस्थवनं प्रविवेशेत्यर्थ ॥२५॥

परान् शत्रून् वीरान् हन्तीति तथा। असौ सुद्युम्नस्तत्र वने प्रविष्ट एव प्रवेशमात्रेणैवेत्यर्थ । हे नृप! आत्मान स्त्रियमश्वं बडबाञ्चाऽपश्यत् ॥२६॥

तदा तस्य सुद्युम्नस्य अनुगास्सर्वे आत्मलिङ्ग पुंस्त्व तद्विपर्यय, स्त्रीत्वमित्यर्थ । तद्दृष्ट्वा परस्पर वीक्षमाणा विमनस अहो किमेतदस्माक प्राप्तमिति खिन्नचित्ता बभूवु ॥२७॥

पश्चमस्कन्धे, यत्प्रविष्टस्य स्त्रीभाव आपद्यते तन्निमित्त पश्चाद्वक्ष्ये इति प्रतिज्ञातस्य स्त्रीत्वापत्तिनिमित्तोपपादनस्य अवसरप्राप्तमालोक्य, तद्विस्तरतो बुभुत्सु पृच्छति राजा - **कथमेवमिति**। हे भगवन्! एवंविधो देश [illegible] प्रवेशमात्रेण

---

ABGJMMaT गुणो० 2 H V ०त 3 -3 ABJ Omit 4 TWadd वि

स्त्रीत्वापत्तिनिमित्तभूतो देश· कथमेवंविधं देशं न सम्भावयामीति भाव·। यदि कथञ्चित्सम्भवेत्तर्हि केनैवंविधः कृतः ? इति प्रश्नप्रकारः। एवं मया कृतं प्रश्नं समाचक्ष्व। प्रश्नशब्दः उपचारात्तदुत्तरे वर्तते प्रश्नस्योत्तरं वदेत्यर्थः। यद्वा प्रश्नशब्देन तन्निमित्तमुक्त देशनिष्ठं स्त्रीत्वापादकत्वं लक्ष्यते तदुपपादयेत्यर्थः। तच्छ्रवणेऽस्माकमतीव कौतूहलमुत्साहो वर्तते, अतः समाचक्ष्वेति भावः ॥२८॥

विज० तेन वरेण हेतुना सैन्धवं सिन्धुदेशजातम् ॥२१-२४॥

नाम्ना सुकुमारवनम्, अधस्तात् स्थितम् ॥२५॥

बडबामश्वस्त्रीलिङ्ग्याम्, आत्मनो देहस्य लिङ्गविपर्ययं पुरुषचिह्नविपरितं स्त्रीचिह्नम् ॥२६, २७॥

एवङ्गुणः पुरुषस्य स्त्रीत्वापादकगुणयुक्तः ॥२८॥

## श्रीशुक उवाच

एकदा गिरिशं द्रष्टुमृषयस्तत्र सुव्रताः।
दिशो वितिमिरा भासाः कुर्वन्तस्समुपागमन् ॥२९॥

तान्विलोक्याम्बिका देवी विवस्त्रा व्रीडिता भृशम्।
भर्तुरङ्कात्समुत्थाय नीवीमाश्वथ पर्यधात् ॥३०॥

ऋषयोऽपि तयोर्वीक्ष्यप्रसङ्गं रममाणयोः।
निवृत्ताः प्रययुस्तस्मान्नरनारायणाश्रमम् ॥३१॥

तदिदं भगवानाह प्रियायाः प्रियकाम्यया।
स्थानं यः प्रविशेदेतत् स वै योषिद्भवेदति ॥३२॥

तत ऊर्ध्वं वनं तद्वै पुरुषा वर्जयन्ति हि।
सा चाऽनुचरसंयुक्ता विचचार वनाद्वनम् ॥३३॥

अथ तामाश्रमाभ्याशे चरन्तीं प्रमदोत्तमाम्।
स्त्रीभिः परिवृतां वीक्ष्य चकमे भगवान्बुधः ॥३४॥

---

1 TW एत० 2 M Ma "स्त" 3 ABGJT विवासा 4 H M Ma V तदैवं; W तदैतत् 5 H V ०कृद्भिर्भु 6 M Ma स० 7 M Ma क्त·

**साऽपि तं चकमे सुभ्रूः सोमराजसुतं पतिम् ।**
**स तस्यां जनयामास पुरूरवसमात्मजम् ॥३५॥**

**एवं स्त्रीत्वमनुप्राप्तः सुद्युम्नो मानवो नृपः ।**
**सस्मार स्वकुलाचार्यं वसिष्ठमिति शुश्रुम[1] ॥३६॥**

**श्रीध० एकदेति** । विगतं तिमिरमाभासः प्राकाशश्चाऽन्यस्य यासु तथाभूता· दिशः कुर्वन्तः ॥२९,३०॥

**ऋषय** इति । प्रसङ्गं रत्यभिनिवेशं, स्त्रीप्रसङ्गदर्शनकलुषितमनसस्सन्तः[2-] तत्कलुषनिवृत्यर्थमेव[-2] तत्प्रसङ्गशून्यं नरनारायणाश्रमं प्रययु· ॥३१, ३२॥

प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रस्तुतमनुवर्णयति **तत** इति । अनुचरीसंयुक्तेति वक्तव्ये भूतपूर्वगत्या पुंस्त्वनिर्देशः ॥३३-३६॥

**वीर०** एवमापृष्टो यथावदुपपादयितुं तत्प्रस्तावमाह मुनिः - **एकदेति** त्रिभिः । कदाचिद्वृषयस्तपोनिष्ठाः हरं रुद्रं द्रष्टुं तत्रेलावृतस्थे वने समुपागमन् जग्मुः । कथम्भूता· सन्त·? भासा स्वदीप्त्या दिशो वितिमिरा· कुर्वन्तस्सन्तः, विगतं तिमिरं आसमन्तात् भासः प्रकाशश्च यासु तथाभूताः कुर्वन्त इति वा ॥२९॥

अथ तान् तत्र समुपागतानृषीन्विलोक्य अम्बिका देवी विवस्त्रा नग्ना सती अत एव नितरां लज्जिता भर्तुः शर्वस्य अङ्कादाशु समुत्थाय नीवीं नीवीयुक्तं वस्त्रं पर्यधात् धृतवती ॥३०॥

तथा ऋषयोऽपि रममाणयोस्तयोर्भवभवान्यो· प्रसङ्गं रत्यभिनिवेशप्रसङ्गं वीक्ष्याऽऽलोच्य तस्माद्वनान्निवृत्तास्तत्प्रसङ्गरहित नरनारायणाश्रमं जग्मुः ॥३१॥

तदा भगवान् रुद्रः प्रियाया आम्बिकायाः प्रियं कर्तुमिच्छया एतदाह । कथम् ? यः कश्चित्पुमान् एतत्स्थानं प्रविशेत् स योषिद्भवेदिति ॥३२॥

ततो रुद्रशापानन्तरं तत् स्थानं सर्वे पुरुषा वर्जयन्ति, तत्र न प्रविशन्तीत्यर्थ· । हीति प्रसिद्धिं द्योतयति । एवं **तद्देशस्य** स्त्रीत्वापादकत्वनिमित्तमभिधाय अथ सुद्युम्नस्य स्त्रीत्वापत्त्यनन्तरं वृत्तान्तमाह - सा चेति । सा च पूर्वमपि योषित्, **मध्ये पुंस्त्वं** प्राप्ताऽपि पुनः स्त्रीत्वमापन्ना योषित् अनुचरसंयुक्ता अनुचरीभि· संयुक्ता, अनुचरी संयुक्तेति वक्तव्ये भूतपूर्वगत्या पुंस्त्वनिर्देशः । वनाद्वनं, वनान्तरात्पुनः पुनर्वनान्तरं विचचार ॥३३॥

---

1 H M Ma V ०म 2- -2 ABJ Omit

ततः स्वाश्रमसमीपे चरन्तीं तां स्त्रीभि· परिवृतां प्रमदोत्तमामवलोक्य भगवान्बुध· सोमपुत्रश्चकमे ॥३४॥

तथा सा च सुभ्रू· सोमराजसुतम्प्रति चकमे परस्परकामतया मिथुनीबभूवतु· । स बुधस्तस्यां योषिति पुरूरवस्संज्ञकमात्मज मुत्पादयामास ॥३५॥

एवं स्त्रीत्वमापन्नो मनो पुत्रो नृप सुद्युम्न स्वकुलाचार्यं वसिष्ठं सस्मार दध्यौ इति शुश्रुम इत्यनेनोक्तवृत्तान्त - स्याऽसत्यत्वशङ्कां निवारयति ॥ ३६ ॥

**विज०** भासा स्वतेजसा वितिमिरा निरस्तान्धकारा· ॥२९॥

नीर्वी वस्त्रं, पर्यधाद्वेष्टितं कृतवती ॥३०-३१॥

भगवानाहेत्यन्वय· । कथम् ? य एतत् स्थानं प्रविशेत्स योषिद्भवेदिति, वा इत्यनेन आत्मवर्जमिति सूचयति ॥३२॥

तद्वै तदेव नाऽन्यत् । हि शब्दो हेतौ, यत· स्त्रीत्वं स्यादत इति ॥ ३३, ३४॥

स बुधस्तस्यां स्त्रीत्वमापन्नायां सुद्युम्नाख्यायाम् ॥३५, ३६॥

**स तस्य[1] ता दशां दृष्ट्वा कृपया भृशपीडितः ।**
**सुद्युम्नस्याऽऽशयन् पुंस्त्वमुपाधावत शङ्करम् ॥३७॥**

**तुष्टस्तस्मै स भगवानृषये प्रीतिमावहन्[2] ।**
**स्वाश्च वाचमृतां कुर्वन्निदमाह विशाम्पते ॥३८॥**

**मासं पुमान् स भविता मासं स्त्री तपसा[3] तव[3] ।**
**इत्थं[4] व्यवस्थया कामं सुद्युम्नोऽवतु मेदिनीम् ॥३९॥**

**आचार्यानुग्रहात्कामं लब्ध्वा पुंस्त्वं व्यवस्थया ।**
**पालयामास जगतीं नाभ्यनन्दन् स्म तं प्रजाः ॥४०॥**

**तस्योत्कलो गयो राज्ञो[5] विमलश्च सुतास्त्रयः ।**
**उत्तरापथराजानो[6] बभूवुः धर्मवत्सलाः ॥४१॥**

**ततः परिणते[7] काले प्रतिष्ठानपतिः प्रभुः ।**
**पुरूरवस उत्सृज्य गां पुत्राय गतो वनम् ॥४२॥**

---

1 M Ma तस्या 2 ABGJT प्रिय 3--3 ABGJT तव गोत्रज 4 M Ma इति 5 ABGMMaT राजन् 6 ABGJMMaT दक्षिणा 7 MMA ०त

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे प्रथमोऽध्याय ॥१॥

**श्रीध०** [1-] **स** इति। आशयन् इच्छन्[1] ॥३७-३९॥

**आचार्येति**। नाभ्यनन्दन् स्त्रीत्वे [2]तस्य लज्जया मासं[3] मासं निलीयावस्थानात् ॥४०-४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्यख्यायां नवमस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

**वीर०** संस्मृतो वसिष्ठस्तस्य दशामवस्थान्तरापत्तिं दृष्ट्वा कृपया नितरां पीडित पुन सुद्युम्नस्य पुंस्त्वमाशयन् इच्छन्। अर्दयन्निति पाठान्तरम् । तदाऽप्ययमेवाऽर्थ· शङ्करमुपाधावत अस्तावीदित्यर्थः ॥३७॥

स भगवान् शङ्करः तदुपधावनेन तुष्ट· तस्मै वसिष्ठाय प्रीतिमावहन् कुर्वन् स्वां स्वकीयां वाचं "स्थानं यः प्रविशे देतत् स वै योषिद्भवेत्" (भाग. 9-1-32 ) इत्युक्तां वाचं ऋतां सत्याञ्च कुर्वन् हे विशाम्पते! इदं वक्ष्यमाणमाह तव तपसा तपः प्रभावेनाऽयं सुद्युम्नो मासं पुमान्भविष्यति, मद्वाचा तु मासं योषिद्भविष्यति।, एवं सत्यावयो र्न तपो वचसोः असत्यतेति भाव· ॥३८॥

इत्येवंविधया व्यवस्थयाऽयं सुद्युम्न· कामं यथेच्छं मेदिनीं पालयतु इति ॥३९॥

तत एवमाचार्यस्य वसिष्ठस्यानुग्रहात् काममिष्टं पुंस्त्वं व्यवस्थया एकैकमासान्तरितत्वरूपया व्यवस्थया लब्ध्वा जगतीं पालयामास तथाऽपि तं सुद्युम्नं प्रजा नाऽभ्यनन्दन् स्म नाऽभिनन्दितवत्य खलु। मासं मासं स्त्रीत्वेन लज्जया संलीयाऽवस्थाना दिति भाव· ॥४०॥

तस्य राज्ञस्सुद्युम्नस्य उत्कलादय त्रयस्सुता बभूवुः, ते च दक्षिणापथराजान· दक्षिणदेशाधीश्वरा·। समासान्तविधेरनित्यत्वात् 'राजाऽहः' इति टजभावः। धर्मवत्सलाः धर्मानुकूलवात्सल्ययुक्ताश्च बभूवुः ॥४१॥

तत· काले परिणते सति कालवशात् जरायां प्राप्तायामित्यर्थ । प्रतिष्ठानपतिः प्रतितिष्ठत्यस्मिन्निति प्रतिष्ठानं भूमण्डलं अधिकरणे ल्युट् । तस्याऽधिपतिः सुद्युम्नः। [4-]यद्वा प्रतिष्ठानं प्रयागनगरं तस्याधिपति· प्रभुर्जितेन्द्रियो भूत्वा पुरूरवसे बुधा - - दुत्पन्नाय स्वपुत्राय गां पृथ्वीमृत्सृज्य दत्वा वनङ्गतः, तपः कर्तु मिति शेषः ॥४२॥

---

1- -1 H V omit 2 A B J omit तस्य 3 H V omit मास 4- -4 TW omit

श्रीवत्सान्वयपयःपारावार राकासुधाकरस्य सर्वविद्यानिधेः चक्रवर्तिनः श्रीशैलगुरोः सुतेन
तच्चरणकमलपरिचर्या प्रसादित तत्सूक्ति समधिगतश्रीमद्भागवतार्थहृदयेन श्रीवैष्णवदासेन
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां श्रीमद्भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां नवमस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

**विजः** दशां स्त्रीत्वलक्षणाम् । आशयन् कामयन् , उपाधावत असेवत ॥३७,३८॥

मासमिति द्वितीया। त्रिंशद्दिनेषु एकस्मिन् दिनेऽपि अनन्यथात्वं सूचयति "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" (अष्टा 1-3-5) इति सूत्रात् ॥३९॥

पुंस्त्वलक्षणं कामम् , जगतीं राजप्रधानभूमिम् ॥ ४०॥

दक्षिणापथस्य देशस्य राजानः ॥४१॥

परिणतो वृद्धः प्रतिष्ठानाख्यपुरपतिः, गां भूमिम् ॥४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
नवमस्कन्धे प्रथमोऽध्याय· ॥१॥

# द्वितीयोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

एवं गतेऽथ सुद्युम्ने मनुर्वैवस्वतः सुते।
पुत्रकामस्तपस्तेपे यमुनायां शतं समाः ॥१॥

ततोद्यजन्मनुर्देवमपत्यार्थे[1] हरिं प्रभुम्।
इक्ष्वाकुपूर्वजान् पुत्रान् लेभे स्वसदृशान् दश ॥२॥

पृषध्रस्तु[2] मनोः पुत्तो गोपालो गुरुणा[3] कृतः।
पालयामास गा[4] यत्तो रात्र्यां वीरासनव्रतः ॥३॥

एकदा प्राविशद्गोष्ठं शार्दूलो निशि वर्षति।
शयाना गाव उत्थाय भीतास्ता बभ्रमुर्व्रजे ॥४॥

एकां जग्राह बलवान्[5] सा चुक्रोश[6] भृशातुरा।
तस्यास्तत्क्रन्दितं[7] श्रुत्वा पृषध्रोऽभिससार[8] ह ॥५॥

खड्गमादाय[9] तरसा प्रलीनोडुगणे निशि।
अजानन्नच्छिनद्[10] व्याघ्रोः शिरश्शार्दूलशङ्कया ॥६॥

व्याघ्रोऽपि[11] वृक्णश्रवणो निस्त्रिंशाग्र[12] हतस्ततः।
निश्चक्राम दृढं[13] भीतो रक्तं पथि समुत्सृजन् ॥७॥

मन्यमानो हतं[14] व्याघ्रं पृषध्रः[15] परवीरहा।
अद्राक्षीत् स्वहतां[16] बभ्रुं व्युष्टायां निशि दुःखितः ॥८॥

श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्वितीये मनुपुत्राणां द्वावपुत्रौ विरागतः।
करूशकादि[17] पञ्चानां वंशानाह लघुक्रमात् ॥ एवमिति। वैवस्वतो मनुः श्राद्धदेवः ॥१॥
तत इति। इक्ष्वाकुः पूर्वजो येषां तान् दशपुत्रान् लेभे[18-18] ॥२॥

---

1 A B G J M MaT त्यार्थं 2 M Ma वृ० 3 H V णान्वित 4 H V गा यत्तो; W गा यत्ता 5 M Ma साऽनु० 6 A,B,G J T भयातुरा, M Ma भयातुरा 7 M Ma स्यास्तु क्र 8 M Ma वृ० 9 H V सहसा 10 A,B,G,J,M Ma,T ०ञ्नह० 11 M Ma ०विवृ० 12 A,B,G J T ग्रा० 13 A,B G J M Ma,T भृशं 14 H V हतं 15 M Ma ०वृ० 16 M Ma ०हृ० 17 A B J ०च० 18--18 H V omit

तत्र पृषध्रस्य वंशो नाऽभवदिति सहेतुकमाह - पृषध्रस्त्वित्यारभ्य[1] कविः कनीयानित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। **पृषध्र** इति। खड्गपाणेस्सतः तिष्ठतः जागरणं वीरासनं तदेव व्रतं यस्य। यत्तः अवहितस्सन् गाः पालयामास ॥३॥

**एकदेति**। शार्दूलो व्याघ्र· वर्षति[2] सति पर्जन्य इति शेषः[2] ॥४,५॥

**खड्गमिति**। प्रलीना उडुगणा यस्मिन् तस्मिन् समय इति शेषः। बभ्रोः कपिलायाः गोः ॥६॥

**व्याघ्र** इति। गां कामत. न जघान इति ख्यापयितुं वृक्णश्रवणः इत्याद्युक्तम्। वृक्णश्रवणः[3] खण्डितश्रोत्रः[3] ॥७॥

**मन्यमान** इति। व्युष्टायां प्रभातायाम् ॥८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रका

एवं सोमवंशप्रवृत्तिमभिधाय अथ सुद्युम्ने वनं गते[4] सति पुनर्मनोः पुत्रार्थं तपश्चर्यां भगवदाराधनं ततः इक्ष्वाकादि पुत्रलाभं तत्पुत्रपौत्रादिपरम्परां तच्चरित्राणि च आह-**एवमिति**। इत्थं सुते सुद्युम्ने वनङ्गते सति अथ मनुः वैवस्वत· पुत्रान् कामयमानः यमुनायां नद्यां तत्तटे शतं समा तपस्तेपे चकार ॥१॥

ततोऽपत्यार्थे पुत्रार्थं देवं हरिं प्रभुं स्वतन्त्रं भगवन्तं अयजत् आराधितवान्, तत[5]· तस्य भगवत प्रसादात् स्वतुल्यान् इक्ष्वाकुप्रभृतीन् दश पुत्रान् प्राप। इक्ष्वाकादय पूर्वमेव निर्दिष्टा· ॥२॥

तत्र पृषध्रकव्यो सन्तत्यभावज्ञापनाय तच्चरित्रं तावदाह - 'पृषध्रस्तु' इत्यादिना 'करूषान् मानवा' दित्यत· प्राक्तनेन ग्रन्थेन। मनोर्वैवस्वतस्य पुत्र· पृषध्रस्तु। तु शब्दोऽस्य इक्ष्वाकादिभ्य. सन्तत्यभावकृतवैलक्षण्यद्योतनार्थः। गुरुणा वसिष्ठेन पित्रा वा, गोपाल कृत· गा पालयेति नियुक्त , यत्त अवहितस्सन् वीरासनमेव व्रतं यस्य तथाभूतो रात्र्यां खड्गपाणि· गा· पालयामास। व्याघ्रादिभ्यो ररक्ष ॥३॥

एवं सति एकदा निशि रात्र्यां वर्षति सति पर्जन्ये, शार्दूलो व्याघ्र गोष्ठं प्राविशात् । तदा तं दृष्ट्वा ताश्शायाना गावो भीता· उत्थाय व्रजे गोष्ठे बभ्रमु ॥४॥

तदा बलवान् शार्दूल एकां गां जग्राह । सा गृहीता गौ आतुरा सती चुक्रोश, आक्रन्दितवती, तस्या गो. तत्क्रन्दितं निशाम्य पृषध्र· समीपमियाय ॥५॥

निशि प्रलीना उडुगणा नक्षत्रगणा यस्मिन् तस्मिन् समये मेघावृतत्वात् अम्बरस्य नक्षत्रप्रकाशेनापि वर्जिते समये। अत एव अजानन् शार्दूलशङ्कया बभ्रो कपिलाया गो[6] शिर· खड्गमादाय तरसा बलेन अच्छिनत् चिच्छेद ॥६॥

---

1 A B J त्यादिना 2- -2 A,B,J omit 3- -3 A,B J omit 4 A,B,T प्रविष्टे 5 A,B,T omit तत 6 A,B,T omit गो

तदा निस्त्रिंशः खड्गः तस्याग्रतः प्रहरणवेगात् समीपस्थो व्याघ्र· छिन्नकर्णो भूत्वा नितरां भीत· पथि रक्तं समुत्सृजन् , ततो गोष्ठात् निष्क्रान्तः ॥७॥

ततः परवीरहा पृषध्रो व्याघ्रं हतं मन्यमानो निशि व्युष्टायां अतीतायां सत्यां प्रभाते स्वेन हतां बभ्रुम् अद्राक्षीत् ततो नितरां दुःखितो बभूव ॥८॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

सुद्युम्ने सुते वैवस्वतः शग्रद्धदेवो मनुः ।।१॥

इक्ष्वाकुः पूर्वजो ज्येष्टो येषां ते तथा तान् ॥२॥

मनोःपुत्राणां अष्टमः पुत्रः वृषध्रः[1] गाः पालयामास। कीदृश· ? गुरुणा वसिष्ठेन गोपाल कृत·। तुशब्देन वृषान् धारयितुं योग्य इति निरुक्त्येति सूचयति गोरक्षैकनिष्ठया नेत्रे उन्मील्य जाग्रदेव गोसन्निधाने प्रतिष्ठानाद्वीरासनव्रत ॥३॥

निशि मेघे वर्षति सति ॥४॥

सा गौ· ॥५॥

बभ्रोर्गो· शिरोऽहनत् । "बभ्रूर्गौ· सौरभेयी च माहेयी गोमतल्लिका" इति। गो शिरश्छेदने को हेतु ? इति तत्राऽऽह निशीति। निश्यपि नक्षत्रादिप्रकाशनेन विवेकज्ञानं सुलभमित्यत्राऽऽह[2] - प्रलीनेति। मेघच्छायाच्छादितनक्षत्रादिप्रकाशे च सति ॥६॥

विवृक्णश्रवण छिन्नकर्णमूल निस्त्रिंशस्य खड्गस्य अग्रेण हत प्रहत ॥७॥

निशि व्युष्टायां प्रभातायाम् ॥८॥

**तं शशाप कुलाचार्यः कृतागसमकामतः।**
**न क्षत्रबन्धुः शूद्रस्त्वं कर्मणा भविताऽमुना ॥९॥**

**एवं शप्तस्त्वगुरुणा[3] प्रत्यगृह्णत्कृताञ्जलिः।**
**अधारयद्व्रतं वीर ऊर्ध्वरेता मुनिप्रियम् ॥१०॥**

**वासुदेवे भगवति सर्वात्मनि[4] परेऽमले।**
**एकान्तित्वं गतो भक्त्या सर्वभूतसुहृत्समः[5] ॥११॥**

---

1 A पु० 2 Ma ०त्याह 3 A,B G J M Ma,T ०स्तु० 4 M Ma 5 B J त्तम

विमुक्तसङ्गश्शान्तात्मा संयताक्षोऽपरिग्रहः ।
यदृच्छयोपपन्नेन कल्पयन् वृत्तिमात्मनः ॥१२॥

आत्मन्यात्मानमाधाय ज्ञानतृप्तस्समाहितः ।
विचचार महीमेतां जडान्धबधिराकृतिः ॥१३॥

एवंवृत्तो[1] वनं गत्वा दृष्ट्वा दावाग्निमुत्थितम् ।
तेनोपयुक्तकरणो[2] ब्रह्माऽवाप[3] परं मुनिः ॥१४॥

कविः[4] कनीयान्विषयेषु निःस्पृहो विसृज्य राज्यं सह बन्धुभिर्गृहान्[5] ।
निवेश्य चित्ते पुरुषं स्वरोचिषं विवेश कैशोरवयाः परागतिम्[6] ॥१५॥

करुषान्मानवादासन्[7] कारुषाः[8] क्षत्रजातयः ।
उत्तरापथगोप्तारो ब्रह्मण्या धर्मवत्सलाः ॥१६॥

**श्रीध०** तमिति। क्षत्रबन्धुरपि त्वं न भविता, अपि तु शूद्रो[9] भवेति ॥९-१३॥

एवमिति। उपयुक्तकरणो दग्धदेहः ॥१४॥

कवेरपि वंशो नाऽभवदित्याह - **कविरिति**। बन्धुभिस्सह राज्यं विसृज्य ॥१५-१६॥

**वीर०** तमकामत· प्रमादात्कृतागसमपि पृषध्रं कुलाचार्यो वसिष्ठश्शशाप। शापमेवाऽऽह नेति। त्वं क्षत्रबन्धुरपि न भविताऽसि किन्तु अमुना पापेन कर्मणा केवलं शूद्रो भवेति ॥ ९ ॥

इत्थं स्वगुरुणा वसिष्ठेन शप्त· पृषध्र· कृताञ्जलिः शापं प्रत्यगृह्णत् प्रतिजग्राह । ततो वीरः पृषध्रो जितेन्द्रियो भूत्वा मुनीनां प्रियं व्रतं भगवदुपासनात्मकमधारयत् भगवन्तमुपासाश्चक्र इत्यर्थः ॥१०॥

तत· कतिपयैर्दिनै· सर्वभूतान्तरात्मनि निरस्तनिखिलदोषे परस्मिन्ब्रह्मणि एकान्तित्वं "प्रियोऽहि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं सच मम प्रियः" (भ : गी 7-17 ) "ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्" (भ.गी. 7-18 ) इत्यादिस्थानोक्तानन्यप्रयोजनसाक्षात्कारपर्यन्त भक्त्यात्मकज्ञानानिष्ठत्वं प्राप्तः सर्वभूतसुहृत् समः, सुखदुःखयोरिति शेषः ॥११॥

विमुक्त ऐहिकेषु आमुष्मिकेषु च भोगेषु सङ्गो येन स· शान्तः रागादिभिरकलुषित आत्मा मनो यस्य, संयतानि नियमितानि

---

1 M Ma व्रतो 2 A B,G,H,J,M Ma,T V ०यु० 3 A,B,G,J,M Ma,T ब्रह्म प्राप 4 M,Ma कविस्तदाय वि० 5 A,B,G,J,M Ma,T ०र्वनम् 6 A,B,G,H,J,M Ma,T परगत । 7 H M Ma V ०शा० 8 H M Ma V ०शा० 9 A B J भविवेति

अक्षाणि इन्द्रियाणि येन, न विद्यते परिग्रहः देहातिरिक्त तदनुबन्धो[1] यस्य सः, यदृच्छयोपपन्नेन दैवाल्लब्धेनाऽन्नादिना आत्मनो देहस्य वृत्तिं कल्पयन् धारणां[2] कुर्वन् ॥१२॥

आत्मनि परमात्मनि आत्मानं मन आधाय निवेश्य यद्वा, आत्मानं प्रत्यगात्मानमाधाय "ओमित्यात्मानं युञ्जीत" (म.ना. उ. 17-15) इति श्रुत्युक्तप्रकारेण तच्छेषतया तदायत्तसत्तादिमत्वेन चाऽनुसन्धायेत्यर्थः। ज्ञानतृप्तः निरतिशयानन्दरूप-भागवदुपासनात्मकज्ञानेनैव तृप्तः तदन्यविषयनिस्पृहः समाहितः अप्रकम्प्यः भगवद्भक्तियोगनिष्ठजडादीनामाकृतिरिवाकृतिः आकारो यस्य सः, एतां महीं विचचार ॥१३॥

यावत्प्रारब्धमेवंविधं वृत्तं वृत्तिर्यस्य सः, तदवसाने कदाचिद्वनं प्रविश्य तत्रोत्थितं दावाग्निं दृष्ट्वा तं प्रविश्य तेन दवाग्नि नोपभुक्तानि दग्धानि करणानि करचरणादीनि यस्य तादृशो मुनिः पृषध्रः परं ब्रह्म प्राप प्राप्तवान् ॥१४॥

अथ कवेर्वृत्तमाह - **कविरित्येकेन**। कनीयानिक्ष्वाकादीनां सर्वेषामवरजः कविः विषयेषु शब्दादिषु निःस्पृहः अत एव राज्यं बन्धुभिस्सह गृहांश्च त्यक्त्वा स्वरोचिषं स्वाभाविक दीप्तियुक्तम् "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" (श्वेत. उ. 3-8) इति हि श्रुतिः। यद्वा स्वप्रकाशं ज्ञानस्वरूपं परमपुरुषं स्वचित्ते निवेश्य चित्तं तस्मिन् स्थिरीकृत्येत्यर्थः। कैशोरवयस्क एव परां गतिमवाप ॥१५॥

अथ करूषस्य वंशमाह - करूषादिति। कारुषसंज्ञास्त्रयः क्षत्रियाः उत्तरदेशस्य गोप्तारः, ब्रह्मण्याः ब्राह्मणेषु साधवः, धर्मानुकूलवात्सल्ययुक्ताश्चाऽभवन् ॥१६॥

**विज०** अकामतः बभ्रुहननेच्छाऽभावतोऽपि कृतागसं कृतापराधम् अमुना क्रूरकर्मणा शूद्रो भविता न क्षत्रबन्धुरिति शशापेत्यन्वयः ॥९॥

तुशब्देन गुरावननुसूयावानित्याह - कुतोऽवगतमेतदित्यत उक्तं - प्रत्यगृह्णदिति। भयात्प्रतिग्रहः किं न स्यादित्यत उक्तं कृताञ्जलिरिति। मुनिप्रियम् ऊर्ध्वरेतस्त्वम् ॥१०॥

किं तन्मुनिप्रियं व्रतम् । इत्यत आह वासुदेव इति । एकान्तित्वादिकं व्रतम् ॥११॥

संयताक्षः नियमितोन्द्रियः यदृच्छया असम्प्रार्थितागतेन ॥१२, १२॥

तेन दावाग्निना उपयुक्तकरणः, स्वीकृतदेहः दग्धदेह इत्यर्थः। "करणं साधकतमे शरीरेन्द्रिययोरपि" इति ॥१४॥

उक्तमेव विवृणोति - कविरिति। यदा शापं प्राप तदा विषयेषु निःस्पृहः कविः ज्ञानी अयं वृषध्रः[3] बन्धुभिस्सह सङ्गं विसृज्य वनं विवेश। स्वरोचिषं स्वयंप्रकाशं पुरुषं चित्ते निवेश्य कैशोरवया अल्पवयाः तत्प्रसादेन परङ्गत इत्यन्वय. ॥१५॥

---

1 BW बन्धो 2 A,B T °णं 3 A,B पृ०

मानवात् मनुपुत्रात् करूशात्[1] कारूशा[2] इत्येवं प्रसिद्धाः आसन्नित्यन्वय.। क्षत्रजातय इत्यनेन गोपालत्वादिजात्यन्तरं नाऽऽप्ता , किन्तु तज्जातय एव इति सूचयति ॥१६॥

**धृष्टाद्धार्ष्टमभूत्क्षत्रं ब्रह्मभूयं[3] गतं क्षितौ ।**
**नृगस्य[4] वंशस्सुमतिर्भूतज्योतिस्ततो वसुः[4] ॥१७॥**

**वसोः प्रतीकस्तत्पुत्र ओघवानोघवत्पिता ।**
**कन्या चौघवती नाम सुदर्शन उवाह ताम् ॥१८॥**

**चित्रसेनो नरिष्यन्ताद्दक्षस्तस्य सुतोऽभवत् ।**
**तस्य मीढ्वांस्ततः[6] कूर्च इन्द्रसेनस्तु तत्सुतः ॥१९॥**

**वीतिहोत्रस्त्विन्द्रसेनात् तस्य सत्यश्रवास्सुतः[7]।**
**उरुश्रवास्सुतस्तस्य देवदत्तस्ततोऽभवत् ॥२०॥**

**ततोग्निवेश्यो[8] भगवानग्निः[9] स्वयमभूत्स्वतः।**
**कानीन इति विख्यातो जातूकर्ण्यो[10] महानृषिः ॥ २१॥**

**ततो ब्रह्मकुलं जातमग्निवेश्यायनं नृप।**
**नरिष्यन्तान्वयः[11] प्रोक्तो दिष्टवंशमथो[12] शृणु ॥२२॥**

**नाभागो दिष्टपुत्रोऽन्यः कर्मणा वैश्यताङ्गतः।**
**हलन्दनस्सुतस्तस्य वत्सप्रीतिर्हलन्दनात्[14] ॥२३॥**

**वत्सप्रीतेस्सुतः प्रांशुस्तत्सुतः प्रमितिर्विभो[15]।**
**स्वमित्रः प्रमितेस्तस्मात्[16] चाक्षुषोऽथ[17] विविंशतिः ॥२४॥**

**श्रीध० धुष्टादिति**। ब्रह्मभूयं ब्राह्मणत्वम् । नृगस्य वंश्य पुत्रस्सुमतिस्ततो भूतज्योतिस्ततो वसु ॥१७॥

**वसोरिति**। ओघवत पिता, तत्पुत्रोऽप्योघवानेवेत्यर्थ ॥१९॥

---

1 A,B ०षात् 2 A B J ०षा 3 M Ma भूत 4- -4 M,Ma नभपुत्रोऽभिबलवान् स्वातिमूलोऽभवद्वसु । 5 A,G,J T ०दृ० 6 H V स्ततश्शर्व 7 A,B,G J M Ma,T ०वा अभूत् । 8 H M Ma V देवदत्तस्य भ० 9- -9 H V नग्निवेशस्सुतोऽभवत् 10 H V तु कर्णो , W तु कर्ण्यो 11 W दय प्रोक्ता 12 A B G J M Ma T ०मतश्शृ० 13 A B G J M Ma T भ० 14 A B G J M Ma T भे० 15- -15 A B G T ०त्सुत्र प्रमतिं विदु ; M Ma ०त्सुत प्रमितिर्निभु 16- -16 A B G J M Ma T खनित्र प्रमते 17 W च०

तदेवं त्रिभिः श्लोकैः करूशधुष्ट[1] नृगाणां वंशा उक्ताः। नरिष्यन्तस्य वंशमाह चित्रसेन[2] इत्यादि सार्धैस्त्रिभिः। तत इत्यादेः यत्राऽधिक्यं स्यात्तत्राऽऽनन्तर्ये तत इत्यादि पदं व्याख्येयम् । यत्र तु न्यूनत्वं तत्र पूर्वस्य परस्य वाऽनुषङ्गादिभि व्याख्येयम् । ॥१९,२०॥

**तत** इति। अग्निवेश्य एव कानीन इति जातुकर्ण[3] इति च विख्यातः ॥ २१, २२॥

**नाभाग** इति। दिष्टस्य पुत्रो नाभागो वक्ष्यमाणात्[4] नाभागादन्य इति भ्रान्तिव्युदासार्थम् अनुवादमात्रम् ॥२३, २४॥

**वीर०** अथ धृष्टस्य वंशं, तद्वृत्तञ्चाऽह-**धृष्टादित्यर्धेन**। धृष्टान्मानवात् धार्ष्टिसंज्ञं क्षत्रं क्षत्रजात्याश्रयाणि कानिचिदपत्यानि अभूवन्नित्यर्थः। तच्च क्षत्रं क्षितौ ब्रह्म भूयं गतं ब्रह्मणो भावो ब्रह्मभूयम्, अपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकसम्पत्ति "ब्राह्मेण जैमिनि रुपन्यासादिभ्यः" (ब्र.सू 4-4-5) इति हि शारीरक सूत्रं तद्गतमस्मिन् लोके परब्रह्मोपासनया तद्भावं प्रापेत्यर्थः। अथ नृगस्य वंशमाह नृगस्येति। नृगस्य मानवस्य वंश्य वंशे भवस्तावत्सुमति , तत सुमते भूतज्योति , ततश्च वसु ॥१७॥

वसो प्रतीक , तस्य प्रतीकस्य पुत्र ओघवान्, ओघवान् पिता यस्य सोऽप्योघवानेव, ओघवत कन्या दुहिता ओघवतीति प्रसिद्धा, तां ओघवतीं सुदर्शन उवाह उपयेमे ॥१८॥

अथ नरिष्यन्तस्य वशमाह - **चित्रसेन** इति। नरिष्यन्तान्मानवात् चित्रसेनस्तस्य चित्रसेनस्य ऋक्षसंज्ञ सुतोऽभवत्, तस्य ऋक्षस्य मीढ्वान् ततो मीढुष कूर्च तत्सुत कूर्चस्य सुत इन्द्रसेन ॥१९॥

इन्द्रसेनाद्वीतिहोत्रोऽभवत् तस्य वीतिहोत्रस्य सुत सत्यश्रवा अभवत् । तस्य सत्यश्रवस सुत उरुश्रवा , तत उरुश्रवसो देवदत्त सुतोऽभवत् ॥२०॥

देवदत्तस्य तु भगवानग्नि स्वयमेव पुत्रतां प्राप्त , स च कानीन इति प्रसिद्ध महानृषिरभूत् । तस्यैव नामान्तरं[5] जातूकर्ण्य इति, अग्निवेश्य इति च ॥२१॥

ततोऽग्निवेश्यजातूकर्ण्यापरनामधेयात् कानीनात्[6], हे नृप! अग्निवेश्यायनमाग्निवेश्यगोत्रम् एतत्कुलमित्येवंविध व्यवहारविषयं ब्राह्मणकुलं जातम् । वृत्तानुवादपूर्वकं वर्तिष्यमाणकथनं प्रतिजानीते, एवं नरिष्यन्त आदिर्येषां तत्पुत्रादीनां ते प्रोक्ता। अथ दिष्टस्य मानवस्य वंशं शृणु, कथयतो मत्त इति शेष ॥२२॥

दिष्टस्य पुत्रो नाभाग , स चाऽयं नाभागः कर्मणा कृषिगोरक्षवाणिज्यादिकर्मणा वैश्यतां प्राप्त । कर्मणा वैश्यतां गत इत्यनेन पूर्वकाले शमदमादिकर्मणैव विप्रत्वादिजात्याश्रयत्वमिति सूचितम् । मनुपौत्रान्नाभागदयमन्यो नाभागः, तस्य वशश्चतुर्थे अध्याये वक्ष्यते, तस्य नाभागस्य सुतो हलन्धन[7] , हलन्धनाद्वत्सप्रीति[8] सुतोऽभवत् ॥२३॥

---

1 ABJ ०ष 2 ABJ इति 3 ABJ जातूकर्ण्य, 4 ABJ ०णा ना० 5 B जातुकर्ण्य 6 A,omits कानीनात् 7 AB ०न्दन 8 AB न्द

वत्सप्रीतेस्सुतः प्रांशुः, तत्सुतः प्रांशोस्सुतः प्रमितिः[1]। हे विभो! प्रमितेः[2] स्वमित्रः, तस्मात् स्वमित्राच्चाक्षुषः[3] अथ[4] चाक्षुषाद्विंशतिः अभूत् ॥२४॥

**विज०** धृष्टान्मनुपुत्रान्नाम्ना धार्ष्टं क्षत्रमभूत्, तद्वृत्तमाह- ब्रह्मभूयमिति। ब्रह्मत्वं श्रोत्रियत्वं गतमित्यर्थः। नभस्य मनुपुत्रस्य पुत्रः स्वातिमूलः, तस्य पुत्रः नाम्ना वसुरभवत् ॥१७॥

तत्पुत्रः प्रतीकपुत्रः ओघवान्, आघवतस्तस्य सहोदर्योघवती कन्या चाऽभवत्, सुदर्शनो नाम राजा ॥१८॥

नरिष्यन्तान्मनुपुत्राच्चित्रसेननामा सुतोऽभूत्, तस्य चित्रसेनस्य दक्षः ॥१९, २०॥

अग्नेर्जातूकर्ण्य इति नाम ॥२१॥

ततो जातूकर्ण्याद्ब्रह्मकुलं जातम्, तदेवाग्निवेश्यायनमिति नामान्तरेण प्रसिद्धं इक्ष्वाकुप्रभृतीनां चतुर्थं दिष्टवंशम् ॥२२॥

अन्यः अन्यजातीयः कथं वाणिज्यादिकर्मणा वैश्यत्वं गतः, 'दिष्टपुत्रो य' इति केचित्पठन्ति। वक्ष्यमाणादन्य इति वा॥२३, २४॥

**विविंशतिसुतो रम्भः खनिनेत्रोऽस्य धार्मिकः।**
**करन्धमो[5] महाराजः[6] तस्यासीदात्मजो नृप[7] ॥२५॥**

**तस्याविक्षत्[8] सुतो यस्य मरुत्तश्चक्रवर्त्यभूत्।**
**संवर्तोऽयाजयद्यं[9] वै महायोग्यङ्गिरस्सुतः ॥२६॥**

**मरुत्तस्य यथा यज्ञो न तथाऽन्योऽस्ति[10] कश्चन।**
**सर्वं हिरण्मय[11]श्चासीत् यत्किञ्चिच्चास्य[12] शोभनम् ॥२७॥**

**अमाद्यदिन्द्रस्सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः।**
**मरुतः परिवेष्टारो विश्वे देवास्सभासदः ॥२८॥**

**मरुत्तस्य दमः पुत्रस्तस्याऽऽसीद्राजवर्धनः[13]।**
**सुधृतिस्तत्सुतो जज्ञे सौधृतेयो[14] नरस्सुतः ॥२९॥**

**तत्सुतः केवलस्तस्माद्बन्धुमान्[15] वेगवांस्ततः[16]।**
**बन्धुस्तस्याऽभवद्यस्य तृणबिन्दुर्महीपतिः[17] ॥३०॥**

---

1 A ०म० 2 A ०म० 3 W ०च्च० 4 W च० 5 HV ०न्धनो। 6 ABGJMMaT ०ज। 7 MMa ०प 8 ABGJMMaT ०स्य वीक्षित् 9 HV ०द्येन 10 ABGJT ०ऽन्यस्य 11 ABGJMMaT ०न्वा 12 MMa किशात्यतिशो० ; W किशि त्तस्यशो० 13 ABGJMMaT ०ज्य० 14 MMaT सो धृ० 15 W द्विन्दु 16 HV ०द० 17 W बिन्दु०

**तं भेजेऽलम्बुसा[1] देवी भजनीयगुणालयम् ।**
**वराप्सरा यतः पुत्राः कन्या चेलबिलाऽभवत्[2] ॥३१॥**
**तस्यामुत्पादयामास[3] विश्रवा धनदं सुतम् ।**
**सोऽवाप[4] विद्यां परमां मृषेर्योगेश्वरात्पितुः[5][6] ॥३२॥**

**श्रीध० तस्येति**। अङ्गिरसस्सुतो महायोगी संवर्तो यं अयाजयत् स मरुत्त ॥२५, २६॥

**मरुत्तस्येति**। अस्य यत्किञ्चित्पात्रादिकमासीत्[7] ततु सर्वं हिरण्मयं शोभनमासीत्[8] ॥२७॥

**आमाद्यदिति**। अमाद्यत् मुदं[9] प्राप ॥ २८ - ३०॥

**तमिति**। यतो यस्यां तृणबिन्दो पुत्रा अभवन् ॥३१, ३२॥

**वीर०** विविंशतेः पुत्रो रम्भ[10]· अस्य रम्भस्य[11] पुत्रः खनिनेत्र , सच धार्मिकः, तस्य दम्भ ,तस्य दम्भस्य आत्मजः करन्धमाख्यो महाराज आसीत्। हे नृप! ॥२५॥

तस्य करन्धमस्य सुतोऽविक्षत्[12] तत् पुत्रं वदन् तं विशिनष्टि - यस्य अविक्षतः[13] पुत्रो मरुत्ताख्य· चक्रवर्ती कृत्स्न - भूमण्डलरूपं चक्रं यस्य वशे वर्तते स चक्रवर्ती, तादृशो बभूव। मरुत्तं विशिंषन् सङ्ग्रहेण तद्वृत्तमाह - संवर्त इति। यं मरुत्तं अङ्गिरसस्सुतो महायोगी संवर्तः अयाजयत् ॥२६॥

मरुत्तस्य यज्ञो यथा यादृश· तथा तादृश कश्चिदप्यन्यो यज्ञो भुवि न केनचित्कृत इत्यर्थ·। मरुत्तस्य यज्ञमेव विशिनष्टि - यत्किञ्चिद्यज्ञोपकरणादिकं तत्सर्वं तत्कृतयज्ञे हि शोभनं हिरण्मयं[14] सुवर्णमयमेवाऽऽसीत्[14] ॥२७॥

तथा तस्मिन् यज्ञे इन्द्र· सोमेन रसेन अमाद्यत् अहृष्यत्। तथा द्विजातयो ब्राह्मणाश्च दक्षिणाभिरमाद्यन्। किञ्च तत्र यज्ञे मरुतः परिवेष्टार· भोजनपात्रेष्वन्नादीनां प्रदातार· सभायां सीदन्त्युपविशन्तीति सभासद· सभ्या· विश्वेदेवा· ॥२८॥

मरुत्तस्य पुत्रो दम तस्य पुत्रो राजवर्धनाख्य समभवत्। तस्य राजवर्धनस्य सुत· सुधृति· जज्ञे बभूव। तस्य नर इति प्रसिद्ध· सुत तस्यैव नामान्तरं सौधृतेय इति। तत्सुत सौधृतेयसुत· केवल·। तस्मात्केवलाद्बिन्दुमान् जज्ञे इत्यनुषङ्ग·। ततो बिन्दुमतो वेगवान्। तस्य वेगवतः बिन्दु पुत्रोऽभवत्। तत्पुत्रं दर्शयन् तं विशिनष्टि, यस्य बिन्दो· तृणबिन्दुरिति प्रसिद्धो महीपतिः पुत्रो बभूव ॥ २९-३०॥

---

1 ABGJMMaT ०षा 2 ABGJT ०डबडा० 3 BMMa य० 4 ABGJMMaT प्रादाय 5 ABGJMMaT मृषि० 6 MMa ०र पितु 7 ABJ ०मस्ति 8 HV ०मभवत् 9 ABJ अहृष्यत् 10 ABT द० 11 ABT द० 12 AT ०तोवीक्षित्, B ०तोविक्षित् 13 AT ०वीक्षित ; B विक्षित 14- -14 W यमेव

भजनीया समाश्रयणोपयुक्ता गुणा यस्य तं तृणबिन्दुं अश्रेष्ठा देवस्येन्द्रस्य सम्बन्धिनी अलम्बुसा[1] भेजे अन्ववर्तत। यत· यस्यामलम्बुसायां[2] तृणबिन्दोः पुत्रा अभवन् इलबिलाख्या कन्या चाऽभवत् ॥३१॥

कन्यां विशिंषन् तस्यास्सुतमाह - यस्यामिलबिलायां विश्रवा धनदं कुबेरं सुतमुत्पादयामास। स धनद· तृणीबन्दुर्वा योगेश्वरात्पितु· विश्रवसो बिन्दो· वा ऋषे· सकाशात्परमां विद्याम् अवाप, अन्तर्धानविद्यां[3-] ब्रह्मविद्यां[3] वाऽवापेत्यर्थः ॥३२॥

**विज०** तस्य करन्धमस्य पुत्र· अवीक्षित्, यस्याऽवीक्षितो मरुत्त सुतः। मरुत्तं विशिनष्टि - संवर्त इति। कोऽसौ संवर्तः? इति तत्राऽऽह - महायोगीति ॥२६॥

संवर्तो नाम ऋषि· कीदृशं यज्ञमकारयत् ? येन महायोगित्वं सम्भाव्यते, इत्यतस्तं यज्ञं विशिनष्टि - मरुत्तस्येति। अनेन मरुत्तस्याऽपि महायोगित्वं श्रीनारायणानुग्रहपात्रत्वं सूचितम् ॥२७॥

द्विजातयो दक्षिणाभिरमाद्यन् संहृष्टा इत्यन्वय । मरुतो देवा । "ऋभवोऽमराश्च मरुतो बृन्दारकविनिर्जरा " (हला.को. 1-4 ) इत्यभिधानम्। विश्वेदेवा इति विशेषणाद्वायवो वा। परिवेष्टार· भोक्तृणामपेक्षितान्धसादिनिक्षेप्तारः। सभायां सीदन्त्युपविशन्तीति सभासद , प्रत्यक्षं सभायां उपविश्य सर्वं विचारयन्त इत्यर्थ ॥२८-३०॥

अलम्बुषा नाम वराप्सरा तं तृणबिन्दुं भेजे ॥३१॥

कीदृशी इलबिलेति तां विशिनष्टि यस्यामिति। योगीश्वरो विश्रवा ऋषिश्च इलबिलाया पितुस्तृणबिन्दो परमां विद्यां प्रदाय तां उद्वाह्य यस्यामिलबिलायां धनाधिपं वैश्रवणमुत्पादयामासेत्यन्वय ॥३२॥

**विशालश्शून्यबन्धुश्च धूम्रकेतुश्च[4] तत्सुताः।**
**विशालो वंशकृद्राजा वैशालीं निर्ममे पुरीम् ॥३३॥**

**हेमचन्द्रस्सुतस्तस्य धूम्राक्षस्तस्य चाऽऽत्मजः।**
**तत्पुत्रस्सहदेवस्तु[5] कृशाश्वस्तस्य[6] चाऽऽत्मज[-6] ॥ ३४॥**

**कृशाश्वात् सोमदत्तोऽभूत् योऽश्वमेधैरिडस्पतिम् ।**
**इष्ट्वा पुरुषमेवाग्र्यां[7] गतिं योगेश्वराद्धृताम्[8] ॥३५॥**

**सोमदत्तातु[9] सुमतिस्तत्सुतो जनमेजयः।**
**एते वैशालभूपालास्तृणबिन्दोर्यशोधराः ॥३६॥**

---

1 A B T ०षा 2 A B T ०षा० 3- -3 W omits 4 M Ma धूम० 5- -5 A B G J T तत्पुत्रात् सयमादासीत् 6- -6 A B G J M Ma T ०स्सहदेवज 7 A B G J M Ma ०मापा० 8 A B G J T ०श्रित , M Ma T श्रिताम् । 9 A B G J M Ma T सौमदत्तिस्तु

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे द्वितीयोऽध्याय· ॥२॥

**श्रीध०** तानेवाह - **विशाल** इति। तस्य तृणबिन्दोस्सुता· ॥३३॥

**हेमेति**। तत्पुत्रः सहदेवः। पाठान्तरे नामान्यत्वमात्रम् , अर्थस्तु स एव ॥३४, ३५॥

**सोमेति**। वैशालभूपाला· विशालस्यान्वये जाता. ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्यख्यायां नवमस्कन्धे द्वितीयोऽध्याय ॥२॥

**वीर०** तृणबिन्दोस्सुतान्निर्दिशति - **विशाल** इति । तत्र विशालाख्यो राजा वंशवर्धनो वैशालीं पुरीं निर्ममे ॥३३॥

तस्य विशालस्य सुतो हेमचन्द्र·, तस्य हेमचन्द्रस्याऽऽत्मजो धूम्राक्ष·, तत्सुतो धूम्राक्षस्य सुतस्तु सहदेव , सहदेवस्य पुत्रस्तु कृशाश्व· ॥३४॥

कृशाश्वात् सेमदत्त पुत्रोऽभवत् , तस्य वृत्तमाह - यस्सोमदत्तोऽश्वमेधैरिडस्पतिं इडाहोमाराध्यं परमपुरुषम् इडा पृथिवी, तदुपलक्षितजगत्पतिमिति वा। पारस्करादित्वात्साधु । आराध्य योगेश्वरै प्रार्थनीयां गतिमवाप मुक्तोऽभवदित्यर्थ ॥३५॥

सोमदत्तात्सुमति उद्भूव, तत्सुत सुमतिसुतो जनमेजय । य एते उक्ता वैशालभूपाला विशालान्वये जाता तृणबिन्दो कूटस्थस्य यशोधरा· कीर्तिवर्धना । एते वैशालभूपाला इत्यनेन तद्वंशजा अन्येऽपि अगण्यास्सन्तीत्यभिप्रेतम् ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां द्वितीयोऽध्याय ॥२॥

**विज०** इडस्पतिं अन्नपतिं वाक्पतिं वा। ॥३३-३५॥

वैशालभूपाला विशालवशे जाता भूपाला ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्या संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
नवमस्कन्धे द्वितीयोऽध्याय ॥२॥

---

1--1 H V omit 2-2 A B J सहदेवज देवजेनसहित 3 W omits उद्भूव

# तृतीयोऽध्यायः

## श्रीशुक उवाच

शर्यातिर्मानवो [1]राजा ब्रह्मिष्ठस्स[2] बभूव ह ।
यो वा ह्याङ्गिरसां सत्रे द्वितीयमह[3]रूचिवान्[4] ॥१॥

सुकन्या नाम तस्याऽऽसीत्कन्या कमललोचना।
तया सार्धं वनगतो ह्यगमच्च्यवनाश्रमम् ॥२॥

सा सखीभिः परिवृता विचिन्वन्त्य[5]ङ्घ्रिपान्वने।
वल्मीकरन्ध्रे ददृशे खद्योते इव ज्योतिषी ॥३॥

[6]ते दैवचोदिता बाला ज्योतिषी कण्टकेन [7]वै।
अविध्यन्मुग्धभावेन ; सुस्रावाऽसृक् ततो बहु ॥४॥

शकृन्मूत्रनिरोधोऽभूत्सैनिकानाञ्च तत्क्षणात् ।
राजर्षिस्[8]तानुपालक्ष्य पुरुषान्[9]विस्मितोऽब्रवीत् ॥५॥

अप्यभद्रं न युष्माभिर्भार्गवस्य विचेष्टितम् ।
व्यक्तं केनापि नस्तस्य कृतमाश्रमदूषणम् ॥६॥

सुकन्या प्राह पितरं भीता किञ्चित्कृतं मया।
[10]द्वे ज्योतिषी अजानन्त्या निर्भिन्ने कण्टकेन [11]ते॥७॥

दुहितुस्तद्वचः श्रुत्वा शर्यातिर्जातसाध्वसः।
मुनिं प्रसादयामास वल्मीकान्तर्हितं शनैः। ॥८॥

### श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तृतीये मनुपुत्रस्य शर्यातेः कीर्त्यतेऽन्वयः। यत्र सौकन्यमाख्यानं रैवतश्च महाद्भुतम् ॥

**शर्यातिरिति।** ब्रह्मिष्ठो वेदार्थतत्त्वज्ञ । तदेवाह - यो वा इति। द्वितीयमह द्वितीयेऽह्नि क्रियमाणं कर्म ऊचिवानुवाच तस्य वंशं "उत्तानबर्हिरानर्त " (भाग. 9-3-27 ) इत्यादिना वक्ष्यति ॥१॥

---

1 M Ma राजन् 2 M Ma स्साम्ब० 3 A B G J M Ma T अ० 4 A.B G J T ० ह ऊ० , M Ma ०हरध्वगात् 5 A B G J T ०त्य० 6 M Ma दैवेन 7 M Ma सा 8 A B G J M Ma T ०स्तमु० 9 M Ma °भ्य 10 H V द्विज्यो० 11 A B G J T वै

आदौ तावत्तत्कन्यावृत्तान्तमाह - **सुकन्या नामेत्यदिना** ॥२-५॥

**अपीति।** भार्गवस्य च्यवनस्य। अभद्रमपराध· ॥६,८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

दिष्टवंशस्यऽतिविपुलत्वात् साकल्येन वक्तुमशक्यतामभिप्रेत्य अथ शर्यातेर्मानवस्य चरित्रं वंशञ्चाह तृतीयेन। मनो· पुत्रः शर्यातिसंज्ञको राजा ब्रह्मिष्ठः वेदार्थनिष्ठो बभूव। तदेवाह - यो वै शर्यातिरङ्गिरसां सत्रे आङ्गिरसकर्तृके [1]सत्रे द्वितीयेऽह्नि क्रियमाणं कर्म ऊचिवान्, श्रौतेऽतीव कुशल इति भावः ॥१॥

तस्य शर्याते· कमले इव लोचने यस्यास्सा कन्या **सुकन्येति** प्रसिद्धा सम्बभूव। उत्तानबर्हिरादय पुत्त्रा वक्ष्यन्ते, ताव त्कन्यावृत्तान्तमाह स कदाचित्तया सह वनन्नतः। तत्र च्यवनस्य ऋषेराश्रममगमत् ॥२॥

सा सुकन्या सखीभि· परिवृता वने अङ्घ्रिपान् द्रुमा न्विचिन्वन्ती वल्मीकबिले खद्योते इव स्थिते ज्योतिषी ददर्श ॥३॥

बाला सुकन्या चोदिता, सखीभिरिति शेषः। मुग्धभावेन मौग्ध्येन च ते ज्योतिषी कण्टकेनाऽविध्यत् अताडयत्। ततो वल्मीकबिलयोस्सकाशात् बहु रुधिरं सुस्राव ॥४॥

तस्मिन्नेव क्षणे सैनिकानां मलमूत्रयोर्निरोधो बभूव, तदा तान् निरुद्धशकृन्मूत्रान् सैनिकानालक्ष्य ज्ञात्वा राजर्षि· शर्यातिः विस्मितः स्वपुरुषानब्रवीत्॥ ५॥

उक्तिमेवाह - **अपीति।** युष्माभिर्भार्गवस्य च्यवनस्य अभद्रमपराध· विचेष्टितमपि। अपिशब्दः प्रश्नद्योतकः, अपराध· कृत· किमित्यर्थ·। नोऽस्माकं सम्बन्धिना केनाऽपि प्राणिना आश्रमदूषणं व्यक्तं कृतं नूनं कृतं, अन्यथैवमुपद्रवो न स्यादिति भाव· ॥६॥

एवं शर्यातौ पृच्छति सति भीता सती सुकन्या पितरं प्राह - किं किञ्चिन्मया अभद्रं कृतमिति। किं तदभद्रम् ? इत्य[2]त्राऽऽह द्वे इति। ते वल्मीकरन्ध्रयोर्दृष्टे द्वे ज्योतिषी अजानन्त्या इमे वल्मीकान्तर्हितस्य ऋषे· शरीरैकभूते इत्येवमजानन्त्या मया कर्त्या कण्टकेन करणेन निर्भिन्ने ॥७॥

इतीदं दुहितुर्वचः श्रुत्वा शर्याति जातं साध्वसं भयं यस्य स वल्मीकान्तर्हितं मुनिं च्यवनं शनै· प्रसादयामास स्तोत्रादिभिः प्रसन्नमकरोत् ॥७॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

ब्रह्मिष्ट· ब्राह्मणनिष्ठ· वेदनिष्ठो वा। तत्फलमाह-यो वा इति। द्वितीयेऽह्नि यो मन्त्रोऽध्येतव्य सत्रकल्पोक्तफलसिद्धये तं मन्त्रमध्यगादित्ययमर्थो द्वितीयमहरध्यगादित्युच्यते ॥१॥

---

1 A B T omit सत्रे  2 ABT ०त आह

तस्य शर्याते· ॥२॥

विचिन्वन्ती मृगयन्ती वल्मीकरन्ध्रे वल्मीकबिले खद्योते खद्योतरूपे, खे एव द्योतत इति खद्योतः ॥३॥

सा सुकन्या मुग्धभावेन अज्ञातवस्तुस्वरूपतया बालभावत्वेन वा कण्टकेन कण्टकाग्रेण ज्योतिषी ज्योतिराश्रये द्रव्ये चक्षुषी इति यावत् । असृक् रुधिरं तत· विद्धचक्षुषो· ॥४॥

सैनिकानां राजसेवकानां, निरोध स्तम्भनम् ॥५॥

युष्माभिर्भार्गवस्य अभद्रममङ्गल विचेष्टित किमपि कृतमेव, न तत्र संशय इत्याह व्यक्तमिति। नो मध्ये केनाऽपि पुरुषेण तस्य भार्गवस्याऽऽश्रमदूषणं व्यक्तम् कृतम्, अत इदं सेनाशकृन्मूत्रस्तम्भनं भार्गवस्य विचेष्टितमिति व्यक्तमभूदिति पुनरावृत्त्या योजनीयम् ॥६॥

ते द्वे ज्योतिषी तत्त्वमजानन्त्या मया कण्टकेन निर्भिन्ने इत्यन्वय ॥७,८॥

**तदभिप्रायगाज्ञाय प्रादाद्दुहितरं मुनेः।**
**कृच्छ्रान्मुक्तस्तमामन्त्र्य पुरं प्रायात्सहानुगः ॥९॥**

**सुकन्या च्यवनं प्राप्य पतिं परमकोपनम्।**
**प्रीणयामास चित्तज्ञा ह्यप्रमत्तानुवृत्तिभिः ॥१०॥**

**कस्यचित्त्वथ कालस्य नासत्यावाश्रमङ्गतौ।**
**स पूजयित्वा प्रोवाच वयो मे दत्तमीश्वरौ ॥११॥**

**ग्रहं ग्रहीष्ये सोमस्य यज्ञे वामप्यसोमपोः।**
**क्रियतां मे वयो रूपं प्रमदानां यथेप्सितम् ॥१२॥**

**बाढमित्यूचतुर्विप्रमभिनन्द्य भिषक्तमौ।**
**निमज्जतां भवानस्मिन् ह्रदे सिद्धविनिर्मिते ॥१३॥**

**इत्युक्तो जरया ग्रस्तदेहो धमनिसन्तत· ।**
**ह्रदं प्रवेशितोऽश्विभ्या वलीपलितविक्रियः ॥१४॥**

**पुरुषास्त्रय उत्तस्थुरपीच्या वनिताप्रियाः ।**
**पद्मस्रजः कुण्डलिनस्तुल्यरूपास्सुवाससः ॥१५॥**

---

1 HV ०न्युग्धेयमा० 2 ABGJT ०माहित ।, 3 ABGJT अ० 4 ABGJT ०मागतौ 5 ABGJMMaT तौ 6 MMa ०यो 7 ABGJMMa ०दी० 8 ABGJT ०क्त्वा० 9 HV देहोऽथमुनिसत्तम । 10--10 ABGJT वलीपलित विप्रिय , MMa स्वयश्चामद्यता ह्रदे 11 MMa रुस्म०

**तान्निरीक्ष्य वरारोहा सरूपान्सूर्यवर्चसः।**
**अजानती पतिं साध्वी अश्विनौ[1] शरणं ययौ ॥१६॥**

**श्रीध० तदिति।** मुग्धेयं मम कन्या क्षन्तव्यं त्वयेत्युच्यमाने कति वर्षाण्यस्या , विवाह कृतो न वा इत्यादिवाक्यै स्तदभिप्रायं[2] तस्याभिप्रायं[2] ज्ञात्वा मुनेः[3] मुनये[3] तां दुहितरं प्रादात् ॥९,१०॥

**कस्येति।** हे ईश्वरै सद्वैद्यौ युवां मह्यं वयस्तारुण्यं दत्तं सम्पादयतम् ॥११॥

**ग्रहमिति।** असोमपो· सोमपानरहितयोरपि वां युवयो सोमस्य ग्रहं सोमपूर्ण पात्रं ग्रहीष्ये दास्यामीति। युवां सोमेन यक्ष्ये इत्यर्थ । "ऐन्द्रवायवं गृह्णाति" इत्यादिषु द्रव्यस्य[4] देवतासम्बन्धानुपपत्त्या गृह्णतेर्यागपर्य-वसायित्वात् ॥१२॥

**बाढमिति।** बाढ मित्यभिनन्द्य भवानस्मिन्निमज्जताम् इत्यूचतु ॥१३॥

**इतीति।** ह्रदं प्रवेशित । तावपि तमपि वृद्धं गृहीत्वा प्रविष्टावित्यर्थ ॥१४.१५॥

**तानिति।** अश्विनौ शरण ययौ, युवां पृथक् स्थित्वा मत्पतिं दर्शयतमिति प्रार्थयमासेत्यर्थ ॥१६॥

**वीर०** ततस्तस्य च्यवनस्याभिप्रायं मुग्धेयं[5] मम कन्या, त्वया क्षन्तव्यमित्युक्ते सति कति वर्षाण्यस्या ? विवाह कृतो न वा? इत्यादितद्वाक्यै तदभिप्रायं ज्ञात्वा दुहितरं मुने च्यवनस्य प्रादात्। तत कृच्छात् भविष्यद्दुहितृविश्लेष निमित्तात् क्लेशान्मुक्त. "अर्थो हि कन्या परकीय एव" इत्यादिन्यायानुसन्धानेन मुक्त , तं च्यवनमामन्त्र्य पृष्ट्वा सानुग· पुरीं ययौ ॥९॥

तत· सुकन्या परममधिकं कुप्यतीति परमकोपनस्तम् । "नन्द्यादित्वात्" (अष्टा. 3-1-134 ) कर्तरि ल्यु । च्यवनं पतिं प्राप्य तदभिप्रायज्ञा सावधानचित्ता सती अनुवृत्तिभि· प्रीणयामास प्रीतिमकरोत् ॥१०॥

अथ तत कस्यचित्कालस्य कस्मिंश्चित्काले नासत्यावश्विनौ स्वाश्रमं प्रति गतौ सम्यक्पूजयित्वा च्यवन प्राह। तदे वाऽऽह 'वय' इत्यादिना 'बाढ' मित्यत· प्राक्तनेन ग्रन्थेन हे ईश्वरौ। युवां मे जरया ग्रस्ताय मह्यं वयस्तारुण्यं दत्तं यच्छताम् "डु दाञ् दाने" इत्यस्य लोण्म·पपुरुषद्विवचनम् । यच्छादेशस्तु णित एव तद्विधौ दाणिति णितो निर्देशात् ॥११॥

तव वय.प्रदानेन आवयो कस्त्वत्कृत उपकार·? इत्याशङ्कां निराकुर्वन्नाऽऽह - **ग्रहमिति।** यज्ञे असोमपो सोमपानरहितयो· अनेन "आश्विनौ वै दैवानामसोमपावास्ताम्" इति श्रुत्यर्थ उक्त । वां युवयो सोमस्य ग्रहं ग्रहीष्ये सोमपूर्णं पात्र दास्यामि, युवां सोमेन यक्ष्यामीत्यर्थः। "ऐन्द्रवायवं गृह्णाति" इत्यादिषु द्रव्यद्रव्यदेवता सम्बन्धानुपपत्त्या

---

1 H V ह्य० 2- -2 ABJ omit 3- -3 ABT तस्मै 4 A B J ०व्यदे० 5 A B T omit मम

गृह्णातेर्यागपर्यवसायित्वात्। अतो मम वयस्तारुण्यं स्त्रीणां यदीप्सितं तादृशं रूपं सौन्दर्यञ्च क्रियताम् युवाभ्यां सम्पाद्यताम् ॥१२॥

इत्थं तद्वच आकर्ण्य स्वर्वैद्यावश्विनौ अभिनन्द्य विप्रं च्यवनं बाढमित्यूचतुः अङ्गीकृत्योचतुरित्यर्थः। उक्तिमेवाऽऽह निमज्जतामिति। सिद्धैर्विनिर्मितेऽस्मिन् ह्रदे भवान्[1] निमज्जतां निमग्नो भवतु ॥१३॥

इतीत्थमुक्तश्च्यवनो जरया ग्रस्तदेहः अत एव धमनीसन्तत धमनीभिर्नाडीभिः देहोपरिदृश्यमानाभिः व्याप्तः, वलिभि **पलितेन** च उपलक्ष्यमाणो देहो यस्य सः, अश्विभ्यां[2] ह्रदं प्रवेशितः। तावपि तमतिवृद्धं गृहीत्वा प्रविष्टावित्यर्थः ॥१४॥

ततस्ततो ह्रदात् त्रयः पुरुष अपीच्याः कमनीया प्रमदानां स्त्रीणां प्रिया, पद्मानां स्रक् येषां, कुण्डलानि येषां सन्तीति तथा शोभनानि वासांसि येषां ते[3] तुल्यरूपाः[4] समानरूपाः परस्परमविभजनीयरूपाः उत्तस्थुः ॥१५॥

सूर्यस्येव वर्चो येषां तान् समानरूपानुत्थितान् त्रीन् पुरुषानवलोक्य तेषां मध्ये स्वपतिमजानती सुकन्या साध्वी, हेतुगर्भमिदम् पतिव्रतत्वादित्यर्थः। अश्विनौ शरणं ययौ। युवां पृथक् स्थित्वा मम पतिं दर्शयतमिति प्रार्थयामासेत्यर्थः ॥१६॥

**विज०** तस्य मुने सुकन्यादानलक्षणमभिप्रायं ज्ञात्वा कृच्छ्रान्मुक्तः सुकन्यामुनिभ्यामिति शेषः ॥९॥

परमकोपनं अत्यन्तकोपशीलं भोजनसमयमन्तरेण अन्यसमयं वृथा न भुञ्जतीत्यभिप्रायेण 'चित्तज्ञा अप्रमत्तेति' सन्ध्यभाव इति ज्ञायते ॥१०॥

कस्यचित्कालस्य समागमे। दत्तं, युवामिति शेष ॥११॥

तव वयोदानेनाऽऽवयो किं फलमिति तत्राऽऽह - ग्रहमिति। ग्रहमाहुतिविशेषभागमसोमयोः[5] सोमपानशून्ययोरपि ॥१२॥

भिषक्तमौ वैद्यश्रेष्ठौ ॥१३॥

धमनीभिस्सिराभिः व्याप्तो, देह इति शेषः। स्वयमश्विनौ च ॥१४॥

अपीच्याः षोडशवर्षप्राया ॥१५॥

वरारोहा योषित्, सरूपान् योग्यरूपान् ॥१६॥

**दर्शयित्वा पतिं तस्यै पातिव्रत्येन तोषितौ।**
**ऋषिमामन्त्र्य ययतुः[6] स्तूयमानौ त्रिविष्टपम् ॥१७॥**

---

1 AT omits निमज्जता 2 A B T ह्रदे 3 ABT omit तुल्यरूपा 4 W omits समानरूपा 5 AB पो 6 ABGJMMaT विमानेन

यक्ष्यमाणोऽथशर्यातिश्च्यवनस्याऽऽश्रमं गतः।
ददर्श दुहितुः पार्श्वे पुरुषं सूर्यवर्चसम् ॥१८॥

राजा दुहितरं प्राह कृतपादाभिवन्दनाम् ।
आशिषो[1] न प्रयुञ्जानो नातिहृष्टमना[2] इव ॥१९॥

शर्यातिरुवाच[3]

चिकीर्षितं ते किमिदं पतिस्त्वया प्रलम्भितो[4] लोकनमस्कृतो मुनिः।
या[5] त्वं जराग्रस्तमसत्यसम्मतं विहाय जारं भजसेऽमुमध्वगम् ॥२०॥

कथं मतिस्तेऽवगताऽन्यथा सतां कुलप्रसूते[6] कुलदूषणन्त्विदम्।
बिभर्षि जारं यदपत्रपाकुलं पितुश्च भर्तुश्च नयस्यधस्तमः। ॥२१॥

एवं ब्रुवाणं पितरं स्मयमाना शुचिस्मिता।
उवाच तात जामाता तवैव[7] भृगुनन्दनः ॥२२॥

शशंस पित्रे तत्सर्वं वयोरूपाभिलम्भनम् ।
विस्मितः परमप्रीतस्तनयां[8] परिषस्वजे ॥२३॥

सोमेनायाजयद्वीर[9] ग्रहं सोमस्य चाऽग्रहीत् ।
असामपोरप्यश्विनोश्च्यवनः स्वेन तेजसा[10] ॥२४॥

**श्रीध० चिकीर्षितमिति**। प्रलम्भितो वञ्चितः। हे असति असम्मतं अनभीष्टम् ॥१८-२०॥

**कथमिति**। हे सतां कुलप्रसूते! तव[11] मतिरन्यथा तद्विपर्ययेण कथमवगताऽवसन्नाऽध्यवसितेति वा। तदेवाह - कुलदूषणन्त्विदमित्यादि ॥२१-२३॥

**सोमेनेति**[12]। वीरं शर्यातिं "ग्रहं ग्रहीष्ये सोमस्य" (भाग.9-3-12)इत्युक्तप्रकारेण सोमस्य ग्रहं अग्रहीत्[12]॥२४॥

**वीर०** ततोऽश्विनौ तत्पातिव्रत्येन तोषितौ तस्यै सुकन्यायै पतिं दर्शयित्वा ऋषिमापृच्छ्य तेन स्तूयमानौ त्रिविष्टपं दिवं ययतुः ॥१७॥

---

1 A B G J M Ma T ०पश्चाऽऽप्र० 2 ABGJMMaT प्रीत 3--3 ABGJMMaT omits 4 W प्रलोभित 5 A B G J T यत् त्व 6 M Ma मार्गन्त्विषमेतृ 7 ABGJMMaT ०ष 8 M Ma ०म 9--9 ABGJMMaT ०न भाजयन्वीर 10 M Ma ०यो० 11 H V omit तव 12--12 A B T omit

अथ तत कदाचित् , यक्ष्यमाणो यागं करिष्यमाण शर्याति च्यवनस्य जामातुराश्रमं गतः तत्र दुहितुः पार्श्वे सूर्य वर्चस पुरुषं ददर्श ॥१८॥

तदा कृतं पादयोरभिवन्दनं यया तां दुहितरं राजा शर्याति प्राह - कथम्भूत·? आशिषः अकुर्वन्नेव नातीव प्रीतं मनो यस्य तादृशः तद्वत्स्थितः[1] ॥१९॥

उक्तिमेवाऽऽह - **चिकीर्षितमित्यादिना**। ते त्वया किमिदं चिकीर्षितं किमिदं कृतमित्यर्थ । सन्नर्थस्त्वविवक्षितः। न किञ्चिदकृत्यं मया कृतमित्यत आह लोकनमस्कृतो मुनि च्यवन· तव पतिस्त्वया प्रलम्भित[2]· वञ्चित , इदमेवाऽकृत्यं कृतमिति भाव·। प्रलोभनं कथं ज्ञातमित्यत्राऽऽह - हे असति ! या त्वं जराग्रस्तं अत एवाऽसम्मतं अनभीष्टं पतिं विहाय कञ्चिदमुं पार्श्ववर्तिनमध्वग पान्थं जारं भजसे अनुवर्तसे[3] असौ न तव भर्ता, जराग्रस्तस्यैव त्वद्भर्तुर्मया दृष्टत्वादिति भावः ॥२०॥

हे सतां कुलप्रसूते ! ते तव मति. अन्यथा तद्विपर्ययेण कथमवगता अवसन्ना अध्यवसितेति वा। तदेवाऽऽह कुलदूषणन्त्विदमित्यादि। अपत्रपा निर्लज्जा सती जारं बिभर्षि अनुवर्तसे इति इदं कुलदूषणं कृतम्। किञ्च पितु पत्यु भर्तुश्च कुल अधस्तमो नयसि[4] अधस्तन तम प्रायं नरकं नयसि ॥२१॥

इत्येवं ब्रुवाणं पितर शुचिस्मिता सुकन्या स्मयमाना सत्युवाच । उक्तिमेवाऽऽह हे तात! एष मत्पार्श्ववर्ती तव जामाता भृगुनन्दन च्यवन एव ॥२२॥

कथं तर्हि तेन प्रवयस्केन एवंविधवयोरूपाधिक प्राप्तमिति पृच्छते पित्रे तद्वयोरूपादिप्राप्त्यादिकं सर्वं शशंस कथयामास। ततो विस्मित शर्यातिर्नितरा प्रीतस्तनयां परिषस्वजे ॥२३॥

ततश्च्यवनो वीरं शर्यातिं सोमेन द्रव्येणाऽयाजयत्, सोमयागं कारितवानित्यर्थः। तस्मिन् यागे च्यवन स्वतेजसा स्वतपोबलरूपेण[5] सोमपानरहितयोरप्यश्विनो सोमस्य ग्रहमग्रहीत् सोमग्रहेण अश्विनौ राज्ञा याजयामासेत्यर्थ· ॥२४॥

**विज०** हे असति! दुर्वृत्ते ! जरया ग्रस्तत्वादसम्मत अध्वगं पान्थम् ॥१७-२०॥

अम्ब! पुत्रिके! इयं मतिरन्यथा गता। अन्यथोक्तं विवृणोति असतामिति असतां मार्गं गतेत्कत्यर्थः। इदं त्वक्तर्म मत्कुलदूषणन्त्वेव। किं तत्कर्मेति तत्राऽऽह बिभर्षीति। निर्लज्जा भूत्वा जारं जरयत्युभयकुलमित्युपपतिं बिभर्षि यत्तस्मात् तदेव स्पष्टयति कुलमिति। नयसि प्रापयसि ॥२१-२३॥

सोमेन हविषा असोमपो[6] सेमपानरहितयो ॥२४॥

---

1 W श्व स्थित 2 W प्रलोभित 3 ABT omit अनुवर्तसे 4- -4 A omits ०म 5 ABT बलेन 6 M Ma ०यो०

हन्तुं तमाददे[1] वज्रं[2] शतमन्यु रमर्षितः ।
सवज्रं स्तम्भयामास भुजमिन्द्रस्य भार्गवः ॥२५॥

अन्वजानंस्ततस्सर्वे ग्रहं सोमस्य चाश्विनो ।:
भिषजाविति यत्पूर्वं सोमाहुत्यां[3] बहिष्कृतौ ॥२६॥

उत्तानबर्हिरानर्तो भूरिषेण इति त्रयः ।
शर्यातेरभवन्पुत्रा आनर्तांद्रेवतोऽभवत् ॥२७॥

सोऽन्तः समुद्रे नगरीं विनिर्माय कुशस्थलीम् ।
आस्थितोऽभुङ्क्त[4] विषयानानर्तादीनरिन्दमः॥ २८॥

तस्य पुत्रशतं जज्ञे ककुद्मि ज्येष्ठमुत्तमम् ।
रैवतो[5] रेवतीं कन्यां[6] समादाय दिवङ्गतः[-6] ॥२९॥

पुत्र्या[7] वरं परिप्रष्टुं ब्रह्मलोकमपावृतम् ।
आवर्तमाने गान्धर्वे स्थितोऽलब्धक्षणःक्षणम् ॥३०॥

तदन्त[8] आद्यमानम्य[9] स्वाभिप्रायं न्यवेदयत् ।
तच्छ्रुत्वा भगवान्ब्रह्मा प्रहस्य तमुवाच ह ॥३१॥

अहो राजन् निरुद्धास्ते कालेन हृदि ये कृताः ।
तमुन्नपौत्रनप्तॄणां गोत्राणि च न शृण्महे ॥३२॥

**श्रीध०** [10-]हन्तुमिति। सद्य स्तत्क्षणमेव मन्युः यस्य स इन्द्र[10] ॥२५-२७॥

**स इति**। विषयान् देशान्[11] आनर्तादीन् अभुङ्क्त अपालयत् ॥२८॥

**तस्येति**। ककुद्मी ज्येष्ठो यस्मिंस्तत्[12-] पुत्रशतम्[12] विभुं ब्रह्माणम् ॥२९॥

**पुत्र्या इति**। न लब्ध क्षणोऽवसरो येन स ॥३०॥

**तदन्त इति**। आद्यं ब्रह्माणम् ॥३१॥

**अहो इति** । ते त्वया हृदि ये कृता ते सर्वे कालेन निरुद्धा संहृता. ॥३२॥

---

1 H V ०धे 2 A B G J M Ma t सद्यो० 3 A,B,G,J M Ma,T ०त्य० 4 A B G J M Ma T ०भा 5 A B G J M Ma T ककुद्मी 6--6 A B G J M Ma T स्वामादाय विभुक्रत । 7 A B G J T कन्या० 8 M Ma ०न्ते विभु 9 H V W ०र्च्च 10--10 H V omit 11 H V omit आनर्तादीन् 12--12 B H J V omit

तं सोमेन अश्विनौ यजन्तं शर्यातिं हन्तुममर्षित क्रुद्धः शतमन्युरिन्द्रो वज्रमाददे। तथा भार्गवश्च्यवनः सवज्रं वज्रेण सहितमिन्द्रस्य भुजं स्तम्भयामास प्रतिबबन्ध ॥२५॥

यावश्विनौ भिषजाविति बुद्ध्या पूर्वं सोमाहुत्यां बहिष्कृतौ सर्वैः यष्टृभिः तयोरश्विनोः सोमस्य ग्रहं ततः प्रभृति सर्वे अन्वजानन् अनुज्ञातवन्तः ॥२६॥

एवं शर्यातेः कन्याया वृत्तान्तमभिधाय, अथ पुन्नपौत्रादिपरम्परां तद्वृत्तान्तश्चाऽऽह - उत्तानबर्हिरित्यादिना। उत्तानबर्हि रादय स्त्रयः शर्यातेः पुत्रास्सम्बभूवुः। तत्र आनर्तादिवतः सम्बभूव ॥२७॥

स च समुद्रमध्ये कुशस्थलीसंज्ञां नगरीं निर्माय, तस्या एवाऽधुना द्वारवतीति व्यवहारः, तस्यामधिवसन् आनर्तादीन् विषयान् देशान् अभुङ्क्त पालयामास। अरिन्दमः विरोधिनो निरस्यन् अभुङ्क्तेत्यर्थः ॥२८॥

ककुद्मीति प्रसिद्धो ज्येष्ठो यस्य तत्पुत्राणां शतं तस्य रैवतस्य सम्बभूव, एका कन्या च जज्ञे इत्यर्थतो द्रष्टव्यम् । स रैवतो रेवत्याख्यां स्वां कन्यामादाय पुत्र्याः वरं भतारं परिप्रष्टुं दिवं ययौ। किमिन्द्रलोकं गतः? नेत्याह, बह्मलोकमपावृतं स्वस्य गतिप्रतिबन्धकरहितं सत्यलोकं ययावित्यर्थः ॥२९॥

तत्र ब्रह्मणस्सन्निधौ गान्धर्वे गाने आवर्तमाने समन्तात्प्रवर्तमाने सति अलब्ध· न प्राप्त·क्षणः[1] प्रश्नावसरो येन स रैवतः क्षणमात्रं तूष्णीं स्थितः। तदन्ते गानावसाने आद्यं ब्रह्माणमानम्य स्वाभिप्रायं को वाऽस्याः पतिरित्येवंरूपं न्यवेदयत् व्यजिज्ञपत्। तद्रैवतस्य वचः श्रुत्वा प्रहस्य तं रैवतं ब्रह्मोवाच ॥३०,३१॥

तदेवाऽऽह - अहो इत्यादिना इत्यादिष्ट इत्यत· प्राक्तनेन ग्रन्थेन। अहो इति प्रश्नानुपपत्तिकृतविस्मयद्योतक·। आगमनवेलायां त्वया ये जना हृदि कृता हृदये कृता इष्टाः, मनसा चिन्तिताश्च ते सर्वे कालेन चिरं निरुद्धा उपसंहृताः। तदुपसंहारानन्तरमपि महान्कालो व्यतीत इत्यर्थ·। तेषां त्वया हृदि कृतानां ये पुत्रादयस्तेषां गोत्राणि वंशांश्चाऽधुना न शृण्महे। मम क्षणमात्रकालेन तत्र महान्कालो व्यतीत इति भाव· ॥३२॥

विज० तं च्यवनं सद्यो मन्यु तदानीं जातक्रोध· सवज्रं भुजम् ॥२५॥

अन्वजानन् अनुज्ञातवन्त·, पूर्वं सोमग्रहाभाव , कथं स्यात्? इति तत्राऽऽह - भिषजाविति॥ ॥२६ -२७॥

कुशस्थलीं द्वारवतीम् ॥२८॥

विभुं ब्रह्माणम् ॥२९॥

अपावृतं प्रकाशितम् । गान्धर्वे गाने अलब्धक्षणः अलब्धावसरः ॥३०॥

तदन्ते गीतावसाने ॥३१॥

---

1 A B T omits क्षण

ये हृदिकृतास्ते पुरुषाः कालेन निरुद्धाः मृताः, न केवलं त एव न सन्ति, तत्पुत्रादयोऽपि न सन्तीत्याह-तत्पुत्रेति। न शृण्महे न शृणुमः ॥३२॥

**मुहूर्तं शृण्वतोऽश्राव्यं प्रतियातस्य तेऽनघ।**
**कालोऽतियातस्त्रिणवचतुर्युगविकल्पितः।**
**तद्गच्छ देवदेवांशो बलदेवो महाबलः ॥३३॥**

**कन्यारत्नमिदं राजन् नररत्नाय देहि भोः।**
**भुवो भारावतारार्थो भगवान्भूतभावनः ॥३४॥**

**अवतीर्णो निजांशेन पुण्यश्रवणकीर्तनः।**
**इत्यादिष्टोऽभिवन्द्याऽजं नृपः स्वपुरमागतः॥**
**त्यक्तां पुण्यजनत्रासाद्भ्रातृभिर्दिक्ष्ववस्थितैः ॥३५॥**

**सुतां दत्त्वाऽनवद्याङ्गीं बलाय बलशालिने।**
**बदर्याख्यं ययौ राजा तप्तुं नारायणाश्रमम् ॥ ३६॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्या अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्याया पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

**श्रीध० मुहूर्तमिति**। त्रिणवसप्तविंशतिः, चतुर्युगाणि तैर्विकल्पितो विभक्तः। यो देवदेवस्यांशोऽस्ति तस्मै नररत्नाय देहि ॥३॥

**कन्येति**। तदेवाऽऽह - भुव इति ॥३४॥

**त्यक्तामिति**। पुण्यजनत्रासाद्यक्षभयात् पूर्वमेव चिरं पुरं तद्भ्रातृभिः त्यक्ताम् दिवि अवस्थितैः स्वर्गं गतैः ॥३५,३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां नवमस्कन्धे तृतीयोऽध्याय ॥३॥

**वीर०** तत्र कियान् कालो व्यतीत इत्यत्राह - **काल इति**। चतुर्युगविकल्पितः चतुर्युगभेदभिन्नः कालस्त्रिनवः व्यतीयात्।

---

This extra half verse is found in B M Ma Edns only 1--1 A B G J T ०लोऽभियातस्त्रिणव, M Ma लोयातस्त्रिनवभि 2 H M Ma V भा। 3 A B G J M Ma T ०य 4 A B G J T त्यक्त 5 H V ०व्यव 6 A B G J M Ma T गतो 7 H V omit चिर 8 H V omit तत् 9 A B J ०क्तम् 10--10 A B J omit

चतुर्युगानि सप्तविंशतिवारमावृत्तानीत्यर्थः। तर्ह्यधुना कस्मै देयेत्यत आह तदिति। तत्तस्मात्त्वया दृष्टानां जनानामधुना अभावादिदानीं देवदेवस्य विष्णोः योंऽशोऽनन्तो महाबलः स एव बलदेव· बलरामरूपेण यदुष्ववतीर्णो वर्तते ॥३३॥

तस्मै नरदेवाय इदं कन्यारत्नं, हे राजन् देहि। ननु भगवतो निवासशय्यासनादि सर्वविधशेषतैकरसोऽनन्तः तां विहाय कस्माद्यदुष्ववतीर्ण इत्याशङ्कायां भगवानपि भुवो भारापहरणाय तेन सहाऽवतीर्ण इत्याह भुव इति। भगवान् षाड्गुण्यपूर्णो नारायणोऽपि भुवो भारापहाराय[1] प्रयोजनाय स्वांशेन स्वापृथक्सिद्धविशेषणभूतज्ञान[2] शक्ति बलैश्वर्यतेजोगुणजातेन ज्ञानादि गुणजातमजहदेवेत्यर्थः। अवतीर्णः। नन्वेवंविधस्य सङ्कल्पमात्रेणाऽपि भूभारापनोदनसम्भवात्किमवतारेण? इति शङ्कां निराकुर्वन् विशिनष्टि - भूतभावन पुण्यश्रवणकीर्तन इति च। भूतानि साधुभूतानि भावयति त्रायत इति भूतभावनः, साधुपरित्राणायावतीर्ण[3] इति भावः। पुण्ये श्रवणकीर्तने यस्य स तथा[4] स्वचेष्टितं शृण्वतां कीर्तयताञ्च पुण्यसम्पादनेनान्त· स्थिरफलरूपब्रह्मानन्द साम्राज्यप्रदानार्थञ्चाऽवतीर्ण इत्यर्थ । इत्थमादिष्टो नियुक्तो नृपो रैवतोऽजं ब्रह्माणं प्रणम्य स्वपुरं कुशस्थलीं यथौ॥ ३४. ३५॥

पुण्यजनत्रासात् यक्षभयात् हेतो· दिक्ष्ववस्थितै[5] तत्र तत्रावस्थितै[5]· भ्रातृभिः[6] ककुद्म्यदिभिः[6] पूर्वमेव त्यक्तां स्वां कन्यां रेवतीमनवद्याङ्गीं शोभनाङ्गीं बलशालिने बलरामाय दत्त्वा हे राजन् रैवत तपस्तप्तुं[7] तदा बदर्याख्यं नरनारायणाश्रमं ययौ ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्याया तृतीयोऽध्याय ॥३॥

**विज०** प्रतियातस्याऽत्रागतस्य ते तवाऽश्राव्यं नरस्य श्रोतुमयोग्यं गानं मुहूर्तं मत्वा शृण्वत· कालो यात· अतिक्रान्त इत्यन्वय ! कियानिति तत्राऽऽह - त्रिनवेति। त्रिनवभिश्चतुर्युगैः विशिष्टत्वेन कल्पित सप्तविंशतिचतुर्युगभेदभिन्न इत्यर्थः। तर्हि किं करोमि कन्या चावश्यं दातव्या, अत इमां कस्मै दास्यामीति तत्राऽऽह - तदिति ॥३३, ३४॥

पुण्यजनत्रासात् राक्षसभयात् दिक्ष्ववस्थितै भ्रातृभिः त्यक्तां स्वपुरं निजपुरीमागत ॥३५॥

ककुद्मी तु अनवद्याङ्गीं शोभनावयवां सुतां[8] बलशालिने बलाय दत्वा तपस्तप्तुं बदर्याख्यं नारायणाश्रमं ययावित्यन्वय ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
नवमस्कन्धे तृतीयोऽध्याय ॥३॥

---

1 A T ०हरणाय 2 A B T omit शक्ति 3--3 W omits 4 A B t omits स्व 5--5 W omits 6--6 A B T omit 7 W omits तदा 8 B M Ma बाहुशा०

# चतुर्थोऽध्यायः

## श्रीशुक उवाच

नाभागो[1] नभगापत्यं यन्नतन्द्रातरः[-1] कविम्।
यविष्ठं व्यभजन् दायं ब्रह्मचारिणमागतम्[2] ॥१॥

भ्रातरोऽभाङ्क्त किं महां भजाम पितरं तव।
नाभागस्तु[3-] पिता पुत्रं प्राह तं ब्रह्मचारिणम्[3]।
त्वां[4-] ममार्या[-4] स्तताऽभाङ्क्ष्मुर्मा[5] पुत्रक तदादृथाः ॥२॥

इमे[6] ह्याङ्गिरसः सत्र मासतेऽद्य सुमेधसः।
षष्टं षष्ठमुपेत्याहः कवे मुह्यन्ति कर्मणि ॥३॥

तांस्त्वं शंसय सूक्ते द्वे वैश्वदेवे महात्मनः।
ते स्वर्यन्तो धनं सत्रे[7] परिशेषितमात्मनः। ४॥

दास्यन्ति[8-] ते[-8]ऽथ तान्गच्छ तथा स कृतवान् यथा।
तस्मै दत्वा ययुः स्वर्गं ते सत्र परिशेषितम्[9] ॥५॥

तं कश्चित् स्वीकरिष्यन्तं पुरुषः कृष्णदर्शनः।
उवाचोत्तरतोऽभ्येत्य[10] ममेदं[11] वास्तुगं वसु ॥६॥

ममेदमृषिभिर्दत्तमिति तर्हि स्म मानवः।
स्यान्नौ ते पितरि प्रश्नः पृष्टवान्[12] पितरं तथा ॥७॥

यज्ञवास्तुगतं सर्वमुच्छिष्टमृषयः क्वचित्।
चक्रुर्विभागं[13] रुद्राय स देवः सर्वमर्हति ॥८॥

---

1- -1 A B G J T नभगापत्य य तत भ्रा० , MMA न्यस्तत प्राज्ञो य मत्वा भ्रा० 2 M Ma ०माह स । 3- -3 A B G J M Ma T omit 4- -4 M Ma किं म आर्या , W ममत्वार्या 5 B ०क्ष 6 A B G J T इमे अङ्गि० , M Ma इम अङ्गि० 7 ABGJMMaT सत्र 8- -8 B दास्यन्त्यथ ततो ,MMa दास्यन्ते तेऽथ तान् W दास्यन्त्यतोऽद्य तान् 9 H V परिवेष्टितम् , M Ma परिवेषणम् 10 H V चान्तर० 11 A B G J T वास्तुक , M Ma वास्तव 12 M Ma स गत पि 13 M Ma ०र्हि भा०

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुर्थे मनुपुत्रस्य नभगस्य कथोच्यते।

तत्सूनोश्चाम्बरीषस्य कृत्या प्रतिहता यतः।

नभगस्य वंशमाह - **नाभग** इति। नभगस्याऽपत्यं नाभागः। नाभागादम्बरीषो महाभागवतोऽभूदिति वक्ष्यंस्तद्धेतुत्वेन[1] वंशप्रवर्तकस्य नाभागस्य निष्कपटं चरितं तेन तु श्रीरुद्रप्रसादमाह[2] - ततमित्यादिना। ब्रह्मचारिणं बहुकालं गुरुकुले वसन्तं नैष्ठिकोऽ साविति मत्वा विभागसमये तस्मै भागमप्रकल्प्यैव भ्रातरस्सर्वे[3] दायं[4] व्यभजन् विभज्य गृहीत्वा पश्चात्[5] गुरुकुलादागतं यं भागार्थिनं कविं विद्वांसं यविष्ठं[6] प्रति ततं तातं पितरमेव दायं[7] व्यभज न्नित्यर्थः ॥१॥

एतदेव प्रश्नोत्तराभ्यां दर्शयति। तत्र नाभागः पृच्छति हे भ्रातरः! मह्यं किमभाङ्क्त[8] व्यभजन् कं भागं मदर्थं यूयं प्रकल्पितवन्त ? भ्रातर आहुः -तदा विस्मृतमस्माभिरिदानीं तु तव पितरं[10] भजाम, त्वं पितरं गृहाणेत्यर्थः। स च पितरं गत्वाऽऽह - त्वामिति। तत! हे तात। आर्याः ज्येष्ठा[11] मम त्वा[11] मभाङ्क्षु[12] भागं चक्रुः। मदीयो भागस्त्वमित्यर्थः। पाठान्तरे, हे तात! किमिदं[13] मम भाङ्क्षु[14]? 'भजाम पितरं तवे' इत्युक्तवन्त आर्या स्त्वां मह्य किमर्थं ददुरित्यर्थः। पिताऽऽह - हे पुत्रक तत्तैरुक्तं मादृथाः प्रतारणमात्रं तै कृतं, तस्मिन्नाऽऽदरं मा कार्षीः। न ह्यहं दाय इव भागस्य[15] साधनमित्यर्थः ॥२॥

तथाऽपि तैर्भागत्वेन कल्पितोऽहं[16] तव जीवनोपायमुपदेक्ष्यामीत्याह - **इमे** इति सपादाभ्यां द्वाभ्याम्। "अभिप्लवः पूर्वमहर्भवति, पृष्ठ्यःषडहो भवति"[17] इति विहितेषु षडहेष्वावर्त्यमानेषु षष्ठं षष्ठमहः कर्मोपेत्य प्राप्य कर्मणि तदनुष्ठाने सुमेधसोऽपि ते सूक्तविशेषाज्ञानेन मुह्यन्ति। कवे! हे विद्वन्! ॥३॥

**तानिति**। तान्महात्मनोऽपि त्वम् "इदमित्था रौद्रम्" इक्तवित च, "ये यज्ञेन दक्षिणया" इति च वैश्वदेवे द्वे सूक्ते शंसय पाठय तत कर्मणि समाप्ते सति। स्वर्यन्त स्वर्गं गच्छन्तः स्वसत्रे परीशेषितमवशिष्टमात्मना धनं[18] ते तुभ्यं दास्यन्ति। अथ तस्मात्तान् गच्छेति। तथेत्यादि शुकवाक्यम्। यथावत्कृतवान्। सत्त्रपरिशेषितं[19] सत्त्रावाशिष्टं[20] धनम् ॥४,५॥

**तमिति**। पुरुष श्रीरुद दृश्यत इति दर्शनं शरीरं कृष्णं दर्शनं यस्य सः, वास्तुकं यज्ञभूमिगतं वसु धनं ममेत्युवाच ॥६॥

**ममेति**। तर्हि स्म तदैव ममेदमिति मानवो नाभाग उवाच पुनश्च रुद्र उवाच। नौ आवयोरस्मिन्विवादे ते पितिर प्रश्नः स्यादिति। पृष्टवानिति शुकोक्तिः ॥७॥

---

1 H V ०वि० 2 H V ०दन० 3 A,B J ०र्वं० 4 A,b J omit व्यभजन् 5- -5 H,V omit 6- -6 ABJ omit 7 A B J omit एव 8 A ०भाक्त 9 A ०जत०, B ०जन्त 10 A B J add वि 11 A B J add मे 12 A B J ०भाक्षु 13 A B J omit मम 14 A B J ०क्षु 15 A,B J भोगसा 16 A,B J दत्तो 17 A b J षडहो 18 A B J omit ते 19 A त्र 20 H V वेष्टित

पृष्टस्य मनोर्वाक्यं यज्ञवास्तुगतमिति। उच्छिष्टमुर्वीरतम्। क्वचिदिति दक्षाध्वरे। "उच्छेषणभागो वै रुद्र·"[1]। भागदेयेनैव रुद्रं निरवदयत इति श्रुतेश्च[-1]। किञ्च स देव ईश्वरः सर्वमप्यर्हति किं पुनर्यज्ञावशिष्टमित्यर्थः ॥७॥

## श्रीवीरराघवाविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ नभगस्य मानवस्य वंशं तद्वृतान्तञ्चाऽह - **नाभाग** इति। नभगस्य मानवस्यापत्यं नाभाग.। अनुशतिकादित्वा दुभयपदवृद्धिः। शिवादित्वादण्। उभयोराकृतिगणत्वादार्षत्वाद्वा। अन्यान्यपत्यानि नभगस्य बभूवुरित्यर्थतो द्रष्टव्यम्। भ्रातरो दायं व्यभजन् इत्युत्तरग्रन्थानुगुण्यात् नाभागस्य वृत्तान्तं वदन् तं विशिनष्टि - **यमित्यादिना**। यं नाभागं यविष्ठं कनीयांसं भ्रातर स्तज्ज्येष्ठः भ्रातर. बहुकालं गुरुकुले वसन्तं पश्चादागतमपि ब्रह्मचारिणं कविं ज्ञानिनं मत्वा दायं व्यभजन् विभागकाले तस्मै भागमप्रकल्प्यैव भ्रातरः[2] स्वं स्वं पित्र्यं वस्तुविभागं[3] कृतवन्त इत्यर्थः ॥१॥

ततो भ्रातॄन्प्रति नाभाग आह- हे! भ्रातर·मह्यं किमभाङ्क्ष व्यभजत मदर्थं कं भागं यूयं प्रकल्पितवन्त इति। ततस्तं भ्रातर आहु· भजाम पितरं तवेति। तदा विस्मृतमस्माभि । इदानीं न वयं विभागे प्रभवाः। यदि तवापेक्षा तर्हि तव पितरं "जीवन्पुत्रेभ्यो दायं विभजेत्" इत्युक्तविधं विभाजकं भजाम प्राप्नुयाम तत्सन्निधिं गच्छामेत्यर्थ । यदि पिता भागं प्रयच्छतेति वक्ष्यति तर्हि दास्याम इति भाव·। 'व्रजाम'इति पाठान्तरमप्यस्ति। तथा 'भजायेमे'[4] त्यपि पाठान्तरम्। अस्मिन्पाठे भजाय भाजय पितरमेव भागत्वेन गृहाणेत्यर्थ । ह्रस्वदीर्घयोर्व्यत्यय आर्ष । निवृत्तप्रेषणात् भजेर्णिचि लोण्मध्यमैकवचनम्। ततो नाभाग पितुस्सकाशमेत्य तमुवाच - 'मम त्वार्यास्तत्राभाङ्क्षु' रिति। हे तत तात पितः, ममार्या· ज्येष्ठभ्रातर· अभाङ्क्षु· विभक्तवन्त., मां विनेति शेषः। मम त्वामेव भागं चक्रु रिति वाऽर्थ·। किं मे आर्या तथा भाङ्क्षुरिति पाठान्तरम्। तदा आर्या ज्येष्ठभ्रातर किं मे भागं विभक्तवन्त इत्यर्य़ । 'किं ममार्यास्तताभाङ्क्षु' रिति पाठेऽप्ययमेवार्थः। ततस्तं पिता नभग आह - 'मा पुत्रक, तदादृथा' इति। हे पुत्रक! तस्त्रिन् दाये आदरं मा कृथा इत्यर्था ।॥२॥

कथं तर्हि मम जीविकेति पुत्रेण पृष्ट पितोवाच - **हमे** इति 'भजोद्य पितरं तवेति पाठपक्षे' मा पुत्रकेत्यादेरयमर्थ । हे पुत्रक, तत्तैरुक्तं मादृथा·। प्रतारणमात्रं तै कृतम्। तस्मिन्नाऽदर माकार्षी । नह्यहं दाय इव भोगसाधनमित्यर्थ·। तथाऽपि तै र्भागत्वेन काल्पितोऽहं तव जीवनोपायमुपदेक्ष्यामीत्याह - इमे इति । इमे सत्रिकृष्टा अङ्गिरस सुमेधस स्सुबुद्धयोऽधुना सत्रमासते द्वादशाहाख्यं सत्रमनुतिष्ठन्ति। तत्र द्वादशाहे सत्रे षष्ठं षष्ठमह कर्मप्राप्यतेऽङ्गिरसो मुह्यन्ति, प्रयोगस्य दुरवबोधत्वात् सूक्तविशेषा ज्ञानाच्च मुह्यन्ति इत्यर्थ·। षष्ठं षष्टमुपेत्याह इति द्विर्वचनेन षडहस्य पुन पुन प्रयोगोऽपि वैध इति प्रतीयते। अत एव हि पूर्वतन्त्रे

---

1--1 A omits 2 AB omit भ्रातर 3 TW ०त्र्यव० 4 A ०मेत्य०

- "अभ्यासे च तदभ्यासः कर्मणः पुनः प्रयोगात् , आवृत्तिस्तु व्यवाये कालभेदात् स्यात्" इत्यधिकरणद्वये षडहस्य पुनः पुनः प्रयोगमास्थाय मध्वशनस्यावृत्तिः कर्तव्या न वे त्याशङ्ख्य कर्मान्तराव्यवहितषडहावृत्तौ न कर्तव्या, गवा मयनादा वभिप्लवादिभि र्व्यपेतावृत्तौ तु कर्तव्येत्युक्तम् । तत्र कर्मणि वैश्वदेवे कर्मणि विश्वदेवताप्रकाशके "इद मित्था रात्रम्" इति च, "ये यज्ञेन दक्षिणया" इति च द्वे सूक्ते तै रङ्गिरोभिरपरिज्ञाते वर्तेते ॥३॥

ते सूक्ते त्वं महात्मनोऽपि तान्प्रति शंसय स्तुवीहि ततः कर्मणि समाप्ते सति स्वर्यन्तः स्वर्गं गच्छतोऽङ्गिरसस्स्वसत्र परिशेषितमवशिष्टमात्मनो धनं तुभ्यं दास्यन्ति। अतोऽद्य तान् गच्छेति। ततः स नाभागो यथा स्वपित्रोक्तं तथैव कृतवान् । तत स्तेऽङ्गिरसः सत्रपरिशेषितं धनं तस्मै नाभागाय दत्त्वा स्वर्गं ययुः॥ ४,५॥

ततस्तद्धनं स्वीकरिष्यन्तं तं नाभागं कश्चित्पुरुष आगत्य उत्तरतो दिश आगत्योवाच - पुरुषोऽत्र रुद्रः उत्तरग्रन्थानुण्यात् तं विशिनष्टि। कृष्णदर्शनः दृश्यते इति दर्शनं इति कृष्णं दर्शनं यस्य सः कृष्णदर्शनः। उक्ति मेवाह - ममेदं वास्तुकं वस्त्विति वास्तुकं, यज्ञभूमिगतं यज्ञावशेषितं वसु धनं, मम मदीयम् ॥६॥

इत्येवं रुद्रेणोक्ते सति तर्हि स्म तदैव मानवो नाभागः ऋषिभिरङ्गिरोभिः ममैवेदं धनं दत्तमित्युवाच। ततः पुना रुद्र उवाच 'स्यान्नौ ते पितरि प्रश्न' इति नौ आवयो स्तस्मिन्विवादे ते तव पितरि प्रश्नः स्यात् तव पितैव तर्ह्यस्मिन्विवादपदे प्रष्टव्य इत्यर्थः। ततो नाभाग पितरमेत्य तथा पृष्टवान् ॥७॥

[1]तत पृष्ट पिता तमाह - यज्ञेति। यज्ञभूमिगतमुच्छिष्टं यज्ञावशेषितं सर्वं वसु ऋषय क्वचिद्दक्षाध्वरे रुद्राय भागं चक्रुः । [2]अतस्स एव देवो रुद्रः सर्वं वास्तुकं वस्तु अर्हति तदीयमेव तत्सर्वमित्यर्थः। "उच्छेषणभागो वै रुद्रः" इति श्रुतेरिति भाव ॥८॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली-

[3]बह्वृच्चब्राह्मणप्रसिद्धो नाभागो मनुपुत्र उच्यते। ततस्तस्मात् दिष्टपुत्रादन्यः कथान्तरसूचको वा वेदसिद्धत्वाद्यशसा ततो ०याप्तो वा नाभा नाभानेदिष्ट इत्यन्वयः। ततोन्यनाम्ना [4]ख्यातः वेद इति शेषो वा नाभानेदिष्टं शंसतीत्यादौ प्राज्ञौ मेधावी ज्येष्ठ भ्रतरो ब्रह्मचारिणं विवाहानभिमुखं यविष्ठं कनिष्ठं यं नाभागं कविम् आत्मज्ञानित्वेन अतिकान्तदर्शिनं मत्वा दायं कुलपारम्पर्येण प्राप्तविभागयोग्यं द्रव्यं व्यभजन्यदा कवेर्भागमदत्वा, तदा स कविर्नाभागोऽवगम्यैत्य भ्रातृनाह ॥१॥

हे भ्रातरो मह्यं किमभांक्तेति नाभानेदिष्ट वै मानवं ब्रह्मचर्यं वसन्तं भ्रातरो निरभजन् सोऽब्रवीदेत्य किं मह्यमभांङ्क्तेति

---

1 AB omit तत 2 AB तत 3 A ब्र 4 M ऋ०

ब्राह्मण वाक्यसूचनायाऽभांक्तेति पदप्रयोगः, मम भागं किमर्थं विभक्तवन्तः। मम भागः को वा कल्पित इति वाऽप्राक्षीदिति त एतमब्रुवन् भजान पितरं तवेति, तव पितरं भज़ अन गच्छ 'अन श्वेष्टायाम्' इति धातुः। यदि तव विभागापेक्षा तर्हि गत्वा तं प्रसाद्य विचारय, वयश्चागात्य पृच्छाम इत्यर्थ·। एतमेव निष्ठावन्तं वदितारमित्यब्रुवन् । तस्माद्वाप्येतर्हि पितरं पुत्रा दिष्टावो वदितेत्येवाचक्षत इति च निष्ठावन्तं व्यवस्थागमकं व्यवस्थापकम् अत एवागम्य वदितारं पितरमब्रुवन्नित्यर्थः। यतो नाभागादयो निश्चयार्थं पितरं गत्वा अब्रुवंस्तस्मादेतर्हि अद्यापि पुत्राः पितरं निर्णीय व्यवस्थापक इत्याहुरित्यर्थ·। स नाभागो गत्वा भ्रतृभिस्सह पितरमपृच्छत् , किमिति तत्राह - किं म इति। हे तत तात पितः "आर्या ज्येष्ठास्तद्वस्तु अभाङ्क्षुः किमिति पृच्छामि त्वां यदाऽहं प्रोषितस्तदार्यास्त्वां व्यवस्थाप्य मे भागमदत्वा किर्थमभाङ्क्षुरिति वा त्वामन्तरेणाऽभाङ्क्षुरिति त्वां हवाव मह्यं ततऽभाङ्क्षु रिति स पिता प्रत्याह - मेति। हे पुत्रक, तन्मादृथाः, तस्मिन् दायविभागे आदरं मा कार्षीरिति तं पिताऽब्रवी 'न्मा पुत्रक तदादृथा' इति ॥२॥

तर्हि मम जीवनोपायः कः? इति नाभागेन पृष्टः पिता प्रत्याह - इम इति। अद्य इमे सुमेधस· शोभनप्रज्ञा अङ्गिरसः सत्र मासते बहुकर्तृके चिरकालीने यज्ञे दीक्षितास्तिष्ठन्ति हे कवे! ते ऋषय· षष्ठं षष्ठमहरुपेत्य तस्मिन्नहनि कर्तव्ये वैश्वदेवे विश्वदैवत्ये कर्मणि मुह्यन्ति । त्वं महात्मनस्तान्प्रति ज्ञातव्ये द्वे सूक्ते शंसय ब्रूहि। ते अङ्गिरस स्व स्वर्गं यन्तो गच्छन्त आत्मन· सत्रपरिशेषितं स्वसत्रे परिशिष्टं तुष्टिसाधनं द्रव्यं ते तुभ्यं दास्यन्ते। अथ कालक्षेपमन्तरेण त्वं तानृषीन् गच्छ। स नाभाग आत्मने पित्रा यथोक्तं तथा कृतवानित्यर्थः। "अङ्गिरसो वा इमे स्वर्गाय लोकाय सत्रमासते षष्ठं षष्ठमेवाऽहरागत्य मुह्यन्ति तानेते सूक्ते षष्ठेऽहनि शंसय तेषां यत्सहस्रं सत्रपरिवेषणं तत्ते स्वर्यन्तो दास्यन्तीति तथेति तानुपैत्-प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधस इति तमब्रुवन् किं कामो वदसीतीदमेव व· षष्ठमह प्रज्ञापयानि इत्यब्रवीत् अथ यद्वा एतत् सहस्रं सत्रपरिवेषणं तन्मे स्वर्यन्तो दत्तेति तथेति तानेते सूक्ते षष्ठेऽहनि अशंसयत् , ततो वैते प्रयज्ञमजानन् विप्रः स्वर्गलोकं तद्यदेते सूक्ते षष्ठे"ऽहनि शंसति यज्ञस्य प्रजात्यै स्वर्गस्य लोकस्याऽनुख्यात्या इति" हे सुमेधस·! मानवं मां प्रतिगृभ्णीत स्वीकुरुतेति मन्त्रमुक्त्वा कस्मिन्धने विद्यायामथाऽस्मदपेक्षिते विद्योपदेशकामो यस्य स त्वं किं कामः युष्मदधिकविद्यावत्वात् द्वितीयेऽधुना नाऽभिमत इति तृतीयकाम इत्याह - इद मेवेति। प्रथमविकल्पकामोऽपि भवामीत्याशयेनाह - अथ यदिति। सर्वयज्ञेषूपयोगमाह तद्य इति। अनुख्यातिः प्रकाश ते अङ्गिरस. सत्रपरिवेषणं धनं तस्मै नाभागाय दत्वा स्वर्गं ययुरित्यन्वयः। "ते स्वर्यन्तोऽब्रुवन्नेतत्ते ब्राह्मण सहस्रमिति" इति हे ब्राह्मण! वेदविद्याविशारद ॥३-५॥

कृष्णेर्शनः कृष्णवर्णतया प्रतीयमानः कश्चिल्लोकविलक्षण· पुरुष· रुद्र यज्ञशालाया उत्तरदिग्भागादभ्येत्य सत्रपरिवेषणं स्वीकरिष्यन्तं नाभागमुवाच - कथमिदं वास्तवं यज्ञशालालक्षणवास्तुभवं वसु वस्तु ममेति तदेनं समीकुर्वाणं पुरुषः

कृष्णसँवास्युत्तरत उपोत्थायाऽब्रवीत् मम वा इदं ममैवाऽस्तुहमिति इति समीकुर्वाणं राशीकृत्य स्वीकृर्वाणं कृष्णशरीरवाससी वास्तुहवास्तवं मूलभद्रभाषायां हकारवकारयो· पर्यायत्वाङ्गीकारात् ॥६॥

मानव इति तर्हि यदि ममेदमिति[1] वदसि ऋषिभिरिद मम दत्तमित्याह - सोऽब्रवीन्मह्यं वा इदमदुरिति तर्हि स्म मान वेत्युत्तरत्रापि सम्बध्यते। हे मानव, यदि त्वया प्रतिगृहीतमित्युच्यते, तर्हि नौ आवयोस्ते पितरि प्रश्न· स्यात्, गत्वा तं पृष्ट्वा निश्चित्य मां ब्रूहीत्युक्त· स नाभाग पितरं गत तथा पृष्टवान् - भो पित·! अङ्गिरोभिर्दक्षिणार्थं वास्तवं मह्यं दत्तं, तद्गृहणसमये कश्चित्पुरुष आगत्य मदीयमिदं वास्तवं, ऋषिभिर्मह्यं दत्तमिति न त्वया स्वीकर्तव्यमित्याह अतो यथार्थं वदेति ॥७॥

नाभागेन पृष्ट पिता प्राह - **यज्ञेति**। क्वचित् दक्षशापप्रसङ्गे ऋषय यज्ञवास्तुगतं सर्वमुच्छिष्टमवशिष्टं रुद्राय भागं चक्रु हि यस्मात् स देव सर्वमर्हति ॥८॥

**नाभागस्तं प्रणम्याह तवेश किल वास्तुगम्[2]।**
**इत्याह मे पिता ब्रह्मन् शिरसा त्वां प्रसादये ॥९॥**

**श्रीरुद्र[3] उवाच[-3]**

**यत्ते पिताऽवदद्धर्मं त्वञ्च सत्यं प्रभाषसे।**
**ददामि ते मन्त्रदृशे[4] ज्ञानं ब्रह्म सनातनम् ॥ १०॥ ***
**गृहाण द्रविणं दत्तं[5] यत्सत्रपरिशेषितम्[6] ।**
**इत्युक्त्वान्तर्दधे[7] रुद्रो भगवान्सत्यवत्सलः ॥११॥**

**य एतत्संस्मरेत् प्रातस्सायञ्च सुसमाहितः।**
**कविर्भवति मन्त्रज्ञो गतिञ्चैव तथाऽऽत्मनः ॥१२॥**

**नाभागादम्बरीषोऽभून्महाभागवतः कृती।**
**नास्पृशद्ब्रह्मशापोऽपि यमप्रतिहतः क्वचित्[8] ॥१३॥**

---

1 M स० 2 ABGJT °कम् 3-3 ABGJMMaT omit 4 HMMaVW वृशो * The following extra verse is found in B H V W edns तस्मादसत्य नब्रूयात् परस्याञ्चापदि चित्। सत्येन परिसन्तुष्टो भवामीष्टस्सोम भवेत् ॥ 5 ABGJT मत्सत्रे, HV मत्सत्र° 6 MMa °वेषि°, HV °वोष्टि° 7 ABGTMMaT हिंतो 8 ABGJT य न प्रति°, MMa चक्र प्रति°

[1-] विष्णुरात [1] उवाच

**भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि राजर्षेस्तस्य धीमतः।**
**न प्राभूद्यत्र निर्मुक्तो ब्रह्मदण्डो दुरत्ययः ॥१४॥**

**श्रीशुक उवाच**

**अम्बरीषो महाभागः सप्तद्वीपवतीं महीम् ।**
**अव्ययाञ्च श्रियँ लब्ध्वा विभवञ्चाऽतुलं [2] विभुः ॥१५॥**
**मेनेऽतिदुर्लभं पुंसां सर्वं तत्स्वप्नसम्मितम् [3]।**
**विद्वान् विभवनिर्वाणं तमो विशति यत्पुमान् ॥१६॥**

**श्रीध०** श्रीरुद्र आह - **यन्ते** इति ॥९, १०॥

**गृहाणेति।** इदमाख्यानं श्रुतिप्रसिद्धम् । तथाहि बह्वचब्राह्मणम् "नाभानेदिष्ठं शंसति नाभानेदिष्टँ वै मानवं ब्रह्मचर्यं वसन्तं भ्रातरो निरभजन्सोऽब्रवीत्" इत्यादि ॥११॥

अस्य आख्यानस्य स्मरणे फलमाह - **य एत** दिति। आत्मनो गतिञ्च प्राप्नोतीति शेष ॥१२॥

**नाभागादिति।** क्वचिदपि न प्रतिहतो ब्रह्मशापोऽपि ब्राह्मणेन दुर्वाससा निर्मित कृत्यानलोऽपि य नाऽस्पृशत्। अतोऽसो महाभागवत· अत एव कृती पुण्यवान् ॥१३॥

**भागवन्निति।** तस्य श्रोतुमिच्छामि, चरितमिति शेष । ब्रह्मदण्ड कृत्यानलो न प्राभूत् न समर्थो बभूव ॥१४॥

**अम्वरीष** इति। श्रियं सम्पदम् । विभवं [4] सर्वोत्कृष्टत्वं [-4 5] अतुलं निरुपमम् [5] ॥१५॥

**मेने इति** । पुंसामतिदुर्लभमपि तत्सर्वं स्वप्नवत्संस्तुतं निरूपितमनुपादेयं मेने। तत्र हेतु । विभवस्य निर्वाणं नाशं विद्वान् यद्येन विभवेन तन्नाशेन वा पुमांस्तमो विशति मोहे निमज्जति ॥१६॥

**वीर°** ततो नाभाग· पितुर्वच आकर्ण्य वास्तुकं वसुग्रहणार्थमुपायान्तरमपश्यन् रुद्रं प्रणम्येदमाह - किं, हे ईश, यद्यपि मे पिता वास्तुकं वसु तवैव त्वत्सम्बन्ध्येवेत्याह। तथाऽपि हे ब्रह्मन् शिरसा त्वां प्रसादये [6] प्रार्थये प्रणतेन शिरसा त्वां वास्तुकवसु प्रदानाय प्रसन्नं कुर्यामिति वदन् प्रणतो बभूव ॥९॥

---

1- -1 ABGJMMaT राजोवाच 2 ABGJT भुवि 3 ABGJT सस्तुतम् , HV "वन् स्तुतम्" 4- -4 ABJ ऐश्वर्यम् 5- -5 A omits 6 AB omit प्रार्थये

ततो रुद्र आह - **यदिति**। यद्यस्मात्ते तव पिता धर्ममेवाह, तथा त्वमपि सत्यमेव प्रभाषसे, तत्तस्मात् मन्त्रदृशे वैश्वदेव - मन्त्रद्रष्ट्रे ते तुभ्यं सनातनं ब्रह्म ब्रह्मविषयकं ज्ञानं ददामि ॥१०॥

तथा यद्यज्ञपरिशेषितं द्रविणं मया दत्तं गृहाण। द्वादशाहस्य सत्रत्वाद्यागत्वाच्च यज्ञवास्तुगतं यत्सत्रपरिशेषितमिति यज्ञसत्रपदयो· प्रयोगः। इतीत्थमुक्ता भागवान् सत्यवत्सलः सत्यभाषणनिमित्तवात्सल्ययुक्तो रुद्र· तत्रैवान्तर्तधे ॥११॥

एतदाख्यानसंस्मरणफलमाह - **यः** पुमानेतदाख्यानं प्रातस्सायञ्च समाहितचित्त· संस्मरेत् स कवि शास्त्रजन्यज्ञानी भवति, मन्त्रज्ञश्च भवति, तथा आत्मन स्वस्य परस्य च गतिं याथात्म्यञ्च, वेदेति शेष· ॥१२॥

एवं नाभागवृत्तान्तमभिधाय अथ तत्पुत्रं तच्छरित्रञ्चाऽह[1] - **नाभागा** दित्यादिना यावत्पञ्चमाध्यायसमाप्ति। नाभागा दम्बरीष सम्बभूव। स च महाभागवत कृती सापराधेष्वप्युपकारकरणशीलः। विशेषेण तच्चरित्र प्रश्नावसरप्रदानाय सङ्ग्रहेण तद्वृत्तं वदन् तं विशिनष्टि नाऽस्पृशदित्यर्धेन। क्वचिदपि न प्रतिहत प्रतिहतिशून्यो विप्रशापोऽपि यमम्बरीषं नाऽस्पृशत्। यद्यपि दुर्वासा न तस्मै शापं ददौ, नाप्युत्कृत्य जटोत्पादितकृत्याया शापरूपत्वं तथाऽपि शापवत्कृत्यायास्तन्निग्रहार्थत्वात् कृत्यायां शापशाब्द औपचारिको द्रष्टव्य ॥१३॥

एवमुक्ते लब्धप्रश्नावसर पृच्छति राजा - **भगवन्निति** हे भगवन् राजर्षेर्धीमतस्तस्याऽम्बरीषस्य श्रोतुमिच्छामि, चरित्र मिति शेष । यत्राम्बरीषे विनिर्मुक्त प्रयुक्तो दुरत्ययोऽपि ब्रह्मदण्ड कृत्यारूपो न प्राभूत् न समर्थो बभूव, तं बाधितु मिति शेष ॥१४॥

एवमापृष्टो ब्रह्मदण्डस्य अप्रभुत्वमाचिख्यासु· तावत्तस्य 'महाभागवत कृती' त्युक्तं महाभागवतत्वं प्रपञ्चयति - **अम्बरीष** इत्यादिना आरिराधयिषुरित्यत प्राक्तनेन ग्रन्थेन । अम्बरीषो महाभागः धीमान्त एव सप्तद्वीपयुक्तां महीमव्ययां निरुपद्रवां श्रियं सम्पदम् अतुलमसमानमनितरसाधारणं विभवं भोग्यभोगोपकरणदिसमृद्धिमैश्वर्यं वेत्येतत्सर्वमितरेषां दु खेनाऽपि लब्धु मशक्यं, लब्ध्वाऽपि विभवनिर्वाणं विभवस्य निर्वाणमवसानं नाशं, विद्वान् तत्सर्वं स्वप्नसम्मितं स्वाप्नवस्तुतुल्यं मेने, हेयममन्यते त्यर्थ । तत्र हेतु , यद्यस्मात् विभवसङ्गात् पुमान् तमो नरकं विशति ॥१५, १६॥

**विज**° मया त्वविचार्योक्तमित्युक्तो नाभागो गत्वा तं रुद्रं प्रणम्याऽह - हे ईश, वास्तुगतं तव किलेति मे पिता प्राह। तस्मा दहं शिरसा त्वां प्रसादये क्षमस्वेति वाचा स नाभाग प्रत्याह ॥९॥

स पुरुषो नाभागं प्रत्याह - **यत्त** इति। ते पिता सत्यलक्षणं धर्ममवदत् त्वञ्च सत्यं यथा तथ्यं वदसीति यत् तस्मामन्त्रदृश·

1 Tw Omit तच्चरित्र

वैश्वदेवसूक्तं दृष्टवतस्ते तव सनातनं सदातनं वेदप्रमाणकं वा ब्रह्मनिरपेक्षमन्योपदेशाकाङ्क्षारहितं ब्रह्मविषयं वा ज्ञानं ददामि ॥१०॥

किञ्च यत्सत्रपरिवेषितं द्रविणं तच्च ददामि गृहाण तमब्रवीत् तद्वै नौ तवैव पितरि प्रश्न इति स पितरमेनं, पिता अब्रवीन्ननु ते पुत्रकाऽदुरित्युदुरेव इत्यब्रवीत्तत्तु मे पुरुषः "कृष्ण शवास्युत्तरत उपोदतिष्ठन् मम वा इदं ममैवाऽस्तुहमित्यादितेति तं पिताऽब्रवीत्तस्यैव पुत्रक तत्तु स तुभ्यं दास्यतीति स पुनरेत्याऽब्रवीत्। तव हवाव किल भगव इदमिति मे पिताहति सोऽब्रतीत् तदहं तुभ्यमेव ददामि य एवं सत्यमवादीः" इति। तस्मादेवं विदुषां[1] सत्यमेव वेदितव्यमिति[2] हे पुत्रक, तेऽङ्गिरसस्तवाऽ दुर्ननु दत्तवन्तः एवं किमिति पृष्टे स नाभाग· न अदुरेव न तत्र सन्देह इत्यब्रवीत्, तर्हि किमत्र बाधकमिति तत्राह तत्तु मे इति सत्रपरिवेषितं यद्धनं तदिदं ममैवेत्युक्त्वा पिता दत्तवान् स्वीकृतावानित्यर्थः। इत्युक्ते पिता नभागं प्रत्याह तं पितेति ॥११॥

फलमाह - **य एत** दिति। कविस्तत्त्वविज्ञानी मन्त्रज्ञः ऋग्वेदतात्पर्यार्थज्ञानी आत्मनः स्वपरलक्षणस्य वस्तुनो गतिं स्थितिं ज्ञानं वा, प्राप्नोतीति शेष·। "स[3] एव सहस्रसनिर्मन्त्रोऽयं नाभानेदिष्ठमुपैनं सहस्रं नमति प्रषष्ठेनाऽह्ना स्वर्गं लोकं जानाति य एवं वेद" इत्यनेनाऽपि फलश्रुतेरर्थस्सूचिते इति। यदाह नाभानेदिष्ठः सहस्रसनिः 'वनषण सम्भक्तौ' इति धातो· सहस्रेत्युपलक्षणमनेकजनाय धनदाता 'सन लाभे' इति धातोरनेकविषयज्ञानलाभोपेतः मन्त्रो मन्त्रज्ञानी पुरुष· एवमुक्त मितिहासार्थं वेद एनं पुरुषमुद्दिश्य सहस्रं उपनमति षष्ठेनाह्ना षष्ठदिनापेक्षिसूक्तपूर्वककृतकर्मणां स्वर्गं सुखं ज्ञानात्मकं लोकं सर्वाधारं हरिं प्रजानातीति भाव· ॥१२॥

कृतं पूर्णं ब्रह्मऽस्यास्तीति कृती सुकृती वा चक्रेण सुदर्शननाम्ना प्रतिहतो निरस्त· ॥१३, १४॥

प्रथमतस्तस्य विरक्तिमाह - **अम्बरीष** इति। मह्यादिकं तत्सर्वं स्वप्नसम्मितं स्वप्नवदनित्यं मेने इत्यन्वयः। अव्ययः दीर्घकालीनां विभवं हिरण्यादिलक्षणम् अनेन अम्बरीषशब्दार्थोऽपि सूचित स आविष्करिष्यते अम्वादिकं रीषं नश्वरमिति ज्ञानमस्यास्तीति अम्बरीषः। रुष रिष हिंसायाम्, मत्वर्थे अच्प्रत्ययः। अम्बरवदीषा इच्छा यस्य स तथा आकाशवद्बहुलज्ञान इत्यर्थ·। व्यत्यासश्छान्दसः। अं ब्रह्म तस्य वरिर्वरणं तत्रेच्छा यस्य स तथा ॥१५॥

एतदेव स्पष्टयति विद्वानिति। विभवनिर्वाण् हिरण्यादिसम्पदां नाशं क्षणिकं विद्वान् पुमान्यद्यस्मात् विभवान्मुग्धस्तमो विशति ॥१६॥

**वासुदेवे भगवति तद्भक्तेषु च साधुषु।**
**प्राप्तो भावं परं विश्वं येनेदं लोष्टवत् स्मृतम् ॥१७॥**

---

1 M °षा 2 M व° 3 M °च

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचाँसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुती[1] चकाराच्युतसत्कथोदये[2] ॥१८॥

मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम् ।
घ्राणञ्च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या[3] रसनां तदर्पिते ॥१९॥

पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे[4] शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ।
कामञ्च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया[5] रतिः[6] ॥२०॥

एवं सदा कर्मकलापमात्मनः परेऽधियज्ञे भगवत्यधोक्षजे ।
सर्वात्मभावं विदधन्महीमिमां तन्निष्ठविप्राभिहित शशास ह ॥२१॥

ईजेऽश्वमेधैरधियज्ञमीश्वरं महाविभूत्योपचिताङ्गदक्षिणैः ।
ततैर्वसिष्ठासितगौतमादिभिः धन्वन्यभिस्रोतमसौ सरस्वतीम्[7] ॥२२॥

यस्य क्रतुषु गीर्वाणैः सदस्या ऋत्विजो जनाः ।
तुल्यरूपाश्चानिमिषा व्यदृश्यन्त सुवाससः ॥२३॥

स्वर्गो न प्रार्थितो यस्य मनुजैरमरप्रियः ।
शृण्वद्भिरनुगायद्भिरुत्तमश्लोकचेष्टितम्[8] ॥२४॥

**श्रीध०** नन्वेवं जानन्तोऽपि विभवैषिणो दृश्यन्ते - तत्राह - **वासुदेव** इति। भावं भक्तिं प्राप्तः येन भावेनेदं विश्वं लोष्टव दतितुच्छं स्मृतम् ॥१७॥

भक्तिमेव सर्वेन्द्रियाणां भगवत्परत्वकथनेन प्रपञ्चयति स वा इति त्रिभि श्रुती[9] श्रोत्रे[9] अच्युतस्य सत्कथानामुदये श्रवणे चकारेत्यस्य सर्वत्रान्वयः ॥१८॥

**मुकुन्देति।** मुकुन्दस्य लिङ्गानामालया[10] स्थानानि, तेषां दर्शने दृशौ नेत्रे तद्भृत्याः[11-] भागवताः तेषां गात्रस्पर्शनं आलिङ्गनहस्तस्पर्शनादि, अत्रच्छन्दोभङ्गः आर्षः तस्मिन् अङ्गसङ्गमं करचरणाद्यवयवसम्बन्धं[11] श्रीमत्यास्तुलस्या तत्पादसरोजेन यत्सौरभं तस्मिन्, तदर्पिते तस्मै निवेदितान्नादौ ॥१९॥

---

1 ABGJMMaT श्रुति 2 W 'राच्चुत 3 MMa 'स्या 4 W पथा 5 MMa तथो 6 MMa 'श्रय रतिम् 7 MMa विद्वानभि 8 ABGJMMaT 'रूप 9- -9 A B J श्रुतिं श्रात्र 10 B H V 'यानि 11- -11 A B J omit

**पादाविति।** कामं सक्रचन्दनादिसेवां दास्ये निमित्ते तत्प्रसादस्वीकाराय नतु कामकाम्यया विषयेच्छया। कथं चकार? उत्तमश्लोकजनाश्रया रतिर्यथा भवे तथा। अनेन तद्भक्तेषु च परं भावं प्राप्त इत्येतत्स्फुटीकृतम् ॥२०॥

**एवमिति।** सर्वत्राऽत्मेति भावो भावना यस्मिंस्तमात्मनः स्वस्य कर्मणां कलापं समूहं भगवति विदधत् समर्पयन् तन्निष्ठैर्भागवतैर्विप्रैरभिहितः शिक्षितस्सन् महीं शशास पालयामास। अनेनाऽधिकृतो धर्मोऽपि यथावद्दर्शित· ॥२१॥

**ईजे** इति। किञ्च यज्ञाधिष्ठातारमीश्वरमश्वमेधैरीजे आराधयामास। महाविभूत्योपचितान्यज्ञानि दक्षिणाश्च येषु तै वशिष्ठादिभि र्हेतुभूतै स्ततै· विस्तृतैः। धन्वनि धन्वदेशे निरुदके देशे[1] सरस्वतीमभिस्रोतम् तस्या प्रतिलोममित्यर्थ· ॥२२॥

**यस्येति।** किञ्च यस्य क्रतुषु सदस्यादयो गीर्वाणैस्सह भूषणादिभिस्तुल्यरूपा व्यदृश्यन्त, स इत्थमिति चतुर्थेनान्वय·। न च देवानां निमेषाभावात् वैलक्षण्यं यतोऽनिमिषाश्च व्यदृश्यन्त। न निमिषन्तीति तथा आश्चर्यदर्शनौत्सुक्येन तेषां निमेषोपरमा दिति भाव ॥२३॥

**स्वर्ग** इति। यस्य यदीयैर्मनुजैरपि स्वर्गो न प्रार्थितस्तस्य तु का वार्ता ? ॥२४॥

**वीर०** न केवलं विरक्तो बभूव, अपि तु भगवति वासुदेवे तद्भक्तेषु साधुलक्षणलक्षितेषु[2] च परम्भावं भक्त्याऽत्मक मभिप्रायं गत प्राप्त· भावं विशिनष्टि - येन भावेनेदं विश्वं लोष्टवत्कृतं[3] लोष्टवदनुपादेयममन्यतेत्यर्थ ॥१७॥

वासुदेवे परं भावं गत इत्येतदेव प्रपञ्चयति - **स वा** इति तावन्मनुष्यदेहस्य सर्वविधभगवत्सेवोपयुक्ततामावेद्य तथैव कृतवानित्याह - स वा इति त्रिभि । स वै अम्बरीष·। वैशब्द प्रसिद्धिद्योतक । मन कृष्णस्य भगवत पदाराविन्दयोश्चकार तच्चिन्तनप्रवणमकरोदित्यर्थः। वैकुण्ठस्य गुणानामनुवर्णने वचांस्यकरोत् गुणवर्णनप्रवणान्येवाकरोदित्यर्थ । एवमुत्तरत्राऽपि द्रष्टव्यम् । भगवन्मन्दिरमार्जनादिषु व्यापारेषु हस्तावकरोत्। आदिशब्दादाराधनादीनां सङ्ग्रह । अद्भुतानां सत्कथानां पुण्यावहानां भगवत्कथानां पुण्यप्रदानामुदये[4] श्रवणे श्रुतिं श्रोत्रेन्द्रियं चकार ॥१८॥

मुकुन्दस्य लिङ्गानि विग्रहा आलया· स्थानानि च तेषां दर्शने दृशौ नेत्रे चकार। तस्य मुकुन्दस्य ये भृत्यास्तेषां गात्राणां स्पर्शने निमित्ते अङ्गसङ्गमं स्वाङ्गस्य यत्किञ्चिद्वस्तुसंस्पर्शं मुकुन्दभक्तगात्रश्चेत् पस्पर्श नेतरदित्यर्थ ।·श्रीमत्या तुलस्या मुकुन्द पदसरोजेन यत्सौरभं तत्पादसरोजसम्बन्धेन यत्सौरभं तस्मिन् घ्राणेन्द्रियं चकार। तदर्पिते मुकुन्दाय निवेदिते अन्नादौ रसनाम् ॥१९॥

---

1 A B J Omit देशे 2 A B साधुषुल 3 AB omit लोष्टवत्कृत 4 TW omit पुण्यप्रदाना

हरे क्षेत्राणि वेङ्कटाद्र्यादीनि तेषां पन्थानो मार्गाः क्षेत्रपथाः। "ऋक्पूरब्धू" ( अष्टा 5.5 74 ) इति समासान्तोऽप्रत्यय । तेष्वनुसर्णणे गमने पादौ, हृषीकेशस्य पदयोरभिवन्दने शिरो मूर्धानं कामं तदर्पितम्रक्चन्दनादि[1] सेवां दास्ये निमित्ते चकार। तत्प्रसादस्वीकारस्तद्दास्यार्थमेव, न तु कामकाम्यया विषयेच्छया कृत इत्यर्थः। सर्वमेतत्कथं चकार? उत्तमश्लोकजना भगवद्भक्ता स्तदाश्रया रति· तत्पर्यन्ता रतिर्भक्तिर्यथा भवेत् तथा चकारेत्यर्थः। तथेति पाठे उत्तमश्लोकजनविषया रतिश्च तस्याऽभवदित्यर्थः। अनेन तद्भक्तेषु च परम्भाव्रन्नत इत्येतत्प्रपञ्चितम् । अतो न पौनरुक्त्यम् ॥२०॥

एवं सर्वात्मभावं सर्वात्मना करणत्रयेण भावो भावना यस्मिन् तं कर्मकलापमधियज्ञे यज्ञनिर्वाहके भगवति विदध त्समर्पयन् कर्मसमूहस्य भगवदाराधनरूपतामनुसन्दधदित्यर्थ । यद्वा, एवंविधं कर्मकलापं भगवति सर्वात्मभावं सर्वस्यान्तरात्मत्वानुसन्धानं च विदधत् कुर्वन्, भगवन्निष्ठैर्वसिष्टादिभिरभिहित एवं कुरु, एवं माकर्षी इत्येवमुक्तः इमां महीं सप्तद्वीपवतीं शशास पालयामास ॥२१॥

एवं महाविभूत्या उपचितानि बहूकृतानि अङ्गानि दक्षिणाश्च येषु तैरश्वमैधै र्वसिष्ठादिभिर्हेतुभूतै स्तैर्विस्तृतैराराधयामास। धन्वन् धन्वनि निरुदके देशे विभक्तिलोप आर्ष । निरुदकात्तस्माद्देशादभिस्रोतं प्रवाहाभिमुखं यथा भवति तथा यष्टुं सरस्वतीं नदीमगादित्यर्थ ॥२२॥

तेनानुष्ठितानश्वमेधान् विशिनष्टि - **यस्येति**। यस्याऽम्बरीषस्य क्रतुषु अश्वमेधेषु सभ्या ऋत्विजश्च जना गीर्वाणैर्देवैस्सह भूषणादिभिस्तुल्यरूपिणो व्यदृश्यन्त, तथा अनिमिषा इन्द्रादयो देवा. सुवाससः शोभनवस्त्राभरणदियुक्ता व्यदृश्यन्त लक्ष्यन्त। यच्छब्दानां स इत्थमिति चतुर्थेनाऽन्वय ॥२३॥

न केवलं तदीयजनानां वस्त्रभूषणादिभिरमरतौल्यमेव अपितु स्वर्गिभ्योऽप्यतिशयितसुखत्वश्चेत्याह - **स्वर्ग** इति। उत्तमश्लोकस्य भगवतश्चेष्टितमनुगायद्भि श्रुण्वद्भिश्च यस्याऽऽम्बरीषस्य सम्बन्धिभिर्मनुजैरमराणां[3] प्रिय स्वर्गोऽपि न प्रार्थित । स्वर्गादप्यतिशयितमुत्तमश्लोकचेष्टितश्रवणगानजं[4] सुखरसमनुभवद्भि· स्वर्गोप्युपेक्षित इति भाव·। तदीयैरेव जनै स्वर्गः उपेक्षित·, तेनोपेक्षित इति किमु वक्तव्यमिति च भाव· ॥२४॥

**विज०** परम्भावमुत्कृष्टां भक्तिं येनाऽम्बरीषेण इदं विश्वं लोष्टवत् स्मृतं, येन भावेन वा ॥१७॥

उत्कृष्टभक्तिमतः प्रवृत्तिं दर्शायति - **स** वा इति ॥१८॥

मुकुन्दस्य लिङ्गं प्रतिमालक्षणं तेन युक्तस्यालयस्य पादसरोजसौरभेण युक्तायाम् ॥१९॥

---

1 AB °दिभि 2 AB °स्त्रैर्भू° 3 AB °र्जनै 4 AB °ज

कामकाम्यया विषयतृष्णया उत्तमश्लोकस्य हरे· जनानाश्रयतीति जनाश्रया ताम् ॥२०॥

तस्मिन् हरौ निष्ठा मनोयोगलक्षणा येषां ते तथा तादृशैर्विप्रैरभिहित· कर्मकलापं कर्मसमूहं सर्वात्मभावं भक्तिञ्चेति द्वयं भगवति विदधत् ॥२१॥

सरस्वतीमभिस्रोतं सरस्वत्या स्रोतो जलप्रवाह· स यथाऽभिमुखो भवति तथा, सरस्वतीजलमुद्दिश्येत्यर्थ । उपचिता सँवर्धिता यज्ञस्याऽङ्गभूतदक्षिणा येषां ते तथा तै· ततैर्विद्यासु निपुणैः वसिष्ठश्च असितश्च गौतमश्च आदिर्येषान्ते तथा तै ॥२२॥

तुल्यरूपाः रुपयौवनवस्त्राभरणादिभि· समानवेषाः, अनिमिषा उन्मीलितलोचना ॥२३॥

यस्याऽम्बरीषस्य मनुजैरमरप्रिय· स्वर्गोऽपि न प्रार्थित इत्यन्वय । तत्र किं कारणमिति तत्राऽह - **शृण्वद्भिरिति**। अनेन मुकुन्दचरितश्रवणगायनाभ्यामधिकं स्वर्गसुखं न भवत्यत स्वर्गो न प्रार्थित इत्युक्तम् ॥२४॥

**न वर्धयन्ति[1] तान्कामाः[2] स्वाराज्यपरिभाविताः।**
**दुर्लभाअपि[3] सिद्धानां मुकुन्दं हृदि पश्यतः ॥२५॥**

**स इत्थं भक्तियोगेन तपोयुक्तेन पार्थिवः।**
**स्वधर्मेण हरिं प्रीणन् सङ्गान् सर्वाञ्छनैर्जहौ ॥२६॥**

**गृहेषु दारेषु सुतेषु बन्धुषु द्विपोत्तमस्यन्दनवाजिपत्तिषु[4]।**
**अक्षय्यवस्त्राभरणायुधादिष्वनन्तकोशेष्वकरोदसन्मतिम् ॥२७॥**

**तस्मा अदाद्धरिश्चक्रं[5] प्रत्यनीकभयावहम्[6] ।**
**एकान्तभक्तियोगेन[7] प्रीतो भीताभिरक्षणम्[8] ॥२८॥**

**आरिराधयिषुर्विष्णुं[9] महिष्या तुल्यशीलया।**
**युक्तस्संवत्सरं[10] धीरो[11] दधार द्वादशीव्रतम् ॥२९॥**

**व्रतान्ते कार्तिके मासि त्रिरात्रं समुपोषितः।**
**स्नातः कदाचित्कालिन्द्यां हरिं मधुवनेऽर्चयत् ॥३०॥**

1 ABGJT समर्द्धयन्ति , MMa समृद्धा यस्य 2 H V यक्ता , MMa नो का , W यान्का° 3 ABGJT °नापि 4 H V W पत्रिषु 5 ABGTMMaT °रत्वा° 6 MMa °प° 7 A B G J T भावेन 8 A B G J T भृत्याभि , MMa भूत्वाभि° 9 ABGJMMaT °षु कृष्णा 10 ABGJMMaT स्सा° 11 ABGJMMaT वीरो

**महाभिषेकविधिना सर्वोपस्करसम्पदा ।**[1]
**अभिषिच्य वराकल्पैर्गन्धमाल्यार्हणादिभिः ॥३१।**[2]

**तद्गतान्तरभावेन पूजयामास केशवम्**
**ब्राह्मणांश्च महाभागान् सिद्धार्थानपि भक्तितः ॥३२॥**

**श्रीध० नेति।** आस्तां स्वर्गप्रार्थनशङ्काऽपि यद्यत· मुकुन्दं हृदि पश्यतस्तान् जनान् कामा विषया न वर्धन्ति[3] न हर्षयन्ति। कथम्भूता ? स्वाराज्येन स्वरूपसुखेन परभाविता अतिशायिता·, अत एव सिद्धानामपि दुर्लभा·। 'या निति' पाठे या न्मनुजान्। स्वाराज्येत्यत्राऽपि द्वितीयान्तपाठे मनुजानां विशेषणम्। यमिति पाठे 'यमम्बरीषं पश्यता' मिति पाठे सिद्धानां विशेषणम् ॥२५॥

एवं भगवदाराधनपरस्य कामाद्युपेक्षा नैव चित्रमित्युपसंहरति - **स इत्थ**मिति द्वाभ्याम् ॥ २६, २७॥

नन्वेवम्भूतोऽसौ कथ प्रतिपक्षान् जयेत्तत्राह **तस्मा** इति ॥२८॥

तदेवं तस्य वैराग्यादिकं हरिभक्तिश्चोक्त्वा ब्रह्मदण्डो यत्र न प्राभूतिदि यदुक्तं तदेव द्वादशीव्रतनिष्ठां कथयन्नाऽह - **आरिराधयिषु** रित्यदिना यावदध्याय परिसमाप्ति[4] ॥२९॥

**व्रतेति** अर्चयत् अडगमाभाव आर्ष ॥३०. ३१॥

**तदिति।** ब्राह्मणांश्च पूजयामास। सिद्धार्थानाप्तकामान् पूजानपेक्षानपि ॥३२॥

**वीर०** आस्तां तावत्स्वर्गप्रार्थनाशङ्काऽपि सिद्धानां योगीश्वराणामपि दुर्लभा , कामाः काम्यन्त इति कामा. अणिमादयः स्वाराज्यपरिभाविता स्वाराज्येनाकर्मवश्यत्वावहब्रह्मात्मक स्वात्मानुभवेन परिभाविता प्रापिताः मुकुन्दं हृदि पश्यतः उपासीनान् यान् यदीयान् जनान्नवर्धयन्ति न हर्षयन्ति अणिमादयोऽपि न हर्षयन्ति, किमुत न स्वर्गो हर्षयतीति भावः। यमिति पाठे यमम्बरीषं पश्यता मिति पाठे, तत्सिद्धानां विशेषणम् ॥२५॥

यस्य सम्बन्धिनो जना एवंविधा सपार्थिवोऽम्बरीष· तपोयुक्तेन, तपश्शब्दोऽत्र आत्मयाथात्म्यज्ञानयोगपरः, 'तप आलोचने' इति ज्ञानार्थात्तपधातोर्निष्पन्नत्वात्। तद्युक्तेन स्वधर्मेण स्ववर्णाश्रमोचितासङ्गकर्मानुष्ठानेन भक्तियोगेन ज्ञानकर्म्मानुगृहीत भगवद्भक्तियोगेनेत्यर्थः। हरिं स्वाश्रितानां संसृति बन्धहरं भगवन्तं प्रीणयन् शनैः सर्वान् सङ्गान् हृद्गतान् देहतदनुबन्धिविषयान् ऐहिकान् आमुष्मिकांश्च जहौ तत्याज ॥२६॥

---

1 W पकरण 2 ABGJT च्याम्बरा , W 'च्यपरा' 3 ABJ समर्द्धयन्ति 4 ABJ omit परि

सङ्गान् जहावित्येतदेव प्रपञ्चयति - गृहेष्विति। गृहादिषु गजोत्तमरथाश्वादिवस्तुषु अक्षय्येषु वस्त्रादिषु अनवधिकेषु कोशेषु धनभाण्डागारेषु असन्मतिमपुरुषार्थत्वबुद्धिमनित्यत्वबृद्धिं हेयत्वबुद्धिं वा अकरोत् ॥२७॥

एवं भूतोऽसौ कथं प्रतिपक्षान् जितवान् ? तत्राह - तस्मा इति। एकान्तभक्तियोगेन अनन्यप्रयोजनभक्तियोगेन प्रीतो हरिस्तस्मै, अम्बरीषाय भीतानभिरक्षतीति तथा। नन्द्यादित्वात् (अष्टा.3.1 134)

कर्तरि ल्युः। प्रत्यनीका· समाश्रितानां विपक्षा· तेषां भयमावहतीति तथा, तच्चक्रं सुदर्शनमदात् ॥२८॥

को वा एवंविधस्याऽस्य प्रतिपक्षो बभूव? यस्य भयावहं हरिश्चक्रमदादित्यपेक्षायां तदुपपादयितुं तावत् तत्प्रस्तावमाह - आरिराधयिषुरित्यादिना 'प्रादिष्ट' मित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। भगवन्तमाराधयितुमिच्छुर्वीरोऽम्बरीषस्तुल्यशीलया स्वतुल्यस्वभावसद्वृत्तिमत्या भार्यया सह युक्त· संवत्सरर्पयन्तं द्वादशीव्रतं दधार चकार ॥२९॥

व्रतान्ते संवत्सरमनुष्ठितव्रतान्ते कार्तिके मासि, अनेन व्रतोपक्रमोऽपि कार्तिकशुद्धद्वादश्यामिति फलितम् त्रिरात्रं नवमीदशम्येकादशीषु सम्यगुपोषित , दशम्यामेकभुक्तं, द्वादश्यामेकभुक्तं एकादश्यामुपवास इत्युपवासत्रयमिति कश्चित्सम्प्रदायः। कदाचिद्द्वादश्यामित्यर्थ । कालिन्द्यां यमुनायां स्नात्वा मधुवनाख्ये वने सर्वेषामुपकरणाना माराधनोपकरणानां गन्धपुष्पधूपदीपदीनां सम्पत्समृद्धिर्यस्य तेन महाभिषेकविधिना सहस्रकलशस्नापनविधिना हरिमभिषिच्य अर्चयत्, अडभाव आर्ष· ॥३०, ३१॥

अर्चयदित्येव प्रपञ्चयति -वरै[2] श्रेष्ठै राकल्पै· आभरणै· गन्धै· माल्यै कुसुमैरर्हणै अर्घ्योदकै·। आदिशब्दात्पाद्यादिभि र्धूपदीपनैवेद्यादिभिश्च केशवं तद्गतान्तरभावेन[3] केशवविषयान्त करणव्यापारेण पूजयामास। तथा महाभागान् विदुषः अत एव सिद्धार्थान्, सिद्धं प्राप्त·पुरुषार्थः[4] आनन्ददो येषां तान् नित्यसन्तुष्टान् पूजानपेक्षानिति यावत्। तादृशानपि ब्राह्मणांश्च पूजयामास भागवतानभ्यर्चयदित्यर्थ· ॥३२॥

**विज०** यस्य काम्यन्त इति कामा विषयभोगा नो अल्पत्वान्न वाञ्छिता इति नेत्याह - **समृद्धा** इति। भोगेच्छूना मलम्बुद्धिविषया भवन्तीत्यर्थ । समृद्धौ निमित्तमाह स्वाराज्येति। स्वराज्येन स्वरूपभूतैश्वर्येण परिभावितःप्रचिताः[5] अत एवाऽ सुलभत्वेऽप्यन्येषां दुर्लभा इत्याह - दुर्लभा इति। अत्रापीदमेव निमित्तमाह मुकुन्दमिति ॥२५॥

अपरोक्षज्ञानफल माह - **स** इति। स्वधर्मेण प्रजापालनलक्षणेन ॥२६॥

कथं जहावित्यत्राह - **गृहेष्विति**। असन्त्यमङ्गलानि अनर्थकरणानीति मतिं बुद्धिं चकार ॥२७॥

---

1 TW °ण्डारेषु 2 TW परै 3 AB तद्गतान्तर्भा° 4 AB प्रहर्षार्थ 5 AB प्रचोदिता

अपरोक्षज्ञानत्वेऽपि यावद्देहं मोक्षासम्भवादुद्रिक्तभक्तिभास्करादुत्फुल्लहृदयाम्बुजस्य हरेरम्बरीषेऽनुग्रहविशेषं दर्शयितुमाह - तस्मा इति ॥२८॥

लोकशिक्षाप्रकटनार्थं सांवत्सरमित्युक्तं न त्वन्यकालनिषेधार्थम्, अन्यथा भक्तिलोप. प्रसज्येत ॥२९, ३०॥

संवत्सरव्रतान्ते[1] सर्वसाधनसम्पदा महाभिषेकविधि साम्राज्याभिषेकप्रकार । वराकल्पैरुत्तमाभरणै ॥३१॥

तद्व्रतान्तरभावेन श्रीहरिनिष्ठामनस्कत्वेन सिद्धार्थान् कृतकृत्यान् ॥३२॥

**गवां रुक्मविषाणानां[2] रूप्याङ्घ्रीणां सुवाससाम्।**
**पयःशीलवयोरूपवत्सोपस्करसम्पदाम् ॥३३॥**

**प्राहिणोत्साधुविप्रेभ्यो गृहेषु न्यर्बुदानि षट्।**
**भोजयित्वा द्विजानग्रे स्वाद्वन्नं गुणवत्तरम्[3] ॥३४॥**

**लब्धकामैरनुज्ञातः पारणायोपचक्रमे ।**
**तर्हि[4] दिष्ट्यातिथिस्साक्षाद् दुर्वासा भगवानभूत् ॥३५॥**

**तमानर्चाऽतिथिं[5] सम्यक् प्रत्युत्थानासनार्हणैः।**
**ययाचेऽभ्यवहाराय पादमूलमुपागतः ॥३६॥**

**प्रतिनन्द्य स तद्याच्ञां कर्तुमावश्यकं गतः।**
**निममज्ज बृहद् ध्यायन् कालिन्दीसलिलेशुचौ[6] ॥३७॥**

**मुहूर्तार्धावशिष्टायां द्वादश्यां पारणं प्रति।**
**चिन्तयामास धर्मज्ञो द्विजैस्तद्धर्मसङ्कटम्[7] ॥३८॥**

**ब्राह्मणातिक्रमे दोषो द्वादश्यामप्यपारणे[8]।**
**यत् कृत्वा साधु मे भूयात् अधर्मो वा न मां स्पृशेत् ॥३९॥**

**अम्भसा केवलेनाथ[9] करिष्ये व्रतपारणाम्[10]**
**आहुरब्भक्षणं[11] विप्रा अशितानाशितञ्च[12] यत्[13] ॥४०॥**

---

1 A B °न्त 2 ABGJMMaT °णीना 3 ABGHJTV °त्तम° 4 ABGJMMat तस्य तर्ह्य° 5 ABGJ भूप , MMa भूय 6 ABGJ शुभे 7 ABGJMMaT °र्ह्य 8 ABGJMMaT °श्या यदपा° 9 MMa °उद्य 10 ABGJMMaT °णम् 11 ABGJT प्राहु॰ 12 ABGTMMaT ह्यशित 13 ABGJMMaT तत्

**श्रीध० गवामिति**। रूप्याङ्गीणां रूप्यखुराणाम्। पयश्शीलादिसम्पदो यासां तासाम् ॥३३॥

**प्राहिणोदिति**। न्यर्बुदानि पट्षष्टिकोटीः ॥३४॥

**लब्धेति**। तर्हि तदैव दुर्वासा अतिथि साक्षात्प्रत्यक्षोऽभूत् ॥३५॥

**तमिति**। आनर्चार्चितवान्। अभ्यवहाराय भोजनाय ॥३६॥

**प्रतिनन्दोति**। आवश्यकं नैयमिकं माध्याह्निकं कर्म कर्तुं गत । बृहद्ब्रह्म ॥३७, ३८॥

धर्मसङ्कटमेवाऽऽह - **ब्रह्मणेति**। यद्यतो ब्राह्मणातिक्रमे दोषोऽधर्मं द्वादश्यामपारणेऽपि दोषो व्रतवैगुण्यम्। यत् कृत्वा यस्मिन्कृते ॥३९॥

एवं द्विजैस्सह विचार्य निश्चिनोति - **अम्भसेति**। व्रतस्य पारणं समाप्तिम्। तदशितमाहुरशितं नेति चाऽहु । श्रुतिश्च - अपोऽश्नाति त त्रैवाऽशितं नैवानशितम्" इति ॥४०॥

**वीर०** तत षट् गवां न्यर्बुदानि षष्टिकोटिं साधु यथा तथा विप्रेभ्य· प्राहिणोत् प्रददौ। कथम्भूतानाम् ? गवां रुक्मविषाणीनां[1] स्वर्णकविचतविषणयुक्तानां राजतालङ्कृतपादानां, शोभनानि वासांसि यासां पय. क्षीरञ्च शीलं सुस्वभावश्च वय अपूर्वप्रसवत्वञ्च रूपं लाङ्गूलखुरविषाणादिसौष्ठवञ्च, वत्साश्च उपस्करा दोहनपात्रादीनि च तेषां सम्पत्समृद्धिर्यासां. तत मृष्टं गुणवत्तरं षड्रसोपेतमन्नमग्रे ब्राह्मणान् भोजयित्वा ॥३३.३४॥

**लब्धाः** कामा दक्षिणादयो यैस्तैर्द्विजैरनुज्ञात पारणायोपचक्रमे। तर्हि तदैव भगवान् दुर्वासा तस्याम्बरीषस्य अतिथिस्साक्षादभूत् प्रत्यक्षो बभूव ॥३५॥

तमागतमतिथिं सम्यक् प्रत्युत्थानादिभिरभ्यर्च्य तस्य पादयोर्मूलमुपागत प्रणतोऽभ्यवहाराय भोजनाय ययाचे भवताऽत्र भोक्तव्यमिति प्रार्थयामासेत्यर्थ· ॥३६॥

ततस्स दुर्वासा· तस्याऽम्बरीषस्य याच्ञां प्रतिनद्य आवश्यकं नैयमिकं माध्याह्निकं कर्तुं गत शुचौ शुद्धे कालिन्द्या यमुनाया जले बृहत् ब्रह्म ध्यायन् निममज्ज सस्नावित्यर्थ ॥३७॥

तदा धर्मज्ञोऽम्बरीषो द्वादश्यां मुहर्तार्धेन घटिकामात्रेण अवशिष्टायां सत्यां पारणां प्रति संङ्कटं पारणाविषयकं सङ्कटं द्विजैस्सह चिन्तयामास ॥३८॥

---

1 TW सुवर्ण

सङ्कटेमवाह - **ब्राह्मणातिक्रम** इति। ब्राह्मणातिक्रमे ब्राह्मणस्यातिथेरतिक्रमेदोषः, अतिथिं निमन्त्र्य तमनादृत्यैव भोजने महान्प्रत्यवायः, तथा द्वादश्यामपारणे च दोषो व्रतवैगुण्यात् इत्येवंविधं सङ्कटं प्राप्तम्। तत्र यत्कृत्वा साधु मे भूयात्। यत्कृत्वेत्यव्ययसमृदायो, यथा चेत्यर्थ·। यथा च मे साधुभूयादित्यर्थः। यथाचाऽधर्मो मां न स्पृशेत्, तथा ब्रूतेति शेष ॥३९॥

एवं द्विजैर्विचार्य निश्चिनोति - **अम्भसेति**। केवलेनाऽम्भसा व्रतस्याऽङ्गभूतं पारणं करिष्ये। एवञ्चेत्पारणस्य कृतत्वान्न व्रतवैगुण्यं नाऽप्यतिभ्यतिक्रमणदोष अनशनादित्याह आहुरिति। हे विप्रा , यदपां भक्षणं तदशितं, नाऽशितञ्चाहुः श्रुतय इति शेष ।तथा च श्रुतय "अपोऽश्नाति, तन्नैऽवाशितं तन्नैवानशितम्" इत्याद्या· ॥४०॥

**विज०** शतकोटिसंख्यान्यर्बुदम् ॥३३ - ३५॥

अभ्यवहाराय भोजनाय ॥३६॥

आवश्यकं नित्यकर्म, बृहत् ब्रह्म, बृह्वतेर्धातो ढक् प्रत्यय ॥३७॥

धर्मसङ्कटे धर्मापदि प्राप्तायां सत्याम् ॥३८॥

आमन्त्रितब्राह्मणातिक्रमे दोषोऽस्ति, द्वादश्यामपारणे श्रीहरिप्रियद्वादशीभोजनाकरणे च दोषोऽस्ति यत्तस्मात्, यत्कृत्वा मे साधु भूयात् उभयदोषपरिहारेण श्रेय स्यात् उभयोरेकातिक्रमलक्षणोऽधर्मो वा मां न स्पृशेदिति तत् द्विजैस्सह चिन्तयामास ॥३९॥

एवं सञ्चित्य द्विजानां हार्दं स्वहार्दञ्च एकमेवेत्याशयेनाह - **अम्भसेति**। केवलेन व्रीह्यन्नरहितेन। अम्भसां पारणम् आशितं भुक्तं पूर्वव्रतधारणार्थं भुक्तं भवति। उत्तरकर्मार्थं अनशितमभुक्तं भवतीत्याहु· वेदा इति हि यत्तदिदं युष्माकञ्च सिद्धम्, तस्मात्तेनैव व्रतपारणां करिष्ये इत्यन्वय· ॥४०॥

**इत्यपः प्राश्य राजर्षिश्चिन्तयन्मनसाऽच्युतम् ।**
**प्रत्याचष्ट[2] कुरुश्रेष्ठ द्विजागमनमेव सः ॥४१॥**

**दुर्वासा यमुनाकूलात्[3]कृत्वावश्यकमागतः[4]।**
**राज्ञाभिनन्दितस्तस्य बुबुधे चेष्टितं धिया ॥४२॥**

**मन्युना प्रचलद्गात्रो भ्रुकुटीकुटिलाननः।**
**बुभुक्षितश्च सुतरां कृताञ्जलिमभाषत ॥४३॥**

1 AB omit शेष 2 ABGJ "त्य" 3 ABGJMMaT कृता" 4 ABGJMMaT "का आ"

[1] [-1]
दुर्वासा उवाच

अहो अस्य नृशंसस्य श्रिया मत्तस्य पश्यत।
धर्मव्यतिक्रमं विष्णोरभक्तस्येशमानिनः ॥४४॥

[3]
यो मामतिथिमायातमातिथ्येन निमन्त्र्य च ।
अदत्वा भुक्तवांस्तस्य सद्यस्ते दर्शये फलम् ॥४५॥

श्रीशुक उवाच

[4]
एवं ब्रुवाण उत्कृत्य जटां रोषविदीपिताम्।
तया स निर्ममे तस्मै कृत्यां कालानलोपमाम् ॥४६॥

[6]
तामापतन्तीं ज्वलतीमसिहस्तां पदा भुवम्।
वेपयन्तीं समुद्वीक्ष्य न चचाल पदा नृपः ॥४७॥

[7]
[8] [9]
प्रदिष्टं भृत्यरक्षायां पुरुषेण महात्मना।
ददाह कृत्यां तां चक्रं क्रुद्धाहिमिव पावकः ॥४८॥

**श्रीध° इतीति**। [10] प्रत्याचष्ट प्रत्यैक्षत ॥४१, ४२॥

**मन्युनेति** । प्रचलत्कम्पमानं गात्रं यस्य। भ्रकुटीभ्यां कुटिलमाननं यस्य। ४३-४७॥

**प्रदिष्टमिति**। क्रुद्धमहिं, पावको दावाग्निरिव ॥४८॥

**वीर०** इतीत्थं विनिश्चित्येति शेष । सराजर्षिरम्बरीषोऽच्युतं मनसा चिन्तयन् धर्मस्य सुसूक्ष्मत्वात् तदज्ञाननिमित्त बाधकपरिहाराय अच्युतं चिन्तयन्निति भाव·। अप प्राश्य हे कुरुश्रेष्ठ द्विजस्य दुर्वाससः आगमनमेव प्रत्याचष्ट प्रत्यैक्षत ॥४१॥

ततः कृतमावश्यकं माध्याह्निकं येन सः दुर्वासाः यमुनाया कुलात्तीरादागतः राज्ञा अम्बरीषेण अभिनन्दितोऽपि ऋषित्वात् धिया सूक्ष्मया हष्ट्या तस्य राज्ञश्चेष्टितं अशनरूपं बुबुधे विज्ञातवान् ॥४२॥

---

1 ABGJMMaT omit 2 ABJMMaT श्रीयोन्म° 3 MMaT °ष्ट° 4 HV °यान्त° 5- -5 ABGJMMaT omit 6 ABGJMMaT °त 7 ABGJT omit °दाभृ° 8 ABGJT प्राग्दिष्ट , MMa °आदिष्ट 9 MMa भक्त 10. AJ प्रत्य

ततो मन्युना हेतुना प्रचलत् गात्रं शरीरं यस्य भ्रुकुटिभ्यां कुटिलमाननं यस्य सः, सुतरां भृशं बुभुक्षितश्चेति क्रोधातिशय द्योतनार्थमुक्तम्। कृताञ्जलिं बद्धञ्जिलं अम्बरीषं प्रत्यभाषत ॥४३॥

अहो जना·! अस्य क्षत्रबन्धो धर्मव्यतिक्रमं पश्यत। कथम्भूतस्य? क्रूरस्वभावस्य श्रिया सम्पदा गर्वितस्य विष्णो रभक्तस्याऽपि तस्येष्टं भक्तमात्मानं मन्यमानस्य ॥४४॥

कोऽसौ धर्मव्यतिक्रम·? इत्यत्राह- य इति। योऽयं क्षत्रबन्धुरागतं ममातिथ्येन आतिथ्यार्थम्। अध्ययनेन वसतीतिवत् तृतीया। निमन्त्र्य अतिथये मह्यमदत्वैव भुक्तवान् अयमेव धर्मव्यतिक्रम । अतस्तस्य धर्मव्यतिक्रमस्य फलं सत्यं तव दर्शये दर्शयामि ॥४५॥

इत्येवं ब्रुवाण· रोषेण विदीपितां प्रज्वलितां जटामुक्तृत्य उच्छिद्य उद्धाट्येत्यर्थ·। स दुर्वासास्तया जटया तस्मै अम्बरीषाय तं हन्तुमित्यर्थ·। कालाग्नितुल्यां कृत्यां निर्ममे मारिकां शक्तिं निर्मितवानित्यर्थ· ॥४६॥

ततोऽ सि· खड्गे हस्ते यस्या , पदा भुवं वेपयन्तीं कम्पयमानांऽ तामभिमुखमागच्छन्तीं ज्वलितां दीप्तां सम्यगुद्वीक्ष्य नृपोऽम्बरीष किञ्चिदपि न चचाल ॥४७॥

तदा भृत्यरक्षायां, निमित्ते सप्तमी। भृत्यस्याम्बरीषस्य रक्षार्थमित्यर्थ । महात्मना "प्रणतरक्षायां विलम्बमसहन्निव सदा पञ्चायुधीं बिभ्रत्" (पराशरमा) इत्युक्तविधेन महात्मना परमपुरुषेण चक्रं सुदर्शनं प्रदिष्टमाज्ञापितं सत् आगत्य तां कृत्यां ददाह। तथा क्रुद्धमहिं सर्पं पावको दवाग्निस्तद्वत्। तथा दवाग्नेरुपरि अहे क्रोधो निष्फलस्तया कृत्या निष्फला बभूवेति दृष्टान्ताभिप्रेतार्थ· ॥४८॥

**विज०** तत· किङ्कृतमिति तत्राऽाह - **इतीति**। प्रत्याचष्ट प्रत्यैक्षत ॥४१, ४२॥

भ्रुकुट्या कुटिलं वक्रमाननं यस्य स तथा ॥४३॥

विष्णो रिष्टमानिन ॥४४॥

अदत्त्वा, अन्नमिति शेष· ॥४५॥

जटामुत्कृत्य स्वशिरसीति शेष । तस्मै अम्बरीषाय ॥४६॥

वेपयन्तीं कम्पयन्तीम् ॥४७, ४८॥

---

1 TW omit इति

तदभिद्रवदुद्वीक्ष्य स्वप्रयासञ्च निष्फलम् ।
दुर्वासा दुद्रुवे भीतो दिक्षु प्राणपरीप्सया ॥४९॥

तमन्वधावद्भगवन्नथाङ्गं[1]दवाग्निरुद्धूतशिखो[2] यथाऽहिम्।
[3]तथानुषक्तं मुनिरीक्षमाणो गुहां विविक्षुः प्रससार मेरोः ॥५०॥

दिशो नभःक्ष्मां[4] विवरान्समुद्रान् लोकान्सपालांस्त्रिदिवं गतस्सः।
यतो यतो धावति तत्र तत्र सुदर्शनं दुष्प्रसहं ददर्श ॥५१॥

अलब्धनाथस्स यदा कुतश्चित्[5] सन्त्रस्तचित्तोऽरणमेषमाणः।
देवं विरिञ्चं समगाद्विधातस्त्राह्यात्मयोने ऽजिततेजसो माम् ॥५२॥

ब्रह्मोवाच

स्थानं मदीयं[6] द्विज विश्वमेतत् क्रीडावसाने द्विपरार्धसंज्ञे।
भ्रूभङ्गमात्रेण[7] च सन्दिधक्षोः कालात्मनो यस्य तिरोभविष्यति[8-8] ॥५३॥

अहं भवो दक्षभृगुप्रधानाः प्रजेशभूतेशसुरेशमुख्याः।
सर्वे वयं यन्नियमं प्रपन्ना मूर्ध्न्यर्पितं लोकहितं वहामः ॥५४॥

प्रात्याख्यातो विरिञ्चेन विष्णुचक्रोपतापितः।
दुर्वासाश्शरणं यातश्शर्वं कैलासवासिनम् ॥५५॥

श्रीशङ्कर[9] उवाच

वयं न तात प्रभवाम भूम्नि[10] यस्मिन् परेऽन्येऽप्यजजीवकोशाः।
भवन्ति काले न भवन्ति हीदृशाः सहस्रशो यत्र वयं भ्रमामः ॥५६॥

**श्रीध० तदिति**। निष्फलमुद्वीक्ष्य ॥४९॥

**तमिति**। अनुषक्तं पृष्टतः संसक्तम्॥ मेरोर्गुहां विविक्षुरधावत् ॥५०, ५१॥

---

1 ABGJMMaT दा° 2 H V रुद्धूत 3 W °तदा 4 W क्ष्माविव° 5 ABGJMMaT स त्रस्त 6 ABGJMMaT सहवि° 7 ABGJ MMaT हि 8- -8 MMa °न पश्यति को भविष्यत्। 9 ABGJT श्रीरूद्र° 10 MMa भूम्नो

**अलब्धेति**। अरणमेषमाण शरणमिच्छत्। अजिततेजसो हरेश्चक्रात् ॥५२॥

**स्थानमिति**। एतत्सर्वं यस्य भ्रूभङ्गमात्रेण तिरोभविष्यति। कदा? क्रीडाया अवसाने। तदपि कदा? द्विपरार्धसंज्ञे काले ॥५३॥

**अहमिति**। अतो वयं सर्वे यस्य नियममाज्ञां प्रपन्ना· प्राप्तास्सन्तो लोकहितं यथा भवत्येवं तन्नियमं मूर्ध्न्यर्पितं वहाम । अतस्तद्भक्तद्रोहिणं त्वां रक्षितुं न समर्थोऽहमिति शेषः, यत्तदो र्नित्यसम्बन्धात् ॥५४, ५५॥

श्रीरुद्रोऽपि प्रत्याचष्टे वयमिति चतुर्भि·। भूम्नि महति। महत्त्वमेवाह - **यस्मिन्** परे[1] परमेश्वरे अजा ब्रह्माण. त एव जीवास्तेषां कोशा उपाधिभूता ब्रह्माण्डविग्रहा ईदृशा दृश्यमानब्रह्माण्डप्रमाणा अन्येऽपि भवन्ति नश्यन्ति च, यत्र येषु ब्रह्माण्डेषु लोकेशाभिमानिनो वयं भ्रमाम· ॥५६॥

**वीर०** ततोऽभिमुखं द्रवत् गच्छत् हरेश्चक्रं निष्फलं स्वप्रयासश्च समुद्वीक्ष्य दुर्वासा भीत· प्राणपरीप्सया प्राणान्प्राप्तु मिच्छया जीवनेच्छयेति भाव दिक्षु दुद्रुवे पलायितवान् ॥४९॥

तं धावन्तं दुर्वाससं भगवतो रथाङ्गं चक्रमन्वधावत् पृष्ठतोऽनुसृत्य दुद्राव[2] तथा उद्धूता ऊर्ध्वं वेपमानाश्शिखा यस्य सः दावाग्नि· अहिमनुधावति तद्वत्, तदा अनुषक्तं पृष्ठतस्संसकं चक्रमीक्षमणो मुनि दुर्वासा मेरो पर्वतस्य गुहां विविक्षु· प्रवेष्टु मिच्छु प्रससार प्रदुद्राव ॥५०॥

तदा दिशो नभोन्तरिक्षं क्ष्माविकरान् अतलादिलोकान् समुद्रान् लोकपालैस्सहितान् लोकांश्च ससारेत्यनुषङ्ग । तत स्त्रिदिवं गत. प्रदुदाव । एव यत्र यत्र मेरुगुहादिष्वधावन्मुनिर्दुर्वासा· तत्र तत्र दुष्प्रसहं दु खेनापि सोढुमशक्यं सुदर्शनं ददर्श ॥५१॥

ततस्स दुर्वासा यदा कुतश्चित् कुत्रचिदपि अलब्धो नाथो रक्षिता येन स· तदा सन्त्रस्तं भीतं चित्तं यस्य स· अरणं शरणं रक्षकमेषमाण इच्छु देवं विरिञ्च कमलासनं समगात्। तत्र गत्वा हे विधात , हे आत्मयोने। अजितस्य भगवत· तेजस श्चक्ररूपान्मां त्राहि पालय, इति विज्ञापयामासेति शेष· ॥५२॥

तदाकर्ण्य मदन्तरात्मभूतभगवत्प्रसादलब्धसृष्ट्याद्यधिकारपारमेष्ठ्य स्थान· तन्नियोज्योऽहं, तच्चक्रादनतिक्रमणीयात् पातुमसमर्थ इत्याह - **ब्रह्मस्थान** मिति। हे द्विज, एतन्मदीयं स्थानमिदं जगच्च, स्थानस्य जगदन्तर्भूतत्वेऽपि तन्नित्यत्वबुद्धि

---

1 ABJ omit परे 2 A B दुद्रुवे

निरासाय पृथगुक्तिः। यद्यपि तदनित्यत्वोक्त्यैव तदधिपसृष्टविश्वस्यापि भगवता संहार्यत्वं प्रतीयते इति विश्वस्य पृथक्संहार्यत्वं न वक्तव्यम्। तथाऽपि तथा विश्वं तत्संहार्यं तथैतन्मदीयं स्थानमपीति दृष्टान्तार्थमुक्तम्। तदेतत्सर्वं सन्दिधक्षोः सन्दग्धुमिच्छोः सञ्जिहीर्षोः यस्य कालशरीरकस्य भगवतो भ्रूविक्षेपमात्रेण तिरोभविष्यति लयमेष्यति। तस्य तेजसस्त्रातुमहं न प्रभुरिति शेषः। यद्वा तमेव शरणं व्रजेति शेषः। एवमुत्तरत्राऽपि। कदा सन्दिधक्षोः क्रीडावसाने जगद्व्यापाररूपक्रीडाया अवसाने, तदपि कदा द्विपरार्धसंज्ञे द्विपरार्धाख्यपरिमाणपरिच्छिन्नकालावसाने इत्यर्थः ॥५३॥

न केवलमहमेव त्वां त्रातुं प्रभुः, अपितु रुद्रादयोऽपीत्याह - अहमिति। यथाहं न प्रभुस्तथा भवादय इति दृष्टान्तार्थं पुनरहमित्युक्तम्। भवो रुद्रः दक्षभृगुप्रधानाः[1] दक्षभृगू प्रधानौ मुख्यौ येषां ते तान् विशिंषन्बहुव्रीह्यर्थभूतान्यपदार्थानाह - प्रजेशेति। प्रजेशाः सुरेशाः सुरपतय इन्द्राद्या एते मुख्या येषां ते। अत्रापि तन्नियोज्या अन्येऽप्यन्यपदार्थतया विवक्षिताः। यद्वा, दक्षभृगुप्रधाना इति तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिणा दक्षभृगुसन्तानजा अन्यपदार्थत्वेन ग्राह्य·। प्रजेशशब्देनेतरेषां सप्तानां मरीच्यदीनां सङ्ग्रहः। भूतेशशब्देन रुद्रप्रभवानां सुरेश इन्द्र एते मुख्या येषां ते, तत्सन्तानप्रभवास्तन्नियोज्याश्चेत्यर्थ·। एते सर्वे वयं त्वां त्रातुं न प्रभव इत्यत्रापि शेषः तत्र हेतु माह - यस्य भगवतो नियममशेषनियमनं प्रपन्ना· प्राप्तास्सन्तो लोकहितं यथा भवत्येवं मूर्ध्न्यर्पितं तन्नियममाज्ञां वहामः कुर्मः। ५४॥

एवं विरिञ्चेन प्रत्याख्यातो भगवच्चक्रेणोपतापितश्च दुर्वासा· कैलासगिरिवासिनं शर्वं शरणं गत शर्वं त्वमविता भवेति प्रार्थितवानित्यर्थः ५५॥

एवं प्रार्थितश्शर्वस्ततो हरेश्चक्रात्त्रातुमसामर्थ्यं[2] वक्तुं चतुर्मुखप्रभृतीनां भगवन्महिमार्णवविप्रुट्त्वं तत्सृज्यत्वं तत्संहार्यत्वं तन्मायामोहितत्वेन तश्चिकीर्षितानभिज्ञत्वञ्चाह - वयमिति। हे तात! वयं न प्रभवाम भगवतश्चक्रात्त्रातुम्[3] इति शेषः। हि यस्मात् वरेण्ये अस्माभिरपि वरणीये यस्मिन् भगवित यस्मिन् ब्रह्माण्डे वयं लोकेशाभिमानिनो भ्रमाम·। "क्षुद्रा रुद्रपितामहप्रभृतयः कीटास्समस्तास्सुरा·" इत्युक्तरीत्या कीटवत् भ्रमाम·। ईदृशा एतद्ब्रह्मण्डसदृशा अजा ब्रह्माण· त एव जीवाः तेषां कोशाः ब्रह्माण्डरूपास्सहस्रशः काले "बहु स्याम्" (तैति. उ 2-6)इत्युक्तविधसिसृक्षाकाले भवन्ति उत्पद्यन्ते, पुन· सञ्जिहीर्षाकाले न भवन्ति तस्मिन् लयं यान्ति ॥५६॥

विज० कृत्यां दग्ध्वा आत्मानमभिद्रवत्तच्यक्रं स्वप्रयासं स्वप्रयत्नं प्राणपरीप्सया स्वजीवनरक्षणेच्छया ॥४९॥

तं दुर्वाससं, विविक्षुः प्रवेष्टुमिच्छु· ॥५०॥

1 TW omit दक्षभृगुप्रधाना 2 AB हरि च· 3 TW ·वच्च·

चक्रानुयातो दुर्वासा एतानि स्थानानि बभ्रामेत्याह - **दिश** इत्यादिना ॥ ५१ ॥

अलब्धो नाथो पालनसमर्थो येन स तथा अरणं शरणम् एषमाणः अन्वेषमाण अजिततेजसः हरेस्तेजोरूपाच्चक्रात् त्राहि रक्ष ॥५२॥

ब्रह्मणा किमवादीति तत्राह- **स्थान**मिति। द्विपरार्धसंज्ञे ममायु·पूर्तिलक्षणे हरिक्रीडावसाने आसन्नप्रलय इति यावत्। सह विश्वं चराचरलक्षणप्रपञ्चेन सहितमेतन्मदीयं स्थानं भ्रूभङ्गमात्रेण सन्दिधक्षोः सन्दग्धुमिच्छोः कालात्मनः कालरूपस्य हरे र्यद्भविष्यत्कर्म कोवा पुरुषस्तत्पश्यति? अपरोक्षी स्वीकर्तुं समर्थो न कोपीत्यन्वय·। त्वामुपलक्षीकृत्य मदादिकं सर्वं संहरिष्यतीति ज्ञातुं न शक्यत इति भाव । ५३॥

अतो मदादीनां तदनुमतमेवाऽनुकर्तुं प्रयतनं नत्वन्यदित्याशयेनाऽह - **अह** मिति। यन्नियमं यस्याऽज्ञालक्षणं प्रेरणं तस्येति पूर्वेणान्वय । अर्पितं, तेनैवेति शेष ॥५४॥

यद्यप्यनेन शङ्करोऽपि प्रत्याख्यातस्तथाऽपि मन्दजनशङ्कानिरासाय दुर्वासस· शङ्करशरणप्राप्तिमाह - **प्रत्याख्यात** इति। "सर्वशर्वशिव स्थाणु , शर्व संरोधनाद्धरि " (भारत. 13-135-17) इत्यतो विष्णुशङ्कानिरासायाह - कैलासेति ॥५५॥

शङ्करोऽपि स्वशक्तिमेव वक्तीत्याह - **वय** इति। हे तात, वयं न प्रभवाम त्वां रक्षितुं न समर्था· स्याम आद्यन्तवत्त्वा दित्याह भूम्न इति ईदृशा मादृशा भूम्न· पूर्णानन्दाद्धरे सृष्टिकाले भवन्ति, सँहारकाले न भवन्ति हि यस्मात्तस्मात् यदा चेतनस्य भगवदधीनत्वं स्पष्ट तदा किं वक्तव्यमचेतनस्य? इत्याशयेनाह - यस्मिन्निति। यत्र येषु अजजीवकोशेषु वयं भ्रमाम ते अन्ये अचेतना अपि सहस्रशो जीवकोशा । अजो ब्रह्मा स एव जीव· तस्य कोशा· शरीरस्थानीयाः ब्रह्माण्डकोटयो यस्मिन्परे सन्ति स ईशान त्वदापद परिहर्ता स्यात्, न वयमिति वाक्यशेष ॥५६॥

**अहं सनत्कुमारश्च नारदो भगवानजः।**
**कपिलोऽपान्तरतमो देवलो धर्म आसुरिः ॥५७॥**

**मरीचिप्रमुखाश्चाऽन्ये सिद्धेशाः पर[1]दर्शिनः**
**विदाम न वयं सर्वे यन्मायां माययाऽऽवृ[2]ताः ॥५८॥**

---

1 ABGJT दर्शना 2 °यावृता in veera raghava commentary

तस्य विश्वेश्वरस्येदं शस्त्रं दुर्विषहं हि नः।
तमेव शरणं याहि हरिस्ते शं विधास्यति ॥५९॥

ततो निराशो दुर्वासाः पदं भगवतो ययौ।
विकुण्ठाख्यं यदध्यास्ते श्रीनिवासः श्रिया सह ॥६०॥

स दह्यमानोऽजितशस्त्रवह्निना[2] तत्पादमूले पतितस्सवेपथुः।
आहाऽच्युतानन्त सदीप्सित प्रभो कृतागसं[3] मामव विश्वभावन ॥६१॥

अजानता ते महिमानुभावं[4] कृतं मयाऽघं भवतः प्रियाणाम्।
विधेहि तस्यापा चितिं विधातर्मुच्येत यन्नाम्न्युदिते नारकोऽपि ॥६२॥

श्रीभगवानुवाच

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥६३॥

नाऽहमात्मानमाशासे मद्भक्तैस्साधुभिर्विना।
श्रियञ्चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा ॥६४॥

**श्रीधर०** ननु सर्वज्ञस्य तव भ्रम· कुत·? तत्राह- **अहमिति** ॥६७॥

**मरीचीति**। परदर्शनाः सर्वज्ञा अपि यस्य मायां न विद्म. ॥५८-६०)

**स इति**। हे सतामीप्सित' मा मां अव पाहि ॥६१॥

अपराधं निवेदयन्प्रार्थयते - **अजानतेति**। अघं दुःखम्। अपचितिं [1]निष्कृतिम्। मद्भक्तद्रोहे निष्कृतिं न पश्यामीति चेत्तत्राह- यस्या तव नाम्नि कीर्तिते नरकस्थोऽपि मुच्यते तस्य तव किमशक्यमिति भावः॥ ६२,६३॥

**नेति**। न आशासे न स्पृहयामि ॥६४॥

**वीर०** अहं शर्व· अस्मदादयः सर्वे तथान्ये पारदर्शिनः सर्वज्ञाः सिद्धेशश्च यस्य भगवतो मायां सङ्कल्पं चिकीर्षितमिति यावत् न विदामः न जानीमः तत्र हेतुः, मायया वृताः ॥५८॥

---

1 ABGJTW वै° 2 ABGJMMaT सन्द° 3 ABGJT omit माऽऽव 4 ABGJMMaT परमा° 5 याऽऽवृका auording to text

तस्यैवंविधमहिमशालिनो विश्वेश्वरस्य भगवत इदं शस्त्रंऽनोस्माकमपि दुर्विषहं वयं तत्सोढुमेव न प्रभव· कुतस्तनिग्रह इति भाव.। अतस्तमेव अचिन्त्यविविधविचित्रानन्तमहिमशालिनं शरणागतरक्षादीक्षितं भगवन्तं शारणं याहि। स हरिः शरणागतार्तिहरो भगवांस्ते श सुखं विधास्यति करिष्यति ॥५९॥

इत्युक्तो दुर्वासा निराशस्सन् तत· कैलासाद्भगवतो वैकुण्ठाख्यं पदमण्डान्तर्गतं श्रीविष्णुलोकं ययौ। पदं विशिनाष्टि यत्पदं स्थानं श्रिया लक्ष्म्या सह श्रीनिवास अध्यास्ते। श्रीनिवास इत्यनेन भगवतो लक्ष्म्यनपायित्वमुक्तम् । श्रिया सह अध्यास्त इत्यनेन पुरुषकारभूतया लक्ष्म्या सह तस्मिन् लोकेऽवस्थानमुक्तम्। यद्यपि श्रीनिवासोऽध्यास्त इत्येतावतैवाऽलं श्रीशब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य पुरुषकारत्वस्य निवासशब्दाभिप्रेतस्य तदनपायित्वस्य च लाभात्। तथाऽपि श्रीनिवास इत्येतावत्युक्ते रामकृष्णाद्यवतारेषु वैदह्यादिविवाहात्प्राक् अमूर्तिमत्या, इतरैरलक्ष्यमाणया वा लक्ष्म्या सहावस्थानेन अनपायित्ववदत्रापि तदुपपत्तेस्तत्र साक्षात्परिदृश्यमानपुरुषकार सान्निध्याभावशङ्कानिमित्तशरणवरण दुश्शकत्वशङ्कापनोदनार्थं श्रिया सहाऽध्यास्त इत्युक्तम्। ताव त्युक्तेकादाचित्कसाहित्यशङ्कानिमित्तशरणवरणसमयासान्निध्यशङ्कानिमित्ततदुश्शकत्वशङ्का स्यादिति तदपनोदनाय श्रीनिवास इत्युक्तम ॥६०॥

एव शर्वेणाऽभिहितोऽजितस्य भगवतश्शस्त्रवह्निना चक्रज्वालया सन्दह्यमानो दुर्वासास्तत्र गत्वाऽजितस्य पादयो र्मूले पतत भयात्प्रचिलद्गात्र आह - किम् ? अच्युत! आश्रितान् न च्यावयतीति तथाभूत! हे हे अनन्त! अपार महिमशालिन्! सदीप्सित! सतां भक्तानां निरतिशयेष्ट! हे प्रभो! आश्रितार्तिहरणसमर्थ! हे विश्वभावन ! विश्वं शरणागतवर्गम् अपराधानवेक्षन भावयति सुखयतीति तथाभूत यद्वा विश्वं चिदचिदात्मकं भावयति उत्पादयति, जगत्कारणभूतेत्यर्थ·। इत्येवं समाश्रयणीयत्वोपयुक्तगुणविशिष्टत्वेन सम्बोध्य स्वकार्पण्यं निवेदयन् स्वरक्षां प्रार्थयते। कृतमागोऽपराध एव न तु रक्षणोपयुक्त गुणलेशो येन तं मामेवंविधार्तियुक्तम् अव रक्ष। 'अव रक्षणे' इति धातो·, "लोट् च"इति प्रार्थनायां लोट् ॥६१॥

कृतागसमित्युक्तं, किं तत्त्वया कृतमाग·? इत्यपेक्षायां तद्विज्ञापयन्नेवंविधं कृतागसमपि मां त्रातुं समर्थस्त्वमिति सूचयितुं तन्नाम्न प्रभावमाह - **अजानतेति**। ते तव परमं निरतिशयमनुभावं प्रभावमजानता मया भवत प्रियाणामघं कृतं, त्वद्भक्तविषये अपराध कृत इत्यर्थ । हे विधात तस्य अघस्य अपचितिं[1] निष्कृतिं विधेहि कुरु, अपराधं सोढ्वा पाहीत्यर्थ·। युक्तश्च तवैतत् यतो यस्य तव नाम्न्यपि उदिते उच्चरितमात्रेऽपि नारकोऽपि मुच्येत नरकप्राप्तिनिमित्तानां पापानां श्रुतिस्मृत्याद्यात्मक त्वदाज्ञातिलङ्घनरूपत्वेन त्वदपराधरूपत्वात् तत्कर्तुर्विमोचने त्वन्नामोच्चारणमेव समर्थं दृष्टम्। अतः साक्षात्तव सामर्थ्यं कैमुतिकन्यायसिद्धमिति भाव ॥६२॥

---

1 H V omit निष्कृतिं

एवं प्राणरक्षायै शरणकृतं द्विजमवलोक्याह भगवान् - अहमित्यादिना यावदध्यायसमाप्ति। तत्र मुक्तं "मुच्येत यन्नाम्न्युदितेऽपि नारकः" इति। इदन्तु दुरुक्तं भवतः प्रियाणामघं मयः कृतम् अतस्तस्यापचितिं विधेहीति साक्षान्मद्विषया पराधस्य केनचिदानुकूल्येन मया सोढव्यत्वेऽपि मद्भक्तविषयापराधो मया सोढः क्वचिद्विद्वन्मन्येन "एव मुक्तिफलानियमस्तदवस्था विधृतेस्तदवस्थावधृतेः" ब्र सू. (3-4-52) इत्यधिकरणन्यायानाभिज्ञेन दृष्टः श्रुतो वोति अभिप्रयन् भक्तविषये स्वस्य पारतन्त्र्यं पारतन्त्र्यहेतून् तन्निमित्तं तद्विषयापराधासह्यत्वञ्चाह- उपायमित्यत प्राक्तनेन ग्रन्थेन। हे द्विज, अस्वतन्त्र इव राजभृत्य इव अहं भक्तपराधीन मद्भक्तपरतन्त्रोऽह मित्यर्थः। ननु राजभृत्यादे कर्मवश्यत्वात्, जीवत्वात्, हेयार्हत्वात् तन्निमित्तं कादाचित्कं स्वस्वामिराजादपारतन्त्र्यं युक्तं तव तु निरस्तनिखिलदोषस्य समस्तकल्याणगुणाकरस्य अनन्याधिपते स्वभृत्यपारतन्त्र्यं हेयतरमनुचितमिति आशङ्काया परिहारं समाश्रितवात्सात्ल्यविवशस्य भक्तपारतन्त्र्यं न हेयत्वावहम्, अपि तु कल्याणगुण एव, समाश्रयणीयत्वोपयुक्त निरतिशयवात्सल्यगुणप्रपञ्चरूपत्वादित्यभिप्रयन् तावद्भक्तपारतन्त्र्यहेतून् वक्तुमात्मानं भक्तांश्च विशिनष्टि - साधुभि रिति। साध्नुवन्ति सर्वे करणै मह्यमुपकुर्वन्तीति साधवस्तैर्भक्त र्ग्रस्तं स्ववशीकृतं हदय मनो यस्य सोऽहं लोके ह्यात्मचित्तवृत्यनुसारित्वात्पुरुषस्य मच्चित्तस्य च साधुभिर्वशीकृतत्वात् साधुचित्तवृत्त्यनुव्याप्रियमाणात्म-चित्तवृत्त्यनुसारितद्विषयव्यापरवानहमित्यभिप्रायः। ननु, नहि लोकेऽन्यचित्तवृत्त्यनुसारिस्वचित्तवृत्तिः पुमान् कश्चिद्दृष्ट इत्याशङ्कायां निरतिशयप्रीतिविषयस्स श्रीपतिस्तथैव लोके दृष्ट इति वक्ष्यमाणदृष्टन्तमभिप्रेत्य स्वभक्तयोर्मिथो निरतिशयप्रीतिविषयत्वं वदन्नात्मानं विशिनष्टि - भक्तजनप्रिय इति। अत्र तन्त्रेण बहुव्रीहिषष्ठीतत्पुरुषौ द्वावपि विवक्षितौ। भक्तजना प्रिया यस्य, भक्तजनस्य प्रियश्चेति च। तत्राद्य भक्तजनस्य निरतिशयस्वप्रीति-विषयत्वमुक्तम्, द्वितीयेन स्वस्य निरतिशयभक्तजनप्रितिविषयत्वं निरतिश्यप्रीतिविषयत्वा- द्भक्तजनस्य तदधीनं मद्धृदयं जातमिति भाव ॥६३॥

किञ्च लोक स्वचित्तं निरतिशयप्रियवस्त्वधीनं कुर्वन् न तूष्णीमास्ते, किन्तु तद्विश्लेषं देहतदनुबन्ध्यादिपरित्यागेनापि परिहरन् दृष्ट तथाऽहमपीत्याह - नेति। हे ब्रह्मन्! अहं भक्तजनप्रियोऽहं साधुभिर्मद्भक्तैर्विना आत्मानमिमं चतुर्भुजादिविशिष्टं दिव्यविग्रहमात्यन्तिकीं श्रियं निरतिशयां विभूतिं, यद्वा आत्यन्तिकीमत्यन्तमाश्रिता मनन्यार्हशेषभूतां लक्ष्मीश्च नाऽशासे न स्पृहयामि। यद्यपि लोके प्रियतमवस्तुविश्लेषनिमित्तदेहतदनुबन्ध्यादि त्यागः क्वचिद्दृष्टचरः, परमात्मनि तु भक्तजनविश्लेष तन्निमित्त शरीरादित्यागश्च न दृष्ट , तथाऽपि सम्भावनामात्राभिप्रायेण भगवतैवमुक्तमिति द्रष्टव्यम्। तथा चोक्तं भगवता दाशरथिना - "अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम् । ननु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणोभ्यो विशेषत "(रामा 3-10-18) इति, "मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन" (रामा 6-18-3 )इति च। यद्यपि लक्ष्म्या अपि भक्तवत्प्रीतिविषयत्वात् श्रियमपि नाशासे इत्युक्ति रयुक्ता, तथाऽपि लक्ष्म्यपेक्षयाऽपि भक्तानां स्वनिरतिशयप्रीतिविषयत्वमभिप्रेत्य भगवतैवमुक्तमिति अवगन्तव्यम्। साधूनामत्यर्थप्रियत्वहेतुं वदन् तान्विशिनष्टि - येषां साधूनामहमहमेव अब्भक्ष इतिवत् सावधारणपरा उत्कृष्टा गतिः उज्जीवनोपाय ।

उज्जीवनोपायो हि प्रियतमः अतो निरतिशयप्रियोज्जीवनोपायत्वेन मामाऽऽश्रितत्वा - त्तेऽपि ममनिरातिशयप्रिया इति युक्तमेवैतदिति भावः ॥६४॥

**विज०** अन्यतोऽप्यवनाशां निवारयति - अहमिति। अहं सनत्कुमारादयः इति सर्वे वयं यस्य हरेर्मायामिच्छां किंविषयामिति न विदाम इत्यन्वयः ॥५७, ५८॥

दुर्विषहं सोढुमशक्यम्, तर्ह्यहं किं करोमि इति तत्राह तमेवेति ॥५९, ६०॥

अव रक्ष; विश्वभावन सर्ववशीकरणसमर्थ! ॥६१॥

तस्याघस्याऽपचितिं प्रायश्चित्तम् अघपरिहारसामर्थ्यं तवैवेत्याह मुच्येतेति। नारको नरकस्थो यन्नाम्न्युदिते अघान्मुच्येतेत्यन्वयः ॥६२॥

आत्मरक्षार्थं दुर्वाससा प्रार्थितो भगवान् लोकसङ्ग्रहार्थमात्ममायां प्रकटयति - अहमिति। अतोऽ स्वतन्त्र इव, नत्वस्वतन्त्रः स्वतन्त्रस्यास्वातन्त्र्यवचनं कथं सङ्गच्छते? इति तत्राऽऽह साधुभिरिति ॥६३॥

ग्रस्तहृदयत्वं नाम किमित्यतस्तद्विवृणोति - नाऽहमिति। साधुभिर्मद्भक्तैर्विनाऽहमात्मनं स्वरूपं नाशासे नेच्छामि। तदप्रिये प्राप्ते मज्जीवनेन किं प्रयोजनमितिकृत्वेति शेषः। यदा स्वात्मानमपि न्नाशासे तदाऽनन्यशरणां श्रियं नाशास इति किं वक्तव्यमित्याह - श्रियश्चेति। भक्ताश्चापीदृशा इत्याह - येषामिति ॥६४॥

ये दारागारपुत्रा[1]प्तान् प्राणान् वित्त[2]मिमं परम् ।
हित्वा मां शरणं याताः कथंतांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥६५॥

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः सम[3]दर्शिनः।
[4]वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या यत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥६६॥

मत्सेवया प्रतीतन्ते सालोक्यादिचतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम्[6] ॥६७॥

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्त्वहम्।
[7]मदन्यं ते न जानन्ति नाऽहं तेभ्यो मनागपि ॥६८॥

---

1 MMa °दीन् 2 MMa °मिद 3 ABGJT °दर्शना 4 B W वशे 5 ABGJT प्रतीतश्च , MMa प्रदिष्टश्च 6 ABGJT °द्रुतम् 7 ABGJ MMaT °दन्यत्

उपाय कथयिष्यामि तव विप्र शृणुष्व तत्[1]।
अयं ह्यात्माभिचारस्ते[2] यतस्तं[3] यातु वै भवान्।
साधुषु प्रहितं तेजः प्रहर्तुः कुरुतेऽशिवम् ॥६९॥

तपो विद्या च विप्राणां निःश्रेयसकरे उभे।
त एव दुर्विनीतस्य कल्पेते कर्तुरन्यथा ॥७०॥

ब्रह्मंस्तद्गच्छ भद्रं ते नाभागतनयं नृपम्।
क्षमापय महाभागं[4] ततश्शान्तिर्भविष्यति ॥७१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहिताया
नवमस्कन्धे चतुर्थोऽध्याय ॥४॥

**श्रीध० य** इति। इमं परञ्च लोकं हित्वा ॥६५, ६६॥

**मदिति**। प्रतीतं प्राप्तमपि ॥६७,६८॥

**उपायमिति**। आत्मनस्तवैवाऽभिचारो हिंसा यतोऽभूत्तमेव भवान्[5] यातु शरणं[6] गच्छतु[6] अशिवमनर्थम् ॥६९॥
तपोविद्यासम्पन्नस्य मम कथमनर्थः समजनीति मा स्म[7] विस्मयं कार्षीरित्याह - तप इति ॥७०, ७१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचिताया भावार्थदीपिकाया
व्यख्यायां नवमस्कन्धे चतुर्थोऽध्याय ॥४॥

**वीर०** 'येषां गतिरहं परे' ति स्वस्यैव तत्परगतित्वमुक्तं व्यञ्जयन् स्वस्य तन्निमित्तां तत्यागानर्हतामाह - **य** इति ये साधवः प्राणान् प्राणयन्ति जीवयन्ति इति प्राणास्तान् जीवनहेतून् प्राणान् तदनुबन्धिदारादींश्च हित्वा संसृतिहेतव एवैतेन तु उज्जीवनहेतव इति विमर्शिनोज्जीवनोपायताबुद्धिं परित्यज्य मां शरणमुज्जीवनोपायं गता तत्वेन अध्यवसितवन्त इत्यर्थ । अतस्तान् कथं त्यक्तुमुत्सहे शक्नोमि? न हि कृतज्ञस्य विश्वस्तत्याग उचित इति भाव । यद्यपि भक्तजनत्यागाय न दुर्वासाः शरणं गतः, अपितु स्वप्राणरक्षायै। अतस्तं प्रति 'कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे' इत्युक्तिरसङ्गता, तथाऽपि निरतिशयप्रियवस्तुविश्लेषपरिहाराय देहतदनुबन्ध्यादिपरित्यागस्य प्राक्, प्रस्तुतत्वात् देहादिपरित्यागेनाऽपि अविनाभाव्यान् साधून् कथं विनाभूय वर्तेयमित्येतदभिप्रायेण

1- -1 H V omit 2 H V अतो 3 W 'त्माप' 4 H M Ma V W भाग 5 ABJ omit भवान् 6- -6 ABJ omit 7 H V omit स्म

कथं तांस्त्यक्तुमुत्सह इत्युक्तम्। यद्वा, भक्तजनप्रतिपक्षत्वद्रक्षणे कृते आश्रितविपक्षपक्षपाती भगवानिति बुद्ध्या मां त्यजेयुर्भक्ताः। अतस्तान् सर्वभावेन भजत· कथं त्यक्तुमुत्सह इत्यभिप्रायेणोक्तम् ॥६५॥

एव मात्मानं विशिष्य, अथ भक्तान् विशिनष्टि - **मयीति**। मयि निरतिशयप्रीतिविषये निर्बद्धमनन्यविषयत्वेन स्थिरीकृतं हृदयं यैस्ते, अत एव समदर्शिन· सर्वस्य मदात्मकत्वदर्शिनः साधवः भक्त्या परस्परप्रीत्यावहया स्वयमपि प्रीतिरूपया अनन्यप्रयोजनया भक्त्या मां वशे कुर्वन्ति यथा सत्स्त्रियः पतिव्रता· सत्पतिं परदारपराङ्मुखं अनन्यार्हशेषत्ववत् स्त्रीपराङ्मुखं वा वशे कुर्वन्ति तद्वत् ॥६६॥

अनन्यप्रयोजनभक्तिनिष्ठत्वमेव व्यनक्ति - **मत्सेवयेति**। ते साधवः मत्सेवया मद्भक्ता· प्रतीतं सालोक्यमादिर्यस्य तत् चतुष्टयं चतुर्विधं सालोक्य सामीप्य सायुज्य सार्ष्टिरूपां मुक्तिमेव नेच्छन्ति कुतोऽन्यत् कालेन विप्लवो नाशो यस्य तदिन्द्राद्यैश्वर्य मिच्छेयुः। तत्र हेतु· सेवया मच्छेषतैकरसानन्दानुभवरुपया भक्त्या पूर्णाः निर्वृतान्त·करणाः ॥६७॥

किं बहुना? साधवो मह्यं मम हृदयं मद्धृदयानुवर्तिहृदयास्साधव इत्यर्थः। यथाऽहं साधूनां हृदयं साधुहृदयानुवर्ति हृदयोऽहम्। ते साधव मत् मत्त अन्यत्प्रियं वस्तु न जानन्ति, तथाऽहमपि तेभ्य· साधुभ्योऽन्यत् मनागपि ईषदपि प्रियं न जानामि। एवं परस्परहृदयानुवर्तिहृदयत्वात् परस्परप्रियत्वाच्च भक्तपारतन्त्र्यं मम युक्तमिति न तद्विषयापराधो मया सोढुं शक्य इति भाव ॥६८॥

एवं स्वभक्तविषयापराधस्य स्वेनाऽसह्यत्वं सहेतुकमुपपाद्य स्वसन्निधौ तत्कृतप्राणरक्षणार्थशरणागतैर्वैफल्यपरिहाराय उपायमाह - **उपायमिति**। हे विप्र, तव प्राणरक्षणोपायं तत्साधनं कथयिष्यामि तच्छृणु। को ऽ सै? तत्राह- ते तव अय मात्मापचार स्वयंकृतापराध स यतो यद्विषये जातस्तमेवाऽम्बरीषम्प्रति भवान्गच्छत्विति। आत्माभिचार इति पाठान्तरम्। तत्राऽन्यहिंसार्थं कृतोऽयमुद्यम आत्मन एवाऽभिचार स्वहिंसार्थं मेवाऽभूदित्यर्थ·। तथा हि लोके साधुषु मद्भक्तेषु प्रहितं प्रयुक्तं तेज· सामर्थ्यं कर्तु· प्रहर्तुरेव अशिवमनर्थं कुरुते ॥६९॥

तपोविद्यादिसम्पन्नस्य मम कथमनर्थस्समजनि? इति मा विस्मयं कार्षीरित्याह - **तप** इति। तपो विद्या च एते उभे विप्राणां विनीतानां नि·श्रेयसकरे निरतिशयपुरुषार्थसाधने दुर्विनीतस्य कर्तु· निरपराधेष्वपराधकर्तुर्विप्रस्य तु ते एव तपोविद्ये एवाऽन्यथा कल्पेते अनर्थाय भवेतामित्यर्थ ॥७०॥

तत्तस्मात् हे ब्रह्मन्! नाभागतनयमम्बरीषं प्रत्येव गच्छ, तमेव महाभागमपराधानामविज्ञातारं क्षमापय, ततः शान्तिः भद्रं तव भविष्यतीति ॥७१॥

इति श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां चतुर्थोऽध्याय· ॥४॥

**विज०** इदं भूस्थानम्, परं स्वर्गादिकम् ॥६५॥

तदत्यागे भक्त्या वशीकरणमेव कारणं नाऽन्यदित्याह - **मयीति** ॥६६॥

इदञ्चात्यागे कारणमित्याह - **मत्सेवयेति** ॥६७॥

इतोऽपि मदन्यापेक्षा येषां नाऽस्तीत्याशयेनाऽह - **साधव** इति। मह्यं मम हृदयं प्रियं, तुशब्दो हेतौ। साधवो मम हृदयं अहं साधूनां हृदयमिति यस्मात्ते मदन्यं प्रियं न जानन्ति। अहमपि तेभ्यस्साधुभ्यो ममागत्यल्पमपि प्रियमन्यन्न जानामी त्यन्वय ॥६८॥

प्रकृते किमनेनायातमिति तत्राह-**अय** मिति। आत्मना त्वया कृतोऽभिचार कृत्याप्रयोग यत यस्मै तस्मै प्रयुक्त मात्मानं कथं बाधते ? इति तत्राह- साधुष्विति। प्रहितं प्रयुक्तं क्षुद्रोपलक्षणं तेजोऽर्चि । "'तेजो बले प्रभावेऽन्ने ज्योतिष्यर्चिषि रेतसि" (वै.ज. को. 6-3-14) इत्यभिधानम्। प्रहर्तु प्रयोक्तुरपि भयं कुरुते ॥६९॥

विनयशून्यस्य तव विद्यातपसी अनर्थकरे एवाऽभूतामिति भावेनाह- **तप** इति। अन्यथा अनर्थकरे ॥७०,७१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहस्यां संहिताया
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
नवमस्कन्धे चतुर्थोऽध्याय ॥४॥

# पञ्चमोऽध्यायः

## श्रीशुक उवाच

[1]एवं भगवताऽऽदिष्टो दुर्वासाश्चक्रतापितः।
अम्बरीषमुपागम्य[2] तत्पादौ दुःखितोऽग्रहीत् ॥१॥

तस्य[3] तद्व्यसनं वीक्ष्य पादस्पर्शविलज्जितः।
[4]अस्तौषीत्तद्धरेश्चक्रं[5] कृपया पीडितो भृशम् ॥२॥

## अम्बरीष उवाच

त्वमग्निर्भगवान् सूर्यस्त्वं सोमो ज्योतिषां पतिः।
त्वमापस्त्वं क्षितिर्व्योम वायुर्मात्रोन्द्रियाणि च ॥३॥

सुदर्शन नमस्तुभ्यं सहस्राराऽच्युतप्रिय !
सर्वास्त्रघातिन् विप्राय स्वस्ति भूया[6] इडस्पते ॥४॥

त्वं धर्मस्त्वं[7] धृतिस्सत्यं[8] त्वं यज्ञोऽखिलयक्षभुक्।
त्वं लोकपा[9] लस्सर्वात्मा[10] त्वं तेजः पौरुषं परम् ॥५॥

नमस्सुनाभाखिलधर्मसेतवे[11] ह्यधर्मशीलासुरधूमकेतवे।
त्रैलोक्यगोपाय विशुद्धवर्चसे मनोजवायाऽद्भुतकर्मणे गृणे[12] ॥६॥

त्वत्तेजसा धर्ममयेन संहृतं तमः प्रकाशश्च दृशो[13] महात्मनाम्।
दुरत्ययस्ते महिमा गिरां पते त्वद्रूपमेतत्सदसत्परावरम्[14] ॥७॥

यदा विसृष्टस्त्वमनञ्जनेन वै बलं प्रविश्योर्जितदैत्यदानवम्[15]।
बाहूदरोर्वङ्घ्रिशिरोधराणि वृक्णन्नजस्रं प्रधने विराजसे ॥८॥

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पञ्चमे विष्णुचक्रं तु प्रसाद्य प्राणसङ्कटात्। दुर्वासा रक्षितस्तेन तथा[16] तद्वृत्तमीर्यते ॥

---

1 TW इत्थ 2 ABGJMMa °वृत्य 3 ABGHJV सोद्यमन 4 ABGJMMa अस्तावी° 5 ABGJMMa °रस्त्र 6 MMa °यादिड° 7 ABGJ ° मृत स° 8 W °र्मित्या 9 H V °ला 10 W °त्मन् 11 MMa अ° 12 MMa °स्तुते 13 ABGJ °धृतो 14 H V °त्परम् 15 ABGJ °ष्टोऽजित , HV °श्याऽजित 16 HV यथा

**तस्येति**। स उद्यमनमिति[1] छेदः। सुलोप· पादपूरणार्थ· ॥१,२॥

**त्वमिति**। ज्योतिषां नक्षत्राणां पतिः सोमस्त्वम्। मात्राणीन्द्रियाणि च। त्वच्छक्त्येवाऽग्न्यादय स्वं स्वं कार्यं कुर्वन्तीत्यर्थः ॥३॥

**सुदर्शन** इति। सहस्रमरा यस्य, हे सहस्रार! स्वस्ति शरणं भूयाः। इडस्पते! पृथ्वीपते! ॥४॥

ब्राह्मणरक्षणं तव युक्तमेवेत्याह - **त्वं धर्म** इति। न च तवेयं स्तुतिरित्याह[2] - पौरुषं पुरुषस्येश्वरस्य परं तेजः सामर्थ्यं त्वम्। अयं भावः - "स ऐक्षत" (बृह· उ· 1-2-5) इत्यादि श्रुतिप्रसिद्धं भगवतश्शोभनं दर्शनं सुदर्शनं[3] तत एव च सर्वं जातम्, अतस्त्वमेव सर्वात्मेति ॥५॥

**नम इति**। हे सुनाभ! अद्भुतकर्माणं त्वां क· स्तोतुं समर्थ·! अतस्तुभ्यं केवलं नमो गृणे इत्यन्वय·। अद्भुत - कर्मत्वमेवाऽऽह। अखिलानां धर्माणां सेतवे मर्यादारूपाय। अत एव अधर्मशीलानामसुराणां धूमकेतवे दाहकाय त्रैलोक्यं गोपायतीति तथा। विशुद्धमत्युज्ज्वलं वर्चस्तेजो यस्य तस्मै ॥६॥

तदेव प्रपश्यति **त्वत्तेजसेति** द्वाभ्याम्। सूर्यादीनां प्रकाशश्च त्वयैव रूप्यते प्रकाश्यत इति त्वद्रूपम् ॥७॥

हे अजित! अनञ्जनेन श्रीहरिणा यदा विसृष्टस्त्वं तदा दैत्यदानवानां बलं प्रविश्य[4] तेषां बाह्वादीन्भिन्दन्विराजसे प्रविष्ट[5] ऊर्जितेति[5]। पाठान्तरे ऊर्जिता दैत्यदानवा यस्मिन् तद्बलम् प्रविष्टस्सन्[6] इत्यर्थे[6]। पूर्वपदेन सन्धिरार्ष ॥८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थं भगवतोपदिष्टोपायश्चक्रतापितो दुर्वासा अम्बरीषमुपेत्य दु खितस्तस्याऽम्बरीषस्य पादावग्रहीत् ॥१॥

तस्य दुर्वाससस्तथाविधं व्यसनं समीक्ष्य पादस्पर्शविलज्जितोऽम्बरीष कृपया नितरां तापित तत्[7] द्विजस्य पृष्ठतोऽनुषक्तं हरेश्चक्रमस्तौषोत्तुष्टाव ॥२॥

स्तुतिमेवाऽऽह-**त्व मग्निरि**त्यादिना, स त्वमित्यत प्राक्तनेन। तावत्सुदर्शनं प्रसादयितुं सर्वतेज कारणभूतस्य सर्वात्मकस्य तव तेजसोऽयं द्विज त्वदात्मा विषयो न भवतीति सूचनाय च सर्वतेज कारणत्वेन सर्वात्मकत्वेन च स्तौति- त्वमग्निरिति। यद्यपि "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छान्दो. उ. 6-8-7) इत्यादिभि "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्" (कठ.उ.5-15) इत्यादिभिश्च ब्रह्मण एव सर्वात्मकत्वं सर्वतेजसामाच्छादकत्वं, सर्वतेज कारणत्वं सर्वतेजसामनुग्राहकत्व - मित्यादयो धर्मा श्रुता । न तु ब्रह्मनियाम्यस्य सुदर्शनस्य काऽपि श्रुता·, तथाऽपि तस्मिन् "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् (ब्र सू 1-1-31 ) इति शारीरकन्यायेन[8], "अहमेवाऽऽसमहमेव वर्तामि भविष्यामि च" "तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेव प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्चाऽहं कक्षीवानृषिरस्मि विप्र " (बृह उ 1-4-10) इत्यादौ ब्रह्मत्मकत्वेन ब्रह्मविशेष्यकत्वात् विशेषणबुद्धिशब्दादीनां

1 H V 'मिति 2 ABJ add अति 3 H V omit सुदर्शन 4 A B J प्रविष्टस्सन् 5- -5 A B J omit 6- -6 ABJ omit 7 TW omit तत् 8 TW नयेन

विशेष्यपर्यन्तस्याऽऽ कृ तिनयसिद्धत्वात् विशेष्यपर्यन्तसाक्षात्कारनिमित्ततत्तादात्म्यव्यवहारवत् ब्रह्मविशेषण भूतसुदर्शनविषयबुद्धिशब्दानां ब्रह्मपर्यन्तनिमित्ततत्तादात्म्यव्यपदेशाद्वा सौदर्शनस्य पुरुषस्य परमात्माऽभिन्नत्वाद्वा तस्य सर्वात्मकत्वदिभिर्धर्मैः प्रवृत्तेयं स्तुतिरित्यदोषः। त्वमेवाम्न्यादितेजसामनुग्राहकस्तत्कारणभूतश्चेत्यर्थः। ज्योतिषां नक्षत्राणां पतिर्यः सोमश्चन्द्रः स त्वमेवेत्यर्थः[1]। अप्पृथिव्याकाशवायुगन्धादितन्मात्रोभयेन्द्रियात्मा त्वमेवेत्यर्थः। त्वमग्निरिति तेजआत्मकत्वं पूर्वमुक्तमिति अबादिभिर्न तस्य सहपाठः ॥३॥

हे सुदर्शन! सहस्रारेत्यसाधारणनामभ्यां सम्बोधनम्, हे अच्युतप्रिय! भक्तानामिष्टमेवाऽच्युतस्येष्टं, तदिष्टमेव तवाऽपि प्रियम् अतो मदिष्टद्विजप्राणरक्षणं तवाऽपीष्टमेवेति, प्रसन्नो भवेति अच्युतप्रियेति सम्बोधनाभिप्राय·। हे सर्वारिघातिन्! न तु शरणागतघातिन्नित्यभिप्रायः। हे इडस्पते! पृथिवीपते! हे जगत्पालक! जगत्पालकस्य तव शरणागतद्विजरक्षणं युक्तमेवेति भाव । विप्राय स्वस्ति भूया· मङ्गलरूपो भव प्रसन्नो भवेत्यर्थ· ॥४॥

किञ्च सर्वधर्मरक्षकस्य तव शरणागतद्विजरक्षणं युक्तमेवेति सूचयितुं धर्मादिनिर्वाहकत्वेन तदात्मकतया स्तौति त्वं धर्म इति। धृतिर्धैर्यं नित्या धृतिस्त्वमेव यज्ञो यज्ञनिर्वाहको यज्ञाराध्यश्च त्वमेव। हे सर्वात्मन्। पौरुषं परमपुरुषसम्बन्धितेज स्त्वमेव। पौरुषं परमपुरुषसम्बन्धि यत् शत्रुसञ्जिहीर्षात्मकसङ्कल्परूपमीक्षणापरपर्यायं सामर्थ्यन्त्वमेवेत्यर्थ·। तथा चाऽभियुक्तोक्तिः - "वाणी पौराणिकीयं प्रथयति महितं प्रेक्षणं कैटभारे । शक्तिर्यस्येषुदंष्ट्रानखपरशुमुखव्यापिनी तद्विभूषाम्" इति सुदर्शनशतकम् -76) इति ॥५॥

हे सुनाभ! शोभना नाभिर्यस्य तथाभूत· ते तुभ्यं केवलं नम·, न तु त्वां स्तोतुमहं समर्थ.। अतः केवलं नमस्करोमीति भाव । कथम्भूताय ते अखिलानां धर्माणां सेतवे मर्यादापालकाय अधर्मशीला ये असुराः तेषां धूमकेतवे धूमकेतुवदनर्थहेतवे त्रैलोक्यपालकाय विशुद्धं वर्चो यस्य मनोजवाय मनस इव वेगो यस्य अद्भुतं कर्म यस्य ॥६॥

अद्भुतवर्चस्कत्वमेव प्रपञ्चयन् स्तौति - **त्वत्तेजसेति**। धर्मनिर्वाहकत्वेन तत्प्रचुरत्वात्तन्मयेन तव तेजसा महात्मनां साधूनां दृशो ज्ञानस्याऽऽवारकं तमोऽज्ञानं संहृतं निरस्तम्। प्रकाशः सूर्यादिप्रकाशश्च त्वद्रूपं, त्वयैव रूप्यते प्रकाश्यते इति त्वद्रूपं, तथा परावरं उच्चावचं चिदचिदात्मकमेतज्जगच्च त्वद्रूपं त्वच्छरीरकम्। हे गिरां पते! एवम्भूतस्य तव महिमा दुरत्यय·। यद्वा महात्मनां दृश आच्छादकं तमस्त्वत्तेजसा संहृतं तथा दृश प्रकाशः प्रसरश्च, कृत इति शेषः। सदसदात्मकं जगत् त्वच्छरीरभूत मेवेत्यर्थ[2] ॥७॥

महिम्नो दुरत्ययत्वमेव दर्शयन् स्तौति - **यदेति**। यदा वेत्यर्थः। यदा तु त्वमनञ्जनेन निरञ्जनेन अविद्यारूपाञ्जनरहितेन परमपुरुषेण विसृष्ट आदिष्टस्तदा ऊर्जितास्सञ्जातबला दैत्या दानवाश्च यस्मिंस्तत्, तद्बलं प्रविश्य अजस्रं बाह्वादीन् वृक्णन् छिन्दन् प्रधने युद्धे विशेषेण राजसे ॥८॥

1 TW 'त्यन्वय 2 TW 'त्यन्वय

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

मात्राशब्दादयः ॥१-३॥

सहस्राणि अराणि दलानि यस्य स तथा हे सहस्रार! विप्राय दुर्वाससे। इडस्पते! अन्नपते! ॥४,५॥

सुनाभ! सुदर्शन, धूमकेतुरग्निः ॥६॥

त्वत्तेजसा तमः संहृतम्। महात्मनां दृशो· प्रकाशश्च संहृत । स्तम्भित· एतत्परावरं सदसत् त्वद्रूपं त्वत्प्रतिमा ॥७॥

अनञ्जनेन निर्लेपेन ऊर्जितदैत्यदानवं बलं बाह्वादीन् वृक्णन् छिन्दन्, प्रधने युद्धे ॥८॥

**स त्वं जगन्नाण खलप्रहाणये[1] निरूपितस्सर्वसहो गदाभृता।**
**विप्रस्य[2] चाऽस्मत्कुलदैवहेतवे विधेहि भद्रं तदनुग्रहो हि नः ॥९॥**

**यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा स्वधर्मो वा स्वनुष्ठितः।**
**कुलं नो विप्रदैवश्चेद्द्विजो भवतु विज्वरः ॥१०॥**

**यदि नो[3] भगवान्प्रीत एकस्सर्वगुणाश्रयः।**
**सर्वभूतात्मभावेन द्विजो भवतु विज्वरः ॥११॥**

**श्रीशुक उवाच**

**इति संस्तुवतो राज्ञो विष्णचक्रं सुदर्शनम्।**
**अशाम्यत्सर्वतो विप्रं प्रदहद्राजयाच्ञया[4] ॥१२॥**

**स मुक्तोऽस्त्राग्नितापेन[5] दुर्वासाः स्वस्तिमांस्ततः।**
**प्रशशंस तमुर्वीशं युञ्जानः परमाशिषः ॥१३॥**

**दुर्वासा उवाच**

**अहो अनन्तदासानां माहात्म्यं[6] दृष्टमद्य मे ।**
**कृतागसोऽपि यद्राजन् मङ्गलानि समीहसे ॥१४॥**

**दुष्करः[7] किन्नु साधूनां दुस्त्यजं[8] वा महात्मनाम्।**
**यै स्सङ्गृहीतो भगवान् सात्त्वतामृषभो हरिः ॥१५॥**

---

1 TW "योर्नि" 2 MMa "प्राय चाता" 3 MMa मे 4 H V नादहद्रा" , W अजहाद्रा" 5 HV "पातेन 6 ABGJ महत्त्व , MMa महित्व 7 ABGJ को नु 8 ABGJ "जो

**यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान्भवति निर्मलः।**

**तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते ॥१६॥**

**श्रीध०** किञ्च। त्वया भगवन्नियुक्तेन खलानामेव दण्डः कार्य्यः, साधवस्तु रक्षणीयाः। अतो विप्रस्य रक्षणेनाऽस्मा ननुगृहाणेत्याह - **स त्वमिति**। हे जगत्त्राण! स एवम्भूतस्त्वंखलानामेव प्रहारार्थं निरूपितो नियुक्त , अतोऽस्मत्कुलस्य दैवहेतवे भाग्यलाभाय विप्रस्य भद्रं विधेहि। तदेव[2] नोऽनुग्रह ॥९॥

सर्वसुकृतार्पणेन विप्ररक्षां प्रार्थयते, **यद्यस्तीति** द्वाभ्याम्। विप्रो दैवं देवता[3] यस्मिंस्तत् ।१०,११॥

**इतीति**। राज्ञस्तस्यैव याच्ञया ॥१२-१६॥

**वीर०** स एवंविधदुरत्ययमहिमा त्वं सधुलोकपरित्राणदुष्कृद्विनाशनयोर्निमित्तयो गदाभृता भगवता निरूपित नियुक्त· सर्वसह शरणागतानां सर्वविधापराधसह अस्मत्कुलस्य दैवहेतवे भाग्यहेकवे। अन्यथा विप्रहिंसयाऽस्मत्कुलं विनश्ये - दिति भाव । अस्य विप्रस्य भद्रं मङ्गलं प्राणरक्षणरूपं विधेहि कुरु। तद्विप्रभद्रविधानमेवाऽस्माकमस्मद्विषये त्वत्कृतो महाननुग्रह ॥९॥

सर्वसुकृतार्पणेन विप्ररक्षां प्रार्थयते - **यद्यस्तीति** द्वाभ्याम्, दत्तं दानमिदं स्मार्तस्य कर्मण उपलक्षणम्। इष्टं यागादिक - मिद श्रौतस्य स्वनुष्ठित स्वधर्म स्ववर्णाश्रमोचितधर्मश्च यदि नोऽस्माकमस्ति यदि वाऽस्माकं कुल विप्रा एव दैवं यस्य तथाभूतश्चेत्, ततो द्विजो विज्वरो भवतु अस्मदीयदत्तादिभि प्रसन्नो भगवान् सुदर्शन द्विजं निर्दु·खं कुर्यादिति भाव ॥१०॥

एक निस्समाभ्यधिक सर्वेषा कल्याणगुणानामाश्रयो भगवान्नोऽस्माकं यदि सर्वभूतात्मभावेन सर्वात्मकब्रह्मोपासनेन प्रीतोऽस्ति ततो द्विजो विज्वरो भवतु ॥११॥

इतीत्थं राज्ञोऽऽम्बरीषस्य सम्यक् स्तुवतस्सत· तद्विष्णोश्चक्रं सुदर्शनाभिधं सर्वतोऽशाम्यत् प्रशान्तमभूत्। राज्ञोऽम्बरीषस्य याच्ञया विप्रं दुर्वाससमजहात् तत्याज ॥१२॥

शस्त्राग्ने सुदर्शनाग्ने तापेन मुक्त स दुर्वासा स्वस्तिमान् विज्वर तं उर्वीशं अम्बरीषं परमा आशिष· युञ्जान कुर्वन् प्रशशंस तुष्टाव ॥१३॥

प्रशंसामेवाऽऽह - **अहो** इत्यादिना, राजन्नित्यत प्राक्तनेन। अहो अत्याश्चर्यमेतत् अनन्तस्य दासानां महत्त्वमधुना मया दृष्टं, किं तत्? यत् कृतापराधस्याऽपि मम हे राजन्! अम्बरीष! मङ्गलानि समीहसे इच्छसीति तत् ॥१४॥

साधूनां भवगद्भक्तानां दुष्करं कर्तुमशक्यं किन्नु अस्ति? निग्रहानुग्रहादिकं सर्वं सुकरमेवेति भाव·। यद्यस्ति दत्त मित्यादिश्लोकद्वयोक्तप्रार्थनामालक्ष्याऽऽह-महात्मनां साधूनां दुस्त्यजं किन्त्वस्ति? सर्वं सुत्यजमेवेति भाव । तत्र हेतुं वदन् तान्

---

1 HV 'प्रर' 2 HV व 3 H,V देव

विशिनोष्टि - यैस्साधुभिर्महात्मभि· सात्त्वतां भक्तानामृषभ प्रियो हरिराश्रितार्तिहा भगवान् सङ्गृहीतो वशीकृत वशीकृतनिरतिशयानन्दरूपभगवतां भागवतानां न किञ्चिद्दुष्करं दुस्त्यजं वाऽस्तीति भाव· ॥१५॥

तथा अलभ्यमपि तेषां नाऽस्तीत्याह - **यन्नामेति**। यस्य हरेर्नाम्नः श्रवणमात्रेण पुमान् निर्मलो निष्पापो भवति तस्य तीर्थपदः गङ्गादिपुण्यतीर्थाश्रयपादारविन्दस्य भगवतो दासानां किं वा अलभ्यमवशिष्यते सर्वं सम्पन्नमेवेति भावः ॥१६॥

**विज०** साधुजनत्राणाय खलप्रहाणये दुष्टनिग्रहाय च अस्मत्कुलस्य दैवहेतवे देवताभक्त्युत्पत्ति निदानाय ॥९-१३॥

महित्वं महिमा ॥१४-१६॥

**राजन्ननुगृहीतोऽहं त्वयाऽतिकरुणात्मना।**
**[1]ममाघं पृष्ठतः कृत्वा प्राणा यन्मेऽभिरक्षिताः ॥१७॥**

**[2]श्रीशुक उवाच[2]**

**राजा तमकृताऽऽहारः प्रत्यागमनकाङ्क्षया।**
**चरणावुपसङ्गृह्य प्रसाद्य [3]समभोजयत् ॥१८॥**

**सोऽशित्वा[4]ऽऽदृतमानीतमातिथ्यं सार्वकामिकम्।**
**तृप्तात्मा नृपतिं प्राह भुज्यतां [5]भुज्यतामिति ॥१९॥**

**[6-]दुर्वासा उवच[-6]**

**प्रीतोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि तव भागवतस्य वै।**
**दर्शनस्पर्शनाऽऽलापैरातिथ्येनाऽऽत्ममेधसा ॥२०॥**

**कर्माऽवदातमेतत्ते [7]स्वर्गायन्ति[7] स्त्रियो मुहुः।**
**कीर्तिं परमपुण्याञ्च कीर्तयिष्यति भूरियम् ॥२१॥**

**श्रीशुक उवाच**

**एवं सङ्कीर्त्य राजानं दुर्वासाः परितोषितः।**
**ययौ विहायसाऽऽमन्त्र्य ब्रह्मलोकमहैतुकम् ॥२२॥**

---

1 ABGJ मदघ 2- -2 ABGJMMa omit 3 W तमभो° 4 H V °त्वा द्रुत 5 ABGJMMa इति सादरम् 6- -6 ABGJMMa omit 7- -7 ABGJMMa गायन्ति स्व

**संवत्सरोऽत्यगात्तावद्यावता नाऽऽगतो गतः।**
**मुनिस्तद्दर्शनाकाङ्क्षी[1] राजाऽब्भक्षो बभूव ह ॥२३॥**
**गतेऽथ[2] दुर्वाससि सोऽम्बरीषो द्विजोपयोगातिपवित्रमाहरत्[3]।**
**ऋषेर्विमोक्षं व्यसनञ्च[5] बुद्ध्वा मेने स्वर्यञ्च परानुभावम् ॥२४॥**

**श्रीध०** राजेत्यादिश्लोकद्वयं[8] शुकोक्ति[6] ॥१७-१९॥

प्रीतोऽ स्मीति[7] श्लोकद्वयं पुनश्च विप्रोक्ति[7]. । **प्रीत** इति। आत्मनि मेधा येन, तेनाऽऽतिथ्येन ॥२०॥

**कर्मेति**। भूरियं तत्रस्थो जन· कीर्तयिष्यति ॥२१, २२॥

तस्य धैर्यातिशयमाह **संवत्सर** इति। गतो मुनिर्यावता नाऽऽगत तावत्संवत्सरोऽतिक्रान्त इति॥२३॥

**गत इति**। द्विजस्योपयोगेन भोजनेन अतिपवित्रमाहरत् बुभुजे। स्ववीर्यञ्च धैर्या दिलक्षणं परानुभावं भगवतः प्रभावं मेने ॥२४॥

**वीर०** एवं प्रशस्य स्वस्य कृतज्ञतासूचनाय तत्कृतमुपकारमावेदयति - **राजन्निति**। हे राजन्! निरतिशय करुणायुक्तचित्तेन त्वयाऽहमनुगृहीत·, कोऽसौ मत्कृतोऽनुग्रह· ? तत्राऽऽह ममाऽघमपराधं पृष्ठत कृत्वा विस्मृत्येत्यर्थ·। मे प्राणा अभिरक्षिता इति यदेष एव महाननुग्रह ॥१७॥

राजा तमित्यादिश्लोकद्वयं शुकोक्ति । द्विजस्य प्रत्यागमनप्रतीक्षया अकृत आहारो भोजनं येन स राजा अम्बरीषः तं दुर्वाससं चरणावुपसङ्गृह्य प्रसाद्य प्रसन्नं कृत्वा तं द्विजमभोजयत् भोजयामास ॥१८॥

सर्वे कामा· काम्यन्ते इति कामा· षड्रसाः यस्मिन् तदादृतं सादरं यथा भवति तथा आनीतं आनीय समर्पितमातिथ्यं भुक्त्वा तुष्टात्मा सन्तुष्टचित्त स दुर्वासाः नृपमम्बरीषं भुज्यतां भुज्यतामित्युवाच ॥१९॥

**प्रीतोऽस्मीत्यादि** श्लोकद्वयं दुर्वासस उक्ति । आत्मनि परमात्मन्येव मेधा बुद्धिर्यस्य। अनल्पमेधसेति पाठे विपुलबुद्धे-स्तवाऽऽतिथ्येनाऽहं नितरां प्रीत सन्तुष्टोऽस्मि। तथा तव भागवतस्य दर्शनादिभिरनुगृहीतश्चाऽस्मि ॥२०॥

तवैतदवदातं निर्मलं कर्म स्वः स्वर्गे लोके स्त्रियो मुहुर्मुहुर्गायन्ति गास्यन्ति। तथा तव परमपुण्यां कीर्तिमियं भूः भूलोकस्थो जन· कीर्तयिष्यति ॥२१॥

इत्येवं राजानं प्रस्तुत्य राजानमम्बरीषमामन्त्र्य पृष्ट्वा परितोषितो, राज्ञेति शेष·। दुर्वासा विहायसा मार्गेणाहैतुकं

---

1 ABGHJV काङ्क्षी 2 ABGJ गते च 3 MMa भोगा" 4 MMa "रन् 5 MMa "नाच्च 6- -6 H V omit 7- -7 H V omit

दैनन्दिनप्रलयादिभिरनिवर्त्यं द्विपरार्धावस्थायिनमित्यर्थ । ब्रह्मलोकं, चतुर्मुखलोकं ययौ, तत्राऽम्बरीषस्य गुणान् स्तोतुमिति शेषः ॥२२॥

**अम्बरीषस्य धैर्यं दृढसङ्कल्पश्चाऽऽह-संवत्सरेति।** आगतो मुनिर्दुर्वासा यावता कालेन पुनः दिक्षु भ्रमन्नागतः तावत्संवत्सरात्मकः कालोऽत्यगात् व्यतीताय प्रथमागमनादारभ्य पुनरागमनपर्यन्त· कालः संवत्सरो बभूवेत्यर्थ.। तावन्तश्च कालं राजाऽम्बरीषस्तस्य मुनेर्दर्शनमेवाऽऽकाङ्क्षमाणोऽप एव भक्षयन् बभूव तस्थौ ॥२३॥

दुर्वाससि गते सति अथ अम्बरीष. द्विजोपयोगातिपवित्रं द्विजोपयेगेन द्विजभुक्तावशेषणाद्धेतो· परमं पवित्रमन्नमाहरत् बुभुजे। ततः ऋषेर्दुर्वाससो व्यसनं चक्रजं तस्माद्विमोक्षणं स्वस्य वीर्यं धैर्यादिलक्षणञ्चेत्येतत्सर्वं परस्य परमात्मन. प्रभावं प्रभावकृत मेव मेने अमन्यत ॥२४॥

**विज०** आतिथ्यम् अतिथिप्रियम् अन्नं सार्वकामिकम् अपेक्षिताखिलभोजनम् ॥१९॥

आत्ममेधसा आत्मज्ञानेन ॥२०-२२॥

इतो गतो मुनिर्यावत्तं नृपं नाऽऽगतः, तावत्संवत्सरोऽत्यगात्। मुनिदर्शनकाङ्क्षो राजा च तावदब्भक्षोऽभूत् ॥२३॥

सोऽम्बरीषो बुद्ध्या मुनेर्व्यसनान्मोक्षं स्ववीर्यञ्चपरमात्मनोऽनुभाव प्रभाव सामर्थ्यं यस्मिंस्तत्तथा भगवन्महिमोपितं मेने इत्यर्थः।।२४॥

**एवंविधानेकगुणस्स राजा परात्मनि ब्रह्मणि वासुदेवे।**
**क्रियाकलापैस्समुवाह भक्तिं ययऽऽविरिञ्चान् निरयांश्चकार ॥२५॥**

**अथाऽम्बरीषस्तनयेषु राज्यं समानशीलेषु विसृज्य धीरः।**
**वनं विवेशाऽऽत्मनि वासुदेवे मनो दधे ध्वस्तगुणप्रवाहः ॥२६॥**

**इत्येतत्पुण्यमाख्यानमम्बरीषस्य भूपतेः।**
**सङ्कीर्तयन्ननुध्यायन् भक्तो भागवतो भवेत् ॥२७॥ ***

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे अम्बरीषचरितं नाम पञ्चमोऽध्याय ॥५॥

---

1--1 MMa "या विरिञ्चादि मधश्च" 2--2 ABGJ "दधद्धस्त , MMa "दधद्धस्य 3 ABGJMMa भग" * The following extra verse is found in B edition with in the brackets **अम्बरीषस्य चरितं ये श्रुण्वन्ति महात्मनः। मुक्तिं प्रयान्ति ते सर्वे भक्त्या विष्णो प्रसादत ॥**

**श्रीध० एवमिति**। एवंविधा अनेके गुणा यस्य सः। आविरिञ्चान् विरिञ्चपदसहितान्भोगान् निरयप्रायानपश्य दित्यर्थ ॥२५-२६॥

इति श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां पञ्चमोऽध्याय· ॥५॥

**वीर०** उक्तविधा अनेकेगुणा यस्य स राजाऽम्बरीष परात्मनि परे ब्रह्मणि वासुदेवे क्रियाकलापैस्सह स्ववर्णाश्रमोचितक्रियासमुदायस हकृतां अनन्यप्रयोजनां भक्तिं समुवाह चकारेत्यर्थ । भक्तिं विशिनष्टि, यया अनन्यप्रयोजनया वासुदेवभक्त्या आविरिञ्चात् विरिञ्चपर्यन्तभोगान् निरायान्निरयप्रायांश्चकार अमन्यत। तथा च स्मर्यते "एते निरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः" (भार 12-191-6) इति, "वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु। तस्याऽन्तरायो मैत्रेय देवेन्द्रत्वादिकं फलम् (विष्णु. पु· 2-6-41) इति च ॥२५॥

ततोऽम्बरीष·स्वतुल्यशीलेषु तनयेषु राज्यं विसृज्य निधाय धीरो जितेन्द्रियो वनं विवेश। तत्राऽन्तरात्मभूते भगवति वासुदेवे मनो दधे एकाग्रचित्तो बभूव। ततो ध्वस्तः गुणप्रवाह· संसारो यस्य तादृश· मुक्तो बभूवेत्यर्थ. ॥२६॥

एवमुपवर्णिताम्बरीषोपाख्यानकीर्तनादिजं फलमाह। इतीति इत्थमम्बरीषस्य राज्ञ एतद्वर्णितं पुण्माख्यानं भक्त्या सङ्कीर्तयन् अनुध्यायंश्च पुमान् भागवतो भवेत् ॥२७॥

इति श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्याया पञ्चमोऽध्याय ॥५॥

**विज०** विरिञ्च· आदिः कारणं यस्य स विरिञ्चादिः तं प्रपञ्चं यथायोग्यं अधश्चकार न तु सर्वं त[illegible] कोट्यंशादंशो नैवाऽम्बरीषके। नैवाऽस्त्यन्यस्य कस्याऽपि. तथाऽपि हरिरीश्वरः। तात्कालिकोपचेयत्वात्तेषां यशस आदिराट्" (गारुडे) इति। नन्वम्बरीष· स्तुतिं कृत्वा चक्रनिवर्तनं कृतवान्, न ब्रह्मादय इत्यत आह - "ब्रह्मादयश्च तत्कीर्तिं व्यञ्जयामासु रुत्तमाम्। मोहनाय च दैत्यानां ब्रह्मादेर्निन्दनाय च" (गारुडे) अन्यार्थश्चेति निन्दनाय असुरकृतायेति शेष.। अन्यार्थमर्थवादार्थम्। किञ्च फलानिच्छुत्वज्ञापनाय च विष्ण्वादिभिश्चक्रं न निवर्तितमित्याह स्वयं विष्णुर्ब्रह्माद्याश्च निराशिष इति, अम्बरीषस्य मनुष्याधिकारिषु भक्त्यादिगुणैरुत्तमत्वज्ञापनार्थमपि मानुषेषूत्तमत्वाच्चेति ब्रह्मादीनां भक्त्यादिगुणाधिक्यप्रकटनाय च तेषां भक्त्यादिभिर्गुणैरिति अन्यच्च प्रायोजनम्। ब्रह्मादेर्विष्ण्वधीनत्वज्ञापनाय च केवलमिति। तर्हि दुर्वासा· क इति चेत्, रुद्रावतारः "दुर्वासाश्च स्वयं रुद्र "

इति। तथाऽपि रुद्रत्वेऽपि असुरावेशादन्याय्यवचनं, तथाप्यन्यायमुक्तवानिति स्वाज्ञाकारित्वेन तस्मिन्ननुग्रहविशेषाय भक्तजनमद विनाशनाय च विष्णुर्निवर्तनं नाऽकारि "तस्याऽप्यनुग्रहार्थाय दर्पनाशार्थमेव च" (गारुडे) इति शास्त्रविरोधःस्यत्, अतः भक्तिविधानार्थं तद्यशोऽर्थं दुष्टजनमोहनार्थश्चेति ज्ञातव्यम् ॥२५, २६॥

अख्यानफलमाह - **इतीति**॥२७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
नवमस्कन्धे पञ्चमोऽध्याय ॥ ५॥
॥ विजयध्वजमतेन षष्ठः ॥

# षष्ठोऽध्यायः

( ॥ विजयध्वजमतेन सप्तमोऽध्यायः ॥)

**श्रीशुक उवाच**

**विरूपःकेतुमाञ्छम्भुरम्बरीषसुतास्त्रयः ।**
**विरूपात्पृषदश्वोऽभूत्तत्पुत्रस्तु रथीतरः ॥१॥**

**रथीतरस्याऽप्रजस्य[1] भार्यायां तन्तवे[2] ऋषिः ।**
**अङ्गिरा जनयामास ब्रह्मवर्चस्विनः सुतान् ॥२॥**

**एते[3] क्षेत्रप्रसूता वै पुनस्त्वङ्गिरसाः[4] स्मृताः ।**
**रथीतराणां प्रवराः क्षत्त्रोपेताः द्विजातयः ॥३॥**

**क्षुवतस्तु मनोर्जज्ञे इक्ष्वाकुर्घ्राणतस्सुतः ।**
**तस्य पुत्रशतज्येष्ठा[5] विकुक्षिनिमिदण्डकाः ॥४॥**

**तेषां पुरस्तादभवन्नार्यावर्ते नृपा नृपै ।**
**पञ्चविंशतिः पश्चाच्च त्रयो मध्ये परेऽन्यतः ॥५॥**

**स एकदाऽष्टकाश्राद्धे त्विक्ष्वाकुः सुतमादिशत् ।**
**मांसमानीयतां मेध्यं विकुक्षे गच्छ माचिरम् ॥६॥**

**तथेति स वनं गत्वा मृगान् हत्वा क्रियार्हणान्[6] ।**
**श्रान्तो बुभुक्षितो वीरः शशञ्चाददपस्मृतिः[7] ॥७॥**

**शेषं निवेदयामास पित्रे तेन च तद्गुरुः ।**
**चोदितः प्रोक्षणायाह दुष्टमेतदकर्मकम् ॥८॥**

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

षष्ठारम्भेऽम्बरीषस्य वंशमुक्त्वा ततः परम् । षष्ठाद्यष्टभिरध्यायैरिक्ष्वाकोर्वंश' उच्यते ॥

तत्र षष्ठे शशादादिर्मान्धात्रन्तो निरूप्यते । प्रसङ्गात्सौभरेराख्या मान्धातृतनयापते ॥

**विरूप** इति । तन्तवे सन्तानार्थम् ॥१,२॥

---

1 MMa °जस्यास्य 2 ABGJMMa °ऽर्थित । 3 ABGJ क्षेत्रे , MMa क्षत्र° 4 MMa श्चाङ्गिरस 5 MM'a °त 6 MMa °कान् 7 MMa °मदा°

**एत इति**। ये अङ्गिरसा जनिता एते रथीतरस्य क्षेत्रे प्रसूतत्वेन रथीतरगोत्रा सन्तोऽङ्गिरसो वीर्येण प्रसूतत्वादाङ्गिरसाश्च। पुन- रपि रथीतराणामन्येषां जातानां प्रवरा मुख्याः स्मृताः। यतः क्षत्त्रोपेत[1]। ब्राह्मणा इत्यर्थ ॥३॥

तदेवं मनोर्दशसु पुत्रेषु पृषध्रश्च कविश्च विरक्तत्वान्न वंशप्रवर्तकौ करूषादीनाश्च[2] सप्तानां वंशास्तारतम्यक्रमेणोक्त ·। इदानीमतिविततमिक्ष्वाकोर्वंश माह क्षुवतेस्त्वित्यादिना यावत्सोमवंशप्रस्तावः। **क्षुवत** इति। क्षुतं कुर्वतो मनोर्घ्राणतो जज्ञे "श्रद्धायां जनयामास दश पुत्रान्" (भग.9-1-11) इति पूर्वोक्तं बाहुल्याभिप्रायेणेति द्रष्टव्यम्। पुत्राणां शते ज्येष्ठा ॥४॥

**तेषामिति**। आर्यावर्ते "आर्यावर्त पुण्यभूमिर्मध्य विन्ध्यहिमागयो " (अम. को.2-8) इतिकोशप्रसिद्धिः तस्मिन् पुरस्तात्समुद्रपर्यन्तं मण्डलविभागेन पञ्चविंशतिर्नृपा[3] अभवन्। हे नृप तथैव पञ्चाच्च पञ्चविंशति·। मध्ये तु ज्येष्ठा स्त्रय·। अपरे त्वन्यतो अन्यत्र[4] दक्षिणोत्तरादिषु इत्यर्थः[5] ॥५॥

विकुक्षिरेव शशाद इति विश्रुत इति वक्ष्यति[6]। तत्र हेतुमाह **स एकदेति** चतुर्भि ॥६॥

**तथेति**। क्रियार्हणान् श्राद्धार्हान्, आदत् अभक्षयत् ॥७॥

**शेषमिति**। तदुरुर्वसिष्ठः। प्रोक्षणाय श्राद्धोचितसंस्काराय ॥८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तनयेषु राज्यं विसृज्य वनं विवेशेत्युक्तम्। के ते तनया ? इत्यत आह मुनि - **विरूप** इति। विरूपादयस्त्रयोऽम्बरीषस्य सुता.। तत्र विरूपात्पृषादश्च सम्बभूव पृषदश्वस्य[7-] सुतस्तु[7] रथीतर ॥१॥

तस्य रथीतरस्याऽप्रजस्य सन्तानरहितस्य सतस्तद्भार्यायां तन्तवे सन्तानार्थ मङ्गिरा ऋषि[8] ब्रह्मणो ब्राह्मणस्य वर्च· ब्रह्मवर्चसं "ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चस·" (अष्टा.5-4-78) इति समासान्तोऽच् प्रत्यय। तदेवैषामस्तीति[8] ब्रह्मवर्चस्विन·[9-] ब्रह्मवर्चस सम्पन्नान्[9] सुतान् जनयामास ॥२॥

एते रथीतरस्य क्षेत्रप्रसूतत्वेन रथीतरगोत्रास्सन्त अङ्गिरसो बीजेन प्रसूतत्वात् आङ्गिरसाश्च। अतो रथीतराणां रथीतरपुत्राणां तत्सन्तानप्रसूतानाश्च प्रवरा· क्षत्त्रोपेता द्विजातय. क्षत्त्रगोत्रान्वयिनो ब्राह्मणप्रवरा क्षत्त्रब्रह्मोभयगोत्रान्विता बभूवुरित्यर्थ ॥३॥

तदेवं मनोर्दशसु पुत्रेषु पृषध्रकवी विरक्तत्वान्न वंशप्रवर्तकौ करूषादीनाश्च सप्तानां वंशास्तारतम्यक्रमेणोक्ता। इदनीमतिविततमिक्ष्वाकोर्वंशमाह - **क्षुवतस्त्वित्यादिना** यावत्सोमवंशप्रस्तावम्। क्षुवत क्षुतं कर्वतो मनो वैवस्वतस्य घ्राणात् इक्ष्वाकुरिति प्रसिद्धः सुतो जज्ञे। "श्रद्धायां जनयामास दश पुत्रान्" (भाग.9-1-11) इति पूर्वं बाहुल्याभिप्रायेणोक्तमतो नानेन विरोध. तस्येक्ष्वाकोः पुत्रशतं बभूव। तत्र ज्येष्ठा विकुक्ष्यादयस्त्रय ॥४॥

---

1 HV क्षे° 2 HV °शा° 3 HV °तिनृपाश्च 4 ABJ omit अन्यत्र 5 ABJ omit इत्यर्थ 6 HV omit वक्ष्यति 7--7 TW °श्वपुत्रस्तु 8--8 Tw omit 9--9 AB omit

एवं स्थिते तेषां शतपुत्राणां मध्ये पञ्चविंशतिसंख्याकाः पुत्राः पुरस्तात्पूर्वस्यां दिशि ब आर्यावर्तः हि विन्ध्यहिमपर्वतयो र्मध्यदेशः तस्य नृपा राजानो बभूवुः। आर्यावर्तपुरस्तात्समुद्रपर्यन्तं मण्डलविभागेनाऽधिपतयो बभूवुरित्यर्थः। हे नृप! तथैव पश्चादार्यावर्ते नृपाः पञ्चविंशतिसंख्याका बभूवुः। आर्यावर्तमध्ये तु त्रयो ज्येष्ठा विकुक्ष्यादयोऽधिपतयो बभूवुः। अपरेऽवशिष्टास्तु अन्यतः दक्षिणोत्तरादिषु नृपा अभवन् ॥५॥

विकुक्षेरेव शशाद इति नामान्तरं वक्ष्यते, तत्र हेतुमाह - **स एकदेति** चतुर्भिः। कदाचिदिक्ष्वाकुरष्टकाश्राद्धे निमित्ते मांसमानीयतां हे विकुक्षे! शीघ्रं गच्छ, विलम्बं मा कार्षीः इति सुतमादिशत् आदिष्टवान् ॥६॥

ततस्स विकुक्षिः तथैवाऽऽनेष्यामीत्युक्त्वा वनं प्रति गत्वा क्रियार्हणान् श्राद्धार्हान् मृगान् हत्वा श्रान्तो बुभुक्षितश्च, अपगता स्मृतिः श्राद्धार्थं हता इमे मृगा न मया भक्षितुं योग्या इति स्मृतिर्ज्ञानं यस्य स वीरो विकुक्षिः शशं मृगमाददभक्षयत्। "अद स्सर्वेषाम्" (अष्टा 7-3-100) इत्यपृक्तहलः अडागमः ॥७॥

शेषं स्वभुक्तावशिष्टं मांसं स्वपित्रे निवेदयामास। स ततस्तेन पित्रा इक्ष्वाकुणा चोदितः प्रोक्षणाय प्रोक्षणेन मांसं संस्कुरु इत्यादिष्टः। तस्य इक्ष्वाकोर्गुरुर्वसिष्ठ आह - एतन्मांसं दुष्टमुच्छेषणदोषदुष्टमतोऽकर्मकं श्राद्धानर्हमित्याह ॥८॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

तन्तवे सन्तानाय अङ्गिरस उत्पत्तिनिमित्तत्वात् नाम्ना आङ्गिरसाः[2] ॥१,२॥

रथीतराणां रथीतरसन्ततिजातानाम् ॥३॥

एकवंशं समाप्य अन्यवंशं वक्तुं प्रारभते **क्षुवत** इति। क्षुतं कुर्वतः घ्राणतः घ्राणोद्गीर्णशब्दात् ॥४॥

"आ समुद्रात्पुरस्तात्तु आसमुद्राच्च पश्चिमात्। तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं प्रचक्षते" इत्येवंविध आर्यावर्ते पुरस्तात् पूर्वदिक्पालास्तेषां विकुक्ष्यादीनां मध्ये पञ्चविंशतिनृपाः,पश्चात्पश्चिमदिक्पालाः पञ्चविंशतिनृपाः अभूवन्। मध्ये विन्ध्यहिमवत्पर्वतयोर्मध्ये। तेषां मध्ये त्रयः पालकाः, अपरे च ये त्रिपञ्चाशदवशिष्टाः सप्तचत्वारिंशन्नृपाः ते अन्यतः दक्षिणत उत्तरतः पालका अभूवन्नित्यन्वयः ॥५,६॥

अपस्मृतिः विवेकरहितः ॥७॥

अकर्मकम् कर्मायोग्यम् ॥८॥

**ज्ञात्वा पुत्रस्य तत्कर्म गुरुणाऽभिहितं नृप![3]।**
**देशान्निस्सारयामास सुतं त्यक्तविधिं रुषा ॥९॥**

---

1 TW 'ख्या ब' 2 A.B अ' 3 ABGJMMa 'प

स तु विप्रेण संवादं जापकेन समाचरन्[1]।
त्यक्त्वा कलेबरं योगी स तेनावाप यत्परम् ॥१०॥

पितर्युपरतेऽभ्येत्य विकुक्षिः पृथिवीमिमाम्।
शासदीजे हरिं यज्ञैश्शशाद इति विश्रुतः ॥११॥

पुरञ्जयस्तस्य सुत इन्द्रवाह इतीरितः[2]।
ककुत्स्थ इति चाऽप्युक्तः[3] शृणु नामानि कर्मभिः ॥१२॥

कृतान्त आसीत्समरो देवानां सह दानवैः।
पार्ष्णिग्राहो वृतो[4] वीरो देवैर्दैत्यपराजितैः ॥१३॥

वचनाद्देवदेवस्य विष्णोर्विश्वात्मनः प्रभोः।
वाहनत्वे वृतस्तस्य बभूवेन्द्रो महावृषः ॥१४॥

स सन्नद्धो धनुर्दिव्यमादाय विशिखाञ्छितान्।
स्तूयमानस्तमारुह्य[5] युयुत्सुः ककुदि स्थितः ॥१५॥

तेजसाऽऽप्यायितो[6] विष्णोः पुरुषस्य महात्मनः[7]।
प्रतीच्यां दिशि दैत्यानां न्यरुणत् त्रिदशैः पुरम् ॥१६॥

**श्रीध० ज्ञात्वेति**। त्यक्तो विधिः सदाचारो येन तं सुतम्[8]। ॥९॥

**स** इति। स त्विक्ष्वाकुः जापकेन वशिष्टेन राज्यभोगेन विरक्तो योगी सन् तेन योगेन कलेबरं त्यक्त्वा स यत्परं तत्त्वं तदवाप ॥१०॥

**पितरीति**। शासत् पालयन् हरिमीजे ॥११॥

**पुरञ्जय** इति। दैत्यपुरस्य जयात् पुरञ्जयः, इन्द्रो वाहः यस्येतीन्द्रवाहः[10]। ककुदि स्थितत्वात्, ककुत्स्थ इति च शशादसुतस्य त्रीणि नामानि तत्तत्कर्मनिमित्तानि ॥१२॥

तान्येव व्याचक्षाण आह **कृतान्त** इति सप्तभिः। कृतं विश्वमन्तयतीति तथा। पार्ष्णिग्राहः सहायः ॥१३॥

**वचनादिति**। इन्द्रो यदि मम वाहनं स्यात्तर्हि दैत्यान् हनिष्यामीति तेन वाहनत्वेन वृतस्सन् इन्द्रो लज्जया तदनङ्गी-

---

1 TW °चरत् 2 HV उदी° 3 MMa वाऽ° 4 W °कृतो 5 ABGJ °स्स° 6 MMa व्यापितो 7 ABGJMMa °परा 8 ABJ omit सुतम् 9 HV °गे वीरयोगी 10 HV अस्येती°

कुर्वन् विष्णोर्वचनात् तस्य वाहनत्वाय महान्वृषो बभूवेत्यर्थ · ॥१४-१६॥

**वीर०** ततो गुरुणाऽभिहितं पुत्रस्य विकुक्षेस्तत्कर्मज्ञात्वा नृप इक्ष्वाकुस्त्यक्तो विधिः शास्त्रीयनियमरूपो येन तं सुतं रुषा देशान्निस्सारयामास ॥९॥

ततस्तु स इक्ष्वाकुर्जापकेन तपसा सह संवादं भगवद्गुणसंवादं विप्रेण सह समाचरत्, तपश्चर्यासहकृतं भगवद्गुणानुवादं गुरुणा सहाऽकरोदित्यर्थः। ततस्स इक्ष्वाकुस्तेन जापकसहकृतेन संवादेन योगी राज्यभोगेषु विरक्तः प्रारब्धावसाने कलेबरं त्यक्त्वा यत्परं ब्रह्म तदवाप ॥१०॥

एवं पितरीक्ष्वाकौ उपरते मृते सति अथ विकुक्षिरेत्याऽऽगत्य इमां पृथिवीं शासत् पालयन् यज्ञैर्हरिमीजे आराधितवान्। तत· श्राद्धार्थं शशभक्षणान्निमित्तात् शशाद इति प्रसिद्धो बभूव ॥११॥

तस्य विकुक्षेस्सुत. पुरञ्जय. स एव इन्द्रवाह· ककुत्स्थ इति च ईरितः व्यवहृतः। कुत एतन्नामद्वयं[2] प्राप्तमित्यत आह कर्मभि· क्रियाविशेषैः प्राप्तानि नामानि शृणु, कथयतो मत्त इति शेषः। नामानीति बहुवचनेन पुरञ्जयनामाऽपि कर्मनिमित्तमेवे त्युक्तम् ॥१२॥

पुरञ्जयादिनामनिमित्तानि कर्माणि वक्तुमितिहासमाह **कृतान्त** इत्यादिना जित्वेत्यत· प्राक्तनेन। दानवैस्सह देवानां कृतान्तस्समर. सङ्ग्राम आसीत्। तस्य विश्वस्यान्तः, कृतान्त·प्रलयः तत्कल्प· समर आसीदित्यर्थ·। तदा वीरः पुरञ्जय· दैत्यैः पराजितै देवैर्विश्वेश्वरस्य प्रभो र्विष्णो र्वचनात् पार्ष्णिग्राह सहाय. तत्त्वेन वृत कृत· पुरञ्जयेनेन्द्रो वाहनत्वेन वृतो महान्वृषभ आसीत् ॥१३, १४॥

ततस्तं महान्तं वृषभमारुह्य ककुदि स्थितः उपविष्टः देवैः स्तूयमानो योद्धमिच्छुः सन्नद्धः कवचितः स पुरञ्जयो दिव्यं धनुर्निशितान् बाणांश्चाऽऽ दाय ॥१५॥

महात्मनः परमपुरुषस्य विष्णो· तेजसा आप्यायितः उपबृंहितः त्रिदशैर्देवैस्सह प्रतीच्यां दिशि दैत्यानां पुरं न्यरुणत् निरुद्धवान्॥१६॥

**विज०** त्यक्तविधिमाचारशून्यम् ॥९॥

नाम्ना जापकेन विप्रेण संवादं तत्त्वविषयं समाचरन् तेन संवादजनितेन ज्ञानेन योगी ज्ञानी स इक्ष्वाकुः यत्परं ब्रह्म तदवाप। सदेह आप किम्? नेत्याह - त्यक्त्वेति ॥१०॥

पुनर्विकुक्षिणा किमकारीति तत्राऽऽह - **पितरीति**। "आशासदीजे स हरिं यज्ञैः पुष्कलदक्षिणै " इति केचित्पठन्ति "शासन्नीजे हरिं यज्ञैश्शशाद इति विश्रुत " इत्यन्येन, शशमत्तीति शशादः पुष्कल दक्षिणैः पूर्णदक्षिणैः ॥११॥

---

H V महावृष 2 AB त्रय

तस्य विकुक्षेः इन्द्रो वाहो वाहनं यस्य स तथा। कर्मभिः विक्रमलक्षणैः अवाप्तानि ॥१२-१४॥

इन्द्रात्मकवृषभककुदि स्थित· ॥१५, १६॥

तैस्तस्य[1] चाभूत्प्रधनं तुमुलं लोमहर्षणम्[1]।
यमाय भल्लैरनयद्दैत्यान्येऽभिययुर्मृधे[2] ॥१७॥

तस्येषु[3] पाताभिमुखं युगान्ताग्निमिवोल्बणम्।
दृष्ट्वाऽन्ये[4] दुद्रुवुर्दैत्या हन्यमानाः स्वमालयम् ॥१८॥

जित्वा पुरं धनं सर्वमयच्छद्वज्रपाणये[5]।
प्रत्यागच्छत्स[6] राजर्षिरिति नामभिराहृतः[7] ॥१९॥

पुरञ्जयस्य पुत्रोऽभूदनेनास्तत्सुतः[8] पृथुः।
विश्वगन्धस्ततश्चन्द्रो[9] युवनाश्वस्तु[10] तत्सुतः ॥२०॥

शाबस्ति[11] स्तत्सुतो येन शाबस्ती[12] निर्मिता[13] पुरी।
बृहदश्वस्तु शाबस्ते[14] ततः कुवलयाश्वकः ॥२१॥

यः प्रियार्थमुदङ्कस्य[15] धुन्धुनामासुरं[16] बली।
सुतानामेकविंशत्या सहस्रैरहनद्वृतः ॥२२॥

धुन्धुमार[17] इति ख्यातः तत्सुतास्ते[18] प्रजज्वलुः।
धुन्धोर्मुखाग्निना[19] सर्वे त्रय एवाऽवशेषिताः ॥२३॥

दृढाश्वः कपिलाश्वश्च भद्राश्व इति भारत।
दृढाश्वपुत्रो हर्यश्वो निकुम्भस्तस्य[20] चाऽऽत्मजः ॥२४॥

**श्रीध० तैरिति।** येऽभिमुखं ययुस्तान् यमं दर्शयितुं सदेहानेव भल्लैरनयदित्यर्थ ॥१७॥

**तस्येति।** तच्च दृष्ट्वाऽन्ये दुद्रुवु·। स्वमालयं पातालम् ॥१८॥

**जित्वेति।** इति एतै· कर्मभि पुरञ्जयादिनामभि· आहतो व्याहत । आहुत इति पाठान्तरे आहूत इत्यर्थ ॥१९,२०॥

---

1- -1 MMa ह्यभवद्राजन् सङ्ग्रामो रोमहर्षण । 2 MMa युयुधु 3 TW "घाता" 4 ABGJMMa विसृज्य 5 ABGJ सर्वं सश्रीक 6 ABGHJMMaV प्रच्चयच्छ" 7 MMa "हु" 8 MMa "दमेना 9 ABGT रन्धि , MMa "गन्धि 10 ABGT "श्व 11 ABGJ शाबस्त , H V शवस्त , MMa शावस्ति 12 H V शावस्ति , MMa शावस्ती , W शाबस्ति 13 ABGJ निर्ममे 14 ABGJ शाबस्ति , H V शावस्ति , MMa MMa शावस्ते 15 ABGJ मुतङ्कस्य , MMa मुकुन्दस्य 16 H V दुन्दु" 17 H V दुन्दु" 18 ABGJ "च ज" 19 H V दुन्दो" 20 ABGJMMa "स्तत्सुत स्मृत

**शाबस्त इति**। शाबस्ति[1]· शबस्तस्य[2] पुत्रः। कुवलयाश्व एव धुन्धुमार[3] इति ख्यातः ॥२१॥

तत्र कारणमाह **य** इति। सुतानामेकविंशत्या सहस्रैर्वृतस्सन्[4] अहनत् हतवान् ॥२२॥

[5]**धुन्धुमार** इति। चेति चकारस्यान्वय[5]. ॥२३, २४॥

**वीर०** तैर्दैत्यै पुरवासिभिस्सह तस्य पुरञ्जयस्य तुमुलं रोमहर्षणम्, रोम्णां शृण्वतां पश्यताञ्च लोम्नां हर्षणमुदञ्चनं यस्मात्तथाविधं प्रधनं युद्धमासीत्। तत्र भल्लैरिषुभि. पुरञ्जयो दैत्यान् यमायाऽनयत् हतवानित्यर्थः। कान् दैत्यान्? येऽभिमुखमाययुः ॥१६॥

ततोऽन्ये हतावशिष्टा दैत्यास्तस्य पुरञ्जयस्येषूणां घातस्याभिमुखमागत्येति शेषः। तं युगान्ताग्निमिवोल्बणं दुःस्सहं दृष्ट्वा तेन हन्यमानाःस्वकीयमालयं पातालं प्रति दुद्रुवुः ॥१८॥

ततस्स राजर्षि पुरञ्जयो दैत्यान् जित्वा तेषां पुरं धनं सर्वं प्रीत्या वज्रपाणये इन्द्राय प्रायच्छत् ददौ। इतिशब्दो हेत्वर्थक·। यतः पुरं जितवान् वृषभस्य ककुदि स्थित. इन्द्रमेव वाहनत्वेन परिगृहीतवान् ततो हेतो र्नामभिः पुरञ्जयादिनामभिः पुरञ्जयादिकर्मप्रवृत्तिनिमित्तकैरुदाहृतो व्यवहृतः ॥१९॥

पुरञ्जयस्यानेन इति प्रसिद्धः पुत्रो बभूव। तस्य अनेनस. सुतः पृथुः ततः पृथो· विश्वगन्धः पुत्रो बभूव, विश्वगन्धा - च्चन्द्र., तस्य चन्द्रस्य सुतो युवनाश्व. ॥२०॥

तस्य युवनाश्वस्य सुतश्शाबस्तिः तं विशिनष्टि येन शाबस्तिना शाबस्तिरिति प्रसिद्धा पुरी निर्मिता। शाबस्तेस्सुतो बृहदश्वः, ततो बृहदश्वात्कुवलयाश्वकः पुत्रस्सम्बभूव ॥२१॥

कुवलयाश्वस्यैव धुन्धुमार इति नामान्तरम्। नाम्न· प्रवृतिनिमित्तं कर्माऽऽह - **य** इति। य. कुवलयाश्वकः बली बलवान् उदङ्कस्य ऋषे. प्रियार्थं प्रियं कर्तुं सुतानामेकविंशत्या सहस्रैः एकविंशतिसहस्रसंख्याकैः सुतैर्वृत इत्यर्थः। यद्धे धुन्धुं नामाऽसुरमहनत् ॥२२॥

अतः धुन्धुमार इति प्रसिद्धो बभूव। तस्य कुवलयाश्वकस्य सुतास्ते सर्वे धुन्धुमारस्य मुखाग्निना जज्वलुः दग्धा बभूवुरित्यर्थ ।तेषां मध्ये त्रय एव सुता अवशेषिता· ॥२३॥

ते च सुता·, हे भारत! दृढाश्वादिनामान·। तत्र दृढाश्वस्य पुत्रो हर्यश्व· तस्य हर्यश्वस्य निकुम्भस्सुतोऽभवत्॥२४॥

**विज०** तस्य पुरञ्जयस्य इषोश्शरस्य पातस्याऽभिमुखं प्रत्यवस्थानं स्वमालयं स्वगृहं च हित्वा दैत्या· दुद्रुवुरित्यन्वय ॥१८॥

---

1 HV 'व' 2 HV 'व' 3 HV दुन्दु' 4 ABJ omit अहनत् 5--5 HV omit

स राजा पुरं जित्वा सर्वं पुरधनमयच्छदाप्नोत्। पुनश्च तत्पुरधनं वज्रपाणये प्रत्ययच्छत् दत्तवान्। स राजर्षिर्दैत्य पुरञ्जयात्पुरञ्जय इति नाम्नाऽऽहूतः वृषभककुदि स्थितत्वात् 'ककुत्स्थ' इति नाम्नाऽऽहूत ॥१९-२४॥

**[1]बर्हिणाश्वो निकुम्भस्य कृशाश्वोऽथाऽस्य [2]सेनजित्।**
**युवनाश्वोऽभवत्तस्य सोऽनपत्यो वनं गतः ॥२५॥**

**भार्याशतेन निर्विण्ण ऋषयोऽस्य कृपालवः।**
**इष्टिं स्म वर्तयाञ्चक्रु रैन्द्रीं ते सुसमाहिताः ॥२६॥**

**राजा तद्यज्ञसदनं प्रविष्टो निशि तर्षितः।**
**दृष्ट्वा शयानान् विप्रांस्तान् पपौ मन्त्रजलं स्वयम् ॥२७॥**

**उत्थितास्ते निशाम्याऽथ व्युदकं कलशं प्रभो।**
**पप्रच्छुः कस्य कर्मेदं पीतं पुंसवनं जलम् ॥२८॥**

**राज्ञा पीतं विदित्वाऽथ ईश्वरप्रहितेन ते।**
**ईश्वराय नमश्चक्रुरहो दैवबलं बलम् ॥२९॥**

**ततः काल उपावृत्ते कुक्षिं निर्भिद्य दक्षिणम्।**
**युवनाश्वस्य तनयश्चक्रवर्ती जजान[3] ह ॥३०॥**

**[4]किं धास्यति कुमारोऽयं [5]स्तन्यं रोरूयते भृशम्।**
**मां धाता वत्स मा रोदीरितीन्द्रो देशिनीमदात् ॥३१॥**

**न ममार पिता तस्य विप्रदेव[6]प्रसादतः।**
**युवनाश्वो[7]ऽपि तत्रैव तपसा सिद्धिमन्वगात् ॥३२॥**

**श्रीध० बर्हिणाश्व** इति। अथ तस्मान्निकुम्भात्कृशाश्वः[8] ॥२५॥

**भार्येति**। भार्याणां शतेन सह अस्य[9] पुत्रार्थमिन्द्रदैवत्यामिष्टिं वर्तयामासु·। स्मेत्याश्चर्ये ॥२६॥

तदेवाऽऽह **राजेति** षड्भिः। तर्षित स्तृषितस्सन् जलार्थं[10] प्रविष्टो मन्त्राभिमन्त्रितं जलं पत्न्यै देयं स्वयं पपौ ॥२७॥

---

1 ABGJMMa बर्ह° 2 MMa °नि° 3 H V °प 4 ABGJMMa क 5 MMa स्तन्यो 6 W °दैव 7. ABGJMMa °ऽथ 8 H V °ता° 9 H V स्व पु° 10 H V omit तृषित

**उत्थिता** इति। व्युदकं निरुदक कलशं[1] पुंसवनं पुत्रोत्पत्तिकारणम् ॥२८॥

**राज्ञेति**। अहो दैवबलमेव मुख्यं बलं, पुरुषबलन्तु न किञ्चित् इति वदन्त ईश्वराय नमस्कारं चक्रु· ॥२९,३०॥

**किमिति**। अयं किं[2] धास्यति पास्यतीति दु·खितैर्विप्रैरुक्ते सति तस्यामिष्ट्यामाराधित इन्द्र· मां धाता पाता अयं मां रक्षिष्यतीत्यर्थ यद्वा, मां लक्ष्मीं पाता रक्षिष्यति सर्वसाम्राज्यभाक् भविता इत्यर्थ·। हेवत्समा रोदी रिति ब्रुवन् देशिनीं तर्जनी मदादित्यर्थ ॥३१॥

**नेति**। तस्य पिता युवनाश्वो भिन्नकुक्षिरपि न ममार, किन्तु कालान्तरे तपसा सिद्धिमन्वगात् ॥३२॥

**वीर०** निकुम्भस्य सुतो बर्हिणाश्व·[3], तस्य सुत कृशाश्व , अस्य कृशाश्वस्य सुत सेनजित्, तस्य सेनजित युवनाश्वस्सुत· समभवत्। युवनाश्ववृत्तान्तमाह - स इत्यादिना। युवानाश्वोऽनपत्यस्सन्तानरहितोऽत एव निर्विण्णो निर्वेदमापन्नो भार्याशतेन सह वनं प्रति गत ॥२५॥

तत्र मुनय अस्य कृपालव एतद्विषयकृपायुक्ता बभूवु·। ते ऋषय· सुसमाहितास्सन्त ऐन्द्रीं इन्द्रवेदेवताकामिष्टिं पुत्रकामेष्टिं प्रवर्तयाश्चक्रु· ॥२६॥

तदा राजा युवनाश्व तर्षित निशि रात्रौ पिपासु तद्यज्ञसदनं प्रविष्ट शयानान् तान्विप्रान् दृष्ट्वा मन्त्रजलं मन्त्राभिम न्त्रितं जलं पत्न्यै देयं स्वयं पपौ पीतवान् ॥२७॥

तत उत्थितास्ते विप्रा निरुदकं कलशं निशाम्य दृष्ट्वा हे प्रभो। कस्येदं कर्म? केनेदं पुंसवनं पुत्रोत्पत्तिकारणं जलं पीतम्? इति पप्रच्छु ॥२८॥

तत ईश्वरचोदितेन राज्ञा युवनाश्वेन पीतमिदं जलमिति विदित्वा ते ऋषय अहो दैवबलमेव मुख्यबलं, पुरुषबलन्तु न किंञ्चत् इति वदन्त ईश्वराय नमश्चक्रु ॥२९॥

तत काले पुत्रोत्पत्तिकाले सन्निहिते सति युवनाश्वस्य दक्षिणं कुक्षिं निर्भिद्य तनयश्चक्रवर्ती सप्तद्वीपाधिपति· सम्बभूव ॥३०॥

अयं कुमार स्तन्याभावेन रोरूयते भृशं[4] नितरां[5] रोदिति अतोऽयं कं धास्यति। धेट् पाने। कं पास्यतीत्येवं दु खितैर्विप्रै रुक्ते सति तस्यामिष्ट्यामाराधित इन्द्रो मामयं कुमारो धास्यति पास्यति इत्युक्त्वा हे वत्स। मा रोदीरिति वदन् देशिनीं तर्जनी ममृतस्राविणीमदात् कुमारस्य वक्त्रे निहितवान्। इन्द्रेणाऽयं मां धातेत्युक्तत्वात् मान्धतेति प्रसिद्धो बभूव ॥३१॥

तस्य कुमारस्य पिता च युवनाश्वो विप्राणां दैवस्य चाऽनुग्रहा न्न ममार न मृत । ततस्सतत्रैव वने तपसाऽनुष्ठितेन सिद्धिं मुक्तिमन्वगात् प्राप ॥३२॥

---

1 HV omit कलश 2 ABJ क 3 AB बर्हि° 4 AB भृश 5 TW omit नितरा

**विज०** तर्षित· उदन्यया युत· मन्त्रपूतं जलम् ॥२७॥

व्युदकं जलरहितं पुंसवनं पुत्रोत्पत्त्यार्थमभिमन्त्रितम् ॥२८॥

ईश्वरप्रहितेन दैवप्रेरितेन ॥२९,३०॥

स्तन्य· स्तनपानेच्छुरयं बालो भृशं रोरूयते पुन पुनरत्यन्तं रोदनं करोति। कं धास्यति कस्य स्त्रीजनस्य स्तनं धास्यतीति मत्वा इन्द्रो हे वत्स! मा रोदी रोदनं मा कार्षीरित्युक्त्वा देशिनीमङ्गुष्ठानन्तरामङ्गुली मदात्। अतो मान्धातेति नाम ॥३१॥

तस्य मान्धातुः पिता युवनाश्व ॥३२॥

**त्रस्दस्युरितीन्द्रोऽङ्ग[1] विदधे नाम तस्य च[2]।**
**यस्मान्नसन्ति ह्युद्विग्नाः दस्यवो रावणादयः ॥३३॥**

**यौवनाश्वोऽथ[3] मान्धाता चक्रवर्त्यवनिं[4] प्रभुः।**
**सप्तद्वीपवतीमेकः शशासाच्युततेजसा ॥३४॥**

**ईजे च यज्ञं क्रतुभिरात्मविद्भूरिदक्षिणैः।**
**सर्ववेदमयं देवं सर्वात्मकमतीन्द्रियम्[5] ॥३५॥**

**द्रव्यं मन्त्रो विधिर्यज्ञो यजमानस्तथर्त्विजः।**
**धर्मो देशश्च कालश्च सर्वमेतद्यदात्मकम् ॥३६॥**

**यावत्सूर्य उदेति स्म यावच्च[6] प्रतितिष्ठति।**
**सर्वं तद्यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते ॥३७॥**

**शतबिन्दोर्दुहितरि बिन्दुमत्या[7] मधान्नृपः[8]।**
**पुरुकुत्साम्बरीषौ[9-] च[-9] मुचुकुन्दश्च योगिनम् ।**
**तेषां स्वसारः पञ्चाशत् सौभरिं वव्रिरे पतिम् ॥३८॥**

**यमुनान्तर्जले मग्नस्तप्यमानः[10] परन्तपः[11]।**
**निर्वृतिं मीनराजस्य वीक्ष्य मैथुनधर्मिणः ॥३९॥**

---

1 ABGJMMa "द्र" 2 ABGJMMa वै 3 W "पि 4 ABGJMMa "वनी" 5 ABGJMMa देव 6 MMa "च्चन्द्र प्र" 7 ABGJMMa "शशा" 8 A V मजीजनत्
9- -9 ABGJMMa पुरुकुत्समम्बरीष 10 MMa मज्जस्त 11 TW "पा

**जातस्पृहो नृपं विप्रः कन्यामेका मयाचत।**
**सोऽप्याह गृह्यतां ब्रह्मन् कामं कन्या स्वयंवरे ॥४०॥**

**श्रीध०** मान्धातु र्महिमानमाह - **त्रसदस्युरिति** षड्भि·। अङ्ग! हे राजन्! यस्मान्मान्धातुर्दस्यव उद्विग्नाः कम्पिता स्सन्तः त्रसन्ति, अत इन्द्रो अस्य त्रसदस्युरिति नाम विदधे । स मान्धाता अवनीमेकः शशासेत्युत्तरेणान्वयः ॥३३॥

**यौवनाश्व इति।** अच्युतस्य तेजसा। अप्रच्युततेजसेति वा ॥३४॥

**ईज** इति। आत्मविदपि यज्ञं स विष्णुमीजे। तमेव विशिनष्टि सर्वदेवमयमिति सार्धेन ॥३५, ३६॥

**यावदिति**। प्रतितिष्ठति अस्तं गच्छति ॥३७, ३८॥

प्रसङ्गात्सौभरेश्चरितमाह तेषामित्यादि यावदध्यायपरिसमाप्ति। तेषां स्वसारो मान्धातु· कन्याः। ननु महातापसस्य कुतो विवाह प्रसङ्ग कथं वा जराजर्झरितं राजकन्या वव्रिरे? तत्राह - **यमुनान्तर्जल** इति षड्भिः॥३९॥

**जातेति**। नृपं मान्धातारम् ॥४०॥

**वीर०** अङ्ग! हे राजन्! अस्य कुमारस्य त्रसदस्युरिति नामधेयमिन्द्रश्चकार, तत्प्रवृत्तिनिमित्तमाह - यस्मात् यौवनाश्वात् कुमारात् रावणादयो दस्यवो दुष्टा उद्विग्नाश्चलन्तस्त्रसन्ति बिभ्यति अतस्सोऽयं त्रसद्दस्युरिति प्रसिद्धो भवितेति वदन् नाम विदधे इति पूर्वेणान्वय· ॥३३॥

मान्धातुश्चरित्र माह - **यौवनाश्व** इत्यादिना, शतबिन्दोरित्यत· प्राक्तनेन। युवनाश्वस्यापत्यं पुमान् यौवनाश्व मान्धाता प्रभुस्समर्थ सप्तद्वीपात्मकं भूचक्रं यस्य वशे वर्तत इति तथाभूत एक एव अच्युतस्य भगवतस्तेजसा। अप्रच्युतेन तेजसेति वा। सप्तद्वीपवतीमवनिं भूमिं शशास ॥३४॥

आत्मवित् देहविलक्षणात्मयाथात्म्यदर्शी सन् भूरय· बह्वय· दक्षिणा येषु तैः क्रतुभि· यज्ञं विष्णुं - "यज्ञो वै विष्णुःति" (तैत्ति ब्रा 1-2-5 इति श्रुते । ईजे इयाज। यज्ञमेव किं विशेषेणाराधितवानित्यत स्तं विशिनष्टि - सर्वदेवमयमिति सार्धेन। सर्वदेवताप्रचुर तत्प्राचुर्यश्च तच्छरीरकत्वेन। तथा च श्रूयते - "स आत्मा अङ्गान्यन्यदेवता." (तैत्ति उ 1-5-1 इति, देवं स्वतेजसा दीप्यमानं सर्वान्तरात्मानं प्राकृतेन्द्रियागम्यम् ॥३५॥

द्रव्यादिकमेतत्सर्वं यदात्मकं यद्यज्ञात्मकं तं यज्ञमीजे इति पूर्वेणाऽन्वय । द्रव्यादिभिस्सह पठितो यज्ञशब्द· क्रतुपरः। द्रव्यं चरुपुरोडाशादिकं, मन्त्रो द्रव्यदेवताप्रकाशको देवभाग.। विधिश्चोदनात्मको वेदाभाग·। यजमानः कर्ता धर्मः अपूर्वाख्यो, देवता प्रसादरूपो वा, देश· "समे यजेत" इत्याद्युक्त·, कालो वसन्तादि· ॥३६॥

यावद्भूमण्डलं सूर्य उदेति, उदेत्य प्रकाशयति। यद्वा, यावद्यत्र उदेति, यत्र च प्रतितिष्ठति अस्तमेति, तदवधीकृत्य

---

1 MMa कन्या 2 A B J °द्दं° 3 H V °नि° 4-4 ABJ मिति यावत्समाप्ति। 5 ABJ जर्जर त 6 ABJ °दा° 7 A B °द्दं° 8 A B °द्दं° 9 A शश°

सर्वमेतद्भूमण्डलं यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रं पालितं क्षेत्रमिति कथ्यत इत्यर्थः। आचक्रवालमाधिपत्यं कृतवानिति यावत् ॥३७॥

नृपः मान्धाता, नृपेति पाठे हे नृप! शतबिन्दोर्दुहितरि बिन्दुमत्याख्यायां भार्यायां पुरुकुत्सादीन् त्रीन् पुत्रानुत्पादया-मासेति शेषः। नृपेति पाठे मान्धातेति कर्तृपदमध्याहर्तव्यम्॥३८॥

तेषां पुरुकुत्सादीनां स्वसारो भगिन्यः पञ्चाशत्संख्याकाः सौभरिमृषिं पतिं वव्रिरे परिजगृहुः। कथं वा तमृषिं वव्रिरे? इत्यपेक्षायां प्रसङ्गात्सौभरेश्चरित्रमाह - यावदध्यायसमाप्ति। परमुत्कृष्टं तपो यस्य स परन्तपाः सौभरि । परन्तपेति पाठे हे परन्तप! यमुनायाः अन्तर्जले जलमध्ये निमग्नः तप्यमानः। परन्तप इत्यपि पाठान्तरम्। तत्र परन्तपः तप्यमानः कुर्वाण पाकं पचतीतिवन्निर्देशः ॥३९॥

कदाचिन्मैथुनमेव धर्मो यस्य तस्य मत्स्यश्रेष्ठस्य निर्वृतिं मैथुनसुखं दृष्ट्वा विप्रः सौभरिः जाता समुत्पन्नस्पृहा मैथुनेच्छा यस्य सः नृपं मान्धातारं आगत्य एकां कान्या मयाचत। स मान्धाताप्यस्य वैरूप्यमालक्ष्य एव माह - हे ब्रह्मन्! स्वयंवरे कामं यथेच्छं कन्या गृह्यतामिति। या कन्या स्वयं त्वां वृणीते सा परिगृह्यतामित्याहेत्यर्थः ॥४०॥

**विज०** यज्ञं श्रीहरिं सर्वदेवप्रधानं सर्वात्मकं मन्त्रतन्त्रद्रव्यादिसर्वव्यापिनम् ॥३३-३५॥

एतदेव स्पष्टयति **द्रव्यमिति**। य आत्मा व्यापी यस्य तत् यदात्मकम् ॥३६-३९॥

निर्वृतिमानन्दम् ॥४०॥

**स विचिन्त्याप्रियं स्त्रीणां जरठोऽयमसम्मतः।**
**वलीपलित एजत्क इत्यहं प्रत्युदाहृतः ॥४१॥**

**साधयिष्ये तथाऽऽत्मानं सुरस्त्रीणामनीप्सितम्।**
**किं पुनर्मनुजेन्द्राणामिति व्यवसितः प्रभुः ॥४२॥**

**मुनिः प्रवेशितः क्षत्रा कन्यान्तःपुरमृद्धिमत्।**
**वृतश्च राजकन्याभिरेकः पञ्चाशता वरः ॥४३॥**

**तासां कलिरभूद्भूयांस्तदर्थेऽपोह्य सौहृदम्।**
**ममाऽनुरूपो नाऽयं व इति तद्गतचेतसाम्॥४४॥**

**स बह्वचस्ताभिरपारणीयतपःश्रियानर्घपरिच्छदेषु।**
**गृहेषु नानोपवनामलाम्भःसरस्सु सौगन्धिककाननेषु ॥४५॥**

1 AB शश° 2 AB °याम° 3- -3 TW omit 4 ABGJ मपी° 5 MMa °नुजस्त्रीणा 6 MMa वा° 7- -7 MMa श्रिया विराजत्सप° , ABGJ तपश्श्रियानर्घ्य° 8 MMa प्रसून

**महार्हशय्यासनवस्त्रभूषणस्नानानुलेपाभ्यवहारमाल्यकैः ।**
**स्वलङ्कृतस्त्रीपुरुषेषु नित्यदा रेमेऽनुगायद्द्विजभृङ्गवन्दिषु ॥४६॥**

**यद्गार्हस्थ्यं तु संवीक्ष्य सप्तद्वीपावनीपतिः ।**
**विस्मितः स्तम्भमजहात् सार्वभौमश्रियान्वितः ॥४७॥**

**एवं गृहेष्वभिरतो विषयान् विविधैस्सुखैः ।**
**सेवमानो न चाऽतुष्यदाज्यस्तोकैरिवानलः ॥४८॥**

**श्रीध०** सोऽपि मान्धाता स्वयंवरे कामं गृह्यतामित्याह - **स इति** । स विप्र· स्त्रीणामप्रियं मां विचिन्त्याऽनेनाऽहं प्रत्युक्त । अत आत्मानं तथा साधयिष्यामीति व्यवसितो निश्चितवानिति उत्तरेणान्वय· । अप्रियत्वे हेतु जरठो वृद्ध वलीभिर्युक्त· पलितश्च एजत्क कम्पमानशिरा । तापसत्वादिना वाऽसम्मतोऽहमिति कृत्वा ॥४१॥

**साधयिष्य इति** । तथेत्यस्य प्रपञ्च । सुरस्त्रीणामपीप्सितं, किं पुनर्मनुजेन्द्रोणां या· स्त्रिय· तासा मिति ॥४२॥

तत किं वृत्तं तदाह **मुनिरिति** द्वाभ्याम् । क्षत्रा प्रतीहारेण । पञ्चाशताऽपि राजकन्याभिः स एक एव वरो वृत ॥४३, ४४॥

तस्य गार्हस्थ्यं वर्णयति **स** इति चतुर्भि । बह्वृच इति मन्त्रसामर्थ्यमुक्तम् । ताभिस्स रेमे इत्युत्तरेणान्वय· । क्व रमे? अपारणीयं दुरन्तं यत्तपस्तस्य श्रिया समृद्ध्याऽनर्घ्या· परिच्छदा येषु तेषु गृहेषु तथा नानाविधेषूपवनेषु च । अमलान्यम्भांसि येषु तेषु सरस्सु च । कथम्भूतेषु? सौगन्धिकानां कह्लाराणां काननानि स्तोमा येषु ॥४५॥

**महार्हेति** । कथम्भूतेषु गृहादिषु? स्वलङ्कृता· स्त्रिय पुरुषाश्च येषु । अनुगायन्ते द्विजाश्च पक्षिणो भृङ्गाश्च वन्दिनश्च येषु । कथम्भूत ? महार्हशय्यादिभिरुपलक्षितस्सन् ॥४६॥

**यदिति** । स्तम्भं गर्वम् ॥४७॥

**एवमिति** । आज्यस्तोकै घृतबिन्दुभि ॥४८॥

**वीर०** स विप्रस्सौभरि स्त्रीणामप्रियं मां विचिन्त्य । अनेनाऽहं प्रत्युक्त । अत आत्मानं सुरस्त्रीणामप्यभीप्सितं साधयिष्यामि इति व्यवसित निश्चितवानिति द्वयोरन्वय । स्वस्य स्त्रीणामप्रियत्वे हेतु· - जरठो वृद्ध वलिभिर्युक्त· पलितश्च एजत्क कम्पमानशिराः एवम्भूतोऽयमिति बुद्ध्या राज्ञाऽहं प्रत्युक्त इत्यन्वय ॥४१॥

---

1 HV सुस 2 ABGJMMA °पवती° 3 AGJMMa °तम् 4 W °धैर्मुखै । 5 A [illegible] 6 HV °त्रा° 7 HV °र्घा 8 HV °म
9- -9 HV omit

अत आत्मानं सुरस्त्रीणामपीप्सितं योगप्रभावेण साधयिष्ये, किं पुनर्मनुजेन्द्राणां मनुजेन्द्रस्त्रीणामभीप्सितं साधयिष्ये इति कियदेतदित्यर्थ· । इत्थं व्यवसित· व्यवसाययुक्त· प्रभुस्समर्थो योगित्वादिति भाव ॥४२॥

मुनिस्सौभरिः क्षत्रा सूतेन प्रयोज्यकर्त्रा, राज्ञा प्रयोजकेन, ऋद्धिमत् सर्वसमृद्धिमत् अन्त·पुरं प्रवेशित पञ्चाशता पञ्चाशत्संख्याभिः राजकन्यभिस्सर्वाभिरेक एव वरस्सन् वृतः ॥४३॥

तदा तासां कन्यानां तदर्थे वरनिमित्तमहमेवैनं वृणे ममैवाऽयमनुरूप· पति र्न तवेत्येवं सौहृदं सोदर्यत्वप्रयुक्तं सौहृदमपोह्य तस्मिन् नितरां सुन्दरे वरे गतं निहितं चेतो यासां तासां महान् कलि· कलह आसीत्। योगमाहात्म्येन तादृशसुन्दररूपं धृतवानिति भाव· ॥४४॥

तस्य गार्हस्थ्यं वर्णयति - स इति चतुर्भि·। स बह्वृच आश्वलायन सौभरिः। यद्वा बह्वृच इति मन्त्रसामर्थ्यमुक्तम्। ताभि· स्त्रीभिस्सह रेमे इत्युत्तरेणाऽन्वय । अपारणीयं दुरन्तं यत्तपस्तस्य श्रिया समृद्ध्या हेतुभूतयाअनर्घा[1] परिच्छदा· उपकरणानि येषु तेषु गृहे षु उपकल्पितेषु, तथा नानाविधेषु उपवनेषु अमलानि अम्भांसि येषु तेषु सरस्सु च। कथम्भूतेषु सौगन्धिकानां कल्हारादीनां काननानि स्तोमा येषु ॥४५॥

कथम्भूतेषु गृहादिषु स्वलङ्कृता· स्त्रिय· पुरुषाश्च येषु अनुगायन्तो द्विजा· पक्षिणो भृङ्गाश्च वन्दिनश्च येषु कथम्भूत·? महार्हशय्यादिभिरुपलक्षितस्सन् ॥४६॥

यस्य सौभरेर्गार्हस्थ्यं सम्यगवलोक्य विस्मित सार्वभौमसम्पदा युक्त सप्तद्वीपसहिताया भूमेरधिपतिर्मान्धाता स्तम्भं गर्वं जहौ तत्याज। कियदेतन्मदीयमैश्वर्यमिति अमन्यतेत्यर्थ·। यद्वा, दुहितॄणां सत्कारवैकल्यचिन्तां जहौ ॥४७॥

इत्थं गृहेष्वासक्तः सौभरि· नानामुखैर्बहुमखै बहुभिरिन्द्रियैरित्यर्थ । अनेनानेकशरीरपरिग्रह प्रतिशरीरमिन्द्रियभेदश्च सूच्यते। विषयान् शब्दादीन् सेवमानोऽनुभवन्नपि न तुतोष नऽलममन्यत, यथाऽऽज्यस्तोकैर्घृतबिन्दुभि अग्निर्न तुष्यति तद्वत् ॥४८॥

**विज०** स सौभरिरयं मुनि स्त्रीणामसम्मतो जरठ· एजत्कम्पमानं कं शिरो यस्य स तथा। वलीपलित अत एव अप्रि इति मत्वा अहं राज्ञा प्रत्युदाहृत· स्वयंवरे गृह्यतामिति प्रोक्त । इत्थं विचिन्त्य आत्मानं मां तथा साधयिष्ये, यथा सुरस्त्रीणामभीष्ट मिति व्यवसितः ॥४१, ४२॥

क्षत्रा कन्यान्त· पुरं प्रवेशितः एकः पञ्चाशता राजकन्याभिर्वृतश्चाभूदति शेष ॥४३॥

कलिः कलह· तदर्थं सौभरिपतिपरिणयनार्थे सौहृदं सुहृद्भावं अपोह्य परित्यज्य तस्मि न्वरे आसक्तचेतसाम् ॥४४॥

बह्वृचः सौभरि· गृहेषु ताभि· कन्याभि· रेमे इत्यन्वयः। कीदृशेषु गृहेषु। अवारणीयश्रिया अप्रतिघातलक्ष्म्या विराजन्ति

---

1 A अनर्ध्या

शोभमनानि च परिच्छदैरुपकारणै सहितानि च विराजत्सपरिच्छदानि तेषु श्रिया अवारणीय· अनिवार्य· तथाऽपि वरणयोग्य इत्यर्थ इति वा। अमलान्यम्भांसि अमलाम्भांसि प्रसूनानां सौगन्धिकांनि सौरभ्ययुतानि नानाविधोपवनानि च, अमलाम्भोभि र्युतानि च प्रसूनसौगन्धिकानि च काननानि येषु तानि तथा तेषु अनुगायन्ति द्विजबृन्दानि अनुगायद्द्विजबृन्दानि, द्विजानां पक्षिणां बृन्दानि द्विजबृन्दानि तान्येव वन्दिनो येषु तानि तथा तेषु ॥४५, ४६॥

एतावदेवानुवर्णयितुं शक्यं, नाऽतोऽधिकमित्याशये नाऽऽह-यदिति। स्तम्भमहङ्कारनिमित्तं कर्तव्याकरण-लक्षणम् ॥४७॥

आज्यस्तोकै घृतबिन्दुभि ॥४८॥

स कदाचिदुपासीन आत्मापह्नवमात्मनः[1]।
ददर्श बह्वृचाचार्यो मीनसङ्गसमुत्थितम् ॥४९॥

अहो इमं पश्यत मे विनाशं तपस्विनस्सच्चरितव्रतस्य।
अन्तर्जले वारिचरप्रसङ्गात्[2] संस्रावितं[2] ब्रह्म चिरं धृतं[3] यत् ॥५०॥

सङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतिनां[4] मुमुक्षुः सर्वात्मना न विसृजेद्बहिरिन्द्रियाणि।
एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्तईशे युञ्जीत तद्व्रतिषु[5] साधुषु चेत्प्रसङ्गः ॥५१॥

एकस्तपस्व्यहमथाऽम्भसि मत्स्यसङ्गात्पञ्चाशदास[6] मुत पञ्चसहस्रसर्गः[7]।
नाऽन्तं व्रजाम्युभयकृत्यमनोरथानां मायागुणैर्हृतमतिर्विषयेऽर्थभावः ॥५२॥

एवं वसन् गृहे कालं विरक्तो न्यासमास्थितः[8]।
वनञ्जगामाऽनुययुस्तत्पत्न्यः पतिदेवताः ॥५३॥

तत्र तप्त्वा तपस्तीक्ष्णमात्मकर्शनमात्मवित्[9]।
सहैवाऽग्निभि रात्मानं युयोज परमात्मनि ॥५४॥

ताः स्वपत्युर्महाराज निरीक्ष्याऽध्यात्मिकीं गतिम्।
अन्वीयुस्तत्प्रभावेण अग्निं शान्तमिवार्चिषः ॥५५॥

---

1 W °ना 2 A B G J प्रच्यावित , MMa प्रस्रावित 3 H V भृत 4 MMa वृजिनान्मु° 5 MMa °द्र° 6 H V °ताऽऽसमुत° , MMa °ताऽथ सुत 7 MMa सग्र , W वर्ग 8 MMa माश्रित 9 ABGJ °वान्

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्या सहितायां
नवमस्कन्धे षष्ठोऽध्याय ॥६॥

**श्रीध०** इदानीं तस्याऽनुतापपूर्वकं वानप्रस्थाश्रममाह **स कदाचिदिति** सप्तभि·। आत्मनो मनसो हेतोरात्मनोऽ पह्नवं तपोहानिं ददर्श ॥४९॥

**अहो इति**। संश्चाऽसौ चरितव्रतश्च योऽहं, तस्य ब्रह्म तप ॥५०॥

**सङ्गमिति**। मिथुनव्रतिनां दाम्पत्यधर्मवतां। चेद्यदि प्रसक्तस्तर्हि। तद्व्रतिषु ईश्वरार्थधर्मपरेष्वेव कार्य इति शेष ॥५१॥

सक्ताज्जातं दोषं प्रपञ्चयति - **एक** इति। पञ्चाशता भार्याभि· सम्बन्धात् पञ्चाशत्[1] आसमभूवमित्यर्थः। **ततश्च सुतैः** पञ्चसहस्र[2]सर्ग आसम्। प्रत्येकं तासु पुत्रशतरूपेणोत्पत्ते·। उभयकृत्यानि ऐहिकपारत्रिकाणि कर्माणि, तद्विषयाणां मनोरथानां। अर्थभाव पुरुषार्थबुद्धिमान् ॥५२॥

**एवमिति**। न्यासोऽत्र सङ्गत्याग एव। वानप्रस्थधर्म इत्यर्थ ॥५३, ५४॥

**ता** इति। आध्यात्मिकीं गतिं ब्रह्मणि लयम् ॥५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकाया
व्यख्यायां नवमस्कन्धे षष्ठोऽध्याय·॥६॥

**वीर०** इदानीं तस्याऽनुतापपूर्वकं वानप्रस्थाश्रममाह तावदनुतापमाह - स इत्यादिना, एवं वसन्नित्यत· प्राक्तनेन। **बह्व-**चानामाचार्यः स सौभरि· कदाचिदुपासीन उपविष्ट आत्मना मनसा[3] मीनस्य सङ्गाद्धेतो समुत्थितमात्मापह्नवं स्वरूपानुसन्धान विरोधिनं विषयचापलं ददर्श आलोकितवान् ॥४९॥

दर्शनमेव प्रपञ्चयति- **अहो** इति। अहो! हे लोका । तपोनिष्ठस्य संश्चऽसौ चरितव्रतश्च योऽहं तस्य ममेमं **विनाशं** पश्यत। कोऽसौ विनाश ? तत्राऽऽह अन्तर्जले यो वारिचरो मीन· तस्य प्रकृष्टात्सङ्गात् हेतो चिरं धृतं ध्यातं **ब्रह्म विप्लावितं** विस्मृतमिति यदेष एव विनाश· ब्रह्मविस्मरणमात्मनो विनाशप्रायमेवेति मत्वा विनाशं पश्यतेत्युक्तम्। तथा च श्रूयते - **"असन्नेव** स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्" तैत्ति उ 2-6 इति। ॥५०॥

अत एवं वर्तितव्यं मयेत्यभिप्रायेण मुमुक्षोर्वृत्ति माह **सङ्गमिति**। मुमुक्षु· सर्वात्मना करणत्रयेण मिथुनव्रतिनां दाम्पत्यधर्मवतां

---

1 HV omit पञ्चाशत् 2 HV वर्ग 3 A omits मनसा 4 B विप्ला°

सङ्गं त्यजेत्। बहिः शब्दादिविषयेषु इन्द्रियाणि न विसृजेत् न प्रवर्तयेत्। एकोऽसहाय एव चरेत्। रहसि एकान्ते चित्तमनन्ते अपरिच्छिन्ने ईशे भगवति युञ्जीत, क्वचिदपि सङ्गो न कार्य एव। क्वचिच्चेद्भवति प्रसङ्गस्तर्हि तस्मिन् अनन्ते एव रति र्येषां तेषु साधुष्वेव विधेयः ॥५१॥

स्वावस्थां प्रपञ्चयति - **एक** इति। प्रथममेकोऽसहाय एव, अहमास मथ ततोऽम्भसि यो मत्स्यस्तस्य सङ्गात् पञ्चाशदासम्, पञ्चाशता भार्याभिरेकदा सम्बन्धाय पञ्चाशच्छरीरविशिष्टोऽभवम्। ततश्च पुत्ररूपेण पञ्चसहस्रवर्ग आसम्। एव मप्यन्तं विषयानुभवजां तृप्तिम् अन्तस्य तृप्त्यवधित्वात् न व्रजामि, कथम्भूत ? उभयकृत्यं स्त्रीपुंसकृत्यं तस्मिन्नेव मनोरथी येषां तेषां मायागुणैर्मोहादिभि र्वृतामतिर्यस्य विषयेषु शब्दादिष्वेव अर्थाभाव पुरुषार्थबुद्धि र्यस्य तथाभूतः ॥५२॥

**एव** मित्यादि शुकोक्ति । इत्थं महान्तं कालं गृहे वसन् ततो विरक्तो न्यासं काम्यकर्मत्यागमास्थितो वनं जगाम। तपसे इति शेष । तं गच्छन्तं सौभरिं पतिरेव देवता यासां ता पत्न्यश्चाऽनुसृत्य जग्मु ॥५३॥

तत्र वने आत्मवित् आत्मयाथात्म्यानुसन्धानपर सौभरिरात्मकर्शनं शरीरकार्श्यावहं अत एव तीक्ष्णमुग्रं तपस्तप्त्वा कृत्वा अग्निभि राहवनीयदिभिः सहैव आत्मानं परमात्मनि युयोज लीनमनुसन्दधे इत्यर्थः॥ ५४॥

ततो हे महाराज! पत्युस्सौभरेराध्यात्मिकीं गतिं परमात्मसम्बन्धिनीम् अग्निभिस्सह प्रत्यगात्मनः परमात्मनि लयानुसन्धानपूर्विकां तत्प्राप्तिरूपां गतिमवलोक्य ताः पतिमनुगताः पत्न्यश्च तस्य पत्युःप्रभावेण परमात्मोपासन प्रभावेण अन्वीयु रनुसृत्य जग्मु , मुक्ता बभूवुरिति यावत्। तद्यथा - शान्तं निरिन्धनमग्निमर्चिषश्शिखा अनुलीना भवन्ति, तद्वत् ॥५५॥

इति श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां षष्ठोऽध्याय ॥६॥

**विज०** आत्मापह्नवं स्वरूपापहरणं, तपसस्तिरस्कारं वा ॥४९॥

यच्चिरं धृतं ब्रह्म तप तत्प्रस्रावितं च्युतं नष्टमित्यर्थः। "ब्रह्म वेदस्तपस्तत्त्वम्" इत्यभिधानम्।

तत्त्वमनारोपितं रूपं पुंसो ज्ञातमेव तत्सृतं प्रतिबद्धमिति वा ॥५०॥

"लोकसङ्गहमेवापि सम्पश्यन् कर्तु मर्हसि" भः गी 3-20

इति वाक्यार्थमनुसन्दधान आह - **सङ्ग** मिति। मिथुनवृजिनात् स्त्रीपुरुषसङ्गोद्भूतपापात् मुमुक्षुः सङ्गं स्नेहलक्षणं त्यजेत। इन्द्रियाणि बहिः शब्दादिविषयेषु न विसृजेत्, न प्रयुञ्जीत[1]। एकाकी चरन् रहसि एकान्ते अनन्ते ईशे चित्तं युञ्जीत।

1 M Ma प्रायुङ्क्त।

प्रसङ्गश्चेत् यदि प्रसङ्गोऽपेक्षितस्तर्हि तस्मिन् हरौ रतिर्येषां ते तद्व्रतय स्तेषु साधुषु निर्मत्सरजनेषु प्रसङ्गस्यात् नाऽन्यत्रे त्यन्वय· ॥५१॥

अह मेक एव तपस्वी, अथाऽम्भसि मङ्गलजले मत्स्यसङ्गात् मत्स्यानां मिथः स्नेहं दृष्ट्वा। अथाऽनन्तरं पञ्चाशता स्त्रीभिस्सह सुरतप्रसङ्गेन सुतपञ्चसहस्रसङ्ग आसम्। अथोभयकृत्यं पुत्त्राणां विवाहादि , कन्यकानां प्रदानादि इत्युभयं कर्तव्यम्। तत्र मे मनोरथाः मनस्सङ्गल्पविशेषा· तेषामुभयेन स्त्रीपुरुषद्वयेन यत्कृत्यं तत्र विद्यमानानां मनोरथानां वा। उभयस्मिन्निह लोके परलोके च यत्कृत्यं तद्विषयमनोरथानां वा अन्तमवसानं न व्रजामि। तत्रेदं निमित्तमाह मायेति। शब्दादिविषये प्रयोजनबुद्धि । "मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्र्येष्वथो अथं" अमः को 3- 402 इत्यमर ॥५२॥

एवं विरज्य किमकार्षीत् तत्राऽऽह- एवमिति। न्यासं वित्तगृहादित्यागलक्षणम्॥५३॥

आत्मकर्शनं देहस्य कृशत्वापादकम् अग्निभिस्सह आत्मानं देहं दग्ध्वा परमात्मानि युयोज सायुज्यलक्षणं मोक्षमाप्तवा नित्यर्थ· ॥५४, ५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहस्यां संहिताया
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
नवमस्कन्धे षष्ठोऽध्याय ॥६॥

(विजयध्वजमतेन अध्यायोऽत्र न समाप्यते)

1 A ॰म

# सप्तमोऽध्यायः

मान्धातृपुत्त्रप्रवरो[1] योऽम्बरीषः प्रकीर्तितः।
पितामहेन[2] प्रवृतो युवनाश्वस्तु[3] तत्सुतः[4]।
हरितस्तस्य[5] पुत्रोऽभूत् मान्धातृप्रवरा इमे ॥१॥

नर्मदा भ्रातृभिर्दत्ता पुरुकुत्साय योरगैः[6]।
तया रसातलं नीतो भुजगेन्द्रप्रयुक्तया ॥२॥

गन्धर्वान्[7]सोवऽधीत्तत्र वध्यांस्तान्[8] विष्णुशक्तिभृत्[9]।
नागाल्लब्धवरस्सर्पा दभयं स्मरता[11] मिमम् ॥३॥

त्रसदस्युः[11] पौरुकुत्सो[12] योऽनरण्यस्य देहकृत्।
हर्यश्वस्तत्सुतस्तस्मा[13] दरुणोऽथ त्रिबन्धुरः[14] ॥४॥

तस्य सत्यव्रतः पुत्रस्त्रिशङ्कुरिति विश्रुतः।
प्राप्तश्चण्डालतां[15] शापात् गुरोः कौशिकतेजसा ॥५॥

सशरीरो गतः स्वर्गमद्याऽपि दिवि दृश्यते।
पातितोऽवाक्शिरा देवैस्तेनैव स्तम्भितो बलात् ॥६॥

त्रैशङ्कवो हरिश्चन्द्रो विश्वामित्रवसिष्ठयोः।
यन्निमित्तमभू द्युद्धं पक्षिणोर्बहुवार्षिकम् ॥७॥

सोऽनपत्यो विषण्णात्मा नारदस्योपदेशतः।
वरुणं शरणं यातः पुत्रो मे जायतां प्रभो ॥८॥

### श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

मान्धातुरन्वयः प्रोक्तः सप्तमे यत्र गीयते। पुरुकुत्सस्य चाऽऽख्यानं हरिश्चन्द्रस्य चोत्तमम् ॥

---

1 ABGJ °तु 2 MMa मा° 3 ABGHJV यौ° 4 ABGJ श्च 5 ABGJ हारीत , H V हारित 6 MMa चो° 7 ABGJ °नव° 8 ABGJ वध्यान् वै , MMa वध्यश्चान् 9 ABGJMMa धृक् 10 ABGHJV °मिदम् 11 ABGJMMa °द्द° 12 HVW °कुत्स्यो 13 T W °र्त्यरु° 14 ABGJ बन्धन 15 ABGJ °श्चा

**मान्धातृपुत्रेति।** पुत्रप्रवरः पुत्रश्रेष्ठः। स पितामहेन युवनाश्वेन प्रवृत्तः पुत्रत्वेन स्वीकृतः। अत एव तस्य मान्धातृ-प्रवरत्वम्[1]। मुचकुन्दयोः[2] तत्सुतोऽम्बरीषस्य सुतः। इमे यौवनाश्वाम्बरीषहारीता मान्धातृगोत्रस्य प्रवरा अवान्तरविशेषस्य[3] प्रवर्तकाः। यद्वा प्रवृत[4] इति यौवनाश्वविशेषणम्। पितामहेन मान्धात्रा सह **आर्षेयप्रवरेण**[5] प्रवृत्तो मान्धाता प्रवरो येषां ते इमे अम्बरीष यौवनाश्वहारिताः। यथाऽऽहाऽऽश्वलायन[6]। हारितपुरुकुत्सपित्रशङ्खदर्भहिमवतना मान्त्रिरसाम्बरीष यौवनाश्वेति मान्धातरं उहैके ब्रुवते। आन्त्रिरसं मान्धात्रम्बरीषयौवनाश्वेति[-6]" इति ॥१॥

**नर्मदेति।** पुरुकुत्सस्य वंशं कथयिष्यन् आदौ तावत्तस्य विवाहं प्रभावञ्चाऽऽह। उरगैर्भ्रातुभिर्या दत्ता नर्मदा तया ॥२॥

**गन्धर्वानिति।** वध्यान् वधार्हान्। स च पुरुकुत्सो नागाल्लब्धवरोऽभूत्। वरमाह। इदं नर्मदया रसातलानयनादिकं स्मरतां पुंसां सर्पादभयमिति ॥३॥

**त्रसदस्युरिति।** देहकृत्पिता। त्रसदस्यो[7]· सुतोऽनरण्य इत्यर्थः ॥४॥

**तस्येति।** त्रयः शङ्खव इव दु खहेतवो दोषा यस्याऽसौ त्रिशङ्कुः। तदुक्तं हरिवंशे- "पितुश्चाऽपरितोषेण गुरोर्दोग्ध्रीवधेन च। अप्रोक्षितोपयोगाच्च त्रिविधस्ते व्यतिक्रम" (हरिवंशे.10-17) इति परिणीयमानविप्रकन्याऽपहरणात्क्रुद्धस्य गुरो पितु शापात्। कौशिकस्य विश्वामित्रस्य[8] तेजसा प्रावेण ॥५॥

**सशरीरीति।** तेनैव कौशिकेन ॥६॥

**त्रैशङ्कव इति।** पक्षिणो आडीबकयो[9]। विश्वामित्रो राजसूयदक्षिणाच्छलेन हरिश्चन्द्रं सर्वस्वमपहृत्य यातयामास। तच्छ्रुत्वा कुपितो वशिष्ठोऽपि विश्वामित्रं त्वमाडी[10] भवेति शशाप। सोऽपि[11] त्वं बको भवेति वशिष्टं शशाप तयोश्च युद्धमभूत् इति प्रसिद्धम् ॥७॥

"हरिश्चन्द्रो ह वैधस ऐक्ष्वाको राजा पुत्र आस"

इत्यादि श्रुतिप्रसिद्धं, हरिश्चन्द्रस्य चरितमाह - **सोऽनपत्य** इत्यादि यावदध्यायपरि[12] समाप्ति। कथं शरणं यातस्तदाह - पुत्रो मे जायताम् ॥८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

प्रासङ्गिक स्सौभरि[13]वृत्तान्तोऽनुवर्णित। अथ प्रस्तुतं मान्धातु वंशपरम्परां तद्वृत्तान्तञ्चाऽऽह - **मान्धातृपुत्रप्रवर** इति।

---

1 ABJ प्रवर्त्यत्वम् 2- -2 ABJ omit 3 ABJ "षप्र" 4 ABJ omits प्रवृत इति 5 ABJ वरणे 6- -6 ABJ "हरितकुत्सपित्रदर्भभैमगवानामान्त्रिरसाम्बरीष यौवनाश्वेति मान्धातार ह्यैके ब्रुवते, अतीत्यान्त्रिरस मान्धात्रम्बरीष यौवनाश्वेति" 7 ABJ "द्दं" 8 H V omit विश्वामित्रस्य 9 HV गृध्र 10 H V भासो 11 H V स च 12 ABJ यावत्स" 13 AB "रेर्वृ"

मान्धातुः पुत्राणां पुरुकुत्सादीनां मध्ये श्रेष्ठोऽयोऽम्बरीष इति प्रसिद्धः पुत्त्रः स पितामहेन युवनाश्वेन प्रवृतः पुत्रत्त्वेन स्वीकृतः, अत एव तत्सुतः अम्बरीषस्य सुतः युवनाश्वनामाऽभवत्, पितामहस्य नाम दध्र इत्यर्थः। यौवनाश्वस्तु तत्सुत इति पाठान्तरम्। तदा मान्धातृपुत्रश्रेष्ठोऽप्यम्बरीषः पितामहेन वृतत्वात् तत्पुत्रो अम्बरीष्यादिशब्दाभिधेयतां विहाय यौवनाश्वशब्दाभिधेयो बभूव इत्यर्थः। युवनाश्वस्यानन्तरापत्यं यौवनाश्विरम्बरीषः, "अत इञ्" (अष्टा 4-1-95) तस्याऽपत्यं यौवनाश्वः तस्यापत्य मित्यौत्सर्गिकोऽण् प्रत्ययः। तस्य यौवनाश्वस्य सुतो हरित इति प्रसिद्धो बभूव। इमे अम्बरीषयौवनाश्वहरिताः। मान्धातृप्रवराः मान्धातृसन्तानभूता इत्यर्थः। एवं मान्धातृसुतस्याम्बरीषस्य वंश उक्तः ॥१॥

अथ पुरुकुत्ससन्तानं वक्ष्यन् तावत्तद्वृत्तान्त माह- **नर्मदेति**। भ्रातृभिरुरगैनागैर्या नर्मदाख्या नागकन्यका पुरुकुत्साय दत्ता, तथा भुजगेन्द्रै र्भ्रातृभिः प्रचोदितया नर्मदया रसातलं नीतो यः पुरुकुत्सः स विष्णुशक्तिधृत् भगवदाहितबलः अत एवाऽवध्यानपि गन्धर्वानवधीत् हतवान्। ततो नागात् भुजगेन्द्रात् लब्धः प्राप्तो वरो येन तादृशो बभूव। वरस्वरूपं दर्शयति - "सर्पादभयं स्मरतामिममिति" (भाग. 9-7-3) इमं नर्मदया रसातलनयनादिवृत्तान्तं स्मरतां जनानां सर्पादभयं भयाभाव इति मद्वृत्तान्तं स्मरतां सर्पाद्भयं मा भूदित्येवंविधं वरं वृण्वानस्तं लब्धवानित्यर्थः ॥२,३॥

पुरुकुत्सस्यापत्यं पौरुकुत्स्य त्रसदस्यु[1] तं विशिंषन् तत्पुत्रमाह य स्त्रसदस्युरनरण्यस्य[2] देहकृत् अनरण्यमुत्पादितवा नित्यर्थः। तस्य अनरण्यस्य सुतो हर्यश्वस्तस्मात् हर्यश्वात्त्र्यरुणो[3] जज्ञे इति शेषः। अथ अत्र्यरुणात्रिबन्धुरः[4] ॥४॥

तस्य पुत्रस्सत्यव्रत, स एव त्रिशङ्कुरिति विख्यातः स च गुरोर्वसिष्टस्य शापात् चण्डालतां प्राप्त[5]गतः पश्चात्कौ शिकस्य विश्वामित्रस्य तेजसा तप· प्रभावेण सशिरीर एव स्वर्गं गत.। अधुनाऽपि दिवि नक्षत्ररूपेण दृश्यते। कथं चण्डालस्य स्वर्लोके अवस्थानम्? इत्यत्राऽऽह- पातित इति, कौशिकतेजसा स्वर्गं प्रापित स्तत्रत्यै· दैवैरवाकृशिराः पातितः पात्यमानः पुन स्तेनैव कौशिकतेजसैव बलात् स्तम्भित· स्वर्गान्तर निर्माणपूर्वकं कौशिकतेजसा दिव्येव स्थापित इत्यर्थः ॥५,६॥

त्रैशङ्कव· त्रिशङ्को· पुत्रो हरिश्चन्द्र :- तद्वृत्तान्तमाह यन्निमित्तं यो हरिश्चन्द्रो निमित्तं कारणं यस्य तत्, बहुवार्षिकं युद्धं पक्षिणोः पक्षित्वं प्राप्तयोःविश्वामित्रवशिष्ठयोः बभूव, विश्वामित्रो राजसूयदक्षिणाच्छलेन सर्वस्वापहारेण हरिश्चन्द्रं यातयामास। तच्छ्रुत्वा कुपितो हरिश्चन्द्रगुरुर्वशिष्ठ. विश्वामित्रं त्वमाडिर्भवेति शशाप, आडि र्बलाका "शारारिटारिडिश्च बलाका बिसकण्ठिकां" (अम. को 2-241) इति कोशात्। विश्वामित्रोऽपि वसिष्ठं त्वं भासो भवेति शशाप। तयोश्च युद्धमभूदिति श्रुतिप्रसिद्धम् ॥७॥

हरिश्चन्द्ररस्यैव चरित्रान्तरमाह - स इत्यादिना यावदध्यायसमाप्ति। स हरिश्चन्द्रोऽऽनपत्यः अपुत्रस्सन् अत एव विषण्णः दुःखितःआत्मा मनो यस्य सः नारदस्योपदेशात् वरुणं शरणं गत·। कथं शरण[6]यातः तत्राऽऽह - पुत्र इत्यादिना यजा इत्यन्तेन। वरुणं शरणमुपगम्य हे प्रभो! मम पुत्रो जायतां, तथा अनुगृहाण ॥८॥

---

1 AB "द्दु" 2 AB "द्दु" 3 AB अ" 4 AB अ" 5 TW omit गत 6 A गत ?

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

मातामहेन मातुः पित्रा शशबिन्दुना तस्याम्बरीषस्य सुत. मान्धाता प्रवरो येषां ते तथा ॥१॥

भातृभिः उरगैः पुरुकुत्साय मान्धातृज्येष्ठपुत्राय दत्ता भुजगेन्द्र प्रेरितया तया नर्मदया रसातलं नीतः ॥२॥

सः पुरुकुत्सः तत्र रसातले वध्याश्वान् गन्धर्वानवधीदित्यन्वयः। वधार्हा अश्वा येषां ते तथा तान्वा, नागाः किमस्मै ददुरिति तत्राऽऽह-सर्पादिति। इमं गन्धर्ववधलक्षणं पुरुकुत्सविक्रमं स्मरतां पुंसां सर्पादभयलक्षणं, लब्धवर इत्यर्थ ॥३॥

पुरुकुत्सस्यापत्यं पौरुकुत्स· य स्त्रसद्दस्युरनरण्यस्य देहकृत् पिता। अनरण्यस्त्रसद्दस्युसुत इत्यर्थ· ॥४॥

तस्य त्रिबन्धुरस्य सुतस्सत्यव्रत त्रिशङ्कुरिति नामद्वयेन विश्रुत इत्यर्थ.। गुरोर्वसिष्ठस्य शापात् कौशिकस्य विश्वामित्रस्य, तेजसा प्रभावेण ॥५॥

सशरीरः मानुषशरीरसहितः स्वर्गं गत. अद्याऽपि दिवि व्योम्नि, दृश्यते, मनुजैरिति शेष.। स्वर्गं गत कथं मानवैः दृश्यत इति, तत्राऽऽह पातित इति। तेन विश्वामित्रेण बलात्तपश्शक्ते ॥६॥

त्रैशङ्कव त्रिशङ्कोरपत्यं हरिश्चन्द्रो, यो हरिश्चन्द्रो निमित्तं यस्य तद्यन्निमित्तं पक्षिणो· सहायिनोः, "पक्ष. पार्श्व मरु त्साध्य सहायबलिभित्तिषु" (वैज. को.6-1-35) इति यादव ॥७॥

"नाऽपुत्रस्य लोकोऽस्ति" इति शक्यार्थज्ञानात् विषण्णमना अनपत्य· स हरिश्चन्द्रो नारदोपदेशात् हे प्रभो! मे पुत्रो जायतामिति निवेद्य वरुणं शरणं गतः इत्यन्वय· ॥८॥

**यदि वीरो महाराज[1] तेनैव त्वां यजे इति।**
**तथेति वरुणेनाऽस्य[2] पुत्रो जातस्तु रोहितः ॥९॥**

**जातस्सुतस्त्वनेनाऽङ्ग[3] मां यजस्वेति सोऽब्रवीत्।**
**यदा पशुर्निर्दशः स्या द्‌थ मेध्यो भवेदिति ॥१०॥**

**निर्दशे च[4] समागत्य यजस्वेत्याह सोऽब्रवीत्।**
**दन्ताः पशो प्रजायेरन्[5] अथ मेध्यो भवेदिति ॥११॥**

**जाता दन्ता यजस्वेति स प्रत्याहाऽथ सोऽब्रवीत्।**
**यदा पतन्त्यस्य दन्ता ह्यथ[6] मेध्यो भवेदिति ॥१२॥**

---

1 TW यजा 2 MMa नोक्ते 3 ABGJMMa "स्सुतो ह्यने" 4 ABGJ स आ" 5 ABGJMMa यजाये" 6 ABGJMMa अथ

**पशो र्मे पतिता दन्ता यजस्वेत्याह सोऽब्रवीत्।**
**यदा पशोः पुनर्दन्ता जायन्तेऽ थ पशुश्शुचिः ॥१३॥**

**पुनर्जाता यजस्वेति स प्रत्याहाऽथ सोऽब्रवीत्।**
**सान्नाहिको[2] यदा राजन् राजन्योऽथ पशुः शुचिः ॥१४॥**

**इति पुत्रानुरागेण स्नेहयन्त्रितचेतसा।**
**कालं वञ्चयता तं तमुक्तो देवस्तमैक्षत ॥१५॥**

**रोहितस्तदभिज्ञाय पितुः कर्म चिकीर्षितम्।**
**प्राणप्रेप्सुर्धनुष्पाणिररण्यं प्रत्यपद्यत ॥१६॥**

**श्रीध० यदिति**। यदि वीर पुत्रो मे जायेत तर्हि तैनैव पुरुषपशुना त्वां[3] यजे यजामीति[-3] भाषया, तथेत्युक्तवता वरुणेन निमित्तेनाऽस्य रोहितो नाम पुत्रो जात ॥९॥

**जात इति**। जाते[4] पुत्रे[-4], स वरुणो जातस्सुत , मामनेन[5] यजस्व इत्यब्रवीत् यदा पशु र्निर्दशो निर्गतदशदिवस[6]· स्यादित्यत्र स राजाऽब्रवीदित्यनुषङ्ग ॥ १०-१२॥

**पुनरिति**। राजन् हेवरुण! राजन्य पशुर्यदा सान्नाहिक कवच[7] बन्धनार्ह सङ्ग्रामसमर्थ·, अथ तदा शुचि ॥१४॥

**इतीति**। इत्येवं त त कालं वञ्चयता राज्ञोक्त प्रार्थितो देवो वरुण तं तं कालं प्रत्यैक्षतेत्यर्थ ॥१५॥

**रोहित इति**। चिकीर्षितमात्मना पशुना वरुणयजनम् ॥१६॥

**वीर०** हे महाराज[1] वरुण[1] यदि वीर मम पुत्रो जायेत तर्हि तेनैव पुरुषपशुना त्वां यजै यजानीति भाषाबन्धेन शरणं गत । ततस्तथैवाऽस्त्विति उक्तवता वरुणेन निमित्तेनाऽन्येन हेतुना अस्य हरिश्चन्द्रस्य पुत्रो जात , स च रोहित इति प्रसिद्ध ॥९॥

ततो वरुण "**तवपुत्रस्तु** जात , तेन पुत्रेण पुरुषपशुना मां यजस्व इत्यब्रवीत्। एव मुक्तवन्तं वरुणं हरिश्चन्द्र आह- यदा पशुर्निर्दश निर्गतदशदिन तदा मेध्यो भवेत् यागयोग्यो भवेदिति ॥१०॥

ततो वरुण· तथैवास्त्वित्युक्त्वा निर्दशे दशस्वहस्सु व्यतीतेषु आगत्य यजस्वेत्याह। ततो हरीश्चनद्र - 'अस्य पुरुषस्य पशोर्दन्ता यदि जायेरन् तदा मेध्यो भवेदित्यब्रवीत् ॥११॥

ततो वरुणस्तथैवाऽ स्त्वित्युक्त्वा, जातेषु दन्तेषु पुनरेत्य दन्ता अस्य जाता· यजस्व इत्युवाच। ततस्स हरिश्चन्द्रो यदाऽस्य पुरुषपशोर्दन्ता पतन्ति तदाऽयं मेध्यो भवेदित्यब्रवीत् ॥१२॥

---

1 ABGJMma "र्निप" 2 MMa "हु" 3- -3 H V यज्ञे यजानीति 4- -4 H V omit 5 HV यज 6 H V दिन 7 ABJ सम्बन्धार्ह

ततस्तथैवेत्युक्त्वा वरुण· पतितदन्तं कुमारमवलोक्य अस्य दन्तास्तु पतिता , मां यजस्व इत्याह। अथ हरिश्चन्द्र·पुन· पशो र्यदा दन्ता जायेरन् तदा पशु· शुचिर्मेध्यो भवेदित्याह ॥१३॥

तत· पुनर्जातदन्तमवलोक्य 'अस्य दन्ता स्तु जाता·, यजस्व' इत्याह वरुण । ततस्स हरिश्चन्द्रो हे राजन्! वरुण! अयं राजन्य , अत एव पुरुषपशुर्यदा सान्नाहिक सन्नाहयोग्यः[1] आयुधग्रहणयोग्य युद्धयोग्य इति यावत्। तदा शुचिर्मेध्यो भवेदिति ॥१४॥

इति इत्थं पुत्रे अनुरागो यस्य, पुत्रे य स्नेहस्तेन यन्त्रितं त वशीकृतं चेतो यस्य, अत एव तं तं निर्दशादिरूपं काल वञ्चयता हरिश्चन्द्रेणोक्तो देवो वरुण· तदस्य सन्नाहयोग्यत्वमैक्षत। प्रत्यवेक्षमाणो बभूव ॥१५॥

एवं स्थिते, तदा रोहित पितुस्तच्चिकीर्षितं आत्मपशुना वरुणयजनमभिज्ञाय प्राणप्रेप्सु जिजीविषु धनु· पाणौ यस्य तथा भूतोऽरण्यं जगाम ॥१६॥

**विज०** एतदेव विवृणोति- यदिति। हे महाराज! यदि वीर पुत्रो जायेत, तर्हि तेन **पुत्रेण** त्वां यजे पुरुषपशुना त्वां यक्ष्ये इति हरिश्चन्द्रेणोक्ते वरुणेनाऽपि तथाऽ स्त्वित्युक्ते नाम्ना रोहित पुत्रो जात इत्यन्वय । 'अथैनमुवाच वरुणं राजानमुपधाय पुत्रो मे जायतां तेन त्वां यजा इति तथेति स वरुणं राजानं उपससार पुत्रो मे जायतां तेन त्वा यजा इति तथेति तस्य ह पुत्रो जज्ञे रोहितो नामा' इति ब्राह्मणञ्च इममेवाऽर्थं मनुवदति ॥९॥

अथ वरुण आगत्य हरिश्चन्द्रमवादीदित्याह - जात इति। अङ्ग ! ते सुतो जात , अनेन पुत्रेण गा यजस्वेति। स हरिश्चन्द्रो वक्ति सोऽब्रवीदिति "तं होवाचाऽजनि वै ते पुत्रो यजस्व माऽनेनेति स होवाच यदा वै पशुर्निर्दशो भवत्यथ स मेध्यो भवति निर्दशोऽन्यस्त्वथ त्वा यजा इति" ॥१०॥

तथेति इति निर्दश दशाहातिक्रान्त निर्दशे जाते सह निर्दश आस तं होवच निर्दशोन्वभूत् यजस्व माऽनेनेति यद्यदा पशोर्दन्ता जायेरन्, अथ तदा पशु शुचि स्यात् अनन्तरं त्वा यक्ष्य इत्यब्रवीत् हरिश्चन्द्र सहोवाच यदा वै पशोर्दन्ता जायन्ते अथ स मेध्यो भवति, दन्ता स्वस्य जायन्ताम्, अथ त्वा यजा इति तथेति, इति स वरुण प्रत्याह हरिश्चन्द्रम् अस्य दन्ता जाता अथ मां यजस्वेति तस्य ह दन्ता जज्ञिरे तं होवाचाज्ञतया अस्य दन्ता यजस्व मानेनेति अज्ञत अजायन्त यदाऽस्य पुत्रस्य दन्ता· पतन्ति अथ स शुद्धो भवेत् इत्यब्रवीत् ॥११,१२॥

"सहोवाच यदा वै पशोर्दन्ताः पद्यन्ते अथ स" मेध्यो भवति दन्तान्वस्य पद्यन्त्वामथ त्वा निपातिता अथ मां यजस्वेति। वरुण आह तंहोवाच पतिता अस्य दन्ता यजस्वेति मानेनेति। "यदा पशो र्दन्ता पुनर्जायन्ते अनन्तरं पशु· शुद्ध स्यादिति" स हरिश्चन्द्रोऽब्रवी त्सहोवाच यदा वै पशोर्दन्ता ॥१३॥

---

1 A B सा°

पुनर्जायन्तेऽथ स मेध्यो भवति। दन्तान्वस्य पुनर्जायन्तामथ त्वा यजा इति तथेति तस्य दन्ताः पुनर्जज्ञिरे इति अस्य दन्ताः पुनर्जाताः अथ मां यजस्वेति स वरुणो हरिश्चन्द्रमेत्याऽऽह - तं होवाचाज्ञतया अस्य पुनर्दन्ता यजस्व मोऽनेनेति । यदा राजन्य· क्षत्रिय· सान्नाहिक सन्नाहयोग्य शस्त्रास्त्रग्रहणयोग्य· कवचवान्वा राजपशुः शुचिरिति। स हरिश्चन्द्रोऽब्रवीत् ॥१४॥

स होवाच यदा वै क्षत्रिय सान्नाहिको भवत्यथ स मेध्यो भवति, सन्नाहन्तु प्राप्तोऽथ त्वा यजा इति तथेति सह सन्नाहं प्राप तं होवाच सन्नाहं तु प्राप्तो यजस्व मानेनेति इति। ननु हरिश्चन्द्र· किमर्थं कालमक्षिपत् इति तत्राऽऽह इतीति। स्नेहपाशबद्धचेतसा दशाहादिलक्षणं तं तं कालं वञ्चयता हरिश्चन्द्रेणोक्तो वरुणो देव· तमैक्षत प्रत्याह चेत्यन्वयः। तथात्मयागकाल मैक्षतेति वा ॥१५॥

स तथेत्युक्त्वा पुत्रं आमन्त्रयामास तथाऽयं वै मह्यं त्वामददाद्धन्ता त्वयाऽहमिमं यजा इति सह नेत्युक्त्वा धनुरादायाऽरण्यमुपात्तस्यौ स संवत्सरमरण्ये सञ्चचार इति ब्राह्मणप्रसिद्धं पितुश्चिकीर्षितं वरुणमुद्दिश्याऽऽत्मयजनं कर्तुमिष्टं तत्कर्माऽभिज्ञाय प्राणप्रेप्सुरात्मजीवनेच्छु· रोहितो धनुरादाय वनं प्राप ॥१६॥

**पितरं वरुणग्रस्तं श्रुत्वा जातमहोदरम्।**
**रोहितो ग्राममेयाय तमिन्द्रः प्रत्यषेधत ॥१७॥**

**भूमेः पर्यटनं पुण्यं[1] तीर्थक्षेत्रनिषेवणैः।**
**रोहितायाऽऽदिशच्छक्रः सोऽप्यरण्ये[2]ऽवसत्समाम्[-2] ॥१८॥**

**एवं द्वितीये [3]तार्तीये चतुर्थे पञ्चमे तथा।**
**अभ्येत्याभ्येत्य स्थविरो विप्रो भू[4]त्वाऽथ वृत्रहा ॥१९॥**

**षष्ठं संवत्सरं तत्र चरित्वा रोहितः पुरीम्।**
**उपव्रजन्नजीगर्ता दक्रीणान्मध्यमं सुतम् ॥२०॥**

**शुनश्शेपं पशुं पित्रे प्रदाय समवन्दत।**
**ततः पुरुषमेधेन हरिश्चन्द्रो महायशाः ॥२१॥**

---

1 W पुण्यती" 2- -2 MMa चरत्समा , W "ऽवसत्समा 3 ABGJMMa तृतीये 4 ABJMMa "त्वाऽऽह

मुक्तोदरोऽयजद्देवान् वरुणादीन् महत्कथः।
विश्वमित्रोऽभवत्तस्मिन् होताध्वर्यु रथात्मवान् ॥२२॥

जमदग्नि र्वसिष्ठोऽभूत् ब्रह्माऽऽयास्यस्तु सामगः।
तस्मै तुष्टो ददाविन्द्रः शातकौम्भमयं रथम् ॥२३॥

शुनश्शेपस्य माहात्म्यमुपरिष्टात्प्रवक्ष्यते॥
सत्यसारां धृतिं दृष्ट्वा सभार्यस्य च भूपतेः ॥२४॥

**श्रीध० पितरमिति**। ततश्च कुपितेन वरुणेन ग्रस्तमत एव जातं महोदराख्यरुग्यस्य तं पितरं श्रुत्वा ॥१७॥

**भूमेरिति**। समां वर्षम् ॥१८॥

**एवमिति**। द्वितीये तृतीयादौ च वर्षे वृत्रहा अभ्येत्याभ्येत्य तथैव तं प्रत्यषेधत किञ्चित्तिश्चदुक्त्वा प्रत्यषेधतेत्यर्थ ॥१९-२२॥

**मुक्तेति**। वरुणेन मुक्तमुदरं पूर्वोक्तमहोदरव्याधिः यस्य महत्सु कथा यस्य सः। आत्मवान्। जमदग्निरध्वर्यु रभूत् ॥२२॥

**जमदग्निरिति**। आयास्यो मुनि सामग उद्गाता अभूदित्यर्थ ॥२३॥

**शुनश्शेपस्येति**। उपरिष्टाद्विश्वामित्रसुताख्यानप्रसङ्गेन ॥२४॥

**वीर०** ततः कुपितेन वरुणेन ग्रस्तम्, ग्रासस्वरूपमेवाऽऽह- जातमहोदर मिति। क्रुद्धेन वरुणेनोत्पादितमहोदरमित्यर्थ । एवम्भूतं पितरं वरुणग्रस्तं श्रुत्वा रोहित ग्राममेयाय आगन्तुमुद्यत , तमिन्द्र प्रत्यषेधत मागा इत्युक्तवान्॥१७॥

एवं मुक्त्वा शक्रः पुण्यानां तीर्थानां क्षेत्राणाञ्च निषेवणैः भूमे पर्यटनं रोहितायाऽऽदिशत्। ग्रामं मा गाः, किन्तु, भूमण्डलपर्यटनेन उपायेन अनृतदोषजं पितुर्महोदरं निवर्तयेत्याहेत्यर्थ । सोऽपि रोहितः शक्रेण यथोक्तं तथैवारण्ये पुण्यतीर्थक्षेत्रेषु कतिचिद्वत्सरानचरत् ॥१८॥

---

1 MMa महाक्रतौ , W महायशा । 2 ABGJ "ता चाध्यर्यु रात्म" , MMa "ताऽथाऽध्वर्युरात्म" 3--3 ABGJMMa "रभूद्ब्रह्मा र्वसिष्ठोऽयास्य 4 ABGJ "चक्ष्यते , MMa "चक्षते 5 M Ma सरि 6--6 ABJ महद्दुदर यस्य 7 ABJ omit तृतीयादौ 8.ABJ प्रतिषेधन् 9 ABJ "दाह॥ 10--10 ABJ omit 11 ABJ अ" 12 H v प्रसङ्गे। 13 TW भूप"

एवं द्वितीये, तृतीये, चतुर्थे पञ्चमे चेत्येवं प्रतिवर्षं वृत्रहा इन्द्र· स्थविरो वृद्धो विप्रो भूत्वा अभ्येत्याभ्येत्य प्रत्यषेधत। ग्रामं मागा·, किन्तु भूमण्डलं पर्यटेत्युक्तवानित्यर्थ· ॥१९॥

ततो रोहित· षष्ठं संवत्सरं चरित्वा पुरीमुपगच्छन् अजीगर्ताद्भार्गववंशजात्तन्मध्यमसुतं शुनश्शेपमक्रीणात् ॥२०॥

तश्च पित्रे हरिश्चन्द्राय प्रदाय स्वप्रतिनिधितया यागार्थं दत्वा समविन्दत ग्रामं प्राप्य सुखं स्थितो बभूवेत्यर्थ.॥ ततो महायशा महारथो हरिश्चन्द्र· पुरुषमेधेन क्रतुना ॥२१॥

वरुणादीन् देवानयजत्। मुक्तोदर मुक्तमपगतमुदरं महोदरं यस्य तथाभूतश्च बभूवेत्यर्थ । तत्र पुरुषमेधे विश्वामित्रो होता, बभूव। भृगुवंशज आत्मवान् ॥२२॥

जमदग्निरध्वर्युरभवत्। वसिष्ठो ब्रह्मा बभूव। अगस्त्यो मुनि सामग· उद्गाता बभूव एवं महर्षिभि कारितेन पुरुषमेधेनाऽराधित· इन्द्रस्तुष्ट· तस्मै हरिश्चन्द्राय शातकुम्भमयं म्वर्णमयंरथ मदात्। कथं शुनश्शेप· पित्रा प्रचोदितोऽपि आत्मवध मन्वमन्यत? कथन्तरां विश्वामित्रादयो ब्रह्मर्षय· ब्रह्मर्षिसुतं शुनश्शेपमालब्धवन्त ? इत्यपेक्षायामाह शुनश्शेपस्येति। उपरिष्टात् षोडशेऽध्याये शुनश्शेपस्य माहात्म्य स्वप्राणरक्षणाय विश्वामित्रशरणवरणं, तेन संस्तुतानां वरुणादीनां देवतानामनुग्रहा दनालम्भनमित्यादिकं सर्वं वक्ष्यते इत्यर्थ । तत सभार्यस्य भूपते· हरिश्चन्द्रस्य सत्य मननृतमेव सारो वलं यस्यां तां धृतिं दृष्ट्वा ॥२३,२४॥

**विज०** तदनन्तरं पितरं वरुणग्रस्तमित्यारभ्य, प्रदाय समवन्दत इत्यन्तेन ग्रन्थेनाऽथ हैक्ष्वाकं वरुणो जग्राह, तस्यो दरं जज्ञे इत्यादि ब्राह्मणप्रसिद्धोऽर्थोऽनूद्यते। एयाय आजगाम प्रशंसाया रूपप्प्रत्ययविधानात् प्रशस्तपुरूषरुप. विप्र इति यावत्। इन्द्रो वृद्धविप्रो भूत्वा तं रोहितमेत्य प्रत्युवाच "अपपरी वर्जने" अषृा 1-4-88 इति सूत्रान्निषेधवचनं कृतवान् न गन्तव्यमित्युक्तवान् इत्यर्थ ॥१७॥

तत्र युक्तिमाह - भो रोहित! नानाश्रन्ताय पुण्यतीर्थक्षेत्रनिषेवणेन नानाविधेन श्रान्तस्य जनस्य श्री ऐहिकामुष्मिकसम्प-दस्तीति नृषद्वर अनुक्तकारी गुर्वादिवचनमशृण्वन् स्तम्भवत्तिष्ठन् चर्मकारो वा जन पाप इति शुश्रुम. तर्हि सञ्चरमाणस्य एकाकिनश्चोरादिभयं स्यादिति नाऽऽशङ्कनीयम्। चरत· पुंस इन्द्र एव सखा भवतीति। अत चरैव त्वं अटनं कुरुष्व एवं कश्चित् ब्राह्मणोऽय मवोचत् कथञ्चरैवेति नृषद्वरोऽनुक्तकारी चर्मकृच्च प्रकीर्तित इति इन्द्रेणोपदिष्टो रोहित· किं चकारेति तत्राऽऽह सोपीति। समा वत्सरान् ॥१८॥

एवं कति वत्सरान् अरण्ये चचारेति तत्राऽऽह-एवमिति। द्वितीयं संवत्सरमरण्ये चचारेति आदिब्राह्मणश्चाऽस्मिन्नर्थे

मानं[1] पुष्पिण्यौ जङ्घे. चरत· पुष्पिणो गर्भिणी जङ्घयोर्बलाच्चरति अटति नैकत्राऽऽ स्ते तथा भूष्णुर्बुभूषु पुरुष· आत्मा सततं पर्यटँन्फलग्राहिः फल ऋह्णाति यथा किं तत्फलमाप्नोतीति तत्राऽऽह शेर इति। प्रपथे महामार्गे तीर्थयात्राश्रमेण हता अस्य पुंस सर्वे पाप्मान· शेरे शीर्णा भवन्तीति। अतस्त्वमपि चरन् फलं लभस्वेत्यर्थ·। चरैवेत्युक्तार्थं आसीनस्य निर्व्यापारस्य भगो भाग्यमप्यास्त आसीनं भवति समृद्धं न भवति तिष्ठत उत्थानं कुर्वतो भग ऊर्ध्व स्तिष्ठति उत्थानं करोति पुरुषच्छायेव निपद्यमानस्य निकृष्टं[3] गच्छतो भगश्शेते निद्रां करोति[3] निकृष्टो भवतीत्यर्थ । चरत पुण्येन यथा सञ्चरमाणस्य पुंस भगश्चरति चरति प्राप्नोति तमिति शेष·। "भगो योन्यां भगो यत्ने यशोवीर्यार्कभूतिषु" (वैज को· 6-5-58) इति। कलि शयान इत्यादिना कारणगुण कार्यपरो योजनीय·। तथा हि - कलौ जातः शयान· तामसत्वेन शुभप्रवृत्तिशून्यो भवति। द्वापरे जात· सञ्जिहान संशयान· इदं वा अद्रो वेति तत्त्वं न निश्चिनोति। "सम्बन्धिपुत्रौ दायादौ द्वापरौ युगसंशयौ" (वैज· को 7-1-30) इति। त्रेतायां जात· उत्तिष्ठन् धर्मार्थकामलक्षण कार्योद्योगी भवति। कृतयुगे जात कृतं विहितं चरन् सम्पद्यते ज्ञानसम्पन्नो भवतीति अतस्त्वं चरको भवेत्यर्थ·। "युगेऽक्षपाते पर्याप्ते कृतं क्लीबे हितेऽर्थवत् (वैज को 6-5-21) इति। भूमौ चरन् पर्यटन् मधु सुखं विन्दति वै। अशनक्लेशोऽपि नाऽस्तीत्याह- स्वादिष्ठ मुदुम्बरं फलविशेषं चरन् भक्षयन् भूमिपर्यटनं कुर्वत इत्थम्भावमाह चरन्निति। श्रवणमननाभ्यां स्वादु पुन· पुनस्सेवाबुद्धिजनक मुदुम्बरम् अत्युत्तमं वरं वरणीयं सर्वगुणाभिरामं हरिं चरन् शरणं गच्छन्, नत्वेति वा नित्य मटन् कोऽस्तीति तत्राऽऽह-सूर्यस्येति। यश्चरन् अविरतमटन् न तन्द्रयते आलस्यं न करोति। तस्य सूर्यस्य श्रेमणं अव्याहतगमनशिक्षां पश्य। तवाऽप्येवमरण्ये चरत· जीवनक्षेम स्यादिति वृत्रहा रोहितमशिक्षतेत्यन्वय ॥१९॥

एवं शिक्षितस्तत्राऽरण्ये षष्ठं संवत्सरं चरित्वा पुरीमुपगच्छन् रोहितोऽजीगर्तात् मध्यमं सुतं शुनश्शेपमक्रीणात् गवां शत दत्वा स्वीकृतवान् ॥२०॥

स्वीकृत्य शुनश्शेपाख्यं पशु हरिश्चन्द्राय पित्रे प्रदाय पितर समवन्दतेत्यन्वय । षष्ठं संवत्सर मरण्ये चचार। सोऽजीगर्तं सौयवसिमृषि अशनयापरीतमरण्यमुपेयाय। तस्य ह त्रय· पुत्रा आसु· शुन· पुच्छ , शुन शेप , शुनो लाङ्गूल इति। तं होवाच ऋषेऽहं ते शतं ददाम्यह मेषामेकेनाऽऽत्मानं निष्क्रीणा इति। स ज्येष्ठं पुत्रं निगृह्णात् उवाच नन्विममिति नो एवेममिति कनिष्ठं माता तौह मध्यमे सम्पादयाञ्चक्रतु । शुनश्शेपे तस्य ह शतं दत्वा स तमादाय सोऽरण्याद्ग्राममेयाय, स पितरमेत्योवाच तत ! हन्ताह मनेनात्मानं निष्क्रीणा इति स वरुणं राजानमुपससारानेन त्वा यजा इति तथेति भूयान्वै ब्राह्मण क्षत्रियादिति वरुण उवाचेति तत पुरुषपशुप्राप्त्यनन्तरं महायशा हरिश्चन्द्र पुरुषमेधेन पुरुषपशुर्हिंसालक्षणयज्ञेन ॥२१॥

वरुणादीन् यजं स्ततस्स राजा मुक्तोदरो जलोदररोगरहितोऽभवदित्यन्वय । तस्मा एतं राजसूयं यज्ञक्रतुं प्रोवाच

---

1 MMa इयाय 2 ABM °न 3- -3 M omits

तमेतमभिषेचनीये पुरुषं पशुमालेभे[1] इति सोऽभिषेचनीय इति तादर्थ्ये सप्तमी. वरुण मुद्दिश्येति आलेभे[2] आलम्भनं उपक्रान्तवान् तस्य ह विश्वामित्रो होता आसीत्[3] जमदग्नि रध्वर्युर्वसिष्ठो ब्रह्मा, आयास्य[4] उद्गातेति ब्राह्मणार्थत्वेनाऽस्मिन् यज्ञे होत्रादीनाह विश्वामित्र इति ॥२२॥

आयास्य[5] एव सामग· आयास्यसामग[6]. साम गायतीति सामग उद्गातेत्यर्थ·। आत्मा परमात्मा अस्याऽस्तीति आत्मवान् तस्मै शुनश्शेपाय ॥२३॥

उपरिष्टाच्चतुर्दशेऽध्याये भूपतेर्भार्यया। सहितस्य सत्यसारं सज्जनहितकरं वाक्यं धृतिं लौकिकमार्गादचलनं दृष्ट्वा ॥२४॥

**विश्वामित्रो भृशं प्रीतो ददावविहतां गतिम्।**
**मनः पृथिव्यां तामद्भिस्तेजसाऽऽपोऽनिलेन तत्[7] ॥२५॥**

**खे वायुं धारयंस्तच्च भूतादौ[8] तं महात्मनि**
**तस्मिञ्ज्ञानकलां ध्यात्वा तयाऽज्ञानं विनिर्दहन् ॥२६॥**

**पीत्वा[9] तां स्वेन भावेन निर्वाणसुखसंविदा।**
**अनिर्देश्याप्रतर्क्येण तस्थौ विध्वस्तबन्धनः ॥२७॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे सप्तमोऽध्याय ॥७॥

**श्रीध०** अविहतां गतिं ज्ञानम् ता मेव गति माह - सार्धद्वाभ्याम्[10] विश्वामित्र इति। मन· पृथिव्यां धारयन् ज्ञानकलां ध्यात्वा तयाऽज्ञानं विनिर्दहन्, ताश्च हित्वा[11] मुक्तबन्धनस्तस्थावित्यन्वयः "मनो मूलो हि संसार·, मनश्चान्नमयम्। "अन्नमयं हि सौम्य मन·" छान्दे:उः 6-5-4 इति श्रुतेः। अतोऽन्नशब्दवाच्यायां पृथिव्यां मनो धारयन् एकीकुर्वंस्तां पृथिवी मद्भिरेकीकुर्वन् अपस्तेजसा, तत्तेजोऽनिलेन ॥२५॥

---

1 AB "ल" 2 AB "ल" 3 A omits आसीत् 4 AB अ" 5 AB अ" 6 AB अ" 7 MMa साऽम्भो 8 MMa शब्दादौ 9 ABGJMMa हित्वा 10 ABJ सार्धाभ्या 11 H V omit मुक्त्वा

**खे इति**। तश्च खे आकाशे[1], तच्च भूतादौ अहङ्कारे, तश्च[2] भूतादिमहङ्कारम्। महात्मनि महत्तत्त्वे तस्मिन्विषयाकारं व्यावर्त्य ज्ञानकलां ज्ञानांशमात्मत्वेन ध्यात्वा, तया ध्यानवृत्तिरूपया आत्मावरकमज्ञानं विनिर्दहन् ॥२६॥

**पीत्वेति**। निर्वाणसुखसंविदा, ताश्च हित्वा मुक्तबन्धनस्सन् अनिर्देश्येनाऽप्रतर्क्येण स्वेन भावेन स्वस्वरूपेण तस्थौ ॥२७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्यख्यायां नवमस्कन्धे सप्तमोऽध्याय.॥७॥

**वीर०** विश्वामित्रो नितरां प्रीतस्तस्मै अविहतां गतिं सावधानां गतिमात्मज्ञानरूपां ददौ। स्वात्मपरमात्मयाथात्म्य ज्ञानयोगमुपदिश्य तन्निष्ठमचीकरदित्यर्थः। अत्र सभार्यस्य सत्यसारां धृतिं दृष्ट्वेत्यनेन ब्रह्मसुतालम्भनप्रवृत्तहरिश्चन्द्रविषयक कोपेन तद्यज्ञे आर्त्विज्यं प्राप्य दक्षिणाच्छलेन सर्वस्वमपहृत्य पीडयमानस्याऽपि तस्य सत्यानुवर्तित्वं दृष्ट्वा इति। इति हासार्थोऽभिप्रेतः। अवहितां गतिमेवाऽऽह-मन इति सार्धाभ्याम्, हरिश्चन्द्रो विश्वामित्रोपदिष्टज्ञानयोगनिष्ठाप्रभावेन मन आदीन् पूर्वपूर्वानुत्तरोत्तरेषु पृथिव्यादिषु धारयन् ध्यायन् तया ज्ञानकलया[3] अज्ञानं[-3] विनिर्दहन् निश्शेषं दहन् ॥२५, २६॥

तां ज्ञानकलां हित्वा निर्वाणसुखसंविदा अनिर्देश्याप्रतर्क्येण स्वेन भावेन ध्वस्तबन्धनस्तस्थावित्यन्वय·। मनः पृथिव्यामित्यादेरयमर्थः। "अन्नमयं हि सोम्य मन·" छान्दो· उ 6-5-4 इति प्रकारेण मनसोऽन्नशब्दवाच्यपृथिव्याप्यायितस्यैव व्यापारक्षमत्वा न्मनोव्यापारः पृथिव्यायत्त इति मनोनियमनार्थं पृथिव्यां तत्संश्लिष्ट मनुसन्दधे। अयाप्ययक्रमानुसन्धानमाह **तामिति**। तां पृथिवीमद्भिः सह संश्लिष्टामापस्तेजसा तत्तेजोऽनिलेन वायुना तश्च खे आकाशे संश्लिष्टं तच्चस्वंभूतादौ तामसाहङ्कारे, **तमहङ्कारं** महात्मनि महत्तत्त्वस्याऽऽत्मनि तद्व्यापके प्रधाने, कार्यं हि कारणत्वव्याप्यं महत्तत्त्वद्वारा तत्कारणे लयमनुसन्दधान **इत्यर्थः**। तस्मिन् प्रधाने स्थितां ज्ञानकलां ज्ञानशब्दवाच्यस्य जीवस्य कलां विद्यां ध्यात्वा उपासनात्मकविद्याविशिष्टं प्रत्यगात्मान मनुसन्धायेत्यर्थः। तया विद्यया अज्ञानं देहात्माभिमानस्वतन्त्रात्माभिमानरूपं विनिर्दहन् अपनयन् तां हित्वा उपासनरूपकलां **हित्वा** स्मृतिसन्ततिरूपोपासनविशिष्टवेषस्य स्वाभाविकत्वाभावादुपायभूतकलाविशिष्टत्वं न स्वरूपान्तर्भूतमिति मत्वेत्यर्थः। **ध्वस्तं** पुण्यपापात्मकं बन्धनं यस्मात् तथाभूत· निर्वाणसुखसंविदा निर्दुःखसुखस्वरूपज्ञानाख्येनानिर्देश्येन दृष्टवस्तुसजातीयतया

1 H v omit आकाशे 2 H V पञ्च 3--3 T W omit

निर्देष्टुमशक्येनाऽप्रतर्क्येण देवोऽयं मनुष्योऽयमिति तर्कितुमशक्येन, अनेन पदद्वयेन प्राकृतनामरूपाभ्यामनिर्देश्यत्वमुक्तम्। स्वेन भावेन भावशब्द स्तद्वत्पर अपहतपाप्मत्वादिस्वभावविशिष्टेन स्वरूपेणेत्यर्थ । तस्थौ मुक्तो बभूव ॥२७॥

इति श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्याया सप्तमोऽध्याय ॥७॥

**विज०** अविहतामप्रतिषिद्धा गतिं ज्ञानलक्षणा विद्यां भार्याया· एतद्द्वयमप्यस्तीति प्रकाशनाय सभार्यस्येत्युक्तम्। उपासनाकाले मन आदितत्त्वाना जडाना स्वस्वकारणे विलयस्तदभिमानिदेवतानां भिन्नानां भिन्नेषु प्रवेशलक्षणो विलयः स्वरूपाणां स्वस्वरूपेष्वेकीभावलक्षणश्चिन्तनीय इत्यतस्तं प्रकारमाह - मन पृथिव्यामिति "अन्नमयं हि सोम्य' मन आपोमय· प्राण स्तेजोमयी वाक्" छान्दो उ 6-5-4 इति श्रुते । अन्न पृथिवीत्यत पार्थिवम्मन पृथिव्यां विलीयतेति चेतनं मनो धारयत्तां पृथिवीमद्भीरप्सु अम्भस्तेजसा सह्यिते तत्तेजोऽनिलेन ग्रस्यते त वायु खे आकाशे लीनं तच्च खं शब्दादावहङ्कारे तमहङ्कारं महात्मनि महत्तत्त्वे तदभिमानिन तदभिमानिन्यात्मनि चतुर्मुखे ब्रह्मणि प्रविष्टम् ॥२५॥

तस्मिन्महत्तत्त्वे ज्ञानकलां बुद्धितत्त्व लीयते। तदभिमनिनो सरस्वतीतत्सायुज्येन स्थीयते इति ध्यात्वा तया बुद्धिकलया ज्ञानमस्वरूपचैतन्यं निर्दहन् ॥२६॥

ताम्बुद्धि अस्वरूपविषया हित्वा विध्वस्त बन्धन येन स तथा स[1] हरिश्चन्द्र स्वभावेन स्वमहिम्ना निर्वाणे शरीररहिते सुख संविदौ। यस्य स तथा। तेन सच्चिदानन्देन अनिर्देश्यश्चाप्रतर्क्यश्च तत्तथा। तेन ब्रह्मणा सह तस्थौ - "सह ब्रह्मणा विपश्चिता"। इति श्रुति । "आत्मन आकाशस्सम्भूत (तैत्ति उ 2-1-1) इति च श्रुतेः। शब्दादौ शब्दकारणे महति आत्मनि हरौ ज्ञानकलां ज्ञानलक्षणकामधेनुं ज्ञानपूर्ण इति ध्यात्वा तया तथा ध्यातया अज्ञानं तन्निमित्तसंसारं भस्मीकुर्वन् तां संसृतिं हित्वा परित्यज्य निर्वाणसुखसविदा अशरीरानन्दज्ञानलक्षणेन मादृशैरनिर्देश्याप्रतर्क्येण स्वेन स्वभावेन स्वरूपभूतैश्वर्येण तस्थाविति वा ॥२७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहस्यां संहिताया
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचिताया पदरत्नावल्यां टीकायां
नवमस्कन्धे सप्तमोऽध्याय ॥६॥

---

1 AB omit स

# अष्टमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच-

हरितो रोहितसुतश्चम्पस्तस्माद्विनिर्मिता।
चम्पापुरी सुदेवोऽतो विजयो यस्य चाऽऽत्मजः ।।१।।

भरुकस्तत्सुतस्तस्माद्वृकस्तस्माच्च बाहुकः।
सोऽरिभिर्हृतभू राजा सभार्यो वनमाविशत् ।।२।।

वृद्धं तं पञ्चतां प्राप्तं महिष्यनुमरिष्यती।
और्वेण जानताऽऽत्मानं प्रजावन्तं निवारिता ।।३।।

आज्ञायाऽस्यै सपत्नीभिर्गरो दत्तोऽन्धसा सह।
सह तेनैव सञ्जातः सगराख्यो महायशाः ।।४।।

सगरश्चक्रवर्त्याऽऽसीत् सागरो यत्सुतैः कृतः।
यस्तालजङ्घान् यवनाञ्छकान् हैहयबर्बरान् ।।५।।

नाऽवधीद्गुरुवाक्येन चक्रे विकृतवेषिणः।
मुण्डान् श्मश्रुधरान् कांश्चिन्मुक्तकेशार्धमुण्डितान् ।।६।।

अनन्तर्वाससः कांश्चिदबहिर्वाससोऽपरान्।
सोऽश्वमेधैरयजत सर्ववेदसुरात्मकम् ।।७।।

और्वोपदिष्टयोगेन हरिमात्मानमीश्वरम्।
तस्योत्सृष्टं पशुं यज्ञे जहाराश्वं पुरन्दरः ।।८।।

**श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावर्थदीपिका**

अष्टमे रोहितस्योक्तो वंशो यत्राऽभवन्नृप । सगर कपिलाक्षेपान्निर्दग्धा यस्य सूनव हरित इति। चम्पस्तस्मादभूत्, येन चम्पापुरी विनिर्मिता। अतश्चम्पात् सुदेव ।।१।

---

1--1 MMa "ता दासीत् च" 2 H V रुरुक , TW भेरुक , MMa तरुक 3 ABGJMMa "स्तस्यापि 4 MMa "राज्यस्तु , TW भूराज्य 5 H V ०ऽम्भसा सहा। , Mma "ऽत्र साहस । 6 H V देव सुरोत्तमम्। 7 H V "त्सृष्टप"

**भरुक** इति। हृता भूर्यस्य ॥२॥

**वृद्धमिति**। और्वेण ऋषिणा। आत्मानं देहम्। प्रजावंतं सगर्भम् ॥३॥

**आज्ञायेति**। गरो विषम्। तेन गरेण सहैव जात· ॥४,५॥

**नेति**। गुरुवाक्येन और्ववचनेन कांश्चिदहत्वैव विकृतवेषिणश्चक्रे। तदेवाऽऽह-मुण्डानिति। मुक्तकेशान् अर्धमुण्डितांश्च ॥६,७॥

**और्वेति**। और्वेणोपदिष्टो योग· उपायः तेन ॥८॥

## वीरराघवविदुषालिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

रोहितस्य सुतो हरित तस्माच्चम्पो, जज्ञे इति शेषः। तं विशिनष्टि - चम्पापुरी विनिर्मितेति, चम्पेनेति शेषः। अथ चम्पात्सुदेवो जज्ञे तस्य सुतं वदन् तं विशिनष्टि - यस्य सुदेवस्याऽत्मजो विजय ॥१॥

तस्य विजयस्य सुतो भेरुक। तस्माद्भेरुकात् वृक.। तस्याऽपि वृकस्याऽपि बाहुकः पुत्र.। तस्य वृत्तान्तमाह - स बाहुक शुत्रुभिर्ह-तभू हृतराज्यश्च सभार्यो वनं प्राविशत् ॥२॥

तत्रैव वृद्धं स्थविरं पञ्चतां मरणं प्राप्तं बाहुकं तत्पत्नी अनुमरिष्यती अनुमरणं कर्तुमुद्युक्ता सती। आत्मानं स्वदेहं प्रजावन्तं सगर्भं जानता और्वेण ऋषिणा निवारिता ॥३॥

तत एव तामन्तर्वन्ती माज्ञाय प्रत्यभिज्ञाय अस्यै सपत्नीभिः गरो विषमन्धसा अन्नेन सह दत्तः। तत स्तेन गरेण सहैव सञ्जात सगराख्य पुत्र गरेण सह जातत्वात्सगर इति प्रसिद्ध स च महद्यशो यस्य तथाभूतः ॥४॥

चक्रवर्ती सप्तद्वीपाधिपतिरासीत्। तं विशिंषन् तद्वृत्तान्तमाह - यस्य सगस्य सुतै· सागर· ममुद्र· कृत·। करणं अत्र खनन न तु निर्माणं प्रियव्रतरथचरणनेमिकृतत्वस्य पञ्चमे कथितत्वात्। सागरै· कृतत्वात् समुद्रोऽपि सागराख्यो बभूव। किञ्च य सगर तालजङ्घादिसंज्ञान् यवनान् म्लेच्छान् गुरुवाक्येन गुरोरौर्वस्य वचनगौरवेणेत्यर्थ· नाऽवधीत् न हतवान्। किन्तु विकृतवेषिणः विरूपिण चक्रे। तदेवाऽऽह- मुण्डानिति। कांश्चिन्मुण्डान् कांश्चित् श्मश्रुमात्रधरान्, कांश्चिच्च मुक्तकेशान् अर्धमुण्डितान् ॥५,६॥

कांश्चिच्च न विद्यतेऽन्तर्वासोऽन्तरीयवस्त्रं येषां तान्, कांश्चित् न विद्यते बहिर्वासो बहि.·रिधानीयं वासो येषां तथाभूतां श्चक्रे इति पूर्वेणाऽन्वय ॥७॥

---

1- -1 W omits 2 W omits सगर्भं 3 B T W omit एव 4- -4 W omits

किञ्च स सगर· और्वेणोपदिष्टो योग उपायस्तेनाश्वमेधै· सर्ववेदात्मकं सर्वदेवतात्मकं सर्वान्तरात्मानं सर्वस्य नियन्तारञ्च हरिमयजत आराधितवान्। तस्य सगरस्य यज्ञे शततमे उत्सृष्टं पशुमश्वं इन्द्रो जहार हृतवान् ॥८॥

**श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली**

तस्माद्धरिताच्चम्प· । तस्माच्चम्पा निर्मिता पुरी चम्पा नाम। अतश्चम्पात् यस्य सुदेवस्य ॥१॥

स बाहुकः ॥२॥

अनुमरिष्यती अनुमरणं कर्तुमिच्छन्ती प्रजावन्तं पुत्रवन्तं तस्या आत्मानं देहं जानता इयमन्तर्वत्नीति विदुषेत्यर्थ· ॥३॥

सहसा हन्तीति साहसो गरोऽत्र गर्भे पुत्रमाज्ञाय सपत्नीभिरस्यै बाहुकपत्न्यै दत्त इत्यन्वय । तेन गरेण विषेण सह वर्तत इति सगर· ॥४॥

"यस्य स्यादाज्ञया पृथ्वी चक्रवर्ती स ईर्यते" इति सगरपुत्रा· सागरा तै कृतत्वात् सागर समुद्र तालजङ्घादयो द्वीपान्तरवासिनो निर्देश्या· ॥५॥

पामरान् मा वधी रिति गुरोर्वाक्येन उत्सृष्टं मन्त्रयित्वेति शेष , उपाकृतमित्यर्थ ॥६-८॥

**सुमत्यास्तनया दृप्ताः पितुरादेशकारिणः।**
**हयमन्वेषमाणास्ते समन्तान्न्यखनन्महीम् ॥९॥**[1]

**प्रागुदीच्यां दिशि हयं ददृशुः कपिलान्तिके।**
**एष वाजिहरश्चोर आस्ते मीलितलोचनः ॥१०॥**[2]

**हन्यतां हन्यतां पाप हति षष्टिसहस्रिणः।**
**उदायुधा अभिययुरुन्मिमेष तदा मुनिः ॥११॥**

**स्वशरीराग्निना तावन्महेन्द्रहतचेतसः।**
**महद्व्यतिक्रमहता भस्मसादभवन् क्षणात् ॥१२॥**

**न साधुवादो मुनिकोपभर्जिता नृपेन्द्र पुत्रा इति सत्त्वधामनि।**
**कथं तमो रोषमयं विभाव्यते जगत्पवित्रात्मनि खे रजो भुवः ॥१३॥**[3]

1 HV "न्तादख" 2 ABGJ श्चैर 3 W यथा

**यस्येरिता सांख्यमयी दृढेह नौर्यया मुमुक्षु स्तरते दुरत्ययम्।**
**भवार्णवं मृत्युपथं विपश्चितः परात्मभूतस्य कथं पृथङ्मतिः ॥१४॥**

**योऽसमञ्जस इत्युक्तः स केशिन्या नृपात्मजः।**
**तस्य पुत्रोंऽशुमा न्नाम पितामहहिते रतः ॥१५॥**

**असमञ्जस आत्मानं दर्शयन्नसमञ्जसम्।**
**जातिस्मरः पुरा सङ्गात् योगी योगाद्विचालितः ॥१६॥**

**श्रीध०** तस्य द्वे भार्ये सुमति केशिनी च। तत्र सुमत्याः **पुत्राणां** प्रभावं मृत्युश्चाऽऽह - **सुमत्या**[1] इत्यादिना षड्भि· ॥९,१०॥

**हन्यतामिति**। एष वाजिहर इति ब्रुवन्तोऽभिययु । षष्टिसहस्राणि परिच्छेदकतया सन्ति येषाम्। उन्मिमेष लोचनोन्मीलनं चकार ॥११,१२॥

केचित्तु कपिलस्य कोपाग्निना दग्धा इति वर्णयन्ति तन्निराकरोति - **नेति** । कुत इत्यत आह। सत्त्वधामनि शुद्धसत्त्वमूर्तौ। जगत· पवित्र विशुद्धिकर. आत्मा यस्य तस्मिन् कथं विभाव्यते न सम्भाव्यत इत्यर्थ·[3]। असम्भावनायां दृष्टान्त· भुवो रजः खे कथं सम्भाव्यते इति ॥१३॥

**किञ्च, यस्येति**। यस्य येनेरिता प्रवर्तिता तस्य विपश्चितः सर्वज्ञस्य कथं पृथङ्मतिः अरिमित्रादिभेददृष्टिः ॥१४॥

तदेवं सुमत्या पुत्रेषु मृतेषु केशिन्या पौत्रेणाश्व समानीत·। पितृव्योद्धरणप्रयत्नश्च कृत इति दर्शयितुमाह - य इति योऽसमञ्जस· इति[4] उक्तः केवलमज्ञै । वस्तुतस्तु समञ्जस एव सतुकेशिन्या. सुतः क्षेत्रजत्वमिव[5] प्रतीतं वारयति। तस्यैव नृपस्याऽऽत्मनो देहाज्जात· ॥१५॥

तस्य कथामाह चतुर्भि **असमञ्जसेति**। असमञ्जसः पुरा पूर्वजन्मनि योगी सन् सङ्गाद्धेतो· योगाद्विचालितः। अत इदानीं जातिस्मरस्सन् सङ्गपरिहाराय जनमुद्वेजयन् लोके गर्हितं ज्ञातीनाश्व विप्रियं कर्माऽऽचरन् क्रीडतो बालान् सख्यां प्रास्य त्प्राक्षिपदिति द्वयोरन्वयः ॥१६॥

**वीर०** सगरस्य द्वे भार्ये सुमति केशिनी च तत्र सुमत्याः **पुत्राणां** षष्टिसहस्रसंख्यानां प्रभावं मृत्युश्चाऽऽह - सुमत्या

---

1 ABJ इति 2 ABJ omit वि 3- -3 ABJ सम्भाव्यते? 4- -4 H V omit 5 H V प्रतीति°

इति षड्भिः। सुमत्यास्तनाया दृप्ता बलेन गर्विता ते च पितुराज्ञाकारिणो यज्ञियमश्वमन्वेषमाणा समन्ततो महीं न्यखनन् ॥९॥

एवं खनन्त प्रागुदीच्यां ऐशान्यां दिशि रसातलस्थस्य कपिलस्यान्तिके, इन्द्रेण स्थापितमिति शेष । चरन्तं हयमश्वं ददृशुः। ततोऽयमेव अस्य हर्ता [1]चोरस्सन्नपि मीलिते लोचने यस्य तादृश आस्ते ॥१०॥

अतोऽयं पापात्मा हन्यतां हन्यतामित्येवं वदन्त षष्टिसहस्रिण सगरात्मजा उद्यतायुधास्सन्तोऽभिमुख माययु । तदा मुनि कपिल उन्मिमेष लोचनोन्मीलनं चकार ॥११॥

महेन्द्रेण हृतं चेतो येषान्ते महति कपिले व्यतिक्रमेणापराधेन हताश्च अत स्वशरीरेष्वेवोत्पन्नेनाऽग्निना क्षणाद्भस्मसा दभवन् भस्मीभूता बभूवुः ॥१२॥

केचित्तु कपिलस्य कोपग्निना दग्धा इति वर्णयन्ति। तान्निराकरोति- नेति द्वाभ्याम्। नृपेन्द्रस्य सगरस्य पुत्रा मुने कपिलस्य कोपाग्निना भर्जिता दग्धा इति न साधुवाद , अपि तु स्वापराधान्नष्टा इत्येव वादेस्साधुरित्यभिप्राय । कुत ? इत्यत आह सत्त्वधामनि केवलशुद्धसत्त्वाश्रये जगत पवित्र शुद्धिकर आत्मा देहो यस्य तस्मिन् कपिले रोषात्मकं तम कथं विभाव्यते सम्भाव्यते? असम्भावनायां दृष्टान्त रज., भुव इति शेष । भुव स्सम्बन्धि रज खे आकाशे यथा न सम्भाव्यते तद्वत्। नहि रज आश्रयं अपितु पादाहत्यादिवशादुत्थितं सत् खमिवाऽऽभाति, तथा सागराणामपराध एव मुनिस्थतया प्रतीत न तु तस्मिन् दोषस्य प्रसक्तिरिति दृष्टान्ताभिप्राय ॥१३॥

किञ्च। यस्य येन कपिलेनेह लोके ईरिता प्रवर्तिता सांख्यात्मिका नौर्नौका साङ्ख्यस्य भवार्णवतारणोपायत्वात् नौकात्वेन निरूपणम्। यस्याऽऽस्यत इति पाठान्तरम्। तदा यस्य आस्यतो मुखात् प्रादुर्भूता साख्यात्मिका दृढा नौरित्यर्थ । नावं विशिनष्टि। यया नावा मुमुक्षव संसारबन्धान्मोक्तुमिच्छवो जना दुरतिक्रमणीय मृत्योस्सकाशात् भय यस्मिन् तं भवार्णवं तरन्ति तस्यैवम्भूतस्य विपश्चितस्सर्वज्ञस्य परात्मन परानुग्रहैकमनस· परमात्मभूतस्य वा कथं पृथङ्नति शत्रुमित्रादिबुद्धि र्विभाव्यते इत्यनुषङ्ग ॥१४॥

तदेवं सुमत्या पुत्रेषु मृतेषु केशिन्या पौत्रेणाऽश्वस्समानीत । पितृणामुद्धरणोद्योगश्च कृत इति दर्शयितुमाह - य इत्यादिना यावदध्यायसमाप्ति। योऽसमञ्जस इत्यक्त केवलमज्ञै , वस्तुतस्तु समञ्जस स तु केशिन्या सुत , क्षेत्रजत्वप्रतीतिं वारयति- तस्यैव नृपस्य सगरस्याऽऽत्मनो देहाज्जात तस्याऽसमञ्जसस्य पुत्रोंऽशुमानिति प्रसिद्ध पितामहस्य सगरस्य हिते रत अंशुमत· पितामहहितेरतत्वकथनेन असमञ्जसस्य तत्प्रतिकूलत्वं सूचितम् ॥१५॥

---

1 A चौ'

तदेव दर्शयन् तद्वृत्तान्त माह - **असमञ्जस** इति चतुर्भिः। असमञ्जसः पुरा पूर्वजन्मनि योगी सन् सङ्गाद्धेतोः योगाद्विचालितः। अत इदानीं पौर्वदैहिकयोगप्रभावेन जातिस्मरः स्वजन्म स्मरन् पुनः सङ्गपरिहाराय समञ्जसमप्यात्मानं असमञ्जसमिव लोकस्य दर्शयन् ॥१६॥

**विज०** सगरस्य सुमतिः केशिनीति द्वे भार्ये। तत्र सुमतिर्गरुडस्य स्वसा तस्याः पुत्राः ॥९,१०॥

षष्टिसहस्रसंख्या येषामस्तीति षष्टिसहस्रिणः उन्मिमेष नेत्रविकासं कृतवान् ॥११॥

महेन्द्रेण हृतं चेतो येषां ते तथा मुग्धा इत्यर्थः। महतो व्यतिक्रमेण हताः। चोरो हन्यतामित्यादि वचनलक्षणा पराधेनैव स्वकृतदोषहताः नृपपुत्राः न तु मुनिकोपदग्धाः ॥१२॥

शारदजलवन्नित्यप्रसन्नमूर्तौ हरौ तमोगुणकारणस्य क्रोधस्य प्रवेशदुष्प्रदत्वात् क्रोधसम्भूतपापाटवीदहनत्वाच्चेत्याह - **न साधुवाद** इति। नृपेन्द्रपुत्रा मुनिकोपभर्जिता· इत्ययं साधुवादो नाऽस्ति, असम्भवात्। कथमिति तत्राऽऽह- सत्त्वधामनीति। शुद्धस्फटिकविशदज्ञानमूर्तौ श्रीकपिलदेवे रोषमयं तमः कथं विभाव्यते, उत्पत्तुमवकाशं लभते, न कथमपि। किञ्च। जगत्पवित्रीकरण समर्थस्वभावे। "आत्मा जीवे धृतौ देहे स्वभावे परमात्मनि" वैजः कोः 6-1-6 इति यादवः। कथमिव भुवो रजः पार्थिवो धूलिः खेयथेत्ययं लुप्तोपमः वेदे दृष्टत्वात् ॥१३॥

इतोऽपि तमोगुणकार्यस्य कोपस्य हरावनवसर इत्याशयेनाऽऽह-**यस्येति**। इह जगति सदनुग्रहाय यस्य येनेरिता ग्रन्थरूपेण कथिता दृढा अपेक्षितफलदानाय समर्थाऽन्यत्र नूतनत्वेन बलिष्ठा सांख्यमयी सम्यग् ज्ञानमयी नौस्तरी यया ज्ञाननावा मुमुक्षुर्मुक्तियोग्य· पुरुषो मृत्युपथं मृत्योर्मार्गं दुरत्ययं ज्ञाननावमन्तरेणाऽत्येतुमशक्यं भवार्णवं तरते, तादृशी येन सन्दृष्टेत्यर्थः। तस्य परात्मभूतस्य साक्षान्नारायणावतारस्य विपश्चितः शुद्धज्ञानवत· श्रीकपिलस्य पृथङ्मतिः रोषरूषिता मतिः कथं सम्भाव्यते इत्यन्वयः ॥१४॥

योऽसमञ्जस इत्युक्तः, हे नृप! स केशिन्याः सगरभार्याया[1] आत्मजः पितामहः सगरः ॥१५॥

पुरा पूर्वजन्मनि योगी योगाभ्यासनिपुणोऽसमञ्जसः सङ्गाद्धेतोः योगादीश्वरोपासनालक्षणाद्विचालितो[2] हि यस्मात्तस्मात् पूर्वजातिं स्मरतीति जातिस्मरः आत्मानमसमञ्जसम् असमचेतस्सङ्गतमनतिरमणीयं दर्शयन् **सङ्गं** जहाविति शेष· ॥१६॥

---

1 A.B 'या' 2 B M Ma 'च'

आचरन् गर्हितं[1] लोके ज्ञातीनां कर्म विप्रियम्।
सख्यां क्रीडतो बालान् प्राऽस्यदुद्वेजयञ्जनम् ॥१७॥

एवंवृत्तः परित्यक्तः पित्रा स्नेहमपोह्य वै।
योगैश्वर्येण बालांस्तान् दर्शयित्वा ततो ययौ ॥१८॥

अयोध्यावासिनस्सर्वे बालकान्पुनरागतान्
दृष्ट्वा विसिस्मिरे राजन् राजा चाथान्वतप्यत[2] ॥१९॥

अंशुमांश्चोदितो राज्ञा तुरगान्वेषणे[3] ययौ।
पितृव्यखातानुपथं भस्माऽन्ते[4] ददृशे हयम् ॥२०॥

तत्राऽऽसीनं मुनिं वीक्ष्य कपिलाख्यमधोक्षजम्।
अस्तौत् समाहितमनाः प्राञ्जलिः प्रणतो महान् ॥२१॥

अंशुमानुवाच[5-5]-

न पश्यति त्वां परमात्मनोऽजनो न बुध्यतेऽद्यापि समाधियुक्तिभिः।
कुतोऽपरे[6] यस्य मनश्शरीरधीर्विसर्गसृष्टा[7] वयमप्रकाशाः[8] ॥२२॥

ये देहभाजस्त्रिगुणप्रधाना गुणान् विपश्यन्त्युत वा तमश्च।
यन्मायया मोहितचेतसस्ते विदुः स्वसंस्थं न बहिःप्रकाशाः ॥२३॥

तं त्वा महं ज्ञानघनं[9] स्वभावप्रध्वस्तमायागुणभेदमोहैः।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिर्विभाव्यं कथं विमूढः[10] परिभावयामि ॥२४॥

**श्रीध° एवमिति**। एवं विधं वृत्तं कर्म यस्य सः ॥१७-१९॥

**अंशुमानिति**। पितृव्यैः[11]खातमनु यः पन्था तं ययौ। भस्मान्ते[12] भस्मसमीपे ॥२०,२१॥

**नेति**। * "अजानन्तोऽवजानन्तोऽप्यनुकम्प्या वयन्त्विति। तुष्टाव षड्भिरीशान मंशुमानेवमाशय"।

---

1 H V "तो 2 ABGJMMa चाप्य" 3 ABGJMMa "रत्रा" 4 ABGJ "स्मान्ति, MMa "स्माऽपि 5--5 H M Ma T V W omit 6 ABGJMMa तस्य 7 Mma omit "धी 8 MMa "ष्टाऽवयव" 9 MMa घनस्स्वभाव 10 ABGJ हि 11 ABJ "तृव्यखा 12 ABJ "स्मान्ति * श्रीधरीयोऽय श्लोक

अजनोऽजो ब्रह्माऽपि त्वामद्याऽपि न पश्यति न च बुध्यते। कथम्भूतम्? आत्मन स्वस्मात् परं परमेश्वरम्। कैर्हेतुभि·। समाधियुक्तिभि· समाधिनाऽप्यपरोक्ष न पश्यति युक्तिभि· परोक्षमपि सम्यक् न बुध्यत इत्यर्थ । अपरे अर्वाचीनास्तु कुतस्त्वां पश्येयु । अर्वाचीनत्वे हेतु । तस्य ब्रह्मणो मनश्च शरीरञ्च धीश्च सत्त्वतमोरज·कार्याणि ताभिर्ये विविधा देवतिर्यङ्नराणां सर्गास्तेषु सृष्टास्तत्राऽपि वयमप्रकाशा अज्ञा कुत· पश्यामेत्यर्थ. [1] ॥२२॥

अपरे तर्हि किं पश्यन्ति? तदाह य इति। ये देहभाजस्ते स्वस्मिन् सम्यक् स्थितमपि त्वां न विदु·। किन्तु गुणानेव विपश्यन्ति। अथवा न गुणान् अपि तु तम एव पश्यन्ति। यतस्त्रिगुणा बुद्धिरेव प्रधानं येषां, अतो बहिरेव प्रकाशो ज्ञानं येषाम्। बुद्धिपरतन्त्रतया जाग्रत्स्वप्नयोर्विषयान्पश्यन्ति सुषुप्तौ तम एव केवलं, न तु निर्गुणं त्वाम्। सर्वत्र हेतु· यद्यत यस्य तव माययेति वा मोहितं चेतो येषां ते ॥२३॥

तथाऽप्यहं विचारेण ज्ञास्यामीति चे त्तत्राऽऽह **तमिति**। त त्वामहं विमूढ कथं परिभावयामि विभावयामि। कथम्भूतम्? ज्ञानघनं शुद्धज्ञानमूर्तिम्। स्वत एव प्रध्वस्तौ मायागुणनिमित्तौ भेदमोहौ येषां तैर्विभाव्यं विचिन्त्यम्। अयं भाव·। ज्ञानघनत्वान्न तावज्ज्ञानविषयत्वम्। विचारविषयत्वेऽपि मायागुणैरभिभूतोऽ हं न विचारेऽसमर्थ इति ॥२४॥

**वीर०** लोके गर्हितं ज्ञातीनाञ्च विप्रियं कर्माऽऽचरन् कुर्वन् जनमुद्वेजयन् भीषयन् क्रीडतो बालानादाय सरय्वां नद्यां प्रास्यत् प्राक्षिपत् ॥१७॥

एवंविधवृत्तोऽत एव पित्रा पुत्रास्नेहमपोह्य परित्यक्त निर्यापित· पुनर्योगप्रभावेन तान् प्रक्षिप्तान् बालान् दर्शयित्वा ययौ ॥१८॥

तदा पुन रागतान् बालकान्[2] दृष्ट्वा अयोध्यावासिनस्सर्वे जना विसिस्मिरे विस्मयं गतवन्त । हे राजन्! राजा सगर· अन्वतप्यत। अहो बत! तप्प्रभावमजानता मया स निर्यापित इत्यनुतप्तवान् ॥१९॥

अथांऽशुमत कथामाह - राज्ञा सगरेण तुरगान्वेषणे निमित्ते चोदित· आदिष्टोंशुऽमान् पितृव्याणां सम्बन्धी य: खात· तमनु य पन्थास्तं ययौ। तत्र भस्मान्ते (न्ति) भस्मसमीपे हयमश्वं ददृशे ॥२०॥

तत्रोपविष्ठमधोक्षजावतारभूतं कपिलाख्यं मुनिमवलोक्य महात्मा अंशुमन् प्रणत· कृतप्रणाम· प्राञ्जलि· समाहितमनाः तुष्टाव ॥२१॥

---

1 HV पश्येमे, 2 AB बालान्

स्तुति मेवाऽऽह - **नेत्यादिभिष्षड्भि** । तावत्त्वत्प्रभावमजानन्तोऽपि वयं त्वयाऽनुकम्प्या इत्यभिप्रयन् द्रुर्ज्ञेयत्वेन स्तौति। यस्य परमात्मनस्तव तत्त्वं याथात्म्यं जन· समाध्यादिभिरुपायैरद्धा स्फुटं न बुध्यते न जानाति, यतो योगिजन एव न बुध्यते। कुत· कथमपरेऽन्येऽयोगिनो वयं तस्य तव मन आदिभिर्विशेषेण सृज्यन्ते इति मनश्शरीरधीविसर्गा हिरण्यगर्भादय तै सृष्टा अप्रकाशा देहावयवमात्रगोचरज्ञानवन्त बुध्यन्ते। तत्र शरीरं प्रधानं धी सङ्कल्पविशेष । अजन इति पाठान्तरम्। तत्र अजनोऽजो ब्रह्मा समाध्युपायैस्त्वामद्याऽपि न जानाति कुतस्तस्याऽजनस्य मनश्च शरीरश्च धीश्च ताभि यैर्विविधा देवतिर्यङ्नरादीनां सर्गा तेषु सृष्टा । तत्राऽपि वयमज्ञाः न जानीम इत्यर्थ. ॥२२।

अपरे तर्हि किं बुध्यन्ते इत्यत्राऽऽह-**य** इति। ये देहभाजस्ते त्रिगुणप्रधाना गुणत्रयपरवशा गुणान् शब्दादीन् पश्यन्ति विषयानेवानुध्यायन्तीत्यर्थ.। उत वा अपि च तमश्शब्द प्रधानपर प्रधानकार्यं शरीरश्च पश्यन्ति न तु स्वसंस्थं स्वात्मनि स्थितं त्वां विदु·। तत्र हेतुं वदन् देहभाजो विशिनष्टि - यस्य तव मायया मोहितं चेतो येषान्ते अत एव बहि प्रकाशा परागर्थज्ञानिन गुणत्रयपरवशत्वात् भगवन्मायामोहितत्वेन परागर्थैकज्ञानित्वाच्च न त्वां विदु·, अपि तु देहं तदुपभोग्यान् विषयांश्च विदु रित्यर्थ ॥२३॥

एवं सामान्यतो लोकस्य परमात्मयाथात्म्यावेदित्वमुक्तं, स्वस्मिन्नुपसंहरन् उक्तानुक्तगुणैर्विशिषंन् स्तौति - **तमिति** तमुक्तविधं ज्ञानघनमानन्दात्मकज्ञानैकरसं स्वभावत उत्पत्तेरारभ्य प्रध्वस्त मायामयभेदेषु प्रकृतिकार्यशरीरभेदेषु मोहभ्रान्ति ज्ञानम् आत्माभिमान इति यावत्। स येषां तै । सनन्दनाद्यैर्मुनिभिरपि केवलं विभाव्यं चिन्तनीयं न तु दृष्टमित्यभिप्राय । त्वामहं मूढ· कथं परिभावयामि मनसा विचारयामि ॥२४॥

**विज०** असमञ्जसत्वं दर्शयति - आचरन्निति। किं तत् ज्ञातीना विप्रियङ्कर्मेति तत्राऽऽह- सरय्वा मिति। जनमुद्वेजयन् कम्पयन् तीरे क्रीडतो बालान् सरय्वां नद्यां प्रास्यत् प्राक्षिपदित्यन्वय ॥१७॥

तत किमभूदिति तत्राऽऽह- एवमिति। योगैश्वर्येण युष्मद्बाला एते इति तान्नदीजलमग्नान् बालान् दर्शयित्वा तत· स्थानात् ययावित्यन्वयः ॥१८॥

विसिस्मिरे विस्मयं चक्रु अथाऽसमञ्जसे गते राजा चाऽन्वतप्यत पश्चात्तापं प्राप्त इत्यन्वय ॥१९॥

पितरि गर्तेऽशुमता किमकारीति तत्राऽऽह- अंशुमानिति। पितृव्या असमञ्जससहोदरा तेषामनुमार्गं पितृव्याणां शरीरभस्म हय मपि ददृशे इत्यन्वय·। भस्मान्ति इति पाठे भस्मसमीपे हयं दृष्टवानित्यर्थ ॥२०॥

अस्तौत् स्तुतवान् ॥२१॥

स्तुति र्द्वेधा - विद्यमानगुणविषया, अविद्यमानगुणविषया च। तत्र द्वितीयाऽपि विद्वदविद्वद्विषयभेदेन द्विविधा। उभयस्याऽपि स्तुतिफलं न लभ्यते विदुष आत्मन्यविद्यमानगुणकथनेन ह्रिया स्तोतरि द्वेषसम्भवादविदुषोऽज्ञानेन मुखविकासादि सम्भवेऽपि स्तोतुः स्तुतिफलप्रदानशक्तिसाम्र्यभावात्, अतः प्रथमैव श्रेयसीति भावेन स्तौति - न पश्यतीति। अजनोऽजो विरिञ्चः यस्य परमात्मनोंऽशं त्वां न पश्यति अनन्तत्वेन साक्षादपरोक्षीकर्तुं न शक्नोति तर्हि परोक्षतो जानाति किं नेत्याह - नेति। समाधियुक्तिभिरेकाग्रीकृतचित्तयोगैरद्याऽपि न बुध्यते सम्यक् न जानातीत्यन्वय·। "पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति मेरोरूपं विपश्चित·" इतिवत्। न यस्य तत्त्वमिति पाठे परमात्मनो यस्य तव तत्त्वं न बुध्यत इति न, किन्तु बुध्यते। तथाऽपि सम्यक् न जानातीत्यर्थः। "कश्छन्दसां योगमावेद धीर· को धिष्ण्या प्रतिवाचं पपाद" इति श्रुतेः। न पश्यतीति रूपस्य नानोपायविशारद ज्ञानस्य परमात्मनस्तव तत्त्वं न बुध्यते इति वा। एकस्याऽभावेऽप्यन्यस्य सम्भव· किं न स्यात्, तथा दृष्टत्वात् इत्याशङ्क्य इतरविषयोच्यं न्यायो न परमात्मविषय इति भावेनाऽऽह- कुत इति। अपरे विरिञ्चादितरे समाधियुक्तिरहिताः कुतो हेतो· पश्यन्ति? जानन्ति दर्शनादिसद्भावेन किमपि लिङ्गमित्यर्थ·। अनेन चोद्यं कथं परिहृतं इति तत्राऽऽह- तस्येति। तस्य विरिञ्चस्य मनस· शरीराच्च विसर्ग· विशिष्टा सृष्टि येषां मरीच्यादीनां ते मन·शरीरविसर्गा तै सृष्टेषु शरीरावयवेषु श्रोत्रादिषु प्रकाश·। अभिमानित्वेन स्थितिलक्षणो येषां दिक्सूर्यादीनां ते मनशरीरविसर्गसृष्टावयवेप्रकाशा । [1]अनेन इन्द्रादयो मरीच्यादयः उभयेऽपि प्रत्युक्ता·। अत्र जनो न पश्यति न बुध्यते इत्यङ्गीकारे कुतोऽपरे इत्येतद्गतार्थत्वेनाऽसङ्गतं स्यादिति बहुवचनमेवाऽवशिष्यते इति पदच्छेदेन विरिञ्च एव ग्राह्य ॥२२॥

ये देहभाजश्शरीरिण· ते त्रिगुणप्रधाना· सत्त्वप्रधाना· रज·प्रधाना· तम प्रधाना· इति त्रिविधा·। तत्र रज·प्रधानाः राजसाः, मानुषा·, त्रिगुणप्रधानाः धर्मार्थकामपरायणा गुणान् सर्गादीनेव पश्यन्ति न मोक्षं तम.प्रधानास्तामसा असुराः यस्य हरेर्मायया बन्धशक्त्या मोहितचेतस· अन्यथाज्ञानपूर्णबुद्धयः तमो वा अन्धं तम एव विशिष्टं पश्यन्ति अनुभवन्ति। अत्र निमित्तमाह - त इति। ते स्वसंस्थं स्वहृदि स्थितं विष्णुं न विदुरिति यत्तस्मादिति शेष । तर्ह्यचेतना· किन्ते? इति नेत्याह - बहिरिति। बहिर्देहादा वेव प्रकाशो येषां ते तथा अनात्मज्ञानिन इत्यर्थ । "आत्मैव महैप्य" इति श्रुतेः। ज्ञानाश्रयत्वेन चेतनत्वेऽपि यथार्थज्ञानं नाऽस्तीति भाव· ॥२३॥

ये सत्त्वप्रधानाः सात्त्विकप्रकृतय· तै· सनन्दनाद्यैर्मुनिभि र्विभाव्यं उपास्यं तं तत्तद्योग्येभ्यस्तत्फलदातारं त्वामहं कथं परिभावयामि चिन्तयामि चिन्तने काऽनुपपत्तिरिति तत्राऽऽह - विमूढ इति। सामान्यज्ञाते वस्तुनि विशेषजिज्ञासा सञ्जाघटीति। मम तु तदेव नाऽस्ति। अत त्वद्विषयज्ञानाभाव एवाऽनुपपत्तिरित्यर्थ । सनन्दनादीनामपि देहभाक्त्वाविशेषान् तत्परिभावना कथं

1 A B omit अनेन

स्यादिति तत्राऽऽह - प्रध्वस्तेति। प्रध्वस्तो मायामय· प्रकृतिहेतुक· भेदमोह· अनात्मन्यात्मत्वमोहो यैस्ते तथा तैः निरस्तमिथ्याज्ञानै रित्यर्थ । अनेन देहभाक्त्वेऽपि विशेषोऽस्तीति दर्शितम्। "कार्यते ह्यवशः कर्म सर्व· प्रकृतिजैर्गुणै·" (भ गी:3-5) इति स्मृति ॥२४॥

प्रशान्तमायागुणकर्मलिङ्गमनामरूपं सदसद्विमुक्तम्।
ज्ञानोपदेशाय गृहीतदेहं[1] नमामहे त्वां पुरुषं पुराणम् ॥२५॥

यन्मायारचिते[2] लोके वस्तुबुद्ध्या गृहादिषु
भ्रमन्ति कामलोभेर्ष्यामोहविभ्रान्तचेतसः ॥२६॥

अद्य नः सर्वभूतात्मन् कामकर्मेन्द्रियाशयः[3]।
मोहपाशो दृढश्छिन्नो भगवंस्तवदर्शनात् ॥२७॥

श्रीशुक उवाच

इत्थं गीतानुभावस्तं भगवान् कपिलो मुनिः।
अंशुमन्तमुवाचेदमनुगृह्य धिया नृप ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

अश्वोऽयं नीयतां वत्स पितामहपशुस्तव।
इमे च पितरो दग्धाः गङ्गाम्भोऽर्हन्ति[4] नेतरत् ॥२९॥

[5-] श्रीशुक उवाच [5]

तं परिक्रम्य शिरसा प्रसाद्य हयमानयत्।
सगरस्तेन पशुना क्रतुशेषं समापयत् ॥३०॥

राज्यमंशुमति[6] न्यस्य निःस्पृहो मुक्तबन्धनः।
और्वोपदिष्टमार्गेण लेभे गतिमनुत्तमाम् ॥३१॥

---

1 MMa लिङ्ग 2 ABGHJV त्व° 3 W °श्रय 4 MMa °र्हति 5- -5 ABGJMMa omit 6 MMa °मते

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे अष्टमोऽध्याय ॥८॥

**श्रीध० प्रशान्तेति**। हे प्रशान्त। तस्मात्त्वां पुरुषं पुराणं केवलं नमामहेत्यन्वयः। पुराणपुरुषत्वे हेतुः, मायाया गुणाः कर्माणि च विश्वसृष्ट्यादीनि लिङ्गानि च ब्रह्मादिरूपाणि यस्य तम्। प्रशान्तत्वे हेतु - सदसद्भ्यां कार्यकारणाभ्यां पुण्यपापाभ्यां वा विमुक्तम्। अतोऽनामरूपं तत्तत्कृतनामरूपशून्यं, किन्तु ज्ञानोपदेशाय गृहीत प्रकटितो देहः शुद्धसत्त्वमूर्तिर्येन तम्। यद्वा हे प्रशान्तमाय इति हे अगुण इति च सम्बोधनं, कर्मभि सृष्ट्यादिकार्यैर्लिङ्गानि यस्येति योज्यम्। यद्वा प्रशान्ता मायागुणादयो यस्मिन्नित्येकमेव पदम् ॥२५॥

स्वभाष्य श्लाघते **यन्मा येति** द्वाभ्याम्। कामादिभि विभ्रान्तानि चेतांसि येषां ते। इमे सर्वे गृहादिषु भ्रमन्ति॥२६॥

**अद्येति**। हे सर्वभूतात्मन्। नोऽस्माकं त्वत्कृपयैव घटितात् त्वद्दर्शनात् अद्य दृढोऽपि मोहमयः पाशश्छिन्नः कथंम्भूतः कामादीनामाशय आश्रयः। त्वत्प्रसादेन कृतार्थोऽस्मीत्यर्थ ॥२७,२८॥

**अश्वइति**। अश्वं लब्ध्वाऽपि साकाङ्क्षं प्रत्याह - इमे चेति ॥२९॥

**तंपरिक्रम्येति**। शुकोक्ति ॥३०,३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकाया
व्याख्यायां नवमस्कन्धे अष्टमोऽध्याय॥८॥

**वीर०** यतोऽहं भावयितुमप्यनर्हं ततस्त्वां केवलं नमस्करोमीत्याह - **प्रशान्तेति**। मायागुणाः प्रकृतिगुणाः सत्त्वादयः कर्मलिङ्गं कर्मकृतदेहश्चेत्येते यस्य प्रशान्ता न विद्यन्ते स प्रशान्तमायागुणकर्मलिङ्गः तं अनामरूपं जात्यादिभिस्तत्प्रयुक्त देवादिनामभिश्च वर्जितं सदसद्विमुक्तं शुभाशुभफलमुक्तं चेतनाचेतनधर्मैरस्पृष्टं वा ज्ञानोपदेशाय न तु सुखदुःखानुभवाय गृहीतं स्वेच्छोपात्तं लिङ्गं शरीरं येन तं पुराणं पुरुषं त्वां नमामहे ॥२५॥

**यन्मायेति**। यस्य मायारचितेषु गृहादिषु वस्तुबुद्ध्या भोगस्थानादिबुद्ध्या भ्रमन्ति तं त्वं नमामहे इति पूर्वेणान्वयः। भ्रमणे हेतुं वदन् तत्कर्तॄन् विशिनष्टि - कामादिभिर्विभ्रान्त चेतो येषां ते इति। तत्र कामो राग , लोभोऽनलम्बुद्धिः, ईर्ष्या

1 ABJ 'मेत्य' 2 H V तत्कृ' 3 ABJ 'ध्य 4- -4 H V omit

कामोपभोगविरोधिष्वक्षम· मोहश्चित्तविकार ॥२६॥

तद्दर्शनात्स्वस्य कृतार्थतामाविष्करोति - **अद्येति**। हे सर्वभूतात्मन्! हे भगवन्! तव दर्शनात् अद्याऽधुना नोऽस्माकं[1] कामा· काम्यन्त इति कामाः शब्दादयो विषया·, विषयस्पृहा वा काम·, कर्माणि पुण्यापुण्यात्मकानि तत्करणानीन्द्रियाणि तेषा माश्रयो मूलभूतो मोह देहात्मभ्रान्त्यादिरूपो दृढो निर्मोच्य छिन्न., आशय इति पाठान्तरम्। तदा कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि तेषां शब्दादिकामानां ग्राहकत्वात् कर्मेन्द्रियाणि वागादीनि तेषां तत्प्रभवत्वात् तान्येवाशयमाश्रयो यस्य स मोहात्मकः पाश मोहस्याऽऽत्मगतऽत्वेपि उभयेन्द्रियप्रवृत्तिमूलकत्वेन उभयेन्द्रियाश्रयत्वमुक्तम् ॥१७॥

हे नृप! इत्थं गीत· सङ्गीत संस्तुतोऽनुभाव प्रभावो यस्य स· भगवान् कपिलो मुनिस्तमंशुमन्तं मनसा अनुगृह्य इदं वक्ष्यमाणमुवाच ॥२८॥

तदेवाह-**अश्व** इति। हे वत्स! अंशुमन्! अयमश्वस्तव पितामहस्य सगरस्य यज्ञिय· पशु· नीयताम्। भस्मराशीन् दर्शयित्वा इमे च तव पितर· पितृव्या· दग्धास्ते च गङ्गाम्भ एवाऽर्हन्ति नेतरच्चाऽम्भ। गङ्गाम्भसैवैषां क्रिया कार्या नेतरेण। अनेनैषामुत्तारणमित्यर्थः ॥२९॥

एवमुक्तवन्तं कपिलं प्रदक्षिणीकृत्य शिरसा प्रसाद्य प्रणिपत्यांऽशुमान् हयमानीतवान्। तेन पशुना हेतुना क्रतुशेषं सगरस्समापयत् ॥३०॥

ततो राज्यमंशुमति न्यस्य निधाय निस्पृह देहतदनुबन्धिषु स्पृहारहित मुक्तं बन्धन बन्धकमहम्ममत्वादिकं येन तादृश और्वेणोपदिष्टो मार्गः स्वात्मपरमात्मयाथात्म्यज्ञानरूप , तेन न विद्यते उत्तमा यस्यास्तां गतिं मुक्तिं लेभे लब्धवान् ॥३१॥

इति श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्याया अष्टमोऽध्याय ॥८॥

**विज०** त्वां नमामह इत्यन्वय । त्वामिति क इति तत्राऽऽह- पुरुषमिति। तर्हि देवदत्तवच्चिरन्तन· कश्चिदयं स्यादिति नेत्याह - अनामरूपमिति। प्राकृतनामादिरहितम्। तत्कुत इति तत्राऽऽह- **प्रशान्तेति**, प्रशान्तानि उपरतानि मायागुणा सत्त्वादय । कर्माणि तन्निमित्तव्यापारा , लिङ्गं शरीरं यस्य स तथा तत्कारणत्वेन मृद्वदभिन्नत्वम्। एतत्कथं घटते?

1 W omits कामा

इति तत्राऽऽह- सदिति। सतो ब्रह्मणः, असतः परमाण्वादे. "विमुक्तं भिन्नं रुक्मवर्णम्" इति श्रुतेः। शरीरत्वेन नामरूपदर्शनात् तदभावकथनं कथमिति तत्राऽऽह - ज्ञानेति लोकानुग्रहार्थं शरीरग्रहणं, न तु कर्मनिमित्तम्। अत एव नित्यदु·-खाभाव· ॥२५॥

त्रिविधानां जीवानां स्वभावाभिभवो नाऽस्तीति दर्शनाय मानुषस्वभावमाह - **यन्माप्रयेति**। यस्य हरेर्मायया कृत्या इच्छया वा रचिते निर्मिते लोके भूम्यादौ रचितगृहादिषु वस्तुबुद्ध्याऽनश्वराणीति मनसा भ्रमन्ति परिवर्तन्ते के, मानुषा इति शेषः। निमित्तमाह - कामेति। कामो विषयाभिलाष , लोभो धर्मादिविषयार्थत्यागानिच्छा, ईर्ष्या अक्षमा, मोहो वैचित्यम्, एतैर्विभ्रान्तं चेतो येषां ते तथा। अनेनाऽन्यद् द्वयं व्याख्यातम् ॥२६॥

उपसंहरति - **अद्येति**। अद्य नोऽस्माकं पुत्रादिषु दृढो मोहपाश· अज्ञानहेतुकः स्नेहपाशश्छिन्न इत्यर्थः। काम कर्मेन्द्रियेषु आशेत इति कामकर्मेन्द्रियाशय· ॥२७,२८॥

अर्हति अपेक्षते ॥२९-३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
नवमस्कन्धे अष्टमोऽध्याय ॥८॥

# नवमोऽध्यायः

1 -1
श्रीशुक उवाच

2
अंशुमांश्च तपस्तेपे गङ्गानयनकाम्यया।
कालं महान्तं नाशक्नोत् ततः कालेन संस्थितः ॥१॥

दिलीपस्तत्सुतस्तद्वदशक्तः कालमेयिवान्।
3
भगीरथस्तस्य सुतस्तेपे स सुमहत्तपः ॥२॥

दर्शयामास तं देवी प्रसन्ना वरदाऽस्मि ते।
4
इत्युक्तः स्वमभिप्रायं शशंसावनतो नृपः ॥३॥

5
कोऽपि धारयिता वेगं पतन्त्या मे महीतले।
6- -6
न चेद्भूमितलं भित्त्वा नृप यास्ये रसातलम् ॥४॥

7
किञ्चाहं न भुवं यास्ये नरा मय्यामृजन्त्यघम्।
8 9
मृजामि तदघं क्वाहं राजंस्तत्र विचिन्त्यताम् ॥५॥

10- 10
भगीरथ उवाच

11 12
साधवो न्यासिनश्शान्ता धर्मिष्ठा लोकपावनाः।
13- 13
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वाऽऽस्ते ह्यघभिद्धरिः ॥६॥

धारयिष्यति ते वेगं रुद्रस्त्वात्मा शरीरिणाम्।
यस्मिन्नोतमिदं प्रोतं विश्वं शाटीव तन्तुषु

श्रीशुक उवाच

14- 14
इति तस्य वचश्श्रुत्वा गङ्गा तं पुनरब्रवीत् ॥७॥

---

1 - 1 MMa omit 2 MMa °गमन 3 ABGJMMa °पुत्र° 4 MMa भृशम् 5 MMa को विधा°, W कोऽनु° 6- -6 ABGJMMa अन्यथा भूतल 7 MMa दुर्गति या° 8 ABGJ कुत्र , Mma क्रूर 9 MMa विविच्यताम् 10- -10 H T V W राजोवाच 11 MMa निराशिष° 12 ABGJMMa ब्रह्मिष्ठा 13- -13 MMa ये प्राता स्वह्वदाहरिम्। 14- -14 This half verse is found in H T V W edns It is commented by Veer Raghava only

गङ्गो वाच

प्रसादय महेशानं धारणार्थं मदम्भसाम्।
तच्छ्रुत्वा स नृपो देवं तपसाऽऽराधयच्छिवम्।
कालेनाऽल्पीयसा राजन् तस्येशानस्त्वतूष्यत ॥८॥

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

नवमेंऽशुमतो वंशः खट्वाङ्गावधि वर्ण्यते। गङ्गां भूतलमानिन्ये यस्य पौत्रो भगीरथः॥

**अंशुमानिति**। यथा सगरः पौत्राय राज्यं दत्वा तपस्तेपे तथांऽशुमांश्च स्वपुत्राय राज्यं दत्वा महान्तं कालं तपस्तेपे इति चकारस्यार्थः। नाशक्नोत्, गङ्गामानेतुमिति शेषः। संस्थितो मृतः ॥१॥

**दिलीप** इति। कालं मृत्युमेयिवान् प्राप्तः ॥२॥

**दर्शयामासेति**। तं प्रति आत्मानं दर्शयामास। ते वरदाऽस्मीति गङ्गयोक्तःसन् स्वमभिप्रायं पूर्वजोद्धरणं शशंस कथयामास ॥३॥

**क इति**। आह गङ्गा कोऽपि गगनात्पतन्त्या मे वेगं धारयिता धारयिष्यति ॥४॥

**किमिति**। किञ्च। आमृजन्ति क्षालयिष्यन्ति[2]। तत्रोपायो विचिन्त्यताम्॥५॥

**साधव इति**। अघं[3] हरिष्यन्ति। अघं भिनत्तीत्यघभित् ॥६॥

**धारयिष्यतीति**। आत्मा कथम्भूतः यस्मिन्निदं विश्वमोतं ग्रथितमूर्ध्वतन्तुषु शाटीव पट इव प्रोतश्च तिर्यक्तन्तुषु पट इव। असौ सर्वाधारस्त्वद्वेगं धारयिष्यतीत्यर्थः ॥७॥

**प्रसादयेति**। इत्येवं गङ्गामुक्त्वा। तच्छ्रुत्वेति पाठे श्रावयित्वेत्यर्थः[4] ॥८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवमानीताश्वः पितामहदत्तराज्योऽपि अंशुमान् पितृणां समुत्तरणार्थं गङ्गामानेतुमिच्छया महान्तं कालं तपस्तेपे चक्रे। नाशक्नोत् गङ्गामानेतुं न प्रबभूव। किन्तु कालेनोपसंहृतो मृतो बभूव ॥१॥

अथ तस्यांऽशुमतः सुतो दिलीपोऽपि तद्वत् पितृवत्तपः कुर्वन् गङ्गामानेतुमशक्त एव कालं मृत्युमेयिवान् प्राप्तवान्। अथ

---

1--1 This half verse is found in H T V W edns It is commented by Veeraraghava only 2 ABJ °यान्ति 3 H V omit अघ 4--4 H V omit

तस्य दिलीपस्य सुतो भगीरथः स सुमहत्तपश्चक्रे ॥२॥

ततस्तेन तपसा प्रसन्ना गङ्गा दर्शयामास, आत्मानमिति शेषः। ते तुभ्यं वरदाऽस्मीति तं भगीरथमुवाचेति शेषः। इत्थं गङ्गयोक्तो नृपो भगीरथः प्रणतः स्वकीयमभिप्रायं शशंस उक्तवान् ॥३॥

पुनस्तं गङ्गोवाच - **कोन्विति** द्वाभ्याम्। महीतले पतन्त्या मम वेगं कोनुधारयिता? कोपीति पाठे - अपि शब्द सम्भावनायां, को वा धारयितेत्यर्थः। न चेद्धारयिता कोऽपि न विद्यते चेत् तर्हि, हे नृप! भूमितलं भित्त्वा रसातलं यास्ये गमिष्यामि ॥४॥

भूमितल एव किं न प्रवहसीत्यत्राऽऽह - **किञ्चेति**। किञ्चाऽहं भुवं न यास्ये? भूमौ न प्रवहामीत्यर्थः। तत्र हेतुः - नरा भूमिष्ठाः अघं पापं मय्यामृजन्ति शोधयन्ति प्रक्षिपन्ति। तन्नरैस्त्यक्तमघमहं क्व मृजामि प्रक्षिपामि? हे राजन्। तत्र विचिन्त्यताम् उपाय इति शेषः ॥५॥

ततो भगीरथ आह - **साधव** इति द्वाभ्याम्। न्यासिन काम्यकर्मत्यागिनः शान्ता जितेन्द्रियाः, ब्राह्मणाः, ब्राह्मणश्रेष्ठाः यद्वा, अतिशयितं ब्रह्म ब्रह्मिष्ठं तेन तदुपासका लक्ष्यन्ते, ब्रह्मविदग्रेसरा इत्यर्थः। अत एव लोकपावनाः साधवस्तवाघं नरैः - स्त्यक्तमङ्गसङ्गात् स्नानरूपाद्धरन्ति, तर्हि ते क्व मृजन्तीत्यत्राऽऽह - तेष्वाऽऽस्ते ह्यघभिद्धरिरिति। तेषु साधुषु अघभिद्धरिरास्ते हि, तर्हि हरिरपि क्व मृजतीत्याशङ्काऽघभिदित्यनेन परिहृता। अघं भिनत्ति निरस्यति नाशयतीति यावत्, नत्वघमादायाऽन्यत्र प्रक्षिपतीति अभिप्रायः ॥६॥

एवं किञ्चाऽहमित्यादेरुत्तरमुक्तमथ कोन्वित्यादेरुत्तरमाह - **धारयिष्यतीति**। रुद्रो रुद्रशरीरः परमात्मा तव वेगं धारयिष्यति। तस्य धारणायामसामर्थ्यशङ्कां वारयन्विशिनष्टि - शरीरिणां ब्रह्मादिस्थावरान्तानामात्मा अन्तःप्रविश्य प्रशासनेन धारकः। किं बहुना? यस्मिन् परमात्मनि इदं विश्वं प्रोतं शरीरतया समवेतं यथा तन्तुषु शाटी तद्वत्कृत्स्नविश्वधारकत्स्य अकलितश्रम एव बिभर्त्यसावित्युक्तविधस्य त्वद्वेगधारणायां सामर्थ्यं कैमुत्यन्यायसिद्धमिति भाव। इत्येवंविधं तस्य भगीरथस्य वच आकर्ण्य तं भगीरथं पुनर्गङ्गोवाच ॥७॥

तर्हि मदम्भसां धारणार्थं महेशानं रुद्रशरीरकं परमात्मानं प्रसादय प्रसन्नं कुर्विति तद्गङ्गावच श्रुत्वा स नृपो भगीरथ स्तपसा शिवमतोषयत्। हे राजन्! अल्पीयसैव कालेन तस्य भगीरथस्य ईशानो रुद्र प्रसन्नो बभूव ॥८॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

महदपराधपङ्कप्रक्षालनेन आत्मजनोद्धाराय महान्तं काल तपस्तेप इत्यन्वयः। संस्थितो मृतः ॥१॥

कालमेयिवान् मरणं प्राप्त ॥२॥

प्रसन्ना देवी ते वरदाऽस्मीति निगद्य स्वात्मानं तमुद्दिश्य प्रदर्शयामास ॥३,४॥

किञ्च। रसातलप्रवेशलक्षणानर्थ एव न, अन्योऽप्यस्तीत्याशयेनाऽऽह - **किञ्चेति**। कुतो नरकप्राप्तिरिति तत्राऽऽह- नरा इति। पापिनो नराः स्नानादिना मय्यघमामृजन्ति शोधयन्ति पापं निक्षिप्य स्वयं शुद्धा भवन्ति। हे राजन्! तदघं मृजामि शोधयामि, क्वेति शेषः। क्व निक्षिप्य शुद्धा भवामि। अत्राऽस्मिन्नर्थे विविच्यतां नराणामघसंहृत्यहं मदघसंहर्ता क इति विवेकः क्रियतामित्यन्वय ॥५॥

उत्तरमाह - **साधव** इति। शमदमादिलक्षणसम्पन्नाः साधवोऽत एव निराशिषः स्वर्गादिसुखलक्षणाशारहिताः कुत इति तत्राऽऽह- ब्रह्मिष्ठा इति, इष्ठन् प्रत्ययान्तं चैतच्च ब्रह्मणि पूर्णा, भगवद्भक्त्येति शेषः। अमी अतिशयेन ब्रह्मपूर्णाः ब्रह्मिष्ठाः ब्रह्मण्येव स्थिता इत्ययं छान्दस । तथात्वे ब्रह्मस्था इति स्यात्। तस्मादयमिष्टन्नतस्तमनुसृत्यैवं कृतम्। लोकपावना एवंविधा ये स्वहृदा हरिं प्राप्तास्ते अङ्गसङ्गात्पादप्रक्षालनादिना हस्ताद्यङ्गसम्बन्धात्पापिनामघं हरन्तीति शेषः तेषां स्वहृदि स्थितहरिसान्निध्यात्पापं नास्त्येव तव किं वक्तव्यमनवरतपद्मनाभपादसरोजनिजवासाया इत्यर्थः ॥६॥

द्वितीयं प्रश्नं परिहृत्य प्रथमं परिहरति - **धारयिष्यतीति**। शरीरिणामात्माऽहङ्कार रूपेणस्वरूपभूत इव शाटी कन्था गुणितद्विपुटिका वा ॥७॥

तथाऽल्पीयसा कालेन शिव आशु अतुष्यतेति॥८॥

**तथेति राज्ञाऽभिहितः[1] सर्वलोकहितश्शिवः।**
**दधाराऽवहितो गङ्गां पादपूतजलां हरेः ॥९॥**

**भगीरथोऽथ[2] राजर्षिर्निन्ये भुवनपावनीम्।**
**यत्र स्वपितॄणां देहा भस्मीभूताश्च[3] शेरते ॥१०॥**

**रथेन वायुवेगेन प्रयान्तमनुधावती।**
**देशान्[4] पुनन्ती निर्दग्धानसिञ्चत्[5]सगरात्मजान् ॥११॥**

**यज्जलस्पर्शमात्रेण ब्रह्मदण्डहता अपि।**
**सगरात्मजा दिवं जग्मुः केवलं देहभस्मभिः ॥१२॥**

---

1 ABGJ °तम 2 ABGJ °रथ स , MMa रथोऽपि 3 ABGJMMa °ता स्म 4 H V °हान् 5 ABGJMMa °नाऽसि°

[1]भस्मीभूताङ्गसङ्गेन स्वर्यातास्सगरात्मजाः।
किं पुनः श्रद्धया देवीं ये सेवन्ते धृतव्रताः ॥१३॥

न ह्येतत्परमाश्चर्यं स्वर्धुन्या यदिहोदितम्।
अनन्तचरणाम्भोजप्रसूताया भवच्छिवः ॥१४॥

सन्निवेश्य मनो यस्मिन् श्रद्धया मुनयोऽमलाः।
त्रैगुण्यं दुस्त्यजं हित्वा सद्यो यातास्तदात्मताम् ॥१५॥

[2]श्रुतो भगीरथाज्जज्ञे तस्य नाभाऽवरोऽ भवत्।
[3]सिन्धुद्वीपसुतस्तस्मादयुतायुस्ततोऽभवत् ॥१६॥

**श्रीध० तथेति**। राज्ञाऽभिहितं तथेत्यङ्गीकृत्य। हरे पादेन पूतं जलं यस्या ताम् ॥९-११॥

प्रसङ्गाद्गङ्गामाहात्म्यमाह - **यदिति** चतुर्भि यस्या जलस्पर्शमात्रेण, तच्च केवल देहभस्मभिरेव न साक्षात्। ब्रह्मणि स्वकृतेन दण्डेन हता अपि ॥१२॥

[4]तदेव प्रपञ्चयति **भस्मीभूतेति**। भस्मीभूतेनाङ्गेन यस्सङ्गस्तेन तां श्रद्धया ये सेवन्ते ते इति शेष· [5-]एतेषां फलं किं वक्तव्यमिति भाव [-5] ॥१३-१४॥

[6-]अनन्तस्य विशेषणं **सन्निवेश्येति**। [7]यस्मिन् अनन्ते [-7] त्रैगुण्यं [8]देहबन्धनम् ॥१५,१६॥

**वीर०** ततो राज्ञा भगीरथेनाभिहितः गङ्गाया वेगं धारयेति विज्ञापितः सर्वस्य लोकस्य हितकर शिवस्तथेति बिभर्म्यह मित्युक्त्वा अवहितः सावधान· हरेः पादावनेजनेन पूतं जलं यस्यास्तां गङ्गां दधार। अत्र शिवशब्द· शिवमात्रपरो न तु विशेष्यभूतपरमात्मपर्यन्त· गङ्गाया हरिपादपूतजलत्वविशेषणसामर्थ्यात् । यद्वा पूर्वत्राऽपि रुद्रेशानादिशब्दाः विशेषणभूतरुद्र मात्रगोचरा· आत्मा शरीरिणामित्यादितु अष्टमूर्तित्वाऽभिप्रायेणोक्तम् ॥९॥

ततो राजर्षिर्भगीरथो यत्र पितॄणां देहा· [9]भस्मीभूता शेरते आसते स्म तत्र भुवनपावनीं गङ्गां निन्ये आनयत् ॥१०।

वायोरिव वेगो यस्य तेन रथेन प्रयान्तं भगीरथं अनु· ·वत्यनुगच्छन्ती गङ्गा देशान् मार्गस्थानपि पुनन्ती निर्दग्धान् सगरात्मजानसिञ्चत् ॥११॥

---

1 W भस्म° 2 ABGJ नाभोऽप° , MMa नाभोव° 3 ABGJMMa °स्तत° 4 ABJ तत्र° 5- -5 ABGJ omit 6- -6 H V omit 7- -7 ABJ omit 8 ABJ °हसम्बन्धम्। 9 W भस्म

**ब्रह्मदण्डेन** ब्रह्मभूते, ब्रह्मर्षौ वा कपिले यो दण्ड स्वकृतापराधरूप तेन हता दग्धा अपि सगरात्मजाः यस्या गङ्गाया जलस्पर्शमात्रेण हेतुना केवलं देहभस्मभिरेव निमित्तभूतै· यज्जलस्पृष्टदेहभस्मभिर्हेतुभूतै दिवं जग्मु·। ब्रह्मदण्डहता अपीत्यनेन - "न ब्रह्मदण्डदग्धस्य न भूतभयदस्य च। नारकाश्चाऽनुगृह्णन्ति या यां योनिमसौ गत." (भाग 3-14-42) इति तार्तीयवचनो क्तरीत्या ब्रह्मदण्डहतानां नारकैरपि निन्द्यत्वं, तेषामप्युत्तारकत्वेन गङ्गाजलस्य निरतिशय पावनत्वञ्चोक्तम् ॥१२॥

एतदेव किम्पुनर्न्यायेन दर्शयति - **भस्मेति**। भस्मभूतानामङ्गानां यस्सङ्गो गङ्गाम्भस्सङ्गः तेनैव हेतुना सगरात्मजाः स्व स्वर्गं याता ये धृतं व्रत गङ्गाम्भस्स्नानरूपं यै ते श्रद्धया देवीं गङ्गां सेवन्ते, ते दिवं यान्ति इति किम्पुनर्वक्तव्य मित्यर्थ· ॥१३॥

सकलाघापहारेण मुक्तिहेतुभूतजलस्पर्शाया गङ्गाया स्वर्गप्राप्तिमात्रहेतुत्वेनाऽऽश्चर्यं कार्यमित्याह - **नहीति**। अनन्तस्य भगवतः चरणाम्भोजात्प्रसूताया अत एव भवच्छिद पापनिवर्तनसम्यज्ज्ञानप्रवर्तनद्वारा भवं संसारं भिनत्तीति तथाभूताया· स्वर्धुन्या स्वर्गङ्गाः गङ्गाया यन्माहात्म्यमुदितमुक्तं तदेतत्परमाश्चर्यं नहीति उक्तविधं माहात्म्यमनन्तचरणाम्भोजप्रसूतत्व प्रयुक्तमित्युक्तम् ॥१४॥

अथानन्तचरणाम्भोजमाहात्म्य दर्शयितुं तद्विशिनष्टि - यस्मिन्निति। अमला· निर्मलान्त करणा· मुनयो यस्मिन्ननन्त चरणाम्भोजे श्रद्धया मनो निवेश्य दुस्त्यजं त्रैगुण्यं त्रयो गुणा एव त्रैगुण्यं त्रिगुणान् हित्वा, प्रकृतिसम्बन्धं हित्वेति यावत्। सद्य स्तदैव तदात्मतामनन्ततुल्यस्वभावतां मुक्तिमित्यर्थ , याता प्राप्नुवन्तीत्यर्थ ॥१५॥

भगीरथात् श्रुताख्य पुत्रो जज्ञे, तस्य श्रुतस्य नाभावर· पुत्रोऽभूत्[1], ततो नाभावरात् सिन्धुद्वीपः, तस्मात् सिन्धुद्वीपात् अयुतायुः ॥१६।

**विज०** राज्ञाऽभिहित· शिव· ॥१,१०॥

प्रयान्तं भगीरथं अनुधावती पृष्ठत आद्यान्ती ॥११॥

देहभस्मभिस्साकम्॥१२॥

भस्मीकृताङ्गस्य स्वर्धुन्या सङ्गेन[2] ॥१३॥

श्रीनारायणचरणसङ्गलब्धमेवाऽस्या माहात्म्यं नाऽन्यतोऽतो नैतच्चित्रमित्याह - **नहीति**। इह सगरात्मजकथाप्रसङ्गे

---

1 W बभूव 2 AB 'स्स'

गङ्गामाहात्म्यमुदितं अत एव भवच्छिद· संसारच्छेत्र्याः जन्मच्छेत्र्या. वा "भवो भद्रे हरे प्राप्तौ सत्तासंसारजन्मसु" (वैज. को 6-1-41) इति ॥१४॥

संसारच्छेदनमाहात्म्यं श्रीहरिनिष्ठं गङ्गायां उपचार इत्याशयवा"ह - सन्निवेश्येति। तदात्मतां तत्सायुज्यलक्षणां मुक्तिं तत्स्वामिकतां वा ॥१५॥

एवं भगीरथस्य गङ्गानयनादिमाहात्म्यमुक्त्वा तत्सन्ततिं कथयति - श्रुत इति। तस्य श्रुतस्य नाभस्य वरः सुत· तत· अयुतायोः ॥१६॥

ऋतुपर्णो नलसखो योऽश्वविद्यामयान्नलात्।[1]
दत्त्वाऽक्षहृदयं[2] तस्मै सर्वकामस्तु तत्सुतः ॥१७॥

ततस्सुदासस्तत्पुत्रो मदयन्तीपतिर्नृप।
आहुर्मित्रसहं[3] यं वै कल्माषाङ्घ्रिमुत क्वचित्।
वसिष्ठशापाद्रक्षोऽभूदनपत्यः स्वकर्मणा ॥१८॥

[4]विष्णुरात उवाच[4]

[5]यंनिमित्तो गुरोश्शापः सौदासस्य महात्मनः।
एतद्वेदितुमिच्छामि कथ्यतां[6] न रहो यदि ॥१९॥

श्रीशुक उवाच

सौदासो मृगयां किञ्चिच्चरन् रक्षो जघान ह ।
[7]शुशोच भ्रातरं[8] भ्राता गतः प्रतिचिकीर्षया ॥२०॥

स चिन्तयन्नघं राज्ञः सूदरूपधरो गृहे।
गुरवे भोक्तुकामाय पक्त्वा निन्ये नरामिषम् ॥२१॥

परिवेष्यमाणं[9] भगवान् विलोक्याऽभक्ष्यमञ्जसा।
राजानमशपत्क्रुद्धो रक्षो ह्येवं भविष्यसि ॥२२॥

---

1 HV "मधा" , W "मगा" 2 ABGJ "यशास्मै 3 HV ह्रि.कृत. 4- -4 ABGJMMa राजोवाच 5 ABGJMMa किं नि" 6 ABGJMMa "म 7 ABGJTW मुमोच 8 ABGJMMa सोऽथ 9 ABGJ "क्ष्य

**रक्षः कृतं तद्विदित्वा चक्रे द्वादशवार्षिकम्।**
**सोऽप्यपोऽञ्जलिनाऽऽदाय गुरुं शप्तुं समुद्यतः ॥२३॥**

**वारितो मदयन्त्याऽऽपो रुशतीः पादयोर्जहौ।**
**दिशः खमवनीं सर्वां[1] पश्यञ्जीवमयं नृपः ॥२४॥**

**श्रीध्र० ऋतुपर्ण** इति। नलस्य सखा अधात्प्राप्त·। तत्सुत· ऋतुपर्णस्य सुत· ॥१७॥

**तत** इति। तत्पुत्र· सौदास ॥१८॥

**यदिति**। **न** रहो न रहस्यम् ॥१९॥

**सौदासेति**। मृगयां चरन्[3-] किञ्चिद्रक्ष· कञ्चिद्राक्षसं[-3] जघान। तस्य भ्रातरं[4] शुशोच। स भ्राता पलाय्य गतः ॥२०॥

**स इति** अघमनिष्टम्। सूद , पाचक·, तद्रूपधरस्सन् राज्ञो गृहे वर्तमान· ॥२१॥

**परीति**। अभक्ष्यमञ्जसा विलोक्य, एवं नरमांसाभ्यवहारेण[5] ॥२२॥

**रक्ष** इति। वशिष्ठ एव तं शापं द्वादशवार्षिकं चक्रे ॥२३॥

**वारित** इति। रुशतीस्तीक्ष्णा अप· स्वपादयोर्जहौ नाऽन्यत्र, तत्र हेतु·दिश इति। एवमनेन मित्रसहत्वमपि दर्शितम्। **मित्रस्य कलत्रस्य** वाच· सहनात् ॥२४॥

**वीर०** ततोऽयुतायुषः ऋतुपर्णस्सम्बभूव, तं विशिनष्टि यः ऋतुपर्णो नलस्य सखा, तयोः परस्परोपकर्तृत्वरूपं सखित्वं **दर्शयति** नलादश्वविद्यामश्वशिक्षाप्रंतिपादिकां विद्यामगात् प्राप्तवान्। किं कृत्वा? तस्मै नलाय अक्षहृदयं द्यूतशास्त्ररहस्यं दत्त्वा। **तस्य** ऋतुपर्णस्य सुत सर्वकाम ॥१७॥

ततस्सर्वकामात्सुदासो जज्ञे इति शेष । तत्पुत्र सुदासस्य पुत्रो मदयन्त्या पति., हे नृप! यं मदयन्तीपतिं मित्रसह **माहुः**, तमेव कल्माषाङ्घ्रिश्चाऽहु । स एव क्वचित् कदाचित् वसिष्ठस्य शापाद्रक्षोबभूव। स्वकर्मणा अनपत्यः **औरसरहितश्च बभूव**।, क्षेत्रजस्य वक्ष्यमाणत्वात् ॥१८॥

सङ्गहेणोक्तं तद्वृत्तान्तं विस्तरेण बुभुत्सया परिपृच्छति राजा **यन्निमित्त** इति। महात्मनः सौदासस्य गुरुशापः यदेव निमित्तं यस्य तादृशो बभूव तदेतच्छापस्य निमित्तं वेदितुमिच्छामि, तद्यदि न रहस्यं कथयितुं योग्यश्चे कथ्यताम् ॥१९॥

1 ABGJ सर्वं 2- ABJ अया° 3- -3 ABJ omit 4 ABJ मुमोच 5 ABJ °स व्य°

एवं पृष्ट आह मुनि· - 'सौदास' इत्यादिना "वसिष्ठस्तदनुज्ञात·"(भाग-9-9-38) इत्यतः प्राक्तनेन। मृगयैव शीलं यस्य स सौदासो मित्रसह चरन् रक्षो हतवान्। रक्षसो भ्रातरन्तु न जघान, किन्तु मुमोच। ततस्स रक्षसो भ्राता गतस्सन् राज्ञ स्सौदासस्य अघं भ्रातृहननरूपमपराधं चिन्तयन् प्रतिचिकीर्षया अपकर्तुमिच्छया राज्ञो गृहे यस्सूद पाचक , तद्रूपधरो भोक्तुमिच्छवे गुरवे वसिष्ठाय पक्वं नरामिषं निन्ये ॥२०, २१॥

ततो भगवान् वसिष्ठः परिवेष्यमाणं[1] भोजनपात्रे निक्षिप्यमाणं नरामिषमत एवाभक्ष्य मञ्जसा आशु विलोक्य ज्ञात्वा क्रुद्धो राजानं मित्रसहमशपत्। किमिति? एवम् एवङ्कारयंस्त्वं रक्षो भविष्यतीति ॥२२॥

ततस्तन्नरामिषं सूदरूपधरेण रक्षसा कृतं न तु राज्ञा कारितमिति विदित्वा स्ववाक्यानृतत्वपरिहाराय शापं द्वादश वर्षावधिकं चक्रे। ततस्सोऽपि सौदासोऽप्यञ्जलिना अपः जलमादाय गुरुं वसिष्ठं शप्तुं समुद्युक्त. मदयन्त्या निवारित रुशती· तीक्ष्णास्ता[3]· अपः स्वपादयोर्जहौ तत्याज। तत्र हेतुमाह[4] दिशः खमाकाशं सर्वामवनिं भूमिश्च जीवप्रचुरं जगत्[5] पश्यन्नेव तत्क्षण एव स्वपादयोर्जहाविति भाव.। नृप सौदास ॥२३,२४॥

**विज०** ऋतुपर्णः अयात्प्राप्तवान् तत्सुत· ऋतुपर्णसुतः ॥१७॥

यं सुदासपुत्रम् ॥१८-१९॥

रक्षो राक्षसं मृतं भ्रातरं प्रतिचिकीर्षया भ्रातृहन्तृहननलक्षणप्रतिकारेच्छया ॥२०॥

सूदरूपधरः पाचकवेषधरः नरामिषं नरमांसम् ॥२१॥

एवंविधः ॥२२॥

रक्ष·कृतं राक्षसकृतम् ॥२३॥

रुषतीः[6] क्रूराः मन्त्रितत्वात्। "रूष रिष हिंसायाम्" हिसंयन्तीर्वा। 'रुश शब्दे' हतं चिकीर्षाम इति शब्दयन्तीर्वा। माघमासे रटदन्त्यापःइति वचनात् ॥२४॥

**राक्षसं भावमापन्नः पादे कल्माषतां गतः।**
**व्यवायकाले ददृशे वनौकोदम्पती द्विजौ ॥२५॥**

**क्षुधार्तो जगृहे विप्रं तत्पत्न्याहाकृतार्थवत्[7]।**
**न भवान् राक्षसःसाक्षादिक्ष्वाकूणां महारथः ॥२६॥**

---

1 AB वेक्ष्य 2 AB add परिवेक्ष्यमाण 3 AB add कमनीय 4 AB हेतु 5 W omita जगत् 6 MMa रुशती 7 TW °वित्

मदयन्त्याः पतिर्वीर नाथर्धं कर्तुमर्हसि ।
देहि मेऽपत्यकामाया[1] अकृतार्थं पतिं द्विजम् ॥२७॥

देहोऽयं मानुषो राजन् पुरुषस्याखिलार्थदः ।
तस्मादस्य वधो वीर सर्वार्थवध उच्यते ॥२८॥

एष हि ब्राह्मणो विद्वान् तपःशीलगुणान्वितः ।
आरिराधयिषुर्ब्रह्म महापुरुषसंज्ञितम् ।
सर्वभूतात्मभावेन भूतेष्वन्तर्हितं गुणैः ॥२९॥

सोऽयं ब्रह्मर्षिवर्यस्ते राजर्षिप्रवराद्विभोः[2] ।
कथमर्हति धर्मज्ञः वधं पितुरिवाऽऽत्मजः ॥३०॥

तस्य साधोरपापस्य भ्रूणस्य ब्रह्मवादिनः ।
कथं वधं यथा बभ्रोर्मन्यते सन्मतो भवान् ॥३१॥

यद्ययं क्रियते भक्ष स्तर्हि मां खाद पूर्वतः ।
न जीविष्ये विना येन क्षणञ्च मृतकं यथा[3] ॥३२॥

**श्रीध० राक्षसमिति**। तदेवं राक्षसत्वे कल्माषाङ्घ्रित्वे च कारणमुक्त्वा स्वकर्मणाऽनपत्य इति यदुक्तं तत्प्रपञ्चयति व्यवायकाल इत्यारभ्य कर्मणा अप्रजा इत्यन्तेन, वनमोको निवासो ययोस्तौ वनौकसौ च तौ दम्पती चा[4] वनौकौ[5] दम्पती इति पृथक्पदपाठे अदन्तत्वं आर्षम्[5] ॥२५॥

**क्षुधार्त इति** । अकृतार्थवत् दीनवत् ॥२६॥

**मदयन्त्या** इति ।अकृतार्थं तं असमाप्तरतिम् ॥२७,२८॥

**आरिराधयिषुरिति** । सर्वभूतानामात्मेति भावनया आराधयितुमिच्छु· । यद्वा, सर्वभूतानामात्मभावेन भूतेषु स्थितमपि गुणैरन्तर्हितं, ब्रह्मेति सम्बन्धः । पाठान्तरे अन्तर्हितः सोऽयमित्युत्तरेणाऽन्वयः ॥२९॥

[6]**स** इति । सोऽयं त्वदधीनो ब्रह्मर्षिवर्यः राजर्षिश्रेष्ठात् वधं नार्हति । यथा पिता पुत्रकर्तुकं वधमिव[6] ॥३०॥

---

1 MMa "यास्त्वकृ" 2 ABGJMMa द्विभो । 3 W नायेन" 4 ABJ इत्यादिना 5- -5 ABJ पृथक्पदत्वे सकारलोप आर्ष । 6- -6 ABJ omit

**तस्येति**। भ्रूणस्य श्रोत्रियस्य। गर्भस्य सत इति वा। बभ्रोर्गोः। सतां मतो भवान्वधं कथं साधु मन्यते इत्यर्थः ॥३२॥

**यदीति**। क्षणमपि येन विना न जीविष्यामि सोऽयं यदि भक्ष क्रियते तर्हि मृतकं यथा मृतप्रायां मां पूर्वं भक्षय ॥३२॥

**वीर०** राक्षसं भावं रूपमापन्नः प्राप्त , गुरुशापाद्धेतोरिति शेष । पादे कल्माषतां नैल्यं विकारश्च गत· शापार्थजल प्रक्षेपाद्धेतोरिति शेष.। ततः कदाचित् वनमेवौकः स्थानं ययोस्तौ दम्पती भार्यापती द्विजौ मैथुनकाले ददर्श ॥२५॥

तदा क्षुधा अशनायया पीडितः राक्षसरूपस्सौदासो मिथुनीभूतं द्विजं जगृहे, भक्षितुमिति शेषः। तदा तस्य द्विजस्य पत्नी अकृतार्थमसमाप्तरतितृष्णं पतिं वेत्तीति तथाभूता सती उवाच, तदेवाऽऽह - 'नेत्यादिना एवं करुण भाषिण्या' इत्यतः प्राक्तनेन। भवान्न राक्षसः, किन्तु साक्षादिक्ष्वाकूणां महारथ श्रेष्ठ· ॥२६॥

मदयन्त्याः पति· अतो हे वीर ! अधर्मं विप्रहननरूपं कर्तुं नाऽर्हति अपत्यकामायै मे मह्यं पतिं तत्राऽपि द्विजं, तत्राऽप्यकृतार्थं, देहि ॥२७॥

हे राजन् ! अयं मानुषो देह· पुरुषस्य जीवस्य अखिलानां पुरुषार्थानां साधनभूत. यत एवं तस्मादस्याखिलार्थदस्य मानुषदेहस्य वधो हे वीर, सर्वार्थानां वध इत्युच्यते ॥२८॥

किञ्च। एष त्वया गृहीतो मत्पतिर्ब्राह्मणस्तत्राऽपि विद्वान् वेदशास्त्रार्थवित् न केवलं विद्वान् अपि तु तपश्शीलाभ्या मन्यैश्च अक्रोधादिभिः गुणैरन्वितः सर्वभूतानामात्मभावेन अन्तरात्मतया गुणै· सर्वज्ञत्वादिभि· सहैव भूतेषु देवमनुष्यादिषु अन्तर्हितं हृदयकुहरे निविष्टं महापुरुषादिशब्दवाच्यं ब्रह्म आराधयितुमिच्छुः उपासीन इत्यर्थः। सन्नन्तनिर्देशस्तु उपासनदशायामपि ब्रह्मज्ञानस्येष्टतमत्वज्ञापनाय ॥२९॥

सोऽयमेवम्भूतो ब्रह्मर्षिवर्यो राजर्षिश्रेष्ठात् तत्राऽपि विभो· अधिकृतराज्यात्ते त्वत्त कथं वधमर्हति, सर्वथा नार्हत्येवेत्यर्थ । यथा पितुः सकाशात् आत्मजो वधं नाऽर्हति तद्वत् ॥३०॥

तस्योक्तविधस्य पापस्य भ्रूणस्य सूत्रप्रवचनाध्यायिन· "वेदानां किञ्चिदधीत्य ब्राह्मण एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियोऽङ्गाध्याय्यनूचानः कल्पाध्यायी ऋषि· कल्पसूत्रप्रवचनाध्यायी भ्रूण·" इत्यादिप्रयोगात् ब्रह्मवादिनः ब्रह्मोपदेष्टुः वेदाध्यापकस्य वा वधं साधूनां सम्मतो भवान् कथं मन्यते, सम्मतमिति शेषः। यथा बभ्रोर्धेनोर्वधं भवान्न सम्मतं मन्यते तथा अस्याऽपि वधं न सम्मतं मन्यस्वेत्यर्थः ॥३१॥

यदि सर्वथा अयं ब्राह्मणस्त्वया भक्षः क्रियते भक्ष्यते इत्यर्थः। तर्हि पूर्वत· तद्भक्षणात् प्रागेव मां खाद अद्धि। अनेन विना अहं क्षणमपि न जीविष्ये यथा मृतकं कुणपं जीवेन विना तद्वदहमपि अनेन विनेत्यर्थ· ॥३२॥

विज० कल्माषतां वनमाषवर्णवत्तां। व्यवायकाले सुरतसमये ॥२५॥

द्विजपत्नी राक्षसस्य कृपाजननाय अवध्यत्वे च अनेकानि[1] कारणान्याह - न भवानित्यादिना ॥२६,२७॥

भ्रूणस्य स्वस्य स्वयमेव पुत्रस्य ब्रह्मवादिनः ब्रह्मज्ञानिनः षडङ्गवेधाध्यायिनो वा बभ्रवः सौरभेय्याः "माहेयी सौरभेयी च बभ्रु. स्या दूषकाङ्किणी" इत्यभिधानम् ॥३१॥

येन पत्या, मृतकं प्राणरहितशरीरं प्राणमन्तरेण ॥३२-३४॥

एवं करुणभाषिण्या विलपन्त्या अनाथवत्।
व्याघ्रः पशुमिवाखादत् सौदासः शापमोहितः ॥३३॥

ब्राह्मणी वीक्ष्य[2] दिधिषुं पुरुषादेन भक्षितम्।
शोचन्त्यात्मान मुर्वीशमशपत्कुपिता सती ॥३४॥

यस्मान्मे भक्षितो[3]ऽपापः कामार्तायाः पतिस्त्वया।
तवाऽपि मृत्युराधानादकृतप्रज्ञ दर्शितः[4] ॥३५॥

एवं मित्रसहं शप्त्वा पतिलोकपरायणा।
तदस्थीनि समिद्धेऽग्नौ[5] प्रास्य भर्तुर्गतिं[6] गता ॥३६॥

विशापो द्वादशाब्दान्ते मैथुनाय समुद्यतः।
विज्ञाप्य[7] ब्राह्मणीशापं महिष्या स निवारितः ॥३७॥

तत ऊर्ध्वं स तत्याज स्त्रीसुखं कर्मणाऽप्रजाः[8]।
वसिष्ठस्तदनुज्ञातो मदयन्त्यां प्रजामधात् ॥३८॥

सा वै सप्तसमा गर्भमबिभ्रन्न व्यजायत।
जघ्नेऽश्मनोदरं तस्याः सोऽश्मकस्तेन कथ्यते ॥३९॥

अश्मकान्मूलको जज्ञे यः स्त्रीभिः परिरक्षितः।
नारी कवच इत्युक्तो निःक्षत्रे मूलकोऽभवत् ॥४०॥

---

1 M बभवो 2 MMa भर्तरि 3 ABGJMMa त पाप। 4 MMa 'यातादं' 5 H V "द्धाऽग्नौ 6 ABGJMMa भर्तुर्गं' 7 ABGJMMa 'य 8 MMa 'जाम्।

**श्रीध० ब्राह्मणीति**। दिधिषुं गर्भाधानकर्तारम् ॥३३,३४॥

**यस्मदिति**। आधानात् मैथुनात्। हे अकृतप्रज्ञ मृत्युर्मया दर्शितः ॥३५-३७॥

**तत इति**। तदेवं कर्मणा अप्रजाः ॥३८॥

**सेति**। अबिभ्रत् दधारेत्यर्थः। न व्यजायत न प्रासूयत[1] अतो नशिष्ठ एव तस्या उदरमश्मना जघान। **स उत्पन्नः** सुतोऽश्मकः ॥३९॥

**अश्मकादिति**। स्त्रीभिस्संवेष्ट्य परशुरामात्परिरक्षितोऽतो नारीकवच उक्तः। नि.क्षत्रे[2] जगति सति क्षत्रवंशस्य मूलमभवत्, अतो मूलक इति चोक्तः ॥४०॥

**वीर०** एवं तस्याः करुणभाषिण्या· अनाथवद्विलपन्त्याः सत्याः शापेन मोहितः सौदासो द्विजं व्याघ्रः पशुमिवाऽखादत्। भक्षितवान् ॥३३॥

ततः पुरुषादेन रक्षसा सौदासेन भक्षितं दिधिषुं गर्भाधान कर्तारं पतिं वीक्ष्य ब्राह्मणी आत्मानं प्रतिशोचन्ती कुपिता सती उर्वीशं सौदासमशपत् ॥३४॥

किमति? यस्मात्कामार्ताया मम पतिरपापो निरपराधस्त्वया भक्षित· तस्मात् हे अकृतप्रज्ञ विवेक शून्य तवाप्याधानान्मृत्युर्दर्शित इति, यदा गर्भाधानं कर्तुमुद्यतोऽसि तदा मरणं प्राप्स्यसीति ॥३५॥

एवं मित्रसहं सौदासं शप्त्वा ब्राह्मणी पतिलोकपरायणा पतिलोकं कामयमानेत्यर्थः। तत्र पत्यु रस्थीनि समिद्धे प्रज्वलितेऽग्नौ प्रास्य पतित्वा भर्तुर्गतिं प्राप्ता ॥३६॥

ततो द्वादशवत्सरान्ते विगतशापस्स सौदसो मैथुनायोद्यतः ब्राह्मणीशापं विज्ञाप्य प्रत्यभिज्ञाप्य महिष्या मदयन्त्या सम्यङ्निवारितः ॥३७॥

तत आरभ्य स सौदास· स्त्रीसुखं तत्याज, मृत्युभयादिति शेष·। अत एवोक्तेन कर्मणा अप्रजा· औरसरहितो बभूव। एवं स्थिते तेन सौदासेनानुज्ञातो वसिष्ठो मदयन्त्यां प्रजामधात् गर्भाधानमकरोत् ॥३८॥

ततः सा वै मदयन्ती सप्तसमा· वत्सरान् गर्भमभिभ्रत् तदाऽपि न व्यजायत, अपत्यमिति शेष । तदा सौदास. तस्या मदयन्त्याः उदरमश्मना पाषाणेन जघ्ने। स उदरान्निर्गतः तेनाऽश्मघातेन निमित्तेन अश्मक इति कथ्यते व्यवह्रियते ॥३९॥

अश्मकान्मूलको जज्ञे, तस्यैव नारीकवच इति नामान्तरम् नामद्वयनिमित्ते दर्शयति योऽश्मकस्य पुत्र नि·क्षत्रे भार्गवेण

---

1 ABJ ˚सूत 2 ABJ जगति 3- -3 W omits

रामेण क्षत्रोत्पाटने क्रियमाणे स्त्रीभि· परिरक्षित·। अतो नारीकवच इत्युक्त· पुनः क्षत्रकुलस्य मूलत्वान्मूलकनामा चाऽभव दित्युक्त· ॥४०॥

**विज०** हे अकृतप्रज्ञ! अशिक्षितबुद्धे! तव मृत्युरेवं गर्भाधानसमये दर्शितो भवेत् आपातादतर्कितात्कालादिति शेषः ॥३५॥

प्रास्य निक्षिप्य ॥३६॥

ब्राह्मण्या· शापं विज्ञाय स मित्रसहः स्त्रीसुखं स्त्रियं दूरीकृत्य कर्मणा मैथुनलक्षणेन प्रजां सन्ततिं तत्याज। तर्ह्यस्य केन विधिना पुत्रोजात·? इति तत्राऽऽह- वसिष्ठ इति। तेन सौदासेन अनुज्ञातः मद्र्यार्यायां पुत्रमुत्पादयेति ॥३७,३८॥

समाः संवत्सरान् ॥३९॥

निःक्षत्रे परशुरामेण दुष्टक्षत्रियसंहारे कृते सति ॥४०॥

* ततो दशरथस्तस्मात् पुत्र ऐडबिडस्ततः।[1]
राजा विश्वसहो यस्य खट्वाङ्गश्चक्रवर्त्यभूत् ॥४१॥

यो देवैरर्थितो दैत्यानवधीद्युधि दुर्जयः।[2]
मुहूर्तमायुर्ज्ञात्वैत्य स्वपुरं सन्दधे मनः ॥४२॥

न मे ब्रह्मकुलात्प्राणाः कुलदैवान्न चाऽऽत्मजाः।
न श्रियो न मही राज्यं न दाराश्चातिवल्लभाः ॥४३॥

न बाल्येऽपि मतिर्मह्यमधर्मे रमते क्वचित्।
नापश्यमुत्तमश्लोकादन्यत्किञ्चन वस्त्वहम् ॥४४॥

देवैः कामवरो दत्तो मह्यं त्रिभुवनेश्वरैः।
न वृणे[3] तमहं कामं[4] भूतभावनभावनः ॥१५॥

ये विक्षिप्तेन्द्रियधियो[5] देवास्ते स्वहृदि स्थितम्।
न विन्दन्ति प्रियं शश्वदात्मानं किमुताऽपरे ॥४६॥

---

* This half verse is not found in H V edns 1--1 MMa पुत्रो एन्तबिलिस्मृत । , W पुत्रे लबिलस्तत्र । 2 Mma °यान् 3 MMa ह्यवम कर्म 4 MMa °नात् 5 MMa येऽवि°

**श्रीध० य** इति प्रसन्नैर्देवैर्वरं वृणीष्वेत्युक्ते खट्वाङ्गेनोक्तं प्रथमं तावन्ममायुः कथ्यतामिति। देवैश्चोक्तं मुहूर्तमात्रमिति। तज्ज्ञात्वा देवैर्दत्तेन विमानेन शीघ्रं स्वपुरमेत्य मनः परमेश्वरे सन्दधे ॥४१,४२॥

एतदेव स्वसाधुवृत्तानुस्मरणपूर्वकं तत्कृतेन निश्चयेन दर्शयति **नेति** सप्तभिःकुलदैवाद्ब्रह्मकुलात्सकाशान्मे प्राणादयो नातिवल्लभा नातिप्रियाः ॥४३॥

**नेति**। मह्यं मम ॥४४॥

**देवैरिति**। भूतभावनो हरिस्तस्मिन्नेव भावना यस्य सोऽहं तं कामं न वृणे ॥४५॥

तत्र हेतुः - **य** इति विक्षिप्तानीन्द्रियाणि धीश्च येषां ते, देवा अपि ॥४६॥

**वीर०** ततो मूलकाद्दशरथः[1] जज्ञे इत्यनुषङ्गः[-1]। तस्मा[-3] द्दशरथात् ऐलबिलः पुत्रः तत[2] ऐलबिलाद्विश्वसहाख्यो राजा जज्ञे। तमुग्रं वदन् तं विशिनष्टि - यस्य विश्वसहस्य खट्वाङ्गाख्यश्चक्रवर्ती[-3] सम्बभूव ॥४१॥

अथ खट्वाङ्गं विशिषन् तद्वृत्तान्तमाह - **य** इत्यादिना। यावदध्यायसमाप्ति। य. रवट्वाङ्गो युधि युद्धे दुर्जय· जेतुमशक्यः अत एव देवैरर्थितः सहायत्वेन प्रार्थितः दैत्यानवधीत्। ततो देवैर्वराय चोदितः स्वस्यायुः मुहूर्तमात्रावशिष्टं ज्ञात्वा स्वपुर मागत्य मनः सन्दधे मनसा आलोच्य निश्चितवानित्यर्थः ॥४२॥

तस्य मनस्सन्धानप्रकारमेव दर्शयति - 'ने त्यादिना' इति व्यवसित इत्यत· प्रात्तनेन। ब्रह्मकुलान्मम प्राणा नाऽतिवल्लभा इत्यन्वय ।ब्रह्मकुलमेव मम प्राणेभ्योऽपि प्रियमित्यर्थ ।एव मुत्तरत्राऽपि द्रष्टव्यम्। कुलदैवाद्भगवत. आत्मजादयो न वल्लभा. ॥४३॥

मह्यं मम मतिर्बाल्येऽपि क्वचिदापद्यपि अधर्मे न रमते नारमत। इह लोके किञ्चिदपि वस्तु उत्तमश्लोका द्भगवतोऽन्यत्पृथग्भूतं नाऽपश्यम्।तत्सर्वं[4] वस्तु भगवदात्मकमेव दृष्टवानस्मीत्यर्थ ।नाऽवश्यमिति पाठान्तरम्, तदा किञ्चिदपि वस्तु उत्तमश्लोकाद्भगवतोऽन्यत् नाऽवश्यं नोपादेयमित्यर्थः ॥४४॥

यद्यपि त्रिभुवनेश्वरै देवैर्मह्यं कामानुगुणो वरो दत्तस्तथाऽप्यहं तं कामं वरं न वृणे न वृणुयाम्। तत्र हेतुं वदन् आत्मानं विशिनष्टि - भूतभावनभावनः भूतानि देवादीनि भावयति सत्तादिमन्ति करोतीति भूतभावनो भगवान् तं भावयति भजतीति तथाभूतोऽहमित्यर्थः। "वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु। तस्याऽन्तरायो मैत्रेय देवेन्द्रत्वादिकं फलम्", (विष्णु· पु 2-6-41) इत्युक्तरीत्या देवैर्दीयमानो वरो मम भगवत्प्राप्तिविरोधीति भाव· ॥४५॥

तर्हि देवादयः स्वर्गादिकमेवोत्कृष्टं किमिति मन्यन्ते - इत्याशङ्क्याऽऽह- **य** इति। इमे देवास्ते विक्षिप्तेन्द्रियधिय

---

1--1 A.B omit 2 W omits तत 3- -3 W ँ 4 W omits तत्

देहात्माभिमानिनः। अतस्ते शश्वत् सदा स्वहृदि स्थितमप्यन्तरात्मानं निरतिशयप्रियं न विन्दन्ति, किन्तु वैषयिकमेव सुखं परं मन्यन्ते इति भावः। देवा एव न जानन्ति किमुताऽपरे न विन्दन्तीति ॥४६॥

**विज०** खट्वाङ्गो दैत्यान्निहत्य स्वपुरं गत्वा, आयु. मुहूर्तावधिकं ज्ञात्वैवं मनः सन्दधे ॥४२॥

कथं तदिति तत्राऽऽह - **न म** इति। कुलदैवात् ब्राह्मणकुलात् मे प्राणादयो नातिवल्लभा इत्यन्वयः ॥४३॥

मह्यं मम मतिः वस्त्वप्रतिहतम् ॥४४॥

भूतभावनस्य हरेर्भावनात् उपासनादन्य दपरं कर्म मोक्ष साधनत्वेन न वृणे ॥४५॥

अविक्षिप्तेन्द्रियधियः आत्मानं हरिम् ॥४६॥

**अथेशमायारचितेषु सङ्गं गुणेषु गन्धर्वपुरोपमेषु।**
**रूढं प्रकृत्याऽऽत्मनि विश्वभर्तुर्भावेन हित्वा तमहं प्रपद्ये ॥४७॥**

**इदि व्यवसितो बुद्ध्या नारायणगृहीतया।**
**हित्वाऽन्यभावमज्ञानं ततः स्वं भावमाश्रितः ॥४८॥**

**यत्तद्ब्रह्मपरं सूक्ष्ममशून्यं शून्यकल्पितम्।**
**भगवान् वासुदेवेति यं गृणन्ति हि सात्त्वताः ॥४९॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे नवमोऽध्याय· ॥९॥

**श्रीध० अथेति**। अथ तस्मात् प्रकृत्या स्वभावेन आत्मनि रूढं गुणेषु सङ्गं विश्वकर्तुर्भावेन हित्वा तमेवाऽहं प्रपद्ये ॥४७॥

**इतीति**। अन्यभावं देहाद्यभिमानरूपमज्ञानं हित्वा ॥४८॥

स्वं भावमेवाऽऽह - **यत्तदिति** शून्यवत्कल्पितं, वागाद्यविषयत्वात्। वासुदेव इति यं गृणन्ति। ब्रह्मण एव भक्तानुग्रहार्थमाविष्कृतशक्तेर्वासुदेवत्वात् ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्यख्यायां नवमस्कन्धे नवमोऽध्याय·॥९॥

---

1 ABGJ कर्तु 2 ABJ तनो°

**वीर०** अथ तस्मादहमिह लोके भगवन्मायया रचितेषु गन्धर्वनगरतुल्येषु अनित्येषु गुणेषु शब्दादिविषयेषु प्रकृत्यात्मनि प्रकृत्यात्मके प्रकृतिपरिणामात्मके शरीरे च रूढं सङ्गं त्यक्त्वा विश्वभर्तुर्भगवतः भावेन भक्त्या तं विश्वभर्तारं प्रपद्ये प्राप्स्यामिति ॥४७॥

इत्थम्बुद्ध्या नारायणे गृहीतया तद्विषयया बुद्ध्येत्यर्थः। व्यवसितः निश्चितवान् अन्यभावं अन्यत्र देहादौ भावो येन स्यात्तदन्यथा भावमज्ञानं हित्वा देहं त्यक्त्वेत्यर्थः। ततस्स्वं भावमाश्रित आविर्भूतगुणाष्टकस्वभावः ॥४८॥

अशून्यमित्यत्ताप्रमाणशून्यं [1]प्रमाणेन सिद्धं नतु शशविषणादिवत् तुच्छमित्यर्थः। यद्वा, शून्यं गर्हितं निर्गुणं नभवतीत्यशून्यम् अनन्तकल्याणगुणाकरमित्यर्थः। शून्यकल्पितं, कल्पितं कल्पना, भावेक्त.। विभूतिगतजात्यादिकल्पना यस्मिन् शून्या तत्तथोक्तम् अनेन हेयगुणराहित्यमुक्तम्। यत्तद्ब्रह्ममयं भगवान् वासुदेव इति गृह्णन्ति सात्त्वतास्तदाश्रिता इत्यनुषङ्गः, स्वं भाव माश्रित इति प्रत्यगात्मन· शुद्धस्वभावाविर्भावः उक्तः। एवं मुक्तोऽभूदित्यर्थ· ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां नवमोऽध्याय· ॥९॥

**विज०** किमनेन बहुनोक्तेनाऽपि, एवं मम सिद्धान्तः इति सन्दधति - **अथेति**। अथाऽहं तं श्रीहरिं प्रपद्य इत्यन्वयः। किं कृत्वा? ईशस्य हरेर्मायया विकृतैः पृथिव्यादिपञ्चभूतै· रचितेषु गुणेषु देहेन्द्रियादिषु गन्धर्वपुरोपमेषु नश्वरेषु आत्मनि मनसि प्रकृत्या स्वत एव रूढं सङ्गं स्नेहलक्षणं पाशं हित्वा। त्यागे साधनमाह - विश्वभर्तुरिति, भावेन भक्त्या ॥४७॥

सर्वस्मादन्यस्य हरेर्भावत्वमेकत्वविषयमज्ञानं हित्वा स्वं भावं स्वतन्त्रं भावं स्थितः ॥४८॥

भावशब्दस्य लीलाद्यनेकार्थेषु वृत्तेः अत्र विवक्षितःकः? इति तत्राऽऽह - **यत्तदिति**। उत्तरलिङ्गविवक्षया यत्तदिति वेदान्तिनो यं भावं परं ब्रह्मेति गृणन्ति योगिनः सूक्ष्ममिन्द्रियागोचरमाकाशवदिति सन्निरन्ते, केचिदवैदिकाःशून्यनाम्ना कल्पितं जल्पन्ति न तत्तत्त्वमित्याह - अशून्यमिति। सात्त्वताः पाञ्चरात्रिका यं भगवन्तं वासुदेव इति नाम्ना गृणन्ति तं भावमास्थित इत्यन्वयः "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तैत्तिः उ:2-1-1) तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मम् (मना. उ:9-8) "ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते" (भागः 1-2-11) इत्यादेः शून्यं तत्त्वमबाध्यमिति च ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
नवमस्कन्धे नवमोऽध्याय· ॥९॥

---

1 AB add इति

# दशमोऽध्यायः

## श्रीशुक उवाच-

खट्वाङ्गादीर्घबाहुश्च रघुस्तस्मात्पृथुश्रवाः।
अजस्ततो[1] महाराजस्तस्मात्[2] दशरथोऽभवत् ॥१॥

तस्याऽपि भगवानेष साक्षाद्ब्रह्ममयो हरिः।
अंशांशेन[3] चतुर्भाऽगात्पुत्रत्वं प्रार्थितस्सुरैः॥
रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्ना[4] इति संज्ञया ॥२॥

तस्याऽनुचरितं राजन् ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
श्रुतं हि वर्णितं भूरि त्वया सीतापतेर्मुहुः ॥३॥

गुर्वर्थे त्यक्तराज्यो व्यचरदनुवनं पद्मपद्भ्यां प्रियायाः।
पाणिस्पर्शाक्षमाभ्यां मृजितपथरुजो[5] यो हरीन्द्रानुजाभ्याम्।
वैरूप्याच्छूर्पणख्याः प्रियविरहरुषाऽऽरोपितभ्रूविजृम्भ-[6]
त्रस्ताब्धिर्बद्धसेतुः[7] खलदवदहनः कोसलेन्द्रोऽवतान्नः ॥४॥

विश्वामित्राध्वरे येन मारीचाद्या निशाचराः।
पश्यतो लक्ष्मणस्यैव हता नैर्ऋतपुङ्गवाः ॥५॥

यो लोकवीरसमितौ धनुरैशमुग्रं[8] सीतास्वयंवरगृहे त्रिशतोपनीतम्[9]।
आदाय बालगजलील इवेक्षुयष्टिं सज्जीकृतं नृप विकृष्य बभञ्ज मध्ये ॥६॥

जित्वानुरूपगुणशीलवयोऽङ्गरूपां सीताभिधां श्रियमुरस्यभिलब्धमानाम्।
मार्गे व्रजन् भृगुपतेर्व्यनयत् प्ररूढं दर्पं[10] महीमकृत[10] यस्त्रिरराजबीजाम् ॥७॥

यः सत्यपाशपरिवीतपितुर्निदेशं स्त्रैणस्य चाऽपि शिरसा जगृहे सभार्यः।
राज्यं श्रियं प्रणयिनस्सुहृदो निवासं[11] त्यक्त्वा ययौ वनमसूनिव मुक्तसङ्गः ॥८॥

1 MMa स्तस्मात् 2 H V "ज। त" 3 ABGJMMa चतुर्धा" 4 MMa "घ्नाश्चेति 5 MMa "थि 6- -6 MMa "भ्भश्रुत्वाविर्भ्द्र 7 MMa "तीर्ण 8 MMa मुखे 9 MMa "नेयम् 10- -10 MMa महीं कृतवातो हतराज" 11 MMa दोऽधिवास

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

दशमे प्राह खट्वाङ्गवंशे श्रीरामसम्भवम्। तच्चरित्रञ्च लङ्केशं हत्वाऽयोध्यागमावधि।

* यद्वा :- दशमे रामचरितमाविर्भावपुरस्सरम्। शुकेन वर्ण्यते पुण्यमभिषेकोत्सवावधि॥

**खट्वाङ्गा दिति।** खट्वाङ्गाच्च दीर्घबाहु· ॥१,२॥

**तस्येति।** ऋषिभिर्वाल्मीकिमुख्यैः भूरि वर्णितं त्वया मुहु· श्रुतं, तथाऽपि संक्षेपत कथ्यमानं शृणु इति[1] शेषः ॥३॥

• "ग्रन्थ कोटिभिराकीर्णमद्भुतं रामविक्रमम्। अध्यायद्वयतो वक्ष्यन्नेकश्लोके समस्यति"। **गर्वर्थे** इति, स कोसलेन्द्रः श्रीरामो नोऽस्मनवतात् पातु। कथम्भूतः? यो गुर्वर्थे पितुः सत्यस्य पालनार्थं त्यक्तराज्यस्सन् पद्मवत् अतिसुकुमाराभ्यां पद्भ्याम्। तदेवाऽऽह - प्रियायाः पाणिनाऽपि स्पर्शे नास्ति क्षमा ययोस्ताभ्यां प्रतिवनं व्यचरत्। हरीन्द्रो हनुमान् सुग्रीवो वा अनुजो लक्षणः ताभ्यां मृजिता अपनीता पथरुजा मार्गश्रमो यस्य। शूर्पणख्या वैरूप्यात् कर्णनासिकाच्छेदाद्धेतोः तया प्रलोभितेन रावणेनापहारात् प्रियेण कलत्रेण विरहः तेन रुट् तथाऽऽरोपितयो· भ्रुवोर्विजृम्भेणैव त्रस्तोऽब्धिर्यस्मात्। तत स्तद्विज्ञापनेन बद्धः सेतुर्येन। ततः खला रावणादय एव तवो वनं दस्य दहनः ॥४॥

संक्षेपतो वर्णितं रामचरितमादित आरभ्य विस्तरेणाऽऽह विश्वामित्राध्वर इत्यारभ्य[2] यावदुत्तराध्यायसमाप्ति **विश्वामित्रेति।** पश्यत एव लक्ष्मणस्य। तमप्यनपेक्ष्यैव हता इत्यर्थ.। यच्छब्दानां, स कोसलेन्द्रोऽवतादिति[3-] पूर्वेणैवान्वय[-3] ॥५॥

**य** इति। लोके ये वीरास्तेषां समितौ समाजे ऐशं त्रैयम्बकं धनुरिक्षुयष्टिमिव लीलयैवाऽऽदाय सज्जीकृतमारोपितं विकृष्य मध्ये यो[4] बभञ्ज। हे नृप! उग्रं कठिनं गरिष्ठम्। तदाह वाहकानां त्रिभि शतैरुपनीतम्। बालगजस्य लीलेव लीला यस्य सः॥६॥

**जित्वेति।** अनुरूपाणि स्वयोग्यानि गुणशीलादीनि यस्यास्तां सीतासंज्ञां, पूर्वमुरस्यभिलब्धो मानो यया तां श्रियं जित्वा धनुर्भङ्गमहानादश्रवणक्षुभितस्य[5] भृगुपते· परशुरामस्य[6] दर्पं व्यनयदपनीतवान्। कथंभूतस्य? त्रिस्सप्तकृत्वो राजबीजशून्यां महीं योऽकरोत्तस्य ॥७॥

इदानीं गुर्वर्थे इति श्लोकं विवृण्वन्नाऽऽह-**य** इति। कदाचित्कैकेय्यास्तुष्टेन राज्ञा त्वदपेक्षितं दास्यामीति प्रतिश्रुतम्। ततः श्रीरामस्य यौवराज्याभिषेकसमये तया भरतस्य राज्यं, रामस्य च वने वास· प्रार्थितः। तदा मत्यपाशेन परिवीतस्य पितु र्निदेशमाज्ञां शिरसा जगृहे। ततो राज्यादिकं त्यक्त्वा सभार्यो वन ययौ। दुस्त्यजस्याऽपि सहर्षत्यागे दृष्टान्तः। मुक्तसङ्गो योगी असून्प्राणानिवेति ॥८॥

---

* This verse is found only in H V editions 1 ABJ omit इति शेष। • श्रीधरायोऽय श्लोक 2 ABJ "त्यादिना 3- -3 ABJ दित्यनेनैवान्वय 4 ABJ omit य 5 H V कुपितस्य 6 ABJ omit परशुरामस्य 7 H V हर्ष त्या"

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

खट्वाङ्गाद्दीर्घबाहुर्जज्ञे, तस्माद्दीर्घबाहो रघुः, स पृथु विपुलं श्रवो यशो यस्य तथाभूतः, तस्माद्रघोरजः महाराजो जज्ञे, तस्मादजाद्दशरथः सम्बभूव ॥१॥

तस्याऽपि दशरथस्यापि साक्षात्परब्रह्माभिन्नो भगवान् हरि· सुरैः प्रार्थितोंऽशांशेन सह चतुर्धा पुत्रतां प्राप्तः "भगवान् ब्रह्ममयो हरिः पुत्रतां प्राप्त." इत्यनेन श्रीरामस्य षाड्गुण्यपूर्णत्वमुक्तम्। अंशांशेन सहपुत्रतां प्राप्त इयनेन भरतादीनां तदंशावतारत्व मुक्तम्। एवञ्च भरतादीनामपि स्वांशावतारत्वात् तैस्सह चतुर्धा पुत्रातां प्राप्त इत्यर्थ. ॥१॥

चातुर्विध्यमेव दर्शयन् अवताराणां नामान्याह - रामेति । रामादिसंज्ञया चतुर्धा पुत्रातामागादिति पूर्वेणाऽन्वयः ॥२॥

तस्य श्रीरामस्य सीतापतेरनुचरितं हे राजन्! तत्त्वदर्शिभिरवतारयाथात्म्यविद्भिः ऋषिभिर्वाल्मीक्यादिभि भूरि बहुलं यथा भवति तथा, वर्णितं त्वया तन्मुहु· श्रुतम्। अतस्तन्न विस्तरत कथयामः। तथाऽपि सङ्ग्राहेण कथ्यमानं शृण्वित्यभिप्रायः ॥३॥

इतोऽध्यायद्वयेन श्रीरामचरितं विवर्णयिषुः तावदेकेन श्लोकेन सङ्गृह्णन् तत्कर्तृकामात्मरक्षां प्रार्थयते गुर्वर्थं इति। यः श्रीरामः गुर्वर्थे गुरोः पितुरर्थे वचस्सत्यतापालनार्थं त्यक्तं राज्यं येन सः पद्मवदतिसुकुमारभ्यां पद्भ्यां, तदेवाऽऽह- प्रियाया स्सीतायाः पाणेः स्पर्शे नाऽस्ति क्षमा, ययोस्ताभ्यां प्रतिवनमचरत् । हरीन्द्रानुजाभ्यां सुग्रीवलक्ष्मणाभ्यां मृजिता अपनीता पथरुजा मार्गाश्रमो यस्य, शूर्पणख्या वैरूप्यात् कर्णनासिकाच्छेदाद्धेतोः तया प्रलोभितेन रावणेनापहरात् प्रियेण कलत्रेण यो विरहः विश्लेषस्तेन या रुट्, तया आरोपिताया· कुटिलीकृताया· भ्रुवो विजृम्भेणैव त्रस्तो भीतोऽब्धिः समुद्रो यस्मात्। ततः तद्विज्ञापनेन बद्धः सेतुर्येन, ततः खला दुरात्मानः रावणादय एव दवो वनं, तस्य दहनः स एवम्भूतः कोसलेन्द्रो नोऽस्मानवतात् पातु ॥४॥

एवं सङ्गृहीतं श्रीरामचरितं आदित आरभ्य वर्णयति विश्वामित्रेत्यादिना यावदुत्तराध्यायसामाप्ति। विश्वामित्रस्याऽध्वरे यज्ञे मारीचाद्याः निशाचरा· नैर्ऋतपुङ्गवा· राक्षसश्रेष्ठा· लक्ष्मणस्य पश्यत एव, तमप्यनपेक्ष्यैव येन श्रीरामेण हताः। यच्छब्दानां स कोसलेन्द्रोऽवतान्नः इति पूर्वेणान्वयः ॥५॥

य इति। हे नृप! लोके ये वीरास्तेषां समितौ समाजे यः श्रीराम· सीतायाः स्वयंवरगृहे उग्रं कठिनं गरिष्ठं वा। तदेवाऽऽह- त्रिशतोपनीतं किङ्कराणां शतत्रयेण आनीतमैशं रौद्रं धनुरादाय सज्जीकृतमारोपितं विकृष्य बालगजस्येव लीला यस्य सः इक्षुदण्डमिव मध्ये बभञ्ज भग्नमकरोत् ॥६॥

आत्मनः स्वस्य यानि रूपादीनि तेषामनुरूपाणि रूपादीनि यस्यास्तं सीतासंज्ञां पूर्वमुरसि अधिलब्धो मानो यया तां श्रियं जित्वा धनुर्भङ्गेन स्वाधीनां कृत्वा धनुर्भङ्गमहानादश्रवणक्षुभितस्य भृगुपतेर्भार्गवरामस्य प्ररूढं दर्पं मार्गे व्यपनयत् अपनीतवान्। कथम्भूतस्य? यो भृगुपतिः त्रिरित्युपलक्षणम् त्रिस्सप्तकृत्वः अराजबीजां राजबीजशून्यां महीमकरोत्, तस्य ॥७॥

इदानीं गुर्वर्थ इति श्लोकं विवृण्वन्नाऽऽह- **य** इति। कदाचित् कैकेय्या स्तुष्टेन दशरथेन त्वदपांक्षत वरद्वय दास्यामीति प्रतिश्रुतम्, तत्र श्रीरामस्य यौवराज्याभिषेकसमये तया भरतस्य राज्यं, रामस्य वनवासश्चेति वरद्वयं प्रार्थितं तदा सत्यरूपेण पाशेन परिवीतस्य परिवृतस्य पितुर्दशरथस्य स्त्रैणस्य स्त्रीवश्यस्याऽपि निदेशमाज्ञां शिरसा जगृहे, ततः सभार्यस्सानुजश्च राज्यादीन् त्यक्त्वा वनं ययौ दुस्त्यजानामपि राज्यादीनां सहर्षत्यागे दृष्टान्तः - मुक्तसङ्गोयोगी असून् प्राणानिवेति ॥८॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

ब्रह्ममयः वदेमुख्यार्थभूतः स्वयमंशेन लक्ष्मणादिषु अंशांशेन ॥१,२॥

तत्त्वदर्शिभिः ऋषिभिः वर्णितं तस्य सीतापतेर्भूरिफलतो महत्तरमनुचरितम् ॥३॥

त्वया पुनःपुनः श्रुतमपि शृणुष्व इत्याशयेनाह - **गुर्वर्थ** इति, गुर्वर्थे पित्रर्थे पद्मपद्भ्यां पद्मोपमचरणाभ्यां मृजित पथिरुजः मार्जितमार्गक्लेशः हरीन्द्रानुजाभ्यां सुग्रीवलक्ष्मणाभ्यां, वैरुप्यात् नासिकाच्छेदलक्षणात् प्रियायाः सीतायाः विरहोद्भूतरुषा आरोपितभ्रूविजृम्भः उन्नमितभ्रूभङ्गः लङ्कायां हनुमतः आविर्भावं श्रुत्वा खला एव दवः खलदवः तस्य खलदवस्य दाहे दहनेऽग्निः "दवो दावो वनारण्यवह्न्योः" (वैज. को.6.1.27) इति यादवः। एवंविधो भगवान् कोसलेन्द्रनाम्ना भुव्यवतीर्ण इत्यन्वयः। अनतान्न इति केचित्पठन्ति ॥४॥

एकपद्येन सूत्रवत्संक्षिप्तरामचरितमादित एव किञ्चत्प्रपञ्चयति - **विश्वामित्रेति**। येनैव ॥५॥

लोके ये वीरास्तेषां समितौ सभायाम् ईशस्य शिवस्य विद्यमानं त्रिशतैरनेकैः पुरुषैरुपनेयं समीपं आनेतुं योग्यं सज्जीकृतं ज्यया सहितं कृतम् ॥६॥

उरसि अभिलब्धमानां प्राप्तमानां आत्मनः स्वस्य रूपादिभिरनुरूपा या सीताभिधा श्रीर्लमीः तां जित्वा प्राप्य स्वर्जित इति वत्। मार्गे व्रजन् रामो हतराजबीजां निर्मूलितक्षत्रसन्ततिं महीं कृतवतो भृगुपतेः परशुरामस्य प्ररूढं दर्पं उन्नतमदं व्यनय दपनीतावान् इत्यत्वयः ॥७॥

---

1 A.B "वस्य रा" 2 A B त"

यो रामः सत्याख्यपाशेन परिवीतस्य परिवेष्टितस्य पितुर्निदेशमाज्ञां शिरसाऽपि पितृसम्भावनार्थं जगृहे इत्यन्वयः। अपिर्जुगुप्सितार्थो वा जुगुप्सायाम्। किंनिमित्तमित्यत उक्तं, स्त्रैणस्येति। स्त्रीजितस्य, सभार्य इत्यनेन तस्या अपि बहुमानातिशयं सूचयति - असूनिव इत्यनेन। राज्यलक्ष्यादीनामशक्यत्याज्यतां दर्शयति, मुक्तसङ्ग इत्यनेन। "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" (वहः उ 4-3-5) इति श्रुतिसिद्धनित्यासङ्गतां दर्शयति। अधिवासमयोध्याम् ॥८॥

रक्षःस्वसुर्व्यकृत रूपमशुद्धबुद्धेस्तस्याः खरत्रिशिरदूषणमुख्यबन्धून्।
जघ्ने चतुर्दशसहस्रमवारणीयकोदण्डपाणिरटमान उवास कृच्छ्रम् ॥९॥

सीताकथाश्रवणदीपितहृच्छयेन सृष्टं विलोक्य नृपते दशकन्धरेण।
जघ्नोऽद्भुतैणवपुषाऽऽश्रमतोऽपकृष्टो मारीचमाशु विशिखेन यथा कमुग्रः ॥१०॥

रक्षोऽधमेन वृकवद्विपिनेऽसमक्षं वैदेहराजदुहितर्यपयापितायाम्।
भ्रात्रा वने कृपणवत्प्रियया वियुक्तः स्त्रीसङ्गिनां गतिमिति प्रथयंश्चचार ॥११॥

* दग्ध्वात्मकृत्यहतकृत्यमहन् कबन्धं सख्यं विधाय कपिभिर्दयितागतिं तैः।
बुद्ध्वाऽथ वालिनि हते प्लवगेन्द्रसैन्यैर्वेलामगात्स मनुजोऽजभवार्चिताङ्घ्रिः ॥१२॥

यद्रोषविभ्रमविवृत्तकटाक्षपातसम्भ्रान्तनक्रमकरो भयगीर्णघोषः।
सिन्धुश्शिरस्यर्हणं परिगृह्य रूपी पादारविन्दमुपगम्य बभाष एतत् ॥१३॥

तं त्वां विभो जडधियो न विदाम भूमन् कूटस्थमादिपुरुषं जगतामधीशम्।
यत्सत्वतः सुरगणा रजसः प्रजेशा मन्योश्च भूतपतयः स भवान्गुणेशः ॥१४॥

कामं प्रयाहि जहि विश्रवसोऽवमेहं त्रैलोक्य रावणमवाप्नुहि वीरपत्नीम्।
बध्नीध्नी सेतुमिह ते यशसौ वितत्यै गास्यन्ति दिग्विजयिनो यमुपेत्य भूपाः ॥१५॥

बद्ध्वोदधौ रघुपतिर्विविधाद्रिकूटैः सेतुं कपीन्द्रकरकम्पितभूरुहाङ्गैः।
सुग्रीवनीलहनुमत्प्रमुखै रनीकैर्लङ्कां विभीषणदृशाऽऽविशदग्रदग्धाम् ॥१६॥

---

1. ABGJ 'षा' 2 MMa 'जघ्नेकृतैण 3 MMa 'प्र 4 MMa 'थारि' 5 MMa 'पि' 6 MMa इतिरति' * This verse is not found in M Ma edns 7- -7 MMa तौग्र परिवृत्त 8 ABGJ न त्वा वय , MMa त त्वावय 9 ABGJ नु 10 MMa त्व सत्व' 11 MMa 'णान् र 12 MMa 'शान्म' 13 W विधूत्यै 14. ABGJMMa गायन्ति 15 MMa 'रनेन्द्रै, , W नरेकैं 16 MMa आशु'

**श्रीध० रक्ष इति।** रक्षसो रावणस्य स्वसु· शूर्पणखायाः अशुद्धबुद्धे सीता जिघृक्षो· कामातुराया इति वा, रूपं व्यकृत विकारमनयत्। तस्याः खरत्रिशिरदूषणमुख्या बन्धवो येषु तांश्चतुर्दशसहस्रं जघान। अवारणीयमलङ्घ्यमसह्यं कोदण्डं पाणौ यस्य सः ॥९॥

**सीतेति।** सीतायाः कथाश्रवणेन दीपितो हृच्छयो यस्य तेन मीतां हरिष्यता स्वस्माद्भीतेन स्वस्याश्रमादपकर्षणार्थे सृष्टं निसृष्टं मारीचं विलोक्य जघान। कथम्भूतम् ? अद्भुतैणवपुषा स्वर्णहरिणदेहेनोपलक्षितम्। अत एव प्रलोभनेन आश्रमत स्तेनाकृष्टस्सन् कं दक्षप्रजापतिं उग्र श्रीरुद्र· ॥१०॥

**रक्षोऽधमेनेति।** ततश्च रक्षोऽधमेन रावणेनाऽसमक्षमपनीतायाम् प्रियायाम्। तथा वियुक्तो भ्रात्रा लक्ष्मणेन सह कृपणवद्वने चचार. किमभिप्रायस्सन् इत्यनेन प्रकारेण स्त्रीसङ्गिनां दु·खोदर्कां गतिं प्रख्यापयन् ॥११॥

**दग्ध्वेति।** आत्मार्थेन कृत्येन कर्मणा रावणेन सह युद्धेन हतस्य कृत्यं शास्त्रीयं दहनादिकं यस्य तं जटायुषं पुत्र इव दग्ध्वा कबन्धं स्वग्रहणाय प्रसारितबाहुं राक्षसमहन्। अथ वालिनि हते तैः कपिभि दयिताया गतिं बुद्ध्वा अजभवाभ्यामर्चितौ अङ्घ्री यस्य, स मनुजो वेलां समुद्रतीरमगात् ॥१२॥

**यदिति।** तत्र त्रिरात्रमुपवासेन प्रतीक्षितोऽपि सिन्धु यदा नोपस्थित तदा यस्य रोषविभ्रमेण क्रोधलीलया विवृत्तौ य· कटाक्षस्तस्य पातेन सम्भ्रान्ता नक्रा मकराश्च यस्मिन् भयेन गीर्णो ग्रस्त. स्तम्भितो घोषो येन स सिन्धु , एतद्वक्ष्यमाणं बभाषे। अर्हणमर्घ्यादिकम्। छन्दोभङ्ग· आर्ष·। रूपी मूर्तिमान् ॥१३॥

**भाषणमोह।** न त्वामिति हाश्माम्। एतावत्पर्यन्तं नु निश्चितं त्वां न विदाम न जानांम इत्यर्थ । इदानीं तु ज्ञातोऽसीत्याह। यदिति पृथम्पदम्। यस्येत्यर्थ·। यद्वशभ्य· सत्त्वादिभ्य· सुरणादयो भवन्ति स भवानिति ॥२४॥

**काममिति।** कामं यथेच्छं जलमाक्रम्याऽपि प्रयाहि अवमेहं पुरीषप्रायम्। त्रैलोक्यं रावयत्याक्रन्दयतीति तथा, तं जहि। हे वीर यद्यपितवजलं प्रतिबन्धकं नभवति, तथापीह सेतुं बध्नीहि। तर्हि किमर्थम्। ते यशसो विस्ताराय। तदेवाह - यं सेतुमुपेत्य दुष्करं कर्मावेक्ष्य त्वद्यशो गास्यन्ति भूपास्तम् ॥१५॥

तद्वाक्यमभिन्द्य यत्कृतं तदाह - **बद्धेति।** विविधैरद्रीणां कूटै शृङ्गै , सेतुं बदद्ध्वा अग्रे सीतान्वेषणे हनुमतैव दग्धां लङ्कामाविशत्। कथम्भूतै : शृङ्गै कपीन्द्राणां करैः कम्पितानि भूरुहाणामङ्गानि शाखादीनि येषु तै· विभीषणस्य दृशा बुद्ध्या। कैस्सहाऽविशत्। सुग्रीवादय· प्रमुखा येषां तैरनीकै· ॥१६॥

**वीर०** रक्ष इति। रक्षसो रावणस्य स्वसुर्भगिन्याः शूर्पणख्या· अशुद्धबुद्धे सीताञ्जिघुक्षो कामातुराया वा रुपं व्यकृत

1 ABJ अपा° 2 H V omit असह्य° 3 ABJ °णार्थं 4 ABJ °नापकृ° 5- -5 ABJ दक्ष 6- -6 ABJ प्रियया 7- -7 ABJ omit

विकृतमकरोत्। तस्याः शूर्पणख्याः खरादिप्रमुखाः बन्धवो येषु तान् चतुर्दशसहस्रं सहस्राणि बन्धूनित्यत्र लिङ्गव्यत्ययः सहस्रमित्यत्र वचनव्यत्ययश्चार्षः। जघान हतवान् आर्षत्वात् सापेक्षस्यापि बन्धुशब्दस्य वृत्तिः नित्यसापेक्षत्वाद्वा तथाचोक्तं हरिणा "सम्बन्धिशब्दः सापेक्षो नित्यं सर्वः समस्यते" इति। कथम्भूतः? अवारणीयमलङ्घ्यमसह्यं कोदण्डं धनुः पाणौ यस्य तथाभूतः ततः इतस्ततो[1] वने सञ्चरन् कृच्छ्रमुवास वनवासस्य दुःखरूपत्वप्रदर्शनाय कृच्छ्रमिवोवासेत्युक्तिः नित्यानन्दरूपस्य तस्य दुःखाभावात् ॥९॥

**सीतेति**। सीतायाः कथाश्रवणेन दीपितः हृच्छयः कामो यस्य तेन दशकन्धरेण रावणेन सीतां जिघृक्षुणा स्वयं तत्र गन्तुं भीतेन सृष्टं प्रेषितं मारीचं विलोक्य हे नृपते! अद्भुतमेणस्यैव वपुर्यस्य तेन सीतया क्रीडार्थमपेक्षितेन मारीचेनाश्रमतः स्वाश्रमादपकृष्टः प्रलोभनपूर्वकमाश्रमतोऽपकृष्टः सन् आशु विशिखेन बाणेन तं मारिचं जघ्ने हतवान् यथा कं दक्षमुग्रो रुद्रस्तद्वत् ॥२१॥

**रक्ष इति**। तदा रक्षोऽधमेन रावणेनासमक्षं रामलक्ष्मणयोरिति शेषः। मृगानयनार्थं रामस्य तद्वृत्तान्तज्ञानार्थं लक्ष्मणस्य च प्रेषितत्वात् तयोरसान्निध्ये सति वने वृकवत् वृकेनेव वैदेहराजदुहितसीतायामपयापितायापहृत्य लङ्कां प्रति प्रापितायां सत्यां प्रियया वियुक्तो भ्रात्रा लक्ष्मणेन सह कृपणवत् दुःखीव वने चचार, किङ्कुर्वन् ? इति अनेन प्रकारेण स्त्रीसङ्गिना दुःखोदर्कां गतिं प्रथयन् प्रख्यापयन् ॥२१॥

**दग्ध्वेति**। आत्मनः श्रीरामस्य यत्कृत्यं प्रयोजनं सीतानिर्मोचनरूपं तेन निमित्तेन हतं रावणेन सह युद्धे हतं गृध्रं जटायुषं दग्ध्वा कबन्धम् अहन् जघान ततः कपिभिर्वानरैः सह सख्यं विधाय कृत्वा अथ वालिनि हते सति तैः कपिभिर्दयिता यास्सीताया गतिं बुद्ध्वा अजभवाभ्यां ब्रह्मरुद्राभ्यामर्चितावङ्घ्री यस्य तथाभूतोऽपि स श्रीरामः मनुजावताररूपत्वात्प्लवगेन्द्राणां कपीन्द्राणां सैन्यैः सह वेलां तीरं समुद्रस्येति शेषः अगात् जगाम ॥१२॥

**यदिति**। तत्र त्रिरात्रमुपवासेनापि प्रितीक्षितः सिन्धुर्यदा नोपस्थितस्तदा यस्य रोषविभ्रमेण क्रोधलीलया विवृत्तो यः कटाक्षस्तस्य पातेन सम्भ्रान्ताः नक्रा मकराश्च यस्मिन् भयेन गीर्णस्तम्भितो घोषो येन सा सिन्धुरर्हणमर्घ्यादिद्रव्यं शिरसि परिगृह्य निधाय रूपी मूर्तिमान् पादारविन्दमुपगम्य शरणं गत्वा एतद्वक्ष्यमाणं बभाषे ॥१३॥

**भाषणमेवाह - तं त्वामिति** द्वाभ्यां हे भूमन्! तं प्रायोपविष्टं त्वामेतावत्पर्यन्तं जडधियो वयं कूटस्थं निर्विकारं जगतामधीश माद्विपुरुषं न विदामः न जानीमः। इदानीं तु ज्ञातोसीत्याह, यदिति यतिदिति पृथक्पदं लुप्तषष्ठ्यन्तं यस्य तव नियाम्यात् सत्वतः सत्वगुणात् सुरगणा जज्ञिरे[2] इति शेषः। रजसो गुणा प्रजेशाः प्रजापतयः, मन्योस्तमसः भूतपतयो रुद्रादयः स भगवान् गुणेशः

1 A.B वनी 2 A.B omit जज्ञिरे

सत्वादिगुणानां नियन्तेत्यधुनाऽहं मन्य इत्यर्थः ॥१४॥

**काममिति**। कामं यथेच्छं जलमाक्रम्यापि प्रयाहि गच्छ विश्रवसः प्रजापतेरवमेहं पुरीषप्रायं त्रैलोक्यं रावयति आक्रन्दयतीति तथा तं दशकन्धरं जहि। हे वीर! पत्नीं सीतां आवाप्नुहि यद्यपि तव मदीयं जलं न प्रतिबन्धकं भवति। तथापि सेतुं बध्नीहि किमर्थमित्यत्राह - ते तव यशसो विभूत्यै विस्ताराय। तथाहि दिग्विजयिनो भूपाः यं सेतुं उपेत्य दुष्करं त्वत्कर्माविक्ष्य त्वद्यशो गास्यन्ति॥१५॥

तद्वाक्यमभिनन्द्य यत्कृतं तदाह बद्ध्वेति। कपीन्द्राणां करैः कम्पितानि भूरुहाणां अङ्गानि शाखादीनि येषु तैर्विविधानां अद्रीणां कूटैः शिखरैः उदधौ सेतुं बद्ध्वो रघुपतिः, सुग्रीवादयः प्रमुखा[1]मुख्याः येषां तैरनेकैः कपिभिः सह, अनीकैरिति पाठे सैन्यैः सहेत्यर्थः। अग्रे सीतान्वेषणसमये हनुमतैव दग्धां लङ्कां विभीषणस्य दृशा बुद्ध्वा[2] तत्प्रदर्शितमार्गेणेति भावः आविशत् प्रविवेश ॥१६॥

**विज०** रक्षस्स्वसुः शूर्पणख्याः रूपं व्यकृत कर्णनासिकाच्छेदन लक्षणविकारं कारितवान्। अटमानः वन इति शेषः ॥९॥

शूर्पणखीमुखात्सीतायाःसौन्दर्यादिविषयकथायाः श्रवणेन दीपितः प्रज्वलितो हृच्छयः कामो यस्य स तथा तेन दशकन्धरेण रावणेन सृष्टं प्रतिपाद्य प्रेषितम् "उत्सर्जनविसर्जने विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनाम्" (अमःकोः2.428) इत्यभिधानम्। कृतैणवपुषा विरचितमृगाकारेणाश्रमतः समीपे विचरन्तं विलोक्य सीतया प्रकृष्टः उल्लिखितो भेदितो वशीकृत इति यावत्। आश्रमतोऽपकृष्टः दूरं नीतो रामो विशिखेन मारीचम् आशु जघ्न इत्यन्वयः। उग्रो नरसिंहो हिरण्यकशिपुनामानम् अरिं "उग्रो जज्ञे वीर्याय स्वधावान्" इति श्रुतिः। रुद्रोन्धकाख्यं रिपुं वा "उग्रः कपर्दी श्रीकण्ठः शितिकण्ठः कपालभृत् (अम. को. 1-32) इत्यभिधानम् ॥१०॥

निर्ऋत्यादिराक्षसविवक्षया रक्षोधमेन रावणेन विपिने वृकवत् स्थितेन वृणोत्यावृणोत्यात्मानमिति वेषान्तरेण स्थितेनेत्यर्थः। असमक्षमप्रत्यक्षं रामस्येति शेषः। वैदेहराजदुहितरि सीतायामपयापितायामपनीतायाम् अवने नियुक्तेन भ्रात्रा लक्ष्मणेन रहितायामिति शेषः। प्रियया सीतया वियुक्तः लोकदृष्टयेति शेषः। स्त्रीसङ्गिनां रतिमितीत्थं प्रथयन् प्रख्यापयन् चचार अनेन विटजनशिक्षणार्थमेवं दर्शितमिति ज्ञायते प्रथयन्नित्युक्तेः। किमर्थमेवं कल्पना? तत्स्वभावानुभावत्किं न स्यादिति चेन्न।-

'नित्यपूर्णसुखज्ञानस्वरूपोऽसौ यतो विभुः। ततोऽस्य राम इत्याख्या तस्य दुःखं कुतोऽण्वपि॥

तथापि लोकशिक्षार्थं मदुःखो दुःखवर्तिवत्। अन्तर्हितां लोकदृष्ट्या सीतामासीत्स्मरन्निव ॥'

---

1 A B omit मुख्या 2 A B बुद्धवा

इति स्मृतिविरोधात् प्रियया वियुक्तत्वदर्शनमपि लोकदृष्ट्यपेक्षयेति ज्ञातव्यम्। तत्कुतोऽवगतमिति चेत् - "ज्ञापनार्थं पुनर्नित्यसम्बन्धः स्वात्मन· श्रिया। अयोध्याया विनिर्गच्छन् सर्वलीकस्य चेश्वर·। प्रत्यक्षं तु श्रिया सार्धं जगामानादिरव्यः (स्कान्दे)" इति स्मृत्या ज्ञातव्यम्। एवमन्यत्रापि प्रमाणसामर्थ्यात्सर्वत्राप्यनुसन्धेयोऽन्यार्थ इति विशदं समस्तम् ॥११-१२॥

इतोपि श्रीराम साक्षान्नारयणावतार एव न देवदत्ताद्यन्यतमः। तस्य प्रियावियोगदिना दु.खप्रकटनमसुरजनमोहनाय मानुषावतारदेवताजनशिक्षणाय चेत्येतदत्रत्यैः श्लोकैरेव ज्ञातुं सुकरमित्याशयेन तन्माहात्म्यं प्रकटयति - यद्रोषेति। यस्य रामस्य रोषेण तीव्रश्च परिवृत्तश्च कटाक्षः यद्रोषतीव्रपरिवृत्तकटाक्षस्तस्य पातेन लक्षवेधवद्विषयीकरणेन सम्भ्रान्ता इतस्ततोऽनवस्थिता नक्राश्च मकराश्च यस्मिन् स तथा भयेन गीर्णो नष्टो घोषो यस्मिन् स तथा अत एव तूष्णीं स्थित इत्यर्थः। अर्हणमर्घ्यपाद्यादि पूजासाधनम्, रूपी करचरणादिविशिष्टावयवोपेत· ॥१३॥

जडवदचेतनवत् धीर्येषां ते तथा, ज्ञानपूर्वप्रवृत्तिशून्या इत्यर्थ. जडाधारा इत्यर्थोपि ग्राह्यः अनेन तावदेवास्मत्तः प्रयोजनमिति सूचयति - वेदान्ते जगत्कारणस्य ब्रह्मत्वं निरणायि रामस्य तदभावात्तत्त्वं कथमिति चेत्तदस्याप्यस्तीत्याह त्वमिति। यस्त्वं सत्त्वगुणात्सुरगणान् अस्राक्षीः रजोगुणात् प्रजेशान् मनुष्यानसृजः। मन्योस्तमोगुणाच्च भूतपतय· भूतपतीन् ब्रह्मराक्षसादिलक्षणासुर उदभावयः स परमाण्वादिमहत्तत्वान्तजगत· कर्ता भवान् नान्य·,गुणै· प्रवर्तमानस्य गुणनिमित्ताभिभवो नाशङ्कनीयः, गुणानां तदधीनत्वात् इत्याशयेनाऽह- गुणेश इति। क्रोधस्य तम·कार्यत्वात्तेन तल्लक्षयति ॥१४॥

यथाऽवमेहो विष्टा शरीरान्निर्गता शुनामुपभोगाय भवति तथाऽयमपि विश्रवसो देहान्निर्गतत्वेनावमेहस्थानीयस्त्वच्छर निर्भिन्नहृदयः शुनामशनाय स्यादित्यतो विश्रवसोऽवमेहमित्युक्तं त्रैलोक्यस्य रोदनकरणत्वात् त्रैलोक्यरावणम्। हे वीर! इह मयि वितत्यै विस्ताराय यं सेतुम् ॥२५॥

विविधाद्रिकूटैर्नानाविधपर्वतशृङ्गैः कपीन्द्राणां करै· कम्पितानि भूरुहाणां वृक्षाणाम् अङ्गानि शाखोपशखालक्षणानि येषु तानि तथा तैः ॥२६॥

**सा वानरेन्द्रबलरुद्धविहारकोष्ठश्रीद्वारगोपुरसदोवलभीविटङ्का।**
**निर्भज्यमानधिषणध्वजहेमकुम्भशृङ्गाटका गजकुलैर्हदिनीव घूर्णा ॥१७॥**[1]

**रक्षःपतिस्तदवलोक्य निकुम्भकुम्भधूम्राक्षदुर्मुखसुरान्तनरान्तकादीन्।**
**पुत्र प्रहस्तमतिकायमकम्पनादीन् सर्वानुगान् समहिनोदथ कुम्भकर्णम् ॥१७॥**[2][3]

1 HV ऋतै· 2 MMa पुत्रान् 3 ABGJMMa "वि· "

तां यातुधानपृतनामसिशूलचापप्रासर्ष्टिशक्तिशरतोमरखड्गदुर्गाम्[1] ।
सुग्रीवलक्ष्मणमरुत्सुतगन्धमादनीलाङ्गदर्क्षपनसादिभिरन्वितोऽयात्[2] ॥१९॥

तेऽनीकपा रघुपतेरभिपत्य सर्वे द्वन्द्वं वरूथमिभपत्तिरथाश्वयोधैः[3] ।
जघ्नुर्भृशंगिरिगदेषुभिरङ्गदाद्याः[4] सीताभिमर्शहतमङ्गलरावणेशान्[5] ॥२०॥

रक्षःपतिः स्वबलनष्टिमवेक्ष्य रुष्ट आरुह्य यानकमथाभिससार रामम् ।
स्वः स्यन्दने द्युमति मातलिनोपनीते विभ्राजमानमहनन्निशितैः क्षुरप्रैः ॥२१॥

रामस्तमाह पुरुषादपुरीष यन्त्रः कान्तासमक्षमसतापहृताश्ववत्[6] ते ।
त्यक्तत्रपस्य फलमद्य जुगुप्सितस्य यच्छामिकाल इव कर्तुरलङ्घ्यवीर्यः[7] ॥२२॥

एवं क्षिपन्[8] धनुषि संधितमुत्ससर्ज बाणं स वज्रमिव तद्धृदयं बिभेद ।
सोऽसृग् वमन् दशमुखैर्न्यपतद् विमानाद्धाहेति जल्पति जने सुकृतीव रिक्तः[9] ॥२३॥

ततो निष्क्रम्य लङ्काया यातुधान्यः सहस्रशः ।
मन्दोदर्या समं तस्मिन्[10] प्ररुदन्त्य[11] उपाद्रवन् ॥२४॥

**श्रीध० सेति**। ततश्च सा लंका घूर्णा प्रचलिता बभूव। कथंभूता वानरेन्द्राणां बलै रुद्धा विहारादयो यस्याम्। निर्भज्यमाना धिषणादयो यस्यां सा। तत्र विहारः क्रिडास्थानम्। कोष्टं धान्यागारादि। श्री : कोशः। द्वारं गृहादीनाम्। गोपुरं पुरद्वारम्। सदः सभा। वलभी प्रासादादिपुरोभागच्छादिनी। विटंकः कपोतपालिका। धिषणं वेदिकादि। श्रृङ्गाटकं चतुष्पथम् ॥२७॥

**रक्षेति**। रक्षसां पति· रावण । पुत्रमिन्द्रजितं प्रहस्तादींश्च समहिनोत्प्रायुंक्त ॥१८॥

**तामिति**। असिशूलादिभिर्दुर्गमां तां यातुधानपृतनां सुग्रीवादिभिरन्वितः श्रीरामः अयात्[12] । मरुसुतो हनूमान्। ऋक्षो जांबवान् ॥१९॥

**त इति**। ते रघुपतेरनीकपा अंगदाद्याः सर्वे रावणस्येभादिभिर्यद्वरूथं सैन्यं तत्र द्वंद्वं यथा भवति तथाऽभिपत्य संगम्य द्रुमादिभिर्जघ्नुः। कान्। सीताया अभिमर्शेन हतं मंगलं यस्य सः रावणः ईशो येषां तान् ॥२०॥

---

1 MMa जुष्टाम् 2 ABGJ गात् 3 MMa योधम् 4 ABGJMMa 'ङ्गैः' 5 MMa 'शम्। 6 MMa स्वय ते। 7 MMa 'म' 8 MMa 'पद्धनु' 9 MMa रक्ष 10 W तत्र 11 ABGJ 'दत्य 12 ABJ अभ्यणात्

**रक्षःपतिरिति**। स्वबलस्य नष्टिं नाशमवेक्ष्य रुष्टः क्रुद्धस्सन् यानकं पुष्पकविमानं, रथं वाऽऽरुह्य श्रीराममभिससार। अथ तं स्वस्यंदने स्वर्गस्थे इंद्रस्य रथे मातलिर्नेंद्रसारथिनोपनीते द्युमति दीप्तियुक्ते विभ्राजमानमहनदहन् ॥२१॥

**राम इति**। हे पुरुषादपुरीष राक्षसपुरीषप्राय। यद्यस्मादपहृता। श्ववत् श्वा यथाऽसमक्षं गृहं प्रविश्य किमपि हरति तद्वत्। तस्माज्जुगुप्सितस्य कर्मण. कर्तुस्तेऽद्य काल इवालंघ्यवीर्योऽहं फलं यच्छामि। अधर्मकर्तुः पुंसः कालो यथा यच्छतीति वा ॥२२॥

**एवमिति**। रिक्तः क्षीणपुण्यः सुकृती विमानादिव। विमानात् पुष्पकान्न्यपतदिति वा ॥२३॥

राक्षसस्त्रीणां विलापमाह **तत** इति पंचभिः। मन्दं स्वल्पमुदरं यस्यास्तया रावणभार्यया सह ॥२४॥

**वीर० सेति**। सा श्रीरामेण सकपिसैन्येन प्रविष्टा लङ्का गजकुलैः ह्रदिनी यथा घूर्णा भवति तद्वत् घूर्णा बभूव, कथम्भूता? वानरेन्द्राणां बलैरुद्धा विहारादयो यस्यां, निर्भज्यमाना धिषणादयो यस्यां सा, तत्र विहारः क्रीडास्थानं कोष्ठं धान्यागारादि, श्रीः कोशः, गृहादीनां, गोपुरं पुरद्वारं, सदः सभाः बलभी प्रासादादिपुरो भागच्छादिनी विटङ्कः कपोतपालिका, धिषणं वेदिकादि, ध्वजहेमकुम्भौ प्रसिद्धौ शृङ्गाटकश्चतुष्पथः ॥१७॥

**रक्ष इति**। रक्षःपतिः रावणः तद्विघूर्णनं दृष्ट्वा निकुम्भादीन् एकैकशः स्वस्वबलसहितान् पुत्रमिन्द्रजितं प्रहस्तादींश्च सर्वाननुगान् भृत्यान् समहिनोत् प्रायुंक्त अथ कुम्भकर्णं च समहिनोत् ॥१८॥

**तामिति**। तामसिशूलादिभिर्दुर्गमां यातुधानानां पृतनां सेनां सुग्रीवादिभरन्वितः श्रीरामोभ्ययात् तत्र मरुत्सुतो हनुमान्, ऋक्षो जाम्बवान् ॥१९॥

**त इति**। ते रघुपतेरनीकपाः सर्वे अङ्गदाद्याः रावणस्येभादीनां गजादीनां यूथैर्यद्वरूथं सैन्यं तत्द्वन्द्वं यथा भवति तथा अभिपद्य सङ्गम्य द्रुमैर्गिरिभिर्गदाभिरिषुभिश्च सीताया अभिमर्शनेन हतं मङ्गलं यस्य स रावण ईशो येषां तान् निकुम्भादीन् जघ्निरे ॥२०॥

**रक्ष इति** । अथ रक्षःपतिः रावणः स्वबलस्य नष्टिं नाशमवेक्ष्य रुष्टः कुद्धस्सन् यानकं विमानमारुह्य श्रीराममभ्यपतत् अथ स्वस्स्यन्दने इन्द्रस्य रथे मातलिना इन्द्रसारथिना उपनीते समानीते द्युमति दीप्तियुक्ते विभ्राजमानं श्रीरामं क्षुरप्रैः क्षुरधारातुल्याग्रै र्विशिखैर्बाणैरहनत् तताड। तनादित्वादेव सिद्धेकृञ् ग्रहणेन गणकार्यस्यानित्यत्वादार्षत्वाद्वा शपो लुगभावः ॥२१॥

---

1 ABJ "कवि" 2 AB "गात्

तमेवं ताडयन्तं रावणं श्रीराम आह - किमिति। हे पुरुषादपुरीष! राक्षसेषु तेषां वा पुरीषप्राय! यस्मान्नोऽस्माकमसमक्षं कान्ता असता दुरात्मना त्वया शुनेवापहृता शुना यथा असमक्षं गृहं प्रविष्टेन किमपि वस्त्वपह्रियते तद्वदिति दृष्टान्तार्थः, तस्मात् जुगुप्सितस्य, कर्मणः इति शेषः, कर्तुस्ते निर्लज्जस्य तवाद्यकालो मृत्युरिवालंघ्यवीर्योऽहं फलं यच्छामीति ॥२२॥

एवमित्थमधिक्षिपन् धनुषि सन्धितं बाणमुत्ससर्ज प्रायुंक्त स बाणो वज्रमिव तस्य रावणस्य हृदयं बिभेद स रावणः दशभिर्मुखैरसृक् रुधिरं वमन् जने पश्यति जने हाहेति वादिनि सति विमानात् पुष्पकादपतत् यथा सुकृती क्षीणपुण्यः स्वर्लोकात् पतति तद्वत् ॥२३॥

ततः इति। ततो यातुधान्यः राक्षस्यो मन्दोदर्य्या सह लङ्कायाः निष्क्रम्य प्ररुदन्त्यस्तत्र रावणसमीपे उपाद्रवन् आजग्मुः ॥२४॥

विज० यदा सा लङ्का रामेणाविष्टा तदा गजकुलैः घूर्णा ह्रदिनीव घूर्णाऽभूदिति शेष·। विहरन्त्यस्मिन्निति विहारं क्रीडास्थानं कोष्ठमन्तर्गृहं सद्द्वारं सभाद्वारं, प्रशस्तसाधारणद्वारं वा गोपुरं पुरद्वारं, सदः सभास्थानं, वलभी, गृहाच्छादनान्तर्नाली, दारुभिः परितो निर्मिता गोपानसीति कीर्त्यते विटङ्का[1] पक्षिपट्टिका वानरेन्द्राणां बलेन सेनाया रुद्धा आवारिताः विहारादयो यस्या· सा तथा "आच्छादनं स्याद्वलभीगृहाणां गोपानसी दारुषु वक्रसंस्था। निप्रं वलीकं पटलान्तमाहुः कपोतपाली च विटङ्कसंज्ञाम्॥" हल. को 2.48 -इति हलायुध. "गोपानसी तु वलभीच्छादने वक्रदारुणि। कपोतपालिकायान्तु विटङ्कं पुन्नपुंसकम्।" (अम. को. 2.33) इत्यमरः। निर्भज्यमाना वानरेन्द्रबलेन निर्भिद्यमाना धिषणध्वजाः गृहालङ्कारहेतवः हेमकुम्भाः सुवर्णकलशाः, शृङ्गाटकाः गृहमुखाग्रतोन्नतत्रिशूलाङ्कग्रहैकदेशाः यस्यां सा तथा ध्वजोपरिस्थहेमकुम्भैर्युक्ताः शृङ्गाटकाः चतुष्पथा वा ॥१७॥

तद्वानरेन्द्रबलकृतं कर्म समहिनोदपातयत् ॥१८॥

या रावणेन प्रेरिता तां यातुधानपृतनां राक्षससेनाम् ॥१९॥

रघुपतेस्ते अनीकपाः सेनानायकाः वरूथं रथगुप्तिमभिपत्य प्राप्य इभाश्च पत्तयश्य रथाश्चाश्वाश्च योधाश्च यस्मिन् तदिभपत्तिरथाश्वयोधं, द्वन्द्वं द्वाभ्याम् द्वाभ्याम् इभादिभ्यां क्रियमाणं युद्धम् अभ्युपगम्य राक्षसबलं जघ्नुरित्यन्वय· "रथगुप्तिर्वरूथो ना कूबरो ना युगन्धरः" (वैज. को. 3.7.132) इति यादवः। कीदृशं बलं सीताभिमर्शेन सीतापरामर्शेन सीताया अपहारेणेत्यर्थः। हतं नष्टं मङ्गलं पुण्यं यस्य स तथा स चासौ रावण· सीताभिमर्शहतमङ्गलरावण. स एवेशो यस्य तत्तथा तत् ॥२०॥

द्युमति तेजोवति स्वः स्वर्गादवतीर्णे स्यन्दने रथे विभ्राजमानं क्षुरप्रैरर्धचन्द्रैः "अर्द्धचन्द्रः क्षुरप्रः स्यात्" (वैज. को.

---

1 AB ङ

3.7.182) इति। प्रासः कुन्तः ऋष्टि· प्रसिद्धा शक्ति· शतमारणी तोमरः लोहमयद्विफलः, निस्त्रिंशः खड्गः पट्टिशः लोहदण्ड इत्यर्थः। शतघ्नी चतुस्ताला लोहकण्टकसंचिता केचित् शतघ्नीमयःकण्टकसंछन्नां महाशिलां वदन्ति, भुशुण्डी वृत्तायःकलसश्चिता, दारुमयी हस्तिवरो गजत्रासहेतुरष्टमुनयः देवदण्डोऽश्वत्रासकरोरत्निमात्रः द्रुघणो मुद्गरः, तत्र शक्त्याद्यस्त्रं हस्तमुक्तं, शरादिकं यन्त्रमुक्तं[1] मुक्तामुक्तं नागपाशादिकं अमुक्तं छुरिकादिकमिति चतुर्विधमायुधं प्रसङ्गात्कथितम् ॥२१॥

हे पुरुषादपुरीष! राक्षसाधम! "अपकृष्टं पुरीषं स्यात्[2-] विष्ठनिष्ठ्यूतमप्युत[-2]" इति असता अप्रशस्तकर्मणा त्वया कान्ता सीता नः अस्माकमसमक्षम् अस्मान्वशयित्वाऽपहृतेति यत्तस्मादद्य त्यक्तत्रपस्य निर्लज्जस्य रक्षस्त्वेन जुगुप्सितस्य ते तव तस्य कर्मणः फलं कर्तुं अनेकार्थत्वाद्धातूनां दातुमिच्छामि तवाधुना तल्लङ्घनमशक्यमित्याशयेनाह - काल इति। कालोऽन्तकः "कालो मृत्यौ यमे" इति यादव· "वीर्यं पराक्रमे रेतस्यन्नमाहात्म्ययोरपि" (वैज· को·6.3.32) इति ॥२२॥

स रावण·, सुकृती भुक्तपुण्य·स्वर्गादिव ॥२३-२४॥

स्वान् स्वान् बन्धून् परिष्वज्य लक्ष्मणेषुभिरर्दितान्।
रुरुदुः सुस्वरं दीना घ्नन्त्य आत्मानमात्मना ॥२५॥

हा हताः स्म वयं नाथ लोकरावण रावण।
कं यायाच्छरणं लङ्का त्वद्विहीना परार्दिता ॥२६॥

नवै[3] वेद महाभाग भवान् कामवशं गतः।
तेजोऽनुभावं सीताया येन नीतो दशामिमाम् ॥२७॥

कृतैषा विधवा लङ्का वयं च कुलनन्दन।
देहः कृतोऽन्नं[4] गृध्राणामात्मा नरकहेतवे ॥२८॥

श्रीशुक उवाच

स्वानां विभीषणश्चक्रे कोसलेन्द्रानुमोदितः।
पितृमेधविधानेन यदुक्तं साम्परायिकम् ॥२९॥

ततो ददर्श भगवानशोकवनिकालये[5]।
क्षामां स्वविरहव्याधिं[6] शिंशुपामूलमास्थिताम्[7] ॥३०॥[8]

---

1 AB पत्र 2-·2 ABMa विष्ठयनिष्क्रममत्युत 3 ABGJ नैव 4 MMa ०ऽय 5 ABGJMMa "काश्रमे 6 MMa ०याधे 7 AGMMa "श" 8 ABGJ "सबि"

**रामः प्रियतमां भार्यां दीनां वीक्ष्यान्वकम्पत।**

**आत्मसंदर्शनाह्लादविकसन्मुखपङ्कजाम् ॥३१॥**

**आरोप्यारुरुहे यानं भ्रातृभ्यां हनुमद्युतः।**

**विभीषणाय भगवान् दत्त्वा रक्षोगणेशताम् ॥३२॥**

**श्रीध० हेति।** परैरर्दिता[1] पीडिता ॥२५-२७॥

**कृतेति।** गृध्राणामन्नं भक्ष्यः। नरकहेतवे नरकभोगाय ॥२८॥

**स्वानामिति।** सांपरायिकमौर्ध्वदैहिकम् ॥२९-३०॥

**राम इति।** आत्मन· स्वस्य संदर्शनेन य आह्लादस्तेन विकसन्मुखपंकजं यस्यास्ताम् ॥३१॥

**आरोप्येति।** यानं पुष्पकम्। भ्रातृभ्यां लक्ष्मणसुग्रीवाभ्याम् ॥३२॥

**वीर० तत्रेति।** तत्र लक्ष्मणस्य बाणैरर्दितान् हतान् स्वान् स्वान् बन्धून् परिष्वज्य आत्मना आत्मानं घ्नन्त्यः दीनाः दुःखिता· सुस्वरं रुरुदुः ॥२५॥

रोदनप्रकारमेवाह - **हाहेति त्रिभिः।** हेति खेदद्योतकमव्ययं हे नाथ! हे लोकरावण! वयं हताः स्म हतप्राया बभूविम अधुना परै शत्रुभिरर्दिता पीडिता त्वया हीना रहिता लङ्का लङ्कास्थो जन· कं शरणं यायात् ॥२६॥

**न वा** इति। हे महाभाग! भवान् कामवशङ्गतः सीतायास्तेजसः **प्रभावं** तेजोरूपं वा प्रभावं न वै वेद न ज्ञातवान् येन तेजोऽनुभावेनमां दशां नीतः प्राप्तवानसि ॥२७॥

**कृतेति।** हे कुलनन्दन! वयमेषा लङ्का च विधवा कृता, येनेत्यनुषङ्ग·। अयं शयान· त्वद्देहः गृध्राणां कृत·, भक्ष्य **इति** शेषः। आत्मा तु नरकहेतवे नरकभोगाय कृत· ॥२८॥

**स्वेति।** ततः कोसलेन्द्रेण श्रीरामेणानुमोदितो विभीषण· पितृमेधविधानेन पितृमेधविधिना यदुक्तं विहितं तत्साम्परायिकं प्रेतकर्म स्वानां रावणादीनां चक्रे ॥२९॥

**तत इति।** ततो भगवान् श्रीराम अशोकवने य आश्रमस्तस्मिन् शिंशुपाया मूलमाश्रितां मूलो स्थितां स्वस्य विश्लेष एव व्याधिर्यस्यास्तामत एव क्षामां कृशाम् ॥३०॥

---

1 H V omit पीडिता

प्रियतमां भार्यामवलोक्यानुकम्पितवान् आत्मनः स्वस्य सन्दर्शनेन आह्लादस्तेन विकसन्मुखं पङ्कजमिव यस्यास्तां सीताम् ॥३२॥

यानं पुष्पकमारोप्य भ्रातृभ्यां वालिरावणभ्रातृभ्यां सुग्रीवविभीषणाभ्यां सह हनुमता युक्तो यानमारुरोह रक्षोगणाधिपत्यम् आकल्पान्तमायुर्लङ्काञ्च विभीषणाय दत्त्वा ॥३२॥

विज० अर्दितान् हिंसितान् "अर्द हिंसायाम्" आत्मानं देहम् उदरमिति यावत् आत्मना देहेन हस्तेन ॥२५-२६॥

नीतो येन तं नैव वेद ॥२७॥

वयं च विधवा· कृता· देहः गृध्राणाम्, आत्मा जीवो जीवनाय कृतः गृध्रप्राण रक्षणेनापि पुण्यं स्यादिति तत्राह नरकहेतव इति, नरक दुःखानुभवार्थं भवति।

पितृमेधविधानेन शवदाहादिविधिना साम्परायिकं परलोकसुखसाधनम् ॥२९॥

क्षामामित्यादिकमसुरमोहनार्थम् ॥३०-३१॥

भ्रातृभ्यां लक्ष्मणविभीषणाभ्यां विभीषणस्य भ्रातृत्वमुपचारः ॥३२॥

लङ्कामायुश्च कल्पान्तं ययौ चीर्णव्रतः[1] पुरीम्।
अवकीर्यमाणः कुसुमैर्लोकपालार्पितैः पथि ॥३३॥

उपगीयमानचरितः शतधृत्यादिभिर्मुदा ।
गोमूत्रयावकं श्रुत्वा भ्रातरं वल्कलाम्बरम् ॥३४॥

महाकारुणिकोऽतप्यज्जटिलं स्थण्डिलेशयम्।
भरतः प्राप्तमाकर्ण्य पौरामात्यपुरोहितैः ॥३५॥

पादुके शिरसि न्यस्य रामं प्रत्युद्यताग्रजम्[2]।
नन्दिग्रामात् स्वशिबिराद्गीतवादित्रनिःस्वनैः ॥३६॥

ब्रह्मघोषेण च मुहुः पठद्भिर्ब्रह्मवादिभिः।
स्वर्णकक्ष्य[3] पताकाभिर्हैमैश्चित्रध्वजै रथैः[4] ॥३७॥

---

1 MMa तीर्ण 2 A.H V 'दूतो , MMa 'घता' 3 ABGJ कक्ष , H V कक्ष्या , MMa कक्ष्यै 4 MMa गजैश्चापि है'

**सदश्वै रुक्मसन्नाहै र्भटैः पुरटवर्मभिः।**
**श्रेणीभिर्वारमुख्याभिभृत्यैश्चोपायनोद्वहैः ॥३८॥**

**पारमेष्ठ्यान्युपादाय पण्यान्युच्चावचानि च।**
**पादयोरपतत् प्रेम्णा प्रक्लिन्नहृदयेक्षणः ॥३९॥**

**पादुके न्यस्य पुरतः पाञ्जलिर्बाष्पलोचनः।**
**तमाश्लिष्य दृढं दोर्भ्यां स्नपयन् नेत्रजैर्जलैः ॥४०॥**

**श्रीध- लङ्कामिति**। आयुश्च दत्त्वा तेनापि सहैव ययौ ॥३३॥

**उपगीयमानेति**। गोमूत्रयावकं गोमूत्रपक्वयवान्नभोजनं, भ्रातरं भरतम् ॥३४-३५॥

**पादुके** इति। स्वशिबिराद्रामं विनाऽयोध्यामप्रविशन् स्वस्य वासं यत्र निर्मितवांस्तस्मात्प्रकाशाद्गीतादिभिर्युक्तो रामं प्रत्युद्गतोऽभिमुखं ययौ ब्रह्मघोषेण बृहता घोषेण स्वस्तिवाच निकादिकं वदद्भिः स्वर्णरसाक्ता कक्ष्या प्राता. यासां ताभिः पताकाभि हैमैरिति चत्वारि रथविशेषणानि ॥३६-३७॥

**पारमेष्ठ्यानीति**। पारमेष्ठ्यानि राजार्हाणि छत्रचामरादीनि प्रेम्णा प्रक्लिन्नं हृदयमीक्षणे च नेत्रे यस्य ॥३९॥

**पादुके इति**। नेत्रजैः जलैः तं भरतम् स्नपयन् आश्लिष्य ॥४०॥

**वीर०** चीर्णमनुष्ठितं व्रतं पितुरनुशासनरूपं येन स भगवान् श्रीराम पुरीमयोध्यां विभीषणेन सहैव ययौ, कथम्भूत.? पथि लोकपालैरिन्द्रादिभिरर्पितानि यानि कुसुमानि तैरवकीर्यमाण· ॥३३॥

शतधृत्यादिभिर्ब्रह्मादिभिः मुदा हर्षेण उपगीयमानं चरितं यस्य तथाभूत· पुरीं ययावित्यन्वय·। गोमूत्रपक्वयवान्नभोजनं वल्कलमम्बरं यस्य जटा अस्य सन्तीति तथा स्थण्डिले दर्भैरास्तीर्णे भूप्रदेशे शेत इति तथाभूतं भ्रातरं भरतं श्रुत्वा महाकारुणिको भगवान् अतप्यत् परिततप भरत प्राप्तं पुरीमागच्छन्तं तं श्रीराममाकर्ण्य पादुके स्वशिरसि निधाय पौरैरमात्यै· पुरोहितैः गीतै वाद्यानां निस्स्वनैः ॥३४-३६॥

ब्रह्म वेदं मुहुर्मुहुः घोषेण उच्चैस्स्वरेण पठद्भि· ब्रह्मणादिभि स्वर्णासक्ता कक्ष्या प्रान्ता यासां ताभि· पताकाभि

---

1- -1 ABGJ भृत्यैश्चैव पदानुगै । , MMa भृत्यैशर्चागात्सदोद्यतै । 2 MMa भाण्डान्यु° 3 ABGJMMa °न्न्र° 4 ABGJ चिर 5 ABGJMMa स्ना° 6- -6 ABJ omit 7 AB °चि° 8 ABJ °द्य° 9 ABJ म° 10- -10 ABJ omit 11 ABJ °क्षा 12 H V °रित्यादि 13 ABJ omit त भरतम् 14 ABJ स्ना° 15 AB त°

रथै· स्वर्णकवचधारिभिर्भटैः श्रेणीभिस्ताम्बूलिकैः वाराङ्गनाश्रेष्ठाभिरुपायनोद्वहैरुपायनधारिभिर्भृत्यैश्च सह अग्रजं श्रीरामं स्वशिबिरान्नन्दिग्रामात् प्रत्युद्यत अभिमुखं ययावित्यन्वयः। रामं विनाऽयोध्यामप्रविशन् भरतो नन्दिग्रामे स्वस्य वासं निर्मितवान् तस्मात् शिबिरात् ययावित्यर्थ·। कथम्भूतै· रथैर्हैमैः स्वर्णमयैः चित्रा ध्वजा येषु, सन्तः समीचीना अश्वाः येषां, रुक्ममयाः सन्नाहा· बन्धना येषु तैः ॥३७-३८॥

पारमेष्ठ्यानि महाराजार्हाणि नानाविधानि छत्रचामरदीनि उपादाय प्रत्युद्यत इति पूर्वेणान्वयः। प्रेम्णा प्रक्लिन्नमार्द्रीभूतं हृदयमीक्षणे च यस्य स· ॥३९॥

प्रीत्या पादुके पुरतो निधाय पादयोरपतत् तत प्राञ्जलिः बाष्पलोचनस्तस्थाविति शेष·। ततः श्रीरामः तं भरतं दृढं गाढं यथा तथा दोर्भ्यामालिङ्ग्य नेत्रजैर्हर्षाब्बिन्दुभि स्नपयन्[1] ॥४०॥

विज०[2] तीर्णव्रत· पूर्णवनवासव्रत· ॥३३॥

शतधृत्यादिभि· ब्रह्मादिभि· गोमूत्रेण सह पक्वयावकाहारं, भ्रातरं भरतम् ॥३४-३६॥

स्वर्णकक्ष्यै· सुवर्णमयी कक्ष्या , उदरबन्धो येषां ते तथा, तैर्हैम्मालङ्कृतैश्चित्रा नानावर्णा ध्वजाः येषां तै· ॥३७॥

रुक्मसन्नाहै· स्वर्णनिर्मिता सन्नाहा कवचानि येषां तै पुरटं सुवर्णं श्रेणीभिरङ्गरक्षकैर्भृत्यैर्दासै पारमेष्ठ्यान्यनर्घत्वेन प्रशस्तानि भाण्डानि अश्वाभरणानि पिठराद्युपकरणानि च ॥३९-४०॥

रामो लक्ष्मणसीताभ्यां विप्रेभ्योऽर्हत्तमाश्च[3] ये।
तेभ्य स्वयं नमश्चक्रे प्रजाभिश्च नमस्कृतः ॥४१॥

धुन्वन्त उत्तरासङ्गान्[4] पतिं वीक्ष्य चिरागतम्।
उत्तराः कोसला माल्यैः किरन्तो ननृतुर्मुदा ॥४२॥

पादुके भरतोऽगृह्णाच्चामरव्यजनोत्तमे।
विभीषणश्च सुग्रीवः श्वेतच्छत्रं मरुत्सुतः[5] ॥४३॥

धुनुर्निषङ्गाञ्छत्रुघ्नः सीता तीर्थकमण्डलुम्।
अबिभ्रदङ्गदः खड्गं हैमं चर्मक्षराण् नृप ॥४४॥

---

1 A.B स्ना· 2 A B ची· 3 A B G J येऽर्हसत्तमा ।, MMa ये भवस्तत । 4 H M Ma V s सङ्ग 5 ABGJMMa "स्स·

पुष्पकस्थो[1] वृतः स्त्रीभिः[2] स्तूयमानश्च वन्दिभिः।
विरेजे भगवान् राजन् ग्रहैश्चन्द्र[3] इवोदितः ॥५४॥

भ्रातृभिर्नन्दितः[4] सोऽथ[5] सो[6] त्सवां प्राविशत् पुरीम्।
प्रविश्य राजभवनं गुरुपन्तीः स्वमातरम् ॥४६॥

गुरून् वयस्यानुचरान्[7] पूजितः प्रत्यपूजयत्।
वैदेही लक्ष्मणश्चाथ[8] यथावत्[9] समुपेयतुः ॥४७॥

प्राप्यात्मजान् मातःस्वा[10]न् प्राणांस्तन्व[10] इवोत्थिताः।
आरोप्याङ्केऽभिषिञ्चन्त्यो बाष्पौघैर्विजहुःशुचः ॥४८॥

श्रीध० राम[11] इति। येऽर्हसत्तमाः कुलवृद्धास्तेभ्योऽपि नमनं चक्रे[11]॥४१-४२॥

अयोध्याप्रवेशप्रकारमाह- पादुके[12] इत्यादिसार्द्धैस्त्रिभि· ॥४३॥

धनुरिति। धनुश्च निषंगौ च तान्। ऋक्षराट् जाम्बवान् ॥४४-४५॥

भ्रातृभिरिति। गुरुपत्नीः कैकेय्याद्याः ॥४६॥

गुरूनिति। वयस्याननुचरांश्च[13]। यथावदनुक्रमेण समुपेयतु[14] ॥४७॥

प्राप्येति। बाष्पौघैरभिषिंचत्य. शुच. शोकान्विजहु । शेषं स्पष्टम् ॥४८॥

वीर लक्ष्मणसीताभ्यां सह विप्रेभ्यो ये चार्हत्तमा[15] नमस्कार्या कुलवृद्धास्तेभ्यश्च स्वयं नमश्चक्रे प्रजाभिर्नमस्कृतश्च ॥४२॥

उत्तराः कोसला उत्तरकोसलदेशस्था जना चिरगतं पतिं श्रीराममवलोक्य माल्यै. पुष्पै· किरन्तः उत्तरासङ्गानुत्तरीयान् विधुन्वन्तश्चालयन्तो ननृतुः ॥४२॥

अयोध्याप्रवेशप्रकारमाह सार्द्धै स्त्रिभिः। भरत. पादुके अगृह्णात् विभीषण· सुग्रीवश्च[16] व्यजनोत्तमे अगृह्णतां मरुत्सुतो हनुमान् श्वेतातपत्रम् ॥४३॥

---

1.ABGJ °स्थोऽन्वित , MMa स्थैर्वृत 2 MMa एभि 3 MMa रिन्दुरिवो° 4 MMa °र्वै° 5 ABGJMMa °ऽपि 6 W °त्सव 7 ABGJMMa °वरजान् 8 ABGJMMa °श्चैव 9- -9 MMa यथायोग्य प्रणेमतु 10- -10 ABGJ पुत्रान् स्वमातरस्तास्तु , MMa पुत्रान् स्तन्मातरस्तावत् 11- -11 H V omit 12 ABJ इति 13 ABJ नवजांश्च 14- -14 H V omit 15 AB °र्हसत्तामा 16 TW °वौ

धनुश्च निषङ्गौ च तान् शत्रुघ्न अगृह्णादित्यनुषङ्गः। सीता तीर्थकमण्डलुमबिभ्रत्, हे नृप! अङ्गदः खड्ग, हैमं स्वर्णखचितं चर्म खेटम्, ऋक्षराट् जाम्बवान् अबिभ्रत् ॥४४॥

हे राजन्! भगवान् श्रीराम पुष्पकस्थ. स्त्रीभि· परिवृत. बन्दिभि· स्तूयमानश्च यथोदितश्चन्द्रो ग्रहैर्गुरुशुक्रादिभिर्विराजते तथा विरेजे बभ्राजे ॥४५॥

भ्रातृभिर्भरतादिभि नन्दितोऽनुमोदित उत्सवेन सहितश्च स भगवान् पुरीमयोध्यां प्राविशत् ततो राजभवनं प्रविश्य गुरुपत्नी कैकेय्याद्या· स्वमातरं कौसल्याम् ॥४६॥

गुरून् वसिष्टदीन् वयस्यान् अवरजांश्च कुलीनान् यथायोग्यं तै· पूजित. प्रत्यपूजयत् तश्च वैदेही लक्ष्मणश्च यथावत् यथायोग्यं पूजयन्तौ पूजितौ च सम्यगुपेयतु राजभवनमित्यनुषङ्गः ॥४७॥

मातरः कौसल्यादय· सुतान् प्राप्य स्वा· स्वकीया तन्वः देहा. प्राणान् प्राप्य यथोत्थिता भवन्ति तद्वदुत्थिताः सत्य अङ्के आरोप्य हर्षजैर्बाष्पबिन्दुसद्वै सिञ्चन्त्य शुच शोकान् विजहुः ॥४८॥

**विज०** ततस्तत्र ये विप्रा अभवस्तेभ्य ॥४२॥

उत्तरासङ्गम् उत्तरीयवस्त्रं धुन्वन्त कम्पयन्तः ॥४२-४३॥

निषङ्गं तूणीरम्, ऋक्षराट् जाम्बवान् ॥४४-४७॥

गत्वागतान् प्राणानवाप्य तन्व तनव यथोत्थिता भवन्ति तथा विरहशुच· ॥४९॥

**जटा निर्मुच्य विधिवत् कुलवृद्धैः समं गुरुः।**
**अभ्यषिञ्चद्[1] यथैवेन्द्रं चतुःसिन्धुजलादिभिः ॥४९॥**

**एवं कृतशिरःस्नानः सुवासाः[2] सुष्ठ्वलङ्कृतः।**
**स्वलङ्कृतैः सुवासोभिर्भ्रातृभिर्भार्यया बभौ ॥५०॥**

**अग्रहीदासनं भ्रात्रा प्रणिपत्य प्रसादितः।**
**प्रजाः स्वधर्मनिरता वर्णाश्रमगुणान्विताः।**
**जुगोप पितृवद् रामो मेनिरे पितरं च तम् ॥५१॥**

---

1 ABGJ भि° 2 ABGJ सम्य° , MMa सद°

त्रेतायां वर्तमानायां कालः कृतसमोऽभवत्।
रामे राजनि धर्मज्ञे सर्वभूतसुखावहे ॥५२॥

वनानि नद्यो गिरयो वर्षाणि द्वीपसिन्धवः।
सर्वे कामदुघा आसन् प्रजानां भरतर्षभ ॥५३॥

नाधिव्याधिजरा क्षुत्तृट् दुःखशोकभयक्लमाः[1]।
मृत्युश्चानिच्छतां आसीद् रामे राजन्यधोक्षजे[2] ॥५४॥

एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः।
स्वधर्मान्[3] गृहमेधीयान्[4] शिक्षयन्[5] स्वयमाचरत्[6] ॥५५॥

प्रेम्णानुवृत्त्या शीलेन प्रश्रयावनता सती।
भिया[7] ह्रिया च भावज्ञा भर्तुः सीताऽहरन्मनः ॥५६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्या अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहस्या सहिताया
नवमस्कन्धे दशमोऽध्याय ॥१०॥

**श्रीध०** ॥४९-५६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीश्रीधरस्वामि विरचिताया भावार्थदीपिकाया
व्यख्याया नवमस्कन्धे दशमोऽध्याय ॥१०॥

**वीर०** ततो गुरुर्वसिष्ठः कुलवृद्धैः समं सह विधिवत् जटाः निर्मुच्य चतुस्सिन्धुजलादिभिः आदिशब्दाद्गङ्गा-यमुनाजलादिभिश्च श्रीरामम् इन्द्रमिवाभ्यषिञ्चत् ॥४९॥

एवं कृतं शिरःस्नानं येन शोभने वाससी यस्य स , सुष्ठु यथा तथा अलङ्कृतः श्रीरामः स्वलङ्कृतैः सुवासोभिः भ्रातृभिः भार्यया च तथाभूतया बभौ ॥५०॥

ततो भ्रात्रा भरतेन प्रणिपत्य प्रसादितः प्रार्थितः सिंहासनमग्रहीत् तदा विषयवासिन्य प्रजाः स्वधर्मनिरताः, तदेवाह

1 ABGJ °ग्लानि 2 ABGJMMa °ता ना° 3 ABGJMMa धर्मं 4 ABGJMMa °य 5 H T V W व्रत° 6 MMa °न् 7 ABGJ धिया

वर्णानामाश्रमाणां च ये गुणधर्मा पञ्चमहायज्ञादयः तैरन्विताः बभूवुः पिता यथा पाति तद्वद्रामः प्रजाः जुगोप ताश्च तं रामं पितरं मेनिरे अमन्यन्त ॥४९॥

तदा त्रेतायां वर्तमानायां त्रिपाद्धर्मयुक्ते त्रेतायुगे प्रवर्तमानेऽपि चतुष्पाद्धर्मयुक्तकृतयुगतुल्यः कालो बभूव भूतानां सुखकरे श्रीरामे धर्मज्ञे राजनि सति ॥५२॥

तदा वनादयः सर्वे प्रजानां कामदुघाः काम्यमानफलादिप्रदा· आसन् तत्र वर्षाणि रम्यकादीनि द्वीपा सिंहलादयः, सिन्धवः समुद्राः हे भरतर्षभ! ॥५३॥

तदा अधोक्षजे श्रीरामे राजनि सति तदा आध्यादय· अनिच्छतां मृत्युश्च नासन् तत्र आधिर्मनःपीडा, व्याधिः शरीरजा दु·खमतीतपुत्रमरणस्मृत्यात्मकं प्रतिकूलं ज्ञानं, शोक वर्तमानेष्टवस्तुविश्लेषजः, भयमागाम्यनिष्टदर्शनजं यद्यप्याधिनिषेधेनैवैतत्रयं निषिद्धं तथापि तत् प्रपञ्चार्थमिदम् क्लमो ग्लानि· ॥५४॥

एकपत्नीव्रतधर· स्त्र्यन्तरपरिग्रहरहित· राजर्षेरिव चरितं यस्य स· शुचिः रागादिप्राकृतगुणरहितः गृहस्थस्य विहितान् स्ववर्णाश्रमानुकूलांश्च[1] धर्मान् लोकस्य शिक्षयन् स्वयमाचरत् लोकसङ्ग्रहार्थमाचरदित्यर्थ· ॥५५॥

प्रश्रयेण विनयेनावनता नम्रा, भावज्ञा अभिप्रायज्ञा सती सीता, प्रेमादिभिर्भर्तुः श्रीरामस्य मनो जहार तत्र प्रेम प्रीतिः अनुवृत्ति· परिचर्या, शीलं सुस्वभाव· सद्वृत्तिश्च, भीर्भयं ह्रीर्लज्जा ॥५६॥

इति श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां दशमोऽध्याय ॥१०॥

विज्ञ० गुरुर्वसिष्ठः ॥४९-५०॥

सिंहोपपदमासनम्। ग्रहणे हेतुमाह, - भ्रात्रेति, भ्रात्रा भरतेन ॥५१-५३॥

अनिच्छतां मरणमिति शेषः ॥५४-५५॥

अनुवृत्या शुश्रूषया, शीलेनानुकूलस्वभावेन, प्रश्रयेण विनयेन अवनता ॥५६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
नवमस्कन्धे दशमोऽध्याय· ॥१०॥

1 T.W. "णाद्"

# एकादशोऽध्यायः

## श्रीशुक उवाच

भगवानात्मनाऽऽत्मनं राम उत्तमकल्पकैः[1]।
सर्वदेवमयं देवमीज आचार्यवान् मखैः ॥१॥

होत्रे[2] ददौ दिशं प्राचीं ब्रह्मणे दक्षिणां[3] प्रभुः।
अध्वर्यवे प्रतीचीं[4] वा उदीचीं सामगायिने[5] ॥२॥

आचार्याय ददौ शेषां यावती भूस्तदन्तरा।
मन्यमान इदं कृत्स्नं ब्राह्मणोऽर्हति निःस्पृहः ॥३॥

[6-]इत्ययं तदलङ्कारवासोभ्यामवशेषितः[-6 7]।
तथा राज्ञ्यपि[8] वैदेही सौमङ्गल्यावशेषिता ॥४॥

ते[9] तु[10] ब्राह्मणदेवस्य वात्सल्यं वीक्ष्य[11] सज्जनाः।
प्रीताः क्लिन्नधियस्तस्मै प्रत्यर्प्येदं बभाषिरे ॥५॥

अप्रत्तं नस्त्वया किं नु[12] भगवन् भुवनेश्वर।
[13-]यन्नोऽन्तर्हृदयं विश्य[13] तमो हंसि स्वरोचिषा ॥६॥

नमो ब्रह्मण्यदेवाय रामायाऽकुण्ठमेधसे।
उत्तमश्लोकधुर्याय न्यस्तदण्डार्पिताङ्घ्रये ॥७॥

कदाचिल्लोक जिज्ञासुर्गूढो रात्र्यामलक्षितः।
चरन् वचोऽशृणोद् रामो[14] भार्यामुद्दिश्य कस्यचित् ॥८॥

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावर्थदीपिका

ततश्चैकादशोऽयोध्यामावसन्ननुजैः सह। यज्ञादि यच्चकारेशो रामस्तदनुवर्ण्यते ॥

---

1 W °त्पितै । 2 ABGJMMa अददात् 3 MMa विभु 4 ABGJMMa च 5 ABGJMMa °य स । 6- -6 MMa इत्यदात्स्वमलङ्का° 7 MMa °र , W °रान्
8 H V तदा 9 H V तत्र 10 ABGJ ब्रह्मण्य 11 ABGJ सस्तुतम्। , W सत्सु तत्। 12 MMa °तु° 13- -13 MMa यतोऽन्तरहृदि सविश्य 14 ABGJ वाचोऽ°

**यद्वा-** राम एकादशे यज्ञैरीजे राष्ट्रेष्ववासयत्। कुशादीन् वृत्तिरुदिता प्रजानां राघवस्य च ॥१॥

**आचार्यायेति**। तदन्तरा तासां दिशां मध्ये यावती भूस्तां ब्राह्मण एवार्हतीति मन्यमानः ॥१-३॥

**इतीति**। अयं श्रीराम.। तत्तदा। सौमंगल्यमाभरणादिकं तावन्मात्रमवशेषितं यस्याः[1], तव्द्यतिरिक्तं हिरण्यादि सर्वं ददावित्यर्थः ॥४,५॥

**अप्रत्तमिति**। किमप्रत्तं किमदत्तं सर्वं दत्तमित्यर्थ । विश्य प्रविश्य ॥६॥

**नम** इति। न्यस्तदण्डैर्मुनिभिरर्पितौ चित्ते न्यस्तावंघ्री यस्य तस्मै, तेष्वर्पितावंघ्री[2] येनेति वा ॥७,८॥

**वीर०** अथ भगवान् श्रीरामः उत्तमैर्वसिष्ठादिभि· कल्पितै· कारितै· मखैः क्रतुभिः सर्वदेवमयं स्वमात्मानमेव आत्मनैव आचार्यवान् सन् ईजे इयाज ॥१॥

**होत्र इति**। तत्र होत्रे प्राचीं दिशं दक्षिणामदात् ब्रह्मणे तु दक्षिणां दिशं अध्वर्यवे प्रतीचीं सामगायिने उद्गात्रे तूदीचीमदिशत्॥२॥

**तदन्तरं** तासां दिशामन्तरा मध्ये यावती भूमिरवशिष्टा तां सर्वामाचार्याय ददौ, कथम्भूतः? इदं कृत्स्नं भूमण्डलं ब्राह्मणोऽर्हति, प्रतिग्रर्हातुमिति शेष.। इतीत्थं मन्यमान· निस्पृहश्चेति तथा समीचीनानलङ्करांश्चादात् । एवं सर्वं दत्वा केवलं वासोभ्यां परिधानीयोत्तरीयाभ्यामवशेषित·, तथा राज्ञी वैदेही सीताऽपि भर्तुरभिप्रायज्ञा सर्वानलङ्कारान् प्रदाय केवलं सौमङ्गल्यमात्रेणावशेषिता बभूव ॥३,४॥

**ते** होत्रादयो ब्राह्मणा, ब्राह्मणा एव दैवतं यस्य तस्य श्रीरामस्य सत्सु तद्वदान्यत्वयुक्तं वात्सल्यमवलोक्य प्रीताः क्लिन्नधियः आर्द्रचित्तास्सन्त· तस्मै रामाय प्रत्यर्प्य, प्राच्यादिदिश इति शेषः। दिशः प्रतिग्रहीतुं वयं नार्हा इति विज्ञाप्येत्यर्थः, न तु प्रतिगृह्य प्रत्यर्प्येत्यर्थ·, दत्तप्रत्यादानदोषापादनात्[3]। एवञ्च दिशद्दावित्यादेरपि प्रतिग्रहीतुं होत्रादीन् प्रार्थितवानित्यर्थः। इदं वक्ष्यमाणं बभाषिरे - हे भगवन्! त्वया नोऽस्मभ्यमप्रत्तमप्रदत्तं किन्तु सर्वमपि प्रदातुमुद्युक्तोऽसीत्यर्थः। तत्र हेतुं[4] वदन्तो विशिंषन्तिः परमेश्वर· परो मा यस्मात्स, परम श्वासावीश्वरश्च, स्वत एवावाप्तसमस्तकामस्य तव किमेतैरिति भावः। किञ्च निरतिशय पुरुषार्थरूपमोक्षप्रदानाय तत्साधनसम्यग्ज्ञान विरोध्यज्ञानमस्माकमन्तर्हृदये प्रविश्य हंसि निरस्यसि, केन? स्वरोचिषा स्वप्रकाशेन, तस्यैवाम्भूतस्य आत्मपर्यन्तवदान्यस्य कियदेतत्प्राच्यादिदिक् प्रदानमिति भावः ॥५,६॥

---

1 A तस्या 2 H V ताह्य इति वा 3 W adds द्रव्य

त्वद्गुणान्वर्णयितुं न शक्नुम इत्यभिप्रायेण कैश्चिद् गुणैर्विशिनन्तो नमस्कुर्वन्ति - **नम** इति। ब्रह्मणि ब्रह्मकुले साधुर्ब्रह्मण्यः। "तत्र साधुः" (अष्टा 4-4-49) इति यत्प्रत्यये "ये चाभावकर्मणो·" (अष्टाः 6-4-168) इति प्रकृतिभावः। स चासौ देवः स्वतेजसा दीप्यमानः ब्रह्मण्यानां देवः श्रेष्ठो वा, अकुण्ठमेधसे नित्यासङ्कुचितापरिच्छिन्नज्ञानाय उत्तमश्लोकानां धुर्योयः मुख्यः न्यस्तदण्डैर्भूतद्रोहरहितैः सर्वभूतसुहृद्भिर्मुनिभिरर्पितौ चित्ते निहितावङ्घ्री यस्य, न्यस्तदण्डेष्वर्पितावङ्घ्री येनेति वा, तस्मै श्रीरामाय तुभ्यं नमः इति ॥७॥

एवं सीतया सह दशवर्षसहस्राणि राज्यमुपास्य श्रीरामः कदाचिल्लोकजिज्ञासुः किंवदन्तीं ज्ञातुमिच्छुः गूढः प्रच्छन्नवेष इतरैरलक्षितो रात्र्यां तत्र तत्र पुर्यां चरन् कस्यचित्पुरुषस्य वचो भार्यामुद्दिशयोच्यमानमशृणोत् ॥८॥

**विज०** आचर्यवानित्यनेन गुरुकुलवासित्वं शिक्षितत्त्वं च सूचयति, "आचार्यवान् पुरुषो वेद" (छान्दोः उः 6-14-2) इति श्रुतेः ॥१-३॥

सौमङ्गल्यं मङ्गलसूत्रमेवावशेषितं यस्याः सा तथा ॥४॥

ब्राह्मणा देवा· पूज्या इति भावो यस्य स तथा तस्य वात्सल्यं स्नेहपारवश्यं भक्तिक्लिन्नधियः द्रवच्चित्ताः प्रत्यर्प्य दत्तं पुनर्दत्वा ॥५॥

ननु, दत्तं नालमिति मत्वा प्रत्यर्पितम्? इतोऽधिकं प्रियमस्मद्योग्यमेव दत्तमतोऽन्यन्नापेक्षितमिति मत्वा वा? न प्रथमः, यदृच्छालाभसन्तुष्टिमतामस्माकं अनलम्बुद्धिदोषो नास्ति यतोऽतो द्वितीय एवाभिमत इत्याशयेनाह - **अप्रत्तमिति**। हे भगवन्! त्वम् अस्मद् भक्त्याऽन्तर्हृदि संविश्य यथा निद्रा सुखसाधनं तथा स्थित्वा स्वरोचिषा ज्ञानलक्षणप्रकाशेनाज्ञानलक्षणं तमो हंसि नाशयसि यतोऽतस्त्वया नोऽप्रत्तमदत्तं किं नु, न किमपि इत्यतोऽधिकं भूदानादिकं न भवति ज्ञानधनस्यानश्वरत्वादहार्यत्वाच्च भूपालत्वात्तत्कर्म तवैव योग्यं तस्मिन्कर्मण्यनधिकारिणो वयं तस्मादयोग्यत्वात्प्रत्यर्पणेन स्वीकारेणापहारदोषपङ्कलेपो नास्ति भवत इति स्वीकृत्य तद्रक्षणं कर्तव्यमधिकृतत्वादिति भावः ॥६॥

त्वमस्मभ्यमनश्वरं धनं दत्तवान् वयं तत्प्रतिकर्तुं न शक्नुम किन्तु तुभ्यं नमनलक्षणं धनं दास्याम इत्येतावदेवेत्याशयेनाह **नम** इति। न्यस्ततत्त्वाय स्वकेषु निक्षिप्तस्वरूपाय अर्पिताङ्घ्रये स्वकेष्विति शेषः। न्यस्तदण्डार्पिताङ्घ्रये इति पाठे न्यस्तमनोवाक्कायदण्डाः संन्यासिनः तेष्वर्पितोऽङ्घ्रिः ज्ञानलक्षणा गतिर्येन स तथा "अधि लधि गत्यर्थौ" इति धातुः। उत्तमश्लोकस्य हरेः धुरं वहतीति उत्तमश्लोकधुर्यस्तस्मै ॥७॥

कस्यचित्पुंसो वचः ॥८॥

नाहं बिभर्मि त्वां दुष्टामसतीं परवेश्मगाम्।
स्त्रैणो[1] हि बिभृयात् सीतां रामो नाहं भजे पुनः ॥९॥

इति लोकाद् बहुमुखाद् दुराराध्यादसंविदः।
पत्या[2] भीतेन सा त्यक्ता प्राप्ता प्राचेतसाश्रमम् ॥१०॥

अन्तर्वत्न्यागते काले यमौ सा सुषुवे सुतौ।
कुशो लव इति ख्यातौ तयोश्चक्रे क्रिया[3] मुनिः ॥११॥

अङ्गद[4] श्चन्द्रकेतुश्च लक्ष्मणस्यात्मजावुभौ[5]।
तक्षः पुष्कल इत्यास्तां भरतस्य महीपते[6] ॥१२॥

सुबाहुः श्रुतसेनश्च शत्रुघ्नस्य बभूवतुः।
गन्धर्वान् कोटिशो जघ्ने भरतो विजये दिशाम् ॥१३॥

तदीयं धनमानीय सर्वं राज्ञे न्यवेदयत्।
शत्रुघ्नश्च मधोः पुत्रं लवणं नाम राक्षसम्।
हत्वा मधुवने चक्रे मथुरां नाम वै पुरीम् ॥१४॥

मुनौ निक्षिप्य तनयौ सीता भर्त्रा विवासिता।
ध्यायन्ती रामचरणौ विवरं प्रविवेश ह ॥१५॥

* तच्छ्रुत्वा भगवान् रामो रुन्धन्नपि धिया शुचः।
स्मरंस्तस्या गुणांस्तांस्तान्नाशक्नोद् रोद्धुमीश्वरः ॥१६॥

श्रीध० [7-]नेति[-7]। स्त्रैणः स्त्रीपरतन्त्रः ॥९॥

इतीति। असंविदोऽज्ञात्। प्राचेतसो वाल्मीकिस्तस्याश्रमं सा[8] सीता[9] प्राप ॥१०॥

अन्तर्वत्न्यीति। अन्तर्वत्नी गर्भिणी [10-]सती प्राचेतसाश्रमं प्रापेति पूर्वेणान्वयः[-10]। क्रियाः जातकर्माद्याः ॥११-१५॥

---

1 ABGJ स्त्रीलोभी 2 MMa श्रुत्वा 3 A क्रिया 4 ABGJ चित्र", MMa "शक्र" 5 ABGJ "जौ स्मृतौ , MMa "जौ सुतौ। 6 H V "पते * This verse is not found in MMa editions 7- -7 ABJ omit 8 ABJ omit सा सीता 9 ABJ प्राप्ता, 10- -10 ABJ omit

**तच्छ्रुत्वेति**। ईश्वरोऽपि शुचो रोद्धुं नाशक्नोत् ॥१६॥

**वीर०** तद्वाचो दर्शयति - **नेति**। परस्य पुरुषान्तरस्य वेश्म गच्छति पुनःपुनरिति तथा अत एव दुष्टामसतीं व्यभिचारिणीं त्वामहं न बिभर्मि। परवेश्मगामपि सीतां रामोऽबिभ्रत्, ततस्त्वं किं श्रेष्ठः? इति वदन्तीं प्रत्याह स्त्रैण इति। हि यस्माद्राम· स्त्रैणः अतः सीतां बिभृयात्, अहं तु पुनः स्त्रीपारवश्यरहितः त्वां न भजामीति ॥९॥

इतीत्थं असंविदः तत्त्वानभिज्ञात् अत एव बहुमुखान्नानाविधावादिनो दुराराध्यात् लोकाद्भीतेन पत्या श्रीरामेण त्यक्ता सा सीता प्राचेतसस्य वाल्मीकेराश्रमं प्राप्ता ययौ, कथम्भूता? अन्तर्वत्नी गर्भिण्येव सती गतेत्यन्वयः ॥१०॥

ततः काले प्रसवकाले सा सीता यमौ सुतौ सुषुवे तौ च कुशो लव इति ख्यातौ, तयो· कुशलवयोर्मुनि· प्राचेतस· जातकर्मादिक्रिया· चक्रे ॥११॥

तथाङ्गदादयो द्वौ द्वौ पुत्रौ लक्ष्मणादीनां सम्बभूवतु· ॥१२॥

दिशां विजये दिग्विजयकाले कोटिशो गन्धर्वान् भरतो हतवान् तदीयं गन्धर्वाणां सम्बन्धि सर्वं धनमादाय राज्ञे श्रीरामायार्पयामास, तथा शत्रघ्नश्च मधोरसुरस्य पुत्रं लवणाख्यं राक्षसं हत्वा मधुवने मधुरां नाम पुरीं निर्ममे ॥१३-१४॥

मुनौ वाल्मीकौ तनयौ कुशालवौ[1] निक्षिप्य मुन्यधीनौ कृत्वा भर्त्रा श्रीरमेण विवासिता निर्यापिता सीता श्रीरामस्य चरणौ ध्यायन्ती विवरं, भुव इति शेषः। प्रविवेश ॥१५॥

तद्विवरप्रवेशमाकर्ण्य भगवान् श्रीरमस्तस्या· सीताया· तांस्तान् गुणान् स्मरन् धिया शुचं शोकं रुन्धन्नपीश्वरोऽपि रोद्धुं नाशक्नोत् ॥१६॥

**विज०** बहुमुखादन्योन्यशिक्षानियतत्वेनानेकशब्देन प्रधानादत एव दुराराध्याद् दुःसाध्यात् कार्यनिष्पत्तिरहितादित्यर्थः। अत एवासंविदः अन्यसंवादशून्यात् अर्थादानरहिताद्वा लोकाच्छ्रुत्वा लोकापवादभीतेन रामेण त्यक्ता सा सीता, प्राचेतस प्रचेतस· वरुणस्यापत्यं वाल्मीकिः तस्याश्रमं प्राप्ता ॥९,१०॥

अन्तर्वत्नी गर्भिणी यमौ यमलौ क्रियाः क्षत्रयोग्याः जातकादिकाः ॥११-१४॥

मुनौ वाल्मीकौ विवरं भूबिलम् ॥१५,१६॥

---

1 W omits कुशलवौ

स्त्रीपुंप्रसङ्ग एतावान्[1] सर्वत्र त्रासमावहः।
अपीश्वराणां किमुत ग्राम्यस्य गृहचेतसः[2] ॥१७॥

तत ऊर्ध्वं ब्रह्मचर्यं धारयन्नजुहोत् प्रभुः।
त्रयोदशाब्दसाहस्रमग्निहोत्रमखण्डितम् ॥१८॥

स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं[3-] दण्डककण्टकैः[-3]।
स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात्ततः ॥१९॥

नेदं यशो रघुपतेः सुरयाच्ञयाऽऽत्तलीलातनोरधिकसाम्यविमुक्तधाम्नः[4-]।
रक्षोवधो जलधिबन्धनमस्त्रपाणेः[5] किं तस्य शत्रुहनने कपयः सहायाः[6] ॥२०॥

यस्यामलं नृपसदस्सु यशोऽधुनाऽपि[7] गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्[8]।
तं[9] नाकपालवसुपालकिरीटजुष्टं[10] पादाम्बुजं[11] रघुपतेश्शरणं प्रपद्ये ॥२१॥

स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा[12]।
कोसलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः ॥२२॥

पुरुषो रामचरितं श्रवणैरुपधारयन्।
आनृशंस्यपरो राजन् कर्मबन्धैर्विमुच्यते ॥२३॥

परीक्षिदुवाच[13-]

कथं[14-] स भगवान् रामो[14] भ्रातॄन् वा स्वयमात्मनः[15-]।
तस्मिन् वा तेऽन्वतप्यन्त[16-] प्रजाः[17] पौरास्तथेश्वरे[-15] ॥२४॥

श्रीध० स्त्री इति। न चातिचित्रमतेत्। स्त्रीपुंसोः प्रसंग आसक्तिः। त्रासमावहतीति तथा, विभक्तेरलुगार्षः। भयावह[18-] इति पाठान्तरं सुगमम्। किमुतेति प्रासंगिकोक्तिः ॥१७॥

---

1 ABGJMMa °दृक् 2 MMa गृहमेधिन 3- -3 MMa बुद्ध पद्यमिवाशुकै 4- -4 MMa ईह विश्वमूर्ते 5 MMa शान्त 6 ABGHJV पूरौ 7 W यशोऽधनापि 8 MMa °पाते 9 W य 10 ABGJTW °जुष्ट 11 ABGJ °पतिं श° 12 MMa °त्तो 13 ABGJMMa राजोवाच 14- -14 W रामो जानपदान् 15- -15 H V भ्रातॄन् स्वान्स्वयमात्मन , MMa भ्रातृ बन्धुष्ववर्तत , W भ्रातृश्चाविशदात्मन । 16 MMa प्राजास्वौरसवद्राम 17- -17 ABGJ प्रजा पौराश्च ईश्वरे , MMa कथ वा राम ईश्वर । 18- -18 ABJ omit

**तत** इति। अग्निहोत्रमजुहोत् जुहाव[1]। प्रभु[2]· राम[2]· ॥१८॥

**स्मरतामिति**। आत्मज्योतिर्निजं धाम ॥१९॥

**नेति**। जलधिबन्धनमस्त्रपूगैश्च रक्षसां वध इतीदं कविभिराश्चर्यमिव वर्णितमपि यशःस्तुतिर्न भवति। तत्र हेतु· अधिकसाम्याभ्यां विमुक्तं धाम प्रभावो यस्य तस्य, किं कपय· सहाया· अत· सुग्रीवाद्याश्रयणं यथा लीलामात्रं तथैवेदमपि। युक्तं चैतदित्याह। सुराणां याच्ञया आत्ता स्वीकृता लीलार्था तनुर्येन तस्य ॥२०॥

एवंविधलीलाप्रयोजनं दर्शयन्प्रणमति यस्येति। यस्य यशो नृपाणां युधिष्ठिरादीनां सदस्सु ऋषयो मार्कण्डेयादर्थो गायन्ति। दिगिभेंद्राणां पट्टवदावरणरूपम्[3]। तत्पर्यंतं व्याप्तमित्यर्थ । नाकपाला देवा वसुपाला वसुधापालाश्च तेषां किरीटैर्जुष्टं[4] पादाम्बुजं[4] यस्य तं रघुपतिम्। पाठान्तरे तत्तस्य रघुपतेः नाकपालादिभिर्जुष्टं पादाम्बुजं प्रपद्य इत्यर्थः ॥२१॥

**स** इति। स रामः संविष्ट[5] उपविष्टोऽनुगतो यैस्ते कोसलदेशवासिनः सर्वेऽपि यत्र योगिनो गच्छन्ति तत्स्थानं ययु ॥२२॥

**पुरुष** इति। आनृशंस्यपर उपशमनिष्ठ·सन् विमुच्यते ॥२३॥

**कथमिति**। सः रामः स्वयं कथमवर्तत? भ्रातृन्प्रति वा कथमवर्तत? कथम्भूतान् आत्मनः आत्मांशभूतान्। तस्मिन्वा ईश्वरे ते भ्रात्रादयोऽनु अनन्तरं कथमवर्तन्त? इति प्रश्नत्रयम् ॥२४॥

**वीर०** न चातिचित्रमेतदित्याह- ईश्वराणामपि स्त्रीपुंसयो प्रसङ्ग· एतावान् एतादृक्। कीदृक्? सर्वत्रैवं भयावह·, भयशब्द शोकोपलक्षकः, ईश्वराणामपि भयावह· किमुत ग्राम्यस्य, गृह एव चेतो यस्य तस्य ॥१७॥

तत उर्ध्वं विवरप्रवेशश्रवणानन्तरं ब्रह्मचर्यं धारयन् स्त्र्यन्तरपरिग्रहं वर्जयन् प्रभुः श्रीराम त्रयोदशाब्दानां सहस्राणि अग्निहोत्रमविच्छिन्नं यथा तथा अजुहोत् जुहाव। ननु, श्रीरामायणे "दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतनि च। रामो राज्यमुपासित्वा" (राम°1-1-97) इत्येकादशवर्षसहस्राणि श्रीरामावतारावस्थानमुक्तम्, अत्र तु त्रयोदशाब्दसाहस्रमिति तेन विरोध·, मैवं, तत्र हि दशवर्षसहस्राणि इत्यनेन तावन्तं कालं सीतया सहावस्थितिरुच्यते, दशवर्षशतानीत्यनेन तु तावन्तं कालं तया विनाऽवस्थानमुच्यते अत एव हि कोटिद्वयोक्ति·। सीतया विना रामस्य एकैकवर्षशतस्य वर्षसहस्रतुल्यताख्यापनाय सहस्रमिति नोक्तम्[6]। एवं स्थिते च तत्र दशग्रहणं त्रिगुणितानां दशानामुपलक्षणमित्यभिप्रेत्य कात्स्न्र्येनावतारसहचरितकालोऽत्र गणितः ॥१८॥

---

1 ABJ omit जुहाव 2- -2 H V omit 3 ABJ °भ° 4- -4 H V omit 5 ABJ उपवेशितो° 6 AB चोक्तम्

ततो वनवासदशायां दण्डकारण्यस्थकण्टकैर्विद्धं स्वपादपल्लवं स्मरतां जनानां हृदि विन्यस्य निधाय स्मर्त्तव्यं कृत्वेत्यर्थः। श्रीराम· आत्मज्योतिः स्वयंप्रकाशं ज्योतिर्मयं स्थानं परमपदाख्यमगात् ॥१९॥

अस्त्रपाणेः कोदण्डपाणे रघुपतेः श्रीरामस्य रक्षोवधो जलधिबन्धनश्चेतीदं यशः स्तुतिर्न भवति, तत्र हेतुः अधिकसाम्याभ्यां विमुक्तं धाम प्रभावो यस्य निस्समाभ्यधिकप्रभावस्येत्यर्थ.। तस्य किं कपयो वानरा· सहायाः अत· सुग्रीवाद्याश्रयणं यथा लीलामात्रं तदेदमपि युक्तं चैतदित्यभिप्रयेण विशिनष्टि, सुराणां याच्ञया आत्ता उपात्ता लीलार्था तनुर्येन तस्य ॥२०॥

एवंविधलीलाप्रयोजनं दर्शयन् शरणं व्रजति-यस्य अमलमघघ्नं पापहरं, पादाम्बुजमाहात्म्यमिति विशेष्यमध्याहार्यम्। नृपाणां युधिष्ठिरादीनां सदस्सु यश एव धनं येषां ते तथाभूता। अपि ऋषयो मार्कण्डेयादय· यशोधनापीति सन्धिशर्षः। गायन्ति यन्माहात्म्य दिगिभेन्द्राणां पट्टवदाभरणरूपं तत्पर्यन्तं व्याप्तमित्यर्थ । नाकपाला देवाः वसुपाला· वसुधापालका· वैश्रवणादयो वा, तेषां कीरीटैर्जुष्टं पादाम्बुजं यस्य तं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये। पाठान्तरे तत्तस्य रघुपतेः जुष्टं पादाम्बुजं शरणं प्रपद्ये इत्यर्थः ॥२१॥

यैर्जने श्रीराम· संस्पृष्ट· सन्दृष्ट· संविष्टः उपसेवित·। संवीत इति पाठेऽपि स एवार्थ., अनुगतो वा। ते सर्वे कोसलदेशवसिन· यत्र यत्स्थानं योगिनो गच्छन्ति तत्स्थानं ययु. मुक्ता बभूवुरित्यर्थ ॥२२॥

श्रीरामचरित्रश्रवणफलमाह - **पुरुष** इति। हे राजन्! आनृशंस्यपर· उपशमनिष्ठ पुरुषो रामचरितं श्रवणैरुपधारयन् श्रोत्रेन्द्रियवृत्तिभि परिचिन्वन् कर्मबन्धै· पुण्यापुण्यात्माककर्मरूपबन्धैः[1] संसृतिहेतुभि· प्रमुच्यते मुक्तो भवति ॥२३॥

यद्यपि "अग्रहीदासनं भ्रात्रा प्रणिपत्य प्रसादितः"(भागः9-10-51) इत्यनेन भ्रातृणां रामस्य च परस्परच्छन्दानुवर्त्तनम् एकपत्नीव्रतधर इत्यादिना राज्यपरिपालनदशायां तस्यावस्थान प्रकारश्चेत्यादिकं सर्वमुक्तमेव। तथापि तदेव पुनर्विस्तरेण बुभुत्सुः पृच्छति राजा - कथमिति? स रामः कथं अवर्ततेति शेषः। आत्मनः भ्रातृन् जानपदान् देशवासिनो जनांश्च कथमादिशत्? भ्रातृन् जानपदांश्च[2] कथमन्ववर्ततेत्यर्थ· ते जनाः भ्रातरश्च। पौराः प्रजाश्च तस्मिन्नीश्वरे श्रीरामविषये कथमन्वर्तन्त? इति त्रयः प्रश्ना· ॥२४॥

**विज०** अपिपदेन लोकशिक्षार्थं सम्भावित एव न त्वनुभूत इत्याह - **तत** इति। अस्या भूमेर्निदेशानन्तरं अखण्डितं अग्निहोत्रमजुहोत् पूर्वं क्वचित् खण्डितमित्यर्थो नैव किन्तु तत· पूर्वं च ब्रह्मचर्यं धारयन्नित्यस्याप्यूर्ध्वरेतस्त्वं नार्थः। किन्तु ब्रह्मणा लक्ष्म्या सीतया सहचर्यं चरणवर्तनं धारयन् कुर्वन्नेव "मम योनिर्महद्ब्रह्म" (भ.गी.14-3) इति वचनात् अन्यथा त्रयोदशसहस्रमित्युक्तिरसंगता स्यात् सर्वात्मना राज्यकरणस्य तावत्त्वात्तस्मात्क्षितिमण्डलं त्रयो दशसहस्रशब्दं ब्रह्मलोकसमं कृत्वा-"नक्षत्रमासगणितं त्रयोदशसहस्रकम्। ब्रह्मलोकसमं चक्रे समस्तं क्षितिमण्डलम्"॥ (स्कान्दे) इति वचनाच्चेत्यर्थः।

---

1 AB बन्धनै 2 AB जनाश्च

ऊर्ध्वोधःशब्दयोश्च वैयर्थ्याच्च ॥१७-१८॥

ततोऽयोध्याया अगाद्वैकुण्ठमिति शेषः। अंशुकैः सूर्यकिरणै· बुद्धं विकसितं पद्ममिव शोभमानं स्वपादपल्लवं स्मरतां पुंसां हृदि विन्यस्य निधिवन्निधाय आत्मज्योतिः स्वभावप्रकाश· ॥१९॥

रघुपतेरिदं यशो वक्ष्यमाणलक्षणं न किं तन्निषेध्यमिति तत्राह - रक्ष इति। राक्षसवधो य· यच्च जलधिबन्धनं इदमिति, रघुपतिः कोऽसाविति तत्राह - विश्वेति। किम्प्रयोजनमुद्दिश्य रघुपतिनामरूपग्रहण मित्याशङ्क्य न किमपि प्रयोजनमुद्दिश्येत्याशयेनाह लीलेति। शरीरग्रहणेन किमपि दु खादिकमस्यास्तीत्याशयेनाह - अधिकेति। सर्वस्मादधिकं शान्तमानन्दपूर्णं नित्यमुक्तं धाम स्वरूपं यस्य स तथा तस्य यत एवंविधमाहात्म्यो रघुपतिरतोऽस्त्रपाणेर्धनुष्पाणेस्तस्य कपयः शत्रुहनने सहायाः बलभूताः किं नेत्यर्थ ॥२०॥

न केवलं नृपसभासु गायन्ति अपि तु दिगिभेन्द्रपाते दिग्गजानां पात सञ्चारो यस्मिन् लोकालोकप्रदेशेऽपीत्यनेन सर्वत्रेत्याह, नाकपाला इन्द्रादय , वसुपाला कुबेरादय ॥२१॥

यैः स्पृष्टः नमनादिना, दृष्टो वा चक्षुरादिना, श्रुतो वा श्रोत्रादिना, संवित्तः सम्यक् ज्ञातो वा अनुगतो पृष्ठतो यातो वा कोसला· अयोध्यावासिन इत्युपलक्षणं सर्वेऽपीति ग्राह्यं यत्र योगिनो भक्ति· ज्ञानयोगवन्तो गच्छन्ति तत्स्थानं ययुरित्यन्वय ॥२२॥

पुरुषमात्रस्य श्रुतिमात्रेणापि रामनाम्न कर्मबन्धमोक्ष स्यादित्याशयेनाह - **पुरुष** इति। आनृशंस्यपरो हिंसाकर्मपरोऽपि। अनेन "रामो रामो राम इति सर्वेषामभवत्तदा। सर्वो राममयो लोको यदा रामस्त्वपालयत्॥" (स्कान्दे) इति वाक्यमसूचि ॥२३॥

तत्रैवं राजा पृच्छति - **कथमिति**। स भगवान् भ्रात्रादिषु कथं केन योगेन रामो रमयितृत्वेनावर्तत? औरसवद्यथौरस· स्वदेहोत्पन्नः पुत्र· पित्रादौ कलभाषणादिना रतिप्रदत्वेन जिह्वासुखनाममयत्वेन प्रवर्तते, तथाऽयमपि केन प्रकारेण रामो रतिप्रद· प्रजास्ववर्तत? किञ्च रामो बालवत्क्रीडावान्, कथं केन भावेनेश्वरोऽयमिति सर्वजनबुद्धावर्वतत? इतीदं प्रश्नत्रयं परिहर्तव्यमिति शेषेणान्वय· ॥२४॥

**श्रीशुक उवाच**

**अथादिशद् दिग्विजये [1]भ्रातॄंस्त्रिभुवनेश्वरः[1]।**
**आत्मानं दर्शयन् स्वानां पुरीमैक्षत सानुगः ॥२५॥**

---

1--1 MMa भ्रातृश्च त्रिदशेश्वर ।

आसिक्तमार्गां गन्धोदैः करिणां मदशीकरैः।
स्वामिनं प्राप्तमालोक्य मत्तां वा सुतरामिव ॥२६॥

प्रासादगोपुरसभाचैत्यदेवगृहादिषु।
विन्यस्तहेमकलशैः पताकाभिश्च मण्डिताम् ॥२७॥

पूगैः सवृन्तैरम्भाभिः पट्टिकाभिः सुवाससाम्।
आदर्शैरंशुकैः स्रग्भिः कृतकौतुकतोरणाम् ॥२८॥

तमुपेयुस्तत्र तत्र पौरा अर्हणपाणयः।
आशिषो युयुजुर्देव पाहीमां प्राक् त्वयोद्धृताम् ॥२९॥

ततः प्रजा वीक्ष्य पतिं चिरागतं दिदृक्षयोत्सृष्टगृहाः स्त्रियो नराः।
आरुह्य हर्म्याण्यरविन्दलोचनं ह्यतृप्तनेत्राः कुसुमैरवाकिरन् ॥३०॥

अथ प्रविष्टः स्वगृहं जुष्टं स्वैः पूर्वराजभिः।
अनन्ताखिलकोशाढ्यमनर्घ्योरुपरिच्छदम् ॥३१॥

विद्रुमोदुम्बरद्वारैर्वैदूर्यस्तम्भपङ्क्तिभिः।
स्थलैर्मारकतैः स्वच्छैः क्षान्तस्फाटिकभित्तिभिः ॥३२॥

**श्रीध०** तत्र श्रीरामस्य भ्रात्रादिषु वृत्तिप्रकारमाह **अथेति**। अनेनैव भ्रातृणामपि तदाज्ञानुसारितया वृत्तिरुक्ता। अथ, सिंहासनस्वीकारानन्तरम् ॥२५॥

पुरीं वर्णयति **आसिक्तेति**। त्रिभिः। गंधोदकैर्मदबिन्दुभिश्चासिक्ता मार्गा यस्याम्। सुतरां मत्तामिव मदसमृद्धामिव। इति वितर्के। गामिति सुतरां कामोन्मत्तां गामिवेत्यर्थः ॥२६-२८॥

पौराणां तस्मिन्वृत्तिमाह - **तमुपेयुरिति**। वराहरूपेण त्वयोद्धृतामिमां पृथ्वीं पाहीति ॥२९॥

प्रजानां तस्मिन्वृत्तिमाह - **ततः प्रजा** इति ॥३०॥

---

1 W मत्ताना सु° 2 B सवृन्दैर° , W सवृतर° , 3 MMa पालिकाभिसु ° , W पट्टिकाभिश्च वा° 4 MMa त ता 5 H V क्षयोत्सृज्य MMa क्षवोत्सृज्य 6 H V °हान् स्त्रि° 7 H V वरा 8 ABGJ °चनमतृ° , MMa °चनं न तृ° 9 MMa °न्तागृह° 10 W नर्घोरु° 11 H V °द्रू° 12 H.MMa V र्म 13 H V °कतस्व° 14 AGJ भान्तस्फटिक° , B.MMa भ्राजत्स्फटिक 15 ABJ प्रवृ° 16 ABJ प्रवृ° 17. H V °दै 18-.18 ABJ समृद्धाम् 19 ABJ omit गामिति 20-20 ABJ वासितगा वासिता

स्वयं कथमवर्त्ततेत्यस्योत्तरमाह। **अथेति** यावदध्यायपरिसमाप्ति। स्वगृहं प्रविष्टः सन् तस्मिन् रम इति पञ्चमेनान्वयः। गृहं वर्णयति सार्द्धैस्त्रिभिः। अनन्ता येऽखिलानां रत्नादीनां कोशास्तैराढ्यम्। अनर्घ्या उरव परिच्छदा यस्मिन् ॥३१॥

**विद्रुमेति**। विद्रुममया उदुम्बरा देहल्यो येषु तैर्द्वारैः। मरकतस्वच्छै स्थलै। तृतीयान्तानां मण्डितामिति तृतीयेनान्वयः ॥३२॥

**वीर०** तत्र श्रीरामस्य भ्रात्रादिषु वृत्तिप्रकारमाह - **अथेति**। अथ सिंहासनोपवेशनानन्तरं त्रिभुवनेश्वरः श्रीरामो दिगवनदिक्पालने निमित्ते भ्रातॄनादिशत् अनेनैव भ्रातॄणामपि तदाज्ञानुवृत्तिरुक्ता, ततः स्वानां कौसल्यादीनां आत्मानं दर्शयन् सानुजः पुरीमयोध्यामैक्षत ॥२५॥

पौराणां तस्मिन् अनुवृत्तिं ख्यापयितुं तैरलङ्कृतां पुरीं वर्णयति, **आसिक्तमार्गामिति** त्रिभिः। गन्धोदैः चन्दनादिकादिभिः स्वामिनं प्राप्तं प्राप्तराज्यमालोक्य सुतरां मत्तानामिव स्थितानां करिणां मदोदकशीकरैः आसिक्ताः मार्गा यस्याम्। मत्ता इति पाठान्तरम्। तत्र सुतरां मत्तामिवेति पुरीविशेषणम्। वाशब्दो वितर्के ॥२६॥

प्रासादादिषु विन्यस्तैः स्वर्णकुम्भैः पताकाभिश्च मण्डिताम् ॥२७॥

पूगैस्संवृताः या रम्भाः कदल्यः ताभिः, नित्यसापेक्षत्वात् संवृतशब्दस्य समासः। पूगैः पुष्पैश्च पत्रफलपुष्पादि संवृताभिः रंभाभिश्च वाससां पट्टिकाभिश्च मण्डितामिति पूर्वेणान्वयः। आदर्शैर्दर्पणैरंशुकैः, सम्भिश्च कृतानि कौतुकानि मङ्गलार्थानि तोरणानि यस्यां तां पुरीमैक्षतेत्यन्वयः ॥२८॥

पौराणां तस्मिन् वृत्तिमाह - तत अर्हणानि पूजासाधनानि पाणिषु येषां ते, पौरास्तत्र भवन्तं श्रीरामपुरुषपूजयुः। देव! प्राक् वराहावतारे त्वयोद्धृता पृथिवीं पाहीति प्रार्थयमानाः आशिषो युयुजुः प्रयुक्तवन्तः ॥२९॥

तस्मिन् प्रजानामनुवृत्तिमाह - **तमिति**। चिरादागतं तं पतिं श्रीरामं वीक्ष्याऽऽकर्ण्य स्त्रियो नराश्च प्रजाः विदृत्या उत्सृष्टा गृहा याभिस्ताः, हर्म्याण्यारुह्य अतृप्तानि नेत्राणि यासां ताः, अरविन्दलोचनं श्रीरामं कुसुमैरवाकिरन्। यद्वा, चिरागतं पतिं द्रष्टुमिच्छया उत्सृष्टगृहाः स्त्रियो नराश्च प्रजा हर्म्याण्यारुह्य वीक्ष्यातृप्तनेत्रा. कुसुमैरवाकिरन् इत्यन्वयः ॥३०॥

स्वयं कथमवर्त्ततेत्यस्योत्तरमाह - **अथेति**, यावदध्यायसमाप्ति। स्वगृहं प्रविष्टः तस्मिन् भगवान् स्वारामधीरः आत्मारामुनिजनश्रेष्ठानामृषभः अभिनायकः रामः प्रिया चेष्टा यस्यास्तया स्निग्धया निरतिशयानुरागवत्या सीतया सह रम इति पञ्चमेनान्वयः। गृहं वर्णयति - पूर्वराजभिरिक्ष्वाकुप्रभृतिभिर्जुष्टं सेवितं प्रीतिविषयीकृतं वा। अनन्ता निरवधिका ये अखि

1- -1 ABJ वाक्यसमाप्ति 2 ABJ omit मरकत 3- -3 TW omit 4 A.B Add च 5 A.B omit तं 6 A B add अपि

रत्नादीना कोशास्तैराढ्यं समृद्धम् अनर्घा उरवः परिच्छदा यस्मिन्, विद्रुममया उदुम्बरा देहल्यो येषु तैर्द्वारै., तृतीयान्तानां मण्डितामिति तृतीयेनान्वयः। वैदूर्यमणिमयस्तम्भानां पंक्तिभि स्वच्छैरिन्द्रनीलमणिमयै स्थलै प्रदेशै दान्ताः घर्षणेन निर्मलीकृताः स्फटिका. तन्मयीभिर्भित्तिभि ॥३१-३२॥

**विज०** प्रथमतृतीयप्रश्नौ परिहरति - **अथेति**। अथ राज्याभिषेकानन्तरं भ्रात्रादौ स्वाज्ञाकारित्वेनावर्तत त्रिदशेश्वर इत्यनेन मानवेश्वरत्वं किं वक्तव्यमित्यसूचि। तेन लोकानुकरणायेयं क्रीडेति कथितमित्यर्थ·। द्वितीयं परिहरति - आत्मानमिति। स्वात्मसन्दर्शनेन जनस्यामन्दजनकत्वेन राम इति बुद्धिं जनयामासेत्यर्थ·। पुरीनिरीक्षणं च स्वभक्तानुकम्पित्वप्रदर्शनाय ॥२५॥

गन्धोदै. चन्दनादिगन्धद्रव्यमिश्रजलै· लङ्काया नाथं रावणं निहत्य प्राप्तं स्वामिनमालोक्य सुतरां हर्षेण मत्तामिव करिणीं मदशीकरै मदजलबिन्दुभिर्वा मत्तामिव स्थिताम् ॥२६॥

चैत्यं पाषाणादिभिर्बद्धं वृक्षमूलस्थल बद्धशालास्थलं वा ॥२७॥

संवृतैः फलस्तबकसहितै पूगै क्रमुकै· रम्भाभिः कदलीस्तम्भै· आदर्शैः दर्पणैरंशुकैर्वस्त्रैः स्रग्भि मालाभिश्च कृतकौतुकानि रचितमङ्गलानि च तोरणानि यस्यां सा तथा ताम् ॥२८॥

प्राक् वराहाऽवतारे त्वया पातालादुद्धृतां, भुवमिति शेषः ॥२९-३१॥

वैद्रुमैरुदुम्बरैस्ताम्रै कृतद्वारै "ताम्रं शुल्वं मर्कटाख्यं रक्तं कांस्यमुदुम्बरम्" इति ॥३२॥

**चित्रस्रग्भिः[1] पताकाभिर्वासोमणिगणांशुभिः[2]।**
**मुक्ताफलैश्चिदुल्लासैः[3] कान्तकामोपपत्तिभिः ॥३३॥**

**धूपैर्दीपैः[4] सुरभिभिर्मण्डितं[5] पुष्पमण्डनैः[6]।**
**स्त्रीपुम्भिः सुरसंङ्काशैर्जुष्टं[7] भूषणभूषणैः ॥३४॥**

**तस्मिन् स भगवान् रामः स्निग्धया[8] प्रियचेष्टया।**
**रेमे[9] स्वारामधीराणामृषभः सीतया[10] किल[11] ॥३५॥**

**बुभुजे[12] च यथाकालं कामान् धर्ममपीडयन्।**
**वर्षपूगान् बहून् नृणामभिध्याताङ्घ्रिपल्लवः[13] ॥३६॥**

---

1 ABGJMMa पट्टि° 2 ABGJTW °कै 3 MMa कान्त 4 ABGJMMa धूपदीपै 5 MMa °तै 6 MMa °ण्डकै 7 W भूषितै 8 ABGJ °यचेष्टया , MMa °यचेच्छया। 9 H V रेमेऽभिरा० 10 MMa °चा° 11 MMa सह 12 MMa °काम काम घ° 13 MMa °ध्येया°

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे एकादशोऽध्याय ॥११॥

**श्रीध०** चित्रेति। वाससां मणिगणानां चांशुभिःदीप्तिभि.। चित् चैतन्यं तद्वदुल्लासैरुज्ज्वलैः। यद्वा चिदिति क्वचित् वैदूर्यस्तम्भादिषु यथाशोभमुज्ज्वलैर्मुक्ताफलैर्मण्डितमित्यर्थ.। कान्ता कमनीया। कामोपपत्तयो भोगसाधनानि ताभिः ॥३३॥

**धूपैरिति**। धूपैर्दीपै सुरभिभिर्मण्डितं पुष्पमण्डनै। स्त्रीपुम्भि सुरसंकाशैर्जुष्टं भूषणभूषणैःभूषणानां भूषणभूतैः ३४,३५॥

**बुभुजे** इति। नृणां मध्ये यद्वा नृणां नृभिः अभिध्यातं अङ्घ्रिपल्लवं यस्य इति ॥३६॥

**वीर०** चित्राभिः सम्भि पताकाभिश्च वाससां मणिगणानामंशुकै पङ्क्तिभि, चिच्चैतन्यं तद्दुल्लासैरुज्ज्वलै मुक्ताफलै। यद्वा, चिदिति पृथक्पदमव्ययम्। क्वचिद्वैदूर्यस्तम्भादिषु यथाशोभमुज्ज्वलैर्मुक्ताफलैर्मण्डितमित्यर्थ। कान्ताः कमनीयाः कामोपपत्तयो भोगसाधनानि ताभि सुरभिभिर्धूपैर्दीपैश्च मण्डितं, पुष्पाणि मण्डनमलङ्कारो येषां भूषणैर्भूषितास्तैः, सुरसंकाशैः देवतुल्यैः स्त्रीपुम्भिः। समासान्ताभावस्तस्यानित्यत्वात् आर्षत्वाद्वा। जुष्टं सेवितं कामान् यथाकालमुचितकालमनतिक्रम्य बहून् वर्षगणान् बुभुजे। कथम्भूतस्सन्? स्वधर्मं वर्णाश्रमोचितमपीडयन् अनुपरुन्धन् अत्यजन्नित्यर्थ। नृणामिति शेषे षष्ठी, नृभिरभिध्यातमङ्घ्रिपल्लवं यस्य तथाभूतस्सन् ॥३३-३६॥

इति श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धे
श्रीश्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकादशोऽध्याय ॥११॥

**विज०** कान्तं शोभितं पट्टिकाभिर्वितानैः ॥३३॥

भूषणानामपि भूषणैः ॥३४॥

**स्वारामाः** शोभनोद्यानानि तत्र चारो येषां ते स्वारामचारास्तेषामृषभ. निरन्तरं चारुतरोद्यानेषु सञ्चरताम् ईश्वर इत्यनेन ते सौख्यं सूचयति - अनेनापि सीतावियोगो नास्तीत्युक्तं भवति। किञ्च, सीतया नित्यरमणात्स्वयं सुखरुपत्वात्प्रजानां सुखहेतु - त्सर्वजनचित्तविलयत्वेन राम इति भाव ॥३५,३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
नवमस्कन्धे एकादशोऽध्याय ॥११॥

---

1 ABJ 'शुकै. 2 HV 'द्रू' 3- -3 HV omit 4- -4 BHV omit 5- -5 A omits 6- -6 A omits

# द्वादशोऽध्यायः

## श्रीशुक उवाच

कुशस्य चातिथिस्तस्मान्निषधस्तत्सुतो नभः।
पुण्डरीकोऽथ तत्पुत्रः क्षेमधन्वाऽभवत्ततः ॥१॥

देवानीकस्ततो[1]ऽहीनः पारियात्रो[2]ऽथ तत्सुतः।
ततो बलच्चलस्तस्माद् वज्रनाभो[3]ऽर्कसंभवः ॥२॥

खगणस्तत्सुतस्तस्माद् विधृतिश्चाभवत् सुतः[4]।
ततो हिरण्यनाभो[5]ऽभूद् योगाचार्यस्तु जैमिनेः ॥३॥

शिष्यः[6] कौसल्य आध्यात्मं याज्ञवल्क्योऽध्यगाद् यतः।
योगं महोदयमृषिर्हृदयग्रन्थिभेदनम्[7] ॥४॥

पुष्यो हिरण्यनाभस्य ध्रुवसन्धिस्ततोऽभवत्।
सुदर्शनोऽथाग्निवर्णः शीघ्रस्तस्य मरुत्सुतः[8] ॥५॥

योऽसावास्ते योगसिद्धः कलापग्राममाश्रितः[9]।
कलेरन्ते सूर्यवंशं नष्टं भावयिता पुनः ॥६॥

तस्मात्[10-] प्रसुश्रुतस्तस्य[-10] सन्धिस्तस्यापिमर्षणः[11]।
महस्वांस्तत्सुतस्तस्माद्[12] विश्वसाह्वोऽन्वजायत[13] ॥७॥

ततः प्रसेनजित् तस्मात् तक्षको भविता पुनः।
ततो बृहद्बलो यस्तु पित्रा ते समरे हतः ॥८॥

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्वादशे रामपुत्रस्य कुशस्यान्वय उच्यते। एवमिक्ष्वाकुपुत्रस्य शशादस्येरितोऽन्वयः॥

---

1 ABGJ तोऽनीह 2 MMa पात्रश्च 3 ABGJMMa "स्थल 4 H V शङ्खण , MMa स्वगण 5 MMa "धृत" 6 MMa "व्यस्सकलमध्या" 7 ABGJ "कम् 8 ABGHJV मरु सुत । 9 MMa "मास्थित 10- -10 H V "त् पशु श्रुकत्तस्य , MMa "तु सुश्रुतत्तस्य , T W "त् प्रंशुस्नुतत्तस्य 11 ABGHJV "प्य" 12 T W सुमहास्त" 13 ABGJ "साह्वोऽन्व , MMa "साह्वोव्य"

* यद्वा- आरभ्योक्त्वा कुशं भूपान् ऐक्ष्वाकान्[illegible] गतान्।
भविष्यतस्सुमित्रान्तान् बृहद्बलमुखान्[illegible]॥

**कुशस्येति**। कुशस्य रामपुत्रस्यातिथिः सुतोऽभवत् ॥१॥

**देवानीक** इति। अर्कसंभवोऽर्कस्यांशात्संभूतः ॥२॥

**खगण इति**। ततो विधृतेर्हिरण्यनाभः। कथंभूतः। [illegible] शिष्यो योगाचार्यः तदाह हिरण्यनाभस्य योगाचार्यत्वम् ॥३॥

**शिष्यइति**। यतः सकाशात् कौशल्यो याज्ञवल्क्यऋषिराध्यात्मं योगमध्यगात् महान्त उदयाः यस्मिंस्तम् हृदयग्रन्थेर्भेदनञ्च ॥४-५॥

मरुं विशिनष्टि। **योऽसाविति**। पुनर्भावयिता भावयिष्यति ॥६-७॥

**तत इति**। ते प्रित्राऽभिमन्युना ॥८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

कुशस्य श्रीरामसुतस्यातिथिः सुतोऽभवत्तस्मादतिथेः निषधाख्यः तत्सुतः निषधसुतः नभः, अथ नभात्पुण्डरीकः, तत्पुत्रः पुण्डरीकपुत्रः क्षेमधन्वा ॥१॥

ततः क्षेमधन्वनः देवानीकोऽभवत् ततो देवानीकात् हीनः, अथ तत्सुतो हीनसुतः पारियात्रः ततः परियात्राद् बलस्तस्माद्बलाच्चलः तस्मात् चलात् वज्रनाभः स चार्कस्यांशात्सम्भूतः ॥२॥

तत्सुतो वज्रनाभसुतः खगणः तस्मात्खगणाद्विधृतिः सुतोऽभवत् तत्तो विधृतेर्हिरण्यनाभः समभवत्। स च योगाचार्यस्य जैमिनेः शिष्यः ॥३॥

यतो हिरण्यनाभादध्यात्मशास्त्रं कौसल्यो याज्ञवल्क्य ऋषिरधिगतवान् अध्यात्मं विशिनष्टि, योगं योगाख्यं महोदयं महानुदयोऽभ्युदयो यस्मात्, हृदयग्रन्थिमज्ञानं भिनत्तीति तथाभूतम् ॥४॥

हिरण्यनाभस्य पुष्यः सुतः ततः पुष्यात् ध्रुवसन्धिरभवत् अथ ध्रुवसन्धेः सुदर्शनस्तस्मादग्निवर्णस्तस्य सुतः शीघ्रः तस्यापि सुतो मरुत् ॥५॥

मरुतं विशिनष्टि - योऽसाविति। योऽसौ मरुत् योगेन सिद्धः जितकामः कलापग्रामाख्यं ग्राममाश्रितोऽधुनाप्यास्ते

* This Verse is found in H V edns only 1- -1 H V omit 2- -2 ABJ omit 3 ABJ [illegible] 4. ABJ omit ते 5 AB स्थल 6 AB omit चलात्

किमर्थमित्यत्राह कलेर्युगस्यान्तेऽवसाने नष्टं सूर्यवंशं पुनर्भावयितो भावयिष्यति पुत्रपौत्रादिपरम्परया प्रवर्त्तयिव्यति, तदर्थं तत्रास्ते इति भावः ॥६॥

तस्मान्मरुत· प्रस्नुः, तस्य सुतस्सन्धि·, तस्यापि मर्षणस्सुत·, तत्सुतो मर्षणसुतः सुमहान्, तस्मात् सुमहतो विश्वसाह्वो जज्ञे ॥७॥

ततो विश्वसाह्वात्[3] बृहद्बल· जज्ञे इत्यनुषङ्गः, तं विशिनष्टि, यस्तु बृहद्बलः समरे सङ्ग्रामे ते पित्रा हतः ॥८॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अथ श्रीरामपुत्रस्य कुशस्य सन्ततिमनुक्रामति - कुशस्य चेति। चशब्दः सन्ततेरविच्छेदं सूचयति ॥१-३॥

अध्यात्मं परमात्मविषयं महानुदयो मोक्षलक्षणो यस्मात्स तथा। एतदेव विशिनष्टि - हृदयेति। ऋषिर्ज्ञानी ॥४॥

तस्याग्निवर्णस्य शीघ्रनामा सुत , मरुन्नामा सुतो यस्य स मरुत्सुत·, तस्य शीघ्रस्य मरुत्सुतोऽभूदिति वा ॥५-६॥

तस्मात् मरुत्त ॥७॥

समरे ते तव पित्रा अभिमन्युना हत ॥८॥

एते हीक्ष्वाकुभूपाला अतीताः शृण्वनागतान्।
बृहद्बलस्य[4] भविता पुत्रो नामा बृहद्रणः ॥९॥
उरुक्षतस्ततस्तस्य[5] वत्सप्रीतो[6] भविष्यति।
प्रतिव्योमस्ततो भानुः[7]दिवाको वाहिनी पतिः ॥१०॥
सहदेवस्ततो[8] वीरो बृहदशोऽथ भानुमान्।
प्रतीकाश्वो[9] भानुमतः सुप्रतीकस्तु तत्सुतः ॥११॥
भविता[10] मेरुदेवोऽथ[11] सुनक्षत्रोऽथ[12] ऋक्षकः
तस्यान्तरिक्षस्तत्पुत्रः[13] सुतपास्तदमित्रजित् ॥१२॥

1 AB सर्मा॥ मर्षणसुत 2 A साह्वो 3 A °ह्वा° 4 ABGJ °म 5 ABGJ क्रियस्तत , MMa क्षयस्सुत° 6 ABGJ °वृद्धो 7 HV देवौका , MMa दिवाकर्को , TW देवाको 8 MMa भावी 9 ABGJMMa कैऽथ। 10 ABGJMMa म° 11 HV हतक्षत्रो° , TW सुरक्षत्रो° 12 ABGJ पुष्कर ° , MMa रुक्षक । 13 W सुतप्त°

[1]बृहद्बाजिस्तु तस्यापि बर्हिस्तस्मात् [2]धनञ्जयः।
रणञ्जयस्तस्य सुतः [3]सृञ्जयो भविता ततः ॥१३॥

तस्माच्छाक्योऽथ शुद्धोदो लाङ्गलस्तत्सुतः स्मृतः।
ततः प्रसेनजित् तस्मात् क्षुद्रको भविता तनः ॥१४॥

[4]कुणको भविता तस्मात् सुरथस्तनयस्ततः।
सुमित्रो नाम निष्ठान्त स्त्वेते बार्हद्बलान्नृपाः ॥१५॥

इक्ष्वाकूणामयं वंशः सुमित्रान्तो भविष्यति।
यतस्तं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ ॥१६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्या अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहस्या सहितायां
नवमस्कन्धे द्वादशोऽध्याय ॥१२॥

**श्रीध० भवितेति**। तत्तस्मादमित्रजित् ॥९-१४॥

**कुणको** इति। निष्ठा वंशस्य स्थितिस्तस्या अन्त ॥१५॥

तदेवाह - **इक्ष्वाकूणामिति** ॥१६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकाया
व्यख्यायां नवमस्कन्धे द्वादशोऽध्याय ॥१२॥

**वीर०** एते कथिताः इक्ष्वाकुवंशजा भूपाला अतीता अतिक्रान्ता , अथानागतान् भाविन इक्ष्वाकुभूपालान् मया कथयिष्यमाणान् शृणु, बृहद्बलस्य सुतो नाम्ना बृहद्रण इति प्रसिद्धस्तस्य बृहद्रणस्य उरुक्षतस्तस्य उरुक्षतस्य वत्सप्रीत सुतो भविष्यति, ततो वत्सप्रीतात् प्रतिव्योम· तत प्रतिव्योमात् भानुः, तस्माद्देवाक·, स च वाहिन्या सेनाया पति ॥९-१०॥

ततो देवाकात्सहदेवः, ततः बृहदश्वः, स च वीर·, अथ बृहदश्वात् भानुमान्, भानुमत· प्रतीकाश्व , तत्सुत प्रतीकाश्वसुत· सुप्रतीकः ॥११॥

---

1 ABGJ द्राज॰ , MMa भोज॰ 2 ABGJMMa कृतञ्जय 3 ABGJMMa सञ्ज॰ 4 ABGJ रणको , H V ऋणको 5 ABGJ ॰न्त एते 6 ABGJ ॰न्वया

अथ सुतीक्ष्णात्पुष्करवेः सुतो भविता, तस्मात्सुरक्षत्रः, तस्मात् ऋक्षकः तस्य ऋक्षकस्यान्तरिक्षः तत्पुत्रोऽन्तरिक्षपुत्रः सुतपः ततस्तस्मात्सुतपसो मित्रजित् भविता ॥१२॥

तस्य मित्रजितो बृहद्राजः तस्माद्बृहद्राजाद् बर्हिः तस्माद्बर्हिषो धनञ्जयः तस्य धनञ्जयस्य सुतो रणञ्जयस्ततो रणञ्जयात् सृञ्जयसुतो भविता ॥१३॥

तस्मात्सृञ्जयाच्छाक्यः तस्माच्छाक्यात् शुद्धोदः अथ शुद्धोदसुतः लाङ्गलः स्मृतः 'ततो लाङ्गलात् प्रसेनजित्' तस्मात् प्रसेनजितः क्षुद्रकः भविष्यति ॥१४॥

ततः क्षुद्रकात्कुणकः भविता तस्मात्कुणकात्सुरथस्तनयो भविष्यति। तस्मात्सुमित्र इति प्रसिद्धः सुतो भविता। स तु निधानः निष्ठा वंशस्य स्थितिः तथा अन्तः अन्तिमावधिभूतः। एते 'बृहद्बलस्य भविते' त्यादिना उक्ताः बार्हद्बलाः बृहद्बलगोत्रजा भाविनो नृपाः ॥१५॥

सुमित्रस्य निधानत्वमेवाह, अयमिक्ष्वाकूणां वंशः सुमित्रोऽन्तोऽन्तावधिर्यस्य तथाभूतो भविष्यति, कुतः? यतस्तं सुमित्रं राजानं प्राप्य कलौ युगे संस्थामुच्छेदं प्राप्स्यति, वंश इत्यनुषङ्गः ॥१६॥

इति श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

विजयः अनागतानुत्पत्स्यमानान् तस्येत्येतत्पूर्वोत्तरत्र सम्बन्धयितव्यम् ॥९-११॥

तस्य सुतपसः सुतोऽमित्रजित् ॥१२-१४॥

सुमित्रो नाम राजा निष्ठायाः वंशावलेरन्तोऽवधिभूतः, तत्र समाप्त इत्यर्थः ॥१५॥

सुमित्रं विशदयति - इक्ष्वाकूणामिति। सुमित्रोऽन्तोऽवसानं यस्य स तथा। संस्थां नाशं समाप्तिं वा "संस्था व्यवस्था मर्यादिः समाप्त्याचारमन्त्रिषु" (वैज.को 6-2-43) इति ॥१६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
नवमस्कन्धे द्वादशोऽध्यायः ॥२॥

1. TW सुत 2. AB तत्सुत

# त्रयोदशोध्यायः

## श्रीशुक उवाच-

निमिरिक्ष्वाकुतनयो वसिष्टमवृतर्त्विजम्।
आरभ्य सत्रं सोऽप्याह शक्रेण प्राग्वृतोऽस्मि भोः ॥१॥

तं निर्वर्त्यागमिष्यामि तावन्मां प्रतिपालय।
तूष्णीमासीद् गृहपतिः सोऽपीन्द्रस्याकरोन्मखम् ॥२॥

निमिश्चलमिदं[1] विद्वान् सत्रमारभतात्मवान्।
ऋत्विग्भिरपरैस्तावन्नागमद् यावता गुरुः ॥३॥

शिष्यव्यतिक्रमं वीक्ष्य निर्वर्त्य गुरुरागतः।
अशपत् पततां[2] देहो निमेः पण्डितमानिनः ॥४॥

निमिः प्रतिददौ शापं गुरवेऽधर्मवर्तिने।
तवापि पततां[3] देहो लोभाद् धर्ममजानतः ॥५॥

इत्युत्ससर्ज स्वं देहं निमिरध्यात्मकोविदः।
मित्रावरुणयोर्जज्ञे ह्यूर्वश्यां[4] प्रपितामहः ॥६॥

गन्धवस्तुषु तद्देहं निधाय मुनिसत्तमाः।
समाप्ते सत्रयागेऽथ देवानूचुः समागतान् ॥७॥

राज्ञो जीवतु देहोऽयं प्रसन्नाः प्रभवो यदि।
तथेत्युक्ते निमिः प्राह मा भून्मे देहबन्धनम् ॥८॥

### श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

इक्ष्वाकोरेव पुत्रस्य निमेर्वंशस्त्रयोदशे। वर्ण्यते जज्ञिरे यत्र ब्रह्मज्ञा जनकादयः॥

यद्वा - त्रयोदशेऽरिषड्वर्गजयी राजान्ववायकृत्।
ऐक्ष्वाकस्य निर्मेर्देहान्मथिताज्जनकोऽभवत् ॥

---

1 MMs "स्सत्रविदां 2 ABGJ "तताद्दे" 3 ABGJ "तताद्दे" 4 AGJ "उर्व"

निमेरौरस· पुत्रो नाभूदिति दर्शयन्कथामाह निमिरित्येकादशभि । सत्रमारभ्य वशिष्टमृत्विजमवृत वव्रे ॥१॥

**तमिति**। तं शक्रस्य मखं[1] सत्रं[2] निर्वर्त्य प्रतिपालय प्रतीक्षस्वेति । गृहपतिर्निमिः ॥२॥

**निमिरिति**। इदं जीवितं चलमस्थिरं विद्वान् ॥३॥

**शिष्येति**। इन्द्रस्य मखं निर्वर्त्यागतो गुरु· शिष्यस्य व्यतिक्रममन्यायं वीक्ष्य निमेर्देह· पतत्वित्यशपत् ॥४-५॥

**इतीति**। ऊर्वशीदर्शनात्स्कन्नं रेतस्ताभ्यां कुंभे निषिक्तं तस्मात्प्रपितामहो वशिष्टो जज्ञे। तदाह मित्रावरुणयोरिति। तथा च श्रुति । "कुंभे रेत· सिषिचतु. समानम्" इति॥६-७॥[3]

**राज्ञ इति**। यदि प्रसन्ना प्रभव समर्थाश्चेत्तर्हि जीवत्वित्यूचुः ॥८॥[4]

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं "क्षुवतस्तु मनोर्जज्ञे इक्ष्वाकुर्घ्राणत· सुत·। तस्य पुत्रशतज्येष्ठा· विकुक्षिनिमिदण्डका·॥"(भाग 9-6-4) इत्युपक्रान्तानामिक्ष्वाकुसुतानां विकुक्षेर्वंश· कथित अथ निमेर्वंशं विवक्षुस्तावन्निमेरौरस· पुत्रो नाभूदिति दर्शयितुं तत्कथामाह - **निमि**रित्यादिना अराजकभयमित्यत प्राक्तनेन। इक्ष्वाकोस्तनयो निमि कदाचित्सत्रमारभ्य वसिष्टमृत्त्विजम् अवृत त्वमृत्विक् भवेति वसिष्ठमुवाचेत्यर्थ·। ततः स वसिष्ट भो हे निमे! प्राक् त्वद्वरणात्प्रागेव अहं शक्रेण वृतोऽस्मि ॥१॥

अतस्तं शक्रस्य मखं निर्वर्त्य निष्पाद्य कारयित्वेत्यर्थ·। आगमिष्यामि तावत्पर्यन्तं त्वं प्रतिपालय प्रतीक्षस्वेत्याह - ततो गृहपति· निमिः तूष्णीमासीत्किञ्चिदप्यवदंस्तस्थौ तत· स वसिष्ट शक्रस्य मखमकरोत् ॥२॥

तदा निमिरात्मवान् प्रकृतिपुरुषेश्वरयाथात्म्यवित् अत एवेदं जीवितं चलमनित्यं जानन्, छलमितिपाठे इदं गुरोर्वचः आर्त्विज्याकरणे मिथ्याहेतुं जानन्नित्यर्थ । यावद्गुरुर्वसिष्टो नागतः[5] तावदेव अन्यै· ऋत्विग्भि· सत्रमारब्धवान् ॥३॥

**शिष्य** इति। ततो गुरुर्वसिष्ठ· शक्रस्य मखं निर्वर्त्त्यागतः शिष्यस्य निमेर्व्यतिक्रमं[6-] गुरुवाक्यातिक्रमं[-6] वीक्ष्याऽशपत्, किमिति? पण्डितमात्मानं मन्यत इति तथा, तस्य निमेर्देह· पततां वियुज्यतामिति। निमे इति पाठे, हे निमे! पण्डितमानिनस्तव देह· पततामित्यर्थ ॥४॥

**निमिरिति**। तदाकर्ण्य निमिरपि धर्मानुवर्त्तिने गुरवे वसिष्ठाय प्रतिशापं ददौ, किमिति? वित्तलोभाद्धर्ममजानतः तवापि देहः पततामिति ॥५॥

---

1 H V omit मख 2 ABJ omit सत्र 3 ABJ उ° 4 BHV °र्थाश्च त° 5 AB °तावदन्यै 6- -6 TW omit

**इतीति**। इतीत्थं वदन् निमिरध्यात्मकोविदः स्वं देहं तत्याज तथा अस्मत्प्रपितामह· वसिष्ठोऽपि त्यक्तदेह· पुनर्मित्रावरुणयो ऊर्वशीदर्शनात्स्कन्नवीर्ययोस्तस्यां जज्ञे अत्रोर्वशीदर्शनान्मित्रावरुणयो स्कन्नं रेत ताभ्यां तत्कुम्भे निषिक्तं तस्माज्जज्ञे अस्मत् प्रपितामह इतीतिहासोऽनुसन्धेयः[1] ॥६॥

अथ तं त्यक्तं निमेर्देहं सुगन्धिवस्तुषु परिमलद्रव्येषु गन्धतैलेषु निधाय मुनिसत्तमा ऋत्विजः सत्र[2] यागे सति। अथानन्तरं तत्र समागतान् देवानूचु ॥७॥

**राज्ञ इति**। किमिति? यदि यूयं प्रभव· जीवयितुं समर्था· प्रसन्नाश्च तर्हि राज्ञो निमेरयं देहो जीवत्विति। ततो देवैस्तथेति जीवत्वयं देह इत्युक्ते सति निमि प्राह, तदेवाह- माभूदित्यादिना विदेह उष्यतामित्यत प्राक्तनेन। देहबन्धनं देहयोग पुनर्मम[3] माभूत् ॥८॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अवृत वव्रे स वशिष्ठोऽपि तं शक्रस्य यागं निर्वर्त्य समाप्य प्रतिपालय प्रतीक्षस्व गृहपतिर्निमि. ॥१-२॥

सन्तस्त्रायत इति सच्च त्रायति वा सत्रं ब्रह्म तद्विदां मध्ये विद्वान् तेषां संशयच्छेत्ता अपरैर्वशिष्ठव्यतिरिक्तै· तावन्नागमदित्यादिना गुर्वपेक्षाया· नियतत्वदर्शनात्तत्प्रतिसन्धानमगणय्य शिष्याय शापदानमधर्म इति कृत्वाऽधर्मवर्तिन इत्युक्तम् ॥३-४॥

लोभात् पौरोहित्यविषयात् ॥५॥

ततः किमभूदिति तत्राह - **मित्रावरुणयो**रिति। यो मित्रावरुणयोरुर्वश्यां जज्ञे स· मम प्रपितामहो वसिष्ठः ॥६॥

तद्देहं तस्य निमेर्देहं गन्धवस्तुषु गन्धवासिततैलेषु हरिद्रादिद्रव्यविशेषेषु निधाय सत्रनामयागे ॥७॥

देहलक्षणम्बन्धनम् ॥८॥

**यस्य योगं न वाञ्छन्ति वियोगभयकातराः।**
**भजन्ति चरणाम्भोजं मुनयो हरिमेधसः ॥९॥**

**देहं नैवारुरुत्सेऽहं[4] दुःखशोकभयाश्रयम्[5]।**
**सर्वत्रास्य यतो मृत्युर्मत्स्यानामुदके यथा ॥१०॥**

**देवा ऊचुः**

**विदेह उष्यतां कामं लोचनेषु शरीरिणाम्।**
**उन्मेषणनिमेषाभ्यां लक्षितोऽध्यात्मसंस्थितः ॥११॥**

---

1 AB add इति भाव 2 AB सत्रे 3 TW omits किमिति। 4 ABGJMMa नाव° 5 ABGJ भयावहम्

अराजकभयं नृणां मन्यमाना महर्षयः।
देहं ममन्थुः स्म निमेः- कुमारः समजायत ॥१२॥

जननाज्जनकः[2] सोऽभूद् वैदेहस्तु विदेहजः।
मिथिलो मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता ॥१३॥

तस्मादुदावसुस्तस्य पुत्रोऽभून्नन्दिवर्धनः।
ततः सुकेतुस्तस्यापि देवरातो महीपते[3]! ॥१४॥

तस्माद् बृहद्रथस्तस्य महावीर्यः सुधृत्पिता[4]।
सुधृतेर्धृष्टकेतुर्वै[5-5] हर्यश्वोऽथ मरुस्ततः ॥१५॥

मरोः[6]प्रतिन्धकस्तस्माज्जातः कृतरथो[7] यतः।
देवमीढस्तस्य पुत्रो[8] विधृतो[9]ऽथ महाधृतिः ॥१६॥

**श्रीध० यस्येति**। यस्य देहस्य योगं न वाञ्छन्ति, अपि तु मोक्षायैव भजन्ति ॥९-१०॥

**विदेह इति**। निमिर्विदेह एव सन् उष्यतां वसतु कामं यथेच्छम्। एवं सति युष्माभिः प्रार्थितं जीवितमस्य भविष्यति न च देहबन्ध इति भावः। स चाध्यात्मं संस्थितो लोचनयोः स्थितः सन् उन्मेषणनिमेषाभ्यां तत्प्रवर्तकत्वेन लक्षितो वर्तत इति शेषः ॥११॥

तदेवं मृतादपि निमेर्देहाद्वंशप्रवृत्तिं दर्शयति। - **अराजकभयमिति** ॥१२॥

तस्यान्वर्थानि त्रीणि नामान्याह - **जन्मनेति** जन्मनाऽसाधारणेन जन एव जनकः। यद्वा स्वदेहद्वारा जनकत्वात्स निमिर्जनकोऽभूदित्यर्थः। मिथिला येन निर्मिता इत्यनेनव्युत्पत्यन्तरं सामर्थ्याद्युक्तम्[10] ॥१३-१४॥

**तस्मादिति**। सुधृत् सुधृतिस्तस्य पिता ॥१५-१६॥

**वीर०** तत्र हेतुं वदन्नाह - **यस्येति**। मुनयो वियोगभयकातराः देहयोगे सति पुनर्वियोगः स्यात् अतो वियोगभयदुःखोदर्कत्वात् पूर्वं यस्य देहस्य योगं न वाञ्छन्तीत्यर्थः किन्तु हरिमेधसो भगवतः चरणाम्भोजमेव भजन्ते। हरिराश्रितानां संसृतिबन्धं हरतीति तथा, स चासौ मेधास्तेषाम् इष्टप्रापणानिष्टपरिहारोपयुक्तज्ञानवान् तस्य ॥९॥

---

1 MMa °ञ्च 2 ABGHJV °जन्मना ज° 3 MMa °पति 4 W °हृ° 5- -5 MMa सुधृतोधृष्ट° , W सुहृदोधृष्ट° 6 ABGJ प्रतीपक° , MMa प्रतीन्धक° 7 ABGJ कृतिरथो , H V कृतरथो 8 ABGJMMa सुतो 9 ABGJ °श्रु° 10 ABJ अर्थात् उक्तम्

**देहमिति**। अतोऽहं दुःखादिनिमित्तभूतं देहं नावरुरुत्से अवरोद्धुं गृहीतुं नेच्छामि, यतो देहस्यावरोधादस्य देहिनः सर्वदा पुनः पुनरिति भावः, मृत्युरनुवर्त्तत इति शेषः। यथोदके वसतां मत्स्यानां मृत्युः पौनः पुन्येन तद्वदित्यर्थः ॥१०॥

**इत्थमुक्ता देवा ऊचुः ० विदेह इति**। तदेवाह - निमिर्विदेह एव सन् अध्यात्मसंस्थितः सूक्ष्मदेहस्थितिमान् कामं यथेच्छं शरीरिणां लोचनेषून्मेषनिमेषाभ्यां लक्षितः तत्प्रवर्तकत्वेन सूचितः उष्यतां स्थीयताम्[1], एवञ्च युष्माभिः प्रार्थितमस्य जीवितमपि भविष्यति, न च स्थूलदेहसम्बन्ध इति भावः ॥११॥

तदेवं मृतादपि निमेर्देहाद्वंशप्रवृत्तिं दर्शयति - **अराजकभयमिति**। नृणामराजकत्वनिमित्तं भयं मन्यमानाः सम्भावयन्तो ये महर्षयो निमेर्देहं ममन्थुः मथितवन्तः ततः कुमारः समजायत ॥१२॥

तस्यान्वर्थानि त्रीणि नामान्याह - **जननादिति**। जननादनितरसाधारणजन्मनो निमित्ताज्जनकपदाभिधेयो बभूव यद्वा स्वदेहद्वारा जनयितृत्वाज्जनकः विदेहतः जीववियुक्तादेहाज्जातत्वाद्विदेहाख्यः। मन्थनाज्जातत्वान्मिथिल· येन मिथिलशब्दभिधेयेन निर्मितत्वात् पुर्यपि मिथिलाख्या बभूवेत्यर्थः ॥१३॥

**तस्मादिति**। तस्मान्मिथिलादुदावसुर्व्यजायतेत्यनुषङ्गः। तस्योदावसोर्नन्दिवर्द्धनः पुत्रो बभूव, ततो नन्दिवर्द्धनात् सुकेशस्तस्यापि सुकेशस्यापि[2] देवरात. पुत्र. हे महीपते! ॥१४॥

**तस्माद्देवरातात्** बृहद्रथः तस्य बृहद्रथस्य महावीर्यः। तत्पुत्रं वदन् तं विशिनष्टि - **सुहृत्पितेति**। सुहृदः पुत्रस्य पितेत्यर्थ. पुत्रो सुहृदः धृष्टकेतुः अथ धृष्टकेतोर्हर्यश्व·, ततो हर्यश्वान्मरुः ॥१५॥

मरोः पुत्रः प्रतिन्धकः[3]। तस्मात्प्रतिन्धकात्कृतरथो जातः तं विशिंषन् तत्पुत्रमाह - यतः कृतरथाद्देवमीढो जात इत्यनुषङ्गः[4], तस्य देवमीढस्य सुतो विधृत., अथ विधृतान्महाधृति· ॥१६॥

**विज०** किमिति देहबन्धो माभूदिति तत्राह - **यस्येति**। यस्य देहस्य योगं सम्बन्धं यस्य वियोगभयेन कातराः व्यग्रचित्ता हरिभक्तजनपापहरणशीला मेधा धारणावती धीः "धीर्धारणावती मेधा" (अम.को.1-141) इत्यमर·। बुद्धिर्यस्य स तथा तस्य, हरिवत्सूर्यवत्प्रकाशमाना मेधा यस्येति वा तस्य विष्णोः, मुनयो। वाचम्यमाः ॥९॥

तं देहं नावरुरुत्से स्वीकर्तुं नेच्चामि दुःखं तीव्रवेदना शोक· मन्युः "मन्युशोकौ तु शुक् स्त्रियाम्" (अम. कोः 1-207) इत्यमर·। भयं सञ्चलनं ततोऽपि देहग्रहणेच्छा नेत्याह सर्वत्रेति ॥१०॥

अदेहस्याऽस्य वासः कथङ्घटते? अधिष्टानाद्यभावादिति तत्राह - **लोचनेष्विति**। लोचनेष्वस्य सद्भावः कथञ्जायते? इति तत्राह - उन्मेषणेति। किमस्य कर्म? इति तत्राह - अध्यात्मेति। परमात्मोपासनायुक्तः ॥११-१२॥

---

1 TW omits स्थीयताम् 2- -2 AB omits 3 A "तीपक 4 A तीपका"

नामनिर्वचनपूर्वकं जनकस्य वंशं कथयति जननादित्यादिना। मथनेन जननमस्येत्यस्मिन्नर्थे मिथिलेति निपातनं शवानां शयनमस्मिन्निति श्मशानमितिवत्:- मिथला पुरी ॥१३-१४॥

सृधृत्पिता सुधृतो जनकः ॥१५-१६॥

**कृतिरातस्ततस्तस्मान्महारोमाऽथ तत्सुतः।**
**स्वर्णरोमा सुतस्तस्य ह्रस्वरोमा व्यजायत ॥१७॥**

**ततः सीरध्वजो जज्ञे यज्ञार्थं कर्षतो महीम्।**
**सीता सीराग्रतो जाता तस्मात् सीरध्वजः स्मृतः ॥१८॥**

**कुशध्वजस्तस्य पुत्रस्ततो धर्मध्वजो नृपः।**
**धर्मध्वजस्य द्वौ पुत्रौ कृतध्वजमितध्वजौ ॥१९॥**

**कृतध्वजात् केशिध्वजः खाण्डिक्यस्तु मितध्वजात्।**
**कृतध्वजसुतो राजन्नात्मविद्याविशारदः ॥२०॥**

**खाण्डिक्यः कर्मतन्त्रज्ञो भीतःकेशिध्वजाद्द्रुतः।**
**भानुमांस्तस्य पुत्रोऽभूच्छतद्युम्नस्तु तत्सुतः ॥२१॥**

**शुचिस्तत्तनयस्तस्मात् सनद्वाजस्ततोऽभवत्।**
**ऊर्ध्वकेतुः सनद्वाजादजोऽथ कुरुजित्सुतः ॥२२॥**

**अरिष्टनेमिस्तस्यापि श्रुतायुस्तत्सुपार्श्वकः।**
**ततश्चित्ररथस्तस्य क्षेमापिर्मिथिलाधिपः ॥२३॥**

**तस्माद्धेमरथस्तस्य सुतः सत्यरथस्ततः।**
**आसीदुपगुरुस्तस्मादुपगुप्तोऽग्निसंभवः ॥२४॥**

**श्रीध० खाण्डिक्येति**। तस्य केशिध्वजस्य भानुमान् ॥१७-२२॥

**अरिष्टेति**। तत्तस्मात्सुपार्श्वक ॥२३॥

**तस्मादिति**। अग्निसंभवोऽग्नेरंशात्संभूत ॥२४॥

---

1 H V कीर्ति 2 ABGJMMa तत्त्व 3 ABGJ द्रुत 4 MMa शुचिस्त त 5 MMa ऊर्ज 6 ABGJTW पुरु 7 ABGJMMa रथो यस्य 8 ABGJ मधि , TW माद्रि 9 ABGJ तस्मात् सम 10 W कृत्य 11 MMa गोप्ताऽग्नि 12- -12 H V omit

**वीर०** ततो महाधृते· कृतिरात· तस्मात्कृतिरातान्महारोमा जात , तत्सुतो महारोम्णस्सुत स्वर्णरोमा तस्य स्वर्णरोम्णः ह्रस्वरोमा व्यजायत ॥१७॥

**ततो** ह्रस्वरोम्ण सीरध्वजो जज्ञे तस्मिन् सीरध्वजशब्दप्रवृतौ निमित्तमाह - यतो ह्रस्वरोमस्य यज्ञार्थं महीं भुवं कर्षत· कर्षयतस्सत सीराल्लाङ्गलाग्रात्सीता दाशरथेर्भार्या पूर्वं भूयिष्ठा सती जाता प्रादुर्भूता तस्मान्निमित्तात् ह्रस्वरोम सीरध्वजशब्दाभिधेयो बभूव, सीर एव ध्वजवत् ख्यातिहेतुर्यस्य स सीरध्वज· ॥१८॥

तस्य सीरध्वजस्य पुत्र कुशध्वज तत कुशध्वजात् धर्मध्वज पुत्र । हे नृप! धर्मध्वजस्य द्वौ पुत्रौ, तौ च कृतध्वजमितध्वजाख्यौ ॥१९॥

तत्र कृतध्वजात्केशिध्वज[1] मितध्वजात्तु[2] खाण्डिक्यो जात , हे राजन्! कृतध्वजसुत केशिध्वजो ब्रह्मविद्यायां प्रवीण ॥२०॥

खाण्डिक्यस्तु कर्मयोगयाथात्म्यवित्, स च केशिध्वजात् भीतो गत· तस्य केशिध्वजस्य सुतो भानुमान्[3] पुत्रो बभूव, तत्सुतो भानुमत्सुत· शतद्युम्न· ॥२१॥

तस्मात् शतद्युम्नात् शुचिस्तनयोऽभूत् तत शुचे सनद्वाजोऽभवत् सनद्वाजादूर्ध्वकेतु , अथोर्ध्वकेतोरज· स च पुरुजित् सुतो यस्य तथाभूत ॥२१-२२॥

तस्यापि पुरुजितोऽपि सुतोऽरिष्टनेमि तस्य श्रुतायुस्तस्य पार्श्वग तत पार्श्वगाच्चित्ररथ तस्य चित्ररथस्य क्षेमाद्रि· स च मिथिलाधिप , इदं पूर्वेषामपि विशेषणम् ॥२३॥

तस्मात् क्षेमाद्रे· हेमरथस्सुत तस्मात् कृत्यरथ तस्मादुपगुरुरासीत् तस्मादुपगुरोरुपगुप्त· स चाऽग्निसम्भव· अग्नेरंशात्सम्भूत ॥२४॥

**विज०** सीता जननहेतुत्वेन सीरं ध्वजं गमकं ज्ञापकं यस्य स सीरध्वज· "ध्वज गतौ" इति धातुः ॥१७-२४॥

**वस्वनन्तोथ[4-] तत्पुत्रो[-4] सुवर्चा[5] यत्[6] सुभूषणः[7]।**
**श्रुतस्ततो[8] जयस्तस्माद्[9] विजयोऽस्मादृतः सुतः ॥२५॥**
**शुनकस्तत्सुतो[10] जज्ञे वीतिहव्यो[11] धृतिस्ततः।**
**बहुलाश्वो[12] धृतेस्तस्य[13] कृतिरस्य[14] महावशी ॥२६॥**

---

1 AB जो बभूव° 2 AB °त् 3 W omit पुत्र 4- -4 H V सावनोऽथ , MMa वैवस्वतोऽथ , W श्वसनोऽथ 5 H T V W तत पु° 6 ABGJ युयुधो , MMa युयुधा 7 ABGJMMa सुभाषण° 8 TW ऽस्य 9 H V °द्धृत , TW °धृत 10 H V अनघ° 11 ABGJ वीत , MMa वीर° 12 W विपुलाश्वो 13 MMa धृत° 14 H V स्तस्मान्म , TW स्तस्य म°

**एते वै मैथिला[1] राजान्नात्मविद्याविशारदाः।**
**योगेश्वरप्रसादेन द्वन्द्वैर्मुक्ता गृहेष्वपि ॥२७॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

**श्रीध० वस्वनन्त इति**[2]। यद्यस्मात्सुभूषणः ॥२५-२६॥

एते इति। योगेश्वरा याज्ञवल्क्यादयस्तेषां प्रसादेन अनुग्रहेण[3] ॥२७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्यख्यायां नवमस्कन्धे त्रयोदशोऽध्याय·॥१३॥

**वीर०** तत उपगुप्ताच्छ्वसनः पुत्रोऽभवत् ततः सुवर्चाः यत् यस्मात् सुभाषणो जज्ञे ततः सुभाषणाच्छ्रुतो जज्ञे, तस्माच्छ्रुतात् जयः तस्माज्जयाद्विजयः अस्य विजयस्य सुतो धृतः, व्रतः इति पाठान्तरम् ॥२५॥

तत्सुतो व्रतसुतः शुनकः, अनघ इति पाठान्तरं, ततो वीतिहव्यः ततश्च धृतिः, धृतेर्विपुलाश्वः, तस्य कृतिः,तस्य कृतेः महावशी जज्ञे ॥२६॥

हे राजन्! एते कथिता मैथिलाः मिथिलवंशजाः आत्मविद्यायां विशारदाः, योगीश्वरप्रसादेन, भगवत्प्रसादेन, गृहेषु वसन्तोऽपि द्वन्द्वैः सुखदुःखादिबिर्विमुक्ताः बभूवु· ॥२७॥

इति श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां त्रयोदशोऽध्याय ॥१३॥

**विज०** गृहेषु स्थिता अपि योगेश्वरस्य याज्ञवल्क्यस्य प्रसादेन जनकादयो द्वन्द्वैः शीतोष्णादिभावैः मुक्ता आत्मारामा इत्यर्थ· ॥२५-२७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
नवमस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

---

1 MMa मिथिला 2 ABJ "भा" 3 ABJ omit अनुग्रहेण

# चतुर्दशोऽध्यायः

## श्रीशुक उवाच-

अथातःश्रूयतां राजन् वंशः सोमस्य पावनः।
यस्मिन्नैलादयो भूपाः कीर्त्यन्ते पुण्यकीर्तयः ॥१॥

सहस्रशिरसः पुंसो नाभिह्रदसरोरुहात्।
जातस्यासीत् सुतो धातुरत्रिः पितृसमो गुणैः ॥२॥

[1]तस्य दृग्भ्योऽभवत् पुत्रः सोमोऽमृतमयः किल।
[2]विप्रौषध्युडुगणानां ब्रह्मणा कल्पितः पतिः ॥३॥

[3]सोऽयजद् राजसूयेन विजित्य भुवनत्रयम्।
पत्नीं बृहस्पतेर्दर्पात् तारां नामाहरद् बलात् ॥४॥

स यदा देवगुरुणा याचितोऽभीक्ष्णशो मदात्।
नात्यजत् तत्कृते जज्ञे सुरदानवविग्रहः ॥५॥

शुक्रो बृहस्पतेर्द्वेषादग्रहीत् सासुरोडुपम्।
[4]हरो गुरुसुतं स्नेहात् [5]सर्वभूतगणैर्वृतः ॥६॥

[6]सर्वदेवगणोपेतो महेन्द्रो गुरुमन्वगात्।
सुरासुरविनाशोऽभूत् समरस्तारकामयः ॥७॥

[7]निवेदितोऽथाङ्गिरसा सोमं निर्भर्त्स्य विश्वसृट्।
तारां स्वभर्त्रे प्रायच्छदन्तर्वत्नीमवैत् पतिः ॥८॥

## श्रीश्रीधरस्वामीविरचिता भावार्थदीपिका

चतुर्दशादिभिः सोमवंशमाहाऽऽसमाप्तितः। यस्मिन्नैलादयो भूपा· कीर्त्यन्ते पुण्यकीर्तयः[9] ॥

चतुर्दशे गुरोः पत्न्यां तारायां सोमजाद् बुधात्। जातश्चैलः षडुर्वश्यामायुमुख्यानजीजनत्[10] ॥

---

1 HVW तस्माद्' 2 HV 'ध्युडुवर्गाणा , MMa TW 'ध्याम्नुगर्भाणां 3 TW गोऽ' 4 MMa 'त' 5 ABGJMMa गणावृत 6 ABGJMMa 'बात् 7 a 'तोऽबोऽग्नि' 8 ABGJMMa 'कृत् 9- -9 HV omit 10 MV 'मुं'

यद्वा - * चतुर्दशेऽत्रिजात्सोमात् गुरोः पत्न्यां बुधोऽजनि। सोपास्तोर्वशीं तज्जस्ससङ्केतं पुरूरवाः॥

**तस्येति**। दृग्भ्य आनन्दाश्रुभ्य अत एवामृतमय·। किलेत्याश्चर्ये। पाठान्तरे दृशो नेत्रात्। वक्ष्यमाणदर्पस्य[1] कारणमाह - विप्रेति ॥१,-३॥

**स** इति। सोमस्य पुत्रो बुध इति कथाद्वारेणाह - पत्नीमिति सार्धैर्नवभि· ॥४॥

**स** इति। तत्कृते तन्निमित्तम् ॥५॥

सुराणां दानवानां च विग्रहे कारणमाह - **शुक्र** इति। असुरै सहित· उडुपमग्रहीदित्यर्थ । सन्धिरार्ष । गुरोः सुतं बृहस्पतिमग्रहीत्। अङ्गिरस सकाशात्प्राप्तविद्यो हर इति प्रसिद्धि· ॥६-७॥

**निवेदित** इति । निवेदितो विज्ञापित·। विश्वसृट्[2] ब्रह्मा। अवैदबुध्यत ॥८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदेवं सूर्यवंशमनुवर्ण्यार्थ सोमवंशमनुवर्णयितुं प्रतिजानन् राज्ञ शुश्रूषामुत्पादयति मुनि·- **अथेति**। हे राजन्! अथ सूर्यवंशवर्णनानन्तरं मया कथ्यमान सोमवंश· श्रूयतां, त्वयेति शेष·। श्रोतव्यताख्यापनाय वंशं विशिनष्टि - पावन इति। तत्र हेतु माह, यस्मिन्निति। कीर्त्यत इति कीर्तनं यश ,पुण्यं कीर्तनं येषां ते ऐलादय पुरूरवादयो नृपाः यस्मिन् सोमवंशे कीर्त्यन्ते ॥१॥

तत्र वंशस्य पूर्वावधिं वक्तुं सोमात्प्राक्तनानाह - **सहस्रशिरस** इति। सहस्रं शिरांसि यस्य तस्य पुंसः अनिरुद्धरूपिण· परमपुरुषस्य गर्भोदकेषु शयानस्य नाभिरेव ह्रद तस्मिन् यदुत्पन्नं सरोरुहं जगत्पद्मं तस्माज्जातस्य धातु चतुर्मुखस्य सुतोऽत्रिरासीत् स चात्रि गुणै· पितृसम· चतुर्मुखतुल्य ॥२॥

तस्मादत्रे· दृग्भ्य आनन्दाश्रुभ्य· सोमश्चन्द्रः पुत्रोऽभवत् अत एवामृतमय·, किलेत्याश्चर्ये पाठान्तरे दृशो नेत्रात्, न चैवं "चन्द्रमा मनसो जात " (पु.सू.12-6) इति श्रुतिविरोध·, तस्यैवात्र जन्मान्तरकथनात्। वक्ष्यमाणदर्पस्य कारणं वदन् सोमं विशिनष्टि विप्रेति । ब्रह्मणा सोमो विप्रादीनां पति· कल्पित कृत· पतित्वेन कृत इत्यर्थः। अम्बुगर्भा· कुमुदादयः ॥३॥

यस्सोमो भुवनत्रयं विजित्य राजसूयेनायजत् सोमस्य पुत्रो बुध इति कथाद्वारेणाह सार्धैर्नवभिः पत्नीमिति। बृहस्पतेः पत्नीं तारां नाम तारेतिप्रसिद्धां दर्पात् बलात् प्रसह्य हृतवान् ॥४॥

स सोमो यदा देवानां गुरुणा बृहस्पतिना पुन पुनर्याचितोऽपि मदात् दर्पात् नात्यजत्। तारामिति शेषः। तदा तत्कृते

* This extra verse is found only in H v edns 1 A B J दर्पका* 2 ABJ *कृत

तन्निमित्तं देवानां दानवानां च विग्रहो द्वेष· जज्ञे ॥५॥

सुरासुराणां विग्रहजन्मप्रकारमाह - **शुक्रइति**। बृहस्पतेर्द्वेषात् शुक्र· सासुर. असुरैः सहितः उडुपम् उडूनि नक्षत्राणि पातीति तथा तं सोमम ग्रहीत् स्वपक्षपातिनमकरोदित्यर्थ· सन्धिरार्ष·। तथा हरो रुद्र सर्वैर्भूतगणैर्वृतः गुरोरङ्गिरसः सुतं बृहस्पतिं स्नेहादग्रहीत् अङ्गिरस· सकाशात् प्राप्तविद्यो हर इति हि प्रसिद्धिः अतो गुरुसुतमित्युक्तम् ॥६॥

तदा सर्वैर्देवगणैरुपेतो महेन्द्रो गुरुं बृहस्पतिमन्वगात् अनुससार एवं स्थिते तदा सुराणामसुराणां च विनाश. यस्मात्समरः सङ्ग्राम. तारकामयः तारका तारा तस्या· निमित्तभूतायाः आगतस्तारकामय· "तत आगत" इत्यधिकारे "मयट् चे" ति मयट्। अभूत् बभूव ॥७॥

अथ सोमं निर्भर्त्स्य अङ्गिरसा विश्वसृट् ब्रह्मा विज्ञापितो बभूव ततस्तद्भयात्सोमस्तारां भर्त्रे बृहस्पतये प्रायच्छत् अदात् तदा पतिर्बृहस्पतिः भार्यामन्तर्वत्नीं गर्भिणीमवैदबुध्यत। आह - चेति शेष ॥८॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अथ सूर्यवंशकथनानन्तरं यतो वंशज्ञानं पुरुषार्थसाधनमत् इति हेत्वर्थ । गुणविशष्टपुरुषज्ञानमन्तरेण वंशज्ञानेन कथं पुरुषार्थ· स्यात्? इत्यतः क्षिप्रप्रवृत्यर्थं तद्वंश्यान् संक्षिप्याह - यस्मिन्निति ॥१,२॥

इयमेव वार्ता सर्वत्र नान्या, सर्वैः सम्भावितोऽयं सोम इति वा, किलेत्युक्तम् "वार्ता सम्भाव्ययोः किल" (अम. को 3-409) इत्यमरः। यो देवो विप्राणामोषधीनाम् अम्बुगर्भाणां कुमुदादीनां पतिः पोषकः ॥३,४॥

तत्कृते तारार्थम् ॥५॥

असुरैः सह वर्तमानः सासुर· उडूनां नक्षत्राणां पति उडुप शुक्रविशेषणं सासुर इति, सन्धिश्च्छान्दसः, बृहस्पतेर्द्वेषा. बृहस्पतिविषयद्वेषात् हरः गुरुरङ्गिरास्तस्य सुतो बृहस्पतिस्तत्स्नेहात् ॥६॥

सुरासुराणां विनाशो यस्मिन् स तथा, तारकामयः तारकार्थं विद्यमानः ॥७॥

अजो ब्रह्मा, बृहस्पतिः तारामाहेति शेषः ॥८॥

[1]त्यज त्यजाशु दुष्प्रज्ञे मत्क्षेत्रे [2]त्वानितं परैः।
[3]नाहं त्वां भस्मसात् कुर्यां स्त्रियं सान्तानिकेऽ[4]सति ॥९॥

---

1 W गर्भं 2 ABGJMMa °त्रादाहित 3 TW त्वा 4 ABGJ °क सति

तत्याज व्रीडिता तारा कुमारं कनकप्रभम्।[1]
* तस्यां जज्ञे दस्युहन्ता कुमारः कनकप्रभः।
स्पृहामाङ्गिरसश्चक्रे कुमारे सोम एव च ॥१०॥

ममायं न तवेत्युच्चैस्तस्मिन् विवदमानयोः।
पप्रच्छुर्ऋषयो देवा नैवोचे व्रीडिता[2] तु सा ॥११॥

कुमारो मातरं प्राह कुपितोऽलीकलज्जया।
किं नावोचस्त्वसद्वृत्ते[3-3] ह्यात्मावद्यं[4] वदाशु मे[5]।
□न त्वां तु भस्मसात्कुर्यां आत्मावद्यविगूहनीम् ॥१२॥
■
ब्रह्मा तं तु विनिर्भर्त्स्य क्षेप्तारं मातुरन्तिके।
ब्रह्मा तां[6-6] रह आहूय समप्राक्षीच्च सान्त्वयन्।
सोमस्येत्याह शनकैः सोमस्तं सुतमग्रहीत्[7] ॥१३॥

तस्यात्मयोनिरकृत बुध इत्यभिधां नृप।
बुद्ध्या गम्भीरया येन पुत्रेणापोडुराण् मुदम् ॥१४॥

ततः पुरूरवा जज्ञे इलायां य उदाहृतः।
तस्य[8] रूपगुणौदार्यशीलद्रविणविक्रमान् ॥१५॥

श्रुत्वोर्वशीन्द्रभवने गीयमानान् सुरर्षिणा।
तदन्तकमुपेयाय देवी स्मरशरार्दिता ॥१६॥

श्रीध० बृहस्पतिराह - त्यज त्यजेति। परैराहितं गर्भम्। गर्भेत्यक्ते भस्मीकरिष्यतीति बिभ्यतीं प्रत्याह - नाहमिति। सान्तानिकः सन्तानार्थी। सान्तानिके इति पाठे हे सत्पुत्रे! इत्यर्थः ॥९-१२॥

**ब्रह्मेति**। रहः एकान्ते ॥१३॥

---

1 W ज * This additional half verse is found only in M Ma edns 2 MMa च 3--3 ABGJMMa न वोचस्त्यसदवृत्ते 4 ABGJT आत्मावद्य , MMa पितर मे 5 MMa वै □ An additional half verse is found in M Ma edns ■ This additional half verse is formed in M.Ma Edns 6- -6 MMa तामाहूय समप्राक्षीत् रह एव तु सान्त्वया। 7 ABGJMMa तावदगु 8 MMa तस्या

पुरूरवस ऊर्वश्यां[1] आयु[2] प्रमुखाः षट् पुत्रा जाता इति वक्तुं कथामाह । 'तस्येत्यादिना यावत्समाप्ति' ॥१४-१६॥

वीर० तदेवाह - गर्भमिति। हे दुष्प्रज्ञे! मत्क्षेत्रभूतायां त्वयि परैराहितं हेतुगर्भमिदं परैराहितत्वादाशु गर्भं त्यज; गर्भे त्यक्ते भस्मीकरिष्यतीति बिभ्यतीं प्रत्याह - नाहमिति। सान्तानिके सन्तानाधायके पुत्रे असति अविद्यामाने सति अहं स्त्रियं त्वां न भस्मसात्कुर्यां न भस्मीकरोमीति ॥९॥

ततो व्रीडिता लज्जिता तारा जनकस्य चन्द्रस्येव प्रभा यस्य तं कुमारं तत्याज प्रसूतवती। ततः तस्मिन् कुमारे आङ्गिरसो बृहस्पतिः सोमश्च स्पृहाशक्रे क्षेत्रत्वाद्वीर्यजत्वाच्चेत्युभयत्र हेतुद्वयं बोध्यम् ॥१०॥

एवं स्पृहया ममैवायं सुतो न तवेत्येवं तस्मिन् पुत्रनिमित्तमुच्चैराङ्गिरससोमयोर्विवदमानयोस्सतोर्देवा ऋषयश्च पप्रच्छु तामिति शेषः। तदा व्रीडिता सा ताराऽपि नैवोचे नोवाच ॥११॥

ततो मातरं तारां कुमारः क्रुद्धः प्राह - किमिति? हे असद्वृत्ते! त्वं व्यर्थया लज्जया मिथ्यालज्जया वा किं नावोचः नोक्तवती अधुना कस्यापत्यं पुत्रः, अहमिति शेषः। तन्मे मह्यं वदेति। अत्र "न त्वान्तु भस्मसात्कुर्यामात्मावद्यविगूहीनीम्" इति क्वचित्पठ्यते। आत्मावद्यमात्मदोषं विगूहन्ती आच्छादयन्ती तथा ताम् शेषं स्पष्टम् ॥१२॥

एवं मातुः समीपे निर्भर्त्स्याधिक्षेप्तारं तं कुमारं वीक्ष्य ब्रह्मा चतुर्मुखः रह एकान्ते तां तारां आहूय सान्त्वयन् अनुनयन् समप्राक्षीत् कस्याऽयं सुत इति पृष्टवान्, पृष्टा च सा शनकैः लज्जया शनै सोमस्येत्याह - चन्द्रस्य सुत इत्युवाच, ततः सोमः तं सुतमग्रहीत् ब्रह्मणा अनुज्ञातोऽगृह्णात् ॥१३॥

हे नृप! आत्मयोनिः ब्रह्मा तस्य कुमारस्य बुध इत्यभिधां नामधेयं चक्रे; तस्य प्रवृत्तौ निमित्तमाह बुद्ध्येति। उडुराट् चन्द्रः येन यतो गम्भीरया बुद्ध्या पुत्रेण हेतुना मुदं हर्षमाप प्राप्तवान् ततोऽयं बुध इति ॥१४॥

ततो बुधात्पुरूरवाः जातः, कोऽसौ? य इलायां सुद्युम्नस्त्रीरूपे उक्तः जात इत्युक्तः प्रथमाध्याये, सोऽयमित्यर्थः। पुरूरवस ऊर्वश्यामायुप्रमुखाः पुत्रा जज्ञिरे इति वक्तुं कथामाह - तस्येत्यादिना यावदध्यायसमाप्ति। तस्य पुरूरवसो रूपादीन् इन्द्रभवने सुरर्षिणा नारदेन गीयमानान् श्रुत्वा ऊर्वशी देवी स्मरशरार्दिता कामार्त्ता तस्य पुरूरवसः समीपमुपेयाय आजगाम। तत्र रुपं सौन्दर्यम् औदार्यं वदान्यता, शीलं सुस्वभावः सद्वृत्तिश्च, द्रविणं धनं, विक्रमः पराक्रमः, गुणशब्देन गाम्भीर्यधैर्यादि सङ्ग्रहः ॥१५-१६॥

---

1 HV 'स्या 2 HV आयु'

**विज०** मत्क्षेत्रात्तद्गर्भं त्यज कुत इति तत्राह - आहितमिति। सान्तानिके पुत्रे तस्मिन् कुमारे ॥९-११॥

अलीकलज्जयाऽनृतनिमित्तलज्जया **न वोचसि** न कथयसि असद्वृत्ते दुराचारे! अमङ्गलस्वरूपे! वा "वृत्तं स्वरूपे च ते वृत्तं छन्दोविधासु च" (वैज को 6-5-76) इति किं वक्ष्यामि? इति तत्राह - पितरमिति। आत्मावद्यविगूहनीमित्यनेन भस्मीकरणयेग्यत्वे सूचितेऽपि मातृशब्दवाच्यार्हत्वात् भस्मसात्न कुर्यामिति वक्ति ॥१२॥

सान्त्वया वाचा तारा, जनकं वक्तीत्याह सोमस्येति ॥१३॥

तं कुमारम् आत्मा परमात्मा योनिः जनको यस्य स तथा नामकरणे निमित्तमाह - बुद्ध्येति ॥१४॥

उदाहृतः पूर्वमिति शेषः ॥१५-१६॥

**मित्रावरुणयोः शापादापन्ना नरलोकताम्।**
**निशाम्य[1] पुरुषश्रेष्ठं कन्दर्पमिव रूपिणम् ।**
**धृतिं[2] विष्टभ्य[3] ललना उपतस्थे तदन्तिकम् ॥१७॥**

**स तां विलोक्य नृपतिर्हर्षेणोत्फुल्ललोचनः।**
**उवाच श्लक्ष्णया वाचा देवीं हृष्टतनूरुहः ॥१८॥**

**पुरूरवा उवाच**

**स्वागतं ते वरारोहे आस्यतां करवाम किम्।**
**संरमस्व[5] मया साकं रतिर्नौ शाश्वतीस्समाः ॥१९॥**

**ऊर्वश्युवाच**

**कस्यास्त्वयि न सज्जेत मनो दृष्टिश्च सुन्दर।**
**यदङ्गान्तरमासाद्य च्यवते ह[6] रिरंसया[6] ॥२०॥**

**एतावुरणाकौ राजन् न्यासौ[7] रक्षस्व मानद।**
**रंस्येऽहं[8] भवता साकं श्लाघ्यः स्त्रीणां वरः स्मृतः ॥२१॥**

**घृतं मे वीर भक्ष्यं स्यान्नेक्षे त्वान्यत्र मैथुनात्।**
**विवाससं तत तथेति प्रतिपेदे महामनाः ॥२२॥**

---

1 ABGJMMa 'शा' 2 MMa विहाय 3 ABGJ 'के 4- -4 ABGJMMa राजोवाच 5 W सङ्गच्छस्व 6 MMa यदङ्गान्तरमायाति स दृष्टो ह निराश्रय । 7 MMa न्यस्तौ 8 ABGJ MMa सरस्ये

**अहो रूपमहो भावो[1] नरलोकविमोहनम्।**
**को न सेवेत मनुजो देवीं त्वां स्वयमागताम् ॥२३॥**

**तया स पुरुषव्याघ्रो[2] रमयन्त्या यथार्हतः।**
**रेमेऽमरविहारेषु[3] कामं चैत्ररथादिषु ॥२४॥**

**श्रीध०** ननु देवी कुतो मनुष्यस्यान्तिकमुपागच्छे[4] त्तत्राह - मित्रेति ; मित्रावरुणयो शापान्नरलोकतां मनुष्यभावमापन्ना सती ॥१७-१८॥

**स्वागतमिति**। नौ आवयो रतिरस्त्विति ॥१९॥

**कस्या** इति। यस्य तवाङ्गान्तरं वक्ष आसाद्य रिरंसया रन्तुमिच्छया ह स्फुटं न च्यवते नापयाति। यत यस्मादिति वा ॥२०॥

शापावसाने भाषाभङ्गमिषेण जिगमिषोस्तस्या भाषाबंधमाह - **एताविति** द्वाभ्याम्। उरणकौ मेषौ न्यासौ[5] निक्षेपरूपौ रक्षस्व[6]। य श्लाघ्य· स एव स्त्रीणां वर स्मृत । अतो विजातीयत्वं न दोष इति भाव ॥२१॥

**घृतमिति**। हे वीर! घृतं मे भक्ष्यं स्यात्। "अमृतं वा आज्यम्" इति श्रुते । देवानां चामृताशित्वात्। मैथुनादन्यत्र विवाससं त्वां नेक्षिष्ये, इति प्रतिपेदे अङ्गीकृतवान् ॥२२॥

तदेवाह **अहो** इति ॥२३-२४॥

**वीर०** ननु, देवी कुतो मनुष्यान्तिकमुपगच्छेत्? तत्राह - **मित्रावरुणयोरिति**। मित्रावरुणयो शापात् नरलोकतां मनुष्यभावं आपन्ना प्राप्ता सती नरलोकवासित्वं वा प्राप्ता इत्यर्थः। सा च ललना ऊर्वशी कन्दर्पमिव रूपिण सुन्दरं पुरुषश्रेष्ठं पुरूरवसं निशाम्य दृष्ट्वा धृतिं धैर्यं विष्टभ्यावलम्ब्य तस्य पुरूरवस अन्तिकं[7] समीपं[8] उपतस्थे प्राप्तवती[9]। तत स नृपति· पुरूरवास्तां ललनां विलोक्य हर्षेणोत्फुल्ले विकसिते लोचने यस्य, हृष्टानि उदञ्चितानि तनूरुहाणि रोमाणि यस्य तथाभूत· श्लक्ष्णया मृदुया वाचा देवीमूर्वशीमुवाच ॥१७-१८॥

तदेवाह - **स्वागतमिति**। हे वरारोहे! ते त्वया स्वागतं हि! आस्यतां उपविश्यतां किङ्करवाम त्वद्विधेया वयमित्यर्थ । मया सह सङ्गच्छस्व सङ्गता भव मौ आवयोः शाश्वती· समा· रतिरस्तु इति ॥१९॥

---

1 MMa भाव 2 ABGJMMa श्रेष्ठो 3 ABGJMMa रेमे सुर° 4 H V °प° 5 H V add निक्षिप्तौ 6 H V रक्ष। 7 A B °के 8 AB °पे 9 AB स्थित

एवमुक्तोर्वश्याह कस्या इति। हे सुन्दर! त्वयि कस्या स्त्रियाः[1] मनो दृष्टिश्च न सज्जेत सर्वस्या अपि मनो दृष्टिश्च सज्जेतै वेत्यर्थः। आसक्तौ हेतुं वदन् विशिनष्टि - यस्य तवाङ्गान्तरं वक्षो रिरंसया रन्तुमिच्छया आसाद्य प्राप्य, नारी न च्यवते नापयाति यद्यस्मादिति वा 'यदङ्गान्नरमासाद्येति पाठान्तरम्। तदा रमा श्रीः[2] शोभा सौन्दर्यलक्ष्मीरिति यावत् स रन्तुमिच्छयेह त्वच्छरीरे आसाद्य यत् यस्य तवाङ्गात् पुनः न च्यवते नापयातीत्यर्थः ॥२०॥

मित्रावरुणशापावसानं भाषाभङ्गमिषेण जिगमिषोस्तस्या भाषाबन्धमाह - एताविति द्वाभ्याम्। हे राजन्! एतावुरणकौ मेषौ न्यासौ निक्षेपरूपौ। न्यस्ताविति पाठे मयेति शेषः। मया त्वदन्तिके निहितावित्यर्थः। मम पुत्रतुल्याविमावित्यभिप्रायः, पुत्रयोर्नीयमानयो र्हृतापत्या चेति च वक्ष्यमाणत्वात् तौ रक्षस्व पालय तद्रक्षणमेवास्म त्सम्माननमित्यभिप्रयेण सम्बोधयति - हे मानदेति। भवता सहाऽहं रंस्ये यावदिमौ भावन् रक्षिता तावदिति शेषः। य श्लाघ्यः स एव स्त्रीणां वरः स्मृतः ॥२१॥

हे वीर! घृतममृतं मम भक्ष्यं स्यात् "अमृतं वा आज्यम्" इति श्रुतेः। मैथुनात् मैथुनकालादन्यत्र काले त्वं विवाससं नग्नं नेक्षे यदा त्वं विवाससं आत्मानं मैथुनादन्यत्र दर्शयिष्यसि तदा गमिष्यामीति भावः। एवं तया कृतं भाषाबन्धनं तथेवास्त्विति महामनाः पुरूरवाः प्रतिपेदे अङ्गीचकार ॥२२॥

तदेवाह - अहो इति। अहो अत्याश्चर्यं तवेवं रूपं सौन्दर्यं, भावोऽभिप्रायविशेषश्च नरलोकविमोहनं नरलोकं विमोहयति तथा तदुभयमिति शेष । अतस्त्वां स्वयमागतां देवीं को नु मनुजो न सेवेत सर्वोऽपि मनुज. सेवेतैवेत्यर्थ. ॥२३॥

तथेति ततस्तया यथायोग्यं रमयन्त्या क्रीडयन्त्या ऊर्वश्या सह पुरुषश्रेष्टः पुरूरवाः सुरा विहरन्त्येषु इति तथा तेषु चैत्ररथप्रभृतिषु[3] वनेषु आदिशब्देन नन्दनपारिभद्रादि सङ्ग्रहः। कामं यथेष्टं रेमे ॥२४॥

चित्र० आगमने कारणान्तरमाह - मित्रेति ॥१७-२८॥

नौ आवयोः शाश्वतीः समाः बहून् संवत्सरान् रतिः ग्राम्यविषया क्रीडाऽस्तु ॥१९॥

नौहरत्वे निमित्तमाह - यदङ्गादिति। रमा यस्य हरेरङ्गान्न याति न च्यवते नित्यश्रितवक्षःस्थलत्वात् सहरिस्तवाश्रयो दृष्ट इत्यन्वयः। लक्ष्मीकान्तस्य सन्निधिपात्रत्वादित्यर्थः ॥२०॥

उरणकौ मैषौ न्यस्तौ निक्षेपकल्पनया स्थापितौ तस्माद्रक्षस्व संरंस्ये सम्यक् त्वया सह रतिं करिष्ये, अस्माकमियमेव व्रतक्लृप्तिरित्याह - श्लाघ्य इति। य श्लाघ्यः कमनीयः स एव स्त्रीणां वरः पतिरित्यन्वयः ॥२१॥

क्षमयं बध्नाति - नेक्ष इति। मैथुनादन्यत्र सुरतसमयमन्तरेण त्वां विवाससं नग्नं नेक्षे न पश्याम्यन्यथेतो गमिष्यामीति शेषः। पुरूरवा उत्तरमाह - तथेतीति । एवमुक्तं तथेति प्रतिपेदे अभ्युपगतवान् ॥२२॥

---

1 AB स्त्रि। 2 AB omit शोभा 3 A B omit वनेषु

तस्येङ्गितं हर्षोल्लासं दर्शयति - अहो इति। भावं शृङ्गारादिकं न रीयन्त इति नरा, अमरास्तेषां लोकः समूहः, तमपि विमोहयतीति नरलोकविमोहनम्, एवंविधां त्वाम् ॥२३॥

सुराणां विहारो येषु ते तथा तेषु ॥२४॥

रममाणस्तया नित्यं[1] पद्मकिञ्जल्कगन्धया।
तन्मुखामोदमुषितो मुमुदेऽब्दगणान्[2] बहून् ॥२५॥

आनेतुमुर्वशीमिन्द्रो[3] गन्धर्वान् समचोदयत्।
उर्वशीरहितं मह्यमास्थानं नातिशोभते ॥२६॥

तावुपेत्य[4] महारात्रौ[5] तमसि प्रत्युपस्थिते।
उर्वश्युरणकौ[6-6] जह्रुर्न्यस्तौ[7] राजनि मायया ॥२७॥

निशम्याक्रन्दितं देवी पुत्रयोर्नीयमानयोः।
हताऽस्म्यहं कुनाथेन नपुंसा वीरमानिना ॥२८॥

यद्विस्रम्भादहं नष्टा हृतापत्या च दस्युभिः।
यश्शेते निशि सन्त्रस्तो यथा नारी तथा पुमान्[8] ॥२९॥

* मुञ्च मुञ्चाश्वपसर बाहू मद्गात्रवेष्टितौ।
अतीव कातरो हातुं मामयं याति लम्पटः ॥

श्रीशुक उवाच[9-9]

इति वाक्सायकैर्विद्धःप्रतोदैरिव कुञ्जरः।
निशि निस्त्रिंशमादाय विवस्त्रोऽभ्यद्रवद्रुषा ॥३०॥

ते विसृज्योरणौ तत्र व्यद्योतन्त[10] स्म[11] विद्युतः[11]।
आदाय मेषावायान्तं नग्नमैक्षत सा पतिम् ॥३१॥

ऐलोऽपि शयने जायामपश्यन् विमना[12] इव।
तच्चित्तो[13] विक्लबः शोचन् ब्रध्नामोन्मत्तवन्महीम् ॥३२॥

---

1 ABGJMMa देव्या 2 ABGJ "दहेहर्ग 3 ABGJ MMa अपश्यन्नुर्वशी" 4 ABGJ ते उपेत्य 5 ABGHJV रात्रे 6- -6 ABGJMMa उर्वश्या उरणौ 7 ABGJMMa जा" 8 ABGJMMa दिवा * This additional half verse is found only in B H V W Edns and it is commented by Vire Raghava only 9- -9 ABGJMMa omit 10 MMa प्रद्योतन्त , W विद्योतन्ते 11- -11 MMa स्वविद्युता 12 MMa अभूत् 13 ABGJ विह्वल

**श्रीध० रममाण इति**। पद्मकिञ्जल्कस्य गन्ध इव गन्धो यस्यास्तस्या मुखामोदेन मुषित प्रलोभितस्सन् ॥२५॥

**आनेतुमिति**। मह्यं मम ॥२६॥

**ताविति**। महारात्रे मध्यरात्रे। "महानिशा द्वे घटिके रात्रौ मध्यमयामयो " इति स्मृते· ॥२७॥

**निशम्येति**। जिगमिषोस्तस्या परुषोक्तिमाह। हताऽस्मीति सार्धेन। नपुंसा नपुंसकेन ॥२८॥

**यदिति**। यथा नारी तथा सन्त्रस्त शेते ॥२९-३०॥

ते इति। विद्युतो विशिष्टद्युतिमन्तः व्यद्योतन्त दीप्तिमकुर्वत। यद्वा। तदैव तडित· प्राकाशन्तेत्यर्थ.। नग्नमैक्षत अतो भाषाभङ्गान्निर्जगामेति ज्ञेयम् ॥३१-३२॥

**वीर० रममाण** इति। पद्मकिञ्जल्कस्य गन्ध इव देहगन्धो यस्यास्तया ऊर्वश्या सह नित्यं रममाण तस्या· मुखामोदेन मुषित प्रलोभितस्सन् बहूनब्दगणान् मुमुदे ॥२५॥

**आनेतुमिति**। तत कदाचिदिन्द्र ऊर्वश्या रहितं मह्यं ममास्थानं नातीव शोभते इति विचार्येति शेष·। ऊर्वशीमानेतुं गन्धर्वान् समचोदयत् प्रेषयामास ॥२६॥

त इति। ततस्ते गन्धर्वा· महारात्रौ[1] मध्यरात्रे "महानिशा द्वे घटिके रात्रौ मध्यमयामयो " इति स्मृति·। तमसि अन्धकारे निद्रायां वा प्रत्युपस्थिते सम्प्राप्ते सति राजनि पुरूरवसि न्यस्तौ पाल्यत्वेन निहितौ ऊर्वश्या उरणकौ मेषौ मायया जहु· अपहृतवन्त ॥२७॥

**निशम्येति**। तदा नीयमानयो· पुत्रयोरुरणयोराक्रन्दितं रोदनं निशम्य आकर्ण्याऽऽहेति शेष·। जिगमिषोस्तस्या· परुषोक्तिमाह - हताऽस्मीति सार्द्धेन। कुत्सितनाथेन नपुंसा नपुंसकेन अवीरमात्मानं वीरं मन्यत इति वीरमानी तेनानेनाहं हताऽस्मि ॥२८॥

यस्य अस्य कुनाथस्य विस्रम्भात् विश्वासादहं दस्युभिर्हृते अपत्ये पुत्रौ यस्याः सा नष्टप्राया अभवं यथा नारी दिवा अह्नि सन्त्रस्ता सती शेषे तथा योऽयं पुमानपि शेते ॥२९॥

अत्रान्तरा क्वचित्पुस्तकेषु - "मुञ्च मुञ्चाश्वपसर बाहू मद्गात्रवेष्टितौ। अतीव कातरो हातुं मामयं याति लम्पटः"॥ इत्यधिक श्लोक पठ्यते। तत्रायमपि तस्या· परुषोक्तिरूप एव मद्गात्रे वेष्टितौ बाहू मुञ्च मुञ्च अपगच्छ अयं मां हातुं कातरो भीत· लम्पटश्च यातीति निन्दा। इतीदृशैर्वाग्रूपै सायकैरिषुभि प्रतोदैरङ्कुशै कुञ्जर इव विद्ध· पुरूरवा निस्त्रिंशं खड्गमादाय

1 AB त्रे

विवस्त्रो नग्नः रुषा निशि रात्रौ अभ्यद्रवत् ॥३०॥

तदा ते गन्धर्वा· उरणौ तत्र विसृज्य विद्युत विद्युत इव विद्योतन्ते स्म। यद्वा, विसृज्य जग्मुरिति शेष·। तदा विद्युतस्तटितोऽपि विद्योतन्ते स्म इत्यर्थ·। तदा मेषौ आदाय आगच्छन्तं नग्नं पतिं सा ऊर्वशी ददर्श ततो भाषाभङ्गान्निर्जगामेति च ज्ञेयम् ॥३१॥

तत ऐल पुरूरवा शय्यायां जायामपश्यन् दु खितमनास्तस्यामेव चित्तं यस्य स विक्लब· अधृष्ट शोचन् उन्मत्तवन्महीं बभ्राम ॥३२॥

**विज०** मह्यं क्लृप्तं ममास्थानं सभा एवं मत्वा गन्धर्वान् समचोदयत् ॥२५,२६॥

जाययोर्वश्या ॥२७॥

नपुंसा नपुंसकेन निर्वीर्येणेत्यर्थ ॥२८॥

हृतापत्या हृतपुत्रा, यो निशि, नारी यथा सन्त्रस्ता शेते, दिवा पुमान् पुरुषशक्तिमती तथा संत्रस्त· शेते, अह्नि पुरुषः ॥२९॥

इत्येवं वाक्सायकै वचनबाणैर्विद्धस्ताडित प्रतोदैरङ्कुशै· कुञ्जेषु रन्तुं शीलमस्येति कुञ्जर ॥३०॥

तत्र तस्मिन् समये ते गन्धर्वा स्वविद्युता प्रद्योतन्त प्राकाशन्त आलोकविषया आसन्नित्यर्थ ॥३१॥

बभ्राम "भ्रमु अनवस्थाने" इति धातु पर्यटनं कृतवान् ॥३२॥

**स तां वीक्ष्य कुरुक्षेत्रे रहस्यन्याश्च तत्सखीः।**
**पश्च प्रहृष्टवदनः प्राह सूक्तं पुरूरवाः ॥३३॥**
**अहो जाये तिष्ठ तिष्ठ घोरे न त्यक्तुमर्हसि।**
**मन्त्रा अद्याप्यनिवृत्ता वचांसि कृणवावहै ॥३४॥**
**सुदेहोऽयं पतत्यद्य देवि दूरं हृतस्त्वया।**
**खादन्त्येनं वृका गृध्रास्त्वत्प्रसादस्य नास्पदम् ॥३५॥**

---

1--1 ABGJMMa सरस्वत्याश 2 ABGJ °ना 3 W आयि 4--4 ABGJ मा त्मद्याप्यनिर्वृत्य , HV मन्त्रमद्याप्यनिर्वर्त्य 5 HV गृ° 6 MMa °वो° 7 ABGJMMa °त्र

उर्वश्युवाच

मा मृथाः[1] पुरुषोऽसि त्वं मा स्म त्वाद्युर्वृका इमे।
क्वापि सख्यं न वै स्त्रीणां वृकाणां हृदयं यथा ॥३६॥

स्त्रियो ह्याकरुणाः क्रूरा दुर्मर्षाः प्रियसाहसाः।
घ्नन्त्यल्पार्थेऽपि विस्रब्धं पतिं भ्रातरमप्युत ॥३७॥

विधायालीकविस्रम्भमज्ञेषु[2-] त्यक्तसौहृदाः[-2]।
नवं नवमभीप्सन्त्यः पुंश्चल्यः स्वैरवृत्तयः ॥३८॥

संवत्सरान्ते[3] हि भवानेकरात्रं मयेश्वर।
वत्स्यत्यपत्यानि च ते भविष्यन्त्यपराणि[4] भोः ॥३९॥

अन्तर्वत्नीमुपालक्ष्य[5] देवीं स प्रययौ पुरीम्।
पुनस्त्वागतोऽब्दान्ते[6] ह्यूर्वशीं[7] वीरमातरम् ॥४०॥

**श्रीध० स** इति। तस्याः सखीश्च पश्च वीक्ष्य। सूक्तं शोभनं वचनम्। **अहो जाये** इत्यादि ॥३३॥

तदेवार्थत आह - **अहो** इति द्वाभ्याम्। मन्त्रं अनिर्वृत्य[8] मन्त्रकृतां[9] निर्वृतिमप्राप्य। मामिति पाठान्तरे[10] मां निर्वृतिमगमयित्वा मन्त्राननुक्त्वेति वा। वचांसि कृणवावहै[11] गोष्ठीः करवावहै ॥३४॥

**सुदेह** इति। सुदेहः अति कमनीयोऽयं मम देहः ॥३५॥

"पुरूरवो मा मृथाः" इत्यादि तस्याः सूक्तं तदप्यर्थत आह - **मा मृथा** इति चतुर्भिः। मा म्रियस्व,पुरुषोऽसि त्वम् अतो धैर्यमावहेति भावः। इमे वृकाः प्रसिद्धा, इन्द्रियाणि वा, त्वा इति त्वां, मा स्म अद्युः[12] नभक्षयेयुः। इन्द्रियवशो मा भवेत्यर्थः ॥३६॥

**स्त्रिय** इति। प्रिये निमित्ते साहसं यासां ताः ॥३७-३८॥

तं सान्त्वयति - **संवत्सरान्त** इति ॥३९॥

---

1 TW मृषा 2 MMa °ध्वत्यन्तसौख्यदा 3 MMa °रान्तेऽपि 4 HMMaV भो ! 5 ABGJ पुरम् 6 ABGJMMa °त्र गतो° ,W °त्रागता° 7 ABGJMMa उ° 8 ABJ omit मन्त्रै 9 ABJ मत्कृता 10 ABJ omit मामिति 11 H V गृ° 12 ABJ omit न

**अन्तर्वत्नीमिति**। अपराणीति वचनादन्तर्वत्नीमुपालक्ष्य ज्ञात्वा ॥४०॥

**वीर०** एवं पृथ्वीमटन् स पुरूरवाः कुरुक्षेत्रे सरस्वत्यास्तीरे तामूर्वशीं तत्सखीश्च पश्च पश्यन् प्रहृष्टं वदनं यस्य सः सूक्तं शोभनं वचः प्राह ॥३३॥

तदेवाह - **अयीति** द्वाभ्याम्। अयीत्यव्ययम् सम्बोधनार्थकम् अयि जाये हे भार्ये! तिष्ठ तिष्ठ घोरे दुःखे त्यक्तुं पातयितुं, मामिति शेषः। नार्हसि अद्यापि मन्त्राः रहस्सल्लपाः अनिर्वृत्ताः असमाप्ताः वचांसि कृणवावहै गोष्ठीं करवावहै कृपणवादसहितसल्लापविशेषमावाङ्करवावेत्यर्थं ॥३४॥

हे देवि! त्वया हेतुभूतया दूरं हृतः नीतः सुदेहः कमनीयो देह·, ममेति शेषः। अत्र पतति एवं सति तं देहं वृकाः गृध्राश्च खादन्ति खादिष्यन्ति एवञ्च त्वत्प्रसादस्यास्पदं विषयो न भविष्यति इदं तत्प्रसादं पुनः सम्भावयतो राज्ञो वचः, सुदेवोऽयमिति पाठान्तरं तदा अयमर्थः, पुरूरवाः स्वयमेवात्मानमपरोक्षवन्निर्दिशति, सुदेवः पुरूरवश्शरीस्थश्चेतनो लक्षितः वृकाः इन्द्रियाणि बाधकत्वात्, गृध्राः "गृधू अभिकाङ्क्षायाम्" लोलुपा इत्यर्थः। तच्छब्द ऊर्वशी विषयः ॥३५॥

अथोर्वशी प्राह - **मामृषेति**। त्वं मृषापुरुषः मिथ्याप्रतिज्ञ·पुरुषो मासि माभूः धीरो भवेत्यर्थ·। मा मृथा इति पाठे मा म्रियस्वेत्यर्थः। एवञ्चेमे वृकास्त्वां मास्माद्युः मा खादिषुः न खादिष्यन्तीत्यर्थ। क्वापि स्त्रीणां सख्यं न स्थिरं यथा वृकाणां, तद्वत् स्त्रीणामपि हृदयम् ॥३६॥

तदेव प्रपञ्चयति - अकरुणाः कृपारहिता. क्रूरस्वभावाश्च दुर्मृष्टाः क्षमारहिताः प्रिये निमित्ते साहसं यासां ताश्च, हि यस्मादल्पाऽर्थेऽल्पप्रयोजने निमित्ते विस्रब्धं विश्वस्तं पतिं भ्रातरं वा घ्नन्ति ॥३७॥

**विधायेति**। किञ्चालीकविस्रम्भं कपटविश्वासमज्ञेषु स्वाभिप्रायानभिज्ञेषु विधाय त्यक्तं सौहृदं याभिस्तथाभूताः नवं नवं कान्तमभीप्सन्त्यः कामयमानाः पुंश्चल्यः व्यभिचारिण्यः स्वैरा स्वच्छन्दा वृत्तिर्यासां ताश्च भवन्ति अतो मत्सख्यं त्यजेति भावः ॥३८॥

**संवत्सरेति**। हे ईश्वर भर्त·! भवान् संवत्सरान्ते एकस्यां रात्र्यां मया सह वसतु तथा सति अपराण्यपि अपत्यानि नौ आवयोर्भविष्यन्ति अपराणीति वचनात् स्वस्या अन्तर्वत्नीत्वमावेदितम् ॥३९॥

**अन्तर्वत्नीमिति**। तद्वचनात्तां देवीमन्तर्वत्नीं गर्भिणीमुपालक्ष्य स पुरूरवाः स्वां पुरीं ययौ। ततः पुनः संवत्सरान्ते तत्र राज्ञः समीपमागता बभूव ततस्तामूर्वशीं वीरस्य पुत्रस्य मातरं पुत्रेण सहागतामिति भाव· ॥४०॥

विज० तस्या ऊर्वश्याः पञ्च सखीः पुरूरवाः ऊर्वशीं दृष्ट्वा किं चकारेति तत्राह - प्राहेति। किं तत्सूक्तमित्यर्थतः तत्प्रतिगृह्णाति, अहो जाये तिष्ठेति। "हये जाये मनसा" (ऋक्.सं 10-95-1) इत्यारभ्य "हविषा यजाति, स्वर्ग उत्वमपि मादयासे" (ऋक्. सं 10-95-18) इत्यन्तमुत्तरप्रत्युत्तरात्मकं सूक्तमुर्वशीवशीकरणाभिप्रायेण प्राहेत्यर्थः। हये अहो जाये मनसा तिष्ठ मनःपूर्वकं पूर्ववत्तिष्ठ मां त्यक्तुं नार्हसीति शेषः। हे घोरे ! सुरतशौण्डे! ये परतरे अहन् अहनि उत्तरोत्तरत्र दिवसे मया सुखं करं च न कुर्वन्त्येव, एते नौ आवयोः सुरतमन्त्राः करुणोक्तिपूर्वकाः नु अद्याप्यनुदितासः अनिवृत्ता अपरिसमाप्ताः इति यस्मादतो नैतदुचितमतो मिश्राणि सल्लापलक्षणानि वचांसि कृणवावहै करवावहै ॥३३-३४॥

सारसंग्रहाभिप्रायेण मध्ये काश्चन ऋचो विहाय "सुदेवोऽद्य प्रपतेत्" इत्येतामृचमर्थत उदाहरति, सुदेव इति। हे देवि! योऽहं परावतं परवन्तं, दीर्घश्छान्दसः। दूरं देशं हृतः त्वया सह परमां रतिं गन्त वै उ गन्तुमेव तस्य मे अयं सुदेवः गतिलक्षणज्ञानसाधनं शरीरं, अत्र कुरुक्षेत्रे अस्यामवस्थायां वा प्रपतेत् प्रपतिष्यति, कुतः अनावृत् आधाररहितः। अथ पतनानन्तरं निर्ऋतेर्भूमेरुपस्थे पृष्ठे शयीत पतेत्। अथ निर्जीवमेनं शरीरं रभसास· भक्षणसम्भ्रमाकुलाः वृका अद्युः खादन्ति, पतित्वा शयित्वापि कथंञ्चित् सप्राणं चेद् वृका इन्द्रियाणि खादन्ति इति "सुदेवा अद्य प्रपतेदनावृत् परावतं परमां गन्तवा उ अधा शयीत निऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्यु·" (ऋक्. सं 10-95-14) इति। हये जायेत्यस्या उत्तरं किमेतावाचेति तवैतया वाचा किं कृणवै किं कुर्वः आवयोः पूर्ववत् सङ्गमानुपपत्तेः, किं निमित्तं तत्राह - अहमिति। अहमुषसामग्रेव प्राक्रमिषं यथा प्रथमोषसः अतिक्रान्तत्वात् पश्चात्तनानामुषसां योगो न घटते तथाऽऽवयोरपीत्यर्थः ॥३५॥

तर्हि अहं किं करोमीति तत्राह - पुरूरव इति। हे पुरूरवः। पुनः पश्चादस्तं गृहं परेहि गच्छ, इदानीमेव कर्तव्यं त्वयेत्यर्थ·। "अस्तमेयाय" इति श्रुतेः। किमर्थं पश्चाद् गमनमिति तत्राह - दुरापनेति। यथा वातो वायुः ग्रहीतुमशक्यः तथाऽहमपि दुरापना दुर्ग्रहेत्यर्थः। इति मृदुवचनोत्तरेणायं गृहं न यातीत्यभिसन्धाय कठिनोत्तरेण निवर्तयिष्यामीति मत्वा "पुरूरवो मा मृथा मा प्रपत्वो मा त्वा वृकाशो अशिवास उक्षन्" न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति, सालावृकाणां हृदयानि" (ऋक् सं 10-95-15) इत्येतदर्थं उत्तरत्वेनोर्वशी वक्ति - मा मृथा इति। हे पुरूरवः। त्वं मा मृथा मरणं न प्राप्नुहि, गूढाक्षेपं करोति पुरुष इति पुल्लिङ्गशक्तिमत्वेन बलिष्ठत्वात्, कामनिमित्तं मरणं तव न युक्तम् अबलायाश्चेदबलत्वेन कथञ्चित्सम्भावितं स्यादित्यर्थः। अनेनार्थतः मा प्रपत्व इत्येतद्विवृतं भवति प्रपत्व इति पततेर्यङ्लुङन्तं रूपं, कामपारवश्येन भृशं पतितो माभूः, अभ्यासस्य दीर्घाभावश्छान्दसः। इमे अशिवासः अशिवाः अशुद्धिहेतवो वृका, वृकासो त्वा त्वां मोक्षन् उक्षतिरत्र भक्षणार्थः। मास्माद्युर्न लालाजलेन प्रोक्षयित्वा भक्षयेयुरित्यर्थः। स्त्रैणानि स्त्रीसम्बन्धीनि सख्यानि - "ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति। भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं

1--1 AB मय सुखंकरञ्च

स्नेहलक्षणम्।" इति स्नेहलक्षणानि न सन्ति, सदातनानि न भवन्ति, वै क्वापि यथेत्यनेन सालावृकाणामिति लुप्तोपममिति सूचयति, हृदयमिति जातावेकवचनं, यथा सालावृकाणां हृदयानि एता एतान्यपि स्त्रीणां हृदयानि तथेत्यर्थः ॥३६॥

एते इत्युक्तमेव विवृणोति - स्त्रिय इति। "किं क्रूरं स्त्रीहृदयं पुनरपि किं क्रूरमज्ञनाहृदयम्" इत्येतद्धि शब्देन दर्शितं, प्रिये प्रेष्टेऽपि साहसं बलात्कारलक्षणं कर्म यासां तास्तथा एतदेव विविच्य दर्शयति घ्नन्तीति। विस्रब्धम् विश्वस्तम् ॥३७॥

अलीकविस्रम्भं कपटविश्वासं अज्ञेषु पुरुषेषु अत्यन्तसौख्यदा तत्तत्कालोपभोग्यसुखप्रदानत्वादात्यन्तिकसुखदाः। पुंश्चल्य इत्यस्य विवरणं स्वैरवृत्तय इति। इष्टजनशिक्षामनुपाकर्ण्य स्वेच्छानियतमद्यपानदिवृत्तयः ॥३८॥

मया सहेकरात्रं वत्स्यति सुरतलीलामनुभविष्यतीत्यर्थः ॥३९-४०॥

उपलभ्य मुदा युक्तः समुवास तया निशाम्[1]।
अथैनमुर्वशी प्राह कृपणं विरहातुरम् ॥४१॥

गन्धर्वानुपधावेमांस्तुभ्यं दास्यन्ति मामिति।
तस्य संस्तुवतस्तुष्टा अग्निस्थालीं ददुर्नृप।
ऊर्वशीं मन्यमानस्तां सोऽबुध्यत[2] चरन्[3] वने ॥४२॥

स्थालीं न्यस्य वने गत्वा गृहानाध्यायतो[4-] निशि[-4]।
त्रेतायां संप्रवृत्तायां मनसि त्रय्यवर्तत ॥४३॥

स्थालीस्थानं गतोऽश्वत्थं शमीगर्भं विलक्ष्य सः।
तेन द्वे अरणी कृत्वा ह्यूर्वशीलोककाम्यया[5] ॥४४॥

ऊर्वशीं मन्त्रतो ध्यायन्नधरारणिमुत्तराम्।
आत्मानमुभयोर्मध्ये यत्तत् प्रजननं विदुः[6] ॥४५॥

तस्य निर्मथनाज्जातो[7] जातवेदा विभावसुः।
त्रय्या स विद्यया राज्ञा पुत्रत्वे कल्पितस्त्रिवृत् ॥४६॥

---

1 MMa "शम् 2 MMa ना" 3 W "ध्यतिच" 4- -4 H V गृहास्ता ध्यायतो , MMa गृहानध्युषितो , W गृहास्तत्रोषितो 5 ABGJMMa उ" 6 ABGJMMa प्रभु 7 ABGJ "न्थ"

**श्रीध० गन्धर्वानिति**। अनेनाग्निना कर्म कृत्वा तद्वशादूर्वशीं प्राप्स्यतीत्यभिप्रायेणाग्निस्थालीं ददुः। स तु तां स्थालीमेवोर्वशीं मन्यमानस्तया सहितो वने विचरन् नेयमूर्वशी किं त्वग्निस्थालीत्यबुध्यत ॥४१-४२॥

**स्थालीमिति**। ततश्च। तां स्थालीं वने स्थापयित्वा गृहान्गत्वा निशि नित्यं तामेव आध्यायतस्तस्य[1] मनसि त्रेतायां त्रयी अवर्तत कर्मबोधकं वेदत्रयं प्रादुरभूत् ॥४३॥

**स्थालीति**। ततः स्थालीस्थानं गतः[2] सन् तत्र[3] शम्या गर्भे जातमश्वत्थं विलक्ष्यास्मिन्[4] अश्वत्थे असावग्निरस्तीति विशेषेण लक्षयित्वा तेनाश्वत्थेन द्वे अरणी कृत्वाऽग्निं ममन्थेति शेषः। "शमीगर्भादग्निं ममन्थ" इति श्रुतिः ॥४४॥

मथनप्रकारमाह। **ऊर्वशीमिति**। अधरारणिमूर्वशीं ध्यायन्नुत्तरारणिमात्मानं ध्यायन्नुभयोः[5] अरणयोः मध्ये यत्काष्ठं तत्प्रजननं पुत्रं ध्यायन्। तथा च मन्त्रः। "उर्वश्या आयुरसि पुरूरवाः" इति ॥४५॥

**तस्येति**। तस्य तेन कृतान्निर्मथनाद्विभावसुरग्निर्जातः। कथंभूतः? जातं वेदो धनं भोग्यं यस्मात्। स च त्रय्या विद्यया विहितेनाधानसंस्कारेण। त्रिवृदाहवनीयादिरूपः सन् राज्ञा पुरूरवसा पुत्रत्वे कल्पितः। पुण्यलोकप्रापकत्वात् ॥४६॥

**वीर०** उपलभ्य दृष्ट्वा यद्वा पुत्रवर्ती प्रत्यभिज्ञाय हर्षेण युक्तो राजा तया सह तां निशाम् उवास। अथैनं विरहातुरं विश्लेषासहिष्णुं पुरूरवसम् ऊर्वशी प्राह ॥४१॥

किमिति? त्वमिमान् गन्धर्वानुपधा स्तुत्या प्रीतान् कुरु ते च तुभ्यं मां दास्यन्ति मल्लोकप्राप्तिसाधनं दर्शयिष्यन्तीति ततो हे नृप! तस्य पुरूरवसः संस्तुवतः सतः गन्धर्वाः प्रीतास्सन्तः तस्मै अग्निस्थालीम् अम्याधनार्थं पात्रविशेषं ददुः ततस्तामग्निस्थालीमूर्वशीप्राप्तिसाधनभूतां मन्यमानः स पुरूरवाः वने विचरन् अबुध्य अज्ञात्वेत्यर्थः ॥४२॥

स्थालीं वन एव न्यस्य निधाय गृहान् गत्वा निशि रात्रौ तत्रोवास अथ त्रेतायां सम्प्रवृत्तायां त्रेतायुगारम्भे प्रवृत्ते सति पुरूरवसो मनसि त्रयी वेदः अवर्तत प्रादुरभूत् ॥४३॥

ततः स पुरूरवाः स्थालीस्थानं गतस्सन् शम्या गर्भे जातमश्वत्थं विलक्ष्य स्वमनसि परिवर्त्तमानया "शमीगर्भादग्निं मन्थति" इति श्रुत्या शमीगर्भस्याश्वत्थस्याग्निमथनसाधनतामवबुध्येत्यपि ज्ञेयम्। तेनाश्वत्थेन द्वे अरणी मन्थनकाष्ठे कृत्वा ऊर्वशीलोकेच्छया ॥४४॥

मन्त्रतः मथनप्रकाशक मन्त्रप्रयोगपूर्वकमधरारणिमूर्वशीम् उत्तरारणिं स्वात्मानम् उभयोररण्योर्मध्ये यत्काष्ठं विदुः तत्प्रजननं पुत्रं ध्यायन् ममन्थेति शेषः ॥४५॥

---

1 H V ध्या° 2 B प्राप्त 3 ABJ omit तत्र 4 ABJ omit अश्वत्थे 5 ABJ omit अरण्योः

तस्य तेन कृताग्निर्मथनाद्विभावसुः अग्निर्जातः, कथम्भूतः? जातं वेदो भोग्यं यस्मात्तथाभूतः स विभावसुःत्रय्या विद्यया तद्विहितेन आधानसंस्कारेण त्रिवृदाहवनीयादिरूपस्सन् राज्ञा पुरूरवसा पुत्रत्वे कल्पितः पुण्यलोकप्रापकत्वात् ॥४६॥

**विज०** समुवास सम्भोगलक्षणं सुरतमनुभूतवान्। 'स्त्रियो ह्यकरुणा' इत्यारभ्य 'तयाऽनिशमित्यन्तेन' उक्तमिति ज्ञातव्यम् ॥४१॥

उपधाव शरणं गच्छ "धावुगतिशुद्ध्योः" त्रिकरणशुद्ध्या स्तुतिं कुर्वित्यर्थः। "इति त्वा देवा इम आहुरैल! यथेमे तद्भवसि मृत्युबन्धुः प्रजात देवान् हविषा यजाति स्वर्ग उत्वमपि मादयास" इति(ऋ. कृ. सं 10-95-18) अग्निस्थालीम् अग्निस्थापनयोग्यपात्रम् उर्वशीं मन्यमानो वने चरन् तामुर्वशीं नाबुध्यत नेयमुर्वशी किन्त्वियमग्निस्थालीति ज्ञातवानित्यर्थः ॥४२॥

स पुरूरवाः अग्निस्थालीं वने न्यस्य निक्षिप्य निशि गृहान् गत्वा तां निशामध्युषितोऽभूत। अथ परस्मिन् दिवसे त्रेतायां संप्रवृत्तायां त्रेतायुगारम्भसमये जाते सति उर्वशीं चिन्तयतस्तस्य राज्ञो मनसि अग्न्याधानादि साङ्गयज्ञप्रकाशवेदत्रयं प्रकाशितमभूदित्यर्थः ॥४३॥

तदर्थं विचार्याग्निस्थालीप्रदानाभिप्रायं ज्ञात्वा अग्निस्थालीस्थानं गतः तत्र पुरूरवाः शमीगर्भं शमीवृक्षेणाधिष्ठितम् अश्वत्थं विलक्ष्य विशेषतो दृष्ट्वा स्थालीशमीजाताग्निस्त्वश्वत्थो जात इति विज्ञाय शमीगर्भमश्वत्थं छित्वा तेन शमीगर्भाश्वत्थेन द्वे अरणीकृत्वा उत्तराधरारणिभेदेन निधाय, उर्वशीलोकप्राप्तीच्छया ॥४४॥

फलविशेषार्थं जनिष्टो "अपोनर्यः सुजातः प्रोर्वशीतिरतदीर्घमायुः" इति मन्त्रार्थत्वेनोर्वशीं ध्यायन् उर्वशीमधरारणिम् आत्मानं पुरूरवश्शब्दोपलक्षितमुत्तरारणिं च चिन्तयन् उभयोररण्योर्मध्ये यत्प्रजननसाधनं तच्च मनसा ध्यायन्नरणिं निर्ममन्थेति शेषः। प्रभुरित्यनेन सर्वध्यानादिसामर्थ्यं दर्शयति ॥४५॥

मथितमाह - तस्येति। तस्य राज्ञो निर्मथनाज्जातवेदा जात इति तत्प्रभृति जातवेदानामग्नेरिति सूचितम्। स विभावसुरग्निस्त्रय्या विद्यया वेदत्रयसंज्ञया प्रतिपाद्यो राज्ञा पुत्रत्वे कल्पित इत्यन्वयः। त्रिभिराहवनीयादि रूपैर्वर्तत इति त्रिवृत् अध्यात्मविवक्षायाम् अकारोकारमकारसमाहारोङ्काररूपेण वर्तत इति त्रिवृत् ॥४६॥

**तेनायजत यज्ञेशं भगवन्तमधोक्षजम्।**
**उर्वशीलोकमन्विच्छन् सर्वदेवमयं हरिम् ॥४७॥**

**एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः।**
**देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निर्वर्ण एव च ॥४८॥**

**पुरूरवस एवासीत् त्रयी त्रेतामुखे नृप।**
**अग्निना प्रजया राजा लोकं गान्धर्वमेयिवान् ॥४९॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे चतुर्दशोऽध्याय ॥१४॥

**श्रीध०** तदाह । **तेनेति** ॥४७॥

नन्वनादिवेदत्रयबोधितो ब्राह्मणादीनामिन्द्राद्यनेकदेवतायजनेन स्वर्गप्राप्तिहेतु· कर्ममार्गः कथं सादिरिव वर्ण्यते तत्राह - **एक एवेति** द्वाभ्याम्। पुरा कृतयुगे सर्ववाङ्मय· सर्वासां वाचां बीजभूत· प्रणव एक एव वेद·, देवश्च नारायण एक एव। अग्निश्चैक एव लौकिक·। वर्णश्चैक एव हंसो नाम ॥४८॥

**पुरूरवस इति**। वेदत्रयी तु पुरूरवस· सकाशादासीत्। एयिवान्प्राप। अयं भावः। कृतयुगे सत्त्वप्रधाना· प्रायशः सर्वेऽपि ध्याननिष्ठाः रजःप्रधाने तु त्रेतायुगे वेदादिविभागेन कर्ममार्गप्रकटो बभूवेति ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्यख्यायां नवमस्कन्धे चतुर्दशोऽध्याय ॥१४॥

**वीर०** तदाह - **तेनेति**। तेन विभावसुना यज्ञफलदं सर्वदेवताशरीरकम् आश्रितार्तिहरं भगवन्तमधोक्षजमूर्वशी लोकङ्कामयमान· पुरूरवा अयजत आराधितवान् ॥४७॥

नन्वनादिवेदबोधितो ब्राह्मणादीनामिन्द्राद्यनेकदेवतायजनेन स्वर्गप्राप्तिहेतुः कर्ममार्गः कथमाधुनिकः स्यादिति वर्ण्यते? तत्राह - **एक एवेति** द्वाभ्याम्। पुरा कृतयुगे सर्वासां वाचां बीजभूत· प्रणव एक एव वेदः, देवश्च नारायण एव एक नान्यः, अग्निश्चैक एव लौकिक·, वर्णश्चैक एव हंसाख्य ॥४८॥

हे नृप! त्रयी वेदत्रयं तु त्रेतामुखे पुरूरवस सकाशादेवासीत्। अयम्भावः कृतयुगे सत्त्वप्रधानाः प्रायशः सर्वेऽध्यात्मनिष्ठाः, रज·प्रधाने तु त्रेतायुगे वेदादि विभागेन कर्ममार्ग पुरूरवस· सकाशात्प्रकटो बभूवेति, ततो राजा पुरूरवाः अग्निरूपया प्रजया पुत्रेण हेतुभूतेन गन्धर्वलोकमेयिवान् प्राप ॥४९॥

---

1 ABJ "वय" 2 TW omit अध्यात्मनिष्ठा

इति श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

**विज०** तेन त्रिवृताऽग्निना ऊर्वशीसालोक्यं सर्वदेवमयं सर्वदेवोत्तमम् ॥४७॥

पुराकृतैः "अकारो वै सर्वा वाक्" इति सर्ववाङ्मयः प्रणवोऽप्येकः ॥४८॥

त्रयी त्रिप्रकारा अग्निना प्रजया, पुत्रत्वेन कल्पितेनाग्निना ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
नवमस्कन्धे चतुर्दशोऽध्याय· ॥१४॥

# पञ्चदशोऽध्यायः

## [1-]श्रीशुक उवाच[-1]

ऐलस्य चोर्वशीगर्भात् षडासन्नात्मजा नृप।
आयुः श्रुतायुः सत्यायू रयोऽथ विजयो जयः ॥१॥

श्रुतायोर्वसुमान् पुत्रः सत्यायोस्तु[2] श्रुतञ्जयः।
रयस्य[3] सुत एकश्च जयस्य[4] तनयोऽमितः ॥२॥

भीमस्तु[5] विजयस्याथ काञ्चनो होत्रकस्ततः।
तस्य जह्नुःसुतो गङ्गां गण्डूषीकृत्य योऽपिबत्।
[6-]जह्नोस्तु पुरुस्तत्पुत्रो[-6] बलाकश्चात्मजोऽजकः[7] ॥३॥[-7]

ततः कुशः कुशस्यापि [8-]कुशाम्बुर्धूर्तयो[-8] वसुः।
कुशनाभश्च[9] चत्वारो गाधिरासीत् कुशाम्बुतः ॥४॥

तस्य सत्यवतीं कन्यामृचीकोऽयाचत[10] द्विजः।
वरं विसदृशं[11] दृष्ट्वा गाधिर्भार्गवमब्रवीत् ॥५॥

एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम्।
सहस्रं दीयतां शुल्कं कन्यायाः [12-]कुशिका वयम्[-12] ॥६॥

इत्युक्तस्तन्मतं[13] ज्ञात्वा गतः स वरुणान्तिकम्।
आनीय दत्त्वा तानश्वानुपयेमे[14] वराननाम् ॥७॥

स ऋषिः प्रार्थितपत्न्या श्वश्वाचापत्यकाम्यया।
श्रपयित्वोभयैर्मन्त्रैश्चरुं स्नातुं गतो मुनिः ॥८॥

---

1- -1 HTVW omit 2 ABGJMMa °श्च 3 MMa °स्यान्द्रसत 4 MMa °स्तु 5 TW °तृ° 6- -6 MMa जह्नो पुरुस्तस्य पुत्रो 7- -7 H V बालकश्चाऽजको यत 8- -8 ABGJ MMa कुशाम्बु स्तनयो ; B कुशाम्बुर्मूर्तयो 9 ABGJMMa °म्बुज 10 W °चि° 11 ABGJMMa °त्वा 12 H V कौशिका वयम् , MMa कुशिकाऽन्वय । 13 T W °न्मति° 14 MMa °न्न°

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ततः पञ्चदशे गाधिरैलपुत्रान्वयेऽजनि। यद्दौहित्रसुतो रामः कार्तवीर्यमहन् रुषा ॥

यद्वा - उक्ताः पञ्चदशे वंशा श्रुतायाः प्रमुखोत्थिताः। अर्जुनं गाधिजा पौत्रो रामो हन्तेति चेरितम्॥

सुग्रहत्वाय अल्पादिक्रमेण श्रुतायुप्रभृतीनां षण्णां वंशानाह - श्रुतायोरित्यादिना। एक एकसंज्ञ। अमितस्तत्संज्ञः ॥१,२॥

**भीमास्त्विति**। जह्नोः पुरुस्तस्य[1] बालकस्तस्याजकः ॥३,४॥

गाधेः पुत्रो विश्वामित्रो ब्रह्मर्षिरभूदित्युत्तराध्यायान्ते वक्ष्यति 'गाधेरभून्महातेजाः' इत्यादिना। तत्र तावत्तदुपोद्घातत्वे भृगुवंशसम्भवस्य ऋचीकस्य चरित्रं[2] प्रसक्तमनुप्रसक्तं परशुरामावतारचरितादिकं[3] आह - **तस्यं सत्यवती**मित्यादिना। विसदृशमननुरूपम्। भार्गवम् रुचीकम् ॥५॥

दक्षिणवामयोरेकत श्याम कर्णो[4] येषाम्। सर्वस्मिन्नङ्गे चन्द्रस्येव वर्चो येषाम्। न चेदमपि पर्याप्तमस्मत्कन्याया। यतः कुशिकाः[5] कौशिका वयम् ॥६,७॥

**स** इति। उभयैर्मन्त्रैः, पत्न्यै ब्राह्मैर्मन्त्रैः, श्वश्र्वे तु क्षात्रैमन्त्रैरित्यर्थः ॥८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ऐलस्य पुरूरवसः ऊर्वशीगर्भात् संवत्सरान्ते सकृद्रात्रौ सङ्गताया उर्वश्या उदरात्, हे नृप! षडात्मजा आसन् ते च आय्वादिसंज्ञाः ॥१॥

**श्रुतायोरिति**। तत्र श्रुतायुप्रभृतीनां षण्णां वंशानल्पादिक्रमेणाह - श्रुतायो पुत्रो वसुमान् सत्यायोः पुत्रस्तु धनञ्जयः श्रुतञ्जयेति पाठान्तरं एकसंज्ञश्चेति द्वौ पुत्रौ। जयस्य तु तनयो विभुः अमित इति पाठान्तरं तदा तत्संज्ञाः ॥२॥

विजयस्य तु भीमः पुत्रः तस्य तु काञ्चनः आयोस्तु पुत्राः सप्तदश वक्ष्यत्ने तत काञ्चनात् वसुमतो वा होतृको जज्ञ इति शेषः। तस्य होतृकस्य सुतो जह्नुः। तं विशिनष्टि - यो जह्नुः गण्डूषीकृत्य गङ्गामपिबत् जह्नोस्तु पुत्रः पूरुः तत्पुत्रः पूरुपुत्रो बलाकः तस्यात्मजस्त्वजकः ततोऽजकात् कुशः कुशस्य तु कुशाम्बादयश्चत्वारः पुत्राः। तत्र कुशाम्बात् गाधिरासीत् जज्ञे ॥३,४॥

गाधेः पुत्रोऽपि विश्वामित्रो ब्रह्मर्षिरभूत् इत्युत्तराध्यायान्ते वक्ष्यति "गाधेरासीन्महातेजा" इत्यादिना। तत्र तावद्

---

1 ABJ बला° 2 ABJ चरितं 3 ABJ °तमाह 4 H V वर्णो 5--5 H V कौशिका. कुशिकान्वया° 6 H V omit मन्त्रै

उपोद्घातत्वेन भृगुवंशभवस्य ऋचीकस्य चरितं प्रसक्तानुप्रसक्त्यु परशुरामावतारतच्चरित्रादिकञ्च आह - **तस्य सत्यवती** मित्यादिना। तस्य गाधेः कन्यां दुहितरं सत्यवत्याख्यामृचीकाख्यो द्विजो भार्गवोऽयाचत ततो गाधिर्वरं विसदृशं कन्याया अननुरूपं दृष्ट्वा भार्गवमृचीकमुवाच ॥५॥

किमिति? **एकत इति**। दक्षिणवामयोरेकतः एकस्मिन्पार्श्वे श्यामः कर्णो येषां चन्द्रस्येव वर्चो येषां तेषां हयानामश्वानां सहस्रं कन्यायाः शुल्कं दीयतां। न चेदमपि पर्याप्तमस्मत्कन्यायाः यतः कुशिकाः कौशिका वयमिति ॥६॥

**इतीत्थमुक्तस्तस्य गाधेर्मतिं** ज्ञात्वा मामननुरूपं दृष्टवतोऽस्येयं मतिरभूदिति ज्ञात्वा वरुणास्यान्तिकं गतः तत आनीय याच्ञया, प्रतिगृह्णेत्यादिः तान् तदुक्तविधानश्वान् दत्वा वरानानां सत्यवतीमुपयेमे ॥७॥

**स इति**। ततः कदाचित् स ऋषिः ऋचीकः पुत्रकाम्यया आत्मनो पुत्रेच्छया पत्न्या श्वश्र्वा पत्नीमात्राच प्रार्थितः उभयैः ब्राह्मैः क्षात्रैश्च मन्त्रैश्चरुं श्रपयित्वा पत्न्याः पुत्रार्थं ब्राह्ममन्त्राभिमन्त्रितमेकं चरुं श्वश्र्वास्तु पुत्रार्थं क्षात्रमन्त्राभिमन्त्रितमपरं च चरुं पाचयित्वेत्यर्थः। मुनिः ऋचीकः स्नातुं गतः ॥८॥

## श्रीवीजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

ब्रह्मणोऽत्रिरत्रेः सोमः, सोमाद्बुधः बुधात्पुरूरवाः तस्य पुत्रानाह - **ऐलस्य** चेति ॥१-३॥

**कुशाम्बुजो** गाधिरित्येकस्य नामद्वयम् ॥४॥

भार्गवमृचीकम् ॥५॥

कुशिकानामन्वयो यस्य स तथा कुशिकान्वयः समय इति वा ॥६,७॥

श्वश्र्वा भार्यामात्रा उभयैः सात्त्विकराजसभेदभिन्नैर्मन्त्रैः चरुं श्रपयित्वा प्रपच्याभिमन्त्र्य तवेदं, तव मातुरिदमिति निगद्य संस्थाप्य स्नातुं गतः ॥८॥

**तावत् सत्यवती मात्रा स्वचरुं याचिता सती।**
**श्रेष्ठं मन्वानयाऽयाच्छन्मात्रे मातुरदत् स्वयम् ॥९॥**

**तद् विज्ञाय मुनिः प्राह पत्नीं कष्टमकारषीः।**
**घोरो दण्डधरः पुत्रो भ्राता ते ब्रह्मवित्तमः ॥१०॥**

---

1 TW "चि" 2 TW "चि" 3 TW "चि" 4 TW "चि" 5 TW "चि" 6-6 ABGJMMa मत्वा तथाऽय" 7 H V "मकारवी", MMa "मकार्षिण , TW मकार्षी

प्रसादितः सत्यवत्या मैवं भूदिति भार्गवः।
अथ तर्हि भवेत् पौत्रो जमदग्निस्ततोऽभवत् ॥११॥

सा चाभूत् सुमहापुण्या कौशिकी लोकपावनी।
रेणोः सुतां रेणुकाख्यां[1] जमदग्निरुवाह याम् ॥१२॥

तस्यां वै[2] भार्गव ऋषेः सुता वसुमनादयः[3]।
यवीयाञ्जज्ञ एतेषां राम इत्यभिविश्रुतः ॥१३॥

यमाहुर्वासुदेवांशं हैहयानां कुलान्तकम्।
त्रिस्सप्तकृत्वो य इमां चक्रे निःक्षत्रियां महीम् ॥१४॥

दृप्तं[4] क्षत्रं भुवो भारमब्रह्मण्यमधार्मिकम्[5]।
रजस्तमोवृतमहन् फल्गुन्यपि कृतेंऽहसि ॥१५॥

राजोवाच[6-6]

किं तदंहो भगवतो राजन्यैरजितात्मभिः।
कृतं[7] येन कुलं नष्टं क्षत्रियाणामभीक्ष्णशः ॥१६॥

**श्रीध०** तावदिति। यावत्स्नात्वा मुनिर्नागतस्तावत् भार्यायां भर्तृस्नेहाधिक्यात् पुत्र्या सत्यवत्याश्चरुं श्रेष्ठं मन्वानया[8-8] मात्रा सत्यवती याचिता सती ब्राह्ममन्त्राभिमन्त्रितं स्वचरुं मात्रे अयच्छत्प्रादात्। मातुश्चरुं[9] क्षात्रमंत्राभिमन्त्रितं स्वय मदत् आदत् ॥९॥

**तदिति**। कष्टं जुगुप्सितम्। तदेवाह - ते पुत्रो घोरो भविष्यति, भ्राता तु ब्रह्मवित्तमो भविष्यतीति ॥१०॥

**प्रसादित इति**। एवं माभूदिति प्रसादितो भार्गव आह - अथ तर्हि पौत्रो घोरो भवेदिति। ततो[10] जमदग्निः पुत्रोऽभवदित्यर्थः ॥११॥

**सेति**। सा च सत्यवती कौशिकी नद्यभूत् ॥१२॥

---

1 ABGJMMa °का वै 2 TW हि 3 ABGJMMa °दा° 4 ABGJ दुष्ट 5 ABGHJV मनीनशत् 6-6 H V परीक्षिदुवाच 7 MMa तेन 8-8 ABJ मत्वा तया 9 ABJ omit तु 10 ABJ omit तत

**तस्यामिति**। भार्गवऋषेः जमदग्नेः सुताः ॥१३,१४॥

**दृप्तमिति**। अनीनशत् नाशयामास - [1]तदेवाह रजस्तमोवृत्तमिति, पाठान्तरं सुगमम् ॥१५,१६॥

**वीर० तावदिति**। तावत् बावत्सनात्वा मुनिर्नागतस्तावद्भार्यायां भर्तुः स्नेहाधिक्यात् पुत्र्याः सत्यवत्याश्चरुं श्रेष्ठं मन्वानया मात्रा याचिता सत्यवती स्वश्चरुं ब्राह्ममन्त्राभिमन्त्रितं स्वमात्रे प्रायच्छत् प्रादात् मातुस्तु चरुं क्षात्रमन्त्राभिमन्त्रितं स्वयमदात् आदत् भक्षितवती दीर्घव्यत्यय आर्षः ॥९॥

तत आगतः मुनिः [2]ऋचीकः तच्चरुविनिमयरूपं कर्म विज्ञाय पत्नीं प्राह, किमिति? त्वं कष्टं जुगुप्सितम् अकार्षीः अतस्तव पुत्रो दण्डधरो घोरो भविता तव भ्राता तु ब्रह्मवित्तमो भवितेति ॥१०॥

**प्रसादिता इति**। तत· सत्यवत्या मैवं भूत् एवं न निगृहाणेति प्रार्थितो भार्गवः आह - किमिति? अथ तर्हि भवेत्पौत्रः इति। तर्हि प्रौत्रो घोरो भविता पुत्रस्तु शान्त एवेत्याहेत्यर्थः। [3]ततः सत्यवत्याः जमदग्निः जज्ञे ॥११॥

**सा चेति**। सा च सत्यवती कौशिकी सुमहापुण्या लोकपावनी नदी बभूव कौशिकीरूपेण सस्यन्दे इत्यर्थः। अथ जमदग्निर्यां रेणोः सुतां रेणुकाख्याम् उवाह उपयेमे ॥१२॥

**तस्यां हि इति**। तस्यां हि रेणुकायां भार्गवऋषेर्जमदग्नेः [4]वसुमनादयः सुताः, जज्ञिरे इति शेषः। तेषां [5]वसुमनादीनां यवीयान् कनीयान् राम इत्यभितः प्रख्यातस्तं विशिनष्टि यमिति। यं रामं वासुदेवांशं वासुदेवांशावेशावतारम् आहुः तदवतारयाथात्म्य **वेदिन इति** शेष·। कथम्भूतम् ? हैहयानां कार्तवीर्याऽऽदीनां कुलस्यान्तं [6-]नाशं करोतीति अन्तकः [-6]नाशकः यो राम इमां महीं **त्रिस्सप्तकृत्वः** एकविंशतिवारं निःक्षत्रियां क्षत्रबीजरहितां चक्रे ॥१३,१४॥

**दृप्तमिति**। फल्गुन्यल्पे अंहसि अपराधे कृतेऽपि क्षत्रं क्षत्रकुलमहन् हतवान् कथम्भूतम्? दृप्तं गर्वितं पृथिव्याः भारं भारवहम् अब्रह्मण्यं ब्राह्मणेष्वसाधु रजस्तमोभ्यां वृतम् ॥१५॥

तत्र फल्गुन्यपि कृते अंहसि अहन्नित्युक्तया लब्धप्रश्नावसरः पृच्छति राजा-**किमिति**? कृतात्मभिः दुरात्मभिः राजन्यैः कृतं तदंहः किं किंस्वरूपं कीदृशं च येनांहसा हेतुना पौनःपुन्येन क्षत्रियाणां कुलं नष्टम् ॥१६॥

**विज०** तावत्तदा आत्मीयचरुं श्रेष्ठं मत्वा तया स्वमात्रा याचिता सत्यवती स्वचरुं मात्रे ददौ मातुश्चरुं स्वयमदत्स्वी कृतवती ॥९॥

---

1- -1 H V omit 2 TW °चि° 3 TW °वेत्यर्थ 4 AB °दा° 5 AB °दा° 6- -6 TW omit

तव पुत्रो घोरो दण्डधरः, ते भ्राता ब्रह्मवित्तमः ॥१०-१२॥

सा सत्यवती कौशिकी नदी बभूवेति शेषः ॥१३॥

भार्गवऋषेर्जमदग्नेर्यवीयान् कनिष्टः ॥१४॥

क्षत्रवधे मुख्यं कारणमाह - दृप्तमिति। अहन् हतवान् फल्गुन्यल्पे अंहस्यपराधे ॥१५,१६॥

श्रीशुक उवाच

हैहयानामधिपतिरर्जुनः क्षत्रियर्षभः।
दत्तं नारायणांशमाराध्य[1] परिकर्मभिः ॥१७॥

बाहून् दशशतं लेभे दुर्धर्षत्वमरातिषु।
अव्याहतेन्द्रियौजः[2] श्रीतेजोवीर्ययशोबलम्[3] ॥१८॥

योगेश्वरत्वमैश्वर्यं गुणा यत्राणिमादयः।
चचाराव्याहतगतिर्लोकेषु पवनो यथा ॥१९॥

स्त्रीरत्नैरन्वितः[4] क्रीडन् रेवाम्भसि मदोत्कटः।
वैजयन्तीं स्रजं बिभ्रत् रुरोध सरितं भुजैः ॥२०॥

विप्लावितं स्वशिबिरं प्रतिस्रोतस्सरिज्जलैः।
नामृष्यत् तस्य तद् वीर्यं वीरमानी दशाननः ॥२१॥

गृहीतो लीलया स्त्रीणां समक्षं कृतकिल्बिषः।
माहिष्मत्यां सन्निरुद्धो मुक्तो येन कपिर्यथा ॥२२॥

स एकदा तु मृगयां विचरन् विजने[5] वने।
यदृच्छयाऽऽश्रमपदं जमदग्नेरुपाविशत्[6] ॥२३॥

तस्मै स नरदेवाय मुनिरर्हणमाहरत्[7]।
ससैन्यामात्यवाहाय हविष्मत्या[8] तपोधनः ॥२४॥

---

1 ABGJMMa °वनस्वांश° 2 TW °याजश्री 3 MMa वीर्यं 4 ABGJMMa °रावृत 5 AGJMMa °पि° 6 TW °पागमत् 7 H V माचरत् 8 MMa °र्धान्या

**श्रीध०** कार्तवीर्यार्जुनेन कृतमपराधं वक्तुं तस्य दर्पहेतुमैश्वर्यादिकमाह - **हैहयानामिति** षड्भिः परिकर्मीभिः परिचर्यादिभिः दत्तं दत्तात्रेयमाराध्य ॥१७॥

**बाहूनिति**। अव्याहतमिन्द्रियादिकं च लेभे ॥१८॥

**योगेति**। यत्र यस्मिन्नैश्वर्येऽणिमादयो गुणा ॥१९॥

**स्त्रीरत्नैरिति**। रेवाम्भसि नर्मदाजले सरितं नर्मदाम् ॥२०॥

**विप्लावितमिति**। रावणो दिग्विजये माहिष्मत्याः समीपे नर्मदायां शिवपूजां[1] कुर्वंस्तेन प्रवाहस्यावरोधात् प्रतिस्रोतस· सत्यास्तस्या· सरितो जलैर्विप्लावितं स्वशिबिरमालक्ष्य तस्य[2] तद्वीर्यं न सेहे ॥२१॥

**गृहीत इति**। ततश्च कृतकिल्बिष क्रीडन्तमभिभवितुं प्रवृत्त· सन् गृहीतो माहिष्मत्यां स्वपुर्यां कपिरिव सन्निरुद्धश्ल पुनश्चावज्ञया येन मुक्त ॥२२॥

इदानीं तत्कृतमपराधं दर्शयन्नाह - **स एकदेत्यादिना** ॥२३॥

**तस्मा इति**। **अर्हणमातिथ्यादि**। हविष्मत्या कामधेन्वा ॥२४॥

**वीर०** एवं पृष्टो मुनि कार्त्तवीर्यार्जुनेन कृतमपराधं वक्तुं तस्य हेतुमैश्वर्यादिमाह - **हैहयानामिति** षड्भिः। हैहयानां जनपदानाम् अधिपति· पुरुषर्षभोऽर्जुन कार्तवीर्य्य परिकर्मभि परिचर्याभि नारायणांशावतारभूतं दत्तं दत्तात्रेयम् आराध्य ॥१७॥

दशशतं सहस्रं बाहून् अरातिषु शत्रुषु दुर्धर्षत्वं दुःसहत्वम् अव्याहतमिन्द्रियादिकं योगेश्वरत्वमैश्वर्यं च लेभे लब्धवान् इन्द्रियादीनां समाहारद्वन्द्वस्ततोऽव्याहतशब्देन कर्मधारय· तत्र ओजो बुद्धिबलं, तेजः शरीरकान्तिः, वीर्यमिन्द्रियबलं, यश· कीर्ति·, बलं शरीरबलम्। ऐश्वर्यं विशिनाष्टि - यत्र यस्मिन्नैश्वर्येऽणिमादयो गुणाः एवं लब्धसहस्रबाह्वादिरर्जुनः पवनो यथा तद्वत् लोकेष्वव्याहतगतिः विचचार ॥१८,१९॥

**स्त्रीभिरिति**। स कदाचित् स्त्रिय एव रत्नानि तैरावृतः वैजयन्तीं स्रजं बिभ्राण· रेवाम्भसि नर्मदाया[3] जले क्रीडन् मदोद्रिक्त· सरितं रेवां भुजैः रुरोध ॥२०॥

**विप्लावितमिति**। तदा दशाननो रावणो[4] दिग्विजयाय माहिष्मत्या अर्जुनपुर्य्याः समीपे नर्मदायां शिबिरे देवपूजां कुर्वन् तेन प्रवाहस्य अवरोधात् प्रतिस्रोतस प्रत्युद्गतप्रवाहाया· सरितो नर्मदाया जलैराप्लावितं स्वशिबिरमालक्ष्य तस्मादपि वीरमात्मानं

---

1 ABJ देवपूजा 2 ABJ omit तस्य 3 TW °दाजले 4 Tw omit रावण

मन्यमानः तस्य कार्त्तवीर्यस्य तद्वीर्य्यं नामृष्यत् न ममर्ष किन्तु तमभ्यद्रवदिति शेष· ॥२१॥

**गृहीत** इति। तत· कृतकिल्विषः क्रीडन्तमभिभवितुं प्रवृत्तो दशानन· स्त्रीणां समक्षं येनार्जुनेन लीलया गृहीत माहिष्मत्यां पुर्य्यां सन्निरुद्धः पश्वान्मुक्तश्च यथा कपिर्गृहीतो मुच्यते तद्वत्। अनेन रावणादप्यतिशयितवीर्य्यवत्त्वमुक्तम् ॥२२॥

इदानीं तत्कृतमपराधं दर्शयन्नाह - **स एकदेत्यादिना**। सोऽर्जुन कदाचिद्विपिने सुचिरं मृगयां विचरन् कुर्वन् यदृच्छया जमदग्नेराश्रमस्थानमुपागमत् ॥२३॥

**तस्मा** इति। तस्मै आगताय नरदेवायार्जुनाय सैन्यामात्यवाहनसहिताय स मुनिर्जमदग्निस्तपोधनो हविष्मत्या कामधेन्वा अर्हणमातिथ्यमाहरत् चक्रे ॥२४॥

**विज०** दत्तं दत्तात्रेयं परिकर्मभि परिचर्याभिराराध्य ॥१७॥

अरातिषु दुर्धर्षत्वं वरम्, अजश्रीरौत्पत्तिकी श्रीर्यत्र तेज आदयोऽणिमादयश्च गुणा· सन्ति अव्याहतगतिश्चचार इत्यन्वयः ॥१७-१९॥

रेवाया. नर्मदायाः अम्भसि रुरोध प्रवाहस्तम्भनं कृतवान् ॥२०॥

स्वशिबिरं रावणस्य सेनाविमोचनस्थानं प्रतिस्रोत· सरिज्जलै· प्रतीपगमनं स्रोतः प्रवाहो येषां तानि तथा प्रतिस्रोतांसि च सरिज्जलानि प्रतिस्रोतस्सरिज्जलानि तैर्विप्लावितं प्रवाहवेगेन नीतं वीक्ष्येति शेष । "स्रोतोऽम्बुनिर्गमद्वारे इन्द्रियेषु जलसृतौ" इति च ॥२१॥

यथा केनचित्कपिर्मुक्त पुनर्बद्धो भवति तथाऽयं दशमुखो येनार्जुनेन माहिष्मत्यां सन्निरुद्धोऽभूदित्यन्वयः ॥२२,२३॥

हविर्धान्या कामधेन्वा ॥२४॥

**सवीर[1] स्तत्र तं दृष्ट्वा[-1] [2]ह्यात्मैश्वर्यातिशायनम्।**
**तन्नाद्रियताग्निहोत्र्यां[3-] साभिलाषः स* हैहयः[-3] ॥२५॥**

**हविर्धानीमृषेर्दर्पान्नरान् हर्तुमचोदयत्[4]।**
**ते तां माहिष्मतीं निन्युः सवत्सां क्रन्दतीं बलात्[5] ॥२६॥**

---

1--1 ABGJ स्तत्र तद्दृष्ट्वा , MMa स्तस्य सन्दृष्ट्वा 2 ABGJ MMa आत्मै' 3 H V 'येताग्निहोत्र्या , MMa 'यन्नग्निहोत्रीम् 4 MMa 'मयोज' 5 ABGJ च

* According to Sridhara सहैहय

अथ राजनि निर्याते रामः[1] स्वाश्रम आगतः।
श्रुत्वा तत्तस्य दौरात्म्यं चुक्रोधाहिरिवाहतः ॥२७॥

घोरमादाय[2] परशुं[-2] सतूणं[3] वर्म कार्मुकम्।
अन्वधावत दुर्धर्षो[4] मृगेन्द्र इव यूथपम् ॥२८॥

तमापतन्तं भृगुवर्यमोजसा धनुर्धरं बाणपरश्वधायुधम्।
ऐणेयचर्माम्बरमर्कधामभिर्युतं[5] जटाभिर्ददृशे[6] पुरीं विशन् ॥२९॥

अचोदयद्धस्तिरथाश्वपत्तिभिर्गदासिबाणर्ष्टिशतघ्निशक्तिभिः[7]।
अक्षौहिणीः सप्तदशातिभीषणास्ता राम एको भगवानसूदयत् ॥३०॥

यतो यतोऽसौ प्रहरत्परश्वधो मनोऽनिलौजाः परचक्रसूदनः।
ततस्ततश्छिन्नभुजोरुकन्धरा निपेतुरुर्व्यां हतसूतवाहनाः ॥३१॥

हष्ट्वा स्वसैन्यं रुधिरौघकर्दमे रणाजिरे रामकुठारसायकैः।
विवृक्णवर्मध्वजचापविग्रहं[8] निपातितं[9] हैहय आपदत् रुषा ॥३२॥

**श्रीध० स इति**। तदर्हणं नाद्रियेत[10] तस्मिन्नातुष्यत्। यतोऽग्निहोत्र्यां होमधेनौ साभिलाषः सहैहयो हैहयैः सह वर्तमानः ॥२५॥

**हविर्धानीमिति**। दर्पाद्धेतो· ऋषेर्हविर्धानीमग्निहोत्रधेनुं हर्तुं नरानचोदयत्[11] प्रेरितवान् ॥२६,२७॥

**घोरमिति**। सतूणं कार्मुकं[12] चर्म च आदाय ॥२८॥

**तमिति**। ऐणेयचर्म, कृष्णाजिनमम्बरं यस्य ॥२९॥

**अचोदयदिति**[13]- हस्तिरथादिभिः अतिभीषणा[-13] ॥३०॥

**यत इति**। प्रहरन्परश्वधो यस्य। मनश्चानिलश्च तयोरिव ओजो वीर्यं यस्य। परेषां चक्रं सैन्यं सूदयतीति तथा। छिन्ना भुजा ऊरवः कन्धराश्च येषाम् ते। हता सूता वाहनानि च येषां ते, वीरा निपेतुः ॥३१॥

---

1 ABGJMMa "मा आ" 2 MMa परशुं योजयामास 3 ABGJMMa चर्म 4 MMa दुर्म" 5 MMa "म त्म" 6 MMa नृपा 7 MMa "वरांश" 8 ABGJMMa चर्म 9 MMa विपा" 10 ABJ "य" 11 H V omit प्रेरितवान् 12 H V वर्म 13- -13 ABJ omit

**दृष्ट्वेति**। विवृक्णाःचर्मादयो यस्य ॥३२॥

**वीर० स इति**। तदा सोऽर्जुन आत्मन ऐश्वर्यादप्यतिशयितमद्भुतं वीर्यं सामर्थ्यं दृष्ट्वा तदर्हणं नाद्रियत नादृतवान् किन्तु स हैहयोऽर्जुनः अग्निहोत्र्यां होमधेनौ साभिलाषो भटान् दृष्ट्वा ऋषेर्हविर्धानीं धेनुं हर्तुमचूचुदत्। ते चोदिता नराः सवत्सां क्रन्दतीं क्रोशन्तीं हविर्धानीं बलात्प्रसह्य माहिष्मतीं पुरीं निन्युः ॥२५,२६॥

**अथेति**। अथ राजन्यर्जुने निर्याते निर्गते सति पूर्वं क्वचिद्गतो रामः पितुराश्रममागत· तस्यार्जुनस्य तद्दौरात्म्यं श्रुत्वा आहतस्ताडितः अहिः सर्प इव चुक्रोध क्रुद्धो बभूव ॥२७॥

**घोरमिति**। ततो घोरं भीषणं परशुं सतूणं कार्मुकं वर्म कवचं च आदाय मृगेन्द्रः सिंहो यूथपं गजं प्रतीव दुराधर्षोऽन्वधावत् अर्जुनं पृष्ठतोऽनुसृत्याधावत् ॥२८॥

**तमिति**। ततस्तमापतन्तं भृगुवर्य्यं रामं पुरीं विशन्नर्जुनो ददर्श, कथम्भूतम्? ओजसा उपलक्षितमिति शेषः। ओजसा आपतन्तमिति वा। बाणपरश्वधौ बाणपरशू आयुधे यस्य तम् ऐणेयं चर्म कृष्णाजिनमम्बरं यस्य तम्, अर्कस्येव धाम तेजो यासां ताभिर्जटाभिर्युतम् ॥२९॥

**अचोदयदिति** - ततोऽर्जुनः हस्त्यादिभिः गदादिभिश्चातिभीषणः सप्तदशाक्षौहिणीः सेनाः उच्चुचुदत् ऋष्टिशतघ्निशक्तयः आयुधविशेषाः। ताश्च अक्षौहिणीर्भगवत् रामो भार्गव एकोऽसहाय एव असूदयत् जघान हस्तिनो गजाः, पत्तयः पदातयः, रथानामेकविंशतिसहस्राणि अष्टौ शतानि सप्तातिश्चैका एवं गजानामपि, नराणां तु शतसहस्राणि नव सहस्राणि च पञ्चाशदधिकानि त्रीणि शतानि च अश्वानां तु सहस्राणि षट् षष्टिः पट् चेति सङ्कलय्य एकाऽक्षौहिणी ज्ञेया। तथा चोक्तं महाभारते आदिपर्वणि द्वितीये अध्याये -

एको रथो गजश्चैकः नराः पञ्च पदातय·। त्रयश्च तुरगास्तज्ज्ञै· पत्तिरित्यभिधीयते॥

पत्तिं तु त्रिगुणामेतां विदुः सेनामुखं बुधाः। त्रीणि सेनामुखान्येको गुल्म इत्यभिधीयते।

त्रयो गुल्मा गणो नाम वाहिनी तु गणास्त्रयः। श्रुतास्त्रिस्रस्तु वाहिन्यः पृतनेति विचक्षणैः ॥

चमूस्तु पृतनास्त्रिस्रश्चम्वस्त्रिस्रस्त्वनीकिनी। अनीकिनीन्दश गुणामाहुरक्षौहिणीं बुधाः ॥

अक्षौहिण्यस्तु संख्याता रथानां द्विजसत्तमा·। संख्या गणिततत्वज्ञैः सहस्राण्येकविंशतिः ॥

---

1 H V वर्मा·

शतान्युपरि चाष्टौ च तथाभूयश्च सप्तति। गजानां तु परीमाणं तावदेवात्र निर्दिशेत्॥

ज्ञेयं शतसहस्रं तु सहस्राणि तथा नव। नरणामधिपञ्चाशच्छतानि त्रीणि चानघाः ॥

पञ्चषष्टिसहस्राणि तथाऽश्वानां शतानि च। दशोत्तराणि षट्चाहुर्यथावदभिसंख्यया॥[1]

एतामक्षौहिणीं प्राहुः संख्यातत्त्वविदो जनाः।

इति। यतो यत इति। प्रहरन् परश्वधो यस्य अनलस्येव ओजस्तेजो यस्य असौ रामः परेषां चक्रं सैन्यमण्डलं सूदयतीति तथा "भूतो यत्र यतो यत्र यत्र सैन्यैः विचक्रमे इति शेषः। ततस्तत्र तत्र तत्र च्छिना भुजा ऊरवः कन्धराश्च येषां हताः सूता वाहनानि च येषां ते वीरा निपेतुः ॥३०,३१॥

ततो रामस्य कुठारेण सायकैश्च विवृक्णा च्छिन्ना वर्मादयो यस्य तत् स्वसैन्यं रुधिरौघेण कर्दमो यस्मिन् तस्मिन् रणाजिरे युद्धाङ्गणे निपातितं हष्ट्वा हैहयोऽर्जुनो रुषा आपतत् तत्र विग्रहो देहः ॥३२॥

विज० आत्मनः स्वस्य ऐश्वर्यमतिशायिनं अतीत्य वर्तमानं तदैश्वर्यं नाद्रियन् नादरं कुर्वन् अग्निहोत्रीं धेनुं प्रति सभिलाषः इच्छां कुर्वन् ॥२५॥

हविर्धानीं धेनुं, नरान् पुरुषान् हर्तुं नेतुम् अयोजयत् नियुक्तवान् ॥२६,२७॥

योजयामास उत्तेजितं कृतवान्, कार्मुकं गृहीत्वेति शेषः। रथे योजयामासेति वा ॥२८॥

ऐणेयं चर्म कृष्णाजिनं तदेवाम्बरं यस्य स तथा तम् आत्मनः स्वस्य धाम तेजो यासां ताः तथा, ताभिर्जटाभिर्युक्तं तं पुरीमापतन्तम् ॥२९॥

अर्जुनो या अक्षौहिणीरचोदयत् रामस्ता असूदयदित्यर्थः ॥३०॥

मनोवदनिलवदोजो वेगो यस्य स तथा मनोद्वेग अनिलवदवष्टम्भ इति वा "ओजोऽवष्टम्भबलयोः" (वैजःकोः 6-3-4) इति यादवः ॥३१॥

विग्रहो देहः ॥३२॥

**अथाऽर्जुनः पञ्चशतेषु बाहुभिर्धनुःषु बाणान् युगपत्[2] स सन्दधे।**
**रामाय रामोऽस्त्रभृतां समग्रणीस्तान्येकधन्वेषुभिरच्छिनत्[4] समम् ॥३३॥**

---

1 TW 'ट्प्रा' 2 MMa सु 3 ABJ 'तानेकबद्धेषुभि' 4 ABGJ राच्छिनत्

पुनः स्वहस्तैरचलान् मृधेऽङ्घ्रिपानुत्क्षिप्य वेगादभिधावतो युधि।
भुजान् कुठारेण कठोरनेमिना चिच्छेद रामः प्रसभं हसन्निव ॥३४॥

कृत्तबाहोः शिरस्तस्य गिरेः श्रृङ्गमिवाहरत्।
हते पितरि तत्पुत्राः अयुतं दुद्रुवुर्भयात् ॥३५॥

अग्निहोत्रीमुपावर्त्य सवत्सां परवीरहा।
समुपेत्याश्रमं पित्रे परिक्लिष्टां समर्पयत् ॥३६॥

स्वकृतं तत्कृतं रामः पित्रे भ्रातृभ्य एव च।
वर्णयामास तच्छ्रुत्वा जमदग्निरभाषत ॥३७॥

राम राम महाबाहो भवान् पापमकारषीत्।
अवधीन्नरदेवं यत् सर्वदेवमयं वृषा ॥३८॥

**श्रीध० अथेति**। पञ्चशतेषु धनु:षु सोऽर्जुनो रामाय सन्दधे। एकमेव धनुर्यस्य सः। पाठान्तरे एक एव बन्धः सन्धानं येषां तैरिषुभिः। तानि धनूंषि समं सह तत्क्षणमेवाच्छिनत् ॥३३॥

**पुनरिति**। मृधे साधनभूतानचलान् अंघ्रिपांश्च उत्क्षिप्य अभिधावतस्तस्य भुजान् युधि चिच्छेद। अहेः फणानिवेत्यर्थः ॥३४,३५॥

**अग्निहोत्रीमिति**। पित्रे परिक्लिष्टां अग्निहोत्रीं समर्पयत्समार्पयत समर्पितवान् ॥३६-३८॥

**वीर० अथेति**। अथ पञ्चशतेषु धनुष्मद् बाहुभिर्बाणान् युगपत् सोऽर्जुनो रामाय सन्दधे अथ अस्त्रभृतामग्रणीः राम एकधन्वी तान् बाणान् इषुभिः सममेकदा समच्छिनत् सञ्चिच्छेद ॥३३॥

**पुनरिति**। पुनः स्वहस्तैरचलानङ्घ्रिपांश्चोत्क्षिप्य युधि संग्रामे वेगादभिधावतोऽर्जुनस्य भुजान् कठोरनेमिना कुठारेण रामः प्रहसन्निव प्रसभं बलाच्चिच्छेद ॥३४॥

---

1 ABGJ त्वहेरिव , H V फणानिव 2 MMa गिरिश्शृ° 3- -3 TW सख्यया त्वयुत तदा 4 H V वृत्य , TW ह्रत्य 5 TW दुर्द्रुवुर्भयात् 6 TW स अे° 7 TW समा° 8 ABGJMMa स्वकर्म 9 H V TW °रु° 10 ABGJMMa वृथा 11 ABJ omit युधि 12 ABJ °णा इवे° 13- 13 ABJ omit 14 H V omit 15 ABJ omit समर्पितवान्

**कृत्तेति**। कृत्ता च्छिन्ना बाहवो यस्य तस्यार्जुनस्य शिरः गिरेः सकाशात् शृङ्गमिव जहार एवं पितर्यर्जुने हते सति तस्यार्जुनस्य पुत्रा अमुतसङ्ख्याकाः भयादाग्निहोत्रीं होमधेनुं सवत्साम् उपाहृत्य समीपमानीय रामाय समर्प्येत्यर्थः। दुद्रुवुः पलायाञ्चक्रिरे ततो राम आश्रममुपेत्य परिक्लिष्टां धेनुं पित्रे जमदग्नये समार्पयत् ॥३५-३६॥

तत्स्वेन कृतं कर्म पित्रे भ्रातृभ्यश्च वर्णयामास[1]। तद्रामोपवर्णितं कर्म श्रुत्वा जमदग्निरब्रवीत् ॥३७॥

तदेवाह - **रामरामेति** यावत्समाप्ति। हे राम राम! महाबाहो! भवान् पापं कृतवान् किं तत्? यत् सर्वदेवमयं नरदेव मर्जुनं वृथा हतवानसीति ॥३८॥

**वीज०** अथाऽगत्य अर्जुनः पञ्चशतेषु धनुष्षु बाहुभिः बाणान्युगपदेकप्रयत्नेन सन्दधे। अस्त्रभृतां सम्यगग्रणी रामः समं युगपदेकस्मिन् धनुषि बद्धेषुभिः सन्धितशरैस्तान् पञ्चशतशरान् अच्छिनदित्यन्वयः ॥३३॥

पुनः रामः स्वहस्तैरचलान् गिरीन् अद्रिपान् वृक्षान् मृधे उत्क्षिप्य प्रहृत्य युधि वेगादभिधावतोऽर्जुनस्य भुजान् कठोरनेमिना शितधारेण चिच्छेदेत्यन्वयः ॥३४,३५॥

उपावर्त्य निवर्त्य इतस्तत आकर्षणादिना परिक्लिष्टां क्लेशोपेताम् ॥३६,३७,३८॥

**वयं हि ब्रह्मणास्तात क्षमयार्हणतां गताः।**
**यया लोकगुरुर्देवः पारमेष्ठ्यमगात्[2] पदम् ॥३९॥**

**क्षमया रोचते लक्ष्मीर्ब्राह्मी सौरी यथा प्रभा।**
**क्षमिणामाशु भगवांस्तुष्यते हरिरीश्वरः ॥४०॥**

**राज्ञो मूर्धाभिषिक्तस्य[3] वधो ब्रह्मवधात् गुरुः।**
**तीर्थसंसेवया चांहो जह्याङ्गाच्युतचेतनः ॥४१॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

**श्रीध० वयमिति**। अर्हणतां पूज्यताम् अयात् अगात्[4] ॥३९॥

---

1 A.B Add शुश्राव 2 H V 'वा' 3 H MMa 'व' 4-4 AGJ omit

**क्षमयेति**। सौरी सूर्यस्य प्रभेव ॥४०॥

राज्ञ इति। तीर्थसंसेवया चकाराद्यमनियमैश्च। अच्युते चेतना चित्तं यस्य स ॥४१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकाया
व्याख्यायां नवमस्कन्धे पञ्चदशोऽध्याय ॥१५॥

**वीर०** कृतागसो हननं न पापमित्यत्राह - **वयमिति**। वयं ब्राह्मणा हि "**घातुं न घातुको विप्रः**" इत्युक्तविधा हीति भावः क्षमया हेतुभूतयाऽर्हणतां पूज्यतां गताः प्राप्त·। क्षमां प्रस्तौति ययेति। लोकगुरुर्देवो ब्रह्मा यया क्षमया पारमेष्ठ्यं परमेष्टियोग्यं पदं स्थानम् अगात् प्राप्तवान् ॥३९॥

**क्षमयेति**, क्षमयैव ब्राह्मी लक्ष्मीः ब्रह्मकुलसम्बन्धिनी शमदमादिसम्पत् यथा सौरी सूर्यप्रभा तथा रोचते प्रकाशते। भगवान् हरिरीश्वरोऽपि क्षमिणां क्षमावतामेवाऽऽशु तुष्यते प्रसन्नो भवतीति भाव· ॥४०॥

**राज्ञ इति**। किञ्च मूर्द्धाभिषिक्तस्य सार्वभौमस्येत्यर्थ । तस्य राज्ञो वधो ब्रह्मवधाद्विप्रवधादपि गुरु· नितरां पापरूपः अतस्त्वं उच्यसे भगवति न्यस्ता चेतना ज्ञानं यस्य तथाभूतस्तीर्थानां गङ्गादीनां संसेवया अंहस्तत्पापं जहि अपाकुरु ॥४१॥

**विज०** यथा सौरी सूर्यसम्बन्धिनी प्रभा रोचते तथा ब्राह्मी ब्राह्मणसम्बन्धिनी लक्ष्मीः क्षमया प्रकाशते ॥४०॥

मूर्द्धावसिक्तस्य चक्रवर्तिनः ब्रह्मवधात् ब्राह्मणहननादच्युते श्रीनारायणे बुद्धिर्यस्य स तथा ॥४१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
नवमस्कन्धे पञ्चदशोऽध्याय ॥१५॥

# षोडशोऽध्यायः

## श्रीशुक उवाच

पित्रोपाशिक्षितो रामः तथेति कुरुनन्दन।
संवत्सरं तीर्थयात्रां चरित्वाऽऽश्रममव्रजत् ॥१॥

कदाचित् रेणुका याता गङ्गायां पद्ममालिनम्।
गन्धर्वराजं क्रीडन्तमप्सरोभिरवैक्षत ॥२॥

विलोकयन्ती क्रीडन्तमुदकाय नदीं गता।
होमवेलां न सस्मार किञ्चिच्चित्ररथस्पृहा ॥३॥

कालात्ययं तं विलोक्य मुनेः शापविशङ्किता।
आगत्य कलशं तस्थौ पुरोधाय कृताञ्जलिः ॥४॥

व्यभिचारं मुनिर्ज्ञात्वा पत्न्याः प्रकुपितोऽब्रवीत्।
घ्नतैनां पुत्रकाः पापामित्युक्तास्ते न चक्रिरे ॥५॥

रामः सञ्चोदितः पित्रा भ्रातॄन् मात्रा सहावधीत्।
प्रभावज्ञो मुनेः सम्यक् समाधितपसोश्च सः ॥६॥

वरेणच्छन्दयामास प्रीतः सत्यवतीसुतः।
वव्रे हतानां रामोऽपि जीवितं चास्मृतिं वधे ॥७॥

उत्तस्थुस्ते कुशलिनो निद्रापाय इवाञ्जसा।
पितुर्विद्वांस्तपोवीर्यं रामश्चक्रे सुहृद्वधम् ॥८॥

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

षोडशेऽ थार्जुनसुतैर्जमदग्नौ हते मुहुः। रामात्क्षत्रवध. प्रोक्तो विश्वामित्रस्य चान्वय ॥

यद्वा - तीर्थान्यटन् प्रसूभ्रातॄन् रामोऽहन् षोडशे नृपान्। गाधेः पुत्रोऽभवद्विप्रः तद्वंशोऽभूदनेकशः

---

1 MMa "चर्या 2 ABGJMMa "रपश्यत 3 ABGJMMa "कार्थं 4 MMa क्तास्ता 5 B सम्बोधित 6- -6 ABGJMMa समाधेस्तपसश्च 7 H V "शेचा"

**विलोकयन्तीति**। किञ्चिदीषच्चित्ररथे गन्धर्वराजे स्पृहा यस्या सा। किंञ्चित् न सस्मारेति वा ॥१-३॥

**कालेति**। कलशं पुरोधाय अग्रे निधाय ॥४॥

**व्यभिचारमिति**। व्यभिचारं मानसं ज्ञात्वा ॥५॥

**राम इति**। आज्ञाऽतिलङ्घिनां भ्रातृणां मातुश्च वधे सञ्चोदित सन् मुनेर्· समाधिस्तपश्च तयोः प्रभावज्ञ·। यदि न हन्यां तर्हि मामपि शप्तुं समर्थः, यदि तु हन्यां तर्हि मयि सन्तुष्टः सन् तानपि जीवयितुं समर्थ इति जानन्नित्यर्थ· ॥६-७॥

**उत्तस्थुरिति**। ननु अतिनिन्दितं तत्कथं कृतवांस्तत्राह - पितुर्विद्वानिति, पूर्वोक्त एवाभिप्रायः ॥८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं पित्रोपशिक्षित आदिष्टो रामस्तथेत्यङ्गीकृत्य हे कुरुनन्दन संवत्सरं तीर्थचर्यां कृत्वा कृत्वा पुनराश्रम मायया ॥१॥

**कदाचिदिति**। एवं स्थिते कदाचिद्रेणुका गङ्गां प्रति गता तस्यां कञ्चित् अप्सरोभिः सह क्रीडन्तं पद्ममालिनं चित्ररथाख्यं गन्धर्वराजमपश्यत् ॥२॥

**विलोकयन्तीति** उदकार्थं जलाहरणार्थं नदीं गङ्गां गता रेणुका क्रीडन्तं विलोकयन्ती सती किञ्चिदीषत् चित्ररथे स्पृहा यस्यास्तथाभूता होमवेलां पत्युरग्निहोत्रहोमसमयं न सस्मार विस्मृतवती ॥३॥

**कालात्ययमिति**। तत· कथञ्चित् तं कालातिक्रमं विलोक्य विदित्वा मुने· पत्युः सकाशादात्मनः शापमाशङ्कमाना रेणुका त्वरया आगत्य कलशं पुरः पत्युरग्रे निधाय कृताञ्जलिस्तस्थौ ॥४॥

**व्यभिचारमिति**। ततो मुनिः जमदग्निः पत्न्याः व्यभिचारं ज्ञात्वा प्रकुपितः पुत्रानब्रवीत्, किमिति? हे पुत्रकाः! पापामेनां घ्नत मारयतेति। एवमुक्तास्ते पुत्रा न चक्रिरे, मातृवधमिति शेषः ॥५॥

**राम इति** ततः पित्रा सञ्चोदितः आज्ञातिलङ्घिनां भ्रातॄणां मातुश्च वधे परिचोदित· स रामः मात्रां सह भ्रातॄनवधीत् कथमेव मकृत्यं कृतवानिति शङ्कां निराकुर्वन् रामं विशिनष्टि - मुने पितुर्· समाधिस्तस्य तपसश्च सम्यक् प्रभावं जानातीति तथाभूतः। यदि न हन्यां मामपि शप्तुं प्रभुः, यदि वा हन्यां तर्हि पुनः प्रसादितः पिता मृतान् जीवयितुं समर्थ इति जानन्निति भावः ॥६॥

**वरेणेति**। ततः प्रीतः सत्यवत्याः सुतो जमदग्निः वरेण छन्दयामास। अध्ययनेन वसतीतिवत् वरेणेति हेत्वर्थे तृतीया

1 H V omit अति

वरार्थं चोदयामासेत्यर्थः। राममिति शेषः। तत. पित्रा वराय चोदित· रामः हतानां पुनर्जीवनं, तेषामात्मवधे अस्मृतिं विस्मृतिं च वव्रे ॥७॥

**उत्तस्थुः** इति ततस्ते भ्रातर समातृका निद्रान्त इवाञ्जसा कुशलिनो जीवन्त उत्तस्थुः, नन्वनुचितं कथं कृतज्ञान्? तत्राह - पितुरिति। पूर्वोक्त एवाभिप्राय शब्दार्थ स्फुट· ॥८॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

चरित्वा कृत्वा ॥१॥

याता गङ्गामिति शेष ॥२॥

किञ्चिच्चित्ररथस्पृहा, ईषच्चित्ररथे स्पृहावती जाता ॥३॥

कलशं भर्तु पुरो निधाय तत्रैव कृताञ्जलिस्तथौ ॥४॥

घ्नत हताङ्कुरुत तां हतिम् ॥५॥

मुनेः समाधे तपसश्च सम्यक् प्रभावज्ञ प्रतापमाहात्म्ययो. प्रभाव स्यादिति ॥६॥

छन्दयामास वशीचकार "वशाभिप्राययो छन्द·" इति चैं। [1] वधे अस्मृतिं वयं रामेण हता इति स्मृतिशून्यत्व लक्षणं वरं च ॥७॥

[2] राम एते वसुमदादयो जीवन्ति चेत् जीवन्तु नो चेत् म्रियन्तामिति मत्वा सृहृद्वधो नाकारि किन्तु स्वसार्वज्ञमीश्वरत्वेन दोषाभाव न प्रकटयितुमिति भावेनेत्याह - पितुरिति। "वीर्यं परक्रमे रेतस्यन्नमाहात्म्ययोरपि" (वैज. को.6-3-32) इत्यभिधानात्। पितुस्तपो माहात्म्यं जानता कृतमिति भाव। साक्षान्नारायणावतारस्य निरवद्यस्य सकलगुणाकरस्य भार्गवरामस्य क्षत्रहत्यादि दोषमार्जनाय तीर्थसेवा मातृभ्रातृवधात् स्वाज्ञाकारित्वेन प्रसन्नात् पितुर्वरदानमित्यादिकं कथं घटत इतीत्थं शङ्का 'जामदग्न्यो वरं वव्रेऽनन्तशक्तिरपि स्वयम्। पितुर्मान्यत्वसिध्यर्थं लोके लोकेश्वर प्रभु ॥' इत्यादि वाक्येन परिहर्तव्या इति ज्ञातव्यम् ॥८॥

**[3] येऽर्जुनस्य सुता राजन् स्मस्तः स्वपितुर्वधम्।**
**रामवीर्यपराभूता लेभिरे शर्म न क्वचित् ॥९॥**

**एकदाऽऽश्रमतो रामे सभ्रातरि वनं गते।**
**वैरं सिसाधयिषवो लब्धच्छिद्रा उपागमन् ॥१०॥**

1 AB °वधे 2 AB रामेण 3 MMa °न्तस्म पि°

दृष्ट्वाग्न्यगार आसीनमावेशितधियं मुनिम्।
भगवत्युत्तमश्लोके जघ्नुस्ते पापनिश्चयाः ॥११॥

याच्यमानाः कृपणया राममात्रातिदारुणाः।
प्रसह्य शिर उत्कृत्य निन्युस्ते क्षत्रबन्धवः ॥१२॥

रेणुका दुःखशोकार्ता निघ्नन्त्याऽऽत्मानमात्मना।
राम[1] रामेहि[2] तत्राशु विचुक्रोशोच्चकैः सती ॥१३॥

तदुपश्रुत्य दूरस्थाः[3] हा रामेत्यार्तवत्स्वरम्[4]।
त्वरयाऽऽश्रममासाद्य ददृशुः[5] पितरं हतम् ॥१४॥

तेदुःखरोषामर्षातिशोकवेगविमोहिताः[6]।
हा तात साधो धर्मिष्ठ[7] त्यक्त्वाऽस्मान् स्वर्गतो भवान् ॥१५॥

विलप्यैवं पितुर्देहं निधाय भ्रातृषु स्वयम्।
प्रगृह्य परशुं रामः क्षत्रान्ताय मनो दधे ॥१६॥

**श्रीध०** सर्वक्षत्रियवधे कारणं वक्तुमाह - **येऽर्जुनस्य सुता** इत्यादिना ॥९,१०॥

**दृष्ट्वेति**। भगवत्यावेशिता धीर्येन तम् ॥११-१४॥

**ते इति**। दु खादीनां वेगेन विमोहिता[9] ॥१५,१६॥

**वीर०** सर्वक्षत्रियवधे कारणं वक्तुमाह- येऽर्जुनस्यसुता इत्यादिना। हे राजन्! अर्जुनस्य ये सुता रामवीर्येण पलायितास्ते स्वपितुर्वधं रामकृतं स्मरन्त· क्वचिदपि शर्म सुखं न लेभिरे ॥६॥

**एकदेति**। कदाचित् सभ्रातरि रामे स्वाश्रमाद्वनं गते सति वैरं सिषाधयिषव [10-]प्रतिचिकीर्षव·[-10] लब्धच्छिद्रा लब्धावसरा उपागमन्,अर्जुनसुता इत्यनुषङ्ग· ॥१०॥

**दृष्ट्वेति**। तत्राश्रमे अग्न्यगारे अग्निहोत्रशालायामासीनं भगवत्यावेशितधियं समाहितमनसं मुनिं जमदग्निं दृष्ट्वा पाप इव निश्चयोयेषां तेऽर्जुनसुताः जघ्नु· हतवन्तः ॥११॥

---

1 MMa रामेति 2 ABGJMMa तातेति 3 ABGJ स्थो 4 ABGJ °नम्° 5 ABGJ °शे 6 ABGJ तदु° 7 ABGJMMa °र्ति° 8 ABGJMMa °त 9 ABJ °त 10- -10 W omits

**याच्यमाना इति**। कृपणया राममात्रा रेणुकया याच्यमाना., एनं न मारयतेति शषेः। अतिदारुणाः नितरां क्रूराः बलाच्छिर उत्कृत्य छित्त्वा[1] ते क्षत्रबन्धव. निन्युः नीतवन्तः ॥१२॥

**रेणुकेति**। तदा रेणुका दुःखशोकार्ता दु·खं मानसिक· क्लेश., शोको बाह्यस्ताभ्यामार्ता पीडिता आत्मना आत्मानं घ्नन्ती ताडयन्ती सती रामरामेत्येवमुच्चैश्चुक्रोश आजुहाव ॥१३॥

हा! रामेत्यार्तस्वरं दूरस्थाः सुताः श्रुत्वा त्वरया आश्रममासाद्य[2] हतं पितरं ददृशुः ॥१४॥

त इति। ते जमदग्निसुताः[3] दुःखादीनां वेगेन विमोहिता बभूवुरिति शेषः। तत्र दुःखं मानसिक उपतापः, रोषः क्रोधः, अमर्षोऽक्षमा, आर्ति· दैन्यं शोको रोदनं ततो रामः हा तातेत्यादिरूपेण विलप्य पितुर्देहं भ्रातृषु निधाय पितुर्देहं रक्षतेति भ्रातृनादिश्येत्यर्थ·। स्वयं परशुं प्रगृह्य क्षत्रान्ताय क्षत्रकुलनाशाय मनो दधे सङ्कल्पश्चकार ॥१५-१६॥

**विजं०** लब्धच्छिद्रा लब्धावसरा· ॥९,१०॥

**विधयादाहृत्य** भगवत्येव निवेशितबुद्धिम् ॥११-१२॥

आत्मना यत्नेन आत्मानं देहैकदेशमुदरं "आत्मा..... यत्नेऽर्केऽग्नौ मतौ वाते" (वैजः कोः6-7-1) इति यादवः। आत्मशब्दः **धृतौ** ॥१३॥

दूरस्थाः **स्वभिन्नदेशङ्गता** ॥१४-१५॥

**क्षत्रान्ताया**ऽविशेषेण क्षत्रियकुलनाशाय ॥१६॥

**गत्वा माहिष्मतीं रामो ब्रह्मघ्नविहतश्रियम्।**
**तेषां[4] स शीर्षभी[5] राजन् मध्ये चक्रे महागिरिम् ॥१७॥**

**तद्रक्तेन नदीं घोरामब्रह्मण्यभयावहाम्।**
**हेतुं कृत्वा पितृवधं क्षत्रेऽमङ्गलकारिणि ॥१८॥**

**त्रिः सप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः[6]।**
**शमन्तपञ्चके[7] चक्रे शोणितोदान् ह्रदान् नृप[8] ॥१९॥**

---

1 W omits छित्त्वा 2 W °मगत्य 3 W दग्ने 4 MMa तस्या 5 MMa राज्ञां 6 MMa विभु. 7 B °ञ्चकं 8 BH MMa V नव

पितुः कायेन सन्धाय शिर आदाय बर्हिषि।
सर्वदेवमयं देवम् आत्मानमयजन्मखैः ॥२०॥

ददौ प्राचीं दिशं होत्रे ब्रह्मणे दक्षिणां दिशम्।
अध्वर्यवे प्रतीचीं[1] वै उद्गात्रे[2] ह्युत्तरां दिशम् ॥२१॥

अन्येभ्योऽवान्तरदिशः कश्यपाय च मध्यतः।
आर्यावर्तमुपद्रष्ट्रे सदस्येभ्यस्ततः परम् ॥२२॥

ततश्चावभृथस्नानविधूताशेषकिल्बिषः।
सरस्वत्यां ब्रह्मनद्यां रेजे व्यभ्र इवांशुमान् ॥२३॥

स्वदेहं जमदग्निस्तु लब्ध्वा संज्ञानलक्षणम्।
ऋषीणां मण्डले सोऽभूत् सप्तमो रामपूजितः ॥२४॥

**श्रीध० गत्वेति**। ब्रह्मघ्नैर्विहता श्रीर्यस्यास्ताम्। हे राजन्! स रामस्तेषां शीर्षभिर्माहिष्मत्या मध्ये महान्तं गिरिं चक्रे ॥१८॥

**तदिति**। तेषां रक्तेनाब्रह्मण्यानां भयावहां घोरां नदीं चक्रे[3] इत्यनुषङ्गः तथाऽपि[4] सर्वक्षत्रियवधे किं कारणं तदाह - हेतुं कृत्वेति सार्धेन। अमङ्गलकारिणि अन्यायवर्तिनि सति ॥१८॥

**त्रिस्सप्तकृत्व इति**। त्रि सप्तकृत्वो रेणुकया दुःखावेशादुरस्ताडनं कृतं ततो रामः तावत्कृत्वः क्षत्रं उत्सादितवानिति प्रसिद्धिः ॥१९-२३॥

**स्वदेहमिति**। संज्ञानं स्मृतिस्तदेव लक्षणं चिह्नं यस्य तं, स्वदेहं लब्ध्वा स ऋषीणां मण्डले सप्तमऋषिरभूत् ॥२४॥

**वीर० गत्वेति**। ततः स रामः ब्रह्मघ्नैर्विहता श्रीर्यस्यास्तां माहिष्मतीं गत्वा तस्याः पुर्याः मध्ये हैहयानां शिरोभिः महागिरिं चक्रे चकार ॥१७॥

**तद्रक्तेनेति**। तेषां रक्तेन अब्रह्मण्यानां भयावहां घोरां नदीं च चक्रे, तथापि सर्वक्षत्रवधे किं कारणम्? तत्राह - हेतुं कृत्वेति सार्द्धेन। क्षत्रे अमङ्गलकारिणि अन्यायवर्तिनि सति पितृवधं हेतुं निमित्तं कृत्वा प्रभूः रामः त्रिस्सप्तकृत्वः एकविंशतिवारं

---

1 H MMa V °चींत्वा , W °च्याशा 2 ABGJ °त्रे उ° , MMa °त्र उ° 3 ABJ omit इत्यनुषङ्ग 4 H V °क्षत्र°

पृथ्वीं[1] निःक्षत्रियां क्षत्रबीजरहितां कृत्वा श्यमन्तपञ्चकाख्ये[2] देशे शोणितोदकान् ह्रदान्, पञ्चेतिशेषः। चक्रे हे नृप! अत्र शोणितोदान् ह्रदान्, नृपेतिपाठस्तु साम्प्रदायिकः। ह्रदान्नवेति तु अपपाठः तद्देशे श्यमन्तपञ्चकशब्दप्रवृतौ[3] शोणितोदक ह्रदपञ्चकसमीपवर्तित्वस्यैव निमित्तत्वात्। नवेति पाठे श्यमन्तनवकंशब्दप्रयोगापत्तेः[4]। तथा चोक्तं महाभारते आदिपर्वणि द्वितीयेऽध्याये -"श्यमन्तपञ्चकमिति[5] यदुक्तं सूतनन्दन। एतत्सर्वं यथान्यायं श्रोतुमिच्छामहे वयम्। इति पृष्टो मुनिः सूत आह :- त्रेताद्वापरयोस्सन्धौ[6] रामः प्रहरतां वरः। असकृत्पार्थिवं क्षत्रं जघानामर्षचोदितः॥ स सर्वक्षत्रमुत्साद्य स्ववीर्येणानलद्युतिः। स्यमन्तपञ्चके पञ्च चकार रुधिरह्रदान्॥ स तेषु रुधिराम्भस्सु ह्रदेषु क्रोधमूर्च्छितः। पितॄन् सन्तर्पयामास रुधिरेणेति नः श्रुतम्॥ अथर्चीकादयोऽभ्येत्य[7] पितरो ब्रह्मणर्षभम्। तं क्षमस्वेति निषिधुस्तत स विरराम ह॥ तेषां समीपे यो देशो ह्रदानां रुधिराम्भसाम्। श्यमन्तपञ्चकमिति[8] तत्पुण्यं परिकीर्त्यते॥ येन लिङ्गेन यो देशो युक्तः समुपलक्ष्यते। तेनैव नाम्ना तं देशं वाच्यमाहुर्मनीषिणः" ॥ इति।

अत्र तेषां समीपे यो देश इति समीपशब्देन शमन्तशब्दार्थ उक्तः शमन्तः समनन्तरः समीपदेशः परितो देश इति यावत्। तेषां रुधिराम्भसामित्यनेन पञ्चकशब्दार्थः षष्ठीसमासश्च प्रदर्शितः शमन्तशब्दस्य पूर्वनिपातस्तु आर्षः, येन लिङ्गेनेत्यनेन तदेव तच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तमित्युक्तम्, अतो नृपेत्येव पाठः साधु. अन्यथोदाहृतभारतविरोधापत्तेः। ननु रुधिरोदकह्रदपञ्चकनिर्माणानन्तर भावितद्देशस्य तन्नामधेयं, तत्कथं "शमन्तपञ्चके पञ्च चकार रुधिरह्रदान्" (भार 1-2-4) इति भारतवचनं प्रकृतं श्रीभागवतवचनञ्च उपपद्यते इति चेत् न। सूत्रशाटकादिसंज्ञावत् भाविसंज्ञाविज्ञानादुपपत्तेः। त्रिस्सप्तकृत्वो रेणुकया दुःखावेशादुदरताडनं कृतं ततो रामस्तावत् कृत्वः क्षत्रमुत्सादितवानिति प्रसिद्धिमवेक्ष्य तत्र तत्र त्रिस्सप्तकृत्व इत्युच्यते ॥१८-१९॥

पितुरिति, ततः पितुश्शिर आदाय तद्बर्हिषि यज्ञे पितुः कायेन सह संयोज्य मखैः क्रतुभिः सर्वदेवमयं देवं परमात्मानमयजत ॥२०॥

ददाविति। ततः प्राचीं दिशं होत्रे दक्षिणां तु दिशं ब्रह्मणे प्रतीच्याशां प्रतीचीं दिशम् अध्वर्यवे उत्तरां दिशमुद्गात्रे अवान्तरदिशः आग्नेयादिदिशः अन्येभ्यः ऋत्विग्भ्यः मध्यमां दिशं काश्यपाय तत्राप्यार्यावर्तं विन्ध्यहिमवत्पर्वतमध्यमदेशम् उपद्रष्टे तत आर्यावर्तात्परं परितः तं देशं विभज्येति शेष सदस्येभ्यो ददौ ॥२१-२२॥

तत इति। ततश्चावभृथस्नातः क्रत्ववसानिके अवभृथाख्ये कर्मणि स्नातः विधूतान्यशेषाणि किल्बिषाणि येन तथाभूतः। विगताभ्रः सूर्य्य इव सरस्वत्याख्यायां ब्रह्मनद्यां रेजे[9] ॥२३॥

---

1 A omits पृथ्वीं 2 AB स्य° 3 AB स्य° 4 AB स्य° 5 AB °स्य 6 AB न्ध्यो 7 W °र्चिं 8 AB स्य° 9 W राज

स जमदग्निस्तु संज्ञानं स्मृतिस्तदेव लक्षणं चिह्नं यस्य तं स्वदेहं लब्ध्वा रामेण पूजित· सप्तर्षीणां मण्डले सप्तमः ऋषिरभूत् ॥२४॥

**विज०** ब्रह्मघ्नैर्ब्राह्मणहन्तृभि· विहता नष्टा श्रीर्यस्या· सा तथा तां शीर्षभिः तस्यां प्रविश्य, मध्ये माहिष्मतीमध्ये ॥१७॥

अब्रह्मण्यानां ब्राह्मणद्वेषिणां भयङ्करां नदीं चक्र इति गतेनान्वय·। निमित्तमाह - हेतुमिति अमङ्गलकारिणि सति ॥१८॥

शमन्तपञ्चके कुरुक्षेत्रे शोणितान्येवोदकानि येषु ते तथा तान् ह्रदान् जलैरगाधप्रदेशान् ॥१९॥

शिरः कायेन सन्धाय बर्हिषि यज्ञ आधाय दर्भबन्धनविशेषे वा सर्वदेवमयं सर्वदेवोत्तमम् ॥२०-२१॥

उपद्रष्ट्रे न्यूनातिरिक्तकर्मसाक्षिणे परम् अवशिष्टम् ॥२२॥

विधूताशेषकिल्बिषत्वमौपचारिकं लोकशिक्षार्थत्वात्। नाम्ना सरस्वत्यां ब्रह्मनद्यां वेदमय्यां नद्यां व्यभ्र. मेघच्छायानिर्मुक्तः अंशुमानादित्यः जनेति पदाध्याहरेणावभृथस्नानविधूताऽशेषकिल्बिषजन इति वा अवभृथस्नानेन विधूतमशेषं किल्बिषं यस्य स तथा अवभृथस्नानविधूताऽशेषकिल्बिषो जनो यस्य स तथा अनेन अवभृथस्नानेन जनस्याऽशेषतः किल्बिषं विद्ध्वस्तं भवतीति दर्शनाय रामेण अवभृथस्नानमकारीति सूचितं भवति ॥२३॥

जमदग्निस्तु संज्ञानलक्षणं ज्योतिर्मयलक्षणं स्वयोग्यं देहमाकारविशेषं लब्ध्वा सप्तर्षीणां मण्डले सप्तमः, ऋषिरिति शेषः अभूत् ॥२४॥

**जामदग्न्योऽपि भगवान् रामः कमललोचनः।**
**आगामिन्यन्तरे राजन् वर्तयिष्यति वै बृहत् ॥२५॥**

**आस्तेऽद्यापि महेन्द्राद्रौ न्यस्तदण्डः प्रशान्तधीः।**
**उद्गीयमानचरितः सिद्धगन्धर्वचारणैः[1] ॥२६॥**

**एवं भृगुषु विश्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।**
**अवतीर्य परं भारं भुवोऽहन् बहुशो नृपान् ॥२७॥**

---

1 ABGJMMa उपगीय

**गाधेरभून्महातेजाः समिद्ध इव पावकः।**
**तपसा क्षात्रमुत्सृज्य यो लेभे ब्रह्मवर्चसम् ॥२८॥**

**विश्वामित्रस्य चैवासन् पुत्रा एकशतं नृप।**
**मध्यमस्तु मधुच्छन्दो मधुच्छन्दस एव ते ॥२९॥**

**पुत्रं कृत्वा शुनःशेपं देवरातं च भार्गवम्।**
**आजीगर्तिं सुतानाह ज्येष्ठ एष प्रकल्प्यताम् ॥३०॥**

**यो वै हरिश्चन्द्रमखे विक्रीतः पुरुषः पशुः।**
**स्तुत्वा देवान् प्रजेशादीन् मुमुचे पाशबन्धनात् ॥३१॥**

**यो रातो देवयजने देवैर्गाधिषु तापसः।**
**देवरात इति ख्यातः शुनःशेपस्तु भार्गवः ॥३२॥**

**श्रीध० जामदग्न्य इति**। बृहत् ब्रह्म वेदम्। वेदप्रवर्तकेषु सप्तर्षिष्वेकतमो भविष्यतीत्यर्थः ॥२५,२६॥

**एवमिति**। भुवो भारमहन् भारमेवाह। नृपानिति ॥२७॥

तदेवं प्रसक्तानुप्रसक्तं समाप्य प्रस्तुतमाह - **गाधेरिति**। महातेजा विश्वामित्रः ॥२८॥

**विश्वामित्रस्येति**। ते सर्वे लिङ्गसमवायन्यायेन प्राणभृत उपदधातीतिवन्मधुच्छन्दस एवोच्यन्ते। तथा च श्रुतिः "तस्य ह विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्रा आशुः पञ्चाशदेव ज्यायांसो मधुच्छन्दसः पञ्चाशत्कनीयांसः" इत्यादि। तत्र च विश्वामित्रपुत्रेषु भार्गवस्याजीगर्तस्य देवरातस्य ज्येष्ठत्वमवगम्यते। तथा आश्वलायनबौधायनादिभिः कौशिकानां देवरातप्रवरत्वमुक्तम्। प्रवरश्च तस्मिन्नेव वंशेऽवान्तरभेदो, न तु वंशान्तरम्। तथा च स्मृतिः। "एक एव ऋषिर्यावत्प्रवरेष्वनुवर्तते। तावत्समानगोत्रत्वं विना भृग्वङ्गिरोगणात्" इति ॥२९॥

तत्कुतो भृगुवंशसम्भवस्य देवरातस्य कौशिकप्रवरत्वमित्याशङ्क्य तदुपपादयन्नाह - **पुत्रं कृत्वेत्यादि** यावत्समाप्ति। पूर्वमजीगर्तसुतत्वे मध्यमत्वेन पितृभ्यां ममतां विहाय विक्रीतत्वात्तस्य कृपया सुतानाह - ज्येष्ठ एष प्रकल्प्यतामिति ॥३०॥

1 HTVW "क्षत्र" 2 ABGJMMa "च्छन्दा" 3 HV "फ 4 ABGJMMa "त" 5 TW जलेशा" 6- -6 MMa "धि सुताय स। 7 ABGJ ०प स, HV "फस्तु 8 HV प्रवरस्य 9- -9 HV "गर्त सुतेषु"

एतदेव स्पष्टयितुं तं विशिनष्टि य इति द्वाभ्याम्। मुमुचे अमुच्यत ॥३१॥

य इति। भार्गवोऽपि गाधिषु गाधेर्वंशजेषु देवरात इति ख्यात· ॥३२॥

**वीर०** जामदग्न्य इति। भगवान् जामदग्न्य· कमललोचनो रामोऽपि हे राजन्! आगामिन्यन्तरे बृहत्वेदं प्रवर्तयिष्यति संप्तर्षिष्वेकतमो भविष्यतीत्यर्थः ॥२५॥

अधुनातु महेन्द्राख्ये अद्रौ पर्वते आस्ते। कथम्भूतः? न्यस्तः त्यक्तः दण्डः क्षत्रवधादिरूपो येन प्रशान्ता धीर्यस्य सिद्धादिभिरुपगीयमानं चरितं यस्य तथाभूतः ॥२६॥

रामचरित्रं[1] निगमयति **एवमिति**। हे नृप! इत्थं भगवान् विश्वात्मा हरिरीश्वरो भृगुष्ववतीर्य भुवः पृथ्व्याः परं भारमधिकं भाररूपं क्षत्रं बहुशो हतवान् नृपानिति पाठे भारमेवाह - नृपानिति। बहुश इत्यनेन कश्चिदवशेषितः स्यादिति सूच्यते तदेवोक्तं पुरस्तात् - "अश्मकान्मूलको जज्ञे य· स्त्रीभिः परिरक्षितः। नारीकवच इत्युक्तो नि·क्षत्रे मूलकोऽभवत्" (भाग.9-9-40) इति ॥२७॥

तदेवं प्रसक्तानुप्रसक्तं परशुरामचरित्रमुपवर्णितमुपसंहृत्य प्रस्तुतं गाधेर्वंशमाह - **गाधेरिति**। गाधेरभूद्विश्वामित्राख्यः पुत्र इति शेषः तं विशिनष्टि, महत्तेजो यस्य, क इव? समिद्धो ज्वलितोऽग्निरिव यो विश्वामित्रस्तपसा हेतुभूतेन क्षत्रं क्षत्र जातिं त्यक्त्वा ब्रह्मवर्चसं लेभे ब्रह्मर्षितां प्राप्त इत्यर्थ.। तस्य ब्रह्मवर्चसावहतपश्चर्यायां हेतुः ब्रह्ममन्त्राभिमन्त्रितचरुप्रभाव इति भावः ॥२८॥

**विश्वामित्रस्येति**। हे नृप! विश्वामित्रस्य च पुत्रा एकशतं सम्बभूवुः, तत्र मध्यमो मधुच्छन्द· तत्सम्बन्धादन्येऽपि सर्वे तद्भ्रातरो लिङ्गसमवायन्यायेन "प्राणभृत उपदधाति" इतिवत् [2-] मधुच्छन्दस एव [-2] मधुच्छन्दोनामान एव बभूवुः तथाच श्रुतिः - "विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्रा आसुः पञ्चाशदेव ज्यायांसो मधुच्चन्दसः पञ्चाशत्कनीयांस·" इत्यादि ॥२९॥

यत्प्रतिज्ञातं "शुनःशेपस्य माहात्म्यमुपरिष्टात् प्रवक्ष्यते" (भाग. 9-7-24) इति तदवसरप्राप्तं वक्तुं विश्वामित्रस्य कश्चिद्वृत्तान्तमाह - **पुत्रमिति**। स विश्वामित्रः आजीगर्तिम् अजीगर्तस्य सुतं भार्गवगोत्रजं देवैर्दत्तप्राणत्वात् देवरातापरनामधेयं शुनःशेपं पुत्रं कृत्त्वा पुत्रत्वेन परिगृह्य स्वसुतानेकशतसंख्याकानाह किमिति? एष शुनश्शेपः ज्येष्ठःप्रकल्प्यतां युष्माभिर्ज्येष्ठ भ्रातृत्वेनाभ्युपगम्यतामिति। अत्रेदं कथाशरीरमनुसन्धेयं शुनःशेपो भृगुकुलप्रसूतत्वात् भार्गवः स एव देवरातः देवैर्दत्तप्राणत्वात् स एवाजीगर्तिः अजीगर्तस्य मध्यमः पुत्रः मध्यमत्वादेव पितृभ्यां ममतां विहाय विक्रीतो हरिश्चन्द्रपुत्रेण रोहितेनानीतो यज्ञीयपशुत्वेन

1 A तं 2- -2 A.B omit

हरिश्चन्द्राय समर्पितः तेन यूपे बद्धः प्राणरक्षणार्थं विश्वामित्रं[1] शरणं गतः तदुपदिष्टमन्त्रस्तुतवरुणादिभिर्दत्तप्राणो बभूव तश्च विश्वामित्रः कृपया पुत्रत्वेन परिगृह्य मध्यमस्य मधुच्छन्दसो ज्येष्ठान् स्वपुत्रान् इमं ज्येष्ठं कुरुतेत्युक्तवान् ततस्तैः प्रत्याख्यातस्तान् म्लेच्छा भवतेति शप्त्वा कनिष्ठानाह - ततस्तथेत्यङ्गीकृत्य पञ्चाशता कनिष्ठैस्सह मधुच्छन्दास्तं ज्येष्ठत्वेन परिजग्राह - तदेतदत्रोच्यते, पुत्रं कृत्वेत्यादिना यावत्समाप्ति तदेवं शुनश्शेपस्य विश्वामित्रपुत्रेषु ज्येष्ठत्वमवगम्यते तथा आश्वलायन बौधायनादिभि· कौशिकानां देवरातप्रवरत्वमुक्तं प्रवरश्च तस्मिन्नेव वंशेऽवान्तरभेद· न तु वंशान्तरं। तथा च स्मृति· "एक एव ऋषिर्यावत्प्रवरेष्वनु वर्तते। तावत्समानगोत्रत्वं विना भृग्वङ्गिरोगणात्"। इति ॥३०॥

तत्र कथं भृगुवंशजस्य देवरातस्य कौशिकप्रवरत्वमित्याशङ्क्य तदुपपादनाय प्रवृत्तोऽयं पुत्रं कृत्वेति श्लोकः स च व्याख्यात· यदुक्तं 'ज्येष्ठ एष प्रकल्प्यतामिति। तदेव स्फुटयितुं शुनश्शेपं विशिनष्टि - **य इति** द्वाभ्याम्। यो वै शुनश्शेपः विक्रीत·, पितृभ्यामिति शेषः। हरिश्चन्द्रकर्तृके मखे पुरुषपशुर्बभूव यच्च जलेशादीन् वरुणादीन् स्तुत्वा विश्वामित्रोपदिष्टमन्त्रैरिति शेष ।[2] शुनश्शेप· पाशबन्धनान्मुमुचे अमुच्यत ॥३१॥

यश्च देवयजने वरुणादिदेवताराधनात्मके हरिश्चन्द्रमखे देवैर्वरुणादिभिः रातो दत्तो दत्तप्राण इति यावत्। गाधिषु गाधिवंशजेषु देवरातेति ख्यात स शुनश्शेपो भार्गव· भृगुवंशज ॥३२॥

**विज०** आगामिन्यन्तरे भविष्यन्मन्वन्तरे बृहत् ब्रह्म वेदलक्षणं वर्तयिष्यति वेदप्रवर्तको भविष्यतीत्यर्थः ॥२५,२६॥

भुवः परं भारं केवलं भारभृतान् नृपानहन् संहृतवान् ॥२७॥

महातेजा विश्वामित्रः ॥२८॥

तस्य विश्वामित्रस्य एकशतं पुत्रा आसन्। तेषामेकोत्तरशतपुत्राणां मध्ये यो मध्यम· स तु मधुच्छन्दो नाम तेन मधुच्छन्दसा संयुक्ता ये पञ्चाशत् पुत्राः ते मधुच्छन्दसनामानो भवन्ति नान्ये "तस्य ह विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्र आसुः"इत्यादि ब्राह्मणं च इममेवार्थं वक्ति ॥२९॥

"शुनःशेपस्य माहात्म्यम् उपरिष्टात्प्रचक्ष्यते" (भाग. 9-7-24 ) इत्युक्तं प्रपञ्चयितुमाह - पुत्रं कृत्वेति। अत्र काचित् - किंवदन्ती मम पुत्रो भवेति विश्वामित्रेणोक्तोऽयमाजीगर्तः शुनःशेपोऽहं त्वत्पुत्राणां ज्येष्ठश्चेत्तव पुत्रः स्यां तत्रापि मध्यमो न स्यां नापि कनिष्ठ इति विश्वामित्रमाह - तदैवमस्त्विति। विश्वामित्र· शुनःशेपं पुत्रं कृत्वाऽन्यानौरसान् पुत्रानब्रवीत् एष शुनः शेपो युष्माकं ज्येष्ठ· प्रकल्प्यताम् भवद्भिरिति शेषः इति। शुनःशेप शब्दं शुण्वतां शुनीजातीयोऽयं किम्! इत्यन्यथा प्रतीतिं निवारयति

1 A B add एव 2- -2 TW omit 3 A B 'णदे'

भार्गवमिति। भृगुवंशोद्भव., अनेनापि सा कथं निवारिता स्यात् ? इत्यत आह -आजीगर्तमिति। अजीगर्तस्यमुनेरपत्यम्। तर्हि विश्वामित्रस्य पुत्रत्वे का सङ्गतिरित्यतो देवरातमिति विश्वामित्राय देवै· रातं दत्तं विश्वामित्रस्य दत्तपुत्रत्वेन सम्बन्ध इत्यर्थ· ॥३०॥

अनेन विशेष-त्रयेण ज्येष्ठत्वकल्पनायां वैशिट्यमुक्त्वा वैशिष्ट्यान्तरं चाह- य इति। यः शुन·शेपः हरिश्चन्द्रयज्ञे अजीगर्तेन पित्रा रोहिताय विक्रीत पुरुषाख्य· पशुरभूत् यश्च ब्रह्मादिदेवांस्तुत्वा तत्प्रसादात् पाशबन्धनात् संसाराख्यपाशबन्धनात् यूपसम्बन्धिरज्जूबन्धनात् आत्मानं मुमुचे मोचयामास कर्मकर्तरि प्रयोग. "कस्य नूनं कतमस्यामृतानां (ऋक् 1-24-1) मनामहे चरुदेवस्य नाम" इत्यारभ्य "अस्मे रयिनिधापये" इत्यन्तवेदवाक्येन स्तुत्वा। ऋग्भाष्ये एतासामृचामर्थ· आचार्यैरेव विस्तारेणोक्त इति नास्माभि प्रपञ्च्यते ॥३१॥

देवरातशब्दनिर्वचनेन विश्वामित्रस्य तत् सम्बन्धमाह - य इति। य· देवयजने यज्ञे यद्देवै रातो रक्षितस्तैरेव गाधिसुताय विश्वामित्राय रातो दत्त· तस्मात्स देवरात इति ख्यात प्रसिद्ध इत्यतोऽयं भार्गव ॥३२॥

ये मधुच्छन्दसो ज्येष्ठाः कुशलं मेनिरे न तत् ।
अशपत् तान्मुनिः क्रुद्धो म्लेच्छा भवत दुर्जनाः ॥३३॥

स होवाच मधुच्छन्दाः सार्धं पञ्चाशता ततः ।
यन्नो भवान् सजानीते तस्मिंस्तिष्ठामहे वयम् ॥३४॥

ज्येष्ठं मन्त्रदृशं चक्रुस्त्वामन्वञ्चो वयं स्म हि।
विश्वामित्रः सुतानाह वीरवन्तो भविष्यथ।
ये मानं मेऽनुगृह्णन्तो वीरवन्तमकर्त मा॒म् ॥३५॥

एष वः कौशिका[1] वीरो देवरातस्तमन्वित।
अन्ये चाष्टकहारीतजयन्तसुमदादयः[2] ॥३६॥

एवं कौशिक गोत्रं तद्वैश्वामित्रैः[3] पृथग्विधम्।
प्रवरान्तरमापन्नं तद्धि चैवं प्रकल्पितम्[4] ॥३७॥[5]

---

1 ABGJ कुशिका 2 TW चोष्णिक° 3 ABGJMMa °जयक्रतुमदा° 4 ABGJ °तु वि° 5 HTVW तद्धिह्येव , MMa तद्धीत्येव

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

**श्रीध०** **य इति**। तत्तस्य ज्येष्ठत्वं कुशलं न मेनिरे। मध्यमत्वस्यानर्थावहत्वं दृष्ट्वा नाङ्गीकृतवन्तः। मुनिर्विश्वामित्रः ॥३३॥

**स इति**। पञ्चाशता कनिष्ठैः साकं स मध्यमो मधुच्छन्दा उवाच। नोऽस्माकं यज्ज्येष्ठत्वं कनिष्ठत्वं वा भवान् पिता सञ्जानीते मन्यते तस्मिन्वयं तिष्ठामेति ॥३४॥

**ज्येष्ठमिति**। एवमुक्त्वा मन्त्रदृशम् "कस्य नूनं कतमस्यामृतानाम्" (ऋक्.सं. 1-24-1) इत्यादिमन्त्राणां द्रष्टारं शुनःशेपं[1] ज्येष्ठं चक्रुः। तदाह - वयं सर्वे त्वामन्वञ्चः स्म हि, अनुगन्तारः[2] कनिष्ठाः स्म इत्यर्थः। ततः प्रसन्नो विश्वामित्रः तान् सुतानाह - वीरवन्तः पुत्रवन्तो भविष्यथ। ये यूयं मे मानं पूज्यत्वमनुगृह्णन्तोऽनुवर्तमानाः संतो मां वीरवन्तं पुत्रवन्तं अकर्त कृतवन्त इत्यर्थः ॥३५॥

**एष इति**। हे कुशिका एष देवरातो वो युष्मदीयः कौशिक एव। यतो वीरो मत्पुत्रस्तमेनमन्वित अनुगच्छत। अन्ये च अष्टकादयस्तस्य सुता आसन् ॥३६॥

उपसंहरति **एवमिति**। एके शप्ता एकेऽनुगृहीताः अन्यस्तु पुत्रत्वेन स्वीकृत इत्येवं कौशिकगोत्रं पृथग्विधं नानाप्रकारं जातं, तच्च प्रवरान्तरमापन्नं प्राप्तम्। हि यस्मादेवं देवरातज्येष्ठत्वेन तत्प्रकल्पितम् ॥३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां नवमस्कन्धे षोडशोऽध्यायः॥१६॥

**वीर०** पित्रा ज्येष्ठ एष प्रकल्प्यतामित्युक्ता ये मधुच्छन्दसस्तेषु ये ज्येष्ठाः पञ्चाशत् ते पित्रोक्तं कुशलं न मेनिरे नाङ्गीकृतवन्तः। ततः क्रुद्धो मुनिः विश्वामित्रः तान् हे दुर्जनाः म्लेच्छा भवत इति अशपत् ॥३३॥

ततः स मधुच्छन्दा मध्यमः पञ्चाशता कनिष्ठैः भ्रातृभिः सह पितरमाह - किमिति? यद्भवान् नोऽस्मान् विजानीते आदिशति तस्मिन्नादेशे वयं तिष्ठामहे आज्ञां करवामेति ॥३४॥

---

1 HV शेफ 2 HV 'ता अनु'

एवमुक्त्वा ततः तं देवरातं मन्त्रदृशं "कस्य नूनं कतमस्यामृतानाम्" (ऋक्.सं 1-24-1) इत्यादि मन्त्राणां द्रष्टारं ज्येष्ठं चक्रुः करणप्रकारं दर्शयति त्वामन्वञ्चो वयं स्महीति। वयं सर्वे त्वामन्वञ्चः स्म हि अनुगन्तारः स्म भवाम तव कनिष्ठा भवामेत्यर्थः। ततो विश्वामित्र. प्रीतः तान् सुतान् यूयं वीरवन्तो भविष्यथ पुत्रवन्तो भविष्यथेति अनुजग्राह ॥३५॥

कोऽस्मासु तवेदृशोऽनुग्रहहेतुरित्यत्राह **य** इति। ये यूयं मानं पूज्यतामनुगृह्णन्तः अनुवर्तमानास्सन्तः यद्वा मानं प्रमाणं मम निश्चयमनुगृह्णन्त· अनुपालयन्त· मां वीरवन्तं पुत्रवन्तं अकर्त कृतवन्त मन्मानप्रत्याख्याने यूयमपि शप्येध्वं देवरातश्च हीयेत अतोऽहमवीरवान् स्यां तथा तु न कृतं युष्माभिरितीमं गुणं पश्यन् अनुगृहीतवानस्मीति भाव । हे कुशिका·! एष देवरात· व· युष्मदीय. कौशिक एव कुत ? यतो वीर मत्पुत्रः तमेनमान्वित अनुगच्छत ततोऽन्ये चोष्णिकादयस्तस्य विश्वामित्रस्य पुत्राः सम्बभूवुरित्यर्थ ॥३६॥

उपसंहरति - **एवमिति**। एके शप्ता एकेऽनुगृहीता अन्यस्तु पुत्रत्वेन स्वीकृत इत्येवं तत् कौशिकगोत्रं विश्वामित्रैः पृथग्विधं नानाप्रकारं जातं ततश्च प्रवरान्तरमापन्नम्। कुत·? हि यस्मादेवं देवरातज्येष्ठत्वेन तत्प्रकल्पितम् ॥३७॥

इति श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां षोडशोऽध्याय ॥१६॥

**विज०** शुनःशेपो ज्येष्ठत्वेन कल्प्यतामिति विश्वामित्रेणोक्ता ये पञ्चाशत्पुत्रा मधुच्छन्दसो जन्मना ज्येष्ठास्ते शुनःशेपस्य ज्येष्ठत्वं स्वात्मनः कनिष्ठत्वं यत्तत् कुशलं साधु न मेनिरे ततः किमभूदिति तत्राह - अशपदिति ॥३३॥

तेषां म्लेच्छभावेन शुन शेपस्य किमायातमिति तत्राह - सहेति। हेत्यनेन ब्राह्मणमनुकरोति स विश्वामित्रः पञ्चाशता सार्धं मधुच्छन्दसमुवाच ह। अयं शुनःशेपो वः ज्येष्ठो भवत्विति विश्वामित्रेणोक्तस्येदमेव वाक्यमुत्तरं, स मधुच्छन्दाः पञ्चाशता सार्धं पितरमुवाच ह ततस्तातः पिता भवान्नोऽस्माकं यद्विजानीते आज्ञापयति तस्मिन्नाज्ञप्ते शुनःशेपस्य ज्यैष्ठ्येअस्माकं कानिष्ठये सर्वे वयमविचारेण तिष्ठामहे "प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च" (अष्ट 1-3-23) इति सूत्रात्, निश्चितं स्थिरीकृतं चेदं कार्यमिति भाव· ॥३४॥

तर्हि तथा कुर्वन्त्विति पित्रा उदितास्ते पुत्राः कस्य नूनमित्यादिमन्त्रदृशम् ऋग्वेदद्रष्टारं शुन.शेपं ज्येष्ठं चक्रुः कथं चक्रुरिति तत्राह - त्वामिति। भो देवरात वयं त्वामन्वञ्च· अनुवर्तमानाः कनिष्ठाः स्म भवाम। हि प्रसिद्धे हेतौ वा यस्माद्वयं त्वत्कनिष्ठा अभूम तस्मात्ते ज्येष्ठत्वे संशयो माभूदिति अथवा हे पितः! वयं त्वामन्वञ्चः अनुवर्तमाना. स्म त्वदाज्ञाकारिण इत्यर्थ इति। सन्तुष्टः पिता कं वरं प्रायच्छदिति तत्राह - विश्वामित्र इति। वीरवन्तः पुत्रवन्तः कर्तव्ये विशिष्टप्रेरणावन्तो वा कुतोऽयं वरो

दत्त इति तत्राह - य इति। ये भगवन्तो मे मानमनुगृह्णन्तः परिपालनलक्षणानुग्रहं कुर्वन्तः मा मां वीरवन्तम् अकर्त कृतवन्त इति यस्मात्तस्माद्यूयं वीरवन्तो भविष्यथेति वीरवन्तमकर्तमेति ब्राह्मणवाक्यानुकरणं वेदतुल्यमिति प्रकाशयति अकर्त मम वाक्यमकुर्वत "जीवतो वाक्यकरणादृणसंशोधनेन च। गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता" इति स्मृतेः। हे कौशिकाः! कौशिकगोत्राः एष देवरातो मम वीरः पुत्रो वो युष्माकं ज्येष्ठः यूयं तमन्वित अनुवर्तध्वम् अन्ये चाष्टकादय अनुवर्तन्तामिति शेषः ॥३५,३६॥

उपसंहरति - **एवमिति**। यत्कौशिकगोत्रं तद्वैश्वामित्रैः पृथग्विधमभूत् , कथं तदिति तत्राह - प्रवरान्तरमिति - प्रवरान्तरमापन्नं हि यस्मात्तस्मादेव पृथग्विधं कल्पितं, हि प्रसिद्धमिति भावः ॥३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
नवमस्कन्धे षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

# सप्तदशोऽध्यायः

## श्रीशुक उवाच

यः पुरूरवसः पुत्र आयुस्तस्याभवन् सुताः।
नहुषः क्षत्रवृद्धश्च रजी रम्भश्च वीर्यवान् ॥१॥

अनेना इति राजेन्द्र क्षत्रवृद्धान्वयं शृणु।
क्षत्रवृद्धसुतस्यासन् सुहोत्रस्यात्मजास्त्रयः ॥२॥

काश्यः कुशो गृत्समदः इति गृत्समदादभूत्।
शुनकः शौनको यस्य बह्वृचप्रवरो मुनिः ॥३॥

काश्यस्य काशिस्तत्पुत्रो राष्ट्रो दीर्घतपः पिता।
धन्वन्तरिः दीर्घतपात् आयुर्वेदप्रवर्तकः ॥४॥

यज्ञभुग् वासुदेवांशः स्मृतमात्रार्तिनाशनः।
तत्पुत्रः केतुमान्यस्य जज्ञे भीमरथस्ततः ॥५॥

दिवोदासो द्युमांस्तस्मात् प्रतर्दन इति स्मृतः।
स एव शत्रुजिद् वत्स ऋतध्वज इतीरितः ॥
ततः कुवलयाश्वेति प्रोक्तोऽलर्कादयस्ततः ॥६॥

षष्टिवर्षसहस्राणि षष्टिवर्षशतानि च।
नालर्कादपरो राजन् मेदिनीं बुभुजे युवा ॥७॥

अलर्कात् सन्नतिस्तस्मात् सुनीथोऽथ सुकेतनः।
धर्मकेतुः सुतस्तस्मात् सत्यकेतुरजायत ॥८॥

---

1 MMa राभश 2- -2 ABGJ शृणु क्षत्रवृधोऽन्वयम् 3- -3 MMa त्पुत्र सुराष्ट्रो 4 ABGJMMa °तम 5- -5 ABGJ दैर्घतम , MMa दीर्घतमर्श 6 H.V °
7 MMa °ति 8 ABGJ °मानस्य 9 MMa वत्सो 10 ABGJMMa तथा 11 HTV W षष्टिं 12 HTV W षष्टिं 13 ABGJ सन्त° 14 TW सुकेतो°

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

आयोः सप्तदशे त्वैलज्येष्टपुत्रस्य पञ्चसु। सुतेषु क्षत्रवृद्धादिचतुर्णां वंशवर्णनम्।

यद्वाः- वंशान् सप्तदशेऽवादीत् ऐलज्येष्ठसुतायुषः। पुत्रैरम्भरजिक्षत्र वृद्धानेनोऽभिराहितान् ॥

इह श्रीकृष्णावतारप्रस्तावाय वंशानुक्रमणमैलादिक्रमेण प्रक्रान्तमिति यस्य वंशे कृष्णावतारस्तस्य वंशोऽतिविततत्वादन्ते निरूप्यते। अतः पुरूरवसः पुत्राणां पञ्चानां कनिष्ठानां वंशानुक्त्वा इदानीं प्रथमस्य वंशमाह - **य** इति। एवं नहुषययातियदु प्रभृतिष्वपि द्रष्टव्यम् ॥१॥

**अनेना** इति। क्षत्रवृध· क्षत्रवृद्धस्य ॥२,३॥

**काश्यस्येति**[1]। दीर्घतपसः पिता ॥४॥

**यज्ञेति**। स्मृतमात्र एव आर्तिं रोगं दुःखं नाशयतीति तथा ॥५॥

प्रतर्दनादि शब्दवाच्याद्युमत[2] सकाशादलर्कादयः ॥६,७॥

**अलर्कादिति**[3]। अलर्कात्सन्नतिसंज्ञ[4]· ॥८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवातचन्द्रचन्द्रिका

तदेवं पुरूरवसः पुत्राणां पञ्चानां कनिष्ठानां वंशाननुवर्ण्येदानीं प्रथमस्यायोर्वंशमाह - **य** इति। यः पुरूरवसः पुत्रः आयुरुक्त तस्य नहुषादय पञ्च सुता अभवन्, तत्र हे राजेन्द्र! तावत् क्षत्रवृद्धस्यान्वयं वंशं शृणु, क्षत्रवृद्धस्य यः सुतः सुहोत्रस्तस्य त्रयः पुत्रा आत्मजा आसन् ॥१,२॥

तान्निर्दिशति - **काश्य** इति। काश्यः कुशो गृत्समद इति। तत्र गृत्समदात् शुनकः समभवत्, यस्माच्छुनकात् शौनको जात·। स च बह्वृचश्रेष्ठ· मुनि· ॥३॥

**काश्यस्येति**। काश्यस्य तु पुत्रः काशिराजः, ततो राज्ञः काशिराजात् दीर्घतपा जातः दीर्घतपसस्तु धन्वन्तरिः, स च आयुर्वेदस्य प्रवर्तक. ॥४॥

यज्ञभुक् यज्ञभागभुक्[5] वासुदेवस्य भगवतोंऽशभूतः, स्मृतमात्र एवार्तिं रोगं नाशयतीति, तथाभूतः, अयं

---

1 ABJ "म" 2 ABJ "मत स" 3 H V omit अलकति 4 ABJ "न्त" 5 TW "भाक्

धन्वन्तरिः समुद्रमथनजातात्, धन्वन्तरेरन्यो भगवदंशावतारभूत एवतत्पुत्रो धन्वन्तरिपुत्रः केतुमान् ततः केतुमतो भीमरथो जज्ञे ॥५॥

तस्मात्केतुमतः द्युमान्, जज्ञे इत्यनुषङ्गः। स च दिवोदासाद्यपरनामधेयः। ततो दिवोदासादिशब्दवाच्यादलर्कादयो जज्ञिरे, तत्रालर्कं विशिनाष्टि - षष्टिति। षट् सहस्राधिक षष्टिसहस्रवर्षाणि, अलर्क एव युवा सन् मेदिनीं बुभुजे अनुबभूव अलर्कादन्यस्तु न बुभुजे इत्यर्थः ॥६॥

इहोपभोगो भुजेरर्थः न तु पालनं तत्र "भुजोऽनवने" इत्यात्मनेपदनिषेधप्रसङ्गात् ॥७॥

अलर्कात्सन्नतिः तस्मात् सन्नतेः सुकेतः अथ सुकेतात् सुकेतनः 'सुनीतोऽथ सदर्शनः' इति पाठान्तरम्। तस्माद्धर्मकेतुः तस्माच्च सत्यकेतुरजायत ॥८॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

श्रुतायोः सन्ततिं विस्तृत्य पुरूरवसः पुत्रस्य प्रथमस्यायोर्वंशं वर्णयति बादरायणिः य इति। नहुषान्वयस्य राज्यार्हत्वात् क्षत्रवृद्धाद्यन्वयस्य तदनर्हत्वात् सूचीकटाहन्यायमनुसन्दधानः क्षत्रवृद्धाद्यन्वयं वक्ति क्षत्रवृद्धान्वयमिति ॥१-६॥

अलर्कादपरो राजा युवा, तथा न बुभुजे ॥७-८॥

सत्यकेतोर्धृष्टकेतुः सुकुमारः क्षितीश्वरः।
वीतिहोत्रेऽस्य भर्गोऽतो भार्गभूमिरभूद्नृप। ॥९॥

इतीमे काशयो भूपाः क्षत्रवृद्धान्वयायिनः।
रम्भस्य रभसः पुत्रो गम्भीरश्चाक्रियस्ततः ॥१०॥

तस्य क्षेत्रे ब्रह्म जज्ञे शृणु वंशमनेनसः।
शुद्धस्ततः शुचिस्तस्मात् त्रिकवुब्र् धर्मसारथिः ॥११॥

ततः शान्तरजा जज्ञे कृतकृत्यः स आत्मवान्।
रजेः पञ्चाशतान्यासन् पुत्राणाममितौजसाम् ॥१२॥

---

1- -1 ABGJ धृष्टकेतु· सुतस्तस्मात् , MMa धृष्टकेतु ततस्तस्मात् 2- -2 ABGJ गोत्रस्य 3 ABGJ °नृपा.। 4 MMa काश्यश्चा 5 MMa राभस्य 6- -6 H V °श्च कृतस्तत. , MMa °श्चक्रकस्तत , TW °श्च क्रतुस्तत· 7 ABGHJV °द् 8 ABGJTW °त्यो

देवैरभ्यर्थितो दैत्यान् हत्वेन्द्रायाददाद्दिवम्।
इन्द्रस्तस्मै पुनर्दत्त्वा गृहीत्वा चरणौ रजेः ॥१३॥

आत्मानमर्पयामास प्रह्लादात्परिशङ्कितः।[1]
पितर्युपरते पुत्रा याचमानाय नो ददुः ॥१४॥

त्रिविष्टपं महेन्द्राय यज्ञभागान् समाददुः।[2]
गुरुणा हूयमानेऽग्नौ बलभित् तनयान् रजेः ॥१५॥

अवधीत् भ्रंशितान् मार्गान्न कश्चिदवशेषितः।
कुशात्[3] प्रीतिः[3] क्षात्रवृद्धात्[4] सञ्जयस्तत्सुतो जयः ॥१६॥

ततः कृतः कृतस्यापि जज्ञे हर्यवनो[5] नृपः।
सहदेवस्ततो[6] भीमो[7] जयत्सेनस्तु तत्सुतः ॥१७॥

सङ्कृतिस्तस्य तु जयः क्षत्रधर्मा[8] महारथः।
क्षत्रवृद्धान्वया भूपाः[9-] इमे शृण्वथ नाहुषान्[-9] ॥१८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे सप्तदशोऽध्याय ॥१७॥

**श्रीध० सत्यकेतोरिति।** सत्यकेतोर्धृष्टकेतुस्तस्मात्सुकुमार· तस्मात्[10]सुकुमाराद्वीतिरोत्रस्तस्य[11] भर्गः अतो भार्गद्भार्गभिमि·[11] ॥९॥

**इतीति।** काशयःकाशेर्वंश्या , काशे· प्रपितामहस्य क्षत्रवृद्धस्य[12] अन्वयमयन्ते यान्तीति तथा ॥१०॥

**तस्येति।** ततोऽनेनसः शुद्धो जज्ञे ॥११॥

**तत इति।** कृतकृत्य· स· यत आत्मवान् ज्ञानी। अत· पुत्रोत्पादनं न कृतवानित्यर्थः ॥१२-१४॥

---

1 ABGJ "द्य" 2 H V यज्ञे 3 ABGJ कुशात् प्रति , MMa प्रतिक्षत्र 4 MMa क्ष" 5 H V हर्यध्वनो , MMa वीर्यघनो , T W हर्यश्वको 6 ABGJMMa हीनो 7 ABGJ जयस" 8 H V "घमा 9- -9 ABGJ श्रृणु वशश्च नाहुषान् 10 ABJ omit सुकुमारात् 11 H V omit भर्ग. 12 H V add यं

**त्रिविष्टपमिति**। तेषां मतिभ्रंशाय गुरुणा बृहस्पतिनाऽभिचारविधानेनाग्नौ हूयमानो सति ॥१५॥

सिंहावलोकनन्यायेनाह **अवधीदिति**। क्षात्रवृद्धात् क्षत्रवृद्धपौत्रात् कुशात्प्रीति । प्रीतेः संजय ॥१६-१८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्यख्यायां नवमस्कन्धे सप्तदशोऽध्याय ॥१७॥

**वीर०** सत्यकेतोः धृष्टकेतु , तत्तस्मात्सुकुमाराख्यः सुतः क्षितीश्वरौ जज्ञे। सुकुमाराद्वीतिहोत्र , तस्य भर्ग· ततो भर्गात् भार्गभूमिरभूत् ॥९॥

हे नृप! इतीत्थमिमे उक्ताः काशय· काश्यस्य वंशजा नृपाः क्षत्रवृद्धस्य काश्यप्रपितामहस्यान्वयम्। अयन्ते यान्तीति तथा, एवं क्षत्रवृद्धान्वय उक्तः, अथ रम्भस्यान्वयमाह - रम्भस्य पुत्रो रभस· गम्भीरश्च, ततो रभसात् क्रतु· ॥१०॥

तस्य क्रतोः क्षेत्रे कलत्रे ब्रह्म ब्राह्मणकुलं जज्ञे,अथानेन सः आयोः पुत्रस्य कनीयसो वंशं शृणु, ततोऽनेन स·शुद्ध·, तत शुद्धात् शुचिः, तस्मात् त्रिककुप्, स एव धर्मसारथ्यरनामधेयः ॥११॥

ततस्त्रिककुपः शान्तरयो जज्ञे, स च कृतमनुष्ठितं कृत्यं मुक्तिसाधनं येन तथाभूत , आत्मवान् ज्ञानयोगनिष्ठश्च, अत पुत्रोत्पादनं न कृतवानिति भाव । अथ रजेरायु पुत्रस्य वंशमाह - रजेरिति। रजे पुत्रा पञ्चशतसंख्याका अनवधिकतेजस· सम्बभूवुरित्यर्थः ॥१२॥

रजेश्चरित्रमाह - देवैरभ्यर्थितो रजिर्दैत्यान् हत्वा दिवं त्रिविष्टपं दैत्यैरपहृतमिन्द्राय ददौ। इन्द्रस्तु पुन· प्रह्लादादतीव शङ्कितो दिवं तस्मै रजये दत्वा रजेश्वरणौ गृहीत्वा आत्मानमर्पयामास, स्वरक्षाभरं तस्मिन्निहितवानित्यर्थ·। तत्पुत्रचरित्रमह - पितरीति। अथ पितरि रजावुपरते मृते सति तस्य पुत्राः पञ्चशतं याचमानायेन्द्राय त्रिविष्टपं न ददुः ॥१३,१४॥

किञ्च यज्ञभागान् समाददुः स्वीकृतवन्तः अथ गुरुणा बृहस्पतिना अभिचारविधिना तेषां मतिभ्रंशायाऽग्नौ हूयमाने सति मार्गादिन्द्राधिपत्यानुकूल बुद्धिरूपात् भ्रंशितान् रजे· पुत्रान् सर्वान् बलभिदिन्द्रोऽवधीत् जघान कश्चिदेकोऽपि नावशेषितः पूर्वं क्षत्रवृद्धपौत्राणां काश्यकुशगृत्समदानां मध्ये काश्यगृत्समदयोर्वंशावुक्तौ गृत्समदादभूदित्यादिना। तत कुशस्य वंशमाह - कुशादित्यादिना यावत् समाप्ति। क्षात्रवृद्धात् क्षत्रवृद्धपौत्रात्, कुशात्प्रीतिर्जज्ञे तत्सुत· प्रीतिसुत सञ्जय·, तत· सञ्जयाज्जयो जज्ञे ॥१५-१६॥

---

1 ABJ °नेनाह 2 H V omit कुशात् 3 ABJ त्प्रति 4 ABJ प्रते 5 AB °त

ततो जयात्कृतः हे नृप! कृतस्य हर्य्यश्वकः पुत्रो जज्ञे। ततो हर्य्यश्वकात् सर्वदेवस्ततो भीमः तत्सुतो भीमसुतः जयसेनः[1] तस्य[1] जयसेनस्य तनयः संकृतिः, स च क्षत्रधर्मा महाशूरः महारथश्च। क्षत्रवृद्धान्वयं[2] निगमयन् नहुषान्वयं वक्तुं तच्छ्रवणाय राजानमादिशति - क्षत्रवृद्धान्वये जाता इति शेषः। इमे उक्ता भूपालाः अथ नाहुषान्नहुषवंशजान् शृणु ॥१७-१८॥

इति श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

विज० इतीमे काश्यजाः काश्यस्य सन्तानजा भूपाः ॥९-१५॥

[illegible]रपि क्षत्रवृद्धात्प्रतिक्षत्रोऽभूत् ॥१६-१८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
नवमस्कन्धे सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

1. -1 AB स्वस्य 2 TW भूपा

# अष्टादशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या पञ्चदशोऽध्यायः)

### श्रीशुक उवाच

यतिर्ययातिस्संयातिरायातिर्वियतिः[1] कृतिः।
षडिमे नहुषस्याऽऽसन्निन्द्रियाणीव देहिनः ॥१॥

राज्यं नैच्छद्यतिः पित्रा दत्तं तत्परिणामवित्।
यत्र प्रविष्टः पुरुष आत्मानं नावबुध्यते ॥२॥

पितरि भ्रंशिते स्थानादिन्द्राण्या धर्षणाद्विद्वजैः।
प्रापितेऽजगरत्वं वै ययातिरभवन्नृपः[2] ॥३॥

चतसृष्वादिशद्दिक्षु भ्रातॄन् भ्राता[3] यवीयसः।
कृतदारो जुगोपोर्वीं काव्यस्य वृषपर्वणः ॥४॥

### राजोवाच

ब्रह्मर्षिर्भगवान्काव्यः क्षत्रबन्धुश्च नाहुषः।
राजन्यविप्रयोः कस्माद्विवाहः[4] प्रातिलोमिकः[5] ॥५॥

### श्रीशुक उवाच

एकदा दानवेन्द्रस्य शर्मिष्ठा नाम कन्यका।
सखीसहस्रसंयुक्ता गुरुपुत्र्या च भामिनी ॥६॥

देवयान्या पुरोद्याने पुष्पितद्रुमसङ्कुले।
व्यचरत्कलगीतालिनलिनीपुलिनेऽबला ॥७॥

ता जलाशयमासाद्य[6-6] कन्याः कमललोचनाः।
तीरे न्यस्य दुकूलानि विजह्रुस्सिञ्चतीर्मिथः ॥८॥

---

1 ABGJMMa °य° 2 M Ma च 3 M Ma गोसृन् 4 ABGJ प्र° 5 ABGJMMa °म° 6--6 MMa जलाशय समा°

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

**अष्टादशे ययातेस्तु नाहुषस्य कथोच्यते।** यस्य पञ्चसु पुत्रेषु कनीयानग्रहीज्जराम् ॥

**यद्वाः आयुषो ज्येष्ठपुत्रस्य नहुषस्याग्रजस्सुतः।** ययातिः पूरुमकृताष्टदशे नृपमात्मजम् ॥

**राज्यमिति।** तस्य राज्यस्य परिणाममनर्थावहत्वं वेत्तीति तथा। तत्र हेतुः यत्रेति ॥१,२॥

**पितरीति।** स्थानात्स्वर्गात्। द्विजैरगस्त्यादिभिः ॥३॥

**चतसृष्विति।** यवीयसो भ्रातृनादिशत्। काव्यस्य शुक्रस्य वृषपर्वणश्च, कन्याभ्यां कृतदारस्सन् ॥४,५॥

नाऽत्र प्रतिलोमता दोष ईश्वरघटनादिति दर्शयन् कथामाह - 'एकदेत्यारभ्य प्रतिजग्राह तद्वच'[1] इत्यन्तेन। गुरोः शुक्रस्य पुत्र्या देवयान्या च सह[2] व्यचरदिति द्वयोरन्वयः ॥६॥

**देवयान्येति।** कलगीता अलयो येषु तानि नलिनीपुलिनानि यस्मिंस्तस्मिन् पुरोद्याने, अबला शर्मिष्ठा ॥७॥

**ता इति।** सिञ्चतीः सिञ्चन्त्यः[3] प्रथमार्थे द्वितीया[4] ॥८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

**यतिरिति।** देहिनः इन्द्रियाणीव नहुषस्य यतिप्रभृतयष्षट् आत्मजा आसन् ॥१॥

**राज्यमिति।** तत्र यतिर्ज्येष्ठः पित्रा नहुषेण दत्तमपि राज्यं नैच्छत्। कथम्भूतः? तत्परिणमवित् राज्यस्य दुःखोदर्कत्वं जानन्नित्यर्थः। तत्र हेतुमाह - यत्र राज्ये प्रविष्टः अधिकुर्वन्पुमान् आत्मानं नावबुध्यते ॥२॥

**पितरीति।** इन्द्राण्या प्राप्तेन्द्राधिपत्येन नहुषेण मां भजस्वेत्युक्त्या शच्या विज्ञापितैर्द्विजैर्नहुषेण स्ववाहनं वोढुं विष्टिगृहीतैर्वाहनस्थेन तेन पादाङ्गुष्ठेन ताडनपूर्वकं, 'सर्पत, सर्पत' इत्युक्तैरगस्त्यादिभिः कृतिभिः[5] धर्षणात् 'सर्पो भव' इत्येवमुक्तिपूर्वकं[6] वाहनपातरूपाद्धर्षणात् पितरि नहुषे स्थानान्निविष्टपात् भ्रंशिते अजगरत्वञ्च प्रापिते सति ययातिर्नृपः अधिकृतराज्यो बभूव ॥३॥

**चतसृष्विति।** स च कनिष्ठान् चतुरो भ्रातॄन् संयातिप्रभृतीन् चतसृषु दिक्षु आदिशत्, पालनार्थमिति शेषः। स्वयन्तु काव्यस्य वृषपर्वणो दानवस्य च कन्याभ्यामिति शेषः। कृतदारस्सन् पृथ्वीं जुगोप ॥४॥

काव्यस्य कृतदार इत्युक्त्या लब्धप्रश्नवासरः पृच्छति राजा **ब्रह्मर्षिरिति**। भगवान्काव्यो ब्रह्मर्षिः, नाहुषो ययातिस्तु

---

1 ABJ 'इत्यादिना 2 ABJ omit सह 3 H V 'त्य 4--4 ABJ omit 5 T W omit कृतिभि 6 AB यात

क्षत्रबन्धुः क्षत्रियावरः अतस्तयोराजन्यविप्रयोः कस्माद्धेतोः प्रातिलोमिको विवाहः कृतः? श्वशुरजामातृभावरूपः सम्बन्धः आसीत्? इति प्रश्नः ॥५॥

न प्रतिलोमतादोषः ईश्वरघटनादिति दर्शयन् कथामाह - 'एक इत्यादिना प्रतिजग्राह तद्वच' इत्यन्तेन। दानवेन्द्रस्य वृषपर्वणः कन्यका शर्मिष्ठा नाम भामिनी अबला कदाचित्सखीनां सहस्रेण गुरो· काव्यस्य पुत्र्या देवयान्या च संयुक्ता सती ॥६॥

पुष्पितैर्द्रुमैः सङ्कुले कलमव्यक्तमधुरं गीतं येषां ते, अलयो भृङ्गा येषु तानि नवानि पुलिनानि यस्मिंस्तस्मिन् पुरोद्याने व्यचरत् ॥७॥

**ता** इति। ताः शर्मिष्ठाप्रभृतयः कमललोचनाः कन्याः जलाशयमासाद्य तत्तीरे दुकूलानि निधाय तस्मिन् मिथः सिञ्चती. सिञ्चन्त्य· विजहुः विहारं चक्रुः ॥८॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अथ नहुषस्य सन्ततिमनुक्रामति - **यतिरित्यादिना** ॥१॥

तस्य राज्यस्य परिणामवित् फलपरिपाकपटुतां जानातीति। यत्र राज्ये ॥२॥

इन्द्राण्या धर्षणात् शच्याः संस्पर्शनिमित्तात् पितरि नहुषे स्वर्गस्थानात् द्विजैर्भ्रंशिते त्याजिते, अजगरत्वं महासर्पत्वं प्रापिते सति.॥३॥

यवीयसः कनिष्ठान्[1] संयातिपूर्वान् काव्यस्य शुक्रस्य पुत्र्या देवयान्या, वृषपर्वणो दैत्यस्य पुत्र्या शर्मिष्ठया कृतदारः ॥४॥

प्रातिलोम्येन विवाह· कथं घटते इति पृच्छति - **ब्रह्मर्षिरिति** ॥५॥

दैववशादिदंपाणिग्रहणं प्राप्तं, न तु मानुषवदिति प्रकाशयितुमाख्यायिकां कथयति - **एकदेति** ॥६,७॥

सिञ्चतीः अन्योन्यजलप्रक्षेपं कुर्वन्त्यः ॥८॥

**वीक्ष्य व्रजन्तं गिरिशं सहदेव्या वृषस्थितम्[2]।**
**सहसोत्तीर्य वासांसि पर्यधुर्वीडिताः स्त्रियः ॥९॥**

**शर्मिष्ठाऽजानती वासो गुरुपुत्र्यास्समव्ययत्[3]।**
**स्वीयं मत्वा प्रकुपिता देवयानीदमब्रवीत् ॥१०॥**

---

1 AB य° 2 MMa °षे 3 HV पुत्र्यास्समप्यधात् , TW पुत्र्यास्तु पर्यधात्

अहो निरीक्ष्यतामस्मद्दास्याः[1] कर्म ह्यसाम्प्रतम्।
अस्मद्धार्यं धृतवती शुनीव हविरध्वरे ॥११॥

यैरिदं तपसा सृष्टं मुखं पुंसः परस्य ये[2]।
धार्यते यैरिह ज्योतिः[3] शिवः पन्थाश्च दर्शितः ॥१२॥

यान्नमन्त्युपतिष्ठन्ते[4] लोकनाथास्सुरेश्वराः।
भगवानपि विश्वात्मा पावनः श्रीनिकेतनः ॥१३॥

वयं तत्राऽपि भृगवः शिष्योऽस्या नः पिताऽसुरः।
अस्मद्धार्यं धृतवती शूद्रो वेदमिवाऽसती ॥१४॥

एवं शपन्तीं[5] शर्मिष्ठा गुरुपुत्रीमभाषत।
रुषा श्वसन्ती[6] व्यालीव धर्षिता दष्टदच्छदा ॥१५॥

आत्मवृत्तमविज्ञाय[7] कत्थसे बहु भिक्षुकि[8]!
किं न प्रतीक्षसेऽस्माकं गृहान् बलिभुजो यथा ॥१६॥

श्रीध० शर्मिष्ठेति। अजानती स्वीयं मत्वा गुरुपुत्र्या वासः समर्प्यधात्[9] पर्यधात् ॥९,१०॥

अहो इति। "असाम्प्रतमन्याय्यम्" ॥११॥

अन्यायमेव ब्राह्मणोत्कर्षवर्णनेन व्यनक्ति यैरिति त्रिभिः। ये ब्राह्मणाः परस्य पुंसो मुखम्। मुखादुत्पन्नत्वेन तृप्तिद्वारत्वेन च श्रेष्ठा इत्यर्थः। ज्योतिर्ब्रह्म। पन्था वेदमार्गः ॥१२,१३॥

तदेवं ब्राह्मणमात्रमेव तावत्पूज्यं - वयमिति। तत्राऽपि वयं[10] भृगवः। अस्याश्च पिता असुरः[11] नः शिष्यः एवं सत्यपि अस्माभिः धार्यं वासः इयमसती धृतवती ॥१४-१६॥

वीर० वीक्ष्येति। तदा ताः स्त्रियः देव्या उमया सह वृषे स्थितं व्रजन्तं गिरिशं रुद्रमवलोक्य व्रीडिता आशु उत्तीर्य तीर मारुह्य वासांसि पर्यधुः धृतवत्यः ॥९॥

---

1 ABGJ "तामस्या दा", MMa ता मह्या दा" 2 M Ma वै 3 M Ma यै पर 4 ABGJ यान्वन्दन्त्युप", MMa येऽपीदमुप 5 H V ह्रुवन्ती", MMaTW क्षिपन्ती" 6 ABGJ "न्त्युरगीव, M Ma "न्ती नागीव 7 MMa "त्ति" 8 H V "की 9 ABJ समव्ययत् 10 ABJ वय 11 ABJ असुर

**शर्मिष्ठेति**। तदा शर्मिष्ठा अजानती गुरुपुत्र्या देवयान्या वासः पर्यधात् । ततो देवयानी शर्मिष्ठया परिधृतं वासः स्वकीयं मत्वा प्रकुपिता सती इदं वक्ष्यमाणमब्रवीत् ॥१०॥

तदेवाऽऽह- **अहो** इत्यादिना क्षिपन्तीमित्यतः प्राक्तनेन । अहो अस्या दास्या असाम्प्रतमयुक्तं कर्म निरीक्ष्यताम्। किं तत्? यदस्मद्धार्यं वासो धृतवतीत्येतत्। असाम्प्रतत्वं स्फुटीकर्तुं दृष्टान्तमाह - शुनी यथा अध्वरे यज्ञे हविर्ग्रहीतुमनर्हा, तद्वदस्मद्धार्यं वस्त्रमियं परिधातुमनर्हेत्यर्थः ॥११॥

असाम्प्रतत्वमेव ब्राह्मणोत्कर्षवर्णनेन व्यनक्ति- **यैरिति**। यैः ब्राह्मणैः भृग्वादिभिस्तपसा परमपुरुषस्य मुखं मुखस्थानीयमिदं[1]ब्राह्मणकुलं सृष्टम्, यैश्चेदं ज्योतिः स्वरूपं परं ब्रह्म धार्यते उपास्यते, यैश्च शिवः क्षेमङ्करः[2] पन्थाः वैदिकमार्गश्च प्रदर्शितः ॥१२॥

**यानिति**। यान् ब्राह्मणान् सुरेश्वरा लोकनाथाः। किमुत, परमपावनः श्रीनिवासो विश्वात्मा भगवानपि, प्रणमन्ति, उपतिष्ठन्ते प्रत्युद्गच्छन्ति ॥१३॥

**तत्रेति**। तत्राऽपि उक्तैर्धर्मैः श्रेष्ठेषु तेषु ब्राह्मणेष्वपि वयं भृगवः भृगुवंशजाः। अस्याः शर्मिष्ठायाः पिता असुरो वृषपर्वा नोऽस्माकं शिष्यश्च। एवं स्थिते इयमसती अनर्हा अस्मद्धार्यं वस्त्रं धृतवती, यथा, अनर्हः शूद्रो वेदं तद्वत् ॥१४॥

**एवमिति**। एवमित्थं क्षिपन्तीं तिरस्कुर्वन्तीं गुरुपुत्रीं देवयानीं शर्मिष्ठोवाच। कथम्भूता? धर्षिता, निष्ठुरवाक्यैरिति शेषः। रुषा उरगी पन्नगीव श्वसन्ती श्वासं मुञ्चती, दष्टो दच्छदोऽधरोष्ठो यथा तथाभूता ॥१५॥

भाषणमेवाऽऽह - **आत्मवृत्त मिति**। हे भिक्षुकि ! त्वमात्मवृत्तमविज्ञाय बहुधा कत्थसे आत्मानं श्लाघसे। वृत्तिमेव दर्शयन्त्याऽऽह- किमिति। यथा बलिभुजो वायसाः श्वानो वा तथा त्वमस्माकं गृहान्न प्रतीक्षसे किम्? जीवनार्थं न प्रतीक्षितवत्यसि किम् ? ॥१६॥

**विज०** पर्यधुराच्छादितवन्त्यः ॥९॥

अजानती शर्मिष्ठा गुरुपुत्र्या वासः स्वीयं मत्वा समव्ययत् संवीतवती। 'व्यय संवरणे' इति धातुः। तथा प्रकुपिता प्रारब्धकोपा देवयानी इदं वाक्यमुवाचेत्यन्वयः ॥१०॥

मह्यं मम असाम्प्रतमयुक्तम् ॥११॥

---

1 TW ब्रह्मकुलं 2 AB °मकर

स्वकुलप्रशंसार्थं ब्राह्मणानां माहात्म्यं कथयति - यैः इदमित्यादिना। इदं विश्वं यैर्ब्राह्मणैस्तपसा सृष्टं, ये परमस्य पुंसः मुखं, यैरिदं परं ज्योतिर्ब्रह्माख्यं धार्यते, यैश्च शिवः पन्थाः वेदमार्गो दर्शितः ॥१२॥

ये लोकनाथास्सुरेश्वराः, तेऽपीदं ब्राह्मणकुलमुपतिष्ठन्ते अग्निमुखेन हविरादातुं प्रतीक्षन्ते विश्वात्मा भगवानपि ब्राह्मणप्रियः तिष्ठतीति शेषः ॥१३॥

वयं तत्र ब्राह्मणेषु भृगवः भृगुकुलजाः, अत एव श्रेष्ठा इति शेषः। अस्याः पिता वृषपर्वाऽसुरो नोऽस्माकं शिष्यः अस्मत्पितृशिष्यत्वादहमपि तत्पुत्रीत्वान्मान्येति यस्मात्तस्मात् अस्मद्धार्यं वस्त्रमिदं धृतवती, यथा वेदग्रहणायोग्यो वृषलो वेदं धारयति तथेति ॥१४॥

धर्षिता अप्रगल्भीकृता, तुच्छीकृतेत्यर्थः ॥१५॥

बहु कत्थसे व्यर्थवचनं वदसि, भिक्षुकि! त्वं स्पष्टमित्याह किन्नेति। बलिभुजः श्वानः काको वा? ॥१६॥

**एवंविधैस्सुपरुषैः क्षिप्त्वाऽऽचार्यसुतां सतीम्।**
**शर्मिष्ठा प्राक्षिपत्कूपे वासश्चादाय मन्युना[1] ॥१७॥**

**तस्यां गतायां स्वगृहं ययातिर्मृगयाञ्चरन्।**
**प्राप्तो यदृच्छया कूपे जलार्थी तां ददर्श ह[2] ॥१८॥**

**दत्त्वा स्वमुत्तरं वासस्तस्यै राजा विवाससे।**
**गृहीत्वा पाणिना पाणिमुज्जहार दयापरः ॥१९॥**

**तं वीरमाहौशनसी प्रेमनिर्भरया गिरा।**
**राजंस्त्वया गृहीतो मे पाणिः परपुरञ्जय ॥२०॥**

**हस्तग्राहोऽपरो[3] मा भूद्गृहीतायास्त्वया हि मे।**
**एष ईशकृतो वीर सम्बन्धो नौ न पौरुषः।**
**यदिदं कूपलग्नाया भवतो दर्शनं मम[4] ॥२१॥**

**न ब्राह्मणो मे भविता हस्तग्राहो महाभुज।**
**कचस्य बार्हस्पत्यस्य शापाद्यमशपं पुरा ॥२२॥**

1 ABGJ "स आ", MMa "सस्त्वा" 2 H V "र्थं 3 W "ह परो 4 MMa "म"

**ययातिरनभिप्रेतं दैवोपहृतमात्मनः।**
**मनश्च तद्गतं बुद्ध्वा प्रतिजाग्राह तद्वचः ॥२३॥**

**गते राजनि सा वीरे तत्र स्म रुदती पितुः।**
**न्यवेदयत्ततः सर्वमुक्तं शर्मिष्ठया कृतम् ॥२४॥**

**श्रीध०** निषिद्धोऽयं प्रतिलोमसम्बन्ध इति चेत्तत्राऽऽह **एष** इति ॥१७-२१॥

ब्राह्मणमेव त्वं वृणीहि किमनेनाऽऽग्रहेण इति चे त्तत्राऽऽह **न ब्राह्मण इति**। बृहस्पते सुतः कच· शुक्रान्मृतसञ्जीवनीं विद्यामध्यगात्[2]। तदा च देवयानी तं पतिं चकमे। स च गुरुपुत्री मम पूज्येति न तामुदवहत्। ततश्च कुपिता सती 'तवेयं विद्या निष्फला भव' त्विति तं[3] शशाप। स च, 'तव ब्राह्मणः पतिर्न भवे' दिति तां शशाप। तदेतदाह - कचस्येति। **य** महमशपं तस्य शापात् ॥२२॥

**ययातिरिति**। अशास्त्रीयत्वादनभिप्रेतमपि दैवेनोपहृतं प्रापितं बुद्ध्वा तद्गतं तस्यां सकामं स्वं[4] मनश्च बुद्ध्वा, न ह्यधर्मे मदीयं मन· प्रविशेदिति तस्या· वच· प्रतिजग्राहाऽङ्गीकृतवान् ॥२३॥

शर्मिष्ठा सम्बन्धोऽपि दैववशादेवाभव[5] दिति दर्शयन्नाऽऽह- **गते राजनीति** नवभि.। उक्तं भिक्षुकि! इत्यादि। कृतं[6] कूप प्रक्षेपादि ॥२४॥

**वीर० एवंविधैरिति**। एवंविधैरन्यै· परुषैर्वचोभिराचार्यस्य गुरोस्सुतां क्षिप्त्वा उपालभ्य सती शर्मिष्ठा मन्युना वासो वस्त्रंश्चादाय तामाचार्यसुतां कूपे प्राक्षिपत् पातयामास ॥१७॥

**तस्यामिति**। अथ तस्यां शर्मिष्ठायां स्वगृहं प्रतिगतायां सत्यां ययातिर्मृगयां चरन् यदृच्छया जलार्थी तत्र कूपसमीपं प्राप्त· गतः तत्र तां कन्यां देवयानीं नग्नां ददर्श ॥१८॥

**दत्वेति**। ततो विवाससे नग्नायै तस्यै देवयान्यै स्वकीयमुत्तरीयं वस्त्रं दत्वा राजा ययाति दयापर· पाणिना तस्या· पाणिं गृहीत्वा तां बहिरुद्धृतवान् ॥१९॥

**तमिति**। तमुद्धृतवन्तं वीरं ययातिम् औशनसी काव्यसुता प्रेमपूर्णया गिरा उवाच। तदेवाऽऽह - राजन्निति त्रिभिः। हे राजन्! परेषां पुराणि जयतीति तथाभूत ! मम पाणिः त्वया गृहीतः ॥२०॥

---

1 ABGJMMa 'स्तु 2 H V 'मध्य' 3 H V omit त 4 B स्वस्य म , H V 'स्वम' 5 H V 'भूदिति 6 ABJ कूपे प्र'

अतस्त्वया गृहीताया मम परो हस्तग्राहः अन्यदीयपाणिना मत्पाणिग्रहो मा भूत्, मामुद्वहस्वेत्यर्थः। ननु, त्वं ब्राह्मणी अहन्तु राजन्यः। कथमावयोः प्रातिलोमिको विवाहः स्यादित्यत्राऽऽह- एष इति। हे वीर! नौ आवयोरेष भर्तृभार्याभावरूपः सम्बन्ध ईश्वरकृतः, न तु पौरुषो मनुष्यकृतः। अतोऽत्र न दोष इति भावः।

नन्विमं सम्बन्धं कुर्वन्नीश्वरोऽत्र न दृश्यत इत्यत्राऽऽह- यदिति। यत् यस्मात् कूपलग्राया ममेदमसम्भावितं भवतो दर्शनमभूत्, यथेदं दर्शनमीश्वरकारितमनुमीयते, तथा सम्बन्धश्चेति भावः ॥२१॥

किञ्च। मम राजन्य एव पति र्भविता, न ब्राह्मण इत्याह - नेति। हे महाबाहो! मे मम हस्तग्राहः, पाणेर्ग्राहको भर्तेति यावत्, ब्राह्मणो न भविता, न भविष्यति। कृतः बार्हस्पत्यस्य बृहस्पतिसुतस्य कचस्य शापत्। कोऽसौ कचः? तत्राऽऽह -यं कचमहं पुरा प्रथममशपं, तस्य शापशदित्यर्थः। बृहस्पतेः सुतः कचः शुक्रान्मृतसञ्जीवनीं विद्यामध्यगात्। तदा देवयानी तं पतिं चकमे। स च गुरुपुत्री त्वं मम पूज्या इत्युक्त्वा न तामुपयेमे। ततस्सा कुपिता सती तवेयं विद्या निष्फला भवत्विति शशाप। स च तव पतिर्ब्राह्मणो न भविष्यतीति शशापेति कथाऽत्राऽनुसन्धेया ॥२२॥

ततो ययातिरशास्त्रीयत्वादनभिप्रेतमपि दैवेनोपहृतं प्रापितं बुद्ध्वा तद्गतं तस्यामासक्तं मनश्च बुद्ध्वा, न ह्यधर्मे मदीयं मनः प्रविशेदिति तस्या वचः प्रतिजग्राह अङ्गीकृतवान् ॥२३॥

शर्मिष्ठासम्बन्धोऽपि दैववशादेवाऽभवदिति दर्शयन्नाऽऽह - गते राजनीति नवभिः। वीरे राजनि ययातौ गते सति सा देवयानी तत्र गता रुदती पितुः समीपम्, एत्येति शेषः। शर्मिष्ठया कृतमुक्तञ्च तत्सर्वं न्यवेदयत् ॥२४॥

विज० उत्तरमुत्तरीयम्। उज्जहार कूपादिति शेषः ॥१७-१९॥

प्रेमनिर्भरया स्नेहपूर्णया। हस्तं गृह्णातीति हस्तग्राहः, पाणिग्रहणकर्ता अपरोऽन्यो न स्यात् हस्तग्राह इति पाठे हस्ते ग्राहो ग्रहणं यस्य स तथा। 'कुम्भकारवदण् प्रत्ययान्तो वा' । कूपमग्राया मम भवतो यदिदं दर्शनम्। एष सम्बन्धः ईशकृतः श्रीनारायणविहितः न पौरुषः पुरुषकाररचितो न भवति ॥२०,२१॥

ब्राह्मणपुत्र्यास्तव ब्राह्मण एव भर्ता युक्तो न क्षत्रियः, प्रतिलोमप्रवेशप्रसङ्गादिति शङ्कां परिहरति - न ब्राह्मण इति। हे महाभुज ! मे ब्राह्मणो हस्तग्राहो न भविता न भविष्यति। कुत इति तत्राऽऽह- कचस्येति। बार्हस्पत्यस्य बृहस्पतेरपत्यस्य नाम्ना कचस्य शापात् मृतसञ्जीवनीविद्यार्थी कचस्तत्प्रतिग्रहाय बहुतिथं गुरुपरिचर्यां विधाय तत्प्रसादमापाद्य तद्विद्यामादाय गुरो रनुज्ञया गन्तुकामं कचमुपलभ्य, सर्वप्रकारेण कचस्य हितमाचरन्त्या मया भो कच! त्वं मम भर्ता भव-इत्युक्तो मामुवाच हे देवयानि! त्वया नैवं वक्तव्यं यत् भ्राताऽऽहमिति, तदा कुपिताऽहं तमशपम् - मत्पितुरवाप्तविद्या न

फलत्वितीयमाख्यायिकाऽनेनोच्यते। यमशपं पुरेति अहं पुरा यं कचमशपं शप्तवती, तस्य शापादिति ॥२२॥

अनन्तरं ययातिना किं कृतं इत्यत्राऽऽह- **ययातिरिति**। यदनभिप्रेतं प्रातिलोम्येनोद्वहनं तदेवाऽऽत्मनः दैवेन श्रीनारायणेन उपहृतमर्पितमात्मनो मनश्च तस्यां गतमनुरक्तं बुध्द्वा तस्या देवयान्याः वचः प्रतिगृहीतवानित्यन्वयः ॥२३,२४॥

**दुर्मना भगवान्काव्यः पौरोहित्यं विगर्हयन्।**
**स्तुवन् वृत्तिञ्च कापोतीं दुहित्रा स ययौ पुरात् ॥२५॥**

**वृषपर्वा तमाज्ञाय प्रत्यनीकविवक्षितम्।**
**गुरुं प्रसादयन्मूर्ध्ना पादयोः पतितः पथि ॥२६॥**

**क्षणार्धमन्युर्भगवान् शिष्यं व्याचष्ट भार्गवः।**
**कामोऽस्याः क्रियतां राजन् नैनां सन्त्वक्तुमुत्सहे[1] ॥२७॥**

**तथेत्यवस्थिते प्राह देवयानी मनोगतम्।**
**पित्रा दत्ता यतो यास्ये सानुगा यातु मामनु ॥२८॥**

**स्वानां तत्सङ्कटं वीक्ष्य तदर्थस्य च गौरवम्।**
**देवयानीं पर्यचरत् दासीवत्स्त्रीगणैस्सह[2-2] ॥२९॥**

**नाहुषाय सुतां दत्त्वा सह शर्मिष्ठयोशना।**
**तमाह राजच्छर्मिष्ठामधास्तेल्पे[3] न कर्हिचित्[4] ॥३०॥**

**विलोक्यौशनसीं[5] राज्ञीं शर्मिष्ठा सुप्रजां[6] क्वचित्।**
**तमेव वव्रे रहसि सख्या[7-7] परिवृता सती ॥३१॥**

**राजपुत्र्याऽर्थितोऽपत्ये धर्मज्ञाऽऽवेक्ष्य धर्मवित्।**
**स्मरच्छुक्रवचः काले दिष्टमेवाभ्यपद्यत ॥३२॥**

**श्रीध० दुर्मना इति**। कापोतीं उञ्छवृत्तिम् ॥२५॥

**वृषपर्वेति**। प्रत्यनीका देवास्ते विवक्षिता जयं प्रापणीया इत्यभिप्रेता[8] यस्य तथाभूतं ज्ञात्वा। प्रत्यनीकानां विवक्षित मिति वा ॥२६,२७॥

---

1 ABBJMMa त्यक्तुमिहोत्सहे 2- -2 ABGJ स्त्रीसहस्रेण दासवत् , MMa स्त्रीसहस्रेण दासिवत् 3 ABGJ "ष्ठामाधा" , Mma "ष्ठा माधा" 4 MMa तु 5 ABGJ राजन् । , MMa राज्ञी 6 AGJ सप्रजा , H V सुप्रजा 7 ABGJMMa सख्या पतिमृतौ 8 ABJ "त

**तथेति**। सानुगा सखीभिः सहिता शर्मिष्ठा मामनुयात्विति ॥२८॥

**स्वानामिति**। तत्तस्मात् निर्गताच्छुक्रात्सङ्कटं वीक्ष्य। तत्तस्मात् अवस्थितार्थस्य प्रयोजनस्य गौरवञ्च वीक्ष्य ॥२९॥

**नाहुषाय** इति। तल्पे नाधा· नोपगच्छेः इत्यर्थः ॥३०,३१॥

**राजेति**। अपत्यार्थमृतुकाले प्रार्थनात्तस्याः कामपूरणं धर्ममवेक्ष्य शुक्रस्य वचश्च स्मरन् तिष्ठन् दैवप्रापितमेव तत्सङ्गमभ्यपद्यत न तु कामतः इत्यर्थः ॥३२॥

**वीर० दुर्मना** इति। तदाकर्ण्य स भगवा न्काव्यो दुर्मना विमनाः पौरोहित्यं विगर्हयन् कापोतीं वृत्तिं उञ्छवृत्तिं स्तुवंश्च दुहित्रा सह वृषपर्वण· पुरात् ययौ निश्चक्राम ॥२५॥

**वृषपर्वेति**। ततो वृषपर्वा प्रत्यनीका देवास्ते विवक्षिता. जयं प्रापणीया इत्यभिप्रेता यस्य तथाभूतं तं गुरुं, ज्ञात्वा पथि पादयोः पतितो गुरुं प्रसादयामास प्रार्थयाञ्चक्रे ॥२६॥

**क्षणार्धेति**। क्षणार्धमेव मन्युः क्रोधो यस्य स भगवान् भार्गवः काव्यः शिष्यं वृषपर्वाणमाचष्ट अब्रवीत्। हे राजन्! अस्या देवयान्याः काममिष्टं क्रियतां यदि यमिच्छति तत् क्रियताम्। एनां देवयानीं त्यक्तुमहं नोत्सहे न प्रभवामि, स्नेहादिति शेषः ॥२७॥

**तथैवेति**। तथैवास्त्वित्यङ्गीकृत्य वृषपर्वणि स्थिते सति देवयानी स्वमनोगतं प्राह - किमिति? पित्रा दत्ता सत्यहं यतो यास्ये गमिष्यामि तत्रेयं शर्मिष्ठा सानुगा ससखी मामनुयातु अनुगच्छतु, मद्दास्यं कर्तुमिति भाव इति ॥२८॥

**स्वानामिति**। ततशर्मिष्ठा तत् तस्मात् शुक्रात् स्वानां पित्रादीनां सङ्कटं निरीक्ष्य तत्तस्मादवस्थितादर्थस्य प्रयोजनस्य गौरवञ्च वीक्ष्य स्त्रीसहस्रेण सह दासीवद्देवयानीं पर्यचरत् ॥२९॥

**नाहुषेति**। ततः उशना काव्य· शर्मिष्ठ्या सह सुतां देवयानीं नाहुषाय ययातये दत्त्वा तं नाहुषमाह - किमिति ? हे राजन्! तल्पे शय्यायां शर्मिष्ठां कर्हिचिदपि नाऽधाः न विन्यस्येरिति ॥३०॥

**विलोक्येति**। तत· कदाचित् शर्मिष्ठा राज्ञो ययातेः स्त्रियमौशनसीं देवयानीं सुप्रजां शोभनापत्यवतीं विलोक्य स्वय मपि ऋतौ वर्तमाना सख्या देवयान्या· पतिं तमेव ययातिमेव वव्रे ॥३१॥

**राजपुत्र्येति**। तदा अपत्यार्थं राजपुत्र्या शर्मिष्ठया अर्थितः धर्मवित् ययातिः धर्ममवेक्ष्य अपत्यार्थमृतुकाले प्रार्थयमानायाः

---

1 ABJ सखी स

कामपूरणं धर्म एवेति विचार्य शुक्रवचः शर्मिष्ठा[1] 'मधा[2] स्तल्पे न कर्हिचित्' इति वचः स्मरन्नपि काले दिष्टं दैवप्रापितमेवाभ्यपद्यत। दैवप्रापितमेव तत्सङ्गमभ्यपद्यत, न तु कामत इत्यर्थः ॥३२॥

विज० कापोतीं कपोतसम्बन्धिनीं वृत्तिं स्तुवन्। ग्रन्थाधिकभयान्न कापोती वृत्ति र्विव्रियते। देवयान्या दुहित्रा सह ॥२५॥

प्रत्यनीकानां असुरद्वेषिणां देवानां वक्तुमिष्टं कार्यम् ॥२६॥

अस्या देवयान्याः कामोऽपेक्षाविशेष· स्वाभीष्टसाधनाय यात्वियं शर्मिष्ठा भवानस्मत्प्रियायास्तामिति तत्राऽऽह- नैना मिति ॥२७॥

यदभीष्टं तत्तथा करिष्ये इत्येवमुक्त्वा वृषपर्वण्यवस्थिते सति वृषपर्वणा तव किं कर्तव्यमिति पृष्टा देवयानी मनोगतं स्वमनसि स्थितं कार्यं प्राह - किं तदाह - पित्रेति। अहं पित्रा दत्ता यास्ये यतोऽतो मामियं शर्मिष्ठा सानुगा दासीसहस्रेण सहिता अनुयातु अन्वागच्छतु इति ॥२८॥

शर्मिष्ठा तत्सर्वं श्रुत्वा यद्यहं नाऽनुगमिष्यामि तदा गुरुद्रोहात् मत्कुलं सर्वं नष्टं भवतीति यत्स्वानां सङ्कटं तद्वीक्ष्य तदर्थस्य तदनुगमनलक्षणप्रयोजनस्य गौरवं गुरुप्रसादेन स्वकुलाभिवृद्धिलक्षणमस्तीति मनसा निश्चित्य स्त्रीसहस्रेण परिवृता तथा करिष्यामीति पितरमुक्त्वा देवयानीं दासीवत् पर्यचरत् ॥२९॥

उशना सुतां देवयानीं नाहुषाय नहुषपुत्राय ययातये शर्मिष्ठया सह दत्त्वा तं राजानमाह - किमाह? कचिदपि शर्मिष्ठां तल्पे शयनीयस्थाने माधाः धृतां मा कर्षीः मिथुनीभावं न कुरु इत्यर्थः ॥३०॥

औशनसीं देवयानीं कार्यमालेच्य रहस्येकान्ते सख्या· पतिं तमेव ययातिमेव ऋतुकाले वव्रे ॥३१॥

अपत्ये सन्तानर्थे राजपुत्र्या शर्मिष्ठया प्रार्थितो धर्मवित् धर्मज्ञः "न काञ्चन परिहरेत् तद्व्रतम्" इति श्रुतेः। स्वयमागतां परिहर्तुमशक्यश्चेति धर्मज्ञावेक्ष्य शुक्रवचः स्मरन्नपि काले दिष्टमेव दैवमेवाऽत्र कारणमिति निश्चित्याभ्यपद्यत तामिति शेषः ॥३२॥

यदुश्च तुर्वसुश्चैव देवयानी व्यजायत।
द्रुह्युश्चाऽनुश्च पूरुश्च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ॥३३॥
गर्भसम्भवमासुर्या भर्तुर्विज्ञाय मानिनी[3]।
देवयानी पितुर्गेहं ययौ क्रोधविमूर्छिता ॥३४॥

1 AB भृगु 2 AB मा 3 MMa भामिनी

प्रियामनुगतः कामी वचोभिरुपमन्त्रयन्[1]।
न प्रसादयितुं शेके पादसम्मर्दनादिभिः[2] ॥३५॥

शुक्रस्तमाह कुपितः स्त्रीकामाऽ नृतपूरुष[3]।
त्वां जरा विशतां मन्द विरूपकरणी नृणाम्[4] ॥३६॥

ययातिरुवाच

अतृप्तोऽस्म्यद्य कामानां ब्रह्मन्। दुहितरि स्म ते।
व्यत्यस्यतां[5] यथाकामं वयसा योऽभिधास्यति ॥३७॥

इति लब्धव्यवस्थानः पुत्रं ज्येष्ठमवोचत[6]।
यदो तात। प्रतीच्छेमां जरां देहि निजं वयः ॥३८॥

मातामहकृतां वत्स[7]। न तृप्तो विषयेष्वहम्।
वयसा भवदीयेन रंस्ये कतिपयास्समाः ॥३९॥

यदुरुवाच

नोत्सहे[8] जरया स्थातुमन्तरा प्राप्तया[9]ऽनघ।
अविदित्वा सुखं ग्राम्यं शान्तिं नोपैति[10] पूरुषः ॥४०॥

**श्रीध० गर्भेति**। आसुर्या शर्मिष्ठायाः भर्तुस्सकाशात् ॥३३,३४॥

**प्रियामिति**। उपमन्त्रयन् प्रसादयन् ॥३५॥

**शुक्र इति**। विकृतं रूपं करोतीति तथा ॥३६॥

**अतृप्त इति**। ते दुहितरि कामैरद्याऽप्यतृप्तोऽस्मि, कामानां भोगैरिति वा। शुक्र आह - तर्हि योऽभिधास्यति अभितो धारयिष्यति तस्य वयसा यथाकामं व्यत्यस्यतां यथेच्छं जरा व्यत्ययं यातु। व्यत्ययं नीयतामिति वा। यद्वा व्यत्यस्येति छेदः। तां जरां व्यत्यस्य[11] व्यत्यासं गमयेत्यर्थ ॥३७॥

**इतीति**। इति लब्धं व्यवस्थानं जराया व्यवस्थितिर्येन सः ॥३८-४०॥

1 MMa 'रभि' 2 ABGJMMa सवाहना' 3 HTVW पौ' 4 MMa 'ते 5 MMa 'स्यै' 6 H V 'मया' 7 H V ग्र 8 ABGJ'W 'सा 9 ABGJMMa 'या तव। 10 ABGJMMa वैतृष्ण्य नैति 11 H V omit व्यत्यस्य

**वीर० यदुमिति**। तत्र देवयानी यदुं तुर्वसुञ्च द्वौ पुत्रौ व्यजायत सुषुवे। वार्षपर्वणी वृषपर्वणो दुहिता शर्मिष्ठा तु द्रुह्युमनुं पूरुञ्चेति त्रीन् सुतान् व्यजायत ॥३३॥

**गर्भसम्भवमिति**। ततो मानिनी देवयानी भर्तुस्सकाशादेव आसुर्याः शर्मिष्ठायाः गर्भसम्भवं विज्ञाय क्रोधमूर्छिता पितुः काव्यस्य गेहं जगाम ॥३४॥

**प्रियामिति**। प्रियां देवयानीमनुगतः कामी ययातिः तां पादसंवाहनादिभिः पादग्रहणादिभिः सान्त्ववचनै[1] - श्चोपमन्त्रयन्प्रार्थयमानोऽपि तां प्रसादयितुं न शेके न प्रबभूव ॥३५॥

**शुक्र इति**। तदा तं ययातिं कुपितः शुक्र आह - किमिति हे स्त्रीकाम हे अनृतपूरुष! पुरुषाकृत्यापन्नानृतरूप! हे पन्द! दुर्बुद्धे! नृणां विरूपं विकृतरूपं करोतीति तथा। सा जार त्वां विशताम् आविशतु इति ॥३६॥

**अतृप्त इति**। एवं शप्तो ययातिराह -अतृप्तोऽ स्मीति। हे ब्रह्मन्, ते तव दुहितरि कामानां कामैः [illegible] ऽप्यतृप्तोऽस्मि। कामानां भोगैरिति शेषो वा। ततः शुक्र आह - व्यत्यस्यतामिति योऽभिधास्यति जरामहं ग्रहिष्यामीत्य[illegible] [illegible]स्मिन् वयसा तस्य वयसा यथाकामं यावत्कामं व्यत्यस्यतां, जरेति शेषः। जरां तस्मै दत्त्वा तद्वयो गृहाणेत्यर्थः ॥३७॥

इतीत्थं लब्धं व्यवस्थानं जराव्यवस्थितिर्येन स ययातिः ज्येष्ठं पुत्रं यदुमवोचत। किमिति? हे यदो! हे तात! इमां तव मातामहेन कृतां प्रहितां जरां प्रतीच्छ प्रतिगृहाण, निजं त्वदीयं वयो देहि। विषयेष्वहं न तृप्तोऽस्मि। अतो भवदीयेन त्वद्दत्तेन वय साऽहं कतिचिद्वर्षाणि रंस्ये इति ॥३८,३९॥

यदु राह - **नोत्सहे** इति। तव अन्तरा वयो मध्ये प्राप्तया जरसा जरया स्थातुमहं नोत्सहे। अनुत्स[illegible] हेतुमाह - ग्राम्यं सुखमविदित्वा अननुभूय पुमान् शान्तिं वैराग्यं नोपैति। अनुभूतग्राम्यसुखस्त्वमेव शान्तिं **नोपैषि**। अहन्तु अनासादितग्राम्य सुखः कथं शान्तिमुपेयाम् इत्यर्थः ॥४०॥

**विज० आसुर्याः शर्मिष्ठायाः** ॥३४-३५॥

हे स्त्रीकाम! अनृतपूरुष! असत्यवादिपुरुषज्ञानी पुरुषो नेति वा, त्वां जरा विशते इति लट् लोडर्थे, जरा त्वामाविशत। मिति शापमदादित्यर्थः ॥३६॥

ते तव दुहितरि कामानां शब्दादिविषयाणां स्मरणेनातृप्तोऽस्मि अलम्बुद्धिं न प्राप्तोऽस्मि। "स्मृतौ वृत्ते निषेधे स्म स्वः स्वर्गपरलोकयोः" (वैजः कोः 8-7-7) इति। अत एवमनुग्रहः कर्तव्य इत्याह व्यत्यस्येति। यो मह्यं वयोऽभिदास्यते तस्मिन्

---

1 AB सान्त्वन

जरां व्यत्यस्य सङ्क्रमय्य तद्वयसा यथाकामं भुञ्ज इति ॥३७॥

तर्हि तथाऽस्त्विति लब्धव्यवस्थानो ययातिर्ज्येष्ठं पुत्रमुवाच - प्रतीच्छ गृहाण ॥३८॥

मातामहेन शुक्रेण कृतां रंस्ये सुरतमनुभवामि ॥३९॥

कुतो नोत्सहे इति तत्राऽऽह- अविदित्वेति। अविदित्वा अननुभूय, वैतृष्ण्यं वैराग्यम् ॥४०॥

तुर्वसुश्चोदितः पित्रा द्रुह्युश्चाऽनुश्च भारत।
प्रत्याचख्युरधर्मज्ञा अनित्ये नित्यबुद्धयः ॥४१॥[1]

अपृच्छत्तनयं पूरुं वयसोनं गुणाधिकम्।
न त्वमग्रजवद्वत्स। मां प्रत्याख्यातुमर्हसि ॥४२॥

पूरुरुवाच -

को नु लोके मनुष्येन्द्र पितुरात्मकृतः पुमान्।
प्रतिकर्तुं[2] क्षमो यस्य प्रसादाद्विन्दते परम् ॥४३॥

उत्तमश्चन्तितं कुर्यात् प्रोक्तकारी तु मध्यमः।
अधमोऽश्रद्धया कुर्यादकर्तोच्चरितं पितुः ॥४४॥

इति प्रत्युदितः[3] पूरुः प्रत्यगृह्णाज्जरां पितुः।
सोऽपि तद्वयसा कामान् यथावज्जुजुषे नृप। ॥४५॥

सप्तद्वीपपतिः सम्यक् पितृवत्पालयन् प्रजाः।
यथोपजोषं[4] विषयान् जुजुषेऽव्याहतेन्द्रियः ॥४६॥

देवयान्यप्यनुदिनं मनोवाग्देहवृत्तिभिः[5]।
प्रेयसः परमां प्रीतिमुवाह प्रेयसी रहः ॥ ४७॥

अयजद्यज्ञपुरुषं क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः।
सर्वदेवमयं देवं सर्वयज्ञमयं हरिम्[6] ॥४८॥

---

1 A B G J ह्य° 2 M,Ma °ह° 3 A B G J M Ma प्रमु° 4 M Ma जुजोषाऽ° 5 A B G J M Ma वस्तुभि 6 A B G J M Ma वेद

**श्रीध० तुर्वसुरिति।** यतो न धर्मज्ञाः अनित्ये च यौवने नित्यबुद्धयः ॥४१॥

**अपृच्छदिति।** त्वं जरां किं ग्रहीष्यसीत्यपृच्छत्। प्रत्याख्यानं मा कृथा इत्याह - न त्वमिति ॥४२॥

**क इति।** आत्मकृतः स्वदेहकर्तुः प्रत्युपकारं कर्तुं को नु क्षमः ॥४३॥

**उत्तम इति।** तथाऽपि पितु र्यश्चिन्तितं कुर्यात् स उत्तमः। यस्तु प्रोक्तकारी स मध्यमः। यस्तु अश्रद्धया कुर्यात् - स अधमः। अकर्ता पितुरुच्चरितं पुरीषप्रायः ॥४४॥

**इतीति।** जुजुषे सेवितवान् ॥४५॥

**सप्तेति।** यथोपजोषं यथाप्रीति जुजुषे ॥४६-४८॥

**वीर०** तत इत्थमेव पित्रा ययातिना चोदितः तुर्वसुरनुश्च हे भारत! यदुबदूचतुरिति शेष । एवं त्रयः पुत्राः अनित्ये देहे नित्युबुद्धिर्येषां, तथाभूता, अत एवाऽधर्मज्ञाः प्रत्याचख्युः ॥४१॥

**अपृच्छदिति।** ततो ययाति पुत्रत्रयादपि वयसा ऊनं गुणैरधिकं तनयं पूरुमपृच्छत्। किमिति ? हे वत्स! त्वमग्रजवत् ज्येष्ठवत् मां प्रत्याख्यातुं नार्हसीति ॥४२॥

एवमुक्तः पूरुराह - **को न्विति** द्वाभ्याम् । हे मनुष्येन्द्र! आत्मकृतः पितृदेहेनोत्पादितः को नु पुमान् लोके पितुः प्रतिकर्तुं प्रत्युपकर्तुं क्षमः प्रभु । असामर्थ्ये हेतुं वदन् पितरं विशिनष्टि - यो, यस्य पितुरनुग्रहात् परमधिकमैहिकमामुष्मिकञ्च श्रेयो विन्दते लभते ॥४३॥

यद्यपि कोऽप्यक्षमः तथा पितुश्चिन्तितमभिप्रेतं यः कुर्यात् स उत्तम यथोक्तकरी तु मध्यमः, अश्रद्धया यः कुर्यात् सोऽधमः, अश्रद्धयाऽप्यकर्ता तु पितुरुच्चरितं पुरीषप्रायः ॥ ४४॥

इतीत्थं भाषमाणः पूरुः प्रीत पितुर्जरां प्रत्यगृह्णात् स्वीयं वयो दत्त्वेति शेष । तत सोऽपि ययातिरपि नृपः तद्वयसा पुत्रदत्तेन वयसा कामान् यथावत् जुजुषे सेवितवान् ॥४५॥

तदेव प्रपञ्चयति - **सप्तद्वीपेति।** सप्तद्वीपाधिपतिस्सान् प्रजाः पितृवत्पालयन् यथोपजोषं यथाप्रीति विषयान् जुजुषे। कथम्भूतः? अव्याहतानि दृढानीन्द्रियाणि यस्य तथाभूतः ॥४६॥

**देवयानीति।** प्रेयसी देवयानी प्रेयसो भर्तुः रहः एकान्ते परमां प्रीतिमुवाह, नितरां प्रीतिविषया बभूवेत्यर्थः ॥४७॥

---

1 TW omit य

**अयजदिति।** तथा ययातिः भूरि दक्षिणा येषु तैः क्रतुभिः सर्वदेवताशरीरकमाराधकार्तिहरं सर्वयज्ञाराध्यं तत्फलदं तत्प्रोक्तारं भगवन्तमयजत् आराधितवान् ॥४८॥

**विज०** प्रत्याचख्युः निराकृतवन्तः। अनित्ये क्षणभङ्गुरे ॥४१॥

वयःशोनं कनिष्ठं ममाऽऽज्ञाम् ॥४२॥

आत्मकृतः शरीरोत्पादनकर्तुः, परं लोकम् ॥४३॥

उच्चारितं गुदनिर्गतं मलम् ॥४४॥

जुजुषे बुभुजे ॥४५॥

यथोपजोषं यथा सुखम् ॥४६॥

प्रेयसः भर्तुः ॥ ४७,४८॥

यस्मिन्निदं विरचितं[1] व्योम्नीव जलदावलिः।
नानेव भाति नाभाति स्वप्नमायामनोरथः ॥४९॥

तमेव हृदि विन्यस्य वासुदेवं गुहाशयम्।
नारायणमणीयांसं निराशीरयजत् प्रभुः[2] ॥५०॥

एवं वर्षसहस्राणि मनष्षष्टैर्मनस्सुखम्।
विदधानोऽपि नाऽतृप्यत् सार्वभौमः कदिन्द्रियैः ॥५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

**श्रीध०** यस्मिन्निति। नानेव भाति यावदिन्द्रियवृत्तिः[3]। तदुपरमेनाऽऽभाति च। स्वप्नमायाभ्यां सहितो मनोरथ इवेत्यर्थः ॥४९,५०॥

**एवमिति।** मनस्सुखं कामभोगम्। कदिन्द्रियैः कुत्सितैः पराङ्मुखैरिन्द्रियैः ॥५१॥

1 M Ma चरितं 2. A.B G J प्रभुम् 3 ABJ प्रवृत्ति

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां नवमस्कन्धे अष्टादशोऽध्यायः॥१८॥

**वीर०** यजनप्रकारमेवाऽऽह - **यस्मिन्निति** द्वाभ्याम्। यस्मिन्नित्यस्य तमित्युत्तरेणान्वयः। यस्मिन्वासुदेवे इदं कृत्स्नं चिदचिदात्मकं जगत् विरचितं सत् व्योम्नि जलदपङ्क्तिरिव नानेव भाति, नाभाति च; पात्यते संह्रियते चेत्यर्थः। यस्मिन्निति धारकत्वदोषास्पर्शित्वे विवक्षिते विरचितमित्यस्य येनेति शेषः। अनेन ब्रह्मत्वमुक्तं, नाना भाति इत्यनेन पालनदशायां देवमानुष्यादिनामरूपभेदेन बहुधा प्रतीतिरुक्ता। इवशब्देन वस्तुत स्थूलचिदचिच्छरीरकं ब्रह्मैकमेव विश्वरूपेणावस्थितमिति सूच्यते। अनेनैव सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्वमपि लब्धं, कारणस्यैव वस्तुन कार्यात्मनाऽवभासमानत्वात्। यस्मिन् नाना नाभातीत्यनेन लयाधिकरणत्वोक्त्या च तल्लभ्यते लयाधिकरणस्यैव लीयमानोपादानत्वदर्शनात् यस्मिन् धारके नाना भातीत्यनेन अन्तःप्रविश्य धारकत्वेन प्रशासनमेव पालनमिति सूचितम्। प्रपञ्चं विशिनष्टि - स्वप्नमायामनोरथ इति। स्वप्नमायामनोरथतुल्य इत्यर्थः। अत्र स्वप्नदृष्टान्तत्वेन आश्चर्यत्वं, मनोरथदृष्टान्तेन मनोनुकूलत्वञ्च दार्ष्टान्तिकेऽभिप्रेतम्। अत एव दृष्टान्तत्रयमन्यथा वैयर्थ्यप्रसङ्गात्, एकेनैव विवक्षितसाधर्म्यलाभात् ॥४९॥

**तमति**। तमेवम्भूतं वासुदेवशब्दप्रवृत्तिनिमित्तपौष्कल्याश्रयं गुहाशयं हृदयकुहरे वसन्तम् अणीयांसमणोर्जीवादप्यणु, तदन्तः प्रवेशयोग्यतया ततोऽपि सूक्ष्ममिति भावः। नारायणं जीवसमूहानां प्राप्यं प्रापकमाधारञ्च हृदि विन्यस्य ध्यानेन सन्निहितं कृत्वा इत्यर्थः। निराशीः फलाभिसन्धिरहितः प्रभुर्ययातिरयजत् ॥५०॥

एवमित्थं मनःषष्ठं येषां तैःकुत्सितैरिन्द्रियैर्वर्षसहस्राणि मनस्सुखं कामभोगं विदधान कुर्वन्नपि सार्वभौमो ययाति नातृप्यत् ॥५१॥

इति श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां अष्टादशोऽध्याय ॥१८॥

**विज०** स्वप्नमाया मनोरथवदनित्यफलमस्वतन्त्रञ्च ॥४९॥

निराशीः कृच्छ्रचान्द्रायणादितपोऽभिलाषरहितः ॥५०॥

कदिन्द्रियैः दुष्टेन्द्रियैः ॥५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
नवमस्कन्धे अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

# एकोनविंशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या षोडशोऽध्यायः)

### श्रीशुक उवाच

स इत्थमाचरन् कामान् स्त्रैणोऽपह्नवमात्मनः ।
बुद्ध्वा प्रियायै निर्विण्णो गाथा मेतामागायत ॥१॥

शृणु भामैष्वमूं गाथां मद्विधाचरितां भुवि ।
धीरा यस्यानुशोचन्ति वने ग्रामनिवासिनः ॥२॥

बस्त एको वने कश्चित् विचिन्वन् प्रियमात्मनः ।
ददर्श कूपे पतितां स्वकर्मवशगामजाम् ॥३॥

तस्या उद्धरणोपायं बस्तः कामी विचिन्तयन् ।
[1-1] व्यधत्त तीर्थमुद्धृत्य विषाणाग्रेण रोधसि ॥४॥

सोत्तीर्य कूपात् सुश्रोणी तमेव चकमे किल ।
तया [3] वृतं समुद्वीक्ष्य बह्वयोऽजाः कान्तकामिनीः ॥५॥

पीवानं श्मश्रुलं [4] भेजुः मीढ्वांसं [5] याभकोविदम् ।
स [6] एकोऽजवृषस्तासां बह्वीनां रतिवर्धनः ।
रेमे कामग्रहग्रस्त आत्मानं नावबुध्यत ॥६॥

[7] तमेवं [8] प्रेष्ठतमया रममाणमजान्यया ।
विलोक्य [9] कूपसंविग्ना [10] नामृष्यद्वस्तकर्म तत् ॥७॥

तं दुर्हृदं सुहृद्रूपं कामिनं क्षणसौहृदम् ।
इन्द्रियाराममुत्सृज्य स्वामिनं दुःखिता ययौ ॥८॥

### श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ऊनविंशे ययातिः स्वं चेष्टितं नन्वजोपमम् । देवयानीं समाश्राव्य विरक्तो मुक्तिमाप्तवान् ॥

---

1-1 MMa निर्वर्त्य तीर्थ उ° 2 AGJ °सी 3 H V युत , MMa वृत्तं 4 ABGJMMa प्रेष्ठ 5 H V यभ° , M Ma याव° 6 TW °स्थ° 7 ABGJMMa तमेव 8. MMa प्रेष्ठ° 9 TW रूप 10 H V °ल°

भुक्तभोगामजां हास्यन्नजवद्वृत्तिमात्मनः। विडम्बयन्प्रियामाह निर्वेदयितुमात्मवान् ॥

**स इति**। कामानाचरन्नुपभुञ्जानः। गाथामितिहासम् ॥१॥

**शृण्विति**। मद्विधेन मत्सदृशेनाचरितामनुष्टिताम्। मद्विधस्याचरितं यस्यामिति वा। यस्य ग्रामनिवासिनः कामिनो, मद्विधस्याचरितं वने स्थिता धीराः शोचन्ति तस्य गाथां शृणु ॥२॥

आत्मानमनुलक्ष्याऽऽह - **बस्त इति**। प्रियामनुवीक्ष्याऽऽह - अजामिति। वने संसारे, प्रियं विषयम् ॥३॥

**तस्या इति**। रोधसि तटे विषाणाग्रेण मृदादिकमुद्धृत्य तीर्थं निर्गममार्गं व्यधत्त ॥४॥

**स इति** । बह्व्य इति शर्मिष्ठा प्रमुखाः कामयामासुः कान्तं प्रति कामिनीः कामवत्यः प्रथमार्थे द्वितीया ॥५॥

**पीवानमिति**। पीवानं पुष्टं श्मश्रुलं श्मश्रुबहलम्। रतिसमर्थमित्यर्थः। मीढ्वांसं रेतस्सेक्तारं, यभकोविदं मैथुनाभिज्ञम् भेजुः नाऽवबुध्यत नाऽन्वबुध्यत ॥६,७॥

**तमिति**। स्वामिनमिति शुक्राभिप्रायेणाह ॥८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

**स इति**। स ययातिरित्थं स्त्रैणः स्त्रीवश्यः कामान् चरन् भक्षयन् अनुभवन्निति भाव·। कदाचिदात्मनोऽपह्नवमपहारं बुद्ध्वा "योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते" (भारते 1-68-26) इत्युक्तविधमपह्नवं ज्ञात्वा निर्विण्णः निर्वेदं प्राप्तः, प्रियायै देवयान्यै इमां वक्ष्यमाणां गाथामात्मवृत्तिप्रख्यापिकां कथामगायत कथयामास ॥१॥

तामेवाऽऽह - **शृण्विति**। हे भार्गवि! भुवि मद्विधेन माह्शेनाऽऽचरितां, मद्विधस्याऽऽचरितं यस्यामिति वा। तामम्मू मया वक्ष्यमाणां गाथामितिहासं शृणु। यस्य मद्विधस्य ग्रामवासिनो गृहस्थस्याऽऽ चरितं वने स्थिता धीराः जितेन्द्रियाः कृपया शोचन्ति ॥२॥

**बस्त इति**। अन्यापदेशेनाऽऽत्मवृत्तिप्रतिपादनार्थं प्रवृत्तोऽयमितिहासः। एकोऽसहायः कश्चिद्बस्तो मेषो वने आत्मनः स्वस्य प्रियं विचिन्वन् कूपपतितां कर्मवशगां कश्चिदजां ददर्श। बस्त इत्यनेनाऽऽत्मा विवक्षितः, वन इत्यनेन संसारः; प्रिय

---

1 ABJ 'त' 2 ABJ 'ल' 3 ABJ तीर्थं निर्गमाय मा' 4--4 H V omit 5 H V कामयन्त्य 6--6 ABJ omit 7--7 ABJ याभे कोविद मभिज्ञम् 8.ABJ अत एव प्रेडम् 9 TW यावत् 10 TW omit कथाम्

मित्यनेन शब्दादिविषयः; अजामित्यनेन देवयानी - एवं यथासम्भवमुत्तरत्राप्यूह्यम् ॥३॥

तस्या अजायाः स बस्त· उद्धरणोपायं व्यचिन्तयत् स्वोत्तरीयादिप्रदानेनोद्धरणोपायं चिन्तितवानिति भावः। उपाय मेव दर्शयन्नाऽऽह - रोधसि तटे विषाणाग्रेण मृदादिक मृद्धृत्य तीर्थं निर्गममार्गमुत्तारणमार्गमिति यावत्। व्यधत्त कृतवान्। विषाणाग्रेणेत्यनेन खनित्रादिकं विवक्षितम् ॥४॥

तत· सा सुश्रोणी अजा कूपादुत्तीर्य तमेव बस्तं पतिं चकमे। विश्लेत्यात्मवृत्तान्तप्रत्यभिज्ञापकः। ततस्तया अजया वृतं बस्तं समुद्वीक्ष्य बह्वोऽन्या अजा· कान्तं प्रति कामिनीः कामवत्यो बभूवुः। बह्वोऽजा इति शर्मिष्ठाप्रमुखा विवक्षिताः। कथम्भूतम् ? पीवानं परिपुष्टसर्वावयवं, श्मश्रुलं रतिसमर्थमित्यर्थः। मीढ्वांसं रेतस्सेक्तारं याभे मैथुने कोविदमभिज्ञम्। अजाभिनृत स्स एक एव बस्तस्तासां बह्वीनामजानां रतिवर्धनः, काम एव ग्रहः पिशाचस्तेन ग्रस्त· केवलं रेमे नत्वात्मानमबुध्यत देहविलक्षणमात्मस्वरूपं नाऽनुसंहितवान् इति भाव.। मेषपक्षे आगाम्यनर्थाश्रयं नाऽवबुध्यतेत्यर्थ· ॥५,६॥

**तमिति।** एवमन्यया प्रेष्ठतमया अन्यया अजया सह रममाणं तं बस्तं विलोक्य तेन पूर्वं कूपादुद्धृता अजा रूपसंविग्ना मत्तो रूपवतीमन्यामजां परिगृह्य मां त्यजत्ययमिति भीता सती बस्तस्य तत्कर्म अजान्तरपरिग्रहरूपं नाऽमृष्यत् नाऽसहत ॥७॥

तं बस्तं दुर्हृदं, वस्तुत इति शेष , सुहृद्रूपं सुहृदाभासम् अत एव क्षणं सौहृदं यस्य कामिनम्, अत एव इन्द्रियारामं, न तु धर्मज्ञं, ज्ञात्वेति शेष·। स्वामिनं पतिं त्यक्त्वा दुःखिता ययौ ॥८॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अन्यापदेशेन स्ववृत्तान्तं शिक्षाकरणत्वेन स्वभार्यायै कथयति **स इत्थमिति**। स्त्रैणः स्त्रीजितः स यथाति रित्थ मात्मज्ञाननाशहेतून् कामान् विषयान् आचरन् भुञ्जान·, आत्मनोऽपह्नवं नित्यसुखहानिलक्षणनाशं विज्ञाय निर्विण्णो विरक्तः, एतां वक्ष्यमाणत्वेन बुद्धिसन्निहितां गाथां स्वकीयवृत्तान्तरूपामागायतेत्यन्वयः ॥१॥

भार्गवि ! भृगुकुलजाते ! मद्विधै· मादृशैः स्त्रीजितै· पुरुषै· आचरितां वने धीराः निवृत्तिमार्गलक्षणे स्थिराः मुक्तसङ्गा ज्ञानीनो यस्य ग्रामवासिनो गृहस्थस्याऽऽचरणमनुशोचन्ति। अहो लोकस्य मौढ्यमिति परिखिन्ना भवन्तीत्यर्थः तस्य मम सदृशै राचरितामित्यर्थ. ॥२॥

बस्तोऽज· प्रियं स्त्रीजनं कूपे संसारलक्षणे । अत्राऽजशब्देन प्रकृतिपुरुषावुपलक्ष्येते ॥३॥

तीर्थे कूपजले अवतारस्थले वा, निर्वर्त्य किञ्चिदवतीर्य विषाणाग्रेणोद्धृत्य रोधसी कूपतीरे न्यधत्त, तामिति शेषः।

"तीर्थं मन्त्राद्युपाध्याये शास्त्रेष्वम्भसि पावने। पात्रोपायावतारेषु स्त्रीपुष्पे योनियज्ञयोः" (वैज. को. 6-3-13,14 )इति यादवः। उपायं वा निर्वर्त्य उद्धरणोपायं दृष्ट्वेत्यर्थः ॥४॥

कान्तविषयः कामो यासामस्तीति कान्तकामिन्यः ॥५॥

श्मश्रुलं बहुलश्मश्रुयुक्तं, मीढ्वांसं रेतस्सेकसमर्थं यावकोविदं यावान्नभक्षणपाटवोपेतम्। यावो यवकः कुल्माष तद्भक्षणे शक्त इति वा। "यावःकेवल कुल्माषे यव केतोयवर्णिके " (वैज को. 3-8-53) इति याभकोविदमिति पठित्वा मैथुनकुशलमिति व्याख्यानं मीढ्वांसमित्यनेन गतार्थत्वात्पुनरुक्तता, असम्प्रदायज्ञता चाऽत्र प्रसज्येत। भेजं मेषमित्यपि तद्वत् भेजशब्दस्य मेषवाचित्वाश्रवणात्। मीढ्वांसमिति पदं विवृण्वन्नाऽऽह - स एक इति ॥६॥

रूपसंलग्ना रूपगुणसम्पन्ना, कुचसंलग्नेतिपाठे कुचभरसन्नतमध्या व्रज्यतमया प्राप्तुं योग्यतमया अन्ययाऽजया एवं रममाणं तं विलोख्य बस्तस्य मम तत्कर्म अन्यासक्तिलक्षणं नाऽमृष्यदित्यन्वय· ॥७॥

अनेनात्मकटाक्षीकारेण स्वामिनं शुक्रमित्येकोऽर्थ· सूच्यते, अन्यत्राजम् ॥८॥

स चै[1-] वानु[-1]गतः स्त्रैणःकृपणस्तां प्रसादितुम् ।
कुर्वन्निडबिडाकारं[2] नाऽशक्नोत् पथि सन्धितुम् ॥९॥

तस्य तत्र द्विजः कश्चित् अजास्वाम्यच्छिनद्रुषा ।
लम्बन्तं वृषणं भूयः सन्दधेऽर्थाय योगवित् ॥१०॥

स लब्धवृषणस्तत्र[3-] ह्यजया[-3] कूपलब्धया ।
क्रीडन्[4-] कालं[-4] बहुविधं कामैर्नाद्यापि तुष्यति ॥११॥

तथाऽहं[5-] कृपणः[-5] सुभ्रु भवत्याः प्रेमयन्त्रितः।
आत्मानं नाऽभिजानामि मोहितस्तव मायया ॥१२॥

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
न दुहन्ति[6] मनःप्रीतिं पुंसः[7] कामहतस्य ते ॥१३॥

---

1- -1 ABGJ MMa सोऽपिचानु° 2- -2 H V कुर्वन्निलिबिलाशब्द , MMa कुर्वन्निलि बिलाकार , TW कुर्वन्बिडी बिडाकार 3- -3 ABGJ सम्बद्ध वृषण सोऽपि , MMa संवृद्ध वृषणस्सोपि 4- -4 ABGJMMa काल बहुतिथ भद्रे 5- -5 H V कूपलब्धाया 6 ABGJMMa दुह्य° 7 MMa मे

**न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।**
**हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते ॥१४॥**

**यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेष्वमङ्गलम् ।**
**समदृष्टेस्तदा पुंसः सर्वास्सुखमया दिशः ॥१५॥**

**या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते ।**
**तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं[1] त्यजेत् ॥१६॥**

**श्रीध० स** इति [2]इलिबिलाकारं[-2] बस्तजातिशब्दम्। सन्धितुं प्रसादयितुम् ॥९॥

**तस्येति**। वृषणमच्छिनत् जरया सम्भोगाऽसमर्थमकरोत्। अर्थाय स्वपुत्र्याः कामोपभोगाय[3]। योगवित् उपायज्ञः। जराव्यत्ययेन रतिशक्तिं ददावित्यर्थः ॥१०॥

**स** इति। कूपलब्धया सह कामैस्सेव्यमानैः न तुष्यति ॥११,१२॥

ननु तर्हि पुनरपि बहवो विषयास्सेव्यन्ताम्, ततो मनसि प्रीते सति कामोपशान्त्या मोहो निवर्तेतेति चेत् तत्राऽऽह **यदिति** द्वाभ्याम्। न दुहन्ति न पूरयन्ति[4] ॥१३॥

**नेति**। हविषा घृतेन कृष्णवर्त्मा अग्निरिव ॥१४॥

तर्हि कदा केनोपायेन वा मनसः सम्पूर्णा प्रीतिः स्यात्, यया कामोपशमः स्यादित्यत आह - **यदेति** षड्भिः। अमङ्गलं भावं रागद्वेषादिवैषम्यम् ॥१५॥

**येति**। दुःखानि नितरां वहतीति तथा, ताम् ॥१६॥

**वीर०** ततस्सोऽपि बस्तोऽपि, स्त्रैणः - हेतुगर्भमिदम्। स्त्रैणत्वात्तां यान्तीमजां प्रसादयितुं कृपणस्सन्ननुगतः बिडीबिडाकारं बिडीं मार्जालीमनुगतस्य बिडस्य य आकारः सान्त्वशब्दमुखरमुखत्वरूपः तङ्कुर्वन् पथि मार्गे सन्धितुं प्रसादयितुं नाशक्नोत् ॥९॥

तत्र तस्य बस्तस्य लम्बन्तं वृषणं कश्चिद्द्विजो रुषा अच्छिनत्। कश्चिद्द्विजोऽज इति शुक्रो विवक्षितः। अण्डशब्देन वयो विवक्षितम्। जरापादनेन वयोपहारेण च सम्भोगासमर्थमकरोदिति भावःततो भूयःपुनः अर्थाय प्रयोजनाय स्वपुत्र्याः काम भोगायेति भावः। योगविदुपायज्ञः लम्बन्तं वृषणं सन्दधे।जराव्यत्यासेन रतिसमर्थमकरोदिति भावः ॥१०॥

1 TW ध्रुव 2-2 ABJ इडबिडा' 3 H V 'मधो' 4 ABJ 'ह्य'

ततस्स लब्धवृषणः, उपात्तपुत्रवया इति भावः। स बस्तोऽपि कूपलब्धया अजया सह बहुविधं काममनुभवन्नपीति शेषः। बहुतिथमिति पाठे बहुकालमित्यर्थ·। हे भद्रे! अधुनाऽपि न परितुष्यति ॥११॥

एवमन्यापदेशेनोपवर्णितमितिहासमात्मनि सन्नमयति **तथेति**। हे सुभ्रु! तथा बस्तवदहमपि भवत्यास्तव प्रेम्णा यन्त्रितः वशीकृत· तव मायया विभ्रमादिरूपया मोहितोऽधुनापि आत्मानं नाभिजानामि ॥१२॥

ननु तर्हि पुनरपि बहवो विषयास्सेव्यन्तां, ततो मनसि प्रीते सति कामोपशान्त्या मोहो निवर्तेतेत्यत्राऽऽह - **यदिति** द्वाभ्याम्। यत् ये पृथिव्यां व्रीह्यादयस्ते सर्वे कामहतस्य कामासक्तस्य पुंसो मन· प्रीतिं न दुहन्ति न पूरयन्ति ॥१३॥

जातु कदाचिदपि कामानामुपभोगेन कामो विषयतृष्णा न शाम्यति। किन्तु हविषा घृतेन कृष्णवर्त्मेवाऽग्निरिव भूयोऽभिवर्धत एव ॥१४॥

तर्हि कथं केनोपायेन मनस पूर्णप्रीति· स्यात्, यया कामोपशम· स्यादित्यत आह - **यदेति** षड्भि। यदा भूतेष्वमङ्गलं भावं रागद्वेषादिवैषम्यरूपं भावं न कुरुते तदा समदृष्टे· स्वात्मसमदृष्टे· पुंस· सर्वा दिशः सुखमया. क्वापि गतस्याऽप्यस्य सुख मेवेत्यर्थः ॥१५॥

अतो दुर्मतिभिः दुस्त्यजा विषयतृष्णा कथम्भूताः या जीर्यतस्सतोऽपि पुंसो न जीर्यते न जीर्णतां प्राप्नोति, तां दुःखनिवहां दुःखानि नितरां वहत्यावहति प्रापयतीति तथा तां तृष्णां शर्मकामः दुःखासम्भिन्नं सुखं कामयमानः ध्रुवं नूनं त्यजेत् ॥१६॥

**विज०** सोऽपि बस्तोऽपि ययातिशब्दवाच्योऽपि बिलिबिलाकारं मैथुनानुकरणलक्षणं तिर्यक्कण्ठोत्थितशब्दविशेषं, अन्यत्तत्सीत्कारादिशब्दश्च कुर्वन् सन्धितुं सन्धानं कर्तुं "तिर्यक् बिलिबिलाकारो मैथुनानुकृतो रसः" इत्यभिधानम् ॥९॥

अजस्वामी शुक्रः अन्यत्र प्रसिद्धः लम्बन्तं वृषणं उपभोगसमर्थं अच्छिनत्, शस्त्रेणेति शेषः। अन्यत्र जराकरणेन पुत्रेषु जरावत्स्वाक्षेनोपायेन सन्दधे भोगसामर्थ्यमापादितवान्। योगवित्सन्धानोपायज्ञ·, अन्यत्र जराव्यत्यसनोपायकरणेन अर्थाय मैथुनलक्षणप्रयोजनाय ॥१०॥

अजया, रममाण इति शेषः ।११।

आत्मानं परमात्मानं स्वस्वरूपं मायया विभ्रमलक्षणया सुरतवैयात्यलक्षणया वा ॥१२॥

काममोहनास्त्रविद्धस्य पुंस· नैतच्चित्रमित्याह - **यत्पृथिव्यामिति**। व्रीहियवमित्येकवद्भावः। व्रीह्यादयः मनःप्रीतिं न पूरयन्ति न दुह्यन्ति। 'दुह प्रपूरणे' इति। प्रपूरणं नाम ऊधसो रिक्तीकरणं, भाण्डलक्षणपात्रस्य पूर्णीकरणमिति। अतः स्त्रीपुंसयोरपि कामभोगादिना अलम्बुद्धिर्नास्तीति भाव· ॥१३॥

1 TW अद्याऽपि

ननु प्रावृड्डुपरमे नदीजलह्रासवत् कामानामुपभोगेन शान्तिः स्यादिति, तत्राऽऽह - **नेति**। कामः तृष्णा कामानां विषयाणां हविषाऽऽज्येन "हविर्हव्ये घृते तोये हेम्नि काञ्चनचेतने" (वैजः को 6-3-37) इति। कृष्णवर्त्माऽग्निः ॥१४॥

न त्वेवश्चेत्साधनाभावेन कदाऽपि मुक्तिर्न स्यादिति तत्राऽऽह - **यदेति**। यदा सर्वभूतेषु अमङ्गलं पापसन्धानं हिंसालक्षणं भावं स्वभावं न कुरुते यः तदा तस्य समदृष्टेः, सर्वस्य ब्रह्माधीनत्वेन तत्तद्योग्यताविशिष्टवस्तुदर्शिनः पुंसः सर्वा दिशः सुखमयन्ते प्रापयन्तीति सुखमया; सुखप्रधाना वा ; एकस्यामपि दिशि अणुमात्रं दुःखं नाऽस्तीत्यर्थः। "भावः पदार्थे सत्ताया मात्मयोनिस्वभावयो·" (वैज. को. 6-1-43) इति यदावः ॥१५॥

ननु स्थाविर्ये निराहारत्वे वा विषयतृष्णात्यागेन मुक्तिः किं न स्यादिति तत्राऽऽह - **येति** । सत्यम्. तृष्णात्यागे मुक्तिः स्यात्, स एव नास्ति तस्मात् ज्ञानेन तत्सुत्यागोऽतस्तदेवापाद्यमित्यर्थः। शर्मकामःसुखार्थी वयसा अनशनेन वा जीर्यतो जरा माप्नुवत ॥१६॥

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न[1] विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥१७॥

पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयान् सेवतोऽ सकृत्।
तथाऽपि चाऽनुसवनं तृष्णा तेषूपजायते ॥१८॥

तस्मा देतामहं त्यक्त्वा ब्रह्मण्याधाय मानसम् ।
निर्व्दन्द्वो निरहङ्कारश्चरिष्यामि मृगैस्सह ॥१९॥

दृष्टं श्रुतमसद्बुध्द्वा[2-] नाऽनुध्यायेन्न[2-] संविशेत् ।
संसृतिश्चात्मनाशश्च तत्र विद्वान् स आत्मदृक् ॥२०॥

इत्युक्त्वा नाहुषो जायां तदीयं पूरवे वयः ।
दत्त्वा स्वां जरसं तस्मादादे विगतस्पृहः ॥२१॥

दिशि दक्षिणपूर्वस्यां द्रुह्युं[3] दक्षिणतो यदुम् ।
प्रतीच्यां तुर्वसुं चक्रे[4] ह्युदीच्यामनुमीश्वरम् ॥२२॥

---

1 ABGJMMa नावी° 2--2 MMa °सद्विद्वान्ना° 3 H M Ma V द्रुह्यु 4 ABGJMMa चक्र उ°

**भूमण्डलस्य सर्वस्य पूरुमर्हत्तमं विशाम्[1]।**
**अभिषिच्याऽग्रजांस्तस्य वशे स्थाप्य वनं ययौ ॥२३॥**

**आसेवितं[2] वर्षपूगान् षड्वर्गं विषयेषु सः।**
**क्षणेन मुमुचे नीडं जातपक्ष इव द्विजः ॥२४॥**

**श्रीध०** स्त्रीसन्निधानंतु सर्वथा त्याज्यमित्याह - **मात्रेति**।विविक्तं[3] असंङ्कीर्णमासनं यस्य सः। कर्षत्याकर्षति ॥१७-१९॥

ननु तृष्णात्यागस्य आतिदुष्करत्वात् कथं ब्रह्मणि मनस आधानं स्यात्,तत्राऽऽह **दृष्टमिति**। यो नानुध्यायेत् न संविशेत् न चोपभुञ्जीत, तत्र दृष्टश्रुतयोरनुध्यानादौ, स आत्मदृक् भवति ॥२०-२२॥

**भूमण्डलस्येति**। तस्य पूरो वंशे स्थापयित्वा ॥२३॥

**आसेवितमिति**। विषयेषु शब्दादिष्वासेवितं षड्वर्गं षडिन्द्रियसुखं मुमुचे तत्याज । यद्वा विषयेष्वासेवितं सेवां कारितं षण्णामिन्द्रियाणां वर्गं मुमुचे उपैक्षतेत्यर्थ· ॥२४॥

**वीर०** स्त्रीसन्निधानान्तु सर्वथा त्याज्यमित्याह - **मात्रेति**। मात्रादीनामन्यतमया वाऽपि (अ)विविक्तं सङ्कीर्णमासनं यस्य तथाभूतो न भवेत्, अन्यथा बलवान् प्रमाथी इन्द्रियसमूहः विद्वांसमप्यपकर्षतति आकर्षेच्चालयेदित्यर्थः ॥१७॥

जीर्यतोऽपि न जीर्यत इत्येतदेव स्वदृष्टान्ते नोपपादयति - **पूर्णमिति**। असकृत् वारं वारं विषयाननुभवतो मम वर्षसहस्रं पूर्णमभूत्। तथाऽ प्यद्याऽपि अनुसवनं तत्तद्विषयानुभवसमयमनतिक्रम्य अतिमात्रं तृष्णा उपजायते न तु शाम्यति ॥१८॥

तस्मात्कामानामुपभोगेन कामाशान्तेरहमेतां विषयतृष्णां त्यक्त्वा ब्रह्मणि मानसमाधाय शीतोष्णादि द्वन्द्वै रनभिभूते देहात्मभ्रामरहितश्च मृगैस्सह चरिष्यामि, वनं प्रविशामीत्यर्थः ॥१९॥

ननु, तृष्णाया दुस्त्यजत्वात्कथं सहसा तव मनसो ब्रह्मण्याधानं स्यात्। तत्राऽऽह - **दृष्टमिति**। दृष्टमैहिकविषयजातं श्रुतमाष्मिकं, तदुभयमसदपुरुषार्थरूपं विद्वान् पुमान् नानुध्यायेत् न संविशेत्, नाऽनुध्यायाति नोपभुङ्क्तेच, कथम्भूतः? तत्राऽनुध्यानसंवेशनयो· सतो संसृतिमत्मनाशमन्तत स्थावरताप्राप्तिश्च विद्वान् अननुध्यानासंवेशयोर्हेतुं वदन् विद्वासं विशिनष्टि - सः दृष्टादीनामसद्रूपत्वादिकं विद्वान् पुमान् आत्मदृक् दृष्टश्रुताद्यपेक्षया निरतिशयानन्दरूपस्वात्मपरमात्मयाथात्म्यं पश्यति, तथा निरतिशयानन्दरूपयाथात्म्यानुभवनिष्ठस्य अर्थादेव तृष्णा निवर्तत इति भाव· ॥२०॥

---

1 TW दिशाम् 2 Mma आम्रेडित 3 ABJ अविविक्त सङ्की°

इतीत्थं जायां देवयानीमुक्त्वा नाहुषो ययातिः पूरवे पुत्राय तदीयं वयो दत्वा विगतविषयतृष्णः तस्मात्पूरोस्सकाशात् स्वकीयां जरामाददे जग्राह ॥२१॥

ततो दक्षिणपूर्वस्यामाग्नेय्यां दिशि द्रुह्युमीश्वरमधिपतिं चक्रे। दक्षिणतो दक्षिणस्यां तु दिशि यदुं, प्रतीच्यां दिशि तुर्वसुमुदीच्यामनुमीश्वरं चक्रे ॥२२॥

दिशां, मध्यवर्तिन इति शेषः। सर्वस्य भूमण्डलस्य ईश्वरमधिपतिमर्हत्तमं बहुमन्तव्यं पुरुमभिषिच्य अग्रजान् यदुप्रभृतीन् तस्य पूरोर्वंशे स्थाप्य स्थापयित्वा, असमासेऽपि ल्यबार्षः। तदधीनान् कृत्वेत्यर्थः। स्वयं वनं ययौ ॥२३॥

स ययातिः वर्षपूगान् विषयेषु शब्दादिषु अस्खलितं षड्वर्गं षडिन्द्रियसुखं क्षणेन मुमुचे तत्याज। यथा जातौ पक्षौ यस्य स द्विजो विहङ्गः नीडं त्यजति, तद्वत् ॥२४॥

विज० अविविक्तासनः एकशय्यासनः ॥१७॥

स्वतो विषयतृष्णा न शाम्यतीत्यत्र स्वानुभवमाह - पूर्णमिति ॥१८॥

अतः किं फलितमिति तत्राऽऽह **तस्मादिति**। मृगयन्ते तत्त्वमिति मृगाः ज्ञानिनः तैस्सह अरण्यचरैः हरिणादिभिर्वा तपश्चरिष्यामीत्यर्थः ॥१९॥

दृष्टश्रुतत्यागेन अदृष्टाश्रुतसुखाय कः कुशलः प्रयतते अरण्ये कायक्लेशं विद्वान् इति तत्राऽऽह - **दृष्टमिति**। दृष्टं राज्यादिविभवं, श्रुतं स्वर्गादिमन्नलमित्युभयं असत् क्षणभङ्गुरं विद्वान्, तत्राऽनुध्यायेत्, तद्विषयचिन्ता न कार्या। न संविशेत् भोगलक्षणप्रवेशो न कर्तव्य इत्यन्वयः। कुत इति तत्राऽऽह - संसृतिमिति। तत्रानुध्यान संवेशयोस्सुतोः संसारमात्मनाशं स्वरूपज्ञाननाशं विद्वान् यः स आत्मदृक् आत्मज्ञानीत्युच्यत इत्यन्वयः। "ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते" (भ. गी.2-62) इत्यादेः, अनेन दृष्टश्रुतसुखस्य सदातनत्वं विद्वान् बालिशो यतोऽस्य दुःखोदर्कत्वज्ञनी पश्यतीति ज्ञायते ॥२०॥

तदीयं पूरोर्विद्यमानम् ॥२१॥

दक्षिणपूर्वस्यां आग्नेय्यामीश्वरं राजानम् ॥२२॥

विशां प्रजानामर्हत्तमं पूज्यतमं स्थापयित्वा ॥२३॥

शब्दादिविषयेषु अग्रेडितमभ्यस्तं षडिन्द्रियवर्गं मुमुचे विषयादाहृत्य भगवद्विषयं चकारेत्यर्थः ॥२४॥

---

1- -1 Ma omits

**स तत्र निर्मुक्तसमस्तसङ्ग आत्मानुभूत्या विधुतत्रिलिङ्गः ।**
**परेऽमले[1] ब्रह्मणि वासुदेवे लेभे गतिं भागवतीं प्रतीतः ॥२५॥**

**श्रुत्वा गाथां देवयानी मेने प्रस्तोभमात्मनः ।**
**स्त्रीपुंसोः स्नेहवैक्लव्यात्परिहासमिवोदितम्[2] ॥२६॥**

**सा सन्निवासं सुहृदां प्रपायामिव गच्छताम् ।**
**विज्ञायेश्वरतन्त्राणां मायाविरचितं प्रभोः[3] ॥२७॥**

**सर्वत्र सङ्गमुत्सृज्य स्वप्नौपम्येन भार्गवी ।**
**कृष्णे मनस्समावेश्य व्यधुनोल्लिङ्गमात्मनः ॥२८॥**

**नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे ।**
**सर्वभूतनिवासाय[4] शान्ताय बृहते नमः ॥२९॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे एकोनविंशोऽध्याय ॥१९॥

**श्रीध० स इति।** विधुतं निरस्तं त्रिगुणात्मकं लिङ्गं येन। प्रतीतः प्रख्यात ॥२५॥
**श्रुत्वेति।** प्रस्तोभमेवाऽऽह - परिहासमिवेति। यद्वा प्रस्तोभं निवृत्तिमार्गे प्रेत्साहनं मेने ॥२६-२८॥
कथं समावेश्य[5] इत्यत आह - **नम** इति, नमनादिभिस्समावेश्येत्यर्थः। श्रीशुको वा नमस्करोति ॥२९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्यख्यायां नवमस्कन्धे एकोनविंशोऽध्याय ॥१९॥

**वीर०** प्रतीतः प्रख्यातः स यथातिस्तत्र वने निर्मुक्तः समस्ता देहतदनुबन्ध्यादिसङ्गा येन स आत्मानुभूत्या ब्रह्मोपासनया विधुतत्रिलिङ्गः निर्मुक्तगुणत्रयकार्यः पदे प्राप्ये परस्मिन् ब्रह्मणि वासुदेवाख्ये भागवतीं गतिं लेभे आसन्नमोक्षो बभूवेत्यर्थः। अन्यथा भारतविरोधात्, तत्र तस्य स्वर्गादिप्राप्तेरेव कथनात् इति तत्रैव विस्तरतो द्रष्टव्यम् ॥२५॥

---

1 TW परे ब्रह्मे 2 ABGJ °मिवेरितम् 3 M Ma प्रभो । 4 ABGJMMa °ताधि° 5 ABJ तदाह

देवयानी तु भर्त्रा कथितां कथामात्मनः प्रस्तोभं मेने तावत् परिहासरूपाममन्यत। प्रस्तोभतामेव व्यनक्ति -स्त्रीपुंसो रिति। समासान्ताभाव आर्षः। तदनित्यत्वाद्वा स्त्रीपुंसयोः य· परंस्परं स्नेहस्तत्कृतं यद्वैक्लव्यमधाष्ट्र्यं तस्माद्धेतोः परिहास मिवेरितं कथितमितिहासं प्रस्तोभं मेन इत्यन्वयः, ईरितामिति पाठे गाथाविशेषणम्। ईहितमिति पाठे आत्मनोश्चेष्टितं कथारूपेणोपवर्णितं परिहासमिव मेने ॥२६॥

**सेति**। ततः सा देवयानी ईश्वरतन्त्राणां सुहृदां पतिपुत्रादीनां सन्निवासं सुहृद्भिः सहवासमित्यर्थः। गच्छतां पान्थानां प्रपायां पानशालायामिव अनित्यं प्रभोरीश्वरस्य मायया विरचितञ्च विज्ञाय स्वप्नदृष्टान्तेन सर्वत्र देहतदनुबन्ध्यादिषु सङ्ग मुत्सृज्य स्वप्नवत् सर्वैस्साम्बन्धोऽनित्य इति निश्चित्येत्यर्थ· ॥२७॥

भार्गवी देवयानी स्वमन· कृष्णे भगवति निधाय कृष्णं ध्यात्वेर्त्थः आत्मनो लिङ्गं शरीरं व्यधुनोत्, तत्याज ॥२८॥

प्रसक्तानुप्रसक्तं भगवन्तं नमस्करोति शुकस्सूतो वा **नम** इति। वेधसे जगत्स्रष्ट्रे सर्वभूतानामाधारभूताय शान्ताय अशनायाद्यूर्मिषट्क रहिताय बृहते ब्रह्मणे वासुदेवाख्याय तुभ्यं नम ॥२९॥

इति श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकोनविंशोऽध्याय ॥१९॥

**विज०** आत्मानुभूत्या परमात्मापरोक्षज्ञानेन विधुतं त्रिभि· सत्त्वादिकैः गुणैर्निर्मितं लिङ्गमभिमानलक्षणं यस्य स तथा। विध्वस्ताध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकलिङ्गो वा भागवर्ती भागवतधर्मलभ्यां गतिं मुक्त्यवस्थां, प्रतीतः कोविदः ॥२५॥

प्रस्तोभं वञ्चनम् ॥२६,२७॥

लिंङ्गं शरीरम्। व्यधुनोदमुञ्चत् ॥२८॥

नमस्तुभ्यमिति, जपित्वेति शेष· ॥२९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
नवमस्कन्धे एकोनविंशोऽध्याय· ॥१९॥
विजयध्वजरीत्या षोडशः ॥१६॥

# विंशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

पुरोर्वंशं प्रवक्ष्यामि यत्र जातोऽसि भारत ।
यत्र राजर्षयो वंश्या ब्रह्मवंश्याश्च जज्ञिरे ॥१॥

जनमेजयोऽभवत्पूरोः[1] प्रचिन्वांस्तत्सुतस्ततः[2] ।
प्रविरोऽथ[3] नमस्युर्वै तस्माच्चारुः[4] सुतोऽभवत् ॥२॥

तस्य सुद्युरभूत्पुत्रस्तस्माद्बहुगवस्ततः ।
शर्यातिस्तस्याहंयाती[6] रौद्राश्वस्तत्सुतः[7] स्मृतः[8] ॥३॥

ऋतेपुस्तस्य[9] कक्षेपुः स्थलेपुश्च कृतेपुकः[-9] ।
जलेपुः[10-] सन्नतेपुश्च धर्मसत्यव्रतेपवः[-10] ॥४॥

दशैतेऽप्सरसः पुत्रा वनेपुश्चाऽवमः[11] स्मृतः ।
घृताच्यामिन्द्रियाणीव मुख्यस्य जगदात्मनः ॥५॥

ऋतेपो[12-] रन्तिसारोऽभूत् त्रयस्तस्याऽत्मजा नृप[-12] ।
सुमतिर्ध्रुवोऽप्रतिरथः कण्वोऽप्रतिरथात्मजः ॥६॥

तस्य मेधातिथिस्तस्मात् प्रस्कण्वाद्या[13] द्विजातयः ।
पुत्रोऽभूत्सुमते रैभ्यो दुष्यन्तस्तत्सुतो मतः ॥७॥

दुष्यन्तो मृगयां यातः कण्वाश्रमपदं गतः ।
तत्राऽऽसीनां स्वप्रभया मण्डयन्तीं रमामिव ॥८॥

---

1 ABGJ "यो ह्यभूत्पूरो , MMa ०योऽभूत्पूरोस्तु 2 MMa "स्मृत 3 AGJMMa प्रवी" , B प्रधी" 4 ABGJMMa "च्चारुपदो 5 H V "[illegible] 6 ABGJ संयाति , MMa शयाति 7 H V स्तस्य सयाती 8 TW "ति" 9- -9 ABGJ ऋतेयुस्तस्य कुक्षेयु स्थण्टिलेयु कृतेयुक , MMa ऋतेयुस्तस्य कक्षेयु स्थण्डिलेयु कृतेयुक. 10- -10 ABGJ जलेयु सन्ततेयुश्च धर्मसत्यव्रतेयव , MMa जलेयु सन्नतेयुश्च धर्मसत्यव्रतेयव 11 ABGJMMa "यु 12- -12 AGJ "यो रन्ति- , B M Ma "यो रन्तिभा" , B M Ma "योरन्तिना" 13 H V "न्दा"

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावर्थदीपिका

विंशे पितृप्रसादाप्तराजासनमहोन्नतेः ।

पूरोर्वंशे तु दौष्यन्तेर्भरतस्येर्यते यशः ॥

**तस्येति**। तत्सुतः संयाते· सुत ॥२-३॥

**ऋतेपुरिति**। धर्मेपुश्च सत्येपुश्च व्रतेपुश्च धर्मसत्यव्रतेपवः ॥४॥

**दशेति**। वनेपुश्चावमः स्मृतः। एवं दशैते ऋतेपुप्रमुखाः तस्य रौद्राश्वस्य घृताच्यामप्सरसि पुत्रा जाताः। अप्सरस इति षष्ठी सप्तम्यर्थे। वशवर्तित्वे दृष्टान्त· जगदात्मनो जगत आत्मभूतस्य मुख्यस्य प्राणस्येन्द्रियाणीव ॥५-७॥

दुष्यन्तस्य शकुन्तलायां भरत· पुत्रोऽभवदिति कथाद्वोरणाऽऽह 'दुष्यन्तो मृगया'मिति पञ्चदशभिः। तदाश्रमपदं मण्ड्यन्तीम् भूषयन्तीम् ॥८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं ययातेश्चरित्रमुपवर्ण्य इदानीं तत्सुतस्य पूरोर्वंशकथनं प्रतिजानन् राज्ञस्तत्र शुश्रूषामुत्पादयति - **पूरोरि**ति। हे भारत! यत्र यस्मिन् वंश त्वं जातोऽसि, यत्र राजर्षयो वंश्या ब्रह्मवंश्याः ब्राह्मणाश्च वंश्या जज्ञिरे, तं पूरोर्वंशं प्रवक्ष्यामि वंशे साधवो वंश्या वंश्यवर्धना· राजर्षयो ब्राह्मणाश्च यत्र जज्ञिरे इत्यर्थः ॥१॥

जनमेजय इति। पूरोस्तावज्जनमेजय· सुत. समभूत् तत्पुत्रो जनमेजयस्य सुतः प्रधन्वान्, प्रचिन्वानिति पाठान्तरम्। तस्मात् प्रविरोथ· तस्मान्नमस्युः, तत स्तस्मात् नमस्यो· चारुरिति प्रसिद्धः सुतः समभवत् ॥२॥

तस्य चारो· सुद्युः पुत्रोऽभवत्। तस्मात्सुद्योः बहुगवः समभवत्। तस्य बहुगवस्य शर्यातिः, संयातिरिति पाठान्तरम्। तस्य अहंयाति., तत्सुतोऽहंयातिसुतो रौद्रातिः, रौद्राश्च इति पाठान्तरम् ॥३॥

तस्य रौद्राश्वस्य ऋतेपुप्रभृतयो दशपुत्रा घृताच्या अप्सरसः अप्सरसि जाता· ॥४॥

यथा जगदात्मनो भगवतो दशेन्द्रियाणि जातानि तद्वत् तेषां दशानामवम· कनीयान्वनेपुः जलेपुरिति कुलेपुरिति च पाठान्तरम्। धर्मेति - ईपु शब्दस्य धर्मादिभि प्रत्येकं सम्बन्धः द्वन्द्वान्ते श्रुतत्वात्। ततश्च धर्मेपुः, सत्येपुः व्रतेपुश्चेति फलितम् ॥५॥

---

1 ABJ हि 2 ABJ अहयाते 3 ABJ 'युश्च 4 AGJ 'युश्च 5 ABJ 'युश्च 6 ABJ 'यव 7 ABJ 'यु' 8 ABJ 'यु' 9--9 ABJ तमाश्रमं 10--10 ABJ omit 11 A omits वंश्या 12 TW तत्सुतो 13 TW 'यसु' 14 ABJ 'यु 15 AB 'यु' 16 AB 'पु 17 A 'पु '18 A 'यु 19 A 'यु 20 A 'यु 21 ABJ 'यु

तत्र ऋतेपोस्सुतः रन्तिसारो बभूव। हे नृप! तस्य रन्ति सारस्य त्रयस्सुता·। तान्निर्दिशति स्मृतिर्ध्रुवोऽप्रतिरथश्चेति। सुमतिरिति पाठान्तरम्। तत्राऽप्रतिरथस्याऽ त्मजः कण्वः ॥६॥

- **तस्येति**। तस्य कण्वस्य मेधातिथिः, तस्मान्मेधातिथेः पुत्राः प्रस्कण्वप्रभृतय ब्राह्मणा जज्ञिरे। सुमतेरन्तिसारसुतस्य पुत्रो रैभ्यः, तत्सुतो रैभ्यसुतः दुष्यन्तो मतः प्रख्यातः ॥७॥

दुष्यन्तस्य शकुन्तलायां भरतोऽभवदिति वक्तुं, तद्वृत्तान्तमाह - **दुष्यन्त** इत्यादिना पितर्युपरत इत्यतः प्राक्तनेन। कदाचित् दुष्यन्तो मृगयाश्चरन् यदृच्छया कण्वस्य ऋषेराश्रमस्थानं गतः तत्राश्रमे आसीनामुपविष्टां रमामिव लक्ष्मीमिव स्वप्रभया मण्डयन्तीम्, आत्मानमिति शेषः। तमाश्रममिति पाठान्तरम् तदा तं मण्डयन्तीम् ॥८॥

## विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

यत्र पूरोर्वंशे जज्ञिरे, तेषु केचन राजर्षयो भवन्ति राजवंश्या·, केचन ब्रह्मवंश्याश्च भवन्ति, वंशे भवाः वंश्या· ॥१-३॥

तस्य रौद्राश्वस्य ऋतेय्वादयो दश पुत्राः ॥४॥

जगदात्मनः जगद्व्याप्य तिष्ठतो मुखस्य प्राणस्य ॥५,६॥

कण्वाद्याः राजवंश्या·, प्रस्कण्वाद्याः ब्रह्मवंश्या ॥७,८॥

**विलोक्य सद्यो मुमुहे देवमायामिव स्त्रियम्।**
**जगाम तां वरारोहां भटैः कतिपयैर्वृतः ॥९॥**

**तद्दर्शनप्रमुदितः संनिवृत्तपरिश्रमः।**
**प्रपच्छ कामसन्तप्तः प्रहसन् श्लक्ष्णया गिरा ॥१०॥**

**दुष्यन्त उवाच**

**का त्वं कमलगर्भाभे! कस्यासि हृदयङ्गमे!**
**किं वा चिकीर्षितन्त्वत्र भवत्या विजने वने ॥११॥**

---

1 ABJ °यो 2 AB °नारो 3 AB °मा° 4 AB °ना° 5 ABGJMMa बभाषे 6--6 ABGJMMa omit 7 ABGJ पत्राक्षि 8 ABGJ निर्जने

व्यक्तं राजन्यतनयां वेद्म्यहं त्वां सुमध्यमे !
न हि चेतः पौरवाणामधर्मे रमते क्वचित् ॥१२॥

शकुन्तलावाच-

विश्वामित्रात्मजैवाऽहं त्यक्ता मेनकया वने।
वेदैतत् भगवान् कण्वो वीर किं करवाम ते ॥१३॥

आस्यताम्[1]रविन्दाक्ष! गृह्यतामर्हणञ्च नः।
भुज्यन्तां[2] रन्ति नीवाराः उष्यतां यदि रोचते ॥१४॥

दुष्यन्त उवाच -

उपपन्नमिदं सुभ्रु जातायाः कुशिकान्वये।
स्वयं हि वृण्वते[3] राज्ञां कन्यकाः सदृशं वरम् ॥१५॥

ओमित्युक्ते यथाधर्ममुपयेमे शकुन्तलाम्।
गान्धर्वविधिना[4] राजा देशकालविधानवित् ॥१६॥

श्रीध० विलोक्येति। स्त्रियं विलोक्य मुमुहेऽमुह्यत्[5] ॥९॥

तदिति। तस्या दर्शनेन प्रमुदितोऽत एव सन्निवृत्त परिश्रमो यस्य ॥१०,११॥

व्यक्तमिति। पौरवाणां चेतो न ह्यधर्मे रमते, अतो मच्चेतसस्त्वयि रमणादेवाऽहं त्वां राजन्यतनयां वेद्मि ॥१२॥

विश्वामित्रेति। विश्वामित्रस्याऽत्मजाऽहं मेनकायां जाता, तया च स्वर्गं[6] गच्छन्त्याऽत्र[7] वने त्यक्ता[8]। अतो राजन्यकन्यैवाऽह मित्यर्थः ॥१३,१४॥

किंकारवऽमेत्यादिवाक्यात्तदभिप्रायं ज्ञात्वाऽऽह- उपपन्नमिति ॥१५॥

ओमिति। गान्धर्वविधिना मिथस्समयपूर्वकेण ॥१६॥

वीर० दैवमायां मोहिनीमिव स्थितां शकुन्तलाख्यां स्त्रियं विलोक्य, सद्यस्तदैव मुमुहे मोहं प्राप्तः। तस्याः दर्शनेन

1 ABGJ "तांह्य" 2. ABGJM MaV भुज्यतां 3 ABGJ वृणते , MMa वृणुते 4 B "भा" 5 H V "तर् 6 B स्वगग" 7 ABJ omit वने 8 ABJ राजक"

नितरां मुदितः हृष्टः अत एव सन्निवृत्त· परिश्रमः मृगयाऽऽयासः यस्मात् स कतिपयैः वृतः कामेन सन्तप्तो दुष्यन्त प्रहसन्, मधुरया गिरा तां वरारोहां बभाषे ॥९,१०॥

तदेवाऽऽह- **का** त्वमिति ? हे कमलगर्भाभे! हे हृदयङ्गमे! नोज्ञे! **त्वं का**? इति जातिप्रश्न । कस्याऽसि कस्य सम्बन्धिन्यसि? निर्जनेऽस्मिन्वने भवत्या त्वया किञ्चिकीर्षितं कर्तुमिष्टम्: ॥ २॥

**व्यक्तमिति**। हे सुमध्यमे! त्वामहं राजन्यतनयां व्यक्तं नूनं वेद्मि, **अन्यथा मच्चेतस्त्वयि** न सक्तं स्यादित्याह - नहीति पौरवाणां पूरोर्वंशजानां चेतः कदाचिदप्यधर्मे न रमते ॥१२॥

एवमुक्ता शकुन्तलाऽऽह - **विश्वामित्रात्मजेति**। विश्वामित्रस्यैव तनया मेनकया मात्रा स्वर्गच्छन्त्या अस्मिन्वने त्यक्ता·अह राजन्यकन्यैवेत्यर्थ·। अत्र मानमाह - वेदेति। एतच्च भगवान् कण्व· वेदमजानाति। हे वीर! ते तव किं करवाम? ॥१३॥

हे अरविन्दाक्ष आस्यतां स्थीयतां त्वयेति शेषः। नोऽस्माकमर्हणं गृह्यताम्[1] आस्मत्कृतमर्हणं गृह्यताम्[1]। अत्र नीवारा आरण्यव्रीहय सन्ति। ते भुज्यन्तां यदि रोचते, तर्हि उष्यताम् ॥१४॥

किङ्करवामेति वाक्यात्तदभिप्रायं ज्ञात्वाऽऽह दुष्यन्त· - **उपपन्नमिति**। हे सुभ्रु! कुशिकान्वये जातायास्तवेदं किङ्करवामेति वच उपपन्नं युक्तमेव। तथा हि राज्ञां कन्यका· स्वयमेव सदृशं वरं पतिं वृण्वते ॥१५॥

**ततस्तया** दुष्यन्तोक्ते अङ्गीकृते[2] सति स राजा दुष्यन्तो देशकालविधानज्ञो गान्धर्वविधिना मिथस्समयपूर्वकेन यथाधर्मं शुकुन्तलामुपयेमे ॥१६॥

**विज०** कमलगर्भाभे! पद्मोदरप्रभे हृदयङ्गमे! सुन्दरि! ॥९-१३॥

अर्हणम् अर्घ्यादिपूजां, नीवारा· देवव्रीह्य., तैरापादितं, अन्नमिति शेषः ॥१४,१५॥

ब्राह्मो राक्षसो गान्धर्व इत्यादयो बहवो विवाहविधयः सन्ति। तेषु गान्धर्वविधिना स्वयंवरलक्षणेन ॥१६॥

**अमोघवीर्यो राजर्षिर्महिष्यां वीर्यमादधे ।**
**श्वोभूते स्वपुरं यातः कालेनासूत सा सुतम् ॥१७॥**

---

1- -1 TW omit 2 AB omit सति

काण्वः कुमारस्य वने चक्रे समुचितः क्रियाः।[1]
बद्ध्वा मृगेन्द्रांस्तरसा क्रीडति स्म स बालकः ॥१८॥

तं दुरत्ययविक्रान्तमादाय प्रमदोत्तमा।
हरेरंशांशसम्भूतं भर्तुरन्तिकमागमत् ॥१९॥

यदा न जगृहे राजा भार्यापुत्रावनिन्दितौ।
शृण्वतां सर्वभूतानां खे वागाहाशरीरिणी ॥२०॥

माता भस्त्रा पितुः पुत्रो येन जातस्स एव सः।[2]
भरस्व पुत्रं दुष्यन्त! मावमंस्थाश्शकुन्तलाम् ॥२१॥[3]

रेतोधाः पितरं पुत्रो नयत्येव यमक्षयात्।[4] [5]
भरस्व पुत्रं भरतं वासुदेवांशसम्भवम्।
ब्रह्मण्यं सत्यसन्धश्च गुणज्ञं कीर्तिवर्धनम् ॥

महोत्साहं स्थूललक्षं कृतज्ञं वृद्धसेवकम्।
अशरीरवचः श्रुत्वा स्वीचकार तदात्मजम् ॥

त्वञ्चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला ॥२२॥

पितर्युपरते सोऽपि चक्रवर्ती महायशाः।
महिमा गीयते यस्य हरेरंशभुवो भुवि ॥२३॥[6]

चक्रं दक्षिणहस्तेऽस्य पद्मकोशश्च पादयोः।[7]
ईजे महाभिषेकेण सोऽभिषिक्तोऽधिराड्विभुः ॥२४॥[8]

श्रीध० तमिति। दुरत्ययं विक्रान्तं विक्रमः यस्य ॥१७-२०॥[9]

भस्त्रा चर्मपात्रं, तद्वन्माता आधारमात्रम्। पितुरेव तु पुत्रः। तत्र हेतुः, येनेति। "आत्मा वै पुत्रनामाऽसि" (कौ षी. उ.[10]

1 MMa "षि" 2. MMa यस्माज्जात 3 MMa दौष्यन्ति 4-4 ABGJ पुत्रो नयति नरदेव , MMa पुत्रं नयति नरदेव 5 MMa "यम् * These two extra verses are found in H T.V.W edition and the second verse is commented by Sridhara, 6 ABGJMMa तस्य 7 ABGJ "शोऽस्य" 8 MMa "राट्प्रभु 9 ABJ "भर्ण 10. A षा"

2-11 ) इति श्रुतेः। [1] पुत्रं भरस्व पुषाण। अनेन भरतनाम निरुक्तम् ॥२१॥

**किञ्च, रेतोधा** इति रेतोधा रेतस्सेक्ता वंशकृत्पुत्रो यमक्षयात् [2] निरयात् पितरं नयति पारयति। तथा च स्मृतिः - "पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः। तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा" (मनु. स्मृ.9-138) इति। [3] रेतोधा पुत्रं नयति नरदेवेति [3] पाठान्तरे मातापित्रोः पुत्रं प्रति विवादे यमक्षयाद्धर्मनिर्णेतुर्यमस्य सभायाः सकाशात् रेतोधा रेतस्सेक्ता पितैव धर्मेण विजित्य पुत्रं नयति, न तु मातेत्यर्थः। ततश्च भार्यापुत्रौ स्वीकृतवानिति ज्ञेयम् ॥२२॥

**पितरीति**। चक्रवर्ती बभूवेति शेषः। तस्य महिमा गीयते "तदप्येते श्लोका अभिगीताः" इत्यादि बह्वृचश्रुत्या। हरे रंशभुवः अंशाज्जातस्य ॥२३॥

तत्र लिंङ्गमाह - **चक्र मिति** ॥२४॥

**वीर० अमोघेति**। अमोघमवितथं वीर्यं यस्य स राजर्षिर्दुष्यन्तो महिष्यां शकुन्तलायां वीर्यं रेत आदधे निहितवान्। ततः श्वोभूते प्रभाते स्वपुरं गतः।ततः कालेन प्राप्तकालेन सा शकुन्तला सुतं पुत्रमसूत सुषुवे ॥१७॥

**कण्वेति**। तस्य कुमारस्य समुचिताः क्रियाः जातकर्मादिक्रियाः कण्वो वन एव चक्रे। स च बालकस्तरसा [4] बलेन सिहं बद्ध्वा तेन क्रीडति स्म। बाल्यादारभ्य अपरिमितबलशौर्यादिगुणसम्पन्न इत्यर्थः ॥१८॥

**तमिति**। तमपारविक्रमं भगवतोऽशांशेन सम्भूतं कुमारमादाय शकुंन्तला भर्तुर्दुष्यन्तस्यान्तिकं आगमत् ययौ ॥१९॥

**यदेति**। तावागतावनिन्दितौ निर्दुष्टौ भार्यापुत्रौ राजा दुष्यन्तो यदा न जगृहे ममैवेमौ भार्यापुत्राविति न स्वीकृतवान् तदा सर्वभूतानां शृण्वतां सतां खे अकाशे अशरीरिणी वाक् आह - अश्रूयतेत्यर्थः ॥२०॥

तामेव दर्शयति - **मातेति**। भस्त्रा चर्ममयं पात्रं तद्वत् माता आधारमात्रं स पुत्रःपितुरेव पुत्रः।तत्रहेतुः- येनेति। येन पित्रा जातः उत्पादितः स एव पितैव - "आत्मा वै पुत्रनामा" (कौ. षी. उ.2-11) इति श्रुते [5] इति भावः। अतःपुत्रं दौष्यन्तिं दुष्यन्तस्य तवैवाऽपत्यं अनेन क्षेत्रजत्वशङ्का परिहृता। भरस्व पोषय। शकुन्तलां मावमंस्थाः [6] नावमन्यस्व [6] भरस्वेत्युक्त्या भरतनाम निरुक्तम् ॥२१॥

**किञ्च रेतोधाः** रेतस्सेक्ता वंशकृत्पुत्रः हे नरदेव! यमसदनात्पितरं [7] स्वर्नयति [7]। पुत्रमिति द्वितीयान्तपाठः

---

1 ABJ omit पुत्रं 2 ABJ omit निरयात् 3- -3 ABJ omit 4 AB omit "क" 5 A.B omit इति भाव 6- -6 A.B मावमानं कुरु 7- -7 A. omits

प्रायिकः। तत्र यमक्षया दिनेति शेष·। पुत्रं रेतोधाः पिता नयति मृतपुत्रं विनाऽन्यं क्वापि स्थितं पुत्रं पिता स्वीकारोतीत्यर्थः। यमक्षयमिति पाठान्तरम्। तदा तद्वाक्यान्तरं यं रेतोधातारं पुत्रः अक्षयं स्थानं नयति। स रेतोधाः पुत्रं नयति स्वीकरोतीत्यर्थः। पूर्वपाठे एवं वा अन्वयः - हे नरदेव, अधा इति छेदः रेतो निहितवानसि शकुन्तलायामिति। विभक्तिपरिणामेनाऽनुषङ्गः। अतोऽयं तव पुत्र त्वां यमक्षयान्नयति, नेष्यति, स्वर्गमिति शेषः। अतः स्वीकुर्विति भाव·। शकुन्तलोक्तं नानृतमित्याह - त्वमिति। अस्य गर्भस्यापत्यस्य धाता विधाता उत्पादकस्त्वमेवेति यच्छकुन्तला आह तत्सत्यमेव नानृतमित्यर्थ·। ततश्च स भार्यापुत्रौ स्वीकृतवानिति ज्ञेयम् ॥२२॥

तत **पितरि** दुष्यन्ते उपरते मृते सति सोऽपि भरतोऽपि चक्रवर्ती सप्तद्वीपाधिपतिः महायशा· बभूव। तं विशिंषन् तद्वृत्तान्तंमाह - महिमेत्यादिना। भुवि हरेर्भगवतोऽशेन जातस्य यस्य भरतस्य महिमा गीयते तत्, "अप्येते श्लोका अभिगीताः"

इत्यादि बह्वृचश्रुत्येति शेष· ॥२३॥

हरेरंशभवत्वे लिङ्गं वदन्विशिनष्टि - **चक्र**मिति। अस्य भरतस्य दक्षिणे हस्ते चक्रं चक्राकाररेखा पादयोस्तु पद्मकोशाकारा अवर्तत इति शेषः। स च भरतो महाभिषेकविधिनाऽभिषिक्तोऽधिराट् सार्वभौमो विभुर्भूत्वा ॥२४॥

**विज०** समुदिताः विध्युक्ताः ॥१८॥

तं कुमारं प्रमदोत्तमा शकुन्तला ॥१९॥

अशरीरिणी वाक् दैवी वाणी आह - गुह्यभाषया राजानमिति शेषः। "त्रिभाषां यो न जानाति रीतीनां शतमेव च।" इत्युक्तेः। पुराणेषु भाषात्रयस्य न्यायप्राप्तत्वात् ॥२०॥

यथा कारुशाला चुल्लीस्थिताग्निशन्त्युद्दीपकत्वेन अग्नेराधारमात्रं, भस्त्रा 'भस भक्षणदीप्त्योः' इति धातोः। तथा माता भार्त्राऽऽहितं वीर्यमादाय करचरणाद्यवयवविशिष्टदेहाकारेण परिणामप्राप्तस्य वीर्यस्य प्रथमाधारभूतत्वात् मातुः पुत्रत्व मौपचरिकम्।तर्हि कस्य मुख्यपुत्रत्वमिति तत्राऽऽह - पितुरेव पुत्र इति। मुख्यपुत्रत्वं पितुरेव कुत इत्यत्राऽऽह - **यस्मा** दिति। स पितैव पुत्रो जातः इति यस्मात्तस्मात् स पुत्रः पितुरेवेत्यर्थः॥ "आत्मा वै पुत्रनामासि" (कौ. षी. उ. 2-11)

इति श्रुतेः "तज्जाया जाया भवति (जायाया स्तद्धि जायात्वं) यदस्यां जायते पुनः" मनुस्मृ 1-8 इति च। पुत्रदेहस्याऽपि पितृदेहैकदेशस्योपादानत्वद्योतनाय पितुरित्युक्तम्। अन्यथा पिता पुत्र इति प्रयोगस्याऽपि सम्भवात्। प्रकृते किमपेक्षितमिति

---

1 M 'म आ'

तत्राऽऽह - **भरस्वेति**। भरस्व स्वीकुरु[1] अन्यपुत्रं कथं स्वीकरोमीत्यत उक्तं दौष्यन्तिमिति। औरेसं पुत्रमित्यर्थः। अतः शकुन्तला स्वैरिणीति मावमंस्थाः अवज्ञातां न कुरु ॥२१॥

ननु, पुत्रेण मम किं प्रयोजनं स्यात् येन भार्या स्यादिति तत्राऽऽह- रेतोधा इति। पुत्रं पुत्र· रेतोधा रेतोधातारं पितरं यमक्षयं योऽक्षयोऽनन्तो लोकस्तं वैकुण्ठादिकं नयति प्रापयति। "यस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोकमाहुस्तस्मादेनमनुशासति" इति हि श्रुतिः। नरदेव दुष्यन्त! दौष्यन्तिं पुत्रं स्वीकुर्विति शेषः। मयाऽनाहितगर्भजातं पुत्रं कथं दौष्यन्तिमिति वदतीति तत्राऽऽह - **त्वञ्चेति**। च शब्द एवार्थे। त्वमेवाऽस्य गर्भस्य धाता आधानकर्ता। क आहेति तत्राऽऽह - सत्यमिति। शकुन्तला सत्यं यथार्थ मेव नानृत माह- यः पुत्र· स रेतोधातारमक्षयं नयतीति वा, "सुप्तिङ्गुपग्रहलिङ्गनराणाम्" इति सूत्रात् व्यत्ययो युक्त·। अथवा अस्वीकारेणानर्थमाह - रेतोधा इति। रेतोधा भवान्पुत्रं यमक्षयं मृत्युलोकं नयति, मृतप्रायं करोति अस्वीकारात्। तेन सत्पुत्रहत्या दोषप्राप्तिस्तव स्यात्। अतस्तद्भयादपि स्वीकुर्वित्यर्थ·। ननु नाहं रेतोधा इति, नेत्याह - त्वञ्चेति। अथवा तदुक्तं श्रुत्वा अस्वीकरो[2]मि किं अत इत्यतस्तल्लक्षणमाह - रेतोधा इति। यमयति शिक्षयति शिष्यमिति यमो गुरुः। 'क्षि निवासगत्यो·' इति। क्षयो निवास· रेतोधाः पुत्रं गुरुनिवासं नयतीति न्यायाद्भवानपि पुत्रं, स्वीकृत्य गुरुकुलवासं प्राप्य नयति न्यायशास्त्रादिविशारदं करोतीत्यर्थ। त्वत्पुत्रत्वसंशयो मा भूदित्याह त्वञ्चेति। अथवा रेतोधाः अक्षयमगतिमनन्याधारं यं पुत्रं नयति स्वाश्रयं करोति स पुत्रः, तं रेतोधातारं अक्षयं लोकं नयति, अनन्याधारत्वे हेतुगर्भविशेषणमाह त्वञ्चेति। अस्य सर्वस्य प्रमाणं शकुन्तलावचन मित्याह - सत्यमिति। द्वितीया च प्रथमेत्यनुवर्तते, द्वितीयाविभक्ति सप्तसु वर्तत इति द्वितीयाया प्रथमात्वसम्भवात् पुत्रमित्यादेः प्रथमात्वं सप्रामाणिकं, रेतोधा इत्यस्य द्वितीयात्वञ्चेत्यर्थः। माता भस्त्रेति लुप्तोपमम्। हिरण्यधान्यादिग्राहिणी[3] पात्री भस्त्रा नाम यथा तथा भर्तुराहितवीर्य[-3 4]धारिणी। माता पुत्रस्य द्वारमात्रं पितृवीर्यात्मकत्वात् पितुरेव पुत्र इति वा योजना। शेष· पूर्ववत् ॥२२॥

पितरि दुष्यन्ते उपरते मृते सति स दुष्यन्तपुत्रः भरस्वेत्युक्तत्वात्, भरतो भरेण हरिणा ततत्वाद्वा, भूमे र्भरं भरणं तनोतीति वा शुभे रतत्वाच्च गुरुत्वलक्षणभारेण ततत्वाद्वा, चक्रवर्ती आज्ञयैव धर्माधर्मशास्ताऽभूदित्यन्वयः ॥२३॥

नाम्ना महाभिषेकेणाऽभिषिक्त इति वा ॥२४॥

**पञ्चपञ्चाशता मेध्यैर्गङ्गायामनु वाजिभिः।**
**दीर्घतमसं पुरोधाय यमुनायामनु प्रभुः ॥२५॥**[5][6]

---

1 A.B omit स्वीकुरु 2 AB 'मि इत्यतस्तल्ल' 3--3 Ma omito 4 AB धारणी, MMa omit धारिणी 5 M Ma 'तैर्मे' 6 AGJM Ma मामतेय, B सामन्तेय

अष्टसप्ततिमेध्याश्वान् बबन्ध प्रददद्वसु[1]।
भरतस्य हि दौष्यन्तेराग्निः साचीगुणे चितः ॥
सहस्रं बद्धशो[2] यस्मिन् ब्राह्मणा गा विभेजिरे ॥२६॥

तया त्रिंशच्छतं ह्यश्वान् बद्ध्वा विस्मापयन् नृपान्।
दौष्यन्तिरत्यगान्मायां देवानां गुरुमाययौ[3] ॥२७॥

मृगाञ्छुक्लदतः कृष्णान् हिरण्येन समावृतान्[4]।
अदात्कर्मणि मष्कारे[5] नियुतानि चतुर्दश ॥२८॥

भरतस्य महत्कर्म न पूर्वे नापरे नृपाः ।
नैवापुर्नैव प्राप्स्यन्ति बाहुभ्यां त्रिदिवं[6] यथा ॥२९॥

किरातहूणान्यवना[7] नन्ध्रान्[8] वङ्गान् शकान्[9] खषान्[10]।
अब्रह्मण्यान् नृपांश्चाहन् म्लेच्छान् दिग्विजये बलात् ॥३०॥

जित्वा पुराऽसुरा देवान् ये रसौकांसि[11-] भेजिरे[-11] ।
देवास्त्रियो रसां नीताः प्राणिभिः[12] पुनराहरत् ॥३१॥

सर्वान्[13] कामान् दुदुहतुः प्रजानां तस्य रोदसी ।
समास्त्रिणवसाहस्रीर्दिक्षु चक्रमवर्तयत् ॥३२॥

**श्रीध० पञ्चेति**। गङ्गायां[14] अनुलोमं पञ्च पञ्चाशता वाजिभिरीजे। पुरोधाय पुरोहितं कृत्वा। यमुनायामनु च यमुनाया श्चनुलोमम् ॥२५॥

**अष्टेति**। अष्टाधिकसप्ततिमेध्यान् अश्वान् बबन्ध किं कुर्वन्। वसु धनं प्रकर्षेण ददत् साचीगुणे प्रकृष्टे गुणवति देशेऽग्निश्चितोऽभूत्। यस्मिन्नग्निचयने देशे वा सहस्रं ब्राह्मणा भरतेन भूरिदानेन दत्ता गा बद्धशः[15] प्रत्येक[16-] बद्धं[-16] बद्धं विभेजिरे विभज्य

---

1 MMa "दे 2 H M Ma V द्वन्द्वश , TW बद्धश 3 MMa पुरु मायया , TW गुरुमायिनाम् 4 ABGJ परीवृतान् , MMa परिष्कृतान् 5 ABGJMMa मष्णारे 6 M Ma नोदायु" 7 H V "ना" 8 ABGJMMa कङ्गान् 9 ABGJ "शा" 10 ABGJMMa ०येऽखिलान् 11- -11 MMa "रान् देवा येन स्वौ" 12 MMa पणिभि 13 ABGJMMa सर्वका" 14 A B J omit अनु 15 H V द्वन्द्वश 16- -16 H V द्वन्द द्वन्द्व

जगृहुः। चतुरशीत्यधिकैस्त्रयोदशसहस्रैरेकं बद्धं[1] भवति। तथाहि- "हिरण्येन परिवृतान्कृष्णान् शुक्लदतो[2] मष्णारे भरतोऽददाच्छतं[3] बद्धानि सप्त च इति श्रुत्युक्तानि सप्ताधिकशतं[4] बद्धानि श्रीशुकेनोत्तरश्लोके चतुर्दशलक्षत्वेन[5] सङ्गृहीतानि " अदात्कर्मणि मष्मणार[6] नियुतानि चतुर्दश" इति। एवं चतुर्दशलक्षाणां सप्ताधिकशतभागो[7] बद्धमित्युक्तम्[8]। इयञ्च[9] बद्धसंख्या श्लोकेन सङ्गृह्यते - "चतुर्दशानां लक्षाणां सप्ताधिकशतांशकाबद्धं[10] चतुरशीत्यग्रसहस्राणि[11] त्रयोदश[12]" इति ॥२६॥

**त्रयस्त्रिंशदिति**। देवानामपि मायां वैभवमत्यगादत्यशेत। यतो गुरुं पूज्यं हरिमाययौ प्राप्तः तदंशभवत्वात्[13]। मायवत्तर इति पाठे ह्रस्व· श्रुत्यनुसारेण। मायावतां श्रेष्ठ· हरिरेवाऽसावित्यर्थः ॥२७॥

**मृगानिति**। मृगान्[14-] मृगजातान्[-14] श्रेष्ठगजान्। मन्द्रमृगादयो गजजातिभेदाः। मष्णारे[15] इत्यस्य श्रुतिपदस्य व्याख्यानं कर्मणीति कस्मिंश्चत्कर्मविशेषे केचित्तु[16] मष्णारे तीर्थ इति व्याचक्षते ॥२७-३०॥

**जित्वेति**। पुरा देवान् जित्वा येऽसुरा रसौकांसि रसातलादिस्थानानि भेजिरे तैः प्राणिभिर्बलिभिर्देवस्त्रियो रसातलं नीतास्सतीः पुनराहरदानिन्ये[17]। प्राणिभिरन्यैर्मनुष्यादिभिस्सह नीता इति वा। पणिभिरिति पाठे पणायोऽसुरास्तैर्नीता स्सतीः। यद्वा पणयो दूतास्तैर्दूतान् प्रस्थाप्याऽहरदिप्यर्थः ॥३१॥

**सर्वानिति**। त्रिणवसाहस्रीः समाः सप्तविंशति[18] सहस्रं वत्सरान्। चक्रं[19] सेना आसा[20] वा ॥३२॥

**वीर०** गङ्गाया मनु गङ्गातीरे, गङ्गाया अनुलोमं वा। गङ्गासागरसङ्गमा दारभ्य यावत्तदुत्पत्ति तावदित्यर्थः। पञ्चपञ्चपञ्चाशता पञ्चाशदधिकशतद्वयसंख्याकैः वाजिभिरश्वै र्भगवन्तमीजे, उक्तसंख्याकैरश्वमेधैस्तत्र भगवन्तमाराधितवानित्यर्थः। तथा दीर्घतमसं[21] ऋषिं पुरोधाय पुरोहितं कृत्वा प्रभुर्भरतः यमुनायामनु, पूर्ववदर्थः ॥२५॥

अष्टसप्तति अष्टाधिकसप्तति संख्याकान् मेध्यान्निर्दुष्टानश्वान् बबन्ध तावतामश्वानां बन्धनपूर्वकैर्मेधैरीजे इत्यर्थः। कथम्भूत·? वसु धनं प्रददत् प्रयच्छन्। दौष्यन्तेर्दुष्यन्तसुतस्य भरतस्याऽग्निः साचिगुणे प्रकृष्टगुणवति देशे चितः यस्मिन्नाग्नि चयने तद्देशे वा सहस्रं ब्राह्मणा· भरतेन भूरिदानेन दत्ता गाः बद्धशः प्रत्येकं बद्धा। विभेजिरे[22] विभज्य जगृहुः। सहस्रशब्दः बहूना मुपलक्षकः ॥२६॥

तथा मष्कारे तीर्थविशेषेकर्मणि यक्षकर्मणि मष्काराख्यो कर्मणि वा त्रयस्त्रिंशच्छतसंख्याकान् अश्वान् बद्धा नृपान्

---

1 HV द्वन्द्वश 2 HV मष्कारे 3 HV द्वन्द्वानि 4 HV द्वन्द्वानि 5 HV 'क्ष तेन 6 HV मष्कारे 7 HV द्वन्द्वमि' 8 HV add भवति 9 HV द्वन्द्व' 10 HV द्वन्द्व 11 HV 'र्द' 12 HV श्रीधरीयो एलोक । अत्र उदाहृत श्रुतिप्रतिपादित सख्याया शुकोक्ते द्वादशाभि क्य वर्तत इति मन्तख्यम् 13 HV add स 14--14 A B J Omit 15 A B मत्कारे 16 HV मष्कारे 17 HV omit आनिन्ये 18 HV स्र सव' 19 HV 'ना 20 HV 'ज्ञा 21 A.B तदा 22 TW add बद्धा

पार्थिवान् विस्मापयन् पुरु बह्व्यः माया एषां सन्तीति तथा तेषां देवानां मायामश्च वारणादिरूपां[1] दौष्यन्तिर्भरतोऽत्यगात् देवैर्नृपैश्च चिकीर्षितं यज्ञविघ्नमपाकृत्यायजतेत्यथः ॥२७॥

शुक्लदतः शुक्लदन्तान् हिरण्येन परिवृतान् परिवृतान् चतुर्दशानियुतसंख्याकान्[2] मृगान् भद्रमृगादिसंज्ञिकान्[3] गजानदात् प्रायच्छत् ॥२८॥

किञ्च। भरतस्य महदद्भुतं कर्म पूर्वे अपरेऽर्वाचीनाश्च नृपाः नैवाऽऽ पुर्नैव कृतवन्तः, नाऽपि प्राप्स्यन्ते नाऽपि[4] करिष्यन्ति यथा जना· बाहुभ्यां गमनसाधनाभ्यां त्रिविष्टपं नैव प्रापुः नाऽपि प्राप्नुवन्ति प्राप्स्यन्ति च तद्वत् ॥२९॥

महत्कर्मैव दर्शयति - किरातहूणा निति। अब्रह्मण्यान् ब्राह्मणेष्वसाधून् किरातादीन् हीनजातीन् नृपांश्च म्लेच्छां श्चसर्वान् दिग्विजयेऽहन् हतवान् ॥३०॥

किञ्च। ये असुरा राक्षसाःपुरा पूर्वकाले देवान् जित्वा रसौकांसि रसातलस्थानानि भेजिरे प्राप्ताः तैः प्राणिभिः बलिभिः या देवस्त्रियो रसां रसातलं प्रतिनीता· प्रापिताः,ता· पुनराहरत् आनयत्। प्राणिभिरन्यैर्मनुष्यादिभस्सह नीता इति वा। पणिभिरिति पाठे पणयोऽसुराः तैर्नीता·। यद्वा पणयो दूता. दूतान् प्रस्थाप्याहरदित्यर्थः ॥३१॥

किञ्च। भरते राजनि सति रोदसी द्यावापृथिव्यौ तस्य प्रजानां तद्विषयस्थानां सर्वान्कामान् दुदुहतुः पूरयामासतुः। एवं त्रिणवसाहस्रीस्समा· सप्ताविंशतिसहस्रसंवत्सरान् दिक्षु चक्रम् आज्ञामवर्तयत् ॥३२॥

विज० को महाभिषेको नाम यज्ञः? इत्यतस्तत्स्वरूपमाह - पञ्चेति। गङ्गायामनु समीपतरे पञ्चपञ्चाशतैः पञ्चभिः पञ्चाशता च दीर्घतमसं पुरोधाय पुरोहितं कृत्वा प्रभुरुत्तमकल्पेन यष्टुं समर्थः पुनर्यमुनायां अनुतीरे अष्टसप्तति मेध्याश्वान् बबन्ध तदा दक्षिणां वसु रत्नराशिमेव प्रददौ। भरतस्य इदञ्च सामर्थ्यमाह -भरत स्येति। कैकेयीपुत्रव्यावृत्त्यर्थं दौष्यन्ते रिति। भरतस्य यज्ञे अग्निरग्रभाग[5] नेतृत्वादग्निनामा, साचीगुणे चितः सचिवगुणे कृतः, साचिव्यं कृतवानित्यर्थः ॥२५॥

यस्मिन् यज्ञे ब्राह्मणा द्वन्द्वश· सहस्रं द्विसाहस्रं गा विभेजिरे विभज्य स्वीकृतवन्तः। दौष्यन्तिः नृपस्तस्मिन्यज्ञे त्रयस्त्रिंशच्छत मश्वान् बध्द्वा नृपान्विस्मापयन् विस्मितान्कृर्वन् उरुमायया महता महिम्ना देवानां मायां निजभोगेच्छ्चामत्यगात्,[6] काङ्क्षितादप्याधिकं दत्तवानित्यर्थ·। यज्ञे विघ्नकरीमतिक्रान्तवानिति वा ॥२६,२७॥

शुक्लदत· शुक्लदन्तान् कृष्णान्, मृगान् कृष्णमृगान् गजान् वा "भद्रो मंदो मृगश्चेति" (हला को 2-60) हलः। मष्णारे व्रतविशेषसमाप्तिलक्षणे कर्मणि क्रियमाण इति शेषः। तीर्थविशेषे वा ॥२८॥

---

1 AB "ह" 2 TW "शायुत 3 AB "ज्ञ" 4 TW omit नापि 5 AB "भागे 6 M "जभा"

पूर्वे नृपा न उदायुः प्रापुः अपरे पश्चात्तना न प्राप्स्यन्ति इदानीन्तना नाऽप्नुवन्तीति किमु वक्तव्यम्। तत्र दृष्टान्तमाह - बाहुभ्यामिति। अग्निष्टोमादिसाधनमन्तरेण केवलं बाहुभ्यां स्वर्गं यथा न गच्छति तथा। आकाशं "त्रिदिवे व्योम्नि दिव्यपि" (वैजःकोः 7-1-29 इति यादवः) ॥२९॥

स किरातादीन् म्लेच्छानब्रह्मण्यान् ब्राह्मणविरोधिनो नृपानहन् ॥३०॥

असुरांश्च जित्वा येन भरतेन देवाः स्वौकांसि स्वस्थानानि भेजिरे सः नाम्ना पणिभिरसुरै· रसातलं नीता देवस्त्रिय· पुनराहरत् - आनीतवान् ॥३१॥

त्रिणवसाहस्त्रीः समाः सप्तविंशत्सहस्रपरिमितान् वर्षान् चक्रमाज्ञां "चक्रं सैन्यं जलावर्त·" इत्यादि। "चक्रमाज्ञा रथाङ्गयो· (वैजः कोः 6-3-7 इति) ॥३२॥

स सम्राट् लोकपालानामैश्वर्यमधिराट् श्रियम्।
चक्रं जायास्सुतान् प्राणान् मृषेत्युपरराम ह ॥३३॥

तस्याऽऽसन्नृप वैदर्भ्यः पत्न्यस्तिस्रस्सुसम्मताः ।
जघ्नुस्त्यागभयात्पुत्रान् नाऽनुरूपा इतीरिते ॥३४॥

तस्यैवं वितथे वंशे तदर्थं यजतस्सुतम्।
मरुत्स्तोमेन मरुतो भरद्वाजमुपाददुः ॥३५॥

अन्तर्वत्न्यां भ्रातृपत्न्यां मैथुनाय बृहस्पतिः।
प्रवृत्तो वारितो गर्भं शप्त्वा वीर्यमपासृजत् ॥३६॥

तं त्यक्तुकामां ममतां भर्तुः त्यागविशङ्किताम्।
नामनिर्वचनं तस्य श्लोकमेतं सुरा जगुः ॥३७॥

मूढे भरद्वाजमिमं भरद्वाजं बृहस्पते ।।
यातौ यदुक्त्वा पितरौ भरद्वाजस्ततस्त्वयम् ॥३८॥

चोद्यमाना सुरैरेवं मत्वा वितथमात्मजम्।
व्यसृजन् मरुतोऽबिभ्रन् दत्तोऽयं वितथेऽन्वये ॥३९॥

1--1 AB omit 2 ABGJ "लाख्य 3--3 ABGJ चक्रश्चाऽस्खलित , MMa चक्र वाऽस्कलित 4 MMa "न्त्या 5 MMa "न्त्या" 6 ABGJMMa "मवा" 7 ABGJ भर्तुस्त्या" 8 ABGJ "कमेन 9 MMa "स्पते 10 MMa त देवमा"

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे विंशोऽध्यायः ॥२०॥

**श्रीध०** तस्य वैराग्येण मोक्षप्रकारमाह - **स इति**। मृषेति, विचार्येति शेषः ॥३३॥

**तस्येति**। नाऽनुरूपा मत्सदृशा न भवन्तीति भर्त्रा ईरिते सति व्यभिचारशङ्कया अस्त्रांस्त्यक्षतीति भयात्पुत्रान् जघ्नुः। पुनः[1] पुनः पुत्राणां दर्शनं वै सादृश्यानुसन्धानेन त्यजेत्, नाऽन्यथेत्याशयेन हतवत्यः ॥३४॥

**तस्येति**। वितथे व्यर्थे सति तदर्थं पुत्रार्थं मरुत्स्तोमेन यागेन यजतस्तस्य प्रसन्नास्सन्तो मरुतो भरद्वाजं नाम पुत्रमुपा ददुः समर्पयामासुः ॥३५॥

मरुतां भरद्वाजागमप्रकारं प्रदर्शयन्नाह[2] - **अन्तर्वत्यामिति** चतुर्भिः। अन्तर्वत्न्यां गर्भिण्यां भ्रातुरुत्थ्यस्य[3] पत्न्यां ममतायां चौर्येण मैथुनाय कदाचित्प्रवृत्तो बृहस्पतिः, तदा द्वितीयगर्भस्यावकाशाभावात् आक्लेशपूर्वके गर्भस्थेन वारितः ततः क्रुद्धो बृहस्पति अन्धो भव इति तं गर्भं शप्त्वा बलाद्वीर्यं न्यषिञ्चत्। ततो बृहस्पतेश्शापात् गर्भस्थो दीर्घतमा अन्धो बभूव। तेन च तद्वीर्यं पार्ष्णिप्रहारेण योनेर्बहिर्निस्सारितं भूमौ पतितं सद्य एव कुमारोऽभवत् ॥३६॥

**तमिति**। तञ्च परवीर्यजं भर्तुस्त्यागाद्विशङ्कितां सतीं त्यक्तुकामां[4] ममतां प्रति सुरा एतं[4] बृहस्पतेर्ममतायाश्च विषादरूपं श्लोकं जगुः। किमर्थं जगुः अत आह। तस्य नाम निरुच्यते येन तम्[5]। तन्नामनिर्वचनेनैव[6] भर्तुस्त्यागशङ्कामपाकर्तु-मित्यर्थः ॥३७॥

**मूढे इति**। तत्र पुत्रं त्यक्त्वा यान्तीं ममतां बृहस्पतिराह - हे मूढे! इमं पुत्रं भर पुषाण। भर्तुर्बिभेमीति चेत् तत्राऽऽह-द्वाजम् एकस्य क्षेत्रेऽन्यस्य बीजादित्येवं द्वाभ्यां जात, अतस्तस्याऽप्ययं पुत्र इति न तस्माद्भयशङ्का इत्यर्थः। एवमुक्ता सती तं प्रत्याह - हे बृहस्पते! त्वमिमं भर, यतो द्वाजं द्वाभ्यामावाभ्यां अन्यायतो[7] जातम्। अतो नाहमेकाकिनी भरामित्यर्थः। यत् यस्मा[8] देवमुक्त्वा पितरौ ममताबृहस्पती विवदमानौ पुत्रं परित्यज्य यातौ, ततो हेतोरयं भरद्वाज इति। पाठान्तरे यस्य[9] पुत्रस्य त्यागात् दुःखात्[10] पितरौ यातावित्यर्थः ॥३८॥

---

1 A.B.J omit पुन 2 H V omit प्र 3 H V 'च' 4 A b J 'न 5 A B J 'तू 6 H V भर्तृत्या' 7 H V अन्वाचयत' 8 ABJ omit पुत्रस्य 9 ABJ 'गदु ' 10 H V omit पितरौ

**चोद्यमानेति**। वितथं व्यभिचारसम्भवा त्तमात्मज वितथं निरर्थकं मत्वा ममता व्यसृजत् तत्याज । पाठान्तरे आदिजं प्रथमजं भर्तृबीजाज्जातमेव मुख्यमात्मजं मत्वा बृहस्पतेर्जातं तत्याजेत्यर्थः। एवं तथा त्यक्तं मरुतोऽबिभ्रन् अभिभरुः। तदेवं मरुद्भिः प्राप्तोऽयं भरतस्यान्वये वितथे सति दत्तः ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां नवमस्कन्धे विंशोऽध्याय ॥२०॥

**वीर०** एवं वर्तयन् स सम्राट् सार्वभौमो भरतः लोकपालानामैश्वर्यमतुलां स्वां श्रियं अव्याहतमाज्ञाचक्रं प्राणांश्च मृषेति अनित्या इति निश्चित्य उपरराम विरक्तोऽभवत् ॥३३॥

हेनृप! तस्य भरतस्य सुसम्मतास्तिस्रः पत्न्यः विदर्भस्य सुता· आसन्। ताश्चेकैकं जातान् पुत्रान् मम नानुरूपा· सदृशा इमे पुत्रा न भवन्तीति भर्त्राऽभिहिते सति व्यभिचारशङ्कयाऽस्मान् त्यक्ष्यतीति भयार्ता जघ्नु ॥३४॥

एवं तस्य भरतस्य वंशे वितथे व्यर्थे सति तदर्थं पुत्रार्थं मरुत्सोमाख्येन यागेन जयत आराधयतः तस्य प्रसन्ना मरुतः भरद्वाजाख्यं सुतमुपददुः समर्पयामासुः ॥३५॥

तस्य भरद्वाजनाम निर्वक्तुं कथा माह - अन्तर्वत्न्याया मिति। कदचित् बृहस्पति· भ्रातुरुतथ्यस्य भार्यामन्तर्वत्न्यां गर्भिण्यां ममताख्ययायां मैथुनार्तौ प्रवृत्तः, तदा द्वितीयगर्भाव वकाशाभावात् आक्रोशपूर्वकं गर्भस्थेन वारितः, तत·क्रुद्धो बृहस्पतिः, दीर्घं तमः प्रवेक्ष्यसि, अन्धश्च भविष्यतीति तं गर्भं शप्त्वा बलाद्वीर्यं न्यषिञ्चत् ॥३६॥

अतो बृहस्पतेः शापात् गर्भस्थो दीर्घतमा बभूव - तेन च तद्वीर्यं पार्ष्णिप्रहारेण योनेर्बहिर्निस्सारितं, भूमौ पतितं सद्य एव कुमारोऽ भवत्। तञ्च परवीर्यजं भर्तुस्त्यागाद्विशङ्कितां सतीं त्यक्तुकामां ममतां प्रति सुरा बृहस्पतेश्च ममातायाश्च विवादरूपं श्लोकमेतं 'मूढे' इति वक्ष्यमाणं श्लोकं जगुः। किमर्थं जगुः? इत्यत आह - नामनिर्वचनं तस्येति। नाम निरुच्यते येन प्रवृत्तिनिमित्तेन तन्नामनिर्वचनं, तत्प्रतिपादकं श्लोकं जगुरित्यन्वयः। यद्वा - नाम निरुच्यते येन श्लोकेन तं जगुरित्यन्वय·। तस्य नामनिर्वचनेनैव भर्तृत्यागशङ्कामपाकर्तुं जगुरित्यर्थः ॥३७॥

श्लोकमाह - **मूढे** इति। तत्र पुत्रं त्यक्त्वा यान्तीं ममतां बृहस्पतिराह - हे मूढे! इमं पुत्रं भर पुषाण। भर्तुर्बिभेमीति चेत् तत्राऽऽह - द्वाजम् एकस्य क्षेत्रे अन्यस्य वीर्यादित्येवं द्वाभ्यां जातमतस्तस्याप्ययं पुत्र इति न तस्माद्भयशङ्केत्यर्थः। एवमुक्ता सती तं प्रत्याह हे बृहस्पते! त्वमेवेमं द्वाजं द्वाभ्यामावाभ्यांमन्यायेन जातं भर, नाहमेनं भरामीत्यर्थ । यत् यस्मात् एवमुक्त्वा पितरौ

1 HV 'वत्वात्त' 2--2 A.B J omit 3 AB 'र्भाव

ममताबृहस्पती विवदमानौ पुत्रं परित्यज्य यातौ। ततो हेतोरयं भरद्वाजसञ्ज्ञिक[1] इति ॥३८॥

एवं सुरैश्चोद्यमाना श्लोकगानपूर्वकं परिशङ्कयमाना ममता तमात्मजं वितथं व्यभिचारजत्वान्निरर्थकं मत्वा व्यसृजत्। 'मत्वाऽऽ दितरमात्मजम्' इति पाठान्तरम्। तदा आदितरं प्रथमजं भर्तु वीर्याज्जातमेव मुख्यमात्मजं मत्वा बृहस्पतेर्जातं तत्याज्येत्यर्थ । एवं तया त्यक्तं मरुतोऽबिभ्रन् अबिभरुः। तदेवं मरुद्भिः प्राप्तोऽयं भरतस्याऽन्वये वितथे सति दत्तः। एवञ्च वितथाऽख्योऽपि बभूवेति भाव ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां विंशोऽध्याय ॥२०॥

**विज०** भरतस्य वैराग्यप्रकारमाह - **स** इति। चक्रं राष्ट्रं प्राणान् इन्द्रियाणि लोकपालानामैश्वर्यं स्वराज्यादिकञ्च मृषा नाशशिरस्कमिति मत्वा उपरराम उपरतव्यापरोऽभूत् "आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त मसारञ्चाऽप्यनित्यकम्" इत्यादिवाक्य प्रसिद्धिं[2] सूचयति। हेत्यनेन ग्रन्थान्तरेतिहास वा ॥३३॥

इदानीं तस्य सन्तानप्रकारं कथयति - **तस्ये**ति। वैदर्भ्यः विदर्भराजपुत्र्यः ते पुत्रा· अनुरूपा अनुकूला न भवन्तीति, राज्ञा ईरिते कथिते ता पत्न्य· त्यागभयात्पुत्रांस्तान् जघ्नुरित्यन्वय ॥३४॥

नन्वेवञ्चेद्भरतस्य पुत्राभावेन परलोकक्षेमाभाव प्रसक्त इति तत्राऽऽह - तस्येति। तस्य वंशे एवं वितथे उत्सन्ने सति अनुरूपवंशवर्धनेन पुत्रेण भाव्यमिति तदर्थं पुत्रार्थं नाम्ना मरुत्स्तोमेन मरुद्विषययज्ञेन यजतस्तस्य भरतस्य मरुतो नाम देवाः गुणनिमित्तेन नाम्ना भरद्वाजं सुतमुपाददु·पुत्रत्वेन दत्तवन्तः ॥३५॥

कस्मादस्य भरद्वाजाख्यं येन तन्नामयुक्त· स्यात्, अतस्तज्ज्ञापनाय तदुत्पत्तिप्रकारमाह - अन्तर्वत्न्येति। बृहस्पते र्भ्रातुरुपध्यस्य पत्न्या अन्तर्वत्न्या उतथ्याहितशुक्रं दधानया नाम्ना ममतया अन्तर्गर्भिणीति वारितोऽपि मैथुनाय प्रवृत्तो बृहस्पतिः अन्धो भवेदिति गर्भं शप्त्वा धिक्कृत्य स्ववीर्यं तस्यां ममतायामसृजत् अधादित्यन्वयः ॥३६॥

तत· किमभूदिति तत्राऽऽह - **तामि**ति। तं बृहस्पतिगर्भं त्यक्तुकामां किमर्थम्? उचथ्याख्यभर्तुत्यागशङ्कितां ममतां प्रति तस्य सुतस्य नाम्नो निर्वचनं, येन ज्ञायते स तथा तं श्लोकं सुरा जगुरित्यन्वय· ॥३७॥

भो मूढे! इमं द्वाजं भर। 'भृ भरणे' इति धातुः। न त्यज उचथ्यस्य क्षेत्रजं बृहस्पतेर्जातमिति द्वयोः उचथ्यक्षेत्रबृहस्पत्यो

1 ABT 'ज्ञ' 2 AB 'द्ध

र्जातत्वात् द्वाजमिति भरद्वाजनामानम्। क्रियापदस्य सुबन्तपदसायुज्येन नामत्वं, स्कन्दधर इत्यादौ द्रष्टव्यम्। धरस्कन्धेत्यर्थोपपत्ते· "पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हराऽमराङ्गना " इति शिशुपालवधे दर्शनात् 'स्कन्दगतिशोषणयो' इति धातोः तदुक्तम्। द्वाजमिमं भर उचथ्यस्य क्षेत्रजो बृहस्पतेः जात इति द्वयोर्जातत्वात् द्वाज इति यश्च बृहस्पतेर्वाजं प्रजार्थं सन्ततिं भरत् भरणशीलश्च इति वा बृहस्पतेर्निमित्तात् भरद्वाजं प्रजासन्ततिं भरन्, भरंश्चाऽसौ बृहस्पतेर्वाज श्चेति विग्रह·। भरते शशविकरणत्वात् अभ्यासाभावः। पितरौ दुःखात् भरत् भार्ता त्राता बृहस्पते र्वाजतो वाज , वा शब्दस्य पूर्वनिपातो ज्ञातव्य यथा बृहस्पतेर्जात तथा उचथ्यादपीत्यर्तः। तत· पितृभर्तृत्वात् बृहस्पते र्वाजत्वात् अयं भरद्वाज इति। तदुक्तम् बृहस्पतेर्वाज· प्रजा सन्तति· येन भृता स बृहस्पतेर्भरद्वाजः इति ॥३८॥

सा ममता सुरैरेवं चोद्यमाना भरेति प्रेर्यमाणाऽपि तमात्मजं देवं बृहस्पतिं पुत्रात्मना जातं मत्वा भर्तुत्यागशङ्कया तमात्मजं व्यसृजत्। ततो देवा द्वाजं किमकुर्वन्निति तत्राऽऽह - मरुत इति। मरुतो देवा तं द्वाजं गर्भमबिभ्रन् भृतवन्त इति भरद्वाजः। तदुक्तम् - "भरद्वाजो मरुद्भिश्च भृतो जातो द्वयोर्यत " इति पाद्मे ममताया वाजं गतं सृतं गर्भं मरुतोऽभरन्नित्यतो वा भरद्वाज इत्येषोर्थोऽप्यवबोद्धव्य·। भृत्वा किं कृतं तैः? इति तत्राऽऽह - दत्त· इति। भरतस्याऽन्वये वितथे सति मरुद्भिरयं भरताय दत्तः, पुत्रत्वेनेति शेष·। अस्य भरतपुत्रत्वानन्तरं वितथेति नामान्तरमपि ज्ञातव्यम्। "वितथस्य सुतो मन्यु " भाग 9-21-1 इत्युत्तरवचनाच्चेति ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां सहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
नवमस्कन्धे विंशोऽध्याय ॥२०॥

# एकविंशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

वितथस्य[1] सुतान्मन्योः बृहत्क्षत्रो[2] जयस्ततः ।
महावीर्यो नरो गर्गस्सङ्कृतिस्तु नरात्मजः ॥१॥

गुरुश्च रन्तिदेवश्च सङ्कृतेः पाण्डुनन्दन!
रन्तिदेवस्य हि यश इहाऽमुत्र च गीयते ॥२॥

वियद्वित्तस्य[3] ददतो लब्धं लब्धं बुभुक्षतः ।
निष्किञ्चनस्य धीरस्य सकुटुम्बस्य सीदतः ॥३॥

व्यतीयुरष्टचत्वारिंशदहान्यपिबतः किल ।
घृतपायससंयावं तोयं प्रातरुपस्थितम् ॥४॥

कृच्छ्रप्राप्तकुटुम्बस्य क्षुत्तृड्भ्यां जातवेपथो :।
अतिथिर्ब्राह्मणः काले भोक्तुकामस्य चाऽऽगमत् ॥५॥

तस्मै संव्यभजत् सोऽन्नमादृत्य[4] श्रद्धयाऽन्वितः[5] ।
हरिं सर्वत्र संपश्यन् स भुक्त्वा प्रययौ द्विजः ॥६॥

अथाऽन्यो भोक्तुकामस्य[5] विभक्तस्य महीपतेः[6] ।
विभक्तं व्यभजत्तस्मै वृषलाय हरिं स्मरन् ॥७॥

याते शूद्रे तमन्योऽगादतिथिः[7] श्वभिरावृतः ।
राजन्मे दीयतामन्नं सगणाय बुभुक्षते ॥८॥

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एकविंशे तु दौष्यन्ते सुतस्याऽन्वय उच्यते । रन्तिदेवाजमीढादेर्यत्र कीर्तिः प्रतन्यते ॥

यद्वा - एकविंशे भरद्वाजपुत्रमन्युसुतान्वय । वर्ण्यते रन्तिदेवाऽजमीढाद्या यत्र वंशिन· ॥

---

1 A B G J सुतो मन्यु 2 M Ma "त्सो" 3 M Ma वीतवि" 4 TW "मादृत , MMa माहृत्य 5 A b G J M Ma भोक्ष्यमाणस्य 6 A B G J पते। 7 M Ma तमभ्यगा"

**भरतस्यान्वये वितथे सति** [1] **तद्दत्तत्वाद्वितथसंज्ञो भरद्वाजः**। स च ब्राह्मणोऽपि भरतस्य [2] दत्त· पुत्रो जात इति तद्वंशोऽनुक्रम्यते **वितथस्येति**। वितथस्य सुतो मन्युः तस्मात् बृहत्क्षत्रजयमहावीर्यनरगर्गा· पञ्च पुत्रा बभूवुः ॥१,२॥

**वियदिति**। वियद्वित्तस्य वियतो गगनादिवोद्यमं विना दैवादुपस्थितमेव वित्तं भोग्यं यस्य। यद्वा, वियत् व्ययं प्राप्नुवत् वित्तं [3] भोग्यं यस्य, तदेवाह-बुभुक्षतोऽपि सतो लब्धं लब्धं ददत·। तत्प्रपञ्चयति - निष्किञ्चनस्येत्यादि सार्धै पञ्चदशभिः ॥३॥

**व्यतीयुरिति**। अपिबतो जलपानमप्यकुर्वतः घृतादित्रयाणां द्वन्द्वैक्यं, तोयञ्च ॥४-६॥

**अथेति**। अथाऽन्यो वृषलातिथिरागमत् [4]। विभक्तस्य कुटुम्बार्थमन्नादिकं विभक्तवतः ॥७॥

**याते** इति। सगणाय श्वयूथसहिताय ॥८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

भरतस्य यो दत्तपुत्रस्य वितथस्य यस्सुतो मन्यु· तस्मात् मन्यो· बृहत्क्षत्रादय गर्गान्ता पञ्च जज्ञिरे, ततो जय, बृहत्क्षत्रानुजो जय इत्यर्थ·। भारद्वाजस्य ब्राह्मणत्वेऽपि भरतस्यान्वये वितथे सति दत्तत्वाद्वितथसंज्ञस्सन् भरतस्य दत्तपुत्रो भूत्वा तद्वंशङ्करो जात इत्यभिप्रायेण मन्युप्रभृतीनां भारतत्वमत्रोच्यते। तत्र नरस्याऽऽत्मज सङ्कृति ॥१॥

हे पाण्डुनन्दन! सङ्कृतेस्तु गर्गो रन्तिदेवश्चेति द्वौ सुतौ। रन्तिदेवस्य कीर्तिस्तु इहऽऽमुत्र च लोके गीयते ॥२॥

कीदृशं तद्यशः - इत्यपेक्षायां सङ्ग्रहेण तद्वृतान्त माह-**वियद्वित्तस्येति**। वियतो गगनादिव उद्यमं विनैव दैवादुपस्थितमेव वित्तं भोग्यं यस्य। यद्वा, वियत् व्ययं प्राप्नुवत् वित्तं यस्य। तदेवाऽऽह - बुभुक्षत·, सम्प्रदानस्य शेषत्वाविवक्षया षष्ठी, भोक्तुमिच्छवे, लब्धं लब्धं यत् दैवाल्लब्धं तद्ददत प्रयच्छत अत एव निष्किञ्चनस्य सायन्तनश्वस्तनादिपरिग्रहरहितस्य सकुटुम्बस्य सीदत कृशस्यापि धीरस्य जितेन्द्रियस्य कदाचित् अपिबत· जलपानमप्यकुर्वत अष्टचत्वारिंशदहानि व्यतीयु· अतिक्रान्तानि बभूवु·। कृच्छ्रं क्लेशं प्राप्तः कुटुम्बो यस्य, क्षुत्तृड्भ्यां जातः वेपथुर्व्यथा यस्य तस्य। दैवात् प्रातरुपस्थितं, घृतादीनां द्वन्द्वैक्यं, घृतादित्रयं तोयञ्च भोक्तुकामस्य सतः काले भोजनकाले कश्चिद्ब्राह्मणोऽतिथिरागमत् ॥३-५॥

स रन्तिदेव आदृत आदरयुक्त श्रद्धया चाऽन्वित सर्वत्र भूतेषु हरिं सम्पश्यन् सर्वं भूतजातं भगवदात्मकमनु - सन्दधत् अन्नं घृतपायससंयावं तस्मै अतिथये संव्यभजत् विभज्य ददौ। तदन्नं भुक्त्वा स द्विजो ययौ ॥६॥

---

1 A.B J omit तत् 2 H V दत्तपुत्रो 3 H V omit भोग्य 4 H V "लोऽति"

अथ विभक्तस्य कुटुम्बार्थं तद्द्विजभुक्तावशिष्टमन्नादिकं विभक्तवतो भोक्ष्यमाणस्य सतः, हे महीपते! अन्यः कश्चि द्वृषलोऽतिथिरागमत्। अथाऽन्य इति पाठे दानायाऽनर्ह·, तस्मै वृषलाय अतिथये विभक्तं कुटुम्बार्थं विभक्तं पुनः व्यभजत् विभज्य ददौ ॥७॥

शूद्रे वृषले गते सति कश्चित् श्वभिरावृत· परिवृतोऽतिथिरागत· तं रन्तिदेवमाह - किमिति? हे राजन्! बुभुक्षते क्षुधाऽर्दिताय[1] सगणाय[1] श्वयूथसहिताय मह्यमन्नं दीयतामिति। अभ्यागादिति पाठे एवं वदन्नभ्यागच्छदित्यन्वयः ॥८॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

पूरो· सप्तदशमो दौष्यन्ति·, तस्याऽन्वय कथ्यते वितथस्येत्यादिना ॥१॥

भरताद्दशमो रन्तिदेव । तस्य माहात्म्यं भगवन्महिमोपचितत्वात्कथयति - रन्तिदेवस्येत्यादिना। चशब्दो दौष्यन्तिमहिम्ना समुच्चीयते ॥२॥

कीदृशं यश ? शत्रुविजयाल्लब्धमुतास्मादिति संशयं निवारयति - वीतवित्तस्येति। वीतवित्तस्य वस्तुशून्यस्य दरिद्रस्येत्यर्थ । धनाभावे दानं कथं घटते? इति तत्राऽऽह - लब्धमिति। स्वयं बुभुक्षाभावाद्ददाति, न तु कर्तव्यत्वेनेति तत्राऽऽह - बुभुक्षत इति। भोगेच्छुश्चेत् सस्व , अन्यथा तदसम्भवादिति तत्राह - निष्किञ्चनस्येति। तर्हि भिक्षुवत् कृपण इत्यतो वाऽऽह निष्किञ्चनस्येति। अकृपणस्य कथमवगतं तदिति तत्राऽऽह - धीरस्येति। असद्विषयचिन्ता नाऽस्तीत्यतो वाऽऽह - धीरस्येति। धीया सह रमते न तु स्त्रियेति धीर· तस्य एकाकिन का चिन्ता इति तत्राऽऽह - सकुटुम्बस्येति। अत एव सीदतः बिभ्यतःशीर्णस्य वा ॥३॥

शीर्णत्वे निमित्तमाह - अपिबत इति। घृतञ्च पायसञ्च गोधूमान्नञ्च घृतपायससंयावं प्रातरुपस्थितं प्राप्तम्, एतद्भोक्तुकामस्य काले भोजनसमये ॥४,५॥

आहृत्य आनीय सर्वत्र व्याप्तं ब्राह्मणाय विभक्तस्यान्नस्य शेषं भोक्ष्यमाणस्य भोक्तुकामस्य महीपतेरन्योऽतिथिरागमत्। पूर्वविभक्तमन्नं सगणाय गणसहिताय नमश्चक्रे, हरये इति शेष· ॥६-८॥

**स[2] आतिथ्याऽवशिष्टं यद्बहुमानपुरस्कृतम् ।**
**तस्य[3] दत्वा नमश्चक्रे श्वभ्यः श्वपतये विभुः ॥९॥**
**पानीयमात्रमुच्छेषं तच्चैकमरितर्पणम्[4] ।**
**पास्यतः पुल्कसोऽभ्यागादपो देह्याशुभाय[5] मे ॥१०॥**

---

1--1 TW omit 2 A B G J आदृत्या° 3 A B G J M Ma तच्च 4 M Ma तत्रै° 5 A B G J M Ma °भस्य

[1]तस्यातिकरुणां [2]वाचं निशम्य विपुल[3]श्रमाम् ।
कृपया भृशसन्तप्त इदमाहाऽऽमृतं वचः ॥११॥

न कामयेऽहं गतिमीश्वराणा[4] मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥१२॥

क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिभ्रम[5]श्च दैन्यं क्लमश्शोकविषादमोहाः ।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तोर्जिजीविषोर्जीवजलार्प[6]णेन ॥१३॥

[7]इति प्रभाष्य पानीयं म्रियमाणः पिपासया ।
पुल्कसायाऽ ददाद्धीरो निसर्गकरुणो नृपः ॥१४॥

तस्य त्रिभुवनाधीशाः फलदाः फलमिच्छताम् ।
आत्मानं दर्शयाञ्चक्रु[8]र्मर्त्यां विष्णु[9]विनिर्मिताम् ॥१५॥

स वै तेभ्यो नमस्कृत्य निस्संज्ञो विगतस्पृहः ।
वासुदेवे भगवति भक्त्या चक्रे मनः परम् ॥१६॥

**श्रीध० पानीयमात्रमिति।** उच्छेषमुर्वरितम् । एकमेव तर्पतीति तथा ॥९-११ ॥

परदु खासहिष्णुतया सर्वेषां दु खं स्वयं भोक्तुमाशास्ते **नेति**। [10]अष्टार्द्धियुक्तां अणिमाद्य[11]ष्टैश्वर्यसमृद्धियुक्तां गतिमपि मोक्षमपि चाऽहं न कामये। तर्हि किं कामयसे तदाह - अखिलदेहभाजामार्तिं दु खं तत्तद्भोक्तृरूपेणान्त·स्थितस्सन्नहं प्रपद्ये प्राप्नुयामित्येवं कामये, येन तद्दु·खभोक्त्रा मया हेतुभू[12]तेन ते सर्वेऽदु·खा भवन्ति ॥१२॥

ननु दु·खं किमिति प्रार्थयसे परदु खनिवृत्त्यैव मम सर्वदु·खनिवृत्तिरित्याह - **क्षुत्तृडिति।** कृपणस्य जन्तोर्जीवनहेतो र्जलस्यार्णणान्मे सर्वे क्षुत्तृडादयो निवृत्ता ॥१३॥

**इतीति।** इत्येवं प्रभाष्य ॥१४॥

---

1 A B G J तस्य ता क , W तस्यापि क° 2 W °णा वाच 3 H V °श्रवा , W °श्रमा 4 A B G J °रात्परामष्टर्द्धि° , M Ma °राणा महर्द्धि 5 A B G J M Ma श्रम° 6 A B G H J V °णान्मे। 7 M Ma एव 8 A B G H J V °या 9 A B G H J V °ता 10- -10 A B J omit 11 A B J °द्यष्टसमृद्धि° 12 H V omit ते

**तस्येति।** त्रिभुवनाधीशा ब्रह्मादयः। मायास्तदीयधैर्यपरीक्षार्थं प्रथमं मायया वृषलादिरूपेण प्रतीता - स्सन्त इत्यर्थः ॥१५॥

**स** इति। परं केवलं वासुदेवे भक्त्या मनश्चक्रे न तु तान्किमपि याचितवान् ॥१६॥

**वीर०** स विभू रन्तिदेवो यदातिथ्याऽवशिष्टमन्नं तत् बहुमानपुरस्कृतं यथा तथा दत्वा, श्वभ्यः शुनां पतये[1] च तस्मै नमश्चक्रे भगवद्भावेनेति शेष· ॥९॥

अथोच्छेषमवशिष्टं पानीयमात्रं, तदप्येकपरितर्पणं एकपुरुषमात्रतृप्तिकरं पास्यतस्सतः कश्चित्पुल्कसः, अशुभाय नीचाय मह्यमप पानीयं जलं देहीति वदन्नभ्यागच्छत् ॥१०॥

तस्यऽपि पुल्कसस्यापि कृपणा· दीना विपुल श्रमो याभ्योऽवगम्यते ता वाचः आकर्ण्य कृपया नितरां सन्तप्तो रन्तिदेव इदं वक्ष्यमाणममृततुल्यं वच आह ॥११॥

तदेव दर्शयति - **न कामये** इति द्वाभ्याम्। अष्टर्द्धियुक्ताम् अणिमाद्यष्टैश्वर्ययुक्तां ईश्वराणां ब्रह्मादीनां गतिं प्राप्तिं अहं न कामये नेच्छामि नाऽप्यपुनर्भवं मोक्षं वा कामये। किन्तु अखिलाना देहभाजां देहिनां क्षुत्पिपासार्दितानां अन्तःस्थितामार्तिं दुःखं प्रपत्स्ये प्राप्नुयामिति कामये सर्वेषां दुःखमुहमेक एव अनुभवेयमिति आशासे इत्यर्थः। कि मेवंविधकामनया? इत्यत आह - येन भवन्त्यदु खा इति। येन दुःखभोक्त्रा मया हेतुभूतेन सर्वे देहभाजो निर्दुःखा भवन्ति येनाऽस्मदनुभवेन इति वा ॥१२॥

ननु दुःखमिति प्रार्थयसे, परदुःखनिवृत्त्यैव मम सर्वदुःखनिवृत्तेरित्याह - **क्षुत्तृडिति**। कृपणस्य जीवितुमिच्छोः जन्तो र्जीवस्य[2] जलार्पणेन जीवनहेतोर्जलस्याऽर्पणेनैव[3] सर्वे क्षुत्तृडादयो निवृत्ता भवेयुरिति शेषः। जीवकलार्पणेनेति पाठेऽयमर्थः- जिजीविषोर्जन्तोर्मे जीवकलार्पणेनाऽस्मत्प्राणदानेन क्षुधादयो निवृताः स्युः, मम प्राणानपि दद्यामित्यर्थः ॥१३॥

स्वयं पिपासया म्रियमाणोऽपि एवम्प्रभाष्य धीरो निसर्गकरुण निरुपाधिककृपावान् नृपो रन्तिदेवः पुल्कसाय तदेकपरितर्पणं पानीयं ददौ ॥१४॥

फलमर्थकामादिरूपमिच्छतां कामयमानानां जनानां फलदास्त्रिभुवनस्याधीशाः ब्रह्मादयस्तस्य रन्तिदेवस्याऽऽत्मानं दर्शयाञ्चक्रु· प्रसन्ना बभूवु·। विष्णुना विनिर्मितां मायाश्च दर्शयाञ्चक्रुः। माया प्रकृतिः, विष्णुनिर्मितामित्युक्तत्वात् कार्यरूपा प्रकृति विवक्षिता, प्रकृत्यात्मविवेकज्ञानं ददुरित्यर्थ । यद्वा तन्मन·परीक्षार्थं वृषलादिमायारूपमात्मानं दर्शयाञ्चक्रुरित्यर्थः ॥१५॥

---

1 TW पत्ये 2 TW "वज" 3 TW "लार्प"

ततस्स वै रन्तिदेवः तेभ्यः त्रिभुवनाधीशेभ्यो, मायारूपेभ्यो वा नमस्कृत्य निस्सङ्गः देहतदनुबान्धिषु अहम्ममतारहितः विगतैहिकामुष्मिकफललिप्सः[1] परं केवलं वासदेवे मनश्चक्रे ॥१६॥

**विज०** घृतादिकं दत्त्वा पनीयमात्रमुच्छेषमवशिष्टं तदपि एकपरितर्पणम् एकस्य तृप्तिकरं, न तु बहूनाम्, पास्यत· पातुकामस्य पुल्कसो गोमांसभक्षकः ॥९-११॥

महर्द्धियुक्ताम् अगणितसमृद्धिसम्पन्नां योगेश्वराणां गतिमणिमादिलक्षणां, महरादिलोकं वा न कामये न वाञ्छामि, अपुनर्भवं मोक्षं वा। तर्हि कस्मिन् कांक्षा इति तत्राऽऽह - इति आर्तिमिति । येन देहभाजो मयाऽर्पितजलपानादिना क्षुधादिनिमित्त दुःख रहिता भवन्ति ये, तेन तेषामन्तःस्थितामार्तिं अहं प्रपद्ये इत्यन्वयः। येन जलेनाऽदुःखाः तत्तेभ्यो दत्त्वा तदार्तिमद्याऽहं प्रपद्य इति वा ॥१२॥

एवं भाषणमात्रेण किं फलमिति तत्राऽऽह - **क्षुत्तृ डति**। कृपणस्य जन्तोर्जीवस्य जलार्पणेन जीवनप्रदजलदानेन सर्वेषां सुखं स्यात्, तदार्तिर्मर्मास्त्विति । जिजिविषोर्जीवितुमिच्छतः पुंसः क्षुत्तृडादयो निवृत्ता भवन्तीत्यन्वयः। अनेन क्षुधादिमतः[2] पुंसो जलादिदानेन दातुरपि तन्निवृत्तिः तददाने तदनिवृत्तिरिति अन्वयव्यतिरेकौ द्रष्टव्यौ ॥१३॥

पिपासया म्रियमाणः ॥१४॥

आत्मानं मायां महिमोपेतं, महिमाऽपि, भगवदनुग्रहविजृम्भित इत्याह - विष्विति ॥१५,१६॥

**ईश्वरालम्बनं चित्तं कुर्वतोऽनन्यराधसः।**
**माया गुणमयी राजन् स्वप्नवत् प्रत्यलीयत॥ १७॥**

**तत्प्रसङ्गानुभावेन रन्तिदेवानुवर्तिनः ।**
**अभवन् योगिनस्सर्वे नारायणपरायणाः ॥१८॥**

**गर्गाच्छिनिस्ततो गार्ग्यः[3] क्षत्त्राद्ब्रह्म[4] ह्यवर्तत ।**
**दुरितक्षयो[5] महावीर्यात् तस्य त्रय्यारुणिः कविः ॥१९॥**

**पुष्करारुणिरित्यत्र ये ब्राह्मणगतिं गताः।**
**बृहत्क्षत्रात्सुहोत्रोऽस्मात्[6] हस्ती यद्धस्तिनापुरम् ॥२०॥**

---

1 A.B °प्सु ° 2 M Ma °दा° 3 M Ma गार्ग्यात् 4 H V °द्राह्मवर्तत 5 H V उरुक्षयो 6- -6 A.B G J बृहत्क्षत्रस्य पुत्रोऽभूत् , M Ma बहत्क्षत्रस्य होत्रोऽस्मात्

**अजमीढो द्विमीढश्च पुरुमीढश्च हस्तिनः ।**
**अजमीढस्य वंश्यास्स्युः प्रियमेधादयो द्विजाः ॥२१॥**

**अजमीढाद्बृहदिषुस्तस्य पुत्रो बृहद्धनुः ।**
**बृहत्कायस्ततस्तस्य पुत्र आसीद्बृहद्रथः ॥२२॥**

**तत्सुतो विशदस्तस्य सेनजित् समजायत ।**
**रुचिरास्यो दृढहनुः काश्यो वत्सश्च तत्सुताः ॥२३॥**

**रुचिराश्वसुतः प्राज्ञः पृथुसेनस्तदात्मजः ।**
**पारस्तत्तनयो नीपस्तस्य पुत्रशतन्त्वभूत् ॥२४॥**

**श्रीध० ईश्वरेति।** अनन्यराधस· ईश्वरातिरिक्तफलान्तरानपेक्षस्य । प्रत्यलीयताऽऽत्मन्येव लीना बभूव ॥१७,१८॥

मन्युसुतस्य नरस्य वंशमुक्त्वा तत्सुतस्यैव गर्गस्य वंशमाह - **गर्गादिति**। महावीर्यस्य वंशमाह महावीर्यात् ऊरुक्षय· तस्य त्रय्यारुणिः कविः पुष्करारुणिश्चेति त्रय पुत्राः ॥१९॥

**पुष्करेति**। ते कथम्भूताः? ये अत्र क्षत्रवंशे ब्रह्मणगतिं ब्राह्मणतां गतास्ते। मन्युपुत्राणां पंचानां ज्येष्ठस्य वंशमाह - बृहत्क्षत्रात् सुहोत्र अस्मात्:, हस्ती यद्येन हस्तिनापुरं कृतमित्यर्थ· ॥२०॥

**अजमीढ इति**। अजमीढादयस्त्रयो हस्तिन· पुत्रा ॥२१॥

**अजमीढादिति**। अजमीढादेवाऽन्यः पुत्रो बृहदिषुर्नामाऽभवत् ॥२२,२३॥

**रुचिराश्वेति**। पारस्य तनयो नीप·, नीपस्य पुत्रशतम् ॥२४॥

**वीर० ईश्वरेति**। अनन्यराधसा अनन्यप्रयोजनेन भावेन चित्तमीशालम्बनं वासुदेवनिष्ठं कुर्वतस्तस्य रन्तिदेवस्य हे राजन्! त्रिगुणात्मिका माया स्वप्नवत्प्रत्यलीयत न्यवर्तत, स प्रकृतिसम्बन्धान्मुक्तो बभूवेत्यर्थः ॥१७॥

किमुत तस्य रन्तिदेवस्य य प्रसंङ्ग , तस्यानुभावेन प्रभावेन हेतुना रन्तिदेवमनुवर्तमाना· सर्वेऽपि योगिन । योगित्वमेवाऽऽह - नारायणपरायणा बभूवु· ॥१८॥

---

6 ABGHJV "ञ्जयद्रथ 1 HV विश्वजित्त" 2 ABGJ पार , MMa याज 3 ABGJ "स्य त" 4--4 ABJ दुरितक्षय 5 ABJ omit ते 6 ABJ "णरूपता" 7--7 ABJ बृहत्क्षत्रियस्येति

एवं नरस्य वंश उपवर्णित । अथ गर्गस्य वंशमाह - **गर्गादिति**। गर्गाच्छिलो जज्ञे। शिनिरिति पाठान्तरम्। तस्मात्तु गार्ग्यः तत्र ततो गार्ग्याद्ब्रह्म ब्रह्मकुलमवर्तत पुत्रादिपरम्परया प्रावर्ततेत्यर्थ । अथ महावीर्यस्याऽन्वयमाह - महावीर्यात् दुरितक्षयो जज्ञे, तस्य दुरितक्षयस्य त्रय्यारुणि· कवि ॥१९॥

पुष्करारुणिश्चेति त्रयः पुत्राः, कथम्भूता.? येऽत्र क्षत्रवंशे ब्राह्मणगतिं ब्राह्मणरूपतां गता· प्राप्ता.। अथ जेष्ठस्य बृहत्क्षत्रस्य वंशमाह- 'बृहत्क्षत्रस्य पुत्रोऽभू' दित्यादिना। बृहत्क्षत्रस्य पुत्रो हस्ती बभूव, यत् येन हास्तिनं पुरं कृतमिति शेषः, स हस्ती बभूवेत्यर्थ. ॥२०॥

हस्तिनस्सुता अजमीढादय त्रयः पुत्रा[1] । तत्र अजमीढस्य वंश्याः वंशजा· प्रियमेधादयो द्विजा बभूवु· ॥२१॥

अजमीढादेवाऽन्यः पुत्रो बृहदिषुर्नामाऽभवत्। तस्य बृहदिषो· सुतो बृहद्धनु तस्य सुतो बृहत्काय· तस्य बृहद्रथ· पुत्र आसीत् ॥२२॥

तत्सुतो बृहद्रथसुतः विशदः, तस्य विशदस्य, तस्मादिति पाठे विशदात् फेनजित् समजायत। तस्य सुता· फेनजित्सुता· रुचिराश्वादयश्चत्वार ॥२३॥

तत्र रुचिराश्वस्य सुत· प्राज्ञ , तदात्मज प्राज्ञसुत पृथुसेनः तदात्मज· पृथुसेनतनय पारः, तत्तनय· पारतनय·नीप , तस्य नीपस्य पुत्रशतमभूत् ॥२४॥

**विज०** ईश्वरालम्बनं श्रीनारायणविषयम् अनन्यराधस भगवत्सिद्धिमन्तरेण अन्यसिद्धिशून्यस्य तदेकनिष्ठस्ये त्यर्थ·। अन्यस्माद्राधस· सिद्धिर्मुक्ति तया रहितस्य भगवत एवापेक्षिताऽशेषपुरुषार्थवत· प्रत्यलीयत नष्टाऽभूत्, माया संसाराख्या ॥१७॥

तस्य रन्तिदेवस्य प्रसंङ्ग· कथालक्षण तस्याऽनुभावेन भावसूचकेन। "अनुभावः प्रभावे स्यात् निश्चये भावसूचके" (वै.ज. को. 8-1-8) इति यादव· ॥१८॥

ब्रह्म ब्राह्मणकुलं, नाम्ना दुरितक्षय·, तस्य त्रैय्यारुणि कवि , पुष्करारुणिश्चेति त्रय· पुत्रा ये, ते अत्र क्षत्रवंशे ब्राह्मणगतिं ब्राह्मणरूपतां गता । भरतप्रपौत्रस्य बृहत्क्षत्रस्य वंशान्तरमाह - बृहत्क्षत्रस्येति। नाम्ना हस्ती यत् येन हस्तिनापुरं, कृतमिति शेष· ॥१९-२४॥

---

1 TW omit पुत्रा 2 A B omit तस्य

स कृत्व्यां शुककन्यायां ब्रह्मदत्तमजीजनत्।
योगीशो[1] गवि भार्यायां विष्वक्सेनमथात्सुतम्[2] ॥२५॥

जैगीषव्योपदेशेन योगतन्त्रं चकार ह ।
उदक्सेनस्ततस्तस्मात्[3] भल्लादो बार्हदीषवाः[4] ॥२६॥

यवीनरो द्विमीढस्य कृतिमांस्तत्सुतस्ततः[5] ।
नाम्ना सत्यधृतिस्तस्मात्[6] दृढनेमिः सुपार्श्वकृत् ॥२७॥

सुपार्श्वात्सुमतिस्तस्य पुत्रस्सन्नतिमांस्ततः[7]।
कृती[8] हिरण्यनाभाद्यो योगं प्राप्य जगौ स्म षट्[9] ॥२८॥

संहिताः[10] प्राच्य साम्नां वै तस्याप्युग्रायुधस्सुतः[11]।
तस्य क्षेम्यः[12] सुवीरोऽ थ सुवीरस्य रिपुञ्जयः[13] ॥२९॥

ततो बहुरथो[14] नाम पुरुमीढोऽप्रजोऽभवत्।
नलिन्यामजमीढस्य नीलःशान्तिस्तु[15] तत्सुतः ॥३०॥

शान्तेस्सुशान्तिस्तत्पुत्रः पुरुजोऽर्कस्ततोऽ[16] भवत् ।
भर्म्याश्वस्तत्सुतस्तस्य[17] पंचाऽऽसन्मुद्गलादयः[18] ॥३१॥

यवीनरो बृहदिषुः काम्पिल्यस्सृञ्जयस्सुताः[19]।
भर्म्याश्वः[20] प्राह पुत्रा मे पञ्चानां रक्षणाय हि[21] ॥३२॥

**श्रीध० स** इति। स एव कृत्व्यां[22] कृत्वीसंज्ञायां शुककन्यायां ब्रह्मदत्तं जनयामास। तदुक्तं हरिवंशादिषु "पाराशरकुलोत्पन्नः शुको नाम महायशाः। व्यासादरण्यां सम्भूतो विधूमोऽग्निरिवोज्ज्वलन्। स तस्यां पितृकन्यायां वीरिण्यां जनयिष्यति। कृष्णं गौरप्रभं शम्भुं तथा भूरिश्रुतं जयम्। कन्यां कीर्तिमतीं षष्ठीं योगिनीं योगमातरम्। ब्रह्मदत्तस्य जननीं महिषी मणुहस्य च (भार.13-45 - 47) इति। यद्यपि शुकः जातमायाविमुक्तसंज्ञो[23] निर्गतस्तथाऽपि विरहातुरं व्यासमनुयान्तं दृष्ट्वा छायाशुकं निर्माय

1 A.B G J स योगी , M Ma योगेशो 2 TW "मगात्सु" 3 A B G J "स्व" 4 M Ma "व 5 A B G J "तस्सृत 6 A B G J र्यस्य , M Ma "र्यस्मात् 7 M Ma "न्त" 8 A B G J M Ma "तिर्हि 9 M Ma द्वि" 10 TW प्राप्य 11- -11 A B G J नीपो ह्युग्रायुधस्तत , M Ma नीपो ह्यौग्रायुधस्तत 12 TW क्ष 13 H V पुर" 14 M Ma "तिथो 15 A B G J "स्सुतस्तत 16 M Ma पुराजा , TW पुरुञ्जो 17 M Ma ह" 18 A B G J "स्तनव" 19 A.B G J M Ma स्स 20 M Ma "स्तत " 21 M Ma ह" 22 H V omit कृत्व्या 23 A B J उप्पत्त्यैव

गतवान्। तदभिप्रायेणैव अयं गार्हस्थ्यादिव्यवहार इत्यविरोधः। स ब्रह्मदत्तो योगी। गवि वाचि सरस्वत्याम् ॥२५॥

**जैगीषव्येति**। स एवं योगतन्त्रं चकार। बार्हदीषवो बृहदिषोर्वंश्या इमे, दीर्घत्वमार्षम् ॥२६॥

**यवीनरेति**। सुपार्श्वकृत् सुपार्श्वस्य पिता ॥२७॥

**संहिता** इति। प्राच्यसाम्नां षट् संहिता जगौ विभज्याऽध्यापितवान् ॥२८,२९॥

**तत** इति। अजमीढस्य वंश्या प्रियमेधादयः। केचिद्ब्राह्मणा बभूवुः, बृहदिषुप्रभृतयः क्षत्रियाश्चेति वंशद्वयमुक्तम्। तस्यैव वंशान्तरमाह - नलिन्यामिति यावत्समाप्ति ॥३०,३१॥

**यवीनर** इति। मुद्गल एको यवीनरादयश्चत्वार इत्येवं पञ्च ॥३२॥

**वीर०** स नीप एव शुककन्यायां श्रीशुकस्य कन्यायां दुहितरि कृतिसंज्ञायां ब्रह्मदत्ताख्यं सुतमजीजनत् जनयामास। अत्र 'तस्य पुत्रशतन्त्वभू' दित्यास्यानन्तरं क्वचित् - अणुहो नाम यस्तेषां ज्येष्ठः सत्यरथोनृप! इति पठ्यते। तत्र हे नृप! तेषां पुत्राणां शते यो ज्येष्ठः सोऽणुहः, स एव सत्यरथापरनामधेय इत्यर्थः। शुककन्यायामित्यनेन शुकस्याऽप्यत्रसन्तान उक्तः। तथा चोक्तं हरिवंशादिष्वपि - "पाराशरस्सुतो त्पन्न. शुको नाम महायशा.। व्यासादरण्यां सम्भूतो विधूमाग्निरिव ज्वलन्" स तस्यां पितृकन्यायामिरिण्यां जनयिष्यति । कृष्णं गौरं प्रभुं शम्भुं तथाभूतश्रुतं जयम् ॥ कन्यां कीर्तिमतीं षष्ठीं योगीनीं योगमातरम् ॥ ब्रह्मदत्तस्य जननीं मानुषीम् (भारते.13-45-47)इत्यादि॥ यद्यपि शुक उत्पत्तेरारभ्य विमुक्तसङ्गो निर्गतः, तथाऽपि विरहातुरं व्यासमनुयान्तं दृष्ट्वा छायाशुकं निर्माय गतवान्। तदभिप्रायेणैव अयं गार्हस्थ्यादिव्यवहार इत्यविरोध इत्याचक्षते। स च ब्रह्मदत्तः गवि सरस्वत्यां भार्यायां विष्वक्सेनाख्यं सुतमगात् प्राप्तवान्, अजीजनदिति यावत् ॥२५॥

स एव जैगीषव्यस्योपदेशेन योगतन्त्रं योगशास्त्रं चकार। ततो विष्वक्सेनाक्सेनः, तस्मात् उदक्सेनात् भल्लादः बार्हदीषवः- इमे उक्तास्सर्वे बृहदिषोरजमीढसुतस्य वंशजा इत्यर्थः। दीर्घत्वमार्षम् ॥२६॥

अथ द्विमीढस्य वंशमाह - द्विमीढस्य सुतो यवीनरः, तत्सुतो यवीनरसुत. धृतिमान्, ततो धृतिमतः सत्यधृतिः तस्मात् सत्यधृतेः दृढनेमिः, स च सुपार्श्वकृतः सुपार्श्वस्य पितेत्यर्थः। तत्पुत्रः सुपार्श्व इति यावत् ॥२७॥

सुपार्श्वात् सुमतिः, तस्य सुमतेः पुत्रः सन्नतिमान्, ततः सन्नतिमतः कृतिः। तं विशिनष्टि - यः कृतिः हिरण्यनाभाद्योगं साम्नां षट् संहिताश्च प्राप्य जगौ अध्यापितवान्। तस्य कृतेः सुतः उग्रायुधः, तस्य उग्रायुधस्य सुतः क्षम्यः। अथ क्षम्यात् सुवीरः, तस्य सुतो रिपुञ्जयः ॥२८,२९॥

ततो रिपुञ्जयात् बहुरथो नाम जज्ञे । एवं अजमीढद्विमीढयोर्वंशावभिधाय पुरुमीढस्त्वपुत्रोऽभवदित्याह -

---

1 A.B.J omit अयं

पुरुमीढोऽप्रजोऽभवदिति। अजमीढस्य वंश्या· प्रियमेधादयः केचित् ब्राह्मणा बभूवुः, बृहदिषुप्रभृतयः क्षत्रियाश्चेति वंशद्वय मुक्तम्। तस्यैवेदानीं वंशान्तरमाह - नलीन्यामिति यावत्समाप्ति। अजमीढस्य नलिन्यां भार्यायां नीलः, तत्सुतो नीलसुतस्तु ॥३०॥

शान्तपुत्रः सुशान्तिः, तत्पुत्र· पुरुज्ञ·, पुरुज्ञादर्क·, तत्सुतोऽर्कसुतो भर्म्याश्व·, तस्य भर्म्याश्वस्य पुत्र· मुद्गल एकः ॥३१॥

यवीनरादयश्चत्वारश्चेति पञ्चाऽऽ सन् जज्ञिरे। तेषां पञ्चालसंज्ञितत्वं वक्तुं तन्निमित्तं पितृवचोरूपमाह - भर्म्याश्व इति। भर्म्याश्व प्राह, पुत्रानिति शेषः ॥३२॥

विज० प्राच्यसाम्नां द्वादशसंहिता जगौ ॥२५-३२॥

विषयाणामलमिमे इति पञ्चालसञ्ज्ञिताः[1]।[2]
मुद्गलात् ब्रह्म निर्वृत्तं गोत्रं मौद्गल्यसंज्ञितम् ॥३३॥
मिथुनं मुद्गलाद्भार्म्याद्दिवोदासः पुमानभूत्[3]।
अहल्या कन्यका यस्यां शतानन्दस्तु गौतमात् ॥३४॥
तस्य सत्यधृतिः[4] पुत्रो धनुर्वेदविशारदः।
शरद्वांस्तत्सुतो यस्मादुर्वशीदर्शनात् किल॥३५॥
शरस्तम्बेऽपतद्रेतो मिथुनं तदभूच्छुभम्।
तद्दृष्ट्वा कृपयाऽगृह्णाच्छन्तनुर्मृगयां चरन्[5] ॥
कृपः कुमारः कन्या च द्रोणपत्न्यभवत् कृपी ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे एकविंशोऽध्याय· ॥२१॥

श्रीध० मिथुनमिति। भार्म्याद्भर्म्याश्वपुत्रात् मिथुनश्चाऽभूत्। तदेवाह दिवोदासः पुमान्, अहल्या च कन्यकेति ॥३३-३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां नवमस्कन्धे एकविंशोऽध्यायः॥२१॥

---

1 HV पा° 2 HV °का 3 MMa °लाचार्या° 4 MMa शतधृति 5 MMa तच्छृत्व

**वीर०** किमिति? हे पुत्रा·मे मम पञ्चानां विषयाणां शब्दादीनां देशानां वा रक्षणाय इमे यूयमलं प्रभव इति, यत एवं पित्रोक्ताः, अतस्ते पञ्चालसंज्ञिता· पञ्चालेति संज्ञा एषां सञ्जातेति तथा। तारकादित्वादितच्। तत्र मुद्गलात् ब्रह्मगोत्रं ब्राह्मणकुलं निर्वृत्तमुत्पन्नम्। तद्विशिनष्टि मौद्गल्यसंज्ञितमिति ॥३३॥

तदेव सङ्ग्रहेण दर्शयति - **मिथुनमिति**। भार्म्यात् भर्म्याश्वसुतात् मुद्गलात् मिथुनं स्त्रीपुंसमभूत्। तत्र पुमान् दिवो - दासः, कन्यका त्वहल्या। तां विशिनष्टि- यस्यामहल्यायां गौतमात् भर्तु· शतानन्दो जज्ञे ॥३४॥

तस्य शतानन्दस्य पुत्र सत्यधृतिः। स च धनुर्वेदविशारद·। तत्सुत. सत्यधृतिसुतः शरद्वान्। तं विशिषन् तन्नाम्नि[1] निमित्तं तद्वंशश्चाऽऽह - यस्मादित्यादिना यावत्समाप्ति। उर्वश्या अप्सरसो दर्शनाद्धेतो यस्मात् शरद्वतो रेतः शरस्तम्बे अश्ववालस्तम्बेन्यपतत्, अतस्स शरद्वान्नाम बभूवेति भाव । तच्च पतितं रेतः शिवं शुभाचारं मिथुनं स्त्रीपुंसमभूत्। शन्तनुः राजा यदृच्छया मृगयां चरन् तन्मिथुनं दृष्ट्वा कृपया अगृह्णात् गृहीत्वा ररक्षेत्यर्थ·। तत्र मिथुने कुमारः कृपः कृपाचार्यः, कन्या तु कृपी सा च द्रोणाचार्यस्य पत्नी ॥३५,३६॥

इति श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकविंशोऽध्याय· ॥२१॥

**विज०** - ॥३३-३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
नवमस्कन्धे एकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

---

1 AB 'म' 2 A 'त'

# द्वाविंशोऽध्यायः

## श्रीशुक उवाच

मित्रायुश्च[1] दिवोदासाच्च्यवनस्तत्सुतो नृप! ।
सुदासस्सहदेवोऽथ सोमकोजन्तुजन्मकृत् ॥१॥

तस्य पुत्रशतं तेषां यवीयान् पृषदस्ततः[2] ।
द्रुपदो द्रौपदी तस्य धृष्टद्युम्नादयस्सुताः ॥२॥

धृष्टद्युम्नात् धृष्टकेतु भर्म्याः[3] पञ्चालका[4] इमे ।
योऽजमीढसुतो[5] ह्यस्य[-5] त्वृक्षस्संवरणस्ततः ॥३॥

तपत्यां[6] सूर्यकन्यायां कुरुक्षेत्रपतिः[-6] कुरुः ।
परीक्षित् सुधनुर्जह्नु निषधश्च[7] कुरोस्सुताः ॥४॥

सुहोत्रोऽभूत् सुधनुषश्च्यवनोऽथ[8] ततः[9] कृती ।
वसुस्तस्योपरिचरो बृहद्रथमुखास्ततः ॥५॥

कुसुम्भमत्स्यप्रत्यग्रचेदिपाद्याश्च[10] चेदिपाः[11] ।
बृहद्रथात्कुशाग्रोऽभूत् ऋषभस्तस्य[12] चात्मजः ॥६॥

जज्ञे सत्यहितोऽपत्यं[13] पुष्पवांस्तत्सुतो जहुः ।
अन्यस्यामपि[14] भार्यायां शकले द्वे बृहद्रथात् ॥७॥

ते मात्रा बहिरुत्सृष्टे जरया चाभिसन्धिते ।
जीव जीवेति क्रीडन्त्या जरासन्धस्ततोऽभवत्[15] ॥८॥

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्वाविंशे तु दिवोदासवंशमुक्त्वाऽथ वर्णिताः । ऋक्षवंशे जरासन्ध पार्थदुर्योधनादयः

---

1 A.G.J "त्रे" 2 ABGJ "तस्सुत · MMa "तस्तत 3 MMa हर्म्या 4 H V पा" 5- -5 A.B G J ह्यन्य ऋक्षः संव" , MMa ह्यन्य ऋक्षात्संव" 6- -6 H V omit 7 ABGJMMa "धाश्च. 8 H M Ma V "वनस्तत्सुत. 9 TW कृति 10 ABGJ कुशाम्ब , MMa कुशाम्बु 11. M.Ma वेदिषा" 12 ABGJMMa तत्सुत । 13 TW तस्य 14 A.B G J "स्याश्चाऽपि 15 ABGJMMa "न्योऽभवत्सुत.

यद्वा- दिवोदासात्तु पाञ्चालवंशो द्वाविंश उच्यते ।

वंशान्तरादाजमीढ चैद्यमागध कौरवाः ॥

**तस्येति**। तस्य सोमकस्य पुत्राणां शतं बभूव। तेषां जन्तुर्ज्येष्ठो यवीयान्पृषद[1] ॥१,२॥

अजमीढस्यैव[2] वंशान्तरमाह - **य इति**। ततस्संवरणात्कुरु· ॥३,४॥

**सुहोत्र** इति। तस्य कृतिनः उपरिचरो वसुः। ततो वसोः बृहद्रथो मुखमादिर्येषाम् ॥५॥

तानेवाऽऽह - **कुसुम्भेति**। तत्सुतः पुष्पवान् जज्ञे। तस्यापत्यं सत्यहित इति योज्यम् ॥६,७॥

**त** इति। जरया राक्षस्या ॥८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं मुद्गलस्य दुहितृसन्तानमभिधाय, अथ पुत्रसन्तानमाह - **मित्रायुश्चेति**। दिवोदासात्, मौद्गल्यात् मित्रायुर्जज्ञे। तत्सुता· मित्रायुसुताः हे नृप! च्यवनादयश्चत्वारः। तत्र सोमक· कनीयान् स च जन्तो· जन्मकृतवानिति, तथा सोमकस्य सुतो जन्तु रित्यर्थः ॥१॥

न केवलं जन्तुरेव तस्य पुत्रः, अपि तु जन्तुर्ज्येष्ठं शतमित्याह - **तस्येति**। तस्य सोमकस्य पुत्रशतमभूत्। तेषां पृषदः कनीयान्। जन्तुस्तु ज्येष्ठ इति शेषः। पृषदात्तु द्रुपद·, यस्य द्रुपदस्य सुता· धृष्टद्युम्नादयः ॥२॥

इमे धृष्टद्युम्नादयः पञ्चालकाः पञ्चालसंज्ञिकमुद्गलवंशप्रसूतत्वात्पाञ्चालकाः। अजमीढस्य पुनर्वंशान्तरमाह - **य इति**। अजमीढस्याऽन्यो यः सुतः ऋक्षाख्यः, ततः ऋक्षात्संवरणः ॥३॥

संवरणाच्च तपत्याख्यायां सूर्यकन्यायां कुरुर्जज्ञे, स च कुरुक्षेत्रस्य पतिः। कुरोस्सुतास्तु परीक्षिदादयः चत्वारः[3] ॥४॥

तत्र सुधनुषः सुतः सुहोत्रोऽभूत्। अथ सुहोत्राच्च्यवनः, ततश्च्यवनात्कृतिः, तस्य कृतेरुपरिचरो वसुः, उपरिचरवसुः कृतीति पाठान्तरम्। तदा तस्य कृतिनः, ततः उपरिचरवसोः बृहद्रथो मुखमादिर्येषान्ते जज्ञिरे ॥५॥

तानाह - **कुसुम्भेति**[4]। एते चेदिपाः चेदिजनपदाधिपाः तत्र बृहद्रथात् कृशाश्वो बभूव। 'कुशाम्बोऽभू' दिति पाठान्तरम्। तत्सुतः कुशाम्बसुतः ऋषभः स्मृतः प्रसिद्धः। तत्सुतः ऋषभसुतः पुष्पवान्। तस्य हितः हिताख्योऽपत्यं पुत्रो जज्ञ इत्यन्वयः।

---

1 ABJ 'त 2 HV omit एव 3 AB omit चत्वार । 4 AB कुशाम्बेति ।

तत्सुतो हितसुतः जहुः। जगुरिति पाठान्तरम्। एवं बृहद्रथस्यैको वंश उक्तः। अथाऽन्यस्यामपि भार्यायां बृहद्रथात् द्वे शकले जज्ञाते ॥६,७॥

ते च मात्रा बहिरुत्सृष्टे त्यक्ते। तत्र क्रीडन्त्या जरया राक्षस्या जीव जीवेति भाषमाणया अभिसन्धिते, जरया सन्धितत्वात् जरासन्ध स्सुतोऽभवत् ॥८॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अहल्यासन्ततिं प्रोच्य दिवोदाससन्ततिं कथयति - **मित्रायुरिति** ॥१,२॥

अजमीढसुतो योऽन्यो, बृहदिषोरिति शेषः अन्यस्यां भार्यायां जातः नाम्ना ऋक्षः, ऋक्षाज्जातः संवरणो नाम ॥३,७॥

जरया राक्षस्या ॥८॥

**ततश्च सहदेवोऽभूत् सोमापिर्यच्छ्रुतश्रवाः।**
**परीक्षिदनपत्योऽभूत्सुरथो नाम जाह्नवः ॥९॥**

**ततो विदूरथस्तस्मात् सार्वभौमस्ततोऽभवत्।**
**जयत्सेनस्तत्तनयो राधिकोऽतो द्युमानभूत् ॥१०॥**

**ततश्च क्रोधनस्तस्मात् देवातिथिरमुष्य च।**
**ऋक्षस्तस्य दिलीपोऽभूत् प्रतीपस्तस्य चाऽऽत्मजः ॥११॥**

**देवापिश्शन्तनुस्तस्य बाह्लीक इतिचात्मजाः।**
**पितृराज्यं समुत्सृज्य देवापिस्तु वनङ्गतः ॥१२॥**

**अभवच्छन्तनू राजा प्राङ्महाभिषसंज्ञितः।**
**यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं यौवनमेति सः ॥१३॥**

**शान्तिमाप्नोति चैवाग्र्यां कर्मणा तेन शन्तनुः।**
**समा द्वादश तद्राष्ट्रे न ववर्ष यदा विभुः ॥१४॥**

1 A B G J MMa जयसेन' 2- -2 A B G J राधिकोऽतोऽयुता ह्यभूत् , H V राधिकोऽतोऽयुतायुष , MMa राचीकोऽतो द्युमानभूत्। 3 MMa 'बाक्रधन' 4 ABGJ ऋष्य' 5- -5 H V 'क्षोऽस्माद्भीमसेनोऽभूत् 6 H V 'श्चैव 7- -7 H V बाह्लिकस्तत्सुता स्त्रय। 8 H V 'त्र्य' 9 ABGJ परित्यज्य 10 H V भीष सञ्ज्ञक 11 ABGJ 'द्राज्ये

शन्तनुर्ब्राह्मणैरुक्तः परिवेत्ता[1] त्वमग्रभुक् ।
राज्यं देह्यग्रजायाऽऽशु पुरराष्ट्रविवृद्धये ॥१५॥

एवमुक्तो द्विजैर्ज्येष्ठं छन्दयामास सोऽब्रवीत् ।
तन्मन्त्रिप्रहितैर्विप्रैर्वेदाद्विभ्रंशितो गिरा ॥१६॥

**श्रीध० तत इति**। यद्यस्मात्, सोमापेः शुतश्रवाः, कुरोः पुत्रः परीक्षिदनपत्य· । जाह्नवो जह्नो· पुत्रः ॥९॥

**तत इति**। अतो रथिकात्[2] अयुतायुः[3] इत्यर्थ· ॥१०,११॥

**देवापिरिति**। तस्य प्रतिपस्य[4] देवापिशन्तनुबाह्लीका· ॥१२॥

**अभवदिति**। प्राक् पूर्वजन्मनि महाभीष[5] इति संज्ञा यस्य स ॥१३॥

**शान्तिरिति**। यदा देवो न ववर्ष तदा शन्तनुस्तत्र कारणं ब्राह्मणान् पप्रच्छ ॥१४॥

**शन्तनुरिति**। ब्राह्मणैश्चैवमुक्त[6]· - "दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते। परिवेत्ता स विज्ञेय परिवित्तिस्तु पूर्वजः" (मनु. स्मृ 3-171) इति स्मृतेर्योऽग्रभुक् भुवमग्रतो भुनक्ति। अयं त्वादृशोऽपि परिवेत्तैव भवति[7-7]। अत स्तद्दोषपरिहाराय राज्य मग्रजाय देहि, ततो वृष्टिर्भविष्यति इत्येवमुक्त , शन्तनुर्वनं गत्वा ज्येष्ठं छन्दयामास। राज्ञ प्रजापालनादि[8] परो[9] धर्मः, अतस्त्वं राज्यं स्वीकुर्विति प्रार्थितवान्। ततः पूर्वमेव तस्य मन्त्रिणा अश्वरावसंज्ञेन[10] देवापिं पाषण्डीकृत्य राज्यानर्हं कर्तुं ये प्रहिता विप्रास्तैः पाषण्डमताश्रयया गिरा वेदाद्विभ्रंशितस्सन् वेदवादस्यातिवादान्निन्दावचनानि सोऽब्रवीत्। ततस्तस्य पातित्येन राज्यानर्हत्वे जाते शन्तनोर्दोषाभावाद्देवो ववर्षेत्यर्थः ॥१५,१६॥

**वीर०** ततो जरासन्धात् सहदेवः, यत् यस्मात् सहदेवात्सोमापि·, श्रुतश्रवाश्च जातौ, स सहदेव इत्यन्वय· । कुरोः पुत्र. परीक्षिदनपत्यः । 'अथ जह्नोः कुरुसुतस्य सुतो जाह्नवः स च नाम्ना सुरथ इति प्रसिद्ध ॥९॥

ततस्सुरथाद्विदूरथः, तस्मात्सार्वभौमः, ततो जयसेन·, तत्तनयो जयसेनतनयो राधिक. । अतो राधिकात् द्युमानभूत्। अतोऽयुतोऽभवत् इति पाठान्तरम् ॥१०॥

ततश्च द्युमतः क्रोधनः। तस्मात्क्रोधनात् देवातिथि । अमुष्य देवातिथे ऋक्ष·, तस्मादृक्षाद्दिलीपः। तस्य दिलीपस्याऽऽत्मजः प्रतीपः। "ऋक्षोऽस्य भीमसेनोऽभूत् प्रतीप स्तस्य चाऽऽत्मज." इति पाठान्तरम् ॥११॥

---

1 AGJMMa "ताऽयमग्रभुक् 2 ABJ राधिकात् 3 A B J अयुतोऽभूत् 4 ABJ प्रती" 5 ABJ "भि" 6 H V "स्त्वे" 7--7 H V स त्व परिवेत्तैव भवसि। 8 H V add परि 9 H V परमो 10 A J अश्मराव , B अश्मरात

तस्य प्रतीपस्य देवापिश्शन्तनुर्बाह्लीकश्चेति त्रयस्सुताः। तत्र देवापि· पितृराज्यं त्यक्त्वा वनं गतः, अधुना अपुत्रश्चेति भाव· ॥१२॥

शन्तनुस्तु राजा अधिकृतराज्यः[1] स च प्राक् पूर्वजन्मनि महाभिषसंज्ञितः, महाभिषसंज्ञाऽस्य[2] सञ्जातेति तथाभूतः तस्य एतस्मिन् जन्मनि शन्तनुनामप्रवृत्तौ निमित्तमाह - यं यमिति। सोऽस्मिन् जन्मनि कराभ्यां यं यं जीर्णं जरठं स्पृशति, स सर्वोऽपि यौवनमेति प्राप्नोति। अग्र्यां मुख्यां शान्तिश्चाऽऽप्नोति यतस्ततोऽनेन कर्मणा यौवनशान्त्या पादनरूपेण कर्मणा निमित्तेन शन्तनु रिति प्रसिद्धिः। शं सुखं तनुते यौवनशान्त्यो· आपादनेनेति शन्तनुरिति निरुक्तिरभिप्रेता। तस्य शन्तनो राष्ट्रे यदा द्वादश समाः वर्षाणि विभु· पर्जन्यो न ववर्ष॥ १३,१४॥

तदा शन्तनु· तत्र निमित्तं ब्राह्मणान् पप्रच्छ। ब्राह्मणैस्त्वे वमुक्तः :- "दाराऽग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते। परिवेत्ता स विज्ञेय· परिवित्तिस्तु पूर्वज " (मनु. स्मृ. 3-171) इति स्मृतेः, योऽग्रभुक् भुवमग्रतो भुनक्ति अयं त्वादृशोऽपि परिवेत्तैव भवति। अतस्तद्दोषपरिहाराय राज्यमग्रजाय देहि; ततो वृष्टिर्भविष्यति" - इत्येव मुक्तः पुरराष्ट्रयोर्विवृद्धिर्यस्मात् वष ' तस्मै वर्षार्थमित्यर्थः ॥१५॥

ततश्शन्तनुर्वनं गत्वा ज्येष्ठं छन्दयामास। राज्ञः प्रजापालनादिः परमोधर्मस्ततस्त्वं राज्यं स्वीकुर्विति प्रार्थयाञ्चक्रे। ततः पूर्वमेव तस्य मन्त्रिणा अश्मरातसं[3]ज्ञिकेन देवापिं पाषण्डीकृत्य राज्यानर्हं कर्तुं ये प्रहिता विप्राः, तैः पाषण्डमताश्रयया गिरा वेदाद्विभ्रंशितस्सन् ॥१६॥

**विज०** जाह्नव· जह्नो· पुत्र ॥१-१२॥

"अप्यक्षरसाम्यान्निर्ब्रूयात् न वा एकेनाऽक्षरेण छन्दांसि वियन्ति" इत्यतः शन्तनुशब्दं निर्वक्ति - यं यमिति। यस्य संस्पर्शं तनोति, कराभ्यामिति शेष·। शन्तनुं सुतनुं युवानं नयतीति। शन्तनुं शन्तं शान्तं नयति प्रापयतीति वा ॥१३,१४॥

दाराग्निहोत्रादियोगं य कुरुतेऽग्रजे स्थिते सति स परिवेत्ता। तदुक्तम् - "दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते। परिवेत्ता स इत्युक्त· परिवित्तिस्तु पूर्वज " (मनु· स्मृ 3-171) इति। अयं शन्तनुरग्रभुक् अग्रजस्य देवापेरग्रतो राज्यं भुङ्क्ते इति दोषेण अवर्षणमिति विज्ञायाऽग्रजायाऽऽशु राज्यं देहीत्युक्तम् ॥१५॥

छन्दयामास प्रसादयामास। शन्तनोः कश्चिन्मन्त्री अश्मक· विप्रान् न्ययुङ्क्त अयं देवापिर्यथा वेदमार्गाद्विभ्रंशितो भवति तथा कर्तव्यमिति तन्मन्त्रि प्रहितै र्विप्रै र्वेदा द्विभ्रंशित· स देवापिः वेदवादातिवादान् वेदार्थनिन्दालक्षणान् दोषान् गिराऽब्रवीदित्यन्वय· ॥१६॥

---

1 AB राज्यासन 2 AB add इति 3 AB "ज्ञ"

वेदवादातिवादान्वै[1] ततो[2] देवो ववर्ष ह ।
देवापियोगमास्थाय कलापग्राममास्थितः[3] ॥१७॥

सोमवंशे कलौ नष्टे कृतादौ स्थापयिष्यति ।
बाह्लीकात्सोमदत्तोऽभूत् भूरिर्भूरिश्रवास्ततः[4] ॥१८॥

शलश्च शन्तनोरासीद्गङ्गायां भीष्म आत्मवान् ।
सर्वधर्मविदां श्रेष्ठो महाभागवतः कविः[5] ॥१९॥

वीरयूथाग्रणीर्येन रामोऽपि युधि तोषितः ।
शन्तनोर्दाशकन्यायां जज्ञे चित्राङ्गदस्सुतः ॥२०॥

विचित्रवीर्योऽवरजो[6] नाम्ना चित्राङ्गदो हतः ।
यस्यां पराशरात्साक्षाद्भवतीर्णो हरेः कला ॥२१॥

वेदगुप्तो[7] मुनिः कृष्णो यतोऽहमिदमध्यगाम्[8] ।
हित्वा स्वशिष्यान् पैलादीन् भगवान् बादरायणः ॥२२॥

मह्यं पुत्राय शान्ताय[9] परं गुह्यमिदं जगौ ।
विचित्रवीर्योऽथोवाह[10] काशिराजसुते बलात् ॥२३॥

स्वयंवरादुपानीते अम्बिकाम्बालिके[11] च सः ।
तयोरासक्तहृदयो गृहीतो यक्ष्मणा मृतः ॥२४॥

**श्रीध० सोमवंशेति**। ततः सोमदत्तात् भूरिर्भूरिश्रवाश्शलश्चेति त्रय ॥१८,१९॥

**वीरेति**। रामोऽपि[12] जामदग्न्यः। दाशकन्यायामिति। उपरिचरस्य वसो वीर्येण मत्स्यगर्भादुत्पन्ना कन्या[13] दाशैः कैवर्तैः पालिता, अतो दाशकन्येति प्रसिद्धायां सत्यवत्याम् ॥२०॥

**विचित्रेति**। नाम्ना तत्समाननाम्ना चित्राङ्गदेन गन्धर्वेण युद्धे चित्राङ्गदः[14] हतः। यस्यां सत्यवत्यां शन्तनुपरिग्रहात्पूर्वमेव ॥२१॥

---

1 H V दान्यै 2 ABGJ तदा 3 ABGJMMa °माश्रित 4 H V बह्लि° 5 H T V W स च ध° 6 ABGJ वीर्यश्चाव 7 MMa देवगुप्तो 8 TW °गात् 9 TW दान्ताय 10 H V काशी 11 ABGJMMa उभे 12 ABJ omit अपि 13 A B J omit कन्या 14 ABJ omit चित्राङ्गद

**वेदेति** । वेदा गुप्ता येन। यतोऽहं जात इदं श्रीभागवतञ्चाऽध्यगामधिगतवानस्मि ॥२२,२३॥

**स्वयंवरादिति**। स्वयंवराद्भीष्मेण बलादुपानीते ॥२४॥

**वीर०** वेदवादस्य अतिवादान् निन्दावचनानि स देवापिरब्रवीत्। ततस्तस्य **पातित्येन राज्यानर्हत्वे जाते शन्तनो** दोषाभावात् देवो वर्क्ष[1]। देवापिर्योगमाश्रित्य कलापग्राममाश्रितस्सन् ॥१७॥

कलौ सोमवंशे नष्टे सति पुन कृतयुगस्याऽऽदौ स्थापयिष्यति [2]प्रतिवर्तयिष्यति **सोमवंशं इति शेषः**[-2]। **बाह्लीकात्** प्रतीपात्मजात् सोमदत्तो जज्ञे। ततस्सोमदत्तात् भूरिर्भूरिश्रवाश्शलश्चेति त्रयस्सुता जज्ञिरे। **शन्तनोस्तु ब्रह्मशापान्मानुषीत्वं प्राप्य** स्वयंवरेणाऽऽगतायां गङ्गायां भार्यायां भीष्मो जात , तं विशिनष्टि - आत्मवान् ब्रह्मवित् **सर्वेषां धर्मविदां श्रेष्ठः** महाभागवतः कविर्विद्वान् ॥१८,१९॥

वीराणां सैन्यस्य नायक , येन भीष्मेण रामो जामदग्न्योऽपि युधि सङ्ग्रामे तोषितः। **ततो गङ्गायामन्तर्हितायां** शन्तनो दाशकन्यायां दाशै कैवर्तै. पालितायामुपरिचरवसो वीर्यं भक्षितवत्या मत्स्या· उदरादुद्भूतायां तैः पालितायां मत्स्यगन्धि योजनगन्धि सत्यवत्याद्याख्यायामित्यर्थ । चित्राङ्गद स्सुत., तस्य कनीयान् विचित्रवीर्यश्चेति द्वौ सुतौ जज्ञाते इत्यर्थः। तत्र चित्राङ्गदो नाम्ना तत्समाननाम्ना चित्राङ्गदाख्येन गन्धर्वेण युद्धे हत.। दाशकन्यां विशिनष्टि - यस्यामिति। **यस्यां दाशकन्यायां शन्तनोः** परिग्रहात्पूर्वमेव पराशराद्भगवत· कला अवतारः, श्रीव्यासरूपेणेति शेष·। तस्यां दाशकन्यायां शन्तनोः **चित्राङ्गदो जज्ञे इति** पूर्वेणाऽन्वय ॥२०,२१॥

हरे· कलावतारं विशिनष्टि वेदगुप्त इति। वेदा गुप्ता येन स· वेदगुप्तः कृष्णः कृष्णद्वैपायनाख्यो मुनिः-**यस्मादहं शुको** जातस्सन्निदं श्रीभागवतमध्यगाम्, अहमेव इदं श्रीभागवतं तस्मादधीतवानस्मीत्यर्थः। तदेवोपपादयति - **हित्वेति**। **भगवान्** बादरायण. पाराशर्य. सत्यवतीसुत पैलादीन् स्वशिष्यान् हित्वा तेभ्य अनुपदिश्येत्यर्थः ॥२२॥

प्रशान्तायेति हेतुगर्भं, प्रशान्तत्वात् मह्यमेवेदं परं गुह्यं पुराणं श्रीभागवतं जगावुपदिदेशेत्यर्थः। **विचित्रवीर्यश्शान्तनवः** काशिराजस्य सुते बलाद्भीष्मेण स्वयंवरादुपानीते[3] अम्बिकाम्बालिकाख्ये द्वे उवाह उपयेमे। ततस्तयोरम्बिकाम्बालिक्योरासक्तं हृदयं यस्य स विचित्रवीर्यः यक्ष्मणा क्षयरोगेण मृत· ॥२३,२४॥

**विज०** ततो देवापौ विभ्रष्टे सति अनन्तरमिन्द्रदेवो वृष्टवान्, योगं भगवद्ध्यानम् ॥१७-१९॥

---

1 TW add इत्यर्थ 2- -2 A B सोमवश प्रतिवर्तयिष्यति । 3 A B "प"

रामः परशुरामः। दाशकन्यायां सत्यवत्याम् ॥२०॥

नाम्ना निमित्तेन हतः। गन्धर्वेणेति शेषः। यस्यां दाशकन्यायाम् ॥२१॥

कृष्णो व्यास·, यत· कृष्णादिदं श्रीभागवतमध्यगामधीतवानस्मि, श्रीभागवतं स्तौति - हित्वेति ॥२२॥

काशिराजसुते अम्बिकाम्बालिके बलाद्भीष्मेणानीते ॥२३॥

यक्ष्मणा क्षयरोगेण अप्रजस्य भ्रातुर्विचित्रवीर्यस्य। विदुरं भुजिष्यायां जनयामास ॥२४॥

क्षेत्रेऽप्रजस्य वै भ्रातुर्मात्रोक्तो बादरायणः ।
धृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च विदुरश्चाऽप्यजीजनत् ॥२५॥

गान्धार्यां धृतराष्ट्रस्य जज्ञे पुत्रशतं नृप! ।
तत्र दुर्योधनो ज्येष्ठो दुश्शला चाऽपि कन्यका ॥२६॥

शापान्मैथुनरुद्धस्य पाण्डोः कुन्त्यां महारथाः ।
जाताः धर्मानिलेन्द्रेभ्यो युधिष्ठिर मुखास्त्रयः ॥२७॥

नकुलस्सहदेवश्च माद्र्यां नासत्यदस्रयोः ।
द्रौपद्यां पञ्च पञ्चभ्यः पुत्रास्तेऽपितरोऽभवन् ॥२८॥

युधिष्ठिरात्प्रतिविन्ध्यः श्रुतसेनो वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः ॥२९॥

सहदेवसुतो राजन् श्रुतकर्मा तथाऽपरे ।
युधिष्ठिरात्तु पौरव्यां देवकोऽथ घटोत्कचः ॥३०॥

भीमसेनाद्धिडम्बायां काल्यां सर्वगतस्ततः।
सहदेवात्सुहोत्रन्तु विजयाऽसूत पार्वती ॥३१॥

करेणुमत्यां नकुलो निरमित्रं तथाऽर्जुनः ।
इरावन्तमुलूप्यां वै सुतायां बभ्रुवाहनम् ॥
मणलूरुपतेस्सोऽपि तत्पुत्रः पुत्रिकासुतः ॥३२॥

1- -1 H V "द्रे ह्यप्रजसो 2 MMa "सुत 3 MMa तेषां 4 H V त्प्रती" 5 H T V W "रात् पौरवत्या 6- -6 MMa काली शर्वगत तत । 7 ABGJMMa मणिपूर"

**श्रीध० क्षेत्रेति**। मात्रा सत्यवत्योक्त इति निषेधाभावमाह - "अपतिरपत्यालिप्सुर्देवरादुरुप्रयुक्तात्[1] ऋतुमती[2] यायात्" इत्यादिवचनात् ॥२५॥

**गांधार्यामिति**। दुश्शला नाम कन्यका च जज्ञे ॥२६॥

**शापादिति**। अरण्ये मृगशापान्मैथुनेन रुद्धस्य प्रतिबद्धस्य ॥२७॥

**नकुल इति**। नासत्यदस्राभ्यामश्विनीकुमाराभ्याम्। पञ्चभ्यो युधिष्ठिराधिभ्यः पञ्चाऽभवन् ॥२८,२९॥

**सहदेवेति**। तथाऽपरे भार्यान्तरेषु ॥३०॥

**भीमसेनादिति**। काली चाऽन्या भीमस्य भार्या तस्यां ततो भीमसेनात्सर्वगतो नाम पुत्रोऽभवदित्यर्थः ॥३१॥

**करेणुमत्यमिति**। उलूप्यां नागकन्यायाम्। मणलूरु[3] पतेः सुतायां पुत्रिकाधर्मेण दत्तायां बभ्रुवाहनमसूत। अत स्तत्पुत्रस्सन्नपि स पुत्रिकासुत मातामहसुत इत्यर्थ· ॥३२॥

**वीर०** ततो मात्रा सत्यवत्या उक्त आदिष्टो भगवान् बादरायणः अप्रजस्यापुत्रस्य भ्रातुर्विचित्रवीर्यस्य क्षेत्रे अम्बिकाम्बालिकारूपे कलत्रद्वये, तद्दास्याञ्च धृतराष्ट्रं ज्येष्ठं, तस्य कनीयांसं पाण्डुं विदुरञ्चाऽजीजनत् जनयामास। तत्राम्बिकायां धृतराष्ट्रं, अम्बलिकायां पाण्डुं, दास्यान्तु विदुरमिति विवेकः ॥२५॥

तत्र धृतराष्ट्रस्य गान्धार्यां पुत्रशतं जज्ञे।हे नृप! तेषां शतसंख्याकानां धार्तराष्ट्राणां दुर्योधनो ज्येष्ठः, दुश्शला नाम कन्या च धृतराष्ट्राद्गान्धार्यां जज्ञे इत्यर्थ ॥२६॥

अरण्ये मृगरूपिणो रममाणयो ऋष्योश्शापाद्धेतो· मैथुने कर्मणि प्रतिरुद्धस्य पाण्डो र्भार्यायां कुन्त्यां धर्मानिलेन्द्रेभ्यो युधिष्ठिर मुखमादि र्येषां ते युधिष्ठिरभीमार्जुना· त्रयोजाता· ॥२७॥

तथाऽन्यस्यां पाण्डो[4]· भार्यायां माद्र्यां नासत्यदस्रयोरश्विनोस्सकाशात् नकुलस्सहदेवश्चेति द्वौ सुतौ जातौ। पञ्चभ्यो युधिष्ठिरादिभ्यो द्रौपद्यामेकभार्यायां पञ्चपुत्रा अभवन् ते च अपितरः न केषाञ्चित्पितरः अपुत्रा एव सन्तो द्रौणिना हता इत्यर्थ ॥२८॥

अथ युधिष्ठिरात्प्रातिस्विकभार्यायां प्रतिविन्ध्यो जातः। वृकोदराद्भीमात् श्रुतसेनः, अर्जुनात्तु श्रुतकीर्तिः नाकुलिः नकुलसुतस्तु शतानीक ॥२९॥

हे राजन्! सहदेवसुत श्रुतकर्मा, तथा अपरे च भार्यान्तरे युधिष्ठिरादिभ्यो जाता इत्यर्थः। तानेव दर्शयति - युधिष्ठिरात्तु

1 B J add न तु 2 B J °तीयात् 3 A B J मणिपूरपते 4 T W omit पाडो

पौरव्यां देवको जातः, भीमसेनात्तु हिडम्बायां घटोत्कचो जातः, काली चान्या भीमस्य भार्या तस्यां ततो भीमा त्सर्वगतो नाम पुत्रोऽभवत्। पार्वती पर्वतस्य पुत्री विजया नाम सहदेवात् सुहोत्रमसूत ॥३०,३१॥

नकुलः करेणुमत्यां वीरमित्रं जनयामास निरमित्रमिति पाठान्तरम्। तथाऽर्जुनोऽपि इरावत्यामिरावन्तं मणलूरुपते स्सुतायामुलूप्याम् - "अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलङ्कृताम्। अस्यां यो जायते पुत्रस्स मे पुत्रो भविष्यति" (मनु· स्मृ· 9-3) इत्युक्तविधभाषाबन्धनरूपपुत्रिकाधर्मेण दत्तायां बभ्रुवाहनश्चाऽसूत। अतस्तत्पुत्रोऽर्जुनपुत्रस्सन्नपि स बभ्रुवाहनः पुत्रिकासूत मातामहसुत इत्यर्थ· ॥३२॥

विज० मुनिशापान्मैथुनरुद्धस्य मैथुने[1] मरणलक्षणविघ्नवत ॥२७॥

पश्च पुत्रा· पूर्वजन्मनि पितर ॥२८॥

विविच्याऽऽह - युधिष्ठिरादिति। नाकृलिर्नकुलपुत्र ॥२९,३०॥

शर्वगतं शर्वत्रातम् ॥३१॥

मणिपूरपते· सुतायां सोऽपि बभ्रुवाहनोऽपि पुत्रिकासुतात्तस्य मणिपूरपते पुत्रोऽभूदिति शेष ॥३२॥

**तव तातः सुभद्रायामभिमन्युरजायत ।**
**सर्वातिरथजिद्वीर उत्तरायां ततो भवान् ॥३३॥**

**परिक्षीणेषु कुरुषु द्रौणेर्ब्रह्मास्त्रतेजसा ।**[2]
**त्वन्तु कृष्णानुभावेन सजीवो मोचितोऽन्तकात् ॥३४॥**[3]

**तवेमे तनयास्तात जनमेजयपूर्वकाः ।**
**श्रुतसेनो भीमसेन उग्रसेनश्च वीर्यवान् ॥३५॥**

**जनमेजयस्त्वां ज्ञात्वा**[4] **तक्षकान्निधनं गतम् ।**
**सर्पान्वै सर्पयागाग्नौ स होष्यति रुषाऽन्वितः ॥३६॥**

**कावषेयं पुरोधाय तुरं तुरगमेधयाट्**[5] **।**
**समन्तामत्पृथिवीं सर्वां जित्वा यक्ष्यति चाऽध्वरैः ॥३७॥**

---

1 M "नम" 2 TW परी" 3 ABGJ त्वश्च 4 ABGJMMa विधित्वा 5 H V "धसा , MMa "धया।

**तस्य पुत्रश्शतानीको याज्ञवल्क्यान्नयीं पठन् ।**
**अस्त्रज्ञानं क्रियाज्ञानं[1] शौनकात्परमेष्यति ॥३८॥**

**सहस्रानीकस्तत्पुत्रस्ततश्चैवाऽश्वमेधजः ।**
**असीमकृष्णस्तस्यासीत्[2] नेमिचक्रस्तु[3] तत्स्सुतः[4] ॥३९॥**

**गजाह्वये हते नद्या कौशाम्ब्यां साधु वत्स्यति ।**
**उक्तस्ततश्चित्ररथस्तस्मा[5] च्छुचिरथः सुतः ॥४०॥**

**श्रीध० कावषेयमिति**। तुरसंज्ञं पुरोहितं कृत्वा ॥३३-३७॥

भविष्यानाह - **तस्य पुत्र** इति यावत्समाप्ति। याज्ञवल्क्यात्क्रियाज्ञानं, परश्चाऽऽत्मानं शौनकात्प्राप्स्यति, अस्त्रज्ञानञ्च कृपाचार्यादिति द्रष्टव्यम्। "याज्ञवल्क्यान्नयी मधीत्य कृपादस्त्राण्यवाप[6]"

इति वैष्णवोक्तेः। क्वचित्तु अस्त्रज्ञानं कृपाचार्यादित्येव पाठः ॥३८-४०॥

**वीर०** तव परीक्षितः तातः पिता अभिमन्युरर्जुनात्सुभद्रायामजायतेति राजानं प्रति शुकोक्तित्वात्तवेत्युक्तम्। अभिमन्युं विशिनष्टि - सर्वानतिरथाञ्जितवानिति, तथा वीरः। तत अभिमन्योरुत्तरायां भवान् त्वं जातोऽसि ॥३३॥

कुरुषु दुर्योधनादिषु विनष्टेषु सत्सु क्रुद्धस्य द्रौणेरश्वत्थाम्नो ब्रह्मास्त्रतेजसा तत्प्रयुक्तब्रह्मास्त्रतेजसा, दग्धोऽपीति शेषः, त्वं कृष्णस्य भगवतोऽनुभावेन सजीव सप्राणः अन्तकान्मृत्योः मोचितोऽसि ॥३४॥

हे तात! राजन्! तव तनयास्तु इमे जनमेजयः पूर्वो ज्येष्ठो येषान्ते; श्रुतसेनो भीमसेनः उग्रसेनश्चेति चत्वारः ॥३५॥

तत्र जनमेजयादीनां भाविनं वृत्तान्तं वंशश्चाऽह - जनमेजयस्त्विद्यादिना यावत्समाप्ति। त्वां तक्षकान्निधनं प्राप्तं विदित्वा स त्वत्पुत्रो जनमेजयः रुषा युक्तः सर्पयागसम्बन्धिनि अग्नौ सर्पान् होष्यति ॥३६॥

किङ्कृत्वा? कावषेयं तुरं तुरसंज्ञं पुरोधाय पुरोहितं कृत्वा तु तथा तुरगमेधैरश्वमेधैः यक्ष्यतीति तथा भविता। कथं यष्टा? इत्यत्राऽऽह - सर्वतः पृथिवीं सर्वान् नृपान् जित्वा अश्वमेधैर्यक्ष्यति ॥३७॥

तस्य जनमेजयस्य पुत्रः शतानीको भविता । स च याज्ञवल्क्यात् त्रयीं वेदान् पठन् अधीयानः, कृपात् कृपाचार्यात्

---

1 TW पर° 2 MMa विघ्नम्भ 3 ABGJMMa °स्तस्यापि 4-4 B निमिचक्रस्तु तत्सुत , HV निचकस्ततत्सुतस्तत , TW निश्चक्रुस्तत्सुतस्स्मृत
5 ABGJ °स्मात् कविरथ 6 A B J प्य

अस्त्रज्ञानं, शौनकात्तु परं ज्ञानम् आत्मपरमात्मज्ञानम् एष्यति प्राप्स्यति। क्रियाज्ञानमिति पाठे शौनकादस्त्रज्ञानदित्रयं लप्स्यत इत्यर्थः। तत्र क्रियाज्ञानं यज्ञादिकर्मानुष्टानोपयुक्तं ज्ञानम् ॥३८॥

तत्पुत्रश्शतनीकपुत्रः सहस्रानीकः, तस्मात्तु अश्वमेधजः, तस्याप्यश्वमेधजस्याऽपि असीमकृष्णो भविता। तत्सुत· असीमकृष्णसुतः निश्चक्रुः ॥३९॥

तस्य तन्नाम्नि निमित्तमाह - गजाह्वये हस्तिनापुरे नद्या गङ्गया हृते नाशिते सति ततो निष्क्रम्य कौशाम्ब्यां साधु यथा तथा वत्स्यति वासं करिष्यति। ततो निश्चक्रोः उक्तः, तत उक्ताच्चित्ररथः, तस्माच्छुचिरथ· "उक्तस्ततो रथस्तस्मात्तस्मा च्चित्ररथस्सुतः" इति पाठान्तरम् ॥४०॥

**विज०** तवतातः तव पिता ॥३३-३५॥

निधनं मरणलक्षणं। सर्पयागविषयाग्नौ होष्यति होमं करिष्यति ॥३६॥

तुरगमेधया अश्वमेधया अश्वमेधयज्ञेन ॥३७॥

परम् पूर्णम् ।३८,३९॥

कौशाम्ब्यां पुर्यां वत्स्यति वासं करिष्यति ॥४०॥

**तस्माच्च वृष्टिमांस्तस्य सुषेणोऽथ महीपतिः ।**
**सुनीथस्तस्य भविता नृचक्षुर्यत् सुखीनलः ॥४१॥**
**परिप्लवस्सुतस्तस्मान्मेधावी सुनयात्मजः ।**
**नृपञ्जयस्ततो दूर्वो निमिस्तस्माज्जानिष्यति ॥४२॥**
**निमेर्बृहद्रथस्तस्माच्छतानीकस्सुदासजः ।**
**शतानीकाद्दुर्मनस्तस्यापत्यं विहीनरः ॥४३॥**
**दण्डपाणिर्निमिस्तस्य क्षेमको भविता नृपः ।**
**ब्रह्मक्षत्रस्य वै योनिः वंशो देवर्षिसत्कृतः ॥४४॥**

---

1 MMa घृष्टि 2 H V सुपीत , TW सुनीत 3 H V सुखानिल 4 MMa "पारि" 5--5 ABGJ दूर्वस्तिमि , MMa दुर्वस्तिमि 6 ABGJ तिमो" , MMa ततो 7 A.B G J बहीनर , MMa प्रहीतर 8 H V "र्मित , TW "र्निधि 9 ABGJ प्रोक्तो

**क्षेमकं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ । ***

**अथ मागधराजानो[1] भाविनो ये वदामि ते ॥४५॥**

**भविता सहदेवस्य मार्जारिर्यच्छ्रुतश्रवाः[2] ।**

**ततोऽयुतायुस्तस्याऽपि निरमित्रोऽथ तत्सुतः ॥४६॥**

**श्रीध० तस्मादिति**। यद्यस्मात् सुखीनलः[3] पुत्रः ॥४१॥

**परिप्लव** इति । तस्मात्परिप्लवात्सुनयः, तस्याऽत्मजो मेधावीत्यर्थः ॥४२॥

**निमेरिति**। तस्मात्सुदास , ततश्शतानीक इत्यर्थ ॥४३-४५॥

**भवितेति**। बृहद्रथस्य जरासन्ध· तस्य सहदेवः, तस्य मार्जारि·, यत्[4] यस्मान्मार्जारिः श्रुतश्रवा· ॥४६॥

**वीर०** तस्माच्चित्ररथात् दृष्टिमान्, तस्मा द्दृष्टिमत· सुषेणो मह्याःपतिः सुतो भविता। तस्य सुषेणस्य सुनीथो भविता, तस्य च नृचक्षु.। यत् यस्मात् नृचक्षो· सुखीनलो भविता ॥४१॥

स च पारिप्लवस्सुतः, तस्य तथाभूतः, तस्मात्पारिप्लवात् मेधावी स च सुनय आत्मजो यस्य तथाभूत·। यद्वा, पारिप्लवात्सुनय·, तस्याऽत्मजो मेधावीत्यर्थ·। तस्मान्नृपुञ्जयः तस्माच्च दूर्व· तत्तश्च निमिर्जनिष्यति ॥४२॥

निमेर्बृहद्रथः, तस्मात् बृहद्रथात् शतानीक· सुदासज· बृहद्रथात्सुदास· तस्मात् शतानीको जनिष्यत इत्यर्थ·। शतानीकात् दुर्दमन·, तस्य दुर्दमनस्य अपत्यं पुत्रस्तु विहीनरः ।।४३॥

तस्य दण्डपाणिः, तस्य तु निधि., तस्य निधे क्षेमको नृपो भविता। तदेवं ब्रह्मक्षत्रस्य ब्रह्मक्षत्रकुलयायानः कारणभूता वंश. सोमवंशः देवैः ऋषिभिश्च सत्कृत· अनुगृहीत· ॥४४॥

कलौ युगे क्षेमकं राजानं प्राप्य क्षेमकपर्यन्तमनुप्रवृत्त इत्यर्थ·। तत· संस्थां समाप्तिं प्राप्स्यति। अजमीढपौत्रस्य संवरणस्य सुत. कुरुः, तस्य परीक्षिदादय· चत्वारः। तत्र परीक्षिदनपत्य उक्तः। सुधनुर्जह्न्वोः वंशावुक्तौ। निषधस्य त्वनुक्त एव तत्रैव सुधनुर्वंशस्य बृहद्रथस्यैको वंशो जगुः अन्ते उक्त·। अन्यस्तु श्रुतश्रवपर्यन्त· इदानीं श्रुतश्रवः पितामहात् सहदेवात् मगधाधिपते र्भविष्यतो वंशान् वक्तुं प्रतिजानीते अथेति। मगधराजान·, मगधदेशाधिपतीन् भाविनः, ते तुभ्यं वदामि ॥४५॥

---

* The following extra half verse is found in M Ma Editions - पापानि कीर्तनादेषा विलय यान्ति कृत्स्नश 1 ABGJ भवितारो 2 MMa सोमापिर्यत्सुत* , TW मार्जाले यश्रुत* 3 H V सुखानिल 4 A B J Omit यत्

सहदेवस्य जरासन्धसुतस्य मार्जालेयः भाविता भविष्यति ततो मार्जालेयाच्छ्रुतश्रवाः। तत श्रुतश्रवसः अयुतायुः तस्याऽपि निरमित्रः। तत्सुत· निरमित्रसुतः सुनक्षत्रः, ततः सुनक्षत्रात्तुबृहत्सेनो भविता। अथ बृहत्सेनात्कर्मजित्, ततः कर्मजितः श्रुतञ्जय·, तस्य शुचिर्नाम विप्रो भविष्यति ॥४६,४७॥

**विज०** संस्थामवसानम् ॥४१-४६॥

**सुनक्षत्रः सुनक्षत्राद् बृहत्सेनोऽथ[1] कर्मजित् ।**
**ततस्सृतञ्जयो[2] विप्रः शुचिस्तस्य भविष्यति ॥४७॥**
**क्षेमोऽथ सुव्रतस्तस्मात् धर्मनेत्रश्[3-]श्रुतस्[-3]ततः ।**
**दृढसेनोऽथ[4] सुमतिः सुबलो जनिता ततः। ४८॥**
**सुनीथस्[5]सत्यजिदथ विश्वजिच्च[6] पुरञ्जयः।**
**एते बार्हद्रथा[7-] भूपा[-7] भाव्याः साहस्रवत्सरा[8]ः ॥४९॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे द्वाविंशोऽध्याय· ॥२२॥

**श्रीध० सुनीथ** इति। सहस्रं[9] संवत्सरमेते भाव्या भूपाला·। तत परं भाव्यान् द्वादशस्कन्धे वक्ष्यति ॥४७-४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचिताया भावार्थदीपिकायां
व्यख्यायां नवमस्कन्धे द्वाविंशोऽध्याय ॥२२॥

**वीर०** तस्य शुचेः क्षेमो नाम राजन्यः, अथ क्षेमात्सुव्रत·, तस्मात्सुव्रतात् धर्मनेत्र· श्रुत· प्रख्यातः। ततो धर्मनेत्रात् दृढसेन·। अथ दृढसेनात्सुमतिः, ततः सुमतेस्सुबलो[10] जनिता जनिष्यते[11] ॥४७,४८॥

ततस्सुनीपः। अथ सुनीपात् सत्यजित्, तस्माद्विश्वजित्, तस्माच्च पुरञ्जयः। त एते सर्वे बार्हद्रथाः बृहद्रथवंश्याः सहस्रवत्सरान्तं भाव्या भाविनः। ततः पश्चाद्बार्हद्रथो वंश. संस्थामेष्यतीति भाव ॥४९॥

---

1 H V बृहत्क्षत्रोऽथ 2 ABGJ °तञ्चयाद्विप्र 3--3 ABGJ धर्मसूत्र शम° , MMa धर्मसत्र श्रम° 4 ABGJ द्युमत्से° 5 H V °त , TW °प 6 ABGJMMa °द्यद्रिपुञ्जय 7--7 ABGJMMa बार्हद्रथाश्चभूपाला 8 A B G J MMa ०रम्। 9 A B G J स्र 10 A T omit तत 11 W °ति

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्यख्यायां नवमस्कन्धे द्वाविंशोऽध्यायः॥२२॥

विज० यत् यस्मात् रिपुञ्जयो भविता ॥४७-४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
नवमस्कन्धे द्वाविंशोऽध्याय· ॥२२॥

श्रीविजयध्जतीर्थरीत्या एकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

# त्रयोविंशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अनोस्सभानरश्चक्षुः[1] परोक्षश्च त्रयस्सुताः ।
सभानरात्कालनरः[2] सृञ्जयस्तत्सुतस्ततः[3] ॥१॥

जनमेजयस्तस्य[4] पुत्रो महाशालो[5] महामनाः ।
उशीनरस्तितिक्षुश्च महामनस आत्मजौ ॥२॥

शिबिर्वनः[6] क्रिमिर्दर्पश्चत्वारोशीनरात्मजाः[7] ।
वृषदर्भस्सुवीरश्च[8] मद्रः केकय[9] आत्मजाः ॥३॥

शिवेश्चत्वार एवाऽऽसंस्तितिक्षोश्च रुशद्रथः[10] ।
ततो हेमोऽथ सुतपा बलिस्सुतपसोऽभवत् ॥४॥

अङ्गवङ्गकलिङ्गाद्याः[11] सिंह पुण्ड्रान्ध्रसंज्ञिकाः[12] ।
जज्ञिरे दीर्घतपसो[13] बलेः क्षेत्रे महीक्षितः ॥५॥

चक्रुः स्वनाम्ना विषयान् षडिमान् प्राच्यकांश्च[14] ते ।
खनपानोऽङ्गतो[15] जज्ञे तस्माद्धविरथस्ततः[16] ॥६॥

सुतो धर्मरथो[17] यस्य जज्ञे चित्ररथोऽप्रजाः ।
रोमपाद इति ख्यातस्तस्मै दशरथस्सखा ॥७॥

शान्तां सुकन्यां प्रायच्छदृश्यशृङ्ग उवाह ताम् ।
देवेऽवर्षति यं रामा आनिन्युर्हरिणीसुतम् ॥८॥

---

1 MMa परेक्षुश्च 2 H V "नाद ,TW "नाभ 3 MMa स" 4 H V "स्तत्पुरञ्जय 5 ABGJMMa "शीलो 6 MMa "र्वे" 7 ABGJ शमिर्दक्ष" , MMa कृमिर्दक्ष" 8 A B G J वृषादर्भ" , H V वृषदर्प" 9 ABGJMMa कैकेय 10 MMa पृषद्रथ ,TW वृषद्रथ 11 ABGJMMa सुह्म" 12 ABGJMMa "ता 13 ABGJ तमसो , TW तपसा 14 H V प्राप्यगा स्म ते , MMa प्राच्यकानिह 15 H V अनुमान गतो 16 ABGJMMa द्विवि" 17 Mma मित्र"

## श्रीश्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

त्रयोविंशेत्वनो र्द्रुह्योस्तुर्वसोश्चान्वयः क्रमात् । यदोश्च वंशोऽनुक्रांतो यावज्यामघसम्भवः ॥

यद्वा : त्रयोविंशेऽन्वयानुक्त्वा शुकोनुप्रमुखैःकृतान् । द्यामखावधिमाचक्तौ यदोर्वंशं महत्तरम् ॥

तदेवं ययातेः, पुत्त्रणां पञ्चमस्य पुरोर्वंशोऽनुक्रान्तः इदानीं चतुर्थस्य वंशमनुक्रामति - **अनोरित्यारभ्य** - कर्णस्य जगतीपतेरित्यन्तेन ॥१॥

**जनमेजय** इति । तस्य जनमेजयस्य महाशालःतस्य महामनाः ॥२॥

**शिबिरिति**। चत्वार उशीनरस्य आत्मजाः। सन्धिरार्षः ॥३-८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदेवं ययातेः पुत्राणां पञ्चमस्य पुरोर्वंशोऽध्यायत्रयेणानुक्रान्त·। इदानीं चतुर्थस्य वंशमनुक्रामति - **अनोरिति**, कर्णस्य जगतीपतेरित्यन्तेन। अनोर्ययातिपुत्रस्य चतुर्थस्य सभानरादयः त्रयस्सुता जज्ञिरे। तत्र सभानरात् कालनाभः, तत्सुतः कालनाभसुतः सृञ्जयस्तत·।

जनमेजयः, तत्पुत्त्रो जनमेजयपुत्रो महाशाल·, तस्य महामनाः तस्य तु उशीनर· तितिक्षुश्चेति द्वावात्मजौ ॥१,२॥

तत्रोशीनरस्याऽऽत्मजाः शिबिप्रभृतयःचत्वार·, तत्र शिबेः वृषदर्भादयः चत्वार एवाऽऽत्मजा बभूवुः ॥३॥

तितिक्षोरुशीनराऽनुजस्य तु वृषद्रथः ततो वृषद्रथात् हेमः, अथ हेमात् सुतपाः, सुतपसस्तु बलिः ॥४॥

तस्य बलेः क्षेत्रे कलत्रे दीर्घतपसा हेतुना अङ्गादिसंज्ञिकाः सिंहादिसंज्ञकाश्च महीक्षितो भूपा जज्ञिरे ॥५॥

तत्राङ्गतः अङ्गात् खनपानो जज्ञे, तस्माद्धविरथः ॥६॥

तस्य सुतो धर्मरतो जज्ञे, यस्य धर्मरतस्य चित्ररथो जातः। स चाप्रजोऽनपत्यस्स एव चित्ररथो रोमपाद इति ख्यातः प्रसिद्ध· तस्मै रोमपादायाऽप्रजाय तस्य सखा दशरथः शान्तां नाम स्वस्य कन्यां प्रायच्छत् ददौ। **ताञ्च कन्यां ऋश्यशृङ्ग उवाह** उपयेमे। कोऽसावृश्यशृङ्गः? - इत्यपेक्षायां तं विशिनष्टि - यं हरिण्याः सुतं विभाण्डकादुत्पन्नं, **देवे पर्जन्ये अवर्षति सति वृष्ट्यर्थं** रामा गणिकाः नाट्यादिभिरुपायैरानिन्युः स ऋश्यशृङ्ग इत्यर्थः ॥७,८॥

---

1 Hv 'ख 2 ABJ रिति। 3 ABJ शील 4 ABJ 'नरात्म' 5 AB स' 6 AB 'यस्य पु' 7 AB 'शील' 8 AB 'यस्य पु' 9 AB 'ङ्ग'

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

ययातिपुत्रस्यानोर्वंशं विशिनष्टि अनोरिति ॥१-४॥

अङ्गादयो बलेः पुत्राः अङ्गादिविषयसमाना इति ज्ञायन्ते। क्षेत्रे भार्यायां, महीक्षित इत्यनेन ब्राह्मणकुलं व्यावर्तयति ॥५॥

प्राच्यकान् प्राचीविषयान् इह भुवि खनपानो नाम ॥६,७॥

अवर्षति सति यमृश्यशृङ्गं. हरिणीसुतमिति। अनेन ऋश्यस्य सारङ्गस्य शृङ्गमिव शृङ्गं यस्य स तथा तमिति विग्रहं सूचयति ॥८॥

नाट्यसङ्गीतवादित्रैर्विभ्रमालिङ्गनादिभिः[1,2] ।
स तु राज्ञोऽनपत्यस्य निरूप्येष्टिं मरुत्वतः[3] ॥९॥

प्रजामदाद्दशरथो येन लेभेऽप्रजाः[4] प्रजाः[5] ।
चतुरङ्गो रोमपादात् पृथुलाक्षस्तु तत्सुतः ॥१०॥

बृहद्रथो बृहत्कर्मा बृहद्भानुश्च तत्सुताः।
ततो[6] बृहन्मनास्तस्माज्जयद्रथ उदाहृतः ॥११॥

विजयस्तस्य सम्भूत्यां धृतिस्तस्य[7-] धृतव्रतः[-7] ।
सत्यकर्माभवत्तस्य[8-] सत्कर्माऽधिरथस्ततः[-8] ॥१२॥

योऽसौ[9-] गङ्गातटे क्रीडन् मञ्जूषान्तर्गतं शिशुम् ।
कुन्त्याऽपविद्धं कानीनमनपत्योऽकरोत्सुतम् ॥१३॥

वृषसेनस्सुतस्तस्य कर्णस्य जगतीपतेः ।
द्रुह्योऽस्तु[10] तनयो बभ्रुः सेतुस्तस्याऽऽत्मजस्ततः ॥१४॥

आरब्धस्तस्य गान्धारस्तस्य धर्मस्ततो[11-] धृतः[-11] ।
धृतस्य[12] दुर्मदस्तस्मात्[13] प्रचेताः[14] तत्सुताः शतम् ॥१५॥

---

1 ABGJ MMa वाद्य 2 ABGJMMa नार्हणै । 3 H V °त्पते 4 MMa °ज 5 TW प्रजाम्। 6 ABGJ आद्याद्रू° 7- -7 ABGJMMa ततो धृतिरजायत 8- -8 ABGJMMa ततो धृतव्रतस्तस्य 9- -9 H V पुत्रश्चातिरथस्तत , MMa सधर्माधिरथस्तत , TW प्रत्रश्चाऽथरथस्तत 10 MMa °ह्य 11- -11 ABGJMMa धर्मस्ततो धृत 12 ABGJMMa धृ° 13 ABGJ दुर्मना° , MMa कर्दम° 14 ABGJMMa प्राचेतस

**म्लेच्छाधिपतयोऽभूवन्नुदीची दिशमाश्रिताः ।**
**तुर्वसोस्तु सुतो वह्निर्वह्नेर्भर्गोऽथ भानुमान् ॥१६॥**

**श्रीध०** ९-१६ श्लोकानां श्रीधरीयव्याख्या नाऽस्ति

**वीर०** कथं दशरथः स्वकन्यां अदादित्यत्राऽऽह - **सत्विति**। स तु दशरथः मरुत्वतः। इष्टिं मरुत्वद्देवताकामिष्टिं निरूप्य अनपत्यस्य राज्ञो रोमपादस्य सख्याद्धेतो स्वां कन्यां शान्ताख्यामदात्, येन दशरथदत्तेन शान्तारूपेणापत्येन अप्रजोऽपि रोमपादः प्रजां लेभे; सुप्रजा बभूवेत्यर्थः। रोमपादात्तु चतुरङ्गः, तत्सुत श्चतुरङ्गसुतः पृथुलाक्षः ॥९,१०॥

तत्सुताः पृथुलाक्षसुता बृहद्रथादयस्त्रय । तत्र आद्यात् बृहद्रथात् बृहन्मनाः, तस्मात् बृहन्मनसः जयद्रथ उदाहृतः ॥११॥

तस्य जयद्रथस्य सम्भूत्यां भार्यायां विजय ततो विजयाद्धृतिः, अजायत। ततो धृतेर्धृतव्रतः, तस्य धृतव्रतस्य सत्यकर्मा, ततस्सत्यकर्मणो रथः ॥१२॥

तं विशिनष्टि - योऽसौ रथ कुन्त्या पाण्डोर्भार्यया कानीनं कन्यावस्थावस्थिताया स्वस्याः जातमपविद्धं, त्यक्तं मञ्जूषायां निक्षिप्येति शेषः। शिशुं मञ्जूषान्तर्गतं पेटिकायां स्थितं कर्णाख्यं गङ्गातटे क्रीडन् अनपत्यस्सन् सुतमकरोत्स रथ इत्यर्थ ॥१३॥

तस्य रथेन स्वीकृतस्य कर्णाख्यस्य जगतीपतेर्भूपालस्य सुतो वृषसेनः। अथ ययातेस्तृतीयपुत्रस्य द्रुह्योर्वंशमनुक्रामति द्रुह्योश्चेति द्वाभ्याम्। द्रुह्योर्बभ्रु तस्य बभ्रोरात्मजस्सेतुः ॥१४॥

ततः सेतोरारब्धः, तस्य तु गान्धार, तस्य गान्धारस्य घर्मस्सुतः, ततो घर्मात् घृतो जज्ञे, घृतस्य सुतो दुर्मदः, तस्माद्दुर्मदात् प्रचेता जज्ञे, प्रचेतस्सुतास्तु शतम्। ते च उदीचीं दिशमाश्रितास्सन्तो म्लेच्छानामधिपतयो बभूवुः। अथ ययातिसुतस्य द्वितीयस्यान्वयमनुक्रामति - तुर्वसोस्त्विति द्वाभ्याम्। तुर्वसोस्सुतो वह्निः वह्नेस्तु भागः, अथ भागा द्वह्निमान् ॥१५.१६॥

**विज०** निरूप्य विचित्ये मरुत्वतः इष्टिं इन्द्रविषयामिष्टिम् ॥९॥

येन इष्टिविशेषेण ॥१०,११॥

---

1 ABGJ °ह्न 2 ABGHJV भर्गोऽथ 3- -3 AB omit 4 A B °यस्य सुतस्य 5- -5 A B omit 6 AB ध° 7 AB ध° 8 A B धृ° 9 A B धृ 10 A.B Ma न्त्य

अपविद्धम् अज्ञातवद्विसृष्टं, कानीनं कन्यायां जातम् ॥१२॥

ययातिपुत्रस्य द्रुह्योर्वंशं निरूपयति - द्रुह्योश्चेति ॥१४,१५॥

ययातिपुत्रस्य तुर्वसोर्वंशं कथयति - तुर्वसोरिति ॥१६॥

त्रिभानुस्तत्सुतोऽस्यापि करन्धम उदारधीः ।
मरुत्तस्तत्सुतोऽपुत्रः पुत्रं पौरवमन्वभूत् ॥१७॥

दुष्यन्तं स पुनर्भेजे स्वं वंशं राज्यकामुकः ।
ययातेर्ज्येष्ठपुत्रस्य यदोर्वंशं नरर्षभ! ॥१८॥

वर्णयामि महापुण्यं सर्वपापहरं नृणाम् ।
यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१९॥

यत्राऽवतीर्णो भगवान् परमात्मा नराकृतिः ।
यदोस्सहस्रजित्क्रोष्टुः नलो रिपुरिति श्रुताः ॥२०॥

चत्वारस्सूनवस्तत्र शतजित्प्रथमात्मजः ।
महाहयो वेणुहयो हेहयश्चेति तत्सुताः ॥२१॥

धर्मस्तु हेहयसुतो नेत्रः कुन्तेः पिता ततः ।
सो हञ्जिरभवत्कुन्तेः महिष्मान् भद्रसेनकः ॥२२॥

दुर्मदो भद्रसेनस्य धनकः कृतवीर्यसूः ।
कृताग्निः कृतवर्मा च कृतौजा धनकात्मजाः ॥२३।

अर्जुनः कृतवीर्यस्य सप्तद्वीपेश्वरोऽभवत् ।
दत्तात्रेयाद्धरेरंशात् प्राप्तयोगमहागुणः ॥२४॥

---

1 H V त्रिसानु' , MMa नृभानु' , TW सुभानु' 2 ABGJMMa 'त' 3 MMa त्सुत पुत्र 4 H V 'गात् 5 ABGJ 'न्तस्स' 6-6 ABGJ स्वं वंश राज्य , MMa स्वय साम्राज्य 7 MMa नृप । 8 M Ma पापैर्वि' 9 ABGJMMa 'ष्टा 10 MMa 'स्तस्य 11 ABGJMMa है' 12.ABGJM Ma है 13 H V 'भ' 14 MMa महिष्मा' 15 H V धनिक 16 MMa 'का 17 MMa कृत्याग्नि 18 H V धनि'

**श्रीध० दुष्यन्तमिति**। स दुष्यन्तः। स्ववंशं[1] पौरववंशम्[2] ॥१७-२०॥

**चत्वारः इति**। प्रथमस्य सहस्रजित आत्मजः ॥२१॥

**धर्म इति**। कुन्तेः सोभज्जि[3]·, सोभज्जेर्महिष्मान्[4] महिष्मतो भद्रसेनकः ॥२२॥

**दुर्मद इति**। भद्रसेनस्य[5] दुर्मदो, धनिकश्चेति[6] द्वौ पुत्रौ। कृतवीर्यसूः कृतवीर्यस्य जनकः। कृतवीर्यादयश्चत्वारो धनिक[7] स्याऽऽत्मजा इत्यर्थ ॥२३,२४॥

**वीर०** तत्सुतो वह्निमत्सुत सुभानुः। अस्याऽपि सुभानोरपि करन्धम·, स च उदारा धीर्यस्य तथाभूत·। तत्सुत[8]· करन्धमसुतः मरुत्त· स चाऽपुत्रस्सन् पौरवं पूरोर्वंशे जातं दुष्यन्तं पुत्रमन्वभूत् प्राप्तवान् तं स्वीकृतवान् इत्यर्थः ॥१७॥

स च दुष्यन्त· राज्यकामुकस्सन् स्ववंशं जनकवंशमेव भेजेऽन्ववर्तत। अथ यदोर्वंशं वक्तुं प्रतिजानन् तत्र शुश्रूषा मुत्पाादयति - **ययातेरिति** द्वाभ्याम्। हे नरर्षभ! ययातेर्योज्येष्ठ·पुत्रस्तस्य यदोर्वंशं वर्णयामि अनुक्रमिष्यामि। कथम्भूतम्? महापुण्यं वदतां शृण्वताञ्च नृणां पुण्यावहं पापहरञ्च। तस्य पापहरत्वमेव सहेतुकमुपपादयति - यदोर्वंशं श्रुत्वा नरः सर्वैः पापै· प्रमुच्यते निर्मुक्तो भवति, यत्र यदोर्वंशे भगवान् षाड्गुण्यपूर्ण· परमात्मा नरस्याकृऽऽतिरिवाऽकृतिराकारो यस्य तथाभूतोऽवतीर्णः, श्रीकृष्णरूपेणेति भावः। यदो· सूनवस्सुता· सहस्रजिदादयश्चत्वार· श्रुताः विश्रुता· ॥१८-२०॥

तत्र चतुर्णां मध्ये प्रथमात्मज·, प्रथमस्य सहस्रजित· आत्मज· शतजित्। तत्सुताः शतजित्सुताः महाहयादयः त्रयः, तत्र हैहयस्य सुतो धर्म , ततो धर्मान्नेत्रो जज्ञे, स च कुन्ते पिता, सोऽपि कुन्तिरिति प्रसिद्ध इति भाव.। कुन्ते· नेत्रापरनामधेयात् सोहज्जिरभूत्। ततो महिष्मान् ततश्च भद्रसेनक· ॥२१,२२॥

भद्रसेनकस्य तु दुर्मदो धनकश्चेति द्वौ पुत्रौ। तत्र धनक· कृतवीर्यसू. कृतवीर्यं सुषुवे इति। तथा[9] कृतवीर्यस्य पितेत्यर्थ·। न केवलं कृतवीर्यसूरेव, किन्तु कृताग्न्यादयोऽपि त्रयस्तदात्मजा· धनकस्याऽऽत्मजाः कृतवीर्यादयश्चत्वारो धनकस्याऽत्मजा इत्यर्थ.। तत्र कृतवीर्यसुतोऽर्जन· कार्तवीर्य इति प्रसिद्ध स च सप्तानां दीपानामीश्वरोऽधिपतिर्बभूव, तं विशिनष्टि - हरे रंशावताररूपाद्दत्तात्रेयात्प्राप्तो योग·, गुणा अणिमादयश्च येन स ॥२३,२४॥

**विजि०** सूचीकटाहन्यायेन द्रुह्यादीनां पुत्राणां वंशं कथयित्वा बहुलत्वाद्विशेषपुण्यहेतुत्वाच्च ज्येष्ठपुत्रस्य यदोर्वंशं कथयति - **ययातेरिति** ॥१७-२४॥

---

1 ABJ स्व वश 2 ABJ "रव" 3 ABJ "ह" 4 ABJ "ह" 5 HV तस्य 6 ABJ "न" 7 ABJ "न" 8 TW omit तत्सुत 9 AB omit तथा

न नूनं कार्तवीर्यस्य गतिं यास्यन्ति पार्थिवाः ।
यज्ञदानतपोयोगैः[1] श्रुतवीर्यजयादिभिः ॥२५॥

पञ्चाशीतिसहस्राणि ह्यव्याहतबलस्समाः ।
अकरोदर्जुनो[2-2] राज्यं हरिं चैवान्वहं स्मरन्
अनष्टवित्तस्मरणो बुभुजेऽक्षय्यषड्वसु ॥२६॥

तस्य पुत्रसहस्रस्य[3] पञ्चैवोर्वरिता[4] मृधे ।
जयध्वज श्शूरसेनो वृषणो[5] मधुरूर्जितः ॥२७॥

जयध्वजात्तालजङ्घः तस्य पुत्रशतन्त्वभूत् ।
क्षत्रं यत्तालजङ्घाख्यमौर्वतेजोपसंहृतम् ॥२८॥

तेषां ज्येष्ठो वीतिहोत्रो वृष्णिः पुत्रो मधोः स्मृतः ।
तस्य पुत्रशतन्त्वासीत् वृष्णिज्येष्ठं यतः कुलम् ॥२९॥

माधवा वृष्णयो राजन्[6] यादवाश्चेति संज्ञिताः ।
यदुपुत्रस्य च क्रोष्टोः पुत्रो वृजिनवांस्ततः ॥३०॥

श्वाहिस्ततो[7] रुशेकुर्वै[-7] तस्य चित्ररथस्ततः
शशिबिन्दुर्महायोगी[8] महाभागो[9] महानभूत् ॥३१॥

चतुर्दशमहारत्नश्चक्रवर्त्यपराजितः ।
तस्य पत्नीसहस्राणि[10] दशाऽऽसन्[11] स महायशाः ॥३२॥

**श्रीध० पञ्चेति**। अनष्टमविनाशं वित्तं येन तथाविधं स्मरणं यस्य सः। अक्षय्यं षड्वसु षडिन्द्रियविषयं बुभुजे ॥२५,२७॥

**जयेति**। और्वस्य तेजसा सगरेणोपसंहृतमित्यर्थः ॥२८॥

---

1 ABGJ योग 2--2 ABGJ omit 3 ABGJ "हस्रेषु , MMa "हस्राणा 4 H v पञ्चैवप्रथिता 5 ABGJ वृषभो , MMa ऋषभो 6 H MMaTVW "तम् 7--7 H V श्वाहितो भेरुशेकुर्वै, MMa वाहिस्ततो रुशेकुर्वै , TW श्वाहितोऽतोरुशङ्कुर्वै 8 ABGJMMa शश" 9 ABGJMMa "भो 10 ABGJMMa "म्राणा" 11 ABGJ दशानां सु" , MMa दशासन् सु"

**तेषामिति**। तेषां तालजङ्घपुत्राणां ज्येष्ठः। तस्य मधोः पुत्रशतम्। वृष्णिर्ज्येष्ठो यस्मिन्। यतो मधोः वृष्णेर्यदोश्च हेतोः इदं कुलम्[1] ॥२९-३१॥

**चतुर्दशेति**। चतुर्दशमहारत्नानि तत्तज्जातिश्रेष्ठानि यस्य सः। तानि च मार्कण्डेयपुराणे वर्णितानि - "गजवाजिरथा स्त्रेषुनिधिमाल्याम्बरद्रुमाः। शक्तिपाशमणिच्छत्रविमानानि चतुर्दश"॥ इति दशानां पत्नीसहस्राणां भार्यायुतस्य प्रत्येकं लक्षं लक्षमित्येवं तासु पुत्राणां दशलक्षसहस्राणि जनयामास ॥३२॥

**वीर०** किं बहुना। सर्वे पार्थिवाः सम्भूयाऽपि यज्ञादिभिः श्रुतादिभिश्च कार्तवीर्यस्य गतिं प्रकारं साम्यं नूनं ध्रुवं न यास्यन्ति। किञ्च। अव्याहतं बलं यस्य सोऽर्जुनः पञ्चाशीतिसहस्राणि समा वर्षाणि राज्यमकरोत्। कथम्भूतः? हरिं दत्तात्रेय मनुस्मरन्। किञ्च अनष्टमविनाशं वित्तं येन तथाविधं स्मरणं यस्य तथा, यस्य स्मरणाद्विनष्टमपि वित्तं पुनर्लभ्यते तथाभूत इत्यर्थः। अक्षय्यषड्वसु षडिन्द्रियविषयसुखम् ॥२५,२६॥

तस्य कार्तवीर्यस्य यत्पुत्राणां सहस्रं तस्य तत्र जयध्वजादयः पञ्चैव मृधे युधि उर्वीरिता अवशेषिताः, इतरे तु भार्गवरामेण हता इत्यर्थः। तत्र जयध्वजात्तालजङ्घः, तस्य तालजङ्घस्य तु पुत्रशतमभूत्। यच्छतसंख्याकं तालजङ्घाख्यं क्षत्रं क्षत्रियाः और्वस्य ऋषे· तेजसा [2]और्वतेज उपबृंहितेन सगरेणेत्यर्थ·। उपसंहृतं विनाशितम् ॥२७,२८॥

तेषां तालजङ्घपुत्राणां ज्येष्ठो वीतिहोत्रः, तस्य सुतो मधुः स्मृतः प्रख्यातः। मधोस्सुतस्तु वृष्णिः प्रख्यातः, न केवलं वृष्णिरेव अपि तु वृष्णिर्ज्येष्ठो यस्मिन्, तत्पुत्राणां शतं तस्य मधोरासीदित्यर्थः। 'वृष्णिः पुत्रो मधोः सुतः' इति पाठान्तरम्। तदा तेषां तालजङ्घपुत्राणां ज्येष्ठस्सुतो वीतिहोत्रः। तस्य तु मधु· तस्य च वृष्णिरित्यन्वयः, इतरत्पूर्ववत्। यतो मधोः कुलं माधवाख्यं क्षत्रकुलं प्रवृत्तं, यस्य मधोः वृष्णिज्येष्ठं पुत्रशतमभूदित्यर्थ·। वृष्णिज्येष्ठमित्यनेन पुत्रशतस्यापि वृष्ण्याख्यत्वमभिप्रेतम् यदुवंशजत्वाद्यादवाख्यत्वञ्च ॥२९॥

[3]तदेतदाऽऽह - **माधवा** इति। मधोः पुत्रास्सर्वे माधवाः माधवनामानः, मधोः प्रसूतत्वादिति भावः। वृष्णयः वृष्णिज्येष्ठत्वादिति भावः। हे राजन्! यादवाश्च यदुवंशजत्वादिति भावः। एवं यदो र्ज्येष्ठपुत्रस्य वंश उक्तः। अथ द्वितीयस्य[4] वंश मनुक्रामति-यदुपुत्रस्येत्यादिना। यदुपुत्रस्य क्रोष्टोः पुत्रो वृजिनवान् ॥३०॥

ततः वृजिनवतः श्वाहित., अतः श्वाहितात् उरुशङ्कुः अभिभूस्तत्कुशेकुर्वा इति पाठान्तरम्। तदा तत्तस्मादभिभुवः कुशेकुरित्यर्थः। तस्य तु चित्ररथः, ततश्चित्ररथात् शशिबिन्दुरभूत्। तं विशिनष्टि - महायोगी, महान् भागो[5] यस्य सः, महान्, गुणै रिति शेषः ॥३१॥

---

1- -1 H V omit 2 A B omit और्वतेज 3 AB 'देवाऽऽह 4 AB अन्वयम' 5 AB भोगो

चतुर्दशमहारत्नानि तत्तज्जातिश्रेष्ठानि यस्य स· तानि च मार्कण्डेयपुराणे दर्शितानि "गजवाजिरथास्त्रेषुनिधिमालम्बरद्रुमाः। शक्तिपाशमणिच्छत्रविमानानि चतुर्दश"॥ इति। चक्रवर्ती सप्तद्वीपाधिपति· अपराजितः जयी। तस्य शशिबिन्दोस्सम्बन्धिनां पत्नीसहस्राणां दशानां भार्यायुतस्येत्यर्थ·। तेषां प्रत्येकं लक्षलक्षमित्येवं तासु महायशा· शशिबिन्दु· ॥३२॥

**विज०** अनष्टं अविच्छिन्नं विष्णुस्मरणं यस्य स तथा। सन्ततविष्णुस्मरणोपेत· षष्ठांशं वसु षड्वसु, षड्भ्यो गुणेभ्यो लब्धं यद्वसु तत् षड्वसु वा ॥२५-२८॥

और्वमुने· तेजसोपसंहृतम् ॥२९-३२॥

**दशलक्षसहस्राणि पुत्राणां तास्वजीजनत् ।**
**तेषान्तु षट्प्रधानानां पृथुश्रवस आत्मजाः ॥३३॥**

**धर्मो नामोशना तस्य हयमेधशतस्य याट् ।**
**तत्सुतो रुचकस्तस्य पञ्चाऽऽसन्नात्मजाः शृणु ॥३४॥**

**पुरुचि द्रुक्मरुक्मेषु पृथुज्यामघसंज्ञिताः ।**
**ज्यामघस्त्वप्रजाऽप्यन्यां भार्यां शैब्यापतिर्भयात् ॥३५॥**

**नाविन्दच्छत्रुभवनात् भोज्यां कन्यामहारषीत् ।**
**रथस्थां तां निरीक्ष्याऽऽह शैब्यापतिममर्षिता ॥३६॥**

**केयं कुहकमत्स्थानं रथामारोपितेति वै।**
**स्नुषा तवेत्यभिहिते स्मयन्ती पतिमब्रवीत् ॥३७॥**

**अहं वन्ध्या सपत्नी च स्नुषा युज्येत मे कथम् ।**
**जनयिष्यसि यं राज्ञि तस्येयमुपपत्स्यते ॥३८॥**

**अन्वमोदन्त तद्विश्वे देवाः पितर एव च ।**
**शैब्या गर्भमधात्काले कुमारं सुषुवे शुभम् ॥**
**स विदर्भ इति प्रोक्त उपयेमे स्नुषां सतीम् ॥३९॥**

---

1 AB शश° 2 AB शश° 3 ABGJMMa °ज 4 HV द्रुम° 5 HV प्रजा ह्य° , TW प्रजो ह्य° 6- -6 HV भ्रष्टां कन्यां समाहरत् , MMa कन्या भ्रष्टा महार्षीत् , TW भोज्या कन्यामहार्षित्। 7 ABGJ मे युज्यते 8 ABGJ युज्यते , HV लप्स्यते 9 TW °दत सा विश्वे

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे त्रयोविंशोऽध्याय· ॥२३॥

**श्रीध० दशेति**। शतकोटिसंख्याकान्[1-] पुत्रान् इत्यर्थः[-1]। जनयामास। पृथुश्रवाः पृथुकीर्तिः पृथुयश इत्यादयः षट् प्रधानाः श्रेष्ठाः येषां तेषां मध्ये ॥३३॥

**धर्म इति**। पश्च आत्मजा आसन्[2] तान् शृणु ॥३४॥

तानेवाऽह - **पुरुजिदिति**॥ भार्याभयादेवैकभार्यस्य वन्ध्यापतेर्ज्यामघस्या[3]ऽपुत्रस्य, तद्भयमेव पुत्रपदमभवदिति दर्शय न्नाऽऽह - ज्यामखस्त्विति[4] ॥३५-३७॥

**अहमिति**। यदि मे सपत्नी स्यात्तर्हि स्नुषेयं युज्येताऽपि न त्वेददस्तीत्याह - असपत्नी चेति। अतिभयव्याकुल आह - जनयिष्यसीति ॥३८॥

**अन्वमोदन्त इति**। भार्याभयप्रकम्पमानस्विन्नसर्वाङ्गस्य राज्ञः प्राणसङ्कटमालेक्य अनुकम्पितास्तेन पूर्वं बहुकाल माराधिताश्च विश्वेदेवाः पितरश्च तथेत्यन्वमोदन्त। ततश्च देवताप्रसादेन जनयिष्यसीति प्रतिवचनमुहूर्तगुणेन च निवृत्तरजस्काऽपि शैब्या गर्भमधात्। तस्य च महिमा पराशरादिभिरुक्तः। यथोक्तम्- "भार्यावश्यास्तु ये केचित्[7] भविष्यन्त्यथवा मृताः। तेषान्तु ज्यामखः[6] श्रेष्ठः शैब्यापतिरभूनृप। विष्णु पुः 4-12-13 इति ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्यख्यायां नवमस्कन्धे त्रयोविंशोऽध्याय ॥२३॥

**वीर०** पुत्राणां दशलक्षसहस्राणि जनयामास, पृथुश्रवा· पृथुकीर्ति·। पृथुयशाः इत्यादयः षट् प्रधानाः श्रेष्ठाः येषां तेषां मध्ये यो धर्मो नाम तस्य धर्मस्य उशना सुत । स च हयमेधशतस्य याट् यष्टा। तत्सुतः उशनस्सुतो रुचक·, तस्य पञ्चाऽऽत्मजा आसन् तान् शृणु ॥३३,३४॥

तानेवाऽऽह - पुरुजिच्च रुक्मश्च रुक्मेषुश्च पृथुश्च ज्यामघश्चेति[7] संज्ञिनः। तत्र ज्यामघः शैब्यायाः पति· अप्रजः अपुत्रस्सन् भार्याभयात् अन्यां भार्याम् ॥३५॥

नाविन्दत् न लेभे। एवं स्थिते स कदाचित् शत्रून् विजित्य तेषां भवनात् काञ्चित्कन्यां भोज्यां भुजिष्यामुपभार्यार्थ

1- -1 A.B J omit 2 H V omit तान् 3 ABJ ·ख· 4 A.B J ·घ· 5 ABJ खि· 6 ABJ ·घ 7 AB ·ख·

मिति यावत्। अहार्षीत् आनिन्ये। तां रथे स्थितां कन्यामालोक्य शैब्याऽमर्षिता सती पतिं ज्यामघमाह - किमिति? हे कुहक वञ्चक! मत्स्थानं मदुपवेशयोग्यं[1] स्थानमियं कथमारोपिता इति। ततस्तस्या भयात् ज्यामघ·तव स्नुषेयमानीतेत्युक्ते सति पतिं स्मयन्ती सती शैब्योवाच ॥३६,३७॥

किमिति? अहं वन्ध्या असपत्नी अविद्यमाना सपत्नी यस्यास्तथाभूता च। अतो मे मम स्नुषा कथं युज्येत उपपद्येत? इति। ततस्तां ज्यामघ आह - हे राज्ञि! त्वं यं पुत्रं जनयिष्यसि तस्येयं भार्या सती उपपत्स्यते, तव स्नुषा भविष्यतीति । तत सा शैब्या अन्वमोदत तथैवेत्यङ्गीचकार। तदा भार्या भयप्रकम्पमानस्त्रिन्नसर्वाङ्गस्य राज्ञः प्राणसंङ्कटमालोक्याऽनुकम्पिताः, तेन पूर्वं बहुकालमाराधिताः विश्वे देवाः पितरश्च तथाऽस्त्वित्यन्वमोदन्त। ततश्च देवताप्रसादेन, जनयिष्यसीति वचनमुहूर्तगुणेन निवृत्तरजस्काऽपि शैब्या गर्भमधात् धृतवती। ततस्सा प्राप्तकाले शुभलक्षणं कुमारं सुषुवे। स च कुमारो विदर्भ इति प्रोक्त. प्रख्यात । ततः शैब्या स्नुषां उपयेमे उपयमयामास । ज्यामघस्य महिमा तु पराशरादिभिरुक्तः; यथोक्तम् - "भार्या वश्यास्तु ये केचित् भविष्यन्ति तथा मृता.। तेषां वै ज्यामघ श्रेष्ठ. शैब्यापतिरभून्नृप (विष्णु पु. 4-12-13) इति ॥ ३७,३९॥

इति श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां त्रयोविंशोऽध्याय ॥२३॥

**विज०** युद्धे भ्रष्टाम् ॥३३-३७॥

असपत्नी सपत्नीरहिता ॥३८॥

स्नुषां पूर्वं स्नुषेत्यभिहिताम् ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
नवमस्कन्धे त्रयोविंशोऽध्याय ॥२३॥

(विजयध्वजरीत्या विंशोऽध्याय ॥२३॥)

1 TW omit योग्य

# चतुावशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

तस्यां विदर्भोऽजनयत् पुत्रौ नाम्ना कुशक्रथौ ।
तृतीयं रोमपादञ्च वैदर्भकुलनन्दनम् ॥१॥

रोमपादसुतो बभ्रुर्बभ्रोः कृतिरजायत ।
उशिकस्तत्सुतस्तस्माच्चेदिश्चैद्यादयो नृपाः ॥२॥

क्रथस्य कुन्तिः पुत्रोऽभूत् धृष्टिस्तस्याऽथ निर्वृतिः ।
ततो दशार्हो नाम्नाऽभूतत्तस्य व्योमस्सुतस्ततः ॥३॥

जीमूतो विकृतिस्तस्य यस्य भीमरथस्सुतः ।
ततो नवरथः पुत्रो जातो दशरथस्ततः ॥४॥

करम्भिश्शकुनेः पुत्रो देवरातस्तदात्मजः ।
देवक्षत्रस्ततस्तस्य मधुः कुरुवशादनुः ॥५॥

पुरुहोत्रस्त्वनोः पुत्रः तस्यायुःसात्वतस्ततः ।
भजमानो भजिर्दिव्यो वृष्णिर्देवा पृथोऽन्धकः ॥६॥

सात्वतस्य सुतास्सप्त महाभोजश्च मारिष ।
भजमानस्य निम्रोचिः कङ्कणो वृष्णिरेव च ॥७॥

एकस्यामात्मजाः पत्न्यामन्यस्यां च त्रयस्सुताः ।
शतजिच्च सहस्रजि दयुतजिदिति प्रभो ॥८॥

---

1 HV क्रुथौ 2 ABGJ विदर्भ , MMa वैदर्भं 3 TW क्रतु" 4 TW कु" 5 ABGJ नृप , MMa यत 6 HV क्रु" 7 MMa "भूद्वलिस्त" , TW "भूद्वणिस्त" 8 MMa "शार्हनामाऽथ , HV "शार्हो नाम्नाऽस्य 9 TW तीव्र" 10--10 HV शकुनि तत्सुत कुन्ति , TW करम्भ श्शकुने पुत्रो 11 MMa "स्त्वस्य" 12 HV कुरुवशस्त्वनु , MMa कुकूरकस्तत , TW कुकुरकस्तत 13--13 HV पुरुहूतस्त्वनो पुत्र , TW पुरुहोत्रोऽभवत्पुत्र 14--14 HV तस्याशु , MMa तस्यायु सत्वतस्तत । , TW तस्याभूत्सात्वतस्तत 15 TW दीप्तो 16 ABGJMMa "वृ" 17 MMa स" 18 ABGJMMa निम्लोचि 19 ABGJ किङ्किणो धृष्टि" 20 MMa किङ्कणो धृष्टि" 21 ABGJMMa "ता" 22 ABGJMMa "स्रा" 23 ABGJMMa दयुताजिदिति प्रभो , HV तथायुतजिदेव च

## श्रीश्रीधरस्वमिविरचिता भावर्थदीपिका

चतुर्विंशे विदर्भस्य पुत्रत्रयसमुद्भवा· । वंशा नानामुखा प्रोक्ता रामकृष्णोद्भवावधि ॥

यद्वा - चतुर्विंशे विदर्भादि वर्ण्यते यदुजान्वय । यत्रासीद्भगवान् ख्याते वृष्यन्धकमुखैर्नृपैः ॥

**रोमपादेति**। चैद्यादयो दमघोषादय ॥१-३॥

**जीमूत इति**। ततो दशरथाच्छकुनिः[1] तस्य सुत [-1]कुन्ति· पुराणान्तरादेवमादिविशेषो द्रष्टव्य· ॥४॥

**करम्भिरिति**। ततः कुरुवशादनुः ॥५॥

**पुरुहोत्र इति**। अनोः पुत्र· पुरुहोत्रः ॥६॥

**सात्वतस्येति**। महाभोजश्चेत्येवं सप्त। मारिष हे आर्य ॥७,८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तस्यां शैब्यया विवाहितायां कन्यायां विदर्भो नाम्ना कुश· क्रथश्चेति द्वौ पुत्रावजनयत् ततस्तृतीयं रोमपादाख्यञ्च। तस्यामेवाऽजनयत्। कथम्भूतम्? वैदर्भकुलं नन्दयतीति तथाभूतम् ॥१॥

रोमपादस्य सुतो बभ्रु·, तस्मा तु क्रतुराजायत, तत्सुत·क्रतुसुत[2] कुशिकः तस्मात्कुशिकाच्चेदिः, ततश्चेदेः चैद्यादयो दमघोषादयो नृपा जज्ञिरे ॥२॥

क्रथस्य विदर्भसुतस्य तु पुत्र· कुन्तिरभूत्, तस्य कुन्तेर्वृष्णि·। अथ तस्मान् निर्वृतिः विदृतिरिति पाठान्तरम्। ततो निर्वृतेर्दशार्हाख्यः, तस्य दशार्हस्य तु सुतो व्योम·, ततो व्योमाज्जीमूतः, तस्य जीमूतस्य विकृतिः, यस्य विकृतेस्सुतस्तीव्ररथः, तत स्तीव्ररथात् नवरथः पुत्रो जात·, ततो नवरथाद्दशरथः ॥३,४॥

ततो दशरथाच्छकुनिः ततः करम्भ इत्यर्थः। तदात्मज· करम्भात्मजः देवरात·, तस्य देवरातस्य सुतो देवक्षत्रः, ततो मधुः, ततश्च कुकुरकः ॥५॥

---

1--1 ABJ omit 2 AB omit

ततः कुकुरकात् पुरुहोत्र·, तस्य सात्वतः पुत्रो बभूव। सात्वतस्य तु भजमानश्च भजिश्च दीप्तश्च वृष्णीशश्च देवावृधश्च[1] अन्धकश्च महाभोजिश्चेति सप्त सुता । हे मारिष! परीक्षित एव मारिष इति नामान्तरम्। तत्र भजमानस्यैकस्याश्च पत्न्यां निम्लोच्यादय स्त्रय·, अन्यस्याश्च पत्न्यां शतजिदादयस्त्रय एव सुताः, हे प्रभो ॥६-८॥[2]

## विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

यतश्चेदः ॥१-८॥

बभ्रुर्देवावृधसुतस्तयोः[3] श्लोकौ[4] पठन्त्यमू[5] ॥
यथैव शृणुमो दूरात् सम्पश्यामस्तथान्तिकात् ॥९॥

बभ्रुः श्रेष्ठो मनुष्याणां देवैर्देवावृधस्समः[6] ।
पुरुषाः पञ्चषष्टिश्च षट् सहस्राणि चाष्ट च ॥१०॥

येऽमृतत्वमनुप्राप्ता बभ्रोर्देवावृधादपि[7] ।
महाभोजोऽतिधर्मात्मा[8] भोजा आसंस्तदन्वये ॥११॥

वृष्णेस्सुमित्रः पुत्रोऽभूत् युधाजिच्च परन्तप !
शिनिस्तस्यानमित्रश्च निम्नोऽभूदनमित्रतः ॥१२॥

सत्राजितः प्रसेनश्च निम्नस्यार्थसतुः[9] सुतौ।
अनमित्रसुतो ह्यन्यः[10] शिनिस्तस्य[11] च सत्यकः ॥१३॥

युयुधानस्सात्यकिर्वै जयस्तस्य कुणिस्ततः ।
युगन्धरोऽनमित्रस्य पृश्निः[12] पुत्रोऽपरस्ततः ॥१४॥

श्वफल्कश्चित्रकश्चैव[13] गान्दिन्यां[14] तु श्वफल्कतः[15] ।
अक्रूरप्रमुखा आसन् पुत्रा द्वादश विश्रुताः ॥१५॥

---

1 AB वृध° 2 AB °ता° 3 ABGJMMa °वृ° 4 H M Ma V °क 5 H M MaV °मुम् 6 ABGJMMa °वृ° 7 ABGJMMa °वृ° 8 ABGJ °ऽपि 9 ABGJMMa स्याप्या 10 ABGJMMa योऽन्य 11 ABGJ याऽथ 12 ABGJ वृष्णि 13 ABGJ रथश्च , MMa रथश्चैव 14 H V गादि 15 ABGJ च

असङ्गस्सारमेयश्च मृदुको मृदुपच्छिवः।
वर्मदृक् धृष्टवर्मश्च क्षेत्रोपेक्षोऽरिमर्दनः ॥१६॥

**श्रीध० बभ्रुरिति**। ततदुपदेशभेदेन ये पञ्चषष्ट्यादिसंख्या पुरुषास्ते अमृतत्वं मोक्षं प्राप्ता. ॥९-११॥

**वृष्णोरिति**। तस्य युधाजितः शिनिरनमित्रश्च ॥१२,१३॥

**युयुधान इति**। सत्यकस्य पुत्रो युयुधान., सात्यकिः तस्य जयः, तस्य कुणि·, तत· कुणेः युगन्धर.। अनमित्रस्यैवाऽपरो पृश्निर्नाम पुत्र· ॥१४॥

**श्वफल्क इति**। गादिन्या श्वफलकात् अक्रूरप्रमुखाःअक्रूर· प्रमुखो येषामिति अतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः ॥१५॥

अतोऽक्रूराऽतिरिक्तान् द्वादश दर्शयति - **असङ्ग** इति ॥१६॥

**वीर०** देवापृथस्य सात्वतेः सुतस्तु बभ्रुः, तयो· पितृपुत्रयो· देवापृथबभ्रो श्लोकौ माहात्म्यसूचकौ इमौ श्लोकौ, पठन्त्यार्या. इति शेषः। श्लोकावेव दर्शयति यथैवेति। यथैव दूरात् शृणुम· यादृशगुणविशिष्टौ देवापृथबभ्रू दूरात् शृणुम· श्रुतवन्तो वयमन्तिकात्समीपेऽपि तादृशावेव तौ पश्याम इत्यार्याणामुक्ति·॥९॥

कीदृशवित्याहु· - **बभ्रुरिति**। मनुष्याणां मध्ये बभ्रु· श्रेष्ठ·, देवापृथस्तु देवैस्तुल्यः। श्रैष्ठ्यमेव दर्शयति पुरुषा इति। बभ्रोर्देवापृथादपि अनु पश्चात् ये तद्वंशजा. पुरुषाः पञ्चषष्ट्यधिकचतुर्दशसहस्रसंख्याकास्ते सर्वे तयोः प्रभवादमृतत्वं मुक्तिं प्राप्ता इत्यर्थ । महाभोजस्सात्वतिस्तु अतिधर्मात्मा तस्य महाभोजस्याऽन्वये वंशे भोजा भोजाख्या नृपा. आसन् जज्ञिरे ॥१०,११॥

वृष्णेस्तु पुत्र. सुमित्रोऽभूत्, युधाजिच्च वृष्णे पुत्रो बभूव। हे परन्तप! तस्य युधाजित· शिनि·, अनमित्रश्चेति द्वौ पुत्रौ जातौ। तत्राऽनमित्रात् निम्नोऽभवत् ॥१२॥

अथ निम्नस्य सत्राजित· प्रसेनश्चेति द्वौ सुतावासतु· सम्बभूवतुः तथाऽन्यस्यां भार्यायां अनमित्रस्यैव योऽन्यस्सुत· शिबिर्नाम तस्य सुत· सत्यक· ॥१३॥

---

1 ABGJMMa आ° 2--2 ABGJMMa मृदुरो मृदुविग्रिरि। 3--3 ABGJ धर्मवृद्ध सुकर्मा चक्षे° , MMa धर्मोविघृष्ट कर्मा च क्षे° 4--4 ABJ ततस्तदुपदेशेन 5 ABJ omit सात्यकि 6 ABJ वृष्णि 7--7 ABJ omit 8 H V °ज्ञान ब° 9 AB °वृध° 10 AB °वृध° 11 AB °वृध° 12 AB °वृध° 13 AB °न्ति 14 ABT °वृधा° 15 TW omit पुत्रौ 16--16 TW omit

सात्यकिः सत्यकसुतस्तु युयुधानः तस्य युयुधानस्य जयः ततो जयात्कुणिः, ततो युगन्धरः तथा अनमित्रस्यैवअन्यस्यां पुत्रः पृश्निः वृजिनवान् ततः इति पाठान्तरम्। ततः पृश्नेः श्वफल्कः चित्रकश्चेति द्वौ सुतौ, ततः श्वफल्कात् गान्दिन्यां भार्यायां द्वादश सुताः अक्रूरादयो विश्रुताः प्रख्याता बभुवुः अक्रूरप्रमुखा येषामिति अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः ॥१४,१५॥

ततोऽक्रूरातिरिक्ता द्वादश, तान् दर्शयति -असङ्ग[1] इति ॥१६॥

विज० नाम्ना युयुधानः, सात्यकिरिति गुणनाम ॥९-१६॥

शत्रुघ्नो गन्धमादह्यः[2] प्रतिबाहुश्च द्वादश।
तेषां स्वसा सुचीराख्या[3] द्वावक्रूरसुतावपि ॥१७॥
देववानुपदेवश्च[4] तथा चित्ररथात्मजाः[5]।
पृथुर्विदूरथाद्याश्च[6] बहवो वृष्णिनन्दनाः ॥१८॥

कुकुरो भजमानश्च शुचिः कम्बलबर्हिषः।
कुकुरस्य सुतो वृष्णिः[7] विलोमा[8] तनयस्ततः ॥१९॥
कपोतरोमा तस्याऽनुः[9] सखा यस्य च तुम्बुरुः[10]।
अनोश्च[11] दुन्दुभिस्तस्य दरिद्योतः[12] पुनर्वसुः ॥२०॥
तस्याऽऽहुकश्चाहुकी च कन्या द्वावाहुकात्मजौ[13]।
देवकश्चोग्रसेनश्च चत्वारो देवकात्मजाः ॥२१॥
देववानुपदेव[15] श्च सुदेवो देववर्धनः।
तेषां स्वसारस्सप्ताऽऽसन् धृतदेवादयो[16] नृप! ॥२२॥
शान्तिदेवोपदेवा[17] च श्रीदेवा देवरक्षिता।
सहदेवा देवकी च वसुदेव उवाह ताः ॥२३॥

---

1 A B आ° 2 ABGJ °मादाश्च , MMa °मोदाह्व 3 H V सुचार्वाख्या , MMa सुचाराख्या , TW ससाराख्या 4 H V °लोनु° 5 MMa °चः 6 MMa °पृथुधाताद्या 7 ABGJ वह्नि , TW वृष्णे 8 H V °म त° , MMa °मास्त° 9 TW °स्याभूत् 10 MMa °म्ब° 11 अन्धको दु° , TW अन्धकाहु° 12 ABGJ तस्मादरिद्यो° , H V तस्य दविद्यो , MMa तस्य दरिद्रयो° 13 ABGJ चैवा° 14 H V लोनु° 15 MMa शान्ति 16 MMa °पालान्द सृष्टिश्च 17 MMa शान्तिदें

**कंसस्सुनामा न्यग्रोधः कङ्कशङ्कुस्सुभूस्तथा।**
**राष्ट्रपालो विसृष्टश्च तुष्टिमानौग्रसेनयः ॥२४॥**

**श्रीध० देववानिति**। पृथुरेक· विदूरथाद्या अन्ये च बहव । 'विपृथु धामाद्या' इति पाठे आद्यशब्देन विदूरथोऽप्युक्त·, ततश्च 'शूरो विदूरथादासीदिति वक्ष्यमाणनिर्देशोपपत्ति· । कुकुरादयश्चत्वारोऽन्धकस्य सुता इति ज्ञेयम् । तथा च पराशर· - "कुकुर भजमानशुचिकम्बलबर्हिषाऽऽख्यास्तथाऽन्धकस्य पुत्रा " इति विष्णु पु 4-14-12 ॥१७-१९॥

**कपोतेति**। अनोरन्धकः, अन्धकाद्दुन्दभिरित्यपि तद्वचनादेव ज्ञेयम् ॥२०,२१॥

**देववानिति** धृतदेवा आदिर्यासां शान्तिदेवादीनां षण्णां तास्सप्त ॥२२॥

**शान्तीति**। ताः सप्त ॥२३॥

**कंस** इति। औग्रसेनय· उग्रसेनस्य सुता ॥२४॥

**वीर०** - तेषामसन्नादीनां स्वसा भगिनी सुसारेत्याख्या यस्यास्सा। तत्राऽक्रूरस्य पुत्रौ देववानुपदेवश्चेति द्वावेव । एवं चित्ररथस्य शशिबिन्दोरारभ्य एकोऽन्वय उक्त·। अथ अन्वयान्तरमाह-तथा **चित्ररथात्मजा** इति। यथा शशिबिन्दु श्चित्ररथस्याऽत्मजः, तथाऽन्येपि चित्ररथस्याऽऽत्मजा· पृथुश्च विदूरथ आद्यो येषां ते च बहवो बभूवुः सात्वतसुतस्य बृष्णेर्वंश मनुक्रामति - वृष्णिनन्दना इत्यादि ॥१७,१८॥

कुकुरादयो वृष्णेः नन्दना· तत्र वृष्णेस्सुतस्येति शेष· । कुकुरस्य तनयो विलोमा ॥१९॥

ततो विलोम्नः कपोतरोमा अभूत्। यस्य च कपोतरोम्ण· तुम्बुरुस्सखा बभूव स कपोतरोमाऽभवदित्यर्थः। अथान्धकस्य सात्वतसुतस्याऽन्वयमाह - अन्धकादिति। अन्धकाद्दुन्दुभिः अन्धका इति प्रथमान्तपाठस्तूचित·। तत्र तथा चित्ररथात्मजा इत्यस्य शशिबिन्दोरारभ्यैते उक्तास्सर्वे चित्ररथवंशजा इत्यर्थः। पृथ्वादयस्तु वृष्णिनन्दनाः, तत्र पृथुर्विपृथुधन्याद्या इति पाठे,आदिशब्देन विदूरथोऽप्युक्तः, अत एव 'ततश्शूरो विदूरथात्' इति वक्ष्यमाणनिर्देशोपपत्ति । कुकुरादयश्चत्वारः सान्वया अन्धकसुता इत्यर्थः। तथा चाऽऽह पराशर - "कुकुरभजमानरुचिकम्बलबर्हिषाद्यास्तथाऽन्धकस्य पुत्राः चत्वारः" इति विष्णु पु 4-14-12 तस्य कपोतरोम्णो दुन्दुभिरित्यर्थ· । तस्य दरिद्योतः, तस्मात्पुनर्वसु·, तस्य पुनर्वसोराहुकः, आहुकी नाम कन्या च। आहुकस्यात्मजौ तु देवकश्चोग्रसेनश्चेति द्वौ, तत्र देवकस्यात्मजा· देववदादयश्चत्वार ॥२०,२१॥

---

1 ABGJ कङ्क°, MMa कङ्क 2 ABGJ °हू° 3 ABGJ पालोऽथ सृष्टिश्च , MMa °पालोऽब्द सृष्टिश्च 4 HV °यानाद्या 5 HV पुत्रा 6 AB आ° 7 TW सुतौ 8 AB वृष्णिन°

तेषां चतुर्णां स्वसारो भगिन्य· धृतदेवा आदिर्यासां ताः शान्तिदेवादयः धृतदेवया सह सप्त बभूवुः। ताश्च कन्याः वसुदेव उपयेमे ॥२२,२३॥

औग्रसेनय. उग्रसेनस्य सुता कंसादयो नव ॥२४॥

विज० औग्रसेनय· उग्रसेनपुत्रा ॥१७-२४॥

कंसा कंसवती कङ्का शूरभू[1] राष्ट्रपालिका ।
औग्रसेना[2] दुहितरो वसुदेवानुजस्त्रियः ॥२५॥

शूरो विदूरथादाऽऽसीत् भजमानस्[3]सुतस्ततः[4]
शिनिस्[5]तस्मात् स्वयम्भोजो हृदीकस्[6]तत्सुतो मतः ॥२६॥

देवबाहुश्शतधनुः कृतवर्मेति[7] तत्सुताः।
देवमीढस्य शूरस्य मारिषा नाम पत्न्यभूत् ॥२७॥

तस्यां स जनयामास दशपुत्रानकल्मषान् ।
वसुदेवं देवभागं देवश्रवसमानकम् ॥२८॥

सृञ्जयं श्यामकं कङ्कमनीकं[8] वत्सकं वृकम् ।
देवदुन्दुभयो नेदुरानका यस्य जन्मनि ॥२९॥

वसुदेवं हरेः स्थानं वदन्त्यानकदुन्दुभिम् ।
पृथा च श्रुतदेवा च श्रुतकीर्तिः श्रुतश्रवाः ॥३०॥

राजाधिदेवी[9] चैतेषां भगिन्यः पञ्चकन्यकाः ।
कुन्तेस्सख्युः पिता शूरो ह्यपुत्रस्य पृथामदात् ॥३१॥

सा[10]ऽऽप दुर्वाससो विद्यां देवहूतिं[11] प्रतोषितात् ।
तस्या वीर्यपरीक्षार्थमाजुहाव रविं[12] शुचिः ॥३२॥

1 HV सुराभू , MMa सुरभू 2 ABGHJV उग्रसेनदु° 3 TW ध्वज° 4 HMMaV सुतात्तत । 5 TW शिमि° 6 A.HV हृदिक° 7 HV °मीढ° 8 ABGJ कङ्क शमीक , TW कङ्कमनिक 9 MMa °देवी 10 MMa सा च 11 ABGJ हूती° , MMa हूता 12 ABGJ शुचिम् , TW भुवि

**श्रीध० कंसेति**। वसुदेवस्य ये अनुजा देवभागादयः, तेषां स्त्रियो भार्याः ॥२५॥

अन्धकस्य[1] सुतानां चतुर्णां प्रथमस्य कुकुरस्य वंश उक्तः। द्वितीयस्य भजमानस्य वंशमाह - शूरो विदूरथादिति "भजमानाच्च विदूरथः पुत्रोऽभूत् विदूरथाच्च शूरः" (विष्णु पु 4-14-22,23) इति पराशरादिवचनात्॥ यद्वा, पृथुर्विदूरथाद्याश्चेति पूर्वोक्तचित्ररथात्मजाद्विदूरथात् ॥२६॥

**देवेति**। देवमीढस्य यः शूरो नाम पुत्रस्तस्य। देवमीढो हृदीकस्यैव सुतः। तथाऽऽह पराशर - "तस्याऽपि कृतवर्मशतधनु र्देवमीढुषाद्या[3] पुत्राः[4] बभूवुः। देवमीढुषस्य[5] शूरस्याऽपि मारिषा नाम पत्न्यभवत्, तस्याश्चासौ दश पुत्रानजनयद्वसुदेवपूर्वान्" (विष्णुः पुः4-14-24,27) इति॥ २७,२८॥

**सृञ्जयमिति**। आनकाश्च नेदुः ॥२९॥

**वसुदेवमिति**। हरेः प्रादुर्भावस्य[6] स्थानम् ॥३०॥

**राजाधिदेवीति**। पृथायाः कन्याकावस्थायां कर्णोत्पत्तिप्रकारमाह कुन्तीरिति पञ्चभिः ॥३१॥

कदाचि[7]द्गृहमागतं दुर्वाससं पृथा परिचर्यादिना तोषयामासा ततश्च सा तस्माद्देवहूतिं देवाह्वानहेतुं विद्यामवाप; तदाह- साऽऽपेति ॥३२॥

**वीर०** कंसाप्रभृतयश्चतस्रश्च औग्रसेनाः उग्रसेनाज्जाताः दुहितरः, ताश्च वसुदेवानुजानां देवभागादीनां वक्ष्यमाणानां स्त्रियो भार्याः ॥२५॥

विदूरथाच्चित्ररथात्मजात्, वृष्णिसुताद्वा विदूरथात् शूरो जज्ञे तत्सुतः शूरसुतस्तु ध्वजमानः, ततो ध्वजमानात् शिमिः[8] तस्मात् शिमेः[9] स्वयम्भोजः, तत्सुतः, स्वयंम्भोजसुतः हृदीकः, तत्सुता· हृदीकसुता· देवबाह्वादयस्त्रय·, अयमेकः, शूरस्यान्वय उक्तः। अथ वंशान्तरमाह - देवमीढस्येति। देवमीढसुतस्य शूरस्य मारिषा नाम पत्नी बभूव। अत्र देवमीढस्येति विशेषणबलात् शूरो विदूरथादासीदिति प्राक्तनग्रन्थे विदूरथादेवमीढः, तस्मात् शूरो जात इति क्रमोऽवगन्तव्य.। "कृतवर्मेति तत्सुत इति" इत्यनन्तरग्रन्थे इतिशब्दः प्रभृत्यर्थकः। ततश्च तत्र देवमीढस्याऽपि सङ्ग्रहः। तस्य देवमीढस्य देवमीढसुतस्य शूरस्येत्यर्थः। अयश्च शूरो विदूरथधर्मजादन्यः। तथा चाऽऽह भगवान् पराशरः "तस्याऽपि कृतवर्मशतधनु देवमीढाद्या पुत्रा बभूवुः। देवमीढस्य शूरः, शूरस्याऽपि मारिषा नाम पत्न्यभूत्, तस्याश्चाऽसौ दशपुत्रानजनयत् वसुदेवपूर्वान् (विष्णुः पुः 4-14-24,27) इति। अत्र तस्यापीति वैष्णववचनस्य हृदीकस्यापीत्यर्थः ॥२६,२७॥

---

1 ABJ 'कसु' 2 HV यथा प' 3 HV 'ढाद्या 4 ABJ omit पुत्रा 5 HV 'ढस्य 6 HV 'वस्था' 7 HV 'त्स्वयमागत 8 AB 'नि 9 AB 'ने

तस्यां मारिषायां देवमीढश्शूरोऽकल्मषान् विशुद्धान् वसुदेवादीन् पुत्रानजनयत्। वसुदेवस्य आनकदुन्दुभिनाम निर्वक्तुं निमित्तमाह - यतो देवदुन्दुभय· आनकाश्च यस्य वसुदेवस्य जन्मनि प्रादुर्भावकाले नेदुः दध्वनुः ततस्तं वसुदेवं आनकदुन्दुभिरिति वदन्ति ॥२७,२९॥

आनकादीनां नादे हेतुं वदन् तं विशिनष्टि - हरेः श्रीकृष्णस्य अवतरिष्यमाणस्य स्थानमवतरणस्थानभूतं। पृथेति एतेषां। वसुदेवादीनां पृथाप्रभृतय. पञ्च कन्यकाः भगिन्य. स्वसार । तत्र पृथाया· कन्यावस्थायां कर्णोत्पत्तिप्रकारमाह-कुन्तेरिति पञ्चभि.। अत्राऽयमितिहास । कदाचिद्गृहमागतं दुर्वाससं पृथा परिचर्यादिना तोषयामास। ततश्च सा तस्माद्विद्यां देवाह्वानसमर्थामवाप्य परीक्षार्थं रविमाजुहाव। ततश्चागतं रविमालोक्य विस्मितायां तस्यां गर्भमाधाय रविर्ययौ। ततस्तस्याः कर्णो जज्ञे इति सोऽयमत्रोच्यते। पिता वसुदेवपृथादीनां पिता शूर· पृथां दुहितरं सख्युरपुत्रस्य कुन्ते· कुन्तिभोजस्य अदात् दुहितृत्वेन ददौ। सख्युरपुत्रस्येति विशेषणद्वयं दानहेतुपरम् । यत कुन्तिभोजाय दत्ता, अत एव पृथा कृन्तीति नामान्तरं लेभे ॥३०,३१॥

ततस्सा पृथा कदाचित् प्रतोषितात् दुर्वाससः देवहूतिं देव आहूयते अनयेति तथा, तां विद्याम्, आप तस्या विद्याया· वीर्यपरीक्षार्थं सामर्थ्यपरीक्षार्थं रविं सूर्यं भुव्याऽऽजुहाव ॥३२॥

**विज०** वसुदेवस्यानुजानां देवभागादीनां स्त्रियो भार्याः ॥२५,२६॥

तस्य हृदिकस्य सुता ॥२७,२८॥

यस्य वसुदेवस्य जननसमये दुन्दुभ्यानकवाद्यनदनाद्वसुदेवस्य नामान्तरमस्तीत्याह - **वसुदेव** मिति। स्थान-मवतारस्य ॥२९,३०॥

एतषां वसुदेवादीनां शूरस्य सख्युः पुत्रस्य कुन्ते· ॥३१॥

देवहूतां देवा हूयन्तेऽनयेति देवहूता देवाह्वानकरीत्यर्थं तां विद्यां दुर्वाससः, अलभतेति शेष·। तस्याः विद्याया·, शुचि ऋतुस्नाता ॥३२॥

**[1]तदा प्राहाऽगतं देवं वीक्ष्य विस्मितमानसा ।**
**[2]प्रत्ययार्थं प्रयुक्ता मे याहि देव! क्षमस्व [3]मे ॥३३॥**
**अमोघं [4]देवसन्दर्शमाधास्ये [4]त्वयि चाऽऽत्मजम् ।**
**योनिर्यथा न दुष्येत कर्ताऽहं ते सुमध्यमे ॥३४॥**

---

1 ABGJ तदैवोपा° , MMa तदैवोप° 2 MMa °यार्थे 3 H V भो॰ , TW भो.। 4--4 ABGJ दर्शनदेवि आधित्से , TW देवसन्दर्शं आधित्से

इति तस्यां स आधाय गर्भं सूर्यो दिवं गतः ।
सद्यः कुमारः संजज्ञे द्वितीय इव भास्करः ॥३५॥

तं साऽत्मजन्नदीतोये कृच्छ्राल्लोकस्य बिभ्यती ।
प्रपितामहस्तामुवाह पाण्डुस्ते सत्यविक्रमः ॥३६॥

श्रुतदेवान्तु कारूषो वृद्धशर्मा समग्रहीत् ।
यस्यामभूद्दन्तबक्त्र ऋषिशप्तो दितेस्सुतः ॥३७॥

केकयो धृष्टकेतुश्च श्रुतकीर्तिमविन्दत ।
सन्तर्दनादयस्तस्यां पञ्चाऽऽसन् कैकयास्सुताः ॥३८॥

राजाधिदेव्यामावन्त्यौ जयत्सेनोऽजनिष्ट ह ।
दमघोषश्चेदिराजः श्रुतश्रवसमग्रहीत् ॥३९॥

शिशुपालस्सुतस्तस्याः कथितस्तस्य सम्भवः ।
देवभागस्य कंसायां चित्रकेतुबृहद्बलौ ॥४०॥

**श्रीध०-** देवमुपागतं वीक्ष्य सा प्राह - **तदेति** प्रत्ययार्थं परीक्षार्थं मया विद्या प्रयुक्ता, न तु त्वंया किञ्चित्कार्यम् इत्यभिसन्धिना, अतो याहीति ॥३३॥

एवमुक्तो रविरुवाच - **अमोघमिति**। कन्याऽहमिति चेत् तत्राऽऽह - यथा योनिर्न दुष्येत, तथाऽहं कर्ता करिष्यामि ॥३३-३८॥

**राजाधिदेव्यामिति -** आवन्त्यौ विन्दानुविन्दौ ॥३९॥

**शिशुपाल इति**। तदेवं वसुदेवस्य भगिनीनां पतीन् पुत्रांश्चोक्त्वा तद्भ्रातॄणां नवानां पत्नीः पुत्रांश्चाऽऽह - **देवभागस्येति** सार्धैः चतुर्भिः ॥४०॥

**वीर०** तदैवोपगतमागतं देवं रविं वीक्ष्य विस्मितं मानसं यस्या सा सूर्यमाह - किमिति ? हे **देव**। मे मया प्रत्ययार्थं प्रत्यभिज्ञानार्थं वीर्यपरीक्षार्थमिति यावत्, इयं विद्या प्रयुक्ता अतस्त्वं याहि, मां क्षमस्व मदपरधं क्षमस्वेति ॥३३॥

---

1 MMa समाधाय 2 ABGJMMa पाण्डुर्वै 3 MMa "वीन्तु 4 TW दृढवर्मा 5 H V इतिशप्तो , MMa इतिशब्दो 6 ABGJ कैकेयो 7 H V प्रतर्द" 8 ABG तस्य , MMa तस्या 9 H V केकयात्मजा 10 TW "न्त्यात् 11 ABGJ जयसेनो 12--12 ABJ नवभि श्लोकार्धै । 13 TW omit किमिति?

ततो रविराह - देवसन्दर्शं देवतुल्यम् अमोघमात्मजं त्वयि आधित्से उत्पादयितुमिच्छामि। आधत्स इति त्वपपाठः, रुपासिद्धेः। यद्वा, देवसन्दर्शं देवस्य मम दर्यनं, क्लीबत्वमार्षम्, अमोघं फलाविनाभूतम्, अतः त्वय्यात्मजमाधित्से इत्यर्थः। कन्याऽहमित्यत्राह - तव योनिर्यथा न दुष्येत तथाऽहं, हे सुमध्यमे! कर्ता करिष्यामि ॥३४॥

इतीत्थमुक्त्वा तस्यां पृथायां गर्भं समाधाय सूर्यो दिवं गतः। ततः सद्य एव कुमारो जज्ञे, स च द्वितीय इव भास्करः भास्करतुल्य· ॥३५॥

सा पृथा लोकस्य लोकात् बिभ्यती सती कृच्छ्रात् दुःखात् नदीतोये तं कुमारमत्यजत्। तां पृथां तव प्रपितामहः सत्यविक्रम· पाण्डुरुवाह उपयेमे ॥३६॥

श्रुतदेवां पृथानुजां कल्षसुतो[1] दृढवर्मा समग्रहीदुपयेमे इत्यर्थः[2]। वृद्धशर्मेति पाठान्तरम्। श्रुतकीर्तिस्तु दितेस्सुतः विप्रचितः कैकयश्च धृष्टकेतुश्च अनिन्दत दूषिताङ्कृतवन्त· चौर्येण सञ्जग्मुरित्यर्थः। प्रसेकाभिप्राय मेकवचनम्। तस्या निन्दितायाः श्रुतकीर्तेः सन्तर्दनादयः पञ्च सुता केकयाः[3] कैकयाज्जाता बभूवुः ॥३७,३८॥

**राजाधिदेव्यां** तु आवन्त्यः अवन्तेस्सुत·, तस्मादवन्तेस्सकाशादित्यर्थ·। जयत्सेनाख्यः सुतोऽजनिष्ट जज्ञे। श्रुत श्रवसं तु चेदिराजो दमघोषाख्यः समग्रहीत् उपयेमे इत्यर्थ· ॥३९॥

तस्याः श्रुतश्रवस· सुत **शिशुपालः**, तस्य शिशुपालस्य सम्भव· उत्पत्तिप्रकार· कथितः, सप्तमस्कन्ध इति शेष·। तदेवं वसुदेवस्य भगिनीनां पतीन् पुत्रांश्चोक्त्वा तद्भ्रातॄणां नवानां पत्नी· पुत्रांश्चाह - **देवभागस्येति** नवभि· श्लोकार्धैः[4]। देवभागस्य कंसायां भार्यायां चित्रकेतुश्च बृहद्बलश्चेत्येतौ सुतौ जातौ। तथा देवश्रवस·कङ्कवत्यां भार्यायां सुवीर इषुमांश्चेति द्वौ सुतौ जज्ञाते। कङ्कात्तु तद्भार्यायां कङ्कायां बकः, सत्यजित्, पुरुजित् - त्रयो जाता· ॥४०॥

**विज०** प्रत्ययार्थं विश्वासार्थं प्रयुक्ताया विद्याया माहात्म्यञ्च। भो! **देव क्षमस्व** याहिति ॥३३॥

कुन्त्याऽभिहितो रवि· कुन्तीमाह - **अमोघ**मिति। देवसन्दर्शनममोघं सफलं, जानीहीति शेषः। स्वकर्तव्यमाह - आधास्य इति। मैथुनयोग्यतारुण्यादर्शनाच्छिन्नयोनिर्दुष्टा स्यादिति पृथाया मनोगतशङ्कापरिहारार्थमाह - योनिरिति। तथा कर्ता, लोकस्यापवादादिति शेषः ॥३४,३५॥

तव प्रपितामहः पाण्डु· ॥३६॥

---

1 A B °षजो 2 A.b omit इत्यर्थ । 3 A b omit केकया 4 TW श्लोकै सार्धै

वसुदेवभगिनीनां श्रुतदेव्यादीनां विवाहं कथयति श्रुतदेवीमित्यादिना। इतिशब्दो दितेः सुतः पूर्वं दितेः सुत इति शब्दो यस्य विजयस्य स दितेःसुतः इति शब्दः सनकादिभिरेवं शप्तो विजयः प्रागदिते· सुतोऽभूत्। पश्चाद्धिरण्यक इति स एवाऽधुना दन्तवक्त्र इति जात इति भावः ॥३७॥

नाम्ना धृष्टकेतुः केकय विषयाधिपतित्वात् कैकय शब्दश्चशब्द पूर्वेण समुच्चीयते ॥३८॥

आवन्त्यौ विन्दानुविन्दौ अजनिष्ट जनयामास ॥३९॥

वसुदेवभ्रातॄणां वंशं कथयति - देवभागस्येत्यादिना ॥४०॥

कंसवत्यां देवश्रवसः सुवीर इषुमांस्तथा।
बकः कङ्कात्तु कङ्कायां सत्यजित्पुरुजित्तथा ॥४१॥

सृञ्जयो राष्ट्रपाल्यान्तु वृषदुर्मर्षणादिकान्।
हरिकेशहिरण्याक्षौ शूरभूम्यान्तु श्यामकः ॥४२॥

मिश्रकेश्यामप्सरसि वृकादीन् वत्सनामकः।
तक्षपुष्करसाल्वादीन् दूर्वाक्ष्यां वृक आदधे ॥४३॥

सुमित्रानीकपालादीन् अनीलातु सुदामनी।
आनकः कर्णिकायां वा ऋतधामजयावपि ॥४४॥

पौरवी रौहिणी भद्रा मदिरा रोचना इला ।
देवकीप्रमुखा आसन् पत्न्य आनकदुन्दुभेः ॥४५॥

बलं गदं सारणञ्च दुर्मदं विपुलंध्रुवम् ।
वसुदेवस्तु रोहिण्यां कृतादीनुदपादयत् ॥४६॥

सुभद्रो भद्रबाहुश्च दुर्मदो भद्र एव च ।
पौरव्यास्तनया ह्येते भूताद्या द्वादशाभवन् ॥४७॥

---

1--1 ABGJMMa कङ्काया मानकाज्जात 2 ABGJ °ल्याश्च 3 H V सुर 4 ABGJ °म्याश्च 5 MMa °त्र° 6 TW बका° 7 ABGJMMa वत्सकस्तथा 8 ABGJ शाला° , MMa साला° 9 ABGJ दुर्वाक्ष्यां , MMa उर्वस्या 10 ABGJ °त्रार्जुन 11 H M Ma V बाणादीन् 12 ABGJ शमीकात्तु , TW अनीकस्तु 13 ABGJ सुदामिनी , TW सुधामनि 14 ABGJ कङ्कश्च , MMa गाण्डूष 15 ABGJMMa वै 16 MMa कृतधीरुद° , TW कृपादीनुद° 17 ABGJ °वाहश्च

**नन्दोपनदकृतकशूराद्या मदिरात्मजाः ।**

**कौसल्या केशिनन्त्वेकमसूत कुलनन्दनम् ॥४८॥**

**श्रीध०** वसुदेवस्य पत्नी· पुत्रांश्चाह - **पौरवीत्ये**कादशभिः ॥४२-४७॥

**नन्देति**। कौशल्या भद्रा ॥४८॥

**वीर०** राष्ट्रपाल्या भार्यायां सृञ्जयो बृषादीन् जनयामास। शामकस्तु शूरभूम्यां भार्यायाम्। शूरभूत्यामिति पाठान्तरम्। हरिकेशहिरण्याक्षौ जनयामास ॥४१,४२॥

तथा वत्सकोऽपि मिश्रकेश्यामप्सरसि बकादीन्सुतान् नवाजीजनत्। वृकस्तु दूर्वाक्ष्यां भार्यायां पुष्करसाल्वादीन् सुतानादधे उत्पादयामास ॥४३॥

शमीकस्तु सुधामनि भार्यायां सुमित्रादीन् सुतानादधे आनकस्तु कर्णिकायां पत्न्यां ऋतधामजयौ सुतावादधे ॥४४॥

अथ वसुदेवस्य पत्नी पुत्रांश्चाह - पौरवीत्येकादशभि.। देवकी प्रमुखं प्रधानं[1] यासां ताः पूर्वोक्ताः पौरव्यादयश्च आनकदुन्दुभेर्वसुदेवस्य पत्न्य· आसन् बभूवु ॥४५॥

तत्र रोहिण्यां पत्न्यां बलादीन् कृपादीन् सुतानुपपादयत् जनयामास। तत्र बलो बलरामः कृप आदिर्ज्येष्ठो यषां तान् बलादीनित्यर्थ । बलादीन् कृपादींश्चेति वा। आदिशब्देन अनुक्ता अन्ये ग्राह्य·; एवमग्रेऽपि ॥४६॥

भूत आदिर्येषां ते एते सुभद्रादयो द्वादश पौरव्यास्तनया· । आदिशब्दग्राह्यैरुक्तसंख्यापूर्तिः ॥४७॥

तथा शूराद्यानन्दादयो मदिराया आत्मजा । कौसल्या भद्रा तु केशिनमेकमेव सुतमसूत। कथम्भूतम्? कुलं नन्दयतीति तथा ॥४८॥

**विज०** उदपादयत् उत्पादयामास ॥४१-४८॥

**रोचनायान्ततो[2] जाता हस्तहेमाङ्गदादयः ।**

**इलायामुरुवल्कादीन् यदुमुख्यानजीजनत्[3] ॥४९॥**

**त्रिपृष्ठो[4] धृतदेवायामेक[5] आनकदुन्दुभेः ।**

**शन्तिदेवात्मजा राजन् प्रश्रमप्रश्रितादयः[6] ॥५०॥**

---

1 A B omit प्रधान 2 ABGJ °मतो 3 MMa °या पु° 4 ABGJ विपृष्ठो 5 MMa या जात 6 ABGJ श्रम प्रतिश्रुतादय

राजानः कल्पवर्षाद्या[1] उपदेवासुता[2] दश।
वसुहंससुधन्वधाः[3]श्रीदेवायास्तु[4] षट्सुताः ॥५१॥

देवरक्षितया लब्धा नव चाऽत्र गदादयः ।
वसुदेवः सुतानष्टावाददे[5] सहदेवया ॥५२॥

पुरुविश्रुतमुख्यांस्तु[6] साक्षाद्धर्मो वसूनिव[7]।
वसुदेवस्तु देवक्यामष्ट[8] पुत्रानजीजनत् ॥५३॥

कीर्तिमन्तं सुषेणञ्च भद्रसेनमुदारधीः ।
ऋजुं[9] समदनं भद्रं सङ्कर्षणमहीश्वरम् ॥५४॥

अष्टमस्तु तयोरासीत् स्वयमेव हरिः किल ।
सुभद्रा च महाभागा[10] तव राजन् पितामही ॥५५॥

यदा[11] यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च[12] पाप्मनः ।
तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः ॥५६॥

**श्रीध० अष्टमेति**। अष्टमस्तु स्वयमेवाऽऽसीत् न तु कर्मादिना हेतुना, ताभ्यां च जनितो वा। यतोऽसौ श्रीहरिः ॥४९-५५॥

तदेवोपपादयति - **यदेति** त्रिभि ॥५६॥

**वीर०** ततो वसुदेवाद्रोचनायां हस्तहेमान्नदादयो जाता । इलायान्तु उरुवल्कादीन् यदुमुख्यान् यादवश्रेष्ठान् सुतानजीजनत्, वसुदेव इति शेषः ॥४९॥

देवकीप्रमुखा आसन् पत्न्य इत्यनेनोक्ताभ्य अन्या अपि पत्न्य आनकदुन्दुभेरासन्निति सूचितम्। देवकोग्रसेनयो. स्वसृ र्वसुदेव उपयेमे इतिचोक्तं पुरस्तात्। इदानीं तास्तत्पुत्रांश्चाह-त्रिपृष्ठ इत्यादिना। आनकदुन्दुभेर्वसुदेवस्य धृतदेवायां भार्यायां त्रिपृष्ठ एक एव जज्ञे। प्रशमप्रश्रितादयस्तु शान्तिदेवाया आत्मजा ॥५०॥

---

1 H V वृष्ट्याद्या 2 MMa °व्या 3 ABGJ वशाद्या 4 MMa °याश्च 5 ABGJMMa °दधे 6 H V पुरूढश्रुतमुख्यांश्च , MMa पुरुवत्समृदुमुख्यान् , TW पौरव श्रुतमुख्याश्च 7 TW °निच 8 TW मष्टौ 9 ABGJMMa सम्मर्दन 10 H V भागा 11 MMa यदाहि 12 TW भवति

कल्पवर्ष आदि येषां ते राजानस्तु दश उपदेवायास्सुताः। वसुः हंसश्च सुधन्वायास्सुतौ। श्रीदेवायास्सुतास्तु षट्, देवरक्षितया वसुदेवस्य भार्यायाः गदादयो नव सुता लब्धाः प्रसूता इत्यर्थः। वसुदेवस्सहदेवया भार्यायाः साधनभूतया अष्टौ सुतान्, पौरवः श्रुतश्च मुख्यौ येषां तानाददे अजीजनत्, धर्मो यथा साक्षाद्वसूनष्टावादधे, तद्वत्। देवक्यामपि वसुदेवोऽष्टौ कीर्तिमदादीन् पुत्रानजीजनत् ॥५१-५३॥

अहीश्वरं नागेन्द्रमिति सङ्कर्षण विशेषणम्। उदारधीरिति वसुदेवविशेषणम्। एवञ्चैते कीर्तिमदादयस्सप्त ॥५४॥

अष्टमं सुतमाह -अष्टमस्तु इति। तयो वरसुदेवदेवक्योरष्टमस्सुतस्तु स्वयं हरिरेव श्रीकृष्णरूपेणाऽऽसीत् अवततार। तथा सुभद्रा नामैका कन्या तयोर्जज्ञे। सा च महाभागा महाभाग्यशालिनी हे राजन्! तव पितामही पितामहस्यार्जुनस्य भार्या ॥५५॥

अष्टमस्तु सुतो हरिरेवाऽऽसीदित्युक्तम्। तयो तत्र को वा हरेरवतारकालः? किं तस्य जन्मनिमित्तम्? किंवाऽस्य जन्म प्रयोजनम् - इत्यादिप्रश्नान् सङ्ग्रहेण तच्चरित्रञ्चाऽह - यदेत्यादिन यावत्समाप्ति। यदा हि यस्मिन् काले हि धर्मस्य क्षयः पाप्मनोऽधर्मस्य, अभ्युत्थानमिति शेष., भवति तदा तु तस्मिन् काले तु भगवानीशो हरिरात्मानं सृजते अवतारयति। यदाहीत्यादिना तदात्वित्यन्तेन अवतारकाल उक्त। हरिरित्यनेन आश्रितार्तिहरत्वमुक्तं, तदेवावतारस्य मुख्यं प्रयोजनमिति सूचितम्। भगवानात्मानं सृजते इत्यनेन अवतारदशायामपि षाड्गुण्यपूर्तिरुक्ता ईशा इत्यनेन अकर्मवश्यत्वरूपं स्वातन्त्र्यमुक्तम् ॥५६॥

विज० *अष्टमस्त्विति। हरति आकर्षति वशीकरोति सर्वमिति हरिःपूर्णभगवान्। स एव स्वयमासीत् नत्वाविर्भावान्तरेण किलेति "एते चांऽशकलाः पुंस कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" (भाग1-3-28) प्रसिद्धं निश्चिनोति ॥४९-५५॥

तत्र भगवदवतारमात्रस्य सामान्यतः कारणमाह - यदेति। श्रीगीतासु चैवं "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत!" (भ.गी. 4-7) इत्यादि ॥५६॥

**न ह्यस्य जन्मनो हेतुः कर्मणो वा महीपते ।**
**आत्ममायां विनेशस्य परस्य द्रष्टुरात्मनः ॥५७॥**

**यन्मायाचेष्टितं पुंसः स्थित्युत्पत्यप्ययाय हि ।**
**अनुग्रहस्तन्निवृत्तेरात्मलाभाय चेष्यते ॥५८॥**

---

* 'अष्टमस्त्विति' आरब्ध "इत्यदि पर्यन्त ग्रन्थभाग M Ma प्रकाशयो नोपलभ्यते। 1 TW 'ता' 2 TW 'र्या' 3 TW पुत्रा 4 HV जनने

**अक्षौहिणीनां पतिभिरसुरैर्नृपलाञ्छनैः ।**
**भुव आक्रम्यमाणाया[1] ह्याभाराय[2] कृतोद्यमः ॥५९॥**

**कर्माण्यपरिमेयानि[3] मनसाऽपि सुरेश्वरैः ।**
**सहसङ्कर्षणश्चक्रे भगवान्मधुसूदनः ॥६०॥**

**कलौ जनिष्यमाणानां दुःखशोकतमोनुदम् ।**
**अनुग्रहाय भक्तानां[4] सुपुण्यं व्यतनोद्यशः ॥६१॥**

**यस्मिन् सत्कर्णपीयूषे यशस्तीर्थवरे सकृत् ।**
**श्रोत्राञ्जलिरुपस्पृश्य धुनुते कर्मवासनाम्[5] ॥६२॥**

**भोजवृष्ण्यन्धकमधुशूरसेनदशार्हकैः ।**
**श्लाघनीयेहितः शश्वत् कुरुसञ्जयपाण्डुभिः ॥६३॥**

**स्निग्धस्मितेक्षणोदारैः[6] वाक्यैर्विभ्रमलीलया[8] ।**
**नृलोकं रमयामास मूर्त्या सर्वाङ्गरम्यया ॥६४॥**

**श्रीध०** नहीति। ईशस्य मायानियन्तुः। परस्याऽसङ्गस्य द्रष्टुः साक्षिणः। आत्मनः सर्वगस्य। न ह्येवम्भूतस्य मायाविनोदं विना जन्मनः कर्मणो वा हेतुस्सम्भवतीत्यर्थः ॥५७॥

**यदिति।** किञ्च यस्य मायाचेष्टितं पुंसो जीवस्याऽनुग्रहस्तस्य सर्वजीवानुग्राहकस्य कुतः कर्मादिपारतन्त्र्येण जन्मादिसम्भवः ? अनुग्रहमेवाऽऽह। हि यस्मात्तदेव स्थित्यादये इष्यते। प्रलये लीनोपाधेजीर्वस्य धर्माद्यसम्भवात् उपाधिसृष्ट्यादिना धर्मादिसम्पादनेनाऽनुग्रहः। तथाऽऽत्मलाभाय मोक्षाय चेष्यते। तत्र हेतुः तेनैव श्रूयमाणेन तस्य स्थित्यादेः निवृत्तेः ॥५८॥

तस्य चेष्टितं भूमेरपि[9] अनुग्रह इत्याह - **अक्षौहिणीनां** इति द्वाभ्याम्। अभाराय भारपरिहाराय ॥५९॥

**कर्माणीति।** सुरेश्वरैरपि मनसाप्यपरिमेयानि[10] अवितर्क्याणि सङ्कर्षणेन[11] सहितश्चक्रे ॥६०॥

सङ्कल्पमात्रेण भूभारहरणसमर्थस्याऽपि कर्मकरणं यशोविस्तारद्वारा भक्तानुग्रहार्थमित्याह-**कलाविति** द्वाभ्याम्। दुःखशोकतमांसि नुदतीति तथा, तद्वशो व्यतनोत् ॥६१॥

---

1 MMa माणाना 2 ABGJ अभाराय , MMa अभावाय 3 ABGJ °याणि 4 MMa °भूताना 5 MMa °ना । 6 ABGJMMa °क्षितो° 7 ABGJMMa °क्रम 8 ABGJ omit सर्व 9 ABGJ °रनु° 10 ABJ °णि 11 ABJ °णस°

**यस्मिन्निति**। यस्मिन् सतां कर्णपीयूषे यशोरूपे तीर्थवरे श्रोत्रमेवाऽञ्जलिः पानसाधनं यस्य स पुरुषः सकृदप्युपस्पृश्य आचमनमात्रं कृत्वा तत्सौन्दर्याकृष्टचित्त· कर्मवासनां धुनुते ॥६२॥

तदेवाऽऽह द्वाभ्याम् - **भोजेति**। भोजादिभि श्लाघानीयमीहितं यस्या ॥६३॥

**स्निग्धेति**। सर्वैरङ्गै रम्यया मूर्त्या च ॥६४॥

**वीर०** तदेव व्यनक्ति - **नहीति**। अस्य भगवत· जन्मन. कर्मण· देवमनुष्यादिसजातीयचेष्टाया वा आत्ममायां विना स्वसंकल्पं विना अन्यो हेतुः पुण्यापुण्यादिरूपो न विद्यते। हे महीपते! अनेन जन्मकारणं स्वसङ्कल्प एव, नतु जीवस्येव पुण्यापुण्यादिकमित्युक्तम्। तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि - ईशस्य प्रकृति पुरुषयोः नियन्तु·। ननु भृत्यादीन्नियमयन्नपि राजादिः कर्मवश्य एव दृष्ट इत्यतो विशिनष्टि, - द्रष्टुरिति पुण्यापुण्यादिकतृन् क्षेत्रज्ञान् पश्यतः नतु पुण्यापुण्यादिकं कुवर्त इत्यर्थ·। तत्कर्तुर्हि तद्वश्यतेति भावः। कथम्? एक सर्वान् क्षेत्रज्ञान् पश्यति इत्यतो विशिनष्टि परस्याऽऽत्मनः इति परमात्मन इत्यर्थः। चिदचिदात्मकं लोकत्रयमप्यन्त. प्रविश्य व्याप्यगतैर्धर्मैरस्पृष्टस्सन् योऽन्तरात्मतया बिभर्ति स परमात्मा। यथोक्तं[1] भगवता - "परमात्मेत्युदाहृत यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः" (भ.गी 15-17) इति। भरणमत्र धारकत्वेन चिदचिद्वस्तुनोः कर्मानुगुणं प्रेरणम् ॥५७॥

ननु अवतारदशायां देवमनुष्यादिसजातीयचेष्टां कुर्वन्नप्ययं केवलं द्रष्टैव, नतु तत्कर्तेति कथमुच्यते? इत्यत आह - **यन्मायेति**। यस्य भागवतो मायाचेष्टितं स्वसङ्कल्पैकहेतुकं चेष्टितं तत्पुंसो जीवस्य सर्गाद्यर्थमेव कांश्चिदुत्पादयितुं, कांश्चित्पातुं कांश्चिच्च संहर्तुमेव, नतु स्वस्य पुण्यापुण्यत्वादिरूपार्थमिति भाव.। अप्ययो लय·। तर्हि किं जीवसर्गाद्यर्थेन मायाचेष्टितेन प्रयोजनम्? प्रत्युत अन्यानर्थकारिणा चेष्टितेन स्वस्याऽप्यनर्थ आपद्येतेत्यत्राऽऽह - अनुग्रह इति। मायाचेष्टितरूपो व्यापारोऽनुग्रहः अनुग्रह रूप एव, जीवाननुग्रहीतुमेव चेष्टते इति यावत्। चेष्टितस्यानुग्रहरूपतामेव दर्शयति - तन्निवृत्तेरात्मलाभाय चेष्यत इति। स च मायाचेष्टितरूपो व्यापारः तन्निवृत्ते· सर्गादिनिवृत्तेः पश्चात् आत्मलाभाय मोक्षाय। चोऽवधारणार्थ·। आत्मलाभायैवेष्यते रामकृष्णादिरूपेणावतीर्णेन भगवता ये सृष्टा· पालितास्संहृताश्च ते सर्वे तद्दिव्यमङ्गलविग्रहसम्बन्धसहशय्यासनभोजनसन्दर्शनादिभिः देहावसने मुक्ताः भवेयुरित्येवमर्थमेव भगवान् चेष्टत इत्यर्थः। यद्वा तच्चेष्टितमनुग्रहरूप एव निवृत्तेरात्मलाभाय निवृत्तिधर्मपूर्वकात्मलाभायैव इष्यते सृष्ट्यादिसमर्थं मामवलोक्य मत्प्राप्तिसाधनं निवृत्तिधर्मं मद्भक्तिरूपमनुष्ठाय मुच्येरन् इत्येवमर्थं चेष्टत इत्यर्थ· ॥५८॥

---

1 A,B तथागीत

अवतारप्रयोजनं हरिशब्देन सूचिनं व्यनक्ति - **अक्षौहिणीना**मिति। नृपाणामिव लाञ्छनानि येषां तैर्नृपवदवभासमानै रित्यर्थः। असुरैरसुरम्पत्त्या जातैरनेकाक्षौहिणीसंख्यानां सेनानां पतिभि· चैद्यादिभिराक्रम्यमाणाया भुव· पृथ्व्या अभाराय भाराभावाय उद्यमोऽवताररूपः कृतः येन स भुवो भारापहरणायावतीर्ण[1] इति[2] भाव· ॥५९॥

तथैव चाकरोदपीत्याह - **कर्माणी**ति। सुरेश्वरैः ब्रह्मादिभिरपि मनसाप्यपरिमेयानि अवितर्क्याणि कर्माणि सङ्कर्षणसहितो भगवान् मधुसूदनः श्रीकृष्णश्चक्रे पूतनाशकट यमलार्जुनकेशिकुवलयापीडचाणूरमुष्टिकतोसल कंसचैद्यादिसंहाररुपाणि कर्माणीति भाव· ॥६०॥

प्रधानं प्रयोजनं दर्शयति - **कलाव**ति। कलौ युगे जनिष्यमाणानां भक्तानामनुग्रहाय तेषां दु खादिकं नुदत्यपनयतीति तथा तत्पुपुण्यं वदतां शृण्वताञ्च पुण्यावहं यशो व्यतनोत्। भूभारहरणस्य सङ्कल्पमात्रेणाऽपि सिद्धेरिदमेवावतारस्य[4]प्रधानं प्रयोजनमिति भाव· ॥६१॥

यशोवितानस्य भक्तानुग्रहरूपतां दर्शयितुं यशो विशिनष्टि - **यस्मिन्नि**ति। सतां साधूनां कर्णयो· श्रोत्रयो पीयूषे अमृततुल्ये यस्मिन् यशोरूपे तीर्थश्रेष्ठे श्रोत्रमेवाऽञ्जलि· पानसाधनं यस्य स पुरुष· सकृदप्युपस्पृश्य आचम्य कर्मवासना· धुनुते, तत्सौन्दर्यादिगुणाकृष्टचित्तः कर्मवासनाः क्षपयति मुक्तो भवतीत्यर्थ· ॥६२॥

तदेवाह द्वाभ्याम् - **भोजा**दिभि· कुर्वादिभिश्च श्लाघनीयमीहितं चेष्टितं यस्य सः स्निग्धैस्सानुरागैरीक्षितैः अवलोकनै· धीरैर्गम्भीरैर्वाक्यैर्वचोभिश्च। विक्रमलीलया विक्रम· पादविक्षेप· तद्रूपया लीलया च सर्वै रञ्जै.रम्यया मूर्त्या च नृलोकं रमयामास ॥६३,६४॥

**विज०** ननु, यदि श्रीनारायणो जीववज्जन्मकर्माणि भजते तर्हि संसारनिवृत्तये तत्सेवा व्यर्थेति तत्राह- **नही**ति। विषमो दृष्टान्तः। तथा हि जीवस्यजन्मादिमत्वे पुण्यपापे कारणं विधिबद्धत्वात्, तदनियतत्वात् ईश्वरस्य नहि ते स्त । नहि कार्यमकारणमिति न्यायात् कारणं वक्तव्यं चेत् लोकानुग्रहोद्बुद्धात्मेच्छैवेति ब्रूम·। अनुग्रहोद्बोधस्यापि धर्मपाप्मनो क्षयवृद्धिदर्शनमित्युक्तम्। अतस्तत्सेवा न व्यर्थेत्यर्थः। हरेरविधिबद्धत्वेऽपि जन्मादिदर्शनात् अतर्कितत्वेन पुण्यादिलेपित्वेन दु·खित्वं स्यादिति, तत्राऽह - ईशस्येति। ईशस्य क्वचिन्न मे दुखित्वं स्यात् इति तन्निवारणसमर्थत्वात्, अन्यस्य तदभावात् जीव एव ईश· किं न स्यात् इति तत्राह - परस्येति। ननु किं तद्वैलक्षण्यम्? येनेशादन्यो जीवः स्यादिति तत्राऽह - द्रष्टुरिति "यस्सर्वज्ञस्सर्ववित्" इति श्रुते । "नहि द्रष्टुर्दृष्टे· विपरिलोपो विद्यते" इत्यादेश्च सार्वज्ञ्यं जीवाद्भिन्नत्वेन मुख्यलक्षणम्। सार्वज्ञ्यं स्वाभाविकं न तु नैमित्तिकमित्याशयेनाऽह -

---

1 TW °हाराय 2 TW इत्यर्थ । 3 A,B °दित्याह 4 A,B मुख्य

आत्मन इति। एवंविध· क इत्यतोवाह - आत्मन इति। "आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि" (वैज. को 6-1-6) इति यादवः ॥५७॥

ननु जीवव्यावर्तकं लक्षणं जगत्कर्तुत्वादिकं तत्प्रकृतेः, अतः सार्वज्ञ्यमात्रेण कथमीश्वरो जीवाव्द्यावर्त्यः? विशेषणस्य "सर्वज्ञस्त्रिपुरान्तकस्त्रिनयन." इत्यादावन्यविषयत्वेन व्यभिचारित्वात्[1] उक्तदोषानिस्तारः इत्यात्राऽऽह- यन्माययेत्यादि। यस्येश्वरस्याधीनाया· मायाया. प्रकृतेश्चेष्टितं परिमाणलक्षणं पुंस इत्युपलक्षणम्। प्रपञ्चस्य स्थित्युत्पत्तिसंहाराय भवति, स्थित्यादेर्हेतुर्भवतीत्यर्थः। तदेकविषयत्वद्योतनाय चतुर्थीयम्। एकवद्भावादेकवचनम्। "प्रकृतिं पुरुषञ्चैव प्रविश्य पुरुषोत्तमः" इति स्मृतिं हिशब्देन दर्शयति। यदनुग्रह प्रकृतिचेष्टाया. निवृत्तेर्हेतु[2]. निवृत्तिश्चाऽऽत्मलाभाय सच्चिदानन्द स्वरूपाविर्भावाय। "बलमानन्द ओजश्च" इत्यादिश्रुत्येष्यते निरूप्यते। हरे· प्रपञ्चनिर्माणादिकं तत्तत्पदार्थविशेषज्ञानं विना न युज्यते तद्बलादपोहितुं न पार्यते प्रामाणिकत्वात् अतो निरुपमचिरितं सार्वज्ञ्यं हरेरेव, अन्यस्सयौपचारिकमित्यतो जीव व्यावृत्तिलक्षणसद्भावाद्युक्तेति भाव ॥५८॥

ननु कीदृशोऽनुग्रहो येन तन्निवृत्ति· स्यादिति तत्राऽह - **अक्षौहिणीना**मिति। भुवो भारायमाणानां असुराणामभावाय नाशाय ॥५९॥

अपरिमेयानि परिमातुमशक्यनि ॥६०॥

यशोलक्षण पराक्रमं, दु खशोकतमांसि नुदतीति दु खशोकतमोनुत् ॥६१॥

ततत्फलमाह - **यस्मिन्नि**ति। सत्कर्णपीयूषे प्रशस्तजनकर्णामृते यशस्तीर्थवरे यशोलक्षणशास्त्रपा**बन**जलश्रेष्ठे श्रोत्रे एवाऽञ्जलिर्यस्य स तथा। उपस्पृश्य स्नानपानाचमनानि कृत्वा पापकर्मवासनाः पापकर्मकरणश्रद्धालक्षणाः ॥६२॥

श्रलाघनीयेहित पूज्यमानचरित· ॥६३॥

स्निग्धस्मितेक्षितेन उदारैर्मनोहरै· विक्रमलीलया विक्रमविलासेन सर्वाङ्ग सुन्दरया मूर्त्या च नृलोकं मनष्यजनं. न नये इति धातो· नयति भक्तिपूर्वकं तत्त्वं जानातीति नृलोको ज्ञानिसमूह· तमिति वा ॥६४॥

**यस्याननं मकरकुण्डलचारुकर्णभ्राजत्कपोलसुभगं सविलासहासम् ।**
**नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यो नार्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च ॥६५॥**

---

1 A चरितत्वात् 2 M "तिहेतु

**जातो गतः पितृगृहाद् व्रजमेधितार्थो[1] हत्वा रिपून् सुतशतानि कृतोरुदारः ।**
**उत्पाद्य तेषु पुरुषः क्रतुभिस्समीजे[2] ह्यात्मानमात्मनिगमं प्रथयञ्जनेषु ॥६६॥**

**[3]भूम्या स वागुरुभरं क्षपयन् कुरूणामन्तस्समुत्तकलिना युधि भूपचक्रम्[4] ।**
**[5]दृष्ट्या[6] विधूय विजये जयमुद्विघुष्य[7] प्रोच्योद्धवाय[8] परमं समगात् स्वधाम ॥६७॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥
इति नवम. स्कन्ध· समाप्तः

**श्रीध०** तत्प्रदर्शनार्थं मुखशोभामाह - **यस्येति**। यस्याऽऽननं दृशिभिर्नैत्रैः पिबन्त्यो नार्यो नराश्च न ततृपुः न तृप्ताः, निमेषोन्मेषमात्रव्यवधानमपि असहमानाः तत्कर्तुर्निमेः कुपिताश्च बभूवु । कथम्भूतमाननम् मकरकुण्डलाभ्यां चारूकर्णौ भ्राजन्तौ कपोलौ च तैस्सुभगम्। सविलासो हासो यस्मिन्। नित्यमुत्सवो यस्मिन् ॥६५॥

श्रीकृष्णस्य चरितं समासतो वर्णयति - **जात** इति द्वाभ्यात्। जातो निजेन रूपेण, पश्चात्पुरुषो मनुष्याकारस्सन् [9]व्रजंगतः व्रजवासिनामेधिता अर्था येन। तेषु दारेषु सुतानां शतान्युत्पाद्य, आत्मनिगमं स्वकीयं वेदमार्गम् ॥६६॥

**भूम्या इति**। अन्तस्समुत्थेन कलिना निमित्तेन गुरुभरं क्षपयन् दृष्ट्यैव[10] भूपानां[11] चमूर्विधूय विजये जयमर्जुनेन जित मित्येवमुद्घोषं कृत्वा[12] परमं तत्त्वमुद्धवायोपदिश्य[13] स्वं धाम सम्यक् स्वेनैव[14] रूपेण जगामेति ॥६७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्यख्यायां नवमस्कन्धे चतुर्विंशोऽध्यायः॥२४॥
इति नवमः स्कन्धः समाप्त·

**वीर०** मूर्तेः सर्वाङ्गरम्यत्वं सूचयितुं स्थालीपुलकन्यायेन तावन्मुखशोभामाह - **यस्येति**। यस्य श्रीकृष्णस्याऽऽननं

---

1 MMa °तोत्र 2 ABGJMMa आ° 3 ABGJMMa पृथ्व्या सवै 4 ABGJ चम्व , MMa बन्धम्। 5 H V दृष्ट्वा 6 TW °ऽभिभूय 7 ABGJ °घो° 8 ABGJ च पर , Mma च वर 9 H V व्रजगत 10 H V हण्वैव 11 ABJ भूपचमू 12 ABJ पर 13 ABJ स्वधाम 14 H V तेनैव

दृशिभि र्नेत्रै· पिबन्त्योऽतितृष्णया पश्यन्त्यौ मुदिता नार्यो नराश्च न ततृपु· न तृप्ताः। निमेषोन्मेषमात्रव्यवधानमप्यसहमानाः निमेषोन्मेषकर्तुर्निमेः कुपिताश्च बभूवुः। इक्ष्वाकुतनयस्य निमेः निमेषादिकर्तृत्वं तच्चरित्र एवोक्तं पुरस्तात्। कथम्भूतमाननम्? मकरकुण्डलाभ्यां चारू कर्णौ कपोलौ च तैस्सुभगम्। सविलासो हासो यस्मिन्, नित्यमुत्सवः शोभातिशयो यस्मिन् ॥६५॥

श्रीकृष्णचरितं समासतो वर्णयति - **जात** इति द्वाभ्याम्। जातस्तावन्निजेन रूपेण जातः पुरुषः, पश्चान्मनुष्याकारस्सन् पितृगृहात् कारागृहात् व्रजं गत व्रजवासिनामेधिता वर्धिता अर्था· पुरुषार्थाः येन। रिपून् पूतनाशकटादीन् हत्वा कृताः पाणिना गृहीताः उरव· षोडशसहस्रसंख्याका अष्टौ च रुक्मिण्यादय· दारा· कलत्राणि यस्य स । तेषु दारेषु सुतानां शतानि उत्पाद्य आत्मनिगम मात्मनो नियोगरूपं वेदं जनेषु प्रथयन् प्रथयितुमिति भाव.। क्रतुभिस्सर्वै स्वात्मानमेव समीजे समाराधितवान् ॥६६॥

स वै भगवान्[1-] कुरूणामन्त[-1] परस्परं समुत्थेन कलिना कलहेन निमित्तेन पृथ्व्या उरु अधिकं भरं क्षपयन् युधि सङ्ग्रामे भूपानां चक्रं सैन्यं दृष्ट्यैवाऽभिभूय विजयेऽर्जुने जयमुद्विघुष्य सर्वान् जितोयमर्जुन इत्येवं विधमुद्घोषं कारयित्वा[2] परं तत्त्व मुद्धवाय प्रोच्य उपदिश्य स्वं धाम स्थानं वैकुण्ठाख्यमगात् तेनैव रूपेण ययावित्यर्थः ॥६७॥

इति श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां चतुर्विंशोऽध्याय ॥२४॥
नवम स्कन्ध समाप्त

**विज०** रतिकरणप्रकारं दर्शयति - **यस्ये**ति। मकराकारकुण्डलाभ्यां चारूकर्णौ ताभ्यां भ्राजत्कपोलाभ्यां सुभगं सुन्दरं विलासेन सहितो हासो यस्य स तथा तम्, नित्यमुत्सवो यस्य स तथा तम्, तत्क्षणानन्दजनकमित्यर्थः। न ततृपुः नाऽलम्बुद्धिं प्राप्ता । निमेर्निमेषस्येति षष्ठी द्वितीयार्थे। निमेषं प्रति कुपिताः विकासविरोधित्वात् ॥६५॥

तेषु दारेषु आत्मनिगममात्मज्ञानं, स्वगुणप्रतिपादकवेदलक्षणशास्त्रं वा प्रथयन् प्रख्यापयन् ॥६६॥

स कृष्णः स्वधाम स्वमूलरूपं समगात् स गतवानेकोऽभूदित्यन्वयः। "पूर्णमदः पूर्णमिदम्" (बृह. उ.5-1-1) इत्या द्युपनिषत् वै इत्यनेन सूचयति (सूच्यते)। पृथ्व्याः गुरुभरमसुरलक्षणं भूपबन्धं भूपसमूहलक्षणं बन्धं विधूय संहृत्य उद्विघुष्य डिण्डिमघोषं कारयित्वा वरं वरणयोग्यं ज्ञानं प्रोच्य विस्तरेण उपदिश्य इति ॥६७॥

---

1- -1 TW omit 2 AB

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
नवमस्कन्धे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

नवम स्कन्ध समाप्त·

*नाम्ना क्षत्रवसुन्धरासुरमहावंशावलीमन्दिरं*
*व्याख्याव्याजविनोदतोऽद्य नवमस्कन्धो मयाऽऽप्रेडितः ।*
*सर्वज्ञो विजयध्वजाय यतये मह्यं महाभूतिदो*
*हारी हारमनोहरो ह्यहरहः प्रीतोऽस्तु विश्वम्भरः ॥१॥*

*पदरत्नावलिर्भूयान्नवमस्कन्ध अर्पिता ।*
*तुलसीव हरेः पादद्वन्द्वे द्वन्द्वापहारिणी ॥२॥*

*(विजयध्वजरीत्या एकविंशोऽध्यायः ॥२१॥)*

# श्रीमद्भागवत नवमस्कन्धस्थ श्लोक पादानुक्रमणिका (1-24 अध्यायाः)


| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **अ** | | | |
| अकरोदर्जुनो राज्यम् | 23 | 26 | c |
| अकर्तोच्चरतं पितुः | 18 | 44 | d |
| अकृतप्रज्ञदर्शितः | 9 | 35 | d |
| अकृतार्थं पतिं द्विजम् | 9 | 27 | d |
| अक्रीणान्मध्यमं सुतम् | 7 | 20 | d |
| अक्रूरप्रमुखा आसन् | 24 | 15 | c |
| अक्षय्य वस्त्राभरणायुधादिषु | 4 | 27 | c |
| अक्षौहिणीनां प्रतिभि | 24 | 59 | a |
| अक्षौहिणीः सप्तदशातिभीषणाः | 15 | 30 | c |
| अगमच्च्यवनाश्रम् | 3 | 2 | d |
| अग्निना प्रजया राजा | 14 | 49 | c |
| अग्निवेश्यायनं नृप ! | 2 | 22 | b |
| अग्निस्थाली ददुर्नृप ! | 14 | 42 | d |
| अग्निहोत्रमखण्डितम् | 11 | 18 | d |
| अग्निहोत्रीमुपावर्त्य | 15 | 36 | a |
| अग्निं शान्तमिवार्चिष. | 6 | 55 | d |
| अग्नि. साचीगुणे चित· | 20 | 26 | d |
| अग्निः स्वयमभूत्स्वतः | 2 | 21 | b |
| अग्रहीत् सासुरोडुपम् | 14 | 6 | b |
| अग्रहीदासनं भ्रात्रा | 10 | 51 | a |
| अङ्गदश्चन्द्रकेतुश्च | 11 | 12 | a |
| अङ्गवङ्गकलिङ्गाद्याः | 23 | 5 | a |
| अङ्गिरा जनयामास | 6 | 2 | c |
| अचोदयद्धस्ति रथाश्वपत्तिभिः | 15 | 30 | a |
| अजमीढस्य वंश्या स्यु. | 21 | 21 | c |
| अजमीढाद्धृहदिषु· | 21 | 22 | a |
| अजमीढो द्विमीढश्च | 21 | 21 | a |
| अजया कूपलब्धया | 19 | 11 | b |
| अजस्ततो महाराजः | 10 | 1 | c |
| अजानता ते महिमानुभावम् | 4 | 62 | a |
| अजानती पतिं साध्वी | 3 | 16 | c |
| अजानन्नच्छिनद्बभ्रो | 2 | 6 | c |
| अजास्वाम्यच्छिनद्रुषा | 19 | 10 | b |
| अजोऽथ कुरुजित्सुत· | 13 | 22 | d |
| अज्ञेषु त्यक्तसौहृदा· | 14 | 38 | b |
| अतिथिर्ब्राह्मणः काले | 21 | 5 | c |
| अतीथि. श्वभिरावृत· | 21 | 8 | b |
| अतीताः शृण्वनागतान् | 12 | 9 | b |
| अतीव कातरो हातुम् | 14 | 30 | c |
| अतृप्तनेत्रा. कुसुमैरवाकिरन् | 11 | 30 | d |
| अतृप्तोऽस्म्यद्य कामानाम् | 18 | 37 | a |
| अत्रि· पितृसमो गुणै· | 14 | 2 | d |
| अथ तर्हि भवेत्पौत्रः | 15 | 11 | c |
| अथ तामाश्रमाभ्याशे | 1 | 34 | a |
| अथ प्रविष्टः स्व गृहम् | 11 | 31 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अथ मागधराजानः | 22 | 45 | c |
| अथ मेध्यो भवेदिति | 7 | 11 | d |
| अथ मेध्यो भवेदिति | 7 | 12 | d |
| अथ राजनि निर्याते | 15 | 27 | a |
| अथात· श्रूयतां राजन्! | 14 | 1 | a |
| अथादिशत् दिग्विजये | 11 | 25 | a |
| अथाऽन्यो भोक्ष्यमाणस्य | 21 | 7 | a |
| अथऽम्बरीषस्तनयेषु राज्यम् | 5 | 26 | a |
| अथाऽर्जुन पञ्चशतेषु बाहुभिः | 15 | 33 | a |
| अथेशमायारचितेषु सङ्गम् | 9 | 47 | a |
| अथैनमुर्वशी प्राह | 14 | 41 | c |
| अदत्वा भुक्तवांस्तस्य | 4 | 45 | c |
| अदात्कर्मणि मष्कारे | 20 | 28 | c |
| अद्याऽपि दिवि दृश्यते | 7 | 6 | b |
| अद्राक्षीत् स्वहतां बभ्रुम् | 2 | 8 | c |
| अधमोऽश्रद्धया कुर्यात् | 18 | 44 | c |
| अधरारणिमुत्तराम् | 14 | 45 | b |
| अधर्मशीलासुरधूमकेतवे | 5 | 6 | b |
| अथर्मे रमते क्वचित् | 9 | 44 | b |
| अधर्मे रमते क्वचित् | 20 | 12 | d |
| अधर्मो वा न मां स्पृशेत् | 4 | 39 | d |
| अधस्तात्प्रविवेश ह | 1 | 25 | b |
| अधारयद्व्रतं वीर | 2 | 10 | c |
| अधास्तल्पे न कर्हिचित् | 18 | 30 | d |
| अध्वर्यवे प्रतीर्ची वा | 11 | 2 | c |
| अध्वर्यवे प्रतीर्ची वै | 16 | 21 | c |
| अनन्तकोशेष्वकरोदसम्मतिम् | 4 | 27 | d |
| अनन्तचरणाम्भोज | 9 | 14 | c |
| अनन्तर्वासस· कांश्चित् | 8 | 7 | a |
| अनन्ताखिल कोशाढ्यम् | 11 | 31 | c |
| अनपत्य स्वकर्मणा | 9 | 18 | f |
| अनपत्योऽकरोत्सुतम् | 23 | 13 | d |
| अनमित्रसुतो ह्यन्यः | 24 | 13 | c |
| अनर्घ्योरुपरिच्छदम् | 11 | 31 | d |
| अनष्टवित्तस्मरणः | 23 | 26 | e |
| अनित्ये नित्यबुद्धय· | 18 | 41 | d |
| अनिर्देश्याऽप्रतर्क्येण | 7 | 27 | c |
| अनीकं वत्सकं वृकम् | 24 | 29 | b |
| अनीकात्तु सुदामनी | 24 | 44 | b |
| अनुग्रहस्तन्निवृत्तेः | 24 | 58 | c |
| अनुग्रहाय भक्तानाम् | 24 | 61 | c |
| अनृतं विबुधेष्विव | 1 | 18 | d |
| अनेना इति राजेन्द्र ! | 17 | 2 | a |
| अनेनास्तत्सुतः पृथुः | 6 | 20 | b |
| अनोश्च दुन्दुभिस्तस्य | 24 | 20 | c |
| अनोस्सभानरश्चक्षुः | 23 | 1 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अन्तरा प्राप्तयाऽनघ! | 18 | 40 | b |
| अन्तर्जले वारिचरप्रसङ्गात् | 6 | 50 | c |
| अन्तर्वत्नीमवैत् पति· | 14 | 8 | d |
| अन्तर्वत्नीमुपालक्ष्य | 14 | 40 | a |
| अन्तर्वत्न्यागते काले | 11 | 11 | a |
| अन्तर्वत्न्यां भ्रातृपत्न्यां | 20 | 36 | a |
| अन्तस्समुत्थकलिना युधि भूपचक्रम् | 24 | 67 | b |
| अन्तस्स्थितो येन भवन्त्यदु खा | 21 | 12 | d |
| अन्ध्रान् वङ्गान् शकान् खशान् | 20 | 30 | b |
| अन्यत्किञ्चन वस्त्वहम् | 9 | 44 | d |
| अन्यस्याश्च त्रयस्सुता· | 24 | 8 | b |
| अन्यस्यामपि भार्यायाम् | 22 | 7 | c |
| अन्ये चाष्टकहारीत | 16 | 36 | c |
| अन्येभ्योऽवान्तरदिश· | 16 | 22 | a |
| अन्वजानंस्ततस्सर्वे | 3 | 26 | a |
| अन्वधावत दुर्धर्षः | 15 | 28 | c |
| अन्वमोदन्त तद्विश्वे | 23 | 39 | a |
| अन्वीयु त्तत्प्रभावेण | 6 | 55 | c |
| अपत्यार्थे हरिं प्रभुम् | 2 | 2 | b |
| अपश्यत् स्त्रियमात्मानं | 1 | 26 | c |
| अपश्यन् विमना इव | 14 | 32 | b |
| अपीच्या वनिताऽप्रियः | 3 | 15 | b |
| अपीश्वराणां किमुत | 11 | 17 | c |
| अपुत्रस्य पृथामदात् | 24 | 31 | d |
| अपृच्छत्तनयं पुरुम् | 18 | 42 | a |
| अपो देह्यशुभाय मे | 21 | 10 | d |
| अप्यभद्रं न युष्माभि | 3 | 6 | a |
| अप्रजस्य मनो· पूर्वम् | 1 | 13 | a |
| अप्रत्तं नस्त्वया किं नु | 11 | 6 | a |
| अप्रमत्तानुवृत्तिभि | 3 | 10 | d |
| अप्सरोभिरवैक्षत | 16 | 2 | d |
| अबहिर्वाससोऽपरान् | 8 | 7 | b |
| अबिभ्रदन्नद· खड्गम् | 10 | 44 | c |
| अबिभ्रन्न व्यजायत | 9 | 39 | b |
| अब्रह्मण्य भयावहाम् | 16 | 18 | b |
| अब्रह्मण्यमधार्मिकम् | 15 | 15 | b |
| अब्रह्मण्यान् नृपांश्चाऽहन् | 20 | 30 | c |
| अभक्तस्येशमानिन | 4 | 44 | d |
| अभयं स्मरतामिम् | 7 | 3 | d |
| अभवच्छवून् राजा | 22 | 13 | a |
| अभवन् योगिनस्सर्वे | 21 | 18 | c |
| अभाराय कृतोद्यम | 24 | 59 | d |
| अभिध्याताद्विपल्लवः | 11 | 36 | d |
| अभिनन्द्य भिषक्तमौ | 3 | 13 | b |
| अभिमन्युरजायत | 22 | 33 | b |
| अभिषिच्य वराकल्पैः | 4 | 31 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अभिषिच्याऽजमंस्तस्य | 19 | 23 | c |
| अभ्यषिञ्चत् यथैवेन्द्रम् | 10 | 49 | c |
| अभ्येत्याभ्येत्य स्थविरः | 7 | 19 | c |
| अमाद्यदिन्द्रस्सोमेन | 2 | 28 | a |
| अमोघवीर्यो राजर्षिः | 20 | 17 | a |
| अमोघं देवसन्दर्शम् | 24 | 34 | a |
| अम्बरीषमुपागम्य | 5 | 1 | c |
| अम्बरीषसुतास्त्रयः | 6 | 1 | b |
| अम्बरीषस्य भूपतेः | 5 | 27 | b |
| अम्बरीषो महाभागः | 4 | 15 | a |
| अम्बिकाम्बालिके च सः | 22 | 24 | b |
| अम्भसा केवलेनाऽथ | 4 | 40 | b |
| अयच्छद्वज्रपाणये | 6 | 19 | b |
| अयजद्यज्ञ पुरुषम् | 18 | 48 | a |
| अयं ह्यात्माभिचारस्ते | 4 | 69 | c |
| अयुतं दुद्रुवुर्भयात् | 15 | 35 | d |
| अयुताजिदिति प्रभो | 24 | 8 | d |
| अयुतायुस्ततोऽभवत् | 9 | 16 | d |
| अयोध्यावासिनस्सर्वे | 8 | 19 | a |
| अरण्यं प्रत्यपद्यत | 7 | 16 | d |
| अराजकभयं नृणाम् | 13 | 12 | a |
| अरिष्टनेमिस्तस्यापि | 13 | 23 | a |
| अरुणोऽथ त्रिबन्धुरः | 7 | 4 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अर्जुनः कृतवीर्यस्य | 23 | 24 | a |
| अर्जुनः क्षत्रियर्षभः | 15 | 17 | b |
| अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिस्तु | 22 | 29 | c |
| अलब्धनाथस्स यदा कुतश्चित् | 4 | 52 | a |
| अलर्कात् सन्नतिस्तस्मात् | 17 | 8 | a |
| अवकीर्यमाणः कुसुमै· | 10 | 33 | c |
| अवतीर्णो निजांशेन | 3 | 35 | a |
| अवतीर्णो हरेः कला | 22 | 21 | d |
| अवतीर्य परं भारम् | 16 | 27 | c |
| अवधीत् भ्रंशितान् मार्गात् | 17 | 16 | a |
| अवधीद्युधि दुर्जयः | 9 | 42 | b |
| अवधीन्नरदेवं यत् | 15 | 38 | c |
| अविदित्वा सुखं ग्राम्यम् | 18 | 40 | c |
| अविध्यन्मुग्धभावेन | 3 | 4 | c |
| अव्ययाश्च श्रीयं लब्ध्वा | 4 | 15 | c |
| अव्याहत बलस्समाः | 23 | 26 | b |
| अव्याहतेन्द्रियौजश्श्री | 15 | 18 | c |
| अशक्तः कालमेयिवान् | 9 | 2 | b |
| अशपत्कुपिता सती | 9 | 34 | d |
| अशपत् तान्मुनिः क्रुद्धः | 16 | 33 | c |
| अशपत्पततां देहः | 13 | 4 | c |
| अशाम्यत्सर्वतो विप्रम् | 5 | 12 | c |
| अशितानशितश्च यत् | 4 | 40 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अशून्यं शून्यकल्पितम् | 9 | 49 | d |
| अशोकवनिकालये | 10 | 30 | b |
| अश्मकान्मूलको जज्ञे | 9 | 40 | a |
| अश्वश्च बडबां नृप! | 1 | 26 | d |
| अश्वमारुह्य सैन्धवम् | 1 | 23 | d |
| अश्विनौ शरणं ययौ | 3 | 16 | d |
| अश्वोऽयं नीयतां वत्स | 8 | 29 | a |
| अष्ट पुत्रानजीजनत् | 24 | 53 | d |
| अष्टमस्तु तयोरासीत् | 24 | 55 | a |
| अष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा | 21 | 12 | b |
| अष्टसप्ततिमेध्याश्वान् | 20 | 26 | a |
| असक्रस्सारमेयश्च | 24 | 16 | a |
| असतीं परवेश्मगाम् | 11 | 9 | b |
| असमञ्जस आत्मानम् | 8 | 16 | a |
| असामपोरप्यश्विनोः | 3 | 24 | c |
| असिश्चत्सगरात्मजान् | 9 | 11 | d |
| असिहस्तां पदा भुवम् | 4 | 47 | b |
| असीमकृष्णस्तस्यासीत् | 22 | 39 | c |
| असुरैर्नृपलाञ्छनैः | 24 | 59 | b |
| असूत कुलनन्दनम् | 24 | 48 | d |
| अस्तौत् समाहितमना | 8 | 21 | c |
| अस्तौषीत्तद्धरेश्चक्रम् | 5 | 2 | c |
| अस्तौषीदादिपुरुषम् | 1 | 21 | c |
| अस्वज्ञानं क्रियाज्ञानम् | 22 | 38 | c |
| अस्मद्धार्यं धृतवती | 18 | 11 | c |
| अस्मद्धार्यं धृतवती | 18 | 14 | c |
| अस्वतन्त्र इव द्विज | 4 | 63 | b |
| अहल्या कन्यका यस्याम् | 27 | 34 | c |
| अहं भक्तपराधीनो (हि) | 4 | 63 | a |
| अहं भवो दक्षभृगुप्रधानाः | 4 | 54 | a |
| अहं वन्ध्या सपत्नी च | 23 | 38 | a |
| अहं सनत्कुमारश्च | 4 | 57 | a |
| अहान्यपिबतः किल | 21 | 4 | b |
| अहो अनन्तदासानाम् | 5 | 14 | a |
| अहो अस्य नृशंसस्य | 4 | 44 | a |
| अहो इमं पश्यत मे विनाशम् | 6 | 50 | a |
| अहो जाये तिष्ठ तिष्ठ | 14 | 34 | a |
| अहो निरीक्ष्यतामस्मत् | 18 | 11 | a |
| अहो राजन् निरुद्धास्ते | 3 | 32 | a |
| अहो रूपमहो भावः | 14 | 23 | a |
| अंशांशेन चतुर्भागात् | 10 | 2 | c |
| अंशुमांश्च तपस्तेपे | 9 | 1 | a |
| अंशुमांश्चोदितो राज्ञा | 8 | 20 | a |
| **आ** | | | |
| आगत्य कलशं तस्थौ | 16 | 4 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| आगामिन्यन्तरे राजन् | 16 | 25 | c |
| आचरन् गर्हितं लोके | 8 | 17 | a |
| आचार्यानुग्रहात्कामम् | 1 | 40 | a |
| आचार्याय ददौ शेषाम् | 11 | 3 | a |
| आजीगर्तं सुतानाह | 16 | 30 | c |
| आजुहाव रविं शुचिः | 24 | 32 | d |
| आज्ञायास्यै सपत्नीभिः | 8 | 4 | a |
| आज्यस्तोकैरिवानलः | 6 | 48 | d |
| आतिथ्यं सार्वकामिकम् | 5 | 19 | b |
| आतिथ्येन निमन्त्र्य च | 4 | 45 | b |
| आतिथ्येनाऽऽत्ममेधासा | 5 | 20 | d |
| आत्मकर्शनमात्मवित् | 6 | 54 | b |
| आत्मज्योतिरगात्ततः | 11 | 19 | d |
| आत्मन्यात्मानमाधाय | 2 | 13 | a |
| आत्ममायां विनेशस्य | 24 | 57 | c |
| आत्मलाभाय चेष्यते | 24 | 58 | d |
| आत्मलिङ्गं विपर्ययम् | 1 | 27 | b |
| आत्मविद्भूरिदक्षिणैः | 6 | 35 | b |
| आत्मविद्याविशारदः | 13 | 20 | d |
| आत्मविद्याविशारदः | 13 | 27 | b |
| आत्मवृत्तमविज्ञाय | 18 | 16 | a |
| आत्मसन्दर्शनाह्लाद | 10 | 31 | c |
| आत्मानमयजन्मखैः | 16 | 20 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| आत्मानमर्पयामास | 17 | 14 | a |
| आत्मानमात्मनिगमं प्रथयञ्जनेषु | 24 | 66 | d |
| आत्मानमुभयोर्मध्ये | 14 | 45 | c |
| आत्मा नरकहेतवे | 10 | 28 | d |
| आत्मानं किमुताऽपरे | 9 | 46 | d |
| आत्मानं दर्शयन् स्वानाम् | 11 | 25 | c |
| आत्मानं दर्शयाञ्चक्रुः | 21 | 15 | c |
| आत्मानं नाऽभिजानामि | 19 | 12 | c |
| आत्मानं नाऽवबुध्यत | 19 | 6 | f |
| आत्मानं नाऽवबुध्यते | 18 | 2 | d |
| आत्मानं सृजते हरिः | 24 | 56 | d |
| आत्मानुभूत्या विधुत त्रिलिङ्गः | 19 | 25 | b |
| आत्मपह्नवमात्मनः | 6 | 49 | b |
| आत्मा यः प्रकृते परः | 1 | 8 | b |
| आत्मावद्य विगूहनीम् | 14 | 12 | 7 |
| आत्मावद्यं वदाऽऽशु मे | 14 | 12 | d |
| आत्मैश्वर्यातिशायनम् | 15 | 25 | b |
| आददे विगतस्पृहः | 19 | 21 | d |
| आददे सहदेवया | 24 | 52 | d |
| आदर्शैरंशुकैः स्रग्भिः | 11 | 28 | c |
| आदाय प्रमदोत्तमा | 20 | 19 | b |
| आदाय बालगजलील इवेक्षु यष्टिम् | 10 | 6 | c |
| आदाय मेषावायान्तम् | 14 | 31 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| आदाय विशिखाञ्चितान् | 6 | 15 | b |
| आधास्ये त्वयि चाऽऽत्मजम् | 24 | 34 | b |
| आनक· कर्णिकायां वा | 24 | 44 | c |
| आनका यस्य जन्मनि | 24 | 29 | d |
| आनर्तादीनरिन्दम! | 3 | 28 | d |
| आनर्ताद्रिवतोऽभवत् | 3 | 27 | d |
| आनिन्युर्हरिणीसुतम् | 23 | 8 | d |
| आनीय दत्वा तानश्वान् | 15 | 7 | c |
| आनृशंस्यपरो राजन्! | 11 | 23 | c |
| आनेतुमुर्वशीमिन्द्र· | 14 | 26 | a |
| आपन्ना नरलोकताम् | 14 | 17 | b |
| आयातिर्वियतिः कृति | 18 | 1 | b |
| आर्युर्वेदप्रवर्तक· | 17 | 4 | d |
| आयुस्तस्याभवन् सुता· | 17 | 1 | b |
| आयु· श्रुतायु· सत्यायु· | 15 | 1 | c |
| आरब्धस्तस्य गान्धार· | 23 | 15 | a |
| आरभ्य सत्रं सोऽप्याह | 13 | 1 | c |
| आराध्य परिकर्मभिः | 15 | 17 | d |
| आरिराधयिषुर्ब्रह्म | 9 | 29 | c |
| आरिराधयिषुर्विष्णुम् | 4 | 29 | a |
| आरुह्य यानकमथाभि ससार रामम् | 10 | 21 | b |
| आरुह्य हर्म्याण्यरविन्दलोचनं हि | 11 | 30 | c |
| आरोप्याङ्केऽभिषिच्चान्त्यः | 10 | 48 | c |
| आरोप्यारुरुहे यानम् | 10 | 32 | a |
| आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजाम् | 21 | 12 | c |
| आर्यावर्तमुपद्रष्टे | 16 | 22 | c |
| आर्यावर्ते नृपा नृप! | 6 | 5 | b |
| आवर्तमाने गान्धर्वे | 3 | 30 | c |
| आवेशितधियं मुनिम् | 16 | 11 | b |
| आशिषो न प्रयुञ्जानः | 3 | 19 | c |
| आशिषो ययुजुर्देव | 11 | 29 | c |
| आसतेऽद्य सुमेधसः | 4 | 3 | b |
| आसक्तिमार्गां गन्धोदै· | 11 | 26 | a |
| आसीदुपगुरुस्तस्मात् | 13 | 24 | c |
| आसेवितं वर्षपूगान् | 19 | 24 | a |
| आस्तेऽद्यापि महेन्द्रादौ | 16 | 26 | a |
| आस्ते मीलितलोचनः | 8 | 10 | d |
| आस्थानं नातिशोभते | 14 | 26 | d |
| आस्थितोऽभुङ्क्त विषयान् | 3 | 28 | c |
| आस्यतामरविन्दाक्ष ! | 20 | 14 | a |
| आस्यतां करवाम किम् | 14 | 19 | b |
| आहत्य श्रद्धयाऽन्वित· | 21 | 6 | b |
| आहाऽच्युतानन्तसदीप्सित प्रभो! | 4 | 61 | c |
| आहुरब्भक्षणं विप्राः | 4 | 40 | c |
| आहुर्मित्रसहं यं वै | 9 | 18 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **इ** | | | |
| इक्ष्वाकुनृगशर्याति | 1 | 12 | a |
| इक्ष्वाकुपूर्वजान् पुत्रान् | 2 | 2 | c |
| इक्ष्वाकु प्रमुखा नृपाः | 1 | 3 | d |
| इक्ष्वाकुर्घ्राणतस्सुतः | 6 | 4 | b |
| इक्ष्वाकुस्सुतमादिशत् | 6 | 6 | b |
| इक्ष्वाकूणामयं वंशः | 12 | 16 | a |
| इक्ष्वाकूणां महारथः | 9 | 26 | d |
| इति गृत्समदादभूत् | 17 | 3 | b |
| इति तद्गतचेतसाम् | 6 | 44 | d |
| इति तर्हि स्म मानवः | 4 | 7 | b |
| इति तस्य वचश्श्रुत्वा | 9 | 7 | c |
| इति तस्यां स आधाय | 24 | 35 | a |
| इति नामभिराहृतः | 6 | 19 | d |
| इति पञ्चालसंज्ञिताः | 27 | 33 | b |
| इति पुत्रानुरागेण | 7 | 15 | a |
| इति प्रत्युदितः पूरुः | 18 | 45 | a |
| इति प्रभाष्य पानीयम् | 21 | 14 | a |
| इति लब्धव्यवस्थानः | 18 | 38 | a |
| इति लोकाद्बहुमुखात् | 11 | 10 | a |
| इति वाक्सायकै र्विद्धः | 14 | 30 | c |
| इति व्यवसितः प्रभुः | 6 | 42 | d |
| इति व्यवसितो बुद्ध्या | 9 | 48 | a |
| इति षष्टि सहस्रिणः | 8 | 11 | b |
| इति संस्तुवतो राज्ञः | 5 | 12 | a |
| इतीन्द्रो देशिनीमदात् | 6 | 31 | d |
| इतीमे काशयो भूपाः | 17 | 10 | a |
| इत्थं व्यवस्थया कामम् | 1 | 39 | c |
| इत्यपः प्राश्य राजर्षिः | 4 | 41 | a |
| इत्यवं तदलङ्कार | 11 | 4 | a |
| इत्यहं प्रत्युदाहृतः | 6 | 41 | d |
| इत्यादिष्टोऽभिवन्द्याऽजम् | 3 | 35 | c |
| इत्याह मे पिता ब्रह्मन् | 4 | 9 | c |
| इत्युक्तस्तन्मतं ज्ञात्वा | 15 | 7 | a |
| इत्युक्तः स्वमभिप्रायम् | 9 | 3 | c |
| इत्युक्तास्ते न चक्रिरे | 16 | 5 | d |
| इत्युक्तो जरया ग्रस्तः | 3 | 14 | a |
| इत्युक्त्वा नाहुषो जायाम् | 10 | 21 | a |
| इत्युक्त्वाऽन्तर्दधे रुद्रः | 4 | 11 | c |
| इत्युत्ससर्ज स्वं देहम् | 13 | 6 | a |
| इत्येतत्पुण्यमाख्यानम् | 5 | 27 | a |
| इदमाह विशाम्पते | 1 | 38 | d |
| इदमाहाऽमृतं वचः | 21 | 11 | d |
| इन्द्रवाह इतीरितः | 6 | 12 | b |
| इन्द्रसेनस्तु तत्सुतः | 2 | 19 | d |
| इन्द्रस्तस्मै पुनर्दत्वा | 17 | 13 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| इन्द्राप्या धर्षणाद्विड्जैः | 18 | 3 | b |
| इन्द्रियाणीव देहिनः | 18 | 1 | d |
| इन्द्रियाराममुत्सृज्य | 19 | 8 | c |
| इमे च पितरो दग्धाः | 8 | 29 | c |
| इमे शृण्वथ नाहुषान् | 17 | 18 | d |
| इमे ह्यङ्गिरसः सत्रम् | 4 | 3 | a |
| इरावन्तमुलूच्यां वै | 22 | 32 | c |
| इलायामुरुवल्कादीन् | 24 | 49 | c |
| इलायां य उदाहृतः | 14 | 15 | b |
| इलायाः पुंस्त्वकाम्यया | 1 | 21 | d |
| इष्ट्वा पुरुषमेवाग्र्यां | 2 | 35 | c |
| इष्टिं स्म वर्तयाञ्चक्रुः | 6 | 26 | c |
| इहाऽमुत्र च गीयते | 21 | 2 | d |
| **ई** | | | |
| ईज आचार्यवान्मखैः | 11 | 1 | d |
| ईजे च यज्ञं क्रतुभिः | 6 | 35 | a |
| ईजे महाभिषेकेण | 20 | 24 | c |
| ईजेऽश्वमेधैरधियज्ञमीश्वरम् | 4 | 22 | a |
| ईश्वरप्रहितेन ते | 6 | 29 | d |
| ईश्वरालम्बनं चित्तम् | 21 | 17 | a |
| **उ** | | | |
| उक्तस्ततश्चित्ररथः | 22 | 40 | c |
| उक्तं शर्मिष्ठया कृतम् | 18 | 24 | d |
| उक्तो देवस्तमैक्षत | 7 | 15 | d |
| उग्रसेनश्च वीर्यवान् | 22 | 35 | d |
| उच्छिष्टमृषय क्वचित् | 4 | 8 | d |
| उज्जहार दयापरः | 18 | 19 | d |
| उत्क्षिप्य वेगादभिधावतो युधि | 15 | 34 | b |
| उत्तमश्चिन्तितं कुर्याः | 18 | 44 | a |
| उत्तमश्लोकचेष्टितम् | 4 | 24 | d |
| उत्तमश्लोकधुर्याय | 11 | 7 | c |
| उत्तरापथगोप्तारः | 2 | 16 | c |
| उत्तरापथराजानः | 1 | 41 | a |
| उत्तरायां ततो भवान् | 22 | 33 | d |
| उत्तराः कोसला माल्यैः | 10 | 42 | c |
| उत्तस्थुस्ते कुशलिनः | 16 | 8 | a |
| उत्तानबर्हिरानर्तः | 3 | 27 | a |
| उत्थितास्ते निशाम्याऽथ | 6 | 28 | a |
| उत्पद्य तेषु पुरुषः क्रतुभिस्समीजे हि | 24 | 66 | c |
| उदकाय नदीं गता | 16 | 3 | b |
| उदक्सेनस्ततस्तस्मात् | 21 | 26 | c |
| उदायुधा अभिययुः | 8 | 11 | c |
| उदीचीं दिशमश्रिताः | 23 | 16 | b |
| उदीचीं सामगायिने | 11 | 2 | d |
| उदीच्यामनुमीश्वरम् | 19 | 22 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| उद्गात्रे ह्युत्तरां दिशम् | 16 | 21 | d |
| उद्गीयमानचरितः | 16 | 26 | c |
| उन्मिमेष तदा मुनिः | 8 | 11 | d |
| उन्मेषण निमेषाभ्याम् | 13 | 11 | c |
| उपगीयमानचरित | 10 | 34 | a |
| उपगुप्तोऽग्निसम्भवः | 13 | 24 | d |
| उपतस्थे तदन्तिकम् | 14 | 17 | 7 |
| उपदेवा सुता दश | 24 | 51 | b |
| उपधावत शङ्करम् | 1 | 37 | d |
| उपपन्नमिदं सुभ्रु | 20 | 15 | a |
| उपभोगेन शाम्यति | 19 | 14 | b |
| उपयेमे वराननाम् | 15 | 7 | d |
| उपयेमे शकुन्तलाम् | 20 | 16 | b |
| उपयेमे स्नुषां सतीम् | 23 | 39 | f |
| उपरिष्टात्प्रवक्ष्यते | 7 | 24 | b |
| उपलभ्य मुदा युक्तः | 14 | 41 | a |
| उपव्रजन्नजीगर्तात् | 7 | 20 | a |
| उपायं कथयिष्यामि | 4 | 69 | a |
| उरुक्षतस्ततस्तस्य | 12 | 10 | a |
| उरुश्रवास्सुतस्तस्य | 2 | 21 | c |
| उर्वशी दर्शनात् किल | 27 | 35 | d |
| उर्वशी रहितं मह्यम् | 14 | 26 | c |
| उर्वशी लोकमन्विच्छन् | 14 | 47 | c |
| उर्वश्युरणकौ जह्रुः | 14 | 27 | c |
| उवाच तात जामाता | 3 | 22 | c |
| उवाच श्लक्ष्णया वाचा | 14 | 18 | c |
| उवाचोत्तरतोऽभ्येत्य | 4 | 6 | c |
| उवाह प्रेयसी रहः | 18 | 47 | d |
| उशिकस्तत्सुतस्तस्मात् | 24 | 2 | c |
| उशीनरस्तितिक्षुश्च | 23 | 2 | c |
| उष्यतां यदि रोचते | 20 | 14 | d |
| **ऊ** | | | |
| ऊर्ध्वकेतु· सनद्वाजात् | 13 | 22 | c |
| ऊर्ध्वरेता मुनिप्रियम् | 2 | 10 | d |
| ऊर्वशी लोककाम्यया | 14 | 44 | d |
| ऊर्वशीं मन्त्रतो ध्यायन् | 14 | 45 | a |
| ऊर्वशीं मन्यमानस्ताम् | 14 | 42 | e |
| ऊर्वशीं वीरमातरम् | 14 | 40 | d |
| ऊर्वश्यां प्रपितामहः | 13 | 6 | d |
| **ऋ** | | | |
| ऋक्षंस्तस्य दिलीपोऽभूत् | 22 | 11 | c |
| ऋक्षस्संवरणस्ततः | 22 | 3 | d |
| ऋचीकोऽयाचत द्विजः | 15 | 5 | b |
| ऋजुं सम्मर्दनं भद्रम् | 24 | 54 | c |
| ऋतधामजयावपि | 24 | 44 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ऋतध्वज इतीरितः | 17 | 6 | d |
| ऋतुपर्णो नलसखः | 9 | 17 | a |
| ऋतेयो रन्तिभारोऽभूत् | 20 | 6 | a |
| ऋतेषुस्तस्य कक्षेषुः | 20 | 4 | a |
| ऋत्विग्भिरपरैस्तावत् | 13 | 3 | c |
| ऋश्यशृङ्ग उवाह ताम् | 23 | 8 | b |
| ऋषभस्तस्य चाऽऽत्मज· | 22 | 6 | d |
| ऋषभः सीतया किल | 11 | 35 | d |
| ऋषभस्तत्र सुव्रताः | 1 | 29 | b |
| ऋषये प्रीतिमावहन् | 1 | 38 | b |
| ऋषयोऽपि तयोर्वीक्ष्य | 1 | 31 | a |
| ऋषयोऽस्य कृपालव· | 6 | 26 | b |
| ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः | 10 | 3 | b |
| ऋषिमामन्त्र्य ययतुः | 3 | 17 | c |
| ऋषिशप्तो दितेस्सुतः | 24 | 37 | d |
| ऋषीणां मण्डले सोऽभूत् | 16 | 24 | c |
| ऋषेर्योगेश्वरात्पितुः | 2 | 32 | d |
| ऋषेर्विमोक्षं व्यसनञ्च बुद्ध्वा | 5 | 24 | c |
| **ए** | | | |
| एक आनकदुन्दुभेः | 24 | 50 | b |
| एक एव पुरा वेदः | 14 | 48 | a |
| एकतः श्यामकर्णानाम् | 15 | 6 | a |
| एकदा गिरिशं द्रष्टुम् | 1 | 29 | a |
| एकदा दानवेन्द्रस्य | 18 | 6 | a |
| एकदा प्राविशद्गोष्ठम् | 2 | 4 | a |
| एकदाऽऽश्रमतो रामे | 16 | 10 | a |
| एकपत्नीव्रतधर· | 10 | 55 | a |
| एकरात्रं मयेश्वर | 14 | 39 | b |
| एकश्चरन्रहसि चित्तमनन्त ईशे | 6 | 51 | c |
| एकस्तपस्व्यहमथाऽम्भसि | 6 | 52 | a |
| एकस्यात्मात्मजाः पत्न्याम् | 24 | 8 | a |
| एकस्सर्वगुणाश्रय· | 5 | 11 | b |
| एक· पञ्चाशतावरः | 6 | 43 | d |
| एकान्तभक्तियोगेन | 4 | 28 | c |
| एकान्तित्वं गतो भक्त्या | 2 | 11 | c |
| एकां जग्राह बलवान् | 2 | 5 | a |
| एकोऽग्निर्वर्ण एव च | 14 | 48 | d |
| एतत्सङ्कल्पवैषम्यम् | 1 | 20 | a |
| एतद्वेदितुमिच्छामि | 9 | 19 | c |
| एतावुरणकौ राजन् ! | 14 | 21 | a |
| एते क्षेत्रप्रसूता वै | 6 | 3 | a |
| एते बार्हद्वलान्नृपा· | 12 | 15 | d |
| एते बार्हद्रथा· भूपा· | 23 | 49 | c |
| एते वै मैथिला राजन्! | 13 | 29 | a |
| एते वैशालभूपालाः | 2 | 36 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| एते हीक्ष्वाकुभूपालाः | 12 | 9 | a |
| एवमुक्तो द्विजैर्ज्येष्ठम् | 22 | 16 | a |
| एवं करुणभाषिण्या | 9 | 33 | a |
| एवं कृतशिरस्स्नानः | 10 | 50 | a |
| एवं कौशिकगोत्रं तत् | 16 | 37 | a |
| एवं क्षिपन् धनुषि सन्धितम् | 10 | 23 | a |
| एवं गतेऽथ सुद्युम्ने | 2 | 1 | a |
| एवं गृहेष्वभिरतः | 6 | 48 | a |
| एवं द्वितीये तार्तीये | 7 | 19 | a |
| एवं परीक्षिता राज्ञा | 1 | 6 | a |
| एवं ब्रुवाण उत्कृत्य | 4 | 46 | a |
| एवं ब्रुवाणं पितरम् | 3 | 22 | a |
| एवं भगवताऽऽदिष्टः | 5 | 1 | a |
| एवं भृगुषु विश्वात्मा | 16 | 27 | a |
| एवं मित्रसहं शप्त्वा | 9 | 36 | a |
| एवं वर्षसहस्राणि | 18 | 51 | a |
| एवं वसन् गृहे कालम् | 6 | 53 | a |
| एवंविधानेकगुणस्स राजा | 5 | 25 | a |
| एवंविधैस्सुपुरुषैः | 18 | 17 | a |
| एवंवृत्तः परित्यक्तः | 8 | 18 | a |
| एवं वृत्तो वनं गत्वा | 2 | 14 | a |
| एवं व्यवसितो राजन्! | 1 | 21 | a |
| एवं शपन्तीं शर्मिष्ठा। | 18 | 15 | a |
| एवं शप्तस्स्वगुरुणा | 2 | 10 | a |
| एवं सङ्कीर्त्य राजानम् | 5 | 22 | a |
| एवं सदा कर्मकलापमात्मनः | 4 | 21 | a |
| एवं स्त्रीत्वमनुप्राप्तः | 1 | 36 | a |
| एष ईशकृतो वीर! | 18 | 21 | c |
| एष वः कौशिका वीरः | 16 | 36 | a |
| एष वाजिहरश्चोरः | 8 | 10 | c |
| एष हि ब्राह्मणो विद्वान् | 9 | 29 | a |
| **ऐ** | | | |
| ऐणेयचर्माम्बरमर्कधामभिः | 15 | 29 | c |
| ऐन्द्रीं ते सुसमाहिताः | 6 | 26 | d |
| ऐलस्य चोर्वशीगर्भात् | 15 | 1 | a |
| ऐलोऽपि शयने जायाम् | 14 | 32 | a |
| ऐश्वर्यमधिराट् श्रियम् | 20 | 33 | b |
| **ओ** | | | |
| ओघवानोघवत्पिता | 2 | 18 | b |
| ओमित्युक्ते यथा धर्मम् | 20 | 16 | a |
| **औ** | | | |
| औग्रसेन दुहितरः | 24 | 25 | c |
| और्वतेजोपसंहृतम् | 23 | 28 | d |
| और्वेण जानताऽऽत्मानम् | 8 | 3 | c |
| और्वोपदिष्टमार्गेण | 8 | 31 | c |
| और्वोपदिष्टयोगेन | 8 | 8 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **क** | | | |
| ककुत्स्थ इति चाप्युक्तः | 6 | 12 | c |
| ककुद्मिज्येष्ठमुत्तमम् | 3 | 29 | b |
| कङ्कणो वृष्णिरेव च | 24 | 7 | d |
| कङ्कश्शङ्कुस्सुभूस्तथा | 24 | 24 | b |
| कचस्य बार्हस्पत्यस्य | 18 | 22 | c |
| कण्वः कुमारस्य वने | 20 | 18 | a |
| कण्वाश्रमपदं गतः | 20 | 8 | b |
| कण्वोऽप्रतिरथात्मनः | 20 | 6 | d |
| कत्थसे बहु भिक्षुकि | 18 | 16 | b |
| कथमर्हति धर्मज्ञ | 9 | 30 | c |
| अथमेवंविधो देशः | 1 | 28 | a |
| कथं तमो रोषमयं विभाव्यते | 8 | 13 | c |
| कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे | 4 | 65 | d |
| कथं मतिस्तेऽवगताऽन्यथासतां | 3 | 21 | a |
| कथं वधं यथा बभ्रोः | 9 | 31 | c |
| कथं विमूढः परिभावयामि | 8 | 24 | d |
| कथं स भगवान् रामः | 11 | 24 | a |
| कथितस्य सम्भवः | 24 | 40 | b |
| कथ्यतां न रहो यदि | 9 | 19 | d |
| कदाचिद्रेणुका याता | 16 | 2 | a |
| कदाचिल्लोक जिज्ञासुः | 11 | 8 | a |
| कन्दर्पमिव रूपिणम् | 14 | 17 | d |
| कन्यकाः सदृशं वरम् | 20 | 15 | d |
| कन्या कमललोचना | 3 | 2 | b |
| कन्या चेलबिलाऽभवत् | 2 | 31 | d |
| कन्या चैद्यवती नाम | 2 | 18 | c |
| कन्याद्वा वाहुकात्मजौ | 24 | 21 | b |
| कन्यान्तःपुरमृद्धिमत् | 6 | 43 | b |
| कन्यामेकामयाचत | 6 | 40 | b |
| कन्यायाः कुशिका वयम् | 15 | 6 | d |
| कन्यारत्नमिदं राजन् | 3 | 34 | a |
| कन्या· कमललोचनाः | 18 | 8 | b |
| कन्येला नाम साऽभवत् | 1 | 16 | b |
| कपिलाख्यमधोक्षजम् | 8 | 21 | b |
| कपिलोऽपान्तरतमो | 4 | 57 | c |
| कपोतरोमा तस्याऽनुः | 24 | 20 | a |
| करन्धम उदारधीः | 23 | 17 | b |
| करन्धमो महाराजः | 2 | 26 | c |
| करम्भिश्शकुनेः पुत्रः | 24 | 5 | a |
| करिणां मदशीकरै· | 11 | 26 | b |
| करिष्ये व्रतपारणाम् | 4 | 40 | b |
| करूषान्मानवादासन् | 2 | 16 | a |
| करेणुमत्यां नकुलः | 22 | 32 | a |
| करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु | 4 | 18 | c |
| कर्णस्य जगतीपतेः | 23 | 14 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| कर्ताऽहं ते सुमध्यमे | 24 | 34 | d |
| कर्तुमावश्यकं गत | 4 | 37 | b |
| कर्मणा तेन शन्तनु· | 22 | 14 | b |
| कर्मणा भविताऽमुना | 2 | 9 | d |
| कर्मणा वैश्यताङ्गतः | 2 | 23 | b |
| कर्मणो वा महीपते | 24 | 57 | b |
| कर्मबन्धैर्विमुच्यते | 11 | 23 | d |
| कर्म वो ब्रह्मवादिनाम् | 1 | 17 | b |
| कर्माण्यपरिमेयानि | 24 | 60 | a |
| कर्माऽवदातमेतत्ते | 5 | 21 | a |
| कलापग्राममाश्रितः | 12 | 6 | b |
| कलापग्राममास्थित· | 22 | 17 | d |
| कलेरन्ते सूर्यवंशं | 12 | 6 | c |
| कलौ जनिष्यमाणानां | 24 | 61 | a |
| कल्पयन् वृत्तिमात्मनः | 2 | 12 | d |
| कल्पान्तेऽन्यन्न किञ्चन | 1 | 8 | d |
| कल्पेते कर्तुरन्यथा | 4 | 70 | d |
| कल्माषाङ्घ्रिमुत क्वचित् | 9 | 18 | d |
| कविर्भवति मन्त्रज्ञो | 4 | 12 | c |
| कवि·कनीयान्विषयेषु निःस्पृहो | 2 | 15 | a |
| कवे! मुह्यन्ति कर्मणि | 4 | 3 | d |
| कश्यपाय च मध्यत | 16 | 22 | b |
| कस्यचित्वथ कालस्य | 3 | 11 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| कस्यासि हृदयङ्गमे | 20 | 11 | b |
| कस्यास्त्वयि न सज्जेत | 14 | 20 | a |
| कं यायाच्छरणं लङ्कां | 10 | 26 | c |
| कंसवत्यां देवश्रवसः | 24 | 41 | a |
| कंसस्सुनामान्यग्रोधः | 24 | 24 | a |
| कंसा कंसवती कङ्का | 24 | 25 | a |
| काञ्चनो होत्रकस्तत· | 15 | 3 | b |
| का त्वं कमलगर्भाभे | 20 | 11 | a |
| कानीन इति विख्यातो | 2 | 21 | c |
| कान्तकामोपपत्तिभि· | 11 | 33 | d |
| कान्तासमक्षमसतापहृताश्ववत् ते | 10 | 22 | b |
| कामञ्च दास्ये न तु कामकाम्यया | 4 | 20 | c |
| कामं कन्या स्वयंवरे | 6 | 40 | d |
| कामं चैत्ररथादिषु | 14 | 24 | d |
| कामं प्रयाहि जहि विश्रवसोऽवमेहं | 10 | 15 | a |
| कामान् धर्ममपीडयन् | 11 | 36 | b |
| कामार्तायाः पतिस्त्वया | 9 | 35 | b |
| कामिनं क्षणसौहृदम् | 19 | 8 | b |
| कामैर्नाऽद्यापि तुष्यति | 19 | 11 | d |
| कामोऽस्याः क्रियतां राजन्! | 18 | 27 | c |
| काम्पिल्यस्सञ्जयस्सुताः | 27 | 32 | b |
| कारूषाः क्षत्रजातयः | 2 | 16 | b |
| कालं महान्तं नाऽशक्नोत् | 9 | 1 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| कालं वञ्चयता तं तम् | 7 | 15 | c |
| कालः कृतसमोऽभवत् | 10 | 52 | b |
| कालात्मनो यस्य तिरो भविष्यति | 4 | 53 | d |
| कालात्ययं तं विलोक्य | 16 | 4 | a |
| कालिन्दी सलिले शुचौ | 4 | 37 | d |
| कालेन हृदि ये कृता· | 3 | 32 | b |
| कालेनाऽल्पीयसा राजन्! | 9 | 8 | e |
| कालेनाऽसूत सा सुतम् | 20 | 17 | d |
| कालोऽतियातस्त्रिणव | 3 | 33 | c |
| काल्यां सर्वगतस्तत· | 22 | 31 | b |
| कावषेयं पुरोधाय | 22 | 37 | a |
| काव्यस्य वृषपर्वण | 18 | 4 | d |
| काशिराजसुते बलात् | 22 | 23 | d |
| काश्यस्य काशिस्तत्पुत्र· | 17 | 4 | a |
| काश्य· कुशो गृत्समदः | 17 | 3 | a |
| काश्यो वत्सश्च तत्सुताः | 21 | 23 | d |
| किञ्चाहं न भुवं यास्ये | 9 | 5 | a |
| किञ्चिच्चित्ररथस्पृहा | 16 | 3 | d |
| किम्पुनः श्रद्धया देवीं | 9 | 13 | c |
| किरन्तो ननृतुर्मुदा | 10 | 42 | d |
| किरातहूणान्यवनान् | 20 | 30 | a |
| किं तदंहो भगवतः | 15 | 16 | a |
| किं तस्य शत्रुहनने कपयः सहायाः | 11 | 20 | d |
| किं धास्यति कुमारोऽयम् | 6 | 31 | a |
| किं न प्रतीक्षसेऽस्माकम् | 18 | 16 | c |
| किं नावोचस्त्वसद्वृत्ते | 14 | 12 | c |
| किं पुनर्मनुजेन्द्राणाम् | 6 | 42 | c |
| किं वा चिकीर्षितन्त्वत्र | 20 | 11 | c |
| कीर्तयिष्यति भूरियम् | 5 | 21 | d |
| कीर्तिमन्तं सुषेणश्च | 24 | 54 | a |
| कीर्तिर्यस्य महाभाग! | 1 | 4 | c |
| कीर्तिं परमपुण्याश्च | 5 | 21 | c |
| कीर्त्यन्ते पुण्यकीर्तय· | 14 | 1 | d |
| कुकरस्य सुतो वृष्णिः | 24 | 19 | c |
| कुकरो भजमानश्च | 24 | 19 | a |
| कुक्षिं निर्भिद्य दक्षिणम् | 6 | 30 | b |
| कुणको भविता तस्मात् | 12 | 15 | a |
| कुतस्सङ्कल्पवैषम्यं | 1 | 18 | c |
| कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम् | 4 | 67 | d |
| कुतोऽपरे यस्य मनश्शरीरधी· | 8 | 22 | c |
| कुन्तेस्सख्यु· पिता शूरो हि | 24 | 31 | c |
| कुन्त्यापविद्धं कानीनं | 22 | 13 | c |
| कुपितोऽनीकलज्जया | 14 | 12 | b |
| कुमारं कनकप्रभम् | 14 | 10 | b |
| कुमारं सुषुवे शुभम् | 23 | 39 | d |
| कुमार· कनकप्रभः | 14 | 10 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| कुमारः समजायत | 13 | 12 | d |
| कुमारे सोम एव च | 14 | 10 | f |
| कुमारो मातरं प्राह | 14 | 12 | a |
| कुरुक्षेत्रपतिः कुरुः | 22 | 4 | b |
| कुरुसञ्जयपाण्डुभिः | 24 | 64 | d |
| कुर्वतोऽनन्यराधसः | 21 | 17 | b |
| कुर्वन्तस्समुपागमन् | 1 | 29 | d |
| कुर्वन्निडबिडाकारं | 19 | 9 | c |
| कुलदैवान्न चाऽऽत्मजाः | 9 | 43 | b |
| कुलप्रसूते कुलदूषणन्त्विदम् | 3 | 21 | b |
| कुलवृद्धैः समं गुरुः | 10 | 49 | b |
| कुलं नो विप्रदैवश्चेत् | 5 | 10 | c |
| कुशध्वजस्तस्य पुत्रः | 13 | 19 | a |
| कुशानाभश्च चत्वारः | 15 | 4 | c |
| कुशलं मेनिरे न तत् | 16 | 33 | b |
| कुशस्य चातिथिस्तस्मात् | 12 | 1 | a |
| कुशात् प्रीतिः क्षात्रवृद्धात् | 17 | 16 | c |
| कुशाम्बो धूर्तयो वसुः | 15 | 4 | b |
| कुशो लव इति ख्यातौ | 11 | 11 | c |
| कुशुम्भमत्स्यप्रत्यग्र | 22 | 6 | a |
| कूटस्थमादिपुरुषं जगतामधीशम् | 10 | 14 | b |
| कूटस्थमादिपुरुषं जगतामधीशम् | 10 | 14 | b |
| कृच्छ्रप्राप्तकुटुम्बस्य | 21 | 5 | a |
| कृच्छ्रान्मुक्तस्तमामन्त्र्य | 3 | 9 | c |
| कृच्छ्राल्लोकस्य बिभ्यती | 24 | 36 | b |
| कृतकृत्यः स आत्मवान् | 17 | 12 | b |
| कृतकौतुक तोरणाम् | 11 | 28 | d |
| कृतदारो जुगोपोर्वीः | 18 | 4 | c |
| कृतध्वजमितध्वजौ | 13 | 19 | d |
| कृतध्वजसुतो राजन्! | 13 | 20 | c |
| कृतध्वजात् केशिध्वज· | 13 | 20 | a |
| कृतपादाभिवन्दनाम् | 3 | 19 | b |
| कृतमाश्रमदूषणम् | 3 | 6 | d |
| कृतवर्मेति तत्सुताः | 24 | 27 | b |
| कृतं मयाऽघं भवतः प्रियाणाम् | 4 | 62 | b |
| कृतं येन कुलं नष्टम् | 15 | 16 | c |
| कृतागसमकामतः | 2 | 9 | b |
| कृतागसं मामव हि विश्वभावन! | 4 | 61 | d |
| कृतागसोऽपि यद्राजन् | 5 | 14 | c |
| कृताग्निः कृतवर्मा च | 23 | 23 | c |
| कृताञ्जलिमभाषत | 4 | 43 | d |
| कृतादीनुपपादयत् | 24 | 46 | d |
| कृतादौ स्थापयिष्यति | 22 | 18 | b |
| कृतान्त असीत्समरः | 6 | 13 | a |
| कृतिमांस्तत्स्तुतस्ततः | 21 | 27 | b |
| कृतिरस्य महावशौ | 13 | 26 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| कृतिरातस्ततस्तस्मात् | 13 | 17 | a |
| कृतिर्हिरण्यनाभात् य | 21 | 28 | c |
| कृतैषा विधवा लङ्का | 10 | 28 | a |
| कृतौजा धनकात्मजा· | 23 | 23 | d |
| कृतबाहो· शिरस्तस्य | 15 | 35 | a |
| कृत्यां कालानलोपमाम् | 4 | 46 | d |
| कृत्वा नि·क्षत्रियां प्रभु | 16 | 19 | b |
| कृत्वाऽवश्यकमागत | 4 | 42 | b |
| कृपणस्तां प्रसादितुम् | 19 | 9 | b |
| कृपणं विरहातुरम् | 14 | 41 | d |
| कृपया पीडितो भृशम् | 5 | 2 | d |
| कृपया भृशपीडित· | 1 | 37 | b |
| कृपया भृशसन्तप्त· | 21 | 11 | c |
| कृप कुमार कन्या च | 27 | 36 | e |
| कृशाश्वस्तस्य चाऽऽत्मजः | 2 | 34 | d |
| कृशाश्वात् सोमदत्तोऽभूत् | 2 | 35 | a |
| कृशाश्वोऽथाऽस्य सेनजित् | 6 | 25 | b |
| कृष्णे मनस्समावेश्य | 19 | 28 | c |
| केकयो धृष्टकेतुश्च | 24 | 38 | a |
| केन वा भगवान् कृत· | 1 | 28 | b |
| केयं कुहकमत्स्थानं | 23 | 37 | a |
| केवलं देहभस्मभि· | 9 | 12 | d |
| कोदण्डापाणिरटमान उवास कृच्छ्रम् | 10 | 9 | d |
| को न सेवेत मनुज | 14 | 23 | c |
| को नु लोके मनुष्येन्द्र! | 18 | 43 | a |
| कोऽपि धारयिता वेगं | 9 | 4 | a |
| कोसलास्ते ययुस्स्थानम् | 11 | 22 | c |
| कोसलेन्द्रानुमोदित | 10 | 29 | b |
| कौशाम्ब्यां साधु वत्स्यति | 22 | 40 | b |
| कौशिकी लोकपावनी | 15 | 12 | b |
| कौसल्याकेशिनन्त्वेकं | 24 | 48 | c |
| क्रतुभिर्भूरिदक्षिणै | 18 | 48 | b |
| क्रतुशेषं समापयत् | 8 | 30 | d |
| क्रथस्य कुन्ति पुत्रोऽभूत् | 24 | 3 | a |
| क्रियतां मे वयोरूपं | 3 | 12 | c |
| क्रिया कलापैस्समुवाह भक्तिं | 5 | 24 | c |
| क्रीडति स्म स बालक | 20 | 18 | d |
| क्रीडन् कालं बहुविधं | 19 | 11 | c |
| क्रीडावसाने द्विपरार्धसंज्ञे | 4 | 53 | b |
| क्रुद्धाहिमिव पावक | 4 | 48 | d |
| क्वापि सख्यं न वै स्त्रीणां | 14 | 36 | c |
| क्षणश्च मृतकं यथा | 9 | 32 | d |
| क्षणार्धमन्युर्भगवान् | 18 | 27 | a |
| क्षणेन मुमुचे नीडं | 19 | 24 | c |
| क्षत्रधर्मा महारथ | 17 | 18 | b |
| क्षत्रबन्धुश्च नाहुष· | 18 | 5 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| क्षत्रवृद्धसुतस्यासन् | 17 | 2 | c |
| क्षत्रवृद्धाऽन्वयं शृणु | 17 | 2 | b |
| क्षत्रवृद्धान्वया भूपा. | 17 | 18 | c |
| क्षत्रवृद्धान्वयायिनः | 17 | 10 | b |
| क्षत्रं यत्तालजङ्घाख्यं | 23 | 28 | c |
| क्षत्राद्ब्रह्म ह्यवर्तत | 21 | 19 | b |
| क्षत्रान्ताय मनो दधे | 16 | 16 | d |
| क्षत्रियाणामभीक्ष्णश· | 15 | 16 | d |
| क्षत्रोऽमङ्गलकारिणि | 16 | 18 | d |
| क्षत्रेपेक्षोऽरि मर्दन· | 24 | 11 | d |
| क्षत्रोपेताः द्विजातय· | 6 | 3 | d |
| क्षमया रोचते लक्ष्मीः | 15 | 40 | a |
| क्षमयाऽर्हणतां गता· | 15 | 39 | b |
| क्षमांपय महाभागं | 4 | 71 | c |
| क्षमिणामाशु भगवान् | 15 | 40 | c |
| क्षयो वृद्धिश्च पाप्मन | 24 | 56 | b |
| क्षामां स्वविरहव्याधिं | 10 | 30 | c |
| क्षिप्त्वाऽऽचार्यसुतां सतीम् | 18 | 17 | b |
| क्षुत्तृट् श्रमो गात्रपरिभ्रमश्च | 21 | 13 | a |
| क्षुत्रड्भ्यां जातवेपथोः | 21 | 5 | b |
| क्षुद्रको भविता तत· | 12 | 14 | d |
| क्षुधार्तो जगृहे विप्रं | 9 | 26 | a |
| क्षुवतस्तु मनोर्जज्ञे | 6 | 4 | a |
| क्षेत्रेऽप्रजस्य वै भ्रातु | 22 | 25 | a |
| क्षेप्तारं मातुरन्तिके | 14 | 13 | b |
| क्षेमकं प्राप्य राजानं | 22 | 45 | a |
| क्षेमको भविता नृप | 22 | 44 | b |
| क्षेमधन्वाऽभवत्तत | 12 | 1 | d |
| क्षेमापिर्मिथिलाधिप | 18 | 23 | d |
| क्षेमोऽथ सुव्रतस्तस्मात् | 22 | 48 | a |
| खगणस्तत्सुतस्तस्मात् | 12 | 3 | a |
| खट्वाङ्गश्चक्रवर्त्यभूत् | 9 | 41 | d |
| खट्वाङ्गादीर्घबाहुश्च | 10 | 1 | a |
| खड्गमादाय तरसा | 2 | 6 | a |
| खद्योते इव ज्योतिषी | 3 | 3 | d |
| खनपानोऽङ्गतो जज्ञे | 23 | 6 | c |
| खनिनेत्रोऽस्य धार्मिक· | 2 | 25 | b |
| खाण्डिक्यस्तु मितध्वजात् | 13 | 20 | b |
| खाण्डिक्यः कर्मतन्त्रज्ञ | 13 | 21 | a |
| खादन्त्येनं वृका गृध्रा· | 14 | 35 | c |
| खे वागाहाऽशरीरिणी | 20 | 20 | d |
| खे वायुं धारयंस्तच्च | 7 | 26 | a |
| **ग** | | | |
| गङ्गा तं पुनरब्रवीत् | 9 | 7 | f |
| गङ्गानयन काम्यया | 9 | 1 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| गङ्गाम्भोऽर्हन्ति नेतरात् | 8 | 29 | d |
| गङ्गायामनुवाजिभि | 20 | 25 | b |
| गङ्गायाम्भीष्म आत्मवान् | 22 | 19 | b |
| गङ्गायां पद्ममालिनम् | 16 | 2 | b |
| गजाह्वये हृते नद्या | 22 | 40 | a |
| गण्डूषीकृत्य योऽपिबत् | 15 | 3 | d |
| गतस्स वरुणान्तिकम् | 15 | 7 | b |
| गत प्रतिचिकीर्षया | 9 | 20 | d |
| गतिश्चैव तथाऽऽत्मन | 4 | 12 | d |
| गतिं यास्यन्ति पार्थिवा· | 23 | 25 | b |
| गतिं योगीश्वरादृताम् | 2 | 35 | d |
| गतो राजनि सा वीरे | 18 | 24 | a |
| गतोऽथ दुर्वाससि सोऽम्बरीष | 5 | 24 | a |
| गत्वा माहिष्मतीं राम | 16 | 17 | a |
| गदासिबाणर्ष्टिशतघ्निशक्तिभि | 15 | 30 | b |
| गन्धमाल्यर्हणादिभि | 4 | 31 | d |
| गन्धर्वराजं क्रीडन्तम् | 16 | 2 | c |
| गन्धर्वानुपधावेमान् | 14 | 42 | a |
| गन्धर्वान् कोटिशो जघ्ने | 11 | 13 | c |
| गन्धर्वान् समचोदयत् | 14 | 26 | b |
| गन्धर्वान्सोऽवधीत्तत्र | 7 | 3 | a |
| गन्धवस्तुषु तद्देहम् | 13 | 7 | a |
| गम्भीरश्चाक्रियस्ततः | 17 | 10 | d |
| गरो दद्धतोऽन्धसा सह | 8 | 4 | b |
| गर्गाच्छिनिस्ततो गार्ग्य | 21 | 19 | a |
| गर्भसम्भवमासुर्या | 18 | 34 | a |
| गर्भं सूर्यो दिवञ्जत | 24 | 35 | b |
| गवां रुक्मविषाणाना | 4 | 33 | a |
| गाथामेतां गायत | 19 | 1 | d |
| गाधिरासीत् कुशाम्बत | 15 | 4 | d |
| गाधिर्भार्गवमब्रवीत् | 15 | 5 | d |
| गाधेरभून्महातेजा | 16 | 28 | a |
| गान्दिन्यां तु श्वफल्कत | 24 | 15 | b |
| गान्धर्वविधिना राजा | 20 | 16 | c |
| गान्धार्यां धृतराष्ट्रस्य | 22 | 26 | a |
| गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम् | 11 | 21 | b |
| गास्यन्ति दिग्विजयिनो यमुपेत्य | 10 | 15 | d |
| गां पुत्राय गतो वनम् | 1 | 42 | d |
| गिरेश्शृङ्गमिवाहरत् | 15 | 35 | b |
| गीतवादित्र निस्स्वनै | 10 | 36 | d |
| गीयमानान् सुरर्षिणा | 14 | 16 | b |
| गुणान् विपश्यन्त्युत वा तमश्च | 8 | 23 | b |
| गुणा यत्राऽणिमदय | 15 | 19 | b |
| गुणेषु गन्धर्वपुरोपमेषु | 9 | 47 | b |
| गुरवेऽधर्मवर्तिने | 13 | 5 | b |
| गुरवे भोक्तुकामाय | 9 | 21 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| गुरुणाऽभिहितं नृप! | 6 | 9 | b |
| गुरुणा हूयमानेऽग्नौ | 17 | 15 | c |
| गुरुपत्नी स्वमातरम् | 10 | 42 | d |
| गुरुपुत्रीमभाषत | 18 | 15 | b |
| गुरुपुत्र्या च भामिनी | 18 | 6 | d |
| गुरुपुत्र्यास्समव्ययत् | 18 | 10 | b |
| गुरुश्च रन्तिदेवश्च | 21 | 2 | a |
| गुरुं प्रसादयन्मूर्ध्ना | 18 | 26 | c |
| गुरुं शप्तुं समुद्यत· | 9 | 23 | d |
| गुरून् वयस्यानुचरान् | 10 | 47 | a |
| गुरो· कौशिकतेजसा | 7 | 5 | d |
| गुर्वर्थे त्यक्तराज्यो व्यचरदनुवनं | 10 | 4 | a |
| गुहां विविक्षु· प्रससार मेरो | 4 | 50 | d |
| गूढो रात्र्यामलक्षित· | 11 | 8 | b |
| गृहाण द्रविणं दत्तम् | 4 | 11 | a |
| गृहाना ध्यायतो निशि | 14 | 43 | b |
| गृहान् बलिभुजो यथा | 18 | 16 | d |
| गृहीतायास्त्वया हि मे | 18 | 21 | b |
| गृहीतो यक्ष्मणा मृतः | 22 | 24 | d |
| गृहीतो लीलया स्त्रीणाम् | 15 | 22 | a |
| गृहीत्वा चरणौ रजेः | 17 | 13 | d |
| गृहीत्वा पाणिना पाणिम् | 18 | 19 | a |
| गृहेषु दारेषु सुतेषु बन्धुषु | 4 | 27 | a |
| गृहेषु नानोपवनामलाम्भ | 6 | 45 | c |
| गृहेषु न्यर्बुदानि षट् | 4 | 34 | b |
| गृह्यतामर्हणञ्च न· | 20 | 14 | b |
| गोत्रं मौद्गल्यसंज्ञितम् | 27 | 33 | d |
| गोत्राणि च न शृण्महे | 3 | 32 | d |
| गोपालो गुरुणा कृत· | 2 | 3 | b |
| गोमूत्रयावकं श्रुत्वा | 10 | 34 | c |
| ग्रहं ग्रहीष्ये सोमस्य | 3 | 12 | a |
| ग्रहं सोमस्य चाऽग्रहीत् | 3 | 24 | b |
| ग्रहं सोमस्य चाश्विनो· | 3 | 26 | b |
| ग्रहैश्चन्द्र इवोदित· | 10 | 45 | d |
| ग्राम्यस्य गृहचेतस | 11 | 17 | d |
| घृतपायससंयावम् | 21 | 4 | c |
| घृतं मे वीर भक्ष्यं स्यात् | 14 | 22 | a |
| घृताच्यामिन्द्रियाणीव | 20 | 5 | c |
| घोरमादाय परशुम् | 15 | 28 | a |
| घोरे न त्यक्तुमर्हसि | 14 | 34 | b |
| घोरो दण्डधर· पुत्र· | 15 | 10 | c |
| घ्नतैनां पुत्रका· पापाम् | 16 | 5 | a |
| घ्नन्त्य आत्मानमात्मना | 10 | 25 | d |
| घ्नन्त्यल्पार्थेऽपि विस्रब्धम् | 14 | 37 | c |
| घ्राणञ्च तत्पादसरोजसौरभै | 4 | 19 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **च** | | | |
| चकमे भगवान्बुध· | 1 | 34 | d |
| चक्रवर्ती जजान ह | 6 | 30 | d |
| चक्रवर्ती महयशा | 20 | 23 | b |
| चक्रवर्त्यपराजित | 23 | 32 | b |
| चक्रवर्त्यवनिं प्रभु | 6 | 34 | b |
| चक्रं जायास्सुतान् प्राणान् | 20 | 33 | c |
| चक्रं दक्षिणहस्तेऽस्य | 20 | 24 | a |
| चक्रे द्वादश वार्षिकम् | 9 | 23 | b |
| चक्रे नि क्षत्रियां महीम् | 15 | 14 | d |
| चक्रे विकृतवेषिण | 8 | 6 | b |
| चक्रे समुचिता क्रिया | 20 | 18 | b |
| चक्रुर्विभागं रुद्राय | 4 | 8 | c |
| चक्रु स्वनाम्ना विषयान् | 23 | 6 | a |
| चचाराव्याहतगतिः | 15 | 19 | c |
| चतसृष्वादिशद्दिक्षु | 18 | 4 | a |
| चतुरन्नो रोमपादात् | 23 | 11 | c |
| चतुर्थे पञ्चमे तथा | 7 | 19 | b |
| चतुर्दश महारत्न· | 23 | 31 | a |
| चतुर्युगविकल्पितः | 3 | 33 | d |
| चतुस्सिन्धुजलादिभि· | 10 | 49 | d |
| चत्वारस्सूनवस्तत्र | 23 | 21 | a |
| चत्वारो देवकात्मजाः | 24 | 21 | d |
| चत्वारोशीनरात्मजा· | 23 | 3 | b |
| चम्पस्तस्माद्विनिर्मिता | 8 | 1 | b |
| चम्पापुरी सुदेवोऽत· | 8 | 1 | c |
| चरणावुपसङ्गृह्य | 5 | 18 | c |
| चरन्तीं प्रमदोत्तमाम् | 1 | 34 | b |
| चरन् रक्षो जघान ह | 9 | 20 | b |
| चरन् वचोऽशृणोद्रामः | 11 | 8 | c |
| चरित्वा रोहित· पुरीम् | 7 | 20 | b |
| चरित्वाऽऽश्रममाव्रजत् | 16 | 1 | d |
| चरिष्यामि मृगैस्सह | 19 | 19 | d |
| चाक्षुषोऽथ विविंशति· | 2 | 24 | d |
| चामरव्यजनोत्तमे | 10 | 43 | b |
| चारुं स्नातुं गतो मुनि | 15 | 8 | d |
| चिकीर्षितं ते किमिदं पतिस्त्वया | 3 | 20 | a |
| चिच्छेद राम प्रसभं हसन्निव | 15 | 34 | d |
| चित्रकेतुबृहद्बलौ | 24 | 40 | d |
| चित्रसेनो नरिष्यन्तात् | 2 | 19 | a |
| चित्रस्रग्भि पताकाभि. | 11 | 33 | a |
| चिन्तयन्मनसाऽच्युतम् | 4 | 41 | b |
| चिन्तयामास धर्मज्ञ· | 4 | 38 | c |
| चुक्रोधाहिरिवाऽऽहत | 15 | 27 | d |
| चेदिपाद्याश्च चेदिपा | 22 | 6 | b |
| चेदिश्चैद्यादयो नृपा· | 24 | 2 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| चैत्यदेवगृहादिषु | 11 | 27 | b |
| चोदितः प्रोक्षणायाह | 6 | 8 | c |
| चोद्यमाना सुरैरेवम् | 20 | 39 | a |
| च्यवते ह रिरंसया | 14 | 20 | d |
| च्यवनस्तत्सुतो नृप! | 22 | 1 | b |
| च्यवनस्याऽऽश्रमं गत· | 3 | 18 | b |
| च्यवनस्स्वेन तेजसा | 3 | 24 | d |
| च्यवनोऽथ तत कृती | 22 | 5 | b |
| **छ** | | | |
| छन्दयामास सोऽब्रवीत् | 22 | 16 | b |
| **ज** | | | |
| जगत्पवित्रात्मनि खे रजो भुव | 8 | 13 | d |
| जगाम तां वरारोहाम् | 20 | 9 | c |
| जगाम दिशमुत्तराम् | 1 | 24 | d |
| जघ्नुभृशं गिरिगदेषुभिरन्नदाद्या | 10 | 20 | c |
| जघ्नुस्ते पापनिश्चया | 16 | 11 | d |
| जघ्नुस्त्यागभयात्पुत्रान् | 20 | 34 | c |
| जघ्ने चतुर्दशसहस्रमावरणीय | 10 | 9 | c |
| जघ्नेऽद्भुतैणवपुषाऽऽश्रमत | 10 | 10 | c |
| जघ्नेऽश्मनोदर तस्या | 9 | 39 | c |
| जज्ञिरे दीर्घतपस | 23 | 5 | c |
| जज्ञे चित्ररथोऽप्रजा· | 23 | 7 | b |
| जज्ञे चित्राङ्गदस्सुत· | 22 | 20 | d |
| जज्ञे तस्याऽपि कश्यप· | 1 | 10 | b |
| जज्ञे पुत्रशतं नृप! | 22 | 26 | b |
| जज्ञे भीमरथस्ततः | 17 | 5 | d |
| जज्ञे सत्याहितोऽपत्यम् | 22 | 7 | a |
| जज्ञे हर्यवनो नृपः | 17 | 17 | b |
| जटा निर्मुच्य विधिवत् | 10 | 49 | a |
| जटां रोषविदीपिताम् | 4 | 46 | b |
| जटिलं स्थण्डिले शयम् | 10 | 35 | b |
| जडान्धबधिराकृतिः | 2 | 13 | d |
| जननाज्जनक सोऽभूत् | 13 | 13 | a |
| जनमेजयपूर्वका | 22 | 35 | b |
| जनमेजयस्तस्य पुत्र· | 23 | 2 | a |
| जनमेजयस्त्वां ज्ञात्वा | 22 | 36 | a |
| जनमेजयोऽभवत्परोः | 20 | 2 | a |
| जनयिष्यसि यं राज्ञि | 23 | 38 | c |
| जमदग्निरभाषत | 15 | 37 | d |
| जमदग्नि रुवाह याम् | 11 | 12 | d |
| जमदग्नि र्वसिष्ठोऽभूत् | 7 | 23 | a |
| जमदग्निस्ततोऽभवत् | 15 | 11 | d |
| जमदग्नेरुपाविशत् | 15 | 23 | d |
| जयत्सेनस्तु तत्सुतः | 17 | 17 | d |
| जयत्सेनोऽजनिष्ट ह | 24 | 39 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| जयद्रथ उदाहृत· | 23 | 11 | d |
| जयध्वजश्शूरसेनः | 23 | 27 | c |
| जयध्वजात्तालजङ्घ· | 23 | 28 | a |
| जयन्तसमुदादयः | 16 | 36 | d |
| जयसेनस्तत्तनय | 22 | 10 | c |
| जयस्तस्य कुणिस्तत | 24 | 14 | b |
| जयस्य तनयोऽमित | 15 | 2 | d |
| जरठोऽयमसम्मत | 6 | 41 | b |
| जरया चाऽभिसन्धिते | 22 | 8 | b |
| जरासन्धस्ततोऽभवत् | 22 | 8 | d |
| जरां देहि निजं वय· | 18 | 38 | d |
| जलार्थी तां ददर्श ह | 18 | 18 | d |
| जलेपु· सन्नतेपुश्च | 20 | 4 | c |
| जहाराश्वं पुरन्दर· | 8 | 8 | d |
| जह्नोस्तु पुरु तत्पुत्र. | 15 | 3 | e |
| जह्यङ्गाच्युतचेतन | 15 | 41 | d |
| जातपक्ष इव द्विज· | 19 | 24 | d |
| जातवेदा विभावसु· | 14 | 46 | b |
| जातस्पृहो नृपं विप्रः | 6 | 40 | a |
| जातस्यासीत् सुतो धातु· | 14 | 2 | c |
| जातस्सुतस्त्वनेनाङ्ग! | 7 | 10 | a |
| जात· कृंतरथो यत· | 13 | 16 | b |
| जाता दन्ता यजस्वेति | 7 | 12 | a |
| जाता धर्मानिलेन्द्रेभ्य | 22 | 27 | c |
| जाताया· कुशिकान्वये | 20 | 15 | b |
| जातिस्मर पुरा सङ्गात् | 8 | 16 | c |
| जातुकर्ण्यो महानृषि· | 2 | 21 | d |
| जातो गत पितृगृहाद्वजमेधितार्थः | 24 | 66 | a |
| जातो दशरथस्तत | 24 | 4 | d |
| जापकेन समाचरन् | 6 | 10 | b |
| जामदग्न्योऽपि भगवान् | 16 | 25 | a |
| जायन्तेऽथ पशुश्शुचि | 7 | 13 | d |
| जिजीविषोर्जीवजलार्पणेन | 21 | 13 | d |
| जित्वानुरूपगुणशील वयोऽङ्गरूपाम् | 10 | 7 | a |
| जित्वा पुरन्धनं सर्वम् | 6 | 19 | a |
| जित्वा पुराऽसुरा देवान् | 20 | 31 | a |
| जित्वा यक्ष्यति चाऽध्वरै | 22 | 37 | d |
| जीमूतो विकृतिस्तस्य | 24 | 4 | a |
| जीर्णं यौवनमेति स | 22 | 13 | d |
| जीर्यतो या न जीर्यते | 19 | 16 | b |
| जीव जीवेति क्रिडन्त्या | 22 | 8 | c |
| जीवितं चास्मृतिं वधे | 16 | 7 | d |
| जुगोप पितृवद्रामः | 10 | 51 | e |
| जुजुषेऽव्याहतेन्द्रिय· | 18 | 46 | d |
| जुष्टं भूषणभूषणै· | 11 | 34 | d |
| जुष्टं स्वै. पूर्वराजभिः | 11 | 31 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| जैगीषव्योपदेशेन | 21 | 26 | a |
| ज्ञातीनां कर्म विप्रियम् | 8 | 17 | b |
| ज्ञात्वा पुत्रस्य तत्कर्म | 6 | 9 | a |
| ज्ञानतृप्तस्समाहित | 2 | 13 | b |
| ज्ञानं ब्रह्म सनातनम् | 4 | 10 | d |
| ज्ञानं योऽतीतकल्पान्ते | 1 | 2 | c |
| ज्यामघस्त्वप्रजोऽप्यन्याम् | 23 | 35 | c |
| ज्येष्ठ एष प्रकल्प्यतां | 16 | 30 | d |
| ज्येष्ठं मन्त्रदृशं चक्रु | 16 | 35 | a |
| ज्योतिषी कण्टकेन वै | 3 | 4 | b |
| **त** | | | |
| त एव दुर्विनीतस्य | 4 | 70 | c |
| तक्ष कान्निधनं गतम् | 22 | 36 | b |
| तक्षको भविता पुन· | 12 | 8 | b |
| तक्षपुष्करसाल्वादीन् | 24 | 43 | c |
| तक्ष· पुष्कल इत्यास्ताम् | 11 | 12 | c |
| तच्चित्तो विक्लब· शोचन् | 14 | 32 | c |
| तच्चैकपरितर्पणम् | 21 | 10 | b |
| तच्छ्रुत्वा भगवान्ब्रह्मा | 3 | 31 | c |
| तच्छ्रुत्वा भगवान् राम· | 11 | 16 | a |
| तच्छ्रुत्वा स नृपो देवं | 9 | 8 | c |
| तत ऊर्ध्वं ब्रह्म चर्यम् | 11 | 18 | a |
| तत ऊर्ध्वं वनं तद्वै | 1 | 33 | a |
| तत ऊर्ध्वं स तत्याज | 9 | 38 | a |
| ततश्च क्रोधनस्तस्मात् | 22 | 11 | a |
| ततश्च सहदेवोऽभूत् | 22 | 9 | a |
| ततश्चावभृथस्नान | 16 | 23 | a |
| ततश्चित्ररथस्तस्य | 13 | 23 | c |
| ततश्चैवाऽश्वमेधजः | 22 | 39 | b |
| ततश्शान्तिर्भविष्यति | 4 | 71 | d |
| ततस्ततश्छिन्नभुजोरुकन्धराः | 15 | 31 | c |
| ततस्तस्य सुता प्रोक्ता | 1 | 3 | c |
| ततस्सुदासस्तत्पुत्रो | 9 | 18 | a |
| तस्सृतञ्जयो विप्र· | 22 | 47 | c |
| तत काल उपावृत्ते | 6 | 30 | a |
| ततः कालेन संस्थित | 9 | 1 | d |
| ततः कुवलयाश्वकः | 6 | 21 | d |
| ततः कुवलयाश्वेति | 17 | 6 | e |
| ततः कुशः कुशस्यापि | 15 | 4 | a |
| तत· कृत्त· कृतस्यापि | 17 | 17 | a |
| ततः परिणते काले | 1 | 42 | a |
| ततः पुरुषमेधेन | 7 | 21 | c |
| ततः पुरूरवा जज्ञे | 14 | 15 | a |
| तत प्रजा वीक्ष्य पतिं चिरागतम् | 11 | 30 | a |
| ततः प्रसेनजित् तस्मात् | 12 | 8 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तत· प्रसेनजित्तस्मात् | 12 | 14 | c |
| तत· श्रद्धा मनोः पत्नी | 1 | 14 | a |
| तत शान्तरजे जज्ञे | 17 | 12 | a |
| तत. सीरध्वजो जज्ञे | 13 | 18 | a |
| तत. सुकेतुस्तस्यापि | 13 | 14 | c |
| तत. स्वं भावमाश्रित | 9 | 48 | d |
| ततैर्वसिष्ठासितगौतमादिभि | 4 | 22 | c |
| ततोऽग्निवेश्यो भगवान् | 2 | 21 | a |
| ततो ददर्श भगवान् | 10 | 30 | a |
| ततो दशरथस्तस्मात् | 9 | 41 | a |
| ततो दाशार्हो नाम्नाऽभूत् | 24 | 3 | c |
| ततो देवो ववर्ष ह | 22 | 17 | b |
| ततो धर्मध्वजो नृपः | 13 | 19 | b |
| ततो नवरथ पुत्रो | 24 | 4 | c |
| ततो निराशो दुर्वासा· | 4 | 60 | a |
| ततो निष्क्रम्य लङ्कायाः | 10 | 24 | a |
| ततो बलाच्चलस्तस्मात् | 12 | 2 | c |
| ततो बहुरथो नाम | 27 | 30 | a |
| ततो बृहद्बलो यस्तु | 12 | 8 | c |
| ततो बृहन्मनास्तस्मात् | 23 | 11 | c |
| ततो ब्रह्मकुलं जातं | 2 | 22 | a |
| ततो मनुः श्राद्धदेवः | 1 | 11 | a |
| ततोऽयजन्मनुर्देवं | 2 | 2 | a |
| ततोऽयुतायुस्तस्यापि | 22 | 46 | c |
| ततो विदूरथस्तस्मात् | 22 | 10 | c |
| ततो हिरण्यनाभोऽभूत् | 12 | 3 | c |
| ततो हेमोऽथ सुतपा | 23 | 4 | c |
| तत्पन्न्याहाकृतार्थवत् | 9 | 26 | b |
| तत्पदमूले पतितस्सवेपथु· | 4 | 61 | b |
| तत्पादौ दु·खितोऽग्रहीत् | 5 | 1 | d |
| तत्पुत्रपौत्रनप्तॄणां | 3 | 32 | c |
| तत्पुत्रस्तु रथीतर | 6 | 1 | d |
| तत्पुत्रस्सहदेवस्तु | 2 | 34 | c |
| तत्पुत्र केतुमान्यस्य | 17 | 5 | c |
| तत्पुत्र पुत्रिकासुत | 22 | 32 | f |
| तत्प्रसन्नानुभावेन | 21 | 18 | a |
| तत्याज व्रीडिता तारा | 14 | 10 | a |
| तत्र तप्त्वा तपस्तीक्ष्णम् | 6 | 54 | a |
| तत्र दुर्योधनो ज्येष्ठ· | 22 | 26 | c |
| तत्र विद्वान् स आत्मदृक् | 19 | 20 | d |
| तत्र स्म रुदती पितु· | 18 | 24 | b |
| तत्राऽऽसीनं मुनिं वीक्ष्य | 8 | 21 | a |
| तत्राऽऽसीनां स्वप्रभया | 20 | 8 | c |
| तत्सुत· केवलस्तस्मात् | 2 | 30 | a |
| तत्सुतः प्रमितिर्विभो | 2 | 24 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तत्सुतास्ते प्रजज्वलुः | 6 | 23 | b |
| तत्सुतो जनमेजय· | 2 | 36 | b |
| तत्सुतो रुचकस्तस्य | 23 | 34 | c |
| तत्सुतो विशदस्तस्य | 21 | 23 | a |
| तथा चित्ररथात्मजा | 24 | 18 | b |
| तथाऽनुषक्त मुनिरीक्षमाणो | 4 | 50 | c |
| तथापि चाऽनुसवनं | 19 | 18 | c |
| तथापि साधयिष्येऽहं | 1 | 20 | c |
| तथा राज्ञ्यपि वैदेही | 11 | 4 | c |
| तथा स कृतवान् यथा | 4 | 5 | b |
| तथाऽहं कृपण सुभ्रु! | 19 | 12 | a |
| तथेति कुरुनन्दन! | 16 | 1 | b |
| तथेति राज्ञाऽभिहित | 9 | 9 | a |
| तथति वरुणेनाऽस्य | 7 | 9 | c |
| तथेति स वनं गत्वा | 6 | 7 | a |
| तथेत्यवस्थिते प्राह | 18 | 28 | a |
| तथेत्युक्ते निमि· प्राह | 13 | 8 | c |
| तदन्त आद्यमानम्य | 3 | 31 | a |
| तदन्तिकमुपेयाय | 14 | 16 | c |
| तदभिद्रवदुद्वीक्ष्य | 4 | 49 | a |
| तदभिप्रायमाज्ञाय | 3 | 9 | a |
| तदर्थस्य च गौरवम् | 18 | 29 | b |
| तदर्थं यजतस्सुतम् | 20 | 35 | b |
| तदर्थेऽपोह्य सौहृदम् | 6 | 44 | b |
| तदस्थीनि समिद्धेऽग्नौ | 9 | 36 | c |
| तदा तदनुगास्सर्वे | 1 | 27 | a |
| तदा तु भगवानीश | 24 | 56 | c |
| तदा प्राहागतं देवं | 24 | 33 | a |
| तदिदं भगवानाह | 1 | 32 | a |
| तदीयं धनमानीय | 11 | 14 | a |
| तदीयं पूरवे वयः | 10 | 21 | b |
| तदुपश्रुत्य दूरस्था | 16 | 14 | a |
| तद्गच्छ देवदेवांशो | 3 | 33 | e |
| तद्गतान्तरभावेन | 4 | 32 | a |
| तद्दर्शन प्रमुदित | 20 | 10 | a |
| तद्दृष्ट्वा कृपयाऽगृह्णात् | 27 | 36 | c |
| तद्धि चैवं प्रकल्पितम् | 16 | 37 | d |
| तद्भक्तेषु च साधुषु | 4 | 17 | b |
| तद्भृत्य गात्र स्पर्शेऽङ्ग सङ्गमम् | 4 | 19 | b |
| तद्रक्तेन नदीं घोरां | 16 | 18 | a |
| तद्विज्ञाय मुनि· प्राह | 15 | 10 | a |
| तनयां परिषष्वजे | 3 | 23 | d |
| तन्नाद्रियताग्निहोत्रम् | 15 | 25 | c |
| तन्निशम्य वचस्तस्य | 1 | 19 | a |
| तन्निष्ठाविप्राभिहितश्शशास ह | 4 | 21 | d |
| तन्मन्त्रिप्रहितैर्विप्रैः | 22 | 16 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तन्मुखामोदमुषित | 14 | 25 | c |
| तपत्यां सूर्यकन्यायाम् | 22 | 4 | a |
| तपन्त्य पतिदेवता | 6 | 53 | d |
| तपश्शीलगुणान्वित· | 9 | 29 | b |
| तपश्श्रियाऽनर्घपरिच्छदेषु | 6 | 45 | b |
| तपसा क्षात्रमुत्सृज्य | 16 | 28 | c |
| तपसा दग्धकिल्बिष | 1 | 18 | b |
| तपसाऽऽराधयच्छिवम् | 9 | 8 | d |
| तपसा सिद्धिमन्वगात् | 6 | 32 | d |
| तपस्विनस्सच्छरितव्रतस्य | 6 | 50 | b |
| तपोयुक्तेन पार्थिव· | 4 | 26 | b |
| तपो विद्या च विप्राणां | 4 | 70 | a |
| तप्तुं नारायणाश्रमम् | 3 | 36 | d |
| तप्यमान· परन्तप | 6 | 39 | b |
| तमन्वधावद्भागवद्रथाङ्गं | 4 | 50 | a |
| तमसि प्रत्युपस्थिते | 14 | 27 | b |
| तम प्रकाशश्च दृशो महात्मनाम् | 5 | 7 | b |
| तमानर्चातिथिं सम्यक् | 4 | 36 | a |
| तमापतन्तं भृगुवर्यमोजसा | 15 | 29 | a |
| तमाश्लिष्य दृढं दोर्भ्यां | 10 | 40 | c |
| तमाह राजञ्छर्मिष्ठाम् | 18 | 30 | c |
| तमिन्द्र प्रत्यषेधत | 7 | 17 | d |
| तमुपेयुस्तत्र तत्र | 11 | 29 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तमेव चकमे किल | 19 | 5 | b |
| तमेव वव्रे रहसि | 18 | 31 | c |
| तमेव शरणं याहि | 4 | 59 | c |
| तमेव हृदि विन्यस्य | 18 | 50 | a |
| तमेवं प्रेष्ठ तमसा | 19 | 7 | a |
| तमो विशति यत्पुमान् | 4 | 16 | d |
| तमो हंसि स्वरोचिषा | 11 | 6 | d |
| तयाऽज्ञानं विनिर्दहन् | 7 | 26 | d |
| तया रसातलं नीत | 7 | 1 | c |
| तया वृतं समुद्वीक्ष्य | 19 | 5 | c |
| तया स निर्ममे तस्मै | 4 | 46 | c |
| तया स पुरुषव्याघ्र | 14 | 24 | a |
| तया सार्धं वनगतो हि | 3 | 2 | c |
| तयोरासक्तहृदय· | 22 | 24 | c |
| तयोश्चक्रे क्रिया मुनि· | 11 | 11 | d |
| तयो श्लोकौ पठन्त्यमू | 24 | 9 | b |
| तर्हि दिष्ट्याऽतिथिस्साक्षात् | 4 | 35 | c |
| तर्हि मां खाद पूर्वत | 9 | 32 | b |
| तव तात सुभद्रायाम् | 22 | 33 | a |
| तव भागवतस्य वै | 5 | 20 | b |
| तव राजन् पितामही | 24 | 55 | d |
| तव विप्रशृणुष्व तत् | 4 | 69 | b |
| तवापि पततां देह· | 13 | 5 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तवापि मृत्युराधानात् | 9 | 35 | c |
| तवेमे तनयास्तात | 22 | 35 | a |
| तवेश किल वास्तुगम् | 4 | 9 | b |
| तवैव भृगुणन्दन· | 3 | 22 | d |
| तस्थौ विध्वस्तबन्धन | 7 | 27 | d |
| तस्मा अदाद्धरिश्चक्रं | 4 | 28 | a |
| तस्माच्च वृष्टिमास्तस्य | 22 | 41 | a |
| तस्माच्चारु· सुतोऽभवत् | 20 | 2 | d |
| तस्माच्छाक्योऽथ शुद्धोद | 12 | 14 | a |
| तस्माच्छुचिरथ सुत | 22 | 40 | d |
| तस्मात् प्रसुश्रुतस्तस्य | 12 | 7 | a |
| तस्मात् सीरध्वज स्मृत | 13 | 18 | d |
| तस्मादस्य वधो वीर | 9 | 28 | c |
| तस्मादुदावसुस्तस्य | 13 | 14 | a |
| तस्मादेतामहं त्यक्त्वा | 19 | 19 | a |
| तस्माद्दशरथोऽभवत् | 10 | 1 | d |
| तस्माद्धविरथस्तत· | 23 | 6 | d |
| तस्माद्धेमरथस्तस्य | 13 | 24 | a |
| तस्माद्बहुगवस्ततः | 20 | 3 | b |
| तस्माद्बृहद्रथस्तस्य | 13 | 15 | a |
| तस्मिन्जज्ञे महाराज | 1 | 9 | c |
| तस्मिन् ज्ञानकलां ध्यात्वा | 7 | 26 | c |
| तस्मिन्प्रविष्ट एवासौ | 1 | 26 | a |
| तस्मिन् वा तेऽन्ववर्तन्त | 11 | 24 | c |
| तस्मिन् विवदमानयो | 14 | 11 | b |
| तस्मिन् स भगवान् राम | 11 | 35 | a |
| तस्मिंस्तिष्ठामहे वयम् | 16 | 34 | d |
| तस्मै कामवरं तुष्टो | 1 | 22 | a |
| तस्मै तुष्टो ददाविन्द्र | 7 | 23 | c |
| तस्मै दत्वा ययु स्वर्गं | 4 | 5 | c |
| तस्मै दशरथस्सखा | 23 | 7 | d |
| तस्मै स नरदेवाय | 15 | 24 | a |
| तस्मै संव्य भजत् सोऽन्नं | 21 | 6 | a |
| तस्य क्षेत्रे ब्रह्म जज्ञे | 17 | 11 | a |
| तस्य क्षेम्य सुवीरोऽथ | 27 | 29 | c |
| तस्य चित्ररथस्तत· | 22 | 31 | b |
| तस्य जह्नुस्सुतो गङ्गाम् | 15 | 3 | c |
| तस्य तत्र द्विजः कश्चित् | 19 | 10 | a |
| तस्य तद्व्यसनं वीक्ष्य | 5 | 2 | a |
| तस्य तीर्थपद· किं वा | 5 | 16 | c |
| तस्य त्र्यारुणि कवि· | 21 | 19 | d |
| तस्य त्रिभुवनाधीशा· | 21 | 15 | a |
| तस्य दत्वा नमश्चक्रे | 21 | 9 | c |
| तस्य दृग्भ्योऽभवत् पुत्र· | 14 | 3 | a |
| तस्य धर्मस्ततो धृतः | 23 | 15 | b |
| तस्य नाभाऽवरोऽभवत् | 9 | 16 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तस्य नाभेस्समभवत् | 1 | 9 | a |
| तस्य निर्मथनाज्जात | 14 | 46 | a |
| तस्य पत्नी सहस्राणि | 23 | 32 | c |
| तस्य पुत्रशतज्येष्ठा | 6 | 4 | a |
| तस्य पुत्रशतन्त्वभूत् | 21 | 24 | d |
| तस्य पुत्रशतन्त्वभूत् | 23 | 28 | b |
| तस्य पुत्रशतन्त्वा सीत् | 23 | 29 | c |
| तस्य पुत्रशत जज्ञे | 3 | 29 | a |
| तस्य पुत्रशतं तेषाम् | 22 | 2 | a |
| तस्य पुत्रश्शतानीक | 22 | 38 | a |
| तस्य पुत्रसहस्रस्य | 23 | 27 | a |
| तस्य पुत्रो बृहद्धनु | 21 | 22 | b |
| तस्य पुत्रोंशुमान्नाम | 8 | 15 | c |
| तस्य मीढ्वांस्तत कूर्च | 2 | 19 | c |
| तस्य मेधातिथिस्तस्मात् | 20 | 7 | a |
| तस्य रूपगुणौदार्य | 14 | 15 | c |
| तस्य विश्वेश्वरयेदं | 4 | 59 | a |
| तस्य व्योमस्सुतस्तत· | 24 | 3 | d |
| तस्य सत्यधृति· पुत्र | 27 | 35 | a |
| तस्य सत्यवर्ती कन्याम् | 15 | 5 | a |
| तस्य सत्यव्रत· पुत्र | 7 | 5 | a |
| तस्य सत्यश्रवास्सुत· | 2 | 20 | b |
| तस्य संस्तुवतस्तुष्टा | 14 | 42 | c |
| तस्य साधोरपापस्य | 9 | 31 | a |
| तस्य सुद्युरभूत्पुत्र | 20 | 3 | a |
| तस्या उद्धरणोपायं | 19 | 4 | a |
| तस्यातिकरुणा वाचं | 21 | 11 | a |
| तस्यात्मयोनिरकृत | 14 | 14 | a |
| तस्यानुचरितं राजन् | 10 | 3 | a |
| तस्यान्तरिक्षस्तत्पुत्र | 12 | 12 | c |
| तस्यापत्यं विहीनर | 22 | 43 | d |
| तस्यापि भगवानेष | 10 | 2 | a |
| तस्याप्युग्रायुधस्सुत | 27 | 29 | b |
| तस्यामुत्पादयामास | 2 | 32 | a |
| तस्यावीक्षित् सुतो यस्य | 2 | 26 | a |
| तस्या वीर्यपरीक्षर्थं | 24 | 32 | c |
| तस्याऽऽसन्नृप वैदर्भ्य | 20 | 34 | a |
| तस्याऽऽसीदात्मजो नृप! | 2 | 25 | d |
| तस्याऽऽसी द्राजवर्धन | 2 | 29 | b |
| तस्याऽयु सात्वतस्तत· | 24 | 6 | b |
| तस्याहुकश्चाऽऽहुकी च | 20 | 21 | a |
| तस्यास्तत्क्रन्दितं श्रुत्वा | 2 | 5 | c |
| तस्यास्खरत्रिशिरदूषणमुख्यबन्धून् | 10 | 9 | b |
| तस्या गताया स्वगृहम् | 18 | 18 | a |
| तस्यां जज्ञे दस्युहन्ता | 14 | 10 | c |
| तस्यां विदर्भेऽजनयत् | 24 | 1 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तस्यां वै भार्गव ऋषे· | 15 | 13 | a |
| तस्यां स जनयामास | 24 | 28 | a |
| तस्येयमुपयुज्यते | 23 | 38 | d |
| तस्येशानस्त्वतुष्यत | 9 | 8 | f |
| तस्येषुपाताभिमुखम् | 6 | 18 | a |
| तस्यै राजा विवाससे | 18 | 19 | b |
| तस्यैवं वितथे वंशे | 20 | 35 | a |
| तस्योत्कलो गयो राज्ञो | 1 | 41 | a |
| तस्योत्सृष्टं पशुं यज्ञे | 8 | 8 | c |
| तं कश्चित् स्वीकरिष्यन्तं | 4 | 6 | a |
| तं त्वामहं ज्ञानघनं स्वभाव- | 8 | 24 | a |
| तं त्वां विभो जडधियो न विदाम | 10 | 14 | a |
| तं त्युक्तुकामां ममतां | 20 | 37 | a |
| तं दुरत्ययविक्रान्तं | 20 | 19 | a |
| तं दुर्हृदं सुहृद्रूपं | 19 | 8 | a |
| तं नाकपालवसुपालकिरीटजुष्टम् | 11 | 21 | c |
| तं निर्वर्त्यागमिष्यामि | 13 | 2 | a |
| तं परिक्रम्य शिरसा | 8 | 30 | a |
| तं भेजेऽलम्बुसा देवी | 2 | 31 | a |
| तं वीरमाहौशनसी | 18 | 20 | a |
| तं शशाप कुलाचार्य· | 2 | 9 | a |
| तं साऽत्यजन्नदीतोये | 24 | 36 | a |
| ता जलाशयमासाद्य | 18 | 8 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|
| तान्निरीक्ष्य वरारोहा | 3 | 16 | a |
| तान्येकधन्वेषुभिरच्छिनत्समम् | 15 | 33 | d |
| तान्विलोक्याऽम्बिका देवी | 1 | 30 | a |
| तामापतन्तीं ज्वलतीं | 4 | 47 | a |
| ता राम एको भगवानसूदयत् | 15 | 30 | d |
| तारां नामाहरद्बलात् | 14 | 4 | d |
| तारां स्वभर्त्रे प्रायच्छत् | 14 | 8 | c |
| तावत्सत्यवती मात्रा | 15 | 9 | a |
| तावन्मां प्रतिपालय | 13 | 2 | b |
| तावुपेत्य महारात्रौ | 14 | 27 | a |
| तासां कलिरभूद्भूयान् | 6 | 44 | a |
| तां तृष्णां दु खनिवहां | 19 | 16 | c |
| तां यातुधानपृतनामसिशूलचाप- | 10 | 19 | a |
| तां विलोक्य मनु प्राह | 1 | 16 | c |
| तांस्त्वं शंसय सूक्ते द्वे | 4 | 4 | a |
| ता· स्वपत्युर्महाराज | 6 | 55 | a |
| तितिक्षोश्च रुशद्रथ· | 23 | 4 | a |
| तीर्थक्षेत्रनिषेवणै· | 7 | 18 | b |
| तीर्थं संसेवया चांह· | 15 | 41 | c |
| तीरे न्यस्य दूकूलानि | 18 | 8 | c |
| तुभ्यं दास्यन्ति मामिति | 14 | 42 | b |
| तुमुलं लोमहर्षणम् | 6 | 17 | b |
| तुरगान्वेषणे ययौ | 8 | 19 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तुरं तुरगमेधयाट् | 22 | 37 | b |
| तुर्वसुश्चोदित पित्रा | 18 | 41 | a |
| तुर्वसोस्तु सुतो वह्नि | 23 | 16 | c |
| तुल्यरूपाश्चानिमिषा | 4 | 23 | c |
| तुल्यरूपास्सुवासस | 3 | 15 | d |
| तुष्टस्तस्मै स भगवान् | 1 | 38 | a |
| तुष्टिमानौग्रसेनय· | 24 | 24 | d |
| तुष्यते हरिरीश्वर· | 15 | 40 | d |
| तूष्णीमासीद्गृहपति | 12 | 2 | c |
| तृणबिन्दुर्महीपति· | 2 | 30 | d |
| तृणबिन्दोर्यशोधरा | 2 | 36 | d |
| तृतीयं रोमपादश्च | 24 | 1 | c |
| तृप्तात्मा नृपतिं प्राह | 5 | 19 | c |
| तृष्णा तेषूपजायते | 19 | 18 | d |
| तेजसाऽऽपोऽनिलेन तत् | 7 | 25 | d |
| तेजसाऽप्यायितो विष्णो | 6 | 16 | a |
| तेजोऽनुभावं सीताया | 10 | 27 | c |
| तेजोवीर्यं यशोबलम् | 15 | 18 | d |
| ते तां माहिष्मतीं निन्यु | 15 | 26 | c |
| ते तु ब्राह्मणदेवस्य | 11 | 5 | a |
| ते दु खरोषामर्षाति | 16 | 15 | a |
| ते दैवचोदिता बाला· | 3 | 4 | a |
| तेन द्वे अरणी कृत्वा हि | 14 | 44 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तेनायजत यज्ञेशं | 14 | 47 | a |
| तेऽनीकपा रघुपतेरभिपत्य सर्वे | 10 | 20 | a |
| तेनैव त्वां यजे इति | 6 | 9 | b |
| तेनैव स्तम्भितो बलात् | 7 | 6 | d |
| तेनोपभुक्तकरणो | 2 | 14 | c |
| तेपे स सुमहत्तप· | 9 | 2 | d |
| तेभ्य स्वयं नमश्चक्रे | 10 | 41 | c |
| ते मात्रा बहिरुत्सृष्टे | 22 | 8 | a |
| ते विसृज्योरणौ तत्र | 14 | 31 | a |
| तेषान्तु षट् प्रधानानां | 23 | 23 | c |
| तेनैव त्वां यजे इति | 6 | 9 | b |
| तेनैव स्तम्भितो बलात् | 7 | 6 | d |
| तेनोपभुक्तकरणो | 2 | 14 | c |
| तेपे स सुमहत्तप | 9 | 2 | d |
| तेभ्य स्वयं नमश्चक्रे | 10 | 41 | c |
| मात्रा बहिरुत्सष्टे | 22 | 8 | a |
| ते विसृज्योरणौ तत्र | 14 | 31 | a |
| तेषान्तु षट् प्रधानानां | 23 | 33 | c |
| तेषां ज्येष्ठो वीतिहोत्रो | 23 | 29 | a |
| तेषां न· पुण्यकीर्तीनां | 1 | 5 | c |
| तेषां पुरस्स्तादभवन् | 6 | 5 | a |
| तेषां वशं पृथक् ब्रह्मन्! | 1 | 4 | a |
| तेषां स शीर्षभी राजन्! | 16 | 17 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तेषां स्वसारः पञ्चाशत् | 6 | 38 | e |
| तेषां स्वसारस्सप्तासन् | 24 | 22 | c |
| तेषां स्वसा सुचीराख्या | 24 | 17 | c |
| तेष्वाऽऽस्ते ह्यघभिद्धरि | 9 | 6 | d |
| ते सन्नपरिशेषितान् | 4 | 5 | d |
| ते स्वर्यन्तो धनं सन्ने | 4 | 4 | c |
| तैस्तस्य चाऽभूत्प्रधानम् | 6 | 17 | a |
| तोयं प्रातरूपस्थिताम् | 21 | 4 | d |
| त्यक्तत्रपस्य फलमद्य जुगुप्सितस्य | 10 | 22 | c |
| त्यक्ता मेनकया वने | 20 | 13 | b |
| त्यक्तां पुण्यजनत्रासात् | 3 | 35 | c |
| त्यक्त्वा कलेबरं योगी | 6 | 10 | c |
| त्यक्त्वा ययौ वनमसूनिव मुक्तसङ्ग· | 10 | 8 | d |
| त्यक्तवास्मान् स्वर्गतो भवान् | 16 | 15 | d |
| त्यज त्यजाऽऽशु दुष्प्रज्ञे | 14 | 9 | a |
| त्रय एवाऽवशेषिता | 6 | 23 | d |
| त्रयस्तस्यात्मजा नृप! | 20 | 6 | b |
| त्रयस्त्रिंशच्छतं ह्यश्वान् | 20 | 27 | a |
| त्रयी त्रेतामुखे नृप! | 14 | 49 | b |
| त्रयोदशाब्दसाहस्रम् | 11 | 18 | c |
| त्रयो मध्ये परेऽन्यत | 6 | 5 | d |
| त्रय्या स विद्यया राज्ञा | 14 | 46 | c |
| त्रसदस्युरितीन्द्रोऽङ्ग! | 6 | 33 | a |
| त्रसदस्युः पौरुकुत्स· | 7 | 4 | a |
| त्रस्ताब्धि बद्धसेतुः खल- | 10 | 4 | a |
| त्राह्यात्ममयोनेऽजिततेजसो माम् | 4 | 52 | d |
| त्रिककुब् धर्मसारथिः | 17 | 11 | d |
| त्रिपृष्ठो धृतदेवायां | 24 | 50 | a |
| त्रिभानुस्तत्सुतोऽस्यापि | 23 | 17 | a |
| त्रिरात्रं समुपोषित | 4 | 30 | b |
| त्रिविष्टपं महेन्द्राय | 17 | 15 | a |
| त्रिशङ्कुरिति विश्रुतः | 7 | 5 | b |
| त्रिस्सप्तकृत्व· पृथिवीं | 16 | 19 | a |
| त्रिस्सप्तकृत्वो य इमाम् | 15 | 14 | c |
| त्रेतायां वर्तमानायां | 10 | 52 | a |
| त्रैगुण्यं दुस्त्यजं हित्वा | 9 | 15 | c |
| त्रैलोक्यगोपाय विशुद्धवर्चसे | 5 | 6 | c |
| त्रैलोक्य रावणमवाप्नुहि | 10 | 15 | b |
| त्रैशङ्कवो हरिश्चन्द्र· | 7 | 7 | a |
| त्वञ्च सत्यं प्रभाषसे | 4 | 10 | b |
| त्वञ्चाऽस्य धाता गर्भस्य | 20 | 22 | c |
| त्वत्तेजसा धर्ममयेन संहृतम् | 5 | 7 | a |
| त्वत्प्रसादस्य नास्पदम् | 14 | 35 | d |
| त्वद्रूपमेतत्सदसत्परावरम् | 5 | 7 | d |
| त्वद्विहीना परार्दिता | 10 | 26 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| त्वन्तु कृष्णानुभावेन | 22 | 34 | c |
| त्वमग्निर्भगवान्सूर्यः | 5 | 3 | a |
| त्वमापस्त्वं क्षितिव्योम | 5 | 3 | c |
| त्वयाऽतिकरुणात्मना | 5 | 17 | b |
| त्वया सीतापतेर्मुहु | 10 | 3 | d |
| त्वयोक्तानि श्रुतानि मे | 1 | 1 | b |
| त्वरयाऽऽश्रममासाद्य | 16 | 14 | c |
| त्वं तेज· पौरुषं परम् | 5 | 5 | d |
| त्वं धर्मस्त्वं धृतिस्सत्यम् | 5 | 5 | a |
| त्वं यज्ञोऽखिलयज्ञभुक् | 5 | 5 | b |
| त्वं लोकपालस्सर्वात्मा | 5 | 5 | c |
| त्वं सोमो ज्योतिषां पतिः | 5 | 3 | b |
| त्वामन्वञ्चो वयं स्म हि | 16 | 35 | b |
| त्वां जरा विशतां मन्द | 18 | 36 | c |
| त्वां ममार्यास्तताभाङ्गु | 4 | 2 | e |
| **द** | | | |
| दक्षस्तस्य सुतोऽभवत् | 2 | 19 | b |
| दक्षिणाभिर्द्विजातय· | 2 | 28 | b |
| दग्ध्वाऽऽत्मकृत्य हतकृत्यम् | 10 | 12 | a |
| दण्डपाणिर्निमिस्तस्य | 22 | 44 | a |
| दत्तं तत्परिणामवित् | 18 | 2 | b |
| दत्तं नारायणांशांशम् | 15 | 17 | c |
| दत्तात्रेयाद्धरेरंशात् | 23 | 24 | c |
| दत्तोऽयं वितथे ऽन्वये | 20 | 39 | d |
| दत्ताऽक्षहृदयं तस्मै | 9 | 17 | c |
| दत्त्वा रक्षोगणेशताम् | 10 | 32 | d |
| दत्त्वा स्वमुत्तरं वास | 18 | 19 | a |
| दत्त्वा स्वां जरसं तस्मात् | 19 | 21 | c |
| ददर्श कूपे पतितां | 19 | 3 | c |
| ददर्श दुहितु पार्श्वे | 3 | 18 | c |
| ददर्श बह्वृचाचार्य | 6 | 49 | c |
| ददामि ते मन्त्रदृशे | 4 | 10 | c |
| ददावविहतां गतिम् | 7 | 25 | b |
| ददाविलाऽभवत्तेन | 1 | 22 | c |
| ददाह कृत्यां तां चक्रं | 4 | 48 | b |
| ददृशु कपिलान्तिके | 8 | 10 | b |
| ददृशु पितरं हतम् | 16 | 14 | d |
| ददौ प्राचीं दिशं होत्रे | 16 | 21 | a |
| दधार द्वादशीव्रतम् | 4 | 29 | d |
| दधाराऽवहितो गङ्गां | 9 | 9 | c |
| दन्ता पशो प्रजायेरन् | 7 | 11 | c |
| दमघोषश्चेदिराज | 24 | 39 | c |
| दरिद्योत पुनर्वपु | 24 | 20 | d |
| दर्पं महीमकृत यस्त्रिरराज बीजाम् | 10 | 7 | d |
| दर्शनस्पर्शनाऽऽलापै | 5 | 20 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| दर्शयन्नसमञ्जसम् | 8 | 16 | b |
| दर्शयामास तं देवी | 9 | 3 | a |
| दर्शयित्वा ततो ययौ | 8 | 18 | d |
| दर्शयित्वा पतिं तस्मै | 3 | 17 | a |
| दशपुत्रानकल्मषान् | 24 | 28 | b |
| दशपुत्रान् स आत्मवान् | 1 | 11 | d |
| दशलक्षसहस्राणि | 23 | 33 | a |
| दशाऽऽसन् सुमहायशा· | 23 | 32 | d |
| दशैतेऽप्सरसः पुत्राः | 20 | 5 | a |
| दस्यवो रावणादय· | 6 | 33 | d |
| दंशितोऽनुमृगं वीरः | 1 | 24 | c |
| दाक्षायण्यां ततोऽदित्यां | 1 | 10 | c |
| दान्तस्फटिकभित्तिभि | 11 | 32 | d |
| दावाग्निरुद्धूतशिखो यथाऽर्हम् | 4 | 50 | b |
| दासानामवशिष्यते | 5 | 16 | d |
| दासीवत्स्त्रीगणैस्सह | 18 | 29 | d |
| दास्यन्ति तेऽथ तान् गच्छ | 4 | 5 | c |
| दास्या कर्म ह्यसाम्प्रतम् | 18 | 11 | b |
| दिक्षु चक्रमवर्तयत् | 20 | 32 | d |
| दिक्षु प्राणपरीप्सया | 4 | 49 | d |
| दिदृक्षयोत्सृष्टगृहा· स्त्रियो नरा· | 11 | 30 | b |
| दिलीपस्तत्सुतस्तद्वत् | 9 | 2 | a |
| दिवाको वाहिनीपतिः | 12 | 10 | d |
| दिवोदास· पुमानभूत् | 27 | 34 | b |
| दिवोदासो द्युमांस्तस्मात् | 17 | 6 | a |
| दिश खमवर्नी सर्वाँ | 9 | 24 | c |
| दिशि दक्षिण पूर्वस्यां | 19 | 22 | a |
| दिशो नभः क्ष्मां विवरान् समुद्रान् | 4 | 51 | a |
| दिशो विततिमिरा भासा | 1 | 29 | c |
| दिष्टधृष्ट करूषकान् | 1 | 12 | b |
| दिष्टमेवाभ्यपद्यत | 18 | 32 | d |
| दिष्टवंशमथो श्रुणु | 2 | 22 | d |
| दीनां वीक्ष्यान्वकम्पत | 10 | 31 | b |
| दीर्घतमसं पुरोधाय | 20 | 25 | c |
| दुरत्ययस्ते महिमा गिरांपते | 5 | 7 | c |
| दुराराध्यादसंविद· | 11 | 10 | b |
| दुरितक्षयो महावीर्यात् | 21 | 19 | c |
| दुर्धर्षत्वमरातिषु | 15 | 18 | b |
| दुर्मदं विपुलं ध्रुवम् | 24 | 46 | b |
| दुर्मदो भद्र एव च | 24 | 47 | b |
| दुर्मदो भद्रसेनस्य | 23 | 23 | a |
| दुर्मना भगवान्काव्य· | 18 | 25 | a |
| दुर्मर्षाः प्रियसाहसाः | 14 | 37 | b |
| दुर्लभा अपि सिद्धानां | 4 | 25 | c |
| दुर्वासा दुद्रुवे भीतो | 4 | 49 | c |
| दुर्वासाश्चक्रतापित· | 5 | 1 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| दुर्वासा भगवानभूत् | 4 | 35 | d |
| दुर्वासा यमुनाकूलात् | 4 | 42 | a |
| दुर्वासाश्शरणं यातः | 4 | 55 | c |
| दुर्वासाः परितोषितः | 5 | 22 | b |
| दुर्वासा· स्वस्तिमांस्तत. | 5 | 13 | b |
| दुश्शला चापि कन्यका | 22 | 26 | d |
| दुष्कर. किन्तु साधूनाम् | 5 | 15 | a |
| दुष्टमेतदकर्मकम् | 6 | 8 | d |
| दुष्यन्तस्तत्सुतो मत | 20 | 7 | d |
| दुष्यन्तं स पुनर्भेजे | 23 | 18 | a |
| दुष्यन्तो मृगयां यात | 20 | 8 | a |
| दुस्त्यजं वा महात्मनाम् | 5 | 15 | a |
| दुहितुस्तद्वच श्रुत्वा | 3 | 8 | a |
| दुहित्रर्थमुपागम्य | 1 | 14 | c |
| दुहित्रा स ययौ पुरात् | 18 | 25 | d |
| दुःखशोकतमोनुदम् | 24 | 61 | b |
| दु·खशोक भयक्लमा· | 10 | 54 | b |
| दु·खशोक तमोनुदम् | 24 | 61 | b |
| दु शोक भयक्लमा· | 10 | 54 | b |
| दुःखशोक भयाश्रयम् | 13 | 10 | b |
| दूर्वाक्ष्यां वृक आदधे | 24 | 43 | d |
| दृढनेमिः सुपार्श्वकृत् | 21 | 27 | d |
| दृढाश्वपुत्रो हर्यश्वः | 6 | 24 | c |
| दृढाश्व. कपिलाश्वश्च | 6 | 24 | a |
| दृप्तं क्षत्रं भुवो भारम् | 15 | 15 | a |
| दृष्टं श्रुतमसद्बुद्ध्वा | 19 | 20 | a |
| दृष्ट्वा विधूय विजये जयमुद्विघुष्य | 24 | 67 | c |
| दृष्ट्वाऽन्ये दुद्रुवुर्दैत्या | 6 | 18 | c |
| दृष्ट्वाऽन्यगार आसीनं | 16 | 11 | a |
| दृष्ट्वा दावाग्निमुत्थितम् | 2 | 14 | b |
| दृष्ट्वा विमनसोऽभूवन् | 1 | 27 | c |
| दृष्ट्वा विसिस्मिरे राजन् | 8 | 19 | c |
| दृष्ट्वा शयानान् विप्रास्तान् | 6 | 27 | c |
| दृष्ट्वा स्वसैन्यं रुधिरौघकर्दमे | 15 | 32 | a |
| देवकश्चोग्रसेनश्च | 24 | 21 | c |
| देवकी प्रमुखा आसन् | 24 | 45 | c |
| देवकोऽथ घटोत्कच· | 22 | 30 | d |
| देवक्षत्रस्ततस्तस्य | 24 | 5 | c |
| देवगुप्तो मुनि कृष्ण | 22 | 22 | a |
| देवदत्त स्ततोऽभवत् | 2 | 20 | d |
| देवदुन्दुभयो नेदु | 24 | 29 | c |
| देवबाहुशत धनु | 24 | 27 | a |
| देवभागस्य कंसायां | 24 | 40 | c |
| देवमायामिवस्त्रियम् | 20 | 9 | b |
| देवमीढस्तस्य पुत्र. | 13 | 16 | c |
| देवमीढस्य शूरस्य | 24 | 27 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| देवयानीदमब्रवीत् | 18 | 10 | d | देवानूचु समागतान् | 12 | 7 | d |
| देवयानी पितुर्गेहं | 18 | 34 | c | देवानूचु· समागतान् | 13 | 7 | d |
| देवयानी मनोगतम् | 18 | 28 | b | देवापियोंगमास्थाय | 22 | 17 | c |
| देवयानी व्यजायत | 18 | 33 | b | देवापि शशन्तनुस्तस्य | 22 | 12 | a |
| देवयानी पर्यचरत् | 18 | 29 | c | देवापिस्तु वनङ्गत· | 22 | 12 | d |
| देवयान्यप्यनुदिनम् | 18 | 47 | a | देवास्ते स्वहृदि स्थितम् | 9 | 46 | b |
| देवयान्या पुरोद्याने | 18 | 7 | a | देवास्त्रियो रसां नीता· | 20 | 31 | c |
| देवरक्षितया लब्धा | 24 | 52 | a | देवाः पितर एव च | 23 | 39 | b |
| देवरात इति ख्यातः | 16 | 32 | c | देवि दूरं हृतस्त्वया | 14 | 35 | b |
| देवरातश्च भार्गवम् | 16 | 30 | b | देवी स्मरशरार्दिना | 14 | 16 | d |
| देवरातस्तदात्मजः | 24 | 5 | b | देवी त्वां स्वयमागताम् | 14 | 23 | d |
| देवरातस्तमन्वितः | 16 | 36 | b | देवीं स प्रययौ पुरीम् | 14 | 40 | b |
| देवरातो महीपते | 13 | 14 | d | देवीं हृष्टतनूरुह | 14 | 18 | d |
| देवलो धर्म आसुरः | 4 | 57 | d | देवेऽवर्षति यं राम | 23 | 8 | c |
| देववानुपदेवश्च | 24 | 18 | a | देवैरभ्यर्थितो दैत्यान् | 17 | 13 | a |
| देववानुपदेवश्च | 24 | 22 | a | देवैर्गाधिषु तापसः | 16 | 32 | b |
| देवश्रवसमानकम् | 24 | 28 | d | देवैर्देवापृथस्समः | 24 | 10 | b |
| देवहूतिं प्रतोषितात् | 24 | 32 | b | देवैर्दैत्यपराजितै· | 6 | 13 | d |
| देवं विरिञ्चं समगाद्विधातु· | 4 | 52 | c | देवै· कामवरो दत्ता· | 9 | 45 | a |
| देवातिथिरमुष्य च | 22 | 11 | b | देवो नारायणो नान्यः | 14 | 48 | c |
| देवानां गुरुमाययौ | 20 | 27 | d | देशकालविधानवित् | 20 | 16 | d |
| देवानां सह दानवैः | 6 | 13 | b | देशान्निस्सारयामास | 6 | 9 | c |
| देवानीकस्ततो हीनः | 12 | 2 | a | देशान् पुनन्ती निर्दग्धान् | 9 | 11 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| देहं न वा रुरुत्सेऽहं | 13 | 10 | a |
| देहं ममन्थुःस्म निमे· | 13 | 12 | c |
| देह कृतोऽन्नं गृध्राणां | 10 | 28 | c |
| देहि मेऽपत्यकामया | 9 | 27 | c |
| देहो धमनिसन्ततः | 3 | 14 | b |
| देहोऽयं मानुषो राजन्! | 9 | 28 | a |
| दैत्यान्येऽभिययुर्मृधे | 6 | 17 | d |
| दैत्यं क्लमश्शोकविषादमोहा | 21 | 13 | b |
| दैवोपहृतमात्मन | 18 | 23 | b |
| दौष्यन्तिरत्यगान्मायां | 20 | 27 | c |
| द्रव्यमन्त्रो विधिर्यज्ञ | 6 | 36 | a |
| द्रुपदो द्रौपदी तस्य | 22 | 2 | c |
| द्रुह्युश्चाऽनुश्च पूरुश्च | 18 | 33 | c |
| द्रुह्यं दक्षिणतो यदुम् | 19 | 22 | b |
| द्रुह्युश्चाऽनुश्च भारत! | 18 | 41 | b |
| द्रह्योऽस्तु तनवो बभ्रु | 23 | 14 | c |
| द्रोणपत्न्यभवत् कृपी | 27 | 36 | f |
| द्रोणेर्ब्रह्मास्त्रतेजसा | 22 | 34 | b |
| द्रौपद्यां पञ्च पञ्चभ्य | 22 | 28 | c |
| द्वन्द्वं वरूथमिभपत्तिरथाश्वयोधै· | 10 | 20 | b |
| द्वन्द्वैर्मुक्ता गृहेष्वपि | 13 | 27 | d |
| द्वादश्यामप्यपारणे | 4 | 39 | b |
| द्वादश्यां पारणं प्रति | 4 | 38 | b |
| द्वावक्रूरसुतावपि | 24 | 17 | d |
| द्विजागमनमेव स | 4 | 41 | d |
| द्विजैस्तद्धर्मसङ्कटम् | 4 | 38 | d |
| द्विजोपयोगातिपवित्रमाहरत् | 5 | 24 | b |
| द्विजो भवतु विज्वरः | 5 | 10 | d |
| द्विजो भवतु विज्वर· | 5 | 11 | d |
| द्वितीय इव भास्कर· | 24 | 35 | d |
| द्वितीयमह रूचिवान् | 3 | 1 | d |
| द्विपोत्तमस्यन्दनवाजिपत्तिषु | 4 | 27 | b |
| द्वे ज्योतिषी अजानन्त्या | 3 | 7 | c |
| **ध** | | | |
| धनक· कृतवीर्यसू | 23 | 23 | b |
| धनुर्धर बाणपरश्वधायुषम् | 15 | 29 | b |
| धनुर्निषङ्गाञ्छ्रुघ्न | 10 | 44 | a |
| धनुर्वेद विशारद | 27 | 35 | b |
| धनुष्षु बाणान् युगपत्स सन्दधे | 15 | 33 | b |
| धन्वन्तरि दीर्घतपात् | 17 | 4 | c |
| धन्वन्यभिस्रोतमसौ सरस्वतीम् | 4 | 22 | d |
| धर्मकेतु सुतस्तस्मात् | 17 | 8 | c |
| धर्मश्चावेक्ष्य धर्मवित् | 18 | 32 | b |
| धर्मध्वजस्य द्वौ पुत्रौ | 13 | 19 | c |
| धर्मनेत्रश्श्रुतस्तत | 22 | 48 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| धर्मव्यतिक्रमं विष्णोः | 4 | 44 | c |
| धर्मसत्यव्रतेपव· | 20 | 4 | d |
| धर्मस्तु हैहयसुतो | 23 | 22 | a |
| धर्मिष्ठा लोकपावनाः | 9 | 6 | b |
| धर्मो देशश्च कालश्च | 6 | 36 | c |
| धर्मो नामोशनास्तस्य | 23 | 34 | a |
| धर्षिता दष्टदच्छदा | 18 | 15 | d |
| धारणार्थं मदम्भसाम् | 9 | 8 | b |
| धारयन्नजुहोत् प्रभु· | 11 | 18 | b |
| धारयिष्यति ते वेगं | 9 | 7 | a |
| धार्यते यैरिह ज्योति· | 18 | 12 | c |
| धीर यस्यानुशोचन्ति | 19 | 2 | c |
| धुनुते कर्मवासनाम् | 24 | 62 | d |
| धुन्धुनामासुरं बली | 6 | 22 | b |
| धुन्धुमार इति ख्यातः | 6 | 23 | a |
| धुन्धोर्मुखाग्निना सर्वे | 6 | 23 | c |
| धुवन्त उत्तरासङ्गान् | 10 | 42 | a |
| धूपैर्दीपै सुरभिभि· | 11 | 34 | a |
| धूम्रकेतुश्च तत्सुताः | 2 | 33 | b |
| धूम्राक्षदुर्मुख सुरान्तनरान्तकादिन् | 10 | 18 | b |
| धूम्राक्षस्तस्य चात्मजः | 2 | 34 | b |
| धृढसेनोऽथ सुमति. | 22 | 48 | c |
| धृतदेवादयो नृप! | 24 | 22 | d |
| धृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च | 22 | 25 | c |
| धृतस्य दुर्मदस्तस्मात् | 23 | 15 | c |
| धृतिस्तस्य धृतव्रतः | 23 | 12 | b |
| धृर्ति विष्टस्य ललना | 14 | 17 | e |
| धृष्टद्युम्नात् धृष्टकेतु· | 22 | 3 | a |
| धृष्टद्युम्नादयस्सुताः | 22 | 2 | d |
| धृष्टाद्धार्ष्ट मभूत्क्षात्रं | 2 | 17 | a |
| धृष्टिस्तस्याथ निर्वृतिः | 24 | 3 | b |
| ध्यायन्ती रामचरणौ | 11 | 15 | c |
| ध्यायंस्तत्सुसमाहित· | 1 | 15 | b |
| ध्रुवसन्धिस्ततोऽभवत् | 12 | 5 | b |
| **न** | | | |
| न कश्चिदवशेषितः | 17 | 16 | b |
| न कामयेऽहं गतिमीश्वराणाम् | 21 | 12 | a |
| नकुलस्सहदेवश्च | 22 | 28 | a |
| नक्षत्रबन्धु· शूद्रस्त्वं | 2 | 9 | c |
| नग्नमैक्षत सा पतिम् | 14 | 31 | d |
| न चचाल पदा नृपः | 4 | 47 | d |
| न चेद्भूमितलं भित्वशा | 9 | 4 | c |
| न जातुकामः कामानां | 19 | 14 | a |
| न जीविष्ये विना येन | 9 | 32 | c |
| न तथाऽन्योऽस्ति कश्चन | 2 | 27 | b |
| न नृप्तो विषयेष्वहम् | 18 | 39 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| न त्वमग्रजवद्वत्स! | 18 | 42 | c |
| न त्वां तु भस्मसात्कुर्यां | 14 | 12 | e |
| न दाराश्चातिवल्लभा | 9 | 43 | d |
| न दुहन्ति मनः प्रीतिं | 19 | 13 | c |
| न नूनं कार्तवीर्यस्य | 23 | 25 | a |
| नन्दिग्रामात् स्वशिबिरात् | 10 | 36 | c |
| नन्दोपनन्दकृतक | 24 | 48 | a |
| न पश्यति त्वां परमात्मनोऽजनो | 8 | 22 | a |
| न पुंसा वीरमानिना | 14 | 28 | d |
| न पूर्वे नापरे नृपा | 20 | 29 | b |
| न प्रसादयितुं शेके | 18 | 35 | c |
| न प्राभूद्यत्र निर्मुक्तो | 4 | 14 | c |
| न बाल्येऽपि मतिर्मह्यं | 9 | 44 | a |
| न बुध्यतेऽद्याऽपि समाधियुक्तिभि | 8 | 22 | b |
| न ब्राह्मणो मे भविता | 18 | 22 | a |
| नभगश्च कविं विभुम् | 1 | 12 | d |
| न भवान् राक्षस साक्षात् | 9 | 26 | c |
| न ममार पिता तस्य | 6 | 32 | a |
| नमस्तुभ्यं भगवते | 19 | 29 | a |
| नमस्सुनाभाखिलधर्मसेतवे हि | 5 | 6 | a |
| न मे ब्रह्मकुलात्प्राणा | 9 | 43 | a |
| नमो ब्रह्मण्यदेवाय | 11 | 7 | a |
| नयत्येव यमक्षयात् | 20 | 22 | b |
| नरनारायणाश्रमम् | 1 | 31 | d |
| नररत्नाय देहि भो· | 3 | 34 | b |
| नरलोक विमोहनम् | 14 | 23 | b |
| नरान् हर्तुमचोदयत् | 15 | 26 | b |
| नरा मय्यामृजन्त्यहम् | 9 | 5 | b |
| नरिष्यन्तं पृषध्रश्च | 1 | 12 | c |
| नरिष्यान्तान्वय· प्रोक्तो | 2 | 22 | c |
| नर्मदा भ्रातृभिर्दत्ता | 7 | 2 | a |
| नलिनी पुलिनेऽबला | 18 | 7 | d |
| नलिन्यामजमीढस्य | 27 | 30 | c |
| नलो रिपुरिति श्रुता | 23 | 20 | d |
| नव चाऽत्र गदादय· | 24 | 52 | b |
| न वर्धयन्ति तान्कामा | 4 | 25 | a |
| न ववर्ष यदा विभु | 22 | 14 | d |
| वनं नवमभीप्सन्त्य· | 14 | 38 | c |
| न विन्दन्ति प्रियं शश्वत् | 9 | 46 | c |
| न विविक्तासनो भवेत् | 19 | 17 | b |
| न वृणे तमहं कामं | 9 | 45 | c |
| न वै वेद महाभाग! | 10 | 27 | a |
| न शक्यते विस्तरेण | 1 | 7 | c |
| न श्रियो न मही राज्यं | 9 | 43 | c |
| नष्टं भावयिता पुन· | 12 | 6 | d |
| न साधुवादो मुनिकोपभर्जिता | 8 | 13 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| न हि चेतः पौरवाणां | 20 | 12 | c |
| नहुषः क्षत्रवृद्धश्च | 17 | 1 | c |
| न ह्यस्य जन्मनो हेतुः | 24 | 57 | a |
| न ह्येतत्परमाश्चर्यं | 9 | 14 | a |
| नागमाद्यावता गुरुः | 13 | 3 | d |
| नागाल्लब्धवरस्सर्पात् | 7 | 3 | c |
| नाट्यसङ्गीतवादित्रै | 23 | 9 | a |
| नातिहृष्टमना इव | 3 | 19 | d |
| नाऽति हृष्टमना गुरुम् | 1 | 16 | d |
| नात्यजत् तत्कृते जज्ञे | 14 | 5 | c |
| नाऽधर्मं कर्तुमर्हसि | 9 | 27 | b |
| नाधिव्याधिजराक्षुत्तृट् | 10 | 54 | a |
| नाऽनुध्यायेन्न संविशेत् | 19 | 20 | b |
| नानुरूपा इतीरिते | 20 | 34 | d |
| नानेव भाति नाभाति | 18 | 49 | c |
| नाऽन्तं व्रजाम्युभयकृत्य मनोरथानाम् | 6 | 52 | c |
| नाऽपश्यमुत्तमश्लोकात् | 9 | 44 | c |
| नाभाग तनयं नृपम् | 4 | 71 | b |
| नाभागस्तं प्रणम्याऽऽह | 4 | 9 | a |
| नाभागस्तु पिता पुत्रं | 4 | 2 | c |
| नाभागादम्बरीषोऽभूत् | 4 | 13 | a |
| नाभागो दिष्टपुत्रोऽन्यः | 2 | 23 | a |
| नाभागो नभगापत्यं | 4 | 1 | a |
| नाभिह्रदसरोरुहात् | 14 | 2 | b |
| नाऽभ्यनन्दन् स्म तं प्रजाः | 1 | 40 | d |
| नामनिर्वचनं तस्य | 20 | 37 | c |
| नामृष्यत् तस्य तद्वीर्यम् | 15 | 21 | c |
| नाऽमृष्यद्वस्त कर्त तत् | 19 | 7 | d |
| नाम्ना चित्राङ्गदो हतः | 22 | 21 | b |
| नाम्ना सत्यधृतिस्तस्मात् | 21 | 27 | c |
| नारदस्योपदेशत· | 7 | 8 | b |
| नारदो भगवानजः | 4 | 57 | b |
| नारायण गृहीतया | 9 | 48 | b |
| नारायण परायणः | 21 | 18 | d |
| नारायणमणीयांसं | 18 | 50 | c |
| नारी कवच इत्युक्तो | 9 | 40 | c |
| नार्यो नराश्च मुदिताः | 24 | 65 | d |
| नाऽवधीद्गुरुवाक्येन | 8 | 6 | a |
| नाविन्दच्छत्रुभवनात् | 23 | 36 | a |
| नाऽशक्नोत् पथि सन्धितुम् | 19 | 9 | d |
| नाशक्नोत् रोद्धुमीश्वरः | 11 | 16 | d |
| नासत्यावाश्रमञ्जतौ | 3 | 11 | b |
| नाऽस्पृशद्ब्रह्मशापोऽपि | 4 | 13 | c |
| नाऽहमात्मानमाशासे | 4 | 64 | a |
| नाऽहं तेभ्यो मनागपि | 4 | 68 | d |
| नाऽहं त्वां भस्मसात् कुर्यां | 14 | 9 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| नाहं बिभर्मि त्वां दुष्टाम् | 11 | 9 | a |
| नाहुषाय सुतां दत्त्वा | 18 | 30 | a |
| निकुम्भस्तस्य चाऽऽत्मज· | 6 | 24 | d |
| निघ्नन्त्याऽऽत्मानमात्मना | 16 | 13 | b |
| नित्यं शुश्रूषतां हि न | 1 | 4 | d |
| नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभि पिबन्त्यो | 24 | 65 | c |
| निद्रापाय इवाञ्जसा | 16 | 8 | b |
| निधाय भ्रातृषु स्वयम् | 16 | 16 | b |
| विधाय मुनिसत्तमा | 13 | 7 | b |
| निन्युस्ते क्षत्रबन्धव | 16 | 12 | d |
| निन्ये भुवनपावनीम् | 9 | 10 | b |
| निपातितं हैहय आपतद्रुषा | 15 | 32 | d |
| निपेतुरुर्व्यां हतसूतवाहना | 15 | 31 | d |
| निमज्जतां भवानस्मिन् | 3 | 13 | c |
| निममज्ज बृहत् ध्यायन् | 3 | 37 | c |
| निमिरध्यात्मकोविद | 13 | 6 | b |
| निमिरिक्ष्वाकुतनय | 13 | 1 | a |
| निमिश्चलमिदं विद्वान् | 13 | 3 | a |
| निमिस्तस्माज्जनिष्यति | 22 | 42 | d |
| निमि· प्रतिददौ शापम् | 13 | 5 | a |
| निमेर्बृहद्रथस्तस्मात् | 22 | 43 | a |
| निमेः पण्डितमानिनः | 13 | 4 | d |
| निम्नस्यायासतुः सुतौ | 24 | 13 | b |
| निम्नोऽभूदनमित्रत· | 24 | 12 | d |
| नियुतानि चतुर्दश | 20 | 28 | d |
| निरमित्रं तथाऽर्जुन | 22 | 32 | b |
| निरमित्रोऽथ तत्सुत | 22 | 46 | d |
| निराशीरयजत्प्रभु | 18 | 50 | d |
| निरीक्ष्याऽऽध्यात्मिकी गतिम् | 6 | 55 | b |
| निरूपितस्सर्वसहो गदाभृता | 5 | 9 | b |
| निरूप्येष्टिं मरुत्वत· | 23 | 9 | d |
| निर्द्वन्द्वो निरहङ्कार· | 19 | 19 | c |
| निर्भज्यमानधिषणध्वजहेमकुम्भ | 10 | 17 | c |
| निर्भिन्ने कण्टकेन ते | 3 | 7 | d |
| निर्वर्त्य गुरुरागत | 13 | 4 | b |
| निर्वाणसुख संविदा | 7 | 27 | b |
| निर्वृतिं मीनराजस्य | 6 | 39 | c |
| निवृत्ता प्रययुस्तस्मात् | 1 | 31 | c |
| निवेदितोऽथाङ्गिरसा | 14 | 8 | a |
| निवेश्य चित्ते पुरुषं स्वरोचिषं | 2 | 15 | c |
| निशम्य विपुलश्रमान् | 21 | 11 | b |
| निशम्याक्रन्दितं देवी | 14 | 28 | a |
| निशाम्य पुरुषश्रेष्ठं | 14 | 17 | c |
| निशि निस्त्रिंशमादाय | 14 | 30 | g |
| निश्चक्राम दृढं भीतो | 2 | 7 | c |
| निषधश्च कुरोस्सुता· | 22 | 4 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| निषधस्तत्सुतो नभः | 12 | 2 | b |
| निष्किञ्चनस्य धीरस्य | 21 | 3 | c |
| निसर्गकरुणो नृप· | 21 | 14 | d |
| निस्त्रिंशाग्रहतस्तत | 2 | 7 | b |
| निस्संज्ञो विगतस्पृहः | 21 | 16 | b |
| नि.क्षत्रे मूलकोऽभवत् | 9 | 40 | d |
| नि·श्रेयसकरे उभे | 4 | 70 | b |
| नि स्पृहो मुक्तबन्धनः | 8 | 31 | b |
| नील शान्तिस्तु तत्सुतः | 27 | 30 | d |
| नीलाब्रदर्क्षपनसादिभिः | 10 | 19 | d |
| नीवीमाश्वथ पर्यधात् | 1 | 30 | d |
| नृगस्य वंश्यस्सुमति· | 2 | 17 | c |
| नृ चक्षुर्यतत्सुखीनलः | 22 | 41 | d |
| नृपञ्जयस्ततो दूर्व | 22 | 42 | c |
| नृप यास्ये रसातलम् | 9 | 4 | d |
| नृप. स्वपुरमागतः | 3 | 35 | d |
| नृपेन्द्रपुत्रा इति सत्त्वधामनि | 8 | 13 | b |
| नृलोकं रमयामास | 24 | 64 | c |
| नेक्षे त्वान्यत्र मैथुनात् | 14 | 22 | b |
| नेच्छन्ति सेवया पूर्णा· | 4 | 67 | c |
| नेत्र· कुन्ते पिता तत | 23 | 22 | b |
| नेदं यशो रघुपते सुर याच्ञयाऽऽत्त | 11 | 20 | a |
| नेमिचक्रस्तु तत्सुतः | 22 | 39 | d |
| नैनां सन्त्यक्तुमुत्सहे | 18 | 27 | d |
| नैवापुर्नैव प्राप्स्यन्ति | 20 | 29 | c |
| नैवोचे व्रीडिता तु सा | 14 | 11 | d |
| नोत्सहे जरया स्थातुम् | 18 | 40 | a |
| न्यरुणत् त्रिदशै· पुरम् | 6 | 16 | d |
| न्यवेदयत्ततः सर्वं | 18 | 24 | c |
| न्यस्तदण्ड प्रशान्तधी· | 16 | 26 | b |
| न्यस्त दण्डार्पिताङ्घ्रये | 11 | 7 | d |
| न्यस्तौ राजनि मायया | 14 | 27 | d |
| न्यासौ रक्षस्व मानद! | 14 | 21 | b |


## प


| | | | |
|---|---|---|---|
| पक्त्वा.निन्ये नरामिषम् | 9 | 21 | d |
| पक्षिणोर्बहुवार्षिकम् | 7 | 7 | d |
| पञ्च पञ्चाशता मेध्यै· | 20 | 25 | a |
| पञ्च प्रहृष्टवदन· | 14 | 33 | c |
| पञ्चविंशतिः पञ्चाच्च | 6 | 5 | c |
| पञ्चानां रक्षणाय हि | 27 | 32 | d |
| पञ्चाशदासमुत पञ्चसहस्रसर्ग· | 6 | 52 | b |
| पञ्चाशीति सहस्राणि हि | 23 | 26 | a |
| पञ्चाऽऽसन् कैकयास्सुतः | 24 | 38 | d |
| पञ्चाऽऽसन्नात्मजा· शृणु | 23 | 34 | d |
| पञ्चाऽऽसन्मुद्गलादयः | 27 | 31 | d |
| पञ्चैवोर्वीरिता मृधे | 23 | 27 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| पट्टिकाभि· सुवाससाम् | 11 | 28 | b |
| पठद्भिर्ब्रह्मवादिभि· | 10 | 37 | b |
| पण्यान्युच्चावचानि च | 10 | 39 | b |
| पतन्त्या मे महीतले | 9 | 4 | b |
| पताकाभिश्च मण्डिताम् | 11 | 27 | d |
| पतिलोकपरायणा | 9 | 36 | b |
| पतिं परमकोपनम् | 3 | 10 | b |
| पतिं भ्रातरमप्युत | 14 | 37 | d |
| पतिं वीक्ष्य चिरागतम् | 10 | 42 | b |
| पत्नीं कष्टमकारषी | 15 | 10 | b |
| पत्नीं बृहस्पतेर्दर्पात् | 14 | 4 | c |
| पत्न्य आनकदुन्दुभे | 24 | 45 | d |
| पत्न्यस्तिस्रस्सुसम्मता | 20 | 34 | b |
| पत्न्या प्रकुपितोऽब्रवीत् | 16 | 5 | b |
| पत्या भीतेन सा त्यक्ता | 11 | 10 | c |
| पदं भगवतो ययौ | 4 | 60 | b |
| पद्मकिञ्जल्कगन्धया | 14 | 25 | b |
| पद्मकोशश्च पादयो | 20 | 24 | b |
| पद्मकोशो हिरण्मय· | 1 | 9 | b |
| पद्मस्रज· कुण्डलिनः | 3 | 15 | c |
| पपौ मन्त्रजलं स्वयम् | 6 | 27 | d |
| प्रपच्छ कामसन्तप्तः | 20 | 10 | c |
| पप्रच्छुर्ऋषयो देवा· | 14 | 11 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| पप्रच्छु कस्य कर्मेदम् | 6 | 28 | c |
| पयश्शीलवयोरूप | 4 | 33 | c |
| परमात्मा नराकृति· | 23 | 20 | b |
| परस्य द्रष्टुरात्मन· | 24 | 57 | d |
| परं कौतूहलं हि न· | 1 | 28 | d |
| परं गुह्यमिदं जगौ | 23 | 23 | b |
| परात्मनि ब्रह्मणि वासुदेवे | 5 | 25 | b |
| परात्मभूतस्य कथं पृथङ्गति | 8 | 14 | d |
| परावरेषां भूतानाम् | 1 | 8 | a |
| परिक्लिष्टां समर्पयत् | 15 | 36 | d |
| परीक्षीणेषु कुरुषु | 22 | 34 | a |
| परिप्लवस्सुतस्तस्मात् | 22 | 42 | a |
| परिवेत्ता त्वमग्रभुक् | 22 | 15 | b |
| परिवेक्ष्यमाणं भगवान् | 9 | 22 | a |
| परिशेषितमात्मन | 4 | 4 | d |
| परिहास मिवोदितम् | 19 | 26 | d |
| परीक्षित् सुधनुर्जह्रु· | 22 | 4 | c |
| परीक्षिदनपत्योऽभूत् | 22 | 9 | c |
| परेऽधियज्ञे भगवत्यधोक्षजे | 4 | 21 | b |
| परेऽमले ब्रह्मणि वासुदेवे | 19 | 25 | c |
| परोक्षश्च त्रयस्सुता· | 23 | 1 | b |
| पर्यधुर्व्रीडितास्स्त्रिय· | 18 | 9 | d |
| पशोर्मे पतिता दन्ता· | 7 | 13 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| पश्यञ्जीवमयं नृपः | 9 | 24 | d |
| पश्यतो लक्ष्मणस्यैव | 10 | 5 | c |
| पाणिस्पर्शाक्षमाभ्यां मृजित पथरुजो | 10 | 4 | b |
| पाणि परपुरञ्जय· | 18 | 20 | d |
| पाण्डुस्ते सत्यविक्रम· | 24 | 36 | d |
| पाण्डो कुन्त्यां महारथा· | 22 | 27 | b |
| पातितोऽवाक्शिरा देवै· | 7 | 6 | c |
| पातिव्रत्येन तोषितौ | 3 | 17 | b |
| पादपूतजलां हरे· | 9 | 9 | d |
| पादमूलमुपागत· | 4 | 36 | d |
| पादयोरपतत्प्रेम्णा | 10 | 39 | c |
| पादयो पतित पथि | 18 | 26 | d |
| पादसम्मर्द नादिभि· | 18 | 35 | d |
| पादस्पर्शविलज्जित | 5 | 2 | b |
| पादाम्बुजं रघुपतेश्शरणं प्रपद्ये | 11 | 21 | d |
| पादारविन्दमुपगम्य बभाष एतात् | 10 | 13 | d |
| पादुके न्यस्य पुरत | 10 | 40 | a |
| पादुके भरतोऽगृह्णात् | 10 | 43 | a |
| पादुके शिरसि न्यस्य | 10 | 36 | a |
| पादे कल्पषताङ्गतः | 9 | 25 | b |
| पादौ हरे· क्षेत्रपदानुसर्पणे | 4 | 20 | a |
| पानीयमात्रमुच्छेषम् | 21 | 10 | a |
| पारणायोपचक्रमे | 4 | 35 | b |
| पारमेष्ठ्यमगात्मदम् | 15 | 39 | b |
| पारमेष्ठ्यान्युपादाय | 10 | 39 | a |
| पारस्तत्तनयो नीपः | 21 | 24 | c |
| पारियात्रोऽथ तत्सुतः | 12 | 2 | b |
| पार्ष्णिग्राहो वृतो वीर· | 6 | 13 | c |
| पालयामास गा यत्तः | 2 | 3 | c |
| पालयामास जगतीम् | 1 | 40 | c |
| पावन श्रीनिकेतन· | 18 | 13 | d |
| पास्यत पुल्कसोऽभ्यगात् | 21 | 10 | c |
| पाहीमां प्राक् त्वयोद्धृताम् | 11 | 29 | d |
| पितरं वरुणग्रस्तम् | 7 | 17 | a |
| पितरि भ्रंशिते स्थानात् | 18 | 3 | a |
| पितर्युपरते पुत्रा | 17 | 14 | c |
| पितर्युपरतेऽभ्येत्य | 6 | 11 | a |
| पितर्युपरते सोऽपि | 20 | 23 | a |
| पितामह पशुस्तव | 8 | 29 | b |
| पितामहहिते रत | 8 | 15 | d |
| पितामहेन प्रवृत· | 7 | 1 | c |
| पितुरात्मकृत पुमान् | 18 | 43 | b |
| पितुरादेशकारिणः | 8 | 9 | b |
| पितुर्विद्वांस्तपो वीर्यम् | 16 | 8 | c |
| पितुश्च भर्तुश्च नयस्यधस्तमः | 3 | 21 | d |
| पितु कर्म चिकीर्षितम् | 7 | 16 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| पितु· कायेन सन्धाय | 16 | 20 | a |
| पितृमेध विधानेन | 10 | 29 | c |
| पितृराज्यं समुत्सृज्य | 22 | 12 | c |
| पितृवत्पालयन् प्रजा | 18 | 46 | b |
| पितृव्य खातानुपथम् | 8 | 20 | c |
| पित्रा ते समरे हत | 12 | 8 | d |
| पित्रा दत्ता यतो यास्ये | 18 | 28 | c |
| पित्रा स्नेहमपोह्य वै | 8 | 18 | b |
| पित्रे तेन च तद्गुरु | 6 | 8 | b |
| पित्रे भ्रातृभ्य एव च | 15 | 37 | b |
| पित्रोपशिक्षितो राम | 16 | 1 | a |
| पितं पुंसवनं जलम् | 6 | 28 | d |
| पीत्वा ता स्वेन भावेन | 7 | 27 | a |
| पीवानं श्मश्रुलं भेजु· | 19 | 6 | a |
| पुण्डरीकोऽथ तत्पुत्र | 12 | 1 | c |
| पुण्य श्रवणकीर्तन | 3 | 35 | b |
| पुत्र आसीद्बृहद्रथ | 21 | 22 | d |
| पुत्र ऐडबिडस्तत | 9 | 41 | b |
| पुत्रकामस्तपस्तेपे | 2 | 1 | c |
| पुत्रत्वं प्रार्थितस्सुरै· | 10 | 2 | d |
| पुत्रत्वे कल्पितस्त्रिवृत् | 14 | 46 | d |
| पुत्रयोर्नीयमानयोः | 14 | 28 | b |
| पुत्रस्सन्नतिमांस्ततः | 21 | 28 | b |
| पुत्रं कृत्वा शुनश्शेपम् | 16 | 30 | a |
| पुत्रं ज्येष्ठमवोचत | 18 | 38 | b |
| पुत्रं पौरवमन्वभूत् | 23 | 17 | d |
| पुत्रं प्रहस्तमतिकायमकम्पनादीन् | 10 | 18 | c |
| पुत्रा एकशत नृप! | 16 | 29 | b |
| पुत्राणाममितौजसाम् | 17 | 12 | d |
| पुत्राणां तास्वजीजनत् | 23 | 33 | b |
| पुत्रा द्वादश विश्रुता | 24 | 15 | d |
| पुत्रास्ते पितरोऽभवन् | 22 | 28 | d |
| पुत्रेणा पोडुराण्मुदम् | 14 | 14 | d |
| पुत्रो जातस्तु रोहित | 7 | 9 | d |
| पुत्रो नाम्ना बृहद्रण | 12 | 9 | d |
| पुत्रोऽभूत्समते रैभ्य | 20 | 7 | c |
| पुत्रोऽभून्नन्दिवर्धन | 13 | 14 | b |
| पुत्रो मे जायतां प्रभो | 7 | 8 | d |
| पुत्रो वृजिनवांस्तत | 23 | 30 | d |
| पुत्रौ नाम्ना कुशक्रथौ | 24 | 1 | b |
| पुत्र्यावरं परिप्रष्टुम् | 3 | 30 | a |
| पुनर्जाता यजस्वेति | 7 | 14 | a |
| पुनस्तत्र गतोऽब्दान्ते(हि) | 14 | 40 | c |
| पुनस्त्वङ्गिरसास्स्मृता· | 6 | 3 | b |
| पुन स्वहस्तैरचलान्मृधेऽङ्घ्रिपान् | 15 | 34 | a |
| पुमान्भवति निर्मल | 5 | 16 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पुरञ्जयस्तस्य सुत· | 6 | 12 | a | पुरुहोस्त्वनो· पुत्रः | 24 | 6 | a |
| पुरञ्जयस्य पुत्रोऽभूत् | 6 | 20 | a | पुरूरवस उत्सृज्य | 1 | 42 | c |
| पुराष्ट्रविवृद्धये | 22 | 15 | d | पुरूरवस एवासीत् | 14 | 49 | a |
| पुरं प्रायात्सहानुग· | 3 | 9 | d | पुरूरवसमात्मवान् | 1 | 35 | a |
| पुरीमैक्षत सानुगः | 11 | 25 | d | पुरोधाय कृताञ्जलिः | 16 | 4 | d |
| पुरुकुत्साम्बरीषौ च | 6 | 38 | c | पुरोर्वशं प्रवक्ष्यामि | 20 | 1 | a |
| पुरुकुत्साय योरगै· | 7 | 2 | b | पुल्कसायाऽददाद्धीर· | 21 | 14 | c |
| पुरुचिद्रुक्म रुक्मेषु | 23 | 35 | a | पुष्करारुणिरित्यत्र | 21 | 20 | a |
| पुरुजोऽर्कस्ततोऽभवत् | 21 | 31 | b | पुष्पकस्थो वृतस्त्रीभि· | 10 | 45 | a |
| पुरुमीढश्च हस्तिन· | 21 | 21 | b | पुष्पवांस्तत्सुतो जहुः | 22 | 7 | b |
| पुरुमीढोऽप्रजोऽभवत् | 21 | 30 | b | पुष्पितद्रुमसङ्कुले | 18 | 7 | b |
| पुरुविश्रुतमुख्यांस्तु | 24 | 53 | a | पुष्यो हिस्यनाभस्य | 12 | 5 | a |
| पुरुषस्य महात्मन | 6 | 16 | b | पुंश्चल्य· स्वैरवृत्तय· | 14 | 38 | d |
| पुरुषस्याखिलार्थद | 9 | 28 | b | पुंस· कामहतस्य ते | 19 | 13 | d |
| पुरुषं सूर्यवर्चसम् | 3 | 18 | d | पूगै सवृन्तै रम्भाभै· | 11 | 28 | a |
| पुरुष· कृष्णदर्शन | 4 | 6 | b | पूजयामास केशवम् | 4 | 32 | d |
| पुरुषादेन भक्षितम् | 9 | 34 | b | पूजित प्रत्यपूजयत् | 10 | 47 | b |
| पुरुषान्विस्मितोऽब्रवीत् | 3 | 5 | d | पूरुमर्हत्तमं विशाम् | 19 | 23 | b |
| पुरुषा वर्जयन्ति हि | 1 | 33 | b | पूर्णं वर्षसहस्रं मे | 19 | 18 | a |
| पुरुषास्त्रय उत्तस्थु | 3 | 15 | a | पूर्वेषां वद विक्रमान् | 1 | 5 | d |
| पुरुषा पञ्चषष्टिश्च | 24 | 10 | c | पृथा च श्रुतदेवा च | 24 | 30 | c |
| पुरुषेण महात्मना | 4 | 48 | b | पृथुज्यामघसंज्ञिताः | 23 | 35 | b |
| पुरुषो रामचरितम् | 11 | 23 | a | पृथुर्विदूररथाद्याश्च | 24 | 18 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| पृथुलाक्षस्तु तत्सुत. | 23 | 10 | d |
| पृथुश्रवस आत्मजा. | 23 | 33 | d |
| पृथुसेनस्तदात्मज· | 21 | 24 | b |
| पृश्नि पुत्रोऽपरस्तत | 24 | 14 | d |
| पृषध्रस्तु मनो. पुत्र· | 2 | 3 | a |
| पृषध्रः परवीरहा | 2 | 8 | b |
| पृषध्रोऽभिससार ह | 2 | 5 | d |
| पृष्टवान् पितरं तथा | 4 | 7 | d |
| पृष्ट· प्रोवाच भगवान् | 1 | 6 | c |
| पौरवी रोहिणी भद्रा | 24 | 45 | a |
| पौरव्यास्तनया ह्येते | 24 | 47 | c |
| पौरा अर्हणपाणय | 11 | 29 | b |
| पौरामात्यपुरोहितै. | 10 | 35 | d |
| पौरोहित्यं विगर्हयन् | 18 | 25 | b |
| प्रक्लिन्न हृदयेक्षण. | 10 | 39 | d |
| प्रगृह्य परशुं राम· | 16 | 16 | c |
| प्रगृह्य रुचिरं चापम् | 1 | 24 | a |
| प्रचिन्वांस्तत्सुतस्ततः | 20 | 2 | b |
| प्रचेता तत्सुताः शतम् | 23 | 15 | d |
| प्रजानां तस्य रोदसी | 20 | 32 | d |
| प्रजानां भरतर्षभ! | 10 | 53 | d |
| प्रजाभिश्च नमस्कृतः | 10 | 41 | d |
| प्रजामदाद्दशरथः | 23 | 10 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्रजार्थमकरोद्विभु | 1 | 13 | d |
| प्रजावन्तं निवारिता | 8 | 3 | d |
| प्रजा पौरास्तथेश्वरे | 11 | 24 | d |
| प्रजा स्वधर्मनिरता | 10 | 51 | c |
| प्रजेश भूतेश सुरेश मुख्या | 4 | 54 | b |
| प्रणव सर्ववाङ्मय | 14 | 48 | b |
| प्रणिपत्य पयोव्रता | 1 | 14 | d |
| प्रणिपत्य प्रसादित | 10 | 51 | b |
| प्रतर्दन इति स्मृत· | 17 | 6 | b |
| प्रतिकर्तुं क्षमो यस्य | 18 | 43 | c |
| प्रतिजग्राह तद्वच | 18 | 23 | d |
| प्रतिनन्द्य स तद्याच्ञाम् | 4 | 37 | a |
| प्रतिपेदे महामना· | 14 | 22 | d |
| प्रतिबाहुश्च द्वादश | 24 | 17 | b |
| प्रतियातस्य तेऽनघ! | 3 | 33 | b |
| प्रतिव्योमस्ततो भानु | 12 | 10 | c |
| प्रतिष्ठानपति प्रभु | 1 | 42 | b |
| प्रतिस्रोतस्सरिज्जलै· | 15 | 21 | b |
| प्रतीकाश्वो भानुमत | 12 | 11 | c |
| प्रतीच्यां तुर्वसुं चक्रे हि | 19 | 22 | c |
| प्रतीच्यां दिशि दैत्यानाम् | 6 | 16 | c |
| प्रतीपस्तस्यचाऽऽत्मज. | 22 | 11 | d |
| प्रतोत्रैरिव कुञ्जर· | 14 | 30 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्रत्यगृह्णात्कृताञ्जलि· | 2 | 10 | b |
| प्रत्यगृह्णाज्जरां पितु | 18 | 45 | b |
| प्रत्यनीक भयावहम् | 4 | 28 | d |
| प्रत्यनीकविवक्षितम् | 18 | 26 | b |
| प्रत्ययार्थं प्रयुक्ता मे | 24 | 33 | c |
| प्रत्यर्प्येद बभाषिरे | 11 | 5 | d |
| प्रत्याख्यातो विरिञ्चेन | 5 | 55 | a |
| प्रत्यागच्छत्सराजर्षि | 6 | 19 | c |
| प्रत्यागमनकाङ्क्षया | 5 | 18 | b |
| प्रत्याचख्युरधर्मज्ञा | 18 | 41 | c |
| प्रयाचष्ट कुरुश्रेष्ठ! | 4 | 41 | c |
| प्रत्युत्थानासनार्हणै | 4 | 36 | b |
| प्रदहद्राजयाच्ञया | 5 | 12 | d |
| प्रदाय समवन्दत | 7 | 21 | b |
| प्रध्वस्तमायागुणभेदमोहै· | 8 | 24 | b |
| प्रपायामिव गच्छताम् | 19 | 27 | b |
| प्रपितामहस्तामुवाह | 24 | 36 | c |
| प्रभावज्ञो मुने सम्यक् | 16 | 6 | c |
| प्रमदानां यथेप्सितम् | 3 | 12 | d |
| प्रयान्तमनुधावताम् | 9 | 11 | b |
| प्ररुदन्त्य उपाद्रवन् | 10 | 24 | d |
| प्रलम्भितो लोकनम स्कृतो मुनि | 3 | 20 | b |
| प्रलीनोडुगणे निशि | 2 | 6 | b |
| प्रवरान्तरमापन्नम् | 16 | 37 | c |
| प्रविरोऽथ नमस्युर्वै | 20 | 2 | c |
| प्रविश्य राजभवनम् | 10 | 46 | c |
| प्रविष्टो निशि तर्षित· | 6 | 27 | b |
| प्रवृत्तो वारितो गर्भम् | 20 | 36 | c |
| प्रशशंस तमुर्वीशम् | 5 | 13 | c |
| प्रश्नमेनं समाचक्ष्व | 1 | 28 | c |
| प्रश्रयावनता सती | 10 | 56 | b |
| प्रश्रमप्रश्रितादय· | 24 | 50 | d |
| प्रसङ्गं रममाणयो· | 1 | 31 | b |
| प्रसन्ना वरदाऽस्मि ते | 9 | 3 | b |
| प्रसन्नाः प्रभवो यदि | 13 | 8 | b |
| प्रसह्य शिर उत्कृत्य | 16 | 12 | c |
| प्रसाद गोपुरसाभा | 11 | 27 | a |
| प्रसादय महेशानम् | 9 | 8 | a |
| प्रसादाद्विन्दते परम् | 18 | 43 | d |
| प्रसादित सत्यवत्या | 15 | 11 | a |
| प्रसाद्य समभोजयत् | 5 | 18 | d |
| प्रसाद्य हयमानयत् | 8 | 30 | b |
| प्रसूताया भवच्छिदः | 9 | 14 | d |
| प्रस्कण्वाद्या द्विजातयः | 20 | 7 | b |
| प्रहर्तु कुरुतेऽशिवम् | 4 | 69 | f |
| प्रहसन् श्लक्ष्णया गिरा | 20 | 10 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्रहस्य तमुवाच ह | 3 | 31 | d |
| प्रह्लादात्परिशङ्कित· | 17 | 14 | b |
| प्रागुदीच्यां दिशि हयम् | 8 | 10 | a |
| प्राङ् महाभिषसंज्ञित | 22 | 13 | b |
| प्राचुर्येण परन्तप! | 1 | 7 | b |
| प्राञ्जलिर्बाष्पलोचन | 10 | 40 | b |
| प्राञ्जलि· प्रणतो महान् | 8 | 21 | d |
| प्राणप्रेप्सु धनुष्पाणि· | 7 | 16 | c |
| प्राणान् वित्तमिमं परम् | 4 | 65 | b |
| प्राणा यन्मेऽभिरक्षिता | 5 | 17 | d |
| प्राणांस्तन्व इवोत्थिता· | 10 | 48 | b |
| प्राणिभि पुनराहरत् | 20 | 31 | b |
| प्रादादुहितरं मुनेः | 3 | 9 | b |
| प्रादिष्टं भृत्यरक्षायाम् | 4 | 48 | a |
| प्रापितेऽजगरत्वं वै | 18 | 3 | c |
| प्राप्तयोगमहागुण | 23 | 24 | d |
| प्राप्तश्चण्डालतां शापात् | 7 | 5 | c |
| प्राप्ता प्राचेतसाश्रमम् | 11 | 10 | d |
| प्राप्तो भावं परं विश्वम् | 4 | 17 | c |
| प्राप्तो यदृच्छया कूपे | 18 | 18 | c |
| प्राप्यात्मजान् मातरस्वान् | 10 | 48 | a |
| प्रासर्ष्टि शिक्तिशरतोमरखड्गदुर्गाम् | 10 | 19 | b |
| प्राऽस्यदुद्वेजयञ्जनम् | 8 | 17 | d |
| प्रास्य भर्तुर्गतिं गता | 9 | 36 | d |
| प्राह तं ब्रह्मचारिणम् | 4 | 2 | d |
| प्राह सूक्तं पुरूरवा | 14 | 33 | d |
| प्राहिणोत्साधुविप्रेभ्य· | 3 | 34 | a |
| प्रियमेधादयो द्विजा | 21 | 21 | d |
| प्रियामनुगत कामी | 18 | 35 | a |
| प्रियाया प्रियकाम्यया | 1 | 32 | b |
| प्रीणयामास चित्तज्ञा (हि) | 3 | 10 | c |
| प्रीत सत्यवती सुत | 16 | 7 | b |
| प्रीता क्लिन्नधियस्तस्मै | 11 | 5 | c |
| प्रीतो भीताभिरक्षणम् | 4 | 28 | d |
| प्रीतोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि | 5 | 20 | a |
| प्रेतायां सम्प्रवृत्तायाम् | 14 | 43 | c |
| प्रेमनिर्भरया गिरा | 18 | 20 | b |
| प्रेम्णानुवृत्त्या शीलेन | 10 | 56 | a |
| प्रेयस परमां प्रीतिम् | 18 | 47 | c |
| प्रेषितोऽध्वर्युणा होता | 1 | 15 | a |
| प्रोक्तकारी तु मध्यम | 18 | 44 | b |
| प्रोक्तोऽलर्कादयस्तत | 17 | 6 | f |
| प्रोच्योद्धवाय परमं समगात् | 24 | 67 | d |
| फलदा· फलमिच्छताम् | 21 | 15 | b |
| फलगुन्यपि कृतोंऽहसि | 15 | 15 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **ब** | | | |
| बकः कङ्कस्तु कङ्कायाम् | 24 | 41 | c |
| बदर्याख्यं ययौ राजा | 3 | 36 | c |
| बद्ध्वा मृगोन्द्रांस्तरसा | 20 | 18 | c |
| बद्ध्वा विस्मापयन् नृपान् | 20 | 27 | b |
| बद्ध्वादधौ रघुपति विविधाद्रिकूटै | 10 | 16 | a |
| बध्नीहि सेतुमिह ते यशसो वितत्यै | 10 | 15 | c |
| बन्धुमान् वेगवांस्तत. | 2 | 30 | b |
| बन्धुस्तस्याऽभवद्यस्य | 2 | 30 | c |
| बबन्ध प्रददद्वसु | 20 | 26 | b |
| बभाषे रविनन्दनम् | 1 | 19 | d |
| बभूवुर्धर्मवत्सला· | 1 | 41 | d |
| बभूवेन्द्रो महावृष | 6 | 14 | d |
| बभ्रामोन्मत्तवन्महीम् | 14 | 32 | d |
| ब्रभ्रुर्देवावृधसुत | 24 | 9 | a |
| बभ्रुश्रेष्ठो मनुष्याणाम् | 24 | 10 | a |
| बभ्रो· कृतिरजायत | 24 | 2 | d |
| बभ्रोर्देवावृधादपि | 24 | 11 | b |
| बर्हिणाश्वो निकुम्भस्य | 6 | 25 | a |
| बर्हिस्तस्माद्धनञ्जय | 12 | 13 | b |
| बलदेवो महाबल. | 3 | 33 | 7 |
| बलभित् तनयान् रजेः | 17 | 15 | d |
| बलवानिन्द्रियग्राम | 19 | 17 | c |
| बलं गदं सारणश्च | 24 | 46 | a |
| बलं प्रविश्योर्जितदैत्यदानवम् | 5 | 8 | b |
| बलाकश्चात्मजोऽजुक | 15 | 3 | f |
| बलाय बलशालिने | 3 | 36 | b |
| बलिस्सुतपसोऽभवत् | 23 | 4 | d |
| बले क्षेत्रे महीक्षित | 23 | 5 | d |
| बस्त एको वने कश्चित् | 19 | 3 | a |
| बस्त· कामी विचिन्तयन् | 19 | 4 | b |
| बहवो वृष्णिनन्दना· | 24 | 18 | d |
| बहुमानपुरस्कृतम् | 21 | 9 | b |
| बहुलाश्वो धृतेस्तस्य | 13 | 26 | c |
| बह्वीनां रतिवर्धन | 19 | 6 | d |
| बह्वृचप्रवरो मुनि | 17 | 3 | d |
| बह्व्योऽजा कान्तकामिनीः | 19 | 5 | d |
| बाढमीत्युचतुर्विप्रम् | 3 | 13 | a |
| बाणं स वज्रमिव तद्धृदयं बिभेद | 10 | 23 | b |
| बालकान्पुनरागतान् | 8 | 19 | b |
| बाष्पौघैर्विजहुश्शुच. | 10 | 48 | d |
| बाहुभ्यां त्रिदिवं यथा | 20 | 29 | d |
| बाहूदरोर्वाङ्घ्रि शिरो धराणि | 5 | 8 | c |
| बाहून् दशशतं लेभे | 15 | 18 | a |
| बाहू मद्गात्रवेष्टितौ | 14 | 30 | b |
| बाह्लीक इति चाऽऽत्मजा· | 22 | 12 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| बाह्लीकात्सोमदत्तोऽभूत् | 22 | 18 | c |
| बिन्दुमत्यामधान्नृप | 6 | 38 | b |
| बिभर्षि जारं यदपत्रया कुलम् | 3 | 21 | c |
| बुद्ध्या गम्भीरया [illegible] | 14 | 14 | c |
| बुद्ध्वाऽथ वालि [illegible] | 10 | 12 | c |
| बुद्ध्वा प्रियायै निर्विण्णः | 19 | 1 | c |
| बुध इत्यभिधां नृप । | 14 | 14 | b |
| बुबुधे चेष्टितं धिया | 4 | 42 | d |
| बुभुक्षितश्च सुतराम् | 4 | 43 | c |
| बुभुजेऽक्षय्यषड्वसु | 23 | 26 | 7 |
| बुभुजे च यथाकालम् | 11 | 36 | a |
| बृहत्कायस्ततस्तस्य | 21 | 22 | c |
| बृहत्क्षत्रात्सुहोत्रोऽस्मात् | 21 | 20 | c |
| बृहत्क्षत्रो जयस्तत | 21 | 1 | b |
| बृहत्सेनोऽथ कर्मजित् | 22 | 41 | b |
| बृहदश्वस्तु शाबस्ते | 6 | 21 | c |
| बृहदश्वोऽथ भानुमान् | 12 | 11 | b |
| बृहद्बलस्य भविता | 12 | 9 | c |
| बृहद्भानुश्च तत्सुता | 23 | 11 | b |
| बृहद्रथमुखास्तत | 22 | 5 | d |
| बृहद्रथात्कुशाग्रोऽभूत् | 22 | 6 | c |
| बृहद्रथो बृहत्कर्मा | 23 | 11 | a |
| बृहद्वाजिस्तु तस्यापि | 12 | 13 | a |
| ब्रह्म क्षत्रस्य वै योनि | 22 | 44 | c |
| ब्रह्मघोषेण च मुहु. | 10 | 37 | a |
| ब्रह्मघ्न विहतश्रियम् | 16 | 17 | b |
| ब्रह्मचारिणमागतम् | 4 | 1 | d |
| ब्रह्मणा कल्पित पति | 14 | 3 | d |
| ब्रह्मणे दक्षिणां दिशम् | 16 | 21 | b |
| ब्रह्मणे दक्षिणां प्रभु | 11 | 2 | b |
| ब्रह्मण्या धर्मवत्सला | 2 | 16 | d |
| ब्रह्मण्याधाय मानसम् | 19 | 19 | b |
| ब्रह्मदण्डहता अपि | 9 | 12 | b |
| ब्रह्मदण्डो दुरत्यय | 4 | 14 | d |
| ब्रह्मदत्तमजीजनत् | 21 | 25 | b |
| ब्रह्मन्! दुहितरि स्म ते | 18 | 37 | b |
| ब्रह्मभूयं गतं क्षितौ | 2 | 17 | b |
| ब्रह्मर्षिर्भगवान्काव्य | 18 | 5 | a |
| ब्रह्मवर्चस्विनस्सुतान् | 6 | 2 | d |
| ब्रह्मवश्याश्च जज्ञिरे | 20 | 1 | d |
| ब्रह्मलोकमपावृतम् | 3 | 30 | b |
| ब्रह्मलोकमहैतुकम् | 5 | 22 | d |
| ब्रह्मंस्तदृच्छ भद्रं ते | 4 | 71 | a |
| ब्रह्मा तं तु विनिर्भर्त्स्य | 14 | 13 | a |
| ब्रह्मा तां रह आहूय | 14 | 13 | c |
| ब्रह्माऽऽयास्यस्तु सामग | 7 | 23 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ब्रह्मावाप परं मुनि· | 2 | 14 | d |
| ब्रह्मिष्ठस्स बभूव ह | 3 | 1 | b |
| ब्राह्मणा गा विभेजिरे | 20 | 26 | f |
| ब्राह्मणातिक्रमे दोष· | 4 | 39 | a |
| ब्राह्मणांश्च महाभागान् | 4 | 32 | d |
| ब्राह्मणी वीक्ष्य दिधिषुं | 9 | 34 | a |
| ब्राह्मणोऽर्हति नि स्पृह | 11 | 3 | d |
| ब्राह्मी सौरी यथा प्रभा | 15 | 40 | b |
| **भ** | | | |
| भक्ते र्भक्तजनप्रिय· | 4 | 63 | d |
| भक्तो भागवतो भवेत् | 5 | 27 | d |
| भक्त्या चक्रे मन परम् | 21 | 16 | d |
| भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि | 4 | 14 | a |
| भगवत्युत्तम श्लोके | 16 | 11 | c |
| भगवन् किमिदं जातम् | 1 | 17 | a |
| भगवन्तमधोक्षजम् | 14 | 47 | b |
| भगवन् भुवनेश्वर! | 11 | 6 | b |
| भगवानपि विश्वात्मा | 18 | 13 | c |
| भगवानात्मनाऽऽत्मानम् | 11 | 1 | a |
| भगवान्प्रपितामह | 1 | 19 | b |
| भगवान् बादरायण· | 22 | 22 | d |
| भगवान् भूतभावन | 3 | 34 | d |
| भगवान्मधुसूदन· | 24 | 60 | d |
| भगवान् वासुदेवेति | 9 | 49 | c |
| भगवान् सत्यवत्सलः | 4 | 11 | d |
| भगवान् स महायशा· | 1 | 21 | b |
| भगवान् हरिरीश्वर· | 1 | 22 | b |
| भगवान् हरिरीश्वर· | 16 | 27 | b |
| भगिन्य पञ्चकन्यका· | 24 | 31 | b |
| भगीरथस्तस्य सुत | 9 | 2 | c |
| भगीरथोऽथ राजर्षि | 9 | 10 | a |
| भजनीय गुणालयम् | 2 | 31 | b |
| भजन्ति चरणाम्भोजम् | 13 | 9 | c |
| भजमानस्य निम्रोचि | 24 | 7 | c |
| भजमानस्सुतस्तत | 24 | 26 | b |
| भजा भजिर्दिव्य | 24 | 6 | c |
| भजमाम पितरं तव | 4 | 2 | b |
| भटै कतिपयैर्वृतः | 20 | 9 | d |
| भटै· पुरटवर्मभि | 10 | 38 | b |
| भद्रसेनमुदारधी | 24 | 54 | b |
| भद्राश्व इति भारत! | 6 | 24 | b |
| भस्त प्राप्तमाकर्ण्य | 10 | 35 | c |
| भरतस्य महत्कर्म | 20 | 29 | a |
| भरतस्य महीपते! | 11 | 12 | d |
| भरतस्य हि दौष्यन्ते· | 20 | 26 | c |
| भरतो विजये दिशाम् | 11 | 13 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भरद्वाजमुपाददु | 20 | 35 | d |
| भरद्वाजस्ततस्त्वयम् | 20 | 38 | d |
| भरद्वाज बृहस्पते ! | 20 | 38 | b |
| भरस्व पुत्र दुष्यन्त! | 20 | 21 | c |
| भरुकस्तत्सुतस्तस्मात् | 8 | 2 | a |
| भर्तुरङ्कात्समुत्थाय | 1 | 30 | c |
| भर्तुरन्तिकमागमत् | 20 | 19 | d |
| भर्तुर्विज्ञाय मानिनी | 18 | 34 | b |
| भर्तुस्त्यागविशङ्किताम् | 20 | 37 | b |
| भर्तुस्सीताऽरन्मन | 10 | 56 | d |
| भर्म्याश्वस्तत्सुतस्तस्य | 21 | 31 | c |
| भर्म्याश्व प्राह पुत्रा मे | 21 | 32 | c |
| भल्लादो बार्हदीषवा | 21 | 26 | d |
| भवतो दर्शन मम | 18 | 21 | 7 |
| भवत्या विजने वने | 20 | 11 | d |
| भवत्या प्रेमयन्त्रित | 19 | 11 | b |
| भवन्ति काले न भवन्ति हीदृशा | 4 | 56 | c |
| भवान् कामवशं गत | 10 | 27 | b |
| भवान् पापमकारषीत् | 15 | 38 | b |
| भवार्णवं मृत्युपथं विपश्चित | 8 | 14 | c |
| भविता मेरुदेवोऽथ | 12 | 12 | a |
| भविता सहदेवस्य | 22 | 46 | a |
| भविष्यन्त्यद्यतनाश्च ये | 1 | 5 | b |
| भविष्यन्त्यपराणि भो | 14 | 39 | d |
| भस्मसादभवन् क्षणात् | 8 | 12 | d |
| भस्माऽन्ते ददृशे हयम् | 8 | 20 | d |
| भस्मीभूताङ्गसङ्गेन | 9 | 13 | a |
| भस्मीभूताश्च शेरते | 9 | 10 | d |
| भानुमास्तस्य पुत्रोऽभूत् | 13 | 21 | c |
| भार्गभूमिरभून्नृप! | 17 | 9 | d |
| भार्गवस्य विचेष्टितम् | 3 | 6 | b |
| भार्म्या पाञ्चलका इमे | 22 | 3 | b |
| भार्यापुत्रावनिन्दितौ | 20 | 20 | b |
| भार्यामुद्दिश्य कस्यचित् | 11 | 8 | d |
| भार्यायां तन्तवे ऋषि | 6 | 2 | b |
| भार्याशतेन निर्विण्णः | 6 | 26 | a |
| भार्यां शैब्यापतिर्भयात् | 23 | 35 | d |
| भाविनो ये वदामि ते | 22 | 45 | d |
| भावेन हित्वा तमहं प्रपद्ये | 9 | 47 | d |
| भाव्या साहस्रवत्सरा | 22 | 49 | d |
| भिया ह्रिया च भावज्ञा | 10 | 56 | c |
| भिषजाविति यत्पूर्वम् | 3 | 26 | c |
| भीत केशिध्वजादृत | 13 | 21 | b |
| भीता किञ्चित्कृतं मया | 3 | 7 | b |
| भीतास्ता बभ्रमुर्व्रजे | 2 | 4 | d |
| भीमसेनाद्धिडिम्बायाम् | 22 | 31 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भीमस्तु विजस्याथ | 15 | 3 | a |
| भुजगेन्द्रप्रयुक्तया | 7 | [illegible] | d |
| भुजमिन्द्रस्य भार्गव | 3 | 25 | d |
| भुजान्कुठारेण कठोरनेमिना | 15 | 34 | c |
| भुज्यतां भुज्यतामिति | 5 | 19 | d |
| भुज्यन्तां सन्ति नीवाराः | 20 | 14 | c |
| भुव आक्रम्यमाणाया हि | 24 | 59 | a |
| भुवो भारावतारार्थं | 3 | 34 | c |
| भुवोऽहन् बहुशो नृपान् | 16 | 27 | d |
| भूतज्योतिस्ततो वसुः | 2 | 17 | d |
| भूतभावनभावन | 9 | 45 | d |
| भूतादौ तं महात्मनि | 7 | 26 | b |
| भूताद्या द्वादशाऽभवन् | 24 | [illegible] | d |
| भूतेष्वन्तर्हितं गुणै. | 9 | 29 | f |
| भूमण्डलस्य सर्वस्य | 19 | 23 | a |
| भूमे· पर्यटनं पुण्यम् | 7 | 18 | a |
| भूम्या से वा गुरुभरं | 24 | 67 | a |
| भूय एवाऽभिवर्धते | 19 | 14 | d |
| भूरिर्भूरिश्रवास्ततः | 22 | 18 | d |
| भूरिषेण इति त्रय· | 3 | 27 | b |
| भृत्यैश्चोपायनोद्वहः | 10 | 38 | d |
| भोक्तुकामस्य चाऽऽगमत् | 21 | 5 | d |
| भोजयित्वा द्विजानग्रे | 3 | 34 | c |
| भोजवृष्ण्यन्धकमधु | 24 | 63 | a |
| भोजा आसंस्तदन्वये | 24 | 11 | d |
| भोज्यां कन्यामहारषीत् | 23 | 36 | b |
| भ्राजत्कपोलसुभगं सुविलासहासम् | 24 | 65 | b |
| भ्रातरं वल्कलाम्बरम् | 10 | 34 | d |
| भ्रातरोऽभाङ्क्त किं मह्यम् | 4 | 2 | a |
| भ्राता ते ब्रह्मवित्तम | 15 | 10 | d |
| भ्रातृभिर्दिक्ष्ववस्थितै | 3 | 35 | f |
| भ्रातृभि नन्दित सोऽथ | 10 | 46 | a |
| भ्रातृभिर्भार्यया बभौ | 10 | 50 | d |
| भ्रातृभ्यां ह्यनुमद्यत· | 10 | 32 | b |
| भ्रातृन् भ्राता यवीयस· | 18 | 4 | b |
| भ्रातृन् मात्रा सहावधीत् | 16 | 6 | b |
| भ्रातृन् वा स्वयमात्मन | 11 | 24 | b |
| भ्रातृंस्त्रिभुवनेश्वर | 11 | 25 | b |
| भ्रात्रा वने कृपणवत्प्रियया वियुक्त | 10 | 11 | c |
| भ्रुकुटी कुटिलानन | 4 | 43 | b |
| भ्रूणस्य ब्रह्मवादिन. | 9 | 31 | b |
| भ्रूभङ्गमात्रेण च सन्दिधक्षो | 4 | 53 | c |
| **म** | | | |
| मङ्गलानि समीहसे | 5 | 14 | d |
| मञ्जूषान्तर्गतं शिशुम् | 23 | 13 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| मणलूरुपतेस्सोऽपि | 22 | 32 | e |
| मण्डयन्तीं रमामिव | 20 | 8 | d |
| मण्डितं पुष्पमण्डनैः | 11 | 34 | b |
| मत्क्षेत्रत्वाहितं परै. | 14 | 9 | b |
| मत्तां वा सुतरामिव | 11 | 26 | d |
| चमत्वा वितथमात्मजम् | 20 | 39 | b |
| मत्सेवया प्रतीतं ते | 4 | 67 | a |
| मत्स्यानामुदके यथा | 13 | 10 | d |
| मथुरां नाम वै पुरीम् | 11 | 14 | f |
| मदन्यं ते न जानन्ति | 4 | 68 | c |
| मदयन्ती पतिर्नृप! | 9 | 18 | b |
| मदयन्त्यां प्रजामधात् | 9 | 38 | d |
| मदयन्त्या पतिर्वीर! | 9 | 27 | a |
| मदिरा रोचना इला | 24 | 45 | b |
| मदनैर्मधुभिर्विना | 4 | 64 | b |
| मद्र. केकय आत्मजा· | 23 | 3 | d |
| मद्विधाचरिता भुवि | 19 | 2 | b |
| मधुच्छन्दस एव ते | 16 | 29 | d |
| मधु· कुरुवशादनु | 24 | 5 | d |
| मध्यमस्तु मधुच्छन्द | 16 | 29 | c |
| मध्ये चक्रे महागिरम् | 16 | 17 | d |
| मनश्च तद्गतं बुद्ध्वा | 18 | 23 | c |
| मनसाऽपि सुरेश्वरै· | 24 | 60 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|
| मनसि त्रय्यवर्तत | 14 | 43 | d |
| मनष्षष्ठैर्मनस्सुखम् | 18 | 51 | b |
| मन· पृथिव्यां तामद्रि· | 7 | 25 | c |
| मनुजैरमरप्रिय· | 4 | 24 | b |
| मनुरासीदिति श्रुतम् | 1 | 3 | b |
| मनुर्वैवस्वतस्सुते | 2 | 1 | b |
| मनोजवायाऽद्भुतकर्मणे गृणे | 5 | 6 | d |
| मनो दधे ध्वस्तगुणप्रवाह. | 5 | 26 | d |
| मनो दृष्टिश्च सुन्दर! | 14 | 20 | b |
| मनोऽनिलौजा परचक्रसूदनः | 15 | 31 | b |
| मनोवाग्देहवृत्तिभि | 18 | 47 | b |
| मन्त्रा अद्याप्यनिर्वृत्ता | 14 | 34 | c |
| मन्दोदर्या समं तस्मिन् | 10 | 24 | c |
| मन्यते सन्मतो भवान् | 9 | 31 | d |
| मन्यमान इदं कृत्स्नम् | 11 | 3 | c |
| मन्यमाना महर्षय | 13 | 12 | b |
| मन्यमानो हतं व्याघ्रम् | 2 | 8 | a |
| मन्युना प्रचलद्गात्र | 4 | 43 | a |
| मन्योश्च भूतपतय· स भवान्गुणेश· | 10 | 14 | d |
| मन्वन्तराणि सर्वाणि | 1 | 1 | a |
| ममाघं पृष्ठत कृत्वा | 5 | 17 | c |
| ममाऽनुरूपो नाऽयं व | 6 | 44 | c |
| ममायं न तवेत्युच्चै | 14 | 11 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ममेद मृषिभिर्दत्तम् | 4 | 7 | a |
| ममेदं वास्तुगं वसु | 4 | 6 | d |
| मयि निर्बद्धहृदयाः | 4 | 66 | a |
| मरीचि प्रमुखाश्चाऽन्ये | 4 | 58 | a |
| मरीचिर्मनसस्तस्य | 1 | 10 | a |
| मरुतः परिवेष्टारः | 2 | 28 | c |
| मरुत्तश्चक्रवर्त्यभूत् | 2 | 26 | b |
| मरुत्तस्तत्सुतोऽपुत्रः | 23 | 17 | c |
| मरुत्तस्य दमः पुत्रः | 2 | 29 | a |
| मरुत्तस्य यथा यज्ञ· | 2 | 27 | a |
| मरुत्स्तोमेन मरुतः | 20 | 35 | c |
| मरो प्रतिन्धकस्तस्मात् | 13 | 16 | a |
| महद्व्यतिक्रमहता | 8 | 12 | c |
| महस्वांस्तत्सुतस्तस्मात् | 12 | 7 | c |
| महाकारुणिकोऽतप्यत् | 10 | 35 | a |
| महापुरुषसंज्ञितम् | 9 | 29 | d |
| महाभागवत कवि. | 22 | 19 | d |
| महाभागवत कृती | 4 | 13 | b |
| महाभागो महानभूत् | 23 | 31 | d |
| महाभिषेकविधिना | 4 | 31 | a |
| महाभोजश्च मारिष! | 24 | 7 | b |
| महाभोजोऽतिधर्मात्मा | 24 | 11 | c |
| महामनस आत्मजैः | 23 | 2 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|
| महायोग्यङ्गिरस्सुत· | 2 | 26 | d |
| महारोमाऽथ तत्सुत. | 13 | 17 | b |
| महार्हशय्यासनवस्त्र भूषण | 6 | 46 | a |
| महाविभूत्योपचिताङ्गदक्षिणैः | 4 | 22 | b |
| महावीर्य. सुधृत्पिता | 13 | 15 | b |
| महावीर्यो नरो गर्ग· | 21 | 1 | c |
| महाशीलो महामना | 23 | 2 | b |
| महाहयो वेणुहय· | 23 | 21 | c |
| महिमा गीयते यस्य | 20 | 23 | c |
| महिष्मान् भद्रसेनक. | 23 | 22 | d |
| महिष्यनुमरिष्यती | 8 | 3 | b |
| महिष्या तुल्यशीलया | 4 | 29 | b |
| महिष्या स निवारित | 9 | 37 | d |
| महिष्यां वीर्यमादधे | 20 | 17 | b |
| महेन्द्रहृतचेतस | 8 | 12 | b |
| महेन्द्रो गुरुमन्वगात् | 14 | 7 | b |
| मह्यं त्रिभुवनेश्वरै | 9 | 45 | b |
| मह्यं पुत्राय शान्ताय | 22 | 20 | a |
| माता भस्त्रा पितुः पुत्र | 20 | 21 | a |
| मातामहकृतां वत्स ! | 18 | 39 | a |
| मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा | 19 | 17 | a |
| मात्रे मातुरदत्स्वयम् | 15 | 9 | d |
| मात्रोक्तो बादरायणः | 22 | 25 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| माद्यां नासत्यदस्रयो· | 22 | 28 | b |
| माधवा वृष्णयो राजन्! | 23 | 30 | a |
| मान्धाता वत्स मा रोदी. | 6 | 31 | c |
| मान्धातु क्षेत्रमुच्यते | 6 | 37 | d |
| मान्धातृपुत्रप्रवर | 7 | 1 | a |
| मान्धातृप्रवरा इमे | 7 | 1 | f |
| मा पुत्रक तदादृथा· | 4 | 2 | f |
| मा भून्मे देहबन्धनम् | 13 | 8 | d |
| मामयं याति लम्पट | 14 | 30 | d |
| मा मृथा पुरुषोऽसि त्वम् | 14 | 36 | a |
| माया गुणमयी राजन्! | 21 | 17 | c |
| माया गुणैर्हृतमतिर्विषयेऽर्थभाव· | 6 | 52 | d |
| माया विरचितं प्रभो. | 19 | 27 | d |
| माया विष्णु विनिर्मिताम् | 21 | 15 | d |
| मारिषा नाम पत्न्यभूत् | 24 | 27 | d |
| मारीचमाशु विशिखेन यथा कमुग्र | 10 | 10 | d |
| मारीचाद्या निशाचरा· | 10 | 5 | b |
| मार्गे व्रजन् भृगुपते व्यनियत्प्ररूढम् | 10 | 7 | c |
| मार्जारिर्यच्छ्रुत श्रवा· | 22 | 46 | b |
| माऽवमंस्थाश्शकुन्तलाम् | 20 | 21 | d |
| मासं पुमान् स भविता | 1 | 39 | a |
| मासं स्त्री तपसा तव | 1 | 39 | b |
| मा स्म त्वाद्युर्वृका इमे | 14 | 36 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| माहात्म्यं दृष्टमद्य मे | 5 | 14 | b |
| माहिष्मत्यां सन्निरुद्ध· | 15 | 22 | c |
| मां प्रत्याख्यातुमर्हसि | 18 | 42 | d |
| मां यजस्वेति सोऽब्रवीत् | 7 | 10 | b |
| मांसमानीयता मेध्यम् | 6 | 6 | c |
| मित्रायुश्च दिवोदासात् | 22 | 1 | a |
| मित्रावरुणयोरिष्टम् | 1 | 13 | c |
| मित्रारावरुणयोर्जज्ञे हि | 13 | 6 | c |
| मित्रावरुणयो शापात् | 14 | 17 | a |
| मिथिला येन निर्मिता | 13 | 13 | d |
| मिथिलो मथनाज्जात. | 13 | 13 | c |
| मिथुनं तदभूच्छुभम् | 27 | 36 | b |
| मिथुनं मुद्गलाद्भर्म्यात् | 27 | 34 | a |
| मिश्रकेश्यामप्सरसि | 24 | 43 | a |
| मीढ्वांसं याभकोविदम् | 19 | 6 | b |
| मीनसङ्गसमुत्थितम् | 6 | 49 | d |
| मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ | 4 | 19 | a |
| मुकुन्दं हृदि पश्यत | 4 | 25 | d |
| मुक्तकेशार्धमुण्डितान् | 8 | 6 | d |
| मुक्ताफलैश्चिदुल्लासै | 11 | 33 | c |
| मुक्तोदरोऽयजद्देवान् | 7 | 22 | a |
| मुक्तो येन कपिर्यथा | 15 | 22 | d |
| मुखं पुंसः परस्य ये | 18 | 12 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| मुख्यस्य जगदात्मन· | 20 | 5 | d |
| मुचुकुन्दश्च योगिनम् | 6 | 38 | d |
| मुच्येत मन्नाम्न्युदिते नरकोऽपि | 4 | 62 | d |
| मुञ्च मुञ्चाश्वपसर | 14 | 30 | a |
| मुण्डान् श्मश्रुधरान् कांश्चित् | 8 | 6 | c |
| मुद्गलात् ब्रह्म निर्वृत्तम् | 27 | 33 | c |
| मुनयो हरिमेधस | 13 | 9 | d |
| मुनिर्हरणमाहरत् | 15 | 24 | b |
| मुनिस्तद्दर्शनाकाङ्क्षी | 5 | 23 | c |
| मुनिं प्रसादयामास | 3 | 8 | c |
| मुनि प्रवेशित क्षत्रा | 6 | 43 | a |
| मुने शापविशङ्किता | 16 | 4 | b |
| मुनौ निक्षिप्य तनयौ | 11 | 15 | a |
| मुमुचे पाशबन्धनात् | 16 | 31 | d |
| मुमुदेऽब्दगणान्बहून् | 14 | 25 | d |
| मुहूर्तमायुर्ज्ञात्वैत्य | 9 | 42 | c |
| मुहूर्तं शृण्वतोऽश्राव्यम् | 3 | 33 | a |
| मुहूर्तार्धावशिष्टायाम् | 4 | 38 | a |
| मूढे भरद्वाजमिमम् | 20 | 38 | a |
| मूर्त्या सर्वाङ्गरम्यया | 24 | 64 | d |
| मूर्ध्न्यपि तं लोकहितं वहाम· | 4 | 54 | d |
| मृगाञ्छुक्लदतः कृष्णान् | 20 | 28 | a |
| मृगान् हत्वा क्रियार्हणान् | 6 | 7 | b |
| मृगेन्द्र इव यूथपम् | 15 | 28 | d |
| मृजामि तदधं क्वाऽहम् | 9 | 5 | c |
| मृत्युश्चानिच्छतामासीत् | 10 | 54 | c |
| मृदुको मृदुपच्छिव | 24 | 16 | b |
| मृषेत्युपरराम ह | 20 | 33 | d |
| मेदिनीं बुभुजे युवा | 17 | 7 | d |
| मेधावी सुनयात्मज | 22 | 42 | b |
| मेनिरे पितरश्च तम् | 10 | 51 | f |
| मेनेऽतिदुर्लभं पुंसाम् | 4 | 16 | a |
| मेने प्रस्तोभमात्मन | 19 | 26 | b |
| मेने स्ववीर्यश्च परानुभावम् | 5 | 24 | d |
| मैथुनाय बृहस्पति | 20 | 36 | b |
| मैथुनाय समुद्यत | 9 | 37 | b |
| मैवं भूदिति भार्गवः | 15 | 11 | b |
| मैवं स्याद्ब्रह्मविक्रिया | 1 | 17 | d |
| मोहितस्तव मायया | 19 | 12 | d |
| म्रियमाण· पिपासया | 21 | 14 | b |
| म्लेच्छाधिपतयोऽभूवन् | 23 | 16 | a |
| म्लेच्छान् दिग्विजये बलात् | 20 | 30 | d |
| म्लेच्छा भवत दुर्जना· | 16 | 33 | d |
| **य** | | | |
| य एतत्संस्मरेत् प्रातः | 4 | 12 | a |
| यक्ष्यमाणोऽथ शर्यातिः | 3 | 18 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| यच्छामि काल इव कर्तु· | 10 | 22 | d |
| यजमानस्तथर्त्विजः | 6 | 36 | b |
| जयस्वेत्याह सोऽब्रवीत् | 7 | 13 | a |
| यज्जलस्पर्शमात्रेण | 9 | 12 | a |
| यज्ञदान तपोयोगै. | 23 | 25 | c |
| यज्ञ भागान् समाददु | 17 | 15 | b |
| यज्ञभुग् वासुदेवांश | 17 | 5 | a |
| यज्ञवास्तुगतं सर्वं | 4 | 8 | a |
| यज्ञार्थं कर्षतो महीम् | 13 | 18 | b |
| यज्ञे वामप्यसोमपो | 3 | 12 | b |
| यतस्तं प्राप्य राजानं | 12 | 16 | c |
| यत स्तं यातु वैभावान् | 4 | 69 | d |
| यतिर्ययातिस्संयाति | 18 | 1 | a |
| यतो यतो धावति तत्र तत्र | 4 | 51 | c |
| यतो यतोऽसौ प्रहरत्परश्वध· | 15 | 31 | a |
| यतोऽहमिदमध्यगम् | 22 | 22 | b |
| यत्किञ्चिच्चास्य शोभनम् | 2 | 27 | d |
| यत्कृत्वा साधु मे भूयात् | 4 | 39 | c |
| यत्तत् प्रजननं विदुः | 14 | 45 | d |
| यत्तद्ब्रह्मपरं सूक्ष्मं | 9 | 49 | a |
| यत्ते पिताऽवदद्धर्मं | 4 | 10 | a |
| यत्पृथिव्यां व्रीहियवं | 19 | 13 | a |
| यत्र गच्छन्ति योगिन· | 11 | 22 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| यत्र जातोऽसि भारत! | 20 | 1 | b |
| यत्र प्रवि॰ पुरुष | 18 | 2 | c |
| यत्र राजर्षयो वंश्या | 20 | 1 | c |
| यत्र स्वपितॄणां देहा | 9 | 10 | e |
| यत्रावतीर्णो भगवान् | 23 | 20 | a |
| यत्राऽऽस्ते भगवाञ्छर्वो | 1 | 25 | c |
| यत्सत्रे परिशेषितम् | 4 | 11 | b |
| यत्सत्वत सुरगणा रजस· प्रजेशां | 10 | 14 | c |
| यथा नारी तथा पुमान् | 14 | 29 | d |
| यथावज्जुजुषे नृप! | 18 | 45 | d |
| यथावत् समुपेयतु· | 10 | 47 | d |
| यथैव शृणुमो दूरात् | 24 | 9 | c |
| यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रति· | 4 | 20 | d |
| यथोपजोषं विषयान् | 18 | 46 | c |
| यदङ्गान्तरमासाद्य | 14 | 20 | c |
| यदा न कुरुते भावं | 19 | 15 | a |
| यदा न जगृहे राजा | 20 | 20 | a |
| यदा पतन्त्यस्य दन्ता हि | 7 | 12 | c |
| यदा पशो· पुनर्दन्ता | 7 | 13 | c |
| यदा यदेह धर्मस्य | 24 | 56 | a |
| यदा विसृष्टस्त्वमनञ्जनेन वै | 5 | 8 | a |
| यदिदं कूपलग्नया | 18 | 21 | e |
| यदि नो भगवान्प्रीतः | 5 | 11 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| यदि वीरो महाराज! | 7 | 9 | a |
| यदुक्तं साम्परायिकम् | 10 | 29 | d |
| यदुश्च तुर्वसुश्चैव | 18 | 33 | a |
| यदुपुत्रस्य च क्रोष्टोः | 23 | 30 | c |
| यदुमुख्यानजीजनत् | 24 | 49 | d |
| यदृच्छयाऽऽश्रमपदम् | 15 | 23 | c |
| यदृच्छयोपपन्नेन | 2 | 12 | c |
| यदो तात प्रतीच्छेमाम् | 18 | 38 | c |
| यदोर्वंशं नरर्षभ! | 23 | 18 | d |
| यदोर्वंशं नर श्रुत्वा | 23 | 19 | c |
| यदोस्सहस्रजित्क्रोष्टुः | 23 | 20 | c |
| यद्गार्हस्थ्यं तु संविक्ष्य | 6 | 47 | a |
| यद्यद्यं क्रियते भक्षः | 9 | 32 | a |
| यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा | 5 | 10 | a |
| यद्रोषविभ्रमविवृतकटाक्षपात | 10 | 13 | a |
| यद्विस्रम्भादहं नष्टा | 14 | 29 | a |
| य न्नतदभ्रातरः कविम् | 4 | 1 | b |
| यन्नाम श्रुतिमात्रेण | 6 | 16 | a |
| यन्निमित्तमभूद्युद्धम् | 7 | 7 | c |
| यन्निमित्तो गुरोश्शाप· | 9 | 19 | a |
| यन्नोऽन्तर्हृदयं विश्य | 11 | 6 | c |
| यन्नो भवान् सञ्जानीते | 16 | 34 | c |
| यन्माययामोहित चेतसस्ते | 8 | 23 | c |
| यन्मायया चेष्टितं पुंसः | 24 | 58 | a |
| यन्मायां माययाऽऽवृताः | 4 | 58 | d |
| यमप्रतिहतः क्वचित् | 4 | 13 | d |
| यमाय भल्लैरनयत् | 6 | 17 | c |
| यमाहुर्वासुदेवांशम् | 15 | 14 | a |
| यमुनान्तर्जले मग्न· | 6 | 39 | a |
| यमुनायामनुप्रभु· | 20 | 25 | d |
| यमुनायां शतं समाः | 2 | 1 | d |
| यमौ विहायसाऽऽमन्त्र्य | 5 | 22 | c |
| यमौ सा सुषवे सुतौ | 11 | 11 | b |
| ययाचेऽभ्यवहाराय | 4 | 36 | c |
| ययातिरनभिप्रेतं | 18 | 23 | a |
| ययातिरभवन् नृप· | 18 | 3 | d |
| ययातिर्मृगयाश्चरन् | 18 | 18 | b |
| ययातेर्ज्येष्ठपुत्रस्य | 23 | 18 | c |
| यया मुमुक्षुस्तरते दुरत्ययम् | 8 | 14 | b |
| यया लोकगुरुर्देवः | 15 | 39 | c |
| ययाऽऽविरिञ्चात् निरयांश्चकार | 5 | 25 | d |
| ययौ क्रोधविमूर्च्छिता | 18 | 34 | d |
| ययौ चीर्णव्रतः पुरीम् | 10 | 33 | b |
| यविष्ठं व्यभजन् दायं | 4 | 1 | c |
| यवीनरो द्विमूढस्य | 21 | 27 | a |
| यवीनरो बृहदिषुः | 27 | 32 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| यवीयाञ्जज्ञ एतेषाम् | 15 | 13 | c |
| यवीयान् पृषतस्तत | 22 | 2 | b |
| यशस्तीर्थवरे सकृत् | 24 | 62 | b |
| यश्शेते निशि सन्त्रस्त· | 14 | 29 | c |
| यस्तालजङ्घान् यवनान् | 8 | 5 | c |
| यस्मान्नसन्ति ह्युद्विग्ना· | 6 | 33 | c |
| यस्मान्मे भक्षितोऽपाप | 9 | 35 | a |
| यस्मिन्निदं विरचितम् | 18 | 49 | a |
| यस्मिन्नैलादयो भूपा | 14 | 1 | c |
| यस्मिन्नोतमिदं प्रोतं | 9 | 7 | c |
| यस्मिन् परेऽन्येऽप्यज जीवकोशा | 4 | 56 | b |
| यस्मिन् सत्कर्णपीयुषे | 24 | 62 | a |
| यस्य क्रुतषु गीर्वाणै· | 4 | 23 | a |
| यस्य भीमरथस्सुत | 24 | 4 | b |
| यस्य योगं न वाञ्छन्ति | 13 | 9 | a |
| यस्यावनं मकरकुण्टडलचारुकर्ण | 24 | 65 | a |
| यस्यामभूद्दन्तवक्त्र | 24 | 37 | c |
| यस्यामलं नृपसदस्सु यशोऽधुनाऽपि | 11 | 21 | a |
| यस्यां पराशरात्साक्षात् | 22 | 21 | c |
| यस्येरिता सांख्यमयी दृढेह नौ | 8 | 14 | a |
| यस्सत्यपाश परिवीतपितुर्निदेशं | 10 | 8 | a |
| यं गृणन्ति हि सात्वता· | 9 | 49 | d |
| यं यं कराभ्यां स्पृशति | 22 | 13 | c |
| य· पुरूरवस पुत्र | 17 | 1 | a |
| य· प्रियार्थमुदङ्कस्य | 6 | 22 | a |
| य स्त्रीभि परिरक्षित· | 9 | 40 | b |
| याचमानाय नो ददु | 17 | 14 | d |
| याचितोऽभीक्ष्णशो मदात् | 14 | 4 | b |
| याच्यमाना कृपणया | 16 | 12 | a |
| याज्ञवल्क्या त्रयीं पठन् | 22 | 38 | b |
| याज्ञवल्क्योऽध्यगाद्यत· | 12 | 4 | b |
| यातुधान्य सहस्रश | 10 | 24 | b |
| याते शूद्रे तमन्योऽगात् | 21 | 8 | a |
| यातौ यदुक्त्वा पितरौ | 20 | 38 | c |
| या त्वं जराग्रस्तमसत्यसम्मतं | 3 | 20 | c |
| यादुवाश्चेति संज्ञिता | 23 | 30 | b |
| या दुस्त्यजा दुर्मतिभि | 19 | 16 | a |
| यान्नमन्त्युपतिष्ठन्ते | 18 | 13 | a |
| यावच्च प्रतितिष्ठति | 6 | 37 | b |
| यावता नाऽऽगतो गत | 5 | 23 | b |
| यावती भूस्तदन्तरा | 11 | 3 | b |
| यावत्सूर्यं उदेति स्म | 6 | 37 | a |
| याहि देव क्षमस्व मे | 24 | 33 | d |
| युक्तं संवत्सरं धीरो | 4 | 29 | c |
| युगन्धरोऽनमित्रस्य | 24 | 14 | c |
| युगान्ताग्निमिवोल्बणम् | 6 | 18 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| युञ्जानः परमाशिषः | 5 | 13 | d |
| युञ्जीततद्वतिषु साधुषु चेत्प्रसङ्गः | 6 | 51 | d |
| युतं जटाभिर्ददृशे पुरीं विशन् | 15 | 29 | d |
| युधाजिच्च परन्तप! | 24 | 12 | b |
| युधिष्ठिरमुखास्त्रयः | 22 | 27 | d |
| युधिष्ठिरात्तु पौरव्याम् | 22 | 30 | c |
| युधिष्ठिरात्प्रतिविन्ध्यः | 22 | 29 | a |
| युयुत्सु. ककुदि स्थित· | 6 | 15 | d |
| युयुधान सात्यकिर्वै | 24 | 14 | a |
| युयोज परमात्मनि | 6 | 54 | d |
| युवनाश्वस्तु तत्सुत· | 6 | 20 | d |
| युवनाश्वस्तु तत्सुत· | 7 | 1 | d |
| युवनाश्वस्य तनय· | 6 | 30 | c |
| युवना श्वोऽपि तत्रैव | 6 | 32 | c |
| युवनाश्वोऽभवत्तस्य | 6 | 25 | c |
| यूयं मन्त्रविदो युक्ता· | 1 | 18 | a |
| ये दारागार पुत्राप्तान् | 4 | 65 | a |
| ये देहभाजस्त्रिगुणप्रधानाः | 8 | 23 | a |
| येन जातप्रस एव सः | 20 | 21 | b |
| येन नीतो दशामिमाम् | 10 | 27 | d |
| येन लेभेऽप्रज· प्रजाः | 23 | 10 | b |
| येनेदं लोष्ठवत् स्मृतम् | 4 | 17 | d |
| ये ब्राह्मणगतिङ्गताः | 21 | 20 | b |
| ये भूता ये भविष्याश्च | 1 | 5 | a |
| ये मानं मेऽनुगृह्णन्त· | 16 | 35 | e |
| ये रसौकांसि भेजिरे | 20 | 31 | b |
| येऽर्जुनस्य सुता राजन् | 16 | 9 | a |
| ये विक्षिप्तेन्द्रियधियो | 9 | 46 | a |
| येषां गतिरहं परा | 4 | 64 | d |
| ये सेवन्ते धृतव्रता | 9 | 13 | d |
| यैरिदं तपसा सृष्टम् | 18 | 12 | a |
| यैस्सङ्गहीतो भगवान् | 5 | 15 | c |
| योगतन्त्रं चकार ह | 21 | 26 | b |
| योगं प्राप्य जगौ स्म षट् | 27 | 28 | d |
| योगं महोदयमृषि | 12 | 4 | c |
| योगाचार्यस्तु जैमिने | 12 | 3 | d |
| योगी योगाद्विचालित | 8 | 16 | d |
| योगीशो गवि भार्यायां | 21 | 25 | c |
| योगेश्वरत्वमैश्वर्यम् | 15 | 19 | a |
| योगेश्वरप्रसादेन | 13 | 27 | c |
| योगैश्वर्येण बालांस्तान् | 8 | 18 | c |
| योऽजमीढसुतो ह्यस्य तु | 22 | 3 | c |
| यो देवैरर्थितो दैत्यान् | 9 | 42 | a |
| योऽनरण्यस्य देहकृत् | 7 | 4 | b |
| योनिर्यथा न दुष्येत | 24 | 34 | c |
| यो मधुच्छन्दसो ज्येष्ठा. | 16 | 33 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| यो मामतिथिमायातं | 4 | 45 | a |
| योऽमृतत्वमनुप्राप्ता | 24 | 11 | a |
| योऽम्बरीषः प्रकीर्तितः | 7 | 1 | b |
| यो रातो वेवयजने | 16 | 32 | a |
| यो लेभे ब्रह्मवर्चसम् | 16 | 28 | d |
| यो लोकवीरसमितौ धनुरैशमुग्रं | 10 | 6 | a |
| यो वा ह्यङ्गिरसां सत्रे | 3 | 1 | c |
| यो वै हरिश्चन्द्रमखे | 16 | 31 | a |
| योऽश्वमेधै रिडस्पतिम् | 2 | 35 | b |
| योऽश्वविद्या मयान्नलात् | 9 | 17 | b |
| योऽसमञ्जस इत्युक्त | 8 | 15 | a |
| योऽसावास्ते योगसिद्ध | 12 | 6 | a |
| योऽसौ गङ्गातटे क्रीडन् | 23 | 13 | a |
| योऽसौ सत्यव्रतो नाम | 1 | 2 | a |
| यौवनाश्वोऽथ मान्धता | 6 | 34 | a |

र

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| रक्तं पथि समुत्सृजान् | 2 | 7 | d |
| रक्ष कृतं तद्विदित्वा | 9 | 23 | a |
| रक्ष पतिस्तदवलोक्य निकुम्भकुम्भ- | 10 | 18 | a |
| रक्ष पति· स्वबलनष्टिमवेक्ष्य रुष्ट | 10 | 21 | a |
| रक्ष· स्वसु व्यकृतरूप मशुद्धबुद्धे | 10 | 9 | a |
| रक्षो धमेन वृकवद्विपिनेऽसमक्षं | 10 | 11 | a |
| रक्षोवधो जलधिबन्धनमस्त्रपाणे· | 11 | 20 | c |
| रक्षो ह्येवं भविष्यसि | 9 | 22 | d |
| रघुस्तस्मात्पृथुश्रवा· | 10 | 1 | b |
| रजस्तमोवृतमहन् | 15 | 15 | c |
| रजी रम्भश्च वीर्यवान् | 17 | 1 | d |
| रजे· पञ्चाशतान्यासन् | 17 | 12 | c |
| रणञ्जय स्यस्त सुत | 12 | 13 | c |
| रणाजिरे रामकुठारसायकै | 15 | 32 | b |
| रतिर्नौ शाश्वतीस्समा | 14 | 29 | d |
| रथस्थां तां निरीक्ष्याऽऽह | 23 | 36 | c |
| रथस्य सुत एकश्च | 15 | 2 | c |
| रथामारोपितेति वै | 23 | 37 | b |
| रथीतरस्याऽप्रजस्य | 6 | 2 | a |
| रथीतराणां प्रवरा | 6 | 3 | c |
| यथेन वायुवेगेन | 9 | 11 | a |
| रन्तिदेवस्य हि यश | 21 | 2 | c |
| रन्तिदेवानुवर्तिन | 21 | 18 | b |
| रममाणमजान्यया | 19 | 7 | b |
| रममाणस्तया नित्यं | 14 | 25 | a |
| रममाणस्सहोमया | 1 | 25 | d |
| रमयन्त्या यथाऽर्हत | 14 | 24 | b |
| रमे स्वाराम धीराणाम् | 11 | 35 | c |
| रम्भस्य रभस पुत्र | 17 | 10 | c |
| रयोऽथ विजयो जय | 15 | 1 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| रहस्यन्याश्च तत्सखीः | 14 | 33 | b |
| रंस्ये कतिपयास्समाः | 18 | 39 | d |
| रंस्येऽहं भवता साकं | 14 | 21 | c |
| राक्षसं भावमापन्न· | 9 | 25 | a |
| राजन्ननुगृहीतोऽहम् | 5 | 17 | a |
| राजन्मे दीयतामन्नं | 21 | 8 | c |
| राजन्यविप्रयो· कस्मात् | 18 | 5 | c |
| राजन्यैरजितात्मभिः | 15 | 16 | b |
| राजन्योऽथ पशुश्शुचि. | 7 | 14 | d |
| राजपुत्र्याऽर्थितोऽपत्ये | 18 | 32 | a |
| राजर्षि चरित· शुचि | 10 | 55 | b |
| राजर्षिद्रविडेश्वर | 1 | 2 | b |
| राजर्षिप्रवराद्विभो | 9 | 30 | b |
| राजर्षिस्तामुपालक्ष्य | 3 | 5 | c |
| राजर्षेस्तस्य धीमतः | 4 | 14 | b |
| राजंस्तत्र विचिन्त्यताम् | 9 | 5 | d |
| राजंस्त्वया गृहीतो मे | 18 | 20 | c |
| राजा चाथान्वतप्यत | 8 | 19 | d |
| राजा तद्यज्ञसदनं | 6 | 27 | a |
| राजा तमकृताऽऽहार· | 5 | 18 | a |
| राजा दुहितरं प्राह | 3 | 19 | a |
| राजाधिदेवी चैतेषां | 24 | 30 | a |
| राजाधि देव्यामावन्त्यौ | 24 | 39 | a |
| राजानमशपत्क्रुद्धः | 9 | 22 | c |
| राजान· कल्पवर्षाद्या | 24 | 51 | a |
| राजाऽब्भक्षो बभूव ह | 5 | 23 | d |
| राजा विश्वसहो यस्य | 9 | 41 | a |
| राज्ञा पीतं विदित्वाऽथ | 6 | 29 | a |
| राज्ञाऽभिनन्दितस्तस्य | 4 | 42 | c |
| राज्ञो जीवतु देहोऽयं | 13 | 8 | a |
| राज्ञो मूर्धाभिषिक्तस्य | 15 | 41 | a |
| राज्य मंशुमति न्यस्य | 8 | 31 | a |
| राज्यं देह्यग्रजायाऽऽशु | 22 | 15 | c |
| राज्यं नैच्छद्यति· पित्रा | 18 | 2 | a |
| राज्यं श्रियं प्रणयिनस्सुहृदो | 10 | 8 | c |
| रात्र्यां वीरासनव्रत | 2 | 3 | d |
| राधिकोऽतो द्युमानभूत् | 22 | 10 | d |
| राम इत्यभिविश्रुत· | 15 | 13 | d |
| राम उत्तम कल्पकै· | 11 | 1 | b |
| राममात्रातिदारुणा· | 16 | 12 | b |
| राम राम महाबाहो! | 15 | 38 | a |
| राम रामे हि ततऽऽशु | 16 | 13 | c |
| राम! लक्ष्मण! भरत! | 10 | 2 | e |
| रामवीर्य पराभूता | 16 | 9 | c |
| रामश्चक्रे सुहृद्वधम् | 16 | 8 | d |
| रामस्तमाह पुरुषादपुरीषयन्नः | 10 | 22 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| रामास्सञ्चोदित· पित्रा | 16 | 6 | a |
| रामं प्रत्युद्यतोऽग्रजम् | 10 | 36 | b |
| रामः कमललोचनः | 16 | 25 | b |
| राम· प्रियतमां भार्यां | 10 | 31 | a |
| राम स्वाश्रम आगतः | 15 | 27 | b |
| रामाय रामोऽस्त्रभृतां समग्रणी· | 15 | 33 | c |
| रामायाऽकुण्ठमेधसे | 11 | 7 | b |
| रामे राजनि धर्मज्ञे | 10 | 52 | c |
| रामे राजन्यधोक्षजे | 10 | 54 | d |
| रामो नाहं भजे पुन· | 11 | 9 | d |
| रामेऽपि युधि तोषित· | 22 | 20 | b |
| रामो लक्ष्मणसीताभ्यां | 10 | 41 | a |
| राष्ट्रपालो विसृष्टश्च | 24 | 24 | c |
| राष्ट्रो दीर्घतप पिता | 17 | 4 | b |
| रुचिराश्वसुत प्राज्ञ· | 21 | 24 | a |
| रुचिराश्वो दृढहनु | 21 | 23 | c |
| रुद्रस्त्वात्मा शरीरिणाम् | 9 | 7 | b |
| रुन्धन्नपि धिया शुच | 11 | 16 | b |
| रुरुदु सुस्वरं दीना | 10 | 25 | c |
| रुरोध सरितं भुजै | 15 | 20 | d |
| रुषती पादयोर्जहौ | 9 | 24 | b |
| रुषा श्वसन्ती व्यलीव | 18 | 15 | c |
| रूढं प्रकृत्यात्मनि विश्वभर्तु· | 9 | 47 | c |
| रूप्याङ्गीणां सुवाससाम् | 4 | 33 | b |
| रेजे व्यभ्र इवांशुमान् | 16 | 23 | d |
| रेणुका दु खशोकार्ता | 16 | 13 | a |
| रेणोस्सुतां रेणुकाख्यम् | 15 | 12 | c |
| रेतोधा· पितरं पुत्रः | 20 | 22 | a |
| रेमे कामग्रहग्रस्तः | 19 | 26 | e |
| रेमेऽनुगायद्द्विजभृङ्गवन्दिषु | 6 | 46 | d |
| रेमेऽमरविहारेषु | 14 | 24 | c |
| रेवाम्भसि मदोत्कट | 15 | 20 | b |
| रैवतो रेवतीं कन्यां | 3 | 29 | c |
| रोचनायान्ततो जाता | 24 | 49 | a |
| रोमपाद इति ख्यात· | 23 | 7 | c |
| रोमपादसुतो बभ्रु | 24 | 2 | a |
| रोहितस्तदभिज्ञाय | 7 | 16 | a |
| रोहितायाऽऽदिशच्छक्र | 7 | 18 | c |
| रोहितो ग्राममेयाय | 7 | 17 | c |
| रौद्राश्वस्तत्सुत स्मृत· | 20 | 3 | d |


## ल


| | | | |
|---|---|---|---|
| लक्षितोऽध्यात्मसंस्थित | 13 | 11 | d |
| लक्ष्मणस्यात्मजावुभौ | 11 | 12 | b |
| लक्ष्मणेषुभिरर्दितान् | 10 | 25 | b |
| लङ्कामायुश्च कल्पान्तं | 10 | 33 | a |
| लङ्कां विभीषण दृशा | 10 | 16 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| लब्धकामै रनुज्ञातः | 3 | 35 | a |
| लब्धच्छिद्रा उपागमन् | 16 | 10 | d |
| लब्धं लब्धं बुभुक्षतः | 21 | 3 | b |
| लब्ध्वा पुंस्त्वं व्यवस्थया | 1 | 40 | a |
| लब्ध्वा संज्ञानलक्षणम् | 16 | 24 | b |
| लम्बन्तं वृषणं भूय· | 19 | 10 | c |
| लवणं नाम राक्षसम् | 11 | 14 | d |
| लाङ्गलस्तत्सुत· स्मृत· | 12 | 14 | b |
| लीलातनोरधिकसाम्य विमुक्तधाम्न | 11 | 20 | b |
| लेभिरे शर्म न क्वचित् | 16 | 9 | d |
| लेभे गतिमनुत्तमाम् | 8 | 31 | d |
| लेभे गतिं भागवतीं प्रतीत· | 19 | 25 | d |
| लेभे पुरुषसेवया | 1 | 2 | d |
| लेभे स्वसदृशान् दश | 2 | 2 | d |
| लोकनाथा· सुरेश्वरा | 18 | 13 | b |
| लोकपालार्पितैः पथि | 10 | 33 | d |
| लोकावरण रावण | 10 | 26 | b |
| लोकं गान्धर्वमेयिवान् | 14 | 49 | d |
| लोकान्सपालांस्त्रिदिवं गतस्स· | 4 | 51 | b |
| लोकुषु पवनो यथा | 15 | 19 | d |
| लोचनेषु शरीरिणाम् | 13 | 11 | b |
| लोभाद्धर्ममजानतः | 13 | 5 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **व** | | | |
| वक्तुं वर्षशतैरपि | 1 | 7 | d |
| वचनाद्देव देवस्य | 4 | 14 | a |
| वचांसि कृणवावहै | 14 | 34 | a |
| वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने | 4 | 18 | b |
| वचोभिरुपमन्त्रयन् | 18 | 35 | b |
| वज्रनाभोऽर्क सम्भवः | 12 | 2 | d |
| वत्सप्रीति र्हलन्दनात् | 2 | 23 | d |
| वत्सप्रीतेस्सुतः प्रांशुः | 2 | 24 | a |
| वत्सप्रीतो भविष्यति | 12 | 10 | b |
| वत्सोपस्कर सम्पदाम् | 4 | 33 | d |
| वत्स्यत्यपैत्यानि च ते | 14 | 39 | c |
| वदन्त्यानकदुन्दुभिम् | 24 | 30 | b |
| वधं पितुरिवाऽऽत्मज· | 9 | 30 | d |
| वधो ब्रह्मवधात् गुरु· | 15 | 41 | b |
| वध्यांस्तान् विष्णुशक्ति धृत् | 7 | 3 | b |
| वनञ्जगामाऽनुययु | 6 | 53 | c |
| वनं विवेशाऽऽत्मनि वासुदेवे | 5 | 26 | c |
| वनानि नद्यो गिरयो | 10 | 53 | a |
| वने ग्रामनिवासिन· | 19 | 2 | d |
| वनेपुश्चाऽवम· स्मृतः | 20 | 5 | b |
| वनौको दम्पती द्विजौ | 9 | 25 | d |
| वयसा योऽभिधास्यति | 18 | 37 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| वयसा भवदीयेन | 18 | 39 | c |
| वयसोनं गुणाधिकम् | 18 | 42 | b |
| वयं च कुलनन्दन! | 10 | 28 | b |
| वयं तत्राऽपि भृगव· | 18 | 14 | a |
| वयं न तात प्रभवाम भूम्नि | 4 | 56 | a |
| वयं हि ब्राह्मणस्तात! | 15 | 39 | a |
| वयो मे दत्तमीश्वरौ | 3 | 11 | d |
| वयोरूपाभिलम्भनम् | 3 | 23 | b |
| वरं विसदृशं दृष्ट्वा | 15 | 5 | d |
| वराप्सरा यत· पुत्राः | 2 | 31 | c |
| वरुणं शरणं यात | 7 | 8 | c |
| वरुणादीन् महत्कथ | 7 | 22 | b |
| वरेण च्छन्दयामास | 16 | 7 | a |
| वर्णयामास तच्छ्रुत्वा | 15 | 37 | c |
| वर्णयामि महापुण्यं | 23 | 19 | a |
| वर्णाश्रम गुणान्विताः | 10 | 51 | d |
| वर्तयिष्यति वै बृहत् | 16 | 25 | d |
| वर्मदृक् धृष्टवर्मश्च | 24 | 16 | c |
| वर्षपूगान् बहून् नृणान् | 11 | 36 | c |
| वर्षाणि द्वीपसिन्धवः | 10 | 53 | b |
| वलीपलित ए जत्कः | 6 | 41 | c |
| वलीपलित विक्रिय | 3 | 14 | d |
| वल्मीकरन्ध्रे ददृशे | 3 | 3 | c |
| वल्मीकान्तर्हितं शनैः | 3 | 8 | d |
| वव्रे हतानां रामोऽपि | 16 | 7 | c |
| वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या | 4 | 66 | c |
| वशे स्थाप्य वनं ययौ | 19 | 23 | d |
| वषट्कारं गृणन्द्विज· | 1 | 15 | d |
| वसिष्ठमवृतर्त्विजम् | 13 | 1 | b |
| वसिष्ठमिति शुश्रुम | 1 | 36 | d |
| वसिष्ठशापाद्रक्षोऽभूत् | 9 | 18 | e |
| वसिष्ठस्तदनुज्ञातो | 9 | 38 | c |
| वसिष्ठो भगवान् किल | 1 | 13 | b |
| वसुदेव उवाह ता | 24 | 23 | d |
| वसुदेवस्तु देवक्यां | 24 | 53 | c |
| वसुदेवस्तु रोहिण्यां | 24 | 46 | c |
| वसुदेवं देवभागं | 24 | 27 | c |
| वसुदेवं हरे· स्थानं | 24 | 30 | a |
| वसुदेव सुतानष्टौ | 24 | 52 | c |
| वसुदेवानुज स्त्रियः | 24 | 25 | d |
| वसुस्तस्योपरिचर· | 22 | 5 | c |
| वसु हंस सुधन्वाद्याः | 24 | 51 | c |
| वसोः प्रतीकस्तत्पुत्रः | 2 | 18 | a |
| वस्वनन्तोऽथतत्पुत्रः | 13 | 25 | a |
| वह्ने र्भर्गोऽथ भानुमान् | 23 | 16 | d |
| वंश· सोमस्य पावनः | 14 | 1 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| वंशानुचरितानि च | 1 | 4 | b |
| वंशो देवर्षिसत्कृतः | 22 | 44 | d |
| वाक्यै र्विभ्रम लीलया | 24 | 64 | b |
| वात्सल्यं वीक्ष्य सज्जनाः | 11 | 5 | b |
| वायुर्मात्रेन्द्रियाणि च | 5 | 3 | d |
| वारितो मदयन्त्यापो | 9 | 24 | a |
| वासश्चादाय मन्युना | 18 | 17 | d |
| वासुदेवं गुहाशयम् | 18 | 50 | b |
| वासुदेवाय वेधसे | 19 | 29 | b |
| वासुदेवे भगवति | 2 | 11 | a |
| वासुदेवे भगवति | 4 | 17 | a |
| वासुदेवे भगवति | 21 | 16 | c |
| वासोभ्यामवशेषितः | 11 | 4 | b |
| वासो मणिगणांशुभिः | 11 | 33 | b |
| वाहनत्वे वृतस्तस्य | 6 | 14 | c |
| हाहेति जल्पति जने सुकृतीव रिक्तः | 10 | 23 | d |
| विकसन्मुखपङ्कजाम् | 10 | 31 | d |
| विकुक्षिनिमिदण्डका· | 6 | 4 | b |
| विकुक्षि· पृथिवीमिमाम् | 6 | 11 | b |
| विकुक्षे गच्छ मा चिरम् | 6 | 6 | d |
| विकुण्ठाख्यं यदध्यास्ते | 4 | 60 | c |
| विक्रीतः पुरुष· पशुः | 16 | 31 | b |
| विचचार महीमेतां | 2 | 13 | c |
| विचचार वनाद्वनम् | 1 | 33 | d |
| विचरन्मृगयां वने | 1 | 23 | b |
| विचरन् विजने वने | 15 | 23 | b |
| विचित्रवीर्योऽथो वाह | 22 | 23 | c |
| विचित्रवीर्योऽवरजः | 22 | 21 | a |
| विचिन्वन्त्यद्रिपान्वने | 3 | 3 | b |
| विचिन्वन् प्रियमात्मन· | 19 | 3 | b |
| विचुक्रोशोच्चकै· सती | 16 | 13 | d |
| विजयस्तस्य सम्भूत्यां | 23 | 12 | a |
| विजयाऽसूत पार्वती | 22 | 31 | d |
| विजयो यस्य चात्मज· | 8 | 1 | d |
| विजयोऽस्मादृतः सुतः | 13 | 25 | d |
| विजहृस्सिद्धतीर्मिथ· | 18 | 8 | d |
| विजित्यभुवनत्रयम् | 14 | 4 | b |
| विज्ञाप्य ब्राह्मणी शापं | 9 | 37 | c |
| विज्ञायेश्वरतन्त्राणां | 19 | 27 | c |
| वितथस्य सुतान्मन्यो· | 21 | 1 | a |
| विदधानोऽपि नाऽतृप्यत् | 18 | 51 | c |
| विदधे नाम तस्य च | 6 | 33 | b |
| विदाम न वयं सर्वे | 4 | 58 | c |
| विदुरश्चाऽप्यजीजनत् | 22 | 25 | d |
| विदु. रुक्मसंस्थं न बहिः प्रकाशाः | 8 | 23 | d |
| विदेह उष्यतां कामं | 13 | 11 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| विद्धं दण्डककण्टकै· | 11 | 19 | b |
| विद्रुमोदुम्बर द्वारैः | 11 | 32 | a |
| विद्वान् विभवनिर्वाणं | 4 | 16 | c |
| विद्वांसमपि कर्षति | 19 | 17 | d |
| विधायालीक विस्रम्भम् | 14 | 38 | a |
| विधूताशेष किल्बिष | 16 | 23 | b |
| विधृतिश्चाभवत् सुत· | 12 | 3 | b |
| विधुतोऽथ महाधृति· | 13 | 16 | d |
| विधेहि तस्याऽपचितिं विधात· | 4 | 62 | c |
| विधेहि भद्रं तदनुग्रहो हि नः | 5 | 9 | d |
| विनिर्माय कुशस्थलीम् | 3 | 28 | b |
| विन्यस्त हेमकलशै | 11 | 27 | c |
| विपरीतमहो कष्टं | 1 | 17 | c |
| विप्रदेवप्रसादत | 6 | 32 | b |
| विप्रस्य चास्मत्कुलदैवहेतवे | 5 | 9 | c |
| विप्रेभ्योऽर्हत्तमाश्च ये | 10 | 41 | b |
| विप्रो भूत्वाऽथ वृत्रहा | 7 | 19 | d |
| विप्रौषध्युडुगणानां | 14 | 3 | c |
| विप्लावितं स्वशिबिरम् | 15 | 21 | a |
| विभक्तस्य महीपतेः | 21 | 7 | b |
| विभक्तं व्यभजत्तस्मै | 21 | 7 | c |
| विभवश्चातुलं विभुः | 4 | 15 | d |
| विभीषणाय भगवान् | 10 | 32 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| विभ्रमालिङ्गनादिभि· | 23 | 9 | b |
| विभ्राजमानमहनन्निशितै· क्षुरप्रै· | 10 | 21 | d |
| विमलश्च सुतास्त्रय· | 1 | 41 | a |
| विमुक्तसङ्गश्शान्तात्मा | 2 | 12 | a |
| वियद्वित्तस्य ददत | 21 | 3 | a |
| वियोगभयकातरा· | 13 | 9 | b |
| विरक्तो न्यासमास्थित· | 6 | 53 | b |
| विरूपकरणी नृणाम् | 18 | 36 | d |
| विरूप. केतुमान् शम्भु· | 6 | 1 | a |
| विरूपात्पृषदश्वोऽभूत् | 6 | 1 | c |
| विरेजे भगवान् राजन् | 10 | 45 | c |
| विलपन्त्या अनाथवत् | 9 | 33 | b |
| विलप्यैवं पितुर्देहं | 16 | 16 | a |
| विलोकयन्तीं क्रीडन्तम् | 16 | 3 | a |
| विलोक्य कूपसंविग्ना | 19 | 7 | c |
| विलोक्य सद्यो मुमुहे | 20 | 9 | a |
| विलोक्याभऽक्ष्यमञ्जसा | 9 | 22 | b |
| विलोक्यौशनसीं राज्ञीम् | 18 | 31 | a |
| विलोमा तनयस्ततः | 24 | 19 | d |
| विवरं प्रविवेश ह | 11 | 15 | d |
| विवस्त्रा व्रीडिता भृशम् | 1 | 30 | b |
| विवस्त्रोऽभ्यद्रवद्रुषा | 14 | 30 | h |
| विवस्वानभवत्सुतः | 1 | 10 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| विवाससं तत् तथेति | 14 | 22 | c |
| विवाह· प्रातिलोमिकः | 18 | 5 | d |
| विवंशति सुतो रम्भ· | 2 | 25 | a |
| विवेश कौशोरवया· पराङ्गतिम् | 2 | 15 | d |
| विवृक्णवर्मध्वजचाप विग्रहम् | 15 | 32 | c |
| विशापो द्वादशाब्दान्ते | 9 | 37 | a |
| विशालश्शून्यबन्धुश्च | 2 | 33 | a |
| विशालो वंशकृद्राजा | 2 | 33 | c |
| विश्रवा धनदं सुतम् | 2 | 32 | b |
| विश्वगन्धस्ततश्चन्द्र | 6 | 20 | c |
| विश्वजिच्च पुरञ्जय | 22 | 49 | b |
| विश्वसाह्योऽन्वजायत | 12 | 7 | d |
| विश्वं शाटीव तन्तुषु | 9 | 7 | d |
| विश्वामित्र वसिष्ठयो | 7 | 7 | b |
| विश्वामित्रस्य चैवासन् | 16 | 29 | a |
| विश्वामित्रस्सुतानाह | 16 | 35 | c |
| विश्वामित्रात्मजैवाऽहं | 20 | 13 | a |
| विश्वामित्राध्वरे येन | 10 | 5 | a |
| विश्वामित्रोऽभवत्तस्मिन् | 7 | 22 | c |
| विश्वामित्रो भृशं प्रीत· | 7 | 25 | a |
| विश्वे देवास्सभासद· | 2 | 28 | d |
| विषयाणामलमिमे | 27 | 33 | a |
| विषयान् विविधैस्सुखै· | 6 | 48 | b |
| विषयान् सेवतोऽसकृत् | 19 | 18 | b |
| विषाणाग्रेण रोधसि | 19 | 4 | d |
| विष्णुचक्रं सुदर्शनम् | 5 | 12 | b |
| विष्णुचक्रोपतापित· | 4 | 55 | b |
| विष्णोर्विश्वात्मन· प्रभो· | 6 | 14 | b |
| विष्वक्सेनमधात्सुतम् | 21 | 25 | d |
| विसर्गसृष्टा वयमप्रकाशा· | 8 | 22 | d |
| विसृज्य राज्यं सह बन्धुभिः गृहान् | 2 | 15 | b |
| विस्मित परमप्रीत· | 3 | 23 | c |
| विस्मित स्तम्भमजहात् | 6 | 47 | c |
| विहाय जारं भजसेऽमुमध्वगम् | 3 | 20 | d |
| वीक्षमाणा परस्परम् | 1 | 27 | d |
| वीक्ष्य मैथुनधर्मिण | 6 | 39 | d |
| वीक्ष्य विस्मित मानसा | 24 | 33 | b |
| वीक्ष्य व्रजन्तं गिरिशं | 18 | 9 | a |
| वितिहव्यो धृतिस्तत· | 13 | 26 | b |
| वीतिहोत्रस्त्विन्द्रसेनात् | 2 | 20 | a |
| वीति होत्रोऽस्य भर्गोऽत | 17 | 9 | c |
| वीर! किं करवाम ते | 20 | 13 | d |
| वीरमानी दशानन | 15 | 21 | d |
| वीरयूथाग्रणीर्येन | 22 | 20 | a |
| वीरवन्तमकर्त माम् | 16 | 35 | f |
| वीरवन्तो भविष्यथ | 16 | 35 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| वीर्याण्यनन्त वीर्यस्य | 1 | 1 | c |
| वृकस्तस्माच्च बाहुक· | 8 | 2 | b |
| वृकाणां हृदयं यथा | 14 | 36 | d |
| वृकादीन् वत्सनामकः | 24 | 43 | b |
| वृक्णन्नजस्रं प्रधने विराजसे | 5 | 8 | d |
| वृतश्च राजकन्याभि | 6 | 43 | c |
| वृत कतिपयामात्यै· | 1 | 23 | c |
| वृद्धा शर्मा समग्रहीत् | 24 | 37 | b |
| वृद्धं तं पञ्चतां प्राप्तं | 8 | 3 | a |
| वृषणो मधुरूर्जित· | 23 | 27 | d |
| वृषदर्भस्सुवीरश्च | 23 | 3 | c |
| वृषदुर्मर्षणादिकान् | 24 | 42 | b |
| वृषपर्वा तमाज्ञाय | 18 | 26 | a |
| वृषलाय हरिं स्मरन् | 21 | 7 | d |
| वृषसेनस्सुतस्तस्य | 23 | 14 | a |
| वृष्णिज्येष्ठं यत कुलम् | 23 | 29 | d |
| वृष्णिर्देवावृधोऽन्धकः | 24 | 6 | d |
| वृष्णिः पुत्रो मधो स्मृत· | 23 | 29 | b |
| वृष्णेस्सुमित्र· पुत्रोऽभूत् | 24 | 12 | a |
| वेदवादातिवादान्वै | 22 | 17 | a |
| वेदाद्विभ्रंशितो गिरा | 22 | 16 | d |
| वेदैतत् भगवान् कण्वः | 20 | 13 | c |
| वेद्म्यहं त्वां सुमध्यमे | 20 | 12 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| वेपयन्तीं समुद्वीक्ष्य | 4 | 47 | c |
| वेलामगात्स मनुजोऽजभवार्चिताङ्घ्रिः | 10 | 12 | d |
| वैजयन्तीं स्रजं बिभ्रत् | 15 | 20 | c |
| वैदर्भकुलनन्दनम् | 24 | 1 | d |
| वैदूर्यस्तम्भपङ्क्तिभि· | 11 | 32 | b |
| वैदेहराजदुहितर्यपयापितायाम् | 10 | 11 | b |
| वैदेहस्तु विदेहज | 13 | 13 | b |
| वैदेही लक्ष्मणाश्चाऽथ | 10 | 47 | c |
| वैरं सिसाधयिषव | 16 | 10 | c |
| वैरूप्यच्छूर्पणाख्या प्रियविरहरुषा | 10 | 4 | c |
| वैशाली निर्ममे पुरीम् | 2 | 33 | d |
| वैश्वदेवे महात्मन | 4 | 4 | b |
| वैश्वमित्रै पृथग्विधम् | 16 | 37 | b |
| व्यक्तं केनापि न स्तस्य | 9 | 6 | c |
| व्यक्तं राजन्यतनयां | 20 | 12 | a |
| व्यचरत्कलगीतालि | 18 | 7 | c |
| व्यतीयुरष्ट चत्वारिंशत् | 21 | 4 | a |
| व्यत्यस्यतां यथाकामम् | 18 | 37 | c |
| व्यदृश्यन्त सुवासस | 4 | 23 | d |
| व्यद्योतन्त स्म विद्युत· | 14 | 31 | b |
| व्यधत्त तीर्थमुद्धृत्य | 19 | 4 | c |
| व्यधुनोल्लिङ्गमात्मन | 19 | 28 | d |
| व्यभिचारं मुनिर्ज्ञात्वा | 16 | 5 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| व्यवायकाले ददृशे | 9 | 25 | c |
| व्यसृजन् मरुतोऽबिभ्रन् | 20 | 39 | c |
| व्याघ्रः पुशुमिवाऽखादत् | 9 | 33 | c |
| व्याघ्रोऽपि वृक्णश्रवणो | 2 | 7 | a |
| व्युदकं कलशं प्रभो! | 6 | 28 | b |
| व्युष्टायां निशि दुःखित· | 2 | 8 | d |
| व्योम्नीव जलदावलिः | 18 | 49 | b |
| व्रतान्ते कार्तिके मासि | 4 | 30 | a |

श

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| शकले द्वे बृहद्रथात् | 22 | 7 | d |
| शकान् हैहयबर्बरान् | 8 | 5 | d |
| शकृन्मूत्र निरोधोऽभूत् | 3 | 5 | a |
| शक्रेण प्राग्वृतोऽस्मि भोः | 13 | 2 | d |
| शतजिच्च सहस्राजित् | 24 | 8 | c |
| शतजित्प्रथमात्मजः | 23 | 21 | b |
| शतद्युम्नस्तु तत्सुत· | 13 | 21 | d |
| शतधृत्यादिभिर्मुदा | 10 | 34 | b |
| शतबिन्दोर्दुहितरि | 6 | 38 | a |
| शतमन्युरमर्षितः | 3 | 25 | b |
| शतानन्दस्तु गौतमात् | 27 | 34 | d |
| शतानीकस्तु नाकुलिः | 22 | 29 | d |
| शतानीकस्सुदासजः | 22 | 43 | b |
| शतानीकादुर्दमनः | 22 | 43 | c |
| शत्रुघ्नश्च मधो· पुत्रम् | 11 | 14 | c |
| शत्रुघ्नस्य बभूवतुः | 11 | 13 | b |
| शत्रुघ्ना इति संज्ञया | 10 | 2 | f |
| शत्रुघ्नो गन्धमादाह्वः | 24 | 17 | a |
| शन्तनु र्ब्राह्मणैरुक्त· | 22 | 15 | a |
| शन्तनुर्मृगयां चरन् | 27 | 36 | d |
| शन्तनोर्दाशकन्यायाम् | 22 | 20 | c |
| शप्त्वा वीर्यमपासृजत् | 20 | 36 | d |
| शमीगर्भं विलक्ष्य स | 14 | 44 | b |
| शयाना गाव उत्थाय | 2 | 4 | c |
| शरद्वांस्तत्सुतो यस्मात् | 27 | 35 | c |
| शरस्तम्बेऽपतद्रेतः | 27 | 36 | a |
| शरांश्च परमाद्भुतान् | 1 | 24 | b |
| शर्मकामो द्रुतं त्यजेत् | 19 | 16 | d |
| शर्मिष्ठाऽजानतां वास | 18 | 10 | a |
| शर्मिष्ठा नाम कन्यका | 18 | 6 | b |
| शर्मिष्ठा प्राक्षिपत्कूपे | 18 | 17 | c |
| शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी | 18 | 33 | d |
| शर्मिष्ठा सुप्रजां क्वचित् | 18 | 31 | b |
| शर्यातिर्जातसाध्वसः | 3 | 8 | b |
| शर्यातिर्मानवो राजा | 3 | 1 | a |
| शर्याति स्तस्याहं याती | 20 | 3 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| शर्यातिरभवन्पुत्राः | 3 | 27 | c |
| शर्वं कैलासवासिनम् | 4 | 55 | d |
| शलश्च शन्ततोरासीत् | 22 | 19 | a |
| शशश्चाददपस्मृति | 6 | 7 | d |
| शशंस पित्रे तत्सर्वं | 3 | 23 | a |
| शशसाऽवनतो नृप | 9 | 3 | d |
| शशाद इति विश्रुत | 6 | 11 | d |
| शशासाऽच्युततेजसा | 6 | 34 | d |
| शशिबिन्दुर्महायोगी | 23 | 31 | c |
| शस्त्रं दुर्विषहं हि नः | 4 | 59 | b |
| शातकौम्भमयं रथम् | 7 | 23 | d |
| शान्ताय बृहते नम | 19 | 29 | d |
| शान्तां सुकन्यां प्रायच्छत् | 23 | 8 | a |
| शान्तिदेवात्मजा राजन्! | 24 | 50 | c |
| शान्तिदेवोपदेवा च | 24 | 23 | a |
| शान्तिमाप्नोति चैवाग्र्याम् | 22 | 14 | a |
| शान्तिं नोपैति पूरुष· | 18 | 40 | d |
| शान्तेस्सुशान्तिस्तत्पुत्र· | 27 | 31 | a |
| शापाद्यमशापं पुरा | 18 | 22 | d |
| शापान्मैथुनरुद्धस्य | 22 | 27 | a |
| शाबस्तिस्तत्सुतो येन | 6 | 21 | a |
| शाबस्तौ निर्मिता पुरी | 6 | 21 | b |
| शार्दूलो निशि वर्षति | 2 | 4 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| शासदीजे हरिं यज्ञै | 6 | 11 | c |
| शिक्षयन् स्वयमाचरत् | 10 | 55 | d |
| शिनिस्तस्मात् स्वयम्भोजो | 24 | 26 | c |
| शिनिस्तस्य च सत्यकः | 24 | 13 | d |
| शिनिस्तस्याऽनमित्रश्च | 24 | 12 | c |
| शिबिर्वन क्रिमिर्दर्प | 23 | 3 | a |
| शिबेश्चत्वार एवाऽऽसन् | 23 | 4 | a |
| शिर आदाय बर्हिषि | 16 | 20 | b |
| शिरश्शार्दूलशङ्कया | 2 | 6 | d |
| शिरसा त्वां प्रसादये | 4 | 9 | d |
| शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने | 4 | 20 | b |
| शिव पन्थाश्च दर्शित· | 18 | 12 | d |
| शिशुपालस्सुतस्तस्या· | 24 | 40 | a |
| शिष्यव्यतिक्रमं वीक्ष्य | 13 | 4 | a |
| शिष्यं व्याचष्ट भार्गव | 18 | 27 | b |
| शिष्य· कौसल्य आध्यात्मम् | 12 | 4 | a |
| शिष्योऽस्या न पिताऽसुरः | 18 | 14 | b |
| शिंशुपामूल माश्रिताम् | 10 | 30 | d |
| शीघ्रस्तस्य मरुत्सुत | 12 | 5 | d |
| शीलद्रविणविक्रमान् | 14 | 15 | d |
| शुक्र परमधर्मवित् | 1 | 6 | d |
| शुक्रस्तमाह कुपित· | 18 | 36 | a |
| शुक्रो बृहस्पतेर्द्वेषात् | 14 | 6 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| शुचिस्तत्तनयस्तस्मात् | 13 | 22 | a |
| शुचिस्तस्य भविष्यति | 22 | 47 | d |
| शुचि. कम्बलबर्हिष· | 24 | 19 | b |
| शुद्धस्तत शुचिस्तस्मात् | 17 | 11 | c |
| शुनक श्शौनको यस्य | 17 | 3 | c |
| शुनकस्तत्सुतो जज्ञे | 13 | 26 | a |
| शुनश्शेफस्तु भार्गव | 16 | 32 | d |
| शुनश्शोफस्य माहात्म्यम् | 7 | 24 | a |
| शुनश्शेफं पशुं पित्रे | 7 | 21 | a |
| शुनीव हविरध्वरे | 18 | 11 | d |
| शुशोच भ्रातरं भ्राता | 9 | 20 | c |
| शूद्रो वेदमिवाऽसती | 18 | 14 | d |
| शूरभूम्यान्तु श्यामक. | 24 | 42 | d |
| शूर भूराष्ट्रपालिका | 24 | 25 | b |
| शूरसेन दशार्हैके· | 24 | 63 | b |
| शूराद्या मदिरात्मजा | 24 | 48 | b |
| शूरो विदूरथादाऽऽसीत् | 24 | 26 | a |
| शृङ्गाटका गजकुलैर्हदिनीवघूर्णा | 10 | 17 | d |
| शृणु नामानि कर्मभिः | 6 | 12 | d |
| शृणु भार्गव्यमूं गाथां | 19 | 2 | a |
| शृणु वंशमनेनस | 17 | 11 | b |
| शृण्वतां सर्वभूतानां | 20 | 20 | c |
| ृण्वद्भिरनुगायद्भि | 4 | 24 | c |
| शेषं निवेदयामास | 6 | 8 | a |
| शैब्या गर्भमधात्काले | 23 | 39 | c |
| शैब्या पतिममर्षिता | 23 | 36 | d |
| शोकवेगविमोहिताः | 16 | 15 | b |
| शोचन्त्यात्मानमुर्वीशं | 9 | 34 | c |
| शोणितोदान् ह्रदान् नृप! | 16 | 19 | d |
| सौनकात्परमेष्यति | 22 | 38 | d |
| श्रद्धया मुनयोऽमला· | 9 | 15 | b |
| श्रद्धायां जनयामास | 1 | 11 | c |
| श्रपयित्वोभयैर्मन्त्रै | 15 | 8 | c |
| श्रवणैरुपधारयन् | 11 | 23 | b |
| श्रान्तो बुभुक्षितो वीर· | 6 | 7 | c |
| श्रियश्चाऽत्यन्तिकीं ब्रह्मन्! | 4 | 64 | c |
| श्रिया मत्तस्य पश्यत | 4 | 44 | b |
| श्रीदेवा देवरक्षिता | 24 | 23 | b |
| श्रीदेवायास्तु षट् सुता· | 24 | 51 | d |
| श्रीद्वारगोपुरसदो बलभीविटङ्का | 10 | 17 | b |
| श्रीनिवास· श्रिया सह | 4 | 60 | d |
| श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते | 4 | 19 | d |
| श्रुतकर्मा तथाऽपरे | 22 | 30 | b |
| श्रुतकीर्तिमविन्दत | 24 | 38 | b |
| श्रुतकीर्ति· श्रुतश्रवाः | 24 | 30 | d |
| श्रुतदेवान्तु कारूषो | 24 | 37 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| श्रुतवीर्यं जयादिभि | 23 | 25 | d |
| श्रुतश्रवसमग्रहीत् | 24 | 39 | d |
| श्रुतसेनो भीमसेन | 22 | 35 | c |
| श्रुतसेनो वृकोदरात् | 22 | 29 | b |
| श्रुतस्ततो जयस्तस्मात् | 13 | 25 | c |
| श्रुतं हि वर्णितं भूरि | 10 | 3 | c |
| शृतायुस्तत्सुपार्श्वक. | 13 | 23 | b |
| शृतायोर्वसुमान् पुत्र | 15 | 2 | a |
| शृती चकाराच्युतसत्कथोदये | 4 | 18 | d |
| शृतो भगीरथाज्जज्ञे | 9 | 16 | a |
| शृत्वा गाथां देवयानी | 19 | 26 | a |
| शृत्वा जातमहोदरम् | 7 | 17 | b |
| शृत्वा तत्तस्य दौरात्म्यम् | 15 | 27 | c |
| श्रुत्वोर्वशीन्द्र भवने | 14 | 16 | a |
| श्रूयतां मानवो वंश | 1 | 7 | a |
| श्रेणीभिर्वारमुख्याभि | 10 | 38 | c |
| श्रेष्ठं मन्वानयाऽयच्छत् | 15 | 9 | c |
| श्रोत्राञ्जलिरुपस्पृश्य | 24 | 62 | c |
| श्लाघनीये हितः शश्वत् | 24 | 63 | c |
| श्लाघ्य· स्त्रीणां वर· स्मृत· | 14 | 21 | d |
| श्लोकमेतं सुरा जगुः | 20 | 37 | d |
| श्वफल्कश्चित्रकश्चैव | 24 | 15 | a |
| श्वभ्यः श्वपतये विभु· | 21 | 9 | d |
| श्वश्वा चापत्यकाम्यया | 15 | 8 | b |
| श्वाहिस्ततो रुशेकु र्वै | 23 | 31 | a |
| श्वेतच्छत्रं मरुत्सुत· | 10 | 43 | d |
| श्वोभूते स्वपुरं यात | 20 | 17 | c |
| षट् सहस्राणिचाष्ट च | 24 | 10 | d |
| षडासन्नात्मजा नृप ! | 15 | 1 | b |
| षडिमान् प्राच्यकांश्च ते | 23 | 6 | b |
| षडिमे नहुषस्याऽऽसन् | 18 | 1 | c |
| षड्वर्गं विषयेषु स | 19 | 24 | b |
| षष्टिवर्षतानि च | 17 | 7 | b |
| षष्टिवर्षसहस्राणि | 17 | 7 | a |
| षष्टं षष्टमुपेत्याह | 4 | 3 | c |
| षष्टं संवत्सरं तत्र | 7 | 20 | a |
| **स** | | | |
| स आतिथ्याऽवशिष्टं यत् | 21 | 9 | a |
| स इत्थंमाचरन् कामान् | 19 | 1 | a |
| स इष्थं भक्तियोगेन | 4 | 26 | a |
| स ऋषि प्रार्थित पत्न्या | 15 | 8 | a |
| स एकदा तु मृगयाम् | 15 | 23 | a |
| स एकदा महाराज! | 1 | 23 | a |
| स एकदाऽष्टका श्राद्धे तु | 6 | 6 | a |
| स एकोऽजवृषस्तासाम् | 19 | 6 | c |
| स एव शत्रुजित् वत्स! | 17 | 6 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ्वाऽऽसीदिदं विश्वम् | 1 | 8 | c |
| कदाचिदुपासीनः | 6 | 49 | a |
| कुटुम्बस्य सीदतः | 21 | 3 | d |
| ा कुमारो वनं मेरोः | 1 | 25 | a |
| स कृत्यां शुककन्यायाम् | 21 | 25 | a |
| स केशिन्या नृपात्मजः | 8 | 15 | b |
| सखा यस्य च तुम्बुरुः | 24 | 20 | b |
| सखी सहस्रसंयुक्ता | 18 | 6 | c |
| सख्यं विधाय कपिभिर्दयिता गतिं तैः | 10 | 12 | b |
| सख्या परिवृता सती | 18 | 31 | d |
| सगणाय बुभुक्षते | 21 | 8 | d |
| सगरश्चक्रवर्त्याऽऽसीत् | 8 | 5 | a |
| सगरस्तेन पशुना | 8 | 30 | c |
| सगराख्यो महायशा | 8 | 4 | d |
| सगरात्मजा दिवं जग्मुः | 9 | 12 | c |
| सङ्कर्षणमहीश्वरम् | 24 | 54 | d |
| सङ्कीर्तयन्ननुध्यायन् | 5 | 27 | c |
| सङ्कृतिस्तस्य तु जय· | 17 | 18 | a |
| सङ्कृतिस्तु नरात्मजः | 21 | 1 | d |
| सङ्कृते· पाण्डुनन्दन! | 21 | 1 | b |
| सङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षु | 6 | 51 | a |
| सङ्गान् सर्वाञ्चनै र्जहौ | 4 | 26 | d |
| स चिन्तयन्नघं राज्ञ· | 9 | 21 | a |
| स चैवानुगतः स्त्रैणः | 19 | 9 | a |
| सजीवो मोचितोऽन्तकात् | 22 | 34 | d |
| सज्जीकृतं नृप विकृष्य बभञ्ज | 10 | 6 | d |
| सञ्जयस्तत्सुतो जयः | 17 | 16 | d |
| स तत्र निर्मुक्तसमस्तसङ्ग· | 19 | 25 | a |
| स तस्य तां दशां दृष्ट्वा | 1 | 37 | a |
| स तस्यां जनयामास | 1 | 35 | c |
| स तां विलोक्य नृपति· | 14 | 18 | a |
| स तां वीक्ष्य कुरुक्षेत्रे | 14 | 33 | a |
| स तु राज्ञोऽनपत्यस्य | 23 | 9 | c |
| स तु विप्रेण संवादम् | 6 | 10 | a |
| सतूणं वर्म कार्मुकम् | 15 | 28 | b |
| स तेनाऽवाप यत्परम् | 6 | 10 | d |
| सत्कर्माधिरथस्तत· | 23 | 12 | d |
| सत्यकर्माऽभवत्तस्य | 23 | 12 | c |
| सत्यकेतुरजायत | 17 | 8 | d |
| सत्यकेतोर्धृष्टकेतुः | 17 | 9 | a |
| सत्यजित्पुरुजित्तथा | 24 | 41 | d |
| सत्यमाह शकुन्तला | 20 | 22 | d |
| सत्यसारां धृतिं दृष्ट्वा | 7 | 24 | c |
| सत्यायोस्तु श्रुतञ्जयः | 15 | 2 | b |
| सत्रमारभतात्मवान् | 13 | 3 | b |
| सत्राजितः प्रसेनश्च | 24 | 13 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **स त्वं जगत्त्राणखलप्रहाणये** | **5** | **9** | **a** |
| सत्स्त्रिय सप्तति यथा | 4 | 66 | d |
| सदश्वै रुक्म सन्नाहै· | 10 | 38 | a |
| सदसि ब्रह्म वादिनाम् | 1 | 6 | b |
| सदस्या ऋत्विजो जना | 4 | 23 | b |
| सदस्येभ्यस्तत परम् | 16 | 22 | d |
| स दह्यमानोऽजितशस्त्रवह्निना | 4 | 61 | a |
| स देव सर्वमर्हति | 4 | 8 | d |
| सद्यस्ते दर्शये फलम् | 4 | 45 | d |
| सद्य कुमार संजज्ञे | 24 | 35 | c |
| सद्यो यातास्तदात्मताम् | 9 | 15 | d |
| सनद्वाजस्ततोऽभवत् | 13 | 22 | b |
| सनन्दना द्यौर्मुनिभिर्विभाव्यम् | 8 | 24 | c |
| सन्तर्दनादयस्तस्याम् | 24 | 38 | c |
| सन्त्रस्तचित्तोऽरणमेषमाण | 4 | 52 | b |
| सन्दधेऽर्थाय योगवित् | 19 | 10 | d |
| सन्धिस्तस्यापि मर्षण | 12 | 7 | b |
| सन्निवेश्य मनो यस्मिन् | 9 | 15 | a |
| स पूजयित्वा प्रोवाच | 3 | 11 | c |
| स प्रत्याहाऽथ सोऽब्रवीत् | 7 | 12 | b |
| स प्रत्याहाऽथ सोऽब्रवीत् | 7 | 14 | b |
| सप्तद्वीपपति· सम्यक् | 18 | 46 | a |
| सप्तद्वीपवतीमेकः | 6 | 34 | c |
| सप्तद्वीपवर्ती महीम् | 4 | 15 | b |
| सप्तद्वीपावनीपति | 6 | 47 | b |
| सप्तद्वीपेश्वरोऽभवत् | 23 | 24 | b |
| सप्तमो रामपूजित | 16 | 24 | d |
| स बह्वृचस्ताभिरपारणीय- | 6 | 45 | a |
| सभानरात्कालनर | 23 | 1 | c |
| सभार्यस्य च भूपते | 7 | 24 | d |
| सभार्यो वनमाविशत् | 8 | 2 | d |
| स भुक्त्वा प्रययौ द्विज | 21 | 6 | d |
| स भ्रातरि वनं गते | 16 | 10 | a |
| समक्ष कृतकिल्बिष | 15 | 22 | b |
| समदृष्टेस्तदा पुंस | 19 | 15 | c |
| समन्तपञ्चके चक्रे | 16 | 9 | c |
| समन्तान्न्यखनन् महीम् | 8 | 9 | d |
| समन्तात्पृथिवीं सर्वाम् | 22 | 37 | c |
| समप्राक्षीच्य सान्त्वयन् | 14 | 13 | d |
| समरस्तारकामय | 14 | 7 | d |
| समादाय दिवन्नत | 3 | 29 | d |
| समा द्वादश तद्राष्ट्रे | 22 | 14 | c |
| समाधितपसोश्च स | 16 | 6 | d |
| समानशीलेषु विसृज्य धीर· | 5 | 26 | b |
| समाप्ते सत्रयागेऽथ | 23 | 7 | c |
| समास्त्रिणव साहस्रीः | 20 | 32 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| समिद्ध इव पावक | 16 | 28 | b |
| स मुक्तोऽस्त्राग्नितापेन | 5 | 13 | a |
| समुपेत्याश्रम पित्रे | 15 | 36 | c |
| समुवास तया निशाम् | 14 | 41 | b |
| सम्पश्यामस्तथाऽन्तिकात् | 24 | 9 | d |
| सम्बन्दो नौ न पौरुष· | 18 | 21 | d |
| सम्भ्रान्तनक्रमकरो भयगीर्णघोष | 10 | 13 | b |
| स यदा देवगरुणा | 14 | 5 | a |
| स यैस्स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा | 11 | 22 | a |
| सरय्वां क्रीडतो बालान् | 8 | 17 | c |
| सरस्वत्यां ब्रह्मनद्याम् | 16 | 23 | c |
| सरस्सु सौगन्धिककाननेषु | 6 | 45 | d |
| सरूपान्सूर्यवर्चस· | 3 | 16 | b |
| सर्पान्वै सर्पयागाग्नौ | 22 | 36 | c |
| सर्वकामस्तु तत्सुत | 9 | 17 | d |
| सर्वत्र त्रासमावह | 11 | 17 | b |
| सर्वत्र सङ्गमुत्सृज्य | 19 | 28 | a |
| सर्वत्रास्य यतो मृत्यु | 13 | 10 | c |
| सर्वदेवगणोपेतः | 14 | 7 | a |
| सर्वदेवमयं देवम् | 11 | 1 | c |
| सर्वदेवमयं देवम् | 16 | 20 | c |
| सर्वदेवमयं देवम् | 18 | 48 | c |
| सर्वदेवमयं वृषा | 15 | 38 | d |
| सर्वदेवमयं हरिम् | 14 | 47 | d |
| सर्वधर्मविदां श्रेष्ठ | 22 | 19 | c |
| सर्वपापहरं नृणाम् | 23 | 19 | b |
| सर्वपापै प्रमुच्यते | 23 | 19 | d |
| सर्वभूतगणैर्वृत | 14 | 6 | d |
| सर्वभूतनिवासाय | 19 | 29 | c |
| सर्वभूतसुखावहे | 10 | 52 | d |
| सर्वभूतसुहृत्सम | 2 | 11 | d |
| सर्वभूतात्मभावेन | 5 | 11 | c |
| सर्वभूतात्मभावेन | 9 | 29 | e |
| सर्वभूतेष्वमङ्गलम् | 19 | 15 | b |
| सर्वमेतद्यदात्मकम् | 6 | 36 | d |
| सर्वयज्ञमयं हरिम् | 18 | 48 | d |
| सर्वलोकहितश्शिव | 9 | 9 | b |
| सर्ववेदमयं देवम् | 6 | 35 | c |
| सर्ववेदसुरात्मकम् | 8 | 7 | d |
| सर्वं तत्स्वप्न सम्मितम् | 4 | 16 | b |
| सर्वं तद्यौवनाश्वस्य | 6 | 37 | c |
| सर्वं राज्ञे न्यवेदयत् | 11 | 14 | b |
| सर्वं हिरण्मयञ्चासीत् | 2 | 27 | c |
| सर्वातिरथजिद्वीर | 22 | 33 | c |
| सर्वात्मकमतीन्द्रियम् | 6 | 35 | d |
| सर्वात्मना न विसृजेद्बहिरिन्द्रियाणि | 6 | 51 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सर्वात्मनि परेऽमले | 2 | 11 | b |
| सर्वात्मभावं विदधन्महीमिमाम् | 4 | 21 | c |
| सर्वानुगान् समाहिनो दथ | 10 | 18 | d |
| सर्वान् कामान् दुदुहतु | 20 | 32 | a |
| सर्वार्थ वध उच्यते | 9 | 28 | d |
| सर्वास्त्रघातिन्विप्राय | 5 | 4 | c |
| सर्वास्सुखमया दिश | 19 | 15 | d |
| सर्वे कामदुघा आसन् | 10 | 53 | c |
| सर्वे निवृत्ता· कृपणस्य जन्तो· | 21 | 13 | c |
| सर्वे वयं यन्निमयं प्रपन्ना | 4 | 54 | c |
| सर्वोपस्करसम्पदा | 4 | 31 | b |
| स लब्धवृषणस्तत्र हि | 19 | 11 | a |
| स वज्रं स्तम्भयामास | 3 | 25 | c |
| सवत्सां क्रन्दतीं बलात् | 15 | 26 | d |
| सवत्सां परवीरहा | 15 | 36 | b |
| स विचिन्त्याप्रियं स्त्रीणाम् | 6 | 41 | a |
| स विदर्भ इति प्रोक्त | 29 | 39 | e |
| स वीरस्तत्र तं दृष्ट्वा हि | 15 | 25 | a |
| स वै तेभ्यो नमस्कृत्य | 21 | 16 | a |
| स वै मन· कृष्णपदारविन्दयो | 4 | 18 | a |
| स वै योषिद्भवेदिति | 1 | 32 | d |
| स वै विवस्वत· पुत्र | 1 | 3 | a |
| सशरीरी गतस्स्वर्गम् | 7 | 6 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| स सन्नद्धो धनुर्दिव्यम् | 6 | 15 | a |
| स सम्राट् लोकपालानाम् | 20 | 33 | a |
| ससैन्यामात्यवाहाय | 15 | 24 | c |
| सस्मार स्वकुलाचार्यम् | 1 | 36 | c |
| सह तेनैव सञ्जात | 8 | 4 | c |
| सहदेवसुतो राजन्। | 22 | 30 | a |
| सहदेवस्ततो भीम | 17 | 17 | c |
| सहदेवस्ततो वीर· | 12 | 11 | a |
| सहदेवात्सुहोत्रन्तु | 22 | 31 | c |
| सहदेवा देवकी च | 24 | 23 | c |
| सह देव्या वृषस्थितम् | 18 | 9 | b |
| सह सर्मिष्ठयोशना | 18 | 30 | b |
| सह सङ्कर्षणश्चक्रे | 24 | 60 | c |
| सहसोत्तीर्य वासांसि | 18 | 9 | c |
| सहस्रशिरस पुंस | 14 | 2 | a |
| सहस्रशो यत्र वयं भ्रमाम | 4 | 56 | d |
| सहस्रं दीयतां शुल्कम् | 15 | 6 | c |
| सहस्रं बद्वशो यस्मिन् | 20 | 26 | e |
| सहस्रानीकस्तत्पुत्र | 22 | 39 | a |
| सहस्राराऽच्युतप्रिय। | 5 | 4 | b |
| सहस्रेरहनद्वत | 6 | 22 | d |
| सहैवाऽग्निभिरात्मानम् | 6 | 54 | c |
| स होवाच मधुच्छन्दा | 16 | 34 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| स होष्यति रुषान्वितः | 22 | 36 | d |
| संज्ञायामास भारत! | 1 | 11 | b |
| संनिवृत्त परिश्रमः | 20 | 10 | b |
| संयताक्षोऽपरिग्रहः | 2 | 11 | b |
| संरमस्व मया साकम् | 14 | 19 | c |
| संवत्सरं तीर्थयात्राम् | 16 | 1 | c |
| संवत्सरान्ते हि भवान् | 14 | 39 | a |
| संवत्सरोऽत्यगात्तावत् | 5 | 23 | a |
| संवर्तोऽयाजयद्यं वै | 2 | 26 | c |
| संविष्टाऽनुगतोऽपिवा | 11 | 22 | b |
| संसृतिश्चात्मनाशश्च | 10 | 20 | c |
| संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ | 12 | 16 | d |
| संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ | 22 | 45 | d |
| संस्रावितं ब्रह्म चिरंधृतं यत् | 6 | 50 | d |
| संहिता प्राच्य साम्नां वै | 27 | 29 | a |
| साक्षाद्धर्मो वसूनिव | 24 | 53 | b |
| साक्षाद्ब्रह्ममयो हरिः | 10 | 2 | b |
| सागरो यत्सुतै· कृत· | 8 | 5 | b |
| सा चाऽनुचरसंयुक्ता | 1 | 33 | c |
| सा चाभूत् सुमहापुण्या | 15 | 12 | a |
| सा चुक्रोश भयातुरा | 2 | 5 | b |
| सात्वतस्य सुतास्सप्त | 24 | 7 | a |
| सात्वतामृषभो हरि· | 5 | 15 | d |
| साधयिष्ये तथाऽऽत्मानम् | 6 | 42 | a |
| साधव· समदर्शिनः | 4 | 66 | b |
| साधवो न्यासिनश्शान्ताः | 9 | 6 | a |
| साधवो हृदयं मह्यम् | 4 | 68 | a |
| साधुभिर्ग्रस्तहृदयः | 4 | 63 | c |
| साधुषु प्रहितं तेज· | 4 | 69 | e |
| साधूनां हृदयन्त्वहम् | 4 | 68 | b |
| सानुगा यातु मामनु | 18 | 28 | d |
| सान्नाहिको यदा राजन्! | 7 | 14 | a |
| साऽप दुर्वाससो विद्याम् | 24 | 32 | a |
| साऽपि तं चकमे सुभ्रू | 1 | 35 | a |
| साबिलाषस्स हैहय· | 15 | 25 | d |
| सायञ्च सुसमाहितः | 4 | 12 | b |
| सार्धं पञ्चाशता तत· | 16 | 34 | b |
| सार्वभौमश्रियान्वित· | 6 | 47 | d |
| सार्वभौमस्ततोऽभवत् | 22 | 10 | b |
| सार्वभौम· कदिन्द्रियै | 18 | 51 | d |
| सालोक्यादिचतुष्टयम् | 4 | 67 | b |
| सा वानरेन्द्र बलरुद्ध विहारकोष्ट | 10 | 17 | a |
| सा वै सप्त समागर्भम् | 9 | 39 | a |
| सा सखीभिः परिवृता | 3 | 3 | a |
| सा सन्निवासं सुहृदाम् | 19 | 27 | a |
| सिद्धगन्धर्वचारणैः | 16 | 26 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सिद्धेशाः पारदर्शिनः | 4 | 58 | d |
| सिन्धुद्वीपसुतस्तस्मात् | 9 | 16 | c |
| सिन्धुश्शिरस्यर्हणं परिगृह्य रूपी | 10 | 13 | c |
| सिंहपुण्ड्रान्ध्रसंज्ञिका· | 23 | 5 | b |
| सीताकथाश्रवणदीपितहृच्छयेन | 10 | 10 | a |
| सीता तीर्थकमण्डलुम् | 10 | 43 | b |
| सीता भार्या विवासिता | 11 | 15 | b |
| सीताभिधां श्रियमुरस्यभिलब्धमानम् | 10 | 7 | b |
| सीताभिमर्शहतमङ्गलरावणेशान् | 10 | 20 | d |
| सीता सीराग्रतो जाता | 13 | 18 | c |
| सीता स्वयंवरगृहे त्रिशतोपनीतम् | 10 | 6 | b |
| सुकन्या च्यवनं प्राप्य | 3 | 10 | a |
| सुकन्या नाम तस्यासीत् | 3 | 2 | a |
| सुकन्या प्राह पितरं | 3 | 7 | a |
| सुकुमार· क्षितीश्वर· | 17 | 9 | b |
| सुग्रीवनीलहनुमत्प्रमुखैरनीकै | 10 | 16 | c |
| सुग्रीवलक्ष्मणमरुत्सुतगन्धमाद | 10 | 19 | c |
| सुतपास्तदमित्रजित् | 12 | 12 | d |
| सुतं त्यक्तविधिं रुषा | 6 | 9 | d |
| सुत सत्यरथस्तत | 13 | 24 | b |
| सुतानामकेविंशत्या | 6 | 22 | c |
| सुतायां बभ्रुवाहनम् | 22 | 32 | d |
| सुता वसुमनादयः | 15 | 13 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सुतां दत्वाऽनवद्याङ्गीं | 3 | 36 | a |
| सुतो धर्मरथो यस्य | 23 | 7 | a |
| सुदर्शन उवाह ताम् | 2 | 18 | d |
| सुदर्शन नमस्तुभ्यम् | 5 | 4 | a |
| सुदर्शनं दष्प्रसहं ददर्श | 4 | 51 | d |
| सुदर्शनोत्थाग्नि वर्ण | 12 | 5 | c |
| सुदासस्सहदेवोऽथ | 22 | 1 | c |
| सुदेवो देववर्धन | 24 | 22 | b |
| सुदेहोऽयं पतत्यद्य | 14 | 35 | a |
| सुद्युम्न परवीरहा | 1 | 26 | b |
| सुद्युम्नस्याऽऽशयन् पुंस्त्वम् | 1 | 37 | c |
| सुद्युम्न पुरुषर्षभ· | 1 | 22 | d |
| सुद्युम्नो मानवो नृप | 1 | 36 | b |
| सुद्युम्नोऽवतु मेदिनीम् | 1 | 39 | d |
| सुधृति स्तत्सुतो जज्ञे | 2 | 29 | c |
| सुधृतेर्धृष्टकेतुर्वै | 13 | 15 | c |
| सुनक्षत्र सुनक्षत्रात् | 22 | 47 | a |
| सुनक्षत्रोऽथ ऋक्षक | 12 | 12 | b |
| सुनीथस्तस्य भविता | 22 | 41 | c |
| सुनीथस्सत्यजिदथ | 22 | 49 | a |
| सुनीथोऽथ सुकेतन· | 17 | 8 | b |
| सुपार्श्वात्सुमतिस्तस्य | 27 | 28 | a |
| सुपुण्यं व्यतनोद्यश· | 24 | 67 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सुप्रजास्त्वं स्वतेजसा | 1 | 20 | d |
| सुप्रतीकस्तु तत्सुतः | 12 | 11 | b |
| सुबलो जनिता तत· | 22 | 48 | d |
| सुबाहु श्रुतसेनश्च | 11 | 13 | a |
| सुभद्रा च महाभागा | 24 | 55 | c |
| सुभद्रो भद्रबाहुश्च | 24 | 47 | a |
| सुमतिर्ध्रुवोऽप्रतिरथ. | 20 | 6 | c |
| सुमत्यास्तनया दृप्ता· | 8 | 9 | a |
| सुमित्रानीकपालादीन् | 24 | 44 | a |
| सुमित्रान्तो भविष्यति | 12 | 16 | b |
| सुमित्रो नाम निष्ठान्तस्तु | 12 | 15 | c |
| सुरथस्तनयस्तत | 12 | 15 | b |
| सुरथो नाम जाह्नव· | 22 | 9 | d |
| सुरदानव निग्रह | 14 | 5 | d |
| सुरस्त्रीणामभीप्सितम् | 6 | 42 | b |
| सुरासुरविनाशोऽभूत् | 14 | 7 | c |
| सुवर्चा यत्सुभूषण | 13 | 25 | b |
| सुवासाः सुष्ठ्वलङ्कृत | 10 | 50 | b |
| सुवीर इषुमांस्तथा | 24 | 41 | b |
| सुवीरस्य रिपुञ्जय | 27 | 29 | d |
| सुषेणोऽथ महीपति· | 22 | 47 | b |
| सुस्रावासृक् ततो बहु | 3 | 4 | d |
| सुहोत्रस्यत्मजास्त्रयः | 17 | 2 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सूहोत्रोऽभूत् सुधनुष | 22 | 5 | a |
| सुदरूपधरो गृहे | 9 | 21 | b |
| सृञ्जयस्तत्सुतस्तत· | 23 | 1 | d |
| सृञ्जयं श्यामकं कङ्कं | 24 | 29 | a |
| सृञ्जयो भविता तत | 12 | 13 | d |
| सृञ्जयो राष्ट्रपाल्यान्तु | 24 | 42 | a |
| सृष्टं विलोक्य नृपते दशकन्धरेण | 10 | 10 | b |
| सेतुङ्कपीन्द्रकरकम्पितभूरुहाङ्गै· | 10 | 16 | b |
| सेतु स्तस्याऽऽत्मजस्तत· | 23 | 14 | d |
| सेनजित्समजायत | 21 | 23 | b |
| सेवमानो न चाऽतुष्यत् | 6 | 48 | c |
| सोत्तीर्य कूपात् सुश्रोणी | 19 | 5 | a |
| सोत्सवां प्राविशत्पुरीम् | 10 | 46 | b |
| सोऽनपत्यो वनं गत | 6 | 25 | d |
| सोऽनपत्यो विषण्णात्मा | 7 | 8 | a |
| सोऽन्तस्समुद्रे नगरीं | 3 | 28 | a |
| सोऽपि तद्वयसा कामान् | 18 | 45 | c |
| सोऽपीन्द्रस्याकरोन्मत्तम् | 13 | 2 | d |
| सोऽप्ययोऽञ्जलिनादाय | 9 | 23 | c |
| सोऽप्यरण्येऽवसत्समाम् | 7 | 18 | d |
| सोऽप्याह गृह्यतां ब्रह्मन्! | 6 | 40 | c |
| सोऽबुध्यत चरन्वने | 14 | 42 | f |
| सोऽभिषिक्तोऽधिराड्विभुः | 20 | 24 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सोमको जन्तुजन्मकृत् | 22 | 1 | d |
| सोमदत्तातु सुमति· | 2 | 36 | a |
| सोमराज सुत पतिम् | 1 | 35 | b |
| सोमवंशे कलौ नष्टे | 22 | 18 | a |
| सोमस्त सुतमग्रहीत् | 14 | 13 | f |
| सोमस्येत्याह शनकै | 14 | 13 | e |
| सोमं निर्भत्स्य विश्वसृट् | 14 | 8 | b |
| सोमापिर्यच्छ्रुतश्रवा | 22 | 9 | b |
| सोमाहुत्या बहिष्कृतौ | 3 | 26 | d |
| सोमेनायाजयद्वीर | 3 | 24 | a |
| सोमोऽमृतमय किल | 14 | 3 | b |
| सोऽयजद्राजसूयेन | 14 | 4 | a |
| सोऽयं ब्रह्मर्षिवर्यस्ते | 9 | 30 | a |
| सोऽरिभिर्हृतभू राजा | 8 | 2 | c |
| सोऽवाप विद्यां परमां | 2 | 32 | c |
| सोऽशित्वाऽऽदृतमानीतम् | 5 | 19 | a |
| सोऽश्मकस्तेन कथ्यते | 9 | 39 | d |
| सोऽश्वमेधैरयजत | 8 | 7 | c |
| सोऽसृग् वमन् दशमुखै | 10 | 23 | c |
| सोहाञ्चिरभवत्कुन्तैः | 23 | 22 | c |
| सौदास शापमोहित | 9 | 33 | d |
| सौदासस्य महात्मन | 9 | 19 | b |
| सौदासो मृगयां किञ्चत् | 9 | 20 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सौधृतेयो नरस्सुत | 2 | 29 | d |
| सौनिकानाञ्च तत्क्षणात् | 3 | 5 | b |
| सौभरिं वव्रिरे पतिम् | 6 | 38 | f |
| सौमङ्गल्यावशेषिता | 11 | 4 | d |
| स्तन्यं रोरूयते भृशम् | 6 | 31 | b |
| स्तुत्वा देवान् प्रजेशादीन् | 16 | 31 | c |
| स्तुवन् वृत्तिश्च कापोतीं | 18 | 25 | c |
| स्तूयमानश्च वन्दिभि | 10 | 45 | b |
| स्तूयमानस्तमारुह्य | 6 | 15 | c |
| स्तूयमानौ त्रिविष्टपम् | 3 | 17 | d |
| स्त्रियं सान्तानिकेऽसति | 14 | 9 | d |
| स्त्रियो ह्यकरुणा क्रूरा | 14 | 37 | a |
| स्त्रीकामाऽनृत पूरुष | 18 | 36 | b |
| स्त्रीपुम्भि सुरसङ्काशै | 11 | 34 | c |
| स्त्रीपुंप्रसङ्ग एतावान् | 11 | 17 | a |
| स्त्रीपुंसोस्स्नेहवैक्लब्यात् | 19 | 26 | c |
| स्त्रीभि परिवृतां वीक्ष्य | 1 | 34 | c |
| स्त्रीरत्नैरन्वित क्रीडन् | 15 | 20 | a |
| स्त्रीसङ्गिनां गतिमिति प्रथयश्चचार | 10 | 11 | d |
| स्त्रीसुखं कर्मणाऽप्रजा | 9 | 38 | b |
| स्त्रैणस्य चाऽपि शिरसा जगृहे सभार्य. | 10 | 8 | b |
| स्त्रैणोपह्नवमात्मन | 19 | 1 | b |
| स्त्रैणो हि बिभृयात् सीताम् | 11 | 9 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| स्थलेपुश्च कृतेपुकः | 20 | 4 | b |
| स्थलैर्मारकतैः स्वच्छै· | 11 | 32 | c |
| स्थानं मदीयं द्विजश्वमेतत् | 4 | 53 | a |
| स्थानं य· प्रविशेदेतत् | 1 | 32 | c |
| स्थालीस्थान गतोऽश्वत्थं | 14 | 44 | a |
| स्थालीं न्यस्य वने गत्वा | 14 | 43 | a |
| स्थितोऽलब्धक्षण क्षणम् | 3 | 30 | d |
| स्थित्युत्पत्त्यप्ययाय हि | 24 | 58 | b |
| स्नपयन् नेत्रजैर्जलै | 10 | 40 | d |
| स्नात कदाचित्कालिन्द्यां | 4 | 30 | c |
| स्नानानुलेपाऽभ्यवहारमाल्यकै | 6 | 46 | b |
| स्निग्धया प्रियचेष्टया | 11 | 35 | b |
| स्निग्धस्मिते क्षणोदारौ | 24 | 64 | a |
| स्नुषा तवेत्यभिहिते | 23 | 37 | c |
| स्नुषा युज्येत मे कथम् | 23 | 38 | b |
| स्नेहयन्त्रितचेतसा | 7 | 15 | b |
| स्पृहामाङ्गिरसश्चक्रे | 14 | 10 | e |
| स्मयन्ती पतिमब्रवीत् | 23 | 37 | d |
| स्मयमाना शुचिस्मिता | 3 | 22 | b |
| स्मरञ्छुक्रवच काले | 18 | 32 | c |
| स्मरतां हृदि विन्यस्य | 11 | 19 | a |
| स्मरन्त· स्वपितुर्वधम् | 16 | 9 | b |
| स्मरंस्तस्या गुणांस्तांस्तान् | 11 | 16 | c |
| स्मृतमात्रार्तिनाशनः | 17 | 5 | b |
| स्यान्नौ ते पितरि प्रश्ना· | 4 | 7 | c |
| स्वकर्मवश्यगामजाम् | 19 | 3 | d |
| स्वकृतं तत्कृतं राम· | 15 | 37 | a |
| स्वचरुं याचिता सती | 15 | 9 | b |
| स्वदेहं जमदग्निस्तु | 16 | 24 | a |
| स्वधर्मान् गृहमेधीयान् | 10 | 55 | c |
| स्वधर्मेण हरिं प्रीणन् | 4 | 26 | c |
| स्वधर्मो वा स्वनुष्ठित | 5 | 10 | b |
| स्वपादपल्लवं राम | 11 | 19 | c |
| स्वपुरं सन्दधे मन | 9 | 42 | d |
| स्वप्नमायामनोरथः | 18 | 49 | d |
| स्वप्नवत् प्रत्यलीयत | 21 | 17 | d |
| स्वप्नौपम्येन भार्गवी | 19 | 28 | b |
| स्वप्रयासश्च निष्फलम् | 4 | 49 | b |
| स्वमित्र· प्रमितेस्तस्मात् | 2 | 24 | c |
| स्वयमेव हरिः किल | 24 | 55 | b |
| स्वयम्भूर्भूतभावन | 1 | 9 | d |
| स्वयंवरादुपानीते | 22 | 24 | a |
| स्वयं हि वृण्वते राज्ञां | 20 | 15 | c |
| स्वर्गायन्ति स्त्रियो मुहुः | 5 | 21 | b |
| स्वर्गो न प्रार्थितो यस्य | 4 | 24 | a |
| स्वर्णकक्ष्यपताकाभिः | 10 | 37 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| स्वर्णरोमा सुतस्तस्य | 13 | 17 | c |
| स्वर्धुन्या यदिहोदितम् | 9 | 14 | b |
| स्वर्याता स्सगरात्मजा· | 9 | 13 | b |
| स्वलङ्कृतस्त्रीषु पुरुषेषु नित्यदा | 6 | 46 | c |
| स्वलङ्कृतैः सुवासोभि· | 10 | 50 | c |
| स्व वंशं राज्यकामुक· | 23 | 18 | b |
| स्वशरीसग्निना तावत् | 8 | 12 | a |
| स्वस्ति भूया इडस्पते | 5 | 4 | d |
| स्व स्यन्दने द्युमति- | 10 | 21 | c |
| स्वागतं ते वरारोहे | 14 | 19 | a |
| स्वाञ्च वाचामृतां कुर्वन् | 1 | 38 | c |
| स्वाद्वन्नं गुणवत्तरम् | 3 | 34 | d |
| स्वाना तत्सङ्कटं वीक्ष्य | 18 | 29 | a |
| स्वानां विभीषणश्चक्रे | 10 | 29 | a |
| स्वान् स्वान् बन्धून् परिष्वज्य | 10 | 25 | a |
| स्वाभिप्रायं न्यवेदयत् | 3 | 31 | b |
| स्वामिनं दु·खिता ययौ | 19 | 8 | d |
| स्वामिनं प्राप्तमालोक्य | 11 | 26 | c |
| स्वाराज्य परिभाविताः | 4 | 25 | b |
| स्वीयं मत्वा प्रकुपिता | 18 | 10 | c |
| **ह** | | | |
| हता नैर्ऋतपुङ्गवाः | 10 | 5 | d |
| हतास्म्यहं कुनाथेन | 14 | 28 | c |
| हते पितरि तत्पुत्रा | 15 | 35 | c |
| हत्वा मधुवने चक्रे | 11 | 14 | e |
| हत्वा रिपून् सुतशतानि कृतोरुदारः | 24 | 66 | b |
| हत्वेन्द्रायाददाद्दिवम् | 17 | 23 | b |
| हन्तु तमाददे वज्र | 3 | 25 | a |
| हन्यतां हन्यतां पाप | 8 | 11 | a |
| हन्यमाना स्वमालयम् | 6 | 18 | d |
| हयमन्वेषमाणास्ते | 8 | 9 | c |
| हयमेधशतस्य याट् | 23 | 34 | b |
| हयानां चन्द्रवर्चसाम् | 15 | 6 | b |
| हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् | 9 | 6 | c |
| हरिकेश हिरण्याक्षौ | 24 | 42 | c |
| हरिश्चैवान्वहं स्मरन् | 23 | 26 | d |
| हरितस्तस्य पुत्रोऽभूत् | 7 | 1 | e |
| हरितो रोहितसुत | 8 | 1 | a |
| हरिमात्मानमीश्वरम् | 8 | 8 | b |
| हरिश्चन्द्रो महायशा· | 7 | 21 | d |
| हरिस्ते शं विधास्यति | 4 | 59 | d |
| हरिं मधुवनेऽर्चयत् | 4 | 30 | d |
| हरि सर्वत्र सम्पश्यन् | 21 | 6 | c |
| हरेरंशभुवो भुवि | 20 | 23 | d |
| हरेरंशांशसम्भूतम् | 20 | 19 | c |
| हरेस्तत्र कृतानि च | 1 | 1 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| हरो गुरुसुतं स्नेहात् | 14 | 6 | c | हिरण्येन समावृतान् | 20 | 28 | b |
| हर्यश्वस्तत्सुतस्तस्मात् | 7 | 4 | c | हृतापत्या च दस्युभिः | 14 | 29 | b |
| हर्यश्वोऽथ मरुस्ततः | 13 | 15 | d | हृदय ग्रन्थिभेदनम् | 12 | 4 | d |
| हर्षेणोत्फुल्ललोचनः | 14 | 18 | b | हृदीकस्तत्सुतो मतः | 24 | 26 | d |
| हलन्दनस्सुतस्तस्य | 2 | 23 | c | हेतुं कृत्वा पितृवधं | 16 | 18 | c |
| हविर्धानीमृषेर्दर्पान् | 15 | 26 | a | हेमचन्द्रस्सुतस्तस्य | 2 | 34 | a |
| हविषा कृष्णवर्त्मेव | 19 | 14 | c | हेमैश्चित्रध्वजै रथैः | 10 | 37 | d |
| हविषि व्यचरत्तेन | 1 | 15 | c | हैमं चर्मर्क्षराण् नृप! | 10 | 44 | d |
| हविष्मत्या तपोधन. | 15 | 24 | d | हैहयश्चेति तत्सुता· | 23 | 21 | d |
| हस्तग्राहोऽपरो मा भूत् | 18 | 21 | a | हैहयानाङ्कुलान्तरम् | 15 | 14 | b |
| हस्तग्राहो महाभुज! | 18 | 22 | b | हैहयानामधिपति | 15 | 17 | a |
| हस्त हेमाङ्गदादयः | 24 | 49 | b | होताऽध्वर्युरतात्मवान् | 7 | 22 | d |
| हस्ती यद्धस्तिनापुरम् | 21 | 20 | d | होतारं समयाचत | 1 | 14 | b |
| हा तात साधो धर्मिष्ठ! | 16 | 15 | c | होतुर्व्यतिक्रमं ज्ञात्वा | 1 | 19 | c |
| हा रामेत्यार्तवत्स्वरम् | 16 | 14 | b | होतुस्तद्व्यभिचारेण | 1 | 16 | a |
| हा हता स्म वयं नाथ! | 10 | 26 | a | होतुस्ते व्यभिचारत· | 1 | 20 | b |
| हाहेति जल्पति जने सुकृतीव रिक्त | 10 | 23 | d | होत्रे ददौ दिशं प्राचीम् | 11 | 2 | a |
| हित्वाऽन्यभावमज्ञानं | 9 | 48 | c | होमवेलां न सस्मार | 16 | 3 | c |
| हित्वा मां शरणं याताः | 4 | 65 | c | ह्रदं प्रवेशितोऽश्विभ्यां | 3 | 14 | c |
| हित्वा स्वशिष्यान् पैलादीन् | 22 | 22 | c | ह्रदे सिद्ध विनिर्मिते | 3 | 13 | d |
| हिरण्यं पशवः स्त्रिय. | 19 | 13 | b | ह्रस्वरोमा व्यजायत | 13 | 17 | d |

# व्याख्यानोद्धृतानां प्रमाणवचनानां आकरनिर्देशनी

## नवमः स्कन्धः(1-24 अध्यायाः)

| Sl No | Adhyaya No | Sloka No | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| | | | **अ** | | |
| 1 | 14 | 48 | अकारो वै सर्वा वाक् | विज | |
| 2 | 11 | 24 | अग्रहीदासनं भ्रात्रा | वीर | भाग.9-10-51 |
| 3 | 4 | 3-5 | अङ्गिरसो वा इमे | विज | |
| 4 | 7 | 1 | अत इञ् | वीर | अष्टा. 4-1-95 |
| 5 | 7 | 9 | अथैनमुवाच वरुणं | विज | |
| 6 | 6 | 7 | अदस्सर्वेषाम् | वीर | अष्टा.7-3-100 |
| 7 | 20 | 27 | अदात्कर्माणि मष्णारे | श्रीध | |
| 8 | 21 | 18 | अनुभाव· प्रभावे स्यात् | विज | वैज. को.8-1-8 |
| 9 | 7 | 25 | अन्नमय हि सोम्य | श्रीध | छान्दो.उ.6-5-4 |
| 10 | 7 | 25 | अन्नमयं हि सोम्य | विज | छान्दो.उ.6-5-4 |
| 11 | 7 | 27 | अन्नमयं हि सोम्य | वीर | छान्दो.उ.6-5-4 |
| 12 | 10 | 22 | अपकृष्टं पुरीषं स्यात् | विज | |
| 13 | 22 | 25 | अपतिरपत्य लिप्सु | श्रीध | |
| 14 | 7 | 17 | अपपरी वर्जने | विज | अष्टा.1-4-88 |
| 15 | 14 | 45 | अपोनर्य सुजात· | विज | |
| 16 | 4 | 40 | अपोऽश्नाति तन्नैव | श्रीध | |
| 17 | 4 | 40 | अपोऽश्नाति | वीर | |
| 18 | 22 | 13,14 | अप्यक्षरसाम्यात् | विज | |
| 19 | 4 | 64 | अप्यहं जीवितं जह्यां | विज | रामा.3-10-18 |

| Sl No | Adhyaya No | Sloka No | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| 20 | 20 | 23 | अप्येते श्लोका अभिगीता | वीर | |
| 21 | 4 | 3 | अभिप्लव· पूर्वमहर्भवति | श्रीध | |
| 22 | 4 | 3 | अभ्यासे च तदभ्यास | वीर | |
| 23 | 14 | 42 | अभ्रातृकां प्रदास्यामि | वीर | मनु. स्मृ.9-3 |
| 24 | 14 | 23,24 | अमृतं वा आज्यम् | श्रीध | |
| 25 | 3 | 9 | अर्थो हि कन्या परकीय एव | वीर | शाकुन्तले.4-21 |
| 26 | 10 | 21 | अर्धचन्द्र· क्षुरप्रस्स्यात् | विज | वैज. को. 3 -7-182 |
| 27 | 16 | 27 | अश्मकान्मूलको जज्ञे | वीर | भाग.9-9-40 |
| 28 | 3 | 10 | अश्विनौ वै देवानाम् | वीर | |
| 29 | 10 | 8 | असङ्गो ह्ययं पुरुषः | विज | बृह. उ.4-3-15 |
| 30 | 6 | 50 | असन्नेव स भवति | वीर | तै त्ति. उ.2-6 |
| 31 | 14 | 36 | अस्तमेयाय | विज | |
| 32 | 5 | 3 | अहमेवाऽऽसमहमेव | वीर | |

## आ

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 33 | 11 | 1,3 | आचार्यवान् पुरुषो वेद | विज | छान्दो.उ.6-14-2 |
| 34 | 10 | 17 | आच्छादनं स्याद्बलभी | विज | हला. को. 2-148 |
| 35 | 7 | 27 | आत्मन आकाशस्सम्भूत | विज | तैत्ति. उ.2-1-1 |
| 36 | 8 | 13 | आत्मा जीवे धृतौ देहे | विज | वैज. को.6-1-6 |
| 37 | 24 | 57 | आत्मा जीवे धृतौ देहे | विज | वैज. को.6-1-6 |
| 38 | 20 | 21 | आत्मा वै पुत्रनामासि | श्रीध | कौषी. उ.2-11 |
| 39 | 20 | 21 | आत्मा वै पुत्रनामासि | वीर | कौषी. उ.2-11 |
| 40 | 20 | 21 | आत्मा वै पुत्रनामासि | विज | कौषी.उ.2-11 |

| Sl. No | Adhyaya No | Sloka No | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| 41 | 8 | 23 | आत्मैवमहैत्य | विज | |
| 42 | 2 | 15 | आदित्यवर्णं तमस परस्तात् | वीर | श्वेता.उ.3-8 |
| 43 | 20 | 33 | आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तम् | विज | |
| 44 | 6 | 5 | आर्यावर्त पुण्यभूमि· | श्रीध | अम.को. 2-8 |
| 45 | 6 | 5,6 | आसमुद्रात्पुरस्तात्तु | विज | |
| | | | इ | | |
| 46 | 14 | 42 | इति त्वा देवा इमे | विज | ऋक्.10-95-18 |
| 47 | 4 | 3 | इदमित्था रात्रम् | वीर | |
| 48 | 4 | 4 | इतमित्था रौद्रम् | श्रीध | |
| | | | उ | | |
| 49 | 10 | 10 | उग्र· कपर्दी श्रीकण्ठ· | विज | अम. को.1-3-2 |
| 50 | 10 | 10 | उग्रो जज्ञे वीर्याय स्वधावान् | विज | |
| 51 | 4 | 8 | उच्छेषण भागो वै रुद्र· | श्रीध | |
| 52 | 4 | 8 | उच्छेषण भागो वै रुद्र. | वीर | |
| 53 | 3 | 1 | उत्तानबर्हिरानर्तः | श्रीध | भाग.9-3-27 |
| 54 | 10 | 10 | उत्सर्जनविसर्जने | विज | अम.को.2-428 |
| 55 | 14 | 45 | उर्वश्या आयुरसि | श्रीध | |
| | | | ऋ | | |
| 56 | 4 | 20 | ऋक् पूरब्धूः | वीर | अष्टा.5-4-74 |
| 57 | 2 | 28-30 | ऋभवोऽमाराश्च मरुत· | विज | हला. को.1-4 |

| Sl No | Adhyaya No | Sloka No | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| | | | **ए** | | |
| 58 | 16 | 29 | एक एव ऋषिर्यावत् | श्रीध | |
| 59 | 16 | 30 | एक एव ऋषिर्यावत् | वीर | |
| 60 | 1 | 8 | एकमेवाद्वितीयम् | वीर | छान्दो.उ.6-2-1 |
| 61 | 24 | 49-55 | एते चांऽशकलाःपुंसः | विज | भाग.1-3-28 |
| 62 | 5 | 25 | एते वै निरयास्तात | वीर | भार.12-191-6 |
| 63 | 4 | 63 | एवमुक्तिफला नियम. | वीर | ब्र.सू.3-4-52 |
| | | | **ऐ** | | |
| 64 | 5 | 3 | ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् | वीर | छान्दो.उ.6-8-7 |
| 65 | 3 | 12 | ऐन्द्रवायवं गृह्णाति | श्रीध | |
| 66 | 3 | 12 | ऐन्द्रवायवं गृह्णाति | वीर | |
| | | | **ओ** | | |
| 67 | 15 | 31 | ओजोऽवष्टम्भबलयो. | विज | वैज. को.6-3-4 |
| 68 | 2 | 13 | ओमित्यात्मानं युञ्जीत | वीर | मना.उ.17-15 |
| | | | **क** | | |
| 69 | 2 | 14 | करणं साधकतमे | विज | |
| 70 | 8 | 22 | कश्छन्दसां योगमावेद | विज | |
| 71 | 16 | 31 | कस्य नूनं कतमस्य | विज | ऋक्.1-24-1 |
| 72 | 16 | 35 | कस्य नूनं कतमस्य | श्रीध | ऋक्.1-24-1 |
| 73 | 16 | 35 | कस्य नूनं कतमस्य | वीर | ऋक्.1-24-1 |
| 74 | 8 | 24 | कार्यते ह्यवशः कर्म | विज | भ.गी.3-5 |

| Sl. No | Adhyaya No | Sloka No | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| 75 | 1 | 39 | कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे | विज | अष्टा.1-3-5 |
| 76 | 10 | 22 | कालो मृत्यौ यमे | विज | |
| 77 | 14 | 37 | किं क्रूरं स्त्रीहृदयम् | विज | |
| 78 | 24 | 17-19 | कुकुर भजमान शुचि | श्रीध | विष्णु. पु.4-14-12 |
| 79 | 24 | 20,21 | कुकुर भजमान शुचि | वीर | विष्णु. पु.4-14-12 |
| 80 | 13 | 6,7 | कुम्भे रेतः सिषिचतु | श्रीध | |
| 81 | 4 | 11 | कृष्णशवास्युत्तरत | विज | |
| | | | **क्ष** | | |
| 82 | 4 | 56 | क्षुद्रा रुद्रपितामहप्रभृतयः | वीर | |
| 83 | 13 | 1 | क्षुवतस्तु मनोर्जज्ञे | वीर | भाग.9-6-4 |
| | | | **ग** | | |
| 84 | 23 | 32 | गजवाजिरथास्त्रेषु | श्रीध | मार्कण्डेयपुराणे |
| 85 | 23 | 32 | गजवाजिरथास्त्रेषु | वीर | मार्कण्डेयपुराणे |
| 86 | 10 | 17 | गोपानसी तु वलभी | विज | अम. को.2-33 |
| 87 | 10 | 4 | ग्रन्थकोटिभिराकीर्णं | श्रीध | |
| 88 | 3 | 24 | ग्रहं ग्रहीष्ये सोमस्य | श्रीध | भाग.9-3-12 |
| | | | **घ** | | |
| 89 | 15 | 39 | घातुं न घातुको विप्रः | वीर | |
| | | | **च** | | |
| 90 | 20 | 32 | चक्रमाज्ञा रथाङ्गयोः | विज | |
| 91 | 20 | 32 | चक्रे सैन्ये जलावर्ते | विज | वैज. को.6-3-7 |

| Sl No | Adhyaya No | Sloka No | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| 92 | 20 | 27 | चतुर्दशानां लक्षाणां | श्रीध | |
| 93 | 14 | 3 | चन्द्रमा मनसो जात | वीर | पु.सू.12-6 |
| | | | **ज** | | |
| 94 | 16 | 8 | जामदग्न्यो वरं वव्रे | विज | |
| 95 | 20 | 21 | जायायास्तद्धि जायात्वं | विज | मनु. स्मृ.9-8 |
| 96 | 16 | 35,36 | जीवतो वाक्यकरणात् | विज | |
| 97 | 10 | 11,12 | ज्ञानार्थं पुनर्नित्यसम्बन्ध | विज | स्कान्दे |
| 98 | 2 | 11 | ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् | वीर | भ.गी.7-18 |
| | | | **त** | | |
| 99 | 11 | 17 | तत्र साधु | वीर | अष्टा.4-4-89 |
| 100 | 20 | 23 | तदप्येते श्लोका अभिगीता. | श्रीध | |
| 101 | 5 | 3 | तद्धैतत्पश्यन् | वीर | बृह.उ.1-4-10 |
| 102 | 4 | 40 | तन्नैवाऽशितं तन्नैवाऽनशितम् | वीर | |
| 103 | 1 | 18,19 | तस्मादनृतम् | विज | |
| 104 | 1 | 8 | तस्माद्धान्यं न पर· | विज | |
| 105 | 16 | 29 | तस्य ह विश्वामित्रस्य | श्रीध | |
| 106 | 16 | 29 | तस्य ह विश्वामित्रस्य | विज | |
| 107 | 9 | 49 | तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मम् | विज | महा. ना.9-8 |
| 108 | 24 | 27,28 | तस्यापि कृतवर्मशतधनु· | श्रीध | विष्णु.पु.4-14- 24 to 27 |
| 109 | 24 | 26.27 | तस्यापि कृतवर्मशतधनुः | वीर | विष्णु.पु.4-14- 24 to 27 |
| 110 | 5 | 25 | तस्याऽप्यनुग्रहार्थाय | विज | गारुडे |
| 111 | 7 | 10 | तं होवाचाजनि वै ते | विज | |

| Sl. No | Adhyaya No | Sloka No | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| 112 | 19 | 9 | तिर्यक् बिलिबिलाकार | विज | |
| 113 | 19 | 4 | तीर्थं मन्त्राद्युपाध्याये | विज | वैज. को.6-3-13,14 |
| 114 | 4 | 69 | तेजो बले प्रभावेऽन्ने | विज | वैज. को.6-3-14 |
| 115 | 4 | 3,5 | ते स्वर्यन्तो ब्रुवन्न | विज | |
| 116 | 20 | 29 | त्रिदिवो व्योम्नि दिव्यपि | विज | वैज. को.7-1-29 |
| | | | द | | |
| 117 | 14 | 36 | ददाति प्रतिगृह्णति | विज | |
| 118 | 10 | 4 | दवो दावो वनारण्यवह्न्यो | विज | वैज. को.6-1-27 |
| 119 | 11 | 18 | दशवर्षसहस्राणि | वीर | रामा.1-1-97 |
| 120 | 22 | 15 | दाराग्निहोत्रसंयोगं | श्रीध | मनु. स्मृ.3-171 |
| 121 | 22 | 15 | दाराग्निहोत्रसंयोगं | वीर | मनु. स्मृ.3-171 |
| 122 | 22 | 15 | दाराग्निहोत्रसंयोगं | विज | मनु. स्मृ.3-171 |
| 123 | 5 | 25 | दुर्वासाश्च स्वयं रुद्र· | विज | |
| | | | ध | | |
| 124 | 13 | 9 | धीर्धारणावती मेधा | विज | अम. को.1-141 |
| 125 | 19 | 20 | ध्यायतो विषयान्पुंस | विज | भ.गी.2-62 |
| | | | न | | |
| 126 | 18 | 32 | न काञ्चन परिहरेत् तद्व्रतम् | विज | |
| 127 | 5 | 3 | न तत्र सूर्यो भाति | वीर | कठ. उ.5-15 |
| 128 | 3 | 10 | नन्द्यादित्वात् | वीर | अष्टा.3-1-134 |
| 129 | 4 | 28 | नन्द्यादित्वात् | वीर | अष्टा.3-1-134 |

| Sl. No | Adhyaya No | Sloka No | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| 130 | 9 | 12 | न ब्रह्मदण्डदग्धस्य | वीर | भाग.3-14-42 |
| 131 | 11 | 17-19 | नाक्षत्रमासगणितं | विज | स्कान्दे |
| 132 | 7 | 8 | नाऽपुत्रस्य लोकोऽस्ति | विज | |
| 133 | 4 | 11 | नाभागे दिष्टं शंसति | श्रीध | |
| 134 | 10 | 11,12 | नित्यपूर्ण सुखज्ञान | विज | स्कान्दे |
| | | | **प** | | |
| 135 | 7 | 7 | पक्ष पार्श्वमरुत्साध्य | विज | वैज. को.6-1-35 |
| 136 | 24 | 57 | परमात्मेत्युदाहृतः | वीर | भ.गी.15-17 |
| 137 | 8 | 22 | पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति | विज | |
| 138 | 21 | 25 | पाराशरकुलोत्पन्न· | श्रीध | भार.13-45 to 47 |
| 139 | 21 | 25 | पाराशरस्सुतोत्पन्नः | वीर | भार13-45 to 47 |
| 140 | 7 | 4 | पितुश्चापरितोषेण | श्रीध | हरिवंशे.10-17 |
| 141 | 20 | 22 | पुन्नाम्नो नरकात् | श्रीध | मनु. स्मृ.9-138 |
| 142 | 20 | 38 | पुरीमवस्कन्द लुनीहि | विज | शिशुपालवधम्.1-51 |
| 143 | 14 | 36 | पुरूरवो मा मृथा मा | विज | ऋक्.10-95-15 |
| 144 | 24 | 67 | पूर्णमद· पूर्णमिदम् | विज | बृह. उ.5-1-1 |
| 145 | 16 | 34 | प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च | विज | अष्टा.1-3-23 |
| 146 | 24 | 58 | प्रकृतिं पुरुषश्चैव | विज | भ गी.13-19 |
| 147 | 4 | 48 | (पातु) प्राणतरक्षायां विलम्बम् | वीर | श्रीरत्नराज पूर्वशत.12 |
| 148 | 16 | 29 | प्राणभृत उपदधाति | वीर | |
| 149 | 2 | 11 | प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् | वीर | भ. गी.7-17 |

| Sl No | Adhyaya No | Sloka No | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| | | | **ब** | | |
| 150 | 24 | 58 | बलमानन्द ओजश्च | विज | |
| 151 | 2 | 6 | बभ्रूर्गौ· सौरभेयाश्च | विज | |
| 152 | 1 | 9 | बहुस्यां प्रजायेय | वीर | तैत्ति.उ.2-6 |
| 153 | 4 | 56 | बहुस्यां प्रजायेय | वीर | तैत्ति.उ.2-6 |
| 154 | 9 | 49 | ब्रह्मविदाप्नोति परम् | विज | तैत्ति.उ.2-1-1 |
| 155 | 6 | 50 | ब्रह्म वेदस्तपस्तत्त्वम् | विज | |
| 156 | 6 | 2 | ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चस | वीर | अष्टा.5-4-78 |
| 157 | 5 | 25 | ब्रह्मादयश्च तत्कीर्तिं | विज | गारुडे |
| 158 | 5 | 25 | ब्रह्मादि भक्तिकोट्यंशात् | विज | गारुडे |
| 159 | 9 | 49 | ब्रह्मेति परमात्मेति | विज | भाग.1-2-11 |
| 160 | 2 | 17 | ब्राह्मेण जैमिनि रूप | वीर | ब्र.सू.4-4-5 |
| | | | **भ** | | |
| 161 | 10 | 2 | भगवान् ब्रह्ममयः | वीर | |
| 162 | 7 | 19 | भगो योन्यां भगो यत्ने | विज | वैज. को.6-5-58 |
| 163 | 24 | 27,28 | भजमानश्च विदूरथ· | श्रीध | विष्णु.पु.4-14-22,23 |
| 164 | 20 | 28 | भद्रो गजो (मन्दो) मृगश्चेति | विज | हला. को.2-60 |
| 165 | 20 | 39 | भरद्वाजो मरुद्भिश्च | विज | पाद्मे |
| 166 | 9 | 14 | भवो भद्रे हरे प्राप्तौ | विज | वैज. को. 6-1-41 |
| 167 | 4 | 8 | भागधेये नैव रुद्रं | श्रीध | |
| 168 | 23 | 39 | भार्या वश्यास्तु ये केचित् | श्रीध | विष्णु. पु.4-12-13 |

| Sl No | Adhyaya No | Sloka No | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| 169 | 23 | 38,39 | भार्यावश्यास्तु ये केचित् | वीर | विष्णु. पु. 4-12-13 |
| 170 | 19 | 15 | भाव· पदार्थे सत्तयाम् | विज | वैज. को .6-1-43 |
| | | | **म** | | |
| 171 | 6 | 52 | मन्नलानन्तरारम्भ | विज | अम. को .3-402 |
| 172 | 13 | 10 | मन्युशोकौ तु शक् स्त्रियाम् | विज | अम. को .1-207 |
| 173 | 11 | 17-19 | मम योनिर्महद्ब्रह्म | विज | भ.गी.14-3 |
| 174 | 14 | 27 | महानिशा द्वे घटिके | श्रीध | |
| 175 | 14 | 27 | ,, | वीर | |
| 176 | 9 | 31 | माहेयी सौरभेयी च | विज | |
| 177 | 4 | 64 | मित्रभावेन सम्प्राप्तं | विज | रामा.6-18-3 |
| 178 | 4 | 63 | मुच्येत यन्नाग्न्युदितेऽपि | वीर | |
| 179 | 1 | 18,19 | मैत्रावरुणीमिष्टिं कुर्यात् | विज | |
| | | | **य** | | |
| 180 | 6 | 35 | यज्ञो वै विष्णु | वीर | तैत्ति. ब्रा.1-2-5 |
| 181 | 16 | 13 | (आत्मा...)यत्नेऽर्केऽग्नौ मतौ वाते | विज | वैज. को.6-1-7 |
| 182 | 24 | 56 | यदा यदा हि धर्मस्य | विज | भ.गी.4-7 |
| 183 | 4 | 4 | य यज्ञेन दक्षिणया | श्रीध | |
| 184 | 20 | 22 | यस्मात्पुत्रमनुशिष्टं | विज | |
| 185 | 8 | 5 | यस्य स्यादज्ञया पृथ्वी | विज | |
| 186 | 22 | 38-40 | याज्ञवल्क्यान्नयीमधीत्य | श्रीध | |
| 187 | 19 | 6 | यावके बलकुल्माषौ | विज | वैज. को.3-8-53 |

| Sl No | Adhyaya No | Sloka No | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| 188 | 7 | 19 | युगेऽक्षपाते पर्याप्ते | विज | वैज. को.6-5-21 |
| 189 | 11 | 7 | ये चाभावकर्मणो. | वीर | अष्टा. 6-4-168 |
| 190 | 4 | 3 | ये यज्ञेन दक्षिणया | वीर | |
| 191 | 22 | 15 | योऽग्रभुक् भवमग्रत | वीर | |
| 192 | 19 | 1 | योऽन्यथा सन्तमात्मानम् | वीर | भार.1-68-26 |
| | | | **र** | | |
| 193 | 10 | 20 | रथगुप्तिर्वरुथो ना | विज | वैज. को.3-7-132 |
| 194 | 11 | 23 | रामो रामो राम इति | विज | स्कान्दे |
| | | | **ल** | | |
| 195 | 6 | 51 | लोकसङ्ग्रहमेवाऽपि | विज | भ.गी.3-20 |
| | | | **व** | | |
| 196 | 9 | 20,21 | वसिष्ठ तदनुज्ञात | वीर | भाग.9-9-38 |
| 197 | 5 | 5 | वाणी पौराणिकीयं | वीर | सुदर्शनशतकम्.-76 |
| 198 | 1 | 16 | वाणी सरस्वती भाषा | विज | |
| 199 | 14 | 3,4 | वार्ता सम्भाव्ययो किल | विज | अम. को.3-409 |
| 200 | 5 | 25 | वासुदेवे मनो यस्य | वीर | विष्णु.पु.2-6-41 |
| 201 | 9 | 45 | वासुदेवे मनो यस्य | वीर | विष्णु.पु.2-6-41 |
| 202 | 20 | 39 | वितथस्य सुतो मन्यु· | विज | भाग.9-21-1 |
| 203 | 8 | 25 | विमुक्तं भिन्नं रुक्मवर्णम् | विज | |
| 204 | 16 | 29 | विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्रा· | वीर | |
| 205 | 1 | 9 | विष्णुः स्वयम्भूरथभुक् | विज | |
| 206 | 10 | 22 | वीर्यं पराक्रमे रेतसि | विज | वैज. को.6-3-32 |

| Sl No | Adhyaya No | Sloka No | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| 207 | 16 | 8 | वीर्यं पराक्रमे रेतसि | विज | वैज. को.6-3-32 |
| 208 | 14 | 12 | वृत्तं स्वरूपे चरिते वृत्तौ | विज | वैज. को.6-5-76 |
| 209 | 9 | 31 | वेदानां किञ्चिदधीत्य | वीर | |
| 210 | 16 | 18,19 | शमन्तपञ्चके पञ्च | वीर | भार.1-2-4 |
| 211 | 14 | 44 | शमीगर्भादग्निं मन्थति | वीर | |
| 212 | 14 | 44 | शमीगर्भादग्निं ममन्थ | श्रीध | |
| 213 | 7 | 7 | शरारि राडि राटिश्च | वीर | अम.को.2-241 |
| 214 | 4 | 55 | शर्व-संरोधनाद्धरि | वीर | |
| 215 | 5 | 3 | शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशः | वीर | ब्र.सू.1-1-31 |
| 216 | 16 | 30 | शुनः शेफस्य माहात्म्यम् | वीर | भाग.9-7-24 |
| 217 | 16 | 30 | शुन. शेफस्य माहात्म्यम् | विज | भाग.9-7-24 |
| 218 | 6 | 4 | श्रद्धायां जनयामास | श्रीध | भाग.9-1-11 |
| 219 | 6 | 4 | श्रद्धायां जनयामास | वीर | भाग.9-1-11 |
| | | | **स** | | |
| 220 | 6 | 35 | स आत्मा अन्नान्यन्याः | वीर | तै त्ति.1-5-1 |
| 221 | 4 | 12 | स एव सहस्रसनिः | विज | |
| 222 | 1 | 8 | स एवाऽऽसीदिदं विश्वं | वीर | |
| 223 | 5 | 5 | स ऐक्षत | श्रीध | बृह.उ.1-2-5 |
| 224 | 1 | 1 | स तु सत्यव्रतो राजा | वीर | भाग.8-24-58 |
| 225 | 1 | 8 | सदेव सौम्येदमग्र | वीर | छान्दो.उ.6-2-1 |
| 226 | 1 | 1 | सप्तमो वर्तमानो यः | वीर | भाग 8 13-1,2 |
| 227 | 6 | 36 | समे यजेत | वीर | |

| Sl No | Adhyaya No | Sloka No | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| 228 | 7 | 19 | (सपिण्ड) सम्बन्धिपुत्रौ दायादौ | विज | वैज. को.7-1-30 |
| 229 | 10 | 9 | सम्बन्धिशब्द सापेक्ष | वीर | |
| 230 | 7 | 2,3 | सर्पादभय स्मरतामिमम् | वीर | भाग.9-7-3 |
| 231 | 24 | 58 | सर्वज्ञस्त्रिपुरान्तक | विज | |
| 232 | 5 | 3 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म | वीर | छान्दो.उ.6-8-7 |
| 233 | 4 | 55 | सर्व शर्व शिव स्थाणु | विज | भारते.13-135-17 |
| 234 | 7 | 27 | सह ब्रह्मणा विपश्चिता | विज | तैत्ति. आ.1 |
| 235 | 7 | 13 | सहोवाच यदा वै पशोर्दन्ता | विज | |
| 236 | 12 | 16 | संस्था व्यवस्था प्रणिधि | विज | वैज.को.6-2-43 |
| 237 | 14 | 35 | सुदेवोऽद्य प्रपतेत् | विज | ऋक्.10-95-14 |
| 238 | 20 | 22 | सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणाम् | विज | |
| 239 | 1 | 38 | स्थानं य प्रविशेदेतत् | वीर | भाग.9-1-32 |
| 240 | 18 | 37 | स्मृतौ वृत्ते निषेधे स्म | विज | वैज. को.8-7-7 |
| 241 | 15 | 21 | स्रोतोऽम्बुनिर्गमद्वारे | विज | |
| | | | **ह** | | |
| 242 | 14 | 33,34 | हये जाये मनसा | विज | ऋक्.10-95-1 |
| 243 | 7 | 8 | हरिश्चन्द्रो ह वैधस | श्रीध | |
| 244 | 19 | 14 | हविर्हव्ये घृते तोये | विज | वैज. को.6-3-37 |
| 245 | 14 | 33,34 | हविषा यजति, स्वर्गं | विज | ऋक्.10-95-18 |
| 246 | 7 | 1 | हारितपुरुकुत्सपिङ्ग | श्रीध | |
| 247 | 20 | 27 | हिरण्येन परिवृतान् | श्रीध | |

# SRĪMAD BHĀGAVATA

## MAHĀPURĀṆAM

### OF MAHARṢI VEDAVYĀSA

[SKANDHA X VOL. I]

Edited by

Dr. N.C.V. Narasimhacharya, M.A., B.O.L.

TIRUMALA TIRUPATI DEVASTHANAM

Harih Om

# SRIMAD BHAGAVATA MAHAPURANAM

*of Maharshi Vedavyasa*

**SKANDHA - X**

**VOL. I**

**(Adhyayas 1 to 28)**

**With the Commentaries :**

Bhavarthadipika of Sri Sridharaswami, Bhagavatachandrachandrika of Sri Vira Raghavacharya, Padaratnavali of Sri Vijayadhvaja Tirtha

**Edited by**

Pandita Raja, Sahitya Visarada, Vacaspati,
Siromani, Vidwan,
**Recipient of President's Certificate of Honour**
**Dr. N.C.V. Narasimhacharya,** M.A., B.O.L.,
Special Officer,
**SRI BHAGAVATHA PROJECT,**
T.T. Devasthanams, Tirupati.

**Published by**
**Sri M.K.R. Vinayak, I.A.S.,**
**Executive Officer,**
**Tirumala Tirupati Devasthanams,**
**TIRUPATI.**
**1998.**

SRIMAD BHAGAVATAMAHAPURANAM - SKANDHA - X, Vol. I.
Edited by
Dr. N.C.V. Narasimhacharya.

T.T.D. Religious Publications Series No. 530.

First Edition 1998

Price : Rs.100/-

Copies :1,000.

PLACED ON THE SHELF
Date.....

Published by
Sri **M.K.R. Vinayak**, I.A.S.,
Executive Officer,
T.T. Devasthanams,
Tirupati.

Cover Design by SIVA PRASAD, T.T.D.

**Printed at**
Shakti Printers, Chennai.

ओं नमो वेङ्कटेशाय

श्रीवेदव्यासमहर्षिप्रणीतम्

# श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

## दशमः स्कन्धः

### प्रथमो भागः

(अष्टाविंशत्यध्यायात्मकः)

श्री श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका, श्रीवीरराघवनिर्मिता श्रीभागवतचन्द्रचन्द्रिका,
श्रीविजयध्वजविलिखिता पदरत्नावली चेति त्रिभिः व्याख्यानैः भूषितम्


पण्डितराज साहित्यविशारद वाचस्पति
शिरोमणि विद्वान्
राष्ट्रपति पुरस्कार ग्रहीता
डा. एन्. सि.वि. नरसिंहाचार्येण
(विशिष्टाधिकारी, श्रीमद्भागवत शोधपूर्ण परिष्करण परिषत्)
परिष्कृतम्



तिरुमल तिरुपति देवस्थान निर्वहणाधिकृतैः
श्री एम्. के. आर्. विनायक्, ऐ.ए.एस्., महोदयैः
प्रकाशितम्
१९९८.

हरिः ओम्

लोकोद्धारैकदीक्षापर निगममहाहर्म्यधर्म्यप्रदीपः
स्वाङ्घ्रिद्वन्द्वप्रपन्नाखिलदुरिततमोध्वंसिपुण्यप्रदीपः ।
दिङ्मूढेभ्यो नरेभ्यः प्रकटितसरणिः स्नेहदीप्रः प्रदीपः
युष्मानस्मान्समस्ता नवतु वृषगिरिस्थास्तु मङ्गल्यदीपः ।।

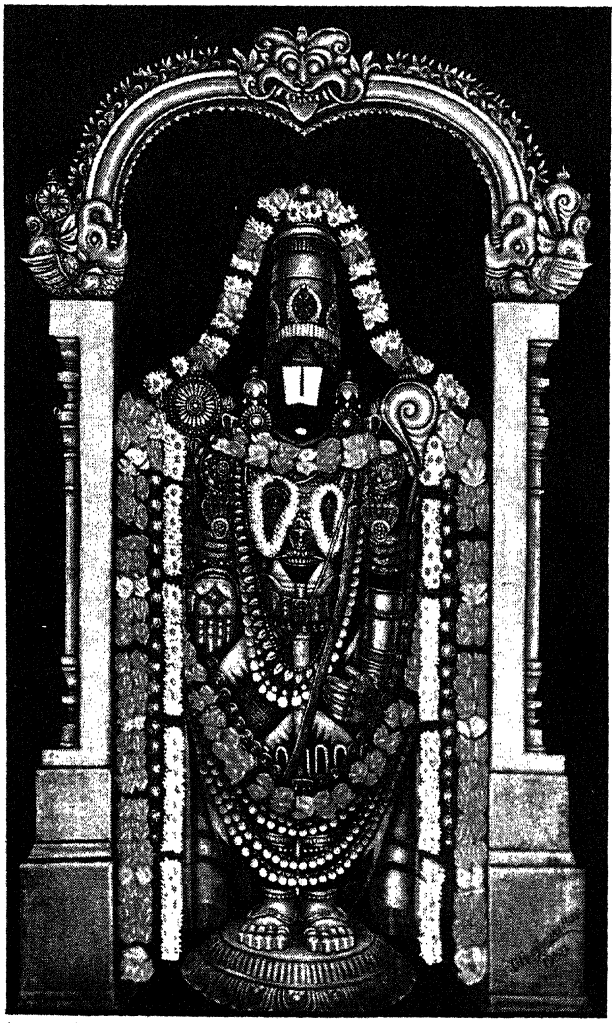

श्रीमद्भागवतं पुराण मखिलाम्नायैकसारः क्व वा?
प्रज्ञादुर्विधकिम्पचानधिषणाः शैक्षाः क्व वा मादृशाः ?
भक्त्या चापलत स्तथाऽपि च परिष्कर्तुं वयं व्यापृताः,
एतत् प्राभृतयाम वेङ्कटपतेः पादाब्जयोः, स्वीक्रियात् ।।

# THE CRITICAL EDITION OF SRIMAD BHAGAVATA

## THE EDITORIAL BOARD


Ex-Officio Chairman

Sri M.K.R. Vinayak, I.A.S.,

MEMBERS

1. Prof. S.B. Raghunathacharya, M.A., Ph.D.,
   Vice-Chancellor,
   Rashtriya Sanskrit Vidyapeeth,
   Deemed University
   Tirupati.

2. Prof. P. Ramachandrudu, M.A., (TRIO)
   Retired Professor of Sanskrit,
   Osmania University,
   Hyderabad.

3. Prof. P. Sri Rama Murthy, M.A., Ph.D.,
   Retired Professor of Sanskrit,
   Andhra University,
   Waltair.

4. Prof. M. Narasimhacharya, M.A., Ph.D.,
   Professor of Sri Vaishnavism,
   University of Madras,
   Madras.

5. Prof. N.S. Ramanuja Tatacharya
   Professor of Sanskrit,
   French Institute of Indology,
   Pondicherry.

**Co-ordinated Members**

6. Sri Samudrala Lakshmanaiah
   Secretary, Dharma Prachara Parishat,
   T.T.Devasthanams, Tirupati.

7. Dr. Medasani Mohan, M.A., Ph.D.,
   Director,
   Sri Annamacharya Project,
   T.T.Devasthanams,
   Tirupati.

**Convener**

8. Dr. N.C.V. Narasimhacharya,
   M.A., B.O.L.,
   Special Officer,
   Sri Bhagavata Project,
   T.T.Devasthanams,
   Tirupati.

# TIRUMALA TIRUPATI DEVASTHANAMS

## TRUST BOARD

### CHAIRMAN

**Sri K. Ramachandra Raju, M.L.A.**

### MEMBERS

1. Sri R.P. Goenka, (Industrialist)
2. Sri D. Ramanaidu, (Film Producer)
3. Sri M. Rajamohan Reddy, Ex.-M.P.
4. Sri B. Narasimhulu, M.L.A.,
5. Sri Manoj Kumar Sonthalia, M.D.,
   Indian Express
6. Sri D. Srinivasa Rao, Ex. AFCOB Chairman,
   Karimnagar.
7. Mrs. Yerneni Sita Devi, M.L.A.
8. Smt. E. Seetharamamma, M.L.A., and
   Former Minister
9. Sri G. Mahadeva Naidu
10. Sri A. Radhakrishna Raju
11. The Commissioner, Endowments
    Member (Ex-Officio)
12. Executive Officer, Tirumala Tirupati Devasthanams, Tirupati.
    Member Secretary (Ex-Officio)

# THE CRITICAL EDITION OF SRIMAD BHAGAVATA

## THE EDITORIAL BOARD


Ex-Officio Chairman

Sri M.K.R. Vinayak, I.A.S.,

MEMBERS

1. Prof. S.B. Raghunathacharya, M.A., Ph.D.,
   Vice-Chancellor,
   Rashtriya Sanskrit Vidyapeeth,
   Deemed University
   Tirupati.

2. Prof. P. Ramachandrudu, M.A., (TRIO)
   Retired Professor of Sanskrit,
   Osmania University,
   Hyderabad.

3. Prof. P. Sri Rama Murthy, M.A., Ph.D.,
   Retired Professor of Sanskrit,
   Andhra University,
   Waltair.

4. Prof. M. Narasimhacharya, M.A., Ph.D.,
   Professor of Sri Vaishnavism,
   University of Madras,
   Madras.

5. Prof. N.S. Ramanuja Tatacharya
   Professor of Sanskrit,
   French Institute of Indology,
   Pondicherry.

**Co-ordinated Members**

6. Sri Samudrala Lakshmanaiah
   Secretary, Dharma Prachara Parishat,
   T.T.Devasthanams, Tirupati.

7. Dr. Medasani Mohan, M.A., Ph.D.,
   Director,
   Sri Annamacharya Project,
   T.T.Devasthanams,
   Tirupati.

**Convener**

8. Dr. N.C.V. Narasimhacharya,
   M.A., B.O.L.,
   Special Officer,
   Sri Bhagavata Project,
   T.T.Devasthanams,
   Tirupati.

# TIRUMALA TIRUPATI DEVASTHANAMS

## TRUST BOARD

### CHAIRMAN

**Sri K. Ramachandra Raju, M.L.A.**

### MEMBERS

1. Sri R.P. Goenka, (Industrialist)
2. Sri D. Ramanaidu, (Film Producer)
3. Sri M. Rajamohan Reddy, Ex.-M.P.
4. Sri B. Narasimhulu, M.L.A.,
5. Sri Manoj Kumar Sonthalia, M.D.,
   Indian Express
6. Sri D. Srinivasa Rao, Ex. AFCOB Chairman,
   Karimnagar.
7. Mrs. Yerneni Sita Devi, M.L.A.
8. Smt. E. Seetharamamma, M.L.A., and
   Former Minister
9. Sri G. Mahadeva Naidu
10. Sri A. Radhakrishna Raju
11. The Commissioner, Endowments
    Member (Ex-Officio)
12. Executive Officer, Tirumala Tirupati Devasthanams, Tirupati.
    Member Secretary (Ex-Officio)

# CONTENTS


1. Foreword ..... I
2. Introduction - English ..... III
3. Introduction - Sanskrit ..... XX
4. List of Abbreviations - (Editions) ..... XXXVIII
5. List of Abbreviations (Commentaries) .....
6. List of Abbreviations (Texts cited) ..... XXXIX
7. Contents of each canto (in prose) ..... XL
8. Contents of each canto (in slokas) ..... XLI
9. Process of Reciting Sri Bhagavata ..... XLII

| Text. | Page | Text. | Page |
|---|---|---|---|
| Canto. I | 1 | Canto. XVI | 311 |
| Canto. II | 31 | Canto. XVII | 344 |
| Canto. III | 58 | Canto. XVIII | 353 |
| Canto. IV | 87 | Canto. XIX | 364 |
| Canto. V | 104 | Canto. XX | 370 |
| Canto. VI | 117 | Canto. XXI | 396 |
| Canto. VII | 135 | Canto. XXII | 410 |
| Canto. VIII | 149 | Canto. XXIII | 426 |
| Canto. IX | 172 | Canto. XXIV | 448 |
| Canto. X | 182 | Canto. XXV | 465 |
| Canto. XI | 204 | Canto. XXVI | 478 |
| Canto. XII | 223 | Canto. XXVII | 487 |
| Canto. XIII | 239 | Canto. XXVIII | 502 |
| Canto. XIV | 260 | Appendix - I Quarter Verse Index | 1 |
| Canto. XV | 293 | Appendix - II Additional Quarter Verse Index | 74 |
| | | Appendix - III Citations Index | 92 |

# FOREWORD

Sri Bhagavatha Purana Commands Universal appeal to all the sections of the people. Being a work of great repute it excercised profound influence upon the philosophy and life of the people perhaps more than any other Purana. The spirit and purport of the Vedas are found hidden and so they are not understood by a common man whereas eternal truths enshrined in the Vedas are elucidated in this celebrated Purana.

The Bhagavata has several outstanding features for which it has been extolled by the connoisseurs and after the advent of the Bhagavata many Puranas were either relegated to the background or eclipsed into oblivion. The Bhagavatha Purana is a happy synthesis of Veda, Purana and Kavya. It is said that Vedavyasa composed the Purana on the timely advice of the celestial sage Narada with a view to dispelling the gloom and depression, that had overcome him even after producing a magnum opus, Sri Mahabharata. The greatness of the Bhagavata has been rightly called as the Ambrosia or Amrita churned out of the milky ocean of the Vedas. The word 'Bhagavata' is very significant as it is replete with various senses. The five significant letters 'Bha', 'ga', 'va', 'ta' and 'm' suggest the quintessence of the Bhagavata 'Bha' stands for Bhakthi (the devotion) 'ga' for the Jnana (the knowledge), 'va' for vairagya (the renouncement of worldly wishes and passions), 'ta' for tattva (the real nature of the Supreme), and 'm' for moksha (the emancipation from the worldly bonds). Hence a study of the Bhagavata yields all the four virtues.

It is with a view to fulfilling the exacting demands of the scholarly world, the T.T.Devasthanams has undertaken the sacred task of bring out the critical edition of Sri Bhagavata with the commentaries of the three leading schools of Indian Philosophy, embellishing the text with all the special features of a critical edition. All the necessary efforts have been made by T.T.Devasthanams in this direction to make the Bhagavata available with in the reach of all at a subsidised price. So far, two thirds of the editorial work of the entire text have been completed and kept ready for printing. The first volume of (the first Skandha) the Bhagavata was edited and published in 1989. It is a matter of pleasure that it was critically acclaimed for its meticulous and flawless editing.

After completing the editing of the second, third, fourth and fifth Skandhas, we have now taken up editing of the tenth Skandha, which is the heart of the Bhagavata, as it were, for, this skandha deals with the astounding exploits of Srikrishna Bhagavan. The Skandha has been split into three volumes and the first volume has been edited and will be published shortly.

I am confident that this critical edition of the Bhagavata Purana will be useful for both the learned scholars and the seekers of Truth as well.

Tirupati.
17-1-1998.

**M.K.R. Vinayak, I.A.S.,**
***Executive Officer,***
T.T. Devasthanams,
Tirupati.

ईशानां जगतोऽस्य वेङ्कटपते र्विष्णोः परां प्रेयसीं
तद्वक्षःस्थल नित्यवासरसिकां तत्क्षान्तिसंवर्धनीम् ।
पद्मालङ्कृतपाणिपल्लवयुगां पद्मासनस्थां श्रियं
वात्सल्यादिगुणोज्ज्वलां भगवतीं वन्दे जगन्मातरम् ।।

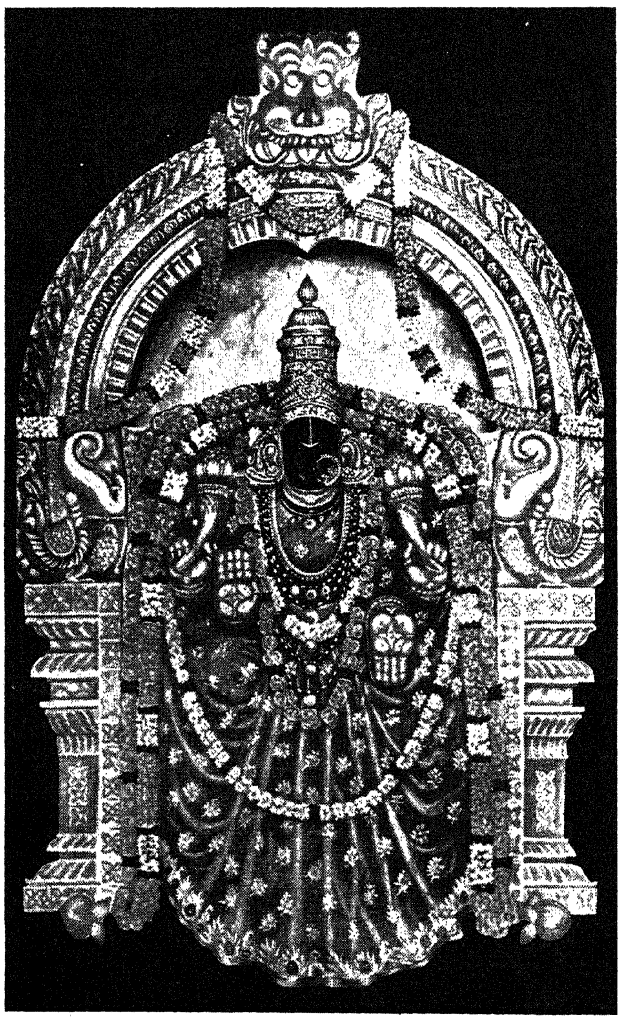

श्रीमद्वेङ्कटनायकस्य हृदये द्वेधा विधायाऽऽत्मनो
मूर्तिं शश्वदियं कृपामृतझरीस्रोतस्विनी भार्गवी ।
उद्धर्तुं निखिला नगण्यविषमांहोवह्निदग्धात्मनो
जन्तून् सन्निदधाति विश्वजननी पद्मावती रक्षतात् ।।

# INTRODUCTION

It goes without saying that the munificent Management of T.T.Devasthanams is making strenuous and incessant efforts for maintaining our cultural heritage enshrined in our veritable scriptures. It strains every nerve to sustain the Religio - Philosophic outlook wherein the Nation's peace and prosperity lies. With a view to reviving the Sanatana Dharma in the nation, to propagating and instilling the Bhakti in the minds of the Hindus, to conveying the message of Rishis to mankind, to disseminating the inestimable greatness of Hindu Culture for the benefit of common man the T.T.Devasthanams founded many an institution such as the "Dharma Prachara Parishad" "The Bhāgavata Critical Edition Project", "The Annamācharya Project", "The Dāsa Sāhitya Project", "The Alwar Divya Prabandha Project", "The Recording Project", "The Publication Cell" and the like.

The Bhāgavata Project is one among such establishments. The Śrīmad Bhāgavata of sage Krsnadvaipāyana Vyāsa occupiess a unique place not only in Sanskrit literature but also in the Indian Theosophy itself. Besides inculcating an unflinching faith in, an everlasting devotion to Lord Śrīmannārāyaṇa, this Mahāpurāṇa successfully deals with the unfoldment of the mysteries of the creation with scientific precision. A true follower of Bhāghavata Cult does not harbour hatred or illwill for any living being. Such are the teachings we obtain from the upākhyānas, stories and moral exposition.

But, as ill - luck would have it, the Śrīmad Bhāgavata which has learned commentaries has not been available and a flawless mere text to facilitate even pārāyaṇa has become a rare commodity. Such being the case, the noble management of T.T.Devasthanams has undertaken the laborious and expensive enterprise of publishing a critical edition of the Śrīmad Bhāgavata to meet a long - felt need for such an edition as ours. The Publication Department of T.T.D. has brought out a number of standard works on Āgamas, Indian Philosophy, Art and Architecture, commentaries on Philosophical and Religious Texts, which have been well received by the scholarly devotee public.

One need not offer any excuse for publishing so sacred a text such as the Śrīmad Bhāgavata, since this Mahā Purāṇa commands universal appeal and popularity. It is believed to be an encyclopaedia of Bhakti Doctrine. It is a text 'Par - excellence' occupying the esteemed position among the eighteen Purāṇas. The fact that while the great sage Veda Vyāsa could not acquire peace of mind even after composing

the Mahābhārata the 'Magnum Opus'; he was advised by Narada the celestial sage to compose a Purāṇa describing the marvellous exploits of Lord Sri Krishna to dispel mental depression - speaks volumes for the greatness of the Srimad Bhagavata, which has been accepted by all schools of Philosophy as the most authoritative text on a par with the sacred scripts, i.e. the Vedas. Because of its ever lasting popularity it has been commented upon by many great exegetists belonging to various Schools of Philosophical thoughts. The Srimad Bhagavata has been extolled that this is a 'navanīta' or butter secured by churning the milky ocean of the Vedas rendering it palatable to literates as well as illiterates who have an aptitude for obtaining the fruits of the study of the ancient Vedic lore. Further, the Srimad Bhagavata is regarded as the repositary of Bhakti (devotion) Doctrine with all its varieties and manifestations. Hence it is rightly called as the Bhakti Bhāṣya.

Such being the case there is an imperative demand for a standard critical edition of the Srimad Bhagavata. It is true that already there are numerous commentaries on this Purāṇa, published. But the editions so far published have mistakes in printing and matter, variations, deviations and interpolations in the original text as well as in the commentaries. However, there was no good attempt ever made to bring out an authentic version, on account of which confusion and absence of clarity were resulted.

In fine, the preparation of a good critical edition of the Srimad Bhagavata, capable of warding off incongruity arising out of diverse versions, is the most important obligation. Having fully understood the value, greatness and the utter need for producing a flawless and correct text with important commentaries, the TTD Management decided that a sacred task of publishing a critical edition of the Srimad Bhagavata should be embarked on. Hence "The Bhagavata Critical Edition Project" was established in 1981.

At the very outset it is quite but meet to mention the fact that as a result of the strenuous, devotional and combined efforts of trinity of scholars viz. (Late) Sri Kulapati Dr. Ekkirala Krishnamacharyulu the founder of the "World Teachers Trust", Visakhapatnam, Sri P.V.R.K.Prasad, I.A.S., the then Executive Officer, T.T.Devasthanams, and Dr. Sri Pannala Radhakrishna Sarma, the then Principal, Matrusri Oriental College, Jellellamudi, the Srimad Bhagavata Critical Edition Project was established by the benign Management of T.T.Devasthanams which is a renowned institution consecrated to the proposion that the Bharatabhumi is to be made a Puṇyabhūmi by establishing the Arsha Dharma in the country. The advent of the critical editions of the Mahabharata and the Vālmīki Rāmāyaṇa published by the Bhandarkar Oriental

Research Institute, Poona and the Baroda Oriental Research Institute, Baroda, respectively has inspired Sanskrit lovers to take up similar projects.

## ŚRĪMAD BHĀGAVATA AND ITS PLACE

The importance of the Bhāgavata will be easily realised if the following points are remembered:

1. Almost the whole of Vaiṣṇava population of India look on it as their main scripture on a par with the Upaniṣads and the Gīta.

2. It has been taken up by the founders or representative teachers of all sects even outside the Vaiṣṇava fold for learned commentaries, just like the Gita and the Upaniṣads in order to prove its support to their respective teachings.

3. Although there are eighteen Purāṇas the Bhāgavata has outmoded all the others and has become the one work of this class studied reverently and interpreted and worshipped by devotees all over India.

4. Apart from its superb poetry and the very wide range of its devotional teachings, the reason for its forceful and ever expanding appeal lies in its elaborate exposition of the life and message of "Śrī Kṛṣṇa".

5. "इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" is an ordinance issued by Vedavyāsa, wich emphasises that the purport of the Veda, the first and foremost record of human thoughts religious as well as metaphysical, should be substantiated by the Itihāsas and the Purāṇas. Of these two categories the Purāṇa is considered more important as the saying goes "that, which cannot be found either in the Veda or the Smṛti, can be found in the Purāṇa". Again, among the Purāṇas the Bhāgavatapurāṇa is considered to be the best. It was composed, unlike other Purāṇas, by Vedavyāsa himself. Even after composing the Mahābhārata, a text of encyclopaedic type, Vyāsa did not have peace of mind. Then Narada advised him to compose this Purāṇa, replete with Kṛṣṇa - bhakti to ward off his mental agony and unrest.

6. Maharṣi Vedavyāsa who has been regarded as the incarnation of Mahāviṣṇu could get, the longed for mental peace by producing the Śrimad Bhāgavata replete with Kṛṣṇa - bhakti.

## BULK OF BHAGAVATA

According to the orthodox opinion the Bhāgavata contains eighteen thousand verses, but the actual counting reveals that this contains fourteen thousand and odd passages, including prose passages. The reason for this difference lies in calculating the long prose passage as one. But the counting of prose passage is to be done as per the old practice, that thirty two letters are to be reckoned as one grantha or sloka. So the long prose passages have to be counted as many slokas as the number of letters allow and even the colophons are to be counted. Thus this calculation shows that the Bhāgavata contains eighteen thousand verses. The Bhāgavata now taken up for publication belongs to the category of Hindu Religious literature called the Purāṇas.

## THE DEFINITION OF PURĀNA

Generally the Purāṇa is defined as an ancient history having five fold characteristics.

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितञ्चेति लक्षणानान्तु पञ्चकम्।"

The Purāṇa dilates on the following five topics. They are: Sarga - Primary creation of the categories, or evolution, Pratisarga - secondary creation or recreation of the Universe with the categories, Vaṁśa - genealogies of Divinities, Demons, Manus, Ṛṣis, and Kings, Manvantara - cosmic cycle ruled over by a Manu or a Patriarch and Vamśānucarita - an account of royal dynasties.

But this definition seems to hold good in respect of the Upapurāṇas only. The Mahāpurāṇas should possess ten features as defined in the Brahmavaivarta. In this context the definition given by the Bhāgavata is to be remembered, according to which the Mahāpurāṇa is Daśalakṣaṇa, while the Upapurāṇa is Pancalakṣaṇa. The ten characteristics of a Purāṇa are:-

"अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषण मूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्ति राश्रयः॥" (भाग. 2-10-1 )

1. *Sarga:* The origin of the various categories from Mahat Tattva to the five gross elements (Bhūtas) by the loss of equilibrium in Prakṛti caused by the divine will and their formation into Virāḍrūpa (or cosmic form) is called Sarga.

2. *Visarga:* The creation of various beings by Brahma is called Visarga.

3. *Sthāna or Sthiti:* Sthāna consists in the activities of the Lord for the maintenance of the World in proper order.

4. *Poṣaṇa:* Poṣaṇa is His granting protection to devotees who take shelter in Him.

5. *Ūti:* Ūti consists in Karmic tendencies in latent and active form.

6. *Manvantara:* Manvantara means the laws of righteous living as illustrated in the lines of great ones.

7. *Īśānukathā:* This is the description of Hari's incarnations supplemented by the account of his devotees and their deeds.

8. *Nirodha:* At the time of cosmic dissolution when Mahā Viṣṇu lapses into yogic slumber all Jīvas retaining their bodies and tendencies in germinal condition become dissolved in Him. This is Nirodha.

9. *Mukti:* Mukti is the Jīva's abidance in his prestine state of abandoning all entanglements in forms foreign to his nature.

10. *Āśraya:* He out of whom the universe including the Jīvas emerges at creation and in whom they are held in abeyance after dissolution. He, who is called by such names as Brahman and Paramātman is the Āśraya.

The above mentioned characteristics (1 to 10) are dealt with in 3rd, 4th, 5th, 6th, 7th, 8th, 9th, 10th, 11th and 12th Skandhas respectively.

## PRINTED TEXTS CONSULTED FOR THE PREPARATION OF THIS EDITION

The following printed editions of the Bhāgavata form the basis for this edition. These have been carefully edited by eminent scholars and published from various parts of India and so are supposed to contain all the important variants of the Bhāghavata.

### 1. Śrīmad Bhāgavata Mahāpurāṇam:

Edited and published by Sri Krishna Sankara Sastry, Nadiad, Kheda Dt., Gujarat in 1965. This book contains, along with the original text, the Sanskrit commentaries of Sridhara, Vamsidhara (a commentator on the commentary of Sridhara) Radharamana

dasa, Viraraghava, Vijayadhvaja, Jivagosvami, Visvanathachakravarti, Sukadeva, Vallabhacharya, Gosvamipurushottama Charanadasa - (a commentator on the commentary of Vallabhacharya) and Giridhara, and also a Hindi translation. This has been carefully edited and contains variants mentioned as old versions. This edition printed in Devanagari Script, is taken as an authentic source for copying down the original text of the commentaries of Sridhara, Viraraghava and Vijayadhvaja. This edition in Devanagari Script is marked as A.

**2. Śrīmad Bhāgavata Purāṇam:**

Edited by Sri Nityananda Brahmachari and printed by Sri Rangacharya at his own Sri Devakinandan Press, Brindavan in Samvat 1964 i.e. 1907 A.D. This edition containing the original text is provided with the commentaries of Sridhara, Radharamana Gosvami, Viraraghava, Vijayadhvaja, Jivagosvami, Vallabhacharya, Visvanatha Chakravarti and Sri Sukadeva and also a Hindi translation. This edition in Devanagari Script is named as B.

**3. Śrīmad Bhāgavata Purāṇam:**

Gita Press, Gorakhpur - published in 2008 Vikram Saka i.e. 1951 A.D. This book contains only the text and has been carefully edited with variants. But the sources of variants have not been shown. However it is stated therein that the variants as seen in the old editions are noted. This edition is taken by us as an authentic source book for copying down the original text. This edition in Devanagari script is marked as G.

**4. Srīmadbhāgavata:**

Edited by Sri Puranam Hayagriva Sastry. Printed in Telugu Script at Vivekadarsa Press, Madras. This edition contains the commentary of Srīdhara. This is marked as H.

**5. Śrīmadbhāgavata:**

Edited by Prof.J.L.Sastry and printed by Motilal Banarsidass, in Devanagari. It contains the commentary of Sridhara. This edition is marked as J.

**6. Śrīmadbhāgavata:**

Edited by Kavibhushana Kumara Tatacharya and printed by Ananda Press, Madras in Devanagari characters. This contains the commentary of Sri Viraraghava. This edition is marked as K.

**7. Śrīmad Bhāgavata (Madhva Edition)**

This edition contains the commentary of Vijayadhvaja. It is printed in Devanagari Script. This edition is marked as M.

**8. Śrīmadbhāgavata:**

There is another Madhva Edition printed in Devanagari Script contains commentary of Vijayadhvaja marked as Ma.

**9. Śrīmadbhāgavata:**

This edition printed in Telugu characters. Published by Sri Tridandi Srimannarayana Ramanuja Jeeyar. The edition contains the commentary of Sriviraraghava; Marked as T.

**10. Śrīmad Bhāgavatam:**

Printed and published by Vavilla Ramaswamy Sastrulu & Sons, in 1941 at their Vavilla Press, Madras. This edition contains text with the commentary of Sridhara mainly and some extracts from other commentaries. It also contains foot-notes showing some variants. This edition in Telugu Script is named as V.

**11. Śrīmad Bhāgavatam:**

Printed and Published by Sri Raja Rameswara Raya, Raja of Wanaparti Samsthan in Mahabubnagar Dt. (A.P.) in 1885 A.D. through Brahmavidya Vilas press founded by him. This edition contains text with the commentary of Viraraghava. This edition in Telugu Script is marked as W.

Note: The Order of the Editions must be:

| A | B | G | H | J | K | M | Ma | T | V | W |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| 1 | 2 | 3 | 4 | 5 | 6 | 7 | 8 | 9 | 10 | 11 |

## MODUS OPERANDI

The following principles are adopted for noting down the variants and additional verses:

1. The text in Edition No. 1 forms the Basis.
2. The variants found in other editions with reference to the basis are recorded with names of the editions.
3. The variants suggested by the commentators are noted as indicated by them.
4. The variations which are indicated in the foot-notes of a particular edition and which are not found in any text or commentary of any other edition, are noted here that they are found in a particular edition.
5. The variants, though noted in the foot-notes of a particular edition or editions, are not recorded in our edition if they are found in any text or commentary of any other edition.
6. Additional Verses found in any edition are recorded by denoting the number of the preceding and proceeding verses between which the additional verses are

placed. These additional verses found in only one version are not given serial numbers treating them to be interpolations.

7. Omissions of a letter or a word in any edition or editions are recorded with reference to the basis.
8. Pratikas are supplied by us to the commentary of Sridhara wherever they are found missing, keeping the style of Sridhara, the commentator, in mind, since we find pratika cited, to the majority of verses, at the beginning of the commentary.
9. The slight change, in the order of words, occurring in the verses of different editions, such as यद् बिभेति स्वयं भयम् and यद बिभेति भयं स्वयम् is ignored and not noted in the foot note, because the sense remains the same in either order.

The idea in adopting the above principles is that, the variants or additional verses or omissmons found in all the above 11 editions are to be carefully recorded in this edition for the convenience of the readers to understand the spirit and purport of the original text of the Śrīmad Bhāgavata.

Due to popularity of Sri Bhāgavata Purāṇa, many learned scholars belonging to different Vedantic Schools, tried their hands at writing commentaries on the Bhāgavata, in keeping with their tradition and philosophy. In this way they endeavoured to establish their own faith in a particular school of thought, taking full support from the Bhāgavata. The popularity of the Bhāgavata was so great that a great number of annotators have enriched their philosophy by these commentaries.

A great many commentaries (about 30 for the Skandha X) are there on the Bhagavata. But we have taken only three famous commentaries belonging to the Advaita, Viśiṣṭadvaita and Dvaita Schools of Vedanta.

1. Sridharasvami is the earliest of all. He belongs to Śankara's Advaita Philosophy. It is learnt that Sridharaswami was the Mahant of the Sankarite monastery, Govardhan in about 1400 A.D. He says that he wrote his commentary, Bhāvārthadīpikā by name in strict adherence to the old tradition and followed the foot steps of Citsukhācārya. His commentary is lucid though brief, authoritative though reticent and direct to the point, and that is why most of the commentators have made use of this enlightening exegesis. Nabhadasji (Ref. Bhaktamala - Chappaya 440) recorded a legend wherein it was stated that Lord Bindumadhava of Varanasi has recognised Sridhara's commentary as the authoritative interpretation of Śrī Bhāgavata. The commentators of the other schools also have paid him glorious tributes, and they have incorporated some important points from Sridhara's commentary, in their commentaries. Some commentators frankly,

admitted that they have annotated the Bhagavata only to elucidate the ideas of Sridhara. Jivagosvami observes in his introductory verse that his commentary was intended to elucidate the commentary of Srīdhara, where it was felt some what difficult to understand, and make it clear where it was otherwise. The facts mentioned above go a long way to assess the real worth of Srīdhara's gloss. Srīdhara refers to Bopadeva of the thirteenth century and is referred to by writers like *Viṣṇupurī. So it can be inferred that he flourished in the middle of the 14th century.

2. Srī Vīrarāghavacārya is a representative of the Viśiṣṭādvaita school. He wrote a commentary on the Bhāgavata. He rightly named his gloss the Candrika, for, this commentary is as pleasing as Candrika, or the moon-light, and throws much light on the text. It is an elaborate commentary supplying all the information required. He cited a great number of references in support of his view point. His knowledge of Śāstras is vast and his erudition very deep. His explanations supported by diverse Sastras exceptionally good. It is believed that he belongs to the fourteenth century. He was the son of Śrīśaila of Vatsagotra.

3. Sri Vijayadhvaja Tīrtha is another able commentator on the Bhāgavata. He belongs to the Dvaita School. His commentary is called Padaratnāvalī. He very closely follows the Bhāgavatatātparyanirṇaya of Ananda Tīrtha, which is only a गच्छद्व्याख्या giving elaborate elucidation wherever it is felt absolutely necessary. The Padaratnāvalī abounds in novel explanations and unique etymological derivations depending on Grammar and other Śāstras. The text of the Bhāgavatapurāṇa taken up by Srī Vijayadhvaja records vast number of different readings, and alters the total number and the order of verses as well as the adhyāyas. He is supposed to have lived in the 15th century A.D.

## APPENDICES

APPENDIX 1: We have printed quarter-verse index arranging it in the alphabetical order. Though the task is strenuous and monotonous we have prepared it for the convenience of the scholars. Any quotation, from the Bhagavata, let it be full or half or quarter verse, occurring in any book under study can be found here in the index and its position can be known easily.

APPENDIX 2: In this appendix we have enlisted the quotations occurring in all the commentaries. The commentators who are versatile scholars cite the passages profusely right from the Vedas to the contemporary works either with a view to elucidating the text or to substantiating their explanations or to inculcating the Philosophy more effectively, or to infusing the spiritual consciousness into

---

* Ref. to Purāṇavimarśa pp. 572,573 by Baladeva Upādhyāya.

the hearts of the readers or to kindling the Bhakti or devotion in the votaries towards the God. It was aimed at tracing the sources of the quotations. The number of quotations being prodigious, source tracing proved to be an onerous task. But we have ventured to embark on this new enterprise, bearing in mind the oft-quoted saying - 'अप्यप्रसिद्धं यशसे हि पुंसा मनन्यसाधारण मेव कर्म' which has served as an impetus in this respect. Despite our endeavour, we could not trace the sources of all the quotations. However, we have succeeded in tracing more than eighty per cent sources. But at some places we could not mention the sub-divisions, i.e. Adhyāya, Sarga, Parva, Śloka et cetera. Hence we have given only the name of the text of very voluminous works such as Skānda, where tracing is almost impossible.

It is hoped that the readers are enabled to refer to the original source-texts and benefitted by obtaining more information. We have noted, in brackets the name of the source text and the numbers of the subdivision of the texts, immediately after the respective quotations, in the text of the commentary itself. Not content with this act, we have prepared separately a list of quotations along with the name of the sources et cetera, and arranged them in the alphabetical order and added the same to the text as appendix-2.

## 1. GOPIKRISHNA EPISODE: ITS INTERPRETATIONS *

Critics have not been wanting who have cavelled at the moral stature of Krishna for his questionable relationship with the Gopis and the propriety of a devotional text like the Bhagavata including in itself such highly erotic episodes and their graphic descriptions. So various attempts have been made to get over these difficulties by several theories, some of the most important of which are as follows:

1. The whole episode of Krishna and Gopikas is symbolical and not factual. The Gopikas stand for the soul (Jivatman) and Krishna for the Supreme Soul (Paramatman) and the intense aspiration of the former for the latter is depicted through sexual love. The Jiva in this philosophy is taken as the Prakriti of the Lord and therefore depicted as female. In this theory historicity of the events described is either denied or overlooked, and only a symbolic meaning is attached to the events.

* The following matter under three headings has been taken from the Introduction of Srī Bhāgavata translation by Swāmi Tapasyānanda (Vol.III, Skandha I). I gratefully acknowledge the valuable help obtained.

2. The Bhagavata states that Krishna was only a boy of ten or eleven at that time. So the highly erotic descriptions of the relationship between Him and Gopikas, who are depicted as ladies of mature years, are only poetic exaggerations of some innocent pastoral sports of Krishna with boys and girls of the cowherd community, among whom he spent his boyhood days. The eroticism superimposed on these should be taken only as an aberration of decadent sectaries. Here historicity is accepted in a modified form and the existence of any ethical problem is denied.

3. According to the third theory, while historicity is accepted, it is maintained that the Gopikas were devoid of bodily consciousness and they met Krishna at a spiritual level. Therefore there is nothing carnal about it, as the descriptions are of purely mystical significance. In support of this reference is made to the Bhagavata verse—

"नाऽसूयन् खलु कृष्णाय मोहिता स्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥" [भाग. १०-३३-३८]

which states that while the Gopikas were away engaged in Rasalila their people found them at house also. This mystic element is also hinted at in the very beginning of the description of Rasalila in the statement that Krishna took part in it assuming his Yogamaya or Mystic power.

## 2. BHAGAVATA INTERPRETATION OF THE LOVE OF THE GOPIKAS:

Now what does the Bhagavata itself say on the point? While it is true that the Bhagavata text holds forth hints, justifying all the three explanations given above, the overwhelming evidence of language and description of the text declares inequivocally that the Gopika episode was a physical fact and that all aspects of love were involved in the relationship. Raneh Parikshit to whom the Bhagavata was narrated, takes it in that sense and questions Sri Suka whether there was any ethical propriety, at all in it. In his famous reply to this Sri Suka does not explain away the facts but expounds their significance as follows: "Divine personages are found to override the rules of Dharma (ethics) and do actions apparently for a shocking nature. But just as no impurity affects fire, which consumes every thing, nothing causes blemish to such persons of immense potency. But lesser men should not imitate them in these respects even in mind. If they do so foolishly they will perish, as one will do if one drinks poison following the example of Rudra. The instructions of Godly persons are valid; so are some of their actions too. A wise man will follow only such of their actions as are consistent with their words. It is admitted that for enlightened men without an ego-sense, there is no selfish gain to be attained by any actions and no evil to be warded off by abstinence from them what good or evil can then affect the Supreme Lord Krishna who is the Master of all beings - Devas, men, animals and the rest? By devotion to His holy feet the great sages derive that Yogic power by which they become free from the bondage of all action. How can there be any bondage or sin for the Universal Being,

who has assumed a body out of his own will, and by devotion to whom even these great sages derive their spiritual excellence. He who permeates all beings, including the Gopikas and their husbands and directs minds and senses of everyone even He out of sportive intention has assumed a body as Krishna. For bestowing His blessings on all beings he has assumed a body and he sports with that body in ways that will interest and attract men to Him. By Krishna's mystic power the inhabitants of Vraja found their woman in their homes all the time and had no occasion to be displeased with Krishna. (Bhag X-33-30 to 38)

From this it is clear that just as Krishna faced Kamsa and Sisupala (examples of communion through confrontation) with weapons in hand and raised them to the height of spiritual glory by delivering deadly blows on them. He received the Gopikas who came to him with passionate love stimulated by his exquisite physical charm and the ravishing strains of His flute (Venugana) as an earthly lover receives his beloved, although mentally He was unperturbed and ever-poised in His spiritual Essence. But what starts as a physical passion in the Gopikas gets transformed into a pure spiritual experience in the course of their association with Krishna. By the touch of Krishna, who in the words of Gita is 'Brahman Supreme, the most exalted state of existence and the seat of all purity and holiness', the Kamukis (lustful females) and the Abhisarikas (the passionate women going in search of their lovers) became converted into Premikas (persons endowed with rapturous loving devotion) transcending body-consciousness like the Paramahamsas. If we remember the aspect of Gopi Krishna episode we shall find that Krishna needs no defence and we need not be apologetic about Him by taking refuge in allegorical interpretations. The allegory and symbolism are there and are very important too, but we should not use them to over look or cover up the Bhagavata doctrine that when the mind is firmly fixed on Him, what ever might be the motivating feeling or circumstance. He responds to the Jiva in a manner appropriate to the Jiva's attitude and transforms him by His touch. As stated in the Bhagavata; "The Yogis concentrating their mind on Him as the indwelling self the philosophers who try to see Him as pervading every thing, the Asuras who live in mortal dread of, and in confrontation with Him, and the passionate women who seek physical union with Him in violation of all social and ethical sanctions - they are all alike to Him (Bhag. X. 87-23). The fact that the minds of all these are directed to Him with intensity is sufficient reason for their transformation when they receive His response in the manner appropriate to their respective attitudes. In a study of Krishna's life we should not forget that the Bhagavata looks upon Him not as an oridnary man but as "Bhagavan svayam". Supreme Being Himself manifests as man, to reveal how He becomes the many but continues to be the one Uncorrupted and Perfect Being inspite of His transformation into the many through His Sakti. To attribute corruption to Krishna for any of His actions is therefore as proper or as absurd as attributing corruption to God for manifesting the enigmatic world. All His actions were without any self-centred purpose and were only the expression of the Lord's redeeming love for the

Jivas. Being the one existence that has become the many, He is supra-moral and human standards have no relevance in His case.

## 3. WHY THE MEDIUM OF EROTIC POETRY IS USED?

Regarding the other allied question about the propriety of these erotic descriptions in a devotional scripture, the Bhagavata has got its own answer. The Lord incarnated as Krishna not merely for scholars, philosophers, ascetics, puritans and moralists, but for the good of all who could develop faith in Him irrespective of their spiritual, cultural and moral attainments. A philosopher will be interested only in abstract thought and not in heroic exploits and adventurous stories, on the other hand, a boy or a person without education will only be bored by philosophy, but thrilled by a narration of such exploits and adventures. A diplomat or a politician will not however, be moved by these, he will probably be interested in accounts of state craft and human relationship. An artist or a connoisseur of beauty will have a dread of philosophy and ethics but will be attracted by highly artistic descriptions of romantic love and beauty in all its aspects. The life and teachings of Krishna, the Purnavatara, is meant to attract men of all these types. So in a life abounding in dealings with persons of varied temperaments - philosophers, devotees, ascetics common folk, cowherds, lovelorn women, cruel monsters, oppresive kings, righteous rulers diplomats etc. - Krishna has left for mankind a rich and varied record of events which have been taken up and glorified by the Puranas for edifying and attracting even the so called sense-bound humanity to the devotional cult founded by Him. In later times a great devotee-poet of India, Jayadeva, has probably for this very reason taken up the love relationship of Krishna with the Gopikas as the theme for his famous Gitagovinda, a poetical work of rare literary and musical excellence, noted as much for its devotional significance as for its high eroticism, observing all the rules of Sanskrit poetics. No one can gainsay the fact that this work has exercised a great influence on the devotional and artistic life of India and drawn to Krishna large number of people who would not have otherwise been attracted to God at all. So in justification of its description of these amorous accounts, the Bhagavata itself says - "Having assumed a human body for the blessings of mankind, He adopted such sportive activities as will interest and attract men of various types to Him.... He who with faith in Krishna in his heart hears reads and narrate these amorous dalliances of His with the Gopis, that intelligent man will obtain deep devotion to the Lord and will easily overcome lust, the real 'heart - disease' of mankind" (Bhag, 10-33-37 to 40).

The idea is that the mind of an aspirant with faith in Krishna will gradually be filled with the symbolic and spiritual significance of these descriptions, that it is the passion of the purified soul of man for God that is represented in the Gopikas, longing for Krishna and that if we imitate that passion within ourselves we shall attain to the divine. To several of "his puritanical disciples who expressed disapproval of the Gopikas, love for Krishna on moral grounds, Sri Ramakrishna, who never questioned the factuality of the Gopikrishna episode, never-the-less

replied that if they did not like the Gopikas they might forget them but they must consider themselves blessed if they could manifest towards God a hundredth of that intensity of feeling that the Gopikas had towards Krishna, the Lord of all that exists. The contention of the Bhagavata is that the Gopikas have dug this unique channel of devotion to God by their example, and that none can reach Him in that form of intimacy and intensity unless they sail their boat along the channel they have dug.

A careful reader of the Bhagavata will note that the text is careful to trace the growth of the love of the Gopikas for Krishna from a passionate personal love to love of Him as the Universal Being. Unlike devotees in general, they did not, it is true, pass through the earlier stages of devotional discipline. Being fortunate enough to be the contemporaries of Sri Krishna, the Lord Incarnate their purification was effected by direct contact with Him. Sexual attachment is ordinarily a cause of spiritual down fall, but in the Gopikas such attachment, being directed to Sri Krishna, the Lord Incarnate had the opposite effect of purifying and uplifting them. Reciprocating their love Krishna blessed them with His divine company, but they were soon separated from him when he left Gokula for Mathura from where he sent them the message, "Separation only strengthens love. Soon you will attain to the joy of Brahman which will make you experience separation and union as equally blissful" (Narayaneeyam). When they met him again at Syamantapanchaka some years after they were found to have developed that depth of love through the tormenting yet delightful pangs of separation. On that occasion Krishna gave them full enlightenment that enabled them realise His presence in everything and everywhere. He conveyed to them the following as his last message. "Devotion to me is the only means for attaining to Bliss undecaying. It is fortunate that you have developed attachment to Me which is the means for attaining to Me. Just as all material objects have their beginning and their end infilled by these elements, in the same way understand Me to be the basis of, and the Substance pervading all the worlds, living and non-living. Living beings only experience objects, but the latter do not rest in them (the living beings) but in the lements constituting them. It is, however, in and through Me, the Supreme and imperishable Being, that both these - the experiencing Jivas and the experienced objects constituted of elements have their entity and subsistance". (Bhag. X-82-45-47). It will also be seen from this kind of Bhakti is not Mūḍha, ignorant of Divine excellence; it may be so et the stert, but it brings full enlightenment too. Enlightenment only leads to the enrichment and not to the elimination of devotion.

## INTERPRETATION OF THE VASTRĀPAHARAṆA *

The story of the stealing away of the garments by Kṛṣṇa is intriguing as well as interesting. It was not unusual for the womenfolk of certain parts in

---

*The matter under heading "Interpretation of the Vastrāpaharaṇa" is taken from the book entitled "A critical study of the Bhāgavata Purāṇa" written by Srimati Dr.T.S.Rukmani. I gratefully acknowledge the help I got.

India to remove all their clothes before getting down into a tank or river for a bath. They usually left their clothes on the bank of the river or tank and went into the water. In the Punjab, it is said, that women bathing without clothes on was a common sight till recently. It was probably also prevalent in certain other parts of the country. Assuming that the author of the Bhāgavata was familiar with the habits of the people of Āryāvarta, this stealing of the garments can be explained easily. Thus when Kṛṣṇa saw the clothes of women lying on the bank, he, being a naughty child (naughtiness in childhood bring the sign of greatmen in general) carried them away and gave them back, only when he was appeased with uplifted arms.

The stories given in the Bhāgavata Purāṇa need not be fictitious. What is more probable is that the incidents related actually happened. The author narrates them but does not stop them. He gives the incidents another hidden meaning and uses them as allegories to serve his greater purpose of the search after truth.

Thus, as already stated, the Purañjana legend has been treated as an allegory by the author. In the stealing of the garments also the author tries to tell us repeatedly that the soul's surrender to the Supreme must be unconditional. The gopīs had to lift up their arms in order to get back their garments. It is the same with any bhakta. His surrender must be wholehearted if he wants to please his God.

The author employes the Rāsalīlā as another allegory illustrating in vivid language and imagery the relation between the Supreme Being and His bhaktas.

## ACKNOWLEDGEMENT

It is my ardent duty to express my sincere gratitude to those generous persons who have lent their hand in getting T.T. Devasthanams Sri Bhagavata Critical Edition published. Accordingly I shall endeavour to discharge the pleasent duty of expressing my profound gratitude in this regard. Though I can not adequately convey my gratefulness in words I try to do my best.

At the outset I must sincerely thank the Scholar-Trio, viz Dr. Ekkirala Krishnamacharya, the Chairman, World Teachers Trust, Visakhapatnam, Sri P.V.R.K.Prasad, I.A.S., the then Executive Officer, T.T.D., and Dr. Pannala Radhakrishna Sarma, the then Principal, Matrusri Oriental College, Jillellamudi, with whose streneous and sincere efforts the Sri Bhagavata Critical Edition Project was established in the year 1981 in T.T. Devasthanams. Thence forth the Project has been straining every nerve for the furtherance of the sacred Project work. Every successive Executive Officer,

of T.T.D. has been discharging his part of service with devotional zeal for the success of this work. Here is the successive list of those Executive Officers 1. Sri P.V.R.K.Prasad, I.A.S., (78-82), 2. Sri. G.Kumaraswami Reddy, I.A.S., (82-84), 3. Sri. S.Lakshminarayana, I.A.S., (84-87), 4. Sri. Ch. Venkatapathi Raju, I.A.S. (87-90), 5. Sri. M.V.S. Prasad, I.A.S., (90-92) 6. Sri. D.V.L.N. Murthy, I.A.S., (92-95) 7. Sri. N.Rameshkumar, I.A.S., (95-96). The present Executive Officer Sri. M.K.R. Vinayak, I.A.S., took charge on 12-6-96. He richly deserves our heartfelt gratitude for his generous attitude towards this Godly Project. I express my sincere gratitude to Sri D.Ramakrishna, I.A.S., Joint Executive Officer, for he evinces interest in the Bhagavata Project and the publication work. I also thank Dr.Medasani Mohan, Director, Sri Annamacharya Project for his all round help in respect of the Project work. All the above Executive Officers are to be profoundly thanked for their unstinted help extended to the said Project. Their zeal and interest have gone a long way to carry on the Research work connected with the editing of the Srimad Bhagavata, which is a unique and Spiritual Text, supposed to be a hard nut to crack.

I will be failing in my duty if I forget to express my special thanks to Sri. D.V.L.N. Murthy, I.A.S., who could get a donation of One Lakh of rupees for the Bhagavata Project from a noble donor Sri S. Sambhukumar Kasliwal, Director, M/s. S.Kumar's. Moreover, quite becoming to his interest in the progress of the Project Sri. D.V.L.N. Murthy, I.A.S., made all arrangements for printing of the first Volume of the Tenth Skandha and thus he enabled the Project to go ahead.

My thanks are also due to the learned Editorial Board of Sri Bhagavata Project for its valuable and timely advice. Further, I convey my deep gratefulness to the Chairman and the members of the T.T.Devasthanams Trust Board for financing this Project.

I feel it is quite essential that I must express my deep debt of gratitude to all the members of the Research Department of the Sri Bhagavata Project. Viz. Sri.K.C. Jayachandra sastry. Siromani, Vidvan, Sri.A.Varadarajan, Siromani, Vidvan, Sri.U.Venkataramaiah, M.A., Siromani, (all the above three retired), Sri. S.B.S. Bhattacharya, Siromani, Sikshasastri, Srimati S.Poornavalli, M.A., (Gold Medalist), Dr. S.Dasaradha, M.A.,Ph.D., and Dr.K. Rajagopalan, M.A.,Ph.D.,

Lastly I thank most heartily the noble and generous gentlemen, who have helped me by furnishing old editions of the Sri Bhagavata. The name of Dr. Pannala Radhakrishna

Sarma deserves to be mentioned first as he has given me a great number of different editions of the Sri Bhagavata containing various and numerous commentaries. These books stood me in good stead in respect of the onerous task of my editorial duty. My hearty thanks are due to Sri.K. Appannacharya, Special Officer, The Dasa Sahitya Project. T.T.Devasthanams. He has lent me some books containing Sri Vijayadhvajeeya commentary. I thank also those who supplied me the necessary reference books. I am much beholden to Dr.M.S. Narayana Murthy, the Director, S.V. University Oriental Research Institute, for lending me the required books from the Institute Library. I express my sincere gratitude to all those scholars also who have helped me in one way or the other in editorial task. Lastly I thank M/s Om Shakti Laser Typesetting and M/s Shakti Printers, Madras for their neat executing of the type setting and printing.

Now the first Volume of the Tenth Skandha (out of three volumes of the same skandha) along with the three commentaries, Introduction, Appendices, Bibliography etc. is being presented to the readers. Owing to over sight/ignorance some mistakes might have crept in for which I crave the indulgence of the Readers. Concrete suggestions, if any, for improvement will be received with gratitude. I feel amply rewarded if the edition can serve the purpose of the Readers and Scholars and fulfil the noble objective of T.T.Devasthanams in propagating Hindu Religion.

**—Editor.**

# अवतार

इद मनिवेदितविदितमेव विश्वेषामपि विदुषां यत् धर्मरक्षाबद्धदीक्षं तिरुमल तिरुपति देवस्थानसंस्थानं वेदप्रतिबोधितानां सकलभुवनक्षेमङ्कराणाम् अनादेः काला दनुवर्तमानानाम् आर्षधर्माणां, पुरातन संस्कृतीनाञ्च परिरक्षणाय अविश्रान्त मतन्द्रञ्च प्रयतमान मास्ते इति। इदं संस्थानं, विश्वश्रेयोनिदानस्य वैदिकधार्मिकनैतिकदृक्पथस्य देशे स्थापनाय, सनातनधर्मपुनरुद्धरणाय, भारतीयजनतास्वान्तेषु भक्तिभावजागरणाय, महामनीषिमहर्षिमहनीयसन्देशानां प्रचारेण ख्यापनाय, अनर्घाया भारतीयसंस्कृतेः सर्वजनमानसेषु दृढमूलस्थापनाय, सामान्य जनस्याऽपि हृदये भक्तिभावाविर्भावनाय च धर्मप्रचारपरिषत्, श्रीमद्भागवतशोधपूर्णपरिष्करणपरिषत्, श्रीमदन्नमाचार्यपरिषत्, दाससाहित्यपरिषत्, आळ्वार्दिव्यप्रबन्धपरिषत्, ग्रन्थप्रकाशन परिषत्, वेदस्तोत्रपाठाद्यमूल्यवाङ्मयपट्टिकारोपणपरिषत् (Recording project) इत्याद्या नानाविधाः संस्थाः भक्तजनहिताय स्थापयामासेति निखिलो जनो जानीते।

तथा प्रतिष्ठापितासु संस्थासु मध्ये अन्यतमैषा श्रीभागवत शोधपूर्णपरिष्करण परिषत्। कृष्णद्वैपायन श्रीवेदव्यास प्रणीतस्य श्रीमद्भागवतस्य वाङ्मये लोके च विशिष्टं स्थानं प्रदीयते प्राज्ञैः। तथा हृदयावर्जक मिदं महापुराणम्। विपुले संस्कृतवाङ्मयेऽस्य हि अनितरसाधारणी अर्हणीयता विद्यते। इदं खलु श्रीभागवतोपलब्धं वेदान्तविज्ञानं सर्वसम्मतमतरहस्यं, शास्त्रानुसारिणा पथा सकलसृष्टितत्त्वं, उच्चावचधर्मतत्त्वञ्च बोधयत् नानासम्प्रदायानुगाना मपि अनुकूल मर्थं वितरत् सर्वजनप्रियं सत् राजते। श्रीभागवततत्त्वं जानानो जनः तादृशं हृदयवैशाल्य मश्नुते यतः सर्वजनसौभ्रात्रं लभते। तस्य चेतसि द्वेषलेशोऽपि लब्धपदो न भवति। अत्र कथाः, उपाख्यानानि, धर्मतत्त्वानि च तथा उपदिश्यन्ते यद्वशात् मनुजः संस्कृतः उदारचरितश्च सम्पद्यते। अहो! भागवत मधीत्य बुद्धिमन्तो भागवता भवोयुरिति महापुराणस्य महिमा।

परन्तु अस्मद्दौर्भाग्यवशात् सद्व्याख्यानपरिष्कृतं निर्दुष्टं सुष्ठु मुद्रितं भागवतं अद्यत्वे दुर्लभं भवति। पारायणोपयुक्तः शुद्धो मूलग्रन्थोऽपि दुष्प्रापोऽजनिष्ट। इत्थम्भूते च व्यतिकरे उदारं तिरुमल तिरुपति देवस्थान संस्थानं लोकोपकारचिकीर्षया महाधनसाध्यं बहुश्रमनिर्वाह्यं च श्रीभागवत शोधपूर्ण परिष्करण प्रकाशनकृत्य मुपाददे। ततः पाठकैः बहुदिनप्रतीक्षितं, तच्छ्रद्धानुगुणं ग्रन्थप्रकाशं निर्वर्त्य तान् ग्रन्थप्रतीक्षकान् सन्तोषयितुमैच्छत्। इदं संस्थानं अद्य यावत् विविधागमसम्बद्धान्, भारतीय वेदान्तविषयकान्, समयाचार निरूपकान्, शिल्पशास्त्र निरूपकान् विशिष्टप्रबन्धान्, व्याख्यानग्रन्थान् च बहून् मुद्राप्य प्राचकाशत्। तानि च प्रकाशनानि तज्ज्ञै र्भक्तै र्बहुल माद्रियन्त।

श्रीभागवतप्रकाशने आवश्यकताविज्ञापन मनावश्यकम्, यत इदं महापुराणं सर्वमतसम्मतं विश्वजनसमादृतञ्च। इदं निस्समाभ्यधिकं भक्तिसम्प्रदायविज्ञानसर्वस्वमिति शिरसा श्लाघ्यते। अष्टादशसु पुराणेषु मध्ये अत्युत्कृष्टं स्थानं भजदिदं श्रीभागवतं भृशं प्रशस्यते। "यदिहाऽस्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्" इति, सकलागमविज्ञानसर्वस्वमिति, 'पञ्चमो वेद' इति बहुधा स्तूयमानं, 'महत्त्वा द्भारवत्त्वाच्च महाभारत' मिति च श्लाध्यमानं लक्षश्लोकात्मकं महाभारताख्य मुत्तमेतिहासं विरचय्याऽपि चित्तशान्ति मलभमानं, सरस्वतीनदीतीरे विषीदन्तं वेदव्यासं वीक्ष्य दिव्यो नारदमहामुनिः 'श्रीकृष्णचरितवर्णनप्रवणं प्रबन्धं निर्माही'ति उपदिदेश। अतः चित्तप्रसत्तिसम्पत्तिप्रद मदः पुराण मित्यवसीयते। इदं सर्वै र्नानाविधवेदान्तसमयज्ञैरपि परमं प्रमाण मित्युररीक्रियते; वेदसम्मित मित्यभिमन्यते। निखिलवेदसागरं मथित्वोपलब्ध मास्वदनीयं नवनीत मित्यभिष्टूयते। लब्धवर्णैः, अतथाविधैरपि आदृत्याऽनुभूयमानं द्वयेषामपि प्राचीनवेदतत्त्वसार मक्लेशेनाधिजिगमिषूणां अभिन्नं ज्ञानविज्ञानसम्भिन्न मानन्द मादधातीति हन्त! श्रीभागवतस्य महिमातिशयः! पुराणमणि रयं चतुर्धा वा नवधा वा बहुधा वा विभक्तायाः, किं बहुना विविधरूपायाः भगवद्भक्तेः सोदाहरण स्वरूपनिरूपण प्रवणस्सन् भक्तिभाष्यनाम्ना कीर्तनीयश्चकास्ति। अत एव 'भक्त्या भागवतं ज्ञेय' मिति गीयते।

अपि च 'राजन्ते तावदन्यानि पुराणानि सतां गणे। यावन्न दृश्यते साक्षात् श्रीमद्भागवतं परम्' इति लिखन् व्याख्याता कश्चित् भागवतभाना वभ्युदिते सति पुराणान्तराणि अन्यानि ज्योतींषीव विच्छायान्यजनिषतेति अभिप्रैति। इदम्पुराणस्य वैशिष्ट्य मेव मुदैरिरत् कश्चित्कविः— 'वेदाः प्रभुसम्मिताः, पुराणानि तु सुहृत्सम्मितानि, काव्यानि च कान्तासम्मितानि वर्ण्यन्ते। परन्तु इदं पुराणं पूर्वोक्तत्रिविधोपदेशप्रकाशकं सत् पुराणान्तराण्यतिशेते इति, "वेदाः पुराणं काव्यञ्च प्रभुर्मित्रं प्रियेव च, बोधयन्तीति हि प्राहुः त्रिवत् भागवतं पुनः" इति श्लोकेनानेन स्वाशय माविश्चकार।

तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपायाः विलक्षणगुणानुसन्धानात्मिकाया भक्तेरेव मुक्त्युपायतेति साधारणः प्रत्ययो लोकेऽस्ति। तं प्रत्ययं विष्णुरूपी व्यासः अन्यथयति "कामा द्गोप्यो भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः, सम्बन्धा द्वृष्णय स्स्नेहा द्यूयं, भक्त्या वयं नृप!" इति। भगवत्सम्बन्धः यया कयापि विधया विद्यमानः अपवर्गमार्ग बन्धुः बोभोतीति मुक्तकण्ठं सङ्गिरते च। स च सम्बन्धः कामप्रयुक्तः, भयकारणकः, द्वेषजनितः, बन्धुताप्रेरितः, स्नेहपुरस्कृतो वा भवतु, यथाकथञ्चित् भगवत्सम्बन्धमात्रपवित्रितस्सन् मोक्षसाधक स्सम्पद्यते। अय ममोघ उपदेशोऽत्र लभ्यते।

"रामायणं मक्षिकाणां लघु भारो गजस्य तु' इत्याभाणकरीत्या साधारणज्ञानवतां सुलभज्ञेय मिव भासमान मिदं पुराणं सकलागमनिस्यन्दरूपं सत् महाविदुषामपि यत्नसाध्यबोधं भवति। अत एव "विद्यावतां भागवते परीक्षा'

इति कीर्तितम्। 'हेम्न स्संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिश्श्यामिकाऽपि वा' इत्युक्तदिशा सुवर्ण मनले परीक्ष्यते। शस्त्रभृतां रणे, विपत्तिकाले गृहिण्याश्च परीक्षा विधीयते। तथा विद्यावतां भागवते परीक्षा भवतीति वैदुष्यातिशयमहिम्ना भागवते अर्थविशेषा विदिता भवन्तीति सूरीणामाशय:।

तथा च देवस्थानाधिकृतै: एतादृशस्य पुराणोत्तमस्य परिशोधन प्रतिकर्मितं, प्रकाशनवैविध्यसञ्जातोच्चावच पाठभेदपरिकल्पितान् संशयानपोहितुं समर्थं श्रीमद्भागवतस्य शुद्धं संस्करणं मुद्रणं प्रकाशनञ्च मुख्यकर्तव्यमिति समकल्प्यत। अस्य ग्रन्थस्य प्राधान्यमवबुध्य, विद्वज्जनाभीष्टञ्च विदित्वा अधिकृता: व्याख्यासु प्रधानै र्व्याख्यानै: संयोज्य भागवतं परिष्कर्तुं, पवित्र मिदं कर्म निर्वोढुञ्च भागवतपरिष्करणसंस्थां एकाशीत्यधिक नवशत्युत्तरैकसहस्रतमे (1981) क्रैस्तववत्सरे प्रतिष्ठापयामासु:। तदारभ्य परिशोधनकर्म प्रवर्तमान मास्ते।

आरम्भ एव विज्ञापनीयो मुख्यो विषयोऽस्ति। विशाखपट्टणस्थ 'वरल्ड् टीचर्स् ट्रस्ट्' (World Teachers Trust) नाम्न्या: विश्वाध्यापकोपकारक संस्थाया स्संस्थापकाः श्रीमन्तः (की.शे) डा० कुलपति एक्किराल कृष्णमाचार्याः, तादात्विक तिरुमल तिरुपति देवस्थान कार्यनिर्वहणाधिकारिणः, ऐ.ए.यस्. उपाधिधारिणः श्रीमन्तः पि.वि.आर्.के. प्रसादसमाख्याः , जिल्लेळ्ळमूडिस्थापितप्राच्यकलाशालायाः तादात्विकाध्यक्षाः ब्रह्मश्री डा० पन्नाल राधाकृष्णशर्माभिधानाश्चेति विलक्षणविचक्षणमूर्तित्रितयेन सम्भूय कृतेन अविश्रान्तेन प्रयाससहेन श्रद्धासमेधितेन प्रयत्नेन सङ्कल्पबलेन च प्रोत्साहितैः उपकारप्रसितोदारदेवस्थानीयाधिकृतैरियं परिशोधकपरिषत् प्रतिष्ठापिता सती समेधतेतराम्। आर्षधर्म बोधनेन भरतभूमिः पुण्यभूमिः कर्तव्येति पवित्रोद्देशः कलियुगदेवस्य श्रीनिवासस्य निरवग्रहानुग्रहेण फलेग्रहि र्भूयादित्याशास्महे। पुण्यपत्तन (Poona) प्रतिष्ठापितया श्रीभण्डारकर परिशोधकपरिषदा साधितस्य शोधपूर्णमहाभारतप्रकाशनस्य, बरोडानगर प्रतिष्ठितया प्राच्यभाषा परिशोधक परिषदा निर्वर्तितस्य परिमार्जित श्रीमद्रामायणमहाकाव्यप्रकाशनस्य च दर्शनपठने एतादृशानां परिशोधनकार्याणां स्वयमपि सोत्साहकरणे सूरिमुख्यानचूचुदताम्।

"हर्तुं तम स्सदसती च विवेक्तु मीशः मानं प्रदीपमिव कारुणिको ददाति" अन्धतमसे विचरंश्चेतनः सती मसतीं वा सरणि माभिज्ञातु मप्रभविष्णुः दिङ्मूढ आहिण्डमानो विपद्येत! तदा कृपालुः कश्चिन्नरः 'मा भूदेव मय' मिति प्रसृमरस्वप्रभाविसरविध्वस्तदुर्दान्तध्वान्त मेकं प्रदीपं तस्मै प्रवितरति। अध्वनीनश्च त माधिगत्य सुपन्थान मपन्थानञ्च विविनक्ति। अपथे पद मनिधाय, सुपथि तु निधाय गन्तव्यं पद मनपाय मयते। एव मेव परम कारुणिक स्सर्वशक्तो जगत्पिता भगवान् तमो व्यपोह्य सदसद्विवेक मुपजनयितुं देदीप्यमानं मानाख्यं निस्नेहमपि स्नेहसम्भृतं प्रदीप मस्राक्षीत्। मानशब्देनात्र परमप्रमाणभूतः निगमादिशब्दव्यपदेश्यः अपौरुषेयः शब्दराशिरेव बुबोधयिषितः ।

निरुपाधिकवत्सलः शरण्यो नारायणः स्वाज्ञारूपां विविधपुरुषार्थप्रवर्तिनीं दुरन्त सन्ताप सन्तान सन्दातृ संसार निश्शेषनिकृन्तन बद्धपरिकरां अनश्वरीं अनपेक्षरवात्मिकां श्रुतिं लोकोद्दिधीर्षया चतुराननाय चतुराननाय समुपादिशत्। अस्याः पुनः व्याख्यासापेक्षतां निध्याय स्वयं रूपान्तेरणाऽ वतीर्य कांश्चिन्महात्मनोऽनुप्रविश्य च स्मृतीतिहासपुराणागमादीन् तदुपबृंहणान् ग्रन्थान् व्यररचत्। तेषु च "इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" इत्युक्तरीत्या यथावत् श्रुत्यर्थ बोधने इतिहासपुराणे स्मृत्यागमादीन् अतिशयाते। तयो रपि पुराणं 'यन्न दृष्टं हि वेदेषु तत्सर्वं लक्ष्यते स्मृतौ। उभयोर्यन्न दृष्टं हि तत्पुराणैः प्रतीयते" इति निरूपयता ब्रह्मवैवर्तपुराणवचनेन निगमस्मृत्याद्यदृष्टविषयदृष्टिप्रयुक्तप्रशंसापात्र मिति स्तूयते। तत्राऽपि "कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम्" इत्युपश्लोकितेन व्यासेन ग्रथितम् उपनिषद्व्याख्यानतया जेगीयमानं, "चत्वार एकतो वेदा भारतञ्चेद मेकतः" इति च जोघुष्यमाणं महाभारतं महत्वाद्भारवत्वाच्च अनितरसाधारण्या भासा शोशुभ्यते। "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्कचित्" इति शिरसा श्लाघ्यमान मेतादृशं लक्षश्लोकात्मकं महाप्रबन्धं विरचय्य कृतमुखोऽपि वेदव्यासः अकृतिनमात्मान ममंस्त। अतृप्यन् विषसाद। ततोऽभ्यर्हिततरं पुराणं किञ्चित् आत्मोद्धरणाय तेन निर्मातव्य मासीत्।

अप्रमेयप्रमेयासङ्ख्येय शाखोपशाखोपेतान्योन्यसङ्कीर्ण नानानिगमविभजन परिष्करणालङ्कर्मीणेन, निखिलश्रेयोनिधानमहाभारतनिर्माणनिपुणेन, तावता अतृप्यता सरस्वती तटिनी तटी विषण्णनिषण्णेन, अत एव अवसादपरिजिहीर्षु नारदमुनिनाथोपदेशप्रेरणानुगुण भगवद्गुणवर्णनप्रवणधिषणेन श्रीकृष्ण द्वैपायनेन श्रीकृष्णपवित्रचरित्रचित्रितं श्रामद्भागवताभिधान मेतत्पुराणरत्नं प्राणायि। इदं सकलोपनिषत्प्रतिपाद्यनिखिल वेदान्तसारपूत मिति निश्शेषप्रेक्षावद्गण प्रतीक्ष्यमिति चाऽत्र नास्ति संशयलेशोऽपि। इदञ्च मात्स्यगारुडपुराणाद्यनेक सद्ग्रन्थबृन्दै रुपश्लोक्यमानं बाभाति। यथा निरुपपदानि गीता सहस्रनाम रामायणादि पदानि भगवद्गीता-विष्णुसहस्रनाम-वाल्मीकि रामायणादीनि 'बोधयितु मलम्भूष्णूनि भवन्ति, तथैव निरुपपद: केवलो भागवतशब्द: श्रीविष्णु (पारम्यबोधि) भागवतमेव बोधयतीति निखिलशिष्टजनानुभव प्रतीतोऽयं विषयः भागवत प्रशस्तिं पिशुनयति। निखिलमुनिगणपरिचरणार्चितचरणनलिनयुगलेन वीतरागाणा मग्रण्या शुकमहर्षिणा सश्रद्ध मधीत्य, मोक्षशास्त्रमिति निर्णीय तेन मुनिना मुमुक्षवे परीक्षिते महाराजाय उपदिष्टस्याऽस्य पुराणश्रेष्ठस्य माहात्म्य मुद्भावयितुं भाषादेव्यपि न प्रगल्भेत।

पुराणाना माविर्भावकालं प्रति निश्चप्रचं न किञ्चिद्वक्तुं शक्यते। वेदानामिव इतिहासपुराणादीनामपि कालः अत्यन्तं प्राचीनः इत्येव परं वक्तुं पार्यते। पुराणानामद्यत्वे परिदृश्यमानं परिनिष्ठतं रूपन्तु क्रिस्तोः पूर्वं पञ्चमशताब्द्याः षष्ठशताब्द्या वा परत एव निष्पन्न मिति विमर्शका वदन्ति। तेषां मौलिकं रूपन्तु ततो बहुकालात्पूर्वमेवाऽऽसीदिति निर्णीयते। वेद संहिता समकालिका न्येतानीति अनुमीयते। पुराणनिर्देशः अथर्ववेदे उपलभ्यते। तत्र पुराणं ऋक्सामच्छन्दोभिस्सह

यज्ञोच्छिष्टा दुद्भूत मिति वर्ण्यते। शतपथ ब्राह्मणे, गोपथब्राह्मणे बृहदारण्यकोपनिषदि च पुराणपरामर्शोऽस्ति। महाभूतस्य परमात्मनः निश्वसिता देतत् उदभवदिति बृहदारण्यकोपनिषद्वर्णयति। पूर्वोक्तेषु स्थानेषु पुराण मित्येकवचनान्त मेव पदं प्रायोजि। अत एतद्विज्ञायते यत् पुराणमिति व्यवह्रियमाणा वैदिकविज्ञानसम्बन्धिनी एका प्रातिस्विकी शाखा आसीदिति, सा अद्यत्वे इव विविधमत विद्योतक नानाविध ग्रन्थरूपत्वेन नासीदिति च, सृष्टिः, प्राचीनचरितानि, कथाः गाथाः राज्ञां ऋषीणाञ्च वंशानुचरितं, मन्त्राणां यागानाञ्च आविर्भावसम्बन्धिनो वृत्तान्ताश्च यत्र वर्ण्यन्ते तादृशपुराणस्य पारायणं दीर्घकालानुवर्तिसत्त्रसम्बन्धिधार्मिकानुष्ठानानां मध्ये विरामकाले प्रवर्तित मिति ज्ञायते, विशिष्य अश्वमेधराजसूयादियागाना मनुष्ठानवेलायां पुराणपठनं प्रधानकृत्य मासीत्।

अत्यन्तप्राचीनकाले पुराणपठनं यागानुष्ठानवेलासु ब्राह्मणानामेव पुरोधसां कृत्य मासीत्। ततो गच्छति काले पुराणपठनस्य यागमुख्याङ्गत्व मनङ्गीकुर्वद्भिः वैदिकै रिदं कृत्यं सूतानामेव विहितमभवत्। एतादृशकृत्यविभागस्य सूचिकैषा गाथा परिशील्यताम् - महर्षिर्व्यासः पुराणसंहितासङ्कलनानन्तरं रोमहर्षणाख्यस्य सूतकुलीनस्य शिष्यस्य वशे पुराणप्रवचनकृत्यं समार्पयत्। रोमहर्षणश्च कृत्स्नं पुराणं षोढा विभज्य षड्भ्य श्शिष्येभ्यः प्रायच्छत्। षट्सु एतेषु शिष्येषु त्रय श्शिष्याः तिस्र स्संहिताः पर्यकल्पयन्। एता स्संहिताः रोमहर्षणीया च पुराणवाङ्मयस्य सर्वस्य मूलभूता भवन्ति।

जनश्रुति मनुरुध्य एव मूह्यते। प्रागत्यन्तसङ्कीर्णानां वेदानां परिष्करणं वेदव्यासस्य परमं कर्तव्यमासीत्। तत्परिष्करणानन्तरञ्च वेदतुल्यकक्ष्याणां पुराणाना मपि एकराशीभूय सङ्कीर्णाना मिव स्थितानां परिष्कारोऽपि वेदव्यासेनैव व्यधायि। वेदा स्सर्वे ब्राह्मणपुरोहितेषु निक्षिप्ताः। वेदवाङ्मयापेक्षया पृथक्कृतानि पुराणानि तु सूताधीनानि कृतानि। एते च सूताः कालानुरोधेन प्रजाभिरुच्यनुसारेण च नूत्नै रंशै स्संयोज्य पुराणवाङ्मये महतीं वृद्धि मकल्पयन्त। आपस्तम्बसूत्रकालात्प्रागेव एतानि पुराणानि परिष्कृतरूपाणि विशिष्टस्थानभाञ्जि प्रमाणभूतानि च समपद्यन्त। अतएवाऽऽपस्तम्ब सूत्रे भविष्यत्पुराणात्, अन्यस्मात् कस्माच्चन पुराणाच्च कश्चन ग्रन्थभाग स्समुदधारि। वेदाश्च व्यासेन परिष्कृतास्तदनन्तरं विकृती रभजमाना स्तथैवाऽवातिष्ठन्त। पुराणानि तु प्रातिस्विकेन असाधारणेन मार्गेण वैदिकदर्शनपथ मनुवर्तमानानि क्रिस्तोः पूर्वं पञ्चमशतकात् षष्ठशतकाद्वा आरभ्य, क्रिस्तोः पश्चात् द्वादशशतकपर्यन्तं अतिमात्र मेधमानाकृतीनि समभवन्। भक्तिप्रबोधः, नानाविधा स्समयाः, विज्ञानविषयाः साङ्किकाः चरित्रविशेषाः इत्येते चान्ये च बहवोऽपेक्षिताः अंशाः पुराणेषु पदमलभन्त।

# पुराणलक्षणम्

**"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च**

**वंशानुचरितञ्चेति लक्षणानान्तु पञ्चकम्"**

इति कोशप्रसिद्धं साधारणं पुराणलक्षणम्। एतत् उपपुराणविषये केवल मनुवर्तते इति, महापुराणन्तु दशलक्षणं भवेदिति च ब्रह्मवैवर्ते प्रतिपाद्यते। "एतदुपपुराणानां लक्षणञ्च विदुर्बुधाः। महताञ्च पुराणानां लक्षणं कथयामि ते" इत्यारभ्य सृष्ट्यादि दशलक्षणतां महापुराणस्य न्यरूपयत् ब्रह्मवैवर्तम्।

श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे दशमाध्याये

"अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषण मूतयः ।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्ति राश्रयः ।
दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्॥ (श्लो. 1-2)

दशविधानि लक्षणानि निरदिश्यन्त - 1. सर्गः, 2. विसर्गः 3. स्थानम्, 4. पोषणम्, 5. ऊतयः, 6. मन्वन्तरकथा, 7. ईशानुकथा, 8. निरोधः, 9. मुक्तिः, 10. आश्रयः - इति। तेषां विवरणमपि तत्रै वेतैः श्लोकैः क्रियते—

भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म **सर्ग** उदाहृतः ।
ब्रह्मणो गुणवैषम्यात् **विसर्गः** पौरुषः स्मृतः॥ (3)

**स्थिति** र्वैकुण्ठविजयः, **पोषणं** तदनुग्रहः ।
**मन्वन्तराणि** सद्धर्मः, **ऊतयः** कर्मवासनाः ॥ (4)

अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम्।
सता **मीशकथाः** प्रोक्ताः नानाख्यानोपबृंहिताः ॥ (5)

**निरोधो**ऽस्यानुशयन मात्मनस्सहशक्तिभिः ।
**मुक्ति** र्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ॥ (6)

आभासश्च निरोधश्च यतश्चाऽध्यवसीयते।
स **आश्रयः** परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते॥ (7)

1. आकाशादीनि भूतानि, शब्दादीनि तन्मात्राणि, ज्ञानकर्मोभयेन्द्रियाणि, अन्तःकरणभूतबुद्धिशब्दवाच्यं महत्तत्त्वम्, महदादिपृथिव्यन्तानि - एषां सर्वेषां तत्त्वानां उत्पत्तिः समष्टिसृष्टिः सर्ग इति व्यपदिश्यते। अयं तृतीयस्कन्धे न्यरूप्यत।

2. परब्रह्मणा प्रयोजितः चतुर्मुखब्रह्मा सत्त्वरजस्तमसां वैषम्याद्धेतोः यत्सृजति स पौरुषः सर्गः विसर्ग उच्यते (व्यष्टिसृष्टिः) अयं चतुर्थस्कन्धस्य विषयः।

3. वैकुण्ठस्य हरेः सर्वोत्कर्षेण वर्तनं स्थानम्। इदं पञ्चमस्कन्धे प्रतिपाद्यते।

4. तादृशस्य वैकुण्ठस्य जगद्रक्षणादिरूपो ऽनुग्रहः पोषणम्। विषयोऽयं षष्ठस्कन्धे वर्ण्यते।

5. संस्कारापरपर्यायाः कर्मवासना ऊतय उच्यन्ते। सप्तमस्कन्धे निरूप्यतेऽय मंशः ।

6. वैकुण्ठानुगृहीतानां मन्वन्तराधिपतीनां धर्ममार्गपालनादि चरितवर्णनं मन्वन्तरकथा अष्टमस्कन्धप्रतिपाद्या।

7. हरे र्विविधावतार दिव्यचरित्रानुवर्णनम्, हर्यनुवर्तिनां पुंसां नानाख्यानोपबृंहितानां कथानां वर्णनं ईशानुचरितम्। हरे स्साक्षाच्चरितम्, तदनुवर्तिनाञ्च चरितम् ईश-अनु-चरितम्। नवमस्कन्धप्रतिपाद्यमेतद्भवति।

8. जीवात्मनः स्वकीय कर्मशक्तिभिस्साकं सूक्ष्मावस्थप्रकृतावस्थानं निरोधः । अयं दशमस्कन्धस्य वर्ण्यांशः ।

9. जीवात्मनः देवतिर्यङ्मनुष्यादिविध मन्यथारूपं हित्वा आविर्भूतगुणाष्टकस्य स्वस्वरूपेणावस्थानं मुक्तिः । एकादशे स्कन्धे एष बोध्यते।

10. जगत आविर्भावतिरोभावौ (सर्गप्रलयौ) यस्मा त्प्रभवतः इति प्रमाणै रध्यवसीयते ज्ञायते, सः परब्रह्मादिशब्दवाच्यः परमात्मैव सर्वाधारत्वात् आश्रयः कीर्त्यते।

आश्रयाख्यस्य परमात्मनः विशुद्ध्यर्थं, अर्थात् स्पष्टतया स्वरूपप्रतिपत्तये सर्गादीनां नवानां लक्षण मत्र प्रत्यपादि। ततश्च परमात्मस्वरूपनिरूपण मेव परम तात्पर्यविषयीभूत मस्य पुराणस्येति ज्ञायते।

## *कृतं परिष्करणं - करिष्यमाणञ्च*

अद्य यावत् भागवतशोधपूर्णपरिष्करणपरिषदि श्रीभागवतस्य प्रथमस्कन्धमारभ्य चत्वारः स्कन्धाः निर्दिष्ट व्याख्यात्रितयसनाथाः साङ्गोपाङ्गेन परिष्करणेन संस्कृताः मुद्रणोपयोगिशुद्धलेखनेन सज्जीकृताः। तत्र कश्चिद्विशेषः - प्रथम स्कन्धत्रयस्य चतुर्थी अपि व्याख्या समायोजिता। सुधीसुधानाम्नी सा विवृतिः भागवतपरिष्कारसंस्थायाः भूतपूर्वनिदेशकैः ब्रह्मश्रीमद्भिः डा० पन्नाल राधाकृष्णशर्मभिः नूत्नैर्विमर्शांशै स्साकं सुलभशैल्या प्रणीता। चतुर्षु केवलं प्रथमःस्कन्धः सव्याख्यः, विपुलाभ्यां संस्कृताङ्ग्लभाषामयपीठिकाभ्यां अध्येतृसौकर्यसम्पादकानुबन्धाभ्यां विषयसूचिकादिभिः निर्दिष्टबहुपाठान्तरानुबन्ध्यधस्सूचिकाभिश्च प्रसाधितः सप्तशत्यधिकपृष्ठपरिमितः नवाशीत्यधिकनवशत्युत्तरसहस्रतमे क्रीस्तुवत्सरे (1989) तिरुमल तिरुपति देवस्थानाधिकृतैः मुद्राप्य पाठकसहृदयाराधनाय

प्राकाश्यत। स च श्रीभागवतप्रथमस्कन्धात्मको भागः हृदयालुभिः पाठकै रतिमात्रं समाद्रियतेति विदित्वा निवेदयितुं मोदामहे। पाठकानां साभिनन्दनप्रोत्साहेन समेधितश्रद्धाः अन्यानपि ग्रन्थभागान् श्रीनिवासस्य कृपया, अधिकृतानाञ्च हस्तावलम्बेन क्रमशः प्रकाशयिष्याम इति कृतज्ञास्सप्रश्रयं निवेदयामः ।

चतुर्षु स्कन्धेषु मुद्रणार्थकहस्तलिखितरूपेषु समापितेषु देवस्थानाधिकृताः कृत्स्नस्य श्रीभागवतस्य प्राणभूतः दशमः स्कन्धः, यत्र साक्षात् लीलामानुषविग्रहस्य श्रीकृष्णस्य दिव्यचरितं प्रतिपाद्यते, स एव प्रथमतः परिष्क्रियता मित्यादिदिशुः। पश्चात्तु पञ्चमस्कन्धमारभ्य आनुपूर्व्येण स्कन्धान्तराणां परिष्करणं भवतु इति तेऽभिप्रयन्ति स्म। तदादेशानुरोधेन दशमः स्कन्धः परिष्करणायाऽग्राहि। अयं स्कन्धोऽतिविस्तृतः नवत्यध्यायोपबृंहितः (अधिकपाठात्मकाध्यायैस्सह शताध्यायमितः)। अतोऽयमेक एव स्कन्धः भागत्रयात्मना विभजनीयस्संवृत्तः। तस्य प्रथमभागे अष्टाविंशत्यध्यायाः (1-28) द्वितीयभागे द्वात्रिंशदध्यायाः (29-60), तृतीयभागे त्रिंशदध्यायाश्च (61-90) सङ्कलिताः। एवं दशमः स्कन्धः सम्पाद्य मुद्रणाय सिद्धः कृतः । अद्य प्रथमो भागः साङ्गोपाङ्गपरिष्कारं मुद्राप्य प्रकाश्यते। अपरौ द्वावपि भागौ प्राकाश्यं गमिष्यतः। पञ्चमः स्कन्धः परिष्कृत्य मुद्रणाय सज्जीकृतः। एतर्हि स्कन्धः परिष्क्रियमाणोऽस्ति। तदनन्तरं षष्ठः सप्तमाष्टमनवमैकादशद्वादशस्कन्धानां परिष्करणमुद्रणे क्रमेण भविष्यतः। साम्प्रतं दशमस्कन्धप्रथमभागः सहृदयकोविदेभ्य उपहारीक्रियते। अधिगत्य प्रसीदन्तु॥

## परिष्करणाय पुरस्कृता ग्रन्थाः : तेषां सङ्केतचिह्नानि च

१. **श्रीमद्भागवतमहापुराणम्** - देवनागरी लिपिः। घूर्जरदेशे मुद्रितम्। श्री कृष्णशङ्करशास्त्रिप्रकाशितम्' 'A' इति चिह्नितम्। उपत्रिंशव्याख्यासंवलितम्।

२. **श्रीमद्भागवत पुराणम्** - देवनागरी लिपिः । बृन्दावने मुद्रितम्। इदं 'B' इति चिह्नितम्। नवव्याख्यासनाथम्।

३. **श्रीमद्भागवतपुराणम्** - देवनागरी लिपिः । गोरखपुरस्थ 'गीताप्रेस्' मुद्रणालये मुद्रितम् मूलमात्रम्। अस्य ग्रन्थस्य सङ्केतः 'G' इति।

४. **श्रीमद्भागवतम्** - आन्ध्री लिपिः। श्री पुराणं हयग्रीवशास्त्रि परिष्कृतम्। मद्रपुरीस्थ विवेकादर्शमुद्रणालये मुद्रितम्। 'H' इति चिह्नितम्।

५. **श्रामद्भागवतम्** प्रो०जे.यल्.शास्त्रिपरिष्कृतम् मोतीलाल् बनारसीदाससंस्थया मुद्रितम्। देवनागरी लिपिः। श्रीधरव्याख्यापरिष्कृतम्। 'J' इति चिह्नितम्।

६. **श्रीमद्भागवतम्** - कविभूषण श्रीकुमार ताताचार्यैः परिष्कृतम्। मद्रपुरीस्थ आनन्दमुद्रणालये मुद्रितम्। देवनागरी लिपिः। श्रीवीरराघवव्याख्योपेतम्, 'K' इति चिह्नितम्।

७. **श्रीमद्भागवतम्** - मध्वसंस्थाप्रकाशितम् विजयध्वजव्याख्यायोजितम्। देवनागरी लिपिः। 'M' इति चिह्नितम्।

८. **श्रीमद्भागवतम्** - इदमपरं माध्वप्रकाशनम्। देवनागर्यां लिप्यां मुद्रितम्। विजयध्वजव्याख्यासङ्कलितम्। अस्य चिह्नम् 'Ma' इति।

९. **श्रीमद्भागवतम्** - आन्ध्रलिप्यां मुद्रितोऽयं ग्रन्थः। श्रीमत्त्रिदण्डि श्रीमन्नारायणरामानुजजीयरस्वामिभिः प्रकाशितः। श्रीवीरराघवव्याख्ययाऽलङ्कृतः। 'T' इति चिह्नितः। आन्ध्रलिप्यामङ्कितः।

१०. **श्रीमद्भगवतम्** - ग्रन्थोऽयं श्री वाविळ्ळ रामस्वामिशास्त्रुलुसंस्थया मुद्रितः प्रकाशितश्च। श्रीधरव्याख्यया संयुतः। आन्ध्री लिपिः । 'V' इति चिह्नितम्।

११. **श्रीमद्भागवतम्** - वनपर्तिसंस्थानाधिपतिना राजा रामेश्वररायेण मुद्राप्य प्रकाशितम्। आन्ध्रलिप्यङ्कितो ग्रन्थः वीरराघवव्याख्याभूषितः। 'W' इति चिह्नितः।

## पाठान्तराणां निर्देशे अवलम्बिता सरणिः

अत्र अधिकपाठानां, अधिकश्लोकानाञ्च सूचने समाश्रिता रीतयोऽधस्तात् निर्दिश्यन्ते सहृदयपाठकानां सौकर्याय।

१. सव्याख्यानं परिष्कृत्य प्रकाश्यमानस्याऽस्य ग्रन्थस्य आधारग्रन्थत्वेन प्रायशः 'A' प्रकाशनमुपादीयते।

२. प्रकाशान्तरेषु लक्ष्यमाणानि पाठान्तराणि तत्तत्प्रकाशननामोल्लेखनपुरस्सरं अधोज्ञापिकायां (foot-note) निर्दिश्यन्ते।

३. व्याख्यातृभिः निर्दिष्टानि पाठान्तराण्यपि तत्तद्व्याख्यातृनामनिर्देशपूर्वकं लिख्यन्ते।

४. कस्मिंश्चन प्रकाशने अधोज्ञापिकायां सूचिताः पाठभेदाः यदि कुत्रापि व्याख्याने वा, परिशील्यमानमूलप्रकाशने वा लभ्यन्ते. तर्हि तेऽत्र अधोज्ञापिकायां पार्थक्येन न लिख्यन्ते।

५. यदि कुत्रचित् प्रकाशने कश्चिदधिकः श्लोकः (श्लोकौ श्लोका वा) उपलभ्यते, क्वाचित्कत्वेन प्रक्षिप्त इति मन्यमानोऽपि सः मूलपाठः पारायणानुकूल्यमुद्दिश्य मूलग्रन्थे एव पूर्वोत्तरश्लोकसंख्यां निर्दिश्य तन्मध्यपातित्वेन निक्षिप्यते। यदि तादृशस्य श्लोकस्य व्याख्याऽप्यस्ति तदुचितस्थाने साऽपि योज्यते। अधिकपाठतयाऽङ्गीकृतस्य श्लोकस्य क्रमसंख्या तु (serial number) न दीयते।

६. पदानां वा वर्णानां वा आधिक्यं न्यूनता वाऽप्यस्ति चेत् आधारग्रन्थानुसारमेव तत्तन्निर्दिश्यते।

७. श्रीधरीयव्याख्याने अधिकसंख्याकानां श्लोकानां प्रतीकधारणं दृश्यते। अत इयमेतद्व्याख्यानशैली इति मत्वा, येषां प्रतीकधारणं नास्ति, तेषां तदस्माभिः क्रियते। अन्यव्याख्याद्वितये एवं न क्रियते। यथा मुद्रितग्रन्थे लभ्यते तत्तथैव स्थाप्यते।

८. यत्र तु मूलश्लोकगतानां शब्दानां क्रमे स्वल्पो भेदो लक्ष्यते, यथा — 'यद्बिभेति स्वयं भयम्', (अस्य स्थाने) 'यद्बिभेति भयं स्वयम्' इत्यादिरूपेण, तत्र पाठभेदः अधस्सूचिकायां न लिख्यते, यतोऽत्र अर्थभेदः स्वल्पोऽपि नास्ति (छन्दोभङ्गोऽपि न)। ईदृशस्थाने एकः पाठ उपादीयते, अन्य उपेक्ष्यते।

नियमानामेषां प्रतिग्रहे प्रयोजन मिद मेव — शोधनाय स्वीकृतानां दशानामपि प्रकाशनानां सम्बन्धिन स्सर्वे पाठभेदा विमृश्यन्ते। 'तेषु व्याख्यातृदृष्ट्या, अर्थौचित्येन, सन्दर्भानुरोधेन च य एव उत्तमः पाठः इति सम्पादकैः अभिप्रेयते स एव मूले निक्षिप्यते, शिष्टाः पाठा अधस्तान्निर्दिश्यन्ते। अर्थवन्तः पाठाः सर्व एव लिख्यन्ते। सर्वथा असङ्गता इति मन्यमानास्तु उपेक्ष्यन्ते। ततः पाठकास्सहृदयाः पाठौचित्यं जानन्तु। यदि जातुचित् अधस्सूचितपाठ एव तेषां समुचिततरो भायात् तमेव वा स्वीकुर्वन्तु इति; अत स्सर्वे पाठभेदाः सश्रद्ध मस्माभिः सूचिता स्सहृदया नाराधयेयुरिति विश्वसिमः ।

## अनुबन्धौ

अन्तत एकं विषयं विज्ञाप्य विरन्तुमिच्छामः । पाठकानां सौकर्याय ग्रन्थान्ते अनुबन्धद्वितयं योजयामः। एकस्मिन् श्लोकपादसूचिका अकाराद्यनुक्रमेण समयोजि। यत्र कुत्राऽपि दृश्यमानः एकः पादोऽपि भागवतीयः भवेत् अत्र दृष्ट्वा स पादः कतमस्कन्धीयः कतमाध्यायिकः कतमश्लोकीयः इति च क्षणेन ज्ञातुं शक्येतेति, तदर्थोऽयं प्रयत्नः। प्राचीनमतत्रयसम्बन्धिषु व्याख्यानेषु प्रकृतविषयोपबृंहणाय, प्रतिपाद्यांशसमर्थनाय, संवादाय वा श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणागमकोशव्याकरणादिशास्त्रग्रन्थेभ्यः विवरणकारै रुद्धृता अंशा श्शतश स्सहस्रशश्च सन्ति। यदि तेषां आकरनिर्देशः क्रियेत पठितॄणामाकरग्रन्थजिज्ञासा उपशमिता भवति। ते च आकरग्रन्थान् परामृश्य अधिकांशानपि जानीयुः । एवं सहृदया स्समाराधिता भवेयु रिति सङ्कल्प्य सोढ्वा महान्तं श्रमं, तत्तव्याख्यानस्थले एव आकरनिर्देशं विधाय, तावताप्यतृप्यद्भि रस्माभिः शतशो विद्यमानानां उद्धरणानां साकरग्रन्थनिर्देशं, अकाराद्यनुक्रमेण अनुबन्धे द्वितीये सविशेषं स्थापनं विहितम्। स्थेयान्प्रयत्न आस्थेय स्सिद्धयेऽनल्पकर्मणः इति प्रयत्यापि सर्वेषां उद्धरणानां आकरा न लक्षिताः, तथाऽपि शते अशीत्यधिकानामुद्धारणानां आकरा निरदिश्यन्त। यत्र तु विजयध्वजीयव्याख्यादृष्टानाम् उद्धरणानां आकरनिर्देशः सर्वमूलग्रन्थान्तर्गत श्रीभागवततात्पर्यनिर्णयग्रन्थात्सम्पाद्य कृतः तत्र तात्पर्यनिर्णयग्रन्थदृष्टया रीत्या केवल माकरग्रन्थ नामनिर्देशः कृतः। अध्यायाद्यवान्तरग्रन्थभागो न निर्दिष्टः । अन्येषान्तु अवान्तरजग्रन्थभागोऽपि यथोपलम्भं सूचितः।

## — ★गोपीकृष्णप्रेमवृत्तान्तः, तत्तत्त्वञ्च —

गोपाङ्गनानां श्रीकृष्णस्य च मध्ये विद्यमानस्य प्रेम्णः समाधानसापेक्षं नैतिकमौचित्यं प्रति, तादृश प्रणयवृत्तान्तस्य भक्तिभावसम्भृते श्रीभागवते वर्णनं, शृङ्गाररसतुन्दिलानां साङ्गोपाङ्गविपुलवर्णनात्मकानां कथांशाना मत्राऽनुप्रवेशञ्चोद्दिश्य विमर्शकाः असम्मतिं प्रदर्शयन्तो विमृशन्ति। श्रीभागवतसाधुतासम्पादनाय प्रयस्यन्त स्सुधियः उच्चावचैस्सिद्धान्तकल्पनैः तथाकृतान् विमर्शान् समाधातुं प्रायतन्त। तेषु प्रधानमतरीतयस्तिस्र उदहह्रियन्ते।

स्वामि तपस्यानन्दरचिते उपोद्घाते — "Gopi-Krishna Episode: its Interpretation", "Bhagavata Interpretation of the love of the Gopikas", "Why the Medium of Erotic Poetry is used" इति शीर्षकत्रयं दत्वा लिखितान् विषया-नधीत्य इदं लिखितम्। सभक्ति कृतज्ञतां निवेदयामि।

1. सर्वोऽप्यत्र गोपिका श्रीकृष्ण प्रेमोदन्तः चरित्रसिद्धा वास्तविककथा न भवति। अपि तु रूपकाति शयोक्तिच्छायाकल्पितैव। अत्र गोपिकाः जीवात्मस्थानीयाः, वासुदेवस्तु परमात्मस्थानीयः। भक्तिपवित्रस्वान्तस्य जीवस्य परमात्म साङ्गत्यविषयिणी अतिशयिता श्रद्धैव भौतिकशृङ्गाररूपं गमिता। अत्र अध्यात्मदृष्ट्या, जीवः परमात्मनः प्रकृतिरिति तस्मिन् स्त्रीत्वमकल्पि। अस्मिन् सिद्धान्ते चारित्रिकसत्यता तिरस्कृता, उपेक्षिता वेति वेदितव्यम्। सर्वासां सङ्घटनानां साङ्केतिकं रूपण मेव कृतमिति मन्तव्यम्। इयमेका रीतिः।

2. इदं भागवतात् ज्ञायते यत् तदात्वे श्रीकृष्णः दशवर्षप्रायः एकादशवर्षवया वा बाल इति। अतोऽस्मिन् कामकलाविष्टाश्चेष्टा न स्थानं लभेरन्। शृङ्गारकाष्ठारूढानां चर्याणां का नामाऽत्र प्रसक्तिः? अतः क्रीडालोलस्य आभीरबालस्य गोपाल बालबालिकाभिस्सहानुभूतासु निर्मायबालक्रीडासु कविताशैल्या अतिशयोक्ति मास्थाय शृङ्गारभङ्गी मारोप्य चमत्काराय तादृग्वर्णन मकारि। श्रीकृष्णो गोकुले गोपबाल इव युक्तवयस्काभिः बालिकाभिः सहितः गोपकुलसहजाभिः शुचिक्रीडाभि र्विनोदरसमनुभवन्नाऽऽसीत्। अकलङ्कबाललीलासु शृङ्गारारोपः अनुदात्तमताविष्टैः कल्पितः। अस्मिन् मते चरित्रसिद्धा एव बाललीलाः औदात्त्यदृष्ट्या भाविता इति अत्र अधार्मिकत्वशङ्काया नैव प्रसक्तिः।

3. अथ तृतीया निर्वहणरीतिः। अस्मिन् मते चारित्रिकसत्यमुररीक्रियते। अत्र गोपिकाः भौतिकवासनारहिताः शरीराभिमानशून्याः। ताः परमात्मेति मन्यमानेन श्रीकृष्णेन आध्यात्मिकभावेनैव सङ्गताः। तत्र दैहिककामसुखगन्धो नास्ति। अत्र वर्णनं सर्वमपि अवर्णनीयाध्यात्मरहस्यसम्बन्धसम्बद्धमवगन्तव्यम्। अस्य वादस्य बलं भागवतश्लोकेनानेन सम्पद्यते।

"नाऽसूयन् खलु कृष्णाय मोहिता यस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥ (भाग. 10-33-38)

यदा गोपाङ्गनाः रासक्रीडानुबद्धा अभूवन्, तदा तासां भर्तारः स्वां स्वां जायां पार्श्वस्था मेव मन्यमानाः श्रीकृष्णाय नाऽभ्यसूयन्ति स्म इति सर्वमपि भगवन्मायानिर्वृत्त मिति बोध्यते। आश्चर्यजनन्या योगमायायाः प्रभावादेव सर्वं सम्पद्यत इति रासक्रीडारम्भवर्णनसमय एव योगमायामहिमा — "भगवानपि ता रात्री श्शरदोत्फुल्लमल्लिकाः। वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमाया मुपाश्रितः (भाग. 10-29-1) इति पद्येन असूचि।

## गोपिकाप्रणयः

अत्र विषये भागवतदृक्पथः क इति किञ्चिद्विमृश्यते। उपरिनिर्दिष्टवादद्वयमपि असन्दिग्धं समर्थयते श्रीमद्भागवतम्। अत्र वर्ण्यमाना गोपिकाकथा तत्सम्बन्धबान्धव्याद्यनुबद्धा अंशाश्च वास्तविका इत्यत्र विषये, भागवतभाषा, तद्गतवर्णनारीतिश्च अतिमुख्यं साक्ष्यं ददतः। यस्मै किल भागवत मुपदिश्यते स परीक्षिन्महाराजोऽपि तथैव विश्वसन् "भागवतकथायां नैतिकमौचित्यं किमस्ति?" इति शुकमुनि मपृच्छत्। अयं महर्षिः स्वीयेऽद्भुतसमाधाने तद्वर्णितानां वृत्तान्तानां व्याख्यां न व्यदधात्। अपि तु तेषां गूढाभिसन्धि मित्थं व्याकरोत्। दिव्यशक्तियुता महात्मानः धर्मान् नीतिमार्गांश्च उल्लङ्घन्ते। विद्युदाघातसदृशीः क्रियाः विदधति। भक्ष्यसम्बन्धिनो दोषाः सर्वभक्षकं पावकं न लिम्पन्ति। तथैव दिव्यशक्तिमतो महापुरुषान् तत्तत्कृत्यदोषाः न स्पृशन्ति। साधारणैः नरैः तेषां ताश्चेष्टा उदाहरणाय स्वीकुर्वद्भिः मनसाऽपि नाऽनुकरणीयाः। "दृष्टो धर्मव्यतिक्रमस्साहसञ्च महतां न तु दृष्टार्थेऽवरदौर्बल्यात्।" ते महात्मानः धर्ममतिक्रामन्ति, भ्रंशं निवारयितुमपि प्रभवन्ति। अल्पैर्मानवैस्तन्नाऽनुसर्तव्यम् इति गौतमस्मृतिः स्मर्यताम्। अविवेकाद्यदि अधर्ममाचरेयु स्ते विनिपतेयुः। हालाहलं पीतवन्तं महेश्वरं स्मृत्वा स्वयं यदि कश्चि द्विषमुपादत्ते स

म्रियेतैव। दिव्यपुरुषाणा मुपदेशाः क्रियाश्च अर्थवन्तो भवन्ति। विवेकिभिः आचरणयोग्या उपदेशाः क्रियाश्च अनुसरणीयाः। दिव्यज्ञानसम्पन्नाः अहन्ताशून्याः स्वार्थदृष्टिदवीयांसः यद्यत्कर्म सदसद्वा कुर्वन्ति, तद्वासता, प्रयोजनं वा, असता अनर्थो वा तेषां न सम्भवति। सत्येवं, सर्वशक्तं सर्वज्ञं सार्वं (सर्वहितकरं) सकललोकाधीश्वरं देवनरपशुपक्ष्यादिसकलप्राणिना मपि प्रभुं वासुदेवं किं वा दुश्चरितं विप्रकुर्यात्? यस्य पुरुषोत्तमस्य दिव्ये पादारविन्देऽर्चन्तोऽभिध्यायन्तो योगिनः सर्वबन्धविमुक्ता भवन्ति, तस्य विराड्रूपस्य स्वेच्छागृहीताभिमतोरुदेहस्य को वा बन्धः? किं वा पापम्? यस्मिन्भक्त्या योगिनोऽपि अध्यात्मशक्तेः परां काष्ठां लभन्ते। गोविन्दोऽयमन्तर्यामी भूत्वा, गोपिका स्तासां पतींश्च वशवर्तिनो विधाय तन्मनांसीन्द्रियाणि च प्रेरयति। भागवतैः सार्धं क्रीडितुं ता नुद्धर्तुमेव च लीलार्थां तनूं नन्दनन्दन आददे। सर्वप्राणिमनोहरया तया तन्वा तान् स्वोन्मुखा नाकृष्य तेषां प्रेमवर्धनाश्चेष्टा स्तनोति। कृष्णयोगमायाशक्तिः तादृशी भवति यया व्रजवासिनस्समेऽपि स्वस्वदारा उपकण्ठे वर्तन्त इत्यमन्यन्त। अतो गोपानां भगवति अप्रीतिविषय एव नाऽऽसीत्। श्रीकृष्णः सायुधः कंसं शिशुपालञ्चाऽभिययौ। तो सं हत्य, पापेभ्यो मोचयित्वा च तयो समुन्नतं स्थान मकल्पयत्। द्वेषनिमित्तकमोक्षस्यैत दुदाहरणम्। कामा द्गोप्यस्तथैव समुद्धृताः। भगवत्सम्बन्धः यादृश स्तादृशो वा भवतु स जीवात्मान मुद्धर्तुं प्रगल्भते।

"कामात् द्वेषात् भयात् स्नेहात् यथाभक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहव स्सद्गतिं गताः॥

तद्यथा "गोप्यः कामात्, भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद्वृष्णयः, स्नेहा द्यूभ, क्त्या वयं विभो!'॥ (भाग. 7-1-29 & 30)

भगवतोऽतिमानुषसौन्दर्यश्रिया, दिव्यवेणुगानस्रवन्त्या च उह्यमानाः भौतिकप्रेमसम्भृताः गोप्यः साधारणं प्रेयांसमिव कृष्णमभीयुः। विकारहेतावप्यविकृतचेता धीरोऽनादिब्रह्मचारी देवकीतर्णकः (वत्सः) तैर्मिलित्वा स्वसम्बन्धेन तासां भौतिकं प्रेमाणं दिव्यत्वसम्पन्नमकार्षीत्। गीताचार्यः श्रीकृष्णः परं ब्रह्मैव। तस्य स्वरूपं हेयप्रत्यनीकं सकलकल्याणगुणास्पदञ्च, महोदात्तञ्च। कामातुराः दैहिकभौतिक सुखकाङ्क्षिण्य इव, कामुक्यः, अभिसारिका इव च तेन पुण्डरीकाक्षेण संयुज्य गोपवधूट्यः अपोढकामवासनागन्धाः दिव्यभक्तिभावसम्भृताः परमहंसा इव शुद्धात्मानस्समजनिषत। अनेन दृक्पथेन यदि चिन्तयामः, तदा भगवत्प्रवृत्तौ संशयलेशोऽपि न स्यात्। भगवति चित्तैकाग्रता मुख्या भवति। तादृक्प्रवृत्तौ प्रेरणा यादृशी तादृशी वा भवतु, स तु कृपालु र्भग–हन्अतान् जनान् सत्पथप्रवर्तिन स्संस्कृत्य भवाब्धे स्तां स्तारयत्येव। संसारभोगिसन्दष्टजीवजीवातु र्भक्तिः।

"निभृत मरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि य-
न्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्ड विषक्तधियो
वय मपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः"॥ (भाग. 10-87-23)

मुनयः नियमितवायुमनइन्द्रियाः दृढयोगासक्ताः त्वदीयं यत्तत्त्वं प्राप्नुवन्ति स्म, द्वेषपूर्वकस्मरणात् शत्रवोऽपि तत्तत्वं प्राप्नुवन्, गोपकान्ताश्च भोगिभोगपरिणाहसुन्दरत्वदीयबाहुसौन्दर्यसमासक्तबुद्धय स्तदेव आपुः। वयं अर्थात् वेदाधिदेवताः भवत्पादारविन्दामृतरूपाः प्रकाशिका भूत्वा तत्तत्त्वमेव भजामः। सर्वत्र त्वं समदृष्टिरसि इति श्लोकसङ्ग्रहार्थः। सर्वविधोऽपि भगवत्स म्बन्धः भगवत्पत्यामिसम्पादकत्प्राः।

भगवद्विषये चित्तासक्तौ तीव्रतैव प्रधानांशः। सा रागात्मिका वा भवतु, योगात्मिका वाऽस्तु, अपरागात्मिका वा वर्तताम् सार्वदिकसंस्मरणमेव तान् जनान् मोक्षार्हान् वितनुते। भगवतो नन्दकिशोरस्य अद्भुतं चरितं श्रद्धया यदि चिन्तयामः, तदा श्रीकृष्णस्साधारणो मनुजो न भवति, अपि तु "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति निश्चेष्यामः। 'अजायमानो बहुधा विजायते' इति एकोऽप्यनेकात्मा कार्यानुरोधेन मायाशक्त्याऽवतरति। तथाऽपि 'अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने' इत्युक्तदिशा अग्निहोत्र इवाऽतिपवित्रः अविकृत एव विद्योतते देवः। तस्य अवतारा आश्चर्यचर्याश्च स्वप्रयोजनशून्याः जीवोद्धरणदाक्ष्यमेव पिशुनयन्ति। ततोऽयं शुद्धशील इत्यत्र संशयलेशोऽपि मा क्रियताम्।

## ॥ शृङ्गारकलितायाः कवितायाः प्रयोजनम् ॥

भक्तिप्रधानपवित्रपुराणे शृङ्गारवर्णनौचित्यानौचित्यविषये श्रीभागवतादेव समाधानं लभ्यते। जगता मधीशः विदुषां, वेदान्तिनां, योगिनां, श्रोत्रियाणां, नयमार्गानुवर्तिनामेव कृते नाऽवततार। अपि तु, भगवति पूर्णविश्वासवतां कृते - ते नयशालिनः, अध्यात्मविदः, संस्कृतिपूर्णा वा मा भवन्तु नाम - कृष्णोऽवतारं स्वीचकार। वेदान्तिनः साधारणजनदुर्बोधेषु विषयेष्वेव श्रद्धां वहन्तः, न साधारणदुर्ललित चेष्टासु, साहसक्रियासु च श्रद्धालवो भवन्ति। राज्यरक्षाकर्मनिपुणः अर्थशास्त्रे आदरं वहेत्। सुकुमारचेतास्सहृदयः अध्यात्मविद्यायाः नीतिशास्त्राच्च उद्विजते; परन्तु स रसज्ञः मनोज्ञविषयेषु प्रणयप्रधानेषु प्रबन्धेषु अभिरुचिं प्रदर्शयेत्। गुडजिह्विकान्यायेन उपवर्ण्यमानप्रेमरञ्जिते श्रीभागवते पूर्णावतारभूतस्य श्रीकृष्णस्य बालपोगण्डलीलामधुराः भिन्नभिन्नस्वभावानां नानारूपभावावेशवतां वेदान्तिनां अध्यात्मविदां योगिनां धार्मिकाणां भक्तानां वियोगिनां क्रूराणा मक्रूराणां पुंसां स्त्रीणां बालानां वृद्धानाञ्चेति नानाप्रकाराणामपि तत्तदभिरुच्यनुगुणाः अद्भुता श्चारित्रिकसङ्घटनाः निधय इव निक्षिप्ता वर्तन्ते। गोपिकाप्रणयवृत्तान्ताः शृङ्गारानुबद्धा इव दृश्यमाना अपि तथोपदिष्टाः, यथा तासां प्रारम्भदशायां भौतिकानुरागरूपोऽपि प्रणयः दिव्यप्रेमभक्त्यात्मना परिणत इति ज्ञायेत।

एवं गोपिकाप्रेम साधारणकक्ष्यारूढमपि उत्तमकोटिमधिरोहतीति इम मंशं श्रीभागवतादवधार्य महाकविर्जयदेवः गोपीकृष्णप्रणयवृत्तमेव प्रधानप्रतिपाद्यतयोपादाय अत्यद्भुतं गीतगोविन्दाख्यं निस्समाभ्यधिकं दिव्यकाव्यं रसिकजनानां भक्तानाञ्च हृदयेषु अनवधिमानन्दथु माविर्भावयितुं निरमासीत्। सङ्गीतसाहित्योभयरसधुनीपरिप्लुतमिदं काव्यं सकलप्रबन्धलक्षणसम्पन्नं विद्वन्मनोहरं शृङ्गाररसोपचारपुरस्कृतञ्च भूत्वा कृष्णभक्तिरसमयहृदयेषु क्रमशः परमोन्नतभक्तिरसस्रवन्तीः प्रवाह्य, तान् भागवतान् उदात्तभक्तिप्रवणानचीकरत्, करोति च। भक्तहृदयवशीकरणे गीतगोविन्दस्य प्रभावोऽतिमहान्, यञ्च जनयितुं प्रबन्धान्तरं न शशाक।

इदं भागवतवचन मनुशील्यताम्-

"अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देह माश्रितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥" (10-33-37)

"विक्रीडितं व्रजवधूभि रिदञ्च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुया दथ वर्णयेद्यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोग मा श्वपहिनो त्यचिरेण धीरः॥" (10-33-40)

श्रीहरिः निखिलप्राणिकोटीना मनुग्रहाय केवलं मानवीं तनू माशिश्रिये। तत स्तादृशी अतिविलक्षणाः क्रीडा भेजे, याः श्रुत्वा कृत्स्नो जनोऽपि पारवश्यं विन्दते। व्रजवनिताभिस्सह श्रीहरेर्लीलां श्रद्धाभक्तियुतो यः कोऽपि जनः शृणुया द्वर्णयेद्वा स सर्वोऽपि भगवति अप्राकृतां भक्तिं सम्प्राप्य धीरो भूत्वा अविकृतचित्तः दुर्दमहृदयरोगं कामं दूरेऽपोहति। अस्याऽयं भावः - आरम्भे भौतिकवासनादूषित इव प्रतिलभ्यमानः प्रेमा क्रमशोऽपास्तभौतिकगन्धः पवित्र स्सम्पद्यते। समासादितदिव्यगुणयोगः तादृग्विध एव गोपीप्रणयः।

श्रीरामकृष्ण परमहंसः कृष्णगोपीप्रणयकथां सत्यदवीयसीं नोदैरिरत्। परमच्छान्दसवेदान्तिनो बहव स्तच्छिष्याः गोपीकृष्णप्रणयचरिते नैतिकभ्रंश माकलयन्तो गुरुं तत्रौचित्य मपृच्छन्। तदा तानुद्दिश्य परमहंसः इत्थं समाहिति मभ्यधत्त - "यदि यूयं गोपीवृत्ते श्रद्धां न वोढु मर्हथ तर्हि तद्विस्मरत। परन्तु, कृष्णे यां तीव्रां भक्तिं ता भेजिरे तस्याः शततमी मपि वा कलां यूयं चराचरप्रभौ परमात्मनि अनुभवितुं कुशला यदि भवथ, तर्हि 'यूयं श्रीकृष्णेनाऽतिमात्र मनुगृहीता वय' मिति मन्यध्वम्" इति।

भागवताभिसन्धिरयं भवितुमर्हति — "गोपिकाः स्वात्मशक्त्या खनित्वा अतिविलक्षणां काञ्चन भक्तिस्रोतो वहां निर्ममिरे, तया भक्तिवहिन्या भगवत्सन्निधि मधिगन्तुं कश्चित् न प्रयतेत चेत् सः तादृगादरपवित्रप्रेमपूर्णं भगवन्तं प्राप्तुं न प्रभवे देव" इति।

श्रीभागवताध्ययनेनेदं विज्ञायते यत् सर्वात्मनि कृष्णे गोपिकानां भक्तिरारम्भलघ्वी क्रमशोऽतिमहती ववृधे इति। साधारणस्य परोक्षभक्तस्य आरम्भदशातः पूर्णदशापर्यन्तं क्रमिकदशाः बह्वयः कृच्छ्रसाध्या भवेयुः। तादृशसङ्कटं महाभाग्यभाजां समकालवर्तिनीनां अतएव साक्षादीक्षमाणानां अवताररूपेण कृष्णेन क्रीडन्तीनां नासीत्। तासां साहजिकी वेगवती च प्रणयाभिवृद्धि रजायत। सामान्यतो लोके स्त्रीपुंसम्बन्धिसम्पर्कः विनिपातायैव मार्गं दर्शयेत्। परन्तु अत्र लोकानुग्रहायावतीर्णेन वासुदेवेन सम्बद्धः प्रेमबन्धः पवित्रीकरणालङ्कर्माणो बभूव। भक्तमन्दारो भगवानपि तत्प्रणयानुगुणमेव स्वदिव्यसङ्गत्या ता अन्वग्रहीष्ट तथाऽपि। लघुनैव कालेन गोकुलं विहाय मधुरा मभिगच्छता कृष्णेन विप्रयुक्ता गोप्य आसन्। प्रोषितेन कृष्णेन गोपिकाभ्य इत्थं सन्देशः प्रहितः "न विना विप्रलम्भेन शृङ्गारः पुष्टिमश्नुते" इति रीत्या वियोगोऽनुरागं द्रढयति। अचिरेणैव ब्रह्मानन्दानुभवायाऽर्हा भविष्यथ; यदा संयोग वियोगावुभावपि समान मानन्दं जनयिष्यतः" इति। पश्चाद्यदा यातेषु कतिषु च न वत्सरेषु श्यमन्तपञ्चके प्रेयसा सङ्गताः प्रिया गोप्यः विप्रयोग विवृद्धप्रेमाणोऽदृश्यन्त। तस्मिन् समये स ता स्सम्यक् प्राबोधयत्; यतश्च गोप्यः परमात्मन स्तस्य सान्निध्यं सर्वेष्वपि प्रदेशेषु पदार्थेषु चानुभवितुं शेकुः। तादात्विकः तत्सन्देशस्तु एवम् —

"मयि भक्ति र्हि भूताना ममृतत्वाय कल्पते
दिष्ट्या यदासी न्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः॥
अहं हि सर्वभूताना मादि रन्तोऽन्तरं बहिः।
भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योति रङ्गनाः॥
एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्माऽत्मना ततः।
उभयं मय्यथ परे पश्यताभात मक्षरे"

"अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः॥
तदनुस्मरणध्वस्त जीवकोशा स्तमभ्यगुः॥" (भाग. 10-82-45 to 48)

मद्विषयिणी भक्तिः मोक्षाय कल्पते। युष्माकं मयि जाता या भक्तिः सा अदृष्टवशा न्मत्प्रापिका समपद्यत। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाः भूतपरिणात्मकदेहानां अन्तर्बहिश्च वर्तन्ते। तथैवाऽहं सर्वभूतानां सृष्टचन्त कारणंभवामि अन्तर्बहिश्च व्याप्य तिष्ठामि। भूतपरिणामात्मकदेवादिशरीराणि, तेषु स्थित मात्मानञ्च अन्तर्बहिश्च व्याप्य अहं स्थितः। अतः चेतनाचेतनात्मक मुभयं व्याप्य तिष्ठामि। तथाऽपि व्याप्यगतदोषास्पृष्ठे मयि सर्वं पश्यत।

एवं कृष्णेन आध्यात्मिकविद्यायां प्रापितशिक्षाः गोपिकाः मनःपूर्वकनिदिध्यासेन ध्वस्तकर्ममूला सानाः भगवन्तं प्रापुः। मुक्ता बभूवु रित्यर्थः।

अतश्चैतदपि ज्ञायते यत् दिव्यमाहात्म्य मजानती मूढभक्तिरियं न भवति। आरम्भकाले सा तथा भायादपि। तथापीय पूर्णं विवेकं विज्ञानञ्चाऽऽतनुते; पूर्णोविवेकश्च भक्ति मेधयति, न कदाऽपि ह्रसयति।

## — गोपिकावस्त्रापहरणलीला —

नदीतीरे वस्त्राणि विसृज्य जलाशये स्नान्तीनां गोपिकानां चेलानि श्रीकृष्णोऽहार्षीदिति भागवते वर्ण्यमाना वस्त्रहरणकथा अधर्म्याचरणरूपा विस्मयानन्दजननी व च भाति। भारत देशे क्वचित् वसनविसर्जनपूर्वकस्नाना चरण मभ्यासे वर्तते। पञ्जाबदेशे स्त्रियः सर्वाण्यमि वस्त्राणि विहाय दिग्वसनाः स्नान्तीति क्वचिल्लिखितं दृश्यते। आर्यावर्ते विद्यमानमिममाचारं विदितवान् श्रीभागवतग्रन्थकर्ता तमाचारं श्रीकृष्णचरितानुबद्ध मवर्णयदिति केचिदाशेरते।

कदाचित् कात्यायनीव्रत माचरन्त्यः गोपाङ्गनाः वसनानि तटे निक्षिप्य स्नातुं सलिलेऽवातरन्। तद्दृष्ट्वा बालकृष्णः झटिति तत्र गत्वा चेलानि चोरयित्वा तटस्थं कदम्बतरु मारुरोह। अशिक्षितेषु स्वतन्त्रेषु दुर्ललितेषु बालकेषु एतादृश्य श्चेष्टा दृश्यन्ते। ये तावत् विशिष्य पश्चाद्वयःपरिणामे महान्तो भविष्यन्ति ते बाल्ये किञ्चिद्दुर्वृत्ताः परिदृश्यन्ते। इदं चरिता दवगम्यते। अनया दृष्टया यदि विमृशामः वस्त्र हरणवृत्तान्तः काल्पनिक एवेति न भायात्। कृष्णकृत मिदं चौर्यकर्म सत्यमेवेति विश्वासो भवति। आशैशवा न्नवनीतस्तेयसिद्धहस्तोऽय मद्य निभृतं वसना न्यचूचुर दिति न किञ्चि दसम्भाव्य मत्र वर्तते। सत्यकथेयम्।

परन्त्वत्र वासुदेवचरिते अधार्मिकत्व बुद्धिः, कामुकत्वशङ्का, (व्रीडादायि) अश्लीलत्वस्फूर्तिश्च भवन्ती कथं समाधीयताम्?

ग्रन्थकर्ताऽत्र सूक्ष्मधर्मं बुबोधयिषुरिवाऽस्ति। आपातरमणीयामिमां कथां द्वारीकृत्य सत्यज्ञापनपूर्वक मन्यत्प्रयोजनं सिषाधयिषति। पुरञ्जनोपाख्यानेन व्याजीकृतेन सूक्ष्म मन्तर्निगूढधर्मं यथा उपादिक्षत्, तथाऽत्रापि चिकीर्षति।

"गोपबालिकाः वसनहरणं विज्ञाय, कण्ठदघ्ने तोये स्थित्वा अङ्गानि गोपायन्त्यः भगवन्तं वसनानि ययाचिरे। 'जलाशया त्तीरमासाद्य याचत, तदा दास्या' मीति प्रत्यूचे आभीरडिम्भः। ताश्च गोप्य मङ्गं दर्शना द्रक्षन्त्यः कराभ्यां, तीरमासाद्य अयाचन्त। 'बाहू उत्क्षिप्य याचध्वम् तदैव चीराणि वितरेय'मिति नन्दनन्दनः प्रत्यब्रवीत्। तदा हस्तेनैकेन गोप्यं पिधाय, अन्येन करेण नमस्कृत्य देहीति प्रार्थयाञ्चक्रिरे कन्या स्ताः। तदा भगवान् "ऐकेन पणिना यो वै प्रणमेद्देव मच्युतम्। तस्य दण्डः करच्छेद इति धर्मविदो विदुः इति भर्त्सयते स्म। मार्गान्तर मपश्यन्त्यो गोपाङ्गनाः चेलचोरं द्वाभ्यां कराभ्यां मूर्ध्न्यञ्जलिं बद्ध्वा नमश्चक्रुः। प्रसन्नो बालगोपालः वासांसि व्यतरत्" — इति भागवती कथा। आन्तर उपदेशः

भक्तेन अहम्ममताभिमानं उज्झित्वा, देहे स्वत्वबुद्धिं विहाय सर्वात्मना निरुपधिः शरणागति रनुष्ठेया। सैव फलेग्रहि भवेदिति उपदेशायैव कृष्ण एवं विदधे। अत्र विषये श्रीकृष्णे कामवासना शङ्का न युज्यते। तदात्वेऽयं सप्तवर्षदेशीयः पोगण्डः (बालः) तस्मिन् वयसि तत्र दुर्वृत्तचिन्तनं अनुचित मित्येव न, अपितु पापायाऽपि सम्पद्यते। परमात्मनः शुद्धजीवात्मनश्च मध्ये गोपनं किम्। अन्तर्यामिणो भगवतः अदृश्यं गोप्यं किमस्ति? आवरणं वा कुतः? सर्वान् स्थूलधर्मान् शङ्काभिमानादिकञ्च सन्त्यज्य सर्वात्मना हृदयपूर्वकं शरणवरण मेव युक्तरूपम् — इति बोधने एव ऋषितात्पर्य मिति विज्ञायते।

अपि च कथांशेनाऽनेन एकहस्तनमस्कारः (मतान्तरस्थैः क्रियमाणः) महानर्थनिदानमिति च बोध्यते। ननु कृष्णो गीताचार्यः। भगवतः भक्तोद्दिधीर्षाया मेव, व्रतसफलीकरणे एव अभिसन्धिरिति कण्ठत एव कथयति वेदव्यासः। "कृष्णो योगीश्वरेश्वरः..... तत्र गतस्तत्कर्मसिद्धये" इत्यारम्भे एव भाव मिमं सूचयामास। कृष्णो महायोगीति, तासां गोपिकानां कात्यायन्यर्चनं सफलं शुभोदर्कञ्च कर्तुमेव देवकीनन्दनः तत्राऽयासीदिति, वासांसि चाऽचूचुरत्, न तु स्वस्य तुच्छाभिलाषसिद्धये इति च सुस्पष्टमवगम्यते।

भक्तेन सता निर्व्याजसम्पूर्णात्मसमर्पणमेव कर्तव्य मिति उपदेश एव चेलहरणवृत्तान्तसारांश★ः।

## उपकारस्मृतिः

'मधुरेण समापये' दिति अभियुक्तोक्तौ श्रद्धालुना मया अवतारस्य (उपोद्घातस्य) चरमसीम्नि महत्सु अवश्यविधेयं कृतज्ञतानिवेदनकृत्यं विधित्सामि। अस्याः शोधपूर्ण सव्याख्य श्रीभागवतप्रकाशकसंस्थायाः प्रतिष्ठापनं क्री.प. एकाशीत्यधिक नवाशत्युत्तर सहस्रतमे (१९८१) वत्सरे उदारहृदयेन सदसद्विवेकचतुरेण सत्यसङ्कल्पेन आर्षधर्मरक्षादीक्षितेन मूर्तित्रयेण निरवाहि। मूर्तित्रयमिति निर्देशार्हाः विश्वोपाध्यायपरिषदध्यक्षाः श्रीमन्तः डा० एक्किराल कृष्णमाचार्याः, तिरुमलतिरुपतिदेवस्थान तादात्विक कार्यनिर्वहणाधिकृताः ऐ.ए.यस्. उपाधिभाजः श्रीमन्तः पि.वि.आर.के. प्रसादाभिख्याः (७८-८२), जिल्लेळ्ळमूडि मातृश्रीप्राच्यकलाशालायाः तादात्विकाध्यक्षाः श्रीमन्तः डा.पन्नाल राधाकृष्णशर्माणश्च। संस्थासमारम्भका स्त्रय एते कृतज्ञतानिवेदने प्राथम्यं भजन्ते। तैस्तथा प्रतिष्ठापिता इयं श्रीभागवतशोधनसमितिः समेधमाना अद्याप्युज्जीवति, परिष्करण प्रकाशन कृत्यञ्च निर्वहन्ती समिन्धे।

तदा प्रभृति क्रमशः नियुक्ताः ति.ति.दे. कार्यनिर्वहणाधिकारिणः सर्वेऽपि ऐ.ए.यस्. उपाधिभाजः २. श्रीमन्तः जि. कुमारस्वामिरेड्डि महाभागाः (८२ - ८४), ३. श्रीमन्तः यस्. लक्ष्मीनारायण महाशयाः (८४-८७), ४. श्रीमन्तः सि. हेच्. वेङ्कटपतिराजु समभिख्याः (८७ - ९०) ५. श्रीमन्तः यम्.वि.यस्. प्रसोदाभिधानाः (९०-९२) ६. श्रीमन्तः डि.वि.यल्.यन्. मूर्तिमहोदयाः (९२-९५), ७. श्रीमन्तः यन्. रमेशकुमार समभिख्याः ('९५-'९६) - इतीमे श्रद्धापूतामास्थां दधानाः अस्याः संस्थायाः सर्वाङ्गीणसमृद्धये बहु प्रायतन्त।

अद्यतनकार्यनिर्वहणाधिकृताः ज्ञानवयोऽनुभववृद्धाः, ऐ.ए.यस्. बिरुदभूषणाः यम्.के.आर. विनायकसमाख्या अपि संस्थायाः सुष्ठु निर्वहणे श्रद्दधानाः ग्रन्थप्रकाशनाय सौविध्यं सम्पादयन्तीति एतेभ्यः, पूर्वोदाहृतेभ्यः

सप्तसंख्याभासमानेभ्योऽधिकृतेभ्यश्च कृतज्ञतापुरस्कृता अञ्जलयः समर्प्यन्ते। तेषा मुपकारं संस्मरन्ती श्रीभागवतपरिष्करणपरिषदियं तेषु सर्वथा सर्वदा च आधमर्ण्यमश्नुवाना कृतज्ञतां हृदयेन धत्ते, अभिधत्ते च। अर्हणीयाः ति.ति. देवस्थान धर्मकर्तृमण्डलीसदस्याः भूतपूर्वा अद्यतनाश्च उपकारस्मरणपूर्वकं कृतज्ञताञ्जलिना समाराध्यन्ते। पूर्वनिर्दिष्टेषु कार्यनिर्वहणाधिकृतेषु अन्यतमाः श्रीमन्तः डि.वि.यल्.न्. मूर्ति, ऐ.ए.यस्. महोदयाः पार्थक्येन पुनरपि कृतज्ञतापूर्वकं स्मरणीया भवन्ति, यत इमे भागवत सम्पादकसंस्थायां बद्धश्रद्धाः वदान्यवतंसानां श्रीमतां शम्भुकुमार कश्लीवाल् नाम्नां सकाशात् लक्षरूप्यकाणि भागवतसंस्थायै आर्थिकसाहाय्य पेण समपीपदन्। अपि च। बहोः कालात् प्रागेव सज्जीकृतस्य दशमस्कन्धप्रथमभागस्य मुद्रणाय अपेक्षितं संविधानकं मङ्कु अचीक्लृपंश्च।

किञ्च ये ये महान्तः ग्रन्थपरिष्करणकर्मणि अल्पमनल्पं वा साहाय्यमाचरन्ति स्म, तेभ्यस्सर्वेभ्यः हृदयसम्भृतां कृतज्ञतां निवेदयामि। ग्रन्थसम्पादनविषये इदंसंस्थाकर्मचारिणः भूतपूर्व परिशोधकपण्डिताः श्रीमन्तः के.सि. जयचन्द्रशास्त्रिणः (शिरोमणिः, विद्वान्), उ. वेङ्कटरामय्यनामधेयाः (यम्.ए. शिरोमणिः), आ.वरदराजसमाख्याः (शिरोमणिः, विद्वान्), अद्यतनाः श्रीमान् यस्.बि.यस्. भट्टाचार्यः (शिरोमाणिः, शिक्षाशास्त्री), श्रीमती यस्.पूर्णवल्लीनामधोया (यम्.ए. सुवर्णपदकग्रहीत्री), डा.यस्. दशरथाख्यः (यम्.ए.पिहेच्.डि.) डा.के.राजगोपालन्. (यम्.ए.पिहेच्.डि) नामा च सश्रद्धं तत्तत्कर्तव्यं निरवाक्षुः। तत स्तेष्वपि कृतज्ञता व्याह्रियते।

सन्दर्भेऽस्मिन्, अवश्यमनुष्ठेयं किञ्चित् यदि नाऽऽचरिष्यम् तदा कृतविदहं नाऽभविष्यम्। अतः, श्रीमद्भागवत सम्बन्धीनि दुर्लभान्यनर्घाणि स्वीयानि प्राचीनभागवतप्रकाशनानि प्रदाय अस्मदीयप्रकाशनं सुषुष्टं सुगमञ्च कृतवद्भ्यः उदारहृदयेभ्यः तेभ्यो महद्भ्यः मामिकां कृतज्ञतां निवेदयामि। तत्र सर्वप्रथमतः संस्मरणार्हाः अस्याः संस्थायाः भूतपूर्वनिदेशकाः मातृश्रीप्राच्यकलाशालायाः भूतपूर्वाध्यक्षाः ब्रह्मश्रीमन्तः डा.पन्नाल राधाकृष्णशर्माणः, यत स्तैरतिबहवः नानाव्याख्यासनाथाः दुर्लभा अमूल्या मुद्रितग्रन्थाः मह्यं प्रादायिषत। इत्थं महदुपकृतवत्सु तेषु सर्वदा आधमर्ण्यं वहामि। एवं दाससाहित्यप्रचारसंस्थायाः विशिष्टाधिकारिणः श्रीमन्तः के.अप्पण्णाचार्याः विजयध्वजीयव्याख्यानविशिष्टान् कांश्चन मुद्रितग्रन्थान् प्रदाय उपाकृषत। तेष्वपि कृतज्ञोऽस्मि। श्रीवेङ्कटेश्वरविश्वविद्यालायानुबन्धि प्राच्यविद्यापरिशोधनालयनिदेशकाः श्रीमन्तः डा.यम्.यस्. नारायणमूर्तिसामह्वया अपि अपेक्षितग्रन्थप्रदानेन उपकारं व्यदधुः। अन्ये च केचन विद्वांसः उपयुक्तान् ग्रन्थान् प्रददते स्म। तेषु तेषु च कृतज्ञो वर्ते। एवं य कया चन विधया साहाय्य माचरितवद्भ्यः सर्वेभ्यः सश्रद्धा कृतज्ञता निवेद्यते।

अक्षर संयोजकेषु मुद्रणालयाधिकृतेषु **Om Shakthi Laser Typesetters & Shakti Printers.** कृतवत्सु च कृतज्ञो भवामि। अत्र ग्रन्थे अनवधानात्, नेत्रादीन्द्रियवैकल्यात् अथवा मतिदुर्गतिः, व्युत्पत्तिदौस्थ्यात् कारणान्ताराद्वा परिष्करण दोषा मुद्रणसम्बन्धिनश्चः लब्धपदा भवेयुः। पूज्या लब्धवर्णाः उपलाक्षितानि स्खालित्यानि सूचयन्त्विति प्रार्थ्यन्ते। अनन्तरप्रकाशे तान् भ्रंशान् परिहरिष्यामि।

ज.श्रीमत्या टि.यस्. रुकिण्याख्यया रचिते जं A Cited Study of the Bhāgavdapurañ समाख्ये गन्थे स्थिता Itenpretation of Vastrāpahanaṇa' रतिदनथीर्षकाम् भागात् गृहीता विषया: संस्कृते आनूदिता। ग्रन्थक त्र्यै सश्राद्धा कृतज्ञता निनेद्यते।

अद्य यावत् श्रीभागःतस्य शोधपूर्णः प्रथमस्कन्धरूपवः प्रथमभागः केवलं (क्री.प.१९८९ वत्सरे) प्राकाश्य मनायि। एतर्हि शोधपूर्णपरिष्करणपात्रीभूतः श्रीभागवतदशमस्कन्धप्रथमभागात्मकः (भागत्रयात्मना विभक्तेषु त्रिषु) श्रीकोशः व्याख्यात्रयविशिष्टः साङ्गोपाङ्गं यथाबुद्धिविभवं परिष्कृत्य मुद्राप्य रसज्ञानां हृदयालूनां भागवतानां करकमलयो रर्प्यते, विबुधव्रजत्रा क्रियते। क्रमशः दशमस्कन्धस्य द्वितीयतृतीयभागौ, अन्ये च स्कन्धाः (२-९,११,१२) सव्याख्याः प्रकाशयिष्यन्ते।

श्रीपदपुरी

1998

विद्वन्नियोज्यः सम्पादकः॥

## LIST OF ABBREVIATIONS

(of the Edition of Srimad Bhagavata Mahapurana being referred to)

1. A. Edited by Sri Krishna Sankara Sastri - contains about 30 commentaries - Printed in Devanagari Script at Ahmedabad, Gujarat.
2. B. Printed in Devanagari Script at Brindavan - contains 9 commentaries.
3. G. Contains text only - Printed at Gita Press, Ghorakhpur - in Devanagari Script.
4. H. Contains Sridhara's Commentary. Edited by Sri Hayagriva Sastry. Printed in Telugu Script at Madras.
5. J. Contains Sridharacharya's Commentary - Edited by Prof. J.L. Sastri - in Devanagari Script.
6. K. Contains the commentary of Sri Veera Raghavacharya Edited by Kavibhushana Sri Kumara Tata Charya printed in Devanagari Script - at Ananda Press, Madras.
7. M. Contains the commentary of Sri Vijaya Dhvaja Thirta - Printed in Devanagari Script - A Madhva Edition.
8. Ma. Contains the commentary of Sri Vijaya Dhwaja Tirtha - printed in Devanagari Script - Another Madhva Edition.
9. T. Contains the commentary of Sri Veera Raghava Charya - printed in Telugu Characters - Published by Sri Sri Tridandi Srimannarayana Ramanuja Jeer Swami.
10. V. Contains the commentary of Sridharacharaya - Printed at Vavilla Press, Madras in Telugu Script.
11. W. Contains the commentary of Sri Veera Raghava Charya - Printed in Telugu character - Published by the Maharaja of Wanaparti Samsthan, Andhra.

## LIST OF ABBREVIATIONS

Commentaries

1. **श्रीध.** श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका
2. **वीर.** श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका
3. **विज.** श्रीविजध्यजतीर्थकृता पदरत्नावली

## Texts cited in commentaries and their Abbreviations

| Abbreviation | Name of the Book |
|---|---|
| अथ शिखा.उ. | अथर्वशिखोपनिषत् |
| अम.को. | अमरकोश: |
| अष्टा | अष्टाध्यायी |
| | अहिर्बुध्न्यसंहिता |
| आगम.प्रा. | आगमप्रामाण्यम् |
| | आग्नेये |
| ईशा.उ. | ईशावास्योपनिषत् |
| उणा.सू. | उणादिसूत्राणि |
| | उत्पलमाला |
| ऋक्.सं | ऋक् संहिता |
| ऐत.उ. | ऐतरेयोपनिषत् |
| कठ.उ. | कठोपनिषत् |
| कौषी.उ. | कौषीतक्युपनिषत् |
| | क्रियायोगे |
| | गारुडे |
| छान्दो.उ. | छान्दोग्योपनिषत् |
| जित.स्तो | जितन्ता स्तोत्रम् |
| | तन्त्रभागवते |
| तैत्ति.सं. | तैत्तिरीय संहिता |
| तैत्ति.आ. | तैत्तिरीय आरण्यकम् |
| तैत्ति.उ. | तैत्तिरीयोपनिषत् |
| निरा.उ. | निरालम्बोपनिषत् |
| | निरुक्तम् |
| | पञ्चतन्त्रे |
| | परमसंहिता |
| | पाद्मपुराणम् |
| पु.सू. | पुरुषसूक्तम् |
| | प्रकाशिकायाम् |
| प्रश्न. उ. | प्रश्नोपनिषत् |
| बृह.३. | बृहदारण्यकोपनिषत् |
| | ब्रह्मतर्के |
| | ब्रह्मवैवर्ते |
| ब्र.सू. | ब्रह्मसूत्राणि |
| | ब्राह्मे |

| Abbreviation | Name of the Book |
|---|---|
| भर.सं. | भरद्वाजसंहिता |
| | भागवततन्त्रे |
| भाग. | भागवतम् |
| भ.गी. | भगवद्गीता |
| | भविष्यत्पुराणे |
| भारते | भारते आनुशासनिकपर्व |
| भारते आरण्य | भारते आरण्यपर्व |
| भारते उद्योग | भारते उद्योगपर्व |
| भारते शान्ति | भारते शान्तिपर्व |
| मनुस्मृ | मनुस्मृति |
| | महाकौर्मे |
| | माहात्म्ये |
| म.ना.उ. | महानारयणोपनिषत् |
| मुण्ड.उ. | मुण्डकोपनिषत् |
| मैत्रा.उ. | मैत्रायण्युपनिषत् |
| रमा | रामायणम् |
| | लक्ष्मीतन्त्रे |
| वर. स्तव: | वरदराजस्तव: |
| | वामने |
| विष्णु ध. | विष्णुधर्मोत्तरपुराणम् |
| वि.पु. | विष्णुपुराणम् |
| | विष्वक्सेनसंहिता |
| वे.नि. | वेदनिघण्टु: |
| वै.को | वैजयन्ती कोश: |
| | शब्दनिर्णये |
| शार्ङ्ग. पद्ध | शार्ङ्गधरपद्धति: |
| श्वेता. उ. | श्वेताश्वतरोपनिषत् |
| सुबा. उ. | सुबालोपनिषत् |
| सुभा. | सुभाषितरत्न भाण्डागारम् |
| सूर्य.उ. | सूर्योपनिषत् |
| | षाड्गुण्ये |
| हला.को. | हलायुधकोश: |
| | हेमचन्द्र: |

# श्रीमद्भागवत दशमस्कन्धीयानां प्रथमाध्याय प्रभृतीनां अष्टाविंशाध्याय पर्यन्ताना मध्यायानां

## - विषयानुक्रमणी -

## (दशमस्कन्धे पूर्वार्धे)

**अध्यायसंख्या** **विषय:**

१. श्रीकृष्णावतारोपक्रम: - ब्रह्मकर्तृकं पृथिव्या आशासनं - कंसस्य देवकीवधोद्योगात् वसुदेव वचनेन निवृत्ति: षण्णां देवकी पुत्राणां कंसकर्तृको वधश्च।

२. भगवतो देवकी गर्भेऽनुप्रवेश:- तत्र ब्रह्मादिदेव कृतं तदीयं स्तवनं देवकीसान्त्वनञ्च।

३. श्रीकृष्णप्रादुर्भाव: - वसुदेवदेवकीकृता भगवत: स्तुति: - भगवदादेशेन कंसभीतस्य वसुदेवस्य गोकुलं प्रति स्वपुत्र नयनम् - ततो यशोदासुताया आयननञ्च।

४. जिघांसो: कंसस्य हस्ता दुन्मक्ताया देव्या भगवदवतारसूचनम् - कंसानुताप: - तदीयदुर्मन्त्रिणा दुर्मन्त्रणञ्च

५. गोकुले भगवतो जातकर्मादिमहोत्सव: नन्दस्य मधुरागमनं तत्र नन्दवसुदेव संवाद:।

६. पूतनावध:।

७. शकटभङ्ग: - तृणावर्तवध: - जृम्भमाणस्य भगवतो मुखे यशोदया आकाशादि दर्शनञ्च।

८. गर्गागमनम् - जातककथनपूर्वकं यशोदा रोहिणी सुतयो र्नामकरणसंस्कार: - यशोदायै भगवत्कर्तृकं स्वमुखे विश्वरूप प्रकटीकरणञ्च।

९. श्रीकृष्णस्य उलूखले बन्धनम्।

१०. यमलार्जुनोद्धार:

११. गोपानां गोकुलं परित्यज्य बृन्दावने गमनम् - तत्र श्रीकृष्णद्वारा वत्सासुर बकासुरयो र्वध:।

१२. अघासुरवध:

१३. सबाल वत्सबृन्दे ब्रह्मणाऽपहृते श्रीकृष्णस्य तत्तद्रूपेण आब्दं यथापूर्वं विहरणम् - ब्रह्मणो मोहभङ्गश्च।

१४. ब्रह्मणा कृता भगवत: स्तुति: - वत्सपालानयनञ्च।

१५. गोचारणं-धेनुकासुर वध: - कालिय विष दूषिताम्बु पानान्मृतानां गवां गोपानञ्च पुन रुज्जीवनम्।

१६. कालिय दमनम् - नागपत्नीकृतं नागकर्तृकञ्च भगवत: स्तवनम् - नागद्वारा ह्रदपरित्यागश्च।

१७. कालियस्य यमुनाह्रदे निवासस्य कारणवर्णनम् ह्रदा न्निर्गतेन श्रीकृष्णेन व्रजौकसां दावानला द्रक्षणम्।

१८. प्रलम्बासुरवध:।

१९. मुञ्जाटव्यां गवां गोपानाञ्च दावानला द्रक्षणम्।

२०. प्रावृड्वर्णनम् शरद्वर्णनञ्च।

२१. वेणुगीतम् - भगवतो मधुरं वेणुनाद माकर्ण्य गोपीभि स्तद्गुणगानम्।

२२. चीरहरणलीला।

२३. अन्नयाच्ञामिषेण यज्ञपत्नी ष्वनुग्रह:।

२४. इन्द्रमखभङ्ग:।

२५. कोपान्मुसलधारावर्षं वर्षतीन्द्रे व्रजौकसां रक्षणार्थं भगवतो गोवर्धन धारणम्

२६. श्रीकृष्णस्यालौकिकं प्रभावं दृष्ट्वा चकितान् गोपान् प्रति नन्दस्य गर्गोक्तिकथनम्।

२७. विगतमतस्येन्द्रस्य श्रीकृष्ण सन्निधौ क्षमाप्रार्थनम् - कामधेन्विन्द्राभ्यां श्रीकृष्ण स्याभिषेकश्च।

२८. विकालेऽवगाहनात् वरुणदूतेन वरुणालयं नीतस्य नन्दस्य भगवता पुनरानयनम्।

# श्रीमद्भागवत दशमस्कन्धीयानां प्रथमाध्याय प्रभृतीनां अष्टाविशांध्याय पर्यन्तानां अध्यायानां

## - अध्यायार्थसङ्ग्रहश्लोका:-

कृष्णावतारचरितश्रवणामृतनिर्वृत:।
उक्तानुवादेनौत्सुक्या द्राजा पृच्छति तत्पुन:॥ १ ॥

तत्र तु प्रथमे कंस स्स्वमृत्युं देवकी सुतात्।
श्रुत्वा भीतोऽवधीत्तस्याष्षड्गर्भानिति वर्ण्यते॥ २ ॥

द्वितीये कंसघाताय देवक्या गर्भगो हरि:।
ब्रह्मादिभि स्स्तुत स्सा च सान्त्वितेति निरूप्यते॥ ३ ॥

तृतीये निजरूपेण सम्भूत स्तु हरि स्स्वयम्।
पितृभ्यां संस्तुतो नीत: पित्रा भीतेन गोकुलम्॥ ४ ॥

चतुर्थे चण्डिकावाक्य माकर्ण्यातिभयाकुल:।
दुर्मन्त्र्यभिहितं मेने कंसो बालादिहिंसनम्॥ ५ ॥

पञ्चमे जातकं नन्द स्सूनो: कृत्वा महोत्सवम्।
गत्वा तु मधुरां प्राप वासुदेवागमोत्सवम्॥ ६ ॥

षष्ठे सख्यु र्गिरा नन्दो व्रजन् गच्छन् मृतां पथि।
दृष्ट्वा तु राक्षसीं, तस्या मृत्युं श्रुत्वाऽसविस्मित:॥ ७ ॥

उत्क्षिपन् शकटं व्योम्नि तृणावर्त मधिक्षिपन्।
दर्शयन्विश्व मास्ये च कृष्ण: क्रीडति सप्तमे॥ ८ ॥

अष्टमे नामकर्माऽस्य बालक्रीडाकुतूहले
मृद्भक्षणादियोगे च विश्वरूपं निरूप्यते॥ ९ ॥

विश्वरूपादि बालस्य नियम्याऽऽशङ्किन: पितु:।
नामकृद्गर्भवाक्येन निजं तत्त्व मसूचयत्॥ १० ॥

नवमे पयउत्सिक्ते गत्वा गोप्यथ तत्कृतम्।
विलोक्य भण्डिभङ्गादि कृष्णं दाम्ना बबन्धनम्॥ ११ ॥

तत्तूदराश्रितं विश्वं दृष्ट्वा विस्मितचेतस:
बन्धनद्वचङ्गुलापूर्त्या पूर्णतां सोऽन्वदर्शयत्॥ १२ ॥

दशमेऽपातय द्राजन्नन्तरा यमलार्जुनौ।
तत्र ताभ्याञ्च देवाभ्यां कृष्ण: स्तुत इतीर्यते॥ १३ ॥

एकादशे समागत्य बृन्दावन मथार्भकै:।
वत्सान्पालयताऽनेन हतौ वत्स बकासुरौ॥ १४ ॥

द्वादशे तु महासर्पवपुर्धर मघसुरम्।
वत्सपालगलं क्रुद्धो गलोऽहन्निति वर्ण्यते॥ १५ ॥

महाबकगलक्रीडा केवलस्य न कौतुकम्॥
इतीवाऽघासुरमुखे ससख: प्राविशद्धरि:॥ १६ ॥

त्रयोदशे हरि र्ब्रह्म वत्सा न्पालांश्च मायया
तदा तत्सर्वरूपोऽब्दं कृष्ण: पूर्वव दाचरत्॥ १७ ॥

चतुर्दशेऽद्भुतं दृष्ट्वाऽपूर्वागन्तुकनिश्चयम्।
अनीश: कर्तु मस्तौषीत्कृष्णं ब्रह्माऽतिमोहित:॥ १८ ॥

तत: पञ्चदशे धेनुपालनं धेनुकार्दनम्।
कालियक्ष्वेलतो गोपरक्षणञ्च निरूप्यते॥ १९ ॥

षोडशेकालियस्योक्तो निग्रहो यमुनाह्रदे।
तत्पत्नीभि: स्तुतेनाऽथ कृष्णेनाऽनुग्रह: पुन:॥ २० ॥

नागं सप्तदशे नागालयं तं निरयासयत्।
बन्धूंश्च सखिन: श्रान्तान् सुप्तां स्तत्र दवा दपात्॥ २१ ॥

अष्टादशे ततो ग्रीष्मे वसन्तगुणलक्षिते
अघातय द्बलेनाऽलं प्रलम्बं लीलया हरि:॥ २१ ॥

ऊनविंशे निविष्टं तु गोपगोकुल मच्युत:।
मुञ्जारणमरण्याग्ने ररक्ष त्तन्निपानत:॥ २३ ॥

विंशेप्रावृद्धरच्छोभावर्णनेन वनोचिता:।
प्रावृट्क्रीडा निरूप्यन्ते गोपरामयुजो हरे:॥ २४ ॥

एकविंशे शरद्रम्यबृन्दावनगते हरौ।
तद्वेणुस्वन माकर्ण्य गोपीभि र्गीत मीर्यते॥ २५ ॥

द्वाविंशे गोपकन्यानां वस्त्राहरणलीलया।
वरं दत्वा गत: कृष्णो यज्ञ शाला मितीर्यते॥ २६ ॥

त्रयोविंशे ततो गोपै स्त्रनयाच्त्रापदेशत:।
तत्पत्न्यनुग्रहात्कृष्णो वीक्षिता नन्वतापयत्॥ २७ ॥

चतुर्विंशे महेन्द्रस्य मखं व्यावर्त्य हेतुभि:।
कृष्ण: प्रावर्तयामास गोवर्धनमहोत्सवम्॥ २८ ॥

पञ्चविंशेरुषा चक्रे व्रजनाशाय वर्षति।
उद्धृत्य गिरि मासारा दरक्षद्गोकुलं प्रभु:॥ २९ ॥

षडिविंशे विस्मितान्गोपान् कृष्णस्याद्भुतकर्मभि:।
नन्दो गर्गोक्ति माशङ्क्य तदैश्वर्य मवर्णयत्॥ ३० ॥

सप्तविंशे तदऽऽलक्ष्य कृष्णस्य प्राभवं परम्।
वर्ण्यते सुरभीन्द्राभ्या मभिषेकमहोत्सव:॥ ३१ ॥

अष्टाविंशे ततो नन्दानयनं वरुणालयात्।
वैकुण्ठ दर्शनञ्चाऽपि गोपाना मनुवर्ण्यते॥ ३२ ॥

# श्रीमद्भागवतपाठविधिः

स्नातः शुचिर्भूत्वा प्राणानायम्य त्रिराचम्य च मङ्गलपाठपूर्वकं भगवन्तं प्रणमेत्। तदनु सञ्चितैः षोडशोपचारैर्मानसोपचारैर्वा व्यासं शुकं वासुदेवं श्रीमद्भागवतग्रन्थं च सादरं सविनयं सभक्तिभावं सम्पूजयेत्। ततः पाठारम्भात् प्राक् 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' इति द्वादशाक्षरमन्त्रम्, 'ओं क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' इति गोपालमन्त्रं वाऽष्टोत्तरशतं जपेत्। पश्चादेवं विनियुञ्जीत —

## विनियोगः

ओं अस्य श्रीमद्भागवताख्यस्तोत्रमन्त्रस्य नारद ऋषिः, बृहती छन्दः, श्रीकृष्णः परमात्मा देवता, ब्रह्म बीजम्, भक्तिः शक्तिः, ज्ञानवैराग्ये कीलकम्, मम श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थं पाठे विनियोगः।

## ऋष्यादिन्यासः

'नारदर्षये नमः' शिरसि। 'बृहतीच्छन्दसे नमः' मुखे। 'श्रीकृष्णपरमात्मदेवतायै नमः' हृदि। 'ब्रह्मबीजाय नमः' गुह्ये। 'भक्तिशक्तये नमः' पादयोः। 'ज्ञानवैराग्यकीलकाय नमः' नाभौ। श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थकपाठविनियोगाय नमः सर्वाङ्गे। द्वादशाक्षरमन्त्रेण हृदयाद्यङ्गन्यासं करन्यासं च कुर्यात्। अथवाऽधोऽङ्कितरीत्याङ्गन्यासकरन्यासौ विदध्यात् —

## अङ्गन्यासः

ओं क्लां हृदयाय नमः। ओं क्लीं शिरसे स्वाहा। ओं क्लूं शिखायै वषट्। ओं क्लैं कवचाय हुम्। ओं क्लौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ओं क्लः अस्त्राय फट्।

## करन्यासः

ओं क्लां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ओं क्लीं तर्जनीभ्यां नमः। ओं क्लूं मध्यमाभ्यां नमः। ओं क्लौं अनामिकाभ्यां नमः। ओं क्लौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ओं क्लः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

## अथ ध्यानम्

**कस्तूरीतिलकं ललाटफलके वक्षःस्थले कौस्तुभं नासाग्रे नवमौक्तिकं करतले वेणुं करे कङ्कणम्।**
**सर्वाङ्गे हरिचन्दनं च कलयन् कण्ठे च मुक्तावलिं गोपस्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपालचूडामणिः ॥**
**अस्ति स्वस्तरुणीकराग्रविगलत्कल्पप्रसूनाप्लुतं वस्तु प्रस्तुतवेणुनादलहरीनिर्वाणनिर्व्याकुलम्।**
**स्रस्तस्रस्तनिबद्धनीविविलसद्गोपीसहस्रावृतं हस्तन्यस्तनतापवर्गमखिलोदारं किशोराकृति ॥**

*इत्येवं ध्यात्वा पाठमारभेत।*

# श्रीमद्भागवतसप्ताहपारायणस्य दैनन्दिनविश्रामस्थलानि निम्नाङ्कितपद्येषु निरूपितानि

**मनुकर्दमसंवादपर्यन्तं प्रथमेऽहनि। भरताख्यानपर्यन्तं द्वितीयेऽहनि वाचयेत् ॥**
**तृतीये दिवसे कुर्यात् सप्तमस्कन्धपूरणम्। कृष्णाविर्भावपर्यन्तं चतुर्थे दिवसे वदेत् ॥**
**रुक्मिण्युद्वाहपर्यन्तं पञ्चमेऽहनि शस्यते। श्रीहंसाख्यानपर्यन्तं षष्ठेऽहनि वदेत्सुधीः ॥**
**सप्तमे तु दिने कुर्यात् पूर्तिं भागवतस्य वै। एवं निर्विघ्नतासिद्धिर्विपर्यय इतोऽन्यथा ॥**

# श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

ओं नमो भगवते वासुदेवाय

## दशमः स्कन्धः

## पूर्वार्धम्

### प्रथमोऽध्यायः

श्रीकृष्णस्य विविधविचित्रलीलाविशेषवर्णनाऽऽकर्णनाय
परीक्षिन्नरेन्द्रः शुकमहर्षिं पृच्छति

राजोवाच

कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः ।
राज्ञाश्चोभयवंश्यानां चरितं परमाद्भुतम् ॥ १ ॥

यदोश्च धर्मशीलस्य नितरां मुनिसत्तम !
तत्रांशेनाऽवतीर्णस्य विष्णो वीर्याणि शंस नः ॥ २ ॥

अवतीर्य यदो वंशे भगवान् भूतभावनः ।
कृतवान् यानि विश्वात्मा तानि नो वद विस्तरात् ॥ ३ ॥

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्भवौषधाच्छ्रोत्रमनोभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्पुमान् विरज्येत विना ऽपशुघ्नात्[1] ॥ ४ ॥

पितामहा मे समरेऽमरञ्जयैर्देवव्रताद्यातिरथैस्तिमिङ्गिलैः ।
दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं कृत्वाऽतरन् वत्सपदं स्म यत्प्लवाः ॥ ५ ॥

द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानाम् ।
जुगोप कुक्षिङ्गत आत्तचक्रो मातुश्च मे यश्शरणङ्गतायाः ॥ ६ ॥

वीर्याणि तस्याऽखिलदेहभाजामन्तर्बहिः पूरूषकालरुपैः ।
प्रयच्छतो मृत्युमुताऽमृतञ्च[2] मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन् ॥ ७ ॥

1. M.° नातिमुग्धात् 2. M ° मनामयञ्च ।

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

विश्वसर्गविसर्गादि नवलक्षणलक्षितम् ।
श्रीकृष्णाख्यं परं धाम जगद्धाम नमामि तत् ॥
दशमे दशमं लक्ष्यमाश्रिताश्रयविग्रहम् ।
क्रीडद्यदुकुलाम्भोधौ परानन्दमुदीर्यते ॥
दशमे कृष्णसत्कीर्तिवितानायाऽनुवर्ण्यते ।
धर्मग्लानिनिमित्तस्तु निरोधो दुष्टभूभुजाम् ॥
प्राकृतादिश्चतुर्धा यो निरोधस्स तु वर्णितः ।
तत्तत्प्रसङ्गतस्सृष्टिसंहारादिनिरूपणैः ॥
कृता नवतिरध्याया दशमे कृष्णकीर्तये ।
आद्यैश्चतुर्भिरध्यायै र्ब्रह्मप्रार्थनयाऽवनेः ॥
भारं हर्तुं हरेर्जन्म सप्रसङ्गं निरूप्यते ।
गोकुले मधुरायाञ्च द्वारवत्यां ततः क्रमात् ॥
कृष्णलीला त्रिधा प्रोक्ता तत्तद्भेदैस्त्वनेकधा ।
स[1]पञ्चत्रिंशताऽध्यायैः बृहद्वृन्दावनादिषु ॥
गोकुले वसतो लीला वर्ण्यते परमात्मनः ।
एकेन यमुनावारिण्यक्रूरेण कृता स्तुतिः ॥
एकादशभिराख्याता लीला मधुपुरे हरेः ।
शेषैर्द्वारवतीलीला तन्निर्माणादि वर्ण्यते ॥
एवं नवतिरध्याया दशमे विशदार्थकाः ॥

[4]अत्र प्राकृतादिचतुर्विधलयविवृतिरेवं विविच्य कथ्यते - प्राकृतः नैमित्तिकः आत्यन्तिकः नित्यश्चेति लयश्चतुर्धा प्रकृतौ तत्कार्यब्रह्माण्डस्य लयः प्राकृतः । ब्रह्मणो निद्रां निमित्तीकृत्य प्रवर्तमानो लोकत्रयप्रलयो नैमित्तिकः । ज्ञानेनाऽविद्यां सकार्यां छित्वा स्वरूपेणावस्थान मात्यन्तिकः । देहस्य प्रतिक्षणमवस्थाभेदेन प्रवर्तमानो नित्यः[4] ।

तत्र तु प्रथमे कंसः स्वं[5] मृत्युं देवकीसुतात् ।
श्रुत्वा भीतोऽवधीत्तस्या ष्षड्गर्भानिति वर्ण्यते ॥
कृष्णावतारचरित श्रवणामृतनिर्वृतः ।
उक्तानुवादेनौत्सुक्या द्राजा पृच्छति तत्पुनः ॥

**कथितो वंशविस्तार**[6] इत्यादिना ॥ १ ॥
यदोरिति । अंशेनेति प्रतीत्यभिप्रायेणोक्तम् ॥ २ ॥

ननूक्तानि कर्माणि[7] 'जातो गतः पितृगृहा द्व्रजमेधितार्थः (भाग. 9-24-66) इत्यादिना । सत्यं, पुनर्विस्तरेण वदेत्याह - **अवतीर्येति** । भूतानि[8] भावयति पालयतीति तथा[8] ॥ ३ ॥

अत्र लोके त्रिविधा जनाः मुक्ताः , मुमुक्षवः , विषयिणश्च । तेषां मध्ये अत्र न कस्याप्यलम्प्रत्यय इत्याह **निवृत्ततर्षैरिति**। निवृत्ततर्षैः[9] गततृष्णैः[9] मुक्तैरित्यर्थः । मुमुक्षूणामयमेव उपादेय[10] इत्याह भवौषधादिति । विषयिणामपि[11] परमो विषयोऽयमेवेत्याह श्रोत्रमनोभिरामादिति । अपगता शुक् यस्मात्तमात्मानं हन्तीत्यपशु(क्)घ्नः , तस्मात् । पशुघातिन इति वा ॥ ४ ॥

किञ्च अस्मत्कुलदैवतं श्रीकृष्णः । अतस्तत्कथैव नित्यं श्रोतव्येत्याशयेनाऽऽह - **पितामहा** इति । अमरान् जयन्ति ये तैः । देवव्रतो भीष्मः तदाचैरतिरथैरेव[12] तिमिङ्गिलैः[13] दुरत्ययम् । वत्सपदमिव अत्यल्पं कृत्वा तुच्छीकृत्य अतरन् स्म । यः श्रीकृष्ण एव प्लवो येषां ते तस्य वीर्याणि वदस्वेति तृतीयश्लोकगतपदेनाऽन्वयः[14] ॥ ५ ॥

न केवलं पाण्डवानेवाऽरक्षत्, इदं मम शरीरमपि यो रक्षितवानित्याह - **द्रौण्यस्त्रविप्लुष्ट** मिति । द्रौणेरश्वत्थाम्नः ब्रह्मास्त्रेण दग्धमिदं मच्छरीरं कुरूणां पाण्डवानाञ्च सन्तानस्य बीजं[15] निदानं मे[16] मातुः कुक्षौ प्रविष्टो यो धृतचक्रो जुगोपेति ॥ ६ ॥

**वीर्याणीति**। आखिलदेहभाजां सर्वप्राणिनाम् अन्तः पुरुषरूपेण बहिः कालरूपैश्च। अंशाभिप्रायेण बहुवचनम्। अमृतं मुक्तिम्[17]। मृत्युं संसारम्। उत अपि। प्रयच्छतो वीर्याणि वदस्व ब्रूहि। अयं भावः - अन्तर्यामिरूपेण अन्तर्दृष्टीनां मुक्तिं, बहिर्दृष्टीनां कालरूपेण मृत्युं संसारं[18] प्रददाति[19] यतः , अतोऽन्तर्दृष्ट्या तद्वीर्याण्येव श्रोतव्यानीति ॥ ७ ॥

1- -1 v. पञ्चत्रिंशद्भिरध्यायैः 2. B. सुरदुष्करा 3- -3 B मधुवने कृता । 4- -4 B omits 5. B स्वमृत्युं 6. B इति ॥ १ ॥ 7. B omits कर्माणि 8- -8 J.V omit 9- -9 B.J omit 10. B,J उपाय 11 B,J omit अपि। ★ अत्र व्याख्यातुः द्विविधः पदच्छेदः सम्मत इति भाति - आपशुक्घ्नात् (अपशुग्घ्नात्) इति, पशुघ्नात् इति च । 12. B,J omit एव 13. B,J add तिमिङ्गिलतुल्यैः 14. B,J गतेनाऽ° 15 B,J omit बीजं 16. B,J मम 17. B,J omit मुक्तिम् । 18. B,J omit संसारं 19. B,J omit प्र

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अतिक्रान्तस्कन्धान्ते "जातो गतः पितृगृहाद्व्रजमेधितार्थो हत्वा रिपून् सुतशतानि कृतोरुदारः, उत्पाद्य तेषु पुरुषः क्रतुभिस्समीज आत्मानमात्मनिगमं प्रथमं जनेषु॥" (भाग. 9-24-66) इत्यादि श्लोकद्वयेन सङ्गृह्य प्रदर्शितं कृष्णावतारचरित्रं विस्तरेण शुश्रूषुरतिक्रान्तस्कन्धार्थानुवादपूर्वकं पृच्छति राजा कथित इत्यादिना श्लोकदशकेन । तत्र पूर्वस्कन्धार्थमनुवदति **कथित** इति सार्धेन । सोमसूर्ययोस्तदुभयवंशजातानाञ्च राज्ञां वंशविस्तारः , तेषां परमाद्भुतं चरित्रञ्च कथितम् ॥१॥

हे मुनिसत्तम, नितरां धर्म एव शीलं वृत्तं[1] यस्य तस्य यदोर्वंशविस्तारः कथितः । अधुना तत्र यदोर्वंशे अंशेन बलरामेण सहावतीर्णस्य । यद्वा सङ्कल्परूपज्ञानेन वा, दिव्यविग्रहांशेन वा । अन्यथा "एते चांशकला विष्णोः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" (भाग. 1-3-28) इति पूर्वोत्तरव्याघातापत्तेः[2] । विष्णोः श्रीकृष्णस्य वीर्याणि वीर्यगुणप्रकारकाणि चरित्राणि, नः शुश्रूषुभ्योऽस्मभ्यं, शंस विस्तरतः कथय ॥ २ ॥

कानि वीर्याणीत्यत्राऽऽह - **अवतीर्येति** । यद्वा, न परव्यूहादिरूपेणावस्थितस्य वीर्याणि, किन्तु, यदोर्वंशेऽवतीर्य भगवान् यानि वीर्याणि कृतवान् तानि वीर्याणि विस्तरतः नः अस्मभ्यं, वद शंस । अवतरणप्रभृतीनि स्वर्लोकगमनपर्यन्तानि वीर्याणि विस्तरेण कथयेति भावः । अत एव पुनरवतीर्येत्युक्तम् । अवतारप्रयोजनं तन्निमित्तञ्च विस्तरेण वदेत्यभिप्रायेण विशिनष्टि । भूतभावनः भूतानि साधुभूतानि भावयति विभावयति त्रायत इति तथा । विश्वात्मा विश्वस्यान्तरात्मा । विश्वमात्मा शरीरं यस्येति वा विश्वात्मा ॥ ३ ॥

ननु विष्णोर्वीर्याणि अभीक्ष्णशः श्रुतान्येव किं पृच्छसीत्यत्राऽऽह - **निवृत्ततर्षै** रिति । 'क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्' इत्यस्य अमृतादिति शेषः । उत्तमश्लोकस्य भगवतः गुणानुवादरूपाद् अमृतात् पशुघ्नं विना कः पुमान् विरज्येत? न कोऽपीत्यर्थः । प्रसिद्धामृतवैलक्षण्यं सूचयितुं विशिनष्टि - निवृत्तः तर्षः विषयेषु अनलम्बुद्धिर्येषां तैः , विगतविषयस्पृहै र्योगिभिरुपगीयमानात् । प्रसिद्धन्त्वमृतम् अनिवृत्ततर्षोपगीयमानमित्यर्थः । भवौषधात् भवस्य संसारस्य रोगरूपस्य औषधात् औषधादिव प्रतीकाररूपात्, प्रसिद्धं तु भववर्धनमिति भावः । श्रोत्रयोर्मनस श्चाभिरामात्, प्रसिद्धन्तु रसनेन्द्रियमात्राभिराममिति भावः । गुणानुवादो गुणकथा पशुं हन्तीति पशुघ्नो गोघ्नः , तं विनेत्यर्थः । यद्वा पशुवत् हन्ति गच्छति व्याप्रियत इति पशुघ्नः , तं विनेत्यर्थः , पशुतुल्यवृत्तिः , केवलमूर्ख इति यावत् । यद्वा, अपशुघ्नादितिछेदः । पशु इति सम्यगर्थकमव्ययम्। नपशु असम्यक् हन्ति गच्छति बुध्यतीति तथा। हन - हिंसागत्योः, गत्यर्थास्सर्वे ज्ञानार्थकाः। सम्य गुपकारमविद्वान् कृतघ्न इति यावत् । उत्तमश्लोककृतोपकाराभिज्ञस्तद्गुणानुवादात् कः पुमान् विरज्येतेत्यर्थः॥ ४॥

कौऽसौ तत्कृतोपकारः , यदभिज्ञानात् तद्गुणानुवादात् न विरज्यते । बहुषु भगवदवतारतच्चरितेषु सत्स्वपि किं विशेषेण कृष्णावतार चरित्रादिकमेव पृच्छसीत्यत्राह - **पितामहा** इति द्वाभ्याम् । अमरञ्जयैः देवानपि जेतुं समर्थैः भीष्माद्यतिरथरूपैः तिमिङ्गिलैः हेतुभिः दुःखेनाप्यत्येतुं पारङ्गन्तुमशक्यं कौरवाणां सैन्यमेव सागरस्तम्, यो भगवान् कृष्ण एव प्लवो नौर्येषां ते मम पितामहा युधिष्ठिरादयः, वत्सपदं कृत्वा गोष्पदतुल्यं कृत्वा अतरन् स्म पारं जग्मुः किल। श्लोकद्वयस्थयच्छब्दयोर्वीर्याणि तस्येत्यनेनान्वयः ॥ ५ ॥

**द्रौणीति** । किञ्च, द्रौणेरश्वत्थाम्नोऽस्त्रेण तत्प्रयुक्तब्रह्मशीर्षनामकास्त्रेण विप्लुष्टं दग्धमिदं मदङ्गं मच्छरीरं कुरूणां पाण्डवानाञ्च सन्तानस्य बीजं प्रवर्तकं वंशद्वयेऽपि खस्यैवाऽवशेषितत्वात् तदुभयसन्तानबीजमित्यर्थः । यो जुगोप । कथम्भूतः? शरणं गताया मम मातुरुत्तरायाः कुक्षिं प्रविष्टः । आत्तं धृतं चक्रं सुदर्शनं येन तथाभूतो मत्पितामहप्रभृतीनां मत्पर्यन्तानाम् अनिष्टपरिहारेष्टप्रापणदीक्षितस्य महोपकर्तुर्गुणानुवादात् कृतज्ञः कथमहं विरज्येयमिति भावः ॥ ६ ॥

**वीर्याणीति** । यत एवमतो, हे विद्वन् ! अखिलानां देहभाजाम् अन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः अमृतं मृत्युञ्च प्रयच्छतः । क्षेत्रज्ञानां कालावयवानाञ्च बहुत्वाद् बहुवचनम् । क्षेत्रज्ञकालात्मकैः रूपैश्शरीरैः, तत्राऽन्तः पुरुषरूपेण अमृतम् अमरणं स्थितिं प्रयच्छतः , स्थितिहेतोरित्यर्थः । उत अपि च। बहिः कालरूपेण मृत्युं प्रयच्छतः विनाशहेतोरित्यर्थः कृत्स्नजगत्कारणस्येत्यर्थः । "**कारणन्तु ध्येयः**" (अथ.शिख.उ. 3) इति कारणस्यैव वस्तुनो ध्येयत्वश्रवणात्, ध्यानस्य च श्रवणमननादिपूर्वकत्वात् तद्विषयकशुश्रूषा ममाऽस्तीति ज्ञापनायाऽखिलदेहभाजामित्यादि अमृतञ्चेत्यन्तमुक्तम् । तर्हि एवम्भूतस्य कथं मनुष्यत्वापत्तिरित्यतो विशिनष्टि । मायामनुष्यस्य सङ्कल्पज्ञानेन मनुष्यस्य, प्रच्छन्नमनुष्यस्य वा तस्य कृष्णस्य वीर्याणि वदस्व प्रकाशय । "**भासनोपसम्भाषा**" (अष्टा० 1-3-47) इत्यादिना वदेस्तङ् ॥ ७ ॥

1. K,W. omit वृत्तं 2. K प्रकाशकानि 3. B,W °धं 4. B,W °धमिव 5. B °तः उप 6. B ° से । 7. B ° त्रेषु 8. B तच्च° 9. K,W omit मम 10- -10 K, W omit 11. B. बाहुल्यात् 12. B ° दि सूत्रेण

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

नवमस्कन्धान्ते संक्षिप्तं श्रीविष्णुचरितं विस्तरतः श्रोतुं राजा वृत्तमनूद्य वक्तुं प्रार्थयते **'कथितो वंशविस्तार'** इत्यादिना । विद्यया जन्मना चैकलक्षणः सन्तानो वंशः तत्र भवो वंश्यः "व्यासः प्रपञ्चो विस्तारः " (हला०. को. 4-81) इत्यभिधानम् । राज्ञां चरितञ्च कथितम् । कथने निमित्तमाह परमेति ॥ १ ॥

अत्र विशेषमाह - **यदोरिति**। यदोर्ययातिपुत्रस्य वंशो नितरां कथितः धर्मो भगवान् तत्समाधियुक्तस्य। "शील समाधौ" इति धातुः। अस्तु नाम, ततः किमपेक्षितमिति तर्वत्राऽऽह - तत्रेति। यदोर्वंशे वीर्याणि पराक्रमान् ॥२॥

तात्पर्यात् पुनरुक्तमेवाऽऽह - **अवतीर्येति** । यानि भूकण्टकदितिसुतहननादीनि कर्माणि । विश्वात्मा विश्वव्यापी-त्यनेन ब्रह्मत्वं ध्वनयति । विस्तरतः न केवलमर्थतः प्रपञ्चनम् अपि तु शब्दतः अल्पबुद्धीनामवगन्तुमशक्यत्वात् । "सच (तु) शब्दस्य विस्तरः " (आम.को. 3- 135, वैज.को. 5-2-3) इत्यभिधानम् ॥ ३ ॥

अतीतस्कन्धे हरिकथाश्रवणेन अलम्बुद्धिर्नाभूत् किम् इति तत्राऽऽह - **निवृत्तेति** । निवृत्ततर्षैः विषयालम्बुद्धिसहितैः भवौषधात् संसाराख्यरोगपरिहारहेतुभूतौषधात्, अतिमुग्धात् अन्यथाज्ञानिनः । पशुघ्नादिति वा पाठः ॥ ४ ॥

माहात्म्यं हरेरनुभवसिद्धं यस्मादतो वक्तव्यमित्याशयेनाऽऽह - **पितामहा** इति । पितामहा अर्जुनादयः अमरान् देवान् जयन्तीति अमरञ्जयास्तैः देवानामिव व्रतम् अप्रजाजननलक्षणं यस्य स भीष्मः, स आद्यो येषां द्रोणादीनां ते तथा त एव अतिरथा रथ्युत्तमास्तैः । तिमिर्नाम महामत्स्यः कायेन दशयोजनप्रमाणमावृत्य स्थितः तमपि गिलति ग्रसत इति तिमिङ्गिलः । खप्रत्ययनिमित्तं मुमागमः । वत्सपदं गोवत्सपदमिव, वत्सपदं लुप्तोपमम् । यः कृष्णः प्लवः उडुपं येषां ते यत्प्लवाः नदीतरणाय निर्मितं वंशचर्मादिना यत्साधनं स प्लव इति ॥ ५ ॥

इतोऽपि तद्वीर्याणि श्रोतव्यानीत्याऽऽह - **द्रौण्यस्त्रेति** । मातुरुत्तरायाः कुक्षिं गतः प्रविष्टः । इदं प्रत्यक्षञ्चेति भावेन उक्तं मेय इति । मया मेयः ज्ञेयः मम दृग्विषयः ॥ ६ ॥

"भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः " (अष्टा. 1-3-47) इत्यतो वदस्वेत्यात्मनेपदप्रयोगो मद्धितार्थं वक्तव्यमिति सूचनार्थः, शुकस्य वक्तव्यांशज्ञानपाटवप्रदर्शनार्थञ्च । एतदेव प्रकटितमभूत् विद्वन्नित्यनेन । अन्तः पुरुषरूपैः बहिः कालरूपैः अनामयं संसारदुःखनिरासेन सुखं, मृत्युं दुःखानुभवलक्षणम् अन्धं तमः प्रयच्छतो ददतः । बहुरूपत्वाद् बहुवचनम्। पलायन्त इति शेषः ॥७॥

रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तो रामस्सङ्कर्षणस्त्वया ।
देवक्या गर्भसम्बन्धः कुतो देहान्तरं विना ॥ ८ ॥

कस्मान्मुकुन्दो भगवान् पितृगेहाद् व्रजं गतः ।
क्व वासं ज्ञातिभिस्साकम् अकरोत्सात्वतां पतिः ॥ ९ ॥

व्रजे वसन् किमकरोन्मधुपुर्यां च केशवः ।
भ्रातरं चावधीत्कंसं मातुरद्धाऽतदर्हणम् ॥ १० ॥

देहं मानुषमाश्रित्य कति वर्षाणि वृष्णिभिः ।
सहाऽवात्सीत् पत्न्यः कत्यभवन् विभोः ॥ ११ ॥

एतदन्यच्च सर्वं मे मुने कृष्णविचेष्टितम् ।
वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ श्रद्दधानाय विस्तृतम् ॥ १२ ॥

नैषातिदुस्सहा क्षुन्मां त्यक्तोद मपि बाधते ।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजाच्च्युतं हरिकथामृतम् ॥ १३ ॥

1. B,G,M ° स्सार्धं 2. B, G, K, M, कृतवान् सा ° 3. B,G, प्रभोः ; W विभो! 4. B,G, °जच्युतं; M ° जस्रुतं

**श्रीध०** **रोहिण्या** इति । ननु "बलं गदं सारणञ्च दुर्मदं विपुलं ध्रुवम् । "वसुदेवस्तु रोहिण्यां कृतादीनुदपादयत्" (भाग. 9 - 24 - 46) इति रोहिण्यास्तनयो बलः प्रोक्तः । "वसुदेवस्तु देवक्यामष्टपुत्रानजीजनत् । कीर्तिमन्तं सुषेणञ्च भद्रसेनमुदारधीः । मृदुं सम्मर्दनं भद्रं सङ्कर्षणमहीश्वरम् । अष्टमस्तु तयोरासीत्स्वयमेव हरिः किल" (भाग. 9-24-53) इति। पुनर्देवक्या गर्भसम्बन्धस्तस्यैवोक्तः, स कुतो घटते इत्याक्षेपः ॥ ८ ॥

**कस्मादिति** । भगवतः कंसभयशङ्काया असम्भवादित्यर्थः ॥ ९

**व्रजे** इति । अद्धा साक्षात् । मातुर्भ्रातरं कंसं तस्मात् अतदर्हणं वधानर्हं कस्मादवधीत् ॥ १०,११,१२ ॥

ननु क्षुत्तृड्भ्यां पीडितस्य तव कुतः श्रवणावकाशः? तत्राऽऽह - **नेति** । त्यक्तोदकस्याऽपि मे जीवितं हरिकथामृतपाननिमित्तम् । तदुपरमे सत्येव जीवनं न स्यादित्यर्थः ॥ १३ ॥

1. B, J रामः 2. B,J सन्तर्दनं 3- -3 V शङ्कासम्भवादित्यर्थः 4- -4 B,J omit 5 B, J मम 6- -6 B,J सद्य एव जीवितं

**वीर०** अंशेनावतीर्णस्य विष्णोरित्यंशचरित्रमपि कथनीयं[1] सूचितम् । तदेव व्यञ्जयन् पृच्छति - **रोहिण्या** इति। सङ्कर्षणः भगवदंशसम्भूतसङ्कर्षणावताररूपो रामो[2] बलरामः रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तः । तथा तस्य देवक्या गर्भसन्दर्भश्च प्रोक्तः[3] । त्वया नवमे इति शेषः । तदेतदुभयं देहान्तरं विनैव एकेन देहेनैव तस्य कुतः कस्माद्धेतोरभवत् ॥ ८॥

"कृतवान् यानि विश्वात्मा तानि नो वद" (भाग 10-1-3) इति सामान्यतः पृष्टानि वीर्याणि विशेषतः पृच्छति - **कस्मादिति चतुर्भिः** । भगवान् मुकुन्दः कस्माद्धेतोः पितुर्वसुदेवस्य गेहाद् व्रजं नन्दव्रजं[4] गतः ? सात्त्वतां भक्तानां पतिर्भगवान् ज्ञातिभिः यदुभिस्सह क्व वासं[5] कृतवान्? ॥ ९ ॥

व्रजे मधुपुर्यां च वसन् किं किमकरोत्? मातुर्देवक्याः अद्धा साक्षात् भ्रातरम् अत एव अतदर्हणं वधानर्हं कंसं कुतोऽवधीत् ? ॥ १० ॥

मानुषं मानुषवदवभासमानं देहं दिव्यमङ्गलविग्रहम् आश्रित्य परिगृह्य वृष्णिभिर्यदुभिस्सह यदुपुर्यां द्वारकायां कति वर्षाण्यवात्सीत् उषितवान्? तस्य पत्नयः कति बभूवुः? हे विभो! ॥ ११ ॥

एतत्पृष्टमन्यदपृष्टञ्च यद्यत्यर्वं कृष्णस्य[6] विचेष्टितं हे मुने! श्रद्दधानाय श्रवणोपयुक्तत्वरान्विताय मे शुश्रूषवे मह्यं हे सर्वज्ञ! साकल्येन कृष्णचेष्टिताभिज्ञ! विस्तृतं यथा तथा वक्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

प्रायोपविष्टस्य अशनायापिपासाभ्यामर्दितस्य[7] कथं श्रवणोपयुक्तचित्त समाधानसम्भव इत्यत्राऽऽह - **नैषेति** । त्यक्तम् उदपानं येन तथाभूतमपि मां दुस्सहा सोदुमशक्या एषा क्षुत् न बाधते । तत्र हेतुं वदन्नात्यानं विशिनष्टि । त्वन्मुखाम्भोजाच्च्युतं गलितं हरिकथैवामृतं तत्पिबन्तं मामित्यन्वयः ॥ १३ ॥

1. B adds इति 2. K,W omit रामो 3. B स्मृतः 4. K,W omit नन्दव्रजं 5. B निवासं 6. K,W कृष्णवि° 7. B adds तव

**विज०** एकस्य द्वयोर्योनिसम्बन्धानुपपत्तिः प्रश्नबीजम् ॥ ८,९ ॥

मधुपुर्याञ्च वसन् किं कर्म कृतवान्? मातुर्भ्रातरं मातुलमित्यर्थः । अतदर्हणं तस्य वधस्य अयोग्यमित्यर्थः ॥ १०, ११ ॥

मे मह्यम् ॥ १२ ॥

क्षुधितस्य तव दौर्बल्यान्मनो नेच्छति श्रोतुमिति तत्राऽऽह - **नैषेति**। त्यक्तोदम्, आचमनजलमन्तरेणेति शेषः । ननु दिव्यमन्त्रौषधादिकमन्तरेण क्षुधादिकं मानुषदेहं बाधत एव; अतः कथं न बाधत इति तत्राऽऽह पिबन्तमिति । स्रुतं गलितम् ॥ १३ ॥

श्रीसूत उवाच

एवं[1] निशम्य भृगुनन्दनसाधुवादं वैयासकिस्स भगवानथ विष्णुरातम् ।
प्रत्यर्च्य कृष्णचरितं कलिकल्मष व्याहर्तुमारभत भागवतप्रधानः ॥ १४ ॥

श्रीभगवदवतारकारण प्रवचनघट्टः

श्रीशुक उवाच

सम्यग्व्यवसिता बुद्धि स्तव राजर्षिसत्तम !
वासुदेवकथायां ते यज्जाता नैष्ठिकी रतिः[2] ॥ १५ ॥
वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि ।
वक्तारं पृच्छकं श्रोतृंस्तत्पादसलिलं यथा ॥ १६ ॥
भूमि र्दृप्तनृपव्याजदैत्यानीकशतायुतैः ।
आक्रान्ता भूरिभारेण ब्रह्माणं शरणं ययौ ॥ १७ ॥
गौर्भूत्वाऽश्रुमुखी खिन्ना स्रन्दन्ती[3] करुणं विभोः ।
उपस्थितान्तिके तस्मै व्यसनं समवोचत[4] ॥ १८ ॥
ब्रह्मा तदुपधार्याऽथ सह देवैस्तया सह ।
जगाम सत्रिनयनस्तीरं[5] क्षीरपयोनिधेः ॥ १९ ॥

1. W एतन्नि° 2. K,W मतिः 3. B,G क्रन्दन्ती, K. रुदती 4. B.G. स्व° 5. V. °ण°

**श्रीध० एव मिति** । एवं साधुवादं समीचीनप्रश्नम्[1] । भागवतप्रधानः भागवतेषु श्रेष्ठः ॥ १४ ॥

**सम्यगिति** । व्यवसिता कृतनिश्चया[2] यत् यतो बुद्धेः ॥ १५, १६ ॥

तत्र तावत् प्रथमं भगवदवतारकारणमाह - **भूमिरिति**[3] नवभिः श्लोकैः । दृप्तनृपव्याजा ये दैत्यास्तेषामनीकशतानामयुतैः यो भूरिभारः , तेनाऽऽक्रान्ता ॥ १७ ॥

**गौरिति** । विभोरन्तिके उपस्थिता सती ॥ १८, १९ ॥

1. B,J °नं 2. V. निश्चिता 3. B, J.° रित्यादि

**वीर०** इत्थमापृष्टो भगवान् शुकः श्रीकृष्णचरित्रं विस्तरतः कथयितुमारेभे इत्याह सूतः - **एवमिति** । हे भृगुनन्दन! शौनक, एवमित्थं साधुवादं साधोः परीक्षितो वादमुक्तिं प्रश्नरूपं निशम्य स भगवान् वैयासकिश्शुकः , ततो विष्णुरातं परीक्षितं प्रत्यर्च्य प्रत्यभिनन्द्य, कलिकल्मषघ्नं शृण्वतां वदताञ्च कलिकालकृतपापघ्नं कृष्णस्य भगवतश्चरित्रं व्याहर्तुं विस्तरतो वक्तुं दशमैकादशस्कन्धद्वयेन वक्तुमिति यावत् । आरभत प्रारेभे। युक्त श्चैतदित्यभिप्रायेण विशिनष्टि । भागवतप्रधानः भागवतं भगवत्स्वरूपगुणाद्यनुसन्धानमेव प्रधानं मुख्यं प्रयोजनं यस्य तथाभूतः ॥ १४ ॥

तावत्प्रत्यर्च्याऽऽह - **सम्यगिति** द्वाभ्याम् । हे राजर्षिसत्तम ! तव बुद्धिस्सम्यग् व्यवसिता निश्चिता हेयोपादेयविवेकयुक्तेत्यर्थः । कुत एतत् ज्ञातव्यमित्यत्राऽऽह - यत् यस्मात् वासुदेवकथायामेव तव मतिर्नैष्ठिकी निष्ठायुक्ता वासुदेवकथाश्रवण एव परिनिष्ठितेत्यर्थः ॥ १५ ॥

किं तच्छ्रवणनिष्ठामात्रेणेत्यत्राऽऽह - **वासुदेवेति** । वासुदेव कथाप्रश्न एव, किं पुनस्तच्छ्रवणादिकमित्यभिप्रायेण प्रश्न इत्युक्तम् । यद्वा प्रश्नप्रतिवचनतच्छ्रवणानां त्रयाणामुपलक्षणार्थः प्रश्नशब्दः । त्रीन् पुरुषान् पुनाति, कान्? वक्तारं प्रतिवक्तारं, पृच्छकं पृच्छन्तं श्रोतॄंश्चेति त्रीन् वक्ता प्रतिवक्ता च एकैकेन भाव्यमित्यभिप्रायेण वक्तारं पृच्छकञ्चेति एकवचन निर्देशः । श्रोतृभिस्तु बहुभिरपीति बहुवचननिर्देशः । यथा तस्य वासुदेवस्य पादसलिलं गाङ्गमम्भः पुनाति तद्वदिति पवित्रीकरणमात्रे दृष्टान्तः , नतु पुरुषत्रयपवित्रीकरणे, त्रयाणां तत्राऽसम्भवात् । यद्वा यथा गाङ्गं सलिमुपस्पृशन्तं तस्य पितरं पितामहञ्च पुनाति तद्वदिति दृष्टान्ताभिप्रायः । यथा तत्पादसलिलमुपस्पृशन्तमेकमेव पुरुषं पुनाति न तथा तत्कथाप्रश्नः पुनाति, अपि तु त्रीनिति व्यतिरेकदृष्टान्तो वाऽभिप्रेतः ॥ १६ ॥

तमित्थं प्रत्यर्च्य अवताराप्रभृतीनि वीर्याणि विस्तरतो विवक्षुः तावदवतारनिमित्तभूतां भूप्रार्थनामुपपादयति **भूमि** रित्यादिभिः चतुर्भिः । दृप्तः गर्विताः नृपव्याजाः नृपवदवभासमानाः ये दैत्यास्तेषामनीकानां सैन्यानां शतानामयुतैः भूरिभारेण तद्रूपनिरवधिकभारेण आक्रान्ता पीडिता भूमिः ब्रह्माणं चतुर्मुखं शरणं ययौ ॥ १७ ॥

तदेव प्रपञ्चयति । गौर्भूत्वा गोरूपं बिभ्राणा खिन्ना दीना अश्रूणि मुखे यस्यास्तथाभूता करुणं यथा तथा रुदती विभोः ब्रह्मणोऽन्तिके समीपे उपस्थिता स्तुवती व्यसनं स्वदुःखं तस्मै ब्रह्मणे सम्यगवोचत विज्ञापयामास ॥१८॥

ब्रह्मा तद्व्यसनमुपधार्य ज्ञात्वा अथ देवगणैस्तया भूम्या सह सत्रिनयनस्सरुद्रः क्षीरसागरस्य तीरं जगाम ॥ १९ ॥

1. K adds इति 2. K,W, omit कान् 3. तत्पि° 4. K,W omit सैन्यानां 5. B, W रुदन्ती 6. B,W स्तुवन्ती

**विज०** सूतः इति शौनकं प्रत्याह - सूत इति । हे भृगुनन्दन! शौनक! प्रत्यर्च्य प्रतिसम्भाव्य, राजानमिति शेषः ॥ १४ ॥

कीदृशी प्रत्यर्चेति तामाह - **सम्यग् व्यवसितेति** । नैष्ठिकी श्रीनारायणोत्कर्षसम्बन्धिनी । "**निष्ठोत्कर्षे व्यवस्थायाम्**" (वैज. को. 6.2.21) इति यादवः । निश्चलतया स्थितिर्निष्ठा तद्वतीति वा ॥ १५ ॥

न केवलं हरिकथाप्रश्नः प्रष्टारं पुनाति, किन्तु वक्तारमपीत्याह - **वासुदेवेति** । तत्पादसलिलं भागीरथी शालग्रामतीर्थं वा। "गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयात्" (विष्णु० पु० 2-8-123) इत्यादेः ॥ १६ ॥

एतदन्यच्चेत्येतत् यदन्यदिति तदिदमिति ध्वनयन् कथामादित उपक्रमते - **भूमिरित्यादिना** । शतायुतैरित्यनेनास ङ्ख्यायातत्वं सूचयति । भूरिभारेण पीडितेति शेषः ॥ १७ ॥

यथा करुणं भवति तथा रुदन्ती, व्यसनं विविधनिरसनम् ॥ १८, १९ ॥

**तत्र गत्वा जगन्नाथं देवदेवं[1] वृषाकपिम् ।**
**पूर्णं[2] पुरुषसूक्तेन ह्युपतस्थे[3] समाहितः ॥ २० ॥**
**गिरं समाधौ गगने समीरितां निशम्य वेधास्त्रिदशानुवाच ह[4] ।**
**गां पौरुषीं मे शृणुताऽमराः पुन र्विधीयतामाशु तथैव मा चिरम् ॥ २१ ॥**
**पुरैव पुंसाऽवधृतो धराज्वरो भवद्भिरंशै र्यदुषूपजन्यताम् ।**
**स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद्भुवि ॥ २२ ॥**
**वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः पर ः ।**
**जनिष्यते तत्पूजार्थं सम्भवन्तु[6] सुरस्त्रियः[5] ॥ २३ ॥**
**★ ऋषयोऽपि तदादेशात् कल्प्यन्तां पशुरूपिणः ।**
**पयोदानमुखेनापि विष्णुं तर्पयितुं सुराः ॥**
**वासुदेवकलाऽनन्तस्सहस्रवदन स्स्वराट् ।**
**अग्रजो[7] भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया ॥ २४ ॥**
**विष्णोर्माया[8] भगवती यया सम्मोहितं जगत् ।**
**आदिष्टा प्रभुणांऽशेन कार्यार्थे सम्भविष्यति ॥ २५ ॥**

1. V. वासुदेवं 2. B,G,K,M,W पुरुषं 3. B,G,M उप 4. K,W omit ह 5. B,G,M, तत्प्रियार्थं 6. K,W ° वन्त्वमर

* This extra verse is commented on by Viraraghava 7. B,G,M ° तो 8. M. योगमाया

**श्रीध० तत्रेति**[1] । वृषान् देहान् जीवरूपेण प्रविश्य आकम्पयतीति वृषाकपिः[1] ॥ २० ॥

**गिरमिति** । पौरुषीं पुरुषस्य भगवतः इयं पौरुषी तां गां वाचं, मे मत्तः आशु शृणुत । मा चिरम् अविलम्बितं, तथैव विधीयताञ्चेति ॥ २१ ॥

**पुरेति**। विज्ञापनात् पुरैव पुंसा ईश्वरेण धराया ज्वरः तापः। अवधृतो अवधारितः ॥ २२,२३,२४ ॥

**विष्णोरिति** । देवकीगर्भसङ्कर्षणयशोदामोहनादिकार्यार्थे यशोदायां सम्भविष्यति ॥ २५ ॥

1- -1 B, J omit 2- -2 V omits 3. B,J omit धराया 4- -4 B,J omit

**वीर०** तत्र तीरे गत्वा समाहितचित्तो जगन्नाथं परमपुरुषं वृषाकपिं श्रीमहाविष्णुं पुरुषसूक्तेनोपतस्थे तुष्टाव स्तुतिपूर्वकं निदध्यावित्यर्थ ॥ २० ॥

तथा गगने समीरितां गिरम् अशरीरां वाणीं समाधौ निशम्य वेधाः ब्रह्मा, त्रिदशान् देवान्[1] प्रत्यवोचत । तेदेवाह - **गामित्यादिभिः** सार्धैः पञ्चभिः । हे अमराः! समाधौ मया श्रुतां पौरुषीं परमपुरुषसम्बन्धिनीं गां गिरं मे मत्तः कथयतः शृणुत, यथा ईश्वरेणाऽऽदिष्टं[2] तथैव[3] भवद्भिर्विधीयतां क्रियतां चिरं विलम्बं मा कार्ष्ट ॥ २१ ॥

का नाम गौरित्यत्राऽऽह - **पुरैवेति**। पुरा भवद्भिज्ञाप्तेः पूर्वमेव। यद्वा, पुरैव स्वावतारात् पूर्वमेवेत्यर्थः। पुंसा ईश्वरेण धराज्वरो भूक्लेशः अवधृतः विज्ञातः । भवद्भिः यदुष्वंशैः उपजन्यताम् उत्पद्यताम्। जीवानामंशेनोत्पत्तिर्नाम धर्मभूतज्ञानेन जीवान्तराधिष्ठातृत्वं, स्वरूपस्याणुत्वेन अनेकदेहवृत्त्यसम्भवात् । कदा अस्माभिरुत्पत्तव्यमित्यत्राऽऽह - सः ईश्वराणामस्माकमपि ईश्वरो भगवान् स्वसम्बन्धिन्या कालाख्यया शक्त्या कार्योपयुक्तापृथक्सिद्धविशेषणभूतया तन्वा उर्व्या भूमेर्भरं क्षपयन्, निरसितुमिति भावः । भुवि यावच्चरेत् अवतरेत् ततः पूर्वमेव जन्यतामित्यर्थः ॥ २२ ॥

तथा वसुदेवस्य गृहे, भगवान् पूर्णषाड्गुण्यः प्रकृतिपुरुषविलक्षणः परमपुरुषः साक्षाज्जनिष्यते अवतरिष्यति। न कपिलादिवज्जीवान्तराधिष्ठातृत्वेनावतरिष्यति; किन्तु अद्वारकमेवेत्यभिप्रायेण साक्षादित्युक्तम् । तस्य जनिष्यमाणस्य परमपुरुषस्य पूजार्थं परिचर्यार्थं क्रीडार्थमिति यावत् । अमराणां स्त्रियोऽपि सम्भवन्तु स्वांशैरुत्पद्यन्ताम् ॥ २३ ॥

तथा ऋषयोऽपि तस्य भगवत आदेशादनुशासनात् पशुरूपिणः कल्प्यन्तां गोरूपिणस्सम्भवन्तु । किमर्थं, तत्राह - हे सुराः पयोदानमुखेन क्षीरप्रदोहनद्वाराऽपि विष्णुं तर्पयितुं तपआदिभिस्तर्पयन्त्येव, अधुना पयोदानमुखेनाऽपि तर्पयितुं गोरूपिणः कल्प्यन्तामित्यपिशब्दाभिप्रायः । तथायो वसुदेवस्य कला अंशः । कोऽसौ? यः अनन्तः सहस्रमुखः स्वराड् कर्मवश्यः सोऽपि हरेः प्रियं कर्तु मिच्छया अग्रजो भविता तस्य अग्रजो भविष्यतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

तथा विष्णो र्या माया, सा का? यया मायया इदं जगत् चेतनवर्गः सम्मोहितं, साऽपि भगवती श्री[4]भगवत्परतन्त्रा अन्यैः[4] पूज्या मायाधिष्ठात्री देवता, प्रभुणा नियन्त्रा भगवता आदिष्टा आज्ञापिता[5] सती[5] तस्य कार्यार्थे प्रयोजनार्थमंशेन सम्भविष्यति जनिष्यते ॥ २५ ॥

1. B सुरान् 2. K,W °णातिदिष्टं 3. K,W omit तथैव 4- -4 K,W omit 5- -5 K,W omit

**विज०** जगन्नाथत्वं राजादेरप्यस्तीति देवदेवमिति इन्द्रादिव्यावृत्त्यर्थम् । वृषाकपिम् अभीष्टदानादानन्दपानाच्च वृतषङ्गुणत्वात् अकपेर्दुःखपोषणाच्च वृषाकपिस्तम् । नीरूपस्य हरेरिन्द्रियविजयत्वं कयमित्यतः पुरुषमिति। "तस्येदमेव शिरः " ( उ. 2-1-1) इत्यादेः । उपतस्थे मन्त्रवचनपूर्वक मुपासनां कृतवानिति। "उपान्मन्त्रकरणे" (अष्टा. 1-3-25) इत्यात्मनेपदम्। कोऽयं मन्त्रः, येन धात्वर्थः समर्थितः स्यादित्यतः पुरुषसूक्तेनेति ॥ २० ॥

समाधाविति तादर्थ्ये सप्तमी, समाध्यर्थं देवकार्यसमर्थनार्थं समीरितां गिरम् "अत्यर्थामिति गीर्वाणी वाचि हि सम्प्रतिष्ठितम्" इति श्रुतेः। तां स्तुतिगिरं संस्मृत्य गुणध्यानसमवस्थायां वा कथितम्। "समाधिर्ध्यानसन्धानप्रतिज्ञासु समर्थने" (वैज. को. 7-1-81) इत्यभिधानादित्यर्थः। पौरुषीं पुरुषेणोक्तां गमयति अवगवमयति ज्ञापयत्यर्थमिति गौर्वाक्। "अथ कस्माद्गौरिति गच्छति" (निरुक्तम्) । इति निरुक्तकारनिर्वचनमपि वक्तुः श्रोतुः कर्णान्तरगमनाद्युक्तम् ॥ २१ ॥

धराज्वरः भूमेस्सन्तापः 'ज्वर - सन्तापे' इति धातुः। न केवलं जननमेव पूर्यते तावन्तं कालमवस्थानञ्चोपेक्षितमित्याह स यावदिति। स्वकालशक्तया स्वरूपभूतोपसंहारकालाख्यशक्तया ॥ २२ ॥

न केवलं देवानामुर्व्यामवतारः , तदङ्गनानामपीत्याह - **वसुदेवेति** ॥ २३ ॥

हरेरवताराविनाभूतस्य शेषावतारस्य प्रकारमाह - **वासुदेवेति।** वासुदेवकलानन्तः इत्येकं पदम् । वासुदेवस्य कलयासितकेशांशेन युक्तः शेषः स्वेन हरिणा राजत इति स्वराट् । स्वस्य स्वतन्त्रस्य हरेरधस्तच्छयनीयत्वेन राजत इति वा । स्वमात्मानं सनकादिभ्यो राजयति प्रकाशयतीति वा हरेरग्रजं ॥ २४ ॥

देवकार्यार्थं सहायान्तरं, वक्ति—योगमायेति । योगमाया दुर्गा ॥ २५ ॥

1. Ma नि 2. B °स्ता

श्रीशुक उवाच

**इत्यादिश्याऽमरगणान् प्रजापतिपतिर्विभुः ।**
**आश्वास्य च महीं गीर्भिः स्वधाम परमं ययौ ॥ २६ ॥**

**शूरसेनो यदुपतिर्मधुरामावसत्पुरीम्।**
**माथुरान् शूरसेनांश्च विषयान् बुभुजे पुरा ॥ २७ ॥**

**राजधानी ततस्साऽभूत् सर्वयादवभूभुजाम्।**
**मधुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः ॥ २८ ॥**

**तस्यां तु कर्हिचिच्छौरिर्वसुदेवः कृतोद्वहः ।**
**देवक्या सूर्यया सार्धं प्रयाणे रथमारुहत् ॥ २९ ॥**

**उग्रसेनसुतः कंसः भगिन्याः प्रीतिमावहन्।**
**रश्मीन् हयानां जगृहे रौक्मै रथशतै र्वृतः ॥ ३० ॥**

चतुश्शतं पारिबर्हं गजानां हेममालिनाम्।
अश्वानामयुतं[10] साधं रथानां च त्रिषट्शतम्॥ ३१॥

दासीनां सुकुमारीणां द्वे शते समलङ्कृते।
दुहित्रे देवकः प्रादाद् यानैः[11] दुहितृवत्सलः ॥ ३२॥

शङ्खतूर्यमृदङ्गानि[12] नेदुर्दुन्दुभयस्समम्।
प्रयाणे[13] पक्रमे तात[14] वरवध्वोस्सुमङ्गलम्॥ ३३॥

पथि प्रग्रहिणं कंसमाभाष्याऽऽहाऽशरीरवाक् ।
अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यां नयसेऽबुध[15] ॥ ३४॥

इत्युक्तस्स खलः पापो भोजानां कुलपांसनः ।
भगिनीं हन्तुमारब्धः खड्गपाणिः कचेऽग्रहीत्॥ ३५॥

तं जुगुप्सितकर्माणं नृशंसं निरपत्रपम्।
वसुदेवो महाभाग उवाच परिसान्त्वयन्॥ ३६॥

1. B,G,M °थु° 2. B,G,M °सन्पु ° 3. W म° 4. B,G,M °थु° 5. M. स्वराट् 6. B,G,M °थु° 7. M भार्यया 8- -8 B,G,M स्वसुः प्रियचिकीर्षया; K,W भगिन्याः प्रियचिकीर्षया 9. B,G,V जग्राह 10. W °तैः 11. B,G,M °ने 12. B,G °श्च 13. B,G,M °णप्रक्रमे 14. B,G तावत् 15. B,G वहसेऽ°

**श्रीध०** भोजेन्द्रबन्धनागारे अवताराय प्रस्तावकथामाह **शूरसेन**[1] इत्यादिना, यावदध्यायसमाप्ति। मधुरायामावसनं[2] मधुरायां वसनं[-2], विषयान् देशान्॥ २६, २७, २८॥

**तस्यामिति** । सूर्यया नवोढया साकं[3] प्रयाणे प्रयाणार्थम्॥ २९॥

**उग्रसेनेति**। रश्मीन् प्रग्रहान् अग्रहीत्[4]॥ ३०॥

**चतुश्शतमिति**। पारिबर्हम् उपस्करम्॥ ३१॥
**दासीनामिति**[5-]। देवकः उग्रसेनः[-5] ॥ ३२, ३३॥

**पथीति**। आभाष्य रे रे कंसेति सम्बोध्य। हन्ता हनिष्यति॥ ३४॥

**इतीति**। कुलपांसनः कुलदूषणः । आरब्धः उद्युक्तः । कचे केशबन्धे॥ ३५॥

**तमिति**। नृशंसं क्रूरं, महाभाग इति। अयं भावः - स्वजन्मनि देवैर्हर्षिण आनकदुन्दुभिनिर्घोषिण[6] भाविभगवदवतारेण[7]शक्यप्रतीकारता सम्भवतीति सान्त्वयन्, स्तुत्या कृपाविषयत्वेन उपपत्तिभिश्च सन्मार्गेण सम्बोधयन्॥ ३६॥

1. V इति, 2- -2 V. omits 3. B,J, omit साकं 4. B,J, omit अग्रहीत् 5- -5 B,J omit 6. B,J घोषणात् 7. V. °णाशङ्क्यप्रति

**वीर०** इत्येवं भगवतोक्तमेव अमरगणान् प्रत्यादिश्य अनुज्ञाप्य, प्रजापतीनां दक्षादीनामपि पतिः विभुः ब्रह्मा गीर्भिर्महीमाश्वास्य सान्त्वयित्वा परमं श्रेष्ठं स्वधाम स्वलोकं ययौ॥ २६॥

तदेवमवतारनिमित्तमुपपादितम्। अथावतारप्रकारं पितुर्गेहाद्व्रजगमननिमित्तं च वर्णयितुं तदुपोद्घातरूप मितिहास माह - **शूरसेन** इत्यादिना यावदध्यायसमाप्ति। पुरा पूर्वकाले यदूनां पतिः शूरसेनो नाम मधुरां पुरीमधिवसन्, मधुरान् शूरसेनांश्च विषयान् देशान् बुभुजे। इह उपभोगो भुजेरर्थः , न तु पालनम्; तत्र "**भुजोऽनवने**" (अष्टा. 1-3-66) इत्यात्मनेपदप्रतिषेधात्॥ २७॥

यतश्शूरसेनो राजा अध्यवसत्, ततस्सा मधुरा पुरी सर्वेषां यादवभूभुजां[2] यादवभूपालानां राजधानी बभूव। तत्र पुर्यां हरिर्भगवान्नित्यं सन्निहितः , आविर्भावस्थानत्वादिति भावः ॥ २८॥

कदाचित्तस्यां पुर्यां शौरिः शूरस्य सुतो वसुदेवः कृतविवाहः देवक्या सूर्यया नवोढया भार्यया सह प्रयाणे स्वगृहं प्रति प्रयाणे निमित्ते रथमारुरोह॥ २९॥

तत उग्रसेनस्य सुतः कंसः भगिन्या देवक्याः प्रियं कर्तुमिच्छया स्वयं रौक्मैः हेममयैः रथानां शतैः परिवृतो भगिनीरथवाहानामश्वानां प्रग्रहान् जगृहे॥ ३०॥

तदा देवक उग्रसेनस्य भ्राता दुहितृवत्सलः , हेतुगर्भमिदम् दुहितृवत्सलत्वाद् दुहित्रे देवक्यै पारिबर्हमुपायनं ददौ। पारिबर्हं दर्शयति। हेममालालङ्कृतानां गजानामयुतं, तथाविधानामश्वानां सार्धमर्धेन पञ्चसहस्रया सहितमयुतम्। रथानां तु त्रिषट्शतमष्टादशशतञ्च। यानैः गमनसाधनैस्सह दासीनां सुकुमारीणां समलङ्कृते द्वे शते॥ ३१, ३२॥

हे तात! वरवध्वोः प्रयाणोपक्रमे मङ्गलार्थं शङ्खादीनि दुन्दुभयश्च समं युगपन्नेदुः दध्वनुः । सुमङ्गलमिति क्रियाविशेषणं वा॥ ३३॥

ततो मार्गे प्रग्रहिणं हयरश्मिधरं कंसमुद्दिश्याशरीर[3] वागाह उत्सृष्टा बभूव। तामेव दर्शयति अस्या इति। यां भगिनीं प्रियचिकीर्षया नयसे भर्तृगृहं प्रापयसि अस्या अष्टमो गर्भः , अपत्यपरो गर्भशब्दः । हे[4] अबुध! अज्ञ! त्वां[4] हन्ता हनिष्यति॥ ३४॥

[5]इति इत्थमुक्तः सः[6] भोजानां कुलपांसनः कुलमलरूपः कुलाधम इति यावत्। खलो मूर्खः पापात्मा कंसः, तथाभूतत्वात् खड्गः पाणौ यस्य, तथाभूतो भगिनीं स्वप्राणापहारनिदानभूतां भगिनीं हन्तुमुद्युक्तः कचेऽग्रहीत्, केशपाशं जग्राहेत्यर्थः ॥ ३५॥

जुगुप्सितं निन्दितं भगिनीवधोद्योगरूपं कर्म यस्य, तत एव नृशंसं क्रूरम्, अत एव निरपत्रपं निर्लज्जं, तं कंसं परिसान्त्वयन् उपच्छन्दयन्, महाभागो महाभाग्ययुक्तो महाबुद्धिमान् वसुदेव उवाच॥ ३६॥

1. B राजा 2- -2 K,W omit 3. B °रिणी 4- -4 K,W omit 5. K,W omit इति 6. K,W omit सः

**विज०** महर्लोकादिभ्यः परमम्॥ २६॥

चतुर्मुखे भुवं सान्त्वयित्वा सत्यलोकं गते उत्तरकथां प्रसञ्जयति - **शूरसेन** इति। कार्तवीर्यसुतः पुरीमावसन्निति सप्तम्यर्थे द्वितीया "उपान्वध्याङ्वसः " (अष्टा. 1-4-48) इति सूत्रात्॥ २७, २८॥

ततः किमत्राह - **तस्यामिति** ॥ २९॥

विवाहकाले रथहयानां कविकाग्रहणे अत्यन्तं बन्धुना भाव्यमिति दर्शयितुं तद्गहिणमाह - **उग्रसेनसुत** इति॥ ३०॥
विवाहकाले दुहित्रे यद्दीयमानं धनं तत्पारिबर्हं नाम॥ ३१,३२॥
प्रयाणप्रक्रमे गमनारम्भे॥ ३३॥
प्रग्रहः कविका, तद्वन्तम्। अस्याः देवक्याः ॥ ३४॥
कुलपांसनः कुलधूलीकरणशीलः । कचे केशपाशे॥ ३५॥
नृशंसं क्रूरकर्माणं परिसान्त्वयन् साम्ना भेदेन च सम्बोधयन्॥ ३६॥

## -: देवकीहननोद्युक्तं कंसं प्रति वसुदेवकृतसामाद्युपदेशः :-

**वसुदेव उवाच**

**श्लाघनीयगुणश्शूरैर्भवान् भोजयशस्करः ।**
**स कथं भगिनीं हन्यात् स्त्रियमुद्वाहपर्वणि॥ ३७॥**
**मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।**
**अद्य वाऽब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥ ३८॥**
**देहे पञ्चत्वमापन्ने देही कर्मानुगोऽवशः ।**
**देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः ॥ ३९॥**

**व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैकेन गच्छति।**
**यथा तृणजलूकैवं देही कर्मगतिं गतः ॥ ४० ॥**

**स्वप्ने यथा पश्यति देहमीदृशं मनोरथेनाभिनिविष्टचेतसः ।**
**दृष्टश्रुताभ्यां मनसाऽनुचिन्तयन् प्रपद्यते तत्किमपि ह्यपस्मृतिः ॥ ४१ ॥**

यतो यतो धावति दैवचोदितं मनो विकारात्मकमाप पञ्चसु।
गुणेषु मायारचितेषु देह्यसौ प्रपद्यमानस्सह तेन जायते॥ ४२॥

ज्योतिर्यथैवोदकपार्थिवेष्वदस्समीरवेगानुगतं विभाव्यते।
एवं स्वमायारचितेष्वसौ पुमान् गुणेषु रागानुगतो विमुह्यति॥ ४३॥

तस्मान्न कस्यचिद्द्रोह माचरेत्स तथाविधः ।
आत्मनः क्षेममन्विच्छन् द्रोग्धुर्वै परतो भयम्॥ ४४॥

एषा तवाऽनुजा बाला कृपणा पुत्रिकोपमा।
हन्तुं नार्हसि कल्याणीमिमां त्वं दीनवत्सल!॥ ४५॥

1- -1 K,W omit 2. K,W हन्याः 3. V. °धर्म° 4. K,W कर्मवशानुगः 5. V °वान्येन 6. M °मात्म 7. B,G °लः

**श्रीध०** किञ्च वसुदेवःकंसं सामभेदाभ्यां सम्बोधयन्नाऽऽह**श्लाघनीयेति**। तत्र साम पञ्चविधम्। भेदो द्विविधः तदुक्तम् "लोभोपकृतिसम्नन्धा ह्यभेदो गुणकीर्तनम्। साम पञ्चविधं भेदो दृष्टादृष्टभयं वचः" इति। श्लाघनीयगुण इति गुणकीर्तनम्। भगिनीमिति सम्बन्धकथमम्। पुक्षिकोपमेत्यभेदं वत्यति। हन्यादिति स्त्रीवधनिवृत्त्या यशोलाभं दर्शयति। उद्वाहपर्वणीति सन्तानवृद्ध्या उपकारं दर्शयति॥ ३७॥

मम मरणभयेन हन्मीति चेत्तयाऽति मरणस्याऽपरिहरणीयत्वात्, देहान्तरस्य चावश्यम्भावित्वात्, तत्रादि भोगप्रेमास्पदत्वादीनामविशेषात् तद्भयेन पापाचरणमयुक्तमित्यभिप्रेत्याऽऽह - **मृत्युरिति**। देहेन सहेति। विधात्रा ललाहे लिखितत्वादिति। देहस्य क्षणभङ्गुरत्वान्नित्यमाशङ्क्यो मृत्युरिति वा। तयापि कालविलम्बार्थं हन्मीति चेत्तत्राऽऽह - अद्य वेति। अवश्यम्भाविनि मरेण विलम्बमात्राय पापाचरणम् अयुक्तम् इति भावः॥ ३८॥

किञ्चा तस्मिन् देहे गते यदि देहान्तरं न स्यात्, तदा पापेनापि एतत्पालनं युज्येत न तु तदस्तीत्याऽऽह - **देहे** इति। आपन्ने आपन्नप्राये कर्मवशादयलत एव प्रथमं देहान्तरं प्राप्य पश्चात् पूर्वं वपुस्त्यजति॥ ३९॥

अत्र दृष्टान्तः - **व्रजन्निति**। एकेन अग्रतो निहितेन पदा तिष्ठन् भुवमवष्टभ्य देहं बिभ्रत्, पश्चादन्येन पूर्वप्रदेशाद् उत्थाप्य पुरा निहितेन गच्छति तद्वत्। अत्र च स्वीकारपरित्यागौ नात्यन्तभिन्नविषयाविति स्पष्टम्। दृष्टान्तान्तरमाऽऽह - यथा तृणजलूकेति। सा हि यं तृणान्तरमवष्टभ्य पूर्वतृणं त्यजति। एवं कर्मपये वर्तमानोऽन्यो जीवोऽपि॥ ४०॥

देहविषयावेव स्वीकारपरित्यागौ दर्शयितुं दृष्टान्तान्तरमाह - **स्वप्रे** इति। दृष्टं राजादिदर्शनम्। श्रुतम् इन्द्रादिश्रवणम्। ताभ्यामाहितसंस्कारेण मनसा तदेवानुचिन्तयन्। ईदृशं जाग्रद्दृष्टश्रुतसदृशं देहं राजादिरूपं किमपि अतितुच्छमनिरूक्तं पश्यति। श्रणान्तरे च तदेवाऽहमिति प्रपद्यते मन्यते। ततश्च जाग्रद्देहादपगतस्मृतिर्भवति पुरुषो ययेति। जाग्रत्येव दर्शयितुं दृष्टान्तान्तरमाऽऽह - व्यनोरथेनेति। अत्रापि दृष्टश्रुताभ्यामित्यादि सर्वं योज्यम्। तथा च वक्ष्यति "जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः। जन्मत्वात्मतया पुसः सर्वभावेन भूरिद! विषयस्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्रमनोरथौ। स्वप्रे मनोरथे चेत्यं (चैवं) प्राक्तनं न स्मरत्यसौ" (भाग. 11-22-40,41,42) इत्यादि। तद्वदत्राऽपि कर्मवशाद्देहान्तरं प्राप्य प्राक्तनं त्यजतीति॥ ४१॥

ननु विचित्रदेहहेतूनां कर्मणाम् अ[17]कृतत्वाद् देहविशेषप्राप्तौ किं कारणमत आह - **यतोयत** इति। देहस्य पञ्चत्वसमये पञ्चसु गुणेषु[18] भूतेषु मा[19-]यारचितेषु[-19] मायया नानादेहरूपेण रचितेषु दैवन फलाभिमुखेन कर्मणा चोदितं नानाविकारात्मकं मनो यं यं देहं देवतिर्यगादिरूपं प्रतिधावति धावञ्च सत् यं यमाप अभिनिवेशनप्राप्तं, तत्र तत्र असौ देही जायते। ननु मनस: क[20]र्मकर्तृत्वात् तदेव जायतां म त्बकर्तात्मोत्यत आह - प्रपद्यमान इति। तदेवाऽहमिति प्र[21]पद्यमानस्तेन सह जायत इति॥ ४२॥

ननु सत्यं भविष्यत्येव किमपि देहमात्रं, तथाप्यस्य अतिप्रियस्य राजदेहस्य रक्षणाय अकृत्यमपि क्रियत इति चेत्तत्राऽऽहज्योतिरिति। अदश्चन्द्रादिज्योति! उदकयुक्तेषु पार्थिवेषु घटादिषु। यद्वा उदकेषु पार्थिवेषु तैलघृतादिषु प्रतिबिम्बेन स्थितं समीरस्य वायोर्वेगमनुगतं कम्पादियुक्तं प्रतीयते यथा। एवं स्वाविद्यारचितेषु गुणेषु देहेषु। असौ रागेणानुगत: प्रविष्टो मुत्यति अभिनिवेशं प्राप्नोति। अय भाव: आत्मनस्तावद् देहाद्यध्यासाज्जन्मात्तं सह तेन जायत ज्ञति। ततश्च अन्योन्यधर्माध्यासाद् यथा दे[22]हधर्मा: काश्यादय: आत्मनि प्रतीयन्ते, स्थू[23-]लोऽहं, कृशोऽहमिति[23]। एवमात्मधर्मा: प्रेमास्पदत्वं[24] ज्ञानाश्रयत्वादयोऽपि देहादिष्विति। अ[25]त: राजसूकरादिदेहयो: विशेषभावात् व्यर्थो मृत्युप्रतीकार इति॥ ४३॥

एवयुक्तं सामोपायमुपसंहरन् भेदमाह - **तस्मादिति।** परत इति अयिद्रुह्यमाणान् तत्सम्बन्धिनश्च यमादिति। भ[26]यं इहामुत्र ल भयमिति भेदो दर्शित:॥ ४४॥

पुनस्सामैवाऽऽह **एषेति।** पुत्रिकोपमा दारुमयी वा अचितनप्राया॥ ४५॥

1- -1. B,J omit 2. V सम्भेद° 3. B,J omit आह 4- -4. omits 5- -5. B सम्बन्धसामोदकृतिर्ह्य भेदो J सम्बन्धलाभोपकृतिर्ह्यभेदो 6. B,J omit मम 7- -7. B,J omit 8. B लम्बनार्थ 9. B,J न युक्तम् 10. B,J अस्मिन् 11. B,J तत्पा° 12. V omits आपन्ने 13. V omits यथा 14. V omits °ऽन्यो ★ 15. B,J omit अतितुच्छम् 16- -16. B,J स्वपं मनोरथं 17. B,J कृतत्वात् 18. V adds पञ्च 19- -19. B,J omit 20. B,J omit कर्म 21. B,J मन्यमान: 22. B,J देहादि 23- -23. B,J omit 24. B,J °त्वादयोऽपि 25. B,J omit अत: 26. B,J omit भयं

**वीर०** उक्तिमेवाह श्लाघनीयेत्यादिभिर्नवभिः । शूरैः श्लाघनीयाः स्तुत्याः गुणाः यस्य, भोजानां भोजवंश्यानां यशः कीर्तिं करोत्यावहतीति तथा, स भवानेवम्भूतत्वात् कथं स्त्रियं तत्राप्युद्वाहकर्मणि उद्वाहाङ्गगृहप्रवेशकर्मणि, प[1-]र्वणीति पाठे गृहप्रवेशोत्सवकर्मणीत्यर्थः[-1] । तत्रापि भगिनीं हन्याः (त्?) हन्तुमुद्युक्तोऽसि॥ ३७॥

मन्मरणनिदानभूतत्वात् भगिनीमपि हन्यामित्यत्राऽऽह **मृत्युरिति।** हे वीर! जन्मवतामुत्पत्तिमतां देहेनैव सह मृत्युर्जायते मृत्युश्छायेव देहमुत्पत्तेरारभ्याऽनुवर्तत एव; किन्तु कालमात्रम् अपेक्षते इति भावः । अतोऽधुना[2] वा वर्षशतान्ते वा प्राणिनां मृत्युः ध्रुवः निश्चितः, अपरिहार्य इति यावत्॥ ३८॥

नन्वब्दशतान्ते जरया जीर्णं शरीरमस्तु मृत्युग्रस्तं, अधुना त्विदं कल्याणतरं[3] शरीरम[4]पैति चेत् पुनरेवंविधं दुर्लभमित्यत आह **देहे** इति। देहे पञ्चत्वं मरणमापन्ने आप्तुमुद्युक्ते सति देही तद्देहस्थो जीवः कर्मवशानुगः प्राचीनकर्मवश्यतामनुप्राप्तः कर्मानुगुणं शरीरान्तरं प्राप्यैव प्रात्तनं वपुस्त्यजते। कर्मानुगुणशरीरान्तरस्याऽयत्नलभ्यत्वात् एवंविधजुगुप्सितकर्मसम्पाद्यस्य शरीरस्य निहीनस्यैवाऽऽपत्तेः तादात्विकं मरणभयमपहाय भगिनीप्राणपरित्राणरूपाच्छुभकर्मणः पुनरितोऽपि कल्याणतरदेहप्राप्तेश्चैषा न हन्तव्येति भावः ॥ ३९॥

"देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः" (भाग 10-1-39) इत्येतदेव सदृष्टान्तमुपपादयति - **व्रजन्निति।** इयं प्रसिद्धा तृणजलूका तृणगतः[5] कीटविशेषः, स यथा व्रजन् गन्तुमुद्युक्तः एकेन पदा[6] पादेन तिष्ठन् तृणमवलम्बयन्नेव एकेन पदेन गच्छति, एवं देही जीवोऽपि पञ्चत्वमापन्नं देहं त्यजन् कर्मगतिं कर्मानुरूपं शरीरं गतः अधिष्ठितः, प्राक्तनं वपुस्त्यजतीत्यर्थः । अणोर्जीवस्य कथं पञ्चतामापत्स्यमानं देहमधितिष्ठत एव पुनर्देहान्तराधिष्ठातृत्वमिति न शङ्कनीयम्, गेहाद् गेहान्तरं प्रविशत इव स्वोपकरणेन्द्रियप्राणादिप्रापणपूर्वकत्वाद् देहान्तरप्राप्तेः धर्मभूतज्ञानद्वारा वा देहान्तराधिष्ठातृत्वमिति न विरोधः । यद्वा देहान्तरपरिग्रहपूर्वकमेव पूर्वदेहपरित्यागे दृष्टान्तस्तृणजलूका, छाययेव मृत्युनाऽनुगतत्वाज्जीवदशायामपि मृतप्रायत्वे दृष्टान्तान्तरमुच्यते - व्रजन्नित्यादिना[7]। यथा एकेन पदेन[8] व्रजन् गच्छन् पुरुषः पुनरेकेन पादेन तिष्ठन्नेव गच्छति, तद्वज्जीवन्नपि पुरुषः[9] मृतप्राय एव सन् जीवतीति अत एव व्रजंस्तिष्ठन्निति पुंस्त्वनिर्देशः यथाशब्दद्वयञ्च ॥ ४० ॥

ननु तृणजलूका विद्यमानशरीरेणैव गन्तव्यदेशमवष्टभ्यैव पूर्वदेशं त्यजतीति युक्तं तस्याः भयशोकाद्यभाव इति। दार्ष्टान्तिके तु न तथा। न हि प्राक्तनवपुर्विशिष्टो वपुरन्तरं प्राप्य प्राक्तनं त्यजति वपुरन्तरवैशिष्ट्याकारेण वपुरन्तरप्राप्त्यसम्भवात्। अपि तु विशेष्याकारेणैव वपुरन्तरप्राप्तिः, प्राक्तनवपुस्त्यागश्च। अतः प्राक्तनकल्याणतरवपुस्त्यागप्रयुक्तभयशोकोपनिपातसम्भावनया तत्परिहारोऽवश्यकर्तव्य इत्यत्र तदनुभवसिद्धस्वप्नदृष्टान्तेन देहान्तरप्राप्तिपूर्वकपूर्वदेहत्यागं तत्प्रयुक्तभयाद्यभावञ्च दार्ष्टान्तिके सङ्गमयति स्वप्न इति। स्वप्ने यथा दृष्टश्रुताभ्यां दृष्टश्रुतमनीषितलाभार्थं मनसाऽनुचिन्तयन् सङ्कल्पविकल्पौ कुर्वन् मनोरथेन देशान्तरगमनराज्याभिषेकादिरूपमनोरथेन अभिनिविष्टा चेतना बुद्धिर्यस्य तथाभूतो जीवः ईदृशं शयानदेहसदृशं तत्किमपि ततो विलक्षणं वा किमपि शरीरं स्वप्नमात्रावस्थायित्वेन स्वप्नद्रष्ट्रेकानुभाव्यत्वेन च स्वाप्नदेहस्य शयानतुल्यदेहतया चिन्तितुमशक्यत्वात् किमपीत्युक्तम्। तावत्पश्यति, ततस्तत्प्रतिपद्यते अपस्मृतिः शयानदेहविषयकस्मृतिरहितश्च भवति। अत एव तत्त्यागप्रयुक्तभयशोकादि रहितश्च भवति। हीति स्वपरानुभवप्रसिद्धिं द्योतयति पश्यति प्रतिपद्यते इत्यनेन। प्रथमं ज्ञानेनानुप्रवेशः , ततस्स्वरूपेणेति सूचितम्। एवं दार्ष्टान्तिकेऽप्यवगन्तव्यमिति भावः । न हीदानीम् अस्मदादीनां प्राक्तनदेहत्यागप्रयुक्तभयशोकादिकमुपलभ्यत इति च भावः। न च स्वप्नेऽपि शयानदेहे नैव देशान्तरगमनादिकमनुभूयत इति युक्तिमता अपवरकादौ शयानस्य देशान्तरगमनाद्यसम्भवात् ततस्तदवस्थामात्रावस्थायितद्रष्टृमात्रानुभाव्यदेहान्तरेणैव तदनुभवः। यद्वा, पूर्वार्धं दृष्टान्तपरमुत्तरार्धन्तु दार्ष्टान्तिकपरम्। तदयमर्थः - स्वप्ने देशान्तरगमनादिमनोरथाभिनिविष्टचित्तो जीवः यथा ईदृशं शयानदेहवदात्माभिमानविषयं स्वप्नदृश्यमात्रानु भाव्यफलपुण्यापुण्यकर्मानुगुणपरमपुरुषसृष्टं तावत्कालमात्रावस्थायि स्वप्नद्रष्ट्रेकावगम्यं[10] देहं पश्यति ज्ञानद्वाराऽधितिष्ठति, ज्ञान द्वाराऽधिष्ठाय देशान्तरगमनराज्यभिषेकशिशेदादीननुभवतीति भावः । अपस्मृतिः अपगता शयानदेहविषया स्मृतिर्यस्य तथाभूतश्च भवति। तद्वधादिसम्भावनाप्रयुक्तभयादिरहितश्च भवति। उत्तरार्धस्य तथेत्यादिः । एवं दृष्टश्रुताभ्यामिति तादर्थ्यचतुर्थी। दृष्टमैहिकंसुखं, श्रुतमामुष्मिकं ताभ्यां तदर्थं मनसानुचिन्तयन् किमपि कर्मानुगुणमीश्वरसृष्टं किमपि शरीरं प्रतिपद्यते, अपस्मृतिश्च भवति। प्रथमं ज्ञानद्वारा अधिष्ठाय प्राक्तनवपुर्विषयस्मृतिरहितः ततः स्वरूपेण प्रविशतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

किमपि प्रपद्यत इत्येतदेव विवृण्वन् तदेव जीवस्योत्पत्तिनिमित्याह **यत इति** । दैवमत्र दिष्टं कर्म वासनात्मकं तच्चोदितं तदनुगुणप्रवृत्तं विकारात्मकं सङ्कल्पविकल्परूपविकारप्रकारं सत् मनोमायारचितेषु सत्त्वादिगुणत्रयात्मकप्रकृतिपरिणामरूपेषु

पञ्चसु गुणेषु शब्दादिविषयेषु मध्ये। यतो यतो धावति यं यं विषयं[11] स्मरति तं तमेव प्रपद्यमानः अनुप्रविष्टः तेन सह जायते, इयमेव जीवस्योत्पत्तिर्नमिति भावः । "यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेबरम्। तं तमेवैति कौन्तेय, सदा तद्भावभावितः " (भगी. 8-6) इति भगवदुक्तेरिति भावः ॥४२॥

तेन सह जन्मरूपोपाधिप्रयुक्तमेव जीवस्य देवमनुष्यत्वादि नानात्वम्। वस्तुतस्तु सर्वत्र शरीरेषु ज्ञानैकाकारत्वेनावतिष्ठत इति सदृष्टान्तमाह - **ज्योतिरिति**। यथा अदः अन्तरिक्षस्थमेकरूपमेव सूर्यादिज्योतिः उदकेषु, पार्थिवेषु पृथिवीपरिणामरूपेषु दर्पणादिषु च प्रतिबिम्बितं तत्समीरस्य वायोर्वेगेन अनुगतमनुवृत्तं सत् विभाव्यते। समीरवेगशब्दोऽल्पत्वमहत्वाद्युपाधिगतधर्मोपलक्षकः। विविधं भाव्यते[12] वृद्धिह्रासादिधर्मभाक्त्वेन भाव्यते दृश्यते, अस्मदादिभिरिति शेषः । एवमसौ पुमान् जीवः स्वतो विमनुष्य[13]त्वादिनानात्वरहितोऽपि स्वमायारचितेषु स्वदेहारम्भकप्रकृति परिणामरूपभूतसूक्ष्मारब्धेषु गुणेषु गुणपरिणामात्मकेषु शरीरेषु, रागानुगतः रागेण शब्दादिविषयस्पृहया वा[14-] सनात्मिकया[-14] हेतुभूतया, अनुगतोऽनुप्रविष्टः, विमुह्यति देवोऽहं मनुष्योऽहम् इत्येवं नानाविधं मोहं प्राप्नोति। यद्यपि दृष्टान्ते सूर्यादिज्योतिरुदकाद्युपाधिषु अनवस्थितमेव स्वच्छद्रव्यप्रतिहतिनिवृत्तस्वरश्मिभिर्हेतुभिः समीपस्थजनैर्विभाव्यते। दार्ष्टान्तिके तु देहेष्ववस्थित एव सन् पुमान् मुह्यतीति तयोर्वैषम्यम्। तथापि वस्तुतो नानात्वाभावौपाधिकनानात्वमात्रेण दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोऽवगन्तव्यः ॥४३॥

**तस्मादिति**। तस्माद्वस्तुस्थितेरेवं विधत्वात् तथाविधः वस्तु तत्त्वाभिज्ञः सः[15] पुमान् आत्मनः स्वस्य क्षेममन्विच्छन् अन्विच्छुः, कस्यचिदपि[16] द्रोहं नाऽऽचरेत् न कुर्यात्। एवञ्चेत्तस्य न कुतश्चिदपि भयम्, अन्यथा तु भयमित्याह द्रोग्धुर्वै परतः अन्यस्मात् भयमित्यर्थः। यद्वा, परतः परमेश्वरात् भयं भूतद्रोग्धुर्भयं वै भयमस्त्येवेत्यर्थः॥४४॥

एवं सामान्यतो हिताहितं विविच्य अथ विशेषेण विवेचयति - **एषेति**। अनुजात्वस्त्रीत्वबाल्यदैन्य-पुत्रिकातुल्यत्वकल्याणत्वादिधर्मयुक्तेयमवध्या। अत इमां त्वं हन्तुं नार्हसि। हन्तृत्वानर्हतां सूचयितुं सम्बोधयति हे दीनवत्सलेति॥४५॥

1- -1 K,W. omit 2. K. °ऽद्य 3. B. adds नवयौवनसम्पन्न 4. B. °मुपैति 5. B. गतकीट 6. K, W. omit पदा 7. B. °ति। 8. B. पा° 9. B. adds पुनः 10. K. दगे° 11. K,W. omit विषयं 12. K omit भाव्यते 13. K,W. °ष्यादि 14- -14 K,W. omit 15. K,W. omit सः 16. K.W. omit अपि.

**विज०** "सम्बन्धलाभोपकृतिरभेदो गुणकीर्तनम्" साम[1] पञ्चविधं, भेदो दृष्टादृष्टभयं वचः " इति पञ्चविधं साम ज्ञायते - **श्लाघनीयगुणेत्यादिना**। श्लाघनीयगुणेति गुणकीर्तनम्। भोजयशस्करेति कीर्तिलाभकथनम्। हन्याः स्त्रियमिति स्त्रीवधादकीर्तिलाभसूचनम्। भगिनीमिति सम्बन्धवचनम्। उद्वाहपर्वणीति अपकृतिसूचनम्। उद्वाहपर्वणीति सूचनात् विवाहोऽयमेव॥३७॥

मृत्युर्जन्मवतामित्यादिना अदृष्टभयम्॥३८॥

देहे पञ्चत्वमित्यादिना दृष्टभयं, कर्म पुण्यपापविषयम्। अवशो विष्णुवशः , त्यजते त्यजति॥ ३९॥

पूर्वदेहपरित्यागेन देहान्तरप्राप्तौ दृष्टान्तमाऽऽह **व्रजन्निति**। यथा व्रजन् पुरुषः एकेन पादेन तिष्ठति, एकेन गच्छति, पूर्वदेशवियोगेन देशान्तरसंयोगमाप्नोति, यथा तृणजलूका तृणान्तरं गृहीत्वा पूर्वतृणं त्यजति एवं देही कर्मगतिं गतो भवतीत्यन्वयः। कर्मणो गतिराप्तिर्यस्मिन् देहे त्यजति तथा तत्तद्देहान्तरमित्यर्थः ॥ ४०॥

ननु देहात्मनोरभेदेन देही पूर्वदेहं परित्यज्य अभिनवदेहान्तरं यातीति कथं सञ्जाघटीतीति तत्राऽऽह - **स्वप्ने इति**। जाग्रद्दृष्टश्रुतपदार्थसंस्कारसमुद्बुद्धमनोरथेन अभिनिविष्टचेतनः गाढप्रग्रस्तबुद्धिरात्मा स्वप्ने ईदृशं जाग्रद्देहसदृशदेहं यथा पश्यति स्वकीयत्वेनाऽनुभवति परकीयत्वेन वा आत्मन एकत्वेन देहयोर्द्वित्वेन दर्शनाद्देहात्मनोर्भेद आनुभाविकः तथा मनसाऽनुचिन्तयन् आत्मादृष्टश्रुतस्मृतानुसृतं तत् तत्र किमपि देवाद्यन्यतमशरीरं प्रपद्यते। कदेत्यत उक्तमपस्मृतिरिति। उत्तरदेहे अभिमानितया पूर्वदेहस्मरणाभावेन मृत इत्यर्थः । हिशब्दो हेतौ। यत एव मृत इत्यर्थः । तदुक्तमाचार्यैः "स्वप्ने यथा दृष्टश्रुतस्मृत्यनुसारि देहं प्राप्नोत्यपस्मृतिर्मृतः पूर्वदेहस्मरणाभावात् अनभिमानत" इति॥ ४१॥

एतदेव विवृणोति **यतो यत** इति। सार्वविभक्तिकस्तसिः इति वचनात्, यतो यतो यत्र यत्र। मायारचितेष्वित्यादिषु[3] सप्तमी षष्ठ्यर्थे भगवदिच्छोद्बोधितप्रकृतिनिमित्तानाम्। प्रकृते रेकत्वेन सृष्टेः नानाविध्यं कथमत्राऽऽह - गुणेष्विति। कार्यकारणभेदात्[4] सत्त्वादिगुणविहितानाम् आत्मपञ्चसु देवगन्धर्वपितृमनुष्यासुरभेदेन पञ्चानामात्मनां मध्ये दैवेन अदृष्टोद्बोधकेन हरिणा चोदितं प्रेरितं मनो धावति विषयीकरोति। मनो विशिनष्टि - विकारात्मकमिति। सङ्कल्पविकल्पनिबद्धमिति यस्य[5] मनो मरणसमये योग्यतानुसारेण यं यं धावति असौ देही तत्र तत्र प्रपद्यमानः प्रवृत्तिं लभमानः तेन दैवेन सह जायते "प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढ उत्सृज्य याति" (बृह.उ. 4.3.35) इति श्रुतेः । उत्पद्यमानोऽपि तेन सह उत्पद्यते इति ज्ञातव्यम्[5]। अत्रापि योग्यतामपेक्ष्य तत्तच्छरीरग्रहणम्। तदुक्तं - "देवादित्वं योग्यतया तत्सकाशस्त्वनुस्मृतेः। श्वेतद्वीपादि तत्राऽपि योग्यतामप्यपेक्ष्य तु॥ विष्णोः स्थानं विनाऽन्यत्र वायुशक्रादिनामपि। त्रैलोक्यदेशभेदेषु योग्यता नत्वपेक्ष्यते" (नारदीये) इति। अनेन व्याप्तस्याऽऽत्मनो गमानं कथमिति चोद्यं परिहृतम्। परमात्मानमन्तरेण निरुपचरिता व्याप्तिर्नास्ति। "अणुर्ह्येष आत्मा" इति श्रुतेः । आलोकवद्गुणेन यथायोग्यव्याप्तिरस्तु नाम, तथाऽपि स्वरूपतो नास्त्येव "व्याप्ता ह्यात्मान श्चेतना निर्गुणश्च" इति स्मृतिः श्रीनारायणविषयेति निरणायि, नो चेदुक्तागतिरेवेति॥ ४२॥

ननु गुणानां नानात्वात् सृष्टे र्वैचित्र्यमस्तु एकस्यात्मनो नानाविधप्रतीतिः कथमिति शङ्कां सदृष्टान्तं परिहरति ज्योतिरिति। यथा अदो ज्योतिरादित्यलक्षणं समीरवेगानुगतं वायुवेगनिमित्तचलनेन अनुचलितमौदकपार्थिवेषु जलपूर्णशरावाद्युपाधिषु प्रतिबिम्बितं विभाव्यते विविधत्वेन भाव्यते छिन्नभिन्नादिरूपेण प्रतीयते। एवमसौ पुमान् स्वमायारचितेषु "परस्वो हरिः" (प्रकाशिकायाम्) इति वचनात् स्वस्य विष्णोरिच्छया रचितेषु देहेषु प्रतिबिम्बितः अशोभने शोभनाध्यासो रागः , तेनानुगतः तन्मयान्तःकरणो विमुह्यति विविधं छिन्नो भिन्नो मृतोऽस्मीति मोहमज्ञानं प्रतिपद्यते यथा तदेव ज्योतिः पार्थिववद्धनीभूतपूर्णजले प्रतिबिम्बितं वायुवेगानुगतं विशिष्टं निश्चलं भाव्यते छेदभेदादिरहितं प्रतीयते। एवं योग्यो जीवो गुणेषु प्रतिबिम्बितो रागमनुरागं स्नेहविशेषमनुगतो निर्मुक्तद्वेषो विगतमोहो भवति। अज्ञाननिमित्तं छिन्नोऽहमिति दुःखं न प्राप्नोतीति परिहारपरतया वा योजनीयम्। उभयोरपि समाख्यानसिद्धप्रमाणत्वात्। तदुक्तम् "यथैवोदशरावेषु" इत्यारभ्य "परेषां द्रोहमाचरन्" (तन्त्रभागवते) इत्यन्तेन। स्वमायेत्यत्र स्वशब्देन विष्णुरेवोच्यते मानसिद्धत्वात्। तदुक्तम्

"परस्वो हरिरुद्दामः" (प्रकाशिकायाम्) इति पद्येन। गुणयोगयुक्तरूढ्या सिद्धत्वात् मुख्यश्च तदुक्तम् - "स्वतन्त्रत्वात् सुखत्वाच्च स्वनामा विष्णुरुच्यते" (पाद्मे) इति। "रागोऽनुरागे लाक्षायाम्" (वैज. को. 6.1.51) इति यादवः॥ ४३॥

नन्वस्तु नाम आत्मनो जन्मादिकं कर्मनिमित्तं, प्रकृते ततः किम्? तत्राऽऽह - **तस्मादिति** । यत आत्मा तथाविधः कर्मफलभोक्ता, तस्मात् स तादृशः कस्यचिद् द्रोहं हिंसां नाऽऽचरेत्। ततः किम् ? तत्राऽऽह - आत्मन इति। अनर्थश्चाऽऽह - द्रोग्धुरिति। परतः परलोके दुःखलक्षणं भयं भवतीति शेषः ॥ ४४॥

परतोऽन्यस्मात् द्रोह्यात्पुरुषात् द्रोहलक्षणं भयं स्यादिति मत्वा निरन्तरद्रोहलक्षणं दुःखं भवतीति भयसाम प्रदर्श्य भेदसाम प्रदर्शयति - **एषेति**॥ ४५॥

1. B,M. साम्नः 2. B,M. विधः 3. Ma. °ति 4. B,M. °णाभे °5- -5 Ma omits.

## श्रीशुक उवाच

एवं स साममिर्भेदैश्चोद्यमानोऽपि दारुणः ।
न न्यवर्तत कौरव्य! पुरुषादाननुव्रतः ॥ ४६॥
निर्बन्धं तस्य तं ज्ञात्वा विचिन्त्याऽऽनकदुन्दुभिः ।
प्राप्तकालं प्रतिव्योढुमिदं तत्रान्वपद्यत॥ ४७॥
मृत्युर्बुद्धिमताऽपोह्यो यावद्बुद्धिबलोदयम्।
यद्यसौ न निवर्तेत नापराधोऽस्ति देहिनः ॥ ४८॥
प्रत्यर्प्य मृत्यवे पुत्रान् मोचये कृपणामिमाम्।
सुता मे यदि जायेरन् मृत्युर्वा न म्रियेत चेत्॥ ४९॥
विपर्ययो वा किं न स्याद्गतिर्धातुर्दुरत्यया।
उपस्थितो निवर्तेत निवृत्तः पुनरापतेत्॥ ५०॥
अग्नेर्यथा दारुवियोगयोगयोरदृष्टतोऽन्य न्न निमित्तमस्ति।
एवं हि जन्तोरपि दुर्विभाव्यः शरीरसंयोगवियोगहेतुः ॥ ५१॥
एवं विमृश्य तं पापं यावदात्मनिदर्शनम्।
सान्त्वयामास वै शौरिर्बहुमानपुरस्सरम्॥ ५२॥
प्रहृष्टवदनाम्भोजो नृशंसं निरपत्रपम्।
मनसा दूयमानेन प्रहसन्निद मब्रवीत्॥ ५३॥

[10-]व सुदेव उवाच[-10]

न ह्यस्याऽऽस्ते भयं सौम्य य[11]द्वै त्वाऽऽहाऽशरीरवाक्।
पुत्रान् समर्पयिष्येऽ[12]स्या यतस्ते भयमुत्थितम्॥ ५४॥

1- -1 K,M,W. omit 2. B,G,M. °र्बोध्य° 3. K,W. तु 4. B,G. प्रातं 5. B,G,K,W. प्रदाय 6. B,G,K,W. पूजयामास 7. B,G. प्रसन्न; M. प्रत्यग्र 8. B,G. वि 9- -9 K,W. सन्पुनर° 10- -10 K,M,W. omit 11. B. यद्वै साऽऽहाऽशरीरवाक्; G. यद्वागाऽऽहाऽशरीरिणी 12. V. °ऽहं

**श्रीध० एवमिति।** चो[1]द्यमान उपदिश्यमानः स्वयं दारुणः । पुनः पुरुषादान् दैत्यान्, अनुव्रतोऽनुसृत इति॥ ४६॥

**निर्बन्धमिति।** आनकदुन्दुभिरिति पदं महाभाग इत्यत्रोक्ताभिप्रायम्। प्रतिव्योढुं प्रतिकर्तुं व[2]ञ्चयितुमित्यर्थः । इदं वक्ष्यमाणम् अ[3]पत्यार्पणमन्वपद्यत ज्ञातवान्॥ ४७॥

ननु खलोऽयमेतन्न मन्येतेत्याशङ्क्याह स्व[4-]यमेव[-4] **मृत्युरिति** ॥ ४८॥

तस्मादुपेक्षादोषपरिहारायैवं करिष्यामीत्याह - **प्र[5]त्यर्प्येति।** मृत्यवे कंसाय। नन्विदमपि नैव न्यायमित्याशङ्क्याऽऽह- सुता इति। अस्यां यदि मे सु[6]ता जायेरन् तदा यद्भावि तद्भवतु, जीवितं तु तावद्भवेदेव। तदन्तरा यद्ययमेव म्रियेत तदा न किञ्चिदन्याय्यम्॥ ४९॥

यदि च सुता भविष्यन्ति न चाऽयं म्रियेत तदा मत्पुत्रादेवाऽस्य मरणमि[7-]ति विपर्ययो वा किं न स्या[-7]त्। ननु प्रौढस्य कंसस्य तव बालकात् कथं मृत्युस्स्यात् तत्राऽऽह - गतिरिति। धातुः "अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यां नयसेऽबुध" (भाग 10-1-34) इत्युक्तवतः । अत इदानीमपत्यार्पणप्रतिज्ञैव मन्त्रः । तथा सति उपस्थितो मृत्युरयं तावन्निवर्तेत। इ[8]दानीं निवृत्तः पुनः कालान्तरे आपतेच्चेत् तदा नापराधो ममेत्यर्थः । अथवा अ[9]स्य मत्पुत्रादुपस्थितो मृत्युरस्याः वधाद्यो निवर्तेत स पुनरनेन सन्मन्त्रेण भवेदेवेति। यद्वा, "गतिर्धातुर्दुरत्यया" (भाग. 10-1-50) इत्येतस्य प्रपञ्चः - उपस्थित इति॥ ५०॥

प्राणिनामदृष्टं दुर्वितर्क्यमिति सदृष्टान्तमाह - **अग्नेरिति।** वने वृक्षान् प्रदहन् अ[10]ग्निः सन्निहितानपि वृक्षान् परित्यज्य कदाचिद्दूरस्थानेव दहति ग्रामे गृहान् वा। न हि त[11]स्य प्राण्यदृष्टव्यतिरेकेण किञ्चिन्नियामकमस्ति यथा, एवं जन्तोर्जन्ममरणयोरपि हेतु र्दुर्विभाव्योऽचिन्त्यः ॥ ५१॥

**एवमिति।** यावदात्मनिदर्शनं स्वप्रज्ञावधि वि[12]मृश्य विचार्य॥ ५२॥

**प्रहृष्टेति।** तस्य विश्वासाय विकसितमुखाम्भोज[13-]स्सन् प्रहसन्न[-13] ब्रवीत्॥ ५३॥

**नेति**। यद्यथा अशरीरिणी वागाह। तथा हि वै[14] निश्चितम्, अस्यास्सकाशात् ते भयं नास्ति खलु[15] यतो येभ्यः पुत्रेभ्यः ते भयमुत्थितम्। अष्टमो हन्तेत्युक्तेऽन्योन्यापेक्षया सर्वेऽप्यष्टमा भवेयुः इत्युद्भूतं, तेनाऽस्याः पुत्रान् समर्पयिष्ये॥ ५४॥

1. B,J. बोध्य° 2. V. omits वञ्चयितुम् 3. V. प्रत्यर्पणम् 4- -4. V omits 5. B,J. प्रदायेति। 6. J. omits सुता 7- -7 V. °मित्याह - विपर्यय इति। 8. B,J. omit इदानीं 9. V. omits अस्य 10. V. वह्निः 11. B,J. अस्य 12. B,J. omit विमृश्य 13- -13. B,J °जो विह सन्न° 14. B,J. omit वै 15. B,J. omit खलु

**वीर० एवमिति**। इत्थं सामभिः श्लाघनीयेत्यादिगुणकीर्तनपूर्वकमुपलालनैः , भेदैः दृष्टादृष्टभयसूचकवचोभिः चोद्यमानोऽपि वधोद्योगनिवृत्त्यर्थं प्रेर्यमाणोऽपि स कंसो दारुणः क्रूरः हेतुगर्भमिदं, दारुणत्वात्। तत्र हेतुः । पुरुषादान् राक्षसान् अनुव्रतः असुरसम्पत्त्यभिजातः । हे कौरव्य, न न्यवर्तत, वधोद्योगादिति शेषः ॥ ४६॥

तस्य कंसस्य सम्बन्धिनं निर्बन्धमनिवृत्तवधोद्योगरूपं ज्ञात्वा, आनकदुन्दुभिर्वसुदेवः प्राप्तं समुपस्थितं कालं पत्न्या मृत्युं प्रतिव्योढुं परिहर्तुं विचिन्त्य, उपायमिति शेषः। तत्र कालपरिहारे इदं वक्ष्यमाणम् अन्वपद्यत उपायत्वेनाऽध्यवास्यत्॥ ४७॥

विचारपूर्वकं प्रतिपत्तिमेव दर्शयति - **मृत्युरि**त्यादिभिश्चतुर्भिः। उपस्थितो मृत्युः , बुद्धिमता पुंसा यावद्बुद्धिबलोदयं यथामति यथाशक्ति च अपोह्यः परिहार्यः। एवमपि यद्यसौ मृत्यु र्न निवर्तेत तर्हि न देहिनोऽपराधोऽस्ति॥ ४८॥

अतः पुत्राञ्जनिष्यमाणान् मृत्युरूपेणोपस्थिताय कंसाय मृत्यवे प्रदाय प्रदास्यामीति प्रतिज्ञाय, दीनामिमां स्त्रियं मोचये त्याजयामि। प्रतिज्ञाया दोषरूपत्वमाशङ्क्य अध्यवस्यति।[1] यदि मे मम सुता जायेरन्, सम्भावनायां लिङ्। यदि मृत्युः मृत्युभूतः कंसो वा मत्सुतोत्पत्तेः पूर्वमेव न म्रियेत न मरिष्यति, तर्हि पुत्रान् दास्यामि। मम पुत्रोत्पत्तेः कंसावस्थानस्य च पाक्षिकत्वात् पुत्रार्पणप्रतिज्ञा न दोष इति भावः ॥ ४९॥

पाक्षिकत्वमेव सम्भावयति - **विपर्ययो वेति**। विपर्ययः मम पुत्राः कंसस्य मृत्युर्वा, तस्यावस्थितौ मम पुत्राभावो वा किं न स्यात्; अतोऽपि न दोष इति भावः । नन्वशरीरवाण्या ईश्वरवचस्त्वान्नासत्यता। अतोऽन्वय एव निश्चितः न विपर्यय इत्याशङ्क्याध्यवस्यति। धातुरीश्वरस्य गतिः दुरत्यया अर्वाचीनैर्दुर्ज्ञेया, धात्रा तथोक्तत्वेऽपि कदाचित् तद्विपर्ययोऽपि स्यादिति भावः। तत्रोदाहरणमालोच्याध्यवस्यति उपस्थित इति। उपस्थितो मृत्युः क्वचिन्निवर्तेत, यथा मार्कण्डेयादेः । निवृत्तो वरदानान्निवृत्तोऽपि मृत्युः पुनरापतेत्, यथा हिरण्यकशिपुरावणादेः। अतः प्रतिज्ञा न दोष इत्यर्थ ः ॥ ५०॥

यद्यपि कदाचिद्[2]विपर्यय एव स्यात् तथापीयं मत्प्रतिज्ञा[3] न दुष्यति न हि मत्पुत्रमृत्युः मत्प्रतिज्ञापरतन्त्रः, तस्य कर्माधीनत्वेन पुरुषाधीनत्वाभावादिति सदृष्टान्तमध्यवस्यति **अग्नेरिति**। योगवियोगशब्दाभ्यां शीघ्रविलम्बोत्पत्ती विवक्षिते। दारुशब्देनारणिः । यथा अग्नेः दारुवियोगयोगयोः दारुणः[4] सकाशात् विलम्बशीघ्रोत्पत्त्योः निमित्तकारणमदृष्टतः

यजमानादृष्टादन्यन्नास्ति। एवं जन्तोर्जीवस्य शरीरसंयोगवियोगयोगयोः [-4] हेतुरदृष्टतः कर्मणोऽन्यो दुर्विभाव्यः दुरध्यवस्यः । मत्प्रतिज्ञामात्रं न हेतुः किन्तु तेषां कर्मैवेति भावः ॥ ५१ ॥

[5] एवं यावदात्मनिदर्शनम्। आत्माऽत्र बुद्धिः निदर्शनं तस्याः प्रसरः । यावद्बुद्धिप्रसरं विमृश्य निश्चित्य, शौरिर्वसुदेव स्तम् पापं पापोद्युक्तं कंसं बहुमानपुरस्सरं बहुमानपूर्वकम्, पूजयामास स्वेन विमृष्टमर्थं तत्सम्मतीचकार॥ ५२ ॥

तदेव दर्शयितुं पूजोपयुक्तं वाक्यमाहेत्याह - **प्रहृष्टेति** । अन्तर्भावितण्यर्थः । प्रहृष्टं विकासितं बलाद् वदनाम्भोजं येन तथाभूतः वसुदेवः दूयमानेन उपतप्तेन मनसा प्रहसन् बहिर्हसन् निर्लज्जं कंसं प्रति इदं वक्ष्यमाणं वाक्यमब्रवीत्॥ ५३ ॥

तदेवाऽऽह - **न हीति।** हे सौम्य, तव अस्याः स्त्रियाः सकाशात् भयं मृत्युभयं नास्ति हि; किन्तु अस्याः पुत्रादिति भावः । यत् येभ्योऽस्याः पुत्रेभ्यः [6-] ते [-6] तव भयमशरीरिणीवागाह, यतो येभ्यश्च ते भयमुत्थितं समुपस्थितं तान् पुत्रान् अहं तुभ्यं समर्पयिष्ये दास्यामीति, त्वं तु तान् जहि, मा वा? न तु तत्र मेऽपराध इति भावः ॥ ५४ ॥

★ मूलानुसारी पाठः 1. B. adds सुता इति। 2. B. °चिद्वि° 3. K,W. omit मत् 4- -4. K,W. omit 5. K.W. omit एवं 6- -6 K,W omit

**विज०** पुरुषादान् राक्षसान् अनुव्रतः तत्स्वभावमापन्न इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

यश्शास्त्रनिषिद्धः तं प्राप्तकालं प्राप्तावसरं व्यसनं प्रतिव्योढुं प्रतिहर्तुमिदं वक्ष्यमाणमन्वपद्यत अपश्यत्॥ ४७ ॥

यावद्बुद्धिबलोदयमित्यव्ययीभावः , "यावदवधारणे" (अष्टा. 2-1-8) इति सूत्रात्। अपराधः शास्त्रविरोधाचरण लक्षणः ॥ ४८ ॥

किमपश्यत्, तदाह - प्रत्यर्प्य मृत्यवे मारकाय कंसाय। उपायाभासोऽयं यदपत्यार्पणं तत्राऽऽह वा मम सुतोत्पत्तेः प्राक् न म्रियेत चेत् यदि न मरिष्यति॥ ४९ ॥

विपर्ययो वा मम पुत्रः कंसं वा हनिष्यतीति किं न स्यात्। कथमेतदिति तत्राऽऽह धातुरिति। धातुः ईश्वरस्य गतिश्चेष्टालक्षणा दुरत्यया अतिक्रान्तुमशक्या। अतः किं, तत्राऽऽह उपस्थित इति। सर्वथा तावदुपस्थितो मृत्युरस्या निवर्तेत निवृत्तो यदि रावणादेरिव पुनरापतेत् तर्हि तदानीमस्तु किं तावदिदानीम्॥ ५० ॥

[1-] कस्यचित् निवृत्तः स्यात् मुक्तस्येव [-1] इतोऽपि धातुर्गतिः दुरत्ययेत्येतत् सदृष्टान्तमुपपादयति - **अग्नेरिति।** यथाऽग्नेर्दावादिदहनस्य दारुवियोगयोगयोः काष्ठानभिव्यक्तिव्यक्त्योः दाह्यवृक्षाभिमानिजीवादृष्टप्रेरकेश्वरात् अन्यन्निमित्तं नास्ति। अदृष्ट इत्यादौ हरिनिवेशः कस्मात् उच्यते, कुण्डस्थाग्नेः दारुवियोगादौ स्वतः प्रवृत्त्यभावादिति वचनात् - [2-] "यथा कुण्डस्थितस्याग्नेर्दैवाद्दारूपसन्नमेत्। देहयोगवियोगश्च तथा दैवान्न चान्यथा" [-2] (वामने) इति वचनाच्च। एवं जन्तोरपि

शरीरवियोगसंयोगहेतोः हरेरन्यो दुर्विभाव्यः , केवलदृष्टलक्षणस्य[3] कर्मणः स्वतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेः कार्यस्य च दर्शनान्यथानुपपत्त्या श्रीनारायण एव भाव्य इत्यतः त्वया शास्त्रज्ञेन अस्या हननं नोचितमिति भावः ॥५१॥

आत्मनि यावद्दर्शनं परबोधलक्षणं ज्ञानं विमृश्याऽऽलोच्य ज्ञात्वा तावता सान्त्वयामास स्वावगतलोकप्रसिद्धदृष्टान्तो यावान् तावता वा॥ ५२ ॥

प्रत्यग्रं सद्यस्कं नूतनं वदनाम्बुजं यस्य स तथा। "प्रत्यग्रमुक्तं सद्यस्कम्" (हला.को. 4-78) इति हलायुधः । दूयमानेन मनसेति अन्तस्तापञ्च सूचयति प्रहसन्निति बहिः प्रसादम्। इदं महतां लक्षणम्॥ ५३ ॥

यावद्बोधेनाप्युक्तसंवादं विज्ञाय यथासंवादी स्यात् तथा प्रत्येतुं वक्ति - न ह्यस्या इति। यतो देवक्या॥ ५४ ॥

(विजयध्वजव्याख्यानरीत्या अत्र प्रथमोऽध्यायः समाप्तः)

1- -1 B,M, omit 2- -2 Ma omits 3. Ma. °लदृष्ट

## (विजयध्वजव्याख्यानरीत्या अत्र द्वितीयोऽध्यायः आरभ्यते)

श्रीशुक[1] उवाच[1]

स्वसुर्वधान्निववृते[2] कंसस्तद्वाक्यसारवित्।
वसुदेवोऽपि तं प्रीतः प्रशस्य प्राविशद्गृहम्॥ ५५ ॥
अथ काल उपावृत्ते देवकी सर्वदेवता।
पुत्रान् प्रसुषुवे[3] चाष्टौ कन्याश्चैवाऽनुवत्सरम्॥ ५६ ॥
कीर्तिमन्तं प्रथमजं कंसायाऽऽनकदुन्दुभिः[4] ।
अर्पयामास कृच्छ्रेण सोऽनृता दतिविह्वलः ॥ ५७ ॥
किं दुस्सहं नु साधूनां विदुषां किमपेक्षितम्।
किमकार्यं कदर्याणां दुस्त्यजं किं[5] धृतात्मनाम्॥ ५८ ॥
दृष्ट्वा समत्वं तच्छौरेः सत्ये चैव व्यवस्थितिम्[6]।
कंसुस्तुष्टमना राजन् प्रहसन्निदमब्रवीत्॥ ५९ ॥
प्रतियातु कुमारोऽयं न ह्यस्मादस्ति मे भयम्।
अष्टमाद्युवयोः पुत्रान्मृत्युर्मे[7] विहितः[8] किल॥ ६० ॥
तथेति सुतमादाय भयावानकदुन्दुभिः ।
नाभ्यनन्दत तद्वाक्यमसतोऽविजितात्मनः ॥ ६१ ॥

1- -1 K,W. omit 2. K,M,W. सुहृद्व° 3. K,W. सा 4. M. पुत्रमानक 5. M. किमृ° 6. K,V,W. तम् 7. B,G,V. गर्भान्मृ° 8. V. °र्मेऽभि

**श्रीध० स्वसुरिति।** निववृते निवृत्तः । तद्वाक्ये सार उपपत्तिस्तद्वित्॥ ५५॥

**अथेति।** काल[1] उपावृत्ते[1] प्रसूतिकाले प्राप्ते सर्वः सर्वात्मा भगवानेव देवता यस्यास्सा, तथा[2] भगवदाश्रयत्वात् सर्वदेवतामयी वा॥ ५६, ५७॥

ननु[3] मृत्यवे पुत्रं कथमर्पितवानित्यपेक्षायामाह किं दुस्सहमिति। साधूनां सत्यसन्धानाम्। ननु[4] पुत्रलालन सुखापेक्षया कथं त्यक्तेत्यत आह - विदुषामिति। भगवानेव तत्त्वं, नाऽन्यदिति जानतामित्यर्थः । ननु स्वयं नीते सति कंसो बालं न हन्यादिति मत्वा नीतवानिति किं न स्यादिति नेत्याऽऽह - न किमकार्यमिति। ननु देवकी कथं पुत्रं तत्याजेत्यत आह दुस्त्यजमिति। चित्ते धृत आत्मा हरिर्यैस्तेषाम्॥ ५८ - ६१॥

1- -1 B,J. omit 2. V. omits तथा 3. B,J. omit ननु 4. B,J omit ननु

**वीर०** ततस्तस्य वसुदेवस्य वाक्यसारवित् वाक्याभिप्रायं जानन् कंसः सुहृदो भगिन्या वधान्निववृते न्यवर्तत, ततो वसुदेवोऽपि प्रीतस्तं कंसं प्रशस्य स्वगृहं प्राविशत्॥ ५५॥

अथ काले गर्भधारणयोग्यकाले उपावृत्ते समुपस्थिते सति सा सर्वदेवताप्राया देवतांशत्वात् तत्तुल्या देवकी प्रतिवत्सरम्, अष्टौ सुतान्[1] एकां कन्याञ्च सुषुवे॥ ५६॥

तदा तावत् स्वप्रतिज्ञां पालयन् वसुदेवः प्रथमजम् अग्रजं[2] कीर्तिमन्तं कीर्तिमन्नामानं[3-3] पुत्रं कृच्छ्रेण दुःखेन कंसायाऽर्पयामास। तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि - अनृतादनृतभाषणात् अतिविह्वलः[4] भयविह्वलः[5-5] ॥५७॥

पुत्रानुरागं विहाय कथं समर्पयामासेत्यत्राऽऽह - **किमिति।** साधूनां दुस्सहं दुःखेनाऽपि सोढुमशक्यं किंन्वस्ति न किमपि। सर्वमपि सुसहमेवेत्यर्थः । पुत्रविपत्तिरपि सुसहैवेति भावः । तथा विदुषां स्वात्मपरमात्मयाथात्म्यज्ञानिनां पुंसां किंन्वपेक्षितम् न किमपि। शरीरतदनुबन्ध्यादिकमपेक्षितं नाऽस्तीति भावः । किमुपेक्षितमिति पाठान्तरम्। तदा विदुषामिति साधूनां विशेषणम्। कदर्याणामुपेक्षितम्, अकार्यञ्च किमस्तीत्यन्वयः । कदर्यशब्दः क्षुद्रपर्यायः। इदं कंसाभिप्रायकम्। धृतः स्ववशीकृतः आत्मा मनो येषां, दुस्त्यजं किम्? देहतदनुबन्ध्यादिकं सर्वं सुत्यजमेवेति भावः॥ ५८॥

**दृष्ट्वेति।** व्यवस्थितमिति भावे क्तः निश्चलत्वं च दृष्ट्वा, कंसस्तुष्टं मनो यस्य तथाभूत शौरिर्वसुदेवस्य तत्समत्वं सुखदुःखयोस्साम्यं, सत्ये व्यवस्थितं हे राजन्! प्रहसन्निदं वक्ष्यमाणमब्रवीत्॥ ५९॥

तदेवाऽऽह - **प्रतीति**। अयं तव कुमारः प्रतियातु गृहं प्रतिगच्छतु। मम अस्मात्कुमाराद्भयं मृत्युभयं नाऽस्ति हि; युवयोरष्टमात् पुत्रादेव हि मम मृत्युः विहितः किल, अ शरीरवाचेति शेषः ॥ ६०॥

ततस्तथेत्यङ्गीकृत्य आनकदुन्दुभिर्वसुदेवः सुतमादाय ययौ। किन्तु असतः पापिनोऽनवस्थितचित्तस्य अ विजितात्मनः अज्ञस्य कंसस्य, तदुक्तं वाक्यं नाभ्यनन्दत्। "अव्यवस्थितचित्तस्य प्रसादोऽपि भयङ्करः" इति न्यायादितिभावः ॥ ६१॥

1. B. पुत्रान् 2. K,W. omit अग्रजं 3- -3. B. कीर्तिमानिति नामकं 4. B. अतीव, K. भृश 5- -5. B. अनृतभाषणरूपपापभयादत्यन्तं विह्वल इत्यर्थः ॥ ५७॥ 6. B. adds सन् 7- -7. K. omits 8. K,W. omit तव 9. K,W. omit मम 10- -10. K,W. omit 11- -11. K,W. omit

**विज०** अत्र कंसचरितकथनव्याजेन संसारस्यानर्थरूपत्वं वर्णयति शुकः । सुहृत् सहोदरी। भार्यावधोपरमात् प्रीतः कंसं प्रशस्य॥ ५५॥

सर्वा देवता यस्यां सन्निहिता स्सा तथा। अनुवत्सरं प्रतिवत्सरम्॥ ५६॥

नाम्ना कीर्तिमन्तम्॥ ५७॥

स्वात्मनः प्राणनाशेनापि सत्यमेव रक्षन्ति महान्त इत्याशयेनाऽऽह **किं दुस्सहमिति।** कंसः असाधुष्वेक-इत्याशयेनाऽऽह - किमकार्यमिति। कदर्याणां कुत्सितस्वामिनां दरिद्राणां वा वसुदेवः साधुष्वेक इत्याशयेनाऽऽह-दुस्त्यजमिति। ऋतात्मनां सत्यस्वभावानाम्॥ ५८ - ६०॥

अविजितात्मनोऽसतः कंसस्य तद्वचनं न विश्वसनीयमिति नाऽभ्यनन्दत॥ ६१॥

**★ अथ कंसमुपागम्य नारदो ब्रह्मनन्दनः।**
**एकान्तमुपसङ्गम्य वाक्यमेतदुवाच ह॥**

**नन्दाद्या ये व्रजे गोपा याश्चामीषाञ्च योषितः।**
**वृष्णयो वसुदेवाद्या देवक्याद्या यदुस्त्रियः॥ ६२॥**

**सर्वे वै देवताप्राया उभयोरपि भारत।**
**ज्ञातयो बन्धुसुहृदो ये च कंसमनुव्रताः॥ ६३॥**

❋ असुरास्सर्व एवैते लोकोपद्रवकारिणः।
OO गतेऽथ वसुदेवे तु देवकार्यार्थमुद्यतः॥
एतत्कंसाय भगवान् शशंसाऽभ्येत्य नारदः।
भूमेर्भारायमाणानां दैत्यानाञ्च वधोद्यमम्॥ ६४॥

ऋषेर्विनिर्गमे कंसो यदून् मत्वा सुरानिति।
देवक्या गर्भसम्भूतं विष्णुञ्च स्ववधं प्रति॥ ६५॥

देवकीं वसुदेवञ्च निगृह्य निगलैः गृहे।
जातं जातमहन् पुत्रं तयो रजनशङ्कया॥ ६६॥

मातरं पितरं भ्रातॄन् पुत्रांश्च सुहृदस्सखीन्।
घ्नन्ति ह्यसुतृपो लुब्धा राजानः प्रायशो भुवि॥ ६७॥

आत्मानमिह सञ्जातं जानन् प्राग् विष्णुना हतम्।
महासुरं कालनेमिं यदुभिस्स व्यरुध्यत॥ ६८॥

उग्रसेनञ्च पितरं यदुभोजान्धकाधिपम्।
स्वयं निगृह्य बुभुजे शूरसेनान् महाबलः ॥ ६९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादश
साहस्र्यां श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे श्रीकृष्णावतारोपक्रमे
प्रथमोऽध्यायः ॥ १॥

★ This additional verse is found in M. Edn. only

❋ This half verse is not found in G. Edn.

OO This half verse is found in M.Edn. only.

1- -1 M. शंसयामास 2. M. °वतीर्णानां 3. B. विष्ण्वंशं 4. B,G,M. °डै° 5. B,G,M. सर्वांश्च 6. B,G. °स्तथा; K,W. °शिशून् 7- -7 M. निघ्नन्त्यसु 8. K,W. °पाः

**श्रीध०** कंसस्य शान्तिर्देवकार्यानुगुणा न भवतीति नारदस्य प्रत्यवस्थानम्। तदाह - **नन्दाद्या** इत्यादि त्रयेण॥ ६२॥

**सर्व** इति। उभयोर्वसुदेवनन्दकुलयोः ॥ ६३॥

भूमेरिति। वधोद्यमं देवकृतमिति शेषः ॥ ६४, ६५॥

**देवकीमिति।** निगलैः शृङ्खलैः । अजनो विष्णुः तच्छङ्कया॥ ६६, ६९॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १॥

1- -1. V. omits 2. B,J. °डैः

**वीर०** नन्दाद्या इत्यादि सार्धश्लोकत्रयमेकान्वयम्। हे भारत ! उभयोः नन्दवसुदेवयोः ज्ञातयः बन्धवः देवताप्रायाः देवांशैर्जातत्वात् देवताप्रायाः , तत्तुल्या इत्यर्थः । ये तु कंसमनुव्रताः ते सर्वे असुराः असुरसम्पत्त्या जाताः , अत एव लोकोपद्रवकारिणः इत्येतद् भूमेर्भारायमाणानां नृपव्याजानां दैत्यानां भगवत्कर्तृकं वधोद्योगञ्च। ततो भगवान्नारदोऽभ्येत्य आगत्य कंसाय शशंस कथयामास॥ ६२, ६३, ६४॥

ततः ऋषेर्नारदस्य विनिर्गमानन्तरं[1] कंसो यदून् सुरांशसम्भवान्, स्ववधं प्रत्युद्दिश्य देवक्या गर्भे सम्भविष्यन्तं विष्णुञ्च ज्ञात्वा॥ ६५॥

देवकीं वसुदेवञ्च निगलैः शृङ्खलैः गृहे कारागृहे निगृह्य निग्रहपूर्वकमाबध्य, अजनशङ्कया अरिष्टशङ्कया। अर्दनशङ्केयेति पाठे स्वपीडाशङ्कया तयोः देवकीवसुदेवयोः पुत्रं जातं जातम् अहन् जघान॥ ६६॥

निर्घृणः कथमहन्नित्यत्र लोकपरिपाटीं दर्शयति - **मातरमिति।** भुवि राजानः प्रायशोऽसुतृपाः परप्राणै - रात्मप्राणतर्पकाः लुब्धाः निषादसदृशाः मात्रादीनपि घ्नन्ति[2-] हि[2-]॥ ६७॥

आत्मानं प्राक् पूर्वजन्मनि विष्णुना हतं महासुरं कालनेमिम् इह अस्मिञ्जन्मनि आत्मरूपेण जातं जानन् नारदवाक्याज्जानन् स कंसः यदुभिस्सह व्यरुध्यत विरोधं कृतवान्॥ ६८॥

भोजानामन्धकानाञ्च यादवानामधिपं पितरमुग्रसेनं निगृह्य स्वयं महाबलः कंसः शूरसेनान् जनपदान् बुभुजे उपभुक्तवान्॥ ६९॥

इति श्रीवत्सान्वयपयःपारावारराकासुधाकरस्य सर्वविद्यानिधेः चक्रवर्तिनः श्रीशैलगुरोः सुतेन
तच्चरणकमल परिचर्याप्रसादिततत्सूक्तिसमधिगतश्रीमद्भागवतार्थ हृदयेन
श्रीवैष्णवदासेन श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां श्रीमद्भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
श्रीमद्भागवतव्याख्यायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे प्रथमोऽध्यायः ॥ १॥

1. B. °मनान° 2- -2. B. घ्नन्तीति, हि निश्चयार्थद्योतकः ॥ ६७॥

**विज०** नन्दाद्या इत्यारभ्य वधोद्यममित्यन्तं नारदवाक्यम्॥ ६२॥

उभयोः यदुकुलगोकुलयोः ॥ ६३॥

वधोद्यमम्। देवैः क्रियमाणमिति शेषः ॥ ६४, ६५॥

अहन् हतवान्। अजनो विष्णुरवतीर्ण इति शङ्कया॥ ६६॥

परप्राणैः स्वानसून् प्राणांस्तर्पयन्तीत्यसुतृपः ॥ ६७॥

प्राक् पूर्वजन्मनि॥ ६८॥

शूरसेनान् विषयान्॥ ६९॥

**(विजयध्वजव्याख्यानरीत्या अत्र द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः )**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे प्रथमोऽध्यायः ॥ १॥

# द्वितीयोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या तृतीयोऽध्यायः )

श्रीशुक उवाच

प्रलम्ब बक चाणूर तृणावर्त महाशनैः ।
मुष्टिकारिष्ट द्विविद पूतना केशि धेनुकैः ॥ १ ॥

अन्यैश्चाऽसुरभूपालै र्बाणभौमादिभि र्युतः।
यदूनां कदनं चक्रे [1]बलिमागधसंश्रयः ॥ २ ॥

ते पीडिता निविविशुः कुरु[2]पञ्चालकेकयान् ।
[3]साल्वा न्विदर्भा न्निषधा न्वि[4]देहा न्कौ[5]सला नपि ॥ ३ ॥

एते तमनुरुन्धाना ज्ञातयः पर्युपासते।
हतेषु षट्सु बालेषु देवक्या औग्रसेनिना ॥ ४ ॥

सप्तमो वैष्णवं धाम यमनन्तं प्रचक्षते।
गर्भो बभूव देवक्या हर्षशोकविवर्धनः ॥ ५ ॥

भगवा नपि विश्वात्मा विदित्वा कंसजं भयम्।
यदूनां निजनाथानां योगमायां समादिशत् ॥ ६ ॥

1. B,G,J,M,V बली 2. B,G,J प° 3. G,J,M शा° 4. K,W °न्मगधान् 5. M °न्मागधा नपि।

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

कंसघाताय देवक्या गर्भगो हरिः।
ब्रह्मादिभिः स्तुतः सा च सान्त्वितेति निरूप्यते।

"यदुभि स्स व्यरुध्यत" (भाग० 10-1-68) इत्युक्तम्। तमेव विरोधं प्रपञ्चयति। त्वरया देवकीगर्भस्य अन्यत्र सञ्चारेण भगवतः प्रवेशं **प्रलम्बेत्यादि** सार्धश्लोकत्रयेणाऽऽह। महाशनोऽघासुरः ॥ १-३ ॥

**एके** इति। अनुरुन्धाना अनुवर्तमानाः ॥ ४ ॥

**सप्तम** इति। धाम कला। तदेव सप्तमो गर्भो बभूव। किं तद्धामेत्यतः आह - यमनन्त मिति। हर्षशोकविवर्धनः, आनन्दरूपस्यावतीर्णत्वात् हर्षः, पूर्वगर्भसाधारणदृष्ट्या शोक इति॥ ५,६ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

"यदुभि स्स व्यरुध्यत" (भाग० 10-1-68) इत्येतदेव प्रणञ्चयन् भगवतो देवकीजठरप्रवेशप्रकारं, तत्प्रवेशप्रयुक्त प्रभातिशययुक्त देवकी दर्शनोद्विग्नस्य कंसस्यावस्थानप्रकारं, गर्भस्थं विष्णु मुद्दिश्य ब्रह्मादीनां स्तुतिप्रकारञ्चाऽऽह द्वितीयाध्यायेन[1] **प्रलम्बे** त्यादिना[-1]। प्रलम्बादिभि रन्यैश्च असुरप्रकृतिभि र्भूपालैः बाणादिभिः परिवृतः कंस[2]ः, भौमो नरकासुरः, बलिमागधौ संश्रयौ यस्य तथाभूतः। बलीति मागधो विशेषणं वा। मागधो जरासन्धः। यदूनां कदनमुपद्रवं चकार॥ १,२ ॥

तदा ते यदवः केचित्पीडिताः कुर्वादीञ्जनपदान् विविशुः ॥ ३ ॥

एके तु ज्ञातयः तं कंसमनुरुन्धाना अनुवर्तमानाः पर्युपासते पर्यचरन्। तत औग्रसेनिना कंसेन षट्सु देवक्या गर्भेषु[3-] अपत्येषु[-3] हतेषु सत्सु यत् वैष्णवं विष्णो स्सम्बन्धि धाम तेजोंऽश इति यावत्। कोऽसौ? तस्या हर्षशोकौ विवर्धयतीति तथा। कंसभया च्छोकः श्री[4-]भगवत्कलासम्बन्धात् पुत्रो भविष्यति किं समर्थोऽस्माक मपीति हर्ष[-4]ः इति भावः॥ ४,५ ॥

ततो भगवा न्विश्वात्मा, हेतुगर्भ मिदम्। कंसा ज्जातं, निज आत्मा नाथो येषां तेषां यदूनां भयं ज्ञात्वा योगमायां स्वमायाधिष्ठात्रीं देवता मादिशत् आज्ञापयामास॥ ६ ॥

1- -1 K,W द्वितीयेन **प्रलम्बेति** 2. K,W omit कंसः 3- -3 B पुत्रेषु 4- -4 K,W omit.

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अवताररूपं हरे र्न किञ्चि दपि भिन्नं साक्षात्स्वरूपमेव तज्ज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वा दित्यभिप्रायेण निरूपण मस्मिन्नध्याये। तत्र दुष्टेन्द्रियैः सदिन्द्रियनिग्रह इव कंसः प्रलम्बादिभि स्सहितो यदुनिग्रह मकृतेत्यादिकं निरूपयति **प्रलम्बे** त्यादिना॥ १ ॥

कदनं कलहम् मागाधो जरासन्धः संश्रयो यस्य स तथा, तं संश्रयतीति वा॥ २ ॥

ते यादवा निविविशुः निवेशनं चक्रुः ॥ ३ ॥

अनुरुन्धाना अनुवर्तमानाः ॥ ४ ॥

वैष्णवं धाम विष्णुतेजः सन्निहितम्। हर्षशोकविवर्धन इति उत्पत्तिप्रस्रवणाभ्या मिति शेषः । हर्षं समेधयन् शोक मेधयन्निति वा॥ ५,६ ॥

गच्छ देवि व्रजं भद्रे गोपगोभि रलङ्कृतम्।
रोहिणी वसुदेवस्य भार्याऽऽस्ते नन्दगोकुले।
अन्याश्च कंससंविग्ना विवरेषु वसन्ति हि॥ ७॥

देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामकम्।
तत्सन्निकृष्य रोहिण्या उदरे सन्निवेशय॥ ८॥

अथाऽहं[1] मंशभागेन देवक्यां पुत्रतां शुभे।
प्राप्स्यामि त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसि॥ ९॥

अर्चिष्यन्ति मनुष्या स्त्वां सर्वकामवरेश्वरीम्[2]।
नानोपहारबलिभिः[3] सर्वकामवरप्रदाम्॥ १०॥

नामधेयानि कुर्वन्ति स्थानानि च नरा भुवि।
दुर्गेति भद्रकालीति विजया वैष्णवीति च॥ ११॥

कुमुदा चण्डिका कृष्णा माधवी कन्यकेति च।
माया नारायणीशाना[4] शारदे त्यम्बिकेति च॥ १२॥

गर्भसङ्कर्षणात्तं वै[5] प्राहु[6] स्सङ्कर्षणं भुवि।
रामेति लोकरमणात् बलभद्रं[7-] बलोच्छ्रयात्[-7]॥ १३॥

1. M °ऽहं स्वांश 2. K.W. प्रदे° 3. B,G,J धूपोप 4. B,G,J °नी 5. B वा 6. B आहुः 7- -7 B,G,J बलं बलवदुच्छ्रयात्।

**श्रीध० गच्छेति**। ननु सा गोकुले किमित्याऽऽस्ते? अत आह - अन्याश्चेति। न केवलं सैव अन्या अपीति। विवरेषु अलक्ष्यस्थानेषु॥ ७॥

**देवक्या** इति। जठरे सन्तम्। ननु गर्भ आकृष्यमाणः कथं जीवेद्[1]त्यत आह - मामकं धामेति। तत् ततः ॥ ८॥

किमर्थ मेवं कार्य मित्यत आह - **अथेति**। [2]अथ अनन्तर मेवेत्यर्थः। अंशभागेनेति - अंशै श्शक्तिभि र्भजते अधितिष्ठति सर्वान् ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्ता निति अंशभागः, तेन परि[3]पूर्णेन रूपेणेत्यर्थः। यद्वा, अंशै ज्ञानैश्वर्यबलादिभिः भाजयति योजयति स्वीया निति [4]तथा तेनेति। यद्वा, अंशेन पुरुषरूपेण मायया भागो भजनमीक्षणं यस्य तेन। यद्वा अंशेन मायया गुणावतारादिरूपा भागा भेदा यस्य तेन। यद्वा अंशा एव मत्स्य कूर्मादिरूपा भजनीया न तु साक्षात्स्वरूपं यस्य तेन। यद्वा अंशै र्ज्ञानबलादिभिः भजन मनुवर्तनं भक्तेषु यस्य तेन। सर्वथा परि[5]पूर्णेन रूपेणेति विवक्षितम्। "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" (भाग 1-3-28) इत्युक्तत्वादिति। तां प्रोत्साहयति - त्वं यशोदायामिति [6]त्र्यक्षरोनसार्धचतुष्टयेन॥ ९॥

**अर्चिष्यन्तीति**। सर्वान्पुत्रादीन्कामयन्ते ये तेषां वरां [7]श्रेष्ठां ईश्वरीं नियन्त्रीम्। अर्चकानां [8]सर्वा न्कामवरान् प्रददाति या, ताम्॥ १० - १२॥

[9-]त्व[-9]द्विकर्षणेन [10-]त[-10] द्विक्रमेण च तस्य [11-]स[-11] ङ्कर्षण राम बलभद्रेति व्यपदेशा भविष्यन्तीत्याह - **गर्भेति**। रामेति च सम्बोधनं करिष्यन्ति। त्वया सङ्कृष्टेन तेन लोकस्य रमणाद्रत्युत्पादनात्॥ १३॥

1. V °दत 2. B,J, omit अथ 3. V पूर्णरू° 4. V omits तथा 5. V पूर्णस्व° 6. V omits त्र्यक्षरोन 7. V omits श्रेष्ठां 8. V सर्वका° 9- -9 B,J omit 10- -10. V omits 11- -11 B,J omit.

**वीर०** तदेवाऽऽ ह **गच्छेत्यादिना** सन्दिष्टैव मित्यतः प्राक्तनेन। हे देवि! हे भद्रे! त्वं गोपैः गोभिश्चाऽलङ्कृतं नन्दव्रजं गच्छ। तत्र गत्वा किं विधेय मित्यत्राऽऽह - नन्दगोकुले नन्दस्य ग्रो[1] व्रजे वसुदेवस्य भार्या आस्ते। तथा अन्याश्च तस्य भार्याः कंसात्संविग्नाः भीताः तत्र [2]तत्र विवरेषु पर्वतबिलादिषु प्रच्छन्ना वसन्ति॥ ७॥

अधुना मामकं मदीयं शेषाख्यं धाम अंशं देवक्या जठरे गर्भरूपेणाऽवस्थितं, [3]तस्मा द्देवकीजठरा त्सन्निकृष्य सम्यक् बहि र्निष्कास्य रोहिण्या जठरे सम्यङ्निवेशय। अनेन "रोहिण्या स्तनयः प्रोक्तः" इत्यादि प्राक्तनं [4]प्रश्नोत्तर मुक्तं भवति॥ ८॥

अथाऽहमंशभागेन मदंशांशभूतेन सङ्कर्षणेन सह हे शुभे! देवक्याः पुत्रत्वं प्राप्स्यामि। त्वन्तु नन्दस्य पत्न्यां यशोदायां भविष्यसि सम्भव॥ ९॥

सर्वेषां कामाना मिष्टार्थानां वराणाञ्च (ईश्वरीं) प्रदात्रीं (पाठान्तरे) सर्वकामप्रदाना मपि ईश्वरीं त्वां नानाविधै रुपहारैः नैवेद्यै रन्यैश्च बलिभिः पूजाभिः नरा अर्चिष्यन्ति। एव मनुगृह्णामीति भावः ॥ १०॥

तथा भुवि तव स्थानानि मन्दिराणि नामधेयानि च कुर्वन्ति करिष्यन्ति। तत्र नामानि दर्शयति- दुर्गेति॥ ११,१२॥

तथा त्वया देवकीजठरात् सङ्कृष्टं शेषम्, अत एव प्रवृत्तिनिमित्तात् सङ्कर्षणा त्सङ्कर्षणशब्दवाच्यम्। लोकरमणात् लोकरञ्जना न्निमित्तात् रामेति रामशब्दवाच्यम्। बलाधिक्या न्निमित्तात् बलभद्रशब्दवाच्यम्। भुवि प्राहुर्वक्ष्यन्ति। यद्वा तं तेभ्यो निमित्तेभ्यः तत्तच्छब्दै र्व्यवहरिष्यन्तीत्यर्थः ॥ १३॥

1. B adds कुले 2. K,W omit तत्र 3. K omits तस्मात् 4. B प्रश्न स्योत्तरं 5- -5 K,W omit.

**विज०** पर्वतविवरेषु॥ ७,८॥

स्वांशभागेन स्वांशांशेन, अंशस्य भागो भजनं स्वीकारः ; तेनेति वा॥ ९,१०॥

दुरधिगमत्वा द्दुर्गा। भद्रा, मङ्गला नीला चेति भद्रकाली। सर्वा दिशो विजयतीति विजया। विष्णोरियं वैष्णवी॥ ११॥

कौ भूमौ मोदते इति कुमुदा। 'चडि कोपे' इति धातोः शत्रवे कुपितत्वात् चण्डिका। सदानन्दत्वा-न्कृष्णा। मधुकुलोत्पन्नत्वान्माधवी विष्णुदयितत्वा द्वा। कं सुखं नयतीति कन्या, नित्यकुमारी वा। मीयते ज्ञायते इति माया। मां यातीति वा। नारस्य नरसमुदायस्य अयनत्वा न्नारायणी। सर्वस्य ईष्टे इति ईशाना। शीर्यत इति शारः, तं संसारं द्यति खण्डयतीति शारदा। शत्रुविषयं शारं हिंसां ददातीति वा। सर्वस्य मातृत्वादम्बिका॥ १२॥

बलोच्छ्रयात् बलोन्नतेः ॥ १३॥

**सन्दिष्टैवं भगवता तथे त्योमिति तद्वचः।**
**प्रतिगृह्य परिक्रम्य गां गता तत्तथाऽकरोत्॥ १४॥**

**गर्भे प्रणीते देवक्या रोहिणीं योगनिद्रया।**
**अहो विस्रंसितो गर्भ इति पौरा विचुक्रुशुः ॥ १५॥**

भ[★]गवा नपि विश्वात्मा भक्ताना मभयङ्करः ॥
आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः ॥१६॥

स बिभ्रत्पौरुषं धाम भ्राजमानो[3] यथा रविः ।
दुरासदोऽतिदुर्धर्षो भूतानां सम्बभूव ह॥१७॥

ततो जगन्मङ्गल मच्युतांशं समीहितं शूरसुतेन देवी।
दधार सर्वात्मक मात्मभूतं काष्ठा यथाऽऽनन्दकरं मनस्तः[4] ॥१८॥

सा देवकी सर्वजगन्निवासनिवासभूता नितरां न[5-] रेजे[-5]।
भोजेन्द्रगेहेऽग्निशिखेव रुद्धा सरस्वती ज्ञानखले[6] यथा सती॥१९॥

1. V परि 2. V °ण्यां. ★ V आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः ।अंशेन भगवा न्विष्णुः भुवो भारापनुत्तये॥१६॥ 3. M राज° 4. K,W घनस्थम्; M नभस्तः 5- -5 M विरेजे 6. M च्यूत

**श्रीध० सन्दिष्टेति**।तथेति पुनर प्योमिति आदरेण प्रतिगृह्य।गां पृथिवीम्॥१४॥

**गर्भ इति**।विस्रंसितो विभ्रष्टो[1] विस्रस्त[2] इत्यर्थः इत्येवं[3] विचुक्रुशुः।न तु तद्विदु रित्यर्थः॥१५॥

**भगवा** निति।मन आविवेश मन स्याविर्बभूव जीवाना मिव न धातुसम्बन्ध इत्यर्थः ॥१६॥

**स** इति।धाम श्रीविष्णोः[4] ॥१७॥

**तत** इति।जगन्मङ्गलं जगतो[5-] मूर्तिमन्मङ्गलम्[-5]।अच्युतांशं अच्युता च्युतिरहिता अंशा ऐश्वर्यादयो यस्य तम्। यद्वा, अच्युतस्य अंश इवांशः भक्ताना[6] मनुग्रहार्थं परिच्छिन्नवपु[7] रित्यर्थः ।समाहितं[8] सम्यग्भूत मेवाऽऽहितं वैधदीक्षयाऽर्पितम्[9], देवी द्योतमाना शुद्धसत्त्वेत्यर्थः ।सर्वात्मकं सर्वस्याऽऽत्मानम्, अत एवाऽऽत्मभूतम्, स्वस्मिन्नाऽऽदावेव सन्तम्।मनस्तो मनसैव दधार धारणया धृतवती।अत्रानुरूपं दृष्टान्तमाह - यथा काष्ठा प्राची दिक् आनन्दकरं चन्द्रमिति॥१८॥

**सेति**।सर्वजगन्निवासस्य श्रीहरे र्निवासभूता सत्यपि नितरां सर्व जनाह्लादकतया न रेजे, किन्तु स्वयमेवाऽऽनन्द मन्वभवत्[10]।यतः कंसस्य गृहे रुद्धा अन्यैर्न दृश्यते।घटादिषु रुद्धा अग्निशिखा दीप[11] कलिकेव।तथा सती शोभना[12] सरस्वती ज्ञानखले ज्ञानवञ्चके रुद्धा यथाऽन्येषा मनुपकारिणी न राजते तद्वत्॥१९॥

1. V omits विभ्रष्टः 2. V omits इत्यर्थः 3. B,J omit एवं 4. B,J श्रीमूर्तिम् 5- -5 V omits 6. V भक्तानु 7. B च्छिन्न 8. B,J omit समाहितम् 9. J वेध 10. V °भूत् 11. V दीप इव 12. B,J शोभमाना।

**वीर०** [1] एव मित्थं भगवता सन्दिष्टा आदिष्टा योगमाया तस्य भगवतो वचः [2] तथे त्योमिति, तथैवाऽस्त्विति अङ्गीकारपूर्वकं प्रतिगृह्य अभिनन्द्य तं प्रदक्षिणीकृत्य गां भूमिं गता प्रविष्टा सती तथैव यथोक्त मकरोत्॥ १४॥

ततो योगनिद्रया भगवद्योगनिद्राधिष्ठात्र्या शक्त्या देवक्या गर्भे रोहिणीं प्रति प्रणीते प्रापिते सति, तदा पौराः जनाः, अहो देवक्या गर्भो विस्रंसितः विस्रस्तः । 'स्रंसु अधःपतने' इति धातुः। विचुक्रुशुः रुरुदुः ॥ १५॥

ततो भक्ताना मभयङ्करः भक्ताभयचिकीर्षुः विश्वात्मा भगवान् अंशभागेन, जातस्येति शेषः। "स आत्मा अङ्गान्यन्या देवताः " (तैत्ति उ. 1-5-1) इति देवतानां भगवदंशत्वश्रवणात् आनकदुन्दुभे र्देवांशेन जातत्वाच्चेति भावः। मन आविवेश सङ्कल्पज्ञानेनाऽऽविवेशेत्यर्थः । "यो मनसि तिष्ठन्" (बृह.उ. 3-7-20) इति पूर्वमेवाऽऽविष्टत्वावगमात् अंशभागेन सङ्कल्परूपज्ञानेन आविवेशेति वाऽन्वयः ॥ १६॥

वसुदेवः पौरुषं भगवत्सम्बन्धि तेजो बिभ्र द्बिभ्राणः यथा रवि स्तथा भ्राजमानः [3] दुरासदः इत्थन्तया अभिसंहितु मशक्येन तेजसा युक्तः, भूतानां कंसादीनां दुर्धर्षः दुःखेनाऽपि सोढु मशक्यो बभूव॥ १७॥

ततः शूरसुतेन वसुदेवेन निहितं जगतां मङ्गलं यस्मात्तम्। अच्युतः अप्रच्युतोंऽशः सङ्कल्परूपं ज्ञानं यस्य तम्। सर्वात्मकं सर्वशरीरकम् आत्मनोऽप्यात्मभूतं भगवन्तं देवकी दधार, जठर इति शेषः। [4] यथा काष्ठा पूर्वा दिक् घनस्थमभ्रपिहित मानन्दकरं चन्द्रं बिभर्ति तद्वत्। वसुदेवापत्यत्वसिद्धये ताव द्वसुदेवहृद्गतः, पश्चा द्देवकीजठरं प्रविवेशेत्यर्थः । पूर्वदिश श्चन्द्रस्येव वसुदेवदेवकीजठरयो र्भगवत स्सम्बन्ध इति भावः ॥ १८॥

सा धृतपरमपुरुषा देवकी सर्वजगदाधारभूतस्य भगवतो निवासभूता सती अतितरां न रेजे न रराज; यथा भोजेन्द्रस्य उग्रसेनस्य कंसस्य वा गृहेऽवरुद्धा अग्ने श्शिखेव। अभूतोपमेयम्। यथा च ज्ञानखले [5] वेदविरुद्धज्ञानेन मूर्खे [5] पुंसि सती निर्दुष्टा सरस्वती उपनिष न्न राजते तद्वत् । परमात्मगर्भत्वादग्निशिखादृष्टान्तः । "तस्या श्शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः" (म.ना.उ. 9-12) इति श्रुतेः। 'ज्ञानबले' इति पाठान्तरम्। तदा वेदाविरुद्धज्ञानवतीत्यर्थः ॥ १९॥

1. B adds श्री भगवदाज्ञोदया दनन्तरं सा योगमायाऽपि श्रीभगवदाज्ञां सर्वात्मना अत्यादरेण प्रणतिपूर्वकं शिरसि निधाय आज्ञाक्रम मनुलङ्घ्य भुवि समागत्य यथैवाऽऽज्ञप्ता तथैवाऽकरो दित्याह श्रीशुकः - **सन्दिष्टैव** मित्यादिना। 2. B adds वचनं 3. B विराजमानः 4. B adds हृदयाकाशे हृदयकमले वेति दिक् 5- -5 B वेदविरुद्धेन हीनेन ज्ञानेन मूर्खे दुर्जने।

**विज०** तद्वचनं तथेति स्पष्टीकरणम्। तथे त्योमिति तथा करोमीति तद्वचः प्रतिगृह्येति वा॥१४॥

योगनिद्रया देवक्या गर्भे रोहिणीं प्रणीते सति विस्रंसितः स्रावितो निर्गलित इति विचुक्रुशुः ॥१५,१६॥

पौरुषं धाम पुरुषाकारीभूतं विष्णुतेजः ॥१७॥

वसुदेवप्रवेशानन्तरं देवी अच्युतस्य हरे रंशं कृष्णकेशलक्षणं दधार। जगन्मङ्गलयति भूभार हरणेन जगन्मङ्गलं करोतीति जगन्मङ्गलम्। शूरसुतेन वसुदेवेन समाहितं सर्वात्मनः सर्वव्यापिनो हरेः या सर्वव्यापित्वशक्तिः साऽस्या-स्तीति सर्वात्मक स्तम्। आत्मभूतं देवक्यां प्रत्यगात्मस्वरूपम्, आत्मनो मनसो भूतमभिव्यक्तं वा। आत्मभुव श्चतुर्मुखस्य भूतमिष्टसाधकत्वादिष्टं दैवं वा। आनन्दकरं मुक्तप्रपञ्चस्याऽपि सुखकरम्। कथमिव? काष्ठा पूर्वदिक् आनन्दोऽमृतं करो यस्य स तमानन्दकरं चन्द्रं नभस्त आकाशे यथा दधाति तथा हृदयाकाशे दधार न तु योन्याकाशे। कीदृशी काष्ठा? पूर्णमनोरथा। कीदृशी? देवी द्योतमाना। कीदृशं चन्द्रम्? रात्र्या मन्धकारनिरासेन जगन्मङ्गलभूतम्। च्युतिरहिता अंशाः करा यस्य स तथा। तं पूर्ण कलमित्यर्थः। शूर श्चण्डकर स्सूर्यः, तत्सुतः सुषुम्नाख्यो रश्मिः तेन समाहितं निष्पादितम्। अमावास्यायां सूर्ये लीनः तस्य सुषुम्नाख्यरश्मिना अभिव्यज्यत इति शास्त्रप्रसिद्धिः। सर्वासा मोषधीना मङ्कुरजनकत्वेन प्रेष्ठत्वात् सर्वात्मक मात्मनो मनसोऽभिमानित्वात् आत्मभूतं लोकविडम्बनार्थं पितृमातृप्रवेशक्रमः, न तु शरीरस्वीकारार्थम्। तदुक्तम् "आविश्य पितरं विष्णुः स्वरूपेणैव मातरम्। विडम्बनार्थं लोकस्य निर्जनिश्चाऽप्यथाऽऽविशत्। आनन्दमात्रदेहेन जातवत्सम्प्रदृश्यते" (वामने) इत्यादिना॥१८॥

सा देवकी प्रथमं भोजेन्द्रगेहे रुद्धा न रेजे इति। 'विरेजे' इति पाठे नञ मध्याहृत्य व्याख्येयम्। पश्चात्, सर्वजगन्त्यस्मिन् निवसन्तीति सर्वजगन्निवासो विष्णुः तस्य निवास भूता, हेतुगर्भ विशेषणम्। नितरा मत्यन्तं न रेजे। विरेजे इति पाठे नञोऽध्याहार्यत्वम्। अत्र दृष्टान्तः दाहकाग्निशिखा दाह्यतृणपटलादिना रुद्धा न राजते, पुन श्शुष्केण तेनैव ज्वलिता यथा राजते। यथा वा सती सरस्वती सत्यरूपा वाणी द्यूतखले द्यूतरङ्ग स्थले अनृतेन रुद्धा न राजते। सैव निर्व्याजा रोचते, तथेति। अन्यथा यथास्थितकथनं दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक विरोधा दयुक्तम्॥१९॥

1- -1 Ma omits 2- 2- Ma omits * अर्थानुसारेण पाठः शोधितः। ★ अर्थानुसारेण पाठः शोधितः।

**तां वीक्ष्य कंसः प्रभया जितान्तरां विरोचयन्तीं भवनं शुचिस्मिताम्।**
**आहैष मे प्राणहरो हरि र्गुहां ध्रुवं श्रितो यन्न पुरेय मीदृशी ॥ २० ॥**

**किमद्य तस्मिन् करणीय माशु मे यथार्थतन्त्रो न विहन्ति विक्रमम्।**
**स्त्रियाः स्वसु र्गुरुमत्या वधोऽयं यशः श्रियं हन्त्यनुकूल मायुः ॥ २१ ॥**

★ऋ द्धष जीवन् खलु सम्परेतो वर्तेत योऽत्यन्तनृशंसितेन।
देहे मृते तं मनुजा श्शपन्ति गन्ता तमोऽन्धं तनुमानिनो ध्रुवम्॥ २२॥

इति घोरतमा द्भावात् सन्निवृत्तः स्वयम्प्रभुः ।
आस्ते प्रतीक्षंस्तज्जन्म हरे र्वैरानुबन्धकृत्॥ २३॥

आसीन स्संविशं स्तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन् पिबन्।
चिन्तयानो हृषीकेश मपश्य त्तन्मयं जगत्॥ २४॥

ब्रह्मा भवश्च तत्रैत्य मु निभिर्नारदादिभिः।
देवै स्सानुचरै स्साकं गीर्भि र्धि षिण मैडयन् ॥ २५॥

1. M °S जितम्भरां 2. M घटनीय ° 3. B,G,J यदर्थ; V यमर्थ 4. B,G,J काल°; V वेल ° ★ विहन्ति कीर्तिं सुदुरासदां परैः । त्यजन्ति सन्तो यशसा विहीनम्॥ This additional half verse is found between 21 and 22 verses in V. edition. 5. B,K एव 6- -6 M तमनु ह्यर्थकामौ यशोऽमलं गौरभि 7. V स निः 8. V° क्ष्य तं° 9. M. वित् 10. B,G,J महीम् 11. K,W °दयश्च 12- -12 V मुनयो नारदादयः , 13- -13 B,G,J °र्वृषण मैडयन्; M °र्विष्णु मथाऽ स्तुवत्।

**श्रीध० तामिति।** प्रभया भवनं विरोचयन्तीम्। अजितः श्रीकृष्णः अन्तरा कुक्षिमध्ये यस्या स्ताम्। एष विरोचमानो गुहां श्रितः गर्भे स्थितः ध्रुवं हरि रेव यत् यस्मात् ईदृशीयं पुरा पूर्वं नाऽऽसीत्॥ २०॥

ननु सन्ति सामादय उपायाः । नेतिं स्वय मेवाऽऽह **किमिति।** अयमर्थतन्त्रो देवकार्यप्रधानो विक्रमं न विहन्ति। मद्वधे पराक्रमं करिष्यत्येवेत्यर्थः । यद्वा, तर्हीदानी मेवेयं हन्यता मिति विचिन्त्याह - अर्थतन्त्रोऽपि पुमान् स्वं विक्रमं न विहन्ति न नाशयति। स्त्रीवधे त न्नाशः स्या दिति भावः । तदेवाऽऽह स्त्रिया इति। गुरुमत्या गर्भिण्याः ॥ २१॥

**स इति।** किञ्च स एष जीवन्नपि मृतः स्यात् नृशंसितेन क्रौर्येण यो वर्तेत तं जीवन्त मेव मनुजाः शपन्ति, दुर्वाक्यैर्धिक्कुर्वन्ति। देहे मृते तनुमानिनः पापिनो नरकं गच्छन्ति। अथवा शापप्रकार मेवाऽऽह- तनुमानिनो देहात्माभिमानिनः अस्य देहे मृतेऽयं ध्रुव मन्धन्तमो गमिष्यतीति॥ २२,२३॥

**आसीन इति।** संविशन् शयानः ॥ २४॥

**ब्रह्मेति।** रम्याभिर्गीर्भिः वृषणं कामवर्षिणम्, ऐडयन् तुष्टुवुः ॥ २५॥

1. B,J omit श्रीकृष्णः 2- -2 B,J omit 3. V omits पुरा 4. B,J गुर्विण्याः 5. V °न्नेव 6. V° माह 7- -7 B,J omit.

**वीर०** तदा प्रभया जिता न्यन्तराणि दिगन्तराणि यस्याः, शुचि विशुद्धं स्मितं यस्या स्ताम्। भवनं गृहं विरोचयन्तीम्। देवकीमवलोक्य[1] कंसः आह[2]। उक्तिमेव दर्शयति "एष" इत्यादिना 'इति घोरे' इत्यतः प्राक्तनेन। मे मम प्राणहरः प्राणान् जिहीर्षुः अय मेष हरिः गुहां देवकीजठरविवरं श्रितः । पुरा इयं देवकी नेदृशी एवंविधप्रभान्विता नाऽऽसीत्। अतो नूनं गुहा माश्रितः ॥२०॥

अर्थतन्त्रो देवकार्यप्रधानोऽयं हरिर्मम विक्रमं यथा न निहन्ति तथाऽत्र हरिविषये मे मया अधुना आशु किं करणीयम्? किं घटनीयम्। य द्येनां हन्मि तर्हस्याः स्त्रियाः , तत्राऽपि स्वसुर्भगिन्याः, तत्राऽपि गुरुमत्याः गुरुतरगर्भिण्याः वधोऽयं यशआदीनि हन्ति क्षपयति। अनुकूल मित्यायुर्विशेषणम्। अनुकाय मिति पाठान्तरम्। तदा प्रतिशरीरं यशआदीनि हन्तीत्यन्वयः ॥२१॥

सः गुरुमतीहन्ता स्वयं जीव न्नपि सम्परेतः मृतप्रायः खलु, यः पुमान् अत्यन्तनृशंसितेन क्रूरचेष्टितेन वर्तेत, तनुमानिनो देहात्माभिमानिनो देहे मृते नष्टे सति मनुजा स्तं शपन्ति। स चान्धंतमो नरकं ध्रुवं नूनं गन्ता गमिष्यति॥२२॥

इतीत्थं घोरतमात् भावात् गुरुमतीवधोद्योगरूपात् स्वयं प्रभुः तां हन्तुं समर्थोऽपि निवृत्तः । तत्ततः हरेर्जन्म प्रतीक्षमाणस्सन् वैरानुबन्धं वैराविच्छेदं कुर्वन् आस्ते आस॥२३॥

आसनादिक्रियास्वपि हरि मेव चिन्तयमानः जगत् तन्मयं हृषीकेशमयं तत्प्रचुर मपश्यत्॥२४॥

तत्र देवकीसन्निधौ नारदादिभि र्मुनिभिः सानुचरै र्देवैश्च सह ब्रह्मा चतुर्मुखो भवो रुद्रश्च समागत्य[3] गीर्भिः औपनिषदानुकारिणीभिः वाग्भिः धिषणं धिषणायुक्तं सर्वज्ञं भगवन्तं ऐडयन् तुष्टुवुः । ण्यन्ता न्निवृत्तप्रेरणात् ईडे र्लङ्। नारदाद्यभिप्रायकं बहुवचनम्। वृषण[4] मिति पाठे कामवर्षिणं भगवन्तं ऐडय न्निति स एवाऽर्थः[4] ॥२५॥

1. B °मालोक्य 2. B प्राह 3. K,W omit समागत्य 4- -4 K, W omit.

**विज०** अजितम्भरां विष्णुं दधानां जेतुमशक्यगर्भभरां वा। अन्तःस्थितविष्णुं प्रभावर्धितस्वदेहप्रभया गर्भरूपेण हृदयगुहां प्रविष्टो, यद्यस्मात्, तं तस्मात् ध्रुवम्॥२०॥

अस्तु तव प्राणहरो हरिः, ततः किम्? अत्राऽऽह **किमद्येति**। अद्य मे मया तस्मिन् गर्भस्थिते हरौ घटनीयम् उपद्रवत्वेन कर्तव्यं तत् केन प्रकारेणेति चिन्त्यते, तदप्याऽऽशु कर्तव्यं, न कालः क्षेपणीयः। कुतोऽत्राऽऽह - अर्थेति। अधुना अह मर्थतन्त्रः प्रायोजनाधीन इति यत्तस्मात् कालो न क्षेपणीय इति तत्राऽऽह यथेति। यथा अयमर्थतन्त्रः देवकार्यलक्षणप्रयोजनैकपरायणो गर्भस्थितो हरिः मम विक्रमजीवनलक्षणं न विहन्ति तथा झटिति करणीय मित्यर्थः । यथा अर्थतन्त्रः पुरुषः स्वविक्रमं न विहन्ति तथेति वा। ननु तर्हि तद्वध एव श्रेयानिति तत्राऽऽह स्त्रिया इति। अयं स्त्रिया वधो यशो हन्ति। अस्त्वयशस्करः, ततः किम्? तत्राऽऽह

स्वसु रिति। स्वसु र्वधः श्रियं हन्ति। "जीवन्भद्राणि" (पश्यतु) (भार. आरण्य 3-240-36) इति वचना त्तदप्यस्त्विति तत्राऽऽह गुरुमत्या इति। गर्भिण्या वधोऽनुकूलं क्लृप्त मायु र्हरति। अतो वधो न घटनीय इति भावः ॥ २१ ॥

ननु लोके केषाञ्चित् क्रूरकर्मिणां दीर्घायुष्यदर्शनात् तवाऽपि किं न स्यात् इत्यत आह - **स एष** इति। जीवन्परेतो जीवन्मृतो न केवलं क्रूरकर्मकर्तु रत्र जीवन्मृतत्वमात्रं, अपि तु मृते पुरुषार्थसर्वस्वहानिः स्या दित्याह - देह इति। अभिमानिनो देहे मृते पञ्चत्वं प्राप्ते तं देह मनु अर्थकामौ पुरुषार्थौ नश्यतः साधकाभावात्। हिशब्दः अर्थकामा वनु धर्मो नश्यतीति दर्शयति। तमनु गौः स्वर्गादिशब्दवाच्यो लोको नश्यति साधकाभावात्। देह मनु मानिनोऽमलं यशो नश्यति। ध्रुवं तत्र न संशय इत्यर्थः। अर्थकामयशआदिनाशे गौ र्दृष्टि र्ज्ञानं नश्यति। तां दृष्टि मनु मानिनः पुंसो ध्रुवं नित्यसुखानुभवलक्षणो गौ र्मोक्षो नश्यतीति वा। स्वतोऽनृतस्याऽपि कंसस्य एवंविधं ज्ञानं सच्चेतनावेशा दुपपद्यत इति क्षुद्रबाधानवकाशः । "गौ र्दृष्टि र्दीधितिः स्वर्गे" (हला. को 5-68) इति हलायुधः ॥ २२ ॥

भावात्कर्मणः, "भावो लीला क्रिया चेष्टा" (वैज.को. 6-1-43) इति यादवः । स्वयं प्रभुः ज्ञानित्वाभिमानी स्वमनसैव समर्थ इति वा। वैरानुबन्धवित् वैर मनुबन्धं स्नेहञ्च वेत्तीति। वैर मनु स्नेहं करोतीति वा। 'विद कृतौ' इति धातुः । अनेन निरन्तरतच्चिन्तया स्नेह स्तर्क्यते। ननु तात्त्विकः स्वत एव प्रधानो द्वेषः इति ध्वनयति। निरन्तर वैरकृद्वा ॥ २३ ॥

तच्चिन्ताप्रकारं दर्शयति **आसीन** इति। संविशन् शयानः। हृषि रानन्दः, स एव केशो यस्य स तथा तम्। यद्वा हृषीकाणा मिन्द्रियाणा मीश इति तत्तत्पदार्थस्य कृष्णात्मकत्व माशङ्क्य तन्मयत्वम् ॥ २४,२५ ॥

## -: ब्रह्मेशानादि देवगणाः देवकीगर्भस्थितं परमपुरुषं स्तुवन्ति :-

### देवा ऊचुः

**सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्त्यस्य योनिं निहितञ्च सत्ये।**
**सत्यस्य सत्य मृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥ २६ ॥**

**एकायनोऽसौ द्विफल स्त्रिमूल श्चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा।**
**सप्तत्व गष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदो द्विखगो ह्यादिवृक्षः ॥ २७ ॥**

त्व मेक एवाऽस्य सतः प्रसूतिः त्वं[5] सन्निधानं त्व मनुग्रहश्च।
त्वन्मायया संवृतचेतस स्त्वां पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये॥ २८॥

बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मन्[6] क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि सता मभद्राणि मुहुः खलानाम्॥ २९॥

त्व य्यम्बुजाक्षाऽखिलसत्त्वधाम्नि[7] समाधिनाऽऽवेशितचेतसैके[8]।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम्॥ ३०॥

स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन् भवार्णवं भीम मदभ्रसौहृदाः।
भव त्पदाम्भोरुहनाव मत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवान्॥ ३१॥

1- -1 G,J omit, M ब्रह्मभवौ? ऊचतुः 2. M °मुत 3. B,G,J विध° 4. B,G,J,M °दी 5. M स्थानं निधानं 6. B,G,J,K,W आत्मा 7. K,W °मल 8. V लोक 9. M चेतसो ये।

**श्रीध०** प्रतिश्रुतं सत्यं कृत मिति हृष्टा स्सन्तः[1] सत्यत्वेनैव प्रथमं स्तुवन्ति - **सत्यव्रत** मिति। सत्यं व्रतं सङ्कल्पो यस्य तम्। सत्यं परं श्रेष्ठं प्राप्तिसाधनं यस्मिं स्तम्। त्रिसत्यं त्रिष्वपि कालेषु, सृष्टेः पूर्वं प्रलयानन्तरं स्थितिसमये च सत्य मव्यभिचारेण वर्तमानम्। तदेवाऽऽहुः 'सत्यस्य योनि' मिति। सच्छब्देन पृथिव्यप्तेजांसि, त्यच्छब्देन वाय्वाकाशौ। एवं सच्च त्यच्च[2] सत्यं भूतपञ्चकम्। "तत्सत्य मित्याचक्षते" (तैत्ति.उ. 2-6) इति श्रुतेः। तस्य[3] योनिं कारणम्। अनेन सृष्टेः[4] पूर्वं वर्तमानतोक्ता तथा सत्ये तस्मिन्नेव निहित मन्तर्यामितया स्थितम्। अनेन स्थितिसमयेऽपि सत्यत्व[5-] मुक्तम्[-5]। तथा च सत्यस्य सत्यं तस्यैव[6-] सत्यस्य[-6] सत्यं पारमार्थिकं तन्नाशेऽप्यवशिष्यमाणरूपम्। अनेन प्रलयेऽप्यवधित्वेन सत्यत्वं दर्शितम्। एवं त्रिसत्यत्व मुपपादितम्। तथा ऋतसत्यनेत्रं ऋतं सूनृता वाणी, सत्यं समदर्शनम्, तथा भगवता व्याख्यास्यमानत्वात् - "सत्यञ्च समदर्शनम्। ऋतञ्च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्तिता" (भाग. 11-19-37,38) इति तयो र्नेत्रं नयनसाधनं नेतारम्। प्रवर्तक मिति यावत्। एवं सर्वप्रकारेण सत्यात्मकं त्वां हे भगवन्! वयं शरणं प्रपन्नाः प्राप्ता इति॥ २६॥

ननु भवन्तोऽपि लोकेश्वराः मत्तुल्या एव। किमिति मां शरणं प्रपद्यन्ते? नैवं वाच्यम्। त्वमेवैकः सर्वेश्वरः सर्वसृष्ट्यादिकारणत्वात्। वयन्तु त्वदेकशरणा एव। लोकादि रूपं द्वैतञ्च सर्वं त्वद्व्यतिरेकेण[7] नाऽस्तीति वक्तुं द्वैतप्रपञ्चं वृक्षरूपकेण[8] निरूपयन्ति - **एकायन** इति। असौ प्रपञ्च आदिवृक्षः। वृश्च्यत इति वृक्षः समष्टिव्यष्टिदेहरूपः। कथम्भूतः? एकायनः एका प्रकृति रयन माश्रयो यस्य सः। द्वे सुखदुःखे फले यस्य सः। त्रयो गुणा स्सत्त्वादयो[9-] मूलानि[-9]

यस्य सः। चतूरसो धर्मार्थकाममोक्षाश्चत्वारो रसा यस्य सः। पञ्चेन्द्रियाणि शिफा ज्ञानप्रकारा यस्य सः कोशा वा षड्मर्यः "बुभुक्षा च पिपासा च प्राणस्य मनस स्मृतौ। शोकमोहौ शरीरस्य जरा मृत्यू षड्मर्यः। त्वग्रुधिर मांस मेदोऽस्थिमज्जा एते षट् कोशाः। आत्मानः स्वभावा यस्य सः। षडात्मा सप्त धातव(एव) त्वचो यस्य सः, पञ्च भूतानि मनोबुद्ध्यहङ्कारा श्चेति अष्टौ विटपाः शाखाविस्तारा यस्य सः। नवाक्षः नव द्वाराणि अक्षाः (अक्षाणि) छिद्राणि यस्य सः। दश प्राणाः नाग कूर्म कृकर देवदत्त धनञ्जय प्राणापानव्यानोदानसमानाः छदाः पत्राणि यस्य स दशाच्छदः, द्वौ जीवेश्वरौ खगौ यस्मिन्स द्विखगः ॥२७॥

एवंरूपस्य संसारवृक्षस्य सतः कार्यस्य त्व मेक एव प्रसूतिः - प्रकर्षेण सूति र्जन्म यस्मात् सः त्वं कारण मित्यर्थः। त्व मेव सन्निधानं सम्यङ्निधीयतेऽस्मिन्निति लयस्थानम्। त्व मेवाऽनुग्रहश्च अनुगृह्णाति पालयतीति पालकः। ननु ब्रह्मविष्णुरुद्रा एवम्भूताः प्रसिद्धाः, कथ मह मेवेति चेत्तत्राऽऽहुः - त्वन्माययेति। संवृतं पिहितं चेतो ज्ञानं येषां ते त्वामेव नाना पश्यन्ति। ये तु विपश्चितो विद्वांसः ते तथा न पश्यन्ति॥२८॥

ननु देवकीपुत्रं मां कथ मेवं वर्णयथेति चेत् तत्राऽऽहुः - **बिभर्षीति।** आत्मन् परमात्मन् अवबोध अवबोधैकस्वरूप! चराचरस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य क्षेमाय सत्त्वगुणयुक्तानि खलानामभद्राणि, सतां सुखावहानि रूपाणि मूर्ती र्बिभर्षि धत्से। न तु त्वं कस्याऽपि पुत्र इत्यर्थः ॥२९॥

न केवल मेतावत् भक्तानां मोक्षार्थ मपीत्याहुः - **त्वयीति।** त्वयि समाधिना आवेशितचेतसा निमित्तेन त्वत्पादपोतेनाऽऽश्रितेन। एके मुख्या विवेकिनः। महद्भिः कृतेन सेव्यतया सम्पादितेन। यद्वा इद मपि मायामय मित्यनादरं परित्यज्य इद मेव महत्सर्वोत्कृष्टमिति मनसि कृतेन बहुमतेनेत्यर्थः। भवाब्धिं तुच्छीकुर्वन्ति। अनायासेनैव भजनानुनिष्पादिनी तेषां मुक्तिरित्यर्थः ॥३०॥

ननु तेन पोतेन पूर्वे चे त्पारं गताः, तर्हीदानीन्तनानां का गतिः? तत्राऽऽहुः - **स्वय** मिति। अय मर्थः - हे द्युमन्। स्वप्रकाश! त्वत्पादपोतसामीप्यमात्रेण भवाम्बुधौ वत्सपदमात्रे जाते अत स्तन्निरपेक्षं स्वय मेवाऽन्येषां भीमं सुदुस्तर मपि भवार्णवं समुत्तीर्य भवत्पदाम्भोरुहरूपां नाव मत्रैव निधाय भक्तिमार्गसम्प्रदायं प्रवर्त्येत्यर्थः। पारं याताः पारं गताः। तत्किम्? यतोऽदभ्रसौहृदाः सर्वभूतेष्वपि प्रीतियुक्ताः। अतस्तेऽन्येषां तरणाय निधायेति। कथं मत्पादपोतेन तीर्णाः, अत उक्तम् भवान् सदनुग्रहः सतो भक्ताननुगृह्णातीति। ये न केनचित्प्रकारेण भगवति चेतो निवेशनीय मिति भावः ॥३१॥

1. V omits सन्तः 2. V त्यञ्च 3. V omits तस्य 4. B,J omits सृष्टेः 5- -5 V वर्तमानतोक्ता 6- -6 V सत्यस्यैकस्य 7 V त० 8. V रूपेण 9- -9 B,J omit 10. V omits चतूरसः 11. B,J विधाः 12- -12 B,J omit 13 -13 B,J omit 14. B,J omit षडात्मा 15. B,J omit नवाक्षः 16. V अक्षीणि 17- -17 B,J omit 18. B,J add विद्यन्ते 19. B,J °दी 20. V omits त्वं 21. B,J omit पालयति 22. V omits पालकः 23- -23 B,J omit 24. B,J रूपः 25- -25 B,J आत्मा त्वमेव रूपाणि मूर्तीः बिभर्षि धत्से॥ न तु त्वं कस्याऽपि पुत्र इत्यर्थः। क्षेमाय पालनाय सतां धर्मवर्तिनां सुखकराणि, खलाना मभद्राणि नाशकानि ॥ २९ ॥ 26. V °म्भोधौ 27- -27 B,J omit 28. B पोताश्रयणमात्रेण; J पोतश्रवणमात्रेण 29- -29 B,J omit.

**वीर०** स्तुति मेवाऽऽह **सत्यव्रत** मित्यादिना यावदध्यायसमाप्ति।[1-] [-1] [2] प्रकृतिपुरुषासम्भावितैर्धर्मै र्विशिष्टं स्तुवन्ति सत्यव्रतमिति। सत्यव्रतं सत्यसङ्कल्पम्। अनेन प्रतिज्ञातार्थो यथार्थीकृत इति सूचितम्। सत्यपरं चिदचिदात्मकं जग त्सत्यम्। "यदन्य द्देवेभ्यः प्राणेभ्यश्च तत्सत्" (कौषी.उ.1-6) "अथ यद्देवाश्च प्राणाश्च तत्सत्यम् तत्सत्यम् तदेकया वाचा व्यवह्रियते सत्यम्" (कौषी.उ.1-6) इति श्रुतेः। ततः परं विलक्षण मिदं साध्यम्। अत्र सत्यव्रतत्वादीनि हेतवः। कथं सत्य व्रतत्वम्? तत्राऽऽह - त्रिसत्यम्। त्रयः प्रकृति पुरुष कालाः सत्याः यस्य तम्, प्रकृति पुरुष कालशरीरक मित्यर्थः। प्रकृत्याद्यात्मकस्य कृत्स्नस्य जगतः स्वनियाम्यत्वेन स्वसङ्कल्पप्रतिभटाभावात् अव्याहतसङ्कल्प इत्यर्थः। यत स्सत्यव्रत मत एव सत्यस्य योनिं सत्यस्य चिदचि[3]दात्मकप्रपञ्चस्य योनिं कारणं, सत्ये निर्विकारे परे व्योम्नि निहितं, कर्तरि क्तः, अधितिष्ठन्त मित्यर्थः। त्रिसत्यं सत्यस्य योनि मिति लीलाविभूतिमत्त्व मुक्तम्। निहितञ्च सत्य इति नित्यविभूतिमत्त्वम्; एत दुभयं सत्यपरत्वे[4] हेतुः । तथा सत्यस्य सत्यं, जीवेभ्योऽपि सत्यं धर्मतोऽपि निर्विकारत्वात्। "न ह्येतस्मादिति नेति ने त्यन्य त्परमस्त्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्य मिति प्राणा वै सत्यं तेषा मेव सत्यम्" (बृह.उ. 2-3-6) इति श्रुतेः। तदर्थस्तु इति नेति यद्ब्रह्म प्रतिपादितं तस्मा देतस्मा द्वस्तु परं न ह्यस्ति, ब्रह्मणोऽन्यत्स्वरूपतो गुणतश्च परं नाऽस्तीत्यर्थः। नत्वन्यमात्रनिषेधः, तथा हि सति अन्यत्पर मिति वैयर्थ्यापत्तेः। तदुपपादयति अथेति। प्राणशब्दनिर्दिष्टेभ्यः चेतनेभ्योऽपि कदाचि दपि ज्ञानादिसङ्कोचाभावात्परमात्मा सत्यं निर्विकार मित्यर्थः। "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" (कठ.उ. 5-13) इति श्रुत्त्यन्तरसंवादात्। अन्यत्तु "प्रकृतैतावत्त्वम्" (ब्र.सू. 3-2-22) इति शारीरकसूत्रभाष्या दवगन्तव्यम्। विस्तरभया न्नाऽत्र लिख्यते। ऋतसत्यनेत्रम्। सत्य मादित्यः - "असा वादित्य स्सत्यम्" (सूर्य.उ. 5) इति श्रुतेः तत्साहचर्यात् ऋतशब्द श्चन्द्रपरः । चन्द्रादित्ययो र्नेत्रं प्रशासितार मित्यर्थः । "य आदित्ये तिष्ठन्, यश्चन्द्रमसि तिष्ठन्" (बृह.उ. 3-7-9) इत्यादि श्रुतेः । यद्वा तौ नेत्रे यस्य तम्। "चक्षुषी चन्द्र सूर्यौ" (मुण्ड.उ. 2-1-4) इति श्रुतेः। "एवं पुण्यस्य कर्मणो दूरा द्गन्धो वाति" (म.ना.उ. 9-7) इति पुण्यकर्मप्रतिसम्बन्धितया "एव मनृता दात्मानं जुगुप्सेत्" (म.ना.उ. 8-2) इत्यपुण्यकर्मणि अनृतशब्दप्रयोगात्, ऋतं पुण्य मनुष्ठेयं कर्म, सत्य मुच्यमानधर्मः, तयो र्नेतारं सत्यात्मकं स्वरूपेणाऽपि निर्विकारम्। अनेन प्रधानव्यावृत्तिः। एवम्भूतं त्वां वयं शरणं प्रपन्नाः अध्यवस्यामः ॥ २६ ॥

अथ त्रिसत्यत्व मेवोपपादयितुं कृत्स्नं जगत् वृक्षत्वेन रूपयित्वा तस्य भगवद्दासत्व माहुः - **एकायन** इति। एकं परं ब्रह्म अयन माश्रयो यस्य, द्विफलः द्वे सुखदुःखे फले यस्य, त्रय स्सत्त्वादयो गुणा मूलं यस्य, चत्वारो रसाः धर्मादिपुरुषार्थाः यस्य, पञ्च शिफा जटाः उत्तरमूलानि भूतसूक्ष्मात्मकानि यस्य, षडात्मानः ऊर्मयो, मनषष्ठानीन्द्रियाणि वा यस्य, सप्त त्वक् वसा मांस रुधिर मेदो मज्जास्थि शुक्ररूपा धातवः एव त्वक् यस्य, अष्टौ हस्तौ पादौ शिरः कण्ठो वक्षो जठर श्चेति[5] विटपा श्शाखा यस्य, नवाक्षाः छिद्रकोटरा यस्य, दशच्छदः दश शब्दादय एवाऽनुकूलाः प्रतिकूलाश्च प्राणापानव्यानोदानसमान नाग कूर्म कृकर देवदत्त धनञ्जय रूपाः प्राणोपप्राणा वा, छदाः पत्त्राणि यस्य, द्वौ जीवपरमात्मरूपौ खगौ पक्षिणौ यस्मिन् स आदिवृक्षः प्रवाहानादिशरीराख्यवृक्षः एक स्त्वमेव, अयन माश्रयो धारणं यस्य तथाभूत इति भावः ॥ २७ ॥

अथ तस्य सत्ययोनित्व मुपपादयन्ति - **त्वमिति।** अस्य परिदृश्यमानस्य चिदचिदात्मकस्य सतो जगतः प्रसूतिर्जन्मकारणं त्व मेक एव अस्य सन्निधानं सन्निधीयते उपसंह्रियतेऽस्मि न्निति सन्निधानं प्रलयाधिकरण मित्यर्थः। त्वमेक एव अस्याऽनुग्रहः , अनुगृह्णाति इष्टप्रदानेने त्यनुग्रहः , स्थितिकारण मित्यर्थ। ननु नाऽहं सत्परः, केचिन्मां जीवा दभिन्नं पश्यन्ति इत्यत्राऽऽहुः - त्वन्मायया मोहितं चेतो येषा मत एव नविपश्चितः अज्ञाः । नशब्दोऽयं निषेधार्थकः । ततो "नलोपो नञः" (अष्टा. 6-3-73) इति नलोपाभावः । ये जना स्ते त्वां नाना पश्यन्ति जीवरूपेणावस्थितं पश्यन्तीत्यभिप्रायः । पश्यन्ती त्युक्तेः न हि जीवविलक्षणं परस्वरूपं दृश्यते, कुतो नानादर्शनम्? "मोहितं नाभिजानाति मा मेभ्यः पर मव्ययम्।" (भ.गी. 7-13) इति त्वदुक्तेरिति[6] भावः। यद्वा, एवं कृत्स्नजगत्कारणत्व मुपपाद्य कार्यकारणयो रनन्यद्रव्यत्वसूचनाय तद्भेदवादं निराकुर्वन्ति त्व न्माययेति। त्वां नाना त्वां विना इदं जगत्पश्यन्ति त्वत्तः पृथक्सिद्धं जग त्पश्यन्तीत्यर्थः ॥ २८ ॥

त्व मनुग्रह इति स्थितिकारणत्व मुक्तम्। तच्चान्तर्यामित्वस्वावतारमन्वाद्यनुप्रवेशेने त्यभिप्रायेणाऽऽहुः - **बिभर्षीति।** **अवबोध** आत्मा ज्ञानस्वरूपः । असन्धि रार्षः । यद्वा अवबोधः ज्ञानस्वरूपः आत्मा सर्वान्तरात्मा च सन् इत्यसमस्तं पदद्वयम्। यद्वा अवबोधे इति सप्तम्यन्तम्। अवबोधे मानस्वरूपे जीवे आत्मा अन्तरात्मतया अवस्थितस्त्वमस्य चराचरात्मकस्य लोकस्य क्षेमार्थं रूपाणि अवताररूपाणि बिभर्षि। कथम्भूतानि सत्वोपपन्नानि शुद्धसत्त्वमयानि, सतां साधूनां सुखावहानि, खलानां दुष्कृतां मुहु र्मुहु रभद्राणि, मुहु र्बिभर्षीति वाऽन्वयः ॥ २९ ॥

एवं निखिलजगदुत्पादकारणत्वेन स्तुत्वा अथ "कारणन्तु ध्येयः " (अथ.शिख.उ. 3) इति कारणत्वसमनियतत्वेन श्रुतमुपास्यत्व मपि त्वन्निष्ठ मेवे त्यभिप्रायेण स्तुवन्ति, ब्रह्मादयो[7] देवाः देवकीगर्भगतं श्रीनिवासं[7] - **त्वयीति।** हे अम्बुजाक्ष! अमलसत्त्वधाम्नि शुद्धसत्त्वमयं धाम स्थानं विग्रह[8] इति[8] यावत्। तद्यस्य तस्मिन्। विशुद्धसत्त्वमयविग्रहयुक्ते[9] त्वय्येके विपश्चितः अवताररूप[10] श्रवणादि[10] पराः पुरुषा वा समाधिना आवेशितं चेतः यैस्तथाभूताः । चेतसैक इति सन्धि रार्षः । समाधिना त्वय्यावेशितचेतसोपलक्षिता इति वा। महत्कृतेन महता सदाचार्येण कर्णधारस्थानीयेन कृतेन सन्निधापितेन प्रदर्शितेन तव पादपोतेन पादकमलरूपप्लवेन भव स्संसारः, स एवाऽब्धिः सागरः[11] गोवत्सपदं कुर्वन्ति। तदिव सुखेन अतितरन्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥

न केवलं ते स्वय मेव गोवत्सपदं कुर्वन्ति, [12-]अ पि तु अन्येऽप्येवं कुर्युरिति प्रदर्शयन्त इव कुर्वन्तीत्यभिप्रायेण स्तुवन्ति स्वय मिति[-12]। हे द्युमन् नित्यविभूतिमन्![13] द्युमदिति पाठे द्युमद्भवार्णव मिति समस्तं पदं स्वर्गादि स्थानोपेतं भवार्णवं भीमं दुस्तर मपि अदभ्र मनल्पं सौहृदं त्वद्भक्तिरूपं येषां तथाभूता स्ते स्वयं समुत्तीर्य, त्वत्पादपोतेने त्यनुषङ्गः । भगवतः [14-]प दाम्भोरुह मेव[-14] नौ स्ता मत्र निधाय इय मेव संसार[15] सागरोत्तारणसाधनभूतेति प्रदर्श्य याता स्त्वत्पदं प्राप्नुवन्ति। बिभर्षि रूपाणीत्यादिनोपक्रान्त मनुग्रहीतृत्वप्रतिपादन मुपसंहरन्ति। एवं भवान् सदनुग्रहः [16-]सा धूना मनु[-16] ग्रहशीलः ॥ ३१ ॥

1- -1. K,W omit 2. B adds तावत् 3. K,W °चित्र 4. B,W °त्व 5. B °श्चेत्येते 6. B भगवदुक्तेः 7- -7. K,W omit 8- -8. B शरीरं विग्रहो वा यस्य इति 9- -9. B दिव्यनित्यमङ्गल श्रीविग्रहविशिष्टे 10- -10. B चरित्रगुणकथाश्रवणकीर्तनस्मरणादिपराः 11. K omits सागरः 12- -12. B किन्तु अन्येषा मपि तथैवाऽस्त्विति तादृशशास्त्राप्रकाशनाद्यविच्छेद सम्प्रदायपरम्परा मत्रैव दृढतया विस्तार्य भवत्कृपया भवद्धाम प्राप्ता इत्यभिप्रायेण स्तुवन्ति स्वय मित्यादिना 13. B adds विभूतिद्वयनायकः 14- -14. B पदाम्बुजमेव 15. K,W °रोत्तारसा° 16- -16. K,W सदनु

**विज०** तत्र शङ्करादिभि स्समेतो ब्रह्मा ज्ञानिसुगमगुणविशिष्टं विष्टरश्रवस मभिष्टौति - सत्यव्रत मिति-। वयं त्वां शरणं प्रपन्ना इत्यन्वयः । कीदृशं त्वाम्? सत्यव्रतं पूर्णानन्दज्ञानलक्षणं, सत्यं तदेव व्रतं व्यावृत्तं रूपं यस्य स तथा तम्। सद्भ्यः पृथिव्यतेजोभ्यः त्ययोः वाय्वाकाशयोः परत्वात् विलक्षणत्वात् सत्यपरः तम्, त्रयाणां वेदानां सत्यत्वा न्मुख्यार्थत्वात् त्रिसत्यः तम्, सत्यस्याऽबाधितप्रपञ्चस्य योनिं मूलकारणं, सत्ये जगति अन्तर्नियामकत्वेन निहितम्। सत्यस्य विश्वस्य उत्तमानन्दज्ञानदं सत्यं सत्यस्य प्रपञ्चस्य नेत्रं नेतारम्, सत्यात्मकं सत्यस्य प्रपञ्चस्य अत्तृत्वा दादानाञ्च सत्यात्मकम् कप्रत्ययः प्रशंसायाम्। उतशब्दः समुच्चयार्थः । "सच्छब्द उत्तमं ब्रूयात्" (तन्त्रभागवते) इत्यादिना अक्षरार्थो ज्ञातव्यः। प्रामाणिकत्वात् ग्राह्य मेत दिति सिद्धम्। यद्वा अनृताप्रियवर्जनं यथार्थकथनं सत्यम्, तदेव व्रतं नियमो यस्य स तथा तम्, "अजस्याऽवक्रतेजसः " (कठ.उ. 5-1) इति हि श्रुतिः, "सत्य संहिता वै देवाः" इति च। सत्यपरं धर्मपालकम्, "सत्यं धर्म उदाहृतः " इत्यभिधानम्। सत्त्यपरं, सत्ति स्वसादनं, तस्मा दपर मन्यम्, तद्रहित मित्यर्थः। "अविनाशी वा अरेऽ य मात्मा (बृह.उ. 4-5-14) इति श्रुतेः। त्रिषु लोकेषु सत्यम्, तेषु नष्टेष्वपि अविनष्ट मित्यर्थः । सत्यस्य मुख्यप्राणस्य योनि मुत्पादकम्। "आत्मन एष प्राणो जायते" (प्रश्न. उ. 3-3) इति श्रुतिः । सत्ये मुख्यप्राणे निहितं सन्निहितम्। "स प्राण मसृजत" (प्रश्न.उ. 6-4) इति श्रुतिः । सत्य मेव नेत्रं नयनं यस्य स तथा। सत्यस्य प्रपञ्चस्य प्रकाशनात् निरुपमचरितत्वेन अबाधितम्। "अद्वैतं परमार्थतः" (आगम.प्र. 17) इति श्रुतिः । सत्या देवा स्ते नेत्रं शिष्यादिषु नेतारो यस्य स तथा। "तं देवाः प्राणयन्त" (ऐत.उ. 1-5-1) इति श्रुतिः। सत्य मबाधित

मात्मनः कं सुखं यस्य स तथा तं अबाधितस्वरूपसुखम्। "एष ह्येव परमानन्दः" इति श्रुतिः इति ॥ २६ ॥

ननु प्रपञ्चोऽयं केचिज्जीवकर्तृकः , केचित्प्रधानकर्तृक इत्यदि सङ्गिरन्ते, तत्राऽऽह - **एकायन** इति। अत्र यत्रशब्द मध्याहृत्यान्वेतव्यम्। असा वादिवृक्षो यत्र स्थितः तं त्वां शरणं प्रपन्ना इति पूर्वेणाऽन्वयः। चेतनस्य मनुष्यस्य पुरुषार्थत्वादादिभूत मन्तरङ्गसाधनं ज्ञानं तेनाऽसिना वृश्च्यत इति आदिवृक्षः प्रपञ्चः । आदे र्हरे रधीनो वृक्ष इति वा मुक्तामुक्तप्रपञ्चपक्षीकरणाय दूरस्थस्याऽप्यदश्शब्देन परामर्शः । "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मि न्देवा अधिविश्वे निषेदुः । उतामृतत्वस्येशानः " (श्वेत.उ. 4-8) इत्यादि श्रुतिः । एका चेतनाचेतनात्मकलक्षणा प्रकृति रयनं आश्रयो यस्य स एकायनः । "यत्किञ्च जगत्यां जगत्" (ईश.उ.1) इति श्रुतिः । द्वे फले प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणे यस्य स द्विफलः । सत्त्वादिगुणा मूलानि यस्य स त्रिमूलः । चत्वारो रसाः धर्मादिमोक्षान्ता यस्य स चतूरसः । तत्र प्रवृत्तफलस्य धर्मादय स्त्रयो रसाः , निवृत्त फलस्य मोक्ष एको रस इति विभागः। पञ्चमात्राश्शब्दादयः शिफा यस्य सः पञ्चशिफः । अस्ति जायते परिणमते विवर्धते अपक्षीयते विनश्यति इति षड्विकारानाप्नोतीति षडात्मा। त्वक्चर्ममंसरुधिरमेदोमज्जास्थीनि त्वग्रूपेण वर्तन्ते यस्य स सप्तत्वक्। देव गन्धर्व दानव राक्षस पिशाच तिर्यङ्मानुष स्थावरलक्षणा अष्ट विटपा यस्य सोऽष्टविटपः । नवाक्षा इन्द्रियाधिष्ठानभूता यस्य स नवाक्षः । "अक्षो रथाङ्गआधारे व्यवहारे विभीतके। शकटे पाशके कर्षे द्यूतभेदेऽक्ष इन्द्रिये" (वैज.को. 6-5-2) इति यादवः । दश छदाः पत्रस्थानीयानीन्द्रियाणि अस्य सन्तीति दशच्छदी। प्रवृत्तिमार्गस्थाः निवृत्तिमार्गस्था इति द्विप्रकाराः खगाः पुण्यापुण्यफल भागिनो जीवा यस्य स द्विखगः। तदुक्तम् - जगद्वृक्षाश्रया इत्यादि। हिशब्देन कारणस्य सदा सत्त्वात् प्रवाहेण च स न्नसावित्यादिना जगद्वृक्षस्य सनातनत्वम्। विष्णुकारणत्वं दर्शयति हरि रेक एवाऽयनं यस्याऽसौ तथा। द्वे पुण्यपापे फले यस्य स तथा। तिस्रो जाग्र दाद्या अवस्था यस्य, तिस्रो व्याहृतयो वेदा वा मूलं यस्य स तथा। चत्वारो रसाः स्वर्गमोक्षनरकतमोलक्षणा यस्य स तथा, प्राणापानव्यानोदानसमानाख्याः पञ्चशिफाः अवान्तर मूलानि यस्य स तथा। अशनायापिपासा शोकमोह जरामृत्यवः षडात्मानः सहजा यस्य। सप्त छन्दांसि त्वक्स्थानीयानि यस्य। अष्ट विटपाः - पञ्च महाभूतानि मनोबुद्ध्यहङ्काराः विटपा यस्य। नव नवाक्षा व्यवहारा अष्टादश भाषा यस्य स तथा। तन्त्रन्यायेन नवशब्दस्य एकोच्चारणं पायूपस्थयोरेकत्वेन नवेन्द्रियाणि वा यस्य दशेन्द्रियविषयाः शब्दस्पर्शादयः दशच्छदा अस्य सन्तीति। द्वौ खगौ जीवपरमात्मानौ यस्य। आदि रदनयोग्यः हरे रन्नभूतः प्रपञ्चः स एव वृक्षः आदिवृक्षः । अनेन जगद्वृक्षस्य हरे रधीनत्ववर्णनेन हरे रत्युत्तमत्व मुक्तं भवतीति ॥ २७ ॥

ननु "ब्रह्मा देवानां प्रथम स्सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे" (मुण्ड.उ. 1-1) इत्यादिना इतरेषामपि जगदाश्रयत्वप्रतीतेः हरे रेव तल्लक्षणं कथं स्या दिति तत्राऽऽह - **त्वमेक एवेति।** अस्य सतः सत्यजगतः , प्रसूयत इति प्रसूतिः कारणम्। तिष्ठ त्यस्मिन्निति स्थानम्। निधीयतेऽ-

स्मिन्निति निधानम्। अनुगृह्णाति रक्षती त्यनुग्रहः । संवृतचेतसः आवृतज्ञानाः त्वां नाना पश्यन्ति ये विपश्चितः ते न पश्यन्तीत्यनेन हरे रेवोक्तलक्षणं नाऽन्यस्येति निरणायि ॥ २८ ॥

तत्तत्कालप्राप्तानर्थपरिहारलक्षणपालनञ्चाऽवतारलक्षणस्वरूपग्रहणेने त्याह - **बिभर्षीति**। अवबोध आत्मन् ज्ञानस्वरूपे त्वय्यधिकरणे इत्यनेन शुक्रशोणितसम्बन्धं निवारयति। क्षेमाय तत्तत्कालप्राप्त विपत्परिहार लक्षण पालनाय। "क्षेमो ना प्राप्तरक्षायाम्" (वैज.को. 6-5-22) इति यादवः । सत्त्वोपपन्नानि बलज्ञानसमाहारयुक्तानि सता मस्माकं सुखकराणि, कंसादिखलाना मभद्राणि तमआद्यमङ्गलकराणि ॥ २९ ॥

सतां सुखावहानी त्येत द्विवृणोति - **त्वयीति**। अखिलसत्त्वधाम्नि सदा सर्वगुणाना माधारभूते त्वयि समाधिना उपास्त्या आवेशितचेतसः तत्क्षिप्तचित्ताः ये पुरुषा स्ते महत्कृतेन तयैवोपास्त्या यथा मह द्विस्तीर्णं भवति तथा विरचितेन प्लवेन भवाब्धिं संसारसागरं घोरं गोवत्सपदं कुर्वन्ति। यथा वत्सचरणभारकृतनिम्नस्थितजल मयत्नेन तरन्ति, तथेत्यन्वयः ॥ ३० ॥

नन्वस्तु गोवत्सपदोपमो भवाब्धिः महान्त स्ते तमुत्तीर्य कुत्र यान्तीति तत्राऽऽह स्वयं समुत्तीर्येति। हे द्युमन्! तेजोमूर्ते! ये अदभ्रसौहृदाः स्वस्वयोग्यभक्तिपूर्णाः स्वय मकृत्रिमया भवत्पदाम्भोरुहनावा दुस्तरं भवार्णवं समुत्तीर्य तीर्त्वा स्थिता स्तेऽत्र योग्यादिषु शिष्यादिषु उपदेशेन निधाय तां भगवत्पदाम्भोरुहनावमेव याताः नाऽन्यद्याता भवन्तीति यदतो भवान् सत एवाऽनुगृह्णातीति सदनुग्रहो नामेत्यर्थः । ननु सत्त्वोपपन्नानीत्यादौ सत्त्वगुणात्मकत्वप्रतीतेः तीर्त्वा पुनः तत्प्राप्तिः कथं मुक्तिः स्यात्, तस्याऽनिर्गुणरूपत्वात्? उच्यते। अत्र सत्त्वशब्देन न सत्त्वगुणविवक्षा, किन्तु ज्ञानादिगुणसामग्री प्रामाणिकत्वात्। तदुक्तम् "सदा सर्वगुणाढ्यत्वात्" इत्यादि। त्वत्पादपोतेने त्यनेन भगवद्भस्य शिवादिपादपोतपुरुषा द्वैशिष्ट्यं ज्ञाप्यते, तदुक्तम्- "भगवत्पादपोतेऽसौ" (वामने) इत्यादि। लोके नौतीर्णस्य तां विहाय देशान्तरगतिदर्शनात्कथं तामेवाऽऽश्रिता इति युज्यते इति चेत्, न भगवत्पादनावो वैलक्षण्या दर्थवैलक्षण्यस्य सम्भवात्। तदुक्तम् "भगवत्पादनौकाया" इत्यादि। अस्यार्थः- या भगवत्पादनौका इयं अन्यनौकोपमा न भवति। कुतः? तया भगवत्पादनावा भवाब्धिं तीर्त्वा श्रीहरिपादनावं तां प्राप्य सुखं तिष्ठन्तीति यस्मा त्तस्मा दिति। लोके च कर्णधारादयः तयाऽब्धिं तीर्त्वा तत्तीर एव ता माश्रित्य तिष्ठन्तो दृश्यन्ते इत्यतोऽविषमो दृष्टान्त इति सन्तोष्टव्यम् ॥ ३१ ॥

**येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्त मानिन स्त्वय्यस्तभावा दविशुद्धबुद्धयः ।**
**आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥ ३२ ॥**

**तथा न ते माधव तावकाः क्वचि द्भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः ।**
**त्वयाऽभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ॥ ३३ ॥**

सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ शरीरिणां श्रेय उपायनं वपुः ।
वेदक्रियायोगतपस्समाधिभि स्तवार्हणं येन जन स्समीहते ॥ ३४ ॥

सत्त्वं न चे द्धातरिदं निजं वपुः[1] विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम्।
गुणप्रकाशै रनुमीयते भवान् प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः ॥ ३५ ॥

न नामरूपे गुण कर्म जन्मभिः निरूपितव्ये तव तस्य साक्षिणः ।
मनोवचोभ्या मनुमेयवर्त्मनो देव क्रियायां प्रतिय न्त्यथाऽपि हि ॥ ३६ ॥

शृण्व न्गृण न्संस्मरयंश्च चिन्तय न्नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते।
क्रियासु य स्त्वच्चरणारविन्दयो राविष्टचित्तो[2] न भवाय कल्पते॥ ३७ ॥

1. B,G,J,M भवेत् 2. B,G,J चेता

**श्रीध०** ननु विवेकिनां किं मद्भजनेन, मुक्ता एव हि ते, तत्राऽऽहुः - **येऽन्ये** इति। विमुक्तमानिनः विमुक्ता वय मिति मन्यमानाः। त्वयि अस्तो निरस्तोऽत एवाऽसन् यो भाव स्तस्मात् भक्ते रभावा दित्यर्थः। न विशुद्धा बुद्धि र्येषां ते तथा। यद्वा त्वयि अस्तभा इति च्छेदः। अस्तमतयो वादेष्वेव विशुद्धबुद्धयः। कृच्छ्रेण बहुजन्मतपसा परं पदं मोक्षसन्निहितं सत्कुलतपःश्रुतादि। पतन्ति विघ्नै रभिभूयन्ते। न आदृतौ युष्मदङ्घ्री यै स्ते ॥ ३२ ॥

त्वदीया स्तु न कदाचि दपि पतन्ती त्याहुः - **तथेति।** विनायका विघ्नहेतवः तेषा मनीकानि स्तोमा स्तानि पान्ति ये तेषां मूर्धसु विचरन्ति। विघ्नान् जयन्तीत्यर्थः । यद्वा त्वद्रूपाः प्रत्येकं विनायकानीकपमूर्धसु गरुडानां मूर्धसु चरन्ति[1] ॥ ३३ ॥

सतां सुखावहानि रूपाणि धारयसीत्युक्तं - 'बिभर्षि रूपाणि' इति। तत्केन प्रकारेण सुखावहत्व मित्यपेक्षाया-माहुः - **सत्त्व** मिति। सत्त्वं वपुः श्रयत इत्यन्वयः । श्रेय उपासनं कर्मफलदातृ। कथम्? येन वपुषा जन स्तवाऽर्हणं पूजा मीहते करोति। कैः वेदश्च[2] क्रियायोगाश्च[3] तपश्च समाधिश्च तै श्चतुराश्रमधर्मै रित्यर्थः । वपुषोऽनाश्रयणेऽ र्हणासम्भवात् न कर्मफलसिद्धिः स्या दिति ॥ ३४ ॥

त्वय्यम्बुजाक्षेत्यादिना श्लोकत्रयेण भगवद्भक्ताना मेव मोक्षो नाऽन्येषा मित्युक्तम्, तत्र कर्मफलं भक्तिं विना मा भूत् मोक्षस्य तु ज्ञानैकसाध्यत्वात् किं भक्त्येति सानुशया न्प्रत्याहुः - **सत्त्वं न चे** दिति। हे धातः ! इदं

सत्त्वं निजं तव वपु र्नभवेच्चेत् तर्हि विज्ञानं विशिष्ट मपरोक्षं ज्ञानं न भवे दित्यनुषङ्गः । कथम्भूतम्? अज्ञानभिदापमार्जनं, अज्ञानञ्च तत्कृता भिदा च तयो रपमार्जनं निवर्तकम्। यद्वा, अज्ञानं भिनत्तीत्यज्ञानभित् विज्ञानं, मार्जनं नाशम् आप प्राप। ननु जडानां बुद्ध्यादीनां यतः प्रकाशः तद्ब्रह्मेति ज्ञानं भवे देवेति चेत्, न। गुणप्रकाशैः गुणावच्छिन्नैः प्रकाशैः । भवान् सर्वसाक्षी परिपूर्णः केवल मनुमीयते कल्प्यते, न तु साक्षात्क्रियत इत्यर्थः। अनुमानप्रकार माहुः - प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः इति यस्य सम्बन्धी अयं बुद्ध्यादिगुणः प्रकाशते यो गुणसाक्षीत्येवं, येन वा बुद्ध्या रूढे प्रमात्रा बुद्ध्याधिष्ठात्रा बाह्यो गुणः प्रकाशते इत्यनुमीयत इत्यर्थः। शुद्धसत्त्ववपुषि त्वयि सेव्यमाने तु तदाकारेऽन्तःकरणे त्वत्प्रसादेन साक्षात्कारो भवे दिति भावः ॥ ३५॥

एवं ताव द्भक्ताना मभ्युदयापवर्गार्थं रूपाणि बिभर्षीत्युक्तं, तान्यपि भजनीयानि केवलं न तु ज्ञातुं शक्यन्ते, अनन्तत्वादतर्क्यत्वाच्च मनोवचसो रगोचरत्वा दित्याहुः - **न नामरूपे** इति। गुणाश्च जन्मानि च कर्माणि च तै - र्निरूपितव्ये निरूपणार्हे न भवतः। कुतः। अनुमेयं वर्त्म मार्गो यस्य तवेति तत्राऽपि हेतुः - तस्य साक्षिण इति। न हि साक्षिण स्तत्त्वं मनोवचोगोचार मित्यर्थः। हे देव! बहुधा द्योतमान! अथाऽपि क्रियाया मुपासनादिलक्षणायां त्वां प्रतियन्ति उपासकाः साक्षा त्पश्यन्ति। हि प्रसिद्धौ ॥ ३६॥

तस्माद्भक्तयैव मोक्ष इत्युपसंहरन्ति - **शृण्व** न्निति। अन्यानपि संस्मारयन्। क्रियासु देवार्चनादि कर्मसु॥ ३७॥

1- -1 B,J omit 2. B,J वेदाश्च 3. B,J योगश्च 4. V विशसम् 5. B,J प्राप्त मेवेति 6- -6 V भवे देव 7. V adds सः 8. V °मेवाऽऽहुः 9. V बुद्ध्याद्यारू° 10- -10 V omits 11. B,J °द्धम् 12. V °दिषु॥ ३७॥

**वीर०** तन्निहितभवत्पदाम्बुरुहनाव मनुवर्तमनानां "समाधिनाऽऽ वेशितचेतसैके" (भाग. 10-2-30) इत्युक्तविपरीतानां गतिं वदन्तः स्तुवन्ति **य** इति। हे अरविन्दाक्ष! येऽन्ये पूर्वश्लोकद्वयप्रस्तुतेभ्योऽन्ये ये जनाः विमुक्ता वयमिति वृथाभिमानिनः, त्वय्यस्तभावात् भक्तिशून्यत्वा द्धेतोः अविशुद्धा बुद्धि र्येषां ते तथाभूताः परं पदं वर्णाश्रमादिरूप मुत्कृष्टं स्थानं कृच्छ्रेण प्रयासेन आरुह्यऽपि सुकृतविशेषात् विप्रादिरूपं श्रेष्ठं जन्म प्राप्यापीत्यर्थः। अनादृतयुष्मदङ्घ्रयः अनुपासित भवच्चरणा स्सन्तः ततोऽधः पतन्ति। पुनः निहीनं जन्म प्राप्नुवन्तीत्यर्थः॥ ३२॥

आदृतयुष्मदङ्घ्रीणां तु न कर्हिचि दधःपतन मस्तीति वदन्तः स्तुवन्ति - **तथेति**। हे माधव! ते तावका स्त्वद्भक्ता स्तु तथा त्वद्भक्तिरहितवत् क्वचि त्कदाचि दपि मार्गात् उत्तमजन्मानः न भ्रश्यन्ति नाऽधः पतन्ति। तत्र हेतुं वदन्त स्ता न्विशिंषन्ति। त्वय्येव बद्धं सौहृदं भक्त्यात्मकं येषां ते न भ्रश्यन्ति। किन्तु त्वया अभिगुप्ताः अभितो रक्षिताः "तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्" (भ.गी. 9-22) इति त्वदुक्ते रिति भावः। हे प्रभो! विनायकानीकपमूर्धसु विघ्नसेनापतिशिरस्सु भयरहिताः विचरन्ति जीवद्दशायां विघ्नानुपहतत्वद्भक्तियोगा स्तत स्त्वां प्राप्नुवन्तीति भावः॥ ३३॥

यद्यपि सङ्कल्पमात्रपरिकल्पितनिखिलप्रपञ्च स्त्वं सङ्कल्पमात्रेणैव जगन्नातुं प्रभु र्नावतार मपेक्षते, तथाऽपि उपासकानां उपासनालम्बनार्थ मवतरसीति वदन्तः स्तुवन्ति - **सत्त्व** मिति। स्थितौ स्थितिः पालनं तस्यां निमित्तभूतायां स्थित्यर्थं भवान् विशुद्धं रजस्तमोभ्यामननुविद्धं सत्त्वं सत्त्वमयं वपु श्शरीरं श्रयते बिभर्ति। संश्रयणे मुख्यं प्रयोजनं दर्शयन्तो वपु र्विशिंषन्ति - शरीरिणां श्रेयउपायनं श्रेयसे उपेयते उपास्यत इत्युपायनम्। 'इण् गतौ', गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः। येन वपुषा आलम्बनभूतेन उपलक्षितस्य तव जनो वेदक्रियादिभि र्हणमाराधनं समीहते कुरुते। वेदक्रिया वेदपूर्वभागचोदितक्रिया यज्ञादिक्रिया, योगः उत्तरभागचोदित मुपासनम्। तप स्तदनुग्राहक मनशनादिरूपम्, समाधिः वेदक्रियातपोभ्यासा[5] नुगृहीतेन योगेन निर्वर्त्यं चित्तैकाग्र्यम्। यदि भवान् वपु र्न संश्रयते तर्हाराध्यरूपापरिज्ञानादाराधका स्त्वा माराधयितु मप्रभवः स्युः । अतो भवा नाराधकानुग्रहार्थं वपु स्संश्रयते इति भावः ॥३४॥

तदेव स्पष्टीकुर्वन्तः स्तुवन्ति - **सत्त्वं न चे दिति।** हे धातः , विश्वकारणभूत! इदं विज्ञानं प्रकाशकम् अज्ञानभिदापमार्जनं ध्यातृणा मज्ञानकृतदेवादिभेदाभिमानापमार्जनं शुद्धसत्त्वमयं[6] निज मसाधारणं वपु र्न चेत् भवा नाश्रयते न चेत्, तर्हि यस्य पुंसः येन कारणेन कालकर्मादिरूपेण यो गुण स्सत्त्वाद्यन्यतमः प्रकाशते उन्मिषति तस्य तै र्गुणप्रकाशैः गुणोन्मेषैः गुणकार्यैः[7] भवा ननुमीयते। कार्यस्य कारणभूतः देवमनुष्यादिविलक्षणः न ज्ञायते, किन्तु इतरसजातीयतयाऽनुमीयते। यदि भवान्वपुराश्रयते तर्हि तद्वपुरसाधारणानि देवमनुष्यादिष्वसम्भावितानि गुणचेष्टितानि दृष्ट्वा तै र्देवादि[8] विजातीयं मन्यमानो ध्यातृवर्गो ध्यायतीति भावः ॥३५॥

नन्वह मपि देवादिसजातीयवपुष्मा नेवेत्यत्राऽऽह - **नेति।** मनोवचोभ्यां वचसा वेदवाक्येन तदनुसारेण मनसा चाऽनुमेयस्वभावस्य सर्वसाक्षिण स्तव गुणकर्मजन्मभि स्सह नामरूपे न निरूपितव्ये गुणकर्मजन्मनामरूपाणीतर सजातीयतया न निरूपणीयानि। "यत्तदद्रेश्य मग्राह्य मगोत्रवर्ण मचक्षुश्श्रोत्रं निष्कलं निष्क्रियं अजायमान" (मुण्ड.उ. 1-6) इत्यादिभिरितरसजातीयानि गुणादीनि प्रतिषिध्य "यस्सर्वज्ञ स्सर्ववित्" (मुण्ड.उ. 2-2-7) "पराऽस्य शक्ति र्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" (श्वेत.उ. 6-8) "यस्य चैत त्कर्म स वै वेदितव्यः" (कौषी.उ. 4-18), "बहुधा विजायते" (पु.सू. 2-1) इत्यादिभि र्विलक्षणाना मेव गुणादीनां श्रवणात् "जन्म कर्म च मे दिव्यम्" (भ.गी. 4-9) इति त्वदुक्ते श्चेति भावः । यद्यपि देवादिविलक्षणगुणकर्मादियुक्तः तथाऽपि त्वां वेदक्रियायां प्रतियन्ति अग्नीन्द्रादिनामरूपाणि तदन्तरात्मभूतस्य तवैवेति बुद्ध्या तद्विशिष्ट मपि त्त्वां वेदावगतयज्ञादिक्रियायां प्रतियन्ति आराध्यं मन्यन्ते॥ ३६॥

इन्द्रादिनामरूपेभ्यः स्वासाधारणनामरूपाणां ध्येयत्वादिकं वदन्तः स्तुवन्ति **शृण्व** न्निति। यः पुमान् ते तव मङ्गलावहानि नामरूपाणि[9] शृण्वन् वक्तृसन्निधौ सति, गृणन् श्रोतृसन्निधौ, तदुभयासन्निधौ नामानि स्मरन् रूपाणि चिन्तयंश्च। संस्मरयन्निति णिजर्थ स्त्वविवक्षितः । क्रियासु वैदिकक्रियासु आसनाटनभोजनादिक्रियास्वपि त्वच्चरणारविन्दयोरासक्तं[10] चित्तं[10] यस्य तथाभूत स्स पुमान् भवाय श्रेयस्समृद्ध्यै कल्पते। नेति पाठे भवाय संसृतये न कल्पते, किन्तु मुक्तये इत्यर्थः ॥३७॥

1. B,W भगव° 2. B adds सन्त ः 3- -3 K,W omit 4- -4 K, W omit 5. K,W °भ्यामनु 6. B adds धाम तेजोरूपं 7- -7 B omits 8. B °दिभिर्वि° 9- -9 B नामानि रूपाणि च 10- -10 K,W °क्ता म°

**विज०** खलाना मित्युक्तं विवृणोति - **येऽन्ये** इति। रविन्द मन्धकार ः स न भवति इति अरविन्दं प्रकाश ः , ज्ञान मिति यावत्। "अन्धकारोऽ रविन्दान्धतिमिरं तम उच्यते" इत्युत्पलमाला। ये सद्भ्योऽन्ये खला ः ते तत ः परमपदात् योगारूढा ः पतन्ती त्यन्वय ः । पतने कारण माह अनादृतेति। 'अघि रघि लघि गत्यर्था ः ' इति धातो ः । अनुपासितभगवज्ज्ञाना ः। ज्ञानाभावे कारण माह - त्वयीति। त्वय्यस्तभावात् त्वद्विषयभक्तचभावात् अविशुद्धबुद्धय ः दुष्टान्त ःकरणा ः दुष्टज्ञाना वा। किं कृत्वा पतन्तीति तत्राऽऽह-आरुह्येति। कृच्छ्रेण महताऽऽयासेन परं पदं भगवत्प्राप्तिनिमित्त योग मारुह्य सन्न्यासाश्रमं प्राप्य तदनुष्ठानसामर्थ्याभावात् पतन्तीत्यर्थ ः। योग मवाप्य तद्भंशे निमित्त माह विमुक्तेति। विमुक्ता वय मित्यभिमानो येषा मस्तीति ताच्छीलिको णिनि ः। हे विमुक्त इति वा। अभिमान एव भ्रंशे कारण मित्यर्थ ः ॥ ३२॥

सम ः समाधि ः प्रकृते इति नेत्याह - **तथा नेति।** करावलम्बबाहुल्यात् उत्तमाश्रमान्न भ्रश्यन्तीत्यर्थ ः। विनायका ः विघ्ना ः श्रेय ःप्रतिबन्धिन ः तेषा मनीकं सेना तत्पतय ः विनायकानीकपा ः तेषां मूर्धसु उपरितनानतिक्रम्य श्रेयस एव यतन्त इत्यर्थ ः ॥ ३३॥

अधुना कस्मिन्नधिष्ठाने स्थितो हरि ः पूज्य ः, कै स्साधनै रिति तत्स्पष्टयति - **सत्त्व** मिति। स्थिता विति सप्तमी चतुर्थ्यर्थे। स्थितौ ज्ञानस्थिरीकरणाय भवान् विशुद्धं सत्त्वं वपु ः रजस्तमोभ्या मस्पृष्टं ब्रह्मादि शरीरं श्रयते। विशिनष्टि शरीरिणामिति ज्ञानार्थिनां जीवानां श्रेयउपायनं श्रेयस्साधनं जनो येन ब्रह्मादिशरीरे स्थितेन हरिणोपदिष्टमार्गेण वेदादिभि स्त्वदर्हणं पूजां समीहते करोति। अत स्त्वत्प्रसादा दवाप्तं ज्ञान मेव स्थितं भवतीत्यर्थ ः । विशुद्ध सत्त्वं ब्रह्मादे रिति वचना दुक्त एवाऽर्थ ः ॥ ३४॥

ब्रह्मादि देवसन्निहित हरिप्रसादोत्पन्न ज्ञानं पुरुषार्थसाधन मित्युक्तं, तदनङ्गीकारे बाधक माह **सत्त्व** मिति। भो धात ः! इदं निज मात्मीयं विज्ञानं विशिष्टं ज्ञानं यस्मात्त त्तथा। स्वयञ्च ज्ञानरूपं सत्त्वं ब्रह्मादिदेहाख्यं अज्ञानभिदापमार्जनम् अज्ञानान्यथाज्ञाननिवर्तकं न भवेच्चेत् यदि तर्हि विमतं ज्ञानं केनचिज्जनितं कार्यत्वात् घटवत् इति सत्त्वगुणोत्पन्नज्ञानै ः भवा ननुमीयते। तदनुमितो न स्या द्यदि न स्या त्तर्हि अगुणो भवान्यस्य कस्य येन केन वा साधनेन प्रकाशते ज्ञायते। एत दुक्तं भवति - यदि ब्रह्मादिदेहसन्निहितश्रीनारायणप्रसादात् यज्ज्ञान मज्ञाननिवर्तकत्वेन श्रेयस्साधनं न स्यात् तर्हि तज्ज्ञानाभावेन तद्विषये लिङ्गस्थानं न स्यात्। तद्यदि न स्या त्तर्हि त्वज्ज्ञानाभावेन त्वत्पूजाविधानं न स्यात्, तन्न स्या द्यदि जगदान्ध्यं स्यात्। न चेद मुपपन्नम्। "कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत ः" (भ.गी. 7-3) "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम्"

(भ.गी. 7-17) इत्यादिवाक्यप्रामाण्यान्यथानुपपत्त्या त्वज्ज्ञान मज्ञाननिवर्तकत्वेन पुरुषार्थसाधनं भवतीति सिद्धम्। तदुक्तम् "सत्त्वं ब्रह्मादि देहाख्यम्" (तन्त्रभागवते) इत्यादिक मस्मिन्नर्थे मानम्। यद्वा धातृदेहसन्निहितत्वा द्धात रिति सम्बुद्धिः। हरे यो भवान् गुणप्रकाशै रनुमीयते अत्र सन्निहितहरिप्रसादा दिदं ज्ञान मभूत्, तस्मादत्र हरिः सन्निहित इति तस्य तवेदं सत्त्वं निजं नित्यसन्निधानयोग्यं न भवे च्चे त्तर्हि तत उत्पन्न मज्ञानभिद्विज्ञानं मार्जनं स्वरूपतो नाश माप। यद्येवं तर्हि गुणो ज्ञानानन्दादिगुणपूर्णो भवान् यस्य येन वा प्रकाशते नं कस्याऽपि आविर्भूतो न भवति साधनसामग्र्यभावात्। यद्वा, यस्य तव गुणोऽनुग्रहलक्षणः प्रकाशते, येन त्वया गुणो वा प्रकाश्यते यश्च भवान् गुणप्रकाशै रनुमीयते तस्य तवेदं सत्त्वं ब्रह्माद्यन्य तमाप्रधृष्यं बलं निजं न भवेच्चेत् तहर्य ज्ञान भिदामापयतीति अज्ञानभिदापं विज्ञानमार्जनं वरादिनाऽऽपादितं भवति, न त्वौत्पत्तिकम्। अतोऽप्रतिमं तव सत्त्व मित्यर्थः। इति गुणप्रकाशै रिन्द्रियज्ञानैः। एत दर्थद्वयं सिद्धान्ताविरुद्धत्वात् आचार्यचित्ताव्याकृताकाशान्तर्गत मिति ज्ञातव्यम्। श्रोतु र्मति मवेक्ष्य नोद्गलित मिद मिति॥ ३५॥

गुणप्रकाशैः तव सद्भावानुमानं यथा, तथा तव नामरूपानुमानेनाऽपि त्वत्सद्भावज्ञानं किं न स्या दत्राऽऽह- **न नामेति।** त्वन्नामरूपाभ्यां त्वत्सद्भावज्ञानसम्भवात्कि मायाससाध्येन परिशेषप्रमाणेनेति अतो वाऽत्राऽऽह - न नामेति। शुक्लभास्वरं तेज इति गुणेन कृपीटयोनि रग्नि रिति जन्मना दहनोऽग्निरिति कर्मणा यथाऽग्नि र्निरूप्यते तथा तव नामरूपे न निरूपितव्ये निरूपयितु मशक्ये लोकप्रसिद्ध्यभावात् अप्राकृतत्वात् सत्त्वाद्यभावात् अक्लिष्टकारित्वात् नित्यत्वात्। न च नामादिकं मिथ्येत्याह तस्येति। तस्य नामादेः साक्षिणः साक्षा द्द्रष्टुः न हीश्वरज्ञानगोचरस्य मिथ्यात्वं वक्तुं युक्तम्। तथा सति सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गः स्यात्। तस्मात् "वाचारम्भणं विकारः" (छान्दो. उ. 6-1-5) इति श्रुत्यवष्टम्भेन नामरूपयो र्मिथ्यात्वेन हरे स्ते न स्त इति न वक्तव्यम्। किन्तु अलौकिकार्थसन्नाम्नां तद्वाच्यरूपाणां वा अनन्तत्वात् अनामादिवचन मिति, ज्ञानिमनसा च अनुमेयानि नामरूपाणि सन्ति। "सर्वनामा सर्वकर्मा", "रुक्मवर्णं कर्तार मीशम्" (मुण्ड.उ. 3-1-3) इत्यादिश्रुते रित्याशयेनाऽऽह - मनोवचोभ्या मिति। यद्यय मनामा स्यात् तर्हि शब्दावाच्यः स्यात्, न च तथा "अह मेव" इत्यादि श्रुते रित्यादि। ननु ज्ञानाभावा न्नाऽस्त्येव नामादिक मिति तत्राऽऽह - प्रतियन्तीति। अथाऽपि यद्य प्यनन्तत्वात् ज्ञातु मशक्यानि तथाऽपि प्रतियन्ति जानन्ति, ज्ञानिन इति शेषः। तज्ज्ञानञ्च न स्वनियत मित्याह देवेति। देवस्य सर्वत्र द्योतमानस्य हरेः क्रियायाः प्रेरणालक्षणायाः श्रीनारायणप्रसादा दित्यर्थः। "लोकसिद्धार्थनाम्नः स इत्यारभ्य जानन्ति परमर्षयः" (पाद्मे) इत्यन्तं आचार्योक्ति रुक्तार्थसिद्धि रिति। अस्तु नाम रूपप्रसिद्धिः, ततः किं तत्राऽऽह - हीति। हिशब्दो हेतौ॥ ३६॥

यस्मा न्नामादयः सन्ति, तस्मात्क्रियमाणासु क्रियासु प्रेरकत्वेन पूज्यत्वेन नामानि शृण्वन् गृणन् रूपाणि चिन्तय-न्नाऽऽस्ते स त्वच्चरणारविन्दयोः आविष्टचित्तः पुरुषः भवाय संसाराय न कल्पत इत्यन्वयः। चशब्देन "सर्व क्रियासु कर्तृत्वपूज्यत्वेन जनार्दनम्। यो वेत्ति नैति संसारं तत्प्रसादा न्न संशयः" (क्रियायोगे) इति स्मृतेः। न श्रवणादिना पूर्यते, किन्तु तज्ज्ञानञ्च अवश्य मपेक्षितं भवति॥ ३७॥

1- -1 B omits.

दिष्ट्या हरेऽ स्या भवतः पदो भुवो भारोऽपनीत स्तव जन्मनेशितुः ।
दिष्ट्याऽङ्कितां त्वत्पदकै स्सुशोभनै र्द्रक्ष्याम गां याञ्च तवानुकम्पिताम्॥ ३८॥

न तेऽभवस्येश भवस्य कारणं विना विनोदं बत तर्कयामहे।
भवो निरोधः स्थिति रप्यविद्यया कृता यत स्त्वय्यभवाश्रयात्मनि[1]॥ ३९॥

मत्स्याश्व कच्छप वराह नृसिंह हंस राजन्य विप्रविबुधेषु कृतावतारः ।
त्वं पासि[2] न स्त्रिभुवनञ्च तथाऽधुनेश[3] भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते॥ ४०॥

दिष्ट्याऽम्ब ते कुक्षिगतः परं पुमानंशेन साक्षाद्भगवान्भवाय नः ।
मा भूद्भयं भोजपते र्मुमूर्षो र्गोप्ता यदूनां भविता तवाऽत्मजः ॥ ४१॥

श्रीशुक उवाच[4]

इत्यभिष्टूय पुरुषं यद्रूप मनिदं[5] यथा।
ब्रह्मेशानौ पुरोधाय देवाः प्रतियेयुर्दिवम्[6]॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
गर्भगतविष्णो र्ब्रह्मादिकृतस्तुतिर्नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २॥

(विजयध्वजरीत्या तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥)

1. B,G,J,K,W ° या° 2. M,W पाहि 3. B,G,J,K,W य° 4- -4 K,W omit 5. K,W °मविदन् 6- -6 K,W दिवं ययुः ।

**श्रीध०** विशेषतः श्रीकृष्णावतार मभिनन्दन्ति **दिष्ट्येति**।[1] दिष्ट्या भद्रम्। तव पदः पादभूतायाः ईश्वरस्य तव जन्ममात्रेण भुवो[2] भारः[2] अपनीत एव। किञ्च, त्वत्पदकैः कोमलैः पदै स्सुशोभनैः वज्राङ्कुशादिशुभलक्षणैः गां पृथ्वीं, द्यां स्वर्गञ्च तव त्वयाऽनुकम्पिताम्॥ ३८॥

तव जन्मना भारोऽपनीत इत्युक्त्या[3] ममाऽपि किं जीवव त्संसार उक्तो, नहि नही त्याहुः - **नेति**। बत! स्ते जन्मनः कारणं क्रीडां विना न तर्कयामः। किञ्च हे[4] अभवाश्रय! अभवश्च आश्रयश्च, न भवं आश्रय इति वा। अभयाश्रय इति पाठान्तरे[4] न भय माश्रयत इति तथा। तत्सम्बोधनम्। हे नित्यमुक्तेत्यर्थः। तव जन्मकारणं नाऽस्तीति किमु वक्तव्यम्। यतः आत्मनि[5] जीवात्मन्यपि भवादयः त्वयि विषये या अविद्या तया कृता न परमार्थत स्सन्तीति॥ ३९॥

प्रस्तुतं प्रार्थयन्ते **मत्स्येति**। नोऽस्मान् त्रिभुवनञ्च मत्स्यादिषु[6] यथाऽपाः[6], तथाऽधुनाऽपि पाहीति वन्दनं ते इति च वदन्त स्सर्वे शिरोभिः प्रणेमुः[7] ॥ ४०॥

देवकीं प्रत्याहुः **दिष्ट्येति**। नोऽस्माकं भवाय क्षेमाय[8] (भवायनः) भवस्य प्रपञ्चोत्पत्तेः अयनः स्थानभूत इति वा[8] साक्षात्परः पुमान् ते कुक्षिं गतः, अतो भयं मा भू दिति। योंऽशेनाऽपि[9] सदाऽस्माकं भवाय भवति स साक्षा त्ते कुक्षिं गत इत्येतत् अस्मद्भाग्यम्, यः अंशेन मत्स्याद्यवतारेण नोऽस्माकं कल्याणाय आसीत् सः सम्पूर्णः तव कुक्षिं गत इति तव दुःखनाशे को वा सन्देहः[9]॥ ४१॥

**इतीति**। यस्य रूप मनिदं सर्वप्रत्यग्भूतम्। यथा यथावत् यद्रूपं[10] मायामनुष्यरूप मिदं अनिदं यथा अविद्याकृत जन्ममरणादिरहितं सर्वसाक्षिप्रपञ्च सृष्टि स्थिति लयकारण मिति वा[10]। अस्मा न्वञ्चयित्वा एता विह स्थास्यतः इति मन्यमाना ब्रह्मेशानौ पुरोधाय पुरतः कृत्वा देवा[11] दिवं ययु रिति॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २॥

1. V adds नः 2- -2 B,J omit 3. V °क्त्वा 4- -4 B,J हे अभयाश्रय! 5. B,J, omit आत्मनि 6- -6 B, J अन्यदा यथा पासि (अपाः ) 7. B,J प्रणमन्ति 8- -8 B,J उद्भवाय 9- -9 B,J, omit 10- -10 B,J omit 11. B,J omit देवा दिवं

**वीर०** आत्मनां प्रकृतावतार प्रयुक्त मानन्द माविष्कुर्वन्तः स्तुवन्ति **दिष्ट्येति**। दिष्ट्येत्यानन्दद्योतक मव्ययम्। हे हरे! आश्रितार्तिहारिन्! तवेश्वरस्य जन्मना भवत स्तव पदा पादविन्यासेन च। पद इति पाठे पदरूपायाः[1-] [-1] अस्या भुवो भारोऽपनीतः अपनीतप्रायः। इदं दिष्ट्या अस्माकमानन्द इत्यर्थः एवमुत्तरत्राऽपि। सुशोभनैः ध्वजवज्राङ्कुशादि चिह्नैश्चारुभिः पदकैः पादविन्यासैः अलङ्कृतां तव त्वया अनुकम्पिताञ्च गां भूमिं द्यां द्रक्ष्यामः[2] नित्यविभूति मिव द्रक्ष्यामः। एत द्दिष्ट्या सङ्कल्पमात्रनिर्वर्त्यजगद्रक्षणस्य तवाऽवतारप्रयोजनं भक्तानुग्रह एवेत्युक्तम्॥ ३८॥

अथ अवतारनिमित्त माविष्कुर्वन्तः स्तुवन्ति **नेति**। हे ईश! अभवस्य कर्माधीनोत्पत्तिरहितस्य तव भवस्य जन्मनः कारणं निमित्तं विना विनोदं लीलार्थं सङ्कल्पं विना अन्य न्न तर्कयामहे। बते त्याश्चर्ये। अनितरसाधारणत्वाद्विस्मयः यथा सृष्ट्यादिजगव्व्यापारो विनोदमात्रानुकूलसङ्कल्पमूलकः, तद्वज्जन्मादीत्यभिप्रायेणाऽऽहुः भव इति। हे अभय! यतो विनोदा देव निमित्तात् अविद्यया संसारिणां ज्ञानविरोधिन्या प्रकृत्या जगत उत्पत्त्यादयो विकारा स्तास्याऽऽश्रये आधारभूतेऽन्तरात्मनि च त्वयि कृताः, तमेव विनोद मभवस्य तव भवकारणं मन्यामह इत्यर्थः । आश्रयात्मनि कृता इत्यनेन उत्पत्त्यादयो विकाराः प्रकृतिगताः न स्वरूपगता इति सूचितम्॥ ३९॥

यथा मत्स्याद्यवतारपरिग्रहेणाऽस्मान् रक्षितवान् एव मधुना भूभारापहारद्वाराऽस्मान् पाही त्याहुः - **मत्स्येति**। मत्स्यादिषु कृतः परिगृहीतोऽवतारः येन, तथाभूत स्त्व मस्मान् त्रिलोकीञ्च यथा पासि रक्षितवान् तथा अधुनाऽपि भुवो भारं हर अपनय। हे यदूत्तम! ते तुभ्यं वन्दनं नम इत्यर्थः ॥४०॥

देवकीं प्रत्याहुः - **दिष्ट्येति**। हे अम्ब! नोऽस्माकं भवाय समृद्ध्यै अंशेन सङ्कल्पेन हेतुना परमपुरुषो भगवान् साक्षात्तव कुक्षिं प्रविष्टः । मुमूर्षोः भोजपतेः कंसाद्भयं तव मा भूत्। तवाऽऽत्मजो यदूनां गोप्ता भविता भविष्यति॥ ४१॥

इति इत्थं यथा यस्य भगवतो रूप मविदन् तथा स्वमत्यनुसारेण तं परमपुरुष मभिष्टूय ब्रह्मरुद्रौ पुरस्कृत्य देवा दिवं प्रति ययुः॥ ४२॥

1- -1 K,W ततश्च 2. B adds च स्वर्गं 3. K जगदुत्प° 4- -4 K,W omit 5. B स्वर्गं।

**इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे**
**श्री वीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्र चन्द्रिकायां**
**व्याख्यायां द्वितीयोध्याय ः ॥२॥**

**विज०** इदानी मवतारप्रयोजनं विज्ञापयति - **दिष्ट्येति**। तव जन्मना भवतः पदः भवच्चरणस्थानीयाया भुवः असुरकृतभारोऽपनीत इति यत्तत् दिष्ट्या सर्वस्य सुख मभूत्। सुष्ठु वा। "सुष्ठु दिष्ट्योपजोषम्" (वैज.को. 8-8-17) इति यादवः । तवाऽनुकम्पिताम् अनुकम्पाविषयां द्याञ्च द्रक्ष्यामः । दिष्ट्ये त्यभ्यास आदरणार्थम्। "पदाद्याश्रयणा द्विष्णोः पृथिव्यादि पदादिकम्" (ब्रह्मतर्के) इत्यादिस्मृतिसिद्धं भूमे र्विष्णुपदत्वम्॥ ३८॥

लोकानुग्रहमन्तरेण अन्य दवतारप्रयोजनं नाऽस्तीति विज्ञापयती त्याह **नेति**। न विद्यते भवः शुक्रशोणितसम्पर्क लक्षणं जन्म यस्य तथा तस्य। भवस्य भद्रस्य जन्मादिदोषरहितस्येत्यर्थः । "भवो रुद्रे हरे प्राप्तौ सत्तासंसारजन्मसु" (वैज.को 6-1-41) इति यादवः । ननु कर्दमे लीयत इव हरे र्जन्मादिमत्त्वं सत्य मित्यायातम्। तथा च तस्य कर्माधीनप्रवृत्तत्वेन ईश्वरत्वहाने र्न मोक्षार्थं तदुपासनं विधेय मिति तत्राऽऽह - भव इति। त्वयीति षष्ठ्यर्थे सप्तमी।

अभवाश्रयश्चाऽय मात्मा चेति अभवाश्रयात्मा मोक्षाश्रयः स्वामी। तस्य मुक्ताश्रयस्य स्वरूपस्य वा तव कृता अङ्गीकृता भवादयः अविद्यया त्वत्स्वरूपाज्ञानेन सत्या इति नरा मन्यन्त इति, यत इति शेषः । अस्य स्वस्य विद्यया इच्छया कृताः सत्या मन्यन्ते इति यत स्तस्मात् स्वरूपानादित्वेन ईश्वरत्वहान्यभावेन त्वदुपासनमेव विधेय मिति भावः। "अज्ञानादेव मन्यन्ते विष्णोर्जन्ममृती नराः । स्थितिरूपस्य चाऽन्यस्मा त्स्थितिं मोक्षाश्रयस्य हि" (ब्रह्मतर्के) इति वचना न्नेन्द्रजाल मिति मन्तव्य मिति॥ ३९॥

भक्तसङ्कटपरिहार मन्तरेण अन्य दवतारप्रयोजनं न तवाऽस्तीति यत इतो निकृष्टोत्कृष्टजातिग्रहणेन त्रिभुवनमपादिति उपसंहरतीत्याह **मत्स्येति।** अश्वो हयग्रीवः । कच्छपः कूर्मः । विप्रो जामदग्न्यः । त्रिभुवनंह पास्यथा इति लकारव्यत्ययः। तथा सति कार्ये कृतेऽपि अस्माभि रेतावदेवाऽ नुष्ठीयते कृतप्रतिनिध्यभावा दित्याह - यदूत्तमेति। अस्त्विति शेषः ॥ ४० ॥

भगवद्भक्तबहुमानातिशयेनाऽपि भगवतो धर्म इति प्रदर्शनाय देवकी माह **दिष्ट्येति।** दिष्ट्या मङ्गलम्। "दिष्ट्या स्या न्मङ्गलादिषु" (वैज. को. 8-7-21) इति यादवः । साक्षात्तुर्यः जाग्रदाद्यवस्थातिक्रान्तः भविता भविष्यति॥ ४१॥

यद्रूप मनिदं प्रत्यक्षसिद्धं जगद्विलक्षणं तं पुरुषं पूर्णं यथा यथावत् अभिष्टूय। यद्वा यद्रूपं यथाऽनिदं प्रतीयते तादृशै र्विशेषणै रभिष्टूय॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २॥

(विजयध्वजरीत्या तृतीयोऽध्यायः)

# तृतीयोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या चतुर्थोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

अथसर्वगुणोपेतः कालः परमशोभनः।
यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं[1] शान्तर्क्षग्रहतारकम्[2]॥ १॥

दिशः प्रसेदु र्गगनं निर्मलोडुगुणोदयम्।
मही मङ्गलभूयिष्ठ पुरग्रामव्रजाकरा[3]॥ २॥

नद्यः प्रसन्नसलिला ह्रदा जलरुहश्रियः।
★ द्विजालिकुलसन्नादस्तबका वनराजयः॥३॥

ववौ वायुस्सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहश्शुचिः।
अग्नयश्च द्विजातीनां शान्ता स्तत्र समैन्धत[4]॥ ४॥

मनांस्यासन् प्रसन्नानि साधूनामसुरद्रुहाम्।
जायमानेऽजने तस्मिन्नेदु र्दुन्दुभयो दिवि॥ ५॥

जगुः किन्नरगन्धर्वा स्तुष्टुवुः सिद्धचारणाः।
विद्याधर्यश्च[5] ननृतु रप्सरोभिस्समं मुदा[6]॥ ६॥

श्रीकृष्णावतार घट्टः

मुमुचु र्मुनयो देवाः सुमनांसि मुदान्विताः।
मन्दं मन्दं जलधरा जगर्जु रनुसागरम्॥ ७॥

निशीथे तमसोद्भूते[7] जायमाने जनार्दने।
देवक्यां देवरूपिण्यां[8] विष्णुस्सर्वगुहाशयः[9]।
आविराशीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः[10]॥ ८॥

1. M °क्षेः 2. M °कः 3. G,K,W °ष्ठा, * This half verse is not found in W. edn. but it is commented . 4. B,G,J,M समिन्धत; V. समेधिताः। 5. M °रा° 6. B,G,J,K,W तदा 7 B,G,J,M,V तम उ० 8 K,W भूतायां 9 K,W, गुणाश्रयः ; M. गुहाश्रयः 10. M. प्रादुरा०

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तृतीये निजरूपेण सम्भूतस्तु हरि स्स्वयम्।
पितृभ्यां संस्तुतो नीत: पित्रा भीतेन गोकुलम्॥

**अथेति।** मङ्गलार्थम्[1] यर्हि यदा[2] सर्वगुणोपेत: कालो बभूव तदा देवक्यां विष्णु रावि रासीदिति अष्टमश्लोकातेनान्वय:[3]। परमशोभनत्व मेवाऽऽह यर्हीत्यादिना। अजना न्नारायणाज्जन्म यस्य प्रजापते स्तस्य ऋक्षं रोहिणीनक्षत्रम्। कथम्भूतम्? शान्तानि ऋक्षण्यश्विन्यादीनि ग्रहा: सूर्यादय:[4] तारकाश्च यस्मिं स्तत्॥ १॥

**दिश इति।** यर्हीति सर्वत्रानुषज्जते[5]। निर्मलानामुडुगणाना मुदयो यास्मिंस्तत्तथा। मङ्गलभूयिष्ठा: पुरादयो यस्यां सा॥ २॥

**नद्य** इति। जलरुहाणां[6] श्री: शोभा येषान्ते। द्विजालिकुलानां सन्नादा:[7] येषु ते तथाभूता:[8] स्तबका यासु ता:॥ ३॥

**ववाविति।** समेधिता:[9] सम्यक् दीप्ता बभूवुरित्यर्थ:। समिन्धतेति पाठे अडभाव आर्ष:[9]॥ ४॥

**मनांसीति।** असुरद्रुहां कंसादिव्यतिरिक्तनां सर्वप्राणिनां देवानाञ्चेति। स्वर्गे तु विशेषमाह-जायमान इति। अजने जायमाने। ज[10] नार्दने उदयोन्मुखे सति[10]। तदा आसन्न: प्रसवोयस्मिं स्तस्मिन्समये॥ ५,६॥

अ[11] नुसागरं सागरे गर्जति सति[11] तमसोद्भूते घनतमसि निशीथे यथा यथावत् ऐश्वरणैवरूपेण॥ ७, ८॥

1. V °र्थ: 2 B.J. Omit 3. V. °केनाऽ० 4. B.J. omit सूर्यादय: 5. V. षङ्ग:। 6. B.J. °रुहै: 7. B.J. ०द: 8. B.J. omit तथाभूता: 9- -9. B.J. समिन्धत अडागमोऽत्र द्रष्टव्य:। समैन्धतेति सम्यग्दीप्ता बभूवुरित्यर्थ:॥ ४॥ 10- -10. B.J. omit 11- -11. J.V. Omit

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ भगवदवतारं प्रस्तौति - **अथेति।** यर्ह्येव अजनजन्म अजनस्य कर्मायत्तोत्पत्तिरहितस्य भगवतो जन्म, अथ: तदा काल: सर्वैर्गुणैरुपेत: अत एव परमशोभनोऽभूदिति शेष:। तदेव प्रपञ्चयति शान्तर्क्षग्रहतारकम् ऋक्षं भगवज्जन्मनक्षत्रं[1] रोहिण्याख्यं तस्मिन् शान्ता अनुकूला: अन्येषु च नक्षत्रेषु ग्रहास्सूर्यादय:, तारका: अश्विन्यादि व्यतिरिक्त नक्षत्राणि च यस्मिन् यथा भवति तथा अभूदिति क्रियाविशेषणम्। यद्वा अजनाद्भगवतो जन्म यस्य तस्य प्रजापते: यदृक्षं रोहिण्याख्यं तस्मिन्नित्यादिपूर्ववत्॥ ९॥

तथा[2] दिशः प्रसेदुः प्रसन्ना बभूवुः गगनं निर्मलानामुडूनां नक्षत्राणां गणो यस्मिन् तथाभूतं, पुराणां प्राकारोपेतानां ग्रामाणां तद्रहितानां व्रजानां गोष्ठानाञ्चाऽऽकरा आश्रयभूता मही मङ्गलभूयिष्ठा बभूव॥ २॥

नद्यस्तु प्रसन्नानि सलिलानि यासु तथाभूताः ह्रदास्तु जलरुहाणां श्रीः येषु तथाभूताः वनानां राजयः पङ्क्तयस्तु द्विजानां पक्षिणां, अलीनां भृङ्गाणाञ्च कुलानां सङ्घानां सन्नादो येषु तानि स्तबकानि यासु तथाभूताः॥ ३॥

वायुस्तु शुचिः धूलिरहितः पुण्यगन्धवहः सुगन्धिः सुखस्पर्शश्च ववौ प्रससार। द्विजातीनां त्रैवर्णिकानाम् अग्नयः पूर्वं शान्तास्तदा समैन्धत 'ञिइन्धीदीप्तौ' जज्वलुः। समेधिता इति पाठे तु स एवाऽर्थः। यद्वा शान्ताः अकलुषाः॥ ४॥

असुरद्रुहां देवानां साधूनां च मनांसि प्रसन्नन्यासन्। तस्मिन् भगवति जायमाने सति दिवि दुन्दुभयो नेदुः दध्वनुः॥ ५,६॥

कुसुमानि समन्ततो मुमुचुरित्यन्वयः। जनार्दने जायमाने निशीथे अर्धरात्रे तमसा अन्धकारेणोद्भूते व्याप्ते सति मेघाः मन्दम्मन्दं अनुसागरं सागरमनुसृत्य जगर्जुः यथा सागरो ध्वनति तद्वत्। सादर मिति पाठे आदरयुक्तं यथा तथा अनुजगर्जुः[3]। तदा देवभूतायां देवतांशत्वात्तत्तुल्यायां देवक्यां[4] सर्वेषां ज्ञानशक्ति बलैश्वर्यवीर्यतेजःप्रभृतीनां गुणानामाश्रयो विष्णु राविरासीदाविर्बभूव, यथा प्राच्यां दिशि पुष्कल षोडशकला - परिपूर्णः चन्द्रः[5] तद्वत्। इवशब्दो वाक्यालङ्कारे॥ ७,८॥

1. K.W. °जन्मर्क्षं 2. B. तदा 3. B adds इत्यर्थः। 4. K.W. Omit देवक्यां 5. K.S. Omit चन्द्रः

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भगवद्भक्तचर्थं तदवतार प्रयोजनं समयेनाविर्भूत पूर्वकालादिगुणै र्विलासमाह - श्रीशुक इति। सर्वेषां ग्रहाणामुच्चस्थानगतत्वादि गुणविशिष्टः सर्वगुणोपेतः परमं शोभनं यस्मात्स तथा। अजनजन्मर्क्षं रोहिणी यत्र स तथा। शान्तानि प्रसन्नानि ऋक्षाणि ग्रहाश्च तारका यस्मिन् स तथा यर्हि यदा एवंविधः कालः॥ १॥

तदा दिशः प्रसेदु रित्यादिकमभूत्। निर्मलोडुगणस्य उदयो यस्मिन् स तथा। मङ्गलपूर्णाः पुराणि ग्रामा व्रजाकराश्च यस्यां सा तथा॥ २॥

जलरुहाणां पद्मानां श्रियो येषु तथा वनराजयः वन पङ्क्तयः॥ ३॥

सुमिन्धत ज्वलिताः॥ ४॥

सुमनांसि पुष्पाणि, अनुसागरं समुद्रस्योपान्ते॥ ५,६,७॥

जायमान इति द्विर्वचनं जन्मवैलक्षण्य प्रदर्शनपरम्। देवस्य हरे रूपं अस्यामस्तीति देवरूपिणी, तस्याम्॥ ७॥

**तमद्भुतं बालकम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शङ्खगदाद्युदायुधम्।**[1]
**श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभि कौस्तुभं पीताम्बरंसान्द्रपयोदसौभगम्॥ ९॥**

**महार्ह वैदूर्य किरीटकुण्डल त्विषापरिष्वक्त सहस्रकुन्तलम्।**
**उद्दामकाञ्च्यङ्गद कङ्कणादिभि र्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत॥ १०॥**

**स विस्मयोत्फुल्ल विलोचनो हरिं सुतं विलोक्यानकदुन्दुभिस्तदा।**
**कृष्णावतारोत्सव सम्भ्रमोऽस्पृशन्मुदा द्विजेभ्योऽयुत माप्लुतो गवाम् ॥ ११॥**

**अथैन मस्तौ दवदार्य पूरुषं परं नताङ्गः कृतधीः कृताञ्जलिः।**[3]
**स्वरोचिषा भारत! सूतिकागृहं विरोचयन्तं गतभीः प्रभाववित्॥ १२॥**

1. B.G.J.० र्यु० 2. V. ० ड्ड ० 3. V. ० व ०

**श्रीध० तमिति।** तमद्भुतं बालकं वसुदेव ऐक्षतेति द्वितीयश्लोकस्थेनान्वयः अद्भुतत्वे हेतुगर्भ विशेषणान् अम्बुजेक्षण मित्यादिना। श्रीवत्सलक्ष्मं[2] श्रीवत्सलक्ष्माणं[-2] गलेन शोभत इति गलशोभी स कौस्तुभो यस्मिन् ॥ ९॥

**महार्हेति।** किरीटकुण्डलादीनां त्विषा कान्त्या परिष्वक्त सहस्रकुन्तलं स्फुरदपरिमित केशमित्यर्थः॥ १०॥

**स** इति। विस्मयेनोत्फुल्ले विकसिते विलोचने यस्य सः गवामयुत मस्पृशत् मनसा दत्तवान् कंसनिगृहीतस्य दानासम्भवात् स्पृष्टौ हेतुः कृष्णावतारेति। मुदा आप्लुतो व्याप्तः स्नात इति वा[3]॥ ११॥

**अथेति** - कृतधीः शुद्ध बुद्धिः॥ १२॥

1. B.J. ०केनाऽ० 2- -2. V.श्रीवत्सलक्ष्मलक्षणं यस्य 3. V. omits वा

**वीर०** तम्[1] अवतीर्णं भगवन्तं वसुदेव ऐक्षत अपश्यदित्यन्वयः। कथम्भूतम्? अद्भुत मदृष्टरूपत्वात् आश्चर्यविषयम् अम्बुजे इव ईक्षणे नेत्रे यस्य। चत्वारो[2-] भुजा यस्य[-2], शङ्खादीनि तानि आयुधानि यस्य, आदिशब्देन चक्रपद्मसङ्ग्रहः।

श्रीवत्स: लक्ष्म चिह्नं यस्य, आर्षत्वा ट्टिलोप:। यद्वा श्रीवत्स एव लक्ष्म; तदस्यास्तीति, श्रीवत्सलक्ष्म: अर्शआदित्वात् मत्वर्थीये अचि। 'न स्तद्धिते' (अष्टा°. 6-4-144) इति टिलोप:। श्रियां लक्ष्म्यां वत्सला सापत्न्यदोषनिवृत्त्या अनुकूला क्ष्मा भूमि: यस्येति व्याख्यानान्तरम्। गले कण्ठे शोभी शोभावान् कौस्तुभो यस्य। पीताम्बरं यस्य। सान्द्रनीलाम्बुदस्येव सौभगं सौन्दर्यं वर्ण इति यावत्, यस्य। महार्हण्यनर्घाणि वैदूर्यादि रत्नानि यस्मिन् तस्य किरीटस्य कुण्डलयोश्च त्विषा कान्त्या परिष्वक्ता: अनुविद्धा: सहस्रकुन्तला यस्य। उद्दामै: श्लाघ्यै: काञ्च्यादिभि: विरोचमानम्॥ ९, १०॥

स: वसुदेव: तं हरिं सुतं विलोक्य विस्मयेनोत्फुल्ले विकसिते लोचने यस्य कृष्णावतार रूपा दुत्सवात्संभ्रमो यस्य तथाभूतस्तदैवाऽऽप्लुत: स्नात: द्विजेभ्यो गवामयुत मस्पृशत्। दातुं सङ्कल्पितवानित्यर्थ: तदा कंसनिगृहीतस्य दानासम्भवात्॥ ११॥

अथ हे भारत स्वरोचिषा सूतिकागृहं विरोचयन्तं एनं कुमारं परमपुरुषमवधार्य निश्चित्य नतं प्रणत-मङ्गं यस्य, कृतो बद्धोऽञ्जलिर्येन, कृता समाहिता धी र्येन, गता भी: कंसजा यस्य, तथाभूतो वसुदेव: तस्य भगवत: प्रभावं जानन्नस्तौत् तुष्टाव॥ १२॥

1. K.W. omit 2- -2. K.omits 3. B.K.०डू० 4. K.W. omit स: 5. B. adds पुत्रभूतं

**विज०** शङ्खगदे आदी येषां तानि शङ्खगदादीनि तानि चोत्कृष्टानि च आयुधानि यस्य स तथा तं श्रीवत्सलक्ष्मं श्रीवत्सलाञ्छनं सान्द्रपयोदसौभगं सान्द्रपयोदस्य जलपूर्ण मेघस्येव सौभगं कान्ति विशेषो यस्य स तथा तम्॥ ९॥

महार्हाणि अनर्घ्यानि वैदूर्यमयकिरीट कुण्डलानि महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डलानि, तेषां त्विषा शोभया किरीटञ्च कुण्डले च किरीटकुण्डलानि, परिष्वक्ता आलीढा: सहस्रकुन्तला यस्य स तथा॥ १०॥

अस्पृशत् दास्यामीति मनसा सङ्कल्पितवान् मुदा आप्लुत:॥ ११॥

कृतधी: शिक्षित बुद्धि: पण्डितइत्यर्थ:। गतभीत्वे निमित्तं प्रभावविदिति॥ १२॥

1. B ०र्घा०

-: स्वस्वरूपेणाविर्भूतं भगवन्तं प्रति वसुदेवकृत स्तुतिः :-

वसुदेव उवाच

विदितोऽसि भवान् साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः।
केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक्॥ १३॥

स एव स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाऽग्रे[1] त्रिगुणात्मकम्।
तदनु त्वं ह्यप्रविष्टः प्रविष्ट इव भाव्यसे॥ १४॥

यथेमे[2] विकृता भावा स्तथा[3] ते विकृतैस्सह।
नानावीर्याः पृथग्भूता विराजं जनयन्ति[4] हि॥ १५॥

सन्निपत्य समुत्पाद्य दृश्यन्तेऽनुगता इव।
पुनश्च विद्यमानत्वा न तेषामिह सम्भवः॥ १६॥

एवं भवान्बुद्ध्यनुमेयलक्षणैः[5] ग्राह्यैर्गुणैः सन्नपि तद्गुणाग्रहः।
अनावृतत्त्वाद्बहिरन्तरं न ते सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुनः॥ १७॥

---

1. M. यत्रि° 2. M.य एतेऽ० 3. M. °स्सत 4 M.शयनं तव। 5. M.०णो

**श्रीध०** वसुदेवः प्रथमं पुत्रबुद्ध्या पश्यं स्तां परित्यज्याह **विदितेति**। अहो[1] विदितोऽसी। कथं विदितोऽस्मि? भवान् प्रकृतेः परः पुरुष इति। ननु किमत्राश्चर्यं[2] पुरुषस्य प्रकृते रन्यत्वा देवेत्यत आह साक्षादिति प्रत्यक्षत इत्यर्थः। नन्वक्षिसन्निकृष्टं प्रत्यक्षत उपलभ्यते किं चित्रमित्यत[3] आह केवलेति। केवलश्चाऽसा वनुभवश्चानन्दश्च तावेव[4] स्वरूपं यस्य सः "आनन्दो[5] ब्रह्मेति व्यजानात्" (तैत्ति० उ० 3-6) इत्यादि श्रुतेः[-5]। किञ्च सर्वबुद्धि दृक् नह्येवम्भूतो दृश्यो भवतीत्यर्थः॥ १३॥

ननु देवकी जठरे प्रविष्ठस्य किमियमिति स्तुतिः क्रियते अत आह **स एवेति**। स एव उक्तस्वरूप एव त्वं न देवकी जठरे प्रविष्ट इत्यर्थः। ननु विश्वं सृष्ट्वा तदेवानु[6] प्रविष्टस्य किमेतद्बहु, अत आह स्वप्रकृत्येति। स्वमायया इदं[7] सृष्ट्वा वा तदनु त्वम्प्रविष्ट[8] एवेति। ननु तर्हि कथं श्रुत्योच्यते "तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनु प्राविशत्" (तैत्ति. उ. 2-6) इति। अत आह - प्रविष्ट इवेति। यथा[9-] जले आकाशं प्रतिबिम्बितं चन्द्रसूर्यादिना अप्रविष्ट मेव प्रविष्टमिव तद्वत्[-9]। भाव्यसे निरूप्यसे। प्रत्यक्षतो वा सद्रूपेण वा प्रतिष्ट इव लक्ष्यसे॥ १४॥

अत्र दृष्टान्तो **यथेति**। इवेऽविकृता भावाः महदादयो यथा तथेति दृष्टान्तं विवृणोति। ते विकृतैरिति। ते विकृतैः षोडश विकारैस्सह सन्निपत्य विराजं [10]ब्रह्माण्डं जनयन्ति। सन्निपतने हेतुः — यतः पृथग्भूतास्सन्तो नानावीर्या विशिष्टकार्यसमर्था न भवन्ति अतः सन्निपत्येति। एवं समुत्पाद्य अनुगताः प्रविष्टा इव दृश्यन्ते न पुनः प्रविष्टाः, कुतः? उत्पत्तेः प्रागेव कारणतया विद्यमानत्वान्न तेषा मिह सृष्टे कार्ये पश्चात्सम्भवः प्रवेश इति॥ १५,१६॥

दार्ष्टान्तिकेऽतिदिशति — एवं भवानिति। ननु यद्यहमप्रच्युतस्वरूप एव कारणतया कार्येषु वर्ते तर्हि तेष्विन्द्रियैः गृह्यमाणेषु ममग्रहणं किं [11-]ना ऽस्तीत्यताऽऽह[-11] — बुद्ध्यनुमेयलक्षणैरिति। बुद्ध्या रूपादि ज्ञानेन अनुमेयं लक्षणं स्वरूपं येषां तै र्गुणैरिन्द्रियैः ग्राह्यै र्गुणैः सह सन्नपि वर्तमानोऽपि तद्गुणग्रह स्तैर्गुणैस्सह न गृह्यते[12]। अयं भावः नहि ग्राह्यैस्सह भावमात्रं ग्रहणे कारणं किन्त्विन्द्रियाणां शक्तिः। सा च कार्यैकसमाधिगम्यां यथा कार्यमेव कल्प्यते। अतो यथा चक्षुषा रूपग्रहणे रसादिग्रहणं नास्ति तथैव विषयग्रहणे त्वद्ग्रहण मपीति। अविषयत्वेन च ग्रहणानर्हत्व मुक्तमेव, [13-]आ म्रग्राहकदृष्टेः तन्निविष्टपीतरक्तरूपादि ग्रहण सामर्थ्यं न माधुर्यादि ग्रहणसामर्थ्यं रसस्य सहवर्तमानत्वेऽपि अचक्षुर्विषयत्वात्[-13] सर्वबुद्धिदृगित्यत्र। एवं तावत्प्रागेव विद्यमानत्वात् प्रवेशो नास्ती त्युक्तम्। किञ्च परिच्छिन्नस्य नीडे पक्ष्यादेरिव प्रवेशो भवेत् तव त्वनावृतत्वा दपरिच्छिन्नत्वेन बहिर[14]न्तरे च भेदो नास्ति कुतः प्रवेश इत्याह अनावृतत्त्वादिति। अनावृतत्त्वे हेतूनाह सर्वस्येति। नहि सर्वस्व[15]रूपस्यान्यदावरकमस्ति सर्वात्मनः। न ह्येकेनावृतोऽन्यस्यात्मा भवेत्। आत्मवस्तुन इत्यात्मनो वस्तुनश्चेति हेतुद्वयम् 'अत सातत्यगमने' इत्यस्मादतति व्याप्नोतीत्यात्मा। नहि व्यापकस्यावरणं घटते यथा वस्तुनः परमार्थ 'वस्तुनः आवरणं न घटत इत्यर्थः। तस्मात् तवान्तर्यामितया प्रवेशो न मुख्योऽस्ति। कुतस्तरां गर्भे प्रवेशः। अतः केवलानुभवानन्दस्वरूप एव त्वं विदितोऽसीत्याश्चर्यं, मम भाग्यमित्यर्थः॥ १७॥

1 B.J. omit अहो 2. B.J. किमाश्चर्यं 3. V. ०मत 4. V. तदेव 5 - 5 B.J. omit 6. B.J. तदनु 7. B.J. omit इदं 8. V °मनुप्र 9 - 9 B.J. omit 10. V.omits ब्रह्माण्डं 11- -11. B.J. नास्ति, तत्राऽऽह 12. W. °से 13- -13. B.J. omit 14. B.J. °रन्तर्भे° 15. B.J.omit स्व

**वीर०** स्तुतिमेव दर्शयति विदितोऽसीत्यादिभिर्दशभिः। तावत् "सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति. उ. 2.1.1), "विज्ञान मानन्दम्" (बृह उ. 3.9.28) "यतो वा इमानि भूतानि" (तैत्ति. उ. 3.1) इत्यादिभि र्वेदान्त वाक्यैरवगतं स्वरूपत स्स्वभावतश्च प्रकृतिपुरुषविलक्षणं ब्रह्म, तदेव त्वमिति स्तौति विदितोऽसीति द्वाभ्याम्। प्रकृति शब्देनाऽत्र "भूमि रापोऽनलो वायुः" (भ.गी. 7.4) "अपरेयमितस्त्वन्याम्" (भ.गी. 7-5) इति श्लोकद्वयप्रतिपादितं चिदचिदात्मिक प्रकृतिद्वयं तन्त्रेण विवक्षितम्। न त्वचेतनप्रकृतिरेव 'सर्वबुद्धिदृक्' इति सर्वसाक्षित्वोक्तेः जीवा द्व्यावृत्ते रप्यवगमात्। मुक्तजीवस्वरूपस्य तत्सम्भवेऽपि "स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाऽग्रे त्रिगुणात्मकम्" इत्यवगतजगद्व्यापारासम्भवात् तदसम्भवस्य "जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणा दसन्निहितत्वाच्च" (ब्र.सू. 4.4.17) इति सूत्रितत्वात्। यद्वा प्रकृतेः पर इत्यनेन

अचेतन प्रकृतेः परत्व मुच्यते, सर्वबुद्धि दृक् स एवेत्यादिना बद्ध मुक्त जीवाभ्यां परत्वमुच्यते। यः प्रकृतेः परो विलक्षणोऽसौ केवल मनुभवः ज्ञान मानन्दश्च स्वरूपं यस्य सः। अनुभव स्वरूप इत्येतावदुक्ते दुःखस्याऽपि ज्ञानात्मकत्वेन तत्स्वरूपत्वं प्रतीयेत, अतस्तद्व्यावृत्तये आनन्द इत्युक्तम् आनन्दो अनुकूलं ज्ञानं स्वरूपं यस्येत्यर्थः। केवलशब्देन दुःखसम्भिन्नानुभव व्यावृत्तिः सर्वा बुद्धी स्तद्वृत्तीर्युगपत्पश्यतीति तथा।[1] अनेन बद्धजीवाद्व्यावृत्तिरुक्ता॥१३॥

अथ मुक्तजीवा द्व्यावर्तयितुमाह — **स एवेति।** यः प्रकृतेः परः सर्वबुद्धिदृक् स एव त्वम् अग्रे सृष्टेः प्राक् कारणत्वेनाऽवस्थित इति शेषः। स्वप्रकृत्या स्वशरीरभूतया महदादि पृथिव्यन्तरूपेण परिणतया त्रिगुणात्मिकया इदं परिदृश्यमानं स्थूलचिदचिदात्मकं सत्त्वादि गुणत्रय परिणामरूपत्वेन तद्वश्यजीवप्रचुरत्वेन च तदात्मकं जगत्सृष्ट्वा अनु पश्चात् तज्जगत्प्रविष्टः स्थित्यर्थं सङ्कल्परूपज्ञानेन प्रविष्टः सृष्टिदशाया मपि प्रविष्टत्वात् तथाऽप्यप्रविष्ट इव भाव्यसे। प्रविष्टजगद्गतविकारैः स्पृष्ट इव भाव्यसे विभाव्यसे विज्ञायस इत्यर्थः। तथा च श्रूयते "तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनु प्राविशत्" (तैत्ति. उ. 2-6) "सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत्" (तैत्ति. उ. 2-5) इति विचित्रचिदचिद्रूपेण विक्रियमाणमपि ब्रह्म सत्यमेवाऽभवत् निरस्तनिखिलदोषमपरिच्छिन्नज्ञानानन्दमेक स्वरूपमेवाऽभवत् इत्यर्थः। इव शब्दोऽनतिरिक्तार्थः। अप्रविष्ट इव तद्गतदोषास्पृष्ट एव विभाव्यस[2] इत्यर्थः॥ १४॥

ननु कार्यानुप्रविष्टस्य मम कार्यात् प्रागेव तत्कारणतयाऽवस्थानं कथम्? कथन्तरां कार्यगतविकारास्पृष्टत्वञ्च इत्याशङ्क्य तदुभयं महदादि पृथिव्यन्ताचेतन दृष्टान्तमुखेनोपपादयति **यथेत्यादिभि** श्चतुर्भिः। तावद्दृष्टान्तं शिक्षयति यथेति द्वाभ्याम्। सप्त महदहङ्कार तन्मात्ररूपाः विकृताः प्रकृतिविकारात्मकाः भावाः पदार्थाः ये ते इमे तै र्विकृतैः तद्विकाररूपै आकाशादिस्थूलभूतैरिन्द्रियैः साधिदैवतैश्च सह। तथा तैरिति पाठे ये च विकृता महदादयो भावाः तथा ये च तद्विकासः स्थूलभूतरूपाः तैस्तै स्सहेत्यन्वयः। तावन्नानावीर्या विभिन्नशक्तयः ब्रह्माण्डरूपैक कार्योत्पादनोपयुक्तैक रूप सामर्थ्य रहिता इत्यर्थः। अत्र हेतुः पृथग्भूताः परस्परसम्मेलन रहिता स्तावदेवम्भूता स्सन्तः "हन्ताऽह मिमा स्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि, तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि नामरूपे व्याकरोत्, त्रिवृतं त्रिवृत मेकैका मकरोत्" (छान्दो उ. 6-3-2) इति श्रुत्युक्तरीत्या त्वदनुप्रवेश पूर्वक त्वत्कर्तृक त्रिवृत्करणद्वारा त्रिवृत्करणं पञ्चीकरणस्याप्युपलक्षणम्।[3] सन्निपत्य समुत्पाद्य संहतत्त्वं समागतत्व ञ्चेत्यवस्थाद्वयं प्राप्य "समेत्यान्योन्य संयोगं परस्पर समाश्रयाः" (विष्णु पु. 1-2-52) इति वैष्णव वचनात्। तत्र संहतत्वं नाम पृथक्स्थित्यनर्ह संयोगमात्रम्, समागतत्वं पृथक्स्थित्यनर्हसंश्लेष विशेषः। विराजं ब्रह्माण्डम् त्वच्छयनस्थानं जनयन्ति हि।[4] हि शब्देन "महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्ड मुत्पादयन्ति ते" (विष्णु पु. 1-2-53) इति वैष्णवादि पुराणान्तर प्रसिद्धि द्योत्यते। एवं सम्यग्विराज मुत्पाद्य अनुगता इव दृश्यन्ते अण्डान्तर्गता इव दृश्यन्ते। इवशब्दोऽनतिरिक्तार्थः अण्डान्तर्गता इव तत्रैवोत्पन्ना इव दृश्यन्ते न तु अण्डोत्पत्तेः प्रागेव विद्यमाना इवेत्यर्थः। न चैतावता तेषां तत्रोत्पत्तिरिति शक्यं वक्तुमित्यभिप्रायेणाह प्रागेवेति। अण्डोत्पत्तेः प्रागेव विद्यमानत्वात् पृथिव्यादीनामण्डान्तर्नोत्पत्ति रित्यर्थः॥ १५, १६॥

दृष्टान्ताभिप्रेतमर्थं दार्ष्टान्तिकेऽनुगमयति **एवमिति**। यथा महदादि विशेषान्तानां भावानाम् अण्डोत्पत्तेः प्रागेव तत्कारणतया अवस्थान मण्डान्तर्गत देवमनुष्यादि भावेष्वनुवृत्तिश्च तथा भवानपि कृत्स्नजगदुत्पत्तेः प्रागेव तत्कारणतयाऽवस्थित स्तदनुप्रविष्टः अथाऽनुप्रविष्टोऽप्यप्रविष्टः इव भाव्यस इत्येतदुपपादयति बुद्धीति। सन्नपि देवमनुष्यादि पदार्थेष्वनुप्रविश्य विद्यमानोऽपि बुद्ध्यनुमेयलक्षणैः ज्ञाननिरूप्यस्वभावैः ग्राह्यैरिन्द्रियकैः गुणैः गुणमयै र्देवादिपदार्थैः गुणकार्यैर्विशिष्टोऽपीति शेषः। तद्गुणाग्रहः तद्गुणै र्देवादिभावगत विकारैर्न गृह्यते नोपादीयते न स्पृश्यत इति यावत्। तथा तद्गुणग्रह इति पाठे तद्गुणमयकार्य साक्षात्कर्ता भवान् बुद्ध्यनुमेयलक्षणैः ग्राह्यै र्गुणैर्विशिष्टोऽपि सन् एकरूपो निर्विकारः निरस्तनिखिलदोषः अपरिच्छिन्न ज्ञानानन्द स्वरूपः एकरूपत्वेनावतिष्ठत इत्यर्थः। यद्वा बुद्ध्यनुमेय लक्षणैः ग्राह्यै र्गुणैस्सन्नपि तैस्सह वर्तमानोऽपि तद्गुणाग्रहः तद्गतविकारास्पृष्टः। पाठान्तरे तत्साक्षात्कर्ता, न तु तद्गतविकारस्पृष्ट इत्यन्वयः। कथं तद्विशिष्टस्यापि तद्गत विकारास्पर्श इत्यत्राऽऽह अनावृतत्वादिति। अनावृतत्वात् असङ्कुचितज्ञानत्वात् नित्यासङ्कुचितापरिच्छिन्न ज्ञानत्वेन जीवस्येव कर्मायत्त ज्ञानसङ्कोच विकासादि विकाराभावात्। अनेन जीवगत विकारास्पर्श उक्तः। अनावृतत्वे हेतु माह बहिरन्तरं न ते इति। बहिर्भागः तत्प्रतिसम्बन्ध्यन्तर्भागश्च ते तव नास्ति व्यापित्वादपरिच्छिन्नस्य आवरणासम्भवात् इति भावः। व्यापित्व मचेतनगतदोषास्पर्शश्चाऽऽह सर्वस्य कृत्स्नजगत्कारणतया तदनन्यत्वेनावस्थितस्य, किं सर्वत्वं स्वरूपेण? नेत्याह सर्वात्मनः सर्वशरीरकस्य शरीरात्मभावनिबन्धन मेवानन्यत्वम्, न तु स्वरूपाभेद निबन्धनमिति भावः। शरीरगोचर बुद्धिशब्दानां शरीरिपर्यन्तत्वात् सर्वशरीरकत्वेऽपि सर्वानन्यत्व मविहत मेवेति भावः। यतस्सर्वात्मा अत एव न सर्वगतदोषसंस्पर्शप्रसङ्गः। नहि देहगता बाल्यादयोधर्माः तदात्मनि प्रसजन्तीत्यभिप्रायेण विशिनष्टि आत्मवस्तुन इति। सर्वेषामात्मभूतस्य तव बहिरन्तरं नेत्यन्वयः। यद्यपि बालोऽहम्, युवाऽहम् इति देहधर्मास्तदात्मनि प्रतीयन्ते तथापि सा प्रतीति र्जीवानां देहात्मभ्रान्तिमूला परमपुरुषस्य त्वनावृतत्वात् आवरणमूलक देहात्मभ्रान्त्यादेरभावा दात्मनि न शरीरगत दोषसंस्पर्श स्तत्प्रतीतिश्चास्तीति भावः॥ १७॥

1. B. adds एवम् 2. K.W. omit वि 3. B. adds किञ्च 4. K.W. omit हि 5. B. ०के नि० 6. K.W. omit भावानाम् 7. W. कार्ये 8. K.W. रूपमिति 9. B. adds सर्वत्र सर्वथा सर्वतः परिपूर्णत्वादिति दिक्

**विज०** प्रकृतेः परत्वेन केवलानुभवानन्द स्वरूपत्वेन सर्वबुद्धिसाक्षित्वेन च पुरुषः षड्गुण इति भवान् पूज्यस्त्वं विदितोऽसि साक्षत् नोपचारमात्रम्॥ १३॥

ननु साक्षित्वेनोदासीनश्चेत् जगत्स्रष्टा क इति तत्राऽऽह **स एवेति**। तदनु सृष्टेरनन्तरं बहिरपि विद्यमानत्वात् अप्रविष्टः पूर्णस्वरूपात्प्रविष्टः सर्वगतस्य प्रवेशाप्रवेशौ उपचारतो नतु देवदत्तवत् मुख्यावित्यतः इवशब्दः। "बहिश्च विद्यमानत्वादप्रविष्टो जगत्पतिः प्रविष्टवच्च तत्रैव पूर्णरूपत्वतो विभुः" (ब्रह्मतर्के) इत्यादेः। सर्वगत रूपेणाऽप्रवेशः पुरुषरूपेण प्रवेशः जले प्रतीयमानाकाशादिवदिति वा। हिशब्दोऽसङ्गत्व माह॥ १४॥

सृष्टिप्रकारं दर्शयति य इति। य एते सप्ताऽविकृता: महदहङ्कारपञ्चतन्मात्रणि, भावा: पदार्था: ते विकृतै: स्थूलीभूतै: पृथिव्यादिभि: जन्यप्राणिकामकर्मादिभि: वा सह सन्निपत्य अन्योन्यं मिलित्वा विराजं ब्रह्माण्डं समुत्पाद्य अनुगता: प्रविष्टा इव दृश्यन्ते बहिरपि विद्यमानत्वात्, कथम्भूता भावा:? पृथग्भूता विश्लिष्टा: नानावीर्या: अवकाशदानादि शक्तीनां नानाविधत्वाद्विभक्तशक्तित्वात्तदभिमानिदेवानामिति शेष:। ननु तर्हि मेलनकर्ता क:? इति तत्राऽह शयनमिति। तव शयनस्थानीयत्वात् त्वमेव मेलन कर्तेत्यर्थ:॥ १५॥

व्यक्तिविशेषा दण्डे प्रवेशमात्रमेवोत्पत्ति: नतु साक्षादित्याह — प्रागेवेति। इह ब्रह्माण्डे सम्भव: साक्षादुत्पात्तिर्नास्ति किन्तु व्याक्ति विशेषेण प्रवेशमात्रमेव कुत:? प्रागेव विद्यमानत्वात् लब्ध सत्ता (क?) त्वात् पूर्वमेवोत्पन्नत्वा दित्यर्थ: प्रकृति विकृतत्वमन्तरेण अवान्तर विकृतत्वाभावात् महदादयोऽविकृता इत्युच्यन्ते "महदादि स्त्वविकृत" इत्यारभ्य अण्डे त्वेषा मभिव्यक्ति र्जनि रित्यभिधीयते" (ब्रह्मतर्के) इत्यन्तेन सम्यग्व्याख्यात माचार्यै रिति भाव्यम्॥ १६॥

स इत्यनुवर्तते। यथा तत्त्वानामचेतनत्वेन तदभिमानिनां विभक्तशक्तित्वेन च तेषा मन्यस्त्वं मेलयितृत्वेन भाव्य:। स एवं शरीर मुत्पाद्य समुत्पत्ते: प्राक् पश्चादपि निर्दोषत्वेन वर्तमानो भवान् ग्राह्यै रनुमेयै र्गुणैरिन्द्रियविषयै: उत्पन्नया बुद्ध्या ज्ञानाख्यलिङ्गेनानुमेयानि लक्षणानि स्वातन्त्र्यादीनि यस्य स तथा। तेषा मिन्द्रियाणां गुणाग्रह: विषयज्ञापकोऽन्योऽस्तीति ज्ञायते। "क्षेत्रज्ञ: पुरुषो ह्यात्मा" (हला.को 1-134) इत्यत्र क्षेत्रज्ञानस्य जीवनिष्ठत्वेन दर्शनान्नारायणनिष्ठत्वेनोच्यत इति कथम्? तत्राऽऽह अपीति। ग्राह्यगुणेषु अस्वातन्त्र्य प्रतीते: इदं जानामीति जीवसमवेतग्रहणशक्तिरपि तन्नियतेति। तदुक्तमाचार्यै: ग्राह्यगुणेत्यादि। सत् सर्वस्य ज्ञातृत्वेन वर्तमान इति वा तदुक्तम् "ज्ञाताऽपि सर्वभावानाम्" (तन्त्रभागवते) इति। उपहितस्यैव बहिरन्तर्विभागो न सर्वज्ञस्य भवेदित्याह अनावृतत्वादिति। अव्यवधानेन द्रष्टृत्वात्, तदुक्तम् "सर्वत्राव्यवधानेन द्रष्टृत्वात्सर्ववस्तुन:" (तन्त्रभागवते) इति। कुतो नास्तीति तत्राऽह सर्वस्येति। सर्वस्य पूर्णस्य हेतो: अनुग्राहकमाह सर्वात्मन इति। नह्यव्याप्तस्य सर्वस्यात्तृत्व देवदत्तस्येव युज्यते तस्मात्सर्वभक्षकत्वाऽन्यथानुपपत्या अपरिच्छिन्नत्व मेष्टव्यम्। नन्वपरिच्छिन्नस्य "एको देव: सर्वभूतेषु गूढ:" (श्वेता. उ. 6-11) इत्यन्याश्रयत्वेन अवस्थानं कथम्? इति तत्राऽऽह आत्मवस्तुन इति। आत्मन्येव वसति न परस्मिन्नशक्तित्वेनेति आत्मवस्तु। तस्य पूर्णसामर्थ्यात् सर्वात्मना सर्वभक्षणादिति च॥ १७॥

**य[1] आत्मनो दृश्यगुणेषु सन्निति[2]व्यवस्यते स्वव्यतिरेकतोऽबुध[3]:[4]।**
**विनाऽनुवादं न च तन्मनीषितं सम्यग्यत[5] स्त्यक्तमुपाददत्पुमान्॥ १८॥**

**त्वत्तोऽस्य जन्मस्थिति संयमान्विभो वदन्त्यनीहा दगुणा दविक्रियात्।**
**त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते तदाश्रयत्वा[6] दुपचर्यते[7] गुणै:॥ १९॥**

**स त्वं त्रिलोकस्थितये स्वमायया बिभर्षि शुक्लं खलु वर्णमात्मन:।**
**सर्गाय रक्तं रजसोपबृंहितं कृष्णञ्च वर्णं तमसा जनात्यये॥ २०॥**

त्वमस्य लोकस्य विभो रिरक्षिषु गृहेऽवतीर्णोऽसि ममाखिलेश्वर।
राजन्य संज्ञा सुरकोटि यूथपैः निर्व्यूह्यमानाः निहनिष्यसे चमूः॥ २१॥
अयन्त्व सभ्यस्तव जन्मनो गृहे श्रुत्वाऽग्रजांस्ते न्य हनत्सुरेश्वर!
स तेऽवतारं पुरुषै स्समर्पितं श्रुत्वाऽधुनैवाऽभिसरत्युदायुधः॥ २२॥

1 M. यदा° 2. M. ० धेः 3. M. ० ऽस्व 4. M. °धैः 5. M. °म्वचोऽव्यक्त° 6. B.G. J.V. त्व० 7. M. °से 8. M. °नां 9. M चमूम्। 10. M. °न्तमस्य° 11. M.V. मे; K.W. नो, 12. B.G.J. न्यवधी°

**श्रीध०** नन्वेतद्धेतुचतुष्टयं प्रपञ्चस्याऽवस्तुत्वे धटेत तत्तु न सम्भवति सत्येन[1] प्रतीते रित्याशङ्क्याह **य** इति। आत्मनो दृश्येषु गुणेषु देहादिषु स्वव्यतिरेकत आत्मव्यतिरेकेण पृथक् सन्नयं देहादिरिति व्यवस्यते निश्चिनोति यः पुमान् सोऽबुधोऽविद्वान् व्यतिरेकादर्शनात्। किञ्च मनीषितं विचारितं सत् तद्देहादि सर्वं यतो विनाऽनुवादं वाचारम्भणमात्रं विना न सम्यग्भवति। अतोऽवस्तुत्वेन त्यक्तं बाधितमेतत्[2] वस्तुबुद्ध्या उपाददत्स्वीकुर्वन्नबुध इत्यर्थः॥ १८॥

एवं परमेश्वराद्दृश्यस्य तद्व्यतिरेकेण सत्त्व मुक्तम् परमेश्वरोपादानत्वादपि तद्व्यतिरेकेणासत्त्व मित्याह - **त्वत्त** इति। नचैवं सत्यपि विकारित्वं इत्याह - अनीहा दिति। अगुणत्वादनीहत्वं ततोऽविकारित्वं इत्यर्थः। नन्वनीहत्वे कथं कर्तृत्वं कतृत्वे वा कुतोऽविकारित्वं तत्राऽऽह - त्वयीश्वर इति। ब्रह्मत्वा दविकारित्व मीश्वरत्वा त्कर्तृत्वमिति नन्वेतदपि विरुद्धमेव नेत्याऽऽह - त्वदाश्रयत्वादिति। गुणैः कर्तृभि[3] स्त्वयि सृष्ट्यादि कतृत्व मुपचर्यते गुणाश्रयत्वात्। यथा भृत्यकृतं[4] राजनि इति॥ १९॥

एवम्भूतस्यैव तव[5] यथा विश्वस्थितिसर्गलयार्थं त्रिवर्णगुणावताराः, एव मयं भूभारापनयनार्थं[6] अवतारभाव इति ज्ञातव्य इत्याह[-6] - सत्त्वमिति श्लोकद्वयेन॥ २०॥

**त्वमिति।** रिरक्षिषु[7] रक्षितु मिच्छुः अवतीर्णोऽसि कृष्णेन वर्णेन। अतस्साधूनां रक्षणार्थं राजन्यसंज्ञाः येऽसुरकोटि यूथपाः तै र्निर्व्यूह्यमाना इतस्ततश्चाल्यमानाश्चमू स्सेनाः निहनिष्यसे[8] संहरिष्यसि॥ २१॥

किन्तु तथाऽप्यप्रमत्तेन त्वया भाव्यमित्याह[9] - अयन्त्विति। असभ्यः खलः समर्पितं कथितम् अभिसरत्यागमिष्यति[10-] [-10] ॥ २२॥

1. B.J. सत्यत्वेन 2. B.J. °मेव 3. B.J. कुर्वद्भि° 4. B,J. कृत्यं 5. V. omits तव 6- -6. B.J. °र्थमिति ज्ञातमित्याह 7. V omits रिरक्षिषुः 8. V, त° 9. V. भवितव्यमि° 10- -10. V. omits

**वीर०** एतदेव विशदयितुं परमपुरुषस्य प्रत्यक्षित स्वयाथात्म्यत्वेन देहात्मभ्रान्त्यभावं, जीवस्य तद्वैपरीत्यञ्चाह - **य** इति। यो भवान्[1] बुध स्सर्वज्ञः शश्वत्स्वयाथात्म्यज्ञः आत्मनस्स्वस्मा द्व्यतिरेकतः भेदाध्यवसायात् दृश्यगुणेषु दृश्येष्वैन्द्रियिकेषु गुणेषु गुणकार्येषु देवादिभावेषु सन्निति व्यवस्यते। देवादिपदार्थेष्वन्तरात्मतया अवस्थितमप्यात्मानं सन्नित्येव निरस्तनिखिलदोषत्वेन अपरिच्छिन्न ज्ञानानन्द स्वरूपत्वेन चैकरूपतया निर्विकारत्वेनैव, व्यवस्यति विविनक्ति आत्मनेपदन्त्वार्षम्। चस्त्वर्थः। तन्मनीषितन्तु तस्य जीवस्य मनीषित मध्यवसायः, बालोऽहम् युवाऽहम् देवोऽहम् मनुष्योऽहम् इत्यध्यवसायस्तु अनुवादं विना न सम्यक् विवेकिभिः निषेधार्थ मनुवादं विना न सम्यक् नाबाधितः। तन्मनीषितं केवलनिषेधार्थ मनुवादरूपतयोपयुज्यते न त्वबाधितमित्यर्थः। कुतः यतो विवेकिभि स्तत्त्वत्रययाथात्म्यविद्भिस्त्यक्तं परिहृतं बाधितं मनीषितं पुमान् देहात्मभ्रान्तिमान् उपाददत् हितबुद्ध्योपादत्ते। तदेवं शश्वत्प्रत्यक्षितस्वयाथात्म्यत्वात् देहात्माभ्रान्त्यभावात् शरीरभूत चिदचिद्भूतविकाराभावात् प्रविष्टस्याप्याप्रविष्टप्रायत्वात् कृत्स्नजगदुत्पत्तेः प्राक् तत्कारणतया निर्विकारत्वेन चावस्थितो भवानिदं[2] जगत्ससर्जेति समुदायार्थः॥ १८॥

ननु निर्विकारस्य मम कथं विकाराश्रयत्वरूपं जगत्कारणत्व मित्यत्राऽऽह **त्वत्त** इति। हे विभो! अनीहात् सङ्कल्पेतर व्यापाररहितात् अगुणात् सत्त्वादि गुणत्रय रहितात् अविक्रियात् अविक्रियस्वरूपादपि त्वत्त एव कारणादस्य जगतो जन्मादीन्वदन्ति। संयमो लयः। "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" (श्वेता. उ. 6-19) "सत्यं ज्ञान मनन्तम्" (तैत्ति. उ. 2-1-1) "सदेव सौम्येद मग्र आसीत्" (छान्दो. उ. 6-2-1) "एकमेवाद्वितीयम्," (छान्दो. उ. 6-2-1) "तदैक्षत बहुस्याम्" (छान्दो. उ. 6-2-3) इत्यादयो वेदान्ताः प्रतिपादयन्तीत्यर्थः। कथ "मग्निना सिञ्चे" दितिवत् असङ्गतमर्थं वेदान्ता अपि प्रतिपादयेयुः इत्यत्राऽऽह त्वयीति। तज्जगत्कारणत्वमीश्वरे प्रकृतिपुरुषनियन्तरि तच्छरीरके ब्रह्मणि निमित्तत्त्वोपादानत्वोपयुक्त सार्वज्ञ्य सर्वशक्तित्वाद्यनन्तकल्याणगुणैः स्वरूपेण च ब्रह्मत्ववति सर्वशक्तौ त्वयि न विरुध्यसे सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टे सर्वशक्तौ त्वयि कारणत्व मविरुद्धमेव, स्वरूपस्य निर्विकारत्वेऽपि स्वशरीरभूतचिदचिद्द्वारा विकाराश्रयत्वात् तदाश्रयत्व रूपं कारणत्व मविरुद्धमेवेत्यर्थः। ननु सृज्यत्वादे श्शरीरभूत चिदचिद्गतत्वात्कथं मम साक्षत् सृज्यत्वादिव्यपदेश इत्यत्राऽऽह आश्रयत्वादिति स्वशरीरभूत कार्यवर्गस्याश्रयत्वा दन्तरात्मतया धारकत्वा च्छरीरगतै रुत्पत्त्यादिभिः विशिष्टे त्वयि तदुपचर्यते, शरीरद्वारकमुच्यते[3] न तु साक्षादुच्यत इत्यर्थः॥ १९॥

ननु नाहं जगज्जन्मसंयमकारणम्, अपि तु ब्रह्मरुद्रादित्यत्राह - **स त्व** मिति। स उक्तविधस्त्वं त्रिलोकस्य स्थितये पालनाय आत्मन स्स्वस्य मायया सङ्कल्पेन शुक्लं विशुद्धं वर्ण माकारं रजस्तमोभ्या मननुविद्ध मप्राकृतं शुद्धसत्त्वमयं विग्रहं बिभर्षि साक्षा दुपादत्से। सर्गाय त्रिलोकसृष्टयेतु रजसा रजोगुणोपलक्षितेन चतुर्मुखाख्य जीवेन उपबृंहित मधिष्ठितं रक्तं वर्णं रजोगुणमयं वर्णं शरीरं बिभर्षि। चतुर्मुखाख्य जीवद्वारा बिभर्षीत्यर्थः। तथा जनस्योत्पत्तिमतः त्रिलोकस्यात्यये प्रलये निमित्ते तमसा गुणेनोपलक्षितेन रुद्राख्य जीवेनोपबृंहितं कृष्णं तमोगुणमयं वर्णं शरीरं बिभर्षि ब्रह्मरुद्राख्य जीवानुप्रवेशेन जन्मसंयमौ करोषि। स्थितिन्तु साक्षात्त्वमेव करोषीत्यर्थः। अत्र शुक्लरक्तकृष्ण शब्दैः सत्त्वरजःस्तमोगुणाः लक्ष्यन्ते। यथा - "अजा मेकां लोहित शुक्ल कृष्णाम्" (म.ना. उ. 8-4) इत्यत्र तद्वद्रजस्तमश्शब्दाभ्यां तद्गुणप्रचुरौ ब्रह्मरुद्राख्यौ जीवौ वर्णशब्देन शरीरम्। सत्त्व मित्येकं पदं वा शुक्लं रजस्तमोभ्यां अननुविद्धं सत्त्वं शुद्ध[4] सत्त्वमयं वर्णं शरीरं बिभर्षीत्यन्वयः॥ २०॥

यद्यपि भवान् दुष्कृद्विनाशपूर्वकं त्रिलोक पालनाधिकृतत्वा त्तदुपयुक्तया स्वासाधारणया तन्वा अवातरत् तथापि एनां तिरोधाप्य मनुष्यसजातीयां तनुमाश्रय, अन्यथा अधुनैवाऽयं कंसोऽभिद्रवति इत्यत्राऽऽह **त्वमस्येति** द्वाभ्याम्। हे विभो! अखिलेश्वर! अस्य लोकस्य रिरक्षिषु: पालयितु मिच्छु: मम गृहे कलत्रे अवतीर्णोऽसि, अस्येति कर्मणि । राजन्य संज्ञा ये असुरसङ्घा स्तेषां कोटिभि र्निर्व्यूहयमाना: प्रचोद्यमाना: चमूस्सेना: निहनिष्यसि॥ २१॥

तथा हे सुरेश्वर! असभ्य: सत्सभाप्रवेशानर्ह:। खलेश्वर इति पाठे दुष्टाग्रगण्य: अयं कंस: मम गृहे तव जन्म श्रुत्वा भविष्यतीति श्रुत्वा तन्मात्सर्यदेव हेतो: तवाग्रजान् न्यहनत् हतवान्। कंसोऽधुना पुरुषै स्स्वभटै: समर्पितं निवेदितं, श्रावितमिति यावत् तवाऽवतारं श्रुत्वा अधुनैवोद्धृत मायुधं खड्गो येन तथा भूतोऽभिसरति अभ्येति। अत एव तनूं तिरोधापयेति भाव:। अधुना अभिसरन्त मपि हन्तुं प्रभुरेव त्वम्, तथाप्यहं ततो बिभेमीति च भाव:॥ २२॥

1. K,W भगवान् 2. B. भगवा° 3- -3. K. omits 4. K. omits शुद्ध

**विज०** ज्ञानलिङ्गेन शरीरेन्द्रियादिभ्यो भेदेन ज्ञायसे इत्युक्तम्। तत्राऽज्ञानिन एवं मन्यन्त इत्याह - यदात्मन इति। आत्मन: परमात्मन: प्रत्यगात्मन: दृश्यगुणेषु शरीरेन्द्रियादिषु सन्निधे: प्रवेश लक्षणसन्निधानात् अबुधै: अस्वव्यतिरेकत: स्वाभेदेन व्यवस्यसे निश्चित्य ज्ञायसे इति यत् तदनुवादं अनुकूलं वेदवचनं विना न मनीषितम्, नैवाऽङ्गीकारयोग्यम्। कुत इति तत्राऽऽह - सम्यगिति। पुमान् पुरुष: पर्यङ्कशयनो विष्णु: व्यक्तं संशय निरासकरणं सम्यग्वच: अपौरुषेयत्वेन निर्दोषवेदवाक्यम् उपाददत् स्वीकृतवानाहेत्यन्वय:। परमात्मनोऽपि शरीरे सन्निधानात् अबुधै: स्वव्यतिरेकतो ज्ञायस इत्यादे रयमर्थ: सिद्ध:। यदिदं जगदेक मेकीभूतं मा भविष्यतीति तहर्यहमेक एव निष्षट नितरां सहमानोऽभियोद्धास्मि। अथ वा द्वावभियात स्तावप्येवमेव, अथवा त्रय एतादृशा मामभ्येत्य किमु करन्ति किं कुर्वन्ति, त्वां घ्नन्तीति वार्ता मा भूत् अह मेव हन्मीत्याह - खलेनेति। पर्षान् धान्यानि कुलित्थादीनि खले इव भूरीणि शत्रुभूतानि जगन्ति प्रतिहन्मि हनिष्यामि त्वद्धननशक्त्यभावेऽपि तव दुर्भग जीवाभेदवचनेन त्वां निन्दन्तीति तत्राऽऽह किमिति। शत्रवो मा मां किं निन्दन्ति सर्वगुणाकरत्वेन दोषलेशस्पर्शाभावात् स्वतो दोषाभावेऽपि बलादापादयन्ति हीति तत्राऽऽह - अनिन्द्रा इति असमर्था इत्यर्थ:। "प्रविष्टत्वाच्छरीरेषु जीव एवेति दुर्धिय: मन्यन्ते परमात्मानं न तन्मतमनुव्रजेत्"। (ब्रह्माण्डे) इत्यादे:। तर्हि निन्दाफलं किमिति अस्याप्येतदेवोत्तरमाह अव्यक्तमिति। अव्यक्तं अप्रकाशलक्षणं व्यक्तिशून्य मन्धंतम: यान्तीति च वेदवचन मुपादत्ते। "ऐकात्म्य ज्ञानतो यान्ति तम:" (ब्रह्मवैवर्ते) इति। तर्हि भेदज्ञानस्य किं फलम्? इत्यस्यापि इदमेवोत्तरमित्याह - व्यक्तमिति। विगताञ्जनं निर्दोषभेदज्ञानं मुक्ति साधन मुपाददत् भेदात्परं पदं "स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यादि ज्ञानं भेददृशि भवेत्" (ब्रह्मवैवर्ते) इति वचनम्॥ १८॥

कुलालघटयोरिव कार्यकारणयो र्जगद्ब्रह्मणो: भेद: पारमार्थिक इति ज्ञापनाय सृष्टिप्रकारं स्पष्टयति **त्वत्त** इति। अस्य प्रपञ्चस्य कुलालवत् आयासग्रस्ततया कर्ता नाऽयम्, किन्तु पूर्णानन्दत्वेनेत्याशयेनाऽऽह - अनीहादिति। अनीहादक्लिष्टकारित्वात् इति। अनीहत्वेन कर्ताचेन्मृद्वद्विकारित्वं हरे: इति तत्राऽऽह अविक्रियादिति। तथाऽविकृत एव सन् सर्वं करोतीति। नन्वियं सृष्टि: गुणपूर्विका सृष्टित्वात् पटसृष्टिवत् इति तत्राऽऽह अगुणादिति। नन्वियं प्रतीतिविरुद्धा सृष्टि: निष्क्रियस्य क्रियावत्त्वम्, अगुणस्य गुणवत्त्वम् अविकारिणो विकारित्व मिति तत्राऽऽह - त्वयीति। ईश्वरे ब्रह्मणीति पदद्वयं हेतुगर्भम् "ऐश्वर्यात्पूर्णशक्तित:" (ब्राह्मे) इति वचनात्। नन्वय मीश्वर: सृष्ट्यादौ प्रवर्तमानो गुणमपेक्षते न वा? प्रथमे गुणित्वं, द्वितीये सृष्ट्याद्यनुपपत्ति रिति तत्राऽऽह - तदाश्रयत्वादिति। गुणैस्सत्वादिभि: सृजसि न तत्र सन्देह:। तर्हि निर्गुणस्य गुणित्वापात इति शङ्का माऽभूदिति तदाश्रयत्वाद्गुणानां जडत्वेन स्वत: प्रवृत्त्यनुपपत्ते: तत्प्रवृत्त्यर्थं तत्प्रेरणा द्गुणीत्युपचर्यसे नतु मुख्यतो गुणी "केवलो निर्गुणश्च" (श्वेता उ. 6-11) इति श्रुते:। ननु सगुणागुणवचनस्य का क्लृप्तिस्तर्हीति अस्यापीदमुत्तरं तदाश्रयत्वादिति। ज्ञानादि गुणै: क्लृप्तदेहत्वात् सत्त्वादिगुणविधुर इत्युपचर्यसे उपसङ्गम्यसे ज्ञायसे इत्यर्थ:। तेषां सत्त्वादिगुणाना माश्रयत्वादैश्वर्यादिगुणपूर्णत्वाद्वा सगुण इत्युपचर्यसे सम्भाव्यस इत्यर्थ:। "अगुणो गुणदेहत्वा त्सगुणो गुणधारणात्। ऐश्वर्यादिगुणित्वाद्वा वासुदेव इतीर्यते" (आग्नेये) इति वचनात् अर्थविशेषो ज्ञायत इति॥ १९॥

तदाश्रयत्वं प्रपञ्चयति **स त्वमिति।** अयमर्थ: यदा त्रिलोकस्थितये त्रैलोक्य रक्षणाय सत्त्वगुणं वर्धयन्नास्ते। तदा हयग्रीवादिरूपं शुक्लवर्णं बिभर्षि। "जगतां वर्धयन्सत्वं यदा रक्षति केशव:" (ब्रह्मतर्के) इत्यादे:। खल्वलङ्कृतोऽयमर्थ:। यदा सर्गाय तत्तत्स्वभावाभिव्यक्तये रजो वर्धयन् तदा रजसोपबृंहितं रजोगुणशक्तिव्यञ्जकं रक्तं जामदग्न्यादिरूपं बिभर्षि खलु "वर्धयंस्तु रजो येन जगदुत्पादयेद्धरि:" (ब्रह्मतर्के) इत्यादे:। जनस्य अत्यय प्रलये, 'अत्तये' इति पाठे अत्ति: संहृति: तस्यै। यदा लोके तमो वर्धयन् तदा तमसोपबृंहितं तमोगुणप्रवर्तकं कृष्णं यादवादिरूपं बिभर्षि खलु। येन विनाशयेत् "वर्धयंस्तु तमो लोके तत्कृष्णं यादवादिकम्" (ब्रह्मतर्के) इति वचनात्। ननु सर्वत्र सर्वशक्त्यभावात् अपूर्णता हरे रित्यस्याऽपि इद मुत्तरं खल्विति जिज्ञासालक्षणा वीप्सा कर्तव्या। तथाहि यच्छुक्लं रूपं सत्त्वं वर्धयन्बिभर्षि तद्रूपं त्रिलोकस्थितये खलु न भवति किन्तु सर्गसंहाराभ्यां बिभर्षि। रजो वर्धयन् रक्तरूपं बिभर्षि तत्सर्गाय खलु न भवति किन्तु तत्स्थितिसंहाराभ्याञ्च बिभर्षि, यत्तमो वर्धयन् कृष्णं रूपं बिभर्षि तज्जनात्यय एव खलु न भवति, किन्तु तत्त्रिलोकस्थिति सर्गाभ्याञ्च बिभर्षि इति मन्दमतीनां विस्पष्टतयाभ्यासोक्तं "सर्वत्र सर्वं कुरुते विशेषस्तत्र कीर्तित:" (ब्रह्मतर्के) इत्यादे:। तत्तात्पर्यार्थपरतया श्लोकार्थो ज्ञातव्य:। 'षद्लृ विशरण गत्यवसादनेषु' इत्यादे र्धातो: सृष्टिसंहाराविति सत्त्वशब्देन ज्ञातव्यौ। 'रजो रागे' इति धातो: रागशब्दस्यानेकार्थत्वेन स्थितिसंहारार्थोऽपि ज्ञातव्य:। 'तमुग्लान' इति धातो: ग्लानशब्दस्य सृष्टिस्थितिविरोधिज्ञापकत्वेन तत्परत्वेनाऽर्थो बोद्धव्य:। निर्गुणस्य गुणोपरक्तत्वं कथमित्यत उक्तं स्वमाययेति। "स्वेच्छयाऽनुगुणा द्विष्णु: नानारूपान्करोत्यज:" (तन्त्रभागवते) इत्यादि च। "निषेधे वागलङ्कारे ज्ञीप्सनेऽनुनये खलु" (वैज. को. 8-7-20) इति यादव:॥ २०॥

सर्वरूपेषु सर्वशक्ति रस्तीत्याशयेन स्तौति - **त्वमस्येति** । त्वदवतारेण संहारकारणेन रक्षा कथङ्कारा स्यादित्याशङ्क्य, असतां हनने सतां तारतम्येन सुखसमृद्धिः स्यादित्याशयेनाऽऽह राजन्येति। निर्व्यूह्यमानां प्रतिव्यूह्यमानां निहनिष्यसे निहनिष्यसि गमयिष्यसि सतां सुखानुभवमिति शेषः। 'चर भक्षण' इति धातोः "सतां सुखविवृद्ध्यर्थ मसतां पीडनं हरेः" (ब्रह्मतर्के) इत्यादेश्च ॥ २१ ॥

स्वात्मनि स्वभक्तेषु द्वेषबुद्धिकरत्वेन द्वेषात्मकं तमो भवतीत्यतः तदुपादाय त्वत्प्रवर्तन मित्याशयेनाऽऽह - अयं तमस्य इति। तमस्यः स्वभक्तद्वेषमूर्तिः। तदुक्तम् - "तमो द्वेषात्मकं शुद्धं सत्त्वात्मक मुदीर्यते" (ब्रह्मतर्के) इति वा जन्म भविष्यतीति स्वपुरुषैः समर्पितम्। अभिसरत्यभ्यागच्छति, उदायुधः धृतायुधः ॥ २२ ॥

★ Foot note of M. Edition :- "अभी इदमेकमेको अस्मि निःषाल भिद्वा किमु त्रयः करन्ति। खलेन पर्षान् प्रतिहन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्रा":- (ऋ. वे. 10-48-7) इति श्रुतिः। 1. B. omits द्वितीये

## -: स्वस्वरूपेणाऽऽविर्भूतं श्रीपरमपुरुषं प्रति देवकी कृत स्तुतिः :-

### श्रीशुक उवाच

**अथैन मात्मजं वीक्ष्य महापुरुष लक्षणम्।**
**देवकी तमुपाधावन्कंसाद्भीता शुचिस्मिता ॥ २३ ॥**

### देवक्युवाच

**रूपंयत्तत्प्राहु रव्यक्तमाद्यं ब्रह्मज्योति र्निर्गुणं निर्विकारम्।**
**सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं सत्त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः ॥ २४ ॥**

**नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने महाभूते ष्वादिभूतं गतेषु।**
**व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन यातेभवानेकश्शिष्यतेऽशेषसंज्ञः ॥ २५ ॥**

**योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्त बन्धो चेष्टा माहुश्चेष्टते येन विश्वम्।**
**निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयां स्तन्त्वेशानंक्षेम धाम प्रपद्ये ॥ २६ ॥**

**मर्त्यो मृत्यु व्यालभीतः पलायन् लोकान्सर्वान्निर्भयं नाऽध्यगच्छत्।**
**त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाऽद्य स्वस्थश्शेते मृत्यु रस्मादपैति ॥ २७ ॥**

स त्वं घोरादुग्रसेनात्मजान्न स्त्राहि त्रस्तान्भृत्यवित्रासहाऽसि।
रूपञ्चेदं पौरुषं ध्यानधिष्ण्यं मा[2] प्रत्यक्षं मांसदृशा[3] कृषीष्ठाः॥ २८॥

जन्मते मय्यसौ पापो मा विद्यान्मधुसूदन।
समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहं मधीरधीः॥ २९॥

उपसंहर विश्वात्मन् अदो[4] रूप मलौकिकम्।
शङ्ख चक्र गदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम्॥ ३०॥

विश्वं यदेतत्[5] स्वतनौनिशान्ते यथावकाशं पुरुषः परोभवान्।
बिभर्ति सोऽयं ममगर्भगोभूद्[6]हो नृलोकस्य विडम्बनं महत्[7]॥ ३१॥

---

1. M. दीपम्, 2. M. अप्र° 3- -3. K.M.W. मादृशां त्वं 4. K.V.W. अथो 5. K.W. य एतत् 6. V. °जो 7. B.G.J. हि तत्॥

**श्रीध० अथेति।** उपाधावत् अस्तौत्॥ २३॥

देवकी, किञ्चिद्विज्ञापयितुं त्वयि भयशङ्कैव तावन्नास्तीति श्लोक चतुष्टयेनाऽऽह - **रूपमिति।** यत्तत्किमपि रूपं वस्तु प्राहुर्वेदाः किं तद्वस्तु तदाह - अव्यक्तम्। अत्र हेतुः आद्यं कारणम्। किं परमाणवः, न ब्रह्म बृहत्। किं प्रधानम्? न ज्योति श्चेतनम्। किं वैशेषिकाणामिव ज्ञान गुणकम्? न निर्गुणम्। किं मीमांसकानामिव ज्ञानपरिणामि, न निर्विकारकम्। किं पुष्कराक्षादीनामिव शक्ति विक्षेप[1]परिणामि न सत्तामात्रम्। तर्हि किं सामान्यम्? न[2] निर्विशेषम् तर्हि किं कारणत्वा त्सक्रियम्[2] न निरीहम् सन्निधिमात्रेण कारणम्। एवम्भूतं किमपि कार्यं कल्प्यं यद्वस्तु स एव साक्षा त्त्वं विष्णुरिति। अपरोक्षश्चेत्याह अध्यात्म दीप इति। बुद्ध्यादिकार्यकारण सङ्घातप्रकाशक इत्यर्थः। अथवा, अव्यक्तं न केनापि प्रकारेण व्यज्यत इत्यव्यक्तम्, कथम्! उत्पत्त्या तावन्नव्यज्यत इत्याह - आद्यं सर्वस्य कार्यस्याद्यम् अनादीत्यर्थः तथा ब्रह्मज्योति र्निर्गुणं निर्विकारम् - इति चतुर्भिः पदै र्देशेन प्रकाशेन च गुणेन च विकारेण च व्यक्तिं निराकरोति - तथा सत्तामात्रमिति विशेषेण निर्विशेषमिति सामान्येन निरीह मिति क्रियया च व्यक्तिं निराकरोति - अन्यत्समानम्। एवम्भूतस्य तव न भयशङ्केतिभावः॥ २४॥

किञ्च महाप्रलयेऽप्यवाशिष्यमाणस्य कुतो भयमित्याह **नष्ट** इति। चराचरे लोके महाभूतेषु लीनेषु[3] तेष्वपि[3] आदिभूतं भूतसूक्ष्मं प्रविष्टेषु तस्मिन्नपि व्यक्तेऽव्यक्तं प्रधानं प्राप्ते। अशेषात्मके प्रधाने संज्ञा प्रज्ञा यस्य। एवं मयि लीनमिदमस्ति पश्चादेवमुद्बोधनीय मिति सोऽशेषसंज्ञः शेष संज्ञ इति वा॥ २५॥

**य** इति। किञ्च, एवं प्रलय हेतुर्योऽयं काल एतम्। हे अव्यक्तबन्धो ! प्रकृति प्रवर्तक तस्य प्रलयावधिभूतस्य ते तव चेष्टां लीलां चेष्टते विपरिवर्तते पुनः पुनर्वत्सरावृत्त्या। महीयान् द्विपरार्धरूपः यस्य चेष्टामाहुस्तं त्वा त्वां क्षेमधाम अभयस्थानं प्रपद्ये शरणं व्रजामि॥ २६॥

क्षेमधामत्वमेवाऽऽह - **मर्त्य इति।** लोकान्प्रति यदृच्छया केनाऽपि भाग्योदयेन। [4-]अत्र छन्दो भङ्ग अर्षः[-4] हे आद्य!॥ २७॥

प्रस्तुतं विज्ञापयति स इति भृत्यानां वित्रासं हन्तीति भृत्यवित्रास हा। भृत्यविदिति वा च्छेदः पौरुषमैश्वरम्। ध्यानाधिष्ण्यं ध्यानास्पदम्। मांसदृशां मांसचक्षुषां [5-]मादृशां त्वं इत्यपि पाठान्तरम्[-5]। प्रत्यक्षं मा कृथाः॥ २८॥

**जन्मेति।** भवत एव हेतो र्निमित्तात्[6] कंसात् समुद्विजे बिभेमि यतोऽधीरधीः अधीर चित्ता॥ २९,३०॥

किमित्युपसंहर्तव्य मेवं भूतेन [7]मया पुत्रेण तव [8]महती श्लाघा स्यादिति [9]चेत् तत्राऽऽह विश्विमिति। निशान्ते प्रलयावसाने यथावकाश मसङ्कोचतः असम्भावितत्वात् [10]उपहास्यतैव स्यादित्यर्थः ॥ ३१॥

1. V. ०पणप० 2- -2. V. omits 3. J. लीनेष्वपि 4- -4. B.J. omit 5- -5. B.J. omit 6. V. ०त्तभूतात् 7. V. omits मया 8. V. बृ° 9. B.J. omit चेत् 10. B. अप°

**वीर०** अथैनं देवक्यापि स्तुत्वा प्रार्थयामासेत्याह[1]- **अथेति।** महापुरुषस्य भगवतोऽसाधारण विलक्षणानि चतुर्भुजत्वादीनि यस्य तमेन मात्मजं वीक्ष्य परमपुरुषं ज्ञात्वा पूर्वं कंसा द्भीताऽपि शुचिस्मितं यस्या स्तथाभूता स्वपुत्ररूप भगवद्दर्शनेन निवृत्त भीतित्त्वात् शचिस्मिता सती देवकी तमुपाधावत् तुष्टाव॥ २३॥

उपाधावन मेवाऽऽह **रूपमि**त्यादिभिश्चतुर्भिः । तत् प्रसिद्धं यत् वैदान्तैक समधिगम्यं परमात्मस्वरूपं स एव त्वमिति स्तौति रूपमिति। यत्तद्रूपं वेदान्ताः प्राहुः स साक्षाद्विष्णुस्त्व मित्यन्वयः। रूप्यते [2]प्रकृतिपुरुष विलक्षणत्वेन निरूप्यते इति रूपं परमात्मस्वरूपम्। वैलक्षण्यमेव दर्शयितुं विशिनष्टि अव्यक्त मित्यादिना तत्राऽव्यक्तं निर्गुणं सत्तामात्रं निर्विशेषमित्येतानि प्रकृति व्यावर्तकानि विशेषणानि। [3]इतराणि तु पुरुषव्यवच्छेदकानीति विवेकः। अव्यक्तं व्यक्तै रिन्द्रियै र्न व्यज्यते न विषयीक्रियते इत्यव्यक्तम् अदृश्य मतीन्द्रिय मित्यर्थः। प्रधानन्तु पृथिव्यादि रूपेण व्यक्तमिति भावः। अत्र "यत्तदद्रेश्य मग्राह्यम्" (रुद्र. ह 31) इत्यादि श्रुति रनुसन्धेया। यद्वा तदन्यार्थको नञ्, पृथिव्यादि रूपेण व्यक्तात् अचिद्द्रव्यादन्य दव्यक्तमिति साध्य धर्मोक्तिः। तत्र हेतुः आद्यम् आदौ भवम् आद्यम् व्यक्ता दचि द्द्रव्या दादौ कारणत्वेनावस्थितम्। किं तर्हि तत्सूक्ष्मावस्थ मचिद्द्रव्यम्? नेत्याह। निर्गुणं सत्त्वादिगुणरहितम्। अनेन सूक्ष्मावस्था

चिद्व्यावृत्तिः। सत्तामात्रं सतो भाव स्सत्ता, सैव सत्तामात्रम्। सच्छब्द सततैकरूपवस्तु वाचि वृद्धिक्षयादिरहित मित्यर्थः। निर्विशेषं विशेषा श्शब्दस्पर्शादय आकाशादिभूतपञ्चक गुणाः तेभ्यो निर्गतं तद्रहित मित्यर्थः। एवं कार्यकारणो भयावस्था चिद्रव्य व्यावृत्तिः। अथ चिद्रव्य व्यावृत्तये विशिनष्टि। ज्योतिः स्वयम्प्रकाशकम्। किं तर्हि तद्बद्धजीवः? नेत्याह। निर्विकारं शोकमोहादि विकाररहितं निरीहं पुण्य पापरूपव्यापारहितम्। तर्हि तत्किं मुक्तजीवः नेत्याह अध्यात्म दीपः आत्मन्यध्यात्ममिति विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। आत्मनि दीपः दीपवत्स्वप्रकाशं नित्य मसङ्कुचितं धर्मभूतं ज्ञानं यस्य सः। अनेन मुक्तजीव व्यावृत्तिः। तेषां संसारदशायां सङ्कुचित ज्ञानत्वात्। तर्हि किं नित्यसिद्धजीवः? नेत्याह। ब्रह्म स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशय बृहत्। अनेन नित्यसिद्धव्यावृत्तिः तत्स्वरूपस्याप्यणुत्वात् स त्वं विष्णुरध्यात्मदीप इति पुंस्त्व निर्देशो विधेय प्राधान्याभिप्रायकः। तत्त्वम् इति पाठान्तरम्। तदा तस्य भाव स्तत्त्वमबाधित मित्यर्थः। एवं प्रकृत्यादि विलक्षण मबाधित मित्यर्थः। एवं प्रकृत्यादिविलक्षण मबाधितं यद्रूपं तत्त्व मित्यध्याहारः। यद्वा तत् त्वम् इति पदद्वयम् यत्तदित्यत्र तच्छब्दः प्रसिद्धिद्योतकः। यत् प्रसिद्धं प्रकृत्यादि विलक्षणं रूपं तत्त्वमित्यन्वयः। प्रकृत्यादीनामपि तच्छरीरत्वेन तदात्मकत्वात् तदनन्यदेवेति तव्यावृत्तये साक्षात्तत्व मित्युक्तम्। प्रकृत्यादीनां तदनन्यत्वं शरीरात्मभाव कार्यकारण भावनिबन्धनम्। तव तु तद्रूपानन्यत्वं मृदात्मको घट इतिवत्स्वरूपाभदेरूपमिति साक्षाच्छब्दाभिप्रेतोऽर्थः। चतुर्मुखादि देवान्तरव्युदासाय विष्णुरित्युक्तम्॥ २४॥

आद्यत्वमेव दर्शयितुं प्राकृत प्रलयावशिष्टं वस्तु त्वमेवेत्याह - नष्ट इति। चतुर्मुखस्य तन्मानेन वर्षशतात्मकमायुः, तस्य पञ्चाशद्वर्षात्मकं पूर्वार्धम्, उत्तरार्धञ्च परार्धमुच्यते तदुक्तम् "ब्रह्मणस्स्वस्य मानेन आयुर्वर्षशतं स्मृतम्। तत्परं वैतदर्धन्तु परार्धमाभिधीयते" इति। द्विपरार्धावसाने द्वयोः परार्थयो रवसाने चतुर्मुखलय इत्यर्थः। कालस्य वेगेन हेतुना महाभूतेषु पृथिव्यादिषु स्वकारणपरम्परया आदिभूतं भूतादि महङ्कारं गतेषु तस्मिन् लीनेषु सत्सु तथा व्यक्तेऽहङ्कारप्रकृतिभूते महत्तत्त्वे अव्यक्तं सूक्ष्मावस्थमचिद्रव्यं याते गते सति इदं "अव्यक्त मक्षरे लीयते अक्षरं तमसि लीयते, तमः परे देव एकीभवति" (सुबा उ. 2-2) इति श्रुत्यर्थस्याप्युपलक्षणम्। एवं सति यश्शिष्यते पदार्थः स एको भवानेव यतो भवानवशिष्यते। अत एव निमित्ताच्छेषसंज्ञः शेषशब्दाभिधेयश्च। नामरूपविभागानर्ह सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टतयाऽवशिष्ट एक स्त्वमेवत्येकशब्दाभिप्रायः। अनेन "तमः परे देव एकीभवति" (सुबा उ. 2-2) इति श्रुत्युक्तैकीभाव श्चाभिप्रेतः नामरूपाभ्या मविभाज्यतय स्वाश्रयवस्तु संश्लेषो ह्येकी भावः। अनेन प्रकृतिपुरुषयो र्नित्यत्वं फलितम्। एतदभिप्रायणैव हि श्रुतौ "अक्षरं तमसि लीयसे" (सुबा. उ. 2-2) इत्येतत्पर्यन्तं सर्वत्र लय उक्तः। "तमः परे देव एकी भवति" (सुबा. उ. 2-2) इत्यत्रत्वेकीभावः। अयमर्थः। अत्रद्विविधो हि लयो विवक्षितः। एकस्तावत् स्वावस्थाप्रहाणेन पूर्वावस्थाप्राप्तिरूपः यथा पृथिवीत्वावस्थायाः प्रहाणेन स्वावस्था प्राप्तिः; इतरस्तु स्वावस्थाप्रहाणमन्तरेण वस्त्वन्तर विभागानर्ह संसर्गविशेष प्राप्तिः - यथा प्रकृति पुरुषयोः पुरुषरूपं प्रकृतिरूपञ्च परित्यज्य नित्यसिद्धमबाधित्वा विशेष भूतेन भगवता विभागानर्ह संसर्ग विशेष प्राप्तिः। तदेव "तम एकी भवति" (सुबा. उ. 2-2) इति विशिष्टैक्यरूपतया अभिधीयते। तदेवचाऽत्रैक शब्देनाप्यभिप्रेतम्। पूर्वन्तु "पृथिव्यप्सुप्रलीयते" (सुबा. उ. 2-2) इत्यादिना साक्षाल्लयशब्द

एव प्रयुज्यते "उभा वेतौ लीयते परमात्मनि इति वैष्णववचन मपि प्रकृतिपुरुषयो र्भगवता सह संश्लेषमात्र मेव कथयतीति न विरोध:। संसर्ग विशेषेऽपि लयशब्द: प्रयुज्यते; यथा - "वृक्षेषु पक्षिणो लीयन्ते" इति[10] अत एव "प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्धचनादी उभावपि" (भ.गी. 13-19) "अचेतना परार्थी च नित्या सतत विक्रिया" (परमसंहिता) इत्यादिषु "तदेतदक्षय नित्यं" (विष्णु. पु. 1-22-60) "जगत्स्थावर जङ्गमम्" इत्यादिषु वेदपारवेदिनां पराशरादीनां वाक्येषु च प्रकृति पुरुषो रनादित्वं प्रोक्तम्। तस्मादपि तयोर्न साक्षा द्विलय:। यथा आयुधरूपेण परिणते अयसि परिगृहीतं तोयं तोयरूपेणैव तिष्ठति। अन्यथा स्नेहानुवृत्त्याद्ययोगात्। तद्वत्प्रकृतिपुरुषवाचि भगवत्यविभागार्ह संसर्गमात्रेणैकीभाव[11] व्यवहारविषयमात्रभूतौ[12] विशेषणजगत्सृष्ट्यादा वुपकुरुत इति। "महानव्यक्ते विलीयते" (सुबा. उ. 2-2) इत्यादि श्रुतौ अव्यक्तशब्द श्चित्समष्टिसंस्पृष्टाचित्समष्ट्यावस्था विशेषपर:। अक्षरशब्द स्त्वचित्समाष्टि पर:। तम श्शब्दस्तु सर्वाचित्प्रपञ्चकारणभूता जहत्स्वावस्थ सूक्ष्मचित्पर:॥ २५॥

ननु कालवेगेनेति कालावशेषस्यापि सूचितत्त्वेन कथमेकस्य ममैवाऽवशेष इत्यत्राऽऽह **योऽय** मिति। अव्यक्त बन्धो: अव्यक्तस्य निरतिशय सूक्ष्मदशामापन्नस्य प्रधानस्य बन्धो! तदाश्रयत्व रूपं तद्बन्धुत्व मिह विवक्षितम्। इदं दृष्टान्तार्थ मुक्तम्। यथा सूक्ष्मचिद्द्रव्यं त्वयि संश्लेष मापन्नं[13] त्वदपृक्सिद्ध विशेषणं सत् - त्वदेकत्वाविरोधि तद्वदयं कालोऽपृक्सिद्धविशेषणभूतस्सन्नेकत्वाविरोधीति योयं निमेषादि वत्सरान्त:। कालस्य सूक्ष्मावस्था निमेष:। स्थूलावस्थातु वत्सर:। महीयान् महीयस्त्वमत्र ब्रह्मादीना मपि प्रभुत्वरूपं विवक्षितम्। येन कालेन निमित्तेन भवान्विश्वं चेष्टते करोति सृजन्त्यवत्यत्ति च। यद्वा विश्वं कर्तृ। चेष्टते प्रवर्तते तं च कालं तस्योक्तविधस्य ते तव चेष्टा माहु: चेष्टातुल्य मपृथक्सिद्धविशेषण माहु:। अतो नाऽयं त्वदेकत्व विरोधीति भाव:। यं कालं यस्य तव चेष्टामाहुस्तमीशानं कालस्याऽपि नियन्तारं क्षेमधाम क्षेमस्याऽऽश्रयं क्षेमङ्करं त्वां प्रपद्ये शरणं व्रजामि हेतुगर्भ मिदं, क्षेमधामत्वात्प्रपद्ये इत्यर्थ:॥ २६॥

कीदृशं तत्क्षेमधामत्वम्? यतो मां प्रपद्यते इत्यत्राऽऽह - मर्त्य इति। मर्त्य: मरणशील:, जन्मनोऽप्युपलक्षणमिदम्। जन्ममरणादि रूपसंसृति भाक् पुमान् मृत्युव्यालभीत:, मृत्यु: जन्ममरणादि रूपस्संसार: स एव व्याल: दुष्टसत्व: तस्माद्भीत:, मुमुक्षुस्सन्नित्यर्थ:। सर्वान् लोकान् प्रति पलायन् पलायमान:। परस्मैपद मार्षम्। लोक्यन्ते उपायत्वेनाऽध्यवस्यन्ते इति लोका उपाया:, सर्वानुपाया ननुतिष्ट न्नित्यर्थ:। निर्भयं भयस्यभावो निर्भयम्, अर्थाभावेऽव्ययीभाव:। मृत्युव्यालभयाभावं नाऽध्यगच्छत्, न प्राप, न मुक्तो बभूवेतिभाव:। यदृच्छया यादृच्छिक सुकृत विशेष परिपाकेन त्वत्पादाब्जं[15] प्राप्य उपायत्वेन प्राप्य, शरणं प्रपद्येति भाव: स्वस्थ: मृत्युव्यालभयनिवृत्तये कर्तव्योपायान्तर रहित: शेते यावज्जीवं सुखं वर्तते, ततोऽस्मान्मृत्युरपैति अपगच्छति। संसारान्मुक्तो भवतीत्यर्थ:। स्वपादाब्ज[16] शरण वरण मात्रेण[17] नि:श्रेयस प्रदस्य तव कियदेतल्लौकिकश्रेय: पदत्व मिति भाव:॥ २७॥

इत्थमभिष्टूयाऽथ हृद्गतं विज्ञापयति **सत्त्वमिति।** सः क्षेमङ्करस्त्वं घोरात् द्रष्टुमप्यशक्यात् उग्रसेनस्यात्मजात्कंसात् त्रस्तान् भीतान्नोऽस्मान् त्राहि पाहि, यतस्त्वं भृत्यानां वित्रासहाभयापहर्ता भवसि। पौरुषं परमपुरुषासाधारणं परमपुरुषत्व सूचक मिदं रूपं ध्यानधिष्णयं योगिनां ध्यानैक शुभाश्रयभूतम्, अत स्त्वं मादृशां मांस चक्षुषां प्रत्यक्षं मा कृषीष्टाः मा कार्षीः॥ २८॥

हे मधुसूदन ! अयं पापः कंसो मयि तव जन्म मा विद्यात्[18] न जानातु। तत्र हेतुमाह - भवेद्धेतोः त्वद्रूपात्कारणात् भवदवतारू[19] पनिमित्ता दिति यावत्। कंसा दह मधीरधीः हेतुगर्भ मिदम्। धैर्यरहित बुद्धित्वात् सुमुद्विजे बिभेमि॥ २९॥

हे विश्वात्मन्! अथो अतः। अद इति पाठे अदः एतत् शङ्खचक्रादिभिः[20] जुष्टं श्रीलक्ष्मीः शङ्खादीनां श्रिया जु[21] ष्टं वा चत्वारो भुजा यस्मिन्। अत एव अलौकिकं प्राकृत जने एव सम्भावितं रूपम् उपसंहर तिरोधापय॥ ३०॥

स्वनाभिकमलस्याखिललोक मपरिच्छिन्न वैभवं भगवन्तं ग[22] र्भे धृतवत्यस्मीति विस्मर्यते - विश्वमिति। निशा प्रलयः तस्य अन्तस्सृष्टिदशा तदा स्वतनौ स्वतन्वेकदेशभूते नाभीकमले यः परमपुरुषो भवानेतत्[23] कृत्स्नं चिदचिदात्मकं विश्वं बिभर्ति सोऽयं भवान् मम गर्भगोऽभूदिति यत्, तन्नृलोकस्य विडम्बनं तद्वदनुकरणमात्रम्। अहो! अत्याश्चर्य मेतस्य भगवतो माहात्म्यमिति वि[24] स्मयः॥ ३२॥

1. B. adds मुनिः 2. K. प्राकृत 3. B. अन्यानि 4- -4. K. omits 5. K.W. add साक्षात् 6- -6. B. पाठे 7. K. °त्वमेवेति 8. K. omits परित्यज्य 9. B. omits अपि 10. B. adds साक्षाल्लय एव प्रयुज्यते। 11. B. adds विशेष 12. K. भावे 13. B. adds विशेष 14. B. °ऽप्य° 15. B °दाम्बुजं 16. B. त्वत् 17. B. adds एव 18. K. मा 19. B. रूपात् 20. K.W. omit चक्र 21. B. adds शोभया 22. B.adds स्व 23. B adds इदं 24. K.W. स्मयः

**विज०** उपाधावत् गुणस्मरण पूर्वकं तुष्टाव॥ २३॥

भगवदनुग्रह पात्रत्वात् वेदान्तनिर्णीतगुण विशिष्टं स्तौति **रूप** मिति। यद्यस्य तद्रूप मेवंविधं प्राहुः, वेदान्ता इति शेषः। परोक्षत्वा त्तदित्युच्यते। कथम्भूत मव्यक्तम् ? आराधनेऽपि स्वप्रसादमन्तरेणाऽप्रत्यक्षं "तदव्यक्त माह हि" (ब्र.सू. 3-2-23) "अव्यक्त मचलं ध्रुवम्" तर्हि शून्यं नेत्याह। आद्यं आदौ विद्यमानम् "आत्मावा इद मेक एवाग्र आसित्" (ऐत. उ. 1-1-1) किमस्य संज्ञेत्यत्राऽऽह ब्रह्मेति "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम् (तैति. उ. 2-1-1) अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेति? बृहन्तोस्मिन्गुणाः संज्ञान्तर माह ज्योति रिति "परं ज्योति रूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभि निष्पद्यते" (छान्दो उ. 8-4-3) । यद्वा गुणित्वेऽपि चेतनत्वं माभू त्घटवदित्यत्राऽऽह - ज्योतिः ज्ञानलक्षण

प्रकाशरूपं सुवर्णज्योतीः साक्षी चेता च गुणास्सत्त्वादयः किम् नेत्याऽऽह "निर्गुणं केवलो निर्गुणश्च" (श्वेता. उ. 6-11) उत्पन्नक्षणे सर्वकार्याणां निर्गुणत्व मुत्तरक्षणे नास्तीत्यादि विकारः किं न स्यादित्यत्राऽऽह निर्विकारम् "निर्विकारोऽक्षरश्शुद्धः" अज्ञानादि मिश्रज्ञानगुणः किं न स्याज्जीवगुणव दिति तत्राऽऽह सत्ता मात्रम् सर्वाशुभ निर्मुक्तगुणैक रूपम् "सर्वाशुभविनिर्मुक्तगुणमात्रो यतो हरिः। सत्तामात्र मतःप्राहुः" (तन्त्रभागवते) एवं विध मन्यन्नास्तीत्याह निर्विशेषम्, निर्गतो विशेषो द्वितीयो यस्मात्तन्निर्विशेषम्। निर्विशेषोऽखिलोत्तमः एकमेवाऽद्वितीयम् निरीहम् आत्मकर्तृत्वाभिमानादिरहितम्, न तु क्रियाशून्यम् "स इमाँल्लोकानसृजत" (ऐत. उ. 1-2) इति श्रुतेः। "अनादरान्निरीहश्च सेहः सर्वकृतीयतः" (तन्त्रभागवते) स साक्षात्त्वम् अन्यो न विद्वज्जनोक्त लक्षण संज्ञाभ्यां अयं नारायण इति प्रत्येत्यतः प्राकृतजन प्रत्ययोत्पत्तये तत्सिद्धसंज्ञामाह विष्णुः णकारो बलं षकारः प्राण आत्मा "सयो हैतौ णकारषकारावनुसंहितमृचो वेद" योगिभि र्ध्येयं वात्स्विदमेव नाऽन्यदित्याशयेनाऽऽह अध्यात्म दीपम्। आत्मानमधिकृत्य वर्तमानदेहेन्द्रियादि प्रकाशकम् "अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" (कठ. उ. 2-12) यत्तदिति सामानाधिकरण्येन प्रकृते यदित्यस्य षष्ठीत्यङ्गीकारे किं नियामक मुच्यते स इति पुंलिङ्गेन परामर्शात् तद्रूप मिति अभ्युपेयते स इति पुनरुक्तेः। प्रथमायाः षष्ठ्यर्थत्वं न दृष्टमिति चेत् न "सप्तसु प्रथमा" (शब्दनिर्णये) इति सूत्रात्॥ २४॥

निर्गुणत्वादिकं तल्लक्षणमेवेत्याह - **नष्ट** इति। द्विपरार्धावसाने ब्रह्मणः शतायुर्लक्षणः कालः द्विपरार्धः तस्यावसाने लोके नष्टे इति सामान्येनोक्तं विशिनष्टि - पञ्चमहाभूतेषु पृथिव्यादिषु अहङ्कारद्वारा आदिभूतं महत्तत्वं गतेषु व्यक्ते महत्तत्वे अव्यक्तं प्रधानं गते सति अशेष संज्ञः अशेषाः संज्ञा यस्य स तथा "नामानि सर्वाणि च यं विशन्ति" इति श्रुतेः॥ २५॥

कालवेगेन यात इत्यत्र प्रतीतं कालस्वातन्त्र्यं निवारयति **योऽय** मिति। निमेषादि र्वत्सरान्तो योऽयं कालः तं कालं यश्चऽशेषसंज्ञं स्तस्य ते तव चेष्टा माहु रित्यन्वयः। अव्यक्त बन्धो! मुख्यप्राण[1] बन्धो![2] येन त्वया येन कालेन वा क्षेमधाम निर्भयस्थानम्। "अभयं प्रतिष्ठां विन्दते" (तैत्ति उ. 2-7) इति श्रुतिः॥ २६॥

क्षेमधामत्वं दर्शयति **मर्त्य** इति। मृत्यु रेव व्यालः तस्माद्भीतः पलायन् पलायमानः अस्मान्मत्यात्॥ २७॥

भृत्यवित्रासहा भृत्यानां विविधभयनाशकोऽसि। मादृशामप्रत्यक्षं कृषीष्ठाः प्रत्यक्षं न कुरु। ध्यानधिष्ण्यं ध्यानविषयम्॥ २८॥

अप्रत्यक्षकरणे कारणमाह जन्मेति। मा विद्यात् न जानातु। समुद्विजे बिभेमि अधीरधीः चञ्चल बुद्धिः॥ २९, ३०॥

हरेः गर्भवासादि दुःखानुभावो नास्ति इत्याशयेनाऽऽह - **विश्वमिति।** निशान्ते रात्रिमध्ये यथावकाशं अवकाशमनतिक्रम्य। 'यथासादृश्ये' (अष्टा 2-1-7) इति समासः॥ ३१॥

1. B. omits प्राण 2. B. adds. प्रारब्धः

श्रीभगवानुवाच

त्वमेव पूर्वसर्गोऽभूः पृश्निः स्वायम्भुवे सति।
तदायं सुतपा नाम प्रजापति रकल्मषः॥ ३२॥

युवां वै ब्रह्मणाऽऽदिष्टौ प्रजासर्गे यदा ततः।
सन्नियम्येन्द्रिय ग्रामं तेपाथे परमं तपः॥ ३३॥

वर्षवातातप हिमधर्मकालगुणा ननु।
सहमानौश्वासरोध विनिर्धूत मनो मलौ॥ ३४॥

जीर्ण[1] पर्णानिलाहारा वुपशान्तेन चेतसा।
मत्तः कामानभीप्सन्तौ मदाराधन मीहतुः॥ ३५॥

एवं वां तप्यतो भद्रे[2] तपः परमदुष्करम्।
दिव्यवर्षसहस्राणि[3] द्वादशेयु र्मदात्मनोः॥ ३६॥

तदा वां परितुष्टोऽह ममुना वपुषाऽनघे।
तपसा श्रद्धया नित्यं भक्त्या च हृदिभावितः॥ ३७॥

प्रादुरासं वरदराड् युवयोः कामदित्सया।
व्रियतां[4] वर इत्युक्ते मादृशो वां वृतस्सुतः॥ ३८॥

1. B.G.J.M. शीर्ण 2. B.G.J. °स्तीव्रं° 3. V. °णां, 4. K.V.W. व्री°

**द्वष्टह०** चतुर्भुजेन[1] रूपेणाविर्भावे कारणं तावदाह - **त्वमेवेत्यादि** चतुर्दशभिः श्लोकैः[2]। पूर्वसर्गे प्रथम जन्मनि। अभूः आसीः। पृश्नि र्नाम स्वायम्भुवे[3] स्वायम्भुवमन्वन्तरे, तदा अयं वसुदेवः ॥ ३२ ॥

**युवामिति ।** तेपाथे दुष्करं[4] तपः कृतवन्तौ युवाम्[5] ॥ ३३ - ३५ ॥

**एवमिति।** तप्यतो राचरतोः ईर्युर्गतानि मदात्मनो र्मचित्तयोः ॥ ३६ ॥

**तदेति ।** अमुना वपुषा ॥ ३७ ॥

**प्रादुरासमिति ।** प्रादुरासं[6] प्रादुर्भूतोऽस्मि । वरदराट् वरदेषु श्रेष्ठ इत्यर्थः । तेन सकृद्वरेण च वारवार माविर्भावे[7] कारणमुक्तम्। कामस्य दित्सया दातुमिच्छया मादृशो मया सदृशः ॥ ३८ ॥

1. V. ° जरू ° 2. B.J. omit श्लोकैः। 3- -3 B.J. omit 4. B.J. omit दुष्करं 5. B.J. omit युवां 6. V. omits प्रादुरासं
7. V. ° वका °

**वीर०** तदेव पितृभ्यां संस्तुतः प्रार्थितश्च स्वासाधारणादिव्य मङ्गल[1] विग्रह प्रदर्शननिमित्तं विवक्षु स्तदुपोद्घातरूप मितिहास माह - भगवान् **त्व** मित्यादिना एतद्वामित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन पूर्वसर्गो इतस्तृतीयेजन्मनि स्वायम्भुवे मन्वन्तरे[2] त्वमेव पृश्नि र्नाम योषिदभूः। तदाऽयं तव भर्ता वसुदेव स्तु सुतपा नाम प्रजापति रभूत्। कथम्भूतः? अकल्मषः शुद्धः॥ ३२॥

एवं सति यदा युवां ब्रह्मणा चतुर्मुखेन प्रजासर्गे निमित्ते आदिष्टौ आज्ञप्तौ[3]। ततः इन्द्रियग्रामम् अन्तर्बाह्येन्द्रियगणं सम्यङ्नियम्य निगृह्य परमं उत्कृष्टं[4] तपः तेपाथे चक्राथे। पाकं पचतीतिवत् निर्देशः॥ ३३॥

तपसः परत्वमेव दर्शयितुं तौ विशिनष्टि वर्षवाततपेत्यादि[5-5] वर्षादीन् कालधर्मान् ऋतुधर्मान् अनुक्रमेण प्राप्तान् सहमानौ धर्म आतपजं स्वेदोदकम्। 'घृ - क्षरणे' इति धातुः। श्वासनिरोधेन प्राणवायुनिरोधेन निर्धूतं मनसोमलं रजस्तमोभ्या मभिभवरूपं ययोः। जीर्णानि वृक्षेभ्यो गलितानि पर्णानि अनिलश्च आहारो ययो स्तथाभूतौ मत्सकाशात् कामान्[6] इष्टार्थान् अभीप्सन्तौ। उपशान्तेन रागादिभिः अकलुषितेन चेतसा मदारादन मीहतुः इहाञ्चक्राते कृतवन्तावित्यर्थः। आर्षत्वात् "इजादेः" (अष्टा 3-1-36) इत्यामभावः तङ्भावश्च। अनुदात्तेत्व लक्षणात्मनेपदस्य चक्षिङने ङित्करणा दनित्यत्वाद्वा। आधिजिहीषितः[7-7] भवच्छब्दसामानाधिकरण्याभिप्रायकः प्रथमपुरुषप्रयोगः॥ ३४, ३५॥

हे भद्रे! एव मित्थं परमदुष्करञ्च तपश्चरतोः। मय्येवाऽऽत्मा मनो ययो स्तयो र्युवयोः दिव्यानि देवमानपरिमितानि वर्षाणि[8] वर्षाणां वत्सराणां सहस्राणि द्वादश ईयुः व्यतिक्रान्तानि बभूवुः॥ ३६॥

ततो हे अनघे! नित्यं भक्त्या हृदि भावितः अनुध्यातः वां युवयो स्तपसा अनशनादिरूपेण श्रद्धया च परितुष्ट स्सन् वरदराडहं युवयोः कामदित्सया वरान्दातुमिच्छया अमुना चतुर्भुजादिमता वपुषा प्रादुरासम् प्रादुर्भूतोऽस्मि[9] ततः[10] प्रादुर्भूतेन मया वरोऽभिमतोऽर्थः व्रियता मित्युक्ते सति वां युवाभ्याम्; शेषषष्ठीयम्। मादृशस्सुतः पुत्रो वृतः याचितः[11]॥ ३७, ३८॥

1. K.W. omits मङ्गल 2. B. adds सति 3. K.W. omits आज्ञप्तौ 4. K.W. omit उत्कृष्टं 5--5 K.W. omit 6. B. add अभि
7--7 K. omits 8. K.W. omit वर्षाणि 9. B. adds प्रादुर्भूतोऽभवमित्यर्थः। 10. K. omits ततः 11. K.W. omit याचितः

**विज०** अहं युवयो स्तपः प्रभावात् आविर्भावमकरवम्, नतु कर्माधीनत्वेनेति पूर्वजन्मसञ्चीर्ण तपोमाहात्म्यं कथयति **त्वमेवेति**। अयं वसुदेवः॥ ३२॥

प्रजासर्गे तादर्थ्ये सप्तमी। ततस्तदा॥ ३३॥

अनुक्रमेण वर्षादिगुणान्सहमानौ। श्वासरोधः प्राणायामस्तेन॥ ३४॥

शीर्णपर्णं वायुनापतित पत्रम्। कामान् पुत्रादिलक्षणान्॥ ३५॥

वां युवयोः॥ ३६, ३७॥

वरदराट् वरदराजः। कामदित्सया अभीष्टदानेच्छया॥ ३८॥

**अजुष्टग्राम्य विषया वनपत्यौ च दम्पती।**
**न वव्राथेऽपवर्गं मे मोहितौ मम[1] मायाया॥ ३९॥**

**गते मयि युवां लब्ध्वा वरं मत्सदृशं सुतम्।**
**ग्राम्यान्भोगानभुञ्जाथां[2] युवां प्राप्तमनोरथौ॥ ४०॥**

**★ अ दृष्ट्वाऽन्यतमं लोके शीलौदार्य गुणै स्समम्।**
**अहं सुतो वा मभवं पृश्निगर्भ इति श्रुतः[3]॥ ४१॥**

**तयोर्वां पुनरेवाऽह मदित्यामास[4] कश्यपात्।**
**उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः॥ ४२॥**

**तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं वै तेनैव वपुषाऽनघे![5]**
**जातो भूय स्तयो रेव[6] सत्यं मे व्याहृतं सति॥ ४३॥**

**एतद्वां दार्शितं रूपं प्राग्जन्म स्मरणाय मे।**
**नाऽन्यथा मद्भवं[7] ज्ञानं मर्त्यालिङ्गेन जायते[8]॥ ४४॥**

**युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चाऽसकृत्[9]।**
**चिन्तयन्तौ कृत स्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम्॥ ४५॥ ★**

---

1. B.J. देव 2. M. °यु° ★ This verse is not found in V. edn. 3. M. स्मृतः। 4. K. °माशु, V. °मथ। 5. B.G.J. °ऽथ वाम्; K.W. युवाम् 6. M. °वं 7. K.M.W. व 8. M. जन्यते। 9. K.W. वा ★ This extra verse is found in B.J & V. editions only after verse No. 45. It is not commented on by Sridhara, Veeraraghava and Vijayadwaja यदि कंसाद्बिभेषि त्वं तर्हि मां गोकुलं नय। मन्माया मानयाऽऽशु त्वं यशोदागर्भसम्भवाम्॥ ★ The Edn. V. reads this second half thus- यशोदायाश्च तां कन्यां मन्माया मानय द्रुतम्॥
After this extra half verse is found in V.edn. Which reads thus - स्वयं स्यु र्विवृता द्वारो यमुना च सुदुस्तरा।

**श्रीध० अजुष्टेति।** मे मत्तोऽपि युवा मपवर्गं न वव्राथे न वृतवन्तौ॥ ३९॥

**गत** इति। वरदं त्त्वा मयि गते॥ ४०, ४१॥

**तयोरिति।** अदित्यां कश्यपाद्वमन आसेति य त्तदपि तद्रूपयो र्युवयो रहमेव पुनरासमित्यर्थः॥ ४२, ४३॥

**एतदिति।** प्राक् प्रथमं तावत् एतद्रूपं मे जन्मेति स्मरणाय ज्ञानाय दर्शितम्। मद्भवं मद्विषयम्। अनन्तरं त्वदिच्छया बालोऽपि भविष्यामीति भावः॥ ४४॥

ननु त्वयि प्रसन्नेऽपि कथ मावयोः पुनः पुनर्जन्मेति। अतः परं न भविष्यतीत्याह - युवामीति॥ ४५॥

**वीर०** ननु मुक्तिदं भगवन्तं भवन्तं[1] साक्षात्कृत्य मुक्ति रेव[2] न कुतो[3] वृतेत्यत्राऽऽह **अजुष्टेति।** अजुष्टाः[4] असेविताः ग्राम्यविषयाश्शब्दादयो याभ्याम्। न विद्यतेऽपत्यं ययोस्तौ दम्पती युवां मम मायया मोहितौ अत एवं[5] मे मत्तः अपवर्गं मुक्तिं न वव्राथे अननुभूतविषयत्वा दनपत्यत्वान्मन्माया मोहितत्वाच्च नाऽपवर्गं वव्राथे इत्यर्थः॥ ३९॥

मत्सदृशं सुतमेव वरं लब्ध्वा युवां मयिगते सति प्राप्तो मनोरथो याभ्यां तौ तथा भूतौ युवां ग्राम्यान् भोगान् विषयान् अभुञ्जाथाम् अन्वभूतम्॥ ४०॥

तदा अहं रूपादिभिः गुणै स्समं मत्सदृश मन्यतम मदृष्ट्वा "न तत्समश्चाभ्याधिकश्च दृश्यते" (श्वेता. उ. 6-8) न त्वत्समोस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः" (भ.गी. 11-43) इत्युक्तरीत्या मत्सदृश पुरुषान्तराभावं दृष्ट्वा अहमेव वां युवयोः सुतोऽभवम्। तदाऽहं पृश्नि गर्भ इति स्मृतः पृश्ने स्तव गर्भ भूतत्वात् तथा प्रसिद्धः॥ ४१॥

तयोः पृश्नि सुतपसोरेवानन्तराजन्मनि कश्यपादितिरूपेण जातयो र्वां युवयो रथ कश्यपाददित्या मह मासं पुत्रोऽभूवम्। उपेन्द्र इति विख्यातः प्रसिद्धः, इन्द्रानुजत्वादिति भावः तथा वामनत्वात् ह्रस्वमूर्तित्वात् वामनश्चेति विख्यातोऽभूवम्॥ ४२॥

एवं जन्मद्वयमुक्तम्। अथ तृतीयं जन्मेदमेवेत्याह अस्मिंस्तृतीये भवे जन्मनि तयो रेवादिति कश्यपयोरेवैत द्रूपेण जातयोः युवयोः[6] तेनैव चतुर्भुजादि मता वपुषा भूयोऽहं जातः हे सति ! मे मम व्याहृतं भाषितं सत्यमेव हि॥ ४३॥

वां युवाभ्याम् एतच्चतुर्भुजादिमद्रूपं दर्शितं, किमर्थम्? ते तव प्राग्जन्म स्मरणाय पूर्वमप्यावयोरयमेवोत्पन्न[7] इति ज्ञापनार्थम्। अन्यथा प्रदर्शिते रूपदर्शनाभावे च मद्भवज्ञानं मदवतार ज्ञानं मर्त्यानां युष्माकं न जायते। मद्भव मिति पाठे मद्विषयकं मदवतार विषयकमिति यावत्॥ ४४॥

नन्वेवमपि कथमावयो र्मुक्तिः स्यादित्याह[8] **युवामिति।** असकृत्पुत्रभावेनाऽपि[9] सकृदपि वा ब्रह्मभावेन परब्रह्मत्वेन मां स्मरन्तौ युवां कृतो मयि निबद्धः स्नेहो ययोस्तौ परामुत्कृष्टां मद्गतिं यास्येथे॥ ४५॥

1. K.W. omit भवन्तं 2. B. adds आभ्यां 3. B. किं 4. B. adds जायापती 5--5 K.W. omit 6. K. omits युवयोः 7. B. °रेष ए° 8. B °त्यत्राह 9. K. यास्यथः।

**विज०** अजुष्टग्राम्य विषयौ अननुभूत मैथुनादि विषयौ॥ ३९, ४०॥

शीलम् वृत्तम्, औदार्यं माहात्म्यम्॥ ४१॥

वामनत्वात् सुन्दरत्वात्, ह्रस्वत्वाद्वा॥ ४२॥

तृतीये भवे जन्मनि॥ ४३॥

मद्भव ज्ञानं मज्जन्मविषयक ज्ञानम्। मर्त्यलिङ्गेन मनुष्यशरीरेण॥ ४४॥

यास्येथे गमिष्यथः॥ ४५॥

श्रीशुक उवाचञ्च

इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरि स्तूष्णीं भगवानात्ममायया।
पित्रोः सम्पश्यतो स्सद्यो बभूव प्राकृत श्शिशुः॥ ४६॥

ततश्च शौरि र्भगवत्प्रचोदितः सुतं समादाय स सूतिकागृहात्।
यदा बहिर्गन्तु मियेष तर्ह्यजा या योग मायाऽजनि नन्द जायया॥ ४७॥

तयाहृतप्रत्यय सर्ववृत्तिषु द्वाःस्थेषु पौरेषु[1] च शायितेष्वथ[2]।
द्वार स्तु सर्वाः पिहिता दुरत्यया बृहत्कवाटायस कील[3] शृङ्खलैः[4]॥ ४८॥

ताः कृष्णवाहे वसुदेव आगते स्वयं व्यशीर्यन्त[5] यथा नमो खौ[6]।
ववर्ष पर्जन्य उपांशु गर्जितः शेषोऽन्वगाद्वारि निवारयन्फणैः॥ ४९॥

मघोनि वर्षत्यसकृद्यमानुजा गम्भीरतोयौ घजवोर्मिफेनिला।
भयानकावर्त शताकुला नदी मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रियः पतेः॥ ५०॥

नन्दव्रजं शौरि रुपेत्य तत्र तान् गोपान्प्रसुमानुपलभ्य[7] निद्रया।
सुतं[8] यशोदाशयने निधाय तत्सुतामुपादाय पुनर्गृहानगात्॥ ५१॥

देवक्याश्शयने न्यस्य वसुदेवोऽथ दारिकाम्।
प्रतिमुच्य पदो लौहमास्ते[9] पूर्ववदावृतः॥ ५२॥

यशोदा नन्दपत्नी च जातं पर मबुध्यत।
नतल्लिङ्गं परिश्रान्ता निद्रयाऽपगत स्मृतिः॥ ५३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैय्यासिक्यां अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

1. B.G.J. °एवपि 2. M. यापिते° 3. B.G.J.M °पा° 4. K.W. कीलशृङ्खलाः, V. शृङ्खलैः किल। 5. B.G.J. व्यवर्यन्ता 6. B.G.J.M श्वेः। 7. M. °न्सुषप्ता° 8. M.V. शिशुं 9. B.G.J.M. °र्लो°

**श्रीध० तत** इति। यदि[1-] कंसाद्बिभेषि त्वं तर्हि मां गोकुलं नय। "यशोदायाश्च तां कन्यां मन्मायां मानये[-1]" ति प्रथममेव भगवता प्रचोदितो वसुदेवो यदा गन्तुमैच्छ त्तदैव अजाऽपि या योगमाया सा नन्दजायया निमित्तमात्र[2-] भूतया[-2] अजनि जाता॥ ४६, ४७॥

**तयेति।** हृताः प्रत्ययार्थाः सर्वावृत्तयो येषाम् अथवा हृताः प्रत्यया अन्याश्च सर्वावृत्तयो येषां, जाग्रता मपि तथा भूतेषु द्वार पालेषु सत्सु बृहत्कवाटेषु[3] लोह कीलक मुक्तशृङ्खलैः[4] बृहद्भिः कवाटादिभि र्दुरत्यया इति वा॥ ४८॥

**ताः** इति। स्वयमेव व्यशीर्यन्त[5] विवृता इत्यर्थः। व्यव्रियन्तेति[6-] वक्तव्ये गुण च्छान्दसः[-6]। रवे र्निमित्तात्[7]॥ ४९॥

**मघोनीति।** गम्भीरो यस्तोयौघः तस्य जवेन ये[8] ऊर्मय स्तैः फेनिला फेन व्याप्ता। भयानकै रावर्तशतै र्व्याप्ताऽपि। श्रियःपतेः सीतापतेः॥ ५०॥

**नन्दव्रजमिति।** निद्रया अजया॥ ५१॥

**देवक्या** इति। प्रतिमुच्य बद्धा। पदोः पादयोः। लौह[9] निगडम्। आस्ते स्म॥ ५२॥

**यशोदेति।** जातं किञ्चिदिति केवलम् अबुध्यत, नतु त[10]लिङ्गं, पुत्रः कन्यावेति। योगनिद्रया च मोहितेति॥ ५३॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

1- -1. V "यदि कंसाद्बिभेषि त्व" मित्यादिना। 2- -2. V. omits 3. B.J. बृहत्सु कपा° 4. B.J. कपा° 5. B.J. व्यवर्यन्त 6- -6. V. omits 7. V. °त्तभूतात् 8. V. omits ये 9. B.J लोहं 10. V. omits तलिङ्गं

**वीर०** इतीत्थमुक्त्वा हरिः तूष्णीं बभूव। ततः पित्रो र्देवकी वसुदेवयोः सम्पश्यतो स्सतोरेव सद्य स्तदैव स्वाधीनमायया[1-] भगवान् षाड्गुण्य पूर्णः[-1] प्राकृतः मानुषः शिशुर्बभूव बालरूपो[2-] बभूवेत्यर्थः[-2]॥ ४६॥

ततो शि[3-]शुभावनानन्तरं[-3] भगवता शिशुरूपेण प्रचोदित आदिष्टः स शौरिः वसुदेवः तं सुत मादाय सूतिका गृहाद्बहि र्यदा गन्तु मियेष ऐच्छत् तर्हि तदा व्रजे नन्दस्य जायया यशोदया अजा प्रकृत्यभिमानिनी योगमाया शक्ति रजनि[4] जनेः कर्माणि चिणः परस्य तशब्दस्य लुक्॥ ४७॥

[5]तया योगमायया हृताः प्रत्ययाः बुद्धयः सर्ववृत्तयः तत्पूर्वक सर्वेन्द्रिय व्यापाराश्च येषां तेषु, अत एव सर्वेषु द्वाःस्थेषु द्वार पालेषु पौरेषु जनेषु च शायितेषु निद्रितेषु सत्सु अथ बृहन्ति कवाटेषु आयसा न्ययोमयानि कीलानि परस्परबन्धक शङ्कुविशेषात्मकानि शृङ्खलाश्च यासु ताः। तृतीयान्त पाठे बृहद्भिः कवाटै आयस कीलैः शृङ्खलैः पिहिता इति वा। अत एव दुरत्यया दुरतिक्रमाः याः द्वारः द्वाराणि॥ ४८॥

तास्सर्वाः कृष्णवाहे कृष्णं वहतीति तथा तस्मिन् वसुदेवे आगते सति स्वय मेव व्यशीर्यन्त विवृता बभूवुः। यथा रवौ सूर्ये उदिते सति तमोन्धकारो विशीर्यते तद्वत्। रवे रिति पाठे रवे स्सकाशात्। तदा पर्जन्य उपांशुगर्जितः मन्दगर्जितो ववर्ष पौराणामप्रबोधनार्थ मिति भावः। शेषोऽनन्त फणै र्वारि वर्षजलं[6] निवारयन्नन्वगात् अनुययौ॥ ४९॥

असकृन्मेघे नितरां वर्षति सति गम्भीरस्य जलपूरस्य जवेन ये ऊर्मयः तैः फेनिलाः फेनान्यस्या स्सन्तीति तथा भयङ्कराणा मावर्तानां शतैः आकुला व्याप्ताऽपि यमानुजा यमुना नदी मार्गं वसुदेवाय[7] ददौ यथा सिन्धु स्समुद्रः श्रियःपतेः सीतापतेः[8] ददौ तद्वत्॥ ५०॥

तत श्शौरि र्वसुदेवो नन्दव्रजमुपेत्य तत्र योगमायया हेतु भूतया नितरां सुप्तान् तान्नन्दादीन् गोपानुपलभ्य ज्ञात्वा यशोदाया श्शयने शय्यायां स्वसुतं निधाय तस्या यशोदाया स्सुतां मायात्मिका मादाय पुनः गृहान्[9] अगात्॥ ५१॥

ततस्तां दा[10]रिकां बा[11]लिकां देवक्याश्शयने न्यस्य निधाय पूर्ववच्छृङ्खलां पादयोः कृत्वा आबध्य आवृतः पिहितकवाटस्सन्नाऽऽस्ते आ[12]स्त पूर्ववदवर्तत। प्रतिमुच्य, पदोर्लौहं मिति पाठे लौहं लोहमय निगलं पदोः पादयोः प्रतिमुच्य पुनर्धृत्वेत्यर्थः॥ ५२॥

[13]नन्दपत्नी यशोदातु जात मपत्यं पुत्रं परमबुध्यत, तत्पुरुषमात्र मबुध्यत, नतु तल्लिङ्गं तद्गतचिह्नानि। तत्र हेतुः, परिश्रान्ता तत्राऽपि हेतुः निद्रया मायाशक्युपबृंहिततया निद्रया। अपगतास्मृति र्यस्या स्तथा। यद्वा जातमपत्यं न सुतं नापि कन्याञ्चाऽबुध्यत। किन्तु जात्रमात्रं अबुध्यत। तत्र हेतुः त[14-]लिङ्गे परिश्रान्ता[-14] तल्लिङ्गे स्त्रीपुंसाऽन्यतर चिह्न परामर्शे परिश्रान्ता तत्र हेतुः निद्रया अपगत स्मृतिः पूर्ववदर्थः॥ ५३॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघव विदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

1- -1. K.W.omit 2- -2. K.W. omit 3- -3. K.W. omit 4. B. adds जनिता 5. B. adds तदा 6. K.W. omit वर्ष 7. K.W. omit वसुदेवाय 8- -8. B. सीतायाः पते श्रीरामचन्द्रस्य 9. B adds स्वनिवास भवनानि 10. K.W. omit दारिकां 11. B. पुत्रीं 12. B. omits आस्त 13. B. नन्दस्य 14- -14. B. omits

**विज०** प्राकृतवत् नतु प्राकृत: ॥ ४६ ॥

इयेष गन्तुमैच्छत् नन्दजायया नन्दजायायां तर्हि तदा ॥ ४७ ॥

योगमायया हृता: प्रत्ययानां ज्ञानहेतूनां इन्द्रियाणां सर्वा वृत्तयो येषु ते तथा, तेषु निद्रया मुग्धेष्वित्यर्थ:, चशब्दात् पौरेषु निद्रां यापितेषु प्रापितेषु सत्सु मन्त्रौषाधादिभि र्दुरत्यया: सर्वा द्वारश्च बृहत्कपाटायस कील श्रृङ्खलै: पिहिता:, बृहद्भि: कपाटै: अयोमयै: अर्गलै: श्रृङ्खलैश्च ॥४७।

कृष्णवाहे[1] कृष्णं बिभ्राणे, ता: कपाटद्वार: व्यशीर्यन्त विवृता:। यथा तम: रवे. रुदये उपांशु रहसि अन्वगात्। पृष्ठत: अयासीत्। फणा शब्द: उभयलिङ्ग: "फणाद्वयो:" (अम. को. 1-229) इत्यमर: ॥ ४९ ॥

मघोनि इन्द्रे यमानुजा यमुना, तोयौघजव: जलप्रवाह वेग: तद्युक्ता ऊर्मयो यस्यां सा तथा फेनिला फेनवती गम्भीरा च तोयौघ जवोर्मिश्च फेनिला च सा तथेति, भयानका भयङ्करा आवार्ता पयसां भ्रमा: तेषां शतै: आकुला: श्रिय:पते दशरथरामस्य सिन्धु: समुद्रइव ॥ ५० ॥

नन्दव्रजं नन्दगोकुलं उपलभ्य दृष्ट्वा निद्रया दुर्गया सुषुप्तान्। गृहानिति बहुवचने पुंलिङ्ग: "गृहा: पुंसि च भूम्नेव" (अम. को. 2-23) इत्यमर:। "गृहशब्दस्य भार्या वाचित्वेन नपुंसकत्वम्। तद्व्यावृत्त्यर्थं बहुवचनम् ॥ ५२ ॥

दारिकां कन्यकाम् ॥ ५२ ॥

परं केवलं जातं अबुध्यत, तस्य जातस्य लिङ्गं स्त्रीपुरुष विवेक लक्षणम् नाऽज्ञासीत्। तत्र निमित्तमाह परिश्रान्तेति। प्रसूति वेदनयेति शेष: ॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां तृतीयोऽध्याय: ॥ ३ ॥

(विजयध्वजरीत्या चतुर्थोऽध्याय:।)

1. M.Ma, आ°

# चतुर्थोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या पञ्चमोध्यायः)

श्रीशुक उवाच

बहिरन्तःपुरद्वारः सर्वाः पूर्ववदावृताः।
ततो बालध्वनिं श्रुत्वा गृहपालास्समुत्थिताः॥ १॥
ते तु तूर्णमुपव्रज्य देवक्या गर्भजन्म तत्।
आचख्यु र्भोजराजाय यदुद्विग्नः प्रतीक्षते॥ २॥
स तल्पात्तूर्णमुत्थाय कालोऽयमिति विह्वलः।
सूतीगृहमगात् शीघ्रं[1] प्रस्खलन् मुक्तमूर्धजः॥ ३॥
तमाह भ्रातरं देवी कृपणा करुणं सती।
स्नुषेयं तव कल्याण स्त्रियं मा हन्तुमर्हसि॥ ४॥
बहवो हिंसिता भ्रातः[2] शिशवः पावकोपमाः।
त्वया दैवनिसृष्टेन[3] पुत्रिकैका प्रदीयताम्॥ ५॥
नन्वहं ते ह्यवरजा दीना हतसुता प्रभो !
दातुमर्हसि मन्दाया अङ्गेमां[4] चरमां[5] प्रजाम्॥ ६॥

1. B,G,J,V तूर्णं 2. V. ह्यङ्ग ! 3. V. दे° 4. V ममेमां 5. K,V,W °मप्र°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुर्थे चण्डिकावाक्यमाकर्ण्यातिभयाकुलः।
दुर्मन्त्र्यभिहितं मेने कंसो बालादि हिंसनम्॥

**त इति**। तदष्टमं जन्म॥ १,२॥

**स** इति। कालो मृत्युः॥ ३,४॥

**बहव** इति। अङ्ग! हे भ्रातः!॥ ५, ६॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं भगवदवतारं सप्रपञ्चं[1] प्रस्तुत्य अथ ततः प्रभृति कंसोद्योगं प्रस्तौति - **बहिरिति**। यदा वसुदेवः पूर्ववदास्त तदा बहिरन्तश्च सर्वाः पुरस्य[2] द्वारः द्वाराणि पूर्ववदेवाऽऽवृताः पिहिताः ततो बालध्वनिं शिशुध्वनिम्[3]। आकर्ण्य गृहपालाः वसुदेवोधिष्ठितकारागृहपालाः समुत्थिता बभूवुः॥ १॥

ते च अतितूर्णमुपव्रज्य कंससमीपमेत्य देवक्या गर्भजन्म गर्भस्थशिशूत्पत्तिं भोजराजाय कंसाय आचख्युः। कथम्भूतम्? यद्गर्भजन्मैव समुद्विग्नो मृत्यु भयभीतः कंसः प्रतीक्षते तथाभूतमित्यर्थः॥ २॥

स भोजराजः कालोऽयमिति अयमेव तद्वधकालः। अन्यथा प्रवर्धितो मामेव हन्यादिति बुद्ध्या तूर्णं तल्पात् शयनादुत्थितो विह्वलः कातरः अनवहित इति यावत्, अत एव प्रस्खलन् विक्षिप्तप्रगतिः मुक्ता विक्षिप्ता मूर्धजाः केशा यस्य तथाभूतः शीघ्रं सूतिकागृहमगात् ययौ॥ ३॥

तम्, आगतं भ्रातरं कंसं देवी सती देवकी कृपणा दीना करुणं यथा तथा उवाच। तदेवाह - स्नुषेयमिति सार्धद्वयेन। कल्याण! तवेयं स्नुषा भगिनीसुता एनां स्त्रियं हन्तुं त्वं नार्हसि। दैवनिसृष्टेन दैवप्रेरितेन देवेन मत्पुत्रमृत्युतया कल्पितेन इत्यर्थः[4]। त्वया[4] बहवः पावकवत् प्रकाशमानाः मम शिशवो हताः। हे भ्रातः! इयम् एका पुत्रिका प्रदीयताम्॥ ४, ५॥

ननु हे भ्रातः अहं तव अवरजा कनीयसी दीना च, हताः सुताः यस्याः तथाभूता च। अतो हे प्रभो! अङ्ग! हे भ्रातः! मन्दभाग्याया मम एकां चरमां अन्त्यां[5] प्रजां[5] कन्यकां[6] दातुमर्हसीति॥ ६॥

1. K,W. omit सप्रपञ्चं 2. B. पुरद्वारः 3. B. रोदनं 4--4 K,W. omit 5--5 K,W. omit 6. B. कन्यां

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

देवानां देवस्वभावः असुराणामसुरस्वभावः, मध्यमानां मिश्रस्वभावः दुस्त्यज इत्येतदर्थकं प्रतिपाद्यते अस्मिन्नध्याये। तत्र कंसादिषु सन्तोऽसन्त इति द्विजीवाः सन्ति। तदुक्तम् — "पूतना कंस नरक शिशुपालादिषु द्विधा। जीवास्सन्तस्त्वसन्तश्च तत्र बन्ध्वादिरूपिणः॥ विष्णोः सन्त इति ज्ञेया असन्तः शत्रुरूपिणः। शुभजीवप्रकाशेन कदाचिच्छुभबुद्धयः" (गारुडे) इत्यादि। तत्र असतां स्वभावं दर्शयितुमुपक्रमते **बहिरन्त** इति। बालध्वनिं रोदनम्॥ १॥

यस्माद्गर्भात् उद्विग्नः भीतः॥ २॥

सूतीगृहमिति दीर्घश्छान्दस: वैलक्षण्यद्योतको वा॥ ३॥

करुणं दयाजनकं वचनमिति शेष:। स्नुषा पुत्रभार्या॥ ४॥

दैवेन निसृष्टेन प्रेरितेन॥ ५॥

चरमां प्रजां अवरसन्ततिम्॥ ६॥

श्रीशुक उवाच

उपगूह्यात्मजामेवं[1] स्रदत्या[2] दीनदीनवत्।
याचितस्तां विनिर्भर्त्स्य हस्तादाचिच्छिदे खल:॥ ७॥
तां गृहीत्वा चरणयोर्जातमात्रां स्वसुस्सुताम्।
अपोभयच्छिलापृष्ठे स्वार्थोन्मूलितसौहृद:॥ ८॥
सा तद्धस्तात् समुत्फत्य[3] सद्यो देव्यम्बरं गता।
अदृश्यतानुजा विष्णो: सायुधाष्टमहा भुजा॥ ९॥
दिव्य स्रगम्बरालेपरत्नाभरणभूषिता।
धनुश्शूलेषुचर्मासिशङ्खचक्रगदाधरा॥ १०॥
सिद्धचारणगन्धर्वै: अप्सर:किन्नरोरगै:।
उपाहृतोरु बलिभि: स्तूयमानेदमब्रवीत्॥ ११॥

[4]देव्युवाच[4]

किं मया हतया मन्द जात: खलु तवान्तकृत्[5]।
यत्र क्वचित्[6] पूर्वशत्रुमाहिंसी: कृपणान्[7] वृथा॥ १२॥
[8]इति प्रभाष्य तं देवी माया भगवती भुवि।
बहुनामनिकेतेषु बहुनामा बभूव ह॥ १३॥

1. B,G,J,M गु° 2. B,K,M,W स्रदन्त्या; V वदन्त्या 3. M. °त्प्लुत्य 4- -4. B,G,J,K,M,W omit 5. M °क: 6. B,G,J क्व वा 7. M,V °णां 8. V. एवं

**श्रीध० उपगूह्येति।** दीनदीनवत् दीनादपि दीनवत्, न तु तथा; पुत्रस्यान्यत्र नीतत्वात्, सा च योगमायेति ज्ञातत्वाच्च। याचितोऽपि आचिच्छिदे [1]हस्तात् आकृष्य जग्राह॥७॥

**तामिति।** अपोथतत् बलेन चिक्षेप॥८॥

**सेति।** सद्य एव देवी भूत्वा॥९ - ११॥

**किमिति।** मा मां कृपणां वृथा अहिंसीः हिंसीतवानसि। कृपणानिति पाठान्तरे अन्यानपि शिशून् हनिष्यतीति ज्ञात्वा वारयतीति॥१२॥

**इतीति।** बहु[2]नामसु निकेतेषु वाराणस्यादिस्थानेषु॥१३॥

1. V omits हस्तात् 2. B,J नामनि°

**वीर०** इत्थमात्मजामुपगूह्य उरसि बाहुभ्यां संवेष्ट्या दीनदीनवत् दीनादपि दीनस्तद्वत् नितरां दीनवत् इत्यर्थः। वत्करणेन स्वसुतस्यान्यत्र स्थितत्वात् वस्तुतो दैन्याभावस्सूच्यते। रुदन्त्या तथा याचितोऽपि खलो दुरात्मा कंसः तां विनिर्भर्त्स्य हस्तात् आचिच्छिदे हृतवान्॥७॥

तां जातमात्रामेव न तु कृतनालच्छेदामित्यर्थः। भगिन्याः सुतां चरणयोः गृहीत्वा स्वप्रयोजनार्थं त्यक्तभगिनीतत्सुतास्नेहः शिलापृष्ठे अपोथयत् अताडयत्॥८॥

सा विष्णोः अनुजा कन्या तस्य कंसस्य हस्तात् समुत्पत्य ऊर्ध्वमुत्पत्य सद्य एव देवी स्वस्वरूपं बिभ्रती सती अम्बरमाकाशं गता अधिष्ठिता अदृश्यत। कंसादिभिः दृष्टा बभूव। [1]कथम्भूता? आयुधैः सहिता अष्टौ महान्तो भुजा यस्याः॥९॥

दिव्यस्रगादिभिः भूषिता अम्बरं वस्त्रम्। आयुधान्येव दर्शयन् विशिनष्टि - धनुरादीन् बिभ्रतो तथा उपाहृताः समर्पिताः, बलयः उपायनानि यैस्तैः, सिद्धादिभिः स्तूयमानेदं वक्ष्यमाणमब्रवीत्॥१०, ११॥

तदेवाह - **किमिति** । हतयाऽपि मया तव किं प्रयोजनम्? न किञ्चिदपि। हे मन्द ! तव अन्तकृत् नाशकृत् पूर्वशत्रुरशरीरवाण्या पूर्वमुक्तश्शत्रुः यत्र क्वचित्प्रदेशे जात एव खलु, इत ऊर्ध्वं जनिष्यमाणानपि शिशून् हन्यादिति सम्भाव्य वारयति, कृपणान् शिशून् वृथा मा हिंसीः॥१२॥

इति इत्थं तं[2] कंसं प्रभाष्य सा भगवती पूज्या माया देवी भुवि बहुनामनिकेतेषु नानासंज्ञकस्थानेषु बहूनि भगवदुक्तानि दुर्गादीनि नामानि यस्याः तथाभूता बभूव। हेत्याश्चर्ये॥ १३॥

. B. कीदृशी? 2. K,W. omit तं

**विज०** आचिच्छिदे आकृष्टवान्॥ ७॥

अपोथयत् अताडयत्। स्वार्थेन स्वप्रयोजनेन उन्मूलितं उत्पाटितं सौहृदं स्नेहलक्षणं यस्य स तथा॥ ८॥

अदृश्यत जनेनेति शेषः॥ ९, १०॥

उरवः बलयः पूजा यैस्ते तथा तैः॥ ११॥

त्वया हतया मृतया तव कोऽर्थ इति शेषः। कुत इत्यत्राह - जात इति खलु विचारशून्यस्त्वम्॥ १२॥

माया भगवती दुर्गा इतिशब्द आदिवचनः इत्यादीत्यर्थः। "इति हेतुप्रकरणप्रकारादिसमाप्तिषु" (वैज.को. 8-7-17) इति यादवः॥ १३॥

**तथाऽभिहितमाकर्ण्य कंसः परमविस्मितः।**
**देवकीं वसुदेवं च विमुच्य प्रश्रितोऽब्रवीत्॥ १४॥**
**अहो भगिन्यहो भाव[1] मया वां बत पाप्मना।**
**पुरुषादैरिवाभ्येत्य[2] बहवो हिंसितास्सुताः॥ १५॥**
**स त्वहं त्यक्तवारुण्यः त्यक्तज्ञातिसुहृत्खलः।**
**कांस्तु[3] लोकान्[-3] गमिष्यामि ब्रह्मदेव मृतःश्वसन्॥ १६॥**
**दैवमप्यनृतं वक्ति न मर्त्या एव केवलम्।**
**यद्विस्रम्भादहं[4] पापः स्वसुर्निहतवान् शिशून्[5]॥ १७॥**
**मा शोचतं[6] महाभागौ आत्मजान् स्वकृतम्भुजः।**
**जन्तवो न सदैकत्र दैवाधीनाः सहासते[7]॥ १८**
**भुवि भौमानि भूतानि यथा यान्त्यपयान्ति च।**
**नायमात्मा तथैतेषु विपर्यति यथैव भूः॥ १९॥**

1. B,G,J,M भाम 2. B.G.J, °द इवापत्यं; K,W °द इवोपेत्य 3- -3. B,G,J कान् लोकान् वै; M हा कान् लोकान् 4. B,G,K, M °श्र° 5. M सुतान् 6. M. शोचेथां 7. B,G,J तदाऽऽसते

**श्रीध० तयेति** परमविस्मितः कथं दैवी वागनृता जातेति॥ १४॥

**अहो** इति। भाव[1]! भगिनीभर्तः! पुरुषादो राक्षसो यथा स्वापत्यमेव हिनस्ति तद्वत्॥ १५ - १७॥

**माशोचतमिति।** हे महाभागौ! स्वकृतम्भुजः स्वारब्धकर्मभोक्तन्। स्वा[2]त्मजान् माशोचत[2], किञ्च जन्तवः प्राणिनः सदा नाऽऽसते किन्तु अल्पकालमेवा[3]ऽसते। तथाऽपि एकत्र नाऽऽसते किन्तु वियुज्यन्ते, यतो दैवाधीनाः॥१८॥

सदा नाऽऽसत[4] इति यदुक्तं जन्ममरणादि तदपि देहानामेव न आत्मन इत्याह **भुवीति।** भूतानि देहा एव यान्ति अ[5]पयान्ति च भवन्ति न भवन्ति चेत्यर्थः। यथा भुवि भौमानि घटादीनि तद्वत्। एतेषु भूतेषु जन्मादिभिः विक्रियमणेषु अयमपरोक्षतया प्रत्यभिज्ञायमान आ[6]त्मा न विपर्येति विपर्ययं न प्राप्नोति एकरूप एव वर्तत इत्यर्थः। भौमेषु विक्रियमाणेषु यथा भूः तथेति॥ १९॥

1. B,J. भाम। 2- -2. V. omits 3. B,J. omit आसते 4. B,J. add अनेन 5. V. omits अपयान्ति 6. B,J. omit आत्मा

**वीर०** ततः तया मायया अभिहितमाकर्ण्य कंसः सुतरां विस्मितः देवकीं वसुदेवं च विमुच्य निगलात् निर्मोच्य विनीत इदमब्रवीत्॥ १४॥

तदेवाह - **अहो** इति सार्धैः अष्टभिः। भगिनीपतिः भावः। पुरुषाद इव राक्षस इव राक्षसेनेवेत्यर्थः। विभक्तिव्यत्यय आर्षः। उपेत्य समीपमेत्य, मया पाप्मना पापात्मना, वां युवयोः, बहवस्सुताः हिंसिताः। बतेति खेदे॥ १५॥

स तु त्वत्पुत्रहन्ता अहन्तु त्यक्तं कारुण्यं येन, त्यक्ता ज्ञातयः सुहृदश्च येन, तथाभूतः अत एव खलः। अत एव कांस्तु लोकान् प्राप्स्यामि,[1] केवलं स्थावरतां गमिष्यामीति भावः। अत एव ब्रह्महेव श्वसन् जीवन्नपि मृतः मृततुल्यः॥ १६॥

पूर्वन्तु "अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता" (भाग. 10-1-34) इति दैवमुवाच। इदानीं तु यत्र क्वचित् तव मृत्युर्जात एवेति श्रुतम्। अतो मानुषवत् दैवमप्यनृतं वक्तचेव। यस्यैव वचने विश्वासात् अहं भगिनीसुतान् हतवान् इदमतिजुगुप्सितं कर्म कृतवानस्मि किल॥ १७॥

अथापि महाभागौ विवेकिनौ युवां, आत्मजान् प्रति मा शोचतं शोकं मा कार्ष्टं, तेषामशोच्यत्वं सूचयितुं ।शिनष्टि। स्वकृतम्भुज: स्वकृतकर्मफलभोक्तॄन् जन्तव: दैवाधीना: स्वस्वकृतकर्मानुगुणप्रवृत्तदैववश्या: अत एव सदैकत्र नाऽऽसते ।वतिष्ठन्ते, किन्तु तत्तत्कर्मानुगुणजन्ममरणादिभाजो भ्रमन्ति॥ १८॥

सदासहानवस्थाने दृष्टान्तमाह यथा भुवि भौमानि रजांसि यान्ति अपयान्ति अपगच्छन्ति तद्वत् भूतान्यपि कर्मवशात् क्वचित् संयुज्य पुन: वियुज्यन्ते, भौमानां गमनागमनाद्यवस्थावत्त्वेऽपि यथा न भुव: तथा त्वं, तथा शरीरेषु जन्ममरणादिविकारवत्स्वपि तद्धारकतयाऽवस्थित आत्मा जीव: न विपर्येति विपर्ययं न प्राप्नोति नान्यथाभवनं गच्छति, किन्तु एकरूपतया नित्यतया च अवतिष्ठत इत्यर्थ:। जन्ममरणाद्यवस्थावत्वस्वाभाव्यात् देहा न शोच्या:, नाप्यात्मा विक्रियाभावान्नित्यत्वाच्चेति भाव:॥ १९॥

1. B. adds नरकानपि न गमिष्यामि

**विज०** सतां स्वभावं दर्शयति **तथाऽभिहितमिति** ॥ १४॥

बत खेदे। बहवो राक्षसा: यत्क्रूरकर्म कुर्वन्ति सम्भूय तन्मया एकेन कृतमित्यत: पुरुषादैरिति बहुवचनम्॥ १५॥

ब्रह्महा ब्राह्मणं हतवान्, मृत: श्वसन् जीवन्मृत:॥ १६, १७॥

स्वकृतम्भुज; स्वकृतादृष्टभुज इति यत्तन्मा शोचेथां। इतोऽपि शोको न कर्तव्य इत्याह - जन्तव इति। कीटादि प्राणिन:॥ १८॥

नन्वेवं तर्हि देहस्थस्य परमात्मनोप्यागमनापायौ स्यातामिति तत्राह - **भुवीति।** यथा भुवि भौमानि पार्थिवानि भूतानि चतुर्विधानि आयान्ति अपयान्ति च। तथैतेषु भूतेषु स्थितोऽयमात्मा परमात्मा न विपर्येति आगमापायौ नाप्नोति[1]। कथम्? यथा भूरागमनापायौ नाप्नोति तथेत्यर्थ:। यथा भूतानि उद्भूतानि भौमानि रजांसि आयान्ति अपयान्ति वायुर्नेति शेष:। अयमात्मा तथा न, अनन्याधीनत्वात्। अन्वयदृष्टान्तमाह - यथा भू: पृथ्वी, कठिनत्वेन स्थिरत्वादिति शेष:॥ १९॥

1. B न प्राप्नोति

**यदा नैवंविधो भेदो[1] यत आत्मविपर्यय:।**
**देहयोगवियोगौ[2] च संसृतिर्न निवर्तते॥ २०॥**
**तस्माद्भद्रे स्वतनयान् मया व्यापादितानपि।**
**मानुशोच[3] यत: सर्व[4]: स्वकृतं विन्दतेऽवश[5] ॥ २१॥**

यावद्धतोऽस्मि हन्तास्मीत्यात्मानं मन्यतेऽस्वदृक्।
तावत्तदभिमान्यज्ञो बाध्यबाधकतामियात्॥ २२॥
क्षमध्वं मम दौरात्म्यं साधवो [6]बन्धुवत्सला:।
इत्युक्त्वाऽश्रुमुख: पादौ [7]स्यालस्वस्रोरथाग्रहीत्॥ २३॥
[8]मोचयामास निगलाद्विस्र[9]ब्ध[10]: कन्यकागिरा।
देवकीं वसुदेवं च दर्शयन्नात्मसौहृदम्॥ २४॥
भ्रातुस्स[11]मनुतप्तस्य क्षा[12]न्त्वा रोषं च देवकी।
व्यसृजद्वसुदेवश्च प्रहस्य तमुवाच ह॥ २५॥
एवमेतन्महारा[13]ज यथा वदसि देहिनाम्।
अज्ञानप्रभवा[14]ऽहंधी: स्वपरेति भिदा यत:॥ २६॥
शोकहर्षभयद्वेष लोभमोहमदान्विता:।
मिथो घ्नन्त[15]ं न पश्यन्ति भावैर्भाव[16] पृथग्दृश:॥ २७॥

[17-]श्री शुक उवाच[-17]

कंस एवं प्रसन्नाभ्या वि[18]स्रब्धं प्रतिभाषित:।
देवकी वसुदेवाभ्यामनुज्ञातोऽविशद्गृहम्॥ २८॥

1- -1. B.G.J. यथाऽनेवंविदो भेदो; M यतोऽनेकविधोऽभेदो; V यथा नैवंविधो भेदो 2. M वियोगश्च; V. नियोगश्च; K.W. वियोगैश्च 3. K.W. °चयतं 4. V. सर्वे 5- -5. V. भुञ्जतेऽवशा: 6. B.G.J. दीन 7. B.G.J. श्याल:; M श्याल°; V. स्याल: 8. M°क्ष° 9. B.G.J. M °डा° 10. B.G.J. °श्र° 11. M °र्वचनमाश्रित्य 12. B. क्षान्तरोषा; M क्षान्ता रोषंच; V क्षान्त्या रोषं च 13. B.G.J. भाग 14 M °वा हन्ति 15. M °न्ति 16. M.V.° वान् 17- -17. M.V. omit 18. B.G.J.V विशुद्धं; M. विस्रब्ध:

**श्रीध०** एवं विचार्यमाणे सति न शोकाव[1]काश:। अजानतस्तु न निवर्तत इत्याह **यथेति**। [2]यथा यथावत्। [3]नैवंविद: एवमजानत: आत्मविपर्यय: देहात्मबुद्धिर्भवति। यतो विपर्ययाद्भेदो भवति देहाहङ्कारेण हि आत्मनि परिच्छिन्ने सति अहङ्कारास्पदं भिन्नं भवति। यतो भेदात् पुत्रादिदेहैर्योगश्च [4]वियोगश्च तत: संसृति: सुखदु:खे इति यावत्। अज्ञानं न निवर्तत इत्यर्थ:॥ २०॥

एवमुक्तप्रकारेण न [5]एते तव तनया: अहं तु [6]तान् न [7]हत्वान्। तथाप्यज्ञानदृष्ट्या स्वतनयान् मया व्यापादितानपि मानुशोचयति सान्त्वयति - **तस्मादिति**। अज्ञानाश्रयं [8]कर्म वादमाह - यत इति॥ २१॥

कथं तर्हि ब्राह्मणादिहन्तुः[9] तस्य च प्रायश्चित्तादि[10] श्रवणं अज्ञानमूलमेवेत्याह - **यावदिति** । अस्वदृक् देहाभिमानी[11] ाभिमानीति[12] तस्य देहस्य हननमात्मन्यभिमन्यमा इत्यर्थः ॥ २२ ॥

**क्षमध्वमिति** । स्यालः कंसः, स्वस्रोरिति स्वसृशब्देन द्विवचनानुपपत्त्या मिथुनग्रहणद्वारा[13][14] मिथुनलक्षणया सृतत्पत्योरभिधानं, लिङ्गसमवायन्यायेन[15] प्राणभृत उपदधातीतिवत् । देवकीवसुदेवयोः प्रत्येकं पादावग्रहीदित्यर्थः। स्यालशब्देन कथञ्चित् वसुदेवाभिधानं युज्यते[16]। कंस स्वस्रोरिति पाठे तयोः कंस अथाऽग्रहीदिति पाठान्तारे च न काप्यनुपपत्तिशङ्केति द्वद्विरूह्यम्[-16] ॥ २३ ॥

**मोचयामासेति** । आत्मसौहृदं प्रियवादादिन दर्शयन् ॥ २४ - २६ ॥

स्वपरभेददर्शिनि[17] न किं भवति तदाह - **शोकेति**। भावैः भेदनिमित्तभूतैः[18] मिथो भावान्। घ्नन्तं भावमीश्वरम्। पृथग्दृशः ते न पश्यन्ति। किन्तु अहमेव हन्ता हत इति मन्यन्त इत्यर्थः॥ २७॥

**कंस** इति। विशुद्धं यथा भवति तथा[19]॥ २८॥

1. B.J. °काद्यव° 2. V. omits यथा 3. B.J अनेवं 4. V नि° 5. V. ते 6. B.J. तावत् 7. B.J. घातित° 8. B.J. add एव 9. B.J °द्वध्यस्य 10. B.J. omit आदि 11. J. adds तावत् 12- -12. B omits 13. B.J. गणन 14. V. omits द्वारा 15. V°वायेन 16- -16. B.J. omit 17. B.J°ने 18. B.J. एव 19. B.J omit तथा

**वीर०** ननु जातोऽहं मृतोऽहं हतोऽहम् अहं हन्मीत्येवनात्मनोऽपि जननमरणहन्तृहन्तव्य भावप्रतीतेः कथं न स विपर्येति इत्यत्र सा प्रतीतिः देहात्मभ्रान्तिमूला। सैव च तस्य देहसंयोगवियोगरूप संसृतिहेतुश्चेत्याह - **यदेति**। यदा एवंविधो भेदः देहात्मनोः वैधर्म्यरूपोभेदः न स्यात् अनुष्ठानपर्यन्तत्वेन नाध्यवसितः स्यात्। यतः अनध्यवसितादेव भेदादात्मनि विपर्ययः देहधर्मप्रतीति र्भवति, तावत् देहसंयोगवियोगैः उपलक्षिता संसृतिः न निवर्तते तत्संयोगादिरूपा संसृतिः न निवर्तते। चशब्दात् हन्तृहन्तव्यप्रतीतिरपि न निवर्तत इत्यर्थः॥ २०॥

तस्माद्देहात्मनोः विलक्षणस्वभावत्वात् अत एव अशोच्यत्वाच्च हे भद्रेः मया व्यापादितानपि व्यापत्तिं प्रापितानपि हतानपीति यावत्, स्वसुतान् प्रति युवां मानुशोचयतम्। णिजर्थस्त्वविवक्षितः। यतः सर्वोऽपि जन्तुः अवशः अस्वतन्त्रः कर्मवश्यः स्वकृतं स्वकृतकर्मरूपफलं[1-] जन्ममरणादिकं विन्दते लभते॥ २१॥

किञ्च यावदस्वदृक् देहविलक्षणात्मयाथात्म्यदर्शी सन् हतोऽस्मि हननविषयोऽस्मि, हन्ताऽस्मि हननकर्ताऽस्मि इत्यात्मानमभिमन्यते देहात्मभ्रान्त्या देहगतां हन्तृहन्तव्यभावमात्मनि अनुसन्धत्ते तावदेव तदभिमानी तन्मूलकहन्तृहन्तव्य

भावाभिमानी च। अत एव अज्ञस्सन् बाध्यबाधकतां वध्यधातुकभावमिति यावत्। प्राप्नुयात् तत्प्रयुक्तशोकपापादिकं[2] प्राप्नुयादित्यर्थः॥ २२॥

अतस्साधवो बन्धुवत्सलाश्च यूयं मम दौरात्म्यं क्षमध्वमित्युक्त्वा, अथ अश्रूणि मुखे यस्य तथाभूतः। स्यालस्वस्रोः वसुदेवदेवक्योः पादावग्रहीत्। पत्नीभ्रातृवाचितया प्रसिद्धोऽपि स्यालशब्दः अत एव प्रयोगात् भगिनी भर्तर्यपि वर्तते॥ २३॥

ततः कन्यकाया गिरा विस्रब्धः एतौ निर्दुष्टाविति विश्वस्तः स्वस्य सौहृदं दर्शयन्, देवकीं वसुदेवं च निगलात् मोचयामास। पूर्वोक्तमेव मोचनं सप्रपञ्चं स्मारितमिति न पौनरुक्त्यम्॥ २४॥

इत्थं भ्रातुः समनुतप्तस्य सतः देवकी क्षान्त्वा क्षमां कृत्वा रोषं व्यसृजत्। तथा वसुदेवोऽपि क्षान्त्वा प्रहस्य तं कंसमुवाच॥ २५॥

तदेवाह - **एवमिति** द्वाभ्याम्। हे महाभाग! त्वं यथा वदसि तदेवमेव तथैव, किं मयोक्तं यदनुमन्यस इत्यत्राह देहिनामहन्धीः अहन्ता अहं हत इत्येवंरूपा धीः अज्ञान प्रभवा देहात्मभ्रमजा, यद्वा अहन्धीः देहात्मधीः अज्ञानप्रभवा आत्मयाथात्म्यानवभासमूला। अहन्धियं विशिनष्टि - यतोअहन्धियः स्वपरेतिभिदा शत्रुमित्रभिदा भवति॥ २६॥

एतदेवोपपादयति - **शोकेति**। पृथग्दृशः आत्मनः पृथग्भूते देहे दृक् आत्माभिमानो येषां तथाभूताः। अत एव शोकादिभिः अन्विताः भावैः अचेतनैः खड्गादिभिः भावमचित्पदार्थं घ्नन्तम् ईश्वरं न पश्यन्ति किन्तु केवलं स्वपरभेदमेव पश्यन्तीति भावः। तत्तत्कर्मानुगुणप्रवृत्तस्येश्वरस्यैव जन्ममरणादिहेतुत्वात् न केनापि अपराद्धमिति भावः॥ २७॥

इत्थं विस्रब्धं विश्वासयुक्तं यथा भवति तथा आभाषितः कंसः प्रसन्नाभ्यां देवकीवसुदेवाभ्याम् अनुज्ञातः स्वगृहं प्राविशत्॥ २८॥

1- -1. फलरूपं 2. B. मायादिकं

**विज०** जन्त्वाऽऽगमाऽगमवत् पुत्रादिकं विपर्येति भुव आगमापायभाववत् परमात्मा न विपर्येतीति यदि तर्हि इदं ज्ञानं कस्मान्नोदेतीत्याशङ्क्य भगवन्मायया मुग्धचेतस्त्वेन परमात्मविषयाभेदज्ञानबाहुल्यात्, अनेन संसारानिवृत्तिः तमः प्राप्तिश्च स्यातामित्याह - **यत** इति। अस्वपरविवेकबुध्द्युत्पत्तिप्रभृति[1] परमात्मविषयोऽभेदोऽनेकविधः 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इत्यादिको जीवस्य प्रतीयत इति यतः तेन विपरीतज्ञानेन देहयोगादि लक्षणा वास्तवी यथार्था संसृतिः न निवर्तत इति यतः आत्मविपर्ययः स्वस्य तम आद्यनर्थप्राप्तिश्च, यतः तस्मादात्मनि स्थितिं कृत्वा मानुशोचेत्यन्वयः। "अहं ब्रह्माऽस्मि, देवोऽस्मि, नास्मि केवल मानुषः" (गारुडे) इत्यादेः सिद्धोऽयमर्थः। अभेदप्रतीतिः असुरजातेरेव। "तल्लक्षणैर्विहीनस्सन् ब्रह्म देवोऽस्मि

वाऽपि तु'' (गारुडे) इत्यादेः सर्वः स्वकृतमदृष्टं भुङ्क्ते इति यस्मात्तस्मात् ब्रह्माऽस्मीत्यादिचिन्तनं तर्हि कस्य इत्यतः स्वयोग्यानामेव तद्युक्तम्। ''परब्रह्मण एकस्य ब्रह्माऽस्मीति विचिन्तनम्'' (गारुडे) इत्यादेः सर्वः परमात्मा स्वकृतं पूर्णं स्वमानन्दं विन्दते, यतोऽवशः अवगतपरमानन्दः। ''सर्वः शर्वः शिवस्स्थाणुः (विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम् भारते) इति च। सर्वः देवादिश्च स्वकृतं देवोऽस्मीत्यादि यथार्थज्ञानफलं भुङ्क्ते अवशो विष्ण्वधीनः॥ २०, २१॥

तर्ह्यस्य कियन्तं कालं संसारानुवृत्तिरिति तत्राह - **यावदिति।** अश्वदृक् अनात्मानं देहं आत्मात्वेन पश्यतीति तदाभिमानी देहाभिमानी॥ २२ - २५॥

परमात्मा न विपर्येति पुत्रादिकं विपर्येति इति जीवपरभेदज्ञानं मुक्तिसाधनमन्यत् तमस्साधनं यथा वदसि, एतदेव सत्यम्। एतदेव द्रढयति - देहिनामिति। ''देवोऽहं मानुषो वेति विशेषं तत्र वाऽपि तु'' (ब्रह्माण्डे) इत्यादेः। यातनाशब्दमध्याहृत्य व्याख्येयम्। अहं देवाद्यन्यतमः परमात्मा पदादिजीवराशेः सत्तादिप्रदत्वेनात्यन्तं प्रेष्ठ इति या भिदा तज्ज्ञानं देहिनाम् अज्ञानप्रभवा यातना हन्तीति यतः इत्यन्वयः। ननु उत्तरश्लोके पृथग्दृश इति भेदज्ञानि निन्दावचनात् अत्रापि स एवार्थः किं न स्यात्? उच्यते - पृथग्दृश इति। पृथग्शब्दप्रयोगबलादन्योर्थस्तस्य, तर्हि स क इत्युच्यते। भगवद्दर्शनविरोधि यद्दर्शनं तत्पृथग्दर्शनम्। ''भगवद्दर्शनाद्यस्य विरोधाद्दर्शनं पृथक्'' (भविष्यतपुराणे) इत्यादेः। ''स्वरूपभेदो हि परजीवयोः जीवगोमिथः। परस्परेण वस्तूनां विशेषः शास्त्र दर्शितः'' (भविष्यत्पुराणे) इत्यादेः। उक्त एवार्थ इति सन्तोष्टव्यम्॥ २६ - २८॥

1. Ma adds बुद्ध्या

**[1]तस्यां रात्र्यां [2]व्यतीतायां कंस आहूय मन्त्रिणः।**
**तेभ्य आचष्ट तत्सर्वं यदुक्तं योगमाययाः[3]॥ २९॥**
**आकर्ण्य [4]भर्तुर्गदितं तमूचुर्देवशत्रवः।**
**देवान् प्रति कृतामर्षा दैतेया नातिकोविदाः॥ ३०॥**
**एवं चेत्तर्हि भोजेन्द्र पुरग्रामव्रजादिषु।**
**अनिर्दशान्निर्दशांश्च हनिष्यामोऽद्य वै शिशून्[5]॥ ३१॥**
**किमुद्यमैः करिष्यन्ति देवास्समरभीरवः।**
**नित्यमुद्विग्नमनसो ज्याघोषैर्धनुषस्तव॥ ३२॥**
**अस्यतस्ते शरव्रातैः हन्यमानास्समन्ततः।**
**जिजीविषव उत्सृज्य पलायनपरा ययुः॥ ३३॥**

1. M. adds श्रीशुक उवाच 2. K,W. अती° 3. B,G,J,M निद्रया 4. V भर्तृग° 5- -5. M. बालकान्

**श्रीध० आकर्ण्येति।** नातिकोविदा: दृष्टमात्रमतय:, न[1-] दीर्घदर्शिना[-1]:॥ २९, ३०॥

**एवमिति।** न निर्गतानि दश दिनानि येषां तान्, अन्यांश्च॥ ३१, ३२॥

**अस्यत** इति। अस्यत: विध्यत: सत:[2], उत्सृज्य रणं त्यक्त्वा॥ ३३॥

1- -1. V omits 2. V omits सत:

**वीर०** अथ प्रभाते मन्त्रिण आहूय कंसस्तेभ्यो मन्त्रिभ्यो योगमायोक्तमाह॥ २९॥

तत: कंसोक्तमाकर्ण्य[1] देवानां शत्रव: दैतेया: मन्त्रिण: देवान् प्रति[2] उद्दिश्य कृत: अमर्षो यै: तथाभूता: नातिकोविदा: कार्याकार्यविवेकरहिता:, तं कंसमूचु:॥ ३०॥

तदेवाह - **एवमित्यादिना।** एवं दुर्मन्त्रिभि: इत्यत: प्राक्तनेन। एवं चेत् माययैवमुक्तं चेत् तर्हि हे भोजेन्द्र! पुरादिषु अनिर्दशान् अनतिक्रान्तदशदिनान् निर्दशांश्च शिशून् अद्य हनिष्याम:॥ ३१॥

एवं चेत् समरभीरवो देवा: किमस्मान् उद्यमै: प्रयत्नै: करिष्यन्ति न किञ्चिदपि, किञ्च ते तव धनुषो ज्याघोषैरेव नित्यमुद्विग्नं भीतं मनो येषां तथाभूता:॥ ३२॥

अस्यत: शरान् क्षिपतस्तव शरसङ्घै: हन्यमाना: जीवितुमिच्छव: पलायनमेव परं रक्षणोपायो येषां तथाभूता: उत्सृज्य स्वस्थानानीति शेष: समन्ततो ययु:॥ ३३॥

1. B adds ते 2. K,W. omit प्रति

**विज०** अनिर्दशान् अनिर्गतानि दशाहानि यैस्ते तथा तान् अनतिक्रान्तदशाहान् इत्यर्थ:। निर्दशान् अतिक्रान्तदशाहान्॥ २९-३२॥

अस्यत: क्षिपत:॥ ३३॥

केचित्प्राञ्जलयो भीता[1] न्यस्तशस्त्रा दिवौकसः।
मुक्तकच्छशिखाः[2] केचिद्भीताः स्म इति वादिनः॥ ३४॥

न त्वं विस्मृतशस्त्रास्त्रान् विरथान् भयसन्नतान्[3]।
हंस्यन्यासक्तविमुखान्[4] [5-] [-5] भग्नचापान[6]युध्यतः॥ ३५॥

किं क्षेमशूरैः विबुधैरसंयुगविकत्थनैः।
रहोजुषा किं हरिणा शम्भुना वा वनौकसा॥ ३६॥

किमिन्द्रेणाल्पवीर्येण ब्रह्मणा वा तपस्यता।
तथापि देवास्सापत्न्यान्नोपेक्ष्या इति मन्महे।
ततस्तन्मूलखनने नियुङ्क्ष्वस्माननुव्रतान्॥ ३७॥

यथाऽऽमयोऽङ्गे समुपेक्षितो नृभिः न शक्यते रुढपदश्चिकित्सितुम्।
यथेन्द्रियग्राम उपेक्षितस्तथा रिपुर्महान्[7] बद्धबलो न चाल्यते॥ ३८॥

मूलं विष्णुर्हि देवानां यत्र धर्मस्सनातनः।
तस्य च ब्रह्मगोविप्राः तपोयज्ञास्सदक्षिणाः॥ ३९॥

1. B.G.J. दीनाः, V. भीत्या 2. M. कक्ष्या° 3. B.G.J. संवृ° 4. V °व्या° 5- -5. M मनसः 6. V. दर्पा° 7. M° र्महालब्धबलो

**श्रीध० नेति।** अन्यासक्तान्। विमुखांश्चेति न हंसि न हिनत्सि॥ ३४, ३५॥

**किमिति।** क्षेमे निर्भयदेशे। शूरैः संयुगादन्यत्र विकत्थनं प्रौढवादो येषां तैः। ननु हरेर्बिभेमि शम्भोश्चेति चेत्तत्राहुः। रहोजुषेति। सर्वदाप्यन्तःप्रविष्टेन क्वचिदपिबहिरदृष्टेनेत्यर्थः। पुरुषप्रवेशरहितमिलावृतवर्ष[1] वनमोको यस्य। तेन शम्भुना वा॥ ३६॥

**किमिति।** यद्यप्युद्यमैः देवाः न किञ्चिदपि कर्तुं समर्थाः तथापि नीतिरनुवर्तितव्येत्याहुः[2] - तथापीति॥ ३७॥

**यथेति ।** रूढपदः बद्धमूलः॥ ३८॥

**मूलमिति।** देवानां मूलं विष्णुः। स च यत्र धर्मः तत्राऽऽस्ते। धर्मस्य च मूलं ब्रह्मगोविप्राः[3-] वेदगोब्राह्मणाः[-3]॥ ३९॥

1. B.J. omit वर्ष 2. B.J. सर्तव्ये° 3- -3. B.J. वेपादय इति॥ ३९॥

**वीर०** केचिच्च दिवौकसो देवा भीताः त्वत्त इति शेषः। अत एव त्यक्तानि शस्त्राणि यैः तथाभूताः, केचिच्च मुक्ताः विश्लथाः कच्छाः शिखाश्च येषां, मुक्तकक्ष्यशिखा इति पाठे मुक्तग्रन्थयः शिखा येषां तथाभूताः भीताः स्म इति वदन्तः प्राञ्चलयः तस्थुरिति शेषः॥ ३४॥

अथापि त्वं विस्मृतानि शस्त्राण्यस्त्राणि च यैः मन्त्रशिक्षोपबृंहितान्यस्त्राणि, इतराणि तु शस्त्राणीति विवेकः। विगता रता एषां तान् भयात् सन्नतान् कृतप्रणामान् न हंसि न हतवान् शरणागतरक्षकत्वादिति भावः। तथा अन्यासक्तान् युद्धं विहाय प्रयोजनान्तरासक्तान् पराङ्मुखांश्च भग्नचापान्[1] अत एव अयुध्यश्च देवान्न हंसि॥ ३५॥

क्षेमे स्वगृह एव शूरैः संयुगात् इतरत्र विकत्थनं प्रागल्भ्यवचनं येषां तैः, विबुधैः किं, न किञ्चिदपि कर्तुं शक्यमित्यर्थः। आस्तां तावत् सामान्यदेवानां वार्ता देवश्रेष्ठैः हरिहरेन्द्रहिरण्यगर्भैरपि न किञ्चिदित्याहुः - रह इति। रहोजुषा त्वद्भयात् निर्जनदेशसेविना यद्यपि तैः किञ्चिदपि न कर्तुं शक्यं, तथाऽपि सापत्न्यात् शत्रुत्वात् देवा नोपेक्षणीया इति मन्यामहे। ततः तन्मूलखनने सपत्नमूलोन्मूलने निमित्ते अनुव्रतान् भृत्यान् अस्मान् नियुङ्क्ष्व आज्ञापय॥ ३६, ३७॥

सापत्न्यात् नोपेक्ष्या इत्येतदेव सदृष्टान्तमुपपादयन्ति - **यथेति** । यथा अङ्गे शरीरे समुत्पन्न आमयो व्याधिः[2] नृभिः[3] उपेक्षितः अत एव रूढमूलः[4] चिकित्सितुं प्रतिकर्तुं न शक्यते यथा च तावत् योगिभिः उपेक्षितः इन्द्रियग्रामः ततो दुर्निग्रहः तथा रिपुरपि तावदुपेक्षितः ततो रूढबलः चालयितुमपि न शक्यते॥ ३८॥

तर्हि किं तत् सपत्नानां मूलं यद्विनाशितव्यमित्यत्राहुः - **मूलमिति** । सनातनः अनादिनिधनाविच्छिन्नसम्प्रदायवेदबोधितो[5] धर्मः वर्णाश्रमानुगुणो यत्र विष्णौ यत् विष्ण्वधीनः स विष्णुः देवानां मूलं रहस्सेवी स कथं छेत्तव्य इत्यत्राहुः तस्य चेति। ब्रह्म वेदः गावश्च विप्राश्च गोविप्राः तप इति पृथक्पदं ब्रह्मादयः, तस्य विष्णोर्मूलमित्यनुषङ्गः॥ ३९॥

1. B. adds भग्नधनुष्कान् 2. B. adds तावत् 3. B. adds यत्नं मूलोन्मूलने तु 4. B. adds ततः 5. B. adds उपवेद

**विज०** कक्ष्या काञ्ची। "कक्ष्याकरिवरत्रायां काञ्चां गेहे प्रकोष्ठके" (वैज. को. 6-2-7) इति यादवः॥ ३४॥

क्षेमशूरैः निर्भयस्थानं प्राप्य शूरैः[1], असंयुगविकत्थनैः रणादन्यत्रविविधजल्पैः रहोजुषा एकान्तसेविना वेदशिरप्रतिपाद्येन वा, वनौकसा कैलासशिखरकान्तारमन्दिरेण भासामाश्रयेण तेजोमूर्तिनेत्यर्थः। "ओकसी मन्दिराश्रयौ" (वैज. को. 6-3-4) इति यादवः। "वनं भास्यप्सुकानने" (वैज. को. 6-3-31) इति च॥ ३५,३६॥

तेषां मूलोत्पाटने॥ ३७॥

अङ्गे शरीरे, आमयः कुष्ठादिः, रूढं पदं व्याप्तं स्थानं येन सः॥ ३८॥

कः साक्षात् मूलमित्यत्राह **मूलमिति**। तस्य विष्णोर्मूलम्॥ ३९॥

1- -1. B.M omit

**तस्मात् सर्वात्मना राजन् ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः।**
**तपस्विनो यज्ञशीलान् गाश्च हन्मो हविर्दुघाः[1]॥ ४०॥**

**विप्रा वेदाश्च[2] भावश्च तपस्सत्यं दमश्शमः।**
**श्रद्धा दया तितिक्षा च क्रतवश्च हरेस्तनूः[3]॥ ४१॥**

**स हि सर्वसुराध्यक्षो ह्यसुरद्विड्डुहाचरः[4]।**
**तन्मूला देवतास्सर्वाः सेश्वराश्चतुर्मुखाः।**
**अयं वै तद्वधोपायो यदृषीणां विहिंसनम्॥ ४२॥**

**श्रीशुक उवाच**

**एवं दुर्मन्त्रिभिः कंसः[6-] सह[-6] सम्मन्त्र्य दुर्मतिः[7]।**
**ब्रह्महिंसा हितं मेने कालपाशाऽऽवृतोऽसुरः॥ ४३॥**

**सन्दिश्य साधुलोकस्य कदने कदनप्रियान्।**
**कामरूपधरान् दिक्षु दानवान् गृहमाविशत्॥ ४४॥**

**ते वै रजःप्रकृतयः तमसा मूढचेतसः[8]।**
**सतां विद्वेषमाचेरुरारादागतमृत्यवः॥ ४५॥**

**आयुश्श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च।**
**हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो[9] महदतिक्रमः॥ ४६॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

1. K.W. °ह: 2. M. देवाश्च 3. B.V °नु: 4. B.G.J.V. °शय: 5. M. च; K.W. हि 6- -6. V. साकं कंस: 7. V °द: 8. K.W. रूढ 9. W. पुंसां

**श्रीध०** स इति। किञ्च विप्रादयो हरेरेव तनवो यस्मात् तस्मात् अयमेवोपाय इत्याहु: - अयमिति ॥४० - ४४॥

त इति। आरात् समीपमागतो मृत्युर्येषां ते॥४५॥

सतां विद्वेषो न मृत्युमात्रहेतु:, किन्तु बह्वनर्थकारीत्याह - **आयुरिति** ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां चतुर्थोऽध्याय:॥४॥

**वीर०** तस्मात् हे राजन्! सर्वात्मना नानोपायेन ब्रह्मवादि त्वादिगुणयुक्तान् ब्राह्मणान् हविस्सान्नाय्यं दुहन्तीति तथा ता गाश्च हन्म: हनिष्याम:॥४०॥

विप्रादयो हरेस्तनू: शरीरम्॥४१॥

स हि विष्णु: सुराणाम् अध्यक्षोऽधिपति:। असुरान् द्वेष्टीति तथाभूतश्च। हृदयगुहानिगूढस्स विष्णुरेव मूलं यासां तथाभूता:। सेश्वरा: इन्द्रादिलोकपालैस्सहिता: चतुर्मुखरुद्रसहिताश्च सर्वा देवता: एवं सति अयमेव तस्य विष्णो: वधोपाय:। कोऽसौ यदृषीणां विहिंसनमित्येष: यद्वा तद्वधोपाय: देववधोपाय: ऋषिविहिंसनेन तच्छरीरे विष्णौ नष्टे सति तन्मूला देवा: स्वयमेव नङ्क्ष्यन्तीति भाव:॥४२॥

इत्थं दुर्मन्त्रिभिस्सह सम्मन्त्र्य आलोच्य स दुर्मति: असुर: कंस: कालपाशेन यमपाशेन आवृत: अत एव ब्रह्म हिंसामेव हितं मेने अमन्यत॥४३॥

तत: साधुजनस्य कदने उपद्रवे निमित्ते तत्कदनमेव प्रियं येषां तान् कामरूपधरान् दानवान् दिक्षु आज्ञाप्य स्वयं गृहम् आविवेश॥४४॥

ततस्ते दानवा: रजसा विक्षिप्तस्वभावा: तमसा विमूढं आवृतं चेतो येषाम्। अत एव ते सतामेव विद्वेषणमप्रीतिं दु:खमिति यावत्, चेरु: चक्रु:। कथम्भूता:? सन्निहितमृत्यव: सद्विद्वेषणस्य मृत्युसान्निध्यावहत्वादिति भाव:॥४५॥

न केवलं मृत्युमेव आवहन्ति अपि तु आयुरादीन्यपि हन्तीत्याह - **आयुरिति**। महदतिक्रम: महाद्विषयापचार: पुंसामपचरताम् आयुरादीनि सर्वाणि श्रेयांसि हन्ति नाशयति। श्री: सम्पत्ति: धर्म: पुण्यं, लोका: धर्मप्राप्यफलानि, यद्वा देहानुबन्धिनो जना: आशिष: कामा: ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां चतुर्थोऽध्याय: ॥ ४ ॥

1- -1. K.W. omit 2. W. धर्म्य।

**विज०** हन्म: हनिष्याम:, हविर्दुघा: यज्ञयोग्यं घृतं दुहन्ती:। छन्दसि हकारस्थाने घकार: ॥ ४० - ४३ ॥

आरात् समीपे ॥ ४४, ४५ ॥

विष्णवादि महदतिक्रमफलमाह — **आयुरिति** ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां चतुर्थोऽध्याय: ॥ ४ ॥

(विजयध्वजरीत्या पञ्चमोऽध्याय:)

# पञ्चमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या षष्ठोऽध्यायः)

—: नन्दव्रजवृत्तान्तः :—

श्रीशुक उवाच

नन्द स्त्वात्मज उत्पन्ने जाता ह्लादो महामनाः।
आहूय विप्रान् वेदज्ञान[1] स्नात श्शुचि रलङ्कृतः॥ १॥

वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जातकर्माऽऽत्मजस्य वै।
कारयामास विधिवत्[2] पितृदेवाऽर्चनं तथा॥ २॥

धेनूनां नियुते प्रादात् विप्रेभ्य स्समलङ्कृते[3]।
तिलाद्रीन्सप्त रत्नैघ[4] शातकुम्भाम्बरावृतान्[5]॥ ३॥

कालेन स्नान शौचाभ्यां संस्कारै स्तपसेज्यया।
शुध्यन्ति दानै स्सन्तुष्ट्या द्रव्यण्यात्माऽऽत्मविद्यया[6]॥ ४॥

सौमङ्गल्यगिरो विप्राः सूतमागधवन्दिनः।
गायकाश्च जगु र्नेदुः भेर्यो दुन्दुभयो मुहुः॥ ५॥

व्रजस्सम्मृष्टसंसिक्तद्वाराजिर गृहान्तरः[7][8]।
चित्रध्वजपताकास्रक् चैल[9] पल्लव तोरणैः[10]॥ ६॥

गावोवृ[11-]षाश्च वत्सा[-11]श्च हरिद्रातैलरूषिताः।
विचित्रधातु बर्हस्रग्वस्त्रकाञ्चनमालिनः॥ ७॥

महार्हवस्त्राभरण[12] कञ्चुकोष्णीषभूषिताः।
गोपा स्समाययू राजन् नानोपायनपाणयः॥ ८॥

1. B.M. दैवज्ञान् 2. K.W. ०ना 3. M. ०तः 4. A.M. घान् 5. A.B. कौ० *This verse is not found in M. edn. 6. V. मन आत्माऽऽ०
7. M. प्रजाः 8. M.०राः 9. A.B.G.M. चै० 10. M. ०णाः 11- -11. B.G. वृषा वत्सतरा; V हृष्टाश्च वत्साश्च 12. V. °णाः

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पञ्चमे जातकं नन्द स्सूनोः कृत्वा महोत्सवम्।
गत्वाऽथ[1] मधुरां प्राप वसुदेवाऽऽगमोत्सवम्॥

**नन्द** इति। महामनाः उदारचित्तः॥ १, २॥

**धेनूना** मिति। नियुते द्वे लक्षे सप्त तिलपर्वतांश्च प्रादात्। कथम्भूतान् रत्नौघैः रत्नसमूहैः, शात कुम्भाम्बरैः[2] सुवर्णरसाक्तैः वस्त्रैः[3] आवृतान्॥ ३॥

द्रव्याणां गोहिरण्यादीनां मध्ये केषाञ्चि द्दानै रेव शुद्धिः यथा[4-] तथा अन्न[-4] दानादियुक्त जातकर्मादि स्नानेन[5-] देहादि[-5] संस्कारै रेव गर्भाणां शुद्धिरिति दर्शयितुं प्रतिनियतानि शोधकानि दृष्टान्तत्वेनोदाहरति - **कालेनेति**। कालेन भूम्यादि। स्नानेन देहादि। शौचेन अमेध्यलिप्तादि। संस्कारैः गर्भादि। तपसा इन्द्रियाणि इज्यया ब्राह्मणादि। दानै र्द्रव्याणि सन्तुष्ट्या मनः आत्मा तु आत्मविद्यया शुध्यति[6-] [-6]॥ ४॥

**सौमङ्गल्येति**। सौमङ्गल्यगिरः स्वस्तिवाचका विप्रादयो बभूवुः। तत्र — "सूताः पौराणिकाः प्रोक्ता मागधा वंशशंसकाः। वन्दिन स्त्वमलप्रज्ञाः प्रस्तावसदृशोक्तयः" इति[7]॥ ५॥

व्रज इति। सम्मृष्टानि संलिप्तानि[8-] [-8] संसिक्तानि च द्वारादिकानि[9-] [-9] अजिराणि[10] अङ्गणानि गृहान्तराणि गृहमध्यानि च यस्मिन् सः तथा। चित्रध्वजेषु पताकानां स्रजश्च चैलानि[11-] च[-11] पल्लवतोरणानि च तै र्भूषिताः॥ ६॥

**गाव** इति। हरिद्रातैलैः[12-] [-12] रूषिताः लिप्ताः विचित्रा[13] धातवश्च बर्हस्रजश्च वस्त्राणि च काञ्चनमालाश्च अलङ्कारतया विद्यन्ते येषां ते तथाभूताः, गवादयो बभूवु रित्यर्थः॥ ७, ८॥

1. V. तु 2. A. B. कौ० 3. A.B. अम्बरैश्च 4- -4. V. यथा 5- -5. A.B. Omit 6- -6. B.V. इति 7. B omits इति 8. 8 A. B omit 9- -9. B.V. द्वाराणि 10. V. omits अजिराणि 11. -11 A. B चैल० 12- -12. V. omits 13. B. ०त्र०

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं "तस्यां रात्र्यां व्यतीतायाम्" (भाग 10-4-29) इत्यादिना मधुरायां प्राभातिकवृत्तान्तः उक्तः। अथ व्रजे तद्वृत्तान्तमाह - नन्दस्तु इत्यादिना "तत आरभ्य" (भाग 10-5-17) इत्यतः प्राक्तनेन। आत्मजे उत्पन्ने सति जात आह्लादो यस्य महामना औदार्यप्रवणं मनो यस्य। तथाभूतो नन्दो वेदज्ञानब्राह्मणान् आहूय स्वयं स्नातः[1] शुचि रलङ्कृतश्च॥ १॥

ततः[2] स्वस्त्यनं माङ्गलिकं सूक्तं वाचयित्वा यथाविधि जातकर्म कारयामास, तथा पितॄणां देवानां च अर्चनं कारयामास॥ २॥

ततः सम्यगलङ्कृते द्वे धेनूनां नियुते लक्षे विप्रेभ्यः प्रायच्छत् तथा रत्नौघैः शातकुम्भाम्बरैः[3] सुवर्णरजताङ्कवस्त्रैः सुवर्णनिष्कैः अम्बरैर्वा दक्षिणार्थं निहितैः आवृतान् सप्त तिलपर्वतान् प्रादात्॥ ३॥

किमर्थमेवं स्नानादिकर्माऽकरोत्[4] कारयामास अदाच्चेत्यत्राऽऽह[5] - **कालेनेति**। आत्मा आत्मविद्ययेति दृष्टान्तार्थम्। यथा आत्मविद्यया परमात्मोपासनया आत्मा प्रत्यगात्मा विशुध्यति[6] हेयगन्धरहितो भवति तथा द्रव्याण्यपि कालादिभिरेव शुध्यन्तीत्यभिप्रायेण तद्विशुद्ध्यर्थं अकरोदियर्थः। द्रव्यशब्दोऽत्र[7] अनुबन्धिगेहदेहापत्य देवतापशुहिरण्यादि वित्तधान्येन्द्रियाभिप्रायकः। तत्र कालेन दशदिनात्मकेन गेहस्य शुद्धिः स्नानशौचाभ्यां देहस्य, जातकर्मादि संस्कारैः अपत्यस्य, तपसा मन्त्रजपेनेज्यया[8] च गृहदेवतायाः दानैः पशुहिरण्यधनधान्यानां, सन्तुष्ट्या मनसः इति विवेकः॥ ४॥

तदा विप्राः सौमङ्गल्यगिरः स्वस्तिपाठका बभूवुः। सूतादयो गायकाश्च जगुः पुराणादीनीति शेषः। तत्र सूताः पौराणिकाः, मागधाः वंशावलीपाठकाः, वन्दिनः स्तुतिपाठकाः, भेर्यो दुन्दुभयश्च मुहुर्मुहुर्नेदुः॥ ५॥

सम्मृष्टानि सम्मार्जिन्या शोधितानि संसिक्तानि चन्दनोदकादिभिः सम्यक् स्नापितानि द्वाराणि अजिराणि अङ्गणानि गृहान्तराणि गृहमध्यानि च यस्मिन् तथाभूतो व्रजो बभूव। तथा विचित्रध्वजादिभिः, अलङ्कृत इति शेषः। ध्वजादीना मितरेतरयोगद्वन्द्वः। चित्रपदं प्रत्येकान्वयि द्वन्द्वादौ श्रुतत्वात्। ५॥

गवादयो हरिद्रातैलाभ्यां रूषिताः उपलिप्ताः विचित्राः गैरिकादिधात्वादयः येषां सन्तीति तथाभूता बभूवुः। तत्र बर्हस्रजो मयूरपिञ्छमालाः महार्हाण्यनर्घाणि वस्त्रादीन्येव भूषणाण्यलङ्कारा येषाम्। भूषिता इति पाठे तै र्भूषिता अलङ्कृताः, उपायनानि पाणिषु येषां तथा भूता गोपाः हे राजन्! समाययु राजग्मुः॥ ७, ८॥

1. W स्नात्वा 2. W. omits ततः 3. A.B. कौ° 4. W. °मक० 5. A.B. प्रा० 6. A.B. omit वि 7. W. adds आत्मा 8. A.B. जा०

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भगवदवतार हृष्टमनसो नन्दस्य भगवद्भक्तयतिशयेन चित्तविश्रमणेन[1] सद्भक्तानां भगवद्भक्तिः चन्द्रोदय इव समुद्रवृद्धिः स्वाभाविकीति प्रकाश्यते अस्मिन्नध्याये। जाताह्लादः प्रादुर्भूतानन्दः॥ १॥

स्वस्त्ययनं माङ्गल्यवचनं तथा पितृदेव गन्धर्वाद्यर्चनं कारयामास नन्दयामास॥ २॥

शातकुम्भान्तरावृतान्[2] गर्भीकृत शातकुम्भान्॥ ३, ४॥

स्वकृतस्तुतिपाठकाः सूताः, परकृतस्तुति जीविनो मागधाः, प्रबन्धस्तुतिपाठकाः वन्दिनः॥ ५॥

द्वारञ्च अजिरञ्च गृहान्तरञ्च द्वाराजिरगृहान्तराणि सम्मृष्टानि संशोधितानि संसिक्तानि चन्दनजलादिना प्रोक्षितानि द्वारादीनि यासां ता स्तथा। चित्र ध्वजपताकया स्रक्चैलपल्लवैश्चैव युता स्तोरणाः यासां ता स्तथा॥ ६॥

विचित्रधातवः बर्हस्रजः पिच्छमाला[3] वस्त्राणि काञ्चनमालाश्च येषां सन्तीति विचित्रधातुबर्हस्रग्वस्त्रकाञ्चनमालिनः॥ ७॥

महार्हाणि महायोग्यानि वस्त्राणि आभरणानि कञ्चुकानि कवचानि उष्णीषाणि शिरोवेष्टनवस्त्राणि भूषणानि येषां ते तथा॥ ८॥

1. A.B. ०णे स० 2. A.B. कौ० 3. A.B. पिञ्छ

गोप्यश्चाऽऽकर्ण्य मुदिता यशोदायास्सुतोद्भवम्[1]।
आत्मानं भूषयाञ्चक्रुः वस्त्राऽऽकल्पाञ्जनादिभिः॥ ९॥

नव कुङ्कुम किञ्जल्क मुख पङ्कज भूतयः[2]।
बलिभि स्त्वरितं जग्मुः पृथुश्रोण्यश्चलत्कुचाः॥ १०॥

गोप्य स्सुमृष्टमणिकुण्डलनिष्क कण्ठ्यः चित्राम्बराः पथि शिखाच्युतमाल्यवर्षाः।
नन्दालयं सवलया व्रजती विरेजुः व्यालोलकुन्तल[3] पयोधरहारशोभाः॥ ११॥

ता आशिषं[4] प्रयुञ्जाना श्चिरं पाहीति बालके[5]।
हरिद्राचूर्णतैलाद्भिः[6-6] सिञ्चन्त्योऽजन[7] मुज्जगुः[8]॥ १२॥

अवाद्यन्तविचित्राणि वादित्राणि महोत्सवे।
कृष्णे विश्वेश्वरेऽनन्ते[9] नन्दव्रज[10-10] मुपेयुषि॥ १३॥

गोपाः परस्परं हृष्टाः दधिक्षीरघृताम्बुभिः।
आसिञ्चन्तो विलिम्पन्तो नवनीतैश्च चिक्षिपुः॥ १४॥

नन्दो महामना स्तेभ्यो वासोऽलङ्कारगोधनम्।

★ (ददौ प्रीतमनास्तत्र पुत्रजन्मसुखैधितः।)
सूत मागध वन्दिभ्यो येऽन्ये विद्योपजीविनः।
तै स्तैः कामै रदीनात्मा यथोचित मपूजयत्॥ १५॥

1. V °दयम् 2. V. राजयः 3. A,B,G,M कुण्डल 4. A,B,G,M °षः 5. V. पा° 6- -6. W. तैलचूर्णाद्भिः 7. W. °त्यो 8. A,B,G,K,W जन° 9. K,W. °रेंऽशेन 10- -10. A,B,G नन्दस्य व्रज मागते। ★ This additional half verse is found only in V.Edn.

**श्रीध० गोप्य** इति। अ[1-]कल्पाः अलङ्काराः[-1] ॥ ९॥

**नवेति।** न[2-]वकुङ्कुमकिञ्जल्कैः मुखपङ्कजेषु भूतिः श्रीः यासां ताः[-2] ॥ १०॥

★ **गोप्य** इति। सुमृष्टानि उ[3-]ज्ज्वलितानि[-3] मणिमयानि कुण्डलानि यासां ताः, निष्काः[4] पतकानि कण्ठेषु यासां ताः, शिखाभ्यः च्युतानि माल्य वर्षाणि यासां ताः नन्दालयं व्रजतीः व्रजन्त्यः आ[5-]र्षत्वात्[-5] प्रथमार्थे द्वितीया। पथि विरेजुः। सवलयाः कङ्कण भूषिताः। स[6-]बलय इति पाठे गृहीतविविधोपायना इत्यर्थः[-6] व्यालोलैः कुन्तलादिभिः[7] शोभा यासां ताः॥ ११।

★ **ता** इति। जनं सिञ्चन्त्यः अजनं भ[8-]गवन्तं प्रति[-8] उज्जगुरिति वा॥ १२ - १४॥

**नन्द** इति। तेभ्यः[1] प्रादात् यथोचित मन्यानपि अपूजयत्॥ १५॥

1- -1. B. आकल्पो भूषणम् 2- -2. B omits ★ The commentary on this 11th verse appears in a shorter form in B edn thus कुण्डलं कर्णभूषणं, निष्कं कण्ठाभरणं सबल्यः सोपहाराः॥ ११॥ 3- -3. V. omits 4. V. निष्कानि 5- -5. A omits 6- -6. A. omits 7. A. कुण्ड° ★ This portion of the commentary is not found in B edn 8- -8. A. omits.

**वीर०** तथा गोपानां स्त्रियोऽपि यशोदाया स्सुतोद्भव[1] माकर्ण्य मुदिता हृष्टा वस्त्रादिभिः आत्मान मलञ्चक्रुः। आकल्पा भूषणानि आदिशब्देन चन्दनलेपादि सङ्ग्रहः॥ ९॥

नवाः कुङ्कुमकिञ्जल्का येषु तेषां मुखपङ्कजानां भूतिः श्रीः शोभा यासां ताः। कुङ्कुमानां किञ्जल्कत्वरूपणेन मुखानां पङ्कजत्वरूपणं पुष्कलम्। पृथुश्रोण्यः पृथुजघनाः, चलन्तौ कुचौ यासां ताः बलिभिः उपायनैः सहिताः त्वरितं यथा तथा जग्मुः॥ १०॥

सम्मृष्टानि निर्मलीकृतानि मणिकुण्डलानि यासां ताश्च, निष्काः पदकाख्यभूषणानि कण्ठे यासां ताः इति बहुव्रीहिद्वयगर्भकर्मधारयः। चित्राण्यम्बराणि यासां, पथि शिखाभ्यः च्युतानां गलितानां माल्यानां पुष्पाणां वृष्टयो यासां, व्यालोलानां गतिरभसेन चलतां कुण्डलादीनां शोभा यासां ताः वलयैः सहिताः नन्दस्याऽऽलयं प्रति व्रजतीः व्रजन्त्यो ः॥ ११॥

ताः गोप्यः पाहीति, अस्मा निति शेषः। बालके आशिषः प्रयुञ्जानाः हरिद्रा तैल चूर्णैः हरिद्रायाः तैलमिश्रैः ः, अद्भिश्च। यद्वा, हरिद्रया तैलेन चूर्णैः सुधाख्यद्रव्य चूर्णैः अद्भिः दधिमिश्रोदकैश्च परस्परं जनं सिञ्चन्त्य उज्जगुः॥ १२॥

अंशेन बलरामेण सह विश्वेश्वरे श्रीकृष्णे नन्दव्रज मुपेयुषि सति तस्मिन् महोत्सवे विचित्राणि वाद्यानि अवाद्यन्त॥ १३॥

गोपास्तु हृष्टाः परस्परं दध्यादिभिः आसिञ्चन्तो नक्नीतै र्विलिम्पन्तश्च ते चिक्षिपुः॥ १४॥

नन्दस्तु विपुलकीर्तिः अत एव तेभ्यः सूतादिभ्यः अन्ये च ये विद्योपजीविनः भरतशास्त्रादिविद्ययोपजीवन्तीति तथा, भूतेभ्यश्च वस्त्रादिकं ददौ , तैस्तै स्तेषा मभीष्टैः उच्चावचैः कामैः यथोचित मदीनात्मा उदारमनाः नन्दः सम्य गपूजयत्॥ १५॥

1. W. °दय°

**विज०** आकल्प आभरणम्॥ ९॥

नवकुङ्कुमकिञ्जल्कानि अभिनवकुङ्कुम केसराणीव मुख पङ्कजभूतयः मुखकमलश्रियो यासां ता स्तथा। बलिभि र्युताः, पृथु श्रोण्यः विशालकटितटाः॥ १०॥

व्रजतीः व्रजन्त्यः, लोलत्वं कुण्डलादीनां गमनविशेषेणं, सवलयाः सकटकाः सापाङ्गनयनाः॥ ११॥

हरिद्रा तैलचूर्णाद्भिः जनं सिञ्चन्त्यः अजनं कृष्णमिति केचित्॥ १२॥

उपेयुषि पाप्तवति॥ १३, १४॥

तेभ्यो गोपेभ्यः यथोचितं दत्त्वा अपूजयत्। येऽन्ये विद्योपजीविनः तेभ्यश्च यथोचितं दत्त्वा॥ १५॥

**विष्णो राराधनार्थाय स्वपुत्रस्योदयाय च।**
**रोहिणी च महाभागा नन्दगोपाभिनन्दिता।**
**व्यचर द्दिव्यवासस्रक्कण्ठाभरणभूषिता॥ १६॥**

तत आरभ्य नन्दस्य व्रजस्सर्वसमृद्धिमान्।
हरे र्निवासात्मगुणै रमाक्रीड मभू न्नृप!॥ १७॥

गोपान् गोकुलरक्षायां निरूप्य मधुरां गतः।
नन्दः कंसस्य वार्षिक्यं करं दातुं कुरूद्वह॥ १८॥

वसुदेव उपश्रुत्य भ्रातरं नन्द मागतम्।
ज्ञात्वा दत्तकरं राज्ञे ययौ तदवमोचनम्[2,3]॥ १९॥

तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय देहः प्राण मिवाऽऽगतम्।
प्रीतः प्रियतमं दोर्भ्यां सस्वजे प्रेमविह्वलः॥ २०॥

पूजित स्सुखमासीनः पृष्ट्वाऽनामय मादृतः।
प्रसक्तधी स्स्वात्मजयो रिद माह विशाम्पते॥ २१॥

1. V. °दि 2. K,W. °प° 3. M. लोकनः

**श्रीध० तत** इति। हरे र्निवासेन ये आत्मनि व्रजे[1] गुणाः सर्वप्रेमास्पदत्वादयः[2-] तै रमायाः आक्रीडं विहारस्थानम्॥ १६,१७॥

**गोपानिति**। वार्षिक्यं प्रतिवर्षं[3] दातुं[4-] योग्यं धनादि[-4] ॥ १८॥

**वसुदेव** इति। भ्रातरं सखायम्। तदवमोचनं तस्य नन्दस्य अवमोचनं[5-,-5] निवासस्थानम्[6-,-6]॥ १९॥

**तमिति**। सस्वजे आलिङ्गितवान्॥ २०॥

**पूजित** इति। आत्मजयोः रामकृष्णयोः॥ २१॥

1. B,V. omit व्रजे 2- -2. A,B. प्रियत्वादयः 3. A°र्ष° 4- -4. A,B. देयम् 5- -5. A,B omit 6- -6. A,B वसतिस्थानम्।

**वीर०** विष्णो र्गृहदैवतस्याराधनार्थं स्वपुत्रस्य अभ्युदयार्थं च दिव्यैः वासःप्रभुतिभिः भूषिता सती महा भाग्यवती रोहिणी नन्देनाऽन्यै र्गोपैश्चाऽभिनन्दिता व्यचरत्॥ १६॥

अथ नन्दवसुदेवयोः यादृच्छिकसमागमं विवक्षुः तावत् व्रजस्य सर्वसम्पत्समृद्धत्वमाह - **तत** इति। तत आरभ्य भगवत्प्रवेशादारभ्य[1] नन्दस्य व्रजः सर्वा स्समृद्धयो भोग्यभोगोपकरणादि समृद्धयोऽस्य सन्तीति तथा। हरेः निवासेन हेतुना ये आत्मगुणाः महोत्सवादयः तैः रमाक्रीडं लक्ष्मी विहारस्थानञ्च अभूत्। हे नृप! आक्रीडमिति नपुंसकत्व मार्षम्, सामान्ये नपुंसकं वा, क्रियाविशेषणं वा॥ १७॥

एवं सति कदाचित् नन्दो गोकुलरक्षायां निमित्ते व्रजरक्षार्थं गोपान् निरूप्या आदिश्य कंसस्य वार्षिक्यं वर्षे देयं करं स्वामिग्राह्यं भागं दातुं हे कुरूद्वह! मधुरां गतः॥ १८॥

तदा वसुदेवो[2] भ्रातर मागतं नन्द माकर्ण्य राज्ञे कंसाय दत्तः करो येन तच्च ज्ञात्वा तस्य नन्दस्याऽपमोचनं[3] ययौ। अपमुच्यन्ते गमनोपयुक्तपरिकरबन्धा यत्रेति तदपमोचनं[5] अवतरणस्थानम्॥ १९॥

तमागतं वसुदेवं दृष्ट्वा प्राणं प्रति देह इव, यथा प्राण आगते सति देह उत्तिष्ठतित्वं तद्वत्। अनेन प्राणवन्निरतिशयप्रीतिविषयत्वं सूचितम्। सहसा आशु उत्थाय नितरां प्रीतः प्रेम्णा विह्वलश्च प्रियतमं वसुदेवं दोर्भ्यां सस्वजे आलिङ्गितवान्॥ २०॥

तत स्तेन पूजितो वसुदेवः सुखं यथा तथा आसीनं उपविष्टं नन्द मनामयं आरोग्यं आधिव्याधिराहित्यं आदरयुक्तः पृष्ट्वा हे विशांपते! आत्मजयोः प्रसक्तधीः आसक्तचित्तः इदं वक्ष्यमाण माह॥ २१॥

1. A,B °वतः प्र° 2. A, B. add अपि 3. A °व° 4. A,B. add निवेशस्थानं 5. A,B° व°

**विज०** किं फलमुद्दिश्य इति तत्राऽऽह - **विष्णोरिति** ॥ १६॥

रमाक्रीडं लक्ष्मीविहारस्थानं, क्रियाविशेषणं वा॥ १७॥

वार्षिक्यं प्रतिवत्सरं देयम्॥ १८॥

तदवलोकनः तस्य नन्दस्य दर्शनिच्छुः॥ १९-२१॥

**वसुदेव उवाच**[1-1]

**दिष्ट्या भ्रातः प्रवयस इदानी मप्रजस्य ते।**
**प्रजाशाया निवृत्तस्य प्रजा यत्समपद्यत**[2]**॥ २२॥**

**दिष्ट्या संसार चक्रेऽस्मिन् वर्तमानः पुनर्भवः।**
**उपलब्धो**[3] **भवानद्य दुर्लभं प्रियदर्शनम्॥ २३॥**

**नैकत्र प्रियसंवास स्सुहृदां चित्र कर्मणाम्।**
**ओघेन व्यूह्यमानानां प्लवानां स्रोतसो यथा**[4]**॥ २४॥**

**कच्चित्पशव्यं विरुजं**[5] **भूर्यम्बुतृणवीरुधम्**[6]**।**
**बृहद्वनं तदधुना यत्राऽऽस्से**[7]**त्वं सुहृद्वृतः॥ २५॥**

भ्रात र्मम सुत: कच्चिन्मात्रा सह भवद्वजे।
तातं भवन्तं मन्वानो भवद्भ्या मुपलालित:॥ २६॥

पुंस स्त्रिवर्गो विहित[8]: सुहृदो[9] ह्यनुभावित[10]:।
न तेषु क्लिश्यमानेषु त्रिवर्गोऽर्थाय कल्पते॥ २७॥

1- -1. B,G,K,M,W omit 2. M °जायत 3. V. लब्धा 4. A °युद्ध°; V °यूह° 5. A. वि° 6. V. भूम्य° 7. M,V °स्ते 8. A. °ऽभि 9. M °दां 10. M °वत:

**श्रीध० दिष्टचेति**। पुन र्भव: पुन र्जात इव। तत्र हेतुगर्भं विशेषणम् संसार चक्रे वर्तमान इति[1] ॥ २२, २३॥

दुर्लभत्व मेवाऽऽह - **नैकत्रेति**। प्रियश्चाऽसौ संवासश्च प्रियसंवास:। हे प्रियेति वा। स्रोतस: ओघेन नीयमानानां प्लवन्तीति प्लवा: तृणकाष्ठादय: तेषां यथा एकत्र निवास[2]: नाऽस्ति तद्वत्॥ २४॥

**कच्चि** दिति। पशव्यादिरूपे तस्मिन्वने निर्दोषे गोपयोद्धचादि प्रभूतगोपिकास्तन्यादिना पुत्रक्षेम जिज्ञासया[3] पृच्छति "प्रसक्तधी: आत्मजयो:" (भाग. 10-5-22) इत्युक्तत्वात्॥ २५॥

**भ्रात** रिति॥ भवद्भ्यामुपलालित स्सन् कच्चित्, वर्तत इति शेष:॥ २६॥

पुत्रादर्शनक्लेशेनाऽऽह[4] - **पुंस इति**। सुहृदो बन्धून् प्रति अनुभावित: तदर्थं[5] सम्पादित[6]: य स्त्रिवर्ग:, सहि पुंसो विहितो युक्त: शास्त्रेण वा प्रोक्त: न स्वमात्रपर्यवसित:। अत: तेषु क्लिश्यमानेषु स:[7] त्रिवर्ग: अर्थाय न कल्पते[7] सुखाय न भवतीत्यर्थ:॥ २७॥

1. A adds दुर्लभ मिति च 2. A,B. स्थिति: 3. B,V. विवक्षया 4. A,B. °शा° 5. B, V omit तदर्थं 6- -6. V सम्भावित: 7- -7. B,V omit

**वीर०** तदेवाऽऽह - 'दिष्टचा भ्रात:!' इत्यादिभिष्षड्भि: हे भ्रात:! अप्रजस्य अनपत्यस्य सत: प्रवयस: वृद्धस्य, अत एव प्रजाशाया सन्तानवाञ्छाया निवृत्तस्य तव अधुना प्रजा पुत्र: समपद्यत जात इति यदेत द्दिष्टचा! दिष्टचेत्यानन्दद्योतक मव्ययम्। अय मस्माकं महानानन्दो जात इत्यर्थ:। एव मुत्तरत्राऽपि॥ २२॥

अस्मिन् संसारचक्रे वर्तमान: पुमान्, पुन र्भवतीति पुनर्भव: पुत्ररूपेणोत्पन्न इत्येतत् दिष्टचा ! तदद्य भवान् मयोपलब्धो दृष्ट इत्येतत् दिष्टचा। तत्र हेतु: - दुर्लभं हि प्रियस्य दर्शन मिति। यद्वा, अस्मिन् संसार चक्रे वर्तमान

एवाऽहं पुनर्भवः पुनर्जातः, कथञ्चित् कंसभयान्निवृत्तः। पुनर्जात प्राय इत्यर्थः। यद्वा अस्मिन्नेवजन्मनि मया पुनर्जात प्रायोण त्वं उपलब्ध इत्येतत् दिष्ट्या। शृङ्खलितस्य मम प्रियतमभव दर्शनं दुर्लभं हि इत्यर्थः॥ २३॥

दुर्लभत्व मेवाऽऽह - **नैकत्रेति।** सुहृदा मेकत्र प्रियसंवासः प्रियश्चाऽसौ संवासश्च, प्रियेण प्रियगोष्ठी पूर्वकं सहवास इति वा। हे प्रियेति वा। न सुलभः। किन्तु दुर्लभ इत्यर्थः। यथा स्रोतसः प्रवाहस्य ओघेन पूरेण व्यूह्यमानानां इतस्ततो विविधं नीयमानानां अतएव चित्रकर्मणां विविधकर्मणां प्लवानां प्लवन्तीति तथा प्लवानां उत्प्लुत्य गच्छतां काष्ठादीना मेकत्र वासो दुर्लभः, तद्वत्॥ २४॥

यत्पशव्यं पशुभ्यो हितं निरुजं नीरोगं भूरिबहुलम्, अम्बु जलं, तृणादीनि[1] वीरुधो गुल्मानि च यस्मिन्, यास्मिंश्च त्वं सुहृद्भिः वृतः आस्से तद्वन मधुना कच्चि दास्ते! कच्चि दिति इष्टप्रश्न द्योतकमव्ययम्। कुशलमास्तेकिम्? तदस्माक मिष्ट मित्यर्थः॥ २५॥

तथा हे भ्रातः! मम सुतो बलरामः मात्रा रोहिण्या सह भवतो व्रजे कच्चित्? कथम्भूतः? भवन्त मेव तातं पितरं मन्वानः भवद्भ्यां दम्पतिभ्यां पुत्रवदुलालितः॥ २६॥

अथ सत्यपि सन्ताने तद्दर्शन स्पर्शनोपलालनाद्यभावात् निर्विण्णः किञ्चिल्लोकपरिपाट्याऽऽह - **पुंस** इति। त्रिवर्गः त्रयाणां धर्मार्थकामानां वर्गः, स यदि सुहृदो देहानुबन्धिनः प्रति अनुभावितः अनुभवं प्रापितः तर्हि स पुंसो युक्तः। यद्वा, विहितः शास्त्रानुमतः अन्यथा त्रिवर्गे स्वानुभवमात्रपर्यवसिते सति अत एव हेतोः सुहृत्सु क्लिश्यमानेषु च सत्सु त्रिवर्गोऽर्थाय प्रयोजनाय न कल्पते, व्यर्थ इत्यर्थः॥ २७॥

1. B. तृणानि

**विज०** प्रवयसः वृद्धस्य इदानीं प्रजा समजायतेति यत्, अतो दिष्ट्या॥ २२॥

इदञ्चैकं मङ्गल मभूदित्याह - **दिष्ट्येति।** पुनः पुन र्भवतीति पुनर्भवः, तस्मिन् किं चोद्य मिति तत्राऽऽह - दुर्लभ मिति॥ २३॥

दुर्लभत्व मुपपादयति - **नैकत्रेति।** प्रियसंवासः हर्षेण निवासः, प्रियैः संवासो वा। चित्रकर्मणां नानाविधपुण्यपापवतां, स्रोतसो नद्याः ओघेन प्रवाहेण व्यूह्यमानानां विविधं नीयमानानां प्लवानां काष्ठादीनां, पोतानां वा॥ २४॥

कच्चिदिति सानुनयप्रश्नः। पशव्यं पशुहितं निरुजं नीरोगकरम्॥ २५॥

नन्दस्य कृष्णो मम सुत इति भ्रान्तिं निवारयति **भ्रात** रिति॥ २६॥

त्रिवर्गो धर्मादि: पुंस: विहित:, वेद इति शेष:, स सुहृदामनिमित्तं बन्धूनां जनाना मनुभावत: प्रभावा न्निश्चयाद्वा भवति। हि यस्मात्तस्मात् तेषु सुहृत्सु क्लिश्यमानेषु सत्सु त्रिवर्गोऽर्थाय प्रयोजनाय न कल्पते समर्थो न भवति॥ २७॥

नन्द उवाच

अहो ते देवकीपुत्रा: कंसेन बहवो हता:।
एकावशिष्टाऽवरजा कन्या साऽपि दिवङ्गता॥ २८॥

नूनं ह्यदृष्टनिष्ठोऽय मदृष्टपरमो जन:।
अदृष्ट मात्मन स्तत्त्वं यो वेद न स मुह्यति॥ २९॥

वसुदेव उवाच

करो वै वार्षिको दत्तोराज्ञे दृष्टा वयञ्चते।
नेह स्थेयं बहुदिनं सन्त्युत्पाताश्च गोकुले॥ ३०॥

श्रीशुक उवाच

इति नन्दादयो गोपा: प्रोक्तास्ते शौरिणा युयु:।
अनोभि रनडुद्युक्तै: तमनुज्ञाप्य गोकुलम्॥ ३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्री वैयासिक्यां अष्टदशसाहस्र्यां
श्रीहग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
नन्द वसुदेवसङ्गमोनाम पञ्चमोध्याय:॥ ५॥

1. A, G. omit 2. V, हि 3. A,B,G,M,V व: 4. A,B,G, °तिथं; V विधं 5- -5. A,M,K,V,W omit.

**श्रीध०** नन्दो वसुदेवं सान्त्वयन्नाह - **अहो** इति॥ २८॥

**नून** मिति। अदृष्ट एव निष्ठा समाप्ति र्यस्य स: यदैव पुत्रादिसुखप्रद मदृष्टं हीयते, तदैव ते पुत्रादयो न भवन्तीत्यर्थ:। तथा अदृष्टपरम: अदृष्ट मेवपरमं यस्य स: यद्यपि पुत्रादयो वियुक्ता: तथाऽपि ता नदृष्ट मेव पुन स्सङ्गमयतीत्यर्थ:। एवं अदृष्ट मात्मन स्तत्त्वं अव्यभिचारिकारणं सुखदु:खयो र्यो वेद न स मुह्यति। तस्मा दिदानीं

त्वया न दुःखं भावनीयम्। मृताना[4] मपि वियुक्ताना मपि च कालान्तरे दर्शनयो[5-]गवियोग[-5] सम्भवात्। अस्मदादिभिरपि कालान्तरे तद्वियोगे स[6-]त्यत एव न दुःखं सम्भावनीय मि[-6]ति नन्दस्य दैवी वागशेषा भाविसूचिका॥ २९॥

तां बुद्ध्वा वसुदेवो दुःखं त्यक्त्वा नन्द माह - **करो वै** इति। वः युष्माभिः॥ ३०, ३१॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

1. V यथैव 2. V. तथैव 3. V omits तथा 4. V omits अपि 5- -5. A,B योगयोः 6- -6. B,V सत्यपीति।

**वीर०** अथ वसुदेवं सान्त्वयन् आह नन्दः - **अहो** इति द्वाभ्याम्। अहो इति खेदे। क्षेत्रजत्वशङ्काव्यावृत्तये ते इत्युक्तम्॥ २८॥

एव मनुशोच्य अथ तत्त्वबोधेन समाधत्ते - **नून** मिति। अयं परिदृश्यमानो जनो नूनं ध्रुव मदृष्टनिष्ठः अदृष्ट एव निष्ठा समाप्ति र्यस्य सः अदृष्टसमाप्त्यनुसमाप्त सुखदुःखादिक इत्यर्थः। पुत्रोत्पत्तिविपत्तिप्रयुक्त सुख दुःख कारण भूतादृष्टानुरोधित्वात्तदुत्पत्तिविपत्तिप्रयुक्ते सुखदुःखे न नियते इत्यर्थः। "यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ। समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते" (भ.गी. 2-15) इत्युक्तरीत्या सुखदुःखयो रनियतत्वात् तत्र सामान्येन भवितव्य मिति भावः। अतएव अ[1-]दृष्टपर[-1]मः अदृष्ट मेव परमं प्रभुः वशी यस्य सः अदृष्टायत्त इत्यर्थः। एव मात्मनः स्वस्य तत्त्वम्। तस्य सुखदुःखादिमतो भावं तत्त्वम् सुखदुःखादिमत्त्वं अदृष्टं अदृष्टमूलकं अदृष्टायत्तं मत्वा यः पुमान्वेद स न मुह्यति समसुखदुःखो भवतीत्यर्थः। यद्वा सुखदुःखादिकं अदृष्ट मतीन्द्रियं स्वसंवेद्य मात्मनस्तत्वं याथात्म्यं यो वेद देहविलक्षणात्मयाथात्म्यानुभवपरो भवेत् स न मुह्यति देहतदनुबन्धिप्रयुक्तसुखदुःख वैचित्र्यं न प्राप्नोतीत्यर्थः॥ २९॥

एवं विवेकोद्बोधकं नन्दवचो निशम्य नन्दं प्रति प्रकृतं वक्तव्य माह वसुदेवः **कर** इति। राज्ञे कंसाय वार्षिकः करो दत्तः। अतः प्रयोजनं नावशेषित मिति भावः। ते त्वया वयं दृष्टाश्च। अतोऽत्र त्वया बहुदिनं बहूनां दिनानां समूहः तन्न स्थेयम्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया बहुदिन मिति। चो हेत्वर्थः। यतः गोकुले बहव उत्पातास्सन्ति अतो नाऽत्र[2] स्थेय मित्यर्थः॥ ३०॥

इत्थं शौरिणा वसुदेवेन प्रोक्ता स्ते नन्दादयो गोपा स्तं वसुदेव मनुज्ञाय आपृच्छ्य, तं कंसं वा। अनडुद्भिर्वृषभैः युक्ता[3-]नि[-3] तैः अनोभि श्शकटैः गोकुलं ययुः॥ ३१॥

इति श्रीमद्भागवते दशम स्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

1- -1. W omits 2. W omits अत्र 3- -3. A युक्तै :।

**वीज०** सुता: तेऽपि सुखिन:, कच्चि दिति शेष:॥ २८॥

वसुदेवस्य स्वस्य तत्त्वज्ञान मस्तीति सूचयति **नून** मिति। नूनं प्राय: अयं जन: दृष्टे प्रत्यक्षे कार्ये निष्ठा नितरां स्थिति र्यस्य स:। तथाहि - एवं अदृष्टपरमो न दृष्ट मेव जानाति नाऽदृष्ट मित्यर्थ:। अत्र य आत्मन: अदृष्ट मव्यक्तं तत्त्वं वेद स पुमान् न मुह्यति विपरीतज्ञानी न भवति यथातत्त्वं जानाती त्यर्थ:॥ २९॥

नून मिदानीं अस्मिन् काले च उत्पाता अनर्थसूचका:॥ ३०॥

अनुड्युक्तै: वृषभयुक्तै:॥ ३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे पञ्चमोऽध्याय:॥ ५॥
(विजयध्वजरीत्या षष्ठोऽध्याय:)

# षष्ठोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीया सप्तमोऽध्यायः)

### पूतनासंहारघट्टः

श्रीशुक उवाच

नन्दः पथि वचश्शौरेः न मृषेति विचिन्तयन्।
हरिं जगाम शरणमुत्पातागमशङ्कितः॥ १॥

कंसेन प्रहिता[1] घोरा पूतना बालघातिनी।
शिशूंश्चचार निघ्नन्ती पुरग्रामव्रजादिषु[2]॥ २॥

न यत्र श्रवणादीनि रक्षोघ्नानि स्वकर्मसु।
कुर्वन्ति सात्त्वतां भर्तुः[3] यातुधानश्च तत्र हि॥ ३॥

सा खेचर्येकदोपेत्य पूतना नन्दगोकुलम्।
गोपित्वा[4] माययाऽऽत्मानं प्राविशत्कामचारिणी॥ ४॥

तां केशबन्धव्यतिषक्तमल्लिकां बृहन्नितम्बस्तनकृच्छ्रमध्यमाम्।
सुवाससं कम्पितकर्णभूषणत्विषो लसत्कुन्तलमण्डिताननाम्[5]॥ ५॥

वल्गुस्मितापाङ्गविसर्गवीक्षितैः मनोहरन्तीं वनितां व्रजौकसाम्।
अमंसताऽम्भोजकरेण रूपिणीं गोप्यः श्रियं द्रष्टुमिवाऽऽगतां पतिम्॥ ६॥

1. A. प्रेषिता 2. K.W. °माकरादिषु 3. V. पत्युः 4. A.B.G.V. योषित्वा 5. K.W. °त्कुण्डल

### श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

षष्ठे सख्युः गिरा नन्दो व्रजं गच्छन् मृतां पथि।
दृष्ट्वा तु राक्षसीं तस्याः मृत्युं श्रुत्वा तु[1] विस्मितः॥

श्रीकृष्णविषये शङ्कमानं राजानं प्रति, अविषये प्रवृत्ता सैव मरिष्यतीति सूचयन्नाऽऽह - **नेति**। यत्र श्रीकृष्णस्य श्रवणादीनि न सन्ति तत्रैतासां शक्तिः, साक्षात्तस्मिन्नेव सति का शङ्केति भावः॥ १ - ३॥

**सेति**। योषित्त्वा वेषतो वरां नारीमिव आत्मानं विधाय। गोपित्वेति पाठान्तरे आत्मानं तिरोधायेत्यर्थः। ननु तत्र निर्लज्जा निर्विशङ्का च सती कथं परसद्म प्रविष्टा? अत आह कामचारिणीति। न हि कामचारिणीषु इदं चित्रमित्यर्थः॥ ४॥

**तामिति**। तां वनितां पतिं द्रष्टुम् आगताम् अतिरूपवतीं श्रियमिव गोप्योऽमंसतेत्युत्तरश्लोकस्थेनान्वयः। श्रीसाम्यार्थानि विशेषणानि। केशबन्धव्यतिषक्तमल्लिकां - केशबन्धः केशपाशः तस्मिन् विन्यस्तमल्लिकाकुसुमां, बृहता नितम्बेन स्तनाभ्यां च उभयत आक्रान्तमिव कृच्छ्रं कृशं मध्यममुदरं यस्यास्तां, सुवाससं शोभने रमणीये वाससी यस्यास्ताम्। कम्पितयोः कर्णभूषणयोः त्विषा उल्लसद्भिः कुन्तलैः मण्डितमाननं यस्यास्ताम्॥ ५॥

**वल्विति** । वल्गुस्मितापाङ्गविसर्गवीक्षितैः वल्गु रम्यं स्मितं येषु ते तथाभूता अपाङ्गविसर्गा येषु तैः वीक्षितैः व्रजौकसां मनः हरन्तीम् अतो गोपाः हृष्टमनसस्तु एनां न निवारितवन्तः इत्युक्तं भवति। गोप्यश्च श्रियमिव मत्वा तूष्णीमासन्। अतः केनाप्यनिवारिता सती प्रविवेशेति भावः॥ ६॥

1. A.B. ०ऽथ 2. A.B. तत्रैव तासां 3- -3. A.B. omit 4. A.B. omit तत्र 5. A.B.सद्मनि 6. B.V. ०केना० 7- -7. A.B. धम्मिल्लसंसक्त 8. V. omits शोभने 9- -9. A.B. हृतमनस्त्वेन तां

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ व्रजं प्रति नन्दगमनात् पूर्वमेव तत्र वसुदेवसूचितोत्पातं, भगवता तन्निराकरणप्रकारं, निराकृतवतः तस्य रक्षाविधानप्रकारं च आह - नन्द इत्यादिना 'तावन्नन्दादयो गोपा' इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। **नन्द** इति। यदा नन्दः पथि गतः न तु व्रजं गतः। तदा सः शौरिः वसुदेवस्य वचो न मृषा किन्तु तथ्यमेव स्यादिति चिन्तयन् उत्पातागममुत्पातोपनिपातं सम्भावनामाशङ्कितः। यद्वा पथि उत्पातागमाद्वा पक्षिचलनादिरूपात् व्रजे कञ्चिदुपद्रवं सम्भाव्य हरिं स्वाराध्यदैवं शरणं जगाम रक्षोपायत्वेनाध्यवास्यत् ॥ १ ॥

तदा नन्दाऽऽगमनात् पूर्वमेव कंसेन प्रहिता प्रेषिता बालघातिनी पूतनाख्या राक्षसी तत्र पुरादिषु शिशून् निघ्नन्ती सती चचार॥ २॥

कृष्णेऽपि तत्कृतः कश्चिदुपद्रवो बभूव किम्? - इत्याशङ्कां तावन्निराह **नेति** । सात्वतामेकान्तिनां भक्तानां भर्तुर्भगवतः श्रवणादीनि गुणश्रवणकीर्तनादीनि। कथम्भूतानि? रक्षोघ्नानि यत्र देशे स्वकर्मसु स्वस्वव्यापारेषु सत्स्वपि न कुर्वन्ति जनाः तत्रैव हि यातुधान्यः राक्षस्यः, न तु श्रवणादि कर्तृजनाधिष्ठितदेशे; किं पुनः साक्षात् भगवदधिष्ठितदेशे इति भावः॥ ३॥

सा पूतना खेचरी कदाचित् गोकुलसमीपमेत्य मायया आश्चर्यविषेण आत्मानं[5] गोपित्वा[6] स्वाऽसाधारणं रूपं तिरोधाय। तत्सामर्थ्यं सूचयन् विशिनष्टि। कामं यथेष्टरूपपरिग्रहेण चरतीति तथा प्राविशत् गोकुलं प्राविशत्। योषित्वा माययेति पाठान्तरम्। तदा मायया अभिमत रूपपरिग्रहोपयुक्ताश्चर्यशक्त्या आत्मानं योषित्त्वा योषितं[7] कृत्वेत्यर्थः ॥ ४॥

योषिद्रूपधरां तां वर्णयति - **तामिति**। तां गोप्यः श्रियमिव अमंसतेत्युत्तरेणान्वयः। केशबन्धे व्यतिषक्ताः संसक्ताः मल्लिकाः मल्लिकाकुसुमानि यस्याः बृहद्भ्यां नितम्बाभ्यां स्तनाभ्यां च कृच्छ्रः कष्टः भज्यमान इवावस्थित इति यावत्। सूक्ष्मत्वादिति भावः, स मध्यमः कटिप्रदेशो[8] यस्याः, शोभनं वासो यस्याः चलितयोः कर्णभूषणयोस्त्विषा उल्लसद्भिः कुण्डलैर्[9]मण्डितम् अलङ्कृतम् आननं यस्याः॥ ५॥

वल्गु सुन्दरं स्मितं येषां तैः तत्सहितैः इत्यर्थः। तथाभूतैः अपाङ्ग्योः नेत्रान्तयोः विसर्गः प्रसरो[10] येषां तैश्च वीक्षितैः कटाक्षैः व्रजौकसां व्रजः ओकः स्थानं येषां तेषां गोपानां मनोहरन्तीम् अम्भोजकरेण पद्मयुक्त पाणिना उपलक्षितां रूपिणीं प्रशस्तरूपवतीं पतिं कृष्णं द्रष्टुमागतां लक्ष्मीमिव तां वनितां गोप्योऽमंसत अमन्यन्त॥ ६॥

1. A.B. हरण 2. A.B. निहतवतः 3- -3 V. Omits 4. A.B. रक्षणो° 5. V. omits आत्मानं 6. A.B. भाव्य° 7. A.B. द्रूपं 8. W. omits कटि 9. A.B. कुन्तलैः केशैर्म° 10. A.B. ०सा०

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

गुणश्रवणवत् पराक्रमश्रवणमपि ज्ञानसाधनमिति प्रतिपादयति पूतनावधलक्षणं तच्चरितमस्मिन्नध्याये। तत्रोत्पातपरिहारो नारायणशरणप्राप्त्या भवति इत्याशयेनाऽऽह - **नन्द** इति॥ १॥

प्रहिता प्रेषिता पुरं राजमन्दिरं, नानाजनाधिवासो ग्रामः व्रजो गोकुलम्॥ २॥

यातुधान्यः राक्षस्यः सात्त्वतां भर्तुः श्रवणादीनि रक्षोघ्नानि, इतरेषामिति शेषः, न सन्ति। साक्षात् कृष्णो यत्र वसति तत्र का शङ्केति भावः॥ ३॥

गोपित्वा पिधाय ॥ ४॥

केशपाशे केशभारे व्यतिषक्ता निगूढा मल्लिका यस्यां सा तथा। बृहन्नितम्बेन कलशस्तनाभ्यां च कृच्छ्रो भग्नो मध्यमो यस्याः सा तथा ताम्॥ ५॥

अपाङ्गविसर्गः कटाक्षमोक्षः वनितां सम्भजनीयां व्रजौकसो गोपाः, व्रजौकसामिति पाठे मनोहरन्तीमिति सम्बन्धः। श्रियमिव न तु श्रियम्, अमंसत मेनिरे॥ ६॥

बालग्रहस्तत्र[1] विचिन्वती शिशून् यदृच्छया नन्दगृहेऽसदन्तकम्।
बालं प्रतिच्छिन्न निजोरुतेजसं ददर्श तल्पेऽग्निमिवाऽऽहितं[2] भसि॥ ७॥

★ विबुध्य तां बालकमारिकाग्रहं चराचरात्मा[3] स निमीलितेक्षणः।
महेश्वरत्वेऽपि[4] च बालभावं विभावयन् किञ्चिदुवाच न प्रभुः॥ ८॥

अज्ञाय[5-] तं साऽथ निशाचरी हरिं[-5] निसर्ग विज्ञात जगद्विचेष्टितम्[6]।
अनन्तमारोपयदङ्क[7-] मन्तक[-7] यथोरगं सुप्तमबुद्धिरज्जुधीः॥ ९॥

तां तीक्ष्णचित्तामतिवामचेष्टितां वीक्ष्याऽन्तरा कोशपरिच्छदासिवत्।
वरस्त्रियं तत्प्रभया च धर्षिते[8] निरीक्षमाणेजननी[9] अतिष्ठताम्[10]॥ १०॥

तस्मिन्[12] स्तनं दुर्जरवीर्यमुल्बणं घोरा[13] तमादाय शिशोर्ददावथ।
गाढं कराभ्यां भगवान् प्रपीड्य तत् प्राणैस्समं रोषसमन्वितोऽपिबत्॥ ११॥

1. M. ग्रही तत्राऽ 2. V. तं चाऽ° ★ The order of the four half verses of the slokas 8 & 9 are found changed in other editions. As per the edition V, the order of the four half verses is as follows:
विबुध्य तां...., आज्ञायमानोऽय....., महेश्वर त्वेऽपि च ....., अनन्तमारोपयत्..... । But the 2nd & 3rd half verses are not found in edn. A & G. 3. A.G. ०त्माऽऽस 4. B.M. महीसुर 5- -5. A.M. अजानमानाथ निशाचरी हरिम्। आशायमानोथ हरिर्निशाचरीम् 6. V. तः 7- -7. तमङ्क मारोपयदन्तकान्तकं 8. M. °ता 9. M. °णा 10. A.B. ह्य० 11. M. °ष्ठत् 12. A. तस्यै 13. A.B.G. ०राऽङ्कमा०

**श्रीध बालग्रह** इति। बालग्रहः पूतना। असदन्तकं बालं ददर्श। असतामन्तकं दृष्ट्वा कथं न विभेति। तत्राऽऽह - प्रतिच्छन्ननिजोरु तेजसं बालनाट्येन प्रतिच्छन्नं तिरोहितं निजम् उरु तेजो येन तं, कमिव असि भस्मनि आहितमग्निमिवेति भावः[1]॥ ७॥

**विबुध्येति**। चराचरात्मत्वादेव। तां विबुध्य निमीलितेक्षणः आस। स्वयमनन्तं दुष्टानामन्तकं[4] बालमिति[2] मत्वा[3], सा अङ्कमारोपयत्। यथा उरगं सुप्तम् अबुद्धिश्चासौ रज्जुधीश्च सः अज्ञानतो रज्जुबुद्ध्या गृह्णाति यथा[5] तद्वत् ॥ ८,९॥

ननु यशोदारोहिण्यौ तां कथं न न्यवारयताम्? तत्राह **तामिति।** वामं वल्गु। जनन्या इव चेष्टितं यस्यास्तां, वरस्त्रियं च सहसैव अन्तरा गृहमध्ये वीक्ष्य अन्तस्तैक्ष्ण्ये बहिर्मार्दवे[7] च दृष्टान्तः — कोशपरिच्छदासिवत्। मृदुचित्र चर्ममयः कोशः, परिच्छदः आवरणं यस्य असेः खड्गस्य तद्वत् तत्प्रभया च धर्षिते अभिभूते अहमस्य जननी इयं वेति मोहिते च सत्यौ जननी जनन्यौ। निरीक्षमाणे एव केवलम् अतिष्ठतां, न तु निवारितवत्यौ॥ १०॥

**तस्मिन्निति।** तस्मिन् स्थाने दुर्जरं वीर्यं विषं यस्मिन् तं स्तनं, तं श्रीकृष्णम् अङ्कमादाय सा[9-] घोरा[-9] तस्मै शिशवे ददौ। अथ अनन्तरमेव प्रपीड्य केवलं विषमपथ्यमिति मत्वेव तस्याः प्राणैस्सह अपिबत्॥ ११॥

1. A,B omit भावः 2. A,B omit इति 3. A adds एवमपि 4. A, B omit यथा 5. A,V add इति 6. V. °क्ष्ण्येन 7. V °वेन 8. A,B omit तं 9--9 B, V omit

**वीर०** सयोषिद्रूपो बालग्रहः तत्र तत्र व्रजस्थान् शिशून् विचिन्वती अन्वेषयन्ती यदृच्छया नन्दगृहे बालं ददर्श। स्वसौन्दर्यावलोकन परवशाभिः गोपीभिः अनिवारिता ददर्शेत्यर्थः। कथम्भूतम् असता मन्तकं मृत्युम्। तर्हि निर्भया कथं ददर्श इत्यतो विशिनष्टि - प्रतिच्छन्नं तिरोधापितं निजं स्वासाधारणम् उरु अधिकं तेजो येन, भसि भस्मनि आहितं तिरोहितम् अग्निमिव स्थितम्॥ ७॥

तदा स चराचरात्मा सर्वबुद्धिदृग् भगवान्, अत एव तां बालकमारिकाग्रहं बालध्वग्रहं बुद्ध्वा निमीलिते ईक्षणे येन, तथाभूतः स्वयं म[1-]हेश्वरत्वेऽपि[-1], प्रभुरपि[2] सङ्कल्पमात्रेणैव हन्तुं समर्थोऽपि बालभावं बालत्वं विभावयन् अनुकुर्वन् न किञ्चिदुवाच तू[3-]ष्णीमासेत्यर्थः[-3] ॥ ८ ॥

अथ सा निशाचरी तं बालं हरिं दुष्कृत[4]प्राणहरं निसर्गतः स्वभावतो विज्ञातं जगतो विचेष्टितं येन तम्। निसर्गेति पदेन तस्य सर्वबुद्धिद्रष्टत्वं स्वाभाविकमेव, न तु कार्यायत्तमित्यभिप्रेतम्। अन्तकमात्मनो मृत्युभूतमज्ञात्वा अनन्तं त्रिविधपरिच्छेदरहितम्। अथापि मनुष्यचेष्टानुकरणेन परिच्छिन्नतां प्राप्तमिव स्थितमिति भावः। अत एव अङ्क मारोपयत् अङ्के निदधे इत्यर्थः। यथा अबुद्धिः मूढः अत एव रज्जुरिति धीर्यस्य सः, सुप्रभुरगम् अङ्के निदधाति तद्वत् ॥९॥

रोहिणीयशोदे अपि तां न न्यवारयतामित्याह **तामिति ।** कोशपरिच्छदासिवत् कोशो मृदुलचर्मनिर्मितं परिच्छदमावरणं पिधानं यस्य तम्, असिं खड्गमिव अन्तः तीक्ष्णचित्तां क्रूरतरामपि बहिर्वामचेष्टितां शोभनचेष्टिताम् अनुकूलचेष्टितामिति यावत् । तां वरस्त्रियं श्रेष्ठस्त्रियमिव स्थितम् । परस्त्रियमिति पाठे परस्यान्यस्य कस्यचित् पुंसः स्त्रि[5]यमिव स्थितां वीक्ष्य

तस्याः प्रभया धर्षिते अभिभूते जननी जनन्यौ । पूर्वसवर्णदीर्घ आर्षः । निरीक्षमाणे अप्यतिष्ठतां तूष्णीमासातां, न तु न्यवारयतामित्यर्थ : ॥ १० ॥

अथ घोरा घोरचेष्टिता पूतना तं शिशुं कृष्णमादाय शिशोः तस्मिन् मुखे स्तनं ददौ । कथम्भूतम् ? दुर्जरवीर्यं दुःखेनापि जरयितुं जीर्णयितुमशक्यं वीर्यं विषरूपं यस्मिन्, अत एवोल्बणं दुस्सहं वीर्यस्योल्बणत्वात् उल्बणम् । अथ भगवान् रोषसमन्वितः प्रपीड्य, स्तनमित्यनुषङ्गः, प्राणैस्समं प्राणैस्सह तत्स्तन्यमपिबत् । तस्याः प्राणैस्सह स्तनमपिबदिति वा ॥ ११ ॥

1- -1. A,B. ईश्वरत्वे सत्यपि 2. A,B. add स्व 3- -3. W omits 4. A,B. दुष्टप्रा° 5. A omits स्त्रियमिव 6. A,B omit प्राणैः

**विज०** बालग्रही बालकमारिका, असदन्तकं, भसि भस्मनि, विचिन्वती मृगयन्ती ॥ ७ ॥

बालकमारिकाग्रहं बालानां मृत्युभूतग्रहं सुरत्वे पूर्णैश्वर्ये देवदेवत्वे वा, सुर - ऐश्वर्ये इति धातुः । मही अतिप्रशस्तोत्सवः मह्यामपीश्वरत्वेऽपि वा ईश्वरत्वात्प्रकटने वचनाभावे च बालभावप्रकाशन हेतुः ॥ ८ ॥

अथ सात्त्विकस्त्रियः स्वभावप्रकटनानन्तरं, यद्वा राक्षस्याः स्वभावः प्रारभ्यते, यद्वा यतो निशाचरी अथ तस्मादजानमाना "मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येष्वयो अथ" (अम.को. 3-402) इति, "अथातोऽनन्तराप्यर्थविकल्पारम्भमङ्गलाः" (वैज. को. 8-7-14) इत्यमरयादवौ । हरेः पूतनावृत्तचेष्टिताज्ञानं नास्तीत्याशयेनोक्तं - निसर्गेति । ज्ञानाविर्भावतिरोभावौ न स्त इति द्योतनाय निसर्गेति पदम् । देवदत्तज्ञानवत् कतिपयपदार्थज्ञानविषयं नेश्वरज्ञानमित्यतो जगदिति । हरिशब्दस्य अनेकार्थत्वेनात्र किञ्चिद्विवक्षितमित्यत उक्तम् - अनन्तमिति । एककुण्डलोऽनन्त इत्यस्यापि संदिग्धार्थत्वमित्यत उक्तम् - अन्तकमिति रुद्रोमाविशान्तक वचनात् उक्तशङ्कानिस्तारादित्यतो निसर्गेति । इदं लक्षणं नारायणस्यैव, नान्यस्य । "अहं रुद्राय धनुरातनोमि यः सर्वज्ञः" (मुण्ड. उ. 1-1-9) इत्यादेः। पूतना अनन्तं बालम् अङ्कमारोपयत् इत्यन्वयः । हन्तुमितिशेषः । न केवलं हरिमजानमाना अपि तु तमात्मनोऽन्तकम् अजानमाना परिमिताङ्कारोपणं च तमनन्तम् अपरिच्छिन्नं मरणशून्यं वा तमजानमाना चेत्यर्थः । कथमित्यत्र दृष्टान्तमाह अबुद्ध्या अज्ञानेन रज्जुरियमिति धीः ज्ञानं यस्याः सा तथा सुप्तमुरगम् अङ्कमारोपयति, अबुद्धिश्च रज्जुधीश्चेति विग्रहः । तथा च अबुद्धिः अज्ञानी यथा सुप्तमन्तकम् अङ्कम् आरोपयति । रज्जुधीः सुप्तमुरगमिति विभागः केचित् दुष्टान्तकं सुप्तं नाम्ना अनन्तमुरगमित्युरगविशेषो वा। काचित् निशाचरी उलूपिका सुप्तं हरिं सिंहं शिवाबुद्ध्येति शेषः। "ध्वाङ्क्षारातिर्निशाटन" (हला. को. 2-91) (इत्यमरः) ॥ ९ ॥

अतिवामचेष्टिताम् अधिकक्रूरव्यापाराम् । "अति स्यादधिकार्थोक्तो प्रशंसायामतिक्रम" (वैज.को. 8-7-15) इति यादवः । "वामः क्रूरे मनोहरे" (वैज.को. 6-4-16) इति च । अन्तरा मध्ये कोश एव परिच्छदः परिकरपूरणलक्षणो

यस्य सोऽन्तराकोशपरिच्छदः, स एव असिरन्तराकोशपरिच्छदासिः, स इव गूढाकारबाह्याभ्यन्तरकोशालङ्कृतखड्गवत्स्थिते-त्यन्वयः । अन्तराकोशपरिच्छदः वर्णितकोशलक्षणालङ्कारोऽसिः यथा तथा । वामचेष्टितामिति वा । तस्याः पूतनायाः प्रभया वरोद्भूतलक्षणया धर्षिता विह्वलिता, तस्य कृष्ण (स्य) प्रभया वा इदानीमेव पूतनाप्राणवियोगसूचनाय जननी अतिष्ठदिति । सन्धिकार्याकरणं वैदिकप्रयोगानुकरणं वा ॥ १० ॥

तस्मिन् काले दुर्जरवीर्यं जीर्णीकर्तुमशक्यं वीर्यं यस्य स तथा अत एवोल्बणं दुस्सहक्रौर्योपितम् । अथशब्दो विकल्पार्थः अथ स्तनं ददाविति । विषमिति, तस्याः प्राणैः ॥ ११ ॥

सा मुञ्च मुञ्चालमिति[1] प्रभाषिणी निष्पीड्यमानाऽखिलजीवमर्मणि[2] ।
विवृत्य नेत्रे चरणौ भुजौ मुहुः प्रस्विन्नगात्रा[3] क्षिपती स्रोद[4] ह ॥ १२ ॥

तस्यास्स्वनेनातिगभीररंहसा साद्रिर्मही द्यौश्च चचाल सग्रहा ।
रसा दिशश्च[5] प्रतिनेदिरे जना ः पेतुः क्षितौ वज्रनिपातशङ्कया ॥ १३ ॥

निशाचरीत्थं व्यथिता[6] व्यसुः क्षितौ[6] व्यदाय[7] केशांश्चरणौ भुजावपि ।
प्रसार्य गोष्ठे निजरूपमास्थिता वज्राहतो वृत्र इवापतन्नृप ॥ १४ ॥

पतमानोऽपि तद्देहः त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान् ।
चूर्णयामास राजेन्द्र महदासीत्तदद्भुतम् ॥ १५ ॥

ईषामात्रोग्रदंष्ट्रास्यं गिरिकन्दरनासिकम् ।
गण्डशैलस्तनं रौद्रं प्रकीर्णारुणमूर्धजम् ॥ १६ ॥

अन्धकूपगभीराक्षं पुलिनारोहभीषणम् ।
बद्धसेतुभुजोर्वङ्घ्रि शून्यतोयह्रदोदरम् ॥ १७ ॥

1. M मुञ्चेति गिरा 2. M मर्षिणी; K,W. मर्मसु 3. M. विक्लिन्न; W. विस्विन्न 4. M. स्राव हि K,W. स्राव ह 5. M. दिशः खं 6. A,B,G,K,W °तस्तना व्यसुः 7. M विकीर्य

**श्रीध० सेति**। चरणौ भुजौ च मुहुर्मुहुः क्षिपती प्रस्विन्नानि स्वेदयुक्तानि गात्राणि यस्यास्सा ॥ १२ ॥

**तस्या** इति। रसाः रसातलानि च ॥ १३ ॥

**निशाचरीति**। व्यादाय मुखं विवृत्य केशादीन् प्रसार्य निजरूपमास्थिता मरणसमये कापटयं न युज्यत इति भावः । विकीर्येति पाठान्तरे केशान् विकीर्य चरणौ भुजावपि प्रसार्येति भावः । वृत्रो वज्राहत इव ॥ १४ ॥

**पतमान** इति । पतन्नपि तस्याः देहः षट्क्रोशमध्यवर्तिनो द्रुमांश्च चूर्णीचिकार ॥ १५ ॥

**ईषेति** । ईषामात्रोग्रदंष्ट्रास्यम् ईषा लाङ्गलदण्डः तत्प्रमाणा उग्रा दंष्ट्रा यस्मिन् तत्, तथाभूतमास्यं यस्मिन् तत्, सन्त्रासहेतुत्वेन पुनरष्टभिः पदैर्विशिनष्टि गिरिकन्दरवत् नासिके यस्मिन् तत्, गिरेः च्युतौ स्थूलोपलौ गण्डशैलौ ताविव स्थूलौ स्तनौ यस्मिन् तत् । रौद्रं घोरं, प्रकीर्णा अरुणा मूर्धजा यस्मिन् तत् ॥ १६ ॥

**अन्धकूपेति** । अन्धकूपाविव गभीरे अक्षिणी यस्मिन् तत्, पुलिनवदारोहे जघने ताभ्यां भीषणं बद्धाः सेतव इव भुजो ऊरू अङ्घ्री च यस्मिन् तत्, शून्यतोयह्रद इव उदरं यस्मिन् तत् ॥ १७ ॥

1- -1. B,V omit 2- -2. A,B कपटमयुक्तमिति 3. B इव | 4- -4. A,B omit 5- -5. V. omits 6- -6. B.V omit 7. A,B omit स्थूलौ

**वीर०** तदा सा अखिलजीवमर्मसु सर्वप्राणमर्मसु पीड्यमाना अलम् एतावता अलम्, आशु मुञ्च मुञ्चेति प्रभाषिणी, नेत्रेविवृत्त्य परिभ्राम्य चरणौ भुजौ च मुहुर्मुहुः प्रक्षिपती स्विन्नानि स्वेदयुक्तानि गात्राणि अङ्गानि यस्याः सा, रुराव जुघोष हे त्याश्चर्यम् ॥ १२ ॥

अतिगभीरं रहः रभसः वेगो वा यस्य तेन, तस्याः स्वनेन सपर्वता मही भूः, सग्रहा द्यौश्च चचाल, रसातलं दिशश्च प्रतिनेदिरे प्रतिदध्वनुः । जनाः वज्रनिपातशङ्कया क्षितौ निपेतुः ॥ १३ ॥

व्यथितौ पीडितौ स्तनौ यस्याः सा निशाचरी, व्यादाय मुखं विवृत्य केशादीन् प्रसार्य गोष्ठे व्रजे निजरूपमास्थिता मरणस्य स्वासाधारणरूपगतत्वादिति भावः । हे नृप! वज्रेणाऽऽहतो वृत्रासुर इवापतत् ॥ १४ ॥

तस्याः देहः पतमानः षट्क्रोशमध्यवर्तिनो द्रुमान् चूर्णीचिकार। हे राजेन्द्र! तच्छरीरं महदद्भुतमासीत्॥ १५॥

अद्भुतत्वमेव दर्शयितुं तद्रूपं विशिंषन् तद्वीक्ष्य गोपा गोप्यश्च अभिभयुरित्याह - **ईषेति** त्रिभिः। ईषा लाङ्गलदण्डः तत्प्रमाणा उग्रा द्रंष्ट्रा यस्मिन् तत् आस्यं यस्मिन्, गिरिकन्दरे इव नासिके यस्मिन्, गण्डशैलवत् उन्नतौ पृथू च स्तनौ यस्मिन्, रौद्रं भीमं प्रकीर्णा अरुणाश्च मूर्धजाः केशा यस्मिन्, अन्धकूपाविव गभीरे अक्षिणी यस्मिन्, पुलिनवदारोहौ जघने ताभ्यां भीषणं बद्धास्सेतव इव भुजौ ऊरू अङ्घ्री च यस्मिन्, शून्यं तोयं यस्मिन्, तथाभूतो ह्रद इव उदरं यस्मिन् तत्कलेबरं वीक्ष्य गोपा गोप्यश्च सन्तत्रसुः। कथम्भूताः ? पूर्वं पतनात् पूर्वं तस्याः निश्वसितं शब्दः निश्वासमारुतो वा तेन भिन्नानि ह्रदादीनि येषां तथाभूताः॥ १६, १७॥

1- -1. W. omits 2. A,B. omit रंहः 3. A,B add अशनिनिपातशङ्कया 4- -4 W. omits 5. A,B add अपि 6. A,B omit मध्य 7. W omits तद्रूपं 8. W. °त्यादि।

**विज०** अखिलजीवमर्षिणी समस्तप्राणापहारिणी रुराव रोदनमकरोत्। हि शब्दो हेतौ। श्रोतॄणाम् अनुकम्पाजनकः॥१२॥

रसा पातालं प्रतिनेदिरे प्रतिशब्दं चक्रुः॥ १३॥

व्यसुः विगतप्राणा॥ १४॥

त्रिगव्यूत्यन्तरे षट्क्रोशमध्ये ये द्रुमाः वृक्षाः तान् "गव्यूतिः स्त्री क्रोशयुगम्" (अम. को. 2-18) इत्यमरः॥ १५॥

ईषा रथदारुविशेषः, कन्दरो गुहा, रोगविशेषव्यावृत्यर्थं गिरिरिति विशेषणं, गण्डशैलः स्थूलपाषाणः॥ १६॥

आरोहो नितम्बः बद्धसेतुवत् स्थिरा भुजोर्वंघ्रयो यस्य तत् तथा भुजौ ऊरू च अङ्घ्री च भुजोर्वङ्घ्रयः, शून्यं तोयं यस्मिन् सूर्यतोयः स ह्रद इव उदरं यस्य तत् तथा। १७॥

**सन्तत्रसुस्तदुद्वीक्ष्य गोपा गोप्यः कलेबरम्।**
**पूर्वन्तु तन्निःस्वनित भिन्नहृत्कर्णमस्तकाः॥ १८॥**

**बालं च तस्या उरसि क्रीडन्तमकुतोभयम्।**
**गोप्यस्तूर्णं समभ्येत्य जगृहुर्जातसम्भ्रमाः॥ १९।**

**यशोदारोहिणीभ्यां तास्समं बालस्य सर्वतः।**
**रक्षां विदधिरे सम्यक् गोपुच्छभ्रमणादिभिः॥ २०॥**

**गोमूत्रेण स्नापयित्वा पुनर्गोरजसाऽर्भकम्।**
**रक्षां चक्रुर्गोशकृता द्वादशाङ्गेषु नामभिः॥ २१॥**

**गोप्यस्संस्पृष्टसलिला अङ्गेषु करयोः पृथक्।**
**न्यस्यात्मन्यथ बालस्य बीजन्यासमकुर्वत॥ २२॥**

**अव्यादजोऽङ्घ्रिमणिमांस्तव जान्वथोरू यज्ञोऽच्युतः कटितटं जठरं हयास्यः।**
**हृत्केशवस्त्युदरमीश इनस्तु कण्ठं विष्णुर्भुजं मुखमुरुक्रम ईश्वरः कम्॥ २३॥**

1- -1. A,B,G,M सुस्स्य तद्वीक्ष्य 2. K,W. °श्वसित 3. K,V,W उपरि 4. V. समुत्पत्य 5. M °श: 6. V. तस्य 7. A,B,G चक्रुश्च श°; K.W. च चक्रुश्श° 8. A °जैर्न्यास° 9. A,B,G,M मांस्तव 10. A,B,G,M वस्त्वदुर ईश

**श्रीध०** पूर्वमेव तस्या: शब्देन भीता: पुनर्दशनिनातितत्रसुरित्याह - **सन्तत्रसुरिति**। तस्या: निस्स्वनितं अ[1]तिभयङ्कर[1]शब्द: तेन भिन्नानि हृत्कर्णमस्तकानि येषां ते॥ १८ - २०॥

**गोमूत्रेणेति**। द्वादशाङ्गेषु ललाटादिषु। केशवादि द्वादशनामभि:॥ २१॥

अनाचान्ता एव प्रथममतिसम्भ्रमेणैव रक्षां कृत्वा किञ्चित् लब्धाश्वासा: पुनस्तात्पर्येण बीजन्यासमकुर्वतेत्याह **गोप्य** इति। संस्पृष्टसलिला: आचान्ता: आत्मनि प्रथमम् अङ्गेषु करयोश्च पृथक्, अजाद्येकादशबीजानां मध्ये करशुद्धौ त्रीणि, करयो: सन्धिषु चत्वारि चत्वारि। तथाऽङ्ग्यादावेकैकस्मिन्नङ्गे। अजाद्येकैकं बीजं वि[2]न्यस्य। बालस्यास्य अङ्गेषु तथैवाकुर्वत॥ २२॥

**अव्यादिति**। अङ्घ्रिमङ्घ्री, जानु जानुनी, भुजं भुजौ, कं शिर:॥ २३॥

1- -1. A,B omit 2. A,B omit वि

**वीर०** तथा तस्योपरि क्रीडन्तं न कुतोऽपि भयं यस्य तं बालं च वीक्ष्येति पूर्वेणान्वय:, जगृहुरित्युत्तरेण वा। तूर्णं यथा तथा समभ्येत्य जात: तस्या: मरणाद् बालस्य जीवनाच्च जात: सम्भ्रमौ यासां ता गोप्यो जगृहु: आददु:॥ १८, १९॥

ततस्ता गोप्यो यशेदारोहिणीभ्यां स[1]ह बालस्य ईश्वरस्य कृष्णस्य गोपुच्छभ्रमणादिभि: उपायै: रक्षां चक्रु:॥ २०॥

तदेव प्रपञ्चयति - **गोमूत्रेत्यादिना**। आदिशब्दग्राह्यान् वा दर्शयति गोमूत्रेणेति। तावत् शिशुं गोमूत्रेण स्नापयित्वा ततो गोरजसा च स्नापयित्वा गोशकृता गोमयेन द्वादशसु द्वा[2-]दशपुण्ड्र[-2]स्थानेषु अङ्गेषु ललाटादिषु केशवादि[3]द्वादशनामभि: रक्षां चक्रु:॥ २१॥

एवमनाचान्ता एव ता[4]वत् सम्भ्रमेण रक्षां विधायाऽथ लब्धाश्वासा आचान्ता विशेषतो रक्षां चक्रुरित्याह - **गोप्य** इति। संसृष्टसलिला आचान्ता गोप्य आत्मनि स्वशरीरे करयो: इतरेष्वङ्गेषु पृथक् एकैकशो न्यस्य अकारादिक्षकारान्तानि मातृकाबीजानि विन्यस्य अथ बालस्यात्मनि करयो: अङ्गेषु च बीजन्यासमकुर्वत अकुर्वन्। चिकीर्षिताजादिभगवन्नामघटित विष्णुकवचपठनयोग्यतायै तत्स्थबीजस्फूर्तये च तावत् स्वाङ्गेषु बीजन्यासं विधाय अथ तत्कवचमन्त्रजपपूर्वकरक्षाप्रार्थनाया: सुप्रतिष्ठितत्वाय बालस्याङ्गेषु बीजन्यासं चक्रुरित्यर्थ:॥ २२॥

अथ कवचमन्त्रजपपूर्वकरक्षाविधानं दर्शयति **अव्यादित्यादिना** 'इति प्रणये'त्यत: प्रक्तनेन। अजादिशब्दा: योगरूढिभ्यां भगवदसाधारणा:। अज: कर्मायत्तोत्पत्तिरहित: भगवान् अङ्घ्रिम् अङ्घ्री अव्याद्रक्षतु, जानु जानुनी अणिमा अणोर्जीवस्यान्तरात्यतया प्रवेशयोग्य:, पातु। ऊरू, यज्ञ: यज्ञाराध्यो यज्ञभुक् तत्फलदश्च कटितटम् अच्युत: आश्रितान् न च्यावयतीत्यच्युत:, हयास्यो हयग्रीव: जठरमव्यात्, हृच्च केशाश्च तेषां समाहार: तत् ईश: पातु। वस्ति मूत्रकोश: वस्त्युदरहृत्केशमिति क्रमोऽत्र विवक्षित:, अव्यादजोङ्घ्रिमीश्वर: कमित्युपक्रमोपसंहाराभ्यां पादादिशि: पर्यन्तावयवक्रमस्याऽत्र विवक्षितत्त्वप्रतीते:। जठरं नाभेरुपरिभाग:। तत उपरिभाग उदरमिति विवेक:। केशशब्दोत्र लोमपर:। कण्ठम् इन: सर्वव्यापक:। 'इण् गता, वितिधातु:। यद्वा गत्यर्था बुद्ध्यर्था:, सर्वज्ञ:। अत एव विष्णुरित्यनेन न पौनरुक्त्यं विष्णुर्व्यापक: "विष्लृ व्याप्ताविति धातु: मुखम्, उरवस्त्रिलोकसङ्ग्राहका: क्रमा: पादविक्षपा यस्य स:, कं मूर्धानम् ईश्वर:। ईस्वर: सर्वान्तरात्मा, ईश: सर्वाधिपति: इति न पौनरुक्त्यम्। विष्णुशब्देन व्याप्तिमात्रम् ईश्वरशब्देन तु प्रशासनपूर्वक व्याप्त्याधारकत्वम्॥ २३॥

1. W omits सह 2- -2. W omits 3. A,B °दिभि 4. W omits तावत् 5. W °दि न्यस्य

**विज०** सन्तत्रसु: भीता अभूवन् तस्या: नि:स्वनितेन अशनिवत् क्रूरशब्देन भिन्नानि हृत्कर्णमस्तकानि यासां तास्तथा॥ १८॥

तूर्णं शीघ्रम् ॥ १९, २०॥

गोरजसा गोरेणुना गोशकृता गोमयसहितेन केशवादिनामभि: ललाटादि द्वादशावयवेषु॥ २१॥

संस्पृष्टसलिला: आचान्ता: अङ्गेषुन्यस्य पृथक् करयोश्च न्यस्य आत्मनि मध्ये देहं च न्यस्य, अथानन्तरं मङ्गलकरं वा बालस्य बीजन्यासम् अष्टाक्षरन्यासम् अकुर्वत॥ २२॥

अत्राजादयो मूर्तिविशेषा:। अङ्घ्रिम् अङ्घ्री, जानु जानुनी, अङ्घ्रिमित्यन्वय: अणिमान् गरिमान् इत्यर्थ:॥ २३॥

**चक्राग्रतस्सहगदो हरिरस्तु पश्चात् त्वत्पार्श्वयोर्धनुरसी मधुहाऽजनश्च।**
**कोणेषु शङ्ख उरुगाय उपर्युपेन्द्र तार्क्ष्य: क्षितौ हलधर: पुरुषस्समन्तात्॥ २४॥**

**इन्द्रियाणि हृषीकेश: प्राणान्नारायणोऽवतु।**
**श्वेतद्वीपपतिश्चित्तं मनो योगेश्वरोऽवतु॥ २५॥**

पृश्निगर्भस्तु ते बुद्धिमात्मानं भगवान् परः।
क्रीडन्तं पातु गोविन्दश्शयानं पातु माधवः॥ २६॥

व्रजन्तमव्याद्वैकुण्ठः आसीनं त्वां श्रियःपतिः।
भुञ्जानं यज्ञभुक् पातु सर्वग्रहभयङ्करः॥ २७॥

डाकिन्यो[2] यातुधान्यश्च कूष्माण्डा[3] येऽर्भकग्रहाः।
भूतप्रेतपिशाचाश्च यक्षरक्षोविनायकाः॥ २८॥

कोटरा रेवती ज्येष्ठा[4] पूतना मातृकादयः।
उन्मादा ये ह्यपस्मारा देहप्राणेन्द्रियद्रुहः॥ २९॥

स्वप्नदृष्टा महोत्पाता वृद्धबालग्रहाश्च[5] ये।
सर्वे नश्यन्तु ते विष्णोर्नामग्रहणभीरवः॥ ३०॥

1. K,W °ऽजितश्च 2. V. ढा° 3. K,V,W. कूश्मा° 4. B ष्ठा: 5. M. बृहद्बाल

**श्रीध०** तथा दिक्षू रक्षामकुर्वन्नित्याह - **चक्रीति**। चक्री पुरतो[1-1], सहगदः[2-2] गदासहितो हरिस्तव पश्चादस्तु, त्वत्पार्श्वयोः धनुर्धरो मधुहा, असिधरः अजनश्च एतौ[3-3] स्ताम्[4] शङ्खधरः उरुगायः चतुष्कोणेषु, क्षितौ अधस्तात्॥ २४॥

एवं बहिः रक्षां कृत्वाऽन्तरङ्गमकुर्वन्नित्याह - **इन्द्रियाणीति** ॥ २५॥

**पृश्निगर्भ** इति। आत्मानम् अहङ्कारम्॥ २६ - ३०॥

1- -1. A,B चक्रसहितो हरिः तव अग्रतोऽस्तु 2- -2. V omits 3- -3. V omits 4. A adds, इत्यर्थः।

**वीर०** एवं पादादिशिरःपर्यन्तं रक्षां विधायाऽथ दिक्षु रक्षां विदधुः। चक्री अग्रतः पुरतश्चक्रधरः पश्चात् पृष्ठतः सहगदो गदासहितो हरिराश्रितार्तिहरः। पार्श्वयोऽस्तुधनुरसी धनुः खड्गौ, बिभ्रताविति शेषः। मधुहा अजितश्च धनुर्धरो मधुहा असिधरः अजितश्चेत्यर्थः। कोणेष्वाग्नेयादिषु शङ्खोऽस्यास्तीति अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्। उपयूर्ध्वायां दिश्युपेन्द्रः। क्षितौ अधस्ताद्धलधरः सङ्कर्षणः। समन्तात् सर्वतः अनुक्ता दिशः काश्चित्सन्ति चेत् तत्र सर्वत्र, पुरुषः सर्वप्राणिहृदयगुहावस्थितः॥ २४॥

एवं बहिरङ्गरक्षां संप्रार्थ्य अथान्तरङ्गरक्षां प्रार्थयामासुः इन्द्रियाणीति। हृषीकाणाम् इन्द्रियाणाम् ईशोऽन्तः प्रविश्य नियन्ता, योगेश्वरो योगनिर्वाहकः॥ २५॥

पृश्नेर्गर्भत्वात् अपत्यत्वात् पृश्निगर्भः। भगवान् षाड्गुण्यपूर्णः परः प्रकृतिपुरुषविलक्षणः। आत्मानमित्यनेन चित्ताहङ्कारौ विवक्षितौ॥ २६॥

सर्वग्रहभयङ्कर इत्येतद्यज्ञभुग्विशेषणम्॥ २७॥

कूश्माण्डादयो ग्रहाऽवान्तरविशेषा :॥ २८॥

देहादीनि द्रुह्यन्तीति तथा॥ २९॥

वृद्धग्रहा बालग्रहाश्च ते सर्वे विष्णोर्नामानि गृह्णन्तीति तथा। तेभ्यो भीरवः भीताः नश्यन्तु॥ ३०॥

**विज०** मधुसूदनादयश्चत्वारः। चतुर्षुकोणेषु॥ २४, २५॥

आत्मानं मध्यम्॥ २६, २७॥

अर्भकग्रहाः बालग्रहाः॥ २८ - ३०॥

**श्री[1] शुक उवाच[1]**

**इति प्रणयबद्धाभिः गोपीभिः कृ[2]तरक्षणम्।**
**पाययित्वा स्तनं माता स[3]न्न्यवेशय दात्मजम्[3] ॥ ३१॥**

**तावन्नन्दादयो गोपाः मधुराया व्रजं गताः।**
**विलोक्य पूतनादेहं बभूवुरतिविस्मिताः॥ ३२॥**

**नूनं बत[4]र्षिः सञ्जातो योगीशो वा स[6]माऽऽस सः।**
**स एव दृष्टो ह्युत्पातो य[7]माहाऽऽनकदुन्दुभिः॥ ३३॥**

**कलेबरं परशुभिश्छित्वा त[8]त्ते व्रजौकसः।**
**दूरे क्षिप्त्वाऽवयवशो द[9]दहुः काष्ठवे[10]ष्टितम्॥ ३४॥**

दह्यमानस्य देहस्य धूमश्चागरुसौ[11] ★ रभः।
उत्थितः कृष्णनिर्भुक्ति[12] सपद्याहतपाप्मनः ॥ ३५॥

पूतना लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना।
जिघांसयापि हरये स्तनं दत्वाऽऽप सद्गतिम् ॥ ३६॥

किं पुनः श्रद्धया भक्त्या कृष्णाय परमात्मने।
यच्छन् प्रियतमं[13] किंचित्[14] रक्तास्तन्मातरो यथा ॥ ३७॥

पद्भ्यां भक्तहृदिस्थाभ्यां वन्द्याभ्यां लोकवन्दितैः[15]।
अङ्गं यस्यास्समाक्रम्य भगवानपिबत् स्तनम् ॥ ३८॥

1- -1. K,M,V,W omit 2. V कृष्ण 3- -3. M. सन्न्यवीविशदात्मजम्; V. पर्यङ्के सन्न्यवेशयत् 4. K,W° तत्रर्षिर्जातो; V °तर्षिर्ज्ञानी वा 5. A,B,G,M °गे° 6. M समासतः; K,W समागतः 7. A,B,G यदाहाऽऽ°; M यथाऽऽहाऽऽ°; V. यं प्राहाऽऽ° 8. V तत्र 9. B,G न्यदहन् 10. H. °धिष्ठितम् 11. A,G,M °गु° ★ सन्निभ इति वीरराघवादृतः पाठः 12. A,B,G,M °क्ते V °क्तेः 13. V तरं 14. A, लोके B,G,V किन्नु 15. M °तः

**श्रीध० इतीति।** सन्न्यवेशयत् शाययामास॥ ३१, ३२॥

विस्मयमेवाह - **नूनमिति।** बतेति[1] विस्मये। साम्प्रतं सः ऋषिः तपःप्रभावात्[2] योगीशो[3] ज्ञानी वा सम्यगास। अतः यत्[4-] यमाह[-4] स एव उत्पातो[5] दृष्ट इति॥ ३३, ३४॥

विस्मयान्तरमेवाह - **दह्यमानस्येति** । कृष्णेन निर्भुक्तिः[6]। अत एव सपद्याहतः पाप्मा यस्य॥ ३५॥

प्रसङ्गात् कैमुतिकन्यायेन[7] भक्तिवैभवमाह **पूतनेति** ॥ ३६॥

**किमिति।** श्रद्धया आस्तिक्येन, भक्त्या प्रेम्णा, रक्ताः स्निग्धाः तन्मातर इति वत्सापहरणलीलाभिप्रायेण बहुवचनम्।[8] गोगोपिकाः तन्मातरोऽभवन्निति[9]॥ ३७, ३८॥

1. A,B omit इति 2. A,B °ववान् 3. A,B °गे° 4--4 B,V. omit 5. B,V omit उत्पातः 6. A,B क्तः। 7. A,B °त्यन्या° 8. A, adds तत्र हि 9. A तदा तन्मा°; B तदा मा°

**वीर०** इत्थं प्रणयेन स्नेहेन बद्धाभिः यन्त्रिताभिः गोपीभिः[1] कृतं रक्षणं यस्य तम्, आत्मजं माता यशोदा स्तनं दुग्धं[2] पाययित्वा सन्न्यवेशयत् शाययामास॥ ३१॥

तावत् तदा नन्दादयो गोपाः मधुरायास्सकाशात् व्रजमागतास्सन्तः पूतनाया देहमवलोक्य अतीव[3] विस्मिता बभूवुः॥ ३२॥

वसुदेवोक्तं यथार्थमेवाभूदिति सोदाहरणं विस्मयन्ते **नूनमिति।** आनकदुन्दुभिः वसुदेवः समागतो यमुत्पातं प्राह[4] सएवोत्पातोऽधुनाऽस्माभिः दृष्टः। अतः स आनकदुन्दुभिः ऋषिर्योगी वा पूर्वजन्मनि सन्, अधुना एवंरूपेण नूनं सञ्जातः। बतेति विस्मये। ऋषित्वमुत्पत्तिसिद्धातीन्द्रियार्थ दर्शित्वं, योगित्वं तपःप्रभावकृततद्दर्शित्वमिति विवेकः। स यद्वत इति पाठान्तरं[5-], तदा[-5] वसुदेवः ऋषिर्योगीशो वा सन्नधुनैव सञ्जातः। कुतः यत् यतः गतः समागतः आनकदुन्दुभिः यम् उत्पातमाह सोऽधुना अस्माभिः दृष्ट एवेत्यर्थः॥ ३३॥

ततस्ते व्रजौकसः तत् पूतनाकलेबरम् अवयवशः परशुभिश्छित्वा दूरे क्षिप्त्वा काष्ठैः वेष्टितं कृत्वा ददहुः ॥ ३४॥

विस्मयान्तरमाह - **दह्यमानस्येति।** दह्यमानस्य देहस्य सम्बन्धी यो धूमः सोऽगरुसन्निभः कृष्णागरुतुल्यगन्धः, समुत्थितः सोऽगरुसन्निभो बभूवेति शेषेणवाऽन्वयः। अगरुसौरभ इति पाठान्तरम्[6]। अगरोः सौराभमिव सौरभं यस्य स इत्यर्थः। तत्र हेतुं वदन् देहं विशिनष्टि कृष्णेति। कृष्णस्य भगवतो निर्भुक्त्या हेतुभूतया सपद्येव कार्स्न्येन आहतं पापं यस्य तस्य। कृष्ण निर्मुक्तीति पाठान्तरम्। तदा कृष्णेन भगवता हेतुना निर्मुक्तया हेतुभूतयेत्यर्थः॥ ३५॥

यतो हतपाप्माऽत एव मुक्तिम् अनर्हाऽपि प्रापेत्याह **पूतनेति।** अपिशब्दस्य लोकबालघ्न्यादिभिः प्रत्येकं सम्बन्धः। जिघांसया हन्तुमिच्छया। हरये स्तनं दत्त्वापि सद्गतिं सतां प्राप्यां गतिं मुक्तिम् अवाप॥ ३६॥

यतोऽप्रियं गरलं यच्छन्ती मुक्त्यनर्हापि केनचिद् भगवत्सम्बन्धमात्रेणैव सद्गतिमवाप। किं पुनर्भगवद्भक्त्या सद्गतिं प्राप्नुवन्तीत्याह - **किंपुनरिति।** श्रद्धया भगवत्प्रियाचरणोपयुक्त्या त्वरया भक्त्या च परमात्मने कृष्णाय किञ्चित् प्रियतमं यच्छन् समर्पयन् तद्गतिं प्राप्नोतीति किं पुनर्वक्तव्यमित्यर्थः। प्रियं यच्छन् सद्गतिं प्राप्नोतीत्यत्र दृष्टान्त; रक्तास्तन्मातरो ययेति। रक्ता अनुरक्तास्तस्य कृष्णस्य मातरो यशोदादयो यथा प्रियतम स्तन्यं[7] यच्छन्त्यः सद्गतिं प्रापुः तद्वत्॥ ३७॥

ननु मातॄणां सद्गतिप्राप्तिरसिद्धेति कथं दृष्टान्ततेत्याशङ्कायां तामपि कैमुत्यन्यायेन सिद्धवत्करोति - **पद्भ्या**मिति सार्धैश्चतुर्भिः। लोकैः वन्दिता ये ब्रह्मादयस्तैरपि वन्द्याभ्यां भक्तानां हृदयकमलस्थाभ्यां पद्भ्यां भगवान् यस्याः पूतनायाः अङ्गं समाक्रम्य स्तनं विषपूर्णं स्तनम् इहापिबत्॥ ३८॥

1. W omits गोपीभिः 2. W omits दुग्धं 3. W. अति 4. A,B आह 5- -5. A,B पाठे सः 6. A,B पाठे 7. A omits स्तन्यं

**विज०** प्रणयबद्धभिः बद्धस्नेहाभिः सन्न्यवीविशत् संवेशं निद्रामकारयत् ॥ ३१, ३२ ॥

वसुदेवः ऋषिः त्रिकालदर्शी योगेशः कपिलान्यतमः समासतः संक्षेपतः संकोचं कृत्वा जातदृष्टः अस्माभिरिति शेषः ॥ ३३ - ३५ ॥

पूतनाविष्टोर्वशी सद्गतिं स्वर्गं पूतना तु (सद्गतिं असद्गति) नरकं, 'षद्लृ - विशरणगत्यवसादनेषु' इति धातुः ॥ ३६ ॥

रक्ता अनुरक्ताः ॥ ३७, ३८ ॥

**यातुधान्यपि सा स्वर्गमवाप ज[1-]ननीगतिम्[-1] ।**
**कृष्णभुक्तस्तनक्षीराः किमु गावोऽनुमातर[2] ः ॥ ३९ ॥**

**पयांसि यासामपिबत् पुत्रस्नेहस्नुतान्यलम् ।**
**भगवान् देवकीपुत्रः कैवल्याद्यखिलार्थदः[3] ॥ ४० ॥**

**तासामविरतं कृष्णे कुर्वतीनां[4] सुतेक्षणम्**
**न पुनः कल्पते राजन् संसारोऽज्ञानसम्भवः ॥ ४१ ॥**

**कटधूमस्य सौरभ्य[5-]म वग्राय व्रजौकसः**
**किमिदं कुत एवेति वदन्तो व्रजमाययु[-5]ः ॥ ४२ ॥**

**ते तत्र वर्णितं गोपैः पूतनाऽऽगमनादिकम् ।**
**श्रुत्वा तन्निधनं स्वस्ति शिशोराऽऽसन्[6] सुविस्मिताः ॥ ४३ ॥**

**नन्दः स्वपुत्रमादाय प्रे[7]ष्यागत उदारधीः ।**
**मू[8]र्ध्न्युपाघ्राय परमां मुदं लेभे कुरूद्वह ॥ ४४ ॥**

**य एतत्पूतनामोक्षं कृ[9]ष्णस्यार्भकचेष्टितम् ।**
**नि[10]शम्य श्रद्धया मर्त्यो गोविन्दे लभते र[11]तिम् ॥ ४५ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैय्यासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यायां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

1- -1. K,W. जगतीपतिम् । 2. A,G,M नु 3. A,B,G. °लप्रदः 4. M.V. °न्ती° 5- -5. V. माघ्राय व्रजमाययुः ॥ ४१ ॥ 6. B,G,V. श्चाऽऽ° 7. B,G. प्रेत्यागतमु° 8. A, मूर्ध्न्यव° 9- -9. A,B,G कृष्णस्याऽऽर्भकमद्भुतम्; V. कृष्णस्याद्भुतमार्भकम्; K,W कर्म कृष्णस्य चाद्भुतम् 10. A,B,G. शृणुयात् 11. K,W. गतिम्

**श्रीध० य इति** । एतत्[1] आर्भकं अर्भकचरितम् । किं तत्? पूतनामोक्ष इति । "★अत्तुं दैत्यकुलानीशः पूतनायाः शिशुच्छलात् । स्तन्याऽऽपोशनतः प्राणैः; प्राणाहुतिमकल्पयत्" ॥ ३९ - ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां षष्ठोध्यायः ॥ ६ ॥

1. V adds पूतनामोक्षं ★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः

**वीर०** सा यातुधानी पूतनाऽपि[1] स्वर्गं निरतिशयानन्दरूपं जगतीपतिं हरिमवाप[2], किमुत कृष्णेन भुक्तं स्तनयोः क्षीरं यासां ताः मातरः जगतीपतिमवापुरिति किमु[3] वक्तव्यमित्यर्थः । पौरवीभद्रामदिरादिमात्रन्तराभिप्रायकं बहुवचनम् । अनुशब्दोऽत्र यथाशब्दार्थकः यथा गावस्तद्वदित्यर्थः ॥ ३९ ॥

तासामपि मुक्तिः असिद्धैवेति[4] दृष्टान्तानुपपत्तिरित्यतः[5] तां विशिनष्टि - यासां गवां पुत्रस्नेहेनैव स्नुतानि पयांसि अलं नितरां भगवान् अपिबत्। कथम्भूतः देवकीपुत्रः कैवल्याद्यखिलार्थदः कैवल्यं प्रकृतिबन्धराहित्यं[6] मुक्तिरिति यावत्। तत्प्रभृति पुरुषार्थचतुष्टयप्रदः[7] कैवल्यादिपुरुषार्थप्रदानाय देवकीपुत्रत्वेनावतीर्ण इत्यर्थः ॥ ४० ॥

कृष्णे अविरतम् अविच्छेदं यथा तथा सुतेक्षणं सुतबुद्धिं कुर्वतीनां तासां मात्रणां हे राजन्! अज्ञानसम्भवः संसारः पुनः न कल्पते न प्रवर्तत इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

व्रजौकसः कटधूमस्य शवधूमस्य सौरभ्यमाघ्राय किमिदम् अत्याश्चर्यमिदं कुतो वाऽस्य सौरभ्यमागतमित्येवं वदन्तः व्रजं जग्मुः ॥ ४२ ॥

तो मधुराया आगता नन्दादयः गोपैर्व्रजस्थैर्वर्णितं पूतनाया आगमनादिप्रकारं तस्याः[8] निधनं मरणं शिशोः कृष्णस्य स्वस्ति सुखेनावस्थानं च श्रुत्वा सु नितरां विस्मिता बभूवुः ॥ ४३ ॥

प्रोष्य देशान्तरं गत्वा पुनरागतो नन्दः उदारधीः विपुलानन्दयुक्तबुद्धिः स्वपुत्रमादाय मूर्ध्न्यवघ्राय हे करूद्वह! परमां मुदं प्राप ॥ ४४ ॥

प्रकृतपूतनावृत्तान्तादि श्रवणफलमाह - **य** इति । यः पुमान् एतत् पूतनामोक्षम्, एतदिति सामान्याभिप्रायकं क्लीबत्वम् । यच्च कृष्णस्याद्भुतं कर्मचेष्टितं तच्च । युक्तस्समाहितचित्तो निशम्याऽऽकर्ण्य गोविन्दे गतिं लभते, गत्यर्थाः बुद्ध्यर्थाः गतिं ज्ञानं भक्तिमिति यावत् ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवत चन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

1. W. omits अपि 2. W omits हरिम् 3. A,B omit किमु 4. A,B °द्धेति 5. A,B °ते° 6. A,B सम्बन्ध 7. W. omits प्र 8. A,B तन्नि°

**विज०** अपि स्वर्गं गर्हितं स्वर्गं, नरकमित्यर्थः । "अपिः पदार्थसम्भावनान्वसर्गगर्हासमुच्चयेषु" (अष्टा. 1-4-96) इति पाणिनिः । जने ये नीचाः तैर्गम्यते इति जननी गतिः । स्पष्टोऽन्योऽर्थः । यद्वा जनन्या इव गतिं विचित्रगतिं योग्यतानुसृतगतिम् इत्यर्थः । "इ विचित्रे स्मरे पुमान्" (वैज.को. 8-7-10) इति यादवः । अनेनापि पूतनाया नरकगतिः उर्वश्याः स्वर्गगतिरिति सूचितम् । नु सविकल्पां गतिं योग्यतयेति शेषः । यद्वा अनुयोग्यतासदृशीं, "नु पृच्छयां विकल्पे च पश्चात् सादृश्ययोरनु" (अम. को. 3-403) इत्यमरः ॥ ३९, ४० ॥

सुतेक्षणं पुत्रदर्शनम् ॥ ४१ ॥

कटधूमस्य शवधूमस्य । अन्ये व्रजौकसः ॥ ४२, ४३ ॥

प्रोष्य प्रवासं कृत्वा ॥ ४४ ॥

फलमाह - **य** इति ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भावते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(विजयध्वजरीत्या सप्तमोऽध्यायः।)

# सप्तमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या अष्टमोऽध्यायः)

श्री★ शुक उवाच

एवं बहूनि कर्माणि गोपानां शं सयोषिताम्।
नन्दस्य गेहे ववृधे कुर्व न्विष्णु र्जनार्दनः॥
△ए वं स ववृधे विष्णुः नन्दगेहे जनार्दनः।
कुर्वन्ननिश मानन्दं गोपालानां सयोषिताम्॥

राजोवाच[1-] [-1]

येन येनाऽवतारेण भगवान् हरि रीश्वरः।
करोति कर्णरम्याणि[2] मनोज्ञानि च नः प्रभो॥ १॥

यच्छृण्वतोऽपैत्यरति र्वितृष्णा सत्त्वञ्च[3] शुध्यत्यचिरेण पुंसः।
भक्ति र्हरौ तत्पुरुषेषु[4] सख्यं तदेव हारं[5] वद मन्यसे चेत्॥ २॥

अथाऽन्य दपि कृष्णस्य लोकाचरित[6] मद्भुतम्।
मानुषं देह[7] मासाद्य तज्जाति मनुरुन्धतः॥ ३॥
वि★ स्तरेणेह कारुण्यात् सर्वपाप प्रणाशनम्।
वक्तु मर्हसि धर्मज्ञ दयालु स्त्वमिति प्रभो॥

श्रीशुक उवाच

कदाचि दौत्थानिक[8] कौतुकाप्लवे जन्मर्क्षयोगे समवेतयोषिताम्।
वादित्रगीत द्विजमन्त्रवाचनैः[9] चकार सूनो रभिषेचनं सती॥ ४॥

नन्दस्य पत्नी कृतमज्जनादिकं विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं सुपूजितैः।
अन्नादि[10] वासस्स्रगभीष्टधेनुभिः सञ्जातनिद्राक्ष मशीशयच्छनैः॥ ५॥

★ This additional verse is found in B, W edns. and commented by Viraraghava.

△ A separate verse of almost the same purport is found in B, M ends. and commented by Vijayadhvaja.

1- -1. B विष्णुरात उवाच 2. A रस्यानि 3. M. °त्वं वि 4. A,B,G, च 5. M सारं 6. A,B,G,M तो° 7. A,B,G,K,W लोक° ★ This additional verse is found in B & M ends. and commented by Vijaya dhvaja 8. M °दुत्थापन 9. A,B,G,M °कैः 10. A,B,G,M °द्य

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

उत्क्षिपन् शकटं व्योम्नि तृणावर्तमधः[1] क्षिपन्।
दर्शयन्विश्वमास्ये च कृष्णः क्रीडति सप्तमे॥

कृष्णार्भकसुधा[2] (कथा) सिन्धुसम्प्लवानन्दनिर्भरः।
भूय स्तदेव सम्प्रष्टुं राजाऽन्य दभिनन्दति॥

**येन येनेति।** येन येन मत्स्याद्यवतारेणाऽपि यानि यानि कर्माणि करोति तानि नः कर्णरम्याणि[3] कर्णसुखावहानि मनोज्ञानि[4] मनः प्रीतिकराणि च भवन्त्येव॥ १॥

तथाऽपि **यदिति** । यच्छृण्वतः पुंसः पुरुषमात्रस्य अरतिः मनोग्लानिः तन्मूलभूता विविधा तृष्णा चाऽपगच्छति, तथा सत्त्व शुद्धि हरिभक्ति हरिदाससख्यानि च भवन्ति। तदेव हारं हरेश्चरितं मनोहरं वा, वद, मन्यसे चेत् अनुग्रहं यदि करोषीति॥ २॥

अत्यौत्सुक्येन पुन र्विशिनष्टि - **अथेति** । अनुरुन्धतोऽनुकुर्वतः॥ ३॥

**कदाचिदिति।** उत्थानं शिशो रङ्गपरिवर्तनम्। तत्र करणीये कौतुकाप्लवे उत्सवाभिषेके तथा तस्मिन्नेव दिने जन्मर्क्षस्याऽपि योगे अतः[5] महोत्सवे समवेतयोषितां मिलितपुरन्ध्रीणां मध्ये वादित्रादिभि शोभित मभिषेचनं स्ती[6] यशोदा चकार॥ ४॥

**नन्दस्येति।** अन्नादिभिस्सुपूजितै र्विप्रैः कृतमङ्गलम् सञ्जातनिद्रे अक्षिणी यस्य तमशीशयच्छायितवती॥ ५॥

1. V °मधि 2. V. सदा 3- -3. A,B, omit 4- -4. A,B omit 5. A,B अति 6. V omits सती

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं तावत्पूतनानिर्हरण तन्मुक्तिप्रदानादिरूपं भगवद्बालचेष्टितं मभिधाय अथ चेष्टितान्तराणि विवक्षुः ताव द्राज्ञ स्तत्पिपृच्छिषा मुत्पादयति **एव** मिति। एवंविधानि दुष्टनिर्हरण तन्मुक्तिप्रदानादिरूपाणि अन्यान्यपि बहूनि बालचेष्टितानि सयोषितां सस्त्रीकाणां गोपानां शमानन्दं च कुर्वन् विष्णुर्जनार्दनो भगवान्नन्दस्य गेहे ववृधे एधाम्बभूव तर्हि तानि वद यानि भगवानकरो दिति पिपृच्छिषुः इतरावतारचेष्टितेभ्यः[1] कृष्णावतारचेष्टितानां वैलक्षण्यं वदन् पृच्छति राजा[2] येनेति[2]। भगवान् हरि रीश्वरो येन येन मत्स्याद्यवतारेण यानि यानि कर्माणि करोति चकार तानि नोऽस्माकं कर्णरम्याणि[3] श्रोत्रसुखावहानि, तथा हे प्रभो! मनोज्ञानि मनःप्रीतिकराणि च भवन्त्येव[4]॥ १॥

तथाऽपि यत्कृष्णचेष्टितं शृण्वतः पुंसः पुरुषमात्रस्य अरतिः मनोग्लानिः बुद्धे रस्वास्थ्यं वा यस्मिन् सति सुखहेतवोऽपि न सुखाय भवन्ति तथाविधं तत्। विविधा तृष्णा शब्दादिविषयस्पृहा च अपैत्यपगच्छति। अचिरेण सत्त्व मन्तःकरणं च शुध्यति। हरौ भगवति रति रनुरागः, तत्पुरुषेषु भगवद्भक्तेषु सख्यञ्च भवति। तदेव चरित्रं भूयः पुनः भूयो विपुलं यथातथा वद। तदेव हारमिति पाठे हारं मनोहारि चेष्टित मित्यर्थः। मन्यसे चेत् वक्तुमिष्टं मन्यसे चेत् वद। स्वतन्त्र स्त्वम्, अहं त्वां नियोक्तु मप्रभु रिति भावः॥ २॥

किन्तदित्यत्राऽऽह **अथेति**। मानुषं लोक मासाद्य मानुषावतारं प्राप्य तज्जातिं मानुषजाति मनुरुन्धतोऽनुकुर्वतः कृष्णस्य यदन्य दपि पूतनानिर्हरणरूपबालचेष्टिता दन्यदपि अद्भुतं लोकाचरितं बालचेष्टितं वदेत्यनुषङ्गः॥ ३॥

एवमापृष्टोऽन्यान्यपि बालचेष्टितानि विवक्षुः तावत् शकटासुरवधात्मकं चेष्टितं वर्णयति - **कदाचिदि**त्यादिना एकदेत्यतः प्राक्तनेन। औत्थानिककौतुकाप्लवे, [5]उत्थानं गृहाद्बहिश्शिशोर्निष्क्रमणं, तत्सम्बन्ध्यौत्थानिकं, तस्मिन् कौतुके उत्सवे यः आप्लवः स्नानं यस्मिन्, तस्मिन् दिने जन्मर्क्षेण रोहिणीनक्षत्रेणाऽपि योगे सति महोत्सवे समवेतानां समुदितानां योषितां मध्ये वादित्रादिभिः शोभितमभिषेचनं सूनोः सती यशोदा चकार ॥ ४॥

अन्नाद्यैरन्यैर्वासोभिः स्रग्भिरन्यैश्च [6]अभीष्टार्थैः धेनुभिश्च सुपूजितैर्विप्रैः कृतं स्वस्त्ययनं यस्य, कृतं मज्जनादिकं यस्य, आदिशब्देन अङ्गरक्षादिकं विवक्षितम्। सञ्जातनिद्रे अक्षिणी यस्य, तं सुतं नन्दस्य पत्नी [7-]यशोदाऽपि [-7]तं शनैः [8-]निद्राभङ्गभयादिति भावः[-8]। अशीशयत् शाययामास॥ ५॥

1. W °रचे° 2- -2. W omits 3- -3. A,B omit 4. A,B add इत्यर्थः 5. A,B omit उत्थानं 6. A,B स्वाभीष्टैः 7- -7. W omits 8- -8. W omits

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भगवति भक्तिकरणार्थं अनन्यसाध्यमाहात्म्यं वर्ण्यतेऽस्मिन्नध्याये। तत्र शुकः परीक्षितः प्रश्नबीजमुत्थापयन् वृत्तानुवादसूचनपूर्वकं कृष्णकथामाह - **एवमिति**। एवमुक्तप्रकारेण जनार्दनः दुष्टजनान् अर्दयति हिनस्तीति। 'अर्द -हिंसायाम्' इति धातुः॥

कर्णरम्याणि श्रोत्रसुखजनकानि, मनोज्ञानि मनःप्रीतिजनकानि॥ १॥

अरतिस्तत्र वितृष्णा विशिष्टतृष्णा, विषयेषु रागबुद्ध्यभावो वा। सत्त्वमन्तःकरणम्॥ २॥

तोकचरितं बालचरितम्॥ ३॥

ननु वक्त्रे मह्यं किं ददासीति तत्राह - दयालुरिति॥

उत्थापनकौतुकाप्लवे बहिर्निष्क्रमणोत्सवसम्भ्रमणे उत्सवहेतुकः प्लवः इतस्ततः प्लुतिः यस्मिन् स तथा तस्मिन्, जन्मर्क्षयोगे कृष्णस्य जन्मनक्षत्रसंयोगो यस्मिन् तस्मिन् दिवसे इति शेषः। कासां प्लव इति तत्राह समवेतेति। सम्मिलित

स्त्रीणाम्। "क्रमनिम्न महीभागे कविप्लुतिखगप्लवाः" (वैज.को. 6-1-37) इति यादवः। स्त्रीणां मध्ये सती प्रशस्तकर्मा॥ ४॥

अन्नाद्यवास आदयो येषां ते तथा तैः विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं माङ्गल्यवचनं यस्य स तथा। सञ्जाता निद्रा ययोस्ते तथा ते अक्षिणी यस्य स तथा, तं अशीशयत् शायितवती, शयनगतमकरोदित्यर्थः॥ ५॥

शकटासुरभञ्जनवृत्तान्तः

**औत्थानिकौत्सुक्यमना मनस्विनी समागतान्पूजयती व्रजौकसः।**
**नैवाऽशृणोद्वै रुदितं सुतस्य सा रुदन् स्तनार्थी चरणावुदक्षिपत्॥ ६॥**

**[1]अधश्शयानस्य शिशोस्[2]नोऽल्पक प्रवालमृद्वङ्घ्रिहतं व्यवर्तत।**
**विध्वस्त नानारसकुप्य भाजनं व्यत्यस्त चक्राक्षविभिन्नकूबरम्॥ ७॥**

**दृष्ट्वा यशोदाप्रमुखव्रजस्त्रियो[3] हृत्यौत्थानिके कर्मणि यास्समागताः।**
**नन्दादयश्चाद्भुतदर्शनाकुलाः कथं स्वयं वै शकटं विपर्यगात्॥**
**★ इ ति ब्रुवन्तोऽतिविवादमोहिता जनास्समन्तात्परिवव्रुरार्तवत्॥ ८॥**

**[4-]तदोचुरव्यक्त[-4]मतीन्गोपान्गोपीश्च बालकाः।**
**रुदताऽनेन पादेन क्षिप्तमेतन्न संशयः॥ ९॥**

**न ते श्रद्दधिरे गोपा बालभाषितमित्युत।**
**[5-]अप्रमेयं बलं तस्य बालकस्य[-5] न वै[6] विदुः॥ १०॥**

**रुदन्तं सुतमादाय यशोदा ग्रहशङ्किता।**
**[7]कृतस्वस्त्ययनं विप्रैः सूक्तैः स्तनमपाययत्॥ ११॥**

**पूर्ववत्स्थापितं गोपैर्बलिभिस्सपरिच्छदम्।**
**विप्रा हुत्वाऽर्चयाञ्चक्रुर्दध्यक्षतकुशाम्बुभिः॥ १२॥**

1. M अन° 2. M,V°रथाऽ° 3. A,B,G, M °य औ° ★ This additional half-verse is not found in A & G. edns. 4- -4. A,B,G,V ऊचुरव्यवसित; M ऊचुस्तदव्यक्त 5- -5. M अनन्तस्याऽप्रमेयस्य बलं तस्य 6. A,B,G,V ते 7. V कृत्वा

**श्रीध० औत्थानिकेति।** उदक्षिपत् ऊर्ध्वं चालितवान्॥ ६॥

**अध** इति। तस्य अधः शकटस्य अधस्तात् प्रेङ्खे शयानस्य शिशोरल्पकश्चाऽसौ प्रवालवत् मृदुश्च योऽङ्घ्रिः तेन हतम्, अनः शकटं व्यवर्तत विपर्यस्तमपतत्। कथम्? विध्वस्तानि नानारसवन्ति कुप्यभाजनानि स्वर्णरजतातिरिक्त[1] कांस्यादिमयानि यथा भवन्ति तथा। चक्रे च अक्षश्च चक्राक्षाः व्यत्यस्ताश्चक्राक्षा यस्मिन्। विभिन्नः कूबरो युगन्धरो यस्य[2] तच्च तच्च यथा भवति तथा व्यवर्तेति॥ ७॥

**दृष्ट्वेति।** अद्भुतदर्शनेनाऽऽकुला बभूवुः। तदेवाऽऽह कथमिति। विपर्यगात् विपरीतमपतदिति॥ ८,९॥

**नेति ।** न श्रद्दधिरे विश्वासं न जग्मुः । उत अपि, बालस्यैतन्न सम्भवति, एते च बालाः किं जानन्तीति ॥ १० ॥

**रुदन्तमिति ।** रक्षोघ्नैः सूक्तैः रक्षां[3] कृत्वा ॥ ११ ॥

भगवत्प्रभावानभिज्ञविप्रचेष्टितं विडम्बयन्नाह - **पूर्ववदित्यादिना** । बलिभिश्शक्तैः । यद्वा अष्टदिक्षु बलिभिः सहितं सपरिकरं यथापूर्वं स्थापितं विप्रा दध्यादिभिरर्चयामासुः । हुत्वा ग्रहादिहोमं विधाय ॥ १२ ॥

1. V°तव्यति 2. V यस्मिन् 3. A,B omit रक्षां

**वीर०** औत्थानिके उत्सव एव औत्सुक्यं युक्तं मनो यस्यास्तथाभूता मनस्विनी औदार्यप्रवणमना स्सा यशोदा समागतान् व्रजौकसः पूजयन्ती सुतस्य रुदितं नाऽशृणोत्[-1] न शुश्राव[-1]। स हि स्तनार्थी रुदन् चरणावुदक्षिपत् ऊर्ध्व मचालयत् ॥ ६ ॥

तदा अधः व्योम्न्यापततोऽसुरात्मकस्य शकटस्याऽधोलम्बमानप्रेङ्ख इत्यर्थः । शयानस्य शिशोः श्रीकृष्णस्य अल्पकश्चाऽसौ प्रवालवन्मृदुश्च योऽङ्घ्रिस्तेन हतम् अनः शकटं व्यवर्तत विपरीतमवर्तत। तदेव दर्शयितुं विशिनाष्टि । विध्वस्तानि नाना रसवन्ति कुप्यभाजनानि स्वर्णरजतव्यतिरिक्तकांस्यादिमयानि भाजनानि[2] यस्मिन् व्यत्यस्ते चक्रे अक्षश्चक्राधारदारुविशेषश्च यस्मिन्, विभिन्नः कूबरो युगन्धरो यस्मिन् तच्च॥ ७॥

**दृष्ट्वेति।** यशोदाप्रभृतयो व्रजस्त्रियो याश्चौत्थानिके कर्मणि समागतास्ताः, नन्दादयो गोपाश्च दृष्ट्वा अद्भुतदर्शनेनाऽऽकुलाः सम्भ्रान्ताः कथमेतच्छकटं स्वयमेव विपर्यगात् विपरीतमभूत् इत्येवं ब्रुवन्तः, ब्रुवन्तश्च ब्रुवत्यश्च ब्रुवन्तः। "पुमान् स्त्रिया" (अष्टा०. 1-2-69) इत्येकशेषः। अतीव विषादेन दुःखेन मोहिताः जना यशोदादयः आर्तवत् समन्तात्सर्वतः परिवव्रुः परिविवेष्टिरे॥ ८॥

तदा अव्यक्ता शकटागमनतद्विपर्ययाद्यगोचरा मतिर्येषां तान् गोपान् गोपीश्च प्रति बालकाः कृष्णस्य समन्ततः क्रीडन्तो बालका ऊचुः, किमिति? एतच्छकटमनेन बालकेन कर्त्रा पादेन क्षिप्तं विपर्ययं प्रापितम्, अत्र न संशयः कार्य इति॥ ९॥

ते नन्दादयो[3] न श्रद्दधिरे विश्वासं न जग्मुः, बालस्यैतन्न सम्भवति, एते च बालका किं जानन्तीति, बालकस्याऽप्रमेयमपारं बलञ्च न वै विदुः ॥ १०॥

ततो रुदन्तं सुतमादाय यशोदा बालग्रहशङ्किता। कर्तरि क्तः। बालग्रहमाशङ्कमाना, अत एव विप्रैः कर्तृभिः, सूक्तैः रक्षोघ्नमन्त्रैः करणैः, कृतं स्वस्त्ययनं यस्य तं कृतानिष्टपरिहारककर्माणं शिशुं स्तनमपाययत्॥ ११॥

ततो बलिभिश्शक्तैः अथवा अष्टदिक्षु बलिभिः गृहशान्तिकारिभिः पूजात्मकैस्सहितं, सपरिकरं यथापूर्वं स्थापितं विप्राः दध्यादिभिरर्चयामासुः। हुत्वा ग्रहादि होमं विधाय[4] ॥ १२ ॥

1- -1. W omits 2. A,B पात्राणि 3. A,B add गोपाः 4. A,B add अर्चयाञ्चक्रुरित्यर्थः

**विज०** कदा तु, उत्थानकम् उत्सुकयति पश्यतीति उत्थानकौत्सुक्यम्। स्वार्थे ष्यञ् प्रत्ययः। तादृशं मनो यस्यास्सा तथा। मनस्विनी प्रशस्तमनाः उदक्षिपत् क्षिप्तवान् ॥ ६ ॥

अथ उत्क्षेपानन्तरम्। अनः शकटं व्यवर्तत विपरीत मधोमुखमपतत्। अल्पकौ अणुतरौ प्रवालवन्मृदू अङ्घ्री अल्पकप्रवालमृद्वङ्घ्री ताभ्यां हतं पीडितम्। ध्वस्तानि इतस्ततो विक्षिप्तानि नानारसपूर्णकुप्यात्मभाजनानि यस्मिन् तत्तथा। कुप्यानि द्वीपान्तरस्थमृद्विशेषरचितानि चक्रं रथाङ्गं वृत्तदारु। अक्षो नाम चक्रप्रोतदारुविशेषः। कूबरो युगन्धरः। व्यत्यस्तौ न्यञ्चितौ चक्राक्षौ विभिन्नो विशीर्णः कूबरश्च यस्य तत्तथा ॥ ७ ॥

तत् विपर्यगात् विपरीतं गतम् ॥ ८ ॥

अव्यक्तमतीन् अनिश्चितबुद्धीन्, न व्यक्ता मतिर्येषां तेऽव्यक्तमतयः तान् कुलवृद्धान् ॥ ९ ॥

बालभाषितवत् बालभाषितमिति विकल्प्य संशय्य। "उताऽप्यर्थ-विकल्पयोः" (अम. को. 3-398) इत्यमरः ॥ १०, ११ ॥

स्थापितम्, अन इति शेषः। बलिभिः प्राणशक्तिमद्भिः सपरिच्छदं सपरिकरम् ॥ १२ ॥

**येऽसूयाऽनृतदम्भेर्ष्या हिंसामानविवर्जिताः।[1]**
**न तेषां सत्यशीलानामाशिषो विफलाः कृताः[2] ॥ १३ ॥**

**इति बालकमानीय[3] सामर्ग्यजुरुपाकृतैः।**
**जलैः पवित्रौषधिभिरभिषिच्य द्विजोत्तमैः ॥ १४ ॥**

**वाचयित्वा स्वस्त्ययनं नन्दगोपस्समाहितः ॥**
**हुत्वा चाऽग्निं द्विजातिभ्यः प्रादादन्नं महागुणम् ॥ १५ ॥**

**गाश्च[4] सर्वगुणोपेता वासस्स्रग्वुक्ममालिनीः।**
**आत्मजाऽभ्युदायार्थाय[5] प्रादात्ते[6-] चादात्ते[-6] चाऽन्वयुञ्जत ॥ १६ ॥**

**विप्रा मन्त्रविदो युक्ता स्तैर्याः प्रोक्तास्तदाऽऽशिषः[7]।**
**ता निष्फला भविष्यन्ति न कदाचिदपि स्फुटम्[8] ॥ १७ ॥**

1. M स्तेया° 2. M क्वचित् 3. B,G. °दा° 4. A,B,G,K, W गावः 5. M पुत्रस्याऽ° 6- -6. प्राग्जातेश्चाऽ° 7. A,B,G, M °था° 8. V ध्रुवम्

**श्रीध० ये** इति। असूया गुणेषु दोषाविष्करणम्। ईर्ष्या अक्षान्तिः। [1-]असूयादिभिः विवर्जिताः[-1] तेषामाशिषः कृतास्तैः प्रयुक्ताः॥ १३॥

**इतीति।** इत्येवमभिप्रेत्य सामर्ग्यजुर्भिः उपाकृतैः [2]संस्कृतैः। पवित्रा ओषधयो येषु जलेषु तैः [3] द्विजोत्तमैः कर्तृभिः अभिषिच्य अभिषेकं कारयित्वा॥ १४॥

**वाचयित्वेति।** हुत्वा हावयित्वा ॥ १५॥

**गा** इति। [4]गाश्च प्रादात्। [5-]ते च विप्राः[-5] अन्वयुञ्जत आशिषो [6]अयुञ्जन्। [7-]ते 'शतमन्वयुः' इति पाठान्तरे शतं तद्दत्त गोशतं अन्वयुः। स्वीकृतवन्त इत्यर्थः। यद्वा शतं शतसंख्याकाः ते विप्रा इति[-7]॥ १६॥

**विप्रा** इति। तत्तथैव बभूवुरित्यर्थः॥ १७॥

1- -1. A, V omit 2. A अभिमन्त्रितैः 3. A,B add कृत्वा 4. A,B गावः गाश्च 5- -5. A,B omit 6. A,B युयुजुः 7- -7. A,B omit

**वीर०** ततो, येऽसूयादि दोषविवर्जिताः तेषां सत्यशीलाना मननृतवादशीलानामाशिषः कदाचिदपि विफला न भवन्तीति बुद्ध्वा बालकमादायेत्यन्वयः। [1]असूया गुणेषु सत्स्वपि दोषाविष्करणम्, अनृतं मिथ्याभाषणम् । दम्भो वञ्चनम्। ईर्ष्या त्वक्षमा, हिंसा भूतद्रोहः मानोऽहङ्कारः, द्विजोत्तमैः कर्तृभिः सामर्ग्यजुर्मन्त्रैः, उपाकृतैः संस्कृतैः, पवित्रा ओषधयो येषु तैर्जलै रभिषिच्य स्नापयित्वा, स्वस्त्ययनं वाचयित्वा च नन्दाख्यो गोपः समाहितचित्तः हुत्वा [2]अग्निं हावयित्वा महागुणं षड्रसोपेतमन्नं द्विजातिभ्यः प्रादात् [3] ॥१३ - १५॥

साधुत्वबहुक्षीरत्वादिभिस्सर्वैर्गुणैर्युक्ताः। वासांसि स्रजः हेममालाश्चाऽऽसां सन्तीति तथा ताः, गाश्च आत्मजस्य अभ्युदयार्थं द्विजातिभ्यः प्रायच्छत्। ते च मन्त्रविदो युक्तास्समाहिताः द्विजातयः अन्वयुञ्जत प्रयुयुजिरे, आशिष इति शेषः॥ १६॥

यदभिप्रायेणाऽऽशिषोऽन्वयूयुजन्, ताश्च तथैव बभूवुरित्याह। तैर्विप्रै र्या आशिषस्तदा प्रोक्तः ताः कदाचिदपि स्फुटं नूनं निष्फलाः न भविष्यन्ति॥ १७॥

1. A,B add तत्र 2. W omits अग्निं 3. A,B add प्रायच्छत्

**विज०** इति कृत्वा स्थिता एव विप्राः सत्याशिष इत्याह - **य** इति॥ १३॥

उपाकृतैः संस्कृतैः॥ १४, १५॥

पुत्रस्याभ्युदयार्थाय अभ्युदयप्रयोजनाय जातेः प्राक्सङ्कल्पिता इति शेषः। प्राग्जातेरग्रजस्य बलभद्रस्य वा॥ १६, १७॥

## तृणावर्तनिराकरणवृत्तान्तः

**एकदाऽऽरोहमारूढं लालयन्ती सुतं सती।**
**गरिमाणं शिशोर्वोढुं न सेहे गिरिकूटवत्॥ १८॥**

**भूमौ निधाय तं गोपी विस्मिता भारपीडिता।**
**महापुरुषमादध्यौ जगतामास कर्मसु॥ १९॥**

**दैत्यो नाम्ना तृणावर्तः कंसभृत्यः प्रचोदितः।**
**चक्रवातस्वरूपेण जहाराऽऽसीनमर्भकम्॥ २०॥**

**गोकुलं सर्वमावृण्वन् मुष्णंश्चक्षूंषि रेणुभिः।**
**ईरयन्सुमहाघोरशब्देन प्रदिशो दिशः॥ २१॥**

**मुहूर्तमभवद्गोष्ठं रजसा तमसाऽऽवृतम्।**
**सुतं यशोदा नाऽपश्यत् तस्मिन् न्यस्तवती यतः॥ २२॥**

**नाऽपश्यत्कञ्चिदात्मानं परञ्चापि विमोहितः।**
**तृणावर्तविसृष्टाभिः शर्कराभिरुपद्रुतः॥ २३॥**

1- -1. M जगामाशु च 2. A.B.G°णो 3. A.K.W पू० 4. K.W. च 5. K.V.W दश 6. V तत्र 7. A,B,G,M °श्वना° 8. G,M नि°

**श्रीध०** ★ "उत्क्षिप्य मृदुपादेन शकटं व्योम्नि लीलया। तृणावर्तं पदाऽऽपीड्य भुव्यपातय दर्भकः"॥

**एकदेति।** आरोहमुत्सङ्गम्॥ १८॥

**भूमाविति।** तृणावर्तात् स्वमृत्युपरिहारायं कृष्णेनैवाऽऽत्मन उत्सङ्गादुत्ताराय च कृतं भारमजानती उत्पातशङ्कया महापुरुषमादध्यौ। श्रीकृष्णोदरवर्तिनां जगतां भारेण पीडिता विस्मिता च सती। यद्वा, जगतां मध्ये कर्मसु आस, बभूव, न तु जगदुदरं तं वेदेत्यर्थः॥ १९, २०॥

**गोकुलमिति।** ईरयन् [3]नादयन्नित्यर्थः। [4-]पूरयन्नित्यपि पाठान्तरम्[-4]॥ २१॥

**मुहूर्तमिति।** यतो यत्र न्यस्तवती [5]तत्र तस्मिन् स्थाने नाऽपश्यत्॥ २२, २३॥

★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः। 1. V स्वाऽपमृ° 2. V तु 3. A,B निनाद° 4- -4. A,B omit 5. A,B omit तत्र

**वीर०** अथ तृणावर्तासुरवधात्मकमन्यदपि भगवतो बालचेष्टितं विवक्षुस्तावत् उपोद्घातरूपं चेष्टितमाह - **एकदेति** द्वाभ्याम्। कदाचित् सती यशोदा आरोहमुत्सङ्गमारूढं बालकं सुतं [1] लालयन्ती गिरिकूटवत् गिरिशृङ्गस्येव शिशोः गरिमाणं भारं [2]वोढुं न सेहे नाऽऽसहत। तृणावर्तात् मातुरपमृत्युपरिहाराय चिकीर्षितकार्योपयोगाय च तदङ्गादवरोढुञ्च भगवता कृतं भारं न सेहे इति भावः॥ १८॥

कदाचिदप्यस्य शिशोरेवंविधो गरिमा न दृष्ट इति विस्मिता भारेण पीडिता च शिशुं भूमौ निधाय उत्पातशङ्कया महापुरुषं भगवन्तम् आदध्यौ ध्यातवती। ततो जगतां कर्मसु गार्हीयकर्मसु आस प्रवृत्ता बभूव। यद्वा, श्रीकृष्णोदरवर्तिनां जगतां भारेण पीडिता सती। यद्वा, जगतां मध्ये कर्मसु आस, न तु जगदुदरं तं [3]वेदेत्यर्थः॥ १९॥

तदा तृणावर्ताख्यो दैत्यः कंसस्य भृत्यः तेन प्रचोदितः चक्रवातरूपेणाऽऽगत्य आसीनं [4-]यशोदया त्यक्तम्[-4] अर्भकं [5] जहार गृहीतवान्॥ २०॥

कथम्भूतस्सन्? कृत्स्नं गोकुलं चक्रवातरूपेणाऽऽवृण्वन्, व्याप्नुवन् रेणुभिर्व्रजौकसां चक्षूंषि [6]मुष्णन् पिधापयन् महता घोरेण च शब्देन दश च दिशः पूरयन्। ईरयन्निति पाठे नादयन्॥ २१॥

तथा गोष्ठं मुहूर्तं रजसा तमसा च परागान्धकाराभ्यामावृतमभूत्। तदा च यशोदा, यतो यत्र न्यस्तवती निहितवती तत्र देशे सुतं नाऽपश्यत् न ददर्श॥ २२॥

तथा कोऽपि जनः परमन्यमात्मानञ्च नाऽपश्यत्। कुतः? यतो विमोहितः। तत्र हेतुः तृणावर्तेन विसृष्टाभिः प्रयुक्ताभिः शर्कराभिः सिकताभिः उपद्रुतः ॥ २३॥

1. A,B add श्रीकृष्णं 2. W omits वोढुं 3. A,B add भगवन्तं 4- -4. W omits 5. A,B add श्रीकृष्णं 6. W omits मुष्णन् 7. A,B तथा

**विज०** ईरयन् शब्दयुक्ताः कुर्वन्नित्यर्थः॥ १८ - २१॥

यतो यत्र न्यस्तवती तस्मिन् स्थले॥ २२॥

शर्कराभिः अणुतरशिलाभिः॥ २३॥

इति खरपवनचक्रपांसुवर्षे सुतपदवीमबलाऽविलक्ष्य माता।
अतिकरुणमनुस्मरन्त्यशोच द्भुवि पतिता मृतवत्सका यथा गौः॥ २४॥

रुदितमनुनिशम्य तत्र गोप्यो भृशमनुतप्तधियोऽश्रुपूर्णमुख्यः।
रुरुदुरनुपलभ्य नन्दसूनुं पवन उपारतपांसुवर्षवेगे॥ २५॥

तृणावर्तश्शान्तरयो वात्या रूपधरो हरन्।
कृष्णं नभोगतो गन्तुं नाऽशक्नोद्भूरिभारभृत्॥ २६॥

तमश्मानं मन्यमान आत्मनो गुरुमत्तया।
गले गृहीत उत्स्रष्टुं नाऽशक्नोदद्भुतार्भकम्॥ २७॥

गलग्रहणनिश्चेष्टो दैत्यो निर्गत लोचनः।
अव्यक्तरावो न्यपतत्सहबालो व्यसुर्व्रजे॥ २८॥

तमन्तरिक्षात्पतितं शिलायां विशीर्णसर्वावयवं करालम्।
पुरं यथा रुद्रशरेण विद्धं स्त्रियो रुदत्यो दद्दशुस्समेताः॥ २९॥

★ आदाय मात्रे प्रतिहृत्य विस्मिताः कृष्णश्च तस्योपरि लम्बमानम्।
तं स्वस्तिमन्तं पुरुषादनीतं विहायसा मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्॥
गोप्यश्च गोपाः किल नन्दमुख्या लब्ध्वा पुनः प्रापुरतीव मोदम्॥ ३०॥

1. M °चक्षमाणा 2. K,M वाक्यो 3. K,M,V,W °न्त्यो ★ The first pada of this verse is printed as second pada and the second pada of the same verse is printed as first pada, in V Edition. 4. B,G प्रा° 5. A.B,G,V °रसि 6. M °स्स°

**श्रीध० इतीति।** खरपवनचक्रात् पांसु वर्षे सति॥ २४॥

**रुदितमिति।** उपारतः शान्तः पांसुवर्षस्य वेगो यस्मिन् तथाभूते पवने सति। तत्र तस्या रुदितमनुनिशम्य गोप्यो रुरुदुः॥ २५॥

**तृणावर्त** इति। वात्या चक्रवातः, तद्रूपधरः कृष्णं हरन् शान्तरयः कथञ्चिन्नभोगतः ततःपरं गन्तुं भारातिरेकात् नाऽशक्नोदित्यर्थः॥ २६॥

**तमिति** । गुरुमत्तयाऽतिगौरवेण तं अश्मानं पर्वतप्रायं मन्यमानः तेनैवाऽऽत्मनो गले गृहीतः तं त्यक्तुमिच्छन्नपि नाऽशक्नोदित्यर्थः॥ २७ - २९॥

**आदायेति**। तस्योरसि लम्बमानं कृष्णमादाय मात्रे प्रतिहृत्य समर्प्य विस्मिताश्च बभूवुरिति। विहायसा गगनमार्गेण पुरुषादेन तृणावर्तेन[7] नीतं तथाऽपि मृत्युमुखात्प्रमुक्तं पुनर्लब्ध्वा मोदं प्रापुरिति [8] ॥ ३० ॥

1. A,B omit शान्त: 2- -2. A,B omit 3. V adds भारेण 4. A,B, add तथा 5. A,B, add अश्मवन्तं 6. A,B °तत्वात् 7. A दैत्येन; B omits the word 8. V adds उत्तरेणान्वय:

**वीर०** इतीत्थं खरात् कठिनात् पवनचक्रात् पांसुवर्षे सति सुतपदवीमविलक्ष्य अदृष्ट्वा अबला माता यशोदा अतिकरुणं यथा तथा अनुस्मरन्ती भुवि पतिता। यथा मृतवत्सा गौस्तद्वत् शुशोच॥ २४॥

ततस्तस्या रुदितमाकर्ण्य भृशं नितरामनुतप्ता: धियो मनांसि यासां अश्रूणि मुखेषु यासां तथाभूता: गोप्य: तत्राऽऽगत्य नन्दसूनुं श्रीकृष्णमनुपलभ्याऽदृष्ट्वा रुरुदु:। उपारत: पांसुवर्षस्य वेगो यस्मिंस्तथाभूते सति पवने तत्र तस्या रुदितमनुनिशम्येत्यन्वय:॥ २५॥

वात्या चक्रवात: तद्रूपधरस्तृणावर्त: कृष्णं हरन् शान्तवेग: कथञ्चिन्नभोगत: तत:परं नभो गन्तुं नाऽशक्नोत्। तत्र हेतु: भूरिभारभृत् [2] ॥ २६॥

तं बालं गुरुमत्तया आत्मन: स्वस्य अश्मानं कूपे पिपतिषो: कण्ठलग्नपाषाणतुल्यं मन्यमान:। यद्वा, आत्मन: स्वस्मादपि गुरुमत्तया अश्मानं बालव्याजम् अश्मानं[3] मन्यमानस्तेन दृढं गले गृहीत: तमुत्स्रष्टुं त्याजयितुं नाऽशक्नोत्॥ २७॥

गले ग्रहणेनैव निश्चेष्टो, निर्गते उद्गते लोचने यस्य स दैत्य: अव्यक्तमस्पष्टं वाक्यं वचो यस्य स तथाभूत: निर्बद्धगलत्वादिति भाव:। बालेन[4] सहितो व्यसुर्गतप्राणो व्रजे न्यपतत्॥ २८॥

अन्तरिक्षाच्छिलायां पतितम्, अत एव विशीर्णास्सर्वावयवा: यस्य तम्, दैत्यं रुद्रशरेण विद्धं पुरमिव करालं भयङ्करं सङ्गीभूता रुदन्त्यश्च स्त्रियो ददृशु: ॥ २९॥

ततस्तस्य दैत्यस्य उरसि लम्बमानं कृष्णमादाय मात्रे यशोदायै प्रतिगृह्य समर्प्य विस्मिता बभूवु:। विहायसा गगनमार्गेण पुरुषादेन दैत्येन नीतम् अथाऽपि मृत्युमुखात् प्रमुक्तं स्वस्तिमन्तं जीवन्तं बालं लब्ध्वा[5] नन्दप्रधाना गोपा गोप्यश्च नितरां मोदं हर्षं प्रापु: किल ॥ ३० ॥

1. W omits श्रीकृष्णं 2. A,B add इति। 3. A,B परं 4. A,B add श्रीकृष्णेन 5. W omits लब्ध्वा

**विज०** इतिशब्द: प्रकारवचन: आदिवचनो वा। "इति हेतुप्रकरणप्रकारादिसमाप्तिषु" (वैज. को. 8-7-17) (इत्यमर:)। खरश्चण्ड: पवनो वायु: तेन चक्रपांसव: मण्डलीकृतरजांसि, तेषां वर्षे समूहे सुतपदवीं अविचक्षमाणा विगतदर्शना अपश्यन्तीत्यर्थ:। पुत्रमनुस्मरन्ती निरन्तरसञ्चिन्तनोपेता अत एव भुवि पतिता अबला अतिकरुणम् अशोचदित्यन्वय:॥ २४॥

उपारत: उपरत: शान्त: पांसुवर्षविगो यस्य पवनस्य स तथा। तस्मिन्सत्यपि कृष्णस्य अन्तरिक्षगमनात् भुव्यदर्शनं उपरिचक्षुर्दौर्बल्यादित्यर्थ:॥ २५॥

ननु मूर्तद्रव्यादर्शनं देशान्तरसंयोगात् देशान्तरप्रवेशलक्षणसंयोगाद्वेति उभयथा सम्भाव्यते। अत्र कथमिति स्त्रीणां शङ्काम् अपनेतुमुपक्रमते तृणावर्त इति। शान्तरय: निवृत्तवेग:॥ २६॥

अश्मानं श्वेतपाषाणम्॥ २७॥

निर्गतलोचन: निष्क्रान्तनेत्रमांसपिण्ड:। अव्यक्तवाक्य: वचनावृत्तिरहित:॥ २८॥

पुरं त्रिपुरसंज्ञम्॥ २९, ३०॥

★ **अहो बताऽत्यद्भुतमेष रक्षसा बालो निवृत्तिं गमितोऽभ्यगात्पुन:।**
**हिंस्र: स्वपापेन विहिंसित: खल: साधुस्समत्वेन भयाद्विमुच्यते॥ ३१॥**

**किं नस्तपश्चीर्णमधोक्षजार्चनं पूर्तेष्टदत्तं[2] किमु भूतसौहृदम्।**
**यत्सम्परेत: पुनरेव[3] बालको दिष्ट्या स्वबन्धून्प्रणयन्नुपस्थित:॥ ३२॥**

**[4]दृष्ट्वाऽद्भुतानि बहुशो नन्दगोपो बृहद्वने।**
**वसुदेववचो भूयो मानयामास विस्मित:॥ ३३॥**

**एकदाऽर्भकमादाय स्वाङ्कमारोप्य भामिनी।**
**प्रस्तुतं पाययामास स्तनं स्नेहपरिप्लुता[5]॥ ३४॥**

**-: स्तन्यपानसमये जृम्भणव्याजेन मात्रे विश्वरूपप्रदर्शनघट्ट: :-**

**पीतप्रायस्य जननी सुतस्य[6] रुचिरस्मितम्।**
**मुखं लालयती राजन् जृम्भतो ददृशे जगत्[7]॥ ३५॥**

**खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशा सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधींश्च।**
**द्वीपान्नगांस्तद्दुहितृर्वनानि भूतानि यानि स्थिरजङ्गमानि॥ ३६॥**

**सा[8] वीक्ष्य विश्वं सहसा राजन्सञ्जातवेपथु:।**
**सम्मील्य मृगशाबाक्षी नेत्रे आसीत्[9]सुविस्मिता॥ ३७॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
तृणावर्तमोक्षो नाम सप्तमोऽध्याय:॥ ७॥

★ समेत्य चैकत्र कृताशिषाऽमला विचारयामासुरुपायमत्र। This additional half-verse is found in A Edn. only. 1. K,W °त्र 2. A,B,G,K,W °त्तमुत; V °त्तं ह्युत 3. V °ष 4. V दृष्ट्वोत्पातानि 5. M °तम् 6. A,B,G सा तस्य 7. A,B,G,M इदम् 8. M सं 9. V चा°

**श्रीध०** परस्परं हर्षकथामाहुः- **अहो बतेति।** निवृत्तिं गमितो मृत्युं प्रापितः। कोऽत्र विस्मयो, युज्यत एवैतदिति। तेष्वेव केचिदाहुः - हिंस्र इति॥ ३१॥

**किमिति** । नोऽस्माभिः चीर्णं कृतम्। पूर्तं वापीकूपतटाकादि[1] निर्माणम्। इष्टं पञ्चयज्ञाग्नि होत्रादि, दत्तं दानं, यद्यस्मात् तप आदेः प्रणयन् हर्षयन्॥ ३२ - ३४॥

★तृणावर्तागमे दृष्टगौरवाशङ्किनीं प्रसूम्। बोधयन् दर्शयामास जृम्भमाणो मुखे जगत्।

**पीतेति।** पीतमस्यास्तीति[2] पीतः तत्प्रायः पीतप्रायः। पीतविदितादिशब्दानां पानादिमति व्युत्पन्नत्वात् विभक्ताभ्रातर इत्यादिवत्[-2]। यद्वा[3-], पीतप्रायः स्तनो येन इति उत्तरपदलोपसमासो वा[-3]॥ ३५॥

**खमिति** । खं[4-] स्वर्गाकाशं[-4], नगान् गिरीन्। तद्दुहितॄर्नदीः॥ ३६, ३७॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

1. A,B omit तटाक ★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः 2- -2. A,B omit 3- -3. A,B पीतप्रायस्य पीतः प्रायः स्तनो येन तस्य॥ ३५। 4- -4 A,B omit

**वीर०** अथ गोपादीनां मिथस्सन्तोषवादमाह - **अहो** इति द्वाभ्याम्। रक्षसा निवृत्तिं गमितो विनाशं प्रापितः एष बालः पुनरभ्यगात्। अहो अत्याश्चर्यमेतत्। कोऽत्र विस्मयः। युक्तमेवैतदिति। तेष्वेव केचिदाहुः हिंस्र इति। हिंस्रः क्रूरः खलः स्वपापेनैव निहतः। साधुस्तु समत्वेन स्वस्मिन्नितरेषु च समभावेन भयान्मुक्तो भवतीति॥ ३१॥

तत्राऽपि[1-] केचिदाहुः[-1] - **किमिति।** नोऽस्माभिः तपआद्यन्यतमं किञ्चिच्चीर्णं पूर्वजन्मनि सम्पादितं स्यात्। कुतः? यत् यस्मात् सम्परेतो मृतोऽपि बालकः पुनरपि स्वबन्धून् रमयन् उपस्थितः। दिष्ट्या अयं महानानन्दो जात इत्यर्थः। अन्यथैतद्दुर्लभमिति भावः। तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि। पूर्तं स्मार्तं कर्म, तटाकादिनिर्माणं वा। इष्टं श्रौतं, दत्तं दानम्, तेषां समाहारद्वन्द्वः। प्रणयन्निति पाठे, प्रणयन् हर्षयन् उपस्थित इत्यर्थः॥ ३२॥

एवं विधान्यन्यान्यपि[2] अद्भुतानि बहुशो बृहद्वने बृहति व्रजप्रान्तवने दृष्ट्वा नन्दगोपो विस्मितः पुनः वसुदेवस्य वचो "नेह स्थेयं बहुदिनं सन्त्युत्पाताश्च गोकुले" (भाग. 10-5-30) इत्येतद्वचो मानयामास सत्यमेवाऽभूदित्य मन्यत॥ ३३॥

अथ भगवान् तृणावर्तगमे प्रदर्शितस्य गरिम्णो मूलं दर्शयामासेत्याह - **एकदेति**। प्रस्नुतं, कर्तरि क्तः, स्तनं प्रस्नुवन्तं स्तनं पाययामास। कथम्भूता? स्नेहेन परिप्लुता परितो व्याप्ता ॥ ३४ ॥

हे राजन्! पीतप्रायस्य पीतप्रायस्तनस्य कृतस्तन्यपानस्येत्यर्थः। पीतमिति भावे क्तः। पीतं पानमस्याऽस्तीति पीतम्। अर्शआदित्वात् मत्वर्थीयोऽच्। तत्प्रायः। यद्वा, भुक्ता ब्राह्मणा इतिवत् कर्तरि क्तः। प्रायशब्दः सदृशवाची सन्नपि अत्र अनतिरिक्तार्थपरः। तस्य सुतस्य रुचिरं सुन्दरं स्मितं यस्मिन् तन्मुखं लालयन्ती चुम्बनादिना लालनं कुर्वती जृम्भत आस्यं विवृण्वतः तस्य मुखे इदं वक्ष्यमाणं खाद्यात्मकं जगत् ददर्श। मुख इति पाठान्तरम्। तदा रुचिरस्मितं सुतं लालयन्ती पीतप्रायस्य जृम्भतः सुतस्य मुखे इदं जगत् ददृशे इत्यन्वयः ॥ ३५ ॥

तद्दृष्टजगदन्तर्भूतपदार्थानाह - **खमिति**। खमाकाशम्। रोदसी द्यावापृथिव्यर्थकमव्ययम्। ज्योतिरनीकं शुक्राङ्गारकादिज्योतिश्चक्रम्। सूर्यादीनामितरेतरयोगद्वन्द्वः। नगान् गिरीन्, तद्दुहितॄर्नदीः। यानि स्थावरजङ्गमात्मकानि भूतानि तानि च ददृशे इत्यन्वयः ॥ ३६ ॥

हे राजन्! सा मृगशाबाक्षी यशोदा सुतस्य मुखे खादियुक्तं विश्वमवलोक्य सञ्जातो वेपथुः शरीरकम्पो यस्यास्तथाभूता स्वकीये नेत्रे निमील्य विस्मिता बभूव ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

1- -1. W omits 2. W omits अपि 3. A,B omit स्तनं 4. A,B सुतस्य 5. A,B add मुखं विवृण्वतः 6. A,B ददर्श

**विज०** समत्वेन गुणेन। "अधो न क्षीयते जातु यस्मात्तस्मादधोक्षजः" (भार. उद्यो. 69-10) इति भारतवचनात् अधोक्षजशब्दो निरुक्तः। वापीकूपतटाकादि पूर्तम्। "अग्निहोत्रं तपस्सत्यं वेदानाञ्चानुपालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवञ्च इष्टमित्यभिधीयते। "शरणागतसन्त्राणं भूतानाञ्चाप्यहिंसनम्। बहिर्वेदि च यद्दानं तद्दत्तमित्यभिधीयते॥" प्रणयन् स्नेहं कुर्वन्। "प्रणयः प्रसरस्समौ" (अम.को. 3-138) इत्यमरः ॥ ३१, ३२, ३३ ॥

भामिनी तेजस्विनी ॥ ३४ ॥

इदं वक्ष्यमाणं ददृशे, आस्ये इति शेषः ॥ ३७ ॥

रोदसी द्यावापृथिव्यौ, ज्योतिरनीकं ज्योतिर्गणम्। तेषां पर्वतानां दुहितृः नदीः ॥ ३६ ॥

मृगशाबाक्षी मृगबालाक्षी ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥
(विजयध्वजरीत्या अष्टमोऽध्यायः)

# अष्टमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या नवमोऽध्यायः)

श्रीबादरायणिरुवाच[1]

गर्गः पुरोहितो राजन् यदूनां सुमहातपाः।
व्रजं जगाम नन्दस्य वसुदेव प्रचोदितः॥ १ ॥

तं दृष्ट्वा परमप्रीतः प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः।
आनर्चाऽधोक्षजधिया प्रणिपात पुरस्सरम्॥ २ ॥

रूपविष्टं कृतातिथ्यं गिरा सूनृतया मुनिम्।
नन्दयित्वाऽब्रवी द्ब्रह्मन् पूर्णस्य करवाम किम्॥ ३ ॥

महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम्।
निःश्रेयसाय भगवान् कल्पते नाऽन्यथा क्वचित्॥ ४ ॥

ज्योतिषा मयनं साक्षात् यत्तज्ज्ञान मतीन्द्रियम्।
प्रणीतं भवता येन पुमान्वेद करावरम्[2]॥ ५ ॥

त्वं हि ब्रह्मविदां श्रेष्ठः संस्कारान्कर्तु मर्हसि।
बालयो रनयो र्नृणां जन्मना ब्राह्मणो गुरुः॥ ६ ॥

गर्ग[3] उवाच

यदूना मह माचार्यः ख्यातश्च भुवि सर्वतः।
सुतं मया संस्कृतं ते मन्यते देवकी सुतम्॥ ७ ॥

कंसः पापमतिः सख्यं तव चाऽऽनकदुन्दुभेः।
देवक्या अष्टमो गर्भो न स्त्री भवितु मर्हति॥ ८ ॥

इति सञ्चिन्तयन् श्रुत्वा देवकीदारिकावचः[4]।
अपि हन्ताऽऽगताशङ्कः तर्हि तन्नोऽनयो महान्[5]॥ ९ ॥

1- -1. A.B.G. श्रीशुक उवाच 2. V. °प° 3. V. adds आचार्यः 4. A.B.G. °क्याः 5. A.B.G. भवेत्

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अष्टमे नाम कर्माऽस्य बालक्रीडा कुतूहले।
मृद्भक्षणा[1]ऽभियोगे च विश्वरूपं निरूप्यते॥
विश्वरूपादि बालस्य निशम्याऽऽशङ्किनः पितुः।
नामकृद्गर्ग वाक्येन निजं तत्त्वम[2]सूसुचत् ॥ १ - ३ ॥

पूर्णश्चेत् कथं धनिनां गृहमागतः? तत्राऽऽह - **महदिति।** महतां स्वाश्रमा[3]दन्यत्र विचलनं न स्वार्थम्, किन्तु गृहिणां मङ्गलाय। ननु तर्हि त एव महद्दर्शनार्थं किमिति ना[4]ऽऽगच्छन्ति? तत्राऽऽह - दीनचेतसां कृपणानां क्षणमपि गृहं त्यक्तुमशक्नुवता मित्यर्थः॥ ४ ॥

त्वया बालयोः नामकरणादि करणीयम् इति वक्तुं तस्य ज्ञानातिशयमाह - **ज्योतिषामिति।** यदतीन्द्रिय ज्ञानसाधनं ज्योतिषामयनं तत्प्रतिपादकं ज्योतिश्शास्त्रमित्यर्थः। तत्साक्षाद्भवता प्रणीतम्। येनान्योऽपि पुमान् परा[5]वरं परं कारणं पूर्वजन्मकृतं कर्म, अव[6]रं कार्यं अ[7]स्मिन् जन्मनि भाविफलं तद्वेद। उक्तञ्च जातके यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः प्राप्तिम् व्यञ्जयति शास्त्र मेतत्तमसि द्रव्याणि दीप इव इति॥ ५ ॥

विवक्षित माह - **त्वं हीति।** दैवज्ञो मन्त्रविच्च त्वम्। अतो नामकरणादिसंस्कारान् कर्तुमर्हसीत्यर्थः। नन्वेतद्गुरुणा करणीयम्? इति चेत्तत्राऽऽह नृणामिति॥ ६ ॥

अत्युत्साहिनं नन्दं प्रति गुप्तमेतत्कार्य मित्यभिप्रायेण प्रत्याचक्षाण इवाऽऽह - **यदूनामिति।** भवतु तथापि त्वमत्राऽऽगत इति को विद्यादिति चेदत आह - ख्यात श्चेति। ततः किमत आह देवकीसुतमिति। कंसो मन्यते म[8]न्येत, कल्पयेदित्यर्थः॥ ७ ॥

**कंस** इति। ननु यदुकुमार इति कथञ्चिज्जानातु। तत्र च वसुदेवस्य सु[9]तः त[10]त्राऽपि देवक्यां जात इति कुतो जानीयात्? तत्राऽऽह। पापमतिरित्यादि॥ ८ ॥

**इतीति।** "किं मया हतया मन्द" (भाग 10-4-12) इत्यादि देवकी कन्यावचः श्रुत्वा "देवक्या अष्टमोगर्भो न स्त्री भवितु मर्हति" (भाग 10-8-8) इति नित्यं सञ्चिन्तयन् सामान्येन क्वचिदस्तीति ज्ञात्वा भुवयोश्च सख्यं सञ्चिन्तयं स्त्वद्गृहे भवेदिति सम्भाव्य मत्संस्कारलिङ्गेन चा[12]ऽऽगताशङ्कः आगताऽऽशङ्का यस्य सः अपि यदि हन्ता हनिष्यति तर्हि तदा तत् नो महाननयः स्यादिति॥ ९ ॥

1. V. °णाऽऽदि 2. V. असूचयत् 3. V. व्या° 4. V. न ग° 5. V. °प° 6. V. °प° 7. A.B. त° 8. V. omits मन्येत 9. V. पुत्रः 10. V. omits तत्राऽपि 11. B. adds कंसः 12. V वाऽऽ०

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ गर्गेण कृतनामकरणसंस्कारस्य तत्सूचितमाहात्म्यस्य भगवतो मात्रे विश्वरूप प्रदर्शनं तद्विस्मापनादिरूपं च चरित्रमाहाऽष्टमे **गर्ग** इति। गर्गो यदूनां पुरोहितः। अत एव वसुदेवेन प्रचोदितः नन्दस्य व्रजं जगाम॥ १ ॥

अधोक्षजधिया भगवद्बुद्ध्या नमस्कार पूर्वकं यथा तथा आनर्च अर्चितवान् नन्द इति शेषः॥ २ ॥

अतिथये निवेदितम् अन्नादिक आतिथ्यम् तत्कृतं भुक्तं येन तं सूपविष्टं गर्गं सूनृतया मधुरया गिरा नन्दयित्वा हर्षयित्वा अब्रवीत्। उक्ति मेवाह ब्रह्मन्नित्यादिना यदूना महमित्यतः प्राक्तनेन। हे ब्रह्मन्! पूर्णस्य आप्त कामस्य तव किं करवाम? न किमप्यपूर्वप्रीतिकरं कर्म कर्तुं प्रभवामेत्यर्थः। यद्वा पूर्णस्य परब्रह्मानन्दानुभव पूर्णस्य तव किं करवाम किङ्करा वयमित्यर्थः ॥ ३ ॥

पूर्णश्चेदहं कथं धनिनां गृहमागतः? तत्राऽऽह - **महद्विचलनमिति।** हे भगवन्! महतां भवतां विचलनं स्वाश्रमादन्यत्र सञ्चारः विषयासङ्गदीनचेतसां मादृशां गृहिणां निःश्रेयसायैव कल्पते। अन्यथा तु कदाचिदपि न कल्पते, न तु स्वार्थम्; किन्तु मादृशा मनुग्रहार्थमेवेत्यर्थः॥ ४ ॥

त्वया बालयो र्नामक्रिया कार्येति वक्तुं तस्य विज्ञानातिशय माह — **ज्योतिषामयनमिति।** यज्ज्ञानमतीन्द्रियं अतीन्द्रियज्ञानसाधनं ज्योतिषामयनं गमनप्रतिपादकं ज्योतिश्शास्त्र मित्यर्थः। तत्साक्षाद्भवता प्रणीतम्। येन ज्योतिषामयनेन अन्योऽपि पुमान् परापर मतीत मागामि च वेद॥ ५ ॥

विवक्षितमाह—**त्वमिति** । भो ब्रह्मविदां श्रेष्ठ! त्व मनयोः बालकयो स्संस्कारान् नामकरणादीन् कर्तु मर्हसि। दैवज्ञत्वात् मन्त्रवित्त्वाच्च त्वमेव कर्तु मर्हसीति भावः। ननु, नाऽहं त्वद्गुरुः इत्यत्राऽऽह—नृणां 'जन्मना ब्राह्मणो गुरुः' 'नृणाम्' इति सामान्य निर्देशेन ब्राह्मणानां क्षत्रियादीनाञ्च ब्राह्मणमात्र स्स्वभावतो गुरु रित्यभिप्रेतम्॥ ६॥

अत्युत्साहिनं नन्दं प्रति गुप्तमेतत्कार्य मित्यभिप्रायेण प्रत्याचक्षाण इवाऽऽह - **यदूनामिति।** यदूना माचार्यत्वेन भुवि प्रसिद्धोऽहं यदि त्वत्पुत्रं संस्कुर्याम्, तर्हि मया संस्कृतं त्वत्पुत्रमपि देवकीसुतमेव पापमतिः कंसो मन्यते, मत्कर्तृक संस्कारेण लिङ्गेन देवकीसुत मेवाऽध्यवस्यतीत्यर्थः। ननु यदुकुलाचार्येण त्वया संस्कृतं कथञ्चिद्यदुकुमारं जानातु, तत्र वसुदेवस्य पुत्रः तत्राऽपि देवक्यां जात इति कुतो जानीयात्! तत्राऽऽह — सख्यमित्यादि। नन्दवसुदेवयोः सख्यं प्रसिद्धमेव वर्तते। अशरीरवाण्याऽभिहितो देवक्या अष्टमो गर्भो न स्त्रीभवतु मर्हति, किन्तु

पुमानेव। स मद्भयाद्वसुदेवेन सख्यु स्सन्निधौ निहित इत्येवं देवकीदारिका वच श्चिन्तयन् गताशङ्कः गतसंशयः हन्तापि हन्यात्। तर्हि तन्नोऽस्माकं महा ननयः अनीतिः अनुचितं स्यात् इत्युक्त्वा गर्गः तूष्णीं बभूवेत्यर्थः ॥ ७ - ९ ॥

1- -1. A.B. omit 2- -2. W. omits 3. W. omits यद्वा 4- -4. W. omits 5. A.B. व्या दिस 6. A.B. omit अतीन्द्रियं 7. A.B. तत्प्रति 8- -8. W. omits.

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हरे स्तत्तदवतारे तत्तद्योनिविहितं कर्म कर्तव्य मिति देवजनशिक्षणार्थं तद्विधीयतेऽस्मिन्नध्याये॥ १ ॥

आनर्च पूजितवान्॥ २ ॥

सूनृतया यथार्थ मधुरया। पूर्णस्य कृतकृत्यस्य॥ ३ ॥

महतां पुंसां विचलनं गमनम्॥ ४ ॥

ज्योतिषामयनं ग्रहाणां राशे राश्यन्तर गमनगोचरं ज्योतिश्शस्त्रं; ज्ञायते अनेनेति ज्ञानं, अतीन्द्रियं त्रिकालविषयम् परावरम् अतीतानागत विषयम्॥ ५ ॥

संस्कारान् गर्भाधानादीन् संस्कारकर्ता मदन्यःकिं न स्यात्? इति तत्राह — नृणामिति॥ ६ ॥

तत्र नन्दं गर्गो वक्तीत्याह - गर्ग इति। चशब्दो हिशब्दार्थः। योऽहं यदूना माचार्य इति सर्वतो भुवि ख्यातो हि। ततः किं कंसेन ज्ञातेऽनर्थो भविष्यतीति, स क इत्याह सुतमिति॥ ७ ॥

'कसि हिंसायां' इति धातोः हिंसाशीलः, अतएव पापमतिः। तर्हि तं कृष्णं हन्ता हनिष्यति। तदा नो महाननयोऽन्यायोऽपराधः भविष्यतीति शेषः। कथमयं कंसो मया संस्कृतं ते सुतं देवकी सुतं मन्यते? निमित्त माह सख्यमिति। तवाऽऽनक दुन्दुभेश्च सख्य मस्तीति जानाति। अतोऽनयो स्सुत विनिमयो भविष्यतीति मन्यते। निमित्तान्तरमप्यस्ती त्याह देवक्या इति। यश्चिन्तयन्निति हेतोः तव हन्ता क्वचिज्जात इति निश्चायकेन कन्यावचसापि तस्य तद्धननिवृत्ति र्न भवतीत्याशयेनाऽऽह श्रुत्वेति। गताशङ्को नष्टहनन शङ्कः। आगताशङ्कोऽपि वा॥ ८, ९ ॥

नन्द उवाच

अलक्षितोऽस्मिन्रहसि मामकैरपि गोव्रजे।
कुरु द्विजाति संस्कारं स्वस्तिवाचनपूर्वकम्॥ १० ॥

श्रीशुक उवाच

एवं सम्प्रार्थितो विप्रः स्वचिकीर्षितमेव तत् ।
चकार नामकरणं गूढो रहसि बालयोः ॥ ११ ॥

गर्ग उवाच

अयं वै रोहिणीपुत्रो रमयन् सुहृदो गुणैः।
आख्यास्यते राम इति बलाधिक्याद्बलं विदुः॥
यदूना मपृथग्भावा त्सङ्कर्षण मुशन्त्युत॥ १२ ॥

आसन्वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः।
शुक्लो रक्त स्तथापीत इदानीं कृष्णतां गतः॥ १३ ॥

प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जात स्तवाऽऽत्माजः।
वासुदेव इति श्रीमान् अभिज्ञा स्सम्प्रचक्षते॥ १४ ॥

बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः॥ १५ ॥

आधास्यत्येष वः श्रेयः गोप गोकुल नन्दनः।
अनेन सर्वदुर्गाणि यूय मञ्ज स्तरिष्यथ॥ १६ ॥

पुराऽनेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः।
अराजके रक्ष्यमाणा जिग्यु र्दस्यून्समोधिताः॥ १७ ॥

य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः।
नाऽरयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवाऽसुराः॥ १८ ॥

तस्मा न्नन्दात्मजोऽयं ते नारायण समो गुणैः।
श्रिया कीर्त्याऽनुभावेन गोपायस्व समाहितः॥ १९ ॥

1. M. ०ते 2- -2. omit 3- -3. M.K.V.W. omit 4. A.B.G.M. हि 5. K.W. य० 6. K.W. जनः 7- -7. A.B. एष वः श्रेय आधास्यत् 8. M. के ऽर० 9. V. जघ्नु० 10. K.W. ०ग; V. °गे 11. V. तु 12. K.W. सु.

**श्रीध० अलक्षित** इति। द्विजति संस्कारं द्विजातीना मवश्यं कर्तव्यं संस्कारमात्रं केवलं स्वस्तिवाचन पूर्वकं कुर्विति॥ १०, (११)॥

**अयमिति** । यदूनामपृथग्भावात् कुतश्चिद्धेतोः विप्रतिपद्यमानानां यदूना मपृथग्भावात्। भावो भावनं तस्मात्। अन्योन्यशिक्षया सर्वैकमत्यकरणादित्यर्थः। सम्यक्कर्षत्येकी करोतीति, सङ्कर्षणमप्युशन्ति मन्यन्ते वक्ष्यन्तीत्यर्थः। गर्भसङ्कर्षणन्तु न प्रकाशयति॥ १२॥

**आसन्निति।** अस्य तव पुत्रस्य। अतः कृष्ण इत्येकं नाम भविष्यति॥ १३॥

**प्रागयमिति।** सामान्योक्त्या ऋषिरयं जन्मान्तरगतं नाम कथयतीति नन्दो मन्य तेस्म। अत एनं वासुदेव इति सम्प्रचक्षत इति॥ १४॥

**बहूनीति।** गुणानुरूपाणि ईश्वरः सर्वज्ञ इत्यादीनि। कर्मानु रूपाणिगोविन्दः गोवर्द्धनोद्धरणः इत्यादीनि, तानि सर्वाण्यहमपि नो वेद जना अपि नो विदुरिति॥ १५॥

जातकफलमाह — **आधास्यतीति।** एष परमपुरुषः श्रेयः मुक्तिं अज्ञः झटिति आधास्यत् आधास्यति॥१६॥

**पुरेति।** अनेन रक्ष्यमाणाः समेधिताश्च दस्यून् जिग्युरिति॥ १७ (१८, १९)॥

1- -1. V. omits 2. A. B. गोपतिः 3- -3. एषइति आधास्यत् आधास्यति॥ १६॥ 4. V. जघ्नु०

**वीर०** एवमुक्तवन्तं गर्गं प्रत्याह नन्दः **अलक्षित** इति। अस्मिन् गोकुले मामकै र्मदीयै रप्यलक्षितः रहसि निर्जने देशे स्वस्तिवाचनपूर्वकं द्विजातिसंस्कारं द्विजातीनामवश्य कर्तव्यं संस्कारं तूर्यघोषादिरहितं कुर्वित्यर्थः॥ १०॥

इत्थं सम्यक्प्रार्थितो द्विजो गर्गः स्वेन कर्तुमिष्टमेव तत् बालकयोर्नामकरणं रहसि गूढस्सन् चकार॥ ११॥

तदेव दर्शयति - **अयमित्यादिना।** गुणैस्सुहृदो रमयन्निति तस्मिन्नामशब्दस्य प्रवृत्ति निमित्त प्रदर्शनम्, बलाधिक्यादिति बलशब्दस्य, तथा यदूना मपृथग्भावात् कुतश्चिन्निमित्ता द्विप्रतिपत्स्यमानानां तेषामन्योन्य सामरस्यघटनेन ऐकमत्यसम्पादन रूपात् प्रवृत्तिनिमित्तात् सङ्कर्षणशब्दाभिधेय मुशन्ति इच्छन्ति, जना इति शेषः। सम्यक् कर्षति आकर्षति वैमुख्य निवर्तनेन एकतां नयतीति सङ्कर्षण मुशन्तीत्यर्थः। गर्भ सङ्कर्षणात् सङ्कर्षणः, सङ्कर्षणाख्यस्य अनन्तस्यांशत्वा द्वा सङ्कर्षण इति व्युत्पत्तिद्वयमप्यभिप्रेतम्॥ १२॥

परमात्मत्वं सूचयन्निव तिरोधापयन्निव नामानि चकरेत्यभिप्रायेणाऽऽह - **आसान्निति।** प्रतियुगं तनू र्विग्रहान् गृह्णत: उपाददत: अस्य तव पुत्रस्य शुक्लादय स्त्रयो वर्णा आसन्। अधुना तु कृष्णतां प्राप्त:। अत: कृष्ण इत्येकं नाम भविष्यति। अनुयुगं तनूः गृह्णत इत्यनेन परमपुरुषत्वं सूचितम्। "कृषिर्भूवाचकश्शब्दो णश्च निर्वृतिवाचक:। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते" (भार. 5-68-5) इत्यादिव्युत्पत्त्यन्तराणि त्वभिप्रेतानि॥ २३॥

आधुनिकमपि वसुदेवापत्यत्वमाच्छादयन् प्राह — **प्रागयमिति।** अयं श्रीमान् प्राग्वसुदेवापत्यत्वात् वासुदेव इत्यभिज्ञाः सम्प्रचक्षते। अनया सा[4]म्योक्त्या ऋषिरयं जन्मान्तरगतं नाम कथयतीति नन्दो मन्यते स्म। "वसन्ति यत्र भूतानि वसत्यत्रेति वै यतः। ततस्स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिगीयते" (विष्णु पु. 6-5-75) इति व्युत्पत्तिस्त्वभिप्रेता। श्रीमानित्यनेन श्रियः पतित्वं सूचितम्॥ १४॥

तथा गुणकर्मानुरूपाणि बहून्यस्य नामानि सन्तीत्याह — **गुणेति।** यानि गुणानुरूपाणि भगवान्नारायण इत्यादीनि कर्मानुरूपाणि, मधुसूदन इत्यादीनि बहूनि नामानि। तानि अहं मादृशो मुनिरेव वेद, नतु त्वादृश इत्यर्थ:। अनेना[5]पि परमपुरुषत्वं सूचितम्। यद्वा, अहमेव न वेद, किं पुनस्त्वादृशो न वेदेत्यर्थः॥ १५॥

जातकफलमाह — **एष** इति। व: युष्माकम्, एष श्रेय ऐहिकमामुष्मिकञ्चाऽऽधास्यति। गोपान् गोकुलं [6]गवां कुलं[-6] च नन्दयतीति नन्दनः। अनेन सुतेन हेतुभूतेन यूयं सर्वाणि दुर्गाणि दुःखानि अञ्ज: आशु तरिष्यथ। अञ्ज इति तत्त्वशीघ्रार्थकमव्ययम्॥ १६॥

हे व्रजपते! अराजके संरक्षकरहिते जगति, अत एव दस्युभिर्दुष्टसत्त्वै: पीडितास्साधवो धर्मानुवर्तिन: अनेन त्वत्पुत्रेण पुरा पूर्वजन्मनि समेधिता रक्ष्यमाणाश्च दस्यून् जिग्यु: जितवन्त;। अनेन "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्, धर्मसंस्थापनार्थाय" (भ.गी. 4-8) इति भगवदुक्ति रभिप्रेता। अधुनापि साधुपरित्राणार्थमेव जात इति च भावः॥ १७॥

हे महाभाग! अस्मिन् त्वत्पुत्रे पुरा पूर्वजन्मनि समेधिता ये मानवा: प्रीतिं कुर्वन्ति तान् अरयश्शत्रवो नाभिभवन्ति। यथा विष्णुरेव पक्ष आश्रयो येषां तान् देवान् असुरा: तद्वत्। अत्र प्रीतिशब्देन प्रीत्यात्मिका भक्तिरभिप्रेता। अरिशब्देन प्रकृतिसम्बन्ध प्रयुक्त काम क्रोधादय:। ये [7]अस्मिन् भक्तिं कुर्वन्ति [8]ते मुक्ता भवन्तीति भावः। विष्णु पक्षानिवाऽसुरा इति दृष्टान्तेनाऽयं साक्षाद्विष्णु: यूयन्तु देवाद्यंशप्रभवा:। कंसादयस्तु आसुर सम्पत्त्याऽभिजाता इत्यभिप्रेतम्॥ १८॥

तस्मादेवम्भाविगुणत्वात् हे नन्द ! श्रिया कीर्त्या प्रभावेन अन्यैश्च गुणैर्नारायण तुल्योऽयं भविता। अत एनं समाहितस्सावधानचित्तस्त्वं गोपाय पालय॥ १९॥

1. A,B तदा 2. A,B सामादि 3. A, B add समानानां तेषामन्योन्यस्य कर्षणात् 4. A,B सामान्योक्त्या 5. A,B नात्रापि 6- -6. A,B omit 7. A,B एतस्मिन् 8. A,B add मानवाः

**विज०** मामकैरप्यलक्षिते अज्ञाते अस्मिन् व्रजे, तत्राऽपि रहसि॥ १०॥

आशीर्वचनपूर्वकं नामकरणप्रकारमाह चकारेति॥ ११॥

यदूनां मध्ये उशन्ति इच्छन्ति॥ १२॥

तनूः शरीराणि॥ १३॥

क्वचिन्मथुरायां निग्रहगृहे, अभिज्ञाः तद्धितप्रत्ययविवेकज्ञाः ॥ १४॥

न केवलमस्य वर्णनिमित्तं नाम गुणानुगुणानि नामानि सन्तीत्याह - **बहूनीति** । "कृषिर्भूवाचकश्शब्दः" (भार 5-68-5) इति वचनात् गुणानुगुणं कृष्णेति नाम, मधुहननकर्मानुरूपं मधुसूदनेति॥ १५॥

यदि यूयम् अभजिष्यन् (अभजिष्यत) तर्हि युष्माकन्तु श्रेय आधास्यत् अकरिष्यत् आशास्यतीति वा। अञ्जः सम्यक्॥ १६॥

पृथ्ववतारे अराजके राष्ट्रे अरक्ष्यमाणाः॥ १७॥

विष्णुपक्षान् विष्णुसहायान्। "पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु" (वैज.को 6-1-35) इति यादवः॥ १८, १९॥

**इत्यात्मानं समादिश्य गर्गे च[1] स्वगृहं गते।**
**नन्दः प्रमुदितो मेने आत्मानं[2] पूर्णमाशिषाम्॥ २०॥**

**बालक्रीडासु विश्वरूपप्रदर्शनघट्टः**

**कालेन व्रजता[3] तात! गोकुले रामकेशवौ।**
**जानुभ्यां सह पाणिभ्यां रङ्गमाणौ[4] विजह्रतुः[5] ॥ २१॥**

**तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ घोषप्रघोषरुचिरं[6] व्रजकर्दमेषु।**
**तन्नादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोः॥ २२॥**

**तन्मातरौ निजसुतौ गृणया स्नुवन्त्यौ[7] पङ्काङ्गरागरुचिरावुपगूह्य[8] दोर्भ्याम्।**
**दत्त्वा स्तनं[9] प्रपिबतोः स्म मुखं[10] निरीक्ष्य मुग्धा स्मिताल्पदशनं ययतुः प्रमोदम्॥ २३॥**

**य[11] हर्यङ्गनादर्शनीयकुमारलीला वन्तर्व्रजे तदबलाः प्रगृहीतपुच्छैः।**
**वत्सैरितस्तत उभावनुकृष्यमाणौ प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा[12] ज[13] हृषुर्हसन्त्यः॥ २४॥**

**शृङ्गचग्निदंष्ट्र्यसिजलद्विजकण्टकेभ्यः क्रीडापरावतिब[14]लौ स्वसुतौ निषेद्धुम्।**
**गृह्याणि कर्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ शेकात आपतुरलं मनसोऽनवस्थाम्॥ २५॥**

कालेनाल्पेन राजर्षे रामः कृष्णश्च गोव्रजे।
आकृष्टजानुभिः पद्भिर्विचङ्क्रमतुरञ्जसा॥ २६॥

1. V °ण 2. V ह्या° 3. A,B,G,M °ताऽल्पेन 4. A,B,G रिङ्ग°; V. रम° 5. M चेरतुः 6. M °र° 7. M स्र° 8. A,B,G गु°; M गृ° 9. V स्तनौ 10. V सु 11. M ह्यगितातिरमणीय 12. M उत्स्मृत 13. M जगूहु° 14. A,B,G,V चलौ 15. A,B,G,M °कुले 16. A,B,G,M अघृष्ट 17. A,B,G, M °क्र°

**श्रीध० इतीति।** इति आत्मानं प्रति समादिश्य। आत्मानं कृष्णं च गर्गे गते सति, आशिषामाशीर्भिः नन्दः पूर्णं विष्णुं मेने अमंस्त॥ २०॥

बालक्रीडाचमत्कारैः कृष्णो रामेण संयुतः।
परमानन्दमाधत्त व्रजे नन्दयशोदयोः॥
पूर्णत्वमेव दर्शयन्नाऽऽह - **कालेनेति॥ २१॥**

**ताविति।** अनुकृष्य पुनः पुन राकृष्य सरीसृपन्तौ अतिशयेन चलन्तौ। कथम्? घोषाः कटिपादभूषण ः तेषां प्रघोषेण निनादेन रुचिरं यथा भवति तथा। तेषां घोषाणां नादेन हृष्टं मनो ययो स्तौ। लोकं इतस्ततो गच्छन्तं जन मनुसृत्य त्रिचतुराणि पदान्यनुगम्य मुग्धवत् प्रमीतवत् मातोः अन्ति समीपे उपेयतुः उपजग्मतुः॥ २२॥

तदिति। तदा च तन्मातरौ निजसुतौ दोर्भ्या मुपगूह्य प्रमोदं ययतुः कथम्भूते? घृणया कृपया स्तुवन्त्यौ क्षरत्पयः पूर्णपयोधरे सत्यौ पङ्केनाङ्गरागेण च रुचिरौ कथम्भूतं मुखं निरीक्ष्य? मुग्धं मन्दस्मितं यस्मिन्, अल्पा दशनाश्च यस्मिन्, तच्च, तच्च॥ २३॥

**यर्हीति।** यर्हि अङ्गनानां दर्शनीया कुमारलीला ययोः तथाभूतौ जातौ तदाऽन्तर्व्रजे व्रजस्य मध्ये तदबला व्रजाङ्गनाः तौ प्रेक्षन्त्यः प्रेक्षमाणा विस्मृतगृहकृत्याः हसन्त्यो जहृषुः दृष्टा बभूवुः। कथम्भूतौ? ताभ्यां प्रगृहीतानि पुच्छानि येषां तै र्वत्सै रितस्ततोऽनुकृष्यमाणौ॥ २४॥

**शृङ्गीति।** अतिचलौ अतिचपलौ तौ शृङ्ग्यादिभ्यो निषेद्धुं गृहोचितानि कर्माणि चकर्तुं यत्र यदा तज्जनन्यौ न शेकाते तदाऽलं मनसोऽनवस्था मापतुरिति। गृहिणां गृहसौख्यस्य परा तुष्टिः प्रदर्शिता। कृष्णचापल चौर्याणि सहैवाखिल सद्मसु। प्रजल्पन्त्य स्समागत्य गोप्यो गोप्यै मुदं ददुः॥ २५, २६॥

1. A,B वा 2- -2. B, V omit 3- -3. A,B omit ★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः 4. V omits कथम् 5. B.V omit निनादेन 6. A,B omit भवति 7. V omits तेषां 8. B omits घोषाणां 9. V त° 10. A.B °गु° 11. A,B omit क्षरत् 12. V. omits तौ 13. B omits अतिचलौ 14- -14. V omits 15. V omits अलं ★ श्रीधरीयोऽयं सार्धश्लोकः 16. A,B omit गृहिणां 17. A,B काष्टा 18. A,B °तः।

**वीर०** इतीत्थमात्मानं प्रतिसमादिश्य गर्गे स्वगृहं गते सति ततो नन्दः प्रमुदितः आशिषा अभिमतार्थजातेन पूर्णप्रायमात्मानममन्यत ॥ २० ॥

अथ भगवतः काश्चिद्बालक्रीडा अनुवर्णयन् विश्वरूपप्रदर्शनादिकमाह - **कालेनेति** । गच्छता अतिक्रममाणेन कियता कालेन व्रजे रामकैशवौ सहजानुभ्यां पाणिभ्याञ्चेत्यर्थः । रङ्गमाणौ चङ्क्रमणं कुर्वन्तौ सरीसृपन्ताविति यावत् विजह्रतुः क्रीडां चक्रतुः ॥ २१ ॥

विहारमेव वर्णयति - **ताविति।** तौ रामकेशवौ घोषप्रघोषरुचिरं घोषाः पादभूषणकिङ्किण्यः तेषां प्रघोषेण, व्रजगतश्लाघ्यध्वनिना वा रुचिरं यथा तथा व्रजकर्दमेषु अङ्घ्रियुग मनुकृष्य पुरःप्रसारितजान्वनुगतं यथा तथा पश्चाद्गतजानुसमाकृष्येत्यर्थः। सरीसृपन्तौ पुनःपुनरतिशयेन वा चरन्तौ तेषां घोषाणां नादेन तस्य घोषस्य व्रजस्य नादेन वा हृष्टं मनो ययोस्तौ। लोकमितस्ततः पर्यटन्तं जनमनुसृत्य त्रिचतुराणि पदान्यनुगम्य मुग्धवत् प्रभीतवच्च मात्रोः रोहिणीयशोदयोः अन्ति समीपमुपेयतुरुपजग्मतुः॥ २२॥

तदा तयो रामकेशवयोः मातरौ घृणया करुणया स्तुवन्त्यौ पयःपूर्णस्तनाभ्यां पयस्स्रवन्त्यौ पङ्करूपेणाङ्गरागेण रुचिरौ सुतौ बाहुभ्यामुपगुह्य उरसि संवेष्टच स्तनं दत्त्वा मुखे निधाय प्रपिबतोस्सुतयोर्मुग्धं सुन्दरं स्मितम् अल्पा दशनाः सूक्ष्मा दन्ताश्च यस्मिन्, तन्मुखमवलोक्य प्रमोदं प्रापतुः॥ २३॥

यर्हि यदा अङ्गनानां दर्शनीयाः कुमारलीला ययोस्तौ तथाभूतौ अन्तर्व्रजे[2] व्रजमध्ये व्रजस्था अबलाः प्रेक्षमाणाः विस्मृतगृहकृत्या हसन्त्यो जह्रुः। कथम्भूतौ? ताभ्यां प्रगृहीतानि पुच्छानि येषां तै र्वत्सैः इतस्ततोऽनुकृष्यमाणौ। जगृहुरिति पाठे ता गृहीतवत्य इत्यर्थः॥ २४॥

नितरां क्रीडासक्तौ। अतिचलाविति पाठे क्रीडापरौ अत एव अतिचलौ सर्वतश्चरन्तौ। अतिबलावित्यपि पाठः। शृङ्ग्यादिभ्यस्स्वसुतौ निषेद्धुं वारयितुं गृह्यानि गृहोचितानि कर्माणि कर्तुञ्च यदा तयोर्जनन्यौ न शेकाते नाऽशक्नुताम्, निषेधगार्हर्चे युगपत् कर्तुमसमर्थे अभूतामित्यर्थः। शृङ्गिणो हरिणादयः, दंष्ट्रिणः शुनकादयः, द्विजा मयूरादयः पक्षिणः। तदा ते मातरौ अलं नितरां मनसोऽनवस्थामकुशलतां प्रापतुरिति। गृहिणां सौख्यस्य पराकाष्ठा प्रदर्शिता॥ २५॥

हे राजर्षे! आकृष्टजानुभिः पद्भिः विचङ्क्रमतुः कदाचिज्जानुभ्यां क्रमणं कदाचित् पद्भ्यां गमनं चेति मिश्रं चक्रतुरित्यर्थः॥ २६॥

1- -1. W omits 2. W omits अन्तर्व्रजे

**विजं० इत्यादि।** आत्मानं नन्दम्, आत्मानं स्वम्॥ २०॥

व्रजता गच्छता, रङ्गमाणौ चेष्टमाणौ वा॥ २१॥

सरीसृपन्तौ पुनः पुनः भृशं गच्छन्तौ सर्पन्तौ, घोषाणां किङ्किणीनां प्रघोषेण प्रकृष्टेन शब्देन रुचिरः, घोषप्रघोषरुचिरः स चाऽसौ व्रजः तस्य कर्दमेषु "आभीरपल्ली किङ्किण्यो घोषो गोपाल शब्दयोः" इति वचनात्। तन्नादेन किङ्किणी स्वरेण हृष्टमनसौ मुग्धप्रभीतवत् लोकं बहिर्जनमनुसृत्य विडम्ब्य मात्रोः यशोदारोहिण्योः अन्ति अन्तिके समीपे उपेयतुः प्राप्तवन्तौ॥ २२॥

घृणया दयया स्तन्यं स्रवन्त्यौ। अङ्गरागश्चन्दनम्। मुग्धं कोमलं स्मितं मन्दहासश्च अल्पदशना अणुतरा दन्ता यस्य तत् मुग्धस्मितं बाल्यदशनाश्च अस्मिन्निति वा॥ २३॥

अतिरमणीया: कुमारलीला: बालक्रीडा ययो स्तौ तथा तौ, यर्हि यदा अन्तर्व्रजे व्रजमध्ये आगता आगतौ। "द्वासुपर्णा" (मुण्ड. उ. 3-1-1) इति वत्। तदबला: व्रजयोषित: तदा प्रेक्षन्त्य उत्स्मृतगृहा: विस्मृतगृहव्यापारा:॥ २४॥

शृङ्गिणो गवादय:। दंष्ट्रिण: सारमेय प्रभृतय:। गृह्याणि गृहकर्माणि अनवस्थां व्याकुलताम्॥ २५॥

न घृष्टानि अघृष्टानि तानि च जानूनि येषां ते तथा तै: विचक्रमतु: पादविक्षेपं चक्रतु:॥ २६॥

ततश्च[1] भगवान् कृष्णो[2] वयस्यै र्व्रजबालकै:।
सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन्मुदम्॥ २७॥

कृष्णस्य गोप्यो रुचिरं[3] वीक्ष्य कौमार चापलम्।
शृण्वन्त्या[4]: किल तन्मातुरिति होचुस्समागता:॥ २८॥

वत्सान्मुञ्चन्क्वचिदसमये[5] क्रोशसञ्जात हास:
स्तेयं स्वाद्वत्त्यथ दधिपय: कल्पितै: स्तेययोगै:।
मर्कान्भोक्ष्यन्विभजति स चे न्नास्ति भाण्डं भिनत्ति
द्रव्यालाभे स[6] गृहकुपितो यात्युपक्रोश्य तोकान्॥ २९॥

हस्ताग्राह्ये रचयति विधिं पीठकोलूखलाद्यै -
श्छिद्रं ह्यन्तर्निहित वयुन:[7] शिक्य भाण्डेषु[8] तद्वित्।
ध्वान्तागारे धृतमणिगणं स्वाङ्गमर्थप्रदीपं
काले गोप्यो यर्हि[9] गृहकृत्येषु सुव्यग्रचित्ता:॥ ३०॥

एवं धाष्टर्यान्यु[10]शति कुरुते मेहनादीनि वास्तौ
स्तेयोपायै: विरचितकृति: सुप्रतीको यथाऽऽस्ते।
इत्थं[11] स्त्रीभि स्सभयनयन श्रीमुखालोकिनीभि:
व्याख्यातार्था[12] प्रहसितमुखी न ह्युपालब्धुमैच्छत्॥ ३१॥

★एकदा क्रीडमाना स्ते रामाद्या गोपदा[13]रका:।
कृष्णो मृदं भक्षितवानिति मात्रे न्यवेदयन्॥ ३२॥

सा गृहीत्वा करे पु[14]त्रमुपालभ्य हितैषिणी।
यशोदा भयसम्भ्रान्त प्रेक्षणाक्ष मभाषत॥ ३३॥

1. A,B,G. °स्तु; V °स्स 2. M विष्णु: 3. M °रादीन 4. A,B,G,K,W °त्या: 5. M °यान् 6. K.W स्वगृह; M. सुभृश 7. M °ने 8. M तद्वत् 9. A सुष्ठु 10. M °द्वि° 11. K.W एवं 12. M °र्थ ★ अधिकपाठ: - गोप्य:कदाचन पृथक्पृथगूह्य कृष्ण मेत्येकदैव गदितुं प्रसृतास्तदाग: । दृष्ट्वा तदन्त्यथ तमेव निजानदृष्ट्वा सर्वाश्च ता निववृतुस्स्वगृहान्सलज्जा: ॥ found in K,V 13. M बालका: 14. B,G,M. कृष्ण°

**श्रीध०** असमये अदोहकाले। क्रोशे सञ्जात हास:। स[1-]ञ्जातो हासो यस्य स[-1]:। स्तेयं चौर्यार्जितम्। न[2-]तु दत्तम्[-2] तत्राऽपि स्वादु, नेतरत्। दधि च पयश्चाऽत्ति। किञ्च भोक्ष्यन् भो[3-]क्ष्यमाण: स्वयं भुञ्जाम इत्यर्थ[-3]: मर्कान् मर्कटान्प्रति विभज्य ददाति। तेषां मध्ये तृप्तत्वेन कोऽपि नाऽत्तिचेत् तर्हि भाण्डं भिनत्ति। क्वचिद्द्रव्यस्याऽलाभे सति स [4] कृ[5]त्स्न: गृहाय धक्ष्यामीति कुपितो याति। यद्वा सगृहागृहिण: तेभ्य: कुपित:, तेषां तोकान् बा[6]लान् पर्यङ्कादिषु सुप्तान् प्र[7-]हारनोदनादिभि:[-7] उपक्रोश्य रो[8]दयित्वा यातीति॥ २७, २८, २९॥

कल्पितै: स्तेय योगै: इत्युक्तं, तत्प्रपञ्चयति **हस्तेति** द्वा[9]भ्याम्। तुङ्गशिक्यस्थभाण्डेषु अन्तर्निहिते दध्यादौ वयुनं ज्ञानं यस्य स च्छिद्रं रचयति तद्वित् छिद्ररचनादिवित्। ध्वान्तयुक्ते गृहे स्वाङ्गमेवार्थ प्रदीपं रचयति। विशेषतो धृतमणिगणम् यर्हि काले यस्मिन् स[10-]मये, अत्र च्छन्दोभङ्ग: आर्ष[-10] :॥ ३०॥

**एवमिति** । रे रे चोर इ[11-]त्याद्युक्त श्रीकृष्ण: [-11] 'त्वमेव चोर: अहं गृहस्वामी' इत्यादीनि धाष्टर्यानि प्र[12-]गल्भ वचांसि[-12] उशति जल्पति हे कमनीये यशोदे। यद्वा उशति वास्तौ स्वर्चिते गृहे मेहनादीनि पु[13-]रीषोत्सर्गादीनि[-13] कुरुते। एवं स्तेयोपायै: विरचिता कृति: कर्म येन स:। त्व त्समीपे सुप्रतीक: साधुरिवास्ते। य[14]द्वा सुप्रतीक: दिग्गजवत् अदृश्य: आस्ते इत्यर्थ[-14] : सभये नयने यस्मिंस्तच्च तच्छ्रीयुक्तं मुखञ्च तदालोकिनीभि: स्त्री[15-]भि: इत्थं[-15] व्याख्यातार्थो प्रख्यापित ज[16-]न्मफला तत्तत्कर्मफला वा[-16] उपालब्धुं नि[17-]र्भर्त्सनादिकं कर्तुं[-17] आक्षेप्तुं इ[18-]ति यावत्[-18] नैच्छत्॥ ३१॥

कदाचित् अपराधान्तरे उपालभत। तदा मातु: महदाश्चर्यम् अभूदिति कथयन्नाह **एकदेति** ॥ ३२॥

**सेति**। उपालभ्य निर्भर्त्स्य। भयेन सम्भ्रान्तप्रेक्षणे चपल निरीक्षणे अक्षिणी यस्य तम्॥ ३३॥

1- -1. B, V omit 2- -2. V omits 3- -3. A,B omit 4. V omits स: 5. A,B omit कृत्स्न: 6. B omits बालान् 7- -7. A,B omit 8. V प्ररुदितान् कृत्वा 9. A,B omit द्वाभ्याम् 10- -10. A,B omit 11- -11. A,B इत्याक्षिप्तस्सन् 12- -12. A,B प्रागल्भ्यानि 13- -13. B omits 14- -14. A,B omit 15- -15. B, V omit 16- -16. V कर्मफलका 17- -17. A,B omit 18- -18. A,B omit

**वीर०** ततो वयस्यै स्तुल्यवयस्कैः व्रजबालकै: सह रामेण सहित: कृष्णो व्रजस्त्रीणां हर्षं जनयन् चिक्रीडे॥ २७॥

रुचिरं सुन्दरं कौमार प्रयुक्तं चापल्य मवलोक्य तस्य कृष्णस्य मातु: य[1-]शोदाया[-1]: शृण्वत्या: सत्या:, इति वक्ष्यमाणप्रकारेण ऊचु:॥ २८॥

तदेवाऽऽह - **वत्सानित्यादिना** सार्धद्वयेन। असमये क्वचित् वत्सान् मुञ्चन् क्रोशेन जनानामाक्रोशेन सञ्जातो हासो यस्य तथा भूतो भवति। स्तेयं चौर्यार्जितं न तु दत्तम्। तत्राऽपि स्वादु नेतरत् दधिपयश्चात्ति

खादति। कल्पितैः स्तेय योगैः चौर्योपायैः स्वयं भोक्ष्यमाणाः मर्कान्प्रति विभज्य ददाति। तेषा मपि मध्ये तृप्तः कोऽपि नात्ति चेत्[2] तर्हि भाण्डं भिनत्ति। 'मर्कं भोक्ष्यन्विभजति स चेन्नाऽस्ति, इति पाठे मर्कं नवनीतम्। "मर्कन्तु दधिसारस्यान्नवनीतं प्रचक्षते" इत्यभिधानात्। विभजति सखिभ्य इति शेषः। यद्वा स मर्कटो नास्ति चेत् स्वभुक्तावशिष्ट नवनीतोपेतं भाण्डं भिनत्तीत्यर्थः। क्वचित् नवनीतादि द्रव्यालाभे सति प्रच्छन्ननिहिततया तदलाभे सति स्वगृहकुपितः अस्मद्गृहेभ्यः कुपितः। स गृहेति पाठे स कृष्णः। यद्वा, सगृहा गृहिणस्तेभ्यः कुपितः, तेषां तोकान् पर्यङ्कादिषु सुप्तान् उपक्रोश्य रोदयित्वा याति॥ २९॥

कल्पितैः स्तेययोगैः इत्युक्तं तत्[3] प्रपञ्चयति **हस्ताग्राह्य** इति। उच्चस्थे नवनीतादिभाण्डे हस्तेन ग्रहीतु मशक्ये सति पीठकोलूखलाद्यै र्विधिं तद्ग्रहणसाधन विधानं रचयति। शिक्यस्थभाण्डेषु अन्तर्निहिते दध्यादौ वयुनं ज्ञानं यस्य स तथाभूतः च्छिद्रं रचयति शिलोत्क्षेपणादिभिः च्छिद्रं करोति। तद्वित् च्छिद्ररचनादिवित् ध्वान्तागारे अन्धकारावृतगेहे[4] धृतमणिगणं दिव्यमणिभूषितम्, अत एवार्थप्रदीपं तत्तदर्थप्रकाशकं स्वाङ्गं रचयति सन्निधापयति यस्मिन् काले गोप्यो गृहकर्मसु प्रवणचित्ता स्तदैवं करोतीत्यन्वयः॥ ३०॥

एवं कुर्वन् चोरोऽयमित्युक्तश्चेत् धाष्टर्यानि प्रागल्भ्यानि उशति जलपति "त्वमेव चोरः, अहमेव गृहस्वामी" इति वदतीत्यर्थः[5] वास्तौ स्वर्चिते गृहे मेहनादीनि मूत्रोत्सर्जनादीनि कुरुते स्तेयोपायै र्विरचिता कृतिः कर्म येन तथा भूतोऽपि त्वत्समीपे यथा सुप्रतीक स्साधुः तद्वदास्ते। एव मित्थं सभये नयने यस्मिन् तच्च तच्छ्रीयुक्तं मुखं तत्कृष्णमुख मवलोकिनीभिः[6] स्त्रीभिः व्याख्याताः प्रख्यापिताः अर्थाश्चौर्यादिव्यापाराः यस्याः तथा भूताऽपि प्रहसितं मुखं यस्यास्सा यशोदा उपालब्धुं पुत्र माक्षेप्तुं नैच्छत्॥ ३१॥

कदाचिदपराधान्तरे सत्युपालभत। तदा तु महदाश्चर्यमभूदिति कथयन्नाह - **एकदेति।** श्लोकार्थः[7] स्पष्टः[7] ॥३२॥

सा यशोदा हितमिच्छन्ती कृष्णं करे गृहीत्वा उपालभ्य निर्भर्त्स्य भयेन सम्भ्रान्तप्रेक्षणे चपलालोकने अक्षिणी यस्य तं कृष्ण मभाषत॥ ३३॥

1- -1. W omits 2. W omits चेत् 3. W omits तत् 4. A,B गृहे 5. W जल्पती° 6. A,B °मालो° 7- -7. A,B स्पष्टोऽर्थः।

**विज०** रुचिरञ्च तत् अदीन मुदारञ्च तत् कुमारभावोचितं चपलत्वं यासु तास्तथा। तन्मातुः शृण्वत्याः ताः, इति वक्ष्यमाणप्रकारेण ऊचुः॥ २७, २८॥

असमयान् अप्राप्तदोहनवेलान्। अस्मदादीनां क्रोशेन सञ्जातो हासो यस्य स तथा। अथ कदाचित् स्वेनकल्पितैः स्तेययोगैः चौर्योपायैः स्तेयं चौर्यापन्नं दधिपयश्च स्वाद्वत्ति पिबति च। स कृष्णः मर्कं बालं मार्जरं वा वानरं वा भोक्ष्यन् भोजयिष्यन् विभजति विभागं करोति। नास्ति चेत् नवनीतादि भाण्डं भिनत्ति। कदाचित् उपायानां भावेऽभावे च द्रव्यालाभे दध्यादि द्रव्याप्राप्तौ कुपितः ताडनादिना बालान् अनुक्रोश्य रोदयित्वा याति इत्यन्वयः। "मर्को मनसि वायौ च तोके मार्जर कीटयोः" (वैज.को. 6-1-45) इति च॥ २९॥

स्तेययोगं दर्शयति - **हस्तेति**। ह्रस्वत्वेन हस्ताऽग्राह्ये सति हस्तेन ग्रहणार्थं पीठकाद्यैः विधिमुपायं प्रकारं रचयति शिक्यस्थितभाण्डेषु मध्ये अन्तर्निहित वयुने अन्तर्निक्षिप्त नवनीतभाण्डे तद्वत् यथा लब्धुं सुशकं तथा च्छिद्रं लगुडादिना विवरं करोतीत्यन्वयः। गृहान्धकारे क उपाय इति तत्राऽह ध्वान्तागार इति। अन्धकारावृतगेहे धृतमणिगणं धृतसूर्यादि प्रकाशाधिक प्रकाशरत्नगणसंवीतं स्वाङ्गं स्वदेहं अर्थप्रदीपं पदार्थप्रकाशकं कृत्वेति शेषः। कस्मिन् समये इत्यत्राऽऽह काल इति॥ ३०॥

एवं तदा धाष्टर्यात् निर्भयत्वात् विशति गृहमिति शेषः। उपविश्य च वास्तौ देहल्यादौ मेहनादीनि पुरषोत्सर्जनादीनि करोति। स्तेयोपायैः स्तेयव्यापारैः विरचितकृतिः निर्मितचौर्यव्यापारः। शोभनानि प्रतीकानि अङ्गानि यस्य स चार्वङ्गः सच्चरित्रः पुरुषो यथा तथाऽऽस्ते इत्यन्वयः, सुप्रतीको मार्जारो वा [1]मध्यस्थो वा[1]। सभयं नयनं यस्मिंस्तत् सभयनयनं च श्रीमुखं च सभयनयन श्रीमुखं श्रियायुक्तं मुखं श्रीमुखम्। श्रीमुखम् आस्यावलोको यासामस्तीति सभयनयनश्रीमुखावलोकिन्यः ताभिर्व्याख्यातः प्रकाश्य कथितोऽर्थः सुतविषयो व्यापारो यस्या स्सा तथा उपालब्धुं निर्भर्त्सयितुम् इत्थंशब्दः समाप्तिवचनः ॥ ३१, (३२)॥

भयेन सम्भ्रान्तानि अनवस्थितानि चञ्चलानि प्रेक्षणानि दर्शनानि यस्य तत्तथा तच्चाक्षि यस्य स तथा तम्॥ ३३॥

1- -1. A,B omit

[1-]यशोदोवाच[-1]

**कस्मान्मृद [2]मदान्तात्मन् भवान्भक्षितवान्रहः।**
**वदन्ति तावका ह्येते कुमारास्तेऽग्रजोऽप्ययम्॥ ३४॥**

[3-]श्रीकृष्ण उवाच[-3]

**नाऽहं भक्षितवानम्ब सर्वो मिथ्याभिशंसिनः।**
**यदि सत्य[4]गिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम्॥ ३५॥**

**यद्येवं तर्हि व्यादेही त्युक्तस्य भगवान् हरिः।**
**व्यादत्ताऽव्याहतैश्वर्यः क्रीडामनुजबालकः॥ ३६॥**

**सा तत्र ददृशे विश्वं जगत्स्थास्नु च खं दिशः।**
**साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलं सवाय्वग्नीन्दु तारकम्॥ ३७॥**

**ज्योतिश्चक्रं जलं तेजो [5]नभस्स्वर्विवराणि च।**
**वैकारिकानीन्द्रियाणि मनोमात्रा गुणास्त्रयः॥ ३८॥**

**एतद्विचित्रं सहदेव काल स्वभाव कर्माशय लिङ्गभेदम्।**
**सूनो स्तनौ वीक्ष्य विदारितास्ये व्रजं सहाऽऽत्मान मवापशङ्काम्॥ ३९॥**

किं स्वप्न एतदुत देवमाया किं वा मदीयो बत बुद्धिमोहः[6]।
अथो अमुष्यैव[7] ममार्भकस्य यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः॥४०॥

अदो[8] यथावन्न[9] वितर्कगोचरं चेतो मनः कर्मवचोभि रञ्जसा।
यदाश्रयं येन यतः प्रतीयते[10] सुदुर्विभाव्यं प्रणताऽस्मि तत्पदम्॥४१॥

अहं ममाऽसौ पतिरेष मे सुतो व्रजेश्वरस्याखिलवित्तपा सती
गोप्यश्च गोपास्सहगोधनाश्च मे[11] यन्माययेत्थं कुमतिः स मे गतिः॥४२॥

1- -1. G. M omit 2. M मदीना ° 3- -3. M श्रीभगवानुवाच 4. M.V °त्यं 5. A,B,G नभस्वान् वियदेव च; M. नभस्स्वर्वियदेवच; V. विवराणि रसातलम् 6. M. भेदः 7. M °ष्यापि 8. A,B,G,V अथो 9. M °तन्न 10. K.W °मी° 11. M ये; V omits मे

**श्रीध०** अदान्तात्मन्! चपलगात्र! यद्वा उद्धतस्वभाव[-1]! रहः एकान्ते अग्रजोऽपि[2-] बलरामोऽपि वदतीत्यर्थः[-2]॥३४॥

**नेति** । नाऽहं भक्षितवानिति, सर्वे[3-] मिथ्याभिवादिनः[-3] नहि बाह्यं किञ्चिन्मया भक्षितम्[4] मत्कुक्षा वादावेव सर्वमस्तीति भावः। समक्षं प्रत्यक्षम्॥३५॥

**यदीति**। व्यादेहि मुखं प्रसारयेति। व्यादत्त प्रसारितवान् स्वकुक्षिस्थ[5-] नानासृष्टि वैचित्र्यं मात्रे दर्शनाय प्रवृत्त इति सूचयन्नाह अव्याहतेति[-5] ॥ ३६॥

**सेति**। तत्र तस्मिन् मुखे विश्वं ददृशे ददर्श - तत्प्रपञ्चयति। जगज्जङ्गमम्। स्थास्नु स्थावरम्। ख मन्तरिक्षलोकम्। साद्रिद्वीपाब्धि भूगोलं पर्वत द्वीप समुद्र सहितं भूगोलं[6] भूलोकम्[7]। वायुः प्रवहः[8] अग्निः वैद्युतः, इन्दुश्च तारकाश्च तत्सहितम्॥ ३७॥

**ज्योतिरिति**। ज्योतिश्चक्रं स्वर्लोकम्। वैकारिकाणि देवाः मन इति वैकारिकशब्देन गृहीतमपि देववैलक्षण्यात् पुनरुक्तम् । इन्द्रियाणि च तैजसानि मात्रा स्तामसाः शब्दादयः॥ ३८॥

**एतदिति**। एवमेतद्विचित्रं विश्वं सह एकदैव वीक्ष्य विचित्रतामाह - जीवश्च गुणक्षोभकः, कालश्च परिणामहेतुः स्वभावश्च जन्महेतुः, कर्म च तत्संस्कारः[9] आशयश्च - एतैः लिङ्गानां चराचरशरीराणां भेदो यस्मिंस्तत्। तनौ तत्र व्रजं च सहात्मानं स्वसहितं क्वचिद्वीक्ष्य। सूनोः त्ये विदारिते आस्ये शङ्कमवाप॥ ३९॥

तामेवा[10]ऽऽह - **किं स्वप्न** इति। परितो विलोक्याऽऽह - नाऽयं स्वप्नः। तर्हि किं देवस्य हरेर्माया? तथा चेदन्ये किं न पश्यन्ति? तर्हि किं वा मदीय एव कश्चिद्बुद्धिमोहो धीविपर्यासो दर्पणे मुखवत्। एवं तर्ह्ययं कृष्णोऽपि कथमन्तः प्रतीयते । न[12-] हि दर्पणे दर्पण प्रतीतिः[-12] अन्तर्बहिश्चैकरूपेण च कथं जगत्प्रतीयते । तथा सति बिम्बप्रतिबिम्बयो रिव परस्परं वैपरीत्येन प्रतीतिः स्यादित्याशङ्क्य अन्यथा वितर्कयति - अथो इति। अथो[13]

ग्घड्ढ्ल श्लश्ल ग्श्लन्नद्भव्यद्ग ग्ढ्गाङ्क्रृत्व्यद्गप्लव्यफ ऋड्यप्लज द्गः कश्चन अचिन्त्यय [14] आत्मयोगः स्वीय मैश्वर्यम्? औत्पत्तिकः स्वाभाविकः ॥ ४० ॥

चरमं पक्षमाश्रित्य अयमीश्वर इति निश्चित्याह - **अदो इति** । चेत श्चित्तम् । चि[15]त्तादिभिर्न वितर्कगोचरम् जगत् यदाश्रयं यदधिष्ठानम् । येन करणाधिष्ठात्रा । यतो बुद्धिवृत्त्यभिव्यक्तात् । नन्विद मवितर्क्यं भवतु । तत्पदं कीदृक्? अत आह - सदुर्विभाव्यमिति । इदमत्यन्त मचिन्त्य मित्यर्थः ॥ ४१ ॥

एवं प्रपञ्चप्रतीत्या उन्नीतं तत्त्वं पुनर्जीवसंसृति हेतुमायाश्रयत्वेनोन्नय[16]न्त्याह **अहमिति** । यशोदानामाऽहम्, असौ मम पति; । अमुष्य व्रजेश्वरस्य [17-]अ खिल वित्तपा[-17] अखिल वित्तादिष्ठात्र्यहं सती जाया । एष कृष्णो मे सुतः, गोप्यादयश्च मदीयाः , इतीत्थं कुमतिः यन्मायया, स एष मे शरणमिति ॥ ४२ ॥

1- -1. A,B omit° 2. A,B omit 3. A,B omit 4. A,B भक्ष्यते 5- -5. A,B omit 6. V omit भूगोलं 7. A,B भूर्लो° 8. V पवनः 9. A adds °रभूतः 10. V °माह 11. A adds इति 12- -12. B.V omit 13. A.B omit अथो 14. V adds इति 15. V तदादि° 16. V °यन्तीत्याह 17. A,B omit

**वीर०** भाषणमेवाऽह - **कस्मा** दिति। हे अदान्तात्मन् ! चपलगात्र उद्धतस्वभावेति वा। कस्माद्धेतोः भवान् रहसि मृदं भक्षितवान् नाऽहं भक्षितवानित्यत्राऽऽह वदन्तीति। [1-]तव सम्बन्धिन एव [-1]त्वं भक्षितवानिति वदन्तीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

एवमुक्तः कृष्ण आह - **नाऽह** मिति। हे अम्ब ! नाऽहं भक्षितवान् मत्कुक्षौ सर्वमादावेवास्तीति भावः। एते वदन्तीत्येत त्प्रक्षिपति सर्व इति। यद्येते, सत्या गिरो वाचो येषां तथा भूता स्तर्हि समक्षं प्रत्यक्षं मम मुखं पश्य ॥३५॥

एव मुक्तया जनन्या, तर्हि मुख मास्यं व्यादेहि विवृतं कुर्वित्युक्तः भगवान् हरिः व्यादत्त विवृतमकरोत् व्यात्ताननं विश्वरूपप्रदर्शनोपयुक्तेन धर्मेण विशिनाष्टि - अव्याहत मवतारदशायामपि अप्रच्युतमैश्वर्यम् ईश्वर(रा)साधारणं "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" (शेता. उ. 6-8) "सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः" (छान्दो. उ. 8-1-5) इत्यादि वेदान्तावगतं सर्वशक्तित्वादि कल्याणगुणजातं यस्य सः। तर्ह्येवम्भूतस्य जीववत् कुतो मनुष्यबालकत्वापत्ति स्तत्राऽऽह - क्रीडया निमित्तभूतया मनुजबालकः न तु कर्मणेति भावः॥ ३६॥

सा यशोदा तत्र विवृते आस्ये विश्वं ददर्श। तदेव प्रपञ्चयति। जगत् जङ्गमं स्थास्नु स्थावरम् खमन्तरिक्षलोकः, पर्वतद्वीपसमुद्र सहितः भूलोकः, वायुः प्रवहश्च अग्निः वैद्युतश्च इन्दुश्च तारकाश्च तत्सहितं ज्योतिश्चक्रं, जलम् आवरणजलम्, तेजः सूर्यादि ज्योतिः, नभः आकाशः, स्वर् स्वर्ग लोकः विवराणि अतलादीनि, वैकारिकाणि सात्त्विकाहङ्कारकार्याणि, श्रोत्रादीनि, दशेन्द्रियाणि, मनश्च मात्रा स्तामसानि, शब्दादि तन्मात्राणि पञ्च, त्रयो गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि ॥ ३७, ३८॥

एव मेतद्विचित्रं विश्वं सह एकदैव वीक्ष्य विचित्रतामेव विशिनष्टि। जीवाः क्षेत्रज्ञाः सर्वोत्पत्ति निमित्तगुण क्षोभकश्च, कालः परिणाम हेतुः, स्वभावश्च जन्महेतुः, कर्म च आशयो वासना च तैः, लिङ्गानां शरीराणां भेदो यस्मिंस्तत्, सहात्मानम् आत्मना यशोदया कृष्णेन च सहितं व्रजञ्च सूनोः तनौ, तत्राऽपि विदारिते व्यात्ते आस्ये अवलोक्य शङ्कां संशय माप॥ ३९॥

शङ्कामेव दर्शयति - **किमिति।** एषः शिशोः अल्पवदने विश्वदर्शनरूपं किं स्वप्नः? जागरावस्थायां न हि स्वप्न स्सम्भवतीति विमृश्य वितर्कयति - उत देवमायेति। तथा चेत् घटपटादीनिव सर्वे किं न पश्यन्तीति विमृश्य शङ्कते किं वेति। बुद्धिमोहो बुद्धिविपर्यासः, भ्रम इति यावत् तथा चेत् पुनः पुनर्दर्शनेऽपि यथावत्कथं प्रतीतिः? अतो न बुद्धिमोह इति विमृश्याऽऽशङ्कते - अथो इति। अथो अथवा मदीयस्यामुष्यार्भकस्यापि, सतः यः कश्चन अचिन्त्य औत्पत्तिकः उत्पत्तिसिद्धः, स्वाभाविक इति यावत् आत्मयोगः आत्मनः परमात्मनः स्वस्य योगः कुक्षिस्थाखिल विश्वत्वादिकल्याण गुणयोगः तन्मूलक इति॥ ४०॥

चरमं पक्षमाश्रित्य अयमीश्वर इति निश्चित्य तं प्रणमति **अद** इति। चेतसा बुद्ध्या मनःकर्मणा मनोव्यापारेण वचोभिश्च अञ्जसा तत्त्वत आशु वा, यथावत् याथात्म्येन अदो विश्वं न वितर्क्यगोचरं नानाविधतर्कागोचरं यदाश्रयं यदाधेयं, यतः उत्पद्यत इति शेषः ये जीवति प्रमीयते यस्मिन् लीयते "यतो वा इमानि भूतानि" (तैत्ति. उ. 3-1) इति श्रुत्युर्थ प्रत्यभिज्ञान सामर्थ्यात्, यतो येन प्रमीयत इति पदापेक्षितानां जायते जीवति यस्मिन्निति पदाना मध्याहारः, तत्सुदुर्विभाव्यम् इदमित्थन्तया चेतो मनः कर्मवचोभि स्तर्कयितुं मशक्यं पदम्, पद्यते गम्यते प्राप्यत इति पदम्, मुमुक्षुप्राप्यं परमात्म स्वरूपं प्रणतास्मि नमस्कृतवत्यस्मि। न वितर्कगोचरमिति कार्यस्य जगत स्तर्कागोचरत्व मुक्तम्। तत्कुत इत्यपेक्षायां, कारणस्य तथा विधत्वात् इत्यभिप्रायेण सुदुर्विभाव्य मित्युक्तम्। प्रतीयत इति पाठे यतः प्रतीयते व्यज्यते उत्पद्यत इत्यर्थः॥ ४१॥

मम अहम्ममते यत्सङ्कल्पायत्ते, स एव मम तन्निवृत्त्युपाय इति अध्यवस्यति **अहमिति।** ममाऽसौ नन्दः पीतः, एष मे सुतः सगोपास्सह गोधनाश्च गोप्यो मे मदीयाः, अहं सती व्रजेश्वरस्य नन्दस्याखिलवित्तपा समस्तद्रव्य गोप्त्री अस्मीति। कुमतिः अहम्ममताबुद्धिः यन्मायया यस्य सङ्कल्पेनाऽभूत् स एव भगवान् मम गति रहम्ममता निवृत्त्युपायः॥ ४२॥

1- -1. W omits 2. A,B भूर्लोकः 3- -3. A,B स्वः स्वर्लोकः 4. A,B add अस्य

**विज०** तत्र किं प्रमाणमिति तत्राऽऽह वदन्तीति॥ ३४॥

मिथ्यावादित्वं प्रत्यक्षतो दर्शयामीत्याशयेनाऽऽह यदीति॥ ३५॥

यद्यसत्यगिरो बालाः, यदि त्वया न मृद्भक्षिता तर्हि मुखं विदारयेत्याह - **यद्येव** मिति। व्यादत्त विदारितवान्। क्रीडार्थं मनुजबालकः प्रशस्तमानुषबालवपुः॥ ३६॥

जगज्जङ्गमं स्थावरम्। सामान्योक्तं विशिनष्टि खमित्यादिना। खं प्रदेशः भूगोलं भूमण्डलम्। वाय्वग्नी भूमौ॥ ३७॥

ज्योतिश्चक्रं अश्विन्यादि नक्षत्रमण्डलं जलतेजसी बाह्याभ्यन्तर गते नभः क्रतु विशेषः, अन्तरिक्षं वा, स्वः स्वर्गः परलोको वा, वियद्वाहचं सर्वगतं वा। वैकारिकाणीन्द्रियाधिष्ठातृ दैवतानि ॥ ३८॥

स्वभावः सात्त्विकादिः, कर्म अदृष्टम्, आशयः संस्कारः, लिङ्गं लक्षणं, सूक्ष्मशरीरं वा बुद्ध्यादि समूहो वा। भेदः तत्तद्वस्तु व्यावर्तकधर्मः॥ ३५॥

शङ्कां प्रकटयति **किमिति।** औत्पत्तिकः स्वाभाविकः आत्मयोगः आत्मैश्वर्यातिशयः॥ ४०॥

"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तैत्ति.उ. 2-1) इत्युपनिषद्वेद्यं ब्रह्मैव मम पुत्रतां प्राप्तमिति यस्मात्तस्मात्ति मया बोद्धुमशक्यमिति न दूषणं, किन्तु ब्रह्मादिभिः सुष्ठु दुर्विभाव्य मित्याशयेनाऽऽह - **अद** इति। अदो वस्तु यथा यादृशं तत्तादृशमिति चेतो मनः कर्मवचोभिः - चेतो ब्रह्मा, मनो रुद्रः कर्म पुष्करनामा देवः इन्द्रो वा, वचो वह्नि र्बृहस्पति र्वा, उमा वा, अञ्जसा साक्षादेतैः कृतविविधतर्कगोचरं विरचितनानानुमान विषयं न भवति। विरुद्ध तर्क गोचरं न भवतीति किमिति योज्यम्। नन्विदं तर्हि शून्यप्राय मिति तत्राऽऽह - यदाश्रय मिति। यत्पदं आश्रयो यस्य तद्यदाश्रयं, जगदिति शेषः। प्रलये ब्रह्माश्रयत्वेन तिष्ठतीत्यनेन जगद्ब्रह्मणोः भेदः सिद्धः। स्थितिकाले च येन जीवनं सिध्यति सृष्टिकाले च यतः प्रतीयते अभिव्यज्यते उत्पद्यत इत्यर्थः। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयान्त्यभिसंविशन्ति" (तैत्ति. उ. 3-1) इति श्रुतिः। अनेन जन्मादिकारणत्वं स्वलक्षण मित्युक्तं भवति। ननु घटादिवत् किमिति न ज्ञायत इति तत्राऽऽह - सुदुर्विभाव्यमिति। सुखेन दुःखेन च विभाव्यं विशिष्टत्वेन विरुद्धत्वेन च ज्ञेयम्। "सुदृशोभन दुःखयोः" इति यादवः, "नैषा तर्केण मति रापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ"! (कठ. उ. 2-9) इति श्रुतेः। द्वैतवादिभिस्सम्यक्, अद्वैतवादिभिरसम्यक् ब्रह्म ज्ञेयम्। तत्र द्वैतवादिनः सम्यक् ज्ञानेन स्वयोग्या मुक्तिः अद्वैतवादिनः प्रमाणविरुद्धज्ञानेन तम इति विवेकः।

अन्य मीशस्य महिमान मिति वीतशोकः। "तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चाऽऽत्महनो जनाः" (बृह. उ. 4-4-11, ईश. उ. 3) इत्यादि श्रुतेः। त्वमुभयविधेषु का? इति तत्राऽऽह प्रणतेति। पद्यत इति पदं स्वरूपं नम्यनेतृभावस्य भेदनिष्ठत्वेन द्वैतनिष्ठैवाऽहमित्यर्थः॥ ४१॥

नित्यपरतन्त्रे आत्मनि स्वातन्त्र्यबुद्धि रभेद बुद्धिरित्याशयेनाऽऽह **अह** मिति। व्रजेश्वरस्य नन्दस्य अखिलवित्तानि पाति रक्षतीति अखिलवित्तपा, यस्य हरेर्मायया इच्छया इत्थं कुमतिः आत्मनः स्वातन्त्र्य बुद्धि रह मभूवम्, अतः स हरि र्मे गतिः मत्स्वातन्त्र्य बद्धि मपनुद्य स्वस्वातन्त्र्य ज्ञापकत्वेन आश्रयोऽस्त्वित्यन्वयः ॥ ४२॥

**इत्थं विदिततत्त्वायां[1] गोपिकायां[2] स ईश्वरः।**
**वैष्णवीं व्यतनोन्मायां प्रजास्नेहमयीं[3] विभुः॥ ४३॥**

**सद्योनष्टमतिर्गोपी[4] साऽऽरोप्यारोहमात्मजम्[5]।**
**प्रवृद्धस्नेह कलिल[6] हृदयाऽऽसीद्यथा[7] पुरा॥ ४४॥**

**त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः।**
**उपगीयमान माहात्म्यं हरि साऽमन्यताऽऽत्मजम्॥ ४५॥**

**राजो वाच**

**नन्दः किमकरो द्ब्रह्मन् श्रेय एवं[8] महोदयम्।**
**यशोदा च[9] महाभागा पपौ यस्याः स्तनं[10] हरिः॥ ४६॥**

**पितरौ नान्वविन्देतां कृष्णोदारार्भकेहितम्[11]।**
**गायन्त्यद्याऽपि कवयो यल्लोकशमलापहम्[12]॥ ४७॥**

**श्रीशुक उवाच**

**द्रोणो वसूनां प्रवरो धरया सह भार्यया।**
**करिष्यमाण आदेशं[13] ब्रह्मण स्त मुवाच ह॥ ४८॥**

**जातयो र्नौ महादेवे भुवि विश्वेश्वरे हरौ।**
**भक्तिः स्यात्परमा लोके ययाऽञ्जो[14] दुस्तरं[15] तरेत्॥ ४९॥**

अस्त्वित्युक्तस्स ए[16-]वेह द्रोणस्स भगवान् व्रजे[-16]।
जज्ञे नन्द इति ख्यातो यशोदा सा धराऽभवत्॥५०॥

ततो भक्तिर्भगवति पु[17]त्रभूते जनार्दने।
दम्पत्योर्नितरा मासी द्रोपगोपीषु भारत॥५१॥

कृष्णो ब्रह्मण आदेशं सत्यं कर्तुं व्रजे वि[18]भुः।
सहरामो वसंश्चक्रे तेषां प्रीतिं स्वलीलया॥५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्री वैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे विश्वरूपप्रदर्शनिऽष्टमोध्यायः॥८॥

1. A °याः 2. A. °याः 3. B, G पुत्र 4. A,B,G,M स्मृति° 5. K,W आरो° 6. K.W °त 7. M °या सा य° 8. A एव 9. K.W वा 10. W स्तनौ 11. M कृष्णरामार्भ° 12. A कस्य म° 13. G.V °शान् 14. W ययांऽहो 15. A.G.V दुर्गतिं 16- -16. A,G,V एवेह व्रजे द्रोणो महायशाः; B. भगवान् व्रजे द्रोणो महायशाः; M एतन व्रजे द्रोणो महायशाः 17. A,B, G पुत्री 18. M भुवि

**श्रीध० इत्थमिति।** वैष्णवीं स्वीयाम् ॥४३॥

**सद्य** इति। प्रवृद्धेन स्नेहेन कलिलं व्याप्तं हृदयं यस्यास्सा, पुरेवाऽऽसीत्॥४४॥

मायाबलोद्रेकमाह - **त्रय्येति।** त्रय्या कर्म[1-]काण्डरूपया[-1] इन्द्रादिरूपेण उपनिषद्भिः ब्रह्मेति, सांख्यैः पुरुष इति, योगैः परमात्मेति, सात्त्वतैः भगवानिति उपगीयमानं माहात्म्यं यस्य तम्॥४५॥

अतिविस्मयेन पृच्छति - **नन्द** इति। महोदयं महानुदय उद्धवो य[2]स्य तत्॥४६॥

**पितराविति।** ययोः प्रसन्नोऽवतीर्णस्तौ पितरावपि यं नान्वविन्देतां न प्राप्नुताम्। कृष्णस्योदारं महदर्भकेहितं बाललीलाम्। यच्च कवयो गायन्ति, त[3-]च्चोऽविन्दत्[-3] स किं श्रेयोऽकरोदिति॥४७॥

**द्रोण** इति। ब्रह्मण आदेशान् गोपालनादिलक्षणान्॥४८, ४९॥

**अस्त्विति।** स एवेह द्रोणो जज्ञे। स च नन्द इति ख्यातः, सा च धरा यशोदाऽभवत्॥५०॥

**तत** इति। गोपगोपीनामपि वस्तुस्वभावादस्त्येव भक्तिः तयोः पुनः नितरामिति॥ ५१॥

**कृष्ण** इति। स्वलीलया पुत्रभावानुकारिण्या॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां अष्टमोऽध्ययायः॥ ८॥

1- -1. V omits 2. A यस्मात्, V. यस्मिन् 3- -3. तद्योगिनौ विन्दन्ति

**वीर०** इत्थं गोपिकायां यशोदायां विदितं तत्त्वं बालस्य याथात्म्यं यया तथाभूतायां सत्यामेव स कृष्णरूपः ईश्वरो विभुः विष्णोः स्वस्य सम्बन्धिनीं प्रजास्नेहमयीं पुत्रस्नेहप्राचुर्यावहां मायां व्यतनोत् विस्तारितवान्॥ ४३॥

सद्यस्तथैव नष्टा स्मृतिः पुत्रे परमात्मत्व स्मृतिः यस्या स्सा गोपी पुत्रमारोह मङ्कमारोप्य पूर्ववत्प्रवृद्धेन स्नेहेन कलितं व्याप्तं हृदयं यस्या स्तथाभूता बभूव॥ ४४॥

मायावैभवं प्रकटयितु माह - **त्रय्येति।** त्रय्या वेदपूर्व भागेन तद्बोधित तत्तत्कर्माराध्यत्वेन, उपनिषद्भिः वेदोत्तरभागैः सर्वकारणत्वोपास्यत्व प्राप्यत्वादिना, सांख्यै योगैश्च ज्ञानयोग कर्मयोगानुगृहीत भक्तियोगैक प्राप्यत्वेन, सात्त्वतैः पञ्चरात्र संहिताभिः परव्यूहविभवार्चारूपत्वेन उपगीयमानं माहात्म्यं यस्य तं हरिं सा विदित्वाऽपि तथैव केवल मात्मज ममन्यत॥४५॥

श्रुतैवंविध यशोदानन्द भाग्यातिशयस्तत्कारणं पृच्छति राजा **नन्द** इति द्वाभ्याम्। हे ब्रह्मन् ! एव मेवंविधं महानुदय उत्तरफलं यस्य तच्छ्रेयः यतः कारणादभवत्, तत्किमकरोन्नन्दो यशोदा चेति प्रश्नः। महाभाग्यमेव सूचयन् यशोदां विशिनष्टि, यस्याः स्तनं हरिः पपा वपिबत्॥ ४६॥

कुतश्च कारणात् पितरौ देवकी वसुदेवौ कृष्णस्योदारं विपुलमर्भकेहित मर्भकचेष्टितं नान्वविन्देतां न प्राप्नुतां न दृष्टवन्तौ इति प्रश्नान्तरम्। ईहितं विशिनष्टि, यत्कृष्णोदारार्भकेहितं लोकस्य शृण्वतो वदतश्च जनस्य दुरितापहन्तृ कवयो नारदादयोऽद्यापि गायन्ति ईदृशेहितादर्शननिमित्तं किमिति प्रश्नार्थः॥ ४७॥

इत्थं मापृष्ट आह शुकः - **द्रोण** इति। वसूनां प्रवरः प्रकृष्टो द्रोणः धरया धराख्यया भार्यया सह ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्याऽऽदेशान् गोरक्षणादिरूपान् करिष्यमाणस्तं ब्रह्माणमुवाच भूभारावतरणाय भगवानवतरिष्यति पयःप्रदानेनापि

भगवन्त माराधयितुं गोरूपेण मुनयश्च स्वांशैः जनिष्यन्ते। त्वन्तु गोरक्षणार्थं भार्यया सह गोपेषु जनिष्यसे - इत्येवं ब्रह्मणोक्त स्तमाहेत्यर्थः॥ ४८॥

उक्तमेवाऽऽह - **जातयोरिति**। भुवि लोके जातयो र्नौ आवयोः भुव्यवतीर्णे विश्वेश्वरे महादेवे ब्रह्मादीनामपि देवे भगवति [6]हरौ आश्रितार्ति [6]हरे परमा भक्तिः स्यात्। यथा भक्तिः स्यात् तथाऽनुगृहाणेत्यर्थः। तत्प्रार्थनायां हेतुं वदन् तां विशिनष्टि। यया भक्त्या दुस्तरम् उपायान्तरेण तरितु मशक्यं संसृतिनिमित्तं पाप मञ्जः आशु तरेत्॥ ४९॥

**अस्त्विति**। तथैवास्त्विति ब्रह्मणोक्तः स एव भगवान् द्रोण एवेह लोके व्रजे नन्द इति ख्यातो जज्ञे [7]तथा सैव धरा यशोदा अभवत् यशोदारूपेण जज्ञे॥ ५०॥

हे भारत! गोपगोपीषु मध्ये दम्पत्योः यशोदानन्दयोः पुत्रभूते अपुत्रेऽपि पुत्रतां प्राप्ते जनार्दने भगवति ततो ब्रह्मवरात् भक्तिरासीत्॥ ५१॥

कुतस्तयोः पुत्रभूतः [8]हरिः तत्राऽऽह **कृष्ण** इति। ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्य आदेशं वरदानात्मकं सत्यं कर्तुं स्वस्य तयोः पुत्रभूतस्य लीलया बालचेष्टया तेषां नन्दादीनां प्रीतिश्च कर्तुं रामेण सहितो व्रजे वासं वसतिं चकार। चतुर्मुखादेश एव नन्दयशोदयोरुक्तश्रेयःप्राप्तौ देवकी वसुदेवयोः कृष्णोदाराभिकेहितालब्धौ च कारणमित्यर्थः॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्र चन्द्रिकायां
व्याख्यायां अष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

1. A,B, add पुत्र 2. A,B °लं 3. A,B add आश्रितार्तिहरं 4- -4. A,B ईदृशकृष्णोदाराभिकेहि° 5. A,B श्रेष्ठः 6- -6. W omits 7. W omits तथा 8. W omits हरिः

**विज०** प्रजास्नेहमयीं पुत्रस्नेहमयीं पुत्रस्नेहरूपाम्॥ ४३॥

प्रवृद्धस्नेहकलिलहृदया, अभूदिति शेषः॥ ४४॥

प्रजास्नेहमयीं मायां शृङ्गग्राहिकतयैव दर्शयति - **त्रय्येति।** त्रय्यां "अग्निमीळे" (ऋक्.सं. 1-1-1) इत्यादिकया। उपनिषद्भिः "एष पन्था" (बृह.उ. 4-4-9) इत्यादिकाभिः सत्त्ववान् हरिः, तद्विषयैस्सात्वतैः सांख्य योगैः पञ्चरात्रादिशास्त्रैः यद्वा सांख्य योगैः यदार्थज्ञान प्रतिपादकैः ब्रह्मतर्कादिभिः, सात्त्वतैः पञ्चरात्रादि वैष्णवतन्त्रैः॥ ४५॥

श्रेयः पुण्यं, पूर्वजन्मनीति शेषः। "स्याद्धर्म मस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः" (अम. को. 1-132) इत्यमरः। महानुदयः फलं यस्मात्तत्तथा। महान् भागो भाग्यं यस्या स्सा महाभागा। "भागाः भाग्यांश तुर्यांशाः" (वैज. को 6-1-41) इति यादवः॥ ४६॥

कृष्णरामनाम्नोः अर्भकयोः बालयोः ईहितं चेष्टितं विन्दति लभार्थोऽप्यत्र ज्ञानार्थः। चेष्टानुकूलज्ञानलाभं नाप्नुवन्ताविति। "विद ज्ञाने तु वेत्तीति, विद्लृलाभेतु विन्दति" इति वचनात्। लोकशमलापहं जनपापहरम्॥४७॥

प्रत्यारभ्यते कथान्तरमिति शेषः। "प्रत्यारम्भे प्रसिद्धौ ह" (वैज. को. 8-7-8) इति यादवः॥ ४८॥

महादेव इत्यनेन शङ्करोऽत्रोच्यत इति शङ्काव्यावृत्त्यर्थं विश्वेति। लोके जनमध्ये॥ ४९, ५०॥

गोपगोपीषु मध्ये नितराम्॥ ५१, ५२॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां अष्टमोऽध्यायः॥ ८॥
(विजयध्वजरीत्या नवमोऽध्यायः)

# नवमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या दशमोऽध्यायः)

श्री[1-]शुक[-1]उवाच

एकदा गृहदासीषु यशोदा नन्दगेहिनी।
कर्मान्तरनियुक्तासु निर्ममन्थ स्वयं दधि॥१॥

यानि यानीह गीतानि तद्बालचरितानि च।
दधिनि[2]र्मन्थने काले स्मरन्ती तान्यगायत॥२॥

क्षौमं वासः पृथुकटितटे बिभ्रती सूत्रनद्धं पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं जातकम्पञ्च सुभ्रूः।
रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्कङ्कणौ कुण्डेले च। स्विन्नं वक्त्रं कबरविगलन्मालती निर्ममन्थ॥३॥

तां स्तन्यकाम आसाद्य म[3]थ्नतीं जननीं हरिः।
गृहीत्वा दधिमन्थानं न्यषेधत्प्रीतिमावहन्॥४॥

तमङ्कमारूढपाययत्स्तनं स्नेहस्नुतं सस्मितमीक्षती मुखम्।
अतृप्तमुत्सृज्य जवेन सा यया वुत्सिच्यमाने पयसि त्वधिश्रिते॥५॥

स[4] जातकोपः स्फुरितारुणाधरं सन्दश्य दद्भिर्दधिम[5]न्थभाजनम्।
भित्त्वा मृषाश्रु र्दृषदश्मना रहो ज[6]घास हैयङ्गव मन्तरं गतः॥६॥

उत्तार्य गोपी सुशृतं पयः पुनः प्रविश्य सन्दृश्य च दध्यमत्रकम्।
भग्नं विलोक्य स्वसुतस्य कर्म तत् जघास तत्रापि न तत्र पश्यति[7]॥७॥

1- -1. M.V बादरायणिः 2. M निर्मथने 3. A,B,G,V M मथ्नन्तीं 4. B.G.K.M. सञ्जात 5. A.M. मण्ड 6. V. जहार 7. A.B.G.M.V. ०ती

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

नवमे पय उत्सिक्ते गत्वा गोप्यथ तत्कृतम्।
विलोक्यभाण्डभङ्गादि कृष्णं दाम्ना बबन्ध तम्॥
तनूदराश्रितं[1] विश्वं दृष्ट्वा विस्मित चेतसः (सा)।
बन्धन द्व्यङ्गुलापूर्त्या पूर्णता मन्वदर्शयत्[2]॥

**एकदेति।** स्वयं दधि निर्ममन्थ॥ १॥

**यानीति।** तदा चाऽगायतेति चकारान्वयः ॥ २॥

**क्षौममिति।** सूत्रनद्धम् काञ्चीबद्धम्। रज्जोराकर्षेण श्रमो ययो स्तयोः **भुजयोः** चलन्तौ कङ्कणौ च। कबरा द्विगलन्त्यो मालत्यो यस्याः सा॥ ३, ४॥

**तमिति।** अधिश्रिते चुल्ली मारोपिते उत्सिच्यमाने अतितापेन ब[3]हिर्निर्गच्छति सतीत्यर्थः[3] ॥ ५॥

**स** इति। दृषदश्मना शिलापुत्रेण पेषणश्रमेणेत्यर्थः। अन्तरं गृहमध्यं गतः। रह एकान्ते हैयङ्गवं[5] नवनीत मभक्षयत्॥ ६॥

उत्तार्येति। सुशृतं सुतप्तम्। दधिमन्थन स्थानं प्रविश्य भिन्नं सन्दृश्य दृष्ट्वा॥ ७॥

1. V ०त्तू० 2. V. सोऽन्व 3- -3. A.B. उद्रिच्यमाने॥ ५॥ 4- -4. A.B. omit 5. A.B. omit हैयङ्गवं

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थं प्रदर्शित विश्वरूपस्य कृष्णस्य अथ अपरिमेयता रूपपूर्णता प्रदर्शनमाह नवमेन **एकदेति।** गृहदासीषु कर्मान्तरनियुक्तासु व्यापारान्तरे[1]षु आदिष्टासु[1] सतीषु[2] अत एव यशोदा स्वयमेव दधि निर्ममन्थ॥ १॥

तस्य श्रीकृष्णस्य बालचेष्टितानि गद्यपद्यादिरूपेण कविभिः निबद्धानि तानि सर्वाणि तदा दधिनिर्मथन काले अगायत च॥ २॥

कथम्भूता ममन्थेत्यत्राऽऽह - **क्षौममिति**। वासःप्रभृतीनां द्वितीयान्तानां बिभ्रतीत्यनेनाऽन्वयः। पृथुकटितटे सूत्रनद्धं काञ्चीबद्धं क्षौमं वासः[3] वस्त्रं जातः निर्मथनानुकूलव्यापारजः कम्पो यस्य तत् पुत्रस्नेहेन स्नुतयोः पयस्स्राविणोः कुचयोः युगं च रज्ज्वाकर्षणे श्रमो ययो स्तयोः भुजयोः चलन्तौ कङ्कणौ च कुण्डले च स्विन्नं प्रस्वेदभरितं वक्त्रञ्च बिभ्राणा कबरा द्विगलन्त्यो मालत्यो यस्याः शोभने भ्रुवौ यस्याः तथाभूता निर्ममन्थ, अगायत चेत्यर्थः॥ ३॥

तामेवं निर्मन्थतीं जननी मासाद्य समीपमेत्य स्तन्यं कामयमानो हरिः श्रीकृष्णः तस्याः प्रीति मावहन् दधिमन्थनदण्डं गृहीत्वा न्यषेधत् निवारयामास[4]॥ ४॥

तं निषेधन्तमङ्कमुत्सङ्ग मारूढं सुतं[5] स्नेहेन स्नुतं स्तनमपाययत्। कथम्भूता? स्मितेन सहितं सुतस्य मुखमीक्षती तदा अधिश्रिते चुल्ल्यारोपितेपयसि क्षीरे उत्सिच्यमाने गाढाग्निसम्पर्कात् पात्रात् बाहिर्निर्गच्छति सति[6] अतृप्तं स्तन्यपानादतृप्तं पुत्र मुत्सृज्य सा यशोदा जवेन ययौ जलप्रक्षेपादिना क्षीरतापं शमयितुं जगाम॥ ५॥

सः उत्सृष्टः कृष्णः सञ्जात कोपः दद्भिर्दन्तैः स्फुरितं चलन्त मरुण मधर मधरोष्ठं सन्दश्य मृषा अश्रूणि यस्य तथा भूतो दृषदश्मना पेषण्यश्मना दधिमन्थभाण्डं निर्भिद्यान्तरं गृहमध्यं गतः हैयङ्गवं नवनीतं जघास एकान्ते नवनीत मभक्षयदित्यर्थः॥ ६॥

तदा गोपी यशोदा सुशृतं सुपक्वं पय उत्तार्य चुल्लया अवरोप्य पुनस्तत्र प्रविश्य दध्यमत्रकं दधिमथनभाण्डं भग्नं विलोक्य च तत्सुतस्य कर्मप्रति जहास हसितवती, तं सुतं तत्र न पश्यति नाऽपश्यच्च॥ ७॥

1- -1. A.B. ०रे प्रविष्टासु दासीषु 2. A. omits सतीषु 3. A.B. omit वासः 4. W. omits नि 5. A.B. कृष्णं 6. A.B. omit सति

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अत्र अतीताध्याय सङ्गति रनुसन्धेया। नन्दस्य गेहिनी भार्या॥ १॥

दध्नो निर्मथनं यस्मिन् स तथा। तस्मिन् काले॥ २॥

क्षुमनाम कृमितन्तुना कृतं क्षौमं सूत्रेण काञ्च्या नद्धं बद्धं पुत्रस्नेहातिशयेन स्नुतयो क्षरितयोः कुचयो र्युगं, पुनः कीदृशम्? जातः आविर्भूतः कम्पश्चलनं यस्य त त्तथा तत्। शोभने भ्रुवौ यस्या स्सा सुभ्रूः बद्धया रज्ज्वा आकर्षः, तेनोत्पन्नः श्रमः आलस्यं तेनोपेतयोः भुजयोश्चलन्तौ कङ्कणौ खणखणायमानशब्दयुक्तत्वात् तथाविधौ, स्विन्नं स्वेद जलोपेतं कबरात्केशबन्धात् विगलती मालती मल्लिका यस्या स्सा कबरविगलन्मालती। अत्र द्वितीयान्तपदस्य बिभ्रतीत्यनेनान्वयः। पृथु विशालम्॥ ३॥

न्यषेधत् निवारितवान्॥ ४॥

अतृप्त मलम्बुद्धिमप्राप्तम्, अधिश्रिते चुल्ल्यां निहिते अधिकं पाकं प्राप्तेवा पयासि उत्सिच्यमाने उद्रिच्यमाने सति, पयः अवरोपयितुमिति शेषः॥ ५॥

दद्भिर्दन्तैः दधिमण्डभाजनं दधिमस्तु पूर्णपात्रं "दधिमण्डो भवेन्मस्तु" (हला को 2-166) इति हलायुधः। दृषदश्मना शिलापुत्रकेण मृषाश्रुः अविद्यमाननेत्रजलः दुःखोत्पन्नबाष्पो न भवतीत्यर्थः। हैयङ्गवं नवनीतम्। अन्तरं बहिर्भावं अन्तर्धानं वा गृहान्तरं वा। "अन्तरः परिधानीये बाह्ये स्वीयेऽन्तरात्मनि। क्रतुमध्येऽवकाशे च तादर्थ्येऽवसरेऽवधौ। विशेषविवरान्तार्धिष्ववसान विनार्थयोः" (वैज. को 7-5-1,2) इति यादवः ॥ ६॥

उत्तार्य चुल्ल्या अन्यत्र निधाय दध्यमत्रकं दधिभाण्डं भग्नं भिन्नम्। स्वसुतस्य तत्कर्म विलोक्याऽऽलोक्य॥७॥

**—: यमलार्जुनभञ्जनकथारम्भ :—**

**उलूखलाङ्के रुपरि व्यवस्थितं मर्काय कामं ददतं शु[1-]चिस्मितम्[-1] ।**
**हैयङ्गवं चौर्यविशङ्कितेक्षणं निरीक्ष्य पश्चात्सुतमागमच्छनैः॥ ८॥**

**ता मात्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्वर स्ततोऽवरुह्याप[2] ससार भीतवत्।**
**गोप्यन्वधावन्नय माप योगिनं क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मनः॥ ९॥**

**अन्वश्रमाना जननी बृहच्चलच्छ्रोणीभराक्रान्त गतिस्सुमध्यमा।**
**जवेन विस्रंसित[3] केशबन्धनच्युत प्रसूनानुगतिः परामृशत्॥ १०॥**

**कृतागसं तं प्ररुदन्त मक्षिणी कषन्त[4] मञ्जन्मषिणी स्वपाणिना।**
**उद्वीक्ष्यमाणं भयविह्वलेक्षणं हस्ते गृहीत्वा भिषयन्त्यवागुरत्॥ ११॥**

1- -1. A.B.G. शिचि स्थितम्; M. यथेप्सितम् 2. M. °भि 3. M. भ्रंशित 4. V. ०र्ष०

**श्रीध० उलूखलेति।** उलूखलाङ्केः परिवर्तितस्योलूखलस्योपरि। स्थित्वा[1] शिचि[2] शिक्ये। चौर्येण विशङ्कितं चञ्चल मीक्षणं यस्य तं सुतम्[3]। मर्काय[4-] मर्कटाय। मर्कशब्दोऽत्र मार्जारादीनामुपलक्षकः। यद्वा मर्कं नवनीतं तदर्थ मागताय सखिजनायेत्यर्थः[-4]॥८॥

**तामिति।** तपसा ऐकाग्र्येण[5] ईरितं तदाकारतां नीतं, अत एव क्षमं[6] योग्यं प्रवेष्टुं योगिनां मनोऽपि यं नाऽऽप, तम्, अथ वा अन्वधावत् केवलं, न त्वाऽऽप, यतो योगिनां मनोऽपि यं[-6] प्रवेष्टुं न क्षम मिति॥९॥

**अन्वञ्चमानेति।** अन्वञ्चमाना एवं कृष्ण मनुगच्छन्ती, बृहत्यो श्चलन्त्योः श्रेण्यो भरेणाऽऽक्रान्ता स्तब्धा गति र्यस्या स्सा, विस्रंसितात् शिथिलीकृतात्[7-7] केशबन्धनाच्युतैः प्रसूनैरनुगति रनुगमनं यस्या स्सा। यद्वा जवेन कम्पितात् केशबन्धात्पुरः[8] पतितानि प्रसूनान्यनु पश्चात् गतिः यस्या स्सा। परामृश द्धृतवती॥१०॥

**कृतागसमिति।** अञ्जन्मषिणी अञ्जन्ती सर्वतः[9] प्रसरन्ती मषी कज्जलं[10] ययो स्ते[11] अक्षिणी स्वपाणिना कर्षन्तं सम्मर्दयन्तम्। भिषयन्ती। ह्रस्व श्छान्दसः भीषयन्ती भयमुत्पादयन्ती। अवागुरदभर्त्सयत्। अ[12-]पागुरादिति पाठान्तरे अपगुरणं मनसा द्रोहचिन्तन मकरोदित्यर्थः[-12]॥११॥

1. A.B. omit स्थित्वा 2. V. omits शिचि 3. V. omits सुतं 4- -4. A.B. omit 5. V. एकाग्रेण 6- -6. V. omits 7- -7. A.B. omit 8. V. पुनः पुनः 9. V. ०व्र 10. A.B. omit कज्जलं 11. V. adds अन्तर्मीर्षिणीत्यपि पाठान्तरम्। 12- -12. A.B. Omit.

**वीर०** उलूखलाङ्क रुपरि अधोमुखविन्यस्तोलूखलस्योपरि व्यवस्थितं मर्काय मर्कटाय, मार्जारायेति केचित्, नवनीतार्थमागताय सखीजनाय वा हैयङ्गवं नवनीतं काममिष्टं यथा तथा ददतं प्रयच्छन्तं चौर्येण विशङ्किते चञ्चले ईक्षणे यस्य तम्। निरीक्ष्य पश्चात्पृष्ठतः शनै राजगाम॥८॥

ता मागताम्, आत्ता उद्धृता यष्टिः यया ताम् प्रसमीक्ष्य त्वरया सहितः ततः उलूखलाङ्केः अवरुह्य भीतवदपससार पलायितवान्। तदा सा तमपसरन्तं सुत मन्वधावत्। "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तैत्ति. उ. 2-4) इत्युक्तरीत्या वाङ्मननसा परिच्छेद्य वैभवं पद्भ्या मन्वधावत् इत्येतदहो विचित्रमित्यभि प्रायेण विशिनष्टि। यं कृष्णं योगिनां मनोऽपि प्रवेष्टुं न क्षम मसमर्थमास तमन्वधावत्। कथम्भूतं मनः तपसा ईरितं प्रवणीकृतम्॥९॥

अन्वञ्चमाना अनुधावन्ती बृहत्योः श्रोण्योः भरेणाऽऽक्रान्ता स्तब्धा गति र्यस्याः, शोभनो मध्यमः मध्यप्रदेशो यस्याः, जवेन हेतुना विस्रंसितात् केशबन्धनात् च्युतैः प्रसूनैः अनुगति रनुगमनं यस्या स्सा जननी परामृशत् पस्पर्श, जग्राहेत्यर्थः॥१०॥

तं हस्ते गृहीत्वा भिषयन्ती भयं प्रापयन्ती अवागुरत् ताडयितु मुद्यतहस्ताऽभूत्। कथम्भूतम्? कृतमागोऽपराधो येन तम्। अञ्जन्ती सर्वतः प्रसरन्ती मषिः कज्जलं ययो स्ते अक्षिणी स्वपाणिना कषन्तं मर्दयन्तं, भयेन विह्वले चकिते ईक्षणे यस्य॥ ११॥

**विज०** उलूखलाङ्केः उलूखलबुध्नस्य। चौर्येण विशङ्किते किञ्चिदुन्मीलन मीलने कुर्वाणे ईक्षणे यस्य स तथा तम्। पश्चात् पृष्ठतः॥ ८॥

अभिससार गमनं प्रारब्धवानित्यर्थः। गोप्या कृष्णानुधावनं न तच्चबुद्ध्या कृतम्, किन्तु भ्रान्ति बुद्ध्येत्याशयेनाऽऽह न य मिति। तपसा ईरितं प्रेरितम्, क्षमं समर्थम्॥ ९॥

अन्वञ्चमाना जवं विहाय शनैः अनुगच्छती (न्ती) अञ्चुगतिपूजनयो रिति धातुः। हंसीव गमनवतीत्यर्थः। शनै र्गमने निमित्तमाह बृहदिति। बृहत्योः स्थूलयोः चलत्योः श्रोण्यो भरिणाऽऽक्रान्ता स्तब्धगति र्यस्यास्सा तथा। विभ्रंशितात् विस्रस्तात् केशबन्धात् च्युतानां प्रसूनानां अनुगति र्यस्या स्सा तथा परामृशत् परस्पर्श, जग्राह वा॥ १०॥

अञ्जन्मषिणी, अञ्जिता मषिः अञ्जनं ययो स्ते अञ्जन्मषिणी अक्षिणी नेत्रे कषन्तं निष्पीड्य कलुषयन्तं भीषयन्ती अवागुरत् ताडनार्थं हस्त मुद्धृतवती॥ ११॥

**त्यक्त्वा यष्टिं सुतं भीतं विज्ञायार्भक वत्सला।**
**इयेष किल तं बद्धुं दाम्नाऽतद्वीर्यकोविदा॥ १२॥**

**न चान्त र्न बहिर्यस्य न पूर्वं नाऽपि चापरम्।**
**पूर्वापरं बहिश्चान्त र्जगतो यो जगच्चयः[1]॥ १३॥**

**तं मत्वाऽऽत्मज[2] मव्यक्तं मर्त्यलिङ्ग मधोक्षजम्।**
**गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा॥ १४॥**

**तद्दाम बध्यमानस्य स्वार्भकस्य कृतागसः।**
**द्व्यङ्गुलोन मभूत्तेन सन्दधेऽन्यच्च गोपिका॥ १५॥**

**यदाऽऽसी त्तदपि न्यूनं तेनाऽन्यदपि सन्दधे।**
**तदपि द्व्यङ्गुलं नूनं यद्यदादत्त बन्धनम्॥ १६॥**

एवं स्वगेहदामानि यशोदा सन्दाधत्यपि।
गोपीनां विस्मयन्तीनां स्मयन्ती विस्मिताऽभवत्॥ १७॥
स मातुः स्विन्न गात्राया विस्रस्तकबर स्रजः।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयाऽऽसीत्स्वबन्धने॥ १८॥

1. M. ०न्मय: 2. M. ०ऽर्भक० 3. A.B.G.M. सु 4. A.B.G.M. स्व

**श्रीध० त्यक्त्वेति।** इयेष ऐच्छत्। अतद्वीर्यकोविदा तत्प्रभावनभिज्ञा॥ १२॥

अकोविदत्वमाह - **न चान्तरिति** पञ्चभि: श्लोकै:। बन्धनं हि बहि: परिवृतेन दाम्ना अन्तरावृतस्य भवति। तथा पूर्वापर विभागवतो वस्तुन: पूर्वं दामतो धृत्वा परित: परिवेष्टनेन भवति, नत्वेतदस्तीत्याह — न चान्तरिति। किञ्च व्यापकेन व्याप्यस्य बन्धो भवति। तच्च विपरीतमित्याह - पूर्वापरमिति। किञ्च तद्व्यतिरिक्तस्य चाऽभावान्न बन्ध इत्याह जगच्च य इति॥ १३॥

**तमिति।** तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षज मात्मजं मत्वा बबन्धेति॥ १४॥

**तदिति।** द्व्यङ्गुलोनं द्वाभ्यां अङ्गुलीभ्यामून मपूर्णम्॥ १५, १६॥

**एवमिति।** स्मितं कुर्वन्तीनां मध्ये स्वयमपि हसन्ती विस्मय माप॥ १७, १८॥

1. V ०मेवाह 2. A.B. omit श्लोकै: 3. A.B. ०ला०

**वीर०** तं तदा अपगुरन्त्यपि सा सुतं भीतं विज्ञाय अर्भकवत्सला अतएव यष्टिं त्यक्त्वा। तत्प्रभावानभिज्ञा दाम्ना रज्ज्वा बद्धुमियेष एच्छत्खलु॥ १२॥

ननु किं तद्वीर्यम्, यदनभिज्ञानात् बन्धुमियेषेत्यत: तद्दर्शयन् तदनभिज्ञा प्राकृत मिव बबन्धेत्याह - **नेति** द्वाभ्याम्। बन्धो हि बहिरेव संवीतेन दाम्ना अन्तरा गृहीतस्य भवति। तथा पूर्वापर विभागवतो वस्तुन: पूर्वं दामतो धृत्वा परित: परिवेष्टनेन। न त्वेतदस्तीत्याह - **न चान्तरिति।** किञ्च व्यापकेन व्याप्यस्य बन्धो भवति। तच्च विपरीतमित्याह पूर्वापरमिति। यो जगत: कृत्स्नस्य पूर्वं पूर्वावधि: अपरमुत्तरावधिश्च बहिश्चान्तश्च व्याप्य वर्तते तस्य जगदन्तर्भूतेन व्याप्येन दाम्ना कथं बन्धनं भवेदित्यभिप्राय:। किञ्च सर्वस्य तत्कारणतया तदन्तरात्मकत्वेन तच्छरीरतया च तत्पृथक्सिद्धवस्त्वन्तराभावात् स्वनिष्ठवस्तुसाधनकं बन्धनं न सम्भवतीत्यभिप्रायेणाऽऽह जगच्च य इति। कार्यकारणशरीरात्मभावनिबन्धन मिदं सामानाधिकरण्यम्॥ १३॥

मर्त्यस्येव लिङ्गं शरीरं यस्य तमुक्तविध मधोक्षजं मत्वा केवलमात्मजं मत्वा गोपी दाम्ना साधनेनोलूखले बबन्ध बन्धनोद्यमं चकार यथा प्राकृतं केवलमर्त्यम् तद्वत्॥ १४॥

कृताऽऽवासोऽतएव बध्यमानस्य सतः तद्बन्धनार्थं उपात्तं दाम द्व्यङ्गुलोनं द्वाभ्याम् अङ्गुलिभ्या मपूर्णम् अभूत्। तेन द्व्यङ्गुलोनेन दाम्ना सहाऽन्यत् दामान्तरं सन्दधे॥ १५॥

यत्सहितं दाम तदपि न्यूनमभवदित्येवं यद्यदादत्त सन्धातुं जग्राह तत्सर्वं न्यून मेवाऽभूत्॥ १६॥

एवं स्वगृहस्थानि सर्वाणि दामानि सन्दधत्यपि सन्दधत्येव नतु तथाऽपि निवृत्तेत्यर्थः। तद्वीक्ष्य विस्मयन्तीनां गोपीनां मध्ये स्वयं विस्मिता बभूव॥ १७॥

तदा स्विन्नं प्रस्वेदभरितं गात्रं यस्याः विस्रस्तं कबरं स्रजश्च यस्यास्तस्याः स्वमातुः परिश्रमं दृष्ट्वा तस्यां कृपया स्वबन्धने अनुगुण आसीत्॥ १८॥

1. W. omits ननु 2- -2. W. omits 3. A.B. add अभूत् 4. A.B. अभवत्

**विज०** दाम्ना वत्सपाशेन अतद्वीर्यकोविदा कृष्ण माहात्म्य मजानती॥ १२॥

यशोदाया अज्ञानं प्रकटयितुं तत्स्वरूपं निरूपयति - **न चेति।** यस्यान्तः स्वतन्त्रं वस्तु नैवास्ति। यस्य बहिश्च वस्तु नास्ति। सर्वत्र सत्त्वेन अन्तर्बाह्य विशेषाभावात्, यस्मात् पूर्वमपरं नास्त्येव अविनाशित्वेन सिद्धत्वात् यः कृष्णः जगतः पूर्वमपरं बहिरन्तश्च वर्तत इति शेषः। जगतो विनाशित्वात् परिच्छिन्नत्वाच्च यश्च जगन्मयः। तत्सत्ताया अपि तदधीनत्वेन तत्त्वव्यपदेशः॥ १३॥

तदव्यक्तं ब्रह्मसंज्ञं कृष्णमर्भक मणुतरबालं मत्वा "तदव्यक्तमाह हि" (ब्र.सू. 3-2-22) इति सूत्रम्। मर्त्यलिङ्गं मनुष्य लक्षण शरीरम्। अक्षजमिन्द्रियं ज्ञानं तदधः कृतं यस्मात्स तथा, इन्द्रियागोचर मित्यर्थः अनेनाव्यक्तपदं विवृतमिति ज्ञात०यम्॥ १४॥

अनेनापि कृष्णस्य ब्रह्मत्वं निश्चयितुं शक्यमित्याशयेनाह — **दद्दामेति।** येन बबन्ध तद्दाम द्व्यङ्गुलोनमभूदित्यन्वयः। गोपिका यदा तेन द्व्यङ्गुलोनेनान्यद्दाम सन्दधे तदपि न्यूनमासीदिति॥ १५, १६॥

एवं स्वगेहसमस्तदामसञ्चयसमाप्तौ सुतमाहात्म्यं दृष्ट्वा स्मयन्ती मन्दं हसन्ती विस्मिताऽभवदित्यन्वयः॥१७॥

"अणिमालघिमा योगशक्तिः स्वाभाविकी हरेः" इत्यभिप्रेत्याह स्वमातुरिति। मातृविषयकृपया स्वबन्धने आसीत् स्वयमेव बद्धोऽभूदित्यन्वयः॥ १८॥

**एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भक्तवश्यता।**
**स्ववशेनाऽपि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे॥ १९॥**

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्ग संश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यं तं प्राप विमुक्तिदात्॥ २०॥

नाऽयं सुबोधो भगवान्देहिनां गोपिकासुत:।
ज्ञानिनाञ्चात्मपोतानां यथाभक्तिमता मिहा॥ २१॥

कृष्णस्तु गृहकृत्येषु व्यग्रायां मातरि प्रभु:।
अद्राक्षीं दर्जुनौ पूर्वं गुह्यकौ धनदात्मजौ॥ २२॥

पुरा नारदशापेन वृक्षतां प्रापितौ मदात्।
नलकूबरमणिग्रीवा वित्याख्यातौ श्रियान्वितौ॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
गोपी प्रसादो नाम नवमोऽध्याय:॥ ९॥

1. B,G भृत्य 2. A विरञ्चो न ; M विरञ्चिर्न 3. M. गोप्यो 4. A,B,G,M यत्तत् 5. A,B,G,K. सुखापो; M. सुखाप्यो 6. B,G, भू° 7. M शापात्तौ 8. A,B,G,M °ति

**श्रीध०** न चैवं स्वातन्त्र्यभङ्ग इत्याह - **एवमिति**। सेश्वरं ब्रह्मेन्द्रादीश्वरसहितम् इदं विश्वं यस्य वशे यदधीन मित्यर्थ:॥ १९॥

भगवत्प्रसादमन्येपि भक्ता लभन्ते, इदन्त्वतिचित्रमिति सरोमाञ्चित माह - **नेति**। विरिञ्च: पुत्रोऽपि, भव: स्वात्माऽपि, श्री र्जायाऽपि॥ २०॥

फलितमाह - **नाऽयमिति**। देहिनां देहाभिमानिनां तापसादीनां ज्ञानिनां निवृत्ताभिमानिनामपि॥ २१॥

भक्तै र्बद्धस्यापि अन्यमोचकत्वं वक्तुमाह कृष्णस्त्विति॥ २२, २३॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां नवमोऽध्याय:॥ ९॥

1- -1. A,B omit 2. A,B °ना° 3- -3. A,B °त्वमाह

**वीर०** नचैतावता स्वातन्त्र्यभङ्ग इत्याह **एवमिति।** स्ववशेन स्वतन्त्रेणापि। स्ववशत्वमेवाऽह यस्य वशे अधीनतायां ब्रह्मादीश्वरसहितमिदं जगद्वर्तते तेन कृष्णेन हरिणैव मित्थम् अङ्ग। हे राजन् भक्तवश्यता सन्दर्शिता। सर्वत्र स्वतन्त्रोप्यहं भक्तेषु परतन्त्र इति दर्शयितुमबध्यतेत्यर्थः। तथाचाऽहुः श्रीवत्साङ्कमिश्राः "अनन्याधीनत्वं तव किल जगुर्वैदिकगिरः पराधीनं त्वान्तु प्रणतपरतन्त्रं मनुनहे (वरद. स्तवः 20 ) इति। तथा चोक्तं[1-1] भगवताऽप्यष्टमे (नवमे) "अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज !" (भाग. 9-4-63) इति॥ १९॥

ननु सत्यं भक्तपरतन्त्र इति गोपी तु न भक्ता इति कथं तत्पारतन्त्र्यमीश्वरस्य इत्यत्राऽऽह **नेममिति** । भक्ति प्रयोजनं हि भगवत्प्रसादः तंच यादृशं निग्रहानुग्रहादि पर्यन्तविधेयत्वरूपं विमुक्तिदाद्भगवतो गोपी लेभे न तादृशं ब्रह्मरुद्रौ[2-2] साक्षाद्वक्षःस्थलाश्रया लक्ष्मीरपि लेभिरे । प्रेमपूर्वकानुध्यानात्मिका हि भक्तिः सा गोप्यामप्यविशिष्टेति भावः॥ २०॥

तथा च भक्तानामेवाऽयं सुलभो नाऽन्येषामित्याह - **नाऽयमिति।** अयं भगवान् गोपीसुतो[3] यथेह भक्तिमता मात्मा स्वयमेव पोतः भवार्णवतरणे प्लवस्थानीयो येषां तेषां ज्ञानिनां यथा सुखापः सुखप्राप्यः न तथेतरेषां देहिनामित्यर्थः।[4-4] सुबोध इति पाठे सुखेन बोद्धुं शक्य इत्यर्थः॥ २१॥

अहो अत्याश्चर्य मेतत्, यत्संसृतिबन्धब्रह्मशापादिमोचनोऽपि भगवान् लौकिकेन दाम्ना बद्ध इत्यभिप्रायेण यमालर्जुन मुक्तिप्रदत्वरूपं चरित्रान्तरं प्रस्तोतु माह - **कृष्णस्त्विति।** मातरि उलूखले बद्धवत्यां यशोदायां गृहकृत्येषु व्यग्रायां प्रवण चित्तायां सत्यां बद्धः कृष्णः प्रभुः विप्रशापादिमोचनसमर्थः पूर्वं धनदस्य कुबेरस्य आत्मजौ गुह्यकौ यक्षौ नलकूबरमणिग्रीवाख्यौ श्रिया युक्तौ सन्तौ पुरा मदाच्छ्रीमदात् निमित्ता। नारदस्य कुपितस्य शापेन वृक्षतां तरुजन्म प्रापितौ अर्जुनौ अर्जुनाख्यौ वृक्षौ ददर्श॥ २२, २३॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवत चन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां नवमोऽध्यायः॥ ९॥

1- -1. A,B भवताऽपि अष्टमे स्कन्धे उक्तम् 2- -2. A,B ब्रह्मा रुद्रः 3. A, B °पिकासुतो 4- -4. A,B omit

**विज०** यत् तत् यं तम्॥ १९, २०॥

निरन्तरनिरतिशयभक्तिप्रमदैव भगवत्कर्षण निपुणेत्याशयेनाह **-नाऽयमिति।** आत्मैव परमात्मैव पोतो नौ येषां ते तथा तेषाम्॥ २१॥

पूर्वजन्मनि गुह्यकौ अधुना अर्जुन नाम्ना ककुभवृक्षौ॥ २२॥

शापनिमित्तमाह - मदादिति। किं नामाना विति तत्राऽऽह - नलेति। मदकारणमाह श्रियेति॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीविजयध्वज तीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां नवमोऽध्यायः॥ ९॥
(विजयध्वजरीत्या दशमोऽध्यायः)

# दशमोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या एकादशोऽध्यायः)

राजोवाच

कथ्यतां भगवन्नेत त्तयोश्शापस्य कारणम् ।
यत्तद्विगर्हितं कर्म येन देव ऋषेस्तमः ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

रुद्रस्यानुचरौ भूत्वा सुदृप्तौ धनदात्मजौ ।
कैलासोपवने रम्ये मन्दाकिन्यां मदोत्कटौ ॥ २ ॥

वारुणीं मदिरां पीत्वा मदाघूर्णितलोचनौ ।
स्त्रीजनैरनुगायद्भिश्चेरतुः पुष्पिते वने ॥ ३ ॥

अन्तःप्रविश्य गङ्गायामम्भोजवनराजिनि ।
चिक्रीडतुर्युवतिभिर्गजाविव करेणुभिः ॥ ४ ॥

यदृच्छया च देवर्षिर्गतवांस्तत्र कौरवः
अपश्य न्नारदो देवौ क्षीबाणौ समबुध्यत ॥ ५ ॥

1- -1. A,B,G येन वा देवर्षेस्तमः, V. देवर्षेर्येन वा तम; K.W. येन वा देवर्षिः कुपितः 2. K,W श्रीबादरायणिः 3. A,B,G °र्भग° 4. V. नारदः 5- -5. V °द्वह्यकौ दृष्ट्वा

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

दशमेऽपातयद्राजन्नन्तरा यमला र्जुनौ ।
तत्र ताभ्यां च देवाभ्यां कृष्णः स्तुत इतीर्यते ॥

**कथ्यतामिति** । यद्विगर्हितं कर्म । येन वा देवर्षेर्भगवतोत्तमस्यापि तमः क्रोधः तदेतत्कथ्यतामिति ॥ १-३ ॥

**अन्तरिति** । गङ्गायां अन्तः मध्ये कथम्भूते अम्भोजानां वनानि। तेषां राजयः ताः विद्यन्ते यस्मिन् तस्मिन् ॥ ४ ॥

**यदृच्छयेति** । (तत्र) तस्मिन् अपश्यत् दृष्ट्वा च क्षीबाणौ मत्तौ समबुध्यत ॥ ५ ॥

1. A,B °द्रिङ्गन्न° 2. A,B °त्या° 3. A,B omit तस्मिन्

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एव मुक्ते लब्धप्रश्नावसरः पृच्छति राजा **कथ्यतामिति**। यद्विगर्हितं कर्म येन वा देवर्षि भागवतश्रेष्ठः कुपितः तदेतत्कर्म तयोः शापस्य कारणम् हे भगवन्! कथ्यताम् देवर्षेः येन वा तम इति पाठे देवर्षेः भागवतोत्तमस्यापि तमः क्रोध इत्यन्वयः॥ १॥

तस्य उत्तरमाह मुनिः रुद्रस्येत्यादि श्लोकद्वयं, स्पष्टार्थम्॥ २, ३॥

गङ्गायामन्तर्मध्ये, कथम्भूते? अम्बुजानां वनानि तेषां राजयो यस्मिन् तस्मिन्, व्रीह्यादित्वादिनिः। करेणुभिरिभीभिः गजा विव युवतिभिः सह चिक्रीडतुः क्रीडां गतवन्तौ॥ ४॥

हे कौरव! भगवान् देवर्षिः यदृच्छया तत्राऽऽगतौ देवौ तौ ददर्श क्षीबाणौ मदान्धौ समबुध्यत ज्ञातवांश्च॥ ५॥

1- -1. W omits 2- -2. W omits 3- -3. W omits 4 W omits ज्ञातवान्

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हरेरेव संसारान्मोक्ष इति दर्शयितुं नलकूबरमणिग्रीवयोः शापमोक्षप्रकारं निरूपयत्यस्मिन्नध्याये। तत्र राजा शुकं पृच्छति राजेति। यद्विगर्हितं निन्दितं कर्म तत् कथ्यतां येन कर्मणा देवर्षेः तमोगुणकार्य क्रोधोऽभूत्॥ १,२॥

वारुणीं वरुणाज्जाताम्॥ ३॥

अम्भोजवनराजिनि, जल इति शेषः॥ ४॥

क्षीबाणौ मत्तौ अश्लील वचनौ वा॥ ५॥

1. B,M वा°

**तं दृष्ट्वा व्रीडिता देव्यो विवस्त्राश्शापशङ्किताः।**
**वासांसि पर्यधुश्शीघ्रं विवस्त्रौ नैव गुह्यकौ॥ ६॥**

**तौ दृष्ट्वा मदिरा मत्तौ श्रीमदान्धौ सुरात्मजौ।**
**तयो रनुग्रहार्थाय शापं दास्यन्निदं जगौ॥ ७॥**

नारद उवाच

नह्यन्यो जुषतो जोषान् बुद्धिभ्रंशो रजोगुणः।
श्रीमदादाभिजात्यादिः यत्र स्त्रीद्यूतमासवम्॥ ८॥

हन्यन्ते पशवो यत्र निर्दयै रजितात्मभिः।
मन्यमानैरिमं देहमजरामृत्यु नश्वरम्॥ ९॥

देवसंज्ञितमप्यन्ते क्रिमिविड्भस्म संज्ञितम्।
भूतध्रुक्तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः॥ १०॥

1- -1. K,M,V,W omit 2. V °दान्धाभि 3. M °देः 4. A,B,G,V °वः 5. A,V °दं 6. A,B,G,M वृ° 7. M. कुरुते

**श्रीध०** कुत इत्यत आह - **तमिति**॥ ६॥

**ताविति**। अनुग्रहार्थाय अनुग्रहश्च मदनाशः अर्थश्च श्रीकृष्णदर्शनं तदर्थमिदं वक्ष्यमाणम्॥ ७॥

**नहीति**। जोष्यान् प्रियान् विषयान्। जुषतस्सेवमानस्य पुंसः श्रीमदादन्यः आभिजात्यादिः सत्कुलविद्यादि जनितो मदः। अन्यो वा रजोगुणः रजःकार्यं हास्यहर्षादिरूपः नहि तथा बुद्धिभ्रंशः बुद्धिं भ्रंशयतीति तथा॥ ८॥

किन्तु श्रीमद एवेति, तदेवाह **हन्यन्त** इति। यत्र श्रीमदे इमं नश्वरं देहं अजरामृत्यु। अजरं अमृत्यु च यथा तथा मन्यमानैः॥ ९॥

**देवेति**। नरदेव भूदेवसंज्ञितमपि श्वादिभि र्भक्षितं विट्सञ्ज्ञितं दग्धं भस्म संज्ञितं अन्यथा क्रिमिसंज्ञितम्। तत्कृते तदर्थं यो भूत ध्रुक् भूत द्रोही[1] यथा भूतद्रोहान्निरयो भवति स किं स्वार्थं वेद नैव वेदेत्यर्थः॥ १०॥

1. A,B द्रोग्धा

**वीर०** कुत इत्यत्राह - **तं दृष्टेति**। देव्यो[1-] विवस्त्राः अत एव तं दृष्ट्वा व्रीडिताः शापात् शङ्किताः वासांसि[-1] पर्यधुः[2-] परिहितवत्यः[-2]। गुह्यकौ तु नैव पर्यधातां किन्तु विवस्त्रौ नग्नावेव आसाताम्॥ ६॥

सुरस्य कुबेरस्य आत्मजौ दृष्ट्वा मदनाश रूपानुग्रहार्थं शापं दास्यन् तावत् इदं वक्ष्यमाणं जगाद[3] अनुग्रहार्थाय भविष्यद्भगवद्दर्शनरूपप्रयोजनाय चेति केचिद्व्याचक्षते॥ ७॥

तदेवाऽह[4-] **नेति**[-4]। जोष्यान् प्रियान् जुषतः सेवमानस्य पुंसः श्रीमदात् संपत्प्रयुक्तमदात् अन्य आभिजात्यादिः आदिशब्देन विद्यादि सङ्ग्रहः। आभिजात्यादि जनितो मदश्श्रीमदवत् बुद्धि भ्रंशकरः रजोगुणकार्यकामक्रोधादिवर्धको नहि, किन्तु श्रीमद एव नितरां बुद्धि भ्रंशकरो रजोगुणश्चेत्यर्थः। तदाह यत्रेत्यादिना। यत्र यस्मिन् श्रीमदे सति स्त्रीसङ्गद्यूत मधुपानादि रूप दुर्व्यसनानि सम्भवन्ति॥ ८॥

किञ्च यत्र श्रीमदे सति इमं देहं जरादि रहितं मन्यमानैः अत एव अजितेन्द्रियैः अत एव निर्दः पशवो हन्यन्ते॥ ९॥

इममित्यनेन अभिप्रेतं विशदयति **देवेति**। देवसंज्ञितमपि नरदेव भूदेवस्वर्देवादि संज्ञितमपि शरीरमन्ते तदारम्भक प्रारब्धावसाने क्रिम्यादि संज्ञितमेव। दग्धं चेत् भस्मसंज्ञितं, श्वभिर्भक्षितं चेत् विट्संज्ञिकं अन्यथा क्रिमिसंज्ञितमित्यर्थः। तत्कृते एवंविधशरीरसुखार्थं यो भूतानि द्रुह्यतीति तथा। यतो भूतद्रोहान्निरयो नरकः स पुमान् किं वेद न किमपि; ं अहितं च न जानातीत्यर्थः॥ १०॥

1- -1. K,T,W omits 2- -2. A,B आदधुः। 3. A,B आह 4- -4. W omits 5. A,B श्वादि°

**विज०** पर्यधुः संवेष्टितवत्यः॥ ६, ७॥

किं तद्गीतमिति तत्राह - **न हीति**। विषयान् जुषतः सेवमानस्य पुंसः जोष्यात् सेव्यात् विषयात् श्रीमदात् श्रिया धनसम्पदोत्पन्नमदादाभिजात्यादेः अभिजननिमित्तमदात् विद्यानिमित्तमदाच्च अन्यः बुद्धिभ्रंशः ज्ञाननाशकरो रजोगुणः रजो विकारो नास्ति, विषयादिरेव ज्ञाननाशकर इत्यर्थः। तत्कथमत्राह यत्रेति। यत्र विषयाभिजात्य धनमदेषु स्त्रियो द्यूतमासवं असुतर्पणं मद्यपानं भवति। हिशब्दोऽवधारणे "हि हेतावववधारणे" (वैज.को. 8-7-9) इति यादवः। अन्यो नास्त्येव, मद्यपानादयो भवन्त्येवेत्यर्थः। आसव इति पाठे मद्यमित्यर्थः॥ ८॥

सन्तु स्त्र्यादयः, ततः किमत्राह **हन्यन्त** इति। यत्र स्त्र्यादिषु सत्सु इमं नश्वरं देह मजरामृत्युनश्वरं जरामृत्युरहितं मन्यमानैः पशवो भूतादि हननमत्र बहुविधं - देहवियोग कारणं, धनापहरणं, देशोच्चाटनं, अभिमान भङ्गकरण मित्यादि॥ ९॥

यज्ञे पश्वालम्भन वत् परलोक विषयत्वेन पुण्यसाधनायेदं हिंसनं किं, न स्या दित्यत्राह - भूतध्रुगिति। नायं स्वार्थः किन्तु पारलोक्य प्राप्तानन्द इत्यत्राह किमिति। किंशब्दः आक्षेपार्थः। "प्रश्ने क्षेपे विकल्पे किम्" (वैज को 8-7-3) इति यादवः। दैनन्दिन जीवन मन्तरेण किमपि न जानातीत्यन्वयः। किमिति न वेदेति तत्राह निरय इति। यतो निर्गमनरहितं तमो भवतीत्यर्थः। 'अयगताविति' धातुः। हिंसामात्रेण तमसोऽभावे हिंसा विशेषेण तमः स्यात्। तथाहि नित्यभूतत्वात् सत्त्वोद्भोतं ब्रह्म तद्रोहः सर्वेशस्य ब्रह्मणोऽनीशेन दुःखिना जीवेन सहैकत्वकथनोपासने प्रथमहिंसा, सार्वज्ञ्यादि गुणान् श्रुतानपहाय निर्गुणत्वचिन्तनं द्वितीया, तदवताराणां दुःख श्रमाज्ञानादिकल्पनं तृतीया, प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्धस्य प्रपञ्चस्य तद्विवर्तत्व कथनं चतुर्थीत्यादिकम्। एवं विधस्य तमः प्राप्तिः स्यादिति निरूप्यत इत्यर्थः॥ १०॥

**देहः किमन्नदातुस्त्वं निषेक्तर्मातुरवे वा ।**
**मातुः पितुर्वा क्रेतुर्वा बलिनाऽग्नेः शुनोपि वा॥ ११॥**

**एवं साधारणं देह मव्यक्तप्रभवाप्यम्।**
**को विद्वानात्मसात्कृत्वा हन्ति जन्तूनृतेऽसतः॥ १२॥**

★ असतश्श्रीमदान्धस्य दारिद्र्यं परमाञ्जनम्[5]।
आत्मौपम्येन भूतानि दरिद्रः परमीक्षते॥ १३॥

यथा कण्टकविद्धाङ्गैः[6] जन्तोर्नेच्छति तां व्यथाम्।
जीवसाम्यं गतो लिङ्गैर्न तथाऽविद्धकण्टकः॥ १४॥

दरिद्रो निरहं स्तम्भो मुक्तस्सर्व मदैरिह।
कृच्छ्रं यदृच्छयाऽऽप्नोति तद्धि तस्य[7] परन्तपः॥ १५॥

1. M ०स्स्यात् 2. B.G. च 3- -3 A, B, G बलिनः क्रेतुरग्नेः 4. A ०न्कृ० ★ An extra Sloka (obviously Repeated) is found in M. Edn. मन्यमानै रिमं देहमजरामृत्यु नश्वरम्। देवसंज्ञितमप्यन्ते कृमिविड्भिस्मसंज्ञितम्॥ This verse is commented by Vijayadhvajateertha 5. A.B.G. ०म० 6. A.B.G.M.V. ०ङ्गः 7. K.W. ह्यस्य

**श्रीध०** इदानीं देहे अहम्भावोऽपि[1] न घटत इत्याह - **देह** इति। निषेक्तुः पितुः मातुर्वा मातुः पितुः मातामहस्य वा पुत्रिका पुत्रीकरणे॥ ११॥

**एवमिति**। अव्यक्त प्रभवाप्ययम् अव्यक्तात्प्रभवस्तस्मिन्नेवाप्ययो यस्य तं, आत्मसात्कृत्वा आत्मीयमिति[2-2] मत्वा, असतो मूढादृते॥ १२॥

एवं श्रीमदविचेष्टित मुक्त्वा तत्प्रतीकारं निश्चिनोति **असत** इति। परं श्रेष्ठं, दारिद्र्यमेव केवलमिति वा। कुत इत्यत आह — आत्मौपम्येनेति। ततो न द्रुह्यतीति भावः॥ १३॥

सदृष्टान्तमाह—**यथेति**। मुखम्लानादिलिङ्गैः[3] सर्वेषां जीवानां सुख दुःखे समे इति ज्ञातवानित्यर्थः॥१४॥

किञ्च दारिद्र्यमेव[4] मोक्षमपि साधयतीत्याह **दरिद्र** इति श्लोक चतुष्टयेन। निरहंस्तम्भः निर्गतः अहङ्काररूपः स्तम्भो यस्मात्सः॥ १५॥

1. V. omits अपि 2- -2. A,B आत्मेति 3. A.B. °न्यादि 4. A.B. omit एव.

**वीर०** ननु, अन्ते यत्किञ्चित्संज्ञिकमस्तु जीवद्दशायां स्वाधीनतया देहसुखार्थं यतितव्य मेवेत्यत्र तद्दशायामपि न नियतं स्वत्व मस्तीत्याह **देह** इति। अग्नेश्शुनोऽपि वेति दृष्टान्तार्थं देहो यथा अन्ते अग्ने श्शुनश्च स्वं तथा जीवद्दशायामपि नियमो न अन्नदात्रादीनां स्वं किं न भवति इत्यर्थः। किमित्यनेन लोके प्रसिद्धिर्द्योत्यते। तावदन्नपरिणामरूपत्वाद्यस्यान्नेन वर्धते तस्य स्वम्। तथा रेतः प्रभवत्वान्निषेक्तु गर्भाधातुः तथा मातुः पितुः[1] मातामहस्य च पुत्रीकरणकाले तथा सङ्कल्पात् पितृवन्मातृपितरं प्रत्यपि पारतन्त्र्यौचित्त्यादिति भावः। विक्रेतुः द्रव्य दानेन स्वीकर्तुः, बलिनो बलाद्गृहीतुः॥ ११॥

एवं साधारणं नत्वेकस्यैव नियतस्वं, अव्यक्तात्प्रकृतेः प्रभवः उत्पत्तिः तस्मिन्नेवाप्ययो लयश्च यस्य तं, तमिमं देहं आत्मसात्कृत्वा आत्मेति मत्वा असतो मूढान् ऋते विना विद्वान् कः पुमान् जन्तून् हन्ति? देहाभिमानिनश्चेत् हन्युः विद्वांस्तु न हन्यादेवेत्यर्थः। यद्वा एवमिमं देहं साधारणमव्यक्तं प्रभवाप्ययं च विद्वान् जानं श्चेत् असतोऽसाधारण देहाभिमानिनः पुरुषान्विना कोऽपि पुमान् आत्मसात्कृत्वा आत्मत्त्वेन मत्वा जन्तून् हन्यात्। एवं विद्वांस्तु पुनर्देहात्माभिमानेन न हन्यात्। साधारणमविद्वांसस्तु देहात्माभिमानेन हन्युः इत्यर्थः। अविद्वानिति वा च्छेदः। तदा साधारणमव्यक्तप्रभवाप्ययं च अविद्वानजानं श्चेत् ततः तज्ज्ञान्विना अन्यः कश्चित् देहात्माभिमानेन हन्यादित्यन्वयः॥ १२॥

एवं श्रीमदस्यानर्थमूलतां प्रदर्श्य अथ तत्प्रतीकारार्थं निश्चिनोति **असत** इति। तत्कुत इत्यत्राह आत्मौपम्येनेति। दरिद्रः केवलमात्मदृष्टान्तेन भूतानीक्षते यथा स्वस्याऽऽघातादिना दुःखादिकं तथा परस्यापीत्यात्मौपम्येन भूतानि पश्यन् न तेभ्यो द्रुह्यतीत्यर्थः॥ १३॥

उक्तमेवार्थं सदृष्टान्त माह **यथेति**। यथा कण्टक विद्धाङ्गिः लिङ्गैः अन्तर्गत सुखदुःखादिव्यञ्जक मुखविकासम्लानतादि निमित्तैः जीवसाम्यं गतः स्वेतर जीवानां स्वस्य च तौल्यं मन्वानः तां कण्टकवेधजां व्यथां दुःखं कण्टकवेधां वा नेच्छति तथैवमविद्धकण्टको न, नेच्छतीति नेत्यर्थः॥ १४॥

किञ्च दारिद्र्यं परम्परया मुक्ति साधन मपीत्याह — **दरिद्र** इति चतुर्भिः। निरहंस्तम्भः निर्गताहङ्कार रूपगर्वः सर्वैः अभिजनवित्तविद्याप्रयुक्तैः मदैः मुक्तः यदृच्छया स्वप्रयत्न मन्तरेणैव कृच्छ्रं कायशोषणादिकं प्राप्नोति तत्कृच्छ्रं मेवास्य परं केवलं उत्कृष्टं वा तपः॥ १५॥

1. W. adds तत्पितुः 2. A.B. प्राणिमात्रस्यापी० 3. A.B. omit न 4. A.B. स्तम्भः 5. A.B. omit परं

**विज०** ननु उत्तर श्लोके देहस्यानिर्वाच्यत्व मुच्यते। देहस्य जगदन्तः पातित्वेन जगद्ब्रह्म विवर्तमिति कथयतः कथं तम इत्याशङ्क्य अत्र साधारणत्व मेवोच्यते प्राप्तिसद्भावादित्याशये नाह - **देह** इति। अन्नदातुः पोषयितुः निषेक्तुः गर्भाधानकर्तुः मातुः पितुः मातामहस्य, विक्रेतुः द्रव्यादि प्रदानेन, बलिनः बलात्कारेण ग्रहीतुः॥ ११॥

अव्यक्तात्प्रकृतेः प्रभव उत्पत्तिः अव्यक्ते अप्ययः प्रलयो यस्य स तथा तम्। आत्मसात् आत्मत्वेन, असतः ऋते॥ १२॥

प्रसङ्गात् प्रागुक्तं स्मारयति मन्यमानैरिति। कीदृशम्? प्रथमं देवसंज्ञितं मरणे कृम्यादि संज्ञितं भवति। देवोऽयं भट्टारकोऽयं, कृमिक्लिन्नः विष्ठाकुलः भस्मित इति॥

ननु श्रीमदान्धस्य आन्ध्यपरिहाराय किमौषधं तर्हीति तत्राह **असत** इति। असतः हननादिकर्तुः दारिद्र्यं दरिद्रभावः कथं तदञ्जनं आन्ध्यनाशनं अभूदिति तत्राह आत्मेति। आत्मौपम्येन आत्मसाम्येन भूतानि सुखासुखसंसक्तानि॥१३॥

अत्र दृष्टान्तमाह **यथेति**। तां कण्टकव्यथां जन्तोः आत्मव्यतिरिक्तस्य तल्लिङ्गैः सुखदुःख विकास काष्ट्यादि सूचकै र्जीवेषु सुखादिमत्तया साम्यं साधर्म्यं गतो ज्ञातवान्, अविद्धकण्टकः तथा न॥ १४॥

ननु दारिद्र्यं परमं सुखमित्युक्तम्। तस्यापि दुःखानुभवः प्रतीयते तत्कथमिति तत्राह — **दरिद्र** इति। निरहंस्तम्भः अहम्मानवर्जितः विद्यादि सर्वमदैर्मुक्तः दरिद्रः यदृच्छया दैवेच्छया यत्कृच्छ्रं आप्नोति तत्कृच्छ्रमस्य दरिद्रस्य परं तपो भवति। "एतद्वैष परंतपो यद्बाधित स्तप्यते (बृह. उ. 5-11-1) इति श्रुतिः हिशब्दगृहीता॥ १५॥

**नित्यं क्षुत्क्षामदेहस्य दरिद्रस्यान्न काङ्क्षिणः।**
**इन्द्रियाण्यनु[1] शुष्यन्ति हिंसापि विनिवर्तते[2]॥ १६॥**

**दरिद्रस्यैव युज्यन्ते साधवस्समदर्शिनः।**
**सद्भिः क्षिणोति तत्तर्षं[3] तत[4] आराद्विशुध्यति[5]॥ १७॥**

**साधूनां सम चित्तानां मुकुन्दचरणैषिणाम्।**
**★ दर्शनान्तो भवेद्बन्धः पुंसोऽक्ष्णोस्सवितुर्यथा॥**
**उपेक्ष्यैः किं धनस्तम्भैरसद्भिरसदाश्रयैः॥ १८॥**

**तदहं मत्तयोर्माध्व्या वारुण्या श्रीमदान्धयोः।**
**तमोमदं हरिष्यामि[6] स्त्रैणयोरजितात्मनोः॥ १९॥**

1. A. ०ण्याऽऽशु 2. V. च 3. A. सन्तर्षं B, G तं तर्षं 4. V. तमः 5. M. ०द्धि सिद्ध्यति; V. ०द्धिनश्यति ★ This half verse is found only in V. Edn. 6. V. °नि

**श्रीध० दरिद्रस्येति**। युज्यन्ते स्वत एव सङ्गच्छन्ते[1], तर्षं तृष्णां, आ[2-]राच्छीघ्रम्[-2]॥ १६, १७॥

ननु साधूनामपि धनिक एव[3] प्रियः स्यात् न दरिद्र इति तत्राह **साधूनामिति**। धनेन स्तम्भो गर्वो येषां तैः॥ १८॥

**तदिति**। तमोमदं अज्ञान कृतं मदम्॥ १९॥

1. V ०न्ति 2- -2 A.B. omit 3. A.B. omit एव

**वीर०** तदेवाह **नित्यमिति**। क्षुधा क्षामः क्षीणो देहो यस्य। तत्र हेतुः अन्नकाङ्क्षिणः। तत्रापि हेतुः दरिद्रस्य। इन्द्रियाणि शुष्यन्ति, अत एव हिंसा च निवर्तते॥ १६॥

एवंविधस्य दरिद्रस्यैव समदर्शिनः साधवो युज्यन्ते संङ्गता भवन्ति। ननु परिशुष्केन्द्रियस्यापि विषयतृष्णानपायात् श्रीमदान्धात् कोऽस्य विशेष इत्यत्राह - सङ्गतैः सद्भिः हेतुभिः तत्तर्षं विषयतृष्णां क्षिणोति क्षपयति। यद्वा तत्तर्षं कर्तृ कलीबत्व मार्षम्। क्षिणोति नश्यति। ततः तत्तर्षक्षयात् आरात् समनन्तरमेव विशुध्यति प्रकृतिसम्बन्धरूपाशुचिरहितो भवति। विसिध्यतीति पाठे मुक्तो भवतीत्यर्थः॥ १७॥

ननु धनमेव स्वापेक्षितं, अत आह — **साधूनामिति**। मुकुन्दचरणमेव निरतिशयपुरुषार्थरूपं मन्वानानां समचित्तानां स्वतुल्य भूतान्तर दर्शिनां साधूनां, अत एव उपेक्ष्यैः धनस्तम्भैः स्तम्भहेतुभिः धनैः असद्भिः अनर्थ मूलमदहेतुत्वेन दुष्टैः अत एव असतामाश्रयैः, ते आश्रयो येषां तैरिति वा एवं विधैः धनस्तम्भैः किं न किञ्चिदपि प्रयोजन मित्यर्थः। यद्वा साधूनामपि धनिक एव प्रियः स्यात् इत्यत्राह — साधूनामिति। धनेन स्तम्भो येषां तैः असदाश्रयैः सदाश्रयरहितैः तत्समागमरहितैः इत्यर्थः। अत एव उपेक्ष्यैः असद्भिः किमिति॥ १८॥

तत् तस्मात् श्रीमदनिवृत्तेरेव पुरुषार्थपर्यवसायित्वात् वारुण्या माध्व्या। सुरया मत्तयोः श्रीमदेन अन्धयोः अजितेन्द्रिययोः स्त्रीवश्ययोः युवयोः तमोमदमज्ञानकृतं मदं हरिष्यामि अपनेष्यामि॥ १९॥

**विज०** ननु कुच्छ्रानुभवः कथङ्कारं तपो भवति इत्याशङ्क्य तं प्रकारं दर्शयति **नित्यमिति**। अनुशुष्यन्ति देह शोष मनुशोषं गच्छन्ति इन्द्रियप्राबल्य दौर्बल्ये प्रवृत्तिनिवृत्ती स्यातां, ते च अन्नसत्ताभावादिना स्याताम्। अन्नाभावादिन्द्रिय प्राबल्यसाध्या हिंसालक्षणा प्रवृत्ति र्नश्यतीत्यर्थः॥ १६॥

ततः किमत आह — **दरिद्रस्येति**। युज्यन्ते सङ्गम्यन्ते, सत्सङ्गतिर्भवतीत्यर्थः। तत्फलमाह — सद्भिरिति। "रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते" (भ. गी. 2-59) इति स्मृतेः। विषय तृष्णा निवर्तत इत्यर्थः। ततः विषयतृष्णा निवृत्तेरारात् क्षिप्रं सिध्यति मुक्तो भवतीति। "आरात् दूरसमीपयोः" (अम. को. 3-397) इति च॥ १७॥

सच्छिक्षया विद्यादिमदान्धानामपि दरिद्रस्येव श्रेयः किं न स्यादित्याशङ्क्य सतामुपेक्षणीयत्वेन सत्सङ्गत्या श्रेयस्सिद्धिर्दवीयसीत्याशयेनाह - **साधूनामिति**। महतां दर्शने धनेन स्तम्भः प्रावण्यगुण रहितैः असतामाश्रयभूतैः॥१८॥

नन्वस्तु प्रकृते भवतैतयोः किं क्रियते, दण्ड, उत उपेक्षा वा इत्याशङ्क्य दण्ड एव क्रियत इत्याह - **तदहमिति**। माध्व्या मधुकृतया॥ १९॥

**यदिमौ लोकपालस्य पुत्रौ भूत्वा तमःप्लुतौ।**
**न विवाससमात्मानं विजानीतः सुदुर्मदौ॥ २०॥**

अतोऽर्हत[3] स्थावरतां स्यातां नैवं यथा पुनः।
स्मृतिस्स्यान्मत्प्रसादेन तत्रापि मदनु ग्रहात्॥ २१॥

वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा दिव्यशरच्छते।
वृत्ते स्वर्लोकितां भूयो [4-]लब्ध्वा भक्तौ[-4] भविष्यतः[5] ॥ २२॥

श्रीशुक उवाच

[6-]स एवमुक्त्वा[-6] देवर्षि र्गतो नारायणाश्रमम्।
नलकूबरमणिग्रीवा वासतुर्यमलार्जुनौ॥ २३॥

ऋषे र्भागवतमुख्यस्य सत्यं कर्तुं वचो हरिः।
जगाम शनकैस्तत्र यत्राऽऽस्तां यमलार्जुनौ॥ २४॥

1. A तमाऽऽप्लुतौ 2. W. विजानाते 3. M. ०थः 4- -4. A.B. G.K.W लब्ध भक्तो 5. M ०थः 6- -6. K, W एवमुक्त्वा तु

**श्रीध० यदिति।** तमःप्लुतौ तमोव्याप्तौ॥ २०॥

[1]शपति — **अत** इति। अनुगृह्णाति। स्यातां नैव मित्यादिना। मत्प्रसादेन स्मृतिः स्यात्॥२१॥

**वासुदेवस्येति।** स्वर्लोकितां देवत्वं पुनर्लब्ध्वा मदनुग्रहात् लब्धभक्ती भविष्यत इति॥ २२, २३॥

प्रस्तुतमाह - **ऋषेरिति।** [2-]अस्मिन्[-2] श्लोके पूर्व श्लोके चाक्षराधिक्यमार्षम्॥ २४॥

1. V. omits शपति 2- -2. A.B. omit

**वीर०** यद्यस्मात् लोकपालस्य पुत्रौ भूत्वापि इमौ भवन्तौ तमसा व्याप्तौ विवाससं नग्नमात्मानं न विजानाते॥ २०॥

अतः स्थावरतामर्हतः विवाससं आत्मानमजानतोः वस्त्राच्छादन रहिततरु जन्म युक्तमिति भावः। इत्थं शप्त्वाऽनुगृह्णाति स्यातामित्यादिना। एवमेव सर्वदा स्थावराकृती यथा न स्यातां तथार्हतः। यद्वा किमर्थ मेवं निरपराधयोश्शापं प्रयच्छसीत्यत्राह पुरा तरुजन्मनः प्राक् यथा स्यातां यादृशौ श्रीमदान्धौ स्यातामेवं तरुजन्मनः पश्चान्मा भूतामित्येवं, अनुग्रहार्थं शाप इत्यर्थः। प्रकारान्तरेणाप्यनुगृह्णाति तत्रापि स्थावरत्वेऽपि मत्प्रसादेन हेतुना स्मृतिः पूर्वजन्म स्मृतिः स्यात्॥२१॥

तथा मदनुग्रहाद्धेतोः दिव्य वर्ष शतान्ते वासुदेवस्य वसुदेवसूनोः भगवतः सान्निध्यं लब्ध्वा वृत्ते तरुत्वे अतीते सति पुन स्वर्लोकतां देवत्वं लब्ध्वा वासुदेवे लब्धा भक्तिः याभ्यां तथा भूतौ भविष्यतः॥ २२॥

स देवर्षिः इत्थं उक्त्वा बदर्याश्रमं गतः नलकूबरमणिग्रीवौ सहजाता वर्जुनौ वृक्षौ आसतुः॥ २३॥

भागवत मुख्यस्य नारदस्य तद्वचः सत्यं कर्तुं हरिः[1] श्रीकृष्णश्शनैः उलूखलमाकर्षन् यत्र यमलार्जुनौ स्थितौ तत्र जगाम॥ २४॥

1. W omits हरिः

**विज०** तमःप्रुतौ अज्ञानावृत्तौ विवाससं वस्त्रहीनं आत्मानं न विजानीत इति यतः अतः ॥ २०

स्थावरतां प्राप्तुमर्हथः तत्र स्थावरत्वेपि॥ २१॥

स्मृतेः फलमाह - वासुदेवस्येति॥ २२॥

यमलार्जुनौ सहोत्पन्नार्जुनौ॥ २३, २४॥

**देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ।**
**तत्तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मना॥ २५॥**

**इत्यन्तरेणार्जुनयोः कृष्णस्तु यमयोर्ययौ।**
**आत्मनिर्वेशमात्रेण तिर्यग्गतमुलूखलम्॥ २६॥**

**बालेन नि[1-]ष्कर्षयताऽन्वगुलू[-1]खलं तत् दामोदरेण तरसोत्कलिताङ्गि बन्धौ।**
**निष्पेततुः[2] परमविक्रमितातिवेप[3] स्कन्धप्रवालविटपौ[4] कृत चण्डशब्दौ[5]॥ २७॥**

**तत्र श्रिया परमया ककुभः स्फुरन्तौ सिद्धावुपेत्य कुजयोरिव जात वेदाः[6]।**
**कृष्णं प्रणम्य शिरसाऽखिल लोकनाथं बद्धाञ्जली विरजसाविदमूचतुस्स्म[7] ॥ २८॥**

-: शाप विनिर्मुक्तनलकूबरमणिग्रीवकृत श्रीकृष्ण स्तुति:

[8-]गुह्यकौ ऊचतुः[-8]

**कृष्ण कृष्ण महायोगिन् त्वमाद्यः पुरुषः परः।**
**व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते [9]ब्रह्मणो विदुः॥ २९॥**

1- -1. M निष्कृष्टमुलू° 2. V °षतः 3. पवन 4. M °ल 5. M °पैः 6. M°दौ 7. V °स्तौ 8- -8. A नलकूबरमणिग्रीवौ ऊचतुः; B,G,K,M,W omit 9. B,G,M ब्राह्मणाः

**श्रीध०** किमिति सत्यं कर्तव्यं तत्राह - **देवर्षिरिति।** यद्यतः तत्ततः [1-]इमौ आलक्ष्य यद्गीतम्[-1] ॥ २५॥

**इतीति।** यमयोर्यमलयोः सहजातयोः [2-]इत्यर्थः। आत्म निर्देश मात्रेण[-2] आत्मनः कृष्णस्य तन्मध्य प्रवेशमात्रेण। [3-]अन्वञ्चत्[-3] तत् उलूखलमिति पाठे अनु पश्चात् पृष्ठभागे अञ्चत् शोभमानमित्यर्थः ॥ २६॥

**बालेनेति।** अनु अञ्चतीत्यन्वक्। तत्र हेतुः दामोदरेणेति। [4-]अत एव तन्निष्कर्षयता। तेन उत्कलिताङ्घ्रि बन्धौ[-4] उत्कलितः उत्पाटितः अङ्घ्रि बन्धो मूलबन्धो ययोस्तौ। परमस्य श्रीकृष्णस्य [5-]विक्रमितं[-5] विक्रमः न अतिवेपः कम्पो येषु ते स्कन्धप्रवालविटपा ययो स्तौ॥२७॥

**तत्रेति।** ककुभः प्रति सर्वतः स्फुरन्तावित्यर्थः। यद्वा दिशः प्रकाशयन्ताविति। [6-]अथवा ककुभ स्फुरन्तावित्येकं पदं, ककुभयोर्[-6]अर्जुनवृक्षयोः स्फुरन्तौ प्रथमं च्छायारूपेण प्रतिफलन्ता विति। "इन्द्रद्रुः ककुभोऽर्जुनः[7]" (अम. को. 2-91) इति निघण्टुः। कुजयोः वृक्षयोः स्थितोऽग्निर्यथा मूर्तिमानुपैति तथोपेत्य विरजसौ निर्मदौ[8] ॥ २८॥

गोपालं मां युवां देवौ किमिति' प्रणमत इति चेत् तत्राहतुः **कृष्णेति।** हे कृष्ण! हे कृष्ण! महायोगिन्! अचिन्त प्रभावस्त्वं न गोपालः किन्तु परः पुरुषः यतः आद्यः कारणभूतः तत्रापि न निमित्तमात्रं, किन्तु उपादानमपि त्वमेवेत्याशयेन तुष्टुवतुः व्यक्ताव्यक्तमिति। स्थूल सूक्ष्ममिदं (ब्रह्मणः) ते[10] रूपं[11] विदुः। [12-]ब्राह्मणा विदुरिति पाठे ब्राह्मणाः तत्त्वज्ञा ः[-12]॥ २९॥

1- -1. A,B omit 2- -2. A,B omit 3- -3. A,B omit 4- -4. A,B omit 5- -5. V विक्रमितेन 6- -6. A,B omit 7. A,B add तत्र 8. A निर्गतमदौ 9. A,B add निरहङ्कारिणौ नष्टगर्वौ इति यावत् 10. A adds तव 11. A,B add ब्राह्मणाः ब्रह्मविदो 12- -12. A,B omit

**वीर०** तद्वचः सत्यं कर्तुमित्येतदेव प्रपञ्चयति [1-]देवर्षिरिति द्वाभ्याम्[-1] यतो देवर्षिः [2]नारदः मम प्रियतमः तत् तस्मात् तेन महात्मना धनदात्मजौ उद्दिश्य यत् गीतं [3]तत्तथैव साधयिष्यामि [4]करिष्यामि इत्यभिप्रायेण यमयोः अर्जुनयोः अन्तरेण मध्ये ययौ, तदा आत्मनः स्वस्य[5] प्रवेशमात्रेण उलूखलं तिर्यक्पतितमभूत्॥ २५,२६॥

अन्वञ्चती त्यन्वक् अनुसरत् तं उलूखलं निष्कर्षयता आ[6-]कर्षता[-6] दामोदरेण हेतुना तरसा बला दुत्कलितौ उत्पाटितौ अङ्घ्रि बन्धौ मूलभागौ ययोः परमस्य श्रीकृष्णस्य विक्रमितेन अतिवेपः कम्पो येषु ते स्कन्धादयो ययोः कृतः चण्डः शब्दो याभ्यां तथा भूतौ निष्पेततुः॥ २७॥

तत्र तदा तयोः वृक्षयोः वा परमया श्रिया शोभया ककुभो दिशः स्फुरन्तौ प्रकाशयन्तौ कुजयोः वृक्षयोः स्थितोऽग्निः यथा मूर्तिमान् बहिरुद्गच्छति तद्वत् उत्थितौ सिद्धौ भूत्वा उपेत्य कृष्णसमीपमेत्य कुजयोः जातवेदा इव सिद्धौ उपेत्य, उत्थायेति वा। अखिल लोकानां नाथमीश्वरं कृष्णं शिरसा प्रणम्य बद्धोऽञ्जलिः याभ्यां विगतं रजः रजोगुणकार्यं ययोः तौ सात्विकावित्यर्थः निर्मलाविति वा। तौ नलकूबरमणिग्रीवाविदं वक्ष्यमाणमूचतुः॥ २८॥

गोपालं[7] मां युवां देवौ किमिति प्रणतौ इत्यत्राहतुः - हे कृष्ण! कृष्ण![8] महायोगिन्! अचिन्त्यप्रभाव! न केवलं गोपबालस्त्वम्, अपि तु परमपुरुषः। कोऽसौ य आद्यो जगत्कारणभूतः ननु कार्य कारणयोः प्रायशः सालक्षण्यदर्शनात् कथं चिदचिदात्मकस्य जगतस्तद्विलक्षणोऽहं कारणमित्यत्राहतुः - व्यक्तं नामरूपाभ्यां अव्यक्तं चेदं विश्वं ब्रह्मणः सर्वशक्तित्वादि कल्याणगुणै र्बृहतः तव रूपं शरीरं विदुः वेदान्ता आमनन्तीत्यर्थः । वेदान्ताश्च "यस्य पृथिवी शरीरम्", "यस्यात्मा शरीरम्" (बृह उ. 3-7-3,4) "यस्याक्षरं शरीरम्" (सुबा. उ. 7-1) इत्याद्याः सूक्ष्म चिदचिच्छरीकत्वेन कारणभूतः स्थूल चिदचिच्छरीरकत्वेन कार्यावस्थश्च त्वमेवेति भावः ॥ २९॥

1- -1. W omits 2. W omits नारदः 3. W omits तथैव 4. W omits करिष्यामि 5. A,B add कृष्णस्य 6- -6. W omits 7. A,B °पबालं 8. W omits कृष्ण!

**विज०** अन्तरेण मध्ये आत्मनिर्देशमात्रेण वृ[1-]क्षयोः मध्ये प्रवेशमात्रेण[-1] आत्मनः सान्निध्यमात्रेण वा तिर्यग्गतं तिरश्चीनम्॥ २५, २६॥

यदा बालेन दामोदरेण तत् उलूखलं निष्कृष्टमाकृष्टं तदा तावर्जुनौ निष्पेततुः। कीदृशौ? उत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ उन्मूलितमूलौ पवनस्य तदानीं उद्भूतवायोः विक्रमितेन पराक्रमेणातिवेलैः वेलां सीमानमतिक्रान्तैः स्कन्धैः प्रवालैः विटपैः "अति स्यादधिकार्थोक्तौ प्रशंसायामतिक्रमे" (वैज.को. 8-7-15) इति॥ २७॥

तत्र तस्यां अवस्थायां कुजयोः वृक्षयोः जातवेदौ अग्नी इव उपेत्य अभिव्यज्य विरजसौ शापमोक्षेण सत्त्वस्वभावमाप्तौ बद्धाञ्जली सिद्धौ यक्षौ शिरसा अखिललोकनाथं कृष्णं प्रणम्य इदं वक्ष्यमाण मूचतुः स्म गुणस्मरण पूर्वक मुक्तवन्तावित्यन्वयः। "स्मृतौ वृत्ति निषेधे स्म" (वैज. को. 8-7-7) इति च। ककुभो र्दिशः स्फुरन्तौ प्रकाशयन्तौ॥ २८॥

व्यक्ताव्यक्तं कार्यकारणात्मकं रूप्यत्वात्प्रतिमात्वेन सन्निधियोग्यत्वात् रूपमुच्यते। नतु साक्षाद्रूपम्। "रूप्यत्वात्तु जगद्रूपं विष्णोः साक्षात्सुखात्मकम्" (वामने) इत्यादिस्मृतेः। ब्राह्मणाः वैदिकाः॥ २९॥

1- -1. A,B omit

त्वमेकः सर्वभूतानां देहाऽस्वात्मेन्द्रियेश्वरः।
त्वमेव कालो भगवान्[1] विष्णुरव्यय ईश्वरः॥ ३०॥

त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मा रजस्सत्त्वतमोमयी।
त्वमेव पुरुषोऽध्यक्ष स्सर्वक्षेत्र विकारवित्[2]॥ ३१॥

गृह्यमाणैः त्वमग्राह्यो विकारैः प्राकृतैर्गुणैः।
कोन्विहार्हति विज्ञातुं प्राक्सिद्धं गुणसंवृतः[3]॥ ३२॥

तस्मै तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे।
आत्मद्योतै[4]र्गुणै[5]श्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः॥ ३३॥

यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्व[6]शरीरिणः
तैस्तैरतुल्यातिशयैः हष्व सङ्गतैः॥ ३४॥

1. K,W °वन् 2. V कृत् 3. M संस्थितेः 4. A,B,G,V °तगु° 5. V °णच्छन्न 6. V °रि° 7- -7 M तिर्यग्योनिष्व°; V वीर्ये देहेष्व°

**श्रीध०** ब्राह्मणा विदुरिति पाठे ब्राह्मणाः तत्त्वज्ञाः नियन्तापि त्वमेवेति ऊचतुः - **त्वमेक** इति। देहः असवः प्राणाः आत्मा, अहङ्कारः इन्द्रियाणि च तेषा मीश्वरः । नन्वस्य कालो निमित्तं प्रकृतिरुपादानं प्रकृतेर्जातो महान् विश्वात्मतया परिणमते पुरुषः कर्ता नियन्ता च किमत्राहम्। अत आहतुः सार्धेन त्वमेवेति। यतो भगवानीश्वरो विष्णुः त्वं अतः कालो नाम तव लीला॥ ३०॥

**त्वमिति।** प्रकृतिः शक्तिः। पुरुषोंऽशः महान् कार्यम् अतस्त्वमेव सर्वमित्यर्थः॥ ३१॥

ननु अहमेव चेत् सर्वं तर्हि कीटादिज्ञानेन मज्ज्ञानं किं न भवति भवति[2] चेत् सर्वोऽपि ब्रह्मवित्स्यात्, अतः आहतुः - **गृह्यमाणैरिति।** दृश्यत्वेन वर्तमानैः बुद्ध्याद्यहङ्कारैः तद्विकारैः इन्द्रियादिभिः द्रष्टा त्वं न गृह्यसे इति भावः। ननु तर्हि जीवो जानातु नैवेत्याहतुः कोन्विहेति। जीवाद्युत्पत्तेः प्रागेव स्वप्रकाशतया सिद्धं त्वां को हि जानाति गुणसंवृतः देहाद्यावृत्तः॥ ३२॥

अतो दुर्ज्ञेय[4-] इत्यौत्कण्ठ्येन[-4] केवलं प्रणमतः **तस्मा** इति। आत्मनः स्वस्मात् द्योतः प्रकाशो येषां तैः, गुणैः छन्नो महिमा यस्य अभ्रैरिव रवेः रस्मयः[5] तस्मै॥ ३३॥

अहो अहम् ईश्वरः इति कुतो ज्ञातः तत्राऽऽहतुः **यस्येति** ॥ ३४॥

1. A,B घटादिज्ञाने 2. A,B add इति 3- -3. A,B बुद्ध्यहङ्कारेन्द्रि° 4- -4. A,B °यत्वात् 5. A,B omit रस्मयः

**वीर०** न केवलं उपादान कारण मेव अपि तु निमित्तकारणमपि इत्यभिप्रायेण तदुपयुक्तगुणवत्तां आहतुः **त्वमिति।** एकशब्देनाधिष्ठात्रन्तरव्यावृत्तिः सर्वभूतानां यानि देहादीनि तेषामीश्वरः नियन्ता,[1] असवः प्राणाः, आत्मा मनः भवन्ति देवमनुष्यादिरूपेण जायन्त इति भूतानि क्षेत्रज्ञास्तेषां देहादिसम्बन्धोपादानो पयुक्तसार्वज्ञ्यादिगुणयोगेनान्तःप्रविश्य नियन्तेत्यर्थः। एवं निखिलजगत्कारणत्वं तच्छरीरकत्वं चोक्तम्। अथ तदुभयनिबन्धनं जगदन्तर्भूतकालादि सामानाधिकरण्य माहतुः त्वमेव काल इति। यद्वा त्वमेक इति स्थितिकारणत्वमुक्तम् त्वमेव काल इति लय काणत्वम्। कालो मृत्युः त्वं महान् इत्यादिना सामानाधिकरण्य मुच्यत इति विवेकः। हे भगवन्! अव्यय इत्यनेन कारणत्वप्रयुक्त दोषपरिहारः भगवानित्यनेन अवतारदशायामपि षाड्गुण्यपूर्तिरुक्ता। विष्णु रित्यनेन देवता विशेषत्वम्॥ ३०॥

त्वं महान् महत्कारणत्वात् तच्छरीरकत्वाच्च तत्समानाधिकरणः एव मुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। न केवलं महानेव अपि तु तत्तत्कारणभूता रजआदि गुणत्रयात्मिका सूक्ष्मा नामरूपविभागानर्हा प्रकृति रपि त्वमेव, तथा पुरुषो जीव स्त्वमेव। कथम्भूतः? अध्यक्षः देहप्रभृति जीवपर्यन्तानां अधिष्ठाता, क्षेत्राणि शरीराणि बुद्धिपर्यन्तेन्द्रिय सहितानि तानि वेत्तीति तथा, युगपत् क्षेत्रेन्द्रिय वृत्तिविदित्यर्थः ॥ ३१॥

'रूपं ते ब्रह्मणो विदु'रित्यनेनैवंविधं त्वां केवलं वेदान्ता एव विदुः न त्विन्द्रियाणीत्यभिप्रेतम्। तदेव विशदयन्तावुपपादयतः **गृह्यमाणैरिति।** प्राकृतैः गुणैः विकारैः गुणपरिणामरूपैः इन्द्रियैः त्वमग्राह्यः ग्रहीतुं विषयीकर्तुमशक्यः। तत्र हेतुं वदन्तौ गुणान्विशिंष्टः गृह्यमाणैरिति। यथा श्रोत्रादिभिः गृह्यमाणाश्शब्दादयो न श्रोत्रादीन् गृह्णन्ति तथा त्वया गृह्यमाणा विकाराः त्वां न गृह्णन्तीति भावः। नन्वग्राह्यस्य मम कारणत्वसमव्याप्तोपास्यत्वानुपपत्तिः, ततश्च कारणत्वानुपपत्ति रित्यत्राहतुः कोन्विति। गुणैः गुणकार्यैः इन्द्रियैः संवृत आवृतः सहित इति यावत् को नु पुमान् प्राक्सिद्धं गुणेभ्यः प्रागेव तत्कारणतया तत्प्रकाशतया च सिद्धं त्वामिह ज्ञातुं विषयीकर्तुं अर्हति गुणसंवृतः को वार्हतीत्यनेन योगविशुद्धमनास्तु[2] ज्ञातुमर्हतीति सूचितम्। अनेन अनुपास्यत्वं परिहृतम्। यद्वा, ननु तर्हि जीवो जाना त्वित्यत अहतुः कोन्विति॥ ३२॥

एवमुक्तविधस्य भगवतः सर्वज्ञत्वं जीवैः दुर्ज्ञेयत्वं च अनुसन्दधतौ नमस्कुरुतः - **तस्मा** इति। तस्मै कृष्ण कृष्णेत्यादिनोक्त गुणविशिष्टाय भगवते षाड्गुण्यपूर्णाय साधु परित्राणार्थं[3] वसुदेवाऽऽत्मजत्वेनावतीर्णाय सर्वकर्त्रे आत्मद्योतै र्गुणैः स्वस्य[4-] प्रकाश्यमानैर्गुणैः[-4] छन्नमहिम्ने जीवानां दुरवबोध महिम्ने। 'आत्मज्योतिर्गुणच्छन्नमहिम्न' इति पाठे आत्मज्योतिः स्वयंप्रकाशश्च

गुणाच्छन्नमहिमा चेत्यर्थः। स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयबृहते तुभ्यं नमः॥ ३३॥

वासुदेवायेत्यनेनाभिप्रेतं विवक्षू तावत्सर्वावतारयाथात्म्य माहतुः **यस्येति**। शरीरिषु मर्त्यादिशरीरिणां मध्ये अशरीरिणः कर्मकृतशरीररहितस्य यस्य तव अवतारास्सर्वे निस्समाभ्यधिकैः कर्मकृत देहि ष्वसङ्गतैः असम्भावितैः तैस्तैः तत्तदवतारप्रतिनियतैः वीर्यैः ज्ञायन्ते कर्मकृतदेहिभ्यो विलक्षणत्वेन ज्ञायन्त इत्यर्थः॥ ३४॥

1. A,B add तत्र 2. A,B omit योग 3. A °य 4- -4. W omits 5. A,B °रेषु

**विज०** सन्निधियोग्यं दर्शयति **त्वमिति**। सर्वभूतानां देहे आत्मनो मनसः इन्द्रियाणामीश्वरः स्वविषयशक्तिप्रदः न केवलमन्तरेव प्रवर्तकः बहिरपि सर्वशक्तिमत्त्वात् तच्छक्तिप्रबोधक इति भावेनाह त्वमिति। तदुक्तं "विष्णुः सर्वगुणोद्रेकात् काल इत्यभिधीयते" (वामने) इति। कलकामधेनौ इति धातुः। विष्णुः व्यापन शीलः व्याप्तस्याकाशवत् उत्पत्ति विनाशौ स्यातामिति नेत्याह अव्यय इति। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" (भ.गी. 2-27) इति स्मृतेः। अन्तर्यामीति वा आत्मान्तर्यामीति॥ ३०॥

प्रकृत्यादेः अचेतनत्वेन सतःप्रवृत्त्यनुपपत्तेः तत्सत्ताया अपि तदधीनत्वेन तत्त्वव्यपदेशो युक्त इति भावेन स्तौति- **त्वमिति**। महान् महत्तत्त्वं पूर्णगुणत्वेन पुरुषशब्दवाच्योऽपि त्वमेवेत्याह त्वमिति। अध्यक्षः साक्षी, साक्षित्वं व्यनक्ति- सर्वेति। सर्वक्षेत्राणां कारणभूतानि प्राणा श्रद्धार्थः खं वायुरित्यादीनि विकारशब्दवाच्यानि वेति जानाति तत्त्वेन पश्यतीति सर्वक्षेत्र विकारवित्॥ ३१॥

नन्वव्यक्तो हरिः इति पुरस्तादुदीरितं तत्कथं दृश्यते त्वग्रचया बुध्या इतीन्द्रिय विषयत्वोक्तेः। अत्राह गुह्यमाण इति। स्वयमेवः स्वात्मानं गृह्णाती नत्त्वन्य इत्यर्थः। तदुक्तं स्वात्मना गृह्यमाण इति। किमेवं विवेकः क्रियत इति तत्राह अग्राह्य इति। विकारैः प्राकृतैः महदहङ्कारायभिमानिभिः ब्रह्मादिभिः अग्राह्यः। ननु नित्य समीपस्थाभिर्दुर्गादिभिः ग्राह्य एवेत्यत्राह - गुणैरिति। सत्वादिभि र्गुणाभिमानिनीभिरपि। ननु "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्" (पु.सू. 2-1) इति श्रुतेः। ब्रह्माद्यवेद्यः कथमुच्यत इति तत्राह क इति। अत्र संस्थितिशब्देन उत्पत्तिर्लक्ष्यते स्थितेरुत्पत्त्यपेक्षत्वात्। इह जीवराशौ कः पुमान् गुणभूतस्य हरेः क्रीडायां अन्त रङ्गस्य जगतः स्थितेरुत्पत्तेः प्राक् सिद्धं "आनीदवात स्वधया तदेकम्" इति श्रुति सिद्धं ब्रह्म विज्ञातुमर्हति शक्नोति। अर्हति चेत् "क एव ब्रह्म जानाति स्त्रियः सतीस्तां उभे पुंसं आहुः" इत्यादि श्रुतिः। इदमपि दर्शनं तत्प्रसादेनेत्यङ्गीकर्तव्यम्। "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" (कठ.उ. 2-22) इति श्रुतेः। यद्वा उत्पत्तेः प्राक् सिद्धं निरञ्जनत्वेन स्थितं को नु विज्ञातुमर्हति लिङ्गाभावात्। कथं गुणानां ज्ञापकानां लिङ्गानां संस्थितेः विनाशनात् जगतो नष्टात्वादिति॥ ३२॥

ननु तद्विषयज्ञानाभावे तदुपासनाभावेन मोक्षाशा व्यर्थेत्याशङ्क्य नम इत्येवकार्यं तस्यापि तत्प्रीतिजनकत्वप्रतीतेः भावेनाह **तस्मा** इति। किं निमित्तमेतत् विज्ञापनमिति तत्राह - आत्मेति। आत्मना त्वया द्योतन्ते कार्ये शक्तिमत्तया प्रकाशन्त इत्यात्मद्योताः तैः गुणैः सत्त्वादिभिः छन्नो गूहितः महिमा यस्य स तथा तस्मै। "तुच्छयेनाभ्वपिहितम्, यदासीत्तपसस्तन्महि नाजायतैकम्" (ऋक्. सं. 10-129-3) इति श्रुतेः। पिहितत्व मितरापेक्षया न स्वस्य अपरिच्छिन्नत्वेनानाच्छाद्यत्वादिति भावेनाह - ब्रह्मण इति। तदुक्तं "छन्नोऽन्येषां न तु स्वस्य भगवान् पुरुषोत्तमः" (महाकौर्मे) इति। वेधसे कर्त्रे॥ ३३॥

इदानीं कृष्णो नाम साक्षात् नारायणावतार एव न देवदत्तवत् कश्चि च्छरीरीति ज्ञापयितुं हरेः विविधावताराः देहस्था अदेहस्था इति। तत्र देहस्था अन्त र्याम्यादयो मस्त्याद्याः अदेहस्ता इति भावेनाह - **यस्येति।** यस्य हरेरवताराः शरीरिष्वन्तर्यामित्वेन ज्ञायन्ते, अशरीरिषु शरीर व्यतिरिक्त बाह्य स्थलेषु अशरीरिणः मत्स्यादिरूपत्वेन ज्ञायन्ते। कैः साधनैः इत्यत्राह तैस्तैरिति। ये ये मनसो नियमादयः शास्त्र विहिताः तै स्तै रतुल्यैः अन्यातिशयैरधिकैः मनो नियमादिभिः अतुल्यातिशयत्वं कथमत्राह तिर्यग्योनिष्विति। तिर्यग्योनिषु वराहादि सम्बन्धिनीषु, असङ्गतैः असम्भाव्यैः। तदुक्तं - "तस्यावतारा देहस्था अदेहस्था इति द्विधा" (महाकौर्मे) इत्यादि। यद्वा तैस्तैरतुल्यातिशयैः माहात्म्यविशेषैः भूम्युद्धरणं मन्दरधारण गोवर्धनोद्धारणलक्षणैरिति॥ ३४॥

**स भवान् सर्वलोकस्य भवाय विभवाय[1] च।**
**अवतीर्णोऽशभागेन साम्प्रतं पतिराशिषाम्॥ ३५॥**

**नमः परमकल्याण नमस्ते[2-] विश्वमङ्गल[-2]।**
**वासुदेवाय शान्ताय यदूनां पतये नमः॥ ३६॥**

**अनुजानीहि नौ भूमन् त्वाऽनुचरकिङ्करौ[3]।**
**दर्शनं नौ भगवत ऋषेरासीदनुग्रहात्[4] ॥ ३७॥**

**वाणी गुणानु कथने श्रवणं[5] कथायां हस्तौ च कर्मसु मनस्तवपादयोर्नः[6]।**
**स्मृत्यां शिरस्तव निवास[7] जगत्प्रणामे दृष्टिस्सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥ ३८॥**

**श्रीशुक उवाच**

**इत्थं सङ्कीर्तितस्ताभ्यां भगवान् गोकुलेश्वरः।**
**दाम्ना चोलूखले बद्धः प्रहसन्नाह गुह्यकौ॥ ३९॥**

1. M प्र 2- -2. B,G नमः परम 3. M सदाऽनु 4. M °तो 5. A,B,G,M °णौ 6. M °नौ 7. M सुप्रवर

**श्रीध० स** इति। भवाय उद्भवाय विभवाय विगतो भवो यस्मिन् तस्मै कैवल्यायेत्यर्थः॥ ३५, ३६॥

**अनुजानीहीति।** नौ आवां अनुचरः कुबेरो नारदो वा, तस्य किङ्करौ भगवतः तव दर्शनम्॥ ३७॥

तत्र गतयोः आवयोः पूर्वस्वभावो माभूत्। किन्तु एवं प्रार्थयावहे इत्याहतुः **वाणीति।** नः "अस्मदो द्वयोश्च" इति द्विवचनस्थाने बहुवचनम्। अस्मत्सङ्गिनां सर्वेषामित्यभिप्रयोण वा बहुवचनम्। तव निवासभूतं यज्जगत् तस्य प्रणामे त्वन्निवासभूतमिति बहुमानेन जगतः प्रणामे शिरोऽस्त्वित्यर्थः भवत्तनूनां भवतो मूर्तीनाम्॥ ३८॥

**इत्थमिति।** संकीर्तितः संस्तुतः॥ ३९॥

1- -1. A,B omit 2- -2. V न इति 3- -3. A,B °मपीति

**वीर०** अंशभागेन बलरामेण सह यद्वा सङ्कल्परूपज्ञानेन न तु करेणेनेति भावः। साम्प्रतमधुना अवतीर्णः। यद्वा, साम्प्रतमिति युज्यत इत्येतदर्थको निपातः। यतो भवानाशिषां पतिः प्रभुः दाता अतो भवार्थं विभवार्थं च अंशेनावतीर्ण इति युक्त मेवेत्यर्थः॥ ३५॥

प्रकृतावतारसाधारण गुणान् अनुसन्दधतौ नमस्कुरुतः विश्वमङ्गलावहत्वम्, अमङ्गलतरुजन्म विमोचनेन अपरोक्ष मेव प्रदर्शित मिति तथा सम्बोधनाभिप्रायः। स्वयं अमङ्गलस्य अन्येषां मङ्गलावहत्वम् अनुपपन्न मिति तदपि सिद्धमेवत्यभिप्रायेण परमकल्याणेति सम्बोधनम्। शान्ताय ऊर्मिषट्करहिताय अशनायापिपासाशोक मोहजरामृत्यवः षडूर्मयः॥ ३६॥

इत्थं संस्तुत्य, आत्मनोः कृतार्थत्वाय तद्दासपर्यन्तदास्यं प्रार्थयमानौ विज्ञापयतः - **अनुजानीहीति।** हे भूमन्! निरवधिकानन्दशालिन् ! तवानुचरौ किङ्करौ यथा भवाव तथा अनुशाधीत्यर्थः। किमिदं प्रार्थयेथे इत्यत्र ऊचतुः ऋषेः तवानुचरस्य अनुग्रहादेव भगवतः षाड्गुण्यपूर्णस्य पुरुषार्थनिधेः तव दर्शनं नौ आवयोरासीत् महाफलत्वात् त्वद्दासदास्यमेव अनुगृहाणेति भावः॥ ३७॥

किञ्च आवयोः वाण्यादयः त्वद्गुणानुकथनादिप्रवणा यथा स्युः तथाऽनुगृहाणेत्यूचतुः - **वाणीति।** तव गुणानुवादे श्रवणे श्रोत्रे, कर्मसु पूजारूपेषु हस्तौ, तव पादयोः स्मृत्यां स्मरणे मनोऽस्तु। निवासो जगद्यस्य तस्य सम्बुद्धिः जगतो निवासेति वा। आर्षः परनिपातः तव प्रणामे शिरः, भवत्तनूनां भवतो मूर्तीनां सतां च दर्शने दृष्टिः अस्तु। यद्वा तव सतां तावकानां सतां च प्रणामे शिरः अस्तु भवत्तनूनां दर्शने दृष्टिरस्तु॥ ३८॥

इत्थ मित्यादि श्लोकः स्पष्टार्थः॥ ३९॥

1. A.B. add स भवानिति सर्वस्य साधुलोकस्य आशिषा समाहित स्वर्गापवर्गादि पुरुषार्थानां भवाय उत्पादानाय विभवाय उत्तराभिवृद्धये च पतिः तासां पालकाश्च भवितुमित्यर्थः। 2. A.B. ०रा० 3. A.B. ०वः 4- -4. w omits 5. w. omits हस्तौ 6. A.B त्वन्मू०

**विज०** स त्वादृशो भवान् जनस्य भवाय पुण्यलक्षण भद्राय प्रभवाय महत्त्व वर्धनाय, साम्प्रतं यदुकुलेऽवतीर्णोसी त्यन्वयः। आशिषां शुभानां पतिः पालयिता दाता च भागेनांशेन॥ ३५॥

इदमेव रूपं मूलरूपादन्यूनमहिमेति भावेनाह - **नम** इति॥ ३६॥

भूमन्! अनवच्छिन्नज्ञानानन्दस्वभाव! सदानुचरावनुगतावुक्त कारिणौ च तौ अनुजानीहि अनुज्ञां कुरु यदृच्छया प्राप्तमहत्सङ्गमो भवद्दर्शन साधनमभूत् - किं पुनर्बुद्धिपूर्वकमिति भावेनाह - दर्शनमिति॥ ३७॥

इतः परं श्रीमदादिक मावयो र्न भवितव्यं यत इन्द्रियाणां विषय व्यापारः स्यात् स न स्यात्। किन्तु तव गुणादावेव वाण्यादीन्द्रियव्यापारः स्यादिति प्रार्थयते - **वाणीति**॥ ३८, ३९॥

**श्री भगवानुवाच**

**ज्ञातं मया[1] पुरैवैतद्दूषिणा करुणात्मना।**
**यच्छ्रीमदान्धयोर्वाग्भिः वि[2-]भ्रंशोऽनु[-2]ग्रहः कृतः॥ ४०॥**

**साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम्।**
**दर्शनान्तो भवेद्बन्धः पुंसोऽक्ष्णोस्सवितुर्यथा॥ ४१॥**

**तद्गच्छतं मत्परमौ न[4-]लकूबर सादनम्[-4]।**
**सञ्जातो मयि भावो[5] वामीप्सितः परमोऽभवः[6]॥ ४२॥**

**श्री[7-]शुक उवाच[-7]**

**इत्युक्तौ तं[8] परिक्रम्य प्रणम्य च पुनः पुनः।**
**बद्धोलूखलमामन्त्र्य जग्मतुर्दिशमुत्तराम्॥ ४३॥**

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे महापुराणे वैयासिक्यां
अष्टादश साहस्र्यां श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
नारद शापो नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

1. A.B.G.K.W. मम 2- -2. M. शापस्साऽनु 3. A.B.G.M. ०नान्नो 4- -4. M नरवाह निकेतनम्। 5. V. वोऽयमी० 6. M. ०मोत्सवः 7- -7. V. omits 8. B.G. तौ ; V. तु

**श्रीध० ज्ञातमिति।** वाग्भिः "नह्यन्यो जुषतो जोष्यान्" (भाग 10-10-8) इत्यादिभिः श्रीविभ्रंशरूपोऽनुग्रहः कृतः इति॥ ४०॥

युक्तमेवैतदित्याह - **साधूनामिति।** साधूनां स्वधर्मवर्तिनां समचित्तानां आत्मविदां, सुतरां मत्कृतात्मनां मय्यर्पितचित्तानां तेषां कृपातिरेकात् सुतरामित्युक्तम्। सवितुर्दर्शनादक्ष्णो यथा बन्धो न भवेत् तद्वत्॥ ४१॥

**तदिति।** प्राधान्यादेकस्य सम्बोधनं हे नलकूबर! युवां तत्तस्मात् सादनं सदनं स्वनिकेतनं मत्परमौ सन्तौ गच्छतम्। वां युवयोः ईप्सितः अपेक्षितः मयि प्रेमा जात एव, अभवः न भवो यस्मिन् सः॥ ४२॥

**इतीति।** बद्धोलूखलं बद्धं उलूखलं यस्मिन् तम्॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते दशम स्कन्धे पूवार्धे
श्रीधरसस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां दशमोऽध्यायः॥ १०॥

1. V. ०द्याभिः 2. A.B. omit सदनं 3. A.B. ०तं 4. V. omits वां 5. B.V. omit ईप्सितः

**वीर०** तदेवाह - **ज्ञातमिति।** वाग्भिः "न ह्यन्यो जुषतो जोष्यान्" (भाग. 10-10-8) इत्यादिभिः श्रीमदान्धयोर्युवयोः श्री विभ्रंश रूपोऽनुग्रहः कृत इति यदेतत् पुरैव मम मया ज्ञातम्॥ ४०॥

युक्त मेवैत दित्याह - **साधूनामिति।** मत्कृतात्मनां मय्यर्पित चित्तानां साधूनां दर्शनमन्तो यस्य सः, दर्शनावधिकः पुंसो बन्धो भवेत् यथा सवितुः दर्शनान्तोऽक्ष्णो बन्धः तमोरूपः तद्वत्॥ ४१॥

हे नलकूबर! युवां तत् तस्मात् सादनं सदनं स्वनिकेतनं प्रति गच्छतम्। कथम्भूतौ? अहमेव परा मा यस्मात्सः ययोस्तौ, न विद्यते भवः संसारो यस्मात्सोऽभवः, मयि भावोऽभिप्राय विशेषः प्रीत्यात्मकः, वां युवयोः सञ्जात एव॥ ४२॥

इत्थमुक्तौ तौ बद्धं उलूखलं यस्मिन् तं कृष्णं परिक्रम्य पुनः पुनः प्रणम्य आमन्त्र्याऽऽपृष्ट्वोत्तरां दिशं जग्मतुः॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते दशम स्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवत चन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां दशमोऽध्याय: ॥ १० ॥

**विज०** सानुग्रहः शाप: मोक्षलक्षणानुग्रह सहित: ॥ ४० ॥

मत्कृतात्मनां मय्येव सन्निहित मनसाम् ॥ ४१ ॥

नरवाहो वैश्रवण: तस्य निकेतनं गृहम् ॥ ४२ ॥

बद्धोलूखलं उलूखल बद्धं श्रीकृष्णम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां दशमोऽध्याय: ॥ १० ॥

(विजयध्वजरीत्या एकादशोऽध्याय:)

# एकादशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या द्वादशोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच[1]

गोपा नन्दादयः श्रुत्वा द्रुमयोः पततो रवम्।
तत्राऽऽजग्मुः कुरु श्रेष्ठ निर्घातभयशङ्किताः॥ १॥

भूम्यां निपतितौ तत्र ददृशु र्यमलार्जुनौ।
बभ्रमु स्त दविज्ञाय लक्ष्यं पतन कारणम्॥ २॥

उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धञ्च बालकम्।
कस्येदं कुत आश्चर्य मुत्पात इति कातराः॥ ३॥

बाला ऊचु रनेनेति तिरश्चीन मुलूखलम्।
विकर्षता मध्यगेन ★ पुरुषाव प्य चक्ष्महि॥ ४॥

न ते तदुक्तं जगृहुः न घटेतेति तस्य तत्।
बालस्यो त्पाटनं तर्वोः केचि त्सन्दिग्ध चेतसः॥ ५॥

V. 1- -1. बादरायणि रुवाच 2. V. तत्र 3. M. रव 4 M. भय 5. A प्रो० 6- -6. A,B,G तिर्यगत° ★ V. adds here two more padas between 3rd and 4th padas - thus निहतौ यमलार्जुनौ। वृक्षाभ्यां निर्गतौ दिव्यौ। 7. K,W वै।

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एकादशे समागत्य बृन्दावन मथाभिकैः।
वत्सान् पालयताऽनेन हतौ वत्सबकासुरौ॥

**गोपा** इति। निर्घातो वज्रपात[1] इति भयेन शङ्किताः॥ १॥
**भूम्यामिति**। तल्लक्ष्यं प्रत्यक्षितः पुरतो[2] दृश्यमपि[2] पतनकारणमविज्ञाय बभ्रमुः॥ २॥

लक्ष्यं कारणं दर्शयति - **उलूखलमिति**। भ्रमप्रकारमाह - कस्येदं राक्षसादेः कर्म, कुतो वा कारणात्? अहो! आश्चर्यम्। उत्पत इति कातराः भीतास्सन्तः बभ्रमुरित्यर्थः॥ ३॥

**बाला**ः इति। मध्यगेन वृक्षयोः मध्यगतेन पतितावित्यूचुः। न केवलमेतावत्, वृक्षाभ्यां निर्गतौ दिव्यौ पुरुषावपि अचक्ष्महि दृष्टवन्तो वयमिति॥ ४॥

**नेति**। केवलं तार्किकाः ते न जगृहुरेव अन्ये तु सन्देहयुक्तचित्ता बभूवुरिति॥ ५॥

1. A. adds स्यात् 2- -2. A. दृश्यं पुरतो दृष्ट्वापि इत्यर्थः । 3. B.J. कारण° 4. A. omits अहो 5- -5. A. उत्पातोऽयमिति 6- -6. A,B,J omit 7. B,J,V omit ते

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

**गोपा** इति। पततोः द्रुमयोः अर्जुनयोः रवं ध्वनिं श्रुत्वा हे कुरुश्रेष्ठ! किं वज्रपातोऽभवदित्येवं भयेन वितर्कयन्तो नन्दादयो गोपाः तत्राऽऽजग्मुः॥ १॥

तल्लक्ष्यं प्रत्यक्षतः पुरतो दृश्यमपि पतन कारणमविज्ञाय बभ्रमुः भ्रान्ता बभूवुः॥ २॥

किं तल्लक्ष्यं पतनकारणं यदज्ञानात् बभ्रमुः? तत्राह - **उलूखलमिति**। एवंविधं बालकमेव पतनकारणं लक्ष्यमविज्ञाय बभ्रमुः इत्यन्वयः। भ्रममेव दर्शयति - कस्येति। इदं तरुनिपातनरूपं कर्म कस्य सम्बन्धि? इदं कुतः कारणात्, अहो आश्चर्यम्। नः उत्पातः इत्येवं भयेन कातराः भीतास्सन्तो बभ्रमुः इत्यर्थः। कस्येति कर्तृसन्देहः। कुत इति निमित्त सन्देहः, उत्पात इति निश्चयः॥ ३॥

एवं बम्भ्रम्यमाणान् प्रति तत्रत्या बाला ऊचुः। किमिति? तिरश्चीनं उलूखलं विकर्षता वृक्षयोः मध्यगतेन अनेन बालेन इदं कर्म कृतं न केवलमेतावत्, अन्यदपि किञ्चिदृष्टमित्याहुः- वृक्षाभ्यां निर्गतौ दिव्यौ पुरुषावपि अचक्ष्महि दृष्टवन्तो वयमिति॥ ४॥

एवमुक्तानां तेषां मध्ये केचित् केवलतार्किकाः इदं न घटते इति वदन्तः तद्बालकैः भाषितं न जगृहुः न विश्वसितवन्तः अन्येतु बालस्य बालकर्तृके तर्वोः उत्पाटने सन्दिग्धं संशययुक्तं चेतो येषां तथा बभूवुः॥ ५॥

1. K.W. omit भयेन 2- -2. K.W. omit 3. A.B. घटेत

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हरेः बालक्रीडाचरित चारुतर निरवद्यमहिमश्रवणमननोपासनानि मुक्तिसाधनानि ज्ञानसाधनत्वेन भवन्तीति भावेन तन्माहात्म्यं अस्मिन्नध्याये निरूप्यते। तत्राऽऽदौ पूर्वाध्यायोक्त यमलार्जुन भङ्ग लक्षण महिमान मशेषं वक्ति - **गोपा** इत्यादिना। निर्घातरवशङ्किताः मेघनिर्घोष शङ्किताः[1-] [-1] कस्य आगामि फलसूचकं उत आश्चर्यं सहसा दृश्यमनं यदद्भुतं भविष्य दनिष्टसूचकं अदृष्टमात्र प्रयुक्तं उत्पातः तन्निमित्त भयेन कातराः व्याकुलचित्ताः। उत्पातयति कातरा इति केचित् पठन्ति॥ १, २, ३॥

द्वौ पुरुषौ अचक्ष्महि दृष्टवन्तः॥ ४॥

तदुक्तं बालोक्तम्॥ ५॥

1- -1. Ma omits

उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं स्वमात्मजम्।
विलोक्य नन्दः प्रहसद्वदनो[1] विमुमोच ह॥ ६॥

★ क्रीणीहि[2] भोः फलानीति श्रुत्वा[3-] मातर मच्युतः[-3]।
फलार्थी[4] धान्य मादाय ययौ सर्वफलप्रदः॥ ७॥ △

फलविक्रयिणी तस्य च्युतधान्यं करद्वयम्।
फलै रपूरय द्रत्नैः फलभाण्ड मपूरि च॥ ८॥ ○

गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्य[5] द्भगवान्बालव त्क्वचित्।
उद्गायति क्वचिन्मुग्ध स्तद्वशो दारु यन्त्रवत्॥ ९॥

बिभर्ति क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मान पादुकम्[6]।
बाहुक्षेपञ्च कुरुते स्वानाञ्च प्रीतिमावहन्॥ १०॥

1. V. °सन्बन्धनात् ★ 7th & 8th verses are not found in M. edn. 2. V. °ध्वं भो 3- -3. V. वचः श्रुत्वातु सत्त्वरः; K.W. पृष्ट्वा मातरमच्युतः 4. V: कराभ्यां △ These five extra half verses are found in V. edn. as follows फलक्त्वे हि धान्यानि मया नीतानि भूरिशः। **गृहीष्व तवमानेन मानय त्वं फलानि मे ॥ फलविक्रयिणी तस्य वचश्श्रुत्त्व महात्मनः। आयान्त मरविन्दाक्षं करिपोत मिवागतम्॥ प्रेक्षामाणा मुहुःफुल्लैः नयनै रच्युतं तदा।** ○ Two additional verses are found in V. edn. as follows. फलानीमानि सर्वाणि गोपीभ्योऽभ्यददात् प्रभुः। वयस्यैर्व्रजवीथ्यां स क्रीडन् सर्व फलप्रदः॥ उत्तिष्ठन्तौ प्रस्स्वलन्तो चरन्तौ रामकेशवौ। पद्भ्यां गन्तुं शक्नुवन्तौ कथञ्चित्तद्व्रजाङ्गणे॥ 5. M.V. नृत्यन् 6. V. दारुकान्

**श्रीध०** [1-]भगवन्माया विमोहितस्य नन्दस्याऽऽचरितमाह **उलूखलमिति**[-1] ॥ ६ (७,८) ॥

ज्ञास्यन्ते मामिति शङ्कमानोऽतीव बाल्य मनुकरोति स्म तदाह - **गोपीभि** रिति। स्तोभितः करतालादिना प्रोत्साहितः॥ ९॥

**बिभर्तीति।** इदमानयेत्याज्ञप्तः आनेतुं असमर्थ इव बिभर्ति, केवलं पीठादि [2-]उन्मानं प्रस्थादि[-2]। बाहुक्षेपं करचालनं च॥ १०॥

1- -1. V. omits 2- -2. A.B.J omit

**वीर०** अथ भगवन्मायामोहितस्य नन्दस्याऽऽचरितमाह **उलूखलमिति।** प्रहसत् वदनं यस्य स नन्दो विलोक्यं तं दामबन्धादमोचयत्॥ ६॥

अत्र क्वचित् पुस्तकेषु - "क्रीणीहि भोः फलानीति पृष्ट्वा मातरमच्युतः। फलार्थी धान्यमादाय ययौ सर्वफलप्रदः॥ फलविक्रयिणी तस्य च्युतधान्यं करद्वयम्। फलैरपूरयद्रत्नैः फलभाण्डमपूरि च॥ [1-]इति श्लोकद्वयं अधिकं दृश्यते[-1]। तत्र भोः कृष्ण फलानि क्रीणीहीति बन्धं मोचितवता नन्देनोक्तः अच्युतः स्वयं स्वार्गापवर्ग फलदोऽपि केवलं प्राकृतबाल इव फलार्थी सन् मातरं पृष्ट्वा धान्यमञ्जलिना आदाय ययौ॥ ७॥

तथा फलविक्रयणी स्त्री तस्य अच्युतस्य च्युतं धान्यं यस्मात् तत् करयोः द्वयं फलैः अपूरयत्। फलविक्रयिण्याः यत्फलभाण्डं तद्रत्नैः अपूरि, पूरितमभूत्। तत् करद्वयात् च्युतेन धान्येन रत्नात्मकतामापन्नेनफलभाण्डं पूरितमभू दित्यर्थः॥ ८॥

अथ भगवतः कांश्चित् बाल्यानुकारप्रकारान् दर्शयति **गोपीभिरिति।** क्वचित्स्तोभितः उपच्छन्दनेन उद्योगं प्रापितः। [2]करतलादिना प्रोत्साहितो वा उद्गायति सति गोपीजने इति शेषः। दारुयन्त्रवत् दारुनिर्मित पाञ्चालिकावत् तद्वशगः गोपी वश्यः मुग्धैवाऽनृत्यत्। नृत्यन्निति पाठे तद्वशः गोपीजनवशगस्सन् नृत्यन् उद्गायति॥ ९॥

क्वचिदाज्ञप्तः आनयेति नियुक्तः, पीठकादिक मानेतुं असमर्थ इव बिभर्ति उवाह, पीठकं [3]विष्टरं उन्मानं प्रस्थादि। पीठभाजनपादुकमिति पाठे भाजनं कांस्यादिपात्रं तथा बाहुक्षेपं भुजचलनं कुरुते। किं कुर्वन्? गोपीनां प्रीतिमावहन्॥ १०॥

1- -1. A.B. इत्यादि श्लोकाः अधिकाः दृश्यन्ते 2. K. ०ता० 3. K. °रः

**विज०** उन्मानं प्रस्थं पादुकं पादपीठं पादरक्षणं वा॥ ६ - १०॥

दर्शयं स्तद्विदांलोके ह्यात्मनो[1] भक्तवश्यताम्[2]।
व्रज स्योवाह[3] वै हर्षं भगवान् बालचेष्टितैः॥ ११॥ ★

सरित्तीरगतं कृष्णं भग्नार्जुन मथाऽऽह्वयत्।
○ नोपेयातां[4] यदाऽऽहूतौ क्रीडासङ्गेन[5] पुत्रकौ॥
यशोदां प्रेषयामास रोहिणी पुत्रवत्सला[6]॥ १२॥

क्रीडन्तं सा[7] सुतं बालै रतिवेलं[8] सहाग्रजम्।
यशोदाऽजोहवी[9] त्कृष्णं[10] पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी[11]॥ १३॥

कृष्ण कृष्णारविन्दाक्ष! तात! एहि[12] स्तनं पिब।
अलं विहारैः क्षुत्क्षान्तः[13] त[14-] द्भवान्भोक्तु मर्हति[-14] ॥ १४॥

हे रामाऽऽगच्छ ताताऽऽशु सानुजः कुल नन्दन!
प्रात रेव कृताऽऽहारः क्री[15-] डाश्रान्तोऽसि पुत्रक[-15] !॥ १५॥

1. A,B,G,M आ° 2. A,B,G,V,M भृत्य 3. M° स्योद्वाहयन् ह° ★ Here V adds a half verse - गोपीनामन्तिके क्रीडन् भगवान्लोकभावनः। △ This half verse is found A & V edns. रामं च रोहिणी देवी क्रीडन्तौ बालकै र्भृशम्। 4. V °प° 5. V लीला° 6. A,G °लाम् 7. M स्व° 8. V वेगं 9. K,V चाह्वयत् 10. M,V वीक्ष्य 11. M स्रुत 12. V चै° 13. V क्षुच्छ्रान्तः; W क्षुद्भान्तः 14. A,G क्रीडाश्रान्तोऽसि पुत्रक! 15- -15. A,G तद्भवान्

**श्रीध० दर्शयन्निति**। तत् ऐश्वर्यं विदन्ति ये तेषां तद्विदाम्। एवं व्रजस्य हर्षं उवाहेति॥ ११ - १५॥

**वीर०** तद्विदां भगवद्वैभववेदिनां भक्त वश्यताञ्च दर्शयन्। एवं बालचेष्टितैः व्रजस्य व्रजस्थ जनस्य हर्षमुवाह आवहत्॥ ११॥

अथ तन्मायामोहितयोः यशोदारोहिण्योः कानिचिदाचरितान्याह - **सरिदित्यादिना**। भग्नौ अर्जुनौ येन तं सरितो यमुनायाः तीरस्थं[1] कृष्णमाह्वयत् एहीत्याहूतवती। यदा आहूतौ[2] क्रीडासङ्गेन नागच्छतां[3] तदा पुत्रवत्सला रोहिणी यशोदां प्रेषयामास॥ १२॥

सा रोहिण्या[4] प्रेषिता यशोदा अतिवेलं वेलां भोजनादिवेलां, अतिक्रान्तं बालकैस्सह क्रीडन्तं सरामं सुतं कृष्णमवलोक्य स्नेहेन स्नुतौ स्तनौ यस्यास्तथा भूता आजुहाव॥ १३॥

आह्वान प्रकारमेव दर्शयति - **कृष्णेति**[5] ॥ १४, १५॥

1. A.B. गतं 2. A.B. add अपि 3. A.B °च्छेतां 4. K.W ° णी° 5. A.B. add सार्धैः चतुर्भिः

**विज०** तद्विदां भगवानेव अयं अवतीर्ण इति जानतां नारदादीनाम्॥ ११॥

नोपेयातां समीपं नाऽऽगतौ। अजोहवीत् आह्वयामास॥ १२ - १५॥

**प्रतीक्षते त्वां[1] दाशार्ह[2] भोक्ष्यमाणो व्रजाधिपः।**
**एह्यावयोः प्रियं देहि[3] स्वगृहान्यात[4] बालकाः॥ १६॥**

**धूलिधूसरिताऽङ्ग[5] स्त्वं! तात[6] मज्जन मावह! ★**
**जन्मर्क्षन्तेऽद्य[7] भवतो[8] विप्रेभ्यो देहि गा श्शुचिः॥ १७॥**

**पश्य पश्य वयस्यां स्ते मातृमृष्टा स्व[9] लङ्कृतान्।**
**त्वञ्च स्नातः कृताहारो विहरस्व स्वलङ्कृतः॥ १८॥**

**इत्थं यशोदा तमशेष शे[10]खरं मत्वा सुतं स्नेहनिबद्धधी र्नृप।**
**हस्ते गृहीत्वा सहराम मच्युतं नीत्वा स्ववाटं कृतवत्यथोदयम्॥ १९॥ ★**

**श्री[11] शुक उवाच[11]**

**गोप वृद्धा महोत्पाता ननुभूय बृहद्वने।**
**नन्दादय स्समागम्य व्रजकार्य ममन्त्रयन्॥ २०॥**

1. K.W. °वां° 2. K.M.W °र्हो 3. A.B.G.M. धेहि 4. V. यान्ति 5. K.W. तं तेऽङ्गं 6. A.B.G. पुत्र! ★ तिन्त्रिणी फलसंयुक्तं स्नानीयं तैलसंयुतम्। कल्पयित्वा प्रतीक्षेऽहं चिरं चञ्चल चेष्टितः॥ These two additional half verses are found in V edn after the first half of 17th verse 7. A.B.G °मद्य; K.W. °ञ्चाद्य 8. M भविता; V. भवति 9. K.W. °नल° 10. V. नाथं * The following verse is found in M. edition after the verse beginning with इत्थं यशोद :- अथ नन्द स्स माहूय गोपा निद मभाषत। श्वोऽतो बृन्दावनं योमो यत्ता भवथ मा चिरम्॥ 11- -11. A.G. omit

**श्रीध०** ★ "तं तु बृन्दावनं रन्तु मन्तः कृष्णेन यन्त्रिताः। स्वतन्त्रा इव नन्दाद्या मन्त्रमेत ममन्त्रयन्" ॥ **गोपवृद्धा** इति। व्रजकार्यं गोकुलस्य हितकृत्यम्॥ १६ - २०॥

★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः।

**वीर०** [1]दशार्हो व्रजाधिपो नन्दो भोक्ष्यमाणो वां भवन्तौ प्रतीक्षते। युवयोः आगमनं प्रतीक्षमाण आस्ते। आवयोः रोहिण्याः स्वस्याश्च प्रियं देहि। हे बालकाः! रामकृष्णानुचराः स्वगृहान् प्रति गच्छत॥ १६॥

[2]मज्जनं स्नानमावह कुरु। अद्य अस्मिन् अहनि भवतो [3]जन्मर्क्षं जन्मनक्षत्रम्। अतः शुचिः स्नातः विप्रेभ्यो गाः देहि॥ १७॥

मातृभिः स्नापितान् स्वलङ्कृतांश्च वयस्यान् [4]त्वत्सवयस्कान् पश्य त्वमपि स्नातः स्वलङ्कृतः, कृतः आहारो येन तथा भूतो विहरस्व॥ १८॥

इत्थम् अशेषाणां बालानां शेखरं श्रेष्ठं ब्रह्मादिभ्योऽपि श्रेष्ठमिति वा। तथाभूतमपि तं केवलं सुतं मत्वा स्नेहेन निबद्धा धीः यस्याः तथाभूता हे नृप! सरामं अच्युतं हस्ते गृहीत्वा स्ववाटं स्वगृहं नीत्वा अथोदयं माङ्गलिकं कर्म कृतवती चकार॥ १९॥

एवं स्थिते कदाचित् गोपवृद्धाः पूतनाशकटादिकृतान् महोत्पातान् अनुभूय समागम्य समेत्य व्रजकार्यं गोकुलस्य यं आमन्त्रयन् आलोचितवन्तः बृन्दावनं गन्तु मिच्छता कृष्णेन अन्तरात्मना प्रेरिता आमन्त्रयन्निति भावः॥ २०॥

1. A.B दाशार्ह! 2. A.B add अहो 3. A.B omit जन्मर्क्षं 4. A.B समानव°

**विज०** व्रजाधिपः नन्दगोपः धेहि देहि। हे बालकाः॥ १६॥

धूलिधूसरिताङ्गः धूलिधूसरित सर्वं शरीरः॥ १७, १८॥

स्ववाटं स्वव्रजम्॥ १९, २०॥

**:- बृन्दावन प्रस्थानकथाप्रारम्भः :-**

**तत्रोपनन्द नामाऽह गोपो ज्ञान वयोऽधिकः।**
**देशकालार्थतत्त्वज्ञः प्रियकृद्राम कृष्णयोः॥ २१॥**

**उत्थातव्य मितोऽस्माभि र्गोकुलस्य हितैषिभिः।**
**आयान्त्यत्र महोत्पाताः प्रजानां[1] नाशहेतवः॥ २२॥**

**मुक्तः कथञ्चि द्राक्षस्या बालघ्न्या बालकोऽप्यसौ[2]।**
**हरे रनुग्रहान्नून मनश्चोपरि नाऽपतत्॥ २३॥**

**चक्र वातेन नीतोऽयं दैत्येन विपदं वियत्।**
**शिलायां पतित स्तत्र परित्रात स्सुरेश्वरैः॥ २४॥**

**यन्न म्रियेत द्रुमयो रन्तरं प्राप्य बालकः।**
**असा वन्यतमो वाऽपि तत्राऽप्य[3-]च्युत[-3] रक्षणम्[4]॥ २५॥**

1. B,G बालानां 2. A,B,G,M ह्यसौ 3- -3 B,G तदप्य° V तच्चाप्य° 4. V रक्षितम्।

**श्रीध०** **चक्रवातेनेति** । विपदं वीनां पक्षिणां पदं विहारस्थानं, वियत् [1]नभः विगतप्रतिष्ठं वा, [2-]अपरिच्छिन्न मित्यर्थः[-2]॥ २१ - २४॥

**यदिति** । अन्यतमो वा कश्चिद्बालः अच्युतेनैव रक्षणमासीत्॥ २५॥

1. V omits नभः 2- -2. A,B,J omit

**वीर०** तत्रोपनन्दनामा कश्चिद्गोपः स च गोपानां मध्ये ज्ञानेन वयसा च अधिकः देशकालानुगुण कर्तव्य प्रयोजनाभिज्ञः रामकृष्णयोः प्रियकृत्तावन्नन्दादीनाह॥ २१॥

उक्तमेवाह **उत्थातव्यमित्यादिना** । 'तच्छ्रुत्वे' त्यतः प्राक्तनेन । गोकुलस्य हितमिच्छद्भिः अस्माभिः इतो व्रजात् उत्थातव्यं निर्गन्तव्यम् । प्रजानां अत्रत्यानां नः नाशहेतवो बहवः उत्पाताः आयान्ति आयास्यन्ति॥ २२॥

अतीतास्त्वपरोक्षदृष्टा एवेत्याह - **मुक्त** इति । कथञ्चित् दैववशात् मुक्तः तथा भगवदनुग्रहात् अनः शकटमपि बालस्योपरि नापतत्॥ २३॥

तथा चक्रवातेन वीनां पक्षिणां पदं विहारस्थानं वियदाकाशं प्रति अयं बालो दैत्येन नीतः, वियदाकाशं ततो विपदम् आपदं च नीत इति वा । सुरेश्वरैः अस्मदिष्टदैवतैः परित्रातः॥ २४॥

कुतः यत् यस्मात् [1]द्वयोः अर्जुनयोः पततोः अन्तरं मध्यं प्राप्य[2]पि असौ बालकः अन्यतमो वाऽपि कश्चित् न मृतः [3]तच्चाप्यच्युतेन अस्मदिष्ट दैवतेन [4] रक्षणमासीत्॥ २५॥

1. A,B उभयोः 2. A,B omit अपि 3. A,B तदप्य° 4. A,B add एव

**विज०** तत्र नन्दादिषु॥ २१॥

इत उत्थातव्यम्॥ २२॥

अनश्च शकटश्च॥ २३, २४॥

असौ कृष्णो बालकः कृष्णादन्यतमो बालको न म्रियेत इति यत् तदप्यच्युत रक्षणम् अन्यबालकस्य मरणाभावः॥ २५॥

याव दौत्पातिकोऽरिष्टो व्रजं नाऽभिभवे दितः।
ताव द्वाला नुपादाय यास्यामोऽन्यत्र सानुगाः॥ २६॥

वनं बृन्दावनं नाम पशव्यं नव काननम्।
गोपगोपीगवां सेव्यं पुण्याद्रि तृणवीरुधम्॥ २७॥★

तत्तत्राऽद्यैव यास्याम श्शकटान् युङ्क्त[1] मा चिरम्।
गोधना न्यग्रतो यान्तु भवतां यदि रोचते॥ २८॥

श्रीशुक उवाच

तच्छ्रुत्वैकधियो गोपाः साधु साध्विति वादिनः।
व्रजान्[2] स्वान्स्वा न्समायुज्य[3] ययू रूढपरिच्छदाः॥ २९॥

वृद्धान् बालान् स्त्रियो राजन् सर्वोपकरणानि[4] च।
अनस्स्वारोप्य गोपाला यत्ता आत्तशरासनाः॥ ३०॥

★ तच्छ्रुत्वैकधियो गोपाः सर्वे नन्दपुरोगमाः। उपनन्दवचो राजन् प्रतिनन्द्य गृहा न्ययुः॥ The above verse is found in M edition, after the verse beginning with वनं बृन्दावनम्। 1.M. Ma युङ्ध्व 2. M स्थान् 3. V °यो° 4. M स्क°

**श्रीध० यावदिति।** अरिष्टः अनर्थः। इतः स्थानात्॥ २६॥

**वनमिति।** पशव्यं पशुभ्यो हितम्। नवानि काननानि स्थलान्तराणि[1] विद्यन्ते यस्मिन् तत्॥२७,२८॥

**तदिति।** एकधियः विप्रतिपत्तिरहिताः। व्रजान् शकटव्यूहान्[2] रूढाः शकटेष्वारोपिताः[3] परिच्छदाः यैस्ते॥ २९॥

**वृद्धानिति।** यत्ताः कृतप्रयत्नाः॥ ३०॥

1. A.B.J. अवान्त° 2. A. यूथान् 3. A.B.J. °टादिष्वा०

**वीर०** यावदुत्पात प्रयुक्तोऽरिष्टोऽनर्थो व्रजं नाभिभवेत् न पीडयेत् तावदेव बालानादाय अन्यत्र[1] यास्यामः॥२६॥

क्व यास्याम इत्यत्राह — **वनमिति**। यत् बृन्दावनाख्यं वनं तत्र अद्यैव यास्यामः। कथम्भूतम्? पशव्यं पशुभ्यो हितं नवानि काननानि पर्यन्त वनानि यस्मिन् गोपादीनां सेव्यं वासयोग्यं पुण्याः रमणीया अद्रयादयो यस्मिन्॥ २७॥

शकटान् युङ्क्त प्रस्थानयोग्यान् कुरुत। गोधननि च अग्रतो यान्तु। यदि मदुक्तं भवतां रोचते तर्ह्युत्थातव्यमिति शेषः॥ २८॥

तर्हि गोधनानि यान्त्विति तावदुपनन्दवचः श्रुत्वा गोपा एकधियः विप्रतिपत्तिरहितः व्रजान् शकटव्यूहान् समानीय रूढाः शकटेषु आरोपितः परिच्छदाः उपकरणानि यैस्ते, ययुः जग्मुः॥ २९॥

तदेव प्रपञ्चयति — **वृद्धानिति**। हे राजन्! वृद्धादीन्[2] अनस्सु शकटेषु आरोप्य यत्ताः[3] सन्नद्धाः आत्तानि गृहीतानि शरासनानि धनूंषि यैस्तथा भूताः॥ ३०॥

1. K.W. omit अन्यत्र 2. K.W. omit वृद्धादीन् 3. A.B. omit यत्ताः

**विज०** औत्पातिकः उत्पातसम्बन्धी अनर्थकरः इतो बृहद्वनात् तावत् ततः पूर्वमेव॥ २६॥

पशव्यं पशुभ्यो हितं, पुण्याद्रयः पुण्यवृक्षाः तृणानि वीरुधगुल्मानि यत्र तत्तथा तद्वीरुधशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति। "पर्वताद्री नगावगौ" (अम.को. 3-175) इति च॥ २७॥

युङ्ध्वं योगं कुरुध्वम्॥ २८॥

तदुपनन्दस्य वचनं एकधियः एकस्मिन्नर्थे गतबुद्धयः[1]। रूढपरिच्छदाः शकटाधिष्ठित भाण्डादिसाधनाः॥ २९॥

अनस्सु शकटेषु॥ ३०॥

1. A.B. नत

गोधनानि पुरस्कृत्य शृङ्गाण्यापूर्य सर्वतः।
तूर्यघोषेण महता ययुः[1] सह पुरोहिताः[1]॥ ३१॥

गोप्यो रूढरथा नूत्नकुच[2]कुङ्कुमकान्तयः।
कृष्णलीलां जगुः प्रीता[3] निष्ककण्ठ्यस्[4]सुवाससः॥ ३२॥

तथा[5] यशोदारोहिण्यावेकं शकटमास्थिते।
रेजतुः कृष्णरामाभ्यां तत्कथा श्रवणोत्सुके[6]॥ ३३॥

बृन्दावनं सम्प्रविश्य[7] सर्वकालसुखावहम्।
तत्र चक्रुर्व्रजावासं शकटै रर्धचन्द्रवत्॥ ३४॥

बृन्दावनं गोवर्धनं यमुना पुलिनानि च।
वीक्ष्यासी दुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप[8]॥ ३५॥

1. ते ययुस्सपुरोहिताः K,W ययुः सह परिच्छदाः 2. M नृत्यत्कुच 3. V प्रीत्या 4. M स्निग्ध 5. V तदा 6. K,W °त्सवे 7. K,W समा 8. K,W केशवयो°

**श्रीध० गोप्य** इति। नूत्नैः[1] कुचगतैः कुङ्कुमैः कान्तिर्यासां ताः, नूत्नेषु कुचेषु यत्कुङ्कुमं तेन कान्तिः यासामिति वा[2]॥ ३१-३३॥

**बृन्दावनमिति।** व्रजावासं गोकुलवसति[3] स्थानम्॥ ३४,३५॥

1. A adds नवीनैः 2. V omits वा 3. A °लस्य

**वीर०** शृङ्गाणि[1] विषाणान् आपूर्य मुखमारुतैः ध्वनयित्वा महता तूर्यघोषण सह ययुः[2] ॥ ३१॥

रूढाः आरूढाः रथाः याभिः नूत्नैः[3] कुचगतैः कुङ्कुमैः कान्तिः यासां, नूत्नेषु कुचेषु कुङ्कुमं तेन कान्तिः यासां वा, निष्काः पतकाख्याः कण्ठेषु यासां, स्निग्धकण्ठ्य इति पाठे मधुरस्वनाः प्रीताः कृष्णस्य लीलां जगुः॥ ३२॥

एकं शकटमास्थिते आरुह्य स्थिते रामकृष्णाभ्यां सह रेजतुः, ताभ्यां सहैकं शकटमास्थिते रेजतुरिति वाऽन्वयः। कथम्भूते? तस्य कृष्णस्य कथायाः श्रवणे उत्सवः औत्सुक्यं ययो स्ते॥ ३३॥

अर्धचन्द्रवत् अर्धचन्द्रतुल्य सन्निवेशं व्रजावासं गोकुलस्थानं चक्रुः॥ ३४

हे नृप! वीक्ष्य सञ्चरतोः अवस्थितयो र्वेति शेषः॥ ३५॥

1. A,B add गोपाः गृहीतधनुष्काः 2. A,B add सह पुरोहिताः सगुरवः जग्मुरित्यर्थः। 3. K नूत्नाः

**विज०** नृत्यत्सु कुचेषु कुङ्कुमादिकान्तिः यासां तास्तथा। स्निग्धकण्ठच कण्ठगुणोपेताः॥ ३१,३२॥

अर्धचन्द्रवत् अर्धचन्द्राकारवत्॥ ३३ - ३५॥

**एवं व्रजौकसां प्रीतिं यच्छन्तौ बालचेष्टितैः[1]।**
**कलवाक्यैस्स्व[2] कालेन वत्स पालौ बभूवतुः॥ ३६॥**

**अविदूरे व्रजभुव स्सहगोपालबालकैः[3]।**
**चारयामासतु र्वत्सा न्नानाक्रीडापरिच्छदौ॥ ३७॥**

**★क्वचि द्वादयतो वेणुं[4] क्षेपणैः क्षिपतः क्वचित्।**
**क्वचित्पदैः[5] किङ्किणीभिः क्वचित्कृत्रिमगोवृषैः॥ ३८॥**

**वृषाय माणौ नर्दन्तौ युयुधाते परस्परम्।**
**अनुकृत्य रुतैर्जन्तूंश्चेरतुः प्राकृतौ यथा॥ ३९॥**

**:- वत्सासुर घट्ट : :-**

**कदाचि द्यमुनातीरे वत्सांश्चारयतोः स्वकैः।**
**वयस्यैः कृष्णबलयो र्जिघांसु र्दैत्य आगमत्॥ ४०॥**

1. A. °तौ 2. A.K.W °वाक्यौ स्व°; M वाक्यैश्च 3. A.B.G.V. दारकैः * Here V. edition reads four half verses as follows क्वचि द्वादयतो वेणुं क्षेपन्तो क्षेपणैः क्वचित्। (क्वचित्पदैः किङ्किणीभिः क्षिपतश्च क्वचित्पुनः) वृषायमाणौ नर्दन्तौ क्वचित्कृत्रिमगोंवृषैः। गोपै रुद्धानुचरितौ युयुधाते परस्परम्। 4. M वेणून् 5. A.B.G. °त्पादैः

**श्रीध० एवमिति।** स्वकालेन वत्सपालन[1-] योग्य कालेन[-1]॥ ३६॥

कौमारलीलां निरूपयति **अविदूर** इत्यादिना॥ ३७॥

**क्वचिदिति।** क्षेपणैः बिल्वामलकादिभिः क्षिपतः[2-] दूरे चालयतः[-2] । किङ्किणी युक्तैः पादैः क्षिपतस्ताडयतः[3] ॥ ३८॥

**वृषायमाणाविति।** वत्सपाला एव द्विव्राः[4]। कृष्णकम्बलादि[5] पिहिताः वृषाणुकारिणो[6] नर्दन्ति[-6]। तैस्सह स्वयमपि तथैव वृषायमाणौ नर्दन्तौ तदनुकारिशब्दान् कुर्वन्तौ युयुधाते इत्यर्थः॥ रुतैः शब्दैः जन्तून् हंसमयूरादीन्॥ ३९,४०॥

1- -1. B.J.V. तद्योग्य० 2- -2. V. omits 3. A adds वृक्षादीनिति शेषः। 4. V. वृषाः 5. A.B.J. omit कृष्ण 6- -6. A.B.J. वृषरूप मनुकुर्वन्ति

**वीर०** कलान्यव्यक्त मधुराणि वाक्यानि ययो स्तौ रामकृष्णौ बालचेष्टितैः व्रजौकसां प्रीतिमावहन्तौ स्वकालेन कौमारप्राप्ति योग्यकालेन वत्सपालौ बभूवतुः॥ ३६॥

अथ कौमारलीलां वर्णयति - **अविदूर** इत्यादिना या[1-]वत्समाप्ति[-1]। व्रजभुवः बृन्दावनस्थ व्रजभूमेरविदूरे समीपे नानाविधाः क्रीडापरिच्छदाः क्रीडोपकरणानि ययोस्तौ वत्सान् चारयामासतुः॥ ३७॥

तदेव प्रपञ्चयति - वादयतः क्षिपत इति च लटो द्विवचनम्। क्षेपणैः बिल्वामलकादिभिः ताडन साधनैः गोपालकान्[2] क्षिपतः ताडयतः क्वचिच्च किङ्किणीयुक्तैः पदैश्च क्षिपतः क्वचित्कृत्रिम गोवृषैः जानुभ्यां हस्ताभ्यां च भुवि चरद्भिः[3] कृष्णकम्बलादि[4] पिहिताङ्गैः वृषानुकारिभिः तथैव नर्दद्भिः[5] गोपैः सह स्वयमपि वृषायमाणौ तदनुकारिशब्दान् कुर्वाणौ मिथो युयुधाते, युद्धं कुर्वाते इत्यर्थः। तथा रुतैः शब्दैः जन्तून् हंसमयूरादीन् अनुकृत्य यथाप्राकृतौ बालौ तद्वच्चेरतुः॥ ३८, ३९॥

अथ वत्सासुर वधात्मकं चेष्टितं अनुवर्णयति — **कदाचिदित्यादिना।** स्वकैः वयस्यैः सह कृष्णबलयोः वत्सान् चारयतोः सतोः तौ हन्तुमिच्छुः दैत्य आजगाम॥ ४०॥

1- -1. K.W. omit 2. A.B. गोपबाल० A.B. सञ्च० 4. A.B. ०दिना 5. A.B. नदद्भिः

**विज०** अविदूरे समीपे॥ (३६), ३७॥

क्षेपणैः अश्मयन्त्रैः पदैः पादैः कृत्रिम गोवृषैः मृद्दारुकृत गोवृषैः॥ ३८॥

वृषायमाणौ वृषवद्वर्धमानौ नर्दन्तौ वृषभशब्दं कुर्वन्तौ अनुकृत्य विडम्ब्य॥ ४०॥

**तं वत्सरूपिणं वीक्ष्य वत्सयूथगतं हरिः।**
**दर्शयन्बलदेवाय शनै र्मुग्ध इवाऽऽसदत्॥ ४१॥**

गृहीत्वाऽऽपरपादाभ्यां सहलाङ्गूल मच्युतः।
भ्रामयित्वा कपित्थाग्रे प्राहिणोद्गतजीवितम्॥४२॥

सकपित्थै र्महाकायः पात्यमानैः पपात ह।
तं वीक्ष्य विस्मिता बाला श्शशंसु स्साधु साध्विति।
देवा श्चोपरि[1] सन्तुष्टा ववर्षुः[2] पुष्पसन्ततिम्[3]॥४३॥

-: बकासुरवधघट्टः :-

तौ वत्स पालकौ भूत्वा सर्वलोकैकपालकौ।
सप्रातराशौ गोवत्सां श्चारयन्तौ विचेरतुः॥४४॥

स्वं स्वं वत्सकुलं सर्वे पालयिष्यन्त[4] एकदा।
गत्वा जलाशयाभ्याशं पाययित्वा पपुर्जलम्॥४५॥

1. A,B,G श्च 2. A,B,G बभूवुः 3. A,B,G,M,V. वर्षिणः 4. A,B,G,M,V °य°

**श्रीध० तमिति।** मुग्ध इवाजानन्निव आसदत् समीपमागमत्॥४१॥

**गृहीत्वेति।** अपरपादाभ्यां सह लाङ्गूलं यथा भवति तथा गृहीत्वा॥४२, ४३॥

**ताविति।** सर्वेषां लोकानां एकौ मुख्यौ पालकौ प्रातराशः प्रातर्भोज्यं अन्नं तेन[1] सहितौ॥४४॥

**स्वमिति।** अभ्याशं समीपम्॥४५॥

1. A,B,J तत्स०

**वीर०** तं दैत्यं वत्सरूपधरं वत्ससमूहान्तःप्रविष्टं वीक्ष्य ज्ञात्वा बलदेवाय दर्शयन् स्वयं शनैः मुग्ध इव अनभिज्ञ[1] समीपे[2] जगाम॥४१॥

अपरपादाभ्यां सह लाङ्गूलं पुच्छं गृहीत्वा तत एव गतं जीवितं जीवनं यस्य तं, कपित्थस्य वृक्षस्याग्रे प्राहिणोत् उदक्षिपत्॥४२॥

महाकायत्वेन दुर्भरत्वात् वोढुम् अशक्तैः पात्यमानैः कपित्थाग्रैः करणैस्सह तौ भुवि पातितं पतितम् अवलोक्य साधु साध्विति शशंसुः॥४३॥

अथ बकासुरवधात्मकं चरित्रमाह - **तावित्यादिना**। सर्वलोकैकपालकावपि वत्सपालौ भूत्वा एकदा प्रातः भोक्तव्य पर्युषितान्न सहितौ गवां वत्सान्चारयन्तौ विचेरतुः॥ ४४॥

सर्वे रामकृष्णप्रधानाः गोपालाः स्वं स्वं वत्ससमूहं पालयिष्यन्तः तावत् जलाशयस्याभ्याशं समीपं गत्वा वात्सान् जलं पाययित्वा स्वयमपि पपुः अपिबन्॥ ४५॥

1. A,B °वत् 2. A,B add तत्

**विज०** अपरपादाभ्यां प्राहिणोत्॥ ४१,४२॥

कपित्थैः कपित्थशाखायुक्तफलैः कृष्णोपरि॥ ४३॥

सप्रातराशौ प्रातर्भोजनसहितौ॥ ४४॥

जलाशयाऽभ्याशं जलस्थानं महासुर इत्यर्थः। "स्थानेऽभिप्राय आशयः"(वैज.को. 7-5-17) इति॥ ४५॥

**ते तत्र ददृशु र्बाला महासत्त्व मवस्थितम्।**
**तत्रसु र्वज्रनिर्भिन्नं गिरेः[1] शृङ्ग मिव च्युतम्॥ ४६॥**

**स वै बको नाम महा नसुरो बक रूप धृत्[2]।**
**आगत्य सहसा[3] कृष्णं तीक्ष्ण तुण्डोऽग्रसद्बली॥ ४७॥**

**कृष्णं महाबकग्रस्तं[4] दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः।**
**बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणैः[5] विचेतसः॥ ४८॥**

**तं तालुमूलं प्रदहन्तमग्निव द्रोपालसूनुं पितरं जगद्गुरोः।**
**चच्छर्द सद्योऽतिरुषाऽक्षतं बक स्तुण्डेन हन्तुं पुनरभ्यपद्यत॥ ४९॥**

**तमापतन्तं स निगृह्य तुण्डयो र्दोर्भ्यां बकं कंससखं सतां गतिः[6]।**
**पश्यत्सु बालेषु ददार लीलया मुदावहो वीरणवद्दिवौकसाम्॥ ५०॥**

1. K,W निर्भिन्न; M सम्भिन्न; V भिन्नस्य 2. K,W °रिशृ° 3. B,G,M °क् 4. A,M तरसा 5. M °ऽसुंर 6. A,B,G,K,W °णं 7. B,G पतिः

**श्रीध० कृष्णमिति।** राम आदिर्येषां ते। [1-]अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिः। तस्मात्[-1] न तु राम [2-]इत्यर्थो बोध्यः[-2] ॥४६ - ४९॥

**तमिति।** तुण्डयोः चञ्च्वोः, वीरणवत् अग्रन्थितृण विशेषवत्॥५०॥

1- -1. A,B,J omit 2- -2. A,B,J omit

**वीर०** तत्राऽवस्थितं सत्त्वं जन्तुं ददृशुः तत्रसुः अभिभयुश्च। कथम्भूतम्? वज्रेण निर्भिन्नं अत एव च्युतं गिरेः शृङ्गमिव स्थितम्॥४६॥

स वै सत्त्वः बकाख्यो महान् असुरो बकरूपधरः। सहसेति आकस्मिकविमर्श द्योतकम् अव्ययम्। तीक्ष्णतुण्डो निशित चञ्चुः बली कृष्णं अग्रसत्॥४७॥

प्राणं विना इन्द्रियाणीव, कृष्णं विना विचेतसः अचेतनप्राया बभूवुः। रामादय इत्यतद्गुणसंविज्ञान[1]बहुव्रीहिः। न तु रामः[2] इत्यर्थः॥४८॥

जगद्गुरोः ब्रह्मणः पितरमपि लीलया गोपाल सूनुं अग्निवत्तालुमूलं प्रदहन्तं[3] तं कृष्णं सद्य एव चच्छर्द उदगिरत्, तं अक्षतं कृष्णं तुण्डेन हन्तुं रुषा पुनरभ्यपद्यत अभिमुखं आपद्यत॥४९॥

स कृष्णः तमापतन्तं कंससखं [4-]कंस हितकरं[-4] बकं निगृह्य हुङ्कारेण निवार्य बालेषु पश्यत्सु सत्सु दोर्भ्यां लीलया तुण्डयोः चञ्च्वोः ददार विदारितवान्। चञ्च्वोः नितरां गृहीत्वा ददारेति वा अन्वयः। [5]कथम्? वीरणवत् ग्रन्थिरहिततृणविशेषवत्। कथम्भूतः? सतां [6]भक्तानां गतिः स्वप्राप्त्युपायः दिवौकसां मुदमावहतीति तथा। [7-]तद्वधेन देवानां मुदमुत्पादयामासेत्यर्थः[-7] ॥५०॥

1. A,B °नो 2. K,W omit इत्यर्थः। 3. A,B omit तं 4- -4. K,W omit 5. K,W omit कथम्? 6. K,W omit भक्तानां 7- -7. K,W omit

**विज०** महासत्त्वं महान् सत्त्वः पराक्रमो व्यवसायो वा यस्य स तथा तम्। "सत्त्वो स्त्री जन्तुषु क्लीबे व्यवसाये पराक्रमे। आत्मभावे पिशाचे च द्रव्ये सत्ता स्वभावयोः" (वैज०.को. 6-5-93) इति यादवः॥४६॥

स महासत्त्वो महासुरो वै एव। "स्युरेवन्तु पुनर्वैवेत्यव धारण वाचकाः" (अम.को. 3-427) इत्यमरः ॥४७॥

विचेतसः ज्ञानहीनाः पाषाणकल्पाः॥४८॥

जगद्गुरो: हिरण्यगर्भस्य पितरं अक्षतं पुन: अतिरुषा तुण्डद्वयेन कृष्णं हन्तुं अभ्यपद्यत॥ ४९॥

कटस्य उपादानं तृणं वीरणम्। "वीरणं श्रीतृणं विदु:" (वैज.को. 3-3-231) इति॥ ५०॥

**तदा बकारिं सुरलोक वासिन स्समाकिर न्नन्दन मल्लिकादिभि:।**
**समीडिरे चाऽऽनकशङ्खसंस्तवै स्तद्वीक्ष्य गोपालसुता विसिस्मिरे॥ ५१॥**

**मुक्तं बकाऽऽस्या दुपलभ्य बालका[1] रामादय: प्राण मिवैन्द्रियो गण:।**
**स्थानागतं[2] तं परिरभ्य निर्वृता: प्रणीय वत्सान् व्रज मेत्य तज्जगु:॥ ५२॥**

**श्रुत्वा तद्विस्मिता गोपा गोप्यश्चाऽति प्रियादृता:।**
**प्रेत्याऽऽगत मिवौत्सुक्या दैक्षन्त तृषितेक्षणा:॥ ५३॥**

**अहो बताऽस्य बालस्य बहवो मृत्यवोऽभवन्।**
**अप्यासी द्विप्रियं तेषां कृतं पूर्वं यतो भयम्॥ ५४॥**

**अथाऽप्यभिभवन्त्येनं नैवैते[3] घोरदर्शना:।**
**जिघांसयैन मासाद्य नश्यन्त्यग्नौ पतङ्ग वत्॥ ५५॥**

1. K,W दारका: ; V बालकं 2. A प्रत्यागतं 3 A,B,G,M नैव ते

**श्रीध० तदेति।** समीडिरे तुष्टुवु: आनकै: पटहै:[1] शङ्खै: अन्यैश्च संस्तवैस्सह॥ ५१॥

**मुक्तमिति।** स्वस्थानमागतं प्राणमिव कृष्णं च प्रणीय एकीकृत्य॥ ५२॥

**श्रुत्वेति।** अति प्रियेण अति[2] प्रीत्या आदृता: सादरा: प्रेत्याऽऽगतामिव लोकान्तरादाऽऽगतमिव तृषितानि अतृप्तानि अमृतं पिबन्तीव ईक्षणानि येषां ते॥ ५३॥

**अहो** इति। 'अहो बत' इत्यादिश्लोकत्रयस्य 'इति नन्दादय:' इत्यनेन अन्वय:। अपि एव मपि तेषामेव अनिष्ट मासीत्, यत: तै: पूर्वं अन्येषां भयं कृतम्॥ ५४॥

**अथेति।** अथ घोरदर्शना: अपि नाभिभवन्ति न धर्षयन्ति॥ ५५॥

1. A,B,J omit पटहै: 2. B,J,V omit अति

**वीर०** तदा नन्दनवनजाभि[1]: मल्लिकादिभि: बकारिं कृष्णं समाकिरन्। भेरीशङ्खरवसहितै: स्तोत्रै: तुष्टुवुश्च। गोपालसुतास्तु बकवधं[2-2] वीक्ष्य नितरां विस्मिता बभूवु:॥ ५१॥

स्वस्थानं प्रत्यागतं प्राणमिन्द्रियाणां गण इव बकस्य मुखान्मुक्तं कृष्णं प्राप्य आलिङ्ग्य च सुखिता:, वत्सान् प्रणीय एकीकृत्य व्रजमागत्य तद्बकासुरवधात्मकं कर्म गोपेभ्यो जगदु:॥ ५२॥

तद्गोपबालगदितं[3] श्रुत्वा विस्मिता: अतिप्रियेणाऽऽदर युक्ता: आगत्य प्रेत्यागतमिव लोकान्तरादागत मिव तृषितानि अतृप्तानि अमृतं पिबन्तीव ईक्षणानि येषां तथाभूता: औत्सुक्यात् ऐक्षन्त अपश्यन्॥ ५३॥

'अहो' इत्यादि श्लोकत्रयस्य 'इति नन्दादय:' इत्युत्तरत्रान्वय:। अहो इत्याश्चर्ये। बतेति खेदे। तत्र खेद हेतुं विशदयन्ति। अस्य बालस्य मृत्युहेतवो बहवोऽभवन्, अपि तथापि तेषामेव विप्रियं दु:खमासीत्। युक्तमेवैतदित्याहु:। पूर्वं जन्मान्तरे यतो येभ्य: भयं कृतं तेभ्य एव तेषां भयमुपस्थितमित्यर्थ:[4]॥ ५४॥

एते घोरदर्शना अपि एनं बालं कृष्णं[5] नाभिभवन्ति न[6-6] धर्षयन्ति। किन्तु हन्तुं इच्छया एनं बालं आसाद्य स्वयमेव नश्यन्ति। यथा अग्नौ पतङ्गा: शलभा: तद्वत्॥ ५५॥

1. K,W omit वन 2- -2. K,W omit 3. A,B °पालग° 4 A,B, °मुत्थित° 5. K,W omit कृष्णं 6- -6. A,B omit

**विज०** विसिस्मिरे विस्मिता:॥ ५१॥

पूर्वस्थित माश्रमस्थानं प्रणीय नीत्वा तद्बकासुरहिंसन लक्षणं कृष्णचरितम्॥ ५२॥

कृष्णे अतिशयेन प्रियेण आदरेण युता: तृषितेक्षणा: अलम्बुद्धिरहित नेत्रा:॥ ५३॥

बत खेदे, यत: येभ्य: भयं तेषां विप्रियं कृतं आसीत्। अपि स्वित्॥ ५४॥

अथापि तथापि, एते एनं नाभि भवन्ति; प्रत्युत, जिघांसया हननेच्छया एन मासाद्य अग्नौ पतङ्ग इव शलभ इव नश्यन्ति॥ ५५॥

**अहो ब्रह्मविदां वाचो नाऽसत्या स्सन्ति कर्हिचित्।**
**गर्गो यदाऽऽह भगवा नन्वभावि तथैव तत्॥ ५६॥**

**इति नन्दादयो गोपा: कृष्णराम कथां[1] मुदा।**
**कुर्वन्तो रम माणाश्च नाऽविन्दन्भव वेदनाम्॥ ५७॥**

**एवं विहारै: कौमारै: कौमारं जहतु र्व्रजे।**
**निलायनै स्सेतुबन्धै र्मर्कटो[3] त्प्लवनादिभि: ॥ ५८ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
वत्सबकवधो नाम एकादशोऽध्याय: ॥ ११ ॥

1. V कथा: 2. V नीडा° 3. V °टप्लव°

**श्रीध० अहो** इति। गर्गो यदाह - "तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायण समो गुणै:" (भाग. 10-8-19) इत्यादि ॥ ५६,(५७,५८) ॥

★ वत्सयूथागतं हत्वा वत्सदम्भासुरं हरि:। मुनियूथ गतं चाहन्नग्रण्यं दम्भिनां बकम् ॥

★ श्रीधरीयोऽयं श्लोक:।

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां एकादशोऽध्याय: ॥ ११ ॥

**वीर०** अहो ब्रह्मविदां वाच: कदाचिदपि असत्या न सन्ति न भवन्ति। तथा हि भगवान् गर्गो यथाह "नारायणसमो गुणै:" (भाग. 10-8-19) इति तत्तथैव अस्माभि: अन्वभावि अन्वभूयत ॥ ५६ ॥

भववेदनां सांसारिक क्लेशं नाविन्दन्न प्रापु: ॥ ५७ ॥

एवंविधै: कौमारै: कौमार चेष्टितै: तान्येव कानिचित् दर्शयति। निलायनै: निलयकरणानुकारिभि: एवं उत्तरत्रापि। व्रजे कौमारं कौमारावस्थां जहतु: अतिक्रान्त वन्तौ[1] ॥ ५८ ॥

इति श्रमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवत चन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकादशोऽध्याय: ॥ ११ ॥

---

1. A,B,W अनु

**विज०** पुरुषेण ब्रह्मज्ञानमेवापाद्यमिति भावेनाऽऽह - **अहो** इति। असत्या नाभूवन्निति कुतो ज्ञायत इति तत्राह - गर्ग इति॥ ५६॥

भववेदनां संसारदु:खम्॥ ५७॥

कौमारै: कुमारावस्थासम्बन्धिभि: विहारै: क्रीडाविशेषै: कौमारं जहौ कृष्ण:। तत्राऽऽपञ्चमाब्दात् बाल्यं, आनव वर्षात् पौगण्डं, आषोऽशवर्षात् कैशोरम्। कश्चित्स्तम्भमूले निलीय तिष्ठति। अन्यस्तु अन्विष्य तं दृष्ट्वा गृह्णातीति या क्रीडा तन्निलायनम्। हस्तेन शरीरेण वा मृत्तिकया वा जलनिवारणं सेतुबन्ध:, यथा मर्कटो वानरो विटपाद्विटपान्तरं उत्प्लवति, उत्पतति। तथा आकाशे उत्तुङ्ग मृत्तिकात्तं शिंशुमाराकारोपरि शिरसि पदं निधाय पतनमुत्प्लवनं, पांशुभिस्तौ मणिं निधाय तदुपरि हस्तं निदधाति एक:, एकस्त्वन्विष्य गृह्णातीति आदिशब्द गृहीतम्॥ ५८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे एकादशोऽध्याय:॥ ११॥

(विजयध्वजरीत्या द्वादशोऽध्याय:)

# द्वादशोऽध्यायः

## (विजयध्वजीये अयमध्यायो नाऽस्ति)

## अघासुरवधारम्भघट्टः

श्रीशुक उवाच

क्वचिद्वनाशाय मनो दधद्व्रजात् प्रातस्समुत्थाय वयस्यवत्सपान्।
प्रबोधयन् शृङ्गरवेण चारुणा विनिर्गतो वत्सपुरस्सरो हरिः॥ १॥

तेनैव साकं[1] पृथुकास्सहस्रशः स्निग्धाः[2] सुशिग्वेत्रविषाण वेणवः।
स्वान् स्वान् सहस्रोपरिसंख्ययान्वितान् वत्सान् पुरस्कृत्य विनिर्ययुर्मुदा॥ २॥

कृष्णवत्सैरसंख्यातैः[3] यूथीकृत्य स्वकान्[4-] स्वकान्[-4]।
चारयन्तोऽर्भलीलाभिः विजहुस्तत्र तत्र हि॥ ३॥

फलप्रवालस्तबक सुमनः पिञ्छ[5] धातुभिः।
काच गुञ्जामणिस्वर्ण भूषिता अप्यभूषयन्॥ ४॥

मुष्णन्तोऽन्योन्य शिक्यादीन् ज्ञातानाराच्च चिक्षिपुः।
तत्रत्यांश्च ततो[6] दूराद्धसन्तः[7-] पुनराददुः[-7]॥ ५॥

1. A सार्धं 2. V °ग्धान्न° 3. K,W °ख्येयैः 4- -4. A,B,G स्ववत्सकान्। 5. A,B °च्छ° 6. A,B,G पुनर्दू° 7- -7. A,B,G °न्तश्च पुनर्ददुः

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्वादशे तु महासर्पवपुर्धरमघासुरम्।
वत्सपालगिलं क्रुद्धो गलेऽहन्निति वर्ण्यते॥

महाबक गलक्रीडा केवलस्य न कौतुकम्।
इति वाऽघासुरमुखे स सखः प्राविशद्धरिः॥

क्वचिदिति। क्वचित्कदाचित् वनाशाय वन एव प्रथमं भोजनं कर्तुम्॥ १॥

**तेनेति**। तेनैव शृङ्गरवेण, श्रीकृष्णेन वा सह[1] पृथुकाः बालाः स्निग्धाः स्नेहयुक्ताः। शिक्, शिक्यं रम्याः शिग्वेत्रादयो येषां ते, सहस्राधिक संख्यायुक्तान् वत्सान्॥ २,३॥

**फलेति।** काचादिभिः पूर्वं मातृभिः भूषिता अपि पुनस्स्वयं[2-] [-2] फलप्रवालादिभिः[3-] [-3] आत्मानमभूषय न्नित्यर्थः॥ ४॥

**मुष्णन्त** इति। मुष्णन्त श्चोरयन्तः॥ ५॥

1. V omits सह 2- -2. B,J,V omit 3- -3. B,J,V फलादिभिः

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इतः प्रभृति[1] अध्यायत्रयं प्रक्षिप्तमिति व्यासाचार्यैः उपेक्षितम्, अथापि प्रायशो व्यवह्रियमाणत्वात् कैश्चिद्व्याख्यातत्त्वाच्च व्याख्यायते। अत्राद्येनाघासुरवधात्मकं चरित्रमनुवर्ण्यते **क्वचिदित्यादिना।** कदाचिद्भगवान् प्रातरुत्थाय सवयस्कान्वत्सपान्प्रबोधयन्[2] वन एव प्रथम भोजनाय मनः कुर्वन् वत्साः पुरस्सरा यस्मात्तथाभूतः चारुणा विषाणानां रवेण व्रजात् विनिर्जगाम॥ १॥

तथा शिक् शिक्यं शोभनाः शिक्यादयो येषां ते स्निग्धः परस्परानुरागयुक्ताः पृथुका बालकास्सहस्रशः तेनैव कृष्णेनैव सह सहस्रात् उपरिसंख्यया। अन्वितान् परिच्छिन्नान्[3] स्वस्ववत्सान् पुरस्कृत्य मुदा विनिर्ययुः॥ २॥

ततः स्वस्ववत्सान् संख्यातैः कृष्णस्य वत्सै स्सह संङ्गीकृत्य चारयन्तः तत्र तत्र अर्भक लीलाभिः विहृत-वन्तः॥ ३॥

तदेव प्रपञ्चपति - **फलेनेति** सप्तभिः[4]। पूर्वं मातृभिः काचादिभिः भूषणैः भूषिता अपि फलादिभिः आत्मानम् भूषयन्तत्र प्रवालाः पल्लवाः तेषां स्तबकैः पुष्पस्तबकैश्च युक्तैर्दामभिः मालाभिः[5]॥ ४॥

अन्योन्येषां शिक्यादीन्। आदि शब्देन वेत्रविषाण वेणूनां सङ्ग्रहः, मुष्णन्त श्चोरयन्तः ज्ञातान् शिक्यादीनाराद्दूरे चिक्षिपुः। तत्रत्यान् तान् पुन स्तत आरात् क्षिपन्तो हसन्तः[6] पुन राददुः ॥ ५॥

1. A,B,J आरभ्य 2. A,B,समानव° 3. A,B,W° च्छ° 4. K,W omit सप्तभिः। 5. K,W omits मालाभिः 6. A,B add सन्तः

**त्रयोऽध्यायाः (12,13,14) विजयध्वजव्याख्यात ग्रन्थे न सन्ति। अतो नाऽस्ति व्याख्यानम्।**

**यदि दूरं गतः कृष्णो वनशोभेक्षणाय[1] तम्।**
**अहम्पूर्वमहम्पूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे॥ ६॥**

केचिद्वेणून् [2]नादयन्तो ध्मान्तः शृङ्गाणि केचन।
केचिद्भृङ्गैः प्रगायन्तः कूजन्तः कोकिलैः परे॥७॥

विच्छायाभिः प्रधावन्तो गच्छन्त स्साधुहंसकैः।
बकैरुपविशन्तो[3]ऽन्ये नृत्यन्तश्च कलापिभिः॥८॥

विकर्षन्तः कीशबालानारोहन्तश्च तैर्द्रुमान्।
विकुर्वन्तश्च तैस्सार्कं[4] प्लवन्तश्च[5] पलाशिषु॥९॥

साकं भेकै र्विलंङ्घन्तः स[6-]रित्तोय परिप्लुताः[-6]।
[7]विहसन्तः प्रतिच्छायाः शपन्तश्च प्रतिस्वनान्॥१०॥

1. V वनोद्देशेक्षणाय 2. A,B,G वा° 3. A,B,G° न्तश्च 4. G °र्धं 5. K,W वलान्तश्च 6- -6. A,B,G सरित्प्रस्रवसम्प्लुताः 7. V हसन्तश्च

**श्रीध० यदीति।** यदि दूरं गतः कृष्णो भवति तर्हि॥६॥

**केचिदिति।** ध्मान्तः मु[1-]खवायुं शृङ्गेषु उत्सृजन्तः गायन्तः[-1] वादयन्तः भृङ्गैस्सह॥७॥

**विच्छायाभिरिति।** विच्छायाभिः प[2-]क्षिणां छा[-2]याभिः, कलापिभिः मयूरैश्च॥८॥

**विकर्षन्त** इति। कीशबालान् वृक्षशाखासु लम्बमानानि वानरलाङ्गूलानि विकर्षन्तः[3] लाङ्गूलानि[4] अमुञ्चन्तः तैस्सह द्रुमानारोहन्तः, विकुर्वन्तः दन्त दर्शन भ्रूविजृम्भादिभिः तैस्सह विकारान् कुर्वन्तः, पलाशिषु वृक्षेषु प्लवन्तः शाखायाः शाखान्तरमुद्गच्छन्तः॥९॥

**साकमिति।** प्रतिच्छायाः प्रतिबिम्बानि हसन्तः[5]॥१०॥

1- -1. A,B,J omit 2- -2. A,B,J पक्षिच्छा° 3. A,B,J आ 4. A,B,J °लं 5.A,B,J omit हसन्तः

**वीर०** वनशोभा दर्शनार्थं यर्हि कृष्णो दूरं गतो भवति। [1] तं कृष्णमहमेव पूर्वं स्पृशामीत्येवं वदन्तस्तं संस्पृश्य रेमिरे॥६॥

[2] शृङ्गाणि ध्मान्तः मुखवायुभिः पूरयन्तः शृङ्गैस्सह प्रगायन्तः कोकिलैस्सह कूजन्तः॥७॥

विच्छायाभिस्सह प[3-]क्षिच्छायाभिः सह[-3] प्रधावन्तः कलापिभिः बर्हिभि स्सह नृत्यन्तः[4] ॥८॥

कीशवालान् वृक्षशाखास्वधोलम्बमानानि वानराणां लाङ्गूलानि आकर्षन्तः तैः वानरैस्सह पुनः द्रुमान् आरोहद्भिः आरोहन्तः तैः वानरैस्साकं दन्तवदन भ्रूविजृम्भादिभिः विकारान् कुर्वन्तः, पलाशिषु वृक्षेषु वल्गन्तः प्लवन्तः शाखायाः शाखान्तरं गच्छन्त इति यावत्॥ ९॥

भेकैः मण्डूकैः सह विलङ्घन्तः लङ्घमानाः सरितो यमुनायाः तोयेन परिप्लुता आर्द्रास्सन्तः अन्योन्यप्रतिबिम्बानि हसन्तः प्रतिस्वनान् शपन्तः दूषयन्तश्च॥ १०॥

1. A,B add तदा 2. A,B add केचित् 3- -3. A,B omit 4. A,B add साधु यथा तथा (हंसैः) गच्छन्तः।

**इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन।**
**मायाश्रितानां नरदारकेण[1] सार्धं[2] विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥ ११॥**

**यत्पादपांसुर्बहुजन्म कृच्छ्रं[3] धौतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः[4]।**
**स एव यद्दृग्विषयं[5] स्वयं स्थितः किं वर्ण्यते दिष्टमहो[6] व्रजौकसाम्॥ १२॥**

**अथाघनामाऽभ्यपतन्महासुरः तेषां सुखक्रीडन वीक्षणाक्षमः।**
**नित्यं यदन्तो[7] निजजीवितेप्सुभिः पीतामृतैरप्यमरैः प्रतीक्ष्यते॥ १३॥**

**दृष्ट्वाऽर्भकान् कृष्णमुखानघासुरः कंसानुशिष्टस्स बकी बकानुजः।**
**अयन्तु सोदर्य[8-] विनाश[-8] कृत्तयोः द्वयोर्ममैनं[9] सबलं हनिष्ये॥ १४॥**

**एते यदा मत्सुहृदस्तिलापः[10] कृतास्तदा नष्टसमा व्रजौकसः।**
**प्राणे गते वर्ष्मसु का नु चिन्ता प्रजासवः प्राणभृतो हि लोके[11]॥ १५॥**

1. A बालकेन 2. A,B,G °कं 3. A,B,G कृच्छ्रतो धृता° V कृच्छ्र धृ° 4. B °गम्यः 5. A,B,G °यः 6. A,B,G °तो 7. A,B °न्तर्निज 8- -8. A,B,G मे सोदरनाश 9. A रथैनं 10. A,B,G दोस्तिलापः 11. A,B,G ये ते

**श्रीध०** तानति विस्मितः[1] श्लोकद्वयेनाभिनन्दति - **इत्थमिति**। सतां विदुषां ब्रह्म च तत्सुखं च, अनुभूतिश्च तथा स्वप्रकाश परमसुखेनेत्यर्थः। भक्तानां परदैवतेन आत्मप्रदेन नाथेन मायाश्रितानान्तु नरदारकतया प्रतीयमानेन सह विजह्रुः। कृतानां पुण्यानां पुञ्जाः राशयो येषां ते, ब्रह्मविदां तदनुभव एव भक्ताना मतिगौरवेणैव भजनं, एते तु तेन सह सख्येन विजह्रुः अहो भाग्यमिति भावः॥ ११॥

**यदिति।** बहुजन्मभिः कृच्छ्रेण धृत आत्मा मनो यै स्तैरपि॥ १२॥

**अथेति।** सुख क्रीडनवीक्षणे अक्षमा ईर्ष्या यस्य सः। कथम्भूतः? यस्य[2] अन्तः[3] अन्तरं छिद्रं पीतामृतैरपि ततो मृत्युभीतैः अमरैः प्रतीक्ष्यते। कथं मरिष्यति? कदा चेति? यद्वा, कथम्भूतं सुखं क्रीडनम्? यत् अन्तर्हृदये अमरैः प्रतीक्ष्यते विचिन्त्यते पीतामृतैरपि पुनः[4] निजजीवितेप्सुभिः। अयम्भावः - न अमृतपानमात्रेण जीवनं सफलं भवति किन्तु भगवल्लीलानुस्मरणेनेति तदेव नित्यमन्तश्चिन्त्यन्त इति॥ १३॥

**दृष्ट्वेति।** कृष्ण मुखान् अर्भकान् दृष्ट्वा, स इति व्यवस्य निश्चित्य। आजगरं वपुर्धृत्वा। तेषां ग्रसनाशया पथि व्यशेत इति तृतीयेनान्वयः। कंसेनानुशिष्टः प्रहितः बकी पूतना, ब[5-]कः बकासुरः तयोरनुज[-5]ः। कथं व्यवस्य इत्यत्राह[6] - अयन्त्वित्यादि सार्धेन। मम तयोर्द्वयोः सोदरयोः स्थाने एनं कृष्णं सबलं ब[7-]लरामसहितं यद्वा सबल[-7] ससैन्यं वत्सतत्पालक सहितं हनिष्यामि[8]। स[9-]कुलमिति पाठे सान्वयं सगृहमिति वा[-9]॥ १४॥

ननु तथापि व्रजस्थास्त्ववशिष्येरन्। नेत्याह - **एते** इति। तिलापःकृताः तिलोदकताया कल्पिताः वर्ष्मसु देहेषु प्रजा एवं असवो येषां ते तथा॥ १५॥

1. A स्मयेन 2. V omits यस्य 3. A,B omits अन्तः 4. V omits पुनः 5- -5. A,B,J omit 6. A,B,J तदाह 7- -7. A,B,J omit 8. V हनिष्ये इत्यर्थः। 9- -9 A,B,J omit.

**वीर०** तद्विहार मभिनन्दन् आह - **इत्थमिति** द्वयेन। ब्रह्मानन्दानुभवेन तद्दास्यं गतानां ब्रह्मानन्दानुभवसम्भूतप्रीतिकारितदास्यं गतानामित्यर्थः। सतां साधूनां परदैवतेनापि मायाश्रितानां प्रकृतिबद्धानां मनुजबालभूतेन कृष्णेन सह इत्थं विजह्रुः विहृतवन्तः। तत्र हेतुं वदन् गोपान्विशिनष्टि। कृताः पुण्यानां पुञ्जा राशयो यैस्तथा भूताः पू[1-]र्वजन्मनीति शेष[-1]ः॥ ११॥

कृतपुण्यपुञ्जत्वमेव प्रपञ्चयन् विस्मयते **यत्पादेति।** बहुषु जन्मसु कृच्छ्रं कायशोषणात्मकं येषां धौतः विशुद्ध आत्मा मनो येषां तै र्योगिभिरपि यस्य पाद पांसुरलभ्य[2] स्सएव भगवान् स्वयमेव येषां व्रजौकसां दृग्विषये स्थितः दृग्विषयतां प्राप्तः तेषां दिष्टं अदृष्टं किं कियदिति वर्ण्यते। अहो आश्चर्य मेतत्॥ १२॥

इत्थं विहरत्सु अघाख्यो महासुर[3]ः तेषां सुखेन यत्क्रीडनं तस्य वीक्षणे न विद्यते क्षमा यस्य तथा भूतः अभ्यपतत् अभिमुख माजगाम। तदेव प्रपञ्चयन् अघासुरस्य देवानामपि मृत्युभयशङ्कावहत्वं[4] अभिसन्धि विशेषं च आह - नित्यमिति सार्धद्वयेन। पीतममृतं यैः तैः मरणभयरहितैः अपीति भावः। अमरैः निजजीवितेच्छुभिः मृत्युभयरहितान् अप्यस्मान् हन्तुं समर्थं अघासुरं हत्वा अस्मज्जीवितं कदा सुप्रतिष्ठितं कुर्यादित्येवं स्वजीवितमिच्छद्भिः नित्यं यदन्तः यस्य अघासुरस्य अन्तो नाशः कदा वा स्यादिति प्रतीक्ष्यते॥ १३॥

स बकीबकयो रनुजः अघासुरः कंसेनानुशिष्टः आदिष्टः, कृष्णो मुखं प्रदानं येषां तानर्भकान् दृष्ट्वा इति व्यवस्य निश्चित्याजगरं बृहद्वपुः धृत्वा तेषां ग्रसनाय पथि व्यशेत इति तृतीयेनान्वयः। कथं व्यवस्येत्यत आह - अयन्त्विति सार्धेन। द्वयोस्तयो रामकृष्णयोर्मध्ये अयं कृष्णस्तु मम सो[5-]दरयोः पूतना बकयोः नाशं[-5] कृतवानिति तथा अत एवं बलरामेण सहितं हनिष्यामि। बलशब्दोऽत्रेतरगोपबालानां अप्युपलक्षणार्थः एते इत्युत्तरानुगुण्यात्॥ १४॥

यदैते कृष्णादयः मत्सुहृदो[6] मत्सोदरस्य[7] तिलापः कृताः तिलोदकवत् तृप्ति हेतुत्वेन एतेषां हननमेव मत्सुहृदस्तिलाप[8] इति भावः। तदा सर्वे व्रजौकसो नष्टप्रायाः। तथाहि - प्राणे गते निर्गते सति वर्ष्मसु शरीरेषु का वा अनुचिन्ता। न हि प्राणे गते शरीरं क्षणमवस्थातुं[9] शक्नोति किन्तु नश्यत्येव। प्राणभृतः प्रजाः पुत्रा एवासवः प्राणाः येषां तथा भूता हि; प्राणस्थानीयेषु पुत्रेषु मया हतेषु व्रजौकसस्सर्वे स्वयमेव नङ्क्ष्यतीति तदर्थं न मया यत्नः कार्य इति भावः॥ १५॥

1- -1. K, W omit 2. A,B °रप्यल° 3. A, B महानसुरः 4. A,B omit भय 5- -5. K,W सोदर्यस्य बकासुरस्य विनाशं 6. A,B °दोः 7. A,B °रयोः 8. A,B °दोस्ति° 9. A,B मपि

**इति व्यवस्याऽजगरं बृहद्वपुः स योजनायाममहाद्रिपीवरम्।**
**कृत्वा[1]ऽद्भुतं व्यात्त[2]गुहाननं तदा पथि व्यशेत ग्रसनाशया खलः॥ १६।**

**धराधरोष्ठो जलदोत्तरोष्ठो दर्याननान्तो गिरिशृङ्गदंष्ट्रः।**
**ध्वान्तान्तरास्यो विततध्वजिह्वः परुषानिलाश्वासदवेक्षणोष्णः॥ १७॥**

**दृष्ट्वा तं तादृशं सर्वे मत्त्वा बृन्दावनश्रियम्।**
**व्यात्ताजगरतुण्डेन व्युत्प्रेक्षन्ते[3] स्म लीलया॥ १८॥**

**अहो वि[4-]चित्रं मित्राणि[-4] सत्त्वकूटं पुरःस्थितम्।**
**अस्मत्सङ्ग्रसनव्यात्तव्यालतुण्डायते न वा॥ १९॥**

**सत्यमर्ककरारक्त मुत्तराहनुमद्घनम्।**
**अधरा हनुवद्रोध स्तत्प्रतिच्छाययाऽरुणम्॥ २०॥**

1. A,B, G धृत्वा, V. भित्त्वा 2. K, W °ह 3. A,B,G,V ह्यु° 4- -4. A,B,G,V मित्राणि गदत

**श्रीध० इतीति।** सयोजनायामं योजन प्रमाणेन दैर्घ्येण देहेन युक्तं च तत् महाद्रिवत् पीवरं च। व्यात्तं प्रसारितं गुहातुल्य माननं यस्मिन् तत्॥ १६॥

अद्भुतमिति यदुक्तं तद्दर्शयितुं विशिनष्टि - **धरेति।** धरायामधरोष्ठो यस्य सः ज[2-]लदेषु अधरोष्ठो यस्य स[-2]ः दर्याविव आननस्यान्तौ सृक्विणी[3] यस्य सः, गिरेः शृङ्गाणीव दंष्ट्रा यस्य सः, ध्वान्तवदन्तरास्यं यस्य सः, विततता अध्ववत्

जिह्वा यस्य सः, परुषानिलवत् [4-]झञ्झामारुतवत्[-4] श्वासो यस्य सः। [5-]अत्र वर्णाधिक्यमार्षम्[-5]। दववदीक्षणयोः उष्णः, तावद्दृष्टिरित्यर्थः। परुषानिलश्वासश्वासौ दवेक्षणोष्णश्च तथा॥ १७॥

दृष्ट्वेति। वस्तुतः [6-]अजगरतुण्डमेव व्यात्तं[-6] दृष्ट्वा बृन्दावनस्य श्रीः सम्पदेवेति[7] भ्रान्त्या मत्त्वा विपरीतं व्यात्ताऽऽजगरतुण्डसादृश्येन[8] उत्प्रेक्षितवन्तः॥ १८॥

उत्प्रेक्षामेव प्रश्नोत्तराभ्यां च आहुः - **अहो** इति। सत्त्वकूटं सत्वाभास मिदं[9] न वा तत्रापि अस्मत्संग्रसनाय व्यात्तं यद्व्यालतुण्डं तद्वत् आचरति वा[10] न वा॥ १९॥

निश्चितं तथैवेत्याह[11] - **सत्य** मिति। अर्ककैरारक्तं धनं उत्तरोष्ठवत् पश्यत। तस्य घनस्य प्रतिच्छायया अरुणं रोधः स्थलं अधरोष्ठवत् पश्यतेति सर्वत्र अन्वेति॥ २०॥

1. A,B, J omit देहेन 2- -2. V omits 3. A °क्कि° 4- -4. A,B,J omit 5- -5. A,B,J omit 6- -6. A,B,J अजगरमेव व्यात्ततुण्डं 7. A °देवैषेति; B,J देषेति 8. A °रास्यसा° 9. B,J add वा 10. A omits वा 11. A,B,J °हुः

**वीर०** इतीत्थं निश्चित्य स दुरात्मा अघासुरो रामकृष्णादीन् ग्रसितुं इच्छया आजगरं वपुः धृत्वा पथि व्यशेत शयितवान्। वपुः कथंम्भूतम्? बृह द्विपुलं, तदेवाह योजन प्रमाणेन दैर्घ्येण युक्तं च, तन्महाद्रिवत् स्थूलं च, व्याप्तं प्रसारितं गुहातुल्यं आननं यस्मिन्॥ १६॥

अद्भुतत्वमेव दर्शयितुं असुरं विशिनष्टि - धरायां अधरोष्ठो यस्य जलदेषु उत्तरोष्ठो यस्य, दर्यौ गिरिकन्दराविव आननस्यान्तौ सृक्णी[1] यस्य, गिरेः शृङ्गाणीव दंष्ट्रा यस्य, ध्वान्तोऽन्धकारः अस्मिन्नस्तीति[2] ध्वान्तवत्, तदन्तरास्यं यस्य, दीर्घीभूतमहाध्ववत् जिह्वा यस्य, परुषानिलवत् श्वासो यस्य सः, दावाग्नि रिवेक्षणयोः उष्णः दाहकदृष्टिः इत्यर्थः। [3] [4-]विशेषणोभयपद कर्मधारयः[-4]॥ १७॥

वस्तुतोऽजगरमेव व्यात्त तुण्डं बृन्दावनस्य श्रीः सम्पदेषेति भ्रान्त्या मत्वा विपरीतं व्यात्ताऽजगर तुण्डसादृश्येन उत्प्रेक्षितवन्तः॥ १८॥

तेषा मुत्प्रेक्षा मेव प्रश्नोत्तराभ्यां आह - **अहो** इति [5]पञ्चभिः। अहो मित्राणि सुहृदः पुरस्थितमिदं वस्तु सत्त्वकूटं सत्त्ववत् [6]अवभासमानं[7] तत्राप्यस्मान् सङ्गसितुं व्यात्तव्यालतुण्डवदाचरति न वा॥ १९॥

एव मुक्त्वा केचित् तथैव इत्याहुः - **सत्यमिति** । अर्ककरैः आरक्तं घनं मेघमुत्तरोष्ठवत्[8] पश्यत । तस्य घनस्य प्रतिच्छायया अरुणं रोधः कुलं अधरोष्ठवत् । पश्यतेति सर्वत्रान्वेति ॥ २० ॥

1. A,B सृक्किणी 2. A,B य° 3. A,B add परुषानिलश्वास शब्दोत्तरस्य सो रुत्वे 'हसि' च इति यत्वे तस्य - "लोपः शाकल्यस्य" इति लोपः 4- -4. A,B दवेक्षणोष्णपदे कर्मधारयो वा ॥ १७ ॥ 5. K.W omits पञ्चभिः 6. A,B omit अव 7. A,B add न वा ? 8. A,B, W °मन्त°

प्रतिस्पर्धेते सृक्किभ्यां सव्यासव्ये नगोदरे।
तुङ्गशृङ्गालयोऽत्येतास्तद्दंष्ट्राभिश्च पश्यत॥ २१॥

आस्तृताऽऽयाममार्गोऽयं रसनां प्रति गर्जति।
एषामन्तर्गतध्वान्तं एतदप्यन्तराननम्॥ २२॥

दावोष्णखरवातोऽयं श्वासवद्भाति पश्यत।
तद्वग्ध सत्त्व दुर्गन्धोऽप्यन्तरामिषगन्धवत्॥ २३॥

विशन्तु सर्वे ग्रसिता किमस्मा नयं तथा चेद्बकवद्विनङ्क्ष्यति।
क्षणादनेनेति बकार्युशन्मुखं वीक्ष्योद्धसन्तः करताडनैर्ययुः॥ २४॥

इत्थं मिथो तथ्यमतज्ञ भाषितं श्रुत्वा विचिन्त्येत्यमृषामृषायते।
रक्षो विदित्वाऽखिल लोकहृतत्स्थितः स्वानां निरोद्धुं भगवान् मनो दधे॥ २५॥

1. A, G °क्कि°; B,V °क्वि° 2. K,W °व्यौ 3. K,W °रौ 4. A,B,G °योऽप्ये° 5. A,G °तं 6. V ह्य° 7- -7. A,B,G अस्मान् किमत्र ग्रसिता निविष्टा; V. अस्मान् निविष्टान् ग्रसिता किमेता 8. K,W °यितम्। 9. A,V निषेद्धुं

**श्रीध० प्रतिस्पर्धेते** इति। सृक्किभ्यां ओष्ठप्रान्ताभ्यां प्रतिस्पर्धेते तुल्यतया वर्तेते। नगोदरे गिरिदर्यौ एताः शृङ्गालयः तस्य दंष्ट्राभिः स्पर्धमानाः॥ २१॥

**आस्तृतेति।** आस्तृताऽऽयाममार्गः विस्तृतो दैर्घ्यवान्मार्गः। प्रतिगर्जति प्रतिस्पर्धते एषां शृङ्गाणां अन्तर्गतं मध्यगतं ध्वान्तं अन्धकारं एतत् अन्तराननं आननस्य मध्यं प्रतिगर्जति ॥ २२॥

**दावेति।** दावेन उष्णः खरो वातोऽयं तेन वनाग्निना दग्धानां सत्वानां यो दुर्गन्धः स एव सर्पान्तर्गतामिष गन्धवत् भाति॥ २३॥

**अस्मादिति।** एवं सत्यमेव अजगरं अन्यथोत्प्रेक्ष्य निर्भयाः ययुः। किं ग्रसिता ग्रसिष्यति? अनेन श्रीकृष्णेन हन्त्रा बकारेः उशत् कमनीयं मुखम्॥ २४॥

**इत्थमिति।** अमृषा वस्तुतः सर्पवपुरसुर एषः मृषायते। स्वानां सर्पसादृश्य गोचरत्वेन प्रतीयत इति विचिन्त्य तान्निरोद्धुं वारयितुं यावन्मनो दधे तावत्प्रविष्टा इत्युत्तरेणान्वयः॥ २५॥

1. A,J °क्कि° 2. A तत्तुल्य 3- -3. V omits 4- -4. B,J,V omit 5. V दाववत् 6. A दावेनाग्निना; B,J दावाग्निना 7. V सर्पस्यान्त' 8. A सत्यमपि; B,J सन्तमेव 9. A,B,J omit विचिन्त्य 10. V °षे°

**वीर०** सव्यापसव्य नगयोः वामदक्षिणगिर्योः, उदरे दर्यौ सृक्वभ्यां[1] ओष्ठप्रान्ताभ्यां प्रतिस्पर्धेते तुल्यतया वर्तेते। सव्यापसव्यगिर्यो स्तुङ्गशृङ्गाणां[2] आलयः पङ्क्तयः तस्य दंष्ट्राभिः स्पर्धन्त इति वचनविपरिणामेनान्वयः॥ २१॥

आस्तृतो विस्तृतश्वासो आयाममार्गः दैर्घ्यवान् मार्गः स तस्य रसनां जिह्वां प्रति गर्जति प्रति स्पर्धते। एषां शृङ्गाणां अन्तर्गत मेव[3] ध्वान्तमपि अन्तराननमास्यमध्यं प्रतिगर्जति॥ २२॥

दावाग्निनोष्णः खरः कठिनश्च वातः श्वासवत् भाति। तेन दावाग्निना दग्धानां सत्वानां जन्तूनां दुर्गन्धः सत्वान्तर्गतामिष गन्धवत् भाति॥ २३॥

एवं सत्यमेव अजगरं अन्यथोत्प्रेक्ष्य[4] निर्भया ययुः इत्याह[5] **विशन्त्विति।** सर्वे वत्सा वत्सपाश्च अत्र विशन्तु अस्मान्ग्रसिता किं? ग्रसिष्यति किम्? तथा चेत् ग्रसिष्यति। बकवत् बकासुरवदयमप्यनेन श्रीकृष्णेन क्षणाद्विनङ्क्ष्यति नाशं गमिष्यति। इति[6] इत्थं बकारेः ऊशत्कमनीयं मुखम् अलोक्योच्चैः[7] हसन्तः करताडनैः[8] उपलक्षिता ययुः। करताडनानि कुर्वन्तो ययुः इत्यर्थः॥ २४॥

मिथोऽन्योन्यं अतज्ज्ञानां यथार्थाजगरमजानतां भाषितमतथ्यं असत्यं श्रुत्वा भगवान् मृषाऽपि सत्यमप्येतैः मृषायितम् अयथार्थीकृतं इत्येवं विचिन्त्य अखिल भूतहृत्स्थितः हेतुगर्भमिदं, तत्त्वात् रक्षो विदित्वा राक्षस इति ज्ञात्वा[1] स्वानां स्वान् वत्सान् वत्सपांश्च निरोद्धुं निवारयितुं यावन्मनो दधे चकार॥ २५॥

1. A,B सृक्कि° 2. A,B °स्तु शृ° 3. K °मेतत् 4. A,B सत्त्वमेवोत्प्रेक्ष्य 5. A,B add मुनिः 6. K,W omit इति 7. A,B विलोक्य 8. W °तालैः

**तावत्प्रविष्टास्त्वसुरान्तरोदरं[1] परं न जीर्णाश्शिशवस्सवत्सकाः[2]।**
**प्रतीक्षमाणेन बकारि वेशनं[3] हतस्वकान्तस्मरणेन रक्षसा॥ २६॥**

**तान् वीक्ष्यकृष्णस्सकलाभयप्रदो[4] ह्यनन्य नाथान् स्वकरादपच्युतान्[5]।**
**दीनांश्च मृत्योर्जठराग्नि घासान् घृणार्दितो दिष्टकृतेन विस्मितः॥ २७॥**

कृत्यं विमत्रास्य खलस्य जीवनं[6] नो[7] वा अमीषां च सतां विनाशम्[8]।
द्वयं कथं स्यादिति संविचिन्त्य तज्ज्ञात्वाऽविशत्तुण्डमशेष दृग्घरिः॥ २८॥

तदा घनच्छदा देवा भयाद्धाहेति चुक्रुशुः।
जहृषुर्ये च कंसाद्याः कौणपास्त्वघबान्धवाः॥ २९॥

तच्छ्रुत्वा भगवान् कृष्णस्त्वव्ययस्सार्भवत्सकम्।
चूर्णी चिकीर्षोरात्मानं[10] तरसा ववृधे गले॥ ३०॥

1. A,B,G °रोदरान्तरं 2. B,G,V गी° 3. A,B,G °त्साः; K,W °त्सपाः। 4. V °दस्त्वनन्य 5. A,B,G °व 6. A जीवितं 7. V नो 8. A,B,G हिंसनम्; V नाशम् 9. V °नः 10. V °रेवादौ

**श्रीध० तावदिति।** तावत्[1] प्रविष्टा एव परं[2] केवलं न तु तेन गीर्णाः गिलिताः। जीर्णा इति पाठेऽपि स एवार्थः। कथम्भूतेन? हतयोः स्वकयोः[3] अन्तं स्मरति अनुध्यायतीति[4] तथा तेन अत एव बकारेः श्रीकृष्णस्य प्रवेशं प्रतीक्षमाणेन॥ २६॥

**तानिति।** स्वकरादपच्युतान्[5] बिनिस्रुतान् विस्मितस्सन्॥ २७॥

**कृत्यमिति।** कृत्यं किमत्रेत्यादि विचिन्त्य तत्रोपायं ज्ञात्वा स्वयमप्यविशादित्यन्वयः। कथं विचिन्त्य अस्य जीवनं अमीषां च विहिंसनमिति द्वयं, वै निश्चितम्। कथं न स्यादिति॥ २८॥

**तदेति।** घनच्छदाः मेघान्तरिताः कौणपाः कुणपाशिनो राक्षसाः कोणपो निर्ऋतिस्तदीया इति वा॥ २९॥

**तदिति।** सा[6-] र्भवत्सकमात्मानं[-6] चूर्णीकर्तुमिच्छोस्तस्य गले आदावेव तरसा ववृधे अवर्धत॥ ३०॥

1. V omits तावत् 2. A,B,J omit परं 3. V omits स्वकयोः 4. V omits अनुध्यायति 5. A,B,J °व 6- -6. A,B,J omit.

**वीर०** तावत्ततः पूर्वमेव शिशवो वत्सपा वत्सैः सहिताः असुरस्यान्तरोदरं उदरमध्यं प्रविष्टाः केवलं प्रविष्टा एव नतु रक्षासा जीर्णाः[1] जीर्णतां प्रापिताः, तत्र हेतुं वदन् रक्षो विशिनष्टि - हतः स्वस्य कान्तः सुहृद्भ्राता तस्य स्मरणेन हेतुना बकारेः कृष्णस्य वेशनं प्रवेशनं[2] प्रतीक्षमाणेन॥ २६॥

सर्वेषामभयप्रदो भगवान् श्री[3-]कृष्णः तान्[-3] प्रविष्टान् अवलोक्य विस्मितः करुणयार्दितो व्यामश्चास्य खलस्य विनाशन ममीषां सतां साधूनां जीवनं च इत्येतत् द्वयं युगपत्कथं स्यात् अत्रोभय निमित्ते कृत्यं किमिति विचिन्त्य अशेषधृक् हेतु गर्भमिदम् तत्वात् तत् कृत्यं ज्ञात्वा, हरिः आश्रितार्तिहरः स्वयमप्यस्य तुण्ड मविशत् इत्यन्वयः। कथम्भूतांस्तान्, न विद्यते स्वव्यतिरिक्तो नाथो[4] येषां स्वकलात् स्वभुजाश्रयात् भ्रष्टान् दिष्टबलेन प्रारब्ध बलेन हेतुना, मृत्योः जठराग्नेः घासस्थानीयान्॥ २७, २८॥

तदा मेघच्छन्ना देवा भयात् हा हेति चुक्रुशुः। अघासुरस्य बान्धवाः कंसा[5]द्याः कौणपाः कु[6-]णपाशिनो[-6] राक्षसास्तु हृष्टवन्तः॥ २९॥

तद्देवानां हाहेत्याक्रोशनं श्रुत्वा भगवान् कृष्णः स्वयमव्ययोऽक्षत एव सन् आत्मानं चूर्णीकर्तुं इच्छोरसुरस्य गले तरसा आशु ववृधे एधां बभूव॥ ३०॥

1. A,K,W omit जीर्णाः 2. A,B, °शं 3- -3. K,W omit 4. A,B, add रक्षिता 5. A,B °सादयः 6- -6 A,B कुणपं शरीरं तदशिनो

ततोऽतिकायस्य निरुद्धमार्गिणो ह्युद्गीर्णदृष्टिर्भ्रमतस्त्वितस्ततः।
पूर्णोऽन्तरङ्गे पवनो निरुद्धो मूर्ध न्विनि[1]र्भिद्य विनिर्गतो बहिः॥ ३१॥

तेनैव सर्वेषु बहि[2]र्गतेषु प्राणेषु वत्सान्[3] सुहृदः परेतान्।
दृष्ट्वा स्वयोत्थाप्य तदन्वितः पुनः वक्त्रान्मुकुन्दो[4] भगवान् विनिर्ययौ॥ ३२॥

पीनाहिभोगोत्थितमद्भुतं महज्ज्योतिः स्वधाम्नो[5]ज्वलयद्दिशो दश।
प्रतीक्ष्य खेऽवस्थितमीशनिर्गमं विवेश तस्मिन् मिषतां दिवौकसाम्॥ ३३॥

ततोऽतिहृष्टाः स्वकृतोऽकृतार्हणं पुष्पैः सुरा अप्सरसश्च नर्तनैः।
गीतैःसुगावाद्यधराश्च वाद्यकैः स्तवैश्च विप्रा जयनिस्स्वनैर्गणाः॥ ३४॥

तदद्भुतस्तोत्रसुवाद्यगीतिका[6]जयाद्यनेकोत्सवमङ्गलस्वनान्[7]।
श्रुत्वा स्वधाम्नोन्त्यज आगतोऽचिरात् दृष्ट्वा महीशस्य जगाम विस्मयम्॥ ३५॥

1. A,B,G निष्पाट्य 2. K,W विनिर्ग° 3. V सर्वान् 4. V कृच्छ्रा° 5. B,G,K °म्ना ज्व° 6. A गीतक 7. A,B,G °दिनै°

**श्रीध० तत** इति। निरुद्धो मुखादीनां मार्गभूतः कण्ठो यस्य[1] तस्य। [2-]यद्वा, निरुद्धौ मार्गौ प्राणोच्छ्वास रन्ध्रे अस्य स्त इति वा[-2]। उद्गीर्णदृष्टेः बहि र्निर्गतलोचनस्य। अन्तरङ्गे देहमध्ये। पूर्णः परिभृतः मूर्धन् मूर्धनि। [3-]ङि लोप आर्षः[-3]। ब्रह्मरन्ध्रं विनिर्भिद्य बहिः विनिर्गत इति॥ ३१॥

**तेनेति।** प्रणेषु इन्द्रियेषु स्वया अमृतवर्षिण्या दृष्टैचव॥ ३२॥

**पीनेति।** अहि[4]देहोत्थितं शुद्ध सत्त्वमयं ज्योतिर्निर्गतं[5] खेऽवस्थितं तस्मिन्नेव[6] ईशे विवेश॥ ३३॥

**तत** इति। स्वकृतः स्वकार्य कृतः श्रीकृष्णस्यार्हणं अकृत पूजामकुर्वन्। सुष्ठु गायन्तीति सुगाः गन्ध र्वादयः॥ ३४॥

किञ्च **तदिति।** तेषां यानि अद्भुत स्तोत्रादीनि[7] नैकोत्सवाः [8-]अनेकोत्सवाः[-8] ये मङ्गलनाः तान् स्वधाम्नः अन्ति समीपे श्रुत्वा अजो ब्रह्मा [9]अचिरादागतः [10]ईशस्य श्रीकृष्णस्य म[11]हि महिमानं दृष्ट्वा विस्मयं प्रापेति॥ ३५॥

1. A,B,J add अस्ति 2- -2. A,B,J omit 3- -3. A,B,J omit 4. B,J दहे स्थितं 5. A,B,J °त्य 6. A,B,J omit एव 7. A,B,J add तेषां 8- -8. A,B,J omit 9. V आदरा° 10. V ईश्वरस्य 11. V omits महि.

**वीर०** ततः तस्या[1]घासुरस्यान्तरङ्गे देहाभ्यन्तरे पूरितो निरुद्धः पवनो प्रा[2]णवायुः अत एव पूर्णोऽत एव मू[3]र्धनि ब्रह्मरन्ध्रं भित्वा बहिः निर्गतः। कथम्भूतस्य विपुल कायस्य निरुद्धौ मार्गौ नासारन्ध्रावस्य स्त इति तथाभूतस्य, अत एव उ[4]द्गीर्णे उद्गते दृष्टी लोचने यस्य इतस्ततो भ्रमतश्च॥ ३१॥

तेन बहिर्गतेन पवनेन सहैव सर्वेषु प्राणेषु बहिर्गतेषु सत्सु परेतान् परलोक गत प्रायान् वत्सान् सुहृदो वत्सपांश्च स्वया अमृत वर्षिण्या दृष्ट्या उत्थाप्य तैः अन्वितो भगवान् मुकुन्दः तस्य वक्त्रात् पुनः नि[5]र्ययौ॥ ३२॥

ततोऽसुरो मुक्तः कृष्णमेव विवेशेत्याह - **पीनेति।** पीनात् सर्प[6]देहात् उत्थितमद्भुतं महत् धर्मभूत ज्ञानेन बृहत्, ज्योतिः स्वयं प्रकाशं, जीवस्वरूपं स्वधाम्ना दशदिशो ज्वल[7]यत्, तावत्, खेऽन्तरिक्षे अवस्थितं सत् ईशस्य कृष्णस्य भगवतो निर्गमम् प्रतीक्ष्य, तदा आश्चर्यम्? देवानां पश्यतां सतां ततः तस्मिन् निर्गते कृष्णे प्रविवेश॥ ३३॥

ततोऽतीव हृष्टाः देवाः स्वकृतः स्वकार्य कर्तुः कृष्णस्यार्हणं[8] पुष्पैः अकृता अकुर्वन्। व्यत्ययेन एक वचनम्। सुष्ठु गायन्तीति सुगाः गन्धर्वादयः गीतैः पूजयमासुः विप्रास्तु स्तवैः स्तोत्रैः, गणाः भृत्यगणाः जयशब्दैः किञ्च अजो ब्रह्मा स्वधाम्नः स्वस्थानस्यान्ति समीपे तेषां गन्धर्वादीनां अद्भुतानि स्तोत्राणि सुवाद्यानि वाद्यादीन् गीतिका गीतानि च, जयशब्दा आदिर्येषां तान् अनेकान् उत्सवान् मङ्गलाशासनध्वनींश्च श्रुत्वा अचिरादागतः ईशस्य कृष्णस्य मही महिमानं दृष्ट्वा विस्मयं जगाम॥ ३४, ३५॥

1. K,W °स्यासु° 2. K,W omit प्राणवायुः 3. K,W omit मूर्धनि 4. A,B omit उद्गीर्णे 5. A,B विनिर्गतोऽभूत्॥ ३२॥ 6. K,W सर्व 7. A,B °यित्वा 8. A,B add पूजां

श्रीशुक उवाच

राजन् आजगरं चर्म शुष्कं बृन्दावनेद्भुतम्।
व्रजौकसां बहुतिथं बभूवाऽऽक्रीडगह्वरम्॥ ३६॥

नैतद्विचित्रं मनुजार्भमायिनः पराऽवराणां[1] परमस्यवेधसः।
अघोऽपियत्स्पर्शन[2] धूतपातकः[3] प्राणाऽऽत्मसाम्यं त्वसतां सुदुर्लभम्॥ ३७॥

सकृद्यदङ्ग प्रतिमान्तराहिता[4] मनोमयी[5] भागवती ददौ गतिम्।
स एव नित्यात्म सुखानु भूत्यभिव्युदस्तमायः[6] परमोऽङ्ग[7-]! किं पुनः॥ ३८॥

एतत्कौमारजं[8] कर्म हरे रात्माऽहि मोक्षणम्।
मृत्योः पौगण्डके बाला दृष्ट्वोचु र्विस्मिता व्रजे ▵ ॥ ३९॥

1. V °प° 2. V त° 3. B,G धौ° 4. V °तां 5. V °यीं 6. K,W भूतिर्व्यु° 7- -7. B,G मायोऽन्तर्गतोहि 8. V °कं ▵ आनेनश्लोकेन K.W प्रकाशयोः द्वादशोऽध्यायः समापितः। तदनन्तराः पञ्चश्लोकाः K.W प्रकाशयोः त्रयोदशाध्यायारम्भे स्वीकृताः परन्तु एते पञ्च श्लोकाः A.B.G.J.V प्रकाशेषु द्वादशाध्याये ४०,४१,४२,४३,४४ श्लोकत्वेन स्वीकृताः

**श्रीध० राजन्निति।** बहुतिथं बहुकालं आक्रीडगह्वरं आक्रीडार्थं[1] महाबिलम्॥ ३६॥

**नेति।** नैतद्विचित्रम्। किं तदित्यपेक्षायामाह - अघोपीति। आत्मसाम्यं स्वसमानरूपताम्॥ ३७॥

**सकृदिति।** यस्याङ्गः मूर्तिः तस्य प्रतिमा प्रतिकृतिः तत्रापि केवलं मनोमयी। सापि बलादन्तरहिता सती भागवतीं गतिं ददौ प्रह्लादादिभ्यः स एव साक्षात् स्वयं अन्तर्गतः। किं पुनः? नित्या चासावात्मसुखानुभूतिश्च तया। अभितः व्युदस्ता माया येन सः॥ ३८॥

अन्यच्चातिविचित्रं[2] वृत्तमित्याह - **एतदिति।** "कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि। कैशोर मापञ्चदशा द्यौवनन्तु ततः परम्॥" हरेः कौमारजं पञ्चमाब्दकृतं कर्म तथैव दृष्ट्वा पौगण्डके षष्टेऽब्दे बाला अद्यैव तद्वृत्तमित्यूचुः। किं तत्कर्म? मृत्योस्सकाशादात्मना महेश्च मोक्षणम्। आत्मनां प्रसिद्धान्मृत्योः, अहे स्तु संसारलक्षणात्। अघासुरस्य ज्योतिषः श्रीकृष्णे प्रवेशमपि तदा दृष्टं कथितवन्त इत्यर्थः॥ ३९॥

1. V °र्थ 2. A,B,J omit वि

**वीर०** हे राजन्! आजगरं चर्म शुष्कं सत् बहुकालं बृन्दावने स्थितानां व्रजौकसां क्रीडास्थानं बभूव, क्रीडार्थं महाबिलं आसीत् इत्यर्थः॥ ३६॥

अन्यदतिचित्रं[1] वृत्तमित्याह **नैतदिति।** एतदेव न चित्रं अपि तु परे देव ऋष्यादयः अपरे अपकृष्टा येषां ब्रह्मादीनां[2] तेषामपि परमस्य वेधसः सर्वस्रष्टु रपि लीलया कपटमनुज, बालकस्य स्पर्शन मात्रेण विधूतं पातकं यस्य तथाभूतः अघासुरोपि असतां दुष्प्रापं आत्मसाम्यं भगवत्साम्यं प्राप लेभे इति यत् तदेव अतिचित्रमित्यर्थः॥ ३७॥

एतदेव किं पुनर्न्यायेन द्रढयति **सकृदिति।** यस्य भगवतोङ्गप्रतिमा अङ्गप्रतिकृति अर्चामूर्तिः मनोमयी मनः प्रचुरा, तत्प्राचुर्यं च अत्र तन्निधापित भगवच्छक्तिकत्वं, अन्तराहिताध्यानेन अन्तर्हृदये निधापिता सती भागवतीं गतिं मुक्तिं ददौ। अङ्ग! हे राजन्! नित्यनिरतिशयानन्दज्ञानरुपः प्राकृतगुणरहितो निस्समाभ्यधिकः स एव भगवान् साक्षादन्तराहितो भागवतीं गतिं मुक्तिं ददतीति किं पुनः वक्तव्यमित्यर्थः॥ ३८॥

अन्यदपि[3] चित्रं वृत्तमित्याह **एतदिति।** "कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि। कैशोर मापञ्चदशा द्यौवनन्तु ततः परम्" तदभिज्ञ वचनात्। हरेः एतत् कौमारजं पञ्चमाब्दकृतं कर्म, तदैव दृष्ट्वा बालकाः[4] पौगण्डके षष्टेब्दे व्रजे ऊचुः। अद्यैवैतद्वृत्तमित्यूचुः[5] इत्यर्थः। अयमहो भगवन्महिमातिशयः यदन्यकालिकर्मणः तादात्विकत्वानुसन्धानं गोपानामिति भावः॥ ३९॥

1. A.B ° दप्यति 2. A,B °ह्मरुद्रा° 3. A.B. add अति 4. A.B. बालाः 5.A.B. °व°

**श्रीसूत उवाच**

**★ इत्थं द्विजा[1-] यादव[-1] देवदत्त श्रुत्वा स्वभर्तुश्चरितं[2] विचित्रम्।**
**पप्रच्छ भूयोऽपि तदेव पुण्यं वैयासकिं यन्निगृहीत चेताः॥ ४०॥**

**राजोवाच[3]**

**ब्रह्मन् कालान्तरकृतं तत्कालीनं कथं भवेत्।**
**यत्कौमारे हरिकृतं विदुः[4] पौगण्डकेऽर्भकाः॥ ४१॥**

तद्ब्रूहि मे महायोगिन् परं कौतूहलं गुरो।
नूनमैतद्धरेरेव माया भवति नान्यथा॥ ४२॥

वयं धन्यतमा लोके गुरोऽपि क्षत्रबन्धवः।
यत्पिबामो मुहुस्त्वत्तः पुण्यं कृष्णकथामृतम्॥ ४३॥

श्रीसूत उवाच

इत्थं स्व[5]पृष्टस्स तु बादरायणिः संस्मारितानन्त हृताखिलेन्द्रियः।
कृच्छ्रात्पुनर्लब्धबहिर्दृशिश्शनैः प्रत्याह तं भागवतोत्तमोत्तम[6]म्॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
वत्सबकवधोनाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

★ इत आरभ्य पञ्चश्लोकाः श्रीवीरराघवाचार्येण। (K.W Editions) त्रयोदशाध्यायारम्भे संयोजिताः। 1- -1. V. द्विजाग्र्यादथ 2. A,B,G रातु° 3. V विष्णुरात उवाच 4. B जगुः 5. A,B,G,V स्म 6. A,B,G °म!

**श्रीध० इत्थमिति।** [1-]देवदत्त परीक्षित् द्रौण्यस्त्रेण दग्धोऽपि भगवता श्रीकृष्णेन दत्तवत्वात्[-1]। येन श्रवणेन [2-]नितरां गृहीतं[-2] वशीकृतं चेतो यस्य सः। [3-]यद्वा, भगवति निगृहीतं नियमितं चेतो यस्येति वा[-3]॥ ४०॥

**ब्रह्मन्निति।** कालान्तरे कौमारे कृतं पौगण्डके कथम्! ज्ञात्वा ऊचुरित्यर्थः॥ ४१,४२॥

★**वयमिति।** हे गुरो! क्षत्रबन्धवोऽपि पापिष्ठा अपीत्यर्थः॥ ४३॥

**इत्थमिति।** तेन यः स्मारितोऽनन्तः तेन हृतान्यखिलेन्द्रियाणि यस्य सः तथा भूतोऽपि कथंचिल्लब्धबहिर्दृष्टिः। हे भागवतोत्तमोत्तम! शौनक!॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

1- -1. A,B,J omit 2- -2. A,B,J निगृहीतं 3- -3. A,B,J omit * The commentary on 43rd verse is not found in A,B,J Edns.

**वीर०** कैमारजं[1] कर्म पौगण्डके प्रोचुरित्युक्तं, तत्र कारण बुभुत्सयाऽपृच्छत् राजेत्याह सूतः **इत्थमिति**। हे द्विजाः! यादवदेवः श्रीकृष्णः तेन दत्तः परीक्षिदित्थं विचित्रं स्वभर्तुः चरित्रं श्रुत्वा, पुनः पुण्यावहं तदेव पौगण्डके कौमारजं प्रोचुरित्येत देव, वैयासकिं शुकं[2] पप्रच्छ! प्रश्नहेतुं[3] वदन् राजानं विशिनष्टि। येन भगवता नितरां गृहीतं चेतो यस्य तथाभूतः॥ ४०॥

प्रश्न प्रकारमेवाह - **बह्मन्निति**। हे ब्रह्मन्! कालान्तरे कौमारकाले कृतं कर्म, तत्कालीनं पौगण्डकालीनं[4], कथं भवेत्, पौगण्डके कथं ज्ञात्वा ऊचुरित्यर्थः। तदाह यदिति। यद्वा तत्कालीनं पौगण्डक[5]काले वाच्यं कथं भवेत् यत्कालावच्छेदेन कृतं तत्तत्काले विस्मृतं सत् कालान्तरे च स्मृतं सत् वाच्यं स्यात् एवेत्यत्राह यदिति। यत् यस्मात् कारणात् कौमारे[6] कृतं, पौगण्डके विदुः सन्निकृष्ट काले स्मरणाभावः। कालान्तरे स्मरणं च न विना कारणेन भवति इति तत्कारणं वदेति प्रश्नार्थः॥ ४१॥

तदेतत्कारणं ब्रूहि हे महायोगिन्! मं ममैतत्कारणं श्रोतुं परमधिकं कौतूहलं वर्तते। ममत्वेवं प्रतिभातीत्यभिप्रायेणाह एतत्कारणं, हरेः माया आश्चर्य शक्ति रेव। नूनं ध्रुवम्। अन्यथा तु एवं न घटते॥ ४२॥

आत्मनः कृतार्थतामाविष्कुर्वन् भगवत्कथां स्तौति - **वयमिति**। हे गुरो! क्षत्र बन्धवोऽपि वयं लोके धन्यतमाः कृतार्था एव। कुतः? यतः कृष्णस्य कथामृतं मुहर्मुहुः त्वत्तः पिबामः अन्यानां नैवं घटेतेति भावः॥ ४३॥

इत्थमापृष्टो भगवान् बादरायणिः तदाऽऽहेत्याह सूतः - **इत्थमिति**। स तु बादरायणिः इत्थं पृष्टः, अत एव तावत् संस्मारितेन, अपरिच्छिन्न वैभवेन भगवता हृतानि अखिलानि इन्द्रियाणि यस्य तथा भूतोऽपि पुनः शनैः कृच्छ्रात्कथञ्चित् लब्धा बहिः दृशिः येन। तथा भूतः तं भागवतोत्तमोत्तमं राजानं प्रत्याह। भागवतोत्तमोत्तमेति पाठे हे शौनक!॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघव विदुषालिखितायां भागवतचन्द्र चन्द्रिकायां
व्याख्यायां द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

1. A.B.W °कं 2. K.W. omit शुकं 3. A.B श्ने° 4. K. °ण्डकका° 5. A.B. omit °क° 6. A.B ° रकृ'

# ॥ त्रयोदशोऽध्यायः ॥

(विजयध्वजीये अयमध्यायो नाऽस्ति)

श्रीशुक उवाच

साधु पृष्टं महाभाग! त्वया भागवतोत्तम!
यन्नूतनयसीशस्य शृण्वन्नपि कथां मुहुः॥ १॥

सतामयं सार[1]भृतां निसर्गो यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि।
प्रतिक्षणं नव्यव दच्युतस्य यत्स्त्रिया विटाना मिव साधु वार्ता॥ २॥

शृणुष्वावहितो राजन्नपि गुह्यं वदामि ते।
ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत॥ ३॥

[2]अथाऽघवदनान्मृत्यो रक्षित्वा [3-]वत्सपालकान्[-3]।
[4]सरःपुलिन मानीय भगवा निद मब्रवीत्॥ ४॥

अहोऽतिरम्यं पुलिनं वयस्याः स्वकेलिसम्पन्मृदुलाच्छवालुकम्।
स्फुटत्सरोगन्ध हृतालिपत्रिक ध्वनि प्रतिध्वानलसद्दुमाकुलम्॥ ५॥

अत्र भोक्तव्य मस्माभि र्दिवारूढं क्षुधर्दिताः।
वत्साः समीपेऽपः पीत्वा चरन्तु शनकैस्तृणम्॥ ६॥

तथेति पयायित्वा[5]ऽर्भाः वत्सा नारुध्य शाद्वले।
मुक्त्वा शिक्यानि बुभुजुः समं भगवता [6]मुदा॥ ७॥

1. K, W. दृशां 2. A,B,G,J तथा°; V. तदा° 3- -3. V स्वार्भवत्सकान् 4. A,B,G,J सरित्पु° 5. B. 'ऽम्भो 6. V तदा

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

त्रयोदशेऽहरद्ब्रह्मा वत्सान् पालांश्च मायया।
तदा तत्सर्वरूपोऽब्दं कृष्णः पूर्ववदाचरत्॥

**साध्विति।** नूतनयसि नवी[1] करोषि॥ १॥

**सतामिति।** तथाहि - सारभृतां साग्राहिणां अयं निसर्गः स्वभावः कोऽसौ? अच्युतस्य वार्ता श्रुता[2-] सती[-2] प्रतिक्षणं साधु नव्यवद्भवतीति सः विटानां स्त्रैणानां स्त्रियाः कामिन्याः वार्तेव। यत् कथम्भूतानामपि सताम्? या अच्युत वार्तैव अर्थो येषां तानि वाणीश्रुतिचेतांसि येषां तथाभूतानामपि॥ २,३,४॥

भोजन विधानाय पुलिनं स्तौति - **अहो** इति। स्वीयानां केलीनां सम्पदो विद्यन्ते यस्मिं स्तत्। मृदुला अच्छा वालुका यस्मिंस्तत् किञ्च, स्फुटद्विकसत् सरः, सरोजबाहुल्येनोपचारतः सर एव विकरा दित्युक्तम्। तस्य गन्ध स्तेन हृता आकृष्टा अलयः पत्रिणश्च ये तेषां के उदके ध्वनय स्तेषां प्रतिध्वानाः तैर्लसन्तो द्रुमा स्तै राकुलं व्याप्तम्॥ ५॥

**अत्रेति।** दिवा[3-] दिनमारूढं प्रवृद्धम्। भोजन[-3] वेलाऽतीतेत्यर्थः॥ ६॥

**तथेति।** आरुध्य संरुध्य। शाद्वले हरिततृणे[4] देशे॥ ७॥

1. A,B,J नव्यवत् 2- -2. B,J,V omit 3- -3. A,B,J दिवारूढं 4. V °ण°

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

पश्नस्योत्तरं विवक्षुः तावत्प्रश्न मभिनन्दति **साध्विति।** त्वया[1] साधु यथा तथा पृष्टं कुतः ? यत् यस्मात् कथामृतं शृण्वन्नपि नूतनयसि नूतनं[2] करोषि॥ १॥

युक्तमेवैतदित्याह - **सतामिति।** साग्राहिणां साधूना मयं निसर्गः स्वभाव एव। कौऽसौ? अच्युतस्य वार्ता प्रतिक्षणं साधु नव्यवद्भवतीति यदेषः। कथम्? स्त्रैणानां स्त्रियाः कामिन्याः वार्तेव, कथम्भूताना मपि सताम्? यः अच्युत एवाऽर्थो विषयो येषां तानि वाणीश्रुतिचेतांसि येषां तथाभूतानामपि॥ २॥

शृणुष्वेत्यभिमुखीकरणम्। अवहित इति श्रवणोपयुक्तचित्तसमाधानम्। गुह्यं गोप्य मपि[3] ॥ ३॥

विवक्षितंकृत्तेन सङ्गमयति - **अथेति।** मृत्युतुल्या दघासुरस्य मुखा द्वत्सान् तत्पालकांश्च रक्षित्वा इदं वक्ष्यमाण मुवाच॥ ४॥

पुलिन एव आशिशिषा मुत्पादयितुं तत् स्तौति - **अहो** इति। हे वयस्याः स्वीयानां केलीनां सम्पदो यस्मिन्, मुदुला अच्छा वालुका यस्मिन्, स्वकेलिसमृद्ध्यर्थं मृदुला वालुका यास्मि न्निति वा। स्फुटत् विकसत् सरः, सरोरुहबाहुल्यात् उपचारात् सर एव विकस दित्युक्तम्। तस्य गन्धेन हृत आकृष्टा अलयः पत्रिणश्च तेषाम्। के उदके ध्वनयः तेषां प्रतिध्वानाः तैः लसन्तो द्रुमाः तै राकुलं व्याप्तम्॥ ५॥

अत्र अत्रैव दिवा दिनं रुढं प्रवृद्धम्। भोजन वेला अतीतेत्यर्थः। क्षुधाऽर्दिता वत्साः अपः पीत्वा अत्र समीप एव शनकैः तृणं चरन्तु अदन्तु॥ ६॥

तथैवाऽस्वित्युक्त्वा अर्भा बालाः वत्सा नपः पाययित्वा शाद्वले तृणहीरतदेशे वत्सान् आरुध्य[4] भगवता सह शिक्यानि पर्युषितान्नग्रन्थीन् मुक्त्वा बुभुजुः॥ ७॥

1. K,W omits त्वया 2. A,B, नवीनं 3. A,B add इति 4. A,B सं°

कृष्णस्य विष्वक्पुरुराजिमण्डलै रभ्याननाः फुल्लदृशो व्रजार्भकाः।
सहोपविष्टा विपिने[1] विरेजु श्छदा इवाम्भोरुहकर्णिकायाः[2]॥ ८॥

केचि त्पुष्पै र्दलैः केचि त्पल्लवै रङ्कुरैः फलैः।
शिग्भिस्त्वग्भि र्दृषद्भिश्च बुभुजुः कृतभाजनाः॥ ९॥

सर्वे मिथो दर्शयन्तः स्वस्वभोज्यरुचिं[3] पृथक्।
हसन्तो हासयन्तश्चाऽभ्यवजहुस्सहेश्वराः॥ १०॥

बिभ्रद्वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे वामे पाणौ मसृणकबलं तत्फलान्यङ्गुलीषु।
तिष्ठन्मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन्नर्मभिस्स्वै स्स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग्बालकेलिः॥ ११॥

भारतैवं वत्सपेषु भुञ्जानेष्वच्युतात्मसु।
वत्सा स्त्वन्तर्वणे[4] दूरं[5] विविशु स्तृणलोभिताः॥ १२॥

तानदृष्ट्वा[6] भयत्रस्तानूचे[7] कृष्णोऽस्य भीभयम्।
मित्राण्याशान्मा विरमत[8] ह्यानेष्ये वत्सकानहम्॥ १३॥

1. V पुलिने 2. A,B,G,J,V यथा° 3. V स्वां स्वां 4. V °श्वा° 5. A,B °ने 6. A,B,G,J तान्द° 7. A,B,G,J °सन्त्र° 8. A,B,G,J °तेहा°

**श्रीध० कृष्णस्येति।** तदा ते विरेजुः कृष्णस्य विष्वक् परितः पुरु राजिमण्डलैः बहुभिः पङ्क्तिमण्डलै स्सह नैरन्तर्येणोपविष्टाः। श्रीकृष्णाभिमुखानि आननानि येषां ते। फुल्लदृशो विकसितनयनाः। कमलकर्णिकायाः परितः पत्राणि यथेति[1]॥ ८॥

**केचिदिति।** पुष्पै स्तद्दलैः अन्यैश्च पत्रैः कृतानि भाजनानि यैस्ते॥ ९॥

**सर्व** इति। रुचिं स्वादविशेषम्[2]। अभ्यवजहु र्बुभुजिरे। सहेश्वराः श्रीकृष्णसहितः॥ १०॥

**बिभ्रदिति।** यज्ञभुगपि तेषु बुभुजे बालाना मिव केलिर्यस्य सः। तदाह - उदरवस्त्रयो र्मध्ये वेणुं बिभ्रत्[3] दध दिति सर्वत्र सम्बध्यते[-4]। वाम इति काकाक्षिन्यायात्[5-] कक्षपाण्यो र्विशेषणम्। मसृणं स्निग्धम् दध्योदन कबलम्। तदुचितानि बिल्वामलकादिफलानि[6] अङ्गुलीषु[7] अङ्गुलिसन्धिषु। कर्णिकेव सर्वाभिमुखो मध्ये तिष्ठन् स्वपरि[8] स्वस्य परित उपविष्टान् इत्यर्थः[9] सुहृदः स्वैर्नर्मभिः परिहासवाक्यैः स्वर्गे स्वर्गनिवासिनि[10] जने मिषति आश्चर्येण पश्यति सति लोके इ[11-] ह वत्सप[-11] जनानां मध्ये बुभुजे॥ ११,१२॥

**तानिति।** भीभयं भयहेतुभ्यो भयं अस्यापास्य नि[12-]रश्येत्यर्थः[-12] यद्वा अस्य विश्वस्य भियोऽपिभयं, यः श्रीकृष्णः आशात् भोजनात्। अ[13-]स्मिन्पादे[-13] अक्षराधिक्य मार्षम्॥ १३॥

1. A यथा तथेति 2. B °दु° 3. V दधानः 4- -4. V त्राऽन्वयः 5- -5. A,B,J omit 6. A,J °ल्वादि° 7. A,B,J omit अङ्गुलीषु 8. A,B,J omit स्वपरि 9. A,B,J omit इत्यर्थः 10. B,J omit °नि° 11- -11. A,B,J omit 12- -12. A,B,J omit 13- -13. V अत्र

**वीर०** तदा ते रेजुः कथम्भूताः कृष्णस्य विष्वक् परितः बहुभिः पङ्क्तिमण्डलै स्सह नैरन्तर्येणोपविष्टाः कृष्णाभि मुखान्यानानि येषां ते, फुल्लदृशो विकसितनयनाः यथा कमलकर्णिकायाः परितः स्थितानि दलानि तद्वत्॥ ८॥

पुष्पैः दलैः पु[1-]ष्पदलैः[-1] पुष्पदलादिभिः कृतानि भाजनानि पात्राणि यै स्तथाभूताः बुभुजुः यद्वा पुष्पैः सङ्घटि-तपुष्पदलैः दलैः[2] पद्मिनीदलै रन्यैर्वा पत्रैः पल्लवैः प्रवृद्धारुणकोमलपत्रैः अङ्कुरैस्ततोऽपि पूर्वावस्थाविशिष्टैः उभयत्राऽपि भूमौ नीरन्ध्र मास्तीर्णैः फलै रपि तथाभूतैः त्वग्भिः भूर्जादित्वग्भिः॥ ९॥

स[3-]र्व इति[-3]॥ सहेश्वराः श्रीकृष्णसहिताः अभ्यवजहुः बुभुजुः॥ १०॥

यज्ञभुगपि भगवान् लीलया बालस्येव केलि र्यस्य सः, स्वर्गे स्वर्गस्थे लोके देवजने मिषति पश्यति सति बुभुजे। कथम्भूतः उदरवस्त्रयो र्मध्ये वेणुं बिभ्राणः। इद मुत्तरत्राप्यन्वेति। वाम इति काकक्षिन्या[4-]यात्[-4] कक्षपाण्यो र्विशेषणम् वामे कक्षे शृङ्गवेत्रे बिभ्रत्, पाणौ मसृणकबलं स्निग्धदध्यन्नकबलं, तदुचितानि बिल्वाम्रादि फलानि अङ्गुलिसन्धिषु बिभ्रत्[5] बालानां मध्ये तिष्ठन् स्वस्य परितः उपविष्टान् सुहृदो मित्राणि नर्मभिः परिहासवाक्यैः हासयन्॥ ११॥

हे भारत! अच्युते श्रीकृष्ण एव आत्मा चित्तं येषां तेषु भुञ्जानेषु सत्सु वत्साः तृणलोभिताः दूरमन्तर्वणे वनमध्ये विविशुः॥ १२॥

तान् वत्सान् अदृष्ट्वा अतएव भयत्रस्तानि मित्राणि सखीन् हे[6-] मित्राणीति सम्बोधनं वा[-6] भीभयं भयहेतुभ्यो भयं अस्य निरस्य ऊचे, तदेवाऽऽह आशात् भोजनात् मा विरमत विरामं मा[7] कुरुत, हि यस्मात् अहं वत्सानानेष्ये॥ १३॥

1- -1. A,B omit 2. A,B पत्रैः 3- -3. K,W मिथ इति। 4- -4. K,W वत् 5. K,W omits बिभ्रत् 6- -6. K,W omits 7. A,B न

-: वत्सापहारघट्टः :-

इत्युक्त्वाऽद्रिदरीकुञ्जगह्वरे ष्वात्मवत्सकान्।
विचिन्व न्भगवान्कृष्णः सपाणिकबलो ययौ॥ १४॥

अम्भोजन्मजनि स्तदन्तरगतो मायार्भकस्येशितु
र्द्रष्टुं मञ्जु महित्व[1] मन्यदपि तद्वत्सानितो वत्सपान्।
नीत्वाऽन्यत्र कुरूद्वहान्तरदधात्खेऽवस्थितो यः पुरा
दृष्ट्वाघासुरमोक्षणं प्रभवतः[2] प्राप्तः परं विस्मयम्॥ १५॥

ततो वत्सा नदृष्ट्वैत्य पुलिनेऽपि[3] च वत्सपान्।
उभावपि वने कृष्णो विचिकाय समन्ततः॥ १६॥

क्वाप्यदृष्ट्वाऽन्तर्विपिने वत्सान् पालांश्च विश्वदृक्[4]।
सर्वं विधिकृतं कृष्णः[5]सहसाऽवजगाम[6] ह॥ १७॥

ततः कृष्णो मुदं कर्तुं तन्मातृणाञ्च कस्य च।
उभयायित मात्मानं चक्रे विश्वदृगीश्वरः[7]॥ १८॥

यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपु र्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं
यावद्यष्टिविषाण वेणुदल शिग्यावद्विभूषाम्बरम्।
याव च्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद्विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ॥ १९॥

स्वय मात्मात्मगोवत्सान् प्रतिवार्यात्मवत्सपैः[8]।
क्रीडन्नात्मविहारैश्च सर्वात्मा प्राविश द्व्रजम्॥ २०॥

1. V महत्त्व 2. V भग° 3. V ऽथ च 4. A,B,G,J °वित् 5. V ज्ञात्वा 6. V °ऽभि° 7. A,B,G,J °कृदी° 8. A परिवार्या° K,W परिपाल्या°

श्रीध० इतीति। अद्रिषु तद्दरीषु कुञ्जेषु लतादिपिहितोदरविवरेषु, गह्वरेषु सङ्कटस्थानेषु च ॥ १४॥

**अम्भोजन्मेति।** अम्भोजन्मनः पद्मात् जनिः उत्पत्ति र्यस्य स ब्रह्मा तदन्तरे तस्मिन्नवसरे गत आगत स्तच्छिद्रं प्राप्तो वा मञ्जु मनोहरम् अन्यदपि महित्वं महिमानं द्रष्टुं तस्य वत्सा नितःस्थानात् वत्सपांश्च अन्यत्र नीत्वा स्वयं तिरो बभूव भगवतः श्रीकृष्णस्य॥ १५॥

**तत** इति। उभावपि वत्सा न्वत्सपांश्च। विचिकाय अन्वेषितवान्॥ १६॥

**क्वेति।** विधिकृतम् ब्रह्मणा कृतम्॥ १७॥

**तत** इति। उभयायितम् वत्स तत्पालरूपेण उभयथा वर्तमान मित्यर्थः। अयंभावः - यदि तूष्णीमासे तर्हि तन्मातॄणां विषादः स्यात्, यदि च तानेवानयिष्यामि तर्हि ब्रह्मणो मोदो न स्यादिति तदुभयप्रीतये तथा चक्रे इति॥ १८॥

तदेव दर्शयति **याव दिति।** वत्सपानां वत्सकानाञ्च अल्पकं वपुःप्रमाण मनतिक्रम्य एव मुपर्यपि योज्यम्। यद्वा यावद्वत्सपादिवपुः तावत्सर्वस्वरुपोऽजः कृष्णो बभा वित्युत्तरत्रान्वयः "सर्वं विष्णुमयं जगत्" इति प्रसिद्धा या गीः तस्या अङ्गवत् सा गीरिव अर्थस्वरूपेण प्रत्यक्षा यथा तथा बभूवेत्यर्थः॥ १९॥

**स्वयमिति।** एवं सर्वात्मा सन् व्रजं प्राविशत्। कथम्? स्वय मात्मैव प्रयोजकः, आत्मरूपान् गोवत्सा निति कर्मापि स्वयमेवेत्युक्तम्। आत्मरूपैः वत्सपैः प्रतिवार्य। प्रयोज्यकर्ताऽपि स्वयमेव। आत्मविहारैः क्रीडन्निति क्रियाऽपि कारकाण्यपि स्वय मेवेत्यर्थः॥ २०॥

1. A तेषां द° 2- -2. A omits 3. A,B,J omit उत्पत्तिः 4. V अ° 5- -5 V omits 6. V महत्त्वं 7. A adds पुलिनात् 8. A,B,J प्रभव° 9. A,B,J अन्वीक्षि° 10. A,B,J omit उभयथा 11. A,B,J °हो° 12. V °क° 13- -13. A,B,J °वित्यर्थः। उत्तरत्राप्येवम्। 14. A adds कथम्? 15. V adds मूर्तिवत् 16. V omits अपि

**वीर०** इत्युक्त्वा पाणौ कबलेन सहितः अद्रिषु तद्दरीकुञ्जेषु च गह्वरेषु सङ्कटस्थानेषु च वत्सान् विचिन्वन् ययौ॥ १४॥

ततः अम्भोजन्मनः पद्माज्जनिः जननं यस्य स चतुर्मुखः तस्मिन्नन्तरे अवसरे आगतः तदेव छिद्रं प्राप्तो वा यो ब्रह्मा पुरा भगवतः अघासुरमोक्षणरूपं कर्म खेऽवास्थितो दृष्ट्वा विस्मयं प्राप्तः सोऽस्येशितुः अन्यदपि रमणीयं महित्वं महिमानं द्रष्टुं तद्वत्सान् वत्सपांश्च इतोऽन्यत्र नीत्वा अन्तरदधात्तिरोहितो बभूव॥ १५॥

ततो वत्सा नदृष्ट्वा आगतः पुलिने वत्सपांश्चाऽदृष्ट्वा पुन रुभावपि वत्सवत्सपसमुदायौ विचिकाय अन्वेषितवान्॥ १६॥

अन्तर्विपिने वनमध्ये क्वाप्यदृष्ट्वा, विश्वदृक्, हेतुगर्भ मिदम् तत्वात् सर्वं वत्सवत्सपापहरणरूपं कर्म चतुर्मुखकृतं आशु अवगतवान्॥ १७॥

तेषां वत्सानां वत्सपानाञ्च मातॄणां कस्य च ब्रह्मणश्च प्रीतिं कर्तुं विश्वदृगीश्वरश्चेति हेतुगर्भम्। विश्वदृक्त्वात् यथेष्टपरिणामोपयुक्तसार्वज्ञ्यादि गुणयुक्तत्वात् ईश्वरत्वात् प्रभुत्वात् सर्वशक्तित्वाच्च आत्मान मेव उभयायितं वत्सवत्सपायितं तदुभयवदाचरन्तं चक्रे॥ १८॥

तदेव प्रपञ्चयति **यावदिति**। यावच्छब्दः साकल्यार्थः अजः श्रीकृष्णः यावद्वत्सानां वत्सपानाञ्च अल्पवपुरादिकं तावत्स्वरुपो बभौ। कथम्? 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' इति या प्रसिद्धा वाणी तस्या अङ्गवत् तदर्थमूर्तिवत् सा गीरिवाऽर्थस्वरूपेण प्रत्यक्षा यथा भवति तथा बभा वित्यर्थः। दलानि भूषार्थं शिरस्सु निहितानि किसलयदलानि शिक् शिक्यानि शीलानि स्वभावाः अभिधा नामानि आकृति रवयवसंस्थानम्। 'गिरोरर्थव' दितिपाठे प्रत्यक्ष स्तदर्थ इवेत्यर्थः॥ १९॥

एवं स्वय मेव सर्वात्मा सन् आत्माभिन्नैर्वत्सपैः आत्माभिन्नान् गवां वत्सान् स्वय मात्मैव प्रयोजकः परिल्यात्म-विहारैः क्रीडन् व्रजं प्राविशत्॥ २०॥

1. A, B इत्थमुक्त्वा 2. A,B युक्तः 3. A,B °रीषु 4. A,B °रस्य 5. A,B महत्त्वं

**तत्तद्वत्सा न्पृथक्नीत्वा[1] तत्तद्गोष्ठे निवेश्य[2] सः।**
**तत्तदात्माऽभवद्राजन् तत्त त्सद्म प्रविष्टवान्॥ २१॥**

**तन्मातरो वेणुरवत्वरोत्थिताः उत्थाप्य दोर्भिः परिरभ्य निर्भरम्[3]।**
**स्नेहस्नुतस्तन्यपयः[4] सुधासवं मत्वा परं[5] ब्रह्म सुतानपाययन्॥ २२॥**

**ततो नृपोन्मर्दन मज्जलेपनाऽलङ्काररक्षातिलकाञ्जनादिभिः[6]।**
**संलालितः[7] स्वाचरितैः[8] प्रहर्षयन्सायङ्गतो याम यमेन माधवः॥ २३॥**

**गाव स्ततो गोष्ठ मुपेत्य सत्वरं हुङ्कारघोषैः परिहूतसङ्गतान्।**
**स्वकान् स्वकान् वत्सतरानपायय न्मुहुर्लिहन्त्यः स्रवदौधसं पयः॥ २४॥**

**गोगोपीनां मातृताऽस्मिन्सर्वा स्नेहर्धिकां विना।**
**पुरावदास्वपि[9] हरे स्तोकता मायया विना॥ २५॥**

**व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याऽऽब्दमन्वहम्।**
**शनै र्निस्सीम ववृधे यथा कृष्णे तु[10] पूर्ववत्॥ २६॥**

1. V ज्ञात्वा 2. V प्र 3. A निर्वृताः 4. A स्रुत 5. K,W सुतं 6. V गन्ध° 7. A,B,G,J,V °श° 8. V सु° 9. A,B,G,J,V. °रो° 10. A,B,G,J त्वपू°

**श्रीध० तत्तदिति** । तत्तदात्मा तत्तद्गोपबालरूपोऽभवत्। तत स्तत्त त्सद्म प्रविष्टः॥ २१ ॥

गोपिकामोह माह - **तन्मातर** इति। तन्मातरो वेणुरवेण त्वरयोत्थिता स्सत्यः सुतान्मत्वा परं ब्रह्मैव दोर्भिः उत्थप्य उपगूह्य[1] पयस्सुधासवं पय एव सुधाव त्स्वादु आसवव न्मादकं पाययामासु रित्यर्थः॥ २२॥

**तत** इति। एवं यामयमेन तत्तत्कालक्रीडानियमेन सायं गतः प्राप्तः स्वाचरितैः स्वस्याऽऽचरितैः शोभनै राचरितै र्वा मातृः प्रहर्षयन् तत स्ताभि रुन्मर्दनादिभि रुपलालित इति॥ २३॥

गवां मोहन माह **गाव** इति। परिहूता आहूताश्च ते सङ्गताश्च तान्॥ २४॥

एतावत्तु, वैषम्यं कृष्णस्याऽपि दुर्निवार मासीदित्याह - **गोगोपीना** मिति। गवां गोपीनां चाऽस्मिन्कृष्णे मातृता पलालनादिरूपा पुरोवदेवाऽऽसीत्, किन्तु स्नेहर्धिकां विना, स्नेहाधिक्यन्त्विदानीं विशेष इत्यर्थः। आसु गोगोपीषु हरे स्तोकता च बालभावनादिपूर्ववदेवाऽऽसीत्, किन्तु मायया विना। ममेयं माता, अह मस्याः पुत्रः इति मोहं विनेत्यर्थः॥ २५॥

स्नेहर्धि मेव दर्शयति - **व्रजौकसा** मिति। यथा कृष्णे यशोदानन्दने स्वपुत्रेभ्योऽपि स्नेहाधिक्यं पूर्वमासीत् इदानीं स्वतोकेष्वपि तथैवावर्धतेत्यर्थः। आशब्दं याव त्संवत्सरम्। निस्सीम यथा भवति[2] त[3-]था स्नेहवल्ली ववृधे[-3] ॥ २६॥

1. A,J उदुह्य; B उदूह्य 2. V omits भवति 3- -3. A,B,J omit

**वीर०** पृथङ्नीत्वा पृथक्कृत्य तत्तद्गोष्ठे प्रवेश्य तत्तदात्मा तत्तद्बालकप्रतिरूपो भूत्वा तत्तद्बालगृहं प्रविष्टवान्॥ २१॥

अथ गोपिका मोहन प्रकारमाह **तन्मातर** इति। वेणुरवेण लिङ्गेन त्वरयोत्थिताः तद्वत्सपमातरः सुतान् मत्वा परं ब्रह्मैव दोर्भ्यां निर्भरं पूर्णानन्दं यथा तथा उत्थाप्य उपगूह्य स्नेहस्नुतः स्नेहेन स्नुतपयोधरा स्सत्यः। यद्वा स्नेहेन स्नुतं स्तन्यपय[1] एव सुधावत्स्वादु आसववन्मादकं पाययामासुः॥ २२॥

एवं माधवः यामयमेन तत्तत्[2]कालनियमेन सायं गतः प्राप्तः तत श्शोभनैराचरितैः चेष्टितैः प्रहर्षयन् हे नृप! उन्मर्दनादिभि संस्कारितो बभूव॥ २३॥

अथ गवां मोहन प्रकार माह - **गाव** इति। हुङ्कारघोषैः परिहूतांश्च सङ्गताश्च तान् वत्सान् मुहुर्मुहु[3] र्विलिहन्त्यः स्रवत् औधसं आपीनोद्भवं पयः क्षीरम् अपाययन्॥ २४॥

एतावत्तु वैषम्यं कृष्णस्याऽपि दुर्निवार मासी दित्याह - **गोगोपीनामिति**। गवां गोपीनाञ्च तस्मिन् वत्स-वत्सपात्मकता मापन्ने कृष्णे स्नेहर्धिकां स्नेहसमृद्धिं विना[4] स्नेहाधिक्यं विनेति यावत्। मातृता उपलालनादिरूपा सर्वा पूर्ववदेवा[5]ऽऽसीत् तथा आसु गोपीषु हरेस्तोकता बालभावः पूर्ववदेवाऽऽसीत् किन्तु मायया विना, ममेयं माता, अहमस्याः पुत्र इति मोहं विनेत्यर्थः॥ २५॥

स्नेहर्धिकामेव दर्शयति - **व्रजौकसा** मिति। व्रजौकसां कृष्णे यशोदा नन्दने स्वपुत्रेभ्योऽपि स्नेहवल्ली स्नेहसन्ततिः पूर्व[6] मेव ववृधे। इदानीं स्वतोकेषु स्वापत्येष्वपि आब्दं संवत्सरपर्यन्त मन्वहं निस्सीम निरवधिकं यथा तथा तदैवाऽवर्धतेत्यर्थः॥ २६॥

1. A,B °न्यं° 2. K,W omit तत् 3. A,B omit मुहुः 4. A,B, omit विना 5. K,W °दासीत् 6. A,B °वदेव

इत्थ मात्माऽऽत्मनाऽऽत्मानं वत्सपाल[1] मिषेण सः।
पालयन्वत्सपो[2] वर्षं[3] चिक्रीडे वनगोष्ठयोः॥ २७॥

एकदा चारय न्वत्सान् सरामो वन माविशत्।
पञ्चषट्सु[4] त्रियामासु हायनापूरणी ष्वजः॥ २८॥

ततो विदूराच्चरतो[5] गावो वत्सा नुपव्रजम्।
गोवर्धनाद्रिशिरसि[6] चरन्त्यो ददृशु स्तृणम्॥ २९॥

दृष्ट्वाऽथ[7] तत्स्नेहवशोऽस्मृतात्मा स गोव्रजोऽत्यात्मपदुर्गमार्गः।
द्विपा त्ककुद्ग्रीव उदास्य पुच्छोऽगाद्धुङ्कृतै रास्नुपया जवेन॥ ३०॥

समेत्य गावो[8] गोवत्सान् वत्सवत्योऽप्यपाययन्।
गिलन्त्य इव चाऽङ्गानि लिहन्त्यः स्वौधसं पयः॥ ३१॥

गोपा स्तद्रोधनायास मौध्यलज्जोरुमन्युना।
दुर्गाध्वकृच्छ्रतोऽ भ्येत्य[10] गोवत्सै र्ददृशुस्सुतान्॥ ३२॥
त[11] द्वीक्षणोत्प्रेमरसाप्लुताशया जातानुरागा गतमन्यवोऽर्भकान्।
उदुह्य दोर्भिः परिरभ्य मूर्ध्नि[12] घ्राणै रवापुः परमां मुदं ते॥ ३३॥

1. V बा° 2. V. भगवान् 3. B वर्षे 4. A,B,G,J °षासु 5. V °ऽति 6. V शिखरे 7. K,W च 8. A,B,G,J. °वोऽधो 9. A मौढ्य 10 K,W °ऽन्वेत्य 11. B,G,J,V तदी° 12. B,G,J मूर्धनि

**श्रीध० इत्थमिति।** एव मात्मा श्रीकृष्णो वत्सपोभूत्वा तत्राऽपि तावद्वत्सानां[1] पालानाञ्च मिषेण आत्मानमात्मना[2] पालयन् क्रीडितवानित्यर्थः॥ २७॥

एतावत्पर्यन्तं रामस्याऽपि मोह एवाऽऽसीत् संवत्सरान्तेतु कथञ्चि ज्ज्ञातवा निति दर्शयन्नाह **एकदेति।** पञ्चसु[3] वा षट्सु वा रात्रिषु हायनस्याऽऽपूरणीषु पूरकतयाऽवशिष्टासु इत्यर्थः॥ २८॥

**तत** इति। ततो दूरत एव गोवर्धनशिखरे चरन्त्यो गावो व्रजसमीपे चरतो वत्सान् ददृशुः॥ २९॥

**दृष्ट्वेति।** तदैव स गोव्रजो गवां कलापः तत्स्नेहवश स्तेषां वत्सानां स्नेहनाऽऽकृष्टोऽतएव न स्मृत आत्मा देहो[4] येन सः, जवेनोपव्रज मगात्। कथम्भूतः? अत्यात्मपदुर्गमार्गः, अतिक्रान्त आत्मपान् गोपालान् यः सोऽत्यात्मपः। तथा दुर्गो[5] दुर्गमो मार्गो यस्य सः स च[6] स च तथा परस्पर[7] युक्ताभ्यां पद्भ्यां धावन् द्विपादिव प्रतीयमानः ककुद्वाकुञ्चिता ग्रीवा यस्य

सः। उदास्य पुच्छः उन्नमिता न्यास्यानि पुच्छानि च येन सः। आ[★ 8] स्रुपयाः सर्वतः स्रवन्ति पयांसि यस्य सः आ[9-] स्नुपयाः इत्यपि पाठे स एवाऽर्थः[-9]। गोव्रज इत्यनेन वृषभादयोऽप्यगु रित्युक्तम्॥ ३०॥

तत्र विशेषतो धेनूनां चेष्टितमाह - **समेत्येति**। गोवर्धनस्याधः वत्सवत्यः पुनः प्रसूता अपि॥ ३१॥

रामेण दृष्टं वत्सेषु गवां स्नेहातिशय मुक्त्वा गोपानामपि दर्शयितु माह - **गोपा** इति तासां गवां रोधने य आयास स्तस्य मौघ्येन मोघत्वेन लज्जया सहोरुमन्युना दुर्गमार्गजनितक्लेशेन चाभ्येत्य गोवत्सैस्सह सुतान् ददृशुः ॥ ३२॥

ततश्च तेषा मीक्षणेन उद्गतो यः प्रेमरसः तस्मिन् आप्लुता निमग्ना आशया येषान्ते लज्जामन्युकृच्छ्र स्तानपि ताडयितु मागता स्सन्तोऽपि गतमन्यवः प्रत्युत जातोऽनुरागो येषान्ते, मूर्धनि घ्राणै रवघ्राणैः परमां मुदमवापुः॥ ३३॥

1. A,B,J omit तावत् 2. B omits आत्मानम् 3. A,B,J add पञ्चषासु 4. B,J,V omit देहो 5. V omits दुर्गः 6. V omits स च 7. B,J,V omit परस्पर ★ अतः 'आस्रुपया' इति श्रीधरादृतः पाठः भवेदिति भाति। 8. V स्नु 9- -9. V omits

**वीर०** इत्थं वत्सतत्पालनव्याजेन आत्मनैवाऽऽत्मानं पालयन् वनगोष्ठयो र्वर्षं संवत्सरं चिक्रीडे विहृतवान्॥ २७॥

तावत्पर्यन्तं रामस्याऽपि मोह एवाऽऽसीत् संवत्सरान्ते तु कथञ्चिज्ज्ञातवानिति दर्शयन्नाऽऽह - **एकदेति**। पञ्चसु षट्सु वा त्रियामासु रात्रिषु हायनापूरणीषु संवत्सरपूरकतयाऽवशिष्टा स्वित्यर्थः वत्सांश्चारयन् स रामो वनम् आ[1]विवेश॥ २८॥

तदा गोवर्धनाद्रे श्शिखरे विदूर मेव तृणं चरन्त्यो गावोऽनुव्रजं व्रजस्योपान्ते चरतो वत्सान् ददृशुः॥२९॥

स दृष्टवान् गवां व्रजः सङ्घः तेषां वत्सानां स्नेहेनाऽऽकृष्टः अत एव विस्मृत आत्मा येन सः व्रजसमीप मगात्। कथम्भूतः? अतिक्रान्ता आत्मपा गोपा येन तथा दुर्गो मार्गो यस्य सः स च तथा द्विपात् अत्यन्त धावनेन पाश्चात्यपादयोः पूर्व पादाभ्यां सङ्घट्टनात्तथा प्रतीयमान इत्यर्थः। ककुदि ग्रीवा यस्य सः, ता[2]वदुदञ्चितग्रीव इत्यर्थः। उन्नमितान्यास्यानि पुच्छानि च येन सः। आस्नु सर्वतः स्रवत् पयो यस्य सः हुङ्कृतैः उपलक्षितः गोव्रजइत्यनेन वृषभादयोप्यगुरिति सूचितम्॥ ३०॥

तत्र विशेषतो धेनूनां चोष्टितमाह - **समेत्येति**। वत्सवत्योऽपि पुनः प्रसूता अपि गावः पूर्ववत्सान् स्वौधसं स्वापीनोद्भवं पयः अपाययन्। कथम्भूताः? वत्साना मङ्गानि गलिन्त्य इव लिहन्त्यः॥ ३१॥

एवं रामेण दृष्टं वत्सेषु गवां स्नेहातिशय मुक्त्वा अथ गोपाना मपि दर्शयितु माह - **गोपा** इति। तासां गवां रोधनेन यश्चाऽऽयास स्तस्य मौघ्येन वैयर्थ्येन या लज्जा तत्सहितेनोरुणा मन्युना दुर्गमार्गजनित क्लेशेन च अ[3]न्वेत्य आगत्य गोवत्सैस्सहितान् सुतान् ददृशुः॥ ३२॥

ततश्च तेषा मीक्षणेन उद्गतो यः प्रेमरसः तस्मिन्नाप्लुतः निमग्न आशयो येषां ते लज्जामन्युकृच्छ्रै स्तानपि ताडयितुमागता स्सन्त स्ततो गतमन्यवः, प्रत्युत जातोऽनुरागो येषां ते, गो[4]पाः दोर्भि रु[5]दुह्य परिरभ्य च मूर्ध्न्यवघ्राणैः परमा मदृष्ट पूर्वां मुदं प्रापुः॥ ३३॥

1. A,B आविशत् 2. A,B omit तावत् 3. A,B अभ्येत्य 4. K, W omits गोपाः 5. A,B, W °दू°

ततः स पशवो गोपा स्तोकाश्लेषसुनिर्वृताः।
कृच्छ्राच्छनै रपगताः तदनुस्मृत्युदश्रवः॥ ३४॥

व्रजस्य रामः प्रेमर्धि वीक्ष्यौत्कण्ठ्य मनुक्षणम्।
मुक्तस्तने ष्वपत्येष्व प्यहेतुवि दचिन्तयत्॥ ३५॥

किमेत दद्भुत मिव वासुदेवेऽखिलात्मनि।
व्रजस्य सात्मन स्तोके ष्वपूर्वं प्रेम वर्धते॥ ३६॥

केयं वा कुत आयाता दैवी वा नार्युताऽऽसुरी।
प्रायो मायाऽस्तु मे भर्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी॥ ३७॥

इति सञ्चिन्त्य दाशार्हो वत्सान्सवयसानपि।
सर्वानचष्ट वैकुण्ठं चक्षुषा वयुनेन सः॥ ३८॥

नैते सुरेशा ऋषयो न चैते त्वमेव भासीश भिदाश्रयोऽपि।
सर्वं पृथक्त्वं निगमात्कथंवदेत्युक्तेन वृत्तं प्रभुणा बलोऽवैत्॥ ३९॥

★ ब्रह्मापि स्वासनस्थेन चतुरास्येन शौरिणा।
मोहितैस्स्व पुरद्वारस्थै ः परिभूतो न्यवर्तत॥ ४०॥

तावदेत्या त्मभूरात्ममानेन त्रुट्यनेहसा।
पु रावदाब्दं क्रीडन्तं ददृशे सब लं हरिम्॥ ४१॥

1. V एवं 2- -2. A, B,G,J प्रवयसो 3. A,B,G,J,V °र्धेः 4. K,W °न्ये° 5. V °षु ह्य° 6. K,W तु 7. K,W मम 8. B,G,K,V °ना° 9. V मदंशा 10. A नवै° 11. V °ऽस्मिन् ★ A,G,J,V omit this verse. The same is commented upon by Vira Raghava 12- -12. B,K द्वारपालैश्च 13. V °वा° 14. A,B,G,J पुरोवदब्दं; V. पुरोवदाब्दं 15. A,B,G,J,V °क°

**श्रीध०** तत इति। कृच्छ्रा त्ततोऽपगता निवृत्ताः तेषां सुताना मनुस्मृत्योद्गच्छन्त्यश्रूणि येषां ते॥ ३४॥

**व्रजस्येति** । प्रेमर्धे रौत्कण्ठ्य मतिशयं मुक्त स्तने ष्वपत्येषु वीक्ष्य अ हेतुवित हेतुमजानन्नचिन्तयत्॥ ३५॥

चिन्ता मेवाऽऽह **किमेतदिति** द्वाभ्याम्। वासुदेवे यथा पुरा प्रेम तथा स्वतोकेष्वपि व्रजस्य प्रेम वर्धते, किमेतदद्भुत मिति। किञ्च सात्मनो आत्मसहितस्य व्रजस्य। मम तेषु प्रेमकारणं किमिति भावः॥ ३६॥

**केति**। केयं माया देवानां वा नराणां वा असुराणां वा कुतो वा कस्मात् प्रयुक्ता तत्रान्यमाया न सम्भवति, यतो ममापि मोहो वर्तते। अतः प्रायशो मत्स्वामिनः श्रीकृष्णस्यैव मायेय मस्त्विति सम्भावयति॥ ३७॥

**इतीति।** सवयसान् सखीनपि वयुनेन ज्ञानमयेन चक्षुषा वैकुण्ठं श्रीकृष्ण मेवाऽपश्यत्॥ ३८॥

एवं कृष्णरूपान्सामान्यतो ज्ञात्वा कृष्णं पृष्ट्वा कृष्णोपदेशेन विशेषतो ज्ञातवा नित्याह - **नैत** इति अयमर्थः पाल्यमाना स्ताव द्वत्सा ऋषीणा मंशाः, पालकाश्च देवाना मंशा इति ताव दहं वेद्मि, इदानीन्तु न तथा। किन्त्वस्मिन् भिदाश्रयेऽपि त्वमेव भासि अतस्त्वं सर्वं पृथक् विविच्य कथं वृत्तमिति वदे त्युक्तेन प्रभुणा वक्त्रा निगमात्संक्षेपत एवोक्तं वृत्तं बलोऽवैत् विदितवा नित्यर्थः॥ ३९, ४०॥

ततः किं वृत्तमित्यपेक्षाया माह - **ताव दिति।** वर्षे जाते आत्मनो मानेन त्रुट्यनेहसा त्रुटिमात्रेण कालेन सकलं सानुचरं हरि ददर्श॥ ४१॥

1. V एवमिति। 2- -2. A,B,J omit 3. V omits प्रेम 4. A,B,J मत्स° 5. A,B,J पालाश्च 6. A adds अपि 7. A adds कालाभिः सहितं

**वीर०** एवं पशुभि र्गोभि स्सहिताः गोपाः तोकाना मपत्याना मालिङ्गनेन सुखिता स्तेषां तोकाना मनुस्मृत्या उद्गच्छन्ति येषां तथाभूता स्सन्तः कृच्छ्रात्कथञ्चित् शनैः ततो ततोऽपगता विश्लिष्य वनंप्रति गता इत्यर्थः॥ ३४॥

रामः व्रजस्य गोपसमूहस्य प्रेमर्धेः प्रेमाधिक्यस्य औत्कण्ठ्य मतिशयं मुक्त स्तन्यं यै स्ते ष्वपत्येषु अनुक्षणं दृष्ट्वा तथाविधस्यादृष्टपूर्वस्य स्नेहस्य कारणं चिन्तितवान्॥ ३५॥

चिन्तामेवाऽऽह - द्वाभ्यां **किमेत दिति।** वासुदेवे यथा पुरा प्रेम तथा व्रजस्य स्वतोकेष्वप्यपूर्वं प्रेम वर्धत इत्येत दद्भुतम्। इव शब्दोऽनतिरिक्तार्थकः। किं किमत्र कारण मित्यर्थः। किञ्च सात्मनः आत्मसहितस्य व्रजस्य मम तेषु प्रेमकारणं किमिति भावः। वासुदेवे तु युक्तमेवेत्यभिप्रायेण विशिनष्टि। अखिलात्मनि आत्मा हि निरतिशयप्रीतिविषयः, तत्त्वा त्तद्युक्त मिति भावः॥ ३६॥

केयं माया। दैवी देवप्रयुक्ता? अथवा नर प्रयुक्ता? यद्वा आसुरी? मम त्वेवं भातीत्याह। प्रायशो मद्भर्तुः कृष्णस्यैव तु माया अन्या तु सकलजन विमोहिनी न स्यादिति मायाशब्दोऽत्र आश्चर्यशक्तिपरः॥ ३७॥

एवं सञ्चिन्त्य दाशार्हो रामः वयुनेन दिव्यज्ञानमयेन चक्षुषा सर्वान्वत्सान्वत्सपांश्च वैकुण्ठं ददर्श कृष्णमेवाऽपश्य दित्यर्थः॥ ३८॥

एवं कृष्णरूपेण सामान्यतो ज्ञात्वा कृष्णं दृष्ट्वा तदुपदेशेन विशेषतो ज्ञातवा नित्याह - **नैत** इति वदेत्यन्तं रामस्य प्रश्न प्रकारपरम्। अयमर्थः - पाल्यमाना वत्सा ऋषीणा मंशाः वत्सपाश्च देवाना मंशा इति तावदहं वेद्मि। इदानीन्तु न तथा। किन्त्वस्मिन् भिदाश्रये वत्सवत्सपादिभेदविषयके ज्ञानेऽपि त्वमेव विषयतयाऽवभासि। अतस्त्वं सर्वं पृथ ग्विविच्य कथं वृत्त मिति वदेत्युक्तेन प्रभुणा कृष्णेन वक्त्रा निगमा त्संक्षेपत एवोक्तं बलो रामोऽवैत् विदितवान्॥ ३९॥

ततः किं वृत्त मित्यपेक्षाया माह **ब्रह्मापीति।** वत्सान्वत्सपांश्च तिरोधाप्य ब्रह्माऽपि स्वस्थानङ्गतः। तत्र स्वस्याऽऽसने स्थितेन चतुर्मुखरूपेण शौरिणा मोहितैर्द्वारपालैः परिभूतः, "परमेष्ठी स्वासन मधितिष्ठत्येव। कस्त्व मागतोऽसि" इत्येवं परिभवं प्रापित स्ततो न्यवर्तत॥ ४०॥

तावत् वर्षे जाते सतीत्यर्थः । आत्मभूः ब्रह्मा स्वमानेन त्रुट्यनेहसा त्रुटिकालेनाऽऽगत्य पूर्ववदब्दपर्यन्तं क्रीडन्तं सरामं कृष्णं ददर्श॥ ४१॥

1- -1. K,W omit 2. K,W °क्यम् 3. K,W omit अत्र 4. A,B, W धापयित्वा

ब्रह्मोवाच

यावन्तो गोकुले बाला स्सवत्सा स्सर्व एव हि।
मायाशये शयाना मे नाऽद्याऽपि पुन रुत्थिताः॥ ४२॥

इत एतेऽत्र कुत्रत्या मन्मायामोहितेतरे।
तावन्तो यावदद्याब्द क्रीडन्तो विष्णुना समम्॥ ४३॥

एव मेतेषु भेदेषु चिरं ध्यात्वा स आत्मभूः।
सदाश्रया एत इति ज्ञातुं नेशे कथञ्चन॥ ४४॥

एवं वि मोहयन्विष्णुं विमोहं विश्वमोहनम्।
स्वयैव माययाऽजोऽपि स्वयमेव विमोहितः॥ ४५॥

तम्यां तमोवन्नैहारं खद्योतार्चि रिवाऽहनि।
महतीतरमायैश्यं निहन्त्यात्मनि युञ्जतः॥ ४६॥

1- -1. A,B,J, omit 2 A °मये 3- -3. A,B,G,J तावन्त एव तत्राब्दं 4. V सह 5. A सुचिरं 6- -6. A ध्यात्वा सर्वात्मानाऽ° V चिरं ध्यात्वा सदाऽ° 7- -7. A,B,G,J सत्याः के कतरे नेति ज्ञातुं नेष्टे 8. A,B,G,J सम्मो; K,W स मो°

**श्रीध०** दृष्ट्वा च व्यतर्कय दित्याह - **यावन्त** इति द्वाभ्याम्। मे मायाशये मन्मायातल्पे॥ ४२॥

**इत** इति। मन्मायामोहितेभ्य इतरे कुत्रत्याः?॥ ४३॥

इति वितर्कयन्नमुह्यदित्याह - **एव** मिति द्वाभ्याम्। एव मेतेषु भेदेषु चिरंध्यात्वा स आत्मभूः इतिपाठः॥ ४४, ४५॥

ननु मायाश्रयस्य तस्य कुतो मोह इत्यत आह - **तम्यामिति**। महामायाविनि भवत्यन्यमायाया आवरणविक्षेपकत्वाभावे दृष्टान्त द्वयमाह तम्यां तमिस्रायां रात्र्यां नैहारं हिमकणप्रभवं तम इव। तद्धितार्थोपसर्जनस्याऽपि तमसो नैहारमिति विशेषणं छान्दसम्। तत्तमो यथा पृथगावरणं न करोति, किन्तु तत्रैव लीयते। यथा च खद्योतार्चि रहनि पृथक् प्रकाशं न

करोति। एवं महति पुरुषे युञ्जतः पुंस इतरा नीचा[6] माया तत्र न किञ्चित्करोति कि न्त्वात्मनि स्वस्मिन्नेव। ऐश्यं सामर्थ्यं निहन्तीति॥ ४६॥

1. B,J omit मत् 2. V °मित्यादि 3- -3. V omits 4. A,B,J भगव° 5. A °मितम् B,J omit आह 6. V °च°

**वीर०** दृष्ट्वा च व्यतर्कय दित्याह द्वाभ्यां **यावन्त** इति। गोकुले यावन्तो वत्सा वत्सपाश्च ते[1] सर्वे मम मायाशये मायातल्पे शयाना स्सन्तोऽद्याऽपि नोत्थिता एव॥ ४२॥

एते तु मन्मायामोहितेभ्य इतरे अत्रदृश्यमानाः कुत्रत्याः, तावन्तो मयाऽपहृताः यावन्त स्तावन्त[2]ः एव यावदद्याब्दम् अतीताब्दादारभ्य अद्य प्रविष्टाब्दपर्यन्तं कृष्णेन समं सह क्रीडन्तो दृश्यन्ते॥ ४३॥

इत्येवं वितर्कयन् मुमोहेत्याह द्वाभ्यम् **एव** मिति। एव मेतेषु वत्सवत्सपादिरूपभेदेषूभयेषु चिरं ध्यात्वा किं त एवैते उत भिन्नाः। तथा चे त्कुत्रत्याः? कुत स्समागताः? इत्येवं ध्यात्वाऽप्यात्मभूः ब्रह्मा, सदाश्रयाः सच्छब्दवाच्य परब्रह्मभूतकृष्णात्मका इति ज्ञातुं कथञ्चन नेशे न प्रबभूव। 'मायाश्रया एत' इति पाठे भगवत आश्चर्यशक्त्याऽऽविर्भाविता इति ज्ञातुं न प्रबभूवेत्यर्थः॥ ४४॥

किन्त्वेवं विष्णुं विमोहयन् विमोहयितु मुद्युक्तश्चतुर्मुखः स्वमायया स्वयमेव विमोहितः नतु कृष्णः। तत्र हेतुं वदन् तं विशिनष्टि विमोहं विगतमोहं विश्वं मोहयतीति तथा तम्। स्वयैव माययेत्यनेन स्वशरीरकपरमात्ममाययेति विवक्षितम्॥ ४५॥

विश्वमोहने भगवति मायान्तरस्याकिञ्चि त्करत्वे दृष्टान्तद्वयमाह **तम्या** मिति। तम्यां तमिस्रायां रात्रौ नैहारं नीहारकण प्रभवं तम इव तद्यथा न पृथगाकारकं किन्तु तत्रैवलीयते, यथा च खद्योतार्चि रहनि न पृथक्प्रकाशं करोति। एवं महति पुरुषे युञ्जत: मायां कर्तुम् उद्युञ्जानस्य[3] पुंस: इतरा नीचा माया तत्र न किञ्चि त्करोति, किन्त्वात्मनि स्वस्मिन्नेव ऐश्य मैश्वर्यं सामर्थ्यं निहन्ति॥ ४६॥

1. K,W omit ते 2. A,B, add तदा 3. A,B, उपयुञ्जा°

**तावत्सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात्।**
**व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः॥ ४७॥**

**चतुर्भुजा श्शङ्खचक्रगदाराजीवपाणयः।**
**किरीटिनः कुण्डलिनो हारिणो वनमालिनः॥ ४८॥**

श्रीवत्साङ्गददोरत्नकम्बुकङ्कणपाणयः।
श्री★ वत्साङ्कित वक्षःस्का: कौस्तुभाऽमुक्तकन्धराः।
नूपुरैः कटकै र्भाता[1]: कटिसूत्राङ्गुलीयकैः॥ ४९॥

आङ्घ्रि[2]मस्तक मापूर्णाः[3] तुलसीनवदामभिः।
कोमलै स्सर्वगात्रेषु भूरिपुण्यव दर्पितैः॥ ५०॥

चन्द्रिकाविशदस्मेरैः सारुणापाङ्गवीक्षितैः।
स्वकार्थानामिव रजस्सत्त्वाभ्यां स्रष्टृपालकाः॥ ५१॥

आत्मादिस्तम्बपर्यन्तै र्मूर्तिमद्भिश्चराचरैः।
नृत्त[4]गीताद्य[5]नेकार्हैः पृथक्पृथगुपासिताः॥ ५२॥

अणिमाद्यै र्महिमभि रजाद्याभि र्विभूतिभिः।
चतुर्विंशतिभि स्तत्त्वैः परीता महदादिभिः॥ ५३॥

कालस्वभावसंस्कारकामकर्मगुणादि[6]भिः।
स्वमहिध्वस्तमहिभि र्मूर्तिमद्भि रुपासिताः॥ ५४॥

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैक रसमूर्तयः।
अस्पृष्ट भूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम्॥ ५५॥

★ This extra half verse is found in B,K,&W edns. and the same is commented upon by Veera Raghava. 1. V भ्राजत् 2. V अ° 3. V °र्णतु° 4. A,B,G,J नृत्य° 5. V °दिनै° 6. V °णैरपि

**श्रीध०** अन्यदप्याश्चर्य माह **तावदिति**। वत्सपालाः वत्साः पालाः बालाश्च[1] सर्वे यष्टि विषाणादयश्च॥ ४७, ४८॥

श्रीवत्स[2]प्रभया युक्ता न्यङ्गदानि[3] दोष्षु येषां ते, रत्नमयानि कम्बुवत्त्रिरेखा[4]धराणि कङ्कणानि पाणिषु[5] येषां ते च ते च तथा[6]॥ ४९॥

आङ्घ्रि[7]ति। तथा[8] भूरि बहुजन्मार्जितं पुण्यं तद्युक्तैर्जनै रर्पितैः॥ ५०॥

**चन्द्रिकेति**। चन्द्रिकावत्[9] विशदस्मितयुक्तैः सहारुणगुणेन च वर्तमाना येऽपाङ्गा स्तै र्वीक्षितैः। स्वकार्थानां स्वभक्तमनोरथानां रजस्सत्त्वाभ्यां स्रष्टृणालका इव व्यदृश्यन्त। सत्त्ववद्विशदस्मितेन पालका इव, रजोव दरुणगुणेन च[10] स्रष्टार इव तादृक्कटाक्षैर्द्योतमाना इत्यर्थः॥ ५१॥

**आत्मेति।** आत्मा ब्रह्मा, तदादिस्तम्बपर्यन्तैः अ[11]नेकार्हैः अनेकार्हणैः॥ ५२॥

**अणिमाद्यैरिति।** अजाद्याभिः अ[12-]जा माया तत्प्रभृतिभिः[-12] विभूतिभिः शक्तिभिः महदादिभिरिति महत्त[13]त्त्वयोः पृथक्त्व विवक्षया चतुर्विंशति तत्त्वै र्जगत्कारणैः॥ ५३॥

**कालेति।** कालादिभिश्च तत्सहकारिभिश्च। तत्र का[14-]लः क्षोभकः[-14] स्वभावः परिणामहेतुः। संस्कारो वा[15-] सनाया[-15] उद्बोधकः। स्वमहिध्वस्तमहिभिः भगवन्महिम्ना तिरस्कृतस्वातन्त्र्यै रुक्तै स्सर्वैरणिमाद्यैः॥ ५४॥

सर्वेषां मूर्तिमत्त्वेऽपि विशेषमाह **सत्येति।** सत्याश्च ज्ञान रूपाश्च अनन्ताश्च आनन्दरूपाश्च, तत्राऽपि तदेकमात्राः विजातीयस[16-]जातीयभेद[-16] रहिताः, तत्राऽपि चैकरसाः सदैकरूपा मूर्तयो येषां ते। यद्वा, सत्यज्ञानादिमात्रैकरसं यद्ब्रह्म तदेव मूर्तिर्येषा मिति। अत एवोपनिषत् आत्मज्ञानं सैव दृक् चक्षुर्येषां तेषामपि हि निश्चितम् अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या न स्पृष्टं स्पर्शयोग्यं भूरि माहात्म्यं येषान्ते तथाभूता स्सन्तः स[17]र्वे व्यदृश्यन्तेति॥ ५५॥

1. A,B,J omit बालाः 2. A,B,J प्रभा 3. A °दादीनि 4. A,B,J त्रिधाराणि 5. V पाणौ तु 6. A,B,J omit तथा 7. V अ° 8. V omits तथा 9. A,B,J °कावि° 10. V adds स्वकार्थानां 11. V नैका° 12- -12. A,B,J मायाविद्यादिभिः 13. A,B,J °त्सूत्रयोः 14- -14. V omits 15- -15. V omits 16- -16. A,B,J सम्भेद 17. A,B,J omit सर्वे

**वीर०** अन्यदत्याश्चर्यमाह - **तावदिति।** अजस्य ब्रह्मणः पश्यत स्सतः ताव त्सर्वे वत्साः वत्सपाश्च तत्क्षण एव व्यदृश्यन्त कथम्भूताः? नी[1-]लाम्बुद[-1] इव श्यामाः॥ ४७॥

चत्वारो भुजा येषां शङ्खादयः पाणिषु येषां, राजीवं क[2]मलं किरीटानि येषां सन्तीति तथा। श्रीवत्सप्रभायुक्ता न्यङ्गदानि दोष्षु भुजेषु येषां, रत्नमयानि कम्बुवच्छङ्खवत् वर्तुलानि कङ्कणानि पाणिषु येषां ते च ते, तथोक्ताश्च श्रीवत्सै रङ्कितानि वक्षांसि येषां, कौस्तुभै रामुक्तास्संयुक्ताः कन्धरा ग्रीवा येषां ते, बहुजन्मार्जितपुण्य व[3-]द्भिरर्पितैः नूपुरादिभिः[-3] आपाद मस्तकं सर्वगात्रेषु आपूर्णाः चन्द्रिकाव द्विशदस्मितयुक्तै रारुण्य सहितापाङ्गवीक्षितैः स्वकार्थानां स्वभक्तमनोरथानां स्रष्टारः पालकाश्चेति त[4]था रजस्सत्त्वाभ्यां स्रष्टृपालकाः सत्त्ववद्विशदस्मितेन पालका इव, रजोवदरुणगुणेन स्रष्टार इव तादृक्कटाक्षैः द्योतमाना इत्यर्थः॥ ४८ - ५१॥

आत्मा चतुर्मुखः तत्प्रभृतिभिः स्तम्बपर्यन्तैः मूर्तिमद्भिश्चराचरैः कर्तृभिः नृत्ताद्य[5]नेकार्हणैः साधनै रुपासिताः अत्राचराणामपि तदुपासनोचितमूर्तिमत्त्वं तत्तदभिमानिदेवताद्वारेणेति बोध्यम्॥ ५२॥

अजाद्या[6]भि र्विभूतिभिः कार्योपयोगिनीभिः शक्तिभिः महदादिभिश्चतुर्विंशतिभि स्तत्त्वैः। अजाद्याभिरिति प्रकृतेः पृथगुक्तेः तत्त्वानां जीवात्मना सह चतुर्वि शतित्वम्॥ ५३॥

कालो निमेषादिर्वत्सरान्तः गुणक्षोभहेतुः, स्वभावः परिणामहेतुः, संस्कार श्चोद्बोधहेतुः, कामः कर्महेतुः, कर्म च तत्तद्देहोपलब्धिहेतुः, गुणास्सत्त्वादयो ज्ञानविक्षेप मोहहेतवः तैरुपासिताः, कथम्भूतैः? तस्य भगवतो महिम्ना ध्वस्तमहिमः तिरस्कृतस्वातन्त्र्यै र्मूर्तिमद्भिश्च ॥ ५४ ॥

**सत्येति।** नित्यनिर्विकारज्ञानानन्दापरिच्छिन्नमात्रस्य परब्रह्मण एकमूर्तयः असाधारणमूर्तयः। मात्रशब्देन विकार जाड्य-दुःख परिच्छेदानां व्यावृत्तिः उपनिषदां दृशां मनोवृत्तीनामपि अस्पृष्ट मविषयभूत मियत्तया परिच्छेत्तु मशक्यं अनवधिकमाहात्म्यं येषाम् ॥ ५५ ॥

1- -1. A,B नीलघनः 2. A,B omit कमलं 3- -3. K,W °वदर्पितैः तुलसीनव दामभिः 4. A,B omit तथा 5. A,B °त्या° 6. K,W °दि° 7. A,B °दिव° 8. A,B एतै°

**एवं सकृद्ददर्शाजः परब्रह्मात्मनोऽखिलान्।**
**यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम् ॥ ५६ ॥**

**ततोऽतिकौतुकोद्वृत्य स्तिमितैकादशेन्द्रियः।**
**तद्धाम्नाऽभूदजस्तूष्णीं पूर्देव्यन्तीव पुत्रिका ॥ ५७ ॥**

**इतीरेशोऽतर्क्ये निजमहिमनि स्वप्रमितिके परत्राजातोऽतन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ।**
**अनीशोऽपि द्रष्टुं किमिद मिति वा मुह्यति सति चछादाजो ज्ञात्वा सपदि परमोऽजायवनिकाम् ॥ ५८ ॥**

**ततोऽर्वाक् प्रतिलब्धाक्षः कः परेतव दुत्थितः।**
**कृच्छ्राच्छनैः मील्य दृष्टी स्चष्टेदं सहात्मना ॥ ५९ ॥**

1. A,B,G,J,V कु° 2. A,B,G,J ज° 3. A,B,G,J °दुन्मील्य वै दृष्टी 4. A,B,G,J,V श°

**श्रीध० एवमिति।** एवं सकृदेकदैव ददर्श। परब्रह्मणो विशेषणं यस्येति ॥ ५६ ॥

**तत** इति। अतिकुतुकेन अत्याश्चर्येण उद्वृत्य दृष्टीःपरावृत्य हंसपृष्ठे निपत्येति वा। कुतुकशब्दे तृतीयाया श्छान्दसो लुक्। यद्वा उद्वृत्यः इति छेदः। अतिकुतुकेन उद्वृत्यो विलोड्यो विपर्यस्तः स्वस्मिन्निति यावत्। पाठान्तरे तु अतिकुतुकेनोद्वृत्तः क्षुभित स्तेषां धाम्ना तेजसा स्तब्धो सर्वेन्द्रियो ब्रह्मा तूष्णीं निश्चलोऽभूत्। अत्र दृष्टान्तः पूर्देवी व्रजाधिष्ठात्री काचिद्देवता, तस्या अन्ति समीपे पुत्रिका चतुर्मुखी कनक प्रतिमेव ॥ ५७ ॥

एवं मोहनिमग्नमजमुज्जहारेत्याह - **इतीति**। इरेशे इरा सरस्वती तस्या ईशे ब्रह्मणि किमिदमिति मुह्यति सति पश्चात्तद्द्रष्टुमप्यनीशे सति परमोऽजः श्रीकृष्णः सपद्यजायवनिकां मायारुपां तिरस्करिणीं ययाऽद्भुतं दर्शितं तां चच्छाद तिरोऽधत्त अपसारितवानित्यर्थः। अयं लोकाभिमानी ममैश्वर्यं द्रष्टु मयोग्य इति तस्योपरि मायां प्रसारितवानिति। क्व मुह्यति सति। अतर्क्ये तर्कागोचरे। निजोऽसाधारणो महिमा यस्य तस्मिन्निति मोहे हेतुरुक्तः। दर्शनायोग्यत्वाय त्रीणि विशेषणानि स्व प्रमितिके स्वप्रमितिः स्वप्रकाशश्च तत्कं सुखञ्च यस्मिन्। अत एवाऽजातः प्रकृतेः परत्र परस्मिन् अतएव अतन्निरसनमुखेन ब्रह्मकैः श्रुति शिरोभिः मिति ज्ञानं यस्मिंस्तस्मिन्स्वरूपे॥ ५८॥

**तत** इति। अर्वाक् बहिः प्रतिलब्धान्यक्षीणि येन सः। परेतवत् मृतो यथा कथञ्चित्पुनरुत्तिष्ठति तथा। दृष्टी नेत्राणि॥ ५९॥

1. A,B,J आश्चर्येण 2. V दृष्टिं 3- -3. V परावृत्येति 4- -4. V omits 5. V स्तिमित 6. A,B,J कृतक 7. A,B,J omit नि 8. V omits इरेशे 9. V °त्यर्थः। 10. V °ह° 11. A द्वयमुक्तम् 12- -12. V omits 13. B,J omit अतएव

**वीर०** अखिलान् वत्सान् वत्सपांश्च परब्रह्माऽभिन्नान् एव मजश्चतुर्मुख स्सकृद्ददर्श। ब्रह्म विशिनष्टि। सचराचर मिदं जगत् यस्य भासा भाति तत्परब्रह्मात्मन इत्यन्वयः तद्धाम्ना तूष्णी मभूदित्युत्तरेण वा॥ ५६॥

अतिकौतुकेनात्याश्चर्येण उद्धृत्य दृष्टिं परावृत्य हंसपृष्ठे निपात्य। कौतुकशब्दोत्तरतृतीयाया श्छान्दसोलुक्। अतिकौतुकोद्रिक्त स्तिमितेति पाठान्तरम्। तदा अतिकौतुकेन उद्रिक्तान्युत्कटानि अतएव स्तिमितानि दीनप्रायाणि, पारवश्यं प्राप्तानीति यावत्। तान्येकादशेन्द्रियाणि यस्य स इत्यर्थः। तेषां धाम्ना अभिभूत इति शेषः। अजो ब्रह्मा तूष्णीं बभूव निश्चलोऽभवत्। यथा पूर्देवी व्रजाधिष्ठात्री काचि द्देवता तस्या अन्ति समीपे पुत्रिका चतुर्मुखी कनकप्रतिमा, तद्वत्॥ ५७॥

एवं मुह्यते चतुर्मुखाय पूर्ववत् आत्मवत्सावत्सपादीन् दर्शयितु मसाधारणस्वमूर्तिदर्शनाच्छादिकां माया माच्छादितवान् इत्याह - **इतीति**। परो मा यस्मात्सः परमः सर्वाभ्यधिकः। अजः कर्मायत्तोत्पत्तिरहितः श्रीकृष्ण स्सपदि ज्ञात्वा चतुर्मुखस्यावस्थां ज्ञात्वा अजायवनिका मजारूपां यवनिकां तिरस्करणीं चच्छाद आवृतवान्। कस्मिन् सति स्वासाधरणो महिमा यस्मिं स्तस्मिन् स्वरूपे विषयभूते। इत्थ मिराया स्सरस्वत्या ईशे ब्रह्मणि द्रष्टुमप्यनीशे असमर्थे प्रत्युत इदं किमिति मुह्यति सति। निजमहिम्नो दर्शनाशक्यत्वं दर्शयितुं विशिनष्टि। अतर्क्ये इद मित्थन्तया केवलतर्कागोचरे। तत्र हेतु रजातः परत्र। अजातः अजायाः प्रकृतेः परत्र विलक्षणे। प्राकृत मेव कथञ्चित्तर्कगोचर मिति भावः। स्वप्रमिति स्वयंप्रकाशं ज्ञानं कं सुखं सुखात्मकं यस्मिन्। कशब्देनाऽत्र सङ्कोचकाभावात् अपरिच्छिन्नसुखवाचिना परिमितसुखस्वरुपजीवव्यावृत्तिः। इतोऽप्यतर्क्यत्व मवगन्तव्यम्। अतर्क्य इत्यनेन तन्मूल प्रत्यक्षागोचरत्व मपि विवक्षितम्। प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रमाणाभ्या मनवगन्तव्य इति फलितोऽर्थः। तर्हि किं शशविषाणव त्तुच्छम् ? नेत्याह, अतन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ, अतत् अपरमात्मवस्तु प्रकृतिपुरुषादिकम्। तस्य निरसनमुखेन परमात्मस्वरुपत्वनिरसनद्वारा ब्रह्मणो वेदस्य केन मूर्ध्ना उपनिषद्भगेनेति यावत्। मितिः

अवगति र्यस्य तस्मिन् प्रत्यक्षादिमानान्तरानवरूपस्वभावस्य परमात्मन: केवल वेदान्तवेद्यस्य प्राकृत चक्षुषा द्रष्टु मयोग्यत्वात् तद्दर्शनाशक्ते सति ब्रह्मणि तज्ज्ञात्वा यथावस्थित वत्सवत्सपादि दर्शनार्थं प्रदर्शितस्वासाधारणरूपाच्छादनार्थं चाऽजां चछादेत्यर्थ:॥ ५८॥

तत: मायायवनिकाच्छादनानन्तरं अर्वाग्बहि: प्रतिलब्धान्यक्षाणीन्द्रियाणि येन स:, क: ब्रह्मा परेतव दुत्थित: मृतो यथा पुन: कथञ्चि दुत्तिष्ठति तद्वदुत्थित: संज्ञां प्राप्त: शनै: कृच्छ्रा त्कथञ्चित् दृष्टी: नेत्राणि मीलय उन्मिषिते (तानि) कृत्वा। दृष्टिरिति पाठे मील्ये उन्मिषिते दृष्टी यस्य स:, आत्मना सहेदं जगदपश्यत्। पूर्वं भगवद्रूपेभ्योऽन्य दपश्यन् इदनीं जगज्जगदेवाऽत्मान मात्मान मेवाऽचष्टेत्यर्थ:॥ ५९॥

1. A,B °प° 2- -2. A,B पाठे 3. A,B add इत्यर्थ: 4. A,B add य: 5. A,B °स्कारिणीं 6. A,B गम्य 7. A,B,K अजा 8. A,B omit ब्रह्मा 9. A,B omit उत्थित: 10. A,B omit शनै: 11. A,B उन्मील्य अनिमीलितानि 12. A,B add चतुर्मुखेण

**सपद्येवाऽभित: पश्यन् दिशोऽपश्यत्पुर: स्थितम्।**
**बृन्दावनं जनाजीव्य द्रुमाकीर्णं समाप्रियम्॥ ६०॥**

**यत्र नैसर्गदुर्वैरा: सहासन्नृमृगादय:।**
**मित्राणीवाजितावासद्रुतरुट्तर्षादिके॥ ६१॥**

**तत्रोद्वहत्पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं ब्रह्माऽद्वयं परमनन्त मगाधबोधम्।**
**वत्सान्सखीनिव पुरा परितो विचिन्वदेकं सपाणिकवलं परमेष्ठ्यचष्ट॥ ६२॥**

**दृष्ट्वा त्वरेण निजधोरणतोऽवतीर्य पृथ्व्यां वपु: कनकदण्ड मिवाभिपात्य।**
**स्पृष्ट्वा चतुर्मकुटकोटिभि रङ्घ्रियुग्मं नत्वा मुदश्रुसुजलैरकृताऽभिषेकम्॥ ६३॥**

**उत्थायोत्थाय कृष्णस्य चिरस्य पदयो: पतन्।**
**आस्ते महित्वं प्राग्दृष्टं स्मृत्वा स्मृत्वा पुन: पुन:॥ ६४॥**

**शनैरथोत्थाय विमृज्य लोचने मुकुन्द मुद्वीक्ष्य विनम्रकन्धर:।**
**कृताञ्जलि: प्रश्रयवान् समाहित: सवेपथु र्गद्गदयैडतेरया॥ ६५॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे त्रयोदशोऽध्याय:॥ १३॥

1. V० सात् 2. A,B,G,J तर्षकादिकम्; V तरुषादिकम् 3. W °ति° 4. A,B,G,J °र्मु° 5. V सलिलैः 6. A,B,G,J पा° 7. V महत्त्वं 8. A,B,G,J °ल

**श्रीध० सपदीति।** जनाना माजीव्यैः उपजीव्यैः द्रुमै राकीर्णम्। समाप्रियं सम्यक् आ समन्तात् प्रियाणि यस्मिंस्तत्॥ ६०॥

तदाऽऽह **यत्रेति।** नैसर्गदुर्वैराः स्वाभाविकाप्रतिकार्य वैरवन्तोऽपि नराः सिंहादयश्च मित्राणीव यत्र सहैवाऽऽसन्। अजितस्य श्रीकृष्णस्य आवासेन द्रुताः पलायिताः रुट्तर्षादयः क्रोधलोभादयो यस्मात्तथाभूतं बृन्दावन मपश्य दिति॥ ६१॥

**तत्रेति।** तत्र च परमेष्ठी ब्रह्मा इव पुरा पूर्ववदेव ब्रह्म अचष्ट अपश्यत्। कथम्भूतम् ? पशुपवंश शिशुत्वं नाट्य मुद्वहत्। नाटचमित्यत्रहेतुः - अद्वय मित्यादि। अद्वयञ्च वत्सान्विचिन्वत्, एकञ्च सखीन् अगाधबोधञ्च विचिन्वत्, अनन्तञ्च परितो विचिन्वत्, परञ्च शिशुत्व मुद्वहत्, ब्रह्म च सपाणिकबल मिति नाट्य मेवोद्वह दित्यर्थः ॥ ६२॥

**दृष्ट्वेति।** निजधोरणतः स्ववाहनात् त्वरेण वेगेनावतीर्य दण्डव न्नत्वा चतुर्णां मुकुटाना मग्रै रङ्घ्रियुग्मं स्पृष्ट्वा मुदश्रुसलिलैः आनन्दाश्रुरूपैः सुजलै रभिषेक मकरोदिति॥ ६३॥

**उत्थायेति।** चिरस्य चिरं पादयोः पतन्नाऽऽस्ते॥ ६४॥

**शनैरिति।** सवेपथुः सकम्पः। अतएव गद्गदया अनुकरण मेतत् इरया वाचा ऐडत अस्तौत् ॥ ६५॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

1- -1. A,B,J omit 2 V °र्गिक 3. A,B,J omit श्रीकृष्णस्य 4. V adds अत्र तरुषेति वर्णविश्लेषः छन्दोऽनुरोधेन। 5. A,B,J, सुजलैः 6. A,B,J °ल°

**वीर०** ततः पूर्वस्थितं बृन्दावनञ्चाऽपश्यत्। कथम्भूतम्? जनाना माजीव्यै रुपजीव्यैः द्रुमैः आकुलं व्याप्तं समाप्रियं सम्यञ्चि आ समन्तात् प्रियाणि यस्मिं स्तत्॥ ६०॥

तदाह - **यत्रेति।** यत्र वने नैसर्गदुर्वैराः नैसर्गिकं स्वाभाविकं दुर्वैरम् अप्रतिकार्यं वैरं येषां ते नराः गोपादयः मृगा स्सिंहादयश्च मित्राणि सुहृद स्सन्तः सहैवाऽऽसन्। तत्र हेतुं वदन् वनं विशिनष्टि अजितस्य भगवत आवासेन द्रुताः पलायिताः रुट्तर्षादयः क्रोधलोभादयो यस्मात्तस्मिन् ॥ ६१॥

तत्र परमेष्ठी ब्रह्मा पुरेव पूर्वव त्तथैव अपश्यत्। कथम्भूतम् ? गोपालशिशुत्वनटनमुद्वहत् श्रीकृष्णात्मकं परं ब्रह्म अद्वयं स्वतुल्यवस्त्वन्तररहितं स्वतुल्यगोपबालान्तररहितं वा अपरिच्छिन्नज्ञानस्वरूप मनन्तं त्रिविधपरिच्छेदरहितम् एक मसहायं पाणौ कबलेन सहितं सखीन् वत्सांश्च विचिन्वत् एवम्भूतं कृष्णात्मकं ब्रह्माऽचष्टेत्यर्थः॥ ६२॥

इत्थं दृष्ट्वा त्वरया निजधोरणात् स्ववाहनादवतीर्य पृथ्व्यां[8] कनकदण्डमिव स्वशरीरं पातयित्वा चतुर्णां मकुटानां[9] किरीटानां कोटिभिः अग्रैरङ्घ्रियुग्मं स्पृष्ट्वा आनन्दाश्रुरूपैस्सलिलैरभिषेकम् अकृत अकरोत्॥ ६३॥

चिरस्य चिरं पदयोः पतन् उ[10-] त्थायोत्थाय इत्यनेन पुनः पुनः पतन् इति सूचितम्[-10]। प्राग्दृष्टं[11] मा[12] हात्म्यं पुनः पुनः स्मृत्वा आ[13] स्ते आस्त[14] ॥ ६४॥

अथ शनैरुत्थाय नेत्रे विमृज्य मुकन्दमुद्वीक्ष्य, विनम्रा कन्धरा ग्रीवा यस्य सः, अ[15-] त एव बद्धाञ्जलिः[-15] वि[16-] नययुक्तः[-16] ए[17-] काग्रचित्त[-17]: सवेपथुः सकम्पः अत एव गद्गदया वा[18] चा ऐडत तुष्टाव॥ ६५॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

1. A,B तदेवाह 2- -2. K,W omit 3. A,B अनिवार्यं 4- -4. W omits 5- -5. A,B,K सुहृद इव वसन्तः 6- -6. W हेतुः 7. W °ना° 8. A,B पृथिव्यां 9. A,B मु° 10- -10. K, W omits 11. A,B add श्रीकृष्णस्य 12. K,W महित्वं 13. A,B omit आस्ते 14. A,B add इत्यर्थः 15- -15. K,W omit 16- -16. A,B विनयवान् 17- -17. K, W omit 18. A,B वाण्या

# चतुर्दशोऽध्यायः

## (विजयध्वजीये अयमध्यायो नाऽस्ति)

## ब्रह्मकृत स्तुतिः

ब्रह्मोवाच

नौमीड्य! तेऽभ्रवपुषे तटिद्दम्बराय[1] गुञ्जावतंस परिपिञ्छ[2]लसन्मुखाय।
वन्यस्रजे कबलवेत्रविषाणवेणु लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय॥ १॥

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसाऽऽन्तरेण साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥ २॥

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिः ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥ ३॥

श्रेयस्स्रु[3]तिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लि[4]श्यन्ति ये केवल बोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल[5] एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥ ४॥

पुरेह भूमन्बहवोऽपि योगिनः त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया।
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया प्रपेदिरेऽञ्जो[6]ऽच्युत! ते गतिं पराम्॥ ५॥

1. A,B,G,J °डि° 2. A,B,G,J °च्छ° 3. B,V °सृति° 4. A यतन्ति 5. K,W लवोऽव 6. V भोऽच्युत!

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुर्दशेऽद्भुतं दृष्ट्वा पूर्वागन्तुकनिश्चयम्।
अनीशः कर्तुमस्तौषीत्कृष्णं ब्रह्मा[1] विमोहितः॥

स्वकृतापराधेन भिया सकम्पया भगवन्महिमानमनवगाहमानः यथादृष्टं स्वरूपमेव कीर्तयन्नाह - **नौमीति**। हे ईड्य! स्तुत्य! ते तुभ्यं नौमि स्तौमि[3] [4]। द्वितीयार्थे चतुर्थी, अथवा नौमीत्युक्त्वा प्रस्तुतस्य भगवतः कर्मत्वे ज्ञाते प्रयोजनापेक्षायाम् एवम्भूतो भगवानेव प्रयोजनमिति तादर्थ्ये चतुर्थी। यद्वा, तुभ्यं त्वामेव प्रसादयितुं त्वामेव स्तौमीत्यर्थः[5]। अभ्रवद्वपुर्यस्य तस्मै। तडिद्वदम्बरे[6] यस्य तस्मै। गुञ्जाभिरवतंसौ कर्णभूषणे परि[7] परितः[8] पिञ्छं[9] बर्हापीडं च तै र्लसत्

मुखं यस्य तस्मै। वन्याः स्रजो यस्य तस्मै। कबलादिभिः लक्ष्मभिः श्री शोभा यस्य तस्मै। मृदू पादौ यस्य तस्मै[10], पशुपस्याङ्गजाय यद्वा, पशूनिन्द्रियाणि य[11]पान्ति रक्षन्तीति पशुपाः देवाः त एवाङ्गजाः यस्य तस्मै[11] ॥ १ ॥

ननु नौमीति प्रतिज्ञाय, किं स्वरूपानुवादमात्रं क्रियते, अत आह - **अस्यापीति।** हे[12] देव! अस्यापि सुलभत्वेन प्रकाशितस्यापि तव वपुषः अवतारस्य महि महिमानम् अवसितुं ज्ञातुं कोऽपि को ब्रह्मा अ[13]हमपि नेशे न शक्नोमि। यद्वा, कश्चिदपि नेशे न समर्थ आसीत् सुलभत्वाय विशेषणद्वयम्। मदनुग्रहस्य ममानुग्रहो यस्मात् तन्मदनुग्रहं तस्य, किञ्च स्वेच्छामयस्य, स्वे[14]षां स्वीयानां भ[15]क्तानां यथा यथा इच्छा तथा तथा भवतः तर्हि किमिति ज्ञातुं न शक्यते अत आह - न तु भूतमयस्य अचिन्त्यशुद्धसत्त्वात्मकस्य य[16]थास्याप्येवं त[17]था,[18] कथं पुनः साक्षात्तव केवलस्य आत्मसुखानुभूते[19]ः, तावक स्वसुखानुभवमात्रस्या[20]नवतारिणो गुणातीतस्य महिमानम् अन्तरेण, विरुद्धेनापि मनसा को वा ज्ञातुं समर्थो भवेत्। अथवा न[21] तु भूतमयस्य, अपि तु विराड्रूपस्य तव त्वन्निय[22]म्यस्यापि वपुषः म[23]हि म[24]हिमानं अवसितुं कोऽपि नेशे। तदा साक्षात्तवैवासाधारणस्य निय[25]म्य नियन्तृभेदरहितस्य उक्तलक्षणस्य अस्य म[26]हि महिमानम् अवसितुं कोऽपि नेश इति कि[27] वक्तव्यमित्यर्थः॥ २॥

तर्हि अज्ञाः कथं संसारं तरेयुरत आह - **ज्ञान** इति। उदपास्य ईषदप्यकृत्वा सद्भिर्मुखरितां स्वत एव नित्यं प्रकटितां भवदीयां[28] वार्तां स्वस्वस्थान एव स्थितास्स[29]न्तः सन्निधिमात्रेण स्वत एव श्रुतिं[30] तां श्रवणं प्राप्तां, तनुवाङ्मनोभिः नमन्तः सत्कुर्वन्तः ये जीवन्ति केवलं यद्यपि नान्यत् कुर्वन्ति तैः प्रायशः त्रिलोक्यामन्यैरजितोऽपि हे[31] अजित[31] त्वं जितः प्राप्तोऽसीति। किं ज्ञानश्रमेणेत्यर्थः॥ ३॥

भक्तिं विना ज्ञानं तु नैव सिध्येदित्याह - **श्रेय** इति। श्रेयसामभ्युदयापवर्गलक्षणानां स्रु[32]तिः स्रवण[32] यस्याः सरस इव निर्झराणां ते तव भक्तिम् उदस्य त्यक्त्वा श्रेयसां मार्गभूतामिति वा। तेषां क्लेशलः क्लेश एव[33] शिष्यते ना[34]न्यत्। अयम्भावः यथा अल्पं प्रमाणं धान्यं परित्यज्य अन्तः कणवि[35]हीनान् स्थूला[36]न् धान्याभासान् तुषानेवावघ्नन्ति तेषां न किञ्चित् फलम्। एवं भक्तिं तुच्छीकृत्य ये केवलबोधाय क्लि[37]श्यन्ति प्रयतन्ते तेषामपीति॥ ४॥

भक्त्यै ज्ञानं नान्यथेत्यत्र सदाचारं प्रमाणयति - **पुरेति।** हे भूमन्! अ[38]परिच्छिन्न[38] इह लोके पूर्वं योगिनोऽपि सन्तः योगैर्ज्ञानमप्राप्य[39] पश्चात् त्वदर्पितेहाः त्वय्यर्पिता लौकिक्यपि ईहा चेष्टा यैस्ते निजकर्मलब्धया त्वदर्पितैः निजैः कर्मभिः लब्धया। यद्वा त्वय्यर्पिता ईहा च निजानि कर्माणि च तैर्लब्धयेत्येकं पदम्। कथोपनीतया कथमा त्वत्समीपं प्रापितया भक्त्यैव विबुध्य[40] आत्मानं ज्ञात्वा अज्ञः सुखेनैव ते परां गतिं प्राप्ताः एवं तावत् सगुणनिर्गुणयो[41]रुभयोरपि ज्ञानं दुर्घटम[42]पि तत्कथाश्रवणादिनैव त्वत्प्राप्तिः, नान्यथेत्युक्तं भ[43]वति॥ ५॥

1. V °ह्माऽति° 2. A adds तावत् 3. B,J,V omit स्तौमि 4. V adds नम इत्यर्थः। यद्वा 5. V नौ° 6. A,B,J °रं 7. V omits परि 8. B,J omit परितः 9. A,B,J पिच्छं 10- -10. V omits 11- -11. A,B,J omit 12 A,B,J भो 13.

V omits अहं 14. B,J,V omit स्वेषां 15. V omits भक्तानां 16. A,B,J यदा 17. A,B,J तदा 18. A adds किमुत 19. A,B,J °तैरेव स्व° 20. A,B,J °स्याव° 21. A,B,J omit न तु 22. V °या° 23. A,B,J omit महि 24. V omits महिमा 25. V °या° 26. A,B,J omit महि 27. A,B,J किमु 28. A,B,J °यवा 29. A,B,J °स्तत्स° 30. A,B,J °तिग° 31- -31. A,B,J omit 32- -32. B,V सृतिः सरणं 33. A,B,J add अवं 34. A,B,J omit नान्यत् 35. A,B,J omit वि 36. A,B,J °लधा° 37. B,J,V omit क्लिश्यन्ति 38- -38. V omits 39. A adds अपि 40. A adds विश्वव्यापकं 41. V °योरपि 42. A,B,J °मिति 43. A,B,J omit भवति

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

वात्सल्यसौशील्यादिगुणाविष्कारपूर्वकं स्वापराधं क्षमापयितुकामस्तावत् त्वन्मायातितरणे त्वत्प्रपत्तिरेवोपायो नान्योऽस्तीत्यभिप्रायेण प्रस्तुतरूपयुक्तं भगवन्तं शरणं व्रजति **नौमीति।** हे ईड्य! ते तुभ्यं केवलं नौमि "णु स्तुतौ" स्तुतिरत्र अपराधसहनमायातरणतदर्थशरण्यत्वाद्युपयुक्तवात्सल्यक्षमादि गुणाविष्कारपूर्वकोपायत्वाध्यवसायरूपा विवक्षिता। स्तुतेः गुणिनिष्ठगुणाभिधानरूपत्वात् तस्याश्चोपायत्वाध्यवसायार्थत्वात् धातोर्लक्षणया तत्र वृत्तिसम्भवात् ते इति कर्मण एव सम्प्रदानत्वविवक्षया चतुर्थी। तदतिरेकेण पृथक्स्तुतेस्साधनत्वनिरासाय तथा विवक्षा कृता, उपायत्वाध्यवसायात्मकप्रपदनेऽपि तस्यैव प्रयोजककर्तृत्वेन तस्या अपि तदधीनत्वेन तस्याः स्वतः साधनत्वाभावदिति भावः। तावत्सौशील्याद्यनन्तकल्याणगुणनिलयस्य भगवतः कृष्णस्य सौशील्यमाविष्कुर्वन् विशिनष्टि। पशुपाङ्गजाय नन्दसुताय, निस्सीममहिम्नः सौशील्यमन्तरेण पशुपाङ्गजत्वासम्भवेन सौशील्यमाविष्कृतम्, तच्च महतः मन्दैस्सह संश्लेषस्वभावत्वम्। मृदू पादौ यस्य कबलादिभिः लक्ष्मभिश्चिह्नैः शोभा यस्य, वनजानां पुष्पाणां स्रक् यस्य, गुञ्जाभिरवतंसौ कर्णभूषणे परितः पिञ्छबर्हापीडं तैर्लसत मुखं यस्य, तटिदिव अम्बरं यस्य, अभ्रवद्वपुर्यस्य तस्मै ते नौमीत्यन्वयः॥ १॥

निस्सीममहिमत्वमेव कैमुत्यन्यायेन दर्शयन् स्तौति **अस्यापीति।** अस्य मह्यं प्रदर्शितस्य पशुपाङ्गजरूपस्यापि वपुषो महि महिमानम् अन्तरेण मनसा अन्तरिन्द्रियेण मनसाऽप्यवसितुम् अध्यवसितुं कोऽपि ब्रह्माऽपि सन् अहमपि नेशे न प्रभवामि, किं पुनरात्मनः परमात्मनस्सुखानुभूतेः अनुकूलज्ञानस्वरूपस्य तव महिमानमवसितुं नेशे इत्यन्वयः। किं तद्वपुषो महित्वं यदवसितुं न प्रभवतीत्यपेक्षायां तद्वाचामगोचरमित्यभिप्रायेण अस्मदादिवपुषो वैलक्षण्यमात्रं वेद्मीति तद्वपुर्विशिनष्टि। मदनुग्रहस्य मय्यनुग्रहो यस्य मत्प्रार्थनां सफलीकर्तुमुपात्तस्येत्यर्थः। स्वेच्छामयस्य स्वेच्छातः आगतः स्वेच्छामयः "तत आगत" (अष्टा. 4-3-74) इत्यधिकारे "मयट् च" (अष्टा. 4-3-82) इति मयट्, स्वेच्छामात्रपरिगृहीतस्य न त्वस्मदादिजीववपुर्वत् कर्मायत्तस्येत्यर्थः। किञ्च न तु भूतमयस्य अभूतसङ्गसंस्थानरूपस्य "न भूतसङ्गसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः" (भार.शान्ति 206-60) इति वचनार्थोऽत्रानुसन्धेयः, शुद्धसत्वमयस्येति भावः॥ २ ॥

ननु मां मोहयितुं प्रवृत्तः पराजितश्च त्वं मच्छरणागतिमात्रेण कथं मामजितं जेतुमुद्युङ्क्षे। किञ्च जीवस्वरूपमपि सुखानुभूतिरूपमेव, अतः प्रकृतिवियुक्ततत्स्वरूपावस्थितिरूपकैवल्याय तदुपासनमेव कुरु। किं मच्छरणवरणेनेत्यत आह **ज्ञान** इति। ज्ञाने ज्ञानयोगे प्रकृतिविविक्तप्रत्यगात्मोपासनयोगे प्रयासं त्यक्त्वा नमन्त एव शरणागता एव त्वामेव त्वन्मायातरणसाधनत्वेन अध्यवस्यन्तीति यावत्, उपायवाचिशरणादिपदस्थाने नमश्शब्दप्रयोगो दृष्टचरः "द्रौपद्या सहितास्सर्वे

नमश्चक्रुर्जनार्दनम्'' इति। स्थाने स्वस्ववर्णाश्रमानुरूप धर्मानुष्ठानरूपे त्वदाज्ञारूपत्वेन प्रपन्नैरपि अनतिलङ्घ्ये स्थाने स्थिताः तन्त्रादिकरणत्रयेण सद्भिः प्रकटितां भवदीयवार्तां त्वत्कथां श्रुतिगतां श्रवणपथं प्राप्तां ये जीवन्ति उपजीवन्ति भवदीयवार्तामिव धारकीकुर्वन्तीत्यर्थः, हे अजित! कैरप्यजितोऽपि त्वमिति सम्बोधनाभिप्रायः तैः उक्तविधैः त्रि[6]लोक्यां[6] त्रिलोक्यन्तर्भूतैहिकामुष्मिक विषयेषु असितैः ''षिञ् बन्धने'' अनासक्तैः प्रायशः त्वं जित एव त्वच्छरणागतिरेव त्वद्वशीकारोपाय इति भावः। ज्ञाने प्रयासमुदपास्येत्यनेन ज्ञानयोगः केवल[7]प्रयासमात्रफलो न तु पुरुषार्थपर्यवसायीति सूचितम्। ''सर्वे च्यवनधर्माणः प्रतिबुद्धस्तु मोक्षभाक्'' (भार 12-328-31) इति केवलिनोऽपि च्यवनधर्मत्वाभिधानादिति भावः॥ ३॥

ननु तर्हि ज्ञानयोगः शास्त्रैः कर्तव्यतया किमर्थमुच्यते इत्यपेक्षायां कैवल्यार्थज्ञानयोगस्य पुरुषार्थापर्यवसायित्वेऽपि भक्तियोगानुग्राहकतयाऽनुष्ठितस्य तत्पर्यवसायित्वमस्त्येवेति सूचयन् प्रपत्तियोगवद्भक्तियोगस्यापि त्वद्वशीकरणोपायत्वमस्तीत्याह - श्रेयस्स्रुतिमिति। हे विभो! श्रेयस्स्रुतिं श्रेयसः स्रुतिः स्रवो यस्यास्तां त्वन्मायातरणद्वारा निरतिशयापरिच्छिन्नानन्दरूप त्वत्प्राप्तिरूपश्रेयसो दोग्ध्रीं ते तव भक्तिमुदस्य त्यक्त्वा केवलप्रत्यगात्मानुभूतिलब्धये कैवल्याय ये क्लिश्यन्ति साक्षान्मुक्तिसाधनभूतां त्वद्भक्तिं तदनुग्राहकं ज्ञानयोगं च विहाय केवलकैवल्यार्थतया ज्ञाने क्लिश्यन्तीत्यर्थः। तेषामसौ क्लेशलवोऽवशिष्यते, न त्वन्यत्फलम्। क्लेशल एवेति पाठे क्लेशं लाति आदत्त. इति क्लेशलः क्लेशावहो व्यापार इत्यर्थः। अन्तस्सारभूततण्डुलकणरहितान् स्थूलधान्याभासान् तुषान् अवघ्नन्तीति तथा तेषां यथा नान्यत्[8], तद्वदित्यर्थः॥ ४॥

ननु भक्त्या मुक्तः कश्चित् किं दृष्टचर इत्यपेक्षायां न केवलं कश्चिदेव, अपि तु बहव इत्याह - **पुरेति**। हे भूमन्! विपुलानन्दरूप! इह लोके बहवः पुरुषाः योगिनः भक्तियोगानु ग्राहकात्मयाथात्म्ययोगयुक्ताः त्वय्यर्पिता ईहा चेष्टा वर्णाश्रमानुगुण धर्मानुष्ठानरूपा चेष्टा यैस्तथाभूताः निजकर्मभिः वर्णाश्रमानुगुणैः सत्कर्मभिर्लब्धया निष्पन्नया यद्वा त्वदर्पितेहाः ईहा फललिप्सा फलाभिसन्धिरहिता इत्यर्थः। निजकर्मभिर्लब्धया, अनेन फलाभिसन्धिरहितवर्णाश्रम[9]धर्मानुगृहीतत्वमुक्तम्, कथोपनीतया नित्यं त्वत्कथाश्रवणादिभिः प्रत्यक्षरूपतां प्रापितया भक्त्यैव विबुध्य यथावस्थितस्वरूपस्वभावं त्वां ज्ञात्वा दृष्ट्वेति यावत् ''भक्त्या त्वनन्यया शक्यः अहमेवंविधोऽर्जुन! ज्ञातुं द्रष्टुं च'' (भ.गी. 11-54) इति भगवदुक्तेः। हे अच्युत! भक्तान्न च्यावयतीति अच्युतेति सम्बोधनाभिप्रायः। पराङ्गतिं मुक्तिं प्रपेदिरे॥ ५॥

1. A,B omit आदि 2. W अपकृष्टैस्सह 3. A,B पिच्छं 4. A,B °डि° 5. A,B omit अपि 6- -6. B omits 7. A,B °लं 8. W omits नान्यत् 9. A,B omit धर्म

**तथाऽपि[1] भूमन्महिमाऽगुणस्य ते विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः।**
**अविक्रियात्स्वानुभवादरूपतो ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा॥ ६॥**

**गुणात्मनस्तेऽपि गुणान्विमातुं हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य।**
**कालेन यैर्वा विमितासुकल्पैः[2] भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः॥ ७॥**

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवाऽऽत्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥ ८॥

पश्येश! मेऽनार्यमनन्त आद्ये परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनि।
मायां वितत्येक्षितुमात्मवैभवं ह्यहं कियानैच्छमिवार्चिरग्नौ॥ ९॥

अतः क्षमस्वाच्युत! मे रजोभुवो ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः।
अजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुषो ह्येषोऽनुकम्प्यो मयि नाथवानिति॥ १०॥

1. A अ° 2. A,B,G,J °ल्पैः 3. A प्र 4. K °र्दः

**श्रीध०** यद्यप्युभयोरविशेषेण दुर्ज्ञेयत्वमुक्तम्। तथाऽपि गुणातीतस्य ज्ञानं कथञ्चिद्भवेत्, न तु सगुणस्य तव अचिन्त्यानन्तगुणत्वादिति स्तौति - **तथाऽपीति** श्लोकद्वयेन। हे भूमन्! अपरिच्छिन्न! अगुणस्य ते महिमा अमलैरन्तरात्मभिः प्रत्याहृतेन्द्रियैः विबोद्धुं बोधगोचरीभवितुम् अर्हति योग्यो भवति। अथवा विबोद्धुं ज्ञातु मर्हति शक्यत इत्यर्थः। यद्वा महिमेति महिमानं कश्चिद्बोद्धुमर्हतीत्यर्थः। कथं स्वानुभावात् आत्माकारान्तःकरणवृत्तिसाक्षात्कारात्। ननु अन्तःकरणमपि सविकारमेव विषयीकरोतीति कथमात्माकारता तस्येत्यत आह — अविक्रियादिति। विक्रिया विशेषाकारः तद्रहितात्। विशेषपरित्याग एव आत्माकारतेत्यर्थः। ननु अन्तःकरणसाक्षात्कारविषयत्वेनानात्मत्वप्रसङ्गस्स्यादत आह - अरूपत इति। रूपं विषयः अविषयात् वृत्तिविषयत्वमेव आत्मनः न फलविषयत्वम्। अतो नायं दोष इति भावः। कथं तर्हि स्फूर्तिः अनन्यबोध्यात्मतया स्वप्रकाशत्वेनैव न त्वन्यथा। इदं तदिति विषयत्वेनेत्यर्थः। अथवा मा सर्वतोऽन्तरङ्गा लक्ष्मीरपि अगुणस्य ते महि महिमानममलैः अन्तर्वृत्तिभिरिन्द्रियैरपि तथा यादृग्वस्तुतः तेन रूपेण विबोद्धुं किमर्हति नार्हत्येवेत्यर्थः। कथं तर्ह्यर्हति तदाह - स्वानुभवादित्यादिना। उक्तार्थमेवैतत्॥ ६॥

**गुणात्मन** इति। गुणात्मनः गुणानामात्मनः गुणाधिष्ठातुः ते तव पुनः गुणान् विमातुं एतावन्त इति गणयितुमपि क ईशिरे समर्था बभूवुः दूरतः तद्विशेषवार्ता। कथम्भूतस्य तव? अस्य विश्वस्य हिताय पालनाय बहुगुणाविष्कारेणावतीर्णस्य। ननु कालेन निपुणैः किं कर्तुमशक्यमत आह — कालेनेति। वाशब्दो वितर्के। सुकल्पैः अतिनिपुणैः। बहुजन्मना कालेन भूपरमाणवो विमिता विशेषेण गणिता भवेयुः। तथा खे नभसि मिहिका हिमकणा अपि तथा द्युभासः दिवि नक्षत्रादिकिरणपरमाणवोऽपि॥ ७॥

तस्माद्भक्तिरेव सङ्गच्छते इत्याह - **तदिति**। ते तव अनुकम्पां सुसमीक्षमाणः कदा कृपा भविष्यतीति तां बहुमन्यमानः स्वार्जितं च कर्मफलमनासक्तस्सन् भुञ्जान एव नातीव तप आदिना क्लिश्यन्नेव यो जीवेत् स मुक्तेः दायभाग्भवति। भक्तस्य जीवनव्यतिरेकेण दायप्राप्तौ विमुक्तौ नान्यदुपयुज्यत इति भावः॥ ८॥

तदेवं स्तुत्वा भगवन्तं क्षमापयितुं स्वापराधं निवेदयति — **पश्येति।** हे ईश! मे अनार्यं दौर्जन्यं पश्य। यदहं अ[20-]नन्ते त्रिविधपरिच्छेदरहिते, आद्ये सर्वप्रपञ्चोपादानभूते[-20] मायिनामपि मायिनि विमोहके त्वय्यपि स्वमायां वि[21]तत्य प्रसार्य आत्मैश्वर्यमीक्षितुम् ऐच्छम् अभिलषितवान्। अहो एवं कर्तुं त्वयि अहं कियान् न किञ्चित्। यथा अग्नेरुद्भूता ज्वाला अग्नौ न किञ्चित् तद्वदिति॥ ९॥

**अत** इति। रजोभुवः रजसो जातस्य अतः अजानतः अत एव अजावलेपान्धतमोन्धचक्षुषः अजो जगत्कर्ता अहमिति मदेन गाढतमोरूपेणान्धीभू[22]ते नेत्रे यस्य। अतः त्वत्तः पृथगीशमानिनः अन्यत्र प्रभुत्वेन वर्तमानोऽपि मयि नाथे सति नाथवान् मद्भृत्य एव। अत एव अनुकम्प्य इति मत्वा क्षमस्वेत्यर्थः॥ १०॥

1. A,B,J add इदानीं 2. V °धे 3. A,B,J add अर्हत्ते 4. A,B,J omit वृत्ति 5. V omits इति 6- -6. V omits 7, V यथा 8. V °स्तु तथा 9. A,B,J omit कर्तुम् 10. A,B,J °ल्पैः 11. A adds महता 12. B,J,V omit नभसि 13. V adds मिहिकाद्युभासः 14- -14. A,B,J omit 15. A,B,J add तव 16. A,B,J omit तां 17. A,B,J जीवेत 18. A,B,J मुक्तौ 19. A,B,J add इव 20- -20. A,B,J omit 21. A,B,J omit वितत्य 22. V भूतनेत्रस्य

**वीर०** ननु "नेशे महि त्ववसितुम्" (भाग०. 10-14-2) इति मन्महिमा मदनुग्रहपूर्णपात्रभूतेनापि त्वया दुरवबोधत्वादितरैः[1] दुरवबोधः[2] कैमुत्यन्यायेनोक्तः। अत्र तु 'विबुध्य भक्त्येति' सुखावबोध्य उक्तः। कथमेतद्विरुद्धं वदसीत्यत्राऽऽह **तथापीति।** हे भूमन्! यद्यपि अगुणस्य प्राकृतगुणरहितस्य तव महि महत्त्वममलान्तरात्मभिः सनकादिभिः मत्प्रभृतिभिः कर्तृभिः विबोद्धुं तेषां बोधगोचरीभवितुं माऽर्हति नार्हति, तथाऽप्यविक्रियत्वादिरूपेण बोद्धुमर्हत्येवेत्यनुषज्यते, न च अन्यथा परिच्छिन्नत्वादिरूपेण नार्हति, अविक्रियात् विकाराभावात् अरूपतः कर्मायत्तशरीरसंयोगवियोगरहितत्वात् स्वयाथात्म्यानुभवादनन्यबोध्यात्मतया स्वेतराबोध्यस्वरूपतया स्वसंवेद्यैकस्वरूपतयेति यावत् अविक्रियात्स्वानुभवादरूपत इति निर्देशाः भावप्रधानाः। तृतीयार्थे पञ्चमी आर्षत्वात्। अविक्रियत्वादिरूपेण बोद्धु मर्हति, स्वरूपतः स्वभावतश्च विकाररहितत्वेन प्रकृतिपुरुषविलक्षणत्वेन स्वरूपेण ज्ञायत इत्यर्थः, प्रकृतेः स्वरूपतो विकारात् पुरुषस्य स्वरूपतः तदभावेऽपि स्वभावतस्तत्सम्भवात्। एवं च जीववत्स्वभावतो विकारं वारयितुमरूपत इत्युक्तम्। कर्मायत्तशरीरवियोगसंयोगप्रयुक्तो हि जीवस्य धर्मभूतज्ञानसङ्कोचविकासात्मको विकारः। अतो रूपाभावादविक्रियत्वेन ज्ञायत इत्यर्थः। जीवस्य रूपवत्त्वं च स्वयाथात्म्याननुभवप्रयुक्तमिति तदननुभवो वार्यते। स्वानुभवादित्यनेन स्वरूपस्यैवंविधत्वात्तन्महिमाऽप्यनितरसाधारणत्ववेषेण ज्ञायत इत्यर्थः। यद्वा अविक्रियादित्यनन्य बोध्यात्मतायां हेतुः, अविक्रियादित्यत्र हेतुः अरूप[3] इति। तत्रापि हेतुः स्वानु भवादिति। अयमर्थः-नित्यं प्रत्यक्षितस्वयाथात्म्यानुभवाद्धेतोः पराभिध्यानमूलककर्मायत्तशरीराभावात् तत्संयोगवियोगप्रयुक्तस्वभावविकाराभावात् अचेतनवत् स्वरूपविकाराभावाच्च स्वरूपतः स्वभावतो वा विकृतस्यैवान्यबोध्यस्वरूपत्वात्तदुभयाभावेनानन्यबोध्यात्मतया ज्ञायत इति, अनन्यबोध्यात्मत्वरूपोऽयमेको महिमा अमलान्तरात्मभिः ज्ञायते, न तु स्वरूपस्वभावयोः इयत्ता ज्ञायत इति समुदायार्थः, अमलान्तरात्मभिः सनकादिभिस्सह मा लक्ष्मी रपि महत्त्वं विबोद्धुं नार्हतीति केचिद्योजयन्ति। तत्र तथाऽपीत्यस्यानन्वयापत्तिः तेनाऽऽक्षेपपरिहारयोः प्रतीतेः नञ् अध्याहारप्रसङ्गश्च॥ ६॥

न चान्यथेत्यनेनाभिप्रेतमेव विवृणोति — **गुणात्मन** इति। गुणानां कल्याणगुणानाम् आत्मनः आश्रयस्य तव गुणान् अपिशब्दात् स्वरूपमपि विमातुमियत्तया परिच्छेत्तुं क ईशिरे के प्रभवन्ति न केऽपीत्यर्थः। सत्यं परत्वेनावस्थितस्य मम गुणानपि मातुं नेशिरे न तु विभवस्थितस्येति शङ्कां वारयन् अस्य जगतः हितायावतीर्णस्य विभवाऽऽस्थितस्यापि विमातुं नेशिरे इति भावः। के इत्यनेन बुद्धिकुशला विवक्षिताः, तदेव दर्शयितुं के इत्यनेन विवक्षितान् विशिनष्टि - कालेनेति। यैर्महता कालेनापि भुवः पांसवः तथा खे मिहिका हिमकणाः तथा द्युभासः दिवि नक्षत्रादिकिरणपरमाणवो विमिता विशेषेण गणिता भवेयुः। तेऽपि के ईशिर इत्यन्वयः॥ ७॥

एवं भक्तिप्रपत्त्योर्भगवद्वशीकारसाधनत्वमुक्त्वा इदानीं प्रपत्तेर्विशेषमाह - **तदिति।** [4]तत् तस्मात् दुरवबोधनिस्सीममहिमत्वात् त्वत्प्रपत्तिमन्तरेण त्वन्मायाया दुस्तरत्वाच्च केवलं तन्वादिभिः [5]त्रिभिः करणैः तुभ्यं नमो विदधत् शरणं कुर्वन् तवानुकम्पामपराधानवेक्षणेन केवलमनुजिघृक्षारूपां कृपां सुसमीक्षमाणः कृतापराधानामपि प्रपन्नानामुत्तारिकां मन्वानः आत्मकृतं स्वकर्मसम्पादितं विपाकं सुखदुःखादिफलं भुञ्जान एव, अनेन प्रपन्नानां प्रारब्धानुभवमात्रमेव कार्यम्, न तु भगवत्प्राप्तये यत्नान्तरमिति सूचितम्। यः पुमान् जीवेत स मुक्तिपदे दायभाक् अंशभाग्भवति। "अविज्ञाताः कुमारकाः" इति श्रुत्युक्तरीत्या त्वत्कुमारप्रायैर्जीवैर्नित्यमुक्तैस्सह त्वदनुभवात्मकं दायं रिक्थं विभज्यानुभवतीत्यर्थः॥ ८॥

इत्थमभिष्टूय स्वापराधं क्षमापयितुं तावन्निरूपयति — **पश्ये**ति। हे ईश! ममानार्यं दौर्जन्यं पश्य, किं तत्? यदहं मायिनामाश्चर्यशक्तियुक्तानामपि मायिनि [6]अत्याश्चर्यशक्तियुक्ते अनन्ते अपरिच्छेद्यस्वरूपस्वभावे जगत्कारणभूते परमात्मनि मायां वितत्याऽऽच्छाद्य आत्मैश्वर्यमीक्षितुमैच्छम् अभिलषितवानित्येतत्। अहम् एवं त्वयि कुर्वन् अहं कियान् न किञ्चित् अतितुच्छ इत्यर्थः। यथाऽग्नौ उत्थितार्चिः ज्वालास्फुलिङ्गः तद्वत्॥ ९॥

मम युक्तमेवैतदिति वदन् अपराधं क्षमापयति **[7]अत** इति। हे अच्युत! रजोभुवः रजसा जातस्य अत एव अजानतः त्वन्म[8]हिमिति शेषः। त्वत्तः पृथगीशमात्मानं मां मन्वानस्य अजो ब्रह्मेति योऽवलेपः गर्वः स एवान्धं तमः तेनान्धीभूते चक्षुषी यस्य एवंविधस्य दौर्जन्यं युक्तमेवेति भावः। [9]अतः दौर्जन्यं क्षमस्व। क्षमाप्रकारमाह - मयि नाथवान् मद्भृत्य एव अत एषोऽप्यनुकम्प्य इति मत्वा क्षमस्वेत्यन्वयः॥ १०॥

1. A,B °ध्य° 2. A,B °ध्यः 3. K अरूपतः 4. K,W omit तत् 5. W omits त्रिभिः 6. W omits शक्ति 7. K अदः 8. K महिमानमिति 9. K अदः

**क्वाहं तमोमहदहं खचराग्निवार्भूसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।**
**क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्॥ ११॥**

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः किं कल्पते मातुरधोक्षजाऽऽगसे ?
किमस्ति नास्ति व्यपदेशभूषितं तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः ॥ १२ ॥

जगत्त्रयान्तोदधिसंप्लवोदे नारायणस्योदरनाभिनालात् ।
विनिर्गतोऽजस्त्विति वाङ्न वै मृषा किन्त्वीश्वर! त्वन्न विनिर्गतोऽस्मि ॥ १३ ॥

नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनामात्माऽस्यधीशोऽखिललोकसाक्षी ।
नारायणोऽङ्गं नरभूजलायनात् तच्चापि सत्यं न तवैव माया ॥ १४ ॥

तच्चेज्जलस्थं तव सज्जगद्वपुः किं मे न दृष्टं भगवंस्तदैव ? ।
किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैव किं नो सपद्येव पुनर्व्यदर्शि ॥ १५ ॥

1. A,B,G,J °शाखि° 2. A,B,G,J,K,W माया 3. A,B,G,J °दैव; V °थवै 4. A,B,G,J,V °दैव

**श्रीध०** ननु ब्रह्माण्डविग्रहस्त्वमपि ईश्वर एवेति चेत्तत्राह — **क्वाहमिति**। तमः प्रकृतिः महान् महत्तत्त्वम्। अहं अहङ्कारः खमाकाशः, चरो वायुः, अग्निः तेजः, वार्जलं, भूश्च। प्रकृत्यादि पृथिव्यन्तैः एतैः संवेष्टितो योऽण्डघटः स एव तस्मिन् वा स्वमानेन सप्तवितस्तिः कायो यस्य सोऽहं क्व, क्व च ते महित्वम्। कथम्भूतस्य ? ईदृग्विधानि यानि अविगणितानि अण्डानि त एव परमाणवः तेषां चर्या परिभ्रमणं तदर्थं वाताध्वानो गवाक्षा इव रोमविवराणि यस्य तस्य तव। अतोऽतितुच्छत्वात् त्वया अनुकम्प्योऽहमिति ॥ ११ ॥

**उत्क्षेपणमिति**। अपि च गर्भगतस्य शिशोः पादयोरुत्क्षेपणं मातुः किमपराधाय भवति लोके। अस्तिनास्तिव्यपदेशाभ्यां भावाभावशब्दाभ्यां स्थूलसूक्ष्मकार्यकारणशब्दैर्वा भूषितमभिहितम्। एतेषां शब्दानां भुवि विषये उषितं स्थितमिति वा। सर्वं वस्त्वित्यर्थः। हे अधोक्षज! तव कुक्षेः अनन्तर्बहिः कियदपि किञ्चिन्मात्रमपि किमस्ति। न किञ्चिदस्तीत्यर्थः। अतः सर्वस्य तत्र कुक्षिगतत्वेन ममापि तथात्वात् मातृवदपराधः मदपराधः सोढव्य इति भावः ॥ १२ ॥

किञ्च विशेषतोऽपि त्वत्तः मम जन्म प्रसिद्धमित्याह - **जगदिति**। जगत्त्रयस्यान्ते प्रलये य उदधीनां संप्लवः संश्लेषः तस्मिन्नुदे उदके नारायणस्योदरे या नाभिः तस्याः नालादजो विनिर्गत इति या जनवाक् सा तावन्मृषा न भवति। वै निश्चितम्। तथापि तु हे ईश्वर! त्वत्तोऽहं किं न विनिर्गतो नोत्पन्नोऽस्मि। अपि तु त्वत्त एव उत्पन्न इत्यर्थः ॥ १३ ॥

तर्हि नारायणस्य पुत्रः स्यास्त्वं, मम किमायातं तत्राह — **नारायण** इति। नहीति काक्वा त्वमेव नारायणं इत्यापादयति। कुतोऽहं नारायण इति चेदत आह — सर्वदेहिनामात्माऽसीति। एवमपि किं नारायणो न भवसि। नारं जीवसमूहोऽयनमाश्रयो यस्य स तथेति। त्वमेव सर्वदेहिनामात्मत्वात् नारायण इति भावः। हे अधीश! त्वं नारायणो नहीति पुनः काकुः। अधीशः प्रवर्तकः। ततश्च नारस्यायनं प्रवृत्तिः यस्मात् स तथेति,

पुन: त्वमेवासाविति। किञ्च त्वमखिललोक साक्षी अखिलं लोकं साक्षात् पश्यसि। अतो नारमयसे जानासीति त्वमेव नारायण इत्यर्थ:। नन्वेवं नारायणपदव्युत्पत्तौ भवेदेवं तत्तु अन्यथाप्रसिद्धमित्याशङ्क्याह —— नारायणोऽङ्गमिति। नरादुद्भूता येऽर्था: च[13-] तुर्विंशतितत्त्वानि[13] तथा नराज्जातं यज्जलं तदयनात् यो नारायण: प्रसिद्ध: सोऽपि तवैवाङ्गं मूर्ति:। तथा च स्मर्यते — "नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधा:। तस्य तान्ययनं प्रोक्तं[14] तेन नारायण: स्मृत:। "(पाद्म. पु) इति। तथा च मनु[15]: "आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनव:। ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायण: स्मृत:॥(मनु° स्मृ° 1-10) इति च। ननु मन्मूर्तेरपरिच्छिन्नाया: कथं जलाश्रयत्वं किं[16-] न्तु तवैव मायया कल्पितमपरिच्छिन्नत्वादिति भाव[-16]:। अत आह — तच्चापि सत्यं नेति॥ १४॥

अपरिच्छेदमेवोपपादयति — **तच्चेदिति।** जगदाश्रयभूतं तव तद्वपु: जलस्थमित्येवं[17] यदि सत् सत्यं स्यात्तर्हि तदैव कमलनालमार्गेणान्त:प्रविश्य संवत्सरशतं विचिन्वतापि मया हे भगवन्! अचिन्त्यैश्वर्य!। तत्र किमिति न दृष्टम्। तं[18-] त आगत्य स्वस्थाने स्थित्वा संवत्सरशतं तपसि तप्ते सति तथैव मे मया हृदि किं वा सुदृष्टम्[-18]। हृद्यपि स[19]पदि किमिति नो व्यदर्शि न दृष्टम्। अत: त्वन्मूर्ते: देशविशेषपरिच्छेद: सत्यो न भवतीत्यर्थ:॥ १५॥ ★

1. V omits ननु 2- -2 V महत् 3. A,J omit अहं 4. V °शं 5. A,B,J omit तेज: 6. A adds अष्टभि: 7. A adds प्रकृत्यादिभि: संवेष्टितानि 8. V त्वत्कु° 9- -9 A,B,J omit 10. A,B,J omit या 11. A,B,J omit जन 12- -12. V °णपुत्रस्य 13- -13. A,B,J omit 14. A,B,J पूर्वं 15. A,B,J omit मनु: 16- -16. A,B,J omit 17. A,B,J °वं 18- -18. A,B,J तदैव तप:करणानन्तरं सपद्येव सुदृष्टम् अतो मायैव। 19. A,B,J omit सपदि ★ V adds अत्र केषुचिद्व्याख्याग्रन्थेषु एवं व्याख्यातम् — ननु न च बाह्यदृष्टं सद्वपु: किन्तु अन्त:करणदृश्यम् तदा हृद्यपि किमिति नो व्यदर्शि न दृष्टम् तथैव तप:करणानन्तरं सपद्येव च सुदृष्टम् अतो मायैव। अतस्त्वन्मूर्ते: देशविशेषपरिच्छेद: सत्यो न भवतीत्यर्थ:॥ १५॥

**वीर०** ननु अण्डाधिपति: त्वमीश्वर एव, न तु पृथगीशमानी, अतो न मयाऽनुकम्प्य:। तत्राऽऽह — **क्वाहमिति** । तम: प्रधानम् अहमहङ्कारो भूतादि: खमाकाश:, तच्चरो वायुश्च वा: जलं तमआदिभि: वेष्टिते अण्डघटे स्वमानेन सप्तवितस्तिपरिमित: कायो यस्य। सोऽहं क्व? एवम्भूतस्य मम महित्वं कियत् न किञ्चिदपि अतितुच्छमिति भाव:। क्व च तव महित्वम्? कथम्भूतस्य? ईदृग्विधानि यान्यविगणितानि असङ्ख्यातानि अण्डानि तान्येव परमाणव: तेषां चर्या भ्रमणं तदर्थं वाताध्वानो गवाक्षा इव रोमविवराणि यस्य तस्य तव। अत्र तमआदिषु पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तराणि अन्तरावरणानि विज्ञेयानि, वार्भ्वित्यत्र भ्विति वारां विशेषणम्। वारि च तानि भूतानि च वार्भूणि, अग्नेरुत्पन्नानि वारि चेत्यर्थ:। बहुलग्रहणात् विशेष्यस्यापि पूर्वनिपात:, तत: तमआदीनां द्वन्द्व: न तु वार्भि: भुवा पृथ्व्या च संवेष्टित इत्यर्थ:, वैष्णवे पुराणे भुव आवरणत्वानुक्ते: आवरणानां सप्तत्वोक्तेश्च। तथा हि "दशोत्तरेण पयसा मैत्रेयाण्डं च तद्वृतम्। सर्वोऽम्बुपरिधानोऽसौ वह्निना वेष्टितो बहि:॥ वह्निश्च वायुना वायुर्मैत्रेय! नभसाऽऽवृत:। भूतादिना नभस्सोऽपि महता परिवेष्टित:॥ दशोत्तराण्यशेषाणि मैत्रेयैतानि सप्त वै। महान्तं च समावृत्य प्रधानं स[1]मुपस्थितम्। अनन्तस्य

न तस्यान्तं सङ्ख्यानं चापि विद्यते। तदनन्त मसङ्ख्यायातप्रमाणं चेति वै यत:। हेतुभूतमशेषस्य प्रकृतिस्सा परा मुने" (विष्णु. पु. 2-7-23-27) इति दशोत्तराण्युत्तरोत्तरं दशगुणाधिकानीत्यर्थ:। न च खचरो वायुरेकमावरणम्, तेन सह तमआदीनि सप्तेति निर्वाह: आकाशस्याऽऽवरणत्वाभावप्रसङ्गेन "वायुर्मैत्रेय! नभसाऽऽवृत:" इति उदाहृतवचनविरोधापत्ते:। तस्मात् यथोक्त एवार्थ:। अतोऽतितुच्छत्वात्त्वयाऽनुकम्प्योऽहमिति भाव:॥ ११॥

अपि च हे अधोक्षज! गर्भगतस्य शिशो: पादयोरुत्क्षेपणमाघात: किं मातु: आगसे अपराधाय भवति? न भवत्येवेत्यर्थ:। विषमोऽयं दृष्टान्त: - तव मद्गर्भस्थत्वाभावादित्यत्राऽऽह - किमिति। तव कुक्षेरन्त: बहि: कियदपि किञ्चिन्मात्रमपि अस्तिनास्तीत्यपदेशभूषितम् अस्तिनास्तीतिव्यवहारचिह्नितं तद्व्यवहार विषयभूतमिति यावत् चिदचिदात्मकं जगत्, किमस्ति? न किञ्चिदित्यर्थ:। चिद्वस्तुनस्सततमेकरूपत्वात् सदाऽस्तीत्येव व्यवहारभूषितत्वम्। अचिद्वस्तुनस्तु सततपरिणामित्वात् पूर्वपूर्वावस्थां विहाय उत्तरोत्तरावस्थापत्तौ सत्यां पूर्वपूर्वावस्थानां नास्तीतिव्यपदेशभूषितत्वात् तत्त्वमवगन्तव्यम्। अत: सर्वस्य त्वत्कुक्षिगतत्वेन ममापि तथात्वात् मातृवत् मदपराध: सोढव्य इति भाव:॥ १२॥

किञ्च विशेषतस्त्वत्त एव मम जन्म प्रसिद्धमित्याह - **जगदित्यादि।** जगत्प्रयस्यान्ते प्रलये य उदधीनां संप्लव: संश्लेष: तस्मिन् उदे उदके नारायणस्योदरे नाभिस्तस्या नालात् अजो विनिर्गत इति जनवाक्, सा तु मृषा मिथ्या न भवति किंत्वमृषैव। वै निश्चितम्। तथाहि हे ईश्वर! त्वत् त्वत्त: विनिर्गत: उत्पन्न: नास्मि किम्? अपि तु उत्पन्न एवेत्यर्थ:॥ १३॥

तर्ह्यस्तु भवान्नारायणपुत्र: तथाऽपि मम किमायातं तदाह - **नारायणस्त्वमिति।** नहीति काक्वा त्वमेव नारायण इत्युपपादयति कुतोऽहं नारायण इति चेत्तत्राह यत: सर्वदेहिनामात्माऽसि नारं जीवसमूह: तस्यायनमाश्रय: स वा अयनं यस्य स: त्वमेव सर्वदेहिनामाश्रयत्वात् सर्व शरीरकत्वेन तदाश्रयकत्वाच्च नारायण इति भाव:। हे अधीश! त्वं नारायणो नहीति पुन: काकु:। कुत:। यत: अधीश: प्रवर्तक: नारस्य अयनं प्रवृत्ति: यस्मात् स तथेति। किञ्च त्वमखिललोकसाक्षी आखिलं लोकं साक्षात्पश्यतीति तथा, अतो नारमेषि जानासीति नारायण:। "इण् गतौ" गत्यर्था बुद्ध्यर्था: नन्द्यादित्वात् कर्तरि ल्यु:। नन्विदं नारायणपदव्युत्पत्तौ भवेदेवम्। तत्तु अन्यथा प्रसिद्धम्। तथा हि "आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनव:। अयनं तस्य ता: प्रोक्तास्तेन नारायणस्स्मृत:" (मनु. स्मृ. 1-10) इति। अत्राऽऽह - नारायणोऽङ्गमिति। नर: परमात्मा "जह्नुर्नारायणो नर:" इति नरशब्दस्य श्रीभगवन्नामसु पाठात् "रिङ्क्षये" इति धातु: न रीयते न क्षीयते न नश्यतीति नर इति व्युत्पन्ननरशब्दप्रवृत्तौ निमित्तस्य नित्यत्वस्य श्री भगवत्यप्यनुगतत्वाच्च। ततश्च नराद्भवां जातानां जलानामयनात् यो नारायण: प्रसिद्ध: सोऽपि तवैवाङ्गं मूर्ति:। 'राहोश्शिरं' इतिवत् तवाङ्गमित्यभेदसम्बन्धे षष्ठी। सोऽपि त्वमेवेत्यर्थ:। नन्वहमेव नारायणश्चेत् "विश्वं नारायणं देवमक्षरं परमम्" (महा. ना. उ. 9-1) इत्यादिभि: वेदान्तै र्विश्वसमानाधिकृतत्वेन प्रतीयमानस्य विश्वव्यापकस्य कथं विश्वान्तर्भूतजलमात्रवर्तित्वम् अत आह तच्चापि सत्यमिति। तव विभोरपि यज्जलाश्रयत्वं तत्सत्यमबाधितमेव। व्यतिरेकमुखेनापि द्रढयति न तु मायेति। तज्जलशायित्वं न माया न मृषा किन्तु सत्यमेवेत्यर्थ:। "अणोरणीयान्महतो महीयान्" (कठ. उ. 2-20) "एष मे आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा

एष मे आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्, दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्य:" (छान्दो. उ. 3-14-3) "उभेऽस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितम्" (छान्दो. उ. 8-1-3) इत्यादिभिरवगतं स्वरूपतो रूपतश्च अणोरणीयस्त्वं महतो महत्तरत्वं चेत्युभयं जगन्निर्माणोपासनाद्युपयुक्ततया जीवहृदयगुहादिष्ववस्थितस्य सर्वशक्तेस्तवोपपन्नमिति जलशायित्वमबाधितमेवेत्यर्थ:[6] ॥ १४॥

एवं चतुर्धा नारायणशब्दव्युत्पत्ति: दर्शिता। नराणामात्मत्वादधीशत्वाच्च अखिललोकसाक्षित्वाच्च जलायनत्वाच्च नारायण इति, अस्त्वेवं न मय्येतानि प्रवृत्तिनिमित्तानि दृष्टानीति नाहं नारायण इत्यपेक्षायां तत्प्रवृत्तिनिमित्तचतुष्टयमपि तस्मिन् स्वानुभवेन दर्शयति - **तच्चेत्यादिना।** सन्ति विद्यमानानि जगन्ति यस्मिन् तत्तव वपु: सृष्ट्यादौ जलस्थं चेत् त्वं नारायण एवेत्यर्थ:। सज्जगदित्यनेन सर्वजगद्धारकत्वरूप तदात्मत्वमाद्यं प्रवृत्तिनिमित्तं तस्मिन् प्रदर्शितम्। जलस्थमित्यनेन तुरीयम्। तवेत्यनेन तवापि कुक्षिस्थाखिलचिदचिदात्मकलोकस्य स्रक्ष्यमाणस्य सर्गोपयुक्तप्रवर्तकत्वं साक्षित्वं चेत्युभयं विवक्षितम्। तव अधीशस्य अखिल लोकसाक्षिणश्चेत्यर्थ:। चेदिति यद्यर्थकमव्ययम्। यदि शब्दश्च सम्भावनायाम्। सा च क्रियासु योग्यताध्यवसायरूपा। जलस्थं चेत् जलावस्थितिविषयकमदध्यवसायिविषयं चेदित्यर्थ:। तत्र स्वानुभवमेव काक्वा विशदयति - हे भगवन्! तदेव जलस्थमेव वपु: मे मया न दृष्टं किम्? दृष्टमेवेत्यर्थ:। यज्जलस्थं तदेव मे हृदि नेत्यनुषङ्ग:, न सुदृष्टं किम्? सुदृष्टमेवेत्यर्थ:। पुनस्सपद्येव तदैव नो व्यदर्शि तिरोधापितं न किम्? त्वयेति शेष:। नो व्यदर्शीत्यनेन तत्र प्रत्यभिज्ञा प्रमाणत्वेनोपन्यस्ता॥ १५॥

1. A,B समव° 2. A,B मम ग° 3. A,B° स्था ना° 4- -4. K,W omits 5. K,W omit यत् 6. A,B add अवतारभेदेन तत्तदाकृतिभेदेऽपि तत्तत्कालकार्यकर्मादिचरित्रभेदेऽपि च अवतारिण: तवाभेद:। अवतारी सदा त्वमेक एव न तु नानेति दिक्॥

**अत्रैव मायादमनावतारे ह्यस्य प्रपञ्चस्य बहिस्स्फुटस्य।**
**कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्या मायात्वमेव प्रकटीकृतं ते॥ १६॥**

**यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्मं भाति यथा तथा।**
**तत्त्वय्यपीह तत्सर्वं किमिदं मायया विना॥ १७॥**

**अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शितम् ?**
**हेकोऽसि, प्रथमं ततो व्रजसुहृद्वत्सास्समस्ता असि।**
**तावन्तोऽसि चतुर्भुजास्तदखिलैस्साकं मयोपासिता:**
**स्तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यसे॥ १८॥**

अजानतां त्वत्पदवीमनात्म न्यात्माऽऽत्मना भासि वितत्य मायाम्।
सृष्टाविवाऽहं जगतो विधाने इव त्वमेषोऽन्त इव त्रिनेत्रः[7]॥ १९॥

सूरेष्वृषिष्वीश! तथैव नृष्वपि तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेऽजनस्य।
जन्माऽसतां दुर्मदनिग्रहाय प्रभो! विधातस्सदनुग्रहाय[8] ॥ २०॥

1. K,W °पि ह 2. A,B,G,J एकोऽसि; K. ह्येकोऽपि 3. A,B,G,J अपि 4. K °ऽपि 5. V °स्ततमिदं 6. A,B,G,J,V,W °ते 7. V °णे 8. A,B,G,J,K,V add च

**श्रीध०** अपि च यदि जलादिप्रपञ्चः सत्यस्स्यात् तर्हि तेन तव परिच्छेदो भवेत्। स तु मायाविलसित इति त्वयैव दर्शित इत्याह - **अत्रेति** श्लोकत्रयेण। हे मायादमन! मायोपशमन! अत्रैवावतारे, अस्य[1] प्रपञ्चस्य[1] बहिः स्फुटस्यापि आत्मनो[2] जठरमध्ये जनन्याः प्रदर्शनेन॥ १६॥

ननु बहिः सत एव। अन्तर्जठरे प्रतिबिम्बोऽस्तु अतः[3] सर्वथा मायाविलसितत्वं मयैवोक्तमिति कुत इत्यत आह[4] - **यस्येति**। यस्य तव कुक्षौ सर्वमिदं यथा भाति तत्सर्वं इहापि बहिरपि तथैव भाति। किञ्च सात्मं त्वत्सहितं तदिदं सर्वं[5] त्वयि मायया विना कथं[6] घटेतेति[6]? अयं भावः त्वयि प्रतिबिम्बश्चेत्तर्हि[7] बाह्याद्विलोमतया प्रतीयेत न तु तदस्ति तव च आदर्शस्थानीयस्य। त्वयि प्रतीतिः न स्यात्। अतः सर्वथा मिथ्यात्वमेवेति॥ १७॥

अपि च न केवलं जनन्याः ममापि तथैव दर्शितमित्याह - **अद्यैवेति**। त्वदृते त्वां विना अस्य विश्वस्य मायात्वं त्वया ममैव च। तदप्यद्यैव किं न दर्शितम्? किन्तु दर्शितमेव। तथाहि एकोऽपीत्यादि। तत्[8] ततो मया सह अखिलैः तत्त्वादिभिरुपासिताः। तावन्तश्चतुर्भुजा असि। जगन्ति ब्रह्माण्डानीति प्रागनुक्तमपि दृष्टमिति ज्ञातव्यम्॥ १८॥

ननु ब्रह्मन्! तव मया दर्शितं शुद्धमेव चैतन्यं, कथं प्रपञ्चवन्मायेत्युच्यते ? सत्यम्। किन्तु अद्वितीये त्वयि नानात्वं गुणावतारमत्स्याद्यवतारेष्विव कार्यवशेन स्वतन्त्रमायानिबन्धनमित्याह - **अजानतामिति** श्लोकद्वयेन। त्वत्पदवीं तव स्वरूपम् अजानतां अनात्मनि प्रकृतौ स्थितः, आत्मैव त्वं आत्मनैव स्वातन्त्र्येण मायां वितत्य आभासि[9]। कथं जगतः सृष्टौ? अहमिव ब्रह्मेव विधाने पालने। एषः त्वमिव अन्ते प्रलये[10]। त्रिनेत्र इव[11] ॥ १९॥

ननु च स्वातन्त्र्ये कथं कुत्सितेषु मत्स्यादिषु जन्म, कथं वा वामनाद्यवतारे याच्ञ्यादिकार्पण्यं, कथं वाऽस्मिन्नेव कदाचिद्भयपलायनादि इत्यत[12] आह — **सुरेष्विति** श्लोकद्वयेन[12]। सुरेषु[13] वामनजन्म, ऋषिषु नारदादिजन्म, तिर्यक्षु नृसिंहादिजन्म, यादस्सु मत्स्यकमठादिजन्म, नृष्वपि रामादिजन्म, असन्निग्रहाय सत्पालनाय च[13] ॥ २०॥

1- -1. A,B,J omit 2. B,J स्वज° 3. A तत्कुत:? B,J कुत:? 4- -4. A,B,J मायात्वं तत्राह 5. V omits सर्वं 6- -6. A किं घटेत?; B,J किं घटते? 7. B,J omit तर्हि 8. V omits तत् 9. A,B,J भासि 10. A,B,J omit प्रलये। 11. A,B,J add इति 12- -12. A,B,J omit 13- -13. A सुरेषु उपेन्द्र:, ऋषिषु परशुराम: नृष्वपि राम: ॥ २० ॥; B,J omit

**वीर०** ननु यज्जलस्थं यच्च भवता जले हृदि च दृष्टं यच्च तिरोभूतं तद्वपुरनिरुद्धमूर्ते: जगत्कारणभूतस्यैव न तु मम अतो नाहं नारायण इत्यपेक्षायामेतदवतारदशायामपि तच्चतुष्टयं त्वन्मात्राऽपि दृष्टमेवेत्याह - **अत्रैवेति**। हे मायादमन! अस्मदादिकर्तृकमायां मोहनात्मिकां दमयति निरस्यतीति तथाभूत प्रपन्नानां प्रकृतिसम्बन्धनिवर्तकेति वा, बहि: स्फुटस्यापि दमयति स्फुटस्यास्य चिदचिदात्मकस्य प्रपञ्चस्यास्मिन्नेव अवतारे अन्तर्जठरे जनन्या: प्रदर्शनेनेति शेष:। ते त्वया मायात्वं विचित्रशक्तित्वं प्रकटीकृतमेव। विपुलं जगत् अल्पीयसि मत्कुक्षौ जनन्या दृष्टिमित्येतद्वच: त्वदीयं "अग्निना सिञ्चेत्" इतिवत् अयोग्यार्थ प्रतिपादकमितीयमाशङ्का मायात्वं प्रकटीकृतमित्यनेन व्युदस्ता, विचित्रशक्तियुक्तत्वात् तद्दर्शयितुं प्रभुरेव त्वमिति भाव: ॥ १६ ॥

तदेव काक्वा विवृणोति - **यस्येति**। इदं परिदृश्यमानं चिदचिदात्मकं सात्ममात्मभ्याम् आवाभ्यां सहितं सर्वं यथा बहिर्भाति तथा तत्सर्वं त्वय्यपि त्वज्जठरे भातमिति शेष:, हेति तदाश्चर्यशक्तिविषयक विस्मयद्योतकम्। इदं त्वज्जठरे भानं मायया त्वदाश्चर्यशक्त्या विना किम्? तन्मूलकमेवेत्यर्थ: ॥ १७ ॥

न केवलं जनन्या: ममापि तथैव विचित्रशक्ति: दर्शितेत्याह - **अद्यैवेति**। अद्य त्वदृते आधुनिकं त्वां विना अधुना गोपालकावस्थावस्थितं त्वां विनेत्यर्थ:। अस्य त्वत्पूर्वोत्तरावस्थाद्वयं पश्यतो मम ते त्वया मायात्वं विचित्रशक्तित्वं नादर्शितं किम्? दर्शितमेवेत्यर्थ:। विचित्रशक्तिमूलकं किं किं तव दर्शितमित्यत्राऽऽह - प्रथमं मया वत्सवत्सपापहरण-दशायामेकोऽपि ततस्समस्ता व्रजसुहृदो गोपबाला वत्साश्चासि। तत: तावन्त: यावन्तो व्रजसुहृद्वत्सा[1]: तावन्त: चतुर्भुजा असि, कथम्भूता:? मया सह अखिलै: चराचरादिभिरुपासिता: तत: तावन्ति यावन्त: चतुर्भुजा: तावन्ति जगन्त्यभू:, तावन्ति विराड्रूपाण्यासीरित्यर्थ:। इदं प्रागनुक्तमपि तदा दृष्टमत्रोच्यत इति ज्ञेयम्। तत्ततोऽमितमपरिच्छिन्नम् अद्वयं स्वतुल्यवस्त्वन्तररहितं[2] कृष्णात्मकं ब्रह्म शिष्यसे अवशिष्यसे ॥ १८ ॥

मया साकम् अखिलैरुपासिता इत्युक्तम्। तत्र नन्वहमेवंविधश्चेत् सर्वेषामप्येवं किं न प्रतीये तत्राऽऽह - **अजानतामिति**। अनात्मनि देहे आत्मात्मना आत्मभावेन देहात्माभिमानस्वतन्त्रात्माभिमानादि हेतुना त्वत्पदवीं त्वद्याथात्म्यमजानतां भासि। किं कृत्वा? मायां वितत्य तेषु मायां प्रसार्य, कथं भासि? जगतस्सृष्टौ अहमिव सृष्टौ निमित्तभूतायां सृष्ट्यर्थमिति यावत्, एवमुत्तरत्रापि। अहम्[3]मिव चतुर्मुख इव, विधाने रक्षणे एष त्वमिव विष्णुरिव, अन्ते संहारे त्रिनेत्र इव रुद्र इव, पृथक् स्वतन्त्र इव भासि, त्वत्पदवीं जानतां तु ब्रह्मरुद्राख्यजीवान्तर्यामितया तच्छरीरकत्वेन विधाने तु साक्षात्स्वावताररूपत्वेन भासीत्यर्थ:। मायाशब्दस्तु अत्र प्रकृतिपर: प्रकृतिगुणान् रजआदीन्वितत्येत्यर्थ:। स हि "मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्" (श्वेता. उ. 4-10) इति प्रमाणवशात् क्वचित्प्रकृतिपर:। "माया वयुनं ज्ञानम्" (वे.नि. 3-9 निरुक्त धर्मव 22) इति निघण्टुपाठात् "मायया सततं वेत्ति" (भार. 15-2805) इत्यभियुक्तप्रयोगाच्च क्वचिज्ज्ञानपर:। क्वचिच्च विचित्रशक्तिपर:। "योगमायां समादिशत्"

(भाग. 10-2-6) इति भागवतप्रयोगादेव "ऋते मायां विशालाक्षीम्" (रामा. ला. 8-110-211) इति श्रीरामायणप्रयोगाच्च, "जलं संस्तभ्य मायया" इति जलस्तम्भनशक्तौ भारतप्रयोगाच्च। तस्मात् तत्र तत्र यथोचितः तदर्थो ग्राह्यः॥ १९॥

'विधाने इव त्वम्' इत्येतदेवोपपादयति - **सुरेष्विति**। हे ईश! अजनस्य कर्मायत्तोत्पत्तिरहितस्य ते तव सुरादिषु जन्म अवतारः हे प्रभो! विधातः! दुष्कृतां दुर्मदनाशाय[4] साधूनामनुग्रहाय च भवति। तत्र सुरेषु उपेन्द्रादिरूपं जन्म, ऋषिषु नरनारायण परशुरामात्मकम्[5] नृषु दाशरथ्यादि[6-] रूपम्[-6]। तिर्यक्षु वराहादिरूपम्। यादस्सु मत्स्य कूर्मादिरूपम्॥ २० ॥

1. K दः ता° 2. W omit स्व 3. A,B omits इव 4. K °शनाय 5. W °णात्मकम् 6- -6 A,B °दिकम्।

**को वेत्ति भूमन्! भगवन्परात्मन्योगीश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।[1]**
**क्व[2] वा कथं वा कति वा कदेति विस्तारयन्क्रीडसि योगमायाम्॥ २१॥**

**तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं[3] स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।**
**त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते मायात उद्यदपि यत्सदिवावभाति॥ २२॥**

**एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यस्स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः।**
**नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः॥ २३॥**

**एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते।**
**गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा ये ते तरन्त्येव[4] भवानृताम्बुधिम्॥ २४॥**

**आत्मानमेवाऽऽत्मतयाऽविजानतां तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम्।**
**ज्ञानेन भूयोऽपि च तत्प्रलीयते रज्ज्वामहेर्भोग भवाभवौ यथा॥ २५॥**

1. A,B,G,J °गे° 2. A. काऽहो 3. V °मसत्त्व° 4. A,B,G,J,V.° न्तीव

**श्रीध०** अत[1-] आह[-1] - **को वेत्तीति**। अन्वर्थैः सम्बोधनैः दुर्ज्ञेयत्वमेवाह - भूमन्नित्यादिभिः। भवत ऊतीः लीलाः त्रिलोक्यां को वेत्ति क्व वा, कथं वा, कदा वा, कति वेति। अचिन्त्यं तव योगमाया वैभवमिति भावः॥ २१॥

ननु भवत्ववताराणामचिन्त्यो महिमा, प्रपञ्चस्य ह्यसत्त्वे[2] कथं सत्त्वप्रतीतिः इति इमामाशङ्कां सपरिकरमुपसंहरन्[3] परिहरति - **तस्मादिति**। अस्तधिषणं निरस्तप्रतिभासम्। त्वय्येवोद्यत् उद्भवदपि यन्नश्यत् सदिवेत्युपलक्षणमेतत्। नित्यमिव, सुखमिव[4-], चेतनमिव[-4] च अधिष्ठानभूतस्य तव गुणैः तथा तथा भातीत्यर्थः॥ २२॥

त्वमेव तु सत्य इत्याह - **एक** इति। एकस्त्वं सत्यः। कुतः? आत्मा। दृश्यमसत्यं दृष्टं न चात्मा दृश्यः, अतः सत्यः। किञ्च यद्विकारवत् तदसत्यं, न च त्वयि जन्मादयो विकाराः सन्तीत्याह - आद्यः कारणम्, अतो न जन्म। आद्यत्वे हेतुः पुराणः पुरातनः[5-5]। कार्यात्पूर्वमपि वर्तमान इत्यर्थः। अत्र हेतुः - पुरुष इति। तथा च श्रुतिः - "पूर्वमेवाहमिहासमिति तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम्" इति। जन्मान्तरास्तित्वलक्षणं[6,7] विकारं वारयति - नित्य इति। सनातन इत्यर्थः। पूर्णोऽजस्रसुखोऽक्षरोऽमृत इति चतुर्भिः पदैः क्रमेण वृद्धिविपरिणामापक्षयविनाशान् वारयति। पूर्णत्वे हेतुः - अनन्तोऽद्वय इति च। देशकालपरिच्छेदरहितो वस्तुपरिच्छेदरहितोऽपि। अमृतत्वोपपादनाय चतुर्विधक्रियाफलत्वं वारयति। स्वयंज्योतिर्निरञ्जन उपाधितो मुक्त इति पदत्रयेण। अयं भावः - तत्रोत्पत्तिराद्य इत्यनेनैव निराकृता, प्राप्तिरपि क्रियया ज्ञानेन वा भवेत्, क्रियया प्राप्तिरात्मपदेनैव निराकृता, ज्ञानतः प्राप्तिं वारयति स्वयंज्योतिरिति। विकृतिरपि तुषाऽपाकरणेनावघातेन व्रीहीणामिवोपाध्यपाकरणेन भवेत्। तत्तु[8] असङ्गतत्वान्न सम्भवतीत्याह - मुक्त उपाधित इति। संस्कारोऽपि किमतिशयाधानेन मलापाकरणेन वा। तत्रातिशयाधानं पूर्णत्वेनैव निराकृतम्। मलापाकरणं निवारयति - निरञ्जन इति। निर्मल इत्यर्थः॥ २३॥

तस्मादेवम्भूतज्ञानात् मुच्यन्त इत्याह - **एवंविध** मिति। त्वां ये विचक्षते सम्यक् पश्यन्ति। कथम्? आत्मात्मतया आत्मा प्रत्यक् तस्य स्वरूपेण। न चैतत्पुत्रादिष्विव गौणमित्याह। सकलात्मनामपि स्वात्मानम्। केन? गरुरेवार्कः तस्मात् लब्धं[9] उपनिषत् ज्ञानं तदेव सचक्षुः तेन। भव एवानृताम्बुधिः तं ते तरन्तीव॥ २४ ॥

तत्र च ज्ञानेन तरन्तीति, तच्च तरन्तीवेति, तच्चात्मात्मतया ज्ञानेन, इत्यर्थत्रयं प्रतिज्ञातं क्रमेणोपपाद्यते। तत्र आत्मानमेवात्मतया इत्यनेन श्लोकेन ज्ञानेन तरन्तीत्युपपाद्यते। अज्ञानसंज्ञावित्यनेन तरन्तीवेत्येतत्। त्वामित्यादि श्लोकद्वयेन तु आत्मात्मतयेत्येतदुपपाद्यते। ननु ज्ञानेन कथं भवं तरन्तीति[10] तस्याज्ञानमूलकत्वादित्याह[11] - आत्मानमिति। तेनैव अज्ञानेनैव प्रपञ्चितं प्रपञ्चः। रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ सर्पशरीरस्याध्यासापवादौ यथेति॥ २५॥

1- -1. V omits 2. V त्व° 3. V °रा° 4- -4. V omits 5- -5. A,B,J पुरापि नवः 6. A,B,J जन्मानन्त° 7. V °णवि° 8. V तच्च 9. A,B,J लब्धा 10. V adds आशङ्क्य 11. A,B,J omit क

**वीर०** अवतारप्रसङ्गात् तेषां जाति प्रकार सङ्ख्याकाल नियमाभावं क्रीडैकप्रयोजनत्वं विचित्रशक्तिमत्त्वं चाऽऽह - **को वेत्तीति**। अवतारदशायामपि स्वासाधारणविपुलानन्दरूपत्वषाड्गुण्यपूर्णत्वप्रशासितृत्वयोगनिर्वाहकत्वाद्यप्रहाणप्रदर्शनार्थं भूमन्नित्यादिसम्बोधनचतुष्टयम्। भवतः तव ऊतीः गतीश्चेष्टाः त्रिलोक्यां कः पुमान् क्व वा कस्यां जातौ कथं केन प्रकारेण, कति कियत्सङ्ख्याकाः, कदा कस्मिन्काले अवतारा इत्येतच्च वेद न कोऽपि जानातीत्यर्थः। केवलम् आश्चर्यशक्तिं विस्तारयन् एवं क्रीडसीति मम भातीति भावः॥ २१॥

किञ्च आजानताम् अहमादिरूपेण केवलं त्वमेव भासि जगदपि विपरीतं भातीत्याह - **तस्मादिति**। तस्मात् त्वद्व्यतिरिक्तस्वतन्त्रवस्त्वभावान्नित्यसुखबोधतनौ नित्यानुकूलज्ञानरूपे त्वय्येवानन्ते अपरिच्छेद्यमहिम्नि यन्मायातः

त्वत्सङ्कल्परूपज्ञानादुद्यत् उत्पद्यमानमपि यल्लीयमानम् अतः त्वदपृथक्सिद्धमिति भावः। पुरुभ्यो दुःखेभ्य उपरि तथाविधानि दुःखानि यस्मिन् स्वप्नाभं स्वप्नतुल्यम्। सर्वत्र दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्साधर्म्ये सति वैधर्म्येण भवितव्यम् अन्यथा तयोरैक्यमेव स्यात्, तत्र उभयानुगतं साधर्म्यमनित्यत्वरूपम्। स्वप्ने तु तत्कालमात्रावस्थायित्वं तद्द्रष्ट्रेकानुभाव्यत्त्वरूपं वैधर्म्यम्। दार्ष्टान्तिके तु कालान्तरेऽप्यवस्थायित्वम् अनेकानुभाव्यत्वरूपं चेति विवेकः। इदं चिदचिदात्मकमशेषं जगदसत्स्वरूपमपि अजानतां सदिव भाति सततविकारवदपि तद्विपरीतवदाभातीत्यर्थः॥ २२॥

यद्यसदिदं जगत् मच्छरीरभूतं मय्येवोत्पद्य लीयते, तर्हि तद्गतदोषभाक् अहमपि असन्नेवेत्यतः तं प्रकृतिपुरुषविलक्षणत्वेन शोधयति **एक** इति। सत्यस्स्वयंज्योतिरनन्त इति पदत्रयेण "सत्यं ज्ञानमनन्तम् (तैत्ति. उ. 2-1-1) इति जगत्कारणत्वेन लक्षिते सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टे वस्तुनि विशेष्यांशशोधकं वाक्यं प्रत्यभिज्ञायते, सत्यः निर्विकारः, अनेनाचेतनात् तत्संसृष्टचेतनाच्च व्यावृत्तिः स्वयंज्योतिः सङ्कोचकाभावात् नित्यासङ्कुचितस्वयंप्रकाशस्वरूप इत्यर्थः। अनेन मुक्तजीवानां व्यावृत्तिः तेषां बद्धदशायां सङ्कुचितप्रकाशत्वात्। अनन्तः स्वरूपतस्स्वभावतश्च त्रिविधपरिच्छेदरहितः। अनेन नित्यसिद्धजीवव्यावृत्तिः तेषां स्वभावत आनन्त्येऽपि स्वरूपतः तदभावत्। तत्र सत्यत्वमेव विवृणोति उपाधितोऽमृतो निरञ्जनोऽक्षरश्चेति। अमृत इति च्छेदः। जीवस्योपाधितो मरणं नाम कर्मायत्तदेहवियोगात्मकम्, तद्रहित इत्यर्थः। अमृत इत्यजातत्वस्याप्युपलक्षणम्, उपाधित इत्यस्य काकाक्षिन्यायात् मुक्त इत्यनेनापि सम्बन्धः। उपाधितः मुक्तः नित्यं कर्मायत्तदेहसम्बन्धान्मुक्तः तत्प्रतिभट इत्ययमुपाधितोऽमृतत्वे हेतुः। निरञ्जनः पुण्यपापरूपाञ्जनरहितः तत्प्रतिभटः। अनेन प्रकृतिसंसृष्टजीवव्यावृत्तिः स्पष्टीकृता भवति। अक्षर इत्यनेन षड्भावविकारात्मकक्षरण स्वभावरहितवस्तुवाचिना प्रकृतेः व्यावृत्तिः स्पष्टीक्रियते। आनन्त्यं विवृणोति नित्यः पूर्णोऽद्वयश्चेति। नित्य इति कालपरिच्छेद व्यावृत्तिः। पूर्ण इति देशपरिच्छेदराहित्यमुच्यते। "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" (श्वेता. उ. 3-9) इति श्रुत्युक्तरीत्या सर्ववस्तुव्यापकत्वं तेन विवक्षितम्। अतो देशपरिच्छेदव्यावृत्तिः स्पष्टैव। अद्वय इत्यनेन वस्तुपरिच्छेदराहित्यमुच्यते, अद्वयः अब्रह्मात्मकद्वितीयवस्तुरहितः। सर्वस्य स्वात्मकत्वेन सर्ववस्तुसामानाधिकरण्यार्हत्वरूपं वस्तुपरिच्छेदराहित्यमुक्तं भवति। यद्वा अद्वयः स्वस्वरूपगुणापेक्षयोत्कृष्टगुणयुक्तवस्त्वन्तररहितः, निरतिशयगुणयुक्तत्वमपि वस्त्वपरिच्छेदः। तत्राऽऽद्यकल्पे स्वरूपस्यैव सर्वशरीरकत्वेन सर्ववस्तु सामानाधिकरण्यार्हत्वरूपं वस्तुपरिच्छेदराहित्यं न तु गुणानामित्यवगन्तव्यम्। द्वितीये तु निरतिशयत्वं स्वरूपे गुणेषु च अनुगतमित्युभयेषामपि वस्तुपरिच्छेदराहित्यमिति विवेकः। एवं प्रकृतिपुरुषव्यावृत्तस्य स्वरूपस्य कीर्तनमजस्रसुख इति। अजस्रं सततमविच्छिन्नं दुःखासम्भिन्नमिति यावत्। तत्सुखं यस्य सः, बहुव्रीहिणाऽवगतस्याजस्रसुखस्यान्यपदार्थसम्बन्धो राहोश्शिर इतिवत् अभेदरूपः, कथमेवं विधस्य ममासस्वरूपजगत्कारणत्वमित्यत उक्तमाद्य इति। आदौ भव आद्यः, एवं विधोऽपि जगत्कारणभूत इति साध्यधर्मनिर्देशः, अत्रोपपत्तिरुच्यते एक आत्मा पुरुषः पुराण इति। "एकमेवाद्वितीयम्" (छान्दो. उ. 6-2-1) इति स्थानप्रमाणेन तत्रेवात्रापि सृष्टिदशावस्थनामरूपविभागनिबन्धन प्रपञ्चगतबहुत्व प्रतिसम्बन्धितदविभाग निबन्धनैकत्वमेकशब्देनोच्यते, नामरूपविभागानर्ह सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टतयैकत्व व्यपदेशार्हः न विशेष्याकारेण कारणभूतः किन्तु विशिष्टत्वाकारेणेति भावः, आत्मेत्यनेन स्वशरीरभूत प्रकृतिपुरुषकालादिद्रष्टृत्वं विवक्षितम्। स्वक्षेत्रस्य द्रष्टा ह्यात्मा "एतद्योवेत्तीति" (भ.गी. 13-1) भगवदुक्तेः, यद्यपि सा क्षेत्रज्ञशब्दव्युत्पत्तिः तथाऽपि तत्पर्यायतया प्रयुज्यमानस्य आत्मशब्दस्यान्तःप्रविश्य धारकवाचिनः तत्पर्यन्तता अत्र विवक्षिता। अनेन निमित्तकारणत्वोपयुक्तं

सर्वज्ञत्वं विवक्षितम्। इदमुपादानकारणत्वोपयुक्तसर्वशक्तित्वस्याप्युपलक्षणम्। एक इति उपादानादिकारणत्वं प्रसाधितम्। अथ निमित्तकारणत्वं साधयति पुरुषः पुराणः। पुरुषशब्देनात्र कर्तृत्वं विवक्षितं, तस्यैव कर्तृत्वदर्शनात्। "कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्" (ब्र.सू. 2-3-23) इति सूत्रस्वारस्याच्च। पुराणः पु[10-]राऽपि नव[-10]ः पुरा जगत्सृष्टेः पूर्वं वर्तमानः पुरुषः जगत्कर्तेत्यर्थः॥ २३॥

यतः त्वमेवं कारणभूतः अत एव "कारणं तु ध्येयः" (अथ. शिखा. उ. 3) इति श्रुत्युक्तरीत्या त्वाम् एवंविधं ध्यात्वा मुच्यन्त इत्याह - **एवमिति**। ये जनाः गुरुरेवार्कः सूर्यवत्तमसोऽज्ञानस्य निवर्तकत्वात् तथा रूपणम्। तस्मादुपलब्धा या उपनिषत् वेदान्तः, अत्र उपनिषच्छब्देन तद्वाक्यार्थज्ञानं विवक्षितम्, सैव शो[11]भनं चक्षुः तेन एवंविधं त्वां विचक्षते, चक्षिर्दर्शनेऽपि वर्तते, पश्यन्ति[12] गुरुमुखाद्वेदान्तवाक्यार्थं निश्चित्य तन्मननपूर्वकं प्रत्यक्षतापत्तिपर्यन्तरूपामुपासनां ये कुर्वन्तीति भावः। कथम्भूतम्? कथं च? तत्राऽऽह सकलात्मनां सर्वेषामात्मनामुपासकानां चान्तरात्मानम् आत्मनामुपासकानामात्मतया त्वच्छरीरतया यद्वा सकलात्मनां सर्वजीवानां देवमनुष्यादीनां ये आत्मानः देवमनुष्यादिशरीरान्तर्वर्तिनो जीवाः तेषामप्यन्तरात्मतया स्वात्मानमुपासकानामप्यन्तरात्मानं ये इह विचक्षते त एव भवानृताम्बुधिं तरन्तीत्यन्वयः। भवे संसारे यान्यनृतानि तान्येवाम्बुधिस्तं "यथा संपुष्पितस्य वृक्षस्य दूराद्गन्धो वाति" (महा.ना.उ. 7-2) इत्यादिना पु[13]ण्यं कर्म प्रस्तुत्य तत्प्रतिसम्बन्धिनि पापे "एव मनृतादात्मानं जुगुप्सेत्" (महा.ना. 8-2) इत्यनृतशब्दप्रयोगादनृतशब्दः पापकर्मवाची, पापत्वं चानिष्ट साधनत्वम्। मुमुक्षोः स्वर्गादिफलस्याप्यनिष्टत्वेन तत्साधनं[14] कर्माप्यनृतशब्देन विवक्षितम्। एवं च पुण्यपापानि तरन्तीत्यर्थः॥ २४॥

ये विचक्षते ते तरन्तीत्युक्तम्। अथ प्रसङ्गात् वि[15]परीतानां का गतिः यदि संसृतिः तर्हि कस्तन्निवृत्त्युपायः तत्राऽऽह **आत्मानमिति**। अविजानतामिति च्छेदः, आत्मानं परमात्मानं त्वाम् आत्मतयैव सर्वान्तरात्मतयैव अविजानतां तेनैव तदविज्ञानेनैव निखिलं प्रपञ्चितं जातं प्रपञ्चो जातः संसारः प्राप्त इत्यर्थः, देहात्मभ्रमस्वतन्त्रात्मभ्रम मू[16-]लकपरमात्मानु[-16]पा सनादिनैव संसारः प्राप्त इत्यर्थः, तत्प्रपञ्चितं पुनः ज्ञानेन देहात्माद्यनभिमानपूर्वक परमात्मोपासनात्मकेन प्रलीयते नश्यति निवर्तत इति यावत्, परमात्मोपासनात्मकज्ञानाभावप्रयुक्तसंसारस्य ज्ञानसद्भावे सति निवृत्तौ दृष्टान्तमाह - यथा रज्ज्वामधिष्ठानभूतायामहेः सर्पस्य यो भोगः शरीरं तस्य भवाभवौ भोगविषयज्ञानोदयतल्लयौ रज्जुयाथात्म्यज्ञानप्रयुक्तौ, तद्वद्देहात्माद्यनभिमान पूर्वक प्रत्यक्षतापत्ति पर्यन्त भगवदुपासनात्मकज्ञानाभावतत्सद्भावप्रयुक्तौ संसार तन्मोक्षावित्यर्थः, मृषावादिनस्त्वत्र रज्जुयाथात्म्यज्ञान प्रयुक्त[17] सर्पभ्रमः तद्याथात्म्यज्ञानान्निवर्तते, एवमपरमार्थभूतो बन्धो ब्रह्माभिन्ने जीवे तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यतद्याथात्म्यज्ञानमूलकः तद्याथात्म्यज्ञानान्निवर्तत इति व्याचक्षते। तत्र वाक्यार्थज्ञानस्य निवर्तकत्वानुपपत्तिः तेन सत्यभूतस्यैव बन्धस्य निवृत्त्यनुपपत्तिश्च भाष्यादिषु सप्तविधानुपपत्तिप्रतिपादनपरप्रकरणे द्रष्टव्या, विस्तरभयात्तु अत्र न लिख्यते॥ २५॥

1. A,B omit अपि 2. K °वि° 3. A,B तद्दोष 4. A,B omit जीव 5. K°तस्या° 6. W °मपरिच्छिन्नं 7. W omits त्व 8. W °शानर्हः 9. K°क्तः 10- -10. W omits 11 W omits शोभनं 12. A,B add इत्यर्थः 13. W पुण्य 14. K,W °नक° 15. A,B तद्विप° 16- -16 A,B तन्मूलकापरमात्मोपा° 17. A,B°क्तः

अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतेऽज्ञभावात्।[1]
अजस्रचिन्त्याऽऽत्मनि[2] केवले परे विचार्यमाणे तरणाविवाहनि[3]॥ २६॥

त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च।
आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य अहो[4-] अज्ञजनाज्ञता[-4]॥ २७॥

अन्तर्भवेऽनन्त! भवन्तमेवह्यतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः।
असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण सन्तं गुणं तं किमु यन्ति सन्तः॥ २८॥

अथाऽपि[5] ते देव! पदाम्बुजद्वय प्रसादलेशानुगृहीत एव हि[6]।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥ २९॥

तदस्तु मे नाथन्[7] स भूरिभागो भवेऽत्र[8] वाऽन्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥ ३०॥

1. A,B,G,J,V ऋतज्ञ° 2. J चिन्त्या; V नित्या 3. A,B,G,V,W °नी 4- -4 A,B,G,J अहोऽज्ञजनताज्ञता 5. K,W त° 6. V omits हि 7. V देव! 8. A भवो°

**श्रीध०** ननु ज्ञानेन[1] तरन्त्येव किमिदमुच्यते तरन्तीवेति तत्राह - **अज्ञानसंज्ञाविति** । अज्ञानेन संज्ञा ययोस्तौ भवबन्धमोक्षौ भवेन बन्धः तन्मोक्षश्च तौ द्वौ नाम प्रसिद्धौ ऋतज्ञभावात् ऋतश्चासौ ज्ञश्च तयोः भावः तस्मादन्यौ न स्तः। ननु कथं महानपलापः क्रियते, परमार्थविचारादित्याह अजस्रेति। अखण्डानुभवरूपे परे शुद्धे आत्मनि नाज्ञानं न च बन्धः। अत एव ज्ञानं मोक्षश्च। तरणौ सूर्ये रात्र्यहनी इवेति॥ २६॥

ननु परमार्थज्ञानादज्ञानकृतो बन्धो निवर्तताम्, आत्मात्मतयैव ज्ञानादिति कोऽयमाग्रह इत्याशङ्क्य, यदध्यासादात्मनः पररूपा स्फूर्तिः तदपवादेन तत्रैव आत्मस्वरूपे[2-] ज्ञानं युक्तमिति इममर्थं विस्मयेनाक्रोशन्निवाह - **त्वामिति**। त्वामात्मानं परं देहादिं मत्वा आत्मनि देहादिमध्यस्य तथा परं देहादि मात्मानं मत्वा देहादावात्मानमध्यस्य इत्यर्थः[3]। अत्र[4] नष्ट आत्मा बहिर्मृग्य इति चित्रम्। न हि गृहे नष्टं वने मृग्यत इत्यर्थः॥ २७॥

विवेकिनस्तु प्रत्यक्स्वरूपे एव परमात्मानं विचिन्वन्तीत्याह - **अन्तर्भव** इति। भवतीति भवं चिज्जडात्मकं शरीरं तन्मध्य एव त्वां मृगयन्ति। अतत्[5] जडं त्यजन्तोऽपवदन्तः। ननु सतो ज्ञानेनऽलं, किमसतोऽपवादेनेत्याशङ्क्य अध्यस्ताऽपवादं[6] विना अधिष्ठान तत्त्वज्ञानं[7-] न जायते[-7] इति सतां व्यवहारेणाह - असन्त मिति। अन्ति समीपे असन्तमप्यहिमन्तरेण तन्निषेधं विना इत्यर्थः। सन्तं गुणं तं[8], रज्जुं सन्तः किमु यन्ति जानन्ति। अन्ति सन्तमपि गुणमिति वा। न जानन्तीत्यर्थः।

तस्मादात्मात्मतयैव ज्ञानान्मुक्तिरिति भावः ॥ २८ ॥

नन्वेवं ज्ञानैकसाध्ये मोक्षे किमिति भक्तिरुद्बोधिता अत आह - **अथापीति**। यद्यपि हस्तप्राप्यमिव ज्ञानमुक्तम्। तथापि[9] हे देव! तव पदाम्बुजद्वयमध्ये एकदेशस्यापि यः प्रसादलेशोऽपि तेन अनुगृहीत एव भगवतस्तव महिम्नस्तत्त्वं जानाति। हे भगवन्! ते महिम्नः तत्त्वमिति वा। एकोऽपि अ[10-]हं ब्रह्माऽपि काश्चि दपीति वा[-10] चिरमपि, विचिन्वन्न[11]पि, अतदंशापवादेन विचारयन्नपीत्यर्थः ॥ २९ ॥

**तदिति**। त[12]त्तस्मात् भूरिभागो महद्भाग्यम्। अत्र भवे ब्रह्मजन्मनि तिरश्चामपि मध्ये यज्जन्म तस्मिन् वा[13] येन भाग्येन भवदीयानां जनानामेकोऽपि यः कश्चिदपि भूत्वा निषेवेऽत्यर्थं सेवेये[14]ति ॥ ३० ॥

1. V ज्ञानिनः 2- -2. A,B,J omit 3. B,J,V omit इत्यर्थः। 4. A एवमन्तः 5. A adds कथम् 6. V असतोप° 7. A,B,J तत्त्वं न ज्ञायते 8. A,B,J omit तं, 9. V अ° 10- -10. A,B,J कश्चिदपि 11. V omits अपि 12. V omits तत् 13. A adds अन्यत्र 14. V omits इति

**वीर०** उक्तदृष्टान्तेनाभिप्रेतमेव दार्ष्टान्तिके पुनर्दृष्टान्तान्तरेणानुगमयति - **अज्ञानसंज्ञौ** इति। भवः संसारः तद्रूपो बन्धः तस्मान्मोक्षश्च इत्येतौ द्वौ अज्ञानसंज्ञौ अज्ञानम् उक्तविधपरमात्मोपासनात्मकज्ञानाभावः। संज्ञा तदुपासनात्मकं ज्ञानं ते अनयोः स्त इति तथाभूतौ। अर्शआदित्वात् मत्वर्थीयोऽच्, सम्बन्धोऽत्र हेतुहेतुमद्भावरूपः उपासनात्मकज्ञानाभावतत्सद्भावहेतुकौ भवबन्धमोक्षौ इत्यर्थः। नान्यौ स्तः अन्यमूलकौ न स्त इ[1]त्यर्थः। नामशब्दः शास्त्रीय प्रसिद्धिद्योतकः, एवं स्थिते यथा अहनि तरणौ सूर्ये सति मम इवेति शेषः। तदा अज्ञभावादृते देहात्मभ्रमस्वतन्त्रात्मभ्रमं विना अज्ञभावं विहायेत्यर्थः। अजस्रचिति नित्यज्ञानैकाकारे प्रत्यगात्मनि केवले परे परस्मिन्नात्मनि परमात्मनि विचार्यमाणे प्रत्यगात्मान्तरात्मत्वेन वेदान्तवाक्यार्थविचारपूर्वकं परमात्मन्युपास्यमाने इत्यर्थः। तत्प्रलीयत इत्यनुषङ्गः, प्रपञ्चितं प्रलीयत इत्यर्थः ॥ २६ ॥

अज्ञभावादित्यनेन उक्तमज्ञत्वमेव विशदयन् विस्मयते **त्वामिति**। देहात्मभ्रमोऽहमेव ईश्वर इत्येवं स्वतन्त्रात्मभ्रमश्चेति द्विविधोऽपि भ्रमोऽनर्थहेतुतया त्याज्यतया च तत्र तत्रोच्यते। अत्रापि उभयविधभ्रमस्याऽऽत्मपरमात्मयाथात्म्या[2]ज्ञान मूलकत्वमुक्त्वा विस्मयते, परं प्रकृतिपुरुषविलक्षणम् आत्मानं प्रकृतिपुरुषान्तःप्रवेशेन तद्गतदोषासंस्पर्शेन प्र[3-]शासनैश्च भर्तृत्वं[-3], [4] यथोक्तं भगवता - "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥" (भ.गी. 15-17) इति। एवमत्यन्तविलक्षणमपि त्वामित्यर्थः। एवंविधं त्वामात्मानं प्रत्यगात्मानं मत्वा, चस्त्वर्थः, आत्मानं च प्रत्यगात्मानं तु परमन्यं देहमेव मत्वेत्यर्थः। आत्मा परमात्मा पुनर्बहिर्मृग्यः मृग्यत इत्यर्थः। अहो अज्ञजनानाम् इयमज्ञता, न हि गृहे नष्टं वने मृग्यत इति भावः। विवेकिनस्तु जीवान्तरात्मतयैव त्वामुपासत इति च भावः ॥ २७ ॥

इदमेव दृष्टान्तमुखेन काक्का उपपादयति - **अन्तर्भव इति**। हे अनन्त! सन्तो विवेकिनः अन्तर्भवे भवतीति भवो देहः तन्मध्ये अतत् तदन्यार्थको नञ्, परमात्मनोऽन्यद्यज्जीवपर्यन्तं पञ्चविंशतितत्त्वजातं तत्त्यजन्तः, तस्मिन् परमात्माभिमानं

त्यजन्तः तद्विलक्षणमेवमुक्तविधं भवन्तं त्वां मृगयन्ति विविच्योपासत इत्यर्थः "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" (छान्दो. उ. 8-7-1) इति श्रुत्यनुरोधात्[6] सन्तः विवेकिनः रज्जुयाथात्म्यज्ञानवन्तः अन्ति समीपे सन्तं तत्त्वेनैव प्रतीयमानं गुणं रज्जुमसन्तमप्यहिं सर्पं किमु प्रतियन्ति सन्निहितस्यापि विस्मरणे व्यवहिताध्यासे चायं दृष्टान्तः। यथा विवेकिनः सन्निहिते गुणे अहिविलक्षणतया प्रतीयमाने न व्यवहितसर्पबुद्धिं कर्वन्ति, एवं जीवान्तरात्मतया सन्निहिते त्वयि जीवपर्यन्ततत्त्वविलक्षणतया प्रमिते न जडजीवबुद्धिं कुर्वन्ति, किन्तु तां विहाय स्वरूपतः स्वभावतश्च तद्विलक्षणं त्वामध्यवस्यन्तः उपासते इत्यर्थः ॥ २८॥

ननु केचिदज्ञास्सन्तः संसरन्ति, केचित्तु विवेकिनस्सन्तः मामुपास्य तरन्तीत्युक्तम्, कस्तर्हि विवेकाविवेकहेतुरित्यत्र भवदनुग्रहविशेषभावाभावावेव इत्यभिप्रायेणाऽऽह **तथापीति**। यद्यपि केचिदज्ञास्संसरन्ति, केचिद्विवेकिनस्सन्तः तरन्ति, तथाऽपि हे देव! तव पदाम्बुजद्वयस्य प्रसादलेशेनानुगृहीत एव पुमान् प्रणत्यालम्बनस्य पदाम्बुजद्वयस्य तत्प्रसादमूलत्वादेवमुक्तिः। भगवतस्तव महिम्नस्तत्त्वं याथात्म्यं जानाति, अन्योऽननुगृहीतस्तु एकोऽपि निर्जनदेशस्थोऽपि चिरमपि विचिन्वन् न च नैव जानाति हि॥ २९॥

कस्तर्हि मदनुग्रहहेतुरित्यत्र त्वद्भक्तजनसङ्गतिविशेष एवेत्यभिप्रयन् तमेवात्मनः प्रार्थयते **तदस्त्विति**। तत्तस्मात् त्वदनुग्रहस्यैव विवेक हेतुत्वात् हे देव! स भूरिभागः महाभाग्यम् महांस्तु कोऽसौ, येन भाग्येन अहमत्र भवे चतुर्मुखजन्मनि अन्यत्र तु वा मनुष्यजन्मनि, किं बहुना तिरश्चां मध्ये वा भवज्जनानां केनापि प्रकारेण त्वदाभिमुख्यार्हाणां जनानां मध्ये एकोऽपि यः कश्चिदपि भूत्वा तव पादपल्लवं निषेवे नितरां सेवे तावत् मां भवज्जनान्तर्भूतत्वेन अनुगृहाणेति भावः ॥ ३०॥

1. A,B omit इत्यर्थः 2. A,B,W °त्म्य° 3- -3. A,B,K प्रशासनेन च भर्तारं त्वां 4. A,B add इदमेव हि परमात्मशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं यल्लोकत्रयान्तः प्रवेशनतद्गतदोषास्पर्शनप्रशासनैः भर्तृत्वं 5. A,B °कोऽत्र 6. A,B सारात्

**अहोऽतिधन्या व्रजगोरमण्यस्स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा।**
**यासां विभो! वत्सतरात्मजात्मना यत्तृप्तयेऽद्यापि च नालमध्वराः ॥ ३१॥**

**अहो! भाग्यमहो! भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।**
**यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥ ३२॥**

**तेषां तु भाग्यमहिमाऽच्युत! तावदास्तामेकादशैव हि वयं बत! भूरिभागाः।**
**एतद्धृषीकचषकैरसकृत्पिबामः शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते॥ ३३॥**

**तद्भूरि भाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोभिषेकम्।**
**यज्जीवितं तु निखिलं भगवान्मुकुन्दः त्वद्यापि यत्पदरजश्श्रुतिमृग्यमेव ॥ ३४॥**

**एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव! रातेति न श्वेतो विश्वफलात्फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन्मुह्यति।**
**सद्वेषादिव पूतनाऽपि सकुला त्वामेव देवाऽऽपिता यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते॥ ३५॥**

1. A,B,G,J,V एषां 2. A,B,G,J °वाननन्त° 3- -3. V °भिर्विमृग्यम् 4. A ये धामार्थ 5. V सुतप्रि° 6- -6. V तनुगो प्राणी°

**श्रीध०** देवादिजन्मनोऽपि यत्र कुत्रचित् त्वद्भक्तिमज्जन्मैव श्रेष्ठमित्यौत्सुक्ये सप्तभिः श्लोकैः अभिनन्दति - अहो **इति।** व्रजगोरमण्यः व्रजस्थाः गावो रमण्यः गोप्यश्च, ते, त्वया वत्सतरात्मजात्मना वत्सानामात्मजानां च रूपेण, यस्य तव तृप्तये सर्वेऽपि यज्ञाः, अद्यापि नाऽलं न समर्थाः ते त्वया प्रतिक्षणं तृप्यता यासां स्तन्यम् अमृतरूपं पीतमिति॥ ३१॥

तत्र भगवत्सखानां महिमा वक्तुं ज्ञातुं न शक्यत इत्याह **अहो** इति। अहो भाग्यमिति पुनरुक्त्या आदरेण भाग्यस्य सर्वधा अपरिच्छिन्नत्वमुक्तम् यन्मित्रं येषां मित्रम् ब्रह्म श्रीकृष्णस्वरूपं, परमानन्दं निरतिशय सुखस्वरूपं, तथा च प्राकृतमित्रस्य परस्परोपकारित्वापेक्षया कदाचिद्विषय विरोधात् मैत्रीभङ्गश्च श्रीकृष्णे तु परमानन्दे न तथा किन्तु तेषामानन्द एवेति भावः। प्राकृतमित्रस्य देशान्तरगमनेन विश्लेषदुःखमपि भवति। श्रीकृष्णे मित्रे न तथेत्याह - पूर्णमिति। तथा च गतागतादिरहितमित्यर्थः। अत्र यद्यपि श्रीकृष्णस्यापि गोचारणादिना विश्लेषदुःखं भवति। तथापि तच्चिन्ताप्यानन्दनियमः प्राकृतमित्रे तु न तथेति भावः। यद्वा, श्रीकृष्णास्य पूर्णत्वे सर्वव्यापकत्वे जाते, मधुराद्वारकावासिनामपि श्रीकृष्णे विश्लेषदुःखं नाभूदेव॥ ३२॥

किञ्च **एषामिति।** एषां भाग्यस्य महिमा तावदास्तां तिष्ठतु। कस्तं वक्तुं शक्नोति। शर्वादयः शर्वः अहङ्काराधिष्ठाता आदिर्येषां चन्द्रादीनामेकादशानां ते तथा। वयं च, वयमित्यात्मानमेव बहुमन्यमान आह - एवं मनो बुद्ध्यहङ्कारचक्षुराद्यधिष्ठातारः त्रयोदशदेवा एव तावत्। बत अहो! भूरिभागाः, यस्मात् एतेषां नन्दगोपव्रजौकसां हृषीकाणीन्द्रियाण्येव चषकाणि पानपात्राणि तैः, ते तव चतुर्दशस्य चित्ताधिष्ठातुः अङ्घ्री एव, उदजे वारिजे तयोर्मधु मकरन्दः तदेवामृतं स्वादु, आसवं माध्वीकं पिबामः एतदुक्तं भवति। यदा प्रत्येकमिन्द्रियाभि मानिनो वयं कीर्तिसौन्दर्य सौगन्ध्याद्येकदेशसेविनोऽपि कृतार्थाः तदा सर्वेन्द्रियैः सर्वसेविनामेतेषां किं वर्ण्यते भाग्यमिति॥ ३३॥

अतो मया प्रार्थितम् "तदस्तु मे नाथ! सभूरिभागः" (भाग०. 20-14-30) इति यत् तदेतदेवेत्याह तदिति। किं तत्? इह मनुष्यलोके यत्किमपि जन्म तत्राप्यटव्यां यत् तत्रापि गोकुले यत् अहो! सत्यलोकं विहायात्र जन्मनि जाते को लाभ इत्यत आह - अपि कतमाङ्घ्रिरजोभिषेकमिति। गोकुलवासिनां मध्येऽपि कतमस्य यस्य कस्याप्यङ्घ्रिरजसा अभिषेको यस्मिन् तत्। ननु कुतो गोकुलवासिन एव अतिधन्याः तत्राह — यदिति। येषां जीवितं निखिलं भगवान् मुकुन्द इति। निखिलं मुकुन्दपरमेव जीवनमित्यर्थः। दुर्लभतामाह — अद्यापीति।

श्रुतिमृग्यं वेदैरपि मृग्यत एव न तु दृश्यत इत्यर्थः॥ ३४॥

अपि च किं वर्ण्यते कृतार्थतामेतेषाम् येषां[18] भक्त्या भवानपि ऋणीवाऽऽस्ते। ननु किं दातुमसमर्थोऽहम्। येन ऋणी स्यामत आह - **एषामिति।** उत अपि भवानपि एषां कुत्रापि। किं विश्वफलात् सर्वफलात्मकात् त्वत्तः अपरं फलं राता दास्यतीति नश्चेत: अयत् सर्वत्र गच्छद्विचारयत् मुह्यति। ननु मामेव दत्त्वाऽनृणः स्यामिति चेन्नहि नहि। सद्वेषादिव सतां भक्तानां यो वेषः तदनुकरणमात्रेण[19] पापिष्ठा पूतनापि त्वामेवाऽऽपिता प्रापिता तर्हि[20] तत्सम्बन्धिनामपि[21] दास्यामीति चेत् तत्राह - सकुलेति बकाघासुरसहिता। एषामपि तावदेव चेदपर्याप्तमित्याह यदिति। येषां धामादयः त्वत्कृते त्वदर्थमेवेत्यर्थः॥ ३५॥

1. V °तोऽपि 2. V omits रमण्यः 3. B,J,V omit नाऽलं 4. A,B,J शक्ताः 5- -5. A,B,J omit 6- -6. A,B,J omit 7- -7. A,B,J omit 8. A,B,J omit तिष्ठतु 9- -9. B,J,V omit 10. B,J, V omit तव 11. A,B,J मादकं 12. V °द्येकैक° 13. V तदेवे° 14. V omits यस्य 15. B,J, omit अति 16. V omits भगवान् 17- -17. A,B,J omit 18. V omits येषां 19. V कारमा° 20. A adds एतत् महद्रूपं फलं 21. A adds नन्दादीनामपीत्यर्थः। मां

**वीर०** चतुर्मुखजन्मतोऽपि यत्र क्वचित् त्वज्जनसङ्गि जन्मैव श्रेय इत्यौत्सुक्येन[1] नन्दगोपगोपिकादीन्[2] अभिनन्दति **अहो** इत्यादिभिः[3-3] सप्तभिः। व्रजस्य गावो रमण्यो गोप्यश्च अतिधन्याः, कुत इत्यत्र ता विशिनष्टि - यासां व्रजगोरमणीनां स्तन्यामृतं वत्सरूपेणाऽऽत्मजरूपेण च त्वयाऽतीव[4] पीतम् विभोः तव तृप्तये अध्वरास्सर्वे यज्ञाश्च नाऽलं न पर्याप्तास्तेन त्वया इत्यन्वयः॥ ३१॥

नन्दादीनां भाग्यमहो कुतः? यद्यतः[5] निरतिशयानन्दं सर्वव्यापकं सनातनं ब्रह्म मित्रमभूत्॥ ३२॥

हे अच्युत! तेषां नन्दादीनां भाग्यस्य महिमा तावदास्तां कस्तमियत्तया वर्णयितुं[6] शक्नुयादित्यर्थः। शर्वोऽहङ्काराधिष्ठाता आदिर्येषां ते मनोबुद्धिचित्ताधिष्ठातॄणां चन्द्रादीनां ते वयमेकादश च, स्वस्य चित्ताधिष्ठातृत्वेऽपि मेढ्राधिष्ठातृत्वाच्च एकादशेत्युक्तम्। एवं चतुर्दश वयमिति भावः, वयं मेढ्रादिकर्म ज्ञानेन्दियोभयाधिष्ठातारश्च भूरिभागाः महाभाग्यवन्तः वयमित्यात्मानमेव बहुमन्यमानस्योक्तिः, एवं मनोबुद्ध्यहङ्कारोभयाधिष्ठातारः[7] त्रयोदश देवा विवक्षिताः। कुतः? यस्मादे[8]षां हृषीकाणीन्द्रियाण्येव चषकाणि पात्राणि[9] तैः, तवाङ्घ्रिरेव उदजं कमलं तस्य मधु मकरन्दः तदेवामृतं स्वादु आसवं मादकं पिबामः, एतदुक्तं भवति यथा प्रत्येकेन्द्रियाभिमानिनो वयं कीर्तिसौगन्ध्याद्येकैकदेशसेविनोऽपि कृतार्थाः तथा सर्वेन्द्रियैस्सर्वसेविनामेतेषां किमु वर्ण्यते भाग्यमिति॥ ३३॥

यन्मया प्रार्थनीयं तदेतदेवेत्याह[10] - **तदिति।** यन्मया प्रार्थनीयं भूरि भाग्यं, तदेतदेवेत्यर्थः[11], किं तत्? इह मनुष्यलोके यत्किमपि मनुष्यजन्म तत्राप्यटव्यां यत् तत्रापि गोकुले यत् अहो सत्यलोकं विहाय अत्र जन्मनि

जाते को लाभः? अत आह - गोकुलवासिनां मध्येऽपि कतमस्य यस्य कस्यापि अङ्घ्रिरजसा अभिषेको यस्मिन् तत्, कतमं विशिनष्टि - यस्य गोकुलवासिनः कतमस्यापि जीवितं भगवान्मुकुन्द एव मुकुन्दपरमेव जीवनमित्यर्थः, तस्य दुर्लभत्वमाह- अद्यापीति। यस्य तव पदरजः केवलं श्रुतिभिः वेदान्तैः मृग्यत एव, न तु दृश्यत[12] इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

इदमपि न प्रार्थ्ये[13], किन्तु कमपि त्वत्सम्बन्धविशेषमेवेत्यभिप्रयन् येन केनापि रागद्वेषाद्यन्यतमेन त्वत्सम्बन्धमात्रेणैव निरतिशयानन्दपुरुषार्थभूतत्वत्प्राप्तौ सत्यां ततोऽन्यत्किं फलं दातुं व्रजवासिष्ववतिष्ठसे इति मन्मनो नितरां मुह्यतीत्याह - **एषामिति।** हे देव! सकुला बकासुरादि सहिता पापिष्ठाऽपि पूतना सद्वेषादिव सतां साधूनां वेषादिव साधुवेषानुकारमात्रेणैवेत्यर्थः। वस्तुतः जिघांसयाऽपीति भावः, यं त्वामेव प्रापिता सोऽयं[14] भवानेषां घोषनिवासिनां विश्वस्य पुरुषार्थभूतात् त्वत्तोऽन्यत्परमुत्कृष्टं फलं राता दास्यतीति नोऽस्माकं चेतः कुत्रापि क्वापि[15] सर्वत्रापि[16] यत् गच्छत् विचारयत्[16] मुह्यति। विश्वफलभूतस्त्वं प्रत्यक्षतोऽवतिष्ठस एव तत उत्कृष्टस्य फलस्याभावात् किं दास्यसीति मच्चेतो मुह्यतीत्यर्थः घोषवासिनो विशिनष्टि — येषां घोषनिवासिनां ये[17] धामादयः ते[18] त्वत्कृते त्वदर्था एवेत्यर्थः। धाम गृहम्, अर्थो धनं, तनुः देहः, आशयो मनः ॥ ३५ ॥

1. W°क्ये 2. K omits नन्द 3- -3. A,B इति 4. W omits अतीव 5. W omits यद्यतः 6. W वर्णितुं 7. A,B °येन्द्रियाधि° 8. A,B °देतेषां 9. W omits पात्राणि 10. A,B तदेवे° 11. A,B तदेवे° 12. A,B add एव 13. A,B,K प्रार्थनीयं 14. W योऽयं 15. A,B omit क्वापि 16- -16. A K,W सर्वत्र 17. K,W omit ये 18. K,W omit ते

**तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम्।**
**तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगलो[1] यावत्कृष्ण न ते जनाः ॥ ३६ ॥**

**प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले[2]।**
**प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो[3] ॥ ३७ ॥**

**जानन्त एव जानन्तु किं बहूक्त्या न मे प्रभोः।**
**मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः[4] ॥ ३८ ॥**

**अनुजानीहि मां कृष्ण! सर्वं त्वं वेत्सि सर्वदृक्[5]**
**त्वमेव जगतां नाथो जगच्चैतत्तवार्पितम्[6] ॥ ३९ ॥**

**श्रीकृष्णः वृष्णिकुल पुष्करजोषदायिन् क्ष्मानिर्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन्।**
**उद्धर्मशार्वरहरः! क्षितिराक्षसध्रु[7] गाकल्पमार्कसुमहन्[8]! भगवन्नमस्ते ॥ ४० ॥**

1. A,B,G,J °डो 2. V मायया 3. V भवान् 4. V, W °रम् 5. A °वित् 6. A,B,G,J, °दे° 7. K °सोद्धु° 8. A,B,G,J,V °मर्हन्

**श्रीध०** ननु वीतरागादिदोषाणां सन्न्यासिनामपि न मत्तः परं किञ्चिदस्ति, कथमेतेषामपर्याप्तमित्यत आह — **तावदिति।** हे कृष्ण! रागादयः तावदेव स्तेनाः चोरा भवन्ति । तदा तावद्गृहमपि कारागृहं बन्धनागारम्। मोहोऽपि तावदेव अङ्घ्रियुगलनिगलः पादशृङ्खला, यावत्ते त्वदीया जना न भवन्ति। त्वदीयानां तु रागादयोऽपि त्वन्निष्ठा मोचका एवेति न यतिभ्यो विशेषः। भजनं त्वधिकमिति भावः ॥ ३६ ॥

नन्वनृणत एवाहमेषां पुत्रादि रूपेण वर्ते इति चेत्तत्राह **प्रपञ्चमिति।** प्रपन्ना या जनता जनसमूहः तस्या आनन्दानां सन्दोहं समूहं प्रथयितुमिति। न हि कपटपुत्रत्वादिना तादृग्भक्तेः आनृण्यं सम्पद्यत इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

तदेवमादित आरभ्य अचिन्त्यानन्तगुणत्वेन स्वयं दुर्ज्ञेयत्वमुक्तम्। केचित्तु वयं जानीम इति स्थिताः तानपहसन्निवाह **जानन्त** इति। न तु मे मनआदीनां तव वैभवं विषय इति ॥ ३८ ॥

जगदीशत्वाद्यभिमानं परित्यज्याह - **अनुजानीहीति।** स्वमहिमानं अस्मदादीनां च ज्ञानबलादि सर्वं त्वमेव वेत्सि। यतः सर्वदृक् जगतां नाथस्त्वमेवेत्येतावज्ज्ञातम्, अतो ममतास्पदं जगत् एतच्छरीरं च तवार्पितम्॥ ३९॥

तदेवं किङ्करं प्रस्थापयेत्यादरेण नमस्करोति **श्रीकृष्णेति।** वृष्णिकुलपद्मस्य प्रीतिदातृत्वेन हे सूर्योपम! क्ष्मा अवनिश्च निर्जरा देवाश्च द्विजाश्च पशवश्च त एव उदयस्तेषां वृद्धिकारित्वेन, हे चन्द्रोपम! उद्धर्मः पाषण्डधर्मः तदेव शार्वरं तमः तद्धरतीति तथा। अनेन हे द्वयोपम! हे क्षितिराक्षसध्रुक् क्षितौ राक्षसाः कंसादयः उद्यन्नेव तेभ्यो द्रुह्यतीति पुनः सूर्योपमा। सूर्याद्युपमापि न्यूनेति मत्वाऽऽह आर्कं अर्कमभिव्याप्य सर्वेषामर्हन् पूज्य! भगवन्! आकल्पं कल्पपर्यन्तं ते तुभ्यं नम इति॥ ४०॥

1. V विगत 2. A,B,J°मेषा° 3. A,B,J तथा 4. A,B,J omit युगल 5- -5. A,B,J नन्वत 6. B,J omit वयं 7. A,B,J °नुप 7. V omits अवनिः

**वीर०** ननु मत्प्राप्तिप्रतिबन्धकरागद्वेषादिमतामपि मत्सम्बन्धविशेषमात्रेणैव कथं मत्प्राप्तिः तत्राह - **तावदिति** । हे कृष्ण! तावदेव रागादयः स्तेनाः चोराः भवन्ति। त्वत्प्राप्तिप्रतिबन्धका भवन्ति तथा तावद्गृहमपि कारागृहं बन्धनागारम्, मोहोऽपि तावदेव पादशृङ्खलम्। यावत्ते तव जनाः येन केनापि प्रकारेण त्वत्सम्बन्धिनो न भवन्ति। त्वदीयानां तु रागादयोऽपि त्वन्निष्ठामोचका एवेति भावः॥ ३६॥

एवं मोहितचित्तोऽपि पुनरेवमध्यवस्यामीत्यभिप्रयन्नाह - **प्रपञ्चमिति।** निष्प्रपञ्चोऽपि "निष्कलं निष्क्रियम्" (श्वेता. उ. 6-19) इति श्रुत्युक्तरीत्या प्राकृतशरीरतद्व्यापाररूपप्रपञ्चरहितोऽपि मायया सङ्कल्पेन प्रपञ्चं विडम्बयसि अनुकरोषि, किमर्थम्? हे प्रभो! प्रपन्नजनसमूहस्याऽऽनन्दसन्ततिं प्रथितुम् आविष्कर्तुं वर्धयितुमिति यावत् मम त्वेवं निश्चय इति भावः॥ ३७॥

ननु मम प्रपञ्चविडम्बनहेतुं तत्त्वतः त्वं न जानीष इत्यत्राऽऽह **जानन्त** इति। ये जनाः त्वत्स्वरूपस्वभावादिकं जानन्ति त एव विडम्बनहेतुं जानन्तु, मम बहुभाषितेन किम्? न किञ्चिदपि साध्यमस्तीत्यर्थः, एवमात्मनोऽज्ञत्वमाविष्कृतम्। पुनस्सर्वजनीनमेतत्तु जानामीत्यभिप्रयन्नाह - मनस इति। तव वैभवं [3]मम मनआदिकरणत्रयस्य गोचरः[4] [5]नेत्यनु वर्तते, न गोचरो[6] न विषय[7] इत्यर्थः, वपुष इति दृष्टान्तार्थम्। यथा वपुषो न गोचरः[8], तथा वाङ्मनसयोरपीति। अथवा तव वपुषोऽपि वैभवं वाङ्मनसाऽगोचरमित्येतावत्तु जानामीत्यर्थः॥ ३८॥

अथ जिगमिषुः आवयोः तारतम्यं सर्वज्ञस्त्वमेव वेत्सीति वदन् अनुज्ञां पृच्छति **अनुजानीहीति।** हे कृष्ण! सर्वदृक् हेतुगर्भमिदम्। तत्त्वात् सर्वं वेत्सि जगतां नाथः त्वम्। न त्वहमिति भावः। एतत्परिदृश्यमानं जगत् तव त्वया अर्पितम् उत्पाद्य स्वस्मिन्नेव निहितमित्यर्थः। न तु [9]मयेति भावः, अतो मामनुजानीहि आज्ञापयेत्यर्थः॥ ३९॥

एवमापृच्छ्याक्षिसङ्कोचनेनैव तदनुज्ञातः पुनः हर्षातिशयात् प्रकृतावतारासाधारणधर्मैस्सम्बोधयन् परिक्रम्य प्रणम्य च जगामेत्याह - **श्रीकृष्णेति** द्वाभ्याम्। वृष्णिकुलपद्मस्य प्रीतिदातृत्वेन सूर्योपमा, क्ष्मानिर्जराः भूदेवाः ये द्विजाः तेषां, यद्वा क्ष्मायाः निर्जराणां देवानां द्विजानां पशूनां च य उदधिवद्विस्तारः तस्य वृद्धिं करोतीति तथाभूत! तत्समुदायवृद्धिकारित्वेन चन्द्रोपमा, उद्धर्मः पाषाण्डधर्मः स एव शार्वरं तमः, तद्धरतीति तथा, अनेन हि द्वयोपमा, हे क्षितिराक्षस[10]ध्रुक् क्षितौ ये राक्षसाः कंसादयः, उद्यन्नेव तेभ्यो द्रुह्यतीति पुनस्सूर्योपमा। सूर्याद्युपमाऽपि न्यूनेति मत्वाऽऽह। आर्कम् अर्कमभिव्याप्य सर्वेषां सुमहन्! पूज्य! हे भगवन्! आकल्पं कल्पपर्यन्तं ते तुभ्यं नमः॥ ४०॥

1. A,B चौराः 2. A,B add इत्यर्थः 3. A,B omit मम 4. W°रम् 5. K,W नेति 6. W °रम् 7. W° यम् 8. W°रम् 9. A,B,W ममेति 10. K °सोद्धुक्!

**श्रीशुक उवाच**

**इत्यभिष्टूय भूमानं त्रिः परिक्रम्य पादयोः।**
**नत्वाऽभीष्टं जगद्धाता स्वधाम प्रत्यपद्यत॥ ४१॥**

**ततोऽनुज्ञाप्य भगवान् स्वभुवं प्रागवस्थितान्[1]।**
**वत्सान्पुलिनमानिन्ये यथापूर्वसखं स्वकम्[2]॥ ४२॥**

एकस्मिन्नपि यातेऽब्दे प्राणेशाञ्चन्तराऽऽत्मनः ।
कृष्णमायाहता राजन्! क्षणार्धं मेनिरेऽर्भकाः ॥ ४३ ॥

किं किं न विस्मरन्तीह मायामोहितचेतसः ।
यन्मोहितं जगत्सर्वमभीक्ष्णं विस्मृतात्मकम् ॥ ४४ ॥

ऊचुस्स्वसुहृदं कृष्णं स्वागतं तेऽतिरंहसा ।
नैकोऽप्यभोजि कबल एहीतस्साधु भुज्यताम् ॥ ४५ ॥

1. V °गि° 2. K,W °तम् 3. A,B,G,J,V °चुश्च सु° 4. V एहि तत्साधु

**श्रीध०** "स सखिवत्सक मोक्षणकौतुकद्रुतविलम्बितपुत्रमुदेऽद्भुतम्। निखिलरूपमतो दधदच्युतोऽवतु स वः कलयन् व्रजमङ्गलम्।" **इतीति** । पादयोर्नत्वा अभीष्टं सर्वतः पूजितं अभिप्रेतं वा ॥ ४१ ॥

**तत** इति। अनुज्ञाप्य अनुज्ञां प्रदाय पृष्ट्वेत्यर्थः। स्वभुवं ब्रह्माणं यथापूर्वं सखायो यस्मिन् तत्। स्वकं पुलिनम् ॥ ४२ ॥

नन्वेतावन्तं कालं कथं तत्रैव उपविष्टाः। कथं च क्षुत्पिपासादि विस्मरणम्? अत आह - **एकस्मिन्निति** श्लोकद्वयेन। अब्देऽपि याते प्राणेशं कृष्णम् अन्तरा च विनापि। प्रियविरहे क्षणोऽपि यद्यपि वर्षाधिको भवति, तथापि मायाहताः क्षणार्धं मेनिरे ॥ ४३ ॥

**किमिति।** यत् यया मायया मोहितं जगत् अभीक्ष्णं पुनः पुनः विस्मृतात्मकं विस्मृतः आत्मा येन तत्तथा ॥ ४४ ॥

**ऊचुरिति।** अत एवमूचुश्च। ते त्वया अतिवेगेन स्वागतं सम्यगागतं एकोऽपि त्रासस्त्वां विना अस्माभिः नाभोजि न भुक्तः। इत एहि साधु अविक्षेपेण भुज्यतामिति ॥ ४५ ॥

★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः। 1. A,B,J omit यद्यपि 2. V मोहिताः 3- -3. V omits 4. A omits ते

**वीर०** इति इत्थं सम्बोधनैः पूर्वोक्तैश्च धर्मैरभिष्टूय जगद्धाता ब्रह्मा भूमानमपि लीलया सङ्कुचितविग्रहं भगवन्तं परिक्रम्य पादयोर्नत्वा प्रणम्य स्वधाम सत्यलोकं प्रत्यपद्यत जगाम ॥ ४१ ॥

**तत** इति। ततः स्वस्माद्भुवं चतुर्मुखमाज्ञाप्य अक्षिसङ्कोचेनेति शेषः। यथापूर्वं सखायो यस्मिन् तत्स्वकं पूर्वाधिष्ठितं पुलिनं प्रत्येव वत्सानानिन्ये ॥ ४२ ॥

नन्वेतावन्तं कालम् एते कथं तत्रैवोपविष्टाः ? कथं वा तेषां क्षुत्पिपासादिविस्मरणम्? तत्राऽऽह - **एकस्मिन्निति द्वाभ्याम्।** अब्देऽपि याते आत्मनः प्राणेशं कृष्णमन्तरा विनाऽपि[2] प्रियविरहक्षणोऽपि वर्षाधिको भवति, तथाऽपि हे राजन्! कृष्णस्य मायया हताः मोहिताः क्षणार्धं मेनिरे॥ ४३॥

भगवन्मायया मोहितानि चेतांसि येषां ते, अत एव किं किं न विस्मरन्ति सर्वं विस्मरन्त्येव, यस्य मायया मोहितं जगत् अभीक्ष्णं पुनः पुनः विस्मृत आत्मैव येन तत् तथा। किमुत क्षुत्पिपासादिकमिति भावः॥ ४४॥

अत एव एवमूचुरित्याह **ऊचुश्चेति** । ते त्वया अतिवेगेन स्वागतं सम्यगागतम्। एकोऽपि ग्रासः त्वां विना अस्माभिः नाभोजि न भुक्तः। अत एहि साधु अविक्षेपेण भुज्यतामिति॥ ४५॥

1. K,W omit तत ः 2. A,B विरहेणापि

**ततो हसन् हृषीकेशोऽभ्यवहृत्य सहार्भकैः।**
**दर्शयंश्चर्माऽऽजगरं न्यवर्तत वनाद्व्रजम्॥ ४६॥**

**बर्हप्रसूनवधातु[1] विचित्रिताङ्गः प्रोद्ध्मातवेणुदलशृङ्गरवोत्सवाढ्यः[2]।**
**वत्सान् गृणन्ननुगगीतपवित्रकीर्ति र्गोपीदृगुत्सवदृशिः प्रविवेश गोष्ठम्॥ ४७॥**

**अद्यानेन महाव्यालो[3] यशोदा नन्दसूनुना।**
**हतोऽविता[4] वयं चास्मादिति बाला व्रजे जगुः॥ ४८॥**

**राजोवाच**

**ब्रह्मन्! परोद्भवे कृष्णे इयान् प्रेमा कथं भवेत्।**
**योऽभूतपूर्वस्तोकेषु स्वोद्भवेष्वपि कथ्यताम्॥ ४९॥**

**श्रीशुक उवाच**

**सर्वेषामेव[5] जन्तूनां नृप! स्वात्मैव[6] वल्लभः।**
**इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि॥ ५०॥**

1. A,B °वन° 2. A,B,G,J,V प्रोद्दाम 3. V महान् व्या° 4. K,W नीता 5. A,B,G,J °मपि भूतानां 6. B °क

**श्रीध०** तत इति। अभ्यवहृत्य भुक्त्वा॥ ४६॥

**बर्हेति।** प्रोद्दामो वेण्वादिः तस्य रवैः उत्सवः तेनाऽऽढ्य सम्पन्नः गृणन् उपलालनैः आह्वयन् गोपीदृगुत्सवदृशिः गोपीनां दृशामुत्सवरूपा दृशिः दर्शनं यस्य सः। अत्र घोषमिति पाठे व्रजमित्यर्थः ॥ ४७॥

**अद्येति।** यशोदानन्दसूनुनेति बहूनां मुक्तिः सहैव दर्शिता। केचिदाहुः यशोदासूनुना अपरे नन्दसूनुनेति। यद्वा यशोदां नन्दयतीति यशोदानन्दः स चासौ सूनुश्चेति तथा तेन। अस्मात् महाव्यालाद्वयं चाविता रक्षिताः ॥ ४८ ॥

"व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याऽऽब्दं मन्वहम्। शनैर्निस्सीम ववृधे यथा कृष्णे त्वपूर्ववत्॥" (भाग० 10-13-26) इत्यादिना स्वतोकेभ्योऽपि परपुत्रे कृष्णे प्रेमाधिक्यमुक्तं, तत्र पृच्छति ब्रह्मन्निति ॥ ४९ ॥

श्रीकृष्णस्य साक्षादात्मत्वात् तस्मिन्नात्मीयेभ्यः प्रेमाधिक्यं युज्यत इति वक्तुं प्रथमं तावदात्मनः स्वतः प्रेमास्पदत्वं, अन्येषां तु तदुपाधिकमिति दर्शयति - **सर्वेषामिति** पञ्चभिः ॥ ५० ॥

1- -1. B,J omit 2- 2-. A,B,J omit 3. A adds इति 4- -4. वैक्लब्य° 5- -5. A,B,J प्रेष्ठत्वम्

**वीर०** ततोऽर्भकसहितोऽभ्यवहृत्य भुक्त्वा वनात् व्रजं प्रति न्यवर्तत आजगाम॥ ४६॥

कथम्भूतो न्यवर्तत? तत्राऽऽह - **बर्हेति।** बर्हादिभिः विचित्रितान्यङ्गानि यस्य, धातवो गैरिकादयः, प्रोध्माताः दाध्मायमानाः ये वेणवः दलानि च तरुपर्णानि वेष्टनीकृत्य मुखवायुपूरितानि शृङ्गाणि च तेषां रवेण य उत्सवो हर्षः तेनाऽऽढ्यः वत्सान् गृणन् हुङ्कारादिभिः प्रेरयन्नित्यर्थः। अनुगैः वत्सपैः गीता पवित्रा कीर्तिर्यस्य गोपीदृशामुत्सवरूपा दृशिर्दर्शनं यस्य तथाभूतो गोष्ठं प्रविवेश॥ ४७॥

ततो व्रजे आगता बाला वत्सपाः जगुः जगदुः, किमिति? तदाह - अद्य अस्मिन्नहनि अनेन अजगरो हतः, अस्मात् महाव्यालमुखात् वयमनेन नीताः व्रजं प्रापिताश्चेति॥ ४८॥

"व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याऽब्दमन्वहम्" (भाग 10-13-26) इत्युक्तं पुरस्तात्। तत्र स्नेहाधिक्यकारणं पृच्छति राजा **ब्रह्मन्निति।** स्वोद्भवेष्वप्यपत्येषु अभूतपूर्वः प्रेमा स परोद्भवे कृष्णे कथमभूदिति प्रश्नः, कथ्यतां तत्र हेतुः कथ्यताम्॥ ४९॥

"न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति" (बृह उ. 4-5-6) इत्यादिश्रुत्युक्तरीत्या पुत्रादिषु प्रेमा यत्सङ्कल्पायत्तं तस्मिन्नेव साक्षात्पुत्रतामापन्ने सति युक्तमेव प्रेमाधिक्यमित्युत्तरमाह - **सर्वेषामिति।** स्वात्मा जीवान्तरात्मा परमपुरुष एव निरतिशयप्रियः, इतरे तु देहतदनुबन्ध्यादयो जीवपर्यन्तास्तस्य परमात्मनो वल्लभतयैव निरतिशयप्रियत्वेनैव हेतुना प्रियाः ॥ ५०॥

1. A,B omit बाला ः 2. W omits तदाह 3. K प्रेम

तद्राजेन्द्र! यथा स्नेहस्स्वस्वकात्मनि देहिनाम्।
न तथा ममतालम्बी पुत्रवित्तगृहादिषु॥ ५१॥

देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम!।
यथा देहः प्रियतमस्तथा न ह्यनु ये च तम्॥ ५२॥

देहोऽपि ममताभाक् चेत्तर्ह्यसौ नाऽऽत्मवत्प्रियः।
यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिन् जीविताशा बलीयसी॥ ५३॥

तस्मात्प्रियतमस्स्वात्मा सर्वेषामपि [1]जन्मिनाम्।
तदर्थमेव[2] सकलं जगदेतच्चराचरम्[3]॥ ५४॥

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाऽऽभाति मायया॥ ५५॥

1. A,B,G,J,V देहि° 2. W °मेतत् 3. V °च्चै°

**श्रीध०** कुतः ? तथादर्शनादित्याह - **तदिति**। तस्मादेव कारणात् स्वस्वकात्मन्यहङ्कारास्पदे[1] देहे॥ ५१॥

आत्माऽध्यासतारतम्येन प्रेमतारतम्यं दृश्यमानं तान्निबन्धनमेवेति दर्शयितुं मूढामूढभेदेन विशेषमाह - **देहेति** द्वाभ्याम्। तं देहमनु भवन्ति ये पुत्रादयः ते तु न तथा प्रियतमा इत्यर्थः॥ ५२॥

**देह** इति। यद्यस्मात् जीर्यत्यपि आसन्नमरणेऽपि जीविताशा भवति। अयं भावः - न जीविष्यतीति निश्चितेऽपि देहे यत्प्रेमास्पदत्वं तदात्मगतमेव सङ्गच्छत इति। अथवा यत् अस्मिन् देहे जीर्यत्यपि जीविताशा अविवेकदशायामासीत् सापि विवेकिनो यदा ममताभाग्भवति तदा [2-]आत्मवत्प्रियो न भवति, अतः[-2] तत्र नातीवास्ते इति॥ ५३॥

**तस्मादिति**। तदर्थमेव सकलं प्रियमित्यर्थः॥ ५४॥

प्रस्तुतमाह - **कृष्ण** मिति॥ ५५॥

1. V adds अपि 2- -2. V omits

**वीर०** तस्मात् हे राजेन्द्र! देहिनां निरतिशयप्रियस्वरूपपरमात्मसङ्कल्पायत्तप्रीतियुक्तानां जीवानां स्वस्वदेहे या ममता तदवलम्बी प्रेमा यथा स्वस्वदेहे न तथा पुत्रादिषु। अयं भावः - साक्षान्निरतिशयप्रियस्वरूपपरमात्मसम्बन्धात् आत्मनि या प्रीतिः न सा देहे जीवेन व्यवहितत्वात् या च देहे प्रीतिः न सा पुत्रे देहात्मभ्यां व्यवधानात्। या च पुत्रे न सा वित्ते, या च वित्ते न सा ॥५१॥

इदं च देहात्माभिमानि तदनभिमानिसाधारणमनुभवसिद्ध मित्याह - **देहात्मवादिनामिति।** हे राजन्यसत्तम! अपिशब्दस्य देहात्माभिमानरहितानामपीति भावः। तं देहमनु देहानुबन्धिनो ये इत्यर्थः, ते न तथा न देहवत्प्रियाः, किन्तु तारतम्येनेति भावः ॥५२॥

विवेकिषु एतावान्विशेष इत्याह - **देहोऽपीति।** ममताभाक् येषां देहोऽपि ममताविषयः न त्वहन्ताविषयः इति भावः। तर्हि तेषामसौ ममताभाग्देहः नाऽऽत्मवत्प्रियः, किन्तु ततः किञ्चिदूनप्रिय इत्यर्थः। ननु विवेकिनो देहे सुतरां प्रीत्यभावः किं न स्यात्? तत्राऽऽह - यत् यस्मात् देहे जीर्यत्यपि विपत्तुमुद्युक्तवत्यपि जीविताशा बलीयसी न जीर्णतां याति, किन्तु बलीयस्येवावतिष्ठते, अतः किञ्चिदूनप्रिय इति भावः ॥५३॥

अस्तु प्रकृते किमायतम्? तत्राऽऽह - **तस्मादिति।** तस्मात् लोकपरिपाटे रेवंविधत्वात् जन्मिनां जननवतां देहभृतामित्यर्थः। प्रियतमः कृष्ण इति शेषः। तत्र हेतुः - स्वात्मा स्वेषां जीवानामन्तरात्मा अत एचराचरात्मकं जगत्सर्वं तदर्थमेव प्रियं तदिष्टसम्पत्तय एव प्रियमित्यर्थः। "आत्मनस्तु कामाय" (बृह. उ. 4-5-6) इति श्रुत्यनु गुणोऽर्य[2-2] निर्देशः। अर्थशब्दः प्रयोजनवाची, प्रयोजनं चेष्टसम्पत्तिः, तदिष्ट सम्पत्तय एव प्रियमिति यावत्। "न वा अरे" (बृह. उ. 4-5-6) इति श्रुतेस्त्वयमर्थः - पतिपुत्रादीनां कामाय कामसिद्धचै तदभीष्टसिद्धचै भार्यापुत्रादीन्प्रति पतिपुत्रादीनामभीष्टसिद्धचर्थं न पतिपुत्रादयः प्रिया भवन्ति, अपि त्वात्मनः तत्तत्पुत्रादिनिमित्तभोगप्रदातुः परमपुरुषस्यैव सङ्कल्पात्तेषां पतिपुत्रादिनां भार्यापुत्रादीन्प्रति प्रियत्वं भगवत्सङ्कल्पायत्तम्। अस्या भार्याया अयं पतिः[3] अस्य पितुः अयं पुत्रः प्रियः स्यादित्येवं भगवता सङ्कल्पिते सति तत्तत्प्रियं भवतीति। एवं च स्वस्य निरतिशयप्रियरूपत्वाभावे सति इतरेषां प्रियावहत्वासम्भवात् तस्य च तत्त्वं कैमुत्यनयसिद्धम्★ ॥५४॥

कृष्णे परमात्मत्वसंशयं निराकरोति[4-4] **कृष्णमिति।** एनं कृष्णम् अखिलात्मनाम् आत्मानमवेहि जानीहि। यद्यमखिलात्म-[5] नामात्मा तर्हि किमर्थं मानुषतामापन्नः, तत्राऽऽह मायया आत्मीयसङ्कल्पेन, अत्र लोके गोपादिषु देहीव कर्मायत्तदेहभृदिवाऽऽभाति अविवेकिनामिति भावः ॥५५॥

1. A,B omit प्रिय 2- -2. A,B सारेणाऽयं 3. A,B add प्रियः * A,B, K add प्रेमास्पदत्वं प्रियतमत्वं पवित्रीकरणत्वं नित्यहीनमङ्गलसुखदायित्वं तत्वं च सर्वमङ्गलं च श्रीकृष्ण कमल एव नान्यत्रात्रत्यदेहकलत्र पुत्रमित्र धनाप्तादौ चेति दिक्। 4- -4. W निराह 5. A,B °द्यखि°

वस्तुतोऽजानतामत्र कृत्स्नं स्थास्नु चरिष्णु च।
भगवद्रूपमपरं नान्यदस्तीति किञ्चन॥ ५६॥

सर्वेषामेव धातूनां भावार्थो भवतिस्स्मृतः।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम्॥ ५७॥

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः
भवाम्बुधि र्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद्विपदां न तेषाम्॥ ५८॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यत्पृष्टोऽहमिह त्वया।
यत्कौमारे हरिकृतं पौगण्डे कीर्तितं भुवि॥ ५९॥

एतत्सुहृद्भिश्चरितं मुरारेरघार्दनं शाद्वलभोजनं च।
व्यक्तेतरद्रूपमजस्य संस्तुतिं शृण्वन्गृणन्नेति नरोऽखिलार्थान्॥ ६०॥

एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे।
निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः॥ ६१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे ब्रह्मस्तुतिर्नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

1. B,G,J,V °मखिलं 2. A,B,G,J °द्वस्त्विह; V °द्वस्त्वस्ति; W °दस्तीह 3. A °मेव भावानां; B, G,J °मपि वस्तूनां; V ° मपि भूतानां 4. A,B,G,J °स्थितः 5. B,K,W °मे° 6. B तत् 7- -7. A जगुः पौगण्डकेऽर्भका; B,G,J पौगण्डे परिकीर्तितम् 8. A,B,G,J जेमनं 9- -9. A,B,G,J,V °मजोर्वीभिष्टवं

**श्रीध०** न केवलमात्मनामात्मा, अपि तु जडानामपीत्याह - **वस्तुत** इति। सर्व जगत्कारणमिति कृष्णं जानतां पुंसां स्थावरं जङ्गमं च सर्वं भगवद्रूपं भगवानेव स्वरूपं यस्य तत् नान्यत् अस्तीति भावः॥ ५६॥

कुत इति तदाह - **सर्वेषामिति**। भावार्थः परमार्थः। भवतीति भवत् परिणामं प्राप्नुवत् कारणं तस्मिन्। तस्यापि भवतः कारणस्यापि भगवान्कृष्णः भवत् कारणम्। अतः किमतत् श्रीकृष्णव्यतिरिक्तं वस्तु रूप्यताम्॥ ५७॥

तस्माच्छ्रीकृष्णस्यैव परमार्थत्वात् तदेकशरणानामयत्नसिद्धो मोक्ष इति प्रकरणार्थम् उपसंहरति **समाश्रिता** इति। पुण्यं यशो यस्य स पुण्ययशाः, स चासौ मुरारिश्च तस्य पदपल्लव एव प्लवः तं ये सम्यगाश्रिताः।[11] महात्पदं महतां पदमाश्रयम्। यद्वा महच्च तत्पदं चेति तथा। तेषां भवाम्बुधिः वत्सपदमात्रं भवति। किञ्च परं पदं श्रीवैकुण्ठाख्यं पदं स्थानं भवति। विपदां यत्पदं विषयः तत्पुनः कदाचिदपि तेषां न भवति। न ततः पुनरावर्तन्त इत्यर्थः ॥ ५८, ५९॥

**एतदिति।** सुहृद्भिश्चरितं "मुष्णन्तोऽन्योन्यशिक्यादीन्" (भाग०. 10-12-5) इत्यादिनोक्तम्। अघार्दनं च शाद्वले जेमनं[12] भोजनं च। व्यक्तेतरत् व्यक्तात् जडात्[13] प्रपञ्चादितरत् शुद्ध सत्त्वात्मकं वत्सतत्पालरूपम्[14]। यद्वा व्यक्तेतरच्चिद्विलासः तदेव[15] रूप्यत इति रूपम्। अजस्य उरुः महानभिष्टवः स्तवः[16] तं ब्रह्मकृतां स्तुतिम्। एतच्छृण्वन् गृणन् गायन्[17] नरः सर्वपुरुषार्थान् प्राप्नोति[18]॥ ६०, ६१॥

★इति श्रीपरमानन्द नृसिंहपदषट्पदः। व्याकरोच्छ्रीधरस्वमी यथामतिविधिस्तुतिम्॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४॥

1. V किं 2- -2. B omits 3- -3. A,B,J omit 4- -4. V अत आह 5. A adds सद्रूपार्थः 6. A adds इत्यर्थः 7. A adds भवति परिणामिनि स्थितः। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं वृत्तिकेत्येव सत्यम्" इत्यादि श्रुतेः। 8. V omits भवत् 9. B °मे° 10. V निरू° 11. A adds कथम्भूतम्? 12. V omits जेमनं 13. A,B,J जडप्र° 14. B,J वत्सपा° 15. B,J तत् 16. V omits स्तवः 17. V omits गायन् 18. V आ° ★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः।

**वीर०** तदेव विशदयति **वस्तुत** इति। स्थावरजङ्गमात्मकं कृत्स्नं जगत् भगवतश्शरीरम्। अन्यत्तत्पृथक्सिद्धं वस्तु किञ्चिदपि न विद्यत इत्येवं वस्तुतोऽत्र[1] अजानतां देहीवाऽऽभाति इत्यन्वयः। एवं जानतां तु देवमनुष्यादिविजातीयत्वेनैव सर्वशरीरकत्वेनैव च भातीत्यर्थः ॥ ५६॥

नान्यद्वस्त्वस्ति इत्येतदेवोपपादयाति **सर्वेषामिति।** धातुशब्दोऽत्र "भूवादयो धातवः" (अष्टा. 1-3-2) इति सङ्केतितधातुपरः, स च तदुत्तर प्रत्ययानां तदुभयार्थानां चोपलक्षकः। सर्वे शब्दा व्युत्पन्ना इति व्युत्पत्तिपक्षश्चाभिप्रेतः। भवतिरिति भूधातुः। "इक्सितपौ धातुनिर्देशे" (वार्तिक under अष्टा. 3-3-108) इति विहितः तित्प्रत्ययान्तोऽत्र निर्दिष्टः। तदयमर्थः - सर्वेषां शब्दानां तदर्थानां च यो भावः सत्ता स एवार्थोऽभिधेयो यस्य तथाभूतो भवतिः भूधातुः

स्मृतः "भू सत्तायाम्" इति स्मृत इत्यर्थः। सत्ता च प्रमाणसम्बन्धार्हत्वरूपा। एवं च तस्य सर्वशब्दतदर्थानां च या सत्ता तद्बोधकस्य भूधातोः तदर्थतत्प्रत्ययतदर्थदिरपि शब्दात् सर्वधातुतत्प्रत्ययतदुभयार्थानां च यो भावः सत्ता स भगवान् कृष्णः तत्सत्तानिर्वाहकः कृष्ण इति ★ फलितार्थः। एवं च सति अन्यत् कृष्णात्पृथक्सिद्धं वस्तु किमस्ति, तन्निरूप्यतामिति किमतद्वस्त्विति पाठे अतदकृष्णात्मकं वस्तु किमस्ति यन्निरूप्येतेत्यर्थः ॥ ५७॥

एवं भगवतः परत्वं सर्वकारणत्वं च उपपाद्य "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तैत्ति. उ. 2-1-1) "कारणं तु ध्येयः" (अथ. शिखा. उ. 3) इत्युक्तरीत्या[2] तद्वेदनमेवानिष्ट परिहारपूर्वकेष्टप्रापणक्षममिति वदन्नुपसंहरति **समाश्रिता** इति। पुण्यं यशो यस्य तस्य मुरारेः महत्पदं महतामाश्रयं पदपल्लवप्लवं ये समाश्रिताः, समाश्रयणमत्र न्यासोपासनान्यतररूपम्। तेषामेव भवाम्बुधिः वत्सपदतुल्यो भवति[3]। किञ्च परं पदं[4] वैकुण्ठाख्यं, पदं स्थानं भवति[5]। विपदां[6] दुःखानां यत्पदं विषयः संसारः[7] तत्पुनः कदाचिदपि तेषां न भवति ततो[8] न निवर्तन्त इत्यर्थः ॥ ५८॥

पश्नस्योत्तरं कथितमित्याह बादरायणिः[9-] **एतदिति।** यत्प्रति अहं पृष्टः, किं तत्? यत्कौमारे श्रीकृष्णकृतं तत्कथमर्भकाः पौगण्डके[10] विदुरित्येतत्, एतदुत्तरं सर्वं ते तुभ्यं मया आख्यातम्॥ ५९॥

अध्यायत्रयार्थश्रवणादिफलमाह - **एतदिति।** सुहृद्भिश्चरितं "मुष्णन्तोऽन्योन्य शिक्यादीरन्" (भाग. 10-12-5) इत्यादिनोक्तं मुरारिकर्तृक मघासुरहननं शाद्वले भोजनं, जेमनमिति पाठेऽपि स एवार्थः, व्यक्तात् प्रकृतिरूपादितरद्रूपं शुद्धसत्त्वात्मकं वत्सवत्सपादिरूपम् अजस्य ब्रह्मणोऽभिष्टवं स्तुतिं च इत्येतत्सर्वं शृण्वन् गृणन्[11] कथयंश्च पुमान् अखिलानभीष्टार्थान्[12] प्राप्नोति॥ ६०,६१॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४॥

1. A,B omit अत्र ★ A,B add भावग्रहणं प्रवृत्तिस्थित्योः उपलक्षणं, सर्वशब्दः तदर्थसत्ता स्थितिनिर्वाहकः इति 2. A,B इति श्रुत्युक्त 3. A,B add नान्येषामित्यर्थः। 4. K omits पदं 5. A,B add इति 6. K,W omit दुःखानां 7. K,W omit संसारः 8. A,B पुन ः 9- -9. W omits 10. A,B °ण्डे 11. K omits गृणन् 12. W° लाभी °

# पञ्चदशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या त्रयोदशोऽध्यायः)

धेनुकासुरभञ्जनघट्टः

ततश्च पौगण्डवयस्समाश्रितौ बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ।
गाश्चारयन्तौ सखिभिस्समं पदै र्बृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः ॥ १ ॥

तन्माधवो वेणुमुदीरयन्वृतो गोपैर्गृणद्भिस्स्वयशो बलान्वितः॥
पशून्पुरस्कृत्य पशव्यमाविश- द्विहर्तुकामः कुसुमाकरं वनम्॥ २॥

तन्मञ्जुघोषालिमृगद्विजाकुलं महन्मनः प्रख्यपयस्सरस्वता।
वातेन जुष्टं शतपत्रगन्धिना निरीक्ष्य रन्तुं भगवान् मनो दधे॥ ३॥

स तत्र तत्रारुणपल्लवश्रिया फलप्रसूनोरुभरेण पादयोः।
स्पृशच्छिखान्वीक्ष्य वनस्पतीन् मुदा स्मयन्निवाऽऽहाग्रजमादिपूरुषः ॥ ४॥

1- -1. A,B,G,J,M वयः श्रितौ व्रजे

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ततः पञ्चदशे धेनुपालनं धेनुकार्दनम्।
कालियक्ष्वेलतो गोपरक्षणं च निरूप्यते॥
अहिवक्त्रप्रवेशेन वृथा खिन्नान् सखीनतः।
कृष्णः प्रावेशयत्पक्वफलतालालिकाननम्॥
★ शैशवे पूतनां जित्वा कौमारे तु बकादिकान्।
पौगण्ड एव दैत्यानां महामदमहन्नजः॥

तत इति। पशुपालसम्मतौ पशुपालने सम्मतौ, पशुपालानां वा सम्मतौ। ईषद्वयो बलातिरेकम् अनुकृतवन्तावित्यर्थः। अतीव चक्रतुः सर्वतः प्रसर्पणेन॥ १॥

**तदिति**। स्वयशो गृणद्भिः गोपैर्वृतः तद्वनं प्राविशत्॥ २॥

**तदिति।** तद्वनं निरीक्ष्य रन्तुं मनो दधे। कथम्भूतम्? मञ्जुघोषा ये अलिमृगद्विजाः भ्रमरमृगपक्षिणः तैराकुलं व्याप्तं महन्मनः प्रख्यपयस्सरस्वता, महतां मनसा प्रख्यं तुल्यं स्वच्छं पयो यस्मिन्, तत्सर आश्रयत्वेनास्ति यस्य। तेन वातेनेति शैत्यमुक्तम्। शतपत्र गन्धिनेति परिमलवत्वं, तेन जुष्टं वनमिति मान्द्यं च सूचितम्॥ ३॥

**स इति।** अरुणपल्लवश्रिया सह स्पृशन्त्यः शिखाः शाखाग्राणि येषां तान्॥ ४॥

1. A,B,J °ड° * This verse is not found in A,B,J editions 2. A पशूनां पा'

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ पौगण्डकावस्थावस्थितयो[1] रामकृष्णयोः काञ्चित्क्रीडां वर्णयन् रामकर्तृकं धेनुकासुरभञ्जनम् उभयकर्तृकं तदनुचरभञ्जनं, कृष्णकृतं[2] कालिय ह्रदजलपानमूर्छितगोगोपोत्थापनं च वर्णयति पञ्चदशेन। ततः कैशोरानन्तरं प्राप्तपौगण्ड वयसौ पशुपालने सम्मतौ, पशुपालानां वा सम्मतौ, तौ रामकृष्णौ सखिभिस्सह गाश्चारयन्तौ पदैः पादविन्यासैः, बृन्दावनमतीव पुण्यवच्चक्रतुः॥ १॥

तत्तदा स्वकीर्तिं गृणद्भिः गोपैः परिवृतो बलेन सह समन्वितो वेणुमुदीरयन् नादयन्, पशून्पुरस्कृत्य विहर्तुमिच्छुः कुसुमानामाकरं पशुभ्यो हितं वनं प्राविशत्॥ २॥

मञ्जुः रमणीयः नादो येषां तैः अलिमृगपक्षिभिः व्याप्तं महतां योगिनां मनसा तुल्यं स्वच्छं पयो यस्मिन् तत्सर आश्रयत्वेनास्ति यस्य तेन, एवमतिशैत्यमुक्तम्। शतपत्राणां गन्धो यस्य तेन वातेन जुष्टम्, एवं परिमलयुक्तत्वमुक्तम्। एवंविधं वनं निरीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे॥ ३॥

अरुणपल्लवानां श्रिया सह फलानां प्रसूनानां च भरेण पादयोः स्पृशन्त्यः शिखा अग्राणि येषां तान् तरून् वीक्ष्य आदिपूरुषः कृष्णः मुदा स्मयन्निव अग्रजं रामं प्रति इदं वक्ष्यमाणमाह॥ ४॥

1. A,B, °ण्डाव° 2. A,B कर्तृक

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

श्रवणमननाभ्यां दुरितहरणाय हरेः पौगण्डवयसि क्रियमाणं विक्रमं निरुपयत्यस्मिन्नध्याये। ततः कौमारात् पौगण्डवयः नव वर्ष लक्षणं वयं श्रितौ प्राप्तौ पशुपालत्वेन सम्मतौ योग्यौ॥ १॥

उदीरयन् ध्वनयन् कुसुमाकरं कुसुमोत्पत्ति स्थानम्॥ २॥

मञ्जवः मनोहराः घोषा येषां अलयश्च मृगाश्च द्विजाश्च मञ्जुघोषैः अलिमृगद्विजैः आकुलं महतां नारायणचरणारविन्दनिरन्तरमनसां मनः प्रख्यं मनस्तुल्यं निर्मलं पयोजलं यस्य तत्तथा, महन्मनःप्रख्यपयश्च तत्सरश्च महन्मनःप्रख्यपयस्सः, तदस्यास्तीति महन्मनःप्रख्यपयःसरस्वान् तेन शतपत्राणां पद्मानां गन्धोऽस्यास्तीति शतपत्रगन्धी, तेन वातेन वायुना॥ ३॥

पल्लवारुणश्रिया युक्तयोः पादयोः प्रसूनोरुभारेण स्पृशन्त्यः शिखा एव कराग्रकोटयो येषां ते तथा, तान्वनस्पतीन् वृक्षान् दृष्ट्वा अत्र भक्तिभरभुग्नग्रीवाः पुरुषाः यथा पुष्पनिचयादिना मुकुन्द चरणारविन्दमर्चयन्ति, तथा वृक्षाश्च पुष्पभरोपनतशाखाकराग्रैः पूजयन्तीत्याक्षिप्तः, शेषार्थो बोद्धव्यः॥ ४॥

श्रीभगवानुवाच

अहो! अमी देववरामरार्चितं पदाम्बुजं[1] ते सुमनःफलार्हणम्[2]।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मन स्तमोपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्॥ ५॥

एतेऽलिनस्तव[3] यशोऽखिललोकतीर्थं गायन्त आदिपुरुषानुपदं[4] भजन्ते।
प्रायो ह्यमी[5] मुनिगणा भवदीयमुख्या गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवम्[6]॥ ६॥

नृत्यन्त्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्यः कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमीक्षणेन।
सूक्तैश्च कोकिलगणा गृहमागताय धन्या वनौकस इयान् हि सतां निसर्गः॥ ७॥

★ धन्येयमद्य धरणीतृणवीरुधस्त्व त्पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः।
नद्योऽद्रयः खगमृगास्सदयावलोकै र्गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहश्रीः॥ ८॥

श्री[7-]शुकउवाच[-7]

एवं बृन्दावनं श्रीमत्कृष्णः[8] प्रीतमनाः[9] पशून्।
रेमे सञ्चारयन्नद्रे[10]स्सरिद्रोधस्सु सानुगः॥ ९॥

क्वचिद्गायति गायत्सु मदान्धालिष्वनुव्रतैः।
उपगीयमानचरितः स खिसङ्कर्षणान्वितः[11]॥ १०॥

1. A,B,G,J,M,V पा° 2. M °णैः 3. K,W °ऽलय° 4. M °थं 5. A,B,G,J,M अ° 6. M °मरात्म ★ This verse is found in M bearing number 19 7- -7. K,M,V,W omit 8. M कृष्णः 9. M, श्रीमत्; K,W, पश्यन् 10. K,W °द्रि 11. B,G,J स्रग्वी

**श्रीध० अहो** इति। तरुजन्म येन तमसा[1] कृतं, तस्य तमसः पापस्यापहत्यै नाशाय, अथवा येन त्वया ईश्वरेण। सर्वोपकारकं तरुजन्मकृतं तं त्वां नमन्ति। एवं श्लाघ्येऽपि जन्मनि यदज्ञानरूपं तमः अस्ति तस्यापहत्यै॥ ५॥

**एत** इति। हे अनघ! वने गूढमपि त्वां न त्यजन्ति। त्वयि मनुष्यवेषेण निगूढे सति, मुनयोऽप्यलिवेषेण निगूढास्त्वां भजन्तीत्यर्थः ॥६॥

**नृत्यन्तीति।** इयान् हि सतां निसर्ग इति। यदस्ति स्वस्मिन् तद्गुहमागताय महते [2] समर्पयन्तीति॥७॥

**धन्येति।** तृणवीरुधश्च तव पादौ स्पृशन्तीति तथा। करजाभिमृष्टा नखैः स्पृष्टाः। सदयैरवलोकनैः। श्रीरपि यस्मै स्पृहयति केवलं तेन भुजयोरन्तरेण वक्षसा गोप्यो धन्या इति॥८॥

**एवमिति।** एवं श्रीमद्वृन्दावनं प्रति प्रीतस्सन् अद्रेः समीपवर्ति सरित्तटेषु [3] गाः सञ्चारयन् सानुगः [4] प्रीतमानाः सन् रेमे। [5-] यद्वा श्रीमद्वृन्दावनं प्रति पशून् सञ्चारयन् अद्रेः सरिद्रोधस्सु रेमे [-5] ॥९॥

तामेव रतिमाह **क्वचिदित्यादि** [6] पञ्चभिः ॥१०॥

1. V omits तमसा 2. A,B,J add महापुरुषाय 3. A,B,J पशून् 4. A,B,J add गोपैस्सह वर्तमानः 5- -5. A,B,J omit. 6. A,B,J दशभिः

**वीर०** तदेवाऽऽह - अहो इत्यादिभिः चतुर्भिः। स्वयं आदिपुरुषोऽपि लोकमर्यादास्थापनार्थं अवतीर्णत्वात् स्वशेषभूतमपि शेषमग्रतोऽवतीर्णत्वमात्रेण स्वतोऽधिकमिव सम्भावयन्नाह - अहो इति। हे देववर! यद्वा देववरैरमरैः अर्चितं तव [1] पदाम्बुजं पुष्पफलादिरूपं पूजासाधनं उपादाय शिखाभिर्नमन्ति तरवः, किमर्थं आत्मनः तमसः तापस्य अपहत्यै नाशाय येन तमसा तरुजन्मकृतं सम्पादितं तस्य तमसोऽपहत्यै इत्यन्वयः॥५॥

हे आदिपुरुष! एते भृङ्गाः तव अनुपदमखिललोकपावनं यशो गायन्तः भजन्ते, तिरश्चां कथमेवंविधं ज्ञानम्? तत्राऽऽह - अमी अलयः प्रायेण भवद्भक्तेषु मुख्याः मुनिगणा एव, अत एव अनघानाम् आत्मनां [2] दैवं दैवतं गूढं गोपवेषेणेति शेषः। त्वां न जहति न त्यजन्ति॥६॥

हे ईड्य! अमी शिखिनो मयूराः नृत्यन्ति, तथा हरिण्यो गोप्य इव ईक्षणेन ते तुभ्यं प्रियं कुर्वन्ति। तथा स्वगृहं प्रति आगताय ते कोकिलानां गणाः सूक्तैः प्रियं कुर्वन्ति। एते कोकिलादयो वनौकसोऽपि धन्या एव। सतां निसर्गः स्वभावः इयान् हि। [3] यत्मृदूक्त्यादिभिः बहुमानमियानेव हि॥७॥

इयं धरिणी [4] तृणवीरुधश्च धन्याः, कुतः? यतः तव पादौ स्पृशन्तीति तथा। तथा द्रुमलताश्च धन्याः कुतः? करजैः [5] नखैः अभिमृष्टाः तथा अद्र्यादयोऽपि धन्याः। कुतः? सदयैरवलोकनैः त्वया वीक्षिता इति शेषः तथा गोप्योऽपि धन्याः, कुतः? भुजयोरन्तरेण वक्षसा आलिङ्गिता इति शेषः। कथम्भूतेन? यत् यस्मिन् स्पृहा [6-] यस्याः तथाविधा [-6] श्रीः, तेन॥८॥

★ एवमग्रजं वदन् शोभावद्वृन्दावनं पश्यन् अद्रिसरितां रोधस्सु तटेषु गाश्चारयन् सहानुगो रेमे॥९॥

तदेव प्रपञ्चयति **क्वचिदि** त्यादिना श्रीदामेत्यतः प्राक्तनेन। मदेन मधुपानमदेन अन्धेषु भृङ्गेषु गायत्सु सत्सु स्वयं सखीन् हासयन् क्वचिदनुगायति, अनुगैरुद्गीयमानं चरितं यस्य सखिभिः सङ्कर्षणेन चान्वितो रेमे॥१०॥

1. A,B पा° 2. A,B omit दैवं 3. A,B omit यत् 4. A,B तृणानि 5. A,B नखैः 6- -6. A,B स्पृहावती ★ The commentary on verse 9 is not found in A and B editions.

**विज०** इममेवार्थं विशदयति **अहो** इति। देववर! यद्वा देववराः ब्रह्मादयः, अमराः देवाः एतैरर्चितं सुमनः फलार्हणैः पुष्पफलोपायनैः, आत्मनः स्वस्य तमोपहत्यै अज्ञाननिमत्तपापनिरासाय, तरुषु जन्म येन, तमोनिमित्तपापेन॥ ५॥

यतो यथा देवादयः मनुष्यलिङ्गमवाप्य भगवन्तं सेवन्ते तथा एते भ्रमरा अपि तेष्वे तेषु तस्मात् त्वच्चरणपद्मसेवाऽनवरतं न हातव्या मुमुक्षुभिः इति भावेनाऽऽह - **एत** इति। अलिनो भ्रमराः "भ्रमराणं पक्षमूलमलमाहुर्मनीषिणः" इति, अखिललोकतीर्थं समस्तजनस्य स्नानलक्षणं कीर्तनयोग्यं शुद्धिजननस्थानीयं "शास्त्रेष्वम्भसि पावने" इति च। यद्वा अखिलः अनल्पः लोकः प्रकाशः ज्ञानं येषां ते तथा तेषां सेवायोग्यशास्त्रस्थानीयम्। "लुक् प्रकाशे" इति धातुः। अनुपथं "पथ गतौ" इति धातुः। यत्र गच्छसि त्वं तत्रानुगमनलक्षणसेवां कुर्वन्तीत्यर्थः। अनुपदं वा मुनिगणाः सर्वज्ञानां देवादीनां गणाः "वेता वेद्यस्य सर्वस्य मुनिः सद्भिः उदाहृतः (उत्पलमाला) इत्युत्पलमाला। त्वदीयेषु वैष्णवेषु मुख्या गूढं मनुष्यलिङ्गधरं न जहति त्यजन्ति। "ओ हाक् त्यागे" इति धातुः। जहातीति पाठे वा। "व्यत्ययो बहुलम्" (अष्टा 3-1-85) इति सूत्रात् निर्णयः। अमराणाम् आत्मदैवं कुलदैवं, अनघात्मदैवमिति पाठे अनघानां निर्दुःखानां मुक्तानां आत्मदैवं मुक्तानां परमागतिः (अंहो दुःख) "दुःखैनो व्यसनेष्वघम्" (अम को 3-184) इत्यमरः, अनघेति पृथक् पदं वा॥ ६॥

पूर्वोक्तमतिदिशति **नृत्यन्तीति**। शिखिनो मयूराः, अन्यत्र केशशिखाधारिणः तापसाः, हरिण्यः मृगस्त्रियः। अन्यत्र हिरण्मयवत्, तपस्तेजसा ज्वलन्तः, आसां भारोऽस्तीति हरिण्यः, परोपदेश सम्बन्धेन हरिभक्तजनतापहरिण्य इत्युच्यन्ते। "महेशाज्ज्ञानमन्विच्छेन्मोक्षमिच्छेर्ज्जनार्दनात्" (ब्रह्माण्ड पु.?) इति स्मृतेः। "हरिणी सा हिरण्मयी" (हला. को. 1-131) इत्यभिधानम्। ते तव ईक्षणेन प्रियं कुर्वन्ति, कोकिलगणाश्च सूक्तैः कर्णरम्यैः वचनैः प्रियं कुर्वन्तीति। अन्यत्र कः ब्रह्मा, उः शिवः तयोः किल वार्ता कीर्तनं सम्भावना च येषां ते, कोकिलाः, इन्द्रादयः परभृतः इतरप्राणिरक्षार्थं प्राणधारिणः न स्वार्थं परमभागवता इत्यर्थः, स्मार्तन्यायः। गृहमिति गृहमागताय अतिथये, गृहिणार्घ्यपाद्यादिकं दातव्यमिति यत्तस्मात् वनौकसो मृगादयो वा, वानप्रस्थादयो वा, धन्याः कृतार्थाः स्वं स्वं निवासमागतं त्वां सभाजयन्ति। नितरां स्वभावः इयान् एतावान् हि यस्मात्तस्मादिदमुचितमिति भावः। "वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिः ब्राह्मणो गृहान् तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हरवैवस्वतोदकं आशां प्रतीक्षे संगतसूनृतां चेष्टपूर्ते पुत्रपशूंच सर्वान् एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्य अल्पमेधसो यस्यामश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे" (कठ. उ. 1-7) इति। "वार्ता सम्भाव्ययोः किल" (वैज को. 8-7-19) इति यादवः। ईड्य! सर्वकर!॥ ७॥

शुकः परीक्षितमाह - **धन्येयमिति**। कस्माद्धन्येत्यत्राऽऽह - तृणवीरुध इति। तस्य कृष्णस्य पादौ स्पृशन्तीति तत्पादस्पृशः, करजैः नखैः अभिमृष्टाः अभितः श्रिताः लूना इत्यर्थः। नद्यादयो दयासहितैः अवलोकैः अवलोकिताः गोप्यः श्रीः यद्भुजयोः अन्तरं वक्षःस्थलं स्पृहयतीति यत्स्पृहा, तस्मिन् भुजयोरन्तरेण मध्ये आलिङ्गिता इति यत् तस्मात् इयं पृथिवी, तद्गताः पदार्थाश्च धन्या इत्यर्थः॥८॥

कृष्णः एवंविधमाहात्म्यं बृन्दावनमवाप्य रेमे इत्यन्वयः। अद्रेः पादेषु सरितो नद्यः रोधस्सु तीरेषु पशून् सञ्चारयन्॥९॥

रतिप्रकारं दर्शयति - **क्वचिदिति**। अनुव्रतैः अनुचरैः सखिभिः संकर्षणेन चान्वितः अनुगतः॥१०॥

1. A,B,M omit यद्वा

**क्वचिच्च कलहंसानामनुकूजति कूजितम्।**
**अनुनृत्यति नृत्यन्तं बर्हिणं[1] हासयन्[2]सखीन्॥११॥**

**मेघगम्भीरया वाचा नामभिर्दूरगान् पशून्।**
**क्वचिदाह्वयति प्रीत्या गोगोपालमनोज्ञया॥१२॥**

**चकोरक्रौञ्च चक्राह्व भारद्वाजांश्च[3] बर्हिणः[4]।**
**अनुरौति स्म सत्वानां[5] भीतवद्व्याघ्रसिंहयोः॥१३॥**

**क्वचित्क्रीडापरिश्रान्तं गोपोत्सङ्गोपबर्हणम्।**
**स्वयं विश्रमयत्यार्यं[6] पादसंवाहनादिभिः॥१४॥**

**नृत्यतो गायतः[7] क्वापि वल्गतो युध्यतो मिथः।**
**गृहीतहस्तौ[8] गोपालान् हसन्तौ प्रशशंसतुः॥१५॥**

1. A,B,G,J, M अभि° 2. A,B,G,J,M क्वचित् 3. V भ° 4. M °जाऽलिः; V °जांस्तु 5. M °णाम् 6. K,M,V,W विश्रा° 7. M °तो वापि 8. V हस्तान्

**श्रीध० क्वचिदिति**। बर्हिणं नृत्यन्तं अन्वभिनृत्यति बर्हिणमभिमुखो नृत्यतीति वा। सखीन् हासयन्॥११,१२॥

**चकोरेति**। चकोरादीननुसृत्य[1] रौति कदाचिच्च सत्त्वानां मध्ये व्याघ्रसिंहयोः ताभ्यां भीतवद्भवति। सत्वेषु पलायमानेषु पलायत इत्यर्थः। तयोः सत्त्वानां बलोद्रेकाणां च भीतवद्भवतीति वा॥१३॥

**क्वचिदिति**। आर्यमग्रजं विश्रमयति[2] विगतश्रमं करोति॥१४॥

**नृत्यत** इति। मिथो नृत्यादीन् कुर्वतो गोपान् प्रशशंसतुः ॥ १५॥

1. A,B,J °कृ° 2. V °श्रा°

**वीर०** क्वचित् कलहंसानां कूजितमनुसृत्य[1] कूजति चुकूज। तथा नृत्यन्तं बर्हिणमभिनृत्यति अनुननर्त[2]॥ ११॥

क्वचिन्मेघस्येव गम्भीरया वाचा सङ्केतितनामभिः सखीन् हासयन् दूरगान् पशून् आह्वयति। आजुहाव। कया? गवां गोपानां च मनोज्ञया प्रीत्या तयोपलक्षितो वा॥ १२॥

क्वचिच्चकोरादीननुसृत्य रौति रुराव; सत्वानां मृगाणां मध्ये व्याघ्रसिंहयोः ताभ्यां भीतवद्भवति॥ १३॥

क्वचिद्गोपानामुत्सङ्गोऽङ्क एवं उपबर्हणमुपधानं यस्य तं क्रीडापरिश्रान्तम् आर्यमग्रजं स्वयं पादपीडनादिभिः विश्रामयति॥ १४॥

वल्गतः उत्प्लवतः नृत्यादीन् कुर्वतो गोपान् गृहीतौ हस्तौ याभ्यां तथाभूतौ प्रशशंसतुः ॥ १५॥

1. A,B °कृ° 2. A,B अभिनयं करोतीत्यर्थः।

**विज०** हासयन् हासं जनयन्॥ ११॥

नामभिः प्रसूतिवाग्प्रयुक्तादिलक्षणैः गवां गोपालानां मनोऽन्तःकरणं ज्ञापयन्त्या बोधयन्त्या मनोरमया वा॥१२॥

व्याघ्र (शार्दूल) सिंहयोः सकाशात् भीतवत् स्वयमपि भीतो भवति॥ १३॥

गोपस्य उत्सङ्गोऽङ्क एव उपबर्हणं शिरःपीठं यस्य स तथा तं, आर्यं ज्येष्ठं पादसंवाहनादिभिः विश्रामयति क्रीडाप्राप्तक्लेशं नाशयति॥ १४॥

रामकृष्णौ नर्तनादिकुर्वाणान् गोपालान् नृत्यादिविशेषविषयेषु प्रशशंसतुः स्खलनादिविषये हसन्तौ वल्गतः उत्प्लवतः ॥ १५॥

**क्वचित्प्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्शितः।**
**वृक्षमूलाश्रयश्शेते गोपोत्सङ्गोपबर्हणः ॥ १६॥**

**पादसंवाहनं चक्रुः केचित्तस्य महात्मनः।**
**परे[1-] तु[-1] हतपाप्मानो व्यजनैस्समवीजयन्॥ १७॥**

**अन्ये तदनुरूपाणि मनोज्ञानि महात्मनः।**
**गायन्ति स्म महाराज! स्नेहक्लिन्नधियश्शनैः[2] ॥ १८॥**

एवं निगूढात्मगतिस्स्वमायया[3] गोपात्मजत्वं चरितैर्विडम्बयन्।
रेमे रमालालितपादपल्लवो ग्राम्यैस्समं ग्राम्यवदीशचेष्टितः[4]॥ १९॥

श्रीदामनामा[5] गोपालो रामकेशवयोस्सखा।
सुबलस्तोककृष्णाद्या[6] गोपाः प्रेम्णेदमब्रुवन्[6]॥ २०॥

1- -1. A,B,G,J,M अपरे 2. K हृद° 3. M मति; K,W रति 4. M °तम् 5. A,B,G,J,M °दामा नाम 6- -6. M सुबलाशोक कृष्णाद्यान् गोपान् प्रेम्णेदमब्रवीत्।

**श्रीध० पादेति।** व्यजनैः पल्लवादिनिर्मितैः॥ १६-१८॥

**एवमिति।** ईशचेष्टित इति निगूढस्वभावत्वेऽप्यन्तरान्तरा ईशस्यैव चेष्टितानि दृश्यन्ते यस्मिन् सः॥१९॥

ईशचेष्टितत्वमेव दर्शयितुमाह - **श्रीदामेति।** स्तोककृष्णः इति[1] कश्चित्॥ २०॥

1. B,J,V omit इति

**वीर०** क्वचिन्नियुद्धेन बाहुयुद्धेन यः श्रमः तेन कर्शितः ग्लानः वृक्षमूलाश्रयः पल्लवतल्पेषु गोपानाम् उत्सङ्ग उपधानं यस्य तथाभूतः शेते शिश्ये॥ १६॥

तदा तस्य महात्मनः कृष्णस्य पादसंवाहनं केचिच्चक्रुः। अपरे अपहतपाप्मानः तत्सेवालाभादिति भावः। तरुपल्लवनिर्मितैः व्यजनैः सम्यगवीजयन्॥ १७॥

अन्ये तु, हे महाराज! प्रेमार्द्रचित्ताः हृदयङ्गमानि तदनुरूपाणि चेष्टितानि जगुः॥ १८॥

इत्थं निगूढा आत्मरतिः स्वात्मानुभूति र्येन तथाभूतः स्वसङ्कल्पेन चरितैश्चेष्टितैः गोपात्मजत्वम् अनुकुर्वन् रमया लालितौ पादावेव पल्लवौ यस्य, तथाभूतोऽपि ग्राम्यैः प्राकृतैस्सह तद्वद्रेमे। कथम्भूतः? मध्ये मध्ये ईश्वरासाधारणानि चेष्टितानि यस्य तथाभूतः॥ १९॥

तदेव दर्शयति - **श्रीदामेत्यादिना।** श्रीदामा सुबलादयश्च इदं वक्ष्यमाणमब्रुवन्॥ २०॥

**विज०** नियुद्धं बाहुवल्लीग्रहणादिद्वन्द्वयुद्धम्॥ १६,१७॥

महात्मनः कृष्णस्य मनोहराणि स्नेहेन क्लिन्ना आर्द्रा धियो येषां ते तथा॥ १८॥

बाललीलामुपसंहरति - **एवमिति।** स्वमायया स्वेच्छयैव निगूढात्ममतिः प्रच्छन्न स्वरूपानुभवः अन्यापेक्षयेति शेषः। ग्राम्यैः मूर्खजनैः किमर्थमेवं कृतमत्राह - ग्राम्यवदिति धर्म इति शेषः॥ १९॥

यद्देवकार्यार्थमवतीर्णं हरिणा तच्छेषं वक्तुमुपक्रमते - **श्रीदामेति**। सुबलश्च अशोकश्च कृष्णश्चाद्या येषां ते तथा तान्॥ २०॥

राम! राम! महासत्त्व[1]! कृष्ण! दुष्टनिबर्हण!।
इतोऽविदूरे सुमहद्वनं तालालिसङ्कुलम्॥ २१॥

फलानि तत्र भूरीणि पतन्ति पतितानि च।
सन्ति किं त्ववरुद्धानि धेनुकेन दुरात्मना॥ २२॥

सोऽतिवीर्यो[2]ऽसुरो राम! हे कृष्ण! खररूपधृत्[3]।
आत्मतुल्य[4]बलैरन्यैर्ज्ञातिभिर्[5]बहुभिर्वृतः॥ २३॥

तस्मात्कृतनराहारार्द्धीतैर्नृभि रमित्रहन्!
★ न सेव्यन्ते पशुगणैः पक्षिसङ्घै[6] र्विवर्जितम्॥
विद्यन्तेऽभुक्तपूर्वाणि फलानि सुरभीणि च॥ २४॥

एष वै सुरभिर्गन्धो विषूचीनोऽनुगृह्यते[7]।
प्रयच्छ तानि नः कृष्ण! गन्धलोभितचेतसाम्॥ २५॥

1. A,B,G,J,M बाहो 2. M °तीव्रो 3. A,B,G,J,M °धृक् 4. M °साम्य° 5. W °भिः परिवारितः ★ This half verse is not found in K,V,W. 6. M सङ्घवि° 7. A,B,G,J °नोऽवि° M. °नो वि; V. नोऽद्य

**श्रीध० रामरामेति**। तालालिसङ्कुलं ता[1-]लानाम् अलिभिः प[-1]ङ्क्तिभिर्व्याप्तम्॥ २१ - २४॥

**एष** इति। विषूचीनः सर्वतः प्रसृतः॥ २५॥

1- -1. A,B तालानां पङ्क्ति°; B,J ताल पङ्क्ति°

**वीर०** महासत्त्व! महाबलेति रा[1]मस्य विशेषणम्। दुष्टनिबर्हण! दुष्टघ्नेति कृष्णस्य, अविदूरे समीपे तालानां पङ्क्तिभिः व्याप्तं महद्वनमास्ते॥ २१॥

कानिचित्फलानि पतन्ति पतितुमुद्युक्तानि कानिचित्पतितानि च सन्ति, किन्तु तानि दुरात्मना धेनुकासुरेणावरुद्धानि॥ २२॥

स चासुरोऽत्यन्तं वीर्यं यस्य तथाभूतः खररूपं बिभ्राणश्च स्वसमान्[2] रूपैः बहुभिः ज्ञातिभिः परिवृतश्च कृत[3]ः॥ २३॥

कृतः नरा एवाऽऽहारो येन, तस्मात् असुरार्द्धीतैः नृभिः अभुक्तपूर्वाणि कदाऽप्यननुभूतानि सुरभीणि च फलानि सन्ति॥ २४॥

**एषः** अत्रापि सर्वतो व्याप्तः तत्फलसुरभिः गन्धोऽनुगृह्यते अस्माभिः, हे कृष्ण! तत्फलगन्धेन लोभितानि चेतांसि येषां तेषां नोऽस्मभ्यं तानि फलानि प्रयच्छ आदाय देहि॥ २५॥

1. A,B रामवि° 2. K,W सरूपैः 3. A,B omit कृतः

**विज०** दुष्टनिबर्हण! दुष्टजनोन्मूलन! अविदूरे निकटे तालानां आल्या पङ्क्त्या सङ्कुलं निबिडम् ॥ २१ ॥

तत्र खरतालवने फलान्यपरिपाकं प्राप्तानीति नेत्याह — पतितानीति। सन्तु तान्यानीय भुज्यन्तामिति तत्राह किन्त्विति ॥ २२ ॥

तीव्रः क्रूरः खररूपं गर्दभदेहं धारयतीति खररूपध्रुक् असहायश्चेत् निष्कासनीय इति नेत्याह आत्मेति ॥ २३ ॥

कृतः नराणामाहारो येन स तथा तस्मात्॥ २४॥

नृभिः अभुक्तपूर्वाणि विष्वक् सर्वत्र अञ्चतीति विषूचीनः सर्वत्र व्याप्तिमानित्यर्थः। विशेषेण गृह्यते घ्राणेन्द्रियेणेति शेषः ॥ २५॥

**वाञ्छाऽऽसीन्महती राम! गम्यतां यदि रोचते॥ २६॥**

**एवं सुहृद्वचश्श्रुत्वा सुहृत्प्रियचिकीर्षया।**
**प्रहस्य जग्मतुर्गोपैर्वृतौ तालवनं प्रभू॥ २७॥**

**बलः प्रविश्य बाहुभ्यां तालान् सम्परिकम्पयन्।**
**फलानि पातयामास मतङ्गज इवौजसा॥ २८॥**

**फलानां पततां शब्दं निशम्यासुररासभः।**
**अभ्यधावत्क्षितितलं सनगं परिकम्पयन्॥ २९॥**

**समेत्य तरसा प्रत्यग् द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं बली।**
**निहत्योरसि काशब्दं मुञ्चन् पर्यसरत्खरः ॥ ३०॥**

**पुनरासाद्य संरब्ध उपक्रोष्टा पराक्स्थितः।**
**चरणावपरौ राजन्! बलाय प्राक्षिपद्रुषा॥ ३१॥**

1. B,G,J वाञ्छास्ति म° 2. M °स वृत्य द्वा° 3. M चरद्बलम्; A,B,G,J °सरत्खलः 4. M °ष्टुं 5. M. °हिणो°

**श्रीध०** फलानामिति। सनगं सवृक्षम्॥ २६ - २९॥

**समेत्येति।** प्रत्यक् पश्चिमाभ्यां पद्भ्याम्[1-]। प्रत्यक् प्रतिमुखस्सन्निति वा[-1]। काशब्दमिति[2] गर्दभजातिशब्दानुकरणम् पर्यसरत् परितोऽधावदित्यर्थः॥ ३०॥

**पुनरिति।** उपक्रोष्टा गर्दभः। पराक् प्रतिमुखः अपरौ पश्चिमौ बलाय बलं हन्तुम्॥ ३१॥

1- -1. A,B,J omit 2. V adds केति

**वीर०** हे राम! महती वाञ्छा तत्फलानुबुभूषा वर्तते, यदि रोचते तर्हि गम्यतां न वयं नियन्तुं प्रभवाम इति भावः॥ २६॥

इत्थं सुहृदां वचः श्रुत्वा तेषां प्रियं कर्तुमिच्छया प्रहस्य गोपैः वृतौ प्रभू रामकेशवौ तालवनं प्रति जग्मतुः॥ २७॥

तत्र बलो रामः प्रविश्य बाहुभ्यां तालान्परितः कम्पयन्। कथम्? मतङ्गज[1] इव ओजसा बलेन फलानि पातयामास॥ २८॥

तदा पततां फलानां शब्दमाकर्ण्य रासभरूपोऽसुरः सवृक्षं क्षितितलं कम्पयन् अभ्यधावत्॥ २९॥

बलं रामं स बली असुरः समेत्य पाश्चात्याभ्यां पादाभ्यां तरसा बलेन उरसि निहत्य काशब्दं गर्दभध्वनिं मुञ्चन् स खरः पर्यसरत् परितश्चचार॥ ३०॥

पुनराशु आसाद्य संरब्धः क्रुद्धः उपक्रोष्टा गर्दभः अनभिमुखं स्थितः हे राजन्! रुषा अपरौ पाश्चात्यौ पादौ रामाय प्राक्षिपत् उद्योजयामास॥ ३१॥

1. W मत्तगज

**विज०** लोभ आकाङ्क्षा। 'लुभ गार्ध्ये, गृधु अभिकाङ्क्षया' मिति धातुः। अदनाकाङ्क्षा चेत् कालान्तरे आनेष्यामीति तत्राह वाञ्छेति॥ २६, २७॥

मतङ्गजः वारणः, ओजसा बलेन, अवष्टम्भेन वा। "ओजोऽवष्टम्भबलयोः" इति च॥ २८॥

रासभः गर्दभः, नगैः वृक्षैः, पर्वतैश्च सहितम्॥ २९॥

काशब्दं गर्दभजातिजं कर्णनिष्ठुरशब्दं पर्यचरच्च परितोऽवर्तत॥ ३०॥

उपक्रोष्टुं क्रोशतिरत्र क्षेपार्थः क्षेप्तुं पराक्स्थितः प्राङ्मुखः॥ ३१॥

**स तं गृहीत्वा[1] पदयोर्भ्रामयित्वैकपाणिना।**
**चिक्षेप तृणराजाग्रे भ्रामणत्यक्तजीवितम्॥ ३२॥**

**तेनाऽऽहतो महाताल[3]ः पतमानो[4] बृहच्छिरा[5]ः।**
**पार्श्वस्थं कम्पयन् भग्नस्स चान्यं सोऽपि चापरम्॥ ३३॥**

**बलस्य लीलयोत्सृष्टखरदेहहताहताः।**
**तालाश्चकम्पिरे सर्वे महावातेरिता इव॥ ३४॥**

**नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे।**
**ओतं[6] प्रोतमिदं यस्मिंस्तन्तुष्वङ्ग यथा पटः॥ ३५॥**

1. A,B,G,J °त्वा प्रपदोः; M °त्वाऽथ पदोः 2. V °मे° 3. K,W महांस्ता° 4. A,B,G,J वेप° 5. B महाशिराः 6. A,G,J,M ओतप्रो°

**श्रीध०** स इति। तृणराजः तालः॥ ३२,३३॥

**बलस्येति**। उत्सृष्टेन खरदेहेन। हतैः[1] आहताः चकम्पिरे अकम्पन्त॥ ३४॥

**नेति**। यस्मिन् इदं विश्वं ओतं ऊर्ध्वतन्तुषु पट इव ग्रथितं, प्रोतं तिर्यसक्तन्तुषु पटवत् एवं सङ्गथितं सर्वतोऽनुस्यूतं वर्तत इत्यर्थः॥ ३५॥

1.A adds तालैः

**वीर०** तदा स रामः तमेकेनैव पाणिना पादयोः गृहीत्वा भ्रामयित्वा च भ्रामणेनैव[1] त्यक्तं जीवितं येन तं तृणराजाग्रे तालाग्रे चिक्षेप प्राक्षिपत्॥ ३२॥

तेन प्रक्षिप्तेनासुरेण[2] हतः ताडितः महान् तालः भग्नः पतमानो बृहच्छिरोऽग्रभागो यस्य, अत एव पार्श्वस्थं तालं पातयन् पपातेति शेषः। स च पार्श्वस्थः पतमानः तथैवान्यं सोऽपि तथैवान्यम्॥ ३३॥

बलस्य रामस्य लीलया उत्सृष्टेन खरदेहेन हताः ये तैः हतास्सर्वे तालाश्चकम्पिरे यथा महावातेनेरिताः कम्पिताः तद्वत्॥ ३४॥

जगदीश्वरे अनन्ते एतन्न चित्रम्। कुतः? अङ्ग! हे राजन्! तन्तुषु पट इव इदं जगत् यच्छिरसि ओतं प्रोतं च॥ ३५॥

1. A,B भ्रमणेन 2. A,B परि°

**विज०** पदोः पादयोः भ्रामणेन परिभ्रमणकरणेन॥ ३२॥

तेन खररूपासुरशरीरेण बलेन पार्श्वस्थं तालं कम्पयन् भग्नोऽभूत्। किं च स च पार्श्वस्थः अन्यं तालं सोऽन्योप्यपरं तालमित्येवं परम्परया॥ ३३॥

बलस्य लीलया कर्मणा उत्सृष्टेन उत्क्षिप्तेन खरदेहेन [1]हतताला[1]हताः॥ ३४॥

अन्यस्य चित्रमपि रामस्य एतत्कर्म चित्रं न भवतीति शुकः परीक्षितमाह - **नैतदिति**। हि शब्दो धराऽखिलेयं ननु सर्षपयतीति प्रसिद्धिं द्योतयति॥ ३५॥

1. A omits हत

**ततः कृष्णं च रामं च ज्ञातयो धेनुकस्य ये।**
**क्रोष्टारोऽभ्यद्रवन्[1]त्सर्वे संरब्धा। हतबान्धवाः॥ ३६॥**

**तांस्तानापततः कृष्णो रामश्च नृप! लीलया।**
**गृहीतपश्चाच्चरणान् प्राहिणोत्तृणराजसु॥ ३७॥**

**फलप्रकरसङ्कीर्ण[2] दैत्यदेहैर्गतासुभिः।**
**रराज [3]खरताला[3]ग्रैर्घनैरिव [4]नभस्स्थलम्॥ ३८॥**

**तयोस्तु[5] सुमहत्कर्म [6]निशाम्य विबुधादयः।**
**मुमुचुः पुष्पवर्षाणि चक्रुर्वाद्यानि तुष्टुवुः॥ ३९॥**

**अथ तालफलान्यादन् मनुष्या गतसाध्वसाः।**
**तृणं च पशवश्चेरुर्हतधेनुककानने॥ ४०॥**

1. V पत°2. M °र्णा° 3. A,B,G,J,M भूः सता°4. A,B,G,J,M नभस्तलम् 5. A,B,G,J,M °स्तत्सुम°6. B,J,M निश°

**श्रीध०** **फलेति।** घनैर्नभ इव। भूतलं[1] रराज। तत्र फलप्रकरसङ्कीर्णमिति। दैत्यदेहैः खरतालाग्रैश्च[2] सङ्कीर्णमिति[3] अरुणश्वेतनीलघनसादृश्यसम्पादनम्॥ ३६ - ३९॥

**अथेति।** आदन् अभक्षयन्॥ ४०॥

1. A,B,J भुवस्तलं 2. A,B,J स्तयता° 3. A मित्यनेन च

**वीर०** ततो धेनुकस्य ये ज्ञातयः क्रोष्टारो गर्दभाः खरशब्दं कुर्वन्तो वा, हताः बान्धवो येषां ते, अत एव संरब्धाः सर्वे अभ्यद्रवन् अभिमुखं जग्मुः॥ ३६॥

हे नृप! गृहीतौ पश्चाच्चरणौ येषां तान् तालेषु प्राहिणोत् प्राक्षिपत्, प्रत्येकाभिप्रायकमेकवचनम्[1]॥ ३७॥

फलसमूहैः सङ्कीर्णा धरा गतप्राणैः दैत्यदेहैः कठिनैः तालाग्रैश्च घनैः नभस्स्थलमिव रराज, खरदेहैः तालाग्रैः इति अरुणश्वेतनीलघनसादृश्यसम्पादनम्॥ ३८॥

निशाम्य दृष्ट्वा विबुधादयः पुष्पवर्षाणि मुमुचुः ववृषुः। वाद्यानि दुन्दुभींश्चक्रुः वादयामासुः, तुष्टुवुः, वि[2]बुधादय[-2] इत्यनुवर्तते॥ ३९॥

अथ ततः गतभयाः मनुष्याः तालफलान्यादन् भक्षितवन्तः हतो धेनुको यस्मिन् तस्मिन् कानने पशवश्च तृणं अचरन्॥ ४०॥

1. K,W omit °क° 2- -2. W omits.

**विज०** क्रोष्टारः क्षेप्तुकामाः ताच्छीलिकः तृन्प्रत्ययः स्वजातिरवं कुर्वाणा[1] वा॥ ३६,३७॥

फलप्रकरसङ्कीर्णा तालफलसमूहेन व्याप्ता॥ ३८॥

तयोः रामकृष्णयोः॥ ३९॥

आदन् भक्षितवन्तः॥ ४०॥

1. A omits कुर्वाणा

**कृष्णः कमलपत्राक्षः पुण्यश्रवणकीर्तनः।**
**स्तूयमानोऽनुगैर्गोपैस्साग्रजो व्रजमाविशत्[1]॥ ४१॥**

तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हं वन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम्।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरुपगीतकीर्तिं गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन्त्समेताः ॥४२॥

पीत्वा मुकुन्दमुख सारघमक्षि भृङ्गै स्तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोऽह्नि।
तत्सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं सव्रीडहासविनयं यदपाङ्गमोक्षम्॥४३॥

तयोर्यशोदारोहिण्यौ पुत्रयोः पुत्रवत्सले।
यथाकालं यथाकामं व्यधत्तां परमाशिषः ॥४४॥

विगताध्वश्रमौ तत्र म र्दनोन्मज्जनादिभि ः।
वा सो वसित्वा रुचिरं दिव्यस्रग्गन्धमण्डितौ॥४५॥

जनन्युपहृतं प्राश्य स्वाद्वन्नमुपलालितौ।
संविश्य व रशय्यायां सुखं सुषुपतुर्व्रजे॥४६॥

एवं स भगवान् कृष्णो बृन्दावनचरः क्वचित्।
ययौ राममृते राजन्कालिन्दीं सखिभिर्वृतः ॥४७॥

1. A,B,G,J °माव्रजत्; M ° मागमत् 2. A,B,G,J °रनु° 3. M °ऽप्य° 4. K,W °स° 5. M °गमो 6. V °त° 7. M °क्षः 8. M तदा य° 9. A,B,G,J गताध्वान° K,W ततो गत°10. A,B,G,J मज्जनोन्मर्दनादिभिः। 11- -11. A,B,G,J,M नीवीं वसित्वा रुचिरां 12. M मृदु°

**श्रीध० तमिति।** गोरजोभिः छुरितेषु कुन्तलेषु बद्धं बर्हं वन्यानि प्रसूनानि च यस्य, रुचिरमीक्षणं चारुहासश्च यस्य तं तं च दिदृक्षितदृशः दिदृक्षिताः दर्शनोत्कण्ठिता दृशो यासां ताः ॥४१,४२॥

**पीत्वेति।** मुकुन्दस्य मुखपद्मगतं सारघं मधु, अह्नि यो विरहः तस्माज्जातं तापम्। स च तासां सत्कृतिं पूजां, कां सत्कृतिं! कथं वा कृताम्? तामाह सव्रीडेति। सव्रीडेन सलज्जेन हासेन, विनयो यथा भवति तथा। यदेतत्, किं तत् अपाङ्गमोक्षं कटाक्षदर्शनम्। तथा तासां सत्कृतिं प्राप्येति॥४३ - ४७॥

1- -1. A रुचिरे ईक्षणे ° 2. A,B,J त्कण्टायुक्ता 3. V omits सव्रीडेन 4. V omits तत् 5. A,B,J तां

**वीर०** श्रोतॄणां कीर्तयतां च पुण्यावहं यच्छ्रवणं कीर्तनं च तद्यस्य, सः कृष्णः साग्रजो व्रजमाविवेश॥४१॥

तं व्रजमाविशन्तं दिदृक्षिताः दृशो यासां ताः गोप्यः समेतास्समुदिताः अभ्यगमन् अभिमुखमाजग्मुः, कथम्भूतम्? गोरजोभिः व्याप्तेषु कुन्तलेषु बद्धं बर्हं वन्यानि प्रसूनानि च यस्य, रुचिरमीक्षणं चारुः

हासश्च यस्य, अनुगैः उपगीता कीर्तिर्यस्य तम्॥ ४२॥

मुकुन्दस्य मुखसारसं मुखपद्मं पीत्वा तद्गतं मधु पीत्वेत्यर्थः। अह्नि यो विरहः तज्जं तापं जहुः। तासां व्रजयोषितां सत्कृतिं बहुमानं समधिगम्य, सत्कृतिस्वरूपमेवाऽऽह — सलज्जं सहासं सविनयं च यथा तथा अपाङ्गयोः नेत्रान्तयोः मोक्षः प्रसरणं यस्मिन् तत् यत् तद्रूपां तासां सत्कृतिं प्राप्य गोष्ठं विवेश॥ ४३॥

यथाकामम् इच्छानुगुणं कालानुगुणं च यथा तथा परमा आशिषः कामान् व्यधत्तां अकुर्वाताम्॥ ४४॥

तदेव दर्शयन्नाह तत्र गृहे अङ्गमर्दनादिभिः गतः अध्वसम्बन्धी श्रमो ययोस्तौ, रुचिरं नवं वस्त्रं वसित्वा, दिव्याभ्यां स्रगन्धाभ्यामलङ्कृतौ॥ ४५॥

जनन्या उपहृतं पात्रे दत्तं स्वादु मृष्टमन्नं प्राश्य उपलालितौ सुखं यथा तथा सुप्तवन्तौ॥ ४६॥

कदाचिद्ग्रामं विना इतरैस्सखिभिः वृतः हे राजन्! कालिन्दीं यमुनां ययौ॥ ४७॥

1. W. omits व्रजम्

**विज०** गोरजसा छुरितकुन्तलैः[1-] छुरितकेशपाशैः बद्धानि बर्हवन्यप्रसूनानि पिच्छवनभवपुष्पाणि यस्स स तथा गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हवन्यप्रसूनश्च, रुचिरे ईक्षणे चारुहासश्च यस्य स तथा तम्॥ ४१,४२॥

मुकुन्दस्य मुखमेव सारघं मधु सरघायोग्यं सारघम्। "सरघामधुमक्षिकाप्रोक्ता" (हला.को. 2-101) इति हलायुधः। अह्नि विरहजं तापं यासाम् अपाङ्गमोक्षः कटाक्षनिरीक्षणं व्रीडया सहितः सव्रीडश्चासौ हासश्च सव्रीडहासः तस्य विगमो राहित्यं विशेषेण प्राप्तिः वा यस्य स तथा तासां सत्कृतिं सत्कारं समधिगम्य प्राप्य॥ ४३,४४॥

मज्जनं स्नानं उन्मर्दनं शरीर मलोद्वर्तनं नीवीं वस्त्रं वसित्वा आच्छाद्य॥ ४५॥

प्राश्य पीत्वा, संविश्य शयित्वा॥ ४६॥

इदानीं कथान्तरं वक्तुं उपक्रमते **एवमिति** ॥ ४७॥

1- -1. A,B omit.

—: कालियमर्दनघट्टः :—

अथ गावश्च गोपाश्च निदाघातपपीडिताः।
दुष्टं जलं पपुस्तस्यास्तृषार्ता विषदूषितम्॥४८॥

विषाम्भस्तदुपस्पृश्य दैवोपहतचेतसः।
निपेतुर्व्यसवस्सर्वे मूर्च्छिता वै कुरूद्वह॥४९॥

वीक्ष्य तान्वै तथाभूतान् कृष्णो योगेश्वरेश्वरः।
ईक्षयाऽमृतवर्षिण्या स्वनाथान्त्समजीवयत्॥५०॥

ते सम्प्रतीतस्मृतय उत्थाय च जलान्तिकात्।
आसन् सुविस्मितास्सर्वे वीक्षमाणाः परस्परम्॥५१॥

अन्वमंसत तद्राजन्! गोविन्दानुग्रहेक्षितम्।
पीत्वा विषं परेतस्य पुनरुत्थानमात्मनः॥५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे धेनुकासुरवधो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥१५॥

1. K.W तदै° 2- -2. A,B,G,J सलिलान्ते 3. V °गी° 4- -4. A,B,G,J समुद्धाय

**श्रीध०** त इति। सम्प्रति सद्य एव इता प्राप्ता स्मृतिर्यैस्ते सम्प्रतीतस्मृतयः। यद्वा, सम्यक् प्रतीता प्रति प्राप्ता स्मृतिर्यैस्ते तथेति॥४८ - ५२॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां पञ्चदशोऽध्यायः॥१५॥

1. V. omits प्रतीता

**वीर०** निदाघे ग्रीष्मर्तौ य आतपः तेन पीडिताः, अत एव तृषार्ताः तस्याः कालिन्द्याः कालियविषेण दूषितम्, अत एव दुष्टं जलं पपुः पीतवन्तः॥४८॥

तद्विषोदकमुपस्पृश्य, तदैवोपहतचेतसो[1] मूर्च्छिताः व्यसवः प्राणव्यापाररहिताः हे कुरूद्वह! निपेतुः ॥ ४९ ॥

तथाभूतान् मूर्च्छितान् पतितांश्च तान् दृष्ट्वा मृतसञ्जीवनादियोगनिर्वाहकः कृष्णः, स्वः आत्मैव, नाथो रक्षको येषां तान् अमृतवर्षिण्या ईक्षया दृष्ट्या सम्यगजीवयत्[2] ॥ ५० ॥

ताश्च ते च ते "पुमान् स्त्रिया" (अष्टा. 1-2-69) इत्येकशेषः। गावो गोपाश्च सम्प्रतीताः सम्यक्प्राप्ताः स्मृतयः यैस्तथाभूताः जलान्तिकादुत्थाय परस्परं वीक्षमाणाः सुविस्मिताश्चाऽऽसन् ॥ ५१ ॥

विषं पीत्वा सम्परेतस्य[3] मृतस्य आत्मनो यत्पुनरुत्थानं तद्गोविन्दस्यानुग्रहेक्षण कृतममन्यत ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

1. A,B दैवोप°2- -2. A,B समजीवयत् सचेतनां करोति स्म ॥ ५० ॥ 3. K परे°

**विज०** निदाघातपः ग्रीष्मर्तुभवरविकिरण भवउष्णविशेषः तेन पीडिताः ॥ ४८ ॥

उपस्पृश्य आचम्य पीत्वा च ॥ ४९,५० ॥

तथाभूतान् मृतप्रायान् ईक्षया दृष्ट्या सम्प्रतीतस्मृतयः सम्यक्प्राप्तप्रत्यभिज्ञानाः ॥ ५१ ॥

विषं विषमिश्रजलं पीत्वा परेतस्य मृतस्याऽऽत्मनः पुनरुत्थानं गोविन्दस्य अनुग्रहयुक्तनिरीक्षणकृतम् अन्वमंसत न्यरूपयन् ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

(विजयध्वजरीत्या त्रयोदशोऽध्यायः)

# षोडशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या चतुर्दशोऽध्यायः)

### कालियमर्दनम्

श्री[1]बादरयणिरुवाच[-1]

विलोक्य दूषितां कृष्णां कृष्णः कृष्णाहिना विभुः।
तस्या विशुद्धिमन्विच्छन् सर्पं तमुदवासयत् ॥१॥

राजोवाच

कथमन्तर्जलेऽगाधे न्यगृह्णद्भगवानहिम्।
स वै बहुयुगावासी[2] यथाऽऽसीद्विप्र![3] कथ्यताम् ॥२॥

ब्रह्मन्! भगवतस्तस्य भूम्नस्स्वच्छन्दवर्तिनः।
गोपालोदारचरितं[4] कस्तृप्येतामृतं जुषन् ॥३॥

श्रीशुक उवाच

कालिन्द्यां कालियस्याऽऽसीत् ह्रदः कश्चिद्विषाग्निना।
श्रप्यमाणपया यस्मिन्पतन्त्युपरिगाः खगाः ॥४॥

विप्रुष्मता[5] विषोदोर्मिमारुतेनाभिमर्शिताः।
म्रियन्ते तीरगा यस्य प्राणिनः स्थिरजङ्गमाः ॥५॥

तं चण्डवेग विषवीर्य मवेक्ष्य तेन दुष्टां नदीं च खलसंयमनावतारः।
कृष्णः कदम्बमधिरुह्य ततोऽतितुङ्गात्[6] आस्फोट्य गाढरशनो न्यपतद्विषोदे[7] ॥६॥

1- -1. A,B,G,J,M श्रीशुक उवाच 2. A,B,G,J,V °सं; K,W °सो 3. K,V,W °त्तत्र 4. W °पस्यो° 5. A,M °प्रु° 6. A,B G,J,V तुङ्गं 7. V,W °नोऽभ्य°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

षोडशे कालियस्योक्तो निग्रहो यमुनाह्रदे।
तत्पत्नीभिः स्तुतेनाथ कृष्णेनानुग्रहः कृतः[1] ॥
हत्वा रासभदैतेयान् जग्ध्वा तालफलान्यलम्।
प्रीतोऽनृत्यत्फणारङ्के कालियस्य कलानिधिः ॥

**विलोक्येति।** उदवासयत् निस्सारितवान्॥ १॥

**कथमिति।** बहूनि युगान्यावासो यस्य तमहिम्। स वै अहिः अजलचरोऽपि तस्मिन्नन्तर्जले, यथा येन प्रकारेणासीत्। अथवा बहूनि युगानि आवासो यथा भवति तथा येन[2] प्रकारेण स वै तत्रासीदिति[3] कथ्यतामिति॥ २॥

**ब्रह्मन्निति।** गोपालेन यदुदारं चरितमाचरितं[4] तदेवामृतम्। अतः कथ्यतामिति॥ ३॥

**कालिन्द्यामिति।** श्रप्यमाणं पच्यमानं पयो यस्य सः। अत[5] उपरि गच्छन्तः खगा यस्मिन् पतन्ति॥ ४॥

**विप्रुष्मतेति।** किञ्च विप्रुष्मता अम्बुकणयुक्तेन विषोदतरङ्गस्पर्शिमारुतेन स्पृष्टा यस्य तीरगा म्रियन्ते स ह्रद आसीदिति॥ ५॥

**तमिति।** तं कालियम्। चण्डो वेगो यस्य, तद्विषमेव वीर्यं यस्य तम्। कदम्बमिति। भाविना श्रीकृष्णचरणस्पर्शभाग्येन स एकः तत्तीरे[6] न शुष्कः। अमृतमाहरता गरुत्मताक्रान्तत्वादिति च पुराणान्तरम्। आस्फोट्य बाहुं करतलेनाहत्य। गाढा दृढं बद्धा रशना कटिबन्धनवस्त्रं[7-7] येन सः[8] ॥ ६॥

1. V पुनः 2. V केन 3. V adds यत्तत् 4. V omits चरितम् 5. A omits अतः 6. V omits तत् 7- -7. V काञ्ची 8. V adds तथा

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ कालियदमनात्मकं कर्मानुवर्णयितुकामस्तावत् राज्ञः प्रश्नावसरप्रदानाय तत्सङ्गृह्य दर्शयति **विलोक्येति।** कृष्णाहिना कालियेन दूषितां कृष्णां यमुनां विलोक्याऽऽलोच्य तस्याः कृष्णायाः विशुद्धिमन्विच्छुः तं सर्पमुदवासयत् ततो निष्कासितवान्॥ १॥

तत्र विस्मितः पृच्छति राजा **कथमिति** द्वाभ्याम्[1-1]। अन्तर्जले तत्राप्यगाधे तत्राप्यहिं सर्पं कथं निगृहीतवान्? स वै अहिः बहूनि युगान्यावसतीति तथाभूतो यथा येन प्रकारेणाऽऽसीत् तदपि हे विप्र! कथ्यताम्॥ २॥

आत्मनः शुश्रूषाधिक्यं व्यनक्ति - **ब्रह्मन्निति**। भूम्नः विपुलमाहात्म्यस्य स्वतन्त्रस्यापि लीलया गोपालस्य सतः यदुदारं चरितं तदेवामृतं जुषन् कः पुमान् तृप्येत न कोऽपि॥ ३॥

विषाग्निना पच्यमानं पयो यस्मिन् तस्य ह्रदस्योपरिगाः उपरि चरन्तः खगाः पक्षिणः पतन्ति [2]पेतुः विषजलवायुप्रसारमात्रेऽपि मूर्च्छिताः पतन्तीत्यर्थः॥ ४॥

यस्य ह्रदस्य तीरगाः स्थिरजङ्गमाः वृक्षादिरूपा मृगादिरूपाश्च प्राणिनः विप्रुष्मता शीकरयुक्तेन विषजलतरङ्गाणां मारुतेनाभिमर्शिताः संस्पृष्टाः म्रियन्ते। तथाविधः कश्चिद्ध्रदः कालियस्याऽऽवासभूतः कालिन्द्यामासीदित्यन्वयः॥ ५॥

स्पर्शमात्रेणैव व्यापनशीलं विषमेव वीर्यं बलं यस्य तं कालियं ह्रदं वा तेन दुष्टां नदीं यमुनां चाऽऽलोक्य खलानां संयमनाय दमनाय अवतारो यस्य सः। हेतुगर्भमिदम्। तत्त्वात् कदम्बं वृक्षमधिरुह्य गाढा दृढीकृता रशना काञ्ची यस्यः सः, आस्फोट्य करतलेन भुजमुत्सङ्गं वा आहत्य अत्युन्नतात् ततः कदम्बात् [3] विषोदे न्यपतत्। अमृतमाहरता गरुत्मताऽऽक्रान्तत्वात् स कदम्बो विषजलेनापि न शुष्क इत्याहुः॥ ६॥

1- -1. K,W omit 2. K omits पेतुः 3. A,B add कथञ्चित्

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हरौ भक्तिमतां संसारविषं निर्वीर्यं भवतीति निदर्शयितुम् अनन्तरातीताध्याये संक्षिप्योक्तं कालियनागमर्दनमहिमानं प्रपञ्चयति अस्मिन्नध्याये। तत्र राज्ञः प्रश्नमुत्थापयितुमाह **विलोक्येति**। कृष्णां यमुनां कृष्णाहिना कृष्णसर्पेण उदवासयत् ततोऽन्यत्राऽऽवासमकारयत्॥ १॥

अगाधे अतलस्पर्शे न्यगृह्णात् निगृहीतवान्। प्रसह्य गृहीतवानित्यर्थः। यथा येन प्रकारेण आसीत् स प्रकारः॥ २, ३॥

श्रप्यमाणं क्वाथ्यमानं पयो जलं यस्मिन् ह्रदे स तथा यस्मिन् ह्रदे॥ ४॥

विप्रुष्मता विशेषेण दहता "प्रुषपप्रुषदाहे" इति धातुः। विषेण विशिष्टमुदं विषोदं तेन युक्ता ऊर्मयः विषोदोर्मयः यस्य स तथा स चासौ मारुतः विषोदोर्मिमारुतः तेनाभिमर्शिता आवृत्य गृहीताः यस्य ह्रदस्य॥ ५॥

तेन कालियेन खलानां संयमनार्थं निग्रहार्थं अवतारो यस्य स तथा। आस्फोट्य द्विगुणीकृतहस्तप्रहारं कृत्वा गाढ़रशनः दृढबद्धकक्षप्रदेशः विषोदे विषमिश्रितजले ह्रदे इति शेषः॥ ६॥

**[1]सर्पह्रदः पुरुषसार[2] निपातवेग सङ्क्षोभितोरगविषोच्छ्वसिताम्बुराशिः[3]।**
**पर्यक् प्लुतो विषकषायितभीषणोर्मि[4] रश्चद्धनुश्शतमनन्तबलस्य[5] किं तत्?॥ ७॥**

[6]तस्मिन् ह्रदे विहरतो भुजदण्डघूर्णं वार्घोषमङ्ग वरवारणविक्रमस्य।
आश्रुत्य [7]तत्स्वसदनाभिभवं [8]ससैन्यः चक्षुश्श्रवास्समसरत्[9]तदमृष्यमाणः ॥८॥

तं प्रेक्षणीयसुकुमारघनावदातं श्रीवत्सपीतवसनं स्मितसुन्दरास्यम्।
क्रीडन्तमप्रतिभ[10]यं कमलोदराङ्घ्रिं सन्दश्य मर्मसु रुषा भुज[11]गश्चछाद ॥९॥

तं नागभोग परिवीतमदृष्टचेष्ट मालोक्य तत्प्रियसखाः पशुपा भृ[12]शार्ताः।
[13]कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामा दुःखानु[14]शोक भयमूढधियो निपेतुः ॥१०॥

1. M सा° 2. K,W वर्य 3. V °न्नमि° 4. A,B,G,J,M °षायविभी° 5- -5. A,B,G,J °र्मिधावन् धनुः M °र्मिभीमोधनु° 6. A,B,G,J तस्य 7. K,W तं स्व° 8. A,B,G,J,V निरीक्ष्य 9. M °त्तम° 10. V बलं 11. A,B,G,J,V °या च ° 12. K,W भया° 13. K कृष्णा° 14. V °र्ति

**श्रीध० सर्पेति।**[1] सर्पस्य ह्रदः पुरुषश्रेष्ठस्य पतनभारेण[2], सङ्क्षोभितानाम् उरगाणां विषैरुन्नमितोऽम्बुराशिः यस्य सः। विषेण कषायीकृता भयङ्करा ऊर्मयो यस्य सः, पर्यक् परितः। धावन्[3] धनुश्शतं प्लुतः प्रसृतः। नैतच्चित्रमित्याह अनन्तबलस्येति ॥७॥

**तस्मिन्निति।** [4-]ह्रदे विहरत[-4]ः भुजदण्डाहतोदकघोषं श्रुत्वा तत् ततः स्वसदनाभिभवं च निरीक्ष्य, तदसहमानः सर्पः समसरत् समाजगाम ॥८॥

**तमिति।** प्रेक्षणीयश्च सुकुमारश्च घनवदुज्ज्वलश्च तम्। श्रीवत्सपीतवसनं श्रीवत्सेन संयुक्तमुज्ज्वल[5]त्पीतं वस्त्रं यस्य तम्। भुजया भोगेन चछाद अवेष्टयत् ॥९॥

**तमिति।** सः प्रियो येषां ते तत्प्रियाः। ते च ते सखायश्चेति तथा ॥१०॥

1. B,J add तदा 2. V भरेण 3. V अञ्चत् 4- -4. V omits 5. A,B,J °च्च°

**वीर०** सर्पस्य ह्रदः पुरुषवर्यस्य पुरुषोत्तमस्य निपातवेगेन सङ्क्षोभितानामुरगाणां विषैरुच्छ्वसितः प्रवृद्धोऽम्बुराशिः वारिपूरो यस्य, विषैः कषायिताः कषायीकृताः क्वथिताः[1] भीषणा ऊर्मयो यस्मिन्, तथाभूतः पर्यक् परितोऽश्चद्धनुश्शतं तत्परिमाणस्थलं प्लुत आवृतः, नैतच्चित्रमित्याह अनन्तबलस्य तत्किं कियत् ॥७॥

[2]तस्मिन् ह्रदे विहरतः गजश्रेष्ठस्येव विक्रमो यस्य तस्य भगवतः भुजदण्डाहतोदकघोषमाकर्ण्य अङ्ग! हे राजन्! स्वनिलयतिरस्कारमसहमानः चक्षुश्श्रवाः सर्पः स्वसैन्यसहितः समसरत् आजगाम ॥८॥

भुजगः कालियः तं कृष्णं मर्मसु सन्दश्य चछाद वेष्टितवान्। कथम्भूतम्? प्रेक्षणीयश्च सुकुमारश्च घनवन्निर्मलश्च तं, श्रीवत्सशब्दोऽत्रार्श आद्यजन्तः, श्रीवत्सयुक्तं पीतं वस्त्रं यस्य तं च, स्मितेन सुन्दरमाननं यस्य, प्रतिपक्षाद्भयरहितं कमलवदुदरमङ्गी च यस्य तम्॥९॥

नागस्य भोगेन देहेन विष्टितम् अत एव अदृष्टा इतरैरलक्षिता चेष्टा यस्य तं कृष्णमालोक्य तस्य कृष्णस्य प्रियाः सखायः गोपाः भयेनाऽऽर्ताः कृष्ण एव अर्पिता आत्मानो मनांसि शरीराणि वा सुहृदादयश्च यैः तथाभूताः अर्थो वित्तं कामाः इष्टार्थाः दुःखादिभिर्मूढाः धियो येषां ते निपेतुः। दुःखं मानसिकं, शोको रोदनम्॥१०॥

1. K क्क° 2. W ततः

**विज०** सर्पस्य निवासभूतह्रदः सार्पह्रदः पुरुषसारस्य पुरुषवरस्य पुरुषश्रेष्ठस्य पुरुषोत्तमस्येत्यर्थः। निपातवेगेन सङ्क्षोभितस्य सञ्चालितस्य स्वस्थानस्थितिक्लिष्टस्य उरगस्य विषेण सह उच्छ्वसितः उद्रेचितः अम्बुराशिः यस्य ह्रदस्य स तथा। विषकषायेण विषक्काथेन विषरागेण वा विभीषणोर्मिभिः भयङ्करतरङ्गैः भीमः भयजनकः "रागे क्काथे कषायोऽस्त्री निर्यासे सौरभे रसे" (वैज.को. 7-5-22) इति यादवः । एवंविधो ह्रदो धनुश्शतं तीरस्थानमुल्लङ्घ्य पर्यक् प्लुतः परितः उद्रिच्य गतः हरेः एतत् न चित्रमित्याह अनन्तबलस्येति। लक्षयोजनविस्तारायामपरिमितभूप्लावनेऽपि न चोद्यं किमुत धनुश्शतमित्यर्थः॥७॥

अङ्ग! नृप! शृणु! वरवारणविक्रमस्य गजेन्द्रविक्रमस्य यद्वा अङ्गैरवयवैः वरणीयस्य वारणस्य विक्रम इव विक्रमो यस्य स तथा। तस्य हरेः भुजदण्डाभ्यां घूर्णस्य मन्द्रध्वनितया क्षुब्धस्य वारः जलस्य घोषमाश्रुत्य तस्मात् स्वसदनाभिभवो यः तम्, अमृष्यमाणः असहमानः चक्षुश्श्रवाः सर्पः तं कृष्णं समसरत् संसृतवान् बाधितुमागतवानित्यर्थः। "वरो ना रूप जामात्रोर्देवादेरीप्सिते वृतौ" (वैज.को. 6-5-72) इति॥८॥

अवदातः श्यामलः। "अवदातोऽरुणे पीते श्वेते श्यामे निरामये" इति च। चच्छाद आच्छादितवान् आवृतवानित्यर्थः॥९॥

परिवीतं परिवेष्टितं अदृष्टचेष्टं निश्चेष्टम्॥१०॥

1- -1. A,B omit

**गावो वृषा वत्सतर्यः क्रन्दमानास्सुदुःखिताः।**
**कृष्णन्यस्तेक्षणा भीता स्वन्त्य इव तस्थिरे॥११॥**

अथ व्रजे महोत्पातास्त्रिविधा अतिदारुणाः ।
उत्पेतुर्भुवि दिव्यात्मन्यासन्न भयशंसिनः ॥१२॥

तानालक्ष्य भयोद्विग्ना गोपा नन्दपुरोगमाः ।
विना रामेण गाः कृष्णं ज्ञात्वा चारयितुं गतम् ॥१३॥

तैर्दुर्निमित्तैर्निधनं मत्वा प्राप्तमतद्विदः ।
तत्प्राणास्तन्मनस्कास्ते दुःखशोकभयातुराः ॥१४॥

आबालवृद्धवनितास्सर्वेऽङ्ग पशुवृत्तयः ।
निर्जग्मुर्गोकुलाद्दीनाः कृष्णदर्शनलालसाः ॥१५॥

1. A,B,G,J कृष्णे 2- -2. A °णप्राणाः 3. A क्रन्दन्त्य; G,J रुदत्य 4. A,B,G,J ह्यति 5- -5. M °र्दिवि भूम्यात्म° 6. M °श्च 7 K,W वत्सलाः

**श्रीध० अथेति।** भुवि भूकम्पादयः दिवि उल्कापातादयः, आत्मनि वामनेत्रस्फुरणादयः आसन्नं भयं शंसितुं शीलं येषां ते॥ ११, १२॥

**तानिति।** तानालक्ष्य गोकुलान्निर्जग्मुरिति तृतीयेनान्वयः। भयोद्विग्नाः भयहेतुभ्यो भीताः भयेन कम्पमाना इति वा॥ १३॥

**तैरिति।** न तं हरिं विदन्तीति अतद्विदः ॥१४॥

**आबालेति।** पशुवृत्तय अतिवत्सलाः ॥१५॥

1. B,J,V omit हरिं

**वीर०** वत्सतर्यो दम्याः सुतरां दुःखिताः क्रन्दमाना आह्वयन्त्यः कृष्ण एव न्यस्तानि ईक्षणानि याभिः ताः रुदन्त्य इव तस्थुः ॥ ११॥

दिवि भुवि आत्मनीत्येवं त्रिविधा आसन्नभयसूचकाः उत्पाताः बभूवुः, तत्र भुव्युत्पाता भूकम्पादयः, दिव्युल्कापातादयः, आत्मनि वामनेत्रस्फुरणादयः ॥ १२॥

तानुत्पातानालक्ष्य भयेन उद्विग्नाः कम्पितगात्राः नन्दप्रभृतयो गोपाः रामेण विना गाश्चारयितुं गतं कृष्णं ज्ञात्वा॥ १३॥

तन्माहात्म्यानभिज्ञाः तैर्दुर्निमित्तैः निधनं तद्विपत्तिं[1] प्राप्तमिव ज्ञात्वा यतः तस्मिन्नेव प्राणाः तस्मिन्नेव मनांसि च येषाम्, अतः शोकभयाभ्यामातुराः॥ १४॥

सर्वे अङ्ग! हे राजन्। पशुवत्सलाः धेनुवद्वात्सल्ययुक्ताः कृष्णस्य दर्शने निमित्ते लालसाः निर्जग्मुः ॥ १५॥

1. A,B तस्य वि°

**विज०** वत्सतर्यः गर्भाधानयोग्यवयसः ॥ ११॥

त्रिविधा इत्युक्तं विव्रीयते - दिवीत्यादिना। दिवि उत्पाताः आदित्यमण्डले कबन्धादिदर्शनं निर्घातादिभिः भुवि कम्पादिकं आत्मनि देहे वामनेत्रस्फुरणादि, आसन्नभयशंसिनः समीपभयसूचकाः ॥ १२ - १४॥

पशुवत् वृत्तिर्येषां ते तथा दृष्टमात्रव्यवहारिणः ॥ १५॥

**तांस्तथा कातरान् वीक्ष्य भगवान् माधवो[1-] बलः[-1]।**
**प्रहस्य किञ्चिन्नोवाच प्रभावज्ञोऽनुजस्य सः॥ १६॥**

**तेऽन्वेषमाणा दयितं कृष्णं सूचितया पदैः।**
**भगवल्लक्षणैर्जग्मुः पदव्या यमुनातटम्॥ १७॥**

**ते तत्र तत्राब्जयवाङ्कुशाशनि ध्वजोपपन्नानि पदानि विश्पतेः।**
**मार्गे[2] गवामन्यपदान्तरान्तरे निरीक्षमाणा ययुरङ्ग सत्वराः॥ १८॥**

**अन्तर्जले[3] भुजगभोगपरीतमारात्कृष्णं निरीहमुपलभ्य[4] जलाशयान्ते।**
**गोपांश्च मूढधिषणान्परितः पशूंश्च सङ्क्रन्दतः परमकश्मलमापुरार्ताः[5]॥ १९॥**

**गोप्योऽनुरक्तमनसो भगवत्यनन्ते तत्सौहृदस्मितविलोकगिरस्स्मरन्त्यः।**
**ग्रस्तेऽहिना प्रियतमे भृशदुःखतप्ताः शून्यं[6-] प्रियव्यतिहृतं[-6] ददृशुस्त्रिलोकम्॥ २०॥**

1- -1. V रोहिणी सुतः 2. M मार्गं 3. A,B,G,J,M °ह्रदे 4. M लक्ष्य 5. V कल्मषमा° 6- -6 K शून्यां प्रियेण रहितां ददृशुस्त्रिलोकीम्। w शून्यां प्रियव्यतिहृतां ददृशुस्त्रिलोकीम्।

**श्रीध० तामिति।** कातरान् भीतान्॥ १६॥

त इति। भगवन्तं लक्षयन्ति यानि पदानि, तैः पदैः सूचितया पदव्या मार्गेण॥ १७॥

[1]पदैर्मार्गज्ञान प्रकारमाह - **त** इति। विश्पतेः श्रीकृष्णस्यान्येषां पदानामन्तरान्तरे मध्ये मध्ये तत्तदपोह्ने[2]। गवां श्रुतीनां मार्गे सत्वरा अप्रमत्ता योगिनः तत्तदुपाध्यपवादेन यथा परं तत्त्वं मृगयन्ते तद्वदिति भावः ॥ १८॥

**अन्तरिति।** ततश्च सर्पशरीरवेष्टितं[3] कृष्णं दूरान्निरीक्ष्य गोपांश्च पशूंश्च तथा [4]तथा निरीक्ष्य, आर्ताः [5-]परमकश्मल[-5] परं मोहं प्रापुः ॥ १९॥

**गोप्य** इति। प्रियेण श्रीकृष्णेन [6]व्यतिहृतं विरहितं त्रैलोक्यं शून्यं ददृशुः ॥ २०॥

1. V omits पदैः 2. V °हनेन 3. V परिवे° 4. B,J omit तथा 5- -5. V omits 6. V omits व्यतिहृतं

**वीर०** तदा तान्निर्गच्छतः कातरांश्चावलोक्य माधवो बलो रामः मधुवंशप्रभवत्वात् माधवः अनुजस्य प्रभावाभिज्ञोऽत एव [1]प्रहस्य किञ्चिदपि नोवाच॥ १६॥

ते नन्दादयः कृष्णं मृगयन्तः भगवन्तं लक्षयन्तीति तथा तैः ध्वजवज्रादि[2-]चिह्नितै[-2]रिति भावः, पदैस्सूचितया पदव्या मार्गेण यमुनायास्तटं जग्मुः॥ १७॥

तदेव प्रपञ्चयति - **त** इत्यनेन। विश्पतेः विश्वस्य पत्युः कृष्णस्य तत्र तत्र ध्वजादिरेखाभिरुपपन्नानि युक्तानि पदानि तत्राशनिः वज्रः गवां मार्गे अन्येषां पदानामन्तरान्तरे मध्ये मध्ये निरीक्षमाणाः अङ्ग! हे राजन्! त्वरायुक्ताः ययुः ॥ १८॥

जलमध्ये भुजगदे[3]हेन परिवेष्टितम् अदृष्टचेष्टितं कृष्णं ह्रदस्य तीरे मूर्छितान् गोपांश्च सङ्क्रन्दतः पशूंश्च आरादेवोपलभ्य ज्ञात्वा आर्तास्सन्तो महत्कश्मलं मोहं प्रापुः ॥ १९॥

तस्य कृष्णस्य सौहृदेन सौहार्देन यत्स्मितं ये च विलोकाः कटाक्षाः तान् गिरश्च समरन्त्यः निरतिशयप्रीतिविषये तस्मिन् सर्पेण ग्रस्ते सति नितरां दुःखेन तप्ताः प्रियेण रहिताः त्रिलोकीं शून्यां ददृशुः ॥ २०॥

1. A,B omit प्रहस्य 2- -2. A,B °दिभिश्चिह्नै° 3. W भोगेन

**विज०** माधवो मधुकुलोद्भवः ॥ १६॥

भगवल्लक्षणैर्हरैः पद्मध्वजादिलक्षणोपेतैः पदैः चरणन्यासैः सूचितया सूचयन्त्या पदव्या मार्गेण॥ १७॥

वैशद्याय पुनरुक्तं विवृणोति **त** इति। यवो व्रीहिविशेषः अशनिः वज्रम्। "दम्भोलिदृशनिर्द्वयोः" (अम.को. 1-47) इत्यमरः। विश्पतेः प्रजापतेः कृष्णस्य गवां मार्गे कृष्णपादेनान्यस्य गोपस्य अन्यासां गवां पादेनान्तरान्तरे मध्ये मध्ये मिश्रित इति शेषः। गवां पादेन अन्यपदेन वज्रादिलक्षणेन पदेन इतरलक्षणेन पदेन अन्तरान्तरे मध्याविनाभूते वा॥ १८॥

जलाशयान्ते ह्रदसमीपे परितः स्थितान् गोपादीनुपलक्ष्य परमं कश्मलं मोहम्॥ १९॥

तस्य कृष्णस्य सौहृदं च स्मितं च विलोकश्च गिरश्च तत्सौहृदस्मितविलोकगिरः ताः स्मरन्त्यः प्रियव्यतिहृतं विरहितम्॥ २०॥

**ताः कृष्णमातरमपत्यमनुप्रतप्तां[1] तुल्यव्यधास्समनुगृह्य[2] शुचस्स्रवन्त्यः।**
**त्रस्ताः[3] प्रियव्रजकथाः[4] कथयन्त्य आसन् कृष्णाननेऽर्पितदृशो मृतकप्रतीकाः॥ २१॥**

**कृष्णप्राणान्निविशतो[5] नन्दादीन् वीक्ष्य तं[6] ह्रदम्।**
**प्रत्यषेधत्स भगवान्रामः कृष्णानुभाववित्॥ २२॥**

**इत्थं स्वगोकुलमनन्यगतिं[7] निरीक्ष्य सस्त्रीकुमार मति दुःखित मात्महेतोः।**
**आज्ञाय मर्त्यपदवीमनुवर्तमानः स्थित्वा मुहूर्तमुदतिष्ठदुरङ्गबन्धात्॥ २३॥**

**तत्प्रध्यमानवपुषा व्यथितात्मभोग स्त्यक्त्वोन्नमय्य कुपितः स्वफणां भुजङ्गः।**
**तस्थौ श्वसञ्छ्वसनरन्ध्रविषोऽम्बरीष[8] स्तब्धेक्षणोल्मुकमुखो हरिमीक्षमाणः॥ २४॥**

**तं जिह्वया द्विशिखया परिलेलिहानं द्वे सृक्किणी[9] अतिकरालविषाग्निदृष्टिम्[10]।**
**क्रीडन्नमुं परिससार यथा खगेन्द्रो बभ्राम सोऽप्यवसरं[11] प्रसमीक्षमाणः[12]॥ २५॥**

1. A,B,G,J,M प्रविष्टां 2. V. मधिगम्य 3. A,B,G,J,K तास्ताः 4. A,G,J,M,V व्रजप्रिय 5. A,B,G,J,M °र्वि° 6. V,W तद्ह्रदम् 7. A,B,G,J,M,V स्व° 8. A,B,G,J, विषाऽ° 9. A,G,J,M सृक्कि° ; W सृक्व 10. A,B,G,J,V ह्यति° 11. M °ऽप्यपसरन् 12. M °क्ष्य°

**श्रीध० इत्थमिति**। अनन्यगतिम् आत्मानम् इत्थं निरीक्ष्य, अत एव आत्महेतोः स्वगोकुलमति दुःखितमाज्ञाय उरगबन्धात् उदतिष्ठत् इत्यन्वयः॥ २१ - २३॥

**तदिति**। तस्य प्रध्यमानेन प्र[1-]वर्धमानेन[-1] वपुषा व्यथितात्म[2]शरीरः भुजङ्गः कुण्डली[3-] श्रीकृष्णं[-3] त्यक्त्वा, कुपितः स्वफणानुन्नमय्य श्वसन् केवलमीक्षमाणः[4] तस्थौ। कथम्भूतः? श्वसनरन्ध्रेषु नासाविवरेषु विषं यस्य स तथा। अम्बरीषं भ्राष्ट्रः[5] मण्डपाकभाजनमित्यर्थः[6]। तद्वत् सन्तप्तानि स्तब्धानि ईक्षणानि यस्य स तथा। उल्मुकानि मुखेषु यस्य। स च स[7] च[8]॥ २४॥

**तमिति**। हरिश्च क्रीडन् तममुं सर्पं परिससार परितो बभ्राम। अतिकराला विषाग्नियुक्ता दृष्टिर्यस्य तम्। जिह्वया द्विशिखयेति प्रतिमुखम्॥ २५॥

1- -1. A,B,J omit 2. V °तात्मा पीडितश° (व्यथितात्म भोगः पीडितनिज शरीरः।) 3- -3 A,B,J °र्लीं उन्मुच्य तं 4. V °लसमी° 5. A,B,J omit भ्राष्ट्रः 6. V मण्डकपा° 7. A,B,J omit इत्यर्थः 8. V omits स च

**वीर०** तां कृष्णस्य मातरं यशोदामपत्यमनूद्दिश्य प्रतप्तां दुःखिताम् अनुगृह्य सम्यग्गृहीत्वा ह्रदे पतितुमुद्युक्तां निवार्येत्यर्थः। शुचोऽश्रूणि स्रवन्त्यः तया तुल्यदुःखाः प्रियो व्रजो यस्य तस्य कृष्णस्य तास्ताः कथाः[1] पूतनायमलार्जुनभञ्जनादिरूपाः कथयन्त्यः कृष्णस्य आनने अर्पिताः निहिताः दृशो याभिः ताः मृतकप्रतीकाः मृतकल्पाः[2] आसन्॥ २१॥

कृष्ण एव प्राणो येषां तान् कृष्णैकजीवनान् नन्दादीन् तं ह्रदं विशतः प्रवेष्टु मुद्युक्तान् रामः प्रत्यषेधत् निवारितवान्, तत्र हेतुः तत्प्रभाववित् तत्रापि हेतुर्भगवान् ॥ २२॥

न विद्यतेऽन्या गतिः रक्षणोपायो यस्य तत्, आत्मनः स्वस्य हेतोः स्त्रीकुमार पर्यन्तं दुःखितं गोकुलं निरीक्ष्य आज्ञाय तद्दुःखं ज्ञात्वा मर्त्यपदवीमनुवर्तमानोऽत एव मुहूर्तमात्रं तूष्णीं स्थित्वा तत उरङ्गबन्धादुदतिष्ठत् त्याजितोरगबन्धो बभूवेत्यर्थः ॥ २३॥

तस्य कृष्णस्य प्रथ्यमानेन भारीक्रियमाणेन पृथुशब्दात्तत्करोतीति ण्यन्तात् "र ऋतो हलादेः लघोः (अष्टा 6-4-161) इति कतरभावात् कर्मणि लटः शानच्, वपुषा व्यथितस्वशरीरो भुजङ्गः कृष्णमुन्मुच्य कुपितः फणानुन्नमय्य श्वसन् केवलं हरिमीक्षमाणः तस्थौ। कथम्भूतः नासारन्ध्रेषु विषं यस्य, अम्बरीषवत्सन्तप्तानि स्तब्धानि चेक्षणानि यस्य । अम्बरीषशब्दो भ्राष्ट्रवाची "अम्बरीषः पुमान्भ्राष्ट्रं", (वैज.को. 4.3.56) "क्लीबेऽम्बरीषां भ्राष्ट्रो ना" (अम.को. 2-607) इत्यादिनामानुशासनात् "अम्बरीषः" (उणादि सू. 469) इत्यौणादिकसूत्रेण "अबि शब्दे" इत्यस्माद्धातोः "कृतृभ्यामीषन्" (उणादि.सू. 466) इत्यत ईषन्नित्यनुवर्तमाने तत्सन्नियोगेन रुडागमो निपात्यते समस्तपाठे नासिकाच्छिद्रमेव विषपाकभ्राष्ट्रं यस्य स चासौ स्तब्धेक्षणः उल्मुकान्यग्नि कणानि मुखे यस्य उल्मुकवज्ज्वलन्मुखो वा॥ २४॥

द्वे शिखे अग्रभागौ यस्यास्तया जिह्वया द्वे सृक्किणी[3] ओष्ठप्रान्तौ लेलिहानम् अतिकराला विषाग्निभीषणा दृष्टिर्यस्य तममुं कालियं क्रीडन्निव परितश्चचार। "अभितः परितस्समया" इत्यादिवचनेनामुमिति षष्ठ्यर्थे द्वितीया, अमुष्य परितस्ससारेत्यर्थः। यथा गरुडः तद्वत्, सोऽपि कालियोऽप्यवसरं दंशनार्थमन्तरमन्वेषयन् परिबभ्राम॥ २५॥

---

1. W omits कथाः 2. A,B तुल्याः 3. A °क्कि° W °क्क°

**विज०** अपत्यमनुप्रविष्टां आत्मना पुरस्थितह्रदे प्रविष्टां शरीरिण तीरे स्थितां कृष्णमातरं, यशोदां समनुगृह्य परिरभ्य यशोदादुःखतुल्यव्यथाः शुचः शोकादश्रूणि स्रवन्त्यः बाष्पधारया नदीं कुर्वत्यः याः पूर्वं व्रजप्रियस्य कृष्णस्य कथाः कथयन्त्यः आसन् ता अधुना त्रस्ताः कृष्णाननेऽर्पितनेत्राः गोप्यो मृतकप्रतीकाविज्ञाता अनेनेति शेषः ॥ २१॥

कृष्ण एव प्राणो येषां ते तथा तान् ह्रदं निविशतः प्रवेष्टुकामान्॥ २२॥

आज्ञाय ज्ञात्वा उरगबन्धात् सर्पकृतबन्धनात् उदतिष्ठत् उत्थितोऽभूत्॥ २३॥

भगवति उत्थिते सर्पः किङ्कियोऽभूदित्यत्राह - **तत्प्रथ्यमानेति।** तेन कृष्णेन प्रथ्यमानवपुषा वर्ध्यमानशरीरिण व्यथितः आत्मभोगः स्वशरीरं यस्य स तथा। अत एव कुपितः अत एव श्वसन् दीर्घश्वासं कुर्वन् श्वसनरन्ध्रे नासिकाछिद्रे

विषाम्बरीष्ट्रं विषभ्राष्ट्रं यस्य स तथा। "क्लीबेऽम्बरीषं भ्राष्ट्रो ना कन्दुर्वा स्वेदिनी स्त्रियाम्" (अम.को. 2-607) इत्यमरः। स्तब्धेक्षण उल्मकमुखश्च स्तब्धे ईक्षणे उल्मुके मुखे यस्य स तथा। "अङ्गारेऽलात उल्मुकम्" (अम. को. 2-606) इत्यमरः। एवंविधो भुजङ्गो हरिमीक्षमाणः तस्थावित्यन्वयः ॥ २४॥

तं अमुं सर्पं परिससार परितश्चचार, द्वे सृक्किणी[1] ओष्ठान्तर्भागौ स सर्पोऽप्यपसरन् तिर्यग्गच्छन् बभ्राम चतुर्दिशं परिवर्तमानोऽभूत्॥ २५॥

1. A °क्कि°

एवं परिभ्रमहतौजसमुन्नतांसमानम्य तत्पृथुशिरस्स्वधिरूढ[1] आद्यः।
तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्रपादाम्बुजोऽखिलकलादि[2] गुरुर्ननर्त॥ २६॥

तं नर्तुमुद्यतमवेक्ष्य तदा तदीया[3] गन्धर्वसिद्धमुनि[4] चारणदेववध्वः।
प्रीत्या मृदङ्गपणवानकवाद्यगीतपुष्पोपहारनुतिभिस्सहसोपसेदुः ॥ २७॥

यद्यच्छिरो न नमतेऽङ्ग[5] शतैकशीर्ष्णः[5] तत्तन्ममर्द खलदण्डधरोऽङ्घ्रिपातैः[6]।
क्षीणायुषो[7] भ्रमत उल्बणमास्यतोऽसृङ्नस्तो[7] वमन् परमकश्मलमाप नागः ॥ २८॥

तस्याक्षिभिर्गरलमुद्वमतश्शिरस्सु यद्यत्समुन्नमति निश्वसतो रुषोच्चैः।
नृत्यन्पदाऽनुनमयन्[8] दमयाम्बभूव[9-9] पुष्पैस्सुपूजित[10-10] इवेह पुमान्पुराणः ॥ २९॥

तच्चित्रताण्डवनिरुग्ण[11] फणासहस्रो[12-12] रक्तं मुखैरुरु[13] वमन् नृप! भग्नगात्रः
स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणं नारायणं तमरणं मनसा जगाम ॥ ३०॥

कृष्णस्य गर्भजगतोऽतिभरावसन्नं पार्ष्णिप्रहार परिरुग्णफणातपत्रम्।
दृष्ट्वाऽहिमाद्यमुपसेदुरमुष्य[14] पत्न्य आर्ताश्श्लथद्वसनभूषणकेशबन्धाः ॥ ३१॥

तास्तं सुविप्रमनसोऽथ[15] पुरस्कृताऽर्भाः[16] कायान्निधाय[17] भुवि भूतपतिं[18] प्रणेमुः।
साध्व्यः कृताञ्जलिपुटाश्शमलस्य[19-19] भर्तुर्मोक्षेच्छवश्शरणदं[20] शरणं प्रपन्नाः ॥ ३२॥

1. M स्यधि° 2. M °ऽमृत 3. A,B,G,J,M °य° 4. A,B,G,J सुर 5- -5. M तेगरकाल शीर्ष्ण° 6. A,G,J °र° 7- -7 M क्षीणे बले भगवतोल्बणमाशु वक्ताद्रक्तं 8. V,W नृत्यत्प° 9- -9. M स यदा बभूव 10- -10. B,G,J पुष्पैः प्रपूजित इवेह पुमान्; M पुष्पैस्तुतोऽथ भगवान् पुरुषः V पुष्पैस्सुपूजित इवेह पुनः 11. A,B,G,J,M वि 12- -12. A,B,G,J,M फणाऽऽतपत्रो; V फणासहस्रैः 13. K रनु° 14. M राज° 15. A,M विपन्न 16. °ऽर्हाः 17. A,B,G,J,M कायं नि 18. V पात्य 19- -19 M पुटी परमस्य 20. A,B,G,J °प्स°

**श्रीध० एवमिति।** एवं परिभ्रमेणैव हतमोजो यस्य तम्। उन्नतौ अंसौ यस्य तम्। तस्य मूर्धसु ये रत्ननिकराः तेषां स्पर्शेन अत्यरुणं पादाम्बुजं यस्य सः। [1]अत्र छन्दोभङ्गः आर्षः[-1]ः। ननु कथं चञ्चलेषु शिरस्सु ननर्त ? तत्राह- अखिलकलानाम् आदिगुरुः ॥ २६ ॥

**तामिति** उपसेदुः प्राप्ताः[-2] ॥ २७ ॥

**यद्यदिति।** शतैकशीर्ष्णः शतं एकानि मुख्यानि शीर्षाणि यस्य तस्य क्षीणायुषोऽपि पुनर्भ्रमतः यद्यच्छिरो न नमते स्तब्धतां न जहाति। नृत्यच्छलेनाङ्घ्रिपातैः तत्तन्ममर्द। तथा च आस्यतो मुखेभ्यः, नस्तो नासाविवरेभ्यश्च असृग्वमन् ॥ २८ ॥

**तस्येति।** पुनरपि रुषा उच्चैः निश्वसतो यद्यत्समुन्नमति तत्तत्पदाघातेनानुनमयन्[3] इहास्मिन्नवसरे हृष्टैर्गन्धर्वादिभिः शेषासनः [4]पुराण पुरुष इव [5]स यशोदा[6] नन्दनः पुष्पैः [7]पूजितः यद्वा तदा गन्धर्वादिभिः पुष्पैः [8]सुपूजितो गोपैः पुराण इव पुमान् दृष्ट इति। यद्वा, पुष्पैः [9]सुपूजित इव प्रसन्नस्सन् दमयाम्बभूव हितं कृतवानित्यर्थः ॥ २९ ॥

**तदिति** । अरणं शरणम् ॥ ३० ॥

**कृष्णस्येति।** गर्भे जगन्ति यस्य तस्यातिभरेण, अवसन्नमाक्रान्तं, पार्ष्णिः पादपृष्ठम्। आद्यं श्रीकृष्णं, श्लथन्तो विस्रंसमानाः वसनादयो यासां ताः ॥ ३१ ॥

**ता** इति। [10]ताः शरणं प्रपन्नास्सत्यः तं प्रणेमुः। सुविन्नमनसः [11]अतिविह्वलचित्ताः भुवीति तस्मिन् स्थाने [12]जलादधस्ताद्वा तीरे वा। शमलस्य पापात्मनोऽपि, भर्तु र्मोक्षेच्छ[13]वः भर्तुर्यच्छमलं तस्य वा। भूतपतिं प्राणिमात्रस्य पतिं, शरणदं आश्रयप्रदम् ॥ ३२ ॥

1- -1. A,B,J omit 2- -2. V omits 3. B त्पा° 4. V omits पुराण 5. A,B,J,omit स 6. B adds नन्द 7. A,B,J add प्र 8. A,B,J प्र 9. A,B,J प्र 10. V omits ताः 11. V omits अति 12. A,B,J °लाध° 13. A,B,J °प्स°

**वीर०** एवं परिभ्रमणेनैव गतबलम् उन्नतौ अंसौ यस्य तं कालियमानम्य नम्रं कृत्वा तस्य पृथुषु विपुलेषु शिरस्स्वधिरूढः आद्यः अखिलविद्याकारणभूतः अखिलानां भरतशास्त्रविदाम् आदिगुरुः, हेतुगर्भमिदम्। तत्त्वात् चपलेष्वपि शिरस्सु ननर्त। कथम्भूतः? तस्य मूर्धसु ये रत्नसमूहाः तेषां स्पर्शेन अत्यरुणं पदाम्बुजं यस्य तथाभूतः ॥ २६ ॥

नृत्यं कर्तुमुद्युक्तं तं कृष्णमवेक्ष्य तदीया भगवत्सेवकाः गन्धर्वादयः प्रीतिपूर्वकं मृदङ्गादिभिरुपलक्षिता सहसा आशु उपसेदुः आजग्मुः। यद्वा तदीयाः कालियस्य परिजनाः उपसेदुः। गन्धर्वादयश्च तथा भगवन्तं सेवितुं मृदङ्गादिभिस्सह उपसेदुरित्यन्वयः ॥ २७ ॥

शतमेकानि मुख्यानि शिरांसि यस्य तस्य शतैकशीर्ष्णः कालियस्य आर्षत्वात् "शीर्षन् छन्दसि" (अष्टा 6-1-61) इति शिरश्शब्दस्य शीर्षन्नादेशः। यद्यच्छिरो न नमते नम्रं नाभूत् अङ्ग हे राजन्! तत्तच्छिरः कर्म अङ्घ्रिपातैः खलदण्डधरः हेतुगर्भम्। तत्त्वात् ममर्द। कथम्भूतस्य? क्षीणमायुर्बलं वा यस्य भ्रमतः तदा आस्यतो मुखेभ्यः नस्तो

नासिकाभ्यश्च उल्बणमुष्णमधिकं वा असृक् रुधिरं वमन् उद्गिरन् स नागः कालियः परमधिकं कश्मलं मोहं मूर्छां दुःखं वा [1]आप लेभे॥ २८॥

अक्षिभिः नेत्रैः विषमुद्वमतः पुनः रुषा क्रोधेन उच्चैः निश्वसतः श्वासं मुञ्चतः तस्य शिरस्सु मध्ये यद्यच्छिरः कर्तृसमुन्नमति [2]उद्धृतं बभूवेत्यर्थः। तत्तत् पदा पादघातेन अनुनमयन् प्रह्वीकुर्वन् इत्थं नृत्यन् दमयाम्बभूव दण्डयामास। कथम्भूतः ? पुष्पैः पुष्पवर्षैः सुपूजितः गन्धर्वादिभिरिति कर्तृपदाध्याहारः। तादात्विकं भगवन्तं लक्षयति इह अस्मिन्नवसरे पुराणः पुमानिव शेषासनो भगवानिवाऽलक्ष्यतेत्यर्थः॥ २९॥

तस्य भगवतः चित्रेणोद्भटेन ताण्डवेन नृत्तेन निरुग्णं नितरां पीडितं फणानां सहस्रं यस्य, भग्नं गात्रं यस्य स कालियः हे नृपः मुखैः रुधिरम्[3]नुवमन् उद्गिरन् तदा तं कृष्णं चराचरात्मक सर्वभूतनियन्तारं पुराणं पुरुषं श्रीनारायणं स्मृत्वा तमेव मनसा अरणं शरणं जगाम॥ ३०॥

कृष्णस्य गर्भे यज्जगत् तस्य अतिभरेणावसन्नं पीडितं पार्ष्णिप्रहारैः पादपृष्ठघातैः परितो रुग्णाः पीडिताः फणा एवाऽऽतपत्राणि यस्य तमहिं कालियं दृष्ट्वा अमुष्य कालियस्य पत्न्यः, आर्ता दुःखिताः विस्रंसमानाः [4]वसनादयो यासां ताः। आद्यं श्रीकृष्णमुपसेदुः उपजग्मुः॥ ३१॥

ताः कालिय[5]स्य पत्न्यः सुविग्नानि नितरां भीतानि मनांसि यासाम्, अत एव पुरस्कृताः पुरोनिधापिताः अर्भाः बालाः याभिः ताः तथाभूताः भुवि कायान् देहान् निधाय दण्डवत्पातयित्वा तं भूतपतिमपराधानवेक्षणेन शरणागतभूतमात्ररक्षितारं कृष्णं प्रणेमुः नमश्चक्रुः। ततः ताः साध्व्यः पतिव्रताः शमलस्य पाप्मनो भर्तुः बिभ्रतः मोक्षेच्छवः भर्तुश्शमलस्य वा। [6]कृताञ्जलिपुटाः शरणदं शरणं रक्षणोपायमात्मानं ददातीति तथा तम्। "य आत्मदा बलदा" (तैत्ति. सं 4-1-8) इति श्रुतेः। तं कृष्णं शरणमुपायं प्रपन्नाः अध्यवसितवत्यः। "अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्। तदेकोपायतायाच्च्या प्रपत्तिश्शरणागतिः" (विष्वक्सेनसंहिता) इत्युक्तविधां प्रपत्तिं चक्रुरित्यर्थः॥ ३२॥

1. K आप 2. K उन्नतं 3. A,B °मुद्वमन् 4. A,B वस्त्रादयो 5. A,B °यप° 6. A,B,W धृ°

**विज०** हतौजसं क्षीणबलम् आनम्य [1]आनमय्य[1] प्रह्वीकृत्य अमृतकलस्य चन्द्रस्याधिगुरुः परमगुरुः अमृतकलानामधिको गुरुः उद्गिरणशील इति भावः। इदं विषौषधज्ञानार्थमुक्तम्॥ २६॥

उपसेदुः उपस्थिताः॥ २७॥

गरकालशीर्ष्णः विषेण नीलशिरसः सर्पस्य। "मूर्छा तु कश्मलं मोहः" (2-566) इत्यमरः॥ २८॥

शिरस्सु मध्ये यद्यच्छिरः समुन्नमति तत्तच्छिरः अनुनमयन् नृत्यन् बभूव॥ २९॥

अङ्घ्रिपातविशेषेण रुग्णं [2]भुग्नम्। अरणं शरणं क्षीरसागरशायीयस्तम्॥ ३०॥

गर्भे जठरे जगद्यस्य सः गर्भ जगत् तस्य कृष्णस्य अतिभरेणावसन्नः पीडितः पार्ष्णिः पादपृष्ठभागो यः तेन कृतेन प्रहारेण परिरुग्णं फणातपत्रं यस्य स तथा तम्॥ ३१॥

पुरस्कृतार्हाः अग्रे कृतपूजनाः परमस्य सकाशात् पत्युर्मोक्षेच्छवः ॥ ३२ ॥

1- -1. A omits 2. A,B भ°

## —: कालिय पत्नीकृत कृष्णस्तुति :—

### नागपत्न्य ऊचुः

न्याय्यो हि दण्डः कृतकिल्बिषेऽस्मिंस्तवावतारः खल निग्रहाय!
रिपोस्सुतानामपि तुल्य दृष्टिर्धत्से दमं फलमेवानु शंसन्[1]॥ ३३ ॥

अनुग्रहोऽयं भवता[4] कृतो हि नो दण्डोऽसतां ते खलु कल्मषापहः ।
यद्दन्दशूकत्वममुष्य देहिनः क्रोधोऽपि तेऽनुग्रह एव सम्मतः ॥ ३४ ॥

तपस्सुतप्तं किमनेन पूर्वं निरस्तमानेन च मानदेन ?।
धर्मोऽभवा सर्वजनानुकम्पया यतो भवांस्तुष्यति सर्वजीवः[5] ॥ ३५ ॥

कस्यानु भावोऽस्य न देव! विद्महे तवाङ्घ्रिरेणु स्पर्शाधिकारः ।
यद्वाञ्छया श्रीललनाऽऽचरत्तपो विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता ॥ ३६ ॥

न नाकपृष्ठं न च सार्व भौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धिरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजः[7] प्रपन्नाः ॥ ३७ ॥

1. A,B,G,J,M,V °ष्टे° 2. धर्म 3. M शंस्यम्। 4. A,G,J °तः 5. K,W °वनः 6. V °द्धिर्न° 7. M तत्पा°

**श्रीध०** प्रथमं तावत् कुपितं भगवन्तं दण्डानुमोदनेनोपशमयन्त्यः स्तुवन्ति, **न्याय्य इति**। तत्र — ★ "दण्डानुमोदनं षड्भिः दशभिश्च हरेस्स्तुतिः[1]। प्रार्थना[2] पञ्चभिश्श्लोकैस्ततः पन्नगयोषिताम्" ॥ न च निग्रहानुग्रह लक्षणम् वैषम्यं तवास्तीत्याहः[3] धत्सेहुः दममिति[4]। फलम्[5] अनुशंसन् ओलाचयन्॥ ३३ ॥

निग्रहोऽप्यनुग्रहायेत्युक्तं[6] पूर्वम्[7]। इदानीमनुग्रह एवायम्। न निग्रह इत्याहुः — **अनुग्रह** इति। नोऽस्माकं यस्मादमुष्य[8] सर्पत्वं दृश्यते। अतः तन्मूलपापनिवर्तको दण्डः अनुग्रह एवा क्रोधत्वेन प्रतीयमानोऽपीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

महांश्चायमनुग्रह इति तस्य पूर्वपुण्यमभिनन्दन्ति[9] — **तप** इति। स्वयं मानरहितेन अन्येभ्यो मानदेन च। सर्वं जीवयतीति सर्वजीवः ॥ ३५ ॥

न तप आदिनिमित्तकं[10] एष भाग्योदयः किन्तु अचिन्त्यं तव कृपावैभवमित्याहुः **कन्येति** श्लोकत्रयेण। तपआदिना ब्रह्मादयोऽपि यस्याः श्रियः प्रसादमिच्छन्ति। सा श्रीः ल[11]लनापि श्रीरेव[1] ललना उत्तमा स्त्री। यस्य त्वदङ्घ्रिस्पर्शाधिकारस्य

वाञ्छया। स्प[12-] र्शाधिकार इत्यत्र छन्दोभङ्ग आर्षः[-12]। तप आचरत्। अस्य सर्पस्य किं[13-] कृतमिति[13] को वेत्तीत्यर्थः॥ ३६॥

**नेति**। यत्तव पादरजः प्रपन्नाः प्राप्ताः पारमेष्ठ्याद्यं[-14] पि तुच्छं मन्यन्ते॥ ३७॥

★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः 1. A,B,J °र्नतिः 2. A,B,J °नं 3. V omits तवास्ति 4. V omits दमं 5. A,B,J omit फलम् 6. V °स्या° 7. A,B,J omit पूर्वम्। 8. V°दस्य 9. V °ति 10. A,B,J omitक 11- -11. A,B,J omit 12- -12. A,B,J omit 13- -13. B सः किं कृतवानिति 14. V °दीनपि

**वीर०** तत्र भगवतः तदितरासाध्यस्वभर्तृप्राणसंरक्षणात्मकस्वाभीष्टोपायतां महाविश्वासपूर्वकं यियाचिषवः तावद्याचनीयत्वोपयुक्तगुणवत्तां स्तुतिव्याजेनाऽऽविष्कुर्वत्यः तावद्रक्षणीयस्य स्वभर्तुः कार्पण्यं भवान्तरसुकृतवत्त्वं च सूचयन्त्यः प्रकृतमेतस्य दमनमहितव्याजं हितमेव तच्च समदृशा त्वया कर्तुमुचितमेवेति विज्ञापयामासुः **न्याय्य** इत्यादिना द्वयेन। ततः चतुर्भिः कार्पण्यसुकृतवत्वे, ततो दशभिर्याचनीयत्वोपयुक्तगुणानाविष्कर्तुं स्तुतिः। ततः पञ्चभिः याच्ञेति विवेकः। कृतं किल्बिषं हृदविदूणात्मकं त्वद्दंशनात्मकं वा येन। अस्मिन् यस्त्वया धृतो दण्डः स न्याय्य उचित एव। कृतकिल्बिष इत्यनेन तस्य दण्डचत्वम् आकिञ्चन्यं प्रत्युत सापराधत्वं च सूचितम्। अथ[1]तद्दण्डयितृत्वं न्याय्यमित्यभिप्रायेणाऽहुः तवावतारः ख[2-]लनिग्रहाय[-2] खलानां दु[3-]ष्कृतां[-3] निग्रहार्थं हि तवावतार इत्यर्थः। नन्वेवमपि वात्सल्यनिधेर्ममैतदनुचितमित्यत्राऽऽहुः - रिपोरिति। रिपोस्सुतानामपि विषये तुल्या वैषम्यरहिता दृष्टिर्यस्य तथाभूतस्त्वं फलं हितात्मकमेव अनु समनन्तरमेव शंसन् सूचयन् तावद्दमं दण्डं धत्से करोषि। रिपोस्सुतानानमपीत्यनेन मित्रामित्रविभागानादरेणापराधिनां सर्वेषामपि दमं धत्से इति सूचितम्। अत एव तुल्यदृष्टिः, यद्वा "हरिर्दुःखानि भक्तानां हितबुद्ध्या करोति वै। शस्त्रक्षाराग्निकर्माणि स्वपुत्राय पिता यथा" इत्युक्तरीत्या अनुगृह्यमाणानां तावत् पुत्रादीनामिव सर्वेषामपि तादात्विकाहितव्याजं हितमेव करोषीति सूचितम्। अतोऽयं दण्डोऽनुग्रहरूप एव। अ[5]तः वात्सल्यनिधेः तव उचितश्चेति भावः॥ ३३॥

दण्डस्यानुग्रहरूपतामेव स्पष्टयन्ति **अनुग्रह** इति। भवता यः कृतो दण्डस्सोऽयं नोऽस्माकमस्मद्विषये अनुग्रह एव। कुतः य[6]तस्ते दण्डः त्वत्कर्तृको[7] दण्डोऽसतां नोऽस्माकं कल्मषापहः दुरितापहः। किं तत् कल्मषम्? यदपहन्ता महदण्डः। तत्राऽऽहुः अमुष्य देहिनः कालियाख्यजीवस्य यत् यस्मात् कल्मषात् दन्दशूकत्वं सर्पत्वं प्राप्तमिति शेषः। तत्कल्मषापह इत्यर्थः। अतस्तव क्रोधोऽप्यनुग्रह एव। अनुग्रहगर्भ एव सम्यक् मतः विज्ञातः॥ ३४॥

कृतकिल्बिषे दन्दशूकत्वमिति पदद्वयेन साधनान्तरराहित्यात्मकम् आकिञ्चन्यरूपं कार्पण्यं सूचितम्। अथ ईश्वरानुग्रहनिमित्तं सुकुतवत्त्वमनुमान्ति **तप** इति। अनेनास्मद्भर्त्रा पूर्वं पूर्वस्मिन् जन्मनि निरस्ताहङ्कारेण मानदेन महद्भ्यः पूजाप्रदेन च सता किं तपस्सुतप्तं सुष्ठु कृतम्? पाकं पचतीतिवन्निर्देशः। अथवा सर्वभूतानुकम्पया कश्चिद्धर्मो वा अनुष्ठितस्स्यात्। कथमेवं ज्ञायत इत्यत्राऽऽहुः। यतः सर्वान् जीवयति "को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्" (तैत्ति.आ. 2-7) इति श्रुत्युक्तरीत्या भोगमोक्षप्रदानेनोज्जीवयतीति तथा। भवान् तुष्यति तुष्टो भवितुं तावद्दण्डयतीति भावः। तपोधर्मयोरनिर्वचनीयत्वाभिप्रायकः किंशब्दः। अनेनानुष्ठितौ तपोधर्मौ इदमित्थंतया नास्माभिरल्पबुद्धिभिर्निर्वक्तुं शक्यौ। किं तु केवलं सर्वान्तरात्मनो भवतस्तोषालिङ्गात् तन्निमित्तं किञ्चित् तपआदिकं कृतमित्यनुमास्याम[8]ः इति भावः। यद्वा तप इत्यादिभिश्चतुर्भिः कार्पण्यमेवाऽऽविष्क्रियते।

अयमर्थः पूर्वमनुग्रहरूपात् दण्डात्प्रागनेन[9] निसर्गतः क्रूरेणानेन सर्पेण किं तपस्सुतप्तम् न किञ्चित्, अथवा को धर्मः न कश्चित्, यतो येन तपसा धर्मेण वा भवांस्तुष्यति, तन्न किञ्चिदपि कृतमित्यर्थः। स्वभावतः क्रूरस्य निरस्तमानत्वाद्यसम्भावनाप्रदर्शनाय तद्विशेषणानि॥ ३५॥

**कस्येति।** अस्य कालियस्य त्वत्पादरजस्स्पर्शाधिकारः कस्य पुण्यस्यानुभावः प्रभावः? तत्पुण्यमयं न वेद वयमपि न विद्मः। यद्वा कस्य न कस्यचिदपि तादृशं पुण्यमस्मिन् सर्पजातौ किञ्चिदपि सम्भावितमित्ययं न वेद वयमपि न विद्महे इत्यर्थः। तवेत्यनेन तदङ्घ्रिरेणौदौर्लभ्यमभिप्रेतम्। तदेवाऽऽविष्कुर्वन्ति यद्वाञ्छयेति। यद्वाञ्छया यदङ्घ्रिरेणुलिप्सया श्रीललना श्रीर्लक्ष्मीरिव ललना यस्याः पादरजो ब्रह्मादयो लिप्सन्ति। सा श्रीरपि कामानङ्घ्रिरेणुव्यतिरिक्तान् पुरुषार्थान् विहायानिच्छन्ती धृतव्रता धृतं तपश्चर्योपयुक्त मिन्द्रियजयात्मकं व्रतं यथा तथाभूता तपो बहुकालमचरत्। पुरा श्रीर्वेदवतीरूपेण तपश्चचारेति श्रीरामायणकथा अत्र सूच्यते॥ ३६॥

नन्वैश्वर्यकैवल्यादिषु प्रार्थनीयपुरुषार्थेषु सत्स्वपि तान्विहाय किंविशेषेण मदङ्घ्रिरेणुं वाञ्छन्तीत्यत्राऽऽहुः — **नेति।** ये त्वत्पादरजःप्रपन्नास्ते पारमेष्ठ्यादिकं न वाञ्छन्ति। पारमेष्ठ्यादिभ्योऽतिशयपुरुषार्थरूपं त्वत्पादरजः सेवमानास्तेनैव तृप्ताः पारमेष्ठ्यं चतुर्मुखैश्वर्यम्। नाकपृष्ठं स्वर्लोकं, सार्वभौमं चक्रवर्तित्वम्। रसाधिपत्यं भूलोकादधस्तनलोकाधिपत्यम्। योगसिद्धीः अणिमादीः, अपुनर्भवं कैवल्यम्॥ ३७॥

1. K omits तत् 2- -2. A,B omit 3- -3. A,B दुष्टानां 4. A,B क्षु° 5. A,B omit अतः 6. W omits यतः 7. A,B °क° 8. A,B,W °महे 9. A,B °गेवानेन

**विज०** दण्डः शासनं न्याय्यो युक्तं रिपोः सुतानामिति षष्ठी सप्तम्यर्थे। रिपोः सुतेष्वपि तुल्यदृष्टे। त्वं तेषु उभयेषु अपराधेषु दमं दण्डं धत्से। कथं धत्स इति तत्राह - फलमिति। अनुशंस्यं अपराधानुरूपं फलम् अनुग्रहलक्षणं दण्डं करोषीत्यन्वः ॥ ३३॥

ननु निगृह्णतः कथमनुग्रहो भवतीत्यत्राह **अनुग्रह** इति। हिशब्द एवार्थे। भवता सर्वपूज्येन त्वया नः अस्माकं अयमनुग्रह एव कृतः न तु विरोधः कृतः। ते त्वया क्रियमाणो दण्डोऽसताम् असाधुभावानां दुष्टकर्मणां तामसयोनिं प्राप्तानां कल्मषापहः खलु पापपरिहारक एव अमुष्यासत्वं कथमत्राह — यदिति। अमुष्य कालियनाम्नो दन्दशूकत्वं तत्तत्प्राणिदंशनशीलयोनित्वमभूत् इति ज्ञायते। यद्यस्मात्तस्मात् असत्त्वं योग्यं तथा। अतः ते तव क्रोधः क्रोधकारणदण्डो योग्यस्य देहिनोऽनुग्रहः सम्मतः अस्माभिः प्रतिपन्न इत्यन्वयः। "दण्डोऽपि भगवच्चीर्णो ममैषोऽनुग्रहः कृतः" (महाकौर्मे) इत्यादिस्मृतेः। भक्तिमत एवायं विशेष इति ज्ञायते॥ ३४॥

यद्दन्दशूकत्वमपि न दुष्कर्मनिमित्तम् अपि तु पूर्वजन्मन्यत्युत्कटत्वद्विषय तप आदि प्रभावोपनतमिति मन्यामहे। "अत्युत्कटैः पुण्यपापैः इहैव फलमश्नुते"। यतोऽस्य गवादि प्राणिद्रोहत्वद्दंशनोत्पन्नपापपरिहाराय तव लक्ष्म्यादि सर्वदेवतावाञ्छितसेवा चरण सरोजरेणुमन्दिरमूर्द्धाऽभूदिति भावेन वदन्ति **तप** इत्यादिना। भूदानादिलक्षणो धर्मः। सर्वेषां जीवानां प्राणभूतः सर्वान् जीवयतीति वा॥ ३५॥

तप आदिषु कस्य पुण्यस्यानुभावोऽयं प्रभावः अध्यवसायो वा। काम्यन्त इति कामाः विषयाः तान्॥ ३६॥

कीदृशाविषया इति भावेन तानाहुः **न नाकेति**। "नाकस्य पृष्ठे सुकृतेऽनुभूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्तिति (मुण्ड.उ. 1-210) इति पारमेष्ठ्य सत्यलोकः। सार्वभौमं चक्रवर्तिपदं। "इमारामाः सरथाः सतूर्याः" (कठ.उ. 1-25) इत्यादिलक्षणं रसाधिपत्यं अखिलस्वर्गविभवं, योगसिद्धीः अणिमादिलक्षणाः अपुनर्भवं अपक्वभक्तिलभ्यं मोक्षम्। "अपुनर्भवमात्रद्धि हरिसामीप्यमुत्तमम्" (पाद्मे) इत्यादि स्मृतेः॥ ३७॥

**तदेष[1] नाथाऽऽप दुरापमन्यै स्तमोजनिः क्रोधवशो[2] ह्यहीशः।**
**संसारचक्रे भ्रमतश्शरीरिणो यदृच्छया[3-] स्याद्भवतस्समक्षम्[-3]॥ ३८॥**

**नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने।**
**भूतावासाय भूताय पराय परमात्मने॥ ३९॥**

**ज्ञानविज्ञाननिधये ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।**
**अगुणायाविकाराय नमस्ते[4] प्राकृताय च॥ ४०॥**

**कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे।**
**विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे[5] तत्कर्त्रे विश्वहेतवे[6]॥ ४१॥**

**भूतमात्रेन्द्रिय प्राणमनोबुद्ध्याशयात्मने।**
**त्रिगुणेनाभिमानेन[7] गूढस्वात्मानुभूतये॥ ४२॥**

1. M तदीश 2. A,B,G,J °शोऽप्यहीशः; M °शोऽप्यनीशः; V °शो ह्यहीन्द्रः 3- -3. A,B,G,J यदिच्छतः स्याद् विभावः समक्षः; M यदीप्सितं स्यद्धि भवत्समक्षम्; V यदिच्छतः स्याद् विभवः समक्षम्। 4. A,G,K,M °स्तेऽप्रा° 5. K,W विश्वरूपाय 6. A तस्य 7. M निर्गु°

**श्रीध० तदिति**। अहो तदेष अयत्नत एव प्राप। अन्यैः[1] ब्रह्मादिभिरपि। पुनः[2] कथम्भूतं पादरजः? यदिच्छतः सेव्यं मे भवत्विति प्रार्थयमानस्य[3-]एव[-3]। समक्षं[4] प्रत्यक्षत[5-] एव[-5]। विभवः अपेक्षिता सम्पद्भवति॥ ३८॥

**नम** इति।[6] भगवते अचिन्त्यैश्वर्यादिगुणाय। तदुपपादानाय[7] दशभिश्श्लोकैः विशेषणानि। पुरुषाय पूर्षु अन्तर्यामिरूपेण वर्तमानाय। महात्मने एवमपि अपरिच्छिन्नाय[8]। कुतः? भूतावासाय आकाशाद्याश्रयाय। तदपि[9] कुतः? भूताय पूर्वमपि स ते कुतः? पराय कारणाय। किञ्च परमात्मने कारणातीताय[10]॥ ३९॥

कारणत्वं कारणातीतत्त्वं च समर्थयितुमाहुः **ज्ञानेति**। ज्ञानविज्ञाननिधये ज्ञानं ज्ञप्तिः। विज्ञानं चिच्छक्तिः [11]तयोः निधये, ताभ्यां [12]परिपूर्णाय कथं तथा त्वम् अत उक्तम् ब्रह्मणे अनन्तशक्तये। ब्रह्मणे कथम्भूताय? अगुणायाविकाराय, [13]पुनः कथम्भूताय? अनन्तशक्तये, प्राकृताय प्रकृतिप्रवर्तकाय। [14]यद्वा अप्राकृताय [15] अप्राकृतानन्तशक्तियुक्ताय। अयमर्थः- अगुणत्वा दविकारं ब्रह्मज्ञप्तिमात्रत्वात्कारणातीतं प्रकृति प्रवर्तकानन्तशक्तिविज्ञाननिधित्वादीश्वरः कारणम्। तदुभयात्मने नम इति॥४०॥

अनन्तशक्तित्वात् कालशक्त्या विश्वस्रष्टृतवादिरूपेण नमस्यन्ति **कालायेति**। कालाय कालस्वरूपाय, कालनाभाय कालक्त्याचाश्रयाय। कालावयवानां सृष्टचादिसमयानां साक्षिणे। ततश्च विश्वाय विश्वस्व[16]रूपाय, तर्हि किं जडोऽहम्? न हि, तदुपद्रष्टे, न च द्रष्टृमात्राय। किन्तु तत्कर्त्रे न च कर्तृमात्राय। विश्वहेतवे सर्वकारण[17]रूपाय॥ ४१॥

तदेवाहुः **भूतेति**। आशयः चित्तं, भूतादिरूपाय। अतः सर्वका[18]रण रूपायेति अहङ्कारात्मतया नमस्यन्ति त्रिगुणेनेति। एवं सृ[19]ष्टिकार्ये यस्त्रिगुणोऽभिमानः। तेन गू[20]ढानां स्वांशभूतानामात्मनाम्[21] अनुभूतिः येन तस्मै॥ ४२॥

1. A,B,J श्वादि° 2. A,B,J omit पुनः 3- -3. V °यत एव। 4. A,B,J °क्षः 5- -5. A,B,J °क्ष एव। 6. A,B,J add नमुस्तुभ्यं 7. V adds एतानि 8. A,B,J नातिपरि 9. A,B,J एत° 10. V adds इति वा 11. A,B,J उभयोः 12. A,B,J omit परि 13. B,J omit पुनः 14. A,B,J omit यद्वा 15. A,B,J add इति वा। 16. A,B,J omit स्व 17. A,B,J °क 18. A,B,J °क 19. A,B,J सृष्टे कार्ये 20. A,B,J गूढा 21. A,B,J add जीवानाम्

**वीर०** तर्ह्येवं कृपणस्यापि कथं दुर्लभतममत्पादरजस्पर्शाधिकारः तत्राऽऽहुः - **तदिति**। एषः अहिशस्सर्पाधिपः तमोजनिः तमःप्रचुरजन्मा अत एव क्रोधवशः तदपि तथाऽपि हे नाथ! अन्यैः दुष्प्रापं त्वत्पदाम्बुजस्पर्शम् आप लेभे। यद्भवतः समक्षं प्रत्यक्षत्वं तदन्यैर्दुरापमप्येष आपेति वा अन्वयः। युक्तं चैतदित्याहुः - संसारचक्रे स्वकर्मभिर्भ्रमतो जीवस्य यदृच्छया भवतस्समक्षत्वं स्यात्। "एवं संसृति चक्रेऽस्मिन्भ्राम्यमाणे दुरत्यये। जीवे दुःखाकुले विष्णोः कृपा काऽप्युपजायते" (अहिर्बुध्न्यसंहिता) इति स्मरणात् इति भावः। विभव इति पाठे विभवः त्वदनुग्रहरूपो विभवस्समक्षः प्रत्यक्षः स्यादेव यादृच्छिकादिसुकृतविशेषरूपव्याजमात्रावलम्बनेनानुजिघृक्षोर्वात्सल्यनिधेः तवानुग्रहरूपो विभवः प्रत्यक्षस्स्यादेव। अन्यथा कस्यापि चेतनस्य निर्दुष्टस्यासम्भवात् त्वत्कृपा निर्विषयैव स्यादिति भावः॥ ३८॥

तदेवं, कार्पण्यमाविष्कृत्याथ शरण्यत्वोपयुक्तगुणैर्विशिंषन्त्यः स्तुवन्ति - **नम** [2]इत्यादिभिः दशभिः। चतुर्थ्यन्तानां भगवते इत्यादीनां तुभ्यं नम इत्यन्वमः। तत्र आश्रितकार्यनिर्वाहका आश्रयणसौकर्यापादकाश्चेति द्विविधाश्शरण्यगुणाः। तत्र ज्ञानशक्तिपूर्तिप्राप्तचादय आश्रितकार्यनिर्वाहकाः। तत्र ज्ञानमनिष्टपरिहारेष्टप्रापणोपयुक्तरूपम्। तच्च ज्ञानविज्ञाननिधय इत्यनेनोक्तम्। ज्ञानमनिष्टपरिहारोपयुक्तं, विज्ञानमिष्टप्रापणोपयुक्तम्। तयोर्निधिराश्रयः तस्मै। शक्तिर्नामाघटितघटनसामर्थ्याद्यात्मिका। सा चानन्तशक्तय इत्यनेनोक्ता। ब्रह्मण इत्यनेन सर्वशेषित्वादिगुणबृहत्त्ववाचिना भगवत इत्यनेन च षाड्गुण्यपूर्णत्ववाचिना पूर्तिप्राप्ती विवक्षिते, पूर्तिः अवाप्तसमस्तकामत्वम्। प्राप्तिः निरुपाधिकशेषित्वम्। आश्रयणसौकर्यापादकास्तु गुणाः परत्वस्वामित्वसौशील्यवात्सल्यादयः। तत्र भूताय पराय परमात्मन इति परत्वमुक्तम्। परत्वं नाम स्वेतरापेक्षयोत्कृष्टत्वम्। "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः" (भ.गी.15-17) इति स्वेतरनिखिलजगदन्तःप्रवेशनप्रशासनाभ्यां व्याप्यगतदोषास्पर्शेन

च धारकत्वं हि परमात्मशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमवगतम्, अनेन स्वेतरनियाम्यसर्ववस्त्वपेक्षयोत्कृष्टत्वं स्पष्टमेव। पराय भूताय, भूतत्वमत्र सर्वेभ्यः कारणतया प्रगवस्थितत्वम्। परमकारणायेत्यर्थः। अनेनापि परत्वं स्पष्टमेव। भूतावासाय इत्यनेन सौलभ्यमवगतम्। परत्वयुक्तोऽपि न मेर्वादिवद्दूरतरः। अपि तु सर्वभूतहृदयगुहावास इति भावः। अनेन सौलभ्यं सुव्यक्तमेव। पुरुषाय महात्मने इत्यनेन सौशील्यं विवक्षितम्। स्वयं वाचामगोचरमाहात्म्ययुक्तोऽपि यादवानामन्यतमपुरुषरूपेण तैस्सह संश्लेषस्वभाव इति भावः। महतो मन्दैस्सह संश्लेषस्वभाववत्त्वं हि सौशील्यम्। महापराधिनं कालियमनुग्रहीतुमुद्योगप्रख्यापनपरेणानेन प्रकरणेन वात्सल्यं व्यक्तमेवावगतम्। भूतावासाय परमात्मने इति व्यापकत्वोक्त्या प्रसक्तं व्याप्यगतदोषं परिजह्रुः अगुणायेति। हेयगुणरहिताय पराय भूतायेति कारणत्वोक्त्या प्रसक्तविकाराश्रयत्वपरिहाराभिप्रायेणाविकारायेत्युक्तिः। सद्वारकविकाराश्रयत्वेन कारणत्वेऽपि स्वरूपतः स्वभावतश्चाविकारायेत्यर्थः। सद्वारकविकाराश्रयत्वमेव स्पष्टयन्ति। प्राकृताय "भूमिरापोऽनलो वायुः" (भ.गी. 7-4), "अपरेयमितस्त्वन्याम्" (भ.गी. 7-5) इतिश्लोकद्वयोक्तप्रधानपुरुषात्मकप्रकृतिद्वयद्वारा तद्गतविकाराश्रयाय॥ ३९,४०॥

सत्त्वादिप्रकृतिगुणक्षोभनिमित्तकालस्यापि पृथङ्निमित्तताव्युदासाय तस्य तत्सामानाधिकरण्यनिर्देशः **कालायेति।** कालात्मकायेत्यर्थः। तदात्मकत्वं न मृदात्मको घट इतिवत् स्वरूपाभेदनिबन्धनम्; अपि तु आत्मा देवो जात इतिवत् शरीरात्मभावनिबन्धनमित्यभिप्रायेणाऽऽहुः कालनाभायेति। कालो नाभिवदङ्गभूतो यस्य स कालनाभः। "अच्प्रत्यन्ववपूर्वात्सामलोम्नः" (अष्टा. 5-4-75) इत्यत्र अजिति येगविभागाश्रयणात् सर्वसमासान्तोऽच्प्रत्ययः। यद्वा कालस्य नाभिः नेम्यरादीनां नाभिवद्धारकः आत्मभूत इति यावत्। देवमनुष्यादिदेहपारवश्येन जीवस्य तच्छरीरकत्ववत् न कालपारवश्येन तच्छरीरकत्वम्, अपि तु तद्याथात्म्यावलोकनेन इत्यभिप्रायेणाहुः - कालावयवसाक्षिण इति। कालावयवानां निमेषादि वत्सरान्तानां साक्षिणे साक्षाद्द्रष्ट्रे पराय भूतायेत्युक्तकारणत्वप्रयुक्तकार्यानन्यत्वाभिप्रायेण कार्यसामानाधिकरण्येन निर्दिशन्ति विश्वायेति। विश्वात्मकायेत्यर्थः। तदात्मकत्वं किं तत्स्वरूपाभेद निबन्धनम्? नेत्याहुः विश्वरूपायेति। विश्वं रूपं शरीरं यस्य तस्मै शरीरात्मभावनिबन्धनं सामानाधि करण्यमिति भावः। यद्वा सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्यैव कारणत्वात् तस्य स्थूलचिदचिद्विशिष्टेनाऽऽत्मना साकमनन्यत्वाभिप्रायेण विश्वायेत्युक्तिः विशेष्यांशस्यापि शरीरात्मभाव निबन्धनविश्वसामानाधिकरण्याभिप्रायेण विश्वरूपायेत्युक्तिः न केवलमुपादानकारणभूताय, अपि तु जगन्निमित्तभूताय च इत्यभिप्रायेणाऽऽहुः - तत्कर्त्रे इति। उपकरणाधिकरणादिकमपि त्वमेवेत्यभिप्रायेणोक्तं विश्वस्य हेतव इति। हेतुत्वं कारकषट्कसाधारणम्, गोबलीवर्दन्यायेन तत्कर्त्रे इत्युक्तिः॥ ४१॥

विश्वाय विश्वरूपायेत्युक्तयोः कार्येण सह विशिष्टविशेष्यांश सामानाधिकरण्ययोः निबन्धनद्वयमाहुः - **भूतेति।** भूतादिरूपेण परिणतत्वाद्भूताद्यात्मने, अत्र भूतादिशब्दाः भूतादिकार्यरूपेण परिणताचिद्विशिष्टब्रह्मपराः। एवं च कार्यावस्थब्रह्माभिन्नकारणावस्थब्रह्मण इत्यर्थः। भूतादीनामात्मने तदन्तः प्रवेशप्रशासनाभ्यां भर्त्रे इत्यप्यर्थस्तन्त्रेण विवक्षितः। अन्तः प्रवेशप्रशासनाभ्यां भर्तृत्वमेव हि आत्मशब्द प्रवृत्तिनिमित्तम्। तत्र भूतान्याकाशादीनि, मात्राः शब्दादयः, पञ्च, इन्द्रियाणि ज्ञानकर्मोभयेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि दश, प्राणाः पञ्च, मनो बुद्धिश्च आशयो वासना, एवं सूक्ष्माचिद्विशिष्ट ब्रह्मणः स्थूलावस्थाचिद्विशिष्टब्रह्माभेदे तयोः कार्यकारणभावो विशेषण विशेष्ययोश्शरीरात्मभावश्चेति निबन्धनद्वयमुक्तम्। अथ चित्सामानाधिकरण्येऽपि निबन्धनमाहुः त्रिगुणेनेत्यर्धेन। त्रिगुणेन गुणत्रयहेतुकेनाभिमानेन - देहात्माद्यभिमानेन गूढा च्छन्ना स्वात्मानुभूतिर्जीवानां यस्मात् तस्मै ज्ञानविकासरूपजीवगतकार्यं प्रति कारणभूतायेत्यभिप्रेतार्थः॥ ४२॥

1. W °शिष्य स्तु° 2. A,B इति 3- -3 A,B omit

**विज०** किं बहुवक्तव्यमिति भावेन वदन्ति — **तदिति**। ईश! नाथ! शङ्कर! स्वामिन्। यद्भवत्समक्षं भवतः साक्षात्करणं तदापा दुरापं, "न चक्षुषा पश्यति कश्चिनैनम्" (कठ.उ. 6-9) "नान्यैर्देवै र्मनसा नापि वाचा" इत्यादिश्रुतेः। साधनसामग्रीमन्तरेण दुष्प्रापमित्यर्थः। तमसा गुणेन जनिः जन्म यस्य स तथा अत एव क्रोधस्वभावः तथाप्यनीशोऽसमर्थः ॥ ३८॥

"दण्डोऽपि भगवच्चीर्णः " (महाकौर्मे) इति स्मृत्यर्थमात्मनि ज्ञापयितुं कृष्णं स्तुवन्ति - **नम** इत्यादिना। भूतावासाय इत्यनेन "भूतनाशेन नाशःस्यात्" इत्युच्यत इति शङ्कां निवारयति भूतायेति। सर्वदा विद्यमानाय "भू सत्तायम्" इति धातुः॥ ३९॥

अविकारायेत्युक्तं समर्थयते अप्राकृतायेति॥ ४०॥

कालाय भक्तकामधेनवे, कालनाभाय कालाश्रयाय, विश्वाय स्वाधीनप्रपञ्चाय तस्य विश्वस्य उपद्रष्ट्रे अध्यक्षाय तस्य कर्त्रे अवान्तरकारणाय प्रकृतेः मूलकारणत्वं निवारयति विश्वहेतव इति। प्रपञ्चस्य मूलकारणाय "विश्वस्य तदधीनत्वात् विश्वं विष्णुरुदीर्यते" (आग्नेये) इत्यादिस्मृतेः। विश्वाय विराट्पुरुषाय तत्कर्त्रे विश्वस्योत्पादनमायाप्रेरकाय इत्यादिरर्थो न युक्तः अप्रामाणिकत्वादिति॥ ४१॥

विश्वस्य भगवदधीनत्वं विवृणोति — **भूतेति**। भूतानि पञ्चमात्राः शब्दादयः इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि, प्राणाः दश मनः सङ्कल्पविकल्पलक्षणं, बुद्धिः निश्चयहेतुः, एषामाशयः स्थानं, आत्मा स्वभावो यस्य स तथा तस्मै। "आत्मा यत्नो धृतिः बुद्धिः स्वभावो ब्रह्मवर्ष्म च" (अम.को. 3-206) इत्यमरः। "स्थानेऽभिप्राय आशयः" (वैज.को. 7-517) इति यादवः। निर्गुणेन सत्त्वादिगुणजन्मरहितेन अभिमानेनाऽज्ञानेन गूढा अप्रकाशिता स्वात्मानुभूतिः यस्य स तथा तस्मै॥ ४२॥

**नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते।**
**नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये॥ ४३॥**

**नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये।**
**प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः॥ ४४॥**

**नमः कृष्णाय रामाय वसुदेवसुताय च।**
**प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्त्वतां पतये नमः॥ ४५॥**

**नमो गुणप्रदीपाय गुणात्मच्छादनाय[1] च।**
**गुणवृत्त्युपलक्ष्याय[2-] गुणद्रष्ट्रे[-2] स्वसंविदे॥ ४६॥**

**अव्याकृतविहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये।**
**हृषीकेशः नमस्तेऽस्तु मुनये मौनशीलिने॥ ४७॥**

1. M °स्थोदयाय च। 2- -2. K,W वृत्त्युपलभ्याय; M प्रत्युपलक्ष्याय

**श्रीध०** त्वं तु अहङ्कारानावृत इति स्तुवन्ति — **नम** इति। [1]नमोऽनन्ताय, अहङ्कारापरिच्छेदात् अतः सूक्ष्माय, अदृश्यत्वात्। अत एव कूटस्थाय, उपाधिकृतविकाराभावात्। अत एव विपश्चिते सर्वज्ञाय। एवं [2]वस्तुतः स्तुत्वाऽचिन्त्यमायत्वेन स्तुवन्ति नानावादानुरोधाय। अस्ति नास्ति सर्वज्ञः किञ्चिज्ज्ञो बद्धो मुक्त एकोऽनेक इत्यादि नानावादान् अनुरुणद्धि माययाऽनुवर्तते यस्तस्मै। किञ्च वाच्यवाचकशक्तये। अभिधानाभिधेयशक्तिभेदादपि नानात्वेन प्रतीयमानायेत्यर्थः ॥ ४३ ॥

अनावृतत्वमेव हेत्वन्तरेणापि सूचयन्त्यः स्तुवन्ति **नम** इति। [3]नमः प्रमाणमूलाय, चक्षुरादीनां चक्षुरादिरूपाय। अत एव कवये स्वयं तन्निपेक्षज्ञानाय। कुतः ? शास्त्रयोनये वेदात्मकनिश्श्वासाय। [-4-]किञ्च प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः[-4] ॥ ४४ ॥

किञ्च अनावृतैश्वर्यत्वादेव चतुर्मूर्ति [5]स्वरूपेण सर्वोपास्यत्वेन नमन्ति - **नमः** कृष्णायेति [6]श्लोकेन। रामाय सङ्कर्षणाय। वसुदेवसुताय च। वसुदेवशब्दितं शुद्धं सत्त्वं तत्र प्रकाशमानाय वासुदेवायेत्यर्थः। सात्वतामुपासकानां [7]पतये सोलोक्यादिना पालकाय। एवं चतुर्मूर्तये कृष्णाय तुभ्यं नम इति॥ ४५॥

कथं चतुर्मूर्तितेति तदाहुः- **नमो गुणप्रदीपायेति**। गुणाः अन्तःकरणानि तानि प्रदीपयति प्रकाशयतीति तथा तस्मै। चित्ताद्यधिष्ठातृत्वेन चतुर्मूर्तितेत्यर्थः[8]। ननु तथाप्येकस्यैव कथं चतुष्ट्वमत आहुः — गुणात्मच्छादनाय च तैरेव गुणैरुपासकानां फलवैचित्र्यायात्मानमाच्छाद्य नानात्वेन प्रकाशमानायेत्यर्थः। ननु तर्हि कथं प्रतीतिरत उक्तम् — गुणवृत्त्युपलक्ष्याय चित्तादीनां चेतनाध्यवसायादिवृत्तिभिरुपलक्ष्याय। उपलक्षणमेवाहुः - गुणद्रष्ट्रे तत्साक्षिणे । कथंचिदुपलक्ष्य एव न तु ज्ञेय इत्याहुः — स्वसंविदे, अगोचरायेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

अगोचरत्वमुपलक्ष्यत्वं च दर्शयन्त्यो [9]नमन्ति — अव्याकृतविहाराय, [10]अतर्क्यमहिम्ने इत्यर्थः। सर्वव्याकृतसिद्धये सर्वकार्योत्पत्ति प्रकाशहेतुत्वेनोपलक्षणयोग्यायेत्यर्थः। उपलक्षणान्तरमाहुः — हे हृषीकेश! करणप्रवर्तक! किं विषय लिप्सया? न, मुनये आत्मारामाय। किं साधनवेशेन [11]वा ? न हि [12]न हि मौनशीलिने मौनमात्मारामता तत्स्वभावाय॥ ४७॥

1. V omits नमः 2. V omits वस्तुतः 3. V omits नमः 4- -4. V omits 5. A,B,J omit स्व° 6. V omits श्लोकेन 7. A °तामेतदुपा° 8. V °ति भावः 9. V नमस्यन्ति 10 A add °प्र° 11. V omits वा 12. B,J omit न हि

**वीर०** एवं जगत्कारणत्वेन परत्वनिर्वहणलक्षितस्य परमात्मनश्चिदचिद्विशिष्टस्य स्वरूपं विशेष्यांशभूतं जगन्निमित्तकारणं विशोधयन्ति **नमोऽनन्तायेति**। अत्र सत्यादिवाक्यं प्रत्यभिज्ञाप्यते अनन्तपदेन तस्य। कूटस्थपदेन निर्विकारवाचिना सत्यपदस्य, विपश्चिच्छब्देन ज्ञानपदस्य च प्रत्यभिज्ञानात्, विविधं पश्यतीति विपश्चित्, तस्मै नित्यांसङ्कुचितसर्ववस्तु विषयकधर्मभूतज्ञानाश्रयायेत्यर्थः। पृषोदरादित्वाद्यशब्दस्यचिभावः, एवमचेतनात् त्रिविधजीवेभ्यश्च व्यावृत्तायेत्युक्तं भवति। अनन्तायेत्यनेन सर्ववस्तुसामानाधिकरण्यार्हत्वरूपवस्तुपरिच्छेदराहित्यमप्युक्तम्। सर्ववस्तुसामानाधिकरण्यार्हत्वं च सर्वान्तः प्रवेशेन तच्छरीरकत्वेन च, तत्र कथमणुस्वरूपजीवान्तःप्रवेशेन तच्छरीरकत्वं विभोः परमात्मनः सङ्गच्छत इत्यत्राऽहुः — सूक्ष्मायेति। "अणोरणीयान्" (कठ.उ. 2-20) "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्" (मुण्ड.उ. 1-1-6) इत्यादि श्रुत्युक्तरीत्या सूक्ष्मादपि सूक्ष्मत्वाज्जीवान्तः प्रवेशयोग्यायेति भावः। नन्वेवम्भूतं मां कथं केचिन्निमित्तकारणमेव वदन्ति। केचिच्च जीवाभिन्नमित्यादि-इत्यत्राऽऽहुः, नानावादाः वेदविरुद्धाः ताननुवृत्यावस्थिताय अनधिगतवेदान्तवाक्यैकवाक्यानां विप्रतिपन्नबुद्धीनां तत्तद्वादानुरूपेणापि प्रतीतायेत्यर्थः। तत्र हेतुः वाच्यवाचकशक्तये। वाचकाः तत्तद्वादिप्रयुक्ताः विवक्षितार्थविषया शब्दाः वाच्याः तत्तच्छब्दविवक्षिता अर्थाः, तत्र वाच्यशक्तिरुपस्थाप्यत्वयोग्यतालक्षणा, वाचकशक्तिरूपस्थापकत्वलक्षणा तदुभयशक्ति निर्वाहकत्वात् नानावादानुरोधायेत्यर्थः॥ ४३॥

एवमपि केवलं शास्त्रयोनये शास्त्रं योनिः कारणं स्वस्वरूप स्वभाव प्रमितिजनकं यस्य तस्मै शास्त्रस्य भ्रमप्रमादविप्रलिप्सादिपुरुषदोषसम्भावनां निराकुर्वत्यो विशिंषन्ति। प्रमाणमूलाय प्रमाणं स्वप्रमितिसाधनं शास्त्रं तस्य मूलाय तदाविष्कर्तृत्वेन तत्कारणाय। तथा च स्मर्यते - "अनादि निधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी नाम्ना यतस्सर्वाः प्रसूतयः" (भार. शान्ति. मो 238 - 56) इति श्रूयते च - "तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेद" (सुबा.उ. 2-1) इति, "ऋचस्सामानि जज्ञिरे छन्दाँसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत" (पु.सू. 1-4) इति च। प्रमाणमूलत्वासम्भावनां निराकुर्वन्ति। कवये पूर्वपूर्वानुपूर्वीविशिष्टत्वेन शास्त्राविष्कारोपयुक्तसार्वज्ञ्ययुक्ताय न केवलं प्रमाणमूलाय अपि तु प्रमेयनिर्वाहकायापीत्याहुः, प्रवृत्ताय निवृत्ताय च उभयकर्मनिर्वाहकाय निगमायोपनिषज्ज्ञानप्रवर्तकाय॥ ४४॥

सत्यं परत्वावस्थितोऽहमुक्तगुणयुक्तो न तु व्यूहविभवाद्यवस्थ इत्यत्राऽऽहुः। **नमः कृष्णायेति।** रामकृष्णादिवि-भवावस्थायां प्रद्युम्नानिरुद्धादिव्यूहावस्थायां चाहीनस्वस्वभावायेति भावः। विभवावस्थायां सौशील्यमेक-मधिकमाविष्कृतमित्यभिप्रायेणाऽऽहुः — वसुदेवसुतायेति। यद्वा शरण्यत्वोपयुक्तमाश्रितार्तिपरिजिहीर्षैकशीलत्वमाहुः नमः कृष्णायेति। व्यूहविभवादिरूपेण सात्त्वतामाश्रितानां पतये अनिष्टपरिहारपूर्वकं पालकाय॥ ४५॥

पालकत्वप्रकारमेवाऽऽहुः गुणप्रदीपायेति। सात्वतामित्यनुवर्तते, तेषां गुणस्य धर्मभूतज्ञानस्य प्रदीपाय प्रदीपवद्विषयावारकनिवारकाय सात्त्वतां गुणप्रदीपायेत्यनेन असात्त्वतां तद्वैपरीत्यं सूचितम्। तदेव स्पष्टी कुर्वन्ति गुणात्मच्छादनाय गुणेन गुणमयमायया आत्मनो जीवान् असात्त्वतश्छादयति सङ्कुचितज्ञानान्करोतीति तथा तस्मै। एतद्विशेषणद्वय - प्रसक्तवैषम्यपरिजिहीर्षया विशिंषन्ति। गुणवृत्त्युपलभ्याय गुणस्य गुणपरिणामात्मकमनसोवृत्त्या न्यासोपासनान्यतररूपया उपलभ्याय उपलक्ष्याय गुणवृत्तिरूपव्याजमात्रापेक्षत्वाद्वैषम्यरहितायेति भावः, गुणवृत्त्यपरिज्ञानासम्भावनां निराकुर्वन्ति। गुणद्रष्टे सर्वान्तः

करणवृत्तीनां साक्षाद्युगपद्द्रष्ट्रे, तत्र हेतुः, स्वसंविदे स्वासाधारणापरिच्छिन्ननिरुपाधिकनित्यासङ्कुचितधर्मभूतज्ञानाश्रयाय॥ ४६॥

यद्यहं गुणद्रष्टा, तर्हि तथात्वेन किं न ज्ञाये इत्यत्राऽऽहुः - **अव्याकृतेति।** अव्याकृतः अनभिव्यक्तः विहारः गुणद्रष्टृत्वादिरूपो यस्य तस्मै न केवलं गुणद्रष्ट्रे अपि तु सर्वव्याकृतानां देवादिपदार्थानां तद्बुद्धिवृत्तीनां च सिद्धये निष्पत्तिहेतवे न केवलं तेषां सिद्धिहेतुरेव अपि तु सर्वेन्द्रियप्रशासिता चेत्यभिप्रायेण सम्बोधयन्ति हृषीकेशेति। हृषीकाणाम् [2-] इन्द्रियाणाम् [-2] ईशः नियन्ता शरण्यत्वोपयुक्तं गुणान्तरमाहुः। मुनये तापत्रयातुरजीवोज्जीवनाय यादृच्छिक प्रासङ्गिकानुषङ्गिकाद्यन्यतमसुकृतलेशानुचिन्तनात्मकमननशीलाय मौनशीली अजल्पाकः परिपूर्णैश्वर्यत्वाद्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगत् तृणीकृत्य जोषमासीनायेत्यर्थः। अयमपि परत्वावहो गुणः॥ ४७॥

1. A,B मनो 2- -2. A omits

**विज०** अनन्ताय नित्याय सर्वगताय सूक्ष्माय इन्द्रियाविषयाय "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसुक्ष्मम्" (मुण्ड. उ. 1-1-6) इति श्रुतेः। कूटस्थाय शश्वदेकप्रकाराय विपश्चिते सर्वज्ञाय निपुणबुद्धये वा। नानावादानां सिद्धान्तानां अनुरोधाय अनुकूलवर्तमानाय वाच्योऽर्थः तस्य प्रतिपाद्यत्वे योग्यत्वं वाच्यशक्तिः वाचकः शब्दः तस्यार्थप्रतिपादनसामर्थ्यं तद्द्वयं यस्य स तथा तस्मै॥ ४३॥

प्रमाणमूलाय प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रतिष्ठापकाय कवये अतिक्रान्तदर्शिने शास्त्रं वेदः योनिः ज्ञप्तिकारणं यस्य स तथा तस्मै। "योनिः स्त्रीणां भगे स्थाने कारणे ताम्रके पणे' (वैज. को. 6-5-66) इति यादवः। निर्देशकारणाय इदं कुर्यात् इदं न कुर्यात् इति विधिकर्त्रे "निदेशग्रन्थयोः शास्त्रम्" (अम.को. 335) इत्यमरः। प्रवृत्ताय प्रवृत्तिमार्गप्रवर्तकाय, [1-] निवृत्ताय निवृत्तिमार्गप्रवर्तकाय [-1] च सृष्टौ प्रवृत्ताय प्रलये निवृत्ताय इति वा। उभयेषां निगमाय मार्गाय विषयाय इत्यर्थः। "अयनं पदवीमार्गः पद्या च विनिगद्यते निगमः" (हला.को. 2-105) इति हलायुधः। वेदमूर्तये वा निश्चायकाय वा। "निगमो निश्चये वेदे परे पथिवणिक्पथे" (वैज.को. 7-1-35) इति यादवः॥ ४४॥

कृष्णाय उत्कृष्टानन्दरूपाय भक्तजनदुरितकर्षणशीलाय वा। शत्रूणामग्नये वा नीलवर्णाय वा। "कृष्णं सीसाद्यलोहेषु कृष्णो नीलेऽनले कलौ। शूद्रे काके पिके व्यासे ध्वान्तपक्षेऽर्जुने हरौ" (वैज.को. 6-5-14,15) इति च। रामाय रामनाम्ने अभिरामाय वा; प्रकृष्टद्युत्याऽमेयाय। यद्वा प्रकृष्टधनाय। "द्युम्नं द्रव्यं द्रविणम्" (हला० को. 1-80) इति हलायुधः। अनिरुद्धाय ज्ञानिनां निरोधरहिताय॥ ४५॥

गुणाः सत्त्वादयः भक्तिज्ञानादयो वा, तेषां प्रदीपाय ज्ञापकाय गुणात्माप्रकृतिः तस्यां स्थितः उदयः स्वरूपं यस्य स तथा तस्मै। गुणैः श्रोत्रादीन्द्रियजन्यज्ञानैः प्रत्युपलक्ष्याय अनुमेयस्वरूपाय गुणद्रष्ट्रे गुणसाक्षिणे स्वसंविदे स्वयं प्रकाशाय, "तद्ब्रह्म वेद" "अहं ब्रह्मास्मि" (बृह.उ. 1-4-10) इति श्रुतिः। अनेनापि अस्यापि अन्यो द्रष्टा, तस्यापि अन्य इत्यनवस्था निरस्तेति ज्ञातव्यम्॥ ४६॥

अव्याकृताः व्याहर्तुमशक्याः सृष्ट्यादिविहारा यस्य स तथा तस्मै। ननु व्याहर्तु मशक्यविहारश्चेत् कथं तर्हि तज्ज्ञानमत्राहुः सर्वेति। सर्वैः व्याकृता विवृता सिद्धिः स्वरूपज्ञानं यस्य स तथा। स्वानुग्रहेण ज्ञापित स्वरूप इत्यर्थः तस्मै। यद्वा, सर्वव्याकृतसिद्धये नामरूपात्मकं जगत्सर्वं व्याकृतं तस्य सिद्धिः उत्पत्तिर्येन स तथा तस्मै। मुनये सर्वज्ञानाय मौनशीलिने असम्भावितभाषणशीलरहिताय॥ ४७॥

1- -1. A,B omit

पारवरगतिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय ते नमः।
अविश्वाय च विश्वाय तद्द्रष्ट्रेऽस्य च हतवे॥ ४८॥

त्वं ह्यस्य जन्मस्थितिसंयमान्विभो! गुणैरनीहोऽकृत कालशक्तिधृत्।
तत्तत्स्वभावान्प्रतिबोधयन्सत स्समीक्षयाऽमोघविहार ईहसे॥ ४९॥

तस्यैव तेऽभूस्तनवस्त्रिलोक्यां शान्ता अशान्ता उत मूढयोनयः।
शान्ताः प्रियास्ते ह्यधुनाऽवितुं सतां स्थातुश्च ते धर्मपरीप्सयेहतः॥ ५०॥

अपराधस्सकृद्धन्त्रा सोढव्यस्स्वप्रजाकृतः।
क्षन्तुमर्हसि शान्तात्मन् मूढस्य त्वामजानतः॥ ५१॥

अनुगृह्णीष्व भगवन्प्राणांस्त्यक्ष्यति पन्नगः।
स्त्रीणां नस्साधुशोच्यानां पतिः प्राणः प्रदीयताम्॥ ५२॥

विधेहि ते किङ्करीणामनुष्ठेयं तवाज्ञया।
यच्छ्रद्धयाऽनुतिष्ठन्वै मुच्यते स पुमान्भयात्॥ ५३॥

1. V °प° 2. A तस्य K.M विश्व 3. A,B,G,J प्रभो 4. A,B,G,J,M °धृक् 5- -5. M तस्मात्स्वभावात्प्र° 6. M °यत्स्वन° 7. M °तुः 8. M कर्म° 9. V सर्वात्मन् 10. A,B,G,J,M स्त्यजति 11. K त्वदा° 12- -12 A,B,G,J सर्वतो भयात्; V सर्वबन्धनात्

**श्रीध० परावरेति।** कुतः? परावर गतिज्ञाय स्थूलसूक्ष्माणां गतिज्ञत्वेन न क्वापि सज्जमानायेत्यर्थः अपि च सर्वाध्यक्षाय सर्वस्याधिष्ठात्रे। कुत एतत्? अविश्वाय न विश्वं यस्मिन्। तन्निषेधावधये विश्वाय च तद्विवर्ताधिष्ठानायेत्यर्थः किञ्च तद्द्रष्ट्रे अध्यासापवादसाक्षिणे अपि च। अस्य च विश्वाध्यासस्य तदपवादस्य च विद्याऽविद्याभ्यां हेतवे। यद्वा, अविश्वाय विश्वतैजसाद्यवस्थारहिताय विश्वाय च मायया स्वांशैः तत्तदवस्थाय। तद्द्रष्ट्रे, तासामवस्थानां भावाभावसाक्षिणे अन्यत्समानं, तस्मात् सर्वगतिज्ञत्वसर्वाधिष्ठातृत्वात्मारामत्वादिभिर्निरतिशयैश्वर्याय तुभ्यं नम इति। ★ "विशेषणरसङ्कीर्णैः पञ्चपञ्चाशतानुतः। अहिस्त्रीभिः प्रसन्नो यस्तासामेव भवेद्धरिः"॥ ४८॥

एवं तावद्दण्डानुमोदननमस्कारैश्चभगवन्तं प्रसाद्येदानीं त्वदधीनं प्राणिनां कोऽपराध इत्याशयवत्यः प्रार्थयन्ते - **त्वं हीति।** अस्य लोकस्य जन्मादीन्[11] त्वमेव अकृत अकरोः। ततश्च तान् तान् संस्काररूपेण सतः स्वभावान्, घोरत्वादीन् प्रति बोधयन् ईहसे क्रीडसि। यद्वा अस्य जन्मादीन् त्वमेवमीहसे[12] इत्यन्वयः। कथम्भूतः? अकृता अनादि र्या कालशक्तिः तां धारयतीति तथा। अन्यत्समानम्॥ ४९॥

**तस्येति।** अतः तस्य तवैव अमूः तनवः तन्यन्त इति तनवः, क्रीडोपस्कराः, तथापि तवाधुना शान्ताः प्रियाः, कुतः? सतां धर्मपरिपालनेच्छया, ईहतः प्रवर्तमानस्य अतः तानवितुं स्थातुः स्थितस्य॥ ५०॥

एवं च तव अप्रियाचरणाद्यपराधः तर्हि सोढव्य इत्याहुः[13] **अपराध** इति॥ ५१,५२॥

युष्मदनुग्रहोऽपि[14] अन्येषां मृत्युरेवेति चेन्नेत्याहुः[15] - **विधेहीति।** त्वदाज्ञया प्राणिनो नाऽद्यामेति भावः॥ ५३॥

1. V °प° 2. V omits अपि च 3. B °धवि° 4. V °वरा° 5. V omits किञ्च ★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः 6. J. °नतः 7. A,B,J वः 8. A,B,J °मि° 9. A,B,J °नेन 10. A,B,J °नानां 11. A,B,J °दि त्व° 12. A,B,J °मीह° 13. A,B,J इति॥ ५१,५२॥ 14. A,B,J °हे अन्ये° 15. A,B,J चेत्तन्ने°

**वीर०** परावरगतिज्ञाय बन्धमोक्षाभिज्ञाय आश्रितानां मोचकाय अनाश्रितानां बन्धकाय चेत्यर्थः। तथाचोक्तं भगवतैव - "तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्" "(भ.गी. 12-7) इति। "तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु" (भ.गी. 16-19) इति च आश्रयणसौकर्यापादकोऽयं गुणः कृतपराधानप्याश्रयणरूपव्याजमात्रावलम्बनेन रक्षितुमुद्यमो ह्याश्रयणसौकर्यापादकः, अनेन वैषम्यराहित्यं कारुणिकत्वं चाभिप्रेतम्। तथा च स्मर्यते "सर्वज्ञोऽपि हि सर्वशस्सदा कारुणिकोऽपि सन्। संसारतन्त्रवाहित्वाद्रक्षापेक्षामपेक्षते[1-1]" (लक्ष्मीतन्त्रे) इति। सर्वाध्यक्षाय सर्वपुरुषार्थाधिपतये आश्रितानां धर्मादि स्वात्म पर्यन्तप्रदातृत्वरुप महावदान्याये इत्यर्थः। अयमाश्रितकार्यापादको गुणः, पूर्वं पराय भूतायेत्युक्तपरत्वोपयुक्तजगदुपादानत्वप्रयुक्तविश्वानन्यत्वम्। विशिष्टस्य तथात्वेऽपि विशेष्यांशास्य विश्वशरीरकत्वेन तद्भिन्नत्वं तन्निमित्तत्त्वं तत्सृष्टौ स्वेतरोपकरणान्तर निरपेक्षत्वं च। "विश्वाय विश्वरूपाय तत्कर्त्रे विश्वहेतवे" इत्युक्तम्। तदेव विश्वाय तुभ्यं नम इति। युष्मच्छब्दविवक्षितषाड्गुण्यपूर्णत्वाभिमुखत्वादि विशेषणानां विश्वशब्दाद्यभिप्रेतविश्वानन्यत्वादीनां चैकविशेष्यवृत्तित्वरूपमर्थसामानाधिकरण्यमुक्तम्। अथ भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तवद्विशेष्याभिधायिनां तत्तच्छब्दानामेकविशेष्य पर्यवसानात्मकं शब्दसामानाधिकरण्यमाहुः विश्वाय। "नतास्स्म सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती" (विष्णु.पु. 1-14-23) "वचसां वाच्यमुत्तमम्" (जितन्ता) इत्युक्तरीत्या सकलशब्दवाच्यायेत्यर्थः, विश्वशब्दस्य अत्र पूर्वत्र च लाक्षणिकत्वात् सर्वनामकार्यभावः संज्ञापूर्वक विधेरनित्यत्वाद्वा। एकस्यैव सर्वशब्दवाच्यत्वप्रयुक्तं सर्वेषां शब्दानां पर्यायत्वं निराहुः अविश्वायेति। तदन्यत्वमत्र नञर्थः, न विश्वः अविश्वस्तस्मै तत्तच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तेभ्यो विलक्षणायेत्यर्थः। न हि स्वख प्रवृत्तिनिमित्त विलक्षणैक

विशेष्यनिष्ठप्रवृत्तिनिमित्तविशिष्टैक विशेष्याभिधायिनां शब्दानां पर्यायत्व प्रसङ्ग इति भावः। कथं जातिगुणाद्याश्रय तत्तद्विशेष्यपर्यवसायिनामेकविशेष्याभिधायित्वमित्यत्राऽऽहुः — विश्वहेतव इति। अस्य च हेतवे इति च पाठः। तदा विश्वपरामर्शीदं शब्दः, जातिगुणाद्याश्रयनिखिल विशेष्यजातगतसत्तास्थितिप्रवृत्तिहेतवे तत्सत्तादिहेतुत्वेन विश्वस्य तदपृथक्सिद्धविशेषणत्वादपृथक्सिद्धविशेषणवाचिनां मत्वर्थीयप्रत्ययमन्तरेणापि विशेष्यपर्यवसायित्वमाकृति नम्रसिद्धमिति भावः। विश्वसत्तादिहेतुत्वासम्भावनां निराकर्तुं हेतुत्वोपयुक्ततज्ज्ञानवत्तामाहुः तद्रष्ट्रे इति॥ ४८॥

तदेवं शरण्यत्वोपयुक्तगुणाविशिष्टं स्तुत्वा अथ "अविज्ञाताः कुमारकाः" इति श्रुत्युक्तरीत्या त्वत्कुमारप्रायस्य त्वच्छरीरभूतस्यास्मद्भर्तुः कदाचिदननुकूलस्य स्वशरीरस्येव स्वपुत्रस्येव चापराधः करणकलेबरादिप्रदानेनाखिलजीवोज्जिजीवयिषया सर्वजगदुदयविभवलयलीलेन सर्वशरीरेण विपुलापराधवत्त्वेऽपि किञ्चिदानुकूल्ययुक्तजीवोज्जिजीवयिषया कृतावतारेण त्वया सोढुमुचित इति क्षमापयन्त्यः तावत् भर्तृप्राणरक्षां कैङ्कर्यं च प्रार्थयन्ते **त्वमिति** पञ्चभिः। हे विभो! त्वं ह्यनादिकालाख्यशक्तियुक्तः अनीहः सङ्कल्पेतरव्यापारशून्यः, अनेन "अकलितश्रम एव सृजत्यसौ" इति वचनार्थोऽभिप्रेतः। गुणैः रजस्सत्त्वतमोभिरस्य जगतो जन्मस्थितिलयान् कुर्वन्निति शेषः। तत्तत्स्वभावान् रजस्तमस्तदुभयस्वभावानपि सतो जीवान् समीक्षया अनुग्रहगर्भया दृष्ट्या[2] प्रतिबोधयन् तावत् दण्डनेन प्रबुद्धान्कुर्वन् अप्रतिहतजगद्व्यापाररूपविहारश्रेष्टसे, यद्वा त्वं समीक्षया "बहु स्यां प्रजायेय" (छान्दो. उ. 6-2-3) इत्युक्तया सङ्कल्पात्मिकया दृष्ट्या अनीहस्तद्व्यतिरिक्तव्यापारशून्यः प्रलयदशायां तत्तत्स्वभावान् तत्तत्कर्मवासनात्मक स्वभावमात्रयुक्तान् सङ्कुचितज्ञानानसत्प्रायान्सतो जीवान् प्रतिबोधयन् स्वाराधनोपयुक्तकरणकलेबरादिप्रदानेन विकसितज्ञानान् कुर्वन् एवंविधं महोपकारं कर्तुमिति भावः, अप्रतिहत जगद्व्यापारात्मकविहारोऽस्य जगतो जन्मादीनीहसे चेष्टसे करोषीति यावत् तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन्नित्यनेन सर्वजीवसाधारण्येन तद्विषयकमहोपकारैवाशीलत्वं सूचितम्। एवमपराधानवेक्षणेन केवलमुपकारैकशीलस्य तव कियानयमपराध इति भावः॥ ४९॥

[3]जन्मादीनीहमानस्य ते तव त्रिलोक्याममूस्सर्वाश्शान्तास्सात्त्विक्यः अशान्ताः राजस्यः मूढयोनयस्तामस्यश्च प्रजाः तनवः देहाः आधेया विधेयाश्शेषाश्चेत्यर्थः, सर्वा अप्यनुग्राह्या एवेति भावः। ननु सर्वासामनुग्राह्यत्वे जगद्व्यापारोच्छेदप्रसङ्गः तत्राऽऽहुः यद्यप्येवं तथापि स्थातुः स्थितिकर्तुः अत एव सतां धर्मपरिपालनेच्छया ईहतः प्रवर्तमानस्य कृतावतारस्येति यावत्। ते तव शान्तास्तनवः अवितुं रक्षितुं प्रिया इष्टा हि। सदा सकलजन्मसु सापराधा अप्यधुनाऽपराधविरिंसवः प्रियाः, अतोऽस्यानुग्राह्यत्वेऽपि न जगद्व्यापारोच्छेदप्रसङ्ग इति भावः॥ ५०॥

अतोऽयं यावच्छान्तिदण्डितोऽप्यधुनोपशान्तः पुत्रवत्सोढव्य एवेत्याहुः **अपराध** इति। भर्तुरस्मद्भर्तुः अपराधः सकृत्सोढव्यः, इतः परं पुनरपराधः कृतश्चेन्न सोढव्य इत्यभिप्रायेण सकृदित्युक्तिः, स्वप्रजाकृतः स्वपुत्रकृतत्वाच्च सोढव्य इत्यर्थः। अनेन भगवतः पितुस्थानीयत्वं सर्वजीवानां पुत्रस्थानीयत्वं चाभिप्रेतम्। किञ्च अज्ञानकृतोऽपराधः क्षमापणेन सह्य एव सर्वथेति लोकपरिपाटीमभिप्रेत्याऽऽहुः क्षन्तुमर्हसीति। अधुना त्वयि शान्त्या भवितव्यमित्यभिप्रायेण शान्तात्मन्निति सम्बोधनम्। यद्वा कृतापराधेष्वप्यधुना शान्तेषु त्वदानुकूल्योपयुक्त शान्तिमत्सु आत्मा अनुग्रहप्रवणं मनो यस्य तथाभूतेति सम्बोधनम्। मूढस्य अत एव त्वामजानतः क्षन्तुमर्हसि, अपराधमिति विभक्तिपरिणामेनानुषङ्गः[4], प्रकृतत्वाच्छेषो वा॥ ५१॥

हे भगवन्। अयं पन्नगस्सर्पः प्राणान् त्यक्ष्यति। अतोऽनुगृहणीष्व साधुशोच्यानां साधुभिर्दयनीयानां स्त्रीणामस्माकं पतिरेव प्राण, स प्रदीयताम्॥ ५२॥

युष्मदनुग्रहोऽन्येषां मृत्युरेवेति चेत्, तत्राऽऽहुः **विधेहीति**। त्वदाज्ञया यत्तव किङ्करीणा मस्माक मनुष्ठेयं तद्विधेहि, अनुष्ठेयं विशिंषन्ति। स पुमान् कालियो यदनुष्ठेयं श्रद्धयाऽनुतिष्ठन् भयात् प्रकृतात् मृत्युभयात् मुच्यते, यथाऽस्मत्तो लोका न भीतास्स्युः यथा चायं मृत्युभयान्मुच्येत, तादृशमनुष्ठेयं कर्माऽऽज्ञापयेत्यर्थः॥ ५३॥

1- -1. K °क्ष्यापेक्षाम्प्रतीक्षते। 2. A,B add दृष्ट्वा 3. A,B add 'जन्मादीनि ईहसे' इत्यनेन सर्वजीवान् प्रति तस्य पितृस्थानीयत्वं सूचितम्। किञ्च तस्यैव प्रतिबोधयतोऽस्य 4. A,B, add वि

**विज०** परावरगतिज्ञाय कार्यकारणस्थितिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय सर्वेषामुपरिगताय अविश्वाय विश्वेभ्यो जीवेभ्योऽन्यस्मै "शरीरेषु प्रविष्टत्वात् विश्वो जीव उदीर्यते" (माहात्म्ये) इत्यादिस्मृतिः। तात्पर्यात्पुनरुक्तमाहुः - विश्वायेति। जीवस्य जगदन्तः पतित्वेपि चेतनत्वेन स्वातन्त्र्यशङ्कानिवारणार्थं पृथग्जीवग्रहणम् "जीवस्य तदधीनत्वात् विश्वो विष्णुः" (माहात्म्ये) इति स्मृतः। "अस्योत्पत्त्यादिहेतुत्वात् विश्वहेतुश्च कीर्तितः" (माहात्म्ये) इति॥ ४८॥

प्रातिस्विकजीवाभीष्टादातृत्वात् त्वद्दृष्टे इति प्रपञ्चस्य मूलकारणं हरिरित्युक्तम्। तत्स्पष्टयितुमाह **त्वं हीति**। "सत्यधर्मा सत्यकर्मा" इति श्रुतेः। अमोघविहारस्त्वं अत एव अनीहोऽक्लिष्टकर्मात्वं सत्त्वादिगुणैः अस्य जगतो जन्मादीनीहसे हि यस्मात् "देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा" इति श्रुतेः तस्मात् तव सत्यप्रपञ्चस्रष्टृत्वस्वभावात् समीक्षया सम्यग्ज्ञानेन नोऽस्मान् प्रतिबोधयस्व इत्यन्वयः। यथा तव जगत्सृष्टृत्वं स्वभावः तथाऽस्मत्प्रतिबोधनमपि स्वभावोऽस्त्वित्याशयः। लोके स्वरूपशक्त्यभावाद्वरादिना मायया वाऽन्यसहायेन वा श्रमेण कर्तृत्वं न तथा तव इत्याशयेनाऽऽह अकृतेति। कालः कारणं ज्ञानं वा। अकृता वरादिना नान्यनिमित्तं स्वरूपमिति यावत्। एवंविधां शक्तिं धारयसीति स्वरूपभूतज्ञानक्रियाशक्तिधर इत्यर्थः। तदुक्तम् "हरेः स्वरूपशक्तिर्या कालशक्तिरुदीर्यते। सदा सर्वगुणात्मत्वात्" (प्रकाशिकायम्) इति। यथा स्वाधीनत्वात् सत्त्वादिगुणैः सृष्टिं करोषि तथा स्वनियतदुर्गावायुभ्यां संहारस्थिती करोषीत्याशयेनोक्तं अकृतेति। तयोरपि कालादीनत्वेन कालशब्दवाच्यत्वादित्यर्थः। तदुक्तम् "दुर्गा चाप्यवरा ततः सर्वसंहारकारित्वाद्वायुः सर्वस्य जीवनात् कालाभिमानिनावेतौ दुर्गा वायुश्च कीर्तितौ" (प्रकाशिकायाम्) इति च॥ ४९॥

विश्वायेत्यादिना हरेर्जगदात्मकत्वमुक्तमिति मन्दाशङ्कानिरासाय स्थावराजङ्गमस्य पृथक्कृत्य त्रैविध्यकथनेन मिथोपि भेदस्तात्विक इति दर्शनार्थं तस्य भगवत्प्रतिमात्वेन तत्त्वतः स्तवनेन हरेरतिशयिता प्रीतिः भवतीति भावेनाऽऽहुः **तस्यैवेति**। यस्त्वं "नमस्तुभ्यं भगवते" (भाग. 10-16-39) इत्यादिना प्रसक्तस्तस्य ते तवैवामूस्तनवः प्रतिमास्थानीयाः शान्ता अशान्ता मूढयोनय उतेति याः त्रिधा भिन्ना अमूरित्यर्थः। त्रिलोक्यां जङ्गमसंज्ञा इति शेषः। अत्रापि तारतम्यमस्तीत्याहुः

शान्ता इति। सुखान्तं सुखस्वभावमेवान्पुवन्तीति यत् तस्मात् शान्ता देवाः सतामप्यवितुः ते तव प्रियाः। परा पूर्वेषां सख्या "वृणक्ति वितर्तुराणो अपरेभिरेति" इति श्रुतिः। प्रियस्यापि तारतम्यविशेषद्योतको हिशब्दः। प्रियं द्विविधं अन्तर्बहिश्चेति। तत्रान्तःप्रियाः सन्तः, बहिःप्रिया असन्तः। अत्रापि कश्चन विशेषः। संहारहेतुत्वादसन्तः ईषदन्तः प्रिया इव स्थितिहेतुत्वात्सन्तो विशेषान्तः प्रिया इत्यतोऽधुनेति विशेषणम्। तदुक्तम् - "अन्तः प्रियं बहिश्चेति द्विधा प्रियमुदाहृतम्" (षाड्गुण्ये) इत्यादि। देवादीनां शान्तत्वादिकम् "सुखान्तं प्राप्नुयुर्यस्माद्देवाः शान्ता उदीरिताः" (प्रकाशिकायाम्) इत्यादि स्मृतिसिद्धम्। अशान्ताः मानुषाः प्रोक्ताः मूढयोनयोऽसुरा इत्यर्थः। अवनादि र्कमप्रवर्तनं च प्राणमुखेनेत्याहुः स्थातुरिति। कर्मप्रवर्तनार्थं सर्वशरीरेषु स्थातुरीहतः "ईह चेष्टायाम्" इति धातुः। चेष्टकत्वमीहशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्। अवनशब्दस्यापि तदेवात ईहतः प्राणस्य सकाशात् कर्मपरीप्सया कर्मपालनेच्छया पालनं प्रवर्तनं तदिच्छया प्राणस्य सकाशात् कर्मप्रवर्तन मिच्छति भगवानित्यतः समहाविभुरित्यर्थः। तदुक्तं "वायोः सकाशाज्जगतः प्रवृत्तिं कामायत्यज" (प्रकाशिकायाम्) इत्यादि, "प्राणस्य प्राणम्" (बृह.उ. 4-4-18) इति श्रुतिश्च शब्दगृहीता॥ ५०॥

सोढव्यः क्षन्तुमर्हसीति द्विर्वचनमादरार्थं स्वचापाल्यप्रकटनार्थं च शान्तानां देवानामात्मन्, स्वामिन् मूढस्येत्यस्य विवरणं त्वामजानत इति॥ ५१ - ५३॥

1. A,B omit तदुक्तम्

**श्री बादरायणिरुवाच**

**इत्थं स नागपत्नीभिर्भगवान्समभिष्टुतः ।**
**मूर्च्छितं भग्नशिरसं विससर्जाङ्घ्रिकुट्टनैः ॥ ५४॥**

**प्रतिलब्धेन्द्रियप्राणः कालियश्शनकैर्हरिम् ।**
**कृच्छ्रत्समुच्छ्वसन्दीनः कृष्णं प्राह कृताञ्जलिः ॥ ५५॥**

**नाग उवाच**

**वयं खलास्सहोत्पत्त्या तामसा दीर्घमन्यवः ।**
**स्वभावो दुस्त्यजो नाथ! भूतानां यदसद्ग्रहः ॥ ५६॥**

**त्वया सृष्टमिदं सर्वं धातर्गुणविसर्जनम् ।**
**नानास्वभाववीर्यौजो योनिबीजाशयाकृतिः ॥ ५७॥**

वयं च तत्र भगवन् ! सर्पा जात्योरुमन्यवः ।
कथं त्यजामस्त्वन्मायां दुस्त्यजां मोहितास्तया[7] ॥ ५८ ॥

भवान् हि कारणं तत्र सर्वज्ञो[8] जगदीश्वरः[9] ।
अनुग्रहं निग्रहं वा मन्यसे तद्विधेहि नः ॥ ५९ ॥

1- -1. A,B,G,J,M श्रीशुकउवाच 2- -2. A,G,V कालिय उवाचः B,J,M omit 3. A,B,G,J,M °त्यु° 3. A,B,G,J लोकानां 4. A,B,G,J,M विश्वं 5. M °तु° 6. A,B,G,J,M °त्यु° 7. A,B,G,J स्वयम्। ; M प्रभो। 8. M°ज्ञ! 9. M °र!

**श्रीध० वयमिति** यदसद्ग्रह इति। यतः स्वभावः असद्ग्रहरूपः। यद्वा यतः स्वभावात् असति ग्रहः[-1]। स दुस्त्यज इति ॥ ५४ - ५६ ॥

**त्वयेति।** गुणैर्विविधतया सृज्यत इति गुणविसर्जनम्। तत्रापि नानास्वभावादयो यस्य तत्॥ ५७ ॥

**वयमिति।** जात्या जन्मनैव। उरुः मन्युर्येषां ते। वयं स्वयं[2] कथं त्यजामः ॥ ५८ ॥

**भवानिति।** हि यस्मात् तत्र त्वन्मायात्यागे भवानेव कारणमित्यनुग्रहं विधेहि ममाऽऽज्ञया खादतेति[3]। ईश्वरत्वान्निग्रहं वा। विधेहि इति[4] ॥ ५९ ॥

1- -1. A ग्रहोऽभिमानः, B,J ग्रहः 2. V omits स्वयं 3. A,B,J °दन्तीति 4. V omits इति

**वीर०** इत्थं[1] स भगवान् कृष्णः नागपत्नीभिरभिष्टुतः याचितश्च अङ्गिसङ्घट्टनैः भग्नशिरसं मूर्च्छितं च कालियं विससर्ज ॥ ५४ ॥

ततः शनकैः प्रतिलब्धानीन्द्रियाणि प्राणाश्च येन तथाभूतः कालियः कृच्छ्रादत्यायासात् श्वासं मुञ्चन् कृताञ्जलिः हरिं प्राह ॥ ५५ ॥

उक्तिमेवाऽऽह — **वयमिति** त्रिभिः। वयमुत्पत्त्या सह उत्पत्तिप्रभृति खलाः दुष्टाः तामसाः दीर्घो मन्युर्येषां तथाभूताश्च, वयमिति तिर्यगभिप्रायेण निर्देशः, अत एव 'वयं च तत्र भगवन्' इत्यनेन अपौनरुक्त्यम्। हे नाथ! भूतानां स्वभावः औत्पत्तिको गुणः दुस्त्यजः यत् यतः स्वभावः असद्ग्रहः दुष्टपिशाचतुल्यः अतो दुस्त्यजः ॥ ५६ ॥

**त्वयेति।** हे धातः! गुणैर्विविधतया सृज्यत इति गुणविसर्जनमिदं तिरश्चां जालं त्वया स्पृष्टम्। कथम्भूतम्? नाना स्वभावादयो यस्य तथाभूतं, तत्र वीर्यं बलम्। ओजः प्रवृत्तिसामर्थ्यम्। योनिरुत्पत्तिक्षेत्रम्। बीजं कारणम्। आकृतिः संस्थानम् ॥ ५७ ॥

ततः किम्? अत आह - **वयं चेति**। हे भगवन्! तत्रापि तिरश्चां मध्येऽपि वयं सर्पाः जात्या जन्मनैव उरुर्मन्युः येषां तथाभूताः दुस्त्यजां त्वदनुग्रहमन्तरेण दुःखेनापि त्यक्तुमशक्यां त्वन्मायामोहिताः वयं[2] त्वन्मायां मायागुणरजः कार्यं क्रोधं कथं त्यजामः ॥ ५८ ॥

हि यस्मात् तत्र त्वन्मायात्यागे भवानेव कारणं, त्वं तु सर्वज्ञो निग्रहानुग्रहोचितज्ञानवान् जगदीश्वरः तदुचित सामर्थ्ययुक्तः, अतः त्वमनुग्रहं निग्रहं वा यत्[3] मन्यसे, त्वमेवं[4] कुर्विति नियन्तुं च अहं न प्रभुरिति भावः, तत् त्वदभिमतं नोऽस्मभ्यं विधेहि आज्ञापय ॥ ५९ ॥

1. A,B एवं 2. A,B,W add कथं 3. W omits यत् 4. W ज्ञातुमेवं

**विज०** अङ्घ्रिकुट्टनैः अङ्घ्रिमर्दनैः ॥ ५४, ५५ ॥

यदसद्ग्रहो यो दुराग्रहः ॥ ५६ ॥

धातुः हिरण्यगर्भस्य सकाशात् गुणभूतं सर्जनं सृष्टिः अस्य जगतः प्रधान्येन विष्णोः एषा सृष्टिः "विष्णुः प्रधानतः स्रष्टा गुणस्रष्टा चतुर्मुखः" (नारदीये) इति वचनात् नानास्वभावा अग्नेरूर्ध्वज्वलनं, वायोस्तिर्यग्गमनम् इत्यादिनानाविधाः स्वभावाः। वीर्याणि पराक्रमादीनि, ओजोऽवष्टम्भः बीजं शुक्रादि, आशयः अभिप्रायः एषामाकृतिः स्वरूपं यस्य तत् ॥ ५७ - ५९ ॥

**श्रीशुक उवाच**

**इत्याकर्ण्य वचः प्राह भगवान्कार्यमानुषः ।**
**नात्र स्थेयं त्वया सर्प समुद्रं याहि मा चिरम् ॥**
**स्वज्ञात्यपत्यदाराद्यै[1] भुज्यतां[2] गोनृभिर्नदी[3] ॥ ६० ॥**

**य एतत्संस्मरेमर्त्यस्तुभ्यं मदनुशासनम् ।**
**कीर्तयन्नुभयोस्सन्ध्यो न युष्मद्भयमाप्नुयात् ॥ ६१ ॥**

**योऽस्मिन्[4] स्नात्वा ह्रदे[5] मर्त्यो देवादींस्तर्पयेज्जलैः ।**
**उपोष्य मां[6] स्मरन्नर्चेत्[7] सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ६२ ॥**

दीपं रमणकं हित्वा ह्रदमेतमुपाश्रितः ।
यद्भयात्स सुपर्णस्त्वां नाद्यान्मत्पाद लाञ्छनम् ॥ ६३ ॥

श्री शुक उवाच

एवमुक्तो भगवता कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ।
तं पूजयामास मुदा नागः पत्न्यश्च सादरम् ॥ ६४ ॥

दिव्याम्बर स्रग्भणिभिः पराध्यैरपि भूषणैः ।
दिव्यगन्धानुलेपैश्च महत्योत्पलमालया ॥ ६५ ॥

पूजयित्वा जगन्नाथं प्रसाद्य गरुडध्वजम् ।
नागराजोऽभ्यनुज्ञातः परिक्रम्याभिवन्द्य तम् ॥ ६६ ॥

सकलत्र सुहृत्पुत्रो द्वीपमब्धोर्जगाम ह ।
तदैव साऽमृतजला यमुना निर्विषाऽभवत् ॥

अनुग्रहाद्भगवतः क्रीडा मनुज रूपिणः ॥ ६७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां आष्टादश साहस्र्यां,
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

---

1. M स° 2. A,B,G,J,M राढ्यो 3. M °ते 4. A अस्मिन् 5. A,B,G,J,K मडाक्रीडं; M. मनालीडे 6. K.V.W. वा 7. V °न्नर्चन् 8. M.V.W °दु° 9- -9. A,B,G,J पाडलञ्चितम्; V पदलाञ्चितम् 10- -10. V ऋषिरुवाच; W omits 11- -11 K.W उक्तो भगवता राजन्; V मुक्तो भगवतो राजन्! 12. K,W तदा 13- -13. पत्नीभिरादरम् । 14. B,J पार्ध्यै 15. A,B,G,J तत्प्रीतोऽ° 16- -16. K क्रम्याभिवाद्य; M क्रम्यप्रणम्य 17. A,M च 18. A,M मध्ये ज° 19. A,B,G,J,K,W मानुष

श्रीध० इतीति । यतो गोभिर्नृभिश्च नदी भुज्यतामिति ॥ ६० ॥

य इति । तस्य युष्माभिः भयं नोत्पादनीयमित्याज्ञा ॥ ६१ ॥

इतोऽपि त्वया निर्गतव्यमित्याह - य इति । त्वयि स्थिते तन्न सम्भवतीति भावः ॥ ६२ ॥

न च तव गरुड भयं भवेदित्याह - दीपमिति ॥ ६३, ६७ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वमिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

1. A,B,J add न युष्मात्तो भयमायात् ।

**वीर०** कार्यमानुषः दुष्कृद्दमन साधु परित्राणात्मक कार्यार्थं मानुषः स्वेच्छोपात्तमनुष्याकृतिः इत्थं कालियस्य वच आकर्ण्य प्राह, उक्तिमेवाऽऽह नात्रेत्यादिभिः चतुर्भिः । हे सर्प ! अत्र ह्रदे त्वया न स्थयम्, किन्तु स्व ज्ञात्यादिभिस्सह माचिरमचिरात् समुद्रं याहि, नदी यमुना गोभिर्नृभिश्च भुज्यतां पीयताम् ॥ ६० ॥

तुभ्यं मत्कर्तृक दण्डनात्मकम् एतच्चरित्रं यः पुमान् उभयोस्सन्ध्ययोः संस्मरन् कीर्तयंश्च स्यात्, स युष्मत्तो भयं सर्पेभ्यो मृत्युभयं नाऽऽप्नुयादित्याज्ञान्तरम् ॥ ६१ ॥

मद्विहारस्थानेऽस्मिन् ह्रदे यः पुमान् स्नात्वा जलैः देवान् आदि शब्दात् पितॄन् ऋषींश्च तर्पयेत् उपोष्ये मां स्मरन् अर्चेच्य, स सर्वः पापैर्मुच्यते इत्याज्ञान्तरम् ॥ ६२ ॥

ननु सुपर्ण[2] भयात् रमकाख्यं सामुद्र द्वीपं हित्वाऽस्मिन् ह्रदे प्रविष्टः पुन रितस्तत्र गतं मां गरुडोऽद्यात्, तत्राऽऽह द्वीपमिति । यस्य सुपर्णस्य भयात् एनं ह्रदं त्वमाश्रितः स सुपर्णः त्वां नाद्यात् तत्र हेतुः मत्पादलाञ्छनमिति ॥ ६३ ॥

हे राजन्! इत्थमुक्तो नागः तं कृष्णं पूजयामास, तथा नागस्य पत्न्यश्च सादरं दिव्याम्बरादिभिः पूजयामासुः । परार्थ्यैरनर्घैः, ततस्तं परिक्रम्य प्रदक्षिणीकृत्य अभिवाद्य च वक्त्रादिभिः सहितः अब्धोः दीपं रमणकाख्यं जगाम ॥ ६४ - ६६ ॥

क्रीडार्थं न तु कर्मफल भोगार्थम्, मानुषं रूपमस्यास्तीति तथा तस्य भगवतोनुग्रहात् तदैव सा यमुना निर्विषा अमृत तुल्य जला चाभवत् ॥ ६७ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

1- -1. A,B नेति 2. A,B गरुड

**विज०** देवकार्यार्थं मानुषविडम्बः ॥ ६० ॥

सन्ध्योः सन्ध्ययोः ॥ ६१ ॥

ममाऽऽक्रीडे क्रीडास्थाने ॥ ६२ ॥

त्वं पूर्वं यस्य सुपर्णस्य भयात् नाम्ना रमणकं द्वीपं हित्वा एतत् ह्रदमुपाश्रितः अथ सुपर्णो मत्पादलक्षणं मत्पादलाञ्छनमिव लाञ्छनं यस्य स तथा तं च, त्वां नाद्यात् न भक्षयेत् ॥ ६३, ६४ ॥

परार्घ्यैरनर्घ्यत्वेनोत्तमैः ॥ ६५ - ६७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

(विजयध्वजरीत्या चतुर्दशोऽध्यायः)

# सप्तदशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या पञ्चदशोऽध्यायः)

-: कालियस्य कालिन्दीह्रदागमन कारणोपन्यासः :-

राजोवाच

नागालयं रमणकं कस्मात्तत्याज कालियः।
कृतं किंवा सुपर्णस्य तेनैकेनाऽसमञ्जसम्॥ १॥

श्रीशुक उवाच

उपहार्यैः सर्पजनैः[1] मासि मासीह यो बलिः।
वानस्पत्योह महाभागो नागानां प्राङ् निरूपितः॥ २॥

स्व स्वं भागं प्रयच्छन्ति नागाः पर्वणि पर्वणि[2]।
गोपीथायाऽऽत्मनः[3] सर्वे सुपर्णाय महात्मने॥ ३॥

विषवीर्यमदाविष्टः काद्रवेयस्तु कालियः।
कदर्थीकृत्य गरुडं स्वयं[4] तं बुभुजे बलिम्[5]॥ ४॥

तच्छ्रुत्वा कुपितो राजन् गरुत्मान्[6] भगवत्प्रियः।
विजिघांसुर्महावेगः[7] कालियं समुपाद्रवत्॥ ५॥

1. K,W °र्व° 2. K,W कल्पिते 3. K,W °नां 4. M. स्वयं तां; V. स्वयन्तु 5. A, बली 6. A,B,G,J,M,K,W भगवान् 7. M वीर्यं

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका।

नागं सप्तदशे नागालयं तं निरयापयत्। बन्धून्[1] स्वदुःखितः[1] श्रान्तान् सुप्तांस्तत्र दवादपात्॥

**नागेति।** असमञ्जसम् अप्रियम्॥ १॥

उपहार्यैः भक्ष्यैः सर्पजनैः सर्पायत्तैः[2] जनैः, वानस्पत्यः वनस्पतेर्मूले देयः नागानां तद्बाधापरिहाराय यो बलिः निरूपितः उपकल्पितः यद्वा[3] उपहार्यैः सुपर्णभक्ष्यैः सर्पा एव जनाः तैः नागानां सम्बन्धी भागः यस्मिन् एकैको नागो दीयते तथा भूतो यो बलिः सुपर्णाय निरूपित इति[3]॥ २॥

**स्वमिति।** ते च नागाः स्वं स्वं भागं जनैः दत्तं सुपर्णाय प्रयच्छन्ति ततो भीताः गोपीथाय रक्षणाय[4]॥ ३॥

**विषेति।** विषवीर्याभ्यां यो मदः तेनाविष्टः काद्रवेयुः कद्रू पुत्रः कालियः[5] गरुडं कदर्थीकृत्य अविगणय्य [6-]वं भागमदत्वा अन्यैः[-6] दत्तमपि तं बलिं स्वयमेव बुभुजे॥ ४,५॥

1- -1. V बन्धूश्च सखिनः 2. V यतैः 3- -3 अयं व्याख्यानांशः A,B,J प्रकाशेषु चतुर्थश्लोकव्याख्यायां योजितः। 4. V °का° 5. A,B,J omit कालियः 6- -6. A,B,J तत्र स्वं स्वं भागं सर्वे नागाः प्रयच्छन्ति कालियस्तु न प्रयच्छति किन्तु अन्यैः

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

यदुक्तम् — "द्वीपं रमणकं हित्वा ह्रदं एतमुपाश्रितः। यद्भयात्" (भाग. 10-16-63) इति। तत्र कालियस्य द्वीपत्यागनिमित्तस्य सुपर्णात् भयस्य निमित्तं बुभुत्सुः पृच्छति राजा **नागालयमिति।** नागालयमित्यनेन तद्द्वीपस्थानां नागानां न सुपर्णात्भयमस्ति इति सूचितम्। अत एव पृच्छति कृतमिति। तेन एकेन कालियेन स्वस्य भयनिमित्तं सुपर्णस्य असमञ्जसम् अप्रियं किं कृतम्? अन्येषु निर्भयेषु सत्स्वपि अनेन स्वभयनिमित्तं किं अप्रियं कृतम्, अन्येषां वा भयाभाव निमित्तं च किमिति प्रश्नार्थः॥ २॥

तावत् तत्रत्यानां नागानां सुपर्णात् भयाभावनिमित्तमाह **उपहार्यैरिति।** हे महाबाहो! प्राक् पुरा काले सर्वैः जनैः "सर्पो नो मा दशतु" इति तेषां यो बलिः उपहार्यैः भक्ष्यैः मासि मासि वानस्पत्यः, वनस्पतिः अपुष्पफलवृक्षः तन्मूले देयो वानस्पत्यः वनस्पति गते चन्द्रे अमावास्यायां प्रवर्तमानो वा, निरूपितः कल्पितः॥ २॥

तत्र सर्वे नागाः जनैः पर्वणि कल्पिते बलौ स्वं स्वं भागं आत्मनां गोपीथाय रक्षणार्थं, महात्मने सुपर्णाय प्रयच्छन्ति। अतस्तत्रत्यानां न गरुडात् भयमस्तीत्युक्तम्॥ ३॥

एवं सर्वेषु नागेषु प्रयच्छत्सु एष काद्रवेयः कद्र्यास्सुतः कालियस्तु विषवीर्याभ्यां यो मदस्तेनाऽऽविष्टः सुपर्णं कदर्थीकृत्य तुच्छीकृत्य अविगणय्य इति यावत् तं गरुडाय देयं बलिं स्व बलि भागं स्वयमेव बुभुजे॥ ४॥

हे राजन्! तत् कालियस्य कर्माऽऽकर्ण्य भगवतः प्रियो भगवान् गरुडः कालियं हन्तुमिच्छुः महावेगः समुपाद्रवत्॥ ५॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

असमञ्जसम् अपराधम्॥ १॥

[illegible]ः उपहारकः [illegible] नां पूजकैः अन्यजनेन पूज्यै र्वा। सर्प जनैः इह यो बलिः मासि मासि प्रतिमासं क्रियत इति शेषः। कीदृशः? वानस्पत्यः सोमे वनस्पतिं गते क्रियमाणः अमावास्यायां क्रियमाण इत्यर्थः। यद्वा वनस्पतौ क्रियमाणः स बलिः प्राङ् नागानामैकमत्येनात्मरक्षणार्थं निरूपित इत्यन्वयः॥ २॥

आत्मनः गोपीथाय गोपनाय आत्मरक्षणाय॥ ३॥

कद्रोरपत्यं काद्रवेयः जातिज्ञानार्थमिदमुक्तम्। कदर्थीकृत्य धिक्कृत्य तां बलिं पूजां बलिशब्दः पूजार्थः स्त्रीलिङ्गः "पूजायां स्त्री बलिर्दैत्य भेदे ना कर एव च" इति॥ ४॥

विजिघांसुः हन्तुकामः॥ ५॥

1. Ma omits गरुडादीनां

तमापतन्तं तरसा विषायुधः प्रत्यभ्ययादुच्छ्रितनैकमस्तकः।
दन्द्रिः सुपर्णं व्यदशद् ददायुधः करालजिह्वोच्छ्वसितोग्रलोचनः॥ ६॥

तं तार्क्ष्यपुत्रस्सनिरस्य मन्युमान् प्रचण्डवेगो मधुसूदनासनः।
पक्षेण सव्येन हिरण्यरोचिषा जघान कद्रूसुतमुग्रविक्रमः॥ ७॥

सुपर्णपक्षाभिहतः कालियोऽतीव विह्वलः।
ह्रदं विवेश कालिन्द्याः तदगम्यं दुरासदम्॥ ८॥

तत्रैकदा जलचरं गरुडो भक्ष्यमीप्सितम्।
निवारितस्सौभरिणा प्रसह्य क्षुधितोऽहरत्॥ ९॥

मीनान् सुदुःखितान् दृष्ट्वा दीनान् मीनपतौ हते।
कृपया सौभरिः प्राह तत्रत्यक्षेममाचरन्॥ १०॥

1. A नखायुधम् 2.A °दुत्थित; M °दुद्धृत 3. V ददा° 4. °ना प्र° 5. M तत्क्षे°

**श्रीध० तमिति**। विषमेवायुधं यस्य सः प्रत्यभ्ययात् योद्धुं प्रतिजगाम, उच्छ्रितनैकमस्तकः उन्नमितानेक फणः, ददायुधः दन्तायुधः करालजिह्वाश्वासौ उच्छ्वसितोग्रलोचनश्च उच्छ्वसितानि उज्जृम्भितानि उग्राणि लोचनानि यस्य सः॥ ६॥

**तमिति**। तार्क्ष्यपुत्रो गरुडः मधुसदनस्यासनं यस्मिन् सः॥ ७॥

**सुपर्णेति**। तस्य गरुडस्यागम्यं अगाधतया च दुरासदम्॥ ८॥

तदगम्यत्वे कारणान्तरमाह — **तत्रेति**। निवारितोऽपि अहरत् अभक्षयत् ॥९,१०॥

1. A,B,J द° 2. A,B,J °णमाह 3- -3. A,B,J omits

**वीर०** तमापतन्तं गरुडं विषमेव आयुधं यस्य स कालियः तरसा बलेन प्रत्यभ्यपतत्। दद्भिर्दन्तैः व्यदशत् दष्टवांश्च। कथम्भूतः ? उच्छ्रितान्युद्धृतानि[1] नैकान्यनेकानि मस्तकानि फणा येन, दन्ता एव आयुधानि यस्य करालजिह्वश्च[2-] उच्छ्वसितोग्रलोचनश्च[3-] उच्छ्वसितानि उच्छ्रितानि[4] उग्राणि लोचनानि यस्य सः ॥ ६ ॥

मधुसूदनस्यासनमुपवेशनं यस्मिन् सः उग्र विक्रमो यस्य प्रचण्डः वेगो यस्य सः। तार्क्ष्यपुत्रो गरुडो मन्युमान्[5] तं कद्रूसुतं निरस्य इतस्ततः प्रक्षिप्य हिरण्यरोचिषा सव्येन वामेन पक्षेण जघान ताडितवान्॥ ७॥

सुपर्णस्य पक्षेणाभिहतः कालियः अतीव विह्वलः उद्विग्नः तेन सुपर्णेन अगम्यं गन्तुं अशक्यं, दुरासदमगाधतया अन्यैश्च दुष्प्रवेशं यमुनायाः ह्रदं विवेश[6] ॥ ८॥

कुतः तदगम्यमित्यत्र तत् कारणमाह - **तत्रेत्यादिभिः** त्रिभिः। तत्र ह्रदे कदाचित् गरुडः स्वाभीष्टं भक्ष्यं जलचरं मीनपतिं क्षुधितः, प्रसह्य बलादहरत् जहार। कथम्भूतः ? सौभरिणा ऋषिणा[7] निवारितोऽपि॥ ९॥

एवं मीनपतौ गरुडेन हृते सति सुतरां दुःखितान् दीनान्[8] मीनान् दृष्ट्वा सौभरिः कृपया तत्रत्यानां ह्रदस्थानां[9] जन्तूनां क्षेमं गरुडाद्भयाभावरूपमाचरन् कुर्वन् प्राह[10]॥ १०॥

1. V °द्ध° 2- -2. A,B °ला जिह्वा यस्य 3- -3. A,B omit 4. A,B, उदस्तानि 5. A,B क्रोधवान् 6. A,B add प्रविष्टवान् 7. A,B omit ऋषिणा 8. A,B omit दीनान् 9. A,B omit ह्रदस्थानां 10. A,B omit गरुडात्

**विज०** विषमेवाऽऽयुधं यस्य स तथा, उद्धतनैकमस्तकः उद्धृतानेकफणः दद्भिः दन्तैः व्यदशत् दंशितवान्। दन्ता एव आयुधं यस्य स तथा। करालजिह्वश्च उच्छ्वसितोग्रलोचनश्च तथा। उच्छ्वसितः दीर्घश्वासोपेतः उग्रे लोचने यस्य स तथा॥ ६॥

जघान अहनत्, आत्मपादैः ताडितवानित्यर्थः ॥७॥

कालिन्द्याः यमुनायाः तेन गरुडेन अगम्यं दुरासदं पश्चादीनामिति शेषः ॥ ८॥

गरुडस्य अगम्यत्वे निमित्तमाह - **तत्रेति।** भक्ष्यत इति भक्ष्यम्॥ ९॥

तत्क्षेमं तेषां शिष्टानां क्षेमं योग्यरक्षाम्॥ १०॥

अत्र प्रविश्य गरुडो यदि मत्स्यान् स खादति।
सद्यः प्राणैः वियुज्येत[1] सत्यमेतद्ब्रवीम्यहम्॥ ११॥
तत्कालियः[2] परं वेद नाऽन्यः कश्चन[3] लेलिहः[3]।
अवात्सीत् गरुडाद्भीतः कृष्णेन च विवासितः॥ १२॥
कृष्णं ह्रदात् विनिष्क्रान्तं दिव्यस्रग् गन्धवाससम्[4]।
महामणिगणाकीर्णं जाम्बूनदपरिष्कृतम्॥ १३॥
उपलभ्योत्थितास्सर्वे लब्धप्राणा इवासवः[5]।
प्रमोदनिभृतात्मानो गोपाः प्रीत्याभिरेभिरे॥ १४॥
यशोदा रोहिणी नन्दो गोप्यो गोपाश्च कौरव।
कृष्णं समेत्य लब्धेहा आसन् लब्धमनोरथाः॥ १५॥

1. K,W °मुच्येत 2. A,B,G,J तं का° 3- -3. M कश्चित्स लेलिहा 4. M मण्डितम्। 5. A,M, इव। प्रजाः

**श्रीध० तदिति।** लेलिहः सर्पः। अतः तत्र अवात्सीत्॥ ११,१२॥

**कृष्णमिति।** जाम्बूनदं सुवर्णं तेनालङ्कृतम्॥ १३॥

**उपलभ्येति।** असवः इन्द्रियाणिप्रमोद निभृतात्मनः आनन्दपूर्णमनसः॥ १४॥

**यशोदेति।** लब्धेहाः लब्धचेष्टाः॥ १५॥

**वीर०** किम्? अत्र ह्रदे प्रविश्य यदि गरुडो मत्स्यान् खादति तर्हि स गरुडः सद्य एव प्राणैः वियुज्येत, एतदहं सत्यं ब्रवीमीति ब्राह्मणवाक्यस्य माननीयत्वात् परमपुरुषेणेव गरुत्मता तत्प्रतिघातशक्तिमतापि तस्यानुरोधः उपपद्यते॥ ११॥

तत् शापात्मकं सौभरेः वचः केवलं कालिय एव वेद तदन्यः कोऽपि लेलिहः[1] सर्पो न वेद। अतोऽयं गरुडात् भीतः तत्र ह्रदे अवात्सीत्। ततः कृष्णेन विवासितः निष्कासितश्चेति कालियदमनात्मकवृत्तान्तोपसंहारः॥ १२॥

अथ तत उपरितनं वृत्तान्तमाह - **कृष्णमिति** यावदध्यायसमाप्ति। दिव्यानि स्रग्गन्धवासांसि नागपत्नीभिः समर्पितानि यस्य तं महतां अनर्घाणां मणीनां गणैः आकीर्णं सर्वतः समलङ्कृतं जाम्बूनदेन सुवर्णेन अलङ्कृतं, ह्रदात् विनिर्गच्छन्तं कृष्णं उपलभ्याऽऽलक्ष्य लब्धप्राणाः असवः इन्द्रियाणीव सर्वे गोपादयः उत्थिताः ततः प्रमादेन निभृताः पूर्णा आत्मानो

देहाः मनांसि वा येषां तथा भूताः गोपाः प्रीत्या कृष्णमभिरेभिरे आलिङ्गितवन्तः ॥ १३,१४ ॥

यशोदादयो गोप्यो नन्दादयो गोपाश्च हे कौरव! कृष्णं समेत्य सङ्गत्य लब्ध चेष्टा[2] लब्धमनोरथाश्च बभूवुः ॥ १५ ॥

1. A,B °हानः 2. W बद्ध

**विज०** खादति भक्षति प्राणवियोगं मरणमाप्नोतु॥ ११॥

लेलिहा लेलिहानः सर्पः। छन्दोभङ्गभयादेवमुक्तम्। गरुडात् भीत्यैव अवात्सीत्, सौभरेः शापातिक्रमणसमर्थेन तेन किमर्थं ह्रदं प्रविश्य हननं न कारीति इयं आशङ्का। "विष्णुना विष्णु भक्तैश्च ब्रह्मशापोऽनुवर्त्यते। ब्राह्मणानामपीडायै बलिभिः क्षत्रियादिभिः"॥ (ब्रह्माण्डे) इत्यादि ब्रह्माण्डवचनेन निस्तुषा कर्तव्या। एतद्विवक्षया वा लेलिहेत्युक्तम्॥ १२,१३॥

उपलभ्य दृष्ट्वा, प्रमोदनिभृतात्मनः आनन्दपूर्णात्मानः, अभिरेभिरे आलिङ्गनं चक्रुः। अभीत्युपसर्गात् मुख्यामुख्यभेदो द्रष्टव्यः॥ १४॥

लब्धेहाः लब्धचेष्टाः पूर्वं शवप्राया इत्यर्थः॥ १५॥

**रामश्चाच्युतमालिङ्ग्य जहासास्यानुभाववित्।**
**★ प्रेम्णा तमङ्कमारोप्य पुनः पुनः रुदैक्षत।**
**नगा[1] गावो[1] वृषा वत्साः लेभिरे परमां मुदम्॥ १६॥**
**नन्दं विप्रास्समागम्य[2] गुरवः सकलव्रकाः।**
**ऊचुस्ते कालियग्रस्तो दिष्ट्या मुक्तस्तवात्मजः॥ १७॥**
**△ यशोदा[3] च महाभागा नष्टलब्धप्रजासती।**
**परिष्वज्याङ्कमारोप्य मुमोचाश्रुकणान्[4] बहून्[4]॥ १८॥**
**★ ततश्चास्तङ्गते भानौ कृष्णो वासमकल्पयत्।**
**सरामस्सह गोपालैः[5] मात्रा पित्रा समोधनः[6]॥ १९॥**
**तां रात्रिं तत्र राजेन्द्र क्षुत्तृड्भ्यां श्रमकर्शिताः।**
**ऊषुर्व्रजौकसो गावः कालिन्द्याः उपकूलतः॥ २०॥**

★ This extra half verse is found in K,W editions only and the same is commented by Sri Veera Raghava 1- -1. A नरा नार्यो 2. A,B,G,J °गत्य; K,W °साद्य △ देहि दानं द्विजातीनां कृष्णनिर्मुक्ति हेतवे। नन्दः प्रीतमनाः राजन् गाः सुवर्णं तदादिशत्। The above extra verse is found in A,B,G,J editions. 3. A,B,G,J °दाऽपि 4- -4. A,B,G,J कलां मुहुः ★ It is not found in A,G,J editons 5. V ° लः 6. B,M °नैः

**श्रीध० राम** इति। नागाः वृक्षाः अपि पूर्वं शुष्कास्सन्तः सद्य एव विरूढा इत्यर्थः ॥ १६ ॥

**नन्दमिति।** ते विप्राः ऊचुः ॥ १७ ॥

**यशोदेति।** नष्टलब्धप्रजा, नष्टप्राया पुनर्लब्धा प्रजा यया सा ॥ १८,१९ ॥

**तमिति।** श्रमेण च कर्शिताः उपकूलतः कूलप्रान्ते ॥ २० ॥

**वीर०** रामस्तु कृष्णमालिङ्ग्य अस्य कृष्णस्य प्रभावं जानन् केवलं जहास हसितवान् ततस्तं कृष्णं अङ्कमारोप्य पुनः पुनः प्रीत्या उदैक्षत[1] समवैक्षत। नगादयः परमां मुदं लेभिरे। तत्र नगाः वृक्षाः वृक्षा अपि पूर्वं शुष्कास्सन्तः पुनः फलपुष्पादिभिः विरूढा इत्यर्थः ॥ १६ ॥

सभार्याः विप्राः नन्दं समेत्य कालियेन ग्रस्तः तवात्मजो मुक्तः तस्मात् विमुक्तः किल, दिष्ट्या अयं महानानन्दः[3] इत्यूचुः ॥ १७ ॥

नष्टप्राया पुनर्लब्धा प्रजा पुत्रो यया सा सती यशोदा सुतं परिष्वज्य अङ्कमारोप्य च बहूनानन्दाश्रुकणान् मुमोच ॥ १८ ॥

ततः तां रात्रिं तत्र यमुनायाः तीरे एव व्रजौकसः गावश्च[4] ऊषुः उषितवन्तः। कथम्भूताः? क्षुतृड्भ्यां श्रमेण च कर्शिताः ॥ १९, २० ॥

1 K,W omit उदैक्षत 2. K,W °र्व° 3. K,W omit इत्यूचुः 4. K,W omit गावश्च

**विज०** नष्टा च लब्धा च प्रजा यस्याः सा तथा। अश्रुकणान् बाष्पबिन्दून् ॥ १६ - १९ ॥

क्षुतृड्भ्यां उत्पन्नश्रमेण कर्शिताः अभिभवं प्राप्ताः उपकूलतः कूलसमीपे ॥ २० ॥

★ **एतस्मिन्नेव काले तु व्रजे कौरवसत्तम!**
**तदाऽऽशु[1-] विपिनोद्भूतो[1] द्वाग्नि[2]ः सर्वतो[3-] व्रजम्[-3]।**
**सुप्तान्निशीथ[4] आवृत्त्य[5] प्रदग्धुमुपचक्रमे ॥ २१ ॥**

-: दावाग्नितः गोपसंरक्षण घट्टः :-

तत उत्थाय सम्भ्रान्ता दह्यमाना व्रजौकसः ।
कृष्णं ययुस्ते शरणं मायामनुजमीश्वरम्[6] ॥ २२ ॥

कृष्ण कृष्ण महाभाग! हे रामाऽमित विक्रमः ।
एष घोरतमो वह्निः तावकान् ग्रसते हि नः ॥ २३ ॥

सुदुस्तरात्स्वान्नः पाहि कालाग्नेः सुहृदः प्रभो ।
न शक्नुमस्त्वच्चरणं सन्त्यक्तुमकुतोभयम् ॥ २४ ॥

इत्थं स्वजनवैक्लव्यम् निरीक्ष्य जगदीश्वरः ।
तमग्निमपिबत्तीव्रम्[7] अनन्तोऽनन्तशक्तिधृत्[8] ॥ २५ ॥ ★

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पर्वार्धे
दावाग्निमोचनं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

(श्री विजयध्वजरीत्या पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥)

★ This extra half verse is not found in A,G,J,K,V,W editons 1- -1. B,G,J तदा शुचि वनोद्भूतो; M. घोरः शुचि बलोद्भूतो; V. तदाऽऽशु विपिनोद्भूतो 2. A,B,G,J,M दावा° 3- -3. K,W परितो व्रजम्; M. सर्वतो वृतः 4. A,B,G,J,V सुप्तं नि° 5. W. आसाद्य 6. A.W मानुष° 7. A,K, °च्छीघ्रं 8. A,B,G,J,M °क् श्री विजयध्वजीयव्याख्यारीत्या अस्यैकाध्यायस्य (15) अन्तिमः श्लोकः (27) 'अथ कृष्णः' इत्यारभमाणः श्रीधरीयवीरराघवीयव्याख्ययोः (तद्रीत्या) अष्टादशाध्याये प्रथमश्लोकत्वेन स्वीकृतः

**श्रीध०** कालाग्नेः मृत्युरूपादग्नेः न मृत्योर्बिभीमः। किन्तु त्वच्चरणवियोगादित्याहुः न शक्नुम इति ॥ २१ - २५ ॥

★ विमोहा नहि दण्डेन ततस्स्वशरणं[1] गतान्। गोपानपादनन्तोऽसावनन्त वनवह्नितः ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः 1. A,B,J °स्स्वं शरणा ग°

**वीर०** तदा रात्रौ अरण्य प्रभवो दवाग्निः निशीथे सुप्तं व्रजं व्रजस्य परित आवृत्त्य प्रदग्धमुपाक्रान्तवान्॥ २१॥

ततो दवाग्निना दह्यमानाः व्रजौकस उत्थाय सम्भ्रान्ताः व्याकुलचित्ताः मायया आत्मीय सङ्कल्पेन मनुजं साक्षादीश्वरं कृष्णं शरणं ययुः। रक्षणोपायत्वेन अध्यवसितवन्तः॥ २२॥

शरणयानप्रकारमेवाऽऽह — **कृष्ण कृष्णेति** द्वाभ्याम्[1]। तावकान् त्वदेकरक्षान् नः अस्मान् एष वह्निः ग्रसते॥ २३॥

स्वान् स्वकान् सुहृदो नः अस्मान् सुदुस्तरात् कालाग्नेः प्रलयाग्नितुल्यात् दवाग्नेः पाहि हे प्रभो! नास्ति कुतोऽपि भयं यस्मात् तं तव चरणं सन्त्यक्तुं न शक्नुमः। न वयं मृत्योः बिभीमः अपि तु त्वच्चरणवियोगादिति भावः॥ २४॥

स्वजनानां वैक्लव्यं निरीक्ष्य अनन्तशक्तिधृत्[2] हेतुगर्भमिदम्। तत्त्वात् जगदीश्वरः[3-] कृष्ण[-3], शीघ्रं तमग्निं अपिबत्॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

1. K,W omit द्वाभ्याम् 2. A,B °क् 3- -3. W omits

**विज०** शुचिः पवनः तस्य बलेनोद्भूतः शुचि नाम्नो मरुतो बलेन वा। वृतः परिवेष्टितः। निशीथे अर्धरात्रे। अनन्तशक्तिधृक् अनियतशक्ति धृक्॥ २१ - २५॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
व्याख्यायां सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

(विजयध्वजरीत्या पञ्चदशोऽध्यायः)

# अष्टादशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या षोडशोऽध्यायः)

### -: ग्रीष्मर्तु वर्णन प्रारम्भः :-

श्रीशुकउवाच

★ अथ कृष्णः परिवृतो ज्ञातिभिर्[1]मुदितात्मभिः।
अनुगीयमानो न्यविशद्व्रजं गोकुलमण्डितम्[2]॥ १॥

व्रजे विक्रीडतोरेवं गोपालच्छद्ममायया[3]।
ग्रीष्मो नामर्तुरभवन् नातिप्रेयान् शरीरिणाम्[4]॥ २॥

स च बृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षितः।
यत्राऽऽस्ते भगवान् साक्षाद्रामेण सह केशवः॥ ३॥

यत्र निर्झरनिर्ह्राद निवृत्तस्वनझिल्लिकम्।
शश्वत्तच्छीकरै[5] जुष्ट द्रुममण्डलमण्डितम्[6]॥ ४॥

सरित्सरः प्रस्रवणोर्मिवायुना कह्लारकञ्जोत्पलरेणु हारिणा।
न विद्यते यत्र वनौकसां दवो निदावह्न्यर्क भवोऽतिशाद्वले[7]॥ ५॥

* This verse has been added at the end of 15th adhyayh according to Vijayadwajiya, and which is 17th adhyaya according to the other commentaries. 1. A बन्धुभिः 2. V °तः। 3. A,M. रूपिणोः 4. M °णः। 5. A,B,G,J °रर्जीष 6. M पिप्पल 7. A,V °ड्वले

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अष्टादशो ततो ग्रीष्मे वसन्त गुणलक्षिते। अघातयद्बलेनालं प्रलम्बं लीलय हरिः॥
कृत्वा नृत्यं फणाग्रेषु कलियस्य सकौतुकम्। बलं प्रलम्बतुङ्गं समारोहयदमित्र[1] हा॥
व्रज इति। गोपालच्छद्ममायाया गोपालनमेव च्छद्म यस्यां तया मायया[2]॥ १ - ३॥

वसन्तसाम्यमाह — चतुर्भिः **यत्रेति**। यत्र ग्रीष्मेऽपि निर्झराणां निर्ह्रदिन घोषेण निवृत्तस्वनाः च्छन्नध्वनयः झिल्लिकाः कठोरध्वनयः[3] सूक्ष्मकीटा यस्मिन्। तथा भूतं बृन्दावनं भवति। किञ्च, शश्वत्तेषां निर्झराणां शीकरैः अम्बुकणैः, जुष्टाः[4] स्निग्धाः ये द्रुमास्तेषां मण्डलैर्मण्डितम्॥ ४॥

**सरिदिति**। यत्र ग्रीष्मे वने वा निदाघो ग्रीष्मः, तेन तत्कालीन वह्न्यर्काभ्यां च भवति यो दवः तापः अतिशाद्वले[5] अतिहरित तृणाकीर्णे। यद्वा अतिक्रान्तः शाद्वलेऽपि स्थाने॥ ५॥

1. A,B,J °दरातिहा 2. V omits मायया 3. A,B,J ध्वनिसू° 4. A,B,J ऋजीषाः 5. V °ड्व°

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ बलदेव कृतं कृष्णकारितं प्रलम्बासुरवधात्मकं कर्मानुवर्णयति अष्टादशेन, तावत्तदुपोद्घातत्वेन काश्चित् पौगण्ड क्रीडाः तदुपयुक्तं वनं कालं च अनुवर्णयितुं तावत् वृत्तेन सङ्गमयितुं वृत्तशेष माह — **अथेति**। अथ तद्रात्रि व्यतिक्रमानन्तरं मुदिता आत्मानो मनांसि येषां तैः ज्ञातिभिः गोपैः अनुगीयमानो[1] भगवान् गवां समूहेन मण्डितं व्रजं प्राविशत्॥ १॥

गोपालच्छद्म गोपाल इति व्याजो यतः तया मायया आत्मसङ्कल्पेन इत्थं व्रजे सम्यक् क्रीडतोः सतोः रामकृष्णयोरिति शेषः। ग्रीष्माख्यः ऋतुः प्रवृत्तः अनेनोक्ताः क्रीडा वासन्तिका इति सूचितम्॥ २॥

स च यद्यपि शरीरिणां नातीव सुखकरः तथापि बृन्दावनस्य गुणैः वसुन्तर्तुतुल्यो बभूव। के ते गुणाः? यैः वसन्त इव लक्षितः ऋतुधर्मम् अतिक्रम्यापि कुत स्तस्य ते गुणा इत्यत्राह — यत्रेति। यत्र साक्षात् भगवान् केशवो रामेण सह आस्ते[2-2]। भगवदावासप्रभावेन गुणव्यत्यय इति भावः। यत्र[3] बृन्दावने भगवान् आवासस्तस्य गुणैरित्यन्वयः॥ ३॥

ग्रीष्मस्य वसन्त तुल्यतां ख्यापयितुं बृन्दावनगुणाननुवर्णयति **यत्रेति**। यत्र शब्दानां बृन्दावन सहचरिते ग्रीष्मऋतावित्यर्थः। निर्झराणां घोषेण निवृत्तस्वनाः छन्नध्वनयः झिल्लिकाः कठोरध्वनयः सूक्ष्मकीटविशेषाः। यस्मिन् तथा भूतं बृन्दावनं अभवदित्यर्थः। किञ्च शश्वत् सदा तेषां निर्झराणां शीकरैः अम्बुकणैः। जुष्टाः स्निग्धाः ये द्रुमाः तेषां मण्डलैः मण्डितम्॥ ४॥

**सरिदित्यादि**। सरितां सरसां प्रस्रवणानां निर्झराणां च ये ऊर्मयः तेषां सम्बन्धिना वायुना कह्लारादीनां रेणून् हरतीति तथाभूतेन यत्रातिशाद्वले अतिहरित तृणाकीर्णे अतिक्रान्तशाद्वलेपि वा निदाघो ग्रीष्मस्तेन तात्कालिक वह्न्यर्काभ्यां च भवति यो दव स्तापः स वनौकसां न विद्यते॥ ५॥

1. A,B उप° 2- -2. W omits 3. A,B omit यत्र

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हरेः भूभार हरणस्य यदन्तरङ्गं कर्तुं अवतीर्णं शेषेण तद्वक्तुमपक्रमते - **व्रज** इत्यादिना। गोपालच्छद्मरूपिणोः गोपालाविति कपटशब्दिनोः "रूपं शब्दे पशौ श्लोके ग्रन्थावृत्तौ सितादिषु। सौन्दर्ये च स्वभावे च" (वैज. को. 6-3-28) इति यादवः। नातिप्रेयान् नातिप्रियतरः धर्महेतुत्वात्॥ १- ३॥

वसन्ततुल्यत्वे निमित्तमाह - **यत्रेति**। यत्र बृन्दावने निर्झरस्य निह्रदिन शब्देन निवृत्तस्वनाः प्रतिष्टब्धस्वराः झिल्लिकाः कीटविशेषाः यस्मिन् तत्तथा तस्य निर्झरस्य शीकरैः वायुशीर्णवारिबिन्दुभिः॥ ४॥

सरित् नदी सरो देवखातः एतयोः प्रस्रवणं निर्झरं ऊर्मिस्तरङ्गः एतत्सम्बन्धिवायुना च कल्हारं सौगन्धिकं कञ्जं पद्मं, उत्पलं नीलोत्पलं एषां रेणुभिः परागैः हारिणा मनोहरेण यद्वा रेणूनां हारो हरणं अस्यास्तीति हारी तेन निदाघवह्न्यर्केभ्यो भवः उत्पत्तिः यस्य स तथा दवस्तापः -'दवपरिताप' इति धातुः, अचू प्रत्यये एतत्सिध्यति। वनाग्निरित्यर्थाङ्गीकारे वन्हीत्येतद्वचर्थं भवति। अतिशाद्वले कोमलतर तृणोपेते॥ ५॥

**अगाथ तोय ह्रदिनी तटोर्मिभिः[1] द्रवत्पुरीष्याः[2] पुलिनैः समन्ततः।**
**न यत्र चण्डांशुकराविषोल्बणा भुवो रसं शाद्वलितं[3] विगृह्णते[4]॥ ६॥**

**वनं कुसुमितं श्रीमत् नदच्चित्रमृगद्विजम्।**
**गायन्मयूरभ्रमरं कूजत्कोकिलसारसम्॥ ७॥**

**क्रीडिष्यमाणः कत्कृष्णे भगवान् बलसंयुतः।**
**वेणुं विरणयन् गोपैर्गोधनैः संवृतोऽविशत्॥ ८॥**

**प्रवाल बर्हस्तबकः स्रग्धातुकृत भूषणाः।**
**रामकृष्णादयोगोपा ननृतुर्युयुधुर्जगुः॥ ९॥**

**कृष्णस्य नृत्यतः केचित् जगुः केचिदवादयन्।**
**वेणुपाणितलैः शृङ्गैः प्रशशंसुरथापटे॥ १०॥**

1. M तटेरुहैः 2. M °त्पुलिन्याः ; K. W त्पुरीषैः 3. A,M °ड्व° 4. A,B,G,J च गृ° M निगृ° 5. M वेणुं

**श्रीध०** ननु शाद्वलमेव[1] कुतत्स्यम्? तत्राह — **अगाधेति**। अगाधानि तोयानि यासां तासां ह्रदिनीनां तटस्पर्शिभिः[2] ऊर्मिभिः पुलिनैस्सह द्रवत् पुरीषं पङ्को यस्या तस्याः भुवः रसं शाद्वलितं[3] शाद्वलरूपतां[4] च विषवदुल्बणाऽपि सूर्यरश्मयो न विगृह्णते[5] न हरन्ति॥ ६॥

**वनमिति**। तद्वनम् अविशदित्युत्तरेणान्वयः[6]। नदन्तः चित्राः मृगाः द्विजाश्च यस्मिन्, गायन्तो मयूराः भ्रमराश्च यस्मिन्, कूजन्तः कोकिलाः सारसाश्च यस्मिन् तत्॥ ७॥

**क्रीडिष्यमाण** इति। तद्वनम्[7] अविशत्॥ ८ - १०॥

1. V °ड्व° 2. B स्पर्शिनीभिः 3. V °ड्व° 4. V °ड्व° 5. A,B,J omit वि 6- -6. V omits 7. A,B,J omit वनम्

**वीर०** ननु शाद्वलमेव कुतः तत्राह — **अगाधेति।** अगाधानि तोयानि यासां तासां ह्रदिनीनां तटस्पर्शिभिः ऊर्मिभिः हेतुभिः पुलिनैस्सह द्रवत् पुरीषं पङ्को यस्याः तस्याः भुवः रसं शाद्वलितं शाद्वलरूपतां च विषवदुल्बणा अपि सूर्यस्य रश्मयो, यत्र न विगृह्णते न हरन्ति, आशुतरव्याप्तौ विषदृष्टान्तः, तद्वन माविशत् इत्युत्तरेणान्वयः ॥ ६ ॥

श्रीमत् फलकिसलयादिसमृद्धिमत् भगवदावासत्वात् लक्ष्मीवद्वा, नदन्तश्चित्रा मृगा द्विजाः पक्षिणश्च यस्मिन्, गायन्तो मयूराः भ्रमराश्च यस्मिन्, कूजन्तः कोकिलाः सारसाश्च यस्मिन् तत्॥ ७॥

एवम्भूतं [1]वनं भगवान् कृष्णः क्रीडिष्यमाणो बलदेवेन संयुतः वेणुं विशेषेण रणयन् नादयन् गोपैः गोधनैश्च संवृतः प्राविशत्॥ ८॥

ततः प्रवालादिभिः कृतानि भूषणानि यैः तथा भूताः रामकृष्णादयो गोपाः ननृतुः, युयुधुः मिथो बाहुभिः, जगुश्च॥ ९॥

तत्र कृष्णस्य नृत्यतः सतः केचिद्गोपाः जगुः केचिच्च वेण्वादिभिः अवादयन्, केचिच्च प्रशशंसुः ॥ १० ॥

1. K,W omit वनं

**विज०** विषवदुल्बणाः चण्डांशुकराः सूर्यरश्मयः, यत्र शाद्वलितं बालतृणनिबिडं भुवो गतं रसं जलं न निगृह्णते। किं कारणमत्राह — **अगाधेति।** अगाधं तोयं यस्याः सा अगाधतोया सा च ह्रदिनी नदी तत्तस्याः तटेरुहैः तीरजातै; वृक्षैः समन्ततः द्रवन्त्यः स्यन्दमानायाः पुलिन्याः विभक्त नद्याः शाखाद्य इत्यर्थः। पुलिनैः निमित्तैः सर्वदा द्रवीभूत स्थलत्वादित्यर्थः ॥ ६,७॥

विरणयन् विविधैः स्वरैः ध्वनयन् कृष्णः तद्वनमविशत् इत्यन्वयः ॥ ८ ॥

धातुर्गैरिकः ॥ ९,१० ॥

**गोपजाति प्रतिच्छन्नौ[1] देवा गोपाल रूपिणः।**
**ईडिरे कृष्ण रामौ च नटा इव नटं नृप॥ ११ ॥**
**[2]भ्रामणैर्लङ्घनैः क्षेपैः आस्फोटनविकर्षणैः।**
**चिक्रीडतुर्नियुद्धेन काक पक्ष धरावुभौ[3]॥ १२ ॥**
**क्वचिन्नृत्यत्सुचान्येषु गायकौ वादकौ स्वयम्।**
**शशंसन्तुर्महाराज साधुसाध्विति वादिनौ॥ १३ ॥**

क्वचित्कुम्भैः क्वचित्बिल्वैः क्वचामलकमुष्टिभिः[4] ।
अस्पृश्यनेत्र बन्धाद्यैः क्वचिन्मृगखगेहया ॥ १४ ॥

क्वचिच्च दर्दुरप्लावैः विविधैरुपहासकैः ।
कदाचिदान्दोलिकया[5] कर्हिचिन्नृपचेष्टया[6] ॥ १५ ॥

1. A,B,J,V °न्ना 2. V °भ्र° 3. A,B,G,J,K,W धरौक्वचित् 4. K,W शुक्तिभिः 5. M क्वचित्तथान्दो° 6. A,B,G,J °चित्स्पन्दो°

**श्रीध०** **भ्रमणैरिति।** काक पक्षाः चूडाकरणात् प्राक्तनकेशाः भ्रमणादिप्रकारैः[1] नियुद्धेन बाहुयुद्धेन चिक्रीडतुः ॥ ११ - १३ ॥

**क्वचिदिति।** कुम्भैः कुम्भ वृक्षफलैः अस्पृश्यत्वं, नेत्रबन्धश्च तदाद्यैः मृगाणां खगानां च चेष्टया ॥ १४ ॥

**क्वचिदिति।** दर्दुरप्लावैः मण्डूकप्लुतिभिः आन्दोलिकया[2] दोलालम्बनेन[3] नृपाणामिव लीलया ॥ १५ ॥

1. A,B,J भ्रा° 2. A,B,J स्पन्दो° 3. V डो°

**वीर०** गोपजातिप्रतिच्छन्नौ साक्षादीश्वरावतार भूतौ रामकृष्णौ गोपालरूपिणो देवा ईडिरे तुष्टुवुः हे नृप! नटं नटा इव ॥ ११ ॥

भ्रामणादिभिः नियुद्धेन बाहुयुद्धेन च, काकपक्ष धरौ रामकृष्णौ क्वचित् चिक्रीडतुः काकपक्षा चूडाकर्मणः प्राक्तनकेशाः। तत्र भ्रामणं नाम जिघृक्षतः प्रतिद्वन्द्वि जनादात्मानं कौशलेन वञ्चयता परितः तत्सञ्चारणं, लङ्घनमासन्नस्य प्राप्त स्वग्रहणस्य वञ्चनार्थं लाघवेनेतस्ततो वलनं, स्वगृहीतस्य भूमौ पातनं क्षेपः, करतलैः भुजैः व्याघात अस्फोटनं बलपरीक्षार्थं अन्योन्यं आकर्षणं विकर्षणम् ॥ १२ ॥

क्वचिदन्येषु गोपेषु नृत्यत्सु सत्सु स्वयं गायकौ वादकौ च भूत्वा हे महाराज! साधु साध्विति वदन्तौ प्रशशंसतुः[1] ॥ १३ ॥

क्वचिद्बिल्वादिभिः इत्येवं लोकप्रसिद्धाभिः बालक्रीडाभिः रामकृष्णौ विचेरतुः, सञ्चरितवन्तौ इति[2-] त्रयाणामन्वयः[-2]। कुम्भो नाम वृक्ष विशेषः, तस्य फलैः गुच्छैरिति पाठान्तरम्। आमलकैः शुक्तिभिः कालिन्दीपुलिनगत मुक्तास्फोटैश्च अस्पृश्यं, आवां मिथो न स्पृश्यविति, भाषाबन्धनेन तदनुकूलं कर्म, नेत्रबन्धः आगमिष्यतो नामकथनार्थं पाणिभ्यां कस्यचिन्नेत्र प्रच्छादनम्। मृगाणां खगानां चेहया तत्सजातीयचेष्टया दर्दुरप्लावैः मण्डूकप्लुतिभिः उपहासकैः परिहासक वाक्यैः आन्दोलिकया तदाकारदोलालम्बनेन नृपाणा मिव लीलया च ॥ १४,१५ ॥

1. A,B add सन्तौ 2- -2. K.W omit

**विज०** भ्रामणैः मण्डलाकारेण तिर्त्तिरैः लङ्घनैः दशपदान्युत्पतनैः क्षेपैः आक्षेप वचनैः पाषाणक्षेपणैर्वा। आस्फोटनैः एकं हस्तं द्विगुणीकृत्येतरेण पाणिनाऽऽस्फालनानि आस्फोटनानि तैः परस्परैः पाणिना पाणिम् अवलम्ब्य आकर्षणं विकर्षणं नियुद्धेन मल्लयुद्धेन काकपक्षधरौ अकृतचौलकेशधरिणौ त्रिवृत्कृतवेणीधारिणावित्यर्थः ॥ ११,१२ ॥

कुम्भैः कुम्भफलैः वर्तुलाकारैः। "कुम्भोलूखलकेक्लीबे कौशिको गुग्गुलः पुमान् (अम.को. 2-80) इत्यमरः। पृष्ठतो धावनात्स्प्रष्टुमशक्यं त्वं मां स्पृशेत्युक्त्वा पुरतो लीलया धावतीति यत्तदिदमस्पृश्यक्रीडनम्। वस्त्रेणनेत्रमाच्छाद्य मां स्पृशेतिनिगद्य तं मुक्त्वा पुरतो भ्रमणं नेत्र बन्धलीला। दूरान्तर प्रदेशे स्थितं वृक्षं लक्षीकृत्योभाभ्यां प्राक् वृक्षस्य स्पर्शी विजयी स्यादितीयं क्रीडाधावन संज्ञेत्यादिकमादिपद गृहीतम्॥ १३ ॥

दर्दुरप्लावैः मण्डूकवत् उत्पतनैः ॥ १४ ॥

दोणीनिम्नसानुस्थलं अन्तर्लता निबिडो ह्रस्वादिकुञ्जः "निकुञ्ज कुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे" (अम.को. 2-46) इत्यमरः ॥ १५ ॥

**एवं तौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वने।**
**नद्यद्रिद्रोणिकुञ्जेषु काननेषु[1] सरस्सु[2] च॥ १६॥**

**पशूंश्चारयतोर्गोपैः तद्वनेरामकृष्णयोः।**
**गोपरूपीप्रलम्बोऽगात् असुरस्तज्जिघांसया[3]॥ १७॥**

**-: प्रलम्ब वध घट्टः :-**

**तं विद्वानपि दाशार्हो भगवान् सर्वदर्शनः।**
**अन्वमोदततत्सख्यं वधं तस्य विचिन्तयन्॥ १८॥**

**तत्रोपाहूय[4] गोपालान् कृष्णप्राह विहारवित्।**
**हे गोपा विहरिष्यामो द्वन्द्वीभूय यथा यथम्॥ १९॥**

**तत्र चक्रुः परिबृडौ[5] गोपा रामजनार्दनौ।**
**कृष्णसंघट्टिनः केचित् आसन्[6] रामस्य चापरे॥ २०॥**

1. M पुलिनेषु 2. A,K,W सरित्सु 3. A,B,G,J,V °जिहीर्षया 4. M.V °प° 5. A,B,G,J,M °वृ° 6. M गोपाः

**श्रीध० एवमिति।** नद्यः अद्रिद्रोणयः कुञ्जानि च एषु[1]॥ १६॥

**पशूनिति।** चारयतोस्सतोः तद्वने तस्मिन् वने तयोः जिहीर्षया॥ १७,१८॥

**तत्रेति।** यथायथं वयो बलाद्यनुरूपं द्वन्द्वीभूय॥ १९॥

**तत्रेति।** परिबृढौ नायकौ। तत्र केचन श्रीकृष्ण संघट्टिनः श्रीकृष्ण पक्षीयाः॥ २०॥

1. A,B,J एतेषु

**वीर०** नद्यादिषु रामकृष्णयोर्गोपैः सह पशूंश्चारयतो गोपरूपी प्रलम्बोऽगादित्युत्तरेणान्वयः। द्रोणः पर्वतसन्धिप्रदेशः तज्जिघांसया रामकृष्णहननेच्छया॥ १६, १७॥

सर्वदर्शनः हेतुगर्भ मिदम्। सर्वज्ञत्वात् तं जिघांसु मागतं गोप रूपिणं प्रलम्बासुरं विद्वानपि सद्यो न तं जघानेति वाक्यशेषः। किन्तु उपायान्तरेण तस्य वधं विचिन्तयन् तेन सह सख्यमेवान्वमोदत अन्वमन्यत॥ १८॥

तत्र गोपानाहूय तद्वधोचित विहारक्रमाभिज्ञः प्राह। उक्ति मेवाह हे गोपा इति। यथायथमाकृति वयोबलानुरूपं द्वन्द्वीभूय संघद्वयं भूत्वा विहरिष्यामः इति॥ १९॥

तत्रैवं भगवतोक्ते सति गोपाः रामकृष्णौ परिवृढौ संघयोः नायकौ चक्रुः, तत्ः केचित् गोपाः [1-]कृष्णसंघट्टिनः[-1] कृष्णपक्षीया बभूवुः अपरे तु रामस्य संघट्टिनः॥ २०॥

1- -1. A,B omit

**विज०** यस्य यो विहार तं वेत्तीति॥ १६ - १९॥

परिबृढौ नायकौ, कृष्ण संघट्टिनः कृष्णपक्षीयाः॥ २०॥

**आचेरुः विविधाः क्रीडाः वाह्यवाहकलक्षणाः।**
**[1]तत्रारोहन्ति जेतारो वहन्ति च पराजिताः॥ २१॥**

**वहन्तो वाह्यमानाश्च चारयन्तश्च गोधनम्।**
**भाण्डीरकं नाम वटं जग्मुः कृष्णपुरोगमाः॥ २२॥**

**रामसंघट्टिनो [2]यर्हि श्रीदामवृषभादयः।**
**क्रीडायां जयिन [3]स्तांस्तान् कृष्णादयो नृप॥ २३॥**

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः।
वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणी सुतम्॥ २४॥

अविषह्यं मन्य मानः कृष्णं दानवपुङ्गवः।
वहन् द्रुततरं प्रागात् अवरोहणतः परम्॥ २५॥

1. A,B,J,K,W यात्रा° 2.A,V ये हि; M. ये तु 3. V °स्तंस्ते ह्यूहुः

**श्रीध० वहन्त** इति। वाह्यमानाः पृष्ठेनोह्यमानाः॥ २१ - २४॥

**अविषह्यमिति।** कृष्णदृष्टिवञ्चनाय अवरुह्यतेऽस्मिन्नित्यवरोहणं मर्यादा। ततः परं दूरमगात्॥ २५॥

**वीर०** [1]इत्थं भूत्वा वाह्यवाहकेति भावप्रधानो निर्देशः। वाह्यत्ववाहकत्वे लक्षणे फले यासु ताः वाह्या वाहकाश्च जयपराजय कृता यास्त्विति वा तथा भूताः विविधाः क्रीडाश्चेरुः। वाह्यवाहकलक्षणा इत्येतदेव विशदयति — **यत्रेति।** यत्र यासु क्रीडासु जेतार आरोहन्ति पराजितास्तु वहन्तीति॥ २१॥

एवं क्रीडायां जयेन [2]हेतुना वाह्यमानाः पराजयेन हेतुना वहन्तश्च गोधनं चारयन्तश्च कृष्णप्रभृतयो गोपाश्शनैः भाण्डीराख्यं वटं वृक्षं जग्मुः॥ २२॥

तत्र यर्हि यदा श्रीदामादयो राम संघट्टिनः क्रीडायां जिग्युः तदा तान् हे नृप! कृष्णादयः ऊहुः ऊढवन्तः॥ २३॥

तत्र भगवान् श्रीकृष्णः पराजितः श्रीदामानमुवाह, भद्रसेनस्तु वृषभं तथा श्रीकृष्णसंघट्टी प्रलम्बासरो रोहिणीसुतं बलदेवमुवाह॥ २४॥

तावद्रामसंघट्टी किं न बभूव प्रलम्ब इति इमामाशङ्कां निराकुर्वन् तं विशिनष्टि कृष्ण मविषह्यं सोढुं अशक्यं व्योमासुर वृत्तान्त स्मरणेन दुर्वहं मन्यमानः श्रीकृष्णसङ्घट्टी भूत्वा रामेण पराजितः तमेव उवाहेत्यर्थः। यद्यहं रामसंघट्टी भवेयं तर्हि यदा कृष्णेन पराजितः तं वहेयं तर्हि व्योमासुरवत् म्रियेयेत्यभिप्रायेण कृष्णसङ्घट्टी बभूवेत्यभिप्रायः। रोहिणी सुतं वहन् अवरुह्यतेऽस्मिन् इत्यवरोहणं मर्यादास्थानं ततः परं दूरं द्रुततरं यथा तथा प्रागात्॥ २५॥

1. A,B एवं 2. K,W omit हेतुना

**विज०** वाह्यवाहकत्वं विशदयति तत्रेति 'उवाह कृष्णो भगवान्' इत्यत्र व्यत्ययेननेतव्यः श्रीदामाकृष्णमुवाहेति कुत एवं विकल्प्यते, हरिवंशादि वचनात् — तथाप्ययं दुराग्रह इति न वक्तव्यं, बहुमानविरोधेतु व्यत्यासः शब्दतोऽर्थतः (ब्रह्मतर्के) इत्यादि निर्णयवचनात्॥ २१ - २४॥

प्रलम्बः कृष्णं विहाय राममवहत्। तत्र किं कारणमत्राह अविषह्यमिति॥ २५॥

**तमुद्वहन् धरणि[1] धरेन्द्रगोरवं महासुरोविगतरयो[2] निजंवपुः।**
**स आस्थितः पुरटपरिच्छदो बभौ तटिद्द्युमानुडुपतिमानिवाम्बुधः[3] ॥ २६॥**

**निरीक्ष्य तद्वपुरलमम्बरे चरत्[5] प्रदीप्तदृग्भ्रुकुटितटोग्रदंष्ट्रकम्[6]।**
**ज्वलच्छिखं कटककिरीट कुण्डलः विषाद्भुतं हलधर ईषदत्रसत्॥ २७॥**

**अथाऽऽगत स्मृतिरभयोरिपुं बलो विहायसार्थमिव[7] हरन्तमात्मनः।**
**रुषाऽहनच्छिरसि[8] दृढेन मुष्टिना सुराधिपो गिरिमिव वज्ररंहसा॥ २८॥**

**स आहतस्सपदि विशीर्णमस्तको[9] मुखाद्वमन् रुधिरमपस्मृतोऽसुरः।**
**महारवं व्यसुरपतत्समीरयन् गिरिर्यथा मघवत आयुधाहतः॥ २९॥**

**दृष्ट्वा प्रलम्बं निहतं बलेन बलशालिना।**
**गोपास्सुविस्मिता आ[10-] सन्साधु साध्विति वादिन[-10] ः॥ ३०॥**

**आशिषोऽभिगृणन्तस्तं[11] प्रशशंसुस्तदर्हणम्।**
**प्रेत्यागतमिवालिङ्ग्य प्रेमविह्वलचेतसः॥ ३१॥**

**पापे प्रलम्बे निहते देवाः परमनिर्वृताः।**
**अभ्यवर्षन् बलं माल्यैश्शशंसुस्साधुसाध्विति॥ ३२॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैय्यासिक्यां अष्टदशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धेपूर्वार्धे
प्रलम्बवधो नाम अष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

1. V °णी° 2. K,W विहत; V. निहत 3. A,B,G,J,M °डि° 4. B,G,J,V °वाडिवा° 5. A,V चरन्; M. चरं 6. V °ष्ट्रम् 7. M सोर्ध्वञ्च ह° K,W सार्थमपह° 8. V.W. °र° 9. K,M शीर्षको 10- -10. V आसन्नसाधुं साधुरूपिणम्; M. आसन्नसाधु साध्विति राविणः 11. A °श्च; M °स्ते

**श्रीध० तमिति।** धरणि[1]धरेन्द्रवत् गौरवं यस्य तं निजं आसुरं वपुः आ[2-]स्थित[-2]ः पुरटपरिच्छदः सुवर्णालङ्कारः तटिद्युमान् विद्युद्दीप्तिमान् इत्यलङ्कारोपमा। उडुपतिवाडिति रामोपमा। उडुपतिं वहतीत्युडुपतिवाट्[3]। यथोचितस्थानेषु स्थिता विद्युतो भवन्ति, उपरि च उडुपति तथा सोऽम्बुदो यथा भाति तद्वद्भा[4-]तीत्यर्थ[-4]ः ॥ २६ ॥

**निरीक्ष्येति।** अलं अतिवेगेन प्रदीप्ते दृशौ यस्मिन् वपुषि तत् भ्रुकुटि तट संलग्ना उग्र[5]दंष्ट्रा यस्मिन् तत्, प्रदीप्तदृक् भ्रुकुटितटं यस्मिन्, उग्राः दंष्ट्राः यस्मिन्, तच्च तच्चेति वा। ज्वलन्त्यः शिखाः केशाः यस्मिन् तत्॥ २७॥

अथेति। आगतस्मृति अभय इव आत्मनः सार्धं गोपसमूहं विहाय हरन्तं रिपुं अहनत्। यद्वा, विहायसा आकाशमार्गेण आत्मनः प्राप्तं अर्धमिव हरन्तमिति। वज्ररंहसा वज्र वेगेन मुष्टिना॥ २८॥

**स** इति। अपस्मृतः गतस्मृतिः महारवं समीरयन्॥ २९,३०॥

**अशिष** इति। तदर्हणं प्रशंसार्हम्॥ ३१,३२॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८॥

1. V °णी° 2- -2. V omits 3. A,B,J add यदि 4- -4. A,B,J द्वभावित्यर्थः। 5. A,B,J उग्रा

**वीर०** धरणीधरेन्द्रवत् पर्वतवत् गौरवं यस्य तं बलदेवं वहन् स महासुरः प्रलम्बः निहतरयो नष्टवेगः निजं स्वासाधारणं वपुरास्थितस्सन् स्वर्णालङ्कारः बभौ। तटिद्युमानित्यलङ्कारोपमा। उडुपातिमानिवेति रामोपमा। यदि यथोचितस्थानेषु विद्युतो भान्ति उपरि चोडुपतिः तदा सोऽम्बुदो यथा भवति तद्वत् बभावित्यर्थः ॥ २६॥

**निरीक्ष्येति।** हलधरः ब[1-]लदेवस्तु[-1] तद्वपुः निरीक्ष्य किञ्चिदबिभेत्। कथम्भूतम्? अम्बरे चरत् आकाशस्पर्शी अत्युन्नतमित्यर्थः। अलमतिवेगेन प्रदीप्ते दृशौ यस्मिन्। भकुटि तट लग्ना उग्रदंष्ट्रा यस्मिन्। तच्च तच्चेति वा। ज्वलन्त्यः शिखाः केशाः यस्मिन् कटकादीनां त्विषा अद्भुतं चित्रम्॥ २७॥

अथाऽऽगतस्मृतिः लब्धासुरस्वशक्यादिज्ञानः अतएवाभयः बलदेवः आत्मनः सार्थं सहायं गोप समूहं विहाय दूरतो हरन्तं रिपुं रुषा शिरसि दृढेन मुष्टिना जघान यथा सुराधिप इन्द्रो वज्ररंहसा वज्रवेगेन गिरि तद्वत्॥ २८॥

सोऽसुरः प्रलम्बः आहतः ताडितः सपद्येव भग्नशिराः मुखाद्रुधिरं वमन् उद्गिरन् अपस्मृतः अपगतं स्मृतं स्मृतिः यस्य सः। महारवं उच्चैः स्वरमीरयन् व्यसुर्गतप्राणो न्यपतत् यथा मघवतः इन्द्रस्य आयुधेन आहतोगिरिस्तद्वत्॥ २९॥

बलशालिना बलदेवेन हतं असुरं दृष्ट्वा विस्मिता बभूवुः ॥ ३०॥

आशिषः प्रयुञ्जानाः प्रशंसार्हं तं बलदेवं प्रशशंसुः मूर्तिं प्राप्य पुनरागतमिवालिङ्ग्य प्रेम्णा विक्लबानि अधृष्टानि चेतांसि येषां ते प्रशशंसुः इत्यन्वयः ॥ ३१ ॥

परमनिर्वृताः नितरां हृष्टाः [2]देवाश्च माल्यैः पुष्पैः बलदेवं [3-]पापे सर्वदुःखकरे प्रलम्बे निहते सति[-3] अभ्यवर्षन्। साधु साध्विति प्रशशंसुश्च ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्र चन्द्रिकायां
व्याख्यायां अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

1- -1. K,W omit 2. K,W omit देवाश्च 3- -3. W omits

**विज०** धरणि धरेन्द्रः पर्वतराजः तद्वत् गौरवं अतिभारवत्वं यस्य स तथा तं, पुरटपरिच्छदः स्वर्णालङ्कारः तडिता द्युमता आदित्येन च संयुक्तः तडिद्युमान् उडुपतिः चन्द्रः तद्वानम्बुद इतीयमाशङ्का अभूतोपमा। यद्वा तडिद्युमान् तडिता युक्तो मेघ [1-]इव, तत्र मेघस्थाने प्रलम्बः तडिस्थाने पुरटपरिच्छदः चन्द्रस्थानीयो रामः ॥ २६ ॥

अम्बरे चरमित्यलुक् ॥ २७ ॥

अथ कृष्णस्तवानन्तरं आगतस्मृतिः उपात्तमूलस्मरणः वज्ररंहसा वज्रवेगेन ॥ २८ ॥

महारवं समीरयन्, व्यसुः गतप्राणः ॥ २९ ॥

बलशालिना रामेण राविणः वादिनः ॥ ३०,३१ ॥

माल्यैः पुष्पैः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां
व्याख्यायां अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

(विजयध्वजरीत्या षोडशोऽध्यायः)

1- -1. A,B,M omit

# एकोनविंशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या सप्तदशोऽध्यायः)

### -: दवाग्निपानवृत्तान्तः :-

श्रीशुक उवाच

क्रीडासक्तेषु गोपेषु तद्गावो दूरचारिणीः ।
स्वैरं चरन्त्यो विवशुस्तृणलोभेन गह्वरम् ॥ १ ॥

अजा गोवो [1]महिष्यश्च [2]निविशन्त्यो वनाद्वनम् ।
[3]मुञ्जाटवीं [4]निविविशुः [5]क्रन्दन्त्यो [6]दावतर्षिताः ॥ २ ॥

तेऽपश्यन्तः पशून्गोपाः कृष्णरामादयस्तदा ।
जातानु[7]तापा [8]न विदुर्विचिन्वन्तो गवां गतिम् ॥ ३ ॥

तृणैस्तत्खुरदच्छिन्नैर्गोष्पदैरङ्कितैर्गवाम् ।
मार्गमन्वगमन्सर्वे [9]नष्टाजीव्या विचेतसः ॥ ४ ॥

मुञ्जाटव्यां भ्रष्टमार्गं क्रन्द[10]मानं स्व[11]गोधनम् ।
[12]अ प्राप्य तृषिताः [13]श्रान्तास्ततस्ते[14] संन्यवर्तयन् ॥ ५ ॥

1. K,W मुनुष्याश्च 2. A,B,G,J °र्वि° 3. A,B,G,J,K,W इषीका° 4. B,G,J निर्विविशुः ; A,K,W विविशुः 5. W क्रीडन्त्यो 6. W तापिताः 7. K,W कम्पा 8. V विविशुः 9. M नष्टजीवा 10. M °नाः 11. A च 12. A,B,G,J सम्प्राप्य 13. M याता° 14. V ° स्तेन न्यव°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ऊनविंशे निविष्टं तु गोपगोकुलमच्युतः ।
मुञ्जारण्यमरण्याग्नेररक्षत्तन्निपानतः ॥

क्रीडेति । दूरचारिणीः दूरचारिण्यः प्रथमार्थे द्वितीया ॥ १ ॥

**अजा** इति। वनाद्वनान्तरं निविशन्त्यो[2] दावेन तर्षिताः तृषिताः[3] क्रन्दन्त्य इषीकाटवीमत्युच्छ्रितघनतृणविशेषारण्यं निर्विविशुः[4] ॥ २ ॥

**त** इति। कृष्णरामौ आदी[5] येषां ते न तु तौ ॥ ३ ॥

**तृणैरिति**। तासां गावां खुरैः दद्भिश्च च्छिन्नैः तृणैः गोष्पदैरङ्कितैः भूप्रदेशैश्च गवां मार्गमन्वगमन्। नष्टाजीव्या गतजीविकासाधनाः ॥ ४ ॥

**मुञ्जाटव्यामिति**। मुञ्जाटव्यपि सैव इषीकाटवी[6] ॥ ५ ॥

1- -1. A,B,J,Va omit 2. A,B,J,Va निर्वि° 3. V omits तृषिताः 4- -4. V विविशुः 5. V आदौ 6- -6. V omits.

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ दवाग्निपानानन्तरं[1] श्रीकृष्णकर्मानुवर्णयितुं[2] तावत्[3] तत्प्राक्तनं[4] वृत्तान्तमाह **क्रीडेति**। प्रलम्बवधानन्तरमपीत्यादिः, गोपेषु क्रीडासक्तेषु सत्सु तेषां गावो दूरचारिण्यो यथेच्छं चरन्त्यः तृणलोभेन गह्वरं विविशुः ॥ १ ॥

तदेव प्रपञ्चयति - **अजा** इति। अजादयो वनाद्वनं विशन्त्यः दावेन तापेन तर्षिताः तृषिताः आक्रोशन्त्यः इषीकाटवीमत्युच्छ्रितसान्द्रतृणविशेषारण्यं विविशुः, इषीकाटव्येव पूर्वत्र गह्वरशब्दविवक्षिता[5] ॥ २ ॥

ततस्ते क्रीडासक्ताः कृष्णादयो गोपास्तदा पशून् अपश्यन्तोऽत एव जाता अनुकम्पा येषां तथाभूताः गवां गतिं गतिकृत खुरविन्यासात्मकं चिह्नं विचिन्वन्तोऽपि न विदुः न लक्षितवन्तः ॥ ३ ॥

ततः कथञ्चिल्लब्धैः तासां गावां खुरैः दद्भिः दन्तैश्च च्छिन्नैः तृणैः गोष्पदैश्च अङ्कितं गवां मार्गम् अन्वगमन् अनुसृत्य जग्मुः, ततः पुनरपि नष्टजीव्याः नष्टः लीनः आजीव्यः जीवनसाधनमार्गो येषां ते, अत एव विचेतसः विचाराक्रान्तचित्ताः ॥ ४ ॥

मुञ्जाटव्यां भ्रष्टो लीनः मार्गो यस्य तत्, क्रन्दमानं गोरूपधनमप्राप्य तृषिता अत एव श्रान्तास्ते गोपाः सन्न्यवर्तयन् प्रत्याजग्मुः अन्वेषणाद्विरेमिरे ॥ ५ ॥

1. K दा° 2. T,W omit श्रीकृष्ण 3. A,B वर्णितुं 4. A,B omit तत् 5. A,B,J,W गहन

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

स्वभक्तजनसंसारविनाशनं हरेरेव सुशकं नान्यस्येति निदर्शनाय दावाग्निपानप्रकटितमाहात्म्यमस्य वक्तुमुपक्रमतेऽस्मिन्नध्याये। तेषां गोपानां गावः दूरचारिणीः दूरगामिन्यः स्वैरं स्वेच्छया गह्वरं गम्भीरकक्षम्॥ १॥

मुञ्जाट ईषिकाटवीं शराटवीं वा उभयं च प्रचुरं तत्रेत्यर्थः। "शरो मुञ्ज इतीरितः" (हला.को. 2-36) इति हलायुधः। दावेन तापेन तर्षिताः जलं पातुकामाः॥ २॥

अपश्यन्तः, अनुतापः पश्चात्तापः, विचिन्वन्तः अन्वेषमाणाः॥ ३॥

तासां गवां खुरैः दद्भिः दन्तैः च्छिन्नैरङ्कितैः भूतलैः नष्टजीवाः जीवन्मृताः; विचेतस इतोगता। अत्र गता इति विविधबुद्धयः, वौ दैवे गतं चेतो येषां ते तथा ये दैवमेव चेतस वचसा च शरणं गच्छन्त इत्यर्थः॥ ४॥

भ्रष्टमार्गं मार्गं हित्वा इतस्ततो गतं ततो मुञ्जाटव्याः सन्न्यवर्तयन् गतमार्गमेव आगन्तुकामा अभवन्नित्यर्थः॥ ५॥

1. A इ°

★ ता आहूता भगवता मेघगम्भीरया गिरा
स्वनाम्नां निनदं श्रुत्वा प्रतिनेदुः प्रहर्हिताः॥ ६॥

ततस्समन्ताद्वनधूमकेतुर्यदृच्छयाऽभूत्क्षयकृद्वनौकसाम्।
समीरितस्सारथिनोल्बणोल्मुकैर्विलेलिहानः स्थिरजङ्गमान् महान्॥ ७॥

तमापतन्तं परितो दवाग्निं गोपास्सगावः प्रसमीक्ष्य भीताः।
ऊचुश्च कृष्णं सबलं प्रपन्ना यथा हरिं मृत्युभयार्दिता जानाः॥ ८॥

कृष्णकृष्ण! महावीर्य! हे रामाऽमितविक्रम!।
दवाग्निना दह्यमानान् प्रपन्नांस्त्रातुमर्हथः॥ ९॥

नूनं त्वद्बान्धवाः कृष्ण! न चार्हन्त्यवसादितुम्।
वयं हि सर्वधर्मज्ञ! त्वन्नाथास्त्वत्परायणाः॥ १०॥

★ कृष्णप्रोत्तुङ्गमारुह्य वृक्षं मेघनिभच्छविः। आर्तास्ता आह्वयामास दर्शयन्गास्स्वनामभिः॥ The above extra verse is found in B.K.V.W edns. and the same is not commented. 1. K,W °मं 2. A,B,G,J,M °श्च गा° 3. M ऊचुः स्म 4. M °तो ज° 5. G.J °वीर! 6. M °ऽमोघ° 7. A,B,G,J,M दा° 8. V. नार्हन्त्येवाव° 9. A,B,G,J,M °सी°

**श्रीध० तत** इति। वनौकसां गोगोपानां नाशहेतुः वनवह्निः सर्वतः प्रादुरभूत्। सारथिना वायुना॥ ६ - १०॥

1- -1. B,J,V,Va omit 2. V omits गो

**वीर०** तदा भगवता कर्त्रा मेघस्येव गम्भीरया गिरा आहूतास्ताः गावः स्वस्वनाम्नां ध्वनिमाकर्ण्य प्रहर्षिताः प्रतिदध्वनुः। ततः प्रतिनादेन गोधनानि संजग्मुरित्यर्थतोऽत्र विवक्षितम्॥ ६॥

ततस्तदा यदृच्छया महान् वनधूमकेतुः दवाग्निरभूदुदभवत्। कथम्भूतः? वनौकसां क्षयं नाशं करोतीति तथा सारथिना वायुना समीरितः उद्दीपितः उल्बणैरुल्मुकैः ज्वालायुक्तैः तृणकाष्ठादिभिः स्थावरजङ्गमात्मकं भूतजातं विलेलिहानः पुरः पुरः संस्पृशन्॥ ७॥

परित आपतन्तं व्याप्याऽऽगच्छन्तं दवाग्निमवलोक्य भीतास्सगावो गोपाः सरामं कृष्णं प्रपन्नाश्शरणं गताः ऊचुः। यथा मृत्युभयेन संसारभयेन अर्दिताः पीडिताः जनाः हरिमाश्रितबन्धहरं भगवन्तं प्रपन्नाः स्वदैन्यं विज्ञापयन्ति तद्वत्॥ ८॥

उक्तिमेवाऽऽह - **कृष्णेति** द्वाभ्याम्। त्वमेव बान्धवो येषां ते, अवसादितुं दुःखितुं नार्हन्त्येव नूनं ध्रुवम्। हे धर्मज्ञ! प्रपन्नपरिपालनात्मकधर्मज्ञ! वयं त्वमेव नाथो रक्षको येषां, त्वमेव परमयनं रक्षणोपायो येषां तथाभूताश्च॥ ९,१०॥

1. T,W omit वन 2- -2. T,W omit

**विज०** ततः कृष्णेन किमकारीति तत्राह - **ता** इति। प्रतिनेदुः प्रत्याक्रोशं चक्रुः॥ ६॥

संसारस्तु सदा दुःखाकर इति दर्शनार्थं एकदुःखशमनानन्तरं दुःखान्तरं वदति **तत** इति। ततः गोदर्शनानन्तरं धूमकेतुः अग्नि सारथिना वायुना समीरितः प्रेरितः वर्धितः उल्बणोल्मुकैः कूरतरज्वालाभिः स्थिरजङ्गमान् विलेलिहानः विशेषेणाऽऽस्वादयन्॥ ७॥

प्रपन्नाः शरणमिति शेषः॥ ८,९॥

नूनमिदानीम्॥ १०॥

**श्रीशुक उवाच**

**वचो निशम्य कृपणं बन्धूनां भगवान् हरिः।**
**निमीलयत मा भैष्ट लोचनानीत्यभाषत॥ ११॥**

तथेति मीलिताक्षेषु भगवानग्निमुल्बणम्।
पीत्वा मुखेन तान्कृच्छ्राद्योगाधीशो व्यमोचयत्॥ १२॥

ततश्च तेऽक्षीण्युन्मील्य पुनर्भाण्डीरमापिताः[1]।
निशाम्य[2] विस्मिता आसन्नात्मानं गाश्च मोचिताः॥ १३॥

कृष्णस्य योगवीर्यं तद्योगमायानुभावितम्[3]।
दवाग्नेरात्मनः[4] क्षेमं वीक्ष्य[5] तं[6] मेनिरेऽमरम्॥ १४॥

गास्सन्निवर्त्य[7] सायाह्ने सहरामो जनार्दनः।
वेणुं विरणयन्गोष्ठमगाद्गोपैरभिष्टुतः[8]॥ १५॥

गोपीनां परमानन्द[9] आसीद्गोविन्ददर्शने[10]।
क्षणं युगशतानीव[11-11] यासां येन विनाऽभवत्॥ १६॥ ★

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे एकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

(विजयध्वजरीत्या सप्तदशोऽध्यायः)

1. K,W मागताः ; M. माश्रिताः 2. M °श° 3. K,W °ताः। 4. A,B,G,J,M दा° 5. K,W °नां 6. B,G,J,M ते 7. K,W°पत्य 8. K,W °ष्टं प्रा° 9. W °न्दमा° 10. K,W °नम्। 11- -11. A,B,G,J युगशतमिव ; M. यथा युगशतं ★ श्रीविजयध्वजव्याख्यायां अस्यैवाध्यायस्य सम्बन्धित्वेन, अत्रैव योजितौ 17,18 संख्यान्वितौ 'तयो' रिति, 'गोपवृद्धौ' इति च आरभमाणौ द्वौ श्लोकौ श्रीधरीयव्याख्यायां श्रीवीरराघवीयव्याख्यायां च अनन्ताध्याये तद्रीत्या विंशे प्रथम द्वितीय श्लोकत्वे नोपात्तौ।

**श्रीध० वच** इति। कृच्छ्रात् गह्वरप्रवेशक्षुत्तृड्श्रमादिजनितात्[1]। तत्क्षणमेव[2] भाण्डीरं नीत्वा तान् अमोचयदित्यर्थः[2]॥ ११, १२॥

**तत** इति। क्षणेनैव भाण्डीरं प्रापिताः। ततोऽक्षीण्युन्मील्य विस्मिताः आसन्[3]॥ १३ - १६॥

★ श्रीदामादिस्वगोपानां स्वाङ्गमारुह्य हृष्यताम्। स्वैश्वर्यमाविरकरोद्वनवह्निनिपानतः॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
एकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

1. V omits क्षत् 2- -2. A,B,J,Va omit 3. A,B,J,Va omit आसन् ★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः ।

**वीर०** हरिः आश्रितार्तिहरो भगवान् कृपणं बन्धूनां वचो निशम्य आकर्ण्य मा भैष्ट भयं मा कुरुत, लोचनानि निमीलयत पिहितानि कुरुतेत्युवाच ॥ ११ ॥

तथेत्यङ्गीकृत्य सर्वेषु गोपेषु मीलितान्यक्षीणि यैस्तथाभूतेषु सत्सु भगवान् उल्बणमुत्कटमग्निं मुखेन पीत्वा, तत्र हेतुः योगाधीशः आश्चर्यशक्त्यात्मकयोगवतामधीशः, मुखेन पीत्वेत्यस्य उत्पत्तिस्थाने लीनं कृत्वा इत्यर्थः । "मुखादिन्द्र श्चाग्निश्च" (पु.सू. 1-6) इति श्रुतिः । कृच्छ्रात् दवाग्निजा दुःखात् सगोधनान् गोपान् अमोचयत् ॥ १२ ॥

ततस्ते गोपाः लोचनान्युन्मील्य पुनर्भाण्डीरं प्रत्यागताः आत्मानम् आत्मनः प्रत्येकाभिप्रायकमेकवचनम्[1] । तथा मोचिता गाश्च आलोक्य विस्मिता आसन् ॥ १३ ॥

ततस्तस्य कृष्णस्य योगमायया आश्चर्यशक्तिरूपया अनुभाविताः तत्प्रभावविषयीकृताः तस्य[2] कृष्णस्य योगात्मकं वीर्यं दवाग्नेरात्मनां क्षेमं च वीक्ष्य तं कृष्णममरं दैवतं मेनिरे ॥ १४ ॥

ततस्सायाह्ने गास्सन्निपत्य सङ्गीकृत्य सरामः कृष्णो वेणुं वि[3]रणयन्[-3] वादयन् गोपैरभिष्टुतो गोष्ठं प्रागात् ॥ १५ ॥

तदा गोविन्दस्य दर्शनं गोपीनां यशोदादीनां परमानन्दकरमासीत् । तत्र हेतुं वदन् दर्शनं[4] विशिनष्टि । यासां गोपीनां येन कृष्णेन विना क्षणमपि युगशतमिवाभवत्, अतः तद्दर्शनं परमानन्दकरं बभूव[5] ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

1. K,T,W omit क 2. T,W omit तस्य 3- -3. K,T,W omit 4. K,T,W omit दर्शनं 5. A,B add इत्यर्थः ।

**विज०** योगमायानुभावितं स्वरूपसामर्थ्येन प्रभावितं अमरं जरामरणशून्यं नारायणं मेनिरे ॥ ११ - १४ ॥

सायाह्ने सन्ध्याकाले ॥ १५ ॥

यथा यावान् युगशतं कालः यासां गोपीनां येन गोविन्ददर्शनेन विना क्षणः कालः तावान् अभवत् ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

(विजयध्वजरीत्या सप्तदशोऽध्यायः)

# विंशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या अष्टादशोऽध्यायः)

### -: वर्षर्तुवर्णन घट्टः :-

### श्रीशुक उवाच

★ तयोस्तदद्भुतं कर्म दवाग्नेर्मोक्षमात्मनः[1] ।
गोपास्स्त्रीभ्यस्समाचख्युः प्रलम्बवधमेव च ॥ १ ॥

गोपवृद्धाश्च[2] गोप्यश्च तदुपाकर्ण्य विस्मिताः ।
मेनिरे देवप्रवरौ रामकृष्णौ व्रजं गतौ ॥ २ ॥

ततः प्रावर्तत प्रावृट् सर्वसत्त्वसमुद्भवा ।
विद्योतमानपरिधिः विष्फूर्जित[3] नभस्स्थला[4] ॥ ३ ॥

सान्द्रनीलाम्बुदैर्व्योम सविद्युत्स्तनयित्नुभिः ।
अस्पृष्टज्योतिराच्छन्नं ब्रह्मेव सगुणं बभौ ॥ ४ ॥

अष्टौ[5] मासान्निपीतं यद्भूम्यामुदमयं[6] वसु ।
स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते ॥ ५ ॥

★ अत्रत्यौ द्वौ श्लोकौ (१, २) विजयध्वजरीत्या पूर्वाध्यायस्य अन्तिम श्लोकौ भवतः ।

1. A,B,G,J,M,Ma दा° 2. V °पा° 3. A,B,G,J,M,Ma,V °स्फू° 4. A,B,G,J,M,Ma °भस्त° 5. G अष्ट 6. A,B,G,J °श्रोद°

### श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

विंशे प्रावृट्छरच्छोभा वर्णनेन वनोचिताः ।
प्रावृट्क्रीडा निरूप्यन्ते गोपरामयुजो हरेः ॥

हेयादेयोपमानेन प्रावृट्छरदृतुश्रियोः ।
वर्णनं त्वद्भुतैश्वर्य कृष्णलीला विवक्षया ॥

तत्र प्रावृट् वर्णनं - **तत** इत्यादि द्वाविंशत्या। सर्वेषां प्राणिनां समुद्भवः उत्पत्तितः जीवनतश्च यस्यां सा। प्रावृट् विद्योतमानाः परिधयः परिवेषादिशोभाः यस्यां सा, विष्फूर्जितं[1] संक्षुभितं नभःस्थलं च यस्यां सा॥ १ - ३॥

**सान्द्रेति।** सान्द्रैः निबिडैः नीलाम्बुदैः विद्युद्गर्जितसहितैः आच्छन्नं सगुणं गुणैराच्छन्नं जीवाख्यं विद्युद्गर्जिताम्बुदानां सत्त्वरजस्तमोभिरुपमा॥ ४॥

**अष्टाविति।** पर्जन्यः सूर्यः स्वगोभिः निजरश्मिभिः[2] काले यथोचित समये। अत्र राजोपमा, करादानतः समये पुनर्दानतश्च सूचिता॥ ५॥

1. A,B,J,P °स्फू° 2. P.V omit निज

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं वसन्तग्रीष्मयोः भगवतः क्रीडा अनुवर्णिताः। अथ प्रावृट् छरदो स्ता अनुवर्णयितुं दृष्टान्तैस्तैस्तावत्[1] देयोपादेयविभागं प्रदर्शयन्नेव प्रावृषं[2] तात्कालिकान् कांश्चिद्विहारांश्च अनुवर्णयति विंशेनाध्यायेन[3]। तावत् प्रथमं[4] भगवत्क्रीडा[4] वृत्तशेषमाह - **तयोरिति** द्वाभ्याम्। अत्मनः आत्मनां, दवाग्नेः मोक्षणात्मकं तद्रामकृष्णयोः अद्भुतं कर्म प्रलम्बवधं च गोपाः स्त्रीभ्यो यशोदादिभ्यः कथयामासुः॥ १॥

तद्गोपबालैः उक्तमाकर्ण्य विस्मिता गोपवृद्धाः नन्दादयः[5] गोप्यश्च रामकृष्णौ व्रजं गतौ देवश्रेष्ठौ मेनिरे देवश्रेष्ठावेव रामकृष्णरूपेण व्रजे जनितौ[6] इत्यमन्यन्तेत्यर्थः॥ २॥

ततः प्रावृड् वर्षऋतुः[7] प्रार्वतत[7]। प्रावृषं विशिनष्टि सर्वेषां प्राणिनां समुद्भवः उत्पत्तितो जीवनतश्च यस्यां विद्योतमानाः[8] विद्युद्भिः द्योतमानाः[8] परिधयो दिशो यस्यां विस्फूर्जितं वज्रनिर्घृष्टं नभस्स्थलं यस्यां सा प्रावृट् प्रावर्ततेत्यन्वयः॥ ३॥

**सान्द्रेति।** सान्द्रैः निबिडैः नीलाम्बुदैः विद्युद्गर्जितसहितैः आच्छन्नमत एव अस्पष्टानि[9] ज्योतींषि सूर्यचन्द्रादीनि यस्मिन् तद्व्योम सगुणं ब्रह्मेव बभौ, यथा प्रकृत्या तिरोहितं ज्योतिः ज्ञानरूपत्वात् विषय प्रकाशक धर्मभूतज्ञानं यस्य तत् सगुणं, ब्रह्मा गुणत्रयवश्यं ब्रह्मागुणतो बृहत्त्वार्हं जीवस्वरूपं भाति तद्वदित्यर्थः। अनेन आकाशस्य यावच्छरदं नीलाम्बुद

विद्युत्स्तनयितृसम्बन्ध वज्जीवस्य यावन्मुक्ति, गुणवश्यत्वं सूर्यादिज्योति स्थानीयधर्मभूतज्ञानस्य सङ्कोचेन प्रसराभावः। व्योमवत्स्वतो निर्मलस्य आगन्तुकमालिन्यं चेति तदपनोदक मोक्षोपाये यतितव्यमित्यभिप्रेतम्, ब्रह्मशब्देन मुक्तिदशायां ज्ञानद्वारा बृहत्वमस्तीति सूचितम्॥ ४॥

**अष्टाविति।** यत् अष्टौ मासान् अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। कार्तिकादारभ्य यावज्ज्येष्ठं स्वगोभिः स्वकिरणैः नितरां पीतं गृहीतं उदकात्मकं वसु धनं तत्स्वगोभि रेव पुनरुचितकाले आगते प्राप्ते सति मोक्तुं पर्जन्यो वर्षाधिदेवः सूर्यः प्रारेभे। अनेन राज्याधिकृतः शिक्षितः पर्जन्यवत् यथोचित[10] काले प्रजाभ्यो धनानि गृहीत्वा पुनरर्थिभ्यो दद्यादिति, यावज्ज्ञानोदयं गृहीतान् कामान् सति ज्ञानोदये जह्यादिति मुमुक्षुशिक्षा वा॥ ५॥

1. K,T,W omit तैः 2. A,B प्रावृड्तुं 3. K,T,W omit अध्यायेन 4- -4. K,T,W omit 5. K,T,W omit नन्दादयः 6. A,B जातौ 7- -7. A °तुं तं -8 -8. K,W omit 9. A,B °स्पृ° 10. A,B °तं कालेषु

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

किं तत् कर्मेति तत्राह - दावाग्नेरिति। चशब्दः समुच्चये। दावाग्निमोक्षं प्रलम्बवधं चेति द्वयमेवेत्यर्थः॥ १॥

एकश्चशब्दः समाहारे "चोन्वाचये समाहारे" (वैज.को. 8-7-4) इति यादवः। व्रजं गतौ कृष्णरामौ देव प्रवरौ मेनिरे इत्यन्वयः॥ २॥

नारायण भक्ति वैशद्याऽवैशद्यदृष्टान्तत्वेन प्रावृट् ऋतुं वर्णयत्यस्मिन्नध्याये। ततः ग्रीष्मर्त्वनन्तरं सर्वेषां सत्त्वानां स्थावरजङ्गमलक्षणानां पदार्थानां समुद्भवो यस्यां सा तथा। "सत्त्वं द्रव्ये सत्ता स्वभावयोः"(वैज.को. 6-5-94) इतिः यादवः। विद्योतमानाः तडिदन्तरे प्रकाशमानाः परिधयः परिवेषा यस्यां सा तथा। विस्फूर्जितं अशनिगर्जनोपेतं नभस्तलं यस्याम्। एवंविधा प्रावृट् प्रावर्तत इत्यन्वयः॥ ३॥

प्रावृड्गुणान्तरं दर्शयति - **सान्द्रेति।** जलेन सान्द्रनीलाम्बुदैराच्छन्नं व्योम नभो बभौ। विद्युता स्तनयित्नुना गर्जितेन सहितैः अत एवास्पष्ट सूर्यज्योतिः। "परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्" (प्रश्न.उ.1-8) इति श्रुतिः। कथमिव? सगुणं चतुर्मुखारव्ये ब्रह्मेव॥ ४॥

अष्टौ मासानिति द्वितीया सप्तम्यर्थे "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" (अष्टा.2-3-5) इति सूत्रात् संवत्सरमधीते, क्रोशं कुटिला नदीति प्रयोगः। उदमयं जलात्मकं वसु वस्तु भूम्यां विद्यमानं स्वगोभिः स्वरश्मिभिः पीतं ताभिरेव मोक्तुं

प्रारब्धवान् पर्जन्यो गर्जन्मेघः अभिमन्यमानेनाभिमानी सविता लक्ष्यते। "पर्जन्यो गर्जदभ्रेऽध्वाने शक्रेऽस्त्रयन्त्रके" (वैज.को.7-1-42) इति। स्वगोभिः इत्युक्त्या सवितेति गम्यते। "अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते आदित्या ज्जायतेगा वृष्टिर्वृष्टिरन्नं ततः प्रजाः" (मैत्र.उ. 6-37) इति च॥५॥

तटित्वन्तो[1] महामेघाश्चण्डश्वसनवेपिताः।
प्राणिनां[2] जीवनं ह्यम्बु[3] मुमुचुः करुणा इव॥६॥

तपःकृशा देवमीढा आसीद्वर्षीयसी[4] मही।
यथैव काम्यतपसस्तनुस्[5]सम्प्राप्य तत्फलम्॥७॥

निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति न ग्रहाः।
यथा पापेन पाषण्डा[6] नहि वेदाः कलौ युगे॥८॥

श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन् गिरः।
तूष्णीं शयानाः प्राग्यद्वद्ब्राह्मणा नियमात्यये॥९॥

आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः[7-7]।
पुंसो यथा स्वतन्त्रस्य गेहे[8] द्रविण सम्पदः[9]॥१०॥

1. A,B,G,J,M,Ma °डि° 2. A,B,G,J प्रीणनं; V प्राणनं 3. A,B,G,J ह्यस्य; V चास्य 4. V ह्यासी° 5. A °नू° 6. G,J,M,Ma °ख° 7- -7. K,T,W° ऽम्बुपूरिताः 8. A,B,G,J,K देह°; M,Ma देहो; T,W गेह° 9. M,Ma °दा।

**श्रीध० तटित्वन्त** इति। अस्य विश्वस्य, प्राणनं[1] आप्यायनकरं, जीवनमुदकं मुमुचुः। कृपालवः यथा तप्तं जनं निरीक्ष्य अनुकम्पमानाः तदाप्यायनाय स्वजीवनमपि त्यजन्ति। तद्वन्महान्तो मेघाः तटिन्नेत्रैः तप्तं विश्वं निरीक्ष्य, वायुभिर्वेपिताः जीवनं मुमुचुरिति॥६॥

**तत** इति। तपसा ग्रीष्मेण कृशा देवमीढा पर्जन्यसिक्ता। 'मिह[2-] सेचने' इति धातुः[-2]। वर्षीयसी उच्छ्रूना पुष्टा काम्यं तपो यस्य तस्य। तनुः कामान् संप्राप्य यथेति साऽपि[3-] देवैः फलदानेन सिक्ता[-3] ॥७,८॥

**श्रुत्वेति। नियमात्यये**[4-] नित्यकर्मावसाने आचार्यनिनदं[5] श्रुत्वा तच्छिष्याः यथा अधीयते तद्वदिति॥९॥

**आसन्निति।** अनुशुष्यतीः अनुशुष्यन्त्यः। अस्वतन्त्रस्य इन्द्रियपरतन्त्रस्य स्वतन्त्रस्य [6-]इति च्छेदे[-6] निरङ्कुशस्य[7] त्यर्थः ॥१०॥

1. A,B,J प्री° 2- -2. A,B,J omit 3- -3. B,J,P,V omit 4- -4. A,B,J omit 5. P.V निगमं 6- -6. A,B,J omit 7. A,B,J °स्येति वा॥ २०॥

**वीर० तटित्वन्त**[1] इति। चण्डश्वसनेन तीव्रवायुना कम्पिताः मेघाः प्राणिनां जीवनं जीवनसाधनं अम्बु जलम्। करुणा इत्यर्श आद्यजन्तः करुणावन्त इव मुमुचुः, प्राणसञ्जीवनं[2] ह्यस्य मुमुचुरिति[3] पाठान्तरम्। तदा अस्य विश्वस्य प्राणसञ्जीवन[4] करं जीवनं जलं करुणा इव मुमुचुः इत्यर्थः। अनेन दुःखितं जनमवलोक्य मेघवच्छ्वासेन कम्पितगात्राः[5] करुणावन्तश्च स्वजीवन पर्यन्तदानेन उपकुर्युरिति शिक्षा[6] कृता॥ ६॥

**तपः**कृशेति। तपसा ग्रीष्मेण कृशा शुष्का देवेन पर्जन्येन मीढा सिक्ता भूमिः वर्षीयसी प्रवृद्धा बभूव। सस्यादि सम्पन्ना बभूवेत्यर्थः। यथा काम्यं तपो यस्य तस्य पुंसः तनुः तावत् तपोदशायां कृशा सती तत्फलं काम्यतपःफलं प्राप्य परिपुष्टा भवति[7]। अनेन काम्यस्य[8] तपसः केवलं देवसुखसाधनत्वमेव, न तु आत्मसुखसाधनत्वमिति शिक्षितम्॥ ७॥

**निशामुखेष्विति।** निशामुखेषु सा[9-]यंकालेषु[-9] खद्योता ते[10-]जोविशिष्टा कीटविशेषा[-10] एव भान्ति त[11-]त्र हेतुः तमसेति। एतेन दिवसे तेषां शोभा नास्तीति भाव[-11]ः। न तु ग्रहाश्चन्द्रगु[12]रुशुक्रादयः मेघकृततमोवृतत्वात् गगनस्येत्यर्थः। यथा कलौ युगे पापेन पा[13]पप्रचुरेण पाषण्डा वेदविरुद्धा आगमा एव भान्ति, न तु वेदाः[14] अनेन वैदिकधर्माभासरुचिः पापहेतुकेति सूचितम्॥ ८॥

**श्रुत्वेति।** पर्जन्यस्य निनदं गर्जितम् आकर्ण्य मण्डूकाः भे[15]काः गिरं व्यसृजन् ध्वनिं चक्रुः। यथा ब्राह्मणाः शिष्याः, आचार्यस्य नित्यकर्मणः प्राक् तूष्णीं शयानाः तस्य नियमात्यये नित्यकर्मावसाने तस्य ध्वनिं श्रुत्वा अधीयते तद्वत्। अनेन आचार्यसन्निधौ अध्ययनावसरं प्रतीक्षमाण[16] असीतेति सूचितम्॥ ९॥

**आसन्निति।** अम्बुभिः वर्षजलैः पूरिता क्षुद्रनद्यः उत्पथवाहिन्यः आसन् "क्षुद्रा नद्यः न शुष्यतीः" इति पाठे शोषरहितास्सत्यः उत्पथवाहिन्य; आसन्नित्यर्थः। 'अनुशुष्यतीः' इत्यपि पाठः। तदा आसन्नशोषा इत्यर्थः। उभयत्रापि विभक्तिव्यत्यय आर्षः। यथा अस्वतन्त्रस्य इन्द्रियपरवशस्य पुंसो गेहद्रव्यसमृद्धयः, न शुष्यन्त्यः दानभोगयोरभावात्। यद्वा अनुशुष्यन्त्यः धर्मानुपयुक्तत्वेनेति भावः। जितेन्द्रियस्य तु दानभोगाभ्यां शुष्यन्त्यः धर्मोपयोगद्वारा आसन्न शोषाश्च।

द्रव्यसम्पदां शोषो नाम, तद्व्यय एव। अम्बुपूरिता इति पाठे तु अजितेन्द्रियस्य, यथा द्रव्यसम्पदः वराटिकापर्यन्तैः अप्यार्जनैः पूरिताः ततः पुनः वृद्ध्यादिभिः निन्दितैः वर्धन्त एव। अपात्र गामिन्यो वा, तद्वदित्यर्थः। अनेनैवास्वतन्त्रेन्द्रियसम्पदश्चला व्यर्थाश्चेति सूचितम्॥ १०॥

1. A,B तडि° 2. K °नं जी° 3. A,B omit मुमुचुः 4. K °नं जी° 5. A,B °तान्तःकरणाः 6. W शीक्षा 7. A,B,K add तद्वत् 8. A,B °म्यत° 9- -9. T,W omit 10- -10. T,W omit 11- -11. T.W omit 12. A,B omit गुरु 13. K,T,W omit पापप्रचुरेण 14. A,B add भान्ति। तद्वत् 15. T,W omit भेकाः 16. A,B add तूष्णीं

**विज०** प्रचण्डश्वसनवेपिताः कम्पिताः जीवनं जीवनसाधनम्। करुणयन्तीति करुणाः। यद्वा कृष्णस्य करुणा इव। अनेन भक्तिसामग्रीमतां ज्ञानाम्बु वर्षन्ति कृष्णकटाक्षा इति सूचितं भवति॥ ६॥

ग्रीष्मे तपःकृशा सूर्यातपेन कार्श्यं गता, देवेन सवित्रा मीढा सेचिता वर्षीयसी वृद्धा अतिवृद्धिं गता। का इव? काम्यतपसः पुंसः तनुः तत्फलं काम्यतपःफलं प्राप्य सम्पदा वर्धते। अनेन प्रवृत्तिप्रकारमार्गो दर्शितः॥ ७॥

निशामुखेषु सन्ध्यासु सूर्यादिग्रहाः न भान्ति पापेन कर्मणा। अनेन दुर्जनवृद्ध्या सज्जनाभिभवो दर्शितः॥ ८॥

पर्जन्यनिनदं मन्दगर्जन्मेघनादं प्राक् पूर्वं तूष्णीं शयानाः मण्डूकाः नियमो नाम मौनेन जपादिकः तस्यात्यये अवसाने वेदाध्ययनशीला भवन्ति। अनेन विष्ण्वनुग्रहम् आकाङ्क्षमाणैः कालो वन्ध्यो न कर्तव्य इति दर्शितम्॥ ९॥

ग्रीष्मे शुष्यन्तीः शोषं गच्छन्त्यः क्षुद्रनद्यः फल्गुजलाः अनु ग्रीष्मानन्तरं वर्षासु उत्पथवाहिन्यः जलाभिवृद्ध्या तीरमुद्रिच्य स्यन्दमाना[1] बभूवुः। अस्वतन्त्रस्य विषयरागादिवशङ्गतस्य पुंसो देहो वनितादिभोगेन वर्धते। अनेन रजोगुणस्वभावः सूचितः॥ १०॥

1. A,B स्प°

**हरिता[1] हरिभिश्शष्पैः इन्द्रगोपैश्च लोहिता।**
**उच्छिलीन्ध्रकृतच्छाया नृणां श्रीरिव भूरभूत्॥ ११॥**

**क्षेत्राणि सस्यसम्पद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः।**
**मानिनाम[2]नुतापश्च[3] दैवाधीनम[4]जानताम्[5]॥ १२॥**

जलस्थलौकसस्सर्वे नववारिनिषेवया।
अबिभ्रन्[6] रुचिरं रूपं यथा हरिनिषेवया॥ १३॥

सरिद्भिः सङ्गतः[7] सिन्धुश्चुक्षोभ[8] श्वसनोर्मिमान्।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामार्त्तं[9] गुणयुग्यथा॥ १४॥

गिरयो वर्षधाराभिः हन्यमाना न विव्यथुः।
अभिभूयमाना व्यसनैः यथाऽधोक्षजचेतसः॥ १५॥

1. T,W °तो 2. B,G,J ध° 3. A,B,G,J मुप° 4. M,Ma °पं वा 5. M,Ma विपत्तिं तदजा° 6. A,B,G,J °त् 7. K,T,W संश्रितः 8. B,G,J °श्चुक्षुभे° 9. A,B,G,J,K,V °क्तं°

**श्रीध० हरितेति।** हरिभिः नीलैः शष्पैः बालतृणैः नीलवर्णा क्वचित्[1] क्वचिदिन्द्रगोपैः लोहितवर्ण[2] कीटविशेषैः लोहिता आरक्ता[3] तत्र तत्र उच्छलीन्ध्रैश्छत्राकारैः उद्भिदैः[4]। कृतच्छाया भूनृणां[5] राज्ञां श्रीः सेनारूपा[6] सम्पदिव॥ ११॥

**क्षेत्राणीति।** तथा हि वृष्टेरविच्छेदे लसन्तः प्रियङ्ग्वादयः मुदं ददुरिति[7] विच्छेदे शुष्यन्तो अनुतापं चेति॥ १२॥

**जलेति।** अबिभ्रन्[8] अभिभरुः यथा हरिनिषेवयेति। हरिनिषेवायां[9] प्रवृत्ता हि सद्य एव सर्वे रुचिरा भवन्ति। तस्याः परमधर्मत्वात् परमसुखत्वाच्च तद्वदिति॥ १३॥

**सरिद्भिरिति।** कामाक्तं कामवासनायुक्तमिति श्वसनोर्मि साम्यं, गुणैः विषयैः युज्यत इति सरित्सङ्गतिसाम्यम्॥ १४॥

**गिरय** इति। अधोक्षज एव चेतो येषां ते॥ १५॥

1. A,B,J omit क्वचित् 2. B,J,P,V omit लोहितवर्णा 3. A,B,J omit आरक्ता 4. P.V पुष्पैः 5. B,J,P,V omit भू 6. B,J,P,V omit रूपा 7. A,B,J ददति 8. A,B,J °त् 9. A,B,J °सेवा°

**वीर० हरितेति**। भूमिः हरिभिः हरित वर्णैः शष्पैः बालतृणैः हरित वर्णा इन्द्रगोपैः कीटविशेषैः लोहिता, उद्गतैः शिलीन्द्रकुसुमैः कृतच्छाया, लोहितपीतवर्णा च बभूव। नृणां श्रीरिव, यथा नृणां राज्ञां श्रीः सेनासम्पत् हरितलोहितपीतवर्णपटैः विचित्र वर्णा भवति, तद्वत् इदं वास्तवार्थकथनम्। यद्वा नृणां स्वदेहालङ्कारमात्रपराणां श्रीः वस्त्राभरणादि सम्पत् तथेत्यर्थः। अनेन मूर्खाणां सम्पत् स्वोपकारमात्र पर्यवसन्ना न तु परोपकारार्थेति सूचितम्॥ ११॥

**क्षेत्राणीति**। क्षेत्राणि सस्यसमृद्धिभिः कृषीवलानां मुदं फलमदृष्टाधीनमित्यजानतां मानिनां फलसमृद्धिद्वेषिणां अनुतापं च ददुः। अनेन परसमृद्धिं[1] दृष्ट्वा हर्षवता[-1] भवितव्यमिति शिक्षितम्॥ १२॥

**जलस्थलौकस** इति। जलौकसः स्थलौकसश्च[2] सर्वे नवस्य[3] वारिणो निषेवया रुचिरं रूपं अबिभ्रन् अभिभरुः। संज्ञापूर्वकविधेः अनित्यत्वात् आर्षत्वाद्वा अभ्यस्तलक्षणजुसभावः यथा हृदय कमलस्थ हरिनिषेवया रुचिरं रूपं बिभ्रति तद्वत्। "वसतिहृदि सनातने च तस्मिन् भवति पुमान् जातोऽस्य सौम्यरूपः इति वचनार्थोऽत्रोक्तः। अनेन[4] हरिसेवया विना न सौम्यतेति सूचितम्॥ १३॥

**सरिद्भिरिति**। सिन्धुस्समुद्रस्सरिद्भिः सङ्गतो वातोद्धूत तरङ्गश्च। चुक्षोभ[5] सञ्चचाल, यथा अपक्वयोगिनः अनिष्पन्नसमाधेः पुंसः चित्तं विषयस्पृहायुक्तं गुणयुक्त्व गुणैर्विषयै र्युज्यत इति तथा भूतं च सत् क्षुभ्यति तद्वत्। कामासक्तमिति श्वसनोर्मिसाम्यं, गुणयुगिति श्वसनोर्मिसरित्सङ्गसाम्यं चित्तचाञ्चल्यनिमित्तकामाञ्जनगुणयोगनिवर्तक भगवत्तमाधिविपाकार्थं यतितव्यमिति सूचितम्॥ १४॥

**गिरय** इति। वर्षधाराभिरभिहन्यमाना अपि[6] गिरयो न विव्यथुः यथा अधोक्षजे एव चेतांसि येषां ते, व्यसनैः आध्यात्मिकादि तापैः पीडचमाना अपि न व्यथन्ति तद्वत्। भगवद्भक्तिरेव तापत्रयविघातिनीत्युक्तं भवति॥ १५॥

1- -1. T,W ° द्विमता° 2. A,B add ते 3. A,B add नूतनस्य 4. T,W omit अनेन 5. A,B चुक्षुभे 6. K,T,W omit अपि

**विज०** हरिभिः श्यामैः शष्पैः बालतृणैः हरिता श्यामला इन्द्रगोपैः आषाढसमये उत्पद्यमानैः जपाकुसुमवर्णैः कृमिविशेषैः लोहिता रक्ता च उत्कृष्टैः उत्पलैः शिलीन्ध्रैः गुल्मविशेषपुष्पैः छत्राकै र्वा कृतच्छाया कृतशोभा भूः नृणां श्रीरिव सम्पदिव बहुविधाऽभूत् इत्यर्थः। अनेन भूमिवदेक एव चेतनो गुणविकारेण नानास्वभावमापन्न इव प्रतीयत इति संसारस्य असारत्वज्ञानेन हेयत्वेन हरौ भक्तिः कर्तव्येति सूच्यते॥ ११॥

कर्षकाणामुल्लेखनादि क्रियया वर्तमानानां क्षेत्राणि केदाराः सस्यानां सम्पद्भिः फलोद्रेकाभिमुखलक्षणाभिर्मुदं ददुः। वाशब्दः चार्थे। तदजानतां कृषिक्रियाविशेषमजानतां मानिनां कृष्याद्यभिमानवतां पुंसां तान्येव क्षेत्राणि अतिवृष्टचनावृष्टि

मेदुरसामग्र्याद्यभावादिना सस्यनाशेन विपत्तिमनुतापञ्च ददुः। पुनरुत्पत्तिनाशेन बीजं नष्टमित्यनुतापम्। इन्द्रियाणि विषय जलादाकृष्य हरिचरणारविन्द एव मनो निदधतां क्षेत्राणि पुण्यस्थानानि सस्यसम्पद्भिः ज्ञानसमुद्रैकैः मुदं ददति, तान्येव पुण्यस्थानानि तदजानतां स्नानादिक्रियाविशेषमबुध्यमानानां मानिनां अहङ्कारिणां पुंसां अयोग्यानां विपत्तिं दुःखलक्षणां बहुलवित्तव्ययेन न किमपि फलं प्राप्तं इत्यनुतापं च ददतीत्यतो मुमुक्षुणा स्वयं विचक्षणेभ्यो वा श्रुत्वा ज्ञात्वा हरिचरणसरोजे भक्तिः कर्तव्येति सूचितम्॥ १२॥

जलौकसः पातालवासिनः, स्थलौकसः भूलोक वासिनः, किञ्च सर्वे अन्तरिक्षादिलोकवासिनः। सर्वेषां संसारदुःखं निवारयतीति वारि ज्ञानं नवं निर्दोषं वारि तस्य नितरां सेवया अभ्यासलक्षणया रुचिरं निर्दोषं रूपमबिभ्रन् बिभ्रति कथङ्कारं जातया यथा यथावद्धरिनिषेक्या जातया॥ १३॥

अपक्वयोगिनः अपक्वः परिपाकमप्राप्तः योगोऽस्यास्तीति अपक्वयोगी तस्य, गुणयुक् रजोगुणयुक्। यद्वा गुणेषु विषयेषु युङ्क्ते इति। अत एव कामार्तम्॥ १४॥

न विव्यथुः न विलीना बभूवुः। कुतः? गिरयः गिरणोद्गिरणसमर्थत्वात् यथाभावमात्रे निदर्शनं न तु बुद्धिमत्वाबुद्धिमत्त्वविवक्षायाम्। अनेन सर्वसहनशक्तिः हरि भक्तानामेवेति दर्शितम्॥ १५॥

**मार्गा बभूवुस्सन्दिग्धास्तृणैश्च्छन्ना असंस्कृताः।**
**नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता इव॥ १६॥**

**लोक बन्धुषु मेघेषु विद्युतश्चल सौहृदाः।**
**स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्विव॥ १७॥**

**धनुर्वियति माहेन्द्रं निर्गुणं च गुणिन्यभात्।**
**व्यक्ते गुणव्यतिकरेऽगुणवान् पुरुषो यथा॥ १८॥**

**स रराजोडुपश्च्छन्नः स्वज्योत्स्नाराजितैर्घनैः।**
**अहम्मत्या भासितया स्वभासा पुरुषो यथा॥ १९॥**

**मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दन् शिखण्डिनः।**
**गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाऽच्युतजनागमे॥ २०॥**

1. A,B,G,J ह्यसं° 2. M,Ma °श्रिता ः 3- -3. K. कालेन चाऽहता ; T.W कालाहता इव। 4. M,Ma °रे गु° 5. V °रञ्जि° 6. K,T,W तप्त

**श्रीध० मार्गा** इति। असंस्कृताः अक्षुण्णाः, नाभ्यस्यमाना इत्यसंस्कृतसाम्यं, कालोन[1] हता इति तृणाच्छादनसाम्यम्॥ १६॥

**लोकबन्धुष्विति।** यथा कामिन्यः पुंश्चल्यः॥ १७॥

**धनुरिति।** निर्गुणं ज्यारहितं [2] गुणिनि [3]गर्जनशब्दवति [4]वियति। अभात् अशोभत। गुणव्यतिकरात्मके[5] व्यक्ते प्रपञ्चे अगुणवान् निर्गुणः पुरुषो यथेति॥ १८॥

**नेति।** स्वभासा भासितया अहम्मत्येति। स्वचैतन्येनैव प्रकाशितेनाहङ्कारेण च्छन्नो जीवो यथा यद्वा [6]तद्वत् अहं विद्वान् दाता वेत्ता शूर इति, स्वप्रतीत्यैवारोपितयेति॥ १९॥

**मेघेति।** मेघागमेनोत्सवो येषां ते अतो हृष्टाः॥ २०॥

1. A,B,J °न चाऽहता 2. A,B,J add अपि 3. A,B,J गर्जित 4. A,B,J omit वियति। 5. V °ने 6. A,B,J omit तद्वत्

**वीर० मार्गा** इति। तृणैः छन्नाः असंस्कृता अक्षुण्णाः वर्षासु पथिकानां प्रायशो गमनाभावादिति भावः। [1-]अ[-1]त एव सन्दिग्धा [2-]स[-2]न्देहजनकाः बभूवुः यथा श्रुतयो वेदाः द्विजैः नाभ्यस्यमाना अनावर्त्यमाना इत्यसंस्कृतसाम्यं, यतो नाभ्यस्यमानाः अत एव कालेन केनचित्कालेन आहता विस्मृताश्च भवन्ति, कालेन चाहता इति तृणाच्छादनसाम्यम्। अनेनाधीतानां वेदानां आवृत्तिं कुर्वतैव स्थेयं, अन्यथा तु प्रत्यवाय इति सूचितम्। तथा च स्मर्यते "अधीत मपि यद्वेदं नानुपालयति द्विजः। स जीवन्नेव शूद्रत्व माशु गच्छति सान्वयः॥" इति॥ १६॥

**लोकबन्धुष्विति।** सर्वप्राणिजीवनभूतजलप्रदानेन महोपकर्तृत्वाल्लोकानां बन्धुषु मेघेषु विद्युतस्तटितः। चलं सौहृदं यासां तथा भूता बभूवुः अनियतदेशमल्पकालं च सङ्गं चक्रुरित्यर्थः यद्वा स्थैर्यं न चक्रुरित्यपि दार्ष्ण्यान्तिकान्वयि, चल सौहृदास्सत्यः स्थैर्यं न चक्रुः। यथा कामिन्यः पुंश्चल्यः गुणिषु सौन्दर्य सौशील्यादि गुणाश्रयेष्वपि निर्धनेषु पुरुषेषु चलसौहृदाः स्थैर्यं न कुर्वन्ति [3]तथा। अनेन यत्नतः कामिनीसङ्गः[4] परिहार्य इति सूचितम्[5] ॥ १७॥

**धनुरिति।** गुणिनि शब्दगुणके वियत्याकाशे माहेन्द्रं धनुः निर्गुणं मौर्वीरहितमभाद्भौ यथा गुणव्यतिकरे गुणत्रयपरिणामात्मके व्यक्ते देहे अगुणवान् गुणत्रयरहितः पुरुषः जीवो भाति तद्वत् वियद्धनुषोरिव देहात्मनोः विलक्षणस्वरूपस्वभावत्व मुक्तम्॥ १८॥

**नेति।** उडुपः चन्द्रः स्वज्योत्स्नया राजितैः प्रकाशितैः घनैः मेघैः छन्नो न रराज। घनेभ्यो विलक्षणतया न रराजेत्यर्थः। यथा पुरुषः प्रत्यगात्मा स्वभासा स्वापृथक्सिद्धधर्मभूतज्ञानेन भासितया समुन्नतया अहम्मत्या देहात्मभ्रान्त्या देहात्पृथङ् न प्रकाशते तद्वत् देहात्मभ्रान्तिरात्मस्वरूपापह्नवहेतु रिति सा यत्नेन परिहार्येत्युक्तम्॥ १९॥

**मेघेति।** मेघागमे उत्सवः येषामतो हृष्टाः शिखण्डिनः मयूराः प्रत्यनन्दन्। यथा गृहेषु तप्ताः त्रिभिः तापैरिति शेषः। अत एव निर्विण्णाः जनाः अच्युतभक्तानां आगमने सति प्रतिनन्दन्ति तद्वत्। तापत्रयतप्तैः अवश्यमच्युत जनसङ्गतिः कार्येत्युक्तम्॥ २०॥

1- -1. A,B omit 2- -2. T,W omit 3. A,B तद्वत् 4. A,B °नीनां 5. A,B add भवति 6 A,B °पाच्छादन°

**विज०** असंश्रिताः जनैः अनाक्रान्ताः। अनेन सच्छास्त्रं निरन्तरमभ्यसनीयं ज्ञानोत्पत्तये इति व्यतिरेकनिदर्शनम्॥ १६॥

चलसौहृदाः चञ्चलस्वभावाः विद्युतः लोकोपकारित्वाल्लोक बन्धुषु मेघेषु स्थैर्यं स्थिरस्थितिं न चक्रुः नापुरित्यन्वयः कामिन्यः गुणिषु विविधेषु पुरुषेषु इव यथा स्थैर्यं न कुर्वन्ति तथा। विद्युद्वत् चञ्चलभक्ति र्न कर्तव्या, किन्तु पूर्ववत्स्थिरा इति भावः। चलसौहृदाः चलस्नेहाः मानुषस्वभावो दर्शित इति वा॥ १७॥

गुणिनि शब्दगुणोपेते नीलिमगुणयुक्ते वा वियति महेन्द्रस्य विद्यमानं निर्गुणं ज्यारहितं धनुः अभात् भाति। कथमिव? गुणव्यतिकरे जगत्सर्जने व्यक्ते प्रवृत्ते पुरुषो नारायणो यथा गुणवान् सत्त्वादिगुणैः प्रवर्तमानो भाति सृष्टेः पूर्वं निर्गुणः सत्त्वादिगुणप्रवृत्तिशून्यः गुणवान् प्रशस्तज्ञानानन्दादिगुणपूर्णो वा निर्गुणः देहरहितः गुणव्यतिकरे गुणवान् देहवान् पुरुषो हिरण्यगर्भो यथेति वा॥ १८॥

स्वया ज्योत्स्नया राजितैः सन्ध्यारागं प्राप्तैः घनैः छन्नः उडुपः चन्द्रः न रराज स्वरूपाभिव्यक्तिं नाऽऽप स्वभासा स्वयं प्रकाशज्ञानेन भासितया अभिव्यक्तया अहम्मत्या अहङ्काराख्याया पुरुषः संसारी यथा अभिव्यक्तस्वरूपो न भवति भगवत्प्रसादानुगृहीतज्ञानलक्षण प्रकाशेनाभिव्यक्तरूपः पुरुषः स्यात् यथा तथा शरदादिलक्षणप्रकाशेन प्रकाशितमण्डलः चन्द्र इति सूचितं भवति॥ १९॥

शिखण्डिनो मयूराः मेघानां आगम एवोत्सवः तेन हृष्टाः रोमाञ्चत्वं प्राप्ताः कुटुम्बभरणादिना तप्ताः सज्जन दर्शनाभावाग्निना वा। अत एव निर्विण्णाः विरक्ताः संसारहेयबुद्धियुक्ताः॥ २०॥

**पीत्वाऽपः पादपाः पद्भिः आस न्नानात्ममूर्तयः।**
**प्राक् क्षामास्तपसा श्रान्ता यथाकामानु सेवया॥ २१॥**

सरस्वशान्तरोधस्सु न्यूषुरङ्गापि सारसाः।
गृहेष्वशान्तकृत्येषु ग्राम्या इव दुराशयाः॥ २२॥

जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे।
पाषण्डिनामसद्वादैः वेदमार्गाः कलौ यथा॥ २३॥

व्यमृश्चन् वायुभिर्नुन्ना भूतेभ्यो ह्यमृतं घनाः।
यथाऽऽशिषो विश्पतयः काले काले द्विजेरिताः॥ २४॥

एवं वनं तद्वर्षिष्ठं पक्व खर्जूरजम्बुमत्।
गोगोपबालैः वृतो रन्तुं सबलः प्राविशद्धरिः॥ २५॥

1. M,Ma °न्नात्म° 2. V क्षुत् 3. K,T,W तोयेषु 4. M.Ma ह्यू° 5. G,J पाखण्डि 6. M,Ma वामशैवाद्यैः 7. M.Ma युगे 8. A °रि° 9. A,B,G,J °भ्योऽथामृतं 10. M.Ma यथाविशो 11. M,Ma °ट्प° 12. K वस्तुं

**श्रीध० पीत्वेति।** नानात्ममूर्तयः अनेकरूपदेहाः॥ २१॥

**सरस्स्विति।** अशान्तानि पङ्ककण्टकादियुक्तानि, रोधांसि तटानि एषां ते, तेष्वपि न्यूषुः नितरामवसन्। सारसाः चक्रवाकाः अशान्तानि घोराणि अनुपरतानि वा कृत्यानि येषु तेष्वपि गृहेषु॥ २२॥

**जलौघैरिति।** ईश्वरे इन्द्रे॥ २३॥

**व्यमुश्चन्निति।** नुन्नाः प्रेरिताः आशिषः कामान् विश्पतयो राजानः वणिजां पतयो वा। द्विजेरिताः पुरोहितैरुक्ताः॥ २४॥

प्रावृषि कृताः क्रीडाः वर्णयति सप्तभिः **एवमिति।** वर्षिष्ठं समृद्धं अतिशय वर्षयुक्तं वा॥ २५॥

1. A,B,J °तां 2. A,B,J °ङां 3- -3. A,B,J omit

**वीर० पीत्वेति।** पादपाः वृक्षाः पद्भिः मूलैः अपो जलानि पीत्वा नानात्म मूर्तयः नानाविधा आत्मनां मूर्तयः शाखापल्लवपुष्पफलादिरूपाः येषां तथा भूताः बभूवुः। यथा प्राक्काम्यतपःफलरूपकामानुसेवातः प्राक्तपश्चर्यादशायां तपसा श्रान्ताः क्षामाः कृशाश्च। जनाः कामानुसेवया नानात्ममूर्तयो भवन्ति कलत्रपुत्रपौत्रादि परिजनरूपेणेति तद्वत्। अनेन काम्यतपसः शरीरावयव पुष्टिफलकत्वमात्रं सूचितम्। यद्वा फलाभिसन्धिरहितभगवदाराधनात्मक तपश्चर्यादशायां तपसा

श्रान्ताः कृशाश्च तत्फलानुभवात्मकमुक्तिदशायां काम्यन्त इति कामाः, भगवतः कल्याणगुणास्तेषां अनुसेवया "स एकधा भवति द्विधा भवति त्रिधा भवति" (छान्दो.उ. 7-26-2) इत्यादि श्रत्युक्तरीत्या नानात्ममूर्तिमन्तो भवन्ति तद्वत्। अनेन भगवदाराधनात्मक तपसः स्वेच्छानु रूपाप्राकृतानेकशरीरपरिग्रहेण भगवता भोगसाम्यसाधनत्व मुक्तम्॥ २१॥

**सरस्स्विति।** अङ्ग! हे राजन्! अशान्तानि अनिर्मलानि कलुषितानि इति यावत्। तानि तोयानि येषु तथा भूतेष्वपि सरस्सु सारसाः चक्रवाकाः गोनर्दाख्यपक्षिविशेषा वा न्यूषुः नितरामुषितवन्तः। 'अशान्तरोधस्स्विति' पाठे अशान्तानि सलिलाकुलानि पङ्ककण्टकादियुक्तानि रोधांसि तटानि येषां तेष्वपि सरस्स्वित्यर्थः। अशान्तान्यनुपरतानि कृत्यानि येषु। तेष्वपि गृहेषु दुराशयाः वैषयिकसुखाभासलेशलिप्सवो, ग्राम्याः पामरा इव, ते यथा निवसन्ति तद्वत्। अनेन ग्राम्याणां विषयाः दुःखप्रचुरा अल्पसुखाश्चेत्युक्तं भवति॥ २२॥

**जलौघैरिति।** ईश्वरे पर्जन्ये वर्षति सति जलपूरैः उत्कटैः सेतवः जलनिरोदार्था मृत्पाषाणनिर्मिताः, निरभिद्यन्त त्रुटिता बभूवुः। यथा कलौ युगे प्रवृत्ते सति पाषण्डानां वेदबाह्यानां असद्वादैः वेदमार्गा वर्णाश्रमधर्मा निर्भिद्यन्ते तद्वत्। अनेन पाषण्डवादानां अश्रोतव्यत्व मुक्तम्॥ २३॥

**व्यमुञ्चन्निति।** वायुना नुन्नाः प्रेरिताः सन्तो घना मेघा भूतेभ्योऽमृतवज्जीवनहेतुं जलं व्यमुञ्चन्, यथा द्विजैः पुरोहितादिभिः ईरिताः प्रेरिताः विश्पतयो जनाध्यक्षा राजानः उचितकालेषु आशिषः कामानर्थिभ्यो विमुञ्चन्ति तद्वत्। राजभिः एवं भवितव्यमित्युक्तं भवति॥ २४॥

तदेवं वर्षर्तुमनुवर्ण्याथ तदा कृतानि कानिचिद्भगवच्चेष्टितानि वर्णयति **एवमित्यादिभिः** सप्तभिः। इत्थं पक्वानि खर्जूरादिफलान्यस्मिन् सन्तीति तद्वत्। तद्वर्षिष्ठं वृद्धं प्रभूतमिति यावत्। वनं हरिः सबलदेवो गोपालै स्सह रन्तुं प्राविशत्॥ २५॥

1- -1. T.W omit 2. A,B add परिकरादि 3. A,B °र्दकाख्य° 4. A,B °र्थं 5. A.B °णादि नि° 6. T,W °र्मणि भि°

**विज०** पद्भिः मूलैः फलैः पुष्पैः नम्रात्ममूर्तयः शाखोपशाखाभिः नतस्वरूपाः प्राक् ग्रीष्मे तपसा तपोमासोर्जिततापेन क्षामाः कृशाः यथाकामानामनुसेवया जातेन श्रमेण श्रान्ताः इन्द्रियदौर्बल्यमाप्ताः प्राक् कुटुम्बव्यवस्थायां क्षामाः पादेन ग्रासेन आत्मानं पान्ति रक्षन्तीति पादपाः। तपस्विनः गतिसाधनत्वात्पाद्भिः शास्त्रैः अपः पुरुषार्थावाप्तिहेतुत्वात् ज्ञान रसान् पीत्वा स्वाद्यनम्रावरुद्धा वशीकृतात्मनः परमात्मनो मूर्तिर्विग्रहविशेषो यैस्ते तथेति भावः। यद्वा प्राक् क्षामा वनिताद्यभावेन तपसा कामाग्नितापेन श्रान्ता जनाः कामानुसेवया पश्चादेव वनितादि लाभेन निरन्तर कामभोगेन पुत्रतत्पुत्रपुष्पफलादिना नम्रात्ममूर्तयः परायणनिजशरीरा यथा भवन्ति तथेति॥ २१॥

अङ्ग! हे परीक्षित्! सारसाः चक्रवकाः अशान्तानि जलैः पूर्णानि रोधांसि तीराणि येषां तानि तथा तेषु सरस्स्वपि ऊषुर्हि जलप्रावाहाभिभूततीरवासस्याशक्यत्वेपि तत्रैवोषुरित्यर्थः। दुराशयाः ग्राम्याः प्राकृतजनाः अशान्तकृत्येषु अनुपरतकर्तव्येषु गृहेष्विव यथा वसन्ति। अनेन नित्यसंसारिस्वभावो दर्शितः॥ २२॥

पाखण्डादिमतज्ञानं[1] नरक साधकमिति ज्ञातव्यम्॥ २३॥

वायुभिः नुन्नाः प्रेरिताः अमृतं जलं द्विजैरीरिताः प्रेरिताः विट्पतयो राजानः विशः प्रजा उद्दिश्य काले काले कालगुणं ज्ञात्वाऽमृतं हेम विमुञ्चन्ति प्रयच्छन्ति। "अमृतं व्योम्नि देवान्ने यज्ञशेषे रसायने। अयाचिते जले दुग्धे मोक्षेऽन्ने हेम्नि गोरसे" (वैज.को 7-5-7) इति यादवः। यद्वा षष्ठमंश इति ब्राह्मणोक्तं विशो वैश्या विश्पतिभ्यो राजभ्यः यथा कालममृतं करात्मकं धनं ददतीति॥ २४॥

वर्षिष्ठं प्रभूतवर्षोपेतम्॥ २५॥

1. °ष°

धेनवो मन्दगामिन्यः ऊधोभारेण भूयसा।
ययुर्भगवताऽऽहूता[1] द्रुतं प्रीत्या[2] स्नुतस्तनीः[3]॥ २६॥

वनौकसः प्रमुदिता वनराजीर्मधुच्युतः।
जलधारा[4] गिरेर्नादानासन्ना दद्दशे गुहाः[4]॥ २७॥

क्वचिद्वनस्पतिक्रोडे गुहायां चाभिवर्षति।
निर्विशन्[5] भगवान् रेमे कन्दमूल फलाशनः[6]॥ २८॥

दध्योदनमुपानीतं[7] शिलायां सलिलान्तिके।
सम्भोजनीयैर्बुभुजे गोपैस्सङ्कर्षणान्वितः॥ २९॥

शाद्वलोपरि[8] संविश्य चर्वतो[9] मीलितेक्षणान्।
दमान्[10] वृषान्[11] वत्सतरान् गाश्च स्वोधोभरश्रमाः॥ ३०

1. T,W °ता सार्धं 2. T,W भीत्या 3. V °नाः 4- -4. M,Ma गिरेर्गम्भीरसन्नाद सन्नादा ददृशुर्गुहाः 5. B,G,J,V निर्विश्य 6. M,Ma °नैः 7. B,G,J °नं समा° 8. V °ड्व° 9. M,Ma स° 10. A,B,G,J तृप्तान्; M,Ma वृषान् 11. M,Ma वत्सान्

**श्रीध० वनौकस** इति। वनौकसः पुलिन्दाः[1] प्रमुदिताः भगवान् ददृशे। तथा वनराजीः [2-]वनपरम्पराः[-2] मधुच्युतः मधुस्रवाः ददृशे गिरेस्सकाशात् जलधाराः तासां नादांश्च आसन्नाः निकटवर्तिनीर्गुहाश्च। यद्वा वनौकसः प्रमुदिता आसन्। तथा वनराजीर्वनराजयः[3] मधुच्युत आसन्, गिरेर्जलधारा आसन्। तानेवम्भूतान् आददृशे सर्वतो ददर्श, भगवान् तथा जलधाराणां[4] नादान् गुहाश्चेति॥ २६ - ३०॥

1. A,B,J ° न्दीः 2- -2. A,B,J omit 3. A,B,J add वनपरम्पराः 4. A,B,J omit जल

**वीर०** भूयसा ऊधसः पयःकोशस्य भारेण मन्दगामिन्योऽपि धेनवो भगवता आहूताः स्नुतस्तन्यस्सत्यो द्रुतमेव ययुः॥ २६॥

वनौकःप्रभृतीन् ददर्शेत्यन्वयः[1]। प्रमुदिताः मधुच्युत इति च वनराजी इत्यस्य विशेषणं, मधुच्युतः मधूनि स्रवन्त्यः प्रमुदिताः फलपुष्पसमृद्धिभिः मुदिता इव स्थिताः[2] वनौकसः पुलिन्दीरिति वा। गिरेः सकाशात् जलधारास्तासां नादान् आसन्ना निकटवर्तिनीः गुहाश्च ददृशुः इत्यर्थः॥ २७॥

कदाचित् पर्जन्ये अभितो वर्षति सति वनस्पतिक्रोडे वृक्षमूले गुहायां वा प्रविशन्[3] भगवान् कन्दानि मूलानि फलान्येव अशनं यस्य तथा भूतो रेमे॥ २८॥

कदाचित् गृहादानीतं दध्यन्नं सलिलसमीपे स्थितायां शिलायां पात्रभूतायां सहभोजनीयैः गोपैःस्सह बुभुजे॥ २९॥

क्वचित् शाद्वलोपरि हरिततृणाकीर्णप्रदेशे उपविश्य वृषादीन्वीक्ष्य भगवान् सर्वभूतानां मुदमावहतीति तथा तां आत्मशक्त्या स्वसङ्कल्पात्मिकया उपबृंहितां प्रवर्धितां तां प्रावृट्श्रियं पूजयाञ्चक्रे बह्वमन्येतेत्यन्वयः। चर्वतो मीलितेक्षणान् दृप्तानिति च वृषानित्यस्य विशेषणम्, चर्वतः तृणानि खादतः मीलितानीक्षणानि यैस्तान् दृप्तान् गर्वितान् स्वोधसां भरेण[4] श्रमो यासां ताः गाश्च॥ ३०॥

1. A,B,K ददृशे इत्य° 2. A,B add प्रमुदिताः 3. T,W omit भगवान् 4. A,B add भारेण

**विज०** स्नुतस्तनीः क्षरितस्तन्यः ॥ २६ ॥

वनौकसो गावः मृगादयो वा गुहाः ददृशुरित्यन्वयः। कथम्भूताः ? प्रमुदिताः प्रकृष्टानन्दाः वने राजी राजनं यासां ताः वनराज्यः। मधुश्चुतः मधुवन्मधुरं क्षीरं श्च्यवन्तीति मधुश्च्युतः। गम्भीरश्चासौ सन्नादश्च गम्भीरसन्नादः तेन सन्नादेन सह वर्तमानाः। यद्वा वृष्टचभावसमये मधुश्च्युतः वनराजीः वनपंक्तीः ददृशुः। वृष्टौ सत्यां गुहाद ददृशुरिति। वनौकसः किराता वा। गिरेः हेतोः सन्नादाः राक्षसाः। सन्नादाः भावप्रधानो निर्देशः। नष्टराक्षसत्वेन नादसहिताः ॥ २७॥

अभिवर्षति सति वनस्पतिक्रोडे गुहायां चैव निर्विशन् उपभुञ्जानः ॥ २८॥

सम्भोजनीयैः सहभोक्तव्यैः ॥ २९,३० ॥

**प्रावृट्श्रियं च तां वीक्ष्य सर्वभूतमुदावहाम्।**
**भगवान् पूजयाञ्चक्रे आत्मशक्त्युपबृंहिताम्॥ ३१ ॥**

**शरदृतु वर्णनम्**

**एवं निवसतोस्तस्मिन् रामकेशवयोर्व्रजे।**
**शरत्समभवद्व्यभ्रा स्वच्छाम्ब्वपरुषानिला ॥ ३२ ॥**

**शरदा नीरजोत्पत्त्या नीराणि प्रकृतिं ययुः।**
**भ्रष्टानामिव चेतांसि पुनर्योगनिषेवया॥ ३३ ॥**

**व्योम्नोऽब्दं भूतशाबल्यं भुवः पङ्कमपां मलम्।**
**शरज्जहाराश्रमिणां कृष्णभक्तिर्यथाऽशुभम्॥ ३४ ॥**

**सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्चसः।**
**यथा त्यक्तैषणाश्शान्ता मुनयो मुक्तकल्मषाः ॥३५॥**

1. A,V सुखा° 2. V ह्या° 3. M,Ma °स्तत्र 4. K,T,W °भ्र° 5- -5. M,Ma °म्बु प्लुषितानिला 6- -6. K,T,W शारदानि; M,Ma शारद्या नी° 7- -7. K यथा भ्रष्टानि 8. M,Ma °ऽब्दमभ्रशा° 9. A,B,G,J,V कृष्णे 10. V न 11. A,B,G,J,M,Ma °क्तै° 12. A,B,G,J,V किल्बिषाः

**श्रीध०** ततः शरदं वर्णयत्यष्टादशभिः - **एवमिति।** विगतानि अभ्राणि यस्यां सा। स्वच्छानि अम्बूनि यस्यां सा। अपरुषः शान्तोऽनिलो यस्यां सा[1] ॥ ३१,३२॥

**शरदेति।** नीरजानामुत्पत्तिर्यया तया। शरदा कृतानां नीरजानां उत्पत्त्या वा॥ ३३॥

**व्योम्न** इति। व्योमादीनां चतुर्णां चतुरो मेघादीन्[2] मलान् शरदहरत् आश्रमिणां चतुर्णां कृष्णे जाता भक्तिर्यथा अशुभमसुखं हरति। तथाहि - ब्रह्मचारिणो गुर्वर्थेदकाहरण[3]कुम्भश्रम[3] यथा भक्तिर्हरति तथा[4] पूर्णस्य तेनानुपयोगात्। गुरुभिरपि कृतार्थस्य तस्यानियोगात्। एवं व्योम्नोऽब्दं मेघं[5] शरज्जहार, यथा च गृहिणोऽपत्यादि साङ्कर्यं भक्तिर्हरति विविक्तवासरुच्युत्पत्तेः तथाभूतानां शाबल्यं साङ्कर्यं शरत् वर्षासु वृष्टिभि[6]ः यानि सङ्कुलानि[6] वसन्ति, यथा च वनस्थस्य मलधारणक्लेशं भक्तिर्हरति एवं भुवः पङ्कं शरत् यथा च यतीनां कामादिवासनामलं श्रीकृष्णभक्तिर्हरति एव मपां मलम् शरदिति[7]॥ ३४॥

**सर्वस्वमिति।** त्यक्तैषणाः त्यक्ताः पुत्र वित्त दारैषणा[8] यैस्ते॥ ३५॥

1. A,B,J add च सा च। 2. A,B,J omit मेघादीन् 3- -3. A,B,J °णादिकष्टं 4. A,J,P,V तथा 5. A,J जलदं; B omits मेघं 6. A,B,J °भिया सङ्क° 7. V omits शरदिति 8. A,B,J लोकै°

**वीर०** अथ शरदागममाह - **एवमिति।** तस्मिन् व्रजे इत्थं निवसतोः रामकेशवयोः[1-1] समभवत्[2] सम्यक्प्रावर्तत। कथम्भूता? विगतानि अभ्राणि यस्यां स्वच्छान्यम्बूनि यस्यां, अपरुषस्सुखस्पर्शोऽनिलो वायुः[3] यस्यां, ततस्त्रयाणां कर्मधारयः॥ ३१,३२॥

अथ मुमुक्षूणां हितं दर्शयन्निव समीचीनैः दृष्टान्तैः शारदान् धर्मान् अनुवर्णयति **शारदानीत्यादिना** यावदध्यायसमाप्ति। पूर्वं शारदानि शारत्सम्बन्धीनि[4-4] नीराणि जलानि निर्मलान्येव[5] स्थितानि अन्तरा प्रावृषि रजोत्पत्त्या पङ्कप्रादुर्भविन, भ्रष्टानि[6] इत्युत्तरस्वारस्या दध्याहर्तव्यम्। पुनः प्रकृतिं स्व स्वभावं ययुः। यथा योगिनां चित्तानि निर्मालान्येव क्वचित् योगभ्रष्टान्यपि[7], पुनरपि पुनर्योगनिषेवया प्रकृतिं यान्ति तद्वत्। योगभ्रंशेन चित्तकालुष्ये सति पुनर्योगमेव सेवेतेति

शिक्षितम्। "शरदा नीरजोत्पत्त्या" इति पाठान्तरम्। नीरजानां उत्पत्ति र्यस्यां तया शरदा हेतुभूतया नीराणि प्रकृतिं स्वच्छत्वाविकारत्वशान्तत्वादिरूपां ययुः उत्तरार्धं तु पूर्ववत्॥ ३३॥

**व्योम्न** इति। क्रमेण व्योमभूतपृथिवी जलानां चतुर्णां अभ्रशाबल्यपङ्कमलानि चत्त्वारि शरदहरत्, यथा चतुर्णामाश्रमिणां अशुभं कृष्णभक्तिः हरति तद्वत्। तत्राब्दं मेघं भूतानां ज्योतिस्सलिलमरुतां शाबल्यं सम्पर्कं वर्षासु तेषां मिथस्सम्पर्काच्छरदितन्निवृत्तेरिति भावः। यथा कृष्णभक्तिः बह्मचारिणो गुरूपदिष्टार्थग्रहणप्रतिबन्धक मज्ञानात्मकमशुभं हरति, यथा च गृहस्थस्य विषयसङ्गदोषं यथा वनस्थस्य कदाचिदशक्तया स्वाश्रमोचित धर्मानुष्ठानप्रयुक्त प्रत्यवायं, यथा च यतिनः कृष्ण प्राप्ति प्रतिबन्धकं पुण्यपापात्मकं स वासनं कामादि दोषरूप मशुभं हरति तथेत्यर्थः। अनेनावश्यं चतुर्भिरपि आश्रमिभिः कृष्णभक्तिः कार्येत्युक्तम्॥ ३४॥

**सर्वस्वमिति।** जलदा मेघाः सर्वस्वत्वभूतं जलं हित्वा शुभ्रं वर्चो येषां तथाभूताः विरेजिरे, यथा मुनयो भगवन्मननशीलाः त्यक्ताः दारधनपुत्राणां ईषणाः यैः तथाभूताः निवृत्तपापा विराजन्ते तद्वत्। अनेन अवश्यं मुनिभिः ईषणा स्त्याज्या इत्युक्तम्॥ ३५॥

1- -1. K,T,W omit 2. K,T,W omit समभवत् 3. K,T,W omit वायुः 4- -4. T,W omit 5. T,W °लानि अव ° 6. A,B,K °स्मादध्या° 7. A,B °गात्र° 8. A,B °त्वाप्रकृतिवि° 9- -9. T,W omit 10. A,B °रस्त° 11. T,W omit अनेन

**विज०** आत्मशक्त्युपबृंहितां संवर्धिताम्॥ ३१॥

व्यभ्रा विगतमेघा स्वच्छाम्बु तस्य विप्रुषितेन विप्रुषा बिन्दुना युतः अनिलः स्वच्छाम्बुप्रुषितानिलः स यस्यां सा तथा॥ ३२॥

शारद्या शरत्सम्बन्धिन्या नीरजानां पद्मानां उत्पत्त्या। प्रकृतिं स्वच्छतां योगभ्रष्टानां पुनर्योगनिषेवया योगाभ्यासेन॥ ३३॥

शरत् व्योम्नः अब्दं अर्थिभ्यो जलस्य दातारं मेघं जहार। वर्षाकालो विरत इत्यर्थः। ततोऽभ्रशाबल्यं अभ्रं जलं दधत् मेघः न तु वर्षणं कुर्वन् तन्निमित्तं शाबल्यं व्योम्नः निस्रवणं जहार अभ्रच्छायाभावात् भुवः पङ्कं कर्दमं, अपां मलं कालुष्यं च अहरत्। तत्तदाश्रमोक्तानुष्ठानयथावस्थिति सूचनाय आश्रमिणामित्युक्तम्। अशुभं पातकम्॥ ३४॥

सर्वस्वं जलं शुभ्रवर्चसः धवलवर्णाः त्यक्ताः पुत्रादि दुष्टैषणा यैस्ते तथा॥ ३५।

गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन्न मुमुचुश्शिवम्।
यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न[1-] वा[-1] ॥ ३६॥

नै वाविन्दन्[2] क्षीयमाणं जलं गाधजलेचराः।
यथाऽऽयुरन्वहं क्षीणं[3] नरा मूढाः कुटुम्बिनः ॥ ३७॥

गाधवारिचरास्तापमविन्दन्[4] शरदर्कजम्।
यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः ॥ ३८॥

शनैः शनैः जहुः पङ्कं स्थलान्यामञ्च[5] वीरुधः।
यथाऽहम्ममतां धीराः शरीरादिष्वनात्मसु ॥ ३९॥

निश्चलाम्बुरभूत्तूष्णीं[6] समुद्रश्शरदागमे।
आत्मन्युपरते यद्वत् मुनिर्व्युपरतागमः[7] ॥ ४०॥

1- -1. T,W सदा 2. A,B,G,J,V °विदन् 3. A,B,G,J,M,Ma क्षय्यं 4. M,Ma °विदन् 5. M,Ma °संश्च 6. K,T,W धरस्तू° 7. A,B,G,J,V सम्यक्

**श्रीध० गिरय** इति। अयं भावः न ह्युपाध्यायाः कर्मविद्यामिव ज्ञानिनो ज्ञानामृतं सर्वतो वितरन्ति। अपि तु कृपया क्वचिदेव। एवं गिरयश्शिवं निर्मलं तोयं क्वचिन्मुमुचुः क्वचिन्न, न पुनः प्रावृषीव सर्वत इति॥ ३६॥

**नेति।** गाधे क्षुद्रे जले चरन्तीति तथा ते मीनादयः ॥ ३७॥

**गाधेति।** अविन्दन् लेभिरे॥ ३८॥

**शनैरिति।** तत्र ममतामिव पङ्कम्। अहन्तामिव आमतामपक्वतां जहुरिति॥ ३९॥

**निश्चलेति।** आत्मन्युपरते त्यक्त क्रियो मुनिरिव। निश्चलाम्बुः स एवं व्युपरतागमः निवृत्त वेदघोष इव तूष्णीमभूदिति॥ ४०॥

**वीर० गिरय** इति। पर्वताः क्वचिन्निर्मलं जलं मुमुचुः क्वचिन्न मुमुचुश्च ज्ञानिनो यथा क्वचित् तत्त्वत्रययाथात्म्य ज्ञानात्मक ममृतं केभ्यश्चित् शुश्रूषुभ्यो ददते केभ्यश्च[1-] न ददते[-1]। अनेन सर्वेभ्योऽपि प्रष्टृभ्यो नोपदेष्टव्यं ज्ञानिभिः

ज्ञान मित्युक्तम्। तथा चोक्तं भगवता - "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिन स्तत्त्वदर्शिनः" (भ.गी.4-34) इति॥ ३६॥

**नैवेति।** गाधजलेचराः अल्पजल चारिणः क्षीयमाणं जलं नैवाविन्दन् नैव ज्ञातवन्तः, यथा मूढाः अज्ञाः कुटुम्बपोषणरता नरा अल्पायुषस्तथाऽप्यन्वहं क्षीयमाणमायु र्न जानन्ति तद्वत्। अनेन कुटुम्बिभि रपि देहात्मनोर्याथात्म्यं परिशीलयद्भिः अन्वहमायुःक्षयानु सन्धाननिमित्तपरितापवद्भिश्च भवितव्य मित्युक्तं भवति॥ ३७॥

**गाधेति।** गाधवारिचराः क्षुद्रजलचरा शरदि योऽर्कस्तज्जं ताप मविन्दन् लेभिरे यथा अजितोन्द्रियः इन्द्रियपरतन्त्रः कुटुम्बी दरिद्रः धनधान्यहीनः कृपणः दीनः क्षुत्प्रयुक्तं तापं जानाति तद्वत् जितेन्द्रियेण भवितव्य मिति सूचितम्॥ ३८॥

**शनैरिति।** स्थलानि शनैः शनैः पङ्कं जहुः वीरुधस्तु आममपक्वतां जहुः[3], यथा धीरा ज्ञानिनः शरीरादिषु देहेन्द्रियादिषु अनात्मसु आत्मव्यतिरिक्तेषु अहम्ममतां अहन्तां ममतां च जहति, तद्वत्। तत्र अहन्ता साम्यं पङ्कस्य, ममतासाम्यं आमस्येति विवेकः। अवश्यं ज्ञानिभिः अहङ्कारममकारौ यत्नेन परिहर्तव्यावित्युक्तं भवति॥ ३९॥

**निश्चलेति।** शरदागमे शरदः प्रवृत्तौ सत्यां समुद्रो निश्चलाम्बुधरः तूष्णीं बभूव यथा मुनिश्शुभाश्रय मननशीलः व्युपरतः आगमः अन्नपानाद्यागमो यस्य सः, अनुपनतान्नपानोऽपि आत्मनि शरीरे उपरतेऽपि आदिकर्मणि क्तः उपरन्तु मारब्धवत्यपि देहविपत्तिपर्यन्तदशाया मपि निश्चलस्तूष्णीं आस्ते, तद्वत्। मुनिनैवं भवितव्यमिति शिक्षा॥ ४०॥

1. T,W omit 2- -2. A,B तथैवोक्तं 3. T,W omit जहुः

**विज०** शिवं जलं जान्वान नूपानूपस्थल भेदाभिप्रायेण निरीक्षेणाजन मोक्षामोक्षौ ज्ञानिनां ज्ञानदानादाने योग्या-योग्य मुहूर्तामुहूर्त्त कालभेद विवक्षयेति ज्ञातव्यम्॥ ३६॥

गाधजलेचराः अल्प जलनिवासिनो मत्स्यादयः प्राणिनः क्षीयमाणं शुष्यमाणं जलं दृष्ट्वा सुखं नैवाविन्दन् अन्वहं क्षय्यं क्षीयमाणं अन्तं गच्छदायुः। अनेन संसारस्य अनित्यत्वेन असारत्वं संसूचितवान्॥ ३७॥

शरदर्कः शरदृतुसम्बन्धी सूर्यः तस्माज्जातः शरदर्कजः तं कुटुम्बसम्बद्धं तापम्॥ ३८॥

वीरुधः आसन् अङ्कुरिताः अनात्म व्यतिरिक्तेषु जडेष्वित्यर्थः॥ ३९॥

उपरते उपरतविषयव्यापारे आत्मनि मनसि। यद्वा, उपे शर्वाधिपे हरौ रते सति उपरतागमः निवृत्तशास्त्र श्रवणादिकः समाधिस्थ इत्यर्थः॥ ४०॥

केदारेभ्य स्त्वपोऽगृह्णन् कर्षका दृढसेतुभिः।
यथा प्राणैः स्रवज्ज्ञानं तन्निरोधेन योगिनः॥४१॥

शरदर्कांशुजं तापं भूतानामुडुपोऽहरत्।
देहाभिमानजं बोधो मुकुन्दो व्रज योषिताम्॥४२॥

खमशोभत निर्मेघं शरद्विमलतारकम्।
सत्त्वयुक्तं यथा चित्तं शब्दब्रह्मार्थदर्शनम्॥४३॥

अखण्डमण्डलो व्योम्नि रराजोडुगणैश्शशी।
यथा यदुपतिः कृष्णो वृष्णि चक्रावृतो भुवि॥४४॥

आश्लिष्य समशीतोष्णं प्रसूनवनमारुतम्।
जनास्तापं जहुर्गोप्यो न कृष्णहृत चेतसः॥४५॥

1- -1. M,Ma स्वविज्ञानं 2- -2. A,B,G,J °जांस्तापान् 3. A दुःखं 4. M,Ma °ल° 5. M,Ma चक्रैर्वृतो 6. M,Ma °ष्णा°

**श्रीध० केदारेभ्य इति।** केदारेभ्यः बद्धसेतु शालि दात्रेभ्यः दृढैस्सेतुभिः अपोऽगृह्णन्। ततः परं वृष्ट्यभावात् प्राणैरिन्द्रियैः तन्निरोधेन इन्द्रिय प्रत्याहारेण द्वारेण॥४१॥

**शरदिति।** देहाभिमानजं बोध इव। व्रजयोषितां तापं मुकुन्द इव चेत्यर्थः॥४२॥

**खमिति।** शरदा विमलाः तारकाः यस्मिन् तत्। खमाकाशं शब्दब्रह्मणो वेदस्यार्थान् पूर्वोत्तरमीमांसा प्रणीतान् दर्शयतीति तथा तदिव॥४३,४४॥

**आश्लिष्येति।** समः अन्यूनानधिकः शीतश्च उष्णश्च तं न तु गोप्यः कृष्णापहृत चेतस्त्वेन तासां सन्तापो दुःसह इति, यद्वा नकार उपमार्थः तथा च कृष्णहृत चेतस इवेति। चेतसा कृष्णमाश्लिष्य आ लिङ्ग्य यथेत्यर्थः॥४५॥

1. P.V omit केदारेभ्यः 2. P.V omit परं 3. A,B,J omit द्वारेण 4. B,P,V omit तापं 5- -5. A,B,J omit 6. A,B,J निर्णीतान् 7. A,B,J तद्वत् 8. A,B,J °नाधि° 9. P.V °तोष्णश्च 10. P.V omit सन्तापो 11- -11. A,B,J omit.

**वीर०** केदारेभ्य इति पञ्चमी। कृषीवलाः शालिक्षेत्रेभ्यः प्रवहन्तीः अपः जलानि दृढैः सेतुभिः बन्धनैः अगृह्णन् निरुद्धवन्तः ततः परं वृष्ट्यभावादिति भावः। यथा योगिनः प्राणैरिन्द्रियैः तद्द्वारा स्रवत् बाह्यविषयग्रहण प्रवणी- भवत् ज्ञानं धर्मभूत ज्ञानं तन्निरोधेन प्राणनिरोधेन आत्मस्वरूपगोचरं कुर्वन्ति, तद्वत्, इन्द्रिय निरोधपरेणात्मस्वरूप परिशीलन परेण च भवितव्यमिति सूचितम्॥ ४१॥

**शरदिति।** उडुपः चन्द्रः भूतानां शरदि योऽर्कः तस्यांशुभ्यो जातान् तापान् जहार। उत्तरार्धस्य यथेत्यादिः। यथा देहाभिमानेन जातं तापं परकृतनिन्दादिप्रयुक्तं देहयाथात्म्यगोचरो बोधो हरति यथा च व्रजयोषितां तापं मन्मथप्रयुक्तं मुकुन्दो जहार, तद्वत्। 'देहाभिमानजं तापम्' इति पाठे बोध इति कर्तृ पदमध्याहर्तव्यम्। यथोक्त एवार्थः। अनेन हेयत्वज्ञानार्थं देहयाथात्म्य परिशीलनमपि कर्तव्यमित्युक्तं भवति॥ ४२॥

**खमिति।** निर्मेघं मेघरहितं शरदि विमलास्तारका यस्मिन् तथाभूतं सत् [1]खमशोभत, यथा सत्त्वयुक्तं सत्त्वगुणयुक्तं, सत्त्वप्रचुरमिति यावत् तच्चित्तं शब्द ब्रह्मणो वेदस्य योऽर्थो अर्थ पञ्चकरूपः तं पश्यतीति [2]तथा। नन्द्यादित्वात् कर्तरि ल्युः। यद्वा शब्दब्रह्मार्थो [3]दृश्यतेऽनेनेति तथा करणे लयुट्। सत्त्वप्रवणं चेतो रागाद्यकलुषितं सत् निर्मल मतीन्द्रिय वेदार्थप्रकाशकं भवति तद्वदित्यर्थः। सत्त्वप्राचुर्याय आहारशुद्ध्या भवितव्यमिति सूचितम्। अत्र तारकास्थानीयाः वेदार्थाः परमात्मतदाराधनाराधकादि स्वरूपात्मकाः, आकाशस्थानीयं चेतः, मेघस्थानीयं रजः तमश्चेति विवेकः॥ ४३॥

**अखण्डेति।** शशी चन्द्रो व्योम्नि आकाशे निर्मेघे अखण्डं पूर्णं मण्डलं यस्य तथा भूतो नक्षत्रसमूहैः सह, यथा यदुपतिः श्रीकृष्णो भुवि वृष्णीनां समूहेनाऽऽवृतो रराज तद्वत्। अनेन यदुपतेश्चन्द्रवत्सर्वलोकाह्लादकरत्वमभिप्रेतम्॥ ४४॥

**आश्लिष्येति।** जनाः समं मितं शीतं उष्णं च यस्य तं, प्रकृष्टानि सूनानि कुसुमानि यस्य तस्य वनस्य मारुतमाश्लिष्य अनुभाव्य तापं जहुः। ग्रीष्मशैत्यप्रयुक्तं दुःखं जहुरित्यर्थः। गोप्यस्तु तापं मन्मथ तापं न जहुः। तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि - कृष्णेन हृतानि चेतांसि यासां तथाभूताः। अनेन कृष्णस्य यौवनावस्था गोपीचित्तसमाकृष्टिश्च सूचिता॥ ४५॥

1. T,W सम° 2. A omits तथा 3. A,B लक्ष्यते°

**विज०** केदारेभ्यः केदारार्थं, प्राणैः इन्द्रियैः, तेषां इन्द्रियाणां निरोधेन प्रत्याहारेण ॥ ४१ ॥

अहं देह इति देहाभिमानो देह विषयं ज्ञानं, तस्माज्जातं देहाभिमानजं तापं, बोधः आत्म ज्ञानं मुकुन्दो यथेति शेषः दृष्टान्तद्वयम् ॥ ४२ ॥

खमाकाशं शरदा विमलानि विशदानि तारकाणि यस्मिंस्तथा, सत्त्वेन व्यवसायेन युक्तं सत्त्वगुणोपेतं वा, शब्दात्मकं ब्रह्म वेदः तस्य मुख्यवाच्यः श्रीनारायण स्तं दर्शयतीति शब्दब्रह्मार्थ दर्शनं, शब्दब्रह्म हिरण्यगर्भः तस्यार्थो हेतुः कारणमिति वा ॥ ४३ ॥

अखण्डमण्डलं पूर्णमण्डलम् ॥ ४४ ॥

मारुतं शारदमिति शेषः अर्कजनितं तापं गोप्यः, कामार्कजनितं तापं न जहुः तत्र निमित्तं कृष्णेनाऽऽहृत चेतसः कृष्णेनाऽऽहृतं चेतो यासां ता स्तथा ॥ ४५ ॥

**गावो मृगाः खगा नार्यः पुष्पिण्यश्शरदाऽभवन्[1]।**
**अन्वीयमानास्स्ववृषैः[2] फलैरीशक्रिया[3] इव ॥ ४६ ॥**

**[4]उदहृष्यन् वारिजानि, सूर्योण[5-] कुमुदं विना[-5]।**
**राज्ञा तु निर्भया लोका[6] यथा[7] दस्यून् विना नृप ॥ ४७ ॥**

**पुरग्रामे ष्वा[8-]ग्रयणैरैन्द्रियैश्च[-8] महोत्सवैः।**
**बभौ भूः पक्वसस्याढ्या कलाभ्यां नितरां हरेः ॥ ४८ ॥**

**व[9-]णिग्यतिनृपस्नाताः[-9] निर्गम्यार्थान् प्रपेदिरे।**
**वर्षरुद्धा यथा सिद्धाः स्वपिण्डान् काल आगते ॥ ४९ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्री वैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव बह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशम स्कन्धे पूर्वार्धे
प्रावृट् शरद्वर्णनं नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

1. K,T,W °दागमो° 2. M,Ma ऋषभैः 3. M,Ma °षत्क्रि° 4. V उपा° 5- -5. A,B,G,J,V सूर्योत्थाने कुमुद्विना 6. M,Ma °को 7. V आसन् 8- -8. M,Ma °ष्वाश्रमिणामिन्द्रयाग 9- -9. A,B,G,J,K वणिङ्मुनि नृपस्नाताः ; M,Ma वणिजो नगरात्स्वीयात्

**श्रीध० गाव** इति। पुष्पिण्यो गर्भिण्यः अन्वीयमानाः स्ववृषैः स्वपतिभिः अनिच्छन्त्यो[1]ऽपि बलादनुगम्यमाना ईश्वराराधनार्थाः क्रियाः बलात्फलैरनुगम्यमानाः समस्तभोग गर्भा यथेति॥ ४६॥

**उदहृष्यन्निति।** कुमुत् कुमुदं कुत्सि[2-]ता मु[-2]त् यस्य तदिति दस्यु साम्यम्॥ ४७॥

**पुरेति।** आग्रयणैः नवान्नप्राशनार्थैः वैदिकैः कर्मभि[3]ः ऐन्द्रियै इन्द्रियार्थैः लौकिकैश्च महोत्सवैः कलाभ्यां रामकृष्णाभ्यां दर्शनादिमहोत्सवाभ्याम्॥ ४८॥

**वणिगिति।** वणिजः यतयः नृपाः स्नातकाश्च दृष्टादृष्टाभ्यां वर्षरुद्धास्सन्तः निर्गम्य अर्थान् वाणिज्य स्वाच्छन्द्य दिग्विजय विद्यादीन् प्रपेदिरे प्रापद्यन्त। यथा मन्त्र योगादि सिद्धाः आयुषा रुद्धाः काले आगते स्वपिण्डान् योगादि प्राप्यान् देवादि देहानिति॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थ दीपिकायां
व्याख्यायां विंशोऽध्यायः॥ २०॥

1. A °च्छत्यो° 2- -2. P.V °ताः मुदः 3. A, omits कर्मभिः ; B.J यागैः

**वीर० गाव इति।** गवादयः स्ववृषैः स्वस्वप्रियैः अन्वीयमानाः शरदा निमित्तभूतया पुष्पिण्यो गर्भिण्यो बभूवुः। यथा ईश्वराराधना[1]त्मिकाः क्रियाः स्वसाध्यैः फलैः धर्मादिपुरुषार्थैः अन्वीयमाना समस्त भोग गर्भा भवन्ति, तद्वत्। अनेनेश्वरक्रियाणां फलाऽविनाभावित्वमुक्तम्॥ ४६॥

**उदहृष्यन्निति।** कुमुदमिति जात्यभिप्रायमेकवचनम्। कुमुदान्युत्पलानि विना सर्वाणि वारिजानि सूर्येणोदहृष्यन् विकासेन हृष्टा इव लक्षिता बभूवुः। यथा हे नृप! दस्यून् चोरव्याघ्रादीन् विना इतरे सर्वे जनाः राज्ञा हेतुना निर्भया हृष्यन्ति, तद्वत्। अनेन राज्ञा दस्यू नुद्वेजयता भवितव्यमित्युक्तम्॥ ४७॥

**पुरग्रामेष्विति।** पुरेषु ग्रामेषु चाग्रयणैः नूतन व्रीहयादि भक्षणाभ्यनुज्ञानार्थैराग्रयणाख्य यागरूपैः ऐन्द्रियैः इन्द्रिय प्रीत्यर्थैः अन्यैश्च महद्भिः उत्सवैः सर्वसस्याढ्या भूः बभौ हरेः कलाभ्यां रामकृष्णाभ्यां तु नितरां बभौ छत्रि न्यायेन कलाभ्यामित्युक्तिः॥ ४८॥

**वणिगित्यादि।** वणिगादयः तावद्वर्षेण रुद्धाः शरदि निर्गम्यार्थान् प्रयोजनानि प्रपेदिरे। तत्र वणिजः क्रयविक्रयादि व्यापारिणः, मुनयः सन्न्यासिनः, नृपाः जयिनः, स्नाताः तीर्थ यात्रा पराः एते वाणिज्यस्वच्छन्द सञ्चार[2] विजयतीर्थस्नानादिरूपानर्थान् प्रेपेदिरे इत्यर्थः। यथा[3] सिद्धास्तपस्सिद्धाः फलकाले आगते सति अस्माल्लोकात् निर्गत्य स्वपिण्डान् स्वस्वतपस्साध्य भोग्य जातं प्रतिपद्यन्ते तद्वत्। अनेन तपसः फलाऽविनाभावित्वमुक्तम्॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्र चन्द्रिकायां
व्याख्यायां विंशोऽध्यायः॥ २०॥

1. A,B,T,W °का° 2. A,B omit सं 3. A,B यद्वा

**विज०** पुष्पिण्यः गर्भिण्यः ऋषभैः इति पाठः। वृषभैरिति पाठे मातृ सहोदरी विवेक ज्ञान शून्यत्वात्तथोक्तमित्यर्थः। फलैर्बीजैः अन्वीयमानाः उप्यमानाः, ईषत्क्रियाः शनैः क्रियमाणाः, कृषिक्रिया इव फलैः स्वर्गादि लक्षणैः अनुगता ईष त्क्रिया ऊनातिरेकपरिहारार्थाः, विलम्बमान याग क्रिया इव "लाभनिष्पत्ति भोगेषु बीजे फाले धने फलम्" (वैज.को 6-5-52) इति वा॥ ४६,४७॥

इन्द्रयागमहोत्सवैः इन्द्रदैवत्याग्रायणेष्टि लक्षणोत्सवैः हरेः कलाभ्यां नितरां बभौ, आश्रमिणां अग्रिव गृहस्थमात्राणां वा॥ ४८॥

प्रावृषि वर्षेण रुद्धाः शरदि स्वीयात् नगरात् पत्तनात् निर्गत्य अर्थान् देयादेयविषयान् प्रपेदिरे वर्षेणाब्देन तल्लक्षित कालेनेत्यर्थः। रुद्धाः साधन सामग्री सम्पत्ति पर्यन्त कालेन प्रतिबद्धाः सिद्धाः मन्त्रौषध तपस्सम्पन्नाः पुरुषाः काले फलदानाभिमुखलक्षणे आगते आसन्ने स्वीयात् नगरात्स्वत्वेनाभिमताद्देहान्निर्गत्य

स्वपिण्डान्निजफलानभावयोग्यान्देहान् यथा प्रपद्यन्ते इत्यन्वयः। "वर्षोऽस्त्री भारताद्यम्बुवृष्टिषु प्रावृषि स्त्रिया (वैज. को. 6-5-79)" इति यादवः ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

(विजयध्वजरीत्या अष्टादशोऽध्यायः)

# एकविंशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या एकोनविंशोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकर सुगन्धिना।
न्यविशद्वायुना[1] वातं सगोगोपालकोऽच्युतः[2] ॥ १ ॥

कुसुमितवनराजिशुष्मि[3] भृङ्गद्विजकुलघुष्टसरस्सरिन्महीध्रम्।
यदुपतिरवगाह्य चारयन् गास्सह पशुपालबलश्चुकूज वेणुम्[4] ॥ २ ॥

तद्व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम्[6]।
काश्चित्परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन्[7] ॥ ३ ॥

तद्वर्णयितुमारब्धाः स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम्।
नाशकन् स्मरवेगेन, विक्षिप्तमनसो नृप! ॥ ४ ॥

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन्गोपबृन्दैर्बृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः ॥ ५ ॥

1. M,Ma °ना वीतं; V °नोपेतं 2. K,T,W सह गोपा° 3. G °ष्म° 4. A °जु° 5. A,B,G,J,M,Ma °मधु° 6. M,Ma महो° 7. M,Ma न्यवेदयन्

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एकविंशे शरद्रम्यबृन्दावनगते हरौ।
तद्वेणुस्वन माकर्ण्य गोपीभिर्गीतमीर्यते ॥

**इत्थमिति**। इत्थमेवम्भूतं वनम्। तदेवाऽऽह - शरदा स्वच्छानि जलानि यस्मिन् तत्। वायुनोपेतं[1] अनुगतं वनम्[2]। तद्देशव्याप्तमित्यर्थः[3] ॥ १ ॥

**कुसुमितेति।** ततश्च कुसुमितवनराजिषु शुष्मिणो मत्ताः भृङ्गाः द्विजाः च[4] तेषां कुलानि तैर्घुष्टा(नि)स्सरांसि सरितः महीध्राश्च यस्मिन् तद्वनं कृष्णः अवगाह्य प्रविश्य वेणुमवादयत्॥ २॥

**तदिति।** तत् कृष्ण[5] वेणु गीतं, स्मरस्य उदयो यस्मात्तत्। आश्रुत्य श्रुत्वा[6] परोक्षं यथा भवति तथा व्रजे स्थितत्वात्॥ ३॥

**तदिति।** विक्षिप्तमनसः व्याकुल चित्ताः॥ ४॥

यादृक्[7] कृष्णस्य[8] स्मरणं, तासां मनसः क्षोभकं जातं तदाऽऽह **बर्हेति।** नटवत् वरं वपुः बिभ्रत्। बृन्दावनं प्राविशत्। कथम्भूतं तद्वनम्? स्वपदाङ्कितैः रमणं रतिजनकं गोपबृन्दैः गीतकीर्तिः, तथा बर्हमयापीडं[9] शिरोभूषणं बिभ्रत्। बर्हमापीडो यस्मिन्निति वपुषो विशेषणं वा। वेणुवादनमुत्प्रेक्षते रन्ध्रान्वेणोरिति। अतो नूनम्। अधरसुधैव पूर्णद्विणोरुच्छलन्ती गीतवत् प्र[10-] सर्पतीति[-10] भावः॥ ५॥

1. A,B,J ° ना वातं, 2. B,J omit वनम् 3. A,B,J तदेक° 4. A,B,J add खगाः 5. P.V °ष्णस्य 6. P.V omit श्रुत्वा 7. A,B,J यादृशं 8. A,B,J ° ष्ण स्म° 9. A,B,J °यमापी° 9- -9. A,B,J प्रसर्पितुमर्हतीति

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थं शरदमनुवर्ण्याथ तदा बृन्दावने क्रीडतो वेणुं रणयतो भगवतो गोपी चित्तापहारिणः कांश्चिद्विहारान् स्ववेणुगीतान् गोपीभिर्मिथोऽनुवर्णितानाह एकविंशेन **इत्थमिति।** इत्थमेवम्भूतं शारदगुणसम्पन्नं वनमिति विशेष्य मध्याहर्तव्यम्। इत्थमित्यनेनाभिप्रेतं प्रकाशयन् विशिनष्टि। शरदा स्वच्छानि जलानि यस्मिन्, पद्माकरैः शोभनो गन्धो यस्य तेन वायुना[1] वातं व्याप्तं वनं गोभिर्गोपालैश्च सहितोऽच्युतो न्यविशत्॥ १॥

ततश्च कुसुमितवनराजिषु, शुष्मिणां मत्तानां भृङ्गाणां द्विजानां पक्षिणां च कुलैर्घुष्टाः(नि) शब्दिताः[2](नि) सरांसि सरितः, महीध्राः पर्वताश्च यस्मिन् तद्वनं विगाह्य प्रविश्य यदुपतिः कृष्णः पशुपालैः बलदेवेन च सहितः गाश्चारयन् वेणुं चुकूज अवादयत्॥ २॥

स्मरस्योदयो यस्मात् तत् कृष्णस्य वेणुगीतमाकर्ण्य काश्चिद्व्रजस्त्रियः तस्य कृष्णस्य[3] परोक्षमसमक्षं स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन्॥ ३॥

तत् कृष्णस्य वेणुगीतं चेष्टितं वर्णयितुम् आरब्धाः आरब्धवत्यः तत्स्मरन्त्यो, हे नृप! स्मरवेगेन व्याकुलितचित्ताः तावत् वर्णयितुमेव नाशक्नुवन्, शक्ता न बभूवुः, कृष्णश्च तच्चेष्टितं च तयोस्समाहारः, कृष्ण चेष्टितम्। यादृशस्तदा कृष्णः चेष्टितं च तदुभयं स्मरन्त्यो नाशक्नुवन्नित्यर्थः॥ ४॥

कीदृशं कृष्णचेष्टितमित्यत्राऽऽह **बर्हेति**। बर्हात्मकमापीडं शिरोभूषणं द्वितीयान्तानां बिभ्रदित्यनेनान्वयः। कर्णयोः श्रोत्रसन्ध्योः कर्णिकारं लाङ्गलीकुसुमात्मकं कर्णपूरं च तथा कनकवत्कपिशं पिशङ्गं वासः वैजयन्तीं मालां नटात्मकवरस्येव वपुश्च बिभ्रत्। नटवरवपुरिति बहुव्रीहिणा कृष्णविशेषणं वा। तस्य तत्पुरुषपक्षे तद्विशेषणत्वमपि बर्हापीडमित्यस्य बहुव्रीहिणा सम्भवति, अधरस्य सुधया वेणोरन्ध्रान्पूरयन् साधरसुधेन मुखवायुना वेणुं नादयन्नित्यर्थः। गोपानां बृन्दैः गीता कीर्तिर्यस्य तथाभूतः सन् स्वपदैरङ्कितैः रमणं रतिजनकं बृन्दावनं प्राविशत्। उक्त वेषं कृष्णं बर्हापीडादिधारणवेणुरन्ध्रपूरणबृन्दारण्य-प्रवेशनात्मकं चेष्टितं च स्मरन्त्यो नाशक्नुवन्निति पूर्वेणान्वयः ॥ ५॥

1. A,B वातेन 2. T,W omit शब्दिताः 3. T,W omit कृष्णस्य 4. T,W °त्यन्वयः 5. T,W omit तथा 6. K. वा° 7. K,T,W omit सन् 8- -8. K,T,W भावः

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

स्वयोग्यतानुसारेण हरौ ज्ञानसाधनं भक्तिः कर्तव्येत्यभिप्रेत्य अस्मिन्नध्याये तत्र गोपस्त्रीणां कृष्णे स्नेहातिशयं वक्तुमुपक्रमते - **इत्थं शरत्स्वच्छजलमित्यादिना**। पद्माकराणां सुगन्धोऽस्यास्तीति पद्माकरसुगन्धी, तेन वायुना वीतं परिवृतं, इत्थमुक्तविधिना शरदा स्वच्छं निर्मलं जलं यस्मिन् तत्तथा। अनेन वायोः शैत्यं सूचितम्। न्यविशत् वनमिति शेषः। "नेर्विशः" (अष्टा 1-3-17) इति सूत्रेण लौकिकस्याऽऽत्मनेपदविधानम्, न तु छान्दसस्य। अच्युत इत्यनेन वनक्रीडाद्यभावेऽपि सुखच्युतिः नास्तीति सूचयति॥ १॥

अत्र वनशब्देन वृक्षसमुच्चय उच्यते। कुसुमिताः पुष्पितोपेताः, वनराजयः वृक्षपङ्क्तयो यस्मिंस्तत्तथा। शुष्मिभिः मत्तैः स्वजातिश्रेष्ठैर्वा, भृङ्गैः द्विजगणैः पक्षिगणैश्च; घुष्टानि शब्दितानि, सरांसि अखाततटाकाः सरितः स्यन्दमाना नद्यः, महीध्राः पर्वता यस्मिन् तत्तथा। मधुपतिः माधवः, एवंविधं वनमवगाह्य वेणुं चुकूजेत्यन्वयः। कूजनं सुरतमन्त्रणं कामवर्धनं सीत्कारोद्भवं, श्रोत्रीणां गोपीनां कर्षणार्थमेवमुक्तम्॥ २॥

महः कामः, तस्योदयः अङ्कुरीभावः यस्मात् तन्महोदयं, स्मरोदयमिति केचित् पठन्ति। तद्वेणुं गीतमाश्रित्य काश्चिद्व्रजस्त्रियः परोक्षं कासांचिददृष्टश्रुतं कृष्णस्य चरितं स्वसखीभ्यो न्यवेदयन्नित्यन्वयः॥ ३॥

वर्णयितुं कीर्तयितुम्॥ ४॥

हरेस्तदाकारदर्शनं च सुखहेतुरिति भावेन तस्य स्वरूपप्रकारं वक्ति **बर्हापीडमित्यादिना**। बर्हं पिच्छमेवापीडं शेखरोत्तंसं यस्मिन् तत्। नटवत् वरवपुः शुभाकारं बिभ्रदिति प्रत्येकं सम्बन्धयितव्यम्। स्वपदेन स्वपादेन रमत इति रमणं रमयत् रन्ध्रान् सुषिराणि॥ ५॥

1- -1. Ma यस्य सः तं 2- -2. Ma नटवरवपुः 3. Ma °रः

★ बर्हापिञ्छो वनचरवपुः कर्णयो कर्णिकारः सव्येबाहौ निहितवदनः सज्जमन्यद्रहस्ते।
भ्रूविन्यासाङ्गुलिभिरणयन्गापयन्गोपबृन्दान् भूतग्रामं तर्हि रमयन् ब्रह्मगान्धर्वमेव ॥ ६ ॥

इति वेणुरवं राजन्सर्वभूतमनोहरम्।
श्रुत्वा व्रजस्त्रियस्सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेमिरे[1] ॥ ७ ॥

गोप्य ऊचुः

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामस्सख्यः! पशूननुनिवेशयतोर्वयस्यैः[2]।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं यैस्तैर्निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्[3] ॥ ८ ॥

चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्ज मालानुरक्तपरिधानविचित्रवेषौ[4]
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ ॥ ९ ॥

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुदामोदराधरसुधामपि[5] गोपिकानाम्[6]।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं[7-] हृदिन्यो[-7] हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो[8] यथाऽऽर्याः[9] ॥ १० ॥

बृन्दावनं सखि! भुवो वितनोति कीर्तिं यद्देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि।
गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्तं[10] प्रेक्ष्याद्रि[11-] सान्वपरतान्य[-11] समस्तसत्त्वम् ॥ ११ ॥

★ This extra verse is found in B.M.Ma edn and its commentary of Vijayadwaja is found in A,B,M,Ma editions.
1. A,B,G,J,Ma °भि° 2. A,B,G,J °ननुवि° ; M,Ma °नभिनि° 3. A,B,G,J यैर्वानि° ; M,Ma यैर्यैर्नि° 4. A,B,G,J,V °पृक्त; K,T,W °युक्त 5. T,W रे° 6- -6. M,Ma °सरसाग्रगेयम्; V मपि गोपिभोग्याम् 7- -7. M,Ma °रसौघमार्गे 8. M,Ma हृष्टत्व° 9. M,Ma °वस्सदर्भाः। 10. A,B,G,J,M,Ma नृत्यं 11. M,Ma °दृतानुचरितान्य

**श्रीध० इतीति**। अभिरेमिरे। वर्णयन्त्यः सत्यः[1]। पदे पदे परमानन्दमूर्तिं कृष्णं परिरब्धवत्यः ॥ ६,७ ॥

अनुवर्णनमेवाह **अक्षण्वतामिति** त्रयोदशभिः। अक्षण्वतां चक्षुष्मतां, तावदिदमेव फलं प्रियदर्शनं, परमन्यत् न विदामः न विद्म इत्यर्थः। तच्च फलं सखिभिस्सह पशून् वने प्रवेशयतो[2] रामकृष्णयोर्वक्त्रं यैर्निपीतम् सादरं[3-] दृष्टं[-3] तैरेव जुष्टं सेवितम् नान्यैरित्यर्थः। कथम्भूतं वक्त्रम्? अनुवेणु, वेणु मनुवर्तमानं, तं वादयत्। तथा अनुरक्तकटाक्षमोक्षं स्निग्धकटाक्षविसर्गं, अथवा यैर्निपीतं तयोर्वक्त्रं तैः[4] जुष्टम्। इदमेवाक्षण्वतामक्ष्णोः फलमिति ॥ ८ ॥

अन्या आहुः **चूतेति**। चूतप्रवालादीनां विचित्राभिर्मालादिभिः अनुपृक्ते ईषदन्तरान्तरतस्संयुक्ते परिधाने नीलपीताम्बरे, ताभ्यां विचित्रो वेषो ययोस्तौ। क्व कदाचित् पशुपालगोष्ठ्यां गोपालसभायां मध्ये, अलमत्यर्थम्। विरेजतुः। अहो! गोपालानां पुण्यमिति भावः ॥९॥

अन्या ऊचुः **गोप्य** इति। हे गोप्यः! अयं वेणुः किं स्म पुण्यमाचरत् कृतवान्। कथम्? यत् यस्मात् गोपिकानामेव भोग्यां सतीमपि। दामोदराधरसुधां स्वयं स्वातन्त्र्येण, यथेष्टं भुङ्क्ते कथमवशिष्टस्सं केवलमवशिष्टं रसमात्रं यथा भवति तथा। यतः यासां ह्रदिनीनां पयसा पुष्टः वेणुः ताः मातृतुल्या ह्रदिन्यः हृष्यत्त्वचः विकसितकमलवनमिषेण रोमाञ्चिताः लक्ष्यन्ते। येषां वंशे जातास्ते तरवो मधुधारामिषेण आनन्दाश्रु मुमुचुः। यथा आर्याः कुलवृद्धाः स्ववंशे भगवत्सेवकं दृष्ट्वा हृष्यत्त्वचोऽश्रुमुञ्चन्ति तद्वदिति ॥१०॥

काश्चिदाहुः **बृन्दावनमिति**। हे सखि! बृन्दावनं भुवः कीर्तिं स्वर्गादपि विशेषेण तनोति। कथम्भूतम्? यद्देवकीसुतस्य पदाम्बुजाभ्यां लब्धा लक्ष्मीः शोभा संपत् येन तत्। किञ्च, गोविन्दस्य वेणुमनु वेणुनिनादं शृत्वा अनन्तरं मन्दगर्जितं नीलमेघं तं मत्वा, मत्ता, ये मयूराः तैः षां नृत्यं प्रेक्ष्य, सङ्गशः तत्र तत्रैव अद्रिसानुषु उपरतानि उपरतक्रियाणि अन्यानि समस्तानि सत्त्वानि यस्मिन् तत्। न एतदन्येषु लोकेषु विद्यते, अतो लोकान्तरापेक्षया भुवः कीर्तिं वितनोतीत्यर्थः ॥११॥

1. A,B,J omit सत्यः 2. A,B,J वनं 3- -3. B,J,P,V omit 4. A,B,J add यत् 5. A,B,J omit वि 6. B,J °पानां° 7- -7. P.V omit 8. P.V omit ह्रदिनीनां 9. A,B,J omit वेणुः 10. A तैः आचरितं 11. A,B,J omit एव 12- -12. P,V omit.

**वीर०** एवं तावद्वर्णयितुमशक्ताः ततश्शनैः लब्धाश्वासा वर्णयामासुरित्याह **इतीति**। हे राजन्! इति इत्थं तावदेवम्भूता व्रजस्त्रियः सर्वभूतानां मनोहरं वेणुरवमाकर्ण्य तमेव सचेष्टितं वर्णयन्त्यः अभिरेभिरे, तद्वर्णनात्मकं विहारं चक्रुः, 'अभिरेमिरे' इति पाठे वर्णयितुं बुद्धौ सन्निधापितं, मन्मथ मन्मथं भगवन्तं परिरेभिरे इत्यर्थः ॥६,७॥

वर्णनामेवाऽऽह - **अक्षण्वतामित्यादिना** यावदध्यायपरिसमाप्ति। इतीत्यस्य वक्ष्यमाणप्रकारेणेति वाऽर्थः। तदा तमेव प्रकारमक्षण्वतामित्यादिना दर्शयति, हे सख्यः! चक्षुष्मतां जनानां चक्षुषामिदमेव फल मन्यत्तु न विद्मः, किं तत्? यद्व जेशस्य नन्दस्य सुतयोः रामकृष्णयोः वक्त्रं मुखं यैः नितरां पीतमनुभूतं दृष्टमिति यावत्, तदेतत् "यैर्वा निपीतम्" इति पाठः। "यैस्तैर्निपीतम्" इति च पाठो दृश्यते। तदा यैश्चक्षुर्भिस्साधनैः तैरक्षण्वद्भिः कर्तृभिः निपीतमित्येतदित्यर्थः। कथम्भूतयोः? वयस्यैः समानवयस्कैः गोपैस्सह पशूननुनिवेशयतोः वनं प्रति प्रवेशयतोः, कथम्भूतं वक्त्रम्? अनुवेणु वेणुमनुवर्तमानं वेणुं वादयदित्यर्थः। जुष्टं पश्यतां, निरतिशयप्रीतिविषयम् अनुरक्तानां स्निग्धानां कटाक्षाणां मोक्षो विसर्गो यस्मिन् तथाभूतम् ॥८॥

अन्यास्त्वाहुः **चूतेति**। एवम् उत्तरत्रापि। अत एव सर्वत्र वक्तृभेदान्नातीव सङ्गतिरपेक्षिता। चूतपल्लवादीनां मालाभिरनुयुक्ते ईषदन्तरान्तरा संयुक्ते। "अनुपृक्ते" इति पाठे स एवार्थः। परिधाने नीलपीताम्बरे ताभ्यां

विचित्रौ वेषौ ययोः तौ, क्व च कदाचित् गायमानौ गोपसभायां मध्ये नितरां विरेजतुः यथा रङ्गे नटश्रेष्ठौ तथा। अहो पश्यतां गोपानां[10] महत्[11] भाग्यमिति भावः॥९॥

**गोप्य** इति। हे गोप्यः! अयं कृष्णकरस्थः वेणुः किं स्म कुशलं पुण्यमाचरच्चकार? कुतः? यत् यस्मात् गोपिकानामपि, अपिशब्दो दौर्लभ्यद्योतकः, गोपिकानाम् अस्माकमपि दुर्लभां दामोदरस्याधरसुधां स्वयं भुङ्क्ते, अनेकोपभोग्यां स्वयमेक एव भुङ्क्ते, अवशिष्टरसं तु हृदिन्यो नद्यस्तरवश्च भुञ्जते। कृत्स्नायामधरसुधायां वेणुनैकेन पीयमानायां यद्गलितमधरसुधात्मक रसकणजालं हृदिन्यस्तरवश्च भुञ्जते, अश्रु इति जात्यभिप्रायकमेकवचनम्। अवशिष्टरसभोगप्रयुक्तहर्षाश्रूणि मुमुचुः, हृष्यत्त्वचश्च। तत्र हृदिन्यो विकसितकमलव्याजेन हृष्यावचः उदञ्चितरोमाण इव लक्ष्यन्ते। तरवस्तु मधुमिषेणऽऽनन्दाश्रूणि मुमुचुरिवेति भावः। यथा आर्या भागवतशेषरसाभिज्ञास्तद्भुक्तावशिष्टमुपभुज्य हृष्यावचोऽश्रूणि मुञ्चन्तश्च भवन्ति तद्वत्[12] ॥१०॥

**बृन्दावनमिति।** हे सखि। बृन्दावनं भुवः कीर्तिं वितनोति अनितरलोकसाधारणीं कीर्तिं जनयतीत्यर्थः। अत्र हेतु वदन्त्यो विशिंषन्ति। यद्बृन्दावनं देवकीसुतस्य पदाम्बुजाभ्यां लब्धा लक्ष्मीः सौन्दर्य सम्पत् येन, किञ्च गोविन्दस्य वेणुमनु वेणुगीतमनुसृत्य मन्दगर्जितनीलमेघभ्रान्त्या मत्ता ये मयूरास्तेषां नृत्तमवलोक्याद्रिसानुष्वपरतानि वेणुगीततदनु रूपमयूरनृत्तदिदृक्षया निवृत्तस्वस्वव्यापाराणि, अन्यानि मयूरव्यतिरिक्तानि समस्तानि सत्त्वानि जन्तवो यस्मिन् तथाभूतम्, न ह्यन्योऽस्त्येवंविधो लोक इति भावः॥११॥

1. A,B °शब्द° 2. A,B वर्णितुं 3. K बुध्या 4. A,B add बुध्या 5. A,B omit परि 6. T omits वा 7. A,B,K °दर्थः 8. T,W सवय° 9. A,B वि° 10. T,W omit गोपानां 11. K,T,W omit महत् 12. A,B add इत्यर्थः

**विज०** बर्हमेवाऽपिच्छो यस्य स तथा। वनचरवपुः किराताकार इव आकारो यस्य स तथा। "शुभाकारे तनौ वपुः" (वैज.को. 6-3-30) इति च। वनचरा गोपा वा। कर्णयोः कर्णिकार इत्येकंपदं कण्ठेकाल इतिवत्। भ्रुवोर्विन्यासः भ्रूभङ्गविशेषः, तेन सह अङ्गुलीभिः, अन्यत्र हस्ते सज्जं सक्तं रणयन् वेणुमिति शेषः। अङ्गुलीभीरणयन् इति वक्तव्ये ह्रस्वत्वं छन्दोभङ्गभयात्कृतम्। गान्धर्वं ब्रह्मैव भरतशास्त्रोक्तप्रकारमेव। गोपबृन्दान् गापयन् इति द्विकर्मकोऽयं धातुः। भूतग्रामं प्राणिसमूहं रमयन् बृन्दावनं प्राविशत् इति पूर्वेणान्वयः॥६॥

अभिरेमिरे इत्यत्र या रतिः सा मुख्यतः[1] श्रिय एव तद्गीतरसविशेषज्ञत्वात् तदन्यासां तदभावात् तस्मादौपचारिकमभिरमणम्। तदुक्तम् "श्रीदेवीवेणुमाश्रित्य रेमे कृष्णमुखाम्बुजे" (तन्त्रभागवते) इत्यादि। 'सुरा इतरभाण्डगा' इत्यत्र इतरभाण्डानि वेणुमन्तरेणान्यभूषणानि गता आविष्टा इत्यर्थः। इतरेषां रामादीनां वा। "वणिङ्मूलधने मूलधने पात्रे भाण्डं भूषाश्वभूषयोः" (वैज.को.6-3-23) इति यादवः। वनचरा गोपा वा॥७॥

गोपस्त्रीणां वर्णनप्रकारं दर्शयति अक्षण्वतामित्यादिना। यैर्यैर्व्रजेशसुतयोः रामकृष्णयोः वक्त्रं नितरां पीतं दृष्टिभिरिति शेषः। तेषां तेषामक्षण्वतां चक्षुष्मतां चक्षुषामिदं फलं लाभं विदामो न परं नान्यत्

फलं, अन्यस्य नरकदुःखफलहेतुत्वात्। हे सख्यः! कीदृशयोः? वयस्यैः पशूनभिनिवेशयतोः अनुसन्ध्यं गोष्ठे इति शेषः। अनुवेणोः पश्चाद्भागे जुष्टं चुम्बितं अनुरक्तः स्निग्धः कटाक्षमोक्षो यस्मिन् तत्तथा॥८॥

चूतस्य प्रवलादिभिः अनुरक्तपरिधानेन विचित्रः नानाविधः वेषो ययोस्तौ तथा। अनुरक्तं अनुरागोपेतं पशुपालगोष्ठ्यां, गोपगोष्ठ्यां मध्ये "गवां समष्टिः संवार्ता, गोष्ठ्यशाला च कथ्यते" इत्युत्पलमाला क्व च क्वचित् स्थले गायमानौ तिष्ठत इति शेषः॥९॥

हे गोप्यः! अयं वेणुः किं कुशलं तपोलक्षणं आचरत् स्म स्मरणं कर्तव्यं किमप्यस्तीति वृत्तं पूर्वजन्मनि चीर्णं वा। "स्मृतौ वृत्ते निषेधे स्म" (वैज.को.8-7-7) इति च। यो वेणुः दामोदरस्याधरोष्ठः स एव सुधा तया सरसं सरागमग्रयं गेयं यस्मिन्सः, सरागमग्र्यगेयः तं, रसं भुङ्क्ते आस्वादयति, सदर्भाः दर्भाङ्कुरैः सहिताः तरवः हृष्टत्वचः अस्मद्वंश्योऽयमिति रोमाञ्चितसर्वगात्राः येन वेणुना पीतावशिष्टो यो रसः तस्यौघः प्रवाहो यस्मिन् स यदवशिष्टरसौघः तस्मिन् मार्गे कृष्णेन सञ्चरितेऽध्वनि अश्रु आनन्दजलं ममुचुरित्यन्वयः। सदर्भाः सकुशा वा॥१०॥

भुवो भूमेः हे सखि! यद्वृन्दावनं देवकीसुतस्य पादाम्बुजाभ्यां लब्धा लक्ष्मीः श्रीः येन तत् देवकीसुत पदाम्बुजलब्धलक्ष्मि। लक्ष्मेति केचित्। लक्ष्म चिह्नं गोविन्दस्य वेणुमनु वेणुस्वरानुकूलमेघनादशङ्कया वेणुस्वरानुकारेण वा, मत्तानां मयूराणां नृत्यं दृष्ट्वा आदृताः सादराश्च अनुकूलं चरितं येषां ते तथा, कृष्णचरितानुकूलचरिताश्चान्ये मनुष्यविजातीयाः समस्ताः सत्वा जन्तवो यस्मिन् तत् आदृतानुचरितान्यसमस्तसत्त्वं "सत्त्वोऽस्त्री" (वैज.को. 6-5-93) इति वचनात् पुल्लिंगोप्ययंशब्दः। आदृतौ सादरार्चितौ इति च॥११॥

1. Ma मुख्या अत एव श्रि° 2. A,B तोऽ°

**धन्यास्स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्।**
**आकर्ण्य वेणुरणितं च सकृष्णसाराः पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः॥१२॥**

**कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलं श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणुविचित्रगीतम्।**
**देव्यो विमानगतयस्स्मरनुन्नसारा भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः॥१३॥**

**गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः।**
**शा बास्स्तनस्नुतपयः कबलास्स्म तस्थुर्गोविन्दमात्मनि दृशाऽश्रुक लाः स्पृशन्त्यः॥१४॥**

**प्रायो बताम्ब! मुनयो विहगा वनेस्मिन् कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणु गीतम्।**
**आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान् शृण्वन्ति मीलितदृशो विगतान्यवाचः॥१५॥**

नद्यस्तदा[15] तदुपधार्य मुकुन्दगीतमावर्तलक्षितमनोभव भग्नवेगाः ।
आलिङ्गनस्थ[16-] गितमूर्मि[-16] भुजैमुरारेर्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥ १६ ॥

1. A °स्तु; M,Ma °स्सु; K,T,W °श्च 2. K,T,W °ग° 3. M,Ma यन्नन्द 4. M,Ma आपीय 5. M,Ma °चि° 6- -6. A,B,G,J सहकृष्णसाराः ; K,T,W सहकृष्णसारैः 7. V ददुः 8. A चारुवेषं; K चारुशीलं M,Ma रूपसारं; 9. K,T,W विविक्त 10. M,Ma °तं 11- -11. A,B,G,J शाबाः स्नुतस्तनपयः M,Ma सानन्दनम्रतनवः 12- -12. M,Ma °कणान्स्रवन्त्यः 13. M,Ma °क्षणास्त° 14. B,G,J °न्त्यमी° 15. K,T,W °था° 16. M,Ma °प्रमुदितोर्मि°

**श्रीध०** अपरा आहुः **धन्या** इति। हे सखि! मूढमतयः तिर्यग्जातयोऽपि। एता हरिण्यः धन्याः कृतार्थाः। याः वेणुरणितं वेणुनादं आकर्ण्य नन्दनन्दनं प्रति प्रणयसहितैरवलोकनैर्विरचितां पूजां, सम्मानं ददुः कृतवत्यः। किञ्च कृष्णसारैः स्वपतिभिस्सहिता एव ददुः[1]। अस्मत्पतयस्तु गोपाः क्षुद्राः समक्षं तन्नसहन्ते इति भावः ॥ १२ ॥

अन्या ऊचुः **कृष्णमिति**। हे गोप्यः! आश्चर्यं शृणुत। वनितानामुत्सवो यस्मात्तद्रूपं शीलं च यस्य तम् श्रीकृष्णं निरीक्ष्य तेन वादितवेणोरसंकीर्णं गीतं च शृत्वा विमानैर्गच्छन्त्यो देव्यो देवानामङ्केषु स्थिता अपि स्मरेण नुन्नसाराः परिक्षिप्तधैर्याः मुमुहुः। मोहलिङ्गमापुः भ्रश्यत्प्रसूनाः कबराश्चूडाः यासां ताः। विगता नीव्यो यासां ताः। अत्र सर्वत्र वक्तृभेदा न्नातीव सङ्गतिर्वक्तव्या ॥ १३ ॥

**गाव** इति। क्षरणशङ्कयैव उत्तभितैः उन्नमितैः कर्णपुटैः पिबन्त्यस्सत्यः तथा शाबाश्च वत्साः। स्तन्यपाने प्रवृत्ताः समनन्तरमेव गीतं शृत्वा। तदेव पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः[2] पिबन्तः, स्तनस्नुतपयः[3]कबलाः केवलं स्तनेभ्यः क्षरितक्षीरग्रासाः मुखेषु एषां ते तस्थुः विस्मृतक्रिया बभूवुरित्यर्थः। तत्र हेतुः गोविन्दं दृशा मर्गेण आत्मनि मनसि, स्पृशन्त्यः[4]। अत एव अश्रुणां कला लेशा, लोचनयोर्यासां ताः गावः ते च शाबाः वत्साः[5] ॥ १४ ॥

**प्राय** इति। भो अम्ब! मातः! अस्मिन् वने ये विहगाः पक्षिणः ते प्रायेण मुनयो भवितुमर्हन्ति। कुतः? कृष्णेक्षितं कृष्णदर्शनं पुष्पफलाद्यन्तरं विना यथा भवति तथा। रुचिराः प्रवालाः येषां तान्। द्रुमभुजान् वृक्षाणां शाखा आरुह्य। तेन श्रीकृष्णेन उदितं प्रकटितं कलवेणुगीतं, केनापि सुखेन निमीलितदृशः[6] त्यक्तान्यवाचस्सन्तो ये शृण्वन्तीति। तथाहि मुनयः श्रीकृष्णदर्शनं यथा भवति तथा। वेदोक्तकर्मफलपरित्यागेन वेदद्रुमशाखारूढाः रुचिरप्रवाल - स्थानीयानि कर्माण्येवोपाददानाः सुखिनस्सन्तः, श्रीकृष्णगीतमेव शृण्वन्ति, अतस्त एवैते भवितुमर्हन्तीति भावः ॥ १५ ॥

**नद्य** इति। आस्तां चेतनानां कथा। नद्योपि आवर्तैः परिभ्रमैः लक्षितेन सूचितेन मनोभवेन कामेन भग्नो वेगो यासां ताः, आलिङ्गनेन स्थगितमाच्छादितं यथा भवति तथा। ऊर्मय एव भुजास्तैः कमलोपहाराः कमलानि उपहरन्त्यः मुरारेः पादयुगलं गृह्णन्ति धारयन्ति ॥ १६ ॥

1. A,B,J °धुः 2. A,B,J °त्तम्भि° 3. A,B,J स्नुतस्तन° 4. A,B,J आलिङ्गन्त्यः 5. A,J,P,V omit वत्साः 6. A,B,J अनिमी° 7. V omits नद्योपि

**वीर० धन्या** इति। मूढगतयः तिर्यग्गतयोऽपि, 'मतय' इति पाठे सुन्दरासुन्दरवस्तुविवेकरहिता अपि। 'गतय' इति पाठेऽपि अयमप्यर्थः[1] सम्भवति। "गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः" इति न्यायात् एता हरिण्यो धन्याः कृतार्थाः। एवं कुत इत्यत्र विशिंषन्ति। याः हरिण्यः वेणुगीतमाकर्ण्य उपात्तः स्वीकृतः बर्हादिभिः विचित्रो वेषो येन तं नन्दस्य नन्दनं प्रति प्रणयसहितैः अवलोकैः पूजां सम्मानं दधुः कृतवत्यः। किञ्च कृष्णसारैः स्वपतिभिस्सहिता एव दधुः। अस्मत्पतयस्तु गोपाः क्षुद्राः तन्न सहन्तेऽसमक्षमिति[2] भावः॥ १२॥

अन्यास्तु - हे गोप्यः! इदमप्यद्भुतं शृणुतेत्याहुः - **कृष्णमिति**। वनितानामुत्सवो यस्मात्तत्[3] रूपं[3] शीलं च यस्य तं कृष्णं निरीक्ष्य तेन वादितस्य वेणोरसङ्कीर्णं गीतमाकर्ण्य[4] विमानैः गच्छन्त्यो देवानाम् अङ्केषु स्थिताः स्मरापहृतधैर्या मुमुहुः, मोहे[5] लिङ्गमाहुः[5]। भ्रश्यत्प्रसूनाः कबराश्चूडाः यासां ताः, विगता नीव्यो यासां ताः शिथिलनीवीबन्धनाः॥ १३॥

**गाव** इति। कृष्णमुखान्निर्गतं वेणुगीतमेव पीयूषममृतं उत्तभितैरवनमने क्षरणशङ्कयैवोन्नमितैः[6] कर्णपुटैः पिबन्त्यः तस्थुः। तदा[7] शाबा वत्साश्च स्तन्यपानप्रवृत्ता गीतं श्रुत्वा तदेव पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः[8] पिबन्तः स्नुतपयः कबलाः केवलं स्तनेभ्यो गलित क्षीरग्रासाः मुखेषु येषां ते तस्थुः, विस्मृतस्वव्यापारा[9] बभूवुरित्यर्थः। अत्र हेतुः गोविन्दं दृशा दृष्टिमार्गेणाऽऽत्मनि चित्ते स्पृशन्त्यः आलिङ्गन्त्यः, अत एव अश्रूणां कला लेशाः लोचनयोः यासां ताः गावः ते च शाबाः॥ १४॥

**प्राय** इति। अम्ब! हे मातः! अमातरमपि पूजार्थं सम्बोधयन्ति अम्बेति[10]। अस्मिन् वने विहगाः पक्षिणः प्रायशो मुनयो भवितुमर्हन्ति। कुतः? ये विहगाः रुचिराः प्रवालाः पल्लवाः येषां तान् द्रुमभुजान् तरुशाखाः आरुह्य स्वभोज्यं फलादिकं विहाय केवलं कृष्णस्येक्षितं दर्शनं यस्मिन् तद्यथा भवति तथा, तेनोदितं प्रकटितं मधुरं वेणुगीतं केनापि सुखेन मीलितदृशः त्यक्तान्यवाचस्सन्तः शृण्वन्ति। तथाहि - मुनयः वेदद्रुमशाखाश्रिताः कृष्णदर्शनं यथा भवति तथा वेदोक्तकाम्यकर्मफलपरित्यागेन[11] भगवदेकदृष्टयः सुखिनः तन्महिमानमेव शृण्वन्ति। अतः त एवैते भवितुमर्हन्तीति॥ १५॥

आस्तां चेतनानां कथेत्यभिप्रायेण काश्चिदाहुः **नद्य** इति। तथा यथा चेतनास्तद्वदचेतना नद्योऽपि तन्मुकुन्दस्य गीतं[12] वेणुगीतमुपधार्य श्रुत्वा, उत्प्रेक्षामात्राभिप्रायंकमिदम्। आवर्तैः परिभ्रमैः लक्षितेन सूचितेन मनोभवेन कामेन[13] भग्नो

वेगो यासां ताः, आलिङ्गनेन स्थगितमाच्छादितं यथा भवति तथा, ऊर्मय एव भुजास्तैः कमलान्युपहरन्त्यः मुरारेः पादयुगलं गृह्णन्ति धारयन्ति॥ १६॥

1. A,B °मर्थः 2. A,B °न्ते न स° 3- -3. A,B त्तत् चारु; K त्तं चारु° 4. A,B °ञ्च श्रुत्वा 5- -5. T,W omit 6. A,B,T,W °त्तम्भि° 7. A,B तथा 8. A,B °त्तम्भि° 9. A,B omit स्व 10. A,B omit अम्बेति 11. A,B omit परि 12. T,W omit गीतं 13. A,B मन्मथेन

**विज०** सुष्ठु मूढा विवेकरहिता मतिर्यासां ताः तथा। कृष्णसारानुसारेण पुंमृगेण कान्तमृगेण वा सहिताः, नन्दस्य नन्दनं वेणोरचितं निस्सृतं स्वरं च आपीय आस्वाद्य प्रणयेन सहितैः अवलोकनैः दर्शनैः उन्नतमस्तकत्वाद्दधुरिति॥ १२॥

वनितानामुत्सवभूतं रूपसारं स्थिरसौन्दर्यं यस्य स तथा तं (रूपं) "सौन्दर्ये च स्वभावे च" (वैज. को. 6-3-28) इति "सारो बले स्थिरांशे" (वैज. को. 6-5-97) इति यादवः। तेन क्वणितात् वातेन शब्दितात् वेणोर्वीतं निर्गतं चित्रं सप्तस्वरमिश्रगीतं "वी गतौ" इति धातुः। "चित्रमाश्चर्यलेख्ययोः" (वैज. को. 6-5-30) इति यादवः। देव्यो देवस्त्रियः स्मरेण नुन्नं नष्टं सारो धैर्यं यासां तास्तथा, भ्रश्यत्प्रसूनकबराः विगलितपुष्पकेशभराः विगताः त्रस्ताः नीव्यः वस्त्राणि वस्त्रग्रन्थयो वा यासां तास्तथा। "नीवी वस्त्रांशुकग्रन्थ्योः" इति च॥ १३॥

उत्तभितकर्णपुटैः निश्चलकर्णरन्ध्रभागैः कबलाः कबलसहिताः गोविन्दमात्मनि हृदि स्मरन्त्यः दृशा नेत्रेण अश्रुबिन्दून् स्रवन्त्यः शाबस्नुतस्तनपयः कबला इति केचित्, शाबा वत्साः तेषां स्मरणेन स्नुताः संस्रुताः क्षीराणि कबलाः, शष्पग्रासाः यासां तास्तथा तस्थुरित्यन्वयः। कबलाः आसां सन्तीति कबलाः अर्श आद्यच् "अजाद्यतष्टाप्" (अष्ट 4-1-4) इति टाप्प्रत्यये कृते कबलेति रूपं सिद्धं भवति जायाशब्दवदिति वा॥ १४॥

विगताः त्यक्ताः स्वजातिसिद्धा वाचो यैस्ते, विगतान्यवाचो धृतमौना इत्यर्थः। बत आश्चर्यमिदं, हे अम्ब! पक्षिणां मुनीनां च मौनत्वसामान्यादेवमुच्यते॥ १५॥

यद्यदा मुकुन्देन गीतं तदा तदुपधार्य हृद्यवधार्य आवर्तेन अम्भसां भ्रमेण लक्षितेन मनोभवेन कामेन भग्नो वेगो यासां तास्तथा। ऊर्मय एव भुजाः आलिङ्गनेन स्पर्शलक्षणेन प्रमुदिता ऊर्मिभुजाः आलिङ्गन प्रमुदितोर्मिभुजाः तैः, कमलमेवोपहारो यासां तास्तथा॥ १६॥

**दृष्ट्वाऽऽतपे व्रजपशून्सह रामगोपैस्सञ्चारयन्तमनुवेणुमुदीरयन्तम्।**
**प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिस्सख्युर्व्यधात्स्ववपुषाऽम्बुद आतपत्रम्॥ १७॥**

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जरागश्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्॥ १८॥

हन्तायमद्रिरबला! हरिदासवर्यो यद्रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः।
मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत् पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः॥ १९॥

गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदारवेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः।
आस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम्॥ २०॥

श्री शुक उवाच

एवंविधा भगवतो या बृन्दावनचारिणः।
वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः॥ २१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे वेणुगीतं नाम एकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

1. K,T,W दृष्ट्वा तटे 2. M,Ma हृषितः 3. M,Ma सख्यम्। 4. M,Ma °कन्त° 5- -5. A,B,G,J,Ma omit

**श्रीध० दृष्ट्वेति।** लोकार्तिहरणशीलत्वादिसाम्यात् सख्युः श्रीकृष्णस्य अम्बुदः तदुपरि उदितः पुनः प्रेम्णा प्रवृद्धस्सन् कुसुमावलीभिः पुष्पसमूहैः तत्तुल्यैस्तुषारैर्वा सह स्ववपुषा छत्रं विहितवान्॥ १७॥

ससीत्कारमाहुः **पूर्णा** इति। पूर्णाः कृतार्थाः पुलिन्द्यश्शबराङ्गनाः। कथमित्यत आह प्रथमं दयितानां स्तनेषु मण्डितेन अनुलिप्तेन पुनश्च रतिसमये उरुगायस्य श्रीकृष्णस्य पदाब्जयोः रागेण आरुण्येन श्रीः कान्तिर्यस्य तेन कुङ्कुमेन पुनस्तस्य वतृणेषु रूषितेन लग्नेन, तद्दर्शनेन तथाभूतस्य कुङ्कुमस्य दर्शनेन, स्मरकृता रुक् तापो यासां ताः, तेन कुङ्कुमेन! आननेषु कुचेषु च कामतप्तेषु लिम्पन्त्यः तदाधिं कामव्यथां जहुः। अतस्ताः कृतार्थाः। धिक्! अन्या मादृशीः याः एवम्भूतमपि आधिशमनं न लभन्ते इति॥ १८॥

**हन्तेति।** हन्तेति हर्षे। हे सख्यः! अयमद्रिर्गोवर्धनः ध्रुवं हरिदासेषु श्रेष्ठः। कुत इत्यत आह यस्माद्रामकृष्णयोः चरणस्पर्शेन प्रमोदो यस्य सः, तृणाद्युद्गममिषेण रोमहर्षदर्शनात्। किञ्च यत् यस्मात् मानं तनोति। सहगोभि र्गणेन सखिसमूहेन च, वर्तमानयोरपि तयोः। कैः पानीयैः सूयवसैः शोभनतृणैः कन्दरैः कन्दमूलैश्च, यथोचितम् अतोऽयं अतिधन्य इत्यर्थः॥ १९॥

**गा** इति। हे सख्यः! इद न्त्वतिचित्रं, गोपैस्सह[8] वने गाःसञ्चारयतोः तयोः रामकृष्णयोः मधुरपदैः महावेणुनादैः, शरीरिषु ये गतिमन्तस्तेषां अस्पन्दनं, स्थावरधर्मः, तरूणां पुलकः,[9] जङ्गमधर्म इति। निर्युज्यन्ते गावः ए[10]भिरिति निर्योगाः पादबन्धनरज्जवः। अधृष्यगवां कर्षणार्थाः पाशाश्च तैः कृतं लक्षणं चिह्नं ययोः, शिरसि निर्योगवेष्टनेन स्कन्धस्थ पाशेन च। गोपपरिबृढश्रिया विराजमानयोरित्यर्थः ॥ २०,२१ ॥ ★

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

1. A,B,J साहङ्कारमाहुः 2. A,B,J °हुः 3. P,V वक्षः ° 4. A,B,J °श्यो 5. A,B,J °हुः 6. A,B,J निभेन 7. P,V omit यस्मात् 8. A,B,J add वने 9. A adds रोमाञ्चश्च 10. A,B,J आभि° ★ गोपीनां कामतः कृष्णे निस्सीमप्रेमसङ्गमः। कात्यायन्यर्चनोद्भूत तत्प्रसादमहोदयः This extra verse is found in A edn. only.

**वीर०** दृष्ट्वेति। तटे यमुनातीरे। 'आतपे' इति पाठान्तरम्। तदा तस्मिन् रामेण गोपैश्च सह व्रजपशून् सञ्चारयन्तम् अनु गवां पश्चाद्भागे वेणुमुदीरयन्तं वादयन्तं[1] श्रीकृष्णं दृष्ट्वा अम्बुदः मेघः[2] उदितः पुनः प्रेम्णा प्रबुद्धः, सख्युः कृष्णस्य लोकार्तिहरत्वनीलवर्णत्वादि साम्यात् सखित्वव्यपदेशः उपरि इति शेषः। कुसुमसमूहतुल्यैः तुषारैस्सह स्ववपुषा आतपत्रं व्यधात् चकार॥ २७॥

शबराङ्गनानामपि भाग्यं वयं न लेभिमहे[3] इति ससीत्कारमाहुः **पूर्णा इति।** पुलिन्धः शबराङ्गनाः पूर्णाः[4] कृतार्थाः, कुतः तत्राहुः उरु अधिकं गीयते मुनिभिरित्युरुगायः कृष्णः। तस्य पदाब्जयोः रागेणाऽरुण्येन श्रीः औज्ज्वल्यं यस्य तेन कुङ्कुमेन। कथम्भूतेन? दयितायाः महालक्ष्म्याः स्तनयोर्मण्डितेन अलङ्कृतेन[5] क्रीडासमये[6] लक्ष्म्यास्तनयोः[7] निहितत्वात् उरुगायपदाब्जयोः[8] कुङ्कुमसम्बन्धः, उरुगायपदाब्जाभ्यां वनसञ्चारदशायां तृणेषु रूषितेन लिप्तेन आनेनषु कुचेषु च लिम्पन्त्यः, कथम्भूतास्सत्यः? तस्य कुङ्कुमस्य दर्शनेन स्मरकृता रुक् यासां तथाभूतास्सत्यः आननेषु कुचेषु च लिम्पन्त्यः तदाधिं कामव्यथां जहुः। अतस्ताः पूर्णा इति भावः॥ १८॥

**हन्तेति।** हे अबलाः! अयमद्रिः हरिदासश्रेष्ठः। अहो! अचराणामपि हरिदास्याभिरुचिरिति विस्मीयते हन्तेति। कुतः? यत् यस्मात् रामकृष्णयोः चरणस्पर्शेन प्रमोदो यस्य सः! उदञ्चितैः तृणैरोमहर्षमालक्ष्य तेन रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोद आलक्ष्यते। किञ्च गोभिः सखिगणैस्सहितयोः तयोः रामकृष्णयोः यः गोवर्धनाद्रिः पानीयादिभिर्यथोचितं मानं पूजाम् आतिथ्यात्मिकां करोति तत्र[9] सूयवसानि शोभनानि तृणानि, सुशब्दे दीर्घ आर्षः। संयवसेति पाठान्तरम्। तदाऽपि स एवार्थः। कन्दरेषु कन्दानि मूलानि च तैः॥ १९॥

हे गोप्यः! इद न्त्वतिचित्रमिति काश्चिदाहुः **गा** इति। हे सख्यः! गोपैस्सह प्रतिवनं गाश्चारयन्तः, निर्योगाः

निर्युज्यन्ते गावः एभिरिति निर्योगाः, दोहनवेलायां गवां पादबन्धनार्थं रज्जवः पाशास्तु दुष्टगवाकर्षणार्थाः तैः कृतं चिह्नं लक्षणं ययोः शिरसि निर्योगवेष्टनेन[10] स्कन्धयोः पाशधरणेन[11] च गोपश्रिया विराजमानयोरित्यर्थः। एवम्भूतयोः तयोः रामकृष्णयोः कलान्यव्यक्तमधुराणि पदानि शब्दाः येषु तैः, उदारवेणुस्वनैः[12-12] महावेणुरवैः हेतुभिः देहिनां मध्ये चरणामस्पन्दनमीषदप्यचलनं तरूणां स्थावराणां तु पुलको रोमाञ्चश्चेति चित्रम्। जङ्गमानां स्थावरधर्मः, स्थावराणां जङ्गमधर्मश्चेत्येतदतिचित्रमित्यर्थः ॥ २० ॥

क्रीडानुवर्णनामुपसंहरति[13] - **एवमिति।** बृन्दावनचारिणो भगवत इत्थम्भूता अन्याश्च याः क्रीडाः ताश्च मिथो वर्णयन्त्यो गोप्यः तन्मयतां कृष्णप्रचुरतां, कृष्णविषयबुद्धिप्राचुर्यं ययुरित्यर्थः ॥ २१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

1. A,B,K omit वादयन्तं 2. T,W omit मेघः 3. K लभामहे 4. A,B,T,W पुण्याः 5. A,B add तया 6. T,W omit क्रीडा 7. A,B add उरुगाय पदाब्जराग श्रीकुङ्कुमस्य भक्त्या 8. A,B omit लक्ष्म्या 9. A,B omit तत्र 10. A,B,T,W °ष्टन स्क° 11. K धा° 12- -12. T,W omit 13. A,B omit अनु

**विज०** अम्बुदः श्यामवर्णसाम्यात् सख्युः मुरारेः स्ववपुषाऽऽतपत्रं व्यधात् कुसुमावलीभिः नन्दनवनपुष्पराजिभिस्सह यद्वा जलकणनिकरैस्सह "पुष्पं मेघपुष्पम्" इत्यभिधानात्। प्रेम्णा प्रवृद्धं समुद्रिक्तं हृषितं हर्षणं रोमाञ्च लक्षणं यस्य स तथा। अभिमान्यपेक्षयैतत्॥ १७॥

पुलिन्द्यः शबरस्त्रियः तस्मात् कामादुत्पन्नमाधिं मनोदुःखं जहुरित्यन्वयः। कीदृशः ? पूर्णाः कृतकृत्याः तस्य कृष्णस्य दर्शनेन जातस्मर एव रुक् रोगो यासां ताः। क्रीडासमये तृणेषु रूषितेनाऽऽदिग्धेन[1] दयितायाः प्रियतमायाः गोप्याः स्तनमण्डितेन स्तनयोः घट्टितेन उरुगायस्य हरेः पादाब्जयोः स्वतः अरुणयोरपि रागजननार्थं लिप्तेन श्रीमता कुङ्कुमेन आननकुचेषु लिम्पन्त्य इति[2]॥ १८॥

हन्त आश्चर्यं, अयमद्रिः गोवर्धनो हरिदासवर्यः भगवद्भक्तश्रेष्ठः, कुतः ? ययोः रामकृष्णयोः चरणस्पर्शादाविर्भूतप्रमोदो योऽद्रिः सहगोगणयोः तयोः पानीयादिभिः मानं पूजां तनोति। यद्यस्मादिदमेव हि भक्तश्रेष्ठत्वं सूयवसं शोभनो ग्रासः, दैर्घ्यं छान्दसं, सूयवसाद्भगवती हीति दर्शनात्। कन्दरं गुहा गृहं, वृष्टौ स्थातुं योग्यं, कन्दं सूरणं, मूलं अकण्डूयमानं दीर्घाकारं कन्दम्॥ १९॥

गोपकैस्सह अनुवनं गाः नयतोः सञ्चारयतोः तनुभृत्सु शरीरिषु जन्तुषु सख्यं, विचित्रमिदं चित्रमपि चित्रं,

किं तदिति कलपदैः उदारवेणुस्वनैः विवशानां गतिमतां जङ्गमानां अस्पन्दनं स्थावरधर्मभजनं, तरूणां स्थावराणां पुलकं, जङ्गमधर्मं, रोमाञ्चभजनं विचित्रां पश्यतेति शेषः। कथमेतद्युज्यत इति तत्राह निर्योगिति। नितरां योगपाशेन योगशक्तिलक्षणपाशेन कृतं लक्षणं अस्पन्दनस्पन्दमानाख्यं ययोस्तौ तयोः। यद्वा निर्योगपाशः क्षेपणाख्यः तेन कृतं योगचिह्नं ययोः ॥ २० ॥

बृन्दावनचारिणो हरेः एवंविधाः याः क्रीडास्तास्ताः मिथो वर्णयन्त्यो गोप्यः तन्मयतां तत्स्वामितां ययुरित्यन्वयः ॥ २१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

(विजयध्वजरीत्या एकोनविंशोध्यायः)

1. A,B °न दि 2. A,B omit इति

# द्वाविंशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या विंशोऽध्यायः)

### -: गोपीवस्त्रापहरणकथारम्भः :-

श्रीशुक उवाच

हेमान्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिकाः[1]।
चेरुर्हविष्यं भुञ्जानाः मासं[2-] कात्यायनी[-2] व्रतम्॥ १॥

आप्लुत्याम्भसि कालिन्द्या जलान्ते चोदितेऽरुणे।
कृत्वा प्रतिकृतिं देवीमानर्चुर्नृप! सैकतीम्॥ २॥

गन्धैर्माल्यैस्सुरभिभिर्बलिभिर्धूपदीपकैः।
उच्चावचैश्चोपहारैः[3]! प्रवालफल तण्डुलैः[4]॥ ३॥

कात्यायनि! महामाये[5]! महायोगिन्यधीश्वरि!
नन्दगोपसुतं देवि! पतिं मे कुरु ते नमः॥ ४॥

इति मन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिकाः।
एवं मासं व्रतं चेरुः कुमार्यः कृष्णचेतसः।
भद्रकालीं[7] समानर्चुः भूयान्नन्दसुतः[8-] पतिः[-8] ॥ ५॥

1. A गोप 2- -2. A,B,G,J,M,Ma कात्यायन्यर्चन° 3. M,Ma °चारैः 4. M,Ma तन्दुलैः 5. A °भोगे 6. M,Ma °स 7. V °लिं 8- -8. भूया नन्दस्नुषा इति।

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्वाविंशे गोपकन्यानां वस्त्राहरणलीलया।
वरं दत्वा गतः कृष्णो यज्ञाशालामितीर्यते॥

★ गोपीनां कामतः कुष्णे निस्सीमप्रेमसम्भवः[1]।
कात्यायन्यर्चनोद्भूततत्प्रसादमहोदयः ॥

हेमान्त इति। प्रथमे मासि मार्गशीर्षे॥ १ - ४॥

महामायेत्यादिसम्बोधनैस्तव न किञ्चिदशक्यमिति सूचयन्त्यः ता[2-]ः स्वैरं[-2] प्रत्येकं प्रार्थयन्ते **इतीति।** कृष्णचेतस्त्वमेवाह भूयान्नन्दसुतः पतिरिति आ[3-]नर्चुरिति[-3]॥ ५॥

★ A omits this verse 1. B,J सङ्गमः 2- -2. A,B,J omit 3- -3. P,V omit.

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं गोपीभिर्मिथोऽनु[1] वर्णितानि शारत्कालिकानि कानिचिद्भगवतश्चेष्टितान्युक्तानि[2]। अथ कानिचिद्विवक्षुस्तावदन्तरा सिंहावलोकितन्यायेन पौगण्डवयसो भगवतः कानिचिच्चेष्टितानि हैमन्तकालिकान्यनुवर्णयति[4] सप्तभिरध्यायैः[5]। तत्र किञ्चिच्चेष्टितं वक्तुमुपोद्घातमाह - **हैमन्त** इति। हेमन्ते ऋतौ तत्रापि प्रथमे मासे मार्गशीर्षे[6] नन्दव्रजस्थाः गोप कुमारिकाः कात्यायन्याः दुर्गायाः अर्चनात्मकं व्रतंचेरुः अनुष्ठितवत्यः। कथम्भूताः ? हविष्यं भुञ्जानाः नियताहारा इति भावः॥ १॥

कथं चेरुरित्यत्राऽऽह - **आप्लुत्येति।** अरुणे उदिते सति[7] अरुणोदयवेलायां यमुनाया अम्भसि स्नात्वा जलान्ते तटे प्रतिकृतिं वालुकामयीं कात्यायनीप्रतिमां विधाय, हे नृप!॥ २॥

गन्धादिभिस्सम्यगानर्चुः सुरभिभिः गन्धैः माल्यैः पुष्पैश्च धूपैः दीपकैश्चान्यैः[8] नानाविधैः बलिभिः पूजासाधनैः नानाविधैः उपहारैः नैवेद्यैः पल्लवादिभिश्च॥ ३॥

तथा कात्यायनीत्यादिमन्त्रं जपन्त्यस्ताः कुमारिकाः पूजां चक्रुः, हे महामये अत्याश्चर्यशक्त्यधिष्ठात्रि! महायोगिनि! स्वाराधनात्मकमहायोगिनिर्वाहिके! अधीश्वरि! आराधकसमीहितफलदानसमर्थे! हे देवि! नन्दगोपसुतं मम कुरु।[9] नम इति प्रत्येकाभिप्राय[10]मेकवचनम्। एवम्भूतायास्तव न किञ्चिदपि अशक्यमिति सम्बोधनानामभिप्रायः॥ ४॥

इत्थं मासं व्रतं कृष्णचित्ताः[11] कुमार्यः चेरुश्चक्रुः। मासमित्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया। कृष्णचेतस्त्वमेवाऽऽह भूयान्नन्दसुतः पतिरित्यानर्चुरिति॥ ५॥

1. K,T,W omit अनु 2. A,B °वच्चे° 3. A,B,T,W °क्त्वा 4. A,B, °न्तिक 5. A,B°न्युप 6. A,B,K add मासि 7. T,W omit सति 8. T,W पैश्च° 9. A,B add तुभ्यं 10. A,B °यक° 11. T,W omit.

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भक्तिरेव भगवत्प्रसादजननीति दर्शयितुं गोपकुमारीणां कृष्णे भक्तिं निरूपयति अस्मिन्नध्याये। तत्र तासां हरेः सर्वकार्याणामन्तरङ्गं कात्यायनीति तदर्चव्रतकरणेन श्रीकृष्णः प्रसन्नो भवतीति तदर्चनाविधिं कथयति **हेमन्त** इति! कार्तिकमार्गशीर्षमासौ हेमन्तऋतुः। तत्र प्रथमे मासि कार्तिकमासे व्रतं नियमम्॥ १॥

कालिन्द्याः यमुनायाः जलान्ते जलसमीपे चशब्दः एवार्थः। उदिते अरुणे अरुणोदय एव सैकतीं सिकतानिर्मितां प्रतिमाम् आनर्चुः पूजां चक्रुः॥ २॥

बलिभिः परिवार देवताविषयपूजाभिः॥ ३॥

कात्यायनि कृत्यानामुत्पादके महती माया माहात्म्यं यस्यां सा तथा तस्याः सम्बुद्धिः महामाये! महान् योग उपायोऽस्या अस्तीति महायोगिनी तत्सम्बोधनं महायोगिनि! अधीश्वरि! अधिगतेश्वरि! ते तुभ्यं नमोऽस्तु॥ ४॥

इति समाप्तं एवं प्रकारं वा। उषसि ब्राह्मे मुहूर्ते॥ ५॥

1- -1. B,M,Ma omit.

**उषस्युत्थाय गोत्रैस्वैः अन्योन्याबद्धबाहवः।**
**कृष्णमुच्चैर्जगुर्यान्त्यः कालिन्द्यां स्नातुमन्वहम्॥ ६॥**

**नद्यां कदाचिदागत्य तीरे निक्षिप्य पूर्ववत्।**
**वासांसि कृष्णं गायन्त्यो विजहुस्सलिले मुदा॥ ७॥**

**भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगीश्वरेश्वरः।**
**वयस्यैरावृतस्तत्र गतस्तत्कर्मसिद्धये॥ ८॥**

**तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरः।**
**हसद्भिः प्रहसन् बालैः परिहासमुवाच ह॥ ९॥**

**अत्राऽऽगत्या बलाः! कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम्।**
**सत्यं ब्रवाणि नो नर्म यद्यूयं व्रतकर्शिताः॥ १०॥**

1. K स्युत्थाप्य; M,Ma स्यभ्यर्च 2- -2. K ता गौत्रैर°; M,Ma °तास्स्वैरमन्यो° 3. T,W °सक्त 4. K,T,W मुद्यताः 5. M,Ma नदी° 6. A,B,G,J,K,M,Ma °गे° 7. A,M,Ma,V °रागत° 8. A,M,Ma,V वृत° 9. A द्रत 10. A °रम् 11. A,B ब्रु°

**श्रीध०** व्रतस्य पूर्वाङ्गमाह - **उषसीति**। गोत्रैर्नामभिः अन्योन्याबद्धबाहवः परस्परं गृहीतपाणयः ॥ ६,७॥

**भगवानिति**। योगीश्वराणाम्[1] ईश्वरः इति प्रत्येकं तादृङ्मनोरथपूरणसामर्थ्यं दर्शयति। तासां कर्मणः सिद्धये फलदानायेति ॥ ८॥

**तासामिति**। नीपं कदम्बम्। बालैस्सह ॥ ९॥

**अत्रेति**। हे अबलाः! नो नर्म न परिहासः। यस्मात् यूयं व्रतकर्शिताः[2-2] व्रतश्रान्ताः ॥ १०॥

1. A,B,J ° गे° 2- -2. A,B,J omit.

**वीर०** इत्थं मासं व्रतं चरित्वाऽथ कदाचिदुषसि गोत्रैर्नामभिः प्रबोध्य परस्परं गृहीताः पाणयो याभिस्ताः कालिन्द्यां स्नातुमुद्यताः ॥ ६॥

आगत्य पूर्ववन्नद्याः तीरे वासांसि[1] निक्षिप्य कृष्णमेव गायन्त्यस्सलिले मुदा विजह्रुः ॥ ७॥

तदा सर्वज्ञो भगवान् तत्कर्म तासां विहरणं च ज्ञात्वा तासां कर्मणो व्रतस्य सिद्धये तत्कर्म सफलीकर्तुं वयस्यैस्सह तत्राऽऽगतस्सन् ॥ ८॥

तासां वासांसि गृहीत्वा सत्वरौ[2] नीपं कदम्बमारुह्य हसद्भिर्बालैस्सहितः प्रहसन् परिहासवाक्यमुवाच ॥ ९॥

तदेव दर्शयति - **अत्रेति**। हे अबलाः! इदं सत्यमेव ब्रुवाणि, नो नर्म न परिहासं, यत् यस्माद्यूयं व्रतेन कर्शिताः श्रान्ताः ॥ १०॥

1. A,B वस्त्राणि 2. A,B °रं

**विज०** नन्दस्नुषा भूयास्म इत्येवं सङ्कल्प्य नदीमागत्य नदीं प्राप्य। भूयान्नन्दसुतः पतिरित्यपि पाठः ॥ ६,७॥

योगेश्वरेश्वर इत्यनेन दूरश्रवण दर्शनादिशक्तिः सूच्यते, तासां कर्मसिद्धये संकृतव्रतसिध्यर्थम् ॥ ८॥

नीपमर्जुनं परितो हासो यस्मिन् तद्वचनं परिहासम् ॥ ९,१०॥

**न मयोदितपूर्वं वा[1] अनृतं[2] तदिमे विदुः।**
**एकैकशः प्रतीच्छध्वं[3] सहैवोत[4-4] सुमध्यमाः ॥ ११॥**

तस्य तत्क्ष्वेलितं दृष्ट्वा गोप्यः प्रेमपरिप्लुताः।
व्रीडिताः प्रेक्ष्य चान्योन्यं जातहासा न निर्ययुः ॥ १२ ॥

एवं ब्रुवति गोविन्दे नर्मणाऽऽक्षिप्तचेतसः।
आकण्ठमग्नाश्शीतोदे वेपमानास्तमब्रुवन् ॥ १३ ॥

मा[5-]ऽनयं भोः कृथास्त्वां[-5] तु नन्दराजसुतं[6] प्रियम्।
जानीमोऽङ्ग व्रजश्लाघ्यं देहि वासांसि वेपिताः ॥ १४ ॥

श्याम[7]! सुन्दर! ते दास्यः करवाम तवोदितम्।
देहि वासांसि धर्मज्ञ[8]! ★ नो चेद्राज्ञे ब्रुवाम हे[9] ॥ १५ ॥

1. M,Ma वै 2. V ह्य 3. M,Ma °च्छन्तु 4- -4. V सह वा तनु° 5- -5. M,Ma मानयन्त्यो वयं त्वां 6. A,B,G,J,T,W गोप 7. M,Ma स्याम 8. V सर्वज्ञ! ★ The following two more extra padas are found in M,Ma Edns. वेपितानां महाबल शीतार्दितानां बालानां 9. V °है

**श्रीध० नेति।** एकैकशो वा आगत्य वासांसि[1] स्वीकुरुत, सहैव वा। न तत्र अस्माकमाग्रह इत्यर्थः ॥ ११ ॥

**तस्येति।** क्ष्वेलितं परिहासः। प्रेमपरिप्लुताः प्रेमरसमग्नाः[2] ॥ १२,१३ ॥

तत्र मग्ना[3] ऊचुः **मेति।** अङ्ग! भो कृष्ण! अनयम् अन्याय्यम्। मा कृथाः ॥ १४ ॥

प्रौढा ऊचुः **श्यामेति।** नो चेत् राज्ञे नन्दाय कंसाय वा। ब्रुवामहे[4-] [-4] ॥ १५ ॥

1. B,J,P,V omit वासांसि 2. A,B,J निम° 3. A,B,J मुग्धा 4- -4. A,B,J ब्रुवाम, ब्रुवाम हे कृष्ण! इति

**वीर०** स्ववचनप्रामाण्यं ससाक्षिकमाह **नेति।** मया अनृतं नोदितपूर्वं नोक्तपूर्वं कदाऽप्यनृतं मया नोक्तमित्यर्थः। तदनृतस्य अनुक्तपूर्वत्वमिमे गोपा विदुः, अतो हे सुमध्यमाः! एकैकशो वा आगत्य स्वीकुरुत, सह वा, नास्माकमाग्रहः ॥ ११ ॥

एवं कृष्णस्य क्ष्वेलितं परिहासं दृष्ट्वा प्रेम्णा[1-] परितो व्याप्ताः अन्योन्यं[-1] प्रेक्ष्य व्रीडिताश्च हसन्त्यो न निर्ययुः ॥ १२ ॥

गोविन्दे[2-] [-2] एवं ब्रुवति सति नर्मणा परिहासेनाऽऽक्षिप्तं गृहीतं चेतो यासां ताः, शीतोदके आकण्ठमग्नाः अत एव कम्पमानाः कृष्णमब्रुवन् ॥ १३ ॥

किमब्रुवन्नित्यपेक्षायां सामादिचतुर्विधोपायपूर्वकं भगवज्ज्ञानसम्पन्नं गोप्युक्तमाह द्वाभ्याम्। भोः कृष्ण! अनयम् अन्यायं मा कृथाः, त्वां नन्दराजस्य सुतम् अत एव तस्य प्रियं च जानीमः। नन्दराजोऽपि प्रेम्णा त्वामनयकारिणमपि न शिक्षयतीति भावः। नवनीतचौर्यादिषु धौर्त्यं प्रसिद्धमेवेत्यभिप्रायेण विशिंषन्ति श्लाघ्यमिति। यद्वा अस्मदनुष्ठितव्रतेन नन्दराजसुतं त्वां श्लाघ्यं प्रियं भविष्यन्तं जानीम एव। किन्तु अधुनैवानयं मा कृथाः। वयं तु शीतोदकवेपिताः, अतो वासांसि प्रयच्छ॥ १४॥

हे श्याम! सुन्दर! ते तव दास्यो वयं तवोदितं त्वयोक्तमन्यद्यत्किञ्चित्करवाम। भावगर्भमिदम्। निरतिशयत्वत्सौन्दर्यादिभिः त्वद्दास्यस्सत्यः त्वदभिप्रेतं करवामैवेत्यभिप्रायः। हे धर्मज्ञ! अनेनैकान्ते नग्नस्त्रीदर्शनाकरणरूपधर्मज्ञ! स्त्रीणां लज्जास्वभावरूपधर्मं जानाति तथेति, वा, वासांसि प्रयच्छ, मुग्धभावादनुपपन्नमपि त्रासयन्त्य इवाऽऽहुः, नो चेन्न प्रयच्छसि चेद्राज्ञे नन्दाय कंसाय वा, ब्रुवामहे॥ १५॥

1- -1. A omits 2- -2. T,W omit 3- -3. T,W omit 4. A,B omit यत् 5. A,B add इति

**विज०** क्ष्वेलितं सिंहवन्नादितं परिहासेनोदितं वा न निर्ययुः जलादिति शेषः॥ ११, १२॥

नर्मणा गर्हितस्नेहविनोद वचनेन॥ १३॥

शीतजले स्थित्या वेपिताः वयम्॥ १४॥

ते तव दास्यः स्याम भवाम राज्ञे नन्दगोपाय॥ १५॥

**श्रीकृष्ण उवाच**

**भवत्यो यदि मे दास्यो मयोक्तं वा करिष्यथ।**
**अत्राऽऽगत्य स्ववासांसि प्रतीच्छत शुचिस्मिताः।**
**★ नोचेन्नाहं प्रदास्ये किं क्रुद्धो राजा करिष्यति॥ १६॥**

**ततो जलाशयात्सर्वा दारिकाश्शीतवेपिताः।**
**पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुस्तीरमङ्गनाः॥ १७॥**

**भगवानाहृता वीक्ष्य शुद्धभावप्रसादितः।**
**स्कन्धे निधाय वासांसि प्रीतः प्रोवाच सस्मितः॥ १८॥**

यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रताः व्यगाहतैतत्तदु[10] देवहेलनम्।
बद्ध्वाऽञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेंऽहसः कृत्वा नमोऽधो[11] वसनं प्रगृह्यताम्॥ १९॥

★ इत्येतद्वचनं श्रुत्वा धर्मयुक्तं महात्मनः।
एकेन पाणिना नेमुरेकेनाऽऽच्छाद्य चाङ्गनाः॥ २०॥

1. A,B,G,J,V,M,Ma श्रीभगवान् 2. M,Ma °न्त्यो 3. A,B,G,J °च्छन्तु 4. M,Ma,V सुमध्यमाः ★ M,Ma,V editions add this half verse 5. V वृ° 6- 6. A,B,G,J °श्शीतकर्शिताः 7. M,Ma °नथ ता 8. M,Ma मुग्ध 9. A,B,G,J,K,T,W °तम् 10. K,T,W °तदुत 11. A,V वो ★ A,G,J omit this verse, but M,Ma omit only this half verse.

**श्रीध०** तत इति। प्रोत्तेरुः निर्गताः॥ १६,१७॥

**भगवानिति।** आहताः ईषदक्षतयोनीः वीक्ष्य॥ १८॥

**यूयमिति।** धृतव्रतास्सत्यो विवस्त्राः अपो व्यगाहत अप्सु स्नाता इति यत् तदेतत्। उ एव। देवहेलनं अपराध एवेत्यर्थः। व्रतवैगुण्यभीतानां प्रायश्चित्तमिवाह - अस्य अंहसः पापस्य, अपनुत्तये[-1] निवृत्तये[-1] मूर्ध्नि अञ्जलिं बध्वा, ओन्नम इति प्रणामं कृत्वा॥ १९,२०॥

1- -1. A,B,J omit.

**वीर०** एवमुक्तो भगवान् यदुक्तं 'नो चेद्राज्ञे ब्रुवामहे' इति, तदिदमनुपपन्नम्। न हि जलान्निर्गत्य वासांसि ग्रहीतुमेव लज्जन्तीनां राज्ञे ब्रुवामहे इत्युक्तिरुपपन्ना। नग्नानां राजसन्निधौ गमनासम्भवात्, न चान्यप्रेषणया निवेदनसम्भवः प्रेषणीयस्य[1] जनस्य अत्राभावादिति तदुक्तेरुत्तरं न देयमेवेत्यभिप्रेत्य 'ते दास्यः करवाम तवोदितम्' इत्यस्योत्तरमाह - **भवत्य** इति। हे शुचिस्मिताः न हि स्वामिनोक्तं किञ्चिदेव स्वसम्मतं दासीभिः कर्तव्यमिति नियमः। किन्तु सर्वमपि तदभिमतं कर्तव्यमेवेति[2] भावः॥ १६॥

स्वाम्यभिमतकरणं दासीनामुचितमेवेत्यभिप्रेत्य शीतेन कम्पिताः कुमारिकाः कालिन्दीह्रदात् प्रोत्तेरुः निर्जग्मुः॥ १७॥

ततो भगवानाहताः ईषदक्षतयोनीः[3] बाल्ययौवनसन्धिस्थाः ताः कुमारिका अवलोक्य शुद्धभावेन निष्कपट भावेन यथोक्तानतिक्रमशीलेन भावेन हेतुना प्रसादितः प्रसादः[4] अनुग्रहः अस्य सञ्जात इति तथा अनुग्रहयुक्तः स्कन्धे[5-] वृक्षशाखायां वासांसि निधायाऽऽरोप्य[-5] प्रीतः सस्मितश्च पुनरुवाच॥ १८॥

किमब्रुवन्नित्यपेक्षायां सामादिचतुर्विधोपायपूर्वकं भगवज्ज्ञानसम्पन्नं गोप्युक्तमाह द्वाभ्याम्। भोः कृष्ण! अनयम् अन्यायं मा कृथाः, त्वां नन्दराजस्य सुतम् अत एव तस्य प्रियं च जानीमः। नन्दराजोऽपि प्रेम्णा त्वामनयकारिणमपि न शिक्षयतीति भावः। नवनीतचौर्यादिषु धौर्त्यं प्रसिद्धमेवेत्यभिप्रायेण विशिंषन्ति श्लाघ्यमिति। यद्वा अस्मदनुष्ठितव्रतेन नन्दराजसुतं त्वां श्लाघ्यं प्रियं भविष्यन्तं जानीम एव। किन्तु अधुनैवानयं मा कृथाः। वयं तु शीतोदकवेपिताः, अतो वासांसि प्रयच्छ॥ १४॥

हे श्याम! सुन्दर! ते तव दास्यो वयं तवोदितं त्वयोक्तमन्यद्यत्किञ्चित्करवाम। भावगर्भमिदम्। निरतिशयत्वत्सौन्दर्यादिभिः त्वद्दास्यस्सत्यः त्वदभिप्रेतं करवामैवेत्यभिप्रायः। हे धर्मज्ञ! अनेनैकान्ते नग्नस्त्रीदर्शनाकरणरूपधर्मज्ञ! स्त्रीणां लज्जास्वभावरूपधर्मं जानाति तथेति, वा, वासांसि प्रयच्छ, मुग्धभावादनुपपन्नमपि त्रासयन्त्य इवाऽऽहुः, नो चेन्न प्रयच्छसि चेद्राज्ञे नन्दाय कंसाय वा, ब्रुवामहे॥ १५॥

1- -1. A omits 2- -2. T,W omit 3- -3. T,W omit 4. A,B omit यत् 5. A,B add इति

**विज०** क्ष्वेलितं सिंहवन्नादितं परिहासेनोदितं वा न निर्ययुः जलादिति शेषः॥ ११, १२॥

नर्मणा गर्हितस्नेहविनोद वचनेन॥ १३॥

शीतजले स्थित्या वेपिताः वयम्॥ १४॥

ते तव दास्यः स्याम भवाम राज्ञे नन्दगोपाय॥ १५॥

**श्रीकृष्ण उवाच**

**भवत्यो यदि मे दास्यो मयोक्तं वा करिष्यथ।**
**अत्राऽऽगत्य स्ववासांसि प्रतीच्छत शुचिस्मिताः।**
**★ नोचेन्नाहं प्रदास्ये किं क्रुद्धो राजा करिष्यति॥ १६॥**

**ततो जलाशयात्सर्वा दारिकाश्शीतवेपिताः।**
**पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुस्तीरमङ्गनाः॥ १७॥**

**भगवानाहृता वीक्ष्य शुद्धभावप्रसादितः।**
**स्कन्धे निधाय वासांसि प्रीतः प्रोवाच सस्मितः॥ १८॥**

यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रताः व्यगाहतैतत्तदु[10] देवहेलनम्।
बद्ध्वाऽञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेंऽहसः कृत्वा नमोऽधो[11] वसनं प्रगृह्यताम्॥ १९॥

★ इत्येतद्वचनं श्रुत्वा धर्मयुक्तं महात्मनः।
एकेन पाणिना नेमुरेकेनाऽऽच्छाद्य चाङ्गनाः॥ २०॥

1. A,B,G,J,V,M,Ma श्रीभगवान् 2. M,Ma °न्त्यो 3. A,B,G,J °च्छन्तु 4. M,Ma,V सुमध्यमाः ★ M,Ma,V editions add this half verse 5. V वृ° 6- 6. A,B,G,J °श्शीतकर्शिताः 7. M,Ma °नथ ता 8. M,Ma मुग्ध 9. A,B,G,J,K,T,W °तम् 10. K,T,W °तदुत 11. A,V वो ★ A,G,J omit this verse, but M,Ma omit only this half verse.

**श्रीध० तत** इति। प्रोत्तेरुः निर्गताः॥ १६,१७॥

**भगवानिति।** आहताः ईषदक्षतयोनीः वीक्ष्य॥ १८॥

**यूयमिति।** धृतव्रतास्सत्यो विवस्त्राः अपो व्यगाहत अप्सु स्नाता इति यत् तदेतत्। उ एव। देवहेलनं अपराध एवेत्यर्थः। व्रतवैगुण्यभीतानां प्रायश्चित्तमिवाह - अस्य अंहसः पापस्य, अपनुत्तये[-1] निवृत्तये[-1] मूर्ध्नि अञ्जलिं बध्वा, ओन्नम इति प्रणामं कृत्वा॥ १९,२०॥

1- -1. A,B,J omit.

**वीर०** एवमुक्तो भगवान् यदुक्तं 'नो चेद्राज्ञे ब्रुवामहे' इति, तदिदमनुपपन्नम्। न हि जलान्निर्गत्य वासांसि ग्रहीतुमेव लज्जन्तीनां राज्ञे ब्रुवामहे इत्युक्तिरुपपन्ना। नग्नानां राजसन्निधौ गमनासम्भवात्, न चान्यप्रेषणया निवेदनसम्भवः प्रेषणीयस्य[1] जनस्य अत्राभावादिति तदुक्तेरुत्तरं न देयमेवेत्यभिप्रेत्य 'ते दास्यः करवाम तवोदितम्' इत्यस्योत्तरमाह - **भवत्य** इति। हे शुचिस्मिताः न हि स्वामिनोक्तं किञ्चिदेव स्वसम्मतं दासीभिः कर्तव्यमिति नियमः। किन्तु सर्वमपि तदभिमतं कर्तव्यमेवेति[2] भावः॥ १६॥

स्वाम्यभिमतकरणं दासीनामुचितमेवेत्यभिप्रेत्य शीतेन कम्पिताः कुमारिकाः कालिन्दीह्रदात् प्रोत्तेरुः निर्जग्मुः॥ १७॥

ततो भगवानाहताः ईषदक्षतयोनीः[3] बाल्ययौवनसन्धिस्थाः ताः कुमारिका अवलोक्य शुद्धभावेन निष्कपट भावेन यथोक्तानतिक्रमशीलेन भावेन हेतुना प्रसादितः प्रसादः[4] अनुग्रहः अस्य सञ्जात इति तथा अनुग्रहयुक्तः स्कन्धे[5-] वृक्षशाखायां वासांसि निधायाऽऽरोप्य[-5] प्रीतः सस्मितश्च पुनरुवाच॥ १८॥

तदेवाऽऽह - **यूयमिति।** धृतव्रताः सत्यो विवस्त्राः यूयमपो व्यगाहत अप्सु स्नाता इति यत्तदेतद्देवहेलनमुत अपराध एवेत्यर्थः। व्रतवैगुण्यभीतानां प्रायश्चित्तविधानमाह। अस्यांहसः पापस्य अपनुत्तये अपनोदनाय मूर्ध्नि अञ्जलिं बद्ध्वा नमस्कृत्य वसनं प्रगृह्यताम्॥ १९॥

इत्थमच्युतेन अभिहिताः अङ्गनाः एकेन वामेन पाणिना योनिमाच्छाद्य इतरेण पाणिना नेमुः॥ २०॥

1. A,B °यज° 2. A,B omit एव 3. A,B °दप्यक्ष° 4. A,B add अत्र 5- -5. T,W omit.

**विज०** दारिकाः कुमार्यः॥ १६,१७॥

मुग्धभावेन मधुरस्वभावेन प्रसादितः प्रसादं गमितः॥ १८॥

यूयं वस्त्रहीना अपो जलं व्यगाहतेति यत्तदेतत् उ तापकारणं देवहेलनं देवतापराधः। अतः तस्यांहसः अपराधस्य परिहाराय "उ तापेऽव्ययमीशे च" (वैज. को. 8-7-10) इति यादवः॥ १९,२०॥

△ **ता वीक्ष्योवाच भगवान् भूयो धर्म्यमिदं वचः।**
**एकेन पाणिना यो वै प्रणमेद्देवमच्युतम्।**
**तस्य दण्डः करच्छेद इति वेदविदो विदुः॥ २१॥**

**तस्मादुभाभ्यां पाणिभ्यां प्रणमेत्स्वामिनं नरः।**
**तथा च यूयं कुरुत तन्मे प्रियतरं भवेत्॥ २२॥**

★ **इत्यच्युतेनाभिहिता[1] व्रजाबला मत्वा विवस्त्राप्लवनं व्रतच्युतिम्।**
**तत्पूर्तिकामास्तदशेष कर्मणां साक्षात्कृतं नेमुरवद्यमुग्यतः[2]॥ २३॥**

**तास्तथाऽवनता[3] दृष्ट्वा भगवान्देवकीसुतः।**
**वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत्[4-] [-4] [5] करुणः[6] स्नेहतोषितः॥ २४॥**

**दृढं[7] प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः।**
**वस्त्राणि चैवापहृताव्यथाप्यमुं[8] ता[9] नाभ्यसूयन् प्रियसङ्गनिर्वृताः॥ २५॥**

△ A,G,J omit 21st and 22nd slokas. ★ Here V adds this verse:- अहंस्तूभयमेतत्तु परिमार्जयितुं यदि। इच्छावः पाणियुगलैर्नमस्कृत्य प्रगृह्यताम्॥ 1. B,G,J,V °तं 2. A,B,G,J °मृग्यतः; M,Ma °मुज्झितुम्; V °मुङ्ग्यतः 3. K °दाऽ° 4- -4. V सम्प्रादात् 5. K,T,W त° 6. A,B,G,J तेन 7. K,T,W इत्थं 8. K,T,W °मूः 9. K,T,W तं नाभ्य; M,Ma नैवाभ्य

**श्रीध० इतीति।** इति दोषत्वेन अच्युतेनाभिहितं, विवस्त्राप्लवनं व्रतस्य च्युतिहेतुं मत्वा तस्य व्रतस्य[1] पूर्तिकामाः[3] तदशेषकर्मणां तस्य व्रतस्य अन्येषामशेष कर्मणा च साक्षात्कृतं फलभूतं तमेव नेमुः। यतः[2] स एव अवद्यमुक् पापमार्जकः ॥ २१-२३ ॥

**(इत्थमिति) दृढमिति।** दृढम् अत्यर्थम्। प्रलब्धाः[4] वञ्चिताः 'यूयं विवस्त्रा' इत्यादिना त्रपया लज्जया च। हापिताः त्याजिताः। अत्राऽऽगत्य स्ववासांसि प्रतीच्छत[4] इत्याग्रहेण प्रस्तोभिता उपहसिताः। "सत्यं ब्रुवाणि नो नर्मेत्यादिना (भाग 10-22-10) क्रीडनवच्च कारिताश्च। बध्वाऽञ्जलीत्यादि, प्रायश्चित्तच्छलेन[5] ताः नाभ्यसूयन्। दोषदृष्ट्या नापश्यन् ॥ २४,२५ ॥

1. A,B,J omit व्रतस्य 2. A,B,J omit यतः 3. V मुद् 4- -4. A,B,J omit 5. V adds एवमपराधेऽपि

**वीर०** पुनरपि भगवान् ता वीक्ष्य इदं वक्ष्यमाणं धर्म्यं धर्मादनपेतं वाक्यमाह। तदेवाऽऽह एकेनेति सार्धेव। एकेन पाणिना नेमुरित्यादिसार्धश्लोकद्वयं क्वचिन्न दृश्यते। तस्मादिति। हस्तद्वयसम्पुटस्यैवाञ्जलिशब्दार्थत्वादिति भावः ॥ २१,२२ ॥

इत्थमच्युतेनाभिहिताः व्रजकुमारिकाः विवस्त्रस्नानप्रयुक्तां व्रतच्युतिं व्रतभ्रंशं मत्वा तस्य व्रतस्य पूर्तिमवैगुण्यं कामयमानास्तस्य व्रतस्यान्येषां कर्मणां च साक्षात्कर्तारमच्युतं नेमुः। हस्तद्वयेन मूर्ध्न्यञ्जलिं बद्ध्वा नेमुरित्यर्थः। कुतः ? यतः केवलमशेषकर्मणां न साक्षात्कृदेव। अपि तु अवद्यमुक् अवद्यं कर्मवैगुण्यापादकं पापं तस्मात् मोचयतीति तथा। ण्यर्थगर्भोऽत्र मुचिः, अतः प्रणेमुरित्यर्थः ॥ २३ ॥

अथ भगवान् तदा अवनतास्ता दृष्ट्वा तेन प्रणामेन तोषितः तरुणश्च। 'करुण' इति पाठे करुणावान् ताभ्यः कुमारिकाभ्यो वासांसि प्रददौ ॥ २४ ॥

इत्थमिति। यद्यपि इत्थं प्रलब्धाः 'यूयं विवस्त्रा' इत्यादिनाऽधिक्षिप्ताः, त्रपया लज्जया हापिताः। 'बद्ध्वाऽञ्जलीन्' इत्यादिना प्रायश्चित्तव्याजेन यन्त्रपाञ्चालिकावत्प्रवर्तिताः। वासांसि चापहृतानि। तथाऽप्यमूः कुमारिकाः तं कृष्णं नाभ्यसूयन्। गुणेषु सत्स्वपि उक्तान् दोषान्नाऽऽविश्चक्रुः। तत्र हेतुः, निरतिशयप्रियस्य कृष्णस्य सङ्गेन निर्वृताः सुखिताः तत्सङ्गनिर्वृत्या विस्मृतदोषा इति भावः, नाभ्यसूयन् ॥ २५ ॥

**विज०** विसस्त्राप्लवनं दिगम्बरस्नानं व्रतच्युतिं नियमभ्रंशं तत्पूर्तिकामाः तस्य व्रतस्य पूर्णतां कामयमानाः तासामशेषकर्मणां साक्षात्कृतं साक्षीभूतं कृष्णं नेमुः। अनेन किं प्रयोजनमत्राह - अवद्यमिति। उज्झितुं उन्मूलयितुम् ॥ २१ - २३ ॥

करुणः दयाशीलः ॥ २४ ॥

तासां कृष्णे भक्त्यतिशयं कथयति - **दृढमिति**। प्रलब्धाः वञ्चितवत्कारिताः हापिताः त्याजिताः मुक्तलज्जाः कारिताः प्रस्तोभिताः चाटुवचनजालं प्रापिताः, क्रीडनवत् दारुयन्त्रवत् अथापि तथापि अमुं कृष्णं प्रति गुणेषु दोषाविष्करणमसूया। तत्र हेतुमाह - प्रियेति। प्रियेण कृष्णेन सह सङ्कथनलक्षणसङ्गेन निर्वृताः ॥ २५ ॥

**परिधाय स्ववासांसि प्रेष्ठसङ्गमसज्जिताः।**
**गृहीतचित्ता नोचेलुस्तस्मिन् लज्जायितेक्षणाः ॥ २६ ॥**

**तासां विज्ञाय भगवान् स्वपादस्पर्शकाम्यया।**
**धृतव्रतानां सङ्कल्पमाह दामोदरोऽबलाः ॥ २७ ॥**

**सङ्कल्पो विदितस्साध्व्यो भवतीनां मदर्चने।**
**मयाऽनुमोदितस्सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति ॥ २८ ॥**

**न मय्यावेशितधियां, कामः कामाय कल्पते।**
**भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते ॥ २९ ॥**

**याताऽबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः।**
**यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः ॥ ३० ॥**

1. A,B,G,J नो चे° 2. M,Ma लज्जेषिते° 3. K,T,W °ल्पं प्राह 4. A °नात्; B,G,J °नं 5. A,K,T,V,W °ताः 6. T,W क्वां 7. K,T,V,W °नाः 8. A,J °श° 9. K °त बाला!

**श्रीध० परिधायेति**। प्रेष्ठसङ्गमेन सज्जिताः वशीकृताः। अतो गृहीतचित्तास्सत्यो नोचेलुः। गृहीतचित्तत्वमाह — तस्मिन् कृष्णे लज्जायितेक्षणाः लज्जाविलसितं ईक्षणं यासां ता इत्यर्थः ॥ २६ ॥

**तासामिति**। दामोदर इति भक्तवात्सल्यं दर्शयति अबलाः प्रति ॥ २७ ॥

**सङ्कल्प** इति। भो साध्व्यः! भवतीनां मदर्चने एव सङ्कल्पः मनोरथः। स च लज्जया युष्माभिरकथितोऽपि मया विदितः स मयानुमोदितः, अतः सत्यो भवितुमर्हतीति सम्भावनोक्त्या आत्यन्तिको न भविष्यतीति सूचितम् ॥ २८ ॥

तत्कृत इत्यत आह **नेति**। कामाय पुनः कामभोगाय विषयमहिम्ना कामस्यापि शान्तिहेतुत्वादिति भावः। कामाप्ररोहे दृष्टान्तः भर्जिताः[7-] दग्धाः, क्वथिताः, पक्वा, धनाः यवादयः[-7], बीजयाय अङ्कुरोद्गमाय, प्राय इति स्वेच्छया पुनः प्ररोहमपि सूचयति[8] ॥ २९॥

**यातेति**। सिद्धाः पूर्णमनोरथाः तदाह इमाः आगामिनी रात्रीः। मया रंस्यथेति आर्या कात्यायनी। सती सत्यः ॥ ३०॥

1- -1. A,B,J नो चेलुः 2. B °मेवाह 3- -3. A,B,J °नमेव 4- -4. P.V omit स च 5. A,B,J °ति। अर्हतीति° 6. A °नामात्रोक्त्या° 7- -7. A,B,J °ता दग्धा, क्वथिता पक्वा, धाना यवादि 8. A,B,J add ध्रुवादीनां तथा दर्शनात्

**वीर०** किन्तु स्ववासांसि परिधाय धृत्वा प्रेष्ठस्य सङ्गमेन वशीकृताः अत एव तदपहृतचित्ता नोच्चेलुः न चलितवत्यः। गृहीतचित्तत्वमेवाह - तस्मिन् कृष्णे लज्जायितं लज्जाविलसितं ईक्षणं यासां ताः ॥ २६॥

ततो भगवान् दामोदरः स्वपादस्पर्शकाम्यया स्वपादस्पर्शशब्देन अत्र तात्पर्यतः स्वेन सह क्रीडा विवक्षिता, तत्काम्यया धृतमनुष्ठितं व्रतं कात्यायन्यर्चनात्मकं याभिः तासां सङ्कल्पमभिसन्धिविशेषं विज्ञाय प्राह। तदेवाऽऽह अबला इत्यादिना। हे अबलाः! हे साध्व्यः! मदर्चने[1] मया सह क्रीडात्मके अर्चने निमित्ते यो भवतीनां सङ्कल्पः, स मया विज्ञातः, अनुमोदितोऽभ्यनुज्ञातश्चेत्यर्थः। सोऽसौ सङ्कल्पः सत्य एव भवितुमर्हति॥ २७,२८॥

केनापि व्याजमात्रेणानुजिघृक्षैकशीलत्वात् म[2-]होदारत्वात्[-2] च देहान्ते तासां मुक्तिमपि सङ्कल्पयति। मय्यावेशिता धीः याभिः तासां भवतीनां कामः मद्विषयकोऽभिलाषः कामाय केवलं विषयभोगायैव न कल्पते न भवति, किन्तु मुक्तयेऽपीत्यर्थतोऽत्र विवक्षितम्। विषयवैलक्षण्यमहिम्ना मद्विषयककामस्यापि संसृतिबीजभर्जनद्वारा मुक्तिहेतुत्वादिति भावः, यद्वा मय्यावेशिताया धियो विषयवैलक्षण्यादविप्लुतत्वेन यावद्देह पातानुवर्तित्वात् तदा संसृतिबीजभर्जनद्वारा मुक्ति हेतुत्वात् मद्विषयकः कामः केवलं न कामायैव कल्पत इति भावः। निर्वीर्यं संसृतिबीजं न पुनस्संसृतये भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह। प्रायो भर्जिताः भ्राष्टे निष्टप्ताः[3] क्वथिताः[4] निष्पक्वाश्च धानाः बीजाय नेष्यते अङ्कुरोद्गमाय नेष्यते नेष्यन्ते! वचनव्यत्यय आर्षः। प्राय इत्यस्य भर्जिताः क्वथिता[5] इत्याभ्यामन्वयः ॥ २९॥

यत एवमतो हे बालाः! यूयं सिद्धाः पूर्णमनोरथाः व्रजं यात गच्छत। सिद्धत्वमेवाऽऽह। मया सह इमाः आगामिनीः रात्रीः शारदीः रंस्यथ। देवताराधनं न मुधा भवितुमर्हतीत्यभिप्रायेणाऽऽह यदिति। सतीः हे सत्यः! यन्मया सह क्रीडनात्मकं प्रयोजनमुद्दिश्य भवत्यः इदमार्यायाः कात्यायन्याः व्रतं चेरुः चक्रुः ॥ ३०॥

1. A,B °नं 2- -2. K,W omit 3. A,B °क्षि° 4. A,B,K °क्क° 5. K क्क°

**विज०** प्रेष्ठस्य कृष्णस्य सङ्गमे सज्जिताः सन्नद्धाः न उच्चेलुः स्थितप्रदेशादिति शेषः। लज्जया ईषन्निमील्य प्रेषितानि ईक्षणानि यासां ताः। यद्वा लज्जया इषितानि गतानि ईक्षणानि यासां तास्तथा। "इषु गातौ" इति धातुः॥ २६॥

पादं शरीरम्। "उत्तमानां शरीरं तु पादशब्देन भण्यते" इति॥ २७॥

यन्मदर्चनं तस्मिन् कृतः नन्दसुतः पतिर्भूयादिति सङ्कल्पः अनुमोदितः अनुज्ञातः॥ २८॥

मत्सम्भोगलालसानां भवतीनां विषयौत्सुक्यं पुनः संसारवर्तनाय स्यात्। अतोऽस्मत्सङ्कल्पो निन्द्य इति शङ्का माभूदित्याशयेनाह **नेति**। कामाय विषयेच्छाप्ररोहाय, तत्र दृष्टान्तमाह भर्जितेति। धाना बीजं बीजाय अङ्कुरोत्पादनशक्तिमते॥ २९॥

आर्यार्चनं कात्यायनीपूजां सतीः सत्यः॥ ३०॥

**श्रीशुक उवाच**

**इत्यादिष्टा भगवता लब्धकामाः कुमारिकाः।**
**ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भोजं कृच्छ्रान्निर्विशुर्व्रजम्॥ ३१॥**

**अथ गोपैः परिवृतो भगवान्देवकीसुतः।**
**बुन्दावनाद्गतो दूरं चारयन्गास्सहाग्रजः॥ ३२॥**

**निदाघार्कातपे तीक्ष्णे छायाभिस्स्वाभिरात्मनः।**
**आतपत्रायितान्वीक्ष्य द्रुमानाह व्रजौकसः॥ ३३॥**

**हे स्तोककृष्ण! हे अंशो! श्रीदामन्सुबलार्जुन।**
**विशालवृषभौजस्विन् देवप्रेष्ठ। वरूथप॥ ३४॥**

**पश्यतैतान्महाभागान्परार्थैकान्तजीवितान्।**
**वातवर्षातपहिमान् सहन्तो वारयन्ति नः॥ ३५॥**

1- -1. K,T,V,W omit 2. V °वि° 3. A,B,G,J,M,Ma तिग्मे K,T,W ग्रीष्मे; V. तस्मिन् 4. A,B,G,J,M,Ma °लर्षभ तेज° 5. A,B,G,J,M,Ma,V प्रस्थ 6. A जीवनान्, M,Ma जीविनः

**श्रीध० इतीति।** ★ "भक्त्यानुकम्प्यकन्यास्तास्तद्विवर्जितयज्वनाम्। पत्न्यनुग्रहतस्तेषामहन्कर्ममहामदम्" ॥ ३१-३३ ॥

द्विजभार्याया[1-] अनुग्रहाय[-1] यज्ञवाटं गच्छन् विप्राणां काठिन्यमभिप्रेत्य तेभ्योपि द्रुमाश्श्रेष्ठा इति तानभिनन्दति[2] हे **स्तोककृष्णेति** चतुर्भिः। स्तोककृष्णादयो गोपाः ॥ ३४ ॥

**पश्यतेति।** एतान् द्रुमान् पश्यत। परार्थमेकान्तेन[3] जीवितं येषां तान्। तदाह वातवर्षादीन् स्वयं सहन्तः[4] सहमानाः नः[5] अस्माकं वारयन्ति ॥ ३५ ॥

★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः। 1- -1. A,B,J विप्रभार्यानु 2. P,V नन्दयति 3. A,B,J °मेवैकान्तेन 4. P,V omit सहन्तः 5. A,B,J omit नः

**वीर०** इत्थं भगवता[1-] कृष्णेनाऽऽदिष्टाः[-1] कुमारिकाः लब्धप्रायाः कामा इष्टार्था याभिः तथाभूतास्तस्य भगवतः पदाम्भोजं ध्यायन्त्यः तमेवानुचिन्तयन्त्य इत्यर्थः। कृच्छ्रात् कथञ्चित् व्रजं निर्विविशुः, तद्विश्लेषासहिष्णुत्वादिति भावः ॥ ३१ ॥

चरित्रान्तरमाह **अथेति।** कदाचित् बृन्दावनाद्दूरं गतः साग्रजो गाश्चारयन् तीक्ष्णे निदाघार्कस्य ग्रैष्मार्कस्याऽऽतपे आत्मनः स्वस्य स्वाभिश्छायाभिरातपत्रवदाचरितान् द्रुमानवलोक्य व्रजौकसो गोपानाह ॥ ३२,३३ ॥

तदेवाऽऽह **हे स्तोककृष्णेत्यादिभिः** पञ्चभिः[2] । स्तोककृष्णाख्यः कश्चिद्गोपबालः, एतान् द्रुमान् पश्यत। कथम्भूतान्? परार्थं परोपकारार्थमेव[4] एकान्तं[5] नियतं जीवितं येषां तान् तदेवाऽऽह वातेति। स्वयं वातादीन् सहमानाः नोऽस्माकं तान् वारयन्ति, हिमानिति पुंस्त्वमार्षम् ॥ ३४,३५ ॥

1- -1. K,W omit 2. T,W omit पञ्चभिः 4. T,W omit एव 5. T,W ऐ°

**विज०** व्रजौकसः आहेत्यन्वयः। तिग्मे तीव्रे ॥ ३१ - ३४ ॥

परार्थाय परोपकाराय एकान्तेन नियमेन जीवनं स्वायूरक्षणं येषां ते तान्, नः वारयन्ति क्षुधितानस्मान् तर्पयन्ति ॥ ३५ ॥

अहो! ह्येषां[1] परं[2] जन्म सर्वप्राण्युपजीवनम्।
सुजनस्येव येषां वै विमुखा यान्ति नार्थिनः ॥ ३६ ॥

पत्रपुष्पफलच्छायामूलवल्कलदारुभिः।
गन्धनिर्यासभस्मास्थितोकैः[3] कामान्वितन्वते ॥ ३७ ॥

एतावज्जन्मसाफल्यं[4] देहिनामिह देहिषु।
प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय आचरणं[5-] सदा[-5] ॥ ३८ ॥

इति प्रवालस्तबकफलपुष्पदलोत्करैः[6]।
तरूणां नम्रशाखानां[7] मध्येन यमुनां गतः[8] ॥ ३९ ॥

तत्र गाः पाययित्वाऽपः सुमृष्टाश्शीतलाश्शिवाः[9]।
ततो नृप! स्वयं गोपाः कामं स्वादु पपुर्जलम् ॥ ४० ॥

तस्या उपवने कामं चारयन्तः पशून्नृप!
कृष्णरामावुपागम्य[10] क्षुधाऽऽर्ता इदमब्रुवन् ॥ ४१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे गोपीवस्त्रापहारोनाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

1. A,B,G,J,M,Ma,V एषां 2. A,B,G,J,M,Ma वरं 3. A,B,G,J,M,Ma तोकैः 4. V सामग्र्यं 5- -5. A,B,G,J एवाऽऽचरेत् 6. M,Ma मूल 7. K रम्य 8. T,W गताः 9. V °ह्ल° 10. K °मन्त्र्य

**श्रीध० अहो** इति। सुजनस्य कृपालोरर्थिन इव ॥ ३६ ॥

**पत्रेति**। निर्यासो घनरसः तोकाः[1] पल्लवाद्यङ्कुराः ॥ ३७, ३८ ॥

**इतीति**। इत्यभिनन्दन्[2] प्रवालादिसमूहैर्नतशाखानां[3] तरूणां मध्यतो[4] यमुनां प्राप्तः ॥ ३९, ४० ॥

**तस्या** इति। कुमारिकाभ्यः पूर्वमेव तन्नर्माकुलतया। अगृहीतभोज्यानामेव निर्गमात् क्षुधार्ता इत्युक्तम्॥ ४१॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां द्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥

1. A,B,J तोक्माः 2. P,V नन्दयन् 3. A °दीनां 4. A,B,J मध्येन

**वीर०** अहो! सर्वप्राणिन उपजीवयतीति तथा तदेषां द्रुमाणां जन्म परं[1] मनुष्यजन्मनः श्रेष्ठम्। किञ्च सुजनस्य वदान्यस्येव येषामर्थिनो विमुखा न यान्ति। किन्तु छायाफलादिभिस्सत्कृता एव भवन्ति॥ ३६॥

तदेवाऽऽह **पत्रेति।** पत्रादिभिः अर्थिनां कामान् वितन्वते विस्तरेण ददते इत्यर्थः। निर्यासः घनीभूतरसः अस्थीनि शान्ताग्नयोऽङ्गाराः तोकाः पल्लवाद्यङ्कुराः॥ ३७॥

अनुपकारिणां जन्म वृथेत्यभिप्रयन्नाह[2] **एतावदिति।** इहलोके देहिषु मध्ये देहिनां जन्मनः साफल्यमेतावदेव। कियत्? प्राणादिभिः श्रेय आचरणं भूतहितधरणमित्येतावत्॥ ३८॥

इति इत्थमभिनन्दन् प्रवालादीनामुत्करैः समूहैः रम्याश्शाखा येषां तेषां तरूणां मध्येन यमुनां गताः॥ ३९॥

तत्र यमुनायां मधुराश्शीतला निर्मलाश्च अपः जलानि गाः पाययित्वा हे नृप! गोपाः कृष्णादयः स्वयमपि मृष्टं[3] जलं पपुः॥ ४०॥

ततस्तस्य यमुनायाः समीपे वने पशूंश्चारयन्तो गोपाः हे नृप! कृष्णरामौ उपामन्त्र्य आहूय सम्बोध्य वा। 'उपागम्य' इति पाठे समीपमेत्य इदं वक्ष्यमाणमब्रुवन्। कथम्भूताः? क्षुधाऽऽर्ताः प्रातर्भुक्तवन्तोऽपि विप्रपत्नीरनुजिघृक्षता भगवतोत्पादितया क्षुधा पीडिता इति भावः॥ ४१॥

1. A,B,K वरं 2. A,B ० थैवेत्य 3. A,B शुद्धं

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां द्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥

**विज०** सुजनस्य जन्मनः साफल्यमेतावत् अर्थिनो येषां विमुखा न यान्तीति ये अस्थ्ना सारेण तोकमैः अङ्कुरैः साफल्यमेतावत्॥ ३६ - ४१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे द्वाविंशशोऽध्यायः॥ २२॥

(विजयध्वजरीत्या विंशोऽध्यायः)

# त्रयोविंशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या एकविंशोऽध्यायः)

### -: विप्रपत्न्यनुग्रहघट्टः :-

गोपा[1-] ऊचुः[-1]

राम राम महाबाहो[2]! कृष्णदुष्टनिबर्हण !
एषा वै बाधते क्षुन्नः तच्छान्तिं कर्तुमर्हथः ॥ १ ॥

श्री[3-]शुक उवाच[-3]

इति विज्ञापितो गोपैः भगवान् ज[4-]गदीश्वर[-4]ः।
भक्ताया विप्रभार्यायाः प्रसीद न्निद मब्रवीत् ॥ २ ॥

△ प्रयात देवयजनं ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ।
सत्त्रमाङ्गिरसं नाम ह्यासते स्वर्गकाम्यया ॥ ३ ॥

तत्र गत्वौदनं गोपा याचताऽस्मद्विसर्जिताः ।
कीर्तयन्तो भगवत आर्यस्य ममचाऽभिधाम् ॥ ४ ॥

इत्यादिष्टा भगवता गत्वाऽयाचन्त ते तथा[5]।
कृताञ्जलिपुटा विप्रान्दण्डवत्पतिता भुवि ॥ ५ ॥

★ The following extra matter is found in V edition — श्रीशुक उवाच - तत्र गत्वोपविष्टास्ते गोपाला यमुनातटे। ऊचु र्बुभुक्षिता राजन् कृष्ण रामौजगत्पती ॥ 1- -1. M,Ma श्रीशुक उवाच 2. A,B,G,J,K,T,W °वीर्य 3- -3. M,Ma omit 4- -4. A,B,G,J देवकीसुतः △ M,Ma add श्रीकृष्ण उवाच 5. V तदा

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

त्रयोविंशे ततो गोपै रन्नयाच्चापदेशतः ।
तत्पत्न्यनुग्रहात्कृष्णो दीक्षिता नन्वतापयत्॥

**इतीति।** भक्ताया इत्येकवचनम् सद्यः सायुज्याभिप्रायेण॥ १-३॥

**तत्रेति।** अस्म द्विसर्जिताः आवाभ्यां प्रहिता स्सन्तो याचध्वम्। युष्माकं का तत्र का लज्जा? ननु तथाऽपि अपात्रत्वा दस्मभ्यं किमिति दास्यन्तीति चे त्तत्राऽऽह कीर्तयन्त इति॥ ४,५॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थ मब्रुव न्नित्युक्तम्। किं तत्? इत्यत्राऽऽह - **राम रामेति।** नोऽस्मान् एषा क्षुद्बाधते, तस्याः क्षुधः शान्तिं कर्तुमर्हथः॥ १॥

विप्रभार्याया इत्येकवचनं जात्यभिप्रायकम्, विप्रभार्याणां, प्रसीदन् ता अनुजिघृक्षुः इद मब्रवीत्॥ २॥

तदेवाऽऽह - **प्रयातेति।** ब्रह्मवादिनो ब्राह्मणाः। देवा इज्यन्तेऽस्मिन्निति देवयजन मङ्गिरसाख्यं सत्र मासते अनुतिष्ठन्ति॥ ३॥

हे गोपाः! तत्र सत्रवाटे[1] गत्वा अस्मद्विसर्जिताः आवाभ्यां प्रेषिताः वय मिति वदन्तोऽन्नं याचत याचध्वम्। अस्मद्विसर्जिता इत्येतदेवोपपादयति। भगवत आर्यस्य अग्रजस्य रामस्य मम च अभिधां नामधेयं कथयन्तो याचतेत्यन्वयः॥ ४॥

भगवता इत्थ मादिष्टा स्ते गोपा स्तत्र गत्वा यथोक्तमयाचन्त। याच्ञा प्रकार मेव दर्शयति कृताञ्जलिपुटा इति। ताव द्विप्रानुद्दिश्य भुवि दण्डवत्पतिताः कृतान्यञ्जलिपुटानि यै स्तथा भूता स्ते गोपाः॥ ५॥

1. A,B यज्ञ°

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

कृष्णभक्तौ योग्यतैव बलीयसी न शास्त्रज्ञान मित्येतत्कथयति अस्मिन्नध्याये। तत्र गोपानां कृष्णस्य च प्रश्न प्रतिवचने कथयति शुक इति। दुष्टनिबर्हण! दुष्टजनोन्मर्दन! क्षुत् भोक्तु मिच्छा बाधते क्लिश्नाति। अस्याः क्षुधः शान्तिं प्रशमम्। "शान्तिः प्रशममङ्गले" (वैज.को.6-2-39) इति यादवः॥ १॥

विप्रभार्याया: पतित्यक्ताया:, जाता वेकवचनम्। भक्ता या: इति च्छेदो वा॥ २॥

देवयजनं यज्ञवाटं, सत्रं बहुकर्तृकम्, आङ्गिरसं अङ्गिरसा बृहस्पतिना कथितं बृहस्पतिसवन मित्यर्थ:। आसते कुर्वते, अनेकार्थत्वा द्धातूनाम्। हिशब्दो हेतौ यस्मात्। सत्रे अन्नं देयम् तस्मात् प्रयात॥ ३॥

अस्मद्विसर्जिता: नियुक्ता: निर्मुक्ता वा। [1-]युष्माकं का वा तत्र लज्जा? ननु अस्माकं गोपालत्वेन अपात्रत्वात् किमिति दास्यन्तीति तत्राऽऽह - कीर्तयन्त इति[-1]। आर्यस्य श्रेष्ठस्य रामस्याऽ भिधानं नाम॥ ४॥

निराधारो दण्डो यथा पतति॥ ५॥

1- -1. Ma omits.

हे भूमिदेवा: शृणुत कृष्णस्याऽऽदेश कारिण:।
[1]प्राप्तान् जानीत भद्रं वो गोपान्नो राम चोदितान्॥ ६॥

गाश्चारयन्ता वविदूर[2] ओदनं रामाच्युतौ वो[3-] लषतो[-3] बुभुक्षितौ।
तयोर्द्विजा ओदन मर्थिनो यदि श्रद्धा च[4] वो यच्छत धर्मवित्तमा:॥ ७॥

दीक्षाया: पशुसंस्थाया: सौत्रामण्याश्च सत्तमा:।
अन्यत्र दीक्षितस्याऽपि नाऽन्नमश्नन्हि दुष्यति॥ ८॥

इति ते भगवद्याच्ञां शृण्वन्तोऽपि न शुश्रुवु:।
क्षुद्राशा भूरिकर्माणो बालिशा वृद्धमानिन:॥ ९॥

[5-]देश: काल: पृथग्द्रव्यं[-5] मन्त्रतन्त्रर्त्विगग्नय:[6]।
देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मय:॥ १०॥

1. A आ° 2. M,Ma °ति° 3- -3. V यल्लुषतो 4. V °ल° 5- -5. M,Ma देशकालपृथग्द्रव्य 6. A द्विजाग्नय: ; B,G,J,M,Ma °र्त्विजोग्नय:

**श्रीध०** अविदूरे वर्तमानौ सन्तौ वो यत् ओदनम्[1] अन्नम्। तत् लषतः अभिलषतः वः[2] ओदनं श्रद्धा च यद्यस्ति तर्हि यच्छतेति॥ ५ - ७॥

दीक्षिता वय मभोज्यान्ना इति वदिष्यन्तीति स्वय मेवाऽऽशङ्क्याऽऽहुः - **दीक्षाया** इति। दीक्षाया आरभ्य अग्निष्टोमीयपश्वालम्भा त्पूर्वं दोषः ; न ततोऽन्यत्र। तथा सौत्रामण्याश्च अन्यत्र अन्यदा॥ ८॥

**इतीति**। क्षुद्रे स्वर्गादा वाशामात्रं येषां ते। भूरीणि क्लेशाधिकानि कर्माणि येषां ते। अतः अज्ञाः वृद्धमानिनः[3-] ज्ञान वृद्धा[-3] इति मानवन्तः॥ ९॥

ननु कर्मक्रम मुल्लङ्घ्य अदेशकाले अन्यार्थमन्न मन्यस्मै कथं देयम्? तत्राऽऽह - **देश** इति। पृथक् चरुपुरोडाशादि द्रव्यम्। तन्त्रं प्रयोगः। धर्मोऽपूर्वम्॥ १०॥

1. A,B,J omit ओदनम् 2. P,V omit वः 3- -3. A वृथाज्ञानाः वृद्धाः ; B,J वृथाज्ञानवृद्धाः

**वीर०** हे भूमिदेवाः! शृणुत! किम्? कृष्णस्याज्ञाकरणशीलान् रामेण चोदिता निह प्राप्ता नस्मान् गोपालान् जानीत। वो युष्मभ्यं भद्र मस्तु॥ ६॥

किमर्थं चोदिता इह प्राप्ताश्च इत्यत्राऽऽह **गा** इति। इतोऽविदूरे समीपे गाश्चारयन्तौ रामकृष्णौ बुभुक्षितौ क्षुधितौ[1] वः युष्माक मोदनं लषतः अभिलषतः वाञ्छत[2] इति यावत्। 'यल्लषत' इति पाठे यत् यस्मात् लषतः। अतो हे द्विजाः! वः युष्माकं श्रद्धा वर्तते चेत्[3] अर्थिनो स्तयोः ओदनं यच्छत। दीक्षिताना मस्माक मन्नं न भोज्य मिति[4] शङ्कां निराकुर्वन्तः सम्बोधयन्ति हे धर्मवित्तमाः इति॥ ७॥

तदेवोपपादयन्ति **दीक्षाया** इति। हे सत्तमाः! दीक्षायाः दीक्षापूर्विकायाः अग्नीषोमीय[5-] पशुसंस्थायाः[-5] ऊर्ध्वं सौत्रामण्या अन्यत्राऽनन्तरे च दीक्षितस्य यजमानस्य अन्न मश्नन् न दुष्यति। बुभुक्षु रिति कर्तृपद मध्याहर्तव्यम्। दीक्षितशब्दः यजमानपरः[6] सौत्रामण्यां दीक्षणीयेष्टिपूर्वकसङ्कल्पाभावात्॥ ८॥

इत्थं भगवतो याच्ञां ते[7] ब्राह्मणाः शृण्वन्तोऽपि नाद्रियन्त। तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि क्षुद्रे स्वार्गादावाशामात्रं येषां तदर्थं भूरीणि क्लेशावहानि कर्माणि येषां ते। स्वयं बालिशा मूर्खा अपि वृद्धमानिनः[8-] वृद्धं[-8] ज्ञानाधिक मात्मानं मन्यन्त इति तथा॥ ९॥

देशादि र्यन्मयः यत्प्रचुरो [9] भवति तं कृष्णं साक्षात्परब्रह्मभूतं षाड्गुण्यपूर्ण मधोक्षजं न मेनिरे, किन्तु [10-] म नुष्यबुद्ध्या [-10] केवलं प्राकृतं मनुष्य मेवाऽमन्यन्त। तत्र हेतुः- दुष्प्रज्ञाः कर्ममीमांसोपचितज्ञानाः मर्त्यात्मानः मर्त्ये मरणशीले देहे आत्मा आत्मबुद्धि र्येषां ते, तत्र देशः "समे यजेत" इत्याद्युक्तः। काले वसन्तादिः पृथग्द्रव्यं चारुपुरोडाशादिकम्। धर्मोऽपूर्वम्। एतेषां भगवत्प्राचुर्यं तच्छरीरत्वेन तन्निर्वाह्यत्वेन चेति ज्ञेयम्॥ १०॥

1. T,W omit क्षुधितौ 2. A,B इच्छतः ; T,W omit वाञ्छतः 3. A,B add तर्हि 4. A,B add इमां 5- -5. A,B अग्निष्टोमीय 6. A,B add अत्र 7. T,W omit ते 8- -8. J omits 9. T,W omit भवति 10- -10. T,W omit.

**विज०** हे भूमिदेवाः! बाह्मणाः ! "भूमिदेवो द्विजोत्तमः" (हला०. को. 2-236) इति हलायुधः॥ ६॥

लषतोऽभिलषतः इच्छतः, श्रद्धा आस्तिक्यं अभिलाषो वा। "श्रद्धाऽऽस्तिक्याभिलाषयोः" (वैज.को. 6-2-38) इति यादवः॥ ७॥

ननु दीक्षितान्नं न भोक्तव्यम् इति शास्त्रविरोधं परिहरति **दीक्षाया** इति। दीक्षाया व्रतसङ्ग्रहरूपायाः वर्तमानाया स्सत्याः पशुसंस्थाया अग्नीषोमीयपश्वालम्भादूर्ध्वं दीक्षितस्य अन्न मश्नन् सौत्रामण्याः तथा सौत्रामणीनाम्न्याः इष्टेश्चान्यत्र कर्मान्तरे दीक्षितस्य चान्नं न दुष्यति॥ ८॥

इति हेतुपूर्वां भगवद्वाच्याम्। अश्रवणे तेषां बुद्धिविशेष माह — **क्षुद्राशा** इति। क्षुद्राशाः तुच्छफलेच्छवः, तदर्थं भूरि कर्माणः। किमेते भ्रान्ताः इति, सत्य मित्याह बालिशा इति। बालिशा मूर्खाः। "बालिशो बाल मूर्खयोः" (वैज.को. 7-4-20) इति। एतदेव द्रढयति बुद्धीति। वृद्धा इत्यभिमानो येषा मस्तीति॥ ९॥

देशः कृष्णसारसञ्चारविषयः [1], कालः वसन्तादिः [2] पृथग्द्रव्यं चरुपुरोडाशादि, मन्त्रो देवताप्रसादप्रकाशक ओंकारादिः तन्त्र मनुष्ठानविधिः, ऋत्विजोऽध्वर्युप्रभृतयः, अग्नय आहवनीयादयः, देवता इन्द्रादि शब्दवाच्याः क्रतु स्सङ्कल्पः, यजमानोऽधिकारी, धर्मोऽदृष्टं, यन्मयः यत्प्रधानप्रतिपाद्यः॥ १०॥

1. Ma adds अभिमानो वा 2. Ma °दिकालः।

[1]तं ब्रह्म परमं साक्षाद्भगवन्त मधोक्षजम्।
मनुष्यदृष्ट्या दुष्प्रज्ञा मर्त्यात्मानो न [2]ते विदुः ॥ ११ ॥

न ते [3]तदोमिति प्रोचुः न नेति च परन्तप!
गोपाः निराशाः प्रत्येत्य [4-]तथोचुः कृष्णरामयो[-4]. ॥ १२ ॥

तदुपाकर्ण्य भगवान् प्र[5]हस्य जगदीश्वरः।
व्याजहार पुनर्गोपान् दर्शयन् लौकिकीं गतिम् ॥ १३ ॥

मां ज्ञापयत पत्नीभ्य स्ससङ्कर्षण मागतम्।
दास्यन्ति काम मन्नं वः स्निग्धा मय्युषिता धिया ॥ १४ ॥

[6]गत्वा[7] च पत्नीशालायां दृष्ट्वाऽऽसीना स्स्वलङ्कृताः।
नत्वा द्विज[8]सती र्गोपाः प्रश्रिता इद मब्रुवन् ॥ १५ ॥

1. A,V,T,W तद्ब्रह्म 2. A,B,G,J,M,Ma मेनिरे 3. A,B,G,J,M,Ma य° 4- -4. K,T,W तदूचू रामकृष्णयोः 5. K,T,W °हसन् 6. V adds श्रीशुक उवाच 7. A,B,G,J,K,M,Ma °त्वाऽथ 8. T,W °वधू°

**श्रीध० तदिति।** मनुष्योऽयमिति दृष्ट्या मर्त्यात्मानो [1-]देहाभिमानिन[-1]ः ब्राह्मणा वयं महान्त इति मन्यमानाः ॥ ११,१२ ॥

**तदिति।** लौकिकीं गति मिति नहि कार्यार्थिनो निर्विद्यन्ते। को वा याचको न पराभूयत इत्यादि लोकस्थितिं दर्शयन् ॥ १३ ॥

**मामिति।** केवलं देहेन गृहे वसन्ति धिया च मय्येवोषिताः। यतो मयि स्निग्धा, अतो दास्यन्तीति ॥ १४,१५ ॥

1- -1. A,B,J omit.

**वीर०** शृण्वन्तोऽपि न शुश्रुवुः इत्येतदेव विशदयति **नेति।** ते ब्राह्मणाः हे परन्तप! ओमिति न प्रोचुः। नाऽपि नेति। ओमित्यङ्गीकारद्योतकमव्ययम्। ततो गोपाः निराशाः प्रत्यागत्य तद्विप्राणामनादरणं रामकृष्णयोरूचुः ॥ ११, १२ ॥

ततो भगवान् लौकिकीं गतिं नहि कार्यार्थिनो निर्विद्यन्ते, "तृणा दपि लघु स्तूल स्तूला दपि च याचकः" (शार्ङ्गधरपद्धतिः 400) इत्युक्तरूपां लोकपरिपाटीं दर्शयन्निव पुनर्गोपान् व्याजहार उवाच॥ १३॥

तदेवाऽऽह **मामिति।** सङ्कर्षणेन[1] सहितं मा मागतं पत्नीभ्यः, द्विजाना मिति शेषः। ज्ञापयत। ताश्च केवलं देहेन गृहे वसन्ति, धिया तु मय्येवोषिताः मयि स्निग्धाः। अतः कामं यथेष्ट मन्नं दास्यन्ति॥ १४॥

अथ गोपाः पत्नीशालायां गत्वा स्वलङ्कृता आसीनाश्च द्विजसती र्दृष्ट्वा प्रश्रिता नम्रा स्सन्तः इदं वक्ष्यमाण मब्रुवन्॥ १५॥

1. A,B °णस°

**विज०** मर्त्यात्मानः देहोऽह मिति बुद्धियुक्ताः न मेनिरे न ज्ञातवन्तः॥ ११।

तथोभयं, ओमिति, न नेति च॥ १२॥

लौकिकीं गतिं लोकसिद्धां रीतिम्॥ १३॥

दाने कारण माह मयीति। धिया मय्युषिताः मामेव चिन्तयन्त्य इत्यर्थः॥ १४॥

द्विजसतीः द्विजपत्नीः॥ १५॥

**नमो वो द्विजपत्नीभ्यो[1] निबोधत वचांसि नः।**
**इतोऽविदूरे चरता कृष्णेन[2] प्रेषिता वयम्॥ १६॥**

**गाश्चारयन्स गोपालैः सरामो दूरमागतः।**
**बुभुक्षितस्य तस्यान्नं सानुगस्य प्रदीयताम्॥ १७॥**

**श्रुत्वाऽच्युत मुपायातं[3] नित्यं[4] तद्दर्शनोत्सुकाः।**
**तत्कथाऽऽक्षिप्तमनसो बभूवुर्जातसम्भ्रमाः॥ १८॥**

**चतुर्विधं बहुगुण मन्नमादाय भाजनैः।**
**अभिसस्रुः प्रियं सर्वा स्समुद्र मिव निम्नगाः॥ १९॥**

**निषिध्यमानाः पतिभिः भ्रा[5-]तृभिः पितृभि स्सुतै[-5]ः।**
**भगवत्युत्तमाश्लोके दीर्घश्रुतधृ[6]ताशयाः ॥ २० ॥**

1. A,B,G,J,K विप्र 2. B,G,J °नेहेषिता 3. A,J,T,V,W यान्तं 4. K,T,W तास्तु 5- -5. A,G,J,M,Ma भ्रातृभि र्बन्धुभिस्सुतैः ; B पितृभि र्भ्रातृबन्धुभिः 6. M,Ma भृ°

**श्रीध० नम** इति। प्रेषिता[1]ः प्रेरिताः ॥ १६ ॥

**गा** इति। स कृष्णो गोपालै स्सह॥ १७॥

**श्रुत्वेति।** तत्कथाक्षिप्तमनस[2]ः, अत एव तद्दर्शनोत्सुकाः तं[3-] कृष्ण मागतं[-3] श्रुत्वा जातसम्भ्रमा बभूवु रि[4]ति॥ १८॥

**चतुर्विध** मिति। भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यभेदै श्चतुर्विधम्। बहुगुणं संस्कार विशेषैः बहवो गुणाः रससौरभ्यादयो यस्मिंस्तत्। भाजनै रमत्रै र्भाण्डैर्वा। पत्यादिभि र्वार्यमाणा अपि प्रियं श्रीकृष्णम् अभिसस्रुः अभिजग्मुः। अप्रतिबन्धे दृष्टान्तः समुद्रं निम्नगा नद्य इवेति॥ १९॥

**निषिध्यमाना** इति। तत्र[5] हेतुः भगवतीति। दीर्घं बहुकालम् श्रुतेन श्रवणेन धृतः आशयो याभि स्ताः ॥ २० ॥

1. A,B,J ईषिताः 2. A,B,J °स्त्वात् 3- -3. A,B,J तमुपागतं 4. A,B,J omit इति। 5. A,B,J अत्र।

**वीर०** विप्रपत्नीभ्यो वो युष्मभ्यं नमः, नोऽस्माकं वचांसि निबोधत शृणुत। किम्? इत स्समीपे सञ्चरता कृष्णेन वयं[1] प्रेषिताः ॥ १६ ॥

स[2] तु स रामो गोपै स्सह दूर मागतः, व्रजादिति शेषः। अधुना बुभुक्षितस्य सा[3-]नुगस्य गोपसमूह सहितस्य तस्य श्रीकृष्णास्य[-3] वो[4-] यदि श्रद्धा तर्हि[-4] अन्नं प्रदीयतां प्र[5-]कर्षेण दीयतां, न त्वस्माक माशाभङ्गः कार्यः इति भाव[-5]ः॥ १७॥

पूर्वमेव तस्य कृष्णस्य कथया आक्षिप्ता न्याहृतानि मनांसि यासां ताः। अत एव तद्दर्शन तत्परा स्तदा तमागतं श्रुत्वा जा[6-]तसम्भ्रमा[-6] बभूवुः ॥ १८ ॥

चतुर्विधं भक्ष्यभोज्यलेह्यपेयात्मकं बहुगुणं रस सौरभ्यादि बहुगुणक मन्नं पात्रै रादाय सर्वाः [7]विप्रपत्न्यः प्रियं निरतिशयप्रीतिविषयं भगवन्त मभिजग्मुः। कथम्भूताः? पत्यादिभिः निवार्यमाणा अपि भगवति दीर्घं बहुकालं श्रवणेन धृत आशयो यासां ताः। अत एव नद्यः समुद्रं प्रति इव अप्रतिबन्धा प्रियम् अभिसस्रु रित्यन्वयः॥ १९, २०॥

1. A,B omit वयं 2. K,T,W omit स तु 3- -3. T,W सानुचरस्य तस्य 4- -4. K,T,W omit 5- -5. T,W omit 6- -6. A,B जातोत्सवाः 7. A,B द्विज

**विज०** चरता बुभुक्षितेन ताच्छीलिक स्तृन्प्रत्ययः। 'चर गति भक्षणयोः इति धातुः'॥ १६ - १८॥

चतुर्विधं भक्ष्य भोज्य लेह्य चोष्य पानात्मकं बहुगुणं मधुरादिगुणोपेतम्॥ १९॥

दीर्घश्रुतेन बहुकालश्रवणेन भगवति भृत आशयो या भि स्ताः। कदाऽनु द्रक्ष्याम इत्यभिप्रायः आशयः॥ २०॥

**यमुनोपवनेऽशोकनवपल्लवमण्डिते।**
**[1]विचरन्तं वृतं गोपै र्दृदृशु स्साग्रजं स्त्रियः॥ २१॥**

**श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्हधातुप्रवाल नट वेष मनुव्रतांसे।**
**विन्यस्त हस्त मितरेण धुनान मब्जं कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम्॥ २२॥**

**[2]प्राय श्श्रुतप्रियतमोदय कर्ण पूरैर्यस्मिन्निमग्नमनस स्तमथाक्षिरन्ध्रैः।**
**अन्तः [3]प्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य तापं प्राज्ञं यथाभिमतयो विजहुर्नरेन्द्र!॥ २३॥**

**तास्तथा [4]त्यक्तसर्वाशाः प्राप्त आत्मदिदृक्षया।**
**विज्ञायाऽखिलदृग्दृष्ट्वा प्राह प्रहसिताननः॥ २४॥**

**[6-]श्री भगवानुवाच[-6]**

**स्वागतं वो महाभागाः! आस्यतां करवाम किम्?**
**यन्नो दिदृक्षयाऽभ्येता उपपन्न मिदं हि वः॥ २५॥**

**[8-]नन्वद्धा मयि [-8]कुर्वन्ति कुशला [9-]स्स्वार्थ दर्शिनाः[-9]।**
**अहैतुक्यव्यवहितां भक्तिमात्मप्रिये यथा॥ २६॥**

1. M,Ma प्र 2. M,Ma दीर्घश्रु° 3. M,Ma °वि° 4. K,T,W °दा 5. A,B,G,J,V °ग्द्रष्टा; M,Ma °ग्दृष्टया 7. A,B,G,J °या प्राप्ता; K,T,W °याऽऽयाता 8- -8. M,Ma न श्रद्धा मधि 9- -9. M,Ma °लार्थनिदर्शनाः; V लास्स्वार्थदर्शिनः।

**श्रीध० यमुनेति।** तथाऽऽगतास्सत्यो ददृशुः ॥ २१ ॥

**श्याम मिति।** हिरण्यवत्परिधिः परिधानं यस्य तं पीताम्बरमित्यर्थः। वनमाल्यैः बर्हैः धातुभिः प्रवालैश्च नटव द्वेषो यस्य तम्। अनुव्रतस्य सख्यु रंसे विन्यस्तो निहितो हस्तो येन तम्। इतरेण हस्तेन लीलया अब्जं धुनानं भ्रामयन्तम्। कर्णयो रुत्पले यस्य। अलकाः कपोलयो र्यस्य। मुखाब्जे हासो यस्य तञ्च, तञ्च ॥ २२ ॥

वृत्ते रपि लयेन सा[1-]मरस्य माह[-1] **प्राय** इति। प्रा[2]यो बहुशः श्रुता ये प्रियतमस्योदया उत्कर्षाः त एव कर्णपूराः कर्णौ पूरयन्ति कृतार्थौ कुर्वन्तीति तथा तैः कर्णाभरणै रिति वा यस्मिन् श्रीकृष्णे निमग्नमनस आविष्ट चेतसः, तं लोचनद्वारैः अन्तःप्रवेश्य सुचिर मुप[3]गुह्य तापं जहुः। अभिमतयोऽहंवृत्तयः प्राज्ञं सुषुप्ति साक्षिणं परिरभ्य तस्मिन् लयं प्राप्य यथेति ॥ २३ ॥

**ता** इति। अखिलदृशां द्रष्टा सर्वबुद्धिसाक्षी। ता स्तथा प्राप्ता विज्ञायापि। तथेत्येतद्विवृणोति त्य[4-]क्तसर्वाशा[-4]ः त्यक्तास्सर्वा आशा याभिस्ताः। केवल मात्मनः स्वस्यैव दिदृक्षयेति ॥ २४ ॥

**स्वागत** मिति। हे महाभागाः! वः स्वागतं शुभ मागमनम्। तदेवाऽऽह - यद्यस्मात् प्रतिबन्धतिरस्कारेण अस्माकं दिदृक्षया प्राप्ता इति। इदं व उपपन्नं सम्पन्नं युक्त मिति वा ॥ २५ ॥

युक्तत्वमे[5]वाऽऽह - **नन्विति।** आत्मप्रिये आत्मा चाऽसौ प्रियश्च तस्मिन्मयि कुशला विवेकिनः, अत एव स्वस्याऽऽत्मनोऽर्थं पु[6-]रुषार्थं[-6] पश्यन्ति, ये ते यथा यथावत् भक्तिं कुर्वन्ति। यथावत्त्वमाह - अद्धा साक्षात्। अत्र हेतुः अहैतुक्यव्यवहितां फलाभिसन्धिरहिताम् अत एव अव्यवहितां निरन्तराम् ॥ २६ ॥

1- -1. B साम्य माह 2. A,B,J omit प्रायः 3. P,V गृह्य 4- -4. P,V omit 5. B,J माह 6- -6. V omits.

**वीर०** यमुनासमीपवने कथम्भूते? अशोकानां तरूणां नवैः पल्लवैः मण्डिते विचरन्तम् अग्रजेन सहितं गोपैश्चाऽऽवृतं कृष्णं स्त्रियो, द्विजपत्न्यः ददृशुः ॥ २१ ॥

कथम्भूतम्[1]? श्यामं हिरण्यवत्परिधिः परिधानं यस्य तम्, पीताम्बर मित्यर्थः। वनमाल्यैः वन्यैः पुष्पैः बर्हैः धातुभिः गैरिकादिभिः प्रवालैः पल्लवैश्च नटव द्वेषो यस्य अनुव्रतस्य सख्युः अंसे स्कन्धे विन्यस्तो हस्तो वामकरो येन, इतरेण[2] अब्जं धुनानं लीलया भ्रामयन्तं, कर्णयो रुत्पले यस्य, अलकाः कपोलयो र्यस्य, मुखाब्जे हासो यस्य तं, तथाविधं ददृशुरित्यन्वयः॥ २२॥

बहुश आकर्णिताः प्रियतमस्योदया उत्कर्षाः त एव कर्णौ पूरयन्ति कृतार्थौ कुर्वन्ति तथा तैः, कर्णाभरणै रिति वा। यस्मिन् कृष्णे निमग्नमनस आविष्टचित्ता[3] स्तं कृष्णम् अथ दर्शनानन्तरम् अक्षिरन्ध्रैः लोचनद्वारैः अन्तःप्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य उपगूह्य[4] तापं तद्दर्शनाभावजं जहुः। हे नरेन्द्र! अभिमतयः भगवद्भक्तानां तद्दिदृक्षात्मिका बुद्धयः प्राज्ञं परमात्मानं "प्राज्ञेनात्माना सम्परिष्वक्तः" (बृह.उ.4-3-21) "प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढः" (बृह.उ.4-3-35) इति श्रुतेः। तं दृष्ट्वा यथा तद्दर्शनाभावजं[5] ताप माध्यात्मिकादिकं वा जहति तद्वत्। 'अतिमतय' इति पाठे ज्ञानाधिकाः॥ २३॥

तदा भगवानात्मनः स्वस्य दिदृक्षया प्राप्ताः ता दृष्ट्वा त्यक्ताः सर्वा[6] आशाः पत्यादिविषयाः याभिस्तथा भूताः विज्ञाय, तत्र हेतुः अखिलं पश्यतीति। तथा प्रहसित माननं यस्य स प्राह॥ २४॥

तदेवाऽऽह - **स्वागतमित्यादिभिः** पञ्चभिः। हे महाभागाः! अस्मदनुग्रहविषयतारूपमहाभाग्यशालिन्यः! वः स्वागतं शोभनमागमनं भद्रादिभि रनिर्बद्धाः कुशल मागताः[7]? आस्यताम् उपविश्यताम्। वो युष्माकं किं कार्यम्? अत्राऽऽगमनप्रयोजनं किमिति प्रश्नः। यदि किञ्चि दस्ति तदवश्यं वयं करवाम। सर्वज्ञत्वा त्तदभिप्रेतं विज्ञाय तस्यौचित्य माविष्करोति यदिति। नोऽस्माकं दिदृक्षया अभ्यागता इति यत्तदिदं वो युष्माकम् उपपन्नमुचितमेव॥ २५॥

औचित्य मेवोपपादयति **नन्विति।** ननु हे द्विजपत्न्यः! कुशला आत्महिताहितविवेकिनः स्वार्थ दर्शनाः सर्वप्रयोजनाभिज्ञा जनाः आत्मनः स्वस्मादपि प्रिये मय्यद्धा मय्येव। अद्धेति स्फुटावधारणयोः। अहैतुकीं फलाभिसन्धिरहिता मव्यवहिता मविच्छिनां भक्तिं यथावत्कुर्वन्ति। विवेकिनो[8] यथा मयि[-8] भक्तिं[9] कुर्वन्ति[10-] तथा भवत्योऽपि कृतवत्य इति वार्थः[-10]॥ २६॥

1. A,B कीदृशम्? 2. A,B add हस्तेन 3. T,V °दि° 4. K °गु° 5. A,B add जहुः 6. T,W omit सर्वाः 7. A,B add किम्? 8--8. T,W omit 9. A,B add महानुभावाः 10- -10. T,W omit.

**विज०** किङ्कुणविशिष्टं ददृशुः इति तत्राऽऽह श्यामं हिरण्य परिधिं सुवर्णमेखलं, सुवर्णव न्पीताम्बरं वा। वनमाल्येन वनपुष्पेण बर्हेण मयूरपिच्छेन, धातुना गैरिकेण, प्रवालेन नटवेषवद्वेषो यस्याऽसौ तथा तम्, अनुव्रतांसे कस्यचि द्वयस्यस्य स्कन्धे, कर्णयो रुत्पले, अलकः कुन्तलं कपोले च, मुखाब्जे हासो यस्य स तथा तं, धुनानं परिकम्पयन्तम्॥ २१,२२॥

दीर्घकाल मारभ्य श्रुतः प्रियतम स्योदयो दीर्घश्रुतप्रियतमोदयः स एव कर्णपूराः कर्णालङ्करणानि तैः यस्मिन् कृष्णे निमग्नमनसः अवगाह्य दृढबद्धहृदयाः पूर्वं ताः स्त्रियोऽथ तं कृष्णं अक्षिविवरैः अन्तः प्रविश्य सुचिरं परिरभ्य आलिङ्ग्य तापं स्मरनिमित्तं ज्वरं जहुः। कथमिव? यथा प्राज्ञाः सुषुप्त्यवस्था साक्षिणः प्राज्ञं प्राप्ताभिमतयः इन्द्रियवृत्तयः तापं त्यजन्ति "सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति" (छान्दो.उ. 6-8-1) इति श्रुतेः। यद्वा भगवत्तत्वज्ञाननिपुणाः प्राज्ञाः। प्राज्ञमिति पाठे परिरभ्येति सम्बन्धः॥ २३॥

त्यक्तसर्वाशाः त्यक्तसर्वातितृष्णाः, "आशा दिगतितृष्णयोः" (वैज. को. 6-2-3) इति च। दृष्ट्या अपरोक्षज्ञानेन तासां भक्तिं विज्ञाय अखिलदृक् अखण्डज्ञानी॥ २४॥

अभ्येता अभ्यागताः, यद्यस्मात् इदं वः उपपन्नं युक्तम्॥ २५॥

एवं कुशलं पुण्यमेवार्थः कुशलार्थः, तस्य नितरां दर्शनं येषां ते, कुशलार्थनिदर्शनाः। "अर्थी समर्थो विद्वानधिक्रियते" इति वचनात्। कुशला निपुणाश्च अर्थनिदर्शनाश्च ते तथा। यद्वा कुशलार्थो भगवन्निदर्शन मुदाहरणं येषां ते तथा। 'कुशलाः स्वार्थ दर्शनाः' इति पाठः। एते श्रद्धां विषयाभिलाषं न कुर्वन्ति, किन्तु आत्मप्रिये भगवति अहैतुकीं निर्निमित्तां अव्यवहितां निरन्तरीभूतां भगवद्भक्तिमधिकुर्वन्ति अधिकां कुर्वन्ति। कथ मिव? यथाऽऽत्मप्रिये स्वभर्तरि, भगवतीति शेषः। यथाशास्त्रविहित प्रकारेण "तदेत त्प्रेष्ठः" इति श्रुतेः। देहादिभ्योऽपि प्रियत्वं हरे रेवेति प्रतिपादयति। यद्वा स्वार्थदर्शनाः स्वर्गादिफलार्थदृष्टयः कुशलाः यज्ञविद्यानिपुणाः अहैतुक्यव्यवहितां श्रद्धा मास्तिक्यबुद्धिं अधि अधिके ईश्वरे न कुर्वन्ति। व्यतिरेकदृष्टान्तं माह - अहैतुकी इति। भक्ता आत्मप्रिये मयि यथा भक्तिं कुर्वन्ति न तथेति॥ २६॥

**प्राणबुद्धिमनस्स्वात्म दारापत्यधनादयः।**
**यत्सम्पर्का त्प्रिया आसं स्ततः कोन्वपरः प्रियः॥ २७॥**

**तद्यात देव यजनं पतयो वो दिजातयः।**
**स्वसत्रं पारयिष्यन्ति युष्माभि र्गृहमेधिनः॥ २८॥**

**विप्रपत्न्य ऊचुः**

**मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं सत्यं कुरुष्व निगमं तव पादमूलम्।**
**प्राप्ता वयं तुलसिदाम पदाऽवसृष्टं केशै र्निवोढुमतिलङ्घ्य समस्तबन्धून्॥ २९॥**

**गृह्णन्ति नो न पतयः पितरै सुता वा न भ्रातृबन्धुसुहृदः कुत एवचाऽन्ये।**
**तस्मा द्भवत्प्रपदयोः पतितात्मनां नो नाऽन्या भवेद्गति रिन्दम तद्विधेहि॥ ३०॥**

श्रीभगवानुवाच[5]

पतयो नाऽभ्य[6] सूयेरन् पितृ[7] भ्रातृ सुतादयः।
लोकाश्च वो मयोपेता देवा अप्यनुमन्वते॥ ३१॥

न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणा मिव[8]।
तन्मनो मयि युञ्जाना अचिरान्मा मवाप्स्यथ ॥ ३२॥ ★

1. T,W स्त्रियः (याः) 2. M,Ma,T,W साध्व्यो 3. A,B,G,J omit विप्र; M,Ma द्विज 4. M,Ma °त्प्रसीद पद° 5. M,Ma श्रीकृष्णः 6. V न ह्य° 7. M,Ma °नित्यं 8. A,B,G,J,K,M,Ma °ह ★ The following extra verse is found in B,K,T,V,W and there is no commentary on the same. श्रवणा द्दर्शना द्ध्याना न्मयि भावोऽनुकीर्तनात्। न तथा सन्निकर्षेण, प्रतियात ततो गृहान्॥

**श्रीध०** आत्मनः सर्वतः[1] प्रेष्ठत्व मुपपादयति - **प्राणेति।** स्वाज्ञातयः आत्मा देहः एते सर्वे यत्सम्पर्कात् यस्य अध्यासेन[2] उपकरणत्वेन वा॥ २७॥

**तदिति।** तत्तस्मात् कृतार्था यूयं देवयजनं यज्ञवाटं यात गच्छत। ननु[3] कृतार्थाः किमिति यास्यामः इति चेत् अत[4] आह पतय इति। पारयिष्यन्ति समापयिष्यन्ति, पतीनामनुग्रहायेत्यर्थः ॥ २८॥

**मेति।** नृशंसं पुरुषम्। निगमं प्रतिज्ञां "न मे भक्तः प्रणश्यति" (भ.गी. 9-31) इति। वेदं वा "न स पुन रावर्तते" (निरा.उ.33) इति। पदावसृष्टमवज्ञयाऽपि दत्तम्। बहुमानेन केशैर्निर्वोढुं दासीभवितुम्॥ २९॥

**गृह्णन्तीति।** किञ्च, न गृह्णन्ति नोऽस्मान्। हे अरिन्दम! कामलोभादिदमन! भवतः प्र[6-]पदयो[-6], पादाग्रयोः[5] पतितदेहानाम् अन्या स्वर्गादि गतिरपि न भवेत् मा भूत्। तत्तस्मात् दास्यमेव विधेहीति॥ ३०॥

**पतय** इति। मयोपेता अनुज्ञाताः प्रत्यक्षं देवान् प्रदर्श्याऽऽह देवा अपीति॥ ३१॥

तथाऽपि त्वां त्युक्तुं न शक्नुम इति चेत्तत्राऽऽह **नेति।** नृ[7-]णां मद्भक्तानां[-7] प्रीतये सुखाय[8] अनुरागाय स्नेहवृद्धये अङ्गसङ्गोऽङ्गाभ्यां सङ्गः ॥ ३२॥

1. V °त्र 2. P,V आध्यानेन 3. P,V omit ननु 4. A तत्राह 5. A,B,J °भपापादि 6- -6. P,V omit 7- -7. A,B,J omit 8. B omits सुखाय

**वीर०** आत्मप्रिये इत्येतदेव काक्वोपपादयति **प्राणेति।** स्वाऽऽत्मा स्वदेहः स्वो जीवः आत्मा देहो वा। प्राणादयो यत्सम्पर्कात् यत्सम्बन्धात् प्रिया भवन्ति, ततो मत्तः प्रियेऽन्यः को नु? न कोऽपि; निरतिशयप्रियोऽहमेव।

इत्थम्भूते मयि अहैतुक्यव्यवहिता भक्ति र्भवतीना मुचितैवेति तत्कारिता मद्दिदृक्षोचितैवेति भावः। यत्सम्पर्कात् प्रिया इत्यनेन "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय" (बृह.उ. 2-4-5) इत्यादि श्रुत्यर्थो विवक्षितः। तदर्थस्तूक्तः पुरस्तात्॥ २७॥

[1]तत् तस्मा दागमन प्रयोजनस्य मद्दर्शनस्य जातत्वात् देवयजनं सत्रवाटं गच्छत। वो युष्माकं पतयो ब्राह्मणाः गृहमेधिनः गार्हस्थ्यधर्मपरायणाः युष्माभिरेव सहायभूताभिः स्वसत्रं पारयिष्यन्ति [2-]समापयिष्यन्ति[-2] दम्पत्यो स्सहाधिकारादिति भावः॥ २८॥

स्वमनोरथाननुगुणोक्तिश्रवणात् निर्विण्णा आहुः[3] **मैवमिति।** हे विभो! भवानेवं 'तद्यात देव यजनं' इत्येवं नृशंसं परुषं वचो वक्तुं नार्हति। किन्तु यो निगमः "प्रियोऽहि ज्ञानिनोऽत्यर्थ महं स च मम प्रियः" (भ.गी. 7-17), "न मे भक्तः प्रणश्यति" (भ.गी.9-31) इत्यादिवचनरूपः, तं सत्यं कुरुष्व। नित्य मिति पाठेऽपि स एवाऽर्थः। वयन्तु समस्तबन्धूनतिलङ्घ्य पदावसृष्टमवज्ञयाऽपि दत्तमिति भावः। तत्तुलसिदाम केशैर्बहुमानेन वोढुं प्राप्ताः, दासीभवितुं प्राप्ता इति भावः॥ २९॥

किञ्च, अतिलङ्घितबन्धू नस्मान् न पत्यादय एव परिगृह्णन्ति, कुतोऽपरे गृह्णीयुः। तस्मात् हे अरिन्दम! भवतः प्रपदयोः पादाग्रयोः पतिता आत्मानो देहा यासां ताः पतिता स्समर्पिताः आत्मानः प्रत्यगात्मानः याभि स्तासां वा। नोऽस्माकं नाऽन्या गतिः, अस्मत्समीहितोपायोऽन्यो नाऽस्ति, अत स्त्वमेव[4] अस्मदभिमतं विधेहि। यद्वा, अन्या गतिः स्वर्गादि रपि मा भूत्, किन्तु त्वदविश्लेषेण त्वद्दासीत्व[5] मेव अस्माकं सम्पादय॥ ३०॥

एव मुक्तो भगवान् तावत् यदुक्तं पत्यादयः केऽपि नाऽऽस्मान् गृह्णन्तीति तत्रोत्तर माह **पतय** इति। वो युष्मान् पत्यादयः अन्ये लोका जनाः किमुत, मयोपेता मत्प्रभृतयो देवाश्च नाऽभ्यसूयेरन् न दोषदृष्ट्या द्रक्ष्यन्ति, किन्तु अनुमन्वते अनुमोदन्ते॥ ३१॥

यदुक्तं तद्विधेहीति, तत्रोत्तर माह **नेति।** इह लोके नृणामङ्गसङ्गः देहयोगः न प्रीतये न वैषयिकसुखाय, अपि तु मय्यनुरागाय, जन्मनः फलं मद्भक्तिरेवेत्यर्थः। यद्वा नृणां चेतनानामङ्गसङ्गः तादात्विक[6]रागाय न तु कालान्तरप्रीतये, विश्लेषस्तु कालान्तरेऽपि प्रीतिवर्धक इत्यभिप्रायः। तस्मात् परोक्षमपि मयि मनो युञ्जानाः अचिरा देव मामवाप्स्यथ संसृतिबन्धान्मुक्ताः नित्यं मद्दास्यं करिष्यथेति भावः [7-]स्मरणादिना[-7] यथा मयि भावः, तथा सन्निकर्षेण नेति॥ ३२॥

1. K,T,W omit तत् 2- -2. K,T,W omit 3. A,B add पत्न्यः 4. A,B add तत् 5. T,W °स° 6. A,B,T,W °त्मि° 7- -7. T,W omit.

**विज०** तव सर्वस्मा दाधिक्यं कुत इत्यत्राऽऽह **प्राणेति** ॥ २७॥

यस्मा दखण्डेश्वरे मयि भक्तिं कुर्वन्ति, नाऽन्यत्र, तस्मात् मदाज्ञां कुरुतेत्याह - **तदिति।** गन्तव्ये निमित्तमाह पतय इति। वः पतयः द्विजातय इति। अतः कालक्षेपो नोचितः। निमित्तान्तरमप्यस्तीत्याह - स्वसत्र मिति। पारयिष्यन्ति सम्पादयिष्यन्ति॥ २८॥

यातेति नृशंसं परुषं गदितुं निगमं "न मे भक्तः प्रणश्यति" (भ.गी. 9-31) इति वचनं सत्यं कुरु। पदावसृष्टं श्रीपादच्युतं, तेन दत्तं वा तुलसीदाम श्रीतुलसीमालां केशै र्नितरां वोढुं [1]तव पादमूलं प्राप्ताः ॥ २९॥

कालक्षेपात् द्विजातय अस्मान्न गृह्णन्तीति सूचितम्। तत्र तत्सहायाभावात् पुनर्गमने ते नैव गृह्णन्तीत्याहुः - गृह्णन्तीति। ततः शरणं विधेहि कुरु॥ ३०॥

कुत एव चान्य इत्यत्राऽऽह लोकाश्चेति॥ ३१॥

तव पादमूलं प्राप्ता इत्यत्र अङ्गसङ्ग स्सूचितः तत्राऽऽह - **नेति।** इह नृणा मङ्गसङ्गो मम प्रीतये न भवति। मम अनुरागाय च न स्यात्[2]। तस्मात् मयि मनो युञ्जानाः यूयं क्षिप्रं मा मवाप्स्यथ इत्यन्वयः। अनेन, अहं भक्त्यैव तुष्टो भवामि नाऽन्येनेति सूचितम्॥ ३२॥

1. A,B omit तव 2. A omits स्यत्।

## श्रीशुक उवाच

**इत्युक्ता [1]द्विजपत्न्य स्ता यज्ञवाटं पुन र्गताः।**
**ते चाऽनसूयव स्ताभिः [2]स्त्रीभि स्सत्र मपारयन्॥ ३३॥**

**तत्रैका [3]विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम्।**
**[4]हृदोपगूह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम्॥ ३४॥**

**भगवानपि [5]गोविन्द स्तेनैवान्नेन गोपकान्।**
**चतुर्विधेनाऽऽशयित्वा स्वयञ्च बुभुजे प्रभुः॥ ३५॥**

**एवं लीला नरवपुर्नृलोक मनुशीलयन्।**
**रेमे गो गोप गोपीनां रमय [6]रूपवाक्कृतैः॥ ३६॥**

**[7]अथाऽनुस्मृत्य विप्रा स्ते [8]अन्वतप्यन्कृतागसः।**
**यद्विश्वेश्वरयोर्याच्ञा [9]महन्म [9]नृविडम्बयोः॥ ३७॥**

दृष्ट्वा स्त्रीणां भगवति कृष्णे भक्ति मलौकिकीम्।
आत्मानञ्च तया हीन मनुत[10] मा व्यगर्हयन्॥ ३८॥
धिग्जन्म न[11-] स्सुहृद्वृत्तं धिग्व्रतं[-11] धिग्बहुज्ञताम्।
धिक्कुलं धिक्क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे॥ ३९॥

1. B,J मुनि 2. A,B,G,J °स्स्वाभिः 3. V, W °द्रु° 4. A,B,G,J,K,M,Ma,T °गु° 5. K °थ 6. M,Ma °न्नृप! 7. T,W तदनु 8. V ह्य° 9- -9. M,Ma °महनन्नृ°; K,T,W °महन्मर्त्य° 10. T,W तप्य 11- -11. A,B,G,J,V नस्त्रिवृद्विद्यां धिग्व्रतं, M,Ma नस्तु धिग्बुद्धिं धिग्वृतं

**श्रीध० इतीति।** अनसूयवः[1] अदोषदृष्टयः॥ ३३॥

**तत्रेति।** देहमिति। तदीयं देहं तत्र विहाय चैतन्येन भगवन्तं प्रापेत्यर्थः॥ ३४,३५॥

**एव** मिति। अनुशीलयन् अनुकुर्वन्। गोगोपगोपीना मिति कर्मणि षष्ठी। रूपवाक्कृतैः रूपेण वाचा। कृतै श्चरितैश्च रमयन्। ता[2] रामयितुं रेमे इत्यर्थः॥ ३६॥

अनुस्मृति प्रकार माह **अथेति।** नरानुकरणवतोः विश्वेश्वरयोः याच्ञां यत् अहन्म हतवन्तः तत्कृतागसो वय मित्यनुस्मृत्येति॥ ३७॥

तथा[3] च भार्याः गुरूनिव मानयन्तो भगवद्भक्तिरहितमात्मानं अनिन्द न्नित्याहुः[4] - **दृष्ट्वेति।** अलौकिकीम् लोकातीताम्॥ ३८॥

**धिगिति।** त्रिवृत् शौक्लं, सावित्रं, दैक्षमिति त्रिगुणितं जन्म व्रतं ब्रह्मचर्यम्। क्रियाः कर्माणि दाक्ष्यञ्च। क्रियादाक्ष्य मित्येकं वा पदम्। धिगि त्यधिक्षेपि। ये वयं तु[5] अधोक्षजे विमुखा स्तेषां नः[6] जन्मादि यत्[7] तत्सर्वं धिगिति व्यगर्हयन्नित्यर्थः[8]॥ ३९॥

1. A adds तासु 2. A,P,V तान् 3. A,B,J तदा 4. A,B,J °ह 5. P,V omit तु 6. A,B,J omit नः 7. A,B,J omit यत् 8. A,J, omit °य°

**वीर०** इत्थं भगवतोक्ता स्ता द्विजपत्नयो यज्ञवाटं पुन[1] र्जग्मुः। तत स्ते द्विजाः अनसूयव एव ताभि स्सह सत्र मपारयन् समापितवन्तः॥ ३३॥

तत्र द्विजपत्नीनां मध्ये काचित् भर्त्रा विधृता[2] निवारिता सती यथाश्रुतं भगवन्तं हृदोपगूह्य[3] संश्लिष्य कर्मानुबन्धनं कर्मायत्तं स्वदेहं तत्याज॥ ३४॥

अथ भगवान् तेनैव द्विजपत्नीसमर्पितेनैव अन्नेन गोपकान् भोजयित्वा तच्चतुर्विध मन्नं स्वय मपि बुभुजे॥ ३५॥

लीलया, न तु कर्मणा नरस्येव वपुर्यस्य स भगवान् इत्थं रूपादिभिः कृतानि चेष्टितानि तैश्च नृलोकमनुशीलयन् अनुकुर्वन् गोगोपपीना मिति कर्मणि षष्ठी। गावादीन् रमयन् स्वय मपि रेमे। यद्वा, नृलोक मनुशीलयन् अनुरञ्जयंश्च गोगोपगोपीनां मध्ये रेमे॥ ३६॥

**अथेति।** अथ विप्राः अनुस्मृत्य भगवान् यदुष्ववतीर्ण इति श्रुतत्वा दनुस्मृत्येत्यर्थः। कृतागसः, हेतुगर्भ मिदम्। तत्त्वा दन्वतप्यन्। किं तदागः, यतोऽन्वतप्यन्, तत्राऽऽह यत् यस्मात् मर्त्य मनुकुर्वतोः विश्वेश्वरयोः याच्ञा-महन् बभञ्जुः, ततः कृतागसः। अहन्निति यत् तदेवाऽगः इति वा॥ ३७॥

तदा भार्याः मानयन्तो भगवद्भक्ति रहित मात्मानं व्यनिन्द न्नित्याह **दृष्ट्वेति।** अलौकिकी मनितर जन साधारणीं तया कृष्ण भक्त्या हीनं रहितम्॥ ३८॥

गर्हाप्रकार मेवाऽऽह **धिगिति।** नोऽस्माकं जन्म धिक्! "उभसर्वतसोः कार्या धिक्" (796 वार्तिक under अष्टा. 1-4-48) इत्यादिवचनेन शेषषष्ठ्यपवादकत्वेन जन्मादीनां द्वितीया। धिक् शब्दो निन्दा द्योतकः। अस्माकं जन्मादयो निन्द्या इत्यर्थः। क्रिया यज्ञादिरूपाः दाक्ष्यं तदनुष्ठानसामर्थ्यम्। तत्र हेतुं वदन्तो विशिंषन्ति ये वयमधोक्षजे विमुखाः। 'त्रिवृत्' इति पाठे तज्जन्मनो[4] विशेषणम्। शौक्लं सावित्रं दैक्ष मिति त्रिगुणीकृतं जन्मेत्यर्थः। 'नस्तु धिग्बुद्धिम्' इति पाठे स्पष्टोऽर्थः। व्रतं ब्रह्मचर्यम्॥ ३९॥

1. T,W omit पुनः 2. T,W °द्रु° 3. K °गु° 4. A,B omit तत्।

**विज०** इतिशब्दो हेतौ॥ ३३॥

विधृता पृथक्कृता त्यक्ता इत्यर्थः "वि निषेधे पृथग्भावे" (वैज०.को. 8-7-6) इति यादवः। कर्मानुबन्धनं कर्मानुगम्॥ ३४,३५॥

वाग्भिः कृतैः कर्मभिश्च गोगोपगोपीनां मनांसि रमयन्॥ ३६॥

नन्वेते विप्राः समीचीना, उत असमीचीनाः? नाऽऽद्यः अनुभवादर्शनात्। न द्वितीयः, कृष्णपरायणानां स्त्रीणां पाणिग्रहण सम्बन्ध दर्शनात्। अथ कथं निर्णयः? इति, राज्ञो मानसीं शङ्कां परिहरति **अथेति।** ते विप्राः अथ मङ्गलाः कुतोऽन्वतप्यन् यतः कृतागसः कृतापराधत्वात्। अपराध सद्भावे किं प्रमाण मिति तत्राऽऽह अनुस्मृत्येति।

अनुस्मरणं प्रमाण मित्यर्थः। कोऽसा वपराध इति तत्राऽऽह - यदिति। अहनन् हिंसितवन्तः तिरस्कृतवन्त इति यत् स इत्यर्थः। नृविडम्बयोः मनुष्य मनुकुर्वतोः ॥ ३७॥

तेषा मनुतापः कथ मभूदिति तत्राऽऽह **दृष्ट्वेति** ॥ ३८॥

किमाकारोऽसौ इति तत्राऽऽह **धिगिति**। ततो जन्मादिकं धिक् कुत्सितम्। "धिक् भर्त्सने कुत्सने (वैज.को. 8-7-5) इति च॥ ३९॥

**नूनं भगवतो माया योगिना मपि मोहिनी।**
**यद्वयं गुरवो नृणां स्वार्थे मुह्यामहे द्विजाः ॥४०॥**

**अहो पश्यत नारीणा मपि कृष्णे जगद्गुरौ।**
**दुरन्तभावं योऽ विध्य न्मृत्युपाशा न्गृहाभिधान्॥४१॥**

**नाऽऽसां द्विजाति संस्कारो न निवासो गुरावपि।**
**न तपो नाऽऽत्म मीमांसा न शौचं न क्रिया श्शुभाः ॥४२॥**

**अथाऽपि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे।**
**भक्तिर्दृढा न चाऽस्माकं संस्कारादिमता मपि॥४३॥**

**ननु स्वार्थविमूढानां प्रमत्तानां गृहेहया॥**
**अहो न स्स्मारयामास गोपवाक्यै स्सतां गतिः ॥४४॥**

**अन्यथा पूर्णकामस्य कैवल्या द्याशिषां पतेः।**
**ईशितव्यैः किमस्माभि रीश स्यैत द्विडम्बनम्॥४५॥**

1. A,M,Ma मायिना° 2- -2. M,Ma यश्छिन्द्या° 3. M,Ma आसां 4. V च 5. T,V,W त° 6. T,V,W °गी° 7. K,T,W स हि।

**श्रीध० अहो** इति। योऽविध्यत् अच्छिनत् तं दुरन्तं भावं भक्तिं पश्यतेति॥ ४०, ४१॥

**नेति**। द्विजातिसंस्कारः उपनयनम्। क्रियाः सन्ध्योपासनादयः ॥ ४२ - ४५॥

1. P,V °यः।

**वीर०** भगवन्माया तरण हेतुः तद्भक्तिरेव, न तु उक्तजन्मादय इत्यभिप्रायेणाऽऽहुः **नून मिति** द्वाभ्याम्। नूनं योगिना[1] मपि मोहिनी, यत् यस्मात् वयं द्विजा अपि उक्तजन्मदिमन्तोऽपि, तत्राऽपि नृणां गुरवोऽपि स्वार्थे स्वहिते विषये मुह्यामहे। भगवन्मायया मोहिता एवेत्यर्थः ॥ ४० ॥

अहो नारीणा मपि उक्तजन्मादिमध्ये केनाऽपि रहिताना मपीति भावः। कृष्णे दुरन्तभाव मनवधिक भक्तिं पश्यत। यो दुरन्तभावः गृहाभिधान् मृत्युपाशान् भगवनन्मायाप्रयुक्तान् अविध्यत् अच्छिनत् तं दुरन्तभावं पश्यतेत्यन्वयः ॥ ४१ ॥

द्विजा अपि, नारीणा मपीत्यनेन अभिप्रेतं स्पष्टयन्ति **नाऽऽसा मिति** द्वाभ्याम्। आसां नारीणां न द्विजाति संस्कारः नोपनयनान्त संस्कारः, न च गुरुकुलवासः नाऽपि तप आदयः। आत्ममीमांसा देहविलक्षण प्रत्यगात्मविचारः। क्रियाः सन्ध्योपासनादिरूपाः। अथाप्येषा मभावेऽपि कृष्णे दृढा भक्ति र्विद्यते। द्विजाति संस्कारादि मतामप्यस्माकं सा न विद्यते॥ ४२,४३ ॥

अस्माकं विवेकोदयार्थ मेव भगवतो याच्ञा। अन्यथा सा[2] अवाप्त समस्तकामस्य असङ्गते त्याहुः स इत्यादिभि स्त्रिभिः। गृहेहया गृहव्यापारेण प्रमत्तानाम् अत एव स्वहितेऽपि विमूढाना मप्यस्माकं अहो सतां गतिः, हेतुगर्भ मिदम्, सतां गतित्वात् गोपवाक्यैः स्मारयामास। साधुपरित्राणार्थ मवतीर्णं निरतिशय पुरुषार्थस्वरूप मात्मानं याच्ञाव्याजेन स्मारयामासेत्यर्थः ॥ ४४ ॥

**अन्यथेति।** कैवल्यादी त्यादिशब्दो भोग मोक्षसङ्ग्राहकः। कैवल्यादि पुरुषार्थदस्य ईशस्य सर्वनियन्तुः ईशितव्यैरस्मांभिः किम्? न किञ्चित्प्रयोजन मित्यर्थः। अत एव तद्याचनं विडम्बन मनुकरण मात्रम्। तात्पर्यन्तु अस्म दनुजिघृक्षाया मितिभावः ॥ ४५ ॥

1. A,B,T,W मायिना° 2. K असौ

**विज०** शास्त्रज्ञान मप्रयोजकम्, प्राप्ते काले फलाभावात् अतो भगव दनुग्रह एव वरीया नित्याशयेनाऽऽहुः **नून मिति।** मायिनां ज्ञानिना मपि अत्र हेतुमाह यद्वय मिति। गुरवो द्विजातय इत्येतद्द्वयं मोहासम्भवे हेतुः ॥ ४० ॥

दुरन्तभावं अव्यवहित भक्तिं गृहाभिधानान् मृत्यु पाशान् छिन्द्यात् छिनत्ति॥ ४१ ॥

आसां स्त्रीणां द्विजाति संस्कारः उपनयन लक्षणः गुरौ गुरुकुल निवासो विद्याऽध्ययनार्थ मिति शेषः। आत्ममीमांसा ब्रह्मविचारः शौचं बाह्याभ्यन्तर शुद्धिः शुभाः क्रिया यागादि लक्षणाः ॥ ४२ - ४४ ॥

अन्यथा स्मारयितृत्वेनाऽपि। तर्हि स्त्रीणां किमर्थं कृत मिति, तत्राऽऽह ईशस्येति॥ ४५ ॥

हित्वाऽन्यान् भजते यं श्रीः पादस्पर्शाशया सकृत्।
स्वात्म[1] दोषापवर्गेण तद्याच्ञा जनमोहिनी॥४६॥

देश[2-]ः कालः पृथग्द्रव्यं[-2] मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नयः।
देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्म[3]श्च यन्मयः॥४७॥

स एव[4] भगवान् साक्षा द्विष्णु र्योगि[5]श्वरेश्वरः।
जातो यदु[6-]ष्वित्याश्रुत्य[-6] अपि[7] मूढा न विद्महे॥४८॥

★ नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाऽकुण्ठमेधसे।
यन्मायामोहितधि[8]यो भ्रमामः कर्मवर्त्मसु॥४९॥

स वै न आद्यः पुरुषः स्वमायामोहितात्मनाम्।
अविज्ञातानु भावानां क्षन्तुमर्हत्यतिक्रमम्॥५०॥

इति स्वाद्य[9] मनुस्मृत्य कृ[10]ष्णे ते कृत हेलनाः।
दिदृक्षवोऽ[11]प्यच्युतयोः कंसाद्भीता न चाऽचलन्॥५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे त्रयोविंशोऽध्यायः॥२३॥

1. A,B,G,J आत्म 2- -2. M,Ma देशकालपृथग्द्रव्य 3. T,V,W °ध° 4. A,B,G,J,M,Ma एष 5. T,V,W °गी° 6- -6. A,B,G,J यदुष्वित्यशृण्म; M,Ma भुवीति शृण्वाना 7. A,B,G,J,V ह्य°; M,Ma ये वि° ★ अहो वयं धन्यतमा येषां न स्तादृशीः स्त्रियः। भक्त्या यासां मति र्जाता अस्माकं निश्चला हरौ। This above additional verse is found in A,B,G & J Edns. 8. M,Ma दृशो 9. M,Ma कृष्ण° 10. M,Ma विप्राः 11. A व्रजमथ; K °ऽपि स्वस्थानात्

**श्रीध० हित्वेति।** स्वात्म[1]दोषापवर्गेण चाञ्चल्य गर्वादित्यागेन॥४६, ४७॥

स इति। इत्यशृण्म। एवं सर्वत्र श्रुतवन्तो वयं हि, तथाऽपीति॥४८ - ५०॥

**इतीति।** नचाऽचलन्, तयो र्दर्शनाय न जग्मुः[2] ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

1. A,B,J आत्मनो 2. A adds इत्यर्थः ॥

**वीर०** पूर्णकामत्व मेव व्यञ्जयितु माहुः **हित्वेति।** श्रीः महालक्ष्मीः अन्यान् ब्रह्मादीन् हित्वा यं कृष्णं सकृदपि पादस्पर्शेच्छया स्वात्मदोषापवर्गेण चञ्चलत्वरूपस्वदोषप्रहाणेन भजते। एवं श्रियाऽप्यनुवर्त्यस्य पूर्णकामत्वं किमु वक्तव्य मिति भावः। अतः तस्य एवम्भूतस्य याच्ञा केवलं जनमोहिनी जनाना मश्रुतावताराणा मात्ममहिमाच्छादनी श्रुतावताराणा मस्माकं[1] तु तत्स्मारिणीति भावः ॥ ४६ ॥

श्रुतावतारणामप्यस्माकन्तावत्[2] विमोहिन्येवाऽभूत्, किमुत, अश्रुतावताराणा मित्यभि प्रायेणाऽऽहुः **देश** इति द्वाभ्याम्। देशादयो यन्मयाः स एव भगवान् साक्षा द्यदुषु जातोऽवतीर्ण इत्याश्रुत्याऽपि तावन्न विद्महे न विज्ञातवन्तः[3] स्मः ॥ ४७, ४८ ॥

इत्थ मनुतप्ताः प्रणाम मन्तरेण स्वापराधक्षमानिमित्त मनुपलभमाना नमस्कुर्वाणाः क्षमापयन्ति **नम इति** द्वाभ्याम्। अज्ञानकृत मपराधं जानात्येवेत्यभिप्रायेण विशिंषन्ति अकुण्ठमेधस इति। अप्रतिहता मेधा धिषणा यस्य तस्मै। "नित्य मसिच् प्रजा मेधयोः (अष्टा. 5-4-112) इत्यसिच्। स्वयन्त्वकुण्ठमेधाः, वयं तन्माया मोहितधियः। अतः क्षन्तु-मर्हतीत्येवेत्यभिप्रायेणाऽऽहुः यन्मायेति। कर्मवर्त्मसु तद्भक्ति विधुरेषु केवलं यज्ञादि कर्ममार्गेषु भ्रमामः। पुरुषार्थसाधनबुद्धिं कुर्मः। यद्वा "ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम्" (भ.गी.9-21) इत्याद्युक्तविधगमनागमनमार्गेषु पुण्यपापात्मक कर्मायत्त स्वर्गनरकादिमार्गेषु वा भ्रमामः ॥ ४९ ॥

अत स्त्वन्मायया मोहितचित्तानाम् अत एव अविज्ञातोऽनु भावो महिमा यै स्तेषां नोऽस्माकं व्यतिक्रम मपराधं क्षन्तु मर्हति ॥ ५० ॥

इत्थं तावत् कृष्णे विषये कृतं हेलन मपराधो यैस्तथाभूताः शनैः स्वकृत मपराध मनुस्मृत्य ततस्तं श्रीकृष्णं[4] द्रष्टु मिच्छवोऽपि कंसाद्भीताः स्वस्थाना न्न चलितवन्तः। द्रष्टुं न जग्मुः। किन्तु तं ध्यायन्तः स्वस्थान एव तस्थुः ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

1. A,B °मप्यस्माकं 2. T,W omit अपि 3. A,B omit वि 4. K,T,W omit श्रीकृष्णं

**विज०** स्वात्मदोषापवर्गेण अन्यत्र चञ्चलत्वादिस्वकीयदोषपरित्यागेन स्थैर्यस्वभावेनेत्यर्थः ॥ ४६ - ५० ॥

अथापि अनुतप्तापि हरि दिदृक्षवो द्रष्टुकामाश्च नाचलन् नागच्छन्। कुतः ? कंसाद्भीता इति ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

(श्रीविजयध्वजरीत्या एकविंशोऽध्यायः)

# चतुर्विंशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या द्वाविंशोऽध्यायः)

### -: इन्द्रयागभञ्जन गोवर्धनाचलोद्धरणघट्टः :-

श्रीशुक उवाच

भगवानपि तत्रैव बलदेवेन संयुतः
अपश्यन्निवसन्गोपानिन्द्रयागकृतोद्यमान्॥ १॥

तदभिज्ञोऽपि भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः।
प्रश्रयावनतोपृच्छद्वृद्धान्नन्दपुरोगमान्॥ २॥

कथ्यतां मे पितः! कोऽयं सम्भ्रमो व उपागतः।
किं फलं? कस्य चोद्देशः? केन वा साध्यते? मखः[1]॥ ३॥

एतद्ब्रूहि महान्कामो मह्यं शुश्रूषवे पितः।
न हि गोप्यं हि साधूनां कृत्यं[2] सर्वात्मना मिह[3]॥ ४॥

अस्त्यस्वपरदृष्टीनाममित्रोदास्तविद्विषाम्[4]।
उदासीनोऽरिवद्वर्ज्य आत्मवत्सुहृदुच्यते॥ ५॥

1. V °घ° 2. M,Ma कीर्त्यं 3. M,Ma त्विह° 4. A,K,T,W अस्त 5. M,Ma °दास°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुर्विंशे महेन्द्रस्य मखं व्यावर्त्य हेतुभिः।
कृष्णः प्रवर्तयामास गोवर्धनमहोत्सवम्[1]॥
भूसुराणां क्रियागर्वं निरस्य स्वस्सुरेषु च।
मघवन्मदभङ्गाय[2] तन्मखं समवारयत्॥

**भगवानिति।** ब्राह्मणाः कंसाद्भीताः स्वाश्रमस्था एव भगवन्तमभजन्। भगवानपि तत्रैव निवसन् इन्द्रयागकृतोद्यमान् गोपानपश्यदिति सम्बन्धः॥ १,२॥

**कथ्यतामिति।** वृथासम्भ्रमो न भवति। मखोऽयमिति[3] चेत् किमत्र फलं, का देवता, केन वाऽधिकारिणा[4], केन वा साधनेन साध्यते॥ ३॥

**एतदिति।** एतद्ब्रूहि महान्कामो मम श्रवणे वर्तते। यद्वा तव महान्कामो दृश्यत इति तूष्णीं स्थितं प्रत्याह- नेति सर्वात्मनां सर्वत्रात्मदृष्टीनाम्॥ ४॥

**अस्तीति।** अत एव न विद्यते स्वः पर इति दृष्टिर्येषामिति[5]। स्वपरदृष्ट्यभावादेव[6] न[7-] तद्भवामित्रादयोऽपि एषां सन्तीत्याह[-7] - अमित्रेति। न मित्रम् उदास्त उदासीनो विद्विड्येषां तेषां कृत्यं सर्वकर्म[8] न[9] गोपनीयं किञ्चिदस्ति इ[10-] ति पूर्वेणान्वयः[-10]। सत्यपि भेद दर्शने उदासीनः शत्रुवद्वर्ज्य आत्मतुल्यत्वात् सुहृत्[11] न वर्जनीय इत्याह उदासीन इति॥ ५॥

1. A,B,J °खो° 2. P,V °ख 3. A,B,J add एवं 4. A,B,J omit वा 5. P,W omit इति 6. P,V स्वः पर इतिह° 7- -7. A,B,J तत्तद्भेदा अमित्रादयोऽपि तेषां न सन्तीत्याह - 8. P,V omit सर्वं 9. A adds एव 10- -10. A,B,J इत्यर्थः 11. A,B,J add मन्त्रेषु

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ इन्द्रप्रीतिकरयागभञ्जनं ततस्सङ्क्रुद्धेन्द्रचोदितमहावातवर्षपीडित शरणागतव्रजवासिरिरक्षिषोपयुक्त गोवर्धना चलोद्धरणात्मकं भगवच्चेष्टितमनुवर्णयति[1] द्वाभ्यामध्यायाभ्याम् **भगवानिति।** तत्रैव बृन्दावन एव निवसन् इन्द्रयागार्थं कृत उद्यमः प्रयत्नो यैस्तान् गोपानपश्यत्॥ १॥

सर्वात्मा सर्वदर्शनश्चेति च हेतुगर्भम्। अतस्तदभिज्ञोऽपि उद्यमस्य इन्द्रयागार्थत्वं जानन्नपि अज्ञ इव अवनतो नम्रः नन्द प्रभृतीन् वृद्धानपृच्छत्॥ २॥

प्रश्नप्रकारमेवाह - कथ्यतामिति। हे पितः। वो युष्माकं कः सम्भ्रमः उपस्थितः सम्भ्रमो न भवति मखोऽयमित्यत्राह किं फलमिति। मखश्चेत्किमत्र फलम्। कस्य सम्बन्धी उद्देशः का देवतेति प्रश्नः, केन साधनेन साध्यते इति साधनप्रश्नः॥ ३॥

हे पितः श्रोतुमिच्छवे मह्यमेतन्मत्पृष्टं ब्रूहि। अत्र महान्कामः शुश्रूषा वर्तते, गोप्यत्वाद्वक्तुं श्रोतुं च न योग्यमित्याशङ्कां निराकरोति - **न हीति।** साधूनां कृत्यं न हि गोप्यम्। तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि। सर्वात्मनां सर्वेप्यात्मान आत्मतुल्या येषां ज्ञानैकाकारत्वेन सर्वेऽप्यात्मान एकरूपा एवेति जानतामित्यर्थः॥ ४॥

अस्तस्वपरदृष्टीनाम् अस्ता रहिता स्वपरेषु स्वपराभिमतदेहेषु दृष्टिः युष्मदस्मद्दर्शनं येषां देहात्मनोर्याथात्म्यज्ञानमित्यर्थः। अत एव मित्रोदासीनशत्रुरहितानां न हि समदर्शिनां गोप्यमस्तीति भावः। विषमदर्शिनामपि सुहृद्विषये न गोप्यमस्तीत्याह

उदासीन इति। अरिवदुदासीनोऽपि वर्ज्य एव, अनेनोदासीनामित्रयोः गोप्यश्रवणनिषेध[2] उक्तः। सुहृत्तु आत्मवत्स्वतुल्य उच्यते। अतस्सुहृदहं श्रोतुं योग्य एवेति भावः॥५॥

1. T,W omit भगवत् 2. A,B प्रति

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

स्वमहिमानं प्रकटयितुमुत्पथवर्ती पुरुषः सन्मार्गोपदेशेन शिक्षणीय इति शास्त्रशासनं पश्यन् कृष्णः सन्मार्गं दर्शयितु मुपक्रमत इत्याह शुक इति। तत्र व्रज एव निवसन्॥१॥

सर्वात्मा सर्वदर्शन इत्येतद्द्वयं तदभिज्ञत्वे हेतुः। प्रश्रयः सेवाशीलता॥२॥

कोऽयम्? किं विषयः? मखविषयश्चेत्तत्राह किं फलमिति। दृष्टम् उत अदृष्टं फलं, यद्वा किमर्थं सम्भ्रमः। अस्य सम्भ्रमस्य किं फलं साध्यं, मखश्चेत् अत्राह कस्येति। कां देवतामुद्दिश्य द्रव्यत्यागलक्षणः, केनाधिकारिणा हेतुना वा॥३॥

तदेतत्पृष्टं सर्वं मह्यं ब्रूहि, किमर्थं? महान्कामः, मम तस्मिन्कार्ये महत्याकाङ्क्षावर्तते। तुशब्दो भेदार्थः। इह वाच्यव्यवहारविशेषे यत्सर्वात्मना कीर्त्यं वक्तुं योग्यं तत्साधूनां गोप्यं न हि, कुत इत्थं सङ्कल्प्यत इत्यतः प्रसिद्धत्वादित्याह हीति॥४॥

कथमेतदवगतमिति तत्राह **अस्तीति**। निरस्तस्वकीयपरकीय बुद्धीनां शात्त्वादिसद्भावेऽयं विशेषो दुर्घट इति तत्राह- अमित्रेति। न विद्यते मित्रं उदासीनः विद्विट् येषां ते तथा तेषां मित्रादिविशेषाभावात् स्वकीयत्वादिबुद्ध्यभावेन साधूनां गोप्यं नास्तीति प्रसिद्धमेवेत्यर्थः। ननु चेतनानां चित्तस्य प्रमितत्त्वेन साधूनां मित्राद्यभाववचनं कण्ठोपरिगतवदौपचारिकं "परोक्ष प्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः" (बृह.उ. 4-2-2) इति श्रुतेः। "षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः" (सुबा. 27-18) इति स्मृतेः। अतः कथं गोप्यं नास्तीत्याशङ्क्य योग्यतातिरेकेण मित्रादिकं नास्तीति तत्वं, न तु सर्वात्मना, अतो गोप्यं नास्त्येवेति शत्रुः सर्वथा वर्ज्यः मित्रविषये उदासीनोपि तथा तस्य शत्रौ कथनसम्भवादरिवदसुद्धद्वर्ज्यः आत्मवत्सुहृदवर्ज्य इत्यभिप्रायेणाऽऽह उदासीन इति। अतः त्वत्सुहृत्वाद्गोप्यमपि मह्यं ब्रूहीति भावः॥५॥

**ज्ञात्वा ज्ञात्वा च[1] कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति[2]।**
**विदुषः कर्मसिद्धिस्स्यात् यथा[3] नाऽविदुषो भवेत्॥६॥**

तत्र तावत्क्रियायोगो[4] भवतां[5] किं विचारितः[6] ?
अथवा लौकिकस्तन्मे[7] पृच्छतस्साधुभण्यताम्[8] ॥ ७॥

नन्द उवाच

पर्जन्यो भगवानिन्द्रो मेघास्तस्यात्ममूर्तयः ।
तेऽभिवर्षन्ति[9] भूतानां प्री[10-] णनं जीवनं पयः[-10] ॥ ८॥

तं[11] तात वयमन्ये च वार्मुचां पतिमीश्वरम् ।
द्रव्यैस्तद्रेतसा सिद्धैः यजन्ते[12] क्रतुभिर्नराः ॥ ९॥

तच्छेषेणोपजीवन्ति त्रिवर्गफलहेतवे[13] ।
पुंसां[14] पुरुषकाराणां पर्जन्यः फलभावनः ॥ १०॥

1. K,T,W हि 2. M,Ma ते 3. A,B,G,J तथा 4. M,Ma °गा 5. M,Ma भवता 6. M,Ma °ताः 7. M,Ma °का° 8. K,T,V,W फ 9. M,Ma,T,Wअभि° 10- -10. M,Ma प्राणनं जीवनं; K,T,W जीवनं प्राणनं; V प्राणसञ्जीवनं 11. A,M,Ma तत्तात; T,V,M तं तथा 12. A °न्ति° 13. V सिद्धये 14. A पुंसः

**श्रीध०** किञ्च सुहृद्भिः सह विचार्य ज्ञात्वैव कर्म कर्तव्यं, न तु गतानुगतिकत्वमात्रेणेत्याह[1] - **ज्ञात्वेति**। अज्ञात्वा च। तत्र विदुषो यथावत्कर्मफलं स्यात्तथा नाविदुषः ॥ ६॥

**तत्रेति**। भवतामयं क्रियायोगः शास्त्रतः[3] किं विचारितः प्रवृत्तो लौकिकाचार[4] प्राप्तो वेति। साधु सोपपत्तिकं भण्यतां[5] कथ्यतामिति ॥ ७॥

आचारप्राप्त ऐवेति सहेतुकमाह - **पर्जन्य** इति। आत्ममूर्तयः प्रियमूर्तयः ॥ ८॥

ततः किमित्यत[6] आह - **तमिति**। तमिन्द्रं वार्मुचां मेघानां प[7-] तिं स्वामिनमीश्वरं नियन्तारम्[-7] । तद्रेतसा तद्वृष्टिपयसा ॥ ९॥

**तदिति**। उपजीवन्ति[8] जीविकां कल्पयन्ति धर्मार्थकामसिद्धये। ननु कृष्यादिभिर्जीवन्ति, किमिन्द्रेणेत्यत्राह[9] पुंसामिति। फलभावनः फलसाधकः। पर्जन्यं विना कृष्यादि वैफल्यादित्यर्थः ॥ १०॥

1. P,V omit °त्व° 2. A,B,J त° 3. A,B,J add अपि 4. A,P,V °क आ° 5. P,V फ° 6. P,V किमत 7- -7. P,V omit 8. A,B,J add प 9. A,B,J °ण तत्राह

**वीर०** किञ्च सुहृद्भिस्सह ज्ञात्वा ज्ञात्वा पुनः पुनर्विचार्यैवायं लौकिको जनः कर्माण्यनुतिष्ठतीति लोकपरिपाटी प्रदृश्यते। गातानुगतमात्रेणानुष्ठाने त्वन्धपरम्पराप्रसङ्गः इति भावः। किञ्च यथा विदुषः कर्मसिद्धिः नाऽविदुषस्तथा भवेत्॥ ६॥

तत्रैवं सति भवतामयं क्रियायोगः किं[1-] विचारितः[-1]? सुहृद्भिः शास्त्रतः किं विचारित इत्यर्थः। आहोस्वित् केवलं लौकिक एव आचार प्राप्त एव। भ्रान्तिमूलकोऽप्याचारोऽऽस्तीति भावः। तदेत्पृष्टं साधु यथा भवति[2] तथा पृच्छतो मम फण्यतां कथ्यताम्॥ ७॥

आचारप्राप्त एवेति वदन् तस्य कर्तव्यत्वं सहेतुकमाह नन्दः पर्जन्य इ[3-]त्यादिभिश्चतुर्भि[-3]ः। पर्जन्यो वर्षाधिदेवता, सा च इन्द्र एव। यद्यपि "अष्टौ मासान्निपीतं यद्भूम्यामुदमयं वसु। स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते" (भाग.10-20-5) इत्यादिषु पर्जन्यस्सूर्य इति प्रतीयते। तथाऽपि इन्द्रशासनानुवर्तिमेघद्वारकं तस्य वर्षकत्वमित्यविरोधः[4]। अस्त्विन्द्रः पर्जन्यः, ततः किमत आह मेघास्तस्येन्द्रस्याऽऽत्ममूर्तयः स्वशरीरतुल्याः तद्वन्नियाम्या इत्यर्थः। ते च मेघाः भूतानां जीवानां जीवनं प्राणधारणसाधनभूतं प्राणनमाप्यायकं प्राणाप्यायनद्वारा तद्धारणसाधनं पयः जलं वर्षन्ति॥ ८॥

ततोऽपि किमित्यत्राह - **तमिति।** हे तात तं वार्मुचां मेघानां पतिं पालकमीश्वरं नियन्तारञ्चेन्द्रम् अस्मत्प्रभृतयः सर्वे नराः तस्य इन्द्रस्य रेतसा रेतःस्थानीयेन जलेन सिद्धैः नानाविधैः द्रव्यैः द्रव्यसाधनकैः क्रतुभिर्यजन्ते॥ ९॥

एवमिष्ट्वा तच्छेषेण या[5-]गावशिष्टेन[-5] द्रव्येणोपजीवन्ति ज[6-]ना इति शेषः[-6]। जीविकां कल्पयन्ति। किमर्थम्? त्रिवर्गफल हेतवे धर्मार्थकाम[7]हेतवे[8] तं यजन्तीत्यन्वयः। त्रिवर्गफलहेतवे उपजीवन्तीति वा, एवमिन्द्रयागावशिष्टेन जीवनं ततस्त्रिवर्गसिद्धिः इत्युक्तम् ननु वृद्ध्यादिभिरुपजीवनं ततः त्रिवर्गसिद्धिरिति किमिन्द्रेणेत्यत आह - पुंसामिति। पुरुषं कुर्वन्ति त्रिवर्गफलयुक्तं कुर्वन्तीति पुरुषाकारास्त्रिवर्गप्रापका इति यावत्, तेषां मध्ये पर्जन्य इन्द्रएव पुंसां फलभावनः फलप्रापकः स्वायत्तवृष्ट्यादिद्वारेति भावः॥ १०॥

1- -1. T,W omit 2. T,W omit भवति 3- -3. T,W इति। 4. A,B °र्षु° 5- -5. A,B यागविशिष्ट°; T,W यागविशिष्टेन 6- -6. T,W omit 7. T,W फल 8. A,B add सिद्धये 9. A,B त्रै°

**विज०** अस्तु तव वक्तव्यं अथाप्यस्माकं फलज्ञानाभावेऽपि सन्ध्योपासनादिवदनुष्ठानं घटत इत्याशङ्क्य, सत्यं ज्ञानाभावे युष्माकं फलप्राप्तिः न स्यादित्याह - **ज्ञात्वेति।** कश्चित् ज्ञात्वाऽनुतिष्ठते कश्चिदज्ञात्वा। तत्र विदुषः कर्मसिद्धिः अनुष्ठानफलं स्यात्, अविदुषः कर्मानुष्ठानमजानतः पुंसः यथावत्फलं न भवेत्। मन्त्रावृत्त्या द्रव्यसम्पत्या च ऋत्विगनुगुणेन वा किञ्चित्सम्भवेऽपि पूर्णफलं न स्यादित्यर्थः यथाऽविदुषो न स्यात् तथा विदुष इति वा॥ ६॥

अस्त्वन्यत्र प्रकृते किमिति तत्राह **ततेति**। तत्र देवता कर्मणां मध्ये तावत् प्रथमं क्रियायोगाः कर्मानुष्ठानप्रकाराः लौकिकवृद्धव्यवहारादवगताः गतानुगतवद्वा॥७॥

पर्जन्यशब्दस्य गर्जन्मेघेऽपि वर्तनात्तद्वचावृत्यर्थं इन्द्र इति। तर्हि इन्द्रइत्येवालमिति चेन्न। अस्य पर्जन्यशब्दस्य मेघाभिमानित्व विशेषद्योतनार्थत्वात्, तत्कथमत्राह - मेघा इति। आत्मवत् देहवन्मूर्तयः देहाः स्वदेहो यथाऽभिमन्यमानत्वेन प्रेष्ठः तथा मेघा अपीति भावः। मेघैः किं प्रयोजनं लोकस्य, इत्याशङ्क्य 'मिह सेचने' इति धातु निष्पन्नमेघशब्दार्थसूचनपूर्वकं तत्प्रयोजनमाह - अभिवर्षन्तीति। प्राणनं चेष्टाकरणं जीवनं शरीराप्यायनं, अनेन प्राणशब्दविवरणं कृतम्। प्राणिनामिति पाठे पयसो गतेः हेतुत्वेन पयश्शब्द वाच्यत्वे जलस्य 'पयगतौ' इति धातोरर्थः॥८॥

यतो मेघा लोकोपकारिणः तत्तस्मात् वार्मुचां जलदानां मेघानामित्यर्थः। इश्वरं अयष्टृणां शिक्षणसमर्थं तेषां मेघानां रेतसा रतिकरलक्षणेन जलेन सिद्धैः उत्पन्नैः अन्येच नराः॥९॥

तच्छेषेण इष्टावशिष्टेन त्रिवर्गफल हेतवे धर्मार्थकामलक्षणपुरुषार्थ सिद्धये पुरुषकाराणां पराक्रमसिद्धकर्मणां फलभावनः फलसाधकः॥१०॥

**य एवं[1] विसृजेद्धर्मं पारम्पर्यागतं नरः।**
**कामाल्लोभाद्भयाद्द्वेषात् स वै नाऽऽप्नेति शोभनम्॥११॥**

**श्रीशुक उवाच**

**वचो निशम्य नन्दस्य तथाऽन्येषां व्रजौकसाम्[2]।**
**इन्द्राय मन्युं जनयन् पितरं प्राह केशवः॥१२॥**

**श्री भगवानुवाच**

**कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रलीयते[3]।**
**सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते[4]॥१३॥**

**अस्ति चेदीश्वरः कश्चित्फलरूप्यन्यकर्मणाम्[5-]।**
**कर्तारं भजते सोऽपि नह्यकर्तुः[6] प्रभुर्हि सः॥१४॥**

**किमिन्द्रेणेह भूतानां स्वस्वकर्मानुवर्तिनाम्[7]।**
**अनीशो नाऽन्यथा कर्तुं स्वभावविहितं नृणाम्॥१५॥**

1. K,T,W एनं 2. K,T,W वनौ° 3. B,G वि; J नि 4. V व प्र 5- -5. K,T,W रूप्यस्यकर्मणाम्; M,Ma रूपस्सकर्मणः 6. V नह्यकर्तुं; T,W नार्हकर्तुः 7. V स्वंस्वं

**श्रीध० वच** इति। इन्द्राय मन्युं जनयन्निति। कोप जननद्वारा गर्वपर्वतादिन्द्रमवतारयितुं देवतानिराकरणं नतु अयमेव भगवतोभिप्राय[1] इत्यर्थः ॥ ११, १२॥

प्रथमं तावत् कर्मवादेन देवान्निराकरोति - **कर्मणेति**। ननु जडात्कर्मणः केवलात्कथं फलसिद्धिः स्यात्[2] अहो अपरिशीलितमीमांसानां[3] स्वमतिविलसित श्रद्धा कर्मणः[4] फलकरत्वे[5] वचनतोऽवगते किं ततोऽनुपपन्नं नामेति[6] भावः ॥१३॥

केचित्पुनः अतिसाहसाद्भीताः कर्म परतन्त्रमीश्वरं मन्यन्ते तन्मतमनूद्य निराकरोति - **अस्ति चेदिति**। स्वयं कर्मभिः[7] लिप्तोऽन्येषां जीवानां कर्मणां फलरूपी फलदाता सोऽपि कर्तारं भजते[9] तत्तत्कर्मफलदानेन॥ १४॥

अतः कर्मण एव फलसिद्धेः तत्पारतन्त्र्ये च अजागलस्तन तुल्यत्वान्न देवतया कृत्यमित्याह किमिन्द्रेणेति। ननु कर्मणोऽपि प्रवृत्तिरन्तर्याम्यपेक्षैव कथं सर्वथा देवताया अनुपयोग इत्याशङ्क्याह - स्वभावविहितमिति। स्वभावेन प्राक्तन संस्कारेणैव विहितं यत्कर्म तदन्यथाकर्तुमनीशेन॥ १५॥

1. A,B,J omit भगवतः 2. A,B,J add इति चेत् 3. A,B,J omit परि 4. A,B,J °णा° 5. A,B,J कारणत्वे; P. करणत्वे 6. A,B,J omit इति भावः 7. A,B,J °भिर° 8. A,B,J omit सोऽपि 9. P,V omit तत्

**वीर०** अतः तदाराधनात्मकमिदं वृद्धाचार परम्पराप्राप्तं यः पुमान् कामाद्यन्यतमाद्धेतोः त्यजेत्, स शोभनं सुखं नाप्नोति। किन्तु दुःखमेव इति[1] भावः ॥ ११॥

इत्थं नन्दस्य[2-] तथा अन्येषां गोपानामपि[-2] वचो निशम्य भगवानिन्द्राय मन्युं जनयन् क्रोधजननद्वारा गर्वं वारयितुं नन्दं प्राह॥ १२॥

यदुक्तं 'पर्जन्यः फलभावनः' (भाग 10-24-10) इति तत्प्रतिक्षेप्तुकामस्तावत् ईश्वराराधनभूतकर्मणामवश्यकर्तव्यतां वक्तुकामः फलसाधनत्वव्युदासाय प्राधान्येन पुण्यपापकर्मणां सुखदुःखादि हेतुत्वमाह **कर्मणेति**। सुखम् ऐहिकम्। क्षेमं पारलौकिकम्। जायते प्रलीयत इति दृष्टान्तार्थम्। यथा कर्मणैव हेतुना जायते प्रलीयते च तथा सुखं[3-] दुःखं[-3] च कर्मणैव प्राप्नोति। एवकारेण केवल देवतानिरासो गूढमभिसंहितः ॥ १३॥

ननु क्षणिकस्य जडस्य च कर्मणः कथं कालान्तरभाविविचित्रफलहेतुत्वम्? न त्वपूर्वद्वारा तस्य स्थिरत्वेऽपि जडत्वाविशेषात्। अतः "तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पुशभिस्तर्पयति" इत्याद्युक्तरीत्या कर्मजनितनिग्रहानुग्रहवती देवतैव सुखदुःखादि हेतुः तत्राऽऽह - **अस्तिचेदिति**। अस्य कर्तुः कर्मणां फलं रूपयति कल्पयतीति तथा फलदाता कश्चिदीश्वरोऽस्ति चेत्तर्हि

हे पितः ! सोऽपि[4] ईश्वरः कर्तारमेव भजते यस्स्वाराधनरूपं कर्मानुतिष्ठति तमेवानुवर्तते, तस्मा एव फलं ददाति, न ह्यकर्तुः प्रभुः फलदः । एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां कर्मण एव फलसाधनत्वम्, ईश्वरस्य तत्तत्कर्मानुवर्तित्वेन तत्पारतन्त्र्यं चोक्तम्। कश्चिदीश्वरोऽस्ति चेदित्यनेन इन्द्रस्यानीश्वरत्वमभिप्रेतम् सम्भावितस्येश्वरस्यैकत्वं हि विवक्षितम्। अयं भावः - क्षणिकत्वा ज्जडत्वाच्च केवलकर्मणः फलदत्वं न सम्भवतीति दैवतैव फलदेति ब्रूषे, तर्हि सा किमिन्द्रवाय्वादिरूपेणानेका? उतैका[5] ? इन्द्रादीनां कार्यत्व[6] कर्मवश्यत्वदुःखित्वादेः प्रतिपन्नत्वेन फलदत्वासम्भवात्, न हि स्वदुःखनिराकरणेष्ट[7] साधनासमर्थस्यान्येष्टानिष्टप्रापणपरिहारसामर्थ्यम् अत इन्द्राद्यन्तर्याम्यकर्मवश्यो निस्समाभ्यधिकः कश्चिदीश्वर एकः फलदः, सोऽप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां कर्मानुवर्तित्वेन तत्परतन्त्र इति। न चैवमीश्वरस्य स्वातन्त्र्यादिभङ्गः जन्ममरणसुखदुःखादेः कर्मायत्तत्वेऽपीश्वरस्य पूर्वपूर्वकर्मवासनानुरोधेन जीवप्रेरकत्वात्तस्य मूलकारणत्वात् ईश्वरस्य हि स्वकेष्वपि व्यापारेषु स्वयं ज्ञानचिकीर्षा[8]प्रयत्नवत्वात्तत्कर्तृत्वम्। चेतनप्रवृतिहेतुत्वात् कारयितृत्वम् चेतनप्रवृत्ति हेतुत्वात् कारयितृत्वम्। स्वयं सर्वकार्यहेतुत्वेन सामान्यकारणत्वादुदासीनत्वम्। प्रवृत्तस्य चेतनस्योत्तरोत्तरं प्रवर्तकत्वादनुमन्तृत्वम्। सर्वव्यापारसाक्षात्कर्तृत्वात्साक्षित्वम्। विशेषकारणभूत तत्तत्कर्मसाहित्येनैव विशेष कार्य हेतुत्वा त्सहकारित्वम्। कर्मभिराराधितस्यैव फलहेतुत्वात्फलदत्वम्। चेतनशेषित्वात् तत्तच्चेतन फलोपभोगस्यापि स्वोपभोगशेषत्वात् फलित्वम्। कर्मानुरोधेनैव फलप्रदानादविषमत्वम्, सहकारिसन्निधिक्रमानुरोधेनैव परदुःखनिराचिकीर्षाशालित्वादनैर्घृण्यम् तत्तत्कर्मानुरोधेन निग्रहानुग्रहसद्भावेऽपि किञ्चिदनुकूल्यमवलोक्य निश्शेष निग्रह प्रणाशेन यावदात्मभाविमोक्षप्रदानादनुग्रहप्राबल्यम्। अत एव परमोदारत्वञ्चेत्यादि सर्वमुपपन्नमेव। तस्मादीश्वरस्य कर्मपारतन्त्र्य कथनमन्वय व्यतिरेकाभ्यां कर्मणः फलसाधनत्वाभावव्युदासार्थम्। न चैतावता ईश्वस्स्य फलदत्वव्युदासः। "कर्तारं भजते सोऽपि" इत्यनेन तस्यापि फलदत्वावगमात्। न चान्यतरसाधनत्वमन्यतरेण प्रतिबद्ध्यते कर्मणामीश्वरानुग्रहनिग्रहद्वारा सुखदुःखादिफलसाधनत्वादीश्वरस्य तु साक्षादिति विरोधाभावात्, चेदिति सम्भावनया ईश्वरास्तित्वे वादिविप्रतिप्रत्तिस्सूचिता। अस्तीति तदभ्युपगमेन तस्य कर्मानुवर्तित्वकथनेन च ईश्वरानभ्युपगमवादो धर्मिग्राहकमानविरुद्ध इति दर्शितम्॥ १४॥

तदेवमीश्वराराधनभूत कर्मणोऽवश्यानुष्ठेयत्वं फलितम्। ईश्वर इत्येकवचनेनेन्द्र वह्न्यादीनामनीश्वरत्वमवगतम्। तदेव व्यञ्जयन्नाह **किमिति।** स्वस्वकर्मानुवर्तिनां राजसादिस्वस्वभावानुगुण[9]पुण्यापुण्यात्मककर्मानुवर्तिनां भूतानाम् इन्द्रेण किम् ? स्वभावानुगुण कर्मणामेव सुखदुःखादि हेतुत्वे सति इन्द्रस्य न तद्धेतुत्वमिति भावः। स्वस्वकर्मानुवर्तिनामित्यनेन कर्मवैचित्ये तत्तत्कर्तृ स्वभाव वैचित्यमेव निमित्तमित्यभिप्रेतम्। ननुभूतानां स्वस्व कर्मानु वर्तित्वेऽपि स्वस्व कर्मजनितनिग्रहानुग्रहवानीश्वर एव फलद इति चेत् अस्त्वेवमीश्वर किमिन्द्रेणानीशेनेत्याह अनीशेनेति नृणां स्वभाव विहितं स्वभावानुगुण कर्मविहितं सुखदुःखादिकम् अन्यथा कर्तुं अप्रभुणा इन्द्रेण किम्? न कञ्चिदपीत्यर्थः। अन्यथा कर्तुमनीशेनेत्यनेन सर्वेश्वरस्तु साध्वसाधुकर्मकारयितृत्वद्वारा अन्यथा च कर्तुं प्रभुरिति सूचितम्॥ १५॥

1. A,B add प्राप्नोति 2- -2. T,W omit 3- -3. A,B सुखदुःखादि 4. T,W omit सोऽपि 5. A,B add नाऽधः 6. A,B add कर्मख 7. A,B °षुपादना° 8. A,B °र्षाया प्र° 9. A,B पुण्यपापात्मक

**विज०** विपक्षेबाधकमाह **य एवमिति।** कामाद्धुर्विषयाभिलाषात्, लोभाद्वित्तव्ययशङ्कया, भयात् राजभयात् द्वेषात् देवताद्वेषात्॥ ११॥

मन्युं क्रोधम्॥ १२॥

कर्मफलदातृत्वेन कर्मप्रेरयितृत्वेन कर्मशब्दवाच्यत्वेन च नारायण एव सर्वस्य कर्तेत्यभिप्रेत्य सर्वस्य कारणं कर्मैव इत्याह - **कर्मणेति** ॥ १३॥

ननु प्रवृत्तेर्बुद्धिपूर्वकत्वेन कर्मणोऽचेतनत्वेन तदयोगात् जगत्तदधीनमिति वक्तुं न युक्तं, किन्तु चेतनाधीनमेव चेतनोऽपि न देवदत्तवत्साधारणो भवति, अपि तु विशिष्ट एव कश्चिदिति श्रीकृष्ण हार्दानभिज्ञस्य नन्दगोपस्य मानसीं शङ्कां गूढभिसन्धिः परिहरति - **अस्ति चेदिति।** यदि कश्चिदीश्वरोऽस्तीति मतं तर्हि स ईश्वरः कर्मणः फलं सुखादिलक्षणं रूपयति अनुकूलं करोति ददातीति फलरुपः सहायकल्पः न स्वतन्त्र इत्यर्थः। एतदेव द्रढयति कर्तारमिति। फलरूपत्वेन प्रयोजकत्वात् जगतः तदधीनत्वमायातं इत्यतो वाऽऽह कर्तारमिति। स त्वदभिमत ईश्वरोऽपि कर्म कर्तारं भजते फलदातुत्वेनानुवर्तते ना कर्मकर्तारं कुत इत्यत आह नहीति। स ईश्वरः कर्माकर्तुः फलदाने प्रभुः समर्थो नहि कस्मात्सामर्थ्याभाव इत्यत्राह - हीति। उद्रेके कारणाभावात्॥ १४॥

अवान्तरेवरत्वमभ्युपगम्य इदमुदितम्। इदानीमीश्वर एव त्वदभीष्टो नापेक्षितः। वस्तुतस्तु स्वभावविहित कर्मण एव फलदातृत्वोपपत्रेः पयस्स्यन्दनादिवत् इत्याशयेनेश्वरमाक्षिपति किमिन्द्रेणेति। स्वस्माद्भावः सत्ता यस्य स तथा न पराधीन सत्ताकः यद्वा स्वतन्त्रो भावः स्वभावः तेन नारायणेन विहितं कथितं अन्यथा कर्तुमनीशेनासमर्थेन॥ १५॥

**स्वभाव तन्त्रोहि जनः स्वभावमनुवर्तते ।**
**स्वभावस्थमिदं सर्वं सदेवासुरमानुषम्॥ १६॥**

**देहानुच्चावचान् जन्तुः प्राप्योत्सृजतिकर्मणा ।**
**शत्रुर्मित्रमुदासीनः[1] कर्मैव गुरुरीश्वरः ॥ १७॥**

**तस्मात्[2]सम्पूजयेत्कर्म स्वभावस्थः[3] स्वकर्मकृत्[4] ।**
**अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम्॥ १८॥**

★ **आजीव्यैकतरं भावं यस्त्वन्यमुपजीवति[5] ।**
**नतस्माद्विन्दते क्षेमं जारं[6] नार्यसती यथा॥ १९॥**

**वर्तेत ब्रह्मणा विप्रो राजन्यो रक्षया भुवः ।**
**वैश्यस्तु वार्तया जीवेच्छूद्रस्तु द्विजसेवया॥ २०॥**

1. T,V W ऊ ° 2. M,Ma °त्सुपू° 3. V °तः ° 4. T,W °तः ★ This verse was been printed as 24th in M,Ma editions. The commentary on this by vijayadhvaja is printed here itself. 5. A,K,M,Ma धा° 6. A,T,W °रान्ना°

**श्रीध०** एतद्विवृणोति **स्वभावतन्त्र** इति। प्रवृत्तेः संस्काराधीनत्वात् किमन्तर्यामिणेत्यर्थः ॥ १६ ॥

तस्मात्स्वभावतो निष्पन्नस्य कर्मणा एव सर्वकारणत्वात् कर्मैव पूज्यमित्याह **देहानि**[1]ति सार्धेन॥ १७॥

**तस्मादिति।** संपूजयेत् सम्मानयेत्। ननु देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मकत्वात् कर्मणः, कथं देवतां विना सिद्धिरित्याशङ्क्य[2]ह-कर्माङ्गमात्रं देवतेति पक्षमुपसंहरन्निव। हेतुवादमाश्रित्य अन्यामेव देवतां समर्थयते। अञ्जसेति॥ १८॥

हेतु बलेनैव विपक्षे दोषमाह - **आजीव्येति।** उपजीवति सेवते॥ १९॥

स्ववृत्तिं वक्तुं दृष्टान्तत्वेन वर्णानां वृत्ति भेदमाह - **वर्तेतेति।** ब्रह्मणा वेदाध्य[3]यनादिना॥ २०॥

1. B,V नित्यादि 2. A,J,P,V omit आह 3. A,J °ध्यापना°

**वीर०** स्वस्वकर्मानुवर्तिनामिति स्वभावविहितमिति च भूतानां स्वस्वभावानुवर्तित्वं सूचितम्। तदुपपादयति - **स्वभावतन्त्र** इति। स्वभावस्थं सर्वं जगत् स्वभावानुगुणप्रवृत्तिमदित्यर्थः। अथवा जगदन्तर्भूतं देवादि वस्तु निस्स्वभावं नास्तीत्यर्थः। तथा च गीतं भगवता "नतदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्त्वं प्रकृतिजैमुक्तं यदेभिस्स्यात्त्रिभिर्गुणैः" (भ.गी.18-40) इति॥ १६॥

स्वभावमनुवर्तत इत्यनेन प्रवृच्याख्य कर्मणस्स्वभावानुवर्तित्वमुक्तम्। "कर्मणा जायते जन्तुः" (भाग. 10-24-13) इत्यनेन कर्मणोपि जन्मादि निमित्तत्वमुक्तम्। तदुभयमुपपादयन् कर्मैव बहु मन्तव्यमित्याह - **देहानिति।** जन्तुः जीवः कर्मणा स्वभावानुगुणेनेति शेषः। नानाविधान् कर्मानुरूपान् देहान्प्राप्य त्यजति, अरिमित्रादिकं च कर्मैव कर्मकृतमेवेत्यर्थः। ईश्वरः इन्द्रादिगतं सावधिकमीश्वरत्वमपि कर्मकृतमेवेति भावः॥ १७॥

यतः कर्मैव सुखदुःखादि हेतुः, तस्मात् स्वभावस्थः पुमान् स्वकर्मकृत् स्वस्वभावानु रूपकर्मशीलः कर्मपूजयेत् बहुमन्येत। कर्मेति द्वितीयान्तम् अहो! कर्मणो वैभवमितिश्लाघेतेत्यर्थः। किञ्च, वयं केवलं वनौकसः द्विजानामाशिषो गाः पर्वतं चोपजीवामः। ततस्त एव आराध्या इत्यभिप्रयन् अन्यथा सदृष्टान्तमनर्थमाह अञ्जसेति सार्धेन। येन अञ्जसा सुखं वर्तेत जीवेत्। तदेवास्य जिजीविषोः दैवतं दैवतत्वेन द्रष्टव्यं तद्वदाराधनीयमिति यावत्॥ १८॥

यस्त्वेकतरं अन्यतरं भावं पदार्थमुपजीव्या व्यतरमुपधावति अनुवर्तते भजत[1] इति यावत्, स तस्मादुपजीव्य बुध्याराध्यमानात् क्षेमं न विन्दते। असती पुंश्चली नारी पतिमुपजीव्य माराध्य जारमनुवृत्य यथा न तस्मात् क्षेमं विन्दते, तद्वत्॥ १९॥

किञ्चास्मद्वृत्तिरिन्द्रयागानपेक्षाचेति विवक्षुस्तावत् स्ववृत्तिं वक्तुं दृष्टान्तत्वेन वर्णानां वृत्तिभेदमाह - वर्तेतेति। विप्रो ब्रह्मणा वेदेन वर्तेत वेदाध्यापनादिनोपजीवेदित्यर्थः राजन्यः भुवः रक्षया वार्तया वैश्यो वर्तेत, द्विजसेवया त्रैवर्णिकसेवया शूद्रो वर्तेत॥ २०॥

1. A,B वर्त्य 2. A,B °ध्ययना° 3- -3. K,T,W omit

**विज०** ननु यदि स्वभावेनैव कर्म क्रियते तर्हि कर्ता मृद्दण्डसलिलादि बाह्यद्रव्यं किमर्थमपेक्षत इत्याशङ्क्य तदपि स्वभावनियत मित्यतः सर्वं स्वभावादीनमित्याह **स्वभावेति।** हि शब्देन पयस्स्यन्दनादिकमपि नारायणकृतमित्यभिप्रैति। "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गिप्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते" (बृह.उ. 3-8-9) इति श्रुतेः। स्वभावादि शब्दवाच्यस्य हरेरधीनमिदं सर्वमित्यभिप्रायेणावान्तरेश्वर एव अत्र निषिध्यते। न तु मुख्येश्वर इत्यत्र आचार्यैः "फलरुप्यन्य ः कर्मणाम्" (भाग 10-24-14) इत्याद्यावान्तरेश्वर विषयमित्यभिधायि। "स्वभावे कर्मणि च यस्सत्त्वादिषु गुणेषु च। स्थितो विष्णुः सर्वकर्ता पृथक्संस्थश्च सर्वगः" (भागवततन्त्रे) इत्यादि प्रमाणं च कृष्णहार्दतात्पर्यार्थं उदाहारि। यद्वा स ईश्वरः कर्मणो हरेः फलरुपो ज्ञानात्मा कर्तरि कर्म भजते। अकर्तुः अकर्मणः प्रभवतीति प्रभुः। तदुक्तम् - "तेन जातं फलं यस्मात्कर्मणः फलमीर्यते" (भागवत तन्त्रे) इति। अस्तु अवान्तरेवरः कर्मफलरुपः। प्रकृते किमायतमिति तत्राह - किमिति। स्वस्वकर्मज्ञानविषयं बिम्बभूतं भगवन्तं अनुवर्तिनां प्रतिबिम्बानां, ननु त्रैलोक्येश्वर मिन्द्रं कथं कर्मफलभागिति तुच्छीकरोषीति तत्राह - अनीशेनेति। अस्मदभिमतं कर्मशब्दवाच्यं वस्तु कर्मफलभाक् न भवतीत्याशयेन स्वावेत्युक्तम्। स्वः स्वाधीनः भावः क्रिया यस्य स्वस्वभावः। तदुक्तम् "न चासौ कर्मफलभाक् नास्य किञ्चिन्न शक्यते" (भागवततन्त्रे) इत्यादि। एतदेवोपपादयति स्वभावतन्त्र इति। हि शब्देन तेषामवान्तरेशानां विष्णुवशत्वमन्तरेणान्यकर्मवशत्वं नास्तीति दर्शयति। "नान्यकर्मवशत्वं तु तेषां विष्णुं विना क्वचित्" (भागवततन्त्रे) इति। "स्वभावस्थमिदं सर्वमि" त्यनेन सर्वशब्द वाच्यत्वं स्वभावस्य हरेरिति सूचितम्। "सच ब्राह्मणगिर्यादिनामा विष्णुरजः परः (भागवततन्त्रे) इत्यादि स्मृतेः॥ १६॥

ननु विष्णोः सर्वनामवत्त्वे एकस्यैवोच्चनीचदेहयोग वियोग प्राप्त्या देवदत्तात् विशेषाभावेन सर्वं तदधीनमिति वक्तुं न शक्यते इति तत्राह **देहानिति।** दुःखयतीति दुःखी तद्दुःखस्वातन्त्र्या तच्छब्दवाच्यत्वं, न तु तदनुभवतः, अतः सर्वनामत्वं युज्यते उत्सृजति त्यजति, सृजति आपादयति। जातस्य शत्त्रादिभावश्च हरिणैवेत्याह शतृरिति। "सुखं दुःखं भवो भावः" (भ.गी. 10-4) इत्यादि स्मृतेः। यद्वा, यथा तत्तच्छक्तिप्रेरकत्वेन ब्राह्मणादिशब्दवाच्यत्वं हरेः तथा शतृत्वादि शब्दवाच्यत्वमित्याह - शतृरिति। कर्मशब्द वाच्यो हरिरेव शतृत्वादिः पूज्यत्वात्तत्वोपदशेन गुरुः ऐश्वर्यादियोगादीश्वरः॥ १७॥

यस्माद्गिरति सर्वमिदमिति गिर्यादिनामा हरिः तस्मात्स्वविहितकर्मकृत् स्वभावस्थः नारायणार्पितसर्वेन्द्रियवृत्तिः पुरुषः "क्रियापतनयोः (यजनयोः) कर्म" (वैज. को. 6-3-4) इत्यभिधानात्। क्षितिधृत्यादि क्रियाश्रयत्वेन जगत्सर्जनादि क्रियाश्रयत्वेन वा परोक्षापरोक्षज्ञानविषयत्वेन वा कर्मसु पूजयेदित्यन्वयः। तदुक्तम् "एतस्मात्कारणात्कृष्णः शक्रस्य विमदाय च। गिर्यादि स्थितमात्मानं पूजयामास वल्लवैः" (भागवत तन्त्रे) इति। स्वकर्मकृत् इत्युक्तं विवृणोति - अञ्जसेति। येन अञ्जसा तत्त्वेन यो वर्तेत अस्य तदेव दैवतं कुलदैवं हि लोक प्रसिद्धम्। "अञ्जसा त्वरिते तत्त्वे महदद्भुतखेदयोः" (वैज.को. 8-7-31) इति यादवः। अनेन यच्छास्त्रे विघ्नेश्वरादिनामाख्यातं तदप्यस्य हरेर्नामिति सिद्धम्॥ १८॥

एकतरं बहूनां सिद्धान्तानां मध्ये एकं भावं सिद्धान्तमाजीव्योपजीव्यान्यं भावमुपधावति उपास्ते स पुरुषः तस्माद्भावात् क्षेमं सुखी न लभते। यौवनं जरयतीति जारः असती बहुभर्तृका॥ १९॥

यस्य यत् किमिति तत्राह - **वर्तेतेति**। ब्रह्मणा वेदेन विहितेन यागादिना। यद्वा यो येन कर्मणा अञ्जसा सहितो वर्तेत अस्य तदेव कर्म दैवतं मान्यंहि, तर्हि विप्रादेः किं कर्म विहितमित्यत्राऽऽह - ब्रह्मणेति। कृच्छ्र चान्द्रायणादि लक्षणेन तपसा "वेदस्तत्त्वं तपोब्रह्म" (अम.को. 3-271) इत्यमरः। वार्तया कृष्यादिलक्षणया चतुर्विधया॥ २०॥

**कृषिवाणिज्य गोरक्षाः कुसीदं तुर्यमुच्यते ।**
**वार्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोऽनिशम्॥ २१॥**

**सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पच्यन्तहेतवः ।**
**रजसोत्पद्यते विश्वमन्योन्यं विविधं जगत्॥ २२॥**

**राजसा चौदिता मेघा वर्षान्यम्बूनि सर्वतः ।**
**प्रजास्तैरेव[1] सिध्यन्ति महेन्द्रः किं करिष्यति?॥ २३॥**

**न नः पुरो जनपदा न ग्रामा[2-] न गृहा[-2] वयम् ।**
**वनौकसस्तात नित्यं वनशैल[3]निवासिनः॥ २४॥**

**तस्माद्भवां ब्राह्मणानामद्रेश्चाऽऽरभ्यतां मखः[4] ।**
**य इन्द्रयाग सम्भाराः तैरयं साध्यतां मखः[5]॥ २५॥**

1. A स्तेनैव 2- -2. M,Ma ग्रामगृहिणो 3. M,Ma काननाद्रि 4. V °घः 5. V °घः

**श्रीध०** वैश्यवृत्तेश्चातुर्विध्यमाह **कृषीति**। कृषिवाणिज्यसहिता गोरक्षा। एवं त्रयम्। कुसीदं वृद्धिजीवनं चतुर्थम्॥ २१॥

ननु गवामपि वृत्तिः महेन्द्राधीनै वेत्याशङ्क्य निरीश्वर साङ्ख्यमताश्रयेण निराकरोति **सत्त्वमिति** श्लोकद्वयेन। अन्योन्यं स्त्री[1-]पुरुषयोगेन॥ २२॥

**रजसेति**। सर्वत इति। समुद्रशि[2-]लोषरादि[2]ष्वपि वृष्टिदर्शनान्न प्रेक्षावत्पूर्वकत्वं[3] वृष्टेरिति भावः। तैरेव मेघैरेव, सिध्यन्ति जीवन्ति[4]॥ २३॥

तथापि योगक्षेमार्थं देवतापेक्षेति चेद[5]त आह **नेति**। पुरः पत्तनानि। जनपदा देशाः। नः[6] अस्माकं योगक्षेमहेतुर्वनशैलादय एवेति भावः॥ २४॥

ब्राह्मणानपि संगृह्णन्निगमयति - **तस्मादिति**। स्वयमुत्प्रेक्षित याग कल्पमाह य इन्द्रयाग सम्भारा इति सार्धपञ्चभिः। सम्भाराः साधनानि॥ २५॥

1- -1. P.V omit 2- -2. P.V. शैलवनादि 3. P.V omit क 4. P.V add इति 5. P.V °त्त° 6. A,B,J omit नः 7. A,B,J प्रयोगकल्पनामाह

**वीर०** वर्णान्तराणामपि प्रतिनियतस्वस्व वृत्त्यलाभे वार्तैव वृत्तिरित्यभि प्रयन्नेतत्स्वरूपं दर्शयितुं तस्याश्चातुर्विध्यमाह- **कृषीति।** कृष्यादीनां द्वन्द्वः, कृष्यादयस्तिस्रः, कुसीदं वृद्धिजीवनं, तुरीयं चतुर्थम्। एवं वार्ता चतुर्विधोच्यते। कृषिगोरक्ष वाणिज्या इति वा पाठः। रक्षाशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वात्। इत्थं वृत्तीरभिधाय अथ स्ववृत्तिमाह तत्रेति। तत्र वार्ताभेदानां चतुर्णां मध्ये गोवृत्तयः गोरक्षा वृत्तिः येषां तथाभूताः वयम्॥ २१॥

अथ स्ववृत्तेरिन्द्राराधनानपेक्षत्वमाह - **सत्त्वमिति** त्रिभिः। तत्र तावद्गवां वृत्तेः महेन्द्राधीनत्व शङ्कां निराकुर्वन्नाह द्वाभ्याम्। सत्त्वादयो जगतः स्थितिसृष्टयन्त हेतवः, तत्र रजसा हेतुभूतेन अन्योन्यं स्त्रीपुरुषयोगेन[1] जगदुत्पद्यते॥ २२॥

ततः किमत आह **रजसेति।** रजसा रजस्स्वभावेन प्रेरिताः सर्वत्र नदी समुद्रपर्वतादिषु वर्षन्ति। समुद्रेष्वपि वृष्टिदर्शनान्न प्रेक्षावत्पूर्वकत्वं वृष्टेरिति भावः। प्रजाः गवादयः [2]प्रजाः तैरेव[3] मेघैरेव सिध्यन्ति जीवन्ति। व्रजा इति पाठे गोसमूहा इत्यर्थः। एवं सति महेन्द्रः किमप्यनिष्टं न करिष्यति, किञ्चिदपि नोपकरिष्यति चेत्यर्थः॥ २३॥

नोऽस्माकं पुरः पत्तनानि जनपदा देशाः ग्रामा गृहाश्च न सन्ति न पुरादयो वास स्थानानीत्यर्थः। किन्तु हे तात! वयं नित्यं वनादि निवासिनः॥ २४॥

तस्मात् [4]अस्मज्जीवनहेतूनां गवां ब्रह्मणानाम् अस्मत्कुलमाशासानाम् अद्रेस्तृण जलादिभिः नित्यं गोवर्धनश्याद्रेश्च तुष्टयर्थो मखो याग आरभ्यताम्। अनेन "अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम्" (भाग 10-24-18) इत्यभिप्रेतं स्पष्टीकृतम्। कथमारम्भनीय इत्यत्राऽऽह - य इति। सम्भाराः साधनानि तैरयं वक्ष्यमाणविधिः साध्यताम्॥ २५॥

1. A,B पुंयो° 2. A,B omit प्रजाः 3. A,B omit एव 4. A,B omit अस्मत्

**विज०** कृषिर्भुव उल्लेखनादि क्रिया वाणिज्यं सत्यानृतलक्षण क्रियादि, गोरक्षापशुपालनं, वृद्ध्यर्थं द्रव्यप्रयोगः कुसीदम्। तत्र कृत्यादिषु गोभिः वृत्तिराजीवनं येषां ते तथा॥ २१॥

प्रकारान्तरेण इन्द्रमाक्षिपति - **सत्त्व मित्यादिना।** विश्वं समस्तं अन्योन्यं निमित्तीकृत्येतिशेषः॥ २२॥

मेघानामिन्द्रो नियोजक इत्यत्राह - **रजसेति।** रञ्जयति सर्वमिति रजो भगवानभिहितः। नह्यचेतनस्य रजोगुणस्य मेघे प्रेरकत्वं सञ्जघटीति। सिध्यन्ति सम्पन्नकार्या भवन्ति। किं करिष्यति न किमपीत्यर्थः। "प्रश्ने क्षेपे विकल्पे किम्" (वैज.को.8-7-3) इति यादवः॥ २३॥

इतोऽप्यस्मत्कुलदेवतात्वाभावात् इन्द्रयागो नोचित इत्याशयेनाह **न न** इति। पुरः पुराणि ग्रामास्थितिमुपादाय गृहिणः सपत्नीकाः॥ २४,२५॥

**पच्यन्तां विविधाः पाकाः सूपान्ताः[1] पायसादयः।**
**संयावापूपशष्कुल्यः सर्वदोहश्च गृह्यताम्॥ २६॥**

**हूयन्तामग्नयस्सम्यग्ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः।**
**अन्नं बहुगुणं[2] तेभ्यो[3] देयं वो धेनुदक्षिणाः॥ २७॥**

**अन्येभ्यश्च[4] श्व चण्डालपतितेभ्यो[5] यथार्हतः ।**
**यवसं च गवां दत्वा गिरये दीयतां बलिः ॥ २८॥**

**स्वलङ्कृता भुक्तवन्तः स्वनुलिप्तास्सुवाससः ।**
**प्रदक्षिणं च कुरुत गोविप्राऽनलपर्वतान्॥ २९॥**

**एतन्मम मतं तात! क्रियतां यदि रोचते।**
**अयं गोब्राह्मणाद्रीणां मह्यं च दयितो मखः[6] ॥ ३०॥**

1. M,Ma °न्धः पा° 2. A,B,G,J,V °विधं 3- -3. M,Ma तेभ्योदीयतां; V. देयं तेभ्यो वो 4. A,B,G,J श्चश्व° 5. B,G,J,M,Ma चा° 6. V °घः

**श्रीध० पच्यन्तामिति** सूपं मौद्गम्। पायसं केवले पयसि पक्वम्। संयावादयो गोधूमादि विक्रियाः। क्रमश्च सूपपायसयोः श्रुत्या, दोहस्यार्थतोऽन्येषां पाठतः॥ २६॥

यागशोभार्थं श्रद्धोत्पादनार्थं चाह **हूयन्तामिति**। धेनुदक्षिणाः धेनुसहिता दक्षिणाः, ता एव वा दक्षिणाः। वो युष्माभिः॥ २७॥

**अन्येभ्य** इति। यवसं तृणम्॥ २८,१९॥

**एतदिति**। सर्वान् शिरःकम्पेन अनुमोदयन्नाह - गोब्राह्मणाद्रीणामिति। मह्यं मम च॥ ३०॥

**वीर०** अयमित्यनेनाभिप्रेतं प्रकारं दर्शयति पच्यन्तामित्यादिभिश्चतुर्भिः[1]। पाकाः पच्यन्तां क्रियन्ताम्। सूपपायसादिशब्दाः तत्पाकपराः। यद्वा पाकशब्दोऽत्र बहुलग्रहणात् असंज्ञायमपि "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" (अष्टा०. 3-3-19) इति कर्मणिघञन्तः पक्तव्याः पच्यन्तामित्यर्थः। 'सूपान्ताः पायसादयः' इति पित्रर्थपाकक्रमविपर्ययद्योतनार्थमुक्तम्। तत्र सूपादयः पायसान्ता हि पच्यन्ते, संयावादयो गोधूमादि विक्रियाः। सर्वदोहः व्रजे कृत्स्नं क्षीरं गृह्यतां पायसाद्यर्थमेकत्र समुद्धियतामित्यर्थः॥ २६॥

यागशोभार्थं श्रद्धोत्पादनार्थं चाऽऽह - **हूयन्तामिति**। ब्रह्मवादिभिः ब्राह्मणैः सम्यक् यथावत् अग्नयः हूयन्ताम्। तेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो बहुगुणं षड्रसोपेतमन्नं वः युष्माभिः देयम्। धेनुसहिता दक्षिणाः ता एव दक्षिणा वा देयाः॥ २७॥

श्वादिभ्योऽपि यथायोग्यमन्नादिकं देयम्। श्वपर्यन्ता अन्नादिभिस्तर्पणीया इत्यर्थः। तथा गवां यवसं तृणं दत्वा, गवामिति सम्प्रदानस्य शेषत्वविवक्षया षष्ठी। गिरये गोवर्धनाय बलिः दीयताम्॥ २८॥

शोभनानि वासांसि येषां तथाभूताः गवादीन् प्रदक्षिणं कुरुत॥ २९॥

हे तात! एतदेवंविधं कर्म अस्माभिः कर्तव्यत्वेन मम सम्मतम्। यदीदं रोचते, तर्हि क्रियताम्। अयं मदुक्तो मखो गवादीनां मह्यं मम च दयितः प्रियः। गवाद्यन्तरात्मनो मम प्रीतिकर इति गूढाभिसन्धिः ॥ ३० ॥

1. A,B °मिति च° 2- -2. A,B गूढोऽभिप्रायः

**विज०** सूपो मुद्गान्नं, अन्धः केवलान्नं, संयावः भिन्नयवकृतः मुद्गभिन्नौदनो वा। अपूपं पिष्टकृतं, शष्कुली पैष्टिका मण्डलाकृतिः। सर्वदोहः क्षीरदधितक्रादिकः ॥ २६ ॥

बहुगुणं षड्रसोपेतम् ॥ २७ ॥

यवसं तृणसूचिका, गिरये गिरिसन्निहिताय तन्नाम्ने हरये ॥ २८ - ३० ॥

**श्रीशुक उवाच**

**कालात्मना भगवता शक्रदर्पं जिघांसया।**
**प्रोक्तं निशम्य नन्दाद्याः साध्वगृह्णन्त तद्वचः ॥ ३१ ॥**

**तथाच व्यदधुस्सर्वं यथाऽऽह मधुसूदनः।**
**वाचयित्वा स्वस्त्ययनं तद्द्रव्येण गिरिद्विजान् ॥ ३२ ॥**

**उपहृत्य बलीन् सर्वानादृता यवसं गवाम्।**
**गोधनानि पुरस्कृत्य गिरिं चक्रुः प्रदक्षिणम् ॥ ३३ ॥**

**अनांस्यनडुद्युक्तानि ते चाऽऽरुह्य स्वलङ्कृताः।**
**गोप्यश्च कृष्णवीर्याणि गायन्त्यस्सद्विजाशिषः ॥ ३४ ॥**

**कृष्णस्त्वन्यतमं रूपं गोपविस्रम्भणं गतः।**
**शैलोऽस्मीति ब्रुवन्भूरि बलिमादद्धृहद्वपुः ॥ ३५ ॥**

**तस्मै नमो व्रजजनैः स ह चक्रे महात्मने।**
**अहो पश्यत शैलोऽसौ रूपीनोऽनुग्रहं व्यधात् ॥ ३६ ॥**

**एषोऽवजानतो मर्त्यान् कामरूपी ब नौकसः।**
**हन्ति ह्यस्मै नमस्यामश्शर्मणे ह्यात्मनो गवाम् ॥ ३७ ॥**

**इत्यादि गोद्विजमखं वासुदेवप्र[15] चोदिता:।**
**यथाविधाय गो[16]पाला: सहकृष्णा व्रजं ययु:॥ ३८॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे चतुर्विंशोऽध्याय:॥ २४॥

1. A,B,G,J,K,T,W °र्प° 2. A,B,G,J,K,T,W °ता 3. K,T,W हन्नतद्विद: 4. M,Ma ४वि° 5. M,Ma °र्वे 6- -6. M,Ma द्रव्यैर्गोविप्रभूभृताम् 7. K बलिं 8. A,B,G,J,M,Ma °श्र° 9. A वदन् 10. K,T,W °दनू बृ° 11- -11. A,G,J,T,W सह चक्रेऽऽत्मऽऽनात्मने; B स चक्रे आत्मनाऽत्मने; M स चक्रे ऽऽत्मनाऽऽत्मने; Ma सञ्चक्रेह्यात्मनाऽऽत्मने 12. T,W °ऽयं 13. M,Ma वनेचर: 14. A,B,G,J,M,Ma आ° 15. A,B,G,J प्रणो° 16. A,B,G,J,K,T,W ते गोपा:

**श्रीध० तथेति।** तद्द्रव्येण तेन[1] महेन्द्र मखद्रव्येण गिरि[2]द्विजान् प्रति यथायथम्॥ ३१, ३२॥

**उपहृत्येति।** बलीनुपहृत्य दत्वा। आदृता: सादरा:॥ ३३॥

**अनांसीति।** अनडुद्युक्तानि उ[3]त्तमानडुद्भि[3]: युक्तानि। सद्विजाशिषो द्विजाशीर्भि: सहिता:॥ ३४॥

**कृष्ण** इति। गोपविश्रम्भणं गोपानां विश्वासजनकं रुपं गत: प्राप्तस्सन् बलिमुपहारमादत् अभक्षयत्॥ ३५॥

**तस्मै** इति। तस्मै आत्मने आत्मना स्वयं व्रजजनै[8]: सह नमश्चक्रे। अहो [4]इति सार्धश्लोकं पठन्॥ ३६॥

कामरुपी सर्पादिरूप:। अस्मै अद्रये। शर्मणे क्षेमाय॥ ३७,३८॥

★ कर्मैवालं प्राक्स्वभावो गुणा वा कर्माङ्गं वा तद्वशो वा महेश:। वार्ताकत्री देवतेतीयमुक्ता देवक्षोभे षण्मति र्नत्वभीष्टा॥

1. P.V omit रि° 2. J °तेन 3- -3. उत्तमदृषभै: 4. P.V इत्यादि। ★ श्रीधरीयोऽयं श्लोक:

**वीर०** शक्रस्य दर्प[1] निरा[1]चिकीर्षता कालात्मना कालरुपेण बहि: का[2]लात्मना[2] अन्त: पुरुष रुपेण च नियमयतेति भाव:। तेन भगवता प्रोक्तं निशम्य अतद्विद: शक्रदर्पजिघांसामजानना अपि नन्दाद्या: तत्साध्वगृह्णन् अभ्युपजग्मु:॥ ३१॥

ततो यथोक्तं चक्रु:, तदेवाऽऽह वाचयित्वेति। स्वस्त्ययनं पुण्याहं तद्द्रव्येण इन्द्रयागार्थद्रव्येण गिरिं द्विजाश्चोद्दिश्य॥ ३२॥

बलिं गवां यवसं च उ[3]पहृत्य समर्प्य सर्वे नन्दादय आदरयुक्ता गोधनान्यग्रत: कृत्वा प्रदक्षिणं चक्रु:॥ ३३॥

अनडुद्युक्तानि वृषभयुक्तान्यनांसि शकटान्यारुह्य ते नन्दादयः तथा स्वलङ्कृताः गोप्यश्च द्विजानामाशीर्वादसहिताः कृष्णस्य चेष्टितानि गायन्त्यो गिरिं प्रदक्षिणं चक्रुरित्यन्वयः ॥ ३४॥

कथमयमचेतनो गिरिर्बलिं गृह्णाति? कथंतरामस्मानगृह्णाति चेत्यादि रुपां नन्दादीनामाशङ्का मपनुदन् कृष्णः स्वयं गोपानां विश्वासकरं तन्मध्य गतमेकमन्यच्य रुपं प्राप्तः तत्र बृहद्वपुष्मान् गिरेर्मूर्ध्नि स्थित्वा शैलोऽस्मीति ब्रुवन् बलिं स्वीकुर्वन् पुनर्गोप मध्यगतरूपेण अहो इत्यादि सार्धश्लोकं पठन् गोपजनैस्सह महात्मने बृहद्वपुषे स्वस्मा एवतस्मै गिरिरूपाय नमश्चक्रे इत्यन्वयः। अहो! इति। अहो! हे गोपाः पश्यत, असौ शैलः रूपी अस्मदुपहृत बल्यादानोप युक्तरूपधरः नोऽस्माकमनुग्रहं व्यधादकरोत्। एष कामरूपी यथेष्टरूपग्रहण समर्थः गिरिः अवजानतः अवहेलनं कुर्वाणान् वनौकसो मर्त्यान् हन्ति अत आत्मनोऽस्माकं गवां च शर्मणे क्षेमाय अस्मै गिरये नमस्यामः नमः करवाम॥ ३५ - ३७॥

इति इत्थं वासुदेवेन चोदिता गोपाला अद्र्यादीनां मखं यथावद्विधाय कृष्णेन सहिता व्रजं प्रति जग्मुः ॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीविरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४॥

1- -1. A,B दर्पनाशं 2- -2. A,B काल रूपेण 3. A,B omit उपहृत्य 4. A,B गतेन

**विज०** शक्रदर्पजिघांसया शक्रादि देवानाम् असुरावेशाद्दर्पादिकं भवति तदनुग्रहार्थं तद्दर्पादिहननेच्छया, तदुक्तम् "अत्यल्प स्त्वसुरावेशो देवानां च भविष्यति" (भागवत तन्त्रे) इति॥ ३१ - ३४॥

गोपविश्रम्भणं गोपानां विश्वासकरं, आदत् भक्षितवान्॥ ३५॥

तस्मै आत्मने पर्वतरूपिणे सङ्कल्प्य नमनमिति तत्राह अहो इति॥ ३६ - ३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे चर्तुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४॥

(विजयध्वजरीत्या द्वाविंशोऽध्यायः)

# पञ्चविंशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या त्रयोविंशोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

इन्द्र स्तदाऽऽत्मनः पूजां विज्ञाय विहतां नृप ।
गोपेभ्यः कृष्णनाथेभ्यो नन्दादिभ्य श्चुकोप ह[1]॥ १॥

गणं सांवर्तकं[2] नाम मेघानाञ्चान्तकारिणाम् ।
इन्द्रः प्राचोदय[3] त्क्रुद्धो वाक्यञ्चाऽऽहेशमा न्युत[4]॥ २॥

अहो श्रीमदमाहात्म्यं गोपानां काननौकसाम् ।
कृष्णं मर्त्य मुपाश्रित्य ये चक्रु र्देवहेलनम्॥ ३॥

यथा दृढैः कर्ममयैः क्रतुभि र्नाम नौनिभैः[5-5] ।
विघामान्वीक्षिकीं हित्वा तितीर्षन्ति भवार्णवम्॥ ४॥

वाचालं बालिशं[6-] स्तब्ध[-6] मज्ञं पण्डितमानिनम् ।
कृष्णं मर्त्य मुपाश्रित्य गोपा मे चक्रु रप्रियम्॥ ५॥

एषांश्रियाऽ वलिप्तानां कृष्णेनाऽऽध्मायि[7] तात्मनाम् ।
धुनुत श्रीमदस्तम्भं पशून्नयत संक्षयम्॥ ६॥

अहञ्चैरावतं नाग मारुह्यानुव्रजे व्रजम् ।
मरुद्गणै र्महावीर्यै[8] र्नन्दगोष्ठजिघांसया[9]॥ ७॥

1. A,B,G,J सः 2. A,V सं° 3. A °णो° 4. M,Ma मन्युना 5- -5. M,Ma कुप्तवैज्ञानि मानिनः 6- -6. M,Maमानिनं मत्तं 7. V मत्तानां ध्मा° M,Ma कृष्णेनाऽप्यायि° 8. A,B,G,J °वीर्यैः 9. K,T,W °प°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पञ्चविंशे रुषा शक्रे व्रजनाशाय वर्षति ।
उद्धृत्य गिरि मासारा दरक्ष द्गोकुलं प्रभुः ॥

**इन्द्रेति।** कृष्णो नाथो येषां तेभ्यः ॥ १ ॥

**गण मिति।** क्रुद्धश्च सन्निन्द्रः। संवर्तकं[1] नाम, संवर्तः प्रलयः, तत्कर्तारं मेघानां प्रसिद्धं[2] गणं प्राचोदयत् प्रेषयामास। ननु कथं कृष्णनाथानां घाते प्रवृत्त इत्याशङ्क्य आत्मसम्भावनया निरस्तविवेकत्वात् इत्याशयेनाऽऽह वाक्यञ्चाहेत्यादि पञ्चभिः। ईशामानी अहमीश्वर[3] इति गर्ववान्॥ २॥

**अहो इति।** देवेहेलनम् देवस्य मम अवज्ञाम्॥ ३॥

**यथेति।** अदृढैः असमर्थैः। कर्ममयैः क्रियानिर्वर्त्यैः अत एव नामनौनिभैः नाममात्रेण या नाव[4] इतिव्यवह्रियन्ते[5] तत्सदृशैः। आन्वीक्षिकीमात्मानुस्मृतिरूपाम्॥ ४॥

**वाचालमिति।** तथा वाचालं बहुभाषिणं, बालिशं शिशुम् पण्डित मानिनम् पण्डितोऽह[6-] मित्यात्मानं मन्यमानम्[-6], अतः स्तब्धमविनीतमिति। निन्दायां योजिताऽपि इन्द्रस्य भारती श्रीकृष्णं स्तौति। तथा हि - वाचालं शास्त्र योनिम्, बालिशं एव मपि शिशुव न्निरभिमानिनम्, स्तब्धम् अन्यस्य वन्द्यस्याऽभावात् अनम्रम्। अज्ञं नाऽस्ति ज्ञो यस्मा त्तं सर्वज्ञ मित्यर्थः! पण्डितमानिनं ब्रह्मविदां बहु माननीयम् कृष्णम् सदानन्दरूपं परब्रह्म मर्त्यं तथाऽपि भक्तवात्सल्येन मनुष्यतया प्रतीयमान मिति॥ ५॥

**एषा मिति।** अवलिप्तानां मत्तानां ध्मायितात्मनां बृंहित देहानां धुनुत अपनयत। श्रीमदेन यः स्तम्भो गर्वः तं भिद्यत ॥ ६॥

तान्प्रत्याह **अह** मिति। अनुव्रजे[7] अनन्तर मेवाऽगमिष्यामि, मरुद्गणैः देवगणै स्सह॥ ७॥

1. A,B,J सां, 2. A, omits प्रसिद्धं; V प्रसिद्ध 3. A,B,J °मेवेश्वर 4. A,B,J नौः 5. A,B,J °यते 6- -6. A,B,J पण्डितम्मन्यं 7. A,B,J add अनु

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तत[1-]ः किं जातम्? तदाह[-1] - **इन्द्र** इति। हे नृप! तदा इन्द्रः स्वस्य पूजां कृष्णेन विहतां ज्ञात्वा। कृष्णो नाथो रक्षिता येषां तेभ्यो गोपेभ्यः चुकोप क्रुद्धवान्॥ १॥

तदा क्रुद्धः अन्तकारिणां प्रलयकारिणां[2-] मेघानां[-2] सांवर्तकाख्यं गणं प्राचोदयत्;[3] इदं वक्ष्यमाण वाक्यञ्चाह॥ २॥

तदेवाह - **अहो** इत्यादिभिः पञ्चभिः। काननौकसां गोपानां श्रीमदस्य धनसम्पत्तिकृतस्य मदस्य माहात्म्यं वैभवम्। अहो आश्चर्यकरम्। तदेव दर्शयति - ये गोपाः कृष्णं मर्त्यं मरणशीलमुपाश्रित्य देवस्य मम हेलन मपराधं चक्रुः, मद्यागं बभञ्जु रित्यर्थः॥ ३॥

किं त्वद्यागमात्रेणे त्यत आह **यथेति**। आन्विक्षिकीं[4-4] आत्मविद्यां हित्वा[5] विहाय केवलं दृढैः नौकातुल्यैः कर्मात्मकैः क्रतुभिः अस्मदाराधनात्मकैरेव साधनैः भवार्णवं यथा तितीर्षन्ति[6] तरीतु[7] मिच्छन्ति विवेकिन इति शेषः। अह मेव मुक्तिदोऽपि मद्याग एव तत्साधन मपीति भावः ॥ ४ ॥

एवं सति केवलं वाचालं कुत्सितं बहु च वदन्तं बालिशं मूर्खं, स्तब्ध मविनीतम् अज्ञं पण्डित मात्मानं मन्यमानं मर्त्यं मन्निग्रहा न्मरिष्यमाणञ्च कृष्ण माश्रित्य ये गोपाः ममाऽप्रियं चक्रुः ॥ ५ ॥

श्रिया सम्पदा गर्वितानां कृष्णेनाऽऽध्मायिताः वर्धिता आत्मानो देहाः येषां तेषां गोपानां श्रीमदप्रयुक्त मविनयं धुनुत अपाकुरुत। तथा पशून् संक्षयं नाशं नयत ॥ ६ ॥

बिभ्यत स्तान्प्रत्याह आह - अहमद्य ऐरावतं गज मारुह्य महावेगै र्मरुद्भि स्सह व्रजं प्रति अनुव्रजे, युष्मत्पृष्ठत एव आगमिष्यमि। किमर्थम्? नन्दादयो ये[8] गोपा स्तेषां जिघांसया। हेत्वर्थे तृतीया। सनर्थस्तु अश्वेन जिगमिषतीतिव दविवक्षितः। हननार्थमित्यर्थः ॥ ७ ॥

1- -1. T,W omit 2- -2. T,W omit 3. A,B add मन्युमानीशमानीति पाठान्तरम्। (वाक्यञ्चाहीशमानी इत्यस्य स्थाने) 4- -4. K,T,W omit 5. K,T,W omit विहाय 6. T,W °थावत्ति° 7. A,B तर्तुं; T तरितुं 8. A,B omit ये।

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

गोवर्धनोद्धरणेन स्वनाथाः सगोधना गोपालाः इन्द्रकृतापदो रक्षिताः। एवं भक्तिज्ञानसम्पन्नान् संसारार्तान् प्राणिनो रक्षत्येवाऽधोक्षज इति प्रतिपादयितुमयमध्याय आरभ्यते। तत्र मुख्य प्राण मेकमन्तरेण अन्येषां देवादीना मत्यल्पा - सुरावेश स्तस्मिन् गते प्रकृति भावश्चेति उभयं दर्शयितु मुपक्रमते **इन्द्र** इति। विहतां निराकृतां कृष्ण एव नाथो येषां ते तथा, तेभ्यः। "क्रुधद्रुहेर्ष्याऽसूयार्थानां यम्प्रति कोपः" (अष्टा. 1-4-37) इति चतुर्थी। कृष्णं प्रति च कोपं कृतवानिति सूचनायेदं विशेषणम्। असुरावेशं प्रकटयतीति ज्ञायतेऽनेन। हेत्यनेन शक्रकोपेन कृष्ण माहात्म्य मेव प्रकाश्यते ॥ १ ॥

अन्तकारिणां प्रलयं कुर्वता मित्यनेन भगवन्त मन्तरेण अन्यानिवर्त्यत्व माह - सांवर्तक मिति। अमुनैव जगत्क्षयकरत्वे सूचितेऽपि, अन्तकारिणा मिति तदेव विशेषितम्। प्राचोदयत् प्रेरितवा नित्यर्थः। ईशं कृष्ण मुद्दिश्य मन्युना कोपेन अह मेवेशो नाऽन्य इति मन्युना दैन्याभिमानेन वा। "मन्यु र्दैन्येक्रतौ क्रुधि" (वैज.को. 3-309) इति यादवः ॥ २ ॥

मर्त्यं मरणधर्मत्वेनाऽनित्यं कृष्ण मुपाश्रित्य सर्वस्मा दधिकाश्रयोऽय मिति कृत्वा देवस्य त्रैलोक्याक्षेप्तुः मम हेलन मवज्ञां कृतवन्त इति अनेन ईशमन्युनेत्येत द्विवृतम् ॥ ३ ॥

देवस्वभावत्वा दसुरावेशेऽपि तत्त्वमेव कथ्यत इत्याशयेनाऽऽह **यथेति**। अदृढै रसारैः अन्यत्र क्षरद्दारुकृतैः कर्ममयैः बहुव्यापारसाध्यैः, अन्यत्र तक्षणादि बहुकर्मसाधितैः कुत्सितै रल्पप्रयोजनैर्वा प्लवैः। "कुः पापोऽल्पार्थकुत्सयोः" (वैज.को. 8-7-3) इति यादवः। आन्वीक्षिकीं स्वानुकूलबिम्बदर्शनात्मिकां विद्याम् आत्मज्ञान मित्यर्थः ॥ ४ ॥

वाचालम् "अस्ति चे दीश्वरः कश्चित्" (भाग 10-24-14) इत्यादि शास्त्र कुत्सित भाषणम्, अत एव "वर्तेत ब्रह्मणा" (भाग. 10-24-20) इत्यादि मानं प्रमाण मस्यास्तीति मानिनम्। "रजसा चौदिता मेघाः" (भाग. 10-24-23) इत्यादिना मत्तत्व मज्ञत्वञ्च लभ्यते। "आजी[10]व्येकतरं भावम्" (भाग. 1-24-19) इत्यादिना पण्डितमानित्वम् ॥ ५ ॥

अवलिप्तानां दृप्तानां आप्यायितात्मनां वर्धितमनसाम्। धुनुत निराकुरुत ॥ ६ ॥

नागं गजम् ॥ ७ ॥

**श्रीशुक उवाच**

**इत्थं मघवताऽऽज्ञप्ता मेघा निर्मुक्तबन्धनाः ।**
**नन्दगोकुल मासारैः पीडयामासु रोजसा ॥ ८ ॥**

**विद्योतमाना विद्युद्भिः स्तनन्तः[1] स्तनयित्नुभिः ।**
**तीव्रैर्मरुद्गणैर्नुन्ना ववृषुर्जलशर्कराः ॥ ९ ॥**

**स्थूणास्थूला[2] वर्षधारा मुञ्चत्स्वभ्रेष्वभीक्ष्णशः ।**
**जलौघैः प्लाव्यमाना भूः नाऽदृश्यत नतो न्नता[3] ॥ १० ॥**

**अत्यासारातिवातेन[4] पशवो जातवेपनाः ।**
**गोपा गोप्यश्च शीतार्ता गोविन्दं शरणं ययुः ॥ ११ ॥**

**शिरस्सुतांश्च कायेन प्रच्छाद्यासारपीडिताः ।**
**वेपमाना भगवतः पादमूल मुपाययुः ॥ १२ ॥**

1. A,M,Ma नदन्तः 2. M,Ma स्थाणु 3. A,B,G,J,M,Ma,T,V,W °तम् 4. V °पा°

**श्रीध० इत्थ** मिति। मघवता इन्द्रेण निर्मुक्तं बन्धनं येषां ते प्रलय[1-]भिया ये बद्धा[-1] आसन् ते[2] निर्मुक्त बन्धना स्सन्तः आसारैः धारासम्पातैः पीडयामासुः ॥ ८ ॥

**विद्योतमाना** इति। स्तनयित्नुभिः अशनिभिः स्तनन्तः गर्जन्तः मरुद्गणैः आवहप्रवहादिवायुसमूहैः नुन्नाः प्रेरिताः। जलशर्कराः जलोपलाः[4] ॥९॥

**स्थूणेति**। स्थूणावत् स्थूलाः अभ्रेषु मुञ्चत्सु[5] नतोन्नतं नतं[6] निम्नम्, उन्नतं तद्विपरीतं यथा भवति तथा भूर्नाऽदृश्यत ॥ १० ॥

**अत्यासारेति**। जातवेपना जातकम्पाः ॥ ११ ॥

तत्र पशूनां प्रयासं[7] विशिनष्टि **शिर** इति ॥ १२ ॥

1- -1. A,B,J °याभिप्रायेण बद्धा 2. A,B,J तदा 3. A °ध्वनिभिः 4. A,B,J °लान् 5. A,B,J add सत्सु 6. A,J omit नतं 7. A,B,J यानं

**वीर०** इत्थ मिन्द्रेणादिष्टा मेघाः मुक्तानि बन्धनानि शृङ्खलानि येषां तथाभूताः आगत्य आसारैः जल धारासम्पातैः यावद्बलं नन्दव्रजं पीडयामासुः ॥ ८ ॥

पीडा मेव प्रपञ्चयति द्वाभ्याम्[1]। तटिद्भिर्विद्योतमानाः स्तनयित्नुभिः अशनिभिः गर्जन्तः। यद्यपि स्तनयित्नुशब्दो गर्जन्मेघपरः तथाप्यौचित्यात् एवं व्याख्यातम्। चण्डवातसङ्घातैः प्रेरिता स्सन्तो जल शर्कराः वर्षोपलान् ववृषुः[2] ॥ ९ ॥

अभीक्ष्णशः अविच्छेदेन स्तम्भवत् स्थूला वर्षधाराः मेघेषु मुञ्चत्सु सत्सु जलप्रवाहैः प्लाव्यमाना सती पृथिवी तिम्नोन्नता नाऽदृश्यनि नतोन्नत मिति पाठे त द्यथा तथा (न) अदृश्यत ॥ १० ॥

अत्यासारै रत्यन्तवातेन च। अत्यासाराऽऽनिपाते नेति पाठे अत्यासारस्य अत्यन्तपातेन निष्ठुरपातेन जातकम्पनाः पशवो गोपागोप्यश्च शीतेनाऽऽर्ताः पीडिताः भगवन्तं शरणंप्रापुः। परीता इति पाठे परितो व्याप्ता इत्यर्थः ॥ ११ ॥

शरण याचन प्रकार मेवाऽऽह द्वाभ्याम् - **शिर इति**। जाता वेक वचनम्। शिरांसि स्वस्वसुतांश्च[3] कायेन[4-] प्रच्छाद्य[-4] आसार[5] पीडिताः[6] कम्पमानाः भगवतः पादमूल मुपाययुः ॥ १२ ॥

1. K,T,W omit द्वाभ्याम् 2. T,W ववर्षुः 3. A,B omit स्व 4- -4. A,B देहेन आच्छाद्य 5. A,B °रैः 6. A,B omit पीडिताः

**विज०** निर्मुक्तबन्धनाः विगलितनिगडाः त्यक्तजलस्तम्भा इत्यर्थः। आसारै र्धारासम्पातैः,वेगवद्वर्षै रित्यर्थः। ओजसा स्वशक्तिलक्षणबलेन ॥ ८ ॥

स्तनयित्नुभि र्गर्जितैः। "स्तनयित्नुर्हि गर्जितेऽभ्रे" (वैज.को. 8-1-46) इति यादवः। जलान्येव शर्कराः. श्वेतपाषाणशिलाः ॥ ९ ॥

ऋत्यद्यप्लुद्दनड्यङ्ग ऋत्यद्यक्कञ्जप्लुः, नतोन्नतं निम्नोच्चस्थलम्॥ १०,११॥
स्वकायेन शिरश्च सुतांश्च प्रच्छद्य॥ १२॥

**कृष्ण कृष्ण! महाभाग! त्वन्नाथं गोकुलं प्रभो।**
**त्रातु मर्हसि देवान्नः कुपिताद्भक्तवत्सल!॥ १३॥**

**शि[1-]लावर्षनिपातेन[-1] हन्यमान मचेतनम्।**
**निरीक्ष्य भगवान्मेने कुपितेन्द्रकृतं हरिः॥ १४॥**

**अपर्त्व[2]त्युल्बणं वर्ष मतिवातं शिलामयम्।**
**स्वयागे वि[4]हतेऽस्माभि रिन्द्रो नाशय वर्षति॥ १५॥**

**तत्र प्रतिविधिं सम्यक् आ[5-]त्मयोगेन साधये[-5]।**
**लोकेशमानिनां[6] मौढ्यात् हरिष्ये श्रीमदं तमः॥ १६॥**

**नहि मद्भावयुक्तानां[7] सुराणा मीशविस्मयः।**
**मत्तो[8]ऽसतां मानभङ्गः प्रशमायोपकल्पते[9]॥ १७॥**

**तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्।**
**गोपाये स्वा[10]त्मयोगेन स्वोऽयं मे व्रत आहितः॥ १८॥**

1- -1. M,Ma शीतवर्षातिपातेन; V शिलावर्षातिपातेन। 2. A,M,Ma °र्ता वुल्बणं 3. M,Ma तन्मखे 4. A,B,J नि° 5- -5. A साधये योगमायया ः V ज्ञानयोगेन साधये 6. A,M,Ma °नो 7. A,B,G,J,V स° 8. M,Ma °त्तस्स 9. M,Ma पद्यते 10. V सात्र°

**श्रीध०** गोपगोपीनां प्रार्थना माह **कृष्णेति**। त्वमेव नाथो यस्य तद्गोकुलं गवां कुलं वंशं नः अस्मांश्च कुपितात्[1] देवादिन्द्रात् त्रातुं रक्षितुं अर्हसि॥ १३॥

**शिलेति**। विज्ञापनात्पूर्व मेव कुपितेनेन्द्रेण कृतं तद्वर्षं मेने॥ १४॥

कथं मेने? तदाह - **अपर्त्विति** अपगत ऋतु र्यस्य तद्वर्षं, अतिशयितो वातो यस्मिं स्तत्, अतिवातं शिलामयं शिलाप्रचुरम्॥ १५॥

तत्र प्रतिज्ञापूर्वकं गोवर्धनोद्धरण माह **तत्रेति**। तत्र[2] प्रतिविधिं प्रतीकारं[3] स्वसामर्थ्येन साधयिष्यामि। तेन च मौढ्यात् लोकेशमानिनां श्रीमदलक्षणं तमो हरिष्यामि बहुवचनेन वरुणादी नभिप्रैति॥ १६॥

ननु देवास्सात्विका स्त्वद्भक्ताश्च, कुतस्तेषां तमः? तत्राऽऽह **नहीति**। सद्भावस्सत्त्वम्, मद्भक्तिर्वा; तद्युक्तानां सुराणां ईशा वयमिति विस्मयो गर्वः। हि यस्मात् न घटते, अतोऽसन्तस्ते किञ्च तेषां मानभङ्गोऽनुग्रह एवेत्याह मत्त इति॥ १७॥

**तस्मा** दिति। गोपाये रक्षिष्यामि किञ्च सोऽयं मे मया व्रतो नियमः, सङ्कल्पो वा, आहितो धृत इत्यर्थः॥ १८॥

1. A,B,J omit कुपितात् 2. P,V omit तत्र 3. V °ति

**वीर०** हे महाभाग, अस्मद्रक्षोपयुक्तज्ञानरूप महाभाग्यशालिन्, त्वमेव नाथो यस्य तर्जकुलं कुपिता देवात्पर्जन्यात्[1] पातु मर्हसि। भक्तवत्सलस्याऽधुना उपेक्षा नोचितेति[2] तत्सम्बोधनाभिप्रायः॥ १३॥

शिलावर्षस्य निष्ठुरपातेन पीड्यमानम्, अत एव अ[3-]चेतनं तत्[-3] जडीभूतं गोकुल मवलोक्य आश्रितार्तिहरो भगवान् कुपितेनेन्द्रेण कृत मेतत्कर्म इति मेने॥ १४॥

मननप्रकार मेवाऽऽह अपगतो वर्षऋतु र्यस्य, अत्यन्तो वातो यस्य, तच्छिलामय मुल्बणं वर्ष मस्माभिः स्वयागे विहते सति अस्मान्नाशाय वर्षति॥ १५॥

अथ भगवतः प्रतिज्ञापूर्वकं गोवर्धनोद्धरण माह - **तत्रेति**। तत्रैवं सति प्रतिविधिं वर्षप्रयुक्तपीडाप्रतीकारं स्वसामर्थ्येन साधयिष्यामि। मौढ्याल्लोकेश मात्मानं मन्यमानस्य श्री मदात्मकं तमः अज्ञानं तमोगुणकार्यं श्रीमदं[4] हरिष्यामि॥ १६॥

ननु उपेन्द्रादिरूपेण तद्रक्षणशीलः कथं तदनर्थोद्युक्तइत्यपवादशङ्कया स्वयमेव सोपपत्तिकं तत्समाधातु माह **नहीति**। मद्भावयुक्तानां मयि भक्त्यात्मक भावबन्धयुक्तानां सुराणां सत्त्वप्रचुराणां, ईशा वयमिति विस्मयो गर्वो नहि नास्त्येव। अथाऽपि प्रकृति वशात् कदाचिदसतां अ[5-]सज्ज्ञानानां[-5] ईशविस्मयवतां तेषां मानभङ्ग ईशविस्मयभङ्गः प्रशमायैवोपकल्पते। तद्रक्षैकशीलस्य मम तन्मानभङ्गद्वारा तदुपशान्त्युपयुक्तोद्योग उचित एवेति भावः॥ १७॥

तस्मा त्तदुद्योगस्य सूचितत्वात् गोकुलस्य शरणागतत्वाच्च, अह मेव नाथो रक्षिता यस्य, अह मेव रक्षणोपायो यस्य, अह मेव परिग्रहः शरण्यः प्राप्यो यस्य, तद्वोष्टं, स्वात्मयोगेन स्वसामर्थ्येन गोपाये रक्षेयन्, सोऽयं शरणागतरक्षणमद्भक्त विस्मयभङ्गरूपो व्रतो मया आहितो धृतः॥ १८॥

1. A,B omti पर्जन्यात् 2. A,B अनुचि° 3- -3. K,T,W omit 4. A,B,K add वा 5- -5. K,T,W omit.

**विज०** अचेतनं निस्संज्ञम्॥ १३,१४॥

अपर्तौ अनृतौ अवृष्टिसमये इत्यर्थः ॥ १५॥

प्रतिविधिं परिहारं, आत्मयोगेन आत्मसामर्थ्येन स्वनिर्मितोपायेन वा, तमोऽज्ञानम्॥ १६॥

अज्ञान हरणेन किं प्रयोजन मित्याशङ्क्य संसार बन्धननिमित्ताहङ्कार नाशनार्थमित्याशयेनाऽऽह - **नहीति**। मद्भावयुक्तानां मद्भक्ति युक्तानाम्। इत्थ मर्थश्चेत्पाठोऽप्येवं किं न स्यादिति चेन्न, भक्तिशब्दार्थविवरणार्थत्वात्। तथा हि "भावो लीला क्रिया चेष्टा भक्त्यादिष्वर्थेषु" भावशब्दप्रवृतेः, भगवल्लीलादिमत्त्व प्रदर्शनेन सर्वकालं भगवत्येन मनोवृत्ति रिति प्रकाशनेन भक्ते स्तिमितत्व मुक्तं स्यादिति। ईशोऽहमिति स्मयोऽत्युल्बण दर्पो नहि। सतां स्वभावमाह मत्त इति। प्रशमांय प्रकृष्ट मन्निष्ठायै॥ १७॥

ममाऽयं जय स्तम्भ इत्याह **तस्मा दिति**। अह मेव परिग्रहो यस्य स तथा। "पत्नी स्वीकार शपथमूलेष्वपि परिग्रहः" (वैज. को 8-1-30) इति। क्रतो नियमो जयस्तम्भः। गोपाये पालयामि॥ १८॥

Ref. वैजयन्ती Which reads - "भावो लीला क्रिया चेष्टा भूत्यभिप्रायजन्तुषु" (6-1-43)

**इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम्।**
**दधार लीलया कृष्ण[1] च्छत्राक मिव बालकः॥ १९॥**

**अथाऽऽ ह भगवान् गोपान् हेऽम्ब! तात! व्रजौकसः।**
**यथोपजोषं विशत गिरिगर्तं सगोधनाः॥ २०॥**

**न त्रास इह वः कार्यो मद्धस्ताद्रिनिपातनात्[2]।**
**वातवर्षभयेनाऽलं तत्त्राणं[3] विहितं हि[4] वः॥ २१॥**

**तथा निविविशु[5] र्गर्तं[6] कृष्णाश्वासितमानसाः।**
**यथाऽवकाशं सधनाः[7] सप्रजा[8] गोपजीवितः[9]॥ २२॥**

**क्षुत्तृड्व्यथां सुखापेक्षां हित्वा तै र्व्रजवासिभिः।**
**वीक्ष्य[10] माणो दधारा[11] ऽद्रिं सप्ताहं नाऽचलत्पदात्॥ २३॥**

कृष्ण योगोऽनुभावं तं निशा[12]म्येन्द्रोऽतिविस्मितः।
निस्तम्भो भ्रष्टसङ्कल्पः स्वा[13-]न्मेघान्स न्यवारयत्[-13] ॥ २४॥

1. K,T,W विष्णुः 2. B,G,J °ने 3. M,Ma °यञ्चालं 4. A,K,T,W मया 5. A,B,G,J,M,Ma° र्वि° 6. V °र्गर्ति 7. M,Ma सन्धानाः 8. A,B,G,J °व्र° 9. M,Ma °वनाः 10. T,W °क्ष° 11. A,B,G,J °वद्रिं 12. M,Ma °श° 13- -13. स्वयं मेघानवारयत्।

**श्रीध० इतीति।** कृत्वा उद्धृत्य छत्राकं शि[2-]लीन्ध्रं यथा[-2] ॥ १९॥

**अथेति।** यथोपजोषं यथासुखम्॥ २०, २१॥

**तथेति।** सव्रजाः शकटमाण्डली[3]सहिताः। सोपजीविनः भृत्य पुरोहितादिसहिताः ॥ २२॥

**श्रुधिति।** पदात् स्थलात् ॥ २३, २४ ॥

1. A,B,J उत्कृत्य 2- -2 A,B,J उच्छिलीन्ध्रम् 3. B,J ◊ ल ◊

**वीर०** इतीत्थ मुक्त्वा एकेनैव हस्तेन गोवर्धनाचलं कृत्त्वा उत्कृत्य, उत्पाट्येति यावत्। सप्तहा[1-]यनो[-1] विष्णुः श्रीकृष्णो लीलया शिलीन्ध्र मिव दधार, वाम करकनिष्ठिकानखाग्रेण दधारेत्यर्थः ॥ १९॥

अथ धारणानन्तरं भगवान्गोपा नाह। उक्ति मेवाऽऽह अम्बेत्यादिना तथेत्यतः प्राक्तनेन। हे अम्ब हे तात! हे व्रजौकसः! यथासुखं सगोधनाः सर्वे यूयं गिरि[2]गर्तं वि[3]शत॥ २०॥

मद्धस्ता द्योऽद्रेः पा[4-]तः तस्मात्[-4] व[5-]ः युष्माभि[-5]ः इहाऽधुना त्रासो भयं न कर्तव्य[6]ः। वातवर्षाभ्यां यद्भयं तेनाऽलम्। तन्नकर्तव्यम् इत्यर्थः तत्त्राणं वातवर्ष भयात्त्राणं मया विहितम्॥ २१॥

तथा कृष्णेन समाधापितचित्ता सगोधना स्सपुत्र पौत्राः भृत्यपुरोहितादिवर्गसहितश्च सर्वे व्रजैकसो यथावकाशम् असङ्कीर्णं यथातथा गिरिगर्तं विविशुः ॥ २२॥

स्वावलोकनजानन्दपूर्त्यैव तेषां क्षुत्तृट्कृतपीडां वारयन् सप्ताहं तथा दधारेत्याह। क्षत्तृड्व्ययां सुखापेक्षां च हित्वा केवल मीक्षमाणो भगवान् सप्ताह मद्रिं दधार। पदा न्नचचाल। यत्र उद्धार समये पदं विन्यस्तं न तत श्चचालेत्यर्थः ॥ २३॥

तत स्तं कृष्णस्य योगानुभावं सामर्थ्यप्रभावं दृष्ट्वा इन्द्रोऽतीव विस्मितः भ्रष्टसङ्कल्पः अत एव निस्तम्भो निगर्वः मेघान्न्यवर्तयत्॥ २४॥

1- -1. A,B वर्षो 2. A,B खातं° 3. A,B निर्वि° 4- -4. B निपातनात् 5- -5. K,T,W omit 6. A,B ° व्यम्

**विज०** कृत्वा उन्मूल्य। 'कृतीच्छेदने' छत्राकं शिलीन्ध्रं, यथोपजोषं यथासुखं, गर्तं बिलम्॥ १९,२०॥

वातवर्षनिमित्तं भयं अलं निवारितम्। "अलन्तु भूषणे शक्तौ पर्याप्तौ विनिवारणे" (वैज. को. 8-7-13) इति यादवः। तत्त्राणं तस्मा द्भया द्रक्षणम्॥ २१॥

कृष्णेनाऽऽश्वासितमानसाः आप्यायितमनोरथाः सोपजीवनाः व्रीहितन्दुलादि शरीरयात्रासाधनैः सहिताः ॥२२॥

सुखापेक्षां शयनासनवसनादिसुखसाधन श्रद्धां हित्वा मुक्त्वा॥ २३॥

योगानु भावं योगैश्वर्यम्। अनुभावः प्रभावे स्यान्निश्चये भाव सूचके" (वैज. को. 8-1-8) इति। महापुरुषान्दृष्ट्वा स्थाणुवत्प्रावण्याराहित्यं स्तम्भः, तद्रहितो निस्तम्भः। भ्रष्टसङ्कल्पः गलित मनोरथः॥ २४॥

**खं व्यभ्र मुदितादित्यं वातवर्षञ्च दारुणम्।**
**निशाम्योपरतं[1] गोपान् गोवर्धनधरोऽब्रवीत्॥ २५॥**

**निर्यात त्यजत त्रासं गोपा स्सस्त्रीधनार्भकाः।**
**उपारतं वातवर्षं व्युदप्रायाश्च निम्नगाः॥ २६॥**

**तत स्ते निर्ययु र्गोपाः स्वं[2] स्व मादाय गोधनम्।**
**शकटोढोपकरणं[3] स्त्रीबाल स्थविरा श्शनैः॥ २७॥**

**भगवानपि तं शैलं स्वस्थाने पूर्ववत्प्रभुः।**
**पश्यतां सर्वभूतानां स्थापयामास लीलया॥ २८॥**

1. M,Ma °श° 2. T,W °स्व° 3. A,M,Ma °टाटोप°

**श्रीध० निर्यातेति।** व्युदप्रायाः विगतोदकपायाः स्वल्पजला इत्यर्थः॥ २५,२६॥

**तत** इति। शकटोढोकरणं शकटै रूढ मुपकरणं यथा भवति तथा॥ २७,२८॥

**वीर०** तत उपरतं वात वर्षम्। अत एव विगतान्यभ्राणि यस्मात्, अत एव उदितः प्रकाशमान आदित्यो यस्मिन् तदाकाशञ्चदृष्ट्वा गोवर्धनधरो भगवान् गोपा नाह॥ २५॥

उक्तमेवाह[1] - **निर्यातेति।** हे गोपाः! स्त्रीभिर्धनैः अर्भकैश्च सहिता निर्गच्छत। त्रासं भयं त्यजत। वातवर्षमुपारतं निवृत्तम्। निम्नगाः[2] व्युदप्रायाः निरुदकप्रायाश्च स्वल्पजलाश्चेत्यर्थः॥ २६॥

ततो भगवदुक्त्यनन्तरं सर्वे गोपाः स्त्रियो बालाः स्थविरावृद्धाश्च शनै श्शकटै रूढानि गृहोपकरणानि यस्मिन् तद्यथा भवति तथा। स्वं स्वं गोधन मादाय निर्ययुः गर्तान्निर्जग्मुः ॥ २७॥

अथ प्र[3-]भुः समर्थो[-3] भगवानपि सर्वभूतानां पश्यतां सतां लीलया पर्वतं[4-] शैलं गोवर्धनं[-4] स्वस्थाने स्थापयामास॥ २८॥

1. A,B °क्ति° 2. A,B,K add 3- -3. K,T,W omit 4- -4. K,T,W omit.

**विज०** व्यभ्रं विगतमेघं, वातश्च वर्षश्च वातवर्षम्, एकवद्भावः ॥ २५॥

व्युदप्रायाः विगतजल प्रायाः ॥ २६॥

शकटाटोपकरणं शकट गत मुपकरणं जीवन साधनं शकटाटोपकरणञ्चाऽऽदाय, गतौ शकटपरिवर्तनेन आटोपकरणं सम्भ्रमविधि र्यथा भवति तथा इति वा॥ २७,२८॥

**तं प्रेमवेगा न्निभृता क्नौकसो[1] यथा समीयुः परिरम्भणादिभिः।**
**गोप्यश्चसस्नेह मपूजयन्मुदा दध्यक्षताद्भि र्युयुजु स्स्दाशिषः[2] ॥ २९॥**

**यशोदा रोहिणी नन्दो रामश्च बलिनां वरः।**
**कृष्ण मालिङ्ग्य युयुजु राशिषः स्नेहकातराः ॥ ३०॥**

**दिवि देवगणा स्साध्या[3] स्सिद्धगन्धर्व चारणाः।**
**तुष्टुवु र्मुमुचु स्तुष्टाः[4] पुष्पवर्षाणि पार्थिव[5]॥ ३१॥**

**शङ्ख दुन्दुभयो नेदु र्दिविदेव प्रचोदिताः[2]।**
**जयुर्गन्धर्वपतय स्तुम्बुरुप्रमुखा नृप॥ ३२॥**

**ततोऽ नुरक्तैः पशुभिः परिश्रितो राजन्स्वगोष्ठं[7] सबलेऽकिशद्धरिः[8]।**
**तथाविधान्यस्य कृतानि गोपिका गायन्त्य ईयु र्मुदिता हृदि स्पृशः ॥ ३३॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५॥

1. A,B,G,J,M,Ma व्रजौ 2. M,Ma °स्तथाऽऽ° 3. M,Ma स्सर्वे 4. M,Ma,T,W °स्सर्वे 5. M,Ma भारत! 6. A,B,G,J °णो° 7. A,B,G,J,M,Ma °न्स° 8. A,B,G,J °व्रजं°

**श्रीध० तमिति।** निभृताः पूर्णाः यथा यथोचितं, परिरम्भणादिभिः समीयु रुपजग्मुः। सदाशिषः श्रेष्ठा नाशीर्वादान्॥ २९ - ३२॥

तत इति। ततो गोवर्धनस्थानात्, अस्य कृष्णस्य तथा विधानि गोवर्धनोद्धरणादिरूपाणि[1] कृतानि कर्माणि गायन्त्य ईयु र्ययुः। कथम्भूताः? एवं प्रेम्णा हृदि स्पृशन्तीति हृदिस्पृशः। यद्वा कथम्भूतस्य? प्रेष्ठत्वेन तासां हृदि[2] स्पृशतीति[3] हृदिस्पृक्, तस्य॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
पञ्चविंशोऽध्यायः॥ २५॥

1. A adds तानि 2. A,B omit हृदि 3. B omits स्पृशतीति।

**वीर०** तं स्थापितवन्तं भगवन्तं प्रेमातिशयात् परिरम्भणादिभिः यथार्हं सञ्जग्मुः निभृता स्सुखिताश्च बभूवुः। तथा गोप्यश्च दध्यादिभिः सस्नेहं यथा भवति तथा मुदा हर्षेण अपूजयन्। सदाशिषः श्रेष्ठाशीर्वादान् प्रयुयुजुः॥ २९॥

**यशोदेति।** [1-]यशोदादय[-1]ः स्नेहकातराः स्नेहेन व्याकुलि[2]तचित्ताः॥ ३०॥

**दिवीति।** [3]दिवि देवगणादयः तुष्टा स्तुष्टुवुः पुष्पवर्षाणिमुमुचुः। [4]ववृषुश्च। हे पार्थिव!॥ ३१॥

**शङ्केति।** [5-]शङ्खादयो[-5] नेदुः दध्वनुः हे नृप!॥ ३२॥

ततो राजन्! अनुरक्तैः पशुपालैः परिवृतो बलदेवेन सहितो हरिः स्वगोष्ठं जगाम। गोपिकाश्च तथाविधानि गोवर्धनोद्धरणतुल्यानि अमानुषाणि[6] अस्य भगवतः कृतानि कर्माणि गायन्तः हृदिस्पृशः श्रीकृष्ण हृदयङ्गमास्सत्यः हृदिस्पृश इति भगवद्विशेषणं वा। मुदितास्सत्यः ईयुः व्रजं जग्मुः॥ ३३॥

इति श्रीमद्भगवते दशम स्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां पञ्चविंशोऽध्यायः॥ २५॥

1- -1. K,T, W omit 2. A,B °लचि° 3. K,T omit दिवि 4. T,Wववर्षुश्च 5- -5. K,T,W omit 6. A,B add अन्यान्यपि।

**विज०** प्रेमवेगात्प्रेमोद्रेकात् निभृता निश्चलाः पूर्णानन्दा वा। समीयुः समाजं प्राप्ताः॥ २९॥

स्नेहकातराः स्नेहकलिलान्तःकरणाः ॥ ३०-३२ ॥

हृदिस्पृशः मनोहराः । 'हृद्युभ्या मुपसंख्यानम् (अष्टा. 6-3-8 under वार्तिक) इत्यलुक् ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

(विजयध्वजरीत्या त्रयोविंशोऽध्यायः)

# षड्विंशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या चतुर्विंशोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

एवंविधानि कर्माणि गोपाः कृष्णस्य वीक्ष्य ते।
[1]नतद्वीर्यविदः प्रोचुः [2-]नन्द मभ्येत्य [-2]विस्मिताः ॥ १ ॥

बालकस्य यदेतानि कर्माण्यत्यद्भुतानि वै।
कथ मर्हत्यसौ जन्म ग्राम्येष्वात्मजुगुप्सितम् ॥ २ ॥

यस्सप्तहायनो बालः करणैकेन लीलया।
कथं बिभ्रद्गिरिवरं पुष्करं गजराडिव ॥ ३ ॥

तोके[3]नाऽऽमीलिताक्षेण पूतनाया महौजसः।
पीत[4]ः स्तन स्सह प्राणैः कालेनेव वय स्तनोः ॥ ४ ॥

हिन्वतोऽधश्शयानस्य मास्यस्य चरणा वुदक्।
अनोऽपत द्विपर्यस्तं रुदतः प्रपदा हतम् ॥ ५ ॥

एकहायन आसीनो हियमाणो विहायसा।
दैत्येन यस्तृणावर्त महन्कण्ठग्रहातुरम् ॥ ६ ॥

क्वचिद्धैयङ्गवस्तैन्ये मात्राबद्ध उलूखले।
गच्छन्नर्जुनयो र्मध्ये बाहुभ्यां तावपातयत् ॥ ७ ॥

1. A,B,G,J,V अ° 2- -2. A,B,G,J समभ्येत्य सुवि; M,Ma समुपेत्य सुवि° 3. K,T,W °न मी° 4. M,Ma °तं

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

षड्विंशे विस्मितान् गोपान् कृष्णस्याद्भुतकर्मभिः।
नन्दो गर्गोक्ति मा[1]शंस्य तदैश्वर्य मवर्णयत्।

**एवमिति।** नन्द मभ्येत्य नन्दं उपागम्य ॥ १ ॥

यदूचु स्तदाह - **बालकस्येति।** यत् यस्मात् अद्भुतानि कर्माणि तस्मा दग्राम्येषु गोपालेषु कथं जन्मार्हति? आत्मजुगुप्सितम् आत्मानर्हम्॥ २ ॥

अद्भुतानि कर्माण्याहुः द्वादशभिः **य** इति। यस्सप्तहायनः कथं बिभ्रत् स्थित इति। पुष्करं पद्मं गजराट् महागज इव॥ ३ ॥

**तोकेनेति।** महौजसः महाबलायाः तनोर्वयः आयुः यौवनं वा, कालेन यथा पीयते तद्वत्। कथ मित्यनुवर्तते॥ ४ ॥

**हिन्वत** इति। अनसोऽधश्शयानस्य मास्यस्य मासाः त्रयः परिच्छेदका यस्य। उदक् ऊर्ध्वं चरणौ हिन्वतः चालयतः प्रपदेन पादाग्रण आहतं विपर्यस्तं अनः कथमपतत्॥ ५ ॥

**एकहायन** इति। यः कृष्णः दैत्येन ह्रियमाणस्सन् तं तृणावर्तं दैत्यं कथं अह न्नित्यर्थः ॥ ६ ॥

**क्वचि** दिति। हैयङ्गवस्तैन्ये नवनीतचौर्ये। हैयङ्गवीन मिति वक्तव्ये हैयङ्गव मिति प्रयोग आर्षः। एव मेव सर्वत्राऽपि ज्ञेयम्। "हैयङ्ग वीनं संज्ञायाम्" इति। बाहुभ्यां गच्छन् चर न्नित्यर्थः ॥ ७ ॥

1. A,B,J °श्राव्य 2- -2. A,B,J समभ्येत्य 3- -3. A समभिगम्य; B,J अभिगम्य 4- -4. A,B,J omit 5- -5. A,B,J omit 6. P,V omit कृष्णः 7- -7. A,B,J omit 8. A,B,J रिङ्ग°

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथामानुष गोवर्धनोद्धरणात्मक चेष्टित स्मारितपूतनाशकटासुरवधादिवृत्तान्तै रतिमानुषैः कृष्ण ममानुषं शङ्कमानैर्गोपैः पृष्टो नन्दो गर्गगीतानुवादेन साक्षादयं नारायणो न केवलं मर्त्य इत्याहेत्याह मुनिः षड्विंशेन **एवमिति।** ते गोपाः कृष्णस्य एवंविधानि गोवर्धनोद्धरणादिव मानुषाणि पूतनादिवधात्मकानि कर्माणि वीक्ष्य अनुस्मृत्य, नतद्वीर्यविदः कृष्णासाधारणजगद्व्यापारादिरूपापार महिमान मजानन्तः केवल मेतै रेव कर्मभिः तं विस्मयपूर्वक माशङ्कमानाः विस्मयप्रयुक्तमुखविकासयुक्ताः नन्द मभिगम्योचुः ॥ १ ॥

उक्त मेवाऽऽह **बालकस्ये** त्यादिभि स्त्रयोदशभिः। यत् यस्मात्, एतानि बालकस्य कर्माणि अद्भुतानि, तस्मा दग्राम्येषु गोपेषु कथमसा वात्मनः स्वस्य जुगुप्सितं अननुरूपं जन्मार्हति॥ २ ॥

अद्भुतानि कर्माण्येवाऽऽहु र्द्वादशभिः **य इति।** यः कृष्णः कथं बिभ्रत् स्थितः। पुष्करं पद्मं महागज इव। धारणायोग्यत्व सूचकं बाल स्सप्तहायन इति च विशेषणद्वयम्। साधनत्वायोग्यत्वसूचनाय करेणैकेनेत्युक्तम्। धार्यत्वानर्हत्व सूचनाय गिरिवर मित्युक्तम्। एव मुत्तरत्राऽपि द्रष्टव्यम्॥ ३ ॥

**तोकेनेति।** महौजसो महाबलायाः पूतनायाः प्राणै स्सह स्तनः तोकेन शिशुना तत्राऽपि मीलिताक्षेण नेत्रोन्मीलनेऽपि असमर्थवयसेति भावः। कथं पीतः? यथा तनो श्शरीरस्य वयो यौवनं कालेन पीयते तद्वत्॥ ४ ॥

**हिन्वत** इति। शकटस्याधश्शयानस्य बालस्य। मास्यस्येतिपाठे मासास्त्रयः परिच्छेदका यस्य तस्य उदगूर्ध्वं चरणौ हिन्वतश्चालयतः रुदतश्च प्रपदा पादाग्रेणाऽऽहतमन श्शकटं विपर्यस्तं सत् कथ मपतत्? सर्वत्र कथंशब्दोऽनुवर्तते॥ ५॥

**एकहायन** इति। यः कृष्णः एकाब्दवयस्को भुवि निषण्णो दैत्येन तृणावर्तेन आकाशमार्गेण नीयमानः तं कण्ठग्रहणेन आतुरं पीडितं तृणावर्तं कथ महन् हतवान्॥ ६॥

**क्वचिदिति।** कदाचिन्नवनीतचौर्ये सति क्रुद्धया मात्रा यशोदया उलूखले बद्धो बाहुभ्यामर्जुनयो र्मध्ये गच्छन् रिङ्गन् तावर्जुनौ कथ मपातयत्॥ ७॥

1. A,B,K अत्यद्भु° 2. K अत्यद्भु° 3. A,B add अस्य 4. A,B add किञ्च 5. A,B °स्केनेति 6. A,B °ण हत° 7. T,W omit हतवान् 8- -8. K,T,W omit.

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

अनुस्मरणार्थ माप्रेङ्खाश्रितवयः सप्तवर्षपर्यन्तं बालचरित मनुक्रम्यतेऽस्मिन्नध्याये। तत्र श्रीशुको गोपानां सङ्कथन प्रकारं कथयति **एवंविधानीति।** ये गोपाः कृष्णस्यैवंविधानि कर्माणि वीक्ष्य तत्र तत्र साक्षा द्दृष्ट्वाऽपि तस्य कृष्णस्य वीर्यं माहात्म्यं विदन्ति जानन्ति ते तद्वीर्यविदः न भवन्ति ते, गोपाः समेत्य सम्भूय प्रोचुः व्याकुर्वन्नित्यन्वयः॥ १॥

बालस्यैतानि कर्माण्यत्यद्भुतानि वक्तु मशक्यानि वा इति यत्तस्मा दसौ आत्मनः स्वस्य जुगुप्सितं ग्राम्येषु विषयिजनेषु जन्म कथ मर्हति, निरूप्यमाणे न योग्य इत्यन्वयः॥ २॥

कानि तानि कर्माणीति तत्राऽऽहुः **य** इति बिभ्रत् अबिभ्रत्। पुष्करं पद्मम्॥ ३॥

तोकेन शिशुना आमीलिताक्षेण ईषत्फुल्लनेत्रेण महौजसः महाबलायाः अधृष्यावष्टम्भाया वा। "ओजोऽवष्टम्भ बलयोः" (वैज.को. 6-3-4) इति। स्तनं पीतं वय मद्राक्ष्मेति शेषः। कालेनाऽन्तकेन ॥ ४॥

चरणा वुदक् ऊर्ध्वं हिन्वतः उत्क्षिपतः मास्यस्य मासमात्रवयस्कस्य प्रपदेन पादाग्रेणाऽऽहतं पीडितम्॥ ५॥

एक एव हायनो वर्षं वत्सरो यस्य स तथा। तृणावर्तमहन्निति यत्कर्म तदपि॥ ६॥

हैयङ्गवं हैयङ्गवीनं सद्योदधिमन्थने जातं नवनीतं तस्य स्तैन्ये चौर्ये सति। बाहुभ्यां गच्छन्निति सम्बन्धः॥ ७॥

**वने सञ्चारय न्वत्सा न्सरामो बालकै र्वृतः।**
**हन्तुकामं बकं दोर्भ्यां मुखतोऽरि मपाटयत्॥ ८॥**

**वत्सेषु वत्सरूपेण प्रविशन्तं जिघांसया।**
**हत्वा न्यपातयत्तेन कपित्थानि च लीलया॥ ९॥**

हत्वा रासभदैतेयं तद्बन्धूंश्च बलान्वितः।
चक्रे तालवनं क्षेमं परिपक्वफलान्वितम्[2]॥ १०॥

प्रलम्बं घातयित्वोग्रं बलेन बलशालिना।
अमोचय द्व्रजपशून् गोपांश्चाऽऽरण्य वह्निना॥ ११॥

आशीविषतमाहीन्द्रं[3] दमित्वा विमदं ह्रदात्।
प्रसह्योद्वास्य यमुनां चक्रेऽसौ निर्विषोदकात्॥ १२॥

दुस्त्यजश्चाऽनु रागोऽस्मिन्सर्वेषां नो व्रजौकसाम्।
नन्द ते तनयोऽस्मासु तस्याऽप्यौत्पत्तिकः कथम्॥ १३॥

क्व सप्त हायनो बालः क्व महाद्रिविधारणम्।
ततो नो जायते शङ्का व्रजनाथ तवाऽऽत्मजे॥ १४॥

1. T,W °त° 2. M,Ma °लोचितम् 3. M,Ma °षं महारौद्रं

**श्रीध० वने** इति। मुखतो हन्तुं कामो यस्य तं बकवेषमरिं बाहुभ्यां मुखतः कथ मपाटयत्॥ ८-११॥

**आशीविषेति**। आशीविषतमः अतिक्रूरविषश्चाऽसौ अहीन्द्रश्च तम्॥ १२॥

**दुस्त्यज** इति। औत्पत्तिकः स्वाभाविकः। कथमिति किं सर्वेषा मय मात्मा स्यादिति शङ्का॥ १३॥

उक्त मपि अनिविस्मयेनाभिनयेन वदन्ति **क्व सप्त हायन** इति॥ १४॥

**वीर० वने** इति। रामेण सहितो बालकैश्च वृतो वत्सान् वने सम्यक्[1] चारयन् जिघांसुं बकासुर मरिं मुखे भुजाभ्यां कथं अपाटयत्[2] विदारितवान्॥ ८॥

**वत्सेष्विति**। हन्तु मिच्छया वत्सरूपेण वत्सेषु प्रविष्टं वत्सासुरं हत्वा लीलया न्यपातयत्। तेन पातितेन दैत्यकलेबरेण[3] कपित्थानि च न्यपातयत्॥ ९॥

**हत्वेति**। बलदेवेन सहितो रासभासुरं, तद्बन्धूंश्च हत्वा परिपक्वैः फलै रन्वितं तालवनं क्षेमं चक्रे। सर्वैः प्रवेष्टुं क्षेमं[4] चक्रे इत्यर्थः॥ १०॥

**प्रलम्ब** मिति। बलशालिना बलदेवेन उग्रं प्रलम्ब मसुरं घातयित्वा स्वयं व्रजपशून् गोपांश्च दवाग्ने रमोचयत्॥ ११॥

**आशीविषेत्यादि**। आशीविषतमः अतिक्रूरविषः स चाऽऽसौ अहीन्द्रश्च, तम्। बला द्दमित्वा ततो[5] विगतमदं तं[6] ह्रदा दुद्वास्य निष्कास्य यमुनां निर्विषोदकां चक्रे॥ १२॥

**दुस्त्यज** इति। हे नन्द! ते[7] तव तनयेऽस्मिन् कृष्णेनाऽस्माकं सर्वेषां व्रजौकसा मनुरागः दुस्त्यजः कथम्? तस्यैवंविधातिमानुषचेष्टितस्य अस्मासु औत्पत्तिकः जन्मसिद्धोऽनुरागः कथम्? अतस्सर्वशक्तिः सर्वेषा मात्मा ःव किं तवाऽऽत्मज इति आशङ्कामह इति भावः ॥ १३ ॥

अन्यथैतन्न घटत इत्याशङ्कामेवाऽऽविष्कुर्वन्ति **केति**। हे व्रजनाथ! ततोऽद्रिधारणादेः, तवाऽऽत्मजे शङ्का सर्वशक्तिपरमात्मशङ्का जायते ॥ १४ ॥

1. T,W omit सम्यक् 2. T,W omit अपाटयत् 3. A,B देहेन 4. K क्षमं 5. A omits ततो 6. B omits तं 7. K omits ते

**विज०** मुखतः मुखे, गृहीत्वेति शेषः अपाटयत् व्यदारयत् ॥ ८ ॥

तेन दैत्येन कपित्थानि कपित्थबीजानि। "फले लुक्" ॥ ९ ॥

क्षेमं प्रातरक्षम् ॥ १०, ११ ॥

दमित्वा निगृह्य, उद्वास्य उच्चाटयित्वा ॥ १२ ॥

अनुरागो हृदयङ्गमः स्नेहः। औत्पत्तिकः उत्पत्तिसिद्धः, कथम्? ॥ १३ ॥

"ततो नो जायते शङ्का" इत्यादिना नतद्वीर्यविद इति स्पष्टीकृतम् ॥ १४ ॥

**नन्द उवाच**

**श्रूयतां मे वचो गोपाः व्येतु शङ्का च[1] वोऽर्भके।**
**एनं कुमार मुद्दिश्य गर्गो मे य दुवाच ह[2] ॥ १५ ॥**

**वर्णा स्त्रयः किलाऽस्याऽऽसन्गृह्णतोऽनुयुगं तनूः।**
**शुक्लो रक्त स्तथा पीत इदानीं कृष्णताङ्गतः ॥ १६ ॥**

**प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जात स्तवाऽऽत्मजः।**
**वासुदेव इति श्रीमा नभिज्ञा स्सम्प्रचक्षते ॥ १७ ॥**

**बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते।**
**गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः[3] ॥ १८ ॥**

**एष वश्श्रेय आधास्य द्गोप गोकुलनन्दनः।**
**अनेन स्र्व[4] दुर्गाणि यूय मञ्ज स्तरिष्यथ ॥ १९ ॥**

**पुराऽनेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः।**
**अराजके रक्ष्यमाणा जिग्यु र्दस्यून् समेधिताः[5] ॥ २० ॥**

1. V ममार्भके 2. K,V तत् 3. M,Ma °नः 4. V बहु 5. V °तान्।

**श्रीध०** प्राक्श्रुत मेवगर्गाचार्यवाक्यं तच्चरित्रपरिशीलनेन निवृत्ताऽसम्भावनस्य नन्दस्य कृष्णतत्त्वावबोधकं जातम्। सइदीनीं तेनैव वाक्येन गोपा नुपदिशति श्रूयता मिति॥ १५-२०॥

**वीर०** एव मापृष्टः प्राक् श्रुत श्रीकृष्ण जातकात्मक गर्गवाक्यो नित्यं तच्चरित्र परिशीलन निवृत्तेश्वरत्वासम्भवनो नन्दस्तेनैव गर्गवाक्येन गोपाना माशङ्का मपनुदति। हे गोपाः! एनं कृष्ण मुद्दिश्य गर्गो यदुवाच तच्छ्रूयताम्, तच्छ्रवणेनैव अस्मिन्नर्भके विषये भवतां शङ्का व्येतु निवर्तताम्॥ १५॥

किं तद्गर्गोक्तं येन शङ्का व्येति इत्यत्र तदेवाऽऽह **वर्णा** इत्यादिभिः इत्यद्धेत्यतः प्राक्तनैः, इमे श्लोकाः पुरस्ता देव व्याख्याताः॥ १६-२०॥

**विज०** व्येतु विगता भवतु। वः युष्माकं प्रसक्तकथां प्रति अन्तरङ्गत्वेन कथान्तरमारभ्यत इति सूचनाय हकारः। "प्रत्यारम्भे प्रसिद्धौ ह" (वैज.को. 8-7-8), "हा विषादशुगार्तिषु" (वैज.को. 8-7-8) इति च॥ १५॥

वर्णा श्शुक्लाद्याः॥ १६॥

क्वचि न्मधुराया वसुदेवस्य सकाशात्, अभिज्ञाः वसुदेवस्याऽपत्य मिति तद्धितप्रत्ययज्ञान पटवः॥ १७॥

न केवल मेत देव नामरूपत्रय मेव, अपितु अन्या न्यपि सन्ती त्याह **बहूनीति।** नारायणादीनि गुणानु रूपाणि मधुसूदनादीनि कर्मानुरूपाणि॥ १८॥

आधास्यत् आधास्यति। यद्वा यदि यूय मस्मिन् भक्त्युद्रिक्तं चित्त मकरिष्यन् तर्ह्ययं वः पुरुषार्थलक्षण माधास्यत्। "लिङ्निमित्ते लृङ्क्रियातिपत्तौ (अष्टा. 3-3-139) इति सूत्रादयं विधिः॥ १९,२०॥

**स एतस्मिन्महाभागे[1] प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः।**
**नाऽरयोऽभिभवन्त्येता न्विष्णुपक्षा निवाऽसुराः॥ २१॥**

**तस्मान्नन्द! कुमारोऽयं नारायण समोगुणैः।**
**श्रिया कीर्त्याऽनुभावेन तत्कर्मसु न विस्मयः॥ २२॥**

**इत्यद्धा मां समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते।**
**मन्ये नारायणस्यांशं[2] कृष्ण मक्लिष्टकारिणम्॥ २३॥**

इति नन्दवच श्श्रुत्वा गर्गगीतं व्रजौकसः ।
★ दृष्ट श्रुतानुभावा स्ते कृष्णस्याऽमिततेजसः ॥
मुदिता नन्द मानर्चुः कृष्णश्च गतविस्मयाः ॥ २४ ॥

देवे वर्षति यज्ञविप्लवरुषा वज्राश्मवर्षानिलैः
सीदद्बालपशुस्त्रि आत्मशरणं दृष्ट्वाऽनुकम्प्युत्स्मयन्।
उत्पाट्यैककरेण शैल मबलो लीलोच्छिलीन्ध्रं यथा
बिभ्र द्गोष्ठ मपान्महेन्द्रमदभि त्प्रेयान्न इन्द्रो गवाम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टा दशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

1. A,B,G,J भागाः 2. K,T,W °णं साक्षात् ★ This half verse is not found in T,V,W edns 3--3. K कृष्णं विगतविस्मयाः ; T,W कृष्णश्च विगतस्मयाः 4. A,B,G,J °प° 5. A,B,G,J त्पा° 6. V चा° 7. M,Ma °यः 8. A,B,G,J,K,M,Ma त्री°

**श्रीध० तस्मा** दिति। तस्मा त्तस्य कर्मसु विस्मयो नास्तीति नन्दस्योक्तिः ॥ २१,२२ ॥

**इतीति।** इत्यद्धा साक्षात् मां प्रति समादिश्य गर्गे स्वगृहं गते सति तदानीं तथा अमन्यमानोऽपि इदानीं कृष्णं नारायणस्यांशं मन्ये। अत्र हेतुः अक्लिष्ट कारिण मिति ॥ २३,२४ ॥

गोवर्धनोद्धरणं सपरिकर मनुस्मरन् प्रकटितैश्वर्यस्य कृष्णस्य प्रीतिं प्रार्थयते **देवे** इति। यज्ञविप्लवेन या रुट् तया देवेन्द्रे वर्षति सति वज्राश्मवर्षानिलहः अशनिजल शर्करातिवृष्टि वायुभिः सीदद्बाल पशुस्त्रि सीदन्तो बालाः पशवः स्त्रियश्च यस्मिन् तत्तथा। आत्मा स्वयमेव शरणं यस्य तद्गोष्ठं दृष्ट्वा अनुकम्पी उत्स्मयन् हसन् प्रौढि माविष्कुर्वन् शैल मुत्पाट्य अबलः बालः लीलार्थं उच्छिलीन्ध्रं यथा एकेन करेण बिभ्रत् दधत् यो गोष्ठ मपात् पालितवान्। एवं महेन्द्र मदभित्। गवामिन्द्र इति उत्तराध्यायार्थं स्मरति। एवम्भूतः श्रीकृष्णः नः प्रेयात् प्रीयतामिति ॥ २५ ॥

★ षड्विंशे दशमेव्यक्तः षड्विंशो दशमो हरिः। व्यनक्तु पञ्चविंशत्यां चतुर्विंशतितः पृथक् ॥

△ अस्यार्थः दशमस्कन्धे षड्विंशतितमाध्याये षड्विंशति तत्त्वात्मकः दशलक्षणलक्षितः हरिः चतुर्विंशतितत्त्वापेक्षया पृथक् जीवसंज्ञं मां व्यनक्तु।

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

1. A,B,J °प° 2. A,B,J °रा तीव्र 3. A,B,J °त्पा° 4. A,B,J पा° 5. P,V add सः 6. A,B,J add सः ★ श्रीधरीयोऽयंश्लोकः।
△ It is not found in A,B,J edns.

**वीर०** इत्यद्धेति नन्दोक्तिः। इति नन्दवच इत्यादिस्तु शुकोक्तिः। इतीत्थ मद्धा स्फुटं, मां समादिश्य सम्यक् ज्ञापयित्वा गर्गे स्वगृहं गते सति अहं कृष्णं साक्षा न्नारायणं मन्ये। तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि अक्लिष्टकारिणां अक्लिष्टानि क्लेशरहितानि अतिमानुषचेष्टितानिकरोतीति तथा तं, अतो नारायणं मन्ये इत्यर्थः ॥ २१ - २३ ॥

इत्येवं विविधं गर्गगीतं नन्दवचः नन्देन[1-] उदितं[-1] श्रुत्वा सर्वे व्रजौकसौ विगताश्चर्या मुदिताश्च नन्दं कृष्णञ्च आनर्चुः। कृष्णं प्रति गतविस्मयानन्दमानर्चुः बह्वमन्यन्तेति वा ॥ २४ ॥

गोवर्धनोद्धरणं सपरिकर मनुस्मरन् प्रकटितैश्वर्यस्य भगवतः स्वविषय प्रीतिं प्रार्थयते शुकमुनिः **देव!** इति। यज्ञविघातेन हेतुना या रुट् तया हेतुभूतया देवे[2] इन्द्रे वर्षति सति, अशनि शिलावर्षवातैः सीदन्तः क्लिश्यन्तो बालाः पशवः स्त्रियश्च यस्मिन् तथा। स्वय मेव शरणं रक्षिता रक्षणोपायश्च यस्य तद्गोष्ठं दृष्ट्वा 'स्त्रियात्मेति' इयङार्षः। अनुकम्पायुक्तः उत्स्मयन् स्वमाहात्म्य माविश्चिकीर्षु स्ताव द्धसन्, अबलः बालोऽपि शैलं लीलार्थ मुत्पाटितं छत्राक मिव एकेन करेण उत्पाट्य बिभ्राणो गोष्ठं यो ररक्ष समहेन्द्रमदभित् गवामिन्द्रो नोऽस्माकं प्रीयात् प्रीयताम्[3] प्रसन्नो[4-] भवतु[-4]। यदुत्तराध्यायस्थं सुरभिवाक्यादि "त्वं न इन्द्रो जगत्पते" (भाग. 10-27-20) इत्यादि तदप्यनुसन्दधता शुकेन विशेषितो गवा मिन्द्र इति ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

1- -1. A,B,K omit 2. A,B °वेन्द्रे 3. A,B omit प्रीयाताम् 4- -4. T,W omit

**विज०** आनर्चुः पूजयामासुः ॥ २१ - २४॥

श्रीशुकः प्रथमभागसमाप्ति सूचनाय स्वेष्टदेवतां कृष्णमभिष्टुवन् तत आत्मरक्षा माशास्ते **देव** इति। यज्ञविप्लवः यज्ञभङ्ग इत्यर्थः। तस्मा दुत्पन्नया रुषा वज्राश्मवत् वज्रपाषाणवत् कर्कशैर्वर्षैः अनिलैश्च स्त्रिया सह सीदन्तः कम्पमानाः बालाश्च पशवश्च यस्मिंस्तत् सीदद्बालपशु, आत्मा शरणं रक्षिता यस्य तत्तथा। अनुकम्पी हृदयद्रवीभावयुक्तः उत्स्मयः उद्गतस्मयः निरस्तदर्पः, उत्कृष्टमन्दहासो वा, महेन्द्रस्य मदं गर्वं भिनत्ति निर्मूलयतीति महेन्द्र महेन्द्र मदभित्। अबलोऽस्थूलः अणुर्बलः लीलासाधन मुत्फुल्लशिलीन्ध्रं यथा तथैकेन हस्तेन शैलं शिलोच्चयं पर्वत मुत्पाट्य बिभ्रत् गवा मिन्द्रो गोविन्दोऽस्मभ्यं प्रीयात् प्रीतो भवत्वित्यन्वयः.। 'पायान्नः' इति पाठे नोऽस्मान् रक्ष त्वित्यर्थः। "गोस्वामी गोविन्दोऽधिकृतो गवाम्" (वैज.को. 3-4-59) इत्यमरः ॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६॥

(विजयध्वजरीत्या चतुर्विंशोऽध्यायः)

★ अयं वैजयन्ती पाठः ; (3-4-59) अमरकोशपाठस्तु - "गोष्ठाध्यक्षे तु गोविन्दः" (3-248) इति।

# सप्तविंशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या पञ्चविंशोऽध्यायः)

### -: गोविन्दपट्टाभिषेकघट्टः :-

श्रीशुक उवाच

गोवर्धने धृते शैल आसारा द्रक्षिते व्रजे।
गोलोका दाव्रजन्कृष्णं सुरभिः शक्र एव च ॥१॥

विविक्त उपसङ्गम्य व्रीडितः कृतहेलनः।
पस्पर्श पादयो[1] रेनं किरीटेनाऽर्कवर्चसा॥२॥

दृष्टश्रुतानुभावोऽस्य कृष्णस्यामिततेजसः।
नष्टत्रिलोकेशमद इ[2-]द माह[-2] कृताञ्जलिः ॥३॥

1. V युगलं 2- -2. A,B,G,J इन्द्र आह

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

सप्तविंशे तदालक्ष्य कृष्णस्य प्राभवं परम्।
वर्ण्यते सुरभीन्द्राभ्या मभिषेकमहोत्सवः ॥

**गोवर्धन** इति। गोवर्धने धृते शैले इति शक्रस्य भयेनागमने हेतुः, आसारा द्रक्षिते व्रजे इति सुरभे र्हर्षेणागमने॥१॥

तत्रेन्द्र आगत्य किं कृतवांस्तदाह 'विविक्त' इत्यादिना, 'अथाऽऽह सुरभिः' इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। **विविक्त** इति। विविक्त एकान्ते। पादयोः पस्पर्श नमश्चकार॥२॥

**दृष्टेति**। अस्य श्रीकृष्णस्य श्रुतश्चाऽसा वनुभावश्च श्रुतानुभावः। दृष्टः श्रुतानुभावो येन स इन्द्रः। नष्टः त्रिलौकशोऽह मिति मदो यस्य सः॥३॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ कृतापराधेनेन्द्रेण स्तुतिपूर्वकं क्षमापितस्य तदनुग्रहप्रकारं सुरभीन्द्रादिकृतक्षीरगङ्गाजलाद्यभिषेकप्रकारं तन्निमित्तं गोविन्द नामधेयं तादात्विकं तुम्बुरुनारद हर्ष प्रयुक्त गानादि प्रकारञ्चाह सप्तविंशेन। तत्र प्रथमं शक्रागमनं तत्कृत श्रीकृष्ण स्तवनञ्चाऽऽह[-1] **गोवर्धन** इति। सुरभिः कामधेनुः। गोवर्धने[2-] धृते शैले[2-] इतीन्द्रस्य समयामने हेतुः। 'आसारा द्रक्षिते व्रजे,[3] इति सुरभे स्सहर्षागमने हेतुः ॥ १ ॥

तत्रेन्द्र आगत्य किं कृतवान्, तत्राऽऽह विविक्त इत्यादिना अथाऽऽह सुरभिरित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। कृतं हेलना मपराधो येन, अत एव व्रीडितो लज्जितः, अत एव एकान्ते समीप मेत्य, अर्कस्येव वचो यस्य, तेन किरीटेन एनं कृष्णं पादयोः पस्पर्श नमश्चकार॥ २॥

**दृष्टेति।** अमितं तेजः प्रभावो यस्य तस्य कृष्णस्य दृष्टः श्रुतश्च अनुभावो येन तथा भूतः, अत एव नष्टोऽपगतः त्रिलोकेशोऽहमिति मदो यस्य कृतोऽञ्जलिर्येन तथाभूतः। इदं वक्ष्यमाणं स्तुत्यात्मकं क्षमापणात्मकञ्च वाक्यमाह॥ ३॥

1- -1. T,W omits 2- -2. A,B गोवर्धनाख्ये शैले पर्वते धृते सति कृष्णेन 3. A,B add सति

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

"तस्मिन्नप्यसुरावेशे गते प्रकृति रेवतु" (भागवत तन्त्रे) इति वचनात् देवस्वभाव प्रकटन पूर्वकं सुरभिक्षीराभिषेकेण शक्रस्तुत्या च हरिमाहात्म्यस्य अतिसिद्धत्वात् मुमुक्षुभि स्तस्मिन् अतिशयितं प्रेम विधेय मिति अस्याध्यायस्यारम्भः। तत्र सुरभीन्द्रयो रागमनं कथयति **गोवर्धन** इति। गोलोकाद्गवामधिकृतस्थानात् सुरभिः इन्द्रस्तु स्वर्गलोकात्। "दिग्दृष्टि दीधितिस्वर्गवज्रवाग्बाणवारिषु। भूमौ पशौ च विद्वद्भिर्गोशब्दो दशसु स्मृतः" (हला. को.5-68) इति हलायुधः। यो हरे र्विरोध माचरत् स एवाऽऽव्रज दित्यन्वयः ॥ १ ॥

विविक्ते एकान्ते। 'विजिर् पृथग्भावे' इति धातुः। जनसम्मर्दराहित्यस्थले इत्यर्थः ॥ २ ॥

इदानीं दृष्टः पूर्वं श्रुतः अनुभावो येन स तथा। इन्द्र इद माह॥ ३॥

**इन्द्र उवाच**

**विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तं तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम्।**
**मायामयोऽयं गुणसम्प्रवाहो न विद्यते तेऽग्रहणानुबन्धः ॥ ४॥**

**कुतो नु तद्धेतव ईश तत्कृता[2] लोभादयो येऽबुधलिङ्गभावाः।**
**अथाऽपि[3] दण्डं भगवा न्बिभर्ति धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय॥ ५॥**

पिता गुरु स्त्वं जगता मधीशो दुरत्ययः काल उपात्तदण्डः।
हिताय चेच्छातनुभि स्समीहसे मानं विधुन्वञ्जगदीश मानिनाम्॥ ६॥

ये मद्विधाज्ञा जगदीश मानिन स्त्वां वीक्ष्य कालेऽभय माशु तन्मदम्।
हित्वाऽऽर्यमार्गं प्रभजन्त्यपस्मया ईहाखलाना मपि तेऽनुशासनम्॥ ७॥

स त्वं ममैश्वर्यमदप्लुतस्य कृता गसस्तेऽविदुषः प्रभावम्।
क्षन्तुं प्रभोऽथार्हसि मूढचेतसो मैवं पुनर्भून्म तिरीश मेऽसती॥ ८॥

1. K,T,W ग्र° 2. A,M,Ma मन्युलो° 3. A,B,G,J,K त° 4. A,B,G,J,K त° 4. A,B,G,J,K स्वे° 5. W धू° 6. M,Ma °धाः स्युः 7. K,T,W °लेभ° 8. M,Ma तं म° 9. K,T,W °दै° 10. A कृतांहस° 11. V °दसतीश मे मतिः; K,T,W °न्मति रीश्वरेऽ सती।

**श्रीध०** तत्र ममापराधं क्षमस्वेति वक्तुं तव तावदपरोधो नास्त्येव त्वयाऽनुग्रह एव कृत इत्याह चतुर्भिः **विशुद्धसत्त्वमिति।** तवधाम स्वरूपं शान्तम् एकरूपम्, अतश्च तपोमयं प्रचुरज्ञानं सर्वज्ञ मित्यर्थः। कुतः? ध्वस्तरजस्तमस्कं ध्वस्ते अविद्यमाने रजस्तमसी यस्मिन् अतएवाऽयं अस्मदादिषु दृश्यमानः मायाकार्यरूपः गुणसम्प्रवाहः गुणै स्सम्प्रोह्यत इति तथा, संसार इत्यर्थः। स ते तव न विद्यते यतः अग्रहणेनाज्ञानेनाऽनुबध्यत इति तथा, सः सर्वज्ञस्य ते नास्तीत्यर्थः। अज्ञानसम्बन्धो वा॥ ४॥

यदा अज्ञानतत्कृतदेहसम्बन्धौ न स्तः तदा तत्कृतानां लोभादीनां का वार्ते त्याह **कुत** इति। तत्कृताः देहसम्बन्धकृताः तद्धेतवः पुनरप्यन्यस्य देहस्य हेतवः। ननु ज्ञानिना मपि ते दृश्यन्ते अत आह अबुधलिङ्ग भावाः अज्ञानिनां गमकाः यावद्रागादिमत्त्वम् तावदज्ञानित्व मेव, ज्ञानित्वं न सिद्ध मित्यर्थः। लोभाद्यभावेऽपि मन्मानभङ्गो दण्डार्थ मित्याह अथापीति॥ ५॥

ननु त्वद्दण्डे च मम गोपपुत्रस्य का शक्तिः? किं वार कारणम्, को वा दण्डः मया कृत इत्यत आह **पितेति।** जगतां त्वं पिता जनकः गुरु रुपदेष्टा। अधीशः नियन्ता इति दण्डधारणे हेतुत्रयम्। कालत्वात्समर्थः तस्मादुपात्तदण्डो हिताय कल्याणाय स्वेच्छातनुभिः लीलावतारैः समीहसे। तव समीहा लीलैव। जगदीशमानिना मस्माकं मानधुनन मित्यर्थः॥ ६॥

कथ मेत दित्यत आह **ये** इति। मद्विधाश्च ते अज्ञाश्च। अतो जगदीशमानिनः काले भयकालेऽपि यथा अधुनैवातिवृष्टौ त्वा मभयं भय मगणयन्तं वीक्ष्य आशु तन्मदं जगदीशा वयमिति मदं हित्वा वीतगर्वा स्सन्तः आर्यमार्गं त्वद्भक्तिलक्षणं प्रभजन्ति। अतस्ते इहैव खलाना मनुशाशनं दण्ड इत्यर्थः॥ ७॥

एवं भगवत्स्वरूपमभिप्रायञ्चाऽनुवर्ण्य क्षमापयति - **सत्वमिति।** एवम्भूता असती मतिः मे पुनर्माभूदिति प्रार्थनोन्तरम्॥ ८॥

1. B,J,P,V omit तव 2- -2. P,V omit 3. A,B विधू° 4. A,B विगत A,B °स्तव 6. P,V °द्रूप°

**वीर०** तत्र स्तुत्यात्मकं वाक्यं ताव द्दर्शयति विशुद्धसत्त्व मित्यादिना। तत्रेतः प्राक् त्रिलोकेशमदाविष्टोऽहम् अधुना यथाश्रुता दैवामानुषत्वन्माहात्म्यावलोकनाध्यवसितनित्य निरुपाधिक त्रिलोकेशत्वं तदसाधारणमिति मत्वा त्यक्तत्रिलोकेशमदोऽभव मित्यभिप्रायेणाऽकर्मायत्तविभूतिद्वय सम्बन्धविशिष्टं स्तौतीन्द्रः **विशुद्धसत्त्व** मिति। तव धाम स्थानं परमव्योमेति यावत्। विशुद्धं रजस्तमोभ्या मननुविद्धं सत्त्वं सत्त्वमयम्, अतएव ध्वस्तरज स्तमस्कं निर्धूत रजस्तमोगन्धम्, अत एव शान्तं रागद्वेषादि रहितं केवलं त्वदुपासनात्मकतपस आगतं, ततोऽगम्य मित्यर्थः। तवेति स्वस्वामिभावरूपसम्बन्धे षष्ठी। एवं नित्यविभूतिनायकत्व मुक्तम्। अथ तदेव धाम विशिंषन् लीलाविभूति नायकत्वमाह। ते तव अयं मायामयः मायाया आगतः पूर्वत्राऽत्र च "तत आगतः" (अष्टा.4-3-74) इत्यधिकारे, "मयट् च" (अष्टा.4-3-82) इति मयट्। सङ्कल्पमात्रपरिकृत इत्यर्थः। सत्त्वादिगुणकार्यरूपस्संसारः तन्मूलकः ग्रहणानुबन्धः शरीरग्रहणकारणभूतः कर्मानुबन्धश्च न विद्यते, यत्रेति शेषः। यत्र गुणसम्प्रवाहः ग्रहणानुबन्धश्च न विद्यते तथाभूतं त्वद्धामेत्यर्थः। तव मायामय इति गुणसम्प्रवाहस्य भगवत्सङ्कल्पायत्तत्वोक्त्या तस्य तादधीन्यलाभात् लीलाविभूति नायकत्वमुक्तं भवति॥ ४॥

न न्वहमेवंविधश्चेत् कथं रागादयः, कथं तन्मूला दण्डादि प्रवृत्ति रित्याशङ्क्य परिहरति **कुतः** इति। यद्यपि [1]त्वद्धामैव गुणसम्प्रवाहग्रहणानुबन्धादिरहितम्। अतो हे ईश, निरुपाधिकसर्वेश्वर, तत्कृताः तेन शरीरग्रहणेन कृताः, तत्प्रयुक्ता इत्यर्थः। तद्धेतवः पुन रन्यस्य शरीर ग्रहणस्य हेतवो ये रागादयः ते कुतो नु, तव न सन्त्येवेत्यर्थः। अत्यन्तासम्भावनायां हेतुं वदन् रागादीन्विशिनष्टि। अबुधलिङ्गभावाः अबुधानां देहात्मभ्रमवतां लिङ्गभावाः चिह्नभूतपदार्थभूताः। रागादिभिरेव हि अबुधत्वं व्यज्यते। नित्यं स्वयाथात्म्यानुभवस्वरूपस्य तव कथं रागादि सम्भावनापीति भावः। तथाऽपि हे भगवन्! पूर्णषाड्गुण्य! भवान् धर्मसंस्थापनाय। खलानां निग्रहाय च दण्डं बिभर्ति। भगवानिति पाठे षाड्गुण्य पूर्णो भवानित्यर्थः॥ ५॥

न च खलनिग्रहेण तव वैषम्य प्रसङ्गः, तन्निग्रहस्यऽपि तद्दमनद्वारा तदनुग्रह हेतुत्वात् इत्यभिप्रायेण खलनिग्रहस्यौचित्यं द्योतयितुं विशिंषन् वैषम्याभाव माह **पितेति।** सर्व जगतां पिता जनकः, गुरु र्हितोपदेष्टा, अधीशो नियन्ता, दुरत्ययः न तु लौकिक नियन्तृत्वात् कथञ्चि दत्येतुं शक्यः। [2]अतः काले उचितकाले उपात्तो दण्डो येन तथा[3], नहि लोके पित्रादयः उत्पथगामिनः पुत्रादीन् [4]शिक्षया सन्मार्गे प्रवर्तयितुं प्रभवोऽप्युपेक्षन्ते। न चैतावता तेषां वैषम्यञ्चेति भावः। अतः सर्वजगत्पितृत्वादिसम्बन्धविशिष्टस्य प्रभोः तव उचित एव खलनिग्रहार्थो, दण्ड इत्यर्थः। अत स्त्वं जगदीश मात्मानं मन्य मानानां मादृशां मानं गर्वं विधुन्वन् अस्माकं हितार्थ मेव स्वेच्छोपात्ताप्राकृतदिव्यतनुभि रुपलक्षितः ईहसे चेष्टसे। अतो न वैषम्य मिति भावः॥ ६॥

दण्डस्य हितार्थत्व मेवोपपादयति **ये** इति। ये मादृशाश्च ते अज्ञाश्च जगदीश मात्मानं मन्यामानाः ते उचितकाले भयं भयङ्करं दण्डधरं त्वां वीक्ष्य तन्मदं जगदीशाभिमानप्रयुक्तं मद माशु हित्वा अपस्मयाः अपगतगर्वाः आर्यमार्गं सतां वर्त्म प्रभजन्ति अनुवर्तन्ते। अत स्तव ईहा चेष्टाऽपि खलाना मनुशासनं शिक्षैव॥७॥

तदेवं भगवतः केवलं लोकहितार्थैकप्रवृत्तत्व मभिधाय अथ क्षमापयति **स त्व** मिति। मदैश्वर्येण इन्द्राधिपत्येन यो मदस्तेन प्लुतस्य व्याप्तस्य उत्पथं प्रतिपन्नस्य[5] वा। ममैश्वर्येति पाठान्तरम्। तदा ऐश्वर्येण इन्द्राधिपत्येनेत्येवार्थः। अत एव ते तव प्रभाव मविदुषः, अत एव कृतमार्गोऽपराधो येन तस्य मम अपराध मिति शेषः। स[6]ः एवम्भूत स्त्वं क्षन्तुमर्हसि। हे प्रभो! निग्रहीतु मनुग्रहीतुञ्च समर्थ! अथ पुन र्मूढचेतसो मम असती दुष्टा एवंविधा मति र्माभूत्, तथा अनुगृहाणेति प्रार्थना॥८॥

1. A,B तव धा° 2. T,W omit अतः 3. A,B, add भूतः 4. W शी° 5. A,B,K add इति 6. T,W omt सः

**विज०** कीदृशं तत्राऽह - **विशुद्धेति**। अहं तव धाम गृहस्थानीयं स्वरूपं शरणं, प्रपद्येति शेषः। अनन्त-पदार्थराशिं गृह्णातीति गृहम्। ननु गृहवत्सत्त्वादिगुणदारुभी रचितश्चेत् कालान्तरे जीर्णं स्या दित्यत्राऽऽह विशुद्धेति। विगतं शुद्धसत्त्वं रजस्तमोमिश्ररहितं केवलसत्त्वगुणो यस्मा त्तथा। चारुतर पदार्थैः कुशल पुरुषेण रचितं, न चेत् नयन सुभगं न स्यात् इत्यत्राऽऽह शान्त मिति। शान्तं मङ्गलम्। "शान्तिः प्रशममङ्गले" (वैज. को. 6-2-39) इति। अत एव सुखनिष्ठं वा क्षोभरहितं वा। नन्वेवञ्चेत् पाषाणकल्प मित्यत्राऽऽह - तपोमय मिति। ज्ञानात्मकं यदा सत्त्व मपि न सम्बध्यते तदा रजस्सम्बन्धो नाऽस्तीति किं वक्तव्यमिति भावेनाऽऽह ध्वस्तेति। अत्र लिङ्गमाह मायामय इति। यत त्वयि अयं मायामयः भगवदिच्छानिमित्तगुणसम्प्रवाहः त्रिगुणसम्बन्धो न विद्यते यस्मा त्तस्मादिति शेषः। 'विद सत्तायाम्' इति धातोः जीववत्तत्सम्बन्धो[1] नाऽस्ति। किन्तु सृष्ट्यादौ प्रेरकत्वसम्बन्धोऽस्तीति कृत्वा न विद्यत इति कीदृशः अग्रहणानुबन्धः, अग्रहण माग्रहः स एकानुबन्धो गुणभूतो यस्य स तथा। यद्वा, यत्र गुणसम्प्रवाहे अग्रहण मज्ञान मनुबध्नाती त्यग्रहणानुबन्धः। अनेन कार्याभावे कारणाभावोऽनुमीयत इति सूचितम्॥४॥

ननु "खलेन पर्षान्प्रतिहन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्रा" इति श्रुतेः। हरेः काम क्रोधादि दर्शनम् लोभाद्यभावः कथयत इत्यत्राऽऽह **कुत** इति। ते गुणाः हेतवो निमित्तानि येषां ते तद्धेतवः न विद्यन्त इति। कुतो नु? किं वक्तव्य मित्यर्थः। यद्वा तस्य संसारहेतवः कुतः कल्प्यन्ते इति शेषः। अबुधस्य अज्ञानिनः लिङ्गभावाः लक्षणभूताः। अत्र कारणाभावात्कार्याभावानुमानञ्च द्रष्टव्य मित्यर्थः। यद्यपि तव गुणनिमित्ताः कामादयो न सन्ति, तथाऽपि शास्त्रविहिता अदोषकरत्वा त्सन्तीत्याशयेनाऽऽह - अथापीति। दण्डं शासनं हिंसां वा। "दण्डोऽस्त्री शासने राज्ञां हिंसायां लगुडे गुणे" (वैज.को. 6-5-38) इति यादवः। विशुद्धसत्त्वं निर्मलसत्त्वगुणयुक्त मित्या

द्यपव्याख्यानप्रत्याख्यानाय विगतशुद्धसत्त्व मित्यादि व्याख्यात माचार्यैः। सत्त्वगुणाङ्गीकारे "मायामयोऽयं गुणसम्प्रवाहो न विद्यते" इत्येतत् व्याहतं स्यात् इति पश्यद्भि रिति असच्छासनेन धर्मस्थापनं प्रयोजनं सच्छिक्षणेन किं फलं स्यात्? किञ्च उभयेषां शासका उभये तौ नैक इतीयं शङ्का "असताञ्च सताञ्चैव हरि रेवाऽनुशासकः, सतान्तु श्रेयसे सैव ह्यनुशास्ति र्भविष्यति" (आग्नेये) इत्याग्नेयवचनेन परिहर्तव्येति॥ ५॥

पितृत्वा द्गुरुत्वा त्स्वामित्वाच्च हरेरेकस्यैव अनुशासकत्वं नाऽन्यस्येत्याशयेनाऽऽह **पितेति**। पुण्य पाप फलवाचकत्वेन उपात्तदण्डः गृहीतशासनः हिताय, सता मिति शेषः। "गुरु रात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम्। इह प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः" (विष्णु.ध. 65-27) इत्येतन्निरस्तमिति ज्ञातव्यम्॥ ६॥

सतामनुशासनं श्रेयस इत्यभिप्रेतम्। तदिदानीं व्यक्त माह **ये** इति। हे जगदीश, मद्विधा मानिनः स्युः, ते काले असुरावेशनिर्मोकसमये प्राप्ते अभयं त्वां वीक्ष्य अस्मन्मदनिर्मूलनवीर्यं त्वां दृष्ट्वा येन मदेन त्व दपराध मकार्ष्म तन्मदं हित्वा अपस्मयाः निरस्तगर्वाः आर्यमार्गं विद्वज्जनसिद्धान्तं प्रभजन्ति। न केवल मस्माकं तवेहाऽनुशासनं खलानामपीत्याह - इहेति॥ ७॥

तत्र कर्तव्यं प्रार्थयते - **सत्वमिति**। अविदुषः अज्ञस्य॥ ८॥

1. A,B omit तत् 2. A adds न

**तवावतारोऽय मधोक्षजेह भुवोभराणा मुरुभारजन्मनाम्।**
**चमूपतीना मभवाय देव भावाय युष्मच्चरणानुवर्तिनाम्॥ ९॥**

**नम स्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने।**
**वासुदेवाय कृष्णाय सात्त्वतां पतये नमः॥ १०॥**

**स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्तये।**
**सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः॥ ११॥**

**मयेदं भगवन्गोष्ठनाशायाऽऽसारवायुभिः।**
**चेष्टितं विहते यज्ञे मानिना तीव्रमन्युना॥ १२॥**

**त्वयेशानुगृहीतोऽस्मि ध्वस्तस्तम्भो हतोद्यमः।**
**ईश्वरं गुरु मात्मानं त्वामहं शरणं गतः॥ १३॥**

1. B,G,J स्वयं 2. M,Ma °देनात्त 3. A,B,G,J,M,Ma वृथो'

**श्रीध०** महा नयमपराधः, कथं क्षन्तव्य इति चेत् तत आह - **तवेति**। हे[1-] अधोक्षज! इह चमूपतीनां स्वय मेव भुवो भाराणां[-1] पुनश्च उरुभारजन्मनाम् ऊरूणां[2] बहूनां भाराणां जन्म येभ्य स्तेषां अभावय नाशाय, युष्मच्चरण सेविनान्तु भवाय उद्भवाय[3] अतो मम त्वत्सेवकत्वा दत्यन्तापराधोऽपि[4-] क्षन्तव्य[-4] हति भावः ॥९॥

क्षमापयन्नमस्करोति **नम** इति। तुभ्यं भगवते कृष्णाय नमः पुरुषाय सर्वान्तर्यामिणे महात्मने अन्तस्थत्वेऽपि अपरिच्छिन्नाय। कुतः[5-] वासुदेवाय सर्वनिवासाय[-5] सात्त्वतां यादवानां पतये नमः[6] ॥ १० ॥

तर्हि किमहं यादवः? तत्राऽऽह[7-] **स्वच्छन्देति**[-7]। स्वच्छन्दोपात्तदेहाय स्वेषां भक्तानां छन्देन इच्छया[8] स्वीकृत देहाय तत्राऽपि विशुद्धं ज्ञान मेव मूर्ति र्यस्य तस्मै। स्वस्य[9] मायया सर्वस्मै स[10]र्वरूपाय, कुतः स[11]र्वबीजाय कारणाय अत एव सर्वभूतात्मने नम इति॥ ११ ॥

कृतागस इत्यनेन उक्त मपराधं निवेदयति **मयेति**। आसार[12] वायुभिः गोष्ठनाशाय मयेद मकृत्यं वि[13]चेष्टितं कृत मि[14]ति॥ १२ ॥

**त्वयेति**। तथाऽपि भो ईश! त्वया अनुगृहीतोऽस्मि। अनुग्रहं दर्शयति ध्वस्तस्तम्भ इति, वृथोद्यम इति च॥ १३ ॥

1- -1. A,B स्वयम्भाराणां 2. A,B omit ऊरूणां 3. A,B omit उद्भवाय 4- -4 A,B °धिनोऽपि क्षन्तव्यम् 5- -5. B omits 6. B,J omit नमः 7- -7. A,B न। 8. A adds यादवादिषु 9. A,B omit स्वस्य 10. P.V omit सर्वरूपाय 11. A,B सर्वस्य बी° 12. A °रैः 13. A,B,J omit वि 14. A,B,J omit इति।

**वीर०** [1-]एवं प्रार्थनां कृत्वा भगवतः भूभारावतरणाय कृतावतारस्य[-1] लोकहितार्थैक प्रवृत्तत्व मेवोपपादयति - **तवेति**। हे अधोक्षज! भुवः उरुभारस्य जन्म येभ्यस्तेषां भुवो भरणां भूभृतां चमूपतीनां अभवाय संसाराभावाय दण्डद्वारा मुक्ति प्रदानायेति भावः। हे देव! युष्मच्चरणानुवर्तिनां भवाय विभवाय उत्तरोत्तर मनुवृत्त्यभिवृद्धये चेहलोके तवाऽवतारः ॥९॥

क्षन्तु मर्हसीत्युक्तम्। तत्र "अञ्जलिः परमा मुद्रा क्षिप्रं देवप्रसादनी" (भरद्वाजसं) इत्युक्तरीत्या अञ्जलिबन्धनमस्कृतिपूर्वकतच्छरणागति मन्तरेण नाऽन्योस्ति क्षमाहेतुः इत्यभिप्रयन् शरण्यगुणा नाविष्कुर्वन् अञ्जलिबन्धेन नमस्कुर्वन् स्वापराध मावेदयन् कार्पण्यञ्च प्रकाशयन् शरणं व्रजति नमस्तुभ्य मिति चतुर्भिः। भगवते इत्यादिभि श्शरण्यगुणाविष्कारः। पूर्णषाड्गुण्यमूर्तये महात्मने शरणागतशब्द भाजमवलोक्य अपराधविस्मरणेन केवलमनुजिघृक्षैक प्रवणचित्ताय वासुदेवाय वसुदेवपुत्राय। अनेन सौलभ्यं सौशील्यञ्चाऽभिप्रेतम्। कृष्णायेत्यनेन केवलं क्षेमङ्करत्वम्[2]। सात्त्वतां भक्तानां पतये इत्यनेन कृतागसा मपि भक्तानां मादृशां पुन श्शिक्षया पालकायेति। पुरुषाय महात्मन इति पदद्वयेन "महान् प्रभु र्वै पुरुष स्सत्यस्यैषप्रवर्तकः (श्वेता.उ. 3-12) इत्युक्तसत्वप्रवर्तकत्वम्॥ १० ॥

स्वच्छन्देन स्वेच्छयैव, न तु कर्मणा। उपात्तः परिगृहीतो देहो यस्य तस्मै इत्यनेन कर्मोपात्तदेहानां ब्रह्मादीनां प्रपित्सुतुल्यत्वं, भगवत एवाऽऽश्रित कार्यावहनक्षमत्वञ्च। विशुद्धं नित्यं सङ्कोचविकासादि विकाररहितं ज्ञानं मूर्तिराकारः प्रकार इति यावत्। सा यस्य तस्मै। अनेन "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तैत्ति. उ. 2-1-1) इत्युपक्रम्य "सत्यंज्ञान मनन्तम्" (तैत्ति.उ. 2-1-1) इत्युक्तज्ञानशब्दार्थप्रत्यभिज्ञानात्परत्वमुक्तं भवति। तदेव प्रपञ्चयति - सर्वस्मै सर्वपदार्थानन्यस्मै अनन्यत्वञ्च मृदनन्यो घट इति वन्न स्वरूपाभेदनिबन्धनम्, अपि तु कारणत्वान्तरात्मत्वनिबन्धन मित्यभिप्रायेणोक्तं, सर्वबीजाय सर्वकारणाय सर्वभूताना मात्मन इति॥ ११॥

स्वापराध मावेदयति **मयेति।** यज्ञे विहते सति तन्निमित्त स्तीव्रो मन्यु र्यस्य, तेन मानिना[3] देहात्माभिमानिना मया हे भगवन्! पूर्णषाड्गुण्येन त्वया अनुगृहीतस्य गोष्ठस्य नाशाय आसारवायुभिः इद मकृत्यं चेष्टितं कृतम्॥ १२॥

तथाऽप्यहं हे ईश! त्वया ध्वस्तः अविनयो यस्य सः, मदापनयनद्वारा अनुगृहीत एवाऽस्मि। सम्प्रति हत उद्यमः अपचिकीर्षात्मको यस्य सः। अनेन अधुनापराधचिकीर्षाभिसन्धिराहित्यमावेदितम्। अनेनैव कार्पण्यञ्च प्रकाशितम्। एवम्भूतोहं अधुना त्वां शरणं गतः। शरणागतावपि त्वमेव प्रयोजककर्तेत्यभिप्रायेण विशिनष्टि ईश्वरमिति। शरणागतये मां नियमयन्तमित्यर्थः। आचार्यसान्निध्यभावशङ्का प्रयुक्तशरणागतिवैयर्थ्याशङ्कापरिहाराय विशिनष्टि गुरु मिति। देहात्माभिमानक्रोधादिदुर्गुणापनयनद्वारा हितप्रवर्तकत्वेन आचार्यकृत्यमपि प्राप्त मित्यर्थः। ननु न तवेदं[4] शरणं गतोऽस्मीति वचो निर्व्यलीक मिति शङ्कां निराचिकीर्षु र्विशिनष्टि आत्मान मिति। अन्तरात्मन स्तवाऽविदितं किमस्तीति भावः॥ १३॥

1- -1. T,W omit 2. A,B °क° 3. A,B omit मानिना 4. A,B,K तदेव'

**विज०** सतां भवाय पुण्यलक्षण भद्राय देवदत्तवज्जननं भजतो हरेः अवतारः कथं भवाय स्यादितीदम् "आवेशो वसुदेवादौ देहादानं हरेः स्मृतम्" (पाद्मे) इत्यादिपाद्मवचनेन परिहर्तव्यम्॥ ९॥

न केवलं ग्रन्थान्तरसिद्ध मिदम् अत्रापीत्याशयेनाऽऽह **स्वच्छन्देनेति।** स्वच्छन्देन स्वेच्छया सर्वस्मै सर्वव्यापिने सर्वबीजाय सर्वस्य मूलकारणाय॥ १०, ११॥

आसारसहितवायुभिः॥ १२॥

ध्वस्तस्तम्भः निरस्तस्थूणस्वभावः॥ १३॥

**श्रीशुक[1] उवाच[-1]**

**एवं[2] सङ्कीर्तितः कृष्णो मघोना भगवानमुम्।**
**मेघगम्भीरया वाचा प्रहस न्निद मब्रवीत्॥ १४॥**

श्रीभगवा नुवाच

मया तेऽकारि मघवन्मखभङ्गोऽनुगृह्णता।
मदनुस्मृतये नित्यं मत्तस्येन्द्र श्रिया भृशम्॥ १५॥

मा मैश्वर्य श्रीमदान्धो दण्डपाणिं न पश्यति।
तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य वाञ्छाम्यनुग्रहम्॥ १६॥

गम्यतां शक्र भद्रं वः क्रियतां मेऽनुशासनम्।
स्थीयतां स्वाधिकारेषु युक्तै र्वः स्तम्भवर्जितैः॥ १७॥

अथाऽह सुरभिः कृष्ण मभिवन्द्य मनस्विनी।
स्वसन्तानै रुपामन्त्र्य गोपरूपिण मीश्वरम्॥ १८॥

1- -1. M,Ma,T,V,W omit 2. K,T,W इत्थं 3. V यज्ञ 4. A,B,G,J,M,Ma चेच्छा° 5. M,Ma ते 6. M,Ma °र्विस्रम्भ 7. A,V नन्द्य; K,T,W वाद्य 8. K,T,W गत्य; V गम्य।

**श्रीध०** इन्द्रेण स्वाभिप्राये निवेदिते भगवानपि तथैवाऽऽह **मयेति**। इन्द्रश्रिया देवराज्येन॥ १४ - १६॥

**गम्यतामिति**। वः युष्माभिः। बहुवचनं वरुणाद्यभिप्रायेण। क्व गन्तव्यं स्वर्गेऽपि तवैवेश्वरत्वादिति चेत्तत्राऽऽह-क्रियतामिति। मदनुशासनेन यथापूर्वं तत्र स्थीयता मित्यर्थः। युक्तै रप्रमत्तैः स्तम्भविवर्जितैः निरहङ्कारैः॥ १७॥

**अथेति**। स्वसन्तानै र्गोभिस्सह॥ १८॥

1. A,B,J omit वि 2. A,B,J add उपामन्त्र्य।

**वीर० इत्थमिति**। इत्थं मघोना इन्द्रेण सङ्कीर्तितः कृष्णः अमुं मघवान मुवाच॥ १४॥

तदेवाऽऽह **मयेति** त्रिभिः। हे मघवन्! अनुजिघृक्षता मया त्वद्यज्ञभङ्गः कृतः। कोऽसा वनुग्रह इत्यत्र तद्दर्शयति। इन्द्रश्रिया इन्द्राधिपत्येन। इन्द्रेति सम्बोधनं वा। नितरां मत्तस्य तव नित्यं मद्विषयकानुस्मृतये मखभङ्गोऽकारीत्यन्वयः मदनुस्मृत्यापादनमेवाऽनुग्रह इति भावः॥ १५॥

मत्तस्य मदनुस्मृतये इत्यनेन मदन्यस्य स्वानुस्मृतिप्रतिबन्धकत्वम्, अत एव तदपनयनस्य हितत्वं सूचितम्। तदेव व्यनक्ति मा मिति। ऐश्वर्यश्रीमदाभ्यां आधिपत्यसम्पन्मदाभ्यां[1] अन्धो विवेकशून्यो जनः दण्डधरं मां न पश्यति। अतो यस्याऽनुग्रह मिच्छामि तत्सम्पद्भ्यो भ्रंशयामि। तस्य सम्पदभिलाषं निवर्तयामीत्यर्थः ॥ १६॥

हे शक्र, वो युष्माक मितः परं मदनुस्मृत्यात्मकं भद्रमेव भवेत्। बहुवचनं वरुणाद्यभिप्रायकम्। किन्तु ममाऽनुशासनं क्रियताम्। किन्त दनुशासनम् यदस्माभिः कर्तव्यम्? तत्राऽऽह[2] अविनयरहितैः युक्तै स्सावधानैः वो युष्माभिः। विभक्तिव्यत्यय आर्षः। स्वाधिकारेष्वेव स्थीयताम् ॥ १७॥

सुरभिरप्याव्रज दित्युक्तम्, साऽऽगता किञ्चकारेत्यत्राऽह - **अथेति**। मनस्विनी तत्तद्वाञ्छितार्थप्रदानप्रवणरूप प्रशस्तमनस्का। पयस्विनीति पाठान्तरम्[3]। तदा प्रभूतपयस्का सुरभिः स्वसन्तानैः स्वापत्यै स्सह आगत्य। गोपस्येव रूपमस्याऽस्तीति तथा। तं साक्षादीश्वरं कृष्णमभिवाद्योवाच ॥ १८॥

1. A,B सम्पद्भ्यां 2. A,B add स्तम्भवर्जितै रिति। 3. A,B पाठे।

**विज०** मघोना इन्द्रेण ॥ १४॥

अकारि कृतः। हे भगवन्! इन्द्र! ॥ १५॥

'पण व्यवहारे' इति धातोः हानादिव्यवहारसाधनत्वात्पाणिर्हस्तः, दण्डपाणिं यमं माम्। भ्रंशयामि विस्रस्तं करोमि। चशब्द एवार्थे। अनुग्रह मेव नाऽन्यद्वित्तादिकम् अनुग्रहानन्तरमविनश्वरसम्पदश्चेति समुच्चये वा। ऐश्वर्यमीश्वरत्वं, गवादिसमृद्धिः श्रीः, आभ्या मुद्धतेन[1] मदेनाऽन्धः ज्ञानलक्षणचक्षूरहितः ॥ १६॥

मयि मनसा युक्तैः अनित्यैश्वर्यादौ विस्रम्भवर्जितैः भवद्भिः स्वाधिकारेषु त्रैलोक्यरक्षणादिषु स्थीयताम् ॥१७॥

अथशब्दः कथारम्भे। मनस्विनी शुद्धमनाः स्वसन्तानैः स्ववंशजातगोभिः, सहेति शेषः ॥ १८॥

1. A,B °द्धृ°

**सुरभि रुवाच**

**कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्म न्विश्वसम्भव ।**
**भवता लोकनाथेन सनाथा वय मच्युत ॥ १९॥**

त्वं[3-] नः परमकं[-3] दैवं त्वं न इन्द्रो जगत्पते ।
भवाय भवगोविप्रदेवानां ये च साधवः ॥ २० ॥

इन्द्रं न स्त्वाऽभिषेक्ष्यामो ब्रह्मणा चोदिता[4] वयम् ।
अवतीर्णोऽसि विश्वात्मन्[5-] भूमेर्भारापनुत्तये ॥ २१ ॥

श्रीशुक[6-] उवाच[-6]

एवं कृष्ण मुपामन्त्र्य सुरभिः पयसात्मनः ।
जलै राकाशगङ्गाया[7] ऐरावतकरोद्धृतैः ॥ २२ ॥

इन्द्र स्सुरर्षिभिस्साकं चोदितो[8] देवमातृभिः ।
अभ्यषिञ्चत[9] दाशार्हं गोविन्द इति चाऽभ्यधात् ॥ २३ ॥

1- -1 T,W omit 2. V भावन 3- -3. V त्वमेव परमं 4. A,B,G,J नो° 5- -5. V भगवन् 6- -6. M,Ma,V omit 7. M,Ma °श्वा° 8. A प्रहितो; B,G,J नोदितो 9. T.W अभि

**श्रीध०** **कृष्ण कृष्णेति।** कृष्णेत्यादिना सम्बोध्य इन्द्रेण हता अपि भवता सनाथाः वयं कृताः रक्षिता इत्यर्थः ॥ १९ ॥

**त्वमिति।** त्वं नः परमं दैवं[1] देवता। अतः हे जगत्पते गोविप्रदेवानां येऽन्ये च साधव स्तेषां भवायाऽभ्युदयाय अद्य[2] त्वमेव नः अस्माकं इन्द्रो भव ॥ २० ॥

ननु भवता मिन्द्रोऽस्तीति चेदत आह - **इन्द्र** मिति। अलं पुरन्दरस्येन्द्रतया इत्यर्थः। ननु देव[3] इन्द्रो भव[4] कथ महं भवेय मिति चेदत आह - अवतीर्णोऽसीति ॥ २१ ॥

**एव** मिति। सुरभि रात्मनः पयसा अभ्यषिञ्चत्। इन्द्रश्च आकाशगङ्गाया[5] जलैः अभ्यषिञ्चत इत्युत्तरेणान्वयः[6-] ॥ २२ ॥

**इन्द्र** इति। देवमातृभि रदित्यादिभिः। देवै र्मातृभिश्चेति वा। गाः पशून्, गां स्वर्गं वा। इन्द्रत्वेन[7] विन्दतीति कृत्वा गोविन्द इत्यभ्यधात्, नाम कृतवा नित्यर्थः ॥ २३ ॥

1. B adds दैवतं 2- -2. P,V त्वमेव 3. A,B,J add एव 4. A,B,J,P भवति 5. A adds मन्दाकिन्याः 6- -6. A,B,J omit 7. P,V °त्वे

**वीर०** तदेवाऽऽह - कृष्ण कृष्णेति त्रिभिः। हे विश्वस्यान्तरात्मन्! विश्वस्य सम्भवो यस्मात्तथाभूत! हे महायोगिन्! युज्यत इति योगो धर्मः सोऽस्याऽस्तीति तथा। स्वासाधारणकल्याणगुणशालिन्! वयं लोकनाथेन साक्षाद्भवतैव सनाथाः कृताः नाथाभासेनेन्द्रेण हता अपि त्वया रक्षितत्वात्त्वमेव नो नाथ इत्यर्थः ॥ १९॥

त्व मेव नोऽस्माकं परो मा न विद्यते यस्मा त्तथाभूतं दैवतम्। हे जगत्पालक! गवां विप्राणां देवानां ये साधवः तेषाञ्च नोऽस्माकञ्च अभ्दुदयाय त्वमेव इन्द्रो भव[2] ॥ २०॥

ननु गवादीना मय मिन्द्रोऽस्त्येवेत्यत्राऽऽह - **इन्द्र मिति।** तत्तदधिकारप्रदेन ब्रह्मणा चोदिता वयं त्वा मेवेन्द्र मभिषेक्ष्यामः। पुरन्दरस्याऽल मिन्द्रतया इति भावः। ननु देव इन्द्रो भवितु मर्हति न त्वहं मर्त्यः। तत्राऽऽह अवतीर्ण इति। भारावतरणाय देवाना मपि देव स्त्वमिति भावः ॥ २१॥

इयं सुरभिः कृष्णं सम्प्रार्थ्य आत्मनः पयोभिः क्षीरैः अभ्यषिञ्चत[3]। तथेन्द्रोऽपि देवमातृभि रदित्यादिभिः चोदितः। देवैः मातृभि श्चेति वा। सुरैः ऋषिभि स्सहितश्च ऐरावतकरोद्धृतैः ऐरावतकरगतघटसमाहृतैः। प्रमाणान्तराविरोधादेवंव्याख्यातम्। आकाशगङ्गाया जलैः दाशार्हं श्रीकृष्ण मभिषिक्तवान्, गोविन्द इत्यभ्यधात्, अभिधां चकार। गाः पशुधनं विन्दति लभत इति वा। गां स्वर्ग मिन्द्रत्वेन विन्दतीति वा। उभयविधशब्दप्रवृत्तिनिमित्ताश्रयत्वा दन्वर्थसंज्ञामकरो दित्यर्थः। गां भुवं विन्दतीति संज्ञा तु स्वाभाविकी त्यभिप्रायः ॥ २२, २३॥

1. A,B omit नः 2. A,B add इति 3. A,B °त्

**विज०** विश्वात्मन्! विश्वव्यापिन्! सनाथाः कृताःस्मः इति ॥ १९॥

नोऽस्माकं परमकं अत्युत्तम मिष्ट दैवम् इन्द्रः ईश्वरः देवानां देवजातीनां ये च साधवः ऋष्यादयः तेषां भवाय भद्र लक्षणाय श्रेयसे ॥ २०॥

नः इन्द्रं स्वामिनं त्वाम् ॥ २१॥

सुरभिः आत्मनः पयसा ॥ २२॥

दशार्हं दशार्हकुलतिलकम्। दाशं सुखादिदाम मर्हतीति वा। अभ्यषिञ्चत[1] देवमातृभिः चोदित इन्द्रश्च सुरर्षिभि स्सार्धमाकाशगङ्गाया जलैः कृष्ण मभ्यषिञ्च दित्यन्वयः। गोविन्दः गोःविन्दो लाभो यस्य सः। आलभत इति वा। गोविन्द इत्यभ्यधात्, अभिधानं कृतवांश्च ॥ २३॥

1. A,B °त्

तत्राऽऽगता स्तुम्बुरुनारदादयो गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणाः ।
जगुर्यशो लोकमलापहं हरेः सुराङ्गना स्संननृतु र्मुदान्विताः ॥ २४॥

तं तुष्टुवु र्देवनिकायकेतवो ह्यवाकिरं श्चाद्भुतपुष्प वृष्टिभिः ।
लोकाः परा न्निर्वृति माप्नुवंस्त्रयो गाव स्तदा गा मनयन् पयः स्रुताम् ॥ २५॥

नानारसौघा स्सरितो वृक्षा आसन् मधुस्रवाः ।
अकृष्टपच्यौषधयो गिरयोऽबिभ्रदुन्मणीन् ॥ २६॥

कृष्णेऽभिषिक्त एतानि सर्वाणि कुरुनन्दन!
निर्वैराण्यभवं स्तात! क्रूराण्यपि निसर्गतः ॥ २७॥

इति गोगोकुलपतिं गोविन्द मभिषिच्य सः ।
अनुज्ञातो ययौ शक्रो वृतो देवादिभिर्दिवम् ॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्री वैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे इन्द्रस्तुतिर्नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७॥

1. A,B,G,J,M,Ma °य° 2. A,B,G,J,K,M,Ma पयोद्रुः ; V पयोवृ° 3. A °यसृदु° M,Ma बिभ्रनु° 4. B,G,J,K,T,W सत्त्वानि।

**श्रीध० तमिति।** देवनिकायेषु केतव इव दर्शनीया, मुख्या इत्यर्थः। गावो गां पृथ्वीं पयोभि र्द्रुता मार्द्रा मनयन् अकुर्वन्नित्यर्थः ॥ २४, २५॥

नानारसौघाः क्षीरादिवाहिन्यः अकृष्टपच्याः कर्षणं विनैव पक्वा ओषधयो व्रीह्यादय आसन् यद्वा अकृष्टपच्या ओषधयो येषु ते गिरयः उन्मणीन् गर्भगतान्मणीन् उत् उद्गतान् बहिः प्रकटा नबिभ्रत् अबिभरुः ॥ २६-२८॥

★ इन्द्र स्त्वमसि देवानां त्वं गवा मिन्द्रतां गतः ।
गोविन्द इति लोके त्वां गास्यन्ति भुवि मानवाः ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वमिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७॥

1. A adds सन्धिरार्षः 2. V omits मणीन् ★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः । This verse is not found in A,B,J edns.

**वीर० तत्रेति।** तत्रेत्यादिग्रन्थस्य कृष्णेऽभिषिक्त इत्यादिः । तुम्बुरुप्रभृतयो हरेः लोकस्य शृण्वतः संस्मरतश्च मलमपहन्तीति तथा। तद्यशो जगुः सुराणा मङ्गना रम्भादयः सम्यक् ननृतुः ॥ २४॥

**तमिति।** देवसङ्घेषु केतुव[1] दर्शनीयाः मुख्या इत्यर्थः। अद्भुताभिः पुष्पवृष्टिभिरभितोऽवाकिरन्। त्रयो लोकाः परां निर्वृति मानन्दं प्रापुः। गावो गां पृथ्वीं पयोभिः क्षीरै र्द्रुतां सिक्तामनयन् चक्रुः ॥ २५॥

सरितो नानारसौघाः क्षीरादिवाहिन्यो बभूवुः। वृक्षास्तु मधूनि स्रवन्तीति तथाभूताः ओषधयस्तु अकृष्टपच्याः कृषिं विनैव व्रीह्यादयः फलिता आसन् इत्यर्थः। सन्धि रार्षः। [2-]यद्वा, अकृष्टपच्याश्च (ताः) ओषधयश्च इति कर्मधारय[-2]ः। यद्वा अकृष्टपच्या ओषधयो येषु ते गिरयः उन्मणीन् उद्गतान् बहिः [3]प्रकटान् मणीन् अबिभ्रत् अबिभरुः ॥ २६॥

तदा हे कुरु नन्दन! कृष्णेऽभिषिक्ते सति, इन्द्रे [4]कृते सतीति भावः। एतानि स्वभावतः क्रूराण्यपि सर्वाणि भूतानि सर्पव्याघ्रादीनि हे तात! [5-]वैर रहिता न्य[-5]भवन् ॥ २७॥

स इन्द्र इत्थं गवां गोकुलस्य [6-]नन्दव्रजस्य[-6] पतिं गोविन्दमभिषिच्ये त्युक्तार्थोपसंहारः। तेनाभ्यनुज्ञातः कृष्णाधीनस्वाधिकारो भूत्वेति तात्पर्यम्, देवादिभिः परिवृतो दिवं स्वर्गलोकं [7]प्रति ययौ ॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७॥

1. A,B °व इव द° 2- -2. T,W omit 3. A,B प्रकाशान् 4. K,T,W omit कृते 5- -5. T,W निर्वैराण्य° 6- -6. K,T,W omit 7. K,T,W omit प्रति

**विज०** संननृतुः समीचीनं नृत्यं चक्रुः ॥ २४॥

देवनिकायानां केतवः श्रेष्ठाः गां भूमिं पयसा द्रुतां परिप्लुतां अनयन् प्रापयामासुः ॥ २५

मधु मधुररसं स्रवन्त्यः उन्मणी नबिभ्रन् भृतवन्तः ॥ २६-२८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥
(विजयध्वजरीत्या पञ्चविंशोऽध्यायः)

# अष्टाविंशोऽध्यायः

(श्रीविजयध्वजरीत्या षड्विंशोऽध्यायः)

## -: श्रीकृष्णस्य वरुणलोकगमनवृत्तान्तः :-

श्रीशुक उवाच

एकादश्यां निराहारः समभ्यर्च्य जनार्दनम् ।
स्नातुं नन्द स्तु कालिन्द्यां[1] द्वादश्यां जल माविशत् ॥ १ ॥

तं गृहीत्वाऽनयद्भृत्यो[2] वरुणस्याऽसुरोऽन्तिकम् ।
अविज्ञायाऽऽसुरीवेलां प्रविष्ट मुदकं निशि ॥ २ ॥

चुक्रुशु[3] स्त मपश्यन्तः कृष्ण रामेति गोपकाः[4] ।
भगवां स्तदुपश्रुत्य पितरं वरुणाहृतम् ॥
तदन्तिकं गतो राजन् स्वाना मभयदो विभुः ॥ ३ ॥

प्राप्तं वीक्ष्य हृषीकेशं लोकपाल स्सपर्यया ।
महत्या पूजयित्वाऽऽह तद्दर्शनमहोत्सवः[5] ॥ ४ ॥

वरुण उवाच

अद्य मे निभृतो[6] देहोऽद्यैवाऽर्थोऽधिगतः[7] प्रभो[8] !
★ अक्ष्णो र्वाचश्च साफल्यं तव मे दर्शना द्विभो ।
त्वत्पादभाजो[9] भगव न्नवापुः पार मध्वनः ॥ ५ ॥

1. A,B,G,J,K,M,Ma °न्द्याः 2. V °हूतो 3. M,Ma गोपाला° 4. M,Ma चुक्रुशुः ; V. गोपिकाः 5. T,W त्व° 6. A,M,Ma वि 7. M,Ma देह अद्यार्थी; T,W देह अप्यार्थो; V. देहो ह्यद्यार्थो 8. V मया ★ This half verse is not found in A,G,J,M,Ma,V editions 9. A,M,Ma यत्पा°

## श्रीधरस्वामिविराचिता भावार्थदीपिका

**अष्टविंशे ततो नन्दानयनं वरुणालयात् ।**
**वैकुण्ठदर्शनश्चाऽपि[1] गोपाना मनुवर्ण्यते॥**

**गोवर्धनं समुद्धृत्य वशे कृत्वाऽमरेश्वरम् ।**
**नन्दानयनतः कृष्णो वरुणश्च वशेऽनयत्॥**

**एकादश्या** मिति। कलामात्रायां द्वादश्यां पारणाऽऽदराभिनिवेशेनाऽऽसुरीं वेला मविज्ञाय अरुणोदयात्पूर्वमेव शास्त्रबलेन निशि उदकं प्रविष्टं तदनभिज्ञो वरुणस्य भृत्योऽनयदिति। तथा च शास्त्रम् — "कलार्धां द्वादशीं दृष्ट्वा निशीथा दूर्ध्व मेव हि। आमध्याह्नाः क्रिया स्सर्वाः कर्तव्याः शम्भुशासनात्" इत्यादि[2]। वक्ष्यति च वरुणः "अजानता मामकेन" (भाग. 10-28-7) इति। भगवद्धर्ममजानतेत्यर्थः ॥ १, २॥

**चुक्रुशु** रिति। स्वानां भगवद्धर्मपराणा मभयदो मा भैष्टे त्यभयं ददत्॥ ३॥

**प्राप्त** मिति। सपर्ययाऽर्हणेन॥ ४॥

**अद्येति।** अद्य इदानीं मे मया देहो निभृतः ध्रुतः। यद्वा निभृतः पूर्णमनोरथः इत्यर्थः। किञ्च अद्यैवाऽर्थोऽधिगतः। सर्वरत्नाकरपतिनाऽपि इतः पूर्वं नैवंविधोऽर्थः प्राप्त इत्यर्थः। किञ्च संसारोऽपि निवृत्त ऐवेत्याशयेनाऽऽहत्वत्पादभाज इति। अध्वनः पारं मोक्षम्॥ ५॥

1. A,B,J °ऽथ 2. P.V इति।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ वरुणदूताहृत नन्दानयन स्वलोक प्रदर्शनात्मकं कर्माऽनुवर्णय त्यष्टाविंशेन **एकादश्या** मिति। कदाचि न्नन्दः एकादश्यां निराहारो जनार्दनं सम्य गभ्यर्च्य कलामात्रावशिष्टायां द्वादश्यां पारणाभिनिवेशेनाऽऽसुरी मसुरसञ्चार सहचरितां वेलामर्धरात्ररुपा मविज्ञायैव तदा स्नातुं कालिन्द्या[1] यमुनायाः[2-2] जल माविवेश प्रविष्टः[3] ॥ १॥

तं निशि उदकं प्रविष्टं नन्दं वरुणस्य भृत्योऽसुरो गृहीत्वा वरुणस्य समीप मनयत्॥ २॥

ततः प्रभाते[4] नन्द मपश्यन्तो गोपाः हे कृष्ण! हे राम! इति चुक्रुशुः[5] रुरुदुः, आजुहुवुर्वा। तदा भगवान् तदाक्रोशनं वरुणाऽऽहृतं पितरञ्च[6] श्रुत्वा ज्ञात्वा चेति शेषः। हे राजन्! स्वाना मभयदो विभुस्समर्थः, हेतुगर्भमिदम्, एवंविधत्वा त्तस्य वरणस्याऽन्तिकं गतः। तदा लोकपालो वरुणः स्वान्तिकं प्राप्तं कृष्ण मवलोक्य तस्य दर्शन मेव महानुत्सवो यस्य तथाभूतो महत्या सपर्यया पूजया साधनेन पूजयित्वाऽब्रवीत्। तदेवाऽऽह - **अद्येति** पञ्चभिः। हे

प्रभो! अद्य अधुना मे मया देहो निभृतः धृतः। यदा त्वद्दर्शनं जातं तदैव देहसाफल्यं प्राप्त इत्यर्थः। यद्वा निभृतः पूर्ण मनोरथ इत्यर्थः। किञ्च, अर्थोऽप्यैवाऽधिगतः। सकल रत्नाकरपतिनाऽपि इतः पूर्वं नैवंविधः पुरुषार्थः प्राप्त इत्यर्थः। तथा ममाऽक्ष्णोः साफल्यं दर्शना ज्जातम् त्वद्दर्शना न्मम मुक्ति रपि करस्थे त्यभिप्रायेणाऽऽह - हे भगवान्! त्वत्पादं भजन्तीति तथा, तेऽपि संसाराध्वनः पारं त्वा मापुः, किमुत त्वद्दर्शनभागहमिति भावः॥ ३-५॥

1. T,W °न्यां° 2- -2. T,W omit 3. K,T,W omit प्रविष्टः 4. A,B add तं 5. T,W omit चुक्रुशुः 6. A,B नन्दं।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भक्तजनानुकम्पार्थोऽय मवतारो, नाऽऽत्मार्थम् इति दर्शयितुं वरुणपाशात् नन्दगोपमोचनं नन्दादीनां स्वशोकप्रदर्शनञ्च कथयति अस्मिन्नध्याये शुक इति तत्र वरुणपाशग्रहणं कथं नन्दस्याऽभूत्? इतीदं वक्तु मारभते **एकादश्या** मिति। व्रतघ्नाहारोनाऽस्तीति निराहारः॥ २॥

आसुरीं वेलां निशीथकालम्॥ २॥

वरुणभृत्येनाऽऽहृत मपि वरुणाहृत मिति वचनं वरुणस्य स्वामि भृत्यापराधे स्वामिनो दण्ड इति। यथा तथा युज्यत इत्यर्थः॥ ३,४॥

मे मया विध्रुतो दण्डोऽद्य सफलो जात इति शेषः। अर्थः पुरुषार्थः। कथं तदिति तत्राऽऽह - यत्पादेति। अध्वनः पारं संसार समुद्रस्य मार्गस्य तीरान्तरम्। अद्धावात्यनेनेत्यध्वा॥ ५॥

**नम स्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने।**
**न यत्र श्रूयते माया लोकसृष्टि[1]विकल्पना॥ ६॥**

**अजानता मा[2]मकेन मू[3-]ढेनाऽकार्य[-3]वेदिना।**
**आनी[4]तोऽयं तव पिता त[5]त्प्रभो क्षन्तु मर्हसि[6]॥ ७॥**

★ **पितैष ते म[7]याऽऽनीतो यन्न स्त्वत्पाद दर्शनम्।**
**गोविन्द नीयता मेष पिता ते पि[8-]तृवत्स[-8]ल!**
△ **प्रजा वय मनुग्राह्या सापराधा अपि प्रभो!॥ ८॥**

**श्री[9-] शुक उवा[-9]च**

**एवं प्रसादितः कृष्णे भगवा[10] न खिलेश्वरः।**
**आदायाऽगात्स्वपितरं बन्धूनाञ्चाऽऽवहन्मुदम्॥ ९॥**

1. K,M,Ma द° 2. T,W त्वत्पितरं 3- -3. V त्वत्प्रभावं जगद्गुरोः। 4. V °हृतो 5. A,B,G,J तद्भवान् 6. A,B,G,J °ति ★ This half verse is not found in A,B,G,J edns. 7. V य आ° 8- -8. M,Ma,V मामकाहृतः। △ This half verse is not found in A,G,J,M,Ma edns. But in its place another half verse runs thus - 'ममा प्यनुग्रहं कृष्ण कर्तु मर्ह स्यशेषकृत् 9- -9. T,W omit. 10. A,B,G,J °नीश्वरेश्वरः॥

**श्रीध० नम इति।** भगवते निरतिशयैश्वर्याय, बह्मणे पूर्णाय। परमात्मने सर्व जीव नियन्त्रे। तत्र हेतुः - न यत्रेति। लोकसृष्टिं विकल्पयति। या माया सा यत्र न श्रूयते, अविद्यमानेव तिष्ठतीत्यर्थः॥६॥

**अजानतेति।** अजानता मद्भृत्येन त्वत्पित्राऽऽहरणं यत्कृतं तदिति॥७॥

**पितेति।** नन्दं विमुच्य समर्पयति॥८,९॥

**वीर०** एवं स्वकृतार्थता[1] माविष्कृत्य अथ क्षमापयितुकामः क्षमाहेतुः केवल मञ्जलिमुद्रैवे त्यभिप्रयन् असाधारण गुणैः विशिंषन्नमस्करोति **नम** इति। पूर्णषाड्गुण्याय स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशय बृहते लोकत्रयान्तः प्रवेशव्याप्यगत धर्मास्पर्शाभ्यां नियन्त्रे भर्त्रे च तुभ्यं नमः। यत्र त्वयि लोकस्य जीवलोकस्य दृष्टिं ज्ञानं विकल्पयति विविधं कल्पयति गुणत्रयोन्मेषानुगुणकर्मरुचिजननद्वारा ज्ञान सङ्कोचविकासादिहेतु र्माया न श्रूयते, नाम्नाऽपि न श्रूयते, न सुतरां स्वकार्यक्षमेति भावः। लोकसृष्टीति पाठे लोकसृष्टिं देवमनुष्यादि शरीर सृष्टिं नानाविधां कल्पयतीति तथा देवमनुष्यादि शरीर रूपेण विक्रियमाणा यत्र त्वयि न श्रूयते, तस्मै अप्राकृत स्वेच्छोपात्तादेहाय तुभ्य मित्यन्वयः॥६॥

अथ स्वापराधं निवेदयन् क्षमापयति - **अजानतेति।** अकार्य वेदिना कार्यविदिना, विवेक शून्येनेति यावत्। मूढेन अज्ञेन त्वत्पितर मजानानेन त्वत्प्रभावानभिज्ञेन वा मामकेन मद्भृत्येन तव पिता आनीत इति य त्तदिदं क्षन्तुं त्वमर्हसि। हे प्रभो! निग्रहानुग्रह समर्थ! यद्यस्मादेष तव पिता मया आनीतः, अत एव हि दुर्लभमपित्वद्दर्शनं नोऽस्माकं जातं, भृत्यकृतापराधोऽपि महाफलाय बभूवेति भावः। इत्युक्त्वा[2] नन्दं समर्पयति - गोविन्देति। हे गोविन्द! हे पितृवत्सल! एष[3] तव पिता नीयताम्[-3]। कृतापराधे स्वस्मि न्ननुग्रहं प्रार्थयते - प्रजा इति। प्रजाः पुत्रप्रायाः वयम्; अत एव हे प्रभो! सापराधा अप्यनुग्राह्या एव त्वयेति[4] शेषः[-4] इत्थं वर्णनेति[5]शेषः[-5]। प्रसादितः प्रसन्नीकृतः कृष्णः पितर मादाय बन्धूनां मुदं हर्षं[6] आवहन् जगाम॥७ - ९॥

1. K,T,W omit स्व 2. T,W omit इत्युक्त्वा 3- -3. T,W omit 4- -4. T,W omit 5- -5. T,W omit 6. T,W omit हर्षं

**विज०** ब्रह्मणे देशादितोऽपरिच्छिन्नाय लोक दृष्टिं विकल्पयतीति लोकदृष्टिविकल्पना विपरीतज्ञानापादिकेत्यर्थः माया बन्धकशक्तिः, परमात्मने उत्कृष्टानन्दस्य दात्रे॥ ६॥

अकार्यवेदिना कार्य ज्ञानी न भवतीति॥ ७॥

बन्धूनाञ्च मुद मावहत्॥ ८,९॥

नन्द स्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा लोकपाल महोदयम् ।
कृष्णे च सन्नतिं तेषां ज्ञातिभ्यो विस्मितोऽब्रवीत्॥ १०॥

तेत्वौत्सुक्यधियो राज न्मत्वा गोपा स्तमीश्वरम् ।
अपि नस्स्वर्गतिं सूक्ष्मा मुपाधास्य दधीश्वरः॥ ११॥

इति स्वानां स भगवान् विज्ञायाऽखिलदृक्स्वयम् ।
सङ्कल्पसिद्धये तेषां कृपयैत दचिन्तयत्॥ १२॥

जनो वै लोक एतस्मि न्नविद्याकामकर्मभिः ।
उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन्॥ १३॥

इति सञ्चिन्त्य भगवा न्महाकारूणिको विभुः ।
दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्॥ १४॥

सत्यं ज्ञान मनन्त यद्ब्रह्म ज्योति स्सनातनम् ।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः॥ १५॥

तेतु ब्रह्महदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः ।
ददृशु र्ब्रह्मणो लोकं यत्राऽक्रूरोऽध्यगात्पुरा॥ १६॥

नन्दादय स्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृताः ।
कृष्णञ्च स मभिष्टूय मानयन्त स्सु विस्मिताः॥ १७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे अष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८॥

1. K,T,W °चौत्सु° 2. M,Ma °स्त्वधीश्वरम् 3. K,T,W °त्य° 4. V सङ्कल्पं 5. M,Ma °येदम° 6. K,T,W जनोऽयं 7. M,Ma स्व 8. B,G,J,K,T,W हरिः 9. V चब्र° 10- -10. M,Ma कृष्ण मचक्षत 11. T,W °ऽभ्य° 12- -12. A,B,G,J,M,Ma तत्र च्छन्दोभिः स्तूयमानं सु°

**श्रीध० नन्दस्त्विति।** अतीन्द्रिय मदृष्टपूर्वं लोकपालस्य महोदय मैश्वर्यम्। तेषां तत्रत्यानाम्॥ १०॥

**ते** इति। औत्सुक्ययुक्ता धीः येषां ते। अपि किं स्वगतिं स्वस्थानं सूक्ष्मां ब्रह्माख्यां चोपाधास्यात् उपाधास्यति। नोऽस्मान्प्रापयिष्यतीति सङ्कल्पितवन्तः इत्यर्थः॥ ११॥

**इतीति।** इति एवम्भूतं स्वानां तेषां सङ्कल्प मखिलदृक् सर्वज्ञः स्वयमेव विज्ञाय तेषां सङ्कल्पसिद्धये कृपया एत द्वक्ष्यमाणमचिन्तयत्॥ १२॥

**जन इति।** अविद्या देहादिष्वहम्बुद्धिः, ततः कामः, ततः कर्म, तै रुच्चावचासु देवतिर्यगादिषु भ्रमन् स्वीयां गतिं न वेद॥ १३॥

**इतीति।** स्वं ब्रह्मस्वरूपं लोकं वैकुण्ठाख्यञ्च तमसः परम् तमसः प्रकृतेः परम्॥ १४॥

देहादिपिहितानां तद्दर्शन मशक्य मिति प्रथमं देहादिव्यतिरिक्तं ब्रह्मस्वरूपं दर्शयामासेत्याह — **सत्यमिति।** सत्य मबाध्यं ज्ञानं, अजडमनन्तम् अपरिच्छिन्नं ज्योतिः स्वप्रकाशं सनातनं शश्वत्सिद्धं ब्रह्म गुणापायें गुणापोहे ज्ञानिनो य त्पश्यन्ति तत्कृपयैव दर्शयामास॥ १५॥

**ते** इति। एवं ब्रह्महृदं ब्रह्मैव ह्रद ञ्च ह्रदः, तत्र निमग्नस्य विशेषविज्ञानाभावात् तं ब्रह्म ह्रदं, ते तु नीताः प्रापिताः तस्मिन् मग्नाश्च। तु शब्दोक्तं विशेष माह - पुनः कृष्णेनोद्धृताः समाधे रिवोत्थापिताः सन्तो ब्रह्मण स्तस्यैव लोकं वैकुण्ठाख्यं ददृशु रिति। ननु ब्रह्मनिमग्नानां पुन र्लोकदर्शन मघटित मेवे त्याशङ्क्याऽऽह — यत्रेति। यत्र यस्मिन् कृष्णे निमित्ते सति पूर्व मक्रूरोऽध्यगात् दृष्टवान्। शुकपरीक्षित्संवादात् प्राक्तनत्वात् पुरेति भूतनिर्देशः। न ह्यतर्क्यैश्वर्ये भगवति किञ्चिदपि असम्भावितमिति भावः। अथवा अक्रूरो यत्र दृष्टवान् तस्य यमुनाह्रदस्य ब्रह्म ह्रद इति नाम। तं ह्रदं नीता मग्ना स्सन्तो ब्रह्मणो लोकं ददृशुः। पुनश्च कृष्णेनोद्धृताः पूर्वव त्तं दृष्ट्वा विस्मिता बभूवु रिति। व्यवहितान्वयोऽप्रसिद्धकल्पना च सोढव्येति॥ १६,१७॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां अष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८॥

1- -1. A,B,J omit 2. A,B,J °द्यहं 3- -3. A,B,J omit 4. B,J omit तत् 5. B,J °स, तदाह 6. P,V omit ब्रह्म 7. A,B,J °वत् 8. A अथाऽस्मिन् 9. B,J,P,V omit पुरेति 10. A,B,J omit मग्नाः 11. P,V °ह्मलो° 12. B,J omit इति।

**वीर०** नन्दस्त्वतीन्द्रिय मदृष्टपूर्वं वरुणस्य महोदय मैश्वर्यं तेषां वरुणादीनां कृष्णे सन्नतिं नम्रतां भृत्यता मिति यावत्। दृष्ट्वा अतीव विस्मितः तत् ज्ञातिभ्योऽन्ववर्णयत्॥ १०॥

तत स्ते नन्दस्य ज्ञातयो गोपाः हे राजन्! तं कृष्णं साक्षात् जगदीश्वरं परमपुरुषं मत्वा औत्सुक्य युक्ता धी र्येषां तथा भूताः अय मीश्वरः कृष्णः सूक्ष्मा मतीन्द्रियां स्वगतिं स्वस्वरूपरूपगुणविभूति प्रकारं नोऽस्माक मुपाधास्य त्यपि दर्शयिष्यति किम्? इति सङ्कल्पितवन्तः। उपाधान मत्र दर्शनं, धातूना मनेकार्थत्वात्, उत्तरानुगुण्याच्च॥ ११॥

इत्थं स्वानां, अभिप्राय मिति शेषः। अखिलदृक्, हेतुगर्भमिदम्! तत्त्वात् स्वय मेव विज्ञाय तेषां मनोरथसिद्धये कृपया एतत् वक्ष्यमाण मचिन्तयत्॥ १२॥

चिन्तित मेवाऽऽह **जन** इति। जनोऽयं गोपजन्मभूत् जीवलोके अस्मिन् लोके अविद्यादिभि रुत्तममध्यमाधमासु देवतिर्यङ्मनुष्यादि देहप्रवेशरूपासु गतिषु भ्रमन् स्वां मदसाधारणां गतिं न वेद बत! तत्राऽविद्या देहात्माभिमानस्वतन्त्रात्माभिमानमूल मज्ञानम्। कामः शब्दादि विषयाभिलाषः। कर्म तदनुगुणा चेष्टा॥ १३॥

इत्थं सञ्चिन्त्य महाकारुणिको विभुः, हेतुगर्भ मिदम्। तत्त्वात् गोपानां स्वलोकं दर्शयामास। स्वंस्वरूपं लोकं नित्यविभूतिं च दर्शयामासेत्यर्थः। तत्र सत्यं ज्ञान मित्यर्धेन स्वं विशिनष्टि। तमसः पर मित्यनेन यद्धीत्यर्धेन च लोक मिति विवेकः। तमसः परं प्रकृति मण्डलात् बहिर्भूतं "क्षयन्त मस्य रजसः पराके" "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" (श्वेता. उ. 3-8) इत्यादिश्रुतेः। (लोका रजांस्युच्यन्ते, क्षयन्तं निवसन्त मित्यर्थः)॥ १४॥

सत्यं निर्विकारं नित्यासङ्कुचितापरिच्छिन्नज्ञानाश्रयं ज्ञानात्मकञ्च त्रिविधपरिच्छेदरहितं स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयबृहत् स्वयम्प्रकाश मनादिनिधनं समाधिनिष्ठा मुनयो गुणापाये त्रिगुणात्मकप्रकृतिसम्बन्धनिवृत्तौ सत्यां यत्पश्यन्ति तदिति स्थानकटाक्षेण नपुंसकनिर्देशः॥ १५॥

स्वलोकयो रतीन्द्रियत्व मालोच्य भगवता प्रकारान्तरेण दर्शितौ ददृशु रित्याह - त इति। ते गोपाः ब्रह्म ह्रदं प्रति भगवता प्रापिताः तदाज्ञया तत्र मग्नाः उद्धृता स्समाधियुक्ताः ब्रह्मणो लोकं ददृशुः। कोऽसौ ब्रह्मह्रद स्तत्राऽऽह यत्रेति। यत्र यस्मिन् यमुनाह्रदे अक्रूरः पुराऽध्यगात्, ब्रह्मलोक मित्यनु वर्तते, दृष्टवान् स एव ब्रह्मह्रदाख्यः। पुरेति कथाप्रवृत्तेः पूर्वकालो विवक्षितः॥ १६॥

नन्दादय स्तं लोकं दृष्ट्वा परमानन्द भरिताः कृष्णं सम्य गभिष्टूय बहुमन्वानाः सुतरां विस्मिताश्चाऽभवन्॥ १७॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवबिदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८॥

1- -1. K,T,W omit 2. K चिन्ता मे 3. K धृत् 4. A,B °शन 5. A,B यत् 6. A,B add स्व 7- -7. T,W omit 8. T,W नित्याप°

**विज०** अतीन्द्रियं इन्द्रियाविषयम्॥ १०॥

नन्दवर्णितकृष्णमाहात्म्यं श्रुत्वा गोपानां बुद्धौ कि मन्ववर्तत? तत्राऽऽह **त** इति। तु शब्दोऽवधारणार्थो विशेषार्थो वा। औत्सुक्यधियः पूर्वस्मा द्विशिष्टभक्त्याहृतबुद्धयः ते गोपाः तं कृष्ण मधीश्वरं ब्रह्मादेरप्यधिकं ईश्वर मेवं मत्वा ज्ञात्वा एषोऽधीश्वरो नोऽस्माकं इष्ट मकरिष्यत्। तर्हि सूक्ष्मा मतीन्द्रियां स्वगतिं स्वस्थानमप्युपाधास्यत् अदर्शयिष्य दिति॥ ११॥

बुद्ध्या मनीषितं एवं कथ मवगत मित्यतः कृष्णचिन्तनेनाऽवसीयते इत्याशयेनाऽऽह **इतीति**। स्वाना मिति सर्वनामसंज्ञामन्तरेण प्रयोगो ज्ञानित्व विशेषद्योतनाय। स्वानां ज्ञातीनां हार्दं विज्ञाय। तत्र हेतुः अखिलदृगिति॥ १२॥

सन्निहितत्वा दिद मित्युक्तं विवृणोति **जन इति**। एतस्मिन् लोके सांसारिकसञ्चारस्थाने अविद्याकामकर्मादिभि र्भ्रमन् परिवर्तमानः अत एव उच्चावचासु उत्कृष्टापकृष्टासु गतिषु पतितो जनः स्वगतिं गम्यत इति गतिः स्वबिम्बभूतो नारायणः तं स्वस्वरूपं च न वेद न जानातीति॥ १३॥

सञ्चिन्त्य गोपानुद्दिश्य लोकं वैकुण्ठं कीदृशम्? तमसः प्रकृतेः परं व्यतिरिक्तं अप्राकृत मित्यर्थः॥ १४॥

किंविशिष्टं कृष्ण मिति तत्राऽऽह **सत्य मिति**। सत्य मबाधितं जानातीति ज्ञानं सर्वज्ञं अन्तत्रयशून्यं अविनाशि वा यत् ब्रह्म एवं विशिष्टम्। "सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म" (तैन्ति.उ. 2-1-1) इति श्रुतिसिद्धम्। "यच्चज्योतिः स्वयं प्रकाशमानं परंज्योतीरूपं सम्पद्य" इति श्रुतिवेदितं "यच्च सनातनं सदैकप्रकारम्" "अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः" (कठ.उ. 2-18) इति श्रौतं यच्च समाहिता मुनयो गुणापाये सत्त्वादिगुणनिवृत्तौ अवरणाभावात् पश्यन्ति। "हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभं ज्योतिषां ज्योति स्तद्यदात्मविदो विदुः" (मुण्ड.उ. 2-2-9) इत्यादिश्रुतिशतं हिशब्देन गृहीतम्। एवंविधगुणविशिष्टं ब्रह्मशब्दवाच्यं कृष्ण मचक्षतेति सम्बन्धः। किंविशिष्टा गोपाः पुरा अक्रूरो यत्र ह्रदे मग्नः ब्रह्म कृष्णात्मकं अध्यगात् अधिगतवान् चक्षुषा अपश्यत् द्रक्ष्यतीति भूतपूर्वत्वेन व्यपदेशः कथायाश्चक्रवद्वर्तमानार्थः। तस्मात्ब्रह्मसन्निधानात् ह्रदान्मग्नाः स्नाताऽऽनीताः। अत्रेतिहास माचक्षते - यदि परब्रह्मत्वं तर्हि नः स्वलोकं दर्शयेति गोपैः प्रार्थितेन कृष्णेन च उक्तम् - यदि युष्माकं मल्लोकदिदृक्षा तर्हि शुद्धेन चक्षुषा भाव्यम्। तदर्थ मस्याः कालिन्द्या ह्रदे मज्जनानन्तरं द्रक्ष्यथे त्युदिता स्ते तथा कृत्वा शुद्धचक्षुषा तल्लोकं तत्रस्थितं सत्यादिगुणविशिष्टं ब्रह्माभिन्नं कृष्ण मपश्य न्निति॥ १५॥

ते गोपाः तं लोकं ददृशुः। कस्येत्यत उक्तं ब्रह्मण इति। अनेन कृष्ण ब्रह्मणो रैक्यं सूचितम्। शून्यागार मिव अपश्यन्निति तत्राऽऽह - कृष्ण मिति। तस्मिन् लोके कृष्णञ्चाऽपश्य न्नित्यर्थः ॥ १६ ॥

★ एत देव स्पष्ट माह - **नन्दादय** इति। तुशब्दोऽय मभेदं वक्ति॥ १७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

(विजयध्वजरीत्या षड्विंशोऽध्यायः)

★ It is not found in A.B edns.

श्री:

# श्रीमद्भागवत दशमस्कन्धस्थश्लोकपादानुक्रमणिका
## (प्रथमो भाग: 1-28 अध्याया:)

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| — अ — | | | |
| अकरोत्सात्त्वतां पति: | 1 | 9 | d |
| अकृष्टपच्यौषधय: | 27 | 26 | c |
| अक्षण्वतां फलमिदं | 21 | 8 | a |
| अखण्डमण्डलो व्योम्नि | 20 | 44 | a |
| अगाद्गोपै रभिष्टुत: | 19 | 15 | d |
| अगाद्भुङ्क्तैरासुपया | 13 | 30 | d |
| अगाधतोय ह्रदिनी | 18 | 6 | a |
| अगुणवान् पुरुषो | 20 | 18 | d |
| अगुणायाऽविकाराय | 16 | 40 | c |
| अग्नयश्च द्विजातीनाम् | 3 | 4 | c |
| अग्नेर्यथा दारुवियोग | 1 | 51 | a |
| अग्रजो भविता देव: | 1 | 24 | c |
| अघार्दनं शाद्वलभोजनञ्च | 14 | 60 | b |
| अघृष्टजानुभि: पद्भि: | 8 | 26 | c |
| अघोऽपि यत्स्पर्शन धौत पातक: | 12 | 38 | c |
| अङ्गसङ्गो नृणा मिव | 23 | 32 | b |
| अङ्गं यस्यास्समाक्रम्य | 6 | 38 | c |
| अङ्गेमां चरमां प्रजाम् | 4 | 6 | d |
| अङ्गेषु करयो: पृथक् | 6 | 22 | b |
| अचिरान्मामवाप्स्यथ | 23 | 32 | d |
| अजरामृत्यु नश्वरम् | 10 | 9 | d |
| अजस्रचित्त्यात्मनि केवले परे | 14 | 26 | c |
| अजा गावो महिष्यश्च | 19 | 2 | a |
| अजाद्याभि र्विभूतिभि: | 13 | 53 | b |
| अजानत स्त्वत्पृथगीशमानिन: | 14 | 10 | b |
| अजानता मामकेन | 28 | 7 | a |
| अजानतां त्वत्पदवी मनात्मनि | 14 | 19 | a |
| अजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुष: | 14 | 10 | c |
| अज्ञं पण्डितमानिनम् | 25 | 5 | b |
| अज्ञानप्रभवाहन्धी: | 4 | 26 | c |
| अज्ञान संज्ञौ भवबन्धमोक्षौ | 14 | 26 | a |
| अज्ञाय तं साऽथ निशाचरी हरिम् | 6 | 9 | a |
| अञ्जसा येन वर्तेत | 24 | 18 | c |
| अणिमाद्यैर्महिमभि: | 13 | 53 | a |
| अतत्त्वजन्तो मृगयन्ति सन्त: | 14 | 28 | b |
| अतद्वीर्यविद: प्रोचु: | 26 | 1 | c |
| अत: क्षमस्वाच्युत मे रजो भुवो हि | 14 | 10 | a |
| अतिकरुण मनुस्मरन्त्यशोचत् | 7 | 24 | c |
| अतिवातं शिलामयम् | 25 | 15 | b |
| अतिवेलं सहाग्रजम् | 11 | 13 | b |
| अतृप्तमुत्सृज्य जवेन सा ययौ | 9 | 5 | c |
| अतोऽर्हत: स्थावरताम् | 10 | 21 | a |
| अत्यासारातिवातेन | 25 | 11 | a |
| अत्र प्रविश्य गरुड: | 17 | 11 | a |
| अत्र भोक्तव्य मस्माभि: | 13 | 6 | a |
| अत्राऽऽगत्य स्ववासांसि | 22 | 16 | c |
| अत्राऽऽगत्याबला: कामं | 22 | 10 | a |
| अत्रैव माया धमनावतारे हि | 14 | 16 | a |
| अथ काल उपावृत्ते | 1 | 56 | a |
| अथ कृष्ण: परिवृत: | 18 | 1 | a |
| अथ गावश्च गोपाश्च | 15 | 48 | a |
| अथ गोपै: परिवृत: | 22 | 32 | a |
| अथ तालफलान्यादन् | 15 | 40 | a |
| अथवा लौकिक स्तन्मे | 24 | 7 | c |
| अथ व्रजे महोत्पाता: | 16 | 12 | a |
| अथ सर्वगुणोपेत: | 3 | 1 | a |
| अथागतस्मृतिरभयो रिपुं बल: | 18 | 28 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| अथाऽघनामाऽभ्यपतन्महासुर: | 12 | 13 | a |
| अथानुस्मृत्य विप्रास्ते | 23 | 37 | a |
| अथान्यदपि कृष्णस्य | 7 | 3 | a |
| अथाऽपि ते देव पदाम्बुजद्वय: | 14 | | |
| अथाऽपि ह्युत्तमश्लोके | 23 | 43 | a |
| अथाऽप्यभिभवन्त्येनं | 11 | 55 | a |
| अथाऽऽह भगवान् गोपान् | 25 | 20 | a |
| अथाऽहमंशभागेन | 2 | 9 | a |
| अथाऽऽह सुरभि: कृष्णम् | 27 | 18 | a |
| अथैनमस्तौदवधार्य पूरुषम् | 3 | 12 | a |
| अथैन मात्मजं वीक्ष्य | 3 | 23 | a |
| अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य | 8 | 40 | c |
| अथो यथावन्नवितर्कगोचरं | 8 | 41 | a |
| अदित्यामास कश्यपात् | 3 | 42 | b |
| अदृश्यतानुजा विष्णो: | 4 | 9 | c |
| अदृष्टग्राम्य विषयौ | 3 | 39 | a |
| अदृष्टतोऽन्यन्न निमित्तमस्ति | 1 | 51 | b |
| अदृष्ट परमो जन: | 5 | 29 | b |
| अदृष्टमात्मन स्तत्त्वम् | 5 | 29 | c |
| अदृष्ट्वाऽन्यतमं लोके | 3 | 41 | a |
| अदो रूपमलौकिकम् | 3 | 30 | b |
| अद्य मे निभृतो देह: | 28 | 5 | a |
| अद्य वाऽब्द शतान्ते वा | 1 | 38 | c |
| अद्यानेन महाव्याल: | 14 | 48 | a |
| अद्याऽपि यत्पदरज: श्रुतिमृग्यमेव | 14 | 34 | d |
| अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते | 14 | 18 | a |
| अद्यैवाऽर्थोऽधिगत: प्रभो | 28 | 5 | b |
| अद्राक्षी दर्जुनौ पूर्वम् | 9 | 22 | c |
| अद्रेश्चारभ्यतां मख: | 24 | 25 | b |
| अधराहनुवद्रोध: | 12 | 20 | c |
| अधश्शयानस्य शिशोरनोऽल्पक | 7 | 7 | a |
| अनन्तमारोपय दङ्कमन्तकम् | 6 | 9 | c |
| अनन्ते जगदीश्वरे | 15 | 35 | b |
| अनन्तोऽनन्तशक्तिधृक् | 17 | 25 | d |
| अनन्यनाथान् स्वकरा दवच्युतान् | 12 | 27 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| अनन्यबोध्यात्मतया न चाऽन्यथा | 14 | 6 | d |
| अनपत्यौ च दम्पती | 3 | 39 | b |
| अनश्चोपरि नाऽपतत् | 11 | 23 | d |
| अनस्स्वारोप्य गोपाला: | 11 | 30 | c |
| अनावृतत्वाद्बहिरन्तरं न ते | 3 | 17 | c |
| अनांस्यनड्वुद्युक्तानि | 24 | 34 | a |
| अनिर्दशान् निर्दशांश्च | 4 | 31 | c |
| अनीशेनाऽन्यथा कर्तुं | 24 | 15 | c |
| अनीशेऽपि द्रष्टुं किमिदं | 13 | 58 | c |
| अनुकूजति कूजितम् | 15 | 11 | b |
| अनुकृत्य रुतै र्जन्तून् | 11 | 39 | c |
| अनुगीयमानो न्यविशत् | 18 | 1 | c |
| अनुगृह्णीष्व भगवन् | 16 | 52 | a |
| अनुग्रहं निग्रहं वा | 16 | 59 | c |
| अनुग्रहाद्भगवत: | 16 | 67 | e |
| अनुग्रहोऽयं भवत: | 16 | 34 | a |
| अनुजानीहि नौ भूमन् | 10 | 37 | a |
| अनुजानीहि मां कृष्ण | 14 | 39 | a |
| अनुज्ञातो ययौ शक्र: | 27 | 28 | c |
| अनुज्ञातोऽविशद्गृहम् | 4 | 28 | d |
| अनुतप्ता व्यगर्हयन् | 23 | 38 | d |
| अनुभूय बृहद्वने | 11 | 20 | b |
| अनुरौति स्म सत्त्वानाम् | 15 | 13 | c |
| अनुष्ठेयं तवाऽऽज्ञया | 16 | 53 | b |
| अनृतं तदिमे विदु: | 22 | 11 | b |
| अनेन सर्वदुर्गाणि | 8 | 16 | c |
| अनेन सर्वदुर्गाणि | 26 | 19 | c |
| अनोऽपतद्विपर्यस्तम् | 26 | 5 | c |
| अनोभि रनड्वुद्युक्तै: | 5 | 31 | c |
| अन्तरं प्राप्य बालक: | 11 | 25 | b |
| अन्तरामिषगन्धवत् | 12 | 23 | d |
| अन्तर्बहि: पुरुषकालरूपै: | 1 | 7 | b |
| अन्तर्भवेऽनन्त भवन्तमेव हि | 14 | 28 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| अन्तर्व्रजे तदबला: | 8 | 24 | b |
| अन्तर्हृदि भुजगभोग | 16 | 19 | a |
| अन्त: प्रविश्य गङ्गायाम् | 10 | 4 | a |
| अन्त: प्रवेश्य सुचिरं | 23 | 23 | c |
| अन्धकूपगभीराक्षम् | 6 | 17 | a |
| अन्नमादाय भाजनै: | 23 | 19 | b |
| अन्नं बहुविधं तेभ्य: | 24 | 27 | c |
| अन्नाद्यवास: स्रगभीष्ट | 7 | 5 | c |
| अन्यत्र दीक्षितस्यापि | 23 | 8 | c |
| अन्यथा पूर्णकामस्य | 23 | 45 | a |
| अन्याश्च कंससंविग्ना: | 2 | 7 | e |
| अन्ये तदनुरूपाणि | 15 | 18 | a |
| अन्येभ्यश्चाश्च चाण्डाल | 24 | 28 | a |
| अन्यैश्चाऽसुरभूपालै: | 2 | 2 | a |
| अन्योन्यं विविधं जगत् | 24 | 22 | d |
| अन्योन्या बद्धबाहव: | 22 | 6 | b |
| अन्वञ्चमाना जननी | 9 | 10 | a |
| अन्वतप्यन् कृतागस: | 23 | 37 | b |
| अन्वभावि तथैव तत् | 11 | 56 | d |
| अन्वमंसत तद्राजन् | 15 | 52 | a |
| अन्वमोदत तत्सख्यम् | 18 | 18 | c |
| अन्वीयमाना: स्ववृषै: | 20 | 46 | c |
| अपक्वयोगिनश्चित्तम् | 20 | 14 | c |
| अपराध: सकृद्धर्त्रा | 16 | 51 | a |
| अपरे हतपाप्मान: | 15 | 17 | c |
| अपर्त्वत्युल्बणं वर्षम् | 25 | 15 | a |
| अपश्यत्तन्मयं जगत् | 2 | 24 | d |
| अपश्यन्नारदो देवौ | 10 | 5 | c |
| अपश्यन्निवसन्गोपान् | 24 | 1 | c |
| अपि कृष्णे जगद्गुरौ | 23 | 41 | b |
| अपि गुह्यं वदामि ते | 13 | 3 | b |
| अपि न: स्वगतिं सूक्ष्मम् | 28 | 11 | c |
| अपि मूढा न विद्महे | 23 | 48 | d |
| अपि राजन्य सत्तम | 14 | 52 | b |
| अपि हन्ताऽऽगताऽऽशङ्क: | 8 | 9 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| अपि ह्युपनिष द्दृशाम् | 13 | 55 | d |
| अपूर्वं प्रेम वर्धते | 13 | 36 | d |
| अपोथयच्छिलापृष्टे | 4 | 8 | c |
| अप्यासी द्विप्रियं तेषाम् | 11 | 54 | c |
| अप्रमेयं बलं तस्य | 7 | 10 | c |
| अप्राप्य तृषिता: श्रान्ता: | 19 | 5 | c |
| अप्सर: किन्नरोरगै: | 4 | 11 | b |
| अप्सरोभि स्समं मुदा | 3 | 6 | d |
| अबिभ्रन् रुचिरं रूपम् | 20 | 13 | c |
| अभिज्ञास्सम्प्रचक्षते | 8 | 14 | d |
| अभिज्ञास्सम्प्रचक्षते | 26 | 17 | d |
| अभिनृत्यति नृत्यन्तम् | 15 | 11 | c |
| अभिभूयमाना व्यसनै: | 20 | 15 | c |
| अभिवन्द्य मनस्विनी | 27 | 18 | b |
| अभिषिच्च द्विजोत्तमै: | 7 | 14 | d |
| अभिसस्रु: प्रियं सर्वा: | 23 | 19 | c |
| अभीक्ष्णं विस्मृतात्मकम् | 14 | 44 | d |
| अभ्यधावत्क्षितितलं | 15 | 29 | c |
| अभ्यवजह्रु: सहेश्वरा: | 13 | 10 | d |
| अभ्यवर्षन्बलं माल्यै: | 18 | 32 | c |
| अभ्यवहृत्य सहार्भकै: | 14 | 46 | b |
| अभ्यषिञ्चत दाशार्हम् | 27 | 23 | c |
| अभ्यानना: फुल्लदृशो प्रजार्भका: | 13 | 8 | b |
| अमंसताम्भोजकरेण | 6 | 6 | c |
| अमित्रोदास्तविद्विषाम् | 24 | 5 | b |
| अमुना वपुषाऽनघे | 3 | 37 | b |
| अमोचय द्व्रजपशून् | 26 | 11 | c |
| अम्भोजन्मजनि स्तदन्तरगतो | 13 | 15 | a |
| अम्भोजवन राजिनि | 10 | 4 | b |
| अयङ्गोब्राह्मणाद्रीणाम् | 24 | 30 | c |
| अयन्तथा चेद्वकवद्विनङ्क्ष्यति | 12 | 24 | b |
| अयन्तु सोदर्यविनाशकृत् | 12 | 14 | c |
| अयन्त्वसभ्य स्तव जन्म | 3 | 22 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| अयं वै तद्वधोपाय: | 4 | 42 | e |
| अयं वै रोहिणी पुत्र: | 8 | 12 | a |
| अराजके रक्ष्यमाण: | 8 | 17 | c |
| अराजके रक्ष्यमाण: | 26 | 20 | c |
| अर्चिष्यन्ति मनुष्या स्त्वाम् | 2 | 10 | a |
| अर्पयामास कृच्छ्रेण | 1 | 57 | c |
| अलक्षितोऽस्मिन्रहसि | 8 | 10 | a |
| अलङ्काररक्षा तिलका- | 13 | 23 | b |
| अल विहारै: क्षुत्क्षान्त: | 11 | 14 | c |
| अवघ्राय व्रजौकस: | 6 | 42 | b |
| अवतीर्णोऽसि विश्वात्मन् | 27 | 21 | c |
| अवतीर्णोंश भागेन | 10 | 35 | c |
| अवतीर्य यदोर्वंशे | 1 | 3 | a |
| अवरोहणत: वरम् | 18 | 25 | d |
| अवाकिरंश्चाद्भुतपुष्पवृष्टिभि: | 27 | 25 | b |
| अवात्सी द्गरुडाद्भीत: | 17 | 12 | c |
| अवाद्यन्त विचित्राणि | 5 | 13 | a |
| अवाप जननीगतिम् | 6 | 39 | b |
| अवापु: पार मध्वन: | 28 | 5 | d |
| अविक्रियात्स्वानुभवात् | 14 | 6 | c |
| अविज्ञातानुभावानाम् | 23 | 50 | c |
| अविज्ञायाऽसुरी वेलाम् | 28 | 2 | c |
| अविदूरे व्रजभुव: | 11 | 37 | a |
| अविद्या काम कर्मभि: | 28 | 13 | b |
| अविन्दच्छरदर्कजम् | 20 | 38 | b |
| अविश्वाय च विश्वाय | 16 | 48 | c |
| अविषह्यं मन्यमान: | 18 | 25 | a |
| अव्यक्तप्रभवाप्ययम् | 10 | 12 | b |
| अव्यक्तरावो न्यपतत् | 7 | 28 | c |
| अव्ययस्सार्भवत्सकम् | 12 | 30 | b |
| अव्यादजोऽङ्घ्रिमणिमांस्तव | 6 | 23 | a |
| अव्याहृत विहाराय | 16 | 47 | a |
| अश्वानामयुतं सार्धं | 1 | 31 | c |
| अष्टमा द्युवयो: पुत्रात् | 1 | 60 | c |
| अष्टौ मासान् निपीतं यत् | 20 | 5 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| असत: श्रीमदान्धस्य | 10 | 13 | a |
| असतोऽविजितात्मन: | 1 | 61 | d |
| असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण | 14 | 28 | c |
| असंयुगविकत्थनै: | 4 | 36 | b |
| असावन्यतमो वाऽपि | 11 | 25 | c |
| असुरद्विट् गुहाशय: | 4 | 42 | b |
| असुर स्तज्जिघांसया | 18 | 17 | d |
| असुरो बकरूपधृक् | 11 | 47 | b |
| अस्ति चेदीश्वर: कश्चित् | 24 | 14 | a |
| अस्त्यस्वपर दृष्टीनाम् | 24 | 5 | a |
| अस्त्वित्युक्त स्स एवेह | 8 | 50 | a |
| अस्पन्दनं गतिमतां पुलक- | 21 | 20 | c |
| अस्पष्टज्योतिराच्छन्नम् | 20 | 4 | c |
| अस्पृश्य नेत्र बन्धाद्यै: | 18 | 14 | c |
| अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या: | 13 | 55 | c |
| अस्मत्सङ्ग्रसनव्यात्त | 12 | 19 | c |
| अस्मान्किमत्र ग्रसिता | 12 | 24 | a |
| अस्यत स्ते शरव्रातै: | 4 | 33 | a |
| अस्य प्रपञ्चस्य बहि: | 14 | 16 | b |
| अस्याऽपि देव वपुषो | 14 | 2 | a |
| अस्यास्त्वामष्टमो गर्भ: | 1 | 34 | c |
| अहङ्क्रियानैच्छमिवार्चि: | 14 | 9 | d |
| अहञ्चैरावत नागम् | 25 | 7 | a |
| अहन् कण्ठग्रहातुरम् | 26 | 6 | d |
| अहन्म नृविडम्बयो: | 23 | 37 | d |
| अहम्मत्या भासितया | 20 | 19 | c |
| अहं पूर्व महं पूर्वम् | 12 | 6 | c |
| अहं ममाऽसौ पतिरेष मे | 8 | 42 | a |
| अहं सुतो वामभवम् | 3 | 41 | c |
| अहेतु विदचिन्तयत् | 13 | 35 | d |
| अहैतुक्यव्यवहिताम् | 23 | 26 | c |
| अहो अमी देववरा- | 15 | 5 | a |
| अहो एषां वरं जन्म | 22 | 36 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| अहोऽज्ञ जनताज्ञता | 14 | 27 | d |
| अहोऽतिधन्या व्रज- | 14 | 31 | a |
| अहोऽतिरम्यं पुलिनं | 13 | 5 | a |
| अहो ते देवकीपुत्रा: | 5 | 28 | a |
| अहो न: स्मारयामास | 23 | 44 | c |
| अहो नृलोकस्य विडम्बनं | 3 | 31 | d |
| अहो पश्यत नारीणाम् | 23 | 41 | a |
| अहो पश्यत शैलोऽसौ | 24 | 36 | c |
| अहो बतात्यद्भुतमेष | 7 | 31 | a |
| अहो बताऽस्य बालस्य | 11 | 54 | a |
| अहो ब्रह्मविदां वाच: | 11 | 56 | a |
| अहो भगिन्यहो भाव! | 4 | 15 | a |
| अहो भग्यमहो भाग्यम् | 14 | 32 | a |
| अहो विचित्रं मित्राणि | 12 | 19 | a |
| अहो विस्रंसितो गर्भ: | 2 | 15 | c |
| अहो श्रीमदमाहात्म्यम् | 25 | 3 | a |
| अंशेन साक्षाद्भगवान् | 2 | 41 | b |
| **- आ -** | | | |
| आकण्ठमग्ना: शीतोदे | 22 | 13 | c |
| आकर्ण्य भर्तुर्गदितम् | 4 | 30 | a |
| आकर्ण्य वेणुरणितं च | 21 | 12 | c |
| आकल्पमार्क सुमहन् | 14 | 40 | d |
| आक्रान्ता भूरिभारेण | 1 | 17 | c |
| आख्यास्यते राम इति | 8 | 12 | c |
| आगत्य सहसा कृष्णम् | 11 | 47 | c |
| आङ्घ्रिमस्तक मापूर्णा: | 13 | 50 | a |
| आचख्यु र्भोजराजाय | 4 | 2 | c |
| आचरेत्स तथाविध: | 1 | 44 | b |
| आचष्टेदं सहात्मना | 13 | 59 | d |
| आचेरुर्विविधा: क्रीडा: | 18 | 21 | a |
| आजीव्यैकतरं भावम् | 24 | 19 | a |
| आज्ञाय मर्त्यपदवी मनु | 16 | 23 | c |
| आतपत्रायितान्वीक्ष्य | 22 | 33 | c |
| आत्मजान्स्वकृतम्भुज: | 14 | 18 | b |
| आत्मजाभ्युदयार्थाय | 7 | 16 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| आत्मतुल्यबलै रन्यै: | 15 | 23 | c |
| आत्मद्योतगुणैश्छन्न | 10 | 33 | c |
| आत्मन: क्षेममन्विच्छन् | 1 | 44 | c |
| आत्मनिर्वेशमात्रेण | 10 | 26 | c |
| आत्मनो गुरुमत्तया | 7 | 27 | b |
| आत्मनो भक्तवश्यताम् | 11 | 11 | b |
| आत्मन्युपरते यद्वत् | 20 | 40 | c |
| आत्मयोगेन साधये | 25 | 16 | b |
| आत्मवत्सुहृदुच्यते | 24 | 5 | d |
| आत्मशक्त्युपबृंहिताम् | 20 | 31 | d |
| आत्माऽऽत्मना भासि | 14 | 19 | b |
| आत्मादिस्तम्बपर्यन्तै: | 13 | 52 | a |
| आत्मानञ्च तया हीनम् | 23 | 38 | c |
| आत्मान मखिलात्मनाम् | 14 | 55 | b |
| आत्मान मिह सञ्जातम् | 1 | 68 | a |
| आत्मानमेवात्मतया | 14 | 25 | a |
| आत्मानं गाश्च मोचिता: | 19 | 13 | |
| आत्मानं घूर्णमाशिषाम् | 8 | 20 | d |
| आत्मानं भगवान् पर: | 6 | 26 | b |
| आत्मानं भूषयाञ्चक्रु: | 5 | 9 | c |
| आत्मानं मन्यतेऽस्वदृक् | 4 | 22 | b |
| आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य: | 14 | 27 | c |
| आत्माऽस्यधीशाऽखिल | 14 | 14 | b |
| आत्मौपम्येन भूतानि | 10 | 13 | c |
| आदाय मात्रे प्रतिहृत्य | 7 | 30 | a |
| आदायाऽगात्स्वपितरम् | 28 | 9 | c |
| आदिष्टा प्रभुणांशेन | 1 | 25 | c |
| आहतां यवसं गवाम् | 24 | 33 | b |
| आधास्यत्येष व: श्रेय: | 8 | 16 | a |
| आनम्य तत्पृथुशिर | 16 | 26 | b |
| आनर्चाधोक्षजधिया | 8 | 2 | c |
| आनर्चु र्नृपसैकतीम् | 22 | 2 | d |
| आनीतोऽयं तव पिता | 28 | 7 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| आप्लुत्याऽम्भसि कालिन्द्या: | 22 | 2 | a |
| आबालवृद्धवनिता: | 16 | 15 | a |
| आभाष्याऽऽहाऽशरीरवाक् | 1 | 34 | b |
| आयान्त्यत्र महोत्पाता: | 11 | 22 | c |
| आयु: श्रियं यशो धर्मम् | 4 | 46 | a |
| आरादागतमृत्यव: | 4 | 45 | d |
| आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं | 2 | 32 | c |
| आरुह्य ये द्रुमभुजान् | 21 | 15 | c |
| आरुह्यानुव्रजे व्रजम् | 25 | 7 | b |
| आरोहन्तश्च तै र्द्रुमान् | 12 | 9 | b |
| आर्ता: श्लथद्वसनभूष- | 16 | 31 | d |
| आर्यस्य मम चाऽभिधात् | 23 | 4 | d |
| आलिङ्गनस्थगित मूर्मि- | 21 | 16 | c |
| आलोक्य तत्प्रियसखा: | 16 | 10 | b |
| आवर्त लक्षितमनोभव | 21 | 16 | b |
| आविरासी द्यथा प्राच्याम् | 3 | 8 | e |
| आविवेशांशभागेन | 2 | 16 | c |
| आविष्टचित्तो न भवाय | 2 | 37 | d |
| आशिष: स्नेहकातारा: | 25 | 30 | d |
| आशिषोऽभिगृणन्तस्तम् | 18 | 31 | a |
| आशिषो विफला: कृता: | 7 | 13 | d |
| आशीविषतमाहीन्द्रम् | 26 | 12 | a |
| आश्लिष्य समशीतोष्णम् | 20 | 45 | a |
| आश्रुत्य तत्स्वसदना | 16 | 8 | c |
| आश्वास्य च महीं गीर्भि: | 1 | 26 | c |
| आसतुर्यमलार्जुनौ | 10 | 23 | d |
| आसते स्वर्गकाम्यया | 23 | 3 | d |
| आसन्नभयशंसिन: | 16 | 12 | d |
| आसन्ना ददृशे गुहा: | 20 | 27 | d |
| आसन्नानात्ममूर्तय: | 20 | 21 | b |
| आसन्नुत्पथवाहिन्य: | 20 | 10 | a |
| आसन् रामस्य चाऽपरे | 18 | 20 | d |
| आसन् वर्णा स्त्रयो ह्यस्य | 8 | 13 | a |
| आसन्सुविस्मितास्सर्वे | 15 | 51 | c |
| आसँल्लब्धमनोरथा: | 17 | 15 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| आसाराद्रक्षिते व्रजे | 27 | 1 | b |
| आसिञ्चन्तो विलिम्पन्त: | 5 | 14 | c |
| आसीद्गोविन्ददर्शने | 19 | 16 | b |
| आसीद्वर्षीयसी मही | 20 | 7 | b |
| आसीनस्संविशंस्तिष्ठन् | 2 | 24 | a |
| आसीनं त्वां श्रिय: पति: | 6 | 27 | b |
| आस्तृताया ममार्गोऽयम् | 12 | 22 | a |
| आस्ते पूर्वव दावृत: | 3 | 52 | d |
| आस्ते प्रतीक्षं स्तज्जन्म | 2 | 23 | c |
| आस्ते महित्वं प्राग्दृष्टं | 13 | 64 | c |
| आस्फोटन विकर्षणै: | 18 | 12 | b |
| आस्फोट्य गाढरशनो | 16 | 6 | d |
| आस्यतां करवाम किम् | 23 | 25 | b |
| आह दामोदरेऽबला: | 22 | 27 | d |
| आहूय विप्रान् वेदज्ञान् | 5 | 1 | c |
| आहैष प्राणहरो हरि: | 2 | 20 | c |
| **इ** | | | |
| इत एतेऽत्र कुत्रत्या: | 13 | 43 | a |
| इतरेऽपत्यवित्ताद्या: | 14 | 50 | c |
| इति खरपवनचक्रपांसुवर्षे | 7 | 24 | a |
| इति गोगोकुलपतिम् | 27 | 28 | a |
| इति घोरतमाद्भावात् | 2 | 23 | a |
| इति ते भगवद्याच्ञाम् | 23 | 9 | a |
| इति नन्दवच: श्रुत्वा | 26 | 24 | a |
| इति नन्दादयो गोपा: | 5 | 31 | a |
| इति नन्दादयो गोपा: | 11 | 57 | a |
| इति पौरा विचुक्रुशु: | 2 | 15 | d |
| इति प्रणयबद्धाभि: | 6 | 31 | a |
| इति प्रभाष्य तं देवी | 4 | 13 | a |
| इति प्रवाल स्तबक | 22 | 39 | a |
| इति बालक मानीय | 7 | 14 | a |
| इति बाला व्रजे जगु: | 14 | 48 | d |
| इति ब्रुवन्तोऽति विवाह | 7 | 8 | e |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| इति मन्त्रं जपन्त्य स्ता: | 22 | 5 | a |
| इति मात्रे न्यवेदयन् | 8 | 32 | d |
| इति विज्ञापितो गोपै: | 23 | 2 | a |
| इति वेणुरवं राजन् | 21 | 7 | a |
| इति वेदविदो विदु: | 22 | 21 | f |
| इति व्यवस्थाजगरं बृहद्वपु: | 12 | 16 | a |
| इति सञ्चिन्तयन् श्रुत्वा | 8 | 9 | a |
| इति सञ्चिन्त्य दाशार्ह: | 13 | 38 | a |
| इति सञ्चिन्त्य भगवान् | 28 | 14 | a |
| इति संस्पृश्य रेमिरे | 12 | 6 | d |
| इति स्वाद्य मनुस्मृत्य | 23 | 51 | a |
| इति स्वानां स भगवान् | 28 | 12 | a |
| इति होचु: समागता: | 8 | 28 | d |
| इतीरिशेऽतर्क्ये निजमहिमनि | 13 | 58 | |
| इतोऽविदूरे चरता | 23 | 16 | c |
| इतोऽविदूरे सुमहत् | 15 | 21 | c |
| इत्थ मात्माऽऽत्मनाऽऽत्मानम् | 13 | 27 | a |
| इत्थं द्विजा यादव देवदत्त: | 12 | 40 | a |
| इत्थं मघवताऽऽज्ञप्ता: | 25 | 8 | a |
| इत्थं मिथोऽतथ्यमतज्ज्ञभाषितं | 12 | 25 | a |
| इत्थं यशोदा तमशेषशेखरम् | 11 | 19 | a |
| इत्थं विदिततत्त्वायाम् | 8 | 43 | a |
| इत्थं शरत्स्वच्छ जलम् | 21 | 1 | a |
| इत्थं सङ्कीर्तित स्ताभ्याम् | 10 | 39 | a |
| इत्थं सतां ब्रह्मसु स्वानुभूत्या | 12 | 11 | a |
| इत्थं स नागपत्नीभि: | 16 | 54 | a |
| इत्थं स्त्रीभि: सभयनयन | 8 | 31 | c |
| इत्थं स्म पृष्टस्स तु | 12 | 44 | a |
| इत्थं स्वगोकुल मनन्यगतिं | 16 | 23 | a |
| इत्थं स्वजन वैक्लब्यम् | 17 | 25 | a |
| इत्यच्युतेनाऽभिहिता व्रजाबला: | 22 | 23 | a |
| इत्यद्धा मां समादिश्य | 26 | 23 | a |
| इत्यद्रिगोद्विजमरवम् | 24 | 38 | a |
| इत्यन्तरेणाऽर्जुनयो: | 10 | 26 | a |
| इत्यभिष्टूय पुरुषं | 2 | 42 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| इत्यभिष्टूय भूमानम् | 14 | 41 | a |
| इत्याकर्ण्य वच: प्राह | 16 | 60 | a |
| इत्याख्यातौ श्रियान्वितौ | 9 | 23 | d |
| इत्यात्मानं समादिश्य | 8 | 20 | a |
| इत्यादिश्याऽमरगणान् | 1 | 26 | a |
| इत्यादिष्टा भगवता | 22 | 31 | a |
| इत्यादिष्टा भगवता | 23 | 5 | a |
| इत्युक्तस्स खल: पाप: | 1 | 35 | a |
| इत्युक्ता द्विजपत्न्यस्ता: | 23 | 33 | a |
| इत्युक्तौ तं परिक्रम्य | 10 | 43 | a |
| इत्युक्त्वाद्रिदरीकुञ्ज- | 13 | 14 | a |
| इत्युक्त्वाऽश्रुमुख: पादौ | 4 | 23 | c |
| इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरिस्तूष्णीम् | 4 | 46 | a |
| इत्युक्त्वैकेन हस्तेन | 25 | 19 | a |
| इत्येतद्वचनं श्रुत्वा | 22 | 20 | a |
| इद माह विशाम्पते | 5 | 21 | d |
| इद तत्राऽन्वपद्यत | 1 | 47 | d |
| इदानीमप्रजस्य ते | 5 | 22 | b |
| इदानीं कृष्णतां गत: | 8 | 13 | d |
| इदानीं कृष्णतां गत: | 26 | 16 | d |
| इन्द्र आह कृताञ्जलि: | 27 | 3 | d |
| इन्द्रगोपैश्च लोहिता: | 20 | 11 | b |
| इन्द्रयाग कृतोद्यमान् | 24 | 1 | d |
| इन्द्रस्तदाऽऽत्मन: पूजां | 25 | 1 | a |
| इन्द्रस्सुराषाभस्साकम् | 27 | 23 | a |
| इन्द्रं न स्त्वाभिषेक्ष्याम: | 27 | 21 | a |
| इन्द्र: प्राचोदयत्क्रुद्ध: | 25 | 2 | c |
| इन्द्राय मन्युं जनयन् | 24 | 12 | c |
| इन्द्रियाणि हृषीकेश: | 6 | 25 | a |
| इन्द्रियाण्यनुशुष्यन्ति | 10 | 16 | c |
| इन्द्रो नाशाय वर्षति | 25 | 15 | d |
| इमां त्वं दीनवत्सल | 1 | 45 | d |
| इयान्प्रेमा कथं भवेत् | 14 | 49 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| इयेष किल तं बद्धुम् | 9 | 12 | c |
| इव त्वमेषोऽन्त इव | 14 | 19 | d |
| इहाऽऽनेष्ये वत्सकानहम् | 13 | 13 | d |
| **ई** | | | |
| ईक्षयाऽमृतवर्षिण्या | 15 | 50 | c |
| ईडिरे कृष्ण रामौ च | 18 | 11 | c |
| ईप्सित: परमोऽभव: | 10 | 42 | d |
| ईरयन् सुमहाघोर | 7 | 21 | c |
| ईशस्यैत द्विडम्बनम् | 23 | 45 | d |
| ईशितव्यै किमस्माभि: | 23 | 45 | c |
| ईश्वरं गुरु मात्मानम् | 27 | 13 | c |
| ईषामात्रोग्रदंष्ट्रास्यम् | 6 | 16 | a |
| ईहा खलानामपि तेऽनु | 27 | 7 | d |
| **उ** | 8 | 36 | b |
| उक्तस्स भगवान् हरि: | | | |
| उक्तेन वृत्तं प्रभुणा बलो | 13 | 39 | d |
| उग्रसनेश्च पितरम् | 1 | 69 | a |
| उग्रसेनसुत: कंस: | 1 | 30 | a |
| उच्चावचासु गतिषु | 28 | 13 | c |
| उच्चावचैश्चोपहारै: | 22 | 3 | c |
| उच्छिलीन्ध्रकृतच्छाया | 20 | 11 | c |
| उत्तराहनुवद्धनम् | 12 | 20 | b |
| उत्तार्य गोपी सुशृतं | 9 | 7 | a |
| उत्क्षेपणं गर्भगतस्य | 14 | 12 | a |
| उत्थातव्य मितोऽस्माभि: | 11 | 22 | a |
| उत्थाप्य दोर्भि: परिरभ्य | 13 | 22 | b |
| उत्थायोत्थाय कृष्णस्य | 13 | 64 | a |
| उत्थित: कृष्णनिर्मुक्ति | 6 | 35 | c |
| उत्पाटचैककरेण शैल | 26 | 25 | c |
| उत्पात इति कातरा: | 11 | 3 | d |
| उत्पातागम शङ्कित: | 6 | 1 | d |
| उत्पेतु र्भुवि दिव्यात्मनि | 16 | 12 | c |
| उत्प्रेक्षन्ते स्म लीलया | 12 | 18 | d |
| उत्सिच्यमाने पयसि | 9 | 5 | d |
| उदरे सन्निवेशय | 2 | 8 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| उदहृष्यन्वारिजानि | 20 | 47 | a |
| उदासीनोऽरिवद्वर्ज्य: | 24 | 5 | c |
| उदीर्णदृष्टे र्भ्रमतस्त्वित | 12 | 31 | b |
| उदुह्य दोर्भि: परिरभ्य मूर्ध्नि | 13 | 33 | c |
| उद्गायति क्वचिन्मुग्ध: | 11 | 9 | c |
| उद्दामकाञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभि: | 3 | 10 | c |
| उद्धर्मशार्वरहरक्षिति | 14 | 40 | c |
| उद्वीक्ष्यमाणंभयविह्वलेक्षणम् | 9 | 11 | c |
| उन्मादा ये ह्यपस्मार: | 6 | 29 | c |
| उपक्रोष्टा पराक् स्थित: | 15 | 31 | b |
| उपगीयमान चरित: | 15 | 10 | c |
| उपगीयमानमाहात्म्यम् | 8 | 45 | c |
| उपगूह्यात्मजा मेवं | 4 | 7 | a |
| उपतस्थे समाहित: | 1 | 20 | d |
| उपपन्न मिदं हि व: | 23 | 25 | d |
| उपलब्धो भवानद्य | 5 | 23 | c |
| उपलभ्योत्थिता स्सर्वे | 17 | 14 | a |
| उपशान्तेन चेतसा | 3 | 35 | b |
| उपसंहर विश्वात्मन् | 3 | 30 | a |
| उपस्थितान्तिके तस्मै | 1 | 18 | c |
| उपस्थितो निवर्तेत | 1 | 50 | c |
| उपहार्यैस्सर्पजनै: | 17 | 2 | a |
| उपहृत्य बलीन्सर्वान् | 24 | 33 | a |
| उपाधास्यदधीश्वर: | 28 | 11 | d |
| उपारतं वातवर्षम् | 25 | 26 | c |
| उपालभ्य हितैषिणी | 8 | 33 | b |
| उपाहृतोरुबलिभि: | 4 | 11 | c |
| उपेक्ष्यै: किंधनस्तम्भै: | 10 | 18 | e |
| उपेन्द्र इति विख्यात: | 3 | 4 2 | c |
| उपोष्य मां स्मरन्नर्चेत् | 16 | 62 | c |
| उभयायित मात्मानम् | 13 | 18 | c |
| उभयोरपि भारत | 1 | 63 | b |
| उभावपि वने कृष्ण: | 13 | 16 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| उलूखलं विकर्षन्तम् | 11 | 3 | a |
| उलूखलं विकर्षन्तम् | 11 | 6 | a |
| उलूखलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थितम् | 9 | 8 | a |
| उवाच परिसान्त्वयन् | 1 | 36 | d |
| उवाह कृष्णो भगवान् | 18 | 24 | a |
| उषस्युत्थाय गोत्रै: स्वै: | 22 | 6 | a |
| **ऊ** | | | |
| ऊचुश्च कृष्णं सबलं | 19 | 8 | c |
| ऊचुश्च सुहृद: कृष्णम् | 14 | 45 | a |
| ऊचुस्ते कालियग्रस्त: | 17 | 17 | c |
| ऊचे कृष्णोऽस्य भी भयम् | 13 | 13 | b |
| ऊधोभारेण भूयसा | 20 | 26 | b |
| ऊषु व्रजौकसो गाव: | 17 | 20 | c |
| ऊहु: कृष्णादयो नृप | 18 | 23 | d |
| **ऋ** | | | |
| ऋषिणा करुणात्मना | 10 | 40 | b |
| ऋषे रासीदनुग्रहात् | 10 | 37 | d |
| ऋषेर्भागवत मुख्यस्य | 10 | 24 | a |
| ऋषेर्विनिर्गमे कंस: | 1 | 65 | a |
| **ए** | | | |
| एकदा क्रीडमानास्ते | 8 | 32 | a |
| एकदा गृहदासीषु | 9 | 1 | a |
| एकदा चारयन् वत्सान् | 13 | 28 | a |
| एकदाऽऽरोह मारूढम् | 7 | 18 | a |
| एकदाऽर्भक मादाय | 7 | 34 | a |
| एकस्त्वमात्मा पुरुष: | 14 | 23 | a |
| एकस्मिन्नपि यातेऽब्दे | 14 | 43 | a |
| एकहायन आसीन: | 26 | 6 | a |
| एकं शकटमास्थिते | 11 | 33 | b |
| एकं सपाणि कबलं परमेष्ठ्यचष्ट | 13 | 62 | d |
| एकादशैव हि वयं भूरिभागा: | 14 | 33 | b |
| एकादश्यां निराहार: | 28 | 1 | a |
| एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूल: | 2 | 27 | a |
| एकावशिष्टाऽवरजा | 5 | 28 | c |
| एके तमनुरुन्धना: | 2 | 4 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| एकेन पाणिना नेमु: | 22 | 20 | c. |
| एकेन पाणिना यो वै | 22 | 21 | c |
| एकेनाऽऽच्छाद्य चाङ्गना: | 22 | 20 | d |
| एकैकश: प्रतीच्छध्वम् | 22 | 11 | c |
| एकोऽसि प्रथमं ततो व्रज | 14 | 18 | b |
| एतत्कंसाय भगवान् | 1 | 64 | a |
| एतत्कौमारजं कर्म | 12 | 37 | a |
| एतत्ते सर्वमाख्यातम् | 14 | 59 | a |
| एतत्सुहृद्भिश्चरितं मुरारे: | 14 | 60 | a |
| एतदन्यच्च सर्वं मे | 1 | 12 | a |
| एतदप्यन्तराननम् | 12 | 22 | d |
| एतद्धृषीक चषकै रसकृत् | 14 | 33 | c |
| एतद्वूहि महान् काम: | 24 | 4 | a |
| एतद्वा दर्शितं रूपम् | 3 | 44 | a |
| एत द्विचित्रं सहदेवकाल | 8 | 39 | a |
| एतन्मम मतं तात! | 24 | 30 | a |
| एतस्मिन्नेव काले तु | 17 | 21 | a |
| एतावज्जन्म साफल्यम् | 22 | 38 | a |
| एते यदा मत्सुहृद स्तिलाप: | 12 | 15 | a |
| एतेऽलिनस्तव यशोऽखिल | 15 | 6 | a |
| एनं कुमार मुद्दिश्य | 26 | 15 | c |
| एवञ्चेत्तर्हि भोजेन्द्र | 4 | 31 | a |
| एवमुक्तो भगवता | 16 | 64 | a |
| एवमेतन्महाराज | 4 | 26 | a |
| एवमेतेषु भेदेषु | 13 | 44 | a |
| एवं कृष्ण मुपामन्त्र्य | 27 | 22 | a |
| एवं तौ लोकसिद्धाभि: | 18 | 16 | a |
| एवं दुर्मन्त्रिभि: कंस: | 4 | 43 | a |
| एवं धार्ष्यान्युशति कुरुते | 8 | 31 | a |
| एवं निगूढात्मगति: स्वमायया | 15 | 19 | a |
| एवं निवसतो स्तस्मिन् | 20 | 32 | a |
| एवं निशम्य भृगुनन्दन | 1 | 14 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| एवं परिभ्रमहतौजसं | 16 | 26 | a |
| एवं प्रसादित: कृष्ण: | 28 | 9 | a |
| एवं बृन्दावनं श्रीमत् | 15 | 9 | a |
| एवं ब्रुवति गोविन्दे | 22 | 13 | a |
| एवं भवान् बुद्ध्यनुमेय | 3 | 17 | a |
| एवं मासं व्रतं चेरु: | 22 | 5 | c |
| एवं लीलानरवपु: | 23 | 36 | a |
| एवं वनं तद्वर्षिष्ठम् | 20 | 25 | a |
| एवं विधं त्वां सकलात्मना | 14 | 24 | a |
| एवं विधानि कर्माणि | 26 | 1 | a |
| एवं विधा भगवत: | 20 | 21 | a |
| एवं विमृश्य तं पापं | 1 | 52 | a |
| एवं विहारै: कौमारै: | 11 | 58 | a |
| एवं विहारै: कौमारै: | 14 | 61 | a |
| एवं वां तप्यतो स्तीव्रं | 3 | 36 | a |
| एवं व्रजौकसां प्रीतिम् | 11 | 36 | a |
| एवं सकृद्ददर्शाज: | 13 | 56 | a |
| एवं सङ्कीर्तित: कृष्ण: | 27 | 14 | a |
| एवं सन्दर्शिताह्यङ्ग | 9 | 19 | a |
| एवं स भगवान् कृष्ण: | 15 | 47 | a |
| एवं सम्प्रार्थितो विप्र: | 8 | 11 | a |
| एवं सम्मोहयन् विष्णुम् | 13 | 45 | a |
| एवं स सामभिर्भेदै: | 1 | 46 | a |
| एवं साधारणं देहम् | 10 | 12 | a |
| एवं सुहृद्वच: श्रुत्वा | 15 | 27 | a |
| एवं स्वगेह दामानि | 9 | 17 | a |
| एवं स्वमाया रचितेष्वसौ | 1 | 43 | c |
| एवं हि जन्तो रपि दुर्विभाव्य: | 1 | 51 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| एष घोरतमो वह्नि: | 17 | 23 | c |
| एष व: श्रेय आधास्यत् | 26 | 19 | a |
| एष वै सुरभिर्गन्ध: | 15 | 25 | a |
| एषा तवाऽनुजा बाला | 1 | 45 | a |
| एषा मन्तर्गतं ध्वान्तम् | 12 | 22 | c |
| एषा वै बाधते क्षुन्न: | 23 | 1 | c |
| एषां घोषनिवासिना मुत भवान् | 14 | 35 | a |
| एषां श्रियाऽवलिप्तानाम् | 25 | 6 | a |
| एषोऽनुकम्प्यो मयि नाथवानिति | 14 | 10 | d |
| एषोऽवजानतो मर्त्यान् | 24 | 37 | a |
| एहीत: साधु भुज्यताम् | 14 | 45 | d |
| एह्यावयो: प्रियं देहि | 11 | 16 | c |
| **ऐ** | | | |
| ऐक्षन्त तृषितेक्षणा: | 11 | 53 | d |
| ऐन्द्रियैश्च महोत्सवै: | 20 | 48 | b |
| ऐरावतकरोद्धृतै: | 27 | 22 | d |
| **ओ** | | | |
| ओघेन व्यूह्यमानानाम् | 5 | 24 | c |
| ओतप्रोत मिदं यस्मिन् | 15 | 35 | c |
| **औ** | | | |
| औत्थानिके कर्मणि या: | 7 | 8 | b |
| औत्थानिकौत्सुक्यमना | 7 | 6 | a |



37.

## क

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् | 1 | 4 | c |
| कच्चित् पशव्यं निरुजम् | 5 | 25 | a |
| कञ्चुकोष्णीषभूषिता: | 5 | 8 | b |
| कटधूमस्य सौरभ्यम् | 6 | 42 | a |
| कटिसूत्राङ्गुलीयकै: | 13 | 49 | f |
| कण्ठाभरणभूषिता | 5 | 16 | f |
| कति वर्षाणि वृष्णिभि: | 1 | 11 | b |
| कथमन्तर्जलेऽगाधे | 16 | 2 | a |
| कथमर्हत्यसौ जन्म | 26 | 2 | c |
| कथं त्यजामस्त्वन्मायाम् | 15 | 58 | c |
| कथं बिभ्रद्गिरिवरम् | 26 | 3 | c |
| कथ स्वयं वै शकटं विपर्यगात् | 7 | 8 | d |
| कथितो वंशविस्तार: | 1 | 1 | a |
| कथ्यतां भगवन्नेतत् | 10 | 1 | a |
| कथ्यतां मे पित: कोऽयम् | 24 | 3 | a |
| कदने कदनप्रियम् | 4 | 44 | b |
| कदर्थीकृत्य गरुडं | 17 | 4 | c |
| कदाचिदान्दोलिकया | 18 | 15 | c |
| कदाचिदौत्थानिककौतुकाप्लवे | 7 | 4 | a |
| कदाचिद्यमुनातीरे | 11 | 40 | a |
| कन्दमूलफलाशन: | 20 | 28 | d |
| कन्याश्चैवाऽनुवत्सरम् | 1 | 56 | d |
| कन्या साऽपि दिवंगता | 5 | 28 | d |
| कपित्थानि च लीलया | 26 | 9 | d |
| कम्बुकङ्कणपाणय: | 13 | 49 | b |
| करवाम तवोदितम् | 22 | 15 | b |
| करं दातुं कुरूद्वह | 5 | 18 | d |
| करालजिह्वोच्छ्वसितोग्रलोचन: | 17 | 6 | d |
| करिष्यमाण आदेशम् | 8 | 48 | c |
| करुणस्तेन तोषित: | 22 | 24 | d |
| करेणैकेन लीलया | 26 | 3 | b |
| करोति कर्णरम्याणि | 7 | 1 | c |
| करो वै वार्षिको दत्त: | 5 | 30 | a |
| कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् | 23 | 22 | d |
| कर्तारं भजते सोऽपि | 24 | 14 | c |
| कर्मणा जायते जन्तु: | 24 | 13 | a |
| कर्मणैव प्रलीयते | 24 | 13 | b |
| कर्मणैवाऽभिपद्यते | 24 | 13 | d |
| कर्माण्यत्यद्भुतानि वै | 26 | 2 | b |
| कर्मान्तरनियुक्तासु | 9 | 1 | c |
| कर्मैव गुरुरीश्वर: | 24 | 17 | d |
| कर्षकाणां मुदं ददु: | 20 | 12 | b |
| कर्षका दृढसेतुभि: | 20 | 41 | b |
| कर्हिचिन्नृपचेष्टया | 18 | 15 | d |
| कलवाक्यै: स्वकालेन | 11 | 36 | c |
| कलाभ्यां नितरां हरे: | 20 | 48 | d |
| कलेबरं परशुभि: | 6 | 34 | a |
| कल्पते नाऽन्यथा क्वचित् | 8 | 4 | d |
| कवये शास्त्रयोनये | 16 | 44 | b |
| कषन्तमञ्जन्मषिणी स्वपाणिना | 9 | 11 | b |
| कस्तृप्येताऽमृतं जुषन् | 16 | 3 | d |
| कस्मात्तत्याज कालिय: | 17 | 1 | b |
| कस्मान्मुकुन्दो भगवान् | 1 | 9 | a |
| कस्मान्मृदमदान्तात्मन् | 8 | 34 | a |
| कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे | 16 | 36 | a |
| कस्येदं कुत आश्चर्यम् | 11 | 3 | c |
| कह्लारकञ्जोत्पलरेणुहारिणा | 18 | 5 | b |
| कंस आहूय मन्त्रिण: | 4 | 29 | b |
| कंस एवं प्रसन्नाभ्यां | 4 | 28 | a |
| कंसभृत्य: प्रचोदित: | 7 | 20 | b |
| कसंस्तद्वाक्यसारवित् | 1 | 55 | b |
| कंसस्तुष्टमना राजन् | 1 | 59 | c |
| कंस: परमविस्मित: | 4 | 14 | b |
| कंस: पापमति: सख्यं | 8 | 8 | a |
| कंसा दहमधीरधी: | 3 | 29 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| कंसाद्भीता न चाऽचलन् | 23 | 51 | d |
| कंसाद्भीता शुचिस्मिता | 3 | 23 | d |
| कंसानुशिष्टस्स बकी बकानुज: | 12 | 14 | b |
| कंसायाऽऽनकदुन्दुभि: | 1 | 57 | b |
| कंसेन प्रहिता घोरा | 6 | 2 | a |
| कंसेन बहवो हता: | 5 | 28 | b |
| क: परेतव दुत्थित: | 13 | 59 | b |
| **- का -** | | | |
| काकपक्षधरावुभौ | 18 | 12 | d |
| काचगुञ्जमणिस्वर्ण | 12 | 4 | c |
| कात्यायनि महामाये | 22 | 4 | a |
| काद्रवेयस्तु कालिय: | 17 | 4 | b |
| काननेषु सरस्सु च | 18 | 16 | d |
| कामकर्मगुणादिभि: | 13 | 54 | b |
| कामरूपधरान्दिक्षु | 4 | 44 | c |
| कामरूपी वनौकस: | 24 | 37 | b |
| काम: स्वादु पपुर्जलम् | 22 | 40 | d |
| काम: कामाय कल्पते | 22 | 29 | b |
| कामाक्तं गुणयुग्यथा | 20 | 14 | d |
| कामाल्लोभाद्भयाद्द्वेषात् | 24 | 11 | c |
| कायं निधाय भुवि भूतपतिं प्रणेमु: | 16 | 32 | b |
| कारयामास विधिवत् | 5 | 2 | c |
| कार्यार्थे सम्भविष्यति | 1 | 25 | d |
| कालपाशाऽऽवृतोऽसुर: | 4 | 43 | d |
| कालस्वभावसंस्कार | 13 | 54 | a |
| काल: परमशोभन: | 3 | 1 | b |
| कालाग्ने: सुहृद: प्रभो | 17 | 24 | b |
| कालात्मना भगवता | 24 | 31 | a |
| कालाय कालनाभाय | 16 | 41 | a |
| कालावयवसाक्षिणे | 16 | 41 | b |
| कालिन्दीं सखिभिर्वृत:- | 15 | 47 | d |
| कालिन्द्या उपकूलत: | 17 | 20 | d |
| कालिन्द्यां कालियस्याऽऽसीत् | 16 | 4 | a |
| कालिन्द्यां स्नातु मन्वहम् | 22 | 6 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| कालियश्शनकैर्हरिम् | 16 | 55 | b |
| कालियं समुपाद्रवत् | 17 | 5 | d |
| कालियोऽतीव विह्वल: | 17 | 8 | b |
| काले काले द्विजेरिता: | 20 | 24 | d |
| काले गोप्यो यर्हि गृह कृत्येषु सुव्यग्रचित्ता: | 8 | 30 | d |
| कालेन यैर्वा विमता: सुकल्पै: | 14 | 7 | c |
| कालेन व्रजता तात | 8 | 21 | a |
| कालेन स्नानशौचाभ्याम् | 5 | 4 | a |
| कालेनाल्पेन राजर्षे | 8 | 26 | a |
| कालेनेव वय स्तनो: | 26 | 4 | d |
| कालोऽयमिति विह्वल: | 4 | 3 | b |
| काश्चित्परोक्षं कृष्णस्य | 21 | 3 | c |
| काष्ठाद्यथाऽऽनन्दकरं मनस्त: | 2 | 18 | d |
| कांस्तु लोकान्गमिष्यामि | 4 | 16 | c |
| किन्त्वीश्वर त्वन्न विनिर्मतोऽस्मि | 14 | 13 | d |
| किमाकर्यं कदर्याणाम् | 1 | 58 | c |
| किमतद्वस्तु रूप्यताम्- | 14 | 57 | d |
| किमद्य तस्मिन्करणीयमाशु मे | 2 | 21 | a |
| किमस्ति नास्ति व्यपदेशभूषितम् | 14 | 12 | c |
| किमिदं कुत एवेति | 6 | 42 | c |
| किमिदं मायया विना | 14 | 17 | d |
| किमिन्द्रेणाल्पवीर्येण | 4 | 37 | a |
| किमिन्द्रेणेह भूतानाम् | 24 | 15 | a |
| किमु गावो नु मातर: | 6 | 39 | d |
| किमुद्यमै: करिष्यन्ति | 4 | 32 | a |
| किमेतदद्भुतमिव | 13 | 36 | a |
| किरीटिन: कुण्डलिन: | 13 | 48 | c |
| किरीटेनार्कवर्चसा | 27 | 2 | d |
| किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे | 14 | 12 | b |
| किं किं न विस्मरन्तीह | 14 | 44 | a |
| किं क्षेमशूरैर्विबुधै: | 4 | 36 | a |
| किं दुस्सहं नु साधूनाम् | 1 | 58 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| किं न स्तपश्चीर्ण मधोक्षजार्चनम् | 7 | 32 | a |
| किं नो सपद्येव पुनर्व्यदर्शि | 14 | 15 | d |
| किं पुन: श्रद्धया भक्त्या | 6 | 37 | a |
| किं फलं कस्य चोद्देश: | 24 | 3 | c |
| किं बहूक्त्या न मे प्रभो | 14 | 38 | b |
| किं मया हुतया मन्द! | 4 | 12 | a |
| किं मे न दृष्टं भगवंस्तदैव | 14 | 15 | b |
| किं वर्ण्यते दिष्टं मतो व्रजौकसाम् | 12 | 12 | d |
| किं वा मदीयो बत बुद्धिमोह: | 8 | 40 | b |
| किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैव | 14 | 15 | c |
| किं वेद निरयो यत: | 10 | 10 | d |
| किं स्वप्न एत दुत देवमाया | 8 | 40 | a |
| कीर्तयन्तो भगवत: | 23 | 4 | c |
| कीर्तयन्नुभयोस्सन्ध्यो: | 16 | 61 | c |
| कीर्तिमन्तं प्रथमजं | 1 | 57 | a |
| कुचकुङ्कुमकान्तय: | 11 | 32 | b |
| कुटुम्ब्यविजितेन्द्रिय: | 20 | 38 | d |
| कुतो देहान्तरं विना | 1 | 8 | d |
| कुतो नु तद्भेतव ईश तत्कृता: | 27 | 5 | a |
| कुपिताद्भक्तवत्सल | 25 | 13 | d |
| कुपितेन्द्रकृतं हरि: | 25 | 14 | d |
| कुमारास्तेऽग्रजोऽप्ययम् | 8 | 34 | d |
| कुमार्य: कृष्णचेतस: | 22 | 4 | d |
| कुमुदा चण्डिका कृष्णा | 2 | 12 | a |
| कुरु द्विजातिसंस्कारम् | 8 | 10 | c |
| कुरुपाञ्चालकेकयान् | 2 | 3 | b |
| कुर्वतीनां सुतेक्षणम् | 6 | 41 | b |
| कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमीक्षणेन | 15 | 7 | b |
| कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम् | 2 | 30 | d |
| कुर्वन्ति सात्त्वतां भर्तु: | 6 | 3 | C |
| कुर्वन्तो रममाणाश्च | 11 | 57 | c |
| कुशला: स्वार्थदर्शना: | 23 | 26 | b |
| कुसीदं तुर्यमुच्यते | 24 | 21 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| कुसुमितवनराजि शुष्मिभृङ्ग | 21 | 2 | a |
| कूजत्कोकिलसारसम् | 18 | 7 | d |
| कूजन्त: कोकिलै: परे | 12 | 7 | d |
| कूटस्थाय विपश्चिते | 16 | 43 | b |
| कूष्माण्डा येऽर्भकग्रहा: | 6 | 28 | b |
| कृच्छ्रं यदृच्छयाप्नोति | 10 | 15 | c |
| कृच्छ्राच्छनैरपगता: | 13 | 34 | c |
| कृच्छ्राच्छनैर्मील्यदृष्टी: | 13 | 59 | c |
| कृच्छ्रात्पुनर्लब्धबहिर्दृशिश्शनै: | 12 | 44 | c |
| कृच्छ्रात्समुच्छ्वसन् दीन: | 16 | 55 | c |
| कृच्छ्रा न्निर्विविशुर्व्रजम् | 22 | 31 | d |
| कृतवान् यानि विश्वात्मा | 1 | 3 | c |
| कृतस्वस्त्ययनं विप्रै: | 7 | 11 | c |
| कृतं किं वा सुपर्णस्य | 17 | 1 | c |
| कृतं पूर्वं यतो भयम् | 11 | 54 | d |
| कृतागसस्तेऽविदुष: प्रभावम् | 27 | 8 | b |
| कृतागसं तं प्ररुदन्तमक्षिणी | 9 | 11 | a |
| कृताञ्जलिपुटा विप्रान् | 23 | 5 | c |
| कृताञ्जलि: प्रश्रयवान् समाहित: | 13 | 65 | c |
| कृता यतस्त्वय्यभवाश्रयात्मनि | 2 | 39 | d |
| कृतास्तदा नष्टसमा व्रजौकस: | 12 | 15 | b |
| कृत्यं किमत्राऽस्य खलस्य जीवनम् | 12 | 28 | a |
| कृत्यं सर्वात्मनामिह | 24 | 4 | d |
| कृत्वा गोवर्धनाचलम् | 25 | 19 | b |
| कृत्वा तरन् वत्सवदं स्म यत्प्लवा: | 1 | 5 | d |
| कृत्वा नमोऽधो वसनं प्रगृह्यताम् | 22 | 19 | d |
| कृत्वा प्रतिकृतिं देवीं | 22 | 2 | c |
| कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्या: | 14 | 16 | c |
| कृपणा करुणं सती | 4 | 4 | b |
| कृपणा पुत्रिकोपमा | 1 | 45 | b |
| कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने | 9 | 18 | d |
| कृपया सौभरि: प्राह | 17 | 10 | c |
| कृपयैत दचिन्तयत् | 28 | 12 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| कृमिविड्भस्मसंज्ञितम् | 10 | 10 | b |
| कृषिवाणिज्य गोरक्षा: | 24 | 21 | a |
| कृष्ण कदम्बमधिरुह्य ततोऽतितुङ्गात् | 16 | 6 | c |
| कृष्ण कृष्ण महाभाग | 17 | 23 | a |
| कृष्ण कृष्ण महाभाग | 25 | 13 | a |
| कृष्ण कृष्ण महायोगिन् | 10 | 29 | a |
| कृष्ण कृष्ण महायोगिन् | 27 | 19 | a |
| कृष्ण कृष्ण महावीर्य | 19 | 9 | a |
| कृष्ण कृष्णारविन्दाक्ष | 11 | 14 | a |
| कृष्णञ्च गतविस्मया: | 26 | 24 | f |
| कृष्णञ्च तस्योरसि लम्बमानम् | 7 | 30 | b |
| कृष्णञ्च वर्णं तमसा जनात्यये | 3 | 20 | d |
| कृष्णञ्च समभिष्टूय | 28 | 17 | c |
| कृष्णदर्शन लालसा: | 16 | 15 | d |
| कृष्ण दुष्टनिबर्हण | 15 | 21 | b |
| कृष्ण दुष्टनिबर्हण | 23 | 1 | b |
| कृष्णप्राणान् निर्विशत: | 16 | 22 | a |
| कृष्णभक्तिर्यथाऽशुभम् | 20 | 34 | d |
| कृष्णभुक्तस्तनक्षीरा: | 6 | 39 | c |
| कृष्णमक्लिष्टकारिणम् | 26 | 23 | d |
| कृष्णमायाहता राजन् | 14 | 43 | c |
| कृष्णमालिङ्ग्य युयुजु: | 25 | 30 | c |
| कृष्ण मुच्चै र्जगुर्यान्त्य: | 22 | 6 | c |
| कृष्ण मेन मवेहि त्वम् | 14 | 55 | a |
| कृष्णयोगोनुभावं तम् | 25 | 24 | a |
| कृष्णराम कथां मुदा | 11 | 57 | b |
| कृष्णरामादय स्तदा | 19 | 3 | b |
| कृष्ण रामा वुपागम्य | 22 | 41 | c |
| कृष्ण रामेति गोपका: | 28 | 3 | b |
| कृष्णलीला जगु: प्रीता: | 11 | 32 | c |
| कृष्णवत्सैरसंख्यातै: | 12 | 3 | a |
| कृष्णसङ्गद्दिन: केचित् | 18 | 20 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| कृष्णस्तु गृहकृत्येषु | 9 | 22 | a |
| कृष्णस्तु यमयो र्ययौ | 10 | 26 | b |
| कृष्णस्त्वन्यतमं रूपम् | 24 | 35 | a |
| कृष्णस्य गर्भजगतोऽतिभरावसन्नम् | 16 | 31 | a |
| कृष्णस्य गोप्यो रुचिरम् | 8 | 28 | a |
| कृष्णस्य नृत्यत: केचित् | 18 | 10 | a |
| कृष्णस्य योगवीर्यं तत् | 19 | 14 | a |
| कृष्णस्य विष्वक् पुरुराजिमण्डलै: | 13 | 8 | a |
| कृष्णस्याऽऽदेशकारिण: | 23 | 6 | b |
| कृष्णस्याऽमित तेजस: | 26 | 24 | d |
| कृष्णस्यामित तेजस: | 27 | 3 | b |
| कृष्णस्यार्भक चेष्टितम् | 6 | 45 | b |
| कृष्णं दानवपुङ्गव: | 18 | 25 | b |
| कृष्णं नभोगतो गन्तुम् | 7 | 26 | c |
| कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सव रूपशीलम् | 21 | 13 | a |
| कृष्णं निरीहमुपलभ्य जलाशयान्ते | 16 | 19 | b |
| कृष्णं प्रणम्य शिरसाऽखिल लोकनाथम् | 10 | 28 | c |
| कृष्णं प्राह कृताञ्जलि: | 16 | 55 | d |
| कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य | 25 | 3 | c |
| कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य | 25 | 5 | c |
| कृष्णं महाबकग्रस्तम् | 11 | 48 | a |
| कृष्णं ययुस्ते शरणम् | 17 | 22 | c |
| कृष्णं समेत्य लब्धेहा: | 17 | 15 | c |
| कृष्णं सूचितया पदै: | 16 | 17 | b |
| कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च | 14 | 56 | b |
| कृष्ण ह्रदा द्विनिष्क्रान्तम् | 17 | 13 | a |
| कृष्ण: कमलपत्राक्ष: | 15 | 41 | a |
| कृष्ण: कृष्णाहिना विभु: | 16 | 1 | b |
| कृष्ण: प्राह विहारवित् | 18 | 19 | b |
| कृष्ण प्रीतमना: पशून् | 15 | 9 | b |
| कृष्णाननेऽर्पितदृशो मृतक प्रतीका: | 16 | 21 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| कृष्णाय परमात्मने | 6 | 37 | b |
| कृष्णायाऽकुण्ठमेधसे | 23 | 49 | b |
| कृष्णावतारोत्सवसम्भ्रमोऽस्पृशत् | 3 | 11 | c |
| कृष्णाश्वासित मानसा: | 25 | 22 | b |
| कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम् | 21 | 15 | b |
| कृष्णे च सन्नतिं तेषाम् | 28 | 10 | c |
| कृष्णे ते कृतहेलना: | 23 | 51 | b |
| कृष्णेन च विवासित: | 17 | 12 | d |
| कृऽष्णेन प्रेषिता वयम् | 23 | 16 | d |
| कृष्णेनाऽद्भुतकर्मणा | 16 | 64 | b |
| कृष्णेनाऽऽध्मायितात्मनाम् | 25 | 6 | b |
| कृष्णे न्यस्तेक्षणा भीता: | 16 | 11 | c |
| कृष्णे भक्तिमलौकिकीम् | 23 | 38 | b |
| कृष्णेऽभिषिक्त एतनि | 27 | 27 | a |
| कृष्णे योगेश्वरेश्वरे | 23 | 43 | b |
| कृष्णेऽर्पितात्म सुहृदर्थ | 16 | 10 | c |
| कृष्णे विश्वेश्वरेऽनन्ते | 5 | 13 | c |
| कृष्णोदाराभिकेहितम् | 8 | 47 | b |
| कृष्णो ब्रह्मण आदेशम् | 8 | 52 | a |
| कृष्णो मुदं भक्षितवान् | 8 | 32 | c |
| कृष्णो योगेश्वरेश्वर: | 15 | 50 | b |
| कृष्णो योगेश्वरेश्वर: | 22 | 8 | b |
| कृष्णो वासमकल्पयत् | 17 | 19 | b |
| केचित्तस्य महात्मन: | 15 | 17 | b |
| केचित्पुष्पै: दलै: केचित् | 13 | 9 | a |
| केचित्प्राञ्जलयो भीता: | 4 | 34 | a |
| केचित्सन्धिग्धचेतस: | 11 | 5 | d |
| केचिद्भृङ्गै: प्रगायन्त: | 12 | 7 | c |
| केचिद्वेणून्वादयन्त: | 12 | 7 | a |
| केदारेभ्य स्त्वपो गृह्णन् | 20 | 41 | a |
| केन वा साध्यते मख: | 24 | 3 | d |
| केयं वा कुत आयाता | 13 | 37 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| केवलानुभवानन्द | 3 | 13 | c |
| केशै र्निर्वोढु मतिलङ्घ्य | 23 | 29 | d |
| समस्तबन्धुन् | | | |
| कैलासोपवने रम्ये | 10 | 2 | c |
| कैवल्याद्यखिलार्थद: | 6 | 40 | d |
| कैवल्याद्याशिषां पते: | 23 | 45 | b |
| कोटरा रेवती ज्येष्ठा | 6 | 29 | a |
| कोणेषु शङ्ख उरुगाय उपर्युपेन्द्र: | 6 | 24 | c |
| कोन्विहार्हति विज्ञातुम् | 10 | 32 | c |
| कोमलैस्सर्वगात्रं | 13 | 50 | c |
| को विद्वा नात्मसात्कृता | 10 | 12 | c |
| को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन् | 14 | 21 | a |
| कौणपास्त्वघबान्धवा: | 13 | 29 | d |
| कौमारं जहतुर्व्रजे | 11 | 58 | b |
| कौमारं जहतुर्व्रजे | 14 | 61 | b |
| कौस्तुभाऽमुक्तकन्धरा: | 13 | 49 | d |
| क्रतवश्च हरेस्तनू: | 4 | 41 | d |
| क्रतुभिर्नाम नौनिभै: | 25 | 4 | b |
| क्रतुर्धर्मश्च यन्मय: | 23 | 10 | d |
| क्रतुर्धर्मश्च यन्मय: | 23 | 47 | d |
| क्रन्दन्त्यो दावतर्षिता: | 19 | 2 | d |
| क्रन्दमानं स्वगोधनम् | 19 | 5 | b |
| क्रन्दमानास्सुदु:खिता: | 16 | 11 | b |
| क्रियतां मेऽनुशासनम् | 27 | 17 | b |
| क्रियतां यदि रोचते | 24 | 30 | b |
| क्रियासु य स्त्वच्चरणरविन्दयो: | 2 | 37 | c |
| क्लिश्यन्ति ये केवल बोध लब्धये | 14 | 4 | b |
| क्रीडन्तमकुतोभयम् | 6 | 19 | b |
| क्रीडन्तमप्रतिभयं कमलोदराङ्घ्रिं | 16 | 9 | c |
| क्रीडन्तं पातु गोविन्द: | 6 | 26 | c |
| क्रीडन्तं सा सुतं बालै: | 11 | 13 | a |
| क्रीडन्तो विष्णुना समम् | 13 | 43 | d |
| क्रीडन्नमुं परिससार यथा खगेन्द्र: | 16 | 25 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| क्रीडन्नात्म विहारैश्च | 13 | 20 | c |
| क्रीडापरावतिबलौ स्वसुतौ निषेद्धुम् | 8 | 25 | b |
| क्रीडाभिश्चेरतुर्वने | 18 | 16 | b |
| क्रीडामनुजबालक: | 8 | 36 | d |
| क्रीडामनुजरूपिण: | 16 | 67 | f |
| क्रीडायां जयिनस्तास्तान् | 18 | 23 | c |
| क्रीडाश्रान्तोऽसि पुत्रक | 11 | 15 | d |
| क्रीडासक्तेषु गोपेषु | 19 | 1 | a |
| क्रीडासङ्गेन पुत्रकौ | 11 | 12 | d |
| क्रीडास्तन्मयतां ययु: | 20 | 21 | d |
| क्रीडिष्यमाणस्तत्कृष्ण: | 18 | 8 | a |
| क्रीणीहि भो: फलानीति | 11 | 7 | a |
| क्रुद्धो राजा करिष्यति | 22 | 16 | f |
| क्रूराण्यपि निसर्गत: | 27 | 27 | d |
| क्रोधो हि तेऽनुग्रह एव सम्मत: | 16 | 34 | d |
| क्रोष्टाशोऽभ्यद्रवन्सर्वे | 15 | 36 | c |
| क्वचाऽऽमलकमुष्टिभि: | 18 | 14 | b |
| क्वचिच्च कलहंसानाम् | 15 | 11 | a |
| क्वचिच्च दर्दुरप्लावै: | 18 | 15 | a |
| क्वचिज्जातस्तवात्मज: | 8 | 14 | b |
| क्वचिज्जातस्तवात्मन: | 26 | 17 | b |
| क्वचित्कुम्भै: क्वचिद्बिल्वै: | 18 | 14 | a |
| क्वचित्कृत्रिमगोवृषै: | 11 | 38 | d |
| क्वचित्क्रीडापरिश्रान्तम् | 15 | 14 | a |
| क्वचित्पल्लवतल्पेषु | 15 | 16 | a |
| क्वचित्पादै: किङ्किणीभि: | 11 | 38 | c |
| क्वचिदाह्वयति प्रीत्या | 15 | 12 | c |
| क्वचिद्गायति गायत्सु | 15 | 10 | a |
| क्वचिद्धैयङ्गवस्तैन्ये | 26 | 7 | a |
| क्वचिद्वनस्पतिक्रोडे | 20 | 28 | a |
| क्वचिद्वनाशाय मनो दधद्व्रजात् | 12 | 1 | a |
| क्वचिद्वादयतो वेणुम् | 11 | 38 | a |
| क्वचिन्न मुमुचु: शिवम् | 20 | 36 | b |
| क्वचिन्नृत्यत्सु चाऽन्येषु | 18 | 13 | a |
| क्वचिन्मृगखगेहया | 18 | 14 | d |
| क्व महाद्रि विधारणम् | 26 | 14 | b |
| क्व वा कथं वा कति वा कदेति | 14 | 21 | c |
| क्व वासं ज्ञातिभिस्साकं | 1 | 9 | c |
| क्व सप्तहायनो बाल: | 26 | 14 | a |
| क्वाऽप्यदृष्ट्वान्तर्विपिने | 13 | 17 | a |
| क्वाऽहं तमो महदहं खचराग्निवार्भू- | 14 | 11 | a |
| क्वेदृग्विधा विगणिताण्डपराणुचर्या | 14 | 11 | c |
| क्षणं युगशतानीव | 19 | 16 | c |
| क्षणादनेनेति बकार्युशन्मुखम् | 12 | 24 | c |
| क्षणार्धं मेनिरेऽर्भका: | 14 | 43 | d |
| क्षन्तु मर्हत्यतिक्रमम् | 23 | 50 | d |
| क्षन्तु मर्हसि शान्तात्मन् | 16 | 51 | c |
| क्षन्तुं प्रभोऽथार्हसि मूढचेतस: | 27 | 8 | c |
| क्षमध्वं मम दौरात्म्यम् | 4 | 23 | a |
| क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मन: | 9 | 9 | d |
| क्षान्त्वा रोषञ्च देवकी | 4 | 25 | b |
| क्षिप्त मेतन्न संशय: | 7 | 9 | d |
| क्षीणायुषो भ्रमत | 16 | 28 | c |
| उल्बणमास्यतोऽसृक् समबुध्यत | 10 | 5 | d |
| क्षुत्तृडभ्यां श्रमकर्शिता: | 17 | 20 | b |
| क्षुत्त्रृड्व्यथां सुखापेक्षाम् | 25 | 23 | a |
| क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यती: | 20 | 10 | b |
| क्षुद्राशा भूरिकर्माण: | 23 | 9 | c |
| क्षुधार्था इदमब्रुवन् | 22 | 41 | d |
| क्षेत्राणि सस्य सम्पद्भि: | 20 | 12 | a |
| क्षेपणै: क्षिपत: क्वचित् | 11 | 38 | b |
| क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य | 2 | 29 | b |
| क्षौमं वास: पृथुकटितटे बिभ्रती सूचनद्धम् | 9 | 3 | a |
| क्षौमा निर्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन् | 14 | 40 | b |
| **ख** | | | |
| खड्गपाणि: कचोऽग्रहीत् | 1 | 35 | d |
| खद्योतार्चिरिवाऽहनि | 13 | 46 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| ख मशोभत निर्मेघम् | 20 | 43 | a |
| खरदेहहताहता: | 14 | 34 | b |
| खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशा: | 7 | 36 | a |
| खं व्यभ्रमुदितादित्यम् | 25 | 25 | a |
| ख्यातश्च भुवि सर्वत: | 8 | 7 | b |
| **ग** | | | |
| गच्छदेवि व्रजं भद्रे | 2 | 7 | a |
| गच्छन्तस्साधुहंसकै: | 12 | 8 | b |
| गच्छन्नर्जुनयोर्मध्ये | 26 | 7 | c |
| गजानां हेममालिनाम् | 1 | 31 | b |
| गजाविव करेणुभि: | 10 | 4 | d |
| गणं सांवर्तकं नाम | 25 | 2 | a |
| गण्डशैलस्तनं रौद्रम् | 6 | 16 | c |
| गतस्तत्कर्मसिद्धये | 22 | 8 | d |
| गतिर्धातुर्दुरत्यया | 1 | 50 | b |
| गते मयि युवां लब्ध्वा | 3 | 40 | a |
| गतो नारायणाश्रमम् | 10 | 23 | b |
| गत्वा च पत्नीशालायाम् | 23 | 15 | a |
| गत्वा जलाशयाभ्याशम् | 11 | 45 | c |
| गत्वाऽयाचन्त ते तथा | 23 | 5 | b |
| गदा राजीव पाणय: | 13 | 48 | b |
| गन्ता तमोऽन्धं तनुमानिनो ध्रुवम् | 2 | 22 | d |
| गन्धनिर्यास भस्मास्थि | 22 | 37 | c |
| गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणा: | 27 | 24 | b |
| गन्धर्वसिद्धमुनिचारणदेववध्व: | 16 | 27 | b |
| गन्धलोभितचेतसाम् | 15 | 25 | d |
| गन्धैर्माल्यैस्सुरभिभि: | 22 | 3 | a |
| गम्भीरतोयौघजवोर्मिफेनिला | 3 | 50 | b |
| गम्यतां यदि रोचते | 15 | 26 | b |
| गम्यतां शक्र भद्रं व: | 27 | 17 | a |
| गरिमाणं शिशोर्वोढुम् | 7 | 18 | c |
| गरुडो भक्ष्य मीप्सितम् | 17 | 9 | b |
| गरुत्मा भगवत्प्रिय: | 17 | 5 | b |
| गर्गगीतं व्रजौकस: | 26 | 24 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| गर्ग: पुरोहितो राजन् | 8 | 1 | a |
| गर्गे च स्वगृहं गते | 8 | 20 | b |
| गर्गे च स्वगृहं गते | 26 | 23 | b |
| गर्गो मे यदुवाच ह | 26 | 15 | d |
| गर्गो यदाह भगवान् | 11 | 56 | e |
| गर्भसङ्कर्षणात्तं वै | 2 | 13 | a |
| गर्भे प्रणीते देवक्या: | 2 | 15 | a |
| गर्भो बभूव देवक्या: | 2 | 5 | c |
| गलग्रहणनिश्चेष्ट: | 7 | 28 | a |
| गले गृहीत उत्स्रष्टुम् | 7 | 27 | c |
| गह्वरेष्वात्मवत्सकान् | 13 | 14 | b |
| गा गोपकै रनुवनं नयतोरुदार- | 21 | 20 | a |
| गाढं कराभ्यां भगवान्प्रपीड्य तत् | 6 | 11 | c |
| गाधवारिचरा स्तापम् | 20 | 38 | a |
| गायकाश्च जगुर्नेदु: | 5 | 5 | c |
| गायकौ वादकौ स्वयम् | 18 | 13 | b |
| गायन्त आदिपुरुषानुपदं भजन्ते | 15 | 6 | b |
| गायन्ति स्म महाराज | 15 | 18 | c |
| गायन्त्य ईयु र्मुदिता हृदिस्पृश: | 25 | 33 | d |
| गायन्त्यद्याऽपि कवय: | 8 | 47 | c |
| गायन्त्यस्सद्विजाशिष: | 24 | 34 | d |
| गायन्मयूरभ्रमरम् | 18 | 7 | c |
| गावश्च कृष्णमुखनिर्गत वेणुगीत | 21 | 14 | a |
| गावस्ततो गोष्ठ मुपेत्य सत्वरम् | 13 | 24 | a |
| गावस्तदा गा मनयन् पय:प्लुताम् | 27 | 25 | d |
| गोवो मृगा: खगा नार्य: | 20 | 46 | a |
| गावो वत्सा नुप व्रजम् | 13 | 29 | b |
| गावो वृषा वत्सतर्य: | 16 | 11 | a |
| गावो वृषाश्च वत्सश्च | 5 | 7 | a |
| गाश्च सर्वगुणोपेता: | 7 | 16 | a |
| गाश्च स्वाधोभरश्रमा: | 20 | 30 | d |
| गाश्च हन्मो हविर्दुघा: | 4 | 40 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| गाश्चारयन्ताविविदूर ओदनम् | 23 | 7 | a |
| गाश्चारयन्तौ सखिभिस्समं पदै: | 15 | 1 | c |
| गाश्चारयन्स गोपालै: | 23 | 17 | a |
| गास्सन्निवर्त्य सायाह्ने | 19 | 15 | a |
| गां गता तत्तथाऽकरोत् | 2 | 14 | d |
| गां पौरुषीं मे शृणुतामरा: पुन: | 1 | 21 | c |
| गिरये दीयतां बलि: | 24 | 28 | d |
| गिरयोऽबिभ्रदुन्मणीन् | 27 | 26 | d |
| गिरयो मुमुचुस्तोयम् | 20 | 36 | a |
| गिरयो वर्ष धाराभि: | 20 | 15 | a |
| गिरं समाधौ गगने समीरिताम् | 1 | 21 | a |
| गिरा सूनृतया मुनिम् | 8 | 3 | b |
| गिरिकन्दरनासिकम् | 6 | 16 | b |
| गिरिगर्तं सगोधना: | 25 | 20 | d |
| गिरिर्यथा मघवत आयुधाहत: | 18 | 29 | d |
| गिरिं चक्रु: प्रदक्षिणम् | 24 | 33 | d |
| गिरे: शृङ्गमिव स्थितम् | 11 | 46 | d |
| गिलन्त्य इव चाऽङ्गानि | 13 | 31 | c |
| गीतैस्सुगा वाद्यधराश्च वाद्यकै: | 12 | 34 | c |
| गीर्भिर्धिषणमैडयन् | 2 | 25 | d |
| गुञ्जावतंस परिपिच्छलसन्मुखाय | 14 | 1 | b |
| गुणकर्मानुरूपाणि | 8 | 15 | c |
| गुणकर्मानुरूपाणि | 26 | 18 | c |
| गुणद्रष्ट्रे स्वसंविदे | 16 | 46 | d |
| गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान् | 2 | 35 | c |
| गुणवृत्त्युपलक्ष्याय | 16 | 46 | c |
| गुणात्मच्छादनाय च | 16 | 46 | b |
| गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुम् | 14 | 7 | a |
| गुणापाये समाहिता: | 28 | 15 | d |
| गुणेषु माया रचितेषु देह्यसौ | 1 | 42 | c |
| गुणेषु रागानुगतो विमुह्यति | 1 | 43 | d |
| गुणैरनीहोऽकृत कालशक्तिधृत् | 16 | 49 | b |
| गुरवस्सकलत्रका: | 17 | 17 | b |
| गुरवो गुह्यमप्युत | 13 | 3 | d |
| गुरोऽपि क्षत्रबन्धव: | 12 | 43 | b |
| गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सु चक्षुषा | 14 | 24 | c |
| गुहायाञ्चाऽभिवर्षति | 20 | 28 | b |
| गुह्यकौ धनदात्मजौ | 9 | 22 | d |
| गूढ स्वात्मानुभूतये | 16 | 42 | d |
| गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवम् | 15 | 6 | d |
| गूढो रहसि बालयो: | 8 | 11 | d |
| गृहपालास्समुत्थिता: | 4 | 1 | d |
| गृहिणां दीनचेतसाम् | 8 | 4 | b |
| गृहीतचित्ता ने चेलु: | 22 | 26 | c |
| गृहीतपश्चाच्चरणान् | 15 | 37 | c |
| गृहीतहस्तौ गोपालान् | 15 | 15 | c |
| गृहीत्वा दधिमन्थानं | 9 | 4 | c |
| गृहीत्वापरपादाभ्याम् | 11 | 42 | a |
| गृहेऽवतीर्णोऽसि ममाऽखिलेश्वर | 3 | 21 | b |
| गृहेषु तप्ता निर्विण्णा: | 20 | 20 | c |
| गृहेष्वशान्तकृत्येषु | 20 | 22 | c |
| गृह्णतोऽनुयुगं तनू: | 8 | 13 | b |
| गृह्णतोऽनुयुगं तनू: | 26 | 16 | b |
| गृह्णन्ति नो न पतय: पितरौ सुता वा | 23 | 30 | a |
| गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहारा: | 21 | 16 | d |
| गृह्यमाणै स्त्वमग्राह्य: | 10 | 32 | a |
| गृह्याणि कर्तुमपि यत्र न तज्जनन्या | 8 | 25 | c |
| गेहे द्रविणसम्पद: | 20 | 10 | d |
| गोकुलस्य हितैषिभि: | 11 | 22 | b |
| गोकुलं सर्वमावृण्वन् | 7 | 21 | a |
| गोकुले रामकेशवौ | 8 | 21 | b |
| गो गोपबालैर्वृतो रन्तुम् | 20 | 25 | c |
| गो गोपालमनोज्ञया | 15 | 12 | d |
| गो गोपीनां मातृताऽस्मिन् | 13 | 25 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| गोधनानि पुरस्कृत्य | 11 | 31 | a |
| गोधनानि पुरस्कृत्य | 24 | 33 | c |
| गोधनान्यग्रतो यान्तु | 11 | 28 | c |
| गोधनैस्संवृतोऽविशत् | 18 | 8 | d |
| गोपगोकुलनन्दन: | 8 | 16 | b |
| गोपगोकुलनन्दन: | 26 | 19 | b |
| गोपगोपी गवां सेव्यं | 11 | 27 | c |
| गोपगोपीषु भारत | 8 | 51 | d |
| गोपगोभिरलङ्कृतम् | 2 | 7 | b |
| गोपजातिप्रतिच्छनौ | 18 | 11 | a |
| गोपरूपिणमीश्वरम् | 27 | 18 | d |
| गोपरूपी प्रलम्बोऽगात् | 18 | 17 | c |
| गोपवाक्यैस्सतां गति: | 23 | 44 | d |
| गोपविश्रम्भणं गत: | 24 | 35 | b |
| गोपवृद्धा महोत्पातान् | 11 | 20 | a |
| गोपवृद्धाश्च गोप्यश्च | 20 | 2 | a |
| गोपा गोप्यश्च शीतार्ता: | 25 | 11 | c |
| गोपा गोप्य: कलेबरम् | 6 | 18 | b |
| गोपात्मजत्वं चरितैर्विडम्बयन् | 15 | 19 | b |
| गोपा नन्दपुरोगमा: | 16 | 13 | b |
| गोपा नन्दादय: श्रुत्वा | 11 | 1 | a |
| गोपानां काननौकसाम् | 25 | 3 | b |
| गोपानां तमस: परम् | 28 | 14 | d |
| गोपा निराशा: प्रत्येत्य | 23 | 12 | c |
| गोपान् गोकुलरक्षायाम् | 5 | 18 | a |
| गोपान् गोपीश्च बालका: | 7 | 9 | b |
| गोपा न्नो रामचोदितान् | 23 | 6 | d |
| गोपान् प्रसुप्तानुपलभ्यनिद्रया | 3 | 51 | b |
| गोपा मे चक्रुरप्रियम् | 25 | 5 | d |
| गोपायस्व समाहित: | 8 | 19 | d |
| गोपाये स्वात्मयोगेन | 25 | 18 | c |
| गोपा रामजनार्दनौ | 18 | 20 | b |
| गोपालच्छद्ममायया | 18 | 2 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| गोपालसूनुं पितरं जगद्गुरो: | 11 | 49 | b |
| गोपालोदार चरितम् | 16 | 3 | c |
| गोपाश्च गाव: प्रसमीक्ष्य भीता: | 19 | 8 | b |
| गोपास्तद्रोधनायास | 13 | 32 | a |
| गोपास्समाययू राजन् | 5 | 8 | c |
| गोपास्सस्त्री धनार्भका: | 25 | 26 | b |
| गोपास्सुविस्मिता आसन् | 18 | 30 | c |
| गोपांश्च मूढधिषणान् परित: पशूंश्च | 16 | 19 | c |
| गोपांश्चारण्यवह्नित: | 26 | 11 | d |
| गोपा: कृष्णस्य वीक्ष्य ते | 26 | 1 | b |
| गोपा: परस्परं हृष्टा: | 5 | 14 | a |
| गोपा: प्रीत्याभिरेमिरे | 17 | 14 | d |
| गोपा: प्रेम्णेदमब्रुवन् | 15 | 20 | d |
| गोपा: स्त्रीभ्यस्समाचख्यु: | 20 | 1 | c |
| गोपिकायां स ईश्वर: | 8 | 43 | b |
| गोपिकोलूखले दाम्ना | 9 | 14 | c |
| गोपित्वा मायाऽऽत्मानम् | 6 | 4 | c |
| गोपीथायाऽऽत्मनस्सर्वे | 17 | 3 | c |
| गोपीदृगुत्सवदृशि: प्रविवेश गोष्ठम् | 14 | 47 | d |
| गोपीनां परमानन्द: | 19 | 16 | a |
| गोपीनां विस्मयन्तीनाम् | 9 | 17 | c |
| गोपीभि: कृतरक्षणम् | 6 | 31 | b |
| गोपीभि: स्तोभितोऽनृत्यत् | 11 | 9 | a |
| गोपुच्छभ्रमणीदिभि: | 6 | 20 | d |
| गोपेभ्य: कृष्णनाथेभ्य: | 25 | 1 | c |
| गोपैर्गृणद्भि: स्वयशोबलान्वित: | 15 | 2 | b |
| गापैस्सङ्कर्षणान्वित: | 20 | 29 | d |
| गोपो ज्ञानवयोधिक: | 11 | 21 | b |
| गापोत्सङ्गोपबर्हणम् | 15 | 14 | b |
| गोपोत्सङ्गोपबर्हण: | 15 | 16 | d |
| गोप्ता यदूनां भविता तवात्मज: | 2 | 41 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| गोप्यन्वधावन्न यमाप योगिनाम् | 9 | 9 | c |
| गोप्यश्च कृष्णवीर्याणि | 24 | 34 | c |
| गोप्यश्च गोपास्सहगोधनाश्च मे | 8 | 42 | c |
| गोप्यश्च गोपा: किल नन्दमुख्या: | 7 | 30 | c |
| गोप्यश्च सस्नेह मपूजयन्मुदा | 25 | 29 | c |
| गोप्यश्चाऽऽकर्ण्य मुदिता: | 5 | 9 | a |
| गोप्यश्चाति प्रियादृता: | 11 | 53 | b |
| गोप्यस्तूर्णं समभ्येत्य | 6 | 19 | c |
| गोप्यस्सुमृष्टमणिकुण्डल निष्ककण्ठ्य | 5 | 11 | a |
| गोप्य: किमाचर दयं कुशलं स्म वेणु: | 21 | 10 | a |
| गोप्य: प्रेमपरिप्लुता: | 22 | 12 | b |
| गोप्य: श्रियं द्रष्टु मिवाऽऽगतां पतिम् | 6 | 6 | d |
| गोप्य: संस्पृष्टसलिला: | 6 | 22 | a |
| गोप्यो गोपाश्च कौख | 17 | 15 | b |
| गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन्समेता: | 15 | 42 | d |
| गोप्योऽनुरक्तमनसोभगवत्यनन्ते | 16 | 20 | a |
| गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहाश्री: | 15 | 8 | d |
| गोप्यो रूढरथा नून | 11 | 32 | a |
| गोमूत्रेण स्नापयित्वा | 6 | 21 | a |
| गोलोका दाव्रजत्कृष्णम् | 27 | 1 | c |
| गोवत्सैर्ददृशुस्सुतान् | 13 | 32 | d |
| गोवर्धनधरोऽब्रवीत् | 25 | 25 | d |
| गोवर्धनाद्रिशिरसि | 13 | 29 | c |
| गोवर्धने धृते शैले | 27 | 1 | a |
| गोविन्द इति चाऽभ्यधात् | 27 | 23 | d |
| गोविन्द नीयता मेष: | 28 | 8 | c |
| गोविन्दमभिषिच्य स: | 27 | 28 | b |
| गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकला: स्पृशन्त्य: | 21 | 14 | d |
| गोविन्दवेणुमनुमत्त मयूरनृत्तं | 21 | 11 | c |
| गोविन्दं शरणं ययु: | 25 | 11 | d |
| गोविन्दानुग्रहेक्षितम् | 15 | 52 | b |
| गोविन्दे लभते रतिम् | 6 | 45 | d |
| गोविप्रानल पर्वतान् | 24 | 29 | d |
| गोष्पदैरङ्कितैर्गवाम् | 19 | 4 | b |
| गौ र्भूत्वाऽश्रुमुखी खिन्ना | 1 | 18 | a |
| ग्रस्तोऽग्निना प्रियतमे भृशदु:खतप्ता: | 16 | 20 | c |
| ग्राम्या इव दुराशया: | 20 | 22 | d |
| ग्राम्यान्भोगानभुञ्जाथाम् | 3 | 40 | c |
| ग्राम्येष्वात्म जुगुप्सितम् | 26 | 2 | d |
| ग्राम्यै स्समं ग्राम्यवदीशचेष्टित: | 15 | 19 | d |
| ग्राह्यैर्गुणैस्सन्नपि तद्गुणाग्रह: | 3 | 17 | b |
| ग्रीष्मो नामर्तुरभवत् | 18 | 2 | c |
| घनैरिव नभस्तलम् | 15 | 38 | d |
| घर्मकालगुणाननु | 3 | 34 | b |
| घृणार्दितो दिष्टकृतेन विस्मित: | 12 | 27 | d |
| घोरा तमादाय शिशोर्ददावथ | 6 | 11 | b |
| घोषप्रघोषरुचिरं व्रजकर्दमेषु | 8 | 22 | b |
| घ्नन्ति ह्यसुतृपो लुब्धा: | 1 | 67 | c |
| घ्राणैरवापु: परमां मुदं ते | 13 | 33 | d |
| **च** | | | |
| चकार नाम करणम् | 8 | 11 | c |
| चकार सूनोरभिषेचनं सती | 7 | 4 | d |
| चकोर क्रौञ्च चक्राह्व | 15 | 13 | a |
| चक्रवातरूपेण | 7 | 20 | c |
| चक्रवातेन नीतोयं | 11 | 24 | a |
| चक्राग्रत: सहगदो हरिरस्तु पश्चात् | 6 | 24 | a |
| चक्रुर्वाद्यानि तुष्टुवु: | 15 | 39 | d |
| चक्रे तालवनं क्षेमं | 26 | 10 | c |
| चक्रे विश्वदृगीश्वर: | 13 | 18 | d |
| चक्रेऽसौ निर्विषोदकाम् | 26 | 12 | d |
| चक्षुषां वयुनेन स: | 13 | 38 | d |
| चक्षु:श्रवा: समसरत्तदमृष्यमाण: | 16 | 8 | d |
| चच्छर्द सद्योऽतिरुषाक्षतं बक: | 11 | 49 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| चछादाजो ज्ञात्वा सपदि परमो ऽजायवनिकाम् | 13 | 58 | d |
| चण्डश्वसन वेपिता: | 20 | 6 | b |
| चतुरास्येन शौरिणा | 13 | 40 | b |
| चतुर्भुजं शङ्खगदाद्युदायुधम् | 3 | 9 | b |
| चतुर्भुजा: शङ्खचक्र | 13 | 48 | a |
| चतुर्विधं बहुगुणम् | 23 | 19 | a |
| चतुर्विधे नाशयित्वा | 23 | 35 | c |
| चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वै: | 13 | 53 | c |
| चतुश्शतं पारिबर्हं | 1 | 31 | a |
| चतूरस: पञ्चविधष्षडात्मा | 2 | 27 | b |
| चन्द्रिका विशदस्मैरै: | 13 | 51 | a |
| चमूपतिना मभवाय देव | 27 | 9 | c |
| चरणावपरौ राजन् | 15 | 31 | c |
| चरन्तु शनकैस्तृणम् | 13 | 6 | d |
| चरन्त्यो ददृशुस्तृणम् | 13 | 29 | d |
| चराचरात्माऽऽस निमीलितेक्षण: | 6 | 8 | b |
| चरितं पस्माद्भुतम् | 1 | 1 | d |
| चर्वतो मीलितेक्षणान् | 20 | 30 | b |
| चारयन्गास्सहाग्रज: | 22 | 32 | d |
| चारयन्तश्च गोधनम् | 18 | 22 | b |
| चारयन्त: पशून्नृप | 22 | 41 | b |
| चारयन्तोऽर्भलीलाभि: | 12 | 3 | c |
| चारयन्तौ विचेरतु: | 11 | 44 | d |
| चारयामासतुर्वत्सान् | 11 | 37 | c |
| चिक्रीडतुर्नियुद्धेन | 18 | 12 | c |
| चिक्रीडतु र्युवतिभि: | 10 | 4 | c |
| चिक्रीडे जनयन्मुदम् | 8 | 27 | d |
| चिक्रीडे वनगोष्ठ्यो: | 13 | 27 | d |
| चिक्षेप तृणराजाग्रे | 15 | 32 | c |
| चित्रध्वजपताकास्रक् | 5 | 6 | c |
| चित्राम्बरा: पथिशिखाच्युतमाल्यवर्षा: | 5 | 11 | b |
| चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ | 3 | 45 | c |
| चिन्तयानो हृषीकेशम् | 2 | 24 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| चिरस्य पादयो: पतन् | 13 | 64 | b |
| चिरं ध्यात्वा स आत्मभू: | 13 | 44 | b |
| चिरं पाहीति बालके | 5 | 12 | b |
| चुक्रुशु स्त मपश्यन्त: | 28 | 3 | a |
| चुक्षोभ श्वसनोर्मिमान् | 20 | 14 | b |
| चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्ज | 21 | 9 | a |
| चूर्णयामास राजेन्द्र | 6 | 15 | c |
| चूर्णीचिकीर्षोरात्मानम् | 12 | 30 | c |
| चेतो मन: कर्म वचोभिरञ्जसा | 8 | 41 | b |
| चेतो विश्वफलान् फलन्त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति | 14 | 35 | b |
| चेरतु: पुष्पिते वने | 10 | 3 | d |
| चेरतु: प्राकृतौ यथा | 11 | 39 | d |
| चेरु रार्यार्चनं सती: | 22 | 30 | d |
| चेरुर्हविष्यं भुञ्जाना: | 22 | 1 | c |
| चेष्टामाहु श्चेष्टते येन विश्वम् | 3 | 26 | b |
| चेष्टितं विहते यज्ञे | 27 | 12 | c |
| चैल पल्लव तोरणै: | 5 | 6 | d |
| चोद्यमानोऽपि दारुण: | 1 | 46 | b |
| च्युतधान्यं करद्वयम् | 11 | 8 | b |
| च्युत प्रसूनानुगति: परामृशत् | 9 | 10 | d |
| च्युतं हरिकथामृतम् | 1 | 13 | d |
| छत्राक मिव बालक: | 25 | 19 | d |
| छदा यथाऽम्भोरुहकर्णिकाया: | 13 | 8 | d |
| छायाभि स्स्वाभि: स्स्वाभि रात्मन: | 22 | 33 | b |
| छित्त्वा तत्ते व्रजौकस: | 6 | 34 | b |
| छिद्रं ह्यन्तर्निहित वयुन: शिक्यभाण्डेषु तद्वित् | 8 | 30 | b |
| **ज** | | | |
| जगच्चैतत्तवार्पितम् | 14 | 39 | d |
| जगता मास कर्मसु | 7 | 19 | d |
| जगतो यो जगच्च य: | 9 | 13 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| जगत्त्रयान्तोदधिसम्प्लवोदे | 14 | 13 | a | | | | |
| जगत् स्थास्नु च खं दिश: | 8 | 37 | b | जलै राकाशगङ्गाया: | 27 | 22 | c |
| जगदेतच्चराचरम् | 14 | 54 | d | जलै: पवित्रौषधिभि: | 7 | 14 | c |
| जगद्धिताय सोऽप्यत्र | 14 | 55 | c | जलौघैर्निरभिद्यन्त | 20 | 23 | a |
| जगर्जरनुसागरम् | 3 | 7 | d | जलौघै: प्लाव्यमाना भू: | 25 | 10 | c |
| जगाम शनकैस्तत्र | 10 | 24 | c | जवेन विस्रंसिकेशबन्धन | 9 | 10 | c |
| जगाम सत्रिनयन: | 1 | 19 | c | जहाराऽऽसीनमर्भकम् | 7 | 20 | d |
| जगुर्गन्धर्वपतय: | 25 | 32 | c | जहास तञ्चापि न तत्र पश्यति | 9 | 7 | d |
| जगुर्यशो लोकमलापहं हरे: | 27 | 24 | c | जहासास्यानुभाववित् | 17 | 16 | b |
| जगु: किन्नरगन्धर्वा: | 3 | 6 | a | जह्रुषु: ये च कंसाद्या: | 12 | 29 | c |
| जगु: केचिदवादयन् | 18 | 10 | b | जातकर्माऽऽत्मजस्य वै | 5 | 2 | b |
| जगृहु र्जातसम्भ्रमा: | 6 | 19 | d | जातमात्रां स्वसुस्सुताम् | 4 | 8 | b |
| जग्मतुर्दिशमुत्तराम् | 10 | 43 | d | जातयो र्नौ महादेवे | 8 | 49 | a |
| जग्मु: कृष्णपुरोगमा: | 18 | 22 | d | जातहासा न निर्ययु: | 22 | 12 | d |
| जघान कद्रूसुतमुग्रविक्रम: | 17 | 7 | d | जातं जातमहन्पुत्रम् | 1 | 66 | c |
| जघास हैयङ्गव मन्तरं गत: | 9 | 6 | d | जातं पर मबुध्यत | 3 | 53 | b |
| जज्ञे नन्द इति ख्यात: | 8 | 50 | c | जात: खलु तवान्तकृत् | 4 | 12 | b |
| जनन्युपहतं प्राश्य | 15 | 46 | a | जातानुतापा न विदु: | 19 | 3 | c |
| जनास्तापं जहुर्गोप्य: | 20 | 45 | c | जातानुरामा गतमन्यवोऽर्भकान् | 13 | 33 | b |
| जनास्समन्तात् परिवव्रुरार्तवत् | 7 | 8 | f | जाताह्लादो महामना: | 5 | 1 | b |
| जनिष्यते तत्पूजार्थं | 1 | 23 | c | जातो भूय स्तयो रेव | 3 | 43 | c |
| जनोऽय मुनतिष्ठति | 24 | 6 | b | जातो यदुष्वित्याशृत्य | 23 | 48 | c |
| जनो वै लोक एतस्मिन् | 28 | 13 | a | जानन्त एव जानन्तु | 14 | 38 | a |
| जन्तवो न सदैकत्र | 4 | 18 | c | जानन् प्राग्विष्णुना हतम् | 1 | 68 | b |
| जन्तो र्नेच्छति तां व्यथाम् | 10 | 14 | b | जानासि तत्त्वं भगवन्महिम्न: | 14 | 29 | c |
| जन्म ते मय्यसौ पाप: | 3 | 29 | a | जानीमोऽङ्ग व्रजश्लाध्यम् | 22 | 14 | c |
| जन्मना ब्रह्मणो गुरु: | 8 | 6 | d | जानुभ्यां सहपाणिभ्याम् | 8 | 21 | c |
| जन्मर्क्षन्तेऽद्य भवत: | 11 | 17 | c | जाम्बूनद परिष्कृतम् | 17 | 13 | d |
| जन्मर्क्षयोगे समवेतयोषिताम् | 7 | 4 | b | जायमाने जनार्दने | 3 | 8 | b |
| जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय | 14 | 20 | c | जायमानेऽजने तस्मिन् | 3 | 5 | c |
| जयाद्यनेकोत्सव मङ्गलस्वनान् | 12 | 35 | b | जारं नार्यसती यथा | 24 | 19 | d |
| जलधारा गिरेर्नादान् | 20 | 27 | c | जिग्युर्दस्यून् समेधिता: | 8 | 17 | d |
| जलस्थलौकस: सर्वे | 20 | 13 | a | जिग्युर्दस्यून् समेधिता: | 26 | 20 | d |
| जलं गाधजलेचरा: | 20 | 37 | b | जिघांसयाऽपि हरये | 6 | 36 | c |
| जलान्ते चोदितेऽरुणे | 22 | 2 | b | | | | |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| जिघांसयैन मासाद्य | 11 | 55 | c |
| जिघांसु र्दैत्य आगमत् | 11 | 40 | d |
| जिजीविषव उत्सृज्य | 4 | 33 | c |
| जीर्णपर्णानिलाहारौ | 3 | 35 | a |
| जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् | 14 | 3 | b |
| जीवसाम्यं गतालिङ्गै: | 10 | 14 | c |
| जीविताशा बलीयसी | 14 | 53 | d |
| जीवेत यो मुक्ति पदे सदायभाक् | 14 | 8 | d |
| जुगोप कुक्षिङ्गत आत्तचक्र: | 1 | 6 | c |
| जृम्भतो ददृशे जगत् | 7 | 35 | d |
| ज्ञातय: पर्युपासते | 2 | 4 | b |
| ज्ञातयो धेनुकस्य ये | 15 | 36 | b |
| ज्ञातयो बन्धुसुहृद: | 1 | 63 | c |
| ज्ञातं मया पुरैवैतत् | 10 | 40 | a |
| ज्ञाता नाराञ्च चिक्षिपु: | 12 | 5 | b |
| ज्ञातिभि र्बहुभिर्वृत: | 15 | 23 | d |
| ज्ञातिभि र्मुदितात्मभि: | 18 | 1 | b |
| ज्ञातिभ्यो विस्मितोऽब्रवीत् | 28 | 10 | d |
| ज्ञातुं नेशे कथञ्चन | 13 | 44 | d |
| ज्ञात्वा चारयितुं गतम् | 16 | 13 | d |
| ज्ञात्वा ज्ञात्वा च कर्माणि | 24 | 6 | a |
| ज्ञात्वा दत्तकरं राज्ञे | 5 | 19 | c |
| ज्ञात्वाऽविश त्तुण्डमशेषदृग्घरि: | 12 | 28 | d |
| ज्ञान विज्ञान निधये | 16 | 40 | a |
| ज्ञानिनाञ्चाऽत्मभूतानाम् | 9 | 21 | c |
| ज्ञानिनो ददते न वा | 20 | 36 | d |
| ज्ञानेन भूयोपि च तत्प्रलीयते | 14 | 25 | c |
| ज्ञाने प्रयास मुदपास्य नमन्त एव | 14 | 3 | a |
| ज्याघोषै र्धनुषस्तव | 4 | 32 | d |
| ज्योतिर्यथैवोदकपार्थिवेष्वद: | 1 | 43 | a |
| ज्योतिश्चक्रं जलं तेज: | 8 | 38 | a |
| ज्योतिषा मयनं साक्षात् | 8 | 5 | a |
| ज्योति: स्वधाम्ना ज्वलयद्दिशो दश | 12 | 33 | b |
| ज्वलच्छिखं कटककिरीटकुण्डल | 18 | 27 | c |
| **ड** | | | |
| डाकिन्यो यातुधान्यश्च | 6 | 28 | a |
| **त** | | | |
| तच्चाऽपि सत्यं न तवैव मायया | 14 | 14 | d |
| तच्चित्र ताण्डव निरुणफणा सहस्रो | 16 | 30 | a |
| तच्चेज्जलस्थं तव सज्जगद्वपु: | 14 | 15 | a |
| तच्छान्तिं कर्तु मर्हथ: | 23 | 1 | d |
| तच्छ्रुत्वा कुपितो राजन् | 17 | 5 | a |
| तच्छ्रुत्वा भगवान् कृष्ण स्तु | 12 | 30 | a |
| तच्छ्रुत्वैकधियो गोपा: | 11 | 29 | a |
| तच्छेषेणोपजीवन्ति | 24 | 10 | a |
| तज्जातिमनुरुन्धत: | 7 | 3 | d |
| तटित्वन्तो महामेघा: | 20 | 6 | a |
| तटिद्द्युमानुडुपतिमानिवाम्बुद: | 18 | 26 | d |
| तत आरभ्य नन्दस्य | 5 | 17 | a |
| तत आरात् विशुद्धयति | 10 | 17 | d |
| तत उत्थाय सम्भ्रान्ता: | 17 | 22 | a |
| ततश्च तेऽक्षीण्युन्मील्य | 19 | 13 | a |
| ततश्च पौगण्डवय: समाश्रितौ | 15 | 1 | a |
| ततश्च भगवान् कृष्ण: | 8 | 27 | a |
| ततश्च शौरि र्भगवत्प्रचोदित: | 3 | 47 | a |
| ततश्चास्तङ्गते भानौ | 17 | 19 | a |
| ततस्तन्मूलखनने | 4 | 37 | e |
| ततस्ते निर्ययुर्गोपा: | 25 | 27 | a |
| ततस्ते सन्न्यवर्तयन् | 19 | 5 | d |
| ततस्सपशवो गोपा: | 13 | 34 | a |
| ततस्समन्ताद्वनधूमकेतु | 19 | 7 | a |
| तत: कृष्णञ्च रामञ्च | 15 | 36 | a |
| तत: कृष्णो मुदं कर्तुम् | 13 | 18 | a |
| तत: कोन्वपर: प्रिय: | 23 | 27 | d |
| तत: प्रावर्तत प्रावृट् | 20 | 3 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| ततो जगन्मङ्गलमच्युतांशम् | 2 | 18 | a |
| ततो जलाशयात्सर्वा: | 22 | 17 | a |
| ततोऽतिकायस्य निरुद्धमार्गिणो हि | 12 | 31 | a |
| ततोऽति कुतुकोद्वृत्त- | 13 | 57 | a |
| ततोऽति हृष्टा: स्वकृतोऽकृतार्हजम् | 12 | 34 | a |
| ततोऽनुज्ञाप्य भगवान् | 14 | 42 | a |
| ततोऽनुरक्तै: पशुभि: परिश्रित: | 25 | 33 | a |
| ततो नृप स्वयं गोपा: | 22 | 40 | c |
| ततो नृपोन्मर्दनमज्जलेपन | 13 | 23 | a |
| ततो नो जायते शङ्का | 26 | 14 | c |
| ततो बालध्वनिं श्रुत्वा | 4 | 1 | c |
| ततो भक्ति र्भगवति | 8 | 51 | a |
| ततोऽर्वाक्प्रतिलब्धाक्ष: | 13 | 59 | a |
| ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य | 13 | 16 | a |
| ततोऽवरुह्यापससार भीतवत् | 9 | 9 | b |
| ततो विदूराच्चरत: | 13 | 29 | a |
| ततो हसन् हृषीकेश: | 14 | 46 | a |
| तत्कथाऽऽक्षिप्तमनस: | 23 | 18 | c |
| तत्कथाश्रवणौत्सुके | 11 | 33 | d |
| तत्कर्त्रे विश्वहेतवे | 16 | 41 | d |
| तत्कर्मसु न विस्मय: | 26 | 22 | d |
| तत्कालिय: परं वेद | 17 | 12 | a |
| तत्कालीनं कथं भवेत् | 12 | 41 | b |
| तत्तत्राद्यैव यास्याम: | 11 | 28 | a |
| तत्तत्सद्मप्रविष्टवान् | 13 | 21 | d |
| तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन्सत: | 16 | 49 | c |
| तत्तथा साधयिष्यामि | 10 | 25 | c |
| तत्तदात्माऽभवद्राजन् | 13 | 21 | c |
| तत्तद्गोष्ठे निवेश्य स: | 13 | 21 | b |
| तत्तद्वत्सान् पृथङ्नीत्वा | 13 | 21 | a |
| तत्तन्ममर्दखरदण्डधरोऽङ्घ्रिपातै: | 16 | 28 | b |
| तत्तेनुकम्पां सुसमीक्षमाण: | 14 | 8 | a |
| तत्त्वय्यपीह तत्सर्वं | 14 | 17 | c |
| तत्पादसलिलं यथा | 1 | 16 | d |
| तत्पूर्तिकामास्तदशेषकर्मणाम् | 22 | 23 | c |
| तत्प्रतिच्छाययाऽरुणम् | 12 | 20 | d |
| तत्प्रध्यमानवपुषा व्यथितात्मभोग: | 16 | 24 | a |
| तत्प्राणा स्तन्मनस्का स्ते | 16 | 14 | c |
| तत्र गत्वा जगन्नाथं | 1 | 20 | a |
| तत्र गत्वौदनं गोपा: | 23 | 4 | a |
| तत्र गा: पाययित्वाऽप: | 22 | 40 | a |
| तत्र चक्रुर्व्रजावासम् | 11 | 34 | c |
| तत्र चक्रु: परिवृढौ | 18 | 20 | a |
| तत्र तावत् क्रियायोग: | 24 | 7 | a |
| तत्रत्य क्षेममाचरन् | 17 | 10 | d |
| तत्रत्याश्च पुनर्दूरात् | 12 | 5 | c |
| तत्र प्रतिविधिं सम्यक् | 25 | 16 | a |
| तत्र श्रिया परमया ककुभ: स्फुरन्तौ | 10 | 28 | a |
| तत्रसु र्वज्रनिर्भिन्नं | 11 | 46 | c |
| तत्राऽऽगता स्तुम्बुरुनारदादय: | 27 | 24 | a |
| तत्राऽऽजग्मु: कुरुश्रेष्ठ | 11 | 1 | c |
| तत्त्राणं विहितं हि व: | 25 | 21 | d |
| तत्राऽपि मदनुग्रहात् | 10 | 21 | d |
| तत्राप्यच्युत रक्षणम् | 11 | 25 | d |
| तत्राऽऽरोहन्ति जेतार: | 18 | 21 | c |
| तत्रांशेनावतीर्णस्य | 1 | 2 | c |
| तत्रैकदा जलचरम् | 17 | 9 | a |
| तत्रैकदा विधृता भर्त्रा | 23 | 34 | a |
| तत्रोद्वहत्पशुपवंश शिशुत्वनाट्यम् | 13 | 62 | a |
| तत्रोपनन्दनामाऽऽह | 11 | 21 | a |
| तत्रोपाहूय गोपालान् | 18 | 19 | a |
| तत्सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठम् | 15 | 43 | c |
| तत् सन्निकृष्य रोहिण्या: | 2 | 8 | c |
| तत्सौहृदस्मितविलोकगिर: स्मरन्त्य: | 16 | 20 | b |
| तत्स्मारितानन्तहताखिलेन्द्रिय: | 12 | 44 | b |
| तथाऽघवदनान्मृत्यो: | 13 | 4 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| तथा च यूयं कुरुत | 22 | 22 | c |
| तथा च व्यदधु: सर्वं | 24 | 32 | a |
| तथा ते विकृतैस्सह | 1 | 15 | b |
| तथा न ते माधव तावका: क्वचित् | 2 | 33 | a |
| तथा न ह्यनु ये च तम् | 14 | 52 | d |
| तथा निर्विविशु र्गतम् | 25 | 22 | a |
| तथाऽन्येषां व्रजौकसाम् | 24 | 12 | b |
| तथाऽपि दण्डं भगवान् बिभर्ति | 27 | 5 | c |
| तथाऽपि देवास्सापन्त्यात् | 4 | 37 | c |
| तथाऽपि भूमन् महिमा गुणस्य ते | 14 | 6 | a |
| तथा यशोदा रोहिण्यौ | 11 | 33 | a |
| तथाविधान्यस्य कृतानि गोपिका: | 25 | 33 | c |
| तथेति पाययित्वाऽर्भा: | 13 | 7 | a |
| तथेति मीलिताक्षेषु | 19 | 12 | a |
| तथेति सुतमादाय | 1 | 61 | a |
| तथेत्योमिति तद्वच: | 2 | 14 | b |
| तथोचु: रामकृष्णयो: | 23 | 12 | d |
| तदगम्यं दुरासदम् | 17 | 8 | d |
| तदद्भुतस्तोत्र सुवाद्यगीतिका | 12 | 35 | a |
| तदनुत्वं ह्यप्रविष्ट: | 3 | 14 | c |
| तदनुस्मृत्युदस्रव: | 13 | 34 | d |
| तदन्तिकं गतो राजन् | 28 | 3 | e |
| तदपिद्वयङ्गुलं न्यूनम् | 9 | 16 | c |
| तदभिज्ञोऽपि भगवान् | 24 | 2 | a |
| तदर्थमेव सकलम् | 14 | 54 | c |
| तदस्तु मे नाथ सभूरिभाग: | 14 | 30 | a |
| तदहं मत्तयो र्माध्व्या | 10 | 19 | a |
| तदा घनच्छदा देवा: | 12 | 29 | a |
| तदा बकारिं सुरलोकवासिन: | 11 | 51 | a |
| तदाऽयं सुतपा नाम | 3 | 32 | c |
| तदा वां परितुष्टोऽहम् | 3 | 37 | a |
| तदाऽऽशु विपिनोद्भूत: | 17 | 21 | c |
| तदुपाकर्ण्य भगवान् | 23 | 13 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| तदुपाकर्ण्य विस्मिता: | 20 | 2 | b |
| तदेव हारं वद मन्यसे चेत् | 7 | 2 | d |
| तदेवाऽस्य हि दैवतम् | 24 | 18 | d |
| तदेष नाथाऽऽप दुरापमन्यै: | 16 | 38 | a |
| तदैव साऽमृतजला | 16 | 67 | c |
| तदैवोपहत चेतस: | 15 | 49 | b |
| तदोचुख्यक्तमतीन् | 7 | 9 | a |
| तद्गच्छतं मत्परमौ | 10 | 42 | a |
| तद्गावो दूरचारिणी: | 19 | 1 | b |
| तद्दग्धसत्त्वदुर्गन्धोऽपि | 12 | 23 | c |
| तद्दर्शनमहोत्सव: | 28 | 4 | d |
| तद्दर्शनस्मररुज स्तृण रूषितेन | 21 | 18 | c |
| तद्दंष्ट्राभिश्च पश्यत | 12 | 21 | d |
| तद्दाम बध्यमानस्य | 9 | 15 | a |
| तद्द्रव्येण गिरिद्विजान् | 24 | 32 | d |
| तद्दष्ट्रेस्य च हेतवे | 16 | 48 | d |
| तद्धाम्नाऽभू दज स्तूष्णीम् | 13 | 57 | c |
| तद्धितस्य परं तप: | 10 | 15 | d |
| तद्बन्धूंश्च बलान्वित: | 26 | 10 | b |
| तद्बाल चरितानि च | 9 | 2 | b |
| तद्ब्रूहि मे महायोगिन् | 12 | 42 | a |
| तद्भवान्क्षन्तुमर्हसि | 28 | 7 | d |
| तद्भवान् भोक्तुमर्हति | 11 | 14 | d |
| तद्भूरिभाग्यमिहजन्म किमप्यटव्याम् | 14 | 34 | a |
| तद्याच्ञा जनमोहिनी | 23 | 46 | d |
| तद्यात देवयजनम् | 23 | 28 | a |
| तद्राजेन्द्र यथा स्नेह: | 14 | 51 | a |
| तद्वने रामकृष्णयो: | 18 | 17 | b |
| तद्वर्णयितु मारब्धा: | 21 | 4 | a |
| तद्वल्लुभतयैव हि | 14 | 50 | d |
| तद्वशो दारुयन्त्रवत् | 11 | 9 | d |
| तद्वीक्षणोत्प्रेमरसाप्लुताशया | 13 | 33 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| तद्वीक्ष्य गोपालसुता विसिस्मिरे | 11 | 51 | d |
| तद्व्रजस्त्रिय आश्रुत्य | 21 | 3 | a |
| तनुष्वङ्ग यथा पट: | 15 | 35 | d |
| तनुस्सम्प्राप्य तत्फलम् | 20 | 7 | d |
| तन्त्वेशानं क्षेमधाम प्रपद्ये | 3 | 26 | d |
| तन्नादृष्टमनसावनुसृत्य लोकम् | 8 | 22 | c |
| तन्निरोधेन योगिन: | 20 | 41 | d |
| तन्मञ्जुघोषालिमृगद्विजाकुलम् | 15 | 3 | a |
| तन्मनो मयि युञ्जाना: | 23 | 32 | c |
| तन्मातरो वेणुरवत्वरोत्थिता: | 13 | 22 | a |
| तन्मातरौ निजसुतौ घृणया स्नुवन्त्यौ | 8 | 23 | a |
| तन्मातृणाञ्च कस्यच | 13 | 18 | b |
| तन्माधवो वेणुमुदीरयन् वृत: | 15 | 2 | a |
| तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्र | 16 | 26 | c |
| तन्मूला देवता स्सर्वा: | 4 | 42 | c |
| तन्मे प्रियतरं भवेत् | 22 | 22 | d |
| तपसा श्रद्धया नित्यम् | 3 | 37 | c |
| तपस्विनो यज्ञशीलान् | 4 | 40 | c |
| तपस्सत्यं दमश्शम: | 4 | 41 | b |
| तपस्सुतप्तं किमनेन पूर्वं | 16 | 35 | a |
| तप: कृशा देवमीढा | 20 | 7 | a |
| तप: परमदुष्करम् | 3 | 36 | b |
| तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम् | 27 | 4 | b |
| तपो यज्ञास्सदक्षिणा: | 4 | 39 | d |
| तमग्निमपिबत् तीव्रम् | 17 | 25 | c |
| तमङ्कमारुढ मपाययत् स्तनम् | 9 | 5 | a |
| तमद्भुतं बालक मम्बुजेक्षणम् | 3 | 9 | a |
| तमनुज्ञाप्य गोकुलम् | 5 | 31 | d |
| तमन्तरिक्षात्पतितं शिलायाम् | 7 | 29 | a |
| तमश्मानं मन्यमान: | 7 | 27 | a |
| तमसा भान्ति न ग्रहा: | 20 | 8 | b |
| तमसा मूढचेतस: | 4 | 45 | b |
| तमापतन्तं तरसा विषायुध: | 17 | 6 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| तमापतन्तं परितो दवाग्निम् | 19 | 8 | a |
| तमापन्तं स निगृह्य तुण्डयो: | 11 | 50 | a |
| तमाह भ्रातरं देवी | 4 | 4 | a |
| तमुद्वहन् धरणि धरेन्द्रगौरवम् | 18 | 26 | a |
| तमूचुर्देवशत्रव: | 4 | 30 | b |
| तमोजनि: क्रोधवशोऽप्यहीश: | 16 | 38 | b |
| तमोऽपहत्यै तरुजन्मयत्कृतम् | 15 | 5 | d |
| तमोमदं हरिष्यामि | 10 | 19 | c |
| तम्यां तमोवन्नैहारम् | 13 | 46 | a |
| तयाऽभिहितमाकर्ण्य | 4 | 14 | a |
| तया हृतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु | 3 | 48 | a |
| तयो रजनशङ्कया | 1 | 66 | d |
| तयो रनुग्रहार्थाय | 10 | 7 | c |
| तयोर्द्विजा ओदन मर्थिनोर्यदि | 23 | 7 | c |
| तयो र्यशोदा रोहिण्यौ | 15 | 44 | a |
| तयोर्वा पुन रेवाऽहम् | 3 | 42 | a |
| तयो श्शापस्य कारणम् | 10 | 1 | b |
| तयोस्तत्सुमहत्कर्म | 15 | 39 | a |
| तयोस्तदद्भुतं कर्म | 20 | 1 | a |
| तरसा ववृधे गले | 12 | 30 | d |
| तरूणां नम्रशाखानाम् | 22 | 39 | c |
| तर्हि तन्नोऽनयो महान् | 8 | 9 | d |
| तर्ह्यसौ नाऽऽत्मवत्प्रिय: | 14 | 53 | b |
| तव चाऽऽनकदुन्दुभे: | 8 | 8 | b |
| तव राजर्षि सत्तम | 1 | 15 | b |
| तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकार: | 16 | 36 | b |
| तवानुचरकिङ्करौ | 10 | 37 | b |
| तवार्हणं येन जन: समीहते | 2 | 34 | d |
| तवाऽवतार: खलनिग्रहाय | 16 | 33 | b |
| तवावतारोऽप्यमधोक्षजेह | 27 | 9 | a |
| तवाऽस्ति कुक्षे: कियदप्यनन्त: | 14 | 12 | d |
| तस्थौ श्वसञ्छ्वसनरन्ध्र विषाम्बरीष | 16 | 24 | c |
| तस्मात्कृत नराहारात् | 15 | 24 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तस्मात् प्रियतम: स्वात्मा | 14 | 54 | a | तं जुगुप्सितकर्माणम् | 1 | 36 | a |
| तस्मात्सम्पूजयेत्कर्म | 24 | 18 | a | तं तात वयमन्ये च | 24 | 9 | a |
| तस्मात्सर्वात्मना राजन् | 4 | 40 | a | तं तार्क्ष्यपुत्र: स निरस्य मन्युमान् | 17 | 7 | a |
| तस्मादिदं जगदशेष मसत्स्वरूपम् | 14 | 22 | a | तं तालुमूलं प्रदहन्त मग्निवत् | 11 | 49 | a |
| तस्मादुभाभ्यां पाणिभ्याम् | 22 | 22 | a | तं तालुमूलं प्रदहन्त मग्निवत् | 11 | 49 | a |
| तस्माद्भवां ब्राह्मणानाम् | 24 | 25 | a | तं तुष्टुवुर्देवनिकायकेतव: | 27 | 25 | a |
| तस्माद्भद्रे स्वतनयान् | 4 | 21 | a | तं दृष्ट्वा परमप्रीत: | 8 | 2 | a |
| तस्माद्भवत्प्रपदयो: पतितात्मनां न: | 23 | 30 | c | तं दृष्ट्वा व्रीडिता देव्य: | 10 | 6 | a |
| तस्मान्न कस्यचिद्द्रोहम् | 1 | 44 | a | तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय | 5 | 20 | a |
| तस्मान्नन्दकुमारोऽयम् | 26 | 22 | a | तं नर्तुमुद्यत मवेक्ष्य तदा तदीय | 16 | 27 | a |
| तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते | 8 | 19 | a | तं नागभोगपरिवीतमदृष्ट चेष्टम् | 16 | 10 | a |
| तस्मान्मच्छरणं गोष्ठम् | 25 | 18 | a | तं पूजयामास मुदा | 16 | 64 | c |
| तस्मि न्न्यस्तवती, यत: | 7 | 22 | d | तं प्रेक्षणीयसुकुमारघनावदातं | 16 | 9 | a |
| तस्मिल्लँज्जायितेक्षणा: | 22 | 26 | d | तं प्रेमवेगान्निभृता वनौकस: | 25 | 29 | a |
| तस्मै तुभ्यं भगवते | 10 | 33 | a | तं ब्रह्म परमं साक्षात् | 23 | 11 | a |
| तस्मै नमो व्रजजनै: | 24 | 36 | a | तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्य: | 27 | 16 | c |
| तस्य च ब्रह्मगोविप्रा: | 4 | 39 | c | तं मत्वाऽऽत्मज मव्यक्तम् | 9 | 14 | a |
| तस्य तत्क्ष्वेलितं दृष्ट्वा | 22 | 12 | a | तं वत्सरूपिणं वीक्ष्य | 11 | 41 | a |
| तस्य दण्ड: करच्छेद | 22 | 21 | e | तं विद्वानपि दाशार्ह: | 18 | 18 | a |
| तस्य ह्रदे विहरतो भुजदण्डघूर्ण | 16 | 8 | a | तं वीक्ष्य विस्मिता बाला: | 11 | 43 | c |
| तस्या उपवने कामं | 22 | 41 | a | तं स्वस्तिमन्तं पुरुषादनीतम् | 7 | 30 | c |
| तस्याक्षिभिर्गरलमुद्वमतश्शिरस्सु | 16 | 29 | a | ता आशिषं प्रयुञ्जाना: | 5 | 12 | a |
| तस्यान्तु कर्हिचिच्छौरि: | 1 | 29 | a | ता आहूता भगवता | 19 | 6 | a |
| तस्याऽपि भगवान्कृष्ण: | 14 | 57 | c | तात एहि स्तनं पिब | 11 | 14 | b |
| तस्याप्यौत्पत्तिक: कथम् | 26 | 13 | d | तात मज्जनमावह | 11 | 17 | b |
| तस्या विशुद्धि मन्विच्छन् | 16 | 1 | c | तातं भवन्तं मन्वान: | 5 | 26 | c |
| तस्यां रात्र्यां व्यतीतायाम् | 4 | 29 | a | ता नाभ्यसूयन् प्रियसङ्गनिर्वृता: | 22 | 25 | d |
| तस्या: स्वनेनातिगभीररंहसा | 6 | 13 | a | तानालक्ष्य भयोद्विग्ना: | 16 | 13 | a |
| तस्यैव तेऽमूस्तनवस्त्रिलोक्याम् | 16 | 50 | a | तानि नो वद विस्तरात् | 1 | 3 | d |
| तं गृहीत्वाऽनयद्भृत्य: | 28 | 2 | a | ता निष्फला भविष्यन्ति | 7 | 17 | c |
| तं गोरजश्छुरित कुन्तलबद्धबर्ह | 15 | 42 | a | तान् दृष्ट्वा भयत्रस्तान् | 13 | 13 | a |
| तं चण्डवेग विषवीर्यमवेक्ष्य तेन | 16 | 6 | a | तान्यहं वेद नो जना: | 8 | 15 | d |
| तं जिह्वया द्विशिखया परिलोलिहानम् | 16 | 25 | a | | | | |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| तान्यहं वेद नो जना: | 26 | 18 | d |
| तान् वीक्ष्य कृष्ण: सकलाभयप्रदो हि | 12 | 27 | a |
| तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोऽह्नि | 15 | 43 | b |
| तामसा दीर्घमन्यव: | 16 | 56 | b |
| तामात्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्वर: | 9 | 9 | a |
| तार्क्ष्य: क्षितौ हलधर: पुरुषस्समन्तात् | 6 | 24 | d |
| तालान् सम्परिकम्पयन् | 15 | 27 | b |
| ताला श्चकम्पिरे सर्वे | 15 | 34 | c |
| तावकान् ग्रसते हि न: | 17 | 23 | d |
| तावङ्घ्रियुग्म मनुकृष्य सरीसृपन्तौ | 8 | 22 | a |
| तावत्कारागृहं गृहम् | 14 | 36 | b |
| तावत्तदभिमान्यज्ञ: | 4 | 22 | c |
| तावत्प्रविष्टा स्त्वसुरान्तरोदरम् | 12 | 26 | a |
| तावत्सर्वे वत्सपाला: | 13 | 47 | a |
| तावदेत्यात्मभूरात्म | 13 | 41 | a |
| तावद्बालानुपादाय | 11 | 26 | c |
| तावद्रागादयस्तेना: | 14 | 36 | a |
| तावन्त एव तत्राब्दम् | 13 | 43 | c |
| तावन्तोऽसि चतुर्भुजास्तदखिलै स्साकं मयोपासिता: | 14 | 18 | c |
| तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते | 14 | 18 | d |
| तावन्नन्दादयो गोपा: | 6 | 32 | a |
| तावान्मोहोऽङ्घि निगड: | 14 | 36 | c |
| तावीक्ष्योवाच भगवान् | 22 | 21 | a |
| तासा मविरतं कृष्णे | 6 | 41 | a |
| तासां वासांस्युपादाय | 22 | 9 | a |
| तासां विज्ञाय भगवान् | 22 | 27 | a |
| तास्तथा त्यक्तसर्वाशा: | 23 | 24 | a |
| तास्तथाऽवनता दृष्ट्वा | 22 | 24 | a |
| तास्तं सुविग्नमनसोऽथ पुरस्कृताभा: | 16 | 32 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| तास्ता व्रजप्रियकथा कथयन्त्य आसन् | 16 | 21 | c |
| तां केशबन्धव्यतिषक्त मल्लिकाम् | 6 | 5 | a |
| तां गृहीत्वा चरणयो: | 4 | 8 | a |
| तां तीक्ष्णचित्तामतिवामचेष्टिताम् | 6 | 10 | a |
| तां रात्रिं तत्र राजेन्द्र | 17 | 20 | a |
| तां वीक्ष्य कंस: प्रभया जितान्तराम | 2 | 20 | a |
| तां स्तथा कातरान्वीक्ष्य | 16 | 16 | a |
| तां स्तन्यकाम आसाद्य | 9 | 4 | a |
| तां स्ता नापतत: कृष्ण: | 15 | 37 | a |
| ता: कृष्णमातरमपत्य मनुप्रविष्टाम् | 16 | 21 | a |
| ता: कृष्णवाहे वसुदेव आगते | 3 | 49 | a |
| तितीर्षन्ति भवार्णवम् | 25 | 4 | d |
| तिरश्चीनमुलूखलम् | 11 | 4 | b |
| तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेऽजनस्य | 14 | 20 | b |
| तिर्यग्गतमुलूखलम् | 10 | 26 | d |
| तिलाद्रीन् सप्तरत्नौघ | 5 | 3 | c |
| तिष्ठन् मध्ये स्वपरि सुहृदो हासयन्नर्मभि: स्वै: | 13 | 11 | c |
| तीक्ष्णतुण्डोऽग्रसद्बली | 11 | 47 | d |
| तीरं क्षीरपयोनिधे: | 1 | 19 | d |
| तीरे निक्षिप्य पूर्ववत् | 22 | 7 | b |
| तीव्रै र्मरुद्गणैर्नुन्ना: | 25 | 9 | c |
| तुङ्गशृङ्गालयोऽप्येता: | 12 | 21 | c |
| तुण्डेन हन्तुं पुनरभ्यपद्यत | 11 | 49 | d |
| तुभ्यं मदनुशासनम् | 16 | 61 | b |
| तुम्बुरु प्रमुखानृप | 25 | 32 | d |
| तुलसी नवदामभि: | 13 | 50 | b |
| तुल्य व्यथा समनुगृह्य शुच: स्रवन्त्य: | 16 | 21 | b |
| तुष्टुवुर्मुमुचुस्तुष्टा: | 25 | 31 | c |
| तुष्टुवु र्सिद्धचारणा: | 3 | 6 | b |
| तूर्यघोषेण महता | 11 | 31 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| तूष्णीं शयाना: प्राग्यद्वत् | 20 | 9 | c |
| तृणञ्च पशवश्चेरु: | 15 | 40 | c |
| तृणलोभेन गह्वरम् | 19 | 1 | d |
| तृणावर्त महाशनै: | 2 | 1 | b |
| तृणावर्त विसृष्टाभि: | 7 | 23 | c |
| तृणावर्तश्शान्तरय: | 7 | 26 | a |
| तृणैश्छन्ना असङ्कृता: | 20 | 16 | b |
| तृणैस्तत्खुरदच्छिन्नै: | 19 | 4 | a |
| तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं वै | 3 | 43 | a |
| तृप्तान् वृषान् वत्सतरान् | 20 | 30 | c |
| तृषार्ता विषदूषितम् | 15 | 48 | d |
| ते चाऽनसूयव: स्वाभि: | 23 | 33 | c |
| ते चाऽऽरुह्य स्वलङ्कृता: | 24 | 34 | b |
| ते तत्र तत्राब्ज यवाङ्कुशाशनि | 16 | 18 | a |
| ते तत्र ददृशु र्बाला: | 11 | 46 | a |
| ते तत्र वर्णितं गोपै: | 6 | 43 | a |
| ते तु तूर्ण मुपव्रज्य | 4 | 2 | a |
| ते तु ब्रह्म ह्रदं नीता: | 28 | 16 | a |
| ते त्वौत्सुक्यधियो राजन् | 28 | 11 | a |
| तेनाऽऽहतो महाताल: | 15 | 33 | a |
| तेनाऽन्यदपि सन्दधे | 9 | 16 | b |
| तेनैकेनाऽसमञ्जसम् | 17 | 1 | d |
| तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितं | 14 | 25 | b |
| तेनैव वपुषाऽनघे | 3 | 43 | b |
| तेनैव सर्वेषु बहिर्गतिषु | 12 | 32 | a |
| तेनैव साकं पृथुका: सहस्रश: | 12 | 2 | a |
| तेनैवान्नेन गोपकान् | 23 | 35 | b |
| तेऽन्वेषमाणा दयितम् | 16 | 17 | a |
| तेऽपश्यन्त: पशून्गोपा: | 19 | 3 | a |
| तेपाते परमं तप: | 3 | 33 | d |
| ते पीडिता निविविशु: | 2 | 3 | a |
| तेऽभिवर्षन्ति भूतानां | 24 | 8 | c |
| तेभ्य आचष्ट तत्सर्वं | 4 | 29 | c |
| ते वै रज:प्रकृतय: | 4 | 45 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| तेषान्तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्ताम् | 14 | 33 | a |
| तेषा मसौ क्लेशल एव शिष्यते | 14 | 4 | c |
| तेषां प्रीतिं स्वलीलया | 8 | 52 | d |
| तेषां सुख क्रीडन वीक्षणाक्षम: | 12 | 13 | b |
| ते सम्प्रतीतस्मृतय: | 15 | 51 | a |
| तैरयं साध्यतां मख: | 24 | 25 | d |
| तैर्दुर्निमित्तैर्निधनम् | 16 | 14 | a |
| तैर्या: प्रोक्ता स्तथाऽऽशिष: | 7 | 17 | b |
| तैस्तैरतुल्यातिशयै: | 10 | 34 | c |
| तैस्तै: कामै रदीनात्मा | 5 | 15 | e |
| तोकता माययां विना | 13 | 25 | d |
| तोकाचरित मद्भुतम् | 7 | 3 | b |
| तोकाश्लेषसुनिर्वृता: | 13 | 34 | b |
| तोकेनाऽऽमीलिताक्षेण | 26 | 4 | a |
| तोक्मै: कामान् वितन्वते | 22 | 37 | d |
| तौ दृष्ट्वा मदिरा मत्तौ | 10 | 7 | a |
| तौ वत्सपालकौ भूत्वा | 11 | 44 | a |
| त्यक्तज्ञातिसुहृत्खल: | 4 | 16 | b |
| त्यक्तोद मपि बाधते | 1 | 13 | b |
| त्यक्त्वा यष्टिं सुतं भीतम् | 9 | 12 | a |
| त्यक्त्वोन्नमय्य कुपित: स्वफणा-न्भुजङ्ग: | 16 | 24 | b |
| त्रय्याचोपनिषद्भिश्च | 8 | 45 | a |
| त्रातुमर्हसि देवान्न: | 25 | 13 | c |
| त्राहि त्रस्तान् भृत्यविद्रासहाऽसि | 3 | 28 | b |
| त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान् | 6 | 15 | b |
| त्रिगुणेनाभिमानेन | 16 | 42 | c |
| त्रिवर्गफलहेतवे | 24 | 10 | b |
| त्रिवर्गोऽर्थाय कल्पते | 5 | 27 | d |
| त्रिविधा: अतिदारुणा: | 16 | 12 | b |
| त्रि: परिक्रम्य पादयो: | 14 | 41 | b |
| त्वञ्च स्नात: कृताहार: | 11 | 18 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| त्वत्तोऽस्य जन्मस्थिति संयमान् विभो | 3 | 19 | a |
| त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन | 2 | 30 | c |
| त्वत्पादभाजो भगवन् | 28 | 5 | c |
| त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य | 3 | 27 | c |
| त्वत्पार्श्वयो र्धनुरसीमधुहाऽजनश्च | 6 | 24 | b |
| त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया | 14 | 5 | b |
| त्वदाश्रयित्वा दुपचर्यते गुणै: | 3 | 19 | d |
| त्वन्नाथं गोकुलं प्रभो | 25 | 13 | b |
| त्वन्नाथा स्त्वत्परायणा: | 19 | 10 | d |
| त्वन्मायया संवृतचेतस्त्वाम् | 2 | 28 | c |
| त्वमस्य लोकस्य विभो रिरक्षिषु: | 3 | 21 | a |
| त्वमाद्य: पुरुष: पर: | 10 | 29 | b |
| त्वमेक एवास्य सत: प्रसूति: | 2 | 28 | a |
| त्वमेक: सर्वभूतानाम् | 10 | 30 | a |
| त्वमेव कालो भगवान् | 10 | 30 | c |
| त्वमेव जगतां नाथो | 14 | 39 | c |
| त्वमेव पुरुषोऽध्यक्ष: | 10 | 31 | c |
| त्वमेव पूर्वसर्गेऽभू: | 3 | 32 | a |
| त्वमेव भासीशभिदाश्रयेऽपि | 13 | 39 | b |
| त्वया दैवनिसृष्टेन | 4 | 5 | c |
| त्वया भागवतोत्तम | 13 | 1 | b |
| त्वयाऽभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया: | 2 | 33 | c |
| त्वया सृष्ट मिदं सर्वम् | 16 | 57 | a |
| त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते | 3 | 19 | c |
| त्वयेशाऽनु गृहीतोऽस्मि | 27 | 13 | a |
| त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि | 2 | 30 | a |
| त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धय: | 2 | 32 | b |
| त्वय्येव नित्य सुखबोधतनावनन्ते | 14 | 22 | c |
| त्वं न इन्द्रो जगत्पतें | 27 | 20 | b |
| त्वं न: परमकं दैवम् | 27 | 20 | a |
| त्वं पासि न स्त्रिभुवनञ्च तथाऽधुनेश | 2 | 40 | c |
| त्वं महान् प्रकृति: सूक्ष्मा | 10 | 31 | a |
| त्वं सन्निधानं त्वमनुग्रहश्च | 2 | 28 | b |
| त्वं हि ब्रह्मविदां श्रेष्ठ: | 8 | 6 | a |
| त्वं ह्यस्यजन्मस्थितिसंयमान्विभो | 16 | 49 | a |
| त्वामहं शरणं गत: | 27 | 13 | d |
| त्वामात्मानं परं मत्वा | 14 | 27 | a |
| त्वां वीक्ष्य कालेऽभयमाशु तन्मदम् | 27 | 7 | b |
| त्विषाद्भुतं हलधर ईषदव्रसत् | 18 | 27 | d |
| त्विषा परिष्वक्त सहस्र कुन्तलम् | 3 | 10 | b |
| त्विषोल्लसत्कुन्तलमण्डिताननाम् | 6 | 5 | d |
| **द** | | | |
| दण्डपाणिं न पश्यति | 27 | 16 | b |
| दण्डवत्पतिता भुवि | 23 | 5 | d |
| दण्डो सतां ते खलुकल्मषापह: | 16 | 34 | b |
| दत्त्वा स्तनं प्रपिबतो: स्म मुखं निरीक्ष्य | 8 | 23 | c |
| ददर्श तल्पेऽग्नि मिवाऽऽहितं भसि | 6 | 7 | d |
| ददहु: काष्ठवेष्टितम् | 6 | 34 | d |
| ददृशु र्ब्रह्मणो लोकम् | 28 | 16 | c |
| ददृशुर्यमलार्जुनौ | 11 | 2 | b |
| ददृशुस्साग्रजं स्त्रिय: | 23 | 21 | d |
| ददृशे सबलं हरिम् | 13 | 41 | d |
| दद्भिस्सुपर्णं व्यदशद् ददायुध: | 17 | 6 | c |
| दधार लीलया कृष्ण: | 25 | 19 | c |
| दधार सर्वात्मकमात्मभूतम् | 2 | 18 | c |
| दधिक्षीरघृताम्बुभि: | 5 | 14 | b |
| दधिनिर्मन्थने काले | 9 | 2 | c |
| दध्यक्षत कुशाम्बुभि: | 7 | 12 | d |
| दध्य क्षताद्भि र्युयुजुस्सदाशिष: | 25 | 29 | d |
| दध्योदन मुपानीतम् | 20 | 29 | a |
| दमित्वा विमदं ह्रदात् | 26 | 12 | b |
| दम्पत्यो र्नितरा मासीत् | 8 | 51 | c |
| दरिद्रस्याऽन्नकाङ्क्षिण: | 10 | 16 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| दरिद्रस्यैव युज्यन्ते | 10 | 17 | a |
| दरिद्र: परमीक्षते | 10 | 13 | d |
| दरिद्रो निरहंस्तम्भ: | 10 | 15 | a |
| दर्यानिनान्तो गिरिशृङ्गदष्ट्र: | 12 | 17 | b |
| दर्शनं नौ भगवत: | 10 | 37 | c |
| दर्शनान्तो भवेद्बन्ध: | 10 | 18 | c |
| दर्शनान्तो भवेद्बन्ध: | 10 | 41 | c |
| दर्शयन्नात्मसौहृदम् | 4 | 24 | d |
| दर्शयन् बलदेवाय | 11 | 41 | c |
| दर्शयल्लौकिकीगतिम् | 23 | 13 | d |
| दर्शयंश्चर्माऽऽजगरम् | 14 | 46 | c |
| दर्शयंस्तद्विदां लोक | 11 | 11 | a |
| दर्शयामास लोकं स्वम् | 28 | 14 | c |
| दवाग्नेर्मोक्षमात्मन: | 20 | 1 | b |
| दशच्छदो द्विखगोह्यदिवृक्ष: | 2 | 27 | d |
| दह्यमानस्य देव: | 6 | 35 | a |
| दह्यमाना व्रजौकस: | 17 | 22 | b |
| दातुमर्हसि मन्दाया: | 4 | 6 | c |
| दानवान् गृहमाविशत् | 4 | 44 | d |
| दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम् | 21 | 10 | b |
| दामोदरेण तरसोत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ | 10 | 27 | b |
| दाम्नाचोलूखले बद्ध: | 10 | 39 | c |
| दाम्नाऽतद्वीर्यकोविदा | 9 | 12 | d |
| दाम्ना बद्धञ्च बालकम् | 11 | 3 | b |
| दाम्ना बद्धं स्वमात्मजम् | 11 | 6 | b |
| दारापत्य धनादय: | 23 | 27 | b |
| दारिका: शीतवेपिता: | 22 | 17 | b |
| दारिद्र्यं परमाञ्जनम् | 10 | 13 | b |
| दावाग्निना दह्यमानान् | 19 | 9 | c |
| दावाग्नि स्सर्वतोव्रजम् | 17 | 21 | d |
| दावाग्ने रात्मन: क्षेमम् | 19 | 14 | c |
| दावोष्ण खरवातोऽयम् | 12 | 23 | a |
| दासीनां सुकुमारीणाम् | 1 | 32 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| दास्यन्ति काम मन्नं व: | 23 | 14 | c |
| दास्य गतानां परदैवतेन | 12 | 11 | b |
| दिदृक्षवोऽत्यच्यतयो: | 23 | 51 | c |
| दिवारूढं क्षुधार्दिता: | 13 | 6 | b |
| दिविदेवगणास्साध्या: | 25 | 31 | a |
| दिविदेवप्रणोदिता: | 25 | 32 | b |
| दिव्यगन्धानुलेपैश्च | 16 | 65 | c |
| दिव्यवर्षसहस्राणि | 3 | 36 | c |
| दिव्यस्रगम्बरालेप | 4 | 10 | a |
| दिव्यस्रग्गन्धमण्डितौ | 15 | 45 | d |
| दिव्यस्रग्गन्धवाससम् | 17 | 13 | b |
| दिव्याम्बरस्रङ्मणिभि: | 16 | 65 | a |
| दिश: प्रसेदु र्गगनं | 3 | 2 | a |
| दिशीन्दुरिव पुष्कल: | 3 | 8 | f |
| दिशोऽपश्यत्पुर: स्थितम् | 13 | 60 | b |
| दिष्ट्याङ्कितां त्वत्पदकै स्सुशोभनै: | 2 | 38 | c |
| दिष्ट्या भ्रात: प्रेवयस: | 5 | 22 | a |
| दिष्ट्या! मुक्त स्तवात्मन: | 17 | 17 | d |
| दिष्ट्याम्बते कुक्षिगत: परं पुमान् | 2 | 41 | a |
| दिष्ट्यासंसारचक्रेऽस्मिन् | 5 | 23 | a |
| दिष्ट्या स्वबन्धन् प्रणयन्नुपस्थित: | 7 | 32 | d |
| दिष्ट्या हरेऽस्य भवत: पदोभुव: | 2 | 38 | a |
| दीक्षाया: पशुसंस्थाया: | 23 | 8 | a |
| दीनान् मीनपतौ हते | 17 | 10 | b |
| दीना हतसुता प्रभो | 4 | 6 | b |
| दीनांश्चमृत्योर्जढराग्निघासान् | 12 | 27 | c |
| दीर्घश्रुतधृताशया: | 23 | 20 | d |
| दु:खशोकभयातुरा: | 16 | 14 | d |
| दु:खानुशोकभयमढ धियो निपेतु: | 16 | 10 | d |
| दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं | 1 | 5 | c |
| दुरत्यय: काल उपात्तदण्ड: | 27 | 6 | b |
| दुरन्तभावं योऽविध्यन् | 23 | 41 | c |
| दुरासदोऽतिदुर्धर्ष: | 2 | 17 | c |
| दुर्गाध्वकृच्छ्रतोऽभ्येत्य | 13 | 32 | c |
| दुर्गेति भद्रकालीति | 2 | 11 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| दुर्लभं प्रियदर्शनम् | 5 | 23 | d |
| दुष्टं जलं पपुस्तस्या: | 15 | 48 | c |
| दुष्टां नदीञ्च खलसंयमनावतार: | 16 | 6 | b |
| दुस्त्यजश्चाऽनुरागोऽस्मिन् | 26 | 13 | a |
| दुस्त्यजं किं धृतात्मनाम् | 1 | 58 | d |
| दुस्त्यजां मोहिता: तया | 16 | 58 | d |
| दुहित्रे देवक: प्रादात् | 1 | 32 | c |
| दूरे क्षिप्त्वाऽवयवश: | 6 | 34 | c |
| दृढं प्रलब्धा स्त्रपया च हापिता: | 22 | 25 | a |
| दृश्यन्तोऽनुगता इव | 3 | 16 | b |
| दृष्टश्रुतानुभावा स्ते | 26 | 24 | c |
| दृष्टश्रुतानु भावोऽस्य | 27 | 3 | a |
| दृष्टश्रुताभ्यां मनसाऽनुचिन्तयत् | 1 | 41 | c |
| दृष्टि स्सतां दर्शनोऽस्तु भक्तनूनाम् | 10 | 38 | d |
| दृष्टया स्वयोत्थाप्ये तदन्वित: पुन: | 12 | 32 | c |
| दृष्ट्वाऽघासुरमोक्षणं प्रभवत: प्राप्तपरंविस्मयम् | 13 | 15 | d |
| दृष्ट्वा तपे व्रजपशन् सहराम गोपै: | 21 | 17 | a |
| दृष्ट्वा तं तादृशं सर्वे | 12 | 18 | a |
| दृष्ट्वत्वरेणनिजघोरणतोऽवतीय | 13 | 63 | a |
| दृष्ट्वाऽथतत्स्नेह वशोऽस्मृतात्मा | 13 | 30 | a |
| दृष्ट्वाद्भुतानि बहुश: | 7 | 33 | a |
| दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्ण: | 9 | 18 | c |
| दृष्ट्वा प्रलम्बं निहतं | 18 | 30 | a |
| दृष्ट्वा महीशस्य जगाम विस्मयम् | 12 | 35 | d |
| दृष्ट्वा यशोदो प्रमुखा व्रजस्त्रिय: | 7 | 8 | a |
| दृष्ट्वा रामाक्षयोऽर्भका: | 11 | 48 | b |
| दृष्ट्वार्भकान् कृष्ण मुखानघासुर: | 12 | 14 | a |
| दृष्ट्वा समत्वं तच्छरे: | 1 | 59 | a |
| दृष्ट्वाऽऽसीना: स्वलङ्कृता: | 23 | 15 | b |
| दृष्ट्वा स्त्रीणां भगवति | 23 | 28 | a |
| दृष्ट्वाऽहि माद्य मुपसेदुरमुष्य पत्न्य: | 16 | 31 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| दृष्ट्वोचु र्विस्मिता व्रजे | 12 | 37 | d |
| देयं वो धेनु दक्षिणा: | 24 | 27 | d |
| देवकी तमुपाधावत् | 3 | 23 | c |
| देवकी दारिकावच: | 8 | 9 | b |
| देवकी वसुदेवाभ्याम् | 4 | 28 | c |
| देवकी सर्वदेवता | 1 | 56 | b |
| देवकी वसुदेवञ्च | 1 | 66 | a |
| देवकी वसुदेवञ्च | 4 | 14 | c |
| देवकीं वसुदेवञ्च | 4 | 24 | c |
| देवक्या अष्टमो गर्भ: | 8 | 8 | c |
| देवक्या औग्रसेनिना | 2 | 4 | d |
| देवक्या गर्भजन्मतत् | 4 | 2 | b |
| देवक्या गर्भसम्बन्ध: | 1 | 8 | c |
| देवक्या गर्भसम्भूतम् | 1 | 65 | c |
| देवक्या जठरे गर्भम् | 2 | 8 | a |
| देवक्याद्या यदुस्त्रिय: | 1 | 62 | d |
| देवक्या श्शयने न्यस्य | 3 | 52 | a |
| देवक्या सूर्यया सार्धं | 1 | 29 | c |
| देवक्यां देवरूपिण्याम् | 3 | 8 | c |
| देवक्यां पुत्रतां शुभे | 2 | 9 | b |
| देवक्रियायां प्रतियन्त्यथाऽपि हि | 2 | 36 | d |
| देवता यजमानश्च | 23 | 10 | c |
| देवता यजमानश्च | 23 | 47 | c |
| देवदेवं वृषाकपिम् | 1 | 20 | b |
| देवप्रस्थ वरूथप | 22 | 34 | d |
| देवर्षि र्मे प्रियतम: | 10 | 25 | a |
| देवव्रताद्यातिरथै स्तिमिङ्गलै: | 1 | 5 | b |
| देवसंज्ञित मप्यन्ते | 10 | 10 | a |
| देवा अप्यनुमन्वते | 23 | 31 | d |
| देवा गोपाल रूपिण: | 18 | 11 | b |
| देवादीं स्तर्पयेज्जलै: | 16 | 62 | b |
| देवानां ये च साधव: | 27 | 20 | d |
| देवान्प्रतिकृतामर्षा: | 4 | 30 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| देवाश्चोपरिसन्तुष्टा: | 11 | 43 | e |
| देवा: परमनिर्वृता: | 18 | 32 | b |
| देवा: प्रतिययु र्दिवम् | 2 | 42 | d |
| देवा: समरभीरव: | 4 | 32 | b |
| देवे वर्षति यज्ञविप्लवरुषावाज्रा-श्मवर्षानिलै: | 26 | 25 | a |
| देवैस्सानुचरै स्साकम् | 2 | 25 | c |
| देव्यो विमानगतय: स्मरनुन्नसारा: | 21 | 13 | c |
| देशकालार्थतत्त्वज्ञ: | 11 | 21 | c |
| देश: काल: पृथग्द्रव्यम् | 23 | 10 | a |
| देश: काल: पृथग्द्रव्यम् | 23 | 47 | a |
| देह प्राणेन्द्रियद्रुह: | 6 | 29 | d |
| देहयोग वियोगौ च | 4 | 20 | c |
| देहस्वात्मेन्द्रियेश्वर: | 10 | 30 | b |
| देहं कर्मानुबन्धनम् | 23 | 34 | d |
| देहं मानुष माश्रित्य | 1 | 11 | a |
| देह: किमन्नदातु: स्वम् | 10 | 11 | a |
| देह: प्राण मिवाऽऽगतम् | 5 | 20 | b |
| देहात्म वादिनां पुंसाम् | 14 | 52 | a |
| देहानुच्चावचा ञ्जन्तु: | 24 | 17 | a |
| देहान्तर मनुप्राप्य | 1 | 39 | c |
| देहाभिमानजं बोध: | 20 | 42 | c |
| देहिना मिह देहिषु | 22 | 38 | b |
| देहिनां गोपिकासुत: | 9 | 21 | b |
| देहि वासांसि धर्मज्ञ | 22 | 15 | c |
| देहि वासांसि वेपिता: | 22 | 14 | d |
| देही कर्मगतिं गत: | 1 | 40 | d |
| देही कर्मानुगोऽवश: | 1 | 39 | b |
| देही वाऽऽभाति मायया | 14 | 55 | d |
| देहेन सह जायते | 1 | 38 | b |
| देहे पञ्चत्व मापन्ने | 1 | 39 | a |
| देहे मृते तं मनुजा: शपन्ति | 2 | 22 | c |
| देहोऽपि ममताभाक् चेत् | 14 | 53 | a |
| दैतेया नातिकोविदा: | 4 | 30 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| दैत्य देहै र्गतासुभि: | 15 | 38 | b |
| दैत्यानाञ्च वधोद्यमम् | 1 | 64 | d |
| दैत्यानीकशतायुतै: | 1 | 17 | b |
| दैत्येनयस्तृणावर्तम् | 26 | 6 | c |
| दैत्येन विपदं वियत् | 11 | 24 | b |
| दैत्यो नाम्ना तृणावर्त: | 7 | 20 | a |
| दैत्यो निर्गत लोचन: | 7 | 28 | b |
| दैवमप्यनृतं वक्ति | 4 | 17 | a |
| दैवाधीन मजानताम् | 20 | 12 | d |
| दैवाधीना स्सहाऽऽसते | 4 | 18 | d |
| दैवी वा नर्युतासुरी | 13 | 37 | b |
| दोर्भ्यां बकं कंसखं सतां गति: | 11 | 50 | b |
| द्रक्ष्याम गां याञ्च तवानुकम्पिताम् | 2 | 38 | d |
| द्रवत्पुरीष्या: पुलिनैस्समन्तत: | 18 | 6 | b |
| द्रव्याण्यात्माऽऽत्म विद्यया | 5 | 4 | d |
| द्रव्यालाभे स गृहकुपितो यात्युपक्रोश्य तोकान् | 8 | 29 | d |
| द्रव्यै स्तद्रेतसा सिद्धै: | 24 | 9 | c |
| द्रष्टुं मञ्जु महित्व मन्यदपि तदत्सान् वत्सपान् | 13 | 15 | b |
| द्रतरुद्रर्षादिके | 13 | 61 | d |
| द्रुतं प्रीत्या स्नुत स्तनी: | 20 | 26 | d |
| द्रुममण्डल मण्डितम् | 18 | 4 | d |
| द्रमयो: पततो खम् | 11 | 1 | b |
| द्रुमाकीर्णं समाप्रियम् | 13 | 60 | d |
| द्रुमानाह व्रजौकस: | 22 | 33 | d |
| द्रोग्धु र्वै परतोभयम् | 1 | 44 | d |
| द्रोणस्स भगवान् व्रजे | 8 | 50 | b |
| द्रोणो वसूनां प्रवर: | 8 | 48 | a |
| द्रौण्यस्त्र विप्लुष्टमिदं मदङ्गं | 1 | 6 | a |
| द्वन्दीभूय यथायथम् | 18 | 19 | d |
| द्वयं कथं स्यादिति संविचिन्त्य तत् | 12 | 28 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| द्वयो र्ममैनं स बलं हनिष्ये | 12 | 14 | d |
| द्वादशाङ्केषु नामभि: | 6 | 21 | d |
| द्वादशेयु र्महात्मनो: | 3 | 36 | d |
| द्वादश्यां जलमाविशत् | 28 | 1 | d |
| द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं बली | 15 | 30 | b |
| द्वारस्तु सर्वा: पिहिता: दुरत्यया: | 3 | 48 | c |
| द्वराजिरगृहान्तर: | 5 | 6 | b |
| द्वा:स्थेषु पौरेष्वपि शायितेष्वथ | 3 | 48 | b |
| द्विजकुल घुष्टसरस्सरिन्महीध्रम् | 21 | 2 | b |
| द्विजालिकुलसन्नाद | 3 | 3 | c |
| द्विजै: कालहता इव | 20 | 16 | d |
| द्विपात्ककुद्वीव उदास्यपुच्छ: | 13 | 30 | c |
| द्वीप मध्ये र्जगाम ह | 16 | 67 | b |
| द्वीपं रमणकं हित्वा | 6 | 63 | a |
| द्वीपान् नगांस्तद्दुहितृर्वनानि | 7 | 36 | c |
| द्वे शते समलङ्कृते | 1 | 32 | b |
| द्वे सृक्किणी अतिकराल विषाग्नि दृष्टिम् | 16 | 25 | b |
| द्वौनाम नान्यौस्त ऋतेऽज्ञ भावान् | 14 | 26 | b |
| व्यङ्गुलोनमभूत्तेन | 9 | 15 | c |
| धत्से दमं फलमेवानु शंसन् | 16 | 33 | d |
| धनु र्वियति माहेन्द्रं | 20 | 18 | a |
| धनुश्शूलेषु चर्मासि | 4 | 10 | c |
| धन्या वनौकस इयान् हि सतां निसर्ग: | 15 | 7 | d |
| धन्यास्स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता: | 21 | 12 | a |
| धम्येय मद्य धरणी तृणवीरुधस्त्वत् | 15 | 8 | a |
| धरया सह भार्यया | 8 | 48 | b |
| धराधरोष्ठो जलदोत्तरोष्ठ: | 12 | 17 | a |
| धर्मयुक्तं महात्मन: | 22 | 20 | b |
| धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय | 27 | 5 | d |
| धर्मोऽथवा सर्वजनानुकम्पया | 16 | 35 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| धातु र्गुणविसर्जनम् | 16 | 57 | b |
| धातुप्रवालनटवेष मनुव्रतांसे | 23 | 22 | b |
| धावन् धनुश्शत मनन्तबलस्य किं तत् | 16 | 7 | d |
| धिक्कुलं धि क्रियादाक्ष्यम् | 23 | 39 | c |
| धिग्जन्म नस्सुहृद्वृत्तम् | 23 | 39 | a |
| धिग्व्रतं धिग्बहुज्ञताम् | 23 | 39 | b |
| धुनुत श्रीमदस्तम्भम् | 25 | 6 | c |
| धूमश्चाऽगरुसौरभ: | 6 | 35 | b |
| धूलिधूसरिताङ्ग स्त्वं | 11 | 17 | a |
| धृत व्रतानां सङ्कल्पम् | 22 | 27 | c |
| धृत्वाद्भुतं व्यात्तगुहाननं तदा | 12 | 16 | c |
| धेनवो मन्द गामिन्य: | 20 | 26 | a |
| धेनुकेन दुरात्मना | 15 | 22 | d |
| धेनूनां नियुते प्रादात् | 5 | 3 | a |
| धौतात्मभि र्योगिभिरप्यलभ्य: | 12 | 12 | b |
| ध्मान्त: शृङ्गाणि केचन | 12 | 7 | b |
| ध्यायन्त्य स्तत्पदाम्भोजम् | 22 | 31 | c |
| ध्वजोपपन्नानि पदानि विश्पते: | 16 | 18 | b |
| ध्वनिप्रतिध्वान लसद्रुमाकुलम् | 13 | 5 | d |
| ध्वस्तस्तम्भोवृथोद्यम: | 27 | 13 | b |
| ध्वान्तागारे धृतमणि गणंस्वाङ्गमर्थप्रदीप्तम् | 8 | 30 | c |
| ध्वान्तान्तरास्यो विततध्वजिह्व: | 12 | 17 | c |
| धुवंश्रितो यन्न पुरेय मीदृशी | 2 | 20 | d |
| **न** | | | |
| न कदाचिदपि स्फुटम् | 7 | 17 | d |
| न कृष्ण हृत चेतस: | 20 | 45 | d |
| नगा गावो वृषा वत्सा: | 17 | 16 | e |
| न ग्रामा न गृहा वयम् | 24 | 24 | b |
| न घटेतेति तस्य तत् | 11 | 5 | b |
| न चाऽन्त र्न बहि र्यस्य | 9 | 13 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| न चाऽन्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन् | 14 | 29 | d | नन्दगोप व्रजौकसाम् | 14 | 32 | b |
| न चार्हन्त्यवसादतुम् | 19 | 10 | b | नन्दगोपसुतं देवि | 22 | 4 | c |
| नटा इव नटं नृप | 18 | 11 | d | नन्दगोपसुतं प्रियम् | 22 | 14 | b |
| न तथा ममतालम्बि | 14 | 51 | c | नन्दगोपस्समाहित: | 7 | 15 | b |
| न तथा विद्धकण्टक: | 10 | 14 | d | नन्दगोपाभिनन्दिता | 5 | 16 | d |
| न तपो नाऽऽत्म मीमांसा | 23 | 42 | c | नन्दगोपेबृहद्वने | 7 | 33 | b |
| न तल्लिङ्गं परिश्रान्ता | 3 | 53 | c | नन्दगोष्ठ जिघांसया | 25 | 7 | d |
| न तस्मा द्विन्दते क्षेमम् | 24 | 19 | c | नन्द ते तनयोऽस्मासु | 26 | 13 | c |
| न ते तदुक्तं जगृहु: | 11 | 5 | a | नन्दपत्न्यां भविष्यसि | 2 | 9 | d |
| न ते तदोमिति प्रोचु: | 23 | 12 | a | नन्दमभ्येत्य विस्मिता: | 26 | 1 | d |
| न तेऽभवस्येश भवस्यकारणं | 2 | 39 | a | नन्दयित्वा ब्रवीद्ब्रह्मन् | 8 | 3 | c |
| न ते श्रद्धधिरेगोपा: | 7 | 10 | a | नन्दव्रजकुमारिका: | 22 | 1 | b |
| न तेषामिह सम्भव: | 3 | 16 | d | नन्द व्रज मुपेयुषि | 5 | 13 | d |
| न तेषां सत्यशीलानाम् | 7 | 13 | c | नन्द व्रजं शौरि रुपेत्य तत्र तान् | 3 | 51 | a |
| न तेषु क्लिश्यमानेषु | 5 | 27 | c | नन्द स्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा | 28 | 10 | a |
| न त्रास इहव: कार्य: | 25 | 21 | a | नन्दस्त्वात्मजउत्पन्ने | 5 | 1 | a |
| न त्वं विस्मृतशस्त्रास्त्रान् | 4 | 35 | a | नन्दस्य पत्नी कृतमज्जनादिकम् | 7 | 5 | a |
| नत्वा द्विजसती र्गोपा: | 23 | 15 | c | नन्दं विप्रास्समागम्य | 17 | 17 | a |
| न त्वाऽभीष्टं जगद्धाता | 14 | 41 | c | नन्द: कंसस्य वार्षिक्यम् | 5 | 18 | c |
| न त्वामुदश्रुजलैरकृताऽभिषेकम् | 13 | 63 | d | नन्द: किमकरो द्ब्रह्मन् | 8 | 46 | a |
| नदच्चित्रमृगद्विजम् | 18 | 7 | b | नन्द: पथिवचश्शौरे: | 6 | 1 | a |
| नद्यद्रिद्रोणिकुञ्जेषु | 18 | 16 | c | नन्द: प्रमुदितो मेने | 8 | 20 | c |
| नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्द गीतम् | 21 | 16 | a | नन्द: स्वपुत्रमादाय | 6 | 44 | a |
| नद्य: प्रसन्न सलिला: | 3 | 3 | a | नन्दादयश्चाद्भुत दर्शनाकुला: | 7 | 8 | c |
| नद्यां कदाचि दागत्य | 22 | 7 | a | नन्दादय स्तुतं दृष्ट्वा | 28 | 17 | a |
| न न: पुरो जनपदा: | 24 | 24 | a | नन्दादय स्समागम्य | 11 | 20 | c |
| न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमम् | 16 | 37 | a | नन्दादिभ्यश्चुकोप ह | 25 | 1 | d |
| न नामरूपे गुणकर्म जन्मभि: | 2 | 36 | a | नन्दादीन् वीक्ष्य तं ह्रदम् | 16 | 22 | b |
| न निवासो गुरावपि | 23 | 42 | b | नन्दाद्या ये व्रजे गोपा: | 1 | 62 | a |
| ननु स्वार्थ विमूढानां | 23 | 44 | a | नन्दालयं सवलया व्रजती विरेजु: | 5 | 11 | c |
| ननृतु र्युयुधु र्जगु: | 18 | 9 | d | नन्दो महामना स्तेभ्य: | 5 | 15 | a |
| न नेति च परन्तप | 23 | 12 | b | न न्यवर्तत कौरव्य | 1 | 46 | c |
| नन्द गोकुल मासारै: | 25 | 8 | c | नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति | 23 | 26 | a |
| | | | | नन्वहं ते ह्यवरजा | 4 | 6 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् | 16 | 37 | b |
| न पुन: कल्पते राजन् | 6 | 41 | c |
| न पूर्वं नाऽपि चाऽपरम् | 9 | 13 | b |
| न प्रीतयेऽनुरागाय हि | 23 | 32 | a |
| न भस्स्व र्विराणि च | 8 | 38 | b |
| न भ्रातृबन्धु सुहृद: कुतएव चाऽन्ये | 23 | 30 | b |
| नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मन: | 15 | 5 | c |
| न मयोदित पूर्वं वा | 22 | 11 | a |
| न मय्यावेशितधियाम् | 22 | 29 | a |
| न मर्त्या एव केवलम् | 4 | 17 | b |
| नमस्तुभ्यं भगवते | 16 | 39 | a |
| नमस्तुभ्यं भगवते | 23 | 49 | a |
| नमस्तुभ्यं भगवते | 27 | 10 | a |
| नमस्तुभ्यं भगवते | 28 | 6 | a |
| नमस्तेऽप्राकृताय च | 16 | 40 | d |
| नमस्ते विश्वमङ्गल | 10 | 36 | b |
| नम: कृष्णाय रामाय | 16 | 45 | a |
| नम: परमकल्याण! | 10 | 36 | a |
| नम: प्रमाणमूलाय | 16 | 44 | a |
| न मृषेति विचिन्तयन् | 6 | 1 | b |
| नमो गुणप्रदीपाय | 16 | 46 | a |
| नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय | 16 | 43 | a |
| नमो वो द्विजपत्नीभ्य: | 23 | 16 | a |
| न यत्रचण्डांशुकरा विषोल्बणा: | 18 | 6 | c |
| न यत्र श्रवणादीनि | 6 | 3 | a |
| न यत्र श्रूयते माया | 28 | 6 | c |
| न युष्मद्भयमाप्नुयात् | 16 | 61 | d |
| न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा | 16 | 37 | c |
| न रराजोडुपश्छन्न: | 20 | 19 | a |
| नरा मूढा: कुटुम्बिन: | 20 | 37 | d |
| नर्मणाऽऽक्षिप्तचेतस: | 22 | 13 | b |
| नलकूबरमणिग्रीवौ | 9 | 23 | c |
| नलकूबर मणिग्रीवौ | 10 | 23 | c |
| नलकूबरसादनम् | 10 | 42 | b |
| नलकूबरसादनम् | 10 | 42 | b |
| नवकुङ्कुमकिञ्जल्क | 5 | 10 | a |
| नवनीतैश्च चिक्षिपु: | 5 | 14 | d |
| नवपल्लवमण्डिते | 23 | 21 | b |
| नववारिनिषेवया | 20 | 13 | b |
| वव्रायेऽपवर्गं मे | 3 | 39 | c |
| न वा अमीषाञ्च सतां विनाशनम् | 12 | 28 | b |
| न विद्यते तेऽग्रहणानुबन्ध: | 27 | 4 | d |
| न विद्यते यत्र वनौकसां दव: | 18 | 5 | c |
| विवाससमात्मानम् | 10 | 20 | c |
| न वेद स्वां गतिं भ्रमन् | 28 | 13 | d |
| न शक्नुमस्त्वच्चरणं | 17 | 24 | c |
| न शक्यते रूढपयश्चिकित्सितुम् | 4 | 38 | b |
| न शोचं न क्रियाश्शुभा: | 23 | 42 | d |
| नश्यन्त्यग्नौ पतङ्गवत् | 11 | 55 | d |
| न श्रीरप्यङ्ग संश्रया | 9 | 20 | b |
| नष्टत्रिलोकेशमद: | 27 | 3 | c |
| नष्टलब्धप्रजा सती | 17 | 18 | b |
| नष्टाजीव्या विचेतस: | 19 | 4 | d |
| नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने | 3 | 25 | a |
| न सेव्यते पशुगणै: | 15 | 24 | c |
| सेहे गिरिकूटवत् | 7 | 18 | d |
| नस्तो वमन् परमकश्मलमाप नाग: | 16 | 28 | d |
| स्त्री भवितुमर्हति | 8 | 8 | d |
| हि गोप्यं हि साधूनाम् | 24 | 4 | c |
| न हि मद्भावयुक्तानाम् | 25 | 17 | a |
| न हि वेदा: कलौ युगे | 20 | 8 | d |
| न ह्यकर्तु: प्रभुर्हि स: | 24 | 14 | d |
| न ह्यन्यो जुषतो जोषान् | 10 | 8 | a |
| न ह्यस्मादस्ति मे भयम् | 1 | 60 | b |
| न ह्यस्यास्ते भयं सौम्य | 1 | 54 | a |
| नागपत्न्यश्च सादरम् | 16 | 64 | d |
| नागराजोऽभ्यनुज्ञात: | 16 | 66 | c |
| नागानां प्राङ्विरूपित: | 17 | 2 | d |
| नागालयं रमणकम् | 17 | 1 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नागा: पर्वणि पर्वणि | 17 | 3 | b | नारायणसमो गुणै: | 26 | 22 | b |
| नातिप्रेयाञ्छरीरिणाम् | 18 | 2 | d | नारायणस्त्वं नहि सर्वदेहिनाम् | 14 | 14 | a |
| नाऽत्र स्थेयं त्वया सर्प | 16 | 60 | c | नारायणस्योदरनाभिनालात् | 14 | 13 | b |
| नाऽदृश्यत नतोन्नत | 25 | 10 | d | नारायणं तमरणं मनसा जगाम | 16 | 30 | d |
| नाऽद्यान्मत्पादलाञ्छनम् | 16 | 63 | d | नारायणोऽङ्गं नरभूजलायनात् | 14 | 14 | c |
| नाऽद्यापि पुनरुत्थिता: | 13 | 42 | d | नाविन्दन् भववेदनाम् | 11 | 57 | d |
| नानाक्रीडापरिच्छदौ | 11 | 37 | d | नाऽशकन् स्मरवेगेन | 21 | 4 | c |
| नानारसौघास्सरित: | 27 | 26 | a | नाऽशक्नोदद्भुतार्भकम् | 7 | 27 | d |
| नानावादानुरोधाय | 16 | 43 | c | नाऽशक्नोद्भूरिभारकृत् | 7 | 26 | d |
| नानावीर्या: पृथग्भूता: | 3 | 15 | c | नाशायाऽऽसारवायुभि: | 27 | 12 | b |
| नानास्वभाववीर्यौजो | 16 | 57 | c | नासत्या: सन्ति कर्हिचित् | 11 | 56 | b |
| नानोपहारबलिभि: | 2 | 10 | c | नाऽऽसां द्विजातिसंस्कार: | 23 | 42 | a |
| नानोपायनपाणय: | 5 | 8 | d | नाऽहं भक्षितवानम्ब | 8 | 35 | a |
| नाऽन्नमश्नन् हि दुष्यति | 23 | 8 | d | निगमाय नमो नम: | 16 | 44 | d |
| नान्यथा मद्भवं ज्ञानम् | 3 | 44 | c | निगृह्य निगलै र्गृहे | 1 | 66 | b |
| नाऽन्यदस्तीति किञ्चन | 14 | 56 | d | नितरां मुनिसत्तम | 1 | 2 | b |
| नाऽन्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् | 14 | 4 | d | नित्यमुद्विग्नमनस: | 4 | 32 | c |
| नाऽन्य: कश्चन लेलिह: | 17 | 12 | b | नित्यं क्षुत्क्षामदेहस्य | 10 | 16 | a |
| नाऽन्या भवेद्गतिररिन्दम तद्विधेहि | 23 | 30 | d | नित्यं तद्दर्शनोत्सुका: | 23 | 18 | b |
| नाऽन्या मेऽपि विमोहिनी | 13 | 37 | d | नित्यं यदन्तर्निजजीवितेप्सुभि: | 12 | 13 | c |
| नाऽपराधोऽस्ति देहिन: | 1 | 48 | d | नित्यं वनौकसस्तात | 24 | 24 | c |
| नाऽपश्यत्कश्चिदाऽऽत्मानम् | 7 | 23 | a | नित्यं सन्निहितो हरि: | 1 | 28 | d |
| नाऽभ्यनन्दत तद्वाक्यम् | 1 | 61 | c | नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जन: | 14 | 23 | c |
| नाऽभ्यस्यमाना: श्रुतय: | 20 | 16 | c | निदाघवह्न्यर्कभवोऽतिशाद्वले | 18 | 5 | d |
| नामग्रहण भीरव: | 6 | 30 | d | निदाघातपपीडिता: | 15 | 48 | b |
| नामधेयानि कुर्वन्ति | 2 | 11 | a | निदाघार्कातपे तीक्ष्णे | 22 | 33 | a |
| नामभिर्दूरगान् पशून् | 15 | 12 | b | निद्रयाऽपगतस्मृति: | 3 | 53 | d |
| नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते | 2 | 37 | b | निधाय याता: सदनुग्रहो भवान् | 2 | 31 | d |
| नाऽयमात्मा तथैतेषु | 4 | 19 | c | निपेतुर्व्यसव स्सर्वे | 15 | 49 | c |
| नायं सुबोधो भगवान् | 9 | 21 | a | निबोधत वचांसिन: | 23 | 16 | b |
| नाऽरयोऽभिभवन्त्येतान् | 8 | 18 | c | निमीलयत माभैष्ट | 19 | 11 | c |
| नाऽरयोऽभिभवन्त्येतान् | 26 | 21 | c | निमेषादि र्वत्सरान्तो महीयान् | 3 | 26 | c |
| नारायणसमो गुणै: | 8 | 19 | b | नियुङ्क्ष्वाऽस्माननुव्रतान् | 4 | 37 | f |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| नियुद्ध श्रमकर्शित: | 15 | 16 | b |
| निरस्तमानेन च मानदेन | 16 | 35 | b |
| निरीक्षमाणा ययुरङ्गसत्त्वरा: | 16 | 18 | d |
| निरीक्षमाणे जननी अतिष्ठताम् | 6 | 10 | d |
| निरीक्ष्य जगदीश्वर: | 17 | 25 | b |
| निरीक्ष्य तद्वपु रल मम्बरे चरत् | 18 | 27 | a |
| निरीक्ष्य पश्चात्सुत मागमच्छनै: | 9 | 8 | d |
| निरीक्ष्य भगवान्मेने | 25 | 14 | c |
| निरीक्ष्य रन्तुं भगवान्मनो दधे | 15 | 3 | d |
| निरूपितव्ये तव तस्य साक्षिण: | 2 | 36 | b |
| निरूप्य मधुरां गत: | 5 | 18 | b |
| निर्गम्यार्थान्प्रपेदिरे | 20 | 49 | b |
| निर्गुणञ्च गुणिन्यभात् | 20 | 18 | b |
| निर्घातभयशङ्किता: | 11 | 1 | d |
| निर्जग्मुर्गोकुलाद्दीना: | 16 | 15 | c |
| निर्दयै रजितात्मभि: | 10 | 9 | b |
| निर्बन्धं तस्य तं ज्ञात्वा | 1 | 47 | a |
| निर्ममन्थ स्वयं दधि | 9 | 1 | d |
| निर्मलोडु गणोदयम् | 3 | 2 | b |
| निर्यातत्यजत त्रासम् | 25 | 26 | a |
| निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् | 21 | 20 | d |
| निर्विशन् भगवान्रेमे | 20 | 28 | c |
| निर्वैराण्यभवं स्तात | 27 | 27 | c |
| निर्व्यूह्यमाना निहनिष्यसे चमू: | 3 | 21 | d |
| निलायनै: सेतुबन्धै: | 11 | 58 | c |
| निलायनै स्सेतुबन्धै: | 14 | 61 | c |
| निवारित: सौभरिणा | 17 | 9 | c |
| निवासभूता नितरां न रेजे | 2 | 19 | b |
| निविशन्त्यो वना द्वनम् | 19 | 2 | b |
| निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात् | 1 | 4 | a |
| निवृत्तस्वनझिल्लिकम् | 18 | 4 | b |
| निवृत्त: पुन रापतेत् | 1 | 50 | d |
| निशम्य वेधास्त्रिदशानुवाच ह | 1 | 21 | b |

| | अध्याय:। | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| निशम्य श्रद्धया मर्त्य: | 6 | 45 | c |
| निशम्याऽसुररासभ: | 15 | 29 | b |
| निशाचरीत्थं व्यथिता व्यसु: क्षितौ | 61 | 14 | a |
| निशामुखेषु खद्योता: | 20 | 8 | a |
| निशाम्य विबुधादय: | 15 | 39 | b |
| निशाम्य विस्मिता आसन् | 19 | 13 | c |
| निशाम्येन्द्रोऽतिविस्मित: | 25 | 24 | b |
| निशाम्योपरतं गोपान् | 25 | 25 | c |
| निशीथे तमसोद्भूते | 3 | 8 | a |
| निश्चलाम्बुरभूत्तूष्णीम् | 20 | 40 | a |
| षिध्यमाना: पतिभि: | 23 | 20 | a |
| निषेक्तु र्मातुरेव वा | 10 | 11 | b |
| निष्कण्ठ्य: सुवासस: | 11 | 32 | d |
| निष्पीड्यमानाऽखिलजीवमर्मणि | 6 | 12 | b |
| निष्पेततु: परमविक्रमितातिवेप | 10 | 27 | c |
| निसर्गविज्ञात जगद्विचेष्टितम् | 6 | 9 | b |
| निहत्योरसि काशब्दम् | 15 | 30 | c |
| निहन्त्यात्मनि युञ्जत: | 13 | 46 | d |
| नि:श्रेयसाय भगवन् | 8 | 4 | c |
| नि:स्तम्भो भ्रष्टसङ्कल्प: | 25 | 24 | c |
| नीत्वाऽन्यत्र कुरूद्वहान्तरदधात्खेऽ-वस्थितो य: पुरा | 13 | 15 | c |
| नीत्वा स्ववारं कृतवत्यथोदयम् | 11 | 19 | d |
| नीपमारुह्य सत्वर: | 22 | 9 | b |
| नीराणि प्रकृतिं ययु: | 20 | 33 | b |
| नून मेतद्धरे रेव | 12 | 42 | c |
| नूनं त्वद्बान्धवा: कृष्ण | 19 | 10 | a |
| नूनं बतर्षिस्सञ्जात: | 6 | 33 | a |
| नूनं भगवतो माया | 23 | 40 | a |
| नूनं ह्यदृष्टनिष्ठोऽयम् | 5 | 29 | a |
| नूपुरै: कटकै र्भाता: | 13 | 49 | e |
| नृणां श्रीरिव भूरभूत् | 20 | 11 | d |
| नृत्यगीताद्यनेकार्है: | 13 | 52 | c |
| नृत्यतो गायत: क्वाऽपि | 15 | 15 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| नृत्यन्तश्च कलापिभि: | 12 | 8 | d |
| नृत्यन्त्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्य: | 15 | 7 | a |
| नृत्यन्, पदानुनमयन्दमयाम्बभूव | 16 | 29 | c |
| नृप स्वात्मैव वल्लभ: | 14 | 50 | b |
| नृलोक मनुशीलयन् | 23 | 36 | b |
| नृशंसं निरपत्रपम् | 1 | 36 | b |
| नृशंसं निरपत्रपम् | 1 | 53 | b |
| नेत्रे आसीत्सुविस्मिता | 7 | 37 | d |
| नेदुर्दुन्दुभयस्समम् | 1 | 33 | b |
| नेदुर्दुन्दुभयो दिवि | 3 | 5 | d |
| नेमं विरिञ्चो न भव: | 9 | 20 | a |
| नेशे महि त्ववसितुं मनसाऽऽन्तरेण | 14 | 2 | c |
| नेह स्थेयं बहुदिनम् | 5 | 30 | c |
| नैकत्र प्रियसंवास: | 5 | 24 | a |
| नैकोऽप्यभोजि कबल: | 14 | 45 | c |
| नैतच्चित्रं भगवति हि | 15 | 35 | a |
| नैतद्विचित्रं मनुजार्भमायिन: | 12 | 38 | a |
| नैते सुरेशा ऋषयो न चैते | 13 | 39 | a |
| नैवाविन्दन् क्षीयमाणम् | 20 | 37 | a |
| नैवाऽशृणो द्वै रुदितं सुतस्य सा | 7 | 6 | c |
| नैवैते घोरदर्शना: | 11 | 55 | b |
| नैषाति दुस्सहा क्षुन्मां | 1 | 13 | a |
| नो चे द्राक्षे ब्रुवामहे | 22 | 15 | d |
| नो चेन्नाहं प्रदास्ये किं | 22 | 16 | e |
| नोदितो देवमातृभि: | 27 | 23 | b |
| नोपेक्ष्या इति मन्महे | 4 | 37 | d |
| नोपेयातां यदाऽऽहूतौ | 11 | 12 | c |
| नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तटिदम्बराय | 14 | 1 | a |
| न्यगृह्णाद्भगवानहिम् | 16 | 2 | b |
| न्यवर्तत वना द्वजम् | 14 | 46 | d |
| न्यविशद्वायुना वातम् | 21 | 1 | c |
| न्यषेध त्प्रीतिमावहन् | 9 | 4 | d |
| न्यस्तशस्त्रा दिवौकस: | 4 | 34 | b |
| न्यस्यात्मन्यथ बालस्य | 6 | 22 | c |
| न्याय्यो हि दण्ड: कृतकिल्बिषेऽस्मिन् | 16 | 33 | a |
| न्यूषु रङ्गापि सारसा: | 20 | 22 | b |
| **प** | | | |
| पक्वखर्जूरजम्बुमत् | 20 | 25 | b |
| पक्षिसङ्घैर्विवर्जितम् | 15 | 24 | d |
| पक्षेण सव्येन हिरण्यरोचिषा | 17 | 7 | c |
| पङ्काङ्गरागरुचिरावुपगूह्य दोर्भ्याम् | 8 | 23 | b |
| पच्यन्तां विविधा: पाका: | 24 | 26 | a |
| पञ्चषट्सु त्रियामासु | 13 | 28 | c |
| पतन्ति पतितानि च | 15 | 22 | b |
| पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्य: | 2 | 32 | d |
| पतन्त्युपरिगा: खगा: | 16 | 4 | d |
| पतमानोऽपि तद्देह: | 6 | 15 | a |
| पतमानो बृहच्छिरा: | 15 | 33 | b |
| पतयो नाभ्यसूयेरन् | 23 | 31 | a |
| पतयो वो द्विजातय: | 23 | 28 | b |
| पतितेभ्यो यथार्हत: | 24 | 28 | b |
| पतिं मे कुरु ते नम: | 22 | 4 | d |
| पति: प्राण: प्रदीयताम् | 16 | 52 | d |
| पत्रपुष्पफलच्छाया | 22 | 37 | a |
| पत्न्य: कत्यभवन् विभो: | 1 | 11 | d |
| पथि प्रग्रहिणं कंसम् | 1 | 34 | a |
| पथि व्यशेत ग्रसनाशया खल: | 12 | 16 | d |
| पदव्या यमुना तटम् | 16 | 17 | d |
| पदं पदं य द्विपदां न तेषाम् | 14 | 58 | d |
| पदाम्बुजं ते सुमन: फलार्हणम् | 15 | 5 | b |
| पद्भ्यां भक्तहृदिस्थाभ्याम् | 6 | 38 | a |
| पद्माकर सुगन्धिना | 21 | 1 | b |
| पपौ यस्या: स्तनं हरि: | 8 | 46 | d |
| पप्रच्छ भूयोऽपि तदेव पुण्यं | 12 | 40 | c |
| पयांसि यासामपिबत् | 6 | 40 | a |
| परञ्चाऽपि विमोहित: | 7 | 23 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| परव्राजातोऽतन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ | 13 | 58 | b | पशूंश्चारयतो गोपै: | 18 | 17 | a |
| परब्रह्मात्मनोऽखिलान् | 13 | 56 | b | पश्यतां सर्वभूतानाम् | 25 | 28 | c |
| परमात्मान मेव च | 14 | 27 | b | पश्य एतान् महाभागान् | 22 | 35 | a |
| परमानन्द निर्वृता: | 28 | 17 | b | पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात् | 13 | 47 | b |
| परं कौतूहलं गुरो | 12 | 42 | b | पश्यत्सु बालेषु ददार लीलया | 11 | 50 | c |
| परं न जीर्णाश्शिशवस्सवत्सा: | 12 | 26 | b | पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये | 2 | 28 | d |
| परं नताङ्ग: कृतधी: कृताञ्जलि: | 3 | 12 | b | पश्य पश्य वयस्यां स्ते | 11 | 18 | a |
| परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनि | 14 | 9 | b | पश्येश मेऽनार्यमनन्त आद्ये | 14 | 9 | a |
| पराय परमात्मने | 16 | 39 | d | पस्पर्श पादयो रेनम् | 27 | 2 | c |
| परार्थैकान्त जीवितान् | 22 | 35 | b | पाणिभ्यां योनि माच्छाद्य | 22 | 17 | c |
| पराध्यै रपि भूषणै: | 16 | 65 | b | पात्यमानै: पपात ह | 11 | 43 | b |
| परावरगतिज्ञाय | 16 | 48 | a | पादमूल मुपाययु: | 25 | 12 | d |
| परावराणां परमस्य वेधस: | 12 | 38 | b | पादसंवाहनं चक्रु: | 15 | 17 | a |
| परिक्रम्याऽभिवन्द्य तम् | 16 | 66 | d | पादसंवाहनादिभि: | 15 | 14 | d |
| परिव्रात स्सुरेश्वरै: | 11 | 24 | d | पादस्पर्शाशया सकृत् | 23 | 46 | b |
| परिधाय स्व वासांसि | 22 | 26 | a | पादस्पृशो द्रुमलता: करजाभि मृष्टा: | 15 | 8 | b |
| परिपक्वफलान्वितम् | 26 | 10 | d | पादाम्बुजोऽखिल कलादिगुरुर्ननर्त | 16 | 26 | d |
| परिभूतो न्यवर्तत | 13 | 40 | d | पानीयसूयवसकन्दर कन्दमूलै: | 21 | 19 | d |
| परिष्वज्याऽङ्कमारोप्य | 17 | 18 | c | पापे प्रलम्बे निहते | 18 | 32 | a |
| परिहास मुवाच ह | 22 | 9 | d | पाययित्वा स्तनं माता | 6 | 31 | c |
| परीता महदादिभि: | 13 | 53 | d | पाययित्वा पपुर्जलम् | 11 | 45 | d |
| परुषानिलश्वासदवेक्षणोष्ण: | 12 | 17 | d | पारम्पर्यागतं नर: | 24 | 11 | b |
| पर्जन्य: काल आगते | 20 | 5 | d | पार्श्वस्थं कम्पयन् भग्न: | 15 | 33 | c |
| पर्जन्य: फलभावन: | 24 | 10 | d | पार्ष्णिप्रहारपरिरुग्णफणातपत्रम् | 16 | 31 | b |
| पर्जन्यो भगवानिन्द्र: | 24 | 8 | a | पालयन् वत्सपो वर्षं | 13 | 27 | c |
| पर्यक्प्लुतोविषकषाय विभीषणोर्मि: | 16 | 7 | c | पालयिष्यन्त एकदा | 11 | 45 | b |
| पलायनपरा ययु: | 4 | 33 | d | पाषण्डिना मसद्वादै: | 20 | 23 | c |
| पल्लवैरङ्कुरै: फलै: | 13 | 9 | b | पितरं प्राह केशव: | 24 | 12 | d |
| पवन उपारत पांसुवर्षवेगे | 7 | 25 | d | पितरं वरुणा हृतम् | 28 | 3 | d |
| पशवो जातवेपना: | 25 | 11 | b | पितरौ नाऽन्वविन्देताम् | 8 | 47 | a |
| पशव्यं नवकाननम् | 11 | 27 | b | पिता गुरुस्त्वं जगता मधीश: | 27 | 6 | a |
| पशून् नयत संक्षयम् | 25 | 6 | d | पिता ते पितृवत्सल | 28 | 8 | d |
| पशून् पुरस्कृत्य पशव्य माविशत् | 15 | 2 | c | पितामहा मे समरेऽमरञ्जयै: | 1 | 5 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| पितुर्गेहात् व्रजं गत: | 1 | 9 | b |
| पितृदेवार्चनं तथा | 5 | 2 | d |
| पितृभ्रातृसुतादय: | 23 | 31 | b |
| पितैष ते मयाऽऽनीत: | 28 | 8 | a |
| पित्रो: सम्पश्यतोस्सद्य: | 3 | 46 | c |
| पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजात् | 1 | 13 | c |
| पीठको न्मानपादुकम् | 11 | 10 | b |
| पीडयामासु रोजसा | 25 | 8 | d |
| पीतकौशेय वासस: | 13 | 47 | d |
| पीतप्रायस्य जननी | 7 | 35 | a |
| पीत: स्तन: सह प्राणै: | 26 | 4 | c |
| पीतामृतैरप्यमरै: प्रतीक्ष्यते | 12 | 13 | d |
| पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम् | 3 | 9 | d |
| पीत्वाऽप: पादपा: पद्भि: | 20 | 21 | a |
| पीत्वा मुकुन्दमुखसारघ मक्षिभृङ्गै: | 15 | 43 | a |
| पीत्वा मुखेन तान्कृच्छ्रात् | 19 | 12 | c |
| पीत्वा विषं परेतस्य | 15 | 52 | c |
| पीनाहि भोगोत्थितमद्भुतं महत् | 12 | 33 | a |
| पीयूषमुत्तभित कर्णपुटै: पिबन्त्य: | 21 | 14 | b |
| पुण्यगन्धवह: शुचि: | 3 | 4 | b |
| पुण्यश्रवणकीर्तन: | 15 | 41 | b |
| पुण्याद्रि तृणवीरुधम् | 11 | 27 | d |
| पुण्यं कृष्णकथामृतम् | 12 | 43 | d |
| पूत्रभूते जनार्दने | 8 | 51 | b |
| पुत्रयो: पुत्रवत्सले | 15 | 44 | b |
| पुत्रवित्त गृहादिषु | 14 | 51 | d |
| पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं जातकम्पञ्च सुभ्रू: | 9 | 3 | b |
| पुत्रस्नेह स्नुत स्तनी | 11 | 13 | d |
| पुत्रस्नेह स्नुता न्यलम् | 6 | 40 | b |
| पुत्रान् प्रसुषुवे चाऽष्टौ | 1 | 56 | c |
| पुत्रान् समर्पयिष्येऽस्या: | 1 | 54 | c |
| पुत्रांश्च सुहृदस्सखीन् | 1 | 67 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| पुत्रिकैका प्रदीयताम् | 4 | 5 | d |
| भूत्वा तम:प्लुतौ | 10 | 20 | b |
| पुनरासाद्य संरब्ध: | 15 | 31 | a |
| पुनरुत्थान मात्मन: | 15 | 52 | d |
| पुनर्गोरजसाऽर्भकम् | 6 | 21 | b |
| पुनर्भाण्डीरमापिता: | 19 | 13 | b |
| पुनर्योगनिषेवया | 20 | 33 | d |
| पुन: पुन रुदैक्षत | 17 | 16 | d |
| पुमान्विरज्येत विना पशुघ्नात् | 1 | 4 | d |
| पुमान्वेद परावरम् | 8 | 5 | d |
| पुरग्राम व्रजाकरा | 3 | 2 | d |
| पुरग्राम व्रजादिषु | 4 | 31 | d |
| पुरग्राम व्रजादिषु | 6 | 2 | d |
| पुरग्रामेष्वाग्रयणै: | 20 | 48 | a |
| पुरं यथा रुद्रशरेण विद्धम् | 7 | 29 | c |
| पुरा नारद शापेन | 9 | 23 | a |
| पुराऽनेन व्रजपते | 8 | 17 | a |
| पुरानेन व्रजपते | 26 | 20 | a |
| पुरावदाब्दं क्रीडन्तम् | 13 | 41 | c |
| पुरावदस्वपि हरे: | 13 | 25 | c |
| पुरुष: प्रकृते: पर: | 3 | 13 | b |
| पुरुषादाननुव्रत: | 1 | 46 | d |
| पुरुषादैरिवाभ्येत्य | 4 | 15 | c |
| पुरुषाय महात्मने | 16 | 39 | b |
| पुरुषाय महात्मने | 27 | 10 | b |
| पुरुषावप्यचक्ष्महि | 11 | 4 | d |
| पुरुषां स्त्रीन् पुनाति हि | 1 | 16 | b |
| पुरुषेषु गुणिष्विव | 20 | 17 | d |
| पुरेह भूमन्बहवोऽपि योगिन: | 14 | 5 | a |
| पुरैव पुंसाऽवधृतो धराज्वर: | 1 | 22 | a |
| पुलिनारोह भीषणम् | 6 | 17 | b |
| पुलिनेऽपि च वत्सपान् | 13 | 16 | b |
| पुष्करं गजराडिव | 26 | 3 | d |
| पुष्प वर्षाणि पार्थिव | 25 | 31 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पुष्पिण्य: शरदाऽभवन् | 20 | 46 | b | पृथक्पृथ गुपासिता: | 13 | 52 | d |
| पुष्पैस्सुपूजित इवेह पुमान् पुराण: | 16 | 29 | d | पृथुश्रोण्यश्चलत्कुचा: | 5 | 10 | d |
| पुष्पैस्सुरा अप्सरसश्च नर्तनै: | 12 | 34 | b | पृथ्व्यां वपु: कनकदण्डमिवाऽ- | | | |
| पुष्पोपहार नुतिभि: सहसोप सेदु: | 16 | 27 | d | भिपात्य | 13 | 63 | b |
| पुंसस्त्रिवर्गो विहित: | 5 | 27 | a | पृश्निगर्भ इति श्रुत: | 3 | 41 | d |
| पुंसां पुरुषकारणाम् | 24 | 10 | c | पृश्निगर्भस्तु ते बुद्धिम् | 6 | 26 | a |
| पुंसोऽक्ष्णोस्सवितुर्यथा | 10 | 18 | d | पृश्नि: स्वायम्भुवे सति | 3 | 32 | b |
| पुंसोऽक्ष्णोस्सवितुर्यथा | 10 | 41 | d | पृष्ट्वाऽनामय मादृत: | 5 | 21 | b |
| पुंसो महदतिक्रम: | 4 | 46 | d | पेतु: क्षितौ वज्रनिपातशङ्कया | 6 | 13 | d |
| पुंसो यथा स्वतन्त्रस्य | 20 | 10 | c | पौगण्डे कीर्तितं भुवि | 14 | 59 | d |
| पूजयित्वा जगन्नाथम् | 16 | 66 | a | प्रकाशते यस्य च येन वा गुण: | 2 | 35 | d |
| पूजां चक्रु: कुमारिका: | 22 | 5 | b | प्रकीर्णारुणमूर्धजम् | 6 | 16 | d |
| पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकै: | 21 | 12 | d | प्रचण्डवेगो मधुसूदनासन: | 17 | 7 | b |
| पूजितस्सुखमासीन: | 5 | 21 | a | प्रच्छाद्यासार पीडिता: | 25 | 12 | b |
| पूतनाकेशिधेनुकै: | 2 | 1 | d | प्रजानां नाशहेतव: | 11 | 22 | d |
| पूतनाऽऽगमनादिकम् | 6 | 43 | b | प्रजापति पतिर्विभु: | 1 | 26 | b |
| पूतना नन्दगोकुलम् | 6 | 4 | b | प्रजापति रकल्मष: | 3 | 32 | d |
| पूतना बालघातिनी | 6 | 2 | b | प्रजा यत्समपद्यत | 5 | 22 | d |
| पूतना मातृकादय: | 6 | 29 | b | प्रजा वयमनुग्राह्या: | 28 | 8 | e |
| पूतनाया महौजस: | 26 | 4 | b | प्रजाशाया निवृत्तस्य | 5 | 22 | c |
| पूतना लोकबालघ्नी | 6 | 36 | a | प्रजासर्गे यदा तत: | 3 | 33 | b |
| पूर्णस्य करवाम किम् | 8 | 3 | d | प्रजासव: प्राणभृतो हि ये ते | 12 | 15 | d |
| पूर्णं पुरुष सूक्तेन | 1 | 20 | c | प्रजा स्तै रेव सिध्यन्ति | 24 | 23 | c |
| पूर्णं बह्मसनातनम् | 14 | 32 | d | प्रजा स्नेह मयी विभु: | 8 | 43 | d |
| पूर्णा: पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग | 21 | 18 | a | प्रणमे त्स्वामिनं नर: | 22 | 22 | b |
| पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृत: | 14 | 23 | d | प्रणमे द्देवमच्युतम् | 22 | 21 | d |
| पूर्णोन्तरङ्गे पवनो निरुद्ध: | 12 | 31 | c | प्रणम्य च पुन: पुन: | 10 | 43 | b |
| पूर्तेष्टदत्तमुत भूतसौहृदम् | 7 | 32 | b | प्रणिपात पुरस्सरम् | 8 | 2 | d |
| पूर्देव्यन्तीव पुत्रिका | 13 | 51 | d | प्रणीतं भवता येन | 8 | 5 | c |
| पूर्वन्तु तान्नि: स्वनित् | 6 | 18 | c | प्रणीय वत्सान्व्रजमेत्य तज्जगु: | 11 | 52 | d |
| पूर्ववत् स्थापितं गोपै: | 7 | 12 | a | प्रतिक्षणं नव्यव दच्युतस्य यत् | 13 | 2 | c |
| पूर्वापरं बहिश्चाऽन्त: | 9 | 13 | c | प्रतिगृह्य परिक्रम्य | 2 | 14 | c |
| पृच्छत स्साधु भण्यताम् | 24 | 7 | d | प्रतिनेदु: प्रहर्षिता: | 19 | 6 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| प्रतिमुच्य पदोर्लोहम् | 3 | 52 | c |
| प्रतियातु कुमारोऽयम् | 1 | 60 | a |
| प्रतिलब्धेन्द्रिय प्राण: | 16 | 55 | a |
| प्रतिवार्यात्मवत्सपै: | 13 | 20 | b |
| प्रतिस्पर्धेते सृक्कभ्याम् | 12 | 21 | a |
| प्रतीक्षते त्वां दाशार्ह | 11 | 16 | a |
| प्रतीक्षमाणेन बकारिवेशनम् | 12 | 26 | c |
| प्रतीक्ष्य खेऽवस्थित मीशनिर्गमम् | 12 | 33 | c |
| प्रतीच्छन्तु शुचिस्मिता: | 22 | 16 | d |
| प्रत्यनन्द च्छिखण्डिन: | 20 | 20 | b |
| प्रत्यभ्यया दुच्छ्रितनैकमस्तक: | 17 | 6 | b |
| प्रत्यर्च्य कृष्ण चरितं कलिकल्म षघ्नम् | 1 | 14 | c |
| प्रत्यर्प्य मृत्यवे पुत्रान् | 1 | 49 | a |
| प्रत्यषेध त्स भगवान् | 16 | 22 | c |
| प्रत्याह तं भागवतोत्तमोत्तमम् | 8 | 2 | b |
| प्रत्युत्थाय कृताञ्जलि: | 8 | 2 | b |
| प्रदक्षिणञ्च कुरुत | 24 | 29 | c |
| प्रदग्धु मुपचक्रमे | 17 | 21 | f |
| प्रदीप्तदृग्भ्रकुटि तटोग्र दंष्ट्रकम् | 18 | 27 | b |
| प्रद्युम्नायानिरुद्धाय | 16 | 45 | c |
| प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि | 14 | 37 | a |
| प्रपद्यते तत्किमपि ह्यपस्मृति: | 1 | 41 | d |
| प्रपद्यमान स्सह तेन जायते | 1 | 42 | d |
| प्रपन्नजनतानन्द- | 14 | 37 | c |
| प्रपन्नां स्त्रातु मर्हथ: | 19 | 9 | d |
| प्रपेदिरेऽञ्जोच्युत ते गतिं पराम् | 14 | 5 | d |
| प्रबोधय ञ्छृङ्गरवेण चारुणा | 12 | 1 | c |
| प्रभावज्ञोऽनुजस्य स: | 16 | 16 | d |
| प्रभो विधात स्सदनुग्रहाय च | 14 | 20 | d |
| प्रमत्तानां गृहेहया | 23 | 44 | b |
| प्रमोदनिभृतात्मन: | 17 | 14 | c |
| प्रयच्छ तानि न: कृष्ण | 15 | 25 | c |
| प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतञ्च | 1 | 7 | c |
| प्रयाणे रथ मारुहत् | 1 | 29 | d |
| प्रयाणोपक्रमे तात | 1 | 33 | c |
| प्रयात देवयजनं | 23 | 3 | a |
| प्रलम्ब बकचाणूर | 2 | 1 | a |
| प्रलम्ब वधमेव च | 20 | 1 | d |
| प्रलम्बं घातयित्वोग्रम् | 26 | 11 | a |
| प्रलम्बो रोहिणी सुतम् | 18 | 24 | d |
| प्रवाल फलतण्डुलै: | 22 | 3 | d |
| प्रवाल बर्हस्तबक | 18 | 9 | a |
| प्रवाल मृद्वङ्घ्रिहतं व्यवर्तत | 7 | 7 | b |
| प्रविशन्तं जिघांसया | 26 | 9 | b |
| प्रविश्य सन्दश्य च दध्यमत्रकम् | 9 | 7 | b |
| प्रविष्ट इव भाव्यसे | 3 | 14 | d |
| प्रविष्ट मुदकं निशि | 28 | 2 | d |
| प्रवृत्ताय निवृत्ताय | 16 | 44 | c |
| प्रवृद्धस्नेह कलिल | 8 | 44 | c |
| प्रशमायोपकल्पते | 25 | 17 | d |
| प्रशशंसु रथाऽपरे | 18 | 10 | d |
| प्रशशंसु स्तदर्हणम् | 18 | 31 | b |
| प्रशस्य प्राविशद्गृहम् | 1 | 55 | d |
| प्रश्रयावनतोऽपृच्छत् | 24 | 2 | c |
| प्रश्रिता इद मब्रुवन् | 23 | 15 | d |
| प्रसक्तधी स्स्वात्मजयो: | 5 | 21 | c |
| प्रसह्य क्षुधितोऽहरत् | 17 | 9 | d |
| प्रसह्योदास्य यमुनां | 26 | 12 | c |
| प्रसादलेशानुगृहीत एव हि | 14 | 29 | b |
| प्रसादं लेभिरे गोपी | 9 | 20 | c |
| प्रसाद्य गरुड ध्वजम् | 16 | 66 | b |
| प्रसार्य गोष्ठे निजरूपमास्थिता | 6 | 14 | c |
| प्रसीदन्निदमब्रवीत् | 23 | 2 | d |
| प्रसून वन मारुतम् | 20 | 45 | b |
| प्रस्खलन्मुक्तमूर्धज: | 4 | 3 | d |
| प्रस्तेभिता: क्रीडनवच्च कारिता: | 22 | 25 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| प्रस्नुतं पाययामास | 7 | 34 | c | प्रापाऽऽत्मसाम्यन्त्वसतां सुदुर्लभम् | 12 | 38 | d |
| प्रस्विन्नगात्रा क्षपती रुरोद ह | 6 | 12 | d | प्राप्तं कालं प्रतिव्योढुम् | 1 | 47 | c |
| प्रहसन्नाऽऽह गुह्यकौ | 10 | 39 | d | प्राप्तं वीक्ष्य हृषीकेशम् | 28 | 4 | a |
| प्रहसन्निदमब्रवीत् | 1 | 53 | d | प्राप्ता आत्मदिदृक्षया | 23 | 24 | b |
| प्रहसन्निदमब्रवीत् | 1 | 59 | d | प्राप्ताञ्जानीत भद्रं व: | 23 | 6 | c |
| प्रहसन्निदमब्रवीत् | 27 | 14 | d | प्राप्ता वयं तुलसिदाम पदावसृष्टम् | 23 | 29 | c |
| प्रहस्य किञ्चिन्नोवाच | 16 | 16 | c | प्राप्योत्सृजति कर्मणा | 24 | 17 | b |
| प्रहस्य जगदीश्वर: | 23 | 13 | b | प्राप्स्यामि त्वं यशोदायाम् | 2 | 9 | c |
| प्रहस्य जग्मतुर्गोपै: | 15 | 27 | c | प्राय: श्रुतप्रियतमोदय कर्णपूरै: | 23 | 23 | a |
| प्रहस्य तमुवाच ह | 4 | 25 | d | प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या: | 15 | 6 | c |
| प्रहृष्ट वदनाम्भोज: | 1 | 53 | a | प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेस्मिन् | 21 | 15 | a |
| प्राक् क्षामा स्तपसा श्रान्ता: | 20 | 21 | c | प्रायो बीजाय नेष्यते | 22 | 29 | d |
| प्राक्तनं त्यजते वपु: | 1 | 39 | d | प्रायो मायास्तु मे भर्तु: | 13 | 37 | c |
| प्राक् सिद्धं गुणसंवृत: | 10 | 32 | d | प्राविशत्कामचारिणी | 6 | 4 | d |
| प्रागयं वसुदेवस्य | 8 | 14 | a | प्रावृट् श्रियञ्च तां वीक्ष्य | 20 | 31 | a |
| प्रागयं वसुदेवस्य | 26 | 17 | a | प्राह प्रहसितानन: | 23 | 24 | d |
| प्रागेव विद्यमानत्वात् | 3 | 16 | c | प्राहिणोत्तृणराजसु | 15 | 37 | d |
| प्राग्जन्मस्मरणाय मे | 3 | 44 | b | प्राहिणोद्गत जीवितम् | 11 | 42 | d |
| प्राज्ञं यथाभिमतयो विजहुर्नरेन्द्र | 23 | 23 | d | प्राहुस्सङ्कर्षणं भुवि | 2 | 13 | b |
| प्राणबुद्धिमन: स्वात्म | 23 | 27 | a | प्रियकृद्रामकृष्णयो: | 11 | 21 | d |
| प्राणान् नारायणोऽवतु | 6 | 25 | b | प्रीणनं जीवनं पय: | 24 | 8 | d |
| प्राणां स्त्यजति पन्नग: | 16 | 52 | b | प्रीणनं जीवनं ह्यम्बु | 20 | 6 | c |
| प्राणिन: स्थिरजङ्गमा: | 16 | 5 | d | प्रीत: प्रियतमं दोर्भ्याम् | 5 | 20 | c |
| प्राणे गते वर्ष्मसु का नु चिन्ता | 12 | 15 | c | प्रीत: प्रोवाच सस्मित: | 22 | 18 | d |
| प्राणेशञ्चान्तरात्मन: | 14 | 43 | b | प्रीतिं कुर्वन्ति मानवा: | 8 | 18 | b |
| प्राणेषु वत्सान् सुहृद: परेतान् | 12 | 32 | b | प्रीतिं कुर्वन्ति मानवा: | 26 | 21 | b |
| प्राणैरर्थैर्धिया वाचा | 22 | 38 | c | प्रीत्या मृदङ्गपणवानक वाद्यगीत | 16 | 27 | c |
| प्राणैस्समं रोषसमन्वितोऽपिबत् | 6 | 11 | d | प्रेक्षणाक्ष मभाषत | 8 | 33 | d |
| प्रातरेव कृताहार: | 11 | 15 | c | प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा जहृषुर्हसन्त्य: | 8 | 24 | d |
| प्रात स्समुत्थाय वयस्य वत्सपान् | 12 | 1 | b | प्रेक्ष्याद्रिसान्वपरतान्य समस्तसत्त्वम् | 21 | 11 | d |
| प्रादात्ते चाऽन्वयुज्यत | 7 | 16 | d | प्रेत्याऽऽगत मिवाऽऽलिङ्ग्य | 18 | 31 | c |
| प्रादादन्नं महागुणम् | 7 | 15 | d | प्रेत्याऽऽगत मिवौत्सुक्यात् | 11 | 53 | c |
| प्रादुरासं वरदराट् | 3 | 38 | a | प्रेमप्रवृद्ध उदित: कुसुमा वलीभि: | 21 | 17 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| प्रेमविह्वलचेतस: | 18 | 31 | d |
| प्रेम्णा तमङ्कमारोप्य | 17 | 16 | c |
| प्रेष्ठसङ्गमसज्जिता: | 22 | 26 | b |
| प्रोक्तं निशम्य नन्दाद्या: | 24 | 31 | c |
| प्रोक्ता स्ते शौरिणा ययु: | 5 | 31 | c |
| प्रोत्तेरुस्तीरमङ्गना: | 22 | 17 | d |
| प्रोध्मात वेणुदलशृङ्ग खोत्सवाढ्य: | 14 | 47 | b |
| प्रोष्याऽऽगत उदारधी: | 6 | 44 | b |
| प्लवन्तश्च पलाशिषु | 12 | 9 | d |
| प्लवानां स्रोतसो यथा | 5 | 24 | d |
| **फ** | | | |
| फल पुष्पदलोत्करै: | 22 | 39 | b |
| फलप्रकर सङ्कीर्णं | 15 | 38 | a |
| फल प्रवाल स्तबक | 12 | 4 | a |
| फलप्रसूनोरुभरेण पादयो: | 15 | 4 | b |
| फलभाण्ड मपूरि च | 11 | 8 | d |
| फलरूप्यन्य कर्मणाम् | 24 | 14 | b |
| फल विक्रयिणी तस्य | 11 | 8 | a |
| फलानां पततां शब्दम् | 15 | 29 | a |
| फलानि तत्र भूरीणि | 15 | 22 | a |
| फलानि पातयामास | 15 | 28 | c |
| फलानि सुरभीणि च | 15 | 24 | f |
| फलार्थी धान्य मादाय | 11 | 7 | c |
| फलै रपूरयद्रत्नै: | 11 | 8 | c |
| फलै रीशक्रिया इव | 20 | 46 | d |
| **ब** | | | |
| बकैरुपविशन्तश्च | 12 | 8 | c |
| बद्धसेतुभुजोर्वीङ्गि | 6 | 17 | c |
| बद्धाञ्जली विरजसा | 10 | 28 | d |
| बद्धोलूखलमामन्त्र्य | 10 | 43 | c |
| बद्धाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तये | 22 | 19 | c |
| बन्धूनाञ्चाऽऽवहन्मुदम् | 28 | 9 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| बन्धूनां भगवान्हरि: | 9 | 11 | b |
| बबन्ध प्राकृतं यथा | 9 | 14 | d |
| बभूवतुस्तौ पशुपाल | 15 | 1 | b |
| बभूव प्राकृतश्शिशु: | 3 | 46 | d |
| बभूवाऽऽक्रीडगह्वरम् | 12 | 36 | d |
| बभूवुरतिविस्मिता: | 6 | 32 | d |
| बभूवुरिन्द्रियाणीव | 11 | 48 | c |
| बभूवुर्जातसम्भ्रमा: | 23 | 18 | d |
| बभौ भू: पक्वसस्याढ्या | 20 | 48 | c |
| बभ्रमुस्तदविज्ञाय | 11 | 2 | c |
| बभ्राम सोऽप्यवसरं | 16 | 25 | d |
| बर्हप्रसूननवधातु | 14 | 47 | a |
| बर्हापिञ्छो वनचरवपु: | 21 | 6 | a |
| बर्हापीडं नटवरवपु: | 21 | 5 | a |
| बर्हिणं हासयन्सखीन् | 15 | 11 | d |
| बलदेवेन संयुत: | 24 | 1 | b |
| बलभद्रं बलोच्छ्रयात् | 2 | 13 | d |
| बलस्य लीलयोत्सृष्ट | 15 | 34 | a |
| बल: प्रविश्य बाहुभ्याम् | 15 | 28 | a |
| बलाधिक्याद्बलं विदु: | 8 | 12 | d |
| बलाय प्राक्षिपद्रुषा | 15 | 31 | d |
| बलिनोऽग्ने: शुनोऽपि वा | 10 | 11 | d |
| बलिभिर्धूपदीपकै: | 22 | 3 | b |
| बलिभिस्त्वरितं जग्मु: | 5 | 10 | c |
| बलिभिस्सपरिच्छदम् | 7 | 12 | b |
| बलिमागधसंश्रय: | 2 | 2 | d |
| बलिमादत् बृहद्वपु: | 24 | 35 | d |
| बलेन बलशालिना | 18 | 30 | b |
| बलेन बलशालिना | 26 | 11 | b |
| बहवो मृत्यवोऽभवन् | 11 | 54 | a |
| बहवो हिंसिता भ्रात: | 4 | 5 | a |
| बहवो हिंसितास्सुता: | 4 | 15 | d |
| बहिरन्त:पुरद्वार: | 4 | 1 | a |
| बहुनामनिकेतेषु | 4 | 13 | c |
| बहुनामा बभूव ह | 4 | 13 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| बहुमानपुरस्सरम् | 1 | 52 | d | बृन्दावनं जनाजीन्य | 13 | 60 | c |
| बहूनि सन्ति नामानि | 8 | 15 | a | बृन्दावनं पुण्यमतीव | 15 | 1 | d |
| बहूनि सन्ति नामानि | 26 | 18 | a | बृन्दावनं सखिभुव: | 21 | 11 | a |
| बाण भौमादिभिर्युत: | 2 | 2 | b | बृन्दावनं सम्प्रविश्य | 11 | 34 | a |
| बाध्यबाधकतामियात् | 4 | 22 | d | बृन्दावनाद्गतो दूरम् | 22 | 32 | c |
| बालकस्य न वै विदु: | 7 | 10 | d | बृहत्कवाटायासकील | 3 | 48 | d |
| बालकस्य यदेतानि | 26 | 2 | a | बृहद्वनं तदधुना | 5 | 25 | c |
| बालग्रहस्तत्र विचिन्वती | 6 | 7 | a | बृहन्नितम्बस्तनकृच्छ्र | 6 | 5 | b |
| बालघ्न्या बालको ह्यसौ | 11 | 23 | b | ब्रह्मज्योतिर्निर्गुणं | 3 | 24 | b |
| बालश्च तस्या उरसि | 6 | 19 | a | ब्रह्मज्योतिस्सनातनम् | 28 | 15 | b |
| बालभाषितमित्युत | 7 | 10 | b | ब्रह्मणास्तमुवाच ह | 8 | 48 | d |
| बालयोरनयोर्नृणाम् | 8 | 6 | c | ब्रह्मणा चोदिता वयम् | «27 | 21 | b |
| बालस्योत्पाटनं तर्वो: | 11 | 5 | c | ब्रह्मणा वा तपस्यता | 4 | 37 | b |
| बालं प्रतिच्छन्ननिजोरु | 6 | 7 | c | ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये | 16 | 40 | b |
| बाला ऊचुरनेनेति | 11 | 4 | a | ब्रह्मणे परमात्मने | 28 | 6 | b |
| बालिशा वृद्धमानिन: | 23 | 9 | d | ब्रह्मन् कालान्तरकृतं | 12 | 41 | a |
| बालेन निष्कर्षयताऽन्व | 10 | 27 | a | ब्रह्मन् परोद्भवे कृष्णे | 14 | 49 | a |
| बालो निवृत्तिं गमिता | 7 | 31 | b | ब्रह्मन् भगवतस्तस्य | 16 | 3 | a |
| बाहुक्षेपञ्च कुरुते | 11 | 10 | c | ब्रह्मभावेन चाऽसकृत् | 3 | 45 | b |
| बाहुभ्यां तावपातयत् | 26 | 7 | d | ब्रह्महिंसां हितं मेने | 4 | 43 | c |
| बिभर्ति क्वचिदाज्ञप्त: | 11 | 10 | a | ब्रह्महेव मृत: श्वसन् | 4 | 16 | d |
| बिभर्ति सोऽयं ममगर्भ | 3 | 31 | c | ब्रह्माणं शरणं ययौ | 1 | 17 | d |
| बिभर्षि रूपाण्यवबोध | 2 | 29 | a | ब्रह्मा तदुपधार्याऽथ | 1 | 19 | a |
| बिभर्षि शुक्लं खलु वर्ण | 3 | 20 | b | ब्रह्माद्वयं परमनन्त | 13 | 62 | b |
| बिभ्रद्वोष्ठमपान्महेन्द्र | 26 | 25 | d | ब्रह्मापि स्वासनस्थेन | 13 | 40 | a |
| बिभ्रद्वास: कनककपिशं | 21 | 5 | b | ब्रह्मा भवश्च तत्रैत्य | 2 | 25 | a |
| बिभ्रद्वेणुं जठरपटयो: | 13 | 11 | a | ब्रह्मेव सगुणं बभौ | 20 | 4 | d |
| बीजन्यासमकुर्वत | 6 | 22 | d | ब्रह्मेशानौ पुरोधाय | 2 | 42 | c |
| बुद्धिभ्रंशो रजोगुण: | 10 | 8 | b | ब्राह्मणा नियमात्यये | 20 | 9 | d |
| बुभुक्षितस्य तस्याऽऽन्नम् | 23 | 17 | c | ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिन: | 4 | 40 | b |
| बुभुजु: कृतभाजना: | 13 | 9 | d | ब्राह्मणा ब्रह्मवादिन: | 23 | 3 | b |
| बृन्दारण्यं स्वपद | 21 | 5 | d | ब्राह्मणै: ब्रह्मवादिभि: | 24 | 27 | b |
| बृन्दावनचर:क्वचित् | 15 | 47 | b | ब्रूयु: स्निग्धस्य शिष्यस्य | 13 | 3 | c |
| बृन्दावनं गोवर्धनम् | 11 | 35 | a | | | | |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| भ | | | | भगवान् पूजयाञ्चक्रे | 20 | 31 | c |
| भक्तानामभयङ्कर: | 2 | 16 | b | भगवान् बलसंयुत: | 18 | 8 | b |
| भक्ताया विप्रभार्याया: | 23 | 2 | c | भगवान् बालचेष्टितै: | 11 | 11 | d |
| भक्तिमात्मप्रिये यथा | 23 | 26 | d | भगवान् बालवत्क्वचित् | 11 | 9 | b |
| भक्तिर्दृढा न चाऽस्माकम् | 23 | 43 | c | भगवान् भूतभावन: | 1 | 3 | b |
| भक्तिर्हरौ तत्पुरुषे च | 7 | 2 | c | भगवान् माधवो बल: | 16 | 16 | b |
| भक्तिस्स्यात्परमा लोके | 8 | 49 | c | भगवान्समभिष्टुत: | 16 | 54 | b |
| भक्त्या च हृदि भावित: | 3 | 37 | d | भगवान्सर्वदर्शन: | 18 | 18 | b |
| भगवत्युत्तमश्लोके | 23 | 20 | c | भगवान्हरिरीश्वर: | 7 | 1 | b |
| भगवद्रूपमपरम् | 14 | 56 | c | भगवांस्तत्र कौरव | 10 | 5 | b |
| भगवन्तमधोक्षजम् | 23 | 11 | b | भगवांस्तदभिप्रेत्य | 22 | 8 | a |
| भगवन्तं यथाश्रुतम् | 23 | 34 | b | भगवांस्तदुपश्रुत्य | 28 | 3 | c |
| भगवल्लक्षणैर्जग्मु: | 16 | 17 | c | भगिनीं हन्तुमारब्ध: | 1 | 35 | c |
| भगवानखिलेश्वर: | 28 | 9 | b | भगिन्या: प्रीतिमावहन् | 1 | 30 | b |
| भगवानग्निमुल्बणम् | 19 | 12 | b | भग्नचापानयुध्यत: | 4 | 35 | d |
| भगवानपि गोविन्द: | 23 | 35 | a | भग्नं विलोक्यस्वसुतस्य | 9 | 7 | c |
| भगवानपि तत्रैव | 24 | 1 | a | भग्नार्जुनमथाऽह्वयत् | 11 | 12 | b |
| भगवानपि तं शैलम् | 25 | 28 | a | भद्रकालीं समानर्चु: | 22 | 5 | e |
| भगवानपिबत् स्तनम् | 6 | 38 | d | भयाद्धाहेति चुक्रुशु: | 12 | 29 | b |
| भगवानपि विश्वात्मा | 2 | 6 | a | भयानकावर्तशताकुलानदी | 3 | 50 | c |
| भगवानपि विश्वात्मा | 2 | 16 | a | भर्जिता क्वथिता धाना | 22 | 29 | c |
| भगवानात्ममायया | 3 | 46 | b | भवता लोकनाथेन | 27 | 19 | c |
| भगवानाह ता वीक्ष्य | 22 | 18 | a | भवता सोमसूर्ययो: | 1 | 1 | b |
| भगवानिदमब्रवीत् | 13 | 4 | d | भवतां किं विचारित: | 24 | 7 | b |
| भगवान्कार्यमानुष: | 16 | 60 | b | भवतां यदि रोचते | 11 | 28 | d |
| भगवान्गोकुलेश्वर: | 10 | 39 | b | भवतीनां मदर्चने | 22 | 28 | b |
| भगवान् जगदीश्वर: | 23 | 2 | b | भवत्पदाम्भोरुहनाव | 2 | 31 | c |
| भगवान् देवकीपुत्र: | 6 | 40 | c | भवत्यो यदि मेदास्य: | 22 | 16 | a |
| भगवान् देवकीसुत: | 22 | 24 | b | भवद्भिरंशैर्यदुषूप | 1 | 22 | b |
| भगवान् देवकीसुत: | 22 | 32 | b | भवद्भ्यामुपलालित: | 5 | 26 | d |
| भगवान् पुरुष: पर: | 1 | 23 | b | भवानेकश्शिष्यते | 3 | 25 | d |
| | | | | भवान्भोजयशस्कर: | 1 | 37 | b |
| | | | | भवान् रक्षितवान्रह: | 8 | 34 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| भवान् हि कारणं तत्र | 16 | 59 | a | भूतग्रामं तर्हि रमयन् | 21 | 6 | d |
| भवाम्बुधिर्वत्सपदं | 14 | 58 | c | भूते ध्रुक् तत्कृते | 10 | 10 | c |
| भवाय भवगोविप्र | 27 | 20 | c | भूतप्रेतपिशाचाश्च | 6 | 28 | c |
| भवाय युष्मच्चरणानु | 27 | 9 | d | भूतमात्रेन्द्रियप्राण | 16 | 42 | a |
| भवाय विभवाय च | 10 | 35 | b | भूतानामुडुपोऽहरत् | 20 | 42 | b |
| भवार्णवं भीम मदभ्र | 2 | 31 | b | भूतानां सम्बभूव ह | 2 | 17 | d |
| भवेऽत्र वाऽन्यत्र तु वा | 14 | 30 | b | भूतानि यानि स्थिर | 7 | 36 | d |
| भवो निरोध: स्थिति | 2 | 39 | c | भूतावासाय भूताय | 16 | 39 | c |
| भवौषधाच्छ्रोत्रमनोभि | 1 | 4 | b | भूतेभ्यो ह्यमृतं घना: | 20 | 24 | b |
| भाण्डीरकं नाम वटम् | 18 | 22 | c | भूत्वा निषेवे तव पाद | 14 | 30 | d |
| भारतैवं वत्सपेषु | 13 | 12 | a | भूपांसव: खे मिहिका | 14 | 7 | d |
| भारद्वाजांश्च बर्हिण: | 15 | 13 | b | भूमिर्दृप्तनृपव्याज | 1 | 17 | a |
| भारं भुवो हर यदूत्तम | 2 | 40 | d | भूमेर्भारापनुत्तये | 27 | 21 | d |
| भारोपनीतस्तव जन्म | 2 | 38 | b | भूमेर्भारायमाणानाम् | 1 | 64 | c |
| भार्याऽऽस्ते नन्दगोकुले | 2 | 7 | d | भूमौ निधाय तं गोपी | 7 | 19 | a |
| भावार्थो भुवतिस्स्मृत: | 14 | 57 | b | भूम्न: स्वच्छन्दवर्तिन: | 16 | 3 | b |
| भावैर्भाव पृथग्दृश: | 4 | 27 | d | भूम्यामुदमयं वसु | 20 | 5 | b |
| भित्त्वा मृषाश्रुर्दृषदश्मना | 9 | 6 | c | भूम्यां निपतितौ तत्र | 11 | 2 | a |
| भिन्नहृत्कर्ण मस्तका: | 6 | 18 | d | भूयान्नन्दसुत: पति: | 22 | 5 | f |
| भीतवद्व्याघ्रसिंहयो: | 15 | 13 | d | भूयो धर्म्यमिदं वच: | 22 | 21 | b |
| भीता: स्म इति वादिन: | 4 | 34 | d | भूरिपुण्यवदर्पितै: | 13 | 50 | d |
| भीतैर्नृभिरमित्रहन् | 15 | 24 | b | भूर्यम्बुतृणवीरुधम् | 5 | 25 | b |
| भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्ट | 21 | 10 | c | भूषिता अप्यभूषयम् | 12 | 4 | d |
| भुज्यतां गोनृभिर्नदी | 16 | 60 | f | भृशमनुतप्तधियोऽश्रु | 7 | 25 | b |
| भुञ्जान एवाऽऽत्मकृतं | 14 | 8 | b | भेर्यो दुन्दुभयो मुहु: | 5 | 5 | d |
| भुञ्जानं यज्ञभुक् पातु | 6 | 27 | c | भोक्ष्यमाणो व्रजाधिप: | 11 | 16 | b |
| भुञ्जान: पर्यटन्पिबन् | 2 | 24 | b | भोजानां कुलपांसन: | 1 | 35 | b |
| भुञ्जानेष्वच्युतात्मसु | 13 | 12 | b | भोजेन्द्रगेहेऽग्निशिखेव | 2 | 19 | c |
| भुव: पङ्कमपां मलम् | 20 | 34 | b | भ्रमाम: कर्म वर्त्मसु | 23 | 49 | d |
| भुवि पतिता मृतवत्सका | 7 | 24 | d | भ्रश्यत्प्रसूनकबरा | 21 | 13 | d |
| भुवि भौमानि भूतानि | 4 | 19 | a | भ्रश्यन्ति मार्गा त्वयि | 2 | 33 | b |
| भुवि विश्वेश्वरे हरौ | 8 | 49 | b | भ्रष्टानामिव चेतांसि | 20 | 33 | c |
| भुवो भराणामुरुभार | 27 | 9 | b | भ्राजमानो यथा रवि: | 2 | 17 | b |
| भुवो रसं शाद्वलितं | 18 | 6 | d | | | | |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| भ्रातरञ्चावधीत्कंसम् | 1 | 10 | c |
| भ्रातरं नन्दमागतम् | 5 | 19 | b |
| भ्रातर्मम सुत: कच्चित् | 5 | 26 | a |
| भ्रातुस्समनुतप्तस्य | 4 | 25 | a |
| भ्रातृभिर्पितृभिस्सुतै: | 23 | 20 | b |
| भ्रामणत्यक्तजीवितम् | 15 | 32 | d |
| भ्रामणैर्लङ्घनै: क्षेपै: | 18 | 12 | a |
| भ्रामयित्वा कपित्थाग्रे | 11 | 42 | c |
| भ्रामयित्वैकपाणिना | 15 | 32 | b |
| भ्रूविन्यासाङ्गुलिभि: | 21 | 6 | c |
| **म** | | | |
| मखभङ्गोऽनुगृह्णता | 27 | 15 | b |
| मग्ना: कृष्णेन चोद्धृता: | 28 | 16 | b |
| मघोना भगवानमुम् | 27 | 14 | b |
| मघोनि वर्ष त्यसकृद्यमानुजा | 3 | 50 | a |
| मण्डूका व्यसृजन्गिर: | 20 | 9 | b |
| मतङ्गज इवौजसा | 15 | 28 | d |
| मत्तस्येन्द्र श्रियाभृशम् | 27 | 15 | d |
| मत्त: कामा नभीप्सन्तौ | 3 | 35 | c |
| मत्तोऽसतां मानभङ्ग: | 25 | 17 | c |
| मत्वा गोपा स्तमीश्वरम् | 28 | 11 | b |
| मत्वापरं ब्रह्म सुता नपाययन् | 13 | 22 | d |
| मत्वा प्राप्त मतद्विद: | 16 | 14 | b |
| मत्वा बृन्दावनश्रियम् | 12 | 18 | b |
| मत्वा विवस्त्राप्लवनं व्रतच्युतिम् | 22 | 23 | b |
| मत्वा सुतं स्नेहनिबद्धधीर्नृप | 11 | 19 | b |
| मत्स्याश्वकच्छप वराह नृसिंह हंस | 2 | 40 | a |
| मथुरा भगवान्यत्र | 1 | 28 | c |
| मथुरा मावसत्पुरीम् | 1 | 27 | b |
| मथुराया व्रजं गता: | 6 | 32 | b |
| मथ्नतीं जननीं हरि: | 9 | 4 | b |
| मदनुस्मृतये नित्यम् | 27 | 15 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| मदाघूर्णित लोचनौ | 10 | 3 | b |
| मदान्धालि ष्वनुव्रतै: | 15 | 10 | b |
| मदाराधन मीहतु: | 3 | 35 | d |
| मद्धस्ताद्रि निपातनात् | 25 | 21 | b |
| मधुपुर्यां च केशव: | 1 | 10 | b |
| मध्येन यमुनां गत: | 22 | 39 | d |
| मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्याम् | 21 | 9 | c |
| मन आनकदुन्दुभे: | 2 | 16 | d |
| मनसा दूयमानेन | 1 | 53 | c |
| मनसो वपुषो वाच: | 14 | 38 | c |
| मनांस्यासन् प्रसन्नानि | 3 | 5 | a |
| मनुष्यदृष्ट्या दुष्प्रज्ञा: | 23 | 11 | c |
| मनुष्या गतसाध्वसा: | 15 | 40 | b |
| मनोज्ञानि च न: प्रभो | 7 | 1 | d |
| मनोज्ञानि महात्मन: | 15 | 18 | b |
| मनोबुद्ध्याशयात्मने | 16 | 42 | b |
| मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम् | 12 | 39 | b |
| मनो मात्रा गुणा स्त्रय: | 8 | 38 | d |
| मनो योगेश्वरोऽवतु | 6 | 25 | d |
| मनोरथेनाभिनिविष्ट चेतस: | 1 | 41 | b |
| मनोवचोभ्या मनुमेय वर्त्मन: | 2 | 36 | c |
| मनोविकारात्मक माप पञ्चसु | 1 | 42 | b |
| मनोहरन्तीं वनितां व्रजौकसाम् | 6 | 6 | b |
| मन्त्रतन्त्रर्त्विगग्नय: | 23 | 10 | b |
| मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नय: | 23 | 47 | b |
| मन्दं मन्दं जलधरा: | 3 | 7 | c |
| मन्दाकिन्यां मदोत्कटौ | 10 | 2 | d |
| मन्नाथं मत्परिग्रहम् | 25 | 18 | b |
| मन्माया मोहितेतरे | 13 | 43 | b |
| मन्यते देवकी सुतम् | 8 | 7 | d |
| मन्यमानैरिमं देहम् | 10 | 9 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मन्यसे तद्विधेहि न: | 16 | 59 | d | महारवं व्यसुरपतत् समीरयन् | 18 | 29 | c |
| मन्ये नारायणस्यांशम् | 26 | 23 | c | महार्हवस्त्राभरण | 5 | 8 | a |
| मया तेऽकारि मघवन् | 27 | 15 | a | महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डल | 3 | 10 | a |
| मयाऽनुमोदित: सोऽसौ | 22 | 28 | c | महावासेरिता इव | 15 | 34 | d |
| मया वां बत पाप्मना | 4 | 15 | b | महासत्त्व मवस्थितम् | 11 | 46 | b |
| मया व्यापादिता नपि | 4 | 21 | b | महासुरं कालनेमिम् | 1 | 68 | c |
| मयेदं भगवन्गोष्ठ | 27 | 12 | a | महासुरो विगतरयो निजं वपु: | 18 | 26 | b |
| मयेमा रंस्यथ क्षपा: | 22 | 30 | b | महिम्ने ब्रह्मणे नम: | 10 | 33 | d |
| मयोक्तं वा करिष्यथ | 22 | 16 | b | मही मङ्गलभूयिष्ठ | 3 | 2 | c |
| मरुद्गणै र्महावीर्यै: | 25 | 7 | c | महेन्द्र: किं करिष्यति | 24 | 23 | d |
| मर्कटोत्प्लवनादिभि: | 11 | 58 | d | महेश्वरत्वेऽपि च बालभावम् | 6 | 8 | c |
| मर्कटोत्प्लवनादिभि: | 14 | 61 | d | मह्यञ्च दयितो मख: | 24 | 30 | d |
| मर्कान् भोक्ष्यन् विभजति स चेन्नात्ति भाण्डं भिनत्ति | 8 | 29 | c | मह्यं शुश्रूषवे पित: | 24 | 4 | b |
| | | | | मातरं पितरं भ्रातृन् | 1 | 67 | a |
| | | | | मातुरद्धाऽतदर्हणम् | 1 | 10 | d |
| मर्काय कामं ददतं शुचिस्थितम् | 9 | 8 | b | मातुश्च मे य: शरणं गताया: | 1 | 6 | d |
| मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम् | 9 | 14 | b | मातु: पितुर्वा क्रेतुर्वा | 10 | 11 | c |
| मर्त्यालिङ्गेन जायते | 3 | 44 | d | मातृमृष्टान्स्वलङ्कृतान् | 11 | 18 | b |
| मर्त्यात्मानो न ते विदु: | 23 | 11 | d | मात्रापित्रा सगोधन: | 17 | 19 | d |
| मर्त्यो मृत्युव्यालभीत: पलायन् | 3 | 27 | a | मात्रा बद्ध उलूखले | 26 | 7 | b |
| मर्दनोन्मज्जनादिभि: | 15 | 45 | b | मात्रा सह भवद्भजे | 5 | 26 | b |
| महतीतरमायैश्यम् | 13 | 46 | c | मात्रेक रसमूर्तय: | 13 | 55 | b |
| महत्पदं पुण्ययशो मुरारे: | 14 | 58 | b | माथुराञ्छूरसेनांश्च | 1 | 27 | c |
| महत्या पूजयित्वाऽऽह | 28 | 4 | c | मादृशो वां वृतस्सुत: | 3 | 38 | d |
| महत्योत्पल मालया | 16 | 65 | d | माधवी कन्यकेति च | 2 | 12 | b |
| महदासीत्तदद्भुतम् | 6 | 15 | d | मानयन्तस्सुविस्मिता: | 28 | 17 | d |
| महद्विचलनं नृणाम् | 8 | 4 | a | मानयं भो: कृथा स्त्वान्तु | 22 | 14 | a |
| महन्मन:प्रख्यपयस्सरस्वता | 15 | 3 | b | मानयामास विस्मित: | 7 | 33 | d |
| महाकारुणिको विभु: | 28 | 14 | b | मानं तनोति सहगोगणयो स्तयो र्यत् | 21 | 19 | c |
| महापुरुषमादध्यौ | 7 | 19 | c | मानं विधुन्वञ्जगदीश मानिनाम् | 27 | 6 | d |
| महापुरुषलक्षणम् | 3 | 23 | b | मानिना तीव्रमन्युना | 27 | 12 | d |
| महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु | 3 | 25 | b | मानिनामनुतापञ्च | 20 | 12 | c |
| महामणिगणाकीर्णम् | 17 | 13 | c | | | | |
| महायोगिन्यधीश्वरि | 22 | 4 | b | | | | |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| माऽनुशोच यतस्सर्व: | 4 | 21 | c | मिथोघ्नन्तं न पश्यन्ति | 4 | 27 | c |
| मानुषं देहमासाद्य | 7 | 3 | c | मीनान् सुदु:खितान्दृष्ट्वा | 17 | 10 | a |
| मानेन त्रुट्यनेहसा | 13 | 41 | b | मुकुन्द चरणैषिणाम् | 10 | 18 | b |
| मा प्रत्यक्षं मांसदृशां कृषीष्ठा: | 3 | 28 | d | मुकुन्दमुद्वीक्ष्य विनम्रकन्धर: | 13 | 65 | b |
| मा भूद्भयं भोजपतेर्मुमूर्षो: | 2 | 41 | c | मुकुन्दो व्रजयोषिताम् | 20 | 42 | d |
| मामकैरपि गोव्रजे | 8 | 10 | b | मुक्तकच्छशिखा: केचित् | 4 | 34 | c |
| मामैश्वर्यश्रीमदान्ध: | 27 | 16 | a | मुक्तस्तनेष्वपत्येष्वपि | 13 | 35 | c |
| मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति | 14 | 22 | d | मुक्तस्सर्वमदैरिह | 10 | 15 | b |
| मायात्वमेव प्रकटीकृतं ते | 14 | 16 | d | मुक्तं बकास्यादुपलभ्य बालका: | 11 | 52 | a |
| मायानारायणीशाना | 2 | 12 | c | मुक्त: कथञ्चिद्रक्षस्या | 11 | 23 | a |
| माया भगवती भुवि | 4 | 13 | b | मुक्त्वा शिक्यानि बुभुजु: | 13 | 7 | c |
| माया भवति नाऽन्यथा | 12 | 42 | d | मुखतोऽरिमपाटयत् | 26 | 8 | d |
| माया मनुजमीश्वरम् | 17 | 22 | d | मुखपङ्कजभूतय: | 5 | 10 | b |
| माया मनुष्यस्य वदस्व विद्वन् | 1 | 7 | d | मुखं लालयती राजन् | 7 | 35 | c |
| मायामयोऽयं गुणसम्प्रवाह: | 27 | 4 | c | मुखाद्वमन् रुधिरमपस्मृतोऽसुर: | 18 | 29 | b |
| माया मोहित चेतस: | 14 | 44 | b | मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रो: | 8 | 22 | d |
| मायाशये शयाना मे | 13 | 42 | c | मुग्धस्मिताल्पदशनं ययतु: प्रमोदम् | 8 | 23 | d |
| मायाश्रितानां नरदारकेण | 12 | 11 | c | मुच्यते स पुमान् भयात् | 16 | 53 | d |
| मायां वितत्येक्षितु मात्मवैभवं हि | 14 | 9 | c | मुञ्चत्स्वभ्रेष्वभीक्ष्णश: | 25 | 10 | b |
| मारुतेनाभिमर्शिता: | 16 | 5 | b | मुञ्चन् पर्यसरत्खल: | 15 | 30 | d |
| मार्गमन्वगमन् सर्वे | 19 | 4 | c | मुञ्जाटवीं निविविशु: | 19 | 2 | c |
| मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रिय: पते: | 3 | 50 | d | मुञ्जाटव्यां भ्रष्टमार्गम् | 19 | 5 | a |
| मार्गा बभूवुस्सन्दिग्धा: | 20 | 16 | a | मुदं लेभे कुरूद्वह | 6 | 44 | d |
| मार्गे गवामन्यपदान्तरान्तरे | 16 | 18 | c | मुदा द्विजेभ्योऽयुतमाप्लुतो गवाम् | 3 | 11 | d |
| मालानुरक्त परिधान विचित्रवेषौ | 21 | 9 | b | मुदावहा वीरणवत् दिवौकसाम् | 11 | 50 | d |
| मा विद्यान्मधुसूदन | 3 | 29 | b | मुदिता नन्दमानर्चु: | 26 | 24 | c |
| मा शोचतं महाभागौ | 4 | 18 | a | मुनये मौनशीलिने | 16 | 47 | d |
| मासं कात्यायिनी व्रतम् | 22 | 1 | d | मुनयो मुक्त कल्मषा: | 20 | 35 | d |
| मासि मासीह यो बलि: | 17 | 2 | b | मुनिभि र्नारदादिभि: | 2 | 25 | b |
| मास्यस्य चरणा वुदक् | 26 | 5 | b | मुनिर्व्युपरतागम: | 20 | 40 | d |
| मा हिंसी: कृपणान् वृथा | 4 | 12 | d | मुने कृष्णविचेष्टितम् | 1 | 12 | b |
| मां ज्ञापयत पत्नीभ्य: | 23 | 14 | a | मुमुचु र्मुनयो देवा: | 3 | 7 | a |
| मित्राणीवाजिता वास | 13 | 61 | c | मुमुचु: करुणा इव | 20 | 6 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| मुमुचु: पुष्पवर्षाणि | 15 | 39 | c |
| मुमोचाऽश्रुकणान् बहून् | 17 | 18 | d |
| मुष्टिकारिष्ट द्विविध | 2 | 1 | c |
| मुष्णन्तोऽन्योन्यशिक्यादीन् | 12 | 5 | a |
| मुष्णंश्चक्षूंषि रेणुभि: | 7 | 21 | b |
| मुहुर्लिहन्त्य: स्रवदौधसं पय: | 13 | 24 | d |
| मुहूर्तमभवद्गोष्ठं | 7 | 22 | a |
| मूढस्य त्वा मजानत: | 16 | 51 | d |
| मूढेनाऽकार्यवेदिना | 28 | 7 | b |
| मूर्तिमद्भिरुपासिता: | 13 | 54 | d |
| मूर्तिमद्भिश्चराचरै: | 13 | 52 | b |
| मूर्छितं भग्नशिरसम् | 16 | 54 | c |
| मूर्च्छिता वै कूरूद्वह | 15 | 49 | d |
| मूर्धन् विनिर्भिद्य विनिर्गतो बहि: | 12 | 31 | d |
| मूर्ध्न्युपाघ्राय परमाम् | 6 | 44 | c |
| मूलवल्कलदारुभि: | 22 | 37 | b |
| मूलं हि विष्णुर्देवानाम् | 4 | 39 | a |
| मृत्युपाशान्गृहाभिधान् | 23 | 41 | d |
| मृत्युर्जन्मवतां वीर | 1 | 38 | a |
| मृत्युर्बुद्धिमताऽपोह्य: | 1 | 48 | a |
| मुत्यु र्मे विहित: किल | 1 | 60 | d |
| मृत्युर्वा न म्रियेत चेत् | 1 | 49 | d |
| मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुव: | 1 | 38 | d |
| मृत्यो: पौगण्डके बाला: | 12 | 37 | c |
| मेघ गम्भीरया गिरा | 19 | 6 | b |
| मेघ गम्भीरया वाचा | 15 | 12 | a |
| मेघ गम्भीरया वाचा | 27 | 14 | c |
| मेघागमोत्सवाहृष्टा: | 20 | 20 | a |
| मेघानाञ्चान्त कारिणाम् | 25 | 2 | b |
| मेघा निर्मुक्त बन्धना: | 25 | 8 | b |
| मेघा स्तस्याऽऽत्ममूर्तय: | 24 | 8 | b |
| मेनिरे देवप्रवरौ | 20 | 2 | c |
| मैवं पुनर्भून्मतिरीश मेऽसती | 27 | 8 | d |
| मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसम् | 23 | 29 | a |
| मोक्षेप्सव: शरणदं शरणं प्रपन्ना: | 16 | 32 | d |
| मोचयामास निगलात् | 4 | 24 | a |
| मोचये कृपणा मिमाम् | 1 | 49 | b |
| मोहितैस्स्वपुरद्वारस्थै: | 13 | 40 | c |
| मोहितौ मम मायया | 3 | 39 | d |
| मौग्ध्यलज्जोरुमन्युना | 13 | 32 | b |
| म्रियन्ते तीरगा यस्य | 16 | 5 | c |

## य

| | अध्याय | श्लोक | पाद० |
|---|---|---|---|
| य आत्मनो दृश्यगुणेषु | 3 | 18 | a |
| य इन्द्रयागसम्भारा: | 24 | 25 | c |
| य एतत्पूतनामोक्षम् | 6 | 45 | a |
| य एतत्संस्मरेन्मर्त्य: | 16 | 61 | c |
| य एतस्मिन्महाभागा: | 8 | 18 | a |
| य एतस्मिन् महाभागे | 26 | 21 | a |
| य एवं विसृजेद्धर्मम् | 24 | 11 | a |
| यक्षरक्षोविनायका: | 6 | 28 | d |
| यच्छन्तौ बालचेष्टितै: | 11 | 36 | b |
| यच्छन् प्रियतमं किञ्चित् | 6 | 37 | c |
| यच्छृण्वतोऽपैत्यरति: | 7 | 2 | a |
| यच्छ्रद्धयाऽनुतिष्ठन्वै | 16 | 53 | c |
| यच्छ्रीमदान्धयोर्वाग्भि: | 10 | 40 | c |
| यजन्ते क्रतुभिर्नरा: | 24 | 9 | d |
| यज्जाता नैष्ठिकी रति: | 1 | 15 | d |
| यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिन् | 14 | 53 | c |
| यज्जीवितं तु निखिलं | 14 | 34 | c |
| यज्ञवाटं पुनर्गता: | 23 | 33 | b |
| यज्ञोऽच्युत: कटितटं | 6 | 23 | b |
| यत आत्मविपर्यय: | 4 | 20 | b |
| यतस्ते भयमुत्थितम् | 1 | 54 | d |
| यतो भवांस्तुष्यति सर्वजीव: | 16 | 35 | d |
| यतो यतो धावति दैवचोदितम् | 1 | 42 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यत्कौमारे हरिकृतम् | 12 | 41 | c | यथा नाऽविदुषो भवेत् | 24 | 6 | d |
| यत्कौमारे हरिकृतम् | 14 | 59 | c | यथा पापेन पाषण्डा: | 20 | 8 | c |
| यत्तज्ज्ञानमतीन्द्रियम् | 8 | 5 | b | यथा पूर्वसखं स्वकम् | 14 | 42 | d |
| यत्तद्विगर्हितं कर्म | 10 | 1 | c | यथा प्राणै: स्रवज्ज्ञानम् | 20 | 41 | c |
| यत्ता आत्तशरासना: | 11 | 30 | d | यथा भक्तिमतामिह | 9 | 21 | d |
| यत्तृप्तयेऽद्यापि न चाऽलमध्वरा: | 14 | 31 | d | यथाऽऽमयोऽङ्गे समुपेक्षित: | 4 | 38 | a |
| यत्पादपांसुर्बहुजन्म | 12 | 12 | a | यथा यदुपति: कृष्ण: | 20 | 44 | c |
| यत्पिबामो मुहुस्त्वत्त: | 12 | 43 | c | यथा यान्त्यपयान्ति च | 4 | 19 | b |
| यत्पृष्टोहमिह त्वया | 14 | 59 | b | यथाऽऽयुरन्वहं क्षीपम् | 20 | 37 | c |
| यत्र क्वचित्पूर्वशत्रु: | 4 | 12 | c | यथार्थतन्त्रो न विहन्ति विक्रमम् | 2 | 21 | b |
| यत्र धर्मस्सनातन: | 4 | 39 | b | यथावकाशं पुरुष: पुरो भवान् | 3 | 31 | b |
| यत्र निर्झरनिर्ह्राद | 18 | 4 | a | यथावकाशं सधना: | 25 | 22 | c |
| यत्र नैसर्गदुर्वैरा: | 13 | 16 | a | यथा वदसि देहिनाम् | 4 | 26 | b |
| यत्र स्त्रीद्यूतमासवम् | 10 | 8 | d | यथा विधाय गोपाला: | 24 | 38 | c |
| यत्राऽक्रूरोऽध्यगात्पुरा | 28 | 61 | d | यथाऽऽशिषो विश्पतय: | 20 | 24 | c |
| यत्राऽऽस्तां यमलार्जुनौ | 10 | 24 | d | यथा समीयु: परिरम्भणादिभि: | 25 | 29 | b |
| यत्राऽऽस्ते भगवान् साक्षात् | 18 | 3 | c | यथाऽऽसीद्विप्र कथ्यताम् | 16 | 2 | d |
| यत्राऽऽस्से त्वं सुहृद्वृत: | 5 | 25 | d | यथाऽहम्ममतां धीरा: | 20 | 39 | c |
| यत्सम्परेत: पुनरेव बालक: | 7 | 32 | c | यथा हरिनिषेवया | 20 | 13 | d |
| यत्सम्पर्कात्प्रिया आसन् | 23 | 27 | c | यथा हरिं मृत्युभयार्दिता जना: | 24 | 32 | b |
| यथा कण्टकविद्धाङ्घ्रि: | 10 | 14 | a | यथाऽहं मधुसूदन: | 24 | 32 | b |
| यथा कामानुसेवया | 20 | 21 | d | यथेन्द्रियग्राम उपेक्षितस्तथा | 4 | 38 | c |
| यथाकालं यथाकामम् | 15 | 44 | c | यथेमेऽविकृता भावा: | 1 | 15 | a |
| यथा कृष्णे तु पूर्ववत् | 13 | 26 | d | यथैव काम्यतपस: | 20 | 7 | c |
| यथा ज्ञानामृतं काले | 20 | 36 | c | यथैवैकेन गच्छति | 1 | 40 | b |
| यथाऽच्युतजनागमे | 20 | 20 | d | यथोचितमपूजयत् | 5 | 15 | f |
| यथा तृणजलूकैवम् | 1 | 40 | c | यथोपजोषं विशत | 25 | 20 | c |
| यथात्यक्तैषणा: शान्ता: | 20 | 35 | c | यथोरगं सुप्तमबुद्धि रज्जुधी: | 6 | 9 | d |
| यथा दरिद्र: कृपण: | 20 | 38 | c | यदर्थवाणी श्रुति चेतसामपि | 13 | 2 | b |
| यथा दस्यून्विना नृप | 20 | 47 | d | यदाऽनेवंविदो भेद: | 4 | 20 | a |
| यथा दृढै: कर्ममयै: | 25 | 4 | a | यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्य | 3 | 47 | c |
| यथा देह: प्रियतम: | 14 | 52 | c | यदाश्रयं येन यत: प्रतीयते | 8 | 41 | c |
| यथाऽधोक्षजचेतस: | 20 | 15 | d | यदाऽऽसीत्तदपि न्यूनम् | 9 | 16 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यदि दूरं गत: कृष्ण: | 12 | 6 | a | यद्यच्छिरो न नमतेऽङ्ग शतैकशीर्ष्णि | 16 | 28 | a |
| यदि मत्स्यान् स खादति | 17 | 11 | b | यद्यत्समुन्नमति नि:श्वसतो रुषोच्चै: | 16 | 29 | b |
| यदिमौ धनदात्मजौ | 10 | 25 | b | यद्यदादत्त बन्धनम् | 9 | 16 | d |
| यदिमौ लोकपालस्य | 10 | 20 | a | यद्यसौ न निवर्तेत | 1 | 48 | c |
| यदि सत्यगिरस्तर्हि | 8 | 35 | c | यद्यूयं व्रतकर्शिता: | 22 | 10 | d |
| यदुक्तं योगमायया | 4 | 29 | d | यद्येवं तर्हि व्यदेहीति | 8 | 36 | a |
| यदुद्दिश्य व्रतमिदम् | 22 | 30 | c | यद्रामकृष्णचरणस्पर्श प्रमोद: | 21 | 19 | b |
| यदुद्विग्न: प्रतीक्षते | 4 | 2 | d | यद्रूपमनिदं यथा | 2 | 42 | b |
| यदुपतिरवगाह्य चारयन्गा: | 21 | 2 | c | यद्वयं गुरवो नृणाम् | 23 | 40 | c |
| यदुपुर्यां सहाऽऽवात्सीत् | 1 | 11 | c | यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽऽचरत्तप: | 16 | 36 | c |
| यदुभिस्स व्यरुध्यत | 1 | 68 | d | यद्विश्वेश्वरयोर्याच्ञाम् | 23 | 37 | c |
| यदुभोजान्धकाधिपम् | 1 | 69 | b | यद्विस्रम्भादहं पाप: | 4 | 17 | c |
| यदूनामपृथग्भावात् | 8 | 12 | e | यद्वै त्वाऽऽहाऽशरीरवाक् | 1 | 54 | b |
| यदूनामहमाचार्य: | 8 | 7 | a | यन्नम्रियेत द्रुमयो: | 11 | 25 | a |
| यदूनां कदनं चक्रे | 2 | 2 | c | यन्नस्त्वत्पाददर्शनम् | 28 | 8 | b |
| यदूनां निजनाथानाम् | 2 | 6 | c | यन्नूतनयतीशस्य | 13 | 1 | c |
| यदूनां पतये नम: | 10 | 36 | d | यन्नो दिदृक्षयाऽभ्येता | 23 | 25 | c |
| यदूनां सुमहातपा: | 8 | 1 | b | यन्माययेत्थं कुमति: स मे गति: | 8 | 42 | d |
| यदून्मत्वा सुरानिति | 1 | 65 | b | यन्मायामोहितधिय: | 23 | 49 | c |
| यदृच्छया च देवर्षि: | 10 | 5 | a | यन्मित्रं परमानन्दम् | 14 | 32 | c |
| यदृच्छया नन्दगृहेऽसदन्तकम् | 6 | 7 | b | यन्मोहितं जगत्सर्वम् | 14 | 44 | c |
| यदृच्छयाऽभूत्क्षयकृद्वनौकसाम् | 19 | 7 | b | यमनन्तं प्रचक्षते | 2 | 5 | b |
| यदृच्छया स्याद्विभवस्समक्ष: | 16 | 38 | d | यमाहाऽऽनकदुन्दुभि: | 6 | 33 | d |
| यदृषीणां विहिंसनम् | 4 | 42 | f | यमुना निर्विषाऽभवत् | 16 | 67 | d |
| यदोश्च धर्मशीलस्य | 1 | 2 | a | यमुना पुलिनानि च | 11 | 35 | b |
| यद्गीतं तन्महात्मना | 10 | 25 | d | यमुनोपवनेऽशोक | 23 | 21 | a |
| यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् | 14 | 34 | b | ययाऽऽशो दुस्तरं तरेत् | 8 | 49 | d |
| यद्दन्दशूकत्वममुष्यदेहिन: | 16 | 34 | c | ययावानकदुन्दुभि: | 1 | 61 | d |
| यद्देवकीसुतपदाम्बुज लब्धलक्ष्मि | 21 | 11 | b | यया सम्मोहितं जगत् | 1 | 25 | c |
| यद्धर्मार्थसुहृत्प्रियात्म | | | | ययुर्भगवताऽऽहूता: | 20 | 26 | c |
| तनयप्राणार्शयास्त्वत्कृते | 14 | 35 | d | ययुस्सह पुरोहिता: | 11 | 31 | d |
| यद्धि पश्यन्ति मुनय: | 28 | 15 | c | ययू रूढपरिच्छदा: | 11 | 29 | d |
| यद्भयात्स सुपर्णस्त्वाम् | 16 | 63 | c | ययौ तदवमोचनम् | 5 | 19 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| ययौ राममृते राजन् | 15 | 47 | c |
| ययौ सर्वफलप्रद: | 11 | 7 | d |
| यर्ह्यङ्गना दर्शनीय कुमारलीलौ | 8 | 24 | a |
| यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षम् | 3 | 1 | c |
| यल्लोकशमलापहम् | 8 | 47 | d |
| यवसञ्च गवां दत्वा | 24 | 28 | c |
| यश: श्रियं हन्त्यनुकूलमायु: | 2 | 21 | d |
| यशोदा गृहशङ्किता | 7 | 11 | b |
| यशोदा च महाभागा | 8 | 46 | c |
| यशोदा च महाभागा | 17 | 18 | a |
| यशोदाऽजोहवीत् कृष्णम् | 11 | 13 | c |
| यशोदा नन्दगेहिनी | 9 | 1 | b |
| यशोदा नन्दपत्नी च | 3 | 53 | a |
| यशोदा नन्दसूनुना | 14 | 48 | b |
| यशोदा प्रेषयामास | 11 | 12 | e |
| यशोदा भयसम्भ्रान्त | 8 | 33 | c |
| यशोदायास्सुतोद्भवम् | 5 | 9 | b |
| यशोदा रोहिणी नन्द: | 17 | 15 | a |
| यशोदा रोहिणी नन्द: | 25 | 30 | a |
| यशोदा रोहिणीभ्यां ता: | 6 | 20 | a |
| यशोदा सन्दधत्यपि | 9 | 17 | b |
| यशोदा सा धराऽभवत् | 8 | 50 | d |
| यस्मिन्निमग्नमनसस्तमथाक्षिरन्ध्रै: | 23 | 23 | b |
| यस्य कुक्षाविदं सर्वम् | 14 | 17 | a |
| यस्य भासा सर्वमिदम् | 13 | 56 | c |
| यस्य वाञ्छाम्यनुग्रहम् | 27 | 16 | d |
| यस्यावतारा ज्ञायन्ते | 10 | 34 | a |
| यस्येदं सेश्वरं वशे | 9 | 19 | d |
| यस्त्वन्यमुपजीवति | 24 | 19 | b |
| यस्सप्तहायनो बाल: | 26 | 3 | a |
| यं तं प्राप विमुक्तिदात् | 9 | 20 | d |
| य: कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोग: | 8 | 40 | d |
| याचताऽस्मद्विसर्जिता: | 23 | 4 | b |
| याचितस्तां विनिर्भर्त्स्य | 4 | 7 | c |
| याताबला: व्रजं सिद्धा: | 22 | 30 | a |
| यातुधानश्च तत्र हि | 6 | 3 | d |
| यातुधान्यपि सास्वर्गम् | 6 | 39 | a |
| या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम् | 21 | 12 | b |
| यानि यानीह गीतानि | 9 | 2 | a |
| याने दुहितृवत्सल: | 1 | 32 | d |
| या बृन्दावनचारिण: | 20 | 21 | b |
| या योगमायाऽजनि नन्दमायया | 3 | 47 | d |
| यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवय: | 13 | 19 | c |
| यावत् कृष्ण न ते जना: | 14 | 36 | d |
| यावदात्मनिदर्शनम् | 1 | 52 | b |
| यावदौत्पातिकोऽरिष्ट: | 11 | 26 | a |
| यावद्धतोऽस्मि हन्ताऽस्मीति | 1 | 48 | b |
| यावद्बुद्धि बलोदयम् | 4 | 22 | a |
| यावद्यष्टिविषाणवेणु | 13 | 19 | b |
| यावद्वत्सपवत्सकाल्पक वपु: | 13 | 19 | a |
| यावन्तो गोकुले बाल: | 13 | 42 | a |
| याश्चामीषाञ्च योषित: | 1 | 62 | b |
| यासां येन विनाऽभवत् | 19 | 16 | b |
| यासां विभो वत्सतरात्मजात्मना | 14 | 31 | c |
| यास्यामोऽन्यत्र सानुगा: | 11 | 26 | d |
| यास्येथे मद्गतिं पराम् | 3 | 45 | d |
| युक्तैर्व: स्तम्भवर्जितै: | 27 | 17 | d |
| युयुधाते परस्परम् | 11 | 39 | b |
| युवयो: कामदित्सया | 3 | 38 | b |
| युवां प्राप्तमनोरथौ | 3 | 40 | d |
| युवां मां पुत्रभावेन | 3 | 45 | a |
| युवां वै ब्रह्मणाऽऽदिष्टौ | 3 | 33 | a |
| युष्माभिर्गृहमेधिन: | 23 | 28 | d |
| यूथीकृत्य स्ववत्सकान् | 12 | 3 | b |
| यूयमञ्जस्तरिष्यथ | 8 | 16 | d |
| यूयमञ्जस्तरिष्यथ | 26 | 19 | d |
| यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता: | 22 | 19 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ये च कंसमनुव्रता: | 1 | 63 | d | रजसा चोदिता मेघा: | 24 | 23 | a |
| ये चक्रुर्देवहेलनम् | 25 | 3 | d | रजसा तमसाऽऽवृतम् | 7 | 22 | b |
| ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम् | 14 | 24 | d | रजसोत्पद्यते विश्वम् | 24 | 22 | c |
| येन येनाऽवतारेण | 7 | 1 | a | रजस्सत्त्वतमोमयी | 10 | 31 | b |
| येन वा देवऋषेस्तम: | 10 | 1 | d | रज्ज्वाकर्षश्रमभुज | 9 | 3 | c |
| येनाऽहमेकोऽपि भवज्जनानाम् | 14 | 30 | c | रज्ज्वामहेर्भोगिभवाभवौ | 14 | 25 | d |
| येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमलमानिन: | 2 | 32 | a | रत्नाभरणभूषिता | 4 | 10 | b |
| येऽन्ये विद्योपजीविन: | 5 | 15 | d | रथानाञ्च त्रिषट् शतम् | 1 | 31 | d |
| ये प्रायशोऽजितजितोऽ प्यसितैस्त्रिलोक्याम्- | 14 | 3 | d | रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया | 21 | 5 | c |
| ये मद्विधाज्ञा जगदीशमानिन: | 27 | 7 | a | रमयन् रूपवाक्कृतै: | 23 | 36 | d |
| येऽसूयाऽनृतदम्भेर्ष्या | 7 | 13 | a | रमयन् सुहृदो गुणै: | 8 | 12 | b |
| यैस्तै र्निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम् | 21 | 8 | d | रमाक्रीडमभून्नृप | 5 | 17 | d |
| योगमायानुभावितम् | 19 | 14 | b | रराज भूरसतालाग्रै: | 15 | 38 | c |
| यागमायां समादिशत् | 2 | 6 | d | रराजोडुगणैश्शशी | 20 | 44 | b |
| योगाधीशो व्यमोचयत् | 19 | 12 | d | रश्मीन् हयानां जगृहे | 1 | 30 | c |
| योगिनामपि मोहिनी | 23 | 40 | b | असद्भिरसदाश्रयै: | 10 | 18 | f |
| योगीशो वा समाऽऽस स: | 6 | 33 | b | रसनां प्रति गर्जति | 12 | 22 | b |
| योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम् | 14 | 21 | b | रसा दिशश्च प्रतिनेदिरे | 6 | 13 | c |
| योनिबीजाशयाकृति | 16 | 57 | d | रहोजुषा किं हरिणा | 4 | 36 | c |
| योऽभूतपूर्वस्तोकेषु | 14 | 49 | c | राक्षसी रुधिराशना | 6 | 36 | b |
| योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो | 3 | 26 | a | राजधानी ततस्साऽभूत् | 1 | 28 | a |
| यो वेद न स मुह्यति | 5 | 29 | d | राजन्नजगरं चर्म | 12 | 36 | a |
| योऽस्मिन् स्नात्वा मदाक्रीडे | 16 | 62 | a | राजन्य विप्र विबुधेषु | 2 | 40 | b |
| **र** | | | | राजन्यसंज्ञाऽसुरकोटि | 3 | 21 | c |
| रक्तं मुखैरुरुवमन् | 16 | 30 | b | राजन्यो रक्षया भुव: | 24 | 20 | b |
| रक्तास्तन्मातरो यथा | 6 | 37 | d | राजन् सगोष्ठं सबल: | 25 | 33 | b |
| रक्षाञ्चक्रु: गोशकृता | 6 | 21 | c | राजन् सञ्जातवेपथु: | 7 | 37 | b |
| रक्षां विदधिरे सम्यक् | 6 | 20 | c | राजान: प्रायशो भुवि | 1 | 67 | d |
| रक्षित्वा वत्सपालकान् | 13 | 4 | b | राज्ञाञ्चोभयवंश्यानां | 1 | 1 | c |
| रक्षोघ्नानि स्वकर्मसु | 6 | 3 | b | राज्ञा तु निर्भया लोका | 20 | 47 | c |
| रक्षो विदित्वाऽखिल | 12 | 25 | c | राज्ञे दृष्टा वयञ्च ते | 5 | 30 | b |
| रङ्गमाणौ विजह्रतु: | 8 | 21 | d | रामकृष्णादयो गोपा: | 18 | 9 | c |
| रङ्गे यथानटवरौ क्व च | 21 | 9 | d | रामकृष्णौ व्रजं गतौ | 20 | 2 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| रामकेशवयोर्व्रजे | 20 | 32 | b |
| रामकेशवयोस्सखा | 15 | 20 | b |
| राममाधवयोर्नृप | 11 | 35 | d |
| राम राम महाबाहो | 23 | 1 | a |
| राम राम महासत्व | 15 | 21 | a |
| रामश्च नृप लीलया | 15 | 37 | b |
| रामश्च बलिनां वर: | 25 | 30 | b |
| रामश्चाऽच्युतमालिङ्ग्य | 17 | 16 | a |
| रामसङ्घट्टिनो यर्हि | 18 | 23 | a |
| रामस्सङ्कर्षणस्त्वया | 1 | 8 | b |
| राम: कृष्णश्च गोव्रजे | 8 | 26 | b |
| राम: कृष्णानुभाववित् | 16 | 22 | d |
| रामाच्युतौ वो लषत: | 23 | 7 | b |
| रामादय: प्राणमिवेन्द्रियो गण: | 11 | 52 | b |
| रामाद्या गोपदारका: | 8 | 32 | b |
| रामेण सह केशव: | 18 | 3 | d |
| रामेति लोकरमणात् | 2 | 13 | c |
| रिपुर्महान् बद्धबल: | 4 | 38 | d |
| रिपोस्सुतानामपि तुल्यदृष्टि: | 16 | 33 | c |
| रुदत: प्रपदाहतम् | 26 | 5 | d |
| रुदताऽनेन पादेन | 7 | 9 | c |
| रुदत्या दीनदीनवत् | 4 | 7 | b |
| रुदन्तं सुतमादाय | 7 | 11 | a |
| रुदन्ती करुणं विभो: | 1 | 18 | b |
| रुदन्त्य इव तस्थिरे | 16 | 11 | d |
| रुदन् स्तानार्थीचरणै: | 7 | 6 | d |
| रुदितमनुनिशम्य | 7 | 25 | a |
| रुद्रस्यानुचरौ भूत्वा | 10 | 2 | a |
| रुरुदुरनुपलभ्य | 7 | 25 | c |
| रुषाऽहनच्छिरसि दृढेन | 18 | 28 | c |
| रूपञ्चेदं पौरुषं ध्यान | 3 | 28 | c |
| रूपन्ते ब्रह्मणो विदु: | 10 | 29 | d |
| रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्त | 3 | 24 | a |
| रूपाणि च सुतस्य ते | 8 | 15 | b |
| रूपाणि च सुतस्य ते | 26 | 18 | b |
| रूपी नोऽनुग्रहं व्यधात् | 24 | 36 | d |
| रेजतु: कृष्णरामाभ्याम् | 11 | 33 | c |
| रेमे गोगोपगोपीनाम् | 23 | 36 | c |
| रेमे रमालालितपादपल्लव: | 15 | 19 | c |
| रेमे सञ्चारयन्नद्रे: | 15 | 9 | c |
| रोहिणी च महाभागा | 5 | 16 | c |
| रोहिणी पुत्रवत्सलाम् | 11 | 12 | f |
| रोहिणी वसुदेवस्य | 2 | 7 | c |
| रोहिणीं योगनिद्रया | 2 | 15 | b |
| रोहिण्यास्तनय: प्रोक्त: | 1 | 8 | a |
| रौक्मै रथशतैर्वृत: | 1 | 30 | d |

## ल

| | | | |
|---|---|---|---|
| लक्ष्मश्रिये मृदुपदे | 14 | 1 | d |
| लक्ष्यं पतनकारणम् | 11 | 2 | d |
| लब्धकामा: कुमारिका: | 22 | 31 | b |
| लब्धप्राणा इवाऽसव: | 17 | 14 | b |
| लब्ध्वा दिव्यशरच्छते | 10 | 22 | b |
| लब्ध्वा पुन: प्रापुरतीव | 7 | 30 | f |
| लब्ध्वा भक्तौ भविष्यत: | 10 | 22 | d |
| लालयन्ती सुतं सती | 7 | 18 | b |
| लिम्पन्त्य आननकुचेषु | 21 | 18 | d |
| लिहन्त्य: स्वौधसंपय: | 13 | 31 | d |
| लेभिरे परमां मुदम् | 17 | 16 | f |
| लोकपालमहोदयम् | 28 | 10 | b |
| लोकपाल: सपर्यया | 28 | 4 | b |
| लोकबन्धषु मेघेषु | 20 | 17 | a |
| लोकसृष्टि विकल्पना | 28 | 6 | d |
| लोकानाशिष एव च | 4 | 46 | b |
| लोकानां यदसद्ग्रह: | 16 | 56 | d |
| लोकान् सर्वान् निर्भयं | 3 | 27 | b |
| लोकाश्च वो मयोपेता: | 23 | 31 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| लोका: परां निर्वृति माप्नुवं स्त्रय: | 27 | 25 | c |
| लोकेश मानिनां मौढ्यात् | 25 | 16 | c |
| लोचनानीत्यभाषत | 19 | 11 | d |
| लोभमोहमदान्विता: | 4 | 27 | b |
| लोभादयो येऽबुधलिङ्गभावा: | 27 | 5 | b |
| **व** | | | |
| वक्तारं पृच्छकं श्रोतॄन् | 1 | 16 | c |
| वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ | 1 | 12 | c |
| वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं | 21 | 8 | c |
| वक्त्रान्मुकुन्दो भगवान् विनिर्ययौ | 12 | 32 | d |
| वचो निशम्य कृपणम् | 19 | 11 | a |
| वचो निशम्य नन्दस्य | 24 | 12 | a |
| वज्राहतो वृत्र इवाऽपतन्नृप | 6 | 14 | d |
| वणिग्यतिनृपस्नाता: | 20 | 49 | a |
| वत्सपालमिषेण स: | 13 | 27 | b |
| वत्सपालौ बभूवतु: | 11 | 36 | d |
| वत्सयूथगतं हरि: | 11 | 41 | b |
| वत्सवत्योऽप्यपाययन् | 13 | 31 | b |
| वत्सानारुध्य शाद्वले | 13 | 7 | b |
| वत्सान् गृणन्ननुगगीत पवित्रकीर्ति: | 14 | 47 | c |
| वत्सान् पालांश्च विश्वदृक् | 13 | 17 | b |
| वत्सान् पुरस्कृत्य विनिर्ययुर्मुदा | 12 | 2 | d |
| वत्सान्पुलिनमानिन्ये | 14 | 42 | c |
| वत्सान् मुञ्चन् क्वचिदसमये क्रोशसञ्जातहास: | 8 | 29 | a |
| वत्सान् सखीनिव पुरा परितो विचिन्वत् | 13 | 62 | c |
| वत्सान् सवयसानपि | 13 | 38 | b |
| वत्सास्त्वन्तर्वने दूरम् | 13 | 12 | c |
| वत्सास्समीपेऽप: पीत्वा | 13 | 6 | c |
| वत्सांश्चारयतो: स्वकै: | 11 | 40 | b |
| वत्सेषु वत्सरूपेण | 26 | 9 | a |
| वत्सैरितस्तत उभावनुकृष्यमाणौ | 8 | 24 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| वदनो विमुमोच ह | 11 | 6 | d |
| वदन्ति तावका ह्येते | 8 | 34 | c |
| वदन्तो व्रजमाययु: | 6 | 42 | d |
| वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात् | 3 | 19 | b |
| वधं तस्य विचिन्तयन् | 18 | 18 | d |
| वनराजीर्मधुच्युत: | 20 | 27 | b |
| वनशैलनिवासिन: | 24 | 24 | d |
| वनशोभेक्षणाय तम् | 12 | 6 | b |
| वनं कुसुमितं श्रीमत् | 18 | 7 | a |
| वनं तालालिसङ्कुलम् | 15 | 21 | d |
| वनं बृन्दावनं नाम | 11 | 27 | a |
| वने सञ्चारयन् वत्सान् | 26 | 8 | a |
| वनौकस: प्रमुदिता: | 20 | 27 | a |
| वन्द्याभ्यां लोकवन्दितै: | 6 | 38 | b |
| वन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम् | 15 | 42 | b |
| वन्यस्रजे कमलवेत्र विषाणवेणु | 14 | 1 | c |
| वयञ्च तत्र भगवान् | 16 | 58 | a |
| वयस्यैरावृतस्तत्र | 22 | 8 | c |
| वयस्यैर्व्रजबालकै: | 8 | 27 | b |
| वयस्यै: कृष्णबलयो: | 11 | 40 | c |
| वयं खलास्सहोत्पत्त्या | 16 | 56 | a |
| वयं गोवृत्तयोऽनिशम् | 24 | 21 | d |
| वयं धन्यतमा लोके | 12 | 43 | a |
| वयं हि सर्वधर्मज्ञ | 19 | 10 | c |
| वरवध्वोस्सुमङ्गलम् | 1 | 33 | d |
| वरस्त्रियं तत्प्रभया च धर्षिते | 6 | 10 | c |
| वरं मत्सदृशं सुतम् | 3 | 40 | b |
| वरुणस्याऽसुरोऽन्तिकम् | 28 | 2 | b |
| वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे | 21 | 7 | d |
| वर्णयन्त्यो मिथो गोप्य: | 20 | 21 | c |
| वर्णास्त्रय: किलास्याऽऽसन् | 26 | 16 | a |
| वर्तमान: पुनर्भव: | 5 | 23 | b |
| वर्तेत ब्रह्मणा विप्र: | 24 | 20 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वर्तेत योऽत्यन्तनृशंसितेन | 2 | 22 | b | वाञ्छाऽस्ति महती राम | 15 | 26 | a |
| वर्षन्त्यम्बूनि सर्वत: | 24 | 23 | b | वाणीगुणानुकथने श्रवणं कथायाम् | 10 | 38 | a |
| वर्षरुद्धा यथा सिद्धा: | 20 | 49 | c | वातवर्षञ्च दारुणम् | 25 | 25 | b |
| वर्षवातातपहिम | 3 | 34 | a | वातवर्षभयेनाऽलम् | 25 | 21 | c |
| वल्गतो युध्यतो मिथ: | 15 | 15 | b | वातवर्षातपहिमान् | 22 | 35 | c |
| वल्गुस्मितापाङ्गविसर्गवीक्षितै: | 6 | 6 | a | वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् | 14 | 11 | d |
| ववर्ष पर्जन्य उपांशु गर्जित: | 3 | 49 | c | वातेन जुष्टं शतपत्रगन्धिना | 15 | 3 | c |
| ववर्षु: पुष्पसन्ततिम् | 11 | 43 | f | वात्या रूपधरो हरन् | 7 | 26 | b |
| ववृषुर्जलशर्करा: | 25 | 9 | d | वादित्रगीतद्विजमन्त्रवाचकै: | 7 | 4 | c |
| ववौ वायु: सुखस्पर्श: | 3 | 4 | a | वादित्राणि महोत्सवे | 5 | 13 | b |
| वसन्त इव लक्षित: | 18 | 3 | b | वानस्पत्यो महाबाहो | 17 | 2 | c |
| वसुदेव उपश्रुत्य | 5 | 19 | a | वामनत्वाच्च वामन: | 3 | 42 | d |
| वसुदेव प्रचोदित: | 8 | 1 | d | वामे पाणौ मसृणकबलं | | | |
| वसुदेववचो भूय: | 7 | 33 | c | तत्फलान्यङ्गुलीषु | 13 | 11 | b |
| वसुदेवसुताय च | 16 | 45 | b | वारुणीं मदिरां पीत्वा | 10 | 3 | a |
| वसुदेव: कृतोद्वह: | 1 | 29 | b | वारुण्या श्रीमदान्धयो: | 10 | 19 | b |
| वसुदेवोऽथ दारिकाम् | 3 | 52 | b | वार्घोषमङ्ग वरवारणविक्रमस्य | 16 | 8 | b |
| वसुदेवोऽपि तं प्रीत: | 1 | 55 | c | वार्ता चतुर्विधा तत्र | 24 | 21 | c |
| वसुदेवो महाभाग: | 1 | 36 | c | वार्मुचां पतिमीश्वरम् | 24 | 9 | b |
| वस्तुतो जानतामत्र | 14 | 56 | a | वास: स्रग्रुक्ममालिनी: | 7 | 16 | b |
| वस्त्रकाञ्चनमालिन: | 5 | 7 | d | वासांसि कृष्णं गायन्त्य: | 22 | 7 | c |
| वस्त्राऽऽकल्पाञ्जनादिभि: | 5 | 9 | d | वासांसि ताभ्य: प्रायच्छत् | 22 | 24 | c |
| वस्त्राणि चैवाऽपहृतान्यथाऽप्यमुं | 22 | 25 | c | वासांसि पर्यधुश्शीघ्रम् | 10 | 6 | c |
| वहन्ति च पराजिता: | 18 | 21 | d | वासुदेव इति श्रीमान् | 8 | 14 | c |
| वहन्तो वाह्यमानाश्च | 18 | 22 | a | वासुदेव इति श्रीमान् | 26 | 17 | c |
| वहन् द्रुततरं प्रागात् | 18 | 25 | c | वासुदेवकथाप्रश्न: | 1 | 16 | a |
| वाक्यञ्चाहेशमान्युत | 25 | 2 | d | वासुदेवकथायां ते | 1 | 15 | c |
| वाचयित्वा स्वस्त्ययनम् | 5 | 2 | a | वासुदेवकलानन्त: | 1 | 24 | a |
| वाचयित्वा स्वस्त्ययनम् | 7 | 15 | a | वासुदेवगृहे साक्षात् | 1 | 23 | a |
| वाचयित्वा स्वस्त्ययनम् | 24 | 32 | c | वासुदेवप्रचोदिता: | 24 | 38 | b |
| वाच्यवाचकशक्तये | 16 | 43 | d | वासुदेवस्य सान्निध्यम् | 10 | 22 | a |
| वाचालं बालिशं स्तब्धम् | 25 | 5 | a | वासुदेवाय कृष्णाय | 27 | 10 | c |
| वाञ्छन्ति यत्पादरज: प्रपन्ना: | 16 | 37 | d | वासुदेवाय वेधसे | 10 | 33 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वासुदेवाय शान्ताय | 10 | 36 | c | विदुष: कर्मसिद्धि: स्यात् | 24 | 6 | c |
| वासुदेवेऽखिलात्मनि | 13 | 36 | b | विदुषां किमपेक्षितम् | 1 | 58 | b |
| वासोऽलङ्कारगोघनम् | 5 | 15 | b | विदु: पौगण्डकेऽर्भका: | 12 | 41 | d |
| वासो वसित्वा रुचिरम् | 15 | 45 | c | विदेहान् कोसलानपि | 2 | 3 | d |
| वाह्यवाहकलक्षणा: | 18 | 21 | b | विद्यन्तेऽभुक्तपूर्वाणि | 15 | 24 | e |
| विकर्षता मध्यमेन | 11 | 4 | c | विद्याधर्यश्च ननृतु: | 3 | 6 | c |
| विकर्षन्त: कीशबालान् | 12 | 9 | a | विद्यामान्वीक्षिकीं हित्वा | 25 | 4 | c |
| विकारै: प्राकृतैर्गुणै: | 10 | 32 | b | विद्युतश्चलसौहृदा: | 20 | 17 | b |
| विकुर्वन्तश्चतैस्साकम् | 12 | 9 | c | विद्योतमानपरिधि: | 20 | 3 | c |
| विक्षिप्तमनसोनृप | 21 | 4 | d | विद्योतमाना विद्युद्भि: | 25 | 9 | a |
| विगताध्वश्रमौ तत्र | 15 | 45 | a | विधीयतामाशु तथैव मा चिरम् | 1 | 21 | d |
| विचङ्क्रमतुरञ्जसा | 8 | 26 | d | विधेहि ते किङ्करीणाम् | 16 | 53 | a |
| विचरन्तं वृतं गोपै: | 23 | 21 | c | विध्वस्तनानारसकुप्य भाजनम् | 7 | 7 | c |
| विचार्यमाणे तरणाविवाहनि | 14 | 26 | d | विनानुवादं न च तन्मनीषितम् | 3 | 18 | c |
| विचिकाय समन्तत: | 13 | 16 | d | विना प्राणै: विचेतस: | 11 | 48 | d |
| विचित्रधातुबर्हस्रक् | 5 | 7 | c | विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो | 2 | 33 | d |
| विचिन्त्यानकदुन्दुभि: | 1 | 47 | b | विना रामेण गा: कृष्णम् | 16 | 13 | c |
| विचिन्वन्तो गवां गतिम् | 19 | 3 | d | विना विनोदं बत तर्कयामहे | 2 | 39 | b |
| विचिन्वन् भगवान् कृष्ण: | 13 | 14 | c | विनिर्गतोऽजास्विति वाङ्ग वै मृषा | 14 | 13 | c |
| विच्छायाभि: प्रधावन्त: | 12 | 8 | a | विनिर्गतो वत्सपुरस्सरो हरि: | 12 | 1 | d |
| विजया वैष्णवीति च | 2 | 11 | d | विनिर्धूतमनोमलौ | 3 | 34 | d |
| विजह्रुस्सलिले मुदा | 22 | 7 | d | विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जम् | 23 | 22 | c |
| विजह्रुस्तत्र तत्र ह | 12 | 3 | d | विपर्ययो वा किं न स्यात् | 1 | 50 | a |
| विजानीत: सुदुर्मदौ | 10 | 20 | d | विपर्येति यथैव भू: | 4 | 19 | d |
| विजिघांसुर्महावेग: | 17 | 5 | c | विप्रा मन्त्रविदो मुक्ता: | 7 | 17 | a |
| विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम् | 2 | 35 | b | विप्रा वेदाश्च गावश्च | 4 | 41 | a |
| विज्ञाय विहतां नृप | 25 | 1 | b | विप्रा हुत्वाऽर्चयाऽचक्रु: | 7 | 12 | c |
| विज्ञायाऽखिलदृक्स्वयम् | 28 | 12 | b | विप्रुष्मता विषोदोर्मि | 16 | 5 | a |
| विज्ञायाऽखिलदृग्दृष्ट्वा | 23 | 24 | c | विप्रेभ्य: समलङ्कृते | 5 | 3 | b |
| विज्ञायार्भकवत्सला | 9 | 12 | b | विप्रेभ्यो देहिगाश्शुचि: | 11 | 17 | d |
| विडम्बयसि भूतले | 14 | 37 | b | विप्र: कृतस्वस्त्ययनं सुपूजितै: | 7 | 5 | b |
| वेदितोऽसिभवान्साक्षात् | 3 | 13 | a | विबुध्य तां बालकमारिकाग्रहम् | 6 | 8 | a |
| वेदित्वा कंसजं भयम् | 2 | 6 | b | विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया | 14 | 5 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभि: | 14 | 6 | b |
| विभाति सचराचरम् | 13 | 56 | d |
| विभावयन् किञ्चिदुवाच न प्रभु: | 6 | 8 | d |
| विभ्रंशोऽनुग्रह: कृत: | 10 | 40 | d |
| विमुखा यान्ति नाऽर्थिन: | 22 | 36 | d |
| विमुखा ये त्वधोक्षजे | 23 | 39 | d |
| विमुच्य प्रश्रितोऽब्रवीत् | 4 | 14 | d |
| विमोहं विश्वमोहनम् | 13 | 45 | b |
| विरथान् भयसन्नतान् | 4 | 35 | b |
| विराजं जनयन्ति हि | 3 | 15 | d |
| विरेजु: शुभ्रवर्चस: | 20 | 35 | b |
| विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत् | 3 | 10 | d |
| विरोचयन्तं गतभी: प्रभाववित् | 3 | 12 | d |
| विलोचयन्तीं भवनं शुचिस्मिताम् | 2 | 20 | b |
| विलोलिहान: स्थिरजङ्गमान्महान् | 19 | 7 | d |
| विलोक्य दूषितां कृष्णाम् | 16 | 1 | a |
| विलोक्य नन्द: प्रहसत् | 11 | 6 | c |
| विलोक्य पूतनादेहम् | 6 | 32 | c |
| विवरेषुवसन्ति हि | 2 | 7 | f |
| विवस्त्राश्शापशङ्किता: | 10 | 6 | b |
| विवस्त्रौ नैव गुह्यैकौ | 10 | 6 | d |
| विविक्त उपसङ्गम्य | 27 | 2 | a |
| विविधैरुपहासकै: | 18 | 15 | b |
| विविशुस्तृणलोभिता: | 13 | 12 | d |
| विवृत्य नेत्रे चरणौ भुजौ मुहु: | 6 | 12 | c |
| विवेश तस्मिन् मिषतां दिवौकसाम् | 12 | 33 | d |
| विशालर्षभतेजस्विन् | 22 | 34 | c |
| विशीर्णसर्वावयवं करालम् | 7 | 29 | b |
| विशुद्धज्ञानमूर्तये | 27 | 11 | b |
| विशुद्धसत्त्वं तवधाम शान्तम् | 27 | 4 | a |
| विश्वं यदेतत् स्वतनौ निशान्ते | 3 | 31 | a |
| विश्वात्मन् विश्वसम्भव | 27 | 19 | b |
| विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे | 16 | 41 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| विषयान् बुभुजे पुरा | 1 | 27 | d |
| विषवीर्यमदाविष्ट: | 17 | 4 | a |
| विषाम्भस्तदुपस्पृश्य | 15 | 49 | a |
| विषूचीनोऽवगृह्यते | 15 | 25 | b |
| विष्णुञ्च स्ववधम्प्रति | 1 | 65 | d |
| विष्णुपक्षानिवाऽसुरा: | 8 | 18 | d |
| विष्णुपक्षानिवाण्सुरा: | 26 | 21 | d |
| विष्णुरव्यय ईश्वर: | 10 | 30 | d |
| विष्णुर्भुजं मुखमुरुक्रम ईश्वर: कम् | 6 | 23 | d |
| विष्णुर्योगिश्वरेश्वर: | 23 | 48 | b |
| विष्णुस्सर्वगुहाशय: | 3 | 8 | d |
| विष्णोराराधनार्थाय | 5 | 16 | a |
| विष्णोर्माया भगवती | 1 | 25 | a |
| विष्णोर्वीर्याणि शंस न: | 1 | 2 | d |
| विससर्जाङ्गिकुट्टनै: | 16 | 54 | d |
| विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम् | 14 | 21 | d |
| विस्फूर्जितनभस्तला | 20 | 3 | d |
| विस्मिता भारपीडिता | 7 | 19 | b |
| विस्रब्धं प्रतिभाषित: | 4 | 28 | b |
| विस्रब्ध: कन्यकागिरा | 4 | 24 | b |
| विस्रस्तकबरस्रज: | 9 | 18 | b |
| विहरस्व स्वलङ्कृत: | 11 | 18 | d |
| विहर्तुकाम: कुसुमाकरं वनम् | 15 | 2 | d |
| विहसन्त: प्रतिच्छाया: | 12 | 10 | c |
| विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता | 16 | 36 | d |
| विहायसा मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् | 7 | 30 | d |
| विहाय सार्थमिव हरन्तमात्मन: | 18 | 28 | b |
| वीक्षमाणा: परस्परम् | 15 | 51 | d |
| वीक्ष्य कौमारचापलम् | 8 | 28 | b |
| वीक्ष्य तं मेनिरेऽमरम् | 19 | 14 | d |
| वीक्ष्य तान्वै तथाभूतान् | 15 | 50 | a |
| वीक्ष्यमाणो दधाराद्रिम् | 25 | 23 | c |
| विक्ष्यान्तरा कोशपरिच्छदासिवत् | 6 | 10 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| वीक्ष्याऽऽसीदुत्तमा प्रीति: | 11 | 35 | c |
| वीक्ष्योद्धसन्त: करताडनैर्ययु: | 12 | 24 | d |
| वीक्ष्यौत्कण्ठ्यमनुक्षणम् | 13 | 35 | b |
| वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजाम् | 1 | 7 | a |
| वीर्यैर्देहिष्वसङ्गतै: | 10 | 34 | d |
| वृक्षतां प्रापितौ मदात् | 9 | 23 | b |
| वृक्षमूलाश्रयश्शेते | 15 | 16 | c |
| वृक्षा आसन् मधुस्रवा: | 27 | 26 | b |
| वृतो देवादिभिर्दिवम् | 27 | 28 | d |
| वृतौ तालवनं प्रभू | 15 | 27 | d |
| वृत्तेस्वर्लोकितां भूय: | 10 | 22 | c |
| वृद्धबालग्रहाच्चये | 6 | 30 | b |
| वृद्धान्ननन्दपुरोगमान् | 24 | 2 | d |
| वृद्धान् बालान्स्त्रियो राजन् | 11 | 30 | a |
| वृषभं भद्रसेनस्तु | 18 | 24 | c |
| वृषायमाणौ नर्दन्तौ | 11 | 39 | a |
| वृष्णयो वसुदेवाद्या: | 1 | 62 | c |
| वृष्णिचक्रावृतो भुवि | 20 | 44 | d |
| वेणुगीतं स्मरोदयम् | 21 | 3 | b |
| वेणुपाणितलै: | 18 | 10 | c |
| वेणुस्वनै: कलपदैस्तनुभृत्सु सख्य: | 21 | 20 | b |
| वेणुं क्वणन्तमनुगैरुपगीत कीर्तिम् | 15 | 42 | c |
| वेणुं विरणयन् गोपै: | 18 | 8 | c |
| वेणुं विरणयन् गोष्ठम् | 19 | 15 | c |
| वेदक्रियायोगतपस्समाधिभि: | 2 | 34 | c |
| वेपमाना भगवत: | 25 | 12 | c |
| वेपमानास्तमब्रुवन् | 22 | 13 | d |
| वेदमार्गा: कलौ यथा | 20 | 23 | d |
| वैकारिकानीन्द्रियाणि | 8 | 38 | c |
| वैभवं तव गोचर: | 14 | 38 | d |
| वैयासकिस्स भगवानथ विष्णुरातम् | 1 | 14 | b |
| वैयासकिं यन्निगृहीतचेता: | 12 | 40 | d |
| वैश्यस्तु वार्तया जीवेत् | 24 | 20 | c |

| | अध्याय:। | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| वैष्णवीं व्यतनोन्मायाम् | 8 | 43 | c |
| व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वम् | 10 | 29 | c |
| व्यक्ते गुणव्यतिकरे | 20 | 18 | c |
| व्यक्तेतरद्रूपमजस्य संस्तुतिं | 14 | 60 | c |
| व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते | 3 | 25 | c |
| व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम् | 22 | 19 | b |
| व्यग्रायां मातरि प्रभु: | 9 | 22 | b |
| व्यचरद्दिव्यवास:स्रक् | 5 | 16 | e |
| व्यजनैस्समवीजयन् | 15 | 17 | d |
| व्यत्यस्तचक्राक्षविभिन्न कूबरम् | 7 | 7 | d |
| व्यदृश्यन्त घनश्यामा: | 13 | 47 | c |
| व्यधत्तां परमाशिष: | 15 | 44 | d |
| व्यमुञ्चन्वायुभिर्नुन्ना: | 20 | 24 | a |
| व्यवस्यते स्वव्यतिरेकतोऽबुध: | 3 | 18 | b |
| व्यसनं समवोचत | 1 | 18 | d |
| व्यसृजद्वसुदेवश्च | 4 | 25 | c |
| व्याख्यातार्था प्रहसितमुखी न-ह्युपालब्धुमैच्छत् | 8 | 31 | d |
| व्याजहार पुनर्गोपान् | 23 | 13 | c |
| व्यात्ताजगरतुण्डेन हि | 12 | 18 | c |
| व्यादत्ताव्याहतैश्वर्य: | 8 | 36 | c |
| व्यादाय केशांश्चरणौ भुजावपि | 6 | 14 | b |
| व्यालतुण्डायते न वा | 12 | 19 | d |
| व्यालोलकुन्तलपयोधरहारशोभा: | 5 | 11 | d |
| व्याहर्तुमारभत भागवत प्रधान: | 1 | 14 | d |
| व्युदप्रायाश्च निम्नगा: | 25 | 26 | d |
| व्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुन: | 12 | 39 | d |
| व्येतु शङ्का च वोऽर्भके | 26 | 15 | b |
| व्योम्नोऽब्दं भूतशाबल्यम् | 20 | 34 | a |
| व्रजकायममन्त्रयन् | 11 | 20 | d |
| व्रजनाथ तवाऽऽत्मजे | 26 | 14 | d |
| व्रजन्तमव्याद्वैकुण्ठ: | 6 | 27 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| व्रजस्य राम: प्रेमर्धे: | 13 | 35 | a |
| व्रजस्य सात्मनस्तोकेषु | 13 | 36 | c |
| व्रजस्योवाह वै हर्षम् | 11 | 11 | c |
| व्रजस्सम्मृष्टसंसिक्त | 5 | 6 | a |
| व्रजस्सर्वसमृद्धिमान् | 5 | 17 | b |
| व्रजं गोकुलमण्डितम् | 18 | 1 | d |
| व्रजं जगाम नन्दस्य | 8 | 1 | c |
| व्रजं नाऽभिभवेदित: | 11 | 26 | b |
| व्रजं सहात्मानमवाप शङ्काम् | 8 | 39 | d |
| व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन | 1 | 40 | a |
| व्रजान् स्वान् स्वान् समायुज्य | 11 | 29 | c |
| व्रजे कौरवसत्तम | 17 | 21 | b |
| व्रजे वसन् किमकरोत् | 1 | 10 | a |
| व्रजे विक्रीडतो रेवम् | 18 | 2 | a |
| व्रजेश्वरस्याखिलवित्तपा सती | 8 | 42 | b |
| व्रजौकसां बहुतिथम् | 12 | 36 | c |
| व्रजौकसां स्वतोकेषु | 13 | 26 | a |
| व्रियतां वर इत्युक्ते | 3 | 38 | c |
| व्रीडित: कृतहेलन: | 27 | 2 | b |
| व्रीडिता: प्रेक्ष्य चान्योन्यम् | 22 | 12 | c |
| **श** | | | |
| शकटान् युङ्क्त मा चिरम् | 11 | 28 | b |
| शकटैरर्धचन्द्रवत् | 11 | 34 | d |
| शकटोढोपकरणम् | 25 | 27 | c |
| शक्रदर्पं जिघांसता | 24 | 31 | b |
| शङ्खचक्रगदाधरा | 4 | 10 | d |
| शङ्खचक्रगदापद्म | 3 | 30 | c |
| शङ्खतूर्यमृदङ्गानि | 1 | 33 | a |
| शङ्खदुन्दुभयो नेदु: | 25 | 32 | a |
| शत्रुर्मित्रमुदासीन: | 24 | 17 | c |
| शनैरथोत्थाय विमृज्य | 13 | 65 | a |
| शनैर्निस्सीम ववृधे | 13 | 26 | c |
| शनैर्मुग्ध इवासदत् | 11 | 41 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| शनैश्शनैर्जहु:पङ्कम् | 20 | 39 | a |
| शपन्तश्च प्रतिस्वनान् | 12 | 10 | d |
| शब्दब्रह्मार्थदर्शनम् | 20 | 43 | d |
| शब्देन प्रदिशो दिश: | 7 | 21 | d |
| शम्भुना वा वनौकसा | 4 | 36 | d |
| शयानं पातु माधव: | 6 | 26 | d |
| शरज्जहाराऽऽश्रमिणाम् | 20 | 34 | c |
| शरत्स मभवद्वयभ्रा | 20 | 32 | c |
| शरदर्काशुजं तापम् | 20 | 42 | a |
| शरदा नीरजोत्पत्त्या | 20 | 33 | a |
| शरद्विमलतारकम् | 20 | 43 | b |
| शरीरसंयोगवियोगहेतु: | 1 | 51 | d |
| शरीरादिष्वनात्मसु | 20 | 39 | d |
| शरीरिणां श्रेय उपायनं | 2 | 34 | b |
| शरीरिष्वशरीरिण: | 10 | 34 | b |
| शर्कराभिरुपद्रुत: | 7 | 23 | d |
| शर्मणो आत्मनो गवाम् | 24 | 37 | d |
| शर्वादयोऽङ्घ्रयदजमध्वमृतासव | 14 | 33 | d |
| शशंसतुर्महाराज | 18 | 13 | c |
| शशंसाऽभ्येत्य नारद: | 1 | 64 | b |
| शशंसु: साधु साध्विति | 11 | 43 | d |
| शशंसुस्साधुसाध्विति | 18 | 32 | d |
| शश्वत्तच्छीकरैर्जुष्ट | 18 | 4 | c |
| शतकुम्भाम्बरावृतान् | 5 | 3 | d |
| शाद्वलोपरि संविश्य | 20 | 30 | a |
| शान्तर्क्षग्रहतारकम् | 3 | 1 | d |
| शान्ता अशान्ता उत मूढ | 16 | 50 | b |
| शान्तास्तत्र समैन्धत | 3 | 4 | d |
| शान्ता: प्रियास्ते ह्यधुना | 16 | 50 | c |
| शापं दास्यन्निदं जगौ | 10 | 7 | d |
| शाबा: स्तनस्नुत पय: | 21 | 14 | C |
| शारदेत्यम्बिकेति च | 2 | 12 | d |
| शिग्भिस्त्वग्भिर्दृषद्भिश्च | 13 | 9 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| शिरस्सुतांश्च कायेन | 25 | 12 | a | श्यामं हिरण्यपरिधिं | 23 | 22 | a |
| शिलायां पतितस्तत्र | 11 | 24 | c | श्रद्दधानस्य विस्तृतम् | 1 | 12 | d |
| शिलायां सलिलान्तिके | 20 | 29 | b | श्रद्धा च वो यच्छत धर्म | 23 | 7 | d |
| शिलावर्षनिपातेन | 25 | 14 | a | श्रद्धा दया तितिक्षा च | 4 | 41 | c |
| शिशव: पावकोपमा: | 4 | 5 | b | श्रप्यमाणपया यस्मिन् | 16 | 4 | c |
| शिशूंश्चचार निघ्नन्ती | 6 | 2 | c | श्रिया कीर्त्याऽनुभावेन | 8 | 19 | c |
| शिशोरासन् सुविस्मिता: | 6 | 43 | d | श्रिया कीर्त्याऽनुभावेन | 26 | 22 | c |
| शीलौदार्यगुणैस्समम् | 3 | 41 | b | श्रिया जुष्टं चतुर्भुजम् | 3 | 30 | d |
| शुक्लो रक्तस्तथा पीत: | 8 | 13 | c | श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तन | 21 | 18 | b |
| शुक्लो रक्तस्तथा पीत: | 26 | 16 | c | श्रीकृष्णवृष्णिकुल | 14 | 40 | a |
| शुद्धभावप्रसादित: | 22 | 18 | b | श्रीदामन् सुबलार्जुन | 22 | 34 | b |
| शुद्ध्यन्ति दानैस्सन्तुष्ट्या | 5 | 4 | c | श्रीदामवृषभादय: | 18 | 23 | b |
| शुष्कं बृन्दावनेऽद्भुतम् | 12 | 36 | b | श्रीदामानं पराजित: | 18 | 24 | b |
| शूद्रस्तु द्विजसेवया | 24 | 20 | d | श्रीदामा नाम गोपाल: | 15 | 20 | a |
| शून्यतोय सदोदरं | 6 | 17 | d | श्रीमदादाभिजात्यादि: | 10 | 8 | c |
| शून्यं प्रियव्यतिहृतं | 16 | 20 | d | श्रीमदान्धौ सुरात्मजौ | 10 | 7 | b |
| शूरसेनान् महाबल: | 1 | 69 | d | श्रीवत्सपीतवसनं | 16 | 9 | b |
| शूरसेनो यदुपति: | 1 | 27 | a | श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभि | 3 | 9 | c |
| शृङ्गाण्यापूर्य सर्वत: | 11 | 31 | b | श्रीवत्साङ्कित वक्षस्स्का: | 13 | 49 | c |
| शृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यहि जल | 8 | 25 | a | श्रीवत्साङ्गददोरत्न | 13 | 49 | a |
| शृणुष्वावहितो राजन् | 13 | 3 | a | श्रुत्वाऽग्रजांस्ते न्यहनत् | 3 | 22 | b |
| शृण्वत्या: किल तन्मातु: | 8 | 28 | c | श्रुत्वा च तत्कूजितवेणु | 21 | 13 | b |
| शृण्वन्गृणन्नेति नरोऽखिलार्थान् | 14 | 60 | d | श्रुत्वाऽच्युतमुपायातम् | 23 | 18 | a |
| शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च | 2 | 37 | a | श्रुत्वा तद्विस्मिता गोपा: | 11 | 53 | a |
| शृण्वन्निमीलितदृश: | 21 | 15 | d | श्रुत्वा तन्निधनं स्वस्ति | 6 | 43 | c |
| शृण्वन्तोऽपि न शुश्रुवु: | 23 | 9 | b | श्रुत्वाऽधुनैवाऽभिसरत्युदायुध: | 3 | 22 | d |
| शृण्वन्नपि कथां मुहु: | 13 | 1 | d | श्रुत्वा पर्जन्यनिनदम् | 20 | 9 | a |
| शेकात आपतुरलं मनस: | 8 | 25 | d | श्रुत्वा मातरमच्युत: | 11 | 7 | b |
| शेषाख्यं धाम मामकम् | 2 | 8 | b | श्रुत्वा विचिन्त्येत्यमृषा | 12 | 25 | b |
| शेषोऽन्वगाद्वारि निवारयन् | 3 | 49 | d | श्रुत्वा व्रजस्त्रियस्सर्वा: | 21 | 7 | c |
| शैलोऽस्मीति ब्रुवन् भूरि | 24 | 35 | c | श्रुत्वा स्वधाम्नोऽन्त्यज: | 12 | 35 | c |
| शोकहर्षभयद्वेष | 4 | 27 | a | श्रुत्वा स्वभर्तुश्चरितं | 12 | 40 | b |
| श्यामसुन्दर ते दास्य: | 22 | 15 | a | श्रूयतां मे वचो गोपा: | 26 | 15 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| श्रेय आचरणं सदा | 22 | 38 | d | स चाऽन्यं सोऽपि चापरम् | 15 | 33 | d |
| श्रेय एवं महोदयम् | 8 | 46 | b | स जातकोप: स्फुरितारुणाधरम् | 9 | 6 | a |
| श्रेय:स्रुतिं भक्तिमुदस्य | 14 | 4 | a | सञ्चारयन्तमनुवेणुमुदीरयन्तम् | 21 | 11 | b |
| श्रोणीभराक्रान्तगति: | 9 | 10 | b | सञ्जातनिद्राक्षमशीशयच्छनै: | 7 | 5 | d |
| श्लाघनीयगुणश्शूरै: | 1 | 37 | a | सञ्जातो मयि भावो वाम् | 10 | 42 | c |
| श्वासवद्भाति पश्यत | 12 | 23 | b | स तत्र तत्रारुणपल्लवश्रिया | 15 | 4 | a |
| श्वेतद्वीपपतिश्चित्तम् | 6 | 25 | c | स तल्पात्तूर्णमुत्थाय | 4 | 3 | a |
| **स** | | | | स तं गृहीत्वा प्रपदो: | 15 | 32 | a |
| स आस्थित: पुरटपरिच्छदो बभौ | 18 | 26 | c | सतामभद्राणि मुहु: खलानाम् | 2 | 29 | d |
| स आहतस्सपदि विशीर्णमस्तक: | 18 | 29 | a | सतामयं सारभृतां निसर्ग: | 13 | 2 | a |
| स एव दृष्टो ह्युत्पात: | 6 | 33 | c | सतां विद्वेषमाचेरु: | 4 | 45 | c |
| स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभि | 12 | 39 | c | स तेऽवतारं पुरुषैस्समर्पितम् | 3 | 22 | c |
| स एवमुक्त्वा देवर्षि: | 10 | 23 | a | सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहम् | 3 | 24 | c |
| स एव यद्दृग्विषय: स्वयं स्थित: | 12 | 12 | c | सत्तामाङ्गिरसं नाम हि | 23 | 3 | c |
| स एव स्वप्रकृत्येदम् | 3 | 14 | a | सत्त्वकूटं पुर:स्थितम् | 12 | 19 | b |
| स एष जीवन् खलु सम्परेता: | 2 | 22 | a | सत्त्वञ्च शुध्यत्यचिरेण पुंस: | 7 | 2 | b |
| स एष भगवान् साक्षात् | 23 | 48 | a | सत्त्व युक्तं यथाचित्तम् | 20 | 43 | c |
| स कथं भगिनीं हन्यात् | 1 | 37 | c | सत्त्वं न चेद्भ्रातरिदं निजंवपु: | 2 | 35 | a |
| स कपित्थैर्महाकाय: | 11 | 43 | a | सत्त्वं रजस्तम इति | 24 | 22 | a |
| सकलत्रसुहृत्पुत्र: | 16 | 67 | a | सत्त्वं विशुद्धं श्रयसे भवान् स्थितौ | 2 | 34 | a |
| सकृद्यदङ्गप्रतिमान्तराहिता | 12 | 39 | a | सत्त्वाभ्यां स्रष्टृपालका: | 13 | 51 | d |
| सखि सङ्कर्षणान्वित: | 15 | 10 | d | सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि | 2 | 29 | c |
| सख्य: पशूननु विवेशयतोर्वयस्यै: | 21 | 8 | b | सत्यज्ञानानन्तानन्द | 13 | 55 | a |
| सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाम्बुद- | | | | सत्यमर्ककरारक्तम् | 12 | 20 | a |
| आतपत्रम् | 21 | 17 | d | सत्यमेतद्ववीम्यहम् | 17 | 11 | d |
| सगोगोपालकोऽच्युत: | 21 | 1 | d | सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यम् | 2 | 26 | a |
| स गोव्रजोत्यात्मपदुर्गमार्ग: | 13 | 30 | b | सत्यस्य योनिं निहितञ्च सत्ये | 2 | 26 | b |
| सङ्कर्षणमुशन्त्युत | 8 | 12 | f | सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रम् | 2 | 26 | c |
| सङ्कल्पसिद्धये तेषाम् | 28 | 12 | c | सत्यस्स्वयञ्ज्योतिरनन्त आद्य: | 14 | 23 | b |
| सङ्कल्पो विदितस्साध्व्य: | 22 | 28 | a | सत्यं कर्तुं वचो हरि: | 10 | 24 | b |
| सङ्क्रन्दत: परमकश्मलमापुरार्ता: | 16 | 19 | d | सत्यं कर्तुं व्रजे विभु: | 8 | 52 | b |
| स चक्रे आत्मनाऽऽत्मने | 24 | 36 | b | सत्यं कुरुष्व निगमं तव पादमूलम् | 23 | 29 | b |
| स च बृन्दावनगुणै: | 18 | 3 | a | सत्यं ज्ञानमनन्तं यत् | 28 | 15 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सत्यं ब्रुवाणि नो नर्म | 22 | 10 | c | सन्निपत्य समुत्पाद्य | 3 | 16 | a |
| सत्यं मे व्याहृतं सति: | 3 | 43 | d | सन्नियम्येन्द्रियग्रामम् | 3 | 33 | c |
| सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्न: | 2 | 26 | d | सन्निवृत्तस्स्वयं प्रभु: | 2 | 23 | b |
| सत्ये चैव व्यवस्थितिम् | 1 | 59 | b | सन्न्यवेशयदात्मजम् | 6 | 31 | d |
| सत्यो भवितुमर्हति | 22 | 28 | d | सपद्यादृतपाप्मन: | 6 | 35 | d |
| सत्वं घोरादुग्रसेनात्मजान्न: | 3 | 28 | a | सपद्येवाऽभित: पश्यन् | 13 | 60 | a |
| स त्वं निलोकस्थितये स्वमायया | 3 | 20 | a | सपाणिकबलो ययौ | 13 | 14 | d |
| स त्वं ममैदैश्वर्य मदाप्लुतस्य | 27 | 8 | a | सप्तत्वगष्टविष्टपो नवाक्ष: | 2 | 27 | c |
| सत्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीप: | 3 | 24 | d | सप्तमो वैष्णवं धाम | 2 | 5 | a |
| स त्वहं त्यक्तकारुण्य: | 4 | 16 | a | सप्ताहं नाऽचलत्पदात् | 25 | 23 | d |
| सदाश्रया रात इति | 13 | 44 | c | सप्रजा गोपजीविन: | 25 | 21 | d |
| सदेवासुरमानुषम् | 24 | 16 | d | सप्रातराशो गोवत्सान् | 11 | 44 | c |
| सद्भि: क्षिणोति तत्तर्षं | 10 | 17 | c | सबल: प्राविशद्धरि: | 20 | 25 | d |
| सद्य: प्राणैर्वियुज्येत | 17 | 11 | c | स बिभ्रत् पौरुषं धाम | 2 | 17 | a |
| सद्यो देव्यम्बरं गता | 4 | 9 | b | स भवान् सर्वलोकस्य | 10 | 35 | a |
| सद्योऽद्रय: खगमृगा: सदयावलोकै: | 15 | 8 | c | समक्षं पश्य मे मुखम् | 8 | 35 | d |
| सद्यो नष्टमतिर्गोपी | 8 | 44 | a | समभ्यर्च्य जनार्दनम् | 28 | 1 | b |
| सद्वेषादिव पूतनाऽपि सकुला | 14 | 35 | c | समं बालस्य सर्वत: | 6 | 20 | b |
| त्वामेव देवाऽऽपिता | | | | समं भगवता मुदा | 13 | 7 | d |
| सनगं परिकम्पयन् | 15 | 29 | d | समाकिरन् नन्दनमल्लिकादिभि: | 11 | 51 | b |
| सन्तत्रसुस्तदुद्वीक्ष्य | 6 | 18 | a | समागतान् पूजयती व्रजौकस: | 7 | 6 | b |
| सन्तं गुणं तं किमु यन्ति सन्त: | 14 | 28 | d | समाधिनाऽऽवेशितचेतसैके | 2 | 30 | b |
| सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानाम् | 1 | 6 | b | समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवम् | 14 | 58 | a |
| सन्ति किन्त्ववरुद्धानि | 15 | 22 | c | समीक्षयामोऽधविहार ईहसे | 16 | 49 | d |
| सन्त्यक्तुमकुतोभयम् | 17 | 24 | d | समीडिरे चाऽऽनकशङ्खसंस्तवै: | 11 | 51 | c |
| सन्त्युत्पाताश्च गोकुले | 5 | 30 | d | समीरवेगानुगतं विभाव्यते | 1 | 43 | b |
| सन्दधेऽन्यच्च गोपिका | 9 | 15 | d | समीरित: सारथिनोल्बणोल्मुखै: | 19 | 7 | c |
| सन्दश्य दद्भिर्दधिमन्थभाजनम् | 9 | 6 | b | समीहितं शूरसुतेन देवी | 2 | 18 | b |
| सन्दश्य मर्मसु रुषा भुजया चछाद | 16 | 9 | d | समुत्थाय जलान्तिकात् | 15 | 51 | b |
| सन्दिश्य साधुलोकस्य | 4 | 44 | a | समुद्रमिव निम्नगा | 23 | 19 | d |
| सन्दिष्टैवं भगवता | 2 | 14 | a | समुद्रं याहि मा चिरम् | 16 | 60 | d |
| सन्दोहं प्रथितुं प्रभो | 14 | 37 | d | समुद्र: शरदागमे | 20 | 40 | b |
| सन्नाथा वयमच्युत | 27 | 19 | d | समुद्विजे भवद्धेतो: | 3 | 29 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| समेत्य भावो गोवत्सान् | 13 | 31 | a | सर्वपापै: प्रमुच्यते | 16 | 62 | d |
| समेत्य तरसा प्रत्यक् | 15 | 30 | a | सर्वप्राण्युपजीवनम् | 22 | 36 | b |
| सम्भवन्तु सुरस्त्रिय: | 1 | 23 | d | सर्वभूतमनोहरम् | 21 | 7 | b |
| सम्भोजनीयैर्बुभुजे | 20 | 29 | c | सर्वभूतमुदावहाम् | 20 | 31 | b |
| सम्भ्रमो व उपागत: | 24 | 3 | b | सर्वभूतात्मने नम: | 27 | 11 | d |
| सम्मील्य मृगशाबाक्षी | 7 | 37 | c | सर्वयादवभूभुजाम् | 1 | 28 | b |
| सम्यग्यतस्त्यक्तमुपाददत् पुमान् | 3 | 18 | d | सर्वलोकैकपालकौ | 11 | 44 | b |
| सम्यग्व्यवसिता बुद्धि: | 1 | 15 | a | सर्वव्याहृतसिद्धये | 16 | 47 | b |
| स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वर: | 1 | 22 | c | सर्वसत्त्वसमुद्भवा | 20 | 3 | b |
| स योजनायाम महाद्रिपीवरम् | 12 | 16 | b | सर्वस्मै सर्वबीजाय | 27 | 11 | c |
| सरस्वती ज्ञानखले यथा सती | 2 | 19 | d | सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुन: | 3 | 17 | d |
| सरस्स्वशान्तरोधस्सु | 20 | 22 | a | सर्वस्वं जलदा हित्वा | 20 | 35 | a |
| सर: पुलिनमानीय | 13 | 4 | c | सर्वत्वं वेत्सि सर्वदृक् | 14 | 39 | b |
| सरामस्सह गोपालै: | 17 | 19 | c | सर्वं पृथक्त्वं निगमात्कथं वदेत् | 13 | 39 | c |
| स रामो दूरमागत: | 23 | 17 | b | सर्वं विधिकृतं कृष्ण: | 13 | 17 | c |
| स रामो बालकैर्वृत: | 26 | 8 | b | सर्वं विष्णुमयं गिरोङ्गवदज | | | |
| स रामो वनमाविशत् | 13 | 28 | b | स्सर्वस्वरूपो बभौ | 13 | 19 | d |
| सरित्तीरगतं कृष्णम् | 11 | 12 | a | सर्वाणि कुरुनन्दन | 27 | 27 | b |
| सरित्तोयपरिप्लुता: | 12 | 10 | b | सर्वात्मा प्राविशद् व्रजम् | 13 | 20 | d |
| सरित्सर: प्रस्रवणोर्मिवायुना | 18 | 5 | a | सर्वात्मा सर्वदर्शन: | 24 | 2 | b |
| सरिद्भिस्सङ्गनस्सिन्धु: | 20 | 14 | a | सर्वाध्यक्षाय ते नम: | 16 | 48 | b |
| सरिद्रोधस्सु सानुग: | 15 | 9 | d | सर्वानचष्ट वैकुण्ठं | 13 | 38 | c |
| सर्गाय रक्तं रजसोपबृंहितम् | 3 | 20 | c | सर्वा स्नेहर्धिकां विना | 13 | 25 | b |
| सर्पह्रद: पुरुषसारनिपातवेग | 16 | 7 | a | सर्वा पूर्ववदावृता: | 4 | 1 | b |
| सर्पं तमुदवासयत् | 16 | 1 | d | सर्वेऽङ्ग पशुवृत्तय: | 16 | 15 | b |
| सर्पा जात्योरुमन्यव: | 16 | 58 | b | सर्वे नश्यन्तु ते विष्णो: | 6 | 30 | c |
| सर्वकामवरप्रदाम् | 2 | 10 | d | सर्वे मिथो दर्शयन्त: | 13 | 10 | a |
| सर्वकामवरेश्वरीम् | 2 | 10 | b | सर्वे मिथ्याभिशंसिन: | 8 | 35 | b |
| सर्वकालसुखावहम् | 11 | 34 | b | सर्वे वै देवता प्राया: | 1 | 63 | a |
| सर्वक्षेत्रविकारवित् | 10 | 31 | d | सर्वेषा मपि जन्मिनाम् | 14 | 54 | b |
| सर्वग्रहभयङ्कर: | 6 | 27 | d | सर्वेषामेव जन्तूनाम् | 14 | 50 | a |
| सर्वज्ञो जगदीश्वर: | 16 | 59 | b | सर्वेषामेव धातूनाम् | 14 | 37 | a |
| सर्वदोहश्च गृह्यताम् | 24 | 26 | d | सर्वेषां नो व्रजौकसाम् | 26 | 13 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सर्वोपकरणानि च | 11 | 30 | b | सहैवोत सुमध्यमा: | 22 | 11 | d |
| सवत्सा: सर्व एव हि | 13 | 42 | b | सहोपविष्टा विपिने विरेजु: | 13 | 8 | c |
| सवाखण्डीन्दुतारकम् | 8 | 37 | d | संक्षोभितोरग विषोच्छ्वसिताम्बुराशि: | 16 | 7 | b |
| सविद्युत्स्तनयित्नुभि: | 20 | 4 | b | संयावापूंपशष्कुल्य: | 24 | 26 | c |
| स विस्मयोत्फुल्लविलोचनो हरिम् | 3 | 11 | a | संरब्धा हतबान्धवा: | 15 | 36 | d |
| सवेपथुर्गद्गदयैडतेरया | 13 | 65 | d | संलालित: स्वाचरितै: प्रहर्षयन् | 13 | 23 | c |
| स वै न आद्य: पुरुष: | 23 | 50 | a | संविश्य वरशय्यायाम् | 15 | 46 | c |
| स वै नाऽप्नोतिगोधनम् | 24 | 11 | d | संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकाय: | 14 | 11 | b |
| स वै बको नाम महान् | 11 | 47 | a | संसारचक्रे भ्रमत: शरीरिण: | 16 | 38 | c |
| स वै बहुयुगावासी | 16 | 2 | c | संसारोऽज्ञानसम्भव: | 6 | 41 | d |
| सव्यासव्ये नगोदरे | 12 | 21 | b | संसृतिर्न निवर्तते | 4 | 20 | d |
| सव्ये बाहौ निहितवदन: - | | | | संस्कारादिमतामपि | 23 | 43 | d |
| सज्जामन्यत्र हस्ते | 21 | 6 | b | संस्कारान् कर्तुमर्हसि | 8 | 6 | b |
| सव्रीडहासविनयं यदपाङ्गमोक्षम् | 15 | 43 | d | संस्कारैस्तपसेज्यया | 5 | 4 | b |
| ससङ्कर्षणमागतम् | 23 | 14 | b | साकं भैकैर्विलङ्घन्त: | 12 | 10 | a |
| सस्त्रीकुमारमतिदु:खित मात्महेतो: | 16 | 23 | b | साक्षात्कृतं नेमुखद्यमृग् यत: | 22 | 23 | d |
| सस्वजे प्रेमविह्वल: | 5 | 20 | d | साक्षात्तवैव किमुतात्म सुखानुभूते: | 14 | 2 | d |
| सहकृष्णा व्रजं ययु: | 24 | 38 | d | सा खेचर्येकदोपेत्य | 6 | 4 | a |
| सह गोपाल बालकै: | 11 | 37 | b | सा गृहीत्वा करे पुत्रम् | 8 | 33 | a |
| सह दैवै स्तया सह | 1 | 19 | b | साग्रजो व्रजमाविशत् | 15 | 41 | d |
| सहन्तो वारयन्ति न: | 22 | 35 | d | सा तत्र ददृशे विश्वम् | 8 | 37 | a |
| सहपशुपालबलश्चुकूजवेणुम् | 21 | 2 | d | सा तद्धस्तात्समुत्पत्य | 4 | 9 | a |
| सहबालो न्यसुर्व्रजे | 7 | 28 | d | सात्त्वताम्पतये नम: | 16 | 45 | d |
| सहमानौ श्वासरोध | 3 | 34 | c | सात्त्वताम्पतये नम: | 27 | 10 | d |
| सहरामो जनर्दन: | 19 | 15 | b | सात्मं भाति यथा तथा | 14 | 17 | b |
| सहरामो वसंश्चक्रे | 8 | 52 | c | सा देवकी सर्वजगन्निवास | 2 | 19 | a |
| सहरामो व्रजस्त्रीणाम् | 8 | 27 | c | साद्रिद्वीपान्धिभूगोलम् | 8 | 37 | c |
| सहलाङ्गूलमच्युत: | 11 | 42 | b | साद्रिर्मही द्यौश्च चचाल सग्रहा | 6 | 13 | b |
| सह सम्मन्त्र्य दुर्मति: | 4 | 43 | b | साधवस्समदर्शिन: | 10 | 17 | b |
| सहसाऽवजगाम ह | 13 | 17 | d | साधवो दस्युपीडिता: | 8 | 17 | b |
| सहस्रवदन: स्वराट् | 1 | 24 | b | साधवो दस्युपीडिता: | 26 | 20 | b |
| सहाऽऽसन् नृमृगादय: | 13 | 61 | b | साधवो बन्धुवत्सला: | 4 | 23 | b |
| स हि सर्वसुराध्यक्षो हि | 4 | 42 | a | साधु पृष्टं महाभाग | 13 | 1 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | |
|---|---|---|---|
| साधु साध्वितिवादिन: | 11 | 29 | b |
| साधु साध्वितिवादिन: | 18 | 30 | d |
| साधु साध्वितिवादिनौ | 18 | 13 | d |
| साधुस्समत्वेन भयाद्विमुच्यते | 7 | 31 | d |
| साधूनामसुरद्रुहाम् | 3 | 5 | b |
| साधूनां समचित्तानाम् | 10 | 18 | a |
| साधूनां समचित्तानाम् | 10 | 41 | a |
| साध्वगृह्णन्त तद्वच: | 24 | 31 | d |
| साध्व्य: कृताञ्जलिपुटा: शमलस्य भर्तु: | 16 | 32 | c |
| सानुगस्य प्रदीयताम् | 23 | 17 | d |
| सानुज: कुलनन्दन | 11 | 15 | b |
| सान्त्वयामास वै शौरि: | 1 | 52 | c |
| सान्द्रनीलाम्बुदैर्व्योम | 20 | 4 | a |
| साऽपराधा अपि प्रभो | 28 | 8 | f |
| सामर्ग्यजुरुपाकृतै: | 7 | 14 | b |
| सा मुञ्च मुञ्चाऽलमिति प्रभाषिणी | 6 | 12 | a |
| साम्प्रतं पतिराशिषाम् | 10 | 35 | d |
| सत्यङ्गतो यामयमेन माधव: | 13 | 23 | d |
| सायुधाष्टमहाभुजा | 4 | 9 | d |
| सारुणापाङ्गवीक्षतै: | 13 | 51 | b |
| साऽऽरोप्यारोहमात्मजम् | 8 | 44 | b |
| सार्धं विजह्रु: कृतपुण्यपुञ्जा: | 12 | 11 | d |
| साल्वान् विदर्भान् निषधान् | 2 | 3 | c |
| सा वीक्ष्य विश्वं सहसा | 7 | 37 | a |
| सांख्ययोगैश्च सात्त्वतै: | 8 | 45 | b |
| सिञ्चन्त्योऽजनमुज्जगु: | 5 | 12 | d |
| सिद्धगन्धर्वचारणा: | 25 | 31 | b |
| सिद्धचारणगन्धर्वै: | 4 | 11 | a |
| सिद्धावुपेत्य कुजयोरिव जातवेदा: | 10 | 28 | b |
| सीदत्पालपशुस्त्रिय आत्मशरणं- दृष्ट्वाऽनुकम्प्युत्स्मयन् | 26 | 25 | b |
| सुखं दु:खं भयं क्षेमम् | 24 | 3 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| सुखं सुषुपतुर्व्रजे | 15 | 46 | d |
| सुजनस्येव येषां वै | 22 | 36 | c |
| सुतपदवीमबला विलक्ष्य माता | 7 | 24 | b |
| सुतरां मत्कृतात्मनाम् | 10 | 41 | b |
| सुतस्य रुचिरस्मितम् | 7 | 35 | b |
| सुतं मया संस्कृतं ते | 8 | 7 | c |
| सुतं यशोदा नाऽपश्यत् | 7 | 22 | c |
| सुतं यशोदा शयने निधाय तत् | 3 | 51 | c |
| सुतं विलोक्याऽऽनकदुन्दुभिस्तदा | 3 | 11 | b |
| सुतं समादाय स सूतिकागृहात् | 3 | 47 | b |
| सुतामुपादाय पुनर्गृहानगात् | 3 | 51 | d |
| सुता मे यदि जायेरन् | 1 | 49 | c |
| भाव्यं प्रणतास्मि तत्पदम् | 8 | 41 | d |
| सुदुस्तरात्स्वान्न: पाहि | 17 | 24 | a |
| सुदृप्तौ धनदात्मजौ | 10 | 2 | b |
| सुपर्णपक्षाभिहत: | 17 | 8 | a |
| सुपर्णाय महात्मने | 17 | 3 | d |
| सुप्तां निशीथ आवृत्य | 17 | 21 | e |
| सुबलस्तोककृष्णाद्या: | 15 | 20 | c |
| सुमन: पिच्छधातुभि: | 12 | 4 | b |
| सुमनांसि मुदान्विता: | 3 | 7 | b |
| सुमृष्टाश्शीतलाश्शिवा: | 22 | 40 | b |
| सुरभि: पयसाऽऽत्मन: | 27 | 22 | b |
| सुरभि: शक्र एव च | 27 | 1 | d |
| सुराङ्गनास्सन्ननृतुर्मुदाऽन्विता: | 27 | 24 | d |
| सुराणामीश विस्मय: | 25 | 17 | b |
| सुराधिपो गिरिमिव वज्ररंहसा | 18 | 28 | d |
| सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि | 14 | 20 | a |
| सुवाससं कम्पितकर्णभूषण | 6 | 5 | c |
| सुहृत्प्रियचिकीर्षया | 15 | 27 | b |
| सुहृदां चित्रकर्मणाम् | 5 | 24 | b |
| सुहृदो ह्यनुभावित: | 5 | 27 | b |
| सूतै: स्तनमपाययत् | 7 | 11 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सूक्तैश्च कोकिलगणागृहमागताय | 15 | 7 | c | स्तेयोपायैर्विरचितकृति: सुप्रतीको- | | | |
| सूतमागधवन्दिन: | 5 | 5 | b | यथाऽऽस्ते | 8 | 31 | b |
| सूतमागधवन्दिभ्य: | 5 | 15 | c | स्त्रियमुद्वाहपर्वणि | 1 | 37 | d |
| सूतीगृहमगात् शीघ्रम् | 4 | 3 | c | स्त्रियं मा हन्तुमर्हसि | 4 | 4 | d |
| सूनोस्तनौ वीक्ष्य विदारितास्ये | 8 | 39 | c | स्त्रिया विटानामिव साधुवार्ता | 13 | 2 | d |
| सूपविष्टं कृतातिथ्यम् | 8 | 3 | a | स्त्रिया: स्वसुर्गुरुमत्या वधोऽयम् | 2 | 21 | c |
| सूपान्ता: पायसादय: | 24 | 26 | b | स्त्रियो रुदत्यो ददृशुस्समेता: | 7 | 29 | d |
| सूर्येण कुमुदं विना | 20 | 47 | b | स्त्रीजनैरनुगायद्भि: | 10 | 3 | c |
| सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधींश्च | 7 | 36 | b | स्त्रीणां न साधुशोच्यानाम् | 16 | 52 | c |
| सृष्टा विवाऽहं जगतो विधाने | 14 | 19 | c | स्त्रीबालस्थविराश्शनै: | 25 | 27 | d |
| सृष्ट्वाऽग्रे त्रिगुणात्मकम् | 3 | 14 | b | स्त्रीभी: सव्रमपारयन् | 23 | 33 | d |
| सेतवो वर्षतीश्वरे | 20 | 23 | b | स्त्रैणयोरनितात्मनो: | 10 | 19 | d |
| सेश्वरास्सचतुर्मुखा: | 4 | 42 | d | स्थलान्यामञ्च वीरुध: | 20 | 39 | b |
| सोढव्य: स्वप्रजाकृत: | 16 | 51 | b | स्थातुश्च ते धर्मपरीप्सये हत: | 16 | 50 | d |
| सोऽतिवीर्यो सुरो राम | 15 | 23 | a | स्थानागतं तं परिरभ्य निर्वृता: | 11 | 52 | c |
| सोऽनृतादतिविह्वल: | 1 | 57 | d | स्थानानि च नरा भुवि | 2 | 11 | b |
| सोऽयं मे व्रत आहित: | 25 | 18 | d | स्थाने स्थिता: श्रुतिगतां- | | | |
| सौत्रामण्याश्च सत्तमा: | 23 | 8 | b | तनुवाङ्मनोभि: | 14 | 3 | c |
| सौमङ्गल्यगिरो विप्रा: | 5 | 5 | a | स्थापयामास लीलया | 25 | 28 | d |
| स्कन्धप्रवालविटपौ कृतचण्डशब्दौ | 10 | 27 | d | स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतव: | 24 | 22 | b |
| स्कन्धे निधाय वासांसि | 22 | 18 | c | स्थित्वा मुहूर्तमुदतिष्ठदुरङ्गबन्धात् | 16 | 23 | d |
| स्तनन्त: स्तनयित्नुभि: | 25 | 9 | b | स्थीयतां स्वाधिकारेषु | 27 | 17 | c |
| स्तनं दत्त्वाऽऽप सद्गतिम् | 6 | 36 | d | स्थूणास्थूलावर्षधारा: | 25 | 10 | a |
| स्तनं स्नेहपरिप्लुता | 7 | 34 | d | स्थैर्यं न चक्रु: कामिन्य: | 20 | 17 | c |
| स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा | 14 | 31 | b | स्नात: शुचिरलङ्कृत: | 5 | 1 | d |
| स्तबका वनराजय: | 3 | 3 | d | स्नातुं नन्दस्तु कालिन्द्याम् | 28 | 1 | c |
| स्तब्धेक्षणोल्मुकमुखो हरिमीक्षमाण: | 16 | 24 | d | स्निग्धा मय्युषिता धिया | 23 | 14 | d |
| स्तवैश्च विप्राजयनिश्वनै र्गणा: | 12 | 34 | d | स्निग्धा: सुशिग्वेत्र विषाणवेणव: | 12 | 2 | b |
| स्तिमितैकादशेन्द्रिय: | 13 | 57 | b | स्नुषेयं तव कल्याण | 4 | 4 | c |
| स्तूयमानेदमब्रवीत् | 4 | 11 | d | स्नेहक्लिन्नधियश्शनै: | 15 | 18 | d |
| स्तूयमानोऽनुगैर्गोपै: | 15 | 41 | c | स्नेहवल्लयाद्वमन्वहम् | 13 | 26 | b |
| स्तेयं स्वाद्वत्त्यथ दधिपय: कल्पितै: | | | | स्नेहस्नुतस्तन्यपय: सुधासमं | 13 | 22 | c |
| स्तेपयोगै: | 8 | 29 | b | स्नेहस्नुतं सस्मितमीक्षती मुखम् | 9 | 5 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| स्पृशच्छिखान् वीक्ष्य वनस्पतीन्- | | | | स्वपादस्पर्शकाल आगते | 20 | 49 | d |
| मुदा | 15 | 4 | c | स्वपुत्रस्योदयाय च | 5 | 16 | b |
| सृष्ट्वा चतुर्मुकुटकोटिभिरङ्घ्रियुग्मम् | 13 | 63 | c | स्वप्नदृष्टा महोत्पाता: | 6 | 30 | a |
| स्फुटत्सरोगन्धहृतालिपत्रिक | 13 | 5 | c | स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदु:खदु:खम् | 14 | 22 | b |
| स्मयन्ती विस्मिताऽभवत् | 9 | 17 | d | स्वप्ने यथा पश्यति देहमीदृशम् | 1 | 41 | a |
| स्मयन्निवाहाऽग्रजमादिपूरुष: | 15 | 4 | d | स्वभावकर्माशयलिङ्गभेदम् | 8 | 39 | b |
| स्मरन्ती तान्यगायत | 9 | 2 | d | स्वभावतन्त्रो हि जन: | 24 | 16 | a |
| स्मरन्त्य: कृष्णचेष्टितम् | 21 | 4 | b | स्वभावमनुवर्तते | 24 | 16 | b |
| स्मृति: स्यान्मत्प्रसादेन | 10 | 21 | c | स्वभावविहितं नृणाम् | 24 | 15 | d |
| स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे | 10 | 38 | c | स्वभावस्थमिदं सर्वम् | 24 | 16 | c |
| स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणम् | 16 | 30 | c | स्वभावस्थ: स्वकर्मकृत् | 24 | 18 | b |
| स्मृत्वा स्मृत्वा पुन: पुन: | 13 | 64 | d | स्वभावो दुस्त्यजो नाथ | 16 | 56 | c |
| स्यातां नैवं यथा पुन: | 10 | 21 | b | स्वभासा पुरुषो यथा | 20 | 19 | d |
| स्यालस्वस्रोरथाऽग्रहीत् | 4 | 23 | d | स्वभुवं प्रागवस्थितान् | 14 | 42 | b |
| स्रग्धातुकृतभूषणा: | 8 | 9 | b | स्वमहिध्वस्तमहिभि: | 13 | 54 | c |
| स्वकान् स्वकान् वत्सतरानपाययन् | 13 | 24 | c | स्वमातु: स्विन्नगात्राया: | 9 | 18 | a |
| स्वकार्थानामिव रज: | 13 | 51 | e | स्वमायामोहितात्मनाम् | 23 | 50 | b |
| स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद्भुवि | 1 | 22 | d | स्वयञ्च बुभुजे प्रभु: | 23 | 35 | d |
| स्वकृतं विन्दतेऽवश: | 4 | 21 | d | स्वयमात्माऽऽत्मगोवत्सान् | 13 | 20 | a |
| स्वकेलिसम्पन्मृदुलाच्छवालुकम् | 13 | 5 | b | स्वयमेव विमोहित: | 13 | 45 | d |
| स्वगृहान् यात बालका: | 11 | 16 | d | स्वयं तं बुभुजे बलिम् | 17 | 4 | d |
| स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे | 20 | 5 | c | स्वयं निगृह्य बुभुजे | 1 | 69 | c |
| स्वचिकीर्षितमेव तत् | 8 | 11 | b | स्वयं विश्रामयत्यार्यम् | 15 | 14 | c |
| स्वच्छन्दोपात्तदेहाय | 27 | 11 | a | स्वयं व्यशीर्यन्त यथातमोर वौ | 3 | 49 | b |
| स्वच्छाम्ब्वपरुषानिला | 20 | 32 | d | स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन् | 2 | 31 | a |
| स्वज्ञात्यपत्यदाराद्यै: | 16 | 60 | e | स्वयोगे विहितेऽस्माभि: | 25 | 15 | c |
| स्वज्योत्स्नाराजितैर्घनै: | 20 | 19 | b | स्वयैव माययाऽजोऽपि | 13 | 45 | c |
| स्वधाम परमं ययौ | 1 | 26 | d | स्वरूप: सर्वबुद्धिदृक् | 3 | 13 | d |
| स्वधाम प्रत्यपद्यत | 14 | 41 | d | स्वरोचिषा भारत सूतिकागृहम् | 3 | 12 | c |
| स्वनाथान् समजीवयत् | 15 | 50 | d | स्वर्गे लोकें मिषति बुभुजे | | | |
| स्वनाम्नां निनदं श्रुत्वा | 19 | 6 | c | यज्ञभुग्बालकेलि: | 13 | 11 | d |
| स्वनुलिप्तास्सुवाससः | 24 | 29 | b | स्वलङ्कृता भुक्तवन्त: | 24 | 29 | a |
| स्वपरेतिभिदा यत: | 4 | 26 | d | स्ववशेनाऽपि कृष्णेन | 9 | 19 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन् | 21 | 3 | d |
| स्वसत्रं पारयिष्यति | 23 | 28 | c |
| स्वसन्तानैरुपामन्त्र्य | 27 | 18 | c |
| स्वसुर्निहतवान् शिशून् | 4 | 17 | d |
| स्वसुर्वधान्निववृते | 1 | 55 | a |
| स्वस्तिवाचनपूर्वकम् | 8 | 10 | d |
| स्वस्थ: शेते मृत्युरस्मादपैति | 3 | 27 | d |
| स्वस्थाने पूर्ववत्प्रभु: | 25 | 28 | b |
| स्वस्वकर्मानुवर्तिनाम् | 24 | 15 | b |
| स्वस्वकात्मनि देहिनाम् | 14 | 51 | b |
| स्वस्वभोज्यरुचिं पृथक् | 13 | 10 | b |
| स्वं स्वमादाय गोधनम् | 25 | 27 | b |
| स्व स्वं भागं प्रयच्छन्ति | 17 | 3 | a |
| स्व स्वं वत्सकुलं सर्वे | 11 | 45 | a |
| स्वं स्वं वास: प्रगृह्यताम् | 22 | 10 | b |
| स्वगतं तेऽतिरंहसा | 14 | 45 | b |
| स्वागतं वो महाभागा | 23 | 25 | a |
| स्वाङ्कमारोप्य भामिनी | 7 | 34 | b |
| स्वात्मदोषापवर्गेण | 23 | 46 | c |
| स्वात्मानमात्माऽऽत्मतया विचक्षते | 14 | 24 | b |
| स्वाद्वन्नमुपलालितौ | 15 | 46 | b |
| स्वानाञ्च प्रीतिमावहन् | 11 | 10 | d |
| स्वानामभयदो विभु: | 28 | 3 | f |
| स्वानां निरोद्धुं भगवान् मनो दधे | 12 | 25 | d |
| स्वान् मेघान् सन्न्यवारयत् | 25 | 24 | d |
| स्वान् स्वान् सहस्रोपरि-संख्ययान्वितान् | 12 | 2 | c |
| स्वार्थे मुह्यामहे द्विजा: | 23 | 40 | d |
| स्वार्थोन्मूलितसौहृद: | 4 | 8 | d |
| स्वार्भकस्य कृतागस: | 9 | 15 | b |
| स्विन्नं वक्त्रं कबरविगलन्मालती-निर्ममन्थ | 9 | 3 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य-कोऽपि | 14 | 2 | b |
| स्वैरं चरन्त्यो विवशु: | 19 | 1 | c |
| स्वोद्भवेष्वपि कथ्यताम् | 14 | 49 | d |
| **ह** | | | |
| हतधेनुककानने | 15 | 40 | d |
| हतस्व कान्तस्मरणेन | 12 | 26 | d |
| हतेषु षट्सु बालेषु | 2 | 4 | c |
| हतोऽविता वयञ्चास्मात् | 14 | 48 | c |
| हत्वा न्यपातयत्तेन | 26 | 9 | c |
| हत्वा रासभदैतेयम् | 26 | 10 | a |
| हनिष्यामोऽद्य वै शिशून् | 4 | 31 | d |
| हन्ताऽयमद्रिरबला | 21 | 19 | a |
| हन्ता यां नयसेऽबुध: | 1 | 34 | d |
| हन्ति जन्तू नृतेऽसत: | 10 | 12 | d |
| हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि | 4 | 46 | c |
| हन्ति ह्यस्मै नमस्याम: | 24 | 37 | c |
| हन्तुकामं बकं दोर्भ्याम् | 26 | 8 | c |
| हन्तुं नाऽर्हसि कल्याणीम् | 1 | 45 | c |
| हन्यन्ते पशवो यत्र | 10 | 9 | a |
| हन्यमानमचेतनम् | 25 | 14 | b |
| हन्यमाना न विव्यथु: | 20 | 15 | b |
| हन्यमानास्समन्तत: | 4 | 33 | b |
| हरिणा भक्तवश्यता | 9 | 19 | b |
| हरिता हरिभिश्शष्पै: | 20 | 11 | a |
| हरिद्राचूर्णतैलाद्भि: | 5 | 12 | c |
| हरिद्रातैलरूषिता: | 5 | 7 | b |
| हरिष्ये श्रीमदं तम: | 25 | 16 | d |
| हरिं जगाम शरणम् | 6 | 1 | c |
| हरिं साऽमन्यताऽऽत्मजम् | 8 | 45 | d |
| हरेरनुग्रहान्नूनम् | 11 | 23 | c |
| हरेरात्माहिमोक्षणम् | 12 | 37 | b |
| हरेर्निवासात्मगुणै: | 5 | 17 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| हरेर्वैरानुबन्धकृत् | 2 | 23 | |
| हरे: प्रियचिकीर्षया | 1 | 24 | |
| हर्षशोकविवर्धन: | 2 | 5 | |
| हसद्भि: प्रहसन्बालै: | 22 | 9 | |
| हसन्तश्च पुनराददु: | 12 | 5 | |
| हसन्तो हासयन्तश्च | 13 | 10 | |
| हसन्तौ प्रशशंसतु: | 15 | 15 | |
| हस्ताग्राह्ये रचयति विधिं | 8 | 30 | |
| हस्तादाचिच्छिदे खल: | 4 | 7 | |
| हस्ते गृहीत्वा भिषयन्त्यवागुरत् | 9 | 11 | d |
| हस्ते गृहीत्वा सहरामम् | 11 | 19 | c |
| हस्तौ च कर्मसु मनस्तव | 10 | 38 | b |
| हंस्यन्यासक्तविमुखान् | 4 | 35 | |
| हायनापूरणीष्वज: | 13 | 28 | |
| हारिणो वनमालिन: | 13 | 48 | |
| हिताय चेच्छातनुभि: | 27 | 6 | |
| हितावतीर्णस्य क ईशिरे | 14 | 7 | b |
| हित्वा तैर्व्रजवासिभि: | 25 | 23 | b |
| हित्वाऽन्यान् भजते यं श्री: | 23 | 46 | |
| हित्वाऽऽर्यमार्गं प्रभजन्त्यपस्मया: | 27 | 7 | |
| हिन्वतोऽधश्शयानस्य | 26 | 5 | |
| हिंसाऽपि विनिवर्तते | 10 | 16 | |
| हिंसा मानविवर्जिता: | 7 | 13 | |
| हिंस्र: स्वपापेन विहिंसित: | 7 | 31 | |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| हुङ्कारघोषै: परिहूत | 13 | 24 | b |
| हुत्वा चाऽग्निं द्विजातिभ्य: | 7 | 15 | c |
| हूयन्तामग्नय: सम्यक् | 24 | 27 | a |
| हृत्केशवस्त्युदरमीश | 6 | 23 | c |
| हृदयाऽऽसीद्यथा पुरा | 8 | 44 | d |
| हृदोपगुह्य विजहौ | 23 | 34 | c |
| हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते | 14 | 8 | c |
| हृषीकेश नमस्तेस्तु | 16 | 47 | c |
| हृष्यत्त्वचोऽश्रुमुमुचु: | 21 | 10 | d |
| कृष्णखररूपधृत् | 15 | 23 | b |
| गोपा विहरिष्याम: | 18 | 19 | c |
| भूमिदेवाश्शृणुत | 23 | 6 | a |
| हेमन्ते प्रथमे मासि | 22 | 1 | a |
| हेऽम्ब तात व्रजौकस: | 25 | 20 | b |
| हे रामाऽऽगच्छ ताताशु | 11 | 15 | a |
| रामाऽमितविक्रम ! | 17 | 23 | b |
| ह रामाऽमितविक्रम ! | 19 | 9 | b |
| स्तोककृष्ण हे अंशो | 22 | 34 | a |
| हैयङ्गवं चौर्यविशङ्कितेक्षणम् | 9 | 8 | c |
| ह्रदमेतमुपाश्रित: | 16 | 63 | b |
| ह्रदं विवेश कालिन्द्या: | 17 | 8 | c |
| ह्रद: कश्चिद्विषाग्निना | 16 | 4 | b |
| ह्रदा जलरुहश्रिय: | 3 | 3 | b |
| ह्रियमाणो विहायसा | 26 | 6 | b |

श्री:

# व्याख्यानोद्धृतानां प्रमाण वचनानां आकरनिर्देशनी

## दशम: स्कन्ध: (प्रथमो भाग: 1-28 अध्याया:)

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particulars of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | अ | | | |
| 1 | 24 | 26 | अकर्तरि च कारके | वीर० | अष्टा० 3-3-19 | 461 |
| 2 | 16 | 49 | अकलितश्रम एव सृजति | वीर० | | 334 |
| 3 | 3 | 25 | अक्षरं तमसि लीयते | वीर० | सुबा.उ. 2-2 | 75 |
| 4 | 2 | 27 | अक्षो रथाङ्ग आधारे | विज० | वैज. को. 6-5-2 | 47 |
| 5 | 3 | 19 | अगुणो गुणदेहत्वात् | विज० | आग्नेये | 71 |
| 6 | 8 | 45 | अग्नि मीळे पुरोहितम् | विज० | ऋक्.सं 1-1-1 | 167 |
| 7 | 7 | 32 | अग्निहोत्रं तप स्सत्यं | विज० | हेम चन्द्र: | 144 |
| 8 | 20 | 5 | अग्नौ प्रास्ताहुति: सम्यक् | विज० | मैत्र.उ. 6-37 | 374 |
| 9 | 16 | 24 | अङ्गारोऽलात उल्मुकम् | विज० | अम.को. 2-606 | 317 |
| 10 | 3 | 25 | अचेतना परार्था च नित्या | वीर० | परमसंहिता | 76 |
| 11 | 16 | 41 | अच्प्रत्यन्ववपूर्वात्साम० | वीर० | अष्टा. 5-4-75 | 326 |
| 12 | 2 | 26 | अजस्यावक्रचेतस: | विज० | कठ.उ. 5-1 | 46 |
| 13 | 21 | 14 | अजाद्यतष्टाप् | विज० | अष्टा. 4-1-4 | 405 |
| 14 | 28 | 14 | अजानता मामकेन | श्रीध० | भाग० 10-28-7 | 502 |
| 15 | 3 | 20 | अजा मेका लोहित शुक्ल० | वीर० | म.ना.उ. 8-4 | 69 |
| 16 | 28 | 15 | अजो नित्य श्शाश्वतोऽयं | विज० | कठ.उ. 2-18 | 508 |
| 17 | 2 | 39 | अज्ञाना देव मन्यन्ते | विज० | ब्रह्मतर्के | 57 |
| 18 | 27 | 10 | अञ्जलि: परमा मुद्रा | वीर० | भर.सं. | 492 |
| 19 | 24 | 18 | अञ्जसा त्वरिते तत्त्वे | विज० | वैज.को.8-7-31 | 458 |
| 20 | 24 | 25 | अञ्जसायेन वर्तेत तदे. | वीर० | भाग. 10-24-18 | 460 |
| 21 | 9 | 18 | अणिमा लघिमा योग | विज० | | 175 |
| 22 | 1 | 42 | अणुर्ह्येष आत्मा (एषोऽणु रात्मा) | विज० | मुण्ड.उ. 3-1-9 | 20 |
| 23 | 14 | 14 | अणो रणीयान् महतो | वीर० | कठ.उ. 2-20 | 265 |
| 24 | 16 | 43 | अणो रणीयान् | वीर० | कठ.उ. 2-20 | 329 |
| 25 | 6 | 10 | अति स्यादधिकार्थोक्तौ | विज० | वैज.को. 8-7-15 | |
| 26 | 10 | 27 | अति स्या दधिकार्थोक्तौ | विज० | वैज.को. 8-7-15 | 189 |
| 27 | 1 | 21 | अत्यर्था मिति गीर्वाणि | विज० | | 12 |
| 28 | 24 | 31 | अत्यल्पस्त्वसुरावेशो | विज० | भागवततन्त्रे | 464 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 29 | 16 | 35 | अत्युत्कटैः पुण्यपां | विज० | | 324 |
| 30 | 1 | 21 | अथ कस्मा द्वौ रिति | विज० | निरुक्तम् | 12 |
| 31 | 2 | 26 | अथ यद्देवाश्च प्राणाश्च | वीर० | कौषी.उ. 1-6 | 44 |
| 32 | 6 | 9 | अथाऽथोऽनन्तराप्यर्थ | विज० | वैज.को. 8-7-14 | |
| 33 | 2 | 26 | अद्वैतं परमार्थतः | विज० | आगम.प्र. 17 (माण्डूक्योपनिषत् कारिकाः) | 46 |
| 34 | 7 | 31 | अधो न क्षीयते जातु | विज० | भारत.उद्यो. 69-10 | 144 |
| 35 | 3 | 24 | अध्यात्मयोगाधिगमेन | विज० | कठ.उ. 2-12 | 78 |
| 36 | 16 | 32 | अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे | वीर० | विष्वक्सेनसंहिता | 320 |
| 37 | 9 | 19 | अनन्याधीनत्वं तव किल | वीर० | वर.स्तवः - 20 | 176 |
| 38 | 3 | 24 | अनादरान्निरीहश्च | विज० | तन्त्र भागवते | 78 |
| 39 | 16 | 44 | अनादिनिधना ह्येषा वाक् | विज० | भार. शान्ति. 238-56 | 330 |
| 40 | 25 | 24 | अनुभावः प्रभावे स्यात् | विज० | वैज.को. 8-1-8 | 474 |
| 41 | 16 | 50 | अन्तःप्रियं बहिश्चेति द्विधा | विज० | षाड्गुण्ये | 336 |
| 42 | 9 | 6 | अन्तरःपरिधानीये बाह्ये | विज० | वैज.को. 7-5-1 | 171 |
| 43 | 2 | 32 | अन्धकारोऽरविन्दान्ध० | विज० | उत्पलमाला | 52 |
| 44 | 3 | 13 | अपरेऽय मितस्त्वन्याम् | वीर० | भ.गी. 7-5 | 64 |
| 45 | 16 | 40 | अपरेऽयमितस्त्वन्याम् | वीर० | भ.गी. 7-5 | 326 |
| 46 | 6 | 39 | अपिः पदार्थसम्भावना | विज० | अष्टा. 1-4-96 | 130 |
| 47 | 16 | 37 | अपुनर्भवमाप्नाद्धिहरि | विज० | पाद्मे | 324 |
| 48 | 3 | 26 | अभयं प्रतिष्ठां विन्दते | विज० | तैत्ति.उ. 2-7 | 78 |
| 49 | 16 | 25 | अभितः परित स्समया | वीर० | वार्तिक under अष्टा. 1-4-48 | 317 |
| 50 | 20 | 24 | अमृतं व्योम्नि देवान्ने | विज० | वैज.को. 7-5-7 | 384 |
| 51 | 16 | 24 | अम्बरीष | वीर० | उ.णा.सू० 316 | 469 |
| 52 | 16 | 24 | अम्बरीषः पुमान् भ्राष्ट्रम् (भ्राष्ट्रः पुंस्यम्बरीषोऽस्त्री) | वीर० | वैज.को. 4-3-56 | 316 |
| 53 | 16 | 44 | अयनं पदवी मार्गः पद्या | विज० | हला.को. 2-105 | 331 |
| 54 | 23 | 26 | अर्थी समर्थो विद्वा नधि० | विज० | | 437 |
| 55 | 25 | 21 | अलन्तु भूषणे शक्तौ | विज० | वैज.को. 8-7-13 | 474 |
| 56 | 16 | 9 | अवदातोऽरुणे पीते श्वेति | विज० | | 311 |
| 57 | 14 | 8 | अविज्ञाताः कुमारकाः | वीर० | | 261 |
| 58 | 16 | 49 | अविज्ञाताः कुमारकाः | वीर० | | 334 |
| 59 | 2 | 26 | अविनाशी अरेऽयमात्मा | विज० | बृह.उ. 4-5-14 | 46 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 60 | 3 | 25 | अव्यक्त मक्षरे विलीयते | वीर० | सुबा.उ. 2-2 | 75 |
| 61 | 3 | 24 | अव्यक्त मचलं ध्रुवम् | विज० | | 77 |
| 62 | 1 | 61 | अव्यवस्थितचित्तस्य | वीर० | पञ्चतन्त्रे | 27 |
| 63 | 24 | 8 | अष्टौ मासान्निपीतं यत् | वीर० | भाग. 10-20-5 | 452 |
| 64 | 27 | 5 | असताञ्च सताञ्चैव | विज० | आग्नेये | 491 |
| 65 | 2 | 26 | असावादित्य: सत्यं (ब्रह्म) | वीर० | सूर्य.उ. 5 | 44 |
| 66 | 25 | 5 | अस्ति चे दीश्वर: कश्चित् | विज० | भाग. 10-24-14 | 468 |
| 67 | 1 | 50 | अस्या स्त्वा मष्टमो गर्भ: | श्रीध० | भाग. 10-1-34 | 22 |
| 68 | 4 | 17 | अस्या स्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता | वीर० | भाग. 10-1-34 | 92 |
| 69 | 16 | 48 | अस्योत्पत्त्यादिहेतुत्वात् | विज० | माहात्म्ये | 335 |
| 70 | 4 | 20 | अहं ब्रह्मास्मि देवोऽस्मि | विज० | गारुडे | 96 |
| 71 | 16 | 46 | अहं ब्रह्मास्मीति | विज० | बृह.उ. 1-4-10 | 331 |
| 72 | 9 | 19 | अहं भक्तपराधीनो | वीर० | भाग. 9-4-63 | 176 |
| 73 | 6 | 9 | अहं रुद्राय धनु रातनोमि | विज० | | |
| | | | **आ** | | | |
| 74 | 25 | 5 | आजीव्येकतरं भावं | विज० | भाग. 10-24-19 | 468 |
| 75 | 2 | 26 | आत्मन एष प्राणो जायते | विज० | प्रश्न.उ. 3-3 | 46 |
| 76 | 14 | 54 | आत्मन स्तु कामाय | वीर० | बृह.उ. 4-5-6 | 285 |
| 77 | 16 | 42 | आत्मा यत्नो धृति बुद्धि: | विज० | अम.को. 3-206 | 327 |
| 78 | 3 | 24 | आत्मा वा ये इद मेक एव | विज० | ऐत.उ. 1-1-1 | 77 |
| 79 | 28 | 14 | आदित्यवर्णं तमस: परस्तात् | वीर० | श्वेता.उ. 3-8 | 507 |
| 80 | 3 | 13 | आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् | श्रीध० | तैत्ति.उ. 3-6 | 63 |
| 81 | 10 | 33 | अनीदवात स्वधया | विज० | ऋक्स. 8-7-17 | 192 |
| 82 | 14 | 14 | आपो नारा इति प्रोक्ता: | श्रीध० | मनुस्मृ० 1-10 | 263 |
| 83 | 14 | 14 | आपो नारा इति प्रोक्ता: | वीर० | मनुस्मृ०1-10 | 264 |
| 84 | 8 | 22 | आभीरपल्ली किङ्किण्यो: | विज० | | 155 |
| 85 | 10 | 17 | आरा दूरसमीपयो: | विज० | अम: को. 3-397 | 185 |
| 86 | 2 | 18 | आविश्य पितरं विष्णु: | विज० | वामने | 38 |
| 87 | 27 | 9 | आवेशो वसुदेवादौ | विज० | पाद्मे | 493 |
| 88 | 23 | 24 | आशा दिगतितृष्णयो: | विज० | वैज.को. 6-2-3 | 437 |
| | | | **इ** | | | |
| 89 | 14 | 57 | इकश्तितौ धातुनिर्देशे | वीर० | वार्तिक under अष्टा. 3-3-108 | 287 |
| 90 | 3 | 35 | इजादेश्च (गुरुमतोऽनृच्छ:) | वीर० | अष्टा. 3-1-36 | 80 |
| 91 | 4 | 13 | इति हेतु प्रकरण प्रकारादि | विज० | वैज.को. 8-7-17 | 91 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 92 | 7 | 24 | इति हेतु प्रकरण प्रकारादि | विज० | वैज.को 8-7-17 | 142 |
| 93 | 10 | 28 | इन्द्रद्रु: ककुभोऽर्जुन: | श्रीध० | अम.को.2-91 | 188 |
| 94 | 16 | 37 | इमा रामास्सरथा स्सतूर्या: | विज० | कठ.उ. 1-25 | 324 |
| 95 | 6 | 39 | इ विचित्रे स्मरे पुमान् | विज० | वैज.को. 8-7-10 | 130 |
| | | | उ | | | |
| 96 | 22 | 19 | उ तापेऽव्यय मीशे चा | विज० | वैज.को. 8-7-10 | |
| 97 | 7 | 10 | उताऽप्यर्थविकल्पयो: | विज० | अम.को. 3-398 | 136 |
| 98 | 14 | 27 | उत्तम: पुरुष स्त्वन्य: | वीर० | भ.गी. 15-17 | 274 |
| 99 | 16 | 39 | उत्तम: पुरुष स्त्वन्य: | वीर० | भ.गी. 15-17 | 326 |
| 100 | 1 | 20 | उपान्मन्त्रकरणे | विज० | अष्टा. 1-3-25 | 12 |
| 101 | 1 | 27 | उपान्वध्याङ्वस: | विज० | अष्टा. 1-4-48 | 15 |
| 102 | 23 | 39 | उभसर्वतसो: कार्या | वीर० | वर्तिक under अष्टा. 1-4-48 | 442 |
| 103 | 14 | 14 | उभेऽस्मिन्... समाहितम् | वीर० | छान्दो.उ. 8-1-3 | 265 |
| | | | ऋ | | | |
| 104 | 16 | 44 | ऋच स्सामानि जज्ञिरे | वीर० | पु.सू. 1-4 | 330 |
| 105 | 2 | 27 | ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् | विज० | श्वेता.उ. 4-8 | 47 |
| 106 | 14 | 19 | ऋते मायां विशालाक्षीम् | वीर० | रामा. 7-110-11 | 268 |
| | | | ए | | | |
| 107 | 3 | 19 | एकमेवाऽद्वितीयम् | वीर० | छान्दो.उ. 6-2-1 | 69 |
| 108 | 14 | 23 | एक मेवाऽ द्वितीयम् | वीर० | छान्दो.उ. 6-2-1 | 271 |
| 109 | 3 | 17 | एको देव स्सर्वभूतेषु | विज० | श्वेता.उ. 6-11 | 67 |
| 110 | 14 | 23 | एत द्यो वेत्ति | वीर० | भ.गी. 13-1 | 271 |
| 111 | 10 | 15 | एत द्वैष परन्तपो यत् | विज० | बृह.उ. 5-11-1 | 184 |
| 112 | 24 | 16 | एतस्य वा अक्षरस्य | विज० | बृह.उ. 3-8-9 | 458 |
| 113 | 24 | 18 | एतस्मा त्कारणात्कृष्ण: | विज० | भागवततन्त्रे | 458 |
| 114 | 1 | 2 | एतेचांशकला विष्णो: | वीर० | भाग. 1-3-28 | 3 |
| 115 | 14 | 24 | एव मनृता दात्मानं जुगुप्सेत् | वीर० | म.ना.उ. 8-2 | 271 |
| 116 | 2 | 26 | एव मनृता दात्मानं जुगुप्सेत् | वीर० | म.ना.उ. 8-2 | 44 |
| 117 | 2 | 26 | एवं पुण्यस्य कर्मणो | वीर० | म.ना.उ. 9-7 | 44 |
| 118 | 16 | 38 | एवं संसृतिचक्रेऽस्मिन् | वीर० | अहिर्बुध्न्य संहिता | 325 |
| 119 | 8 | 45 | एष पन्था: | विज० | बृह.उ. 4-4-9 | 167 |
| 120 | 14 | 14 | एष मे आत्माऽन्तर्हृदये | वीर० | छान्दो.उ. 3-14-3 | 265 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 121 | 2 | 26 | एष ह्येव परमानन्द: | विज० | | 47 |
| | | | **ऐ** | | | |
| 122 | 3 | 18 | ऐकात्म्य ज्ञानतो यान्ति | विज० | ब्रह्मवैवर्ते | 70 |
| 123 | 3 | 19 | ऐश्वर्या त्पूर्णशक्तित: | विज० | ब्राह्मे | 71 |
| | | | **ओ** | | | |
| 124 | 4 | 36 | ओकसी मन्दिराशयौ (श्रमौ) | विज० | वैज.को. 6-3-4 | 100 |
| 125 | 26 | 4 | ओजोऽवष्टम्भबलयो: | विज० | वैज.को. 6-3-4 | 479 |
| | | | **क** | | | |
| 126 | 10 | 33 | क एव ब्रह्म जानाति | विज० | | 192 |
| 127 | 4 | 34 | कक्ष्या करि वरत्रायां | विज० | वैज.को. 6-2-7 | 100 |
| 128 | 14 | 23 | कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् | वीर० | ब्र.सू. 2-3-33 | 271 |
| 129 | 24 | 17 | कर्मणा जायते जन्तु: | वीर० | भाग. 10-24-13 | 457 |
| 130 | 28 | 2 | कलार्धां द्वादशीं दृष्ट्वा | श्रीध० | | 502 |
| 131 | 2 | 35 | कश्चिन्मां वेत्तितत्त्वत: | विज० | भ.गी. 7-3 | 53 |
| 132 | 1 | 7 | कारणन्तु ध्येय: | वीर० | अथ.शिखा.उ. 3 | 4 |
| 133 | 2 | 30 | कारणन्तु ध्येय: | वीर० | अथ.शिखा.उ. 3 | 45 |
| 134 | 14 | 24 | कारणन्तु ध्येय: | वीर० | अथ.शिखा.उ. 3 | 271 |
| 135 | 14 | 58 | कारणन्तु ध्येय: | वीर० | अथ.शिखा.उ. 3 | 287 |
| 136 | 20 | 5 | कालाध्वनो रत्यन्त संयोगे | विज० | अष्टा. 2-3-5 | 373 |
| 137 | 8 | 9 | किं मया हतया मन्द | श्रीध० | भाग. 10-4-12 | 146 |
| 138 | 18 | 13 | कुम्भोलूखलके क्लीबे | विज० | अम.को. 2-80 | 357 |
| 139 | 23 | 4 | कु: पापोल्पार्थकुत्सयो: | विज० | वैज.को. 8-7-3 | 468 |
| 140 | 1 | 9 | कृतवा न्यानि विश्वात्मा | वीर० | भाग. 10-1-3 | 7 |
| 141 | 8 | 13 | कृषिर्भूवाचकश्शब्द: | वीर० | भार. 5-68-5 | 151 |
| 142 | 8 | 15 | कृषि र्भूवाचक श्शब्द: | विज० | भार. 5-68-5 | 152 |
| 143 | 2 | 9 | कृष्णस्तु भगवान्स्वयम् | श्रीध० | भाग. 1-3-28 | 34 |
| 144 | 16 | 45 | कृष्णं सीसाद्यलोहेषु | विज० | वैज.को. 6-5-15 | 331 |
| 145 | 16 | 24 | कृतृभ्यामीषन् | वीर० | उणा.सू. 466 | 316 |
| 146 | 3 | 19 | केवलो निर्गुणश्च | विज० | श्वेता.उ. 6-11 | 71 |
| 147 | 16 | 35 | कोह्येवान्यात्क: प्राण्यात् | वीर० | तैत्ति.आ. 2-7 | 322 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 148 | 12 | 39 | कौमारं पञ्चमाब्दान्तं | वीर० | | 231 |
| 149 | 7 | 4 | क्रमनिम्नमहीभागे कवि० | विज० | वैज.को. 6-1-37 | 134 |
| 150 | 24 | 18 | क्रिया यजनयो: कर्म | विज० | वैज.को. 6-3-4 | 458 |
| 151 | 25 | 1 | क्रुध द्रुहेर्ष्यासूयार्थानां | विज० | अष्टा. 1-4-37 | 467 |
| 152 | 16 | 24 | क्लीबेऽम्बरीषं भ्राष्ट्रो ना | वीर० | अम.को. 2-607 | 316 |
| 153 | 28 | 14 | क्षयन्तमस्य रजस: पराके | वीर० | ऋक्सं. 7-100-5 | 507 |
| 154 | 3 | 17 | क्षेत्रज्ञ: पुरुषो ह्यात्मा | विज० | हला.को. 1-134 | 67 |
| 155 | 2 | 29 | क्षेमो ना प्राप्तरक्षायां | विज० | वैज.को. 6-5-22 | 48 |
| | | | **ख** | | | |
| 156 | 27 | 5 | खलेन पर्षान्प्रतिहन्मि | विज० | | 490 |
| | | | **ग** | | | |
| 157 | 1 | 16 | गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयात् | विज० | विष्णु.पु. 2-8-123 | 10 |
| 158 | 1 | 50 | गति र्धातु र्दुरत्यया | श्रीध० | भाग. 10-1-50 | 22 |
| 159 | 21 | 12 | गत्यर्था बुद्ध्यर्था: | वीर० | न्याय | |
| 160 | 6 | 15 | गव्यूति: स्त्री क्रोशयुगम् | विज० | अम.को. 2-18 | 121 |
| 161 | 27 | 7 | गुरु रात्मवतां शास्ता | विज० | विष्णु.ध. 65-27 | 491 |
| 162 | 3 | 51 | गृहा: पुंसि च भूम्न्येव | विज० | अम.को. 2-23 | 86 |
| 163 | 26 | 25 | गोस्वामी गोविन्दोऽधिकृतो गवाम् | विज० | अम.को. 3-248 | 485 |
| | | | गोष्ठाध्यक्षे तु गोविन्द: | विज० | वैज.को. 3-4-59 | |
| 164 | 2 | 22 | गौ र्दृष्टिर्दीधिति: स्वर्गे | विज० | हला.को. 5-68 | 41 |
| | | | **च** | | | |
| 165 | 2 | 26 | चक्षुषी चन्द्र सूर्यौ | वीर० | मुण्ड.उ. 2-1-4 | 44 |
| 166 | 21 | 13 | चित्र माश्चर्यलेख्ययो: | विज० | वैज.को. 6-5-30 | 405 |
| 167 | 20 | 1 | चोन्वाचये समाहारे | विज० | वैज.को. 8-7-4 | 373 |
| | | | **छ** | | | |
| 168 | 10 | 10 | छन्नोऽन्येषां नतु स्वस्य | विज० | महाकौर्मे | 193 |
| | | | **ज** | | | |
| 169 | 3 | 20 | जगतां वर्धयन् सत्त्वम् | विज० | ब्रह्मतर्के | 71 |
| 170 | 3 | 13 | जग व्द्यापार वर्जं | वीर० | ब्र.सू. 4-4-17 | 64 |
| 171 | 1 | 41 | जन्तो र्वै कस्यचिद्धेतो: | श्रीध० | भाग. 11-22-41 | 16 |
| 172 | 2 | 36 | जन्म कर्म च मे दिव्यम् | वीर० | भ.गी. 4-9 | 51 |
| 173 | 14 | 19 | जलं संस्तभ्य मायया | वीर० | भारते | 268 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 174 | 14 | 14 | जह्नु र्नारायणो नर: | वीर० | भरते. अनुशा. 135-39 | 264 |
| 175 | 10 | 30 | जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु: | विज० | भ.गी. 2-27 | 192 |
| 176 | 1 | 3 | जातो गत: पितृगृहा द्वत | श्रीध: | भाग 9-24-66 | 3 |
| 177 | 1 | 1 | जातो गत: पितृगृहा द्वत | वीर० | भाग. 9-24-66 | 3 |
| 178 | 2 | 21 | जीवन्भद्राणि (पश्यतु) | विज० | भार. आरण्य. 240-36 | 41 |
| 179 | 16 | 48 | जीवस्य तदधीनत्वात् | विज० | माहात्म्ये | 335 |
| 180 | 3 | 17 | ज्ञाताऽपि सर्व भावानां (सर्वस्य भवान्) | विज० | तन्त्र भागवते | 67 |
| | | | **त** | | | |
| 181 | 14 | 2 | तत आगत: | वीर० | अष्टा. 4-3-74 | 258 |
| 182 | 27 | 4 | तत आगत: | वीर० | अष्टा. 4-3-74 | 489 |
| 183 | 5 | 1 | तत आरभ्य | वीर० | भाग. 10-5-17 | 105 |
| 184 | 2 | 26 | तत्सत्य मित्याचक्षते | श्रीध० | तैत्ति.उ. 2-6 | 42 |
| 185 | 3 | 14 | तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनु प्राविशत् | श्रीध० | तैत्ति.उ. 2-6 | 63 |
| 186 | 3 | 14 | तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत् | वीर० | तैत्ति.उ. 2-6 | 65 |
| 187 | 3 | 24 | तदव्यक्त माह (हि) | विज० | ब्र.सू. 3-2-22 (23) | 77 |
| 188 | 9 | 14 | तदव्यक्त माह हि | विज० | ब्र.सू. 2-22 (23) | 75 |
| 189 | 14 | 34 | तदस्तु मे नाथ स भूरि | श्रीध० | भाग. 10-14-30 | 276 |
| 190 | 23 | 26 | तदेत त्प्रेष्ठ: | विज० | | 437 |
| 191 | 3 | 25 | तदेत दक्षयं नित्यं जगत् | वीर० | विष्णु.पु. 1-22-60 | 76 |
| 192 | 3 | 19 | तदैक्षत बहु स्याम् | वीर० | छान्दो.उ. 6-2-3 | 69 |
| 193 | 16 | 46 | तद्ब्रह्म वेद | विज० | | 331 |
| 194 | 20 | 36 | तद्विद्धि प्रणिपातेन | वीर० | भ.गी. 4-34 | 390 |
| 195 | 3 | 25 | तम: परे देव एकी | वीर० | सुबा.उ. 2-2 | 75 |
| 196 | 3 | 22 | तमो द्वेषात्मकं शुद्धं | विज० | ब्रह्मतर्के | 72 |
| 197 | 4 | 20 | तल्लक्षणै र्विहीनस्सन् | विज० | गारुडे | 96 |
| 198 | 11 | 56 | तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते | श्रीध० | भाग. 10-8-19 | 216 |
| 199 | 27 | 1 | तस्मिन्नप्यसुरावेशे | विज० | भागवततन्त्रे | 487 |
| 200 | 16 | 44 | तस्य ह वा एतस्य महतो | वीर० | सुबा.उ. 2-1 | 330 |
| 201 | 10 | 35 | तस्यावतार देहस्था: | विज० | महाकौर्मे | 193 |
| 202 | 2 | 19 | तस्या श्शिखाया मध्ये | वीर० | मना.उ. 9-12 | 37 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 203 | 5 | 1 | तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां | वीर० | भाग. 10-4-29 | 105 |
| 204 | 1 | 20 | तस्येद मेव शिर: | विज० | तैत्ति.उ. 2-1-1 | 12 |
| 205 | 2 | 26 | तं देवा: प्राणयन्त | विज० | एत.उ. 1-5-1 | 46 |
| 206 | 16 | 48 | तानहं द्विषत: क्रूरान् | वीर० | भ.गी. 16-19 | 333 |
| 207 | 8 | 41 | तां स्ते प्रेत्याऽभिगच्छन्ति | विज० | ईशा.उ. 3; बृह.उ. 4-4-11 | 163 |
| 208 | 10 | 34 | तुच्छयेनाभ्वपिहितं | विज० | ऋक्सं 10-129-3 | 193 |
| 209 | 23 | 13 | तृणा दपि लघु स्तूल: | वीर० | शार्ङ्ग.पद्ध. 400 | 432 |
| 210 | 24 | 14 | तृप्त एवैन मिन्द्र: | वीर० | | 454 |
| 211 | 23 | 49 | ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं | वीर० | भ.गी. 9-21 | 446 |
| 212 | 24 | 16 | तेन जातं फलं यस्मात् | विज० | भागवत तन्त्रे | 458 |
| 213 | 14 | 23 | तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं | वीर० | श्वेता.उ. 3-9 | 270 |
| 214 | 16 | 48 | तेषा महं समुद्धर्ता मृत्यु० | वीर० | भ.गी. 12-7 | 333 |
| 215 | 2 | 33 | तेषां नित्याभियुक्तानां | वीर० | भ.गी. 9-22 | 50 |
| 216 | 26 | 25 | त्वं न इन्द्रोजगत्पते | वीर० | भाग. 10-27-20 | 484 |

## द

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 217 | 9 | 6 | दधिमण्डो भवे न्मस्तु | विज० | हला.को. 2-166 | 170 |
| 218 | 16 | 34 | दण्डोऽपि भगवच्चीर्णो | विज० | महाकौर्मे | 323 |
| 219 | 16 | 39 | दण्डोऽपि भगवच्चीर्ण: | विज० | महाकौर्मे | 327 |
| 220 | 27 | 5 | दण्डोऽस्त्रीशासने राज्ञां | विज० | वैज.कौ. 6-5-38 | 491 |
| 221 | 16 | 18 | दम्भोलि दशनिर्द्वयो: | विज० | आम.को. 1-47 | 315 |
| 222 | 14 | 11 | दशोत्तेरण पयसा मैत्रे० | वीर० | विष्णुपु. 2-7-23 | 264 |
| 223 | 27 | 1 | दिदृष्टिदीधितिस्वर्गवज्र० | विज० | हला.को. 5-68 | 487 |
| 224 | 2 | 41 | दिष्ट्या स्या न्मङ्गलादिषु | विज० | वैज.को. 8-7-21 | 57 |
| 225 | 16 | 49 | दुर्गा चाप्यवरा तत: | विज० | प्रकाशिकायम् | 335 |
| 226 | 15 | 6 | दु:खैनो व्यसने ष्वघम् | विज० | अम.को. 3-184 | 293 |
| 227 | 8 | 9 | देवक्या अष्टमो गर्भो न | श्रीध० | भाग. 10-8-8 | 146 |
| 228 | 16 | 49 | देवस्यैव स्वभावोऽयं | विज० | | 330 |
| 229 | 1 | 42 | देवादित्वं योग्यतया | विज० | नारदीये | 20 |
| 230 | 4 | 26 | देवोऽहं मानुषो वेति | विज० | ब्रह्माण्डे | 97 |
| 231 | 1 | 40 | देहान्तर मनुप्राप्य | वीर० | भाग. 10-1-39 | 18 |
| 232 | 16 | 45 | द्युम्नं द्रव्यं द्रविणम् | विज० | हला.को. 1-80 | 331 |
| 233 | 20 | 3 | सत्त्वं, द्रव्ये सत्तास्वभावयो: | विज० | वैज.को. 6-5-94 | 373 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 234 | 14 | 3 | द्रौपद्या सहिता स्सर्वे | वीर० | | 258 |
| 235 | 8 | 24 | द्वा सुपर्णा | विज० | मुण्ड.उ. 3-1-1 | 155 |
| 236 | 17 | 1 | द्वीपं रमणकं हित्वा | वीर० | भाग. 10-16-63 | 343 |
| | | | **ध** | | | |
| 237 | 23 | 39 | धिग्भर्त्सने कुत्सने | विज० | वैज.को. 8-7-5 | 443 |
| 238 | 6 | 9 | ध्वाङ्क्षाराति र्निशाटन: | विज० | हला.को. 2-91 | |
| | | | **न** | | | |
| 239 | 16 | 38 | न चक्षुषा पश्यति कश्चन | विज० | कठ.उ. 6-9 | 327 |
| 240 | 24 | 16 | न चाऽऽसौ कर्मफलभाक् | विज० | भागवततन्त्रे | 458 |
| 241 | 3 | 41 | न तत्समश्चाभ्यधिकश्च | वीर० | श्वेता.उ. 6-8 | 82 |
| 242 | 16 | 48 | नता: स्म सर्ववचसां प्रति० | वीर० | विष्णु पु० 1-14-23 | 333 |
| 243 | 3 | 41 | न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिक: | वीर० | भ.गी. 11-43 | 82 |
| 244 | 24 | 16 | न तदस्ति पृथिव्यां वा | वीर० | भ.गी. 18-40 | 457 |
| 245 | 14 | 2 | न भूत सङ्घसंस्थानो | वीर० | भार.शान्ति. 206-60 | 258 |
| 246 | 16 | 50 | नम स्तुभ्यं भगवते | विज० | भाग. 10-16-39 | 335 |
| 247 | 23 | 29 | न मे भक्त: प्रणश्यति | श्रीध० | भ.गी. 9-31 | 438 |
| 248 | 23 | 29 | न मे भक्त: प्रणश्यति | वीर० | भ.गी. 9-31 | 439 |
| 249 | 23 | 29 | न मे भक्त: प्रणश्यति | विज० | भ.गी. 9-31 | 440 |
| 250 | 14 | 14 | नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणि | श्रीध० | पाद्मपुराणम् | 263 |
| 251 | 2 | 28 | नलोपो नञ: | वीर० | अष्टा० 6-3-73 | 45 |
| 252 | 14 | 50 | न वा अरे पत्यु: कामाय | वीर० | बृह.उ. 4-5-6 | 283 |
| 253 | 14 | 54 | न वा अरे (पत्यु: कामाय) | वीर० | बृह.उ. 4-5-6 | 285 |
| 254 | 23 | 27 | न वा अरे पत्यु: कामाय | वीर० | बृह.उ. 4-5-6 | 439 |
| 255 | 23 | 29 | न स पुन रावर्तते | श्रीध० | निरा.उ. 33 | 438 |
| 256 | 3 | 9 | नस्तद्धिते | वीर० | अष्टा. 6-4-144 | 62 |
| 257 | 10 | 40 | न ह्यन्यो जुषतो जोष्यान् | श्रीध० | भाग. 10-10-8 | 196 |
| 258 | 10 | 40 | न ह्यन्यो जुषतो जोष्यान् | वीर० | भाग. 10-10-8 | 196 |
| 259 | 2 | 26 | न ह्येतस्मा दिति नेति नेति | वीर० | बृह.उ. 2-3-6 | 44 |
| 260 | 16 | 37 | नाकस्य पृष्ठेते सुकृते | विज० | मुण्ड.उ. 1-2-10 | 324 |
| 261 | 24 | 16 | नान्यकर्म वशत्वन्तु तेषां | विज० | भागवततन्त्रे | 458 |
| 262 | 16 | 38 | नाऽन्यै र्देवै र्न मनसा नापि | विज० | | 327 |
| 263 | 3 | 25 | नामानि सर्वाणि च यं विशन्ति | विज० | | 78 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 264 | 11 | 56 | नारायणसमो गुणैः | वीर० | भाग. 10-8-19 | 217 |
| 265 | 18 | 15 | निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे | विज० | अम.को. 2-46 | 357 |
| 266 | 16 | 44 | निगमो निश्चये वेदे | विज० | वैज.को. 7-1-35 | 331 |
| 267 | 23 | 49 | नित्यमसिच् प्रजामेधयोः | वीर० | अष्टा. 5-4-112 | 446 |
| 268 | 16 | 43 | नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं | वीर० | मुण्ड.उ. 1-1-6 | 329 |
| 269 | 16 | 43 | नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं | विज० | मुण्ड.उ. 1-1-6 | 330 |
| 270 | 2 | 26 | नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां | वीर० | कठ.उ. 5-13 | 44 |
| 271 | 16 | 44 | निदेशग्रन्थयो श्शास्त्रम् | विज० | अम.को. 3-335 | 331 |
| 272 | 3 | 24 | निर्गुणं केवलो निर्गुणश्च | विज० | श्वेता उ. 6-11 | 78 |
| 273 | 3 | 24 | निर्विकारोऽक्षर श्शुद्धः | विज० | | 78 |
| 274 | 3 | 20 | निषेधे वागलङ्कारे क्षीप्सने | विज० | वैज.को. 8-7-20 | 71 |
| 275 | 3 | 19 | निष्कलं निष्क्रियं शान्तं | वीर० | श्वेता.उ. 6-19 | 69 |
| 276 | 14 | 37 | निष्कलं निष्क्रियं | वीर० | श्वेता.उ. 6-19 | 279 |
| 277 | 1 | 15 | निष्ठोत्कर्षे व्यवस्थायां | विज० | वैज.को. 6-2-21 | 10 |
| 278 | 21 | 13 | नीवी वस्त्रांशुक ग्रन्थ्योः | विज० | | 405 |
| 279 | 6 | 39 | नु पृच्छायां विकल्पे च | विज० | अम.को. 3-403 | 130 |
| 280 | 21 | 1 | ने र्विशः | विज० | अष्टा. 1-3-17 | 398 |
| 281 | 7 | 33 | नेह स्थेयं बहुदिनं | वीर० | भाग. 10-5-30 | 143 |
| 282 | 8 | 41 | नैषा तर्केण मति रापनेया | विज० | कठ.उ. 2-9 | 163 |
| | | | प | | | |
| 283 | 8 | 19 | पक्षः पार्श्व गरुत्साध्य | विज० | वैज.को. 6-1-35 | 152 |
| 284 | 25 | 18 | पत्नी स्वीकारशपथ | विज० | वैज.को. 8-1-30 | 472 |
| 285 | 2 | 38 | पदाद्याश्रयणा द्विष्णोः | विज० | ब्रह्मतर्के | 57 |
| 286 | 3 | 24 | परञ्ज्योति रुपसम्पद्य | विज० | छान्दो.उ. 8-3-4 | 77 |
| 287 | 4 | 20 | परब्रह्मण एकस्य | विज० | गारुडे | 96 |
| 288 | 1 | 43 | परस्वो हरि रुद्दामः | विज० | प्रकाशिकायां | 20 |
| 289 | 20 | 4 | परायणं ज्योति रेकं तपन्तं | विज० | प्रश्न.उ. 1-8 | 373 |
| 290 | 2 | 36 | पराऽस्य शक्ति र्विविधैव | वीर० | श्वेता.उ. 6-8 | 51 |
| 291 | 8 | 36 | पराऽस्य शक्ति र्विविधैव | वीर० | श्वेता.उ. 6-8 | 161 |
| 292 | 8 | 17 | परित्राणाय साधूनां | वीर० | भ.गी. 4-8 | 151 |
| 293 | 1 | 43 | परेषां द्रोह माचरन् | विज० | तन्त्र भागवते | 20 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 294 | 24 | 5 | परोक्षप्रिया इव हि देवा: | विज० | बृह.उ. 4-2-2 | 450 |
| 295 | 24 | 13 | पर्जन्य: फल भावन: | वीर० | भाग. 10-24-10 | 454 |
| 296 | 20 | 5 | पर्जन्यो गर्जदभ्रेऽभ्रध्वाने | विज० | वैज.को. 7-1-42 | 374 |
| 297 | 11 | 27 | पर्वताद्री (शैल वृक्षौ) नगा वगौ | विज० | अम.को. 3-175 | 208 |
| 298 | 7 | 8 | पुमान् स्त्रिया | वीर० | अष्टा. 1-2-69 | 136 |
| 299 | 15 | 51 | पुमान् स्त्रिया | वीर० | अष्टा. 1-2-69 | 306 |
| 300 | 4 | 1 | पूतनाकंसनरक शिशु | विज० | गारुडे | 88 |
| 301 | 14 | 23 | पूर्व मेवाऽह मिहाऽऽसम् | श्रीध० | | 269 |
| 302 | 3 | 25 | पृथिव्यप्सु प्रलीयते | वीर० | सुबा.उ. 2-2 | 75 |
| 303 | 3 | 25 | प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्धि | वीर० | भ.गी. 13-19 | 76 |
| 304 | 2 | 26 | प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रति | वीर० | ब्र.सू. 3-2-22 | 44 |
| 305 | 7 | 32 | प्रणय: प्रसर स्समौ (प्रसरप्रणयौ समौ) | विज० | अम.को. 3-138 | 144 |
| 306 | 1 | 53 | प्रत्यग्र मुक्तं सद्यस्कं | विज० | हला.को. 4-78 | 25 |
| 307 | 8 | 48 | प्रत्यारम्भे प्रसिद्धौ ह | विज० | वैज.को. 8-7-8 | 167 |
| 308 | 26 | 15 | प्रत्यारम्भे प्रसिद्धौ ह | विज० | वैज.को. 8-7-8 | 482 |
| 309 | 3 | 18 | प्रविष्टत्वा च्छरीरिषु जीवा: | विज० | ब्रह्मण्डे | 70 |
| 310 | 10 | 10 | प्रश्ने क्षेपे विकल्पे किम् | विज० | वैज.को. 8-7-3 | 181 |
| 311 | 24 | 23 | प्रश्ने क्षेपे विकल्पे किम् | विज० | वैज.को. 8-7-3 | 460 |
| 312 | 5 | 25 | प्रसक्तधी रात्मजयो: | श्रीध० | भाग. 10-5-22 | 112 |
| 313 | 1 | 42 | प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढ: | विज० | बृह.उ. 4-3-35 | 20 |
| 314 | 23 | 23 | प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढ: | वीर० | बृह.उ. 4-3-35 | 436 |
| 315 | 23 | 23 | प्राज्ञेनाऽऽत्मना सम्परिष्वक्त: | वीर० | बृह.उ. 4-3-21 | 436 |
| 316 | 16 | 50 | प्राणस्य प्राणम् | विज० | बृह.उ. 4-4-18 | 336 |
| 317 | 2 | 35 | प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् | विज० | भ.गी. 7-17 | 53 |
| 318 | 23 | 29 | प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् | वीर० | भ.गी. 7-17 | 439 |
| | | | **फ** | | | |
| 319 | 3 | 51 | फणा द्वयो: | विज० | अम.को. 1-229 | 85 |
| 320 | 24 | 16 | फल रूप्यन्यकर्मणाम् | विज० | भाग. 10-24-14 | 458 |
| | | | **ब** | | | |
| 321 | 1 | 9 | बलं गदं सारणञ्च | श्रीध० | भाग. 9-24-46 | 6 |
| 322 | 3 | 14 | बहिश्चविद्यमानत्वा दप्रवि० | विज० | ब्रह्मतर्के | 66 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 323 | 2 | 36 | बहुधा विजायते | वीर० | पु.सू. 2-1 | 51 |
| 324 | 18 | 24 | बहुमानविरोधे तु व्यत्यास: | विज० | ब्रह्मतर्के | 360 |
| 325 | 16 | 49 | बहुस्यां प्रजायेय | वीर० | छान्दो.उ. 6-2-3 | 334 |
| 326 | 23 | 9 | बालिशो बालमूर्खयो: | विज० | वैज.को. 7-4-20 | 430 |
| 327 | 3 | 25 | ब्रह्मण: स्वस्य मानेन | वीर० | | 75 |
| 328 | 3 | 24 | ब्रह्मविदाप्नोति परम् | विज० | तैत्ति. 2-1-1 | 77 |
| 329 | 8 | 41 | ब्रह्मविदाप्नोति परम् | विज० | तैत्ति.उ. 2-1-1 | 163 |
| 330 | 14 | 58 | ब्रह्मवदाप्नोति परम् | वीर० | तैत्ति.उ. 2-1-1 | 287 |
| 331 | 27 | 11 | ब्रह्मविदाप्नोति परम् | वीर० | तैत्ति.उ. 2-1-1 | 493 |
| 332 | 2 | 28 | ब्रह्मा देवानां प्रथमस्सम्बभूव | विज० | मुण्ड.उ. 1-1 | 47 |
| | | | **भ** | | | |
| 333 | 14 | 15 | भक्त्यात्वनन्यया शक्य: | वीर० | भ.गी. 11-54 | 259 |
| 334 | 2 | 31 | भगवत्पादपोतोऽसौ | विज० | वामने | 48 |
| 335 | 4 | 26 | भगवद्दर्शनाद्यस्य | विज० | भविष्यत्पुराणे | 97 |
| 336 | 2 | 39 | भवो भद्रे हरे प्राप्तौ सत्ता० | विज० | वैज.को. 6-1-41 | 57 |
| 337 | 8 | 46 | भागा भाग्यांशतुर्यांशा: | विज० | वैज.को. 6-1-41 | 167 |
| 338 | 2 | 23 | भावो लीला क्रिया चेष्टा० | विज० | वैज.को. 6-1-43 | 41 |
| 339 | 25 | 17 | भावो लीला क्रियाचेष्टा० | विज० | वैज.को. 6-1-43 | 472 |
| 340 | 1 | 7 | भासनोपसम्भाषाज्ञान० | वीर० | अष्टा. 1-3-47 | 4 |
| 341 | 1 | 7 | भासनोपसम्भाषाज्ञान० | विज० | अष्टा. 1-3-47 | 5 |
| 342 | 1 | 27 | भुजोऽनवने | वीर० | अष्टा. 1-3-66 | 14 |
| 343 | 16 | 39 | भूतनाशेन नाश: स्यात् | विज० | | 327 |
| 344 | 23 | 6 | भूमिदेवो द्विजोत्तम: | विज० | हला.को. 2-236 | 430 |
| 345 | 3 | 13 | भूमिरापोऽनलो वायु: | वीर० | भ.गी. 7-4 | 64 |
| 346 | 16 | 39 | भूमिरापोऽनलो वायु: | वीर० | भ.गी. 7-4 | 326 |
| 347 | 14 | 57 | भूवादयो धातव: | वीर० | अष्टा. 1-3-2 | 287 |
| 348 | 15 | 6 | भ्रमराणां पक्षमूल मल माहु: | विज० | | 293 |
| | | | **म** | | | |
| 349 | 6 | 9 | मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्न | विज० | अम.को. 3-402 | |
| 350 | 25 | 2 | मन्यु र्दैन्ये क्रतौ क्रुधि | विज० | अम.को. 3-309 | 467 |
| 351 | 14 | 2 | मयट् च | वीर० | अष्टा. 4-3-82 | 258 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 352 | 27 | 4 | मयट् च | वीर० | अष्टा. 4-3-82 | 489 |
| 353 | 8 | 29 | मर्को मनसि वायौ च तोके | विज० | वैज.को. 6-1-45 | 158 |
| 354 | 3 | 16 | महदादि स्त्वविकृत: | विज० | ब्रह्मतर्के | 67 |
| 355 | 3 | 15 | महदाद्या: विशेषान्ता ह्यण्ड० | वीर० | विष्णु.पु. 1-2-53 | 65 |
| 356 | 3 | 25 | महानव्यक्ते विलीयते | वीर० | सुबा.उ. 2-2 | 76 |
| 357 | 27 | 10 | महान्प्रभुर्वै पुरुष: | वीर० | श्वेता.उ. 3-12 | 493 |
| 358 | 15 | 7 | महेशाज्ज्ञानमन्विच्छेत् | विज० | | 294 |
| 359 | 14 | 19 | मायया सततं वेत्ति | वीर० | भार. App. 15-2805 pr | 268 |
| 360 | 14 | 19 | मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् | वीर० | श्वेता.उ. 4-10 | 268 |
| 361 | 14 | 19 | माया वयुनं ज्ञानं | वीर० | वे.नि. 3-9 | 268 |
| 362 | 19 | 12 | मुखा दिन्द्रश्चाऽग्निश्च | वीर० | पु.सू. 1-6 | 369 |
| 363 | 14 | 60 | मुष्णन्तोऽन्योन्यशिक्यादीन् | श्रीध० | भाग. 10-12-5 | 286 |
| 364 | 14 | 60 | मुष्णन्तोऽन्योन्यशिक्यादीन् | वीर० | भाग. 10-12-5 | 288 |
| 365 | 16 | 28 | मूर्छा तु कश्मलं मोह: | विज० | अम.को. 2-566 | 320 |
| 366 | 21 | 7 | मूलधने पात्रे भाण्डं भूषाश्वभूपयो: | विज० | वैज.को. 6-3-23 | 401 |
| 367 | 2 | 28 | मोहितं नाऽभिजानाति मां | वीर० | भ.गी. 7-13 | 45 |
| | | | **य** | | | |
| 368 | 16 | 32 | य आत्मदा बलदा | वीर० | तैत्ति.सं. 4-1-8 | 320 |
| 369 | 2 | 26 | य आदित्ये तिष्ठन् यश्चन्द्र० | वीर० | बृह.उ. 3-7-9 | 44 |
| 370 | 28 | 15 | यच्च ज्योति: स्वयं प्रकाशमानं | विज० | | 508 |
| 371 | 28 | 15 | यच्च सनातनं सदैक० | विज० | | 508 |
| 372 | 3 | 13 | यतो वा इमानि भूतानि | वीर० | तैत्ति.उ. 3-1 | 64 |
| 373 | 8 | 41 | यतो वा इमानि भूतानि | वीर० | तैत्ति.उ. 3-1 | 162 |
| 374 | 8 | 41 | यतो वा इमानि भूतानि | विज० | तैत्ति.उ. 3-1 | 163 |
| 375 | 9 | 9 | यतो वाचो निवर्तन्ते | वीर० | तैत्ति.उ. 2-4 | 172 |
| 376 | 2 | 27 | यत्किञ्च जगत्यां जगत् | विज० | ईशा.उ. 1 | 47 |
| 377 | 2 | 36 | यत्त दद्रेश्य मग्राह्यं | वीर० | मुण्ड.उ. 1-6 | 51 |
| 378 | 3 | 24 | यत्त दद्रेश्य मग्राह्यं | वीर० | मुण्ड.उ. 1-6 | 74 |
| 379 | 1 | 51 | यथा कुण्डस्थितस्याऽग्ने: | विज० | वामने | 25 |
| 380 | 14 | 24 | यथा वृक्षस्य सम्पुष्पितस्य | वीर० | म.ना.उ. 7-9 | 271 |
| 381 | 3 | 29 | यथाऽसादृश्ये | विज० | अष्टा. 2-1-7 | 79 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 382 | 1 | 43 | यथैवोदशरावेषु | विज० | तन्त्रभागवते | 20 |
| 383 | 2 | 26 | यदन्यद्देवेभ्य: प्राणेभ्य: | वीर० | कौषी.उ. 1-6 | 44 |
| 384 | 8 | 5 | य दुपचित मन्यजन्मनि | श्रीध० | | 146 |
| 385 | 2 | 1 | यदुभि स्सव्यरुध्यत | श्रीध० | भाग. 10-1-68 | 32 |
| 386 | 2 | 1 | यदुभि स्सव्यरुध्यत | विज० | भाग. 10-1-68 | 32 |
| 387 | 10 | 33 | यमेवैष वृणुते तेन लभ्य: | विज० | कठ.उ. 2-22 | 192 |
| 388 | 2 | 36 | यस्य चैतत्कर्म स वै | वीर० | कौषी.उ. 4-18 | 51 |
| 389 | 10 | 29 | यस्य पृथिवी शरीरम् | वीर० | बृह.उ. 3-7-3 | 189 |
| 390 | 10 | 29 | यस्याऽक्षरं शरीरं | वीर० | सुबा.उ. 7-1 | 189 |
| 391 | 2 | 36 | यस्सर्वज्ञ स्सर्ववित् | वीर० | मुण्ड.उ. 2-2-7 | 51 |
| 392 | 1 | 42 | यं यं वाऽपि स्मरन् भावं | वीर० | भ.गी. 8-6 | 19 |
| 393 | 5 | 29 | यं हि न व्यथयन्त्येते | वीर० | भ.गी. 2-15 | 115 |
| 394 | 6 | 9 | य स्सर्वज्ञ: | विज० | मुण्ड.उ. 1-1-9 | |
| 395 | 1 | 49 | याव दवधारणे | विज० | अष्टा. 2-1-8 | 24 |
| 396 | 14 | 19 | योगमायां समादिशत् | वीर० | भाग. 10-2-6 | 268 |
| 397 | 16 | 44 | योनि: स्त्रीणां भगे स्थाने | विज० | वैज.को. 6-5-66 | 331 |
| 398 | 2 | 16 | यो मनसि तिष्ठन् | वीर० | बृह.उ. 3-7-20 | 37 |
| | | | **र** | | | |
| 399 | 16 | 24 | र ऋतो हलादे र्लघो: | वीर० | अष्टा. 6-4-161 | 316 |
| 400 | 25 | 5 | रजसा चोदिता मेघा: | विज० | भाग. 10-24-23 | 468 |
| 401 | 10 | 17 | रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा | विज० | भ.गी. 2-59 | 185 |
| 402 | 16 | 7 | रागे क्वाथे कषायोऽस्त्री | विज० | वैज.को. 7-5-22 | 311 |
| 403 | 1 | 43 | रागोऽनुरागे लाक्षायां | विज० | वैज.को. 6-1-51 | 21 |
| 404 | 2 | 36 | रुक्मवर्णं कर्तार मीशम् | विज० | मुण्ड.उ. 3-1-3 | 53 |
| 405 | 6 | 9 | रुद्रो मा विशान्तक | विज० | तैत्ति.आर. 10-37-1 | |
| 406 | 18 | 2 | रूपं शब्दे पशौ श्लोके | विज० | वैज.को. 6-3-28 | 354 |
| 407 | 21 | 13 | रूपं... सौन्दर्ये च स्वभावे च | विज० | वैज.को. 6-3-28 | 405 |
| 408 | 10 | 29 | रूप्यत्वात्तु जगद्रूपं | विज० | वामने | 189 |
| | | | **ल** | | | |
| 409 | 20 | 46 | लाभनिष्पत्तिभोगेषु (फलम्) | विज० | वैज.को. 6-5-52 | 395 |
| 410 | 1 | 37 | लाभोपकृतिसम्बन्धा: | श्रीध० | | 16 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 411 | 26 | | लिङ्निमिते लृङ् क्रियातिपत्तौ | विज० | अष्टा. 3-3-139 | 482 |
| | | | **व** | | | |
| 412 | 16 | 48 | वचसां वाच्यमुत्तमम् | वीर० | जित.स्तो. | 333 |
| 413 | 21 | 7 | वणिङ्मूलधने पात्रे भाण्डं | विज० | वैज.को. 6-3-23 | 401 |
| 414 | 4 | 36 | वनं भास्यप्सुकानने | विज० | वैज.को. 6-3-31 | 100 |
| 415 | 16 | 8 | वरो ना रूपजामात्रो: | विज० | वैज.को. 6-5-72 | 311 |
| 416 | 25 | 5 | वर्तेत ब्रह्मणा | विज० | भाग. 10-24-20 | 468 |
| 417 | 3 | 20 | वर्धयं स्तु तमो लोके | विज० | ब्रह्मतर्के | 71 |
| 418 | 3 | 20 | वर्धयं स्तु रजो येन | विज० | ब्रह्मतर्के | 71 |
| 419 | 20 | 49 | वर्षोऽ स्त्री भारताद्यम्बु | विज० | वैज.को. 6-5-79 | 395 |
| 420 | 8 | 14 | वसन्ति यत्र भूतानि वसन्ति | वीर० | विष्णु. पु. 6-5-75 | 151 |
| 421 | 1 | 8 | वसुदेवस्तु देवक्याम् | श्रीध० | भाग. 9-24-53 | 6 |
| | 1 | 9 | वसुदेवस्तु रोहिण्यां | श्रीध० | भाग. 9-24-46 | |
| 422 | 2 | 36 | वाचारम्भणं विकार: | विज० | छान्दो.उ. 6-1-5 | 53 |
| 423 | 6 | 10 | वाम: क्रूरे मनोहरे | विज० | वैज.को. 6-4-16 | |
| 424 | 16 | 50 | वायोस्सकाशाज्जगत: | विज० | प्रकाशिकायाम् | 336 |
| 425 | 15 | 7 | वार्तासम्भाव्ययो: किल | विज० | वैज.को. 8-7-19 | 294 |
| 426 | 3 | 13 | विज्ञान मानन्दम् | वीर० | बृह.उ. 3-9-28 | 64 |
| 427 | 8 | 47 | विद ज्ञाने तु वेत्तीतिविद्लृ० | विज० | | 167 |
| 428 | 23 | 34 | वि निषेधे पृथग्भावे | विज० | वैज.को. 8-7-6 | 442 |
| 429 | 16 | 41 | विश्वस्य तदधीनत्वात् | विज० | आग्नेये | 327 |
| 430 | 14 | 14 | विश्वं नारायणं देव मक्षरं | वीर० | म.ना.उ. 9-1 | 265 |
| 431 | 16 | 48 | विश्वाय विश्वरूपाय तत्कर्त्रे | वीर० | | 333 |
| 432 | 17 | 12 | विष्णुना विष्णुभक्तैश्च | विज० | ब्रह्माण्डे | 347 |
| 433 | 10 | 30 | विष्णु स्सर्व गुणोद्रेकात् | विज० | वामने | 192 |
| 434 | 16 | 57 | विष्णु: प्रधानत: स्रष्टा | विज० | नारदीये | 338 |
| 435 | 11 | 50 | वीरणं श्रीतृणं विदु: | विज० | | 214 |
| 436 | 16 | 50 | वृणक्ति वितर्तुराणो अप० | विज० | | 336 |
| 437 | 15 | 6 | वेत्ता वेद्यस्य सर्वस्य | विज० | उत्पलमाला | 293 |
| 438 | 24 | 20 | वेद स्तत्त्वं तपो ब्रह्म | विज० | अम.को. 3-271 | 459 |
| 439 | 10 | 33 | वेदाऽह मेतं पुरुषं महान्तं | विज० | पु.सू. 2-1 | 192 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 440 | 15 | 7 | वैश्वानर: प्रविशत्यतिथि: | विज० | कठ.उ. 1-7 | 224 |
| 441 | 15 | 6 | व्यत्ययो बहुलम् | विज० | अष्टा. 3-1-85 | 293 |
| 442 | 1 | 42 | व्याप्ता ह्यात्मान श्चेतना: | विज० | | 20 |
| 443 | 1 | 1 | व्यास: प्रपञ्चो विस्तार: | विज० | हला.को. 4-81 | 5 |
| 444 | 14 | 49 | व्रजौकसां स्वतोकेषु | श्रीध० | भाग. 10-13-26 | 282 |
| 445 | 14 | 49 | व्रजौकसां स्वतोकेषु | वीर० | भाग. 10-13-26 | 283 |
| | | | श | | | |
| 444 | 7 | 32 | शरणागतसन्त्राणं भूतानां | विज० | भारते | 144 |
| 445 | 16 | 48 | शरीरेषु प्रविष्टत्वात् | विज० | माहात्म्ये | 335 |
| 446 | 19 | 2 | शरो मुञ्ज इतीरित: | विज० | हला.को. 2-36 | 336 |
| 447 | 23 | 1 | शान्ति: प्रशममङ्गले | विज० | वैज.को. 6-2-39 | 427 |
| 448 | 27 | 4 | शान्ति: प्रशममङ्गले | विज० | वैज.को. 6-2-39 | 490 |
| 449 | 15 | 6 | शास्त्रेष्वम्भसि पावने | विज० | | 293 |
| 450 | 16 | 28 | शीर्षन् छन्दसि | वीर० | अष्टा. 6-1-61 | 319 |
| 451 | 21 | 6 | शुभाकारे तनौ वपु: | विज० | वैज.को. 6-3-30 | 401 |
| 452 | 23 | 7 | श्रद्धाऽऽस्तिक्याभिलाषयो: | विज० | वैज.को. 6-2-38 | 430 |
| 453 | 21 | 7 | श्रीर्देवी वेणुमाश्रित्य रेमे | विज० | तन्त्र भागवते | 401 |
| | | | ष | | | |
| 454 | 24 | 5 | षट्कर्णो भिद्यते मन्त्र: | विज० | सुभा. 27-18 | 450 |
| | | | स | | | |
| 455 | 2 | 16 | स आत्मा अङ्गा न्यन्या: | वीर० | तैत्ति.उ. 1-5-1 | 27 |
| 457 | 3 | 24 | स इमान् लोकान् असृजत | विज० | ऐत.उ. 1-2 | 78 |
| 458 | 20 | 21 | स एकधा भवति द्विधा | वीर० | छान्दो.उ. 7-26-2 | 383 |
| 459 | 24 | 16 | स च ब्राह्मणगिर्यादि | विज० | भागवततन्त्रे | 458 |
| 460 | 2 | 26 | सच्छब्द उत्तमं ब्रूयात् | विज० | तन्त्र भागवते | 46 |
| 461 | 23 | 23 | सता सौम्य तदासम्पन्नो | विज० | छान्दो.उ. 6-8-1 | 437 |
| 462 | 3 | 21 | सतां सुखविवृद्ध्यर्थं | विज० | ब्रह्मतर्के | 72 |
| 463 | 1 | 3 | स(तु) शब्दस्य विस्तर: | विज० | अम.को.उ. 135; वैज.को. 5-23 | 5 |
| 464 | 8 | 36 | सत्यकामस्सत्यसङ्कल्प: | वीर० | छान्दो.उ. 8-1-5 | 161 |
| 465 | 2 | 26 | सत्यञ्च समदर्शनम् | श्रीध० | भाग. 11-19-37 | 42 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 466 | 3 | 14 | सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत् | वीर० | तैति.उ. 2-6 | 65 |
| 467 | 16 | 49 | सत्यधर्मा सत्यकर्मा | विज० | | 335 |
| 468 | 2 | 26 | सत्यसंहिता वै देवा: | विज० | | 46 |
| 469 | 3 | 13 | सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म | वीर० | तैत्ति.उ. 2-1-1 | 64 |
| 470 | 3 | 19 | सत्यं ज्ञान मनन्तं | वीर० | तैत्ति.उ. 2-1-1 | 69 |
| 474 | 14 | 23 | सत्यं ज्ञान मनन्तं | वीर० | तैत्ति.उ. 2-1-1 | 270 |
| 475 | 27 | 11 | सत्यं ज्ञान मनन्तं | वीर० | तैत्ति.उ. 2-1-1 | 493 |
| 476 | 28 | 15 | सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म | विज० | तैत्ति.उ. 2-1-1 | 508 |
| 477 | 2 | 26 | सत्यं धर्म उदाहृत: | विज० | | 46 |
| 478 | 22 | 24 | सत्यं ब्रवाणि नो नर्म | श्रीध० | भाग. 10-22-10 | 418 |
| 479 | 2 | 35 | सत्त्वं ब्रह्मादि देहाख्यम् | विज० | तन्त्र भागवते | 53 |
| 480 | 11 | 46 | सत्त्वोऽस्त्री जन्तुषु क्लीबे | विज० | वैज.को. 6-5-93 | 214 |
| 481 | 21 | 11 | सत्त्वोऽ स्त्री | विज० | वैज.को. 6-5-93 | 402 |
| 482 | 3 | 19 | सदेव सोम्येद मग्र आसीत् | वीर० | छान्दो.उ. 6-2-1 | 69 |
| 483 | 3 | 24 | सप्तसु प्रथमा | विज० | शब्दनिर्णये | 78 |
| 484 | 2 | 26 | सप्राण मसृजत | विज० | प्रश्न.उ. 6-4 | 46 |
| 485 | 2 | 32 | समाधिनाऽऽवेशितचेतसैके | वीर० | भाग. 10-2-30 | 50 |
| 486 | 1 | 21 | समाधि र्ध्यान सन्धान | विज० | वैज.को. 7-1-81 | 12 |
| 487 | 3 | 16 | समेत्यान्योन्यसंयोगं | वीर० | विष्णु.पु. 1-2-52 | 65 |
| 488 | 1 | 37 | सम्बन्धलाभोपकृतिरभेदो | विज० | | 19 |
| 489 | 15 | 43 | सरघा मधु मक्षिका | विज० | हला.को. 2-101 | 304 |
| 490 | 17 | 2 | सर्पा नो मा दशतु | वीर० | | 343 |
| 491 | 2 | 37 | सर्वक्रियासु कर्तृत्व पूज्य० | विज० | क्रियायोगे | 54 |
| 492 | 16 | 48 | सर्वज्ञोऽपि हि सर्वेश: (विश्वेश:) | वीर० | लक्ष्मीतन्त्रे 17-78 | 333 |
| 493 | 3 | 20 | सर्वत्र सर्वं कुरुते विशेष: | विज० | ब्रह्मतर्के | 71 |
| 494 | 3 | 17 | सर्वत्राव्यवधानेन | विज० | तन्त्र भागवते | 67 |
| 495 | 2 | 36 | सर्वनामा सर्वकर्मा | विज० | | 53 |
| 496 | 13 | 19 | सर्वं विष्णुमयं जगत् | श्रीध० | | 240 |
| 497 | 13 | 19 | सर्वं विष्णुमयं जगत् | वीर० | | 241 |
| 498 | 4 | 21 | सर्व: शर्व: शिव: स्थाणु: | विज० | भारते. 13-135-17 | 96 |
| 499 | 3 | 24 | सर्वाशुभविनिर्मुक्तगुण | विज० | तन्त्र भागवते | 78 |
| 500 | 14 | 3 | सर्वे च्यवनधर्माण: | वीर० | भार. 12-328-31 | 258 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 501 | 21 | 13 | सारो बले स्थिरांशे च | विज० | वैज.को. 6-5-97 | 405 |
| 502 | 24 | 17 | सुखं दुःखं भवो भावः | विज० | भ.गी. 10-4 | 458 |
| 503 | 16 | 50 | सुखान्तं प्राप्नुयु र्यस्मात् | विज० | प्रकाशिकायाम् | 336 |
| 504 | 8 | 41 | सुदुश्शोभनदुःखयोः | विज० | | 163 |
| 505 | 2 | 38 | सुष्ठु दिष्टचोपजोषं | विज० | वैज.को. 8-8-17 | 56 |
| 506 | 5 | 5 | सूताः पौराणिकाः प्रोक्ताः | श्रीध० | | 105 |
| 507 | 14 | 28 | सोऽन्वेष्टव्यः सविजिज्ञा० | वीर० | छान्दो.उ. 8-7-1 | 274 |
| 508 | 21 | 13 | सौन्दर्ये च स्वभावे च | विज० | वैज.को. 6-3-28 | 405 |
| 509 | 25 | 9 | स्तनयित्नुर्हि गर्जितेऽभ्रे | विज० | वैज.को. 8-1-46 | 469 |
| 510 | 11 | 45 | स्थानेऽभिप्राय आशयः | विज० | वैज.को. 7-5-17 | 212 |
| 511 | 16 | 42 | स्थानेऽभिप्राय आशयः | विज० | वैज.को. 7-5-17 | 327 |
| 512 | 10 | 28 | स्मृतौ वृत्ते निषेधे स्म | विज० | वैज.को. 8-7-7 | 189 |
| 513 | 21 | 10 | स्मृतौ वृत्ते निषेधे स्म | विज० | वैज.को. 8-7-7 | 402 |
| 514 | 8 | 46 | स्याद्धर्म मस्त्रियां पुण्य० | विज० | अम.को. 1-132 | 167 |
| 515 | 11 | 47 | स्युरेवन्तु पुन र्वैवेति | विज० | अम.को. 3-427 | 214 |
| 516 | 1 | 43 | स्वतन्त्रत्वा त्सुखत्वाच्च | विज० | पाद्मे | 21 |
| 517 | 1 | 41 | स्वप्ने यथा दृष्टश्रुत | विज० | | 20 |
| 518 | 3 | 13 | स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाऽग्रे | वीर० | | 64 |
| 519 | 24 | 16 | स्वभावे कर्मणि च यः | वीर० | भागवततन्त्रे | 458 |
| 520 | 4 | 27 | स्वरूपभेदो हि पर | विज० | भविष्यत्पुराणे | 97 |
| 521 | 3 | 18 | स्वातन्त्र्य पारतन्त्र्यादि | विज० | ब्रह्मवैवर्ते | 70 |
| 522 | 3 | 20 | स्वेच्छया तु गुणा द्विष्णुः | विज० | तन्त्र भागवते | 71 |
| | | | **ह** | | | |
| 523 | 3 | 15 | हन्ताऽह मिमा स्तिस्रो देवताः | वीर० | छान्दो.उ. 6-3-2 | 65 |
| 524 | 15 | 7 | हरिणी स्यात् हिरण्मयी | विज० | हला.को. 1-131 | 294 |
| 525 | 16 | 33 | हरिर्दुःखानि भक्तानां हित० | वीर० | | 322 |
| 526 | 16 | 49 | हरेः स्वरूपशक्तिर्या काल० | विज० | प्रकाशिकायाम् | 335 |
| 527 | 26 | 15 | हा विषादशुगार्तिषु | विज० | वैज.को 8-7-8 | 482 |
| 528 | 28 | 15 | हिरण्मये परे कोशो विरजं | विज० | मुण्ड.उ. 2-292-9 | 508 |
| 529 | 10 | 8 | हि हेतावववधारणे | विज० | वैज.को. 8-7-9 | 181 |
| 530 | 25 | 33 | हृद्युभ्यां ङे. उपसंख्यानाम् | विज० | वार्तिक under अष्टा. 6-3-8 | 477 |
| 531 | 26 | 7 | हैयङ्गवीनं संज्ञायाम् | श्रीध० | अष्टा० 5-2-23 | |

T.T.D. Religious Publications Series No. 530.

Price : Rs. 100

ओं नमो वेङ्कटेशाय

श्रीवेदव्यासमहर्षिप्रणीतम्

# श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

## दशमः स्कन्धः

### प्रथमो भागः

(अष्टाविंशत्यध्यायात्मकः)

श्री श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका, श्रीवीरराघवनिर्मिता श्रीभागवतचन्द्रचन्द्रिका,
श्रीविजयध्वजविलिखिता पदरत्नावली चेति त्रिभिः व्याख्यानैः भूषितम्

पण्डितराज साहित्यविशारद वाचस्पति
शिरोमणि विद्वान्
राष्ट्रपति पुरस्कार ग्रहीता
डा. एन्. सि.वि. नरसिंहाचार्येण
(विशिष्टाधिकारी, श्रीमद्भागवत शोधपूर्ण परिष्करण परिषत्)
परिष्कृतम्

तिरुमल तिरुपति देवस्थान निर्वहणाधिकृतैः
श्री एम्. के. आर्. विनायक्, ऐ.ए.एस्., महोदयैः
प्रकाशितम्
१९९८.

हरि॰ ओम्

लोकोद्धारैकदीक्षापर निगममहाहर्म्यधर्म्यप्रदीपः
स्वाङ्घ्रिद्वन्द्वप्रपन्नाखिलदुरिततमोध्वंसिपुण्यप्रदीपः ।
दिङ्मूढेभ्यो नरेभ्यः प्रकटितसरणिः स्नेहदीप्रः प्रदीपः
युष्मानस्मान्समस्ता नवतु वृषगिरिस्थास्नु मङ्गल्यदीपः ॥

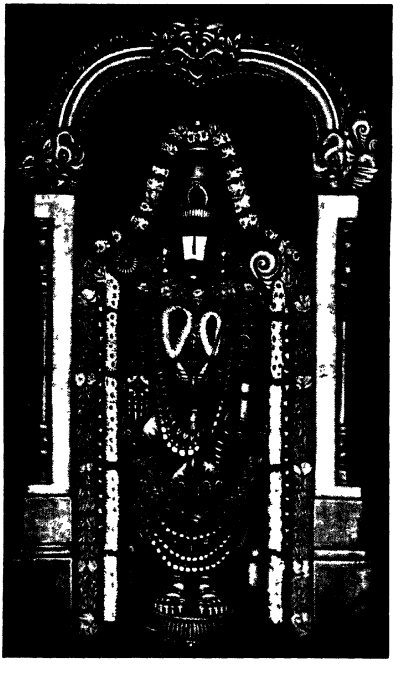

श्रीमद्भागवतं पुराण मखिलाम्नायैकसारः क्व वा?
प्रज्ञादुर्विधकिम्पचानधिषणाः शैक्षाः क्व वा मादृशाः ?
भक्त्या चापलत स्तथाऽपि च परिष्कर्तुं वयं व्यापृताः,
एतत् प्राभृतयाम वेङ्कटपतेः पादाब्जयोः, स्वीक्रियात् ॥

# THE CRITICAL EDITION OF SRIMAD BHAGAVATA

## THE EDITORIAL BOARD


Ex-Officio Chairman

Sri M.K.R. Vinayak, I.A.S.,

MEMBERS

1. Prof. S.B. Raghunathacharya, M.A., Ph.D.,
   Vice-Chancellor,
   Rashtriya Sanskrit Vidyapeeth,
   Deemed University
   Tirupati.

2. Prof. P. Ramachandrudu, M.A., (TRIO)
   Retired Professor of Sanskrit,
   Osmania University,
   Hyderabad.

3. Prof. P. Sri Rama Murthy, M.A., Ph.D.,
   Retired Professor of Sanskrit,
   Andhra University,
   Waltair.

4. Prof. M. Narasimhacharya, M.A., Ph.D.,
   Professor of Sri Vaishnavism,
   University of Madras,
   Madras.

5. Prof. N.S. Ramanuja Tatacharya
   Professor of Sanskrit,
   French Institute of Indology,
   Pondicherry.

**Co-ordinated Members**

6. Sri Samudrala Lakshmanaiah
   Secretary, Dharma Prachara Parishat,
   T.T.Devasthanams, Tirupati.

7. Dr. Medasani Mohan, M.A., Ph.D.,
   Director,
   Sri Annamacharya Project,
   T.T.Devasthanams,
   Tirupati.

**Convener**

8. Dr. N.C.V. Narasimhacharya,
   M.A., B.O.L.,
   Special Officer,
   Sri Bhagavata Project,
   T.T.Devasthanams,
   Tirupati.

# TIRUMALA TIRUPATI DEVASTHANAMS

## TRUST BOARD

CHAIRMAN

**Sri K. Ramachandra Raju, M.L.A.**

**MEMBERS**

1. Sri R.P. Goenka, (Industrialist)
2. Sri D. Ramanaidu, (Film Producer)
3. Sri M. Rajamohan Reddy, Ex.-M.P.
4. Sri B. Narasimhulu, M.L.A.,
5. Sri Manoj Kumar Sonthalia, M.D.,
   Indian Express
6. Sri D. Srinivasa Rao, Ex. AFCOB Chairman,
   Karimnagar.
7. Mrs. Yerneni Sita Devi, M.L.A.
8. Smt. E. Seetharamamma, M.L.A., and
   Former Minister
9. Sri G. Mahadeva Naidu
10. Sri A. Radhakrishna Raju
11. The Commissioner, Endowments
    Member (Ex-Officio)
12. Executive Officer, Tirumala Tirupati Devasthanams, Tirupati.
    Member Secretary (Ex-Officio)

# CONTENTS


1. Foreword ..... I
2. Introduction - English ..... III
3. Introduction - Sanskrit ..... XX
4. List of Abbreviations - (Editions) ..... XXXVIII
5. List of Abbreviations (Commentaries) .....
6. List of Abbreviations (Texts cited) ..... XXXIX
7. Contents of each canto (in prose) ..... XL
8. Contents of each canto (in slokas) ..... XLI
9. Process of Reciting Sri Bhagavata ..... XLII

| Text. | Page | Text. | Page |
|---|---|---|---|
| Canto. I | 1 | Canto. XVI | 311 |
| Canto. II | 31 | Canto. XVII | 344 |
| Canto. III | 58 | Canto. XVIII | 353 |
| Canto. IV | 87 | Canto. XIX | 364 |
| Canto. V | 104 | Canto. XX | 370 |
| Canto. VI | 117 | Canto. XXI | 396 |
| Canto. VII | 135 | Canto. XXII | 410 |
| Canto. VIII | 149 | Canto. XXIII | 426 |
| Canto. IX | 172 | Canto. XXIV | 448 |
| Canto. X | 182 | Canto. XXV | 465 |
| Canto. XI | 204 | Canto. XXVI | 478 |
| Canto. XII | 223 | Canto. XXVII | 487 |
| Canto. XIII | 239 | Canto. XXVIII | 502 |
| Canto. XIV | 260 | Appendix - I Quarter Verse Index | 1 |
| Canto. XV | 293 | Appendix - II Additional Quarter Verse Index | 74 |
| | | Appendix - III Citations Index | 92 |

## FOREWORD

Sri Bhagavatha Purana Commands Universal appeal to all the sections of the people. Being a work of great repute it excercised profound influence upon the philosophy and life of the people perhaps more than any other Purana. The spirit and purport of the Vedas are found hidden and so they are not understood by a common man whereas eternal truths enshrined in the Vedas are elucidated in this celebrated Purana.

The Bhagavata has several outstanding features for which it has been extolled by the connoisseurs and after the advent of the Bhagavata many Puranas were either relegated to the background or eclipsed into oblivion. The Bhagavatha Purana is a happy synthesis of Veda, Purana and Kavya. It is said that Vedavyasa composed the Purana on the timely advice of the celestial sage Narada with a view to dispelling the gloom and depression, that had overcome him even after producing a magnum opus, Sri Mahabharata. The greatness of the Bhagavata has been rightly called as the Ambrosia or Amrita churned out of the milky ocean of the Vedas. The word 'Bhagavata' is very significant as it is replete with various senses. The five significant letters 'Bha', 'ga', 'va', 'ta' and 'm' suggest the quintessence of the Bhagavata 'Bha' stands for Bhakthi (the devotion) 'ga' for the Jnana (the knowledge), 'va' for vairagya (the renouncement of worldly wishes and passions), 'ta' for tattva (the real nature of the Supreme), and 'm' for moksha (the emancipation from the worldly bonds). Hence a study of the Bhagavata yields all the four virtues.

It is with a view to fulfilling the exacting demands of the scholarly world, the T.T.Devasthanams has undertaken the sacred task of bring out the critical edition of Sri Bhagavata with the commentaries of the three leading schools of Indian Philosophy, embellishing the text with all the special features of a critical edition. All the necessary efforts have been made by T.T.Devasthanams in this direction to make the Bhagavata available with in the reach of all at a subsidised price. So far, two thirds of the editorial work of the entire text have been completed and kept ready for printing. The first volume of (the first Skandha) the Bhagavata was edited and published in 1989. It is a matter of pleasure that it was critically acclaimed for its meticulous and flawless editing.

After completing the editing of the second, third, fourth and fifth Skandhas, we have now taken up editing of the tenth Skandha, which is the heart of the Bhagavata, as it were, for, this skandha deals with the astounding exploits of Srikrishna Bhagavan. The Skandha has been split into three volumes and the first volume has been edited and will be published shortly.

I am confident that this critical edition of the Bhagavata Purana will be useful for both the learned scholars and the seekers of Truth as well.

Tirupati.
17-1-1998.

**M.K.R. Vinayak, I.A.S.,**
***Executive Officer,***
T.T. Devasthanams,
Tirupati.

ईशानां जगतोऽस्य वेङ्कटपते र्विष्णोः परां प्रेयसीं
तद्वक्षःस्थल नित्यवासरसिकां तत्क्षान्तिसंवर्धनीम् ।
पद्मालङ्कृतपाणिपल्लवयुगां पद्मासनस्थां श्रियं
वात्सल्यादिगुणोज्ज्वलां भगवतीं वन्दे जगन्मातरम् ॥

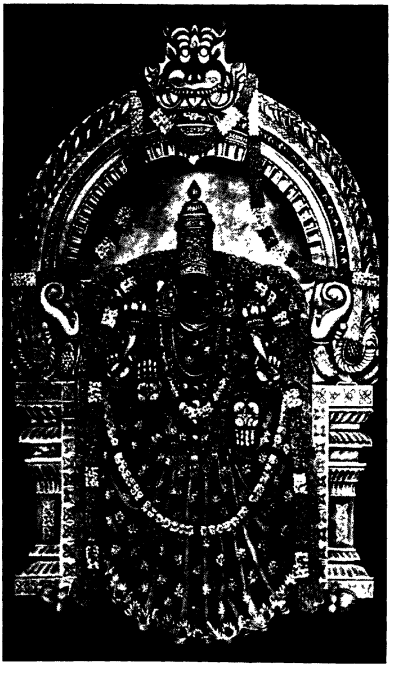

श्रीमद्वेङ्कटनायकस्य हृदये द्वेधा विधायाऽऽत्मनो
मूर्तिं शश्वदियं कृपामृतझरीस्रोतस्विनी भार्गवी ।
उद्धर्तुं निखिला नगण्यविषमांहोवह्निदग्धात्मनो
जन्तून् सन्निदधाति विश्वजननी पद्मावती रक्षतात् ॥

# INTRODUCTION

It goes without saying that the munificent Management of T.T.Devasthanams is making strenuous and incessant efforts for maintaining our cultural heritage enshrined in our veritable scriptures. It strains every nerve to sustain the Religio - Philosophic outlook wherein the Nation's peace and prosperity lies. With a view to reviving the Sanatana Dharma in the nation, to propagating and instilling the Bhakti in the minds of the Hindus, to conveying the message of Rishis to mankind, to disseminating the inestimable greatness of Hindu Culture for the benefit of common man the T.T.Devasthanams founded many an institution such as the "Dharma Prachara Parishad" "The Bhāgavata Critical Edition Project", "The Annamācharya Project", "The Dāsa Sāhitya Project", "The Alwar Divya Prabandha Project", "The Recording Project", "The Publication Cell" and the like.

The Bhāgavata Project is one among such establishments. The Śrīmad Bhāgavata of sage Krsnadvaipāyana Vyāsa occupiess a unique place not only in Sanskrit literature but also in the Indian Theosophy itself. Besides inculcating an unflinching faith in, an everlasting devotion to Lord Śrīmannārāyaṇa, this Mahāpurāṇa successfully deals with the unfoldment of the mysteries of the creation with scientific precision. A true follower of Bhāghavata Cult does not harbour hatred or illwill for any living being. Such are the teachings we obtain from the upākhyānas, stories and moral exposition.

But, as ill - luck would have it, the Śrīmad Bhāgavata which has learned commentaries has not been available and a flawless mere text to facilitate even pārāyaṇa has become a rare commodity. Such being the case, the noble management of T.T.Devasthanams has undertaken the laborious and expensive enterprise of publishing a critical edition of the Śrīmad Bhāgavata to meet a long - felt need for such an edition as ours. The Publication Department of T.T.D. has brought out a number of standard works on Āgamas, Indian Philosophy, Art and Architecture, commentaries on Philosophical and Religious Texts, which have been well received by the scholarly devotee public.

One need not offer any excuse for publishing so sacred a text such as the Śrīmad Bhāgavata, since this Mahā Purāṇa commands universal appeal and popularity. It is believed to be an encyclopaedia of Bhakti Doctrine. It is a text 'Par - excellence' occupying the esteemed position among the eighteen Purāṇas. The fact that while the great sage Veda Vyāsa could not acquire peace of mind even after composing

the Mahābhārata the 'Magnum Opus'; he was advised by Narada the celestial sage to compose a Purāṇa describing the marvellous exploits of Lord Sri Krishna to dispel mental depression - speaks volumes for the greatness of the Srimad Bhagavata, which has been accepted by all schools of Philosophy as the most authoritative text on a par with the sacred scripts, i.e. the Vedas. Because of its ever lasting popularity it has been commented upon by many great exegetists belonging to various Schools of Philosophical thoughts. The Srimad Bhagavata has been extolled that this is a 'navanīta' or butter secured by churning the milky ocean of the Vedas rendering it palatable to literates as well as illiterates who have an aptitude for obtaining the fruits of the study of the ancient Vedic lore. Further, the Srimad Bhagavata is regarded as the repositary of Bhakti (devotion) Doctrine with all its varieties and manifestations. Hence it is rightly called as the Bhakti Bhāṣya.

Such being the case there is an imperative demand for a standard critical edition of the Srimad Bhagavata. It is true that already there are numerous commentaries on this Purāṇa, published. But the editions so far published have mistakes in printing and matter, variations, deviations and interpolations in the original text as well as in the commentaries. However, there was no good attempt ever made to bring out an authentic version, on account of which confusion and absence of clarity were resulted.

In fine, the preparation of a good critical edition of the Srimad Bhagavata, capable of warding off incongruity arising out of diverse versions, is the most important obligation. Having fully understood the value, greatness and the utter need for producing a flawless and correct text with important commentaries, the TTD Management decided that a sacred task of publishing a critical edition of the Srimad Bhagavata should be embarked on. Hence "The Bhagavata Critical Edition Project" was established in 1981.

At the very outset it is quite but meet to mention the fact that as a result of the strenuous, devotional and combined efforts of trinity of scholars viz. (Late) Sri Kulapati Dr. Ekkirala Krishnamacharyulu the founder of the "World Teachers Trust", Visakhapatnam, Sri P.V.R.K.Prasad, I.A.S., the then Executive Officer, T.T.Devasthanams, and Dr. Sri Pannala Radhakrishna Sarma, the then Principal, Matrusri Oriental College, Jellellamudi, the Srimad Bhagavata Critical Edition Project was established by the benign Management of T.T.Devasthanams which is a renowned institution consecrated to the proposion that the Bharatabhumi is to be made a Puṇyabhūmi by establishing the Arsha Dharma in the country. The advent of the critical editions of the Mahabharata and the Vālmīki Rāmāyaṇa published by the Bhandarkar Oriental

Research Institute, Poona and the Baroda Oriental Research Institute, Baroda, respectively has inspired Sanskrit lovers to take up similar projects.

## ŚRĪMAD BHĀGAVATA AND ITS PLACE

The importance of the Bhāgavata will be easily realised if the following points are remembered:

1. Almost the whole of Vaiṣṇava population of India look on it as their main scripture on a par with the Upaniṣads and the Gīta.

2. It has been taken up by the founders or representative teachers of all sects even outside the Vaiṣṇava fold for learned commentaries, just like the Gita and the Upaniṣads in order to prove its support to their respective teachings.

3. Although there are eighteen Purāṇas the Bhāgavata has outmoded all the others and has become the one work of this class studied reverently and interpreted and worshipped by devotees all over India.

4. Apart from its superb poetry and the very wide range of its devotional teachings, the reason for its forceful and ever expanding appeal lies in its elaborate exposition of the life and message of "Śrī Kṛṣṇa".

5. "इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" is an ordinance issued by Vedavyāsa, wich emphasises that the purport of the Veda, the first and foremost record of human thoughts religious as well as metaphysical, should be substantiated by the Itihāsas and the Purāṇas. Of these two categories the Purāṇa is considered more important as the saying goes "that, which cannot be found either in the Veda or the Smṛti, can be found in the Purāṇa". Again, among the Purāṇas the Bhāgavatapurāṇa is considered to be the best. It was composed, unlike other Purāṇas, by Vedavyāsa himself. Even after composing the Mahābhārata, a text of encyclopaedic type, Vyāsa did not have peace of mind. Then Narada advised him to compose this Purāṇa, replete with Kṛṣṇa - bhakti to ward off his mental agony and unrest.

6. Maharṣi Vedavyāsa who has been regarded as the incarnation of Mahāviṣṇu could get, the longed for mental peace by producing the Śrimad Bhāgavata replete with Kṛṣṇa - bhakti.

## BULK OF BHĀGAVATA

According to the orthodox opinion the Bhāgavata contains eighteen thousand verses, but the actual counting reveals that this contains fourteen thousand and odd passages, including prose passages. The reason for this difference lies in calculating the long prose passage as one. But the counting of prose passage is to be done as per the old practice, that thirty two letters are to be reckoned as one grantha or sloka. So the long prose passages have to be counted as many slokas as the number of letters allow and even the colophons are to be counted. Thus this calculation shows that the Bhāgavata contains eighteen thousand verses. The Bhāgavata now taken up for publication belongs to the category of Hindu Religious literature called the Purāṇas.

## THE DEFINITION OF PURĀNA

Generally the Purāṇa is defined as an ancient history having five fold characteristics.

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितश्चेति लक्षणानान्तु पञ्चकम्।"

The Purāṇa dilates on the following five topics. They are: Sarga - Primary creation of the categories, or evolution, Pratisarga - secondary creation or recreation of the Universe with the categories, Vaṁśa - genealogies of Divinities, Demons, Manus, Ṛṣis, and Kings, Manvantara - cosmic cycle ruled over by a Manu or a Patriarch and Vaṁśānucarita - an account of royal dynasties.

But this definition seems to hold good in respect of the Upapurāṇas only. The Mahāpurāṇas should possess ten features as defined in the Brahmavaivarta. In this context the definition given by the Bhāgavata is to be remembered, according to which the Mahāpurāṇa is Daśalakṣaṇa, while the Upapurāṇa is Pancalakṣaṇa. The ten characteristics of a Purāṇa are:-

"अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषण मूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्ति राश्रयः॥" (भाग. 2-10-1 )

1. *Sarga:* The origin of the various categories from Mahat Tattva to the five gross elements (Bhūtas) by the loss of equilibrium in Prakṛti caused by the divine will and their formation into Virāḍrūpa (or cosmic form) is called Sarga.

2. *Visarga:* The creation of various beings by Brahma is called Visarga.

3. *Sthāna or Sthiti:* Sthāna consists in the activities of the Lord for the maintenance of the World in proper order.

4. *Poṣaṇa:* Poṣaṇa is His granting protection to devotees who take shelter in Him.

5. *Ūti:* Ūti consists in Karmic tendencies in latent and active form.

6. *Manvantara:* Manvantara means the laws of righteous living as illustrated in the lines of great ones.

7. *Īśānukathā:* This is the description of Hari's incarnations supplemented by the account of his devotees and their deeds.

8. *Nirodha:* At the time of cosmic dissolution when Mahā Viṣṇu lapses into yogic slumber all Jīvas retaining their bodies and tendencies in germinal condition become dissolved in Him. This is Nirodha.

9. *Mukti:* Mukti is the Jīva's abidance in his prestine state of abandoning all entanglements in forms foreign to his nature.

10. *Āśraya:* He out of whom the universe including the Jīvas emerges at creation and in whom they are held in abeyance after dissolution. He, who is called by such names as Brahman and Paramātman is the Āśraya.

The above mentioned characteristics (1 to 10) are dealt with in 3rd, 4th, 5th, 6th, 7th, 8th, 9th, 10th, 11th and 12th Skandhas respectively.

## PRINTED TEXTS CONSULTED FOR THE PREPARATION OF THIS EDITION

The following printed editions of the Bhāgavata form the basis for this edition. These have been carefully edited by eminent scholars and published from various parts of India and so are supposed to contain all the important variants of the Bhāghavata.

### 1. Śrīmad Bhāgavata Mahāpurāṇam:

Edited and published by Sri Krishna Sankara Sastry, Nadiad, Kheda Dt., Gujarat in 1965. This book contains, along with the original text, the Sanskrit commentaries of Sridhara, Vamsidhara (a commentator on the commentary of Sridhara) Radharamana

dasa, Viraraghava, Vijayadhvaja, Jivagosvami, Visvanathachakravarti, Sukadeva, Vallabhacharya, Gosvamipurushottama Charanadasa - (a commentator on the commentary of Vallabhacharya) and Giridhara, and also a Hindi translation. This has been carefully edited and contains variants mentioned as old versions. This edition printed in Devanagari Script, is taken as an authentic source for copying down the original text of the commentaries of Sridhara, Viraraghava and Vijayadhvaja. This edition in Devanagari Script is marked as A.

**2. Śrīmad Bhāgavata Purāṇam:**

Edited by Sri Nityananda Brahmachari and printed by Sri Rangacharya at his own Sri Devakinandan Press, Brindavan in Samvat 1964 i.e. 1907 A.D. This edition containing the original text is provided with the commentaries of Sridhara, Radharamana Gosvami, Viraraghava, Vijayadhvaja, Jivagosvami, Vallabhacharya, Visvanatha Chakravarti and Sri Sukadeva and also a Hindi translation. This edition in Devanagari Script is named as B.

**3. Śrīmad Bhāgavata Purāṇam:**

Gita Press, Gorakhpur - published in 2008 Vikram Saka i.e. 1951 A.D. This book contains only the text and has been carefully edited with variants. But the sources of variants have not been shown. However it is stated therein that the variants as seen in the old editions are noted. This edition is taken by us as an authentic source book for copying down the original text. This edition in Devanagari script is marked as G.

**4. Srīmadbhāgavata:**

Edited by Sri Puranam Hayagriva Sastry. Printed in Telugu Script at Vivekadarsa Press, Madras. This edition contains the commentary of Srīdhara. This is marked as H.

**5. Śrīmadbhāgavata:**

Edited by Prof.J.L.Sastry and printed by Motilal Banarsidass, in Devanagari. It contains the commentary of Sridhara. This edition is marked as J.

**6. Śrīmadbhāgavata:**

Edited by Kavibhushana Kumara Tatacharya and printed by Ananda Press, Madras in Devanagari characters. This contains the commentary of Sri Viraraghava. This edition is marked as K.

**7. Śrīmad Bhāgavata (Madhva Edition)**

This edition contains the commentary of Vijayadhvaja. It is printed in Devanagari Script. This edition is marked as M.

**8. Śrīmadbhāgavata:**

There is another Madhva Edition printed in Devanagari Script contains commentary of Vijayadhvaja marked as Ma.

**9. Śrīmadbhāgavata:**

This edition printed in Telugu characters. Published by Sri Tridandi Srimannarayana Ramanuja Jeeyar. The edition contains the commentary of Sriviraraghava; Marked as T.

**10. Śrīmad Bhāgavatam:**

Printed and published by Vavilla Ramaswamy Sastrulu & Sons, in 1941 at their Vavilla Press, Madras. This edition contains text with the commentary of Sridhara mainly and some extracts from other commentaries. It also contains foot-notes showing some variants. This edition in Telugu Script is named as V.

**11. Śrīmad Bhāgavatam:**

Printed and Published by Sri Raja Rameswara Raya, Raja of Wanaparti Samsthan in Mahabubnagar Dt. (A.P.) in 1885 A.D. through Brahmavidya Vilas press founded by him. This edition contains text with the commentary of Viraraghava. This edition in Telugu Script is marked as W.

Note: The Order of the Editions must be:

| A | B | G | H | J | K | M | Ma | T | V | W |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| 1 | 2 | 3 | 4 | 5 | 6 | 7 | 8 | 9 | 10 | 11 |

## MODUS OPERANDI

The following principles are adopted for noting down the variants and additional verses:

1. The text in Edition No. 1 forms the Basis.
2. The variants found in other editions with reference to the basis are recorded with names of the editions.
3. The variants suggested by the commentators are noted as indicated by them.
4. The variations which are indicated in the foot-notes of a particular edition and which are not found in any text or commentary of any other edition, are noted here that they are found in a particular edition.
5. The variants, though noted in the foot-notes of a particular edition or editions, are not recorded in our edition if they are found in any text or commentary of any other edition.
6. Additional Verses found in any edition are recorded by denoting the number of the preceding and proceeding verses between which the additional verses are

placed. These additional verses found in only one version are not given serial numbers treating them to be interpolations.

7. Omissions of a letter or a word in any edition or editions are recorded with reference to the basis.
8. Pratikas are supplied by us to the commentary of Sridhara wherever they are found missing, keeping the style of Sridhara, the commentator, in mind, since we find pratika cited, to the majority of verses, at the beginning of the commentary.
9. The slight change, in the order of words, occurring in the verses of different editions, such as यद् बिभेति स्वयं भयम् and यद बिभेति भयं स्वयम् is ignored and not noted in the foot note, because the sense remains the same in either order.

The idea in adopting the above principles is that, the variants or additional verses or omissmons found in all the above 11 editions are to be carefully recorded in this edition for the convenience of the readers to understand the spirit and purport of the original text of the Śrīmad Bhāgavata.

Due to popularity of Sri Bhāgavata Purāṇa, many learned scholars belonging to different Vedantic Schools, tried their hands at writing commentaries on the Bhāgavata, in keeping with their tradition and philosophy. In this way they endeavoured to establish their own faith in a particular school of thought, taking full support from the Bhāgavata. The popularity of the Bhāgavata was so great that a great number of annotators have enriched their philosophy by these commentaries.

A great many commentaries (about 30 for the Skandha X) are there on the Bhagavata. But we have taken only three famous commentaries belonging to the Advaita, Viśiṣṭadvaita and Dvaita Schools of Vedanta.

1. Sridharasvami is the earliest of all. He belongs to Śankara's Advaita Philosophy. It is learnt that Sridharaswami was the Mahant of the Sankarite monastery, Govardhan in about 1400 A.D. He says that he wrote his commentary, Bhāvārthadīpikā by name in strict adherence to the old tradition and followed the foot steps of Citsukhācārya. His commentary is lucid though brief, authoritative though reticent and direct to the point, and that is why most of the commentators have made use of this enlightening exegesis. Nabhadasji (Ref. Bhaktamala - Chappaya 440) recorded a legend wherein it was stated that Lord Bindumadhava of Varanasi has recognised Sridhara's commentary as the authoritative interpretation of Śrī Bhāgavata. The commentators of the other schools also have paid him glorious tributes, and they have incorporated some important points from Sridhara's commentary, in their commentaries. Some commentators frankly,

admitted that they have annotated the Bhagavata only to elucidate the ideas of Sridhara. Jivagosvami observes in his introductory verse that his commentary was intended to elucidate the commentary of Srīdhara, where it was felt some what difficult to understand, and make it clear where it was otherwise. The facts mentioned above go a long way to assess the real worth of Srīdhara's gloss. Srīdhara refers to Bopadeva of the thirteenth century and is referred to by writers like *Viṣṇupurī. So it can be inferred that he flourished in the middle of the 14th century.

2. Srī Vīrarāghavacārya is a representative of the Viśiṣṭādvaita school. He wrote a commentary on the Bhāgavata. He rightly named his gloss the Candrika, for, this commentary is as pleasing as Candrika, or the moon-light, and throws much light on the text. It is an elaborate commentary supplying all the information required. He cited a great number of references in support of his view point. His knowledge of Śāstras is vast and his erudition very deep. His explanations supported by diverse Sastras exceptionally good. It is believed that he belongs to the fourteenth century. He was the son of Śrīśaila of Vatsagotra.

3. Sri Vijayadhvaja Tīrtha is another able commentator on the Bhāgavata. He belongs to the Dvaita School. His commentary is called Padaratnāvalī. He very closely follows the Bhāgavatatātparyanirṇaya of Ananda Tīrtha, which is only a गच्छद्व्याख्या giving elaborate elucidation wherever it is felt absolutely necessary. The Padaratnāvalī abounds in novel explanations and unique etymological derivations depending on Grammar and other Śāstras. The text of the Bhāgavatapurāṇa taken up by Srī Vijayadhvaja records vast number of different readings, and alters the total number and the order of verses as well as the adhyāyas. He is supposed to have lived in the 15th century A.D.

## APPENDICES

APPENDIX 1: We have printed quarter-verse index arranging it in the alphabetical order. Though the task is strenuous and monotonous we have prepared it for the convenience of the scholars. Any quotation, from the Bhagavata, let it be full or half or quarter verse, occurring in any book under study can be found here in the index and its position can be known easily.

APPENDIX 2: In this appendix we have enlisted the quotations occurring in all the commentaries. The commentators who are versatile scholars cite the passages profusely right from the Vedas to the contemporary works either with a view to elucidating the text or to substantiating their explanations or to inculcating the Philosophy more effectively, or to infusing the spiritual consciousness into

---

* Ref. to Purāṇavimarśa pp. 572,573 by Baladeva Upādhyāya.

the hearts of the readers or to kindling the Bhakti or devotion in the votaries towards the God. It was aimed at tracing the sources of the quotations. The number of quotations being prodigious, source tracing proved to be an onerous task. But we have ventured to embark on this new enterprise, bearing in mind the oft-quoted saying - 'अप्यप्रसिद्धं यशसे हि पुंसा मनन्यसाधारण मेव कर्म' which has served as an impetus in this respect. Despite our endeavour, we could not trace the sources of all the quotations. However, we have succeeded in tracing more than eighty per cent sources. But at some places we could not mention the sub-divisions, i.e. Adhyāya, Sarga, Parva, Śloka et cetera. Hence we have given only the name of the text of very voluminous works such as Skānda, where tracing is almost impossible.

It is hoped that the readers are enabled to refer to the original source-texts and benefitted by obtaining more information. We have noted, in brackets the name of the source text and the numbers of the subdivision of the texts, immediately after the respective quotations, in the text of the commentary itself. Not content with this act, we have prepared separately a list of quotations along with the name of the sources et cetera, and arranged them in the alphabetical order and added the same to the text as appendix-2.

## 1. GOPIKRISHNA EPISODE: ITS INTERPRETATIONS *

Critics have not been wanting who have cavelled at the moral stature of Krishna for his questionable relationship with the Gopis and the propriety of a devotional text like the Bhagavata including in itself such highly erotic episodes and their graphic descriptions. So various attempts have been made to get over these difficulties by several theories, some of the most important of which are as follows:

1. The whole episode of Krishna and Gopikas is symbolical and not factual. The Gopikas stand for the soul (Jivatman) and Krishna for the Supreme Soul (Paramatman) and the intense aspiration of the former for the latter is depicted through sexual love. The Jiva in this philosophy is taken as the Prakriti of the Lord and therefore depicted as female. In this theory historicity of the events described is either denied or overlooked, and only a symbolic meaning is attached to the events.

---

* The following matter under three headings has been taken from the Introduction of Srī Bhāgavata translation by Swāmi Tapasyānanda (Vol.III, Skandha I). I gratefully acknowledge the valuable help obtained.

2. The Bhagavata states that Krishna was only a boy of ten or eleven at that time. So the highly erotic descriptions of the relationship between Him and Gopikas, who are depicted as ladies of mature years, are only poetic exaggerations of some innocent pastoral sports of Krishna with boys and girls of the cowherd community, among whom he spent his boyhood days. The eroticism superimposed on these should be taken only as an aberration of decadent sectaries. Here historicity is accepted in a modified form and the existence of any ethical problem is denied.

3. According to the third theory, while historicity is accepted, it is maintained that the Gopikas were devoid of bodily consciousness and they met Krishna at a spiritual level. Therefore there is nothing carnal about it, as the descriptions are of purely mystical significance. In support of this reference is made to the Bhagavata verse—

"नाऽसूयन् खलु कृष्णाय मोहिता स्तस्य मायया।
मन्यमाना: स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकस ॥" [भाग. १०-३३-३८]

which states that while the Gopikas were away engaged in Rasalila their people found them at house also. This mystic element is also hinted at in the very beginning of the description of Rasalila in the statement that Krishna took part in it assuming his Yogamaya or Mystic power.

## 2. BHAGAVATA INTERPRETATION OF THE LOVE OF THE GOPIKAS:

Now what does the Bhagavata itself say on the point? While it is true that the Bhagavata text holds forth hints, justifying all the three explanations given above, the overwhelming evidence of language and description of the text declares inequivocally that the Gopika episode was a physical fact and that all aspects of love were involved in the relationship. Raneh Parikshit to whom the Bhagavata was narrated, takes it in that sense and questions Sri Suka whether there was any ethical propriety, at all in it. In his famous reply to this Sri Suka does not explain away the facts but expounds their significance as follows: "Divine personages are found to override the rules of Dharma (ethics) and do actions apparently for a shocking nature. But just as no impurity affects fire, which consumes every thing, nothing causes blemish to such persons of immense potency. But lesser men should not imitate them in these respects even in mind. If they do so foolishly they will perish, as one will do if one drinks poison following the example of Rudra. The instructions of Godly persons are valid; so are some of their actions too. A wise man will follow only such of their actions as are consistent with their words. It is admitted that for enlightened men without an ego-sense, there is no selfish gain to be attained by any actions and no evil to be warded off by abstinence from them what good or evil can then affect the Supreme Lord Krishna who is the Master of all beings - Devas, men, animals and the rest? By devotion to His holy feet the great sages derive that Yogic power by which they become free from the bondage of all action. How can there be any bondage or sin for the Universal Being,

who has assumed a body out of his own will, and by devotion to whom even these great sages derive their spiritual excellence. He who permeates all beings, including the Gopikas and their husbands and directs minds and senses of everyone even He out of sportive intention has assumed a body as Krishna. For bestowing His blessings on all beings he has assumed a body and he sports with that body in ways that will interest and attract men to Him. By Krishna's mystic power the inhabitants of Vraja found their woman in their homes all the time and had no occasion to be displeased with Krishna. (Bhag X-33-30 to 38)

From this it is clear that just as Krishna faced Kamsa and Sisupala (examples of communion through confrontation) with weapons in hand and raised them to the height of spiritual glory by delivering deadly blows on them. He received the Gopikas who came to him with passionate love stimulated by his exquisite physical charm and the ravishing strains of His flute (Venugana) as an earthly lover receives his beloved, although mentally He was unperturbed and ever-poised in His spiritual Essence. But what starts as a physical passion in the Gopikas gets transformed into a pure spiritual experience in the course of their association with Krishna. By the touch of Krishna, who in the words of Gita is 'Brahman Supreme, the most exalted state of existence and the seat of all purity and holiness', the Kamukis (lustful females) and the Abhisarikas (the passionate women going in search of their lovers) became converted into Premikas (persons endowed with rapturous loving devotion) transcending body-consciousness like the Paramahamsas. If we remember the aspect of Gopi Krishna episode we shall find that Krishna needs no defence and we need not be apologetic about Him by taking refuge in allegorical interpretations. The allegory and symbolism are there and are very important too, but we should not use them to over look or cover up the Bhagavata doctrine that when the mind is firmly fixed on Him, what ever might be the motivating feeling or circumstance. He responds to the Jiva in a manner appropriate to the Jiva's attitude and transforms him by His touch. As stated in the Bhagavata; "The Yogis concentrating their mind on Him as the indwelling self the philosophers who try to see Him as pervading every thing, the Asuras who live in mortal dread of, and in confrontation with Him, and the passionate women who seek physical union with Him in violation of all social and ethical sanctions - they are all alike to Him (Bhag. X. 87-23). The fact that the minds of all these are directed to Him with intensity is sufficient reason for their transformation when they receive His response in the manner appropriate to their respective attitudes. In a study of Krishna's life we should not forget that the Bhagavata looks upon Him not as an oridnary man but as "Bhagavan svayam". Supreme Being Himself manifests as man, to reveal how He becomes the many but continues to be the one Uncorrupted and Perfect Being inspite of His transformation into the many through His Sakti. To attribute corruption to Krishna for any of His actions is therefore as proper or as absurd as attributing corruption to God for manifesting the enigmatic world. All His actions were without any self-centred purpose and were only the expression of the Lord's redeeming love for the

Jivas. Being the one existence that has become the many, He is supra-moral and human standards have no relevance in His case.

## 3. WHY THE MEDIUM OF EROTIC POETRY IS USED?

Regarding the other allied question about the propriety of these erotic descriptions in a devotional scripture, the Bhagavata has got its own answer. The Lord incarnated as Krishna not merely for scholars, philosophers, ascetics, puritans and moralists, but for the good of all who could develop faith in Him irrespective of their spiritual, cultural and moral attainments. A philosopher will be interested only in abstract thought and not in heroic exploits and adventurous stories, on the other hand, a boy or a person without education will only be bored by philosophy, but thrilled by a narration of such exploits and adventures. A diplomat or a politician will not however, be moved by these, he will probably be interested in accounts of state craft and human relationship. An artist or a connoisseur of beauty will have a dread of philosophy and ethics but will be attracted by highly artistic descriptions of romantic love and beauty in all its aspects. The life and teachings of Krishna, the Purnavatara, is meant to attract men of all these types. So in a life abounding in dealings with persons of varied temperaments - philosophers, devotees, ascetics common folk, cowherds, lovelorn women, cruel monsters, oppresive kings, righteous rulers diplomats etc. - Krishna has left for mankind a rich and varied record of events which have been taken up and glorified by the Puranas for edifying and attracting even the so called sense-bound humanity to the devotional cult founded by Him. In later times a great devotee-poet of India, Jayadeva, has probably for this very reason taken up the love relationship of Krishna with the Gopikas as the theme for his famous Gitagovinda, a poetical work of rare literary and musical excellence, noted as much for its devotional significance as for its high eroticism, observing all the rules of Sanskrit poetics. No one can gainsay the fact that this work has exercised a great influence on the devotional and artistic life of India and drawn to Krishna large number of people who would not have otherwise been attracted to God at all. So in justification of its description of these amorous accounts, the Bhagavata itself says - "Having assumed a human body for the blessings of mankind, He adopted such sportive activities as will interest and attract men of various types to Him.... He who with faith in Krishna in his heart hears reads and narrate these amorous dalliances of His with the Gopis, that intelligent man will obtain deep devotion to the Lord and will easily overcome lust, the real 'heart - disease' of mankind" (Bhag, 10-33-37 to 40).

The idea is that the mind of an aspirant with faith in Krishna will gradually be filled with the symbolic and spiritual significance of these descriptions, that it is the passion of the purified soul of man for God that is represented in the Gopikas, longing for Krishna and that if we imitate that passion within ourselves we shall attain to the divine. To several of "his puritanical disciples who expressed disapproval of the Gopikas, love for Krishna on moral grounds, Sri Ramakrishna, who never questioned the factuality of the Gopikrishna episode, never-the-less

replied that if they did not like the Gopikas they might forget them but they must consider themselves blessed if they could manifest towards God a hundredth of that intensity of feeling that the Gopikas had towards Krishna, the Lord of all that exists. The contention of the Bhagavata is that the Gopikas have dug this unique channel of devotion to God by their example, and that none can reach Him in that form of intimacy and intensity unless they sail their boat along the channel they have dug.

A careful reader of the Bhagavata will note that the text is careful to trace the growth of the love of the Gopikas for Krishna from a passionate personal love to love of Him as the Universal Being. Unlike devotees in general, they did not, it is true, pass through the earlier stages of devotional discipline. Being fortunate enough to be the contemporaries of Sri Krishna, the Lord Incarnate their purification was effected by direct contact with Him. Sexual attachment is ordinarily a cause of spiritual down fall, but in the Gopikas such attachment, being directed to Sri Krishna, the Lord Incarnate had the opposite effect of purifying and uplifting them. Reciprocating their love Krishna blessed them with His divine company, but they were soon separated from him when he left Gokula for Mathura from where he sent them the message, "Separation only strengthens love. Soon you will attain to the joy of Brahman which will make you experience separation and union as equally blissful" (Narayaneeyam). When they met him again at Syamantapanchaka some years after they were found to have developed that depth of love through the tormenting yet delightful pangs of separation. On that occasion Krishna gave them full enlightenment that enabled them realise His presence in everything and everywhere. He conveyed to them the following as his last message. "Devotion to me is the only means for attaining to Bliss undecaying. It is fortunate that you have developed attachment to Me which is the means for attaining to Me. Just as all material objects have their beginning and their end infilled by these elements, in the same way understand Me to be the basis of, and the Substance pervading all the worlds, living and non-living. Living beings only experience objects, but the latter do not rest in them (the living beings) but in the lements constituting them. It is, however, in and through Me, the Supreme and imperishable Being, that both these - the experiencing Jivas and the experienced objects constituted of elements have their entity and subsistance". (Bhag. X-82-45-47). It will also be seen from this kind of Bhakti is not Mūḍha, ignorant of Divine excellence; it may be so et the stert, but it brings full enlightenment too. Enlightenment only leads to the enrichment and not to the elimination of devotion.

## INTERPRETATION OF THE VASTRĀPAHARAṆA *

The story of the stealing away of the garments by Kṛṣṇa is intriguing as well as interesting. It was not unusual for the womenfolk of certain parts in

---

*The matter under heading "Interpretation of the Vastrāpaharaṇa" is taken from the book entitled "A critical study of the Bhāgavata Purāṇa" written by Srimati Dr.T.S.Rukmani. I gratefully acknowledge the help I got.

India to remove all their clothes before getting down into a tank or river for a bath. They usually left their clothes on the bank of the river or tank and went into the water. In the Punjab, it is said, that women bathing without clothes on was a common sight till recently. It was probably also prevalent in certain other parts of the country. Assuming that the author of the Bhāgavata was familiar with the habits of the people of Āryāvarta, this stealing of the garments can be explained easily. Thus when Kṛṣṇa saw the clothes of women lying on the bank, he, being a naughty child (naughtiness in childhood bring the sign of greatmen in general) carried them away and gave them back, only when he was appeased with uplifted

The stories given in the Bhāgavata Purāṇa need not be fictitious. What is more probable is that the incidents related actually happened. The author narrates them but does not stop them. He gives the incidents another hidden meaning and uses them as allegories to serve his greater purpose of the search after truth.

Thus, as already stated, the Purañjana legend has been treated as an allegory by the author. In the stealing of the garments also the author tries to tell us repeatedly that the soul's surrender to the Supreme must be unconditional. The gopīs had to lift up their arms in order to get back their garments. It is the same with any bhakta. His surrender must be wholehearted if he wants to please his God.

The author employes the Rāsalīlā as another allegory illustrating in vivid language and imagery the relation between the Supreme Being and His bhaktas.

## ACKNOWLEDGEMENT

It is my ardent duty to express my sincere gratitude to those generous persons who have lent their hand in getting T.T. Devasthanams Sri Bhagavata Critical Edition published. Accordingly I shall endeavour to discharge the pleasent duty of expressing my profound gratitude in this regard. Though I can not adequately convey my gratefulness in words I try to do my best.

At the outset I must sincerely thank the Scholar-Trio, viz Dr. Ekkirala Krishnamacharya, the Chairman, World Teachers Trust, Visakhapatnam, Sri P.V.R.K.Prasad, I.A.S., the then Executive Officer, T.T.D., and Dr. Pannala Radhakrishna Sarma, the then Principal, Matrusri Oriental College, Jillellamudi, with whose streneous and sincere efforts the Sri Bhagavata Critical Edition Project was established in the year 1981 in T.T. Devasthanams. Thence forth the Project has been straining every nerve for the furtherance of the sacred Project work. Every successive Executive Officer,

of T.T.D. has been discharging his part of service with devotional zeal for the success of this work. Here is the successive list of those Executive Officers 1. Sri P.V.R.K.Prasad, I.A.S., (78-82), 2. Sri. G.Kumaraswami Reddy, I.A.S., (82-84), 3. Sri. S.Lakshminarayana, I.A.S., (84-87), 4. Sri. Ch. Venkatapathi Raju, I.A.S. (87-90), 5. Sri. M.V.S. Prasad, I.A.S., (90-92) 6. Sri. D.V.L.N. Murthy, I.A.S., (92-95) 7. Sri. N.Rameshkumar, I.A.S., (95-96). The present Executive Officer Sri. M.K.R. Vinayak, I.A.S., took charge on 12-6-96. He richly deserves our heartfelt gratitude for his generous attitude towards this Godly Project. I express my sincere gratitude to Sri D.Ramakrishna, I.A.S., Joint Executive Officer, for he evinces interest in the Bhagavata Project and the publication work. I also thank Dr.Medasani Mohan, Director, Sri Annamacharya Project for his all round help in respect of the Project work. All the above Executive Officers are to be profoundly thanked for their unstinted help extended to the said Project. Their zeal and interest have gone a long way to carry on the Research work connected with the editing of the Srimad Bhagavata, which is a unique and Spiritual Text, supposed to be a hard nut to crack.

I will be failing in my duty if I forget to express my special thanks to Sri. D.V.L.N. Murthy, I.A.S., who could get a donation of One Lakh of rupees for the Bhagavata Project from a noble donor Sri S. Sambhukumar Kasliwal, Director, M/s. S.Kumar's. Moreover, quite becoming to his interest in the progress of the Project Sri. D.V.L.N. Murthy, I.A.S., made all arrangements for printing of the first Volume of the Tenth Skandha and thus he enabled the Project to go ahead.

My thanks are also due to the learned Editorial Board of Sri Bhagavata Project for its valuable and timely advice. Further, I convey my deep gratefulness to the Chairman and the members of the T.T.Devasthanams Trust Board for financing this Project.

I feel it is quite essential that I must express my deep debt of gratitude to all the members of the Research Department of the Sri Bhagavata Project. Viz. Sri.K.C. Jayachandra sastry. Siromani, Vidvan, Sri.A.Varadarajan, Siromani, Vidvan, Sri.U.Venkataramaiah, M.A., Siromani, (all the above three retired), Sri. S.B.S. Bhattacharya, Siromani, Sikshasastri, Srimati S.Poornavalli, M.A., (Gold Medalist), Dr. S.Dasaradha, M.A.,Ph.D., and Dr.K. Rajagopalan, M.A.,Ph.D.,

Lastly I thank most heartily the noble and generous gentlemen, who have helped me by furnishing old editions of the Sri Bhagavata. The name of Dr. Pannala Radhakrishna

Sarma deserves to be mentioned first as he has given me a great number of different editions of the Sri Bhagavata containing various and numerous commentaries. These books stood me in good stead in respect of the onerous task of my editorial duty. My hearty thanks are due to Sri.K. Appannacharya, Special Officer, The Dasa Sahitya Project. T.T.Devasthanams. He has lent me some books containing Sri Vijayadhvajeeya commentary. I thank also those who supplied me the necessary reference books. I am much beholden to Dr.M.S. Narayana Murthy, the Director, S.V. University Oriental Research Institute, for lending me the required books from the Institute Library. I express my sincere gratitude to all those scholars also who have helped me in one way or the other in editorial task. Lastly I thank M/s Om Shakti Laser Typesetting and M/s Shakti Printers, Madras for their neat executing of the type setting and printing.

Now the first Volume of the Tenth Skandha (out of three volumes of the same skandha) along with the three commentaries, Introduction, Appendices, Bibliography etc. is being presented to the readers. Owing to over sight/ignorance some mistakes might have crept in for which I crave the indulgence of the Readers. Concrete suggestions, if any, for improvement will be received with gratitude. I feel amply rewarded if the edition can serve the purpose of the Readers and Scholars and fulfil the noble objective of T.T.Devasthanams in propagating Hindu Religion.

**—Editor.**

# अवतारः

इद मनिवेदितविदितमेव विश्वेषामपि विदुषां यत् धर्मरक्षाबद्धदीक्षं तिरुमल तिरुपति देवस्थानसंस्थानं वेदप्रतिबोधितानां सकलभुवनक्षेमङ्कराणाम् अनादेः काला दनुवर्तमानानाम् आर्षधर्माणां, पुरातन संस्कृतीनाञ्च परिरक्षणाय अविश्रान्त मतन्द्रञ्च प्रयतमान मास्ते इति। इदं संस्थानं, विश्वश्रेयोनिदानस्य वैदिकधार्मिकनैतिकदृक्पथस्य देशे स्थापनाय, सनातनधर्मपुनरुद्धरणाय, भारतीयजनतास्वान्तेषु भक्तिभावजागरणाय, महामनीषिमहर्षिमहनीयसन्देशानां प्रचारेण ख्यापनाय, अनर्घाया भारतीयसंस्कृतेः सर्वजनमानसेषु दृढमूलस्थापनाय, सामान्य जनस्याऽपि हृदये भक्तिभावाविर्भावनाय च धर्मप्रचारपरिषत्, श्रीमद्भागवतशोधपूर्णपरिष्करणपरिषत्, श्रीमदन्नमाचार्यपरिषत्, दाससाहित्यपरिषत्, आळ्वार्दिव्यप्रबन्धपरिषत्, ग्रन्थप्रकाशन परिषत्, वेदस्तोत्रपाठाद्यमूल्यवाङ्मयपट्टिकारोपणपरिषत् (Recording project) इत्याद्या नानाविधाः संस्थाः भक्तजनहिताय स्थापयामासेति निखिलो जनो जानीते।

तथा प्रतिष्ठापितासु संस्थासु मध्ये अन्यतमैषा श्रीभागवत शोधपूर्णपरिष्करण परिषत्। कृष्णद्वैपायन श्रीवेदव्यास प्रणीतस्य श्रीमद्भागवतस्य वाङ्मये लोके च विशिष्टं स्थानं प्रदीयते प्राज्ञैः। तथा हृदयावर्जक मिदं महापुराणम्। विपुले संस्कृतवाङ्मयेऽस्य हि अनितरसाधारणी अर्हणीयता विद्यते। इदं खलु श्रीभागवतोपलब्धं वेदान्तविज्ञानं सर्वसम्मतमतरहस्यं, शास्त्रानुसारिणा पथा सकलसृष्टितत्त्वं, उच्चावचधर्मतत्त्वञ्च बोधयत् नानासम्प्रदायानुगाना मपि अनुकूल मर्थं वितरत् सर्वजनप्रियं सत् राजते। श्रीभागवततत्त्वं जानानो जनः तादृशं हृदयवैशाल्य मश्नुते यतः सर्वजनसौभ्रात्रं लभते। तस्य चेतसि द्वेषलेशोऽपि लब्धपदो न भवति। अत्र कथाः, उपाख्यानानि, धर्मतत्त्वानि च तथा उपदिश्यन्ते यद्वशात् मनुजः संस्कृतः उदारचरितश्च सम्पद्यते। अहो! भागवत मधीत्य बुद्धिमन्तो भागवता भवोयुरिति महापुराणस्य महिमा।

परन्तु अस्मद्दौर्भाग्यवशात् सद्व्याख्यानपरिष्कृतं निर्दुष्टं सुष्ठु मुद्रितं भागवतं अद्यत्वे दुर्लभं भवति। पारायणोपयुक्तः शुद्धो मूलग्रन्थोऽपि दुष्प्रापोऽजनिष्ट। इत्थम्भूते च व्यतिकरे उदारं तिरुमल तिरुपति देवस्थान संस्थानं लोकोपकारचिकीर्षया महाधनसाध्यं बहुश्रमनिर्वाह्यं च श्रीभागवत शोधपूर्ण परिष्करण प्रकाशनकृत्य मुपाददे। ततः पाठकैः बहुदिनप्रतीक्षितं, तच्छ्रद्धानुगुणं ग्रन्थप्रकाशं निर्वर्त्य तान् ग्रन्थप्रतीक्षकान् सन्तोषयितुमैच्छत्। इदं संस्थानं अद्य यावत् विविधागमसम्बद्धान्, भारतीय वेदान्तविषयकान्, समयाचार निरूपकान्, शिल्पशास्त्र निरूपकान् विशिष्टप्रबन्धान्, व्याख्यानग्रन्थान् च बहून् मुद्राप्य प्राचकाशत्। तानि च प्रकाशनानि तज्ज्ञै र्भक्तै र्बहुल माद्रियन्त।

श्रीभागवतप्रकाशने आवश्यकताविज्ञापन मनावश्यकम्, यत इदं महापुराणं सर्वमतसम्मतं विश्वजनसमादृतञ्च। इदं निस्समाभ्यधिकं भक्तिसम्प्रदायविज्ञानसर्वस्वमिति शिरसा श्लाघ्यते। अष्टादशसु पुराणेषु मध्ये अत्युत्कृष्टं स्थानं भजदिदं श्रीभागवतं भृशं प्रशस्यते। "यदिहाऽस्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्कचित्" इति, सकलागमविज्ञानसर्वस्वमिति, 'पञ्चमो वेद' इति बहुधा स्तूयमानं, 'महत्त्वा द्भारवत्त्वाच्च महाभारत' मिति च श्लाघ्यमानं लक्षश्लोकात्मकं महाभारताख्य मुत्तमेतिहासं विरचय्याऽपि चित्तशान्ति मलभमानं, सरस्वतीनदीतीरे विषीदन्तं वेदव्यासं वीक्ष्य दिव्यो नारदमहामुनिः 'श्रीकृष्णचरितवर्णनप्रवणं प्रबन्धं निर्माही'ति उपदिदेश। अतः चित्तप्रसत्तिसम्पत्तिप्रद मदः पुराण मित्यवसीयते। इदं सर्वै र्नानाविधवेदान्तसमयज्ञैरपि परमं प्रमाण मित्युरीक्रियते; वेदसम्मित मित्यभिमन्यते। निखिलवेदसागरं मथित्वोपलब्ध मास्वदनीयं नवनीत मित्यभिष्टूयते। लब्धवर्णैः, अतथाविधैरपि आदृत्याऽनुभूयमानं द्वयेषामपि प्राचीनवेदतत्त्वसार मक्लेशेनाधिजिगमिषूणां अभिन्नं ज्ञानविज्ञानसम्भिन्न मानन्द मादधातीति हन्त! श्रीभागवतस्य महिमातिशयः! पुराणमणि रयं चतुर्धा वा नवधा वा बहुधा वा विभक्तायाः, किं बहुना विविधरूपायाः भगवद्भक्तेः सोदाहरण स्वरूपनिरूपण प्रवणस्सन् भक्तिभाष्यनाम्ना कीर्तनीयश्चकास्ति। अत एव 'भक्त्या भागवतं ज्ञेय' मिति गीयते।

अपि च 'राजन्ते तावदन्यानि पुराणानि सतां गणे। यावन्न दृश्यते साक्षात् श्रीमद्भागवतं परम्' इति लिखन् व्याख्याता कश्चित् भागवतभाना वभ्युदिते सति पुराणान्तराणि अन्यानि ज्योतींषीव विच्छायान्यजनिषतेति अभिप्रैति। इदम्पुराणस्य वैशिष्ट्य मेव मुदैरीरत् कश्चित्कविः— 'वेदाः प्रभुसम्मिताः, पुराणानि तु सुहृत्सम्मितानि, काव्यानि च कान्तासम्मितानि वर्ण्यन्ते। परन्तु इदं पुराणं पूर्वोक्तत्रिविधोपदेशप्रकाशकं सत् पुराणान्तराण्यतिशेते इति, "वेदाः पुराणं काव्यञ्च प्रभुर्मित्रं प्रियेव च, बोधयन्तीति हि प्राहुः त्रिवत् भागवतं पुनः" इति श्लोकेनानेन स्वाशय माविश्चकार।

तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपायाः विलक्षणगुणानुसन्धानात्मिकाया भक्तेरेव मुक्तुपायतेति साधारणः प्रत्ययो लोकेऽस्ति। तं प्रत्ययं विष्णुरूपी व्यासः अन्यथयति "कामा द्गोप्यो भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः, सम्बन्धा द्वृष्णय स्स्नेहा द्यूयं, भक्त्या वयं नृप!" इति। भगवत्सम्बन्धः यया कयापि विधया विद्यमानः अपवर्गमार्ग बन्धुः बोभोतीति मुक्तकण्ठं सङ्किरते च। स च सम्बन्धः कामप्रयुक्तः, भयकारणकः, द्वेषजनितः, बन्धुताप्रेरितः, स्नेहपुरस्कृतो वा भवतु, यथाकथञ्चित् भगवत्सम्बन्धमात्रपवित्रितस्सन् मोक्षसाधक स्सम्पद्यते। अय ममोघ उपदेशोऽत्र लभ्यते।

"रामायणं मक्षिकाणां लघु भरि गजस्य तु' इत्याभाणकरीत्या साधारणज्ञानवतां सुलभज्ञेय मिव भासमान मिदं पुराणं सकलागमनिस्यन्दरूपं सत् महाविदुषामपि यत्नसाध्यबोधं भवति। अत एव "विद्यावतां भागवते परीक्षा'

इति कीर्तितम्। 'हेम्न स्संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिश्श्यामिकाऽपि वा' इत्युक्तदिशा सुवर्ण मनले परीक्ष्यते। शस्त्रभृतां रणे, विपत्तिकाले गृहिण्याश्च परीक्षा विधीयते। तथा विद्यावतां भागवते परीक्षा भवतीति वैदुष्यातिशयमहिम्ना भागवते अर्थविशेषा विदिता भवन्तीति सूरीणामाशयः।

तथा च देवस्थानाधिकृतैः एतादृशस्य पुराणोत्तमस्य परिशोधन प्रतिकर्मितं, प्रकाशनवैविध्यसञ्जातोच्चावच पाठभेदपरिकल्पितान् संशयानपोहितुं समर्थं श्रीमद्भागवतस्य शुद्धं संस्करणं मुद्रणं प्रकाशनञ्च मुख्यकर्तव्यमिति समकल्प्यत। अस्य ग्रन्थस्य प्राधान्यमवबुध्य, विद्वज्जनाभीष्टञ्च विदित्वा अधिकृताः व्याख्यासु प्रधानै र्व्याख्यानैः संयोज्य भागवतं परिष्कर्तुं, पवित्र मिदं कर्म निर्वोढुञ्च भागवतपरिष्करणसंस्थां एकाशीत्यधिक नवशत्युत्तरैकसहस्रतमे (1981) क्रैस्तववत्सरे प्रतिष्ठापयामासुः। तदारभ्य परिशोधनकर्म प्रवर्तमान मास्ते।

आरम्भ एव विज्ञापनीयो मुख्यो विषयोऽस्ति। विशाखपट्टणस्थ 'वरल्ड् टीचर्स् ट्रस्ट्' (World Teachers Trust) नाम्न्याः विश्वाध्यापकोपकारक संस्थाया स्संस्थापकाः श्रीमन्तः (की.शे) डा० कुलपति एक्किराल कृष्णमाचार्याः, ताटात्विक तिरुमल तिरुपति देवस्थान कार्यनिर्वहणाधिकारिणः, ऐ.ए.यस्. उपाधिधारिणः श्रीमन्तः पि.वि.आर्.के. प्रसादसमाख्याः , जिल्लेळ्ळमूडिस्थापितप्राच्यकलाशालायाः तादात्विकाध्यक्षाः ब्रह्मश्री डा० पन्नाल राधाकृष्णशर्माभिधानाश्चेति विलक्षणविचक्षणमूर्तित्रितयेन सम्भूय कृतेन अविश्रान्तेन प्रयाससहेन श्रद्धासमेधितेन प्रयत्नेन सङ्कल्पबलेन च प्रोत्साहितैः उपकारप्रसितोदारदेवस्थानीयाधिकृतैरियं परिशोधकपरिषत् प्रतिष्ठापिता सती समेधतेतराम्। आर्षधर्म बोधनेन भरतभूमिः पुण्यभूमिः कर्तव्येति पवित्रोद्देशः कलियुगदेवस्य श्रीनिवासस्य निरवग्रहानुग्रहेण फलेग्रहि भूयादित्याशास्महे। पुण्यपत्तन (Poona) प्रतिष्ठापितया श्रीभण्डारकर परिशोधकपरिषदा साधितस्य शोधपूर्णमहाभारतप्रकाशनस्य, बरोडानगर प्रतिष्ठितया प्राच्यभाषा परिशोधक परिषदा निर्वर्तितस्य परिमार्जित श्रीमद्रामायणमहाकाव्यप्रकाशनस्य च दर्शनपठने एतादृशानां परिशोधनकार्याणां स्वयमपि सोत्साहकरणे सूरिमुख्यानचूचुदताम्।

"हर्तुं तम स्सदसती च विवेकु मीशः मानं प्रदीपमिव कारुणिको ददाति" अन्धतमसे विचरंश्चेतनः सती मसतीं वा सरणि माभिज्ञातु मप्रभविष्णुः दिङ्मूढ आहिण्डमानो विपद्येत! तदा कृपालुः कश्चिन्नरः 'मा भूदेव मय' मिति प्रसृमरस्वप्रभाविसरविध्वस्तदुर्दान्तध्वान्त मेकं प्रदीपं तस्मै प्रवितरति। अध्वनीनश्च त माधिगत्य सुपन्थान मपन्थानञ्च विविनक्ति। अपथे पद मनिधाय, सुपथि तु निधाय गन्तव्यं पद मनपाय मयते। एव मेव परम कारुणिक स्सर्वशक्तो जगत्पिता भगवान् तमो व्यपोह्य सदसद्विवेक मुपजनयितुं देदीप्यमानं मानाख्यं निस्नेहमपि स्नेहसम्भृतं प्रदीप मग्राक्षीत्। मानशब्देनात्र परमप्रमाणभूतः निगमादिशब्दव्यपदेश्यः अपौरुषेयः शब्दराशिरेव बुबोधयिषितः ।

निरुपाधिकवत्सलः शरण्यो नारायणः स्वाज्ञारूपां विविधपुरुषार्थप्रवर्तिनीं दुरन्त सन्ताप सन्तान सन्दातृ संसार निश्शेषनिकृन्तन बद्धपरिकरां अनश्वरीं अनपेक्षरवात्मिकां श्रुतिं लोकोद्विधीर्धया चतुराननाय चतुराननाय समुपादिशत्। अस्याः पुनः व्याख्यासापेक्षतां निध्याय स्वयं रूपान्तेरणाऽ वतीर्य कांश्चिन्महात्मनोऽनुप्रविश्य च स्मृतीतिहासपुराणागमादीन् तदुपबृंहणान् ग्रन्थान् व्यरचत्। तेषु च "इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" इत्युक्तरीत्या यथावत् श्रुत्यर्थ बोधने इतिहासपुराणे स्मृत्यागमादीन् अतिशयाते। तयो रपि पुराणं 'यन्न दृष्टं हि वेदेषु तत्सर्वं लक्ष्यते स्मृतौ। उभयोर्यन्न दृष्टं हि तत्पुराणैः प्रतीयते" इति निरूपयता ब्रह्मवैवर्तपुराणवचनेन निगमस्मृत्याद्यदृष्टविषयदृष्टिप्रयुक्तप्रशंसापात्र मिति स्तूयते। तत्राऽपि "कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम्" इत्युपश्लोकितेन व्यासेन ग्रथितम् उपनिषद्वचाख्यानतया जेगीयमानं, "चत्वार एकतो वेदा भारतञ्चेद मेकतः" इति च जोघुष्यमाणं महाभारतं महत्त्वाद्भारवत्त्वाच्च अनितरसाधारण्या भासा शोशुभ्यते। "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्कचित्" इति शिरसा श्लाघ्यमान मेतादृशं लक्षश्लोकात्मकं महाप्रबन्धं विरचय्य कृतमुखोऽपि वेदव्यासः अकृतिनमात्मान ममंस्त। अतृप्यन् विषसाद। ततोऽभ्यर्हितरं पुराणं किञ्चित् आत्मोद्धरणाय तेन निर्मातव्य मासीत्।

अप्रमेयप्रमेयासङ्ख्येय शाखोपशाखोपेतान्योन्यसङ्कीर्ण नानानिगमविभजन परिष्करणालङ्कर्मणेन, निखिलश्रेयोनिधानमहाभारतनिर्माणनिपुणेन, तावता अतृप्यता सरस्वती तटिनी तटी विषण्णनिषण्णेन, अत एव अवसादपरिजिहीर्षु नारदमुनिनाथोपदेशप्रेरणानुगुण भगवद्गुणवर्णनप्रवणधिषणेन श्रीकृष्ण द्वैपायनेन श्रीकृष्णपवित्रचरित्रचित्रितं श्रामद्भागवताभिधान मेतत्पुराणरत्नं प्राणायि। इदं सकलोपनिषत्प्रतिपाद्यनिखिल वेदान्तसारपूत मिति निश्शेषप्रेक्षावद्गण प्रतीक्ष्यमिति चाऽत्र नास्ति संशयलेशोऽपि। इदञ्च मात्स्यगारुडपुराणाद्यनेक सद्ग्रन्थबृन्दै रुपश्लोक्यमानं बाभाति। यथा निरुपपदानि गीता सहस्रनाम रामायणादि पदानि भगवद्गीता-विष्णुसहस्रनाम-वाल्मीकि रामायणादीनि बोधयितु मलम्भूष्णूनि भवन्ति, तथैव निरुपपद: केवलो भागवतशब्द: श्रीविष्णु (परम्यबोधि) भागवतमेव बोधयतीति निखिलशिष्टजनानुभव प्रतीतोऽयं विषयः भागवत प्रशस्तिं पिशुनयति। निखिलमुनिगणपरिचरणार्चितचरणनलिनयुगलेन वीतरागाणा मग्रण्या शुकमहर्षिणा सश्रद्ध मधीत्य, मोक्षशास्त्रमिति निर्णीय तेन मुनिना मुमुक्षवे परीक्षिते महाराजाय उपदिष्टस्याऽस्य पुराणश्रेष्ठस्य माहात्म्य मुद्भावयितुं भाषादेव्यपि न प्रगल्भेत।

पुराणाना माविर्भावकालं प्रति निश्चप्रचं न किञ्चिद्वक्तुं शक्यते। वेदानामिव इतिहासपुराणादीनामपि कालः अत्यन्तं प्राचीनः इत्येव परं वक्तुं पार्यते। पुराणानामद्यत्वे परिदृश्यमानं परिनिष्ठितं रूपन्तु क्रिस्तोः पूर्वं पञ्चमशताब्दाः षष्ठशताब्दा वा परत एव निष्पन्न मिति विमर्शका वदन्ति। तेषां मौलिकं रूपन्तु ततो बहुकालात्पूर्वमेवाऽऽसीदिति निर्णीयते। वेद संहिता समकालिका न्येतानीति अनुमीयते। पुराणनिर्देशः अथर्ववेदे उपलभ्यते। तत्र पुराणं ऋक्सामच्छन्दोभिस्सह

यज्ञोच्छिष्टा दुद्भूत मिति वर्ण्यते। शतपथ ब्राह्मणे, गोपथब्राह्मणे बृहदारण्यकोपनिषदि च पुराणपरामर्शोऽस्ति। महाभूतस्य परमात्मनः निश्वसिता देतत् उदभवदिति बृहदारण्यकोपनिषद्वर्णयति। पूर्वोक्तिषु स्थानेषु पुराण मित्येकवचनान्त मेव पदं प्रायोजि। अत एतद्विज्ञायते यत् पुराणमिति व्यवह्रियमाणा वैदिकविज्ञानसम्बन्धिनी एका प्रातिस्विकी शाखा आसीदिति, सा अद्यत्वे इव विविधमत विद्योतक नानाविध ग्रन्थरूपत्वेन नासीदिति च, सृष्टिः, प्राचीनचरितानि, कथाः गाथाः राज्ञां ऋषीणाञ्च वंशानुचरितं, मन्त्राणां यागानाञ्च आविर्भावसम्बन्धिनो वृत्तान्ताश्च यत्र वर्ण्यन्ते तादृशपुराणस्य पारायणं दीर्घकालानुवर्तिसत्त्रसम्बन्धिधार्मिकानुष्ठानानां मध्ये विरामकाले प्रवर्तित मिति ज्ञायते, विशिष्य अश्वमेधराजसूयादियागाना मनुष्ठानवेलायां पुराणपठनं प्रधानकृत्य मासीत्।

अत्यन्तप्राचीनकाले पुराणपठनं यागानुष्ठानवेलासु ब्राह्मणानामेव पुरोधसां कृत्य मासीत्। ततो गच्छति काले पुराणपठनस्य यागमुख्याङ्गत्व मनङ्गीकुर्वद्भिः वैदिकै रिदं कृत्यं सूतानामेव विहितमभवत्। एतादृशकृत्यविभागस्य सूचिकैषा गाथा परिशील्यताम्-महर्षिर्व्यासः पुराणसंहितासङ्कलनानन्तरं रोमहर्षणाख्यस्य सूतकुलीनस्य शिष्यस्य वशे पुराणप्रवचनकृत्यं समार्पयत्। रोमहर्षणश्च कृत्स्नं पुराणं षोढा विभज्य षड्भ्य श्शिष्येभ्यः प्रायच्छत्। षट्सु एतेषु शिष्येषु त्रय श्शिष्याः तिस्र स्संहिताः पर्यकल्पयन्। एता स्संहिताः रोमहर्षणीया च पुराणवाङ्मयस्य सर्वस्य मूलभूता भवन्ति।

जनश्रुति मनुरुध्य एव मूहचते। प्रागत्यन्तसङ्कीर्णानां वेदानां परिष्करणं वेदव्यासस्य परमं कर्तव्यमासीत्। तत्परिष्करणानन्तरञ्च वेदतुल्यकक्ष्याणां पुराणाना मपि एकराशीभूय सङ्कीर्णाना मिव स्थितानां परिष्कारोऽपि वेदव्यासेनैव व्यधायि। वेदा स्सर्वे ब्राह्मणपुरोहितेषु निक्षिप्ताः। वेदवाङ्मयापेक्षया पृथक्कृतानि पुराणानि तु सूताधीनानि कृतानि। एते च सूताः कालानुरोधेन प्रजाभिरुच्यनुसारेण च नूनै रंशै स्संयोज्य पुराणवाङ्मये महतीं वृद्धि मकल्पयन्त। आपस्तम्बसूत्रकालात्प्रागेव एतानि पुराणानि परिष्कृतरूपाणि विशिष्टस्थानभाञ्जि प्रमाणभूतानि च समपद्यन्त। अतएवाऽऽपस्तम्ब सूत्रे भविष्यत्पुराणात्, अन्यस्मात् कस्माच्चन पुराणाच्च कश्चन ग्रन्थभाग स्समुदधारि। वेदाश्च व्यासेन परिष्कृतास्तदनन्तरं विकृती रभजमाना स्तथैवाऽवातिष्ठन्त। पुराणानि तु प्रातिस्विकेन असाधारणेन मार्गेण वैदिकदर्शनपथ मनुवर्तमानानि क्रिस्तोः पूर्वं पञ्चमशतकात् षष्ठशतकाद्वा आरभ्य, क्रिस्तोः पश्चात् द्वादशशतकपर्यन्तं अतिमात्र मेधमानाकृतीनि समभवन्। भक्तिप्रबोधः, नानाविधा स्समयाः, विज्ञानविषयाः साङ्किकाः चरित्रविशेषाः इत्येते चान्ये च बहवोऽपेक्षिताः अंशाः पुराणेषु पदमलभन्त।

# पुराणलक्षणम्

**"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च**
**वंशानुचरितञ्चेति लक्षणानान्तु पञ्चकम्"**

इति कोशप्रसिद्धं साधारणं पुराणलक्षणम्। एतत् उपपुराणविषये केवल मनुवर्तते इति, महापुराणन्तु दशलक्षणं भवेदिति च ब्रह्मवैवर्ते प्रतिपाद्यते। "एतदुपपुराणानां लक्षणञ्च विदुर्बुधाः। महताञ्च पुराणानां लक्षणं कथयामि ते" इत्यारभ्य सृष्ट्यादि दशलक्षणतां महापुराणस्य न्यरूपयत् ब्रह्मवैवर्तम्।

श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे दशमाध्याये

"अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषण मूतयः ।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्ति राश्रयः ।
दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्॥ (श्लो. 1-2)

दशविधानि लक्षणानि निरदिश्यन्त - 1. सर्गः, 2. विसर्गः 3. स्थानम्, 4. पोषणम्, 5. ऊतयः, 6. मन्वन्तरकथा, 7. ईशानुकथा, 8. निरोधः, 9. मुक्तिः, 10. आश्रयः - इति। तेषां विवरणमपि तत्रै वेतैः श्लोकैः क्रियते—

भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म **सर्ग** उदाहृतः ।
ब्रह्मणो गुणवैषम्यात् **विसर्गः** पौरुषः स्मृतः॥ (3)

**स्थिति** वैकुण्ठविजयः, **पोषणं** तदनुग्रहः ।
**मन्वन्तराणि** सद्धर्मः, **ऊतयः** कर्मवासनाः ॥ (4)

अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम्।
सता **मीशकथाः** प्रोक्ताः नानाख्यानोपबृंहिताः ॥ (5)

**निरोधोऽ**स्यानुशयन मात्मनस्सहशक्तिभिः ।
**मुक्ति** र्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ॥ (6)

आभासश्च निरोधश्च यतश्चाऽध्यवसीयते।
स **आश्रयः** परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते॥ (7)

1. आकाशादीनि भूतानि, शब्दादीनि तन्मात्राणि, ज्ञानकर्मोभयेन्द्रियाणि, अन्तःकरणभूतबुद्धिशब्दवाच्यं महत्तत्त्वम्, महदादिपृथिव्यन्तानि - एषां सर्वेषां तत्त्वानां उत्पत्तिः समष्टिसृष्टिः सर्ग इति व्यपदिश्यते। अयं तृतीयस्कन्धे न्यरूप्यत।

2. परब्रह्मणा प्रयोजितः चतुर्मुखब्रह्मा सत्त्वरजस्तमसां वैषम्याद्धेतोः यत्सृजति स पौरुषः सर्गः विसर्ग उच्यते (व्यष्टिसृष्टिः) अयं चतुर्थस्कन्धस्य विषयः।

3. वैकुण्ठस्य हरेः सर्वोत्कर्षेण वर्तनं स्थानम्। इदं पञ्चमस्कन्धे प्रतिपाद्यते।

4. तादृशस्य वैकुण्ठस्य जगद्रक्षणादिरूपो ऽनुग्रहः पोषणम्। विषयोऽयं षष्ठस्कन्धे वर्ण्यते।

5. संस्कारापरपर्यायाः कर्मवासना ऊतय उच्यन्ते। सप्तमस्कन्धे निरूप्यतेऽय मंशः ।

6. वैकुण्ठानुगृहीतानां मन्वन्तराधिपतीनां धर्ममार्गपालनादि चरितवर्णनं मन्वन्तरकथा अष्टमस्कन्धप्रतिपाद्या।

7. हरे र्विविधावतार दिव्यचरित्रानुवर्णनम्, हर्यनुवर्तिनां पुंसां नानाख्यानोपबृंहितानां कथानां वर्णनं ईशानुचरितम्। हरे स्साक्षाच्चरितम्, तदनुवर्तिनाञ्च चरितम् ईश-अनु-चरितम्। नवमस्कन्धप्रतिपाद्यमेतद्भवति।

8. जीवात्मनः स्वकीय कर्मशक्तिभिस्साकं सूक्ष्मावस्थप्रकृतावस्थानं निरोधः । अयं दशमस्कन्धस्य वर्ण्यांशः ।

9. जीवात्मनः देवतिर्यङ्मनुष्यादिविध मन्यथारूपं हित्वा आविर्भूतगुणाष्टकस्य स्वस्वरूपेणावस्थानं मुक्तिः । एकादशे स्कन्धे एष बोध्यते।

10. जगत आविर्भावतिरोभावौ (सर्गप्रलयौ) यस्मा त्प्रभवतः इति प्रमाणै रध्यवसीयते ज्ञायते, सः परब्रह्मादिशब्दवाच्यः परमात्मैव सर्वाधारत्वात् आश्रयः कीर्त्यते।

आश्रयाख्यस्य परमात्मनः विशुद्ध्यर्थं, अर्थात् स्पष्टतया स्वरूपप्रतिपत्तये सर्गादीनां नवानां लक्षण मत्र प्रत्यपादि। ततश्च परमात्मस्वरूपनिरूपण मेव परम तात्पर्यविषयीभूत मस्य पुराणस्येति ज्ञायते।

## *कृतं परिष्करणं - करिष्यमाणश्च*

अद्य यावत् भागवतशोधपूर्णपरिष्करणपरिषदि श्रीभागवतस्य प्रथमस्कन्धमारभ्य चत्वारः स्कन्धाः निर्दिष्ट व्याख्यात्रितयसनाथाः साङ्गोपाङ्गेन परिष्करणेन संस्कृताः मुद्रणोपयोगिशुद्धलेखनेन सज्जीकृताः। तत्र कश्चिद्विशेषः - प्रथम स्कन्धत्रयस्य चतुर्थी अपि व्याख्या समायोजिता। सुधीसुधानाम्नी सा विवृतिः भागवतपरिष्कारसंस्थायाः भूतपूर्वनिदेशकैः ब्रह्मश्रीमद्भिः डा० पन्नाल राधाकृष्णशर्माभिः नूत्नैर्विमर्शांशै स्साकं सुलभशैल्या प्रणीता। चतुर्षु केवलं प्रथमःस्कन्धः सव्याख्यः, विपुलाभ्यां संस्कृताङ्ग्लभाषामयपीठिकाभ्यां अध्येतृसौकर्यसम्पादकानुबन्धाभ्यां विषयसूचिकादिभिः निर्दिष्टबहुपाठान्तरानुबन्ध्यधस्सूचिकाभिश्च प्रसाधितः सप्तशत्यधिकपृष्ठपरिमितः नवाशीत्यधिकनवशत्युत्तरसहस्रतमे क्रीस्तुवत्सरे (1989) तिरुमल तिरुपति देवस्थानाधिकृतैः मुद्राप्य पाठकसहृदयाराधनाय

प्राकाश्यत। स च श्रीभागवतप्रथमस्कन्धात्मको भागः हृदयालुभिः पाठकै रतिमात्रं समाद्रियतेति विदित्वा निवेदयितुं मोदामहे। पाठकानां साभिनन्दनप्रोत्साहेन समेधितश्रद्धाः अन्यानपि ग्रन्थभागान् श्रीनिवासस्य कृपया, अधिकृतानाञ्च हस्तावलम्बेन क्रमशः प्रकाशयिष्याम इति कृतज्ञास्सप्रश्रयं निवेदयामः ।

चतुर्षु स्कन्धेषु मुद्रणार्थकहस्तलिखितरूपेषु समापितेषु देवस्थानाधिकृताः कृत्स्नस्य श्रीभागवतस्य प्राणभूतः दशमः स्कन्धः, यत्र साक्षात् लीलामानुषविग्रहस्य श्रीकृष्णस्य दिव्यचरितं प्रतिपाद्यते, स एव प्रथमतः परिष्क्रियता मित्यादिदिशुः। पश्चात्तु पञ्चमस्कन्धमारभ्य आनुपूर्व्येण स्कन्धान्तराणां परिष्करणं भवतु इति तेऽभिप्रयन्ति स्म। तदादेशानुरोधेन दशमः स्कन्धः परिष्करणायाऽग्राहि। अयं स्कन्धोऽतिविस्तृतः नवत्यध्यायोपबृंहितः (अधिकपाठात्मकाध्यायैस्सह शताध्यायमितः)। अतोऽयमेक एव स्कन्धः भागत्रयात्मना विभजनीयस्संवृत्तः। तस्य प्रथमभागे अष्टाविंशत्यध्यायाः (1-28) द्वितीयभागे द्वात्रिंशदध्यायाः (29-60), तृतीयभागे त्रिंशदध्यायाश्च (61-90) सङ्कलिताः। एवं दशमः स्कन्धः सम्प्राप्य मुद्रणाय सिद्धः कृतः । अद्य प्रथमो भागः साङ्गोपाङ्गपरिष्कारं मुद्राप्य प्रकाश्यते। अपरौ द्वावपि भागौ प्राकाश्यं गमिष्यतः। पञ्चमः स्कन्धः परिष्कृत्य मुद्रणाय सज्जीकृतः। एतर्हि स्कन्धः परिष्क्रियमाणोऽस्ति। तदनन्तरं षष्ठः सप्तमाष्टमनवमैकादशद्वादशस्कन्धानां परिष्करणमुद्रणे क्रमेण भविष्यतः। साम्प्रतं दशमस्कन्धप्रथमभागः सहृदयकोविदेभ्य उपहारीक्रियते। अधिगृह्य प्रसीदन्तु॥

## परिष्करणाय पुरस्कृता ग्रन्थाः : तेषां सङ्केतचिह्नानि च

१. **श्रीमद्भागवतमहापुराणम्** - देवनागरी लिपिः। घूर्जरदेशे मुद्रितम्। श्री कृष्णशङ्करशास्त्रिप्रकाशितम्' 'A' इति चिह्नितम्। उपत्रिंशव्याख्यासंवलितम्।

२. **श्रीमद्भागवत पुराणम्** - देवनागरी लिपिः । बृन्दावने मुद्रितम्। इदं 'B' इति चिह्नितम्। नवव्याख्यासनाथम्।

३. **श्रीमद्भागवतपुराणम्** - देवनागरी लिपिः । गोरखपुरस्थ 'गीताप्रेस्' मुद्रणालये मुद्रितम् मूलमात्रम्। अस्य ग्रन्थस्य सङ्केतः 'G' इति।

४. **श्रीमद्भागवतम्** - आन्ध्री लिपिः। श्री पुराणं हयग्रीवशास्त्रि परिष्कृतम्। मद्रपुरीस्थ विवेकादर्शमुद्रणालये मुद्रितम्। 'H' इति चिह्नितम्।

५. **श्रामद्भागवतम्** प्रो०जे.यल्.शास्त्रिपरिष्कृतम् मोतीलाल् बनारसीदाससंस्थया मुद्रितम्। देवनागरी लिपिः। श्रीधरव्याख्यापरिष्कृतम्। 'J' इति चिह्नितम्।

६. **श्रीमद्भागवतम्** - कविभूषण श्रीकुमार ताताचार्यैः परिष्कृतम्। मद्रपुरीस्थ आनन्दमुद्रणालये मुद्रितम्। देवनागरी लिपिः। श्रीवीराघवव्याख्योपेतम्, 'K' इति चिह्नितम्।

७. **श्रीमद्भागवतम्** - माध्वसंस्थाप्रकाशितम् विजयध्वजव्याख्यायोजितम्। देवनागरी लिपिः। 'M' इति चिह्नितम्।

८. **श्रीमद्भागवतम्** - इदमपरं माध्वप्रकाशनम्। देवनागर्यां लिप्यां मुद्रितम्। विजयध्वजव्याख्यासङ्कलितम्। अस्य चिह्नम् 'Ma' इति।

९. **श्रीमद्भागवतम्** - आन्ध्रलिप्यां मुद्रितोऽयं ग्रन्थः। श्रीमत्त्रिदण्डि श्रीमन्नारायणरामानुजजीयरस्वामिभिः प्रकाशितः। श्रीवीरराघवव्याख्ययाऽलङ्कृतः। 'T' इति चिह्नितः। आन्ध्रलिप्यामङ्कितः।

१०. **श्रीमद्भगवतम्** - ग्रन्थोऽयं श्री वाविळ्ळ रामस्वामिशास्त्रुलुसंस्थया मुद्रितः प्रकाशितश्च। श्रीधरव्याख्यया संयुतः। आन्ध्री लिपिः । 'V' इति चिह्नितम्।

११. **श्रीमद्भागवतम्** - वनपर्तिसंस्थानाधिपतिना राजा रामेश्वररायेण मुद्राप्य प्रकाशितम्। आन्ध्रलिप्यङ्कितो ग्रन्थः वीरराघवव्याख्याभूषितः। 'W' इति चिह्नितः।

## पाठान्तराणां निर्देशे अवलम्बिता सरणिः

अत्र अधिकपाठानां, अधिकश्लोकानाञ्च सूचने समाश्रिता रीतयोऽधस्तात् निर्दिश्यन्ते सहृदयपाठकानां सौकर्याय।

१. सव्याख्यानं परिष्कृत्य प्रकाश्यमानस्याऽस्य ग्रन्थस्य आधारग्रन्थत्वेन प्रायशः 'A' प्रकाशनमुपादीयते।

२. प्रकाशान्तरेषु लक्ष्यमाणानि पाठान्तराणि तत्तत्प्रकाशननामोल्लेखनपुरस्सरं अधोज्ञापिकायां (foot-note) निर्दिश्यन्ते।

३. व्याख्यातृभिः निर्दिष्टानि पाठान्तराण्यपि तत्तद्व्याख्यातृनामनिर्देशपूर्वकं लिख्यन्ते।

४. कस्मिंश्चन प्रकाशने अधोज्ञापिकायां सूचिताः पाठभेदाः यदि कुत्रापि व्याख्याने वा, परिशील्यमानमूलप्रकाशने वा लभ्यन्ते. तर्हि तेऽत्र अधोज्ञापिकायां पार्थक्येन न लिख्यन्ते।

५. यदि कुत्रचित् प्रकाशने कश्चिदधिकः श्लोकः (श्लोकौ श्लोका वा) उपलभ्यते, क्वाचित्कत्वेन प्रक्षिप्त इति मन्यमानोऽपि सः मूलपाठः पारायणानुकूल्यमुद्दिश्य मूलग्रन्थे एव पूर्वोत्तरश्लोकसंख्यां निर्दिश्य तन्मध्यपातित्वेन निक्षिप्यते। यदि तादृशस्य श्लोकस्य व्याख्याऽप्यस्ति तदुचितस्थाने साऽपि योज्यते। अधिकपाठतयाऽङ्गीकृतस्य श्लोकस्य क्रमसंख्या तु (serial number) न दीयते।

६. पदानां वा वर्णानां वा आधिक्यं न्यूनता वाऽप्यस्ति चेत् आधारग्रन्थानुसारमेव तत्तन्निर्दिश्यते।

७. श्रीधरीयव्याख्याने अधिकसंख्याकानां श्लोकानां प्रतीकधारणं दृश्यते। अत इयमेतद्व्याख्यानशैली इति मत्वा, येषां प्रतीकधारणं नास्ति, तेषां तदस्माभिः क्रियते। अन्यव्याख्याद्वितये एवं न क्रियते। यथा मुद्रितग्रन्थे लभ्यते तत्तथैव स्थाप्यते।

८. यत्र तु मूलश्लोकगतानां शब्दानां क्रमे स्वल्पो भेदो लक्ष्यते, यथा — 'यद्विभेति स्वयं भयम्', (अस्य स्थाने) 'यद्विभेति भयं स्वयम्' इत्यादिरूपेण, तत्र पाठभेदः अधस्सूचिकायां न लिख्यते, यतोऽत्र अर्थभेदः स्वल्पोऽपि नास्ति (छन्दोभङ्गोऽपि न)। ईदृशस्थाने एकः पाठ उपादीयते, अन्य उपेक्ष्यते।

नियमानामेषां प्रतिग्रहे प्रयोजन मिद मेव — शोधनाय स्वीकृतानां दशानामपि प्रकाशनानां सम्बन्धिन स्सर्वे पाठभेदा विमृश्यन्ते। 'तेषु व्याख्यातृदृष्ट्या, अर्थौचित्येन, सन्दर्भानुरोधेन च य एव उत्तमः पाठः इति सम्पादकैः अभिप्रेयते स एव मूले निक्षिप्यते, शिष्टाः पाठा अधस्तान्निर्दिश्यन्ते। अर्थवन्तः पाठाः सर्व एव लिख्यन्ते। सर्वथा असङ्गता इति मन्यमानास्तु उपेक्ष्यन्ते। ततः पाठकास्सहृदयाः पाठौचित्यं जानन्तु। यदि जातुचित् अधस्सूचितपाठ एव तेषां समुचिततरो भायात् तमेव वा स्वीकुर्वन्तु इति ; अत स्सर्वे पाठभेदाः सश्रद्ध मस्माभिः सूचिता स्सहृदया नाराधयेयुरिति विश्वसिमः ।

## अनुबन्धौ

अन्तत एकं विषयं विज्ञाप्य विरन्तुमिच्छामः । पाठकानां सौकर्याय ग्रन्थान्ते अनुबन्धद्वितयं योजयामः। एकस्मिन् श्लोकपादसूचिका अकाराद्यनुक्रमेण समयोजि। यत्र कुत्राऽपि दृश्यमानः एकः पादोऽपि भागवतीयः भवेत् अत्र दृष्ट्वा स पादः कतमस्कन्धीयः कतमाध्यायिकः कतमश्लोकीयः इति च क्षणेन ज्ञातुं शक्येतेति, तदर्थोऽयं प्रयत्नः। प्राचीनमतत्रयसम्बन्धिषु व्याख्यानेषु प्रकृतविषयोपबृंहणाय, प्रतिपाद्यांशसमर्थनाय, संवादाय वा श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणागमकोशव्याकरणादिशास्त्रग्रन्थेभ्यः विवरणकारै रुद्धृता अंशा श्शतश स्सहस्रशश्च सन्ति। यदि तेषां आकरनिर्देशः क्रियेत पठितॄणामाकरग्रन्थजिज्ञासा उपशमिता भवति। ते च आकरग्रन्थान् परामृश्य अधिकांशानपि जानीयुः । एवं सुहृदया स्समाराधिता भवेयु रिति सङ्कल्प्य सोढ्वा महान्तं श्रमं, तत्तद्व्याख्यानस्थले एव आकरनिर्देशं विधाय, तावताप्यतृप्यद्भि रस्माभिः शतशो विद्यमानानां उद्धरणानां साकरग्रन्थनिर्देशं, अकाराद्यनुक्रमेण अनुबन्धे द्वितीये सविशेषं स्थापनं विहितम्। स्थेयान्प्रयत्न आस्थेय स्सिद्धयेऽनल्पकर्मणः इति प्रयत्यापि सर्वेषां उद्धरणानां आकरा न लक्षिताः, तथाऽपि शते अशीत्यधिकानामुद्धारणानां आकरा निरदिश्यन्त। यत्र तु विजयध्वजीयव्याख्यादृष्टानाम् उद्धरणानां आकरनिर्देशः सर्वमूलग्रन्थान्तर्गत श्रीभागवततात्पर्यनिर्णयग्रन्थात्सम्पाद्य कृतः तत्र तात्पर्यनिर्णयग्रन्थदृष्ट्या रीत्या केवल माकरग्रन्थ नामनिर्देशः कृतः। अध्यायाद्यवान्तरग्रन्थभागो न निर्दिष्टः । अन्येषान्तु अवान्तरग्रन्थभागोऽपि यथोपलम्भं सूचितः।

## — ★गोपीकृष्णप्रेमवृत्तान्तः, तत्तत्त्वञ्च —

गोपाङ्गनानां श्रीकृष्णस्य च मध्ये विद्यमानस्य प्रेम्णः समाधानसापेक्षं नैतिकमौचित्यं प्रति, तादृश प्रणयवृत्तान्तस्य भक्तिभावसम्भृते श्रीभागवते वर्णनं, शृङ्गाररसतुन्दिलानां साङ्गोपाङ्गविपुलवर्णनात्मकानां कथांशाना मत्राऽनुप्रवेशञ्चोद्दिश्य विमर्शकाः असम्मतिं प्रदर्शयन्तो विमृशन्ति। श्रीभागवतसाधुतासम्पादनाय प्रयस्यन्त स्सुधियः उच्चावचैस्सिद्धान्तकल्पनैः तथाकृतान् विमर्शान् समाधातुं प्रायतन्त। तेषु प्रधानमतरीतयस्तिस्र उदहह्रियन्ते।

---

स्वामि तपस्यानन्दरचिते उपोद्घाते — "Gopi-Krishna Episode: its Interpretation", "Bhagavata Interpretation of the love of the Gopikas", "Why the Medium of Erotic Poetry is used" इति शीर्षकत्रयं दत्वा लिखितान् विषया नधीत्य इदं लिखितम्। सभक्ति कृतज्ञतां निवेदयामि।

1. सर्वोऽप्यत्र गोपिका श्रीकृष्ण प्रेमोदन्तः चरित्रसिद्धा वास्तविककथा न भवति। अपि तु रूपकाति शयोक्तिच्छायाकल्पितैव। अत्र गोपिकाः जीवात्मस्थानीयाः, वासुदेवस्तु परमात्मस्थानीयः। भक्तिपवित्रस्वान्तस्य जीवस्य परमात्म साङ्कत्यविषयिणी अतिशयिता श्रद्धैव भौतिकशृङ्गाररूपं गमिता। अत्र अध्यात्मदृष्ट्या, जीवः परमात्मनः प्रकृतिरिति तस्मिन् स्त्रीत्वमकल्पि। अस्मिन् सिद्धान्ते चारित्रिकसत्यता तिरस्कृता, उपेक्षिता वेति वेदितव्यम्। सर्वासां सङ्घटनानां साङ्केतिकं रूपण मेव कृतमिति मन्तव्यम्। इयमेका रीतिः।

2. इदं भागवतात् ज्ञायते यत् तदात्वे श्रीकृष्णः दशवर्षप्रायः एकादशवर्षवया वा बाल इति। अतोऽस्मिन् कामकलाविष्टाश्चेष्टा न स्थानं लभेरन्। शृङ्गारकाष्ठारूढानां चर्याणां का नामाऽत्र प्रसक्तिः? अतः क्रीडालोलस्य आभीरबालस्य गोपाल बालबालिकाभिस्सहानुभूतासु निर्मायबालक्रीडासु कविताशैल्या अतिशयोक्ति मास्थाय शृङ्गारभङ्गी मारोप्य चमत्काराय ताद्रग्वर्णन मकारि। श्रीकृष्णो गोकुले गोपबाल इव युक्तवयस्काभिः बालिकाभिः सहितः गोपकुलसहजाभिः शुचिक्रीडाभि र्विनोदरसमनुभवन्नाऽऽसीत्। अकलङ्कबाललीलासु शृङ्गारारोपः अनुदात्तमताविष्टैः कल्पितः। अस्मिन् मते चरित्रसिद्धा एव बाललीलाः औदात्त्यदृष्ट्या भाविता इति अत्र अधार्मिकत्वशङ्काया नैव प्रसक्तिः।

3. अथ तृतीया निर्वहणरीतिः। अस्मिन् मते चारित्रिकसत्यमुररीक्रियते। अत्र गोपिकाः भौतिकवासनारहिताः शरीराभिमानशून्याः। ताः परमात्मेति मन्यमानेन श्रीकृष्णेन आध्यात्मिकभावेनैव सङ्गताः। तत्र दैहिककामसुखगन्धो नास्ति। अत्र वर्णनं सर्वमपि अवर्णनीयाध्यात्मरहस्यसम्बन्धसम्बद्धमवगन्तव्यम्। अस्य वादस्य बलं भागवतश्लोकेनानेन सम्पद्यते।

"नाऽसूयन् खलु कृष्णाय मोहिता यस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥ (भाग. 10-33-38)

यदा गोपाङ्गनाः रासक्रीडानुबद्धा अभूवन्, तदा तासां भर्तारः स्वां स्वां जायां पार्श्वस्था मेव मन्यमानाः श्रीकृष्णाय नाऽभ्यसूयन्ति स्म इति सर्वमपि भगवन्मायानिर्वृत्त मिति बोध्यते। आश्चर्यजनन्या योगमायायाः प्रभावादेव सर्वं सम्पद्यत इति रासक्रीडारम्भवर्णनसमय एव योगमायामहिमा — "भगवानपि ता रात्री श्शरदोत्फुल्लमल्लिकाः। वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमाया मुपाश्रितः (भाग. 10-29-1) इति पद्येन असूचि।

## — गोपिकाप्रणयः —

अत्र विषये भागवतदृक्पथः क इति किञ्चिद्विमृश्यते। उपरिनिर्दिष्टवादत्रयमपि असन्दिग्धं समर्थयते श्रीमद्भागवतम्। अत्र वर्ण्यमाना गोपिकाकथा तत्सम्बन्धबान्धव्याद्यनुबद्धा अंशाश्च वास्तविका इत्यत्र विषये, भागवतभाषा, तद्गतवर्णनारीतिश्च अतिमुख्यं साक्ष्यं ददतः। यस्मै किल भागवत मुपदिश्यते स परीक्षिन्महाराजोऽपि तथैव विश्वसन् "भागवतकथायां नैतिकमौचित्यं किमस्ति?" इति शुकमुनि मपृच्छत्। अयं महर्षिः स्वीयेऽद्भुतसमाधाने तद्वर्णितानां वृत्तान्तानां व्याख्यां न व्यदधात्। अपि तु तेषां गूढाभिसन्धि मित्थं व्याकरोत्। दिव्यशक्तियुता महात्मानः धर्मान् नीतिमार्गांश्च उल्लङ्घन्ते। विद्युदाघातसदृशीः क्रियाः विदधति। भक्ष्यसम्बन्धिनो दोषाः सर्वभक्षकं पावकं न लिम्पन्ति। तथैव दिव्यशक्तिमतो महापुरुषान् तत्तत्कृत्यदोषाः न स्पृशन्ति। साधारणैः नरैः तेषां ताश्चेष्टा उदाहरणाय स्वीकुर्वद्भिः मनसाऽपि नाऽनुकरणीयाः। "दृष्टो धर्मव्यतिक्रमस्साहसञ्च महतां न तु दृष्टार्थेऽबरदौर्बल्यात्।" ते महात्मानः धर्ममतिक्रामन्ति, भ्रंशं निवारयितुमपि प्रभवन्ति। अल्पैर्मानवैस्तन्नाऽनुसर्तव्यम् इति गौतमस्मृतिः स्मर्यताम्। अविवेकाद्यदि अधर्ममाचरेयु स्ते विनिपतेयुः। हालाहलं पीतवन्तं महेश्वरं स्मृत्वा स्वयं यदि कश्चि द्विषमुपादत्ते स

प्रियेतैव। दिव्यपुरुषाणा मुपदेशाः क्रियाश्च अर्थवन्तो भवन्ति। विवेकिभिः आचरणयोग्या उपदेशाः क्रियाश्च अनुसरणीयाः। दिव्यज्ञानसम्पन्नाः अहन्ताशून्याः स्वार्थदृष्टिदवीयांसः यद्यत्कर्म सदसद्वा कुर्वन्ति, तद्वासता, प्रयोजनं वा, असता अनर्थो वा तेषां न सम्भवति। सत्येवं, सर्वशक्तं सर्वज्ञं सार्वं (सर्वहितकरं) सकललोकाधीश्वरं देवनरपशुपक्ष्यादिसकलप्राणिना मपि प्रभुं वासुदेवं किं वा दुश्चरितं विप्रकुर्यात्? यस्य पुरुषोत्तमस्य दिव्ये पादारविन्देऽर्चन्तोऽभिध्यायन्तो योगिनः सर्वबन्धविमुक्ता भवन्ति, तस्य विराड्रूपस्य स्वेच्छागृहीताभिमतोरुदेहस्य को वा बन्धः? किं वा पापम्? यस्मिन्भक्तया योगिनोऽपि अध्यात्मशक्तेः परां काष्ठां लभन्ते। गोविन्दोऽयमन्तर्यामी भूत्वा, गोपिका स्तासां पतींश्च वशवर्तिनो विधाय तन्मनांसीन्द्रियाणि च प्रेरयति। भागवतैः सार्धं क्रीडितुं ता नुद्धर्तुमेव च लीलार्थां तनूं नन्दनन्दन आददे। सर्वप्राणिमनोहरया तया तन्वा तान् स्वोन्मुखा नाकृष्य तेषां प्रेमवर्धनाश्चेष्टा स्तनोति। कृष्णयोगमायाशक्तिः तादृशी भवति यया व्रजवासिनस्समेऽपि स्वस्वदारा उपकण्ठे वर्तन्त इत्यमन्यन्त। अतो गोपानां भगवति अप्रीतिविषय एव नाऽऽसीत्। श्रीकृष्णः सायुधः कंसं शिशुपालञ्चाऽभिययौ। तो सं हत्य, पापेभ्यो मोचयित्वा च तयो समुन्नतं स्थान मकल्पयत्। द्वेषनिमित्तकमोक्षस्यैत दुदाहरणम्। कामा द्वोप्यस्तथैव समुद्धृताः। भगवत्सम्बन्धः यादृश स्तादृशो वा भवतु स जीवात्मान मुद्धर्तुं प्रगल्भते।

"कामात् द्वेषात् भयात् स्नेहात् यथाभक्तचेश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहव स्सद्गतिं गताः॥

तद्यथा "गोप्यः कामात्, भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद्वृष्णयः, स्नेहा द्यूभ, क्त्या वयं विभो!'॥ (भाग. 7-1-29 & 30)

भगवतोऽतिमानुषसौन्दर्यश्रिया, दिव्यवेणुगानस्रवन्त्या च उह्यमानाः भौतिकप्रेमसम्भृताः गोप्यः साधारणं प्रेयांसमिव कृष्णमभीयुः। विकारहेतावप्यविकृतचेता धीरोऽनादिब्रह्मचारी देवकीतर्णकः (वत्सः) तैर्मिलित्वा स्वसम्बन्धेन त्वासां भौतिकं प्रेमाणं दिव्यत्वसम्पन्नमकार्षीत्। गीताचार्यः श्रीकृष्णः परं ब्रह्मैव। तस्य स्वरूपं हेयप्रत्यनीकं सकलकल्याणगुणास्पदञ्च, महोदात्तञ्च। कामातुराः दैहिकभौतिक सुखकाङ्क्षिण्य इव, कामुक्यः, अभिसारिका इव च तेन पुण्डरीकाक्षेण संयुज्य गोपवधूटचः अपोढकामवासनागन्धाः दिव्यभक्तिभावसम्भृताः परमहंसा इव शुद्धात्मानस्समजनिषत। अनेन दृक्पथेन यदि चिन्तयामः, तदा भगवत्प्रवृत्तौ संशयलेशोऽपि न स्यात्। भगवति चित्तैकाग्रता मुख्या भवति। तादृक्प्रवृत्तौ प्रेरणा यादृशी तादृशी वा भवतु, स तु कृपालु र्भग–हन्अतान् जनान् सत्पथप्रवर्तिन स्संस्कृत्य भवाब्धे स्तां स्तारयत्येव। संसारभोगिसन्दष्टजीवजीवातु र्भक्तिः।

"निभृत मरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि य-
न्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्ड विषक्तधियो
वय मपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः"॥ (भाग. 10-87-23)

मुनयः नियमितवायुमनइन्द्रियाः दृढयोगासक्ताः त्वदीयं यत्तत्त्वं प्राप्नुवन्ति स्म, द्वेषपूर्वकस्मरणात् शत्रवोऽपि तत्तत्वं प्राप्नुवन्, गोपकान्ताश्च भोगिभोगपरिणाहसुन्दरत्वदीयबाहुसौन्दर्यसमासक्तबुद्धय स्तदेव आपुः। वयं अर्थात् वेदाधिदेवताः भवत्पादारविन्दामृतरूपाः प्रकाशिका भूत्वा तत्तत्त्वमेव भजामः। सर्वत्र त्वं समदृष्टिरसि इति श्लोकसङ्ग्रहार्थः। सर्वविधोऽपि भगवत्स म्बन्धः भगवत्पचाप्तिसम्पादकप्राः।

भगवद्विषये चित्तासक्तौ तीव्रतैव प्रधानांशः। सा रागात्मिका वा भवतु, योगात्मिका वाऽस्तु, अपरागात्मिका वा वर्तताम् सार्वदिकसंस्मरणमेव तान् जनान् मोक्षार्हान् वितनुते। भगवतो नन्दकिशोरस्य अद्भुतं चरितं श्रद्धया यदि चिन्तयामः, तदा श्रीकृष्णस्साधारणो मनुजो न भवति, अपि तु "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति निश्चेष्यामः। 'अजायमानो बहुधा विजायते' इति एकोऽप्यनेकात्मा कार्यानुरोधेन मायाशक्त्याऽवतरति। तथाऽपि 'अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने' इत्युक्तदिशा अग्निहोत्र इवाऽतिपवित्रः अविकृत एव विद्योतते देवः। तस्य अवतारा आश्चर्यचर्याश्च स्वप्रयोजनशून्याः जीवोद्धरणदाक्ष्यमेव पिशुनयन्ति। ततोऽयं शुद्धशील इत्यत्र संशयलेशोऽपि मा क्रियताम्।

## ॥ शृङ्गारकलितायाः कवितायाः प्रयोजनम् ॥

भक्तिप्रधानपवित्रपुराणे शृङ्गारवर्णनौचित्यानौचित्यविषये श्रीभागवतादेव समाधानं लभ्यते। जगता मधीशः विदुषां, वेदान्तिनां, योगिनां, श्रोत्रियाणां, नयमार्गानुवर्तिनामेव कृते नाऽवततार। अपि तु, भगवति पूर्णविश्वासवतां कृते - ते नयशालिनः, अध्यात्मविदः, संस्कृतिपूर्णा वा मा भवन्तु नाम - कृष्णोऽवतारं स्वीचकार। वेदान्तिनः साधारणजनदुर्बोधेषु विषयेष्वेव श्रद्धां वहन्तः, न साधारणदुर्ललित चेष्टासु, साहसक्रियासु च श्रद्धालवो भवन्ति। राज्यरक्षाकर्मनिपुणः अर्थशास्त्रे आदरं वहेत्। सुकुमारचेतास्सहृदयः अध्यात्मविद्यायाः नीतिशास्त्राच्च उद्विजते; परन्तु स रसज्ञः मनोज्ञविषयेषु प्रणयप्रधानेषु प्रबन्धेषु अभिरुचिं प्रदर्शयित्। गुडजिह्विकान्यायेन उपवर्ण्यमानप्रेमरञ्जिते श्रीभागवते पूर्णावतारभूतस्य श्रीकृष्णस्य बालपोगण्डलीलामधुराः भिन्नभिन्नस्वभावानां नानारूपभावावेशवतां वेदान्तिनां अध्यात्मविदां योगिनां धार्मिकाणां भक्तानां वियोगिनां क्रूराणा मक्रूराणां पुंसां स्त्रीणां बालानां वृद्धानाञ्चेति नानाप्रकाराणामपि तत्तदभिरुच्यनुगुणाः अद्भुता श्चारित्रिकसङ्घटनाः निधय इव निक्षिप्ता वर्तन्ते। गोपिकाप्रणयवृत्तान्ताः शृङ्गारानुबद्धा इव दृश्यमाना अपि तथोपदिष्टाः, यथा तासां प्रारम्भदशायां भौतिकानुरागरूपोऽपि प्रणयः दिव्यप्रेमभक्त्यात्मना परिणत इति ज्ञायेत।

एवं गोपिकाप्रेम साधारणकक्ष्यारूढमपि उत्तमकोटिमधिरोहतीति इम मंशं श्रीभागवतादवधार्य महाकविर्जयदेवः गोपीकृष्णप्रणयवृत्तमेव प्रधानप्रतिपाद्यतयोपादाय अत्यद्भुतं गीतगोविन्दाख्यं निस्समाभ्यधिकं दिव्यकाव्यं रसिकजनानां भक्तानाञ्च हृदयेषु अनवधिमानन्दथु माविर्भावयितुं निरमासीत्। सङ्गीतसाहित्योभयरसधुनीपरिप्लुतमिदं काव्यं सकलप्रबन्धलक्षणसम्पन्नं विद्वन्मनोहरं शृङ्गाररसोपचारपुस्कृतञ्च भूत्वा कृष्णभक्तिरसमयहृदयेषु क्रमशः परमोन्नतभक्तिरसस्रवन्तीः प्रवाह्य, तान् भागवतान् उदात्तभक्तिप्रवणानचीकरत्, करोति च। भक्तहृदयवशीकरणे गीतगोविन्दस्य प्रभावोऽतिमहान्, यच्च जनयितुं प्रबन्धान्तरं न शशाक।

इदं भागवतवचन मनुशील्यताम्-

"अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देह माश्रितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥" (10-33-37)

"विक्रीडितं व्रजवधूभि रिदञ्च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुया दथ वर्णयेद्यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोग मा श्वपहिनो त्यचिरेण धीरः॥" (10-33-40)

श्रीहरिः निखिलप्राणिकोटीना मनुग्रहाय केवलं मानवीं तनू माशिश्रिये। तत स्तादृशी अतिविलक्षणाः क्रीडा भेजे, याः श्रुत्वा कृत्स्नो जनोऽपि पारवश्यं विन्दते। व्रजवनिताभिस्सह श्रीहरेर्लीलां श्रद्धाभक्तियुतो यः कोऽपि जनः शृणुया द्वर्णयेद्वा स सर्वोऽपि भगवति अप्राकृतां भक्तिं सम्प्राप्य धीरो भूत्वा अविकृतचित्तः दुर्दमहृदयरोगं कामं दूरेऽपोहति। अस्याऽयं भावः - आरम्भे भौतिकवासनादूषित इव प्रतिलभ्यमानः प्रेमा क्रमशोऽपास्तभौतिकगन्धः पवित्र स्सम्पद्यते। समासादितदिव्यगुणयोगः तादृग्विध एव गोपीप्रणयः।

श्रीरामकृष्ण परमहंसः कृष्णगोपीप्रणयकथां सत्यदवीयसीं नोदैरिरत्। परमच्छान्दसवेदान्तिनो बहव स्तच्छिष्याः गोपीकृष्णप्रणयचरिते नैतिकभ्रंश माकलयन्तो गुरुं तद्रौचित्य मपृच्छन्। तदा तानुद्दिश्य परमहंसः इत्थं समाहिति मभ्यधत्त - "यदि यूयं गोपीवृत्ते श्रद्धां न वोढु मर्हथ तर्हि तद्विस्मरत। परन्तु, कृष्णे यां तीव्रां भक्तिं ता भेजिरे तस्याः शततमी मपि वा कलां यूयं चराचरप्रभौ परमात्मनि अनुभवितुं कुशला यदि भवथ, तर्हि 'यूयं श्रीकृष्णेनाऽतिमात्र मनुगृहीता वय' मिति मन्यध्वम्" इति।

भागवताभिसन्धिरयं भवितुमर्हति — "गोपिकाः स्वात्मशक्त्या खनित्वा अतिविलक्षणां काञ्चन भक्तिस्रोतो वहां निर्ममिरे, तया भक्तिवहिन्या भगवत्सन्निधि मधिगन्तुं कश्चित् न प्रयतेत चेत् सः तादृगादरपवित्रप्रेमपूर्णं भगवन्तं प्राप्तुं न प्रभवे देव" इति।

श्रीभागवताध्ययनेनेदं विज्ञायते यत् सर्वात्मनि कृष्णे गोपिकानां भक्तिरारम्भलघ्वी क्रमशोऽतिमहती ववृधे इति। साधारणस्य परोक्षभक्तस्य आरम्भदशातः पूर्णदशापर्यन्तं क्रमिकदशाः बह्वयः कृच्छ्रसाध्या भवेयुः। तादृशसङ्कटं महाभाग्यभाजां समकालवर्तिनीनां अतएव साक्षादीक्षमाणानां अवताररूपेण कृष्णेन क्रीडन्तीनां नासीत्। तासां साहजिकी वेगवती च प्रणयाभिवृद्धि रजायत। सामान्यतो लोके स्त्रीपुंसम्बन्धिसम्पर्कः विनिपातायैव मार्गं दर्शयेत्। परन्तु अत्र लोकानुग्रहायावतीर्णेन वासुदेवेन सम्बद्धः प्रेमबन्धः पवित्रीकरणालङ्कर्माणो बभूव। भक्तमन्दारो भगवानपि तत्प्रणयानुगुणमेव स्वदिव्यसङ्गत्या ता अन्वग्रहीष्ट तथाऽपि। लघुनैव कालेन गोकुलं विहाय मधुरा मभिगच्छता कृष्णेन विप्रयुक्ता गोप्य आसन्। प्रोषितेन कृष्णेन गोपिकाभ्य इत्थं सन्देशः प्रहितः "न विना विप्रलम्भेन शृङ्गारः पुष्टिमश्नुते" इति रीत्या वियोगोऽनुरागं द्रढयति। अचिरेणैव ब्रह्मानन्दानुभवायाऽर्हा भविष्यथ; यदा संयोग वियोगावुभावपि समान मानन्दं जनयिष्यतः" इति। पश्चाद्यदा यातेषु कतिषु च न वत्सरेषु श्यमन्तपञ्चके प्रेयसा सङ्गताः प्रिया गोप्यः विप्रयोग विवृद्धप्रेमाणोऽदृश्यन्त। तस्मिन् समये स ता स्सम्यक् प्राबोधयत्; यतश्च गोप्यः परमात्मन स्तस्य सान्निध्यं सर्वेष्वपि प्रदेशेषु पदार्थेषु चानुभवितुं शेकुः। तादात्विकः तत्सन्देशस्तु एवम् —

"मयि भक्ति र्हि भूताना ममृतत्वाय कल्पते
दिष्ट्या यदासी न्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः॥
अहं हि सर्वभूताना मादि रन्तोऽन्तरं बहिः।
भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योति रङ्गनाः॥
एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्माऽत्मना ततः।
उभयं मय्यथ परे पश्यताभात मक्षरे"

"अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः॥
तदनुस्मरणध्वस्त जीवकोशा स्तमभ्यगुः॥" (भाग. 10-82-45 to 48)

मद्विषयिणी भक्तिः मोक्षाय कल्पते। युष्माकं मयि जाता या भक्तिः सा अदृष्टवशा न्मत्प्रापिका समपद्यत। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाः भूतपरिणात्मकदेहानां अन्तर्बहिश्च वर्तन्ते। तथैवाऽहं सर्वभूतानां सृष्टश्चन्त कारणंभवामि अन्तर्बहिश्च व्याप्य तिष्ठामि। भूतपरिणामात्मकदेवादिशरीराणि, तेषु स्थित मात्मानञ्च अन्तर्बहिश्च व्याप्य अहं स्थितः। अतः चेतनाचेतनात्मक मुभयं व्याप्य तिष्ठामि। तथाऽपि व्याप्यगतदोषास्पृष्टे मयि सर्वं पश्यत।

एवं कृष्णेन आध्यात्मिकविद्यायां प्रापितशिक्षाः गोपिकाः मनःपूर्वकनिदिध्यासेन ध्वस्तकर्ममूला सानाः भगवन्तं प्रापुः। मुक्ता बभूवु रित्यर्थः।

अतश्चैतदपि ज्ञायते यत् दिव्यमाहात्म्य मजानती मूढभक्तिरियं न भवति। आरम्भकाले सा तथा भायादपि। तथापीय पूर्णं विवेकं विज्ञानञ्चाऽऽतनुते; पूर्णोविवेकश्च भक्ति मेधयति, न कदाऽपि ह्रसयति।

## — गोपिकावस्त्रापहरणलीला —

नदीतीरे वस्त्राणि विसृज्य जलाशये स्नान्तीनां गोपिकानां चेलानि श्रीकृष्णोऽहार्षीदिति भागवते वर्ण्यमाना वस्त्रहरणकथा अधर्म्याचरणरूपा विस्मयानन्दजननी व च भाति। भारत देशे क्वचित् वसनविसर्जनपूर्वकस्नाना चरण मभ्यासे वर्तते। पञ्जाबदेशे स्त्रियः सर्वाण्यमि वस्त्राणि विहाय दिग्वसनाः स्नान्तीति क्वचिल्लिखितं दृश्यते। आर्यावर्ते विद्यमानमिममाचारं विदितवान् श्रीभागवतग्रन्थकर्ता तमाचारं श्रीकृष्णचरितानुबद्ध मवर्णयदिति केचिदाशेरते।

कदाचित् कात्यायनीव्रत माचरन्त्यः गोपाङ्गनाः वसनानि तटे निक्षिप्य स्नातुं सलिलेऽवातरन्। तद्दृष्ट्वा बालकृष्णः झटिति तत्र गत्वा चेलानि चोरयित्वा तटस्थं कदम्बतरु मारुरोह। अशिक्षितेषु स्वतन्त्रेषु दुर्ललितेषु बालकेषु एतादृश्य श्चेष्टा दृश्यन्ते। ये तावत् विशिष्य पश्चाद्वयःपरिणामे महान्तो भविष्यन्ति ते बाल्ये किञ्चिद्दुर्वृत्ताः परिदृश्यन्ते। इदं चरिता दवगम्यते। अनया दृष्टया यदि विमृशामः वस्त्र हरणवृत्तान्तः काल्पनिक एवेति न भायात्। कृष्णकृत मिदं चौर्यकर्म सत्यमेवेति विश्वासो भवति। आशैशवा न्नवनीतस्तेयसिद्धहस्तोऽय मद्य निभृतं वसना न्यचूचुर दिति न किञ्चि दसम्भाव्य मत्र वर्तते। सत्यकथेयम्।

परन्त्वत्र वासुदेवचरिते अधार्मिकत्व बुद्धिः, कामुकत्वशङ्का, (व्रीडादायि) अश्लीलत्वस्मूर्तिश्च भवन्ती कथं समाधीयताम्?

ग्रन्थकर्ताऽत्र सूक्ष्मधर्मं बुबोधयिषुरिवाऽस्ति। आपातरमणीयामिमां कथां द्वारीकृत्य सत्यज्ञापनपूर्वक मन्यत्प्रयोजनं सिषाधयिषति। पुरञ्जनोपाख्यानेन व्याजीकृतेन सूक्ष्म मन्तर्निगूढधर्मं यथा उपादिक्षत्, तथाऽत्रापि चिकीर्षति।

"गोपबालिकाः वसनहरणं विज्ञाय, कण्ठदघ्ने तोये स्थित्वा अङ्गानि गोपायन्त्यः भगवन्तं वसनानि ययाचिरे। 'जलाशया त्तीरमासाद्य याचत, तदा दास्या' मीति प्रत्यूचे आभीरडिम्भः। ताश्च गोप्य मङ्गं दर्शना द्वक्षन्त्यः कराभ्यां, तीरमासाद्य अयाचन्त। 'बाहू उत्क्षिप्य याचध्वम् तदैव चीराणि वितरेय'मिति नन्दनन्दनः प्रत्यब्रवीत्। तदा हस्तेनैकेन गोप्यं पिधाय, अन्येन करेण नमस्कृत्य देहीति प्रार्थयाञ्चक्रिरे कन्या स्ताः। तदा भगवान् "ऐकेन पणिना यो वै प्रणमेद्देव मच्युतम्। तस्य दण्डः करच्छेद इति धर्मविदो विदुः इति भर्त्सयते स्म। मार्गान्तर मपश्यन्त्यो गोपाङ्गनाः चेलचोरं द्वाभ्यां कराभ्यां मूर्ध्न्यञ्जलिं बद्ध्वा नमश्चक्रुः। प्रसन्नो बालगोपालः वासांसि व्यतरत्" — इति भागवती कथा। आन्तर उपदेशः

भक्तेन अहम्ममताभिमानं उज्झित्वा, देहे स्वत्वबुद्धिं विहाय सर्वात्मना निरुपधिः शरणागति रनुष्ठेया। सैव फलेग्रहि भवेदिति उपदेशायैव कृष्ण एवं विदधे। अत्र विषये श्रीकृष्णे कामवासना शङ्का न युज्यते। तदात्वेऽयं सप्तवर्षदेशीयः पोगण्डः (बालः) तस्मिन् वयसि तत्र दुर्वृत्तचिन्तनं अनुचित मित्येव न, अपितु पापायाऽपि सम्पद्यते। परमात्मनः शुद्धजीवात्मनश्च मध्ये गोपनं किम्। अन्तर्यामिणो भगवतः अदृश्यं गोप्यं किमस्ति? आवरणं वा कुतः? सर्वान् स्थूलधर्मान् शङ्काभिमानादिकञ्च सन्त्यज्य सर्वात्मना हृदयपूर्वकं शरणवरण मेव युक्तरूपम् — इति बोधने एव ऋषितात्पर्य मिति विज्ञायते।

अपि च कथांशेनाऽनेन एकहस्तनमस्कारः (मतान्तरस्थैः क्रियमाणः) महानर्थनिदानमिति च बोध्यते। ननु कृष्णो गीताचार्यः। भगवतः भक्तोद्दिधीर्षाया मेव, व्रतसफलीकरणे एव अभिसन्धिरिति कण्ठत एव कथयति वेदव्यासः। "कृष्णो योगीश्वरेश्वरः..... तत्र गतस्तत्कर्मसिद्धये" इत्यारम्भे एव भाव मिमं सूचयामास। कृष्णो महायोगीति, तासां गोपिकानां कात्यायन्यर्चनं सफलं शुभोदर्कञ्च कर्तुमेव देवकीनन्दनः तत्राऽयासीदिति, वासांसि चाऽचूचुरत्, न तु स्वस्य तुच्छाभिलाषसिद्धये इति च सुस्पष्टमवगम्यते।

भक्तेन सता निर्व्याजसम्पूर्णात्मसमर्पणमेव कर्तव्य मिति उपदेश एव चेलहरणवृत्तान्तसारांश★ः।

## उपकारस्मृतिः

'मधुरेण समापये' दिति अभियुक्तोक्तौ श्रद्धालुना मया अवतारस्य (उपोद्घातस्य) चरमसीम्नि महत्सु अवश्यविधेयं कृतज्ञतानिवेदनकृत्यं विधित्सामि। अस्याः शोधपूर्ण सव्याख्य श्रीभागवतप्रकाशकसंस्थायाः प्रतिष्ठापनं क्री.प. एकाशीत्यधिक नवाशत्युत्तर सहस्रतमे (१९८१) वत्सरे उदारहृदयेन सदसद्विवेकचतुरेण सत्यसङ्कल्पेन आर्षधर्मरक्षादीक्षितेन मूर्तित्रयेण निरवाहि। मूर्तित्रयमिति निर्देशार्हाः विश्वोपाध्यायपरिषदध्यक्षाः श्रीमन्तः डा० एक्किराल कृष्णमाचार्याः, तिरुमलतिरुपतिदेवस्थान तादात्विक कार्यनिर्वहणाधिकृताः ऐ.ए.यस्. उपाधिभाजः श्रीमन्तः पि.वि.आर.के. प्रसादाभिख्याः (७८-८२), जिल्लेळ्ळमूडि मातृश्रीप्राच्यकलाशालायाः तादात्विकाध्यक्षाः श्रीमन्तः डा.पन्नाल राधाकृष्णशर्माणश्च। संस्थासमारम्भका स्त्रय एते कृतज्ञतानिवेदने प्राथम्यं भजन्ते। तैस्तथा प्रतिष्ठापिता इयं श्रीभागवतशोधनसमितिः समेधमाना अद्याप्युज्जीवति, परिष्करण प्रकाशन कृत्यञ्च निर्वहन्ती समिन्धे।

तदा प्रभृति क्रमशः नियुक्ताः ति.ति.दे. कार्यनिर्वहणाधिकारिणः सर्वेऽपि ऐ.ए.यस्. उपाधिभाजः २. श्रीमन्तः जि. कुमारस्वामिरेड्डि महाभागाः (८२ - ८४), ३. श्रीमन्तः यस्. लक्ष्मीनारायण महाशयाः (८४-८७), ४. श्रीमन्तः सि. हेच्. वेङ्कटपतिराजु समभिख्याः (८७ - ९०) ५. श्रीमन्तः यम्.वि.यस्. प्रसोदाभिधानाः (९०-९२) ६. श्रीमन्तः डि.वि.यल्.यन्. मूर्तिमहोदयाः (९२-९५), ७. श्रीमन्तः यन्. रमेशकुमार समभिख्याः ('९५-'९६) - इतीमे श्रद्धापूतामास्थां दधानाः अस्याः संस्थायाः सर्वाङ्गीणसमृद्धये बहु प्रायतन्त।

अद्यतनकार्यनिर्वहणाधिकृताः ज्ञानवयोऽनुभववृद्धाः, ऐ.ए.यस्. विरुदभूषणाः यम्.के.आर. विनायकसमाख्या अपि संस्थायाः सुष्ठु निर्वहणे श्रद्दधानाः ग्रन्थप्रकाशनाय सौविध्यं सम्पादयन्तीति एतेभ्यः, पूर्वोदाहृतेभ्यः

सप्तसंख्याभासमानेभ्योऽधिकृतेभ्यश्च कृतज्ञतापुरस्कृता अञ्जलयः समर्प्यन्ते। तेषा मुपकारं संस्मरन्ती श्रीभागवतपरिष्करणपरिषदियं तेषु सर्वथा सर्वदा च आधमर्ण्यमभ्युवाना कृतज्ञतां हृदयेन धत्ते, अभिधत्ते च। अर्हणीयाः ति.ति. देवस्थान धर्मकर्तृमण्डलीसदस्याः भूतपूर्वा अद्यतनाश्च उपकारस्मरणपूर्वकं कृतज्ञताञ्जलिना समाराध्यन्ते। पूर्वनिर्दिष्टेषु कार्यनिर्वहणाधिकृतेषु अन्यतमाः श्रीमन्तः डि.वि.यल्.न् मूर्ति, ऐ.ए.यस्. महोदयाः पार्थक्येन पुनरपि कृतज्ञतापूर्वकं स्मरणीया भवन्ति, यत इमे भागवत सम्पादकसंस्थायां बद्धश्रद्धाः वदान्यवतंसानां श्रीमतां शम्भुकुमार कश्लीवाल् नाम्नां सकाशात् लक्षरूप्यकाणि भागवतसंस्थायै आर्थिकसाहाय्य पेण समपीपदन्। अपि च। बहोः कालात् प्रागेव सज्जीकृतस्य दशमस्कन्धप्रथमभागस्य मुद्रणाय अपेक्षितं संविधानकं मङ्गु अचीकल्पंश्च।

किञ्च ये ये महान्तः ग्रन्थपरिष्करणकर्मणि अल्पमनल्यं वा साहाय्यमाचरन्ति स्म, तेभ्यस्सर्वेभ्यः हृदयसम्भृतां कृतज्ञतां निवेदयामि। ग्रन्थसम्पादनविषये इदंसंस्थाकर्मचारिणः भूतपूर्व परिशोधकपण्डिताः श्रीमन्तः के.सि. जयचन्द्रशास्त्रिणः (शिरोमणिः, विद्वान्), उ. वेङ्कटरामय्यनामधेयाः (यम्.ए. शिरोमणिः), आ.वरदराजसमाख्याः (शिरोमणिः, विद्वान्), अद्यतनाः श्रीमान् यस्.बि.यस्. भट्टाचार्यः (शिरोमाणिः, शिक्षाशास्त्री), श्रीमती यस्.पूर्णवल्लीनामधोया (यम्.ए. सुवर्णपदकग्रहीत्री), डा.यस्. दशरथाख्यः (यम्.ए.पिहेच्.डि.) डा.के.राजगोपालन्. (यम्.ए.पिहेच्.डि) नामा च सश्रद्धं तत्तत्कर्तव्यं निरवाक्षुः। तत स्तेष्वपि कृतज्ञता व्याह्रियते।

सन्दर्भेऽस्मिन्, अवश्यमनुष्ठेयं किञ्चित् यदि नाऽऽचरिष्यम् तदा कृतविदहं नाऽभविष्यम्। अतः, श्रीमद्भागवत सम्बन्धीनि दुर्लभान्यनर्घाणि स्वीयानि प्राचीनभागवतप्रकाशनानि प्रदाय अस्मदीयप्रकाशनं सुषुष्ठं सुगमञ्च कृतवद्भ्यः उदारहृदयेभ्यः तेभ्यो महद्भ्यः मामिकां कृतज्ञतां निवेदयामि। तत्र सर्वप्रथमतः संस्मरणार्हाः अस्याः संस्थायाः भूतपूर्वनिदेशकाः मातृश्रीप्राच्यकलाशालायाः भूतपूर्वाध्यक्षाः ब्रह्मश्रीमन्तः डा.पन्नाल राधाकृष्णशर्माणः, यत स्तैरतिबहवः नानाव्याख्यासनाथाः दुर्लभा अमूल्या मुद्रितग्रन्थाः मह्यं प्रादायिषत। इत्थं महदुपकृतवत्सु तेषु सर्वदा आधमर्ण्यं वहामि। एवं दाससाहित्यप्रचारसंस्थायाः विशिष्टाधिकारिणः श्रीमन्तः के.अप्पण्णाचार्याः विजयध्वजीयव्याख्यानविशिष्टान् कांश्चन मुद्रितग्रन्थान् प्रदाय उपाकृषत। तेष्वपि कृतज्ञोऽस्मि। श्रीवेङ्कटेश्वरविश्वविद्यालायानुबन्धि प्राच्यविद्यापरिशोधनालयनिदेशकाः श्रीमन्तः डा.यम्.यस्. नारायणमूर्तिसामह्वया अपि अपेक्षितग्रन्थप्रदानेन उपकारं व्यदधुः। अन्ये च केचन विद्वांसः उपयुक्तान् ग्रन्थान् प्रददते स्म। तेषु तेषु च कृतज्ञो वर्ते। एवं य कया चन विधया साहाय्य माचरितवद्भ्यः सर्वेभ्यः सश्रद्धा कृतज्ञता निवेद्यते।

अक्षर संयोजकेषु मुद्रणालयाधिकृतेषु **Om Shakthi Laser Typesetters & Shakti Printers.** कृतवत्सु च कृतज्ञो भवामि। अत्र ग्रन्थे अनवधानात्, नेत्रादीन्द्रियवैकल्यात् अथवा मतिदुर्गतिः, व्युत्पत्तिदौरव्यात् कारणान्तराद्वा परिष्करण दोषा मुद्रणसम्बन्धिनश्चः लब्धपदा भवेयुः। पूज्या लब्धवर्णाः उपलक्षितानि स्खालित्यानि सूचयन्त्विति प्रार्थ्यन्ते। अनन्तरप्रकाशे तान् अंशान् परिहरिष्यामि।

---

ज.श्रीमत्या टि.यस्. रुकिण्याख्यया रचिते जं A Crited Study of the Bhāgavdapurań समाख्ये ग्रन्थे स्थिता Itenpretation of Vastrāpahanana' रतिदनयीर्षकाम् भागात् गृहीता विषया: संस्कृते आनूदिता। ग्रन्थक त्रै सश्राद्धा कृतज्ञता निनेद्यते।

अद्य यावत् श्रीभागवतस्य शोधपूर्णः प्रथमस्कन्धरूपवः प्रथमभागः केवलं (क्री.प.१९८९ वत्सरे) प्राकाश्य मनायि। एतर्हि शोधपूर्णपरिष्करणपात्रीभूतः श्रीभागवतदशमस्कन्धप्रथमभागात्मकः (भागत्रयात्मना विभक्तेषु त्रिषु) श्रीकोशः व्याख्यात्रयविशिष्टः साङ्गोपाङ्गं यथाबुद्धिविभवं परिष्कृत्य मुद्राप्य रसज्ञानां हृदयालूनां भागवतानां करकमलयो रर्प्यते, विबुधव्रजत्रा क्रियते। क्रमशः दशमस्कन्धस्य द्वितीयतृतीयभागौ, अन्ये च स्कन्धाः (२-९,११,१२) सव्याख्याः प्रकाशयिष्यन्ते।

श्रीपदपुरी
1998

विद्वन्नियोज्यः सम्पादकः॥

## LIST OF ABBREVIATIONS

(of the Edition of Srimad Bhagavata Mahapurana being referred to)

1. A. Edited by Sri Krishna Sankara Sastri - contains about 30 commentaries - Printed in Devanagari Script at Ahmedabad, Gujarat.
2. B. Printed in Devanagari Script at Brindavan - contains 9 commentaries.
3. G. Contains text only - Printed at Gita Press, Ghorakhpur - in Devanagari Script.
4. H. Contains Sridhara's Commentary. Edited by Sri Hayagriva Sastry. Printed in Telugu Script at Madras.
5. J. Contains Sridharacharya's Commentary - Edited by Prof. J.L. Sastri - in Devanagari Script.
6. K. Contains the commentary of Sri Veera Raghavacharya Edited by Kavibhushana Sri Kumara Tata Charya printed in Devanagari Script - at Ananda Press, Madras.
7. M. Contains the commentary of Sri Vijaya Dhvaja Thirta - Printed in Devanagari Script - A Madhva Edition.
8. Ma. Contains the commentary of Sri Vijaya Dhwaja Tirtha - printed in Devanagari Script - Another Madhva Edition.
9. T. Contains the commentary of Sri Veera Raghava Charya - printed in Telugu Characters - Published by Sri Sri Tridandi Srimannarayana Ramanuja Jeer Swami.
10. V. Contains the commentary of Sridharacharaya - Printed at Vavilla Press, Madras in Telugu Script.
11. W. Contains the commentary of Sri Veera Raghava Charya - Printed in Telugu character - Published by the Maharaja of Wanaparti Samsthan, Andhra.

## LIST OF ABBREVIATIONS

Commentaries

1. **श्रीध.** श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका
2. **वीर.** श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका
3. **विज.** श्रीविजध्यजतीर्थकृता पदरत्नावली

## Texts cited in commentaries and their Abbreviations

| Abbreviation | Name of the Book | Abbreviation | Name of the Book |
|---|---|---|---|
| अथ शिखा.उ. | अथर्वशिखोपनिषत् | भर.सं. | भरद्वाजसंहिता |
| अम.को. | अमरकोशः | | भागवततन्त्रे |
| अष्टा | अष्टाध्यायी | भाग. | भागवतम् |
| | अहिर्बुध्न्यसंहिता | भ.गी. | भगवद्गीता |
| आगम.प्रा. | आगमप्रामाण्यम् | | भविष्यत्पुराणे |
| | आग्नेये | भारते | भारते आनुशासनिकपर्व |
| ईशा.उ. | ईशावास्योपनिषत् | भारते आरण्य | भारते आरण्यपर्व |
| उणा.सू. | उणादिसूत्राणि | भारते उद्योग | भारते उद्योगपर्व |
| | उत्पलमाला | भारते शान्ति | भारते शान्तिपर्व |
| ऋक्.सं | ऋक् संहिता | मनुस्मृ | मनुस्मृति |
| ऐत.उ. | ऐतरेयोपनिषत् | | महाकौर्मे |
| कठ.उ. | कठोपनिषत् | | माहात्म्ये |
| कौषी.उ. | कौषीतक्युपनिषत् | | |
| | क्रियायोगे | म.ना.उ. | महानारयणोपनिषत् |
| | गारुडे | मुण्ड.उ. | मुण्डकोपनिषत् |
| छान्दो.उ. | छान्दोग्योपनिषत् | मैत्रा.उ. | मैत्रायण्युपनिषत् |
| जित.स्तो | जितन्ता स्तोत्रम् | रमा | रामायणम् |
| | तन्त्रभागवते | | लक्ष्मीतन्त्रे |
| तैत्ति.सं. | तैत्तिरीय संहिता | वर. स्तवः | वरदराजस्तवः |
| तैत्ति.आ. | तैत्तिरीय आरण्यकम् | | वामने |
| तैत्ति.उ. | तैत्तिरीयोपनिषत् | विष्णु ध. | विष्णुधर्मोत्तरपुराणम् |
| निरा.उ. | निरालम्बोपनिषत् | वि.पु. | विष्णुपुराणम् |
| | निरुक्तम् | | विष्वक्सेनसंहिता |
| | पञ्चतन्त्रे | वे.नि. | वेदनिघण्टुः |
| | परमसंहिता | वै.को | वैजयन्ती कोशः |
| | पाद्मपुराणम् | | शब्दनिर्णये |
| | | शार्ङ्ग. पद्ध | शार्ङ्गधरपद्धतिः |
| पु.सू. | पुरुषसूक्तम् | श्वेता. उ. | श्वेताश्वतरोपनिषत् |
| | प्रकाशिकायाम् | सुबा. उ. | सुबालोपनिषत् |
| प्रश्न. उ. | प्रश्नोपनिषत् | सुभा. | सुभाषितरत्न भाण्डागारम् |
| बृह.३. | बृहदारण्यकोपनिषत् | सूर्य.उ. | सूर्योपनिषत् |
| | ब्रह्मतर्के | | षाड्गुण्ये |
| | ब्रह्मवैवर्ते | हला.को. | हलायुधकोशः |
| ब्र.सू. | ब्रह्मसूत्राणि | | हेमचन्द्रः |
| | ब्राह्मे | | |

# श्रीमद्भागवत दशमस्कन्धीयानां प्रथमाध्याय प्रभृतीनां अष्टाविंशाध्याय पर्यन्ताना मध्यायानां

## - विषयानुक्रमणी -

## (दशमस्कन्धे पूर्वार्धे)

| अध्यायसंख्या | विषय: |
|---|---|
| १. | श्रीकृष्णावतारोपक्रम: - ब्रह्मकर्तृकं पृथिव्या आशासनं - कंसस्य देवकीवधोद्योगात् वसुदेव वचनेन निवृत्ति: षण्णां देवकी पुत्राणां कंसकर्तृको वधश्च। |
| २. | भगवतो देवकी गर्भेऽनुप्रवेश:- तत्र ब्रह्मादिदेव कृतं तदीयं स्तवनं देवकीसान्त्वनञ्च। |
| ३. | श्रीकृष्णप्रादुर्भाव: - वसुदेवदेवकीकृता भगवत: स्तुति: - भगवदादेशेन कंसभीतस्य वसुदेवस्य गोकुलं प्रति स्वपुत्र नयनम् - ततो यशोदासुताया आयननञ्च। |
| ४. | जिघांसो: कंसस्य हस्ता दुन्मक्ताया देव्या भगवदवतारसूचनम् - कंसानुताप: - तदीयदुर्मन्त्रिणा दुर्भन्द्रणञ्च |
| ५. | गोकुले भगवतो जातकर्मादिमहोत्सव: नन्दस्य मथुरागमनं तत्र नन्दवसुदेव संवाद:। |
| ६. | पूतनावध:। |
| ७. | शकटभङ्ग: - तृणावर्तवध: - जृम्भमाणस्य भगवतो मुखे यशोदया आकाशादि दर्शनञ्च। |
| ८. | गर्गागमनम् - जातककथनपूर्वकं यशोदा रोहिणी सुतयो र्नामकरणसंस्कार: - यशोदायै भगवत्कर्तृकं स्वमुखे विश्वरूप प्रकटीकरणञ्च। |
| ९. | श्रीकृष्णस्य उलूखले बन्धनम्। |
| १०. | यमलार्जुनोद्धार: |
| ११. | गोपानां गोकुलं परित्यज्य बृन्दावने गमनम् - तत्र श्रीकृष्णद्वारा वत्सासुर बकासुरयो र्वध:। |
| १२. | अघासुरवध: |
| १३. | सबाल वत्सबृन्दे ब्रह्मणाऽपहृते श्रीकृष्णस्य तत्तद्रूपेण आब्दं यथापूर्वं विहरणम् - ब्रह्मणो मोहभङ्गश्च। |
| १४. | ब्रह्मणा कृता भगवत: स्तुति: - वत्सपालानयनञ्च। |
| १५. | गोचारणं-धेनुकासुर वध: - कालिय विष दूषिताम्बु पानान्मृतानां गवां गोपानञ्च पुन रुज्जीवनम्। |
| १६. | कालिय दमनम् - नागपत्नीकृतं नागकर्तृकञ्च भगवत: स्तवनम् - नागद्वारा ह्रदपरित्यागश्च। |
| १७. | कालियस्य यमुनाह्रदे निवासस्य कारणवर्णनम् ह्रदा निर्गतेन श्रीकृष्णेन व्रजौकसां दावानला द्रक्षणम्। |
| १८. | प्रलम्बासुरवध:। |
| १९. | मुञ्जाटव्यां गवां गोपानाञ्च दावानला द्रक्षणम्। |
| २०. | प्रावृड्वर्णनम् शरद्वर्णनञ्च। |
| २१. | वेणुगीतम् - भगवतो मधुरं वेणुनाद माकर्ण्य गोपीभि स्तद्गुणगानम्। |
| २२. | चीरहरणलीला। |
| २३. | अज्ञयाच्चामिषेण यज्ञपत्नी ष्वनुग्रह:। |
| २४. | इन्द्रमखभङ्ग:। |
| २५. | कोपान्मुसलधारावर्षं वर्षतीन्द्रे व्रजौकसां रक्षणार्थं भगवतो गोवर्धन धारणम् |
| २६. | श्रीकृष्णस्यालौकिकं प्रभावं दृष्ट्वा चकितान् गोपान् प्रति नन्दस्य गर्गोक्तिकथनम्। |
| २७. | विगतमतस्येन्द्रस्य श्रीकृष्ण सन्निधौ क्षमाप्रार्थनम् - कामधेन्विन्द्राभ्यां श्रीकृष्ण स्याभिषेकश्च। |
| २८. | विकालेऽवगाहनात् वरुणदूतेन वरुणालयं नीतस्य नन्दस्य भगवता पुनरानयनम्। |

# श्रीमद्भागवत दशमस्कन्धीयानां प्रथमाध्याय प्रभृतीनां अष्टाविशांध्याय पर्यन्तानां अध्यायानां

## - अध्यायार्थसङ्ग्रहश्लोका:-

कृष्णावतारचरितश्रवणामृतनिर्वृत:।
उक्तानुवादेनौत्सुक्या द्राजा पृच्छति तत्पुन:॥ १ ॥

तत्र तु प्रथमे कंस स्वमृत्युं देवकी सुतात्।
श्रुत्वा भीतोऽवधीत्तस्याष्षड्गर्भानिति वर्ण्यते॥ २ ॥

द्वितीये कंसघाताय देवक्या गर्भगो हरि:।
ब्रह्मादिभि स्स्तुत स्सा च सान्त्वितेति निरूप्यते॥ ३ ॥

तृतीये निजरूपेण सम्भूत स्तु हरि स्स्वयम्।
पितृभ्यां संस्तुतो नीत: पित्रा भीतेन गोकुलम्॥ ४ ॥

चतुर्थे चण्डिकावाक्य माकर्ण्यातिभयाकुल:।
दुर्मन्त्र्यभिहितं मेने कंसो बालादिहिंसनम्॥ ५ ॥

पञ्चमे जातकं नन्द स्सूनो: कृत्वा महोत्सवम्।
गत्वा तु मधुरां प्राप वासुदेवागमोत्सवम्॥ ६ ॥

षष्टे सल्यु र्गिरा नन्दो व्रजन् गच्छन् मृतां पथि।
दृष्ट्वा तु राक्षसीं, तस्या मृत्युं श्रुत्वाऽसविस्मित:॥ ७ ॥

उत्क्षिपन् शकटं व्योम्नि तृणावर्त मधिक्षिपन्।
दर्शयन्विश्व मास्ये च कृष्ण: क्रीडति सप्तमे॥ ८ ॥

अष्टमे नामकर्माऽस्य बालक्रीडाकुतूहले
मृद्भक्षणादियोगे च विश्वरूपं निरूप्यते॥ ९ ॥

विश्वरूपादि बालस्य नियम्याऽऽशङ्किन: पितु:।
नामकृद्गर्भवाक्येन निजं तत्त्व मसूचयत्॥ १० ॥

नवमे पयउत्सिक्ते गत्वा गोप्यथ तत्कृतम्।
विलोक्य भण्डिभङ्गादि कृष्णं दाम्ना बबन्धनम्॥ ११ ॥

तत्तूदराश्रितं विश्वं दृष्ट्वा विस्मितचेतस:
बन्धनद्वयकुलापूर्त्या पूर्णतां सोऽन्वदर्शयत्॥ १२ ॥

दशमेऽपातय द्राजन्नन्तरा यमलार्जुनौ।
तत्र ताभ्याञ्च देवाभ्यां कृष्ण: स्तुत इतीर्यते॥ १३ ॥

एकादशे समागत्य बृन्दावन मथाभिकै:।
वत्सान्पालयताऽऽनेन हतौ वत्स बकासुरौ॥ १४ ॥

द्वादशे तु महासर्पवपुर्धर मघासुरम्।
वत्सपालगलं क्रुद्धो गलोऽहन्निति वर्ण्यते॥ १५ ॥

महाबकगलक्रीडा केवलस्य न कौतुकम्॥
इतीवाऽघासुरमुखे ससखः प्राविशद्धरि:॥ १६ ॥

त्रयोदशे हरि र्ब्रह्म वत्सा न्पालांश्च मायया
तदा तत्सर्वरूपोऽब्दं कृष्ण: पूर्वव दाचरत्॥ १७ ॥

चतुर्दशेऽद्भुतं दृष्ट्वाऽपूर्वागन्तुकनिश्चयम्।
अनीश: कर्तु मस्तौषीत्कृष्णं ब्रह्माऽतिमोहित:॥ १८ ॥

तत: पञ्चदशे धेनुपालनं धेनुकार्दनम्।
कालियश्चेवेलतो गोपरक्षणञ्च निरूप्यते॥ १९ ॥

षोडशेकालियस्योक्तो निग्रहो यमुनाह्रदे।
तत्पत्नीभि: स्तुतेनाऽथ कृष्णेनाऽनुग्रह: पुन:॥ २० ॥

नागं सप्तदशे नागालयं तं निरयासयत्।
बन्धूंश्च सखिन: शान्तान् सुतां स्तत्र दवा दपात्॥ २१ ॥

अष्टादशे ततो ग्रीष्मे बसन्तगुणलक्षिते
अघातय द्वतेनाऽलं प्रलम्बं लीलया हरि:॥ २१ ॥

ऊनविंशे निविष्टं तु गोपगोकुल मच्युत:।
मुञ्जारणमरण्याग्ने ररक्ष त्तन्निपानत:॥ २३ ॥

विंशेप्रावृद्वरच्छोभावर्णनेन वनोचिता:।
प्रावृट्क्रीडा निरूप्यन्ते गोपरामयुजो हरे:॥ २४ ॥

एकविंशे शरद्रम्यबृन्दावनगते हरौ।
तद्वेणुस्वन माकर्ण्य गोपीभि र्गीत मीर्यते॥ २५ ॥

द्वाविंशे गोपकन्यानां वस्त्राहरणलीलया।
वरं दत्वा गत: कृष्णो यज्ञ शाला मितीर्यते॥ २६ ॥

त्रयोविंशे ततो गोपै रजयाच्चापदेशत:।
तत्पत्न्यनुग्रहात्कृष्णो वीक्षिता नन्वतापयत्॥ २७ ॥

चतुर्विंशे महेन्द्रस्य मखं व्यावर्त्य हेतुभि:।
कृष्ण: प्रावर्तयामास गोवर्धनमहोत्सवम्॥ २८ ॥

पञ्चविंशेरुषा चक्रे व्रजनाशाय वर्षति।
उद्धृत्य गिरि मासारा दरक्षद्गोकुलं प्रभु:॥ २९ ॥

षड्विंशे विस्मितान्गोपान् कृष्णस्याद्भुतकर्मभि:।
नन्दो गर्गोक्ति माशङ्क्य तदैश्वर्य मवर्णयत्॥ ३० ॥

सप्तविंशे तदऽऽतश्च्य कृष्णस्य प्राभवं परम्।
वर्ण्यते सुरभीन्द्राभ्या मभिषेकमहोत्सव:॥ ३१ ॥

अष्टाविंशे ततो नन्दानयनं वरुणालयात्।
वैकुण्ठ दर्शनञ्चाऽपि गोपाना मनुवर्ण्यते॥ ३२ ॥

## श्रीमद्भागवतपाठविधिः

स्नातः शुचिर्भूत्वा प्राणानायम्य त्रिराचम्य च मङ्गलपाठपूर्वकं भगवन्तं प्रणमेत्। तदनु सञ्चितैः षोडशोपचारैर्मनसोपचारैर्वा व्यासं शुकं वासुदेवं श्रीमद्भागवतग्रन्थं च सादरं सविनयं सभक्तिभावं सम्पूजयेत्। ततः पाठारम्भात् प्राक् 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' इति द्वादशाक्षरमन्त्रम्, 'ओं क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' इति गोपालमन्त्रं वाऽष्टोत्तरशतं जपेत्। पश्चादेवं विनियुञ्जीत —

### विनियोगः

ओं अस्य श्रीमद्भागवताख्यस्तोत्रमन्त्रस्य नारद ऋषिः, बृहती छन्दः, श्रीकृष्णः परमात्मा देवता, ब्रह्म बीजम्, भक्तिः शक्तिः, ज्ञानवैराग्ये कीलकम्, मम श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थं पाठे विनियोगः।

### ऋष्यादिन्यासः

'नारदर्षये नमः' शिरसि। 'बृहतीच्छन्दसे नमः' मुखे। 'श्रीकृष्णपरमात्मदेवतायै नमः' हृदि। 'ब्रह्मबीजाय नमः' गुह्ये। 'भक्तिशक्तये नमः' पादयोः। 'ज्ञानवैराग्यकीलकाय नमः' नाभौ। श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थकपाठविनियोगाय नमः सर्वाङ्गे। द्वादशाक्षरमन्त्रेण हृदयाद्यङ्गन्यासं करन्यासं च कुर्यात्। अथवाऽधोऽङ्कितरीत्याङ्गन्यासकरन्यासौ विदध्यात् —

### अङ्गन्यासः

ओं क्लां हृदयाय नमः। ओं क्लीं शिरसे स्वाहा। ओं क्लूं शिखायै वषट्। ओं क्लै कवचाय हुम्। ओं क्लौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ओं क्लः अस्त्राय फट्।

### करन्यासः

ओं क्लां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ओं क्लीं तर्जनीभ्यां नमः। ओं क्लूं मध्यमाभ्यां नमः। ओं क्लैं अनामिकाभ्यां नमः। ओं क्लौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ओं क्लः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

### अथ ध्यानम्

कस्तूरीतिलकं ललाटफलके वक्षःस्थले कौस्तुभं नासाग्रे नवमौक्तिकं करतले वेणुं करे कङ्कणम्।
सर्वाङ्गे हरिचन्दनं च कलयन् कण्ठे च मुक्तावलिं गोपस्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपालचूडामणिः॥
अस्ति स्वस्तरुणीकराग्रविगलत्कल्पप्रसूनाप्लुतं वस्तु प्रस्तुतवेणुनादलहरीनिर्वाणनिर्व्याकुलम्।
स्रस्तस्रस्तनिबद्धनीविविलसद्गोपीसहस्रावृतं हस्तन्यस्तनतापवर्गमखिलोदारं किशोराकृति॥

*इत्येवं ध्यात्वा पाठमारभेत।*

## श्रीमद्भागवतसप्ताहपारायणस्य दैनन्दिनविश्रामस्थलानि निम्नाङ्कितपद्येषु निरूपितानि

मनुकर्दमसंवादपर्यन्तं प्रथमेऽहनि। भरताख्यानपर्यन्तं द्वितीयेऽहनि वाचयेत्॥
तृतीये दिवसे कुर्यात् सप्तमस्कन्धपूरणम्। कृष्णाविर्भावपर्यन्तं चतुर्थे दिवसे वदेत्॥
रुक्मिण्युद्वाहपर्यन्तं पञ्चमेऽहनि शस्यते। श्रीहंसाख्यानपर्यन्तं षष्ठेऽहनि वदेत्सुधीः॥
सप्तमे तु दिने कुर्यात् पूर्तिं भागवतस्य वै। एवं निर्विघ्नतासिद्धिर्विपर्यय इतोऽन्यथा॥

# श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

ओं नमो भगवते वासुदेवाय

## दशमः स्कन्धः
## पूर्वार्धम्

## प्रथमोऽध्यायः

श्रीकृष्णस्य विविधविचित्रलीलाविशेषवर्णनाऽऽकर्णनाय
परीक्षिन्नरेन्द्रः शुकमहर्षिं पृच्छति

राजोवाच

कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः ।
राज्ञाञ्चोभयवंश्यानां चरितं परमाद्भुतम् ॥ १ ॥

यदोश्च धर्मशीलस्य नितरां मुनिसत्तम !
तत्रांशेनाऽवतीर्णस्य विष्णो वीर्याणि शंस नः ॥ २ ॥

अवतीर्य यदो वंशे भगवान् भूतभावनः ।
कृतवान् यानि विश्वात्मा तानि नो वद विस्तरात् ॥ ३ ॥

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्भवौषधाच्छ्रोत्रमनोभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्पुमान् विरज्येत विना ऽपशुघ्नात्[1] ॥ ४ ॥

पितामहा मे समरेऽमरञ्जयैर्देवव्रताद्यातिरथैस्तिमिङ्गिलैः ।
दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं कृत्वाऽतरन् वत्सपदं स्म यत्प्लवाः ॥ ५ ॥

द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानाम् ।
जुगोप कुक्षिङ्गत आत्तचक्रो मातुश्च मे यश्शरणङ्गतायाः ॥ ६ ॥

वीर्याणि तस्याऽखिलदेहभाजामन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः[2] ।
प्रयच्छतो मृत्युमुताऽमृतञ्च मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन् ॥ ७ ॥

---

1. M.° नातिमुग्धात् 2. M ° मनामयञ्च ।

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

विश्वसर्गविसर्गादि नवलक्षणलक्षितम् ।
श्रीकृष्णाख्यं परं धाम जगद्धाम नमामि तत् ॥
दशमे दशमं लक्ष्यमाश्रिताश्रयविग्रहम् ।
क्रीडद्यदुकुलाम्भोधौ परानन्दमुदीर्यते ॥
दशमे कृष्णसत्कीर्तिवितानायाऽनुवर्ण्यते ।
धर्मग्लानिनिमित्तस्तु निरोधो दुष्टभूभुजाम् ॥
प्राकृतादिश्चतुर्धा यो निरोधस्स तु वर्णितः ।
तत्तत्प्रसङ्गतस्सृष्टिसंहारादिनिरूपणैः ॥
कृता नवतिरध्याया दशमे कृष्णकीर्तये ।
आद्यैश्चतुर्भिरध्यायै र्ब्रह्मप्रार्थनयाऽवनेः ॥
भारं हर्तुं हरेर्जन्म सप्रसङ्गं निरूप्यते ।
गोकुले मधुरायाञ्च द्वारवत्यां ततः क्रमात् ॥
कृष्णलीला त्रिधा प्रोक्ता तत्तद्भेदैस्त्वनेकधा ।
स[1]पञ्चत्रिंशताऽध्यायैः बृहद्वृन्दावनादिषु ॥
गोकुले वसतो लीला वर्ण्यते परमात्मनः ।
एकेन यमुनावारिण्यक्रूरेण कृता स्तुतिः ॥
एकादशभिराख्याता लीला मधुपुरे हरेः[3] ।
शेषैर्द्वारवतीलीला तन्निर्माणादि वर्ण्यते ॥
एवं नवतिरध्याया दशमे विशदार्थकाः ॥

[4]अत्र प्राकृतादिचतुर्विधलयविवृतिरेवं विविच्य कथ्यते - प्राकृतः नैमित्तिकः आत्यन्तिकः नित्यश्चेति लयश्चतुर्धा। प्रकृतौ तत्कार्यब्रह्माण्डस्य लयः प्राकृतः । ब्रह्मणो निद्रां निमित्तीकृत्य प्रवर्तमानो लोकत्रयप्रलयो नैमित्तिकः । ज्ञानेनाऽविद्यां सकार्यां छित्वा स्वरूपेणावस्थान मात्यन्तिकः । देहस्य प्रतिक्षणमवस्थाभेदेन प्रवर्तमानो नित्य[4]ः ।

तत्र तु प्रथमे कंसः स्वं[5] मृत्युं देवकीसुतात् ।
श्रुत्वा भीतोऽवधीत्तस्या ष्षड्गर्भानिति वर्ण्यते ॥
कृष्णावतारचरित श्रवणामृतनिर्वृतः ।
उक्तानुवादेनौत्सुक्या द्राजा पृच्छति तत्पुनः ॥

**कथितो वंशविस्तार**[6] इत्यादिना ॥ १ ॥
यदोरिति । अंशेनेति प्रतीत्यभिप्रायेणोक्तम् ॥ २ ॥

ननूक्तानि कर्माणि[7] 'जातो गतः पितृगृहा द्व्रजमेधितार्थः[8] (भाग. 9-24-66) इत्यादिना । सत्यं, पुनर्विस्तरेण वदेत्याह - **अवतीर्येति** । भूतानि भावयति पालयतीति तथा ॥ ३ ॥

अत्र लोके त्रिविधा जनाः मुक्ताः , मुमुक्षवः , विषयिणश्च । तेषां मध्ये अत्र न कस्याप्यलम्प्रत्यय इत्याह **निवृत्ततर्षैरिति**। निवृत्ततर्षैः[9] गततृष्णैः मुक्तैरित्यर्थः । मुमुक्षूणामयमेव उपादेय[10] इत्याह भवौषधादिति । विषयिणामपि[11] परमो विषयोऽयमेवेत्याह श्रोत्रमनोभिरामादिति । अपगता शुक् यस्मात्तमात्मानं हन्तीत्यपशु(क्)घ्नः , तस्मात् । पशुघातिन इति वा ॥ ४ ॥

किञ्च अस्मत्कुलदैवतं श्रीकृष्णः । अतस्तत्कथैव नित्यं श्रोतव्येत्याशयेनाऽऽह - **पितामहा** इति । अमरान् जयन्ति ये तैः । देवव्रतो भीष्मः तदाद्यैरतिरथैरेव[12] तिमिङ्गिलैः[13] दुरत्ययम् । वत्सपदमिव अत्यल्पं कृत्वा तुच्छीकृत्य[14] अतरन् स्म । यः श्रीकृष्ण एव ध्रुवो येषां ते तस्य वीर्याणि वदस्वेति तृतीयश्लोकगतपदेनाऽन्वयः ॥ ५ ॥

न केवलं पाण्डवानेवाऽरक्षत्, इदं मम शरीरमपि यो रक्षितवानित्याह - **द्रौण्यस्त्रविप्लुष्ट** मिति । द्रौणेरश्वत्थाम्नः ब्रह्मास्त्रेण दग्धमिदं मच्छरीरं कुरूणां पाण्डवानाञ्च सन्तानस्य बीजं[15] निदानं[16] मे मातुः कुक्षौ प्रविष्टो यो धृतचक्रो जुगोपेति ॥ ६ ॥

**वीर्याणीति**। आखिलदेहभाजां सर्वप्राणिनाम् अन्तः पुरुषरूपेण बहिः कालरूपैश्च। अंशाभिप्रायेण बहुवचनम्। अमृतं मुक्तिम्[17]। मृत्युं संसारम्। उत अपि। प्रयच्छतो वीर्याणि वदस्व ब्रूहि। अयं भावः - अन्तर्यामिरूपेण अन्तर्दृष्टीनां मुक्तिं, बहिर्दृष्टीनां कालरूपेण मृत्युं संसारं[18] प्रददाति[19] यतः , अतोऽन्तर्दृष्ट्या तद्वीर्याण्येव श्रोतव्यानीति ॥ ७ ॥

---

1- -1 v. पञ्चत्रिंशद्भिरध्यायैः 2. B. सुदुष्करा 3- -3 B मधुवने कृता । 4- -4 B omits 5. B स्वमृत्युं 6. B इति ॥ १ ॥ 7. B omits कर्माणि 8- -8 J.V omit 9- -9 B.J omit 10. B,J उपाय 11 B,J omit अपि। ★ अत्र व्याख्यातुः द्विविधः पदच्छेदः सम्मत इति भाति - आपशुक्घ्नात् (अपशुग्घ्नात्) इति, पशुघ्नात् इति च । 12. B,J omit एव 13. B,J add तिमिङ्गिलतुल्यैः 14. B,J गतेनाऽ° 15 B,J omit बीजं 16. B,J मम 17. B,J omit मुक्तिम् । 18. B,J omit संसारं 19. B,J omit प्र

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अतिक्रान्तस्कन्धान्ते "जातो गतः पितृगृहाद्व्रजमेधितार्थो हत्वा रिपून् सुतशतानि कृतोरुदारः, उत्पाद्य तेषु पुरुषः क्रतुभिस्समीज आत्मानमात्मनिगमं प्रथमं जनेषु॥" (भाग. 9-24-66) इत्यादि श्लोकद्वयेन सङ्ग्रह्य प्रदर्शितं कृष्णावतारचरित्रं विस्तरेण शुश्रूषुरतिक्रान्तस्कन्धार्थानुवादपूर्वकं पृच्छति राजा कथित इत्यादिना श्लोकदशकेन । तत्र पूर्वस्कन्धार्थमनुवदति **कथित** इति सार्धेन । सोमसूर्ययोस्तदुभयवंशजातानाञ्च राज्ञां वंशविस्तारः , तेषां परमाद्भुतं चरित्रञ्च कथितम् ॥१॥

हे मुनिसत्तम, नितरां धर्म एव शीलं वृत्तं[1] यस्य तस्य यदोर्वंशविस्तारः कथितः । अधुना तत्र यदोर्वंशे अंशेन बलरामेण सहावतीर्णस्य । यद्वा सङ्कल्पस्वरूपज्ञानेन वा, दिव्यविग्रहांशेन वा । अन्यथा "एते चांशकला विष्णोः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" (भाग. 1-3-28) इति पूर्वोत्तरव्याघातापत्तेः । विष्णोः श्रीकृष्णस्य वीर्याणि वीर्यगुणप्रकारकाणि[2] चरित्राणि, नः शुश्रूषुभ्योऽस्मभ्यं, शंस विस्तरतः कथय ॥ २ ॥

कानि वीर्याणीत्यत्राऽऽह - **अवतीर्येति** । यद्वा, न परव्यूहादिरूपेणावस्थितस्य वीर्याणि, किन्तु, यदोर्वंशेऽवतीर्य भगवान् यानि वीर्याणि कृतवान् तानि वीर्याणि विस्तरतः नः अस्मभ्यं, वद शंस । अवतरणप्रभृतीनि स्वर्लोकगमनपर्यन्तानि वीर्याणि विस्तरेण कथयेति भावः । अत एव पुनरवतीर्येत्युक्तम् । अवताराप्रयोजनं तन्निमित्तञ्च विस्तरेण वदेत्यभिप्रायेण विशिनष्टि । भूतभावनः भूतानि साधुभूतानि भावयति विभावयति त्रायत इति तथा । विश्वात्मा विश्वस्यान्तरात्मा । विश्वमात्मा शरीरं यस्येति वा विश्वात्मा ॥ ३ ॥

ननु विष्णोर्वीर्याणि अभीक्ष्णशः श्रुतान्येव किं पृच्छसीत्यत्राऽऽह - **निवृत्ततर्षे** रिति । 'क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्' इत्यस्य अमृतादिति शेषः । उत्तमश्लोकस्य भगवतः गुणानुवादरूपाद् अमृतात् पशुघ्नं विना कः पुमान् विरज्येत? न कोऽपीत्यर्थः । प्रसिद्धामृतवैलक्षण्यं सूचयितुं विशिनष्टि - निवृत्तः तर्षः विषयेषु अनलम्बुद्धिर्येषां तैः , विगतविषयस्पृहै र्योगिभिरुपगीयमानात् । प्रसिद्धन्त्वमृतम् अनिवृत्ततर्षोपगीयमानमित्यर्थः । भवौषधात् भवस्य संसारस्य रोगरूपस्य औषधात् औषधादिव प्रतीकाररूपात्, प्रसिद्धं तु भववर्धनमिति भावः । श्रोत्रयोर्मनस श्चाभिरामात्, प्रसिद्धन्तु रसनेन्द्रियमात्राभिरामामिति भावः । गुणानुवादो गुणकथा पशुं हन्तीति पशुघ्नो गोघ्नः , तं विनेत्यर्थः । यद्वा पशुवत् हन्ति गच्छति व्याप्नियत इति पशुघ्नः , तं विनेत्यर्थः , पशुतुल्यवृत्तिः , केवलमूर्ख इति यावत् । यद्वा, अपशुघ्नादितिछेदः । पशु इति सम्यगर्थकमव्ययम् । नपशु असम्यक् हन्ति गच्छति बुध्यतीति तथा। हन - हिंसागत्योः, गत्यर्थास्सर्वे ज्ञानार्थकाः। सम्य गुपकारमविद्वान् कृतघ्न इति यावत् । उत्तमश्लोककृतोपकाराभिज्ञस्तद्गुणानुवादात् कः पुमान् विरज्येतेत्यर्थः ॥ ४ ॥

कौऽसौ तत्कृतोपकारः , यदभिज्ञानात् तद्गुणानुवादात् न विरज्येत । बहुषु भगवदवतारतच्चरितेषु सत्स्वपि किं विशेषेण कृष्णावतार चरित्रादिकमेव पृच्छसीत्यत्राह - **पितामहा** इति द्वाभ्याम् । अमरञ्जयैः देवानपि जेतुं समर्थैः भीष्माद्यतिरथरूपैः तिमिङ्गिलैः हेतुभिः दुःखेनाप्यत्येतुं पारङ्गन्तुमशक्यं कौरवाणां सैन्यमेव सागरस्तम्, यो भगवान् कृष्ण एव प्लवो नौर्येषां ते मम पितामहा युधिष्ठिरादयः, वत्सपदं कृत्वा गोष्पदतुल्यं कृत्वा अतरन् स्म पारं जग्मुः किल। श्लोकद्वयस्थयच्छब्दयोर्वीर्याणि तस्येत्यनेनान्वयः ॥ ५ ॥

**द्रौणीति** । किञ्च, द्रौणेरश्वत्थाम्नोऽस्त्रेण तत्प्रयुक्तब्रह्मशीर्षनामकास्त्रेण विप्लुष्टं दग्धमिदं मदङ्गं मच्छरीरं कुरूणां पाण्डवानाञ्च सन्तानस्य बीजं प्रवर्तकं वंशद्वयेऽपि खस्यैवाऽवशेषितत्वात् तदुभयसन्तानबीजमित्यर्थः । यो जुगोप । कथम्भूतः? शरणं गताया मम मातुरुत्तरायाः कुक्षिं प्रविष्टः । आत्तं धृतं चक्रं सुदर्शनं येन तथाभूतो मत्पितामहप्रभृतीनां मत्पर्यन्तानाम् अनिष्टपरिहारेष्टप्रापणदीक्षितस्य महोपकर्तुर्गुणानुवादात् कृतज्ञः कथमहं विरज्येयमिति भावः ॥ ६ ॥

**वीर्याणीति** । यत एवमतो, हे विद्वन् ! अखिलानां देहभाजाम् अन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः अमृतं मृत्युञ्च प्रयच्छतः । क्षेत्रज्ञानां कालावयवानाञ्च बहुत्वाद् बहुवचनम् । क्षेत्रज्ञकालात्मकैः रूपैश्शरीरैः, तत्राऽन्तः पुरुषरूपेण अमृतम् अमरणं स्थितिं प्रयच्छतः , स्थितिहेतोरित्यर्थः । उत अपि च बहिः कालरूपेण मृत्युं प्रयच्छतः विनाशहेतोरित्यर्थः कृत्स्नजगत्कारणस्येत्यर्थः । "**कारणन्तु ध्येयः**" (अथ.शिख.उ. 3) इति कारणस्यैव वस्तुनो ध्येयत्वश्रवणात्, ध्यानस्य च श्रवणमननादिपूर्वकत्वात् तद्विषयकशुश्रूषा ममाऽस्तीति ज्ञापनायाऽखिलदेहभाजामित्यादि अमृतञ्चेत्यन्तमुक्तम् । तर्हि एवम्भूतस्य कथं मनुष्यत्वापत्तिरित्यतो विशिनष्टि । मायामनुष्यस्य सङ्कल्पज्ञानेन मनुष्यस्य, प्रच्छन्नमनुष्यस्य वा तस्य कृष्णस्य वीर्याणि वदस्व प्रकाशय । "**भासनोपसम्भाषा**" (अष्टा० 1-3-47) इत्यादिना वदेस्तङ् ॥ ७ ॥

1. K,W. omit वृत्तं 2. K प्रकाशकानि 3. B,W °धं 4. B,W °धमिव 5. B °तः उप 6. B ° से । 7. B ° त्रेषु 8. B तच्च° 9. K,W omit मम 10- -10 K, W omit 11. B. बाहुल्यात् 12. B ° दि सूत्रेण

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

नवमस्कन्धान्ते संक्षिप्तं श्रीविष्णुचरितं विस्तरतः श्रोतुं राजा वृत्तमनूद्य वक्तुं प्रार्थयते **'कथितो वंशविस्तार'** इत्यादिना । विद्यया जन्मना चैकलक्षणः सन्तानो वंशः तत्र भवो वंश्यः "व्यासः प्रपञ्चो विस्तारः " (हला०. को. 4-81) इत्यभिधानम् । राज्ञां चरितञ्च कथितम् । कथने निमित्तमाह परमेति ॥ १ ॥

अत्र विशेषमाह - **यदोरिति**। यदोर्ययातिपुत्रस्य वंशो नितरां कथितः धर्मो भगवान् तत्समाधियुक्तस्य। "शील समाधौ" इति धातुः। अस्तु नाम, ततः किमपेक्षितमिति तर्वत्राऽऽह - तत्रेति। यदोर्वंशे वीर्याणि पराक्रमान् ॥ २॥

तात्पर्यात् पुनरुक्तमेवाऽऽह - **अवतीर्येति** । यानि भूकण्टकादितिसुतहननादीनि कर्माणि । विश्वात्मा विश्वव्यापीत्यनेन ब्रह्मत्वं ध्वनयति । विस्तरतः न केवलमर्थतः प्रपञ्चनम् अपि तु शब्दतः अल्पबुद्धीनामवगन्तुमशक्यत्वात् । "सच (तु) शब्दस्य विस्तरः " (आम.को. 3- 135, वैज.को. 5-2-3) इत्यभिधानम् ॥ ३ ॥

अतीतस्कन्धे हरिकथाश्रवणेन अलम्बुद्धिर्नाभूत् किम् इति तत्राऽऽह - **निवृत्तेति** । निवृत्ततर्षैः विषयालम्बुद्धिसहितैः भवौषधात् संसाराख्यरोगपरिहारहेतुभूतौषधात्, अतिमुग्धात् अन्यथाज्ञानिनः । पशुध्नादिति वा पाठः ॥ ४ ॥

माहात्म्यं हरेरनुभवसिद्धं यस्मादतो वक्तव्यमित्याशयेनाऽऽह - **पितामहा** इति । पितामहा अर्जुनादयः अमरान् देवान् जयन्तीति अमरञ्जयास्तैः देवानामिव व्रतम् अप्रजाजननलक्षणं यस्य स भीष्मः, स आद्यो येषां द्रोणादीनां ते तथा त एव अतिरथा रथ्युत्तमास्तैः । तिमिर्नाम महामत्स्यः कायेन दशयोजनप्रमाणमावृत्य स्थितः तमपि गिलति ग्रसत इति तिमिङ्गिलः । खप्रत्ययनिमित्तं मुमागमः । वत्सपदं गोवत्सपदमिव, वत्सपदं लुप्तोपमम् । यः कृष्णः प्लवः उडुपं येषां ते यत्प्लवाः नदीतरणाय निर्मितं वंशचर्मादिना यत्साधनं स प्लव इति ॥ ५ ॥

इतोऽपि तद्वीर्याणि श्रोतव्यानीत्याऽऽह - **द्रौण्यस्त्रेति** । मातुरुत्तरायाः कुक्षिं गतः प्रविष्टः । इदं प्रत्यक्षश्चेति भावेन उक्तं मेय इति । मया मेयः ज्ञेयः मम दृग्विषयः ॥ ६ ॥

"भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः " (अष्टा. 1-3-47) इत्यतो वदस्वेत्यात्मनेपदप्रयोगो मद्धितार्थं वक्तव्यमिति सूचनार्थः, शुकस्य वक्तव्यांशज्ञानपाटवप्रदर्शनार्थञ्च । एतदेव प्रकटितमभूत् विद्वन्नित्यनेन । अन्तः पुरुषरूपैः बहिः कालरूपैः अनामयं संसारदुःखनिरासेन सुखं, मृत्युं दुःखानुभवलक्षणम् अन्धं तमः प्रयच्छतो ददतः । बहुरूपत्वाद् बहुवचनम्। पलायन्त इति शेषः ॥७॥

रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तो रामस्सङ्कर्षणस्त्वया ।
देवक्या गर्भसम्बन्धः कुतो देहान्तरं विना ॥ ८ ॥

कस्मान्मुकुन्दो भगवान् पितृगेहाद् व्रजं गतः ।
क्व वासं ज्ञातिभिस्साकम्[1] अकरोत्सात्वतां पतिः ॥ ९ ॥

व्रजे वसन् किमकरोन्मधुपुर्यां च केशवः ।
भ्रातरं चावधीत्कंसं मातुरद्धाऽतदर्हणम् ॥ १० ॥

देहं मानुषमाश्रित्य कति वर्षाणि वृष्णिभिः ।
यदुपुर्यां सहाऽवात्सीत् पत्न्यः कत्यभवन् विभोः ॥ ११ ॥

एतदन्यच्च सर्वं मे मुने कृष्णविचेष्टितम् ।
वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ श्रद्दधानाय विस्तृतम् ॥ १२ ॥

नैषातिदुस्सहा क्षुन्मां त्यक्तोद मपि बाधते ।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजाच्च्युतं हरिकथामृतम् ॥ १३ ॥

---

1 B,G,M ° स्सार्धं 2. B, G, K, M, कृतवान् सा ° 3. B,G, प्रभो ः ; W विभो। 4 B,G, °जच्युत, M ° जस्रुत

**श्रीध० रोहिण्या** इति । ननु "बलं गदं सारणञ्च दुर्मदं विपुलं ध्रुवम् । "वसुदेवस्तु रोहिण्यां कृतादीनुदपादयत्" (भाग. 9 - 24 - 46) इति रोहिण्यास्तनयो बलः[1] प्रोक्तः । "वसुदेवस्तु देवक्यामष्टपुत्रानजीजनत् । कीर्तिमन्तं सुषेणञ्च भद्रसेनमुदारधीः । मृदुं सम्मर्दनं[2] भद्रं सङ्कर्षणमहीश्वरम् । अष्टमस्तु तयोरासीत्स्वयमेव हरिः किल" (भाग. 9-24-53) इति। पुनर्देवक्या गर्भसम्बन्धस्तस्यैवोक्तः, स कुतो घटते इत्याक्षेपः ॥ ८ ॥

**कस्मादिति** । भगवतः कंसभयशङ्काया[3] असम्भवादित्यर्थः[3] ॥ ९ ॥

**व्रजे** इति । अद्धा साक्षात् । मातुर्भ्रातरं कंसं तस्मात् अतदर्हणं[4] वधानर्हं[4] कस्मादवधीत् ॥ १०,११,१२ ॥

ननु क्षुत्तृड्भ्यां पीडितस्य तव कुतः श्रवणावकाशः ? तत्राऽऽह - **नेति** । त्यक्तोदकस्याऽपि मे[5] जीवितं हरिकथामृतपाननिमित्तम् । तदुपरमे सत्येव[6] जीवनं[6] न स्यादित्यर्थः ॥ १३ ॥

---

1. B, J राम ः 2. B,J सन्तर्दनं 3- -3 V शङ्कासम्भवादित्यर्थः 4- -4 B,J omit 5 B, J मम 6- -6 B,J सद्य एव जीवितं

**वीर०** अंशेनावतीर्णस्य विष्णोरित्यंशचरित्रमपि कथनीयं[1] सूचितम् । तदेव व्यञ्जयन् पृच्छति - **रोहिण्या** इति। सङ्कर्षणः भगवदंशसम्भूतसङ्कर्षणावताररूपो रामो[2] बलरामः रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तः । तथा तस्य देवक्या गर्भसन्दर्भश्च प्रोक्तः[3] । त्वया नवमे इति शेषः । तदेतदुभयं देहान्तरं विनैव एकेन देहेनैव तस्य कुतः कस्माद्धेतोरभवत् ॥८॥

"कृतवान् यानि विश्वात्मा तानि नो वद" (भाग 10-1-3) इति सामान्यतः पृष्टानि वीर्याणि विशेषतः पृच्छति - **कस्मादिति चतुर्भिः** । भगवान् मुकुन्दः कस्माद्धेतोः पितुर्वसुदेवस्य गेहाद् व्रजं नन्दव्रजं गतः ? सात्त्वतां भक्तानां पतिर्भगवान् ज्ञातिभिः यदुभिस्सह का वासं कृतवान्? ॥ ९ ॥

व्रजे मधुपुर्यां च वसन् किं किमकरोत्? मातुर्देवक्याः अद्धा साक्षात् भ्रातरम् अत एव अतदर्हणं वधानर्हं कंसं कुतोऽवधीत् ? ॥ १० ॥

मानुषं मानुषवदवभासमानं देहं दिव्यमङ्गलविग्रहम् आश्रित्य परिगृह्य वृष्णिभिर्यदुभिस्सह यदुपुर्यां द्वारकायां कति वर्षाण्यवात्सीत् उषितवान्? तस्य पत्नयः कति बभूवुः? हे विभो! ॥ ११ ॥

एतत्पृष्टमन्यदपृष्टञ्च यद्यत्यर्वं कृष्णस्य[6] विचेष्टितं हे मुने! श्रद्दधानाय श्रवणोपयुक्तत्वरान्विताय मे शुश्रूषवे मह्यं हे सर्वज्ञ! साकल्येन कृष्णचेष्टिताभिज्ञ! विस्तृतं यथा तथा वक्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

प्रायोपविष्टस्य अशनायापिपासाभ्यामर्दितस्य[7] कथं श्रवणोपयुक्तचित्त समाधानसम्भव इत्यत्राऽऽह - **नैषेति** । त्यक्तम् उदपानं येन तथाभूतमपि मां दुस्सहा सोदुमशक्या एषा क्षुत् न बाधते । तत्र हेतुं वदन्नात्यानं विशिनष्टि । त्वन्मुखाम्भोजाच्च्युतं गलितं हरिकथैवाभृतं तत्पिबन्तं मामित्यन्वयः ॥ १३ ॥

---

1. B adds इति 2. K,W omit रामो 3. B स्मृतः 4. K,W omit नन्दव्रजं 5. B निवासं 6. K,W कृष्णवि° 7. B adds तव

**विज०** एकस्य द्वयोर्योनिसम्बन्धानुपपत्तिः प्रश्नबीजम् ॥ ८,९ ॥

मधुपुर्याञ्च वसन् किं कर्म कृतवान्? मातुर्भ्रातरं मातुलमित्यर्थः । अतदर्हणं तस्य वधस्य अयोग्यमित्यर्थः ॥ १०, ११ ॥

मे मह्यम् ॥ १२ ॥

क्षुधितस्य तव दौर्बल्यान्मनो नेच्छति श्रोतुमिति तत्राऽऽह - **नैषेति**। त्यक्तोदम्, आचमनजलमन्तरेणेति शेषः । ननु दिव्यमन्त्रौषधादिकमन्तरेण क्षुधादिकं मानुषदेहं बाधत एव; अतः कथं न बाधत इति तत्राऽऽह पिबन्तमिति । स्रुतं गलितम् ॥ १३ ॥

श्रीसूत उवाच

एवं[1] निशम्य भृगुनन्दनसाधुवादं वैयासकिस्स भगवानथ विष्णुरातम् ।
प्रत्यर्च्य कृष्णचरितं कलिकल्मष व्याहर्तुमारभत भागवतप्रधानः ॥ १४ ॥

श्रीभगवदवतारकारण प्रवचनघट्टः

श्रीशुक उवाच

सम्यग्व्यवसिता बुद्धि स्तव राजर्षिसत्तम !
वासुदेवकथायां ते यज्जाता नैष्ठिकी रतिः[2] ॥ १५ ॥
वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि ।
वक्तारं पृच्छकं श्रोतृंस्तत्पादसलिलं यथा ॥ १६ ॥
भूमि र्दृप्तनृपव्याजदैत्यानीकशतायुतैः ।
आक्रान्ता भूरिभारेण ब्रह्माणं शरणं ययौ ॥ १७ ॥
गौर्भूत्वाऽश्रुमुखी खिन्ना रुदन्ती[3] करुणं विभोः ।
उपस्थितान्तिके तस्मै व्यसनं समवोचत[4] ॥ १८ ॥
ब्रह्मा तदुपधार्याऽथ सह देवैस्तया सह ।
जगाम सन्निधनस्तीरं[5] क्षीरपयोनिधेः ॥ १९ ॥

---

1. W एतन्नि° 2. K,W मतिः 3. B,G क्रन्दन्ती, K. रुदती 4. B.G. स्व° 5. V. °ण°

**श्रीध० एव मिति** । एवं साधुवादं समीचीन[1]प्रश्नम् । भागवतप्रधानः भागवतेषु श्रेष्ठः ॥ १४ ॥

**सम्यगिति** । व्यवसिता कृतनिश्चया[2] यत् यतो बुद्धेः ॥ १५, १६ ॥

तत्र तावत् प्रथमं भगवदवतारकारणमाह - भूमिरिति नवभिः श्लोकैः । दृप्तनृपव्याजा ये दैत्यास्तेषामनीकशतानामयुतैः यो भूरिभारः , तेनाऽऽक्रान्ता ॥ १७ ॥

**गौरिति** । विभोरन्तिके उपस्थिता सती ॥ १८, १९ ॥

1. B,J °नं 2. V. निश्चिता 3. B, J.° रित्यादि

**वीर०** इत्थमापृष्टो भगवान् **शुकः श्रीकृष्ण**चरित्रं विस्तरतः कथयितुमारेभे इत्याह सूतः - **एवमिति** । हे भृगुनन्दन! शौनक, एवमित्थं साधुवादं साधोः परीक्षितो वादमुक्तिं प्रश्नरूपं निशम्य स भगवान् वैयासकिश्शुकः , ततो विष्णुरातं परीक्षितं प्रत्यर्च्य प्रत्यभिनन्द्य, कलिकल्मषघ्नं शृण्वतां **वदताञ्च कलिकालकृतपापघ्नं कृष्ण**स्य भगवतश्चरित्रं व्याहर्तुं विस्तरतो वक्तुं दशमैकादशस्कन्धद्वयेन वक्तुमिति यावत् । आरभत प्रारेभे। युक्त श्चैतदित्यभिप्रायेण विशिनष्टि । भागवतप्रधानः भागवतं भगवत्स्वरूपगुणाद्यनुसन्धानमेव प्रधानं मुख्यं प्रयोजनं यस्य **तथा**भूतः ॥ १४ ॥

तावत्प्रत्यर्च्याऽऽह - **सम्यगिति** द्वाभ्याम् । हे राजर्षिसत्तम ! तव बुद्धिस्सम्यग् व्यवसिता निश्चिता हेयोपादेयविवेकयुक्तेत्यर्थः । कुत एतत् ज्ञातव्यमित्यत्राऽऽह - यत् यस्मात् वासुदेवकथायामेव तव मतिर्नैष्ठिकी निष्ठायुक्ता वासुदेवकथाश्रवण एव परिनिष्ठितेत्यर्थः ॥ १५ ॥

किं तच्छ्रवणनिष्ठामात्रेणेत्यत्राऽऽह - **वासुदेवेति** । वासुदेव कथाप्रश्न एव, किं पुनस्तच्छ्रवणादिकमित्यभिप्रायेण प्रश्न इत्युक्तम् । यद्वा प्रश्नप्रतिवचनतच्छ्रवणानां त्रयाणामुपलक्षणार्थः प्रश्नशब्दः । त्रीन् पुरुषान् पुनाति, कान्[2]? वक्तारं प्रतिवक्तारं, पृच्छकं पृच्छन्तं श्रोतॄंश्चेति त्रीन् वक्ता प्रतिवक्ता च एकैकेन भाव्यमित्यभिप्रायेण वक्तारं पृच्छकञ्चेति एकवचन निर्देशः । श्रोतृभिस्तु बहुभिरपीति बहुवचननिर्देशः । यथा तस्य वासुदेवस्य पादसलिलं गाङ्गमम्भः पुनाति तद्वदिति पवित्रीकरणमात्रे दृष्टान्तः , ननु पुरुषत्रयपवित्रीकरणे, त्रयाणां तत्राऽसम्भवात् ? यद्वा यथा गाङ्गं सलिमुपस्पृशन्तं तस्य[3] पितरं पितामहञ्च पुनाति तद्वदिति दृष्टान्ताभिप्रायः । यथा तत्पादसलिलमुपस्पृशन्तमेकमेव पुरुषं पुनाति न तथा तत्कथाप्रश्नः पुनाति, अपि तु त्रीनिति व्यतिरेकदृष्टान्तो वाऽभिप्रेतः ॥ १६ ॥

तमित्थं प्रत्यर्च्य अवतारप्रभृतीनि वीर्याणि विस्तरतो विवक्षुः तावदवतारनिमित्तभूतां भूप्रार्थनामुपपादयति **भूमि** रित्यादिभिः चतुर्भिः । दृप्तः गर्विताः नृपव्याजाः नृपवदवभासमानाः ये दैत्यास्तेषामनीकानां सैन्यानां[4] शतानामयुतैः भूरिभारेण तद्रूपनिरवधिकभारेण आक्रान्ता पीडिता भूमिः ब्रह्माणं चतुर्मुखं शरणं ययौ ॥ १७ ॥

तदेव प्रपञ्चयति । गौर्भूत्वा गोरूपं बिभ्राणा खिन्ना दीना अश्रूणि मुखे यस्यास्तथाभूता करुणं यथा तथा रुदती[5] विभोः ब्रह्मणोऽन्तिके समीपे उपस्थिता स्तुवती[6] व्यसनं स्वदुःखं तस्मै ब्रह्मणे सम्यगवोचत विज्ञापयामास ॥१८॥

ब्रह्मा तद्व्यसनमुपधार्य ज्ञात्वा अथ देवगणैस्तया भूम्या सह सत्रिनयनस्सरुद्रः क्षीरसागरस्य तीरं जगाम ॥ १९ ॥

1. K adds इति 2. K,W, omit कान् 3. तत्पि° 4. K,W omit सैन्यानां 5. B, W रुदन्ती 6. B,W स्तुवन्ती

**विज०** सूतः इति शौनकं प्रत्याह - सूत इति । हे भृगुनन्दन! शौनक! प्रत्यर्च्य प्रतिसम्भाव्य, राजानमिति शेषः ॥ १४ ॥

कीदृशी प्रत्यर्चेति तामाह - **सम्यग् व्यवसितेति** । नैष्ठिकी श्रीनारायणोत्कर्षसम्बन्धिनी । "**निष्ठोत्कर्षे व्यवस्थायाम्**" (वैज. को. 6.2.21) इति यादवः । निश्चलतया स्थितिर्निष्ठा तद्वतीति वा ॥ १५ ॥

न केवलं हरिकथाप्रश्नः प्रष्टारं पुनाति, किन्तु वक्तारमपीत्याह - **वासुदेवेति** । तत्पादसलिलं भागीरथी शालग्रामतीर्थं वा। "गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयात्" (विष्णु० पु० 2-8-123) इत्यादेः ॥ १६ ॥

एतदन्यच्चेत्येतत् यदन्यदिति तदिदमिति ध्वनयन् कथामादित उपक्रमते - **भूमिरित्यादिना** । शतायुतैरित्यनेनास ङ्ख्यायातत्वं सूचयति । भूरिभारेण पीडितेति शेषः ॥ १७ ॥

यथा करुणं भवति तथा रुदन्ती, व्यसनं विविधनिरसनम् ॥ १८, १९ ॥

**तत्र गत्वा जगन्नाथं [1]देवदेवं वृषाकपिम् ।**
**[2]पूर्णं पुरुषसूक्तेन [3]ह्युपतस्थे समाहितः ॥ २० ॥**
**गिरं समाधौ गगने समीरितां निशम्य वेधास्त्रिदशानुवाच [4]ह ।**
**गां पौरुषीं मे शृणुताऽमराः पुन र्विधीयतामाशु तथैव मा चिरम् ॥ २१ ॥**
**पुरैव पुंसाऽवधृतो धराज्वरो भवद्भिरंशै र्यदुषूपजन्यताम् ।**
**स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद्भुवि ॥ २२ ॥**
**वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः पर ः ।**
**जनिष्यते [5]तत्पूजार्थं सम्भवन्तु [6]सुरस्त्रियः ॥ २३ ॥**
**★ ऋषयोऽपि तदादेशात् कल्प्यन्तां पशुरूपिणः ।**
**पयोदानमुखेनापि विष्णुं तर्पयितुं सुराः ॥**
**वासुदेवकलाऽनन्तस्सहस्रवदन स्स्वराट् ।**
**[7]अग्रजो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया ॥ २४ ॥**
**[8]विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत् ।**
**आदिष्टा प्रभुणांऽशेन कार्यार्थे सम्भविष्यति ॥ २५ ॥**

---

1. V. वासुदेवं 2. B,G,K,M,W पुरुषं 3. B,G,M उप 4. K,W omit ह 5. B,G,M, तत्प्रियार्थं 6. K,W ° वन्त्वमर

* This extra verse is commented on by Viraraghava 7. B,G,M ° तो 8. M. योगमाया

**श्रीध०** [1]**तत्रेति** । वृषान् देहान् जीवरूपेण प्रविश्य आकम्पयतीति वृषाकपिः ॥ २० ॥

**गिरमिति** । पौरुषीं पुरुषस्य भगवतः [2-] इयं पौरुषी [-2] तां गां वाचं, मे मत्तः आशु शृणुत । मा चिरम् अविलम्बितं, तथैव विधीयताञ्चेति ॥ २१ ॥

**पुरेति**। विज्ञापनात् पुरैव पुंसा ईश्वरेण [3] धरायाः ज्वरः तापः। [4-] अवधृतो अवधारितः [-4] ॥ २२,२३,२४ ॥

**विष्णोरिति** । देवकीगर्भसङ्कर्षणयशोदामोहनादिकार्यार्थे यशोदायां सम्भविष्यति ॥ २५ ॥

---

1- -1 B, J omit 2- -2 V omits 3. B,J omit धरायाः 4- -4 B,J omit

**वीर०** तत्र तीरे गत्वा समाहितचित्तो जगन्नाथं परमपुरुषं वृषाकपिं श्रीमहाविष्णुं पुरुषसूक्तेनोपतस्थे तुष्टाव स्तुतिपूर्वकं निदध्यावित्यर्थ ॥ २० ॥

तथा गगने समीरितां गिरम् अशरीरां वाणीं समाधौ निशम्य वेधाः ब्रह्मा, त्रिदशान् [1] देवान् प्रत्यवोचत । तेदेवाह - **गामित्यादिभिः** सार्धैः पञ्चभिः । हे अमराः! समाधौ मया श्रुतां पौरुषीं परमपुरुषसम्बन्धिनीं गां गिरं मे मत्तः कथयतः शृणुत, यथा ईश्वरेणाऽऽदिष्टं [2] तथैव [3] भवद्भिर्विधीयतां क्रियतां चिरं विलम्बं मा कार्ष्ट ॥ २१ ॥

का नाम गौरित्यत्राऽऽह - **पुरैवेति**। पुरा भवद्विज्ञप्तेः पूर्वमेव। यद्वा, पुरैव स्वावतारात् पूर्वमेवेत्यर्थः। पुंसा ईश्वरेण धराज्वरो भूक्लेशः अवधृतः विज्ञातः । भवद्भिः यदुध्वंशैः उपजन्यताम् उत्पद्यताम्। जीवानामंशेनोत्पत्तिर्नाम धर्मभूतज्ञानेन जीवान्तराधिष्ठातृत्वं, स्वरूपस्याणुत्वेन अनेकदेहवृत्त्यसम्भवात् । कदा अस्माभिरुत्पत्तव्यमित्यत्राऽऽह - सः ईश्वराणामस्माकमपि ईश्वरो भगवान् स्वसम्बन्धिन्या कालाख्यया शक्त्या कार्योपयुक्तापृथक्सिद्धविशेषणभूतया तन्वा उर्व्या भूमेर्भरं क्षपयन्, निरसितुमिति भावः । भुवि यावच्चरेत् अवतरेत् ततः पूर्वमेव जन्यतामित्यर्थः ॥ २२ ॥

तथा वसुदेवस्य गृहे, भगवान् पूर्णषाड्गुण्यः प्रकृतिपुरुषविलक्षणः परमपुरुषः साक्षाज्जनिष्यते अवतरिष्यति। न कपिलादिवज्जीवान्तराधिष्ठातृत्वेनावतरिष्यति; किन्तु अद्वारकमेवेत्यभिप्रायेण साक्षादित्युक्तम् । तस्य जनिष्यमाणस्य परमपुरुषस्य पूजार्थं परिचर्यार्थं क्रीडार्थमिति यावत् । अमराणां स्त्रियोऽपि सम्भवन्तु स्वांशैरुत्पद्यन्ताम् ॥ २३ ॥

तथा ऋषयोऽपि तस्य भगवत आदेशादनुशासनात् पशुरूपिणः कल्प्यन्तां गोरूपिणस्सम्भवन्तु । किमर्थं, तत्राह - हे सुराः पयोदानमुखेन क्षीरप्रदोहनद्वाराऽपि विष्णुं तर्पयितुं तपआदिभिस्तर्पयन्त्येव, अधुना पयोदानमुखेनाऽपि तर्पयितुं गोरूपिणः कल्प्यन्तामित्यपिशब्दाभिप्रायः । तथायो वसुदेवस्य कला अंशः । कोऽसौ? यः अनन्तः सहस्रमुखः स्वराड् कर्मवश्यः सोऽपि हरेः प्रियं कर्तुं मिच्छया अग्रजो भविता तस्य अग्रजो भविष्यतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

तथा विष्णो र्या माया, सा का? यया मायया इदं जगत् चेतनवर्गः सम्मोहितं, साऽपि भगवती [4] श्री भगवत्परतन्त्रा अन्यैः [4] पूज्या मायाधिष्ठात्री देवता, प्रभुणा नियन्त्रा भगवता आदिष्टा [5-] आज्ञापिता [-5] सती तस्य कार्यार्थे प्रयोजनार्थमंशेन सम्भविष्यति जनिष्यते ॥ २५ ॥

---

1. B सुरान् 2. K,W °णातिदिष्टं 3. K,W omit तथैव 4- -4 K,W omit 5- -5 K,W omit

**विज०** जगन्नाथत्वं राजादेरप्यस्तीति देवदेवमिति इन्द्रादिव्यावृत्त्यर्थम् । वृषाकपिम् अभीष्टदानादानन्दपानाच्च वृतषङ्गुणत्वात् अकपेर्दुःखपोषणाच्च वृषाकपिस्तम् । नीरूपस्य हरेरिन्द्रियविजयत्वं कयमित्यतः पुरुषमिति। "तस्येदमेव शिरः " (तैत्ति. उ. 2-1-1) इत्यादेः । उपतस्थे मन्त्रवचनपूर्वक मुपासनां कृतवानिति। "उपान्मन्त्रकरणे" (अष्टा. 1-3-25) इत्यात्मनेपदम्। कोऽयं मन्त्रः, येन धात्वर्थः समर्थितः स्यादित्यतः पुरुषसूक्तेनेति ॥२०॥

समाधाविति तादर्थ्ये सप्तमी, समाध्यर्थं देवकार्यसमर्थनार्थं समीरितां गिरम् "अत्यर्थामिति गीर्वाणी वाचि हि सम्प्रतिष्ठितम्" इति श्रुतेः। तां स्तुतिगिरं संस्मृत्य गुणध्यानसमवस्थायां वा कथितम्। "समाधिर्ध्यानसन्धानप्रतिज्ञासु समर्थने" (वैज. को. 7-1-81) इत्यभिधानादित्यर्थः। पौरुषीं पुरुषेणोक्तां गमयति अवगमयति ज्ञापयत्यर्थमिति गौर्वाक्। "अथ कस्माद्गौरिति गच्छति" (निरुक्तम्) । इति निरुक्तकारनिर्वचनमपि वक्तुः श्रोतुः कर्णान्तरगमनाद्युक्तम् ॥ २१ ॥

धराज्वरः भूमेस्सन्तापः 'ज्वर - सन्तापे' इति धातुः। न केवलं जननमेव पूर्यते तावन्तं कालमवस्थानञ्चोपेक्षितमित्याह स यावदिति। स्वकालशक्त्या स्वरूपभूतोपसंहारकालाख्यशक्त्या ॥२२॥

न केवलं देवानामुर्व्यामवतारः , तदङ्गनानामपीत्याह - **वसुदेवेति** ॥ २३ ॥

हरेरवताराविनाभूतस्य शेषावतारस्य प्रकारमाह - **वासुदेवेति**। वासुदेवकलानन्तः इत्येकं[2] पदम् । वासुदेवस्य कलयासितकेशांशेन युक्तः शैषः स्वेन हरिणा राजत इति स्वराट् । स्वस्य स्वतन्त्रस्य हरेरधस्तच्छयनीयत्वेन राजत इति वा । स्वमात्मानं सनकादिभ्यो राजयति प्रकाशयतीति वा हरेरग्रज ॥ २४ ॥

देवकार्यार्थं सहायान्तरं, वक्ति—योगमायेति । योगमाया दुर्गा ॥ २५ ॥

---

1. Ma नि 2. B °स्ता °

श्रीशुक उवाच

**इत्यादिश्याऽमरगणान् प्रजापतिपतिर्विभुः ।**
**आश्वास्य च महीं गीर्भिः स्वधाम परमं ययौ ॥ २६ ॥**

**शूरसेनो यदुपतिर्मथुरामावसत्पुरीम्।**[1] [2]
**माथुरान् शूरसेनांश्च विषयान् बुभुजे पुरा ॥ २७ ॥**[3] [4] [5]

**राजधानी ततस्साऽभूत् सर्वयादवभूभुजाम्।**
**मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः ॥ २८ ॥**[6]

**तस्यां तु कर्हिचिच्छौरिर्वसुदेवः कृतोद्वहः ।**
**देवक्या सूर्यया सार्धं प्रयाणे रथमारुहत् ॥ २९ ॥**[7]

**उग्रसेनसुतः कंसः भगिन्याः प्रीतिमावहन्।**[8] [8]
**रश्मीन् हयानां जगृहे रौक्मै रथशतै र्वृतः ॥ ३० ॥**[9]

चतुश्शतं पारिबर्हं गजानां हेममालिनाम्।
अश्वानामयुतं[10] सार्धं रथानां च त्रिषट्शतम्॥ ३१॥

दासीनां सुकुमारीणां द्वे शते समलङ्कृते।
दुहित्रे देवकः प्रादाद् यानैः[11] दुहितृवत्सलः ॥ ३२॥

शङ्खतूर्यमृदङ्गानि[12] नेदुर्दुन्दुभयस्समम्।
प्रयाणे[13] पक्रमे[14] तात वरवध्वोस्सुमङ्गलम्॥ ३३॥

पथि प्रग्रहिणं कंसमाभाष्याऽऽहाऽशरीरवाक् ।
अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यां नयसेऽबुध[15] ॥ ३४॥

इत्युक्तस्स खलः पापो भोजानां कुलपांसनः ।
भगिनीं हन्तुमारब्धः खड्गपाणिः कचेऽग्रहीत्॥ ३५॥

तं जुगुप्सितकर्माणं नृशंसं निरपत्रपम्।
वसुदेवो महाभाग उवाच परिसान्त्वयन्॥ ३६॥

---

1. B,G,M °थु° 2. B,G,M °सन्पु ° 3. W म° 4. B,G,M °थु° 5. M. स्वराट् 6. B,G,M °थु° 7. M भार्यया 8- -8 B,G,M स्वसुः प्रियचिकीर्षया; K,W भगिन्याः प्रियचिकीर्षया 9. B,G,V जग्राह 10. W °तैः 11. B,G,M °ने 12. B,G °श्च 13. B,G,M °णप्रक्रमे 14. B,G तावत् 15. B,G वहसेऽ°

**श्रीध०** भोजेन्द्रबन्धनागारे अवताराय प्रस्तावकथामाह **शूरसेन**[1] इत्यादिना, यावदध्यायसमाप्ति। मधुरायामावसनं[2] मधुरायां वसनं[3], विषयान् देशान्॥ २६, २७, २८॥

**तस्यामिति** । सूर्यया नवोढया[3] सार्कं प्रयाणे प्रयाणार्थम्॥ २९॥

**उग्रसेनेति**। रश्मीन् प्रग्रहान् अग्रहीत्[4]॥ ३०॥

**चतुश्शतमिति**। पारिबर्हम् उपस्करम्॥ ३१॥
**दासीनामिति**। देवकः उग्रसेनः[5] ॥ ३२, ३३॥

**पथीति**। आभाष्य रे रे कंसेति सम्बोध्य। हन्ता हनिष्यति॥ ३४॥

**इतीति**। कुलपांसनः कुलदूषणः । आरब्धः उद्युक्तः । कचे केशबन्धे॥ ३५॥

**तमिति**। नृशंसं क्रूरं, महाभाग इति। अयं भावः - स्वजन्मनि देवैर्हर्षेण आनकदुन्दुभिनिर्घोषेण[6] भाविभगवदवतारेण[7]शाक्यप्रतीकारता सम्भवतीति सान्त्वयन्, स्तुत्या कृपाविषयत्वेन उपपत्तिभिश्च सन्मार्गेण सम्बोधयन्॥ ३६॥

1. V इति, 2- -2 V. omits 3. B,J, omit साकं 4. B,J, omit अग्रहीत् 5- -5 B,J omit 6. B,J घोषणात् 7. V. °णाशङ्क्यप्रति

**वीर०** इत्येवं भगवतोक्तमेव अमरगणान् प्रत्यादिश्य अनुज्ञाप्य, प्रजापतीनां दक्षादीनामपि पतिः विभुः ब्रह्मा गीर्भिर्महीमाश्वास्य सान्त्वयित्वा परमं श्रेष्ठं स्वधाम स्वलोकं ययौ॥ २६॥

तदेवमवतारनिमित्तमुपपादितम्। अथावतारप्रकारं पितुर्गेहाद्वजगमननिमित्तं च वर्णयितुं तदुपोद्घातरूप मितिहास माह - **शूरसेन** इत्यादिना यावदध्यायसमाप्ति। पुरा पूर्वकाले यदूनां पतिः शूरसेनो नाम मधुरां पुरीमधिवसन्, मधुरान् शूरसेनांश्च विषयान् देशान् बुभुजे। इह उपभोगो भुजेरर्थः , न तु पालनम्; तत्र "**भुजोऽनवने**" (अष्टा. 1-3-66) इत्यात्मनेपदप्रतिषेधात्॥ २७॥

यतश्शूरसेनो राजा अध्यवसत्, ततस्सा मधुरा पुरी सर्वेषां [2]यादवभूभुजां[2] यादवभूपालानां राजधानी बभूव। तत्र पुर्यां हरिर्भगवान्नित्यं सन्निहितः , आविर्भावस्थानत्वादिति भावः ॥ २८॥

कदाचित्तस्यां पुर्यां शौरिः शूरस्य सुतो वसुदेवः कृतविवाहः देवक्या सूर्यया नवोढया भार्यया सह प्रयाणे स्वगृहं प्रति प्रयाणे निमित्ते रथमारुरोह॥ २९॥

तत उग्रसेनस्य सुतः कंसः भगिन्या देवक्याः प्रियं कर्तुमिच्छया स्वयं रौक्मैः हेममयैः रथानां शतैः परिवृतो भगिनीरथवाहानामश्वानां प्रग्रहान् जगृहे॥ ३०॥

तदा देवक उग्रसेनस्य भ्राता दुहितृवत्सलः , हेतुगर्भमिदम् दुहितृवत्सलत्वाद् दुहित्रे देवक्यै पारिबर्हमुपायनं ददौ। पारिबर्हं दर्शयति। हेममालालङ्कृतानां गजानामयुतं, तथाविधानामश्वानां सार्धमर्धेन पञ्चसहस्रया सहितमयुतम्। रथानां तु त्रिषट्शतमष्टादशशतञ्च। यानैः गमनसाधनैस्सह दासीनां सुकुमारीणां समलङ्कृते द्वे शते॥ ३१, ३२॥

हे तात! वरवध्वोः प्रयाणोपक्रमे मङ्गलार्थं शङ्खादीनि दुन्दुभयश्च समं युगपन्नेदुः दध्वनुः । सुमङ्गलमिति क्रियाविशेषणं वा॥ ३३॥

ततो मार्गे प्रग्रहिणं हयरश्मिधरं कंसमुद्दिश्याशरीर[3] वागाह उत्सृष्टा बभूव। तामेव दर्शयति अस्या इति। यां भगिनीं प्रियचिकीर्षया नयसे भर्तृगृहं प्रापयसि अस्या अष्टमो गर्भः , अपत्यपरो गर्भशब्दः । हे अनुध! अज्ञ! त्वां[4] हन्ता हनिष्यति॥ ३४॥

[5]इति इत्थमुक्तः स[6] भोजानां कुलपांसनः कुलमलरूपः कुलाधम इति यावत्। खलो मूर्खः पापात्मा कंसः, तथाभूतत्वात् खड्गः पाणौ यस्य, तथाभूतो भगिनीं स्वप्राणापहारनिदानभूतां भगिनीं हन्तुमुद्युक्तः कचेऽग्रहीत्, केशपाशं जग्राहेत्यर्थः ॥ ३५॥

जुगुप्सितं निन्दितं भगिनीवधोद्योगरूपं कर्म यस्य, तत एव नृशंसं क्रूरम्, अत एव निरपत्रपं निर्लज्जं, तं कंसं परिसान्त्वयन् उपच्छन्दयन्, महाभागो महाभाग्ययुक्तो महाबुद्धिमान् वसुदेव उवाच॥ ३६॥

1. B राजा 2- -2 K,W omit 3. B °रिणी 4- -4 K,W omit 5. K,W omit इति 6. K,W omit सः

विज्ञ० महर्लोकादिभ्यः परमम्॥ २६॥

चतुर्मुखे भुवं सान्त्वयित्वा सत्यलोकं गते उत्तरकथां प्रसञ्जयति - शूरसेन इति। कार्तवीर्यसुतः पुरीमावसन्निति सप्तम्यर्थे द्वितीया "उपान्वध्याङ्वसः" (अष्टा. 1-4-48) इति सूत्रात्॥ २७, २८॥

ततः किमत्राह - तस्वामिति ॥ २९॥

विवाहकाले रथहयानां कविकाग्रहणे अत्यन्तं बन्धुना भाव्यमिति दर्शयितुं तद्गृहिणमाह - उग्रसेनसुत इति॥ ३०॥
विवाहकाले दुहित्रे यद्दीयमानं धनं तत्पारिबर्हं नाम॥ ३१,३२॥
प्रयाणप्रक्रमे गमनारम्भे॥ ३३॥
प्रग्रहः कविका, तद्वन्तम्। अस्याः देवक्याः ॥ ३४॥
कुलपांसनः कुलधूलीकरणशीलः । कचे केशपाशे॥ ३५॥
नृशंसं क्रूरकर्माणं परिसान्त्वयन् साम्ना भेदेन च सम्बोधयन्॥ ३६॥

## -: देवकीहननोद्युक्तं कंसं प्रति वसुदेवकृतसामाद्युपदेशः :-

[1-]वसुदेव उवाच[-1]

श्लाघनीयगुणश्शूरैर्भवान् भोजयशस्करः ।
स कथं भगिनीं [2]हन्यात् स्त्रियमुद्वाहपर्वणि॥ ३७॥
[3]मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।
अद्य वाऽब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥ ३८॥
देहे पञ्चत्वमापन्ने देही [4]कर्मानुगोऽवशः ।
देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः ॥ ३९॥

व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैकेन [5]गच्छति।
यथा तृणजलूकैवं देही कर्मगतिं गतः ॥ ४० ॥

स्वप्ने यथा पश्यति देहमीदृशं मनोरथेनाभिनिविष्टचेतसः ।
दृष्टश्रुताभ्यां मनसाऽनुचिन्तयन् प्रपद्यते तत्किमपि ह्यपस्मृतिः ॥ ४१ ॥

**यतो यतो धावति दैवचोदितं मनो विकारात्मकमाप पञ्चसु।**
**गुणेषु मायारचितेषु देह्यसौ प्रपद्यमानस्सह तेन जायते॥ ४२॥**

**ज्योतिर्यथैवोदकपार्थिवेष्वदस्समीरवेगानुगतं विभाव्यते।**
**एवं स्वमायारचितेष्वसौ पुमान् गुणेषु रागानुगतो विमुह्यति॥ ४३॥**

**तस्मान्न कस्यचिद्द्रोह माचरेत्स तथाविधः ।**
**आत्मनः क्षेममन्विच्छन् द्रोग्धुर्वै परतो भयम्॥ ४४॥**

**एषा तवाऽनुजा बाला कृपणा पुत्रिकोपमा।**
**हन्तुं नार्हसि कल्याणीमिमां त्वं दीनवत्सल!॥ ४५॥**

---

1- -1 K,W omit 2. K,W हन्याः 3. V. °र्धर्म ° 4. K,W कर्मवशानुगः 5. V °वान्येन 6. M °मात्म 7. B,G °लः

**श्रीध०** किञ्च वसुदेवःकंसं सामभेदाभ्यां सम्बोधयन्नाऽऽहश्लाघनीयेति। तत्र साम पञ्चविधम्। भेदो द्विविधः तदुक्तम् "लोपकृतिसम्बन्धा ह्यभेदौ गुणकीर्तनम्। साम पञ्चविधं भेदो दृष्टादृष्टभयं वचः" इति। श्लाघनीयगुण इति गुणकीर्तनम्। भगिनीमिति सम्बन्धकथनम्। पुक्षिकोपमेत्यभेदं वत्यति। हन्यादिति स्त्रीवधनिवृत्त्या यशोलाभं दर्शयति। उद्वाहपर्वणीति सन्तानवृद्ध्या उपकारं दर्शयति॥ ३७॥

मम मरणभयेन हन्मीति चेत्तयाऽति मरणस्याऽपरिहरणीयत्वात्, देहान्तरस्य चावश्यम्भावित्वात्, तत्रादि भोगप्रेमास्पदत्वादीनामविशेषात् तद्भयेन पापाचरणमयुक्तमित्यभिप्रेत्याऽऽह - **मृत्युरिति**। देहेन सहेति। विधात्रा ललाहे लिखितत्वादिति। देहस्य क्षणभङ्गुरत्वान्नित्यमाशङ्क्यो मृत्युरिति वा। तयापि कालविलम्बार्थं हन्मीति चेत्तत्राऽऽह - अद्य वेति। अवश्यम्भाविनि मरेण विलम्बमात्राय पापाचरणम् अयुक्तम् इति भावः॥ ३८॥

किञ्चा तस्मिन् देहे गते यदि देहान्तरं न स्यात्, तदा पापेनापि एतत्पालनं युज्येत न तु तदस्तीत्याऽऽह - **देहे** इति। आपन्ने आपन्नप्राये कर्मवशादयलत एव प्रथमं देहान्तरं प्राप्य पश्चात् पूर्वं वपुस्त्यजति॥ ३९॥

अत्र दृष्टान्तः - **व्रजन्निति**। एकेन अग्रतो निहितेन पदा तिष्ठन् भुवमवष्टभ्य देहं बिभ्रत्, पश्चादन्येन पूर्वप्रदेशाद् उत्थाप्य पुरा निहितेन गच्छति तद्वत्। अत्र च स्वीकारपरित्यागौ नात्यन्तभिन्नविषयाविति स्पष्टम्। दृष्टान्तान्तरमाऽऽह - **यथा तृणजलूकेति**। सा हि यं तृणान्तरमवष्टभ्य पूर्वतृणं त्यजति। एवं कर्मपये वर्तमानोऽन्यो जीवोऽपि॥ ४०॥

देहविषयावेव स्वीकारपरित्यागौ दर्शयितुं दृष्टान्तान्तरमाह - **स्वप्ने** इति। दृष्टं राजादिदर्शनम्। श्रुतम् इन्द्रादिश्रवणम्। ताभ्यामाहितसंस्कारेण मनसा तदेवानुचिन्तयन्। ईदृशं जाग्रद्दृष्टश्रुतसदृशं देहं राजादिरूपं किमपि अतितुच्छमनिरूक्तं पश्यति। श्रणान्तरे च तदेवाऽहमिति प्रपद्यते मन्यते। ततश्च जाग्रद्देहादपगतस्मृतिर्भवति पुरुषो ययेति। जाग्रत्येव दर्शयितुं दृष्टान्तान्तरमाऽऽह - **व्यनोरथेनेति**। अत्रापि दृष्टश्रुताभ्यामित्यादि सर्वं योज्यम्। तथा च वक्ष्यति "जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः। जन्मत्वात्मतया पुसः सर्वभावेन भूरिद! विषयस्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथौ। स्वप्ने मनोरथे चेत्यं (चैवं) प्राक्तनं न स्मरत्यसौ" (भाग. 11-22-40,41,42) इत्यादि। तद्वदत्राऽपि कर्मवशाद्देहान्तरं प्राप्य प्राक्तनं त्यजतीति॥ ४१॥

ननु विचित्रदेहहेतूनां कर्मणाम् अ[17]कृतत्वाद् देहविशेषप्राप्तौ किं कारणमत आह - **यतोयत** इति। देहस्य पञ्चत्वसमये पञ्चसु गुणेषु [18] भूतेषु मा[19]यारचितेषु मायया नानादेहरूपेण रचितेषु दैवन फलाभिमुखेन कर्मणा चोदितं नानाविकारात्मकं मनो यं यं देहं देवतिर्यगादिरूपं प्रतिधावति धावच्च सत् यं यमाप अभिनिवेशनप्राप्तं, तत्र तत्र असौ देही जायते। ननु मनसः क[20]र्मकर्तृत्वात् तदेव जायतां म त्वकर्तात्मोत्यत आह - प्रपद्यमान इति। तदेवाऽहमिति प्र[21]पद्यमानस्तेन सह जायत इति॥ ४२॥

ननु सत्यं भविष्यत्येव किमपि देहमात्रं, तथाप्यस्य अतिप्रियस्य राजदेहस्य रक्षणाय अकृत्यमपि क्रियत इति चेत्तत्राऽऽहज्योतिरिति। अदश्चन्द्रादिज्योति! उदकपुत्तेषु पार्थिवेषु घटादिषु। यद्वा उदकेषु पार्थिवेषु तैलघृतादिषु प्रतिबिम्बेन स्थितं समीरस्य वायोर्वेगमनुगतं कम्पादियुक्तं प्रतीयते यथा। एवं स्वाविचारचितेषु गुणेषु देहेषु। असौ रागेणानुगतः प्रविष्टो मुत्वति अभिनिवेशं प्राप्नोति। अय भावः आत्मनस्तावद् देहाद्यध्यासाज्जन्मात्तं सह तेन जायत इति। ततश्च अन्योन्यधर्माध्यासाद् यथा दे[22]हधर्माः कार्श्यादयः आत्मनि प्रतीयन्ते, स्थू[23]लोऽहं, कृशोऽहमिति। एवमात्मधर्माः प्रेमास्पदत्व[24] ज्ञानाश्रयत्वादयोऽपि देहादिष्विति। अ[25]तः राजसूकरादिदेहयोः विशेषभावात् व्यर्थो मृत्युप्रतीकार इति॥ ४३॥

एवयुक्तं सामोपायमुपसंहरन् भेदमाह - **तस्मादिति।** परत इति अयिद्रुह्यमाणान् तत्सम्बन्धिनश्च यमादिति। [26]भयं इहामुत्र ल भयमिति भेदो दर्शितः॥ ४४॥

पुनस्सामैवाऽऽह **एषेति।** पुत्रिकोपमा दारुमयी वा अचितनप्राया॥ ४५॥

---

1- -1. B,J omit 2. V सम्भेद° 3. B,J omit आह 4- -4. omits 5- -5. B सम्बन्धसामोदकृतिहर्च भेदो J सम्बन्धलाभोपकृतिहर्च्यभेदो 6. B,J omit मम 7- -7. B,J omit 8. B लम्बनार्थ 9. B,J न युक्तम् 10. B,J अस्मिन् 11. B,J तत्पा° 12. V omits आपन्ने 13. V omits यथा 14. V omits °ऽन्यो ★ 15. B,J omit अतितुच्छम् 16- -16. B,J स्वपं मनोरथं 17. B,J कृतत्वात् 18. V adds पञ्च 19- -19. B,J omit 20. B,J omit कर्म 21. B,J मन्यमान: 22. B,J देहादि 23- -23. B,J omit 24. B,J °त्वादयोऽपि 25. B,J omit अत: 26. B,J omit भयं

**वीर०** उक्तिमेवाह श्लाघनीयेत्यादिभिर्नवभिः । शूरैः श्लाघनीयाः स्तुत्याः गुणाः यस्य, भोजानां भोजवंश्यानां यशः कीर्तिं करोत्यावहतीति तथा, स भवानेवम्भूतत्वात् कथं स्त्रियं तत्राप्युद्वाहकर्मणि उद्वाहाङ्गगृहप्रवेशकर्मणि, प[1]र्वणीति पाठे गृहप्रवेशोत्सवकर्मणीत्यर्थः । तत्रापि भगिनीं हन्याः (त्?) हन्तुमुद्युक्तोऽसि॥ ३७॥

मन्मरणनिदानभूतत्वात् भगिनीमपि हन्यामित्यत्राऽऽह **मृत्युरिति।** हे वीर! जन्मवतामुत्पत्तिमतां देहेनैव सह मृत्युर्जायते मृत्युश्छायेव देहमुत्पत्तेरारभ्याऽनुवर्तत एव; किन्तु कालमात्रम् अपेक्षते इति भावः । अतो[2]ऽधुना वा वर्षशतान्ते वा प्राणिनां मृत्युः ध्रुवः निश्चितः, अपरिहार्य इति यावत्॥ ३८॥

नन्वब्दशतान्ते जरया जीर्णं शरीरमस्तु मृत्युग्रस्तं, अधुना त्विदं कल्याणतरं[3] शरीरम[4]पैति चेत् पुनरेवंविधं दुर्लभमित्यत आह **देहे** इति। देहे पञ्चत्वं मरणमापन्ने आप्तुमुद्युक्ते सति देही तद्देहस्थो जीवः कर्मवशानुगः प्राचीनकर्मवश्यतामनुप्राप्तः कर्मानुगुणं शरीरान्तरं प्राप्यैव प्राक्तनं वपुस्त्यजते। कर्मानुगुणशरीरान्तरस्याऽयत्नलभ्यत्वात् एवंविधजुगुप्सितकर्मसम्पाद्यस्य शरीरस्य निहीनस्यैवाऽऽपत्तेः तादात्विकं मरणभयमपहाय भगिनीप्राणपरित्राणरूपाच्छुभकर्मणः पुनरितोऽपि कल्याणतरदेहप्राप्तेश्चैषा न हन्तव्येति भावः ॥ ३९॥

"देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः" (भाग 10-1-39) इत्येतदेव सदृष्टान्तमुपपादयति - **व्रजन्निति।** इयं प्रसिद्धा तृणजलूका तृणगतः[6] कीटविशेषः, स यथा व्रजन् गन्तुमुद्युक्तः एकेन पदा[6] पादेन तिष्ठन् तृणमवलम्बयन्नेव एकेन पदेन गच्छति, एवं देही जीवोऽपि पञ्चत्वमापन्नं देहं त्यजन् कर्मगतिं कर्मानुरूपं शरीरं गतः अधिष्ठितः, प्राक्तनं वपुस्त्यजतीत्यर्थः । अणोर्जीवस्य कथं पञ्चतामापत्स्यमानं देहमधितिष्ठत एव पुनर्देहान्तराधिष्ठातृत्वमिति न शङ्कनीयम्, गेहाद् गेहान्तरं प्रविशत इव स्वोपकरणेन्द्रियप्राणादिप्रापणपूर्वकत्वाद् देहान्तरप्राप्तेः धर्मभूतज्ञानद्वारा वा देहान्तराधिष्ठातृत्वमिति न विरोधः । यद्वा देहान्तरपरिग्रहपूर्वकमेव पूर्वदेहपरित्यागे दृष्टान्तस्तृणजलूका, छाययेव मृत्युनाऽनुगतवाञ्जीवदशायामपि मृतप्रायत्वे दृष्टान्तान्तरमुच्यते - व्रजन्नित्यादिना[7]। यथा एकेन पदेन[8] व्रजन् गच्छन् पुरुषः पुनरेकेन पादेन तिष्ठन्नेव गच्छति, तद्वज्जीवन्नपि पुरुषः[9] मृतप्राय एव सन् जीवतीति अत एव व्रजंस्तिष्ठन्निति पुंस्त्वनिर्देशः यथाशब्दद्वयञ्च ॥ ४० ॥

ननु तृणजलूका विद्यमानशरीरेणैव गन्तव्यदेशमवष्टभ्यैव पूर्वदेशं त्यजतीति युक्तं तस्याः भयशोकाद्यभाव इति। दार्ष्टान्तिके तु न तथा। न हि प्राक्तनवपुर्विशिष्टो वपुरन्तरं प्राप्य प्राक्तनं त्यजति वपुरन्तरवैशिष्ट्याकारेण वपुरन्तरप्राप्त्यसम्भवात्। अपि तु विशेष्याकारेणैव वपुरन्तरप्राप्तिः, प्राक्तनवपुस्त्यागश्च। अतः प्राक्तनकल्याणतरवपुस्त्यागप्रयुक्तभयशोकोपनिपातसम्भावनया तत्परिहारोऽवश्यकर्तव्य इत्यत्र तदनुभवसिद्धस्वप्नदृष्टान्तेन देहान्तरप्राप्तिपूर्वकपूर्वदेहत्यागं तत्प्रयुक्तभयाद्यभावञ्च दार्ष्टान्तिके सङ्गमयति स्वप्न इति। स्वप्ने यथा दृष्टश्रुताभ्यां दृष्टश्रुतमनीषितलाभार्थं मनसाऽनुचिन्तयन् सङ्कल्पविकल्पौ कुर्वन् मनोरथेन देशान्तरगमनराज्याभिषेकादिरूपमनोरथेन अभिनिविष्टा चेतना बुद्धिर्यस्य तथाभूतो जीवः ईदृशं शयानदेहसदृशं तत्किमपि ततो विलक्षणं वा किमपि शरीरं स्वप्नमात्रावस्थायित्वेन स्वप्नद्रष्टेकानुभाव्यत्वेन च स्वाप्नदेहस्य शयानतुल्यदेहतया चिन्तितुमशक्यत्वात् किमपीत्युक्तम्। तावत्पश्यति, ततस्ततप्रतिपद्यते अपस्मृतिः शयानदेहविषयकस्मृतिरहितश्च भवति। अत एव तत्त्यागप्रयुक्तभयशोकादि रहितश्च भवति। हीति स्वपरानुभवप्रसिद्धिं द्योतयति पश्यति प्रतिपद्यते इत्यनेन। प्रथमं ज्ञानेनानुप्रवेशः , ततस्स्वरूपेणेति सूचितम्। एवं दार्ष्टान्तिकेऽप्यवगन्तव्यमिति भावः । न हीदानीम् अस्मदादीनां प्राक्तनदेहत्यागप्रयुक्तभयशोकादिकमुपलभ्यत इति च भावः। न च स्वप्नेऽपि शयानदेहे नैव देशान्तरगमनादिकमनुभूयत इति युक्तिमता अपवरकादौ शयानस्य देशान्तरगमनाद्यसम्भवात् ततस्तदवस्थामात्रावस्थायितद्रष्टृमात्रानुभाव्यदेहान्तरेणैव तदनुभवः। यद्वा, पूर्वार्धं दृष्टान्तपरमुत्तरार्धन्तु दार्ष्टान्तिकपरम्। तदयमर्थः - स्वप्ने देशान्तरगमनादिमनोरथाभिनिविष्टचित्तो जीवः यथा ईदृशं शयानदेहवदात्माभिमानविषयं स्वप्नदृश्यमात्रानु भाव्यफलपुण्यापुण्यकर्मानुगुणपरमपुरुषसृष्टं तावत्कालमात्रावस्थायि स्वप्नद्रष्ट्रेकावगम्यं[10] देहं पश्यति ज्ञानद्वाराऽधितिष्ठति, ज्ञान द्वाराऽधिष्ठाय देशान्तरगमनराज्यभिषेकशिशोदादीननुभवतीति भावः । अपस्मृतिः अपगता शयानदेहविषया स्मृतिर्यस्य तथाभूतश्च भवति। तद्बधादिसम्भावनाप्रयुक्तभयादिरहितश्च भवति। उत्तरार्धस्य तथेत्यादिः । एवं दृष्टश्रुताभ्यामिति तादर्थ्यचतुर्थी। दृष्टमैहिकंसुखं, श्रुतमामुष्मिकं ताभ्यां तदर्थं मनसानुचिन्तयन् किमपि कर्मानुगुणमीश्वरसृष्टं किमपि शरीरं प्रतिपद्यते, अपस्मृतिश्च भवति। प्रथमं ज्ञानद्वारा अधिष्ठाय प्राक्तनवपुर्विषयस्मृतिरहितः ततः स्वरूपेण प्रविशतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

किमपि प्रपद्यत इत्येतदेव विवृण्वन् तदेव जीवस्योत्पत्तिनमित्याह **यत इति** । दैवमत्र दिष्टं कर्म वासनात्मकं तच्चोदितं तदनुगुणप्रवृत्तं विकारात्मकं सङ्कल्पविकल्परूपविकारप्रकारं सत् मनोमायारचितेषु सत्त्वादिगुणत्रयात्मकप्रकृतिपरिणामरूपेषु

पञ्चसु गुणेषु शब्दादिविषयेषु मध्ये। यतो यतो धावति यं यं वि[1]षयं स्मरति तं तमेव प्रपद्यमानः अनुप्रविष्टः तेन सह जायते, इयमेव जीवस्योत्पत्तिर्नमिति भावः । "यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय, सदा तद्भावभावितः " (भगी. 8-6) इति भगवदुक्तेरिति भावः ॥४२॥

तेन सह जन्मरूपोपाधिप्रयुक्तमेव जीवस्य देवमनुष्यत्वादि नानात्वम्। वस्तुतस्तु सर्वत्र शरीरेषु ज्ञानैकाकारत्वेनावतिष्ठत इति सदृष्टान्तमाह - **ज्योतिरिति**। यथा अदः अन्तरिक्षस्थमेकरूपमेव सूर्यादिज्योतिः उदकेषु, पार्थिवेषु पृथिवीपरिणामरूपेषु दर्पणादिषु च प्रतिबिम्बितं तत्समीरस्य वायोर्वेगेन अनुगतमनुवृत्तं सत् विभाव्यते। समीरवेगशब्दोऽत्पत्वमहत्वाद्युपाधि गतधर्मोपलक्षकः। विविधं भा[12]व्यते वृद्धिह्रासादिधर्मभावक्त्वेन भाव्यते दृश्यते, अस्मदादिभिरिति शेषः । एवमसौ पुमान् जीवः स्वतो विमनुष्य[13]त्वादिनानात्वरहितोऽपि स्वमायारचितेषु स्वदेहारम्भकप्रकृति परिणामरूपभूतसूक्ष्मारब्धेषु गुणेषु गुणपरिणामात्मकेषु शरीरेषु, रागानुगतः रागेण शब्दादिविषयस्पृहया वा[14] सनात्मिकया[14] हेतुभूतया, अनुगतोऽनुप्रविष्टः, विमुह्यति देवोऽहं मनुष्योऽहम् इत्येवं नानाविधं मोहं प्राप्नोति। यद्यपि दृष्टान्ते सूर्यादिज्योतिरुदकाद्युपाधिषु अनवस्थितमेव स्वच्छद्रव्यप्रतिहतिनिवृत्तस्वरश्मिभिर्हेतुभिः समीपस्थजनैर्विभाव्यते। दार्ष्टान्तिके तु देहेष्ववस्थित एव सन् पुमान् मुह्यतीति तयोर्वैषम्यम्। तथापि वस्तुतो नानात्वाभावौपाधिकनानात्वमात्रेण दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोऽवगन्तव्यः ॥४३॥

**तस्मादिति**। तस्माद्वस्तुस्थितेरेवं विधत्वात् तथाविधः वस्तु तत्त्वाभिज्ञः स[15]ः पुमान् आत्मनः स्वस्य क्षेममन्विच्छन् अन्विच्छुः, कस्यचिद[16]पि द्रोहं नाऽऽचरेत् न कुर्यात्। एवञ्चेत्तस्य न कुतश्चिदपि भयम्, अन्यथा तु भयमित्याह द्रोग्धुर्वै परतः अन्यस्मात् भयमित्यर्थः। यद्वा, परतः परमेश्वरात् भयं भूतद्रोग्धुर्भयं वै भयमस्त्येवेत्यर्थः॥ ४४॥

एवं सामान्यतो हिताहितं विविच्य अथ विशेषेण विवेचयति - **एषेति**। अनुजात्वस्त्रीत्वबाल्यदैन्य-पुत्रिकातुल्यत्वकल्याणत्वादिधर्मयुक्तेयमवध्या। अत इमां त्वं हन्तुं नार्हसि। हन्तृत्वानर्हतां सूचयितुं सम्बोधयति हे दीनवत्सलेति॥ ४५॥

---

1- -1 K,W. omit 2. K. °ऽद्य 3. B. adds नवयौवनसम्पन्न 4. B. °मुपैति 5. B. गतकीट 6. K, W. omit पदा 7. B. °ति। 8. B. पा° 9. B. adds पुनः 10. K. दृगे° 11. K,W. omit विषयं 12. K omit भाव्यते 13. K,W. °ष्यादि 14- -14 K,W. omit 15. K,W. omit सः 16. K.W. omit अपि.

**विज०** "सम्बन्धलाभोपकृतिरभेदो गुणकीर्तनम्" साम पञ्चविधं, भेदो दृष्टादृष्टभयं वचः " इति पञ्चविधं साम ज्ञायते - **श्लाघनीयगुणेत्यादिना**। श्लाघनीयगुणेति गुणकीर्तनम्। भोजयशस्करेति कीर्तिलाभकथनम्। हन्याः स्त्रियमिति स्त्रीवधादकीर्तिलाभसूचनम्। भगिनीमिति सम्बन्धवचनम्। उद्वाहपर्वणीति अपकृतिसूचनम्। उद्वाहपर्वणीति सूचनात् विवाहोऽयमेव॥ ३७॥

मृत्युर्जन्मवतामित्यादिना अदृष्टभयम्॥ ३८॥

देहे पञ्चत्वमित्यादिना दृष्टभयं, कर्म पुण्यपापविषयम्। अवशो विष्णुवशः , त्यजते त्यजति॥ ३९॥

पूर्वदेहपरित्यागेन देहान्तरप्राप्तौ दृष्टान्तमाऽऽह **व्रजन्निति**। यथा व्रजन् पुरुषः एकेन पादेन तिष्ठति, एकेन गच्छति, पूर्वदेशवियोगेन देशान्तरसंयोगमाप्नोति, यथा तृणजलूका तृणान्तरं गृहीत्वा पूर्वतृणं त्यजति एवं देही कर्मगतिं गतो भवतीत्यन्वयः। कर्मणो गतिरासिर्यस्मिन् देहे त्यजति तथा तत्तद्देहान्तरमित्यर्थः ॥४०॥

ननु देहात्मनोरभेदेन देही पूर्वदेहं परित्यज्य अभिनवदेहान्तरं यातीति कथं सञ्जाघटीतीति तत्राऽऽह - **स्वप्ने इति**। जाग्रद्दृष्टश्रुतपदार्थसंस्कारसमुद्बुद्धमनोरथेन अभिनिविष्टचेतनः गाढप्रग्रस्तबुद्धिरात्मा स्वप्ने ईदृशं जाग्रद्देहसदृशदेहं यथा पश्यति स्वकीयत्वेनाऽनुभवति परकीयत्वेन वा आत्मन एकत्वेन देहयोर्द्वित्वेन दर्शनाद्देहात्मनोर्भेद आनुभाविकः तथा मनसाऽनुचिन्तयन् आत्मादृष्टश्रुतस्मृतानुसृतं तत् तत्र किमपि देवाद्यन्यतमशरीरं प्रपद्यते। कदेत्यत उक्तमपस्मृतिरिति। उत्तरदेहे अभिमानितया पूर्वदेहस्मरणाभावेन मृत इत्यर्थः । हिशब्दो हेतौ। यत एव मृत इत्यर्थः । तदुक्तमाचार्यैः "स्वप्ने यथा दृष्टश्रुतस्मृत्यनुसारि देहं प्राप्नोत्यपस्मृतिर्मृतः पूर्वदेहस्मरणाभावात् अनभिमानत" इति॥ ४१॥

एतदेव विवृणोति **यतो यत** इति। सार्वविभक्तिकस्तसिः इति वचनात्, यतो यतो यत्र यत्र। मायारचितेष्वित्यादिषु सप्तमी षष्ठ्यर्थे भगवदिच्छोद्बोधितप्रकृतिनिमित्तानाम्। प्रकृते रेकत्वेन सृष्टेः नानाविध्यं कथमत्राऽऽह - गुणेष्विति। कार्यकारणभेदात् सत्त्वादिगुणविहितानाम् आत्मपञ्चसु देवगन्धर्वपितृमनुष्यासुरभेदेन पञ्चानामात्मनां मध्ये दैवेन अदृष्टोद्बोधकेन हरिणा चोदितं प्रेरितं मनो धावति विषयीकरोति। मनो विशिनष्टि - विकारात्मकमिति। सङ्कल्पविकल्पनिबद्धमिति यस्य मनो मरणसमये योग्यतानुसारेण यं यं धावति असौ देही तत्र तत्र प्रपद्यमानः प्रवृत्तिं लभमानः तेन दैवेन सह जायते "प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढ उत्सृज्य याति" (बृह.उ. 4.3.35) इति श्रुतेः । उत्पद्यमानोऽपि तेन सह उत्पद्यते इति ज्ञातव्यम्। अत्रापि योग्यतामपेक्ष्य तत्तच्छरीरग्रहणम्। तदुक्तं - "देवादित्वं योग्यतया तत्सकाशस्त्वनुस्मृतेः। श्वेतद्वीपादि तत्राऽपि योग्यतामप्यपेक्ष्य तु॥ विष्णोः स्थानं विनाऽन्यत्र वायुशक्रादिनामपि। त्रैलोक्यदेशभेदेषु योग्यता नत्वपेक्ष्यते" (नारदीये) इति। अनेन व्यासस्याऽऽत्मनो गमानं कथमिति चोद्यं परिहृतम्। परमात्मानमन्तरेण निरुपचरिता व्याप्तिर्नास्ति। "अणुर्ह्येष आत्मा" इति श्रुतेः । आलोकवद्गुणेन यथायोग्यव्याप्तिरस्तु नाम, तथाऽपि स्वरूपतो नास्त्येव "व्याप्ता ह्यात्मान श्चेतना निर्गुणश्च" इति स्मृतिः श्रीनारायणविषयेति निरणायि, नो चेदुक्तागतिरेवेति॥ ४२॥

ननु गुणानां नानात्वात् सृष्टे र्वैचित्र्यमस्तु एकस्यात्मनो नानाविधप्रतीतिः कथमिति शङ्कां सदृष्टान्तं परिहरति ज्योतिरिति। यथा अदो ज्योतिरादित्यलक्षणं समीरवेगानुगतं वायुवेगनिमित्तचलनेन अनुचलितमौदकपार्थिवेषु जलपूर्णशरावाद्युपाधिषु प्रतिबिम्बितं विभाव्यते विविधत्वेन भाव्यते छिन्नभिन्नादिरूपेण प्रतीयते। एवमसौ पुमान् स्वमायारचितेषु "परस्वो हरिः" (प्रकाशिकायाम्) इति वचनात् स्वस्य विष्णोरिच्छया रचितेषु देहेषु प्रतिबिम्बितः अशोभने शोभनाध्यासो रागः , तेनानुगतः तन्मयान्तःकरणो विमुह्यति विविधं छिन्नो भिन्नो मृतोऽस्मीति मोहमज्ञानं प्रतिपद्यते यथा तदेव ज्योतिः पार्थिववद्धनीभूतपूर्णजले प्रतिबिम्बितं वायुवेगानुगतं विशिष्टं निश्चलं भाव्यते छेदभेदादिरहितं प्रतीयते। एवं योग्यो जीवो गुणेषु प्रतिबिम्बितो रागमनुरागं स्नेहविशेषमनुगतो निर्मुक्तद्वेषो विगतमोहो भवति। अज्ञाननिमित्तं छिन्नोऽहमिति दुःखं न प्राप्नोतीति परिहारपरतया वा योजनीयम्। उभयोरपि समाख्यानसिद्धप्रमाणत्वात्। तदुक्तम् "यथैवोदशरावेषु" इत्यारभ्य "परेषां द्रोहमाचरन्" (तन्त्रभागवते) इत्यन्तेन। स्वमायेत्यत्र स्वशब्देन विष्णुरेवोच्यते मानसिद्धत्वात्। तदुक्तम्

"परस्वो हरिरुद्दामः" (प्रकाशिकायाम्) इति पद्येन। गुणयोगयुक्तरूढ्या सिद्धत्वात् मुख्यश्च तदुक्तम् - "स्वतन्त्रत्वात् सुखत्वाच्च स्वनामा विष्णुरुच्यते" (पाद्मे) इति। "रागोऽनुरागे लाक्षायाम्" (वैज. को. 6.1.51) इति यादवः॥ ४३॥

नन्वस्तु नाम आत्मनो जन्मादिकं कर्मनिमित्तं, प्रकृते ततः किम्? तत्राऽऽह - **तस्मादिति** । यत आत्मा तथाविधः कर्मफलभोक्ता, तस्मात् स तादृशः कस्यचिद् द्रोहं हिंसां नाऽऽचरेत्। ततः किम् ? तत्राऽऽह - आत्मन इति। अनर्थश्चाऽऽह - द्रोग्धुरिति। परतः परलोके दुःखलक्षणं भयं भवतीति शेषः ॥ ४४॥

परतोऽन्यस्मात् द्रोह्यात्पुरुषात् द्रोहलक्षणं भयं स्यादिति मत्वा निरन्तरद्रोहलक्षणं दुःखं भवतीति भयसाम प्रदर्श्य भेदसाम प्रदर्शयति - **एषेति**॥ ४५॥

---

1. B,M. साम्नः 2. B,M. विधः 3. Ma. °ति 4. B,M. °णाभे °5- -5 Ma omits.

## श्रीशुक उवाच

एवं स सामभिर्भेदैश्चोद्यमानोऽपि दारुणः ।
न न्यवर्तत कौरव्य! पुरुषादाननुव्रतः ॥४६॥
निर्बन्धं तस्य तं ज्ञात्वा विचिन्त्याऽऽनकदुन्दुभिः ।
प्राप्तकालं प्रतिव्योढुमिदं तत्रान्वपद्यत॥४७॥
मृत्युर्बुद्धिमताऽपोह्यो यावद्बुद्धिबलोदयम्।
यद्यसौ न निवर्तेत नापराधोऽस्ति देहिनः ॥४८॥
प्रत्यर्प्य मृत्यवे पुत्रान् मोचये कृपणामिमाम्।
सुता मे यदि जायेरन् मृत्युर्वा न म्रियेत चेत्॥४९॥
विपर्ययो वा किं न स्याद्गतिर्धातुर्दुरत्यया।
उपस्थितो निवर्तेत निवृत्तः पुनरापतेत्॥५०॥
अग्नेर्यथा दारुवियोगयोगयोरदृष्टतोऽन्य न्न निमित्तमस्ति।
एवं हि जन्तोरपि दुर्विभाव्यः शरीरसंयोगवियोगहेतुः ॥५१॥
एवं विमृश्य तं पापं यावदात्मनिदर्शनम्।
सान्त्वयामास वै शौरिर्बहुमानपुरस्सरम्॥५२॥
प्रहृष्टवदनाम्भोजो नृशंसं निरपत्रपम्।
मनसा दूयमानेन प्रहसन्निद मब्रवीत्॥५३॥

व[10-] सुदेव उवाच[-10]

**न ह्यस्याऽऽस्ते भयं सौम्य यद्वै[11] त्वाऽऽहाऽशरीरवाक्।**
**पुत्रान् समर्पयिष्येऽ[12]स्या यतस्ते भयमुत्थितम्॥५४॥**

---

1- -1 K,M,W. omit 2. B,G,M. °र्बोध्य° 3. K,W. तु 4. B,G. प्राप्तं 5. B,G,K,W. प्रदाय 6. B,G,K,W. पूजयामास 7. B,G. प्रसन्न; M. प्रत्यग्र 8. B,G. वि 9- -9 K,W. सम्पुनर° 10- -10 K,M,W. omit 11. B. यद्वै साऽऽहाऽशरीरवाक्; G. यद्वागाऽऽहाऽशरीरिणी 12. V. °ऽहं

**श्रीध० एवमिति।** चोद्यमान[1] उपदिश्यमानः स्वयं दारुणः । पुनः पुरुषादान् दैत्यान्, अनुव्रतोऽनुसृत इति॥४६॥

**निर्बन्धमिति।** आनकदुन्दुभिरिति पदं महाभाग इत्यत्रोक्ताभिप्रायम्। प्रतिव्योढुं प्रतिकर्तुं वञ्चयितुमित्यर्थः । इदं वक्ष्यमाणम् अ[3]मत्यार्पणमन्वपद्यत ज्ञातवान्॥४७॥

ननु खलोऽयमेतन्न मन्येतेत्याशङ्क्याह स्व[4-]यमेव[-4] **मृत्युरिति** ॥४८॥

तस्मादुपेक्षादोषपरिहारायैवं करिष्यामीत्याह - **प्र[5]त्यर्प्येति।** मृत्यवे कंसाय। नन्विदमपि नैव न्यायमित्याशङ्क्याऽऽह- सुता इति। अस्यां यदि मे सु[6]ता जायेरन् तदा यद्भावि तद्भवतु, जीवितं तु तावद्भवेदेव। तदन्तरा यद्यमेव म्रियेत तदा न किञ्चिदन्याय्यम्॥४९॥

यदि च सुता भविष्यन्ति न चाऽयं म्रियेत तदा मत्पुत्रादेवाऽस्य मरणमि[7-]ति विपर्ययो वा किं न स्यात्[-7]। ननु प्रौढस्य कंसस्य तव बालकात् कथं मृत्युस्स्यात् तत्राऽऽह - गतिरिति। धातुः "अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्तायं नयसेऽबुध" (भाग 10-1-34) इत्युक्तवतः । अत इदानीमपत्यार्पणप्रतिज्ञैव मन्त्रः । तथा सति उपस्थितो मृत्युरयं तावन्निवर्तेत। इ[8]दानीं निवृत्तः पुनः कालान्तरे आपतेच्चेत् तदा नापराधो ममेत्यर्थः । अथवा अ[9]स्य मत्पुत्रादुपस्थितो मृत्युरस्याः वधाद्यो निवर्तेत स पुनरनेन सन्मन्त्रेण भवेदेवेति। यद्वा, "गतिर्धातुर्दुरत्यया" (भाग. 10-1-50) इत्येतस्य प्रपञ्चः - उपस्थित इति॥५०॥

प्राणिनामदृष्टं दुर्वितर्क्यमिति सदृष्टान्तमाह - **अग्नेरिति।** वने वृक्षान् प्रदहन् अ[10]ग्निः सन्निहितानपि वृक्षान् परित्यज्य कदाचिद्दूरस्थानेव दहति ग्रामे गृहान् वा। न हि त[11]स्य प्राण्यदृष्टव्यतिरेकेण किञ्चिन्नियामकमस्ति यथा, एवं जन्तोर्जन्ममरणयोरपि हेतु र्दुर्विभाव्योऽचिन्त्यः ॥५१॥

**एवमिति।** यावदात्मनिदर्शनं स्वप्रज्ञावधि वि[12]मृश्य विचार्य॥५२॥

**प्रहृष्टेति।** तस्य विश्वासाय विकसितमुखाम्भो[13-]ज स्सन् प्रहसन्न[-13] ब्रवीत्॥५३॥

**नेति।** यद्यथा अशरीरिणी वागाह। तथा हि वै[14] निश्चितम्, अस्यास्सकाशात् ते भयं नास्ति खलु[15] यतो येभ्यः पुत्रेभ्यः ते भयमुत्थितम्। अष्टमो हन्तेत्युक्तेऽन्योन्यापेक्षया सर्वेऽप्यष्टमा भवेयुः इत्युद्भूतं, तेनाऽस्याः पुत्रान् समर्पयिष्ये॥ ५४॥

---

1. B,J. बोध्य° 2. V. omits वञ्चयितुम् 3. V. प्रत्यर्पणम् 4- -4. V omits 5. B,J. प्रदायेति। 6. J. omits सुता 7- -7 V. °मित्याह - विपर्यय इति। 8. B,J. omit इदानीं 9. V. omits अस्य 10. V. वह्निः 11. B,J. अस्य 12. B,J. omit विमृश्य 13- -13. B,J °जो विह सन्न° 14. B,J. omit वै 15. B,J. omit खलु

**वीर० ऐवमिति।** इत्थं सामभिः श्लाघनीयेत्यादिगुणकीर्तनपूर्वकमुपलालनैः , भेदैः दृष्टादृष्टभयसूचकवचोभिः चोद्यमानोऽपि वधोद्योगनिवृत्त्यर्थं प्रेर्यमाणोऽपि स कंसो दारुणः क्रूरः हेतुगर्भमिदं, दारुणत्वात्। तत्र हेतुः । पुरुषादान् राक्षसान् अनुव्रतः असुरसम्पत्त्यभिजातः । हे कौरव्य, न न्यवर्तत, वधोद्योगादिति शेषः ॥ ४६॥

तस्य कंसस्य सम्बन्धिनं निर्बन्धमनिवृत्तवधोद्योगरूपं ज्ञात्वा, आनकदुन्दुभिर्वसुदेवः प्राप्तं समुपस्थितं कालं पत्न्या मृत्युं प्रतिव्योढुं परिहर्तुं विचिन्त्य, उपायमिति शेषः। तत्र कालपरिहारे इदं वक्ष्यमाणम् अन्वपद्यत उपायत्वेनाऽध्यवास्यत्॥ ४७॥

विचारपूर्वकं प्रतिपत्तिमेव दर्शयति - **मृत्युरित्यादिभिश्चतुर्भिः।** उपस्थितो मृत्युः , बुद्धिमता पुंसा यावद्बुद्धिबलोदयं यथामति यथाशक्ति च अपोह्यः परिहार्यः। एवमपि यद्यसौ मृत्यु र्न निवर्तेत तर्हि न देहिनोऽपराधोऽस्ति॥ ४८॥

अतः पुत्राञ्जनिष्यमाणान् मृत्युरूपेणोपस्थिताय कंसाय मृत्यवे प्रदाय प्रदास्यामीति प्रतिज्ञाय, दीनामिमां स्त्रियं मोचये त्याजयामि। प्रतिज्ञाया दोषरूपत्वमाशङ्क्य अध्यवस्यति। यदि मे मम सुता जायेरन्, सम्भावनायां लिङ्। यदि मृत्युः मृत्युभूतः कंसो वा मत्सुतोत्पत्तेः पूर्वमेव न म्रियेत न मरिष्यति, तर्हि पुत्रान् दास्यामि। मम पुत्रोत्पत्तेः कंसावस्थानस्य च पाक्षिकत्वात् पुत्रार्पणप्रतिज्ञा न दोष इति भावः ॥ ४९॥

पाक्षिकत्वमेव सम्भावयति - **विपर्ययो वेति।** विपर्ययः मम पुत्राः कंसस्य मृत्युर्वा, तस्यावस्थितौ मम पुत्राभावो वा किं न स्यात्; अतोऽपि न दोष इति भावः । नन्वशरीरवाण्या ईश्वरवचस्त्वान्नासत्यता। अतोऽन्वय एव निश्चितः न विपर्यय इत्याशङ्क्याध्यवस्यति। धातुरीश्वरस्य गतिः दुरत्यया अर्वाचीनैर्दुर्ज्ञेया, धात्रा तथोक्तत्वेऽपि कदाचित् तद्विपर्ययोऽपि स्यादिति भावः। तत्रोदाहरणमालोच्याध्यवस्यति उपस्थित इति। उपस्थितो मृत्युः क्वचिन्निवर्तेत, यथा मार्कण्डेयादेः । निवृत्तो वरदानान्निवृत्तोऽपि मृत्युः पुनरापतेत्, यथा हिरण्यकशिपुरावणादेः। अतः प्रतिज्ञा न दोष इत्यर्थ ः ॥ ५०॥

यद्यपि कदाचिद्विपर्यय एव स्यात् तथापीयं मत्प्रतिज्ञा न दुष्यति न हि मत्पुत्रमृत्युः मत्प्रतिज्ञापरतन्त्रः, तस्य कर्माधीनत्वेन पुरुषाधीनत्वाभावादिति सदृष्टान्तमध्यवस्यति **अग्नेरिति।** योगवियोगशब्दाभ्यां शीघ्रविलम्बोत्पत्ती विवक्षिते। दारुशब्देनारणिः । यथा अग्नेः दारुवियोगयोगयोः दारुणः सकाशात् विलम्बशीघ्रोत्पत्त्योः निमित्तकारणमदृष्टतः

यजमानादृष्टादन्यन्नास्ति। एवं जन्तोर्जीवस्य शरीरसंयोगवियोगयोगयोः[4] हेतुरदृष्टतः कर्मणोऽन्यो दुर्विभाव्यः दुरध्यवस्यः । मत्प्रतिज्ञामात्रं न हेतुः किन्तु तेषां कर्मैवेति भावः ॥ ५१ ॥

[5]एवं यावदात्मनिदर्शनम्। आत्माऽत्र बुद्धिः निदर्शनं तस्याः प्रसरः । यावद्बुद्धिप्रसरं विमृश्य निश्चित्य, शौरिर्वसुदेव स्तम् पापं पापोद्युक्तं कंसं बहुमानपुरस्सरं बहुमानपूर्वकम्, पूजयामास स्वेन विमृष्टमर्थं तत्सम्मतीचकार॥ ५२ ॥

तदेव दर्शयितुं पूजोपयुक्तं वाक्यमाहेत्याह - **प्रहृष्टेति** । अन्तर्भावितण्यर्थः । प्रहृष्टं विकासितं बलाद् वदनाम्भोजं येन तथाभूतः वसुदेवः दूयमानेन उपतप्तेन मनसा प्रहसन् बहिर्हसन् निर्लज्जं कंसं प्रति इदं वक्ष्यमाणं वाक्यमब्रवीत्॥ ५३ ॥

तदेवाऽऽह - **न हीति**। हे सौम्य, तव अस्याः स्त्रियाः सकाशात् भयं मृत्युभयं नास्ति हि; किन्तु अस्याः पुत्रादिति भावः । यत् येभ्योऽस्याः पुत्रेभ्यः[6] ते[6] तव भयमशरीरिणीवागाह, यतो येभ्यश्च ते भयमुत्थितं समुपस्थितं तान् पुत्रान् अहं तुभ्यं समर्पयिष्ये दास्यामीति, त्वं तु तान् जहि, मा वा? न तु तत्र मेऽपराध इति भावः ॥ ५४ ॥

---

★ मूलानुसारी पाठः 1. B. adds सुता इति। 2. B. °चिद्धि° 3. K,W. omit मत् 4- -4. K,W. omit 5. K.W. omit एवं 6- -6 K,W omit

**विज०** पुरुषादान् राक्षसान् अनुव्रतः तत्स्वभावमापन्न इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

यश्शास्त्रनिषिद्धः तं प्राप्तकालं प्राप्तावसरं व्यसनं प्रतिव्योढुं प्रतिहर्तुमिदं वक्ष्यमाणमन्वपद्यत अपश्यत्॥ ४७ ॥

यावद्बुद्धिबलोदयमित्यव्ययीभावः , "यावदवधारणे" (अष्टा. 2-1-8) इति सूत्रात्। अपराधः शास्त्रविरोधाचरण लक्षणः ॥ ४८ ॥

किमपश्यत्, तदाह - प्रत्यर्प्य मृत्यवे मारकाय कंसाय। उपायाभासोऽयं यदपत्यार्पणं तत्राऽऽह वा मम सुतोत्पत्तेः प्राक् न म्रियेत चेत् यदि न मरिष्यति॥ ४९ ॥

विपर्ययो वा मम पुत्रः कंसं वा हनिष्यतीति किं न स्यात्। कथमेतदिति तत्राऽऽह धातुरिति। धातुः ईश्वरस्य गतिश्चेष्टालक्षणा दुरत्यया अतिक्रान्तुमशक्या। अतः किं, तत्राऽऽह उपस्थित इति। सर्वथा तावदुपस्थितो मृत्युरस्या निवर्तेत निवृत्तो यदि रावणादेरिव पुनरापतेत् तर्हि तदानीमस्तु किं तावदिदानीम्॥ ५० ॥

[1]कस्यचित् निवृत्तः स्यात् मुक्तस्येव[1] इतोऽपि धातुर्गतिः दुरत्ययेत्येतत् सदृष्टान्तमुपपादयति - **अग्नेरिति**। यथाऽग्नेर्दावादिदहनस्य दारुवियोगयोगयोः काष्ठानभिव्यक्तिव्यक्त्योः दाह्यवृक्षाभिमानिजीवादृष्टप्रेरकेश्वरात् अन्यन्निमित्तं नास्ति। अदृष्ट इत्यादौ हरिनिवेशः कस्मात् उच्यते, कुण्डस्थाग्नेः दारुवियोगादौ स्वतः प्रवृत्त्यभावादिति वचनात् - "[2]यथा कुण्डस्थितस्याग्नेर्दैवाद्वारूपसन्नमेत्। देहयोगवियोगश्च तथा दैवान्न चान्यथा"[2] (वामने) इति वचनाच्च। एवं जन्तोरपि

शरीरवियोगसंयोगहेतोः हरेरन्यो दुर्विभाव्यः , केवलदृष्टलक्षणस्य[3] कर्मणः स्वतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेः कार्यस्य च दर्शनान्यथानुपपत्त्या श्रीनारायण एव भाव्य इत्यतः त्वया शास्त्रज्ञेन अस्या हननं नोचितमिति भावः ॥५१॥

आत्मनि यावद्दर्शनं परबोधलक्षणं ज्ञानं विमृश्याऽऽलोच्य ज्ञात्वा तावता सान्त्वयामास स्वावगतलोकप्रसिद्धदृष्टान्तो यावान् तावता वा॥ ५२॥

प्रत्यग्रं सद्यस्कं नूतनं वदनाम्बुजं यस्य स तथा। "प्रत्यग्रमुक्तं सद्यस्कम्" (हला.को. 4-78) इति हलायुधः । दूयमानेन मनसेति अन्तस्तापञ्च सूचयति प्रहसन्निति बहिः प्रसादम्। इदं महतां लक्षणम्॥ ५३॥

यावद्बोधेनाप्युक्तसंवादं विज्ञाय यथासंवादी स्यात् तथा प्रत्येतुं वक्ति - न ह्यस्या इति। यतो देवक्या॥ ५४॥

(विजयध्वजव्याख्यानरीत्या अत्र प्रथमोऽध्यायः समाप्तः)

---

1- -1 B,M, omit 2- -2 Ma omits 3. Ma. °लदृष्ट

## (विजयध्वजव्याख्यानरीत्या अत्र द्वितीयोऽध्यायः आरभ्यते)

श्रीशुक उवाच

स्वसुर्वधान्निववृते[2] कंसस्तद्वाक्यसारवित्।
वसुदेवोऽपि तं प्रीतः प्रशस्य प्राविशद्गृहम्॥ ५५॥
अथ काल उपावृत्ते देवकी सर्वदेवता।
पुत्रान् प्रसुषुवे[3] चाष्टौ कन्याश्चैवाऽनुवत्सरम्॥ ५६॥
कीर्तिमन्तं प्रथमजं कंसायाऽऽनकदुन्दुभिः[4] ।
अर्पयामास कृच्छ्रेण सोऽनृता दतिविह्वलः ॥ ५७॥
किं दुस्सहं नु साधूनां विदुषां किमपेक्षितम्।
किमकार्यं कदर्याणां दुस्त्यजं किं[5] धृतात्मनाम्॥ ५८॥
दृष्ट्वा समत्वं तच्छौरेः सत्ये चैव व्यवस्थितिम्[6]।
कंसुस्तुष्टमना राजन् प्रहसन्निदमब्रवीत्॥ ५९॥
प्रतियातु कुमारोऽयं न ह्यस्मादस्ति मे भयम्।
अष्टमाद्युवयोः पुत्रान्मृत्युर्मे[7] विहितः[8] किल॥ ६०॥
तथेति सुतमादाय भयावानकदुन्दुभिः ।
नाभ्यनन्दत तद्वाक्यमसतोऽविजितात्मनः ॥ ६१॥

1- -1 K,W. omit 2. K,M,W. सुहृद्भ° 3. K,W. सा 4. M. पुत्रमानक 5. M. किमृ° 6. K,V,W. तम् 7. B,G,V. गर्भान्मृ° 8. V. °र्मेऽभि

**श्रीध० स्वसुरिति।** निववृते निवृत्तः । तद्वाक्ये सार उपपत्तिस्तद्वित्॥ ५५॥

**अथेति।** काल उपावृत्ते[1-1] प्रसूतिकाले प्राप्ते सर्वः सर्वात्मा भगवानेव देवता यस्यास्सा, तथा[2] भगवदाश्रयत्वात् सर्वदेवतामयी वा॥ ५६, ५७॥

ननु[3] मृत्यवे पुत्रं कथमर्पितवानित्यपेक्षायामाह किं दुस्सहमिति। साधूनां सत्यसन्धानाम्। ननु[4] पुत्रलालन सुखापेक्षया कथं त्यक्तेत्यत आह - विदुषामिति। भगवानेव तत्त्वं, नाऽन्यदिति जानतामित्यर्थः । ननु स्वयं नीते सति कंसो बालं न हन्यादिति मत्वा नीतवानिति किं न स्यादिति नेत्याऽऽह - न किमकार्यमिति। ननु देवकी कथं पुत्रं तत्याजेत्यत आह दुस्त्यजमिति। चित्ते धृत आत्मा हरिर्यैस्तेषाम्॥ ५८ - ६१॥

1- -1 B,J. omit 2. V. omits तथा 3. B,J. omit ननु 4. B,J omit ननु

**वीर०** ततस्तस्य वसुदेवस्य वाक्यसारवित् वाक्याभिप्रायं जानन् कंसः सुहृदो भगिन्या वधान्निववृते न्यवर्तत, ततो वसुदेवोऽपि प्रीतस्तं कंसं प्रशस्य स्वगृहं प्राविशत्॥ ५५॥

अथ काले गर्भधारणयोग्यकाले उपावृत्ते समुपस्थिते सति सा सर्वदेवताप्राया देवतांशत्वात् तत्तुल्या देवकी प्रतिवत्सरम्, अष्टौ सुतान्[1] एकां कन्याञ्च सुषुवे॥ ५६॥

तदा तावत् स्वप्रतिज्ञां पालयन् वसुदेवः प्रथमजम् अग्रजं[2] कीर्तिमन्तं कीर्तिमन्नामानं[3-3] पुत्रं कृच्छ्रेण दुःखेन कंसायाऽर्पयामास। तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि - अनृतादनृतभाषणात् अतिविह्वलः[4] भयविह्वलः[5-5] ॥५७॥

पुत्रानुरागं विहाय कथं समर्पयामासेत्यत्राऽऽह - **किमिति।** साधूनां दुस्सहं दुःखेनाऽपि सोढुमशक्यं किन्त्वस्ति न किमपि। सर्वमपि सुसहमेवेत्यर्थः । पुत्रविपत्तिरपि सुसहैवेति भावः । तथा विदुषां स्वात्मपरमात्मयाथात्म्यज्ञानिनां पुंसां किन्त्वपेक्षितम् न किमपि। शरीरतदनुबन्ध्यादिकमपेक्षितं नाऽस्तीति भावः । किमुपेक्षितमिति पाठान्तरम्। तदा विदुषामिति साधूनां विशेषणम्। कदर्याणामुपेक्षितम्, अकार्यञ्च किमस्तीत्यन्वयः । कदर्यशब्दः क्षुद्रपर्यायः। इदं कंसाभिप्रायकम्। धृतः स्ववशीकृतः आत्मा मनो येषां, दुस्त्यजं किम्? देहतदनुबन्ध्यादिकं सर्वं सुत्यजमेवेति भावः॥ ५८॥

**दृष्ट्वेति**। व्यवस्थितमिति भावे क्तः । शौर्यवसुदेवस्य तत्समत्वं सुखदुःखयोस्साम्यं, सत्ये व्यवस्थितं निश्चलत्वं च दृष्ट्वा, कंसस्तुष्टं मनो यस्य तथाभूतः[6] हे राजन्! प्रहसन्निदं वक्ष्यमाणमब्रवीत्॥ ५९॥

तदेवाऽऽह - **प्रतीति**[7]। अयं [8]तव कुमारः प्रतियातु गृहं प्रतिगच्छतु। [9]मम अस्मात्कुमाराद्भयं मृत्युभयं नाऽस्ति हि; युवयोरष्टमात् पुत्रादेव हि मम मृत्युः विहितः किल, अ[10]शरीरवाचेति शेषः[10] ॥ ६०॥

ततस्तथेत्यङ्गीकृत्य आनकदुन्दुभिर्वसुदेवः सुतमादाय ययौ। किन्तु असतः पापिनोऽनवस्थितचित्तस्य अ[11]विजितात्मनः अज्ञस्य[11] कंसस्य, तदुक्तं वाक्यं नाभ्यनन्दत्। "अव्यवस्थितचित्तस्य प्रसादोऽपि भयङ्करः" इति न्यायादितिभावः ॥ ६१॥

---

1. B. पुत्रान् 2. K,W. omit अग्रजं 3- -3. B. कीर्तिमानिति नामकं 4. B. अतीव, K. भृश 5- -5. B. अनृतभाषणरूपपापभयादत्यन्तं विह्वल इत्यर्थः ॥५७॥ 6. B. adds सन् 7- -7. K. omits 8. K,W. omit तव 9. K,W. omit मम 10- -10. K,W. omit 11- -11. K,W. omit

**विज०** अत्र कंसचरितकथनव्याजेन संसारस्यानर्थरूपत्वं वर्णयति शुकः । सुहृत् सहोदरी। भार्याविधोपरमात् प्रीतः कंसं प्रशस्य॥ ५५॥

सर्वा देवता यस्यां सन्निहिता स्सा तथा। अनुवत्सरं प्रतिवत्सरम्॥ ५६॥

नाम्ना कीर्तिमन्तम्॥ ५७॥

स्वात्मनः प्राणनाशेनापि सत्यमेव रक्षन्ति महान्त इत्याशयेनाऽऽह **किं दुस्सहमिति**। कंसः असाधुष्वेक-इत्याशयेनाऽऽह - किमकार्यमिति। कदर्याणां कुत्सितस्वामिनां दरिद्राणां वा वसुदेवः साधुष्वेक इत्याशयेनाऽऽह-दुस्त्यजमिति। ऋतात्मनां सत्यस्वभावानाम्॥ ५८ - ६०॥

अविजितात्मनोऽसतः कंसस्य तद्वचनं न विश्वसनीयमिति नाऽभ्यनन्दत॥ ६१॥

★ **अथ कंसमुपागम्य नारदो ब्रह्मनन्दनः।**
**एकान्तमुपसङ्गम्य वाक्यमेतदुवाच ह॥**

**नन्दाद्या ये व्रजे गोपा याश्चामीषाञ्च योषितः।**
**वृष्णयो वसुदेवाद्या देवक्याद्या यदुस्त्रियः॥ ६२॥**

**सर्वे वै देवताप्राया उभयोरपि भारत।**
**ज्ञातयो बन्धुसुहृदो ये च कंसमनुव्रताः॥ ६३॥**

❈ असुरास्सर्व एवैते लोकोपद्रवकारिणः।
OO गतेऽथ वसुदेवे तु देवकार्यार्थमुद्यतः॥
एतत्कंसाय भगवान् शशंसाऽभ्येत्य नारदः।
भूमेर्भारायमाणानां दैत्यानाञ्च वधोद्यमम्॥ ६४॥

ऋषेर्विनिर्गमे कंसो यदून् मत्वा सुरानिति।
देवक्या गर्भसम्भूतं विष्णुञ्च स्ववधं प्रति॥ ६५॥

देवकीं वसुदेवञ्च निगृह्य निगले गृहे।
जातं जातमहन् पुत्रं तयो रजनशङ्कया॥ ६६॥

मातरं पितरं भ्रातॄन् पुत्रांश्च सुहृदस्सखीन्।
घ्नन्ति ह्यसुतृपो लुब्धा राजानः प्रायशो भुवि॥ ६७॥

आत्मानमिह सञ्जातं जानन् प्राग् विष्णुना हतम्।
महासुरं कालनेमिं यदुभिस्स व्यरुध्यत॥ ६८॥

उग्रसेनञ्च पितरं यदुभोजान्धकाधिपम्।
स्वयं निगृह्य बुभुजे शूरसेनान् महाबलः ॥ ६९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादश
साहस्र्यां श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे श्रीकृष्णावतारोपक्रमे
प्रथमोऽध्यायः ॥ १॥

---

★ This additional verse is found in M. Edn. only

❈ This half verse is not found in G. Edn.

OO This half verse is found in M.Edn. only.

1- -1 M. शंसयामास 2. M. °बतीर्णानां 3. B. विष्णवंशं 4. B,G,M. °डै° 5. B,G,M. सर्वांश्च 6. B,G. °स्तथा; K,W. °श्शिशून् 7- -7 M. निघ्नन्त्यसु 8. K,W. °पाः

**श्रीध०** कंसस्य शान्तिर्देवकार्यानुगुणा न भवतीति नारदस्य प्रत्यवस्थानम्। तदाह - **नन्दाद्या** इत्यादि त्रयेण॥ ६२॥

**सर्व** इति। उभयोर्वसुदेवनन्दकुलयोः ॥ ६३॥

भूमेरिति। वधोद्यमं देवकृतमिति शेषः ॥ ६४, ६५॥

**देवकीमिति।** निगलैः[2] शृङ्खलैः । अजनो विष्णुः तच्छङ्कया॥ ६६, ६९॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १॥

---

1- -1. V. omits 2. B,J. °डैः

**वीर०** नन्दाद्या इत्यादि सार्धश्लोकत्रयमेकान्वयम्। हे भारत ! उभयोः नन्दवसुदेवयोः ज्ञातयः बन्धवः सुहृदोऽपि देवताप्रायाः देवांशैर्जातत्वात् देवताप्रायाः , तत्तुल्या इत्यर्थः । ये तु कंसमनुव्रताः ते सर्वे असुराः असुरसम्पत्त्या जाताः , अत एव लोकोपद्रवकारिणः इत्येतद् भूमेर्भारायमाणानां नृपव्याजानां दैत्यानां भगवत्कर्तृकं वधोद्योगञ्च। ततो भगवान्नारदोऽभ्येत्य आगत्य कंसाय शशंस कथयामास॥ ६२, ६३, ६४॥

ततः ऋषेर्नारदस्य विनिर्गमानन्तरं[1] कंसो यदून् सुरांशसम्भवान्, स्ववधं प्रत्युद्दिश्य देवक्या गर्भे सम्भविष्यन्तं विष्णुञ्च ज्ञात्वा॥ ६५॥

देवकीं वसुदेवञ्च निगलैः शृङ्खलैः गृहे कारागृहे निगृह्य निग्रहपूर्वकमाबध्य, अजनशङ्कया अरिष्टशङ्कया। अर्दनशङ्केयेति पाठे स्वपीडाशङ्कया तयोः देवकीवसुदेवयोः पुत्रं जातं जातम् अहन् जघान॥ ६६॥

निर्घृणः कथमहन्नित्यत्र लोकपरिपाटीं दर्शयति - **मातरमिति।** भुवि राजानः प्रायशोऽसुतृपाः परप्राणै - रात्मप्राणतर्पकाः लुब्धाः निषादसदृशाः मात्रादीनपि घ्नन्ति[2-] हि[2-]॥ ६७॥

आत्मानं प्राक् पूर्वजन्मनि विष्णुना हतं महासुरं कालनेमिम् इह अस्मिञ्जन्मनि आत्मरूपेण जातं जानन् नारदवाक्याज्जानन् स कंसः यदुभिस्सह व्यरुध्यत विरोधं कृतवान्॥ ६८॥

भोजानामन्धकानाञ्च यादवानामधिपं पितरमुग्रसेनं निगृह्य स्वयं महाबलः कंसः शूरसेनान् जनपदान् बुभुजे उपभुक्तवान्॥ ६९॥

इति श्रीवत्सान्वयपयःपारावाराकासुधाकरस्य सर्वविद्यानिधेः चक्रवर्तिनः श्रीशैलगुरोः सुतेन
तच्चरणकमल परिचर्याप्रसादिततत्सूक्तिसमधिगतश्रीमद्भागवतार्थ हृदयेन
श्रीवैष्णवदासेन श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां श्रीमद्भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
श्रीमद्भागवतव्याख्यायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे प्रथमोऽध्यायः ॥ १॥

---

1. B. °मनान° 2- -2. B. घ्नन्तीति, हि निश्चयार्थद्योतकः ॥ ६७॥

**विज०** नन्दाद्या इत्यारभ्य वधोद्यममित्यन्तं नारदवाक्यम्॥ ६२॥

उभयोः यदुकुलगोकुलयोः ॥ ६३॥

वधोद्यमम्। देवैः क्रियमाणमिति शेषः ॥ ६४, ६५॥

अहन् हतवान्। अजनो विष्णुरवतीर्ण इति शङ्कया॥ ६६॥

परप्राणैः स्वानसून् प्राणांस्तर्पयन्तीत्यसुतृपः ॥ ६७॥

प्राक् पूर्वजन्मनि॥ ६८॥

शूरसेनान् विषयान्॥ ६९॥

**(विजयध्वजव्याख्यानरीत्या अत्र द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः )**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे प्रथमोऽध्यायः ॥ १॥

# द्वितीयोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या तृतीयोऽध्यायः )

श्रीशुक उवाच

प्रलम्ब बक चाणूर तृणावर्त महाशनैः ।
मुष्टिकारिष्ट द्विविद पूतना केशि धेनुकैः ॥ १ ॥

अन्यैश्चाऽसुरभूपालै र्बाणभौमादिभि र्युतः।
यदूनां कदनं चक्रे बलिमागधसंश्रयः[1] ॥ २ ॥

ते पीडिता निविविशुः कुरुपञ्चालकेकयान्[2] ।
साल्वा[3] न्विदर्भा न्निषधा न्विदेहा न्कोसलान्[4] नपि[5] ॥ ३ ॥

एते तमनुरुन्धाना ज्ञातयः पर्युपासते।
हतेषु षट्सु बालेषु देवक्या औग्रसेनिना ॥ ४ ॥

सप्तमो वैष्णवं धाम यमनन्तं प्रचक्षते।
गर्भो बभूव देवक्या हर्षशोकविवर्धनः ॥ ५ ॥

भगवा नपि विश्वात्मा विदित्वा कंसजं भयम्।
यदूनां निजनाथानां योगमायां समादिशत् ॥ ६ ॥

---

1. B,G,J,M,V बली 2. B,G,J पं° 3. G,J,M शा° 4. K,W °न्मगधान् 5. M °न्मागधा नपि।

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्वितीये कंसघाताय देवक्या गर्भगो हरिः।
ब्रह्मादिभिः स्तुतः सा च सान्त्वितेति निरूप्यते॥

"यदुभि स्स व्यरुध्यत" (भाग० 10-1-68) इत्युक्तम्। तमेव विरोधं प्रपञ्चयति। त्वरया देवकीगर्भस्य अन्यत्र सञ्चारेण भगवतः प्रवेशं **प्रलम्बेत्यादि** सार्धश्लोकत्रयेणाऽऽह। महाशनोऽघासुरः ॥ १-३॥

**एके** इति। अनुरुन्धाना अनुवर्तमानाः ॥ ४॥

**सप्तम** इति। धाम कला। तदेव सप्तमो गर्भो बभूव। किं तद्धामेत्यतः आह - यमनन्त मिति। हर्षशोकविवर्धनः, आनन्दरूपस्यावतीर्णत्वात् हर्षः, पूर्वगर्भसाधारणदृष्ट्या शोक इति॥ ५,६॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

"यदुभि स्स व्यरुध्यत" (भाग० 10-1-68) इत्येतदेव प्रणञ्चयन् भगवतो देवकीजठरप्रवेशप्रकारं, तत्प्रवेशप्रयुक्त प्रभातिशययुक्त देवकी दर्शनोद्विग्नस्य कंसस्यावस्थानप्रकारं, गर्भस्थं विष्णु मुद्दिश्य ब्रह्मादीनां स्तुतिप्रकारञ्चाऽऽह द्वितीयाध्यायेन **प्रलम्बे** त्यादिना[1]। प्रलम्बादिभि रन्यैश्च असुरप्रकृतिभि र्भूपालैः बाणादिभिः परिवृतः कंस[2]ः, भौमो नरकासुरः, बलिमागधौ संश्रयौ यस्य तथाभूतः । बलीति मागधो विशेषणं वा। मागधो जरासन्धः । यदूनां कदनमुपद्रवं चकार॥ १,२॥

तदा ते यदवः केचित्पीडिताः कुर्वादीञ्जनपदान् विविशुः ॥ ३॥

एके तु ज्ञातयः तं कंसमनुरुन्धाना अनुवर्तमानाः पर्युपासते पर्यचरन्। तत औग्रसेनिना कंसेन षट्सु देवक्या गर्भेषु[3] अपत्येषु[3] हतेषु सत्सु यत् वैष्णवं विष्णो स्सम्बन्धि धाम तेजोंऽश इति यावत्। कोऽसौ? तस्या हर्षशोकौ विवर्धयतीति तथा। कंसभया च्छोकः श्री[4]भगवत्कलासम्बन्धात् पुत्रो भविष्यति किं समर्थोऽस्माक मपीति हर्ष[4]ः इति भावः॥ ४,५॥

ततो भगवा न्विश्वात्मा, हेतुगर्भ मिदम्। कंसा ज्ञातं, निज आत्मा नाथो येषां तेषां यदूनां भयं ज्ञात्वा योगमायां स्वमायाधिष्ठात्रीं देवता मादिशत् आज्ञापयामास॥ ६॥

---

1- -1 K,W द्वितीयेन **प्रलम्बेति** 2. K,W omit कंस ः 3- -3 B पुत्रेषु 4- -4 K,W omit.

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अवताररूपं हरे र्न किञ्चि दपि भिन्नं साक्षात्स्वरूपमेव तज्ज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वा दित्यभिप्रायेण निरूपण मस्मिन्नध्याये। तत्र दुष्टेन्द्रियैः सदिन्द्रियनिग्रह इव कंसः प्रलम्बादिभि स्सहितो यदुनिग्रह मकृतेत्यादिकं निरूपयति **प्रलम्बे** त्यादिना॥ १॥

कदनं कलहम् मागाधो जरासन्धः संश्रयो यस्य स तथा, तं संश्रयतीति वा॥ २॥

ते यादवा निविविशुः निवेशनं चक्रुः ॥ ३॥

अनुरुन्धाना अनुवर्तमानाः ॥ ४॥

वैष्णवं धाम विष्णुतेजः सन्निहितम्। हर्षशोकविवर्धन इति उत्पत्तिप्रस्रवणाभ्या मिति शेषः । हर्षं समेधयन् शोक मेधयन्निति वा॥ ५,६॥

गच्छ देवि व्रजं भद्रे गोपगोभि रलङ्कृतम्।
रोहिणी वसुदेवस्य भार्याऽऽस्ते नन्दगोकुले।
अन्याश्च कंससंविग्ना विवरेषु वसन्ति हि॥ ७॥

देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामकम्।
तत्सन्निकृष्य रोहिण्या उदरे सन्निवेशय॥ ८॥

अथाऽह[1] मंशभागेन देवक्यां पुत्रतां शुभे।
प्राप्स्यामि त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसि॥ ९॥

अर्चिष्यन्ति मनुष्या स्त्वां सर्वकामवरेश्वरीम्[2]।
नानोपहारबलिभिः[3] सर्वकामवरप्रदाम्॥ १०॥

नामधेयानि कुर्वन्ति स्थानानि च नरा भुवि।
दुर्गेति भद्रकालीति विजया वैष्णवीति च॥ ११॥

कुमुदा चण्डिका कृष्णा माधवी कन्यकेति च।
माया नारायणीशाना[4] शारदे त्यम्बिकेति च॥ १२॥

गर्भसङ्कर्षणात्तं वै[5] प्राहु[6] स्सङ्कर्षणं भुवि।
रामेति लोकरमणात् बलभद्रं[7-] बलोच्छ्रयात्[-7]॥ १३॥

---

1. M °ऽहं स्वांश 2. K.W. प्रदे° 3. B,G,J धूपोप 4. B,G,J °नी 5. B वा 6. B आहुः 7- -7 B,G,J बलं बलवदुच्छ्रयात्।

**श्रीध० गच्छेति**। ननु सा गोकुले किमित्याऽऽस्ते? अत आह - अन्याश्चेति। न केवलं सैव अन्या अपीति। विवरेषु अलक्ष्यस्थानेषु॥ ७॥

**देवक्या** इति। जठरे सन्तम्। ननु गर्भ आकृष्यमाणः कथं जीवेदित्यत आह - मामकं धामेति। तत् ततः ॥ ८॥

किमर्थ मेवं कार्य मित्यत आह - **अथेति**। अथ[2] अनन्तर मेवेत्यर्थः। अंशभागेनेति - अंशै श्शक्तिभि र्भजते अधितिष्ठति सर्वान् ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्ता निति अंशभागः, तेन परिपूर्णेन[3] रूपेणेत्यर्थः। यद्वा, अंशै र्ज्ञानैश्वर्यबलादिभिः भाजयति योजयति स्वीया निति तथा[4] तेनेति। यद्वा, अंशेन पुरुषरूपेण मायया भागो भजनमीक्षणं यस्य तेन। यद्वा अंशेन मायया गुणावतारादिरूपा भागा भेदा यस्य तेन। यद्वा अंशा एव मत्स्य कूर्मादिरूपा भजनीया न तु साक्षात्स्वरूपं यस्य तेन। यद्वा अंशै र्ज्ञानबलादिभिः भजन मनुवर्तनं भक्तेषु यस्य तेन। सर्वथा परिपूर्णेन[5] रूपेणेति विवक्षितम्। "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" (भाग 1-3-28) इत्युक्तत्वादिति। तां प्रोत्साहयति - त्वं यशोदायामिति त्र्यक्षरोन[6]सार्धचतुष्टयेन॥ ९॥

**अर्चिष्यन्तीति**। सर्वान्पुत्रादीन्कामयन्ते ये तेषां वरां श्रेष्ठां[7] ईश्वरीं नियन्त्रीम्। अर्चकानां सर्वा[8] न्कामवरान् प्रददाति या, ताम्॥ १० - १२॥

त्वद्विकर्षणेन[9-9] त[10-10] द्विक्रमेण च तस्य स[11-11] ङ्कर्षण राम बलभद्रेति व्यपदेशा भविष्यन्तीत्याह - **गर्भेति**। रामेति च सम्बोधनं करिष्यन्ति। त्वया सङ्कृष्टेन तेन लोकस्य रमणाद्रत्युत्पादनात्॥ १३॥

---

1. V °दत 2. B,J, omit अथ 3. V पूर्णरू° 4. V omits तथा 5. V पूर्णस्व° 6. V omits त्र्यक्षरोन 7. V omits श्रेष्ठां 8. V सर्वका° 9- -9 B,J omit 10- -10. V omits 11- -11 B,J omit.

**वीर०** तदेवाऽऽ ह **गच्छेत्यादिना** सन्दिष्टैव मित्यतः प्राक्तनेन। हे देवि! हे भद्रे! त्वं गोपैः गोभिश्चाऽऽवृतं नन्दव्रजं गच्छ। तत्र गत्वा किं विधेय मित्यत्राऽऽह - नन्दगोकुले नन्दस्य ग्रो[1] व्रजे वसुदेवस्य भार्या आस्ते। तथा अन्याश्च तस्य भार्याः कंसात्संविग्नाः भीताः तत्र तत्र[2] विवरेषु पर्वतबिलादिषु प्रच्छन्ना वसन्ति॥ ७॥

अधुना मामकं मदीयं शेषाख्यं धाम अंशं देवक्या जठरे गर्भरूपेणाऽवस्थितं, तस्मा[3] देवकीजठरा त्सन्निकृष्य सम्यक् बहि र्निष्कास्य रोहिण्या जठरे सम्यङ्निवेशय। अनेन "रोहिण्या स्तनयः प्रोक्तः" इत्यादि प्राक्तनं प्रश्नोत्तर[4] मुक्तं भवति॥ ८॥

अथाऽहमंशभागेन मदंशांशभूतेन सङ्कर्षणेन सह हे शुभे! देवक्याः पुत्रत्वं प्राप्स्यामि। त्वन्तु नन्दस्य पत्न्यां यशोदायां भविष्यसि सम्भव॥ ९॥

सर्वेषां कामाना मिष्टार्थानां वराणाञ्च (ईश्वरीं) प्रदात्रीं (पाठान्तरे) सर्वकामप्रदाना मपि ईश्वरीं त्वां नानाविधै रुपहारैः नैवेद्यै रन्यैश्च बलिभिः पूजाभिः नरा अर्चिष्यन्ति। एव मनुगृह्णामीति भावः ॥ १०॥

तथा भुवि तव स्थानानि मन्दिराणि नामधेयानि च कुर्वन्ति करिष्यन्ति। तत्र नामानि दर्शयति- दुर्गेति॥ ११,१२॥

तथा त्वया देवकीजठरात् सङ्कृष्टं शेषम्, अत एव प्रवृत्तिनिमित्तात् सङ्कर्षणा त्सङ्कर्षणशब्दवाच्यम्। लोकरमणात् लोकरञ्जना न्निमित्तात् रामेति रामशब्दवाच्यम्। बलाधिक्या न्निमित्तात् बलभद्रशब्दवाच्यम्। भुवि प्रादुर्वक्ष्यन्ति। यद्वा तं तेभ्यो निमित्तेभ्यः तत्तच्छब्दै र्व्यवहरिष्यन्तीत्यर्थः ॥ १३॥

---

1. B adds कुले 2. K,W omit तत्र 3. K omits तस्मात् 4. B प्रश्न स्योत्तरं 5- -5 K,W omit.

**विज०** पर्वतविवरेषु॥ ७,८॥

स्वांशभागेन स्वांशांशेन, अंशस्य भागो भजनं स्वीकारः ; तेनेति वा॥ ९,१०॥

दुरधिगमत्वा दुर्गा। भद्रा, मङ्गला नीला चेति भद्रकाली। सर्वा दिशो विजयतीति विजया। विष्णोरियं वैष्णवी॥ ११॥

कौ भूमौ मोदते इति कुमुदा। 'चडि कोपे' इति धातोः शत्रवे कुपितत्वात् चण्डिका। सदानन्दत्वा-न्कृष्णा। मधुकुलोत्पन्नत्वान्माधवी विष्णुदयितत्वा द्वा। कं सुखं नयतीति कन्या, नित्यकुमारी वा। मीयते ज्ञायते इति माया। मां यातीति वा। नारस्य नरसमुदायस्य अयनत्वा न्नारायणी। सर्वस्य ईष्टे इति ईशाना। शीर्यत इति शारः, तं संसारं त्रति खण्डयतीति शारदा। शत्रुविषयं शारं हिंसां ददातीति वा। सर्वस्य मातृत्वादम्बिका॥ १२॥

बलोच्छ्रयात् बलोन्नतेः ॥ १३॥

**सन्दिष्टैवं भगवता तथे त्योमिति तद्वचः।**
**प्रतिगृह्य परिक्रम्य गां गता तत्तथाऽकरोत्॥ १४॥**

**गर्भे प्रणीते देवक्या रोहिणी योगनिद्रया।**
**अहो विस्रंसितो गर्भ इति पौरा विचुक्रुशुः ॥ १५॥**

भ ★गवा नपि विश्वात्मा भक्ताना मभयङ्करः ॥
आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः ॥१६॥

स बिभ्रत्पौरुषं धाम [3]भ्राजमानो यथा रविः ।
दुरासदोऽतिदुर्धर्षो भूतानां सम्बभूव ह॥१७॥

ततो जगन्मङ्गल मच्युतांशं समीहितं शूरसुतेन देवी।
दधार "सर्वात्मक मात्मभूतं काष्ठा यथाऽऽनन्दकरं [4]मनस्तः ॥१८॥

सा देवकी सर्वजगन्निवासनिवासभूता [5-]नितरां न [-5]रेजे।
भोजेन्द्रगेहेऽग्निशिखेव रुद्धा [6]सरस्वती ज्ञानखले यथा सती॥१९॥

---

1. V परि 2. V °ण्यां. ★ V आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः ।अंशेन भगवा न्विष्णुः भुवो भारापनुत्तये॥ १६॥ 3. M राज° 4. K,W घनस्थम्; M नभस्तः 5- -5 M विरेजे 6. M चूत

**श्रीध० सन्दिष्टेति**। तथेति पुनर प्योमिति आदरेण प्रतिगृह्य। गां पृथिवीम्॥ १४॥

**गर्भ इति**। विस्रंसितो [1]विभ्रष्टो विस्रस्त [2]इत्यर्थः इत्येवं [3]विचुक्रुशुः। न तु तद्विदु रित्यर्थः॥ १५॥

**भगवा** निति। मन आविवेश मन स्याविर्बभूव जीवाना मिव न धातुसम्बन्ध इत्यर्थः ॥१६॥

**स** इति। धाम [4]श्रीविष्णोः ॥१७॥

**तत** इति। जगन्मङ्गलं [5-]जगतो मूर्तिमन्मङ्गलम्[-5]। अच्युतांशं अच्युता च्युतिरहिता अंशा ऐश्वर्यादयो यस्य तम्। यद्वा, अच्युतस्य अंश इवांशः [6]भक्ताना मनुग्रहार्थं [7]परिच्छन्नवपु रित्यर्थः । [8]समाहितं सम्यग्भूत मेवाऽऽहितं [9]वैधदीक्षयाऽर्पितम्, देवी द्योतमाना शुद्धसत्त्वेत्यर्थः । सर्वात्मकं सर्वस्याऽऽत्मानम्, अत एवाऽऽत्मभूतम्, स्वस्मिन्नाऽऽदावेव सन्तम्। मनस्तो मनसैव दधार धारणया धृतवती। अत्रानुरूपं दृष्टान्तमाह - यथा काष्ठा प्राची दिक् आनन्दकरं चन्द्रमिति॥ १८॥

**सेति**। सर्वजगन्निवासस्य श्रीहरे र्निवासभूता सत्यपि नितरां सर्व जनाह्लादकतया न रेजे, किन्तु स्वयमेवाऽऽनन्द [10]मन्वभवत्। यतः कंसस्य गृहे रुद्धा अन्यैर्न दृश्यते। घटादिषु रुद्धा अग्निशिखा [11]दीप कलिकेव। तथा सती [12]शोभना सरस्वती ज्ञानखले ज्ञानवञ्चके रुद्धा यथाऽन्येषा मनुपकारिणी न राजते तद्वत्॥ १९॥

---

1. V omits विभ्रष्टः 2. V omits इत्यर्थः 3. B,J omit एवं 4. B,J श्रीमूर्तिम् 5- -5 V omits 6. V भक्तानु 7. B च्छिन्न 8. B,J omit समाहितम् 9. J वेध 10. V °भूत् 11. V दीप इव 12. B,J शोभमाना।

**वीर०** [1] एव मित्थं भगवता सन्दिष्टा आदिष्टा योगमाया तस्य भगवतो वचः [2] तथे त्योमिति, तथैवाऽस्त्विति अङ्गीकारपूर्वकं प्रतिगृह्य अभिनन्द्य तं प्रदक्षिणीकृत्य गां भूमिं गता प्रविष्टा सती तथैव यथोक्तं मकरोत्॥ १४॥

ततो योगनिद्रया भगवद्योगनिद्राधिष्ठात्र्या शक्त्या देवक्या गर्भे रोहिणीं प्रति प्रणीते प्रापिते सति, तदा पौराः जनाः, अहो देवक्या गर्भो विस्रंसितः विस्रस्तः । 'स्रंसु अधःपतने' इति धातुः। विचुक्रुशुः रुरुदुः ॥ १५॥

ततो भक्ताना मभयङ्करः भक्तामयचिकीर्षुः विश्वात्मा भगवान् अंशभागेन, जातस्येति शेषः। "स आत्मा अङ्गान्यन्या देवताः " (तैत्ति उ. 1-5-1) इति देवतानां भगवदंशत्वश्रवणात् आनकदुन्दुभे र्देवांशेन जातत्वाच्चेति भावः। मन आविवेश सङ्कल्पज्ञानेनाऽऽविवेशेत्यर्थः । "यो मनसि तिष्ठन्" (बृह.उ. 3-7-20) इति पूर्वमिवाऽऽविष्टत्वावगमात् अंशभागेन सङ्कल्परूपज्ञानेन आविवेशेति वाऽन्वयः ॥ १६॥

वसुदेवः पौरुषं भगवत्सम्बन्धि तेजो बिभ्र द्विभ्राणः यथा रवि स्तथा भ्राजमानः दुरासदः इत्थन्तया अभिसंहितु मशक्येन तेजसा युक्तः, भूतानां कंसादीनां दुर्धर्षः दुःखेनाऽपि सोढु मशक्यो बभूव॥ १७॥

ततः शूरसुतेन वसुदेवेन निहितं जगतां मङ्गलं यस्मात्तम्। अच्युतः अप्रच्युतोंऽशः सङ्कल्परूपं ज्ञानं यस्य तम्। सर्वात्मकं सर्वशरीरकम् आत्मनोऽप्यात्मभूतं भगवन्तं देवकी दधार, जठर इति शेषः। [4] यथा काष्ठा पूर्वा दिक् घनस्थमभ्रपिहित मानन्दकरं चन्द्रं बिभर्ति तद्वत्। वसुदेवापत्यत्वसिद्धये ताव द्वसुदेवहृद्गतः, पश्चा देवकीजठरं प्रविवेशेत्यर्थः । पूर्वदिश श्चन्द्रस्येव वसुदेवदेवकीजठरयो र्भगवत स्सम्बन्ध इति भावः ॥ १८॥

सा धृतपरमपुरुषा देवकी सर्वजगदाधारभूतस्य भगवतो निवासभूता सती अतितरां न रेजे न रराज; यथा भोजेन्द्रस्य उग्रसेनस्य कंसस्य वा गृहेऽवरुद्धा अग्ने शिशखेव। अभूतोपमेयम्। यथा च ज्ञानखले वेदविरुद्धज्ञानेन मूर्खे पुंसि सती निर्दुष्टा सरस्वती उपनिष न्न राजते तद्वत् । परमात्मगर्भत्वादग्निशिखादृष्टान्तः । "तस्या शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः" (म.ना.उ. 9-12) इति श्रुतेः। 'ज्ञानबले' इति पाठान्तरम्। तदा वेदाविरुद्धज्ञानवतीत्यर्थः ॥ १९॥

---

1. B adds श्री भगवदाज्ञोदया दनन्तरं सा योगमायाऽपि श्रीभगवदाज्ञां सर्वात्मना अत्यादरेण प्रणतिपूर्वकं शिरसि निधाय आज्ञाक्रम मनुल्लङ्घ्य भुवि समागत्य यथैवाऽऽज्ञप्ता तथैवाऽकरो दित्याह श्रीशुकः - **सन्दिष्टैव** मित्यादिना। 2. B adds वचनं 3. B विराजमानः 4. B adds हृदयाकाशे हृदयकमले वेति दिक् 5- -5 B वेदविरुद्धेन हीनेन ज्ञानेन मूर्खे दुर्जने।

**विज०** तद्वचनं तथेति स्पष्टीकरणम्। तथे त्योमिति तथा करोमीति तद्वचः प्रतिगृह्णेति वा॥१४॥

योगनिद्रया देवक्या गर्भे रोहिणीं प्रणीते सति विस्रंसितः स्रावितो निर्गलित इति विचुक्रुशुः ॥१५,१६॥

पौरुषं धाम पुरुषाकारीभूतं विष्णुतेजः ॥१७॥

वसुदेवप्रवेशानन्तरं देवी अच्युतस्य हरे रंशं कृष्णकेशलक्षणं दधार। जगन्मङ्गलयति भूभार हरणेन जगन्मङ्गलं करोतीति जगन्मङ्गलम्। शूरसुतेन वसुदेवेन समाहितं सर्वात्मनः सर्वव्यापिनो हरेः या सर्वव्यापित्वशक्तिः साऽस्या-स्तीति सर्वात्मक स्तम्। आत्मभूतं देवक्यां प्रत्यगात्मस्वरूपम्, आत्मनो मनसो भूतमभिव्यक्तं वा। आत्मभुव श्चतुर्मुखस्य भूतमिष्टसाधकत्वादिष्टं दैवं वा। आनन्दकरं मुक्तप्रपञ्चस्याऽपि सुखकरम्। कथमिव? काष्ठा पूर्वदिक् आनन्दोऽमृतं करो यस्य स तमानन्दकरं चन्द्रं नभस्त आकाशे यथा दधाति तथा हृदयाकाशे दधार न तु योन्याकाशे। कीदृशी काष्ठा? पूर्णमनोरथा। कीदृशी? देवी द्योतमाना। कीदृशं चन्द्रम्? रात्र्या मन्धकारनिरासेन जगन्मङ्गलभूतम्। च्युतिरहिता अंशाः करा यस्य स तथा। तं पूर्णं कलमित्यर्थः। शूर श्चण्डकर स्सूर्यः, तत्सुतः सुषुम्नाख्यो रश्मिः तेन समाहितं निष्पादितम्। अमावास्यायां सूर्ये लीनः तस्य सुषुम्नाख्यरश्मिना अभिव्यज्यत इति शास्त्रप्रसिद्धिः। सर्वासा मोषधीना मङ्कुरजनकत्वेन प्रेष्ठत्वात् सर्वात्मक मात्मनो मनसोऽभिमानित्वात् आत्मभूतं लोकविडम्बनार्थं पितृमातृप्रवेशक्रमः, न तु शरीरस्वीकारार्थम्। तदुक्तम् "आविश्य पितरं विष्णुः स्वरूपेणैव मातरम्। विडम्बनार्थं लोकस्य निर्जनिश्चाऽप्यथाऽऽ विशत्। आनन्दमात्रदेहेन जातवत्सम्प्रदृश्यते" (वामने) इत्यादिना॥१८॥

सा देवकी प्रथमं भोजेन्द्रगेहे रुद्धा न रेजे इति। 'विरेजे' इति पाठे नत्र मध्याहृत्य व्याख्येयम्। पश्चात्, सर्वजगन्त्यस्मिन् निवसन्तीति सर्वजगन्निवासो विष्णुः तस्य निवास भूता, हेतुगर्भ विशेषणम्। नितरा मत्यन्तं न रेजे। विरेजे इति पाठे नत्रोऽध्याहार्यत्वम्। अत्र दृष्टान्तः दाहकाग्निशिखा दाह्यतृणपटलादिना रुद्धा न राजते, पुन श्शुष्केण तेनैव ज्वलिता यथा राजते। यथा वा सती सरस्वती सत्यरूपा वाणी द्यूतखले द्यूतरङ्ग स्थले अनृतेन रुद्धा न राजते। सैव निर्व्याजा रोचते, तथेति। अन्यथा यथास्थितकथनं दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक विरोधा दयुक्तम्॥१९॥

---

1- -1 Ma omits 2- 2- Ma omits * अर्थानुसारेण पाठः शोधितः। ★ अर्थानुसारेण पाठः शोधितः।

**तां वीक्ष्य कंसः प्रभया जितान्तरां विरोचयन्तीं भवनं शुचिस्मिताम्।**
**आहैष मे प्राणहरो हरि र्गुहां ध्रुवं श्रितो यन्न पुरेय मीदृशी ॥ २० ॥**

**किमद्य तस्मिन् करणीय माशु मे यथार्थतन्त्रो न विहन्ति विक्रमम्।**
**स्त्रियाः स्वसु र्गुरुमत्या वधोऽयं यशः श्रियं हन्त्यनुकूल मायुः ॥ २१ ॥**

★ऋ द्वष जीवन् खलु सम्परेतो वर्तेत योऽत्यन्तनृशंसितेन।
देहे मृते तं मनुजा शपन्ति गन्ता तमोऽन्धं तनुमानिनो ध्रुवम्॥ २२॥

इति घोरतमा द्भावात् सन्निवृत्तः स्वयम्प्रभुः ।
आस्ते प्रतीक्षंस्तज्जन्म हरे र्वैरानुबन्धकृत्॥ २३॥

आसीन स्संविशं स्तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन् पिबन्।
चिन्तयानो हृषीकेश मपश्य त्तन्मयं जगत्॥ २४॥

ब्रह्मा भवश्च तत्रैत्य मुनिभिर्नारदादिभिः।
देवै स्सानुचरै स्साकं गीर्भि र्धि षिण मैडयन्॥ २५॥

---

1. M °S जितम्भरां 2. M घटनीय ° 3. B,G,J यदर्थ; V यमर्थ 4. B,G,J काल°; V वेल ° ★ बिहन्ति कीर्तिं सुदुरासदां परैः । त्यजन्ति सन्तो यशसा विहीनम्॥ This additional half verse is found between 21 and 22 verses in V. edition. 5. B,K एव 6- -6 M तमनु ह्यर्थकामौ यशोऽमलं गौरभि 7. V स निं° 8. V° क्ष्य त° 9. M. वित् 10. B,G,J महीम् 11. K,W °दयश्च 12- -12 V मुनयो नारदादयः , 13- -13 B,G,J °र्वृषण मैडयन्; M °र्विष्णु मथाऽ स्तुवत्।

**श्रीध० तामिति।** प्रभया भवनं विरोचयन्तीम्। अजितः श्रीकृष्णः अन्तरा कुक्षिमध्ये यस्या स्ताम्। एष विरोचमानो गुहां श्रितः गर्भे स्थितः ध्रुवं हरि रेव यत् यस्मात् ईदृशीयं पुरा पूर्वं नाऽऽसीत्॥ २०॥

ननु सन्ति सामादय उपायाः । नेति स्वय मेवाऽऽह **किमिति।** अयमर्थतन्त्रो देवकार्यप्रधानो विक्रमं न विहन्ति। मद्वधे पराक्रमं करिष्यत्येवेत्यर्थः । यद्वा, तर्हीदानी मेवेयं हन्यता मिति विचिन्त्याह - अर्थतन्त्रोऽपि पुमान् स्वं विक्रमं न विहन्ति न नाशयति। स्त्रीवधे त न्नाशः स्या दिति भावः । तदेवाऽऽह स्त्रिया इति। गुरुमत्या गर्भिण्याः ॥ २१॥

**स इति।** किञ्च स एष जीवन्नपि मृतः स्यात् नृशंसितेन क्रौर्येण यो वर्तेत तं जीवन्त मेव मनुजाः शपन्ति, दुर्वाक्यैर्धिक्कुर्वन्ति। देहे मृते तनुमानिनः पापिनो नरकं गच्छन्ति। अथवा शापप्रकार मेवाऽऽह- तनुमानिनो देहात्माभिमानिनः अस्य देहे मृतेऽयं ध्रुव मन्धन्तमो गमिष्यतीति॥ २२,२३॥

**आसीन इति।** संविशन् शयानः ॥ २४॥

**ब्रह्मेति।** रम्याभिर्गीर्भिः वृषणं कामवर्षिणम्, ऐडयन् तुष्टुवुः ॥ २५॥

---

1. B,J omit श्रीकृष्णः 2- -2 B,J omit 3. V omits पुरा 4. B,J गुर्विण्याः 5. V °न्नेव 6. V° माह 7- -7 B,J omit.

**वीर०** तदा प्रभया जिता न्यन्तराणि दिगन्तराणि यस्याः, शुचि विशुद्धं स्मितं यस्या स्ताम्। भवनं गृहं विरोचयन्तीम्। देवकीम्वलोक्य[1] कंसः अह[2]। उक्तिमेव दर्शयति "एष" इत्यादिना 'इति घोरे' इत्यतः प्राक्तनेन। मे मम प्राणहरः प्राणान् जिहीर्षुः अय मेष हरिः गुहां देवकीजठरबिवरं श्रितः । पुरा इयं देवकी नेदृशी एवंविधप्रभान्विता नाऽऽसीत्। अतो नूनं गुहा माश्रितः ॥२०॥

अर्थतन्त्रो देवकार्यप्रधानोऽयं हरिर्मम विक्रमं यथा न निहन्ति तथाऽत्र हरिविषये मे मया अधुना आशु किं करणीयम्? किं घटनीयम्। य चेनां हन्मि तर्हयस्याः स्त्रियाः , तत्राऽपि स्वसुर्भगिन्याः, तत्राऽपि गुरुमत्याः गुरुतरगर्भिण्याः वधोऽयं यशआदीनि हन्ति क्षपयति। अनुकूल मित्यायुर्विशेषणम्। अनुकाय मिति पाठान्तरम्। तदा प्रतिशरीरं यशआदीनि हन्तीत्यन्वयः ॥२१॥

सः गुरुमतीहन्ता स्वयं जीव न्नपि सम्परेतः मृतप्रायः खलु, यः पुमान् अत्यन्तनृशंसितेन क्रूरचेष्टितेन वर्तेत, तनुमानिनो देहात्माभिमानिनो देहे मृते नष्टे सति मनुजा स्तं शपन्ति। स चान्धंतमो नरकं ध्रुवं नूनं गन्ता गमिष्यति॥२२॥

इतीत्थं घोरतमात् भावात् गुरुमतीवधोद्योगरूपात् स्वयं प्रभुः तां हन्तुं समर्थोऽपि निवृत्तः । तत्ततः हरेर्जन्म प्रतीक्षमाणस्सन् वैरानुबन्धं वैराविच्छेदं कुर्वन् आस्ते आस॥२३॥

आसनादिक्रियास्वपि हरि मेव चिन्तयमानः जगत् तन्मयं हृषीकेशमयं तत्प्रचुर मपश्यत्॥२४॥

तत्र देवकीसन्निधौ नारदादिभि र्मुनिभिः सानुचरै र्देवैश्च सह ब्रह्मा चतुर्मुखो भवो रुद्रश्च समागत्य[3] गीर्भिः औपनिषदानुकारिणीभिः वाग्भिः धिषणं धिषणायुक्तं सर्वज्ञं भगवन्तं ऐडयन् तुष्टुवुः । ण्यन्ता न्निवृत्तप्रेरणात् ईडे र्लङ्। नारदाद्यभिप्रायकं बहुवचनम्। वृषण[4] मिति पाठे कामवर्षिणं भगवन्तं ऐडय न्निति स एवाऽर्थः[4] ॥२५॥

---

1. B °मालोक्य 2. B प्राह 3. K,W omit समागत्य 4- -4 K, W omit.

**विज०** अजितम्भरां विष्णुं दधानां जेतुमशक्यगर्भरां वा। अन्तःस्थितविष्णुं प्रभावर्धितस्वदेहप्रभया गर्भरूपेण हृदयगुहां प्रविष्टो, यद्यस्मात्, तं तस्मात् ध्रुवम्॥२०॥

अस्तु तव प्राणहरो हरिः, ततः किम्? अत्राऽऽह **किमद्येति।** अद्य मे मया तस्मिन् गर्भस्थिते हरौ घटनीयम् उपद्रवत्वेन कर्तव्यं तत् केन प्रकारेणेति चिन्त्यते, तदप्याऽऽशु कर्तव्यं, न कालः क्षेपणीयः। कुतोऽत्राऽऽह - अर्थेति। अधुना अह मर्थतन्त्रः प्रायोजनाधीन इति यत्तस्मात् कालो न क्षेपणीय इति तत्राऽऽह यथेति। यथा अयमर्थतन्त्रः देवकार्यलक्षणप्रयोजनैकपरायणो गर्भस्थितो हरिः मम विक्रमजीवनलक्षणं न विहन्ति तथा झटिति करणीय मित्यर्थः । यथा अर्थतन्त्रः पुरुषः स्वविक्रमं न विहन्ति तथेति वा। ननु तर्हि तद्वध एव श्रेयानिति तत्राऽऽह स्त्रिया इति। अयं स्त्रिया वधो यशो हन्ति। अस्त्वयशस्करः, ततः किम्? तत्राऽऽह

स्वसु रिति। स्वसु र्वधः श्रियं हन्ति। "जीवन्भद्राणि" (पश्यतु) (भार. आरण्य 3-240-36) इति वचना त्तदप्यस्त्विति तत्राऽऽह गुरुमत्या इति। गर्भिण्या वधोऽनुकूलं क्लृप्त मायु र्हरति। अतो वधो न घटनीय इति भावः ॥२१॥

ननु लोके केषाञ्चित् क्रूरकर्मिणां दीर्घायुष्यदर्शनात् तवाऽपि किं न स्यात् इत्यत आह - **स एष** इति। जीवन्परेतो जीवन्मृतो न केवलं क्रूरकर्मकर्तु रत्र जीवन्मृतत्वमात्रं, अपि तु मृते पुरुषार्थसर्वस्वहानिः स्या दित्याह - देह इति। अभिमानिनो देहे मृते पञ्चत्वं प्राप्ते तं देह मनु अर्थकामौ पुरुषार्थौ नश्यतः साधकाभावात्। हिशब्दः अर्थकामा वनु धर्मो नश्यतीति दर्शयति। तमनु गौः स्वर्गादिशब्दवाच्यो लोको नश्यति साधकाभावात्। देह मनु मानिनोऽमलं यशो नश्यति। ध्रुवं तत्र न संशय इत्यर्थः। अर्थकामयशआदिनाशे गौ र्दृष्टि र्ज्ञानं नश्यति। तां दृष्टि मनु मानिनः पुंसो ध्रुवं नित्यसुखानुभवलक्षणो गौ र्मोक्षो नश्यतीति वा। स्वतोऽनृतस्याऽपि कंसस्य एवंविधं ज्ञानं सच्चेतनावेशा दुपपद्यत इति क्षुद्रबाधानवकाशः । "गौ र्दृष्टि र्दीधितिः स्वर्गे" (हला. को 5-68) इति हलायुधः ॥२२॥

भावात्कर्मणः, "भावो लीला क्रिया चेष्टा" (वैज.को. 6-1-43) इति यादवः । स्वयं प्रभुः ज्ञानित्वाभिमानी स्वमनसैव समर्थ इति वा। वैरानुबन्धवित् वैर मनुबन्धं स्नेहञ्च वेत्तीति। वैर मनु स्नेहं करोतीति वा। 'विद कृतौ' इति धातुः । अनेन निरन्तरतच्चिन्तया स्नेह स्तर्क्यते। ननु ताद्विकः स्वत एव प्रधानो द्वेषः इति ध्वनयति। निरन्तर वैरकृद्वा॥२३॥

तच्चिन्ताप्रकारं दर्शयति **आसीन** इति। संविशन् शयानः। हृषि रानन्दः, स एव केशो यस्य स तथा तम्। यद्वा हृषीकाणा मिन्द्रियाणा मीश इति तत्तत्पदार्थस्य कृष्णात्मकत्व माशङ्क्य तन्मयत्वम्॥२४,२५॥

**-: ब्रह्मेशानादि देवगणाः देवकीगर्भस्थितं परमपुरुषं स्तुवन्ति :-**

**देवा ऊचुः**

**सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्त्यस्य योनिं निहितञ्च सत्ये।**
**सत्यस्य सत्य मृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥२६॥**

**एकायनोऽसौ द्विफल स्त्रिमूल श्चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा।**
**सप्तत्व गष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदो द्विखगो ह्यादिवृक्षः॥२७॥**

त्व मेक एवाऽस्य सतः प्रसूतिः त्वं[5] सन्निधानं त्व मनुग्रहश्च।
त्वन्मायया संवृतचेतस स्त्वां पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये॥ २८॥

बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मन्[6] क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि सता मभद्राणि मुहुः खलानाम्॥ २९॥

त्व य्यम्बुजाक्षाऽखिलसत्त्वधाम्नि[7] समाधिनाऽऽवेशितचेतसैके[8]।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम्॥ ३०॥

स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन् भवार्णवं भीम मदभ्रसौहृदाः।
भव त्पदाम्भोरुहनाव मत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवान्॥ ३१॥

---

1- -1 G,J omit, M ब्रह्मभवौ? ऊचतुः 2. M °मुत 3. B,G,J विध° 4. B,G,J,M °दी 5. M स्थानं निधानं 6. B,G,J,K,W आत्मा 7. K,W °मल 8. V लोक 9. M चेतसो ये।

**श्रीध०** प्रतिश्रुतं सत्यं कृत मिति हृष्टा स्सन्तः[1] सत्यत्वेनैव प्रथमं स्तुवन्ति - **सत्यव्रत** मिति। सत्यं व्रतं सङ्कल्पो यस्य तम्। सत्यं परं श्रेष्ठं प्राप्तिसाधनं यस्मिं स्तम्। त्रिसत्यं त्रिष्वपि कालेषु, सृष्टेः पूर्वं प्रलयानन्तरं स्थितिसमये च सत्य मव्यभिचारेण वर्तमानम्। तदेवाऽऽहुः 'सत्त्यस्य योनि' मिति। सच्छब्देन पृथिव्यप्तेजांसि, त्यच्छब्देन वाय्वाकाशौ। एवं सच्च त्यच्च[2] सत्त्यं भूतपञ्चकम्। "तत्सत्त्य मित्याचक्षते" (तैत्ति.उ. 2-6) इति श्रुतेः। तस्य[3] योनिं कारणम्। अनेन सृष्टेः[4] पूर्वं वर्तमानतोक्ता तथा सत्ये तस्मिन्नेव निहित मन्तर्यामितया स्थितम्। अनेन स्थितिसमयेऽपि सत्यत्व मुक्तम्[5]। तथा च सत्यस्य सत्यं तस्यैव[6] सत्यस्य[6] सत्यं पारमार्थिकं तन्नाशेऽप्यवशिष्यमाणरूपम्। अनेन प्रलयेऽप्यवधित्वेन सत्यत्वं दर्शितम्। एवं त्रिसत्यत्व मुपपादितम्। तथा ऋतसत्यनेत्रं ऋतं सूनृता वाणी, सत्यं समदर्शनम्, तथा भगवता व्याख्यास्यमानत्वात् - "सत्यञ्च समदर्शनम्। ऋतञ्च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्तिता" (भाग. 11-19-37,38) इति तयो र्नेत्रं नयनसाधनं नेतारम्। प्रवर्तक मिति यावत्। एवं सर्वप्रकारेण सत्यात्मकं त्वां हे भगवन्! वयं शरणं प्रपन्नाः प्राप्ता इति॥ २६॥

ननु भवन्तोऽपि लोकेश्वराः मत्तुल्या एव। किमिति मां शरणं प्रपद्यन्ते? नैवं वाच्यम्। त्वमेवैकः सर्वेश्वरः सर्वसृष्ट्यादिकारणत्वात्। वयन्तु त्वदेकशरणा एव। लोकादि रूपं द्वैतञ्च सर्वं त्वद्व्यतिरेकेण[7] नाऽस्तीति वक्तुं द्वैतप्रपञ्चं वृक्षरूपकेण[8] निरूपयन्ति - **एकायन** इति। असौ प्रपञ्च आदिवृक्षः। वृश्च्यत इति वृक्षः समष्टिव्यष्टिदेहरूपः। कथम्भूतः? एकायनः एका प्रकृति रयन माश्रयो यस्य सः। द्वे सुखदुःखे फले यस्य सः। त्रयो गुणा स्सत्त्वादयो[9] मूलानि

यस्य सः। चतूरसो धर्मार्थकाममोक्षाश्चत्वारो रसा यस्य सः। पञ्चेन्द्रियाणि शिफा ज्ञानप्रकारा यस्य सः कोशा वा षड्भूर्मयः "बु भुक्षा च पिपासा च प्राणस्य मनस स्स्मृतौ। शोकमोहौ शरीरस्य जरा मृत्यू षड्भूर्मय ः। त्व ग्रुधिर मांस मेदोऽस्थिमज्जा एते षट् कोशा ः। आत्मानः स्वभावा यस्य सः। षडात्मा सप्त धातव(एव) त्वचो यस्य सः , पञ्च भूतानि मनोबुद्धयहङ्कारा श्चेति अष्टौ विटपाः शाखाविस्तारा यस्य सः। नवाक्षः नव द्वाराणि अक्षाः (अक्षाणि) छिद्राणि यस्य सः । दश प्राणाः नाग कूर्म कृकर देवदत्त धनञ्जय प्राणापानव्यानोदानसमानाः छदाः पत्राणि यस्य स दशच्छदः, द्वौ जीवेश्वरौ खगौ यस्मिन्स द्विखगः ॥२७॥

एवंरूपस्य संसारवृक्षस्य सतः कार्यस्य त्व मेक एव प्रसूतिः - प्रकर्षेण सूति र्जन्म यस्मात् सः त्वं कारण मित्यर्थः । त्व मेव सन्निधानं सम्यङ्निधीयतेऽस्मिन्निति लयस्थानम्। त्व मेवाऽनुग्रहश्च अनुगृह्णाति पालयतीति पालकः। ननु ब्रह्मविष्णुरुद्रा एवम्भूताः प्रसिद्धाः , कथ मह मेवेति चेत्तत्राऽऽहुः - त्वन्माययेति। संवृतं पिहितं चेतो ज्ञानं येषां ते त्वामेव नाना पश्यन्ति। ये तु विपश्चितो विद्वांसः ते तथा न पश्यन्ति॥२८॥

ननु देवकीपुत्रं मां कथ मेवं वर्णयथेति चेत् तत्राऽऽहुः - **बिभर्षीति**। आत्मन् परमात्मन् अवबोध अवबोधैकस्वरूप! च राचरस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य क्षेमाय सत्त्वगुणयुक्तानि खलानामभद्राणि, सतां सुखावहानि रूपाणि मूर्ती र्बिभर्षि धत्से। न तु त्वं कस्याऽपि पुत्र इत्यर्थः ॥२९॥

न केवल मेतावत् भक्तानां मोक्षार्थ मपीत्याहुः - **त्वयीति**। त्वयि समाधिना आवेशितचेतसा निमित्तेन त्वत्पादपोतेनाऽऽश्रितेन। एके मुख्या विवेकिनः। महद्भिः कृतेन सेव्यतया सम्पादितेन। यद्वा इद मपि मायामय मित्यनादरं परित्यज्य इद मेव महत्सर्वोत्कृष्टमिति मनसि कृतेन बहुमतेनेत्यर्थः। भवाब्धिं तुच्छीकुर्वन्ति। अनायासेनैव भजनानुनिष्पादिनी तेषां मुक्तिरित्यर्थः ॥३०॥

ननु तेन पोतेन पूर्वे चे त्पारं गताः, तर्हीदानीन्तनानां का गतिः? तत्राऽऽहुः - **स्वय** मिति। अय मर्थः - हे द्युमन्! स्वप्रकाश! त्वत्पादपोतसामीप्यमात्रेण भवाम्बुधौ वत्सपदमात्रे जाते अत स्तन्निरपेक्षं स्वय मेवाऽन्येषां भीमं सुदुस्तर मपि भवार्णवं समुत्तीर्य भवत्पदाम्भोरुहरूपां नाव मत्रैव निधाय भक्तिमार्गसम्प्रदायं प्रवर्त्येत्यर्थः। पारं याताः पारं गताः। तत्किम्? यतोऽदभ्रसौहृदाः सर्वभूतेष्वपि प्रीतियुक्ताः। अतस्तेऽन्येषां तरणाय निधायेति। कथं मत्पादपोतेन तीर्णाः, अत उक्तम् भवान् सदनुग्रहः सतो भक्ताननुगृह्णातीति। यैः न केनचित्प्रकारेण भगवति चेतो निवेशनीय मिति भावः ॥३१॥

1. V omits सन्तः 2. V त्यञ्च 3. V omits तस्य 4. B,J omits सृष्टेः 5- -5 V वर्तमानतोक्ता 6- -6 V सत्यस्यैकस्य 7 V त० 8. V रूपेण 9- -9 B,J omit 10. V omits चतूरसः 11. B,J विधाः 12- -12 B,J omit 13 -13 B,J omit 14. B,J omit षडात्मा 15. B,J omit नवाक्षः 16. V अक्षीणि 17- -17 B,J omit 18. B,J add विद्यन्ते 19. B,J °दी 20. V omits त्वं 21. B,J omit पालयति 22. V omits पालकः 23- -23 B,J omit 24. B,J रूपः 25- -25 B,J आत्मा त्वमेव रूपाणि मूर्तीः बिभर्षि धत्से॥ न तु त्वं कस्याऽपि पुत्र इत्यर्थः। क्षेमाय पालनाय सतां धर्मवर्तिनां सुखकराणि, खलाना मभद्राणि नाशकानि ॥ २९ ॥ 26. V °म्भोधौ 27- -27 B,J omit 28. B पोताश्रयणमात्रेण; J पोतश्रवणमात्रेण 29- -29 B,J omit.

**वीर०** स्तुति मेवाऽऽह **सत्यव्रत** मित्यादिना यावदध्यायसमाप्ति[1]। [2] प्रकृतिपुरुषासम्भावितैर्धर्मै र्विशिष्टं स्तुवन्ति सत्यव्रतमिति। सत्यव्रतं सत्यसङ्कल्पम्। अनेन प्रतिज्ञातार्थो यथार्थीकृत इति सूचितम्। सत्यपरं चिदचिदात्मकं जग त्सत्यम्। "यदन्य द्देवेभ्यः प्राणेभ्यश्च तत्सत्" (कौषी.उ.1-6) "अथ यद्देवाश्च प्राणाश्च तत्सत्यम् तत्सत्यम् तदेकया वाचा व्यवह्रियते सत्यम्" (कौषी.उ.1-6) इति श्रुतेः। ततः परं विलक्षण मिदं साध्यम्। अत्र सत्यव्रतत्वादीनि हेतवः। कथं सत्य व्रतत्वम्? तत्राऽऽह - त्रिसत्यम्। त्रयः प्रकृति पुरुष कालाः सत्याः यस्य तम्, प्रकृति पुरुष कालशरीरक मित्यर्थः। प्रकृत्याद्यात्मकस्य कृत्स्नस्य जगतः स्वनियाम्यत्वेन स्वसङ्कल्पप्रतिभटाभावात् अव्याहतसङ्कल्प इत्यर्थः। यत स्सत्यव्रत मत एव सत्यस्य योनिं सत्यस्य चिदचिदात्मकप्रपञ्चस्य[3] योनिं कारणं, सत्ये निर्विकारे परे व्योम्नि निहितं, कर्तीर क्तः, अधितिष्ठन्त मित्यर्थः। त्रिसत्यं सत्यस्य योनि मिति लीलाविभूतिमत्त्व मुक्तम्। निहितञ्च सत्य इति नित्यविभूतिमत्त्वम्; एत दुभयं सत्यपरत्वे[4] हेतुः । तथा सत्यस्य सत्यं, जीवेभ्योऽपि सत्यं धर्मतोऽपि निर्विकारत्वात्। "न हचेतस्मादिति नेति ने त्यन्य त्परमस्त्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्य मिति प्राणा वै सत्यं तेषा मेष सत्यम्" (बृह.उ. 2-3-6) इति श्रुतेः। तदर्थस्तु इति नेति यद्ब्रह्म प्रतिपादितं तस्मा देतस्मा द्वस्तु परं न हचस्ति, ब्रह्मणोऽन्यत्स्वरूपतो गुणतश्च परं नाऽस्तीत्यर्थः। नत्वन्यमात्रनिषेधः, तथा हि सति अन्यत्पर मिति वैयर्थ्यापत्तेः। तदुपपादयति अथेति। प्राणशब्दनिर्दिष्टेभ्यः चेतनेभ्योऽपि कदाचि दपि ज्ञानादिसङ्कोचाभावात्परमात्मा सत्यं निर्विकार मित्यर्थः। "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" (कठ.उ. 5-13) इति श्रुत्त्वयन्तरसंवादात्। अन्यत्तु "प्रकृतैतावत्त्वम्" (ब्र.सू. 3-2-22) इति शारीरकसूत्रभाष्या दवगन्तव्यम्। विस्तरभया न्नाऽत्र लिख्यते। ऋतसत्यनेत्रम्। सत्य मादित्यः - "असा वादित्य स्सत्यम्" (सूर्य.उ. 5) इति श्रुतेः तत्साहचर्यात् ऋतशब्द श्चन्द्रपरः । चन्द्रादित्ययो र्नेत्रं प्रशासितार मित्यर्थः । "य आदित्ये तिष्ठन्, यश्चन्द्रमसि तिष्ठन्" (बृह.उ. 3-7-9) इत्यादि श्रुतेः । यद्वा तौ नेत्रे यस्य तम्। "चक्षुषी चन्द्र सूर्यौ" (मुण्ड.उ. 2-1-4) इति श्रुतेः। "एवं पुण्यस्य कर्मणो दूरा द्गन्धो वाति" (म.ना.उ. 9-7) इति पुण्यकर्मप्रतिसम्बन्धितया "एव मनृता दात्मानं जुगुप्सेत्" (म.ना.उ. 8-2) इत्यपुण्यकर्मणि अनृतशब्दप्रयोगात्, ऋतं पुण्य मनुष्ठेयं कर्म, सत्य मुच्यमानधर्मः, तयो र्नेतारं सत्यात्मकं स्वरूपेणाऽपि निर्विकारम्। अनेन प्रधानव्यावृत्तिः। एवम्भूतं त्वां वयं शरणं प्रपन्ना: अध्यवस्याम: ॥ २६ ॥

अथ त्रिसत्यत्व मेवोपपादयितुं कृत्स्नं जगत् वृक्षत्वेन रूपयित्वा तस्य भगवद्वासत्व माहुः - **एकायन** इति। एकं परं ब्रह्म अयन माश्रयो यस्य, द्विफलः द्वे सुखदुःखे फले यस्य, त्रय स्सत्त्वादयो गुणा मूलं यस्य, चत्वारो रसाः धर्मादिपुरुषार्थाः यस्य, पञ्च शिफा जटाः उत्तरमूलानि भूतसूक्ष्मात्मकानि यस्य, षडात्मानः ऊर्मयो, मनष्षष्ठानीन्द्रियाणि वा यस्य, सप्त त्वक् वसा मांस रुधिर मेदो मज्जास्थि शुक्ररूपा धातवः एव त्वक् यस्य, अष्टौ हस्तौ पादौ शिरः कण्ठो वक्षो जठर श्चेति विटपा श्शाखा यस्य, नवाक्षाः छिद्रकोटरा यस्य, दशच्छदः दश शब्दादय एवाऽनुकूलाः प्रतिकूलाश्च प्राणापानव्यानोदानसमान नाग कूर्म कृकर देवदत्त धनञ्जय रूपाः प्राणोपप्राणा वा, छदाः पत्राणि यस्य, द्वौ जीवपरमात्मरूपौ खगौ पक्षिणौ यस्मिन् स आदिवृक्षः प्रवाहानादिशरीराख्यवृक्षः एक स्त्वमेव, अयन माश्रयो धारणं यस्य तथाभूत इति भावः ॥ २७ ॥

अथ तस्य सत्ययोनित्व मुपपादयन्ति - **त्वमिति।** अस्य परिदृश्यमानस्य चिदचिदात्मकस्य सतो जगतः प्रसूतिर्जन्मकारणं त्व मेक एव अस्य सन्निधानं सन्निधीयते उपसंह्रियतेऽस्मि न्निति सन्निधानं प्रलयाधिकरण मित्यर्थः। त्वमेक एव अस्याऽनुग्रहः , अनुगृह्णाति इष्टप्रदानेने त्यनुग्रहः , स्थितिकारण मित्यर्थ। ननु नाऽहं सत्परः, केचिन्मां जीवा दभिन्नं पश्यन्ति इत्यत्राऽऽहुः - त्वन्मायया मोहितं चेतो येषा मत एव नविपश्चितः अज्ञाः । नशब्दोऽयं निषेधार्थकः । ततो "नलोपो नञः" (अष्टा. 6-3-73) इति नलोपाभावः । ये जना स्ते त्वां नाना पश्यन्ति जीवरूपेणावस्थितं पश्यन्तीत्यभिप्रायः । पश्यन्ती त्युक्तेः न हि जीवविलक्षणं परस्वरूपं दृश्यते, कुतो नानादर्शनम्? "मोहितं नाभिजानाति मा मेभ्यः पर मव्ययम्।" (भ.गी. 7-13) इति त्वदुक्तेरिति भावः। यद्वा, एवं कृत्स्नजगत्कारणत्व मुपपाद्य कार्यकारणयो रनन्यद्रव्यत्वसूचनाय तद्भेदवादं निराकुर्वन्ति त्व न्मायये ति। त्वां नाना त्वां विना इदं जगत्पश्यन्ति त्वत्तः पृथक्सिद्धं जग त्पश्यन्तीत्यर्थः ॥ २८ ॥

त्व मनुग्रह इति स्थितिकारणत्व मुक्तम्। तच्चान्तर्यामित्वस्वावतारमन्वाद्यनुप्रवेशेने त्यभिप्रायेणाऽऽहुः - **बिभर्षीति। अवबोध** आत्मा ज्ञानस्वरूपः । असन्धि रार्षः । यद्वा अवबोधः ज्ञानस्वरूपः आत्मा सर्वान्तरात्मा च सन् इत्यसमस्तं पदद्वयम्। यद्वा अवबोधे इति सप्तम्यन्तम्। अवबोधे मानस्वरूपे जीवे आत्मा अन्तरात्मतया अवस्थितस्त्वमस्य चराचरात्मकस्य लोकस्य क्षेमार्थं रूपाणि अवताररूपाणि बिभर्षि। कथम्भूतानि सत्वोपपन्नानि शुद्धसत्त्वमयानि, सतां साधूनां सुखावहानि, खलानां दुष्कृतां मुहु र्मुहु रभद्राणि, मुहु र्बिभर्षीति वाऽन्वयः ॥ २९ ॥

एवं निखिलजगदुत्पादकारणत्वेन स्तुत्वा अथ "कारणन्तु ध्येयः " (अथ.शिख.उ. 3) इति कारणत्वसमनियतत्वेन श्रुतमुपास्यत्व मपि त्वन्निष्ठ मेवे त्यभिप्रायेण स्तुवन्ति, ब्रह्मादयो देवाः देवकीगर्भगतं श्रीनिवासं - **त्वयीति।** हे अम्बुजाक्ष! अमलसत्त्वधाम्नि शुद्धसत्त्वमयं धाम स्थानं विग्रह इति यावत्। तद्वस्य तस्मिन्। विशुद्धसत्त्वमयविग्रहयुक्ते त्वय्येके विपश्चितः अवताररूप श्रवणादि पराः पुरुषा वा समाधिना आवेशितं चेतः यैस्तथाभूताः । चेतसैक इति सन्धि रार्षः । समाधिना त्वय्यावेशितचेतसोपलक्षिता इति वा। महत्कृतेन महता सदाचार्येण कर्णधारस्थानीयेन कृतेन सन्निधापितेन प्रदर्शितेन तव पादपोतेन पादकमलरूपप्लवेन भव स्संसारः, स एवाऽब्धिः सागरः गोवत्सपदं कुर्वन्ति। तदिव सुखेन अतितरन्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥

न केवलं ते स्वय मेव गोवत्सपदं कुर्वन्ति, अ[12-] पि तु अन्येऽप्येवं कुर्युरिति प्रदर्शयन्त इव कुर्वन्तीत्यभिप्रायेण स्तुवन्ति स्वय मिति[12]। हे द्युमन् नित्यविभूतिमन्![13] द्युमदिति पाठे द्युमद्भवार्णव मिति समस्तं पदं स्वर्गादि स्थानोपेतं भवार्णवं भीमं दुस्तर मपि अदभ्र मनल्पं सौहृदं त्वद्भक्तिरूपं येषां तथाभूता स्ते स्वयं समुत्तीर्य, त्वत्पादपोतेने त्यनुषङ्गः । भगवतः प[14-]दाम्भोरुह मेव[-14] नौ स्ता मत्र निधाय इय मेव संसार[15] सागरोत्तारणसाधनभूतेति प्रदर्श्य याता स्त्वत्पदं प्राप्नुवन्ति। बिभर्षि रूपाणीत्यादिनोपक्रान्त मनुग्रहीतृत्वप्रतिपादन मुपसंहरन्ति। एवं भवान् सदनुग्रहः सा[16-]धूना मनु[-16] ग्रहशीलः ॥ ३१ ॥

---

1- -1. K,W omit 2. B adds तावत् 3. K,W °चित्र 4. B,W °त्व 5. B °श्रेत्येते 6. B भगवदुक्तेः 7- -7. K,W omit 8- -8. B शरीरं विग्रहो वा यस्य इति 9- -9. B दिव्यनित्यमङ्गल श्रीविग्रहविशिष्टे 10- -10. B चरित्रगुणकथाश्रवणकीर्तनस्मरणादिपराः 11. K omits सागरः 12- -12. B किन्तु अन्येषा मपि तथैवाऽस्त्विति तादृशशास्त्राप्रकाशनाद्यविच्छेद सम्प्रदायपरम्परा मद्रैव दृढतया विस्तार्य भवत्कृपया भवद्धाम प्राप्ता इत्यभिप्रायेण स्तुवन्ति स्वय मित्यादिना 13. B adds विभूतिद्वयनायकः 14- -14. B पदाम्बुजमेव 15. K,W °रोत्तारसा° 16- -16. K,W सदनु

**विज०** तत्र शङ्करादिभि स्समेतो ब्रह्मा ज्ञानिसुगमगुणविशिष्टं विष्टश्रवस मभिष्टौति - सत्यव्रत मिति-। वयं त्वां शरणं प्रपन्ना इत्यन्वयः । कीदृशं त्वाम्? सत्यव्रतं पूर्णानन्दज्ञानलक्षणं, सत्यं तदेव व्रतं व्यावृत्तं रूपं यस्य स तथा तम्। सद्भ्यः पृथिव्यप्तेजोभ्यः त्रयोः वाय्वाकाशयोः परत्वात् विलक्षणत्वात् सत्यपरः तम्, त्रयाणां वेदानां सत्यत्वा न्मुख्यार्थत्वात् त्रिसत्यः तम्, सत्यस्याऽबाधितप्रपञ्चस्य योनिं मूलकारणं, सत्ये जगति अन्तर्नियामकत्वेन निहितम्। सत्यस्य विश्वस्य उत्तमानन्दज्ञानदं सत्यं सत्यस्य प्रपञ्चस्य नेत्रं नेतारम्, सत्यात्मकं सत्यस्य प्रपञ्चस्य अतृत्वा दादानाञ्च सत्यात्मकम् कप्रत्ययः प्रशंसायाम्। उतशब्दः समुच्चयार्थः । "सच्छब्द उत्तमं ब्रूयात्" (तन्त्रभागवते) इत्यादिना अक्षरार्थो ज्ञातव्यः। प्रामाणिकत्वात् ग्राह्य मेत दिति सिद्धम्। यद्वा अनृताप्रियवर्जनं यथार्थकथनं सत्यम्, तदेव व्रतं नियमो यस्य स तथा तम्, "अजस्याऽवक्रतेजसः " (कठ.उ. 5-1) इति हि श्रुतिः, "सत्य संहिता वै देवाः" इति च। सत्यपरं धर्मपालकम्, "सत्यं धर्म उदाहृतः " इत्यभिधानम्। सत्त्यपरं, सत्ति स्वसादनं, तस्मा दपर मन्यम्, तद्रहित मित्यर्थः। "अविनाशी वा अरेऽ य मात्मा (बृह.उ. 4-5-14) इति श्रुतेः। त्रिषु लोकेषु सत्यम्, तेषु नष्टेष्वपि अविनष्ट मित्यर्थः । सत्यस्य मुख्यप्राणस्य योनि मुत्पादकम्। "आत्मन एष प्राणो जायते" (प्रश्न. उ. 3-3) इति श्रुतिः । सत्ये मुख्यप्राणे निहितं सन्निहितम्। "स प्राण मसृजत" (प्रश्न.उ. 6-4) इति श्रुतिः । सत्य मेव नेत्रं नयनं यस्य स तथा। सत्यस्य प्रपञ्चस्य प्रकाशनात् निरुपमचरितत्वेन अबाधितम्। "अद्वैतं परमार्थतः" (आगम.प्र. 17) इति श्रुतिः । सत्या देवा स्ते नेत्रं शिष्यादिषु नेतारो यस्य स तथा। "तं देवाः प्राणयन्त" (ऐत.उ. 1-5-1) इति श्रुतिः। सत्य मबाधित

मात्मनः कं सुखं यस्य स तथा तं अबाधितस्वरूपसुखम्। "एष हचेव परमानन्दः" इति श्रुतिः इति ॥ २६॥

ननु प्रपञ्चोऽयं केचिज्जीवकर्तृकः , केचित्प्रधानकर्तृक इत्यदि सङ्गिरन्ते, तत्राऽऽह - **एकायन** इति। अत्र यत्रशब्द मध्याहृत्यान्वेतव्यम्। असा वादिवृक्षो यत्र स्थितः तं त्वां शरणं प्रपन्ना इति पूर्वेणाऽन्वयः। चेतनस्य मनुष्यस्य पुरुषार्थत्वादादिभूत मन्तरङ्गसाधनं ज्ञानं तेनाऽसिना वृश्च्यत इति आदिवृक्षः प्रपञ्चः । आदे हरे रधीनो वृक्ष इति वा मुक्तामुक्तप्रपञ्चपक्षीकरणाय दूरस्थस्याऽप्यदशब्देन परामर्शः । "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मि न्देवा अधिविश्वे निषेदुः । उतामृतत्वस्येशानः " (श्वेत.उ. 4-8) इत्यादि श्रुतिः । एका चेतनाचेतनात्मकलक्षणा प्रकृति रयनं आश्रयो यस्य स एकायनः । "यत्किञ्च जगत्यां जगत्" (ईश.उ.1) इति श्रुतिः । द्वे फले प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणे यस्य स द्विफलः । सत्त्वादिगुणा मूलानि यस्य स त्रिमूलः । चत्वारो रसाः धर्मादिमोक्षान्ता यस्य स चतूरसः । तत्र प्रवृत्तफलस्य धर्मादय स्त्रयो रसाः , निवृत्त फलस्य मोक्ष एको रस इति विभागः। पञ्चमात्राश्शब्दादयः शिफा यस्य सः पञ्चशिफः । अस्ति जायते परिणमते विवर्धते अपक्षीयते विनश्यति इति षड्विकारानाप्नोतीति षडात्मा। त्वक्चर्ममंसरुधिरमेदोमज्जास्थीनि त्वग्रूपेण वर्तन्ते यस्य स सप्तत्वक्। देव गन्धर्व दानव राक्षस पिशाच तिर्यङ्मानुष स्थावरलक्षणा अष्ट विटपा यस्य सोऽष्टविटपः । नवाक्षा इन्द्रियाधिष्ठानभूता यस्य स नवाक्षः । "अक्षो रथाङ्गआधारे व्यवहारे विभीतके। शकटे पाशके कर्षे द्यूतभेदेऽक्ष इन्द्रिये" (वैज.को. 6-5-2) इति यादवः । दश छदाः पत्रस्थानीयानीन्द्रियाणि अस्य सन्तीति दशच्छदी। प्रवृत्तिमार्गस्थाः निवृत्तिमार्गस्था इति द्विप्रकाराः खगाः पुण्यापुण्यफल भागिनो जीवा यस्य स द्विखगः। तदुक्तम् - जगद्वृक्षाश्रया इत्यादि। हिशब्देन कारणस्य सदा सत्त्वात् प्रवाहेण च स त्नसावित्यादिना जगद्वृक्षस्य सनातनत्वम्। विष्णुकारणत्वं दर्शयति हरि रेक एवाऽयनं यस्याऽसौ तथा। द्वे पुण्यपापे फले यस्य स तथा। तिस्रो जाग्र दाद्या अवस्था यस्य, तिस्रो व्याहृतयो वेदा वा मूलं यस्य स तथा। चत्वारो रसाः स्वर्गमोक्षनरकतमोलक्षणा यस्य स तथा, प्राणापानव्यानोदानसमानाख्याः पञ्चशिफाः अवान्तर मूलानि यस्य स तथा। अशनायापिपासा शोकमोह जरामृत्यवः षडात्मानः सहजा यस्य। सप्त छन्दांसि त्वक्स्थानीयानि यस्य। अष्ट विटपाः - पञ्च महाभूतानि मनोबुद्ध्यहङ्काराः विटपा यस्य। नव नवाक्षा व्यवहारा अष्टादश भाषा यस्य स तथा। तन्त्रन्यायेन नवशब्दस्य एकोच्चारणं पायूपस्थयोरेकत्वेन नवेन्द्रियाणि वा यस्य दशेन्द्रियविषयाः शब्दस्पर्शादयः दशच्छदा अस्य सन्तीति। द्वौ खगौ जीवपरमात्मानौ यस्य। आदि रदनयोग्यः हरे रत्नभूतः प्रपञ्चः स एव वृक्षः आदिवृक्षः । अनेन जगद्वृक्षस्य हरे रधीनत्ववर्णनेन हरे रत्युत्तमत्व मुक्तं भवतीति ॥ २७ ॥

ननु "ब्रह्मा देवानां प्रथम स्सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे" (मुण्ड.उ. 1-1) इत्यादिना इतरेषामपि जगदाश्रयत्वप्रतीतेः हरे रेव तल्लक्षणं कथं स्या दिति तत्राऽऽह - **त्वमेक एवेति**। अस्य सतः सत्यजगतः , प्रसूयत इति प्रसूतिः कारणम्। तिष्ठ त्यस्मिन्निति स्थानम्। निधीयतेऽ-

स्मिन्निति निधानम्। अनुगृह्णाति रक्षती त्यनुग्रहः । संवृतचेतसः आवृतज्ञानाः त्वां नाना पश्यन्ति ये विपश्चितः ते न पश्यन्तीत्यनेन हरे रेवोक्तलक्षणं नाऽन्यस्येति निरणायि ॥ २८ ॥

तत्तत्कालप्राप्तानर्थपरिहारलक्षणपालनञ्चाऽवतारलक्षणस्वरूपग्रहणेने त्याह - **बिभर्षी ति**। अवबोध आत्मन् ज्ञानस्वरूपे त्वय्यधिकरणे इत्यनेन शुक्रशोणितसम्बन्धं निवारयति। क्षेमाय तत्तत्कालप्राप्त विपत्परिहार लक्षण पालनाय। "क्षेमो ना प्राप्तरक्षायाम्" (वैज.को. 6-5-22) इति यादवः । सत्त्वोपपन्नानि बलज्ञानसमाहारयुक्तानि सता मस्माकं सुखकराणि, कंसादिखलाना मभद्राणि तमआद्यमङ्गलकराणि ॥ २९ ॥

सतां सुखावहानी त्येत द्विवृणोति - **त्वयीति**। अखिलसत्त्वधाम्नि सदा सर्वगुणाना माधारभूते त्वयि समाधिना उपास्त्या आवेशितचेतसः तत्क्षिप्तचित्ताः ये पुरुषा स्ते महत्कृतेन तयैवोपास्त्या यथा मह द्विस्तीर्णं भवति तथा विरचितेन प्लवेन भवाब्धिं संसारसागरं घोरं गोवत्सपदं कुर्वन्ति। यथा वत्सचरणभारकृतनिम्नस्थितजल मयत्नेन तरन्ति, तथेत्यन्वयः ॥ ३० ॥

नन्वस्तु गोवत्सपदोपमो भवाब्धिः महान्त स्ते तमुत्तीर्य कुत्र यान्तीति तत्राऽऽह स्वयं समुत्तीर्येति। हे द्युमन्! तेजोमूर्ते! ये अदभ्रसौहृदाः स्वस्वयोग्यभक्तिपूर्णाः स्वय मकृत्रिमया भवत्पदाम्भोरुहनावा दुस्तरं भवार्णवं समुत्तीर्य तीर्त्वा स्थिता स्तेऽत्र योग्यादिषु शिष्यादिषु उपदेशेन निधाय तां भगवत्पदाम्भोरुहनावमेव याताः नाऽन्यद्याता भवन्तीति यदतो भवान् सत एवाऽनुगृह्णातीति सदनुग्रहो नामेत्यर्थः । ननु सत्त्वोपपन्नानीत्यादौ सत्त्वगुणात्मकत्वप्रतीतेः तीर्त्वा पुनः तत्प्राप्तिः कथं मुक्तिः स्यात्, तस्याऽनिर्गुणरूपत्वात्? उच्यते। अत्र सत्त्वशब्देन न सत्त्वगुणविवक्षा, किन्तु ज्ञानादिगुणसामग्री प्रामाणिकत्वात्। तदुक्तम् "सदा सर्वगुणाढ्यत्वात्" इत्यादि। त्वत्पादपोतेने त्यनेन भगवद्भस्य शिवादिपादपोतपुरुषा द्वैशिष्ट्यं ज्ञाप्यते, तदुक्तम्- "भगवत्पादपोतेऽसौ" (वामने) इत्यादि। लोके नौतीर्णस्य तां विहाय देशान्तरगतिदर्शनात्कथं तामेवाऽऽश्रिता इति युज्यते इति चेत्, न भगवत्पादनावो वैलक्षण्या दर्थवैलक्षण्यस्य सम्भवात्। तदुक्तम् "भगवत्पादनौकाया" इत्यादि। अस्यार्थः- या भगवत्पादनौका इयं अन्यनौकोपमा न भवति। कुतः? तया भगवत्पादनावा भवाब्धिं तीर्त्वा श्रीहरिपादनावं तां प्राप्य सुखं तिष्ठन्तीति यस्मा त्तस्मा दिति। लोके च कर्णधारादयः तयाऽब्धिं तीर्त्वा तत्तीर एव ता माश्रित्य तिष्ठन्तो दृश्यन्ते इत्यतोऽविषमो दृष्टान्त इति सन्तोष्टव्यम् ॥ ३१ ॥

**येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्त मानिन स्त्वय्यस्तभावा दविशुद्धबुद्धयः ।**
**आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥ ३२ ॥**

**तथा न ते माधव तावकाः क्वचि द्भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः ।**
**त्वयाऽभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ॥ ३३ ॥**

**सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ शरीरिणां श्रेय उपायनं वपुः ।**
**वेदक्रियायोगतपस्समाधिभि स्तवार्हणं येन जन स्समीहते ॥ ३४ ॥**

**सत्त्वं न चे द्धातरिदं निजं वपुः[1] विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम्।**
**गुणप्रकाशै रनुमीयते भवान् प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः ॥ ३५ ॥**

**न नामरूपे गुण कर्म जन्मभिः निरूपितव्ये तव तस्य साक्षिणः ।**
**मनोवचोभ्या मनुमेयवर्त्मनो देव क्रियायां प्रतिय न्त्यथाऽपि हि ॥ ३६ ॥**

**शृण्व न्गृण न्संस्मरयंश्च चिन्तय न्नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते।**
**क्रियासु य स्त्वच्चरणारविन्दयो राविष्टचित्तो[2] न भवाय कल्पते॥ ३७ ॥**

---

1. B,G,J,M भवेत् 2. B,G,J चेता

**श्रीध०** ननु विवेकिनां किं मद्भजनेन, मुक्ता एव हि ते, तत्राऽऽहुः - **येऽन्ये** इति। विमुक्तमानिनः विमुक्ता वय मिति मन्यमानाः। त्वयि अस्तो निरस्तोऽत एवाऽसन् यो भाव स्तस्मात् भक्ते रभावा दित्यर्थः। न विशुद्धा बुद्धि र्येषां ते तथा। यद्वा त्वयि अस्तभा इति च्छेदः। अस्तमतयो वादेष्वेव विशुद्धबुद्धयः। कृच्छ्रेण बहुजन्मतपसा परं पदं मोक्षसन्निहितं सत्कुलतपःश्रुतादि। पतन्ति विघ्नै रभिभूयन्ते। न आदृतौ युष्मदङ्घ्री यै स्ते ॥ ३२ ॥

त्वदीया स्तु न कदाचि दपि पतन्ती त्याहुः - **तथेति।** विनायका विघ्नहेतवः तेषा मनीकानि स्तोमा स्तानि पान्ति ये तेषां मूर्धसु विचरन्ति। विघ्नान् जयन्तीत्यर्थः । यद्वा त्वद्रूपाः प्रत्येकं विनायकानीकपमूर्धसु गरुडानां मूर्धसु चरन्ति ॥ ३३ ॥

सतां सुखावहानि रूपाणि धारयसीत्युक्तं - 'बिभर्षि रूपाणि' इति। तत्केन प्रकारेण सुखावहत्व मित्यपेक्षाया-माहुः - **सत्त्व** मिति। सत्त्वं वपुः श्रयत इत्यन्वयः । श्रेय उपासनं कर्मफलदातृ। कथम्? येन वपुषा जन स्तवाऽर्हणं पूजा मीहते करोति। कैः वेदश्च क्रियायोगाश्च तपश्च समाधिश्च तै श्चतुराश्रमधर्मै रित्यर्थः । वपुषोऽनाश्रयणेऽ र्हणासम्भवात् न कर्मफलसिद्धिः स्या दिति ॥ ३४ ॥

त्वय्यम्बुजाक्षेत्यादिना श्लोकत्रयेण भगवद्भक्ताना मेव मोक्षो नाऽन्येषा मित्युक्तम्, तत्र कर्मफलं भक्तिं विना मा भूत् मोक्षस्य तु ज्ञानैकसाध्यत्वात् किं भक्तचेति सानुशया न्प्रत्याहुः - **सत्त्वं न चे** दिति। हे धातः ! इदं

सत्त्वं निजं तव वपु र्नभवेच्चेत् तर्हि विज्ञानं विशिष्ट मपरोक्षं ज्ञानं न भवे दित्यनुषङ्गः । कथम्भूतम्? अज्ञानभिदापमार्जनं, अज्ञानञ्च तत्कृता भिदा च तयो रपमार्जनं निवर्तकम्। यद्वा, अज्ञानं भिनत्तीत्यज्ञानभित् विज्ञानं, मार्जनं नाशम् आप प्राप। ननु जडानां बुद्ध्यादीनां यतः प्रकाशः तद्वह्नेति ज्ञानं भवे देवेति चेत्, न। गुणप्रकाशैः गुणावच्छिन्नैः प्रकाशैः । भवान् सर्वसाक्षी परिपूर्णः केवल मनुमीयते कल्प्यते, न तु साक्षात्क्रियत इत्यर्थः। अनुमानप्रकार माहुः - प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः इति यस्य सम्बन्धी अयं बुद्ध्यादिगुणः प्रकाशते यो गुणसाक्षीत्येवं, येन वा बुद्ध्या रूढे प्रमात्रा बुद्ध्याधिष्ठात्रा बाह्यो गुणः प्रकाशते इत्यनुमीयत इत्यर्थः। शुद्धसत्त्ववपुषि त्वयि सेव्यमाने तु तदाकारेऽन्तःकरणे त्वत्प्रसादेन साक्षात्कारो भवे दिति भावः ॥ ३५॥

एवं ताव द्भक्ताना मभ्युदयापवर्गार्थं रूपाणि बिभर्षीत्युक्तं, तान्यपि भजनीयानि केवलं न तु ज्ञातुं शक्यन्ते, अनन्तत्वादतर्क्यत्वाच्च मनोवचसो रगोचरत्वा दित्याहुः - **न नामरूपे** इति। गुणाश्च जन्मानि च कर्माणि च तै - र्निरूपितव्ये निरूपणार्हे न भवतः। कुतः। अनुमेयं वर्त्म मार्गो यस्य तवेति तत्राऽपि हेतुः - तस्य साक्षिण इति। न हि साक्षिण स्तत्त्वं मनोवचोगोचार मित्यर्थः। हे देव! बहुधा द्योतमान! अथाऽपि क्रियाया मुपासनादिलक्षणायां त्वां प्रतियन्ति उपासकाः साक्षा त्पश्यन्ति। हि प्रसिद्धौ ॥ ३६॥

तस्माद्भक्तयैव मोक्ष इत्युपसंहरन्ति - **शृण्व** न्निति। अन्यानपि संस्मारयन्। क्रियासु देवार्चनादि कर्मसु॥ ३७॥

---

1- -1 B,J omit 2. B,J वेदाश्च 3. B,J योगश्च 4. V विशसम् 5. B,J प्राप्त मेवेति 6- -6 V भवे देव 7. V adds सः 8. V °मेवाऽऽहुः 9. V बुद्ध्याद्यारू° 10- -10 V omits 11. B,J °द्भम् 12. V °दिषु॥ ३७॥

**वीर०** तन्निहितभवत्पदाम्बुरुहनाव मनुवर्तमनानां "समाधिनाऽऽ वेशितचेतसैके" (भाग. 10-2-30) इत्युक्तविपरीतानां गतिं वदन्तः स्तुवन्ति **य** इति। हे अरविन्दाक्ष! येऽन्ये पूर्वश्लोकद्वयप्रस्तुतेभ्योऽन्ये ये जनाः विमुक्ता वयमिति वृथाभिमानिनः, त्वय्यस्तभावात् भक्तिशून्यत्वा द्धेतोः अविशुद्धा बुद्धि र्येषां ते तथाभूताः परं पदं वर्णाश्रमादिरूप मुत्कृष्टं स्थानं कृच्छ्रेण प्रयासेन आरुह्याऽपि सुकृतविशेषात् विप्रादिरूपं श्रेष्ठं जन्म प्राप्यापीत्यर्थः। अनादृतयुष्मदङ्घ्रयः अनुपासित भवच्चरणा स्सन्तः ततोऽधः पतन्ति। पुनः निहीनं जन्म प्राप्नुवन्तीत्यर्थः॥ ३२॥

आदृतयुष्मदङ्घ्रीणां तु न कर्हिचि द्दधःपतन मस्तीति वदन्तः स्तुवन्ति - **तथेति**। हे माधव! ते तावका स्त्वद्भक्ता स्तु तथा त्वद्भक्तिरहितवत् क्वचि त्कदाचि दपि मार्गात् उत्तमजन्मानः न भ्रश्यन्ति नाऽधः पतन्ति। तत्र हेतुं वदन्त स्ता न्विशिंषन्ति। त्वय्येव बद्धं सौहृदं भक्तचात्मकं येषां ते न भ्रश्यन्ति। किन्तु त्वया अभिगुप्ताः अभितो रक्षिताः "तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्" (भ.गी. 9-22) इति त्वदुक्ते रिति भावः। हे प्रभो! विनायकानीकपमूर्धसु विघ्नसेनापतिशिरस्सु भयरहिताः विचरन्ति जीवद्दशायां विघ्नानुपहतत्वद्भक्तियोगा स्तत स्त्वां प्राप्नुवन्तीति भावः॥ ३३॥

यद्यपि सङ्कल्पमात्रपरिकल्पितनिखिलप्रपञ्च स्त्वं सङ्कल्पमात्रेणैव जगत्त्रातुं प्रभु र्नावतार मपेक्षते, तथाऽपि उपासकानां उपासनालम्बनार्थ मवतरसीति वदन्तः स्तुवन्ति - **सत्त्व** मिति। स्थितौ स्थितिः पालनं तस्यां निमित्तभूतायां स्थित्यर्थं भवान् विशुद्धं रजस्तमोभ्यामननुविद्धं सत्त्वं सत्त्वमयं वपु श्शरीरं श्रयते बिभर्ति। संश्रयणे मुख्यं प्रयोजनं दर्शयन्तो वपु र्विशिंषन्ति - शरीरिणां श्रेयउपायनं श्रेयसे उपेयते उपास्यत इत्युपायनम्। 'इण् गतौ', गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः। येन वपुषा आलम्बनभूतेन उपलक्षितस्य तव जनो वेदक्रियादिभि रर्हणमाराधनं समीहते कुरुते। वेदक्रिया वेदपूर्वभागचोदितक्रिया यज्ञादिक्रिया, योगः उत्तरभागचोदित मुपासनम्। तप स्तदनुग्राहक मनशनादिरूपम्, समाधिः वेदक्रियातपोभ्यांसा नुगृहीतेन योगेन निर्वर्त्यं चित्तैकाग्रचम्। यदि भवान् वपु र्न संश्रयते तर्हर्चाध्यरूपापरिज्ञानादाराधका स्त्वा माराधयितु मप्रभवः स्युः । अतो भवा नाराधकानुग्रहार्थं वपु स्संश्रयते इति भावः ॥ ३४॥

तदेव स्पष्टीकुर्वन्तः स्तुवन्ति - **सत्त्वं न चे दिति**। हे धातः , विश्वकारणभूत! इदं विज्ञानं प्रकाशकम् अज्ञानभिदापमार्जनं ध्यातृणा मज्ञानकृतदेवादिभेदाभिमानापमार्जनं शुद्धसत्त्वमयं निज मसाधारणं वपु र्न चेत् भवा नाश्रयते न चेत्, तर्हि यस्य पुंसः येन कारणेन कालकर्मादिरूपेण यो गुण स्सत्त्वाद्यन्यतमः प्रकाशते उन्मिषति तस्य तै र्गुणप्रकाशैः गुणोन्मेषैः गुणकार्यैः भवा ननुमीयते। कार्यस्य कारणभूतः देवमनुष्यादिविलक्षणः न ज्ञायते, किन्तु इतरसजातीयताऽनुमीयते। यदि भवान्वपुराश्रयते तर्हि तद्वपुरसाधारणानि देवमनुष्यादिष्वसम्भावितानि गुणचेष्टितानि दृष्ट्वा तै र्देवादि विजातीयं मन्यमानो ध्यातृवर्गो ध्यायतीति भावः ॥ ३५॥

नन्वह मपि देवादिसजातीयवपुष्मा नेवेत्यत्राऽऽह - **नेति**। मनोवचोभ्यां वचसा वेदवाक्येन तदनुसारेण मनसा चाऽनुमेयस्वभावस्य सर्वसाक्षिण स्तव गुणकर्मजन्मभि स्सह नामरूपे न निरूपितव्ये गुणकर्मजन्मनामरूपाणीतर सजातीयतया न निरूपणीयानि। "यत्तदद्रेश्य मग्राह्य मगोत्रवर्ण मचक्षुश्श्रोत्रं निष्कलं निष्क्रियं अजायमान" (मुण्ड.उ. 1-6) इत्यादिभिरितरसजातीयानि गुणादीनि प्रतिषिध्य "यस्सर्वज्ञ स्सर्ववित्" (मुण्ड.उ. 2-2-7) "पराऽस्य शक्ति र्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" (श्वेत.उ. 6-8) "यस्य चैत त्कर्म स वै वेदितव्यः" (कौषी.उ. 4-18), "बहुधा विजायते" (पु.सू. 2-1) इत्यादिभि र्विलक्षणाना मेव गुणादीनां श्रवणात् "जन्म कर्म च मे दिव्यम्" (भ.गी. 4-9) इति त्वदुक्ते श्चेति भावः । यद्यपि देवादिविलक्षणगुणकर्मादियुक्तः तथाऽपि त्वां वेदक्रियायां प्रतियन्ति अग्नीन्द्रादिनामरूपाणि तदन्तरात्मभूतस्य तवैवेति बुद्ध्या तद्विशिष्ट मपि त्वां वेदावगतयज्ञादिक्रियायां प्रतियन्ति आराध्यं मन्यन्ते॥ ३६॥

इन्द्रादिनामरूपेभ्यः स्वासाधारणनामरूपाणां ध्येयत्वादिकं वदन्तः स्तुवन्ति **शृण्व** न्निति। यः पुमान् ते तव मङ्गलावहानि नामरूपाणि शृण्वन् वक्तृसन्निधौ सति, गृणन् श्रोतृसन्निधौ, तदुभयासन्निधौ नामानि स्मरन् रूपाणि चिन्तयंश्च। संस्मरयन्निति णिजर्थ स्त्वविवक्षितः । क्रियासु वैदिकक्रियासु आसनाटनभोजनादिक्रियास्वपि त्वच्चरणारविन्दयोरासक्तं चित्तं मति र्यस्य तथाभूत स्स पुमान् भवाय श्रेयस्समृद्धयै कल्पते। नेति पाठे भवाय संसृतये न कल्पते, किन्तु मुक्तये इत्यर्थः ॥ ३७॥

1. B,W भगव° 2. B adds सन्त ः 3- -3 K,W omit 4- -4 K, W omit 5. K,W °भ्यामनु 6. B adds धाम तेजोरूपं 7- -7 B omits 8. B °दिभिर्वि° 9- -9 B नामानि रूपाणि च 10- -10 K,W °क्ता म°

**विज०** खलाना मित्युक्तं विवृणोति - **येऽन्ये** इति। रविन्द मन्धकार ः स न भवति इति अरविन्दं प्रकाश ः , ज्ञान मिति यावत्। "अन्धकारोऽ रविन्दान्धतिमिरं तम उच्यते" इत्युत्पलमाला। ये सद्भ्योऽन्ये खला ः ते तत ः परमपदात् योगारूढा ः पतन्ती त्यन्वय ः । पतने कारण माह अनादृतेति। 'अधि रधि लधि गत्यर्था ः ' इति धातो ः । अनुपासितभगवज्ज्ञाना ः। ज्ञानाभावे कारण माह - त्वयीति। त्वय्यस्तभावात् त्वद्विषयभक्तयभावात् अविशुद्धबुद्धय ः दुष्टान्त ःकरणा ः दुष्टज्ञाना वा। किं कृत्वा पतन्तीति तत्राऽऽह-आरुहयेति। कृच्छ्रेण महताऽऽयासेन परं पदं भगवत्प्राप्तिनिमित्त योग मारुह्य सन्न्यासाश्रमं प्राप्य तदनुष्ठानसामर्थ्याभावात् पतन्तीत्यर्थ ः। योग मवाप्य तद्भंशे निमित्त माह विमुक्तेति। विमुक्ता वय मित्यभिमानो येषा मस्तीति ताच्छीलिको णिनि ः। हे विमुक्त इति वा। अभिमान एव भ्रंशे कारण मित्यर्थ ः ॥ ३२॥

सम ः समाधि ः प्रकृते इति नेत्याह - **तथा नेति**। करावलम्बबाहुल्यात् उत्तमाश्रमान्न भ्रश्यन्तीत्यर्थ ः। विनायका ः विघ्ना ः श्रेय ःप्रतिबन्धिन ः तेषा मनीकं सेना तत्पतय ः विनायकानीकपा ः तेषां मूर्धसु उपरितनानतिक्रम्य श्रेयस एव यतन्त इत्यर्थ ः ॥ ३३॥

अधुना कस्मिन्नधिष्ठाने स्थितो हरि ः पूज्य ः, कै स्साधनै रिति तत्स्पष्टयति - **सत्त्व** मिति। स्थिता विति सप्तमी चतुर्थ्यर्थे। स्थितौ ज्ञानस्थिरीकरणाय भवान् विशुद्धं सत्त्वं वपु ः रजस्तमोभ्या मस्पृष्टं ब्रह्मादि शरीरं श्रयते। विशिनष्टि शरीरिणामिति ज्ञानार्थिनां जीवानां श्रेयउपायनं श्रेयस्साधनं जनो येन ब्रह्मादिशरीरे स्थितेन हरिणोपदिष्टमार्गेण वेदादिभि स्त्वदर्हणं पूजां समीहते करोति। अत स्त्वत्प्रसादा दवाप्तं ज्ञान मेव स्थितं भवतीत्यर्थ ः । विशुद्ध सत्त्वं ब्रह्मादे रिति वचना दुक्त एवाऽर्थ ः ॥ ३४॥

ब्रह्मादि देवसन्निहित हरिप्रसादोत्पन्न ज्ञानं पुरुषार्थसाधन मित्युक्तं, तदनङ्गीकारे बाधक माह **सत्त्व** मिति। भो धात ः! इदं निज मात्मीयं विज्ञानं विशिष्टं ज्ञानं यस्मात्त त्तथा। स्वयञ्च ज्ञानरूपं सत्त्वं ब्रह्मादिदेहाख्यं अज्ञानभिदापमार्जनम् अज्ञानान्यथाज्ञाननिवर्तकं न भवेच्चेत् यदि तर्हि विमतं ज्ञानं केनचिज्जनितं कार्यत्वात् घटवत् इति सत्त्वगुणोत्पन्नज्ञानै ः भवा ननुमीयते। तदनुमितो न स्या द्यदि न स्या त्तर्हि अगुणो भवान्यस्य कस्य येन केन वा साधनेन प्रकाशते ज्ञायते। एत दुक्तं भवति - यदि ब्रह्मादिदेहसन्निहितश्रीनारायणप्रसादात् यज्ज्ञान मज्ञाननिवर्तकत्वेन श्रेयस्साधनं न स्यात् तर्हि तज्ज्ञानाभावेन तद्विषये लिङ्गस्थानं न स्यात्। तद्यदि न स्या त्तर्हि त्वज्ज्ञानाभावेन त्वत्पूजाविधानं न स्यात्, तन्न स्या द्यदि जगदान्ध्यं स्यात्। न चेद मुपपन्नम्। "कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत ः" (भ.गी. 7-3) "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम्"

(भ.गी. 7-17) इत्यादिवाक्यप्रामाण्यान्यथानुपपत्त्या त्वज्ज्ञान मज्ञाननिवर्तकत्वेन पुरुषार्थसाधनं भवतीति सिद्धम्। तदुक्तम् "सत्त्वं ब्रह्मादि देहाख्यम्" (तन्त्रभागवते) इत्यादिक मस्मिन्नर्थे मानम्। यद्वा धातृदेहसन्निहितत्वा द्धात रिति सम्बुद्धिः। हरे यो भवान् गुणप्रकाशै रनुमीयते अत्र सन्निहितहरिप्रसादा दिदं ज्ञान मभूत्, तस्मादत्र हरिः सन्निहित इति तस्य तवेदं सत्त्वं निजं नित्यसन्निधानयोग्यं न भवे च्चे त्तर्हि तत उत्पन्न मज्ञानभिद्विज्ञानं मार्जनं स्वरूपतो नाश माप। यद्येवं तर्हि गुणो ज्ञानानन्दादिगुणपूर्णो भवान् यस्य येन वा प्रकाशते न कस्याऽपि आविर्भूतो न भवति साधनसामग्र्यभावात्। यद्वा, यस्य तव गुणोऽनुग्रहलक्षणः प्रकाशते, येन त्वया गुणो वा प्रकाश्यते यश्च भवान् गुणप्रकाशै रनुमीयते तस्य तवेदं सत्त्वं ब्रह्माद्यन्य तमाप्रधृष्यं बलं निजं न भवेच्चेत् तर्हय ज्ञान भिदामापयतीति अज्ञानभिदापं विज्ञानमार्जनं वरादिनाऽऽपादितं भवति, न त्वौत्पत्तिकम्। अतोऽप्रतिमं तव सत्त्व मित्यर्थः। इति गुणप्रकाशै रिन्द्रियज्ञानैः। एत दर्थद्वयं सिद्धान्ताविरुद्धत्वात् आचार्यचित्ताव्याकृताकाशान्तर्गत मिति ज्ञातव्यम्। श्रोतु र्मति मवेक्ष्य नोद्गलित मिद मिति॥ ३५॥

गुणप्रकाशैः तव सद्भावानुमानं यथा, तथा तव नामरूपानुमानेनाऽपि त्वत्सद्भावज्ञानं किं न स्या दत्राऽऽह- **न नामेति**। त्वन्नामरूपाभ्यां त्वत्सद्भावज्ञानसम्भवात्कि मायाससाध्येन परिशेषप्रमाणेनेति अतो वाऽत्राऽऽह - न नामेति। शुक्लभास्वरं तेज इति गुणेन कृपीटयोनि रग्नि रिति जन्मना दहनोऽग्निरिति कर्मणा यथाऽग्नि र्निरूप्यते तथा तव नामरूपे न निरूपितव्ये निरूपयितु मशक्ये लोकप्रसिद्धयभावात् अप्राकृतत्वात् सत्त्वाद्यभावात् अक्लिष्टकारित्वात् नित्यत्वात्। न च नामादिकं मिथ्येत्याह तस्येति। तस्य नामादेः साक्षिणः साक्षा द्दृष्टुः न हीश्वरज्ञानगोचरस्य मिथ्यात्वं वक्तुं युक्तम्। तथा सति सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गः स्यात्। तस्मात् "वाचारम्भणं विकारः" (छान्दो. उ. 6-1-5) इति श्रुत्यवष्टम्भेन नामरूपयो र्मिथ्यात्वेन हरे स्ते न स्त इति न वक्तव्यम्। किन्तु अलौकिकार्थसन्नाम्नां तद्वाच्यरूपाणां वा अनन्तत्वात् अनामादिवचन मिति, ज्ञानिमनसा च अनुमेयानि नामरूपाणि सन्ति। "सर्वनामा सर्वकर्मा", "रुक्मवर्णं कर्तार मीशम्" (मुण्ड.उ. 3-1-3) इत्यादिश्रुते रित्याशयेनाऽऽह - मनोवचोभ्या मिति। यद्यय मनामा स्यात् तर्हि शब्दावाच्यः स्यात्, न च तथा "अह मेव" इत्यादि श्रुते रित्यादि। ननु ज्ञानाभावा न्नाऽस्त्येव नामादिक मिति तत्राऽऽह - प्रतियन्तीति। अथाऽपि यद्य प्यनन्तत्वात् ज्ञातु मशक्यानि तथाऽपि प्रतियन्ति जानन्ति, ज्ञानिन इति शेषः। तज्ज्ञानञ्च न स्वनियत मित्याह देवेति। देवस्य सर्वत्र द्योतमानस्य हरेः क्रियायाः प्रेरणालक्षणायाः श्रीनारायणप्रसादा दित्यर्थः। "लोकसिद्धार्थनाम्नः स इत्यारभ्य जानन्ति परमर्षयः" (पाद्मे) इत्यन्तं आचार्योक्ति रुक्तार्थसिद्धि रिति। अस्तु नाम रूपप्रसिद्धिः, ततः किं तत्राऽऽह - हीति। हिशब्दो हेतौ॥ ३६॥

यस्मा न्नामादयः सन्ति, तस्मात्क्रियमाणासु क्रियासु प्रेरकत्वेन पूज्यत्वेन नामानि शृण्वन् गृणन् रूपाणि चिन्तय-न्नाऽऽस्ते स त्वच्चरणारविन्दयोः आविष्टचित्तः पुरुषः भवाय संसाराय न कल्पत इत्यन्वयः। चशब्देन "सर्व क्रियासु कर्तृत्वपूज्यत्वेन जनार्दनम्। यो वेत्ति नैति संसारं तत्प्रसादा न्न संशयः" (क्रियायोगे) इति स्मृतेः। न श्रवणादिना पूर्यते, किन्तु तज्ज्ञानञ्च अवश्य मपेक्षितं भवति॥ ३७॥

1- -1 B omits.

दिष्ट्या हरेऽ स्या भवतः पदो भुवो भारोऽपनीत स्तव जन्मनेशितुः ।
दिष्ट्याऽङ्कितां त्वत्पदकै स्सुशोभनै र्द्रक्ष्याम गां याश्च तवानुकम्पिताम्॥ ३८॥

न तेऽभवस्येश भवस्य कारणं विना विनोदं बत तर्कयामहे।
भवो निरोधः स्थिति रप्यविद्यया कृता यत स्त्वय्यभवाश्रयात्मनि॥ ३९॥

मत्स्याश्व कच्छप वराह नृसिंह हंस राजन्य विप्रविबुधेषु कृतावतारः ।
त्वं पासि न स्त्रिभुवनञ्च तथाऽधुनेश भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते॥ ४०॥

दिष्ट्याऽम्ब ते कुक्षिगतः परं पुमानंशेन साक्षाद्भगवान्भवाय नः ।
मा भूद्भयं भोजपते र्मुमूर्षो र्गोप्ता यदूनां भविता तवाऽत्मजः ॥ ४१॥

श्रीशुक उवाच

इत्यभिष्टूय पुरुषं यद्रूप मनिदं यथा।
ब्रह्मेशानौ पुरोधाय देवाः प्रतियुर्दिवम्॥ ४२॥

इति श्रीमद्भामवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
गर्भगतविष्णो र्ब्रह्मादिकृतस्तुतिर्नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २॥

(विजयध्वजरीत्या तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥)

1. B,G,J,K,W ° या° 2. M,W पाहि 3. B,G,J,K,W य° 4- -4 K,W omit 5. K,W °मविदन् 6- -6 K,W दिवं ययुः ।

**श्रीध०** विशेषतः श्रीकृष्णावतार मभिनन्दन्ति **दिष्ट्येति**।[1] दिष्ट्या भद्रम्। तव पदः पादभूतायाः ईश्वरस्य तव जन्ममात्रेण भुवो भारः[2] अपनीत एव। किञ्च, त्वत्पदकैः कोमलैः पदै स्सुशोभनैः वज्राङ्कुशादिशुभलक्षणैः गां पृथ्वीं, द्यां स्वर्गञ्च तव त्वयाऽनुकम्पिताम्॥ ३८॥

तव जन्मना भारोऽपनीत इत्युक्त्या[3] ममाऽपि किं जीवव त्संसार उक्तो, नहि नही त्याहुः - **नेति।** बत! हे ईश! असंसारिण स्ते जन्मनः कारणं क्रीडां विना न तर्कयामः। किञ्च हे[5] अभवाश्रय! अभवश्च आश्रयश्च, न भवं आश्रय इति वा। अभयाश्रय इति पाठान्तरे[4] न भय माश्रयत इति तथा। तत्सम्बोधनम्। हे नित्यमुक्तेत्यर्थः। तव जन्मकारणं नाऽस्तीति किमु वक्तव्यम्। यतः आत्मनि[5] जीवात्मन्यपि भवादयः त्वयि विषये या अविद्या तया कृता न परमार्थत स्सन्तीति॥ ३९॥

प्रस्तुतं प्रार्थयन्ते **मत्स्येति।** नोऽस्मान् त्रिभुवनञ्च मत्स्यादिषु[6] यथाऽपाः[-6], तथाऽधुनाऽपि पाहीति वन्दनं ते इति च वदन्त स्सर्वे शिरोभिः प्रणेमुः[7] ॥ ४०॥

देवकीं प्रत्याहुः **दिष्ट्येति।** नोऽस्माकं भवाय क्षेमाय[8] (भवायनः) भवस्य प्रपञ्चोत्पत्तेः अयनः स्थानभूत इति वा[-8] साक्षात्परः पुमान् ते कुक्षिं गतः, अतो भयं मा भू दिति। योऽशेनाऽपि[9] सदाऽस्माकं भवाय भवति स साक्षा त्ते कुक्षिं गत इत्येतत् अस्मद्भाग्यम्, यः अंशेन मत्स्याद्यवतारेण नोऽस्माकं कल्याणाय आसीत् सः सम्पूर्णः तव कुक्षिं गत इति तव दुःखनाशे को वा सन्देहः[-9]॥ ४१॥

**इतीति।** यस्य रूप मनिदं सर्वप्रत्यग्भूतम्। यथा यथावत् यं[10] द्रूपं मायामनुष्यरूप मिदं अनिदं यथा अविद्याकृत जन्ममरणादिरहितं सर्वसाक्षिप्रपञ्च सृष्टि स्थिति लयकारण मिति वा[-10]। अस्मा न्वञ्चयित्वा एता विह स्थास्यतः इति मन्यमाना ब्रह्मेशानौ पुरोधाय पुरतः कृत्वा दे[11] वा दिवं ययु रिति॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २॥

---

1. V adds नः 2- -2 B,J omit 3. V °क्त्वा 4- -4 B,J हे अभयाश्रय! 5. B,J, omit आत्मनि 6- -6 B, J अन्यदा यथा पासि (अपाः ) 7. B,J प्रणमन्ति 8- -8 B,J उद्भवाय 9- -9 B,J, omit 10- -10 B,J omit 11. B,J omit देवा दिवं

**वीर०** आत्मनां प्रकृतावतार प्रयुक्त मानन्द माविष्कुर्वन्तः स्तुवन्ति **दिष्ट्येति।** दिष्ट्येत्यानन्दद्योतक मव्ययम्। हे हरे! आश्रितार्तिहारिन्! तवेश्वरस्य जन्मना भवत स्तव पदा पादविन्यासेन च। पद इति पाठे पदरूपायाः[1-] अस्या[-1] भुवो भारोऽपनीतः अपनीतप्रायः। इदं दिष्ट्या अस्माकमानन्द इत्यर्थः एवमुत्तरत्राऽपि। सुशोभनैः ध्वजवज्राङ्कुशादि चिह्नैश्चारुभिः पदकैः पादविन्यासैः अलङ्कृतां तव त्वया अनुकम्पिताञ्च गां भूमिं द्यां द्रक्ष्यामः[2] नित्यविभूति मिव द्रक्ष्यामः। एत द्दिष्ट्या सङ्कल्पमात्रनिर्वर्त्यजगद्रक्षणस्य तवाऽवताराप्रयोजनं भक्तानुग्रह एवेत्युक्तम्॥ ३८॥

अथ अवतारनिमित्त माविष्कुर्वन्तः स्तुवन्ति **नेति**। हे ईश! अभवस्य कर्माधीनोत्पत्तिरहितस्य तव भवस्य जन्मनः कारणं निमित्तं विना विनोदं लीलार्थं सङ्कल्पं विना अन्य न्न तर्कयामहे। बते त्याश्चर्ये। अनितरसाधारणत्वाद्विस्मयः यथा सृष्टयादिजगव्व्यापारो विनोदमात्रानुकूलसङ्कल्पमूलकः, तद्वज्जन्मादीत्यभिप्रायेणाऽऽहुः भव इति। हे अभय! यतो विनोदा देव निमित्तात् अविद्यया संसारिणां ज्ञानविरोधिन्या प्रकृत्या जगत[3] उत्पत्त्यादयो विकारा स्तास्याऽऽश्रये आधारभूतेऽन्तरात्मनि च त्वयि कृताः, तमेव विनोद मभवस्य तव भवकारणं मन्यामह इत्यर्थः । आश्रयात्मनि कृता इत्यनेन उत्पत्त्यादयो विकाराः प्रकृतिगताः न स्वरूपगता इति सूचितम्॥ ३९॥

यथा मत्स्याद्यवतारपरिग्रहेणाऽस्मान् रक्षितवान् एव मधुना भूभारापहारद्वाराऽस्मान् पाही त्याहुः - **मत्स्येति**। मत्स्यादिषु कृतः परिगृहीतोऽवतारः येन, तथाभूत स्त्व मस्मान् त्रिलोकीञ्च यथा पासि रक्षितवान् तथा अधुनाऽपि भुवो भारं हर अपनय। हे यदूत्तम! ते तुभ्यं वन्दनं नम इत्यर्थः ॥४०॥

देवकीं प्रत्याहुः - **दिष्ट्येति**। हे अम्ब! नोऽस्माकं भवाय समृद्ध्यै अंशेन सङ्कल्पेन हेतुना परमपुरुषो भगवान् साक्षात्तव कुक्षिं प्रविष्टः । मुमूर्षोः भोजपतेः कंसाद्भयं तव मा भूत्। तवाऽऽत्मजो यदूनां गोप्ता भविता भविष्यति॥ ४१॥

[4]इति इत्थं[4] यथा यस्य भगवतो रूप मविदन् तथा स्वमत्यनुसारेण तं परमपुरुष मभिष्टूय ब्रह्मरुद्रौ पुरस्कृत्य देवा दिवं[5] प्रति ययुः॥ ४२॥

---

1- -1 K,W ततश्च 2. B adds च स्वर्गं 3. K जगदुत्प° 4- -4 K,W omit 5. B स्वर्गं।

**इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे**
**श्री वीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्र चन्द्रिकायां**
**व्याख्यायां द्वितीयोध्याय ः ॥२॥**

**विज०** इदानी मवताराप्रयोजनं विज्ञापयति - **दिष्ट्येति**। तव जन्मना भवतः पदः भवच्चरणस्थानीयाया भुवः असुरकृतभारोऽपनीत इति यत्तत् दिष्टया सर्वस्य सुख मभूत्। सुष्ठु वा। "सुष्ठु दिष्टचोपजोषम्" (वैज.को. 8-8-17) इति यादवः । तवाऽनुकम्पिताम् अनुकम्पाविषयां द्याञ्च द्रक्ष्यामः । दिष्टये त्यभ्यास आदरणार्थम्। "पदाद्याश्रयणा द्विष्णोः पृथिव्यादि पदादिकम्" (ब्रह्मतर्के) इत्यादिस्मृतिसिद्धं भूमे र्विष्णुपदत्वम्॥ ३८॥

लोकानुग्रहमन्तरेण अन्य दवताराप्रयोजनं नाऽस्तीति विज्ञापयती त्याह **नेति**। न विद्यते भवः शुक्रशोणितसम्पर्क लक्षणं जन्म यस्य तथा तस्य। भवस्य भद्रस्य जन्मादिदोषरहितस्येत्यर्थः । "भवो रुद्रे हरे प्राप्तौ सत्तासंसारजन्मसु" (वैज.को 6-1-41) इति यादवः । ननु कर्दमे लीयत इव हरे र्जन्मादिमत्त्वं सत्य मित्यायातम्। तथा च तस्य कर्माधीनप्रवृत्तत्वेन ईश्वरत्वहाने र्न मोक्षार्थं तदुपासनं विधेय मिति तत्राऽऽह - भव इति। त्वयीति षष्ठ्यर्थे सप्तमी।

अभवाश्रयश्चाऽय मात्मा चेति अभवाश्रयात्मा मोक्षाश्रयः स्वामी। तस्य मुक्ताश्रयस्य स्वरूपस्य वा तव कृता अङ्गीकृता भवादयः अविद्यया त्वत्स्वरूपाज्ञानेन सत्या इति नरा मन्यन्त इति, यत इति शेषः । अस्य स्वस्य विद्यया इच्छया कृताः सत्या मन्यन्ते इति यत स्तस्मात् स्वरूपानादित्वेन ईश्वरत्वहान्यभावेन त्वदुपासनमेव विधेय मिति भावः। "अज्ञानादेव मन्यन्ते विष्णोर्जन्ममृती नराः । स्थितिरूपस्य चाऽन्यस्मा त्स्थितिं मोक्षाश्रयस्य हि" (ब्रह्मतर्के) इति वचना न्नेन्द्रजाल मिति मन्तव्य मिति॥ ३९॥

भक्तसङ्कटपरिहार मन्तरेण अन्य दवताप्रयोजनं न तवाऽस्तीति यत इतो निकृष्टोत्कृष्टजातिग्रहणेन त्रिभुवनमपादिति उपसंहरतीत्याह **मत्स्येति।** अश्वो हयग्रीवः । कच्छपः कूर्मः । विप्रो जामदग्न्यः । त्रिभुवनंह पास्यथा इति लकारव्यत्ययः। तथा सति कार्ये कृतेऽपि अस्माभि रेतावदेवाऽ नुष्ठीयते कृतप्रतिनिध्यभावा दित्याह - यदूत्तमेति। अस्त्विति शेषः ॥ ४०॥

भगवद्भक्तबहुमानातिशयेनाऽपि भगवतो धर्म इति प्रदर्शनाय देवकी माह **दिष्ट्येति।** दिष्ट्या मङ्गलम्। "दिष्ट्या स्या न्मङ्गलादिषु" (वैज. को. 8-7-21) इति यादवः । साक्षात्तुर्यः जाग्रदाद्यवस्थातिक्रान्तः भविता भविष्यति॥ ४१॥

यद्रूप मनिदं प्रत्यक्षसिद्धं जगद्विलक्षणं तं पुरुषं पूर्णं यथा यथावत् अभिष्टूय। यद्वा यद्रूपं यथाऽनिदं प्रतीयते तादृशै र्विशेषणै रभिष्टूय॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

(विजयध्वजरीत्या तृतीयोऽध्यायः)

# तृतीयोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या चतुर्थोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

अथसर्वगुणोपेतः काल: परमशोभनः।
यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं[1] शान्तर्क्षग्रहतारकम्[2]॥ १॥

दिशः प्रसेदु र्गगनं निर्मलोडुगुणोदयम्।
मही मङ्गलभूयिष्ठ पुरग्रामव्रजाकरा[3]॥ २॥

नद्यः प्रसन्नसलिला ह्रदा जलरुहश्रियः।
★ द्विजालिकुलसन्नादस्तबका वनराजयः॥३॥

ववौ वायुस्सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहश्शुचिः।
अग्नयश्च द्विजातीनां शान्ता स्तत्र समैन्धत[4]॥ ४॥

मनांस्यासन् प्रसन्नानि साधूनामसुरद्रुहाम्।
जायमानेऽजने तस्मिन्नेदु र्दुन्दुभयो दिवि॥ ५॥

जगुः किन्नरगन्धर्वा स्तुष्टुवुः सिद्धचारणाः।
विद्याधर्यश्च[5] ननृतु रप्सरोभिस्समं मुदा[6]॥ ६॥

श्रीकृष्णावतार घट्टः

मुमुचु र्मुनयो देवाः सुमनांसि मुदान्विताः।
मन्दं मन्दं जलधरा जगर्जु रनुसागरम्॥ ७॥

निशीथे तमसोद्भूते[7] जायमाने जनार्दने।
देवक्यां देवरूपिण्यां[8] विष्णुस्सर्वगुहाशयः[9]।
आविराशीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः[10]॥ ८॥

---

1. M °क्षे: 2. M °क: 3. G,K,W ०ष्ठा, * This half verse is not found in W. edn. but it is commented . 4. B,G,J,M समिन्धत; V. समेधिता: । 5. M °रा° 6. B,G,J,K,W तदा 7 B,G,J,M,V तम उ० 8 K,W भूतायां 9 K,W, गुणाश्रय: ; M. गुहाश्रय: 10. M. प्रादुरा०

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तृतीये निजरूपेण सम्भूतस्तु हरि स्स्वयम्।
पितृभ्यां संस्तुतो नीत: पित्रा भीतेन गोकुलम्॥

**अथेति।** मङ्गलार्थम्[1] यर्हि यदा[2] सर्वगुणोपेत: कालो बभूव तदा देवक्यां विष्णु रावि रासीदिति अष्टमश्लोकातेनान्वय:[3]। परमशोभनत्व मेवाऽऽह यर्हीत्यादिना। अजना न्नारायणाजन्म यस्य प्रजापते स्तस्य ऋक्षं रोहिणीनक्षत्रम्। कथम्भूतम्? शान्तानि ऋक्षण्यश्विन्यादीनि ग्रहा: सूर्यादय:[4] तारकाश्च यस्मिं स्तत्॥ १॥

**दिश इति।** यर्हीति सर्वत्रानुषज्जते[5]। निर्मलानामुडुगणाना मुदयो यास्मिंस्तत्तथा। मङ्गलभूयिष्टा: पुरादयो यस्यां सा॥ २॥

**नद्य** इति। जलरुहाणां[6] श्री: शोभा येषान्ते। द्विजालिकुलानां सन्नादा:[7] येषु ते तथाभूता:[8] स्तबका यासु ता:॥ ३॥

**ववाविति।** समेधिता:[9] सम्यक् दीप्ता बभूवुरित्यर्थ:। समिन्धतेति पाठे अडभाव आर्ष:[9]॥ ४॥

**मनांसीति।** असुरद्रुहां कंसादिव्यतिरिक्तनां सर्वप्राणिनां देवानाञ्चेति। स्वर्गे तु विशेषमाह-जायमान इति। अजने जायमाने। जनार्दने[10] उदयोन्मुखे सति[10]। तदा आसन्न: प्रसवोयस्मिं स्तस्मिन्समये॥ ५,६॥

अनुसागरं[11] सागरे गर्जति सति[11] तमसोद्भूते घनतमसि निशीथे यथा यथावत् ऐश्वरणैवरूपेण॥ ७, ८॥

---

1. V °र्थ: 2 B.J. Omit 3. V. °केनाऽ० 4. B.J. omit सूर्यादय: 5. V. षङ्ग:। 6. B.J. °रुहै: 7. B.J. ०द: 8. B.J. omit तथाभूता: 9- -9. B.J. समिन्धत अडागमोऽत्र द्रष्टव्य:। समैन्धतेति सम्यग्दीप्ता बभूवुरित्यर्थ:॥ ४॥ 10- -10. B.J. omit 11- -11. J.V. Omit

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ भगवदवतारं प्रस्तौति - **अथेति।** यर्ह्येव अजनजन्म अजनस्य कर्मायत्तोत्पत्तिरहितस्य भगवतो जन्म, अथ: तदा काल: सर्वैर्गुणैरुपेत: अत एव परमशोभनोऽभूदिति शेष:। तदेव प्रपञ्चयति शान्तर्क्षग्रहतारकम् ऋक्षं भगवज्जन्मनक्षत्रं[1] रोहिण्याख्यं तस्मिन् शान्ता अनुकूला: अन्येषु च नक्षत्रेषु ग्रहास्सूर्यादय:, तारका: अश्विन्यादि व्यतिरिक्त नक्षत्राणि च यस्मिन् यथा भवति तथा अभूदिति क्रियाविशेषणम्। यद्वा अजनाद्भगवतो जन्म यस्य तस्य प्रजापते: यदृक्षं रोहिण्याख्यं तस्मिन्नित्यादिपूर्ववत्॥ ९॥

तथा[2] दिशः प्रसेदुः प्रसन्ना बभूवुः गगनं निर्मलानामुडूनां नक्षत्राणां गणो यस्मिन् तथाभूतं, पुराणां प्राकारोपेतानां ग्रामाणां तद्रहितानां व्रजानां गोष्ठानाञ्चाऽऽकरा आश्रयभूता मही मङ्गलभूयिष्ठा बभूव॥ २॥

नद्यस्तु प्रसन्नानि सलिलानि यासु तथाभूताः ह्रदास्तु जलरुहाणां श्रीः येषु तथाभूताः वनानां राजयः पङ्क्तयस्तु द्विजानां पक्षिणां, अलीनां भृङ्गाणाञ्च कुलानां सङ्घानां सन्नादो येषु तानि स्तबकानि यासु तथाभूताः॥ ३॥

वायुस्तु शुचिः धूलिरहितः पुण्यगन्धवहः सुगन्धिः सुखस्पर्शश्च ववौ प्रससार। द्विजातीनां त्रैवर्णिकानाम् अग्नयः पूर्वं शान्तास्तदा समैन्धत 'ञिइन्धीदीप्तौ' जज्वलुः। समेधिता इति पाठे तु स एवाऽर्थः। यद्वा शान्ताः अकलुषाः॥ ४॥

असुरद्रुहां देवानां साधूनां च मनांसि प्रसन्नान्यासन्। तस्मिन् भगवति जायमाने सति दिवि दुन्दुभयो नेदुः दध्वनुः॥ ५,६॥

कुसुमानि समन्ततो मुमुचुरित्यन्वयः। जनार्दने जायमाने निशीथे अर्धरात्रे तमसा अन्धकारेणोद्भूते व्यामे सति मेघाः मन्दम्मन्दं अनुसागरं सागरमनुसृत्य जगर्जुः यथा सागरो ध्वनति तद्वत्। सादर मिति पाठे आदरयुक्तं यथा तथा अनुजगर्जुः[3]। तदा देवभूतायां देवतांशत्वात्तत्तुल्यायां देवक्यां[4] सर्वेषां ज्ञानशक्ति बलैश्वर्यवीर्यतेजःप्रभृतीनां गुणानामाश्रयो विष्णु राविरासीदाविर्बभूव, यथा प्राच्यां दिशि पुष्कल षोडशकला - परिपूर्णः चन्द्रः[5] तद्वत्। इवशब्दो वाक्यालङ्कारे॥ ७,८॥

---

1. K.W. °जन्मर्क्षं 2. B. तदा 3. B adds इत्यर्थः। 4. K.W. Omit देवक्यां 5. K.S. Omit चन्द्रः

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भगवद्भक्तचर्थं तदवतार प्रयोजनं समयेनाविर्भूत पूर्वकालादिगुणै र्विलासमाह - श्रीशुक इति। सर्वेषां ग्रहाणामुच्चस्थानगतत्वादि गुणविशिष्टः सर्वगुणोपेतः परमं शोभनं यस्मात्स तथा। अजनजन्मर्क्षं रोहिणी यत्र स तथा। शान्तानि प्रसन्नानि ऋक्षाणि ग्रहाश्च तारका यस्मिन् स तथा यर्हि यदा एवंविधः कालः॥ १॥

तदा दिशः प्रसेदु रित्यादिकमभूत्। निर्मलोडुगणस्य उदयो यस्मिन् स तथा। मङ्गलपूर्णाः पुराणि ग्रामा व्रजाकराश्च यस्यां सा तथा॥ २॥

जलरुहाणां पद्मानां श्रियो येषु तथा वनराजयः वन पङ्क्तयः॥ ३॥

सुमिन्धत ज्वलिताः॥ ४॥

सुमनांसि पुष्पाणि, अनुसागरं समुद्रस्योपान्ते॥ ५,६,७॥

जायमान इति द्विर्वचनं जन्मवैलक्षण्य प्रदर्शनपरम्। देवस्य हरे रूपं अस्यामस्तीति देवरूपिणी, तस्याम्॥ ७॥

**तमद्भुतं बालकम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शङ्खगदाद्युदायुधम्।**
**श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभि कौस्तुभं पीताम्बरंसान्द्रपयोदसौभगम्॥ ९॥**

**महार्ह वैदूर्य किरीटकुण्डल त्विषापरिष्वक्त सहस्रकुन्तलम्।**
**उद्दामकाञ्च्यङ्गद कङ्कणादिभि र्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत॥ १०॥**

**स विस्मयोत्फुल्ल विलोचनो हरिं सुतं विलोक्यानकदुन्दुभिस्तदा।**
**कृष्णावतारोत्सव सम्भ्रमोऽस्पृशन्मुदा द्विजेभ्योऽयुत माप्लुतो गवाम् ॥ ११॥**

**अथैन मस्तौ दवदार्य पूरुषं परं नताङ्गः कृतधीः कृताञ्जलिः।**
**स्वरोचिषा भारत! सूतिकागृहं विरोचयन्तं गतभीः प्रभावित्॥ १२॥**

---

1. B.G.J.० र्यु० 2. V. ० ड्ड ० 3. V. ० व ०

**श्रीध० तमिति।** तमद्भुतं बालकं वसुदेव ऐक्षतेति द्वितीयश्लोकस्थेनान्वयः अद्भुतत्वे हेतुगर्भ विशेषणान् अम्बुजेक्षण मित्यादिना। श्रीवत्सलक्ष्मं श्रीवत्सलक्ष्माणं गलेन शोभत इति गलशोभी स कौस्तुभो यस्मिन् ॥ ९॥

**महार्हेति।** किरीटकुण्डलादीनां त्विषा कान्त्या परिष्वक्त सहस्रकुन्तलं स्फुरदपरिमित केशमित्यर्थः॥ १०॥

**स** इति। विस्मयेनोत्फुल्ले विकसिते विलोचने यस्य सः गवामयुत मस्पृशत् मनसा दत्तवान् कंसनिगृहीतस्य दानासम्भवात् स्पृष्टौ हेतुः कृष्णावतारेति। मुदा आप्लुतो व्याप्तः स्नात इति वा॥ ११॥

**अथेति** - कृतधीः शुद्ध बुद्धिः॥ १२॥

---

1. B.J. ०केनाऽ० 2- -2. V.श्रीवत्सलक्ष्मलक्षणं यस्य 3. V. omits वा

**वीर०** तम् अवतीर्णं भगवन्तं वसुदेव ऐक्षत अपश्यदित्यन्वयः। कथम्भूतम्? अद्भुत मदृष्टरूपत्वात् आश्चर्यविषयम् अम्बुजे इव ईक्षणे नेत्रे यस्य। चत्वारो भुजा यस्य, शङ्खादीनि तानि आयुधानि यस्य, आदिशब्देन चक्रपद्मसङ्ग्रहः।

श्रीवत्सः लक्ष्म चिह्नं यस्य, आर्षत्वा ट्टिलोपः। यद्वा श्रीवत्स एव लक्ष्म; तदस्यास्तीति, श्रीवत्सलक्ष्मः अर्शआदित्वात् मत्वर्थीये अचि। 'न स्तद्धिते' (अष्टा°. 6-4-144) इति टिलोपः। श्रियां लक्ष्म्यां वत्सला सापत्न्यदोषनिवृत्त्या अनुकूला क्ष्मा भूमिः यस्येति व्याख्यानान्तरम्। गले कण्ठे शोभी शोभावान् कौस्तुभो यस्य। पीताम्बरं यस्य। सान्द्रनीलाम्बुदस्येव सौभगं सौन्दर्यं वर्ण इति यावत्, यस्य। महार्हाण्यनर्घाणि वैदूर्यादि[3] रत्नानि यस्मिन् तस्य किरीटस्य कुण्डलयोश्च त्विषा कान्त्या परिष्वक्ताः अनुविद्धाः सहस्रकुन्तला यस्य। उद्दामैः श्लाघ्यैः काञ्च्यादिभिः विरोचमानम्॥ ९, १०॥

सः[4] वसुदेवः तं हरिं सुतं[5] विलोक्य विस्मयेनोत्फुल्ले विकसिते लोचने यस्य कृष्णावतार रूपा दुत्सवात्संभ्रमो यस्य तथाभूतस्तदैवाऽऽप्लुतः स्नातः द्विजेभ्यो गवामयुत मस्पृशत्। दातुं सङ्कल्पितवानित्यर्थः तदा कंसनिगृहीतस्य दानासम्भवात्॥ ११॥

अथ हे भारत स्वरोचिषा सूतिकागृहं विरोचयन्तं एनं कुमारं परमपुरुषमवधार्य निश्चित्य नतं प्रणत-मङ्गं यस्य, कृतो बद्धोऽञ्जलिर्येन, कृता समाहिता धी र्येन, गता भीः कंसजा यस्य, तथाभूतो वसुदेवः तस्य भगवतः प्रभावं जानन्नस्तौत् तुष्टाव॥ १२॥

---

1. K.W. omit 2- -2. K.omits 3. B.K.०डू० 4. K.W. omit सः 5. B. adds पुत्रभूतं

**विज०** शङ्खगदे आदी येषां तानि शङ्खगदादीनि तानि चोत्कृष्टानि च आयुधानि यस्य स तथा तं श्रीवत्सलक्ष्मं श्रीवत्सलाञ्छनं सान्द्रपयोदसौभगं सान्द्रपयोदस्य जलपूर्ण मेघस्येव सौभगं कान्ति विशेषो यस्य स तथा तम्॥ ९॥

महार्हाणि अनर्घ्यानि[1] वैदूर्यमयकिरीट कुण्डलानि महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डलानि, तेषां त्विषा शोभया किरीटञ्च कुण्डले च किरीटकुण्डलानि, परिष्वक्ता आलीढाः सहस्रकुन्तला यस्य स तथा॥ १०॥

अस्पृशत् दास्यामीति मनसा सङ्कल्पवान् मुदा आप्लुतः॥ ११॥

कृतधीः शिक्षित बुद्धिः पण्डितइत्यर्थः। गतभीत्वे निमित्तं प्रभावविदिति॥ १२॥

---

1. B ०र्घा०

-: स्वस्वरूपेणाविर्भूतं भगवन्तं प्रति वसुदेवकृत स्तुतिः :-

वसुदेव उवाच

विदितोऽसि भवान् साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः।
केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक्॥ १३॥

स एव स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाऽग्रे[1] त्रिगुणात्मकम्।
तदनु त्वं ह्यप्रविष्टः प्रविष्ट इव भाव्यसे॥ १४॥

यथेमे[2] विकृता भावा स्तथा[3] ते विकृतैस्सह।
नानावीर्याः पृथग्भूता विराजं जनयन्ति[4] हि॥ १५॥

सन्निपत्य समुत्पाद्य दृश्यन्तेऽनुगता इव।
प्रागेव विद्यमानत्वा न्न तेषामिह सम्भवः॥ १६॥

एवं भवान्बुद्ध्यनुमेयलक्षणैः[5] ग्राह्यै र्गुणैः सन्नपि तद्गुणाग्रहः।
अनावृतत्त्वा द्बहिरन्तरं न ते सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुनः॥ १७॥

---

1. M. यत्रि° 2. M.य एतेऽ० 3. M. °स्सप्त 4 M.शयनं तव। 5. M.०णो

**श्रीध०** वसुदेवः प्रथमं पुत्रबुद्ध्या पश्यं स्तां परित्यज्याह **विदितेति**। अहो[1] विदितोऽसी। कथं विदितोऽस्मि? भवान् प्रकृतेः परः पुरुष इति। ननु किमत्राश्चर्यं[2] पुरुषस्य प्रकृते रन्यत्वा देवेत्यत आह साक्षादिति प्रत्यक्षत इत्यर्थः। नन्वक्षिसन्निकृष्टं प्रत्यक्षत उपलभ्यते किं चित्रमित्यत आह[3] केवलेति। केवलश्चाऽसा वनुभवश्चानन्दश्च[4] तावेव स्वरूपं यस्य सः "आनन्दो[5] ब्रह्मेति व्यजानात्" (तैत्ति० उ० 3-6) इत्यादि श्रुतेः[5]। किञ्च सर्वबुद्धि दृक् नह्येवम्भूतो दृश्यो भवतीत्यर्थः॥ १३॥

ननु देवकी जठरे प्रविष्टस्य किमियमिति स्तुतिः क्रियते अत आह **स एवेति**। स एव उक्तस्वरूप एव त्वं न देवकी जठरे प्रविष्ट इत्यर्थः। ननु विश्वं सृष्ट्वा तदेवानु[6] प्रविष्टस्य किमेतद्बहु, अत आह स्वप्रकृत्येति। स्वमायया[7] इदं सृष्ट्वा वा तदनु त्वम्[8]प्रविष्ट एवेति। ननु तर्हि कथं श्रुत्योच्यते "तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनु प्राविशत्" (तैत्ति. उ. 2-6) इति। अत आह - प्रविष्ट इवेति। यथा[9] जले आकाशं प्रतिबिम्बितं चन्द्रसूर्यादिना अप्रविष्ट मेव प्रविष्टमिव तद्वत्[9]। भाव्यसे निरूप्यसे। प्रत्यक्षतो वा सद्रूपेण वा प्रतिष्ट इव लक्ष्यसे॥ १४॥

अत्र दृष्टान्तो **यथेति**। इवेऽविकृता भावाः महदादयो यथा तथेति दृष्टान्तं विवृणोति। ते विकृतैरिति। ते विकृतैः षोडश विकारैस्सह सन्निपत्य विराजं [10]ब्रह्माण्डं जनयन्ति। सन्निपतने हेतुः — यतः पृथग्भूतास्सन्तो नानावीर्या विशिष्टकार्यसमर्था न भवन्ति अतः सन्निपत्येति। एवं समुत्पाद्य अनुगताः प्रविष्टा इव दृश्यन्ते न पुनः प्रविष्टाः, कुतः? उत्पत्तेः प्रागेव कारणतया विद्यमानत्वान्न तेषा मिह सृष्टे कार्ये पश्चात्सम्भवः प्रवेश इति॥ १५,१६॥

दार्ष्टान्तिकेऽतिदिशति — एवं भवानिति। ननु यद्यहमप्रच्युतस्वरूप एव कारणतया कार्येषु वर्ते तर्हि तेष्विन्द्रियैः गृह्यमाणेषु ममग्रहणं किं ना[11-]ऽस्तीत्यताऽऽह[-11] — बुद्ध्यनुमेयतक्षणैरिति। बुद्ध्या रूपादि ज्ञानेन अनुमेयं लक्षणं स्वरूपं येषां तै र्गुणैरिन्द्रियैः ग्राह्यै र्गुणैः सह सन्नपि वर्तमानोऽपि तद्गुणग्रह स्तैर्गुणैस्सह न गृह्यते[12]। अयं भावः नहि ग्राह्यैस्सह भावमात्रं ग्रहणे कारणं किन्त्विन्द्रियाणां शक्तिः। सा च कार्यैकसमाधिगम्यां यथा कार्यमेव कल्प्यते। अतो यथा चक्षुषा रूपग्रहणे रसादिग्रहणं नास्ति तथैव विषयग्रहणे त्वद्ग्रहण मपीति। अविषयत्वेन च ग्रहणानर्हत्व मुक्तमेव, आ[13-]ग्राहकदृष्टेः तन्निविष्टपीतरक्तरूपादि ग्रहण सामर्थ्यं न माधुर्यादि ग्रहणसामर्थ्यं रसस्य सहवर्तमानत्वेऽपि अचक्षुर्विषयत्वात्[-13] सर्वबुद्धिदृगित्यत्र। एवं तावत्प्रागेव विद्यमानत्वात् प्रवेशो नास्ती त्युक्तम्। किञ्च परिच्छिन्नस्य नीडे पक्ष्यादेरिव प्रवेशो भवेत् तव त्वनावृतत्वा दपरिच्छिन्नत्वेन बहिर[14]न्तरे च भेदो नास्ति कुतः प्रवेश इत्याह अनावृतत्त्वादिति। अनावृतत्त्वे हेतूनाह सर्वस्येति। नहि सर्वस्व[15]रूपस्यान्यदावरकमस्ति सर्वात्मनः। न ह्येकेनावृतोऽन्यस्यात्मा भवेत्। आत्मवस्तुन इत्यात्मनो वस्तुनश्चेति हेतुद्वयम् 'अत सातत्यगमने' इत्यस्मादतति व्याप्नोतीत्यात्मा। नहि व्यापकस्यावरणं घटते यथा वस्तुनः परमार्थ 'वस्तुनः आवरणं न घटत इत्यर्थः। तस्मात् तवान्तर्यामितया प्रवेशो न मुख्योऽस्ति। कुतस्तरां गर्भे प्रवेशः। अतः केवलानुभवानन्दस्वरूप एव त्वं विदितोऽसीत्याश्चर्यं, मम भाग्यमित्यर्थः॥ १७॥

---

1 B.J. omit अहो 2. B.J. किमाश्चर्यं 3. V. ०मत 4. V. तदेव 5 - 5 B.J. omit 6. B.J. तदनु 7. B.J. omit इदं 8. V °मनुप्र 9 - 9 B.J. omit 10. V.omits ब्रह्माण्डं 11- -11. B.J. नास्ति, तत्राऽऽह 12. W. °से 13- -13. B.J. omit 14. B.J. °रन्तर्भे° 15. B.J.omit स्व

**वीर०** स्तुतिमेव दर्शयति विदितोऽसीत्यादिभिर्दशभिः। तावत् "सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति. उ. 2.1.1), "विज्ञान मानन्दम्" (बृह उ. 3.9.28) "यतो वा इमानि भूतानि" (तैत्ति. उ. 3.1) इत्यादिभि र्वेदान्त वाक्यैरवगतं स्वरूपत स्स्वभावतश्च प्रकृतिपुरुषविलक्षणं ब्रह्म, तदेव त्वमिति स्तौति विदितोऽसीति द्वाभ्याम्। प्रकृति शब्देनाऽत्र "भूमि रापोऽनलो वायुः" (भ.गी. 7.4) "अपरेयमितस्त्वन्याम्" (भ.गी. 7-5) इति श्लोकद्वयप्रतिपादितं चिदचिदात्मिक प्रकृतिद्वयं तन्त्रेण विवक्षितम्। न त्वचेतनप्रकृतिरेव 'सर्वबुद्धिदृक्' इति सर्वसाक्षित्वोक्तेः जीवा द्वचावृत्ते रप्यवगमात्। मुक्तजीवस्वरूपस्य तत्सम्भवेऽपि "स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाऽग्रे त्रिगुणात्मकम्" इत्यवगतजगद्व्यापारासम्भवात् तदसम्भवस्य "जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणा दसन्निहितत्वाच्च" (ब्र.सू. 4.4.17) इति सूत्रितत्वात्। यद्वा प्रकृतेः पर इत्यनेन

अचेतन प्रकृतेः परत्व मुच्यते, सर्वबुद्धि दृक् स एवेत्यादिना बद्ध मुक्त जीवाभ्यां परत्वमुच्यते। यः प्रकृतेः परो विलक्षणोऽसौ केवल मनुभवः ज्ञान मानन्दश्च स्वरूपं यस्य सः। अनुभव स्वरूप इत्येतावदुक्ते दुःखस्याऽपि ज्ञानात्मकत्वेन तत्स्वरूपत्वं प्रतीयेत, अतस्तद्व्यावृत्तये आनन्द इत्युक्तम् आनन्दो अनुकूलं ज्ञानं स्वरूपं यस्येत्यर्थः। केवलशब्देन दुःखसम्भिन्नानुभव व्यावृत्तिः सर्वा बुद्धी स्तद्वृत्तीर्युगपत्पश्यतीति तथा। अनेन बद्धजीवाद्व्यावृत्तिरुक्ता ॥१३॥

अथ मुक्तजीवा द्व्यावर्तयितुमाह — **स एवेति।** यः प्रकृतेः परः सर्वबुद्धिदृक् स एव त्वम् अग्रे सृष्टेः प्राक् कारणत्वेनाऽवस्थित इति शेषः। स्वप्रकृत्या स्वशरीरभूतया महदादि पृथिव्यन्तरूपेण परिणतया त्रिगुणात्मिकया इदं परिदृश्यमानं स्थूलचिदचिदात्मकं सत्त्वादि गुणत्रय परिणामरूपत्वेन तद्वश्यजीवप्रचुरत्वेन च तदात्मकं जगत्सृष्ट्वा अनु पश्चात् तज्जगत्प्रविष्टः स्थित्यर्थं सङ्कल्परूपज्ञानेन प्रविष्टः सृष्टिदशाया मपि प्रविष्टत्वात् तथाऽप्यप्रविष्ट इव भाव्यसे। प्रविष्टजगद्गतविकारैः स्पृष्ट इव भाव्यसे विभाव्यसे विज्ञायस इत्यर्थः। तथा च श्रूयते "तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनु प्राविशत्" (तैत्ति. उ. 2-6) "सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत्" (तैत्ति. उ. 2-5) इति विचित्रचिदचिद्रूपेण विक्रियमाणमपि ब्रह्म सत्यमेवाऽभवत् निरस्तनिखिलदोषमपरिच्छिन्नज्ञानानन्दमेक स्वरूपमेवाऽभवत् इत्यर्थः। इव शब्दोऽनतिरिक्तार्थः। अप्रविष्ट इव तद्गतदोषास्पृष्ट एव विभाव्यस इत्यर्थः॥ १४॥

ननु कार्यानुप्रविष्टस्य मम कार्यात् प्रागेव तत्कारणतयाऽवस्थानं कथम्? कथन्तरां कार्यगतविकारास्पृष्टत्वञ्च इत्याशङ्क्य तदुभयं महदादि पृथिव्यन्ताचेतन दृष्टान्तमुखेनोपपादयति **यथेत्यादिभि** श्चतुर्भिः। तावद्दृष्टान्तं शिक्षयति यथेति द्वाभ्याम्। सप्त महदहङ्कार तन्मात्ररूपाः विकृताः प्रकृतिविकारात्मकाः भावाः पदार्थाः ये ते इमे तै र्विकृतैः तद्विकाररूपै आकाशादिस्थूलभूतैरिन्द्रियैः साधिदैवतैश्च सह। तथा तैरिति पाठे ये च विकृता महदादयो भावाः तथा ये च तद्विकासः स्थूलभूतरूपाः तैस्तै स्सहेत्यन्वयः। तावन्नानावीर्या विभिन्नशक्तयः ब्रह्माण्डरूपैक कार्योत्पादनोपयुक्तैक रूप सामर्थ्य रहिता इत्यर्थः। अत्र हेतुः पृथग्भूताः परस्परसम्मेलन रहिता स्तावदेवम्भूता स्सन्तः "हन्ताऽह मिमा स्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि, तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि नामरूपे व्याकरोत्, त्रिवृतं त्रिवृत मेकैका मकरोत्" (छान्दो उ. 6-3-2) इति श्रुत्युक्तरीत्या त्वदनुप्रवेश पूर्वक त्वत्कर्तृक त्रिवृत्करणद्वारा त्रिवृत्करणं पञ्चीकरणस्याप्युपलक्षणम्। सन्निपत्य समुत्पाद्य संहतत्त्वं समागतत्व श्चेत्यवस्थाद्वयं प्राप्य "समेत्यान्योन्य संयोगं परस्पर समाश्रयाः" (विष्णु पु. 1-2-52) इति वैष्णव वचनात्! तत्र संहतत्वं नाम पृथक्स्थित्यनर्ह संयोगमात्रम्, समागतत्वं पृथक्स्थित्यनर्हसंश्लेष विशेषः। विराजं ब्रह्माण्डम् त्वच्छयनस्थानं जनयन्ति हि। हि शब्देन "महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्ड मुत्पादयन्ति ते" (विष्णु पु. 1-2-53) इति वैष्णवादि पुराणान्तर प्रसिद्धि र्द्योत्यते। एवं सम्यग्विराज मुत्पाद्य अनुगता इव दृश्यन्ते अण्डान्तर्गता इव दृश्यन्ते। इवशब्दोऽनतिरिक्तार्थः अण्डान्तर्गता इव तत्रैवोत्पन्ना इव दृश्यन्ते न तु अण्डोत्पत्तेः प्रागेव विद्यमाना इवेत्यर्थः। न चैतावता तेषां तत्रोत्पत्तिरिति शक्यं वक्तुमित्यभिप्रायेणाह प्रागेवेति। अण्डोत्पत्तेः प्रागेव विद्यमानत्वात् पृथिव्यादीनामण्डान्तर्नोत्पत्ति रित्यर्थः॥ १५, १६॥

दृष्टान्ताभिप्रेतमर्थं दार्ष्टान्तिकेऽनुगमयति **एवमिति**। यथा महदादि विशेषान्तानां भवानाम् अण्डोत्पत्तेः प्रागेव तत्कारणतया अवस्थान मण्डान्तर्गत देवमनुष्यादि भावेष्वनुवृत्तिश्च तथा भवानपि कृत्स्नजगदुत्पत्तेः प्रागेव तत्कारणतयाऽवस्थित स्तदनुप्रविष्टः अथाऽनुप्रविष्टोऽप्यप्रविष्टः इव भाव्यस इत्येतदुपपादयति बुद्धीति। सन्नपि देवमनुष्यादि पदार्थेष्वनुप्रविश्य विद्यमानोऽपि बुद्ध्यनुमेयलक्षणैः ज्ञाननिरूप्यस्वभावैः ग्राह्यैरिन्द्रियकैः गुणैः गुणमयै र्देवादिपदार्थैः गुणकार्यैर्विशिष्टोऽपीति शेषः। तद्गुणाग्रहः तद्गुणै र्देवादिभावगत विकारैर्न गृह्यते नोपादीयते न स्पृश्यत इति यावत्। तथा तद्गुणग्रह इति पाठे तद्गुणमयकार्य साक्षात्कर्ता भवान् बुद्ध्यनुमेयलक्षणैः ग्राह्यै र्गुणैर्विशिष्टोऽपि सन् एकरूपो निर्विकारः निरस्तनिखिलदोषः अपरिच्छिन्न ज्ञानानन्द स्वरूपः एकरूपत्वेनावतिष्ठत इत्यर्थः। यद्वा बुद्ध्यनुमेय लक्षणैः ग्राह्यै र्गुणैस्सन्नपि तैस्सह वर्तमानोऽपि तद्गुणाग्रहः तद्गतविकारास्पृष्टः। पाठान्तरे तत्साक्षात्कर्ता, न तु तद्गतविकारस्पृष्ट इत्यन्वयः। कथं तद्विशिष्टस्यापि तद्गत विकारास्पर्श इत्यत्राऽऽह अनावृतत्वादिति। अनावृतत्वात् असङ्कुचितज्ञानत्वात् नित्यासङ्कुचितापरिच्छिन्न ज्ञानत्वेन जीवस्येव कर्मायत्त ज्ञानसङ्कोच विकासादि विकाराभावात्। अनेन जीवगत विकारास्पर्श उक्तः। अनावृतत्वे हेतु माह बहिरन्तरं न ते इति। बहिर्भागः तत्प्रतिसम्बन्ध्यन्तर्भागश्च ते तव नास्ति व्यापित्वादपरिच्छिन्नस्य आवरणासम्भवात् इति भावः। व्यापित्व मचेतनगतदोषास्पर्शश्चाऽऽह सर्वस्य कृत्स्नजगत्कारणतया तदनन्यत्वेनावस्थितस्य, किं सर्वत्वं स्वरूपेण? नेत्याह सर्वात्मनः सर्वशरीरकस्य शरीरात्मभावनिबन्धन मेवानन्यत्वम्, न तु स्वरूपाभेद निबन्धनमिति भावः। शरीरगोचर बुद्धिशब्दानां शरीरिपर्यन्तत्वात् सर्वशरीरकत्वेऽपि सर्वानन्यत्व मविहत मेवेति भावः। यतस्सर्वात्मा अत एव न सर्वगतदोषसंस्पर्शप्रसङ्गः। नहि देहगता बाल्यादयोधर्माः तदात्मनि प्रसजन्तीत्यभिप्रायेण विशिनष्टि आत्मवस्तुन इति। सर्वेषामात्मभूतस्य तव बहिरन्तरं नेत्यन्वयः। यद्यपि बालोऽहम्, युवाऽहम् इति देहधर्मास्तदात्मनि प्रतीयन्ते तथापि सा प्रतीति र्जीवानां देहात्मभ्रान्तिमूला परमपुरुषस्य त्वनावृतत्वात् आवरणमूलक देहात्मभ्रान्त्यादेरभावा दात्मनि न शरीरगत दोषसंस्पर्श स्तत्प्रतीतिश्चास्तीति भावः॥ १७॥

---

1. B. adds एवम् 2. K.W. omit वि 3. B. adds किञ्च 4. K.W. omit हि 5. B. ०के नि० 6. K.W. omit भावानाम् 7. W. कार्ये 8. K.W. रूपमिति 9. B. adds सर्वत्र सर्वथा सर्वतः परिपूर्णत्वादिति दिक्

**विज०** प्रकृतेः परत्वेन केवलानुभवानन्द स्वरूपत्वेन सर्वबुद्धिसाक्षित्वेन च पुरुषः षड्गुण इति भवान् पूज्यस्त्वं विदितोऽसि साक्षत् नोपचारमात्रम्॥ १३॥

ननु साक्षित्वेनोदासीनश्चेत् जगत्स्रष्टा क इति तत्राऽऽह **स एवेति**। तदनु सृष्टेरनन्तरं बहिरपि विद्यमानत्वात् अप्रविष्टः पूर्णस्वरूपात्प्रविष्टः सर्वगतस्य प्रवेशाप्रवेशौ उपचारतो नतु देवदत्तवत् मुख्यावित्यतः इवशब्दः। "बहिश्च विद्यमानत्वादप्रविष्टो जगत्पतिः प्रविष्टवच्च तत्रैव पूर्णरूपत्वतो विभुः" (ब्रह्मतर्के) इत्यादेः। सर्वगत रूपेणाऽप्रवेशः पुरुषरूपेण प्रवेशः जले प्रतीयमानाकाशादिवदिति वा। हिशब्दोऽसङ्गत्व माह॥ १४॥

सृष्टिप्रकारं दर्शयति य इति। य एते समाऽविकृताः महदहङ्कारपञ्चतन्मात्राणि, भावाः पदार्थाः ते विकृतैः स्थूलीभूतैः पृथिव्यादिभिः जन्यप्राणिकामकर्मादिभिः वा सह सन्निपत्य अन्योन्यं मिलित्वा विराजं ब्रह्माण्डं समुत्पाद्य अनुगताः प्रविष्टा इव दृश्यन्ते बहिरपि विद्यमानत्वात्, कथम्भूता भावाः? पृथग्भूता विश्लिष्टाः नानावीर्याः अवकाशदानादि शक्तीनां नानाविधत्वाद्विभक्तशक्तित्वात्तदभिमानिदेवानामिति शेषः। ननु तर्हि मेलनकर्ता कः? इति तत्राऽह शयनमिति। तव शयनस्थानीयत्वात् त्वमेव मेलन कर्तेत्यर्थः॥ १५॥

व्यक्तिविशेषा दण्डे प्रवेशमात्रमेवोत्पत्तिः नतु साक्षादित्याह — प्रागेवेति। इह ब्रह्माण्डे सम्भवः साक्षादुत्पात्तिर्नास्ति किन्तु व्यक्ति विशेषेण प्रवेशमात्रमेव कुतः? प्रागेव विद्यमानत्वात् लब्ध सत्ता (क?) त्वात् पूर्वमेवोत्पन्नत्वा दित्यर्थः प्रकृति विकृतत्वमन्तरेण अवान्तर विकृतत्वाभावात् महदादयोऽविकृता इत्युच्यन्ते "महदादि स्त्वविकृत" इत्यारभ्य अण्डे त्वेषा मभिव्यक्ति र्जीने रित्यभिधीयते" (ब्रह्मतर्के) इत्यन्तेन सम्यग्व्याख्यात माचार्यैं रिति भाव्यम्॥ १६॥

स इत्यनुवर्तते। यथा तत्त्वानामचेतनत्वेन तदभिमानिनां विभक्तशक्तित्वेन च तेषा मन्यस्त्वं मेलयितृत्वेन भाव्यः। स एवं शरीर मुत्पाद्य समुत्पत्तेः प्राक् पश्चादपि निर्दोषत्वेन वर्तमानो भवान् ग्राह्यै रनुमेयै र्गुणैरिन्द्रियविषयैः उत्पन्नया बुद्ध्या ज्ञानाख्यलिङ्गेनानुमेयानि लक्षणानि स्वातन्त्र्यादीनि यस्य स तथा। तेषा मिन्द्रियाणां गुणाग्रहः विषयज्ञापकोऽन्योऽस्तीति ज्ञायते। "क्षेत्रज्ञः पुरुषो ह्यात्मा" (हला.को 1-134) इत्यत्र क्षेत्रज्ञानस्य जीवनिष्ठत्वेन दर्शनान्नारायणनिष्ठत्वेनोच्यत इति कथम्? तत्राऽऽह अपीति। ग्राह्यगुणेषु अस्वातन्त्र्य प्रतीतेः इदं जानामीति जीवसमवेतग्रहणशक्तिरपि तन्नियतेति। तदुक्तमाचार्यैः ग्राह्यगुणेत्यादि। सत् सर्वस्य ज्ञातृत्वेन वर्तमान इति वा तदुक्तम् "ज्ञाताऽपि सर्वभावानाम्" (तन्त्रभागवते) इति। उपहितस्यैव बहिरन्तर्विभागो न सर्वज्ञस्य भवेदित्याह अनावृतत्वादिति। अव्यवधानेन द्रष्टृत्वात्, तदुक्तम् "सर्वत्राव्यवधानेन द्रष्टृत्वात्सर्ववस्तुनः" (तन्त्रभागवते) इति। कुतो नास्तीति तत्राऽह सर्वस्येति। सर्वस्य पूर्णस्य हेतोः अनुग्राहकमाह सर्वात्मन इति। नह्यव्याप्तस्य सर्वस्यात्तृत्व देवदत्तस्येव युज्यते तस्मात्सर्वभक्षकत्वाऽन्यथानुपपत्या अपरिच्छिन्नत्व मेष्टव्यम्। नन्वपरिच्छिन्नस्य "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" (श्वेता. उ. 6-11) इत्यन्याश्रयत्वेन अवस्थानं कथम्? इति तत्राऽऽह आत्मवस्तुन इति। आत्मन्येव वसति न परस्मिन्नशक्तित्वेनेति आत्मवस्तु। तस्य पूर्णसामर्थ्यात् सर्वात्मना सर्वभक्षणादिति च॥ १७॥

**य आत्मनो दृश्यगुणेषु सन्निति[1] व्यवस्यते[2] स्वव्यतिरेकतोऽबुधः[3]।**
**बिनाऽनुवादं न च तन्मनीषितं सम्यग्यत[4] स्त्यक्तमुपाददत्पुमान्[5]॥ १८॥**

**त्वत्तोऽस्य जन्मस्थिति संयमान्विभो वदन्त्यनीहा दगुणा दविक्रियात्।**
**त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते तदाश्रयत्वा[6] दुपचर्यते[7] गुणैः॥ १९॥**

**स त्वं त्रिलोकस्थितये स्वमायया बिभर्षि शुक्लं खलु वर्णमात्मनः।**
**सर्गाय रक्तं रजसोपबृंहितं कृष्णञ्च वर्णं तमसा जनात्यये॥ २०॥**

**त्वमस्य लोकस्य विभो रिरक्षिषु गृहेऽवतीर्णोऽसि ममाखिलेश्वर।**
**राजन्य संज्ञा सुरकोटि यूथपैः निर्व्यूह्यमाना[8] निहनिष्यसे चमू[9]:॥ २१॥**
**अयन्त्व[10] सभ्यस्तव जन्मनौ[11] गृहे श्रुत्वाऽग्रजांस्ते न्य[12] हनत्सुरेश्वर!**
**स तेऽवतारं पुरुषै स्समर्पितं श्रुत्वाऽधुनैवाऽभिसरत्युदायुधः॥ २२॥**

---

1 M. यदा° 2. M. ० धे: 3. M. ० ऽस्व 4. M. °धै: 5. M. °ष्वचोऽव्यक्त° 6. B.G. J.V. त्व० 7. M. °से 8. M. °नां
9. M चमूम्। 10. M. °न्तमस्य° 11. M.V. मे; K.W. नो, 12. B.G.J. न्यवधी°

**श्रीध०** नन्वेतद्धेतुचतुष्टयं प्रपञ्चस्याऽवस्तुत्वे घटेत तत्तु न सम्भवति सत्येन[1] प्रतीते रित्याशङ्क्याह **य** इति। आत्मनो दृश्येषु गुणेषु देहादिषु स्वव्यतिरेकत आत्मव्यतिरेकेण पृथक् सन्नयं देहादिरिति व्यवस्यते निश्चिनोति यः पुमान् सोऽबुधोऽविद्वान् व्यतिरेकादर्शनात्। किञ्च मनीषितं विचारितं सत् तद्देहादि सर्वं यतो विनाऽनुवादं वाचारम्भणमात्रं विना न सम्यग्भवति। अतोऽवस्तुत्वेन त्यक्तं बाधितमेतत्[2] वस्तुबुद्ध्या उपाददत्स्वीकुर्वन्नबुध इत्यर्थः॥ १८॥

एवं परमेश्वराद्दृश्यस्य तद्व्यतिरेकेण सत्त्व मुक्तम् परमेश्वरोपादानत्वादपि तद्व्यतिरेकेणासत्त्व मित्याह - **त्वत्त** इति। नचैवं सत्यपि विकारित्वं इत्याह - अनीहा दिति। अगुणत्वादनीहत्वं ततोऽविकारित्वं इत्यर्थः। नन्वनीहत्वे कथं कर्तृत्वं कतृत्वे वा कुतोऽविकारित्वं तत्राऽऽह - त्वयीश्वर इति। ब्रह्मत्वा दविकारित्व मीश्वरत्वा त्कर्तृत्वमिति नन्वेतदपि विरुद्धमेव नेत्याऽऽह - त्वदाश्रयत्वादिति। गुणैः कर्तृभि[3] स्त्वयि सृष्ट्यादि कतृत्व मुपचर्यते गुणाश्रयत्वात्। यथा भृत्यकृतं[4] राजनि इति॥ १९॥

एवम्भूतस्यैव तव[5] यथा विश्वस्थितिसर्गलयार्थं त्रिवर्णगुणावताराः, एव मयं भूभारापनयनार्थं[6] अवतारभाव इति ज्ञातव्य इत्याह[6] - सत्त्वमिति श्लोकद्वयेन॥ २०॥

**त्वमिति।** रिरक्षिषु[7] रक्षितु मिच्छुः अवतीर्णोऽसि कृष्णेन वर्णेन। अतस्साधूनां रक्षणार्थं राजन्यसंज्ञाः येऽसुरकोटि यूथपाः तै र्निर्व्यूह्यमाना इतस्ततश्चाल्यमानाश्चमू स्सेनाः निहनिष्यसे संहरिष्यसि॥ २१॥

किन्तु तथाऽप्यप्रमत्तेन त्वया भाव्यमित्याह[9] - अयन्त्विति। असभ्यः खलः समर्पितं कथितम् अभिसरत्यागमिष्यति[10] ॥ २२॥

---

1. B.J. सत्यत्वेन 2. B.J. °मेव 3. B.J. कुर्वद्भि° 4. B.J. कृत्यं 5. V. omits तव 6- -6. B.J. °र्थमिति ज्ञातमित्याह 7. V omits रिरक्षिषु: 8. V, त° 9. V. भवितव्यमि° 10- -10. V. omits

**वीर०** एतदेव विशदयितुं परमपुरुषस्य प्रत्यक्षित स्वयाथात्म्यत्वेन देहात्मभ्रान्त्यभावं, जीवस्य तद्वैपरीत्यञ्चाह - **य** इति। यो भवान् बुध स्सर्वज्ञः शश्वत्स्वयाथात्म्यज्ञः आत्मनस्स्वस्मा द्व्यतिरेकतः भेदाध्यवसायात् दृश्यगुणेषु दृश्येष्वैन्द्रियिकेषु गुणेषु गुणकार्येषु देवादिभावेषु सन्निति व्यवस्यते। देवादिपदार्थेष्वन्तरात्मतया अवस्थितमप्यात्मानं सन्नित्येव निरस्तनिखिलदोषत्वेन अपरिच्छिन्न ज्ञानानन्द स्वरूपत्वेन चैकरूपतया निर्विकारत्वेनैव, व्यवस्यति विविनक्ति आत्मनेपदन्त्वार्षम्। चस्त्वर्थः। तन्मनीषितन्तु तस्य जीवस्य मनीषित मध्यवसायः, बालोऽहम् युवाऽहम् देवोऽहम् मनुष्योऽहम् इत्यध्यवसायस्तु अनुवादं विना न सम्यक् विवेकिभिः निषेधार्थ मनुवादं विना न सम्यक् नाबाधितः। तन्मनीषितं केवलनिषेधार्थ मनुवादरूपतयोपयुज्यते न त्वबाधितमित्यर्थः। कुतः यतो विवेकिभि स्तत्त्वत्रययाथात्म्यविद्भिस्त्यक्तं परिहृतं बाधितं मनीषितं पुमान् देहात्मभ्रान्तिमान् उपाददत् हितबुद्ध्योपादत्ते। तदेवं शश्वत्प्रत्यक्षितस्वयाथात्म्यत्वात् देहात्माभ्रान्त्यभावात् शरीरभूत चिदचिद्भूतविकाराभावात् प्रविष्टस्याप्याप्रविष्टप्रायत्वात् कृत्स्नजगदुत्पत्तेः प्राक् तत्कारणतया निर्विकारत्वेन चावस्थितो भवानिदं जगत्ससर्जेति समुदायार्थः॥ १८॥

ननु निर्विकारस्य मम कथं विकाराश्रयत्वरूपं जगत्कारणत्व मित्यत्राऽऽह **त्वत्त** इति। हे विभो! अनीहात् सङ्कल्पेतर व्यापाररहितात् अगुणात् सत्त्वादि गुणत्रय रहितात् अविक्रियात् अविक्रियस्वरूपादपि त्वत्त एव कारणादस्य जगतो जन्मादीन्वदन्ति। संयमो लयः। "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" (श्वेता. उ. 6-19) "सत्यं ज्ञान मनन्तम्" (तैत्ति. उ. 2-1-1) "सदेव सौम्येद मग्र आसीत्" (छान्दो. उ. 6-2-1) "एकमेवाद्वितीयम्," (छान्दो. उ. 6-2-1) "तदैक्षत बहुस्याम्" (छान्दो. उ. 6-2-3) इत्यादयो वेदान्ताः प्रतिपादयन्तीत्यर्थः। कथ "मग्निना सिञ्चे" दितिवत् असङ्गतमर्थं वेदान्ता-अपि प्रतिपादयेयुः इत्यत्राऽऽह त्वयीति। तज्जगत्कारणत्वमीश्वरे प्रकृतिपुरुषनियन्तरि तच्छरीरके ब्रह्मणि निमित्तत्त्वोपादानत्वोपयुक्त सार्वज्ञ्य सर्वशक्तित्वाद्यनन्तकल्याणगुणैः स्वरूपेण च ब्रह्मत्ववति सर्वशक्तौ त्वयि न विरुध्यसे सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टे सर्वशक्तौ त्वयि कारणत्व मविरुद्धमेव, स्वरूपस्य निर्विकारत्वेऽपि स्वशरीरभूतचिदचिद्द्वारा विकाराश्रयत्वात् तदाश्रयत्व रूपं कारणत्व मविरुद्धमेवेत्यर्थः। ननु सृज्यत्वादे श्शरीरभूत चिदचिद्गतत्वात्कथं मम साक्षत् सृज्यत्वादिव्यपदेश इत्यत्राऽऽह आश्रयत्वादिति स्वशरीरभूत कार्यवर्गस्याश्रयत्वा दन्तरात्मतया धारकत्वा च्छरीरगतै रुत्पत्त्यादिभिः विशिष्टे त्वयि तदुपचर्यते, शरीरद्वारकमुच्यते न तु साक्षादुच्यत इत्यर्थः॥ १९॥

ननु नाहं जगज्जन्मसंयमकारणम्, अपि तु ब्रह्मरुद्रादित्यत्राह - **स त्व** मिति। स उक्तविधस्त्वं त्रिलोकस्य स्थितये पालनाय आत्मन स्वस्य मायया सङ्कल्पेन शुक्लं विशुद्धं वर्ण माकारं रजस्तमोभ्या मननुविद्ध मप्राकृतं शुद्धसत्त्वमयं विग्रहं बिभर्षि साक्षा दुपादत्से। सर्गाय त्रिलोकसृष्ट्येतु रजसा रजोगुणोपलक्षितेन चतुर्मुखाख्य जीवेन उपबृंहित मधिष्ठितं रक्तं वर्णं रजोगुणमयं वर्णं शरीरं बिभर्षि। चतुर्मुखाख्य जीवद्वारा बिभर्षीत्यर्थः। तथा जनस्योत्पत्तिमतः त्रिलोकस्यात्यये प्रलये निमित्ते तमसा गुणेनोपलक्षितेन रुद्राख्य जीवेनोपबृंहितं कृष्णं तमोगुणमयं वर्णं शरीरं बिभर्षि ब्रह्मरुद्राख्य जीवानुप्रवेशेन जन्मसंयमौ करोषि। स्थितिन्तु साक्षात्त्वमेव करोषीत्यर्थः। अत्र शुक्लरक्तकृष्ण शब्दैः सत्त्वरजःस्तमोगुणाः लक्ष्यन्ते। यथा - "अजा मेकां लोहित शुक्ल कृष्णाम्" (म.ना. उ. 8-4) इत्यत्र तद्वद्रजस्तमश्शब्दाभ्यां तद्गुणप्रचुरौ ब्रह्मरुद्राख्यौ जीवौ वर्णशब्देन शरीरम्। सत्त्व मित्येकं पदं वा शुक्लं रजस्तमोभ्यां अननुविद्धं सत्त्वं शुद्ध सत्त्वमयं वर्णं शरीरं बिभर्षीत्यन्वयः॥ २०॥

यद्यपि भवान् दुष्कृद्विनाशपूर्वकं त्रिलोक पालनाधिकृतत्वा त्तदुपयुक्तया स्वासाधारणया तन्वा अवातरत् तथापि एनां तिरोधाप्य मनुष्यसजातीयां तनुमाश्रय, अन्यथा अधुनैवाऽयं कंसोऽभिद्रवति इत्यत्राऽऽह **त्वमस्येति** द्वाभ्याम्। हे विभो! अखिलेश्वर! अस्य लोकस्य रिरक्षिषुः पालयितु मिच्छुः मम गृहे कलत्रे अवतीर्णोऽसि, अस्येति कर्मणि षष्ठी। राजन्य संज्ञा ये असुरसङ्घा स्तेषां कोटिभि र्निर्व्यूहद्यमानाः प्रचोद्यमानाः चमूस्सेनाः निहनिष्यसि॥ २१॥

तथा हे सुरेश्वर! असभ्यः सत्सभाप्रवेशानर्हः। खलेश्वर इति पाठे दुष्टाग्रगण्यः अयं कंसः मम गृहे तव जन्म श्रुत्वा भविष्यतीति श्रुत्वा तन्मात्सयदिव हेतोः तवाग्रजान् न्यहनत् हतवान्। कंसोऽधुना पुरुषै स्स्वभटैः समर्पितं निवेदितं, श्रावितमिति यावत् तवाऽवतारं श्रुत्वा अधुनैवोद्धृत मायुधं खड्गो येन तथा भूतोऽभिसरति अभ्येति। अत एव तनूं तिरोधापयेति भावः। अधुना अभिसरन्त मपि हन्तुं प्रभुरेव त्वम्, तथाप्यहं ततो बिभेमीति च भावः॥ २२॥

---

1. K,W भगवान् 2. B. भगवा° 3- -3. K. omits 4. K. omits शुद्ध

**विज०** ज्ञानलिङ्गेन शरीरेन्द्रियादिभ्यो भेदेन ज्ञायसे इत्युक्तम्। तत्राऽज्ञानिन एवं मन्यन्त इत्याह - यदात्मन इति। आत्मनः परमात्मनः प्रत्यगात्मनः दृश्यगुणेषु शरीरेन्द्रियादिषु सन्निधेः प्रवेश लक्षणसन्निधानात् अबुधैः अस्वव्यतिरेकतः स्वाभेदेन व्यवस्यसे निश्चित्य ज्ञायसे इति यत् तदनुवादं अनुकूलं वेदवचनं विना न मनीषितम्, नैवाऽङ्गीकारयोग्यम्। कुत इति तत्राऽऽह - सम्यगिति। पुमान् पुरुषः पर्यङ्कशयनो विष्णुः व्यक्तं संशय निरासकरणं सम्यग्वचः अपौरुषेयत्वेन निर्दोषवेदवाक्यम् उपाददत् स्वीकृतवानाहेत्यन्वयः। परमात्मनोऽपि शरीरे सन्निधानात् अबुधैः स्वव्यतिरेकतो ज्ञायस इत्यादे स्यमर्थः सिद्धः। यदिदं जगदेक मेकीभूतं मा भविष्यतीति तर्ह्यहमेक एव निष्पट नितरां सहमानोऽभियोद्धास्मि। अथ वा द्वावभियात स्तावप्येवमेव, अथवा त्रय एतादृशा मामभ्येत्य किमु करन्ति किं कुर्वन्ति, त्वां घ्नन्तीति वार्ता मा भूत् अह मेव हन्मीत्याह - खलेनेति। पर्षान् धान्यानि कुतित्यादीनि खले इव भूरीणि शत्रुभूतानि जगन्ति प्रतिहन्मि हनिष्यामि त्वद्धननशक्त्यभावेऽपि तव दुर्भग जीवाभेदवचनेन त्वां निन्दन्तीति तत्राऽऽह किमिति। शत्रवो मा मां किं निन्दन्ति सर्वगुणाकरत्वेन दोषलेशस्पर्शाभावात् स्वतो दोषाभावेऽपि बलादापादयन्ति हीति तत्राऽऽह - अनिन्द्रा इति असमर्था इत्यर्थः। "प्रविष्टत्वाच्छरीरेषु जीव एवेति दुर्धियः मन्यन्ते परमात्मानं न तन्मतमनुव्रजेत्"। (ब्रह्माण्डे) इत्यादेः। तर्हि निन्दाफलं किमिति अस्याप्येतदेवोत्तरमाह अव्यक्तमिति। अव्यक्तं अप्रकाशलक्षणं व्यक्तिशून्य मन्धंतमः यान्तीति च वेदवचन मुपादत्ते। "ऐकात्म्य ज्ञानतो यान्ति तमः" (ब्रह्मवैवर्ते) इति। तर्हि भेदज्ञानस्य किं फलम्? इत्यस्यापि इदमेवोत्तरमित्याह - व्यक्तमिति। विगताञ्जनं निर्दोषभेदज्ञानं मुक्ति साधन मुपाददत् भेदात्परं पदं "स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यादि ज्ञानं भेददृशि भवेत्" (ब्रह्मवैवर्ते) इति वचनम्॥ १८॥

कुलालघटयोरिव कार्यकारणयो र्जगद्ब्रह्मणो: भेद: पारमार्थिक इति ज्ञापनाय सृष्टिप्रकारं स्पष्टयति **त्त्वत्त** इति। अस्य प्रपञ्चस्य कुलालवत् आयासग्रस्ततया कर्ता नाऽयम्, किन्तु पूर्णानन्दत्वेनेत्याशयेनाऽऽह - अनीहादिति। अनीहादक्लिष्टकारित्वात् इति। अनीहत्वेन कर्तात्वेन्मृद्वद्विकारित्वं हरे: इति तत्राऽऽह अविक्रियादिति। तथाऽविकृत एव सन् सर्वं करोतीति। नन्वियं सृष्टि: गुणपूर्विका सृष्टित्वात् पटसृष्टिवत् इति तत्राऽऽह अगुणादिति। नन्वियं प्रतीतिविरुद्धा सृष्टि: निष्क्रियस्य क्रियावत्त्वम्, अगुणस्य गुणवत्त्वम् अविकारिणो विकारित्व मिति तत्राऽऽह - त्वयीति। ईश्वरे ब्रह्मणीति पदद्वयं हेतुगर्भम् "ऐश्वर्यात्पूर्णशक्तित:" (ब्राह्मे) इति वचनात्। नन्वय मीश्वर: सृष्ट्यादौ प्रवर्तमानो गुणमपेक्षते न वा? प्रथमे गुणित्वं, द्वितीये सृष्ट्याद्यनुपपत्ति रिति तत्राऽऽह - तदाश्रयत्वादिति। गुणैस्सत्वादिभि: सृजसि न तत्र सन्देह:। तर्हि निर्गुणस्य गुणित्वापात इति शङ्का माऽभूदिति तदाश्रयत्वाद्गुणानां जडत्वेन स्वत: प्रवृत्त्यनुपपत्ते: तत्प्रवृत्त्यर्थं तत्प्रेरणा द्गुणित्युपचर्यसे नतु मुख्यतो गुणी "केवलो निर्गुणश्च" (श्वेता उ. 6-11) इति श्रुते:। ननु सगुणागुणवचनस्य का क्लृप्तिस्तर्हीति अस्यापीदमुत्तरं तदाश्रयत्वादिति। ज्ञानादि गुणै: क्लृप्तदेहत्वात् सत्त्वादिगुणविधुर इत्युपचर्यसे उपसङ्गम्यसे ज्ञायसे इत्यर्थ:। तेषां सत्त्वादिगुणाना माश्रयत्वादैश्वर्यादिगुणपूर्णत्वाद्वा सगुण इत्युपचर्यसे सम्भाव्यस इत्यर्थ:। "अगुणो गुणदेहत्वा त्सगुणो गुणधारणात्। ऐश्वर्यादिगुणित्वाद्वा वासुदेव इतीर्यते" (आग्नेये) इति वचनात् अर्थविशेषो ज्ञायत इति॥ १९॥

तदाश्रयत्वं प्रपञ्चयति **स त्वमिति**। अयमर्थ: यदा त्रिलोकस्थितये त्रैलोक्य रक्षणाय सत्त्वगुणं वर्धयन्नास्ते। तदा हयग्रीवादिरूपं शुक्लवर्णं बिभर्षि। "जगतां वर्धयन्सत्वं यदा रक्षति केशव:" (ब्रह्मतर्के) इत्यादे:। खल्वलुङ्लुतोऽयमर्थ:। यदा सर्गाय तत्तत्स्वभावाभिव्यक्तये रजो वर्धयन् तदा रजसोपबृंहितं रजोगुणशक्तिव्यञ्जकं रक्तं जामदग्न्यादिरूपं बिभर्षि खलु "वर्धयंस्तु रजो येन जगदुत्पादयेद्धरि:" (ब्रह्मतर्के) इत्यादे:। जनस्य अत्यय प्रलये, 'अत्तये' इति पाठे अत्ति: संहृति: तस्यै। यदा लोके तमो वर्धयन् तदा तमसोपबृंहितं तमोगुणप्रवर्तकं कृष्णं यादवादिरूपं बिभर्षि खलु। येन विनाशयेत् "वर्धयंस्तु तमो लोके तत्कृष्णं यादवादिकम्" (ब्रह्मतर्के) इति वचनात्। ननु सर्वत्र सर्वशक्त्यभावात् अपूर्णता हरे रित्यस्याऽपि इद मुत्तरं खल्विति जिज्ञासालक्षणा वीप्सा कर्तव्या। तथाहि यच्छुक्लं रूपं सत्त्वं वर्धयन्बिभर्षि तद्रूपं त्रिलोकस्थितये खलु न भवति किन्तु सर्गसंहाराभ्यां बिभर्षि। रजो वर्धयन् रक्तरूपं बिभर्षि तत्सर्गाय खलु न भवति किन्तु तत्स्थितिसंहाराभ्याञ्च बिभर्षि, यत्तमो वर्धयन् कृष्णं रूपं बिभर्षि तज्जनात्यय एव खलु न भवति, किन्तु तन्त्रिलोकस्थिति सर्गाभ्याञ्च बिभर्षि इति मन्दमतीनां विस्पष्टतयाभ्यासोक्तं "सर्वत्र सर्वं कुरुते विशेषस्तत्र कीर्तित:" (ब्रह्मतर्के) इत्यादे:। तत्तात्पर्यार्थपरतया श्लोकार्थो ज्ञातव्य:। 'षद्लृ विशरण गत्यवसादनेषु' इत्यादे र्धातो: सृष्टिसंहाराविति सत्त्वशब्देन ज्ञातव्यौ। 'रजो रागे' इति धातो: रागशब्दस्यानेकार्थत्वेन स्थितिसंहारार्थोऽपि ज्ञातव्य:। 'तमुग्लान' इति धातो: ग्लानशब्दस्य सृष्टिस्थितिविरोधिज्ञापकत्वेन तत्परत्वेनाऽर्थो बोद्धव्य:। निर्गुणस्य गुणोपरक्तत्वं कथमित्यत उक्तं स्वमाययेति। "स्वेच्छयाऽनुगुणा द्विष्णु: नानारूपान्करोत्यज:" (तन्त्रभागवते) इत्यादि च। "निषेधे वागलङ्कारे ज्ञीप्सनेऽनुनये खलु" (वैज. को. 8-7-20) इति यादव:॥ २०॥

सर्वरूपेषु सर्वशक्ति रस्तीत्याशयेन स्तौति - **त्वमस्येति** । त्वदवतारेण संहारकारणेन रक्षा कथङ्कारा स्यादित्याशङ्क्य, असतां हनने सतां तारतम्येन सुखसमृद्धिः स्यादित्याशयेनाऽऽह राजन्येति। निर्व्यूह्यमानां प्रतिव्यूह्यमानां निहनिष्यसे निहनिष्यसि गमयिष्यसि सतां सुखानुभवमिति शेषः। 'चर भक्षण' इति धातोः "सतां सुखविवृद्ध्यर्थ मसतां पीडनं हरेः" (ब्रह्मतर्के) इत्यादेश्च ॥ २१ ॥

स्वात्मनि स्वभक्तेषु द्वेषबुद्धिकरत्वेन द्वेषात्मकं तमो भवतीत्यतः तदुपादाय त्वत्प्रवर्तन मित्याशयेनाऽऽह - अयं तमस्य इति। तमस्यः स्वभक्तद्वेषमूर्तिः। तदुक्तम् - "तमो द्वेषात्मकं शुद्धं सत्त्वात्मक मुदीर्यते" (ब्रह्मतर्के) इति वा जन्म भविष्यतीति स्वपुरुषैः समर्पितम्। अभिसरत्यभ्यागच्छति, उदायुधः धृतायुधः ॥ २२ ॥

---

★ Foot note of M. Edition :- "अभी इदमेकमेको अस्मि निःषाल भिद्वा किमु त्रयः करन्ति। खलेन पर्षान् प्रतिहन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्रा":- (ऋ. वे. 10-48-7) इति श्रुतिः। 1. B. omits द्वितीये

## -: स्वस्वरूपेणाऽऽविर्भूतं श्रीपरमपुरुषं प्रति देवकी कृत स्तुतिः :-

### श्रीशुक उवाच

**अथैन मात्मजं वीक्ष्य महापुरुष लक्षणम्।**
**देवकी तमुपाधावन्कंसाद्भीता शुचिस्मिता ॥ २३ ॥**

### देवक्युवाच

**रूपंयत्तत्प्राहु रव्यक्तमाद्यं ब्रह्मज्योति र्निर्गुणं निर्विकारम्।**
**सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं सत्त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः ॥ २४ ॥**

**नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने महाभूते ष्वादिभूतं गतेषु।**
**व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन यातेभवानेकश्शिष्यतेऽशेषसंज्ञः ॥ २५ ॥**

**योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्त बन्धो चेष्टा माहुश्चेष्टते येन विश्वम्।**
**निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयां स्तन्त्वेशानंक्षेम धाम प्रपद्ये ॥ २६ ॥**

**मर्त्यो मृत्यु व्यालभीतः पलायन् लोकान्सर्वान्निर्भयं नाऽध्यगच्छत्।**
**त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाऽद्य स्वस्थश्शेते मृत्यु रस्मादपैति ॥ २७ ॥**

**स त्वं घोरादुग्रसेनात्मजान्न स्त्राहि त्रस्तान्भृत्यवित्रासहाऽसि।**
**रूपश्चेदं पौरुषं ध्यानधिष्ण्यं मा[2] प्रत्यक्षं मांसदृशा[3] कृषीष्ठाः॥ २८॥**

**जन्मते मय्यसौ पापो मा विद्यान्मधुसूदन।**
**समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादह मधीरधीः॥ २९॥**

**उपसंहर विश्वात्मन् अदो[4] रूप मलौकिकम्।**
**शङ्ख चक्र गदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम्॥ ३०॥**

**विश्वं यदेतत्[5] स्वतनौनिशान्ते यथावकाशं पुरुषः परोभवान्।**
**बिभर्ति सोऽयं ममगर्भगोभूद्[6]हो नृलोकस्य विडम्बनं महत्[7]॥ ३१॥**

---

1. M. दीपम्, 2. M. अप्र° 3- -3. K.M.W. मादृशां त्वं 4. K.V.W. अथो 5. K.W. य एतत् 6. V. °जो 7. B.G.J. हि तत्॥

**श्रीध० अथेति।** उपाधावत् अस्तौत्॥ २३॥

देवकी, किञ्चिद्विज्ञापयितुं त्वयि भयशङ्केव तावन्नास्तीति श्लोक चतुष्टयेनाऽऽह - **रूपमिति।** यत्तत्किमपि रूपं वस्तु प्राहुर्वेदाः किं तद्वस्तु तदाह - अव्यक्तम्। अत्र हेतुः आद्यं कारणम्। किं परमाणवः, न ब्रह्म बृहत्। किं प्रधानम्? न ज्योति श्चेतनम्। किं वैशेषिकाणामिव ज्ञान गुणकम्? न निर्गुणम्। किं मीमांसकानामिव ज्ञानपरिणामि, न निर्विकारकम्। किं पुष्कराक्षादीनामिव शक्ति विक्षेपपरिणामि[1] न सत्तामात्रम्। तर्हि किं सामान्यम्? न[2] निर्विशेषम्[2] तर्हि किं कारणत्वा त्सक्रियम्[2] न निरीहम् सन्निधिमात्रेण कारणम्। एवम्भूतं किमपि कार्यं कल्प्यं यद्वस्तु स एव साक्षा त्त्वं विष्णुरिति। अपरोक्षश्चेत्याह अध्यात्म दीप इति। बुद्ध्यादिकार्यकारण सङ्घातप्रकाशक इत्यर्थः। अथवा, अव्यक्तं न केनापि प्रकारेण व्यज्यत इत्यव्यक्तम्, कथम्! उत्पत्त्या तावन्नव्यज्यत इत्याह - आद्यं सर्वस्य कार्यस्याद्यम् अनादीत्यर्थः तथा ब्रह्मज्योति र्निर्गुणं निर्विकारम् - इति चतुर्भिः पदै र्देशेन प्रकाशेन च गुणेन च विकारेण च व्यक्तिं निराकरोति - तथा सत्तामात्रमिति विशेषेण निर्विशेषमिति सामान्येन निरीह मिति क्रियया च व्यक्तिं निराकरोति - अन्यत्समानम्। एवम्भूतस्य तव न भयशङ्केतिभावः॥ २४॥

किञ्च महाप्रलयेऽप्यवाशिष्यमाणस्य कुतो भयमित्याह **नष्ट** इति। चराचरे लोके महाभूतेषु लीनेषु[2] तेष्वपि[3] आदिभूतं भूतसूक्ष्मं प्रविष्टेषु तस्मिन्नपि व्यक्तेऽव्यक्तं प्रधानं प्राप्ते। अशेषात्मके प्रधाने संज्ञा प्रज्ञा यस्य। एवं मयि लीनमिदमस्ति पश्चादेवमुद्बोधनीय मिति सोऽशेषसंज्ञः शेष संज्ञ इति वा॥ २५॥

**य** इति। किञ्च, एवं प्रलय हेतुर्योऽयं काल एतम्। हे अव्यक्तबन्धो ! प्रकृति प्रवर्तक तस्य प्रलयावधिभूतस्य ते तव चेष्टां लीलां चेष्टते विपरिवर्तते पुन: पुनर्वत्सरावृत्त्या। महीयान् द्विपरार्धरूप: यस्य चेष्टामाहुस्तं त्वा त्वां क्षेमधाम अभयस्थानं प्रपद्ये शरणं व्रजामि॥ २६॥

क्षेमधामत्वमेवाऽऽह - **मर्त्य इति।** लोकान्प्रति यदृच्छया केनाऽपि भाग्योदयेन। [4-]अत्र छन्दो भङ्ग अर्ष:[4] हे आद्य!॥ २७॥

प्रस्तुतं विज्ञापयति स इति भृत्यानां वित्रासं हन्तीति भृत्यवित्रास हा। भृत्यविदिति वा च्छेद: पौरुषमैश्वरम्। ध्यानाधिष्ण्यं ध्यानास्पदम्। मांसदृशां मांसचक्षुषां मा[5-]दृशां[5] त्वं इत्यपि पाठान्तरम्। प्रत्यक्षं मा कृथा:॥ २८॥

**जन्मेति।** भवत एव हेतो र्निमित्तात्[6] कंसात् समुद्विजे बिभेमि यतोऽधीरधी: अधीर चित्ता॥ २९,३०॥

किमित्युपसंहर्तव्य मेवं भूतेन [7]मया पुत्रेण तव [8]महती श्लाघा स्यादिति [9]चेत् तत्राऽऽह विश्विमिति। निशान्ते प्रलयावसाने यथावकाश मसङ्कोचत: असम्भावितत्वात् [10]उपहास्यतैव स्यादित्यर्थ: ॥ ३१॥

---

1. V. ०पणप० 2- -2. V. omits 3. J. लीनेष्वपि 4- -4. B.J. omit 5- -5. B.J. omit 6. V. ०त्तभूतात् 7. V. omits मया 8. V. बृ° 9. B.J. omit चेत् 10. B. अप°

**वीर०** अथैनं देवक्यापि स्तुत्वा प्रार्थयामासेत्याह[1]- **अथेति।** महापुरुषस्य भगवतोऽसाधारण विलक्षणानि चतुर्भुजत्वादीनि यस्य तमेन मात्मजं वीक्ष्य परमपुरुषं ज्ञात्वा पूर्वं कंसा द्भीताऽपि शुचिस्मितं यस्या स्तथाभूता स्वपुत्ररूप भगवद्दर्शनि निवृत्त भीतित्त्वात् शचिस्मिता सती देवकी तमुपाधावत् तुष्टाव॥ २३॥

उपाधावन मेवाऽऽह **रूपमि**त्यादिभिश्चतुर्भि: । तत् प्रसिद्धं यत् वैदान्तैक समधिगम्यं परमात्मस्वरूपं स एव त्वमिति स्तौति रूपमिति। यत्तद्रूपं वेदान्ता: प्राहु: स साक्षाद्विष्णुस्त्व मित्यन्वय:। रूप्यते [2]प्रकृतिपुरुष विलक्षणत्वेन निरूप्यते इति रूपं परमात्मस्वरूपम्। वैलक्षण्यमेव दर्शयितुं विशिनष्टि अव्यक्त मित्यादिना तत्राऽव्यक्तं निर्गुणं सत्तामात्रं निर्विशेषमित्येतानि प्रकृति व्यावर्तकानि विशेषणानि। [3]इतराणि तु पुरुषव्यवच्छेदकानीति विवेक:। अव्यक्तं व्यक्तै रिन्द्रियै र्न व्यज्यते न विषयीक्रियते इत्यव्यक्तम् अदृश्य मतीन्द्रिय मित्यर्थ:। प्रधानन्तु पृथिव्यादि रूपेण व्यक्तमिति भाव:। अत्र "यत्तदद्रेश्य मग्राह्यम्" (रुद्र. ह 31) इत्यादि श्रुति रनुसन्धेया। यद्वा तदन्यार्थको नञ्, पृथिव्यादि रूपेण व्यक्तात् अचिद्रव्यादन्य दव्यक्तमिति साध्य धर्मोक्ति:। तत्र हेतु: आद्यम् आदौ भवम् आद्यम् व्यक्ता दचि द्रव्या दादौ कारणत्वेनावस्थितम्। किं तर्हि तत्सूक्ष्मावस्थ मचिद्रव्यम्? नेत्याह। निर्गुणं सत्त्वादिगुणरहितम्। अनेन सूक्ष्मावस्था

चिद्व्यावृत्तिः। सत्तामात्रं सतो भाव स्सत्ता, सैव सत्तामात्रम्। सच्छब्द सततैकरूपवस्तु वाचि वृद्धिक्षयादिरहित मित्यर्थः। निर्विशेषं विशेषा श्शब्दस्पर्शादय आकाशादिभूतपञ्चक गुणाः तेभ्यो निर्गतं तद्रहित मित्यर्थः। एवं कार्यकारणो भयावस्था चिद्व्य व्यावृत्तिः। अथ चिद्व्य व्यावृत्तये विशिनष्टि। ज्योतिः स्वयम्प्रकाशकम्। किं तर्हि तद्बद्धजीवः? नेत्याह। निर्विकारं शोकमोहादि विकाररहितं निरीहं पुण्य पापरू[4-]पव्यापार[-4]हितम्। तर्हि तत्किं मुक्तजीवः नेत्याह अध्यात्म दीपः आत्मन्यध्यात्ममिति विभक्त्यर्थेऽव्यभीभावः। आत्मनि दीपः दीपवत्स्वप्रकाशं नित्य मसङ्कुचितं धर्मभूतं ज्ञानं यस्य सः। अनेन मुक्तजीव व्यावृत्तिः। तेषां संसारदशायां सङ्कुचित ज्ञानत्वात्। तर्हि किं नित्यसिद्धजीवः? नेत्याह। ब्रह्म स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशय बृहत्। अनेन नित्यसिद्धव्यावृत्तिः तत्स्वरूपस्याप्यणुत्वात् स त्वं विष्णुरध्यात्मदीप इति पुंस्त्व निर्देशो विधेय प्राधान्याभिप्रायकः। तत्त्वम्[5] इति पा[6-]ठान्तरम्। तदा[-6] तस्य भाव स्तत्त्वमबाधित मित्यर्थः। एवं प्रकृत्यादि विलक्षण मबाधित मित्यर्थः। एवं प्रकृत्यादिविलक्षण मबाधितं यद्रूपं तत्त्व मित्यध्याहारः। यद्वा तत् त्वम् इति पदद्वयम्। यत्तदित्यत्र तच्छब्दः प्रसिद्धिद्योतकः। यत् प्रसिद्धं प्रकृत्यादि विलक्षणं रूपं तत्त्वमित्यन्वयः। प्रकृत्यादीनामपि तच्छरीरत्वेन तदात्मकत्वात् तदनन्यदेवेति तव्यावृत्तये साक्षात्तत्व मित्युक्तम्। प्रकृत्यादीनां तदनन्यत्वं शरीरात्मभाव कार्यकारण भावनिबन्धनम्। तव तु तद्रूपानन्यत्वं मृदात्मको घट इतिवत्स्वरूपाभदेरूपमिति साक्षाच्छब्दाभिप्रेतोऽर्थः। चतुर्मुखादि देवान्तरव्युदासाय विष्णुरित्युक्तम्॥ २४॥

आद्यत्वमेव दर्शयितुं प्राकृत प्रलयावशिष्टं वस्तु त्वमेवेत्याह - नष्ट इति। चतुर्मुखस्य तन्मानेन वर्षशतात्मकमायुः, तस्य पञ्चाशद्वर्षात्मकं पूर्वार्धम्, उत्तरार्धञ्च परार्धमुच्यते तदुक्तम् "ब्रह्मणस्स्वस्य मानेन आयुर्वर्षशतं स्मृतम्। तत्परं वैतदर्धन्तु परार्धमाभिधीयते" इति। द्विपरार्धावसाने द्वयोः परार्थयो रवसाने चतुर्मुखलय इत्यर्थः। कालस्य वेगेन हेतुना महाभूतेषु पृथिव्यादिषु स्वकारणपरम्परया आदिभूतं भूतादि महङ्कारं गतेषु तस्मिन् लीनेषु सत्सु तथा व्यक्तेऽहङ्कारप्रकृतिभूते महत्तत्त्वे अव्यक्तं सूक्ष्मावस्थमचिद्रव्यं याते गते सति इदं "अव्यक्त मक्षरे लीयते अक्षरं तमसि लीयते, तमः परे देव एकीभवति" (सुबा उ. 2-2) इति श्रुत्यर्थस्याप्युपलक्षणम्। एवं सति यश्शिष्यते पदार्थः स एको भवानेव यतो भवानवशिष्यते। अत एव निमित्ताच्छेषसंज्ञः शेषशब्दाभिधेयश्च। नामरूपविभागानर्ह सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टतयाऽवशिष्ट एक स्त्वमेवत्येकशब्दाभिप्रायः। अनेन "तमः परे देव एकीभवति" (सुबा उ. 2-2) इति श्रुत्युक्तैकीभाव श्चाभिप्रेतः नामरूपाभ्या मविभाज्यतय स्वाश्रयवस्तु संश्लेषो हचेकी भावः। अनेन प्रकृतिपुरुषयो र्नित्यत्वं फलितम्। एतदभिप्रायणैव हि श्रुतौ "अक्षरं तमसि लीयसे" (सुबा. उ. 2-2) इत्येतत्पर्यन्तं सर्वत्र लय उक्तः। "तमः परे देव एकी भवति" (सुबा. उ. 2-2) इत्यत्रत्वेकीभावः। अयमर्थः। अत्रद्विविधो हि लयो विवक्षितः। एकस्तावत् स्वावस्थाप्रहाणेन पूर्वावस्थाप्राप्तिरूपः यथा पृथिवीत्वावस्थायाः प्रहाणेन स्वावस्था प्राप्तिः; इतरस्तु स्वावस्थाप्रहाणमन्तरेण वस्त्वन्तर विभागानर्ह संसर्गविशेष प्राप्तिः - यथा प्रकृति पुरुषयोः पुरुषरूपं प्रकृतिरूपञ्च [8]परित्यज्य नित्यसिद्धमबाधित्वा विशेष भूतेन भगवता विभागानर्ह संसर्ग विशेष प्राप्तिः। तदेव "तम एकी भवति" (सुबा. उ. 2-2) इति विशिष्टैक्यरूपतया अभिधीयते। तदेवचाऽत्रैक शब्देनाप्यभिप्रेतम्। पूर्वन्तु "पृथिव्यप्सुप्रलीयते" (सुबा. उ. 2-2) इत्यादिना साक्षाल्लयशब्द

एव प्रयुज्यते "उभा वेतौ लीयते परमात्मनि इति वैष्णववचन मपि प्रकृतिपुरुषयो र्भगवता सह संश्लेषमात्र मेव कथयतीति न विरोध:। संसर्ग विशेषेऽपि लयशब्द: प्रयुज्यते; यथा - "वृक्षेषु पक्षिणो लीयन्ते" इति[10] अत एव "प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्धचनादी उभावपि" (भ.गी. 13-19) "अचेतना परार्थी च नित्या सतत विक्रिया" (परमसंहिता) इत्यादिषु "तदेतदक्षय नित्यं" (विष्णु. पु. 1-22-60) "जगत्स्थावर जङ्गमम्" इत्यादिषु वेदपारवेदिनां पराशरादीनां वाक्येषु च प्रकृति पुरुषो रनादित्वं प्रोक्तम्। तस्मादपि तयोर्न साक्षा द्विलय:। यथा आयुधरूपेण परिणते अयसि परिगृहीतं तोयं तोयरूपेणैव तिष्ठति। अन्यथा स्नेहानुवृत्त्याद्ययोगात्। तद्वत्प्रकृतिपुरुषवाचि भगवत्यविभागार्ह संसर्गमा[11]त्रेणैकीभा[12]व व्यवहारविषयमात्रभूतौ विशेषणजगत्सृष्ट्यादा वुपकुरुत इति। "महानव्यक्ते विलीयते" (सुबा. उ. 2-2) इत्यादि श्रुतौ अव्यक्तशब्द श्चित्समष्टिसंस्पृष्टाचित्समष्ट्यावस्था विशेषपर:। अक्षरशब्द स्त्वचित्समाष्टि पर:। तम शशब्दस्तु सर्वाचित्प्रपञ्चकारणभूता जहत्स्वावस्थ सूक्ष्मचित्पर:॥ २५॥

ननु कालवेगेनेति कालावशेषस्यापि सूचितत्त्वेन कथमेकस्य ममैवाऽवशेष इत्यत्राऽऽह **योऽय** मिति। अव्यक्त बन्धो: अव्यक्तस्य निरतिशय सूक्ष्मदशामापन्नस्य प्रधानस्य बन्धो! तदाश्रयत्व रूपं तद्बन्धुत्व मिह विवक्षितम्। इदं दृष्टान्तार्थ मुक्तम्। यथा सूक्ष्मचिद्रव्यं त्वयि संश्लेष मा[13]पन्नं त्वदपृक्सिद्ध विशेषणं सत् - त्वदेकत्वाविरोधि तद्वदयं कालोऽपृक्सिद्धविशेषणभूतस्सन्नेकत्वाविरोधीति योयं निमेषादि वत्सरान्त:। कालस्य सूक्ष्मावस्था निमेष:। स्थूलावस्थातु वत्सर:। महीयान् महीयस्त्वमत्र ब्रह्मादीना मपि प्रभुत्वरूपं विवक्षितम्। येन कालेन निमित्तेन भवान्विश्वं चेष्टते करोति सृजन्त्यवत्यत्ति च। यद्वा विश्वं कर्तृ। चेष्टते प्रवर्तते तं च कालं तस्योक्तविधस्य ते तव चेष्टा माहु: चेष्टातुल्य मपृथक्सिद्धविशेषण माहु:। अतो नाऽयं त्वदेकत्व विरोधीति भाव:। यं कालं यस्य तव चेष्टामाहुस्तमीशानं कालस्याऽपि नियन्तारं क्षेमधाम क्षेमस्याऽऽश्रयं क्षेमङ्करं त्वां प्रपद्ये शरणं व्रजामि हेतुगर्भ मिदं, क्षेमधामत्वात्प्रपद्ये इत्यर्थ:॥ २६॥

कीदृशं तत्क्षेमधामत्वम्? यतो मां प्रपद्यते इत्यत्राऽऽह - मर्त्य इति। मर्त्य: मरणशील:, जन्मनोऽप्युपलक्षणमिदम्। जन्ममरणादि रूपसंसृति भाक् पुमान् मृत्युव्यालभीत:, मृत्यु: जन्ममरणादि रूपस्संसार: स एव व्याल: दुष्टसत्व: तस्माद्भीत:, मुमुक्षुस्सन्नित्यर्थ:। सर्वान् लोकान् प्रति पलायन् पलायमान:। परस्मैपद मार्षम्। लोक्यन्ते उपायत्वेनाऽध्यवस्यन्ते इति लोका उपाया:, सर्वानुपाया ननुतिष्ठ न्नित्यर्थ:। निर्भयं भयस्यभावो निर्भयम्, अर्थाभावेऽव्ययीभाव:। मृत्युव्यालभयाभावं नाऽध्यगच्छत्, न प्राप, न मुक्तो बभूवेतिभाव:। यदृच्छया यादृच्छिक सुकृत विशेष परिपाकेन त्वत्पादा[15]ब्जं प्राप्य उपायत्वेन प्राप्य, शरणं प्रपद्येति भाव: स्वस्थ: मृत्युव्यालभयनिवृत्तये कर्तव्योपायान्तर रहित: शेते यावज्जीवं सुखं वर्तते, ततोऽस्मान्मृत्युरपैति अपगच्छति। संसारान्मुक्तो भवतीत्यर्थ:। स्व[16]पादाब्ज शरण वरण मात्रेण[17] नि:श्रेयस प्रदस्य तव कियदेतल्लौकिकश्रेय: पदत्व मिति भाव:॥ २७॥

इत्थमभिष्टूयाऽथ हृद्गतं विज्ञापयति **सत्त्वमिति।** स: क्षेमङ्करस्त्वं घोरात् द्रष्टुमप्यशक्यात् उग्रसेनस्यात्मजात्कंसात् त्रस्तान् भीतान्नोऽस्मान् त्राहि पाहि, यतस्त्वं भृत्यानां वित्रासहाभयापहर्ता भवसि। पौरुषं परमपुरुषासाधारणं परमपुरुषत्व सूचक मिदं रूपं ध्यानधिष्ण्यं योगिनां ध्यानैक शुभाश्रयभूतम्, अत स्त्वं मादृशां मांस चक्षुषां प्रत्यक्षं मा कृषीष्टा: मा कार्षी:॥ २८॥

हे मधुसूदन ! अयं पाप: कंसो मयि तव जन्म मा विद्यात् न[18] जानातु। तत्र हेतुमाह - भवेद्धेतो: त्वद्रूपात्कारणात् भवदवतारू[19] पनिमित्ता दिति यावत्। कंसा दह मधीरधी: हेतुगर्भ मिदम्। धैर्यरहित बुद्धित्वात् सुमुद्विजे बिभेमि॥ २९॥

हे विश्वात्मन्! अथो अत:। अद इति पाठे अद: एतत् शङ्खचक्रादिभि:[20] जुष्टं श्रीलक्ष्मी: शङ्खादीनां श्रिया जुष्टं[21] वा चत्वारो भुजा यस्मिन्। अत एव अलौकिकं प्राकृत जने एव सम्भावितं रूपम् उपसंहर तिरोधापय॥ ३०॥

स्वनाभिकमलस्याखिललोक मपरिच्छिन्न वैभवं भगवन्तं गर्भे[22] धृतवत्यस्मीति विस्मर्यते - विश्वमिति। निशा प्रलय: तस्य अन्तस्सृष्टिदशा तदा स्वतनौ स्वतन्वेकदेशभूते नाभीकमले य: परमपुरुषो भवानेतत्[23] कृत्स्नं चिदचिदात्मकं विश्वं बिभर्ति सोऽयं भवान् मम गर्भगोऽभूदिति यत्, तन्नृलोकस्य विडम्बनं तद्वदनुकरणमात्रम्। अहो! अत्याश्चर्य मेतस्य भगवतो माहात्म्यमिति वि[24] स्मय:॥ ३२॥

---

1. B. adds मुनि: 2. K. प्राकृत 3. B. अन्यानि 4- -4. K. omits 5. K.W. add साक्षात् 6- -6. B. पाठे 7. K. °त्वमेवेति 8. K. omits परित्यज्य 9. B. omits अपि 10. B. adds साक्षाल्लय एव प्रयुज्यते। 11. B. adds विशेष 12. K. भावे 13. B. adds विशेष 14. B. °ऽप्य° 15. B °दाम्बुजं 16. B. त्वत् 17. B. adds एव 18. K. मा 19. B. रूपात् 20. K.W. omit चक्र 21. B. adds शोभया 22. B.adds स्व 23. B adds इदं 24. K.W. स्मय:

**विज०** उपाधावत् गुणस्मरण पूर्वकं तुष्टाव॥ २३॥

भगवदनुग्रह पात्रत्वात् वेदान्तनिर्णीतगुण विशिष्टं स्तौति **रूप** मिति। यद्यस्य तद्रूप मेवंविधं प्राहु:, वेदान्ता इति शेष:। परोक्षत्वा त्तदित्युच्यते। कथम्भूत मव्यक्तम् ? आराधनेऽपि स्वप्रसादमन्तरेणाऽप्रत्यक्षं "तदव्यक्त माह हि" (ब्र.सू. 3-2-23) "अव्यक्त मचलं ध्रुवम्" तर्हि शून्यं नेत्याह। आद्यं आदौ विद्यमानम् "आत्मावा इद मेक एवाग्र आसित्" (ऐत. उ. 1-1-1) किमस्य संज्ञेत्यत्राऽऽह ब्रह्मेति "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम् (तैति. उ. 2-1-1) अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेति? बृहन्तोस्मिन्गुणा: संज्ञान्तर माह ज्योति रिति "परं ज्योति रूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभि निष्पद्यते" (छान्दो उ. 8-4-3) । यद्वा गुणित्वेऽपि चेतनत्वं माभू त्घटवदित्यत्राऽऽह - ज्योति: ज्ञानलक्षण

प्रकाशरूपं सुवर्णज्योतीः साक्षी चेता च गुणास्सत्त्वादयः किम् नेत्याऽऽह "निर्गुणं केवलो निर्गुणश्च" (श्वेता. उ. 6-11) उत्पन्नक्षणे सर्वकार्याणां निर्गुणत्व मुत्तरक्षणे नास्तीत्यादि विकारः किं न स्यादित्यत्राऽऽह निर्विकारम् "निर्विकारोऽक्षरश्शुद्धः" अज्ञानादि मिश्रज्ञानगुणः किं न स्याज्जीवगुणव दिति तत्राऽऽह सत्ता मात्रम् सर्वाशुभ निर्मुक्तगुणैक रूपम् "सर्वाशुभविनिर्मुक्तगुणमात्रो यतो हरिः। सत्तामात्र मतःप्राहुः" (तन्त्रभागवते) एवं विध मन्यन्नास्तीत्याह निर्विशेषम्, निर्गतो विशेषो द्वितीयो यस्मात्तन्निर्विशेषम्। निर्विशेषोऽखिलोत्तमः एकमेवाऽद्वितीयम् निरीहम् आत्मकर्तृत्वाभिमानादिरहितम्, न तु क्रियाशून्यम् "स इमाँल्लोकानसृजत" (ऐत. उ. 1-2) इति श्रुतेः। "अनादरान्निरीहश्च सेहः सर्वकृतीयतः" (तन्त्रभागवते) स साक्षात्त्वम् अन्यो न विद्वज्जनोक्त लक्षण संज्ञाभ्यां अयं नारायण इति प्रत्येत्यतः प्राकृतजन प्रत्ययोत्पत्तये तत्सिद्धसंज्ञामाह विष्णुः णकारो बलं षकारः प्राण आत्मा "सयो हैतौ णकारषकारावनुसंहितमृचो वेद" योगिभि र्ध्येयं वात्स्विदमेव नाऽन्यदित्याशयेनाऽऽह अध्यात्म दीपम्। आत्मानमधिकृत्य वर्तमानदेहेन्द्रियादि प्रकाशकम् "अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" (कठ. उ. 2-12) यत्तदिति सामानाधिकरण्येन प्रकृते यदित्यस्य षष्ठीत्यङ्गीकारे किं नियामक मुच्यते स इति पुंलिङ्गेन परामर्शात् तद्रूप मिति अभ्युपेयते स इति पुनरुक्तेः। प्रथमायाः षष्ठ्यर्थत्वं न दृष्टमिति चेत् न "सप्तसु प्रथमा" (शब्दनिर्णये) इति सूत्रात्॥ २४॥

निर्गुणत्वादिकं तल्लक्षणमेवेत्याह - **नष्ट** इति। द्विपरार्धावसाने ब्रह्मणः शतायुर्लक्षणः कालः द्विपरार्धः तस्यावसाने लोके नष्टे इति सामान्येनोक्तं विशिनष्टि - पञ्चमहाभूतेषु पृथिव्यादिषु अहङ्कारद्वारा आदिभूतं महत्तत्वं गतेषु व्यक्ते महत्तत्वे अव्यक्तं प्रधानं गते सति अशेष संज्ञः अशेषाः संज्ञा यस्य स तथा "नामानि सर्वाणि च यं विशन्ति" इति श्रुतेः॥ २५॥

कालवेगेन यात इत्यत्र प्रतीतं कालस्वातन्त्र्यं निवारयति **योऽय** मिति। निमेषादि र्वत्सरान्तो योऽयं कालः तं कालं यश्चऽशेषसंज्ञं स्तस्य ते तव चेष्टा माहु रित्यन्वयः। अव्यक्त बन्धो! मुख्यप्राण[1] बन्धो![2] येन त्वया येन कालेन वा क्षेमधाम निर्भयस्थानम्। "अभयं प्रतिष्ठां विन्दते" (तैत्ति उ. 2-7) इति श्रुतिः॥ २६॥

क्षेमधामत्वं दर्शयति **मर्त्य** इति। मृत्यु रेव व्यालः तस्माद्भीतः पलायन् पलायमानः अस्मान्मत्यात्॥ २७॥

भृत्यवित्रासहा भृत्यानां विविधभयनाशकोऽसि। मादृशामप्रत्यक्षं कृषीष्ठाः प्रत्यक्षं न कुरु। ध्यानधिष्ण्यं ध्यानविषयम्॥ २८॥

अप्रत्यक्षकरणे कारणमाह जन्मेति। मा विद्यात् न जानातु। समुद्विजे बिभेमि अधीरधीः **चञ्चल** बुद्धिः॥ २९, ३०॥

हरेः गर्भवासादि दुःखानुभावो नास्ति इत्याशयेनाऽऽह - **विश्वमिति।** निशान्ते रात्रिमध्ये यथावकाशं अवकाशमनतिक्रम्य। 'यथासादृश्ये' (अष्टा 2-1-7) इति समासः॥ ३१॥

---

1. B. omits प्राण 2. B. adds. प्रारब्धः

श्रीभगवानुवाच

त्वमेव पूर्वसर्गोऽभूः पृश्निः स्वायम्भुवे सति।
तदायं सुतपा नाम प्रजापति रकल्मषः॥ ३२॥

युवां वै ब्रह्मणाऽऽदिष्टौ प्रजासर्गे यदा ततः।
सन्नियम्येन्द्रिय ग्रामं तेपाथे परमं तपः॥ ३३॥

वर्षवातातप हिमधर्मकालगुणा ननु।
सहमानौश्वासरोध विनिर्धूत मनो मलौ॥ ३४॥

जीर्ण[1] पर्णानिलाहारा वुपशान्तेन चेतसा।
मत्तः कामानभीप्सन्तौ मदाराधन मीहतुः॥ ३५॥

एवं वां तप्यतो भद्रे[2] तपः परमदुष्करम्।
दिव्यवर्षसहस्राणि[3] द्वादशेयु र्मदात्मनोः॥ ३६॥

तदा वां परितुष्टोऽह ममुना वपुषाऽनघे।
तपसा श्रद्धया नित्यं भक्त्या च हृदिभावितः॥ ३७॥

प्रादुरासं वरदराड् युवयोः कामदित्सया।
व्रियतां[4] वर इत्युक्ते मादृशो वां वृतस्सुतः॥ ३८॥

---

1. B.G.J.M. शीर्ण 2. B.G.J. °स्तीव्रं° 3. V. °णां, 4. K.V.W. व्री°

**बृहद्०** चतुर्भुजेन[1] रूपेणाविर्भवि कारणं तावदाह - **त्वमेवेत्यादि** चतुर्दशभिः श्लोकैः[2] । पूर्वसर्गे प्रथम जन्मनि। अभूः आसीः। पृश्नि नाम स्वायम्भुवे[3] स्वायम्भुवमन्वन्तरे, तदा अयं वसुदेवः ॥ ३२ ॥

**युवामिति ।** तेपाथे दुष्करं[4] तपः कृतवन्तौ युवाम्[5] ॥ ३३ - ३५ ॥

**एवमिति।** तप्यतो राचरतोः ईर्युर्गतानि मदात्मनो र्मचित्तयोः ॥ ३६ ॥

**तदेति ।** अमुना वपुषा ॥ ३७ ॥

**प्रादुरासमिति ।** प्रादुरासं[6] प्रादुर्भूतोऽस्मि । वरदराट् वरदेषु श्रेष्ठ इत्यर्थः । तेन सकृद्वरेण च वारवार माविर्भवि[7] कारणमुक्तम्। कामस्य दित्सया दातुमिच्छया मादृशो मया सदृशः ॥ ३८ ॥

---

1. V. ° जरू ° 2. B.J. omit श्लोकैः। 3- -3 B.J. omit 4. B.J. omit दुष्करं 5. B.J. omit युवां 6. V. omits प्रादुरासं

7. V. ° वका °

**वीर०** तदेव पितृभ्यां संस्तुतः प्रार्थितश्च स्वासाधारणादिव्य मङ्गल[1] विग्रह प्रदर्शननिमित्तं विवक्षु स्तदुपोद्घातरूप मितिहास माह - भगवान् **त्व** मित्यादिना एतद्वामित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन पूर्वसर्गो इतस्तृतीयेजन्मनि स्वायम्भुवे मन्वन्तरे[2] त्वमेव पृश्नि र्नाम योषिदभूः। तदाऽयं तव भर्ता वसुदेव स्तु सुतपा नाम प्रजापति रभूत्। कथम्भूतः? अकल्मषः शुद्धः॥ ३२॥

एवं सति यदा युवां ब्रह्मणा चतुर्मुखेन प्रजासर्गे निमित्ते आदिष्टौ आज्ञप्तौ[3]। ततः इन्द्रियग्रामम् अन्तर्बाह्येन्द्रियगणं सम्यङ्निगम्य निगृह्य परमं उत्कृष्टं[4] तपः तेपाथे चक्राथे। पाकं पचतीतिवत् निर्देशः॥ ३३॥

तपसः परत्वमेव दर्शयितुं तौ विशिनष्टि वर्षवाततपेत्यादि[5-5] वर्षादीन् कालधर्मान् ऋतुधर्मान् अनुक्रमेण प्राप्तान् सहमानौ धर्म आतपजं स्वेदोदकम्। 'घृ - क्षरणे' इति धातुः। श्वासनिरोधेन प्राणवायुनिरोधेन निर्धूतं मनसोमलं रजस्तमोभ्या मभिभवरूपं ययोः। जीर्णानि वृक्षेभ्यो गलितानि पर्णानि अनिलश्च आहारो ययो स्तथाभूतौ मत्सकाशात् कामान्[6] इष्टार्थान् अभीप्सन्तौ। उपशान्तेन रागादिभिः अकलुषितेन चेतसा मदारादन मीहतुः इहाञ्चक्राते कृतवन्तावित्यर्थः। आर्षत्वात् "इजादेः" (अष्टा 3-1-36) इत्यामभावः तङ्भावश्च। अनुदात्तेत्व लक्षणात्मनेपदस्य चक्षिडने ङित्करणा दनित्यत्वाद्वा। आधिजिहीषितः[7-7] भवच्छब्दसामानाधिकरण्याभिप्रायकः प्रथमपुरुषप्रयोगः॥ ३४, ३५॥

हे भद्रे! एव मित्थं परमदुष्करञ्च तपश्चरतोः। मय्येवाऽऽत्मा मनो ययो स्तयो र्युवयोः दिव्यानि देवमानपरिमितानि वर्षाणि[8] वर्षाणां वत्सराणां सहस्राणि द्वादश ईयुः व्यतिक्रान्तानि बभूवुः॥ ३६॥

ततो हे अनघे! नित्यं भक्त्या हृदि भावितः अनुध्यातः वां युवयो स्तपसा अनशनादिरूपेण श्रद्धया च परितुष्ट स्सन् वरदराडहं युवयोः कामदित्सया वरान्दातुमिच्छया अमुना चतुर्भुजादिमता वपुषा प्रादुरासम् प्रादुर्भूतोऽस्मि[9] तत[10]ः प्रादुर्भूतेन मया वरोऽभिमतोऽर्थः व्रियता मित्युक्ते सति वां युवाभ्याम्, शेषषष्ठीयम्। मादृशस्सुतः पुत्रो वृतः या[11] चितः॥ ३७, ३८॥

---

1. K.W. omits मङ्गल 2. B. adds सति 3. K.W. omits आज्ञप्तौ 4. K.W. omit उत्कृष्टं 5--5 K.W. omit 6. B. add अभि 7--7 K. omits 8. K.W. omit वर्षाणि 9. B. adds प्रादुर्भूतोऽभवमित्यर्थः। 10. K. omits ततः 11. K.W. omit याचितः

**विज०** अहं युवयो स्तपः प्रभावात् आविर्भावमकरवम्, नतु कर्माधीनत्वेनेति पूर्वजन्मसञ्चीर्ण तपोमाहात्म्यं कथयति **त्वमेवेति**। अयं वसुदेवः॥ ३२॥

प्रजासर्गे तादर्थ्ये सप्तमी। ततस्तदा॥ ३३॥

अनुक्रमेण वर्षादिगुणान्सहमानौ। श्वासरोधः प्राणायामस्तेन॥ ३४॥

शीर्णपर्णं वायुनापतित पत्रम्। कामान् पुत्रादिलक्षणान्॥ ३५॥

वां युवयोः॥ ३६, ३७॥

वरदराट् वरदराजः। कामदित्सया अभीष्टदानेच्छया॥ ३८॥

**अजुष्टग्राम्य विषया वनपत्यौ च दम्पती।**
**न वव्राथेऽपवर्गं मे मोहितौ मम[1] मायया॥ ३९॥**

**गते मयि युवां लब्ध्वा वरं मत्सदृशं सुतम्।**
**ग्राम्यान्भोगानभुञ्जाथां[2] युवां प्राप्तमनोरथौ॥ ४०॥**

**★ अ दृष्ट्वाऽन्यतमं लोके शीलौदार्य गुणै स्समम्।**
**अहं सुतो वा मभवं पृश्निगर्भ इति श्रुतः[3]॥ ४१॥**

**तयोर्वां पुनरेवाऽह मदित्यामास[4] कश्यपात्।**
**उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः॥ ४२॥**

**तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं वै तेनैव वपुषाऽन्घे[5]!**
**जातो भूय स्तथो रेव[6] सत्यं मे व्याहृतं सति॥ ४३॥**

**एतद्वां दार्शितं रूपं प्राग्जन्म स्मरणाय मे।**
**नाऽन्यथा मद्भवं[7] ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेन जायते[8]॥ ४४॥**

**युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चाऽसकृत्[9]।**
**चिन्तयन्तौ कृत स्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम्॥ ४५॥ ★**

---

1. B.J. देव 2. M. °यु° ★ This verse is not found in V. edn. 3. M. स्मृतः। 4. K. °माशु, V. °मथ। 5. B.G.J. °ऽथ वाम्; K.W. युवाम् 6. M. °वं 7. K.M.W. व 8. M. जन्यते। 9. K.W. वा ★ This extra verse is found in B.J & V. editions only after verse No. 45. It is not commented on by Sridhara, Veeraraghava and Vijayadwaja यदि कंसाद्बिभेषि त्वं तर्हि मां गोकुलं नय। मन्माया मानयाऽऽशु त्वं यशोदागर्भसम्भवाम्॥ ★ The Edn. V. reads this second half thus- यशोदायाश्च तां कन्यां मन्माया मानय द्रुतम्॥

After this extra half verse is found in V.edn. Which reads thus - स्वयं स्यु र्विवृता द्वारो यमुना च सुदुस्तरा।

**श्रीध० अजुष्टेति।** मे मत्तोऽपि युवा मपवर्गं न वव्राथे न वृतवन्तौ॥ ३९॥

**गत** इति। वरदं त्वा मयि गते॥ ४०, ४१॥

**तयोरिति।** अदित्यां कश्यपाद्वमन आसेति य त्तदपि तद्रूपयो र्युवयो रहमेव पुनरासमित्यर्थः॥ ४२, ४३॥

**एतदिति।** प्राक् प्रथमं तावत् एतद्रूपं मे जन्मेति स्मरणाय ज्ञानाय दर्शितम्। मद्भवं मद्विषयम्। अनन्तरं त्वदिच्छया बालोऽपि भविष्यामीति भावः॥ ४४॥

ननु त्वयि प्रसन्नेऽपि कथ मावयोः पुनः पुनर्जन्मेति। अतः परं न भविष्यतीत्याह - युवामीति॥ ४५॥

**वीर०** ननु मुक्तिदं भगवन्तं भवन्तं साक्षात्कृत्य मुक्ति रेव न कुतो वृतेत्यत्राऽऽह **अजुष्टेति।** अजुष्टाः असेविताः ग्राम्यविषयाश्शब्दादयो याभ्याम्। न विद्यतेऽपत्यं ययोस्तौ दम्पती युवां मम मायया मोहितौ अत एवं मे मत्तः अपवर्गं मुक्तिं न वव्राथे अननुभूतविषयत्वा दनपत्यत्वान्मन्माया मोहितत्वाच्च नाऽपवर्गं वव्राथे इत्यर्थः॥ ३९॥

मत्सदृशं सुतमेव वरं लब्ध्वा युवां मयिगते सति प्राप्तो मनोरथो याभ्यां तौ तथा भूतौ युवां ग्राम्यान् भोगान् विषयान् अभुञ्जाथाम् अन्वभूतम्॥ ४०॥

तदा अहं रूपादिभिः गुणै स्समं मत्सदृश मन्यतम मदृष्ट्वा "न तत्समश्चाभ्याधिकश्च दृश्यते" (श्वेता. उ. 6-8) न त्वत्समोस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः" (भ.गी. 11-43) इत्युक्तरीत्या मत्सदृश पुरुषान्तराभावं दृष्ट्वा अहमेव वां युवयोः सुतोऽभवम्। तदाऽहं पृश्नि गर्भ इति स्मृतः पृश्ने स्तव गर्भ भूतत्वात् तथा प्रसिद्धः॥ ४१॥

तयोः पृश्नि सुतपसोरेवानन्तराजन्मनि कश्यपादितिरूपेण जातयो र्वां युवयो रथ कश्यपाददित्या मह मासं पुत्रोऽभूवम्। उपेन्द्र इति विख्यातः प्रसिद्धः, इन्द्रानुजत्वादिति भावः तथा वामनत्वात् ह्रस्वमूर्तित्वात् वामनश्चेति विख्यातोऽभूवम्॥ ४२॥

एवं जन्मद्वयमुक्तम्। अथ तृतीयं जन्मेदमेवेत्याह अस्मिंस्तृतीये भवे जन्मनि तयो रेवादिति कश्यपयोरेवैत द्रूपेण जातयोः युवयोः तेनैव चतुर्भुजादि मता वपुषा भूयोऽहं जातः हे सति ! मे मम व्याहृतं भाषितं सत्यमेव हि॥ ४३॥

वां युवाभ्याम् एतच्चतुर्भुजादिमद्रूपं दर्शितं, किमर्थम्? ते तव प्राग्जन्म स्मरणाय पूर्वमप्यावयोरयमेवोत्पन्न इति ज्ञापनार्थम्। अन्यथा प्रदर्शिते रूपदर्शनाभावे त्र मद्भवज्ञानं मदवतार ज्ञानं मर्त्यानां युष्माकं न जायते। मद्भव मिति पाठे मद्विषयकं मदवतार विषयकमिति यावत्॥ ४४॥

नन्वेवमपि कथमावयो र्मुक्तिः स्यादित्याह **युवामिति।** असकृत्पुत्रभावेनाऽपि सकृदपि वा ब्रह्मभावेन परब्रह्मत्वेन मां स्मरन्तौ युवां कृतो मयि निबद्धः स्नेहो ययोस्तौ परामुत्कृष्टां मद्गतिं यास्येथे॥ ४५॥

1. K.W. omit भवन्तं 2. B. adds आभ्यां 3. B. किं 4. B. adds जायापती 5--5 K.W. omit 6. K. omits युवयो: 7. B. °रेष ए° 8. B °त्यत्राह 9. K. यास्यथ:।

विज० अजुष्टग्राम्य विषयौ अननुभूत मैथुनादि विषयौ॥ ३९, ४०॥

शीलम् वृत्तम्, औदार्यं माहात्म्यम्॥ ४१॥

वामनत्वात् सुन्दरत्वात्, ह्रस्वत्वाद्वा॥ ४२॥

तृतीये भवे जन्मनि॥ ४३॥

मद्भव ज्ञानं मज्जन्मविषयक ज्ञानम्। मर्त्यलिङ्गेन मनुष्यशरीरेण॥ ४४॥

यास्येथे गमिष्यथ:॥ ४५॥

श्रीशुक उवाचञ्च

इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरि स्तूष्णीं भगवानात्ममायया।
पित्रो: सम्पश्यतो स्सद्यो बभूव प्राकृत श्शिशु:॥ ४६॥

ततश्च शौरि र्भगवत्प्रचोदित: सुतं समादाय स सूतिकागृहात्।
यदा बहिर्गन्तु मियेष तर्ह्यजा या योग मायाऽजनि नन्द जायया॥ ४७॥

तयाहृतप्रत्यय सर्ववृत्तिषु द्वा:स्थेषु पौरेषु[1] च शायितेष्वथ[2]।
द्वार स्तु सर्वा: पिहिता दुरत्यया बृहत्कवाटायस कील शृङ्खलै:[3]॥ ४८॥

ता: कृष्णवाहे वसुदेव आगते स्वयं व्यशीर्यन्त[4] यथा नमो खौ[5]।
ववर्ष पर्जन्य उपांशु गर्जित: शेषोऽन्वगाद्वारि निवारयन्फणै:[6]॥ ४९॥

मघोनि वर्षत्यसकृद्यमानुजा गम्भीरतोयौ घजवोर्मिफेनिला।
भयानकावर्त शताकुला नदी मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रिय: पते:॥ ५०॥

नन्दव्रजं शौरि रुपेत्य तत्र तान् गोपान्प्रसुप्तानुपलभ्य[7] निद्रया।
सुतं[8] यशोदाशयने निधाय तत्सुतामुपादाय पुनर्गृहानगात्॥ ५१॥

देवक्याश्शयने न्यस्य वसुदेवोऽथ दारिकाम्।
प्रतिमुच्य पदो लौहमास्ते पूर्ववदावृत:॥ ५२॥

यशोदा नन्दपत्नी च जातं पर मबुध्यत।
नतल्लिङ्गं परिश्रान्ता निद्रयाऽपगत स्मृति:॥ ५३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैय्यासिक्यां अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

---

1. B.G.J. °एवपि 2. M. यापिते° 3. B.G.J.M °पा° 4. K.W. कीलशृङ्खलाः, V. शृङ्खलैः किल। 5. B.G.J. व्यवर्यन्ता 6. B.G.J.M श्वेः। 7. M. °न्सुषता° 8. M.V. शिशुं 9. B.G.J.M. °र्लो°

**श्रीध० तत** इति। यदि[1-] कंसाद्विभेषि त्वं तर्हि मां गोकुलं नय। "यशोदायाश्च तां कन्यां मन्माया मानये[-1]" ति प्रथममेव भगवता प्रचोदितो वसुदेवो यदा गन्तुमैच्छ त्तदैव अजाऽपि या योगमाया सा नन्दजायया निमित्तमात्र[2] भूतया[-2] अजनि जाता॥ ४६, ४७॥

**तयेति।** हृताः प्रत्ययार्थाः सर्वावृत्तयो येषाम् अथवा हृताः प्रत्यया अन्याश्च सर्वावृत्तयो येषां, जाग्रता मपि तथा भूतेषु द्वार पालेषु सत्सु बृहत्कवाटेषु[3] लोह कीलक मुक्तशृङ्खलैः बृहद्भिः कवाटादिभि[4] र्दुरत्यया इति वा॥ ४८॥

**ताः** इति। स्वयमेव व्यशीर्यन्त[5] विवृता इत्यर्थः। व्य[6]व्रियन्तेति वक्तव्ये गुण च्छान्दसः[-6]। रवे निमित्तात्[7]॥ ४९॥

**मघोनीति।** गम्भीरो यस्तोयौघः तस्य जवेन ये[8] ऊर्मय स्तैः फेनिला फेन व्याप्ता। भयानकै रावर्तशतै र्व्याप्ताऽपि। श्रियःपतेः सीतापतेः॥ ५०॥

**नन्दव्रजमिति।** निद्रया अजया॥ ५१॥

**देवक्या** इति। प्रतिमुच्य बद्धा। पदोः पादयोः। लौह[9] निगडम्। आस्ते स्म॥ ५२॥

**यशोदेति।** जातं किञ्चिदिति केवलम् अबुध्यत, नतु त[10]लिङ्गं, पुत्रः कन्यावेति। योगनिद्रया च मोहितेति॥ ५३॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

---

1- -1. V "यदि कंसाद्विभेषि त्व" मित्यादिना। 2- -2. V. omits 3. B.J. बृहत्सु कपा° 4. B.J. कपा° 5. B.J. व्यवर्यन्त 6- -6. V. omits 7. V. °त्तभूतात् 8. V. omits ये 9. B.J लोहं 10. V. omits तलिङ्गं

**वीर०** इतीत्थमुक्त्वा हरिः तूष्णीं बभूव। ततः पित्रो र्देवकी वसुदेवयोः सम्पश्यतो स्सतोरेव सद्य स्तदैव स्वाधीनमायया[1-] भगवान् षाड्गुण्य पूर्णः[-1] प्राकृतः मानुषः शिशुर्बभूव बालरूपो[2-] बभूवेत्यर्थः[-2]॥ ४६॥

ततो शिशुभावनानन्तरं[3-3] भगवता शिशुरूपेण प्रचोदित आदिष्टः स शौरिः वसुदेवः तं सुत मादाय सूतिका गृहाद्बहि र्यदा गन्तु मियेष ऐच्छत् तर्हि तदा व्रजे नन्दस्य जायया यशोदया अजा प्रकृत्यभिमानिनी योगमाया शक्ति रजनि[4] जनेः कर्माणि चिणः परस्य तशब्दस्य लुक्॥ ४७॥

[5]तया योगमायया हृताः प्रत्यया: बुद्धयः सर्ववृत्तयः तत्पूर्वक सर्वेन्द्रिय व्यापाराश्च येषां तेषु, अत एव सर्वेषु द्वा:स्थेषु द्वार पालेषु पौरेषु जनेषु च शायितेषु निद्रितेषु सत्सु अथ बृहन्ति कवाटेषु आयसा न्ययोमयानि कीलानि परस्परबन्धक शङ्खविशेषात्मकानि शृङ्खलाश्च यासु ताः। तृतीयान्त पाठे बृहद्भिः कवाटै आयस कीलैः शृङ्खलैः पिहिता इति वा। अत एव दुरत्यया दुरतिक्रमाः याः द्वारः द्वाराणि॥ ४८॥

तास्सर्वाः कृष्णवाहे कृष्णं वहतीति तथा तस्मिन् वसुदेवे आगते सति स्वय मेव व्यशीर्यन्त विवृता बभूवुः। यथा रवौ सूर्ये उदिते सति तमोन्धकारो विशीर्यते तद्वत्। खे रिति पाठे खे स्सकाशात्। तदा पर्जन्य उपांशुगर्जितः मन्दगर्जितो ववर्ष पौराणामप्रबोधनार्थ मिति भावः। शेषोऽनन्त फणै वारि वर्षजलं[6] निवारयन्नन्वगात् अनुययौ॥ ४९॥

असकृन्मेघे नितरां वर्षति सति गम्भीरस्य जलपूरस्य जवेन ये ऊर्मयः तैः फेनिलाः फेनान्यस्या स्सन्तीति तथा भयङ्कराणा मावर्तानां शतैः आकुला व्याप्ताऽपि यमानुजा यमुना नदी मार्गं वसुदेवाय[7] ददौ यथा सिन्धु स्समुद्रः श्रियःपतेः सीतापते[8]: ददौ तद्वत्॥ ५०॥

तत श्शौरि र्वसुदेवो नन्दव्रजमुपेत्य तत्र योगमायया हेतु भूतया नितरां सुप्तान् तान्नन्दादीन् गोपानुपलभ्य ज्ञात्वा यशोदाया श्शयने शय्यायां स्वसुतं निधाय तस्या यशोदाया स्सुतां मायात्मिका मादाय पुनः गृहान्[9] अगात्॥ ५१॥

ततस्तां दारिकां[10] बालिकां[11] देवक्याश्शयने न्यस्य निधाय पूर्ववच्छृङ्खलां पादयोः कृत्वा आबध्य आवृतः पिहितकवाटस्सन्नाऽऽस्ते आस्त[12] पूर्ववदवर्तत। प्रतिमुच्य, पदोर्लौह मिति पाठे लौहं लोहमय निगलं पदोः पादयोः प्रतिमुच्य पुनर्धृत्वेत्यर्थः॥ ५२॥

[13]नन्दपत्नी यशोदातु जात मपत्यं पुत्रं परमबुध्यत, तत्पुरुषमात्र मबुध्यत, नतु तल्लिङ्गं तद्गतचिह्नानि। तत्र हेतुः, परिश्रान्ता तत्राऽपि हेतुः निद्रया मायाशक्त्युपबृंहिततया निद्रया। अपगतास्मृति र्यस्या स्तथा। यद्वा जातमपत्यं न सुतं नापि कन्याञ्चाऽबुध्यत। किन्तु जात्रमात्रं अबुध्यत। तत्र हेतुः त[14] लिङ्गे परिश्रान्ता तल्लिङ्गे स्त्रीपुंसाऽन्यतर चिह्न परामर्शे परिश्रान्ता तत्र हेतुः निद्रया अपगत स्मृतिः पूर्ववदर्थः॥ ५३॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघव विदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

---

1- -1. K.W.omit 2- -2. K.W. omit 3- -3. K.W. omit 4. B. adds जनिता 5. B. adds तदा 6. K.W. omit वर्ष 7. K.W. omit वसुदेवाय 8- -8. B. सीतायाः पते श्रीरामचन्द्रस्य 9. B adds स्वनिवास भवनानि 10. K.W. omit दारिकां 11. B. पुत्रीं 12. B. omits आस्त 13. B. नन्दस्य 14- -14. B. omits

**विज०** प्राकृतवत् नतु प्राकृतः॥ ४६॥

इयेष गन्तुमैच्छत् नन्दजायया नन्दजायायां तर्हि तदा॥ ४७॥

योगमायया हृताः प्रत्ययानां ज्ञानहेतूनां इन्द्रियाणां सर्वा वृत्तयो येषु ते तथा, तेषु निद्रया मुग्धेष्वित्यर्थः, चशब्दात् पौरेषु निद्रां यापितेषु प्रापितेषु सत्सु मन्त्रौषाधादिभि र्दुरत्ययाः सर्वा द्वारश्च बृहत्कपाटायस कील श्रृङ्खलैः पिहिताः, बृहद्भिः कपाटैः अयोमयैः अर्गलैः श्रृङ्खलैश्च॥४७।

कृष्णवाहे कृष्णं बिभ्राणे, ताः कपाटद्वारः व्यशीर्यन्त विवृताः। यथा तमः खे रुदये उपांशु रहसि अन्वगात्। पृष्ठतः अयासीत्। फणा शब्दः उभयलिङ्गः "फणाद्वयोः" (अम. को. 1-229) इत्यमरः॥ ४९॥

मघोनि इन्द्रे यमानुजा यमुना, तोयौघजवः जलप्रवाह वेगः तद्युक्ता ऊर्मयो यस्यां सा तथा फेनिला फेनवती गम्भीरा च तोयौघ जवोर्मिश्च फेनिला च सा तथेति, भयानका भयङ्करा आवार्ता पयसां भ्रमाः तेषां शतैः आकुलाः श्रियःपते दशरथरामस्य सिन्धुः समुद्रइव॥ ५०॥

नन्दव्रजं नन्दगोकुलं उपलभ्य दृष्ट्वा निद्रया दुर्गया सुषुप्तान्। गृहानिति बहुवचने पुंलिङ्गः "गृहाः पुंसि च भूम्नेव" (अम. को. 2-23) इत्यमरः। "गृहशब्दस्य भार्या वाचित्वेन नपुंसकत्वम्। तद्वद्यावृत्त्यर्थं बहुवचनम्॥ ५२॥

दारिकां कन्यकाम्॥ ५२॥

परं केवलं जातं अबुध्यत, तस्य जातस्य लिङ्गं स्त्रीपुरुष विवेक लक्षणम् नाऽज्ञासीत्। तत्र निमित्तमाह परिश्रान्तेति। प्रसूति वेदनयेति शेषः॥ ५३॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

(विजयध्वजरीत्या चतुर्थोऽध्यायः।)

---

1. M.Ma, आ°

# चतुर्थोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या पञ्चमोध्यायः)

श्रीशुक उवाच

बहिरन्तःपुरद्वारः सर्वाः पूर्ववदावृताः।
ततो बालध्वनिं श्रुत्वा गृहपालास्समुत्थिताः॥ १॥
ते तु तूर्णमुपव्रज्य देवक्या गर्भजन्म तत्।
आचख्युर्भोजराजाय यदुद्विग्नः प्रतीक्षते॥ २॥
स तल्पात्तूर्णमुत्थाय कालोऽयमिति विह्वलः।
सूतीगृहमगात् शीघ्रं[1] प्रस्खलन् मुक्तमूर्धजः॥ ३॥
तमाह भ्रातरं देवी कृपणा करुणं सती।
स्नुषेयं तव कल्याण स्त्रियं मा हन्तुमर्हसि॥ ४॥
बहवो हिंसिता भ्रातः[2] शिशवः पावकोपमाः।
त्वया दैवनिसृष्टेन[3] पुत्रिकैका प्रदीयताम्॥ ५॥
नन्वहं ते ह्यवरजा दीना हतसुता प्रभो !
दातुमर्हसि मन्दाया अङ्गेमां[4] चरमां[5] प्रजाम्॥ ६॥

---

1. B,G,J,V तूर्णं 2. V. ह्यङ्ग ! 3. V. दे° 4. V ममेमां 5. K,V,W °मप्र°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुर्थे चण्डिकावाक्यमाकर्ण्यातिभयाकुलः।
दुर्मन्त्र्यभिहितं मेने कंसो बालादि हिंसनम्॥

**त इति**। तदष्टमं जन्म॥ १,२॥

**स** इति। कालो मृत्युः॥ ३,४॥
**बहव** इति। अङ्ग! हे भ्रातः!॥ ५, ६॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं भगवदवतारं स[1]प्रपञ्चं प्रस्तुत्य अथ ततः प्रभृति कंसोद्योगं प्रस्तौति - **बहिरिति।** यदा वसुदेवः पूर्व्वदास्त तदा बहिरन्तश्च सर्वाः पु[2]रस्य द्वारः द्वाराणि पूर्ववदेवाऽऽवृताः पिहिताः ततो बालध्वनिं शिशुध्व[3]निम्। आकर्ण्य गृहपालाः वसुदेवोधिष्ठितकारागृहपालाः समुत्थिता बभूवुः॥ १॥

ते च अतितूर्णमुपव्रज्य कंससमीपमेत्य देवक्या गर्भजन्म गर्भस्थशिशूत्पत्तिं भोजराजाय कंसाय आचख्युः। कथम्भूतम्? यद्गर्भजन्मैव समुद्विग्नो मृत्यु भयभीतः कंसः प्रतीक्षते तथाभूतमित्यर्थः॥ २॥

स भोजराजः कालोऽयमिति अयमेव तद्वधकालः। अन्यथा प्रवर्धितो मामेव हन्यादिति बुद्ध्या तूर्णं तल्पात् शयनादुत्थितो विह्वलः कातरः अनवहित इति यावत्, अत एव प्रस्खलन् विक्षिप्तप्रगतिः मुक्ता विक्षिप्ता मूर्धजाः केशा यस्य तथाभूतः शीघ्रं सूतिकागृहमगात् ययौ॥ ३॥

तम्, आगतं भ्रातरं कंसं देवी सती देवकी कृपणा दीना करुणं यथा तथा उवाच। तदेवाह - स्नुषेयमिति सार्धद्वयेन। कल्याण! तवेयं स्नुषा भगिनीसुता एनां स्त्रियं हन्तुं त्वं नार्हसि। दैवनिसृष्टेन दैवप्रेरितेन देवेन मत्पुत्रमृत्युतया कल्पितेन [4]इत्यर्थः। [4]त्वया बहवः पावकवत् प्रकाशमानाः मम शिशवो हताः। हे भ्रातः! इयम् एका पुत्रिका प्रदीयताम्॥ ४, ५॥

ननु हे भ्रातः अहं तव अवरजा कनीयसी दीना च, हताः सुताः यस्याः तथाभूता च। अतो हे प्रभो! अङ्ग! हे भ्रातः! मन्दभाग्याया मम एकां चरमां [5]अन्त्यां [5]प्रजां [6]कन्यकां दातुमर्हसीति॥ ६॥

---

1. K,W. omit सप्रपञ्चं 2. B. पुद्वारः 3. B. रोदनं 4--4 K,W. omit 5--5 K,W. omit 6. B. कन्यां

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

देवानां देवस्वभावः असुराणामसुरस्वभावः, मध्यमानां मिश्रस्वभावः दुस्त्यज इत्येतदर्थकं प्रतिपाद्यते अस्मिन्नध्याये। तत्र कंसादिषु सन्तोऽसन्त इति द्विजीवाः सन्ति। तदुक्तम् — "पूतना कंस नरक शिशुपालादिषु द्विधा। जीवास्सन्तस्त्वसन्तश्च तत्र बन्ध्वादिरूपिणः॥ विष्णोः सन्त इति ज्ञेया असन्तः शत्रुरूपिणः। शुभजीवप्रकाशेन कदाचिच्छुभबुद्धयः" (गारुडे) इत्यादि। तत्र असतां स्वभावं दर्शयितुमुपक्रमते **बहिरन्त** इति। बालध्वनिं रोदनम्॥ १॥

यस्माद्गर्भात् उद्विग्नः भीतः॥ २॥

सूतीगृहमिति दीर्घश्छान्दसः वैलक्षण्यद्योतको वा॥ ३॥

करुणं दयाजनकं वचनमिति शेषः। स्नुषा पुत्रभार्या॥ ४॥

दैवेन निसृष्टेन प्रेरितेन॥ ५॥

चरमां प्रजां अवरसन्ततिम्॥ ६॥

श्रीशुक उवाच

उपगूह्यात्मजामेवं [1]स्दत्या[2] दीनदीनवत्।
याचितस्तां विनिर्भर्त्स्य हस्तादाचिच्छिदे खलः॥ ७॥
तां गृहीत्वा चरणयोर्जातमात्रां स्वसुस्सुताम्।
अपोभयच्छिलापृष्ठे स्वार्थोन्मूलितसौहृदः॥ ८॥
सा तद्धस्तात् समुत्पत्य[3] सद्यो देव्यम्बरं गता।
अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहा भुजा॥ ९॥
दिव्य स्रगम्बरालेपरत्नाभरणभूषिता।
धनुश्शूलेषुचर्मासिशङ्खचक्रगदाधरा॥ १०॥
सिद्धचारणगन्धर्वैः अप्सरःकिन्नरोरगैः।
उपाहृतोरु बलिभिः स्तूयमानेदमब्रवीत्॥ ११॥

[4]देव्युवाच[-4]

किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृत्[5]।
यत्र क्वचित्[6] पूर्वशत्रुर्माहिंसीः कृपणान्[7] वृथा॥ १२॥
[8]इति प्रभाष्य तं देवी माया भगवती भुवि।
बहुनामनिकेतेषु बहुनामा बभूव ह॥ १३॥

---

1. B,G,J,M गु° 2. B,K,M,W स्दन्त्या; V वदन्त्या 3. M. °त्सुत्य 4- -4. B,G,J,K,M,W omit 5. M °कः 6. B,G,J क वा 7. M,V °णां 8. V. एवं

**श्रीध० उपगूह्येति।** दीनदीनवत् दीनादपि दीनवत्, न तु तथा; पुत्रस्यान्यत्र नीतत्वात्, सा च योगमायेति ज्ञातत्वाच्च। याचितोऽपि आचिच्छिदे हस्तात्[1] आकृष्य जग्राह॥७॥

**तामिति।** अपोथतत् बलेन चिक्षेप॥८॥

**सेति।** सद्य एव देवी भूत्वा॥९ - ११॥

**किमिति।** मा मां कृपणां वृथा अहिंसीः हिंसीतवानसि। कृपणानिति पाठान्तरे अन्यानपि शिशून् हनिष्यतीति ज्ञात्वा वारयतीति॥१२॥

**इतीति।** बहुनामसु[2] निकेतेषु वाराणस्यादिस्थानेषु॥१३॥

---

1. V omits हस्तात् 2. B,J नामनि°

**वीर०** इत्थमात्मजामुपगूह्य उरसि बाहुभ्यां संवेष्ट्या दीनदीनवत् दीनादपि दीनस्तद्वत् नितरां दीनवत् इत्यर्थः। वत्करणेन स्वसुतस्यान्यत्र स्थितत्वात् वस्तुतो दैन्याभावस्सूच्यते। रुदन्त्या तथा याचितोऽपि खलो दुरात्मा कंसः तां विनिर्भर्त्स्य हस्तात् आचिच्छिदे हृतवान्॥७॥

तां जातमात्रामेव न तु कृतनालच्छेदामित्यर्थः। भगिन्याः सुतां चरणयोः गृहीत्वा स्वप्रयोजनार्थं त्यक्तभगिनीतत्सुतास्नेहः शिलापृष्ठे अपोथयत् अताडयत्॥८॥

सा विष्णोः अनुजा कन्या तस्य कंसस्य हस्तात् समुत्पत्य ऊर्ध्वमुत्पत्य सद्य एव देवी स्वस्वरूपं बिभ्रती सती अम्बरमाकाशं गता अधिष्ठिता अदृश्यत। कंसादिभिः दृष्टा बभूव। कथम्भूता[1]? आयुधैः सहिता अष्टौ महान्तो भुजा यस्याः॥९॥

दिव्यस्रगादिभिः भूषिता अम्बरं वस्त्रम्। आयुधान्येव दर्शयन् विशिनष्टि - धनुरादीन् बिभ्रतो तथा उपाहृताः समर्पिताः, बलयः उपायनानि यैस्तैः, सिद्धादिभिः स्तूयमानेदं वक्ष्यमाणमब्रवीत्॥१०, ११॥

तदेवाह - **किमिति** । हतयाऽपि मया तव किं प्रयोजनम्? न किञ्चिदपि। हे मन्द ! तव अन्तकृत् नाशकृत् पूर्वशत्रुरशरीरवाण्या पूर्वमुक्तश्शत्रुः यत्र क्वचित्प्रदेशे जात एव खलु, इत ऊर्ध्वं जनिष्यमाणानपि शिशून् हन्यादिति सम्भाव्य वारयति, कृपणान् शिशून् वृथा मा हिंसीः॥१२॥

इति इत्थं तं[2] कंसं प्रभाष्य सा भगवती पूज्या माया देवी भुवि बहुनामनिकेतेषु नानासंज्ञकस्थानेषु बहूनि पूर्वं भगवदुक्तानि दुर्गादीनि नामानि यस्याः तथाभूता बभूव। हेत्याश्चर्ये॥ १३॥

---

1. B. कीदृशी? 2. K,W. omit तं

**विज०** आचिच्छिदे आकृष्टवान्॥ ७॥

अपोथयत् अताडयत्। स्वार्थेन स्वप्रयोजनेन उन्मूलितं उत्पाटितं सौहृदं स्नेहलक्षणं यस्य स तथा॥ ८॥

अदृश्यत जनेनेति शेषः॥ ९, १०॥

उरवः बलयः पूजा यैस्ते तथा तैः॥ ११॥

त्वया हतया मृतया तव कोऽर्थ इति शेषः। कुत इत्यत्राह - जात इति खलु विचारशून्यस्त्वम्॥ १२॥

माया भगवती दुर्गा इतिशब्द आदिवचनः इत्यादीत्यर्थः। "इति हेतुप्रकरणप्रकारादिसमाप्तिषु" (वैज.को. 8-7-17) इति यादवः॥ १३॥

**तथाऽभिहितमाकर्ण्य कंसः परमविस्मितः।**
**देवकीं वसुदेवं च विमुच्य प्रश्रितोऽब्रवीत्॥ १४॥**
**अहो भगिन्यहो भाव[1] मया वां बत पाप्मना।**
**पुरुषादैरिवाभ्येत्य[2] बहवो हिंसितास्सुताः॥ १५॥**
**स त्वहं त्यक्तवारुण्यः त्यक्तज्ञातिसुहृत्खलः।**
**कांस्तु[3] लोकान्[3] गमिष्यामि ब्रह्मदेव मृतःश्वसन्॥ १६॥**
**दैवमप्यनृतं वक्ति न मर्त्या एव केवलम्।**
**यद्विस्रम्भादहं[4] पापः स्वसुर्निहतवान् शिशून्[5]॥ १७॥**
**मा शोचतं[6] महाभागौ आत्मजान् स्वकृतम्भुजः।**
**जन्तवो न सदैकत्र दैवाधीनाः[7] सहासते॥ १८**
**भुवि भौमानि भूतानि यथा यान्त्यपयान्ति च।**
**नायमात्मा तथैतेषु विपर्यति यथैव भूः॥ १९॥**

1. B,G,J,M भाम 2. B.G.J, °द इवापत्यं; K,W °द इवोपेत्य 3- -3. B,G,J कान् लोकान् वै; M हा कान् लोकान् 4. B,G,K, M °श्र° 5. M सुतान् 6. M. शोचेयां 7. B,G,J तदाऽऽसते

**श्रीध० तयेति** परमविस्मितः कथं दैवी वागनृता जातेति॥ १४॥

**अहो** इति। भाम्ब! भगिनीभर्तः! पुरुषादो राक्षसो यथा स्वापत्यमेव हिनस्ति तद्वत्॥ १५ - १७॥

**माशोचतमिति।** हे महाभागौ! स्वकृतम्भुजः स्वारब्धकर्मभोक्तन्। स्वात्मजान् माशोचतं, किञ्च जन्तवः प्राणिनः सदा नाऽऽसते किन्तु अल्पकालमेवाऽऽसते। तथाऽपि एकत्र नाऽऽसते किन्तु वियुज्यन्ते, यतो दैवाधीनाः॥१८॥

सदा नाऽऽसत इति यदुक्तं जन्ममरणादि तदपि देहानामेव न आत्मन इत्याह **भुवीति।** भूतानि देहा एव यान्ति अपयान्ति च भवन्ति न भवन्ति चेत्यर्थः। यथा भुवि भौमानि घटादीनि तद्वत्। एतेषु भूतेषु जन्मादिभिः विक्रियमणेषु अयमपरोक्षतया प्रत्यभिज्ञायमान आत्मा न विपर्येति विपर्ययं न प्राप्नोति एकरूप एव वर्तत इत्यर्थः। भौमेषु विक्रियमाणेषु यथा भूः तथेति॥ १९॥

1. B,J. भाम! 2- -2. V. omits 3. B,J. omit आसते 4. B,J. add अनेन 5. V. omits अपयान्ति 6. B,J. omit आत्मा

**वीर०** ततः तया मायया अभिहितमाकर्ण्य कंसः सुतरां विस्मितः देवकीं वसुदेवं च विमुच्य निगलात् निर्मोच्य विनीत इदमब्रवीत्॥ १४॥

तदेवाह - **अहो** इति सार्धैः अष्टभिः। भगिनीपतिः भावः। पुरुषाद इव राक्षस इव राक्षसेनेवेत्यर्थः। विभक्तिव्यत्यय आर्षः। उपेत्य समीपमेत्य, मया पाप्मना पापात्मना, वां युवयोः, बहवस्सुताः हिंसिताः। बतेति खेदे॥ १५॥

स तु त्वत्पुत्रहन्ता अहन्तु त्यक्तं कारुण्यं येन, त्यक्ता ज्ञातयः सुहृदश्च येन, तथाभूतः अत एव खलः। अत एव कांस्तु लोकान् प्राप्स्यामि, केवलं स्थावरतां गमिष्यामीति भावः। अत एव ब्रह्महेव श्वसन् जीवन्नपि मृतः मृततुल्यः॥ १६॥

पूर्वन्तु "अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता" (भाग. 10-1-34) इति दैवमुवाच। इदानीं तु यत्र क्वचित् तव मृत्युर्जात एवेति श्रुतम्। अतो मानुषवत् दैवमप्यनृतं वक्तचेव। यस्यैव वचने विश्वासात् अहं भगिनीसुतान् हतवान् इदमतिजुगुप्सितं कर्म कृतवानस्मि किल॥ १७॥

अथापि महाभागौ विवेकिनौ युवां, आत्मजान् प्रति मा शोचतं शोकं मा कार्ष्टं, तेषामशोच्यत्वं सूचयितुं विशिनष्टि। स्वकृतम्भुजः स्वकृतकर्मफलभोक्तॄन् जन्तवः दैवाधीनाः स्वस्वकृतकर्मानुगुणप्रवृत्तदैववश्याः अत एव सदैकत्र नाऽऽसते नावतिष्ठन्ते, किन्तु तत्तत्कर्मानुगुणजन्ममरणादिभाजो भ्रमन्ति॥ १८॥

सदासहानवस्थाने दृष्टान्तमाह यथा भुवि भौमानि रजांसि यान्ति अपयान्ति अपगच्छन्ति तद्वत् भूतान्यपि कर्मवशात् क्वचित् संयुज्य पुनः वियुज्यन्ते, भौमानां गमनागमनाद्यवस्थावत्त्वेऽपि यथा न भुवः तथा त्वं, तथा शरीरेषु जन्ममरणादिविकारवत्स्वपि तद्धारकतयाऽवस्थित आत्मा जीवः न विपर्येति विपर्ययं न प्राप्नोति नान्यथाभवनं गच्छति, किन्तु एकरूपतया नित्यतया च अवतिष्ठत इत्यर्थः। जन्ममरणाद्यवस्थावत्त्वस्वाभाव्यात् देहा न शोच्याः, नाप्यात्मा विक्रियाभावान्नित्यत्वाच्चेति भावः॥ १९॥

---

1. B. adds नरकानपि न गमिष्यामि

**विज०** सतां स्वभावं दर्शयति **तथाऽभिहितमिति** ॥ १४॥

बत खेदे। बहवो राक्षसाः यत्क्रूरकर्म कुर्वन्ति सम्भूय तन्मया एकेन कृतमित्यतः पुरुषादैरिति बहुवचनम्॥ १५॥

ब्रह्महा ब्राह्मणं हतवान्, मृतः श्वसन् जीवन्मृतः॥ १६, १७॥

स्वकृतम्भुज; स्वकृतादृष्टभुज इति यत्तन्मा शोचेथां। इतोऽपि शोको न कर्तव्य इत्याह - जन्तव इति। कीटादि प्राणिनः॥ १८॥

नन्वेवं तर्हि देहस्थस्य परमात्मनोप्यागमनापायौ स्यातामिति तत्राह - **भुवीति**। यथा भुवि भौमानि पार्थिवानि भूतानि चतुर्विधानि आयान्ति अपयान्ति च। तथैतेषु भूतेषु स्थितोऽयमात्मा परमात्मा न विपर्येति आगमापायौ नाप्नोति[1]। कथम्? यथा भूरागमनापायौ नाप्नोति तथेत्यर्थः। यथा भूतानि उद्भूतानि भौमानि रजांसि आयान्ति अपयान्ति वायुर्नेति शेषः। अयमात्मा तथा न, अनन्याधीनत्वात्। अन्वयदृष्टान्तमाह - यथा भूः पृथ्वी, कठिनत्वेन स्थिरत्वादिति शेषः॥ १९॥

---

1. B न प्राप्नोति

**[1]यदा नैवंविधो भेदो[2] यत आत्मविपर्ययः।**
**देहयोगवियोगौ[2] च संसृतिर्न निवर्तते॥ २०॥**
**तस्माद्भद्रे स्वतनयान् मया व्यापादितानपि।**
**मानुशोच यतः सर्वः[4] स्वकृतं विन्दतेऽवशः[5] ॥ २१॥**

यावद्वतोऽस्मि हन्तास्मीत्यात्मानं मन्यतेऽस्वदृक्।
तावत्तदभिमान्यज्ञो बाध्यबाधकतामियात्॥ २२॥
क्षमध्वं मम दौरात्म्यं साधवो बन्धुवत्सलाः।
इत्युक्त्वाऽश्रुमुखः पादौ स्यालस्वस्रोरथाग्रहीत्॥ २३॥
मोचयामास निगलाद्विस्रब्धः कन्यकागिरा।
देवकीं वसुदेवं च दर्शयन्नात्मसौहृदम्॥ २४॥
भ्रातुस्स मनुतप्तस्य क्षान्त्वा रोषं च देवकी।
व्यसृजद्वसुदेवश्च प्रहस्य तमुवाच ह॥ २५॥
एवमेतन्महाराज यथा वदसि देहिनाम्।
अज्ञानप्रभवाऽहंधीः स्वपरेति भिदा यतः॥ २६॥
शोकहर्षभयद्वेष लोभमोहमदान्विताः।
मिथो घ्नन्तं न पश्यन्ति भावैर्भाव पृथग्दृशः॥ २७॥

श्री शुक उवाच

कंस एवं प्रसन्नाभ्यां विस्रब्धं प्रतिभाषितः।
देवकी वसुदेवाभ्यामनुज्ञातोऽविशद्गृहम्॥ २८॥

---

1- -1. B.G.J. यथाऽनेवंविदो भेदो; M यतोऽनेकविधोऽभेदो; V यथा नैवंविधो भेदो 2. M वियोगश्च; V. नियोगश्च; K.W. वियोगैश्च 3. K.W. °चयतं 4. V. सर्वे 5- -5. V. भुञ्जतेऽवशाः 6. B.G.J. दीन 7. B.G.J. श्यालः; M श्याल°; V. स्यालः 8. M°क्ष° 9. B.G.J. M °डा° 10. B.G.J. °श्र° 11. M °र्वचनमाश्रित्य 12. B. क्षान्तरोषा; M क्षान्ता रोषंच; V क्षान्त्या रोषं च 13. B.G.J. भाग 14 M °वा हन्ति 15. M °न्ति 16. M.V.° वान् 17- -17. M.V. omit 18. B.G.J.V विशुद्धं; M. विस्रब्धः

**श्रीध०** एवं विचार्यमाणे सति न शोकावकाशः। अजानतस्तु न निवर्तत इत्याह **यथेति**। यथा यथावत्। नैवंविदः एवमजानतः आत्मविपर्ययः देहात्मबुद्धिर्भवति। यतो विपर्ययाद्भेदो भवति देहाहङ्कारेण हि आत्मनि परिच्छिन्ने सति अहङ्कारास्पदं भिन्नं भवति। यतो भेदात् पुत्रादिदेहैर्योगश्च वियोगश्च ततः संसृतिः सुखदुःखे इति यावत्। अज्ञानं न निवर्तत इत्यर्थः॥ २०॥

एवमुक्तप्रकारेण न एते तव तनयाः अहं तु तान् न हन्वान्। तथाप्यज्ञानदृष्ट्या स्वतनयान् मया व्यापादितानपि मानुशोचयति सान्त्वयति - **तस्मादिति**। अज्ञानाश्रयं कर्म वादमाह - यत इति॥ २१॥

कथं तर्हि ब्राह्मणादिहन्तुः[9] तस्य च प्रायश्चित्ता[10]दि श्रवणं अज्ञानमूलमेवेत्याह - **यावदिति** । अस्वदृक् देहाभिमानी[11] [12-]द दाभिमानीति[-12] तस्य देहस्य हननमात्मन्यभिमन्यमा इत्यर्थः ॥ २२ ॥

**क्षमध्वमिति** । स्यालः कंसः, स्वस्रोरिति स्वसृशब्देन द्विवचनानुपपत्त्या मिथुनग्र[13]हणद्वा[14]रा मिथुनलक्षणया स्वसृतत्पत्योरभिधानं, लिङ्गसमवा[15]यन्यायेन प्राणभृत उपदघातीतिवत् । देवकीवसुदेवयोः प्रत्येकं पादावग्रहीदित्यर्थः। स्यालशब्देन वा कथञ्चित् वसुदेवाभिधानं यु[16]ज्यते। कंस स्वस्रोरिति पाठे तयोः कंस अथाऽग्रहीदिति पाठान्तारे च न काप्यनुपपत्तिशङ्केति विद्वद्भिरूह्यम्[-16] ॥ २३ ॥

**मोचयामासेति** । आत्मसौहृदं प्रियवादादिन दर्शयन् ॥ २४ - २६ ॥

स्वपरभेददर्शि[17]न न किं भवति तदाह - **शोकेति**। भावैः भे[18]दनिमित्तभूतैः मिथो भावान्। घ्नन्तं भावमीश्वरम्। पृथग्दृशः ते न पश्यन्ति। किन्तु अहमेव हन्ता हत इति मन्यन्त इत्यर्थः॥२७॥

**कंस** इति। विशुद्धं यथा भवति त[19]था॥२८॥

---

1. B.J. °काद्यव° 2. V. omits यथा 3. B.J अनेवं 4. V नि° 5. V. ते 6. B.J. तावत् 7. B.J. घातित° 8. B.J. add एव 9. B.J °द्वध्यस्य 10. B.J. omit आदि 11. J. adds तावत् 12- -12. B omits 13. B.J. गणन 14. V. omits द्वारा 15. V°वायेन 16- -16. B.J. omit 17. B.J°ने 18. B.J. एव 19. B.J omit तथा

**वीर०** ननु जातोऽहं मृतोऽहं हतोऽहम् अहं हन्मीत्येवनात्मनोऽपि जननमरणहन्तृहन्तव्य भावप्रतीतेः कथं न स विपर्येति इत्यत्र सा प्रतीतिः देहात्मभ्रान्तिमूला। सैव च तस्य देहसंयोगवियोगरूप संसृतिहेतुश्चेत्याह - **यदेति**। यदा एवंविधो भेदः देहात्मनोः वैधर्म्यरूपोभेदः न स्यात् अनुष्ठानपर्यन्तत्वेन नाध्यवसितः स्यात्। यतः अनध्यवसितादेव भेदादात्मनि विपर्ययः देहधर्मप्रतीति र्भवति, तावत् देहसंयोगवियोगैः उपलक्षिता संसृतिः न निवर्तते तत्संयोगादिरूपा संसृतिः न निवर्तते। चशब्दात् हन्तृहन्तव्यप्रतीतिरपि न निवर्तत इत्यर्थः॥२०॥

तस्माद्देहात्मनोः विलक्षणस्वभावत्वात् अत एव अशोच्यत्वाच्च हे भद्रेः मया व्यापादितानपि व्यापत्तिं प्रापितानपि हतानपीति यावत्, स्वसुतान् प्रति युवां मानुशोचयतम्। णिजर्थस्त्वविवक्षितः। यतः सर्वोऽपि जन्तुः अवशः अस्वतन्त्रः कर्मवश्यः स्वकृतं स्वकृतकर्मरू[1-]पफलं[-1] जन्ममरणादिकं विन्दते लभते॥२१॥

किञ्च यावदस्वदृक् देहविलक्षणात्मयाथात्म्यदर्शी सन् हतोऽस्मि हननविषयोऽस्मि, हन्ताऽस्मि हननकर्ताऽस्मि इत्यात्मानमभिमन्यते देहात्मभ्रान्त्या देहगतां हन्तृहन्तव्यभावमात्मनि अनुसन्धत्ते तावदेव तदभिमानी तन्मूलकहन्तृहन्तव्य

भावाभिमानी च। अत एव अङ्गस्सन् बाध्यबाधकतां वध्यधातुकभावमिति यावत्। प्राप्नुयात् तत्प्रयुक्तशोकपापादिकं[2] प्राप्नुयादित्यर्थः॥ २२॥

अतस्साधवो बन्धुवत्सलाश्च यूयं मम दौरात्म्यं क्षमध्वमित्युक्त्वा, अथ अश्रूणि मुखे यस्य तथाभूतः। स्यालस्वस्रोः वसुदेवदेवक्योः पादावग्रहीत्। पत्नीभ्रातृवाचितया प्रसिद्धोऽपि स्यालशब्दः अत एव प्रयोगात् भगिनी भर्तर्यपि वर्तते॥ २३॥

ततः कन्यकाया गिरा विस्रब्धः एतौ निर्दुष्टाविति विश्वस्तः स्वस्य सौहृदं दर्शयन्, देवकीं वसुदेवं च निगलात् मोचयामास। पूर्वोक्तमेव मोचनं सप्रपञ्चं स्मारितमिति न पौनरुक्त्यम्॥ २४॥

इत्थं भ्रातुः समनुतप्तस्य सतः देवकी क्षान्त्वा क्षमां कृत्वा रोषं व्यसृजत्। तथा वसुदेवोऽपि क्षान्त्वा प्रहस्य तं कंसमुवाच॥ २५॥

तदेवाह - **एवमिति** द्वाभ्याम्। हे महाभाग! त्वं यथा वदसि तदेवमेव तथैव, किं मयोक्तं यदनुमन्यस इत्यत्राह देहिनामहन्धीः अहन्ता अहं हत इत्येवंरूपा धीः अज्ञान प्रभवा देहात्मभ्रमजा, यद्वा अहन्धीः देहात्मधीः अज्ञानप्रभवा आत्मयाथात्म्यानवभासमूला। अहन्धियं विशिनष्टि - यतोअहन्धियः स्वपरेतिभिदा शत्रुमित्रभिदा भवति॥ २६॥

एतदेवोपपादयति - **शोकेति**। पृथग्दृशः आत्मनः पृथग्भूते देहे दृक् आत्माभिमानो येषां तथाभूताः। अत एव शोकादिभिः अन्विताः भावैः अचेतनैः खड्गादिभिः भावमचित्पदार्थं घ्नन्तम् ईश्वरं न पश्यन्ति किन्तु केवलं स्वपरभेदमेव पश्यन्तीति भावः। तत्तत्कर्मानुगुणप्रवृत्तस्येश्वरस्यैव जन्ममरणादिहेतुत्वात् न केनापि अपराद्धमिति भावः॥ २७॥

इत्थं विस्रब्धं विश्वासयुक्तं यथा भवति तथा आभाषितः कंसः प्रसन्नाभ्यां देवकीवसुदेवाभ्याम् अनुज्ञातः स्वगृहं प्राविशत्॥ २८॥

---

1- -1. फलरूपं 2. B. मायादिकं

**विज०** जन्त्वाऽऽगमाऽगमवत् पुत्रादिकं विपर्येति भुव आगमापायभाववत् परमात्मा न विपर्येतीति यदि तर्हि इदं ज्ञानं कस्मान्नोदेतीत्याशङ्क्य भगवन्मायया मुग्धचेतस्त्वेन परमात्मविषयाभेदज्ञानबाहुल्यात्, अनेन संसारानिवृत्तिः तमः प्राप्तिश्च स्यातामित्याह - **यत** इति। अस्वपरविवेकबुध्द्यु[1]त्पत्तिप्रभृति परमात्मविषयोऽभेदोऽनेकविधः 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इत्यादिको जीवस्य प्रतीयत इति यतः तेन विपरीतज्ञानेन देहयोगादि लक्षणा वास्तवी यथार्था संसृतिः न निवर्तत इति यतः आत्मविपर्ययः स्वस्य तम आद्यनर्थप्राप्तिश्च, यतः तस्मादात्मनि स्थितिं कृत्वा मानुशोचेत्यन्वयः। "अहं ब्रह्माऽस्मि, देवोऽस्मि, नास्मि केवल मानुषः" (गारुडे) इत्यादेः सिद्धोऽयमर्थः। अभेदप्रतीतिः असुरजातेरेव। "तल्लक्षणैर्विहीनस्सन् ब्रह्म देवोऽस्मि

वाऽपि तु" (गारुडे) इत्यादेः सर्वः स्वकृतमदृष्टं भुङ्क्ते इति यस्मात्तस्मात् ब्रह्माऽस्मीत्यादिचिन्तनं तर्हि कस्य इत्यतः स्वयोग्यानामेव तद्युक्तम्। "परब्रह्मण एकस्य ब्रह्माऽस्मीति विचिन्तनम्" (गारुडे) इत्यादेः सर्वः परमात्मा स्वकृतं पूर्णं स्वमानन्दं विन्दते, यतोऽवशः अवगतपरमानन्दः। "सर्वः शर्वः शिवस्स्थाणुः (विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम् भारते) इति च। सर्वः देवादिश्च स्वकृतं देवोऽस्मीत्यादि यथार्थज्ञानफलं भुङ्क्ते अवशो विष्ण्वधीनः॥ २०, २१॥

तर्ह्यस्य कियन्तं कालं संसारानुवृत्तिरिति तत्राह - **यावदिति**। अश्वदृक् अनात्मानं देहं आत्मात्वेन पश्यतीति तदाभिमानी देहाभिमानी॥ २२ - २५॥

परमात्मा न विपर्येति पुत्रादिकं विपर्येति इति जीवपरभेदज्ञानं मुक्तिसाधनमन्यत् तमस्साधनं यथा वदसि, एतदेव सत्यम्। एतदेव द्रढयति - देहिनामिति। "देवोऽहं मानुषो वेति विशेषं तत्र वाऽपि तु" (ब्रह्माण्डे) इत्यादेः। यातनाशब्दमध्याहृत्य व्याख्येयम्। अहं देवाद्यन्यतमः परमात्मा पदादिजीवराशेः सत्तादिप्रदत्वेनात्यन्तं प्रेष्ठ इति या भिदा तज्ज्ञानं देहिनाम् अज्ञानप्रभवा यातना हन्तीति यतः इत्यन्वयः। ननु उत्तरश्लोके पृथग्दृश इति भेदज्ञानि निन्दावचनात् अत्रापि स एवार्थः किं न स्यात्? उच्यते - पृथग्दृश इति। पृथग्शब्दप्रयोगबलादन्योर्थस्तस्य, तर्हि स क इत्युच्यते। भगवद्दर्शनविरोधि यद्दर्शनं तत्पृथग्दर्शनम्। "भगवद्दर्शनाद्यस्य विरोधाद्दर्शनं पृथक्" (भविष्यत्पुराणे) इत्यादेः। "स्वरूपभेदो हि परजीवयोः जीवगोमिथः। परस्परेण वस्तूनां विशेषः शास्त्र दर्शितः" (भविष्यत्पुराणे) इत्यादेः। उक्त एवार्थ इति सन्तोष्टव्यम्॥ २६ - २८॥

---

1. Ma adds बुद्ध्या

[1]तस्यां रात्र्यां [2]व्यतीतायां कंस आहूय मन्त्रिणः।
तेभ्य आचष्ट तत्सर्वं यदुक्तं [3]योगमायया॥ २९॥
आकर्ण्य [4]भर्तुर्गदितं तमूचुर्देवशत्रवः।
देवान् प्रति कृतामर्षा दैतेया नातिकोविदाः॥ ३०॥
एवं चेत्तर्हि भोजेन्द्र पुरग्रामव्रजादिषु।
अनिर्दशान्निर्दशांश्च हनिष्यामोऽद्य वै [5]शिशून्॥ ३१॥
किमुद्यमैः करिष्यन्ति देवास्समरभीरवः।
नित्यमुद्विग्नमनसो ज्याघोषैर्धनुषस्तव॥ ३२॥
अस्यतस्ते शरव्रातैः हन्यमानास्समन्ततः।
जिजीविषव उत्सृज्य पलायनपरा ययुः॥ ३३॥

1. M. adds श्रीशुक उवाच 2. K,W. अती° 3. B,G,J,M निद्रया 4. V भर्तृग° 5- -5. M. बालकान्

**श्रीध० आकर्ण्येति।** नातिकोविदा: दृष्टमात्रमतय:, न[1-] दीर्घदर्शिना[-1]:॥ २९, ३०॥

**एवमिति।** न निर्गतानि दश दिनानि येषां तान्, अन्यांश्च॥ ३१, ३२॥

**अस्यत** इति। अस्यत: विध्यत: सत:[2], उत्सृज्य रणं त्यक्त्वा॥ ३३॥

1- -1. V omits 2. V omits सत:

**वीर०** अथ प्रभाते मन्त्रिण आहूय कंसस्तेभ्यो मन्त्रिभ्यो योगमायोक्तमाह॥ २९॥

तत: कंसोक्तमाकर्ण्य[1] देवानां शत्रव: दैतेया: मन्त्रिण: देवान् प्रति[2] उद्दिश्य कृत: अमर्षो यै: तथाभूता: नातिकोविदा: कार्याकार्यविवेकरहिता:, तं कंसमूचु:॥ ३०॥

तदेवाह - **एवमित्यादिना।** एवं दुर्मन्त्रिभि: इत्यत: प्राक्तनेन। एवं चेत् माययैवमुक्तं चेत् तर्हि हे भोजेन्द्र! पुरादिषु अनिर्दशान् अनतिक्रान्तदशदिनान् निर्दशांश्च शिशून् अद्य हनिष्याम:॥ ३१॥

एवं चेत् समरभीरवो देवा: किमस्मान् उद्यमै: प्रयत्नै: करिष्यन्ति न किञ्चिदपि, किञ्च ते तव धनुषो ज्याघोषैरेव नित्यमुद्विग्नं भीतं मनो येषां तथाभूता:॥ ३२॥

अस्यत: शरान् क्षिपतस्तव शरसङ्घै: हन्यमाना: जीवितुमिच्छव: पलायनमेव परं रक्षणोपायो येषां तथाभूता: उत्सृज्य स्वस्थानानीति शेष: समन्ततो ययु:॥ ३३॥

1. B adds ते 2. K,W. omit प्रति

**विज०** अनिर्दशन् अनिर्गतानि दशाहानि यैस्ते तथा तान् अनतिक्रान्तदशाहान् इत्यर्थ:। निर्दशान् अतिक्रान्तदशाहान्॥ २९-३२॥

अस्यत: क्षिपत:॥ ३३॥

केचित्प्राञ्जलयो भीता[1] न्यस्तशस्त्रा दिवौकसः।
मुक्तकच्छशिखाः[2] केचिद्भीताः स्म इति वादिनः॥ ३४॥

न त्वं विस्मृतशस्त्रास्त्रान् विरथान् भयसन्नतान्[3]।
हंस्यन्यासक्तविमुखान्[4] [5-5] भग्नचापानयुध्यतः[6]॥ ३५॥

किं क्षेमशूरैः विबुधैरसंयुगविकत्थनैः।
रहोजुषा किं हरिणा शम्भुना वा वनौकसा॥ ३६॥

किमिन्द्रेणाल्पवीर्येण ब्रह्मणा वा तपस्यता।
तथापि देवास्सापत्न्यान्नोपेक्ष्या इति मन्महे।
ततस्तन्मूलखनने नियुङ्क्ष्वस्माननुव्रतान्॥ ३७॥

यथाऽऽमयोऽङ्गे समुपेक्षितो नृभिः न शक्यते रुढपदश्चिकित्सितुम्।
यथेन्द्रियग्राम उपेक्षितस्तथा रिपुर्महान्[7] बद्धबलो न चाल्यते॥ ३८॥

मूलं विष्णुर्हि देवानां यत्र धर्मस्सनातनः।
तस्य च ब्रह्मगोविप्राः तपोयज्ञास्सदक्षिणाः॥ ३९॥

---

1. B.G.J. दीनाः, V. भीत्या 2. M. कक्ष्या° 3. B.G.J. संवृ° 4. V °व्या° 5- -5. M मनसः 6. V. दर्पा° 7. M° महालब्धबलो

**श्रीध० नेति।** अन्यासक्तान्। विमुखांश्चेति न हंसि न हिनत्सि॥ ३४, ३५॥

**किमिति।** क्षेमे निर्भयदेशे। शूरैः संयुगादन्यत्र विकत्थनं प्रौढवादो येषां तैः। ननु हरेर्बिभेमि शम्भो श्चेति चेत्तत्राहुः। रहोजुषेति। सर्वदाप्यन्तःप्रविष्टेन क्वचिदपिबहिरदृष्टेनेत्यर्थः। पुरुषप्रवेशरहितमिलावृतवर्ष[1] वनमोको यस्य। तेन शम्भुना वा॥ ३६॥

**किमिति।** यद्यप्युद्यमैः देवाः न किञ्चिदपि कर्तुं समर्थाः तथापि नीतिरनुवर्तितव्येत्याहुः[2] - तथापीति॥ ३७॥

**यथेति।** रूढपदः बद्धमूलः॥ ३८॥

**मूलमिति।** देवानां मूलं विष्णुः। स च यत्र धर्मः तत्राऽऽस्ते। धर्मस्य च मूलं ब्रह्मगोविप्राः[3] वेदगोब्राह्मणाः[3]॥ ३९॥

1. B.J. omit वर्ष 2. B.J. सर्तव्ये° 3- -3. B.J. वेपादय इति॥ ३९॥

**वीर०** केचिच्च दिवौकसो देवा भीता: त्वत्त इति शेष:। अत एव त्यक्तानि शस्त्राणि यै: तथाभूता:, केचिच्च मुक्ता: विस्रस्था: कच्छा: शिखाश्च येषां, मुक्तकक्ष्यशिखा इति पाठे मुक्तग्रन्थय: शिखा येषां तथाभूता: भीता: स्म इति वदन्त: प्राञ्चलय: तस्थुरिति शेष:॥ ३४॥

अथापि त्वं विस्मृतानि शस्त्राण्यस्त्राणि च यै: मन्त्रशिक्षोपबृंहितान्यस्त्राणि, इताराणि तु शस्त्राणीति विवेक:। विगता रता एषां तान् भयात् सन्नतान् कृतप्रणामान् न हंसि न हतवान् शरणागतरक्षकत्वादिति भाव:। तथा अन्यासक्तान् युद्धं विहाय प्रयोजनान्तरासक्तान् पराङ्मुखांश्च भग्नचापान्[1] अत एव अयुध्यश्च देवान्न हंसि॥ ३५॥

क्षेमे स्वगृह एव शूरै: संयुगात् इतरत्र विकत्थनं प्रागल्भ्यवचनं येषां तै:, विबुधै: किं, न किञ्चिदपि कर्तुं शक्यमित्यर्थ:। आस्तां तावत् सामान्यदेवानां वार्ता देवश्रेष्ठै: हरिहरेन्द्रहिरण्यगर्भैरपि न किञ्चिदित्याहु: - रह इति। रहोजुषा त्वद्भयात् निर्जनदेशसेविना यद्यपि तै: किञ्चिदपि न कर्तुं शक्यं, तथाऽपि सापत्न्यात् शत्रुत्वात् देवा नोपेक्षणीया इति मन्यामहे। तत: तन्मूलखनने सपत्नमूलोन्मूलने निमित्ते अनुव्रतान् भृत्यान् अस्मान् नियुङ्क्ष्व आज्ञापय॥ ३६, ३७॥

सापत्न्यात् नोपेक्ष्या इत्येतदेव सदृष्टान्तमुपपादयन्ति - **यथेति** । यथा अङ्गे शरीरे समुत्पन्न आमयो व्याधि:[2] नृभि:[3] उपेक्षित: अत एव रूढमूल:[4] चिकित्सितुं प्रतिकर्तुं न शक्यते यथा च तावत् योगिभि: उपेक्षित: इन्द्रियग्राम: ततो दुर्निग्रह: तथा रिपुरपि तावदुपेक्षित: ततो रूढबल: चालयितुमपि न शक्यते॥ ३८॥

तर्हि किं तत् सपत्नानां मूलं यद्विनाशितव्यमित्यत्राहु: - **मूलमिति** । सनातन: अनादिनिधनाविच्छिन्नसम्प्रदायवेदबोधितो[5] धर्म: वर्णाश्रमानुगुणो यत्र विष्णौ यत् विष्णवधीन: स विष्णु: देवानां मूलं रहस्सेवी स कथं छेत्तव्य इत्यत्राहु: तस्य चेति। ब्रह्म वेद: गावश्च विप्राश्च गोविप्रा: तप इति पृथक्पदं ब्रह्मादय:, तस्य विष्णोर्मूलमित्यनुषङ्ग:॥ ३९॥

1. B. adds भग्नधनुष्कान् 2. B. adds तावत् 3. B. adds यत्नं मूलोन्मूलने तु 4. B. adds तत: 5. B. adds उपवेद

**विज०** कक्ष्या काञ्ची। "कक्ष्याकरिवरत्रायां काञ्चां गेहे प्रकोष्ठके" (वैज. को. 6-2-7) इति यादव:॥ ३४॥

क्षेमशूरै: निर्भयस्थानं प्राप्य शूरै:, असंयुगविकत्थनै: रणादन्यत्रविविधजल्पै: रहोजुषा एकान्तसेविना वेदशिरप्रतिपाद्येन वा, वनौकसा कैलासशिखरकान्तारमन्दिरेण भासामाश्रयेण तेजोमूर्तिनित्यर्थ:। "ओकसी मन्दिराश्रयौ" (वैज. को. 6-3-4) इति यादव:। "वनं भास्यप्सुकानने" (वैज. को. 6-3-31) इति च॥ ३५,३६॥

तेषां मूलोत्पाटने॥ ३७॥

अङ्गे शरीरे, आमयः कुष्ठादिः, रूढं पदं व्याप्तं स्थानं येन सः॥ ३८॥

कः साक्षात् मूलमित्यत्राह **मूलमिति**। तस्य विष्णोर्मूलम्॥ ३९॥

---

1- -1. B.M omit

तस्मात् सर्वात्मना राजन् ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः।
तपस्विनो यज्ञशीलान् गाश्च हन्मो हविर्दुघाः[1]॥ ४०॥

विप्रा वेदाश्च[2] भावश्च तपस्सत्यं दमश्शमः।
श्रद्धा दया तितिक्षा च क्रतवश्च हरेस्तनूः[3]॥ ४१॥

स हि सर्वसुराध्यक्षो ह्यसुरद्विड्बृहच्चरः[4]।
तन्मूला देवतास्सर्वाः सेश्वराश्चतुर्मुखाः।
अयं वै तद्वधोपायो यदृषीणां विहिंसनम्[5]॥ ४२॥

श्रीशुक उवाच

एवं दुर्मन्त्रिभिः कंसः[6] सह[-6] सम्मन्त्र्य दुर्मतिः[7]।
ब्रह्महिंसा हितं मेने कालपाशाऽऽवृतोऽसुरः॥ ४३॥

सन्दिश्य साधुलोकस्य कदने कदनप्रियान्।
कामरूपधरान् दिक्षु दानवान् गृहमाविशत्॥ ४४॥

ते वै रजःप्रकृतयः तमसा मूढचेतसः[8]।
सतां विद्वेषमाचेरुरादागतमृत्यवः॥ ४५॥

आयुश्श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च।
हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः[9]॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

1. K.W. °हः 2. M. देवाश्च 3. B.V °नुः 4. B.G.J.V. °शयः 5. M. च; K.W. हि 6- -6. V. साकं कंसः 7. V °दः 8. K.W. रूढ 9. W. पुंसां

**श्रीध०** स इति। किञ्च विप्रादयो हरेरेव तनवो यस्मात् तस्मात् अयमेवोपाय इत्याहुः - अयमिति ॥४० - ४४॥

त इति। आरात् समीपमागतो मृत्युर्येषां ते॥४५॥

सतां विद्वेषो न मृत्युमात्रहेतुः, किन्तु बह्वनर्थकारीत्याह - **आयुरिति** ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां चतुर्थोऽध्यायः॥४॥

**वीर०** तस्मात् हे राजन्! सर्वात्मना नानोपायेन ब्रह्मवादि त्वादिगुणयुक्तान् ब्राह्मणान् हविस्सान्नाय्यं दुहन्तीति तथा ता गाश्च हन्मः हनिष्यामः॥४०॥

विप्रादयो हरेस्तनूः शरीरम्॥४१॥

स हि विष्णुः सुराणाम् अध्यक्षोऽधिपतिः। असुरान् द्वेष्टीति तथाभूतश्च। हृदयगुहानिगूढस्स विष्णुरेव मूलं यासां तथाभूताः। सेश्वराः इन्द्रादिलोकपालैस्सहिताः चतुर्मुखरुद्रसहिताश्च सर्वा देवताः एवं सति अयमेव तस्य विष्णोः वधोपायः। कोऽसौ यदधीणां विहिंसनमित्येषः यद्वा तद्वधोपायः देववधोपायः ऋषिविहिंसनेन तच्छरीरे विष्णौ नष्टे सति तन्मूला देवाः स्वयमेव नङ्क्ष्यन्तीति भावः॥४२॥

इत्थं दुर्मन्त्रिभिस्सह सम्मन्त्र्य आलोच्य स दुर्मतिः असुरः कंसः कालपाशेन यमपाशेन आवृतः अत एव ब्रह्म हिंसामेव हितं मेने अमन्यत॥४३॥

ततः साधुजनस्य कदने उपद्रवे निमित्ते तत्कदनमेव प्रियं येषां तान् कामरूपधरान् दानवान् दिक्षु आज्ञाप्य स्वयं गृहम् आविवेश॥४४॥

ततस्ते दानवाः रजसा विक्षिप्तस्वभावाः तमसा विमूढं आवृतं चेतो येषाम्। अत एव ते सतामेव विद्वेषणमप्रीतिं दुःखमिति यावत्, चेरुः चक्रुः। कथम्भूताः? सन्निहितमृत्यवः सद्विद्वेषणस्य मृत्युसान्निध्यावहत्वादिति भावः॥४५॥

न केवलं मृत्युमेव आवहन्ति अपि तु आयुरादीन्यपि हन्तीत्याह - **आयुरिति।** महदतिक्रमः महाद्विषयापचारः पुंसामपचरताम् आयुरादीनि सर्वाणि श्रेयांसि हन्ति नाशयति। श्रीः सम्पत्तिः धर्मः पुण्यं, लोकाः धर्मप्राप्यफलानि, यद्वा देहानुबन्धिनो जनाः आशिषः कामाः॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

---

1- -1. K.W. omit 2. W. धर्म्य।

**विज०** हन्मः हनिष्यामः, हविर्दुघाः यज्ञयोग्यं घृतं दुहन्तीः। छन्दसि हकारस्थाने घकारः॥ ४० - ४३।

आरात् समीपे॥ ४४, ४५॥

विष्ण्वादि महदतिक्रमफलमाह — **आयुरिति** ॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

(विजयध्वजरीत्या पञ्चमोऽध्यायः)

# पञ्चमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या षष्ठोऽध्यायः)

—: नन्दव्रजवृत्तान्तः :—

श्रीशुक उवाच

नन्द स्त्वात्मज उत्पन्ने जाता ह्लादो महामनाः।
आहूय विप्रान् वेदज्ञान्[1] स्नात श्शुचि रलङ्कृतः॥१॥

वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जातकर्माऽऽत्मजस्य वै।
कारयामास विधिवत्[2] पितृदेवाऽर्चनं तथा॥२॥

धेनूनां नियुते प्रादात् विप्रेभ्य स्समलङ्कृते[3]।
तिलाद्रीन्सप्त रत्नौघ[4] शातकुम्भाम्बरावृतान्[5]॥३॥

कालेन स्नान शौचाभ्यां संस्कारै स्तपसेज्यया।
शुध्यन्ति दानै स्सन्तुष्ट्या द्रव्यण्यात्माऽऽत्मविद्यया[6]॥४॥

सौमङ्गल्यगिरो विप्राः सूतमागधवन्दिनः।
गायकाश्च जगु र्नेदुः भेर्यो दुन्दुभयो मुहुः॥५॥

व्रजस्सम्मृष्टसंसिक्तद्वाराजिर गृहान्तरः[7]।
चित्रध्वजपताकास्रक् चैल[8] पल्लव तोरणैः[9]॥६॥

गावोवृ[10] षाश्च वत्सा[11] श्च हरिद्रातैलरूषिताः।
विचित्रधातु बर्हस्रग्वस्त्रकाञ्चनमालिनः॥७॥

महार्हवस्त्राभरण[12] कञ्चुकोष्णीषभूषिताः।
गोपा स्समाययू राजन् नानोपायनपाणयः॥८॥

---

1. B.M. दैवज्ञान् 2. K.W. ०ना 3. M. ०तः 4. A.M. घान् 5. A.B. कौ० *This verse is not found in M. edn. 6. V. मन आत्माऽऽ०
7. M. प्रजाः 8. M.०राः 9. A.B.G.M. चै० 10. M. ०णाः 11- -11. B.G. वृषा वत्सतरा; V हृष्टाश्च वत्साश्च 12. V. °णाः

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पञ्चमे जातकं नन्द स्सूनोः कृत्वा महोत्सवम्।
गत्वाऽथ[1] मधुरां प्राप वसुदेवाऽऽगमोत्सवम्॥

**नन्द** इति। महामनाः उदारचित्तः॥ १, २॥

**धेनूना** मिति। नियुते द्वे लक्षे सप्त तिलपर्वतांश्च प्रादात्। कथम्भूतान् रत्नौघैः रत्नसमूहैः, शात कुम्भाम्बरैः[2] सुवर्णरसाक्तैः वस्त्रैः[3] आवृतान्॥ ३॥

द्रव्याणां गोहिरण्यादीनां मध्ये केषाञ्चि द्दानै रेव शुद्धिः यथा[4] तथा अन्नदानादियुक्त जातकर्मादि स्नानेन[5] देहादि संस्कारै रेव गर्भाणां शुद्धिरिति दर्शयितुं प्रतिनियतानि शोधकानि दृष्टान्तत्वेनोदाहरति - **कालेनेति**। कालेन भूम्यादि। स्नानेन देहादि। शौचेन अमेध्यलिप्तादि। संस्कारैः गर्भादि। तपसा इन्द्रियाणि इज्यया ब्राह्मणादि। दानै र्द्रव्याणि सन्तुष्ट्या मनः आत्मा तु आत्मविद्यया शुध्यति[6]॥ ४॥

**सौमङ्गल्येति**। सौमङ्गल्यगिरः स्वस्तिवाचका विप्रादयो बभूवुः। तत्र — "सूताः पौराणिकाः प्रोक्ता मागधा वंशशंसकाः। वन्दिन स्त्वमलप्रज्ञाः प्रस्तावसदृशोक्तयः" इति[7]॥ ५॥

व्रज इति। सम्मृष्टानि संलिप्तानि[8] संसिक्तानि च द्वारादिकानि[9] अजिराणि[10] अङ्गणानि गृहान्तराणि गृहमध्यानि च यस्मिन् सः तथा। चित्रध्वजेषु पताकानां स्रजश्च चैलानि[11] च पल्लवतोरणानि च तै र्भूषिताः॥ ६॥

**गाव** इति। हरिद्रातैलैः[12] रूषिताः लिप्ताः विचित्रा[13] धातवश्च बर्हस्रजश्च वस्त्राणि च काञ्चनमालाश्च अलङ्कारतया विद्यन्ते येषां ते तथाभूताः, गवादयो बभूवु रित्यर्थः॥ ७, ८॥

---

1. V. तु 2. A. B. कौ० 3. A.B. अम्बरैश्च 4- -4. V. यथा 5- -5. A.B. Omit 6- -6. B.V. इति 7. B omits इति 8. 8 A. B omit 9- -9. B.V. द्वाराणि 10. V. omits अजिराणि 11. -11 A. B चैल० 12- -12. V. omits 13. B. ०त्र०

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं "तस्यां रात्र्यां व्यतीतायाम्" (भाग 10-4-29) इत्यादिना मधुरायां प्राभातिकवृत्तान्तः उक्तः। अथ व्रजे तद्वृत्तान्तमाह - नन्दस्तु इत्यादिना "तत आरभ्य" (भाग 10-5-17) इत्यतः प्राक्तनेन। आत्मजे उत्पन्ने सति जात आह्लादो यस्य महामना औदार्यप्रवणं मनो यस्य। तथाभूतो नन्दो वेदज्ञानब्राह्मणान् आहूय स्वयं स्नातः शुचि रलङ्कृतश्च॥ १॥

[2]ततः स्वस्त्यनं माङ्गलिकं सूक्तं वाचयित्वा यथाविधि जातकर्म कारयामास, तथा पितॄणां देवानां च अर्चनं कारयामास॥ २॥

ततः सम्यगलङ्कृते द्वे धेनूनां नियुते लक्षे विप्रेभ्यः प्रायच्छत् तथा रत्नौघैः शातकुम्भाम्बरैः[3] सुवर्णरजताङ्कवस्त्रैः सुवर्णनिष्कैः अम्बरैर्वा दक्षिणार्थं निहितैः आवृतान् सप्त तिलपर्वतान् प्रादात्॥ ३॥

किमर्थमेवं स्नानादिकर्माऽकरोत्[4] कारयामास अदाचेत्यत्राऽऽह - **कालेनेति**। आत्मा आत्मविद्ययेति दृष्टान्तार्थम्। यथा आत्मविद्यया परमात्मोपासनया आत्मा प्रत्यगात्मा विशुध्यति[6] हेयगन्धरहितो भवति तथा द्रव्याण्यपि कालादिभिरेव शुध्यन्तीत्यभिप्रायेण तद्विशुद्ध्यर्थं अकरोदियर्थः। द्रव्यशब्दोऽत्र[7] अनुबन्धिगेहदेहापत्य देवतापशुहिरण्यादि वित्तधान्येन्द्रियाभिप्रायकः। तत्र कालेन दशदिनात्मकेन गेहस्य शुद्धिः स्नानशौचाभ्यां देहस्य, जातकर्मादि संस्कारैः अपत्यस्य, तपसा मन्त्रजपेनेज्यया[8] च गृहदेवतायाः दानैः पशुहिरण्यधनधान्यानां, सन्तुष्ट्या मनसः इति विवेकः॥ ४॥

तदा विप्राः सौमङ्गल्यगिरः स्वस्तिपाठका बभूवुः। सूतादयो गायकाश्च जगुः पुराणादीनीति शेषः। तत्र सूताः पौराणिकाः, मागधाः वंशावलीपाठकाः, वन्दिनः स्तुतिपाठकाः, भेर्यो दुन्दुभयश्च मुहुर्मुहुर्नेदुः॥ ५॥

सम्मृष्टानि सम्मार्जिन्या शोधितानि संसिक्तानि चन्दनोदकादिभिः सम्यक् स्नापितानि द्वाराणि अजिराणि अङ्गणानि गृहान्तराणि गृहमध्यानि च यस्मिन् तथाभूतो व्रजो बभूव। तथा विचित्रध्वजादिभिः, अलङ्कृत इति शेषः। ध्वजादीना मितरेतरयोगद्वन्द्वः। चित्रपदं प्रत्येकान्वयि द्वन्द्वादौ श्रुतत्वात्। ५॥

गवादयो हरिद्रातैताभ्यां रूषिताः उपलिप्ताः विचित्राः गैरिकादिधात्वादयः येषां सन्तीति तथाभूता बभूवुः। तत्र बर्हस्रजो मयूरपिञ्छमालाः महार्हाण्यनर्घाणि वस्त्रादीन्येव भूषणाण्यलङ्कारा येषाम्। भूषिता इति पाठे तै भूषिता अलङ्कृताः, उपायनानि पाणिषु येषां तथा भूता गोपाः हे राजन्! समाययु राजग्मुः॥ ७, ८॥

---

1. W स्नात्वा 2. W. omits ततः 3. A.B. कौ° 4. W. °मक० 5. A.B. प्रा० 6. A.B. omit वि 7. W. adds आत्मा 8. A.B. जा०

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भगवदवतार हृष्टमनसो नन्दस्य भगवद्भक्तत्वतिशयेन चित्तविश्रमणेन सद्भक्तानां भगवद्भक्तिः चन्द्रोदय इव समुद्रवृद्धिः स्वाभाविकीति प्रकाश्यते अस्मिन्नध्याये। जाताह्लादः प्रादुर्भूतानन्दः॥ १॥

स्वस्त्ययनं माङ्गल्यवचनं तथा पितृदेव गन्धर्वार्चनं कारयामास नन्दयामास॥ २॥

शातकुम्भान्तरावृतान्[2] गर्भीकृत शातकुम्भान्॥ ३, ४॥

स्वकृतस्तुतिपाठकाः सूताः, परकृतस्तुति जीविनो मागधाः, प्रबन्धस्तुतिपाठकाः वन्दिनः॥ ५॥

द्वारञ्च अजिरञ्च गृहान्तरञ्च द्वाराजिरगृहान्तराणि सम्मृष्टानि संशोधितानि संसिक्तानि चन्दनजलादिना प्रोक्षितानि द्वारादीनि यासां ता स्तथा। चित्र ध्वजपताकया स्रक्चैलपल्लवैश्चैव युता स्तोरणाः यासां ता स्तथा॥ ६॥

विचित्रधातवः बर्हस्रजः पिच्छमाला[3] वस्त्राणि काञ्चनमालाश्च येषां सन्तीति विचित्रधातुबर्हस्रग्वस्त्रकाञ्चनमालिनः॥ ७॥

महार्हाणि महायोग्यानि वस्त्राणि आभरणानि कञ्चुकानि कवचानि उष्णीषाणि शिरोवेष्टनवस्त्राणि भूषणानि येषां ते तथा॥ ८॥

---

1. A.B. ०णे स० 2. A.B. कौ० 3. A.B. पिञ्छ

गोप्यश्चाऽऽकर्ण्य मुदिता यशोदायास्सुतोद्भवम्[1]।
आत्मानं भूषयाञ्चक्रुः वस्त्राऽऽकल्पाञ्जनादिभिः॥ ९॥

नव कुङ्कुम किञ्जल्क मुख पङ्कज भूतयः[2]।
बलिभि स्त्वरितं जग्मुः पृथुश्रोण्यश्चलत्कुचाः॥ १०॥

गोप्य स्स्मृष्टमणिकुण्डलनिष्क कण्ठ्यः चित्राम्बराः पथि शिखाच्युतमाल्यवर्षाः।
नन्दालयं सवलया व्रजती विरेजुः व्यालोलकुन्तल[3] पयोधरहारशोभाः॥ ११॥

ता आशिषं[4] प्रयुञ्जाना श्चिरं पाहीति बालके[5]।
हरिद्राचूर्णतैलाद्भिः[6-6] सिञ्चन्त्योऽजन[7-8] मुज्जगुः॥ १२॥

अवाद्यन्तविचित्राणि वादित्राणि महोत्सवे।
कृष्णे विश्वेश्वरेऽनन्ते[9] नन्दव्रज[10-10] मुपेयुषि॥ १३॥

गोपाः परस्परं हृष्टाः दधिक्षीरघृताम्बुभिः।
आसिञ्चन्तो विलिम्पन्तो नवनीतैश्च चिक्षिपुः॥ १४॥

नन्दो महामना स्तेभ्यो वासोऽलङ्कारगोधनम्।

★ (ददौ प्रीतमनास्तत्र पुत्रजन्मसुखैधितः।)
सूत मागध वन्दिभ्यो येऽन्ये विद्योपजीविनः।
तै स्तैः कामै रदीनात्मा यथोचित मपूजयत्॥ १५॥

---

1. V °दयम् 2. V. राजयः 3. A,B,G,M कुण्डल 4. A,B,G,M °षः 5. V. पा° 6- -6. W. तैलचूर्णाद्भिः 7. W. °त्यो 8. A,B,G,K,W जन° 9. K,W. °रैंऽशेन 10- -10. A,B,G नन्दस्य व्रज मागते। ★ This additional half verse is found only in V.Edn.

**श्रीध० गोप्य** इति। अ[1]कल्पाः अल[1]ङ्काराः ॥ ९॥

**नवेति।** न[2]वकुङ्कुमकिञ्जल्कैः मुखपङ्कजेषु भूतिः श्रीः यासां ता[2]ः ॥ १०॥

★ **गोप्य** इति। सुमृष्टानि उ[3]ज्ज्वलितानि[3] मणिमयानि कुण्डलानि यासां ताः, निष्का[4]ः पतकानि कण्ठेषु यासां ताः, शिखाभ्यः च्युतानि माल्य वर्षाणि यासां ताः नन्दालयं व्रजतीः व्रजन्त्यः आ[5]र्षत्वात् प्रथमार्थे द्वितीया। पथि विरेजुः। सवलयाः कङ्कण भूषिताः। स[6]बलय इति पाठे गृहीतविविधोपायना इत्यर्थः[6] व्यालोलैः कुन्तलादिभिः शोभा यासां ताः॥ ११॥

★ **ता** इति। जनं सिञ्चन्त्यः अजनं भ[8]गवन्तं प्रति[8] उज्जगुरिति वा॥ १२ - १४॥

**नन्द** इति। तेभ्यश्चाप्रादात् यथोचित मन्यानपि अपूजयत्॥ १५॥

---

1- -1. B. आकल्पो भूषणम् 2- -2. B omits ★ The commentary on this 11th verse appears in a shorter form in B edn thus कुण्डलं कर्णभूषणं, निष्कं कण्ठाभरणं सबल्यः सोपहाराः॥ ११॥ 3- -3. V. omits 4. V. निष्कानि 5- -5. A omits 6- -6. A. omits 7. A. कुण्ड° ★ This portion of the commentary is not found in B edn 8- -8. A. omits.

**वीर०** तथा गोपानां स्त्रियोऽपि यशोदाया स्सुतोद्भव[1] माकर्ण्य मुदिता हृष्टा वस्त्रादिभिः आत्मान मलञ्चक्रुः। आकल्पा भूषणानि आदिशब्देन चन्दनलेपादि सङ्ग्रहः॥ ९॥

नवाः कुङ्कुमकिञ्जल्का येषु तेषां मुखपङ्कजानां भूतिः श्रीः शोभा यासां ताः। कुङ्कुमानां किञ्जल्कत्वरूपणेन मुखानां पङ्कजत्वरूपणं पुष्कलम्। पृथुश्रोण्यः पृथुजघनाः, चलन्तौ कुचौ यासां ताः बलिभिः उपायनैः सहिताः त्वरितं यथा तथा जग्मुः॥ १०॥

सम्मृष्टानि निर्मलीकृतानि मणिकुण्डलानि यासां ताश्च, निष्काः पदकाख्यभूषणानि कण्ठे यासां ताः इति बहुव्रीहिद्वयगर्भकर्मधारयः। चित्राण्यम्बराणि यासां, पथि शिखाभ्यः च्युतानां गलितानां माल्यानां पुष्पाणां वृष्टयो यासां, व्यालोलानां गतिरभसेन चलतां कुण्डलादीनां शोभा यासां ताः वलयैः सहिताः नन्दस्याऽऽलयं प्रति व्रजतीः व्रजन्त्यो विरेजुः॥ ११॥

ताः गोप्यः पाहीति, अस्मा निति शेषः। बालके आशिषः प्रयुञ्जानाः हरिद्रा तैल चूर्णैः हरिद्रायाः तैलमिश्रैः चूर्णैः, अद्भिश्च। यद्वा, हरिद्रया तैलेन चूर्णैः सुधाख्यद्रव्य चूर्णैः अद्भिः दधिमिश्रोदकैश्च परस्परं जनं सिञ्चन्त्य उज्जगुः॥ १२॥

अंशेन बलरामेण सह विश्वेश्वरे श्रीकृष्णे नन्दव्रज मुपेयुषि सति तस्मिन् महोत्सवे विचित्राणि वाद्यानि अवाद्यन्त॥ १३॥

गोपास्तु हृष्टाः परस्परं दध्यादिभिः आसिञ्चन्तो नवनीतै र्विलिम्पन्तश्च ते चिक्षिपुः॥ १४॥

नन्दस्तु विपुलकीर्तिः अत एव तेभ्यः सूतादिभ्यः अन्ये च ये विद्योपजीविनः भरतशास्त्रादिविद्ययोपजीवन्तीति तथा, भूतेभ्यश्च वस्त्रादिकं ददौ , तैस्तै स्तेषा मभीष्टैः उच्चावचैः कामैः यथोचित मदीनात्मा उदारमनाः नन्दः सम्य गपूजयत्॥ १५॥

---

1. W. °दय°

**विज०** आकल्प आभरणम्॥ ९॥

नवकुङ्कुमकिञ्जल्कानि अभिनवकुङ्कुम केसराणीव मुख पङ्कजभूतयः मुखकमलश्रियो यासां ता स्तथा। बलिभि र्युताः, पृथु श्रोण्यः विशालकटितटाः॥ १०॥

व्रजतीः व्रजन्त्यः, लोलत्वं कुण्डलादीनां गमनविशेषेणं, सवलयाः सकटकाः सापाङ्गनयनाः॥ ११॥

हरिद्रा तैलचूर्णाद्भिः जनं सिञ्चन्त्यः अजनं कृष्णमिति केचित्॥ १२॥

उपेयुषि पाप्तवति॥ १३, १४॥

तेभ्यो गोपेभ्यः यथोचितं दत्त्वा अपूजयत्। येऽन्ये विद्योपजीविनः तेभ्यश्च यथोचितं दत्त्वा॥ १५॥

**विष्णो राराधनार्थाय स्वपुत्रस्योदयाय च।**
**रोहिणी च महाभागा नन्दगोपाभिनन्दिता।**
**व्यचर दिव्यवासस्रक्कण्ठाभरणभूषिता॥ १६॥**

तत आरभ्य नन्दस्य व्रजस्सर्वसमृद्धिमान्।
हरे र्निवासात्मगुणै रमाक्रीड मभू न्नृप!॥ १७॥

गोपान् गोकुलरक्षायां निरूप्य मधुरां गतः।
नन्दः कंसस्य वार्षिक्यं करं दातुं कुरूद्वह॥ १८॥

वसुदेव उपश्रुत्य भ्रातरं नन्द मागतम्।
ज्ञात्वा दत्तकरं राज्ञे ययौ तदवमोचनम्॥ १९॥

तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय देहः प्राण मिवाऽऽगतम्।
प्रीतः प्रियतमं दोर्भ्यां सस्वजे प्रेमविह्वलः॥ २०॥

पूजित स्सुखमासीनः पृष्ट्वाऽनामय मादृतः।
प्रसक्तधी स्स्वात्मजयो रिद माह विशाम्पते॥ २१॥

---

1. V. °दि 2. K,W. °प° 3. M. लोकनः

**श्रीध० तत** इति। हरे र्निवासेन ये आत्मनि व्रजे गुणाः सर्वप्रमास्पदत्वादयः तै रमायाः आक्रीडं विहारस्थानम्॥ १६,१७॥

**गोपा**निति। वार्षिक्यं प्रतिवर्षं दातुं योग्यं धनादि ॥ १८॥

**वसुदेव** इति। भ्रातरं सखायम्। तदवमोचनं तस्य नन्दस्य अवमोचनं निवासस्थानम्॥ १९॥

**तमिति**। सस्वजे आलिङ्गितवान्॥ २०॥

**पूजित** इति। आत्मजयोः रामकृष्णयोः॥ २१॥

---

1. B,V. omit व्रजे 2- -2. A,B. प्रियत्वादयः 3. A°र्ष° 4- -4. A,B. देयम् 5- -5. A,B omit 6- -6. A,B वसतिस्थानम्।

**वीर०** विष्णो र्गृहदैवतस्याराधनार्थं स्वपुत्रस्य अभ्युदयार्थं च दिव्यैः वासःप्रभृतिभिः भूषिता सती महा भाग्यवती रोहिणी नन्देनाऽन्यै र्गोपैश्चाऽभिनन्दिता व्यचरत्॥ १६॥

अथ नन्दवसुदेवयोः यादृच्छिकसमागमं विवक्षुः तावत् व्रजस्य सर्वसम्पत्समृद्धत्वमाह - **तत** इति। तत आरभ्य भगवत्प्रवेशादारभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वा स्समृद्धयो भोग्यभोगोपकरणादि समृद्धयोऽस्य सन्तीति तथा। हरेः निवासेन हेतुना ये आत्मगुणाः महोत्सवादयः तैः रमाक्रीडं लक्ष्मी विहारस्थानञ्च अभूत्। हे नृप! आक्रीडमिति नपुंसकत्व मार्षम्, सामान्ये नपुंसकं वा, क्रियाविशेषणं वा॥ १७॥

एवं सति कदाचित् नन्दो गोकुलरक्षायां निमित्ते व्रजरक्षार्थं गोपान् निरूप्या आदिश्य कंसस्य वार्षिक्यं वर्षे देयं करं स्वामिग्राह्यं भागं दातुं हे कुरूद्वह! मधुरां गतः॥ १८॥

तदा वसुदेवो[2] भ्रातर मागतं नन्द माकर्ण्य राज्ञे कंसाय दत्तः करो येन तच्च ज्ञात्वा तस्य नन्दस्याऽपमोचनं[3] ययौ। अपमुच्यन्ते गमनोपयुक्तपरिकरबन्धा यत्रेति तदपमोचनं[5] अवतरणस्थानम्॥ १९॥

तमागतं वसुदेवं दृष्ट्वा प्राणं प्रति देह इव, यथा प्राण आगते सति देह उत्तिष्ठतित्वं तद्वत्। अनेन प्राणवन्निरतिशयप्रीतिविषयत्वं सूचितम्। सहसा आशु उत्थाय नितरां प्रीतः प्रेम्णा विह्वलश्च प्रियतमं वसुदेवं दोर्भ्यां सस्वजे आलिङ्गितवान्॥ २०॥

तत स्तेन पूजितो वसुदेवः सुखं यथा तथा आसीनं उपविष्टं नन्द मनामयं आरोग्यं आधिव्याधिराहित्यं आदरयुक्तः पृष्ट्वा हे विशांपते! आत्मजयोः प्रसक्तधीः आसक्तचित्तः इदं वक्ष्यमाण माह॥ २१॥

---

1. A,B °वतः प्र° 2. A, B. add अपि 3. A °वं° 4. A,B. add निवेशस्थानं 5. A,B°वं°

**विज०** किं फलमुद्दिश्य इति तत्राऽऽह - **विष्णोरिति** ॥ १६॥

रमाक्रीडं लक्ष्मीविहारस्थानं, क्रियाविशेषणं वा॥ १७॥

वार्षिक्यं प्रतिवत्सरं देयम्॥ १८॥

तदवलोकनः तस्य नन्दस्य दर्शनिच्छुः॥ १९-२१॥

**वसुदेव उवाच**

**दिष्ट्या भ्रातः प्रवयस इदानी मप्रजस्य ते।**
**प्रजाशाया निवृत्तस्य प्रजा यत्समपद्यत॥ २२॥**

**दिष्ट्या संसार चक्रेऽस्मिन् वर्तमानः पुनर्भवः।**
**उपलब्धो भवानद्य दुर्लभं प्रियदर्शनम्॥ २३॥**

**नैकत्र प्रियसंवास स्सुहृदां चित्र कर्मणाम्।**
**ओघेन व्यूह्यमानानां प्लवानां स्रोतसो यथा॥ २४॥**

**कच्चित्पशव्यं विरुजं भूर्यम्बुतृणवीरुधम्।**
**बृहद्वनं तदधुना यत्राऽऽस्से त्वं सुहृद्वृतः॥ २५॥**

**भ्रात र्मम सुत: कच्चिन्मात्रा सह भवद्वजे।**
**तातं भवन्तं मन्वानो भवद्भ्या मुपलालित:॥ २६॥**

**पुंस स्त्रिवर्गो विहित: सुहृदो ह्यनुभावित:।**
**न तेषु क्लिश्यमानेषु त्रिवर्गोऽर्थाय कल्पते॥ २७॥**

---

1- -1. B,G,K,M,W omit 2. M °जायत 3. V. लब्धा 4. A °युह°; V °यूह° 5. A. वि° 6. V. भूम्य° 7. M,V °स्ते 8. A. °ऽभि 9. M °दां 10. M °वत:

**श्रीध० दिष्ट्येति।** पुन र्भव: पुन र्जात इव। तत्र हेतुगर्भं विशेषणम् संसार चक्रे वर्तमान इति[1] ॥ २२, २३॥

दुर्लभत्व मेवाऽऽह - **नैकत्रेति।** प्रियश्चाऽसौ संवासश्च प्रियसंवास:। हे प्रियेति वा। स्रोतस: ओघेन नीयमानानां प्लवन्तीति प्लवा: तृणकाष्ठादय: तेषां यथा एकत्र निवास:[2] नाऽस्ति तद्वत्॥ २४॥

**कच्चि** दिति। पशव्यादिरूपे तस्मिन्वने निर्दोषे गोपयोद्धचादि प्रभूतगोपिकास्तन्यादिना पुत्रक्षेम जिज्ञासया[3] पृच्छति "प्रसक्तधी: आत्मजयो:" (भाग. 10-5-22) इत्युक्तत्वात्॥ २५॥

**भ्रात** रिति॥ भवद्भ्यामुपलालित स्सन् कच्चित्, वर्तत इति शेष:॥ २६॥

पुत्रादर्शनक्लेशेनाऽऽह[4] - **पुंस इति।** सुहृदो बन्धून् प्रति अनुभावित: तदर्थं[5] सम्पादित:[6-6] य स्त्रिवर्ग:, सहि पुंसो विहितो युक्त: शास्त्रेण वा प्रोक्त: न स्वमात्रपर्यवसित:। अत: तेषु क्लिश्यमानेषु स:[7-7] त्रिवर्ग: अर्थाय न कल्पते सुखाय न भवतीत्यर्थ:॥ २७॥

---

1. A adds दुर्लभ मिति च 2. A,B. स्थिति: 3. B,V. विवक्षया 4. A,B. °शा° 5. B, V omit तदर्थं 6- -6. V सम्भावित: 7- -7. B,V omit

**वीर०** तदेवाऽऽह - 'दिष्ट्या भ्रात:!' इत्यादिभिष्षड्भि: हे भ्रात:! अप्रजस्य अनपत्यस्य सत: प्रवयस: वृद्धस्य, अत एव प्रजाशाया सन्तानवाञ्छाया निवृत्तस्य तव अधुना प्रजा पुत्र: समपद्यत जात इति यदेत दिष्ट्या! दिष्ट्येत्यानन्दद्योतक मव्ययम्। अय मस्माकं महानानन्दो जात इत्यर्थ:। एव मुत्तरत्राऽपि॥ २२॥

अस्मिन् संसारचक्रे वर्तमान: पुमान्, पुन र्भवतीति पुनर्भव: पुत्ररूपेणोत्पन्न इत्येतत् दिष्ट्या ! तदद्य भवान् मयोपलब्धो दृष्ट इत्येतत् दिष्ट्या। तत्र हेतु: - दुर्लभं हि प्रियस्य दर्शन मिति। यद्वा, अस्मिन् संसार चक्रे वर्तमान

एवाऽहं पुनर्भवः पुनर्जातः, कथञ्चित् कंसभयान्निवृत्तः। पुनर्जात प्राय इत्यर्थः। यद्वा अस्मिन्नेवजन्मनि मया पुनर्जात प्रायोण त्वं उपलब्ध इत्येतत् दिष्ट्या। शृङ्खलितस्य मम प्रियतमभव इदानिं दुर्लभं हि इत्यर्थः॥ २३॥

दुर्लभत्व मेवाऽऽह - **नैकत्रेति।** सुहृदा मेकत्र प्रियसंवासः प्रियश्चाऽसौ संवासश्च, प्रियेण प्रियगोष्ठी पूर्वकं सहवास इति वा। हे प्रियेति वा। न सुलभः। किन्तु दुर्लभ इत्यर्थः। यथा स्रोतसः प्रवाहस्य ओघेन पूरेण व्यूह्यमानानां इतस्ततो विविधं नीयमानानां अतएव चित्रकर्मणां विविधकर्मणां प्लवानां प्लवन्तीति तथा प्लवानां उत्प्लुत्य गच्छतां काष्ठादीना मेकत्र वासो दुर्लभः, तद्वत्॥ २४॥

यत्पशव्यं पशुभ्यो हितं निरुजं नीरोगं भूरिबहुलम्, अम्बु जलं, तृणादीनि[1] वीरुधो गुल्मानि च यस्मिन्, यास्मिंश्च त्वं सुहृद्भिः वृतः आस्से तद्वन मधुना कच्चि दास्ते! कच्चि दिति इष्टप्रश्न द्योतकमव्ययम्। कुशलमास्तेकिम्? तदस्माक मिष्ट मित्यर्थः॥ २५॥

तथा हे भ्रातः! मम सुतो बलरामः मात्रा रोहिण्या सह भवतो व्रजे कच्चित्? कथम्भूतः? भवन्त मेव तातं पितरं मन्वानः भवद्भ्यां दम्पतिभ्यां पुत्रवदुलालितः॥ २६॥

अथ सत्यपि सन्ताने तद्दर्शन स्पर्शनोपलालनाद्यभावात् निर्विण्णः किञ्चिल्लोकपरिपाट्याऽऽह - **पुंस** इति। त्रिवर्गः त्रयाणां धर्मार्थकामानां वर्गः, स यदि सुहृदो देहानुबन्धिनः प्रति अनुभावितः अनुभवं प्रापितः तर्हि स पुंसो युक्तः। यद्वा, विहितः शास्त्रानुमतः अन्यथा त्रिवर्गे स्वानुभवमात्रपर्यवसिते सति अत एव हेतोः सुहृत्सु क्लिश्यमानेषु च सत्सु त्रिवर्गोऽर्थाय प्रयोजनाय न कल्पते, व्यर्थ इत्यर्थः॥ २७॥

---

1. B. तृणानि

**विज०** प्रवयसः वृद्धस्य इदानीं प्रजा समजायतेति यत्, अतो दिष्ट्या॥ २२॥

इदञ्चैकं मङ्गल मभूदित्याह - **दिष्ट्येति।** पुनः पुन र्भवतीति पुनर्भवः, तस्मिन् किं चोद्य मिति तत्राऽऽह - दुर्लभ मिति॥ २३॥

दुर्लभत्व मुपपादयति - **नैकत्रेति।** प्रियसंवासः हर्षेण निवासः, प्रियैः संवासो वा। चित्रकर्मणां नानाविधपुण्यपापवतां, स्रोतसो नद्याः ओघेन प्रवाहेण व्यूह्यमानानां बिविधं नीयमानानां प्लवानां काष्ठादीनां, पोतानां वा॥ २४॥

कच्चिदिति सानुनयप्रश्नः। पशव्यं पशुहितं निरुजं नीरोगकरम्॥ २५॥

नन्दस्य कृष्णो मम सुत इति भ्रान्तिं निवारयति **भ्रात** रिति॥ २६॥

त्रिवर्गो धर्मादिः पुंसः विहितः, वेद इति शेषः, स सुहृदामनिमित्तं बन्धूनां जनाना मनुभावतः प्रभावा न्निश्चयाद्वा भवति। हि यस्मात्तस्मात् तेषु सुहृत्सु क्लिश्यमानेषु सत्सु त्रिवर्गोऽर्थाय प्रयोजनाय न कल्पते समर्थो न भवति॥ २७॥

[1]नन्द उवाच[-1]

**अहो ते देवकीपुत्त्राः कंसेन बहवो हताः।**
**एकावशिष्टाऽवरजा कन्या साऽपि दिवङ्गता॥ २८॥**

**नूनं ह्यदृष्टनिष्ठोऽय मदृष्टपरमो जनः।**
**अदृष्ट मात्मन स्तत्त्वं यो वेद न स मुह्यति॥ २९॥**

**वसुदेव उवाच**

**करो वै[2] वार्षिको दत्तोराज्ञे दृष्टा वयञ्चते[3]।**
**नेह स्थेयं बहुदिनं[4] सन्त्युत्पाताश्च गोकुले॥ ३०॥**

[5]श्रीशुक उवाच[-5]

**इति नन्दादयो गोपाः प्रोक्तास्ते शौरिणा ययुः।**
**अनोभि रनडुद्युक्तैः तमनुज्ञाप्य गोकुलम्॥ ३१॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्री वैयासिक्यां अष्टदशसाहस्र्यां
श्रीहृश्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
नन्द वसुदेवसङ्गमोनाम पञ्चमोध्यायः॥ ५॥

---

1. A, G. omit 2. V, हि 3. A,B,G,M,V व: 4. A,B,G, °तिथं; V विधं 5- -5. A,M,K,V,W omit.

**श्रीध०** नन्दो वसुदेवं सान्त्वयन्नाह - **अहो** इति॥ २८॥

**नून** मिति। अदृष्ट एव निष्ठा समाप्ति र्यस्य सः [1]यदैव पुत्त्रादिसुखप्रद मदृष्टं हीयते, [2]तदैव ते पुत्त्रादयो न भवन्तीत्यर्थः। [3]तथा अदृष्टपरमः अदृष्ट मेवपरमं यस्य सः यद्यपि पुत्त्रादयो वियुक्ताः तथाऽपि ता नदृष्ट मेव पुन स्सङ्गमयतीत्यर्थः। एवं अदृष्ट मात्मन स्तत्त्वं अव्यभिचारिकारणं सुखदुःखयो र्यो वेद न स मुह्यति। तस्मा दिदानीं

त्वया न दुःखं भावनीयम्। मृताना मपि वियुक्ताना मपि च कालान्तरे दर्शनयोगवियोग सम्भवात्। अस्मदादिभिरपि कालान्तरे तद्वियोगे सत्यत एव न दुःखं सम्भावनीय मिति नन्दस्य दैवी वागशेषा भाविसूचिका॥ २९॥

तां बुद्ध्वा वसुदेवो दुःखं त्यक्त्वा नन्द माह - करो वै इति। वः युष्माभिः॥ ३०, ३१॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

---

1. V यथैव 2. V. तथैव 3. V omits तथा 4. V omits अपि 5- -5. A,B योगयोः 6- -6. B,V सत्यपीति।

**वीर०** अथ वसुदेवं सान्त्वयन् आह नन्दः - अहो इति द्वाभ्याम्। अहो इति खेदे। क्षेत्रजत्वशङ्काव्यावृत्तये ते इत्युक्तम्॥ २८॥

एव मनुशोच्य अथ तत्त्वबोधेन समाधत्ते - नूनं मिति। अयं परिदृश्यमानो जनो नूनं ध्रुव मदृष्टनिष्ठः अदृष्ट एव निष्ठा समाप्ति र्यस्य सः अदृष्टसमाप्त्यनुसमाप्त सुखदुःखादिक इत्यर्थः। पुत्रोत्पत्तिविपत्तिप्रयुक्त सुख दुःख कारण भूतादृष्टानुरोधित्वात्तदुत्पत्तिविपत्तिप्रयुक्ते सुखदुःखे न नियते इत्यर्थः। "यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ। समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते" (भ.गी. 2-15) इत्युक्तरीत्या सुखदुःखयो रनियतत्वात् तत्र सामान्येन भवितव्य मिति भावः। अतएव अदृष्टपरमः अदृष्ट मेव परमं प्रभुः वशी यस्य सः अदृष्टायत्त इत्यर्थः। एव मात्मनः स्वस्य तत्त्वम्। तस्य सुखदुःखादिमतो भावं तत्त्वम् सुखदुःखादिमत्त्वं अदृष्टं अदृष्टमूलकं अदृष्टायत्तं मत्वा यः पुमान्वेद स न मुह्यति समसुखदुःखो भवतीत्यर्थः। यद्वा सुखदुःखादिकं अदृष्ट मतीन्द्रियं स्वसंवेद्य मात्मनस्तत्वं याथात्म्यं यो वेद देहविलक्षणात्मयाथात्म्यानुभवपरो भवेत् स न मुह्यति देहतदनुबन्धिप्रयुक्तसुखदुःख वैचित्र्यं न प्राप्नोतीत्यर्थः॥ २९॥

एवं विवेकोद्बोधकं नन्दवचो निशम्य नन्दं प्रति प्रकृतं वक्तव्य माह वसुदेवः कर इति। राज्ञे कंसाय वार्षिकः करो दत्तः। अतः प्रयोजनं नावशेषित मिति भावः। ते त्वया वयं दृष्टाश्च। अतोऽत्र त्वया बहुदिनं बहूनां दिनानां समूहः तन्न स्थेयम्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया बहुदिन मिति। चो हेत्वर्थः। यतः गोकुले बहव उत्पातास्सन्ति अतो नाऽत्र स्थेय मित्यर्थः॥ ३०॥

इत्थं शौरिणा वसुदेवेन प्रोक्ता स्ते नन्दादयो गोपा स्तं वसुदेव मनुज्ञाय आपृच्छ्य, तं कंसं वा। अनडुद्भिर्वृषभैः युक्तानि तैः अनोभि श्शकटैः गोकुलं ययुः॥ ३१॥

इति श्रीमद्भागवते दशम स्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

1- -1. W omits 2. W omits अत्र 3- -3. A युक्तै :।

**वीज०** सुता: तेऽपि सुखिन:, कच्चि दिति शेष:॥ २८॥

वसुदेवस्य स्वस्य तत्त्वज्ञान मस्तीति सूचयति **नून** मिति। नूनं प्राय: अयं जन: दृष्टे प्रत्यक्षे कार्ये निष्ठा नितरां स्थिति र्यस्य स:। तथाहि - एवं अदृष्टपरमो न दृष्ट मेव जानाति नाऽदृष्ट मित्यर्थ:। अत्र य आत्मन: अदृष्ट मव्यक्तं तत्त्वं वेद स पुमान् न मुह्यति विपरीतज्ञानी न भवति यथातत्त्वं जानाती त्यर्थ:॥ २९॥

नून मिदानीं अस्मिन् काले च उत्पाता अनर्थसूचका:॥ ३०॥

अनुडुद्युक्तै: वृषभयुक्तै:॥ ३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे पञ्चमोऽध्याय:॥ ५॥
(विजयध्वजरीत्या षष्ठोऽध्याय:)

# षष्ठोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीया सप्तमोऽध्यायः)

### पूतनासंहारघट्टः

श्रीशुक उवाच

नन्दः पथि वचश्शौरेः न मृषेति विचिन्तयन्।
हरिं जगाम शरणमुत्पातागमशङ्कितः॥ १॥

कंसेन प्रहिता[1] घोरा पूतना बालघातिनी।
शिशूंश्चचार निघ्नन्ती पुरग्रामव्रजादिषु[2]॥ २॥

न यत्र श्रवणादीनि रक्षोघ्नानि स्वकर्मसु।
कुर्वन्ति सात्त्वतां भर्तुः[3] यातुधानश्च तत्र हि॥ ३॥

सा खेचर्येकदोपेत्य पूतना नन्दगोकुलम्।
गोपित्वा[4] माययाऽऽत्मानं प्राविशत्कामचारिणी॥ ४॥

तां केशबन्धव्यतिषक्तमल्लिकां बृहन्नितम्बस्तनकृच्छ्रमध्यमाम्।
सुवाससं कम्पितकर्णभूषणत्विषो लसत्कुन्तलमण्डिताननाम्[5]॥ ५॥

वल्गुस्मितापाङ्गविसर्गवीक्षितैः मनोहरन्तीं वनितां व्रजौकसाम्।
अमंसताऽम्भोजकरेण रूपिणीं गोप्यः श्रियं द्रष्टुमिवाऽऽगतां पतिम्॥ ६॥

---

1. A. प्रेषिता 2. K.W. °माकरादिषु 3. V. पत्युः 4. A.B.G.V. योषित्वा 5. K.W. °त्कुण्डल

### श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

षष्ठे सख्युः गिरा नन्दो व्रजं गच्छन् मृतां पथि।
दृष्ट्वा तु राक्षसीं तस्याः मृत्युं श्रुत्वा तु[1] विस्मितः॥

**श्रीकृष्णविषये** शङ्कमानं राजानं प्रति, अविषये प्रवृत्ता सैव मरिष्यतीति सूचयन्नाऽऽह - **नेति**। यत्र श्रीकृष्णस्य श्रवणादीनि न सन्ति तत्रैतासां[2] शक्तिः, साक्षात्तस्मिन्नेव सति का शङ्केति भावः॥ १ - ३॥

**सेति**। योषित्त्वा वेषतो वरां नारीमिव आत्मानं विधाय। गोपित्वेति[3] पाठान्तरे आत्मानं तिरोधायेत्यर्थः[3]। ननु तत्र[4] निर्लज्जा निर्विशङ्का च सती कथं परसद्म[5] प्रविष्टा? अत आह कामचारिणीति। न हि कामचारिणीषु इदं चित्रमित्यर्थः॥ ४॥

**तामिति**। तां वनितां पतिं द्रष्टुम् आगताम् अतिरूपवतीं श्रियमिव गोप्योऽमंसतेत्युत्तरश्लोकस्थेनान्वयः[6]। श्रीसाम्यार्थानि विशेषणानि। केशबन्धव्यतिषक्तमल्लिकां - केशवन्धः[7] केशपाशः तस्मिन् विन्यस्त[7]मल्लिकाकुसुमां, बृहता नितम्बेन स्तनाभ्यां च उभयत आक्रान्तमिव कृच्छ्रं कृशं मध्यममुदरं यस्यास्तां, सुवाससं शोभने[8] रमणीये वाससी यस्यास्ताम्। कम्पितयोः कर्णभूषणयोः त्विषा उल्लसद्भिः कुन्तलैः मण्डितमाननं यस्यास्ताम्॥ ५॥

**वल्गिवति**। वल्गुस्मितापाङ्गविसर्गवीक्षितैः वल्गु रम्यं स्मितं येषु ते तथाभूता अपाङ्गविसर्गा येषु तैः वीक्षितैः व्रजौकसां मनः हरन्तीम् अतो गोपाः हृष्टमनसस्तु[9] एनां[9] न निवारितवन्तः इत्युक्तं भवति। गोप्यश्च श्रियमिव मत्वा तूष्णीमासन्। अतः केनाप्यनिवारिता सती प्रविवेशेति भावः॥ ६॥

---

1. A.B. ०ऽथ 2. A.B. तत्रैव तासां 3- -3. A.B. omit 4. A.B. omit तत्र 5. A.B.सद्मनि 6. B.V. ०केना० 7- -7. A.B. धम्मिल्लसंसक्त 8. V. omits शोभने 9- -9. A.B. हृतमनस्त्वेन तां

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ व्रजं प्रति नन्दगमनात् पूर्वमेव तत्र वसुदेवसूचितोत्पातं, भगवता तन्निराकरणप्रकारं, निराकृतवतः[1] तस्य रक्षाविधानप्रकारं च आह - नन्द इत्यादिना 'तावन्नन्दादयो गोपा' इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। **नन्द** इति। यदा नन्दः पथि गतः न तु व्रजं गतः। तदा सः[3] शौरिः[3] वसुदेवस्य वचो न मृषा किन्तु तथ्यमेव स्यादिति चिन्तयन् उत्पातागममुत्पातोपनिपात सम्भावनामाशङ्कितः। यद्वा पथि उत्पातागमाद्वा पक्षिचलनादिरूपात् व्रजे कञ्चिदुपद्रवं सम्भाव्य हरिं स्वाराध्यदैवं शरणं जगाम रक्षोपायत्वेनाध्यवास्यत्[4] ॥ १ ॥

तदा नन्दाऽऽगमनात् पूर्वमेव कंसेन प्रहिता प्रेषिता बालघातिनी पूतनाख्या राक्षसी तत्र पुरादिषु शिशून् निघ्नन्ती सती चचार॥ २॥

कृष्णेऽपि तत्कृतः कश्चिदुपद्रवो बभूव किम्? - इत्याशङ्कां तावन्निराह **नेति** । सात्वतामेकान्तिनां भक्तानां भर्तुर्भगवतः श्रवणादीनि गुणश्रवणकीर्तनादीनि। कथम्भूतानि? रक्षोघ्नानि यत्र देशे स्वकर्मसु स्वस्वव्यापारेषु सत्स्वपि न कुर्वन्ति जनाः तत्रैव हि यातुधान्यः राक्षस्यः, न तु श्रवणादि कर्तृजनाधिष्ठितदेशे; किं पुनः साक्षात् भगवदधिष्ठितदेशे इति भावः॥ ३॥

सा पूतना खेचरी कदाचित् गोकुलसमीपमेत्य मायया आश्चर्यवेषेण आत्मानं[5] गोपित्वा स्वाऽसाधारणं रूपं तिरोधाय[6]। तत्सामर्थ्यं सूचयन् विशिनष्टि। कामं यथेष्टरूपपरिग्रहेण चरतीति तथा प्राविशत् गोकुलं प्राविशत्। योषित्वा माययेति पाठान्तरम्। तदा मायया अभिमत रूपपरिग्रहोपयुक्ताश्चर्यशक्त्या आत्मानं योषित्त्वा योषितं[7] कृत्वेत्यर्थः ॥ ४॥

योषिद्रूपधरां तां वर्णयति - **तामिति**। तां गोप्यः श्रियमिव अमंसतेत्युत्तरेणान्वयः। केशबन्धे व्यतिषक्ताः संसक्ताः मल्लिकाः मल्लिकाकुसुमानि यस्याः बृहद्भ्यां नितम्बाभ्यां स्तनाभ्यां च कृच्छ्रः कष्टः भज्यमान इवावस्थित इति यावत्। सूक्ष्मत्वादिति भावः, स मध्यमः कटिप्रदेशो[8] यस्याः, शोभनं वासो यस्याः चलितयोः कर्णभूषणयोस्त्विषा उल्लसद्भिः कुण्डलैर्मण्डितम्[9] अलङ्कृतम् आननं यस्याः॥ ५॥

वल्गु सुन्दरं स्मितं येषां तैः तत्सहितैः इत्यर्थः। तथाभूतैः अपाङ्ग्योः नेत्रान्तयोः विसर्गः प्रसरो[10] येषां तैश्च वीक्षितैः कटाक्षैः व्रजौकसां व्रजः ओकः स्थानं येषां तेषां गोपानां मनोहरन्तीम् अम्भोजकरेण पद्मयुक्त पाणिना उपलक्षितां रूपिणीं प्रशस्तरूपवतीं पतिं कृष्णं द्रष्टुमागतां लक्ष्मीमिव तां वनितां गोप्योऽमंसत अमन्यन्त॥ ६॥

---

1. A.B. हरण 2. A.B. निहतवतः 3- -3 V. Omits 4. A.B. रक्षणो° 5. V. omits आत्मानं 6. A.B. भाव्य° 7. A.B. द्रूपं 8. W. omits कटि 9. A.B. कुन्तलैः केशैर्म° 10. A.B. ०सा०

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

गुणश्रवणवत् पराक्रमश्रवणमपि ज्ञानसाधनमिति प्रतिपादयति पूतनावधलक्षणं तच्चरितमस्मिन्नध्याये। तत्रोत्पातपरिहारो नारायणशरणप्राप्त्या भवति इत्याशयेनाऽऽह - **नन्द** इति॥ १॥

प्रहिता प्रेषिता पुरं राजमन्दिरं, नानाजनाधिवासो ग्रामः व्रजो गोकुलम्॥ २॥

यातुधान्यः राक्षस्यः सात्त्वतां भर्तुः श्रवणादीनि रक्षोघ्नानि, इतरेषामिति शेषः, न सन्ति। साक्षात् कृष्णो यत्र वसति तत्र का शङ्केति भावः॥ ३॥

गोपित्वा पिधाय ॥ ४॥

केशपाशे केशभारे व्यतिषक्ता निगूढा मल्लिका यस्यां सा तथा। बृहन्नितम्बेन कलशस्तनाभ्यां च कृच्छ्रो भग्नो मध्यमो यस्याः सा तथा ताम्॥५॥

अपाङ्गविसर्गैः कटाक्षमोक्षैः वनितां सम्भजनीयां व्रजौकसो गोपाः, व्रजौकसामिति पाठे मनोहरन्तीमिति सम्बन्धः। श्रियमिव न तु श्रियम्, अमंसत मेनिरे॥६॥

बालग्रहस्तत्र[1] विचिन्वती शिशून् यदृच्छया नन्दगृहेऽसदन्तकम्।
बालं प्रतिच्छन्न निजोरुतेजसं ददर्श तल्पेऽग्निमिवाऽऽहितं भसि[2]॥७॥

★ विबुध्य तां बालकमारिकाग्रहं चराचरात्मा[3] स निमीलितेक्षणः।
महेश्वरत्वेऽपि[4] च बालभावं विभावयन् किञ्चिदुवाच न प्रभुः॥८॥

अज्ञाय[5-] तं साऽथ निशाचरी हरिं[-5] निसर्ग विज्ञात जगद्विचेष्टितम्[6]।
अनन्तमारोपयदङ्क[7] मन्तक[-7] यथोरगं सुममबुद्धिरज्जुधीः॥९॥

तां तीक्ष्णचित्तामतिवामचेष्टितां वीक्ष्याऽन्तरा कोशपरिच्छदासिवत्।
वरस्त्रियं तत्प्रभया च धर्षिते[8] निरीक्षमाणेजननी[9] अतिष्ठताम्[10]॥१०॥

तस्मिन्[12] स्तनं दुर्जरवीर्यमुल्बणं घोरा[13] तमादाय शिशोर्ददावथ।
गाढं कराभ्यां भगवान् प्रपीड्य तत् प्राणैस्समं रोषसमन्वितोऽपिबत्॥११॥

---

1. M. ग्रही तत्राऽ 2. V. तं चाऽ° ★ The order of the four half verses of the slokas 8 & 9 are found changed in other editions. As per the edition V, the order of the four half verses is as follows:
विबुध्य तां...., आज्ञायमानोऽय....., महेश्वर त्वेऽपि च ....., अनन्तमारोपयत्..... । But the 2nd & 3rd half verses are not found in edn. A & G. 3. A.G. ०त्माऽऽस 4. B.M. महीसुर 5- -5. A.M. अजानमानाथ निशाचरी हरिम्। आशायमानोथ हरिर्निशाचरीम् 6. V. तः 7- -7. तमङ्क मारोपयदन्तकान्तकं 8. M. °ता 9. M. °णा 10. A.B. ह्य० 11. M. °ष्ठत् 12. A. तस्यै 13. A.B.G. ०राऽङ्कमा०

**श्रीध बालग्रह** इति। बालग्रहः पूतना। असदन्तकं बालं ददर्श। असतामन्तकं दृष्ट्वा कथं न विभेति। तत्राऽऽह - प्रतिच्छन्ननिजोरु तेजसं बालनाट्येन प्रतिच्छन्नं तिरोहितं निजम् उरु तेजो येन तं, कमिव असि भस्मनि आहितमग्निमिवेति भावः[1]॥७॥

**विबुध्येति**। चराचरात्मत्वादेव। तां विबुध्य निमीलितेक्षणः आस। स्वयमनन्तं दुष्टानामन्तकं बालमिति[2] मत्वा[3], सा अङ्कमारोपयत्। यथा उरगं सुमम् अबुद्धिश्चासौ रज्जुधीश्च सः अज्ञानतो रज्जुबुद्ध्या गृह्णाति[5] यथा तद्वत् ॥८,९॥

ननु यशोदारोहिण्यौ तां कथं न न्यवारयताम्? तत्राह **तामिति।** वामं वल्गु। जनन्या इव चेष्टितं यस्यास्तां, वरस्त्रियं च सहसैव अन्तरा गृहमध्ये वीक्ष्य अन्तस्तैक्ष्ण्ये बहिर्मार्दवे[7] च इष्टान्तः — कोशपरिच्छदासिवत्। मृदुचित्र चर्ममयः कोशः, परिच्छदः आवरणं यस्य असेः खड्गस्य तद्वत् तत्प्रभया च धर्षिते अभिभूते अहमस्य जननी इयं वेति मोहिते च सत्यौ जननी जनन्यौ। निरीक्षमाणे एव केवलम् अतिष्ठतां, न तु निवारितवत्यौ॥ १०॥

**तस्मिन्निति।** तस्मिन् स्थाने दुर्जरं वीर्यं विषं यस्मिन् तं स्तनं, तं श्रीकृष्णम् अङ्कमादाय सा[9-] घोरा[-9] तस्मै शिशवे ददौ। अथ अनन्तरमेव प्रपीडच केवलं विषमपथ्यमिति मत्वेव तस्याः प्राणैस्सह अपिबत्॥ ११॥

---

1. A,B omit भावः 2. A,B omit इति 3. A adds एवमपि 4. A, B omit यथा 5. A,V add इति 6. V. °क्ष्ण्येन 7. V °वेन 8. A,B omit तं 9--9 B, V omit

**वीर०** सयोषिद्रूपो बालग्रहः तत्र तत्र व्रजस्थान् शिशून् विचिन्वती अन्वेषयन्ती यदृच्छया नन्दगृहे बालं ददर्श। स्वसौन्दर्यावलोकन परवशाभिः गोपीभिः अनिवारिता ददर्शेत्यर्थः। कथम्भूतम् असता मन्तकं मृत्युम्। तर्हि निर्भया कथं ददर्श इत्यतो विशिनष्टि - प्रतिच्छन्नं तिरोधापितं निजं स्वासाधारणम् उरु अधिकं तेजो येन, भसि भस्मनि आहितं तिरोहितम् अग्निमिव स्थितम्॥ ७॥

तदा स चराचरात्मा सर्वबुद्धिदृग् भगवान्, अत एव तां बालकमारिकाग्रहं बालध्वग्रहं बुद्ध्वा निमीलिते ईक्षणे येन, तथाभूतः स्वयं महेश्वरत्वेऽपि[1-], प्रभुरपि[2] सङ्कल्पमात्रेणैव हन्तुं समर्थोऽपि बालभावं बालत्वं विभावयन् अनुकुर्वन् न किञ्चिदुवाच तूष्णीमासेत्यर्थः[3-]॥ ८॥

अथ सा निशाचरी तं बालं हरिं[4] कृत्प्राणहरं निसर्गतः स्वभावतो विज्ञातं जगतो विचेष्टितं येन तम्। निसर्गेति पदेन तस्य सर्वबुद्धिद्रष्टत्वं स्वाभाविकमेव, न तु कार्यायत्तमित्यभिप्रेतम्। अन्तकमात्मनो मृत्युभूतमज्ञात्वा अनन्तं त्रिविधपरिच्छेदरहितम्। अथापि मनुष्यचेष्टानुकरणेन परिच्छिन्नतां प्राप्तमिव स्थितमिति भावः। अत एव अङ्क मारोपयत् अङ्के निदधे इत्यर्थः। यथा अबुद्धिः मूढः अत एव रज्जुरिति धीर्यस्य सः, सुप्रभुरगम् अङ्के निदधाति तद्वत् ॥ ९॥

रोहिणीयशोदे अपि तां न न्यवारयतामित्याह **तामिति** । कोशपरिच्छदासिवत् कोशो मृदुलचर्मनिर्मितं परिच्छदमावरणं पिधानं यस्य तम्, असिं खड्गमिव अन्तः तीक्ष्णचित्तां क्रूरतरामपि बहिर्वामचेष्टितां शोभनचेष्टिताम् अनुकूलचेष्टितामिति यावत् । तां वरस्त्रियं श्रेष्ठस्त्रियमिव स्थितम् । परस्त्रियमिति पाठे परस्यान्यस्य कस्यचित् पुंसः स्त्रियमिव[5] स्थितां वीक्ष्य

तस्याः प्रभया धर्षिते अभिभूते जननी जनन्यौ । पूर्वसवर्णदीर्घ आर्षः । निरीक्षमाणे अप्यतिष्ठतां तूष्णीमासातां, न तु न्यवारयतामित्यर्थ : ॥ १० ॥

अथ घोरा घोरचेष्टिता पूतना तं शिशुं कृष्णमादाय शिशोः तस्मिन् मुखे स्तनं ददौ । कथम्भूतम् ? दुर्जरवीर्यं दुःखेनापि जरयितुं जीर्णयितुमशक्यं वीर्यं विषरूपं यस्मिन्, अत एवोल्बणं दुस्सहं वीर्यस्योल्बणत्वात् उल्बणम् । अथ भगवान् रोषसमन्वितः प्रपीड्य, स्तनमित्यनुषङ्गः, प्राणैस्समं प्राणैस्सह तत्स्तन्यमपिबत् । तस्याः प्राणैस्सह स्तनमपिबदिति वा ॥ ११ ॥

---

1- -1. A,B. ईश्वरत्वे सत्यपि 2. A,B. add स्व 3- -3. W omits 4. A,B. दुष्टप्रा° 5. A omits स्त्रियमिव 6. A,B omit प्राणैः

**विज०** बालग्रही बालकमारिका, असदन्तकं, भसि भस्मनि, विचिन्वती मृगयन्ती ॥ ७ ॥

बालकमारिकाग्रहं बालानां मृत्युभूतग्रहं सुरत्वे पूर्णैश्वर्ये देवदेवत्वे वा, सुर - ऐश्वर्ये इति धातुः । मही अतिप्रशस्तोत्सवः मह्वामपीश्वरत्वेऽपि वा ईश्वरत्वात्प्रकटने वचनाभावे च बालभावप्रकाशन हेतुः ॥ ८ ॥

अथ सात्त्विकस्त्रियः स्वभावप्रकटनानन्तरं, यद्वा राक्षस्याः स्वभावः प्रारभ्यते, यद्वा यतो निशाचरी अथ तस्मादजानमाना "मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येष्वयो अथ" (अम.को. 3-402) इति, "अथातोऽनन्तराप्यर्थविकल्पारम्भमङ्गलाः" (वैज. को. 8-7-14) इत्यमरयादवौ । हरेः पूतनावृत्तचेष्टिताज्ञानं नास्तीत्याशयेनोक्तं - निसर्गेति । ज्ञानाविर्भावतिरोभावौ न स्त इति द्योतनाय निसर्गेति पदम् । देवदत्तज्ञानवत् कतिपयपदार्थज्ञानविषयं नेश्वरज्ञानमित्यतो जगदिति । हरिशब्दस्य अनेकार्थत्वेनात्र किञ्चिद्विवक्षितमित्यत उक्तम् - अनन्तमिति । एककुण्डलोऽनन्त इत्यस्यापि संदिग्धार्थत्वमित्यत उक्तम् - अन्तकमिति रुद्रोमाविशान्तक वचनात् उक्तशङ्कानिस्तारादित्यतो निसर्गेति । इदं लक्षणं नारायणस्यैव, नान्यस्य । "अहं रुद्राय धनुरातनोमि यः सर्वज्ञः" (मुण्ड. उ. 1-1-9) इत्यादेः। पूतना अनन्तं बालम् अङ्कमारोपयत् इत्यन्वयः । हन्तुमितिशेषः । न केवलं हरिमजानमाना अपि तु तमात्मनोऽन्तकम् अजानमाना परिमिताङ्कारोपणं च तमनन्तम् अपरिच्छिन्नं मरणशून्यं वा तमजानमाना चेत्यर्थः । कथमित्यत्र दृष्टान्तमाह अबुद्ध्या अज्ञानेन रज्जुरियमिति धीः ज्ञानं यस्याः सा तथा सुप्तमुरगम् अङ्कमारोपयति, अबुद्धिश्च रज्जुधीश्चेति विग्रहः । तथा च अबुद्धिः अज्ञानी यथा सुप्तमन्तकम् अङ्कम् आरोपयति । रज्जुधीः सुप्तमुरगमिति विभागः केचित् दुष्टान्तकं सुप्तं नाम्ना अनन्तमुरगमित्युरगविशेषो वा। काचित् निशाचरी उलूपिका सुप्तं हरिं सिंहं शिवानुद्धचेति शेषः। "ध्वाङ्क्षारातिर्निशाटन" (हला. को. 2-91) (इत्यमरः) ॥ ९ ॥

अतिवामचेष्टिताम् अधिकक्रूरव्यापाराम् । "अति स्यादधिकार्थोक्तो प्रशंसायामतिक्रम" (वैज.को. 8-7-15) इति यादवः । "वामः क्रूरे मनोहरे" (वैज.को. 6-4-16) इति च । अन्तरा मध्ये कोश एव परिच्छदः परिकरपूरणलक्षणो

*यस्य सोऽन्तराकोशपरिच्छदः, स एव असिरन्तराकोशपरिच्छदासिः, स इव गूढाकारबाह्याभ्यन्तरकोशालङ्कृतखड्गवत्स्थिते-त्यन्वयः ।* अन्तराकोशपरिच्छदः वर्णितकोशलक्षणालङ्कारोऽसिः यथा तथा । वामचेष्टितामिति वा । तस्याः पूतनायाः प्रभया वरोद्भूतलक्षणया धर्षिता विह्वलिता, तस्य कृष्ण (स्य) प्रभया वा इदानीमेव पूतनाप्राणवियोगसूचनाय जननी अतिष्ठदिति । सन्धिकार्याकरणं वैदिकप्रयोगानुकरणं वा ॥ १० ॥

तस्मिन् काले दुर्जरवीर्यं जीर्णीकर्तुमशक्यं वीर्यं यस्य स तथा अत एवोल्बणं दुस्सहक्रौर्योपेतम् । अथशब्दो विकल्पार्थः अथ स्तनं ददाविति । विषमिति, तस्याः प्राणैः ॥ ११ ॥

**सा मुञ्च[1] मुञ्चालमिति प्रभाषिणी निष्पीड्यमानाऽखिलजीवमर्मणि[2] ।**
**विवृत्य नेत्रे चरणौ भुजौ मुहुः प्रस्विन्नगात्रा[3] क्षिपती स्रुरोद[4] ह ॥ १२ ॥**

**तस्यास्स्वनेनातिगभीररंहसा साद्रिर्मही द्यौश्च चचाल सग्रहा ।**
**रसा दिशश्च[5] प्रतिनेदिरे जना ः पेतुः क्षितौ वज्रनिपातशङ्कया ॥ १३ ॥**

**निशाचरीत्थं व्यथिता[6] व्यसुः क्षितौ[6] व्यदाय[7] केशांश्चरणौ भुजावपि ।**
**प्रसार्य गोष्ठे निजरूपमास्थिता वज्राहतो वृत्र इवापतन्नृप ॥ १४ ॥**

**पतमानोऽपि तद्देहः त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान् ।**
**चूर्णयामास राजेन्द्र महदासीत्तदद्भुतम् ॥ १५ ॥**

**ईषामात्रोग्रदंष्ट्रास्यं गिरिकन्दरनासिकम् ।**
**गण्डशैलस्तनं रौद्रं प्रकीर्णारुणमूर्धजम् ॥ १६ ॥**

**अन्धकूपगभीराक्षं पुलिनारोहभीषणम् ।**
**बद्धसेतुभुजोर्वङ्घ्रि शून्यतोयह्रदोदरम् ॥ १७ ॥**

---

1. M मुञ्चेति गिरा 2. M मर्षिणी; K,W. मर्मसु 3. M. विक्लिन्न; W. विस्विन्न 4. M. स्रुराव हि K,W. स्रुराव ह 5. M. दिशः खं 6. A,B,G,K,W °तस्तना व्यसुः 7. M विकीर्य

**श्रीध० सेति।** चरणौ भुजौ च मुहुर्मुहुः क्षिपती प्रस्विन्नानि स्वेदयुक्तानि गात्राणि यस्यास्सा ॥१२॥

**तस्या** इति। रसाः रसातलानि च ॥१३॥

***निशाचरीति।*** *व्यादाय मुखं विवृत्य केशादीन् प्रसार्य निजरूपमास्थिता मरणसमये कापटचं न युज्यत इति* भावः । विकीर्येति पाठान्तरे केशान् विकीर्य चरणौ भुजावपि प्रसार्येति भावः । वृत्रो वज्राहत इव ॥ १४ ॥

**पतमान** इति । पतन्नपि तस्याः देहः षट्क्रोशमध्यवर्तिनो द्रुमांश्च चूर्णीचकार ॥ १५ ॥

**ईषेति** । ईषामात्रोग्रदंष्ट्रास्यम् ईषा लाङ्गलदण्डः तत्प्रमाणा उग्रा दंष्ट्रा यस्मिन् तत्, तथाभूतमास्यं यस्मिन् तत्, सन्त्रासहेतुत्वेन पुनरष्टभिः पदैर्विशिनष्टि गिरिकन्दरवत् नासिके यस्मिन् तत्, गिरेः च्युतौ स्थूलोपलौ गण्डशैलौ ताविव स्थूलौ स्तनौ यस्मिन् तत् । रौद्रं घोरं, प्रकीर्णा अरुणा मूर्धजा यस्मिन् तत् ॥ १६ ॥

**अन्धकूपेति** । अन्धकूपाविव गभीरे अक्षिणी यस्मिन् तत्, पुलिनवदारोहे जघने ताभ्यां भीषणं बद्धाः सेतव इव भुजो ऊरू अङ्घ्री च यस्मिन् तत्, शून्यतोयह्रद इव उदरं यस्मिन् तत् ॥ १७ ॥

---

1- -1. B,V omit 2- -2. A,B कपटमयुक्तमिति 3. B इव । 4- -4. A,B omit 5- -5. V. omits 6- -6. B.V omit 7. A,B omit स्थूलौ

**वीर०** तदा सा अखिलजीवमर्मसु सर्वप्राणमर्मसु पीड्यमाना अलम् एतावता अलम्, आशु मुञ्च मुञ्चेति प्रभाषिणी, नेत्रेविवृत्य परिभ्राम्य चरणौ भुजौ च मुहुर्मुहुः प्रक्षिपती स्विन्नानि स्वेदयुक्तानि गात्राणि अङ्गानि यस्याः सा, रुराव जुघोष हे त्याश्चर्यम् ॥ १२ ॥

अतिगभीरं रहः रभसः वेगो वा यस्य तेन, तस्याः स्वनेन सपर्वता मही भूः, सग्रहा द्यौश्च चचाल, रसातलं दिशश्च प्रतिनेदिरे प्रतिदध्वनुः । जनाः वज्रनिपातशङ्कया क्षितौ निपेतुः ॥ १३ ॥

व्यथितौ पीडितौ स्तनौ यस्याः सा निशाचरी, व्यादाय मुखं विवृत्य केशादीन् प्रसार्य गोष्ठे व्रजे निजरूपमास्थिता मरणस्य स्वासाधारणरूपगतत्वादिति भावः । हे नृप! वज्रेणाऽऽहतो वृत्रासुर इवापतत् ॥ १४ ॥

तस्याः देहः पतमानः षट्क्रोशमध्यवर्तिनो द्रुमान् चूर्णीचकार। हे राजेन्द्र! तच्छरीरं महदद्भुतमासीत्॥ १५॥

अद्भुतत्वमेव दर्शयितुं तद्रूपं विशिंषन् तद्वीक्ष्य गोपा गोप्यश्च अभिभयुरित्याह - **ईषेति** त्रिभिः। ईषा लाङ्गलदण्डः तत्प्रमाणा उग्रा द्रंष्ट्रा यस्मिन् तत् आस्यं यस्मिन्, गिरिकन्दरे इव नासिके यस्मिन्, गण्डशैलवत् उन्नतौ पृथू च स्तनौ यस्मिन्, रौद्रं भीमं प्रकीर्णा अरुणाश्च मूर्धजाः केशा यस्मिन्, अन्धकूपाविव गभीरे अक्षिणी यस्मिन्, पुलिनवदारोहौ जघने ताभ्यां भीषणं बद्धास्सेतव इव भुजौ ऊरू अङ्घ्री च यस्मिन्, शून्यं तोयं यस्मिन्, तथाभूतो ह्रद इव उदरं यस्मिन् तत्कलेबरं वीक्ष्य गोपा गोप्यश्च सन्तत्रसुः। कथम्भूताः ? पूर्वं पतनात् पूर्वं तस्याः निश्वसितं शब्दः निश्वासमारुतो वा तेन भिन्नानि ह्रदादीनि येषां तथाभूताः॥ १६, १७॥

1- -1. W. omits 2. A,B. omit रंहः 3. A,B add अशनिनिपातशङ्कया 4- -4 W. omits 5. A,B add अपि 6. A,B omit मध्य 7. W omits तद्रूपं 8. W. °त्यादि।

**विज०** अखिलजीवमर्षिणी समस्तप्राणापहारिणी स्राव रोदनमकरोत्। हि शब्दो हेतौ। श्रोतॄणाम् अनुकम्पाजनकः॥१२॥

रसा पातालं प्रतिनेदिरे प्रतिशब्दं चक्रुः॥ १३॥

व्यसुः विगतप्राणा॥ १४॥

त्रिगव्यूत्यन्तरे षट्क्रोशमध्ये ये द्रुमाः वृक्षाः तान् "गव्यूतिः स्त्री क्रोशयुगम्" (अम. को. 2-18) इत्यमरः॥ १५॥

ईषा रथदारुविशेषः, कन्दरो गुहा, रोगविशेषव्यावृत्यर्थं गिरिरिति विशेषणं, गण्डशैलः स्थूलपाषाणः॥ १६॥

आरोहो नितम्बः बद्धसेतुवत् स्थिरा भुजोर्वन्नयो यस्य तत् तथा भुजौ ऊरू च अङ्घ्री च भुजोर्वङ्घ्र्यः, शून्यं तोयं यस्मिन् सूर्यतोयः स ह्रद इव उदरं यस्य तत् तथा। १७॥

सन्तत्रसु[1]स्तदुद्वीक्ष्य[1] गोपा गोप्यः कलेवरम्।
पूर्वन्तु तन्निःस्वनित[2] भिन्नहृत्कर्णमस्तकाः॥ १८॥

बालं च तस्या उरसि[3] क्रीडन्तमकुतोभयम्।
गोप्यस्तूर्णं समभ्येत्य[4] जगृहुर्जातसम्भ्रमाः॥ १९।

यशोदारोहिणीभ्यां तास्समं बालस्य सर्वतः[5]।
रक्षां विदधिरे सम्यक्[6] गोपुच्छभ्रमणादिभिः॥ २०॥

गोमूत्रेण स्नापयित्वा पुनर्गोरजसाऽर्भकम्।
रक्षां चक्रुर्गोशकृता[7] द्वादशाङ्गेषु नामभिः॥ २१॥

गोप्यस्संस्पृष्टसलिला अङ्गेषु करयोः पृथक्।
न्यस्यात्मन्यथ बालस्य बीजन्यासमकुर्वत[8]॥ २२॥

अव्यादजोऽङ्घ्रिमणिमाँ[9] तव जान्वथोरू यज्ञोऽच्युतः कटितटं जठरं हयास्यः।
हृत्केशव[10]स्त्युदरमीश इनस्तु कण्ठं विष्णुर्भुजं मुखमुरुक्रम ईश्वरः कम्॥ २३॥

1- -1. A,B,G,M सुस्य तद्वीक्ष्य 2. K,W. °श्वसित 3. K,V,W उपरि 4. V. समुत्पत्य 5. M °शः 6. V. तस्य 7. A,B,G चक्रुश्च श°; K.W. च चक्रुश° 8. A °जैन्यास° 9. A,B,G,M मांस्तव 10. A,B,G,M वस्त्वदुर ईश

**श्रीध०** पूर्वमेव तस्याः शब्देन भीताः पुनर्दर्शनातितत्रसुरित्याह - **सन्तत्रसुरिति।** तस्याः निस्स्वनितं अतिभयङ्करशब्दः तेन भिन्नानि हृत्कर्णमस्तकानि येषां ते॥ १८ - २०॥

**गोमूत्रेणेति।** द्वादशाङ्गेषु ललाटादिषु। केशवादि द्वादशनामभिः॥ २१॥

अनाचान्ता एव प्रथममतिसम्भ्रमेणैव रक्षां कृत्वा किञ्चित् लब्धाश्वासाः पुनस्तात्पर्येण बीजन्यासमकुर्वतेत्याह **गोप्य** इति। संस्पृष्टसलिलाः आचान्ताः आत्मनि प्रथमम् अङ्गेषु करयोश्च पृथक्, अजाद्येकादशबीजानां मध्ये करशुद्धौ त्रीणि, करयोः सन्धिषु चत्वारि चत्वारि। तथाऽङ्घ्र्यादावेकैकस्मिन्नङ्गे। अजाद्येकैकं बीजं विन्यस्य। बालस्यास्य अङ्गेषु तथैवाकुर्वत॥ २२॥

**अव्यादिति।** अङ्घ्रिमङ्घ्री, जानु जानुनी, भुजं भुजौ, कं शिरः॥ २३॥

1- -1. A,B omit 2. A,B omit वि

**वीर०** तथा तस्योपरि क्रीडन्तं न कुतोऽपि भयं यस्य तं बालं च वीक्ष्येति पूर्वेणान्वयः, जगृहुरित्युत्तरेण वा। तूर्णं यथा तथा समभ्येत्य जातः तस्याः मरणाद् बालस्य जीवनाच्च जातः सम्भ्रमौ यासां ता गोप्यो जगृहुः आददुः॥ १८, १९॥

ततस्ता गोप्यो यशोदारोहिणीभ्यां सह बालस्य ईश्वरस्य कृष्णस्य गोपुच्छभ्रमणादिभिः उपायैः रक्षां चक्रुः॥ २०॥

तदेव प्रपञ्चयति - **गोमूत्रेत्यादिना।** आदिशब्दग्राह्यान् वा दर्शयति गोमूत्रेणेति। तावत् शिशुं गोमूत्रेण स्नापयित्वा ततो गोरजसा च स्नापयित्वा गोशकृता गोमयेन द्वादशसु द्वादशपुण्ड्रस्थानेषु अङ्गेषु ललाटादिषु केशवादिद्वादशनामभिः रक्षां चक्रुः॥ २१॥

एवमनाचान्ता एव तावत् सम्भ्रमेण रक्षां विधायाऽथ लब्धाश्वासा आचान्ता विशेषतो रक्षां चक्रुरित्याह - **गोप्य** इति। संसृष्टसलिला आचान्ता गोप्य आत्मनि स्वशरीरे करयोः इतरेष्वङ्गेषु पृथक् एकैकशो न्यस्य अकारादिक्षकारान्तानि मातृकाबीजानि विन्यस्य अथ बालस्यात्मनि करयोः अङ्गेषु च बीजन्यासमकुर्वत अकुर्वन्। चिकीर्षिताजादिभगवन्नामघटित विष्णुकवचपठनयोग्यतायै तत्स्थबीजस्फूर्तये च तावत् स्वाङ्गेषु बीजन्यासं विधाय अथ तत्कवचमन्त्रजपपूर्वकरक्षाप्रार्थनायाः सुप्रतिष्ठितत्वाय बालस्याङ्गेषु बीजन्यासं चक्रुरित्यर्थः॥ २२॥

अथ कवचमन्त्रजपपूर्वकरक्षाविधानं दर्शयति **अव्यादित्या**दिना 'इति प्रणये'त्यत: प्रक्तनेन। अजादिशब्दा: योगरूढिभ्यां भगवदसाधारणा:। अज: कर्मयत्तोत्पत्तिरहित: भगवान् अङ्घ्रिम् अङ्घ्री अव्याद्रक्षतु, जानु जानुनी अणिमा अणोर्जीवस्यान्तरात्यतया प्रवेशयोग्य:, पातु। ऊरू, यज्ञ: यज्ञाराध्यो यज्ञभुक् तत्फलदश्च कटितटम् अच्युत: आश्रितान् न च्यावयतीत्यच्युत:, हयास्यो हयग्रीव: जठरमव्यात्, **हृच्च** केशाश्च तेषां समाहार: तत् ईश: पातु। वस्ति मूत्रकोश: वस्त्युदरहृत्केशमिति क्रमोऽत्र विवक्षित:, अव्यादजोङ्घ्रिमीश्वर: कमित्युपक्रमोपसंहाराभ्यां पादादिशि: पर्यन्तावयवक्रमस्याऽत्र विवक्षितत्त्वप्रतीते:। जठरं नाभेरुपरिभाग:। तत उपरिभाग उदरमिति विवेक:। केशशब्दोत्र लोमपर:। कण्ठम् इन: सर्वव्यापक:। 'इण् गता, वितिधातु:। यद्वा गत्यर्था बुद्ध्यर्था:, सर्वज्ञ:। अत एव विष्णुरित्यनेन न पौनरुक्त्यं विष्णुर्व्यापक: "विष्लृ व्याप्ताविति धातु: मुखम्, उरवस्त्रिलोकसङ्ग्राहका: क्रमा: पादविक्षपा यस्य स:, कं मूर्धानम् ईश्वर:। ईस्वर: सर्वान्तरात्मा, ईश: सर्वाधिपति: इति न पौनरुक्त्यम्। विष्णुशब्देन व्याप्तिमात्रम् ईश्वरशब्देन तु प्रशासनपूर्वक व्याप्त्याधारकत्वम्॥ २३॥

---

1. W omits सह 2- -2. W omits 3. A,B °दिभि 4. W omits तावत् 5. W °दि न्यस्य

**विज०** सन्तत्रसु: भीता अभूवन् तस्या: नि:स्वनितेन अशनिवत् क्रूरशब्देन भिन्नानि हृत्कर्णमस्तकानि यासां तास्तथा॥ १८॥

तूर्णं शीघ्रम् ॥ १९, २०॥

गोरजसा गोरेणुना गोशकृता गोमयसहितेन केशवादिनामभि: ललाटादि द्वादशावयवेषु॥ २१॥

संस्पृष्टसलिला: आचान्ता: अङ्गेषुन्यस्य पृथक् करयोश्च न्यस्य आत्मनि मध्ये देहं च न्यस्य, अथानन्तरं मङ्गलकरं वा बालस्य बीजन्यासम् अष्टाक्षरन्यासम् अकुर्वत॥ २२॥

अत्राजादयो मूर्तिविशेषा:। अङ्घ्रिम् अङ्घ्री, जानु जानुनी, अङ्घ्रिमित्यन्वय: अणिमान् गरिमान् इत्यर्थ:॥ २३॥

**चक्राग्रतस्सहगदो हरिरस्तु पश्चात् त्वत्पार्श्वयोर्धनुरसी मधुहाऽजनश्च।**
**कोणेषु शङ्ख उरुगाय उपर्युपेन्द्र तार्क्ष्य: क्षितौ हलधर: पुरुषस्समन्तात्॥ २४॥**

**इन्द्रियाणि हृषीकेश: प्राणान्नारायणोऽवतु।**
**श्वेतद्वीपपतिश्चित्तं मनो योगेश्वरोऽवतु॥ २५॥**

पृश्निगर्भस्तु ते बुद्धिमात्मानं भगवान् परः।
क्रीडन्तं पातु गोविन्दश्शयानं पातु माधवः॥ २६॥

व्रजन्तमव्याद्वैकुण्ठः आसीनं त्वां श्रियःपतिः।
भुञ्जानं यज्ञभुक् पातु सर्वग्रहभयङ्करः॥ २७॥

डाकिन्यो[2] यातुधान्यश्च कूष्माण्डा[3] येऽर्भकग्रहाः।
भूतप्रेतपिशाचाश्च यक्षरक्षोविनायकाः॥ २८॥

कोटरा रेवती ज्येष्ठा[4] पूतना मातृकादयः।
उन्मादा ये ह्यपस्मारा देहप्राणेन्द्रियद्रुहः॥ २९॥

स्वप्नदृष्टा महोत्पाता वृद्धबालग्रहाश्च[5] ये।
सर्वे नश्यन्तु ते विष्णोर्नामग्रहणभीरवः॥ ३०॥

---

1. K,W °ऽजितश्च 2. V. ढा° 3. K,V,W. कूस्मा° 4. B ष्ठाः 5. M. बृहद्बाल

**श्रीध०** तथा दिक्षू रक्षामकुर्वन्नित्याह - **चक्रीति**। चक्री पुरतो[1], सहगदः[2] गदासहितो हरिस्तव पश्चादस्तु, त्वत्पार्श्वयोः धनुर्धरो मधुहा, असिधरः अजनश्च एतौ[3] स्ताम्[3] शङ्खधरः उरुगायः चतुष्कोणेषु, क्षितौ अधस्तात्[4] ॥ २४॥

एवं बहिः रक्षां कृत्वाऽन्तरङ्गमकुर्वन्नित्याह - **इन्द्रियाणीति** ॥ २५॥

**पृश्निगर्भ** इति। आत्मानम् अहङ्कारम्॥ २६ - ३०॥

---

1- -1. A,B चक्रसहितो हरिः तव अग्रतोऽस्तु 2- -2. V omits 3- -3. V omits 4. A adds, इत्यर्थः।

**वीर०** एवं पादादिशिरःपर्यन्तं रक्षां विधायाऽथ दिक्षु रक्षां विदधुः। चक्री अग्रतः पुरतश्चक्रधरः पश्चात् पृष्ठतः सहगदो गदासहितो हरिराश्रितार्तिहरः। पार्श्वयोऽस्तुधनुरसी धनुः खड्गौ, बिभ्रताविति शेषः। मधुहा अजितश्च धनुर्धरो मधुहा असिधरः अजितश्चेत्यर्थः। कोणेष्वाग्नेयादिषु शङ्खोऽस्यास्तीति अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्। उपर्यूर्ध्वायां दिश्युपेन्द्रः। क्षितौ अधस्ताद्बलधरः सङ्कर्षणः। समन्तात् सर्वतः अनुक्ता दिशः काश्चित्सन्ति चेत् तत्र सर्वत्र, पुरुषः सर्वप्राणिहृदयगुहावस्थितः॥ २४॥

एवं बहिरङ्गरक्षां संप्रार्थ्य अथान्तरङ्गरक्षां प्रार्थयामासुः इन्द्रियाणीति। हृषीकाणाम् इन्द्रियाणाम् ईशोऽन्तः प्रविश्य नियन्ता, योगेश्वरो योगनिर्वाहकः॥ २५॥

पृश्नेर्गर्भत्वात् अपत्यत्वात् पृश्निगर्भः। भगवान् षाड्गुण्यपूर्णः परः प्रकृतिपुरुषनिलक्षणः। आत्मानमित्यनेन चित्ताहङ्कारौ विवक्षितौ॥ २६॥

सर्वग्रहभयङ्कर इत्येतद्यज्ञभुग्विशेषणम्॥ २७॥

कूश्माण्डादयो ग्रहाऽवान्तरविशेषा :॥ २८॥

देहादीनि द्रुह्यन्तीति तथा॥ २९॥

वृद्धग्रहा बालग्रहाश्च ते सर्वे विष्णोर्नामानि गृह्णन्तीति तथा। तेभ्यो भीरवः भीताः नश्यन्तु॥ ३०॥

**विज०** मधुसूदनादयश्चत्वारः। चतुर्षुकोणेषु॥ २४, २५॥

आत्मानं मध्यम्॥ २६, २७॥

अर्भकग्रहाः बालग्रहाः॥ २८ - ३०॥

**श्रीशुक उवाच**

**इति प्रणयबद्धाभिः गोपीभिः कृतरक्षणम्।**
**पाययित्वा स्तनं माता सन्न्यवेशय दात्मजम्॥ ३१॥**

**तावन्नन्दादयो गोपाः मधुराया व्रजं गताः।**
**विलोक्य पूतनादेहं बभूवुरतिविस्मिताः॥ ३२॥**

**नूनं बतर्षिः सञ्जातो योगीशो वा समाऽऽस सः।**
**स एव दृष्टो ह्युत्पातो यमाहाऽऽनकदुन्दुभिः॥ ३३॥**

**कलेबरं परशुभिश्छित्वा तत्ते व्रजौकसः।**
**दूरे क्षिप्त्वाऽवयवशो दद्दहुः काष्ठवदष्टितम्॥ ३४॥**

दह्यमानस्य देहस्य धूमश्चागुरुसौ[11] ★ रभः।
उत्थितः कृष्णनिर्भुक्ति[12] सपद्याहतपाप्मनः ॥ ३५॥

पूतना लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना।
जिघांसयापि हरये स्तनं दत्वाऽऽप सद्गतिम् ॥ ३६॥

किं पुनः श्रद्धया भक्त्या कृष्णाय परमात्मने।
यच्छन् प्रियतमं[13] किंचित् रक्तास्तन्मातरो यथा[14] ॥ ३७॥

पद्भ्यां भक्तहृदिस्थाभ्यां वन्द्याभ्यां लोकवन्दितैः[15]।
अङ्गं यस्यास्समाक्रम्य भगवानपिबत् स्तनम् ॥ ३८॥

---

1- -1. K,M,V,W omit 2. V कृष्ण 3- -3. M. सन्न्यवीविशदात्मजम्; V. पर्यङ्के सन्न्यवेशयत् 4. K,W° तत्रर्षिर्जातो; V °तर्षिर्ज्ञानी वा 5. A,B,G,M °गे° 6. M समासतः; K,W समागतः 7. A,B,G यदाहाऽऽ°; M यथाऽऽहाऽऽ°; V. यं प्राहाऽऽ° 8. V तत्र 9. B,G न्यदहन् 10. H. °धिष्ठितम् 11. A,G,M °गु° ★ सन्निभ इति वीरराघवाहृतः पाठः 12. A,B,G,M °क्ते V °क्तेः 13. V तरं 14. A, लोके B,G,V किन्नु 15. M °तः

**श्रीध० इतीति**। सन्न्यवेशयत् शाययामास॥ ३१, ३२॥

विस्मयमेवाह - **नूनमिति**। बतेति विस्मये। साम्प्रतं सः ऋषिः तपःप्रभावात्[2] योगीशो[3] ज्ञानी वा सम्यगास। अतः यत्[4] यमाहं[4] स एव उत्पातो[5] दृष्ट इति॥ ३३, ३४॥

विस्मयान्तरमेवाह - **दह्यमानस्येति** । कृष्णेन निर्भुक्तिः[6]। अत एव सपद्याहतः पाप्मा यस्य॥ ३५॥

प्रसङ्गात् कैमुतिकन्यायेन भक्तिवैभवमाह **पूतनेति** ॥ ३६॥

**किमिति**। श्रद्धया आस्तिक्येन, भक्त्या प्रेम्णा, रक्ताः स्निग्धाः तन्मातर इति वत्सापहरणलीलाभिप्रायेण बहुवचनम्।[8] गोगोपिकाः[9] तन्मातरोऽभवन्निति॥ ३७, ३८॥

---

1. A,B omit इति 2. A,B °ववान् 3. A,B °गे° 4--4 B,V. omit 5. B,V omit उत्पातः 6. A,B क्तः। 7. A,B °त्यन्या° 8. A, adds तत्र हि 9. A तदा तन्मा°; B तदा मा°

**वीर०** इत्थं प्रणयेन स्नेहेन बद्धाभिः यन्त्रिताभिः गोपीभिः[1] कृतं रक्षणं यस्य तम्, आत्मजं माता यशोदा स्तनं दुग्धं[2] पाययित्वा सन्न्यवेशयत् शाययामास॥ ३१॥

तावत् तदा नन्दादयो गोपाः मधुरायास्सकाशात् व्रजमागतास्सन्तः पूतनाया देहमवलोक्य अतीव[3] विस्मिता बभूवुः॥ ३२॥

वसुदेवोक्तं यथार्थमेवाभूदिति सोदाहरणं विस्मयन्ते **नूनमिति।** आनकदुन्दुभिः वसुदेवः समागतो यमुत्पातं प्राह[4] सएवोत्पातोऽधुनाऽस्माभिः दृष्टः। अतः स आनकदुन्दुभिः ऋषिर्योगी वा पूर्वजन्मनि सन्, अधुना एवंरूपेण नूनं सञ्जातः। बतेति विस्मये। ऋषित्वमुत्पत्तिसिद्धातीन्द्रियार्थ दर्शित्वं, योगित्वं तपःप्रभावकृततद्दर्शित्वमिति विवेकः। स यद्गत इति पाठान्तरं[5], तदा[5] वसुदेवः ऋषिर्योगीशो वा सन्नधुनैव सञ्जातः। कुतः यत् यतः गतः समागतः आनकदुन्दुभिः यम् उत्पातमाह सोऽधुना अस्माभिः दृष्ट एवेत्यर्थः॥ ३३॥

ततस्ते व्रजौकसः तत् पूतनाकलेवरम् अवयवशः परशुभिश्छित्वा दूरे क्षिप्त्वा काष्ठैः वेष्टितं कृत्वा ददहुः॥ ३४॥

विस्मयान्तरमाह - **दह्यमानस्येति।** दह्यमानस्य देहस्य सम्बन्धी यो धूमः सोऽगरुसन्निभः कृष्णागरुतुल्यगन्धः, समुत्थितः सोऽगरुसन्निभो बभूवेति शेषेणवाऽन्वयः। अगरुसौरभ इति पाठान्तरम्[6]। अगरोः सौराभमिव सौरभं यस्य स इत्यर्थः। तत्र हेतुं वदन् देहं विशिनष्टि कृष्णेति। कृष्णस्य भगवतो निर्मुक्त्या हेतुभूतया सपद्येव कार्त्स्न्येन आहतं पापं यस्य तस्य। कृष्ण निर्मुक्तीति पाठान्तरम्। तदा कृष्णेन भगवता हेतुना निर्मुक्तया हेतुभूतयेत्यर्थः॥ ३५॥

यतो हतपाप्माऽत एव मुक्तिम् अनर्हाऽपि प्रापेत्याह **पूतनेति।** अपिशब्दस्य लोकबालघ्न्यादिभिः प्रत्येकं सम्बन्धः। जिघांसया हन्तुमिच्छया। हरये स्तनं दत्त्वापि सद्गतिं सतां प्राप्यां गतिं मुक्तिम् अवाप॥ ३६॥

यतोऽप्रियं गरलं यच्छन्ती मुक्त्यनर्हापि केनचिद् भगवत्सम्बन्धमात्रेणैव सद्गतिमवाप। किं पुनर्भगवद्भक्त्या सद्गतिं प्राप्नुवन्तीत्याह - **किंपुनरिति।** श्रद्धया भगवत्प्रियाचरणोपयुक्त्या त्वरया भक्त्या च परमात्मने कृष्णाय किञ्चित् प्रियतमं यच्छन् समर्पयन् तद्गतिं प्राप्नोतीति किं पुनर्वक्तव्यमित्यर्थः। प्रियं यच्छन् सद्गतिं प्राप्नोतीत्यत्र दृष्टान्तः; रक्तास्तन्मातरो ययेति। रक्ता अनुरक्तास्तस्य कृष्णस्य मातरो यशोदादयो यथा प्रियतम स्तन्यं[7] यच्छन्त्यः सद्गतिं प्रापुः तद्वत्॥ ३७॥

ननु मातॄणां सद्गतिप्राप्तिरसिद्धेति कथं दृष्टान्ततेत्याशङ्कायां तामपि कैमुत्यन्यायेन सिद्धवत्करोति - **पद्भ्या**मिति सार्धैश्चतुर्भिः। लोकैः वन्दिता ये ब्रह्मादयस्तैरपि वन्द्याभ्यां भक्तानां हृदयकमलस्थाभ्यां पद्भ्यां भगवान् यस्याः पूतनायाः अङ्गं समाक्रम्य स्तनं विषपूर्णं स्तनम् इहापिबत्॥ ३८॥

---

1. W omits गोपीभिः 2. W omits दुग्धं 3. W. अति 4. A,B आह 5- -5. A,B पाठे सः 6. A,B पाठे 7. A omits स्तन्यं

**विज०** प्रणयबद्धभिः बद्धस्नेहाभिः सन्न्यवीविशत् संवेशं निद्रामकारयत्॥ ३१, ३२॥

वसुदेवः ऋषिः त्रिकालदर्शी योगेशः कपिलान्यतमः समासतः संक्षेपतः संकोचं कृत्वा जातदृष्टः अस्माभिरिति शेषः ॥ ३३ - ३५ ॥

पूतनाविष्टोर्वशी सद्गतिं स्वर्गं पूतना तु (सद्गतिं असद्गति) नरकं, 'षदलृ - विशरणगत्यवसादनेषु' इति धातुः ॥ ३६ ॥

रक्ता अनुरक्ताः ॥ ३७, ३८ ॥

यातुधान्यपि सा स्वर्गमवाप ज[1]ननी[-1]गतिम् ।
कृष्णभुक्तस्तनक्षीराः किमु गावो[2]ऽनुमातरः ॥ ३९ ॥

पयांसि यासामपिबत् पुत्रस्नेहस्नुतान्यलम् ।
भगवान् देवकीपुत्रः कैवल्याद्यखिलार्थ[3]दः ॥ ४० ॥

तासामविरतं कृष्णे कुर्वतीनां[4] सुतेक्षणम्।
वघ्राय व्रजौकसः
न पुनः कल्पते राजन् संसारोऽज्ञानसम्भवः ॥ ४१ ॥

कटधूमस्य सौरभ्यम[5]-
वघ्राय व्रजौकसः
किमिदं कुत एवेति वदन्तो व्रजमाययु[-5]ः ॥ ४२ ॥

ते तत्र वर्णितं गोपैः पूतनाऽऽगमनादिकम् ।
श्रुत्वा तन्निधनं स्वस्ति शिशोरा[6]ऽऽसन् सुविस्मिताः ॥ ४३ ॥

नन्दः स्वपुत्रमादाय प्रे[7]ष्यागत उदारधीः ।
मू[8]र्ध्न्युपाघ्राय परमां मुदं लेभे कुरूद्वह ॥ ४४ ॥

य एतत्पूतनामोक्षं कृ[9]ष्णस्यार्भकचेष्टितम्[-9] ।
नि[10]शम्य श्रद्धया मर्त्यो गोविन्दे लभते र[11]तिम् ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैय्यासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यायां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

---

1- -1. K,W. जगतीपतिम् । 2. A,G,M नु 3. A,B,G. °लप्रदः 4. M.V. °न्ती° 5- -5. V. माघ्राय नजमाययुः ॥ ४१ ॥ 6. B,G,V. श्वाऽऽ° 7. B,G. प्रेत्यागतमु° 8. A, मूर्ध्न्यव° 9- -9. A,B,G कृष्णस्याऽऽर्भकमद्भुतम्; V. कृष्णस्याद्भुतमार्भकम् K,W कर्म कृष्णस्य चाद्भुतम् 10. A,B,G. शृणुयात् 11. K,W. गतिम्

**श्रीध० य इति** । एतत्[1] आर्भकं अर्भकचरितम् । किं तत्? पूतनामोक्ष इति । "★अत्तुं दैत्यकुलानीशः पूतनायाः शिशुच्छलात् । स्तन्याऽऽपोशनतः प्राणैः; प्राणाहुतिमकल्पयत्" ॥ ३९ - ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां षष्ठोध्यायः ॥ ६ ॥

---

1. V adds पूतनामोक्षं ★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः

**वीर०** सा यातुधानी पूतनाऽपि[1] स्वर्गं निरतिशयानन्दरूपं जगतीपतिं[2] हरिमवाप, किमुत कृष्णेन भुक्तं स्तनयोः क्षीरं यासां ताः मातरः जगतीपतिमवापुरिति किमु[3] वक्तव्यमित्यर्थः । पौरवीभद्रामदिरादिमात्रन्तराभिप्रायकं बहुवचनम् । अनुशब्दोऽत्र यथाशब्दार्थकः यथा गावस्तद्वदित्यर्थः ॥ ३९ ॥

तासामपि मुक्तिः असिद्धैवेति[4] दृष्टान्तानुपपत्तिरित्यतः तां विशिनष्टि - यासां गवां पुत्रस्नेहेनैव स्नुतानि पयांसि अलं नितरां भगवान् अपिबत्। कथम्भूतः देवकीपुत्रः कैवल्याचखिलार्थदः[5] कैवल्यं प्रकृतिबन्धराहित्यं[6] मुक्तिरिति यावत्। तत्प्रभृति पुरुषार्थचतुष्टयप्रदः[7] कैवल्यादिपुरुषार्थप्रदानाय देवकीपुत्रत्वेनावतीर्ण इत्यर्थः ॥ ४० ॥

कृष्णे अविरतम् अविच्छेदं यथा तथा सुतेक्षणं सुतबुद्धिं कुर्वतीनां तासां मात्रणां हे राजन्! अज्ञानसम्भवः संसारः पुनः न कल्पते न प्रवर्तत इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

व्रजौकसः कटधूमस्य शवधूमस्य सौरभ्यमाघ्राय किमिदम् अत्याश्चर्यमिदं कुतो वाऽस्य सौरभ्यमागतमित्येवं वदन्तः व्रजं जग्मुः ॥ ४२ ॥

तो मधुराया आगता नन्दादयः गोपैर्व्रजस्थैर्वर्णितं पूतनाया आगमनादिप्रकारं तस्याः[8] निधनं मरणं शिशोः कृष्णस्य स्वस्ति सुखेनावस्थानं च श्रुत्वा सु नितरां विस्मिता बभूवुः ॥ ४३ ॥

प्रोष्य देशान्तरं गत्वा पुनरागतो नन्दः उदारधीः विपुलानन्दयुक्तबुद्धिः स्वपुत्रमादाय मूर्ध्न्यवघ्राय हे करूद्वह! परमां मुदं प्राप ॥ ४४ ॥

प्रकृतपूतनावृत्तान्तादि श्रवणफलमाह - **य** इति । यः पुमान् एतत् पूतनामोक्षम्, एतदिति सामान्याभिप्रायकं क्लीबत्वम् । यच्च कृष्णस्याद्भुतं कर्मचेष्टितं तच्च । युक्तस्समाहितचित्तो निशम्याऽऽकर्ण्य गोविन्दे गतिं लभते, गत्यर्थाः बुद्ध्यर्थाः गतिं ज्ञानं भक्तिमिति यावत् ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवत चन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

---

1. W. omits अपि 2. W omits हरिम् 3. A,B omit किमु 4. A,B °द्धेति 5. A,B °ते° 6. A,B सम्बन्ध 7. W. omits प्र 8. A,B तन्नि°

**विज०** अपि स्वर्गं गर्हितं स्वर्गं, नरकमित्यर्थः । "अपिः पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु" (अष्टा. 1-4-96) इति पाणिनिः । जने ये नीचाः तैर्गम्यते इति जननी गतिः । स्पष्टोऽन्योऽर्थः । यद्वा जनन्या इव गतिं विचित्रगतिं योग्यतानुसृतगतिम् इत्यर्थः । "इ विचित्रे स्मरे पुमान्" (वैज.को. 8-7-10) इति यादवः । अनेनापि[4] पूतनाया नरकगतिः उर्वश्याः स्वर्गगतिरिति सूचितम् । नु सविकल्पां गतिं योग्यतयेति शेषः । यद्वा अनुयोग्यतासदृशीं, "नु पृच्छ्यां विकल्पे च पश्चात् सादृश्ययोरनु" (अम. को. 3-403) इत्यमरः ॥ ३९, ४० ॥

सुतेक्षणं पुत्रदर्शनम् ॥ ४१ ॥

कटधूमस्य शवधूमस्य । अन्ये व्रजौकसः ॥ ४२, ४३ ॥

प्रोष्य प्रवासं कृत्वा ॥ ४४ ॥

फलमाह - **य** इति ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भावते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(विजयध्वजरीत्या सप्तमोऽध्यायः।)

# सप्तमोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या अष्टमोऽध्यायः)

श्री शुक उवाच

एवं बहूनि कर्माणि गोपानां शं सयोषिताम्।
नन्दस्य गेहे ववृधे कुर्व न्विष्णु र्जनार्दनः॥
△
ए वं स ववृधे विष्णुः नन्दगेहे जनार्दनः।
कुर्वन्ननिश मानन्दं गोपालानां सयोषिताम्॥

राजोवाच

येन येनाऽवतारेण भगवान् हरि रीश्वरः।
करोति कर्णरम्याणि मनोज्ञानि च नः प्रभो॥ १॥

यच्छृण्वतोऽपैत्यरति र्वितृष्णा सत्त्वञ्च शुध्यत्यचिरेण पुंसः।
भक्ति र्हरौ तत्पुरुषेषु सख्यं तदेव हारं वद मन्यसे चेत्॥ २॥

अथाऽन्य दपि कृष्णस्य लोकाचरित मद्भुतम्।
मानुषं देह मासाद्य तज्जाति मनुरुन्धतः॥ ३॥
★
वि स्तरेणेह कारुण्यात् सर्वपाप प्रणाशनम्।
वक्तु मर्हसि धर्मज्ञ दयालु स्त्वमिति प्रभो॥

श्रीशुक उवाच

कदाचि दौत्थानिक कौतुकाख्ये जन्मर्क्षयोगे समवेतयोषिताम्।
वादित्रगीत द्विजमन्त्रवाचनैः चकार सूनो रभिषेचनं सती॥ ४॥

नन्दस्य पत्नी कृतमज्जनादिकं विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं सुपूजितैः।
अन्नादि वासस्स्रगभीष्टधेनुभिः सञ्जातनिद्राक्ष मशीशयच्छनैः॥ ५॥

---

★ This additional verse is found in B, W edns. and commented by Viraraghava.

△ A separate verse of almost the same purport is found in B, M ends. and commented by Vijayadhvaja.

1- -1. B विष्णुरात उवाच 2. A रस्यानि 3. M. °त्वं वि 4. A,B,G, च 5. M सारं 6. A,B,G,M तो° 7. A,B,G,K,W लोक° ★ This additional verse is found in B & M ends. and commented by Vijaya dhvaja 8. M °दुत्थापन 9. A,B,G,M °कैः 10. A,B,G,M °च

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

उत्क्षिपन् शकटं व्योम्नि तृणावर्तमधः[1] क्षिपन्।
दर्शयन्विश्वमास्ये च कृष्णः क्रीडति सप्तमे॥

कृष्णार्भकसुधा[2] (कथा) सिन्धुसम्भवानन्दनिर्भरः।
भूय स्तदेव सम्प्रष्टुं राजाऽन्य दभिनन्दति॥

**येन येनेति।** येन येन मत्स्याद्यवतारेणाऽपि यानि यानि कर्माणि करोति तानि नः कर्णरम्याणि[3-3] कर्णसुखावहानि मनोज्ञानि[4-4] मनः प्रीतिकराणि च भवन्त्येव॥ १॥

तथाऽपि **यदिति** । यच्छृण्वतः पुंसः पुरुषमात्रस्य अरतिः मनोग्लानिः तन्मूलभूता विविधा तृष्णा चाऽपगच्छति, तथा सत्त्व शुद्धि हरिभक्ति हरिदाससख्यानि च भवन्ति। तदेव हारं हरेश्चरितं मनोहरं वा, वद, मन्यसे चेत् अनुग्रहं यदि करोषीति॥ २॥

अत्यौत्सुक्येन पुन र्विशिनष्टि - **अथेति** । अनुरुन्धतोऽनुकुर्वतः॥ ३॥

**कदाचिदिति।** उत्थानं शिशो रङ्गपरिवर्तनम्। तत्र करणीये कौतुकाप्लवे उत्सवाभिषेके तथा तस्मिन्नेव दिने जन्मर्क्षस्याऽपि योगे अतः[5] महोत्सवे समवेतयोषितां मिलितपुरन्ध्रीणां मध्ये वादित्रादिभि शोभित मभिषेचनं स्ती[6] यशोदा चकार॥ ४॥

**नन्दस्येति।** अन्नादिभिस्सुपूजितै र्विप्रैः कृतमङ्गलम् सञ्जातनिद्रे अक्षिणी यस्य तमशीशयच्छायितवती॥ ५॥

---

1. V °मधि 2. V. सदा 3- -3. A,B, omit 4- -4. A,B omit 5. A,B अति 6. V omits सती

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं तावत्पूतनानिर्हरण तन्मुक्तिप्रदानादिरूपं भगवद्बालचेष्टितं मभिधाय अथ चेष्टितान्तराणि विवक्षुः ताव द्राज्ञ स्तत्पिपृच्छिषा मुत्पादयति **एव** मिति। एवंविधानि दुष्टनिर्हरण तन्मुक्तिप्रदानादिरूपाणि अन्यान्यपि बहूनि बालचेष्टितानि सयोषितां सस्त्रीकाणां गोपानां शमानन्दं च कुर्वन् विष्णुर्जनार्दनो भगवान्नन्दस्य गेहे ववृधे एधाम्बभूव तर्हि तानि वद यानि भगवानकरो दिति पिपृच्छिषुः इतरावतारचेष्टितेभ्यः[1] कृष्णावतारचेष्टितानां वैलक्षण्यं वदन् पृच्छति राजा[2] येनेति[2]। भगवान् हरि रीश्वरो येन येन मत्स्याद्यवतारेण यानि यानि कर्माणि करोति चकार तानि नोऽस्माकं कर्णरम्याणि[3-3] श्रोत्रसुखावहानि, तथा हे प्रभो! मनोज्ञानि मनःप्रीतिकराणि[4] च भवन्त्येव॥ १॥

तथाऽपि यत्कृष्णचेष्टितं शृण्वतः पुंसः पुरुषमात्रस्य अरतिः मनोग्लानिः बुद्धे रस्वास्थ्यं वा यस्मिन् सति सुखहेतवोऽपि न सुखाय भवन्ति तथाविधं तत्। विविधा तृष्णा शब्दादिविषयस्पृहा च अपैत्यपगच्छति। अचिरेण सत्त्व मन्तःकरणं च शुध्यति। हरौ भगवति रति रनुरागः, तत्पुरुषेषु भगवद्भक्तेषु सख्यञ्च भवति। तदेव चरित्रं भूयः पुनः भूयो विपुलं यथातथा वद। तदेव हारमिति पाठे हारं मनोहारि चेष्टित मित्यर्थः। मन्यसे चेत् वक्तुमिष्टं मन्यसे चेत् वद। स्वतन्त्र स्त्वम्, अहं त्वां नियोक्तु मप्रभु रिति भावः॥ २॥

किन्तादित्यत्राऽऽह **अथेति**। मानुषं लोक मासाद्य मानुषावतारं प्राप्य तज्जातिं मानुषजाति मनुरुन्धतोऽनुकुर्वतः कृष्णस्य यदन्य दपि पूतनानिर्हरणरूपबालचेष्टिता दन्यदपि अद्भुतं लोकाचरितं बालचेष्टितं वदेत्यनुषङ्गः॥ ३॥

एवमापृष्टोऽन्यान्यपि बालचेष्टितानि विवक्षुः तावत् शकटासुरवधात्मकं चेष्टितं वर्णयति - **कदाचिदि**त्यादिना एकदेत्यतः प्राक्तनेन। औत्थानिककौतुकाप्लवे, [5]उत्थानं गृहाद्बहिश्शिशोर्निष्क्रमणं, तत्सम्बन्ध्यौत्थानिकं, तस्मिन् कौतुके उत्सवे यः आप्लवः स्नानं यस्मिन्, तस्मिन् दिने जन्मर्क्षेण रोहिणीनक्षत्रेणाऽपि योगे सति महोत्सवे समवेतानां समुदितानां योषितां मध्ये वादित्रादिभिः शोभितमभिषेचनं सूनोः सती यशोदा चकार ॥ ४॥

अन्नाद्यैरन्यैर्वासोभिः स्रग्भिरन्यैश्च [6]अभीष्टार्थैः धेनुभिश्च सुपूजितैर्विप्रैः कृतं स्वस्त्ययनं यस्य, कृतं मज्जनादिकं यस्य, आदिशब्देन अङ्गरक्षादिकं विवक्षितम्। सञ्जातनिद्रे अक्षिणी यस्य, तं सुतं नन्दस्य पत्नी [7]यशोदाऽपि [-7]तं शनैः [8]निद्राभङ्गभयादिति भावः[-8]। अशीशयत् शाययामास॥ ५॥

---

1. W °त्चे° 2- -2. W omits 3- -3. A,B omit 4. A,B add इत्यर्थः 5. A,B omit उत्थानं 6. A,B स्वाभीष्टैः 7- -7. W omits 8- -8. W omits

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भगवति भक्तिकरणार्थं अनन्यसाध्यमाहात्म्यं वर्ण्यतेऽस्मिन्नध्याये। तत्र शुकः परीक्षितः प्रश्नबीजमुत्थापयन् वृत्तानुवादसूचनपूर्वकं कृष्णकथामाह - **एवमिति** । एवमुक्तप्रकारेण जनार्दनः दुष्टजनान् अर्दयति हिनस्तीति। 'अर्द -हिंसायाम्' इति धातुः॥

कर्णरम्याणि श्रोत्रसुखजनकानि, मनोज्ञानि मनःप्रीतिजनकानि॥ १॥

अरतिस्तत्र वितृष्णा विशिष्टतृष्णा, विषयेषु रागबुद्ध्यभावो वा। सत्त्वमन्तःकरणम्॥ २॥

तोकचरितं बालचरितम्॥ ३॥

ननु वक्त्रे मह्यं किं ददासीति तत्राह - दयालुरिति॥

उत्थापनकौतुकाप्लवे बहिर्निष्क्रमणोत्सवसम्भ्रमणे उत्सवहेतुकः प्लवः इतस्ततः प्लुतिः यस्मिन् स तथा तस्मिन्, जन्मर्क्षयोगे कृष्णस्य जन्मनक्षत्रसंयोगो यस्मिन् तस्मिन् दिवसे इति शेषः। कासां प्लव इति तत्राह समवेतेति। सम्मिलित

स्त्रीणाम्। "क्रमनिम्न महीभागे कविप्लुतिखगप्लवाः" (वैज.को. 6-1-37) इति यादवः। स्त्रीणां मध्ये सती प्रशस्तकर्मा॥ ४॥

अन्नाद्यवास आदयो येषां ते तथा तैः विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं माङ्गल्यवचनं यस्य स तथा। सञ्जाता निद्रा ययोस्ते तथा ते अक्षिणी यस्य स तथा, तं अशीशयत् शायितवती, शयनगतमकरोदित्यर्थः॥ ५॥

## शकटासुरभञ्जनवृत्तान्तः

औत्थानिकौत्सुक्यमना मनस्विनी समागतान्पूजयती व्रजौकसः।
नैवाऽशृणोद्वै रुदितं सुतस्य सा रुदन् स्तनार्थी चरणावुदक्षिपत्॥ ६॥

[1]अधश्शयानस्य शिशोस्[2]लोऽल्पक प्रवालमृद्वङ्घ्रिहतं व्यवर्तत।
विध्वस्त नानारसकुप्य भाजनं व्यत्यस्त चक्राक्षविभिन्नकूबरम्॥ ७॥

दृष्ट्वा यशोदाप्रमुखव्रजस्त्रियो [3]ह्यौत्थानिके कर्मणि यास्समागताः।
नन्दादयश्चाद्भुतदर्शनाकुलाः कथं स्वयं वै शकटं विपर्यगात्॥
★ इ ति ब्रुवन्तोऽतिविवादमोहिता जनास्समन्तात्परिवव्रुरार्तवत्॥ ८॥

[4-]तदोचुरव्यक्त[-4]मतीन्गोपान्गोपीश्च बालकाः।
रुदताऽनेन पादेन क्षिप्तमेतन्न संशयः॥ ९॥

न ते श्रद्दधिरे गोपा बालभाषितमित्युत।
[5-]अप्रमेयं बलं तस्य बालकस्य [-5]न वै [6]विदुः॥ १०॥

रुदन्तं सुतमादाय यशोदा ग्रहशङ्किता।
[7]कृतस्वस्त्ययनं विप्रैः सूक्तैः स्तनमपाययत्॥ ११॥

पूर्ववत्स्थापितं गोपैर्बलिभिस्सपरिच्छदम्।
विप्रा हुत्वाऽर्चयाञ्चक्रुर्दध्यक्षतकुशाम्बुभिः॥ १२॥

---

1. M अन° 2. M,V°रथाऽ° 3. A,B,G, M °य औ° ★ This additional half-verse is not found in A & G. edns. 4- -4. A,B,G,V ऊचुरव्यवसित; M ऊचुस्तदव्यक्त 5- -5. M अनन्तस्याऽप्रमेयस्य बलं तस्य 6. A,B,G,V ते 7. V कृत्वा

**श्रीध० औत्थानिकेति।** उदक्षिपत् ऊर्ध्वं चालितवान्॥ ६॥

**अध** इति। तस्य अधः शकटस्य अधस्तात् प्रेङ्खे शयानस्य शिशोरल्पकश्चाऽसौ प्रवालवत् मृदुश्च योऽङ्घ्रिः तेन हतम्, अनः शकटं व्यवर्तत विपर्यस्तमपतत्। कथम्? विध्वस्तानि नानारसवन्ति कुप्यभाजनानि स्वर्णरजतातिरिक्त कांस्यादिमयानि यथा भवन्ति तथा। चक्रे च अक्षश्च चक्राक्षाः व्यत्यस्ताश्चक्राक्षा यस्मिन्। विभिन्नः कूबरो युगन्धरो यस्य तच्च तच्च यथा भवति तथा व्यवर्तेति॥ ७॥

**दृष्ट्वेति**। अद्भुतदर्शनिनाऽऽकुला बभूवुः। तदेवाऽऽह कथमिति। विपर्यगात् विपरीतमपतदिति॥ ८,९॥

**नेति** । न श्रद्दधिरे विश्वासं न जग्मुः । उत अपि, बालस्यैतन्न सम्भवति, एते च बालाः किं जानन्तीति ॥ १० ॥

**रुदन्तमिति** । रक्षोघ्नैः सूक्तैः[3] रक्षां कृत्वा ॥ ११ ॥

भगवत्प्रभावानभिज्ञविप्रचेष्टितं विडम्बयन्नाह - **पूर्ववदित्यादिना** । बलिभिश्शक्तैः । यद्वा अष्टदिक्षु बलिभिः सहितं सपरिकरं यथापूर्वं स्थापितं विप्रा दध्यादिभिरर्चयामासुः । हुत्वा ग्रहादिहोमं विधाय ॥ १२ ॥

---

1. V°तव्यति 2. V यस्मिन् 3. A,B omit रक्षां

**वीर०** औत्थानिके उत्सव एव औत्सुक्यं युक्तं मनो यस्यास्तथाभूता मनस्विनी औदार्यप्रवणमना स्सा यशोदा समागतान् व्रजौकसः पूजयन्ती सुतस्य रुदितं नाऽशृणोत्[-1] न शुश्राव[-1]। स हि स्तनार्थी रुदन् चरणावुदक्षिपत् ऊर्ध्वं मचालयत् ॥ ६ ॥

तदा अधः व्योम्न्यापततोऽसुरात्मकस्य शकटस्याऽधोलम्बमानप्रेङ्ख इत्यर्थः । शयानस्य शिशोः श्रीकृष्णस्य अल्पकश्चाऽसौ प्रवालवन्मृदुश्च योऽङ्घ्रिस्तेन हतम् अनः शकटं व्यवर्तत विपरीतमवर्तत। तदेव दर्शयितुं विशिनष्टि । विध्वस्तानि नाना रसवन्ति कुप्यभाजनानि स्वर्णरजतव्यतिरिक्तकांस्यादिमयानि भाजनानि[2] यस्मिन् व्यत्यस्ते चक्रे अक्षश्चक्राधारदारुविशेषश्च यस्मिन्, विभिन्नः कूबरो युगन्धरो यस्मिन् तच्च॥ ७॥

**दृष्ट्वेति**। यशोदाप्रभृतयो व्रजस्त्रियो याश्चौत्थानिके कर्मणि समागतास्ताः, नन्दादयो गोपाश्च दृष्ट्वा अद्भुतदर्शेनिनाऽऽकुलाः सम्भ्रान्ताः कथमेतच्छकटं स्वयमेव विपर्यगात् विपरीतमभूत् इत्येवं ब्रुवन्तः, ब्रुवन्तश्च ब्रुवत्यश्च ब्रुवन्तः। "पुमान् स्त्रिया" (अष्टा०. 1-2-69) इत्येकशेषः। अतीव विषादेन दुःखेन मोहिताः जना यशोदादयः आर्तवत् समन्तात्सर्वतः परिवव्रुः परिविवेष्टिरे॥ ८॥

तदा अव्यक्ता शकटागमनतद्विपर्ययाद्यगोचरा मतिर्येषां तान् गोपान् गोपीश्च प्रति बालकाः कृष्णस्य समन्ततः क्रीडन्तो बालका ऊचुः, किमिति? एतच्छकटमनेन बालकेन कर्त्रा पादेन क्षिप्तं विपर्ययं प्रापितम्, अत्र न संशयः कार्य इति॥ ९॥

ते नन्दादयो[3] न श्रद्दधिरे विश्वासं न जग्मुः, बालस्यैतन्न सम्भवति, एते च बालका किं जानन्तीति, बालकस्याऽप्रमेयमपारं बलञ्च न वै विदुः ॥ १०॥

ततो रुदन्तं सुतमादाय यशोदा बालग्रहशङ्किता। कर्तरि क्तः। बालग्रहमाशङ्कमाना, अत एव विप्रैः कर्तृभिः, सूक्तैः रक्षोघ्नमन्त्रैः करणैः, कृतं स्वस्त्ययनं यस्य तं कृतानिष्टपरिहारककर्माणं शिशुं स्तनमपाययत्॥ ११॥

ततो बलिभिश्शक्तैः अथवा अष्टदिक्षु बलिभिः गृहशान्तिकारिभिः पूजात्मकैस्सहितं, सपरिकरं यथापूर्वं स्थापितं विप्राः दध्यादिभिरर्चयामासुः। हुत्वा ग्रहादि होमं विधाय [4] ॥ १२ ॥

---

1- -1. W omits 2. A,B पात्राणि 3. A,B add गोपाः 4. A,B add अर्चयाञ्चक्रुरित्यर्थः।

**विज०** कदा तु, उत्थानकम् उत्सुकयति पश्यतीति उत्थानकौत्सुक्यम्। स्वार्थे ष्यञ् प्रत्ययः। तादृशं मनो यस्यास्सा तथा। मनस्विनी प्रशस्तमनाः उदक्षिपत् क्षिप्तवान्॥ ६ ॥

अथ उत्क्षेपानन्तरम्। अनः शकटं व्यवर्तत विपरीत मधोमुखमपतत्। अल्पकौ अणुतरौ प्रवालवन्मृदू अक्षी अल्पकप्रवालमृद्वक्षी ताभ्यां हतं पीडितम्। ध्वस्तानि इतस्ततो विक्षिप्तानि नानारसपूर्णकुप्यात्मभाजनानि यस्मिन् तत्तथा। कुप्यानि द्वीपान्तरस्थमृद्विशेषरचितानि चक्रं रथाङ्गं वृत्तदारु। अक्षो नाम चक्रप्रोतदारुविशेषः। कूबरो युगन्धरः। व्यत्यस्तौ न्यञ्चितौ चक्राक्षौ विभिन्नो विशीर्णः कूबरश्च यस्य तत्तथा॥ ७ ॥

तत् विपर्यगात् विपरीतं गतम्॥ ८ ॥

अव्यक्तमतीन् अनिश्चितबुद्धीन्, न व्यक्ता मतिर्येषां तेऽव्यक्तमतयः तान् कुलवृद्धान्॥ ९ ॥

बालभाषितवत् बालभाषितमिति विकल्प्य संशय्य। "उताऽप्यर्थ-विकल्पयोः" (अम. को. 3-398) इत्यमरः॥ १०, ११ ॥

स्थापितम्, अन इति शेषः। बलिभिः प्राणशक्तिमद्भिः सपरिच्छदं सपरिकरम्॥ १२ ॥

**येऽसूयाऽनृतदम्भेर्ष्या हिंसामानविवर्जिताः।**
**न तेषां सत्यशीलानामाशिषो विफलाः कृताः॥ १३ ॥**

**इति बालकमानीय सामर्म्यजुरुपाकृतैः।**
**जलैः पवित्रौषधिभिरभिषिच्य द्विजोत्तमैः॥ १४ ॥**

**वाचयित्वा स्वस्त्ययनं नन्दगोपस्समाहितः॥**
**हुत्वा चाऽग्निं द्विजातिभ्यः प्रादादन्नं महागुणम्॥ १५ ॥**

**गाश्च सर्वगुणोपेता वासस्स्रग्गुक्ममालिनीः।**
**आत्मजाऽभ्युदायार्थाय प्रादात्ते चादात्ते चाऽन्वयुञ्जत॥ १६ ॥**

**विप्रा मन्त्रविदो युक्ता स्तैर्याः प्रोक्तास्तदाऽऽशिषः।**
**ता निष्फला भविष्यन्ति न कदाचिदपि स्फुटम्॥ १७ ॥**

1. M स्तेया° 2. M क्वचित् 3. B,G. °दा° 4. A,B,G,K, W गावः 5. M पुत्रस्याऽ° 6- -6. प्राग्जातेश्चाऽ° 7. A,B,G, M °था° 8. V ध्रुवम्

**श्रीध०** ये इति। असूया गुणेषु दोषाविष्करणम्। ईर्ष्या अक्षान्तिः। [1-]असूयादिभिः विवर्जिताः[-1] तेषामाशिषः कृतास्तैः प्रयुक्ताः॥ १३॥

**इतीति।** इत्येवमभिप्रेत्य सामर्ग्यजुर्भिः उपाकृतैः [2]संस्कृतैः। पवित्रा ओषधयो येषु जलेषु तैः[3] द्विजोत्तमैः कर्तृभिः अभिषिच्य अभिषेकं कारयित्वा॥ १४॥

**वाचयित्वेति।** हुत्वा हावयित्वा ॥ १५॥

**गा** इति। [4]गाश्च प्रादात्। [5-]ते च विप्राः[-5] अन्वयुञ्जत आशिषो [6]अयुञ्जन्। [2-]ते 'शतमन्वयुः' इति पाठान्तरे शतं तद्दत्त गोशतं अन्वयुः। स्वीकृतवन्त इत्यर्थः। यद्वा शतं शतसंख्याकाः ते विप्रा इति॥ १६॥

**विप्रा** इति। तत्तथैव बभूवुरित्यर्थः॥ १७॥

1- -1. A, V omit 2. A अभिमन्त्रितैः 3. A,B add कृत्वा 4. A,B गावः गाश्च 5- -5. A,B omit 6. A,B युयुजुः 7- -7. A,B omit

**वीर०** ततो, येऽसूयादि दोषविवर्जिताः तेषां सत्यशीलाना मननृतवादशीलानामाशिषः कदाचिदपि विफला न भवन्तीति बुद्ध्वा बालकमादायेत्यन्वयः।[1] असूया गुणेषु सत्स्वपि दोषाविष्करणम्, अनृतं मिथ्याभाषणम् । दम्भो वञ्चनम्। ईर्ष्या त्वक्षमा, हिंसा भूतद्रोहः मानोऽहङ्कारः, द्विजोत्तमैः कर्तृभिः सामर्ग्यजुर्मन्त्रैः, उपाकृतैः संस्कृतैः, पवित्रा ओषधयो येषु तैर्जलै रभिषिच्य स्नापयित्वा, स्वस्त्ययनं वाचयित्वा च नन्दाख्यो गोपः समाहितचित्तः हुत्वा [2]अग्निं हावयित्वा महागुणं षड्रसोपेतमन्नं द्विजातिभ्यः प्रादात्[3] ॥ १३ - १५॥

साधुत्वबहुक्षीरत्वादिभिस्सर्वैर्गुणैर्युक्ताः। वासांसि स्रजः हेममालाश्चाऽऽसां सन्तीति तथा ताः, गाश्च आत्मजस्य अभ्युदयार्थं द्विजातिभ्यः प्रायच्छत्। ते च मन्त्रविदो युक्तास्समाहिताः द्विजातयः अन्वयुञ्जत प्रयुयुजिरे, आशिष इति शेषः॥ १६॥

यदभिप्रायेणाऽऽशिषोऽन्वययुजन्, ताश्च तथैव बभूवुरित्याह। तैर्विप्रै र्या आशिषस्तदा प्रोक्तः ताः कदाचिदपि स्फुटं नूनं निष्फलाः न भविष्यन्ति॥ १७॥

1. A,B add तत्र 2. W omits अग्निं 3. A,B add प्रायच्छत्

**विज०** इति कृत्वा स्थिता एव विप्राः सत्याशिष इत्याह - **य** इति॥ १३॥

उपाकृतैः संस्कृतैः॥ १४, १५॥

पुत्रस्याभ्युदयार्थाय अभ्युदयप्रयोजनाय जातेः प्राक्सङ्कल्पिता इति शेषः। प्राग्जातेरग्रजस्य बल भद्रस्य वा॥ १६, १७॥

## तृणावर्तनिराकरणवृत्तान्तः

**एकदाऽऽरोहमारूढं लालयन्ती सुतं सती।**
**गरिमाणं शिशोर्वोढुं न सेहे गिरिकूटवत्॥ १८॥**

**भूमौ निधाय तं गोपी विस्मिता भारपीडिता।**
**महापुरुषमादध्यौ जगतामास कर्मसु॥ १९॥**

**दैत्यो नाम्ना तृणावर्तः कंसभृत्यः प्रचोदितः।**
**चक्रवातस्वरूपेण जहाराऽऽसीनमर्भकम्॥ २०॥**

**गोकुलं सर्वमावृण्वन् मुष्णंश्चक्षूंषि रेणुभिः।**
**ईयन्सुमहाघोरशब्देन प्रदिशो दिशः॥ २१॥**

**मुहूर्तमभवन्नष्टं रजसा तमसाऽऽवृतम्।**
**सुतं यशोदा नाऽपश्यत् तस्मिन् न्यस्तवती यतः॥ २२॥**

**नाऽपश्यत्कञ्चिदात्मानं परञ्चापि विमोहितः।**
**तृणावर्तविसृष्टाभिः शर्कराभिरुपद्रुतः॥ २३॥**

---

1- -1. M जगामाशु च 2. A.B.G°णो 3. A.K.W पू० 4. K.W. च 5. K.V.W दश 6. V तत्र 7. A,B,G,M °श्चना° 8. G,M नि°

**श्रीध०** ★ "उत्क्षिप्य मृदुपादेन शकटं व्योम्नि लीलया। तृणावर्तं पदाऽऽपीड्य भुव्यपातय दर्भकः"॥

**एकदेति।** आरोहमुत्सङ्गम्॥ १८॥

**भूमाविति।** तृणावर्तात् स्वमृत्युपरिहाराय कृष्णेनैवाऽऽत्मन उत्सङ्गादुत्ताराय च कृतं भारमजानती उत्पातशङ्कया महापुरुषमादध्यौ। श्रीकृष्णोदरवर्तिनां जगतां भारेण पीडिता विस्मिता च सती। यद्वा, जगतां मध्ये कर्मसु आस, बभूव, न तु जगदुदरं तं वेदेत्यर्थः॥ १९, २०॥

**गोकुलमिति।** ईरयन् [3]नादयन्नित्यर्थः। [4]पूरयन्नित्यपि पाठान्तरम्[-4]॥ २१॥

**मुहूर्तमिति।** यतो यत्र न्यस्तवती [5]तत्र तस्मिन् स्थाने नाऽपश्यत्॥ २२, २३॥

---

★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः। 1. V स्वाऽपमृ° 2. V तु 3. A,B निनाद° 4- -4. A,B omit 5. A,B omit तत्र

**वीर०** अथ तृणावर्तासुरवधात्मकमन्यदपि भगवतो बालचेष्टितं विवक्षुस्तावत् उपोद्घातरूपं चेष्टितमाह - **एकदेति** द्वाभ्याम्। कदाचित् सती यशोदा आरोहमुत्सङ्गमारूढं बालकं सुतं [1]लालयन्ती गिरिकूटवत् गिरिशृङ्गस्येव शिशोः गरिमाणं भारं [2]वोढुं न सेहे नाऽऽसहत। तृणावर्तात् मातुरपमृत्युपरिहाराय चिकीर्षितकार्योपयोगाय च तदङ्गादवरोढुञ्च भगवता कृतं भारं न सेहे इति भावः॥ १८॥

कदाचिदप्यस्य शिशोरेवंविधो गरिमा न दृष्ट इति विस्मिता भारेण पीडिता च शिशुं भूमौ निधाय उत्पातशङ्कया महापुरुषं भगवन्तम् आदध्यौ ध्यातवती। ततो जगतां कर्मसु गार्हीयकर्मसु आस प्रवृत्ता बभूव। यद्वा, श्रीकृष्णोदरवर्तिनां जगतां भारेण पीडिता सती। यद्वा, जगतां मध्ये कर्मसु आस, न तु जगदुदरं तं [3]वेदेत्यर्थः॥ १९॥

तदा तृणावर्ताख्यो दैत्यः कंसस्य भृत्यः तेन प्रचोदितः चक्रवातरूपेणाऽऽगत्य आसीनं [4-]यशोदया त्यक्तम्[-4] अर्भकं [5]जहार गृहीतवान्॥ २०॥

कथम्भूतस्सन्? कृत्स्नं गोकुलं चक्रवातरूपेणाऽऽवृण्वन्, व्याप्नुवन् रेणुभिर्व्रजौकसां चक्षूंषि [6]मुष्णन् पिधापयन् महता घोरेण च शब्देन दश च दिशः पूरयन्। ईरयन्निति पाठे नादयन्॥ २१॥

तथा गोष्ठं मुहूर्तं रजसा तमसा च परागान्धकाराभ्यामावृतमभूत्। [7]तदा च यशोदा, यतो यत्र न्यस्तवती निहितवती तत्र देशे सुतं नाऽपश्यत् न ददर्श॥ २२॥

तथा कोऽपि जनः परमन्यमात्मानञ्च नाऽपश्यत्। कुतः? यतो विमोहितः। तत्र हेतुः तृणावर्तेन विसृष्टाभिः प्रयुक्ताभिः शर्कराभिः सिकताभिः उपद्रुतः ॥ २३॥

---

1. A,B add श्रीकृष्णं 2. W omits वोढुं 3. A,B add भगवन्तं 4- -4. W omits 5. A,B add श्रीकृष्णं 6. W omits मुष्णन् 7. A,B तथा

**विज०** ईरयन् शब्दयुक्ताः कुर्वन्नित्यर्थः॥ १८ - २१॥

यतो यत्र न्यस्तवती तस्मिन् स्थले॥ २२॥

शर्कराभिः अणुतरशिलाभिः॥ २३॥

इति खरपवनचक्रपांसुवर्षे सुतपदवीमबलाऽविलक्ष्य[1] माता।
अतिकरुणमनुस्मरन्त्यशोच द्भुवि पतिता मृतवत्सका यथा गौः॥ २४॥

रुदितमनुनिशम्य तत्र गोप्यो भृशमनुतप्तधियोऽश्रुपूर्णमुख्यः।
रुरुदुरनुपलभ्य नन्दसूनुं पवन उपारतपांसुवर्षवेगे॥ २५॥

तृणावर्तश्शान्तरयो वात्या रूपधरो हरन्।
कृष्णं नभोगतो गन्तुं नाऽशक्नोद्भूरिभारभृत्॥ २६॥

तमश्मानं मन्यमान आत्मनो गुरुमत्तया।
गले गृहीत उत्स्रष्टुं नाऽशक्नोदद्भुतार्भकम्॥ २७॥

गलग्रहणनिश्चेष्टो दैत्यो निर्गत लोचनः।
अव्यक्तरावो[2] न्यपतत्सहबालो व्यसुर्व्रजे॥ २८॥

तमन्तरिक्षात्पतितं शिलायां विशीर्णसर्वावयवं करालम्।
पुरं यथा रुद्रशरेण विद्धं स्त्रियो रुदत्यो[3] ददृशुस्समेताः॥ २९॥

★ आदाय[4] मात्रे प्रतिहृत्य विस्मिताः कृष्णञ्च तस्योपरि[5] लम्बमानम्।
तं स्वस्तिमन्तं पुरुषादनीतं विहायसा मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्॥
गोप्यश्च गोपाः[6] किल नन्दमुख्या लब्ध्वा पुनः प्रापुरतीव मोदम्॥ ३०॥

---

1. M °चक्षमाणा 2. K,M वाक्यो 3. K,M,V,W °न्त्यो ★ The first pada of this verse is printed as second pada and the second pada of the same verse is printed as first pada, in V Edition. 4. B,G प्रा° 5. A,B,G,V °रसि 6. M °स्स°

**श्रीध० इतीति।** खरपवनचक्रात् पांसु वर्षे सति॥ २४॥

**रुदितमिति।** उपारतः शान्तः[1] पांसुवर्षस्य वेगो यस्मिन् तथाभूते पवने सति। तत्र तस्या रुदितमनुनिशम्य गोप्यो रुरुदुः॥ २५॥

**तृणावर्त** इति। वात्या चक्रवातः, तद्रूपधरः कृष्णं हरन् शान्तरयः कथञ्चिन्नभोगतः ततःपरं गन्तुं भारातिरेकात्[2] नाऽशक्नोदित्यर्थः॥ २६॥

**तमिति** । गुरुमत्तयाऽतिगौरवेण[3] तं[4] अश्मानं[5] पर्वतप्रायं मन्यमानः तेनैवाऽऽत्मनो गले गृहीतः[6] तं त्यक्तुमिच्छन्नपि नाऽशक्नोदित्यर्थः॥ २७ - २९॥

**आदायेति।** तस्योरसि लम्बमानं कृष्णमादाय मात्रे प्रतिहृत्य समर्प्य विस्मिताश्च बभूवुरिति। विहायसा गगनमार्गेण पुरुषादेन तृणावर्तेन[7] नीतं तथाऽपि मृत्युमुखात्प्रमुक्तं पुनर्लब्ध्वा मोदं प्रापुरिति[8] ॥ ३० ॥

---

1. A,B omit शान्तः 2- -2. A,B omit 3. V adds मारेण 4. A,B, add तथा 5. A,B, add अश्मवन्तं 6. A,B °तत्वात् 7. A दैत्येन; B omits the word 8. V adds उत्तरेणान्वयः

**वीर०** इतीत्थं खरात् कठिनात् पवनचक्रात् पांसुवर्षे सति सुतपदवीमविलक्ष्य अदृष्ट्वा अबला माता यशोदा अतिकरुणं यथा तथा अनुस्मरन्ती भुवि पतिता। यथा मृतवत्सा गौस्तद्वत् शुशोच ॥ २४ ॥

ततस्तस्या रुदितमाकर्ण्य भृशं नितरामनुतप्ताः धियो मनांसि यासां अश्रूणि मुखेषु यासां तथाभूताः गोप्यः तत्राऽऽगत्य नन्दसूनुं श्रीकृष्णमनुपलभ्याऽदृष्ट्वा रुरुदुः। उपारतः पांसुवर्षस्य वेगो यस्मिंस्तथाभूते सति पवने तत्र तस्या रुदितमनुनिशम्येत्यन्वयः ॥ २५ ॥

वात्या चक्रवातः तद्रूपधरस्तृणावर्तः कृष्णं हरन् शान्तवेगः कथञ्चिन्नभोगतः ततःपरं नभो गन्तुं नाऽशक्नोत्। तत्र हेतुः भूरिभारभृत्[2] ॥ २६ ॥

तं बालं गुरुमत्तया आत्मनः स्वस्य अश्मानं कूपे पिपतिषोः कण्ठलग्नपाषाणतुल्यं मन्यमानः। यद्वा, आत्मनः स्वस्मादपि गुरुमत्तया अश्मानं बालव्याजम् अश्मानं[3] मन्यमानस्तेन दृढं गले गृहीतः तमुत्प्रष्टुं त्याजयितुं नाऽशक्नोत् ॥ २७ ॥

गले ग्रहणेनैव निश्चेष्टो, निर्गते उद्गते लोचने यस्य स दैत्यः अव्यक्तमस्पष्टं वाक्यं वचो यस्य स तथाभूतः निर्बद्धगलत्वादिति भावः। बालेन[4] सहितो व्यसुर्गतप्राणो व्रजे न्यपतत् ॥ २८ ॥

अन्तरिक्षाच्छिलायां पतितम्, अत एव विशीर्णास्सर्वावयवाः यस्य तम्, दैत्यं रुद्रशरेण विद्धं पुरमिव करालं भयङ्करं सङ्घीभूता रुदन्त्यश्च स्त्रियो ददृशुः ॥ २९ ॥

ततस्तस्य दैत्यस्य उरसि लम्बमानं कृष्णमादाय मात्रे यशोदायै प्रतिगृह्य समर्प्य विस्मिता बभूवुः। विहायसा गगनमार्गेण पुरुषादेन दैत्येन नीतम् अथाऽपि मृत्युमुखात् प्रमुक्तं स्वस्तिमन्तं जीवन्तं बालं लब्ध्वा[5] नन्दप्रधाना गोपा गोप्यश्च नितरां मोदं हर्षं प्रापुः किल ॥ ३० ॥

---

1. W omits श्रीकृष्णं 2. A,B add इति। 3. A,B परं 4. A,B add श्रीकृष्णेन 5. W omits लब्ध्वा

**विज०** इतिशब्दः प्रकारवचनः आदिवचनो वा। "इति हेतुप्रकरणप्रकारादिसमाप्तिषु" (वैज. को. 8-7-17) (इत्यमरः)। खरश्चण्डः पवनो वायुः तेन चक्रपांसवः मण्डलीकृतरजांसि, तेषां वर्षे समूहे सुतपदवीं अविचक्षमाणा विगतदर्शना अपश्यन्तीत्यर्थः। पुत्रमनुस्मरन्ती निरन्तरसञ्चिन्तनोपेता अत एव भुवि पतिता अबला अतिकरुणम् अशोचदित्यन्वयः ॥ २४ ॥

उपारतः उपरतः शान्तः पांसुवर्षविगो यस्य पवनस्य स तथा। तस्मिन्सत्यपि कृष्णस्य अन्तरिक्षगमनात् भुव्यदर्शनं उपरिचक्षुर्दौर्बल्यादित्यर्थः॥ २५॥

ननु मूर्तद्रव्यादर्शनं देशान्तरसंयोगात् देशान्तरप्रवेशलक्षणसंयोगाद्वेति उभयथा सम्भाव्यते। अत्र कथमिति स्त्रीणां शङ्काम् अपनेतुमुपक्रमते तृणावर्त इति। शान्तरयः निवृत्तवेगः॥ २६॥

अश्मानं श्वेतपाषाणम्॥ २७॥

निर्गतलोचनः निष्क्रान्तनेत्रमांसपिण्डः। अव्यक्तवाक्यः वचनावृत्तिरहितः॥ २८॥

पुरं त्रिपुरसंज्ञम्॥ २९, ३०॥

★ **अहो बताऽत्यद्भुतमेष रक्षसा बालो निवृत्तिं गमितोऽभ्यगात्पुनः।**
**हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः साधुस्समत्वेन भयाद्विमुच्यते॥ ३१॥**

**किं नस्तपश्चीर्णमधोक्षजार्चनं पूर्तेष्टदत्तं[2] किमु भूतसौहृदम्।**
**यत्सम्परेतः पुनरेव[3] बालको दिष्ट्या स्वबन्धून्प्रणयन्नुपस्थितः॥ ३२॥**

**दृष्ट्वाऽद्भुतानि[4] बहुशो नन्दगोपो बृहद्वने।**
**वसुदेववचो भूयो मानयामास विस्मितः॥ ३३॥**

**एकदाऽर्भकमादाय स्वाङ्कमारोप्य भामिनी।**
**प्रस्तुतं पाययामास स्तनं स्नेहपरिप्लुता[5]॥ ३४॥**

**-: स्तन्यपानसमये जृम्भणव्याजेन मात्रे विश्वरूपप्रदर्शनघट्टः :-**

**पीतप्रायस्य जननी सुतस्य[6] रुचिरस्मितम्।**
**मुखं लालयती राजन् जृम्भतो ददृशे जगत्[7]॥ ३५॥**

**खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशा सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधींश्च।**
**द्वीपान्नगांस्तद्दुहितॄर्वनानि भूतानि यानि स्थिरजङ्गमानि॥ ३६॥**

**सा[8] वीक्ष्य विश्वं सहसा राजन्सञ्जातवेपथुः।**
**सम्मील्य मृगशाबाक्षी नेत्रे आसीत्[9]सुविस्मिता॥ ३७॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
तृणावर्तमोक्षो नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

★ समेत्य चैकत्र कृताशिषाऽमला विचारयामासुरुपायमत्र। This additional half-verse is found in A Edn. only. 1. K,W °त्र 2. A,B,G,K,W °त्तमुत; V °त्तं ह्युत 3. V °ष 4. V दृष्टोत्पातानि 5. M °तम् 6. A,B,G सा तस्य 7. A,B,G,M इदम् 8. M सं 9. V चा°

**श्रीध०** परस्परं हर्षकथामाहुः- **अहो बतेति।** निवृत्तिं गमितो मृत्युं प्रापितः। कोऽत्र विस्मयो, युज्यत एवैतदिति। तेष्वेव केचिदाहुः - हिंस्र इति॥ ३१॥

**किमिति** । नोऽस्माभिः चीर्णं कृतम्। पूर्तं वापीकूपतटाकादि निर्माणम्। इष्टं पञ्चयज्ञाग्नि होत्रादि, दत्तं दानं, यद्यस्मात् तप आदेः प्रणयन् हर्षयन्॥ ३२ - ३४॥

★ तृणावर्तागमे दृष्टगौरवाशङ्किनीं प्रसूम्। बोधयन् दर्शयामास जृम्भमाणो मुखे जगत्।

**पीतेति।** पीतमस्यास्तीति पीतः तत्प्रायः पीतप्रायः। पीतविदितादिशब्दानां पानादिमति व्युत्पन्नत्वात् विभक्ताभ्रातर इत्यादिवत् । यद्वा, पीतप्रायः स्तनो येन इति उत्तरपदलोपसमासो वा॥ ३५॥

**खमिति** । खं स्वर्गाकाशं, नगान् गिरीन्। तद्दुहितॄर्नदीः॥ ३६, ३७॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

1. A,B omit तटाक ★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः 2- -2. A,B omit 3- -3. A,B पीतप्रायस्य पीतः प्रायः स्तनो येन तस्य॥ ३५॥ 4- -4 A,B omit

**वीर०** अथ गोपादीनां मिथस्सन्तोषवादमाह - **अहो** इति द्वाभ्याम्। रक्षसा निवृत्तिं गमितो विनाशं प्रापितः एष बालः पुनरभ्यगात्। अहो अत्याश्चर्यमेतत्। कोऽत्र विस्मयः। युक्तमेवैतदिति। तेष्वेव केचिदाहुः हिंस्र इति। हिंस्रः क्रूरः खलः स्वपापेनैव निहतः। साधुस्तु समत्वेन स्वस्मिन्निरेषु च समभावेन भयान्मुक्तो भवतीति॥ ३१॥

तत्राऽपि केचिदाहुः - **किमिति।** नोऽस्माभिः तपआद्यन्यतमं किञ्चिच्चीर्णं पूर्वजन्मनि सम्पादितं स्यात्। कुतः? यत् यस्मात् सम्परेतो मृतोऽपि बालकः पुनरपि स्वबन्धून् रमयन् उपस्थितः। दिष्ट्या अयं महानानन्दो जात इत्यर्थः। अन्यथैतद्दुर्लभमिति भावः। तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि। पूर्तं स्मार्तं कर्म, तटाकादिनिर्माणं वा। इष्टं श्रौतं, दत्तं दानम्, तेषां समाहारद्वन्द्वः। प्रणयन्निति पाठे, प्रणयन् हर्षयन् उपस्थित इत्यर्थः॥ ३२॥

एवं विधान्यन्यान्यपि अद्भुतानि बहुशो बृहद्वने बृहति व्रजप्रान्तवने दृष्ट्वा नन्दगोपो विस्मितः पुनः वसुदेवस्य वचो "नेह स्थेयं बहुदिनं सन्त्युत्पाताश्च गोकुले" (भाग. 10-5-30) इत्येतद्वचो मानयामास सत्यमेवाऽभूदित्य मन्यत॥ ३३॥

अथ भगवान् तृणावर्तागमे प्रदर्शितस्य गरिम्णो मूलं दर्शयामासेत्याह - **एकदेति।** प्रस्नुतं, कर्तरि क्तः, स्तनं प्रस्नुवन्तं स्तनं[3] पाययामास। कथम्भूता? स्नेहेन परिप्लुता परितो व्याप्ता ॥ ३४॥

हे राजन्! पीतप्रायस्य पीतप्रायस्तनस्य कृतस्तन्यपानस्येत्यर्थः। पीतमिति भावे क्तः। पीतं पानमस्याऽस्तीति पीतम्। अर्शआदित्वात् मत्वर्थीयोऽच्। तत्प्रायः। यद्वा, भुक्ता ब्राह्मणा इतिवत् कर्तरि क्तः। प्रायशब्दः सदृशवाची सन्नपि अत्र अनतिरिक्तार्थपरः। तस्य सुतस्य रुचिरं सुन्दरं स्मितं यस्मिन् तन्मुखं लालयन्ती चुम्बनादिना लालनं कुर्वती जृम्भत आस्यं विवृण्वतः तस्य[4] मुखे इदं वक्ष्यमाणं खाद्यात्मकं जगत् ददर्श। मुख इति पाठान्तरम्। तदा रुचिरस्मितं सुतं लालयन्ती पीतप्रायस्य जृम्भतः[5] सुतस्य मुखे इदं जगत् ददृशे[6] इत्यन्वयः॥ ३५॥

तद्दृष्टजगदन्तर्भूतपदार्थानाह - **खमिति।** खमाकाशम्। रोदसी द्यावापृथिव्यर्थकमव्ययम्। ज्योतिरनीकं शुक्राङ्गारकादिज्योतिश्चक्रम्। सूर्यादीनामितरेतरयोगद्वन्द्वः। नगान् गिरीन्, तद्दुहितॄर्नदीः। यानि स्थावरजङ्गमात्मकानि भूतानि तानि च ददृशे इत्यन्वयः॥ ३६॥

हे राजन्! सा मृगशाबाक्षी यशोदा सुतस्य मुखे खादियुक्तं विश्वमवलोक्य सञ्जातो वेपथुः शरीरकम्पो यस्यास्तथाभूता स्वकीये नेत्रे निमील्य विस्मिता बभूव॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

---

1- -1. W omits 2. W omits अपि 3. A,B omit स्तनं 4. A,B सुतस्य 5. A,B add मुखं विवृण्वतः 6. A,B ददर्श

**विज०** समत्वेन गुणेन। "अधो न क्षीयते जातु यस्मात्तस्मादधोक्षजः" (भार. उद्यो. 69-10) इति भारतवचनात् अधोक्षजशब्दो निरुक्तः। वापीकूपतटाकादि पूर्तम्। "अग्निहोत्रं तपस्सत्यं वेदानाञ्चानुपालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवञ्च इष्टमित्यभिधीयते। "शरणागतसन्त्राणं भूतानाञ्चाप्यहिंसनम्। बर्हिर्वेदि च यद्दानं तद्दत्तमित्यभिधीयते॥" प्रणयन् स्नेहं कुर्वन्। "प्रणयः प्रसरस्समौ" (अम.को. 3-138) इत्यमरः॥ ३१, ३२, ३३॥

भामिनी तेजस्विनी॥ ३४॥

इदं वक्ष्यमाणं ददृशे, आस्ये इति शेषः॥ ३७॥

रोदसी द्यावापृथिव्यौ, ज्योतिरनीकं ज्योतिर्गणम्। तेषां पर्वतानां दुहितॄः नदीः॥ ३६॥

मृगशाबाक्षी मृगबालाक्षी॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥
(विजयध्वजरीत्या अष्टमोऽध्यायः)

# अष्टमोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या नवमोऽध्यायः)

श्रीबादरायणिरुवाच[1]

गर्गः पुरोहितो राजन् यदूनां सुमहातपाः।
व्रजं जगाम नन्दस्य वसुदेव प्रचोदितः॥ १ ॥

तं दृष्ट्वा परमप्रीतः प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः।
आनर्चाऽधोक्षजधिया प्रणिपात पुरस्सरम्॥ २ ॥

रूपविष्टं कृतातिथ्यं गिरा सूनृतया मुनिम्।
नन्दयित्वाऽब्रवी द्ब्रह्मन् पूर्णस्य करवाम किम्॥ ३ ॥

महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम्।
निःश्रेयसाय भगवान् कल्पते नाऽन्यथा क्वचित्॥ ४ ॥

ज्योतिषा मयनं साक्षात् यत्तज्ज्ञान मतीन्द्रियम्।
प्रणीतं भवता येन पुमान्वेद कराक्वरम्[2]॥ ५ ॥

त्वं हि ब्रह्मविदां श्रेष्ठः संस्कारान्कर्तु मर्हसि।
बालयो रनयो र्नृणां जन्मना ब्राह्मणो गुरुः॥ ६ ॥

गर्ग[3] उवाच

यदूना मह माचार्यः ख्यातश्च भुवि सर्वतः।
सुतं मया संस्कृतं ते मन्यते देवकी सुतम्॥ ७ ॥

कंसः पापमतिः सख्यं तव चाऽऽनकदुन्दुभेः।
देवक्या अष्टमो गर्भो न स्त्री भवितु मर्हति॥ ८ ॥

इति सञ्चिन्तयन् श्रुत्वा देवकीदारिकावचः[4]।
अपि हन्ताऽऽगताशङ्कः तर्हि तन्नोऽनयो महान्[5]॥ ९ ॥

1- -1. A.B.G. श्रीशुक उवाच 2. V. °प° 3. V. adds आचार्यः 4. A.B.G. °क्याः 5. A.B.G. भवेत्

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अष्टमे नाम कर्माऽस्य बालक्रीडा कुतूहले।
मृद्भक्षणाऽभियोगे च विश्वरूपं निरूप्यते॥
विश्वरूपादि बालस्य निशम्याऽऽशङ्किनः पितुः।
नामकृद्गर्ग वाक्येन निजं तत्त्वमसूसुचत् ॥ १ - ३ ॥

पूर्णश्चेत् कथं धनिनां गृहमागतः? तत्राऽऽह - **महदिति**। महतां स्वाश्रमाद्धन्यत्र विचलनं न स्वार्थम्, किन्तु गृहिणां मङ्गलाय। ननु तर्हि त एव महद्दर्शनार्थं किमिति नाऽऽगच्छन्ति? तत्राऽऽह - दीनचेतसां कृपणानां क्षणमपि गृहं त्यक्तुमशक्नुवता मित्यर्थः॥ ४ ॥

त्वया बालयोः नामकरणादि करणीयम् इति वक्तुं तस्य ज्ञानातिशयमाह - **ज्योतिषामिति**। यदतीन्द्रिय ज्ञानसाधनं ज्योतिषामयनं तत्प्रतिपादकं ज्योतिश्शास्त्रमित्यर्थः। तत्साक्षाद्भवता प्रणीतम्। येनान्योऽपि पुमान् परावरं परं कारणं पूर्वजन्मकृतं कर्म, अवरं कार्यं अस्मिन् जन्मनि भाविफलं तद्वेद। उक्तञ्च जातके यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः प्राप्तिम् व्यञ्जयति शास्त्र मेतत्तमसि द्रव्याणि दीप इव इति॥ ५ ॥

विवक्षित माह - **त्वं हीति**। दैवज्ञो मन्त्रविच्च त्वम्। अतो नामकरणादिसंस्कारान् कर्तुमर्हसीत्यर्थः। नन्वेतद्गुरुणा करणीयम्? इति चेत्तत्राऽऽह नृणामिति॥ ६ ॥

अत्युत्साहिनं नन्दं प्रति गुप्तमेतत्कार्य मित्यभिप्रायेण प्रत्याचक्षाण इवाऽऽह - **यदूनामिति**। भवतु तथापि त्वमत्राऽऽगत इति को विद्यादिति चेदत आह - ख्यात श्चेति। ततः किमत आह देवकीसुतमिति। कंसो मन्यते मन्येत, कल्पयेदित्यर्थः॥ ७ ॥

**कंस** इति। ननु यदुकुमार इति कथञ्चिज्जानातु। तत्र च वसुदेवस्य सुतः तत्राऽपि देवक्यां जात इति कुतो जानीयात्? तत्राऽऽह। पापमतिरित्यादि॥ ८ ॥

**इतीति**। "किं मया हतया मन्द" (भाग 10-4-12) इत्यादि देवकी कन्यावचः श्रुत्वा "देवक्या अष्टमोगर्भो न स्त्री भवितु मर्हति" (भाग 10-8-8) इति नित्यं सञ्चिन्तयन् सामान्येन क्वचिदस्तीति ज्ञात्वा भुवयोश्च सख्यं सञ्चिन्तयं स्त्वद्गृहे भवेदिति सम्भाव्य मत्संस्कारलिङ्गेन चाऽऽगताशङ्कः आगताऽऽशङ्का यस्य सः अपि यदि हन्ता हनिष्यति तर्हि तदा तत् नो महाननयः स्यादिति॥ ९ ॥

1. V. °णाऽऽदि 2. V. असूचयत् 3. V. व्या° 4. V. न ग° 5. V. °प° 6. V. °प° 7. A.B. त° 8. V. omits मन्येत 9. V. पुत्रः 10. V. omits तत्राऽपि 11. B. adds कंसः 12. V वाऽऽ०

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ गर्गेण कृतनामकरण[1]संस्कारस्य तत्सूचितमाहात्म्यस्य भगवतो मात्रे विश्वरूप प्रदर्शनं तद्विस्मापनादिरूपं च चरित्रमाहाऽष्टमे गर्ग इति। गर्गो यदूनां पुरोहितः। अत एव वसुदेवेन प्रचोदितः नन्दस्य व्रजं जगाम॥ १ ॥

अधोक्षजधिया भगवद्बुद्ध्या नमस्कार पूर्वकं यथा तथा आनर्च अर्चितवान् नन्द[2] इति शेषः[2]॥ २ ॥

अतिथये निवेदितम् अन्नादिक आतिथ्यम् तत्कृतं भुक्तं येन तं सूपविष्टं गर्गं सूनृतया मधुरया गिरा नन्दयित्वा हर्षयित्वा अब्रवीत्। उक्ति मेवाह ब्रह्मन्नित्यादिना यदूना महमित्यतः प्राक्तनेन। हे ब्रह्मन्! पूर्णस्य आप्त कामस्य तव किं करवाम? न किमप्यपूर्वप्रीतिकरं कर्म कर्तुं प्रभवामेत्यर्थः। यद्वा[3] पूर्णस्य परब्रह्मानन्दानुभव पूर्णस्य तव किं करवाम[4] किङ्करा वयमित्यर्थः ॥ ३ ॥

पूर्णश्चेदहं कथं धनिनां गृहमागतः? तत्राऽऽह - **महद्विचलनमिति**। हे भगवन्! महतां भवतां विचलनं स्वाश्रमादन्यत्र सञ्चारः विषयासङ्गदीनचेतसां[5] मादृशां गृहिणां निःश्रेयसायैव कल्पते। अन्यथा तु कदाचिदपि न कल्पते, न तु स्वार्थम्; किन्तु मादृशा मनुग्रहार्थमेवेत्यर्थः॥ ४ ॥

त्वया बालयो र्नामक्रिया कार्येति वक्तुं तस्य विज्ञानातिशय माह — **ज्योतिषामयनमिति**। यज्ज्ञानम[6]तीन्द्रियं अतीन्द्रियज्ञानसाधनं ज्योतिषामयनं गमन[7]प्रतिपादकं ज्योतिश्शास्त्र मित्यर्थः। तत्साक्षाद्भवता प्रणीतम्। येन ज्योतिषामयनेन अन्योऽपि पुमान् परापर मतीत मागामि च वेद॥ ५ ॥

विवक्षितमाह — **त्वमिति** । भो ब्रह्मविदां श्रेष्ठ! त्व मनयोः बालकयो स्संस्कारान् नामकरणादीन् कर्तु मर्हसि। दैवज्ञत्वात् मन्त्रवित्त्वाच्च त्वमेव कर्तु मर्हसीति भावः। ननु, नाऽहं त्वद्गुरुः इत्यत्राऽऽह — नृणां 'जन्मना ब्राह्मणो गुरुः' 'नृणाम्' इति सामान्य निर्देशेन ब्राह्मणानां क्षत्रियादीनाञ्च ब्राह्मणमात्र स्स्वभावतो गुरु रित्यभिप्रेतम्॥ ६॥

अत्युत्साहिनं नन्दं प्रति गुप्तमेतत्कार्य मित्यभिप्रायेण प्रत्याचक्षाण इवाऽऽह - **यदूनामिति**। यदूना माचार्यत्वेन भुवि प्रसिद्धोऽहं यदि त्वत्पुत्रं संस्कुर्याम्, तर्हि मया संस्कृतं त्वत्पुत्रमपि देवकीसुतमेव पापमतिः कंसो मन्यते, मत्कर्तृक संस्कारेण लिङ्गेन देवकीसुत मेवाऽध्यवस्यतीत्यर्थः। ननु यदुकुलाचार्येण त्वया संस्कृतं कथञ्चिद्यदुकुमारं जानातु, तत्र वसुदेवस्य पुत्रः तत्राऽपि देवक्यां जात इति कुतो जानीयात्! तत्राऽऽह — सख्यमित्यादि। नन्दवसुदेवयोः सख्यं प्रसिद्धमेव वर्तते। अशरीरवाण्याऽभिहितो देवक्या अष्टमो गर्भो न स्त्रीभवतु मर्हति, किन्तु

पुमानेव। स मद्भयाद्वसुदेवेन सख्यु स्सन्निधौ निहित इत्येवं देवकीदारिका वच श्चिन्तयन् गताशङ्कः गतसंशयः हन्तापि हन्यात्। तर्हि तन्नोऽस्माकं महा ननयः अनीतिः अनुचितं स्यात् इत्युक्त्वा गर्गः तूष्णीं बभूवेत्यर्थः ॥ ७ - ९ ॥

---

1- -1. A.B. omit 2- -2. W. omits 3. W. omits यद्वा 4- -4. W. omits 5. A.B. व्या दिस 6. A.B. omit अतीन्द्रियं 7. A.B. तत्प्रति 8- -8. W. omits.

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हरे स्तत्तदवतारे तत्तद्योनिविहितं कर्म कर्तव्य मिति देवजनशिक्षणार्थं तद्विधीयतेऽस्मिन्नध्याये॥ १ ॥

आनर्च पूजितवान्॥ २ ॥

सूनृतया यथार्थ मधुरया। पूर्णस्य कृतकृत्यस्य॥ ३ ॥

महतां पुंसां विचलनं गमनम्॥ ४ ॥

ज्योतिषामयनं ग्रहाणां राशे राश्यन्तर गमनगोचरं ज्योतिश्शस्त्रं; ज्ञायते अनेनेति ज्ञानं, अतीन्द्रियं त्रिकालविषयम् परावरम् अतीतानागत विषयम्॥ ५ ॥

संस्कारान् गर्भाधानादीन् संस्कारकर्ता मदन्यःकिं न स्यात्? इति तत्राह — नृणामिति॥ ६ ॥

तत्र नन्दं गर्गो वक्तीत्याह - गर्ग इति। चशब्दो हिशब्दार्थः। योऽहं यदूना माचार्य इति सर्वतो भुवि ख्यातो हि। ततः किं कंसेन ज्ञातेऽनर्थो भविष्यतीति, स क इत्याह सुतमिति॥ ७ ॥

'कसि हिंसायां' इति धातोः हिंसाशीलः, अतएव पापमतिः। तर्हि तं कृष्णं हन्ता हनिष्यति। तदा नो महाननयोऽन्यायोऽपराधः भविष्यतीति शेषः। कथमयं कंसो मया संस्कृतं ते सुतं देवकी सुतं मन्यते? निमित्त माह सख्यमिति। तवाऽऽनक दुन्दुभेश्च सख्य मस्तीति जानाति। अतोऽनयो स्सुत विनिमयो भविष्यतीति मन्यते। निमित्तान्तरमप्यस्ती त्याह देवक्या इति। यश्चिन्तयन्निति हेतोः तव हन्ता क्वचिज्जात इति निश्चायकेन कन्यावचसापि तस्य तद्धननिवृत्ति र्न भवतीत्याशयेनाऽऽह श्रुत्वेति। गताशङ्को नष्टहनन शङ्कः। आगताशङ्कोऽपि वा॥ ८, ९ ॥

नन्द उवाच

अलक्षितोऽस्मिन्रहसि मामकैरपि गोव्रजे।
कुरु द्विजाति संस्कारं स्वस्तिवाचनपूर्वकम्॥ १० ॥

श्रीशुक उवाच

एवं सम्प्रार्थितो विप्रः स्वचिकीर्षितमेव तत् ।
चकार नामकरणं गूढो रहसि बालयोः ॥ ११ ॥

गर्ग उवाच

अयं वै रोहिणीपुत्रो रमयन् सुहृदो गुणैः।
आख्यास्यते राम इति बलाधिक्याद्बलं विदुः॥
यदूना मपृथग्भावा त्सङ्कर्षण मुशन्त्युत॥ १२ ॥

आसन्वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः।
शुक्लो रक्त स्तथापीत इदानीं कृष्णतां गतः॥ १३ ॥

प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जात स्तवाऽऽत्माजः।
वासुदेव इति श्रीमान् अभिज्ञा स्सम्प्रचक्षते॥ १४ ॥

बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः॥ १५ ॥

आधास्यत्येष वः श्रेयः गोप गोकुल नन्दनः।
अनेन सर्वदुर्गाणि यूय मञ्ज स्तरिष्यथ॥ १६ ॥

पुराऽनेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः।
अराजके रक्ष्यमाणा जिग्यु र्दस्यून्समोधिताः॥ १७ ॥

य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः।
नाऽरयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवाऽसुराः॥ १८ ॥

तस्मा न्नन्दात्मजोऽयं ते नारायण समो गुणैः।
श्रिया कीर्त्याऽनुभावेन गोपायस्व समाहितः॥ १९ ॥

1. M. ०ते 2- -2. omit 3- -3. M.K.V.W. omit 4. A.B.G.M. हि 5. K.W. य० 6. K.W. जनः 7- -7. A.B. एष वः श्रेय आधास्यत् 8. M. के ऽर० 9. V. जघ्नु० 10. K.W. ०ग; V. °गे 11. V. तु 12. K.W. सु.

**श्रीध० अलक्षित** इति। द्विजति संस्कारं द्विजातीना मवश्यं कर्तव्यं संस्कारमात्रं केवलं स्वस्तिवाचन पूर्वकं कुर्विति॥ १०, (११)॥

**अयमिति** । यदूनामपृथग्भावात् कुतश्चिद्धेतोः विप्रतिपद्यमानानां यदूना मपृथग्भावात्। भावो भावनं तस्मात्। अन्योन्यशिक्षया सर्वैकमत्यकरणादित्यर्थः। सम्यक्कर्षत्येकी करोतीति, सङ्कर्षणमप्युशन्ति मन्यन्ते वक्ष्यन्तीत्यर्थः। गर्भसङ्कर्षणन्तु न प्रकाशयति॥ १२॥

**आसन्निति।** अस्य तव पुत्रस्य। अतः कृष्ण इत्येकं नाम भविष्यति॥ १३॥

**प्रागयमिति।** सामान्योक्त्या ऋषिरयं जन्मान्तरगतं नाम कथयतीति नन्दो मन्य तेस्म। अत एनं वासुदेव इति सम्प्रचक्षत इति॥ १४॥

**बह्नीति।** गुणानुरूपाणि ईश्वरः सर्वज्ञ इत्यादीनि। कर्मानु रूपाणिगोविन्दः गोवर्द्धनोद्धरणः इत्यादीनि, तानि सर्वाण्यहमपि नो वेद जना अपि नो विदुरिति॥ १५॥

जातकफलमाह — **आधास्यतीति।** एष परमपुरुषः श्रेयः मुक्तिं अञ्जः झटिति आधास्यत् आधास्यति॥१६॥

**पुरेति।** अनेन रक्ष्यमाणाः समेधिताश्च दस्यून् जिग्युरिति॥ १७ (१८, १९)॥

1- -1. V. omits 2. A. B. गोपतिः 3- -3. एषइति आधास्यत् आधास्यति॥ १६॥ 4. V. जघ्नु०

**वीर०** एवमुक्तवन्तं गर्गं प्रत्याह नन्दः **अलक्षित** इति। अस्मिन् गोकुले मामकै र्मदीयै रप्यलक्षितः रहसि निर्जने देशे स्वस्तिवाचनपूर्वकं द्विजातिसंस्कारं द्विजातीनामवश्य कर्तव्यं संस्कारं तूर्यघोषादिरहितं कुर्वित्यर्थः॥ १०॥

इत्थं सम्यक्प्रार्थितो द्विजो गर्गः स्वेन कर्तुमिष्टमेव तत् बालकयोर्नामकरणं रहसि गूढस्सन् चकार॥ ११॥

तदेव दर्शयति - **अयमित्यादिना।** गुणैस्सुहृदो रमयन्निति तस्मिन्नामशब्दस्य प्रवृत्ति निमित्त प्रदर्शनम्, बलाधिक्यादिति बलशब्दस्य, तथा यदूना मपृथग्भावात् कुतश्चिन्निमित्ता द्विप्रतिपत्स्यमानानां तेषामन्योन्य सामरस्यघटनेन ऐकमत्यसम्पादन रूपात् प्रवृत्तिनिमित्तात् सङ्कर्षणशब्दाभिधेय मुशन्ति इच्छन्ति, जना इति शेषः। सम्यक् कर्षति आकर्षति वैमुख्य निवर्तनेन एकतां नयतीति सङ्कर्षण मुशन्तीत्यर्थः। गर्भ सङ्कर्षणात् सङ्कर्षणः, सङ्कर्षणाख्यस्य अनन्तस्यांशत्वा द्वा सङ्कर्षण इति व्युत्पत्तिद्वयमप्यभिप्रेतम्॥ १२॥

परमात्मत्वं सूचयन्निव तिरोधापयन्निव नामानि चकरेत्यभिप्रायेणाऽऽह - **आसान्निति।** प्रतियुगं तनू र्विग्रहान् गृह्णतः उपाददतः अस्य तव पुत्रस्य शुक्लादय स्त्रयो वर्णा आसन्। अधुना तु कृष्णतां प्राप्तः। अतः कृष्ण इत्येकं नाम भविष्यति। अनुयुगं तनूः गृह्णत इत्यनेन परमपुरुषत्वं सूचितम्। "कृषिर्भूवाचकश्शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते" (भार. 5-68-5) इत्यादिव्युत्पत्त्यन्तराणि त्वभिप्रेतानि॥ २३॥

आधुनिकमपि वसुदेवापत्यत्वमाच्छादयन् प्राह — **प्रागयमिति।** अयं श्रीमान् प्राग्वसुदेवापत्यत्वात् वासुदेव इत्यभिज्ञाः सम्प्रचक्षते। अनया सा[4]म्योक्त्या ऋषिरयं जन्मान्तरगतं नाम कथयतीति नन्दो मन्यते स्म। "वसन्ति यत्र भूतानि वसत्यत्रेति वै यतः। ततस्स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिगीयते" (विष्णु पु. 6-5-75) इति व्युत्पत्तिस्त्वभिप्रेता। श्रीमानित्यनेन श्रियः पतित्वं सूचितम्॥ १४॥

तथा गुणकर्मानुरूपाणि बहून्यस्य नामानि सन्तीत्याह — **गुणेति।** यानि गुणानुरूपाणि भगवान्नारायण इत्यादीनि कर्मानुरूपाणि, मधुसूदन इत्यादीनि बहूनि नामानि। तानि अहं मादृशो मुनिरेव वेद, नतु त्वादृश इत्यर्थः। अनेना[5]पि परमपुरुषत्वं सूचितम्। यद्वा, अहमेव न वेद, किं पुनस्त्वादृशो न वेदेत्यर्थः॥ १५॥

जातकफलमाह — **एष** इति। वः युष्माकम्, एष श्रेय ऐहिकमामुष्मिकञ्चाऽऽधास्यति। गोपान् गोकुलं [6]गवां कुलं[6] च नन्दयतीति नन्दनः। अनेन सुतेन हेतुभूतेन यूयं सर्वाणि दुर्गाणि दुःखानि अञ्जः आशु तरिष्यथ। अञ्ज इति तत्त्वशीघ्रार्थकमव्ययम्॥ १६॥

हे व्रजपते! अराजके संरक्षकरहिते जगति, अत एव दस्युभिर्दुष्टसत्त्वैः पीडितास्साधवो धर्मानुवर्त्तिनः अनेन त्वत्पुत्रेण पुरा पूर्वजन्मनि समेधिता रक्ष्यमाणाश्च दस्यून् जिग्युः जितवन्तः; अनेन "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्, धर्मसंस्थापनार्थाय" (भ.गी. 4-8) इति भगवदुक्ति रभिप्रेता। अधुनापि साधुपरित्राणार्थमेव जात इति च भावः॥ १७॥

हे महाभाग! अस्मिन् त्वत्पुत्रे पुरा पूर्वजन्मनि समेधिता ये मानवाः प्रीतिं कुर्वन्ति तान् अरयश्शत्रवो नाभिभवन्ति। यथा विष्णुरेव पक्ष आश्रयो येषां तान् देवान् असुराः तद्वत्। अत्र प्रीतिशब्देन प्रीत्यात्मिका भक्तिरभिप्रेता। अरिशब्देन प्रकृतिसम्बन्ध प्रयुक्त काम क्रोधादयः। ये अस्मि[7]न् भक्तिं कुर्वन्ति ते[8] मुक्ता भवन्तीति भावः। विष्णु पक्षानिवाऽसुरा इति दृष्टान्तेनाऽयं साक्षाद्विष्णुः यूयन्तु देवावंशप्रभवाः। कंसादयस्तु आसुर सम्पत्त्याऽभिजाता इत्यभिप्रेतम्॥ १८॥

तस्मादेवम्भाविगुणत्वात् हे नन्द ! श्रिया कीर्त्या प्रभावेन अन्यैश्च गुणैर्नारायण तुल्योऽयं भविता। अत एनं समाहितस्सावधानचित्तस्त्वं गोपाय पालय॥ १९॥

---

1. A,B तदा 2. A,B सामादि 3. A, B add समानानां तेषामन्योन्यस्य कर्षणात् 4. A,B सामान्योक्त्या 5. A,B नात्रापि
6- -6. A,B omit 7. A,B एतस्मिन् 8. A,B add मानवाः

**विज०** मामकैरप्यलक्षिते अज्ञाते अस्मिन् व्रजे, तत्राऽपि रहसि॥ १०॥

आशीर्वचनपूर्वकं नामकरणप्रकारमाह चकारेति॥ ११॥

यदूनां मध्ये उशन्ति इच्छन्ति॥ १२॥

तनूः शरीराणि॥ १३॥

क्वचिन्मथुरायां निग्रहगृहे, अभिज्ञाः तद्धितप्रत्ययविवेकज्ञाः ॥ १४॥

न केवलमस्य वर्णनिमित्तं नाम गुणानुगुणानि नामानि सन्तीत्याह - **बहूनीति** । "कृषिर्भूवाचकश्शब्दः" (भार 5-68-5) इति वचनात् गुणानुगुणं कृष्णेति नाम, मधुहननकर्मानुरूपं मधुसूदनेति॥ १५॥

यदि यूयम् अभजिष्यन् (अभजिष्यत) तर्हि युष्माकन्तु श्रेय आधास्यत् अकरिष्यत् आशास्यतीति वा। अञ्ज: सम्यक्॥ १६॥

पृथ्ववतारे अराजके राष्ट्रे अरक्ष्यमाणाः॥ १७॥

विष्णुपक्षान् विष्णुसहायान्। "पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु" (वैज.को 6-1-35) इति यादवः॥ १८, १९॥

**इत्यात्मानं समादिश्य गर्गे च[1] स्वगृहं गते।**
**नन्दः प्रमुदितो मेने आत्मानं[2] पूर्णमाशिषाम्॥ २०॥**

**बालक्रीडासु विश्वरूपप्रदर्शनिघट्टः**

**कालेन व्रजता[3] तात! गोकुले रामकेशवौ।**
**जानुभ्यां सह पाणिभ्यां रङ्गमाणौ[4] विजह्रतुः[5] ॥ २१॥**

**तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ घोषप्रघोषरुचिरं[6] व्रजकर्दमेषु।**
**तन्नादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोः॥ २२॥**

**तन्मातरौ निजसुतौ गृणया स्नुवन्त्यौ[7] पङ्काङ्गरागरुचिरावुपगूह्य[8] दोर्भ्याम्।**
**दत्त्वा स्तनं[9] प्रपिबतोः स्म मुखं[10] निरीक्ष्य मुग्धा स्मिताल्पदशनं ययतुः प्रमोदम्॥ २३॥**

**यर्हर्यङ्गनादर्शनीयकुमारलीला[11] वन्तर्व्रजे तदबलाः प्रगृहीतपुच्छैः।**
**वत्सैरितस्तत उभावनुकृष्यमाणौ प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा[12] जहृषुर्हसन्त्यः[13]॥ २४॥**

**शृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यसिजलद्विजकण्टकेभ्यः क्रीडापरावतिबलौ[14] स्वसुतौ निषेद्धुम्।**
**गृह्याणि कर्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ शेकात आपतुरलं मनसोऽनवस्थाम्॥ २५॥**

**कालेनाल्पेन राजर्षे रामः कृष्णश्च गोव्रजे।**[15]
**आ[16] कृष्टजानुभिः पद्भिर्विचङ्क्रमतुरञ्जसा[17] ॥ २६ ॥**

---

1. V °ण 2. V ह्या° 3. A,B,G,M °ताऽल्पेन 4. A,B,G रिङ्क°; V. रम° 5. M चेरतुः 6. M °र° 7. M स्र° 8. A,B,G गु°; M गृ° 9. V स्तनौ 10. V सु 11. M ह्यागतातिरमणीय 12. M उत्सृत 13. M जगृहु° 14. A,B,G,V चलौ 15. A,B,G,M °कुले 16. A,B,G,M अघृष्ट 17. A,B,G, M °क्र°

**श्रीध० इतीति।** इति आत्मानं प्रति समादिश्य। आत्मानं कृष्णं च[1] गर्गे[2] गते सति[-2], आशिषामाशीर्भिः नन्दः[3] पूर्णं विष्णुं मेने अमंस्त[-3] ॥ २० ॥

★ बालक्रीडाचमत्कारैः कृष्णो रामेण संयुतः।
परमानन्दमाधत्त व्रजे नन्दयशोदयोः ॥
पूर्णत्वमेव दर्शयन्नाऽऽह - **कालेनेति** ॥ २१ ॥

**ताविति।** अनुकृष्य पुनः पुन राकृष्य सरीसृपन्तौ अतिशयेन चलन्तौ। कथम्[4]? घोषाः कटिपादभूषण किङ्किण्यः तेषां प्रघोषेण निनादेन[5] रुचिरं यथा भवति[6] तथा। तेषां[7] घोषाणां[8] नादेन[-5] हृष्टं मनो ययो स्तौ। लोकं इतस्ततो[9] गच्छन्तं जन मनुसृत्य त्रिचतुराणि पदान्यनुगम्य मुग्धवत् प्रमीतवत् मातोः अन्ति समीपे उपेयतुः उपजग्मतुः ॥ २२ ॥

तदिति। तदा च तन्मातरौ निजसुतौ दोर्भ्या मुपगूह्य[10] प्रमोदं ययतुः कथम्भूते? घृणया कृपया स्तुवन्त्यौ क्षरत्पयः[11] पूर्णपयोधरे सत्यौ पङ्कनाङ्करागेण च रुचिरौ कथम्भूतं मुखं निरीक्ष्य? मुग्धं मन्दस्मितं यस्मिन्, अल्पा दशनाश्च यस्मिन्, तच्च, तच्च ॥ २३ ॥

**यर्हीति।** यर्हि अङ्गनानां दर्शनीया कुमारलीला ययोः तथाभूतौ जातौ तदाऽन्तर्व्रजे व्रजस्य मध्ये तदबला व्रजाङ्गनाः तौ[2] प्रेक्षन्त्यः प्रेक्षमाणा विस्मृतगृहकृत्याः हसन्त्यो जह्रुषुः दृष्टा बभूवुः। कथम्भूतौ? ताभ्यां प्रगृहीतानि पुच्छानि येषां तै र्वत्सै रितस्ततोऽनुकृष्यमाणौ ॥ २४ ॥

**शृङ्गीति।** अतिचलौ[13] अतिचपलौ[14] तौ[-14] शृङ्गादिभ्यो निषेद्धुं गृहोचितानि कर्माणि चकर्तुं यत्र यदा तज्जनन्यौ न शेकाते तदाऽलं[15] मनसोऽनवस्था मापतुरिति। ★ गृहिणां[16] गृहसौख्यस्य परा तुष्टिः[17] प्रदर्शिता। कृष्णचापल चौर्याणि सहैवाखिल सद्मसु[18]। प्रजल्पन्त्य स्समागत्य गोप्यो गोप्यै मुदं ददुः ॥ २५, २६ ॥

---

1. A,B वा 2- -2. B, V omit 3- -3. A,B omit ★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः 4. V omits कथम् 5. B.V omit निनादेन 6. A,B omit भवति 7. V omits तेषां 8. B omits घोषाणां 9. V त° 10. A.B °गु° 11. A,B omit क्षरत् 12. V. omits तौ 13. B omits अतिचलौ 14- -14. V omits 15. V omits अलं ★ श्रीधरीयोऽयं सार्धश्लोकः 16. A,B omit गृहिणां 17. A,B काष्ठा 18. A,B °तः ।

**वीर०** इतीत्थमात्मानं प्रतिसमादिश्य गर्गे स्वगृहं गते सति ततो नन्दः प्रमुदितः आशिषा अभिमतार्थजातेन पूर्णप्रायमात्मानममन्यत ॥ २० ॥

अथ भगवतः काश्चिद्बालक्रीडा अनुवर्णयन् विश्वरूपप्रदर्शनादिकमाह - **कालेनेति** । गच्छता अतिक्रममाणेन कियता कालेन व्रजे रामकैशवौ सहजानुभ्यां पाणिभ्याञ्चेत्यर्थः । रङ्गमाणौ चङ्क्रमणं कुर्वन्तौ सरीसृपन्ताविति यावत् विजह्रतुः क्रीडां चक्रतुः[1] ॥ २१ ॥

विहारमेव वर्णयति - **ताविति।** तौ रामकेशवौ घोषप्रघोषरुचिरं घोषाः पादभूषणकिङ्किण्यः तेषां प्रघोषेण, व्रजगतश्लाघ्यध्वनिना वा रुचिरं यथा तथा व्रजकर्दमेषु अङ्घ्रियुग मनुकृष्य पुरःप्रसारितजान्वनुगतं यथा तथा पश्चाद्गतजानुसमाकृष्येत्यर्थः। सरीसृपन्तौ पुनःपुनरतिशयेन वा चरन्तौ तेषां घोषाणां नादेन तस्य घोषस्य व्रजस्य नादेन वा हृष्टं मनो ययोस्तौ। लोकमितस्ततः पर्यटन्तं जनमनुसृत्य त्रिचतुराणि पदान्यनुगम्य मुग्धवत् प्रभीतवच्च मात्रोः रोहिणीयशोदयोः अन्ति समीपमुपेयतुरुपजग्मतुः ॥ २२ ॥

तदा तयो रामकेशवयोः मातरौ घृणया करुणया स्तुवन्त्यौ पयःपूर्णस्तनाभ्यां पयस्स्रवन्त्यौ पङ्करूपेणाङ्गरागेण रुचिरौ सुतौ बाहुभ्यामुपगुह्य उरसि संवेष्ट्य स्तनं दत्त्वा मुखे निधाय प्रपिबतोस्सुतयोर्मुग्धं सुन्दरं स्मितम् अल्पा दशनाः सूक्ष्मा दन्ताश्च यस्मिन्, तन्मुखमवलोक्य प्रमोदं प्रापतुः ॥ २३ ॥

यर्हि यदा अङ्गनानां दर्शनीयाः कुमारलीला ययोस्तौ तथाभूतौ अन्तर्व्रजे[2] व्रजमध्ये व्रजस्था अबलाः प्रेक्षमाणाः विस्मृतगृहकृत्या हसन्त्यो जह्रुषुः। कथम्भूतौ? ताभ्यां प्रगृहीतानि पुच्छानि येषां तै र्वत्सैः इतस्ततोऽनुकृष्यमाणौ। जगृहुरिति पाठे ता गृहीतवत्य इत्यर्थः ॥ २४ ॥

नितरां क्रीडासक्तौ। अतिचलाविति पाठे क्रीडापरौ अत एव अतिचलौ सर्वतश्चरन्तौ। अतिबलावित्यपि पाठः। शृङ्ग्यादिभ्यस्स्वसुतौ निषेद्धुं वारयितुं गृह्यानि गृहोचितानि कर्माणि कर्तुञ्च यदा तयोर्जनन्यौ न शेकाते नाऽशक्नुताम्, निषेधगार्ह्ये युगपत् कर्तुमसमर्थे अभूतामित्यर्थः। शृङ्गिणो हरिणादयः, दंष्ट्रिणः शुनकादयः, द्विजा मयूरादयः पक्षिणः। तदा ते मातरौ अलं नितरां मनसोऽनवस्थामकुशलतां प्रापतुरिति। गृहिणां सौख्यस्य पराकाष्ठा प्रदर्शिता ॥ २५ ॥

हे राजर्षे! आकृष्टजानुभिः पद्भिः विचङ्क्रमतुः कदाचिज्जानुभ्यां क्रमणं कदाचित् पद्भ्यां गमनं चेति मिश्रं चक्रतुरित्यर्थः ॥ २६ ॥

---

1- -1. W omits 2. W omits अन्तर्व्रजे

**विजं० इत्यादि।** आत्मानं नन्दम्, आत्मानं स्वम् ॥ २० ॥

व्रजता गच्छता, रङ्गमाणौ चेष्टमाणौ वा ॥ २१ ॥

सरीसृपन्तौ पुनः पुनः भृशं गच्छन्तौ सर्पन्तौ, घोषाणां किङ्किणीनां प्रघोषेण प्रकृष्टेन शब्देन रुचिरः, घोषप्रघोषरुचिरः स चाऽसौ व्रजः तस्य कर्दमेषु "आभीरपल्ली किङ्किण्यो घोषो गोपाल शब्दयोः" इति वचनात्। तन्नादेन किङ्किणी स्वरेण हृष्टमनसौ मुग्धप्रभीतवत् लोकं बहिर्जनमनुसृत्य विडम्ब्य मात्रोः यशोदारोहिण्योः अन्ति अन्तिके समीपे उपेयतुः प्राप्तवन्तौ ॥ २२ ॥

घृणया दयया स्तन्यं स्रवन्त्यौ। अङ्गरागश्चन्दनम्। मुग्धं कोमलं स्मितं मन्दहासश्च अल्पदशना अणुतरा दन्ता यस्य तत् मुग्धस्मितं बाल्यदशनाश्च अस्मिन्निति वा॥ २३॥

अतिरमणीया: कुमारलीला: बालक्रीडा ययो स्तौ तथा तौ, यर्हि यदा अन्तर्व्रजे व्रजमध्ये आगता आगतौ। "द्वासुपर्णा" (मुण्ड. उ. 3-1-1) इति वत्। तदबला: व्रजयोषित: तदा प्रेक्षन्त्य उत्स्मृतगृहा: विस्मृतगृहव्यापारा:॥ २४॥

शृङ्गिणो गवादय:। दंष्ट्रिण: सारमेय प्रभृतय:। गृह्याणि गृहकर्माणि अनवस्थां व्याकुलताम्॥ २५॥

न घृष्टानि अघृष्टानि तानि च जानूनि येषां ते तथा तै: विचक्रमतु: पादविक्षेपं चक्रतु:॥ २६॥

ततश्च[1] भगवान् कृष्णो[2] वयस्यै र्व्रजबालकै:।
सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन्मुदम्॥ २७॥

कृष्णस्य गोप्यो रुचिरं[3] वीक्ष्य कौमार चापलम्।
शृण्वन्त्या[4]: किल तन्मातुरिति होचुस्समागता:॥ २८॥

वत्सान्मुञ्चन्क्वचिदसमये[5] क्रोशसञ्जात हास:
स्तेयं स्वाद्वत्त्यथ दधिपय: कल्पितै: स्तेययोगै:।
मर्कान्भोक्ष्यन्विभजति स चे न्नास्ति भाण्डं भिनत्ति
द्रव्यालाभे स[6] गृहकुपितो यान्युपक्रोश्य तोकान्॥ २९॥

हस्ताग्राह्ये रचयति विधिं पीठकोलूखलाद्यै -
श्छिद्रं ह्यन्तर्निहित वयुन:[7] शिक्य भाण्डेषु[8] तद्वित्।
ध्वान्तागारे धृतमणिगणं स्वाङ्गमर्थप्रदीपं
काले गोप्यो यर्हि[9] गृहकृत्येषु सुव्यग्रचित्ता:॥ ३०॥

एवं धाष्ट्र्यान्यु[10]शति कुरुते मेहनादीनि वास्तौ
स्तेयोपायै: विरचितकृति: सुप्रतीको यथाऽऽस्ते।
इत्थं[11] स्त्रीभि स्सभयनयन श्रीमुखालोकिनीभि:
व्याख्यातार्था[12] प्रहसितमुखी न ह्युपालब्धुमैच्छत्॥ ३१॥

★ एकदा क्रीडमाना स्ते रामाद्या गोपदा[13]रका:।
कृष्णो मृदं भक्षितवानिति मात्रे न्यवेदयन्॥ ३२॥

सा गृहीत्वा करे पु[14]त्रमुपालभ्य हितैषिणी।
यशोदा भयसम्भ्रान्त प्रेक्षणाक्ष मभाषत॥ ३३॥

1. A,B,G. °स्तु; V °स्स 2. M विष्णु: 3. M °रादीन 4. A,B,G,K,W °त्या: 5. M °यान् 6. K.W स्वगृह; M. सुमृश 7. M °ने 8. M तद्वत् 9. A सुष्ठु 10. M °द्धि° 11. K.W एवं 12. M °र्थ ★ अधिकपाठ: - गोप्य:कदाचन पृथक्पृथगूह्य कृष्ण मेत्येकदैव गदितुं प्रसृतास्तदाग:। दृष्ट्वा तदन्यथ तमेव निजानदृष्ट्वा सर्वाश्च ता निववृतुस्स्वगृहान्सलज्जा:॥ found in K,V 13. M बालका: 14. B,G,M. कृष्ण°

**श्रीध०** असमये अदोहकाले। क्रोशे सञ्जात हास:। सञ्जातो हासो यस्य स:। स्तेयं चौर्यार्जितम्। न तु दत्तम् तत्राऽपि स्वादु, नेतरत्। दधि च पयश्चाऽत्ति। किञ्च भोक्ष्यन् भोक्ष्यमाण: स्वयं भुञ्जाम इत्यर्थ: मर्कान् मर्कटान्प्रति विभज्य ददाति। तेषां मध्ये तृप्तत्वेन कोऽपि नाऽत्तिचेत् तर्हि भाण्डं भिनत्ति। क्वचिद्व्यस्याऽलाभे सति स कृत्स्न: गृहाय धक्ष्यामीति कुपितो याति। यद्वा सगृहागृहिण: तेभ्य: कुपित:, तेषां तोकान् बालान् पर्यङ्कादिषु सुप्तान् प्रहारनोदनादिभि: उपक्रोश्य रोदयित्वा यातीति॥ २७, २८, २९॥

कल्पितै: स्तेय योगै: इत्युक्तं, तत्प्रपञ्चयति **हस्तेति** द्वाभ्याम्। तुङ्गशिक्यस्थभाण्डेषु अन्तर्निहिते दध्यादौ वयुनं ज्ञानं यस्य स च्छिद्रं रचयति तद्वित् छिद्ररचनादिवित्। ध्वान्तयुक्ते गृहे स्वाङ्गमेवार्थ प्रदीपं रचयति। विशेषतो धृतमणिगणम् यर्हि काले यस्मिन् स मये, अत्र च्छन्दोभङ्ग: आर्ष :॥ ३०॥

**एवमिति** । रे रे चोर इत्याद्युक्त श्रीकृष्ण: 'त्वमेव चोर: अहं गृहस्वामी' इत्यादीनि धाष्टर्चानि प्रगल्भ वचांसि उशति जल्पति हे कमनीये यशोदे। यद्वा उशति वास्तौ स्वर्चिते गृहे मेहनादीनि पुरीषोत्सर्गादीनि कुरुते। एवं स्तेयोपायै: विरचिता कृति: कर्म येन स:। त्व त्समीपे सुप्रतीक: साधुरिवास्ते। य द्वा सुप्रतीक: दिग्गजवत् अदृश्य: आस्ते इत्यर्थ : सभये नयने यस्मिंस्तच्च तच्छ्रीयुक्तं मुखञ्च तदालोकिनीभि: स्त्रीभि: इत्थं व्याख्यातार्थो प्रख्यापित जन्मफला तत्तत्कर्मफला वा उपालब्धुं निर्भर्त्सनादिकं कर्तुं आक्षेप्तुं इति यावत् नैच्छत्॥ ३१॥

कदाचित् अपराधान्तरे उपालभत। तदा मातु: महदाश्चर्यम् अभूदिति कथयन्नाह **एकदेति** ॥ ३२॥

**सेति**। उपालभ्य निर्भर्त्स्य। भयेन सम्भ्रान्तप्रेक्षणे चपल निरीक्षणे अक्षिणी यस्य तम्॥ ३३॥

1- -1. B, V omit 2- -2. V omits 3- -3. A,B omit 4. V omits स: 5. A,B omit कृत्स्न: 6. B omits बालान् 7- -7. A,B omit 8. V प्ररुदितान् कृत्वा 9. A,B omit द्वाभ्याम् 10- -10. A,B omit 11- -11. A,B इत्याक्षिप्तस्सन् 12- -12. A,B प्रागल्भ्यानि 13- -13. B omits 14- -14. A,B omit 15- -15. B, V omit 16- -16. V कर्मफलका 17- -17. A,B omit 18- -18. A,B omit

**वीर०** ततो वयस्यै स्तुल्यवयस्कैः व्रजबालकै: सह रामेण सहित: कृष्णो व्रजस्त्रीणां हर्षं जनयन् चिक्रीडे॥ २७॥

रुचिरं सुन्दरं कौमार प्रयुक्तं चापल्य मवलोक्य तस्य कृष्णस्य मातु: यशोदाया: शृण्वत्या: सत्या:, इति वक्ष्यमाणप्रकारेण ऊचु:॥ २८॥

तदेवाऽऽह - **वत्सानित्यादिना** सार्धद्वयेन। असमये क्वचित् वत्सान् मुञ्चन् क्रोशेन जनानामाक्रोशेन सञ्जातो हासो यस्य तथा भूतो भवति। स्तेयं चौर्यार्जितं न तु दत्तम्। तत्राऽपि स्वादु नेतरत् दधिपयश्चात्ति

खादति। कल्पितैः स्तेय योगैः चौर्योपायैः स्वयं भोक्ष्यमाणाः मर्कान्प्रति विभज्य ददाति। तेषा मपि मध्ये तृप्तः कोऽपि नास्ति चेत्[2] तर्हि भाण्डं भिनत्ति। 'मर्कं भोक्ष्यन्विभजति स चेन्नाऽस्ति, इति पाठे मर्कं नवनीतम्। "मर्कन्तु दधिसारस्यान्नवनीतं प्रचक्षते" इत्यभिधानात्। विभजति सखिभ्य इति शेषः। यद्वा स मर्कटो नास्ति चेत् स्वभुक्तावशिष्ट नवनीतोपेतं भाण्डं भिनत्तीत्यर्थः। क्वचित् नवनीतादि द्रव्यालाभे सति प्रच्छन्ननिहिततया तदलाभे सति स्वगृहकुपितः अस्मद्गृहेभ्यः कुपितः। स गृहेति पाठे स कृष्णः। यद्वा, सगृहा गृहिणस्तेभ्यः कुपितः, तेषां तोकान् पर्यङ्कादिषु सुप्तान् उपक्रोश्य रोदयित्वा याति॥ २९॥

कल्पितैः स्तेययोगैः इत्युक्तं तत्[3] प्रपञ्चयति **हस्ताग्राह्य** इति। उच्चस्थे नवनीतादिभाण्डे हस्तेन ग्रहीतु मशक्ये सति पीठकोलूखलाद्यै र्विधिं तद्ग्रहणसाधन विधानं रचयति। शिक्यस्थभाण्डेषु अन्तर्निहिते दध्यादौ वयुनं ज्ञानं यस्य स तथाभूतः च्छिद्रं रचयति शिलोत्क्षेपणादिभिः च्छिद्रं करोति। तद्वित् च्छिद्ररचनादिवित् ध्वान्तागारे अन्धकारावृतगेहे[4] धृतमणिगणं दिव्यमणिभूषितम्, अत एवार्थप्रदीपं तत्तदर्थप्रकाशकं स्वाङ्गं रचयति सन्निधापयति यस्मिन् काले गोप्यो गृहकर्मसु प्रवणचित्ता स्तदैवं करोतीत्यन्वयः॥ ३०॥

एवं कुर्वन् चोरोऽयमित्युक्तश्चेत् धाष्टर्यानि प्रागल्भ्यानि उशति जलपति "त्वमेव चोरः, अहमेव गृहस्वामी" इति वदतीत्यर्थः[5] वास्तौ स्वर्चिते गृहे मेहनादीनि मूत्रोत्सर्जनादीनि कुरुते स्तेयोपायै र्विरचिता कृतिः कर्म येन तथा भूतोऽपि त्वत्समीपे यथा सुप्रतीक स्साधुः तद्वदास्ते। एव मित्थं सभये नयने यस्मिन् तच्च तच्छ्रीयुक्तं मुखं तत्कृष्णमुख मवलोकिनीभिः[6] स्त्रीभिः व्याख्याताः प्रख्यापिताः अर्थाश्चौर्याद्विव्यापाराः यस्याः तथा भूताऽपि प्रहसितं मुखं यस्यास्सा यशोदा उपालब्धुं पुत्र माक्षेतुं नैच्छत्॥ ३१॥

कदाचिदपराधान्तरे सत्युपालभत। तदा तु महदाश्चर्यमभूदिति कथयन्नाह - **एकदेति**। श्लोकार्थः[7] स्पष्टः[-7] ॥३२॥

सा यशोदा हितमिच्छन्ती कृष्णं करे गृहीत्वा उपालभ्य निर्भर्त्स्य भयेन सम्भ्रान्तप्रेक्षणे चपलालोकने अक्षिणी यस्य तं कृष्ण मभाषत॥ ३३॥

---

1- -1. W omits 2. W omits चेत् 3. W omits तत् 4. A,B गृहे 5. W जल्पती° 6. A,B °मालो° 7- -7. A,B स्पष्टोऽर्थः।

**विज०** रुचिरञ्च तत् अदीन मुदारञ्च तत् कुमारभावोचितं चपलत्वं यासु तास्तथा। तन्मातुः शृण्वत्याः ताः, इति वक्ष्यमाणप्रकारेण ऊचुः॥ २७, २८॥

असमयान् अप्राप्तदोहनवेलान्। अस्मदादीनां क्रोशेन सञ्जातो हासो यस्य स तथा। अथ कदाचित् स्वेनकल्पितैः स्तेययोगैः चौर्योपायैः स्तेयं चौर्यापन्नं दधिपयश्च स्वाद्वत्ति पिबति च। स कृष्णः मर्कं बालं मार्जरं वा वानरं वा भोक्ष्यन् भोजयिष्यन् विभजति विभागं करोति। नास्ति चेत् नवनीतादि भाण्डं भिनत्ति। कदाचित् उपायानां भावेऽभावे च द्रव्यालाभे दध्यादि द्रव्याप्राप्तौ कुपितः ताडनादिना बालान् अनुक्रोश्य रोदयित्वा याति इत्यन्वयः। "मर्को मनसि वायौ च तोके मार्जार कीटयोः" (वैज.को. 6-1-45) इति च॥ २९॥

स्तेययोगं दर्शयति - **हस्तेति।** हस्वत्वेन हस्ताऽग्राद्वो सति हस्तेन ग्रहणार्थं पीठकाद्यैः विधिमुपायं प्रकारं रचयति शिक्यस्थितभाण्डेषु मध्ये अन्तर्निहित वयुने अन्तर्निक्षिप्त नवनीतभाण्डे तद्वत् यथा लब्धुं सुशकं तथा च्छिद्रं लगुडादिना विवरं करोतीत्यन्वयः। गृहान्धकारे क उपाय इति तत्राऽह ध्वान्तागार इति। अन्धकारावृतगेहे धृतमणिगणं धृतसूर्यादि प्रकाशाधिक प्रकाशरत्नगणसंवीतं स्वाङ्गं स्वदेहं अर्थप्रदीपं पदार्थप्रकाशकं कृत्वेति शेषः। कस्मिन् समये इत्यत्राऽऽह काल इति॥ ३०॥

एवं तदा धाष्टर्यात् निर्भयत्वात् विशति गृहमिति शेषः। उपविश्य च वास्तौ देहल्यादौ मेहनादीनि पुरषोत्सर्जनादीनि करोति। स्तेयोपायैः स्तेयव्यापारैः विरचितकृतिः निर्मितचौर्यव्यापारः। शोभनानि प्रतीकानि अङ्गानि यस्य स चार्वङ्गः सच्चरित्रः पुरुषो यथा तथाऽऽस्ते इत्यन्वयः, सुप्रतीको मार्जारो वा [-1] मध्यस्थो वा [-1] सभयं नयनं यस्मिंस्तत् सभयनयनं च श्रीमुखं च सभयनयन श्रीमुखं श्रियायुक्तं मुखं श्रीमुखम्। श्रीमुखम् आस्यावलोको यासामस्तीति सभयनयनश्रीमुखावलोकिन्यः ताभिर्व्याख्यातः प्रकाश्य कथितोऽर्थः सुतविषयो व्यापारो यस्या स्सा तथा उपालब्धुं निर्भर्त्सयितुम् इत्थंशब्दः समाप्तिवचनः ॥ ३१, (३२)॥

भयेन सम्भ्रान्तानि अनवस्थितानि चञ्चलानि प्रेक्षणानि दर्शनानि यस्य तत्तथा तच्चाक्षि यस्य स तथा तम्॥ ३३॥

---

1- -1. A,B omit

[1-] यशोदोवाच [-1]

कस्मान्मृद [2] मदान्तात्मन् भवान्भक्षितवान्रहः।
वदन्ति तावका ह्येते कुमारास्तेऽग्रजोऽप्ययम्॥ ३४॥

[2-] श्रीकृष्ण उवाच [-3]

नाऽहं भक्षितवानम्ब सर्वो मिथ्याभिशंसिनः।
यदि सत्य [4] गिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम्॥ ३५॥

यद्येवं तर्हि व्यादेही त्युक्तस्य भगवान् हरिः।
व्यादत्ताऽव्याहतैश्वर्यः क्रीडामनुजबालकः॥ ३६॥

सा तत्र ददृशे विश्वं जगत्स्थास्नु च खं दिशः।
साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलं सवाय्वग्नीन्दु तारकम्॥ ३७॥

ज्योतिश्चक्रं जलं तेजो नभस्स्वर्विकराणि च। [5]
वैकारिकानीन्द्रियाणि मनोमात्रा गुणास्त्रयः॥ ३८॥

एतद्विचित्रं सहदेव काल स्वभाव कर्माशय लिङ्गभेदम्।
सूनो स्तनौ वीक्ष्य विदारितास्ये व्रजं सहाऽऽत्मान मवापशङ्काम्॥ ३९॥

किं स्वप्न एतदुत देवमाया किं वा मदीयो बत बुद्धिमोहः।
अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः॥४०॥
अथो यथावन्न वितर्कगोचरं चेतो मनः कर्मवचोभि रञ्जसा।
यदाश्रयं येन यतः प्रतीयते सुदुर्विभाव्यं प्रणताऽस्मि तत्पदम्॥४१॥
अहं ममाऽसौ पतिरेष मे सुतो व्रजेश्वरस्याखिलवित्तपा सती
गोप्यश्च गोपास्सहगोधनाश्च मे यन्मायया इत्थं कुमतिः स मे गतिः॥४२॥

---

1- -1. G. M omit 2. M मदीना ° 3- -3. M श्रीभगवानुवाच 4. M.V °त्यं 5. A,B,G नभस्वान् वियदेव च; M. नभस्वर्वियदेवच; V. विवराणि रसातलम् 6. M. भेदः 7. M °ष्यापि 8. A,B,G,V अथो 9. M °तन्न 10. K.W °मी° 11. M ये; V omits मे

**श्रीध०** अदान्तात्मन्! चपलगात्र! यद्वा उद्धतस्वभाव! रहः एकान्ते अग्रजोऽपि बलरामोऽपि वदतीत्यर्थः॥३४॥

**नेति** । नाऽहं भक्षितवानिति, सर्वे मिथ्याभिवादिनः नहि बाह्यं किञ्चिन्मया भक्षितम् मत्कुक्षा वादावेव सर्वमस्तीति भावः। समक्षं प्रत्यक्षम्॥३५॥

**यदीति**। व्यादेहि मुखं प्रसारयेति। व्यादत्त प्रसारितवान् स्वकुक्षिस्थ नानासृष्टि वैचित्र्यं मात्रे दर्शनाय प्रवृत्त इति सूचयन्नाह अव्याहतेति ॥ ३६॥

**सेति**। तत्र तस्मिन् मुखे विश्वं ददृशे ददर्श - तत्प्रपञ्चयति। जगज्जङ्गमम्। स्थास्नु स्थावरम्। ख मन्तरिक्षलोकम्। सादिद्वीपाब्धि भूगोलं पर्वत द्वीप समुद्र सहितं भूगोलं भूलोकम्। वायुः प्रवहः अग्निः वैद्युतः, इन्दुश्च तारकाश्च तत्सहितम्॥ ३७॥

**ज्योतिरिति**। ज्योतिश्चक्रं स्वर्लोकम्। वैकारिकाणि देवाः मन इति वैकारिकशब्देन गृहीतमपि देववैलक्षण्यात् पुनरुक्तम् । इन्द्रियाणि च तैजसानि मात्रा स्तामसाः शब्दादयः॥ ३८॥

**एतदिति**। एवमेतद्विचित्रं विश्वं सह एकदैव वीक्ष्य विचित्रतामाह - जीवश्च गुणक्षोभकः, कालश्च परिणामहेतुः स्वभावश्च जन्महेतुः, कर्म च तत्संस्कारः आशयश्च - एतैः लिङ्गानां चराचरशरीराणां भेदो यस्मिंस्तत्। तनौ तत्र व्रजं च सहात्मानं स्वसहितं क्वचिद्वीक्ष्य। सूनोः त्ये विदारिते आस्ये शङ्कमवाप॥ ३९॥

तामेवाऽऽह - **किं स्वप्न** इति। परितो विलोक्याऽऽह - नाऽयं स्वप्नः। तर्हि किं देवस्य हेर्माया? तथा चेदन्ये किं न पश्यन्ति? तर्हि किं वा मदीय एव कश्चिद्बुद्धिमोहो धीविपर्यासो दर्पणे मुखवत्। एवं तर्ह्यियं कृणोऽपि कथमन्तः प्रतीयते । न हि दर्पणे दर्पण प्रतीतिः अन्तर्बहिश्चैकरूपेण च कथं जगत्प्रतीयते । तथा सति बिम्बप्रतिबिम्बयो रिव परस्परं वैपरीत्येन प्रतीतिः स्यादित्याशङ्क्य अन्यथा वितर्कयति - अथो इति। अथो

[illegible] द्वः कश्चन अचिन्त्यय[14] आत्मयोगः स्वीय मैश्वर्यम्? औत्पत्तिकः स्वाभाविकः ॥ ४० ॥

चरमं पक्षमाश्रित्य अयमीश्वर इति निश्चित्याह - **अदो इति** । चेत श्चित्तम् । चि[15]त्तादिभिर्न वितर्कगोचरम् जगत् यदाश्रयं यदधिष्ठानम् । येन करणाधिष्ठात्रा । यतो बुद्धिवृत्त्यभिव्यक्तात् । नन्विद मवितर्क्यं भवतु । तत्पदं कीदृक्? अत आह - सदुर्विभाव्यमिति । इदमत्यन्त मचिन्त्य मित्यर्थः ॥ ४१ ॥

एवं प्रपञ्चप्रतीत्या उन्नीतं तत्त्वं पुनर्जीवसंसृति हेतुमायाश्रयत्वेनोन्नय[16]न्त्याह **अहमिति** । यशोदानामाऽहम्, असौ मम पति; । अमुष्य व्रजेश्वरस्य [17-]अ खिल वित्तपा[-17] अखिल वित्तादिष्ठात्र्यहं सती जाया । एष कृष्णो मे सुतः, गोप्यादयश्च मदीयाः , इतीत्थं कुमतिः यन्मायया, स एष मे शरणमिति ॥ ४२ ॥

---

1- -1. A,B omit° 2. A,B omit 3. A,B omit 4. A,B भक्ष्यते 5- -5. A,B omit 6. V omit भूगोलं 7. A,B भूर्लो° 8. V पवनः 9. A adds °रभूतः 10. V °माह 11. A adds इति 12- -12. B.V omit 13. A.B omit अथो 14. V adds इति 15. V तदादि° 16. V °यन्तीत्याह 17. A,B omit

**वीर०** भाषणमेवाऽह - **कस्मा** दिति। हे अदान्तात्मन् ! चपलगात्र उद्धतस्वभावेति वा। कस्माद्धेतोः भवान् रहसि मृदं भक्षितवान् नाऽहं भक्षितवानित्यत्राऽऽह वदन्तीति। [1-]तव सम्बन्धिन एव [-1]त्वं भक्षितवानिति वदन्तीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

एवमुक्तः कृष्ण आह - **नाऽह** मिति। हे अम्ब ! नाऽहं भक्षितवान् मत्कुक्षौ सर्वमादावेवास्तीति भावः। एते वदन्तीत्येत त्प्रक्षिपति सर्व इति। यद्येते, सत्या गिरो वाचो येषां तथा भूता स्तर्हि समक्षं प्रत्यक्षं मम मुखं पश्य ॥ ३५॥

एव मुक्तया जनन्या, तर्हि मुख मास्यं व्यादेहि विवृतं कुर्वित्युक्तः भगवान् हरिः व्यादत्त विवृतमकरोत् व्यात्ताननं विश्वरूपप्रदर्शनोपयुक्तेन धर्मेण विशिनष्टि - अव्याहत मवतारदशायामपि अप्रच्युतमैश्वर्यम् ईश्वर(रा)साधारणं "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" (शेता. उ. 6-8) "सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः" (छान्दो. उ. 8-1-5) इत्यादि वेदान्तावगतं सर्वशक्तित्वादि कल्याणगुणजातं यस्य सः। तर्ह्येवम्भूतस्य जीववत् कुतो मनुष्यबालकत्वापत्ति स्तत्राऽऽह - क्रीडया निमित्तभूतया मनुजबालकः न तु कर्मणेति भावः॥ ३६॥

सा यशोदा तत्र विवृते आस्ये विश्वं ददर्श। तदेव प्रपञ्चयति। जगत् जङ्गमं स्थास्नु स्थावरम् खमन्तरिक्षलोकः, पर्वतद्वीपसमुद्र सहितः भूलोकः, वायुः प्रवहश्च अग्निः वैद्युतश्च इन्दुश्च तारकाश्च तत्सहितं ज्योतिश्चक्रं, जलम् आवरणजलम्, तेजः सूर्यादि ज्योतिः, नभः आकाशः, स्वर् स्वर्ग लोकः विवराणि अतलादीनि, वैकारिकाणि सात्त्विकाहङ्कारकार्याणि, श्रोत्रादीनि, दशेन्द्रियाणि, मनश्च मात्रा स्तामसानि, शब्दादि तन्मात्राणि पञ्च, त्रयो गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि ॥ ३७, ३८॥

एव मेतद्विचित्रं विश्वं सह एकदैव वीक्ष्य विचित्रतामेव विशिनष्टि। जीवाः क्षेत्रज्ञाः सर्वोत्पत्ति निमित्तगुण क्षोभकश्च, कालः परिणाम हेतुः, स्वभावश्च जन्महेतुः, कर्म च आशयो वासना च तैः, लिङ्गानां शरीराणां भेदो यस्मिंस्तत्, सहात्मानम् आत्मना यशोदया कृष्णेन च सहितं व्रजञ्च सूनोः तनौ, तत्राऽपि विदारिते व्यात्ते आस्ये अवलोक्य शङ्कां संशय माप॥ ३९॥

शङ्कामेव दर्शयति - **किमिति।** एषः शिशोः अल्पवदने विश्वदर्शनरूपं किं स्वप्नः? जागरावस्थायां न हि स्वप्न स्सम्भवतीति विमृश्य वितर्कयति - उत देवमायेति। तथा चेत् घटपटादीनिव सर्वे किं न पश्यन्तीति विमृश्य शङ्कते किं वेति। बुद्धिमोहो बुद्धिविपर्यासः, भ्रम इति यावत् तथा चेत् पुनः पुनर्दर्शनेऽपि यथावत्कथं प्रतीतिः? अतो न बुद्धिमोह इति विमृश्याऽऽशङ्कते - अथो इति। अथो अथवा मदीयस्यामुष्यार्भकस्यापि, सतः यः कश्चन अचिन्त्य औत्पत्तिकः उत्पत्तिसिद्धः, स्वाभाविक इति यावत् आत्मयोगः आत्मनः परमात्मनः स्वस्य योगः कुक्षिस्थाखिल विश्वत्वादिकल्याण गुणयोगः तन्मूलक इति॥ ४०॥

चरमं पक्षमाश्रित्य अयमीश्वर इति निश्चित्य तं प्रणमति **अद** इति। चेतसा बुद्ध्या मनःकर्मणा मनोव्यापारेण वचोभिश्च अञ्जसा तत्त्वत आशु वा, यथावत् याथात्म्येन अदो विश्वं न वितर्क्यगोचरं नानाविधतर्कागोचरं यदाश्रयं यदाधेयं, यतः उत्पद्यत इति **शेषः** ये जीवति प्रमीयते यस्मिन् लीयते "यतो वा इमानि भूतानि" (तैत्ति. उ. 3-1) इति श्रुत्युर्थं प्रत्यभिज्ञान सामर्थ्यात्, यतो येन प्रमीयत इति पदापेक्षितानां जायते जीवति यस्मिन्निति पदाना मध्याहारः, तत्सुदुर्विभाव्यम् इदमित्थन्तया चेतो मनः कर्मवचोभि स्तर्कयितुं मशक्यं पदम्, पद्यते गम्यते प्राप्यत इति पदम्, मुमुक्षुप्राप्यं परमात्म स्वरूपं प्रणतास्मि नमस्कृतवत्यस्मि। न वितर्कगोचरमिति कार्यस्य जगत स्तर्कागोचरत्व मुक्तम्। तत्कुत इत्यपेक्षायां, कारणस्य तथा विधत्वात् इत्यभिप्रायेण सुदुर्विभाव्य मित्युक्तम्। प्रतीयत इति पाठे यतः प्रतीयते व्यज्यते उत्पद्यत इत्यर्थः॥ ४१॥

मम अहम्ममते यत्सङ्कल्पायत्ते, स एव मम तन्निवृत्त्युपाय इति **अध्यवस्यति अहमिति।** ममाऽसौ नन्दः पीतः, एष मे सुतः सगोपास्सह गोधनाश्च गोप्यो मे मदीयाः, अहं सती व्रजेश्वरस्य नन्दस्याखिलवित्तपा समस्तद्रव्य गोप्त्री अस्मीति। कुमतिः अहम्ममताबुद्धिः यन्मायया यस्य सङ्कल्पेनाऽभूत् स एव भगवान् मम गति रहम्ममता निवृत्त्युपायः॥ ४२॥

1- -1. W omits 2. A,B भूर्लोकः 3- -3. A,B स्वः स्वर्लोकः 4. A,B add अस्य

**विज०** तत्र किं प्रमाणमिति तत्राऽऽह वदन्तीति॥ ३४॥

मिथ्यावादित्वं प्रत्यक्षतो दर्शयामीत्याशयेनाऽऽह यदीति॥ ३५॥

यद्यसत्यगिरो बालाः, यदि त्वया न मृद्भक्षिता तर्हि मुखं विदारयेत्याह - **यद्येव** मिति। व्यादत्त विदारितवान्। क्रीडार्थं मनुजबालकः प्रशस्तमानुषबालवपुः॥ ३६॥

जगज्जङ्गमं स्थावरम्। सामान्योक्तं विशिनष्टि खमित्यादिना। खं प्रदेशः भूगोलं भूमण्डलम्। वाय्वग्नी भूमौ॥ ३७॥

ज्योतिश्चक्रं अश्विन्यादि नक्षत्रमण्डलं जलतेजसी बाह्याभ्यन्तर गते नभः क्रतु विशेषः, अन्तरिक्षं वा, स्वः स्वर्गः परलोको वा, वियद्वाह्यं सर्वगतं वा। वैकारिकाणीन्द्रियाधिष्ठातृ दैवतानि ॥ ३८॥

स्वभावः सात्त्विकादिः, कर्म अदृष्टम्, आशयः संस्कारः, लिङ्गं लक्षणं, सूक्ष्मशरीरं वा बुद्ध्यादि समूहो वा। भेदः तत्तद्वस्तु व्यावर्तकधर्मः॥ ३५॥

शङ्कां प्रकटयति **किमिति**। औत्पत्तिकः स्वाभाविकः आत्मयोगः आत्मैश्वर्यातिशयः॥ ४०॥

"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तैत्ति.उ. 2-1) इत्युपनिषद्वेद्यं ब्रह्मैव मम पुत्रतां प्राप्तमिति यस्मात्तस्मात्ति मया बोद्धुमशक्यमिति न दूषणं, किन्तु ब्रह्मादिभिः सुष्ठु दुर्विभाव्य मित्याशयेनाऽऽह - **अद** इति। अदो वस्तु यथा यादृशं तत्तादृशमिति चेतो मनः कर्मवचोभिः - चेतो ब्रह्मा, मनो रुद्रः कर्म पुष्करनामा देवः इन्द्रो वा, वचो वह्नि बृहस्पति र्वा, उमा वा, अञ्जसा साक्षादेतैः कृतविविधतर्कगोचरं विरचितनानानुमान विषयं न भवति। विरुद्ध तर्क गोचरं न भवतीति किमिति योज्यम्। नन्विदं तर्हि शून्यप्राय मिति तत्राऽऽह - यदाश्रय मिति। यत्पदं आश्रयो यस्य तद्यदाश्रयं, जगदिति शेषः। प्रलये ब्रह्माश्रयत्वेन तिष्ठतीत्यनेन जगद्ब्रह्मणोः भेदः सिद्धः। स्थितिकाले च येन जीवनं सिध्यति सृष्टिकाले च यतः प्रतीयते अभिव्यज्यते उत्पद्यत इत्यर्थः। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयान्त्यभिसंविशन्ति" (तैत्ति. उ. 3-1) इति श्रुतिः। अनेन जन्मादिकारणत्वं स्वलक्षण मित्युक्तं भवति। ननु घटादिवत् किमिति न ज्ञायत इति तत्राऽऽह - सुदुर्विभाव्यमिति। सुखेन दुःखेन च विभाव्यं विशिष्टत्वेन विरुद्धत्वेन च ज्ञेयम्। "सुदुश्शोभन दुःखयोः" इति यादवः, "नैषा तर्केण मति रापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ"! (कठ. उ. 2-9) इति श्रुतेः। द्वैतवादिभिस्सम्यक्, अद्वैतवादिभिरसम्यक् ब्रह्म ज्ञेयम्। तत्र द्वैतवादिनः सम्यक् ज्ञानेन स्वयोग्या मुक्तिः अद्वैतवादिनः प्रमाणविरुद्धज्ञानेन तम इति विवेकः।

अन्य मीशस्य महिमान मिति वीतशोकः। "तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चाऽऽत्महनो जनाः" (बृह. उ. 4-4-11, ईश. उ. 3) इत्यादि श्रुतेः। त्वमुभयविधेषु का? इति तत्राऽऽह प्रणतेति। पद्यत इति पदं स्वरूपं नम्यनेतृभावस्य भेदनिष्ठत्वेन द्वैतनिष्ठैवाऽहमित्यर्थः॥ ४१॥

नित्यपरतन्त्रे आत्मनि स्वातन्त्र्यबुद्धि रभेद बुद्धिरित्याशयेनाऽऽह अह मिति। व्रजेश्वरस्य नन्दस्य अखिलवित्तानि पाति रक्षतीति अखिलवित्तपा, यस्य हेर्मायया इच्छया इत्थं कुमतिः आत्मनः स्वातन्त्र्य बुद्धि रह मभूवम्, अतः स हरि र्मे गतिः मत्स्वातन्त्र्य बद्धि मपनुद्य स्वस्वातन्त्र्य ज्ञापकत्वेन आश्रयोऽस्त्वित्यन्वयः ॥ ४२॥

इत्थं विदिततत्त्वायां[1] गोपिकायां[2] स ईश्वरः।
वैष्णवीं व्यतनोन्मायां प्रजास्नेहमयीं[3] विभुः॥ ४३॥

सद्योनष्टमतिर्गोपी[4] साऽऽरोप्यारोहमात्मजम्[5]।
प्रवृद्धस्नेह कलिल[6] हृदयाऽऽसीद्यथा[7] पुरा॥ ४४॥

त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः।
उपगीयमान माहात्म्यं हरि साऽमन्यताऽऽत्मजम्॥ ४५॥

राजो वाच

नन्दः किमकरो द्ब्रह्मन् श्रेय एवं[8] महोदयम्।
यशोदा[9] च महाभागा पपौ यस्याः स्तनं[10] हरिः॥ ४६॥

पितरौ नान्वविन्देतां कृष्णोदाराभिकिहितम्[11]।
गायन्त्यद्याऽपि कवयो यल्लोकशमलापहम्[12]॥ ४७॥

श्रीशुक उवाच

द्रोणो वसूनां प्रवरो धरया सह भार्यया।
करिष्यमाण आदेशं[13] ब्रह्मण स्त मुवाच ह॥ ४८॥

जातयो र्नौ महादेवे भुवि विश्वेश्वरे हरौ।
भक्तिः स्यात्परमा लोके ययाऽञ्जो[14] दुस्तरं[15] तरेत्॥ ४९॥

अस्त्वित्युक्तस्स ए[16-]वेह द्रोणस्स भगवान् व्रजे[-16]।
जज्ञे नन्द इति ख्यातो यशोदा सा धराऽभवत्॥५०॥

ततो भक्तिर्भगवति पु[17]त्रभूते जनार्दने।
दम्पत्योर्नितरा मासी द्रोपगोपीषु भारत॥५१॥

कृष्णो ब्रह्मण आदेशं सत्यं कर्तुं व्रजे वि[18]भुः।
सहरामो वसंश्चक्रे तेषां प्रीतिं स्वलीलया॥५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्री वैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे विश्वरूपप्रदर्शनिऽष्टमोध्यायः॥८॥

---

1. A °याः 2. A. °याः 3. B, G पुत्र 4. A,B,G,M स्मृति° 5. K,W आरो° 6. K.W °त 7. M °या सा य° 8. A एव 9. K.W वा 10. W स्तनौ 11. M कृष्णरामार्भ° 12. A कस्य म° 13. G.V °शान् 14. W ययांऽहो 15. A.G.V दुर्गितिं 16- -16. A,G,V एवेह व्रजे द्रोणो महायशाः; B. भगवान् व्रजे द्रोणो महायशाः; M एतन व्रजे द्रोणो महायशाः 17. A,B, G पुत्री 18. M भुवि

**श्रीध० इत्थमिति।** वैष्णवीं स्वीयाम् ॥४३॥

**सद्य** इति। प्रवृद्धेन स्नेहेन कलिलं व्याप्तं हृदयं यस्यास्सा, पुरेवाऽऽसीत्॥४४॥

मायाबलोद्रेकमाह - **त्रय्येति।** त्रय्या कर्म[1-]काण्डरूपया[-1] इन्द्रादिरूपेण उपनिषद्भिः ब्रह्मेति, सांख्यैः पुरुष इति, **योगैः** परमात्मेति, सात्त्वतैः भगवानिति उपगीयमानं माहात्म्यं यस्य तम्॥४५॥

अतिविस्मयेन पृच्छति - **नन्द** इति। महोदयं महानुदय उद्भवो य[2]स्य तत्॥४६॥

**पितराविति।** ययोः प्रसन्नोऽवतीर्णस्तौ पितरावपि यं नान्वविन्देतां न प्राप्नुताम्। कृष्णस्योदारं महदभ्रेकहितं बाललीलाम्। **यच्च** कवयो गायन्ति, त[3-]द्योऽविन्दत्[-3] स किं श्रेयोऽकरोदिति॥४७॥

**द्रोण** इति। ब्रह्मण आदेशान् गोपालनादिलक्षणान्॥४८, ४९॥

**अस्त्विति।** स एवेह द्रोणो जज्ञे। स च नन्द इति ख्यातः, सा च धरा यशोदाऽभवत्॥५०॥

**तत** इति। गोपगोपीनामपि वस्तुस्वभावादस्त्येव भक्तिः तयोः पुनः नितरामिति॥ ५१॥

**कृष्ण** इति। स्वलीलया पुत्रभावानुकारिण्या॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां अष्टमोऽध्ययायः॥ ८॥

---

1- -1. V omits 2. A यस्मात्, V. यस्मिन् 3- -3. तद्योगिनौ विन्दन्ति

**वीर०** इत्थं गोपिकायां यशोदायां विदितं तत्त्वं बालस्य याथात्म्यं यया तथाभूतायां सत्यामेव स कृष्णरूपः ईश्वरो विभुः विष्णोः स्वस्य सम्बन्धिनीं प्रजास्नेहमयीं पुत्रस्नेहप्राचुर्यावहां मायां व्यतनोत् विस्तारितवान्॥ ४३॥

सचस्तथैव नष्टा स्मृतिः पुत्रे परमात्मत्व स्मृतिः यस्या स्सा गोपी पुत्रमारोह मङ्कमारोप्य पूर्ववत्प्रवृद्धेन स्नेहेन कलितं व्याप्तं हृदयं यस्या स्तथाभूता बभूव॥ ४४॥

मायावैभवं प्रकटयितु माह - **त्रय्येति।** त्रय्या वेदपूर्व भागेन तद्बोधित तत्तत्कर्माराध्यत्वेन, उपनिषद्भिः वेदोत्तरभागैः सर्वकारणत्वोपास्यत्व प्राप्यत्वादिना, सांख्यै र्योगैश्च ज्ञानयोग कर्मयोगानुगृहीत भक्तियोगैक प्राप्यत्वेन, सात्त्वतैः पञ्चरात्र संहिताभिः परव्यूहविभवार्चारूपत्वेन उपगीयमानं माहात्म्यं यस्य तं हरिं सा विदित्वाऽपि तथैव केवल मात्मज ममन्यत॥४५॥

श्रुतैवंविध यशोदानन्द भाग्यातिशयस्तत्कारणं पृच्छति राजा **नन्द** इति द्वाभ्याम्। हे ब्रह्मन् ! एव मेवंविधं महानुदय उत्तरफलं यस्य तच्छ्रेयः यतः कारणादभवत्, तत्किमकरोन्नन्दो यशोदा चेति प्रश्नः। महाभाग्यमेव सूचयन् यशोदां विशिनष्टि, यस्याः स्तनं हरिः पपा वपिबत्॥ ४६॥

कुतश्च कारणात् पितरौ देवकी वसुदेवौ कृष्णस्योदारं विपुलमर्भकिहित मर्भकचेष्टितं नान्वविन्देतां न प्राप्नुतां न दृष्टवन्तौ इति प्रश्नान्तरम्। ईहितं विशिनष्टि, यत्कृष्णोदाराभकिहितं लोकस्य शृण्वतो वदतश्च जनस्य दुरितापहन्तृ कवयो नारदादयोऽद्यापि गायन्ति ईदृशेहितादर्शननिमित्तं किमिति प्रश्नार्थः॥ ४७॥

इत्थं मापृष्ट आह शुकः - **द्रोण** इति। वसूनां प्रवरः प्रकृष्टो द्रोणः धरया धराख्यया भार्यया सह ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्याऽऽदेशान् गोरक्षणादिरूपान् करिष्यमाणस्तं ब्रह्माणमुवाच भूभारावतरणाय भगवानवतरिष्यति पयःप्रदानेनापि

भगवन्त माराधयितुं गोरूपेण मुनयश्च स्वांशैः जनिष्यन्ते। त्वन्तु गोरक्षणार्थं भार्यया सह गोपेषु जनिष्यसे - इत्येवं ब्रह्मणोक्त स्तमाहेत्यर्थः॥ ४८॥

उक्तमेवाऽऽह - **जातयोरिति।** भुवि लोके जातयो र्नौ आवयोः भुव्यवतीर्णे विश्वेश्वरे महादेवे ब्रह्मादीनामपि देवे भगवति [6]हरौ आश्रितार्ति [6]हरे परमा भक्तिः स्यात्। यथा भक्तिः स्यात् तथाऽनुगृहाणेत्यर्थः। तत्प्रार्थनायां हेतुं वदन् तां विशिनष्टि। यया भक्त्या दुस्तरम् उपायान्तरेण तरितु मशक्यं संसृतिनिमित्तं पाप मञ्जः आशु तरेत्॥ ४९॥

**अस्त्विति।** तथैवास्त्विति ब्रह्मणोक्तः स एव भगवान् द्रोण एवेह लोके व्रजे नन्द इति ख्यातो जज्ञे [7]तथा सैव धरा यशोदा अभवत् यशोदारूपेण जज्ञे॥ ५०॥

हे भारत! गोपगोपीषु मध्ये दम्पत्योः यशोदानन्दयोः पुत्रभूते अपुत्रेऽपि पुत्रतां प्राप्ते जनार्दने भगवति ततो ब्रह्मवरात् भक्तिरासीत्॥ ५१॥

कुतस्तयोः पुत्रभूतः [8]हरिः तत्राऽऽह **कृष्ण** इति। ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्य आदेशं वरदानात्मकं सत्यं कर्तुं स्वस्य तयोः पुत्रभूतस्य लीलया बालचेष्टया तेषां नन्दादीनां प्रीतिश्च कर्तुं रामेण सहितो व्रजे वासं वसतिं चकार। चतुर्मुखादेश एव नन्दयशोदयोरुत्कृष्टश्रेयःप्राप्तौ देवकी वसुदेवयोः कृष्णोदाराभिकेहितालब्धौ च कारणमित्यर्थः॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्र चन्द्रिकायां
व्याख्यायां अष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

---

1. A,B, add पुत्र 2. A,B °तं 3. A,B add आश्रितार्तिहरं 4- -4. A,B ईदृशकृष्णोदाराभिकेहि° 5. A,B श्रेष्ठः 6- -6. W omits 7. W omits तथा 8. W omits हरिः

**विज०** प्रजास्नेहमयीं पुत्रस्नेहमयीं पुत्रस्नेहरूपाम्॥ ४३॥

प्रवृद्धस्नेहकलिलहृदया, अभूदिति शेषः॥ ४४॥

प्रजास्नेहमयीं मायां शृङ्गग्राहिकतयैव दर्शयति - **त्रय्येति**। त्रय्यां "अग्निमीळे" (ऋक्.सं. 1-1-1) इत्यादिकया। उपनिषद्भिः "एष पन्था" (बृह.उ. 4-4-9) इत्यादिकाभिः सत्त्ववान् हरिः, तद्विषयैस्सात्वतैः सांख्य योगैः पञ्चरात्रादिशास्त्रैः यद्वा सांख्य योगैः यदार्थज्ञान प्रतिपादकैः ब्रह्मतर्कादिभिः, सात्त्वतैः पञ्चरात्रादि वैष्णवतन्त्रैः॥ ४५॥

श्रेयः पुण्यं, पूर्वजन्मनीति शेषः। "स्याद्धर्म मस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः" (अम. को. 1-132) इत्यमरः। महानुदयः फलं यस्मात्तत्तथा। महान् भागो भाग्यं यस्या स्सा महाभागा। "भागाः भाग्यांश तुर्यांशाः" (वैज. को 6-1-41) इति यादवः॥ ४६॥

कृष्णरामनाम्नोः अर्भकयोः बालयोः ईहितं चेष्टितं विन्दति लभार्थोऽप्यत्र ज्ञानार्थः। चेष्टानुकूलज्ञानलाभं नाप्नुवन्तावितिं। "विद ज्ञाने तु वेत्तीति, विद्लृलाभेतु विन्दति" इति वचनात्। लोकशमलापहं जनपापहरम्॥४७॥

प्रत्यारभ्यते कथान्तरमिति शेषः। "प्रत्यारम्भे प्रसिद्धौ ह" (वैज. को. 8-7-8) इति यादवः॥ ४८॥

महादेव इत्यनेन शङ्करोऽत्रोच्यत इति शङ्काव्यावृत्त्यर्थं विश्वेति। लोके जनमध्ये॥ ४९, ५०॥

गोपगोपीषु मध्ये नितराम्॥ ५१, ५२॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां अष्टमोऽध्यायः॥ ८॥
(विजयध्वजरीत्या नवमोऽध्यायः)

# नवमोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या दशमोऽध्यायः)

श्री[1] शुक[-1] उवाच

एकदा गृहदासीषु यशोदा नन्दगेहिनी।
कर्मान्तरनियुक्तासु निर्ममन्थ स्वयं दधि॥१॥

यानि यानीह गीतानि तद्बालचरितानि च।
दधिनिर्मन्थने[2] काले स्मरन्ती तान्यगायत॥२॥

क्षौमं वासः पृथुकटितटे बिभ्रती सूत्रनद्धं पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं जातकम्पञ्च सुभ्रूः।
रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्कङ्कणौ कुण्डले च। स्विन्नं वक्त्रं कबरविगलन्मालती निर्ममन्थ॥३॥

तां स्तन्यकाम आसाद्य मथ्नतीं[3] जननीं हरिः।
गृहीत्वा दधिमन्थानं न्यषेधत्प्रीतिमावहन्॥४॥

तमङ्कमारूढपाययत्स्तनं स्नेहस्नुतं सस्मितमीक्षती मुखम्।
अतृप्तमुत्सृज्य जवेन सा यया बुत्सिच्यमाने पयसि त्वधिश्रिते॥५॥

स[4] जातकोपः स्फुरितारुणाधरं सन्दश्य दद्भिर्दधिमन्थभाजनम्[5]।
भित्वा मृषाश्रु र्दृषदश्मना रहो जघास[6] हैयङ्गव मन्तरं गतः॥६॥

उत्तार्य गोपी सुशृतं पयः पुनः प्रविश्य सन्दृश्य च दध्यमत्रकम्।
भग्नं विलोक्य स्वसुतस्य कर्म तत् जघास तत्रापि न तत्र पश्यति[7]॥७॥

---

1- -1. M.V बादरायणिः 2. M निर्मथने 3. A,B,G,V M मथ्नन्तीं 4. B.G.K.M. सञ्जात 5. A.M. मण्ड 6. V. जहार 7. A.B.G.M.V. ०ती

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

नवमे पय उत्सिक्ते गत्वा गोप्यथ तत्कृतम्।
विलोक्यभाण्डभङ्गादि कृष्णं दाम्ना बबन्ध तम्॥
तन्नूराश्रितं[1] विश्वं दृष्ट्वा विस्मित चेतसः (सा)।
बन्धन द्वचङ्गुलापूर्त्या पूर्णता मन्वदर्शयत्[2]॥

**एकदेति।** स्वयं दधि निर्ममन्थ॥ १॥

**यानीति।** तदा चाऽगायतेति चकारान्वयः ॥ २॥

**क्षौममिति।** सूत्रनद्धम् काञ्चीबद्धम्। रज्जोराकर्षेण श्रमो ययो स्तयोः **भुजयोः** चलन्तौ कङ्कणौ च। कबरा द्विगलन्त्यो मालत्यो यस्याः सा॥ ३, ४॥

**तमिति।** अधिश्रिते चुल्ली मारोपिते उत्सिच्यमाने अतितापेन ब[3]हिर्निर्गच्छति सतीत्यर्थः[3]॥ ५॥

**स** इति। **दृषदश्मना शिलापुत्त्रेण** पे[4]षण्यश्रमेणेत्यर्थः[4]। अन्तरं गृहमृध्यं गतः। रह एकान्ते हैयङ्गवं[5] नवनीत मभक्षयत्॥ ६॥

उत्तार्येति। सुशृतं सुतप्तम्। दधिमन्थन स्थानं प्रविश्य भिन्नं सन्दृश्य दृष्ट्वा॥ ७॥

---

1. V ०त्तू० 2. V. सोऽन्व 3- -3. A.B. उद्रिच्यमाने॥ ५॥ 4- -4. A.B. omit 5. A.B. omit हैयङ्गवं

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थं प्रदर्शित विश्वरूपस्य कृष्णस्य अथ अपरिमेयता रूपपूर्णता प्रदर्शनमाह नवमेन **एकदेति।** गृहदासीषु कर्मान्तरनियुक्तासु व्यापारान्तरे[1]षु आदिष्टासु[-1 2] सतीषु अत एव यशोदा स्वयमेव दधि निर्ममन्थ॥ १॥

तस्य श्रीकृष्णस्य बालचेष्टितानि गद्यपद्यादिरूपेण कविभिः निबद्धानि तानि सर्वाणि तदा दधिनिर्मथन काले अगायत च॥ २॥

कथम्भूता ममन्थेत्यत्राऽऽह - **क्षौममिति**। वासःप्रभृतीनां द्वितीयान्तानां बिभ्रतीत्यनेनाऽन्वयः। पृथुकटितटे सूत्रनद्धं काञ्चीबद्धं क्षौमं वासः[3] वस्त्रं जातः निर्मथनानुकूलव्यापारजः कम्पो यस्य तत् पुत्रस्नेहेन स्नुतयोः पयस्स्राविणोः कुचयोः युगं च रज्ज्वाकर्षणे श्रमो ययो स्तयोः भुजयोः चलन्तौ कङ्कणौ च कुण्डले च स्विन्नं प्रस्वेदभरितं वक्त्रञ्च बिभ्राणा कबरा द्विगलन्त्यो मालत्यो यस्याः शोभने भ्रुवौ यस्याः तथाभूता निर्ममन्थ, अगायत चेत्यर्थः॥ ३॥

तामेवं निर्मन्थतीं जननी मासाद्य समीपमेत्य स्तन्यं कामयमानो हरिः श्रीकृष्णः तस्याः प्रीति मावहन् दधिमन्थनदण्डं गृहीत्वा न्यषेधत् निवारयामास[4]॥ ४॥

तं निषेधन्तमङ्कमुत्सङ्ग मारूढं सुतं[5] स्नेहेन स्नुतं स्तनमपाययत्। कथम्भूता? स्मितेन सहितं सुतस्य मुखमीक्षती तदा अधिश्रिते चुल्ल्यारोपितेपयसि क्षीरे उत्सिच्यमाने गाढाग्निसम्पर्कात् पात्रात् बाहिर्निर्गच्छति सति[6] अतृप्तं स्तन्यपानादतृप्तं पुत्र मुत्सृज्य सा यशोदा जवेन ययौ जलप्रक्षेपादिना क्षीरतापं शमयितुं जगाम॥ ५॥

सः उत्सृष्टः कृष्णः सञ्जात कोपः दद्मिर्दन्तैः स्फुरितं चलन्त मरुण मधर मधरोष्ठं सन्दश्य मृषा अश्रूणि यस्य तथा भूतो दृषदश्मना पेषण्यश्मना दधिमन्थभाण्डं निर्भिद्यान्तरं गृहमध्यं गतः हैयङ्गवं नवनीतं जघास एकान्ते नवनीत मभक्षयदित्यर्थः॥ ६॥

तदा गोपी यशोदा सुशृतं सुपक्वं पय उत्तार्य चुल्ल्या अवरोप्य पुनस्तत्र प्रविश्य दध्यमत्रकं दधिमथनभाण्डं भग्नं विलोक्य च तत्सुतस्य कर्मप्रति जहास हसितवती, तं सुतं तत्र न पश्यति नाऽपश्यच्च॥ ७॥

---

1- -1. A.B. ०रे प्रविष्टासु दासीषु 2. A. omits सतीषु 3. A.B. omit वासः 4. W. omits नि 5. A.B. कृष्णं 6. A.B. omit सति

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अत्र अतीताध्याय सङ्गति रनुसन्धेया। नन्दस्य गेहिनी भार्या॥ १॥

दध्नो निर्मथनं यस्मिन् स तथा। तस्मिन् काले॥ २॥

क्षुमनाम कृमितन्तुना कृतं क्षौमं सूत्रेण काञ्च्या नद्धं बद्धं पुत्रस्नेहातिशयेन स्नुतयो क्षरितयोः कुचयो र्युगं, पुनः कीदृशम्? जातः आविर्भूतः कम्पश्चलनं यस्य त तथा तत्। शोभने भ्रुवौ यस्या स्सा सुभ्रूः बद्धया रज्ज्वा आकर्षः, तेनोत्पन्नः श्रमः आलस्यं तेनोपेतयोः भुजयोश्चलन्तौ कङ्कणौ खणखणायमानशब्दयुक्तत्वात् तथाविधौ, स्विन्नं स्वेद जलोपेतं कबरात्केशबन्धात् विगलती मालती मल्लिका यस्या स्सा कबरविगलन्मालती। अत्र द्वितीयान्तपदस्य बिभ्रतीत्यनेनान्वयः। पृथु विशालम्॥ ३॥

न्यषेधत् निवारितवान्॥ ४॥

अतृप्त मलम्बुद्धिमप्राप्तम्, अधिश्रिते चुल्ल्यां निहिते अधिकं पाकं प्राप्तेवा पयासि उत्सिच्यमाने उद्रिच्यमाने सति, पयः अवरोपयितुमिति शेषः॥ ५॥

दद्भिर्दन्तैः दधिमण्डभाजनं दधिमस्तु पूर्णपात्रं "दधिमण्डो भवेन्मस्तु" (हला को 2-166) इति हलायुधः। दृषदश्मना शिलापुत्रकेण मृषाश्रुः अविद्यमाननेत्रजलः दुःखोत्पन्नबाष्पो न भवतीत्यर्थः। हैयङ्गवं नवनीतम्। अन्तरं बहिर्भावं अन्तर्धानं वा गृहान्तरं वा। "अन्तरः परिधानीये बाह्ये स्वीयेऽन्तरात्मनि। क्रतुमध्येऽवकाशे च तादर्थ्येऽवसरेऽवधौ। विशेषविवरान्तार्धिष्ववसान विनार्थयोः" (वैज. को 7-5-1,2) इति यादवः ॥ ६॥

उत्तार्य चुल्ल्या अन्यत्र निधाय दध्यमत्रकं दधिभाण्डं भग्नं भिन्नम्। स्वसुतस्य तत्कर्म विलोक्याऽऽलोक्य॥७॥

—: यमलार्जुनभञ्जनकथारम्भ :—

उलूखलाङ्के रुपरि व्यवस्थितं मर्काय कामं ददतं शुचिस्मितम्[1-1] ।
हैयङ्गवं चौर्यविशङ्कितेक्षणं निरीक्ष्य पश्चात्सुतमागमच्छनैः॥ ८॥

ता मात्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्वर स्ततोऽवरुह्याप[2] ससार भीतवत्।
गोप्यन्वधावन्नय माप योगिनं क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मनः॥ ९॥

अन्वश्रमाना जननी बृहच्चलच्छ्रोणीभराक्रान्त गतिस्सुमध्यमा।
जवेन विस्रंसित[3] केशबन्धनच्युत प्रसूनानुगतिः परामृशत्॥ १०॥

कृतागसं तं प्ररुदन्त मक्षिणी कषन्त[4] मञ्जन्मषिणी स्वपाणिना।
उद्वीक्ष्यमाणं भयविह्वलेक्षणं हस्ते गृहीत्वा भिषयन्त्यवागुरत्॥ ११॥

---

1- -1. A.B.G. शिचि स्थितम्; M. यथेप्सितम् 2. M. °मि 3. M. भ्रंशित 4. V. ०र्ष०

**श्रीध०** उलूखलेति। उलूखलाङ्केः परिवर्तितस्योलूखलस्योपरि। स्थित्वा[1] शिचि[2] शिक्ये। चौर्येण विशङ्कितं चञ्चल मीक्षणं यस्य तं सुतम्[3]। मर्काय[4] मर्कटाय। मर्कशब्दोऽत्र मार्जारादीनामुपलक्षकः। यद्वा मर्कं नवनीतं तदर्थ मागताय सखिजनायेत्यर्थः॥८॥

**तामिति।** तपसा [1]ऐकाग्र्येण ईरितं तदाकारतां नीतं, अत एव [6]क्षमं योग्यं प्रवेष्टुं योगिनां मनोऽपि यं नाऽऽप, तम्, अथ वा अन्वधावत् केवलं, न त्वाऽऽप, यतो योगिनां मनोऽपि [-6]यं प्रवेष्टुं न क्षम मिति॥९॥

**अन्वश्चमानेति।** अन्वश्चमाना एवं कृष्ण मनुगच्छन्ती, बृहत्यो श्चलन्त्योः श्रेण्यो भरेणाऽऽक्रान्ता स्तब्धा गति र्यस्या स्सा, विस्रंसितात् [-7]शिथिलीकृतात् [-7]केशबन्धनाच्युतैः प्रसूनैरनुगति रनुगमनं यस्या स्सा। यद्वा जवेन कम्पितात् केशबन्धात्पु[8]रः पतितानि प्रसूनान्यनु पश्चात् गतिः यस्या स्सा। परामृश द्धृतवती॥१०॥

**कृतागसमिति।** अञ्जन्मषिणी अञ्जन्ती सर्वतः [9]प्रसरन्ती मषी क[10]ज्जलं ययो स्ते [11]अक्षिणी स्वपाणिना कर्षन्तं सम्मर्दयन्तम्। भिषयन्ती। ह्रस्व श्छान्दसः भीषयन्ती भयमुत्पादयन्ती। अवागुरदभर्त्सयत्। [12]अ पागुरादिति पाठान्तरे अपगुरणं मनसा द्रोहचिन्तन मकरोदित्यर्थः॥११॥

---

1. A.B. omit स्थित्वा 2. V. omits शिचि 3. V. omits सुतं 4- -4. A.B. omit 5. V. एकाग्रेण 6- -6. V. omits 7- -7. A.B. omit 8. V. पुनः पुनः 9. V. ०त्र 10. A.B. omit कज्जलं 11. V. adds अन्तर्मर्षिणीत्यपि पाठान्तरम्। 12- -12. A.B. Omit.

**वीर०** उलूखलाङ्क रुपरि अधोमुखविन्यस्तोलूखलस्योपरि व्यवस्थितं मर्काय मर्कटाय, मार्जारायेति केचित्, नवनीतार्थमागताय सखीजनाय वा हैयङ्गवं नवनीतं कामभिष्टं यथा तथा ददतं प्रयच्छन्तं चौर्येण विशङ्किते चञ्चले ईक्षणे यस्य तम्। निरीक्ष्य पश्चात्पृष्ठतः शनै राजगाम॥८॥

ता मागताम्, आत्ता उद्धृता यष्टिः यया ताम् प्रसमीक्ष्य त्वरया सहितः ततः उलूखलाङ्केः अवरुह्य भीतवदपससार पलायितवान्। तदा सा तमपसरन्तं सुत मन्वधावत्। "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तैत्ति. उ. 2-4) इत्युक्तरीत्या वाङ्मननसा परिच्छेद्य वैभवं पद्भ्या मन्वधावत् इत्येतदहो विचित्रमित्यभि प्रायेण विशिनष्टि। यं कृष्णं योगिनां मनोऽपि प्रवेष्टुं न क्षम मसमर्थमास तमन्वधावत्। कथम्भूतं मनः तपसा ईरितं प्रवणीकृतम्॥९॥

अन्वश्चमाना अनुधावन्ती बृहत्योः श्रोण्योः भरेणाऽऽक्रान्ता स्तब्धा गति र्यस्याः, शोभनो मध्यमः मध्यप्रदेशो यस्याः, जवेन हेतुना विस्रंसितात् केशबन्धनात् च्युतैः प्रसूनैः अनुगति रनुगमनं यस्या स्सा जननी परामृशत् पस्पर्श, जग्राहेत्यर्थः॥१०॥

तं हस्ते गृहीत्वा भिषयन्ती भयं प्रापयन्ती अवागुरत् ताडयितु मुद्यतहस्ताऽभूत्। कथम्भूतम्? कृतमागोऽपराधो येन तम्। अञ्जन्ती सर्वतः प्रसरन्ती मषिः कज्जलं ययो स्ते अक्षिणी स्वपाणिना कषन्तं मर्दयन्तं, भयेन विह्वले चकिते ईक्षणे यस्य॥ ११॥

**विज०** उलूखलाङ्केः उलूखलबुध्नस्य। चौर्येण विशङ्किते किञ्चिदुन्मीलन मीलने कुर्वाणे ईक्षणे यस्य स तथा तम्। पश्चात् पृष्ठतः॥ ८॥

अभिससार गमनं प्रारब्धवानित्यर्थः। गोप्या कृष्णानुधावनं न तच्चबुद्ध्या कृतम्, किन्तु भ्रान्ति बुद्ध्येत्याशयेनाऽऽह न य मिति। तपसा ईरितं प्रेरितम्, क्षमं समर्थम्॥ ९॥

अन्वञ्चमाना जवं विहाय शनैः अनुगच्छती (न्ती) अञ्चुगतिपूजनयो रिति धातुः। हंसीव गमनवतीत्यर्थः। शनै र्गमने निमित्तमाह बृहदिति। बृहत्योः स्थूलयोः चलत्योः श्रोण्यो भरिणाऽऽक्रान्ता स्तब्धगति र्यस्यास्सा तथा। विभ्रंशितात् विस्रस्तात् केशबन्धात् च्युतानां प्रसूनानां अनुगति र्यस्या स्सा तथा परामृशत् पस्पर्श, जग्राह वा॥ १०॥

अञ्जन्मषिणी, अञ्जिता मषिः अञ्जनं ययो स्ते अञ्जन्मषिणी अक्षिणी नेत्रे कषन्तं निष्पीड्य कलुषयन्तं भीषयन्ती अवागुरत् ताडनार्थं हस्त मुद्धृतवती॥ ११॥

**त्यक्त्वा यष्टिं सुतं भीतं विज्ञायार्भक वत्सला।**
**इयेष किल तं बद्धुं दाम्नाऽतद्वीर्यकोविदा॥ १२॥**

**न चान्त र्न बहिर्यस्य न पूर्वं नाऽपि चापरम्।**
**पूर्वापरं बहिश्चान्त र्जगतो यो जगच्चयः[1]॥ १३॥**

**तं मत्वा[2]ऽऽत्मज मव्यक्तं मर्त्यलिङ्ग मधोक्षजम्।**
**गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा॥ १४॥**

**तद्दाम बध्यमानस्य स्वार्भकस्य कृतागसः।**
**द्व्यङ्गुलोन मभूत्तेन सन्दधेऽन्यच्च गोपिका॥ १५॥**

**यदाऽऽसी त्तदपि न्यूनं तेनाऽन्यदपि सन्दधे।**
**तदपि द्व्यङ्गुलं नूनं यद्यदादत्त बन्धनम्॥ १६॥**

**एवं स्वगेहदामानि यशोदा सन्दधत्यपि।**
**गोपीनां विस्मयन्तीनां स्मयन्ती विस्मिताऽभवत्॥ १७॥**
**स मातुः स्विन्न गात्राया विस्रस्तकबर स्रजः।**
**दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयाऽऽसीत्स्वबन्धने॥ १८॥**

---

1. M. ०न्मय: 2. M. ०ऽर्भक० 3. A.B.G.M. सु 4. A.B.G.M. स्व

**श्रीध० त्यक्त्वेति।** इयेष ऐच्छत्। अतद्वीर्यकोविदा तत्प्रभावनभिज्ञा॥ १२॥

अकोविदत्वमाह - **न चान्तरिति** पञ्चभिः श्लोकैः। बन्धनं हि बहिः परिवृतेन दाम्ना अन्तरावृतस्य भवति। तथा पूर्वापर विभागवतो वस्तुनः पूर्वं दामतो धृत्वा परितः परिवेष्टनेन भवति, नत्वेतदस्तीत्याह — न चान्तरिति। किञ्च व्यापकेन व्याप्यस्य बन्धो भवति। तच्च विपरीतमित्याह - पूर्वापरमिति। किञ्च तद्व्यतिरिक्तस्य चाऽभावान्न बन्ध इत्याह जगच्च य इति॥ १३॥

**तमिति।** तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षज मात्मजं मत्वा बबन्धेति॥ १४॥

**तदिति।** द्व्यङ्गुलोनं द्वाभ्यां अङ्गुलीभ्यामून मपूर्णम्॥ १५, १६॥

**एवमिति।** स्मितं कुर्वन्तीनां मध्ये स्वयमपि हसन्ती विस्मय माप॥ १७, १८॥

---

1. V ०मेवाह 2. A.B. omit श्लोकैः 3. A.B. ०ला०

**वीर०** तं तदा अपगुरन्त्यपि सा सुतं भीतं विज्ञाय अर्भकवत्सला अतएव यष्टिं त्यक्त्वा। तत्प्रभावानभिज्ञा दाम्ना रज्ज्वा बद्धुमियेष एच्छत्खलु॥ १२॥

ननु किं तद्वीर्यम्, यदनभिज्ञानात् बन्धुमियेषेत्यतः तद्दर्शयन् तदनभिज्ञा प्राकृत मिव बबन्धेत्याह - **नेति** द्वाभ्याम्। बन्धो हि बहिरेव संवीतेन दाम्ना अन्तरा गृहीतस्य भवति। तथा पूर्वापर विभागवतो वस्तुनः पूर्वं दामतो धृत्वा परितः परिवेष्टनेन। न त्वेतदस्तीत्याह - **न चान्तरिति।** किञ्च व्यापकेन व्याप्यस्य बन्धो भवति। तच्च विपरीतमित्याह पूर्वापरमिति। **यो जगतः** कृत्स्नस्य पूर्वं पूर्वावधिः अपरमुत्तरावधिश्च बहिश्चान्तश्च व्याप्य वर्तते तस्य जगदन्तर्भूतेन व्याप्येन दाम्ना कथं बन्धनं भवेदित्यभिप्रायः। किञ्च सर्वस्य तत्कारणतया तदन्तरात्मकत्वेन तच्छरीरतया च तत्पृथक्सिद्धवस्त्वन्तराभावात् स्वनिष्ठवस्तुसाधनकं बन्धनं न सम्भवतीत्यभिप्रायेणाऽऽह जगच्च य इति। कार्यकारणशरीरात्मभावनिबन्धन मिदं सामानाधिकरण्यम्॥ १३॥

मर्त्यस्येव लिङ्गं शरीरं यस्य तमुक्तविध मधोक्षजं मत्वा केवलमात्मजं मत्वा[2-2] गोपी दाम्ना साधनेनोलूखले बबन्ध बन्धनोद्यमं चकार यथा प्राकृतं केवलमर्त्यम् तद्वत्॥ १४॥

कृताऽऽबासोऽतएव बध्यमानस्य सतः तद्बन्धनार्थं उपात्तं दाम द्व्यङ्गुलोनं[3] द्वाभ्याम् अङ्गुलिभ्या मपूर्णम् अभूत्[4]। तेन द्व्यङ्गुलोनेन दाम्ना सहाऽन्यत् दामान्तरं सन्दधे॥ १५॥

यत्सहितं दाम तदपि न्यूनमभवदित्येवं यद्यदादत्त सन्धातुं जग्राह तत्सर्वं न्यून मेवाऽभूत्॥ १६॥

एवं स्वगृहस्थानि सर्वाणि दामानि सन्दधत्यपि सन्दधत्येव नतु तथाऽपि निवृत्तेत्यर्थः। तद्वीक्ष्य विस्मयन्तीनां गोपीनां मध्ये स्वयं विस्मिता बभूव॥ १७॥

तदा स्विन्नं प्रस्वेदभरितं गात्रं यस्याः विस्रस्तं कबरं स्रजश्च यस्यास्तस्याः स्वमातुः परिश्रमं दृष्ट्वा तस्यां कृपया स्वबन्धने अनुगुण आसीत्॥ १८॥

---

1. W. omits ननु 2- -2. W. omits 3. A.B. add अभूत् 4. A.B. अभवत्

**विज०** दाम्ना वत्सपाशेन अतद्वीर्यकोबिदा कृष्ण माहात्म्य मजानती॥ १२॥

यशोदाया अज्ञानं प्रकटयितुं तत्स्वरूपं निरूपयति - **न चेति**। यस्यान्तः स्वतन्त्रं वस्तु नैवास्ति। यस्य बहिश्च वस्तु नास्ति। सर्वत्र सत्त्वेन अन्तर्बाह्य विशेषाभावात्, यस्मात् पूर्वमपरं नास्त्येव अविनाशित्वेन सिद्धत्वात् यः कृष्णः जगतः पूर्वमपरं बहिरन्तश्च वर्तत इति शेषः। जगतो विनाशित्वात् परिच्छिन्नत्वाच्च यश्च जगन्मयः। तत्सत्ताया अपि तदधीनत्वेन तत्त्वव्यपदेशः॥ १३॥

तदव्यक्तं ब्रह्मसंज्ञं कृष्णमर्भक मणुतरबालं मत्वा "तदव्यक्तमाह हि" (ब्र.सू. 3-2-22) इति सूत्रम्। मर्त्यलिङ्गं मनुष्य लक्षण शरीरम्। अक्षजमिन्द्रियं ज्ञानं तदधः कृतं यस्मात्स तथा, इन्द्रियागोचर मित्यर्थः अनेनाव्यक्तपदं विवृतमिति ज्ञात०यम्॥ १४॥

अनेनापि कृष्णस्य ब्रह्मत्वं निश्चयितुं शक्यमित्याशयेनाह — **दद्दामेति**। येन बबन्ध तद्दाम द्व्यङ्गुलोनमभूदित्यन्वयः। गोपिका यदा तेन द्व्यङ्गुलोनेनान्यद्दाम सन्दधे तदपि न्यूनमासीदिति॥ १५, १६॥

एवं स्वगेहसमस्तदामसञ्चयसमाप्तौ सुतमाहात्म्यं दृष्ट्वा स्मयन्ती मन्दं हसन्ती विस्मिताऽभवदित्यन्वयः॥१७॥

"अणिमालघिमा योगशक्तिः स्वाभाविकी हरेः" इत्यभिप्रेत्याह स्वमातुरिति। मातृविषयकृपया स्वबन्धने आसीत् स्वयमेव बद्धोऽभूदित्यन्वयः॥ १८॥

**एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भक्तवश्यता।**
**स्वबशेनाऽपि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे॥ १९॥**

नेमं विरिञ्चो[2] न भवो न श्रीरप्यङ्ग संश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी[3] यं[4] तं प्राप विमुक्तिदात्॥ २०॥

नाऽयं सुबोधो[5] भगवान्देहिनां गोपिकासुतः।
ज्ञानिनाञ्चात्मपोतानां[6] यथाभक्तिमता मिहा॥ २१॥

कृष्णस्तु गृहकृत्येषु व्यग्रायां मातरि प्रभुः।
अद्राक्षीद्दर्जुनौ पूर्वं गुह्यकौ धनदात्मजौ॥ २२॥

पुरा नारदशापेन[7] वृक्षतां प्रापितौ मदात्।
नलकूबरमणिग्रीवा वित्याख्यातौ[8] श्रियान्वितौ॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
गोपी प्रसादो नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

---

1. B,G भृत्य 2. A विरञ्चो न ; M विरञ्चिर्न 3. M. गोप्यो 4. A,B,G,M यत्तत् 5. A,B,G,K. सुखापो; M. सुखाप्यो 6. B,G, भू° 7. M शापात्तौ 8. A,B,G,M °ति

**श्रीध०** न चैवं स्वातन्त्र्यभङ्ग इत्याह - **एवमिति।** सेश्वरं [1]ब्रह्मेन्द्रादीश्वरसहितम्[-1] इदं विश्वं यस्य वशे यदधीन मित्यर्थः॥ १९॥

भगवत्प्रसादमन्येपि भक्ता लभन्ते, इदन्त्वतिचित्रमिति सरोमाञ्चित माह - **नेति।** विरिञ्चः पुत्रोऽपि, भवः स्वात्माऽपि, श्री र्जायाऽपि॥ २०॥

फलितमाह - **नाऽयमिति।** देहिनां देहाभिमानिनां तापसादीनां ज्ञानिनां निवृत्ताभिमानिनामपि॥ २१॥

भक्तै र्बद्धस्यापि अन्यमोचकत्वं[3-] वक्तुमाह[-3] कृष्णस्त्विति॥ २२, २३॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां नवमोऽध्यायः॥ ९॥

---

1- -1. A,B omit 2. A,B °ना° 3- -3. A,B °त्वमाह

**वीर०** नचैतावता स्वातन्त्र्यभङ्ग इत्याह **एवमिति**। स्ववशेन स्वतन्त्रेणापि। स्ववशत्वमेवाऽह यस्य वशे अधीनतायां ब्रह्मादीश्वरसहितमिदं जगद्वर्तते तेन कृष्णेन हरिणैव मित्थम् अङ्ग। हे राजन् भक्तवश्यता सन्दर्शिता। सर्वत्र स्वतन्त्रोप्यहं भक्तेषु परतन्त्र इति दर्शयितुमबध्यतेत्यर्थः। तथाचाऽहुः श्रीवत्साङ्कमिश्राः "अनन्याधीनत्वं तव किल जगुर्वैदिकगिरः पराधीनं त्वान्तु प्रणतपरतन्त्रं मनुनहे (वरद. स्तवः 20 ) इति। तथा चोक्तं[1] भगवताऽप्यष्टमे[1] (नबमे) "अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज !" (भाग. 9-4-63) इति॥ १९॥

ननु सत्यं भक्तपरतन्त्र इति गोपी तु न भक्ता इति कथं तत्पारतन्त्र्यमीश्वरस्य इत्यत्राऽऽह **नेममिति** । भक्ति प्रयोजनं हि भगवत्प्रसादः तंच यादृशं निग्रहानुग्रहादि पर्यन्तविधेयत्वरूपं विमुक्तिदाद्भगवतो गोपी लेभे न तादृशं ब्रह्मरुद्रौ[2] साक्षाद्वक्षःस्थलाश्रया लक्ष्मीरपि लेभिरे । प्रेमपूर्वकानुध्यानात्मिका हि भक्तिः सा गोप्यामप्यविशिष्टेति भावः॥ २०॥

तथा च भक्तानामेवाऽयं सुलभो नाऽन्येषामित्याह - **नाऽयमिति**। अयं भगवान् गोपीसुतो[3] यथेह भक्तिमता मात्मा स्वयमेव पोतः भवार्णवतरणे प्लवस्थानीयो येषां तेषां ज्ञानिनां यथा सुखापः सुखप्राप्यः न तथेतरेषां देहिनामित्यर्थः[4]। सुबोध इति पाठे सुखेन बोद्धुं शक्य इत्यर्थः॥ २१॥

अहो अत्याश्चर्य मेतत्, यत्संसृतिबन्धब्रह्मशापादिमोचनोऽपि भगवान् लौकिकेन दाम्ना बद्ध इत्यभिप्रायेण यमालर्जुन मुक्तिप्रदत्वरूपं चरित्रान्तरं प्रस्तोतु माह - **कृष्णस्त्विति**। मातरि उलूखले बद्धवत्यां यशोदायां गृहकृत्येषु व्यग्रायां प्रवण चित्तायां सत्यां बद्धः कृष्णः प्रभुः विप्रशापादिमोचनसमर्थः पूर्वं धनदस्य कुबेरस्य आत्मजौ गुह्यकौ यक्षौ नलकूबरमणिग्रीवाख्यौ श्रिया युक्तौ सन्तौ पुरा मदाच्छ्रीमदात् निमित्ता। नारदस्य कुपितस्य शापेन वृक्षतां तरुजन्म प्रापितौ अर्जुनौ अर्जुनाख्यौ वृक्षौ ददर्श॥ २२, २३॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवत चन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां नवमोऽध्यायः॥ ९॥

---

1- -1. A,B भवताऽपि अष्टमे स्कन्धे उक्तम् 2- -2. A,B ब्रह्मा रुद्रः 3. A, B °पिकासुतो 4- -4. A,B omit

**विज०** यत् तत् यं तम्॥ १९, २०॥

निरन्तरनिरतिशयभक्तिप्रमदैव भगवत्कर्षण निपुणेत्याशयेनाह **-नाऽयमिति**। आत्मैव परमात्मैव पोतो नौ येषां ते तथा तेषाम्॥ २१॥

पूर्वजन्मनि गुह्यकौ अधुना अर्जुन नाम्ना ककुभवृक्षौ॥ २२॥

शापनिमित्तमाह - मदादिति। किं नामाना विति तत्राऽऽह - नलेति। मदकारणमाह श्रियेति॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीविजयध्वज तीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां नवमोऽध्यायः॥ ९॥
(विजयध्वजरीत्या दशमोऽध्यायः)

# दशमोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या एकादशोऽध्यायः)

राजोवाच

कथ्यतां भगवन्नेत त्तयोश्शापस्य कारणम् ।
यत्तद्विगर्हितं कर्म [1]येन देव ऋषेस्तमः[1] ॥ १ ॥

[2]श्रीशुक उवाच

रुद्रस्यानुचरौ भूत्वा सुहृदौ धनदात्मजौ ।
कैलासोपवने रम्ये मन्दाकिन्यां मदोत्कटौ ॥ २ ॥

वारुणीं मदिरां पीत्वा मदाघूर्णितलोचनौ ।
स्त्रीजनैरनुगायद्भिश्चेरतुः पुष्पिते वने ॥ ३ ॥

अन्तःप्रविश्य गङ्गायामम्भोजवनराजिनि ।
चिक्रीडतुर्युवतिभिर्गजाविव करेणुभिः ॥ ४ ॥

यदृच्छया च [3]देवर्षि[4]र्गतवांस्तत्र कौरवः
अपश्य न्नारदो देवौ [5]क्षीबाणौ समबुध्यत ॥ ५ ॥

---

1- -1. A,B,G येन वा देवर्षेस्तमः, V. देवर्षेर्येन वा तम; K.W. येन वा देवर्षिः कुपितः 2. K,W श्रीबादरायणिः 3. A,B,G °भंग° 4. V. नारदः 5- -5. V °द्रुह्यकौ दृष्ट्वा

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

दशमेऽपातयद्राजन्नन्तरा यमला र्जुनौ ।
तत्र [2]ताभ्यां च देवाभ्यां कृष्णः स्तुत इतीर्यते ॥

**कथ्यतामिति ।** यद्विगर्हितं कर्म । येन वा देवर्षेर्भगवतोत्तमस्यापि तमः क्रोधः तदेतत्कथ्यतामिति ॥ १-३ ॥

**अन्तरिति ।** गङ्गायां अन्तः मध्ये कथम्भूते अम्भोजानां वनानि । तेषां राजयः ताः विद्यन्ते यस्मिन् तस्मिन् ॥ ४ ॥

**यदृच्छयेति ।** (तत्र) [3]तस्मिन् अपश्यत् दृष्ट्वा च क्षीबाणौ मत्तौ समबुध्यत ॥ ५ ॥

1. A,B °द्रिङ्क्ष° 2. A,B °त्या° 3. A,B omit तस्मिन्

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एव मुक्ते लब्धप्रश्नावसरः पृच्छति राजा **कथ्यतामिति।** यद्विगर्हितं कर्म येन वा देवर्षि भगवतश्रेष्ठः कुपितः तदेतत्कर्म तयोः शापस्य कारणम् हे भगवन्! कथ्यताम् देवर्षेः येन वा तम इति पाठे देवर्षेः भागवतोत्तमस्यापि तमः क्रोध इत्यन्वयः॥ १॥

तस्य उत्तरमाह मुनिः रुद्रस्येत्यादि श्लोकद्वयं, स्पष्टार्थम्॥ २, ३॥

गङ्गायामन्तर्मध्ये, कथम्भूते? अम्बुजानां वनानि तेषां राजयो यस्मिन् तस्मिन्, व्रीह्यादित्वादिनिः। करेणुभिरिभीभिः गजा विव युवतिभिः सह चिक्रीडतुः क्रीडां गतवन्तौ॥ ४॥

हे कौरव! भगवान् देवर्षिः यदृच्छया तत्राऽऽगतौ देवौ तौ ददर्श क्षीबाणौ मदान्धौ समबुध्यत ज्ञातवांश्च॥ ५॥

1- -1. W omits 2- -2. W omits 3- -3. W omits 4 W omits ज्ञातवान्

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हरेरेव संसारान्मोक्ष इति दर्शयितुं नलकूबरमणिग्रीवयोः शापमोक्षप्रकारं निरूपयत्यस्मिन्नध्याये। तत्र राजा शुकं पृच्छति राजेति। यद्विगर्हितं निन्दितं कर्म तत् कथ्यतां येन कर्मणा देवर्षेः तमोगुणकार्य क्रोधोऽभूत्॥ १,२॥

वारुणीं वरुणाज्जाताम्॥ ३॥

अम्भोजवनराजिनि, जल इति शेषः॥ ४॥

क्षीबाणौ मत्तौ अश्लील वचनौ वा॥ ५॥

1. B,M वा°

**तं दृष्ट्वा व्रीडिता देव्यो विवस्त्राश्शापशङ्किताः।**
**वासांसि पर्यधुश्शीघ्रं विवस्त्रौ नैव गुह्यकौ॥ ६॥**

**तौ दृष्ट्वा मदिरा मत्तौ श्रीमदान्धौ सुरात्मजौ।**
**तयो रनुग्रहार्थाय शापं दास्यन्निदं जगौ॥ ७॥**

नारद उवाच

नह्यन्यो जुषतो जोषान् बुद्धिभ्रंशो रजोगुणः।
श्रीमदाद्याभिजात्यादिः यत्र स्त्रीद्यूतमासवम्॥८॥

हन्यन्ते पशवो यत्र निर्दयै रजितात्मभिः।
मन्यमानैरिमं देहमजरामृत्यु नश्वरम्॥९॥

देवसंज्ञितमप्यन्ते क्रिमिविड्भस्म संज्ञितम्।
भूतध्रुक्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः॥१०॥

---

1- -1. K,M,V,W omit 2. V °दान्धाभि 3. M °देः 4. A,B,G,V °वः 5. A,V °दं 6. A,B,G,M वृ° 7. M. कुरुते

**श्रीध०** कुत इत्यत आह - **तमिति**॥६॥

**ताविति**। अनुग्रहार्थाय अनुग्रहश्च मदनाशः अर्थश्च श्रीकृष्णदर्शनं तदर्थमिदं वक्ष्यमाणम्॥७॥

**नहीति**। जोष्यान् प्रियान् विषयान्। जुषतस्सेवमानस्य पुंसः श्रीमदादन्यः आभिजात्यादिः सत्कुलविद्यादि जनितो मदः। अन्यो वा रजोगुणः रजःकार्यं हास्यहर्षादिरूपः नहि तथा बुद्धिभ्रंशः बुद्धिं भ्रंशयतीति तथा॥८॥

किन्तु श्रीमद एवेति, तदेवाह **हन्यन्त** इति। यत्र श्रीमदे इमं नश्वरं देहं अजरामृत्यु। अजरं अमृत्यु च यथा तथा मन्यमानैः॥९॥

**देवेति**। नरदेव भूदेवसंज्ञितमपि श्वादिभि र्भक्षितं विट्सञ्ज्ञितं दग्धं भस्म संज्ञितं अन्यथा क्रिमिसंज्ञितम्। तत्कृते तदर्थं यो भूत ध्रुक् भूत द्रोही[1] यथा भूतद्रोहान्निरयो भवति स किं स्वार्थं वेद नैव वेदेत्यर्थः॥१०॥

---

1. A,B द्रोग्धा

**वीर०** कुत इत्यत्राह - **तं दृष्ट्वेति**। देव्यो[1-] विवस्त्राः अत एव तं दृष्ट्वा व्रीडिताः शापात् शङ्किताः वासांसि[-1] पर्यधुः[2-] परिहितवत्यः[-2]। गुह्यकौ तु नैव पर्यधातां किन्तु विवस्त्रौ नग्नावेव आसाताम्॥६॥

सुरस्य कुबेरस्य आत्मजौ दृष्ट्वा मदनाश रूपानुग्रहार्थं शापं दास्यन् तावत् इदं वक्ष्यमाणं जगाद[3] अनुग्रहार्थाय भविष्यद्भगवद्दर्शनरूपप्रयोजनाय चेति केचिद्व्याचक्षते॥७॥

तदेवाऽह[4-] **नेति**[4]। जोष्यान् प्रियान् जुषतः सेवमानस्य पुंसः श्रीमदात् संपत्प्रयुक्तमदात् अन्य आभिजात्यादिः आदिशब्देन विद्यादि सङ्ग्रहः। आभिजात्यादि जनितो मदश्श्रीमदवत् बुद्धि भ्रंशकरः रजोगुणकार्यकामक्रोधादिवर्धको नहि, किन्तु श्रीमद एव नितरां बुद्धि भ्रंशकरो रजोगुणश्चेत्यर्थः। तदाह यत्रेत्यादिना। यत्र यस्मिन् श्रीमदे सति स्त्रीसङ्गद्यूत मधुपानादि रूप दुर्व्यसनानि सम्भवन्ति॥८॥

किञ्च यत्र श्रीमदे सति इमं देहं जरादि रहितं मन्यमानैः अत एव अजितेन्द्रियैः अत एव निर्दः पशवो हन्यन्ते ॥ ९॥

इममित्यनेन अभिप्रेतं विशदयति **देवेति।** देवसंज्ञितमपि नरदेव भूदेवस्वर्देवादि संज्ञितमपि शरीरमन्ते तदारम्भक प्रारब्धावसाने क्रिम्यादि संज्ञितमेव। दग्धं चेत् भस्मसंज्ञितं, श्वभिर्भक्षितं चेत् विट्संज्ञिकं अन्यथा क्रिमिसंज्ञितमित्यर्थः। तत्कृते एवंविधशरीरसुखार्थं यो भूतानि द्रुह्यतीति तथा। यतो भूतद्रोहान्निरयो नरकः स पुमान् किं वेद न किमपि; हितं अहितं च न जानातीत्यर्थः॥ १०॥

---

1- -1. K,T,W omits 2- -2. A,B आदधुः। 3. A,B आह 4- -4. W omits 5. A,B श्वादि°

**विज०** पर्यधुः संवेष्टितवत्यः॥ ६, ७॥

किं तद्गीतमिति तत्राह - **न हीति।** विषयान् जुषतः सेवमानस्य पुंसः जोष्यात् सेव्यात् विषयात् श्रीमदात् श्रिया धनसम्पदोत्पन्नमदादाभिजात्यादेः अभिजननिमित्तमदात् विद्यानिमित्तमदाच्च अन्यः बुद्धिभ्रंशः ज्ञाननाशकरो रजोगुणः रजो विकारो नास्ति, विषयादिरेव ज्ञाननाशकर इत्यर्थः। तत्कथमत्राह यत्रेति। यत्र विषयाभिजात्य धनमदेषु स्त्रियो द्यूतमासवं असुतर्पणं मद्यपानं भवति। हिशब्दोऽवधारणे "हि हेतावववधारणे" (वैज.को. 8-7-9) इति यादवः। अन्यो नास्त्येव, मद्यपानादयो भवन्त्येवेत्यर्थः। आसव इति पाठे मद्यमित्यर्थः॥ ८॥

सन्तु स्त्र्यादयः, ततः किमत्राह **हन्यन्त** इति। यत्र स्त्र्यादिषु सत्सु इमं नश्वरं देह मजरामृत्युनश्वरं जरामृत्युरहितं मन्यमानैः पशवो भूतादि हननमत्र बहुविधं - देहवियोग कारणं, धनापहरणं, देशोच्चाटनं, अभिमान भङ्गकरण मित्यादि॥ ९॥

यज्ञे पश्वालम्भन वत् परलोक विषयत्वेन पुण्यसाधनायेदं हिंसनं किं, न स्या दित्यत्राह - भूतध्रुगिति। नायं स्वार्थः किन्तु पारलोक्य प्राप्तानन्द इत्यत्राह किमिति। किंशब्दः आक्षेपार्थः। "प्रश्ने क्षेपे विकल्पे किम्" (वैज को 8-7-3) इति यादवः। दैनन्दिन जीवन मन्तरेण किमपि न जानातीत्यन्वयः। किमिति न वेदेति तत्राह निरय इति। यतो निर्गमनरहितं तमो भवतीत्यर्थः। 'अयगताविति' धातुः। हिंसामात्रेण तमसोऽभावे हिंसा विशेषेण तमः स्यात्। तथाहि नित्यभूतत्वात् सत्त्वोद्भोतं ब्रह्म तद्रोहः सर्वेशस्य ब्रह्मणोऽनीशेन दुःखिना जीवेन सहैकत्वकथनोपासने प्रथमहिंसा, सार्वज्ञ्यादि गुणान् श्रुतानपहाय निर्गुणत्वचिन्तनं द्वितीया, तदवताराणां दुःख श्रमाज्ञानादिकल्पनं तृतीया, प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्धस्य प्रपञ्चस्य तद्विवर्तत्व कथनं चतुर्थीत्यादिकम्। एवं विधस्य तमः प्राप्तिः स्यादिति निरूप्यत इत्यर्थः॥ १०॥

**देहः किमन्नदातुस्त्वं निषेक्तर्मातुरुवे वा ।**
**मातुः पितुर्वा क्रेतुर्वा बलिनाऽग्नेः शुनोपि वा॥ ११॥**

**एवं साधारणं देह मव्यक्तप्रभवाप्यम्।**
**को विद्वानात्मसात्कृत्वा हन्ति जन्तूनृतेऽसतः॥ १२॥**

★ असतश्श्रीमदान्धस्य दारिद्र्यं परमाञ्जनम्[5]।
आत्मौपम्येन भूतानि दरिद्रः परमीक्षते॥ १३॥

यथा कण्टकविद्धाङ्गैः[6] जन्तोर्नेच्छति तां व्यथाम्।
जीवसाम्यं गतो लिङ्गैर्न तथाऽविद्धकण्टकः॥ १४॥

दरिद्रो निरहं स्तम्भो मुक्तस्सर्व मदैरिह।
कृच्छ्रं यदृच्छयाऽऽप्नोति तद्धि तस्य परन्तपः[7]॥ १५॥

---

1. M ०स्स्यात् 2. B.G. च 3- -3 A, B, G बलिनः क्रेतुरग्नेः 4. A ०न्कृ० ★ An extra Sloka (obviously Repeated) is found in M. Edn. मन्यमानै रिमं देहमजरामृत्यु नश्वरम्। देवसंज्ञितमप्यन्ते कृमिविड्भिस्मसंज्ञितम्॥ This verse is commented by Vijayadhvajateertha 5. A.B.G. ०म० 6. A.B.G.M.V. ०ङ्गः 7. K.W. ह्यस्य

**श्रीध०** इदानीं देहे अहम्भावोऽपि[1] न घटत इत्याह - **देह** इति। निषेक्तुः पितुः मातुर्वा मातुः पितुः मातामहस्य वा पुत्रिका पुत्रीकरणे॥ ११॥

**एवमिति।** अव्यक्त प्रभवाप्ययम् अव्यक्तात्प्रभवस्तस्मिन्नेवाप्ययो यस्य तं, आत्मसात्कृत्वा आत्मीयमिति[2-2] मत्वा, असतो मूढादृते॥ १२॥

एवं श्रीमदविचेष्टित मुक्त्वा तत्प्रतीकारं निश्चिनोति **असत** इति। परं श्रेष्ठं, दारिद्र्यमेव केवलमिति वा। कुत इत्यत आह — आत्मौपम्येनेति। ततो न द्रुह्यतीति भावः॥ १३॥

सदृष्टान्तमाह—**यथेति।** मुखम्लानादिलिङ्गैः[3] सर्वेषां जीवानां सुख दुःखे समे इति ज्ञातवानित्यर्थः॥१४॥

किञ्च दारिद्र्यमेव[4] मोक्षमपि साधयतीत्याह **दरिद्र** इति श्लोक चतुष्टयेन। निरहंस्तम्भः निर्गतः अहङ्काररूपः स्तम्भो यस्मात्सः॥ १५॥

---

1. V. omits अपि 2- -2. A,B आत्मेति 3. A.B. °न्यादि 4. A.B. omit एव.

**वीर०** ननु, अन्ते यत्किञ्चित्संज्ञिकमस्तु जीवद्दशायां स्वाधीनतया देहसुखार्थं यतितव्य मेवेत्यत्र तद्दशायामपि न नियतं स्वत्व मस्तीत्याह **देह** इति। अग्नेश्शुनोऽपि वेति दृष्टान्तार्थं देहो यथा अन्ते अग्ने श्शुनश्च स्वं तथा जीवद्दशायामपि नियमो न अन्नदात्रादीनां स्वं किं न भवति इत्यर्थः। किमित्यनेन लोके प्रसिद्धिर्द्योत्यते। तावदन्नपरिणामरूपत्वाद्यस्यान्नेन वर्धते तस्य स्वम्। तथा रेतः प्रभवत्वान्निषेक्तु र्गर्भाधातुः तथा मातुः पितुः[1] मातामहस्य च पुत्रीकरणकाले तथा सङ्कल्पात् पितृवन्मातृपितरं प्रत्यपि पारतन्त्र्यौचित्त्यादिति भावः। विक्रेतुः द्रव्य दानेन स्वीकर्तुः, बलिनो बलाद्गृहीतुः॥ ११॥

एवं साधारणं नत्वेकस्यैव नियतस्वं, अव्यक्ताप्रकृतेः प्रभवः उत्पत्तिः तस्मिन्नेवाप्ययो लयश्च यस्य तं, तमिमं देहं आत्मसात्कृत्वा आत्मेति मत्वा असतो मूढान् ऋते विना विद्वान् कः पुमान् जन्तून् हन्ति? देहाभिमानिनश्चेत् हन्युः विद्वांस्तु न हन्यादेवेत्यर्थः। यद्वा एवमिमं देहं साधारणमव्यक्तं प्रभवाप्ययं च विद्वान् जानं श्चेत् असतोऽसाधारण देहाभिमानिनः पुरुषान्विना कोऽपि पुमान् आत्मसात्कृत्वा आत्मत्वेन मत्वा जन्तून् हन्यात्। एवं विद्वांस्तु पुनर्देहात्माभिमानेन न हन्यात्। साधारणमविद्वांसस्तु देहात्माभिमानेन हन्युः इत्यर्थः। अविद्वानिति वा च्छेदः। तदा साधारणमव्यक्तप्रभवाप्ययं च अविद्वानजानं श्चेत् ततः तज्ज्ञान्विना अन्यः कश्चित् देहात्माभिमानेन हन्यादित्यन्वयः॥ १२॥

एवं श्रीमदस्यानर्थमूलतां प्रदर्श्य अथ तत्प्रतीकारार्थं निश्चिनोति **असत** इति। तत्कुत इत्यत्राह आत्मौपम्येनेति। दरिद्रः केवलमात्मदृष्टान्तेन भूतानीक्षते यथा स्वस्याऽऽघातादिना दुःखादिकं तथा परस्यापीत्यात्मौपम्येन भूतानि पश्यन् न तेभ्यो द्रुह्यतीत्यर्थः॥ १३॥

उक्तमेवार्थं सदृष्टान्त माह **यथेति।** यथा कण्टक विद्धाङ्गिः लिङ्गैः अन्तर्गत सुखदुःखादिव्यञ्जक मुखविकासम्लानतादि निमित्तैः जीवसाम्यं गतः स्वेतर जीवानां स्वस्य च तौल्यं मन्वानः तां कण्टकवेधजां व्यथां दुःखं कण्टकवेधां वा नेच्छति तथैवमविद्धकण्टको न, नेच्छतीति नेत्यर्थः॥ १४॥

किञ्च दारिद्र्यं परम्परया मुक्ति साधन मपीत्याह — **दरिद्र** इति चतुर्भिः। निरहंस्तम्भः निर्गताहङ्कार रूपगर्वः सर्वैः अभिजनवित्तविद्याप्रयुक्तैः मदैः मुक्तः यदृच्छया स्वप्रयत्न मन्तरेणैव कृच्छ्रं कायशोषणादिकं प्राप्नोति तत्कृच्छ्रं मेवास्य परं केवलं उत्कृष्टं वा तपः॥ १५॥

---

1. W. adds तत्पितुः 2. A.B. प्राणिमात्रस्यापी० 3. A.B. omit न 4. A.B. स्तम्भः 5. A.B. omit परं

**विज०** ननु उत्तर श्लोके देहस्यानिर्वाच्यत्व मुच्यते। देहस्य जगदन्तः पातित्वेन जगद्ब्रह्म विवर्तमिति कथयतः कथं तम इत्याशङ्क्य अत्र साधारणत्व मेवोच्यते प्राप्तिसद्भावादित्याशये नाह - **देह** इति। अन्नदातुः पोषयितुः निषेक्तुः गर्भाधानकर्तुः मातुः पितुः मातामहस्य, विक्रेतुः द्रव्यादि प्रदानेन, बलिनः बलात्कारेण ग्रहीतुः॥ ११॥

अव्यक्ताप्रकृतेः प्रभव उत्पत्तिः अव्यक्ते अप्ययः प्रलयो यस्य स तथा तम्। आत्मसात् आत्मत्वेन, असतः ऋते॥ १२॥

प्रसङ्गात् प्रागुक्तं स्मारयति मन्यमानैरिति। कीदृशम्? प्रथमं देवसंज्ञितं मरणे कृम्यादि संज्ञितं भवति। देवोऽयं भट्टारकोऽयं, कृमिश्लिष्टः विष्ठाकुलः भस्मित इति॥

ननु श्रीमदान्धस्य आन्ध्यपरिहाराय किमौषधं तर्हीति तत्राह **असत** इति। असतः हननादिकर्तुः दारिद्र्यं दरिद्रभावः कथं तदञ्जनं आन्ध्यनाशनं अभूदिति तत्राह आत्मेति। आत्मौपम्येन आत्मसाम्येन भूतानि सुखासुखसंसक्तानि॥१३॥

अत्र दृष्टान्तमाह **यथेति**। तां कण्टकव्यथां जन्तोः आत्मव्यतिरिक्तस्य तल्लिङ्गैः सुखदुःख विकास काष्ट्यादि सूचकै र्जीवेषु सुखादिमत्तया साम्यं साधर्म्यं गतो ज्ञातवान्, अविद्धकण्टकः तथा न॥ १४॥

ननु दारिद्र्यं परमं सुखमित्युक्तम्। तस्यापि दुःखानुभवः प्रतीयते तत्कथमिति तत्राह — **दरिद्र** इति। निरहंस्तम्भः अहम्मानवर्जितः विद्यादि सर्वमदैर्मुक्तः दरिद्रः यदृच्छया दैवेच्छया यत्कृच्छ्रं आप्नोति तत्कृच्छ्रमस्य दरिद्रस्य परं तपो भवति। "एतद्वैष परंतपो यद्वाधित स्तप्यते (बृह. उ. 5-11-1) इति श्रुतिः हिशब्दगृहीता॥ १५॥

**नित्यं क्षुत्क्षामदेहस्य दरिद्रस्यान्न काङ्क्षिणः।**
**इन्द्रियाण्यनु[1] शुष्यन्ति हिंसापि विनिवर्तते[2]॥ १६॥**

**दरिद्रस्यैव युज्यन्ते साधवस्समदर्शिनः।**
**सद्भिः क्षिणोति तत्तर्षं[3] तत[4] आराद्विशुध्यति[5]॥ १७॥**

**साधूनां सम चित्तानां मुकुन्दचरणैषिणाम्।**
**★ दर्शनान्तो भवेद्बन्धः पुंसोऽक्ष्णोस्सवितुर्यथा॥**
**उपेक्ष्यैः किं धनस्तम्भैरसद्भिरसदाश्रयैः॥ १८॥**

**तदहं मत्तयोर्माध्व्या वारुण्या श्रीमदान्धयोः।**
**तमोमदं हरिष्यामि[6] स्त्रैणयोरजितात्मनोः॥ १९॥**

---

1. A. ०ण्याऽऽशु 2. V. च 3. A. सन्तर्षं B, G तं तर्षं 4. V. तमः 5. M. ०द्धि सिद्ध्यति; V. ०द्धिनश्यति ★ This half verse is found only in V. Edn. 6. V. °नि

**श्रीध० दरिद्रस्येति**। युज्यन्ते स्वत एव सङ्गच्छन्ते[1], तर्षं तृष्णां, आ[2-]राच्छीघ्रम्[-2]॥ १६, १७॥

ननु साधूनामपि धनिक एव[3] प्रियः स्यात् न दरिद्र इति तत्राह **साधूनामिति**। धनेन स्तम्भो गर्वो येषां तैः॥ १८॥

**तदिति**। तमोमदं अज्ञान कृतं मदम्॥ १९॥

---

1. V ०न्ति 2- -2 A.B. omit 3. A.B. omit एव

**वीर०** तदेवाह **नित्यमिति।** क्षुधा क्षामः क्षीणो देहो यस्य। तत्र हेतुः अन्नकाङ्क्षिणः। तत्रापि हेतुः दरिद्रस्य। इन्द्रियाणि शुष्यन्ति, अत एव हिंसा च निवर्तते॥ १६॥

एवंविधस्य दरिद्रस्यैव समदर्शिनः साधवो युज्यन्ते संङ्गता भवन्ति। ननु परिशुष्केन्द्रियस्यापि विषयतृष्णानपायात् श्रीमदान्धात् कोऽस्य विशेष इत्यत्राह - सङ्गतैः सद्भिः हेतुभिः तत्तर्षं विषयतृष्णां क्षिणोति क्षपयति। यद्वा तत्तर्षं कर्तृ कलीबत्व मार्षम्। क्षिणोति नश्यति। ततः तत्तर्षक्षयात् आरात् समनन्तरमेव विशुध्यति प्रकृतिसम्बन्धरूपाशुचिरहितो भवति। विसिध्यतीति पाठे मुक्तो भवतीत्यर्थः॥ १७॥

ननु धनमेव स्वापेक्षितं, अत आह — **साधूनामिति।** मुकुन्दचरणमेव निरतिशयपुरुषार्थरूपं मन्वानानां समचित्तानां स्वतुल्य भूतान्तर दर्शिनां साधूनां, अत एव उपेक्ष्यैः धनस्तम्भैः स्तम्भहेतुभिः धनैः असद्भिः अनर्थ मूलमदहेतुत्वेन दुष्टैः अत एव असतामाश्रयैः, ते आश्रयो येषां तैरिति वा एवं विधैः धनस्तम्भैः किं न किञ्चिदपि प्रयोजन मित्यर्थः। यद्वा साधूनामपि धनिक एव प्रियः स्यात् इत्यत्राह — साधूनामिति। धनेन स्तम्भो येषां तैः असदाश्रयैः सदाश्रयरहितैः तत्समागमरहितैः इत्यर्थः। अत एव उपेक्ष्यैः असद्भिः किमिति॥ १८॥

तत् तस्मात् श्रीमदनिवृत्तेरेव पुरुषार्थपर्यवसायित्वात् वारुण्या माध्व्या। सुरया मत्तयोः श्रीमदेन अन्धयोः अजितेन्द्रिययोः स्त्रीवश्ययोः युवयोः तमोमदमज्ञानकृतं मदं हरिष्यामि अपनेष्यामि॥ १९॥

**विज०** ननु कुच्छ्रानुभवः कथङ्कारं तपो भवति इत्याशङ्क्य तं प्रकारं दर्शयति **नित्यमिति।** अनुशुष्यन्ति देह शोष मनुशोषं गच्छन्ति इन्द्रियप्राबल्य दौर्बल्ये प्रवृत्तिनिवृत्ती स्यातां, ते च अन्नसत्ताभावादिना स्याताम्। अन्नाभावादिन्द्रिय प्राबल्यसाध्या हिंसालक्षणा प्रवृत्ति र्नश्यतीत्यर्थः॥ १६॥

ततः किमत आह — **दरिद्रस्येति।** युज्यन्ते सङ्गम्यन्ते, सत्सङ्गतिर्भवतीत्यर्थः। तत्फलमाह — सद्भिरिति। "रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते" (भ. गी. 2-59) इति स्मृतेः। विषय तृष्णा निवर्तत इत्यर्थः। ततः विषयतृष्णा निवृत्तेरारात् क्षिप्रं सिध्यति मुक्तो भवतीति। "आरात् दूरसमीपयोः" (अम. को. 3-397) इति च॥ १७॥

सच्छिक्षया विद्यादिमदान्धानामपि दरिद्रस्येव श्रेयः किं न स्यादित्याशङ्क्य सतामुपेक्षणीयत्वेन सत्सङ्गत्या श्रेयस्सिद्धिर्दर्वीयसीत्याशयेनाह - **साधूनामिति।** महतां दर्शने धनेन स्तम्भः प्रावण्यगुण रहितैः असतामाश्रयभूतैः॥१८॥

नन्वस्तु प्रकृते भवतैतयोः किं क्रियते, दण्ड, उत उपेक्षा वा इत्याशङ्क्य दण्ड एव क्रियत इत्याह - **तदहमिति।** माध्व्या मधुकृतया॥ १९॥

**यदिमौ लोकपालस्य पुत्रौ भूत्वा तमःश्रुतौ।**
**न विवाससमात्मानं विजानीतः सुदुर्मदौ॥ २०॥**

अतोऽर्हत[3] स्थावरतां स्यातां नैवं यथा पुनः।
स्मृतिस्स्यान्मत्प्रसादेन तत्रापि मदनु ग्रहात्॥ २१॥

वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा दिव्यशरच्छते।
वृत्ते स्वर्लोकतां भूयो लब्ध्वा[4] भक्तौ भविष्यतः[5] ॥ २२॥

श्रीशुक उवाच

स[6] एवमुक्त्वा[6] देवर्षि र्गतो नारायणाश्रमम्।
नलकूबरमणिग्रीवा वासतुर्यमलार्जुनौ॥ २३॥

ऋषे र्भागवतमुख्यस्य सत्यं कर्तुं वचो हरिः।
जगाम शनकैस्तत्र यत्राऽऽस्तां यमलार्जुनौ॥ २४॥

---

1. A तमाऽऽप्नुतौ 2. W. विजानाते 3. M. ०थः 4- -4. A.B. G.K.W लब्ध भक्तो 5. M ०थः 6- -6. K, W एवमुक्त्वा तु

**श्रीध० यदिति**। तम ःप्नुतौ तमोव्याप्तौ॥ २०॥

शपति[1] — **अत** इति। अनुगृह्णाति। स्यातां नैव मित्यादिना। मत्प्रसादेन स्मृतिः स्यात्॥२१॥

**वासुदेवस्येति**। स्वर्लोकतां देवत्वं पुनर्लब्ध्वा मदनुग्रहात् लब्धभक्ती भविष्यत इति॥ २२, २३॥

प्रस्तुतमाह - **ऋषेरिति**। अस्मिन्[2] श्लोके पूर्व श्लोके चाक्षराधिक्यमार्षम्[2] ॥ २४॥

---

1. V. omits शपति 2- -2. A.B. omit

**वीर०** यद्यस्मात् लोकपालस्य पुत्रौ भूत्वापि इमौ भवन्तौ तमसा व्याप्तौ विवाससं नग्नमात्मानं न विजानाते॥ २०॥

अतः स्थावरतामर्हतः विवाससं आत्मानमजानतोः वस्त्राच्छादन रहिततरु जन्म युक्तमिति भावः। इत्थं शप्त्वाऽनुगृह्णाति स्यातामित्यादिना। एवमेव सर्वदा स्थावराकृती यथा न स्यातां तथार्हतः। यद्वा किमर्थ मेवं निरपराधयोश्शापं प्रयच्छसीत्यत्राह पुरा तरुजन्मनः प्राक् यथा स्यातां यादृशौ श्रीमदान्धौ स्यातामेवं तरुजन्मनः पश्चान्मा भूतामित्येवं, अनुग्रहार्थं शाप इत्यर्थः। प्रकारान्तरेणाप्यनुगृह्णाति तत्रापि स्थावरत्वेऽपि मत्प्रसादेन हेतुना स्मृतिः पूर्वजन्म स्मृतिः स्यात्॥२१॥

तथा मदनुग्रहाद्धेतोः दिव्य वर्ष शतान्ते वासुदेवस्य वसुदेवसूनोः भगवतः सान्निध्यं लब्ध्वा वृत्ते तरुत्वे अतीते सति पुन स्वर्लोकतां देवत्वं लब्ध्वा वासुदेवे लब्धा भक्तिः याभ्यां तथा भूतौ भविष्यतः॥ २२॥

स देवर्षिः इत्थं उक्त्वा बदर्याश्रमं गतः नलकूबरमणिग्रीवौ सहजाता वर्जुनौ वृक्षौ आसतुः॥ २३॥

भागवत मुख्यस्य नारदस्य तद्वचः सत्यं कर्तुं हरिः[1] श्रीकृष्णश्शनैः उलूखलमाकर्षन् यत्र यमलार्जुनौ स्थितौ तत्र जगाम॥ २४॥

---

1. W omits हरिः

**विज०** तमःप्रुतौ अज्ञानावृत्तौ विवाससं वस्त्रहीनं आत्मानं न विजानीत इति यतः अतः ॥ २०॥

स्थावरतां प्रापुमर्हथः तत्र स्थावरत्वेपि॥ २१॥

स्मृतेः फलमाह - वासुदेवस्येति॥ २२॥

यमलार्जुनौ सहोत्पन्नार्जुनौ॥ २३, २४॥

**देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ।**
**तत्तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मना॥ २५॥**

**इत्यन्तरेणार्जुनयोः कृष्णस्तु यमयोर्ययौ।**
**आत्मनिर्वेशमात्रेण तिर्यग्गतमुलूखलम्॥ २६॥**

**बालेन निष्कर्षयताऽन्वगुलूखलं तत् दामोदरेण तरसोत्कलिताङ्घ्रि बन्धौ।**
**निष्पेततुः परमविक्रमितातिवेप स्कन्धप्रवालविटपौ कृत चण्डशब्दौ॥ २७॥**

**तत्र श्रिया परमया ककुभः स्फुरन्तौ सिद्धावुपेत्य कुजयोरिव जात वेदाः।**
**कृष्णं प्रणम्य शिरसाऽखिल लोकनाथं बद्धाञ्जली विरजसाविदमूचतुस्स्म ॥ २८॥**

## -: शाप विनिर्मुक्तनलकूबरमणिग्रीवकृत श्रीकृष्ण स्तुतिः-

**गुह्यकौ ऊचतुः**

**कृष्ण कृष्ण महायोगिन् त्वमाद्यः पुरुषः परः।**
**व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्रह्मणो विदुः॥ २९॥**

---

1- -1. M निष्कृष्टमुलू° 2. V °षतः 3. पवन 4. M °ल 5. M °पैः 6. M°दौ 7. V °स्तौ 8- -8. A नलकूबरमणिग्रीवौ ऊचतुः; B,G,K,M,W omit 9. B,G,M ब्राह्मणाः

**श्रीध०** किमिति सत्यं कर्तव्यं तत्राह - **देवर्षिरिति।** यद्यतः तत्ततः इमौ आलक्ष्य यद्गीतम् ॥ २५॥

**इतीति।** यमयोर्यमलयोः सहजातयोः इत्यर्थः। आत्म निर्वेश मात्रेण आत्मनः कृष्णस्य तन्मध्य प्रवेशमात्रेण। अन्वञ्चत् तत् उलूखलमिति पाठे अनु पश्चात् पृष्ठभागे अञ्चत् शोभमानमित्यर्थः ॥ २६॥

**बालेनेति।** अनु अञ्चतीत्यन्वक्। तत्र हेतुः दामोदरेणेति। अत एव तन्निष्कर्षयता। तेन उत्कलिताङ्घ्रि बन्धौ उत्कलितः उत्पाटितः अङ्घ्रि बन्धो मूलबन्धो ययोस्तौ। परमस्य श्रीकृष्णस्य विक्रमितं विक्रमः न अतिवेपः कम्पो येषु ते स्कन्धप्रवालविटपा ययो स्तौ॥२७॥

**तत्रेति।** ककुभः प्रति सर्वतः स्फुरन्तावित्यर्थः। यद्वा दिशः प्रकाशयन्ताविति। अथवा ककुभ स्फुरन्तावित्येकं पदं, ककुभयोरर्जुनवृक्षयोः स्फुरन्तौ प्रथमं च्छायारूपेण प्रतिफलन्ता विति। "इन्द्रद्रुः ककुभोऽर्जुनः" (अम. को. 2-91) इति निघण्टुः। कुजयोः वृक्षयोः स्थितोऽग्निर्यथा मूर्तिमानुपैति तथोपेत्य विरजसौ निर्मदौ ॥ २८॥

गोपालं मां युवां देवौ किमिति प्रणमत इति चेत् तत्राहतुः **कृष्णेति।** हे कृष्ण! हे कृष्ण! महायोगिन्! अचिन्त प्रभावस्त्वं न गोपालः किन्तु परः पुरुषः यतः आद्यः कारणभूतः तत्रापि न निमित्तमात्रं, किन्तु उपादानमपि त्वमेवेत्याशयेन तुष्टुवतुः व्यक्ताव्यक्तमिति। स्थूल सूक्ष्ममिदं (ब्रह्मणः) ते रूपं विदुः। ब्रा ह्मणा विदुरिति पाठे ब्राह्मणाः तत्त्वज्ञा ः॥ २९॥

---

1- -1. A,B omit 2- -2. A,B omit 3- -3. A,B omit 4- -4. A,B omit 5- -5. V विक्रमितेन 6- -6. A,B omit 7. A,B add तत्र 8. A निर्गतमदौ 9. A,B add निरहङ्कारिणौ नष्टगर्वौ इति यावत् 10. A adds तव 11. A,B add ब्राह्मणाः ब्रह्मविदो 12- -12. A,B omit

**वीर०** तद्वचः सत्यं कर्तुमित्येतदेव प्रपञ्चयति देवर्षिरिति द्वाभ्याम् यतो देवर्षिः नारदः मम प्रियतमः तत् तस्मात् तेन महात्मना धनदात्मजौ उद्दिश्य यत् गीतं तत्तथैव साधयिष्यामि करिष्यामि इत्यभिप्रायेण यमयोः अर्जुनयोः अन्तरेण मध्ये ययौ, तदा आत्मनः स्वस्य प्रवेशमात्रेण उलूखलं तिर्यक्पतितमभूत्॥ २५,२६॥

अन्वञ्चती त्यन्वक् अनुसरत् तं उलूखलं निष्कर्षयता आकर्षता[6-] [-6] दामोदरेण हेतुना तरसा बला दुत्कलितौ उत्पाटितौ अङ्घ्रि बन्धौ मूलभागौ ययोः परमस्य श्रीकृष्णस्य विक्रमितेन अतिवेपः कम्पो येषु ते स्कन्धादयो ययोः कृतः चण्डः शब्दो याभ्यां तथा भूतौ निष्पेततुः॥ २७॥

तत्र तदा तयोः वृक्षयोः वा परमया श्रिया शोभया ककुभो दिशः स्फुरन्तौ प्रकाशयन्तौ कुजयोः वृक्षयोः स्थितोऽग्निः यथा मूर्तिमान् बहिरुद्गच्छति तद्वत् उत्थितौ सिद्धौ भूत्वा उपेत्य कृष्णसमीपमेत्य कुजयोः जातवेदा इव सिद्धौ उपेत्य, उत्थायेति वा। अखिल लोकानां नाथमीश्वरं कृष्णं शिरसा प्रणम्य बद्धोऽञ्जलिः याभ्यां विगतं रजः रजोगुणकार्यं ययोः तौ सात्त्विकावित्यर्थः निर्मलाविति वा। तौ नलकूबरमणिग्रीवाविदं वक्ष्यमाणमूचतुः॥ २८॥

गोपालं[7] मां युवां देवौ किमिति प्रणतौ इत्यत्राहतुः - हे कृष्ण! कृष्ण![8]! महायोगिन्! अचिन्त्यप्रभाव! न केवलं गोपबालस्त्वम्, अपि तु परमपुरुषः। कोऽसौ य आद्यो जगत्कारणभूतः ननु कार्य कारणयोः प्रायशः सालक्षण्यदर्शनात् कथं चिदचिदात्मकस्य जगतस्तद्विलक्षणोऽहं कारणमित्यत्राहतुः - व्यक्तं नामरूपाभ्यां अव्यक्तं चेदं विश्वं ब्रह्मणः सर्वशक्तित्वादि कल्याणगुणै र्बृहतः तव रूपं शरीरं विदुः वेदान्ता आमनन्तीत्यर्थः । वेदान्ताश्च "यस्य पृथिवी शरीरम्", "यस्यात्मा शरीरम्" (बृह उ. 3-7-3,4) "यस्याक्षरं शरीरम्" (सुबा. उ. 7-1) इत्याद्याः सूक्ष्म चिदचिच्छरीकत्वेन कारणभूतः स्थूल चिदचिच्छरीरकत्वेन कार्यावस्थश्च त्वमेवेति भावः ॥ २९॥

---

1- -1. W omits 2. W omits नारदः 3. W omits तथैव 4. W omits करिष्यामि 5. A,B add कृष्णस्य 6- -6. W omits 7. A,B °पबालं 8. W omits कृष्ण!

**विज०** अन्तरेण मध्ये आत्मनिर्देशमात्रेण वृक्षयोः[1-] मध्ये प्रवेशमात्रेण[-1] आत्मनः सान्निध्यमात्रेण वा तिर्यग्गतं तिरश्चीनम्॥ २५, २६॥

यदा बालेन दामोदरेण तत् उलूखलं निष्कृष्टमाकृष्टं तदा तावर्जुनौ निष्पेततुः। कीदृशौ? उत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ उन्मूलितमूलौ पवनस्य तदानीं उद्भूतवायोः विक्रमितेन पराक्रमेणातिवेलैः वेलां सीमानमतिक्रान्तैः स्कन्धैः प्रवालैः विटपैः "अति स्यादधिकार्थोक्तौ प्रशंसायामतिक्रमे" (वैज.को. 8-7-15) इति॥ २७॥

तत्र तस्यां अवस्थायां कुजयोः वृक्षयोः जातवेदौ अग्नी इव उपेत्य अभिव्यज्य विरजसौ शापमोक्षेण सत्त्वस्वभावमामौ बद्धाञ्जली सिद्धौ यक्षौ शिरसा अखिललोकनाथं कृष्णं प्रणम्य इदं वक्ष्यमाण मूचतुः स्म गुणस्मरण पूर्वक मुक्तवन्तावित्यन्वयः। "स्मृतौ वृत्ति निषेधे स्म" (वैज. को. 8-7-7) इति च। ककुभो र्दिशः स्फुरन्तौ प्रकाशयन्तौ॥ २८॥

व्यक्ताव्यक्तं कार्यकारणात्मकं रूप्यत्वात्प्रतिमात्वेन सन्निधियोग्यत्वात् रूपमुच्यते। ननु साक्षाद्रूपम्। "रूप्यत्वात्तु जगद्रूपं विष्णोः साक्षात्सुखात्मकम्" (वामने) इत्यादिस्मृतेः। ब्राह्मणाः वैदिकाः॥ २९॥

1- -1. A,B omit

त्वमेकः सर्वभूतानां देहाऽस्वात्मेन्द्रियेश्वरः।
त्वमेव कालो भगवान्[1] विष्णुरव्यय ईश्वरः॥ ३०॥

त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मा रजस्सत्त्वतमोमयी।
त्वमेव पुरुषोऽध्यक्ष स्सर्वक्षेत्र विकारवित्[2]॥ ३१॥

गृह्यमाणैः त्वमग्राह्यो विकारैः प्राकृतैर्गुणैः।
कोन्विहार्हति विज्ञातुं प्राक्सिद्धं गुणसंवृतः[3]॥ ३२॥

तस्मै तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे।
आत्मद्योतै[4]र्गुणै[5]श्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः॥ ३३॥

यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरै[6]र्व्यवशरीरिणः।
तैस्तैरतुल्यातिशयैः वीर्यै[7]र्देहिष्व[7]सङ्गतैः॥ ३४॥

1. K,W °वन् 2. V कृत् 3. M संस्थितेः 4. A,B,G,V °तगु° 5. V °णच्छन्न 6. V °रि° 7- -7 M तिर्यग्योनिष्व°; V वीर्यै देहेष्व°

**श्रीध०** ब्राह्मणा विदुरिति पाठे ब्राह्मणाः तत्त्वज्ञाः नियन्तापि त्वमेवेति ऊचतुः - **त्वमेक** इति। देहः असवः प्राणाः आत्मा, अहङ्कारः इन्द्रियाणि च तेषा मीश्वरः । नन्वस्य कालो निमित्तं प्रकृतिरुपादानं प्रकृतेर्जातो महान् विश्वात्मतया परिणमते पुरुषः कर्ता नियन्ता च किमत्राहम्। अत आहतुः सार्धेन त्वमेवेति। यतो भगवानीश्वरो विष्णुः त्वं अतः कालो नाम तव लीला॥ ३०॥

**त्वमिति।** प्रकृतिः शक्तिः। पुरुषोऽशः महान् कार्यम् अतस्त्वमेव सर्वमित्यर्थः॥ ३१॥

ननु अहमेव चेत् सर्वं तर्हि कीटादिज्ञानेन मज्ज्ञानं किं न भवति भवति[2] चेत् सर्वोऽपि ब्रह्मवित्स्यात्, अतः आहतुः - **गृह्यमाणैरिति।** दृश्यत्वेन वर्तमानैः बुद्ध्याद्यहङ्कारैः[3] तद्विकारैः इन्द्रियादिभिः द्रष्टा त्त्वं न गृह्यसे इति भावः। ननु तर्हि जीवो जानातु नैवेत्याहतुः कोन्विहेति। जीवाद्युत्पत्तेः प्रागेव स्वप्रकाशतया सिद्धं त्वां को हि जानाति गुणसंवृतः देहाद्यावृत्तः॥ ३२॥

अतो दुर्ज्ञेय[4] इत्यौत्कण्ठ्येन[4] केवलं प्रणमतः **तस्मा** इति। आत्मनः स्वस्मात् द्योतः प्रकाशो येषां तैः, गुणैः छन्नो महिमा यस्य अभ्रैरिव रवेः रस्मयः[5] तस्मै॥ ३३॥

अहो अहम् ईश्वरः इति कुतो ज्ञातः तत्राऽऽहतुः **यस्येति** ॥ ३४॥

---

1. A,B घटादिज्ञाने 2. A,B add इति 3- -3. A,B बुद्धयहङ्कारेन्द्रि° 4- -4. A,B °यत्वात् 5. A,B omit रस्मयः

**वीर०** न केवलं उपादान कारण मेव अपि तु निमित्तकारणमपि इत्यभिप्रायेण तदुपयुक्तगुणवत्तां आहतुः **त्वमिति।** एकशब्देनाधिष्ठात्रन्तरव्यावृत्तिः सर्वभूतानां यानि देहादीनि तेषामीश्वरः नियन्ता,[1] असवः प्राणाः, आत्मा मनः भवन्ति देवमनुष्यादिरूपेण जायन्त इति भूतानि क्षेत्रज्ञास्तेषां देहादिसम्बन्धोपादानो पयुक्तसार्वज्ञ्यादिगुणयोगेनान्तःप्रविश्य नियन्तेत्यर्थः। एवं निखिलजगत्कारणत्वं तच्छरीरकत्वं चोक्तम्। अथ तदुभयनिबन्धनं जगदन्तर्भूतकालादि सामानाधिकरण्य माहतुः त्वमेव काल इति। यद्वा त्वमेक इति स्थितिकारणत्वमुक्तम् त्वमेव काल इति लय काणत्वम्। कालो मृत्युः त्वं महान् इत्यादिना सामानाधिकरण्य मुच्यत इति विवेकः। हे भगवन्! अव्यय इत्यनेन कारणत्वप्रयुक्त दोषपरिहारः भगवानित्यनेन अवतारदशायामपि षाड्गुण्यपूर्तिरुक्ता। विष्णु रित्यनेन देवता विशेषत्वम्॥ ३०॥

त्वं महान् महत्कारणत्वात् तच्छरीरकत्वाच्च तत्समानाधिकरणः एव मुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। न केवलं महानेव अपि तु तत्तत्कारणभूता रजआदि गुणत्रयात्मिका सूक्ष्मा नामरूपविभागानर्हा प्रकृति रपि त्वमेव, तथा पुरुषो जीव स्त्वमेव। कथम्भूतः? अध्यक्षः देहप्रभृति जीवपर्यन्तानां अधिष्ठाता, क्षेत्राणि शरीराणि बुद्धिपर्यन्तेन्द्रिय सहितानि तानि वेत्तीति तथा, युगपत् क्षेत्रेन्द्रिय वृत्तिविदित्यर्थः ॥ ३१॥

'रूपं ते ब्रह्मणो विदु'रित्यनेनैवंविधं त्वां केवलं वेदान्ता एव विदुः न त्विन्द्रियाणीत्यभिप्रेतम्। तदेव विशदयन्ताबुपपादयतः **गृह्यमाणैरिति।** प्राकृतैः गुणैः विकारैः गुणपरिणामरूपैः इन्द्रियैः त्वमग्राह्यः ग्रहीतुं विषयीकर्तुमशक्यः। तत्र हेतुं वदन्तौ गुणान्विशिंष्टः गृह्यमाणैरिति। यथा श्रोत्रादिभिः गृह्यमाणाश्शब्दादयो न श्रोत्रादीन् गृह्णन्ति तथा त्वया गृह्यमाणा विकाराः त्वां न गृह्णन्तीति भावः। नन्वग्राह्यस्य मम कारणत्वसमव्याप्तोपास्यत्वानुपपत्तिः, ततश्च कारणत्वानुपपत्ति रित्यत्राहतुः कोन्विति। गुणैः गुणकार्यैः इन्द्रियैः संवृत आवृतः सहित इति यावत् को नु पुमान् प्राक्सिद्धं गुणेभ्यः प्रागेव तत्कारणतया तत्प्रकाशतया च सिद्धं त्वामिह ज्ञातुं विषयीकर्तुं अर्हति गुणसंवृतः को वार्हतीत्यनेन योगविशुद्धमनास्तु[2] ज्ञातुमर्हतीति सूचितम्। अनेन अनुपास्यत्वं परिहृतम्। यद्वा, ननु तर्हि जीवो जाना त्वित्यत अहतुः कोन्विति॥ ३२॥

एवमुक्तविधस्य भगवतः सर्वज्ञत्वं जीवैः दुर्ज्ञेयत्वं च अनुसन्दधतौ नमस्कुरुतः - **तस्मा** इति। तस्मै कृष्ण कृष्णेत्यादिनोक्त गुणविशिष्टाय भगवते षाड्गुण्यपूर्णाय साधु परित्राणार्थं[3] वसुदेवाऽऽत्मजत्वेनावतीर्णाय सर्वकर्त्रे आत्मद्योतै र्गुणैः[4] [illegible]स्य प्रकाश्यमानैर्गुणैः[4] छन्नमहिम्ने जीवानां दुरवबोध महिम्ने। 'आत्मज्योतिर्गुणच्छन्नमहिम्न' इति पाठे आत्मज्योतिः स्वयंप्रकाशश्च

गुणाच्छन्नमहिमा चेत्यर्थः। स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयबृहते तुभ्यं नमः॥ ३३॥

वासुदेवायेत्यनेनाभिप्रेतं विवक्षू तावत्सर्वावतारयाथात्म्य माहतुः **यस्येति।** शरीरिषु मर्त्यादिशरीरिणां मध्ये अशरीरिणः कर्मकृतशरीररहितस्य यस्य तव अवतारास्सर्वे निस्समाभ्यधिकैः कर्मकृत देहि ष्वसङ्गतैः असम्भाविते: तैस्तैः तत्तदवताराप्रतिनियतैः वीर्यैः ज्ञायन्ते कर्मकृतदेहिभ्यो विलक्षणत्वेन ज्ञायन्त इत्यर्थः॥ ३४॥

---

1. A,B add तत्र 2. A,B omit योग 3. A °य 4- -4. W omits 5. A,B °रेषु

**विज०** सन्निधियोग्यं दर्शयति **त्वमिति।** सर्वभूतानां देहे आत्मनो मनसः इन्द्रियाणामीश्वरः स्वविषयशक्तिप्रदः न केवलमन्तरेव प्रवर्तकः बहिरपि सर्वशक्तिमत्त्वात् तच्छक्तिप्रबोधक इति भावेनाह त्वमिति। तदुक्तं "विष्णुः सर्वगुणोद्रेकात् काल इत्यभिधीयते" (वामने) इति। कलकामधेनौ इति धातुः। विष्णुः व्यापन शीलः व्याप्तस्याकाशवत् उत्पत्ति विनाशौ स्यातामिति नेत्याह अव्यय इति। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" (भ.गी. 2-27) इति स्मृतेः। अन्तर्यामीति वा आत्मान्तर्यामीति॥ ३०॥

प्रकृत्यादेः अचेतनत्वेन सतःप्रवृत्त्यनुपपत्तेः तत्सत्ताया अपि तदधीनत्वेन तत्तच्यपदेशो युक्त इति भावेन स्तौति- **त्वमिति।** महान् महत्तत्त्वं पूर्णगुणत्वेन पुरुषशब्दवाच्योऽपि त्वमेवेत्याह त्वमिति। अध्यक्षः साक्षी, साक्षित्वं व्यनक्ति- सर्वेति। सर्वक्षेत्राणां कारणभूतानि प्राणा श्रद्धार्थः खं वायुरित्यादीनि विकारशब्दवाच्यानि वेति जानाति तत्त्वेन पश्यतीति सर्वक्षेत्र विकारवित्॥ ३१॥

नन्वव्यक्तो हरिः इति पुरस्तादुदीरितं तत्कथं दृश्यते त्वग्रद्यया बुध्या इतीन्द्रिय विषयत्वोक्तेः। अत्राह गुह्यमाण इति। स्वयमेवः स्वात्मानं गृह्णाती नत्त्वन्य इत्यर्थः। तदुक्तं स्वात्मना गृह्यमाण इति। किमेवं विवेकः क्रियत इति तत्राह अग्राह्य इति। विकारैः प्राकृतैः महदहङ्काराद्यभिमानिभिः ब्रह्मादिभिः अग्राह्यः। ननु नित्य समीपस्थाभिर्दुर्गादिभिः ग्राह्य एवेत्यत्राह - गुणैरिति। सत्वादिभि र्गुणाभिमानिनीभिरपि। ननु "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्" (पु.सू. 2-1) इति श्रुतेः। ब्रह्माद्यवेद्यः कथमुच्यत इति तत्राह क इति। अत्र संस्थितिशब्देन उत्पत्तिर्लक्ष्यते स्थितेरुत्पत्त्यपेक्षत्वात्। इह जीवराशौ कः पुमान् गुणभूतस्य हरेः क्रीडायां अन्त रङ्गस्य जगतः स्थितेरुत्पत्तेः प्राक् सिद्धं "आनीदवात स्वधया तदेकम्" इति श्रुति सिद्धं ब्रह्म विज्ञातुमर्हति शक्नोति। अर्हति चेत् "क एव ब्रह्म जानाति स्त्रियः सतीस्तां उभे पुंसं आहुः" इत्यादि श्रुतिः। इदमपि दर्शनं तत्प्रसादेनेत्यङ्गीकर्तव्यम्। "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" (कठ.उ. 2-22) इति श्रुतेः। यद्वा उत्पत्तेः प्राक् सिद्धं निरञ्जनत्वेन स्थितं को नु विज्ञातुमर्हति लिङ्गाभावात्। कथं गुणानां ज्ञापकानां लिङ्गानां संस्थितेः विनाशनात् जगतो नष्टात्वादिति॥ ३२॥

ननु तद्विषयज्ञानाभावे तदुपासनाभावेन मोक्षाशा व्यर्थेत्याशङ्क्य नम इत्येवकार्यं तस्यापि तत्प्रीतिजनकत्वप्रतीतेः इति भावेनाह **तस्मा** इति। किं निमित्तमेतत् विज्ञापनमिति तत्राह - आत्मेति। आत्मना त्वया द्योतन्ते कार्ये शक्तिमत्तया प्रकाशन्त इत्यात्मद्योता: तै: गुणै: सत्त्वादिभि: छन्नो गूहित: महिमा यस्य स तथा तस्मै। "तुच्छ्येनाभ्वपिहितम्, यदासीत्तपसस्तन्महि नाजायतैकम्" (ऋक्. सं. 10-129-3) इति श्रुते:। पिहितत्व मितरापेक्षया न स्वस्य अपरिच्छिन्नत्वेनानाच्छाद्यत्वादिति भावेनाह - ब्रह्मण इति। तदुक्तं "छन्नोऽन्येषां न तु स्वस्य भगवान् पुरुषोत्तम:" (महाकौर्मे) इति। वेधसे कर्त्रे॥ ३३॥

इदानीं कृष्णो नाम साक्षात् नारायणावतार एव न देवदत्तवत् कश्चि च्छरीरीति ज्ञापयितुं हरे: विविधावतारा: देहस्था अदेहस्था इति। तत्र देहस्था अन्त र्याम्यादयो मस्त्याद्या: अदेहस्ता इति भावेनाह - **यस्येति।** यस्य हरेरवतारा: शरीरिष्वन्तर्यामित्वेन ज्ञायन्ते, अशरीरिषु शरीर व्यतिरिक्त बाह्य स्थलेषु अशरीरिण: मत्स्यादिरूपत्वेन ज्ञायन्ते। कै: साधनै: इत्यत्राह तैस्तैरिति। ये ये मनसो नियमादय: शास्त्र विहिता: तै स्तै रतुल्यै: अन्यातिशयैरधिकै: मनो नियमादिभि: अतुल्यातिशयत्वं कथमत्राह तिर्यग्योनिष्विति। तिर्यग्योनिषु वराहादि सम्बन्धिनीषु, असङ्गतै: असम्भाव्यै:। तदुक्तं - "तस्यावतारा देहस्था अदेहस्था इति द्विधा" (महाकौर्मे) इत्यादि। यद्वा तैस्तैरतुल्यातिशयै: माहात्म्यविशेषै: भूम्युद्धरणं मन्दरधारण गोवर्धनोद्धारणलक्षणैरिति॥ ३४॥

**स भवान् सर्वलोकस्य भवाय विभवाय[1] च।**
**अवतीर्णोऽशभागेन साम्प्रतं पतिराशिषाम्॥ ३५॥**

**नमः परमकल्याण नमस्ते[2] विश्वमङ्गल[2]।**
**वासुदेवाय शान्ताय यदूनां पतये नमः॥ ३६॥**

**अनुजानीहि नौ भूमन् त्वाऽनुचरकिङ्करौ[3]।**
**दर्शनं नौ भगवत ऋषेरासीदनुग्रहात्[4] ॥ ३७॥**

**वाणी गुणानु कथने श्रवणं[5] कथायां हस्तौ च कर्मसु मनस्तवपादयोर्नः[6]।**
**स्मृत्यां शिरस्तव निवास[7] जगत्प्रणामे दृष्टिस्सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥ ३८॥**

**श्रीशुक उवाच**

**इत्थं सङ्कीर्तितस्ताभ्यां भगवान् गोकुलेश्वर:।**
**दाम्ना चोलूखले बद्ध: प्रहसन्नाह गुह्यकौ॥ ३९॥**

---

1. M प्र 2- -2. B,G नमः परम 3. M सदाऽनु 4. M °तो 5. A,B,G,M °णौ 6. M °र्नौ 7. M सुप्रवर

**श्रीध० स** इति। भवाय उद्भवाय विभवाय विगतो भवो यस्मिन् तस्मै कैवल्यायेत्यर्थः॥ ३५, ३६॥

**अनुजानीहीति।** नौ आवां अनुचरः कुबेरो नारदो वा, तस्य किङ्करौ भगवतः तव दर्शनम्॥ ३७॥

तत्र गतयोः आवयोः पूर्वस्वभावो माभूत्। किन्तु एवं[1-] प्रार्थयावहे इत्याहतुः[-1] **वाणीति।** नः[2] "अस्मदो द्वयोश्च" इति द्विवचनस्थाने बहुवचनम्[-2]। अस्मत्सङ्गिनां सर्वेषामित्यभिप्रयोण[3-] वा[-3] बहुवचनम्। तव निवासभूतं यज्जगत् तस्य प्रणामे त्वन्निवासभूतमिति बहुमानेन जगतः प्रणामे शिरोऽस्त्वित्यर्थः भवत्तनूनां भवतो मूर्तीनाम्॥ ३८॥

**इत्थमिति।** संकीर्तितः संस्तुतः॥ ३९॥

---

1- -1. A,B omit 2- -2. V न इति 3- -3. A,B °मपीति

**वीर०**[1] अंशभागेन बलरामेण सह यद्वा सङ्कल्परूपज्ञानेन न तु करेणेनेति भावः। साम्प्रतमधुना अवतीर्णः। यद्वा, साम्प्रतमिति युज्यत इत्येतदर्थको निपातः। यतो भवानाशिषां पतिः प्रभुः दाता अतो भवार्थं विभवार्थं च अंशेनावतीर्ण इति युक्त मेवेत्यर्थः॥ ३५॥

प्रकृतावतारसाधारण[2] गुणान् अनुसन्दधतौ नमस्कुरुतः विश्वमङ्गलावहत्वम्, अमङ्गलतरुजन्म विमोचनेन अपरोक्ष मेव प्रदर्शित मिति तथा सम्बोधनाभिप्रायः। स्वयं अमङ्गलस्य अन्येषां मङ्गलावहत्वम् अनुपपन्न मिति तदपि सिद्धमेवत्यभिप्रायेण परमकल्याणेति सम्बोधनम्। शान्ताय ऊर्मिषट्करहिताय अशनायापिपासाशोक मोहजरामृत्यवः षड्ऊर्मयः॥ ३६॥

इत्थं संस्तुत्य, आत्मनोः कृतार्थत्वाय तद्दासपर्यन्तदास्यं प्रार्थयमानौ विज्ञापयतः - **अनुजानीहीति।** हे भूमन्! निरवधिकानन्दशालिन् ! तवानुचरौ किङ्करौ यथा भवाव[3] तथा अनुशाधीत्यर्थः। किमिदं प्रार्थयेथे इत्यत्र ऊचतुः ऋषेः तवानुचरस्य अनुग्रहादेव भगवतः षाड्गुण्यपूर्णस्य पुरुषार्थनिधेः तव दर्शनं नौ आवयोरासीत् महाफलत्वात् त्वद्दासदास्यमेव अनुगृहाणेति भावः॥ ३७॥

किञ्च आवयोः वाण्यादयः त्वद्गुणानुकथनादिप्रवणा यथा स्युः तथाऽनुगृहाणेत्यूचतुः - **वाणीति।** तव[4] गुणानुवादे[-4] श्रवणे श्रोत्रे, कर्मसु पूजारूपेषु हस्तौ[5], तव पादयोः स्मृत्यां स्मरणे मनोऽस्तु। निवासो जगद्यस्य तस्य सम्बुद्धिः जगतो निवासेति वा। आर्षः परनिपातः तव प्रणामे शिरः, भवत्तनूनां भवतो[6] मूर्तीनां सतां च दर्शने दृष्टिः अस्तु। यद्वा तव सतां तावकानां सतां च प्रणामे शिरः अस्तु भवत्तनूनां दर्शने दृष्टिरस्तु॥ ३८॥

इत्थ मित्यादि श्लोकः स्पष्टार्थः॥ ३९॥

1. A.B. add स भवानिति सर्वस्य साधुलोकस्य आशिषा समाहित स्वर्गापवर्गादि पुरुषार्थानां भवाय उत्पादानाय विभवाय उत्तराभिवृद्धये च पतिः तासां पालकाश्च भवितुमित्यर्थः। 2. A.B. ०रा० 3. A.B. ०वः 4- -4. w omits 5. w. omits हस्तौ 6. A.B त्वन्मू०

**विज०** स त्वादृशो भवान् जनस्य भवाय पुण्यलक्षण भद्राय प्रभवाय महत्त्व वर्धनाय, साम्प्रतं यदु कुलेऽवतीर्णेसी त्यन्वयः। आशिषां शुभानां पतिः पालयिता दाता च भागेनांशेन॥ ३५॥

इदमेव रूपं मूलरूपादन्यूनमहिमेति भावेनाह - **नम** इति॥ ३६॥

भूमन्! अनवच्छिन्नज्ञानानन्दस्वभाव! सदानुचरावनुगतावुक्त कारिणौ च तौ अनुजानीहि अनुज्ञां कुरु यदृच्छया प्राप्तमहत्सङ्गमो भवद्दर्शन साधनमभूत् - किं पुनर्बुद्धिपूर्वकमिति भावेनाह - दर्शनमिति॥ ३७॥

इतः परं श्रीमदादिक मावयो र्न भवितव्यं यत इन्द्रियाणां विषय व्यापारः स्यात् स न स्यात्। किन्तु तव गुणादावेव वाण्यादीन्द्रियव्यापारः स्यादिति प्रार्थयते - **वाणीति**॥ ३८, ३९॥

**श्री भगवानुवाच**

**ज्ञातं मया पुरैवेतद्दांषेणा करुणात्मना।**
**यच्छ्रीमदान्धयोर्वाग्भिः वि[2]भ्रंशोऽनु[2]ग्रहः कृतः॥ ४०॥**

**साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम्।**
**दर्शनान्तो[3] भवेद्बन्धः पुंसोऽक्ष्णोस्सवितुर्यथा॥ ४१॥**

**तद्गच्छतं मत्परमौ [4]नलकूबर सादनम्[4]।**
**सञ्जातो मयि भावो[5] वामीप्सितः परमोऽभवः[6]॥ ४२॥**

**श्री[7]शुक उवाच**

**इत्युक्तौ तं[8] परिक्रम्य प्रणम्य च पुनः पुनः।**
**बद्धोलूखलमामन्त्र्य जग्मतुर्दिशमुत्तराम्॥ ४३॥**

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे महापुराणे वैयासिक्यां
अष्टादश साहस्र्यां श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
नारद शापो नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

1. A.B.G.K.W. मम 2- -2. M. शापस्साऽनु 3. A.B.G.M. ०नान्नो 4- -4. M नरवाह निकेतनम्। 5. V. वोऽयमी० 6. M. ०मोत्सवः 7- -7. V. omits 8. B.G. तौ ; V. तु

**श्रीध० ज्ञातमिति।** वाग्भिः "नह्यन्यो जुषतो जोष्यान्" (भाग 10-10-8) इत्यादिभिः[7] श्रीविभ्रंशरूपोऽनुग्रहः कृतः इति॥ ४०॥

युक्तमेवैतदित्याह - **साधूनामिति।** साधूनां स्वधर्मवर्तिनां समचित्तानां आत्मविदां, सुतरां मत्कृतात्मनां मय्यर्पितचित्तानां तेषां कृपातिरेकात् सुतरामित्युक्तम्। सवितुर्दर्शनादक्ष्णो यथा बन्धो न भवेत् तद्वत्॥ ४१॥

**तदिति।** प्राधान्यादेकस्य सम्बोधनं हे नलकूबर! युवां तत्तस्मात् सादनं सदनं[2] स्वनिकेतनं[3] मत्परमौ सन्तौ गच्छतम्। वां[4] युवयोः ईप्सितः[5] अपेक्षितः मयि प्रेमा जात एव, अभवः न भवो यस्मिन् सः॥ ४२॥

**इतीति।** बद्धोलूखलं बद्धं उलूखलं यस्मिन् तम्॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते दशम स्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरसस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां दशमोऽध्यायः॥ १०॥

1. V. ०चाभिः 2. A.B. omit सदनं 3. A.B. ०तं 4. V. omits वां 5. B.V. omit ईप्सितः

**वीर०** तदेवाह - **ज्ञातमिति।** वाग्भिः "न ह्यन्यो जुषतो जोष्यान्" (भाग. 10-10-8) इत्यादिभिः श्रीमदान्धयोर्युवयोः श्री विभ्रंश रूपोऽनुग्रहः कृत इति यदेतत् पुरैव मम मया ज्ञातम्॥ ४०॥

युक्त मेवैत दित्याह - **साधूनामिति।** मत्कृतात्मनां मय्यर्पित चित्तानां साधूनां दर्शनमन्तो यस्य सः, दर्शनावधिकः पुंसो बन्धो भवेत् यथा सवितुः दर्शनान्तोऽक्ष्णो बन्धः तमोरूपः तद्वत्॥ ४१॥

हे नलकूबर! युवां तत् तस्मात् सादनं सदनं स्वनिकेतनं प्रति गच्छतम्। कथम्भूतौ? अहमेव परा मा यस्मात्सः ययोस्तौ, न विद्यते भवः संसारो यस्मात्सोऽभवः, मयि भावोऽभिप्राय विशेषः प्रीत्यात्मकः, वां युवयोः सञ्जात एव॥ ४२॥

इत्थमुक्तौ तौ बद्धं उलूखलं यस्मिन् तं कृष्णं परिक्रम्य पुनः पुनः प्रणम्य आमन्त्र्याऽऽपृष्ट्वोत्तरां दिशं जग्मतुः॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते दशम स्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवत चन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

**विज०** सानुग्रहः शापः मोक्षलक्षणानुग्रह सहितः ॥ ४० ॥

मत्कृतात्मनां मय्येव सन्निहित मनसाम् ॥ ४१ ॥

नरवाहो वैश्रवणः तस्य निकेतनं गृहम् ॥ ४२ ॥

बद्धोलूखलं उलूखल बद्धं श्रीकृष्णम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

(विजयध्वजरीत्या एकादशोऽध्यायः)

# एकादशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या द्वादशोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

गोपा नन्दादयः श्रुत्वा द्रुमयोः पततो रवम्।
तत्राऽऽजग्मुः कुरु श्रेष्ठ निर्घातभयशङ्किताः॥ १॥

भूम्यां निपतितौ तत्र ददृशु र्यमलार्जुनौ।
बभ्रमु स्त दविज्ञाय लक्ष्यं पतन कारणम्॥ २॥

उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धञ्च बालकम्।
कस्येदं कुत आश्चर्य मुत्पात इति कातराः॥ ३॥

बाला ऊचु रनेनेति तिरश्चीन मुलूखलम्।
विकर्षता मध्यगेन ★ पुरुषाव प्य चक्षमहि॥ ४॥

न ते तदुक्तं जगृहुः न घटेतेति तस्य तत्।
बालस्यो त्पाटनं तर्वोः केचि त्सन्दिग्ध चेतसः॥ ५॥

---

V. 1- -1. बादरायणि रुवाच 2. V. तत्र 3. M. रव 4 M. भय 5. A प्रो० 6- -6. A,B,G तिर्यगात° ★ V. adds here two more padas between 3rd and 4th padas - thus निहतौ यमलार्जुनौ। वृक्षाभ्यां निर्गतौ दिव्यौ । 7. K,W वै।

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एकादशे समागत्य बृन्दावन मथाभकैः ।
वत्सान् पालयताऽनेन हतौ वत्सबकासुरौ॥

**गोपा** इति। निर्घातो वज्रपात इति भयेन शङ्किताः॥ १॥
**भूम्यामिति**। तल्लक्ष्यं प्रत्यक्षितः पुरतो दृश्यमपि पतनकारणमविज्ञाय बभ्रमुः॥ २॥

लक्ष्यं कारणं दर्शयति - **उलूखलमिति।** भ्रमप्रकारमाह - कस्येदं राक्षसादेः कर्म, कुतो वा कारणात्? अहो! आश्चर्यम्। उत्पत इति कातराः भीतास्सन्तः बभ्रमुरित्यर्थः॥ ३॥

**बाला'** इति। मध्यगेन वृक्षयोः मध्यगतेन पतितावित्यूचुः। न केवलमेतावत्, वृक्षाभ्यां निर्गतौ दिव्यौ पुरुषावपि अचक्ष्महि दृष्टवन्तो वयमिति॥ ४॥

**नेति।** केवलं तार्किकाः ते न जगृहुरेव अन्ये तु सन्देहयुक्तचित्ता बभूवुरिति॥ ५॥

---

1. A. adds स्यात् 2- -2. A. दृश्यं पुरतो दृष्ट्वापि इत्यर्थः। 3. B.J. कारण° 4. A. omits अहो 5- -5. A. उत्पातोऽयमिति 6- -6. A,B,J omit 7. B,J,V omit ते

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

**गोपा** इति। पततोः द्रुमयोः अर्जुनयोः रवं ध्वनिं श्रुत्वा हे कुरुश्रेष्ठ! किं वज्रपातोऽभवदित्येवं भयेन वितर्कयन्तो नन्दादयो गोपाः तत्राऽऽजग्मुः॥ १॥

तल्लक्ष्यं प्रत्यक्षतः पुरतो दृश्यमपि पतन कारणमविज्ञाय बभ्रमुः भ्रान्ता बभूवुः॥ २॥

किं तल्लक्ष्यं पतनकारणं यदज्ञानात् बभ्रमुः? तत्राह - **उलूखलमिति।** एवंविधं बालकमेव पतनकारणं लक्ष्यमविज्ञाय बभ्रमुः इत्यन्वयः। भ्रममेव दर्शयति - कस्येति। इदं तरुनिपातनरूपं कर्म कस्य सम्बन्धि? इदं कुतः कारणात्, अहो आश्चर्यम्। नः उत्पातः इत्येवं भयेन कातराः भीतास्सन्तो बभ्रमुः इत्यर्थः। कस्येति कर्तृसन्देहः। कुत इति निमित्त सन्देहः, उत्पात इति निश्चयः॥ ३॥

एवं बम्भ्रम्यमाणान् प्रति तत्रत्या बाला ऊचुः। किमिति? तिरश्चीनं उलूखलं विकर्षता वृक्षयोः मध्यगतेन अनेन बालेन इदं कर्म कृतं न केवलमेतावत्, अन्यदपि किञ्चिदृष्टमित्याहुः- वृक्षाभ्यां निर्गतौ दिव्यौ पुरुषावपि अचक्ष्महि दृष्टवन्तो वयमिति॥ ४॥

एवमुक्तानां तेषां मध्ये केचित् केवलतार्किकाः इदं न घटते इति वदन्तः तद्बालकैः भाषितं न जगृहुः न विश्वसितवन्तः अन्येतु बालस्य बालकतृके तर्वोः उत्पाटने सन्दिग्धं संशययुक्तं चेतो येषां तथा बभूवुः॥ ५॥

1. K.W. omit भयेन 2- -2. K.W. omit 3. A.B. घटेत

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हरेः बालक्रीडाचरित चारुतर निरवद्यमहिमश्रवणमननोपासनानि मुक्तिसाधनानि ज्ञानसाधनत्वेन भवन्तीति भावेन तन्माहात्म्यं अस्मिन्नध्याये निरूप्यते। तत्राऽऽदौ पूर्वाध्यायोक्त यमलार्जुन भङ्ग लक्षण महिमान मशेषं वक्ति - **गोपा** इत्यादिना। निर्घातरवशङ्किताः मेघनिर्घोष शङ्किताः[1-] [-1] कस्य आगामि फलसूचकं उत आश्चर्यं सहसा दृश्यमनं यदद्भुतं भविष्य दनिष्टसूचकं अदृष्टमात्र प्रयुक्तं उत्पातः तन्निमित्त भयेन कातराः व्याकुलचित्ताः। उत्पातयति कातरा इति केचित् पठन्ति॥ १, २, ३॥

द्वौ पुरुषौ अचक्ष्महि दृष्टवन्तः॥ ४॥

तदुक्तं बालोक्तम्॥ ५॥

1- -1. Ma omits

उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं स्वमात्मजम्।
विलोक्य नन्दः प्रहसद्वदनो[1] विमुमोच ह॥ ६॥

★ क्रीणीहि[2] भोः फलानीति श्रुत्वा[3-] मातर मच्युतः[-3]।
फलार्थी[4] धान्य मादाय ययौ सर्वफलप्रदः॥ ७॥ △

फलविक्रयिणी तस्य च्युतधान्यं करद्वयम्।
फलै रपूरय द्रत्नैः फलभाण्ड मपूरि च॥ ८॥ ○

गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्य[5] द्भगवान्बालव त्क्वचित्।
उद्गायति क्वचिन्मुग्ध स्तद्वशो दारु यन्त्रवत्॥ ९॥

बिभर्ति क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मान[6] पाद्युकम्।
बाहुक्षेपञ्च कुरुते स्वानाञ्च प्रीतिमावहन्॥ १०॥

1. V. °सन्बन्धनात् ★ 7th & 8th verses are not found in M. edn. 2. V. °ध्वं भो 3- -3. V. वचः श्रुत्वातु सत्वरः; K.W. पृष्ट्वा मातरमच्युतः 4. V: कराभ्यां △ These five extra half verses are found in V. edn. as follows फलक्त्वे हि धान्यानि मया नीतानि भूरिशः। **गृहीष्व तवमानेन मानय त्वं फलानि मे ॥ फलविक्रयिणी तस्य वचश्श्रुत्त्व महात्मनः। आयान्त मरविन्दाक्षं करिपोत मिवागतम्॥ प्रेक्षामाणा मुहुःफुल्लैः नयनै रच्युतं तदा।** ○ Two additional verses are found in V. edn. as follows. फलानीमानि सर्वाणि गोपीभ्योऽभ्यददात् प्रभुः। वयस्यैर्व्रजवीथ्यां स क्रीडन् सर्व फलप्रदः॥ उत्तिष्ठन्तौ प्रस्स्वलन्तो चरन्तौ रामकेशवौ। पद्भ्यां गन्तुं शक्नुवन्तौ कथञ्चित्तद्वजाङ्गणे॥ 5. M.V. नृत्यन् 6. V. दारुकान्

**श्रीध०** भगवन्माया विमोहितस्य नन्दस्याऽऽचरितमाह **उलूखलमिति**॥ ६ (७,८)॥

ज्ञास्यन्ते मामिति शङ्कमानोऽतीव बाल्य मनुकरोति स्म तदाह - **गोपीभि** रिति। स्तोभितः करतालादिना प्रोत्साहितः॥ ९॥

**बिभर्ती ति**। इदमानयेत्याज्ञप्तः आनेतुं असमर्थ इव बिभर्ति, केवलं पीठादि उन्मानं प्रस्थादि। बाहुक्षेपं करचालनं च॥ १०॥

1- -1. V. omits 2- -2. A.B.J omit

**वीर०** अथ भगवन्मायामोहितस्य नन्दस्याऽऽचरितमाह **उलूखलमिति**। प्रहसत् वदनं यस्य स नन्दो विलोक्यं तं दामबन्धादमोचयत्॥ ६॥

अत्र क्वचित् पुस्तकेषु - "क्रीणीहि भोः फलानीति पृष्ट्वा मातरमच्युतः। फलार्थी धान्यमादाय ययौ सर्वफलप्रदः॥ फलविक्रयिणी तस्य च्युतधान्यं करद्वयम्। फलैरपूरयद्रत्नैः फलभाण्डमपूरि च॥ इति श्लोकद्वयं अधिकं दृश्यते। तत्र भोः कृष्ण फलानि क्रीणीहीति बन्धं मोचितवता नन्देनोक्तः अच्युतः स्वयं स्वार्गापवर्ग फलदोऽपि केवलं प्राकृतबाल इव फलार्थी सन् मातरं पृष्ट्वा धान्यमञ्जलिना आदाय ययौ॥ ७॥

तथा फलविक्रयणी स्त्री तस्य अच्युतस्य च्युतं धान्यं यस्मात् तत् करयोः द्वयं फलैः अपूरयत्। फलविक्रयिण्याः यत्फलभाण्डं तद्रत्नैः अपूरि, पूरितमभूत्। तत् करद्वयात् च्युतेन धान्येन रत्नात्मकतामापन्नेनफलभाण्डं पूरितमभू दित्यर्थः॥ ८॥

अथ भगवतः कांश्चित् बाल्यानुकारप्रकारान् दर्शयति **गोपीभिरिति**। क्वचित्स्तोभितः उपच्छन्दनेन उद्योगं प्रापितः। करतलादिना प्रोत्साहितो वा उद्गायति सति गोपीजने इति शेषः। दारुयन्त्रवत् दारुनिर्मित पाञ्चालिकावत् तद्वशगः गोपी वश्यः मुग्धैवाऽनृत्यत्। नृत्यन्निति पाठे तद्वशः गोपीजनवशगस्सन् नृत्यन् उद्गायति॥ ९॥

क्वचिदाज्ञप्तः आनयेति नियुक्तः, पीठकादिक मानेतुं असमर्थ इव बिभर्ति उवाह, पीठकं विष्टरं उन्मानं प्रस्थादि। पीठभाजनपादुकमिति पाठे भाजनं कांस्यादिपात्रं तथा बाहुक्षेपं भुजचलनं कुरुते। किं कुर्वन्? गोपीनां प्रीतिमावहन्॥ १०॥

1- -1. A.B. इत्यादि श्लोकाः अधिकाः दृश्यन्ते 2. K. °ता° 3. K. °ख

**विज०** उन्मानं प्रस्थं पादुकं पादपीठं पादरक्षणं वा॥ ६ - १०॥

दर्शयं स्तद्विदांलोके ह्यात्मनो भक्तवश्यताम्।
व्रज स्योवाह वै हर्षं भगवान् बालचेष्टितैः॥ ११॥ ★

सरित्तीरगतं कृष्णं भग्नार्जुन मथाऽऽह्वयत्।
○ नोपेयातां यदाऽऽहूतौ क्रीडासङ्गेन पुत्रकौ॥
यशोदां प्रेषयामास रोहिणी पुत्रवत्सला॥ १२॥

क्रीडन्तं सा सुतं बालै रतिवेलं सहाग्रजम्।
यशोदाऽजोहवी त्कृष्णं पुत्रस्नेहस्नु तस्तनी॥ १३॥

कृष्ण कृष्णारविन्दाक्ष! तात! ए हि स्तनं पिब।
अलं विहारैः क्षुत्क्षान्तः त द्भवान्भोक्तु मर्हति ॥ १४॥

हे रामाऽऽगच्छ ताताऽऽशु सानुजः कुल नन्दन!
प्रात रेव कृताऽऽहारः क्री डाश्रान्तोऽसि पुत्रक !॥ १५॥

1. A,B,G,M आ° 2. A,B,G,V,M भृत्य 3. M° स्योद्वाहयन् ह° ★ Here V adds a half verse - गोपीनामन्तिके क्रीडन् भगवान्लोकभावनः। △ This half verse is found A & V edns. रामं च रोहिणी देवी क्रीडन्तौ बालकै र्भृशम्। 4. V °प° 5. V लीला° 6. A,G °लाम् 7. M स्व° 8. V वेगं 9. K,V चाह्वयत् 10. M,V वीक्ष्य 11. M स्रुत 12. V चै° 13. V क्षुच्छ्रान्तः; W क्षुद्भान्तः 14. A,G क्रीडाश्रान्तोऽसि पुत्रक! 15- -15. A,G तद्भवान् भोक्तुमर्हति।

**श्रीध० दर्शयन्निति**। तत् ऐश्वर्यं विदन्ति ये तेषां तद्विदाम्। एवं व्रजस्य हर्षं उवाहेति॥ ११ - १५॥

**वीर०** तद्विदां भगवद्वैभववेदिनां भक्त वश्यताञ्च दर्शयन्। एवं बालचेष्टितैः व्रजस्य व्रजस्थ जनस्य हर्षमुवाह आवहत्॥ ११॥

अथ तन्मायामोहितयोः यशोदारोहिण्योः कानिचिदाचरितान्याह - **सरिदित्यादिना**। भग्नौ अर्जुनौ येन तं सरितो यमुनायाः तीरस्थं[1] कृष्णमाह्वयत् एहीत्याहूतवती। यदा आहूतौ[2] क्रीडासङ्गेन नागच्छतां[3] तदा पुत्रवत्सला रोहिणी यशोदां प्रेषयामास॥ १२॥

सा रोहिण्या[4] प्रेषिता यशोदा अतिवेलं वेलां भोजनादिवेलां, अतिक्रान्तं बालकैस्सह क्रीडन्तं सरामं सुतं कृष्णमवलोक्य स्नेहेन स्नुतौ स्तनौ यस्यास्तथा भूता आजुहाव॥ १३॥

आह्वान प्रकारमेव दर्शयति - **कृष्णेति**[5] ॥ १४, १५॥

---

1. A.B. गतं 2. A.B. add अपि 3. A.B °च्छेतां 4. K.W ° णी ° 5. A.B. add सार्धैः चतुर्भिः

**विज०** तद्विदां भगवानेव अयं अवतीर्ण इति जानतां नारदादीनाम्॥ ११॥

नोपेयातां समीपं नाऽऽगतौ। अजोहवीत् आह्वयामास॥ १२ - १५॥

**प्रतीक्षते त्वां[1] दाशार्हं[2] भोक्ष्यमाणो व्रजाधिपः।**
**एह्यावयोः प्रियं[3] देहि स्वगृहान्यात[4] बालकाः॥ १६॥**

**धूलिधूसरिताऽङ्ग[5] स्त्वं! तात[6] मज्जन मावह! ★**
**जन्मर्क्षन्तेऽद्य[7] भवतो[8] विप्रेभ्यो देहि गा श्शुचिः॥ १७॥**

**पश्य पश्य वयस्यां स्ते मातृमृष्टा स्व[9] लङ्कृतान्।**
**त्वञ्च स्नातः कृताहारो विहरस्व स्वलङ्कृतः॥ १८॥**

**इत्थं यशोदा तमशेष शे[10]खरं मत्वा सुतं स्नेहनिबद्धधी र्नृप।**
**हस्ते गृहीत्वा सहराम मच्युतं नीत्वा स्ववाटं कृतवत्यथोदयम्॥ १९॥ ★**

**श्री[11] शुक उवाच[11]**

**गोप वृद्धा महोत्पाता ननुभूय बृहद्वने।**
**नन्दादय स्समागम्य व्रजकार्य ममन्त्रयन्॥ २०॥**

1. K.W. °वां° 2. K.M.W °र्हो 3. A.B.G.M. धेहि 4. V. यान्ति 5. K.W. तं तेऽङ्गं 6. A.B.G. पुत्र! ★ तिन्त्रिणी फलसंयुक्तं स्नानीयं तैलसंयुतम्। कल्पयित्वा प्रतीक्षेऽहं चिरं चञ्चल चेष्टितः॥ These two additional half verses are found in V edn after the first half of 17th verse 7. A.B.G °मद्य; K.W. °श्वाद्य 8. M भविता; V. भवति 9. K.W. °नल° 10. V. नाथं * The following verse is found in M. edition after the verse beginning with इत्थं यशोद :- अथ नन्द स्स माहूय गोपा निद मभाषत। श्वोऽतो बृन्दावनं योमो यत्ता भवथ मा चिरम्॥ 11- -11. A.G. omit

**श्रीध०** ★ "तं तु बृन्दावनं रन्तु मन्तः कृष्णेन यन्त्रिताः। स्वतन्त्रा इव नन्दाद्या मन्त्रमेत ममन्त्रयन्" ॥ **गोपवृद्धा** इति। व्रजकार्यं गोकुलस्य हितकृत्यम्॥ १६ - २०॥

★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः।

**वीर०** [1]दशार्हो व्रजाधिपो नन्दो भोक्ष्यमाणो वां भवन्तौ प्रतीक्षते। युवयोः आगमनं प्रतीक्षमाण आस्ते। आवयोः रोहिण्याः स्वस्याश्च प्रियं देहि। हे बालकाः! रामकृष्णानुचराः स्वगृहान् प्रति गच्छत॥ १६॥

[2]मज्जनं स्नानमावह कुरु। अद्य अस्मिन् अहनि भवतो [3]जन्मर्क्षं जन्मनक्षत्रम्। अतः शुचिः स्नातः विप्रेभ्यो गाः देहि॥ १७॥

मातृभिः स्नापितान् स्वलङ्कृतांश्च वयस्यान् त्वत्स्[4]वयस्कान् पश्य त्वमपि स्नातः स्वलङ्कृतः, कृतः आहारो येन तथा भूतो विहरस्व॥ १८॥

इत्थम् अशेषाणां बालानां शेखरं श्रेष्ठं ब्रह्मादिभ्योऽपि श्रेष्ठमिति वा। तथाभूतमपि तं केवलं सुतं मत्वा स्नेहेन निबद्धा धीः यस्याः तथाभूता हे नृप! सरामं अच्युतं हस्ते गृहीत्वा स्ववाटं स्वगृहं नीत्वा अथोदयं माङ्गलिकं कर्म कृतवती चकार॥ १९॥

एवं स्थिते कदाचित् गोपवृद्धाः पूतनाशकटादिकृतान् महोत्पातान् अनुभूय समागम्य समेत्य व्रजकार्यं गोकुलस्य हितकृत्यं आमन्त्रयन् आलोचितवन्तः बृन्दावनं गन्तु मिच्छता कृष्णेन अन्तरात्मना प्रेरिता आमन्त्रयन्निति भावः॥ २०॥

---

1. A.B दाशार्हे। 2. A.B add अहो 3. A.B omit जन्मर्क्षं 4. A.B समानव°

**विज०** व्रजाधिपः नन्दगोपः धेहि देहि। हे बालकाः॥ १६॥

धूलिधूसरिताङ्गः धूलिधूसरित सर्वं शरीरः॥ १७, १८॥

स्ववाटं स्वव्रजम्॥ १९, २०॥

**:- बृन्दावन प्रस्थानकथाप्रारम्भः :-**

**तत्रोपनन्द नामाऽह गोपो ज्ञान वयोऽधिकः।**
**देशकालार्थतत्त्वज्ञः प्रियकृद्राम कृष्णयोः॥ २१॥**

**उत्थातव्य मितोऽस्माभि र्गोकुलस्य हितैषिभिः।**
**आयान्त्यत्र महोत्पाताः प्रजानां[1] नाशहेतवः॥ २२॥**

**मुक्तः कथञ्चि द्राक्षस्या बालघ्न्या बालकोऽप्यसौ[2]।**
**हरे रनुग्रहान्नून मनश्चोपरि नाऽपतत्॥ २३॥**

**चक्र वातेन नीतोऽयं दैत्येन विपदं वियत्।**
**शिलायां पतित स्तत्र परित्रात स्सुरेश्वरैः॥ २४॥**

**यन्न म्रियेत द्रुमयो रन्तरं प्राप्य बालकः।**
**असा वन्यतमो वाऽपि तत्राऽप्यच्युत[3-] [-3] रक्षणम्[4]॥ २५॥**

---

1. B,G बालानां 2. A,B,G,M ह्यसौ 3- -3 B,G तदप्य° V तत्राप्य° 4. V रक्षितम्।

**श्रीध० चक्रवातेनेति।** विपदं वीनां पक्षिणां पदं विहारस्थानं, वियत् नभः[1] विगतप्रतिष्ठं वा, अपरिच्छिन्न[2] मित्यर्थः॥ २१ - २४॥

**यदिति।** अन्यतमो वा कश्चिद्बालः अच्युतेनैव रक्षणमासीत्॥ २५॥

1. V omits नभः 2- -2. A,B,J omit

**वीर०** तत्रोपनन्दनामा कश्चिद्गोपः स च गोपानां मध्ये ज्ञानेन वयसा च अधिकः देशकालानुगुण कर्तव्य प्रयोजनाभिज्ञः रामकृष्णयोः प्रियकृत्तावन्नन्दादीनाह॥ २१॥

उक्तमेवाह **उत्थातव्यमित्यादिना।** 'तच्छ्रुत्वे' त्यतः प्राक्तनेन। गोकुलस्य हितमिच्छद्भिः अस्माभिः इतो व्रजात् उत्थातव्यं निर्गन्तव्यम्। प्रजानां अत्रत्यानां नः नाशहेतवो बहवः उत्पाताः आयान्ति आयास्यन्ति॥ २२॥

अतीतास्त्वपरोक्षदृष्टा एवेत्याह - **मुक्त** इति। कथञ्चित् दैववशात् मुक्तः तथा भगवदनुग्रहात् अनः शकटमपि बालस्योपरि नापतत्॥ २३॥

तथा चक्रवातेन वीनां पक्षिणां पदं विहारस्थानं वियदाकाशं प्रति अयं बालो दैत्येन नीतः, वियदाकाशं ततो विपदम् आपदं च नीत इति वा। सुरेश्वरैः अस्मदिष्टदैवतैः परित्रातः॥ २४॥

कुतः यत् यस्मात् द्वयोः[1] अर्जुनयोः पततोः अन्तरं मध्यं प्राप्यापि[2] असौ बालकः अन्यतमो वाऽपि कश्चित् न मृतः तत्त्वाप्यच्युतेन[3] अस्मदिष्ट दैवतेन[4] रक्षणमासीत्॥ २५॥

---

1. A,B उभयोः 2. A,B omit अपि 3. A,B तदप्य° 4. A,B add एव

**विज०** तत्र नन्दादिषु॥ २१॥

इत उत्थातव्यम्॥ २२॥

अनश्च शकटश्च॥ २३, २४॥

असौ कृष्णो बालकः कृष्णादन्यतमो बालको न म्रियेत इति यत् तदप्यच्युत रक्षणम् अन्यबालकस्य मरणाभावः॥ २५॥

याव दौत्पातिकोऽरिष्टो व्रजं नाऽभिभवे दितः।
ताव द्वाला नुपादाय यास्यामोऽन्यत्र सानुगाः॥ २६॥

वनं बृन्दावनं नाम पशव्यं नव काननम्।
गोपगोपीगवां सेव्यं पुण्याद्रि तृणवीरुधम्॥ २७॥★

तत्तत्राऽद्यैव यास्याम श्शकटान् युङ्क्त[1] मा चिरम्।
गोधना न्यग्रतो यान्तु भवतां यदि रोचते॥ २८॥

श्रीशुक उवाच

तच्छ्रुत्वैकधियो गोपाः साधु साध्विति वादिनः।
व्रजान्[2] स्वान्स्वा न्समायुज्य[3] ययू रूढपरिच्छदाः॥ २९॥

वृद्धान् बालान् स्त्रियो राजन् सर्वोपकरणानि[4] च।
अनस्स्वारोप्य गोपाला यत्ता आत्तशरासनाः॥ ३०॥

---

★ तच्छ्रुत्वैकधियो गोपाः सर्वे नन्दपुरोगमाः। उपनन्दवचो राजन् प्रतिनन्द्य गृहा न्ययुः॥ The above verse is found in M edition, after the verse beginning with वनं बृन्दावनम्। 1.M. Ma युङ्ध्व 2. M स्थान् 3. V °यो° 4. M स्क°

**श्रीध० यावदिति।** अरिष्टः अनर्थः। इतः स्थानात्॥ २६॥

**वनमिति।** पशव्यं पशुभ्यो हितम्। नवानि काननानि स्थ[1]लान्तराणि विद्यन्ते यस्मिन् तत्॥२७,२८॥

**तदिति।** एकधियः विप्रतिपत्तिरहिताः। व्रजान् शकटव्यूहान्[2] रूढाः शकटेष्वारोपिताः[3] परिच्छदाः यैस्ते॥ २९॥

**वृद्धानिति।** यत्ताः कृतप्रयत्नाः॥ ३०॥

---

1. A.B.J. अवान्त° 2. A. यूथान् 3. A.B.J. °टादिष्वा०

**वीर०** यावदुत्पात प्रयुक्तोऽरिष्टोऽनर्थो व्रजं नाभिभवेत् न पीडयेत् तावदेव बालानादाय अन्यत्र[1] यास्यामः॥२६॥

क्व यास्याम इत्यत्राह — **वनमिति**। यत् बृन्दावनाख्यं वनं तत्र अद्यैव यास्यामः। कथम्भूतम्? पशव्यं पशुभ्यो हितं नवानि काननानि पर्यन्त वनानि यस्मिन् गोपादीनां सेव्यं वासयोग्यं पुण्याः रमणीया अद्र्यादयो यस्मिन्॥ २७॥

शकटान् युङ्क्त प्रस्थानयोग्यान् कुरुत। गोधननि च अग्रतो यान्तु। यदि मदुक्तं भवतां रोचते तर्ह्युत्थातव्यमिति शेषः॥ २८॥

तर्हि गोधनानि यान्त्विति तावदुपनन्दवचः श्रुत्वा गोपा एकधियः विप्रतिपत्तिरहितः व्रजान् शकटव्यूहान् समानीय रूढाः शकटेषु आरोपितः परिच्छदाः उपकरणानि यैस्ते, ययुः जग्मुः॥ २९॥

तदेव प्रपञ्चयति — **वृद्धानिति**। हे राजन्! वृद्धादीन्[2] अनस्सु शकटेषु आरोप्य यत्ताः[3] सन्नद्धाः आत्तानि गृहीतानि शरासनानि धनूंषि यैस्तथा भूताः॥ ३०॥

---

1. K.W. omit अन्यत्र 2. K.W. omit वृद्धादीन् 3. A.B. omit यत्ताः

**विज०** औत्पातिकः उत्पातसम्बन्धी अनर्थकरः इतो बृहद्वनात् तावत् ततः पूर्वमेव॥ २६॥

पशव्यं पशुभ्यो हितं, पुण्याद्रयः पुण्यवृक्षाः तृणानि वीरुधगुल्मानि यत्र तत्तथा तद्वीरुधशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति। "पर्वताद्री नगावगौ" (अम.को. 3-175) इति च॥ २७॥

युङ्ध्वं योगं कुरुध्वम्॥ २८॥

तदुपनन्दस्य वचनं एकधियः एकस्मिन्नर्थे गतबुद्धयः[1]। रूढपरिच्छदाः शकटाधिष्ठित भाण्डादिसाधनाः॥ २९॥

अनस्सु शकटेषु॥ ३०॥

---

1. A.B. नत

गोधनानि पुरस्कृत्य शृङ्गाण्यापूर्य सर्वतः।
तूर्यघोषेण महता ययुः[1] सह पुरोहिताः[1]॥ ३१॥

गोप्यो रूढरथा नूत्नकुच[2]कुङ्कुमकान्तयः[2]।
कृष्णलीलां जगुः प्रीता[3] निष्ककण्ठ्यस्सुवाससः॥ ३२॥

तथा[5] यशोदारोहिण्यावेकं शकटमास्थिते।
रेजतुः कृष्णरामाभ्यां तत्कथा श्रवणोत्सुके[6]॥ ३३॥

बृन्दावनं सम्प्रविश्य[7] सर्वकालसुखावहम्।
तत्र चक्रुर्व्रजावासं शकटै रर्धचन्द्रवत्॥ ३४॥

बृन्दावनं गोवर्धनं यमुना पुलिनानि च।
वीक्ष्यासी दुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप[8]॥ ३५॥

---

1. ते ययुस्सपुरोहिताः K,W ययुः सह परिच्छदाः 2. M नृत्यत्कुच 3. V प्रीत्या 4. M स्निग्ध 5. V तदा 6. K,W °त्सवे 7. K,W समा 8. K,W केशवयो°

**श्रीध० गोप्य** इति। नूत्नैः[1] कुचगतैः कुङ्कुमैः कान्तिर्यासां ताः, नूत्नेषु कुचेषु यत्कुङ्कुमं तेन कान्तिः यासामिति वा[2]॥ ३१-३३॥

**बृन्दावनमिति**। व्रजावासं गोकुल[3]वसति स्थानम्॥ ३४,३५॥

---

1. A adds नवीनैः 2. V omits वा 3. A °लस्य

**वीर०** शृङ्गाणि[1] विषाणान् आपूर्य मुखमारुतैः ध्वनयित्वा महता तूर्यघोषण सह ययुः[2]॥ ३१॥

रूढाः आरूढाः रथाः याभिः नूत्नैः[3] कुचगतैः कुङ्कुमैः कान्तिः यासां, नूत्नेषु कुचेषु कुङ्कुमं तेन कान्तिः यासां वा, निष्काः पतकाख्याः कण्ठेषु यासां, स्निग्धकण्ठ्य इति पाठे मधुरस्वनाः प्रीताः कृष्णस्य लीलां जगुः॥ ३२॥

एकं शकटमास्थिते आरुह्य स्थिते रामकृष्णाभ्यां सह रेजतुः, ताभ्यां सहैकं शकटमास्थिते रेजतुरिति वाऽन्वयः। कथम्भूते? तस्य कृष्णस्य कथायाः श्रवणे उत्सवः औत्सुक्यं ययो स्ते॥ ३३॥

अर्धचन्द्रवत् अर्धचन्द्रतुल्य सन्निवेशं व्रजावासं गोकुलस्थानं चक्रुः॥ ३४॥

हे नृप! वीक्ष्य सञ्चरतोः अवस्थितयो र्वेति शेषः॥ ३५॥

---

1. A,B add गोपाः गृहीतधनुष्काः 2. A,B add सह पुरोहिताः सगुरवः जग्मुरित्यर्थः। 3. K नूत्नाः

**विज०** नृत्यत्सु कुचेषु कुङ्कुमादिकान्तिः यासां तास्तथा। स्निग्धकण्ठ्य कण्ठगुणोपेताः॥ ३१,३२।

अर्धचन्द्रवत् अर्धचन्द्राकारवत्॥ ३३ - ३५॥

**एवं व्रजौकसां प्रीतिं यच्छन्तौ बालचेष्टितैः[1]।**
**कलवाक्यैस्स्व[2] कालेन वत्स पालौ बभूवतुः॥ ३६॥**

**अविदूरे व्रजभुव स्सहगोपालबालकैः[3]।**
**चारयामासतु र्वत्सा न्नानाक्रीडापरिच्छदौ॥ ३७॥**

**★क्वचि द्वादयतो वेणुं[4] क्षेपणैः क्षिपतः क्वचित्।**
**क्वचित्पदैः[5] किङ्किणीभिः क्वचित्कृत्रिमगोवृषैः॥ ३८॥**

**वृषाय माणौ नर्दन्तौ युयुधाते परस्परम्।**
**अनुकृत्य स्तैर्जन्तूंश्चेरतुः प्राकृतौ यथा॥ ३९॥**

**:- वत्सासुर घट्ट :-**

**कदाचि द्यमुनातीरे वत्सांश्चारयतोः स्वकैः।**
**वयस्यैः कृष्णबलयो र्जिघांसु र्दैत्य आगमत्॥ ४०॥**

---

1. A. °तौ 2. A.K.W °वाक्यौ स्व°; M वाक्यैश्च 3. A.B.G.V. दारकैः * Here V. edition reads four half verses as follows क्वचि द्वादयतो वेणुं क्षेपन्तो क्षेपणैः क्वचित्। (क्वचित्पदैः किङ्किणीभिः क्षिपतश्च क्वचित्पुनः) वृषायमाणौ नर्दन्तौ क्वचित्कृत्रिमगोवृषैः। गोपै रुद्धानुचरितौ युयुधाते परस्परम्। 4. M वेणून् 5. A.B.G. °त्पादैः

**श्रीध० एवमिति।** स्वकालेन [1-]वत्सपालन योग्य[-1]कालेन॥ ३६॥

कौमारलीलां निरूपयति **अविदूर** इत्यादिना॥ ३७॥

**क्वचिदिति।** क्षेपणैः बिल्वामलकादिभिः [2-]क्षिपतः दूरे चालयतः[-2]। किङ्किणी युक्तैः पादैः क्षिपतस्ताडयतः[3]॥ ३८॥

**वृषायमाणाविति।** वत्सपाला एव द्विव्राः[4]। कृष्णकम्बलादि[5] पिहिताः वृषाणुकारिणो[6] नर्दन्ति[-6]। तैस्सह स्वयमपि तथैव वृषायमाणौ नर्दन्तौ तदनुकारिशब्दान् कुर्वन्तौ युयुधाते इत्यर्थः॥ रुतैः शब्दैः जन्तून् हंसमयूरादीन्॥ ३९,४०॥

---

1- -1. B.J.V. तद्योग्य० 2- -2. V. omits 3. A adds वृक्षादीनिति शेषः। 4. V. वृषाः 5. A.B.J. omit कृष्ण 6- -6. A.B.J. वृषरूप मनुकुर्वन्ति

**वीर०** कलान्यव्यक्त मधुराणि वाक्यानि ययो स्तौ रामकृष्णौ बालचेष्टितैः व्रजौकसां प्रीतिमावहन्तौ स्वकालेन कौमारप्राप्ति योग्यकालेन वत्सपालौ बभूवतुः॥ ३६॥

अथ कौमारलीलां वर्णयति - **अविदूर** इत्यादिना या[1-]वत्समाप्ति[-1]। व्रजभुवः बृन्दावनस्थ व्रजभूमेरविदूरे समीपे नानाविधाः क्रीडापरिच्छदाः क्रीडोपकरणानि ययोस्तौ वत्सान् चारयामासतुः॥ ३७॥

तदेव प्रपञ्चयति - वादयतः क्षिपत इति च लटो द्विवचनम्। क्षेपणैः बिल्वामलकादिभिः ताडन साधनैः गोपालकान्[2] क्षिपतः ताडयतः क्वचिच्च किङ्किणीयुक्तैः पदैश्च क्षिपतः क्वचित्कृत्रिम गोवृषैः जानुभ्यां हस्ताभ्यां च भुवि चरद्भिः[3] कृष्णकम्बलादि[4] पिहिताङ्गैः वृषानुकारिभिः तथैव नर्दद्भिः[5] गोपैः सह स्वयमपि वृषायमाणौ तदनुकारिशब्दान् कुर्वाणौ मिथो युयुधाते, युद्धं कुर्वति इत्यर्थः। तथा रुतैः शब्दैः जन्तून् हंसमयूरादीन् अनुकृत्य यथाप्राकृतौ बालौ तद्वच्चेरतुः॥ ३८, ३९॥

अथ वत्सासुर वधात्मकं चेष्टितं अनुवर्णयति — **कदाचिदित्यादिना।** स्वकैः वयस्यैः सह कृष्णबलयोः वत्सान् चारयतोः सतोः तौ हन्तुमिच्छुः दैत्य आजगाम॥ ४०॥

---

1- -1. K.W. omit 2. A.B. गोपबाल० A.B. सब्ब० 4. A.B. ०दिना 5. A.B. नदद्भिः

**विज०** अविदूरे समीपे॥ (३६), ३७॥

क्षेपणैः अश्मयन्त्रैः पदैः पादैः कृत्रिम गोवृषैः मृद्दारुकृत गोवृषैः॥ ३८॥

वृषायमाणौ वृषवद्वर्धमानौ नर्दन्तौ वृषभशब्दं कुर्वन्तौ अनुकृत्य विडम्ब्य॥ ४०॥

**तं वत्सरूपिणं वीक्ष्य वत्सयूथगतं हरिः।**
**दर्शयिन्बलदेवाय शनै र्मुग्ध इवाऽऽसदत्॥ ४१॥**

गृहीत्वाऽऽपरपादाभ्यां सहलाङ्गूल मच्युतः।
भ्रामयित्वा कपित्थाग्रे प्राहिणोद्गतजीवितम्॥ ४२॥

सकपित्थै र्महाकायः पात्यमानैः पपात ह।
तं वीक्ष्य विस्मिता बाला श्शशंसु स्साधु साध्विति।
देवा श्चोपरि[1] सन्तुष्टा वर्षुः[2] पुष्पसन्ततिम्[3]॥ ४३॥

-: बकासुरवधघट्टः :-

तौ वत्स पालकौ भूत्वा सर्वलोकैकपालकौ।
सप्रातराशौ गोवत्सां श्चारयन्तौ विचेरतुः॥ ४४॥

स्वं स्वं वत्सकुलं सर्वे पालयिष्यन्त[4] एकदा।
गत्वा जलाशयाभ्याशं पाययित्वा पपुर्जलम्॥ ४५॥

---

1. A,B,G श्च 2. A,B,G बभूवुः 3. A,B,G,M,V. वर्षिणः 4. A,B,G,M,V °य°

**श्रीध० तमिति।** मुग्ध इवाजानन्निव आसदत् समीपमागमत्॥ ४१॥

**गृहीत्वेति।** अपरपादाभ्यां सह लाङ्गूलं यथा भवति तथा गृहीत्वा॥ ४२, ४३॥

**ताविति।** सर्वेषां लोकानां एकौ मुख्यौ पालकौ प्रातराशः प्रातर्भोज्यं अन्नं तेन[1] सहितौ॥ ४४॥

**स्वमिति।** अभ्याशं समीपम्॥ ४५॥

---

1. A,B,J तत्स०

**वीर०** तं दैत्यं वत्सरूपधरं वत्ससमूहान्तःप्रविष्टं वीक्ष्य ज्ञात्वा बलदेवाय दर्शयन् स्वयं शनैः मुग्ध इव अनभिज्ञ इव[1] समीपे[2] जगाम॥ ४१॥

अपरपादाभ्यां सह लाङ्गूलं पुच्छं गृहीत्वा तत एव गतं जीवितं जीवनं यस्य तं, कपित्थस्य वृक्षस्याग्रे प्राहिणोत् उदक्षिपत्॥ ४२॥

महाकायत्वेन दुर्भरत्वात् वोढुम् अशक्तैः पात्यमानैः कपित्थाग्रैः करणैस्सह तौ भुवि पातितं पतितम् अवलोक्य साधु साध्विति शशंसुः॥ ४३॥

अथ बकासुरवधात्मकं चरित्रमाह - **तावित्यादिना।** सर्वलोकैकपालकावपि वत्सपालौ भूत्वा एकदा प्रातः भोक्तव्य पर्युषितान्न सहितौ गवां वत्सान्चारयन्तौ विचेरतुः॥ ४४॥

सर्वे रामकृष्णप्रधानाः गोपालाः स्वं स्वं वत्ससमूहं पालयिष्यन्तः तावत् जलाशयस्याभ्याशं समीपं गत्वा वात्सान् जलं पाययित्वा स्वयमपि पपुः अपिबन्॥ ४५॥

---

1. A,B °वत् 2. A,B add तत्

**विज०** अपरपादाभ्यां प्राहिणोत्॥ ४१,४२॥

कपित्थैः कपित्थशाखायुक्तफलैः कृष्णोपरि॥ ४३॥

सप्रातराशौ प्रातर्भोजनसहितौ॥ ४४॥

जलाशयाऽभ्याशं जलस्थानं महासुर इत्यर्थः। "स्थानेऽभिप्राय आशयः"(वैज.को. 7-5-17) इति॥ ४५॥

**ते तत्र ददृशु र्बाला महासत्त्व मवस्थितम्।**
**तत्रसु र्वज्रनिर्भिन्नं गिरेः[2] शृङ्ग मिव च्युतम्॥ ४६॥**

**स वै बको नाम महा नसुरो बक रूप धृत्[3]।**
**आगत्य सहसा[4] कृष्णं तीक्ष्ण तुण्डोऽग्रसद्बली॥ ४७॥**

**कृष्णं महाबकग्रस्तं[5] दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः।**
**बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणैः[6] विचेतसः॥ ४८॥**

**तं तालुमूलं प्रदहन्तमग्निव द्गोपालसूनुं पितरं जगद्गुरोः।**
**चच्छर्द सद्योऽतिरुषाऽक्षतं बक स्तुण्डेन हन्तुं पुनरभ्यपद्यत॥ ४९॥**

**तमापतन्तं स निगृह्य तुण्डयो र्दोर्भ्यां बकं कंससखं सतां गतिः[7]।**
**पश्यत्सु बालेषु ददार लीलया मुदावहो वीरणवद्दिवौकसाम्॥ ५०॥**

---

1. K,W निर्भिन्न; M सम्भिन्न; V भिन्नस्य 2. K,W °रिशृ° 3. B,G,M °क् 4. A,M तरसा 5. M °ऽसुरं 6. A,B,G,K,W °णं 7. B,G पतिः

**श्रीध० कृष्णमिति।** राम आदिर्येषां ते। अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिः। तस्मात् न तु राम इत्यर्थो बोध्यः ॥ ४६ - ४९॥

**तमिति।** तुण्डयोः चञ्च्वोः, वीरणवत् अग्रन्थितृण विशेषवत्॥ ५०॥

---

1- -1. A,B,J omit 2- -2. A,B,J omit

**वीर०** तत्राऽवस्थितं सत्त्वं जन्तुं ददृशुः तत्रसुः अभिमयुश्च। कथम्भूतम्? वज्रेण निर्भिन्नं अत एव च्युतं गिरेः शृङ्गमिव स्थितम्॥ ४६॥

स वै सत्त्वः बकाख्यो महान् असुरो बकरूपधरः। सहसेति आकस्मिकविमर्श द्योतकम् अव्ययम्। तीक्ष्णतुण्डो निशित चञ्चुः बली कृष्णं अग्रसत्॥ ४७॥

प्राणं विना इन्द्रियाणीव, कृष्णं विना विचेतसः अचेतनप्राया बभूवुः। रामादय इत्यतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः। न तु रामः इत्यर्थः॥ ४८॥

जगद्गुरोः ब्रह्मणः पितरमपि लीलया गोपाल सूनुं अग्निवत्तालुमूलं प्रदहन्तं तं कृष्णं सद्य एव चच्छर्द उदगिरत्, तं अक्षतं कृष्णं तुण्डेन हन्तुं रुषा पुनरभ्यपद्यत अभिमुखं आपद्यत॥ ४९॥

स कृष्णः तमापतन्तं कंससखं कंस हितकरं बकं निगृह्य हुङ्कारेण निवार्य बालेषु पश्यत्सु सत्सु दोर्भ्यां लीलया तुण्डयोः चञ्च्वोः ददार विदारितवान्। चञ्च्वोः नितरां गृहीत्वा ददारेति वा अन्वयः। कथम्? वीरणवत् ग्रन्थिरहिततृणविशेषवत्। कथम्भूतः? सतां भक्तानां गतिः स्वप्राप्त्युपायः दिवौकसां मुदमावहतीति तथा। तद्वधेन देवानां मुदमुत्पादयामासेत्यर्थः॥ ५०॥

---

1. A,B °नो 2. K,W omit इत्यर्थः। 3. A,B omit तं 4- -4. K,W omit 5. K,W omit कथम्? 6. K,W omit भक्तानां 7- -7. K,W omit

**विज०** महासत्त्वं महान् सत्त्वः पराक्रमो व्यवसायो वा यस्य स तथा तम्। "सत्त्वो स्त्री जन्तुषु क्लीबे व्यवसाये पराक्रमे। आत्मभावे पिशाचे च द्रव्ये सत्ता स्वभावयोः" (वैज०.को. 6-5-93) इति यादवः॥ ४६॥

स महासत्त्वो महासुरो वै एव। "स्युरेवन्तु पुनर्वैत्यव धारण वाचकाः" (अम.को. 3-427) इत्यमरः ॥ ४७॥

विचेतसः ज्ञानहीनाः पाषाणकल्पाः॥ ४८॥

जगद्गुरोः हिरण्यगर्भस्य पितरं अक्षतं पुनः अतिरुषा तुण्डद्वयेन कृष्णं हन्तुं अभ्यपद्यत॥ ४९॥

कटस्य उपादानं तृणं वीरणम्। "वीरणं श्रीतृणं विदुः" (वैज.को. 3-3-231) इति॥ ५०॥

**तदा बकारिं सुरलोक वासिन स्समाकिर न्नन्दन मल्लिकाविभिः।**
**समीडिरे चाऽऽनकशङ्खसंस्तवै स्तद्वीक्ष्य गोपालसुता विसिस्मिरे॥ ५१॥**

**मुक्तं बकाऽऽस्या दुपलभ्य बालका[1] रामादयः प्राण मिवैन्द्रियो गणः।**
**स्थानागतं[2] तं परिरभ्य निर्वृताः प्रणीय वत्सान् व्रज मेत्य तज्जगुः॥ ५२॥**

**श्रुत्वा तद्विस्मिता गोपा गोप्यश्चाऽति प्रियादृताः।**
**प्रेत्याऽऽगत मिवौत्सुक्या दैक्षन्त तृषितेक्षणाः॥ ५३॥**

**अहो बताऽस्य बालस्य बहवो मृत्यवोऽभवन्।**
**अप्यासी द्विप्रियं तेषां कृतं पूर्वं यतो भयम॥ ५४॥**

**अथाऽप्यभिभवन्त्येनं नैवैते[3] घोरदर्शनाः।**
**जिघांसयैन मासाद्य नश्यन्त्यग्नौ पतङ्ग वत्॥ ५५॥**

---

1. K,W दारकाः ; V बालकं 2. A प्रत्यागतं 3 A,B,G,M नैव ते

**श्रीध० तदेति।** समीडिरे तुष्टुवुः आनकैः पटहैः[1] शङ्खैः अन्यैश्च संस्तवैस्सह॥ ५१॥

**मुक्तमिति।** स्वस्थानमागतं प्राणमिव कृष्णं च प्रणीय एकीकृत्य॥ ५२॥

**श्रुत्वेति।** अति प्रियेण अति[2] प्रीत्या आदृताः सादराः प्रेत्याऽऽगतामिव लोकान्तरादाऽऽगतमिव तृषितानि अतृप्तानि अमृतं पिबन्तीव ईक्षणानि येषां ते॥ ५३॥

**अहो** इति। 'अहो बत' इत्यादिश्लोकत्रयस्य 'इति नन्दादयः' इत्यनेन अन्वयः। अपि एव मपि तेषामेव अनिष्ट मासीत्, यतः तैः पूर्वं अन्येषां भयं कृतम्॥ ५४॥

**अथेति।** अथ घोरदर्शनाः अपि नाभिभवन्ति न धर्षयन्ति॥ ५५॥

---

1. A,B,J omit पटहैः 2. B,J,V omit अति

**वीर०** तदा नन्दनन्दनजाभि: मल्लिकादिभि: बकारिं कृष्णं समाकिरन्। भेरीशङ्खरवसहितै: स्तोत्रै: तुष्टुवुश्च। गोपालसुतास्तु बकवधं वीक्ष्य नितरां विस्मिता बभूवु:॥ ५१॥

स्वस्थानं प्रत्यागतं प्राणमिन्द्रियाणां गण इव बकस्य मुखान्मुक्तं कृष्णं प्राप्य आलिङ्ग्य च सुखिता:, वत्सान् प्रणीय एकीकृत्य व्रजमागत्य तद्बकासुरवधात्मकं कर्म गोपेभ्यो जगदु:॥ ५२॥

तद्गोपबालगदितं श्रुत्वा विस्मिता: अतिप्रियेणाऽऽदर युक्ता: आगत्य प्रेत्यागतमिव लोकान्तरादागत मिव तृषितानि अतृप्तानि अमृतं पिबन्तीव ईक्षणानि येषां तथाभूता: औत्सुक्यात् ऐक्षन्त अपश्यन्॥ ५३॥

'अहो' इत्यादि श्लोकत्रयस्य 'इति नन्दादय:' इत्युत्तरत्रान्वय:। अहो इत्याश्चर्ये। बतेति खेदे। तत्र खेद हेतुं विशदयन्ति। अस्य बालस्य मृत्युहेतवो बहवोऽभवन्, अपि तथापि तेषामेव विप्रियं दु:खमासीत्। युक्तमेवैतदित्याहु:। पूर्वं जन्मान्तरे यतो येभ्य: भयं कृतं तेभ्य एव तेषां भयमुपस्थितमित्यर्थ:॥ ५४॥

एते घोरदर्शना अपि एनं बालं कृष्णं नाभिभवन्ति न धर्षयन्ति। किन्तु हन्तुं इच्छया एनं बालं आसाद्य स्वयमेव नश्यन्ति। यथा अग्नौ पतङ्गा: शलभा: तद्वत्॥ ५५॥

---

1. K,W omit वन 2- -2. K,W omit 3. A,B °पालग° 4 A,B, °मुत्थित° 5. K,W omit कृष्णं 6- -6. A,B omit

**विज०** विसिस्मिरे विस्मिता:॥ ५१॥

पूर्वस्थित माश्रमस्थानं प्रणीय नीत्वा तद्बकासुरहिंसन लक्षणं कृष्णचरितम्॥ ५२॥

कृष्णे अतिशयेन प्रियेण आदरेण युता: तृषितेक्षणा: अलम्बुद्धिरहित नेत्रा:॥ ५३॥

बत खेदे, यत: येभ्य: भयं तेषां विप्रियं कृतं आसीत्। अपि स्वित्॥ ५४॥

अथापि तथापि, एते एनं नाभि भवन्ति; प्रत्युत, जिघांसया हननेच्छया एन मासाद्य अग्नौ पतङ्ग इव शलभ इव नश्यन्ति॥ ५५॥

**अहो ब्रह्मविदां वाचो नाऽसत्या स्सन्ति कर्हिचित्।**
**गर्गो यदाऽऽह भगवा नन्वभावि तथैव तत्॥ ५६॥**

**इति नन्दादयो गोपा: कृष्णराम कथां मुदा।**
**कुर्वन्तो रम माणाश्च नाऽविन्दन्भव वेदनाम्॥ ५७॥**

**एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतु र्व्रजे।**
**निलायनै स्सेतुबन्धै मर्कटो[3] त्प्लवनादिभिः॥५८॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
वत्सबकवधो नाम एकादशोऽध्यायः॥११॥

---

1. V कथाः 2. V नीडा° 3. V °टप्लव°

**श्रीध० अहो** इति। गर्गो यदाह - "तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायण समो गुणैः" (भाग. 10-8-19) इत्यादि॥५६,(५७,५८)॥

★ वत्सयूथागतं हत्वा वत्सदम्भासुरं हरिः। मुनियूथ गतं चाहन्नग्रण्यं दम्भिनां बकम्॥

---

★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः।

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां एकादशोऽध्यायः॥११॥

**वीर०** अहो ब्रह्मविदां वाचः कदाचिदपि असत्या न सन्ति न भवन्ति। तथा हि भगवान् गर्गो यथाह "नारायणसमो गुणैः" (भाग. 10-8-19) इति तत्तथैव अस्माभिः अन्वभावि अन्वभूयत॥५६॥

भववेदनां सांसारिक क्लेशं नाविन्दन्न प्रापुः॥५७॥

एवंविधैः कौमारैः कौमार चेष्टितैः तान्येव कानिचित् दर्शयति। निलायनैः निलयकरणानुकारिभिः एवं उत्तरत्रापि। व्रजे कौमारं कौमारावस्थां जहतुः अतिक्रान्त वन्तौ॥५८॥

इति श्रमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवत चन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकादशोऽध्यायः॥११॥

---

1. A,B,W अनु

**विज०** पुरुषेण ब्रह्मज्ञानमेवापाद्यमिति भावेनाऽऽह - **अहो** इति। असत्या नाभूवन्निति कुतो ज्ञायत इति तत्राह - गर्ग इति॥ ५६॥

भववेदनां संसारदुःखम्॥ ५७॥

कौमारैः कुमारावस्थासम्बन्धिभिः विहारैः क्रीडाविशेषैः कौमारं जहौ कृष्णः। तत्राऽऽपञ्चमाब्दात् बाल्यं, आनव वर्षात् पौगण्डं, आषोऽशवर्षात् कैशोरम्। कश्चित्स्तम्भमूले निलीय तिष्ठति। अन्यस्तु अन्विष्य तं दृष्ट्वा गृह्णातीति या क्रीडा तन्निलायनम्। हस्तेन शरीरेण वा मृत्तिकया वा जलनिवारणं सेतुबन्धः, यथा मर्कटो वानरो विटपाद्विटपान्तरं उत्प्लवति, उत्पतति। तथा आकाशे उत्तुङ्ग मृत्तिकात्तं शिंशुमाराकारोपरि शिरसि पदं निधाय पतनमुत्प्लवनं, पांशुभिस्तौ मणिं निधाय तदुपरि हस्तं निदधाति एकः, एकस्त्वन्विष्य गृह्णातीति आदिशब्द गृहीतम्॥ ५८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

(विजयध्वजरीत्या द्वादशोऽध्यायः)

# द्वादशोऽध्यायः

## (विजयध्वजीये अयमध्यायो नाऽस्ति)

### अघासुरवधारम्भघट्टः

श्रीशुक उवाच

क्वचिद्वनाशाय मनो दधद्व्रजात् प्रातस्समुत्थाय वयस्यवत्सपान्।
प्रबोधयन् शृङ्गरवेण चारुणा विनिर्गतो वत्सपुरस्सरो हरिः॥ १॥

तेनैव [1]साकं पृथुकास्सहस्रशः स्निग्धाः[2] सुशिग्वेत्रविषाण वेणवः।
स्वान् स्वान् सहस्रोपरिसंख्ययान्वितान् वत्सान् पुरस्कृत्य विनिर्ययुर्मुदा॥ २॥

कृष्णवत्सैरसंख्यातैः[3] यूथीकृत्य स्वकान्[4] स्वकान्।
चारयन्तोऽर्भलीलाभिः विजहुस्तत्र तत्र हि॥ ३॥

फलप्रवालस्तबक सुमनः पिञ्छ[5] धातुभिः।
काच गुञ्जामणिस्वर्ण भूषिता अप्यभूषयन्॥ ४॥

मुष्णन्तोऽन्योन्य शिक्यादीन् ज्ञातानाराच्च चिक्षिपुः।
तत्रत्यांश्च [6]ततो दूराद्धसन्तः पुनराददुः[7]॥ ५॥

---

1. A सार्धं 2. V °ग्धान्न° 3. K,W °ख्येयैः 4- -4. A,B,G स्ववत्सकान्। 5. A,B °च्छ° 6. A,B,G पुनर्दू° 7- -7. A,B,G °न्तश्च पुनर्ददुः

### श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्वादशे तु महासर्पवपुर्धरमघासुरम्।
वत्सपालगिलं क्रुद्धो गलेऽहन्निति वर्ण्यते॥

महाबक गलक्रीडा केवलस्य न कौतुकम्।
इति वाऽघासुरमुखे स सखः प्राविशद्धरिः॥

क्वचिदिति। क्वचित्कदाचित् वनाशाय वन एव प्रथमं भोजनं कर्तुम्॥ १॥

**तेनेति।** तेनैव शृङ्गरवेण, श्रीकृष्णेन वा [1]सह पृथुकाः बालाः स्निग्धाः स्नेहयुक्ताः। शिक्, शिक्यं रम्याः शिग्वेत्रादयो येषां ते, सहस्राधिक संख्यायुक्तान् वत्सान्॥ २,३॥

**फलेति।** काचादिभिः पूर्वं मातृभिः भूषिता अपि पुनस्स्वयं फलप्रवालादिभिः आत्मानमभूषय न्नित्यर्थः॥ ४॥

**मुष्णन्त** इति। मुष्णन्त श्चोरयन्तः॥ ५॥

---

1. V omits सह 2- -2. B,J,V omit 3- -3. B,J,V फलादिभिः

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इतः प्रभृति अध्यायत्रयं प्रक्षिप्तमिति व्यासाचार्यैः उपेक्षितम्, अथापि प्रायशो व्यवह्रियमाणत्वात् कैश्चिद्व्याख्यातत्वाच्च व्याख्यायते। अत्राद्येनाघासुरवधात्मकं चरित्रमनुवर्ण्यते **क्वचिदित्यादिना।** कदाचिद्भगवान् प्रातरुत्थाय सवयस्कान्वत्सपान्प्रबोधयन् वन एव प्रथम भोजनाय मनः कुर्वन् वत्साः पुरस्सरा यस्मात्तथाभूतः चारुणा विषाणानां रवेण व्रजात् विनिर्जगाम॥ १॥

तथा शिक् शिक्यं शोभनाः शिक्यादयो येषां ते स्निग्धः परस्परानुरागयुक्ताः पृथुका बालकास्सहस्रशः तेनैव कृष्णेनैव सह सहस्रात् उपरिसंख्यया। अन्वितान् परिच्छिन्नान् स्वस्ववत्सान् पुरस्कृत्य मुदा विनिर्ययुः॥ २॥

ततः स्वस्ववत्सान् संख्यातैः कृष्णस्य वत्सै स्सह संङ्गीकृत्य चारयन्तः तत्र तत्र अर्भक लीलाभिः विहृत-वन्तः॥ ३॥

तदेव प्रपञ्चपति - **फलेनेति** सप्तभिः। पूर्वं मातृभिः काचादिभिः भूषणैः भूषिता अपि फलादिभिः आत्मानम् भूषयन्तत्र प्रवालाः पल्लवाः तेषां स्तबकैः पुष्पस्तबकैश्च युक्तैर्दामभिः मालाभिः॥ ४॥

अन्योन्येषां शिक्यादीन्। आदि शब्देन वेत्रविषाण वेणूनां सङ्ग्रहः, मुष्णन्त श्चोरयन्तः ज्ञातान् शिक्यादीनारादूरे चिक्षिपुः। तत्रत्यान् तान् पुन स्तत आरात् क्षिपन्तो हसन्तः पुन राददुः ॥५॥

---

1. A,B,J आरभ्य 2. A,B,समानव° 3. A,B,W ° च्छ° 4. K,W omit सप्तभिः। 5. K,W omits मालाभिः 6. A,B add सन्तः

**त्रयोऽध्यायाः (12,13,14) विजयध्वजव्याख्यात ग्रन्थे न सन्ति। अतो नाऽस्ति व्याख्यानम्।**

**यदि दूरं गतः कृष्णो वनशोभेक्षणाय तम्।**
**अहम्पूर्वमहम्पूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे॥ ६॥**

केचिद्वेणून्[2] नादयन्तो ध्मान्तः शृङ्गाणि केचन।
केचिद्भृङ्गैः प्रगायन्तः कूजन्तः कोकिलैः परे॥७॥

विच्छायाभिः प्रधावन्तो गच्छन्त स्साधुहंसकैः।
बकैरुपविशन्तोऽन्ये[3] नृत्यन्तश्च कलापिभिः॥८॥

विकर्षन्तः कीशबालानारोहन्तश्च तैर्द्रुमान्।
विकुर्वन्तश्च तैस्सार्कं[4] प्लवन्तश्च[5] पलाशिषु॥९॥

साकं भेकै र्विलङ्घन्तः सरित्तोय[6-] परिप्लुताः[-6]।
विहसन्तः[7] प्रतिच्छायाः शपन्तश्च प्रतिस्वनान्॥१०॥

---

1. V वनोद्देशेक्षणाय 2. A,B,G वा° 3. A,B,G° न्तश्च 4. G °र्धं 5. K,W वलन्तश्च 6- -6. A,B,G सरित्प्रस्रवसम्प्लुताः 7. V हसन्तश्च

**श्रीध० यदीति।** यदि दूरं गतः कृष्णो भवति तर्हि॥६॥

**केचिदिति।** ध्मान्तः मु[1-]खवायुं शृङ्गेषु उत्सृजन्तः गायन्तः[-1] वादयन्तः भृङ्गैस्सह॥७॥

**विच्छायाभिरिति।** विच्छायाभिः प[2-]क्षिणां छा[-2]याभिः, कलापिभिः मयूरैश्च॥८॥

**विकर्षन्त** इति। कीशबालान् वृक्षशाखासु लम्बमानानि वानरलाङ्गूलानि विकर्षन्तः[3] लाङ्गूलानि[4] अमुञ्चन्तः तैस्सह द्रुमानारोहन्तः, विकुर्वन्तः दन्त दर्शन भ्रूविजृम्भादिभिः तैस्सह विकारान् कुर्वन्तः, पलाशिषु वृक्षेषु प्लवन्तः शाखायाः शाखान्तरमुद्रच्छन्तः॥९॥

**साकमिति।** प्रतिच्छायाः प्रतिबिम्बानि हसन्तः[5]॥१०॥

---

1- -1. A,B,J omit 2- -2. A,B,J पक्षिच्छा° 3. A,B,J आ 4. A,B,J °लं 5.A,B,J omit हसन्तः

**वीर०** वनशोभा दर्शनार्थं यर्हि कृष्णो दूरं गतो भवति।[1] तं कृष्णमहमेव पूर्वं स्पृशामीत्येवं वदन्तस्तं संस्पृश्य रेमिरे॥६॥

[2] शृङ्गाणि ध्मान्तः मुखवायुभिः पूरयन्तः शृङ्गैस्सह प्रगायन्तः कोकिलैस्सह कूजन्तः॥७॥

विच्छायाभिस्सह [3]प[-3]क्षिच्छायाभिः सह प्रधावन्तः कलापिभिः बर्हिभि स्सह नृत्यन्तः[4] ॥८॥

कीशवालान् वृक्षशाखास्वधोलम्बमानानि वानराणां लाङ्गूलानि आकर्षन्तः तैः वानरैस्सह पुनः द्रुमान् आरोहद्भिः आरोहन्तः तैः वानरैस्साकं दन्तवदन भ्रूविजृम्भादिभिः विकारान् कुर्वन्तः, पलाशिषु वृक्षेषु वल्गन्तः प्लवन्तः शाखायाः शाखान्तरं गच्छन्त इति यावत्॥ ९॥

भेकैः मण्डूकैः सह विलङ्घन्तः लङ्घमानाः सरितो यमुनायाः तोयेन परिप्लुता आर्द्रास्सन्तः अन्योन्यप्रतिबिम्बानि हसन्तः प्रतिस्वनान् शपन्तः दूषयन्तश्च॥ १०॥

---

1. A,B add तदा 2. A,B add केचित् 3- -3. A,B omit 4. A,B add साधु यथा तथा (हंसैः) गच्छन्तः।

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण साधं[1] विजह्रुः[2] कृतपुण्यपुञ्जाः॥ ११॥

यत्पादपांसुर्बहुजन्म कृच्छ्र[3] धौतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः[4]।
स एव यद्दृग्विषयं[5] स्वयं स्थितः किं वर्ण्यते दिष्टमहो[6] व्रजौकसाम्॥ १२।

अथाघनामाऽभ्यपतन्महासुरः तेषां सुखक्रीडन वीक्षणाक्षमः।
नित्यं यदन्तो[7] निजजीवितेप्सुभिः पीतामृतैरप्यमरैः प्रतीक्ष्यते॥ १३॥

दृष्ट्वाऽर्भकान् कृष्णमुखानघासुरः कंसानुशिष्टस्स बकी बकानुजः।
अयन्तु सोदर्य[8] विनाश[8] कृत्तयोः[9] द्वयोर्ममैनं सबलं हनिष्ये॥ १४॥

एते यदा मत्सुहृद[10] स्तिलापः कृतास्तदा नष्टसमा व्रजौकसः।
प्राणे गते वर्ष्मसु का नु चिन्ता प्रजासवः प्राणभृतो हि लोके[11]॥ १५॥

---

1. A बालकेन 2. A,B,G °कं 3. A,B,G कृच्छ्रतो धृता° V कृच्छ्र धृ° 4. B °गम्यः 5. A,B,G °यः 6. A,B,G °तो 7. A,B °न्तर्निज 8- -8. A,B,G मे सोदरनाश 9. A रथैनं 10. A,B,G दोस्तिलापः 11. A,B,G ये ते

**श्रीध०** तानति विस्मितः[1] श्लोकद्वयेनाभिनन्दति - **इत्थमिति**। सतां विदुषां ब्रह्म च तत्सुखं च, अनुभूतिश्च तथा स्वप्रकाश परमसुखेनेत्यर्थः। भक्तानां परदैवतेन आत्मप्रदेन नाथेन मायाश्रितानान्तु नरदारकतया प्रतीयमानेन सह विजह्रुः। कृतानां पुण्यानां पुञ्जाः राशयो येषां ते, ब्रह्मविदां तदनुभव एव भक्ताना मतिगौरवेणैव भजनं, एते तु तेन सह सख्येन विजह्रुः अहो भाग्यमिति भावः॥ ११॥

**यदिति।** बहुजन्मभिः कृच्छ्रेण धृत आत्मा मनो यै स्तैरपि॥ १२॥

**अथेति।** सुख क्रीडनवीक्षणे अक्षमा ईर्ष्या यस्य सः। कथम्भूतः? यस्य[2] अन्तः[3] अन्तरं छिद्रं पीतामृतैरपि ततो मृत्युभीतैः अमरैः प्रतीक्ष्यते। कथं मरिष्यति? कदा चेति? यद्वा, कथम्भूतं सुखं क्रीडनम्? यत् अन्तर्हृदये अमरैः प्रतीक्ष्यते विचिन्त्यते पीतामृतैरपि पुनः[4] निजजीवितेप्सुभिः। अयम्भावः - न अमृतपानमात्रेण जीवनं सफलं भवति किन्तु भगवल्लीलानुस्मरणेनेति तदेव नित्यमन्तश्चिन्त्यन्त इति॥ १३॥

**दृष्ट्वेति।** कृष्ण मुखान् अर्भकान् दृष्ट्वा, स इति व्यवस्य निश्चित्य। आजगरं वपुर्धृत्वा। तेषां ग्रसनाशया पथि व्यशेत इति तृतीयेनान्वयः। कंसेनानुशिष्टः प्रहितः बकी पूतना, ब[5]कः[-5] बकासुरः तयोरनुजः। कथं व्यवस्य इत्यत्राह[6] - अयन्त्वित्यादि सार्धेन। मम तयोर्द्वयोः सोदरयोः स्थाने एनं कृष्णं सबलं ब[7]लरामसहितं यद्वा सबलं[-7] ससैन्यं वत्सतत्पालक सहितं हनिष्यामि[8]। स[9] कुलमिति पाठे सान्वयं सगृहमिति वा[-9]॥ १४॥

ननु तथापि व्रजस्थास्त्वविशिष्येरन्। नेत्याह - **एते** इति। तिलापःकृताः तिलोदकताया कल्पिताः वर्ष्मसु देहेषु प्रजा एव असवो येषां ते तथा॥ १५॥

---

1. A स्मयेन 2. V omits यस्य 3. A,B omits अन्तः 4. V omits पुनः 5- -5. A,B,J omit 6. A,B,J तदाह 7- -7. A,B,J omit 8. V हनिष्ये इत्यर्थः। 9- -9 A,B,J omit.

**वीर०** तद्विहार मभिनन्दन् आह - **इत्थमिति** द्वयेन। ब्रह्मानन्दानुभवेन तद्दास्यं गतानां ब्रह्मानन्दानुभवसम्भूतप्रीतिकारितदास्यं गतानामित्यर्थः। सतां साधूनां परदैवतेनापि मायाश्रितानां प्रकृतिबद्धानां मनुजबालभूतेन कृष्णेन सह इत्थं विजह्रुः विहृतवन्तः। तत्र हेतुं वदन् गोपान्विशिनष्टि। कृताः पुण्यानां पुञ्जा राशयो यैस्तथा भूताः पू[1]र्वजन्मनीति शेष[-1]ः॥ ११॥

कृतपुण्यपुञ्जत्वमेव प्रपञ्चयन् विस्मयते **यत्पादेति।** बहुषु जन्मसु कृच्छ्रं कायशोषणात्मकं येषां धौतः विशुद्ध आत्मा मनो येषां तै र्योगिभिरपि यस्य पाद पांसु[2]लभ्य स्सएव भगवान् स्वयमेव येषां व्रजौकसां दृग्विषये स्थितः दृग्विषयतां प्राप्तः तेषां दिष्टं अदृष्टं किं कियदिति वर्ण्यते। अहो आश्चर्य मेतत्॥ १२॥

इत्थं विहरत्सु अघाख्यो महा[3]सुरः तेषां सुखेन यत्क्रीडनं तस्य वीक्षणे न विद्यते क्षमा यस्य तथा भूतः अभ्यपतत् अभिमुख माजगाम। तदेव प्रपञ्चयन् अघासुरस्य देवानामपि मृत्युभय[4]शङ्कावहत्वं अभिसन्धि विशेषं च आह - नित्यमिति सार्धद्वयेन। पीतममृतं यैः तैः मरणभयरहितैः अपीति भावः। अमरैः निजजीवितेच्छुभिः मृत्युभयरहितान् अप्यस्मान् हन्तुं समर्थं अघासुरं हत्वा अस्मज्जीवितं कदा सुप्रतिष्ठितं कुर्यादित्येवं स्वजीवितमिच्छद्भिः नित्यं यदन्तः यस्य अघासुरस्य अन्तो नाशः कदा वा स्यादिति प्रतीक्ष्यते॥ १३॥

स बकीबकयो रनुजः अघासुरः कंसेनानुशिष्टः आदिष्टः, कृष्णो मुखं प्रदानं येषां तानर्भकान् दृष्ट्वा इति व्यवस्य निश्चित्याजगरं बृहद्वपुः धृत्वा तेषां ग्रसनाय पथि व्यशेत इति तृतीयेनान्वयः। कथं व्यवस्येत्यत आह - अयन्त्विति सार्धेन। द्वयोस्तयो रामकृष्णयोर्मध्ये अयं कृष्णस्तु मम सो[1]दरयोः पूतना बकयोः नाशं[5] कृतवानिति तथा अत एवं बलरामेण सहितं हनिष्यामि। बलशब्दोऽत्रेतरगोपबालानां अप्युपलक्षणार्थः एते इत्युत्तरानुगुण्यात्॥ १४॥

यदैते कृष्णादयः मत्सुहृदो[6] मत्सोदरस्य[7] तिलापः कृताः तिलोदकवत् तृप्ति हेतुत्वेन एतेषां हननमेव मत्सुहृदस्तिलाप[8] इति भावः। तदा सर्वे व्रजौकसो नष्टप्रायाः। तथाहि - प्राणे गते निर्गते सति वर्ष्मसु शरीरेषु का वा अनुचिन्ता। न हि प्राणे गते शरीरं क्षणमवस्थातुं[9] शक्नोति किन्तु नश्यत्येव। प्राणभृतः प्रजाः पुत्रा एवासवः प्राणाः येषां तथा भूता हि; प्राणस्थानीयेषु पुत्रेषु मया हतेषु व्रजौकसस्सर्वे स्वयमेव नङ्क्ष्यतीति तदर्थं न मया यत्नः कार्य इति भावः॥ १५॥

---

1- -1. K, W omit 2. A,B °रप्यल° 3. A, B महानसुरः 4. A,B omit भय 5- -5. K,W सोदर्यस्य बकासुरस्य विनाशं 6. A,B °दोः 7. A,B °रयोः 8. A,B °दोस्ति° 9. A,B मपि

इति व्यवस्याऽजगरं बृहद्वपुः स योजनाययमहाद्रिपीवरम्।
कृत्वा[1]ऽद्भुतं व्यात्त[2]गुहाननं तदा पथि व्यशेत ग्रसनाशया खलः॥ १६॥

धराधरोष्ठो जलदोत्तरोष्ठो दर्याननान्तो गिरिशृङ्गदंष्ट्रः।
ध्वान्तान्तरास्यो विततध्वजिह्वः परुषानिलाश्वासदवेक्षणोष्णः॥ १७॥

दृष्ट्वा तं तादृशं सर्वे मत्त्वा वृन्दावनश्रियम्।
व्यात्ताजगरतुण्डेन व्युत्प्रेक्षन्ते[3] स्म लीलया॥ १८॥

अहो वि[4]चित्रं मित्राणि[4] सत्त्वकूटं पुरःस्थितम्।
अस्मत्सङ्ग्रसनव्यात्तव्यालतुण्डायते न वा॥ १९॥

सत्यमर्ककरारक्त मुत्तराहनुमद्वनम्।
अधरा हनुवद्रोध स्तत्प्रतिच्छाययाऽरुणम्॥ २०॥

---

1. A,B, G धृत्वा, V. भित्त्वा 2. K, W °स 3. A,B,G,V ह्यु° 4- -4. A,B,G,V मित्राणि गदत

**श्रीध० इतीति।** सयोजनायामं योजन प्रमाणेन दैर्घ्येण देहेन युक्तं च तत् महाद्रिवत् पीवरं च। व्यात्तं प्रसारितं गुहातुल्य माननं यस्मिन् तत्॥ १६॥

अद्भुतमिति यदुक्तं तद्दर्शयितुं विशिनष्टि - **धरेति।** धरायामधरोष्ठो यस्य सः ज[2]लदेषु अधरोष्ठो यस्य स[2]ः दर्याविव आननस्यान्तौ सृक्विणी[3] यस्य सः, गिरिः शृङ्गाणीव दंष्ट्रा यस्य सः, ध्वान्तवदन्तरास्यं यस्य सः, विततता अध्ववत्

जिह्वा यस्य सः, परुषानिलवत् झञ्झामारुतवत्[4-] श्वासो यस्य सः। अत्र[5-] वर्णाधिक्यमार्षम्[-5]। दववदीक्षणयोः उष्णः, तावदृष्टिरित्यर्थः। परुषानिलश्वासश्वासौ दवेक्षणोष्णश्च तथा॥ १७॥

दृष्ट्वेति। वस्तुतः अजगरतुण्डमेव[6-] व्यात्तं[-6] दृष्ट्वा बृन्दावनस्य श्रीः सम्पदेवेति[7] भ्रान्त्या मत्त्वा विपरीतं व्यात्ताऽऽजगरतुण्डसादृश्येन[8] उत्प्रेक्षितवन्तः॥ १८॥

उत्प्रेक्षामेव प्रश्नोत्तराभ्यां च आहुः - **अहो** इति। सत्त्वकूटं सत्वाभास मिदं[9] न वा तत्रापि अस्मत्संग्रसनाय व्यात्तं यद्वचालतुण्डं तद्वत् आचरति वा[10] न वा॥ १९॥

निश्चितं तथैवेत्याह[11] - **सत्य** मिति। अर्ककरैरारक्तं धनं उत्तरोष्ठवत् पश्यत। तस्य घनस्य प्रतिच्छायया अरुणं रोधः स्थलं अधरोष्ठवत् पश्यतेति सर्वत्र अन्वेति॥ २०॥

---

1. A,B, J omit देहेन 2- -2. V omits 3. A °क्कि° 4- -4. A,B,J omit 5- -5. A,B,J omit 6- -6. A,B,J अजगरमेव व्यात्ततुण्डं 7. A °देवैषेति; B,J देषेति 8. A °रास्यसा° 9. B,J add वा 10. A omits वा 11. A,B,J °हुः

**वीर०** इतीत्थं निश्चित्य स दुरात्मा अघासुरो रामकृष्णादीन् ग्रसितुं इच्छया आजगरं वपुः धृत्वा पथि व्यशेत शयितवान्। वपुः कथंम्भूतम्? बृह द्विपुलं, तदेवाह योजन प्रमाणेन दैर्घ्येण युक्तं च, तन्महाद्रिवत् स्थूलं च, व्यासं प्रसारितं गुहातुल्यं आननं यस्मिन्॥ १६॥

अद्भुतत्वमेव दर्शयितुं असुरं विशिनष्टि - धरायां अधरोष्ठो यस्य जलदेषु उत्तरोष्ठो यस्य, दर्यौ गिरिकन्दराविव आननस्यान्तौ सृकणी[1] यस्य, गिरेः शृङ्गाणीव दंष्ट्रा यस्य, ध्वान्तोऽन्धकारः अस्मिन्नस्तीति[2] ध्वान्तवत्, तदन्तरास्यं यस्य, दीर्घीभूतमहाध्ववत् जिह्वा यस्य, परुषानिलवत् श्वासो यस्य सः, दावाग्नि रिवेक्षणयोः उष्णः दाहकदृष्टिः इत्यर्थः। विशेषणोभयपद[3] कर्मधारयः[-4]॥ १७॥

वस्तुतोऽजगरमेव व्यात्त तुण्डं बृन्दावनस्य श्रीः सम्पदेषेति भ्रान्त्या मत्वा विपरीतं व्यात्ताऽजगर तुण्डसादृश्येन उत्प्रेक्षितवन्तः॥ १८॥

तेषा मुत्प्रेक्षा मेव प्रश्नोत्तराभ्यां आह - **अहो** इति पञ्चभिः[5]। अहो मित्राणि सुहृदः पुरस्थितमिदं वस्तु सत्त्वकूटं[6] सत्त्ववत् अवभासमानं[7] तत्राप्यस्मान् सङ्ग्रसितुं व्यात्तव्यालतुण्डवदाचरति न वा॥ १९॥

एव मुक्त्वा केचित् तथैव इत्याहुः - **सत्यमिति** । अर्ककरैः आरक्तं घनं मेघमुत्तरोष्ठवत्[8] पश्यत । तस्य घनस्य प्रतिच्छायया अरुणं रोधः कुलं अधरोष्ठवत् । पश्यतेति सर्वत्रान्वेति ॥ २० ॥

---

1. A,B सृक्किणी 2. A,B य° 3. A,B add परुषानिलश्वास शब्दोत्तरस्य सो रुत्वे 'हसि' च इति यत्वे तस्य - "लोपः शाकल्यस्य" इति लोपः 4- -4. A,B दवेक्षणोष्णपदे कर्मधारयो वा ॥ १७ ॥ 5. K.W omits पञ्चभिः 6. A,B omit अव 7. A,B add न वा ? 8. A,B, W °मन्त°

प्रतिस्पर्धेते सृक्[1]भ्यां सव्यासव्ये[2] नगोदरे[3]।
तुङ्गशृङ्गालयोह्येतास्तद्दंष्ट्राभिश्च पश्यत॥ २१॥

आस्तृताऽऽयाममार्गोऽयं रसनां प्रति गर्जति।
एषामन्तर्गतध्वान्तं एतदप्यन्तराननम्[5]॥ २२॥

दावोष्णखरवातोऽयं श्वासवद्भाति पश्यत।
तद्वग्ध सत्त्व दुर्गन्धोऽप्यन्तरामिषगन्धवत्[6]॥ २३॥

वि[7]शन्तु सर्वे ग्रसिता किमस्मा नयं तथा चेद्बकवद्विनङ्क्ष्यति।
क्षणादनेनेति बकार्युशन्मुखं वीक्ष्योद्धसन्तः करताडनैर्ययुः॥ २४॥

इत्थं मिथो तथ्यमतज्ञ भाषितं श्रुत्वा विचिन्त्येत्यमृषामृषायते[8]।
रक्षो विदित्वाऽखिल लोकहृतत्स्थितः स्वानां निरोद्धुं[9] भगवान् मनो दधे॥ २५॥

---

1. A, G °क्रि°; B,V °क्वि° 2. K,W °व्यौ 3. K,W °रौ 4. A,B,G °योऽप्ये° 5. A,G °तं 6. V ह्य° 7- -7 A,B,G अस्मान् किमत्र ग्रसिता निविष्टा; V. अस्मान् निविष्टान् ग्रसिता किमेता 8. K,W °यितम्। 9. A,V निषेद्धुं

**श्रीध० प्रतिस्पर्धेते** इति। सृक्भ्यां ओष्ठप्रान्ताभ्यां प्रतिस्पर्धेते तुल्यतया वर्तेते। नगोदरे गिरिदर्यौ एताः[3] शृङ्गालयः[3] तस्य दंष्ट्राभिः स्पर्धमानाः॥ २१॥

**आस्तृतेति।** आस्तृताऽऽयाममार्गः विस्तृतो दैर्घ्यवान्मार्गः। प्रतिगर्जति प्रतिस्पर्धते एषां शृङ्गाणां अन्तर्गतं मध्यगतं ध्वान्तं अन्धकारं[4] एतत् अन्तराननं आननस्य मध्यं प्रतिगर्जति ॥ २२॥

**दावेति।** दावेन[5] उष्णः खरो वातोऽयं तेन वनाग्निना[6] दग्धानां सत्वानां यो दुर्गन्धः स एव सर्पान्तर्गतामिष गन्धवत् भाति॥ २३॥

**अस्मादिति।** एवं सत्यमेव[8] अजगरं अन्यथोत्प्रेक्ष्य निर्भयाः ययुः। किं ग्रसिता ग्रसिष्यति? अनेन श्रीकृष्णेन हन्त्रा बकारेः उशत् कमनीयं मुखम्॥ २४॥

**इत्थमिति।** अमृषा वस्तुतः सर्पवपुरसुर एषः मृषायते। स्वानां सर्पसादृश्य गोचरत्वेन प्रतीयत इति विचिन्त्य[9] तान्निरोद्धुं वारयितुं यावन्मनो दधे तावत्प्रविष्टा इत्युत्तरेणान्वयः॥ २५॥

1. A,J °क्कि° 2. A ततुल्य 3- -3. V omits 4- -4. B,J,V omit 5. V दाववत् 6. A दावेनाग्निना; B,J दावाग्निना 7. V सर्पस्यान्त° 8. A सत्यमपि; B,J सन्तमेव 9. A,B,J omit विचिन्त्य 10. V °षे°

**वीर०** सव्यापसव्य नगयोः वामदक्षिणगिर्योः, उदरे दर्यौ सृक्वभ्यां[1] ओष्ठप्रान्ताभ्यां प्रतिस्पर्धेते तुल्यतया वर्तेते। सव्यापसव्यगिर्यो स्तुङ्गशृङ्गाणां[2] आलयः पङ्क्तयः तस्य दंष्ट्राभिः स्पर्धन्त इति वचनविपरिणामेनान्वयः॥ २१॥

आस्तृतो विस्तृतश्चासो आयाममार्गः दैर्घ्यवान् मार्गः स तस्य रसनां जिह्वां प्रति गर्जति प्रति स्पर्धते। एषां शृङ्गाणां अन्तर्गत मेव[3] ध्वान्तमपि अन्तराननमास्यमध्यं प्रतिगर्जति॥ २२॥

दावाग्निनोष्णः खरः कठिनश्च वातः श्वासवत् भाति। तेन दावाग्निना दग्धानां सत्वानां जन्तूनां दुर्गन्धः सत्वान्तर्गतामिष गन्धवत् भाति॥ २३॥

एवं सत्यमेव अजगरं अन्यथोत्प्रेक्ष्य[4] निर्भया ययुः इत्याह[5] **विशन्त्विति।** सर्वे वत्सा वत्सपाश्च अत्र विशन्तु अस्मान्ग्रसिता किं? ग्रसिष्यति किम्? तथा चेत् ग्रसिष्यति। बकवत् बकासुरवदयमप्यनेन श्रीकृष्णेन क्षणाद्विनङ्क्ष्यति नाशं गमिष्यति। इति[6] इत्थं बकारेः ऊशत्कमनीयं मुखम् अलोक्योच्चैः[7] हसन्तः करताडनैः[8] उपलक्षिता ययुः। करताडनानि कुर्वन्तो ययुः इत्यर्थः॥ २४॥

मिथोऽन्योन्यं अतज्ज्ञानां यथार्थाजगरमजानतां भाषितमतथ्यं असत्यं श्रुत्वा भगवान् मृषाऽपि सत्यमप्येतैः मृषायितम् अयथार्थीकृतं इत्येवं विचिन्त्य अखिल भूतहृत्स्थितः हेतुगर्भमिदं, तत्त्वात् रक्षो विदित्वा राक्षस इति ज्ञात्वा[1] स्वानां स्वान् वत्सान् वत्सपांश्च निरोद्धुं निवारयितुं यावन्मनो दधे चकार॥ २५॥

1. A,B सृक्कि° 2. A,B °स्तु शृ° 3. K °मेतत् 4. A,B सत्त्वमेवोत्प्रेक्ष्य 5. A,B add मुनिः 6. K,W omit इति 7. A,B 8. W °तालैः

**तावत्प्रविष्टास्त्वसुरान्तरोदरं[1] परं न जीर्णाश्शिशवस्सवत्सकाः[2]।**
**प्रतीक्षमाणेन बकारि वेशनं[3] हतस्वकान्तस्मरणेन रक्षसा॥ २६॥**
**तान् वीक्ष्यकृष्णस्सकलाभयप्रदो[4] ह्यनन्य नाथान् स्वकरादपच्युतान्[5]।**
**दीनांश्च मृत्योर्जठराग्नि घासान् घृणार्दितो दिष्टकृतेन विस्मितः॥ २७॥**

कृत्यं विमद्रास्य खलस्य जीवनं[6] नो[7] वा अमीषां च सतां विनाशम्[8]।
द्वयं कथं स्यादिति संविचिन्त्य तज्ज्ञात्वाऽविशत्तुण्डमशेष दृग्घरिः॥ २८॥

तदा घनच्छदा देवा भयाद्वाहेति चुक्रुशुः।
जह्रुर्ये च कंसाद्याः कौणपास्त्वघबान्धवाः॥ २९॥

तच्छ्रुत्वा भगवान् कृष्णस्त्वव्ययस्सार्भवत्सकम्।
चूर्णी चिकीर्षोरात्मानं[10] तरसा ववृधे गले॥ ३०॥

---

1. A,B,G °रोदरान्तरं 2. B,G,V गी° 3. A,B,G °त्साः ; K,W °त्सपाः। 4. V °दस्त्वनन्य 5. A,B,G °व 6. A जीवितं 7. V नो 8. A,B,G हिंसनम्; V नाशम् 9. V °नः 10. V °रेवादौ

**श्रीध०** **तावदिति**। तावत्[1] प्रविष्टा एव परं[2] केवलं न तु तेन गीर्णाः गिलिताः। जीर्णा इति पाठेऽपि स एवार्थः। कथम्भूतेन? हतयोः स्वकयोः[3] अन्तं स्मरति अनुध्यायतीति[4] तथा तेन अत एव बकारेः श्रीकृष्णस्य प्रवेशं प्रतीक्षमाणेन॥ २६॥

**तानिति**। स्वकरादपच्युतान्[5] विनिस्रुतान् विस्मितस्सन्॥ २७॥

**कृत्यमिति**। कृत्यं किमद्रेत्यादि विचिन्त्य तद्रोपायं ज्ञात्वा स्वयमप्यविशदित्यन्वयः। कथं विचिन्त्य अस्य जीवनं अमीषां च विहिंसनमिति द्वयं, वै निश्चितम्। कथं न स्यादिति॥ २८॥

**तदेति**। घनच्छदाः मेघान्तरिताः कौणपाः कुणपाशिनो राक्षसाः कोणपो निर्ऋतिस्तदीया इति वा॥ २९॥

**तदिति**। सा[6-] र्भवत्सकमात्मानं[-6] चूर्णीकर्तुमिच्छोस्तस्य गले आदावेव तरसा ववृधे अवर्धत॥ ३०॥

---

1. V omits तावत् 2. A,B,J omit परं 3. V omits स्वकयोः 4. V omits अनुध्यायति 5. A,B,J °व 6- -6. A,B,J omit.

**वीर०** तावत्ततः पूर्वमेव शिशवो वत्सपा वत्सैः सहिताः असुरस्यान्तरोदरं उदरमध्यं प्रविष्टाः केवलं प्रविष्टा एव नतु रक्षासा जीर्णाः[1] जीर्णतां प्रापिताः, तत्र हेतुं वदन् रक्षो विशिनष्टि - हतः स्वस्य कान्तः सुहृद्भ्राता तस्य स्मरणेन हेतुना बकारेः कृष्णस्य वेशनं प्रवेशनं[2] प्रतीक्षमाणेन॥ २६॥

सर्वेषामभयप्रदो भगवान् श्री[3]कृष्णः तान्[-3] प्रविष्टान् अवलोक्य विस्मितः करुणयार्दितो व्याप्तश्चास्य खलस्य विनाशन ममीषां सतां साधूनां जीवनं च इत्येतत् द्वयं युगपत्कथं स्यात् अत्रोभय निमित्ते कृत्यं किमिति विचिन्त्य अशेषधृक् हेतु गर्भमिदम् तत्वात् तत् कृत्यं ज्ञात्वा, हरिः आश्रितार्तिहरः स्वयमप्यस्य तुण्ड मविशत् इत्यन्वयः। कथम्भूतांस्तान्, न विद्यते स्वव्यतिरिक्तो नाथो[4] येषां स्वकलात् स्वभुजाश्रयात् भ्रष्टान् दिष्टबलेन प्रारब्ध बलेन हेतुना, मृत्योः जठराग्नेः घासस्थानीयान्॥ २७, २८॥

तदा मेघच्छन्ना देवा भयात् हा हेति चुक्रुशुः। अघासुरस्य बान्धवाः कंसा[5]द्याः कौणपाः कु[6]णपाशिनो[-6] राक्षसास्तु हृष्टवन्तः॥ २९॥

तद्देवानां हाहेत्याक्रोशनं श्रुत्वा भगवान् कृष्णः स्वयमव्ययोऽक्षत एव सन् आत्मानं चूर्णीकर्तुं इच्छोरसुरस्य गले तरसा आशु ववृधे एधां बभूव॥ ३०॥

---

1. A,K,W omit जीर्णाः 2. A,B, °शं 3- -3. K,W omit 4. A,B, add रक्षिता 5. A,B °सादयः 6- -6 A,B कुणपं शरीरं तदशिनो

ततोऽतिकायस्य निरुद्धमार्गिणो ह्युद्गीर्णदृष्टिर्भ्रमतस्त्वितस्ततः।
पूर्णोऽन्तरङ्गे पवनो निरुद्धो मूर्ध न्विनि[1]र्भिद्य विनिर्गतो बहिः॥ ३१॥

तेनैव सर्वेषु बहि[2]र्गतेषु प्राणेषु वत्सान्[3] सुहृदः परेतान्।
दृष्ट्वा स्वयोत्थाप्य तदन्वितः पुनः वक्त्रान्[4]मुकुन्दो भगवान् विनिर्ययौ॥ ३२॥

पीनाहिभोगोत्थितमद्भुतं महज्ज्योतिः स्वधाम्नो[5]ज्वलयद्दिशो दश।
प्रतीक्ष्य खेऽवस्थितमीशनिर्गमं विवेश तस्मिन् मिषतां दिवौकसाम्॥ ३३॥

ततोऽतिहृष्टाः स्वकृतोऽकृतार्हणं पुष्पैः सुरा अप्सरसश्च नर्तनैः।
गीतैःसुगावाद्यधराश्च वाद्यकैः स्तवैश्च विप्रा जयनिस्स्वनैर्गणाः॥ ३४॥

तदद्भुतस्तोत्रसुवाद्यगीतिका[6]जयाद्यनेकोत्सवमङ्गलस्वनान्[7]।
श्रुत्वा स्वधाम्नोन्त्यज आगतोऽचिरात् दृष्ट्वा महीशस्य जगाम विस्मयम्॥ ३५॥

---

1. A,B,G निष्पात्य 2. K,W विनिर्ग° 3. V सर्वान् 4. V कृच्छ्रा° 5. B,G,K °म्ना ज्व° 6. A गीतक 7. A,B,G °दिनै°

**श्रीध० तत** इति। निरुद्धो मुखादीनां मार्गभूतः कण्ठो यस्य [1] तस्य। [2] यद्वा, निरुद्धौ मार्गौ प्राणोच्छ्वास रन्ध्रे अस्य स्त इति वा [-2]। उद्गीर्णदृष्टेः बहि र्निर्गतलोचनस्य। अन्तरङ्गे देहमध्ये। पूर्णः परिभृतः मूर्धन् मूर्धनि। ङि लोप आर्षः [3]। ब्रह्मरन्ध्रं विनिर्भिद्य बहिः विनिर्गत इति॥ ३१॥

**तेनेति।** प्रणेषु इन्द्रियेषु स्वया अमृतवर्षिण्या दृष्टैचव॥ ३२॥

**पीनेति।** अहिर्देहोत्थितं [4] शुद्ध सत्त्वमयं ज्योतिर्निर्गतं [5] खेऽवस्थितं तस्मिन्नेव [6] ईशे विवेश॥ ३३॥

**तत** इति। स्वकृतः स्वकार्य कृतः श्रीकृष्णस्यार्हणं अकृत पूजामकुर्वन्। सुष्ठु गायन्तीति सुगाः गन्ध र्वादयः॥ ३४॥

किञ्च **तदिति।** तेषां यानि अद्भुत स्तोत्रादीनि [7] नैकोत्सवाः [8-] अनेकोत्सवाः [-8] ये मङ्गलनाः तान् स्वधाम्नः अन्ति समीपे श्रुत्वा अजो ब्रह्मा अचिरादागतः [9] ईशस्य [10] श्रीकृष्णस्य म [11] हि महिमानं दृष्ट्वा विस्मयं प्रापेति॥ ३५॥

---

1. A,B,J add अस्ति 2- -2. A,B,J omit 3- -3. A,B,J omit 4. B,J दहे स्थितं 5. A,B,J °त्य 6. A,B,J omit एव 7. A,B,J add तेषां 8- -8. A,B,J omit 9. V आदरा° 10. V ईश्वरस्य 11. V omits महि.

**वीर०** ततः [1] तस्याधासुरस्यान्तरङ्गे देहाभ्यन्तरे पूरितो निरुद्धः पवनो [2] प्राणवायुः अत एव पूर्णोऽत एव [3] मूर्धनि ब्रह्मरन्ध्रं भित्वा बहिः निर्गतः। कथम्भूतस्य विपुल कायस्य निरुद्धौ मार्गौ नासारन्ध्रावस्य स्त इति तथाभूतस्य, अत एव [4] उद्गीर्णे उद्गते दृष्टी लोचने यस्य इतस्ततो भ्रमतश्च॥ ३१॥

तेन बहिर्गतेन पवनेन सहैव सर्वेषु प्राणेषु बहिर्गतेषु सत्सु परेतान् परलोक गत प्रायान् वत्सान् सुहृदो वत्सपांश्च स्वया अमृत वर्षिण्या दृष्ट्या उत्थाप्य तैः अन्वितो भगवान् मुकुन्दः तस्य वक्त्रात् पुनः [5] निर्ययौ॥ ३२॥

ततोऽसुरो मुक्तः कृष्णमेव विवेशेत्याह - **पीनेति।** पीनात् [6] सर्पदेहात् उत्थितमद्भुतं महत् धर्मभूत ज्ञानेन बृहत्, ज्योतिः स्वयं प्रकाशं, जीवस्वरूपं स्वधाम्ना दशदिशो ज्वलयत्, [7] तावत्, खेऽन्तरिक्षे अवस्थितं सत् ईशस्य कृष्णस्य भगवतो निर्गमम् प्रतीक्ष्य, तदा आश्चर्यम्? देवानां पश्यतां सतां ततः तस्मिन् निर्गते कृष्णे प्रविवेश॥ ३३॥

ततोऽतीव हृष्टाः देवाः स्वकृतः स्वकार्य कर्तुः कृष्णस्यार्हणं [8] पुष्पैः अकृता अकुर्वन्। व्यत्ययेन एक वचनम्। सुष्ठु गायन्तीति सुगाः गन्धर्वादयः गीतैः पूजयमासुः विप्रास्तु स्तवैः स्तोत्रैः, गणाः भृत्यगणाः जयशब्दैः किञ्च अजो ब्रह्मा स्वधाम्नः स्वस्थानस्यान्ति समीपे तेषां गन्धर्वादीनां अद्भुतानि स्तोत्राणि सुवाद्यानि वाद्यादीन् गीतिका गीतानि च, जयशब्दा आदिर्येषां तान् अनेकान् उत्सवान् मङ्गलाशासनध्वनींश्च श्रुत्वा अचिरादागतः ईशस्य कृष्णस्य मही महिमानं दृष्ट्वा विस्मयं जगाम॥ ३४, ३५॥

1. K,W °स्यासु° 2. K,W omit प्राणवायुः 3. K,W omit मूर्धनि 4. A,B omit उद्गीर्णे 5. A,B विनिर्गतोऽभूत्॥ ३२॥ 6. K,W सर्व 7. A,B °यित्वा 8. A,B add पूजां

श्रीशुक उवाच

राजन् आजगरं चर्म शुष्कं बृन्दावनेद्भुतम्।
व्रजौकसां बहुतिथं बभूवाऽऽक्रीडगह्वरम्॥ ३६॥
नैतद्विचित्रं मनुजार्भमायिनः पराऽवराणां[1] परमस्यवेधसः।
अघोऽपि[2]यत्स्पर्शन[3] धूतपातकः प्राणाऽऽत्मसाम्यं त्वसतां सुदुर्लभम्॥ ३७॥
सकृद्यदङ्ग प्रतिमान्तराहिता[4] मनोमयी[5] भागवती ददौ गतिम्।
स एव नित्यात्म सुखानु भूत्यभिव्युदस्तमायः[6] परमोऽङ्ग[7]! किं पुनः॥ ३८॥
एतत्कौमारजं[8] कर्म हरे रात्माऽहि मोक्षणम्।
मृत्योः पौगण्डके बाला दृष्ट्वोचु र्विस्मिता व्रजे ▵ ॥ ३९॥

1. V °प° 2. V त° 3. B,G धौ° 4. V °तां 5. V °र्यी 6. K,W भूतिर्व्यु° 7- -7. B,G मायोऽन्तर्गतोहि 8. V °कं ▵ आनेनश्लोकेन K.W प्रकाशयोः द्वादशोऽध्यायः समापितः। तदनन्तराः पञ्चश्लोकाः K.W प्रकाशयोः त्रयोदशाध्यायारम्भे स्वीकृताः परन्तु एते पञ्च श्लोकाः A.B.G.J.V प्रकाशेषु द्वादशाध्याये ४०,४१,४२,४३,४४ श्लोकत्वेन स्वीकृताः

**श्रीध० राजन्निति।** बहुतिथं बहुकालं आक्रीडगह्वरं आक्रीडार्थं[1] महाबिलम्॥ ३६॥

**नेति।** नैतद्विचित्रम्। किं तदित्यपेक्षायामाह - अघोपीति। आत्मसाम्यं स्वसमानरूपताम्॥ ३७॥

**सकृदिति।** यस्याङ्गः मूर्तिः तस्य प्रतिमा प्रतिकृतिः तत्रापि केवलं मनोमयी। सापि बलादन्तरहिता सती भागवतीं गतिं ददौ प्रह्लादादिभ्यः स एव साक्षात् स्वयं अन्तर्गतः। किं पुनः? नित्या चासावात्मसुखानुभूतिश्च तया। अभितः व्युदस्ता माया येन सः॥ ३८॥

अन्यच्चातिविचित्रं[2] वृत्तमित्याह - **एतदिति।** "कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि। कैशोर मापञ्चदशा द्यौवनन्तु ततः परम्॥" हरेः कौमारजं पञ्चमाब्दकृतं कर्म तथैव दृष्ट्वा पौगण्डके षष्टेऽब्दे बाला अचैव तद्वृत्तमित्यूचुः। किं तत्कर्म? मृत्योस्सकाशादात्मना महेश्च मोक्षणम्। आत्मनां प्रसिद्धान्मृत्योः, अहे स्तु संसारलक्षणात्। अघासुरस्य ज्योतिषः श्रीकृष्णे प्रवेशमपि तदा दृष्टं कथितवन्त इत्यर्थः॥ ३९॥

1. V °र्थ 2. A,B,J omit वि

**वीर०** हे राजन्! आजगरं चर्म शुष्कं सत् बहुकालं बृन्दावने स्थितानां व्रजौकसां क्रीडास्थानं बभूव, क्रीडार्थं महाबिलं आसीत् इत्यर्थः॥ ३६॥

अन्यदतिचित्रं[1] वृत्तमित्याह **नैतदिति**। एतदेव न चित्रं अपि तु परे देव ऋष्यादयः अपरे अपकृष्टा येषां ब्रह्मादीनां[2] तेषामपि परमस्य वेधसः सर्वस्रष्टु रपि लीलया कपटमनुज, बालकस्य स्पर्शन मात्रेण विधूतं पातकं यस्य तथाभूतः अघासुरोपि असतां दुष्प्रापं आत्मसाम्यं भगवत्साम्यं प्राप लेभे इति यत् तदेव अतिचित्रमित्यर्थः॥ ३७॥

एतदेव किं पुनर्न्यायेन द्रढयति **सकृदिति**। यस्य भगवतोङ्गप्रतिमा अङ्गप्रतिकृति अर्चामूर्तिः मन्मोमयी मनः प्रचुरा, तत्प्राचुर्यं च अत्र तन्निधापित भगवच्छक्तिकत्वं, अन्तराहिताध्यानेन अन्तर्हृदये निधापिता सती भागवतीं गतिं मुक्तिं ददौ। अङ्ग! हे राजन्! नित्यनिरतिशयानन्दज्ञानरुपः प्राकृतगुणरहितो निस्समाभ्यधिकः स एव भगवान् साक्षादन्तराहितो भागवतीं गतिं मुक्तिं ददतीति किं पुनः वक्तव्यमित्यर्थः॥ ३८॥

अन्यदपि[3] चित्रं वृत्तमित्याह **एतदिति**। "कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि। कैशोर मापञ्चदशा द्यौवनन्तु ततः परम्" तदभिज्ञ वचनात्। हरेः एतत् कौमारजं पञ्चमाब्दकृतं कर्म, तदैव दृष्ट्वा बालकाः[4] पौगण्डके षष्ठेब्दे व्रजे ऊचुः। अद्यैवैतद्वृत्तमित्यूचुः इत्यर्थः। अयमहो भगवन्महिमातिशयः यदन्यकालिकर्मणः तादात्विकत्वानुसन्धानं गोपानामिति भावः॥ ३९॥

1. A.B ° दप्यति 2. A,B °ह्मरुद्रा° 3. A.B. add अति 4. A.B. बालाः 5.A.B. °व°

श्रीसूत उवाच

★ इत्थं द्विजा[1] यादव[1] देवदत्त श्रुत्वा स्वभर्तुश्चरितं[2] विचित्रम्।
पप्रच्छ भूयोऽपि तदेव पुण्यं वैयासकिं यन्निगृहीत चेताः॥ ४०॥

राजोवाच[3]

ब्रह्मन् कालान्तरकृतं तत्कालीनं कथं भवेत्।
यत्कौमारे हरिकृतं विदुः[4] पौगण्डकेऽर्भकाः॥ ४१॥

तद्ब्रूहि मे महायोगिन् परं कौतूहलं गुरो।
नूनमैतद्धरेरेव माया भवति नान्यथा॥ ४२॥

वयं धन्यतमा लोके गुरोऽपि क्षत्रबन्धवः।
यत्पिबामो मुहुस्त्वत्तः पुण्यं कृष्णकथामृतम्॥ ४३॥

श्रीसूत उवाच

इत्थं स्वपृष्टस्स तु बादरायणिः संस्मारितानन्त हृताखिलेन्द्रियः।
कृच्छ्रात्पुनर्लब्धबहिर्दृशिश्शनैः प्रत्याह तं भागवतोत्तमोत्तमम्॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
वत्सबकवधोनाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

---

★ इत आरभ्य पञ्चश्लोकाः श्रीवीरराघवाचार्येण। (K.W Editions) त्रयोदशाध्यायारम्भे संयोजिताः। 1- -1. V. द्विजाग्र्यादथ 2. A,B,G रातु° 3. V विष्णुरात उवाच 4. B जगुः 5. A,B,G,V स्म 6. A,B,G °म!

**श्रीध० इत्थमिति।** देवदत्त परीक्षित् द्रौण्यस्त्रेण दग्धोऽपि भगवता श्रीकृष्णेन दत्तवत्वात्। येन श्रवणेन नितरां गृहीतं वशीकृतं चेतो यस्य सः। यद्वा, भगवति निगृहीतं नियमितं चेतो यस्येति वा॥ ४०॥

**ब्रह्मन्निति।** कालान्तरे कौमारे कृतं पौगण्डके कथम्! ज्ञात्वा ऊचुरित्यर्थः॥ ४१,४२॥

★ **वयमिति।** हे गुरो! क्षत्रबन्धवोऽपि पापिष्ठा अपीत्यर्थः॥ ४३॥

**इत्थमिति।** तेन यः स्मारितोऽनन्तः तेन हृतान्यखिलेन्द्रियाणि यस्य सः तथा भूतोऽपि कथंचिल्लब्धबहिर्दृष्टिः। हे भागवतोत्तमोत्तम! शौनक!॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

1- -1. A,B,J omit 2- -2. A,B,J निगृहीतं 3- -3. A,B,J omit * The commentary on 43rd verse is not found in A,B,J Edns.

**वीर०** कैमारजं[1] कर्म पौगण्डके प्रोचुरित्युक्तं, तत्र कारण बुभुत्सयाऽपृच्छत् राजेत्याह सूतः **इत्थमिति।** हे द्विजाः! यादवदेवः श्रीकृष्णः तेन दत्तः परीक्षिदित्थं विचित्रं स्वभर्तुः चरित्रं श्रुत्वा, पुनः पुण्यावहं तदेव पौगण्डके कौमारजं प्रोचुरित्येत देव, वैयासकिं [2]शुकं पप्रच्छ! प्रश्नहेतुं[3] वदन् राजानं विशिनष्टि। येन भगवता नितरां गृहीतं चेतो यस्य तथाभूतः॥ ४०॥

प्रश्न प्रकारमेवाह - **बह्मन्निति।** हे ब्रह्मन्! कालान्तरे कौमारकाले कृतं कर्म, तत्कालीनं पौगण्ड[4]कालीनं, कथं भवेत्, पौगण्डके कथं ज्ञात्वा ऊचुरित्यर्थः। तदाह यदिति। यद्वा तत्कालीनं पौगण्डक[5]काले वाच्यं कथं भवेत् यत्कालावच्छेदेन कृतं तत्तत्काले विस्मृतं सत् कालान्तरे च स्मृतं सत् वाच्यं स्यात् एवेत्यत्राह यदिति। यत् यस्मात् कारणात् कौमारे[6] कृतं, पौगण्डके विदुः सन्निकृष्ट काले स्मरणाभावः। कालान्तरे स्मरणं च न विना कारणेन भवति इति तत्कारणं वदेति प्रश्नार्थः॥ ४१॥

तदेतत्कारणं ब्रूहि हे महायोगिन्! मं ममैतत्कारणं श्रोतुं परमधिकं कौतूहलं वर्तते। ममत्वेवं प्रतिभातीत्यभिप्रायेणाह एतत्कारणं, हरेः माया आश्चर्य शक्ति रेव। नूनं ध्रुवम्। अन्यथा तु एवं न घटते॥ ४२॥

आत्मनः कृतार्थतामाविष्कुर्वन् भगवत्कथां स्तौति - **वयमिति।** हे गुरो! क्षत्र बन्धवोऽपि वयं लोके धन्यतमाः कृतार्था एव। कुतः? यतः कृष्णस्य कथामृतं मुहुर्मुहुः त्वत्तः पिबामः अन्यानां नैवं घटेतेति भावः॥ ४३॥

इत्थमापृष्टो भगवान् बादरायणिः तदाऽऽहेत्याह सूतः - **इत्थमिति।** स तु बादरायणिः इत्थं पृष्टः, अत एव तावत् संस्मारितेन, अपरिच्छिन्न वैभवेन भगवता हृतानि अखिलानि इन्द्रियाणि यस्य तथा भूतोऽपि पुनः शनैः कृच्छ्रात्कथञ्चित् लब्धा बहिः दृशिः येन। तथा भूतः तं भागवतोत्तमोत्तमं राजानं प्रत्याह। भागवतोत्तमोत्तमेति पाठे हे शौनक!॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघव विदुषालिखितायां भागवतचन्द्र चन्द्रिकायां
व्याख्यायां द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

1. A.B.W °कं 2. K.W. omit शुकं 3. A.B स्ने° 4. K. °ण्डकका° 5. A.B. omit °क° 6. A.B ° स्कृ°

# ॥ त्रयोदशोऽध्यायः ॥

(विजयध्वजीये अयमध्यायो नाऽस्ति)

श्रीशुक उवाच

साधु पृष्टं महाभाग! त्वया भागवतोत्तम!
यन्नूतनयसीशस्य शृण्वन्नपि कथां मुहुः॥ १॥

सतामयं सारभृतां[1] निसर्गो यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि।
प्रतिक्षणं नव्यव दच्युतस्य यत्स्त्रिया विटाना मिव साधु वार्ता॥ २॥

शृणुष्वावहितो राजन्नपि गुह्यं वदामि ते।
ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत॥ ३॥

अथाऽघवदनान्मृत्यो[2] रक्षित्वा वत्सपालकान्[3-]।
सरःपुलिन[4] मानीय भगवा निद मब्रवीत्॥ ४॥

अहोऽतिरम्यं पुलिनं वयस्याः स्वकेलिसम्पन्मृदुलाच्छवालुकम्।
स्फुटत्सरोगन्ध हृतालिपत्रिक ध्वनि प्रतिध्वानलसद्द्रुमाकुलम्॥ ५॥

अत्र भोक्तव्य मस्माभि र्दिवारूढं क्षुधर्दिताः।
वत्साः समीपेऽपः पीत्वा चरन्तु शनकैस्तृणम्॥ ६॥

तथेति पयायित्वाऽर्भाः[5] वत्सा नारुध्य शाद्वले।
मुक्त्वा शिक्यानि बुभुजुः समं भगवता मुदा[6]॥ ७॥

---

1. K, W. दृशां 2. A,B,G,J तथा°; V. तदा° 3- -3. V स्वार्भवत्सकान् 4. A,B,G,J सरित्पु° 5. B. 'ऽम्भो 6. V तदा

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

त्रयोदशेऽहरद्ब्रह्मा वत्सान् पालांश्च मायया।
तदा तत्सर्वरूपोऽब्दं कृष्णः पूर्ववदाचरत्॥

**साध्विति।** नूतनयसि नवी[1] करोषि॥ १॥

**सतामिति।** तथाहि - सारभूतां साग्राहिणां अयं निसर्गः स्वभावः कोऽसौ? अच्युतस्य वार्ता श्रुता[2] सती प्रतिक्षणं साधु नव्यवद्भवतीति सः बिटानां स्त्रैणानां स्त्रियाः कामिन्याः वार्तेव। यत् कथम्भूतानामपि सताम्? या अच्युत वार्तैव अर्थो येषां तानि वाणीश्रुतिचेतांसि येषां तथाभूतानामपि॥ २,३,४॥

भोजन विधानाय पुलिनं स्तौति - **अहो** इति। स्वीयानां केलीनां सम्पदो विद्यन्ते यस्मिं स्तत्। मृदुला अच्छा वालुका यस्मिंस्तत् किञ्च, स्फुटद्विकसत् सरः, सरोजबाहुल्येनोपचारतः सर एव विकरा दित्युक्तम्। तस्य गन्ध स्तेन हृता आकृष्टा अलयः पत्रिणश्च ये तेषां के उदके ध्वनय स्तेषां प्रतिध्वानाः तैर्लसन्तो द्रुमा स्तै राकुलं व्याप्तम्॥ ५॥

**अत्रेति।** दिवा[3] दिनमारूढं प्रवृद्धम्। भोजनं[3] वेलाऽतीतेत्यर्थः॥ ६॥

**तथेति।** आरुध्य संरुध्य। शाद्वले हरिततृणे[4] देशे॥ ७॥

---

1. A,B,J नव्यवत् 2- -2. B,J,V omit 3- -3. A,B,J दिवारूढं 4. V °ण°

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

पश्नस्योत्तरं विवक्षुः तावत्प्रश्न मभिनन्दति **साध्विति।** त्वया[1] साधु यथा तथा पृष्टं कुतः ? यत् यस्मात् कथामृतं शृण्वन्नपि नूतनयसि नूतनं[2] करोषि॥ १॥

युक्तमेवैतदित्याह - **सतामिति।** साग्राहिणां साधूना मयं निसर्गः स्वभाव एव। कौऽसौ? अच्युतस्य वार्ता प्रतिक्षणं साधु नव्यवद्भवतीति यदेषः। कथम्? स्त्रैणानां स्त्रियाः कामिन्याः वार्तेव, कथम्भूताना मपि सताम्? यः अच्युत एवाऽर्थो विषयो येषां तानि वाणीश्रुतिचेतांसि येषां तथाभूतानामपि॥ २॥

शृणुष्वेत्यभिमुखीकरणम्। अवहित इति श्रवणोपयुक्तचित्तसमाधानम्। गुह्यं गोप्य मपि[3] ॥ ३॥

विवक्षितंकृत्तेन सङ्गमयति - **अथेति।** मृत्युतुल्या दघासुरस्य मुखा द्वत्सान् तत्पालकांश्च रक्षित्वा इदं वक्ष्यमाण मुवाच॥ ४॥

पुलिन एव आशिशिषा मुत्पादयितुं तत् स्तौति - **अहो** इति। हे वयस्याः स्वीयानां केलीनां सम्पदो यस्मिन्, मृदुला अच्छा वालुका यस्मिन्, स्वकेलिसमृद्ध्यर्थं मृदुला वालुका यास्मि न्निति वा। स्फुटत् विकसत् सरः, सरोरुहबाहुल्यात् उपचारात् सर एव विकस दित्युक्तम्। तस्य गन्धेन हृत आकृष्टा अलयः पत्रिणश्च तेषाम्। के उदके ध्वनयः तेषां प्रतिध्वानाः तैः लसन्तो द्रुमाः तै राकुलं व्याप्तम्॥ ५॥

अत्र अत्रैव दिवा दिनं रूढं प्रवृद्धम्। भोजन वेला अतीतेत्यर्थः। क्षुधाऽर्दिता वत्साः अपः पीत्वा अत्र समीप एव शनकैः तृणं चरन्तु अदन्तु॥ ६॥

तथैवाऽस्बित्युक्त्वा अर्भा बालाः वत्सा नपः पाययित्वा शाद्वले तृणहीरतदेशे वत्सान् आरुध्य भगवता सह शिक्यानि पर्युषितान्नग्रन्थीन् मुक्त्वा बुभुजुः॥ ७॥

---

1. K,W omits त्वया 2. A,B, नवीनं 3. A,B add इति 4. A,B सं°

कृष्णस्य विष्वक्पुरुराजिमण्डलै रभ्याननाः फुल्लदृशो व्रजार्भकाः।
सहोपविष्टा विपिने विरेजु इछदा[2] इवाम्भोरुहकर्णिकायाः॥ ८॥

केचि त्पुष्पै र्दलैः केचि त्पल्लवै रङ्कुरैः फलैः।
शिग्भिस्त्वग्भि र्दृषद्भिश्च बुभुजुः कृतभाजनाः॥ ९॥

सर्वे मिथो दर्शयन्तः स्वस्वभोज्यरुचिं[3] पृथक्।
हसन्तो हासयन्तश्चाऽभ्यवजह्रुस्सहेश्वराः॥ १०॥

बिभ्रद्वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे वामे पाणौ मसृणकबलं तत्फलान्यङ्गुलीषु।
तिष्ठन्मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन्नर्मभिस्स्वै स्स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग्बालकेलिः॥ ११।

भारतैवं वत्सपेषु भुञ्जानेष्वच्युतात्मसु।
वत्सा स्त्वन्तर्वने[4] दूरं[5] विविशु स्तृणलोभिताः॥ १२॥

तानदृष्ट्वा[6] भयत्रस्तानूचे[7] कृष्णोऽस्य भीभयम्।
मित्राण्याशान्मा विरमत[8] ह्यानेष्ये वत्सकानहम्॥ १३॥

---

1. V पुलिने 2. A,B,G,J,V यथा° 3. V स्वां स्वां 4. V °श्वा° 5. A,B °ने 6. A,B,G,J तान्द° 7. A,B,G,J °सन्त्र° 8. A,B,G,J °तेहा°

**श्रीध० कृष्णस्येति।** तदा ते विरेजुः कृष्णस्य विष्वक् परितः पुरु राजिमण्डलैः बहुभिः पङ्क्तिमण्डलै स्सह नैरन्तर्येणोपविष्टाः। श्रीकृष्णाभिमुखानि आननानि येषां ते। फुल्लदृशो विकसितनयनाः। कमलकर्णिकायाः परितः पत्राणि यथेति[1]॥ ८॥

केचिदिति। पुष्पै स्तद्दलैः अन्यैश्च पत्रैः कृतानि भाजनानि यैस्ते॥ ९॥

**सर्व** इति। रुचिं स्वादविशेषम्[2]। अभ्यवजहु र्बुभुजिरे। सहेश्वराः श्रीकृष्णसहितः॥ १०॥

**बिभ्रदिति।** यज्ञभुगपि तेषु बुभुजे बालाना मिव केलिर्यस्य सः। तदाह - उदरवस्त्रयो र्मध्ये वेणुं बिभ्रत्[3] दध दिति सर्वत्र सम्बध्यते[4]। वाम इति काकाक्षिन्यायात्[5] कक्षपाण्यो र्विशेषणम्। मसृणं स्निग्धम् दध्योदन कबलम्। तदुचितानि बिल्वामलकादिफलानि अङ्गुलीषु[6] अङ्गुलिसन्धिषु[7]। कर्णिकेव सर्वाभिमुखो मध्ये तिष्ठन् स्वपरि[8] स्वस्य परित उपविष्टान् इत्यर्थः[9] सुहृदः स्वैर्नर्मभिः परिहासवाक्यैः स्वर्गे स्वर्गनिवासिनि[10] जने मिषति आश्चर्येण पश्यति सति लोके इ[11] ह वत्सप[11] जनानां मध्ये बुभुजे॥ ११,१२॥

**तानिति।** भीभयं भयहेतुभ्यो भयं अस्यापास्य नि[12] रस्येत्यर्थः[12] यद्वा अस्य विश्वस्य भियोऽपिभयं, यः श्रीकृष्णः आशात् भोजनात्[13]। अ[13] स्मिन्पादे[13] अक्षराधिक्य मार्षम्॥ १३॥

---

1. A यथा तथेति 2. B °दु° 3. V दधानः 4- -4. V त्राऽन्वयः 5- -5. A,B,J omit 6. A,J °त्वादि° 7. A,B,J omit अङ्गुलीषु 8. A,B,J omit स्वपरि 9. A,B,J omit इत्यर्थः 10. B,J omit °नि° 11- -11. A,B,J omit 12- -12. A,B,J omit 13- -13. V अत्र

**वीर०** तदा ते रेजुः कथम्भूताः कृष्णस्य विष्वक् परितः बहुभिः पङ्क्तिमण्डलै स्सह नैरन्तर्येणोपविष्टाः कृष्णाभि मुखान्यानानि येषां ते, फुल्लदृशो विकसितनयनाः यथा कमलकर्णिकायाः परितः स्थितानि दलानि तद्वत्॥ ८॥

पुष्पैः दलैः[1] पुष्पदलैः[1] पुष्पदलादिभिः कृतानि भाजनानि पात्राणि यै स्तथाभूताः बुभुजुः यद्वा पुष्पैः सङ्घटि-तपुष्पदलैः[2] दलैः पद्मिनीदलै रन्यैर्वा पत्रैः पल्लवैः प्रवृद्धारुणकोमलपत्रैः अङ्कुरैस्ततोऽपि पूर्वावस्थाविशिष्टैः उभयत्राऽपि भूमौ नीरन्ध्र मास्तीर्णैः फलै रपि तथाभूतैः त्वग्भिः भूर्जादित्वग्भिः॥ ९॥

**सर्व**[3] इति[3]॥ सहेश्वराः श्रीकृष्णसहिताः अभ्यवजहु बुभुजुः॥ १०॥

यज्ञभुगपि भगवान् लीलया बालस्येव केलि र्यस्य सः, स्वर्गे स्वर्गस्थे लोके देवजने मिषति पश्यति सति बुभुजे। कथम्भूतः उदरवस्त्रयो र्मध्ये वेणुं बिभ्राणः। इद मुत्तरत्राप्यन्वेति। वाम इति काकाक्षिन्यायात्[4-4] कक्षपाण्यो र्विशेषणम् वामे कक्षे शृङ्गवेत्रे बिभ्रत्, पाणौ मसृणकबलं स्निग्धदध्यन्नकबलं, तदुचितानि बिल्वाम्रादि फलानि अङ्गुलिसन्धिषु बिभ्रत्[5] बालानां मध्ये तिष्ठन् स्वस्य परितः उपविष्टान् सुहृदो मित्राणि नर्मभिः परिहासवाक्यैः हासयन्॥ ११॥

हे भारत! अच्युते श्रीकृष्ण एव आत्मा चित्तं येषां तेषु भुञ्जानेषु सत्सु वत्साः तृणलोभिताः दूरमन्तर्वणे वनमध्ये विविशुः॥ १२॥

तान् वत्सान् अदृष्ट्वा अतएव भयत्रस्तानि मित्राणि सखीन् हे[6] मित्राणीति सम्बोधनं वा[6] भीभयं भयहेतुभ्यो भयं अस्य निरस्य ऊचे, तदेवाऽऽह आशात् भोजनात् मा विरमत विरामं मा[7] कुरुत, हि यस्मात् अहं वत्सानानेष्ये॥ १३॥

1- -1. A,B omit 2. A,B पत्रैः 3- -3. K,W मिथ इति। 4- -4. K,W वत् 5. K,W omits बिभ्रत् 6- -6. K,W omits 7. A,B न

-: वत्सापहारबन्धः :-

इत्युक्त्वाऽद्रिदरीकुञ्जगह्वरे ष्वात्मवत्सकान्।
विचिन्व न्भगवान्कृष्णः सपाणिकबलो ययौ॥ १४॥

अम्भोजन्मजनि स्तदन्तरगतो मायार्भकस्येशितु
र्द्रष्टुं मञ्जु महित्व[1] मन्यदपि तद्वत्सानितो वत्सपान्।
नीत्वाऽन्यत्र कुरूद्वहान्तरदधात्खेऽवस्थितो यः पुरा
दृष्ट्वाघासुरमोक्षणं प्रभवतः[2] प्रामः परं विस्मयम्॥ १५॥

ततो वत्सा नदृष्ट्वैत्य पुलिनेऽपि[3] च वत्सपान्।
उभावपि वने कृष्णो विचिकाय समन्ततः॥ १६॥

क्वाप्यदृष्ट्वाऽन्तर्विपिने वत्सान् पालांश्च विभ्वदृक्[4]।
सर्वं विधिकृतं कृष्णः[5]सहसाऽवजगाम[6] ह॥ १७॥

ततः कृष्णो मुदं कर्तुं तन्मातॄणाञ्च कस्य च।
उभयायित मात्मानं चक्रे विभ्वङ्गीश्वरः[7]॥ १८॥

यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपु र्यावत्कराङ्घ्रादिकं
यावद्यष्टिविषाण वेणुदल शिग्यावद्विभूषाम्बरम्।
याव च्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद्विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ॥ १९॥

स्वय मात्मात्मगोवत्सान् प्रतिवार्यात्मवत्सपैः[8]।
क्रीडन्नात्मविहारैश्च सर्वात्मा प्राविश द्व्रजम्॥ २०॥

1. V महत्त्व 2. V भग° 3. V ऽथ च 4. A,B,G,J °वित् 5. V ज्ञात्वा 6. V °ऽभि° 7. A,B,G,J °कृदी° 8. A परिवार्या° K,W परिपाल्या°

श्रीध० इतीति। अद्रिषु तद्दरीषु[1] कुञ्जेषु लतादिपिहितोदरविवरेषु, गह्वरेषु सङ्कटस्थानेषु[2-] च[-2] ॥ १४॥

**अम्भोजन्मेति।** अम्भोजन्मनः पद्मात् जनिः[3] उत्पत्ति र्यस्य स ब्रह्मा तदन्तरे त[4]स्मिन्नवसरे गत आगत स्तच्छिद्रं प्राप्तो वा म[5]शु मनोहरम्[-4] अन्यदपि [6]महित्वं महिमानं द्रष्टुं तस्य वत्सा नितःस्थानात्[7] वत्सपांश्च अन्यत्र नीत्वा स्वयं तिरो बभूव [8]भगवतः श्रीकृष्णस्य॥ १५॥

**तत** इति। उभावपि वत्सा न्वत्सपांश्च। विचिकाय [9]अन्वेषितवान्॥ १६॥

**केति।** विधिकृतम् ब्रह्मणा कृतम्॥ १७॥

**तत** इति। उभयायितम् वत्स तत्पालरूपेण [10]उभयथा वर्तमान मित्यर्थः। अयंभावः - यदि तूष्णीमासे तर्हि तन्मातृणां विषादः स्यात्, यदि च तानेवानयिष्यामि तर्हि ब्रह्मणो मोदो[11] न स्यादिति तदुभयप्रीतये तथा चक्रे इति॥ १८॥

तदेव दर्शयति **याव दिति।** वत्सपानां वत्सकानाञ्च अल्पकं[12] वपुःप्रमाण मनतिक्रम्य एव मुपर्यपि योज्यम्। यद्वा यावद्वत्सपादिवपुः तावत्सर्वस्वरुपोऽजः कृष्णो बभा वि[13-]त्युत्तरत्रान्वय[-13]ः[14] "सर्वं विष्णुमयं जगत्" इति प्रसिद्धा या गीः तस्या अङ्गवत्[15] सा गीरिव अर्थस्वरूपेण प्रत्यक्षा यथा तथा बभूवेत्यर्थः॥ १९॥

**स्वयमिति।** एवं सर्वात्मा सन् व्रजं प्राविशत्। कथम्? स्वय मात्मैव प्रयोजकः, आत्मरूपान् गोवत्सा निति कर्मापि स्वयमेवेत्युक्तम्। आत्मरूपैः वत्सपैः प्रतिवार्य। प्रयोज्यकर्ताऽपि स्वयमेव। आत्मविहारैः क्रीडन्निति क्रियाऽ[16]पि कारकाण्यपि स्वय मेवेत्यर्थः॥ २०॥

---

1. A तेषां द° 2- -2. A omits 3. A,B,J omit उत्पत्तिः 4. V अ° 5- -5 V omits 6. V महत्त्वं 7. A adds पुलिनात् 8. A,B,J प्रभव° 9. A,B,J अन्वीक्षि° 10. A,B,J omit उभयथा 11. A,B,J °हो° 12. V °क° 13- -13. A,B,J °वित्यर्थः। उत्तरत्राप्येवम्। 14. A adds कथम्? 15. V adds मूर्तिवत् 16. V omits अपि

**वीर०** [1]इत्युक्त्वा पाणौ कबलेन [2]सहितः अद्रिषु तद्दरीकुञ्जेषु च गह्वरेषु सङ्कटस्थानेषु च वत्सान् विचिन्वन् ययौ॥ १४॥

ततः अम्भोजन्मनः पद्माज्जनिः जननं यस्य स चतुर्मुखः तस्मिन्नन्तरे अवसरे आगतः तदेव छिद्रं प्राप्तो वा यो ब्रह्मा पुरा भगवतः अघासु[4]मोक्षणरूपं कर्म खेऽवास्थितो दृष्ट्वा विस्मयं प्राप्तः सोऽस्येशितुः अन्यदपि रमणीयं महित्वं [5]महिमानं द्रष्टुं तद्वत्सान् वत्सपांश्च इतोऽन्यत्र नीत्वा अन्तरदधात्तिरोहितो बभूव॥ १५॥

ततो वत्सा नदृष्ट्वा आगतः पुलिने वत्सपांश्चाऽदृष्ट्वा पुन रुभावपि वत्सवत्सपसमुदायौ विचिकाय अन्वेषितवान्॥ १६॥

अन्तर्विपिने वनमध्ये क्वाप्यदृष्ट्वा, विश्वदृक्, हेतुगर्भ मिदम् तत्वात् सर्वं वत्सवत्सपापहरणरूपं कर्म चतुर्मुखकृतं आशु अवगतवान्॥ १७॥

तेषां वत्सानां वत्सपानाञ्च मातॄणां कस्य च ब्रह्मणश्च प्रीतिं कर्तुं विश्वदृगीश्वरश्चेति हेतुगर्भम्। विश्वदृक्त्वात् यथेष्टपरिणामोपयुक्तसार्वज्ञ्यादि गुणयुक्तत्वात् ईश्वरत्वात् प्रभुत्वात् सर्वशक्तित्वाच्च आत्मान मेव उभयायितं वत्सवत्सपायितं तदुभयवदाचरन्तं चक्रे॥ १८॥

तदेव प्रपञ्चयति **यावदिति**। यावच्छब्दः साकल्यार्थः अजः श्रीकृष्णः यावद्वत्सानां वत्सपानाञ्च अल्पवपुरादिकं तावत्स्वरूपो बभौ। कथम्? 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' इति या प्रसिद्धा वाणी तस्या अङ्गवत् तदर्थमूर्तिवत् सा गीरिवाऽर्थस्वरूपेण प्रत्यक्षा यथा भवति तथा बभा वित्यर्थः। दलानि भूषार्थं शिरस्सु निहितानि किसलयदलानि शिक् शिक्यानि शीलानि स्वभावाः अभिधा नामानि आकृति रवयवसंस्थानम्। 'गिरोरर्थव' दितिपाठे प्रत्यक्ष स्तदर्थ इवेत्यर्थः॥ १९॥

एवं स्वय मेव सर्वात्मा सन् आत्माभिन्नैर्वत्सपैः आत्माभिन्नान् गवां वत्सान् स्वय मात्मैव प्रयोजकः परित्यात्म-विहारैः क्रीडन् व्रजं प्राविशत्॥ २०॥

---

1. A, B इत्यमुक्त्वा 2. A,B युक्तः 3. A,B °रीषु 4. A,B °रस्य 5. A,B महत्त्वं

तत्तद्वत्सा न्पृथक्नीत्वा[1] तत्तद्गोष्ठे निवेश्य[2] सः।
तत्तदात्माऽभवद्व्राजन् तत्त त्सद्म प्रविष्टवान्॥ २१॥

तन्मातरो वेणुरवत्वरोत्थिताः उत्थाप्य दोर्भिः परिरभ्य निर्भरम्[3]।
स्नेहस्नुतस्तन्यपयः[4] सुधासवं मत्वा परं[5] ब्रह्म सुतानपाययन्॥ २२॥

ततो नृपोन्मर्दन मज्जलेपनाऽलङ्कारक्षातिलकाञ्जनादिभिः[6]।
संलालितः[7] स्वाचरितैः प्रहर्षयन्सायङ्कृतो याम यमेन माधवः॥ २३॥

गाव स्ततो गोष्ठ मुपेत्य सत्वरं हुङ्कारघोषैः परिहूतसङ्कतान्।
स्वकान् स्वकान् वत्सतरानपायय न्मुहुर्लिहन्त्यः स्रवदौधसं पयः॥ २४॥

गोगोपीनां मातृताऽस्मिन्सर्वा स्नेहर्धिकां विना।
पुरावदास्वपि[9] हरे स्तोकता मायया विना॥ २५॥

व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याऽऽब्दमन्वहम्।
शनै र्निस्सीम ववृधे यथा कृष्णे तु[10] पूर्ववत्॥ २६॥

---

1. V ज्ञात्वा 2. V प्र 3. A निर्वृताः 4. A स्रुत 5. K,W सुतं 6. V गन्ध° 7. A,B,G,J,V °श° 8. V सु° 9. A,B,G,J,V. °रो° 10. A,B,G,J त्वपू°

**श्रीध० तत्तदिति** । तत्तदात्मा तत्तद्गोपबालरूपोऽभवत्। तत स्तत्त त्सर्व प्रविष्टः॥ २१॥

गोपिकामोह माह - **तन्मातर** इति। तन्मातरो वेणुरवेण त्वरयोत्थिता स्सत्यः सुतान्मत्वा परं ब्रह्मैव दोर्भिः उत्थप्य उपगूह्य[1] पयस्सुधासवं पय एव सुधाव त्स्वादु आसवव न्मादकं पाययामासु रित्यर्थः॥ २२॥

**तत** इति। एवं यामयमेन तत्तत्कालक्रीडानियमेन सायं गतः प्राप्तः स्वाचरितैः स्वस्याऽऽचरितैः शोभनै राचरितै र्वा मातृः प्रहर्षयन् तत स्ताभि रुन्मर्दनादिभि रुपलालित इति॥ २३॥

गवां मोहन माह **गाव** इति। परिहूता आहूताश्च ते सङ्गताश्च तान्॥ २४॥

एतावत्तु, वैषम्यं कृष्णस्याऽपि दुर्निवार मासीदित्याह - **गोगोपीना** मिति। गवां गोपीनां चाऽस्मिन्कृष्णे मातृता पलालनादिरूपा पुरोवदेवाऽऽसीत्, किन्तु स्नेहर्धिकां विना, स्नेहाधिक्यन्त्विदानीं विशेष इत्यर्थः। आसु गोगोपीषु हरे स्तोकता च बालभावनादिपूर्ववदेवाऽऽसीत्, किन्तु मायया विना। ममेयं माता, अह मस्याः पुत्रः इति मोहं विनेत्यर्थः॥ २५॥

स्नेहर्धि मेव दर्शयति - **व्रजौकसा** मिति। यथा कृष्णे यशोदानन्दने स्वपुत्रेभ्योऽपि स्नेहाधिक्यं पूर्वमासीत् इदानीं स्वतोकेष्वपि तथैवावर्धतेत्यर्थः। आशब्दं याव त्संवत्सरम्। निस्सीम यथा भवति त[2] भवति[3] स्नेहवल्ली[3] ववृधे॥ २६॥

---

1. A,J उदुह्य; B उदूह्य 2. V omits भवति 3- -3. A,B,J omit

**वीर०** पृथङ्नीत्वा पृथक्कृत्य तत्तद्गोष्ठे प्रवेश्य तत्तदात्मा तत्तद्बालकप्रतिरूपो भूत्वा तत्तद्बालगृहं प्रविष्टवान्॥ २१॥

अथ गोपिका मोहन प्रकारमाह **तन्मातर** इति। वेणुरवेण लिङ्गेन त्वरयोत्थिताः तद्वत्सपमातरः सुतान् मत्वा परं ब्रह्मैव दोर्भ्यां[1] निर्भरं पूर्णानन्दं यथा तथा उत्थाप्य उपगूह्य स्नेहस्नुतः स्नेहेन स्नुतपयोधरा स्सत्यः। यद्वा स्नेहेन स्नुतं स्तन्यपय एव सुधावत्स्वादु आसववन्मादकं पाययामासुः॥ २२॥

एवं माधवः यामयमेन तत्तत्[2]कालनियमेन सायं गतः प्राप्तः तत श्शोभनैराचरितैः चेष्टितैः प्रहर्षयन् हे नृप! उन्मर्दनादिभि संस्कारितो बभूव॥ २३॥

अथ गवां मोहन प्रकार माह - **गाव** इति। हुङ्कारघोषैः परिहूतांश्च सङ्गताश्च तान् वत्सान् मुहुर्मुहु[1] र्विलिहन्त्यः स्रवत् औधसं आपीनोद्भवं पयः क्षीरम् अपाययन्॥ २४॥

एतावत्तु वैषम्यं कृष्णस्याऽपि दुर्निवार मासी दित्याह - **गोगोपीनामिति**। गवां गोपीनाञ्च तस्मिन् वत्स-वत्सपात्मकता मापन्ने कृष्णे स्नेहर्धिकां स्नेहसमृद्धिं विना[1] स्नेहाधिक्यं विनेति यावत्। मातृता उपलालनादिरूपा सर्वा पूर्ववदेवाऽऽसीत्[2] तथा आसु गोपीषु हरेस्तोकता बालभावः पूर्ववदेवाऽऽसीत् किन्तु मायया विना, ममेयं माता, अहमस्याः पुत्र इति मोहं विनेत्यर्थः॥ २५॥

स्नेहर्धिकामेव दर्शयति - **व्रजौकसा** मिति। व्रजौकसां कृष्णे यशोदा नन्दने स्वपुत्रेभ्योऽपि स्नेहवल्ली स्नेहसन्ततिः पूर्व मेव[1] ववृधे। इदानीं स्वतोकेषु स्वापत्येष्वपि आब्दं संवत्सरपर्यन्त मन्वहं निस्सीम निरवधिकं यथा तथा तदैवाऽवर्धतेत्यर्थः॥ २६॥

1. A,B °न्यं° 2. K,W omit तत् 3. A,B omit मुहुः 4. A,B, omit विना 5. K,W °दासीत् 6. A,B °वदेव

इत्थ मात्माऽऽत्मनाऽऽत्मानं वत्सपाल मिषेण सः।
पालयन्वत्सपो वर्षं चिक्रीडे वनगोष्ठयोः॥ २७॥

एकदा चारय न्वत्सान् सरामो वन माविशत्।
पञ्चषट्सु त्रियामासु हायनापूरणी ष्वजः॥ २८॥

ततो विदूराच्चरतो गावो वत्सा नुपव्रजम्।
गोवर्धनाद्रिशिरसि चरन्त्यो ददृशु स्तृणम्॥ २९॥

दृष्ट्वाऽथ तत्स्नेहवशोऽस्मृतात्मा स गोव्रजोऽत्यात्मपदुर्गमार्गः।
द्विपा त्ककुद्ग्रीव उदास्य पुच्छोऽगाद्धुङ्कृतै रास्नुपया जवेन॥ ३०॥

समेत्य गावो गोवत्सान् वत्सवत्योऽप्यपाययन्।
गिलन्त्य इव चाऽङ्गानि लिहन्त्यः स्वौधसं पयः॥ ३१॥

गोपा स्तद्रोधनायास मौघ्यलज्जोरुमन्युना।
दुर्गाध्वकृच्छ्रतोऽभ्येत्य गोवत्सै र्ददृशुस्सुतान्॥ ३२॥

त द्वीक्षणोत्प्रेमरसाप्लुताशया जातानुरागा गतमन्यवोऽर्भकान्।
उदुह्य दोर्भिः परिरभ्य मूर्ध्नि घ्राणै रवापुः परमां मुदं ते॥ ३३॥

1. V वा° 2. V. भगवान् 3. B वर्षे 4. A,B,G,J °षासु 5. V °ऽति 6. V शिखरे 7. K,W च 8. A,B,G,J. °वोऽधो 9. A मौढ्य 10 K,W °ऽन्वेत्य 11. B,G,J,V तदी° 12. B,G,J मूर्धनि

**श्रीध० इत्थमिति।** एव मात्मा श्रीकृष्णो वत्सपोभूत्वा तत्राऽपि तावद्वत्सानां पालानाञ्च मिषेण आत्मानमात्मना पालयन् क्रीडितवानित्यर्थः॥ २७॥

एतावत्पर्यन्तं रामस्याऽपि मोह एवाऽऽसीत् संवत्सरान्तेतु कथञ्चि ज्ज्ञातवा निति दर्शयन्नाह **एकदेति।** पञ्चसु वा षट्सु वा रात्रिषु हायनस्याऽऽपूरणीषु पूरकतयाऽवशिष्टासु इत्यर्थः॥ २८॥

**तत** इति। ततो दूरत एव गोवर्धनशिखरे चरन्त्यो गावो व्रजसमीपे चरतो वत्सान् ददृशुः॥ २९॥

**दृष्ट्वेति।** तदैव स गोव्रजो गवां कलापः तत्स्नेहवश स्तेषां वत्सानां स्नेहनाऽऽकृष्टोऽतएव न स्मृत आत्मा देहो येन सः, जवेनोपव्रज मगात्। कथम्भूतः? अत्यात्मपदुर्गमार्गः, अतिक्रान्त आत्मपान् गोपालान् यः सोऽत्यात्मपः। तथा दुर्गो दुर्गमो मार्गो यस्य सः स च स च तथा परस्पर युक्ताभ्यां पद्भ्यां धावन् द्विपादिव प्रतीयमानः ककुद्याकुञ्चिता ग्रीवा यस्य

सः। उदास्य पुच्छः उन्नमिता न्यास्यानि पुच्छानि च येन सः। आ स्रुपयाः[8] सर्वतः स्रवन्ति पयांसि यस्य सः। आ स्नुपयाः[9] इत्यपि पाठे स एवाऽर्थः[9]। गोव्रज इत्युनेन वृषभादयोऽप्यगु रित्युक्तम्॥ ३०॥

तत्र विशेषतो धेनूनां चेष्टितमाह - **समेत्येति**। गोवर्धनस्याधः वत्सवत्यः पुनः प्रसूता अपि॥ ३१॥

रामेण दृष्टं वत्सेषु गवां स्नेहातिशय मुक्त्वा गोपानामपि दर्शयितु माह - **गोपा** इति तासां गवां रोधने य आयास स्तस्य मौघ्येन मोघत्वेन लज्जया सहोरुमन्युना दुर्गामार्गजनितक्लेशेन चाभ्येत्य गोवत्सैस्सह सुतान् ददृशुः ॥ ३२॥

ततश्च तेषा मीक्षणेन उद्गतो यः प्रेमरसः तस्मिन् आप्लुता निमग्ना आशया येषान्ते लज्जामन्युकृच्छ्र स्तानपि ताडयितु मागता स्सन्तोऽपि गतमन्यवः प्रत्युत जातोऽनुरागो येषान्ते, मूर्धनि घ्राणै रवघ्राणैः परमां मुदमवापुः॥ ३३॥

---

1. A,B,J omit तावत् 2. B omits आत्मानम् 3. A,B,J add पञ्चषासु 4. B,J,V omit देहो 5. V omits दुर्गः 6. V omits स च 7. B,J,V omit परस्पर ★ अतः 'आस्रुपया' इति श्रीधरादृतः पाठः भवेदिति भाति। 8. V स्नु 9- -9. V omits

**वीर०** इत्थं वत्सतत्पालनव्याजेन आत्मनैवाऽऽत्मानं पालयन् वनगोष्ठयो र्वर्षं संवत्सरं चिक्रीडे विहृतवान्॥ २७॥

तावत्पर्यन्तं रामस्याऽपि मोह एवाऽऽसीत् संवत्सरान्ते तु कथञ्चिज्ज्ञातवानिति दर्शयन्नाऽऽह - **एकदेति**। पञ्चसु षट्सु वा त्रियामासु रात्रिषु हायनापूरणीषु संवत्सरपूरकतयाऽवशिष्टा स्त्वित्यर्थः वत्सांश्चारयन् स रामो वनम् आविवेश[1]॥ २८॥

तदा गोवर्धनाद्रे श्शिखरे विदूर मेव तृणं चरन्त्यो गावोऽनुव्रजं व्रजस्योपान्ते चरतो वत्सान् ददृशुः॥२९॥

स दृष्टवान् गवां व्रजः सङ्घः तेषां वत्सानां स्नेहेनाऽऽकृष्टः अत एव विस्मृत आत्मा येन सः व्रजसमीप मगात्। कथम्भूतः? अतिक्रान्ता आत्मपा गोपा येन तथा दुर्गो मार्गो यस्य सः स च तथा द्विपात् अत्यन्त धावनेन पाश्चात्यपादयोः पूर्व पादाभ्यां सङ्घट्टनात्तथा प्रतीयमान इत्यर्थः। ककुदि ग्रीवा यस्य सः, तावदुदञ्चितग्रीव इत्यर्थः[2]। उन्नमितान्यास्यानि पुच्छानि च येन सः। आस्नु सर्वतः स्रवत् पयो यस्य सः हुङ्कृतैः उपलक्षितः गोव्रजइत्यनेन वृषभादयोप्यगुरिति सूचितम्॥ ३०॥

तत्र विशेषतो धेनूनां चोष्टितमाह - **समेत्येति**। वत्सवत्योऽपि पुनः प्रसूता अपि गावः पूर्ववत्सान् स्वौधसं स्वापीनोद्भवं पयः अपाययन्। कथम्भूताः? वत्साना मङ्गानि गलिन्त्य इव लिहन्त्यः॥ ३१॥

एवं रामेण दृष्टं वत्सेषु गवां स्नेहातिशय मुक्त्वा अथ गोपाना मपि दर्शयितु माह - **गोपा** इति। तासां गवां रोधनेन यश्चाऽऽयास स्तस्य मौघ्येन वैयर्थ्येन या लज्जा तत्सहितेनोरुणा मन्युना दुर्गमार्गजनित क्लेशेन च अन्वेत्य[3] आगत्य गोवत्सैस्सहितान् सुतान् ददृशुः॥ ३२॥

ततश्च तेषा मीक्षणेन उद्गतो यः प्रेमरसः तस्मिन्नाप्लुतः निमग्न आशयो येषां ते लज्जामन्युकृच्छ्रै स्तानपि ताडयितुमागता स्सन्त स्ततो गतमन्यवः, प्रत्युत जातोऽनुरागो येषां ते, गोपाः[4] दोर्भि स्त्वुह्य[5] परिरभ्य च मूर्ध्न्यवघ्राणैः परमा मदृष्ट पूर्वां मुदं प्रापुः॥ ३३॥

1. A,B आविशत् 2. A,B omit तावत् 3. A,B अभ्येत्य 4. K, W omits गोपाः 5. A,B, W °दू°

ततः स पशवो गोपा स्तोकाश्लेषसुनिर्वृताः।
कृच्छ्राच्छनै रपगताः तदनुस्मृत्युदश्रवः॥ ३४॥

व्रजस्य रामः प्रेमर्धि वीक्ष्यौत्कण्ठ्य मनुक्षणम्।
मुक्तस्तने ष्वपत्येष्व प्यहेतुवि दचिन्तयत्॥ ३५॥

किमेत दद्भुत मिव वासुदेवेऽखिलात्मनि।
व्रजस्य सात्मन स्तोके ष्वपूर्वं प्रेम वर्धते॥ ३६॥

केयं वा कुत आयाता दैवी वा नार्युताऽऽसुरी।
प्रायो मायाऽस्तु मे भर्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी॥ ३७॥

इति सञ्चिन्त्य दाशार्हो वत्सान्सवयसानपि।
सर्वानचष्ट वैकुण्ठं चक्षुषा वयुनेन सः॥ ३८॥

नैते सुरेशा ऋषयो न चैते त्वमेव भासीश भिदाश्रयोऽपि।
सर्वं पृथक्त्वं निगमात्कथंवदेत्युक्तेन वृत्तं प्रभुणा बलोऽवैत्॥ ३९॥

★ ब्रह्मापि स्वासनस्थेन चतुरास्येन शौरिणा।
मोहितैस्स्व पुरद्वारस्थै ः परिभूतो न्यवर्तत॥ ४०॥

तावदेत्य त्मभूरात्ममानेन त्रुट्यनेहसा।
पु रावदाब्दं क्रीडन्तं ददृशे सब लं हरिम्॥ ४१॥

1. V एवं 2- -2. A, B,G,J प्रवयसो 3. A,B,G,J,V °र्धेः 4. K,W °न्ये° 5. V °षु ह्य° 6. K,W तु 7. K,W मम 8. B,G,K,V °ना° 9. V मदंशा 10. A नवै° 11. V °ऽस्मिन् ★ A,G,J,V omit this verse. The same is commented upon by Vira Raghava 12- -12. B,K द्वारपालैश्च 13. V °वा° 14. A,B,G,J पुरोवदब्दं; V. पुरोवदाब्दं 15. A,B,G,J,V °क°

**श्रीध०** तत इति। कृच्छ्रा त्ततोऽपगता निवृत्ताः तेषां सुताना मनुस्मृत्योद्गच्छन्त्यश्रूणि येषां ते॥ ३४॥

**व्रजस्येति** । प्रेमर्धे रौत्कण्ठ्य मतिशयं मुक्त स्तने ष्वपत्येषु वीक्ष्य अं हेतुवित हेतुमजानन्नचिन्तयत्॥ ३५॥

चिन्ता मेवाऽऽह **किमेतदिति** द्वाभ्याम्। वासुदेवे यथा पुरा प्रेम तथा स्वतोकेष्वपि व्रजस्य प्रेम वर्धते, किमेतदद्भुत मिति। किञ्च सात्मनो आत्मसहितस्य व्रजस्य। मम तेषु प्रेमकारणं किमिति भावः॥ ३६॥

**केति**। केयं माया देवानां वा नराणां वा असुराणां वा कुतो वा कस्मात् प्रयुक्ता तत्रान्यमाया न सम्भवति, यतो ममापि मोहो वर्तते। अतः प्रायशो मत्स्वामिनः श्रीकृष्णस्यैव मायेय मस्त्विति सम्भावयति॥ ३७॥

**इतीति।** सवयसान् सखीनपि वयुनेन ज्ञानमयेन चक्षुषा वैकुण्ठं श्रीकृष्ण मेवाऽपश्यत्॥ ३८॥

एवं कृष्णरूपान्सामान्यतो ज्ञात्वा कृष्णं पृष्ट्वा कृष्णोपदेशेन विशेषतो ज्ञातवा नित्याह - **नैत** इति अयमर्थः पाल्यमाना स्ताव द्वत्सा ऋषीणा मंशाः, पालकाश्च देवाना मंशा इति ताव दहं वेद्मि, इदानीन्तु न तथा। किन्त्वस्मिन् भिदाश्रयेऽपि त्वमेव भासि अतस्त्वं सर्वं पृथक् विविच्य कथं वृत्तमिति वदे त्युक्तेन प्रभुणा वक्त्रा निगमात्संक्षेपत एवोक्तं वृत्तं बलोऽवैत् विदितवा नित्यर्थः॥ ३९, ४०॥

ततः किं वृत्तमित्यपेक्षाया माह - **ताव दिति।** वर्षे जाते आत्मनो मानेन त्रुटचनेहसा त्रुटिमात्रेण कालेन सकलं सानुचरं हरि ददर्श॥ ४१॥

---

1. V एवमिति। 2- -2. A,B,J omit 3. V omits प्रेम 4. A,B,J मत्स° 5. A,B,J पालाश्च 6. A adds अपि 7. A adds कालाभिः सहितं

**वीर०** एवं पशुभि र्गोभि स्सहिताः गोपाः तोकाना मपत्याना मालिङ्गनेन सुखिता स्तेषां तोकाना मनुस्मृत्या उद्गच्छन्ति येषां तथाभूता स्सन्तः कृच्छ्रात्कथञ्चित् शनैः ततो ततोऽपगता विश्लिष्य बनंप्रति गता इत्यर्थः॥ ३४॥

रा मः व्रजस्य गोपसमूहस्य प्रेमर्धे प्रेमाधिक्यस्य औत्कण्ठ्य मतिशयं मुक्त स्तन्यं यै स्ते ष्वपत्येषु अनुक्षणं दृष्ट्वा तथाविधस्यादृष्टपूर्वस्य स्नेहस्य कारणं चिन्तितवान्॥ ३५॥

चिन्तामेवाऽऽह - द्वाभ्यां **किमेत दिति।** वासुदेवे यथा पुरा प्रेम तथा व्रजस्य स्वतोकेष्वप्यपूर्वं प्रेम वर्धत इत्येत दद्भुतम्। इव शब्दोऽनतिरिक्तार्थकः। किं किमत्र कारण मित्यर्थः। किञ्च सात्मनः आत्मसहितस्य व्रजस्य मम तेषु प्रेमकारणं किमिति भावः। वासुदेवे तु युक्तमेवेत्यभिप्रायेण विशिनष्टि। अखिलात्मनि आत्मा हि निरतिशयप्रीतिविषयः, तत्त्वा त्तद्युक्त मिति भावः॥ ३६॥

केयं माया। दैवी देवप्रयुक्ता? अथवा नर प्रयुक्ता? यद्वा आसुरी? मम त्वेवं भातीत्याह। प्रायशो मद्भर्तुः कृष्णस्यैव तु माया अन्या तु सकलजन विमोहिनी न स्यादिति मायाशब्दोऽत्र आश्चर्यशक्तिपरः॥ ३७॥

एवं सञ्चिन्त्य दाशार्हो रामः वयुनेन दिव्यज्ञानमयेन चक्षुषा सर्वान्वत्सान्वत्सपांश्च वैकुण्ठं ददर्श कृष्णमेवाऽपश्य दित्यर्थः॥ ३८॥

एवं कृष्णरूपेण सामान्यतो ज्ञात्वा कृष्णं दृष्ट्वा तदुपदेशेन विशेषतो ज्ञातवा नित्याह - **नैत** इति वदेत्यन्तं रामस्य प्रश्न प्रकारपरम्। अयमर्थः - पाल्यमाना वत्सा ऋषीणा मंशाः वत्सपाश्च देवाना मंशा इति तावदहं वेद्मि। इदानीन्तु न तथा। किन्त्वस्मिन् भिदाश्रये वत्सवत्सपादिभेदविषयके ज्ञानेऽपि त्वमेव विषयतयाऽवभासि। अतस्त्वं सर्वं पृथ ग्विविच्य कथं वृत्त मिति वदेत्युक्तेन प्रभुणा कृष्णेन वक्त्रा निगमा त्संक्षेपत एवोक्तं बलो रामोऽवैत् विदितवान्॥ ३९॥

ततः किं वृत्त मित्यपेक्षाया माह **ब्रह्मापीति।** वत्सान्वत्सपांश्च तिरोधाप्य ब्रह्माऽपि स्वस्थानङ्गतः। तत्र स्वस्याऽऽसने स्थितेन चतुर्मुखरूपेण शौरिणा मोहितैर्द्वारपालैः परिभूतः, "परमेष्ठी स्वासन मधितिष्ठत्येव। कस्त्व मागतोऽसि" इत्येवं परिभवं प्रापित स्ततो न्यवर्तत॥ ४०॥

तावत् वर्षे जाते सतीत्यर्थः । आत्मभूः ब्रह्मा स्वमानेन त्रुट्यनेहसा त्रुटिकालेनाऽऽगत्य पूर्ववदब्दपर्यन्तं क्रीडन्तं सरामं कृष्णं ददर्श॥ ४१॥

---

1- -1. K,W omit 2. K,W °क्यम् 3. K,W omit अत्र 4. A,B, W धापयित्वा

ब्रह्मोवाच

यावन्तो गोकुले बाला स्सवत्सा स्सर्व एव हि।
मायाशये शयाना मे नाऽद्याऽपि पुन रुत्थिताः॥ ४२॥

इत एतेऽत्र कुत्रत्या मन्मायामोहितेतरे।
तावन्तो यावदद्याब्द क्रीडन्तो विष्णुना समम्॥ ४३॥

एव मेतेषु भेदेषु चिरं ध्यात्वा स आत्मभूः।
स दाश्रया एत इति ज्ञातुं नेशे कथञ्चन॥ ४४॥

एवं वि मोहयन्विष्णुं विमोहं विश्वमोहनम्।
स्वयैव माययाऽजोऽपि स्वयमेव विमोहितः॥ ४५॥

तम्यां तमोवन्नैहारं खद्योतार्चि रिवाऽहनि।
महतीतरमायैश्यं निहन्त्यात्मनि युञ्जतः॥ ४६॥

---

1- -1. A,B,J, omit 2 A °मये 3- -3. A,B,G,J तावन्त एव तत्राब्दं 4. V सह 5. A सुचिरं 6- -6. A ध्यात्वा सर्वात्मानाऽ° V चिरं ध्यात्वा सदाऽ° 7- -7. A,B,G,J सत्याः के कतरे नेति ज्ञातुं नेष्टे 8. A,B,G,J सम्मो; K,W स मो°

**श्रीध०** दृष्ट्वा च व्यतर्कय दित्याह - **यावन्त** इति द्वाभ्याम्। मे मायाशये मन्मायातल्पे॥ ४२॥

**इत** इति। मन्मायामोहितेभ्य इतरे कुत्रत्याः?॥ ४३॥

इति वितर्कयन्नमुह्यदित्याह - **एव** मिति द्वाभ्याम्। एव मेतेषु भेदेषु चिरंध्यात्वा स आत्मभूः इतिपाठः॥ ४४, ४५॥

ननु मायाश्रयस्य तस्य कुतो मोह इत्यत आह - **तम्यामिति**। महामायाविनि भवत्यन्यमायाया आवरणविक्षेपकत्वाभावे दृष्टान्त द्वयमाह तम्यां तमिस्रायां रात्र्यां नैहारं हिमकणप्रभवं तम इव। तद्धितार्थोपसर्जनस्याऽपि तमसो नैहारमिति विशेषणं छान्दसम्। तत्तमो यथा पृथगावरणं न करोति, किन्तु तत्रैव लीयते। यथा च खद्योतार्चि रहनि पृथक् प्रकाशं न

करोति। एवं महति पुरुषे युञ्जतः पुंस इतरा नीचा[6] माया तत्र न किञ्चित्करोति कि न्त्वात्मनि स्वस्मिन्नेव। ऐश्यं सामर्थ्यं निहन्तीति॥ ४६॥

---

1. B,J omit मत् 2. V °मित्यादि 3- -3. V omits 4. A,B,J भगव° 5. A °मितम् B,J omit आह 6. V °च°

**वीर०** दृष्ट्वा च व्यतर्कय दित्याह द्वाभ्यां **यावन्त** इति। गोकुले यावन्तो वत्सा वत्सपाश्च ते[1] सर्वे मम मायाशये मायातल्पे शयाना स्सन्तोऽद्याऽपि नोत्थिता एव॥ ४२॥

एते तु मन्मायामोहितेभ्य इतरे अत्रदृश्यमानाः कुत्रत्याः, तावन्तो मयाऽपहृताः यावन्त स्तावन्त[2]ः एव यावदद्याब्दम् अतीताब्दादारभ्य अद्य प्रविष्टाब्दपर्यन्तं कृष्णेन समं सह क्रीडन्तो दृश्यन्ते॥ ४३॥

इत्येवं वितर्कयन् मुमोहेत्याह द्वाभ्यम् **एव** मिति। एव मेतेषु वत्सवत्सपादिरूपभेदेषूभयेषु चिरं ध्यात्वा किं त एवैते उत भिन्नाः। तथा चे त्कुत्रत्याः? कुत स्समागताः? इत्येवं ध्यात्वाऽप्यात्मभूः ब्रह्मा, सदाश्रयाः सच्छब्दवाच्य परब्रह्मभूतकृष्णात्मका इति ज्ञातुं कथञ्चन नेशो न प्रबभूव। 'मायाश्रया एत' इति पाठे भगवत आश्चर्यशक्त्याऽऽविर्भाविता इति ज्ञातुं न प्रबभूवेत्यर्थः॥ ४४॥

किन्त्वेवं विष्णुं विमोहयन् विमोहयितु मुद्युक्तश्चतुर्मुखः स्वमायया स्वयमेव विमोहितः नतु कृष्णः। तत्र हेतुं वदन् तं विशिनष्टि विमोहं विगतमोहं विश्वं मोहयतीति तथा तम्। स्वयैव माययेत्यनेन स्वशरीरकपरमात्ममाययेति विवक्षितम्॥ ४५॥

विश्वमोहने भगवति मायान्तरस्याकिञ्चि त्करत्वे दृष्टान्तद्वयमाह **तम्या** मिति। तम्यां तमिस्रायां रात्रौ नैहारं नीहारकण प्रभवं तम इव तद्यथा न पृथगाकारकं किन्तु तत्रैवलीयते, यथा च खद्योतार्चि रहनि न पृथक्प्रकाशं करोति। एवं महति पुरुषे युञ्जतः मायां कर्तुम् उद्युञ्जानस्य[3] पुंसः इतरा नीचा माया तत्र न किञ्चि त्करोति, किन्त्वात्मनि स्वस्मिन्नेव ऐश्य मैश्वर्यं सामर्थ्यं निहन्ति॥ ४६॥

---

1. K,W omit ते 2. A,B, add तदा 3. A,B, उपयुञ्जा°

**तावत्सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात्।**
**व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः॥ ४७॥**

**चतुर्भुजा शङ्खचक्रगदाराजीवपाणयः।**
**किरीटिनः कुण्डलिनो हारिणो वनमालिनः॥ ४८॥**

श्रीवत्साङ्कवदोरत्नकम्बुकङ्कणपाणयः।
श्री★ वत्साङ्कित वक्षःस्काः कौस्तुभाऽमुक्तकन्धराः।
नूपुरैः कटकै र्भाताः[1] कटिसूत्राङ्गुलीयकैः॥ ४९॥

आङ्घ्रिमस्तक मापूर्णाः[2] तुलसीनवदामभिः[3]।
कोमलै स्सर्वगात्रेषु भूरिपुण्यव दर्पितैः॥ ५०॥

चन्द्रिकाविशदस्मेरैः सारुणापाङ्गवीक्षितैः।
स्वकार्थानामिव रजस्सत्त्वाभ्यां स्रष्टृपालकाः॥ ५१॥

आत्मादिस्तम्बपर्यन्तै र्मूर्तिमद्भिश्चराचरैः।
नृत्तगीताद्यनेकार्हैः[4] पृथक्पृथगुपासिताः[5]॥ ५२॥

अणिमाद्यै र्महिमभि रजाद्याभि र्विभूतिभिः।
चतुर्विंशतिभि स्तत्त्वैः परीता महदादिभिः॥ ५३॥

कालस्वभावसंस्कारकामकर्मगुणादिभिः[6]।
स्वमहिध्वस्तमहिभि र्मूर्तिमद्भि रुपासिताः॥ ५४॥

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैक रसमूर्तयः।
अस्पृष्ट भूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम्॥ ५५॥

---

★ This extra half verse is found in B,K,&W edns. and the same is commented upon by Veera Raghava. 1. V भ्राजत् 2. V अ° 3. V °र्णतु° 4. A,B,G,J नृत्य° 5. V °दिनै° 6. V °णैरपि

**श्रीध०** अन्यदप्याश्चर्य माह **तावदिति**। वत्सपालाः वत्साः पालाः बालाश्च[1] सर्वे यष्टि विषाणादयश्च॥ ४७, ४८॥

श्रीवत्सप्रभया[2] युक्ता न्यङ्गदानि[3] दोष्षु येषां ते, रत्नमयानि कम्बुवद्रेखाधराणि[4] कङ्कणानि पाणिषु[5] येषां ते च ते च तथा[6]॥ ४९॥

आङ्घ्रिति[7]। तथा[8] भूरि बहुजन्मार्जितं पुण्यं तद्युक्तैर्जनै रर्पितैः॥ ५०॥

**चन्द्रिकेति**। चन्द्रिकावत्[9] विशदस्मितयुक्तैः सहारुणगुणेन च वर्तमाना येऽपाङ्गा स्तै र्वीक्षितैः। स्वकार्थानां स्वभक्तमनोरथानां रजस्सत्त्वाभ्यां स्रष्टृणालका इव व्यदृश्यन्त। सत्त्ववद्विशदस्मितेन पालका इव, रजोव दरुणगुणेन च[10] स्रष्टार इव तादृक्कटाक्षैर्द्योतमाना इत्यर्थः॥ ५१॥

**आत्मेति**। आत्मा ब्रह्मा, तदादिस्तम्बपर्यन्तैः अ[11]नेकार्हैः अनेकार्हणैः॥ ५२॥

**अणिमाद्यैरिति**। अजाद्याभिः अ[12]जा माया तत्प्रभृतिभिः[-12] विभूतिभिः शक्तिभिः महदादिभिरिति म[13]हत्त्वयोः पृथक्त्व विवक्षया चतुर्विंशति तत्त्वै र्जगत्कारणैः॥ ५३॥

**कालेति**। कालादिभिश्च तत्सहकारिभिश्च। तत्र का[14]लः क्षोभकः[-14] स्वभावः परिणामहेतुः। संस्कारो वा[15] सनाया[-15] उद्बोधकः। स्वमहिध्वस्तमहिभिः भगवन्महिम्ना तिरस्कृतस्वातन्त्र्यै रुक्तै स्सर्वैरणिमाद्यैः॥ ५४॥

सर्वेषां मूर्तिमत्त्वेऽपि विशेषमाह **सत्येति**। सत्याश्च ज्ञान रूपाश्च अनन्ताश्च आनन्दरूपाश्च, तत्राऽपि तदेकमात्राः विजातीयस[16]जातीयभेद[-16] रहिताः, तत्राऽपि चैकरसाः सदैकरूपा मूर्तयो येषां ते। यद्वा, सत्यज्ञानादिमात्रैकरसं यद्ब्रह्म तदेव मूर्तिर्येषा मिति। अत एवोपनिषत् आत्मज्ञानं सैव दृक् चक्षुर्येषां तेषामपि हि निश्चितम् अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या न स्पृष्टं स्पर्शयोग्यं भूरि माहात्म्यं येषान्ते तथाभूता स्सन्तः स[17]र्वे व्यदृश्यन्तेति॥ ५५॥

---

1. A,B,J omit बाला: 2. A,B,J प्रभा 3. A °दादीनि 4. A,B,J न्निधाराणि 5. V पाणौ तु 6. A,B,J omit तथा 7. V अ° 8. V omits तथा 9. A,B,J °कावि° 10. V adds स्वकार्थानां 11. V नैका° 12- -12. A,B,J मायाविद्यादिभिः 13. A,B,J °त्सूत्रयोः 14- -14. V omits 15- -15. V omits 16- -16. A,B,J सम्भेद 17. A,B,J omit सर्वे

**वीर०** अन्यदत्याश्चर्यमाह - **तावदिति**। अजस्य ब्रह्मणः पश्यत स्सतः ताव त्सर्वे वत्साः वत्सपाश्च तत्क्षण एव व्यदृश्यन्त कथम्भूताः? नी[1]लाम्बुद[-1] इव श्यामाः॥ ४७॥

चत्वारो भुजा येषां शङ्खादयः पाणिषु येषां, राजीवं क[2]मलं किरीटानि येषां सन्तीति तथा। श्रीवत्सप्रभायुक्ता न्यङ्गदानि दोष्षु भुजेषु येषां, रत्नमयानि कम्बुवच्छङ्खवत् वर्तुलानि कङ्कणानि पाणिषु येषां ते च ते, तथोक्ताश्च श्रीवत्सै रङ्कितानि वक्षांसि येषां, कौस्तुभै रामुक्तास्संयुक्ताः कन्धरा ग्रीवा येषां ते, बहुजन्मार्जितपुण्य व[3]द्भिरर्पितैः नृपुरादिभिः[-3] आपाद मस्तकं सर्वगात्रेषु आपूर्णाः चन्द्रिकाव द्विशदस्मितयुक्तै रारुण्य सहितापाङ्गवीक्षितैः स्वकार्थानां स्वभक्तमनोरथानां स्रष्टारः पालकाश्चेति [4]तथा रजस्सत्त्वाभ्यां स्रष्टृपालकाः सत्त्ववद्विशदस्मितेन पालका इव, रजोवदरुणगुणेन स्रष्टार इव तादृक्कटाक्षैः द्योतमाना इत्यर्थः॥ ४८ - ५१॥

आत्मा चतुर्मुखः तत्प्रभृतिभिः स्तम्बपर्यन्तैः मूर्तिमद्भिश्चराचरैः कर्तृभिः नृ[5]त्ताद्यनेकार्हणैः साधनै रुपासिताः अत्राचराणामपि तदुपासनोचितमूर्तिमत्त्वं तत्तदभिमानिदेवताद्वारेणेति बोध्यम्॥ ५२॥

अजा[6]द्याभि र्विभूतिभिः कार्योपयोगिनीभिः शक्तिभिः महदादिभिश्चतुर्विंशतिभि स्तत्त्वैः। अजाद्याभिरिति प्रकृतेः पृथगुक्तेः तत्त्वानां जीवात्मना सह चतुर्वि शतित्वम्॥ ५३॥

कालो निमेषादिर्वत्सरान्तः गुणक्षोभहेतुः, स्वभावः परिणामहेतुः, संस्कार श्रोद्बोधहेतुः, कामः कर्महेतुः, कर्म च तत्तद्देहोपलब्धिहेतुः, गुणास्सत्त्वादयो ज्ञानविक्षेप मोहहेतवः तैरुपासिताः, कथम्भूतैः? तस्य भगवतो महिम्ना ध्वस्तमहिमः तिरस्कृतस्वातन्त्र्यै मूर्तिमद्भिश्च ॥ ५४ ॥

**सत्येति**। नित्यनिर्विकारज्ञानानन्दापरिच्छिन्नमात्रस्य परब्रह्मण एकमूर्तयः असाधारणमूर्तयः। मात्रशब्देन विकार जाड्य-दुःख परिच्छेदानां व्यावृत्तिः उपनिषदां दृशां मनोवृत्तीनामपि अस्पृष्ट मविषयभूत मियत्तया परिच्छेत्तु मशक्यं अनवधिकमाहात्म्यं येषाम् ॥ ५५ ॥

---

1- -1. A,B नीलघन: 2. A,B omit कमलं 3- -3. K,W °वदर्पितैः तुलसीनव दामभिः 4. A,B omit तथा 5. A,B °त्या° 6. K,W °दि° 7. A,B °दिव° 8. A,B एतै°

एवं सकृद्दवदर्शाजः परब्रह्मात्मनोऽखिलान्।
यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम् ॥ ५६ ॥

ततोऽतिकौतुकोद्धृत्य स्तिमितैकादशेन्द्रियः।
तद्धाम्नाऽभूदजस्तूष्णीं पूर्वेव्यन्तीव पुत्रिका ॥ ५७ ॥

इतीरिशेऽतर्क्ये निजमहिमनि स्वप्रमितिके परत्राजातोऽतन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ।
अनीशोऽपि द्रष्टुं किमिद मिति वा मुह्यति सति चछादाजो ज्ञात्वा सपदि परमोऽजायवनिकाम् ॥ ५८ ॥

ततोऽर्वाक् प्रतिलब्धाक्षः कः परेतव दुत्थितः।
कृच्छ्राच्छनैः मील्य दृष्टी स्वचष्टेदं सहात्मना ॥ ५९ ॥

---

1. A,B,G,J,V कु° 2. A,B,G,J ज° 3. A,B,G,J °दुन्मील्य वै दृष्टी 4. A,B,G,J,V श°

**श्रीध० एवमिति**। एवं सकृदेकदैव ददर्श। परब्रह्मणो विशेषणं यस्येति ॥ ५६ ॥

**तत** इति। अतिकुतुकेन अत्याश्चर्येण उद्धृत्य दृष्टीःपरावृत्य हंसपृष्ठे निपत्येति वा। कुतुकशब्दे तृतीयाया श्छान्दसो लुक्। यद्वा उद्धृत्यः इति छेदः। अतिकुतुकेन उद्धृत्यो विलोडयो विपर्यस्तः स्वस्मिन्निति यावत्। पाठान्तरे तु अतिकुतुकेनोद्धृत्तः क्षुभित स्तेषां धाम्ना तेजसा स्तब्धो सर्वेन्द्रियो ब्रह्मा तूष्णीं निश्चलोऽभूत्। अत्र दृष्टान्तः पूर्वेवी व्रजाधिष्ठात्री काचिद्देवता, तस्या अन्ति समीपे पुत्रिका चतुर्मुखी कनक प्रतिमेव ॥ ५७ ॥

एवं मोहनिमग्नमजमुज्जहारेत्याह - **इतीति**। ईशे इरा सरस्वती तस्या ईशे ब्रह्मणि किमिदमिति मुह्यति सति पश्चात्तद्दृष्टुमप्यनीशे सति परमोऽज: श्रीकृष्ण: सपद्मजायवनिकां मायारूपां तिरस्करिणीं ययाऽद्भुतं दर्शितं तां चछाद तिरोऽधत्त अपसारितवानित्यर्थ:। अयं लोकाभिमानी ममैश्वर्यं द्रष्टु मयोग्य इति तस्योपरि मायां प्रसारितवानिति। क्व मुह्यति सति। अतर्क्ये तर्कागोचरे। निजोऽसाधारणो महिमा यस्य तस्मिन्निति मोहे हेतुरुक्त:। दर्शनायोग्यत्वाय त्रीणि विशेषणानि स्व प्रमितिके स्वप्रमिति: स्वप्रकाशश्च तत्कं सुखश्च यस्मिन्। अत एवाऽजात: प्रकृते: परत्र परस्मिन् अतएव अतन्निरसनमुखेन ब्रह्मकै: श्रुति शिरोभि: मिति ज्ञानं यस्मिंस्तस्मिन्स्वरूपे॥ ५८॥

**तत** इति। अर्वाक् बहि: प्रतिलब्धान्यक्षीणि येन स:। परेतवत् मृतो यथा कथञ्चित्पुनरुत्तिष्ठति तथा। दृष्टी नेत्राणि॥ ५९॥

---

1. A,B,J आश्चर्येण 2. V दृष्टिं 3- -3. V परावृत्येति 4- -4. V omits 5. V स्तिमित 6. A,B,J कृतक 7. A,B,J omit नि 8. V omits इशे 9. V °त्यर्थ:। 10. V °ह° 11. A द्वयमुक्तम् 12- -12. V omits 13. B,J omit अतएव

**वीर०** अखिलान् वत्सान् वत्सपांश्च परब्रह्माऽभिन्नान् एव मजश्चतुर्मुख स्सकृद्दर्दश। ब्रह्म विशिनष्टि। सचराचर मिदं जगत् यस्य भासा भाति तत्परब्रह्मात्मन इत्यन्वय: तद्धाम्ना तूष्णी मभूदित्युत्तरेण वा॥ ५६॥

अतिकौतुकेनात्याश्चर्येण उद्वृत्य दृष्टिं परावृत्य हंसपृष्ठे निपात्य। कौतुकशब्दोत्तरतृतीयाया श्छान्दसोलुक्। अतिकौतुकोद्रिक्त स्तिमितेति पाठान्तरम्। तदा अतिकौतुकेन उद्रिक्तान्युत्कटानि अतएव स्तिमितानि दीनप्रायाणि, पारवश्यं प्राप्तानीति यावत्। तान्येकादशेन्द्रियाणि यस्य स इत्यर्थ:। तेषां धाम्ना अभिभूत इति शेष:। अजो ब्रह्मा तूष्णीं बभूव निश्चलोऽभवत्। यथा पूर्देवी व्रजाधिष्ठात्री काचि द्देवता तस्या अन्ति समीपे पुत्रिका चतुर्मुखी कनकप्रतिमा, तद्वत्॥ ५७॥

एवं मुह्यते चतुर्मुखाय पूर्ववत् आत्मवत्सावत्सपादीन् दर्शयितु मसाधारणस्वमूर्तिदर्शनाच्छादिकां माया माच्छादितवान् इत्याह - **इतीति**। परो मा यस्मात्स: परम: सर्वाभ्यधिक:। अज: कर्मायत्तोत्पत्तिरहित: श्रीकृष्ण स्सपदि ज्ञात्वा चतुर्मुखस्यावस्थां ज्ञात्वा अजायवनिका मजारूपां यवनिकां तिरस्करणीं चछाद आवृतवान्। कस्मिन् सति स्वासाधरणो महिमा यस्मिं स्तस्मिन् स्वरूपे विषयभूते। इत्थ मिराया स्सरस्वत्या ईशे ब्रह्मणि द्रष्टुमप्यनीशे असमर्थे प्रत्युत इदं किमिति मुह्यति सति। निजमहिम्नो दर्शनाशक्यत्वं दर्शयितुं विशिनष्टि। अतर्क्ये इद मित्थन्तया केवलतर्कागोचरे। तत्र हेतु रजात: परत्र। अजात: अजाया: प्रकृते: परत्र विलक्षणे। प्राकृत मेव कथञ्चित्तर्कगोचर मिति भाव:। स्वप्रमिति स्वयंप्रकाशं ज्ञानं कं सुखं स्वात्मकं यस्मिन्। कशब्देनाऽत्र सङ्कोचकाभावात् अपरिच्छिन्नसुखवाचिना परिमितसुखस्वरुपजीवव्यावृत्ति:। इतोऽप्यतर्क्यत्व मवगन्तव्यम्। अतर्क्य इत्यनेन तन्मूल प्रत्यक्षागोचरत्व मपि विवक्षितम्। प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रमाणाभ्या मनवगन्तव्य इति फलितोऽर्थ:। तर्हि किं शशविषाणव त्तुच्छम् ? नेत्याह, अतन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ, अतत् अपरमात्मवस्तु प्रकृतिपुरुषादिकम्। तस्य निरसनमुखेन परमात्मस्वरुपत्वनिरसनद्वारा ब्रह्मणो वेदस्य केन मूर्ध्ना उपनिषद्भागेनेति यावत्। मिति:

अवगति र्यस्य तस्मिन् प्रत्यक्षादिमानान्तरानवरूपस्वभावस्य परमात्मन: केवल वेदान्तवेद्यस्य प्राकृत चक्षुषा द्रष्टु मयोग्यत्वात् तद्दर्शनाशक्ते सति ब्रह्मणि तज्ज्ञात्वा यथावस्थित वत्सवत्सपादि दर्शनार्थं प्रदर्शितस्वासाधारणरूपाच्छादनार्थं चाऽजां चछादेत्यर्थ:॥ ५८॥

तत: मायायवनिकाच्छादनानन्तरं अर्वाग्बहि: प्रतिलब्धान्यक्षाणीन्द्रियाणि येन स:, क: ब्रह्मा परेतव दुत्थित: मृतो यथा पुन: कथञ्चि दुत्तिष्ठति तद्वदुत्थित: संज्ञां प्राप्त: शनै: कृच्छ्रा त्कथञ्चित् दृष्टी: नेत्राणि मीलित्य उन्मिषिते (तानि) कृत्वा। दृष्टिरिति पाठे मील्ये उन्मिषिते दृष्टी यस्य स:, आत्मना सहेदं जगदपश्यत्। पूर्वं भगवद्रूपेभ्योऽन्य दपश्यन् इदनीं जगज्जगदेवाऽत्मान मात्मान मेवाऽचष्टेत्यर्थ:॥ ५९॥

---

1. A,B °प° 2- -2. A,B पाठे 3. A,B add इत्यर्थ: 4. A,B add य: 5. A,B °स्कारिणीं 6. A,B गम्य 7. A,B,K अजा 8. A,B omit ब्रह्मा 9. A,B omit उत्थित: 10. A,B omit शनै: 11. A,B उन्मील्य अनिमीलितानि 12. A,B add चतुर्मुखेण

सपद्येवाऽभित: पश्यन् दिशोऽपश्यत्पुर: स्थितम्।
बृन्दावनं जनाजीव्य द्रुमाकीर्णं समाप्रियम्॥ ६०॥

यत्र नैसर्गदुर्वैरा: सहासन्नृमृगादय:।
मित्राणीवाजितावासद्रुतरुट्तर्षादिके॥ ६१॥

तत्रोद्वहत्पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं ब्रह्माऽद्वयं परमनन्त मगाधबोधम्।
वत्सान्सखीनिव पुरा परितो विचिन्वदेकं सपाणिकवलं परमेष्ठ्यचष्ट॥ ६२॥

दृष्ट्वा त्वरेण निजधोरणतोऽवतीर्य पृथ्व्यां वपु: कनकदण्ड मिवाभिपात्य।
स्पृष्ट्वा चतुर्मुकुटकोटिभि रङ्घ्रियुग्मं नत्वा मुदश्रुसुजलैरकृताऽभिषेकम्॥ ६३॥

उत्थायोत्थाय कृष्णस्य चिरस्य पदयो: पतन्।
आस्ते महित्वं प्राग्दृष्टं स्मृत्वा स्मृत्वा पुन:॥ ६४॥

शनैरथोत्थाय विमृज्य लोचने मुकुन्द मुद्वीक्ष्य विनम्रकन्धर:।
कृताञ्जलि: प्रश्रयवान् समाहित: सवेपथु र्गद्गदयैडतेरया॥ ६५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे त्रयोदशोऽध्याय:॥ १३॥

1. V० सात् 2. A,B,G,J तर्षकादिकम्; V तरुषादिकम् 3. W °ति° 4. A,B,G,J °र्मुं° 5. V सलिलै: 6. A,B,G,J पा° 7. V महत्त्वं 8. A,B,G,J °ल

**श्रीध० सपदीति।** जनाना माजीव्यै: उपजीव्यै: द्रुमै राकीर्णम्। समाप्रियं सम्यक् आ समन्तात् प्रियाणि यस्मिंस्तत्॥ ६०॥

तदाऽऽह **यत्रेति।** नैसर्गदुर्वैरा: स्वाभाविकाप्रतिकार्य वैरवन्तोऽपि नरा: सिंहादयश्च मित्राणीव यत्र सहैवाऽऽसन्। अजितस्य श्रीकृष्णस्य आवासेन द्रुता: पलायिता: रुत्तर्षादय: क्रोधलोभादयो यस्मात्तथाभूतं बृन्दावन मपश्य दिति॥ ६१॥

**तत्रेति।** तत्र च परमेष्ठी ब्रह्मा इव पुरा पूर्ववदेव ब्रह्म अचष्ट अपश्यत्। कथम्भूतम् ? पशुपवंश शिशुत्वं नाट्य मुद्वहत्। नाटचमित्यत्रहेतु: - अद्वय मित्यादि। अद्वयञ्च वत्सान्विचिन्वत्, एकञ्च सखीन् अगाधबोधञ्च विचिन्वत्, अनन्तञ्च परितो विचिन्वत्, परञ्च शिशुत्व मुद्वहत्, ब्रह्म च सपाणिकबल मिति नाट्य मेवोद्वह दित्यर्थ: ॥ ६२॥

**दृष्ट्वेति।** निजधोरणत: स्ववाहनात् त्वरेण वेगेनावतीर्य दण्डव न्नत्वा चतुर्णां मुकुटाना मग्रै रङ्घ्रियुग्मं स्पृष्ट्वा मुदश्रुसलिलै: आनन्दाश्रुरूपे: सुजलै रभिषेक मकरोदिति॥ ६३॥

**उत्थायेति।** चिरस्य चिरं पादयो: पतन्नाऽऽस्ते॥ ६४॥

**शनैरिति।** सवेपथु: सकम्प:। अतएव गद्गदया अनुकरण मेतत् इया वाचा ऐडत अस्तौत् ॥ ६५॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां त्रयोदशोऽध्याय:॥ १३॥

1- -1. A,B,J omit 2 V °र्गिक 3. A,B,J omit श्रीकृष्णस्य 4. V adds अत्र तरुषेति वर्णविश्लेष: छन्दोऽनुरोधेन। 5. A,B,J, सुजलै: 6. A,B,J °ल°

**वीर०** तत: पूर्वस्थितं बृन्दावनञ्चाऽपश्यत्। कथम्भूतम्? जनाना माजीव्यै रुपजीव्यै: द्रुमै: आकुलं व्याप्तं समाप्रियं सम्यञ्चि आ समन्तात् प्रियाणि यस्मिं स्तत्॥ ६०॥

तदाह - **यत्रेति।** यत्र वने नैसर्गदुर्वैरा: नैसर्गिकं स्वाभाविकं दुर्वैरम् अप्रतिकार्यं वैरं येषां ते नरा: गोपादय: मृगा स्सिंहादयश्च मित्राणि सुहृद स्सन्त: सहैवाऽऽसन्। तत्र हेतुं वदन् वनं विशिनष्टि अजितस्य भगवत आवासेन द्रुता: पलायिता: रुत्तर्षादय: क्रोधलोभादयो यस्मात्तस्मिन् ॥ ६१॥

तत्र परमेष्ठी ब्रह्मा पुरेव पूर्वव त्तथैव अपश्यत्। कथम्भूतम् ? गोपालशिशुत्वनटनमुद्वहत्[7] श्रीकृष्णात्मकं परं ब्रह्म अद्वयं स्वतुल्यवस्त्वन्तररहितं स्वतुल्यगोपबालान्तररहितं वा अपरिच्छिन्नज्ञानस्वरूप मनन्तं त्रिविधपरिच्छेदरहितम् एक मसहायं पाणौ कबलेन सहितं सखीन् वत्सांश्च विचिन्वत् एवम्भूतं कृष्णात्मकं ब्रह्माऽचष्टेत्यर्थः॥ ६२॥

इत्थं दृष्ट्वा त्वरया निजधोरणात् स्ववाहनादवतीर्य पृथ्व्यां[8] कनकदण्डमिव स्वशरीरं पातयित्वा चतुर्णां मकुटानां[9] किरीटानां कोटिभिः अग्रैरङ्घ्रियुग्मं स्पृष्ट्वा आनन्दाश्रुरूपैस्सलिलैरभिषेकम् अकृत अकरोत्॥ ६३॥

चिरस्य चिरं पदयोः पतन् उ[10-] त्थायोत्थाय इत्यनेन पुनः पुनः पतन् इति सूचितम्[-10]। प्राग्दृष्टं[11] मा[12] हात्म्यं पुनः पुनः स्मृत्वा आ[13]स्ते आस्त[14] ॥ ६४॥

अथ शनैरुत्थाय नेत्रे विमृज्य मुकन्दमुद्वीक्ष्य, विनम्रा कन्धरा ग्रीवा यस्य सः, अ[15-] त[-15] एव बद्धाञ्जलिः[16-] वि[-16] नययुक्तः[17-] ए[-17] काग्रचित्तः सवेपथुः सकम्पः अत एव गद्गदया वा[18]चा ऐडत तुष्टाव॥ ६५॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

---

1. A,B तदेवाह 2- -2. K,W omit 3. A,B अनिवार्यं 4- -4. W omits 5- -5. A,B,K सुहृद इव वसन्तः 6- -6. W हेतुः 7. W °ना° 8. A,B पृथिव्यां 9. A,B मु° 10- -10. K, W omits 11. A,B add श्रीकृष्णस्य 12. K,W महित्वं 13. A,B omit आस्ते 14. A,B add इत्यर्थः 15- -15. K,W omit 16- -16. A,B विनयवान् 17- -17. K, W omit 18. A,B वाण्या

# चतुर्दशोऽध्यायः

## (विजयध्वजीये अयमध्यायो नाऽस्ति)

## ब्रह्मकृत स्तुतिः

ब्रह्मोवाच

नौमीड्य! तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय[1] गुञ्जावतंस परिपिञ्छ[2]लसन्मुखाय।
वन्यस्रजे कबलवेत्रविषाणवेणु लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय॥१॥

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशो महि त्ववसितुं मनसाऽऽन्तरेण साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥२॥

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिः ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥३॥

श्रेयस्स्रु[3]तिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लि[4]श्यन्ति ये केवल बोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेश[5]ल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥४॥

पुरेह भूमन्बहवोऽपि योगिनः त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया।
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया प्रपेदिरेऽञ्जो[6]ऽच्युत! ते गतिं पराम्॥५॥

---

1. A,B,G,J °डि° 2. A,B,G,J °च्छ° 3. B,V °सृति° 4. A यतन्ति 5. K,W लवोऽव 6. V मोऽच्युत!

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुर्दशोऽद्भुतं दृष्ट्वा पूर्वागन्तुकनिश्चयम्।
अनीशः कर्तुमस्तौषीत्कृष्णं ब्रह्मा[1] विमोहितः॥

स्वकृतापराधेन भिया सकम्पया भगवन्महिमानमनवगाहमानः यथादृष्टं स्वरूपमेव कीर्तयन्नाह - **नौमीति**। हे ईड्य! स्तुत्य! ते तुभ्यं नौमि स्तौमि[3] [4]। द्वितीयार्थे चतुर्थी, अथवा नौमीत्युक्त्वा प्रस्तुतस्य भगवतः कर्मत्वे ज्ञाते प्रयोजनापेक्षायाम् एवम्भूतो भगवानेव प्रयोजनमिति तादर्थ्ये चतुर्थी। यद्वा, तुभ्यं त्वामेव प्रसादयितुं त्वामेव स्तौमीत्यर्थः[5]। अभ्रवद्वपुर्यस्य तस्मै। तडिद्वदम्बरे[6] यस्य तस्मै। गुञ्जाभिरवतंसौ कर्णभूषणे परि[7] परितः[8] पिञ्छं[9] बर्हापीडं च तै र्लसत्

मुखं यस्य तस्मै। वन्याः स्रजो यस्य तस्मै। कबलादिभिः लक्ष्मभिः श्री शोभा यस्य तस्मै। मृ[10] दू पादौ यस्य तस्मै[10], पशुपस्याङ्गजाय यद्वा, पशूनिन्द्रियाणि य[11] पान्ति रक्षन्तीति पशुपाः देवाः त एवाङ्गजाः यस्य तस्मै[11] ॥ १ ॥

ननु नौमीति प्रतिज्ञाय, किं स्वरूपानुवादमात्रं क्रियते, अत आह - **अस्यापीति।** हे[12] देव! अस्यापि सुलभत्वेन प्रकाशितस्यापि तव वपुषः अवतारस्य महि महिमानम् अवसितुं ज्ञातुं कोऽपि को ब्रह्मा अ[13]हमपि नेशे न शक्नोमि। यद्वा, कश्चिदपि नेशे न समर्थ आसीत् सुलभत्वाय विशेषणद्वयम्। मदनुग्रहस्य ममानुग्रहो यस्मात् तन्मदनुग्रहं तस्य, किञ्च स्वेच्छामयस्य, स्वे[14]षां स्वीयानां भ[15]क्तानां यथा यथा इच्छा तथा तथा भवतः तर्हि किमिति ज्ञातुं न शक्यते अत आह - न तु भूतमयस्य अचिन्त्यशुद्धसत्त्वात्मकस्य य[16]थास्याप्येवं त[17]था, [18]कथं पुनः साक्षात्तव केवलस्य आत्मसुखानुभूते[19]ः, तावक स्वसुखानुभवमात्रस्या[20]नवतारिणो गुणातीतस्य महिमानम् अन्तरेण, विरुद्धेनापि मनसा को वा ज्ञातुं समर्थो भवेत्। अथवा न[21] तु भूतमयस्य, अपि तु विराड्रूपस्य तव त्वन्नियम्यस्यापि[22] वपुषः म[23]हि म[24]हिमानं अवसितुं कोऽपि नेशे। तदा साक्षात्तवैवासाधारणस्य नियम्य[25] नियन्तृभेदरहितस्य उक्तलक्षणस्य अस्य म[26]हि महिमानम् अवसितुं कोऽपि नेश इति किं[27] वक्तव्यमित्यर्थः॥ २॥

तर्हि अज्ञाः कथं संसारं तरेयुरत आह - **ज्ञान** इति। उदपास्य ईषदप्यकृत्वा सद्भिर्मुखरितां स्वत एव नित्यं प्रकटितां भवदीयां[28] वार्तां स्वस्वस्थान एव स्थितास्स[29]न्तः सन्निधिमात्रेण स्वत एव श्रुतिं[30] तां श्रवणं प्राप्ताः, तनुवाङ्मनोभिः नमन्तः सत्कुर्वन्तः ये जीवन्ति केवलं यद्यपि नान्यत् कुर्वन्ति तैः प्रायशः त्रिलोक्यामन्यैरजितोऽपि हे[31] अजित[31] त्वं जितः प्राप्तोऽसीति। किं ज्ञानश्रमेणेत्यर्थः॥ ३॥

भक्तिं विना ज्ञानं तु नैव सिध्येदित्याह - **श्रेय** इति। श्रेयसामभ्युदयापवर्गलक्षणानां स्तु[32]तिः स्रवण[32] यस्याः सरस इव निर्झराणां ते तव भक्तिम् उदस्य त्यक्त्वा श्रेयसां मार्गभूतामिति वा। तेषां क्लेशलः क्लेश-एव शिष्यते[33] ना[34]न्यत्। अयम्भावः यथा अल्पं प्रमाणं धान्यं परित्यज्य अन्तः कणवि[35]हीनान् स्थूला[36]न् धान्याभासान् तुषानेवावघ्नन्ति तेषां न किञ्चित् फलम्। एवं भक्तिं तुच्छीकृत्य ये केवलबोधाय क्लि[37]श्यन्ति प्रयतन्ते तेषामपीति॥ ४॥

भक्त्यै ज्ञानं नान्यथेत्यत्र सदाचारं प्रमाणयति - **पुरेति।** हे भूमन्! अ[38] परिच्छिन्न[38] इह लोके पूर्वं योगिनोऽपि सन्तः योगैर्ज्ञानमप्राप्य[39] पश्चात् त्वदर्पितेहाः त्वय्यर्पिता लौकिक्यपि ईहा चेष्टा यैस्ते निजकर्मलब्धया त्वदर्पितैः निजैः कर्मभिः लब्धया। यद्वा त्वय्यर्पिता ईहा च निजानि कर्माणि च तैर्लब्धयेत्येकं पदम्। कथोपनीतया कथमा त्वत्समीपं प्रापितया भक्त्यैव विबुध्य[40] आत्मानं ज्ञात्वा अज्ञः सुखेनैव ते परां गतिं प्राप्ताः एवं तावत् सगुणनिर्गुणयो[41]रुभयोरपि ज्ञानं दुर्घटम[42]पि तत्कथाश्रवणादिनैव त्वत्प्राप्तिः, नान्यथेत्युक्तं भ[43]वति॥ ५॥

---

1. V °ह्माऽति° 2. A adds तावत् 3. B,J,V omit स्तौमि 4. V adds नम इत्यर्थः। यद्वा 5. V नौ° 6. A,B,J °रं 7. V omits परि 8. B,J omit परितः 9. A,B,J पिच्छं 10- -10. V omits 11- -11. A,B,J omit 12 A,B,J भो 13.

V omits अहं 14. B,J,V omit स्वेषां 15. V omits भक्तानां 16. A,B,J यदा 17. A,B,J तदा 18. A adds किमुत 19. A,B,J °तेरेव स्व° 20. A,B,J °स्याव° 21. A,B,J omit न तु 22. V °या° 23. A,B,J omit महि 24. V omits महिमा 25. V °या° 26. A,B,J omit महि 27. A,B,J किमु 28. A,B,J °यवा 29. A,B,J °स्तत्स° 30. A,B,J °तिग° 31- -31. A,B,J omit 32- -32. B,V सृतिः सरणं 33. A,B,J add अवं 34. A,B,J omit नान्यत् 35. A,B,J omit वि 36. A,B,J °लधा° 37. B,J,V omit क्लिश्यन्ति 38- -38. V omits 39. A adds अपि 40. A adds विश्वव्यापकं 41. V °योरपि 42. A,B,J °मिति 43. A,B,J omit भवति

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

वात्सल्यसौशील्यादिगुणाविष्कारपूर्वकं स्वापराधं क्षमापयितुकामस्तावत् त्वन्मायातितरणे त्वत्प्रपत्तिरेवोपायो नान्योऽस्तीत्यभिप्रायेण प्रस्तुतरूपयुक्तं भगवन्तं शरणं व्रजति **नौमीति**। हे ईड्य! ते तुभ्यं केवलं नौमि "णु स्तुतौ" स्तुतिरत्र अपराधसहनमायातरणतदर्थशरण्यत्वाद्युपयुक्तवात्सल्यक्षमादि गुणाविष्कारपूर्वकोपायत्वाध्यवसायरूपा विवक्षिता। स्तुतेः गुणिनिष्ठगुणाभिधानरूपत्वात् तस्याश्चोपायत्वाध्यवसायार्थत्वात् धातोर्लक्षणया तत्र वृत्तिसम्भवात् ते इति कर्मण एव सम्प्रदानत्वविवक्षया चतुर्थी। तदतिरेकेण पृथक्स्तुतेस्साधनत्वनिरासाय तथा विवक्षा कृता, उपायत्वाध्यवसायात्मकप्रपदनेऽपि तस्यैव प्रयोजककर्तृत्वेन तस्या अपि तदधीनत्वेन तस्याः स्वतः साधनत्वाभावदिति भावः। तावत्सौशील्याद्यनन्तकल्याणगुणनिलयस्य भगवतः कृष्णस्य सौशील्यमाविष्कुर्वन् विशिनष्टि। पशुपाङ्गजाय नन्दसुताय, निस्सीममहिम्नः सौशील्यमनन्तरेण पशुपाङ्गजत्वासम्भवेन सौशील्यमाविष्कृतम्, तच्च महतः मन्दैस्सह संश्लेषस्वभावत्वम्। मृदू पादौ यस्य कबलादिभिः लक्ष्मभिश्चिह्नैः शोभा यस्य, वनजानां पुष्पाणां स्रक् यस्य, गुञ्जाभिरवतंसौ कर्णभूषणे परितः फिच्छबर्हापीडं तैर्लसत मुखं यस्य, तटिदिव अम्बरं यस्य, अभ्रवद्वपुर्यस्य तस्मै ते नौमीत्यन्वयः॥ १॥

निस्सीममहिमत्वमेव कैमुत्यन्यायेन दर्शयन् स्तौति **अस्यापीति**। अस्य मह्यं प्रदर्शितस्य पशुपाङ्गजरूपस्यापि वपुषो महि महिमानम् अन्तरेण मनसा अन्तरिन्द्रियेण मनसाऽध्यवसितुं अध्यवसितुं कोऽपि ब्रह्माऽपि सन् अहमपि नेशे न प्रभवामि, किं पुनरात्मनः परमात्मनस्सुखानुभूतेः अनुकूलज्ञानस्वरूपस्य तव महिमानमवसितुं नेशे इत्यन्वयः। किं तद्वपुषो महित्वं यदवसितुं न प्रभवतीत्यपेक्षायां तद्वाचामगोचरमित्यभिप्रायेण अस्मदादिवपुषो वैलक्षण्यमात्रं वेद्मीति तद्वपुर्विशिनष्टि। मदनुग्रहस्य मय्यनुग्रहो यस्य मत्प्रार्थनां सफलीकर्तुमुपात्तस्येत्यर्थः। स्वेच्छामयस्य स्वेच्छातः आगतः स्वेच्छामयः "तत आगत" (अष्टा. 4-3-74) इत्यधिकारे "मयट् च" (अष्टा. 4-3-82) इति मयट्, स्वेच्छामात्रपरिगृहीतस्य न त्वस्मदादिजीववपुर्वत् कर्मायत्तस्येत्यर्थः। किञ्च न तु भूतमयस्य अभूतसङ्गसंस्थानरूपस्य "न भूतसङ्गसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः" (भार.शान्ति 206-60) इति वचनार्थोऽत्रानुसन्धेयः, शुद्धसत्वमयस्येति भावः॥ २ ॥

ननु मां मोहयितुं प्रवृत्तः पराजितश्च त्वं मच्छरणागतिमात्रेण कथं मामजितं जेतुमुद्युङ्क्षे। किञ्च जीवस्वरूपमपि सुखानुभूतिरूपमेव, अतः प्रकृतिवियुक्ततत्स्वरूपावस्थितिरूपैकैवल्याय तदुपासनमेव कुरु। किं मच्छरणवरणेनेत्यत आह **ज्ञान** इति। ज्ञाने ज्ञानयोगे प्रकृतिविविक्तप्रत्यगात्मोपासनयोगे प्रयासं त्यक्त्वा नमन्त एव शरणागता एव त्वामेव त्वन्मायातरणसाधनत्वेन अध्यवस्यन्तीति यावत्, उपायवाचिशरणादिपदस्थाने नमश्शब्दप्रयोगो दृष्टचरः "द्रौपद्या सहितास्सर्वे

नमश्चक्रुर्जनार्दनम्'' इति। स्थाने स्वस्ववर्णाश्रमानुरूप धर्मानुष्ठानरूपे त्वदाज्ञारूपत्वेन प्रपन्नैरपि अनतिलङ्घ्ये स्थाने स्थिताः तन्वादिकरणत्रयेण सद्भिः प्रकटितां भवदीयवार्तां त्वत्कथां श्रुतिगतां श्रवणपथं प्रापां ये जीवन्ति उपजीवन्ति भवदीयवार्तामिव धारकीकुर्वन्तीत्यर्थः, हे अजित! कैरप्यजितोऽपि त्वमिति सम्बोधनाभिप्रायः तैः उक्तविधैः त्रि[6]लोक्यां[5] त्रिलोक्यन्तर्भूतैहिकामुष्मिक विषयेषु असितैः ''षिञ् बन्धने'' अनासक्तैः प्रायशः त्वं जित एव त्वच्छरणागतिरेव त्वद्वशीकारोपाय इति भावः। ज्ञाने प्रयासमुदपास्येत्यनेन ज्ञानयोगः केवल[7]प्रयासमात्रफलो न तु पुरुषार्थपर्यवसायीति सूचितम्। ''सर्वे च्यवनधर्माणः प्रतिबुद्धस्तु मोक्षभाक्'' (भार 12-328-31) इति केवलिनोऽपि च्यवनधर्मत्वाभिधानादिति भावः॥ ३॥

ननु तर्हि ज्ञानयोगः शास्त्रैः कर्तव्यतया किमर्थमुच्यते इत्यपेक्षायां कैवल्यार्थज्ञानयोगस्य पुरुषार्थापर्यवसायित्वेऽपि भक्तियोगानुग्राहकतयाऽनुष्ठितस्य तत्पर्यवसायित्वमस्त्येवेति सूचयन् प्रपत्तियोगवद्भक्तियोगस्यापि त्वद्वशीकरणोपायत्वमस्तीत्याह - श्रेयस्स्रुतिमिति। हे विभो! श्रेयस्स्रुतिं श्रेयसः स्रुतिः स्रवो यस्यास्तां त्वन्मायातरणद्वारा निरतिशयापरिच्छिन्नानन्दरूप त्वत्प्राप्तिरूपश्रेयसो दोग्ध्रीं ते तव भक्तिमुदस्य त्यक्त्वा केवलप्रत्यगात्मानुभूतिलब्धये कैवल्याय ये क्लिश्यन्ति साक्षान्मुक्तिसाधनभूतां त्वद्भक्तिं तदनुग्राहकं ज्ञानयोगं च विहाय केवलकैवल्यार्थतया ज्ञाने क्लिश्यन्तीत्यर्थः। तेषामसौ क्लेशलवोऽवशिष्यते, न त्वन्यत्फलम्। क्लेशल एवेति पाठे क्लेशं लाति आदत्त इति क्लेशलः क्लेशावहो व्यापार इत्यर्थः। अन्तस्सारभूतत[8]ण्डुलकणरहितान् स्थूलधान्यापासान् तुषान् अवघ्नन्तीति तथा तेषां यथा नान्यत्, तद्वदित्यर्थः॥ ४॥

ननु भक्त्या मुक्तः कश्चित् किं दृष्टचर इत्यपेक्षायां न केवलं कश्चिदेव, अपि तु बहव इत्याह - **पुरेति**। हे भूमन्! विपुलानन्दरूप! इह लोके बहवः पुरुषाः योगिनः भक्तियोगानु ग्राहकात्मयाथात्म्ययोगयुक्ताः त्वय्यर्पिता ईहा चेष्टा वर्णाश्रमानुगुण धर्मानुष्ठानरूपा चेष्टा यैस्तथाभूताः निजकर्मभि[4]ः वर्णाश्रमानुगुणैः सत्कर्मभिर्लब्धया निष्पन्नया यद्वा त्वदर्पितेहाः ईहा फललिप्सा फलाभिसन्धिरहिता इत्यर्थः। निजकर्मभिर्लब्धया, अनेन फलाभिसन्धिरहितवर्णाश्रम[9]धर्मानुगृहीतत्वमुक्तम्, कथोपनीतया नित्यं त्वत्कथाश्रवणादिभिः प्रत्यक्षरूपतां प्रापितया भक्त्यैव विबुध्य यथावस्थितस्वरूपस्वभावं त्वां ज्ञात्वा दृष्ट्वेति यावत् ''भक्त्या त्वनन्यया शक्यः अहमेवंविधोऽर्जुन! ज्ञातुं द्रष्टुं च'' (भ.गी. 11-54) इति भगवदुक्तेः। हे अच्युत! भक्तान्न च्यावयतीति अच्युतेति सम्बोधनाभिप्रायः। पराङ्गतिं मुक्तिं प्रपेदिरे॥ ५॥

---

1. A,B omit आदि 2. W अपकृष्टैस्सह 3. A,B पिच्छं 4. A,B °डि° 5. A,B omit अपि 6- -6. B omits 7. A,B °लं 8. W omits नान्यत् 9. A,B omit धर्म

**तथाऽपि भूमन्महिमाऽगुणस्य ते विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः।**
**अविक्रियात्स्वानुभवादरूपतो ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा॥ ६॥**

**गुणात्मनस्तेऽपि गुणान्विमातुं हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य।**
**कालेन यैर्वा विमितासुकल्पैः[2] भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः॥ ७॥**

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवाऽऽत्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥ ८॥

पश्येश! मेऽनार्यमनन्त आद्ये परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनि।
मायां वितत्येक्षितुमात्मवैभवं ह्यहं कियानैच्छमिवार्चिरग्नौ॥ ९॥

अतः क्षमस्वाच्युत! मे रजोभुवो ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः।
अजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुषो ह्येषोऽनुकम्प्यो मयि नाथवानिति॥ १०॥

---

1. A अ° 2. A,B,G,J °त्यैः 3. A प्र 4. K °दः

**श्रीध०** यद्यप्युभयोरविशेषेण दुर्ज्ञेयत्वमुक्तम्। तथाऽपि गुणातीतस्य ज्ञानं कथञ्चिद्भवेत्, न तु सगुणस्य तव अचिन्त्यानन्तगुणत्वादिति स्तौति - **तथाऽपीति** श्लोकद्वयेन। हे भूमन्! अपरिच्छिन्न! अगुणस्य ते महिमा अमलैरन्तरात्मभिः प्रत्याहृतेन्द्रियैः विबोद्धुं बोधगोचरीभवितुम् अर्हति योग्यो भवति। अथवा विबोद्धुं ज्ञातु मर्हति शक्यत इत्यर्थः। यद्वा महिमेति महिमानं कश्चिद्बोद्धुमर्हतीत्यर्थः। कथं स्वानुभावात् आत्माकारान्तःकरणवृत्तिसाक्षात्कारात्। ननु अन्तःकरणमपि सविकारमेव विषयीकरोतीति कथमात्माकारता तस्येत्यत आह — अविक्रियादिति। विक्रिया विशेषाकारः तद्रहितात्। विशेषपरित्याग एव आत्माकारतेत्यर्थः। ननु अन्तःकरणसाक्षात्कारविषयत्वेनानात्मत्वप्रसङ्गस्स्यादत आह - अरूपत इति। रूपं विषयः अविषयात् वृत्तिविषयत्वमेव आत्मनः न फलविषयत्वम्। अतो नायं दोष इति भावः। कथं तर्हि स्फूर्तिः अनन्यबोध्यात्मतया स्वप्रकाशत्वेनैव न त्वन्यथा। इदं तदिति विषयत्वेनेत्यर्थः। अथवा मा सर्वतोऽन्तरङ्गा लक्ष्मीरपि अगुणस्य ते महि महिमानममलैः अन्तर्वृत्तिभिरिन्द्रियैरपि तथा यादृग्वस्तुतः तेन रूपेण विबोद्धुं किमर्हति नार्हत्येवेत्यर्थः। कथं तर्ह्यर्हति तदाह - स्वानुभवादित्यादिना। उक्तार्थमेवैतत्॥ ६॥

**गुणात्मन** इति। गुणात्मनः गुणानामात्मनः गुणाधिष्ठातुः ते तव पुनः गुणान् विमातुं एतावन्त इति गणयितुमपि क ईशिरे समर्था बभूवुः दूरतः तद्विशेषवार्ता। कथम्भूतस्य तव? अस्य विश्वस्य हिताय पालनाय बहुगुणाविष्कारेणावतीर्णस्य। ननु कालेन निपुणैः किं कर्तुमशक्यमत आह — कालेनेति। वाशब्दो वितर्के। सुकल्पैः अतिनिपुणैः। बहुजन्मना कालेन भूपरमाणवो विमिता विशेषेण गणिता भवेयुः। तथा खे नभसि मिहिका हिमकणा अपि तथा द्युभासः दिवि नक्षत्रादिकिरणपरमाणवोऽपि॥ ७॥

तस्माद्भक्तिरेव सङ्गच्छते इत्याह - **तदिति**। ते तव अनुकम्पां सुसमीक्षमाणः कदा कृपा भविष्यतीति तां बहुमन्यमानः स्वार्जितं च कर्मफलमनासक्तस्सन् भुञ्जान एव नातीव तप आदिना क्लिश्यन्नेव यो जीवेत् स मुक्तेः दायभाग्भवति। भक्तस्य जीवनव्यतिरेकेण दायप्राप्तौ विमुक्तौ नान्यदुपयुज्यत इति भावः॥ ८॥

तदेवं स्तुत्वा भगवन्तं क्षमापयितुं स्वापराधं निवेदयति — **पश्येति।** हे ईश! मे अनार्यं दौर्जन्यं पश्य। यदहं अ[20]नन्ते त्रिविधपरिच्छेदरहिते, आद्ये सर्वप्रपञ्चोपादानभूते[20] मायिनामपि मायिनि विमोहके त्वय्यपि स्वमायां वि[21]तत्य प्रसार्य आत्मैश्वर्यमीक्षितुम् ऐच्छम् अभिलषितवान्। अहो एवं कर्तुं त्वयि अहं कियान् न किञ्चित्। यथा अग्नेरुद्भूता ज्वाला अग्नौ न किञ्चित् तद्वदिति॥ ९॥

**अत** इति। रजोभुवः रजसो जातस्य अतः अजानतः अत एव अजावलेपान्धतमोन्धचक्षुषः अजो जगत्कर्ता अहमिति मदेन गाढतमोरूपेणान्धीभू[22]ते नेत्रे यस्य। अतः त्वत्तः पृथगीशमानिनः अन्यत्र प्रभुत्वेन वर्तमानोऽपि मयि नाथे सति नाथवान् मद्भृत्य एव। अत एव अनुकम्प्य इति मत्वा क्षमस्वेत्यर्थः॥ १०॥

---

1. A,B,J add इदानीं 2. V °धे 3. A,B,J add अर्हति 4. A,B,J omit वृत्ति 5. V omits इति 6- -6. V omits 7, V यथा 8. V °स्तु तथा 9. A,B,J omit कर्तुम् 10. A,B,J °त्वैः 11. A adds महता 12. B,J,V omit नभसि 13. V adds मिहिकाद्युभासः 14- -14. A,B,J omit 15. A,B,J add तव 16. A,B,J omit तां 17. A,B,J जीवेत 18. A,B,J मुक्तौ 19. A,B,J add इव 20- -20. A,B,J omit 21. A,B,J omit वितत्य 22. V भूतनेत्रस्य

**वीर०** ननु "नेशे महि त्ववसितुम्" (भाग०. 10-14-2) इति मन्महिमा मदनुग्रहपूर्णपात्रभूतेनापि त्वया दुरवबोध[1]त्वादितैरः दुरवबोधः[2] कैमुत्यन्यायेनोक्तः। अत्र तु 'विबुध्य भक्तचेति' सुखावबोध्य उक्तः। कथमेतद्विरुद्धं वदसीत्यत्राऽऽह **तथापीति।** हे भूमन्! यद्यपि अगुणस्य प्राकृतगुणरहितस्य तव महि महत्त्वममलान्तरातमिः सनकादिभिः मत्प्रभृतिभिः कर्तृभिः विबोद्धुं तेषां बोधगोचरीभवितुं माऽर्हति नार्हति, तथाऽप्यविक्रियत्वादिरूपेण बोद्धुमर्हत्येवेत्यनुषज्यते, न च अन्यथा परिच्छिन्नत्वादिरूपेण नार्हति, अविक्रियात् विकाराभावात् अरूपतः कर्मायत्तशरीरसंयोगवियोगरहितत्वात् स्वयाथात्म्यानुभवादनन्यबोध्यात्मतया स्वेतराबोध्यस्वरूपतया स्वसंवेद्यैकस्वरूपतयेति यावत् अविक्रियात्स्वानुभवादरूपत इति निर्देशाः भावप्रधानाः। तृतीयार्थे पञ्चमी आर्षत्वात्। अविक्रियत्वादिरूपेण बोद्धु मर्हति, स्वरूपतः स्वभावतश्च विकाररहितत्वेन प्रकृतिपुरुषविलक्षणत्वेन स्वरूपेण ज्ञायत इत्यर्थः, प्रकृतेः स्वरूपतो विकारात् पुरुषस्य स्वरूपतः तदभावेऽपि स्वभावतस्तत्सम्भवात्। एवं च जीववत्स्वभावतो विकारं वारयितुमरूपत इत्युक्तम्। कर्मायत्तशरीरवियोगसंयोगप्रयुक्तो हि जीवस्य धर्मभूतज्ञानसङ्कोचविकासात्मको विकारः। अतो रूपाभावादविक्रियत्वेन ज्ञायत इत्यर्थः। जीवस्य रूपवत्त्वं च स्वयाथात्म्याननुभवप्रयुक्तमिति तदननुभवो वार्यते। स्वानुभवादित्यनेन स्वरूपस्यैवंविधत्वात्तन्महिमाऽप्यनितरसाधारणत्ववेषेण ज्ञायत इत्यर्थः। यद्वा अविक्रियादित्यनन्य बोध्यात्मतायां हेतुः, अविक्रियादित्यत्र हेतुः अ[3]रूप इति। तत्रापि हेतुः स्वानु भवादिति। अयमर्थः-नित्यं प्रत्यक्षितस्वयाथात्म्यानुभवाद्धेतोः पराभिध्यानमूलककर्मायत्तशरीराभावात तत्संयोगवियोगप्रयुक्तस्वभावविकाराभावात् अचेतनवत् स्वरूपविकाराभावाच्च स्वरूपतः स्वभावतो वा विकृतस्यैवान्यबोध्यस्वरूपत्वात्तदुभयाभावेनानन्यबोध्यात्मतया ज्ञायत इति, अनन्यबोध्यात्मत्वरूपोऽयमेको महिमा अमलान्तरातमिः ज्ञायते, न तु स्वरूपस्वभावयोः इयत्ता ज्ञायत इति समुदायार्थः, अमलान्तरातमिः सनकादिभिस्सह मा लक्ष्मी रपि महत्त्वं विबोद्धुं नार्हतीति केचिद्योजयन्ति। तत्र तथाऽपीत्यस्यानन्वयापत्तिः तेनाऽऽक्षेपपरिहारयोः प्रतीतेः नञ् अध्याहारप्रसङ्गश्च॥ ६॥

न चान्यथेत्यनेनाभिप्रेतमेव विवृणोति — **गुणात्मन** इति। गुणानां कल्याणगुणानाम् आत्मनः आश्रयस्य तव गुणान् अपिशब्दात् स्वरूपमपि विमातुमियत्तया परिच्छेत्तुं क ईशिरे के प्रभवन्ति न केऽपीत्यर्थः। सत्यं परत्वेनावस्थितस्य मम गुणानपि मातुं नेशिरे न तु विभवस्थितस्येति शङ्कां वारयन् विशिनष्टि। अस्य जगतः हितायावतीर्णस्य विभवाऽऽस्थितस्यापि विमातुं नेशिरे इति भावः। के इत्यनेन बुद्धिकुशला विवक्षिताः, तदेव दर्शयितुं के इत्यनेन विवक्षितान् विशिनष्टि - कालेनेति। यैर्महता कालेनापि भुवः पांसवः तथा खे मिहिका हिमकणाः तथा द्युभासः दिवि नक्षत्रादिकिरणपरमाणवो विमिता विशेषेण गणिता भवेयुः। तेऽपि के ईशिर इत्यन्वयः॥ ७॥

एवं भक्तिप्रपत्त्योर्भगवद्वशीकारसाधनत्वमुक्त्वा इदानीं प्रपत्तेर्विशेषमाह - **तदिति**। तत् तस्मात् दुरवबोधनिस्सीममहिमत्वात् त्वत्प्रपत्तिमन्तरेण त्वन्मायाया दुस्तरत्वाच्च केवलं तन्वादिभिः त्रिभिः करणैः तुभ्यं नमो विदधत् शरणं कुर्वन् तवानुकम्पामपराधानवेक्षणेन केवलमनुजिघृक्षारूपां कृपां सुसमीक्षमाणः कृतापराधानामपि प्रपन्नानामुत्तारिकां मन्वानः आत्मकृतं स्वकर्मसम्पादितं विपाकं सुखदुःखादिफलं भुञ्जान एव, अनेन प्रपन्नानां प्रारब्धानुभवमात्रमेव कार्यम्, न तु भगवत्प्राप्तये यत्नान्तरमिति सूचितम्। यः पुमान् जीवेत स मुक्तिपदे दायभाक् अंशभाग्भवति। "अविज्ञाताः कुमारकाः" इति श्रुत्युक्तरीत्या त्वत्कुमारप्रायैर्जीवैर्नित्यमुक्तैस्सह त्वदनुभवात्मकं दायं रिक्थं विभज्यानुभवतीत्यर्थः॥ ८॥

इत्थमभिष्टूय स्वापराधं क्षमापयितुं तावन्निरूपयति — **पश्ये**ति। हे ईश! ममानार्यं दौर्जन्यं पश्य, किं तत्? यदहं मायिनामाश्चर्यशक्तियुक्तानामपि मायिनि अत्याश्चर्यशक्तियुक्ते अनन्ते अपरिच्छेद्यस्वरूपस्वभावे जगत्कारणभूते परमात्मनि मायां वितत्याऽऽच्छाद्य आत्मैश्वर्यमीक्षितुमैच्छम् अभिलषितवानित्येतत्। अहम् एवं त्वयि कुर्वन् अहं कियान् न किञ्चित् अतितुच्छ इत्यर्थः। यथाऽग्नौ उत्थितार्चिः ज्वालास्फुलिङ्गः तद्वत्॥ ९॥

मम युक्तमेवैतदिति वदन् अपराधं क्षमापयति **अत** इति। हे अच्युत! रजोभुवः रजसा जातस्य अत एव अजानतः त्वन्महिमिति शेषः। त्वत्तः पृथगीशमात्मानं मां मन्वानस्य अजो ब्रह्मेति योऽवलेपः गर्वः स एवान्धं तमः तेनान्धीभूते चक्षुषी यस्य एवंविधस्य दौर्जन्यं युक्तमेवेति भावः। अतः दौर्जन्यं क्षमस्व। क्षमाप्रकारमाह - मयि नाथवान् मद्भृत्य एव अत एषोऽप्यनुकम्प्य इति मत्वा क्षमस्वेत्यन्वयः॥ १०॥

---

1. A,B °ध्य° 2. A,B °ध्यः 3. K अरूपतः 4. K,W omit तत् 5. W omits त्रिभिः 6. W omits शक्ति 7. K अदः 8. K महिमानमिति 9. K अदः

**क्वाहं तमोमहदहं खचराग्निवार्भूसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।**
**क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्॥ ११॥**

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः किं कल्पते मातुरधोक्षजाऽऽगसे?
किमस्ति नास्ति व्यपदेशभूषितं तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः॥१२॥

जगत्त्रयान्तोदधिसंप्लवोदे नारायणस्योदरनाभिनालात्।
विनिर्गतोऽजस्त्विति वाङ्न वै मृषा किन्त्वीश्वर! त्वन्न विनिर्गतोऽस्मि॥१३॥

नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनामात्माऽस्यधीशोऽखिललोकसाक्षी।
नारायणोऽङ्गं नरभूजलायनात् तच्चापि सत्यं न तवैव मया॥१४॥

तच्चेज्जलस्थं तव सज्जगद्वपुः किं मे न दृष्टं भगवंस्तदैव?।
किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैव किं नो सपद्येव पुनर्व्यदर्शि॥१५॥

---

1. A,B,G,J °शाखि° 2. A,B,G,J,K,W माया 3. A,B,G,J °दैव; V °थवै 4. A,B,G,J,V °दैव

**श्रीध०** ननु ब्रह्माण्डविग्रहस्त्वमपि ईश्वर एवेति चेत्तत्राह — **क्वाहमिति**। तमः प्रकृतिः महान् महत्तत्त्वम्। अहं अहङ्कारः खमाकाशं, चरो वायुः, अग्निः तेजः, वार्जलं, भूश्च। प्रकृत्यादि पृथिव्यन्तैः एतैः संवेष्टितो योऽण्डघटः स एव तस्मिन् वा स्वमानेन सप्तवितस्तिः कायो यस्य सोऽहं क्व, क्व च ते महित्वम्। कथम्भूतस्य? ईदृग्विधानि यानि अविगणितानि अण्डानि त एव परमाणवः तेषां चर्या परिभ्रमणं तदर्थं वाताध्वानो गवाक्षा इव गोमविवराणि यस्य तस्य तव। अतोऽतितुच्छत्वात् त्वया अनुकम्प्योऽहमिति॥११॥

**उत्क्षेपणमिति**। अपि च गर्भगतस्य शिशोः पादयोरुत्क्षेपणं मातुः किमपराधाय भवति लोके। अस्तिनास्तिव्यपदेशाभ्यां भावाभावशब्दाभ्यां स्थूलसूक्ष्मकार्यकारणशब्दैर्वा भूषितमभिहितम्। एतेषां शब्दानां भुवि विषये उषितं स्थितमिति वा। सर्वं वस्त्वित्यर्थः। हे अधोक्षज! तव कुक्षेः अनन्तर्बहिः कियदपि किञ्चिन्मात्रमपि किमस्ति। न किञ्चिदस्तीत्यर्थः। अतः सर्वस्य तव कुक्षिगतत्वेन ममापि तथात्वात् मातृवदपराधः मदपराधः सोढव्य इति भावः॥१२॥

किञ्च विशेषतोऽपि त्वत्तः मम जन्म प्रसिद्धमित्याह - **जगदिति**। जगत्त्रयस्यान्ते प्रलये य उदधीनां संप्लवः संश्लेषः तस्मिन्नुदे उदके नारायणस्योदरे या नाभिः तस्याः नालादजो विनिर्गत इति या जनवाक् सा तावन्मृषा न भवति। वै निश्चितम्। तथापि तु हे ईश्वर! त्वत्तोऽहं किं न विनिर्गतो नोत्पन्नोऽस्मि। अपि तु त्वत्त एव उत्पन्न इत्यर्थः॥१३॥

तर्हि नारायणस्य पुत्रः स्यास्त्वं, मम किमायातं तत्राह — **नारायण** इति। नहीति काक्वा त्वमेव नारायणं इत्यापादयति। कुतोऽहं नारायण इति चेदत आह — सर्वदेहिनामात्माऽसीति। एवमपि किं नारायणो न भवसि। नारं जीवसमूहोऽयनमाश्रयो यस्य स तथेति। त्वमेव सर्वदेहिनामात्मत्वात् नारायण इति भावः। हे अधीश! त्वं नारायणो नहीति पुनः काकुः। अधीशः प्रवर्तकः। ततश्च नारस्यायनं प्रवृत्तिः यस्मात् स तथेति,

पुनः त्वमेवासाविति। किञ्च त्वमखिललोक साक्षी अखिलं लोकं साक्षात् पश्यसि। अतो नारमयसे जानासीति त्वमेव नारायण इत्यर्थः। नन्वेवं नारायणपदव्युत्पत्तौ भवेदेवं तत्तु अन्यथाप्रसिद्धमित्याशङ्क्याह —— नारायणोऽङ्गमिति। नराद्दुद्भूता येऽर्थाः चं[13] तुर्विंशतितत्त्वानि[13] तथा नराज्जातं यज्जलं तदयनात् यो नारायणः प्रसिद्धः सोऽपि तवैवाङ्गं मूर्तिः। तथा च स्मर्यते — "नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः। तस्य तान्ययनं प्रोक्तं[14] तेन नारायणः स्मृतः। "(पाद्म. पु) इति। तथा च मनुः[15] "आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ (मनु° स्मृ° 1-10) इति च। ननु मन्मूर्तेरपरिच्छिन्नायाः कथं जलाश्रयत्वं किं[16] न्तु तवैव मायया कल्पितमपरिच्छिन्नत्वादिति भावं[16]ः। अत आह — तच्चापि सत्यं नेति॥ १४॥

अपरिच्छेदमेवोपपादयति — **तच्चेदिति**। जगदाश्रयभूतं तव तद्वपुः जलस्थमित्येवं[17] यदि सत् सत्यं स्यात्तर्हि तदैव कमलनालमार्गेणान्तःप्रविश्य संवत्सरशतं विचिन्वतापि मया हे भगवन्! अचिन्त्यैश्वर्य!। तत्र किमिति न दृष्टम्। तं[18] त आगत्य स्वस्थाने स्थित्वा संवत्सरशतं तपसि तप्ते सति तथैव मे मया हृदि किं वा सुदृष्टम्[18]। हृद्यपि संपदि[19] किमिति नो व्यदर्शि न दृष्टम्। अतः त्वन्मूर्तेः देशविशेषपरिच्छेदः सत्यो न भवतीत्यर्थः॥ १५॥ ★

---

1. V omits ननु 2- -2 V महत् 3. A,J omit अहं 4. V °शं 5. A,B,J omit तेजः 6. A adds अष्टभिः 7. A adds प्रकृत्यादिभिः संवेष्टितानि 8. V त्वत्कु° 9- -9 A,B,J omit 10. A,B,J omit या 11. A,B,J omit जन 12- -12. V °णपुत्रस्य 13- -13. A,B,J omit 14. A,B,J पूर्वं 15. A,B,J omit मनुः 16- -16. A,B,J omit 17. A,B,J °वं 18- -18. A,B,J तदैव तपःकरणानन्तरं सपद्येव सुदृष्टम् अतो मायैव। 19. A,B,J omit सपदि ★ V adds अत्र केषुचिद्व्याख्याग्रन्थेषु एवं व्याख्यातम् — ननु न च बाह्यदृष्टं सद्वपुः किन्तु अन्तःकरणदृश्यम् तदा हृद्यपि किमिति नो व्यदर्शि न दृष्टम् तथैव तपःकरणानन्तरं सपद्येव च सुदृष्टम् अतो मायैव। अतस्त्वन्मूर्तेः देशविशेषपरिच्छेदः सत्यो न भवतीत्यर्थः॥ १५॥

**वीर०** ननु अण्डाधिपतिः त्वमीश्वर एव, न तु पृथगीशमानी, अतो न मयाऽनुकम्प्यः। तत्राऽऽह — **क्वाहमिति** । तमः प्रधानम् अहमहङ्कारो भूतादिः खमाकाशः, तच्चरो वायुश्च वाः जलं तमआदिभिः वेष्टिते अण्डघटे स्वमानेन सप्तवितस्तिपरिमितः कायो यस्य। सोऽहं क? एवम्भूतस्य मम महित्वं कियत् न किञ्चिदपि अतितुच्छमिति भावः। क च तव महित्वम्? कथम्भूतस्य? ईदृग्विधानि यान्यविगणितानि असङ्ख्यातानि अण्डानि तान्येव परमाणवः तेषां चर्या भ्रमणं तदर्थं वाताध्वानो गवाक्षा इव रोमविवराणि यस्य तस्य तव। अत्र तमआदिषु पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तराणि अन्तरावरणानि विज्ञेयानि, वार्भिर्वत्र भ्विति वारां विशेषणम्। वारि च तानि भूतानि च वार्भूणि, अग्नेरुत्पन्नानि वारि चेत्यर्थः। बहुलग्रहणात् विशेष्यस्यापि पूर्वनिपातः, ततः तमआदीनां द्वन्द्वः न तु वार्भिः भुवा पृथ्व्या च संवेष्टित इत्यर्थः, वैष्णवे पुराणे भुव आवरणत्वानुक्तेः आवरणानां सप्तत्वोक्तेश्च। तथा हि "दशोत्तरेण पयसा मैत्रेयाण्डं च तद्वृतम्। सर्वोऽम्बुपरिधानोऽसौ वह्निना वेष्टितो बहिः॥ वह्निश्च वायुना वायुर्मैत्रेय! नभसाऽऽवृतः। भूतादिना नभस्सोऽपि महता परिवेष्टितः॥ दशोत्तराण्यशेषाणि मैत्रेयैतानि सप्त वै। महान्तं च समावृत्य प्रधानं समुपस्थितम्[1]। अनन्तस्य

न तस्यान्तं सङ्ख्यानं चापि विद्यते। तदनन्त मसङ्ख्यायातप्रमाणं चेति वै यत:। हेतुभूतमशेषस्य प्रकृतिस्सा परा मुने" (विष्णु. पु. 2-7-23-27) इति दशोत्तराण्युत्तरोत्तरं दशगुणाधिकानीत्यर्थ:। न च खचरो वायुरेकमावरणम्, तेन सह तमआदीनि सतेति निर्वाह: आकाशस्याऽऽवरणत्वाभावप्रसङ्गेन "वायुर्मैत्रेय! नभसाऽऽवृत:" इति उदाहृतवचनविरोधापत्ते:। तस्मात् यथोक्त एवार्थ:। अतोऽतितुच्छत्वात्त्वयाऽनुकम्प्योऽहमिति भाव:॥ ११॥

अपि च हे अधोक्षज! गर्भगतस्य शिशो: पादयोरुत्क्षेपणमाघात: किं मातु: आगसे अपराधाय भवति? न भवत्येवेत्यर्थ:। विषमोऽयं दृष्टान्त: - तव मद्गर्भस्थत्वाभावादित्यत्राऽऽह - किमिति। तव कुक्षेरन्त: बहि: कियदपि किञ्चिन्मात्रमपि अस्तिनास्तीत्यपदेशभूषितम् अस्तिनास्तीतिव्यवहारचिह्नितं तद्व्यवहार विषयभूतमिति यावत् चिदचिदात्मकं जगत्, किमस्ति? न किञ्चिदित्यर्थ:। चिद्वस्तुनस्सततमेकरूपत्वात् सदाऽस्तीत्येव व्यवहारभूषितत्वम्। अचिद्वस्तुनस्तु सततपरिणामित्वात् पूर्वपूर्वावस्थां विहाय उत्तरोत्तरावस्थापत्तौ सत्यां पूर्वपूर्वावस्थानां नास्तीतिव्यपदेशभूषितत्वात् तत्त्वमवगन्तव्यम्। अत: सर्वस्य त्वत्कुक्षिगतत्वेन ममापि तथात्वात् मातृवत् मदपराध: सोढव्य इति भाव:॥ १२॥

किञ्च विशेषतस्त्वत्त एव मम जन्म प्रसिद्धमित्याह - **जगदित्यादि।** जगन्नयस्यान्ते प्रलये य उदधीनां संप्लव: संश्लेष: तस्मिन् उदे उदके नारायणस्योदरे नाभिस्तस्या नालात् अजो विनिर्गत इति जनवाक्, सा तु मृषा मिथ्या न भवति किंत्वमृषैव। वै निश्चितम्। तथाहि हे ईश्वर! त्वत् त्वत्त: विनिर्गत: उत्पन्न: नास्मि किम्? अपि तु उत्पन्न एवेत्यर्थ:॥ १३॥

तर्ह्यस्तु भवान्नारायणपुत्र: तथाऽपि मम किमायातं तदाह - **नारायणस्त्वमिति।** नहीति काक्वा त्वमेव नारायण इत्युपपादयति कुतोऽहं नारायण इति चेत्तत्राह यत: सर्वदेहिनामात्माऽसि नारं जीवसमूह: तस्यायनमाश्रय: स वा अयनं यस्य स: त्वमेव सर्वदेहिनामाश्रयत्वात् सर्व शरीरकत्वेन तदाश्रयकत्वाच्च नारायण इति भाव:। हे अधीश! त्वं नारायणो नहीति पुन: काकु:। कुत:। यत: अधीश: प्रवर्तक: नारस्य अयनं प्रवृत्ति: यस्मात् स तथेति। किञ्च त्वमखिललोकसाक्षी आखिलं लोकं साक्षात्पश्यतीति तथा, अतो नारमेषि जानासीति नारायण:। "इण् गतौ" गत्यर्था बुद्ध्यर्था: नन्द्यादित्वात् कर्तरि ल्यु:। नन्दिदं नारायणपदव्युत्पत्तौ भवेदेवम्। तत्तु अन्यथा प्रसिद्धम्। तथा हि "आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनव:। अयनं तस्य ता: प्रोक्तास्तेन नारायणस्स्मृत:" (मनु. स्मृ. 1-10) इति। अत्राऽऽह - नारायणोऽङ्गमिति। नर: परमात्मा "जह्नुर्नारायणो नर:" इति नरशब्दस्य श्रीभगवन्नामसु पाठात् "रिङ्क्षये" इति धातु: न रीयते न क्षीयते न नश्यतीति नर इति व्युत्पन्ननरशब्दप्रवृत्तौ निमित्तस्य नित्यत्वस्य श्री भगवत्यप्यनुगतत्वाच्च। ततश्च नराद्भवां जातानां जलानामयनात् यो नारायण: प्रसिद्ध: सोऽपि तवैवाङ्गं मूर्ति:। 'राहोश्शिरं' इतिवत् तवाङ्गमित्यभेदसम्बन्धे षष्ठी। सोऽपि त्वमेवेत्यर्थ:। नन्वहमेव नारायणश्चेत् "विश्वं नारायणं देवमक्षरं परमम्" (महा. ना. उ. 9-1) इत्यादिभि: वेदान्तै र्विश्वसमानाधिकृतत्वेन प्रतीयमानस्य विश्वव्यापकस्य कथं विश्वान्तर्भूतजलमात्रवर्तित्वम् अत आह तच्चापि सत्यमिति। तव विभोरपि यज्जलाश्रयत्वं तत्सत्यमबाधितमेव। व्यतिरेकमुखेनापि द्रढयति न तु मायेति। तज्जलशायित्वं न माया न मृषा किन्तु सत्यमेवेत्यर्थ:। "अणोरणीयान्महतो महीयान्" (कठ. उ. 2-20) "एष मे आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा

एष मे आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्, दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्य:" (छान्दो. उ. 3-14-3) "उभेऽस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितम्" (छान्दो. उ. 8-1-3) इत्यादिभिरवगतं स्वरूपतो रूपतश्च अणोरणीयस्त्वं महतो महत्तरत्वं चेत्युभयं जगन्निर्माणोपासनाद्युपयुक्ततया जीवहृदयगुहादिष्ववस्थितस्य सर्वशक्तेस्तवोपपन्नमिति जलशायित्वमबाधितमेवेत्यर्थ:[6] ॥ १४॥

एवं चतुर्धा नारायणशब्दव्युत्पत्ति: दर्शिता। नराणामात्मत्वादधीशत्वाच्च अखिललोकसाक्षित्वाच्च जलायनत्वाच्च नारायण इति, अस्त्वेवं न मय्येतानि प्रवृत्तिनिमित्तानि दृष्टानीति नाहं नारायण इत्यपेक्षायां तत्प्रवृत्तिनिमित्तचतुष्टयमपि तस्मिन् स्वानुभवेन दर्शयति - **तच्चेत्यादिना।** सन्ति विद्यमानानि जगन्ति यस्मिन् तत्तव वपु: सृष्ट्यादौ जलस्थं चेत् त्वं नारायण एवेत्यर्थ:। सज्जगदित्यनेन सर्वजगद्धारकत्वरूप तदात्मत्वमाद्यं प्रवृत्तिनिमित्तं तस्मिन् प्रदर्शितम्। जलस्थमित्यनेन तुरीयम्। तवेत्यनेन तवापि कुक्षिस्थाखिलचिदचिदात्मकलोकस्य स्रक्ष्यमाणस्य सर्गोपयुक्तप्रवर्तकत्वं साक्षित्वं चेत्युभयं विवक्षितम्। तव अधीशस्य अखिल लोकसाक्षिणश्चेत्यर्थ:। चेदिति यद्यर्थकमव्ययम्। यदि शब्दश्च सम्भावनायाम्। सा च क्रियासु योग्यताध्यवसायरूपा। जलस्थं चेत् जलावस्थितिविषयकमदध्यवसायिविषयं चेदित्यर्थ:। तत्र स्वानुभवमेव काक्वा विशदयति - हे भगवन्! तदेव जलस्थमेव वपु: मे मया न दृष्टं किम्? दृष्टमेवेत्यर्थ:। यज्जलस्थं तदेव मे हृदि नेत्यनुषङ्ग:, न सुदृष्टं किम्? सुदृष्टमेवेत्यर्थ:। पुनस्सपद्येव तदैव नो व्यदर्शि तिरोधापितं न किम्? त्वयेति शेष:। नो व्यदर्शीत्यनेन तत्र प्रत्यभिज्ञा प्रमाणत्वेनोपन्यस्ता॥ १५॥

---

1. A,B समव° 2. A,B मम ग° 3. A,B° स्था ना° 4- -4. K,W omits 5. K,W omit यत् 6. A,B add अवतारभेदेन तत्तद्वाकृतिभेदेऽपि तत्तत्कालकार्यकर्मादिचरित्रभेदेऽपि च अवतारिण: तवाभेद:। अवतारी सदा त्वमेक एव न तु नानेति दिक्॥

**अत्रैव मायादमनावतारे ह्यस्य प्रपञ्चस्य बहिस्स्फुटस्य।**
**कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्या मायात्वमेव प्रकटीकृतं ते॥ १६॥**

**यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्मं भाति यथा तथा।**
**तत्त्वय्यपीह तत्सर्वं किमिदं मायया विना॥ १७॥**

**अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शितम् ?**
**हा[2]कोऽसि, प्रथमं ततो व्रजसुहृद्वत्सास्समस्ता अ[3]सि।**
**तावन्तोऽसि चतुर्भुजास्तदखिलैस्साकं मयोपासिता:**
**स्तावन्त्येव जगन्त्यभू[5]स्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्य[6]से॥ १८॥**

**अजानतां त्वत्पदवीमनात्म न्यात्माऽऽत्मना भासि वितत्य मायाम्।**
**सृष्टाविवाऽहं जगतो विधाने इव त्वमेषोऽन्त इव त्रिनेत्रः॥ १९॥**

**सूरेष्वृषिष्वीश! तथैव नृष्वपिं तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेऽजनस्य।**
**जन्माऽसतां दुर्मदनिग्रहाय प्रभो! विधातस्सदनुग्रहाय ॥ २०॥**

---

1. K,W °पि ह 2. A,B,G,J एकोऽसि; K. ह्येकोऽपि 3. A,B,G,J अपि 4. K °ऽपि 5. V °स्ततमिदं 6. A,B,G,J,V,W °ते 7. V °णे 8. A,B,G,J,K,V add च

**श्रीध०** अपि च यदि जलादिप्रपञ्चः सत्यस्स्यात् तर्हि तेन तव परिच्छेदो भवेत्। स तु मायाविलसित इति त्वयैव दर्शित इत्याह - **अत्रेति** श्लोकत्रयेण। हे मायादमन! मायोपशमन! अत्रैवावतारे, अस्य[1] प्रपञ्चस्य[1] बहिः स्फुटस्यापि आत्मनो[2] जठरमध्ये जनन्याः प्रदर्शनेन॥ १६॥

ननु बहिः सत एव। अन्तर्जठरे प्रतिबिम्बोऽस्तु अतः[3] सर्वथा मायाविलसितत्वं[4] मयैवोक्तमिति कुत इत्यत आह[4] - **यस्येति**। यस्य तव कुक्षौ सर्वमिदं यथा भाति तत्सर्वं इहापि बहिरपि तथैव भाति। किञ्च सात्मं त्वत्सहितं तदिदं सर्वं[5] त्वयि मायया विना कथं[6] घटेतेति[7]? अयं भावः त्वयि प्रतिबिम्बश्चेत्तर्हि बाह्याद्विलोमतया प्रतीयेत न तु तदस्ति तव च आदर्शस्थानीयस्य। त्वयि प्रतीतिः न स्यात्। अतः सर्वथा मिथ्यात्वमेवेति॥ १७॥

अपि च न केवलं जनन्याः ममापि तथैव दर्शितमित्याह - **अद्यैवेति**। त्वदृते त्वां विना अस्य विश्वस्य मायात्वं त्वया ममैव च। तदप्यद्यैव किं न दर्शितम्? किन्तु दर्शितमेव। तथाहि एकोऽपीत्यादि। तत्[8] ततो मया सह अखिलैः तत्त्वादिभिरुपासिताः। तावन्तश्चतुर्भुजा असि। जगन्ति ब्रह्माण्डानीति प्रागनुक्तमपि दृष्टमिति ज्ञातव्यम्॥ १८॥

ननु ब्रह्मन्! तव मया दर्शितं शुद्धमेव चैतन्यं, कथं प्रपञ्चवन्मायेत्युच्यते ? सत्यम्। किन्तु अद्वितीये त्वयि नानात्वं गुणावतारमत्स्याद्यवतारेष्विव कार्यवशेन स्वतन्त्रमायानिबन्धनमित्याह - **अजानतामिति** श्लोकद्वयेन। त्वत्पदवीं तव स्वरूपम् अजानतां अनात्मनि प्रकृतौ स्थितः, आत्मैव त्वं आत्मनैव स्वातन्त्र्येण मायां वितत्य आभासि[9]। कथं जगतः सृष्टौ? अहमिव ब्रह्मेव विधाने पालने। एषः त्वमिव अन्ते प्रलये[10]। त्रिनेत्र इव[11] ॥ १९॥

ननु च स्वातन्त्र्ये कथं कुत्सितेषु मत्स्यादिषु जन्म, कथं वा वामनाद्यवतारे याच्ञ्यादिकार्पण्यं, कथं वाऽस्मिन्नेव कदाचिद्भयपलायनादि इत्यत आह[12] — **सुरेष्विति** श्लोकद्वयेन[12]। सुरेषु[13] वामनजन्म, ऋषिषु नारदादिजन्म, तिर्यक्षु नृसिंहादिजन्म, यादस्सु मत्स्यकमठादिजन्म, नृष्वपि रामादिजन्म, असन्निग्रहाय सत्पालनाय च[13] ॥ २०॥

1- -1. A,B,J omit 2. B,J स्वज° 3. A तत्कुत:? B,J कुत:? 4- -4. A,B,J मायात्वं तत्राह 5. V omits सर्वं 6- -6. A किं घटेत?; B,J किं घटते? 7. B,J omit तर्हि 8. V omits तत् 9. A,B,J भासि 10. A,B,J omit प्रलये। 11. A,B,J add इति 12- -12. A,B,J omit 13- -13. A सुरेषु उपेन्द्र:, ऋषिषु परशुराम: नृष्वपि राम: ॥ २० ॥; B,J omit

**वीर०** ननु यज्जलस्थं यच्च भवता जले हृदि च दृष्टं यच्च तिरोभूतं तद्वपुरनिरुद्धमूर्ते: जगत्कारणभूतस्यैव न तु मम अतो नाहं नारायण इत्यपेक्षायामेतदवतारदशायामपि तच्चतुष्टयं त्वन्मात्राऽपि दृष्टमेवेत्याह - **अत्रैवेति**। हे मायादमन! अस्मदादिकर्तृकमायां मोहनात्मिकां दमयति निरस्यतीति तथाभूत प्रपन्नानां प्रकृतिसम्बन्धनिवर्तकेति वा, बहि: स्फुटस्यापि दमयति स्फुटस्यास्य चिदचिदात्मकस्य प्रपञ्चस्यास्मिन्नेव अवतारे अन्तर्जठरे जनन्या: प्रदर्शनेनेति शेष:। ते त्वया मायात्वं विचित्रशक्तित्वं प्रकटीकृतमेव। विपुलं जगत् अल्पीयसि मत्कुक्षौ जनन्या दृष्टिमित्येतद्वच: त्वदीयं "अग्निना सिञ्चेत्" इतिवत् अयोग्यार्थ प्रतिपादकमितीयमाशङ्का मायात्वं प्रकटीकृतमित्यनेन व्युदस्ता, विचित्रशक्तियुक्तत्वात् तद्दर्शयितुं प्रभुरेव त्वमिति भाव:॥ १६॥

तदेव काक्वा विवृणोति - **यस्येति**। इदं परिदृश्यमानं चिदचिदात्मकं सात्ममात्मभ्याम् आवाभ्यां सहितं सर्वं यथा बहिर्भाति तथा तत्सर्वं त्वय्यपि त्वज्जठरे भातमिति शेष:, हेति तदाश्चर्यशक्तिविषयक विस्मयद्योतकम्। इदं त्वज्जठरे भानं मायया त्वदाश्चर्यशक्त्या विना किम्? तन्मूलकमेवेत्यर्थ:॥ १७॥

न केवलं जनन्या: ममापि तथैव विचित्रशक्ति: दर्शितेत्याह - **अद्यैवेति**। अद्य त्वदृते आधुनिकं त्वां विना अधुना गोपालकावस्थावस्थितं त्वां विनेत्यर्थ:। अस्य त्वत्पूर्वोत्तरावस्थाद्वयं पश्यतो मम ते त्वया मायात्वं विचित्रशक्तित्वं नादर्शितं किम्? दर्शितमेवेत्यर्थ:। विचित्रशक्तिमूलकं किं किं तव दर्शितमित्यत्राऽऽह - प्रथमं मया वत्सवत्सपापहरण - दशायामेकोऽपि ततस्समस्ता व्रजसुहृदो गोपबाला वत्साश्चासि। तत: तावन्त: यावन्तो व्रजसुहृद्वत्सा[1]: तावन्त: चतुर्भुजा असि, कथम्भूता:? मया सह अखिलै: चराचरादिभिरुपासिता: तत: तावन्ति यावन्त: चतुर्भुजा: तावन्ति जगन्त्यभू:, तावन्ति विराड्रूपाण्यासीरित्यर्थ:। इदं प्रागनुक्तमपि तदा दृष्टमत्रोच्यत इति ज्ञेयम्। तत्ततोऽमितमपरिच्छिन्नम् अद्वयं स्वतुल्यवस्त्वन्तररहितं कृष्णात्मकं ब्रह्म शिष्यसे अवशिष्यसे[2]॥ १८॥

मया साकम् अखिलैरुपासिता इत्युक्तम्। तत्र नन्वहमेवंविधश्चेत् सर्वेषामप्येवं किं न प्रतीये तत्राऽऽह - **अजानतामिति**। अनात्मनि देहे आत्मात्मना आत्मभावेन देहात्माभिमानस्वतन्त्रात्माभिमानादि हेतुना त्वत्पदवीं त्वद्याथात्म्यमजानतां भासि। किं कृत्वा? मायां वितत्य तेषु मायां प्रसार्य, कथं भासि? जगतस्सृष्टौ अहमिव सृष्टौ निमित्तभूतायां सृष्टचर्थमिति यावत्, एवमुत्तरत्रापि। अहम्मि[3] चतुर्मुख इव, विधाने रक्षणे एष त्वमिव विष्णुरिव, अन्ते संहारे त्रिनेत्र इव रुद्र इव, पृथक् स्वतन्त्र इव भासि, त्वत्पदवीं जानतां तु ब्रह्मरुद्राख्यजीवान्तर्यामितया तच्छरीरकत्वेन विधाने तु साक्षात्स्वावताररूपत्वेन भासीत्यर्थ:। मायाशब्दस्तु अत्र प्रकृतिपर: प्रकृतिगुणान् रजआदीन्वितत्येत्यर्थ:। स हि "मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्" (श्वेता. उ. 4-10) इति प्रमाणवशात् क्वचित्प्रकृतिपर:। "माया वयुनं ज्ञानम्" (वे.नि. 3-9 निरुक्त धर्मव 22) इति निघण्टुपाठात् "मायया सततं वेत्ति" (भार. 15-2805) इत्यभियुक्तप्रयोगाच्च क्वचिज्ज्ञानपर:। क्वचिच्च विचित्रशक्तिपर:। "योगमायां समादिशत्"

(भाग. 10-2-6) इति भागवतप्रयोगादेव "ऋते मायां विशालाक्षीम्" (रामा. ला. 8-110-211) इति श्रीरामायणप्रयोगाच्च, "जलं संस्तम्भ्य मायया" इति जलस्तम्भनशक्तौ भारतप्रयोगाच्च। तस्मात् तत्र तत्र यथोचितः तदर्थो ग्राह्यः॥ १९॥

'विधाने इव त्वम्' इत्येतदेवोपपादयति - **सुरेष्विति**। हे ईश! अजनस्य कर्मायत्तोत्पत्तिरहितस्य ते तव सुरादिषु जन्म अवतारः हे प्रभो! विधातः! दुष्कृतां दुर्मदनाशाय[4] साधूनामनुग्रहाय च भवति। तत्र सुरेषु उपेन्द्रादिरूपं जन्म, ऋषिषु नरनारायण परशुरामात्मकम्[5] नृषु दाशरथ्यादि रूपम्[6]। तिर्यक्षु वराहादिरूपम्। यादस्सु मत्स्य कूर्मादिरूपम्॥ २० ॥

---

1. K दः ता° 2. W omit स्व 3. A,B omits इव 4. K °शनाय 5. W °णात्मकम् 6- -6 A,B °दिकम्।

को वेत्ति भूमन्! भगवन्परात्मन्योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।[1]
क्व[2] वा कथं वा कति वा कदेति विस्तारयन्क्रीडसि योगमायाम्॥ २१॥

तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं[3] स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते मायात उद्यदपि यत्सदिवावभाति॥ २२॥

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यस्स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः॥ २३॥

एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते।
गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा ये ते तरन्त्येव[4] भवानृताम्बुधिम्॥ २४॥

आत्मानमेवाऽऽत्मतयाऽविजानतां तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम्।
ज्ञानेन भूयोऽपि च तत्प्रलीयते रज्ज्वामहेर्भोग भवाभवौ यथा॥ २५॥

---

1. A,B,G,J °गे° 2. A. काऽहो 3. V °मसत्त्व° 4. A,B,G,J,V.° न्तीव

**श्रीध०** अत[1] आह[1] - **को वेत्तीति**। अन्वर्थैः सम्बोधनैः दुर्ज्ञेयत्वमेवाह - भूमन्नित्यादिभिः। भवत ऊतीः लीलाः त्रिलोक्यां को वेत्ति क्व वा, कथं वा, कदा वा, कति वेति। अचिन्त्यं तव योगमाया वैभवमिति भावः॥ २१॥

ननु भवत्ववताराणामचिन्त्यो महिमा, प्रपञ्चस्य ह्यसत्त्वे[2] कथं सत्त्वप्रतीतिः इति इमामाशङ्कां सपरिकरमुपसंहरन्[3] परिहरति - **तस्मादिति**। अस्तधिषणं निरस्तप्रतिभासम्। त्वय्येवोद्यत् उद्भवदपि यन्नश्यत् सदिवेत्युपलक्षणमेतत्। नित्यमिव, सुखमिव[4], चेतनमिव[4] च अधिष्ठानभूतस्य तव गुणैः तथा तथा भातीत्यर्थः॥ २२॥

त्वमेव तु सत्य इत्याह - **एक** इति। एकस्त्वं सत्यः। कुतः? आत्मा। दृश्यमसत्यं दृष्टं न चात्मा दृश्यः, अतः सत्यः। किञ्च यद्विकारवत् तदसत्यं, न च त्वयि जन्मादयो विकाराः सन्तीत्याह - आद्यः कारणम्, अतो न जन्म। आद्यत्वे हेतुः पुराणः पुरातनः। कार्यात्पूर्वमपि वर्तमान इत्यर्थः। अत्र हेतुः - पुरुष इति। तथा च श्रुतिः - "पूर्वमेवाहमिहासमिति तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम्" इति। जन्मान्तरास्तित्वलक्षणं विकारं वारयति - नित्य इति। सनातन इत्यर्थः। पूर्णोऽजस्रसुखोऽक्षरोऽमृत इति चतुर्भिः पदैः क्रमेण वृद्धिविपरिणामापक्षयविनाशान् वारयति। पूर्णत्वे हेतुः - अनन्तोऽद्वय इति च। देशकालपरिच्छेदरहितो वस्तुपरिच्छेदरहितोऽपि। अमृतत्वोपपादनाय चतुर्विधक्रियाफलत्वं वारयति। स्वयंज्योतिर्निरञ्जन उपाधितो मुक्त इति पदत्रयेण। अयं भावः - तत्रोत्पत्तिराद्य इत्यनेनैव निराकृता, प्राप्तिरपि क्रियया ज्ञानेन वा भवेत्, क्रियया प्राप्तिरात्मपदेनैव निराकृता, ज्ञानतः प्राप्तिं वारयति स्वयंज्योतिरिति। विकृतिरपि तुषाऽपाकरणेनावघातेन व्रीहीणामिवोपाध्यपाकरणेन भवेत्। तत्तु असङ्गतत्वान्न सम्भवतीत्याह - मुक्त उपाधित इति। संस्कारोऽपि किमतिशयाधानेन मलापाकरणेन वा। तत्रातिशयाधानं पूर्णत्वेनैव निराकृतम्। मलापाकरणं निवारयति - निरञ्जन इति। निर्मल इत्यर्थः॥ २३॥

तस्मादेवम्भूतज्ञानात् मुच्यन्त इत्याह - **एवंविध** मिति। त्वां ये विचक्षते सम्यक् पश्यन्ति। कथम्? आत्मात्मतया आत्मा प्रत्यक् तस्य स्वरूपेण। न चैतत्पुत्रादिष्विव गौणमित्याह। सकलात्मनामपि स्वात्मानम्। केन? गरुरेवार्कः तस्मात् लब्धं उपनिषत् ज्ञानं तदेव सचक्षुः तेन। भव एवानृताम्बुधिः तं ते तरन्तीव॥ २४ ॥

तत्र च ज्ञानेन तरन्तीति, तच्च तरन्तीवेति, तच्चात्मात्मतया ज्ञानेन, इत्यर्थत्रयं प्रतिज्ञातं क्रमेणोपपाद्यते। तत्र आत्मानमेवात्मतया इत्यनेन श्लोकेन ज्ञानेन तरन्तीत्युपपाद्यते। अज्ञानसंज्ञात्वियनेन तरन्तीवेत्येतत्। त्वामित्यादि श्लोकद्वयेन तु आत्मात्मतयेत्येतदुपपाद्यते। ननु ज्ञानेन कथं भवं तरन्तीति तस्याज्ञानमूलकत्वादित्याह - आत्मानमिति। तेनैव अज्ञानेनैव प्रपञ्चितं प्रपञ्चः। रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ सर्पशरीरस्याध्यासापवादौ यथेति॥ २५॥

---

1- -1. V omits 2. V त्व° 3. V °रा° 4- -4. V omits 5- -5. A,B,J पुरापि नवः 6. A,B,J जन्मानन्त° 7. V °णवि° 8. V तच्च 9. A,B,J लब्धा 10. V adds आशङ्क्य 11. A,B,J omit क

**वीर०** अवताराप्रसङ्गात् तेषां जाति प्रकार सङ्ख्याकाल नियमाभावं क्रीडैकप्रयोजनत्वं विचित्रशक्तिमत्त्वं चाऽऽह - **को वेत्तीति**। अवतारदशायामपि स्वासाधारणविपुलानन्दरूपत्वषाड्गुण्यपूर्णत्वप्रशासितृत्वयोगनिर्वाहकत्वाद्यप्रहाणप्रदर्शनार्थं भूमन्नित्यादिसम्बोधनचतुष्टयम्। भवतः तव ऊतीः गतीश्चेष्टाः त्रिलोक्यां कः पुमान् क्व वा कस्यां जातौ कथं केन प्रकारेण, कति कियत्सङ्ख्याकाः, कदा कस्मिन्काले अवतारा इत्येतच्च वेद न कोऽपि जानातीत्यर्थः। केवलम् आश्चर्यशक्तिं विस्तारयन् एवं क्रीडसीति मम भातीति भावः॥ २१॥

किञ्च आजानताम् अहमादिरूपेण केवलं त्वमेव भासि जगदपि विपरीतं भातीत्याह - **तस्मादिति**। तस्मात् त्वद्व्यतिरिक्तस्वतन्त्रवस्त्वभावान्नित्यसुखबोधतनौ नित्यानुकूलज्ञानरूपे त्वय्येवानन्ते अपरिच्छेद्यमहिम्नि यन्मायातः

त्वत्सङ्कल्पपरूपज्ञानादुद्यत् उत्पद्यमानमपि यल्लीयमानम् अतः त्वदपृथक्सिद्धमिति भावः। पुरुभ्यो दुःखेभ्य उपरि तथाविधानि दुःखानि यस्मिन् स्वप्नाभं स्वप्नतुल्यम्। सर्वत्र दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्साधर्म्ये सति वैधर्म्येण भवितव्यम् अन्यथा तयोरैक्यमेव स्यात्, तत्र उभयानुगतं साधर्म्यमनित्यत्वरूपम्। स्वप्ने तु तत्कालमात्रावस्थायित्वं तद्द्रष्टेकानुभाव्यत्त्वरूपं वैधर्म्यम्। दार्ष्टान्तिके तु कालान्तरेऽप्यवस्थायित्वम् अनेकानुभाव्यत्वरूपं चेति विवेकः। इदं चिदचिदात्मकमशेषं जगदसत्स्वरूपमपि अजानतां सदिव भाति सततविकारवदपि तद्विपरीतवदाभातीत्यर्थः॥ २२॥

यद्यसदिदं जगत् मच्छरीरभूतं मय्येवोत्पद्य लीयते, तर्हि तद्गतदोषभाक् अहमपि असन्नेवेत्यतः तं प्रकृतिपुरुषविलक्षणत्वेन शोधयति **एक** इति। सत्यस्स्वयंज्योतिरनन्त इति पदत्रयेण "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" (तैत्ति. उ. 2-1-1) इति जगत्कारणत्वेन लक्षिते सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टे वस्तुनि विशेष्यांशशोधकं वाक्यं प्रत्यभिज्ञायते, सत्यः निर्विकारः, अनेनाचेतनात् तत्संसृष्टचेतनाच्च व्यावृत्तिः स्वयंज्योतिः सङ्कोचकाभावात् नित्यासङ्कुचितस्वयंप्रकाशस्वरूप इत्यर्थः। अनेन मुक्तजीवानां व्यावृत्तिः तेषां बद्धदशायां सङ्कुचितप्रकाशत्वात्। अनन्तः स्वरूपतस्स्वभावतश्च त्रिविधपरिच्छेदरहितः। अनेन नित्यसिद्धजीवव्यावृत्तिः तेषां स्वभावत आनन्त्येऽपि स्वरूपतः तदभावत्। तत्र सत्यत्वमेव विवृणोति उपाधितोऽमृतो निरञ्जनोऽक्षरश्चेति। अमृत इति च्छेदः। जीवस्योपाधितो मरणं नाम कर्मायत्तदेहवियोगात्मकम्, तद्रहित इत्यर्थः। अमृत इत्यजात्वस्याप्युपलक्षणम्, उपाधित इत्यस्य काकाक्षिन्यायात् मुक्त इत्यनेनापि सम्बन्धः। उपाधितः मुक्तः नित्यं कर्मायत्तदेहसम्बन्धान्मुक्तः तत्प्रतिभट इत्ययमुपाधितोऽमृतत्वे हेतुः। निरञ्जनः पुण्यपापरूपाञ्जनरहितः तत्प्रतिभटः। अनेन प्रकृतिसंसृष्टजीवव्यावृत्तिः स्पष्टीकृता भवति। अक्षर इत्यनेन षड्भावविकारात्मकक्षरण स्वभावरहितवस्तुवाचिना प्रकृतेः व्यावृत्तिः स्पष्टीक्रियते। आनन्त्यं विवृणोति नित्यः पूर्णोऽद्वयश्चेति। नित्य इति कालपरिच्छेद व्यावृत्तिः। पूर्ण इति देशपरिच्छेदराहित्यमुच्यते। "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" (श्वेता. उ. 3-9) इति श्रुत्युक्तरीत्या सर्ववस्तुव्यापकत्वं तेन विवक्षितम्। अतो देशपरिच्छेदव्यावृत्तिः स्पष्टैव। अद्वय इत्यनेन वस्तुपरिच्छेदराहित्यमुच्यते, अद्वयः अब्रह्मात्मकद्वितीयवस्तुरहितः। सर्वस्य स्वात्मकत्वेन सर्ववस्तुसामानाधिकरण्यार्हत्वरूपं वस्तुपरिच्छेदराहित्यमुक्तं भवति। यद्वा अद्वयः स्वस्वरूपगुणापेक्षयोत्कृष्टगुणयुक्तवस्त्वन्तररहितः, निरतिशयगुणयुक्तत्वमपि वस्त्वपरिच्छेदः। तत्राऽऽद्यकल्पे स्वरूपस्यैव सर्वशरीरकत्वेन सर्ववस्तु सामानाधिकरण्यार्हत्वरूपं वस्तुपरिच्छेदराहित्यं न तु गुणानामित्यवगन्तव्यम्। द्वितीये तु निरतिशयत्वं स्वरूपे गुणेषु च अनुगतमित्युभयेषामपि वस्तुपरिच्छेदराहित्यमिति विवेकः। एवं प्रकृतिपुरुषव्यावृत्तस्य स्वरूपस्य कीर्तनमजस्रसुख इति। अजस्रं सततमविच्छिन्नं दुःखासम्भिन्नमिति यावत्। तत्सुखं यस्य सः, बहुव्रीहिणाऽवगतस्याजस्रसुखस्यान्यपदार्थसम्बन्धो राहोश्शिर इतिवत् अभेदरूपः, कथमेवं विधस्य ममासस्वरूपजगत्कारणत्वमित्यत उक्तमाद्य इति। आदौ भव आद्यः, एवं विधोऽपि जगत्कारणभूत इति साध्यधर्मनिर्देशः, अत्रोपपत्तिरुच्यते एक आत्मा पुरुषः पुराण इति। "एकमेवाद्वितीयम्" (छान्दो. उ. 6-2-1) इति स्थानप्रमाणेन तत्रेवात्रापि सृष्टिदशावस्थनामरूपविभागनिबन्धन प्रपञ्चगतबहुत्व प्रतिसम्बन्धितदविभाग निबन्धनैकत्वमेकशब्देनोच्यते, नामरूपविभागानर्ह सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टतयैकत्व व्यपदेशार्हः न विशेष्याकारेण कारणभूतः किन्तु विशिष्टत्वाकारेणेति भावः, आत्मेत्यनेन स्वशरीरभूत प्रकृतिपुरुषकालादिद्रष्टृत्वं विवक्षितम्। स्वक्षेत्रस्य द्रष्टा ह्यात्मा "एतद्योवेत्तीति" (भ.गी. 13-1) भगवदुक्तेः, यद्यपि सा क्षेत्रज्ञशब्दव्युत्पत्तिः तथाऽपि तत्पर्यायतया प्रयुज्यमानस्य आत्मशब्दस्यान्तःप्रविश्य धारकवाचिनः तत्पर्यन्तता अत्र विवक्षिता। अनेन निमित्तकारणत्वोपयुक्तं

सर्वज्ञत्वं विवक्षितम्। इदमुपादानकारणत्वोपयुक्तसर्वशक्तित्वस्याप्युपलक्षणम्। एक इति उपादानादिकारणत्वं प्रसाधितम्। अथ निमित्तकारणत्वं साधयति पुरुषः पुराणः। पुरुषशब्देनात्र कर्तृत्वं विवक्षितं, तस्यैव कर्तृत्वदर्शनात्। "कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्" (ब्र.सू. 2-3-23) इति सूत्रस्वारस्याच्च। पुराणः पु[10]राऽपि नवः[-10] पुरा जगत्सृष्टेः पूर्वं वर्तमानः पुरुषः जगत्कर्तेत्यर्थः॥ २३॥

यतः त्वमेवं कारणभूतः अत एव "कारणं तु ध्येयः" (अथ. शिखा. उ. 3) इति श्रुत्युक्तरीत्या त्वाम् एवंविधं ध्यात्वा मुच्यन्त इत्याह - **एवमिति**। ये जनाः गुरुवार्कः सूर्यवत्तमसोऽज्ञानस्य निवर्तकत्वात् तथा रूपणम्। तस्मादुपलब्धा या उपनिषत् वेदान्तः, अत्र उपनिषच्छब्देन तद्वाक्यार्थज्ञानं विवक्षितम्, सैव शो[11]भनं चक्षुः तेन एवंविधं त्वां विचक्षते, चक्षिर्दर्शनेऽपि वर्तते, पश्यन्ति[12] गुरुमुखाद्वेदान्तवाक्यार्थं निश्चित्य तन्मननपूर्वकं प्रत्यक्षतापत्तिपर्यन्तरूपामुपासनां ये कुर्वन्तीति भावः। कथम्भूतम्? कथं च? तत्राऽऽह सकलात्मनां सर्वेषामात्मनामुपासकानां चान्तरात्मानम् आत्मनामुपासकानामात्मतया त्वच्छरीरतया यद्वा सकलात्मनां सर्वजीवानां देवमनुष्यादीनां ये आत्मानः देवमनुष्यादिशरीरान्तर्वर्तिनो जीवाः तेषामप्यन्तरात्मतया स्वात्मानमुपासकानामप्यन्तरात्मानं ये इह विचक्षते त एव भवानृताम्बुधिं तरन्तीत्यन्वयः। भवे संसारे यान्यनृतानि तान्येवाम्बुधिस्तं "यथा संपुष्पितस्य वृक्षस्य दूराद्गन्धो वाति" (महा.ना.उ. 7-2) इत्यादिना पु[13]ण्यं कर्म प्रस्तुत्य तत्प्रतिसम्बन्धिनि पापे "एव मनृतादात्मानं जुगुप्सेत्" (महा.ना. 8-2) इत्यनृतशब्दप्रयोगादनृतशब्दः पापकर्मवाची, पापत्वं चानिष्ट साधनत्वम्। मुमुक्षोः स्वर्गादिफलस्याप्यनिष्टत्वेन तत्साधनं[14] कर्माप्यनृतशब्देन विवक्षितम्। एवं च पुण्यपापानि तरन्तीत्यर्थः॥ २४॥

ये विचक्षते ते तरन्तीत्युक्तम्। अथ प्रसङ्गात् वि[15]परीतानां का गतिः यदि संसृतिः तर्हि कस्तन्निवृत्त्युपायः तत्राऽऽह **आत्मानमिति**। अविजानतामिति च्छेदः, आत्मानं परमात्मानं त्वाम् आत्मतयैव सर्वान्तरात्मतयैव अविजानतां तेनैव तदविज्ञानेनैव निखिलं प्रपञ्चितं जातं प्रपञ्चो जातः संसारः प्राप्त इत्यर्थः, देहात्मभ्रमस्वतन्त्रात्मभ्रम मू[16-]लकपरमात्मानुपा[-16]सनादिनैव संसारः प्राप्त इत्यर्थः, तत्प्रपञ्चितं पुनः ज्ञानेन देहात्माद्यनभिमानपूर्वक परमात्मोपासनात्मकेन प्रलीयते नश्यति निवर्तत इति यावत्, परमात्मोपासनात्मकज्ञानाभावप्रयुक्तसंसारस्य ज्ञानसद्भावे सति निवृत्तौ दृष्टान्तमाह - यथा रज्ज्वामधिष्ठानभूतायामहेः सर्पस्य यो भोगः शरीरं तस्य भवाभवौ भोगविषयज्ञानोदयतल्लयौ रज्जुयाथात्म्यज्ञानप्रयुक्तौ, तद्वद्देहात्माद्यनभिमान पूर्वक प्रत्यक्षतापत्ति पर्यन्त भगवदुपासनात्मकज्ञानाभावतत्सद्भावप्रयुक्तौ संसार तन्मोक्षावित्यर्थः, मृषावादिनस्त्वत्र रज्जुयाथात्म्यज्ञान प्रयुक्त[17] सर्पभ्रमः तद्याथात्म्यज्ञानान्निवर्तते, एवमपरमार्थभूतो बन्धो ब्रह्माभिन्ने जीवे तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यतद्याथात्म्यज्ञानमूलकः तद्याथात्म्यज्ञानान्निवर्तत इति व्याचक्षते। तत्र वाक्यार्थज्ञानस्य निवर्तकत्वानुपपत्तिः तेन सत्यभूतस्यैव बन्धस्य निवृत्त्यनुपपत्तिश्च भाष्यादिषु सप्तविधानुपपत्तिप्रतिपादनपरप्रकरणे द्रष्टव्या, विस्तरभयात्तु अत्र न लिख्यते॥ २५॥

---

1. A,B omit अपि 2. K °वि° 3. A,B तद्दोष 4. A,B omit जीव 5. K°तस्या° 6. W °मपरिच्छिन्नं 7. W omits त्व 8. W °शानर्हः 9. K°क्तः 10- -10. W omits 11 W omits शोभनं 12. A,B add इत्यर्थः 13. W पुण्य 14. K,W °नक° 15. A,B तद्विप° 16- -16 A,B तन्मूलकापरमात्मोपा° 17. A,B°क्तः

अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतेऽज्ञभावात्।[1]
अजस्रचिन्त्याऽऽत्मनि केवले परे विचार्यमाणे तरणाविवाहनि[2]॥ २६॥

त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च।
आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य अहो[4-] अज्ञजनाज्ञता[-4]॥ २७॥

अन्तर्भवेऽनन्त! भवन्तमेवह्यतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः।
असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण सन्तं गुणं तं किमु यन्ति सन्तः॥ २८॥

अथाऽपि[5] ते देव! पदाम्बुजद्वय प्रसादलेशानुगृहीत एव हि[6]।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥ २९॥

तदस्तु मे नाथन्[7] स भूरिभागो भवेऽत्र[8] वाऽन्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥ ३०॥

---

1. A,B,G,J,V ऋतज्ञ° 2. J चिन्त्या; V नित्या 3. A,B,G,V,W °नी 4- -4 A,B,G,J अहोऽज्ञजनताज्ञता 5. K,W त° 6. V omits हि 7. V देव! 8. A भवो°

**श्रीध०** ननु ज्ञानेन[1] तरन्त्येव किमिदमुच्यते तरन्तीवेति तत्राह - **अज्ञानसंज्ञाविति** । अज्ञानेन संज्ञा ययोस्तौ भवबन्धमोक्षौ भवेन बन्धः तन्मोक्षश्च तौ द्वौ नाम प्रसिद्धौ ऋतज्ञभावात् ऋतश्चासौ ज्ञश्च तयोः भावः तस्मादन्यौ न स्तः। ननु कथं महानपलापः क्रियते, परमार्थविचारादित्याह अजस्रेति। अखण्डानुभवरूपे परे शुद्धे आत्मनि नाज्ञानं न च बन्धः। अत एव ज्ञानं मोक्षश्च। तरणौ सूर्ये रात्र्यहनी इवेति॥ २६॥

ननु परमार्थज्ञानादज्ञानकृतो बन्धो निवर्तताम्, आत्मात्मतयैव ज्ञानादिति कोऽयमाग्रह इत्याशङ्क्य, यदध्यासादात्मनः पररूपा स्फूर्तिः तदपवादेन तत्रैव आत्मस्वरूपे[2-] ज्ञानं युक्तमिति इममर्थं विस्मयेनाक्रोशन्निवाह - **त्वामिति**। त्वामात्मानं परं देहादिं मत्वा आत्मनि देहादिमध्यस्य तथा परं देहादि मात्मानं मत्वा देहादावात्मानमध्यस्य इत्यर्थः[3]। अत्र[4] नष्ट आत्मा बहिर्मृग्य इति चित्रम्। न हि गृहे नष्टं वने मृग्यत इत्यर्थः॥ २७॥

विवेकिनस्तु प्रत्यक्स्वरूपे एव परमात्मानं विचिन्वन्तीत्याह - **अन्तर्भव** इति। भवतीति भवं चिज्जडात्मकं शरीरं तन्मध्य एव त्वां मृगयन्ति। अतत्[5] जडं त्यजन्तोऽपवदन्तः। ननु सतो ज्ञानेनऽलं, किमसतोऽपवादेनेत्याशङ्क्य अध्यस्ताऽपवादं[6] विना अधिष्ठान तत्त्वज्ञानं न जायते[7-] इति सतां व्यवहारोणाह - असन्त मिति। अन्ति समीपे असन्तमप्यहिमन्तरेण तन्निषेधं विना इत्यर्थः। सन्तं गुणं तं[8] रज्जुं सन्तः किमु यन्ति जानन्ति। अन्ति सन्तमपि गुणमिति वा। न जानन्तीत्यर्थः।

तस्मादात्मात्मतयैव ज्ञानान्मुक्तिरिति भावः ॥ २८॥

नन्वेवं ज्ञानैकसाध्ये मोक्षे किमिति भक्तिरुद्बोधिता अत आह - **अथापीति**। यद्यपि हस्तप्राप्यमिव ज्ञानमुक्तम्। [9]तथापि हे देव! तव पदाम्बुजद्वयमध्ये एकदेशस्यापि यः प्रसादलेशोऽपि तेन अनुगृहीत एव भगवतस्तव महिम्नस्तत्त्वं जानाति। हे भगवन्! ते महिम्नः तत्त्वमिति वा। एकोऽपि अ[10]हं ब्रह्माऽपि काश्चि दपीति वा [10]चिरमपि, विचिन्वन्नपि[11], अतदंशापवादेन विचारयन्नपीत्यर्थः ॥ २९॥

**तदिति**। [12]तत्तस्मात् भूरिभागो महद्भाग्यम्। अत्र भवे ब्रह्मजन्मनि तिरश्चामपि मध्ये यज्जन्म तस्मिन् वा[13] येन भाग्येन भवदीयानां जनानामेकोऽपि यः कश्चिदपि भूत्वा निषेवेऽत्यर्थं सेवेयं[14]ति ॥ ३० ॥

---

1. V ज्ञानिनः 2- -2. A,B,J omit 3. B,J,V omit इत्यर्थः। 4. A एवमन्तः 5. A adds कथम् 6. V असतोप° 7. A,B,J तत्त्वं न ज्ञायते 8. A,B,J omit तं, 9. V अ° 10- -10. A,B,J कश्चिदपि 11. V omits अपि 12. V omits तत् 13. A adds अन्यत्र 14. V omits इति

**वीर०** उक्तदृष्टान्तेनाभिप्रेतमेव दार्ष्टान्तिके पुनर्दृष्टान्तान्तरेणानुगमयति - **अज्ञानसंज्ञौ** इति। भवः संसारः तद्रूपो बन्धः तस्मान्मोक्षश्च इत्येतौ द्वौ अज्ञानसंज्ञौ अज्ञानम् उक्तविधपरमात्मोपासनात्मकज्ञानाभावः। संज्ञा तदुपासनात्मकं ज्ञानं ते अनयोः स्त इति तथाभूतौ। अर्शआदित्वात् मत्वर्थीयोऽच्, सम्बन्धोऽत्र हेतुहेतुमद्भावरूपः उपासनात्मकज्ञानाभावतत्सद्भावहेतुकौ भवबन्धमोक्षौ इत्यर्थः। नान्यौ स्तः अन्यमूलकौ न स्त[1]इत्यर्थः। नामशब्दः शास्त्रीय प्रसिद्धिद्योतकः, एवं स्थिते यथा अहनि तरणौ सूर्ये सति मम इवेति शेषः। तदा अज्ञभावादृते देहात्मभ्रमस्वतन्त्रात्मभ्रमं विना अज्ञभावं विहायेत्यर्थः। अजस्रचिति नित्यज्ञानैकाकारे प्रत्यगात्मनि केवले परे परस्मिन्नात्मनि परमात्मनि विचार्यमाणे प्रत्यगात्मान्तरात्मत्वेन वेदान्तवाक्यार्थविचारपूर्वकं परमात्मन्युपास्यमाने इत्यर्थः। तत्प्रलीयत इत्यनुषङ्गः, प्रपञ्चितं प्रलीयत इत्यर्थः ॥ २६॥

अज्ञभावादित्यनेन उक्तमज्ञत्वमेव विशदयन् विस्मयते **त्वामिति**। देहात्मभ्रमोऽहमेव ईश्वर इत्येवं स्वतन्त्रात्मभ्रमश्चेति द्विविधोऽपि भ्रमोऽनर्थहेतुतया त्याज्यतया च तत्र तत्रोच्यते। अत्रापि उभयविधभ्रमस्याऽऽत्मपरमात्मयाथात्म्य[2]ज्ञान मूलकत्वमुक्त्वा विस्मयते, परं प्रकृतिपुरुषविलक्षणम् आत्मानं प्रकृतिपुरुषान्तः[3]प्रवेशेन तद्गतदोषासंस्पर्शेन [3-]प्रशासनैश्च भर्तृत्वं,[-3 4] यथोक्तं भगवता - "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥" (भ.गी. 15-17) इति। एवमत्यन्तविलक्षणमपि त्वामित्यर्थः। एवंविधं त्वामात्मानं प्रत्यगात्मानं मत्वा, चस्त्वर्थः, आत्मानं च प्रत्यगात्मानं तु परमन्यं देहमेव मत्वेत्यर्थः। आत्मा परमात्मा पुनर्बहिर्मृग्यः मृग्यत इत्यर्थः। अहो अज्ञजनानाम् इयमज्ञता, न हि गृहे नष्टं वने मृग्यत इति भावः। विवेकिनस्तु जीवान्तरात्मतयैव त्वामुपासत इति च भावः ॥ २७॥

इदमेव दृष्टान्तमुखेन काक्वा उपपादयति - **अन्तर्भव इति**। हे अनन्त! सन्तो विवेकिनः अन्तर्भवे भवतीति भवो देहः तन्मध्ये अतत् तदन्यार्थको[1]नञ्, परमात्मनोऽन्यद्यजीवपर्यन्तं पञ्चविंशतितत्त्वजातं तत्त्यजन्तः, तस्मिन् परमात्माभिमानं

त्यजन्तः तद्विलक्षणमेवमुक्तविधं भवन्तं त्वां मृगयन्ति विविच्योपासत इत्यर्थः "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" (छान्दो. उ. 8-7-1) इति श्रुत्यनुरोधात्[1] सन्तः विवेकिनः रज्जुयाथात्म्यज्ञानवन्तः अन्ति समीपे सन्तं तत्त्वेनैव प्रतीयमानं गुणं रज्जुमसन्तमप्यहिं सर्पं किमु प्रतियन्ति सन्निहितस्यापि विस्मरणे व्यवहिताध्यासे चायं दृष्टान्तः। यथा विवेकिनः सन्निहिते गुणे अहिविलक्षणतया प्रतीयमाने न व्यवहितसर्पबुद्धिं कर्वन्ति, एवं जीवान्तरात्मतया सन्निहिते त्वयि जीवपर्यन्ततत्त्वविलक्षणतया प्रमिते न जडजीवबुद्धिं कुर्वन्ति, किन्तु तां विहाय स्वरूपतः स्वभावतश्च तद्विलक्षणं त्वामध्यवस्यन्तः उपासते इत्यर्थः ॥ २८ ॥

ननु केचिदज्ञास्सन्तः संसरन्ति, केचित्तु विवेकिनस्सन्तः मामुपास्य तरन्तीत्युक्तम्, कस्तर्हि विवेकाविवेकहेतुरित्यत्र भवदनुग्रहविशेषभावाभावावेव इत्यभिप्रायेणाऽऽह **तथापीति**। यद्यपि केचिदज्ञास्संसरन्ति, केचिद्विवेकिनस्सन्तः तरन्ति, तथाऽपि हे देव! तव पदाम्बुजद्वयस्य प्रसादलेशेनानुगृहीत एव पुमान् प्रणत्यालम्बनस्य पदाम्बुजद्वयस्य तत्प्रसादमूलत्वादेवमुक्तिः। भगवतस्तव महिम्नस्तत्त्वं याथात्म्यं जानाति, अन्योऽननुगृहीतस्तु एकोऽपि निर्जनदेशस्थोऽपि चिरमपि विचिन्वन् न च नैव जानाति हि॥ २९ ॥

कस्तर्हि मदनुग्रहहेतुरित्यत्र त्वद्भक्तजनसङ्गतिविशेष एवेत्यभिप्रयन् तमेवात्मनः प्रार्थयते **तदस्त्विति**। तत्तस्मात् त्वदनुग्रहस्यैव विवेक हेतुत्वात् हे देव! स भूरिभागः महाभाग्यम् महांस्तु कोऽसौ, येन भाग्येन अहमत्र भवे चतुर्मुखजन्मनि अन्यत्र तु वा मनुष्यजन्मनि, किं बहुना तिरश्चां मध्ये वा भवज्जनानां केनापि प्रकारेण त्वदाभिमुख्यार्हाणां जनानां मध्ये एकोऽपि यः कश्चिदपि भूत्वा तव पादपल्लवं निषेवे नितरां सेवे तावत् मां भवज्जनान्तर्भूतत्वेन अनुगृहाणेति भावः ॥ ३० ॥

---

1. A,B omit इत्यर्थः 2. A,B,W °त्म्य° 3- -3. A,B,K प्रशासनेन च भर्तारं त्वां 4. A,B add इदमेव हि परमात्मशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं यल्लोकत्रयान्तः प्रवेशनतद्गतदोषास्पर्शनप्रशासनैः भर्तृत्वं 5. A,B °कोऽत्र 6. A,B सारात्

**अहोऽतिधन्या व्रजगोरमण्यस्स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा।**
**यासां विभो! वत्सतरात्मजात्मना यत्तृप्तयेऽद्यापि च नालमध्वराः ॥ ३१ ॥**

**अहो! भाग्यमहो! भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।**
**यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥ ३२ ॥**

**तेषां[1] तु भाग्यमहिमाऽच्युत! तावदास्तामेकादशैव हि वयं बत! भूरिभागाः।**
**एतद्वृषीकचषकैरसकृत्पिबामः शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते ॥ ३३ ॥**

**तद्भूरि भाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोभिषेकम्।**
**यज्जीवितं तु निखिलं भगवान्मुकुन्दः[2] त्वद्यापि यत्पदरजश्श्रुतिमृग्यमेव[3] ॥ ३४ ॥**

**एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव! रातेति न श्वेतो विश्वफलात्फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन्मुह्यति।**
**सद्वेषादिव पूतनाऽपि सकुला त्वामेव देवाऽऽपिता यद्वामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते॥ ३५॥**

---

1. A,B,G,J,V एषां 2. A,B,G,J °बाननन्त° 3- -3. V °भिर्विमृग्यम् 4. A ये धामार्थ 5. V सुतप्रि° 6- -6. V तनुगो प्राणी°

**श्रीध०** देवादिजन्मनोऽपि यत्र कुत्रचित् त्वद्भक्तिमजन्मैव श्रेष्ठमित्यौत्सुक्ये समभिः श्लोकैः अभिनन्दति - अहो **इति**। व्रजगोरमण्यः व्रजस्थाः गावो [2]रमण्यः गोप्यश्च, ते, त्वया वत्सतरात्मजात्मना वत्सानामात्मजानां च रूपेण, यस्य तव तृप्तये सर्वेऽपि यज्ञाः, अद्यापि [3]नोऽलं न [4]समर्थाः ते त्वया प्रतिक्षणं तृप्यता यासां स्तन्यम् अमृतरूपं पीतमिति॥ ३१॥

तत्र भगवत्सखानां महिमा वक्तुं ज्ञातुं न शक्यत इत्याह **अहो** इति। [5]अहो भाग्यमिति[5] पुनरुक्त्या [6]आदरेण[6] भाग्यस्य सर्वथा अपरिच्छिन्नत्वमुक्तम्। [7]यन्मित्रं येषां मित्रम् ब्रह्म श्रीकृष्णस्वरूपं, परमानन्दं निरतिशय सुखस्वरूपं, तथा च प्राकृतमित्रस्य परस्परोपकारित्वापेक्षया कदाचिद्विषय विरोधात् मैत्रीभङ्गश्च श्रीकृष्णे तु परमानन्दे न तथा किन्तु तेषामानन्द एवेति भावः। प्राकृतमित्रस्य देशान्तरगमनेन विश्लेषदुःखमपि भवति। श्रीकृष्णे मित्रे न तथेत्याह - पूर्णमिति। तथा च गतागतादिरहितमित्यर्थः। अत्र यद्यपि श्रीकृष्णस्यापि गोचारणादिना विश्लेषदुःखं भवति। तथापि तच्चिन्ताप्यानन्दनियमः प्राकृतमित्रे तु न तथेति भावः। यद्वा, श्रीकृष्णास्य पूर्णत्वे सर्वव्यापकत्वे जाते, मधुराद्वारकावासिनामपि श्रीकृष्णे विश्लेषदुःखं नाभूदेव[7]॥ ३२॥

किञ्च **एषामिति**। एषां भाग्यस्य महिमा तावदास्तां [8]तिष्ठतु। कस्तं वक्तुं शक्नोति। शर्वादयः शर्वः अहङ्काराधिष्ठाता आदिर्येषां चन्द्रादीनामेकादशानां ते तथा। वयं च, वयमित्यात्मानमेव बहुमन्यमान आह - एवं मनो बुद्ध्यहङ्कारचक्षुराद्यधिष्ठातारः त्रयोदशदेवा एव तावत्। बत अहो! भूरिभागाः, यस्मात् एतेषां [9]नन्दगोपव्रजौकसां[9] हृषीकाणीन्द्रियाण्येव चषकाणि पानपात्राणि तैः, ते [10]तव चतुर्दशस्य चित्ताधिष्ठातुः अङ्घ्री एव, उदजे वारिजे तयोर्मधु मकरन्दः तदेवामृतं स्वादु, आसवं [11]माध्वीकं पिबामः एतदुक्तं भवति। यदा प्रत्येकमिन्द्रियाभि मानिनो वयं कीर्तिसौन्दर्य सौगन्ध्याद्यै[12]कदेशसेविनोऽपि कृतार्थाः तदा सर्वेन्द्रियैः सर्वसेविनामेतेषां किं वर्ण्यते भाग्यमिति॥ ३३॥

अतो मया प्रार्थितम् "तदस्तु मे नाथ! सभूरिभागः" (भाग०. 20-14-30) इति यत् [13]तदेतदेवेत्याह तदिति। किं तत्? इह मनुष्यलोके यत्किमपि जन्म तत्राप्यटव्यां यत् तत्रापि गोकुले यत् अहो! सत्यलोकं विहायात्र जन्मनि जाते को लाभ इत्यत आह - अपि कतमाङ्घ्रिरजोभिषेकमिति। गोकुलवासिनां मध्येऽपि कतमस्य [14]यस्य कस्याप्यङ्घ्रिरजसा अभिषेको यस्मिन् तत्। ननु कुतो गोकुलवासिन एव [15]अतिधन्याः तत्राह — यदिति। येषां जीवितं निखिलं [16]भगवान् मुकुन्द [17]इति। निखिलं [17]मुकुन्दपरमेव जीवनमित्यर्थः। दुर्लभतामाह — अद्यापीति।

श्रुतिमृग्यं वेदैरपि मृग्यत एव न तु दृश्यत इत्यर्थः॥ ३४॥

अपि च किं वर्ण्यते कृतार्थतामेतेषाम् येषां[18] भक्त्या भवानपि ऋणीवाऽऽस्ते। ननु किं दातुमसमर्थोऽहम्। येन ऋणी स्यामत आह - **एषामिति**। उत अपि भवानपि एषां कुत्रापि। किं विश्वफलात् सर्वफलात्मकात् त्वत्तः अपरं फलं राता दास्यतीति नश्चेत: अयत् सर्वत्र गच्छद्विचारयत् मुह्यति। ननु मामेव दत्त्वाऽनृणः स्यामिति चेन्नहि नहि। सद्वेषादिव सतां भक्तानां यो वेषः तदनुकरणमात्रेण[19] पापिष्ठा पूतनापि त्वामेवाऽऽपिता प्रापिता तर्हि [20] तत्सम्बन्धिनामपि [21] दास्यामीति चेत् तत्राह - सकुलेति बकाघासुरसहिता। एषामपि तावदेव चेदपर्याप्तमित्याह यदिति। येषां धामादयः त्वत्कृते त्वदर्थमेवेत्यर्थः॥ ३५॥

---

1. V °तोऽपि 2. V omits रमण्यः 3. B,J,V omit नाऽलं 4. A,B,J शक्ताः 5- -5. A,B,J omit 6- -6. A,B,J omit 7- -7. A,B,J omit 8. A,B,J omit तिष्ठतु 9- -9. B,J,V omit 10. B,J, V omit तव 11. A,B,J मादकं 12. V °चेकैक° 13. V तदेवे° 14. V omits यस्य 15. B,J, omit अति 16. V omits भगवान् 17- -17. A,B,J omit 18. V omits येषां 19. V कारमा° 20. A adds एतत् महद्रूपं फलं 21. A adds नन्दादीनामपीत्यर्थः। मां

**वीर०** चतुर्मुखजन्मतोऽपि यत्र क्वचित् त्वज्जनसङ्गि जन्मैव श्रेय इत्यौत्सुक्येन[2] नन्दगोपगोपिकादीन् अभिनन्दति **अहो** इत्यादिभिः[3] समभिः। व्रजस्य गावो रमण्यो गोप्यश्च अतिधन्याः, कुत इत्यत्र ता विशिनष्टि - यासां व्रजगोरमणीनां स्तन्यामृतं वत्सरूपेणाऽऽत्मजरूपेण च त्वयाऽतीव[4] पीतम् विभोः तव तृप्तये अध्वरास्सर्वे यज्ञाश्च नाऽलं न पर्याप्तास्तेन त्वया इत्यन्वयः॥ ३१॥

नन्दादीनां भाग्यमहो कुतः? यद्यतः[5] निरतिशयानन्दं सर्वव्यापकं सनातनं ब्रह्म मित्रमभूत्॥ ३२॥

हे अच्युत! तेषां नन्दादीनां भाग्यस्य महिमा तावदास्तां कस्तमियत्तया वर्णयितुं[6] शक्नुयादित्यर्थः। शर्वोऽहङ्काराधिष्ठाता आदिर्येषां ते मनोबुद्धिचित्ताधिष्ठातॄणां चन्द्रादीनां ते वयमेकादश च, स्वस्य चित्ताधिष्ठातृत्वेऽपि मेढ्राधिष्ठातृत्वाच्च एकादशेत्युक्तम्। एवं चतुर्दश वयमिति भावः, वयं मेढ्रादिकर्म ज्ञानेन्दियोभयाधिष्ठातारश्च भूरिभागाः महाभाग्यवन्तः वयमित्यात्मानमेव बहुमन्यमानस्योक्तिः, एवं मनोबुद्ध्यहङ्कारोभयाधिष्ठातारः[7] त्रयोदश देवा विवक्षिताः। कुतः? यस्मादे[8]षां हृषीकाणीन्द्रियाण्येव चषकाणि पात्राणि[9] तैः, तवाङ्घ्रिरेव उदजं कमलं तस्य मधु मकरन्दः तदेवामृतं स्वादु आसवं मादकं पिबामः, एतदुक्तं भवति यथा प्रत्येकेन्द्रियाभिमानिनो वयं कीर्तिसौगन्ध्याद्येकैकदेशसेविनोऽपि कृतार्थाः तथा सर्वेन्द्रियैस्सर्वसेविनामेतेषां किमु वर्ण्यते भाग्यमिति॥ ३३॥

यन्मया प्रार्थनीयं तदेतदेवेत्याह[10] - **तदिति**। यन्मया प्रार्थनीयं भूरि भाग्यं, तदेतदेवेत्यर्थः[11], किं तत्? इह मनुष्यलोके यत्किमपि मनुष्यजन्म तत्राप्यटव्यां यत् तत्रापि गोकुले यत् अहो सत्यलोकं विहाय अत्र जन्मनि

जाते को लाभः? अत आह - गोकुलवासिनां मध्येऽपि कतमस्य यस्य कस्यापि अङ्घ्रिरजसा अभिषेको यस्मिन् तत्, कतमं विशिनष्टि - यस्य गोकुलवासिनः कतमस्यापि जीवितं भगवान्मुकुन्द एव मुकुन्दपरमेव जीवनमित्यर्थः, तस्य दुर्लभत्वमाह- अद्यापीति। यस्य तव पदरजः केवलं श्रुतिभिः वेदान्तैः मृग्यत एव, न तु दृश्यत[12] इत्यर्थः ॥ ३४॥

इदमपि न प्रा[13]र्थये, किन्तु कमपि त्वत्सम्बन्धविशेषमेवेत्यभिप्रयन् येन केनापि रागद्वेषाद्यन्यतमेन त्वत्सम्बन्धमात्रेणैव निरतिशयानन्दपुरुषार्थभूतत्वत्प्राप्तौ सत्यां ततोऽन्यत्किं फलं दातुं व्रजवासिष्ववतिष्ठसे इति मन्मनो नितरां मुह्यतीत्याह - **एषामिति**। हे देव! सकुला बकासुरादि सहिता पापिष्ठाऽपि पूतना सद्वेषादिव सतां साधूनां वेषादिव साधुवेषानुकारमात्रेणैवेत्यर्थः। वस्तुतः जिघांसयाऽपीति भावः, यं त्वामेव प्रापिता सो[14]ऽयं भवानेषां घोषनिवासिनां विश्वस्य पुरुषार्थभूतात् त्वत्तोऽन्यत्परमुत्कृष्टं फलं राता दास्यतीति नोऽस्माकं चेतः कुत्रापि क्वा[15]पि स[16]र्वत्रापि यत् गच्छत् विचारयत्[16] मुह्यति। विश्वफलभूतस्त्वं प्रत्यक्षतोऽवतिष्ठस एव तत उत्कृष्टस्य फलस्याभावात् किं दास्यसीति मच्चेतो मुह्यतीत्यर्थः घोषवासिनो विशिनष्टि — येषां घोषनिवासिनां य[17]ं धामादयः त[18]ं त्वत्कृते त्वदर्था एवेत्यर्थः। धाम गृहम्, अर्थो धनं, तनुः देहः, आशयो मनः॥३५॥

---

1. W° क्ये 2. K omits नन्द 3- -3. A,B इति 4. W omits अतीव 5. W omits यद्यतः 6. W वर्णितुं 7. A,B °येन्द्रियाधि° 8. A,B °देतेषां 9. W omits पात्राणि 10. A,B तदेवे° 11. A,B तदेवे° 12. A,B add एव 13. A,B,K प्रार्थनीयं 14. W योऽयं 15. A,B omit क्वापि 16- -16. A K,W सर्वत्र 17. K,W omit ये 18. K,W omit ते

तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगलो[1] यावत्कृष्ण न ते जनाः॥ ३६॥

प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भू[2]तले।
प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्र[3]भो॥ ३७॥

जानन्त एव जानन्तु किं बहूक्त्या न मे प्रभोः।
मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गो[4]चरः॥ ३८॥

अनुजानीहि मां कृष्ण! सर्वं त्वं वेत्सि सर्व[5]दृक्
त्वमेव जगतां नाथो जगच्चै[6]तत्तवार्पितम्॥ ३९॥

श्रीकृष्णः वृष्णिकुल पुष्करजोषदायिन् क्ष्मानिर्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन्।
उद्धर्मशार्वरहरः! क्षितिराक्षस[7]ध्रु गाकल्पमार्क[8]सुमहन्! भगवन्नमस्ते॥ ४०॥

1. A,B,G,J °डो 2. V मायया 3. V भवान् 4. V, W °रम् 5. A °वित् 6. A,B,G,J, °दे° 7. K °सोङ्ग° 8. A,B,G,J,V °मर्हन्

**श्रीध०** ननु वीतरागादिदोषाणां सन्न्यासिनामपि न मत्तः परं किञ्चिदस्ति, कथमेतेषामपर्याप्तमित्यत आह — **तावदिति।** हे कृष्ण! रागादयः तावदेव स्तेनाः चोरा भवन्ति । तदा तावद्गृहमपि कारागृहं बन्धनागारम्। मोहोऽपि तावदेव अङ्घ्रियुगलनिगलः पादशृङ्खला, यावत्ते त्वदीया जना न भवन्ति। त्वदीयानां तु रागादयोऽपि त्वन्निष्ठा मोचका एवेति न यतिभ्यो विशेषः। भजनं त्वधिकमिति भावः ॥ ३६ ॥

नन्वनृणत एवाहमेषां पुत्रादि रूपेण वर्ते इति चेत्तत्राह **प्रपञ्चमिति।** प्रपन्ना या जनता जनसमूहः तस्या आनन्दानां सन्दोहं समूहं प्रथयितुमिति। न हि कपटपुत्रत्वादिना तादृग्भक्तेः आनृण्यं सम्पद्यत इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

तदेवमादित आरभ्य अचिन्त्यानन्तगुणत्वेन स्वयं दुर्ज्ञेयत्वमुक्तम्। केचित्तु वयं जानीम इति स्थिताः तान्महसन्निवाह **जानन्त** इति। न तु मे मनआदीनां तव वैभवं विषय इति ॥ ३८ ॥

जगदीशत्वाद्यभिमानं परित्यज्याह - **अनुजानीहीति।** स्वमहिमानं अस्मदादीनां च ज्ञानबलादि सर्वं त्वमेव वेत्सि। यतः सर्वदृक् जगतां नाथस्त्वमेवेत्येतावज्ज्ञातम्, अतो ममतास्पदं जगत् एतच्छरीरं च तवार्पितम्॥ ३९॥

तदेवं किङ्करं प्रस्थापयेत्यादरेण नमस्करोति **श्रीकृष्णेति।** वृष्णिकुलपद्मस्य प्रीतिदातृत्वेन हे सूर्योपम! क्ष्मा अवनिश्च निर्जरा देवाश्च द्विजाश्च पशवश्च त एव उदयस्तेषां वृद्धिकारित्वेन, हे चन्द्रोपम! उद्धर्मः पाषण्डधर्मः तदेव शार्वरं तमः तद्धरतीति तथा। अनेन हे द्वयोपम! हे क्षितिराक्षसध्रुक् क्षितौ राक्षसाः कंसादयः उद्यन्नेव तेभ्यो द्रुह्यतीति पुनः सूर्योपमा। सूर्याद्युपमापि न्यूनेति मत्वाऽऽह आर्कं अर्कमभिव्याप्य सर्वेषामर्हन् पूज्य! भगवन्! आकल्पं कल्पपर्यन्तं ते तुभ्यं नम इति॥ ४०॥

1. V विगत 2. A,B,J °मेषा° 3. A,B,J तथा 4. A,B,J omit युगल 5- -5. A,B,J नन्वत 6. B,J omit वयं 7. A,B,J °नुप 7. V omits अवनिः

**वीर०** ननु मत्प्राप्तिप्रतिबन्धकरागद्वेषादिमतामपि मत्सम्बन्धविशेषमात्रेणैव कथं मत्प्राप्तिः तत्राह - **तावदिति** । हे कृष्ण! तावदेव रागादयः स्तेनाः चोराः भवन्ति। त्वत्प्राप्तिप्रतिबन्धका भवन्ति तथा तावद्गृहमपि कारागृहं बन्धनागारम्, मोहोऽपि तावदेव पादशृङ्खलम्। यावत्ते तव जनाः येन केनापि प्रकारेण त्वत्सम्बन्धिनो न भवन्ति, त्वदीयानां तु रागादयोऽपि त्वन्निष्ठामोचका एवेति भावः॥ ३६॥

एवं मोहितचित्तोऽपि पुनरेवमध्यवस्यामीत्यभिप्रयन्नाह - **प्रपञ्चमिति।** निष्प्रपञ्चोऽपि "निष्कलं निष्क्रियम्" (श्वेता. उ. 6-19) इति श्रुत्युक्तरीत्या प्राकृतशरीरतद्व्यापाररूपप्रपञ्चरहितोऽपि मायया सङ्कल्पेन प्रपञ्चं विडम्बयसि अनुकरोषि, किमर्थम्? हे प्रभो! प्रपन्नजनसमूहस्याऽऽनन्दसन्ततिं प्रथितुम् आविष्कर्तुं वर्धयितुमिति यावत् मम त्वेवं निश्चय इति भावः॥ ३७॥

ननु मम प्रपञ्चविडम्बनहेतुं तत्त्वतः त्वं न जानीष इत्यत्राऽऽह **जानन्त** इति। ये जनाः त्वत्स्वरूपस्वभावादिकं जानन्ति त एव विडम्बनहेतुं जानन्तु, मम बहुभाषितेन किम्? न किञ्चिदपि साध्यमस्तीत्यर्थः, एवमात्मनोऽज्ञत्वमाविष्कृतम्। पुनस्सर्वजनीनमेतत्तु जानामीत्यभिप्रयन्नाह - मनस इति। तव वैभवं [3]मम मनआदिकरणत्रयस्य गोचरः [4]नेत्यनु [5]वर्तते, न गोचरो[6] न विषय[7] इत्यर्थः, वपुष इति दृष्टान्तार्थम्। यथा वपुषो न गोचर[8]ः, तथा वाङ्मनसयोरपीति। अथवा तव वपुषोऽपि वैभवं वाङ्मनसाऽगोचरमित्येतावत्तु जानामीत्यर्थः॥ ३८॥

अथ जिगमिषुः आवयोः तारतम्यं सर्वज्ञस्त्वमेव वेत्सीति वदन् अनुज्ञां पृच्छति **अनुजानीहीति।** हे कृष्ण! सर्वदृक् हेतुगर्भमिदम्। तत्त्वात् सर्वं वेत्सि जगतां नाथः त्वम्। न त्वहमिति भावः। एतत्परिदृश्यमानं जगत् तव त्वया अर्पितम् उत्पाद्य स्वस्मिन्नेव निहितमित्यर्थः। न तु [9]मयेति भावः, अतो मामनुजानीहि आज्ञापयेत्यर्थः॥ ३९॥

एवमापृच्छ्याक्षिसङ्कोचनेनैव तदनुज्ञातः पुनः हर्षातिशयात् प्रकृतावतारासाधारणधर्मैस्सम्बोधयन् परिक्रम्य प्रणम्य च जगामेत्याह - **श्रीकृष्णेति** द्वाभ्याम्। वृष्णिकुलपद्मस्य प्रीतिदातृत्वेन सूर्योपमा, क्ष्मानिर्जराः भूदेवाः ये द्विजाः तेषां, यद्वा क्ष्मायाः निर्जराणां देवानां द्विजानां पशूनां च य उदधिवद्विस्तारः तस्य वृद्धिं करोतीति तथाभूत! तत्समुदायवृद्धिकारित्वेन चन्द्रोपमा, उद्धर्मः पाषाण्डधर्मः स एव शार्वरं तमः, तद्धरतीति तथा, अनेन हि द्वयोपमा, हे क्षितिराक्षस[10]ध्रुक् क्षितौ ये राक्षसाः कंसादयः, उद्यन्नेव तेभ्यो द्रुह्यतीति पुनस्सूर्योपमा। सूर्याच्चुपमाऽपि न्यूनेति मत्वाऽऽह। आर्कम् अर्कमभिव्याप्य सर्वेषां सुमहन्! पूज्य! हे भगवन्! आकल्पं कल्पपर्यन्तं ते तुभ्यं नमः॥ ४०॥

---

1. A,B चौराः 2. A,B add इत्यर्थः 3. A,B omit मम 4. W°रम् 5. K,W नेति 6. W °रम् 7. W° यम् 8. W°रम् 9. A,B,W ममेति 10. K °सोद्धुक्!

**श्रीशुक उवाच**

**इत्यभिष्टूय भूमानं त्रिः परिक्रम्य पादयोः।**
**नत्वाऽभीष्टं जगद्धाता स्वधाम प्रत्यपद्यत॥ ४१॥**
**ततोऽनुज्ञाप्य भगवान् स्वभुवं प्रागवस्थितान्[1]।**
**वत्सान्पुलिनमानिन्ये यथापूर्वसखं स्वकम्[2]॥ ४२॥**

**एकस्मिन्नपि यातेऽब्दे प्राणेशाश्चान्तराऽऽत्मनः ।**
**कृष्णमायाहता राजन्! क्षणार्धं मेनिरेऽर्भकाः ॥ ४३ ॥**

**किं किं न विस्मरन्तीह मायामोहितचेतसः ।**
**यन्मोहितं जगत्सर्वमभीक्ष्णं विस्मृतात्मकम् ॥ ४४ ॥**

**ऊचुस्स्वसुहृदं कृष्णं स्वागतं तेऽतिरंहसा ।**
**नैकोऽप्यभोजि कबल एहीतस्साधु भुज्यताम् ॥ ४५ ॥**

---

1. V °गि° 2. K,W °तम् 3. A,B,G,J,V °चुश्च सु° 4. V एहि तत्साधु

---

**श्रीध०** "स सखिवत्सक मोक्षणकौतुकद्भुतविलम्बितपुत्रमुदेऽद्भुतम्। निखिलरूपमतो दधदच्युतोऽवतु स वः कलयन् व्रजमङ्गलम्।" **इतीति** । पादयोर्नत्वा अभीष्टं सर्वतः पूजितं अभिप्रेतं वा ॥ ४१ ॥

**तत** इति। अनुज्ञाप्य अनुज्ञां प्रदाय पृष्ट्वेत्यर्थः। स्वभुवं ब्रह्माणं यथापूर्वं सखायो यस्मिन् तत्। स्वकं पुलिनम् ॥ ४२ ॥

नन्वेतावन्तं कालं कथं तत्रैव उपविष्टाः। कथं च क्षुत्पिपासादि विस्मरणम्? अत आह - **एकस्मिन्निति** श्लोकद्वयेन। अब्देऽपि याते प्राणेशं कृष्णम् अन्तरा च विनापि। प्रियविरहे क्षणोऽपि यद्यपि वर्षाधिको भवति, तथापि मायाहताः क्षणार्धं मेनिरे ॥ ४३ ॥

**किमिति**। यत् यया मायया मोहितं जगत् अभीक्ष्णं पुनः पुनः विस्मृतात्मकं विस्मृतः आत्मा येन तत्तथा ॥ ४४ ॥

**ऊचुरिति**। अत एवमूचुश्च। ते त्वया अतिवेगेन स्वागतं सम्यगागतं एकोऽपि त्रासस्त्वां विना अस्माभिः नाभोजि न भुक्तः। इत एहि साधु अविक्षेपेण भुज्यतामिति ॥ ४५ ॥

---

★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः। 1. A,B,J omit यद्यपि 2. V मोहिताः 3- -3. V omits 4. A omits ते

---

**वीर०** इति इत्थं सम्बोधनैः पूर्वोक्तैश्च धर्मैरभिष्टूय जगद्धाता ब्रह्मा भूमानमपि लीलया सङ्कुचितविग्रहं भगवन्तं परिक्रम्य पादयोर्नत्वा प्रणम्य स्वधाम सत्यलोकं प्रत्यपद्यत जगाम ॥ ४१ ॥

**तत** इति। ततः स्वस्माद्भुवं चतुर्मुखमाज्ञाप्य अक्षिसङ्कोचेनेति शेषः। यथापूर्वं सखायो यस्मिन् तत्स्वकं पूर्वाधिष्ठितं पुलिनं प्रत्येव वत्सानानिन्ये ॥ ४२ ॥

नन्वेतावन्तं कालम् एते कथं तत्रैवोपविष्टाः ? कथं वा तेषां क्षुत्पिपासादिविस्मरणम् ? तत्राऽऽह - **एकस्मिन्निति द्वाभ्याम्।** अब्देऽपि याते आत्मनः प्राणेशं कृष्णमन्तरा विनाऽपि[1] प्रियविरहक्षणोऽपि वर्षाधिको भवति, तथाऽपि हे राजन्! कृष्णस्य मायया हताः मोहिताः क्षणार्धं मेनिरे॥ ४३॥

भगवन्मायया मोहितानि चेतांसि येषां ते, अत एव किं किं न विस्मरन्ति सर्वं विस्मरन्त्येव, यस्य मायया मोहितं जगत् अभीक्ष्णं पुनः पुनः विस्मृत आत्मैव येन तत् तथा। किमुत क्षुत्पिपासादिकमिति भावः॥ ४४॥

अत एव एवमूचुरित्याह **ऊचुश्चेति** । ते त्वया अतिवेगेन स्वागतं सम्यगागतम्। एकोऽपि ग्रासः त्वां विना अस्माभिः नाभोजि न भुक्तः। अत एहि साधु अविक्षेपेण भुज्यतामिति॥ ४५॥

---

1. K,W omit तत: 2. A,B विरहेणापि

ततो हसन् हृषीकेशोऽभ्यवहृत्य सहार्भकैः।
दर्शयंश्चर्माऽऽजगरं न्यवर्तत वनाद्व्रजम्॥ ४६॥

बर्हप्रसूनन्नवधातु[1] विचित्रिताङ्गः प्रोद्ध्मातवेणुदलशृङ्गरवोत्सवाढ्यः[2]।
वत्सान् गृणन्ननुगगीतपवित्रकीर्ति र्गोपीदृगुत्सवदृशिः प्रविवेश गोष्ठम्॥ ४७॥

अद्यानेन महाव्यालो[3] यशोदा नन्दसूनुना।
हतोऽविता[4] वयं चास्मादिति बाला व्रजे जगुः॥ ४८॥

राजोवाच

ब्रह्मन्! परोद्भवे कृष्णे इयान् प्रेमा कथं भवेत्।
योऽभूतपूर्वस्तोकेषु स्वोद्भवेष्वपि कथ्यताम्॥ ४९॥

श्रीशुक उवाच

सर्वेषामेव[5] जन्तूनां नृप! स्वात्मैव[6] वल्लभः।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि॥ ५०॥

---

1. A,B °वन° 2. A,B,G,J,V प्रोद्दाम 3. V महान् व्या° 4. K,W नीता 5. A,B,G,J °मपि भूतानां 6. B °क

**श्रीध०** तत इति। अभ्यवहृत्य भुक्त्वा॥ ४६॥

**बर्हेति**। प्रोद्दामो वेणवादिः तस्य रवैः उत्सवः तेनाऽऽढ्य सम्पन्नः गृणन् उपलालनैः आह्वयन् गोपीदृगुत्सवदृशिः गोपीनां दृशामुत्सवरूपा दृशिः दर्शनं यस्य सः। अत्र घोषमिति पाठे व्रजमित्यर्थः ॥ ४७॥

**अद्येति**। यशोदानन्दसूनुनेति बहूनां मुक्तिः सहैव दर्शिता। केचिदाहुः यशोदासूनुना अपरे नन्दसूनुनेति। यद्वा यशोदां नन्दयतीति यशोदानन्दः स चासौ सूनुश्चेति तथा तेन। अस्मात् महाव्यालाद्वयं चाविता रक्षिताः ॥ ४८ ॥

"व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्गुचाऽऽब्दं मन्वहम्। शनैर्निस्सीम ववृधे यथा कृष्णे त्वपूर्ववत्॥" (भाग० 10-13-26) इत्यादिना स्वतोकेभ्योऽपि परपुत्रे कृष्णे प्रेमाधिक्यमुक्तं, तत्र पृच्छति ब्रह्मन्निति ॥ ४९ ॥

श्रीकृष्णस्य साक्षादात्मत्वात् तस्मिन्नात्मीयेभ्यः प्रेमाधिक्यं युज्यत इति वक्तुं प्रथमं तावदात्मनः स्वतः प्रेमास्पदत्वं, अन्येषां तु तदुपाधिकमिति दर्शयति - **सर्वेषामिति** पञ्चभिः ॥ ५० ॥

---

1- -1. B,J omit 2- 2-. A,B,J omit 3. A adds इति 4- -4. वैक्लव्य° 5- -5. A,B,J प्रेष्ठत्वम्

**वीर०** ततोऽर्भकसहितोऽभ्यवहृत्य भुक्त्वा वनात् व्रजं प्रति न्यवर्तत आजगाम॥ ४६॥

कथम्भूतो न्यवर्तत? तत्राऽऽह - **बर्हेति**। बर्हादिभिः विचित्रितान्यङ्गानि यस्य, धातवो गैरिकादयः, प्रोध्माताः दाध्मायमानाः ये वेणवः दलानि च तरुपर्णानि वेष्टनीकृत्य मुखवायुपूरितानि शृङ्गाणि च तेषां रवेण य उत्सवो हर्षः तेनाऽऽढ्यः वत्सान् गृणन् हुङ्कारादिभिः प्रेरयन्नित्यर्थः। अनुगैः वत्सपैः गीता पवित्रा कीर्तिर्यस्य गोपीदृशामुत्सवरूपा दृशिर्दर्शनं यस्य तथाभूतो गोष्ठं प्रविवेश॥ ४७॥

ततो व्रजे आगता बाला वत्सपाः जगुः जगदुः, किमिति? तदाह - अद्य अस्मिन्नहनि अनेन अजगरो हतः, अस्मात् महाव्यालमुखात् वयमनेन नीताः व्रजं प्रापिताश्चेति॥ ४८॥

"व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्गुचाऽऽब्दमन्वहम्" (भाग 10-13-26) इत्युक्तं पुरस्तात्। तत्र स्नेहाधिक्यकारणं पृच्छति राजा **ब्रह्मन्निति**। स्वोद्भवेष्वप्यपत्येषु अभूतपूर्वः प्रेमा स परोद्भवे कृष्णे कथमभूदिति प्रश्नः, कथ्यतां तत्र हेतुः कथ्यताम्॥ ४९॥

"न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति" (बृह उ. 4-5-6) इत्यदिश्रुत्युक्तरीत्या पुत्रादिषु प्रेमा यत्सङ्कल्पायत्तं तस्मिन्नेव साक्षात्पुत्रतामापन्ने सति युक्तमेव प्रेमाधिक्यमित्युत्तरमाह - **सर्वेषामिति**। स्वात्मा जीवान्तरात्मा परमपुरुष एव निरतिशयप्रियः, इतरे तु देहतदनुबन्ध्यादयो जीवपर्यन्तास्तस्य परमात्मनो वल्लभतयैव निरतिशयप्रियत्वेनैव हेतुना प्रियाः ॥ ५०॥

1. A,B omit बाला : 2. W omits तदाह 3. K प्रेम

तद्राजेन्द्र! यथा स्नेहस्स्वस्वकात्मनि देहिनाम्।
न तथा ममतालम्बी पुत्रवित्तगृहादिषु॥५१॥

देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम!।
यथा देहः प्रियतमस्तथा न ह्यनु ये च तम्॥५२॥

देहोऽपि ममताभाक् चेत्तर्हासौ नाऽऽत्मवत्प्रियः।
यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिन् जीविताशा बलीयसी॥५३॥

तस्मात्प्रियतमस्स्वात्मा सर्वेषामपि जन्मिनाम्।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम्॥५४॥

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाऽऽभाति मायया॥५५॥

1. A,B,G,J,V देहि° 2. W °मेतत् 3. V °च्चै°

**श्रीध०** कुतः ? तथादर्शनादित्याह - **तदिति**। तस्मादेव कारणात् स्वस्वकात्मन्यहङ्कारास्पदे देहे॥५१॥

आत्माऽध्यासतारतम्येन प्रेमतारतम्यं दृश्यमानं तान्निबन्धनमेवेति दर्शयितुं मूढामूढभेदेन विशेषमाह - **देहेति** द्वाभ्याम्। तं देहमनु भवन्ति ये पुत्रादयः ते तु न तथा प्रियतमा इत्यर्थः॥५२॥

**देह** इति। यद्यस्मात् जीर्यत्यपि आसन्नमरणेऽपि जीविताशा भवति। अयं भावः - न जीविष्यतीति निश्चितेऽपि देहे यत्प्रेमास्पदत्वं तदात्मगतमेव सङ्गच्छत इति। अथवा यत् अस्मिन् देहे जीर्यत्यपि जीविताशा अविवेकदशायामासीत् सापि विवेकिनो यदा ममताभाग्भवति तदा आत्मवत्प्रियो न भवति, अतः तत्र नातीवास्ते इति॥५३॥

**तस्मादिति**। तदर्थमेव सकलं प्रियमित्यर्थः॥५४॥

प्रस्तुतमाह - **कृष्ण** मिति॥५५॥

1. V adds अपि 2- -2. V omits

**वीर०** तस्मात् हे राजेन्द्र! देहिनां निरतिशयप्रियस्वरूपपरमात्मसङ्कल्पायत्तप्रीतियुक्तानां जीवानां स्वस्वदेहे या ममता तदवलम्बी प्रेमा यथा स्वस्वदेहे न तथा पुत्रादिषु। अयं भावः - साक्षान्निरतिशयप्रियस्वरूपपरमात्मसम्बन्धात् आत्मनि या प्रीतिः न सा देहे जीवेन व्यवहितत्वात् या च देहे प्रीतिः न सा पुत्रे देहात्मभ्यां व्यवधानात्। या च पुत्रे न सा वित्ते, या च वित्ते न सा ॥५१॥

इदं च देहात्माभिमानि तदनभिमानिसाधारणमनुभवसिद्ध मित्याह - **देहात्मवादिनामिति।** हे राजन्यसत्तम! अपिशब्दस्य देहात्माभिमानरहितानामपीति भावः। तं देहमनु देहानुबन्धिनो ये इत्यर्थः, ते न तथा न देहवत्प्रियाः, किन्तु तारतम्येनेति भावः ॥५२॥

विवेकिषु एतावान्विशेष इत्याह - **देहोऽपीति।** ममताभाक् येषां देहोऽपि ममताविषयः न त्वहन्ताविषयः इति भावः। तर्हि तेषामसौ ममताभाग्देहः नाऽऽत्मवत्प्रियः, किन्तु ततः किञ्चिदूनप्रिय इत्यर्थः। ननु विवेकिनो देहे सुतरां प्रीत्यभावः किं न स्यात्? तत्राऽऽह - यत् यस्मात् देहे जीर्यत्यपि विपत्तुमुद्युक्तवत्यपि जीविताशा बलीयसी न जीर्णतां याति, किन्तु बलीयस्येवावतिष्ठते, अतः किञ्चिदूनप्रिय इति भावः ॥५३॥

अस्तु प्रकृते किमायतम्? तत्राऽऽह - **तस्मादिति।** तस्मात् लोकपरिपाटे रेवंविधत्वात् जन्मिनां जननवतां देहभृतामित्यर्थः। प्रियतमः कृष्ण इति शेषः। तत्र हेतुः - स्वात्मा स्वेषां जीवानामन्तरात्मा अत एचराचरात्मकं जगत्सर्वं तदर्थमेव प्रियं तदिष्टसम्पत्तय एव प्रियमित्यर्थः। "आत्मनस्तु कामाय" (बृह. उ. 4-5-6) इति श्रुत्यनु गुणोऽर्य[2-2] निर्देशः। अर्थशब्दः प्रयोजनवाची, प्रयोजनं चेष्टसम्पत्तिः, तदिष्ट सम्पत्तय एव प्रियमिति यावत्। "न वा अरे" (बृह. उ. 4-5-6) इति श्रुतेस्त्वयमर्थः - पतिपुत्रादीनां कामाय कामसिद्ध्यै तदभीष्टसिद्ध्यै भार्यापुत्रादीन्प्रति पतिपुत्रादीनामभीष्टसिद्ध्यर्थं न पतिपुत्रादयः प्रिया भवन्ति, अपि त्वात्मनः तत्तत्पुत्रादिनिमित्तभोगप्रदातुः परमपुरुषस्यैव सङ्कल्पात्तेषां पतिपुत्रादिनां भार्यापुत्रादीन्प्रति प्रियत्वं भगवत्सङ्कल्पायत्तम्। अस्या भार्याया अयं पतिः[3] अस्य पितुः अयं पुत्रः प्रियः स्यादित्येवं भगवता सङ्कल्पिते सति तत्तत्प्रियं भवतीति। एवं च स्वस्य निरतिशयप्रियरूपत्वाभावे सति इतरेषां प्रियावहत्वासम्भवात् तस्य च तत्त्वं कैमुत्यनयसिद्धम् ★ ॥५४॥

कृष्णे परमात्मत्वसंशयं निराकरोति[4] **कृष्णमिति।** एनं कृष्णम् अखिलात्मनाम् आत्मानमवेहि जानीहि। यद्यमखिलात्म-[5] नामात्मा तर्हि किमर्थं मानुषतामापन्नः, तत्राऽऽह मायया आत्मीयसङ्कल्पेन, अत्र लोके गोपादिषु देहीव कर्मायत्तदेहभृदिवाऽऽभाति अविवेकिनामिति भावः ॥५५॥

---

1. A,B omit प्रिय 2- -2. A,B सारेणाऽयं 3. A,B add प्रियः * A,B, K add प्रेमास्पदत्वं प्रियतमत्वं पवित्रीकरणत्वं नित्यहीनमङ्गलसुखदायित्वं तत्वं च सर्वमङ्गलं च श्रीकृष्ण कमल एव नान्यत्रात्रत्यदेहकलत्र पुत्रमित्र धनादौ चेति दिक्। 4- -4. W निराह 5. A,B °यद्यखि°

वस्तुतोऽजानतामत्र कृत्स्नं स्थास्नु चरिष्णु च।
भगवद्रूपम[1] परं नान्यद[2] स्तीति किञ्चन॥ ५६॥

सर्वेषाम[3]व धातूनां भावार्थो भवतिस्स्मृतः[4]।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किम[5]तद्वस्तु रूप्यताम्॥ ५७॥

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः
भवाम्बुधि र्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद्विपदां न तेषाम्॥ ५८॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यत्पृष्टोऽहमिह त्वया[6]।
यत्कौमारे हरिकृतं पौगण्डे कीर्तितं भुवि[7]॥ ५९॥

एतत्सुहृद्भिश्चरितं मुरारेरघार्दनं शाद्वलभोजनं[8] च।
व्यक्तेतरद्रूपम[9]जस्य संस्तुतिं शृण्वन्गृणन्नेति नरोऽखिलार्थान्॥ ६०॥

एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे।
निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः॥ ६१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे बह्मस्तुतिर्नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

---

1. B,G,J,V °मखिलं 2. A,B,G,J °द्वस्त्विह; V °द्वस्त्वस्ति; W °दस्तीह 3. A °मेव भावानां; B, G,J °मपि वस्तूनां; V ° मपि भूतानां 4. A,B,G,J °स्थितः 5. B,K,W °मे° 6. B तत् 7- -7. A जगुः पौगण्डकेऽर्भका; B,G,J पौगण्डे परिकीर्तितम् 8. A,B,G,J जेमनं 9- -9. A,B,G,J,V ° मजोर्वेभिष्टवं

**श्रीध०** न केवलमात्मनामात्मा, अपि[1] तु जडानामपीत्याह - **वस्तुत** इति। सर्व जगत्कारणमिति कृष्णं जानतां पुंसां स्थावरं जङ्गमं च सर्वं भगवद्रूपं[2] भगवानेव स्वरूपं यस्य तत् नान्यत् अस्तीति[3] भावः[-3] ॥ ५६॥

कुत इति तदाह[4-] - **सर्वेषामिति**। भावार्थः[5] परमार्थः[6]। भवतीति भवत् परिणामं प्राप्नुवत् कारणं तस्मिन्[7]। तस्यापि भवतः कारणस्यापि भगवान्कृष्णः[8] भवत् कारणम्। अतः किम[9]तत् श्रीकृष्णव्यतिरिक्तं वस्तु रूप्यताम्[10]॥ ५७॥

तस्माच्छ्रीकृष्णस्यैव परमार्थत्वात् तदेकशरणानामयत्नसिद्धो मोक्ष इति प्रकरणार्थम् उपसंहरति **समाश्रिता** इति। पुण्यं यशो यस्य स पुण्ययशाः, स चासौ मुरारिश्च तस्य पदपल्लव एव प्लवः तं ये सम्यगाश्रिताः।[11] महात्पदं महतां पदमाश्रयम्। यद्वा महच्च तत्पदं चेति तथा। तेषां भवाम्बुधिः वत्सपदमात्रं भवति। किञ्च परं पदं श्रीवैकुण्ठाख्यं पदं स्थानं भवति। विपदां यत्पदं विषयः तत्पुनः कदाचिदपि तेषां न भवति। न ततः पुनरावर्तन्त इत्यर्थः ॥ ५८, ५९ ॥

**एतदिति।** सुहृद्भिश्चरितं "मुष्णन्तोऽन्योन्यशिक्यादीन्" (भाग०. 10-12-5) इत्यादिनोक्तम्। अघार्दनं च शाद्वले जेमनं[12] भोजनं च। व्यक्तेतरत् व्यक्तात् जडात्[13] प्रपञ्चादितरत् शुद्ध सत्त्वात्मकं वत्सतपालरूपम्।[14] यद्वा व्यक्तेतरचिद्विलासः तं[15] देव रूप्यत इति रूपम्। अजस्य उरुः महानभिष्टवः स्तवः[16] तं ब्रह्मकृतां स्तुतिम्। एतच्छृण्वन् गृणन् गायन्[17] नरः सर्वपुरुषार्थान् प्राप्नोति[18] ॥ ६०, ६१ ॥

★इति श्रीपरमानन्द नृसिंहपदषट्पदः। व्याकरोच्छ्रीधरस्वमी यथामतिविधिस्तुतिम् ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

---

1. V किं 2- -2. B omits 3- -3. A,B,J omit 4- -4. V अत आह 5. A adds सद्रूपार्थः 6. A adds इत्यर्थः 7. A adds भवति परिणामिनि स्थितः। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं वृत्तिकेत्येव सत्यम्" इत्यादि श्रुतेः। 8. V omits भवत्-9. B °मे° 10. V निरू° 11. A adds कथम्भूतम्? 12. V omits जेमनं 13. A,B,J जडप्र° 14. B,J वत्सपा° 15. B,J तत् 16. V omits स्तवः 17. V omits गायन् 18. V आ° ★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः।

**वीर०** तदेव विशदयति **वस्तुत** इति। स्थावरजङ्गमात्मकं कृत्स्नं जगत् भगवतश्शरीरम्। अन्यत्तत्पृथक्सिद्धं वस्तु किञ्चिदपि न विद्यत इत्येवं वस्तुतोऽत्र[1] अजानतां देहीवाऽऽभाति इत्यन्वयः। एवं जानतां तु देवमनुष्यादिविजातीयत्वेनैव सर्वशरीरकत्वेनैव च भातीत्यर्थः ॥ ५६ ॥

नान्यद्वस्त्वस्ति इत्येतदेवोपपादयति **सर्वेषामिति।** धातुशब्दोऽत्र "भूवादयो धातवः" (अष्टा. 1-3-2) इति सङ्केतितधातुपरः, स च तदुत्तर प्रत्ययानां तदुभयार्थानां चोपलक्षकः। सर्वे शब्दा व्युत्पन्ना इति व्युत्पत्तिपक्षश्चाभिप्रेतः। भवतिरिति भूधातुः। "इक्तिपौ धातुनिर्देशे" (वार्तिक under अष्टा. 3-3-108) इति विहितः तित्प्रत्ययान्तोऽत्र निर्दिष्टः। तदयमर्थः - सर्वेषां शब्दानां तदर्थानां च यो भावः सत्ता स एवार्थोऽभिधेयो यस्य तथाभूतो भवतिः भूधातुः

स्मृतः "भू सत्तायाम्" इति स्मृत इत्यर्थः। सत्ता च प्रमाणसम्बन्धार्हत्वरूपा। एवं च तस्य सर्वशब्दतदर्थानां च या सत्ता तद्बोधकस्य भूधातोः तदर्थतत्प्रत्ययतदर्थादिरपि शब्दात् सर्वधातुतत्प्रत्ययतदुभयार्थानां च यो भावः सत्ता स भगवान् कृष्णः तत्सत्तानिर्वाहकः कृष्ण इति ★ फलितार्थः। एवं च सति अन्यत् कृष्णात्पृथक्सिद्धं वस्तु किमस्ति, तन्निरूप्यतामिति किमतद्वस्त्विति पाठे अतदकृष्णात्मकं वस्तु किमस्ति यन्निरूप्येतेत्यर्थः ॥ ५७॥

एवं भगवतः परत्वं सर्वकारणत्वं च उपपाद्य "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तैत्ति. उ. 2-1-1) "कारणं तु ध्येयः" (अथ. शिखा. उ. 3) [2]इत्युक्तरीत्या तद्वेदनमेवानिष्ट परिहारपूर्वकेष्टप्रापणक्षममिति वदन्नुपसंहरति **समाश्रिता** इति। पुण्यं यशो यस्य तस्य मुरारेः महत्पदं महतामाश्रयं पदपल्लवं ये समाश्रिताः, समाश्रयणमत्र न्यासोपासनान्यतररूपम्। तेषामेव भवाम्बुधिः वत्सपदतुल्यो भवति [3]। किञ्च परं [4]पदं वैकुण्ठाख्यं, पदं स्थानं भवति [5]। विपदां [6]दुःखानां यत्पदं विषयः [7]संसारः तत्पुनः कदाचिदपि तेषां न भवति [8]ततो न निवर्तन्त इत्यर्थः ॥ ५८॥

पञ्चमस्योत्तरं कथितमित्याह [9]बादरायणिः[-9] **एतदिति।** यत्प्रति अहं पृष्टः, किं तत्? यत्कौमारे श्रीकृष्णकृतं तत्कथमर्भकाः [10]पौगण्डके विदुरित्येतत्, एतदुत्तरं सर्वं ते तुभ्यं मया आख्यातम्॥ ५९॥

अध्यायत्रयार्थश्रवणादिफलमाह - **एतदिति।** सुहृद्भिश्चरितं "मुष्णन्तोऽन्योन्य शिक्यादीरन्" (भाग. 10-12-5) इत्यादिनोक्तं मुरारिकर्तृक मघासुरहननं शाद्वले भोजनं, जेमनमिति पाठेऽपि स एवार्थः, व्यक्तात् प्रकृतिरूपादितरद्रूपं शुद्धसत्त्वात्मकं वत्सवत्सपादिरूपम् अजस्य ब्रह्मणोऽभिष्टवं स्तुतिं च इत्येतत्सर्वं शृण्वन् [11]गृणन् कथयंश्च पुमान् अखिलान[12]भीष्टार्थान् प्राप्नोति॥ ६०,६१॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४॥

---

1. A,B omit अत्र ★ A,B add भावग्रहणं प्रवृत्तिस्थित्योः उपलक्षणं, सर्वशब्दः तदर्थसत्ता स्थितिनिर्वाहकः इति 2. A,B इति श्रुत्युक्त 3. A,B add नान्येषामित्यर्थः। 4. K omits पदं 5. A,B add इति 6. K,W omit दुःखानां 7. K,W omit संसारः 8. A,B पुन ः 9- -9. W omits 10. A,B °ण्डे 11. K omits गृणन् 12. W° लाभी °

# पञ्चदशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या त्रयोदशोऽध्यायः)

धेनुकासुरभञ्जनघट्टः

ततश्च पौगण्डवयस्समाश्रितौ[1] बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ।
गाश्चारयन्तौ सखिभिस्समं पदै र्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः ॥१॥

तन्माधवो वेणुमुदीरयन्वृतो गोपैर्गृणद्भिस्स्वयशो बलान्वितः॥
पशूनुपुरस्कृत्य पशव्यमाविश- द्विहर्तुकामः कुसुमाकरं वनम्॥२॥

तन्मञ्जुघोषालिमृगद्विजाकुलं महन्मनः प्रख्यपयस्सरस्वता।
वातेन जुष्टं शतपत्रगन्धिना निरीक्ष्य रन्तुं भगवान् मनो दधे॥३॥

स तत्र तत्रारुणपल्लवश्रिया फलप्रसूनोरुभरेण पादयोः।
स्पृशच्छिखान्वीक्ष्य वनस्पतीन् मुदा स्मयन्निवाऽऽहाग्रजमादिपूरुषः ॥४॥

---

1- -1. A,B,G,J,M वयः श्रितौ व्रजे

### श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ततः पञ्चदशे धेनुपालनं धेनुकार्दनम्।
कालियक्ष्वेलतो[1] गोपरक्षणं च निरूप्यते॥
अहिवक्त्रप्रवेशेन वृथा खिन्नान् सखीनतः।
कृष्णः प्रावेशयत्पक्वफलतालालिकाननम्॥
★ शैशवे पूतनां जित्वा कौमारे तु बकादिकान्।
पौगण्ड एव दैत्यानां महामदमहन्नजः॥

तत इति। पशुपालसम्मतौ पशुपालने[2] सम्मतौ, पशुपालानां वा सम्मतौ। ईषद्वयो बलातिरेकम् अनुकृतवन्तावित्यर्थः। अतीव चक्रतुः सर्वतः प्रसर्पणेन॥१॥

तदिति। स्वयशो गृणद्भिः गोपैर्वृतः तद्वनं प्राविशत्॥२॥

**तदिति**। तद्वनं निरीक्ष्य रन्तुं मनो दधे। कथम्भूतम्? मञ्जुघोषा ये अलिमृगद्विजाः भ्रमरमृगपक्षिणः तैराकुलं व्याप्तं महन्मनः प्रख्यपयस्सरस्वता, महतां मनसा प्रख्यं तुल्यं स्वच्छं पयो यस्मिन्, तत्सर आश्रयत्वेनास्ति यस्य। तेन वातेनेति शैत्यमुक्तम्। शतपत्र गन्धिनेति परिमलवत्वं, तेन जुष्टं वनमिति मान्द्यं च सूचितम्॥ ३॥

**स इति**। अरुणपल्लवश्रिया सह स्पृशन्त्यः शिखाः शाखाग्राणि येषां तान्॥ ४॥

---

1. A,B,J °ड° * This verse is not found in A,B,J editions 2. A पशूनां पा°

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ पौगण्डकावस्थावस्थितयो[1] रामकृष्णयोः काञ्चित्क्रीडां वर्णयन् रामकर्तृकं धेनुकासुरभञ्जनम् उभयकर्तृकं तदनुचरभञ्जनं, कृष्णकृतं[2] कालिय ह्रदजलपानमूर्छितगोगोपोत्थापनं च वर्णयति पञ्चदशेन। ततः कैशोरानन्तरं प्राप्तपौगण्ड वयसौ पशुपालने सम्मतौ, पशुपालानां वा सम्मतौ, तौ रामकृष्णौ सखिभिस्सह गाश्चारयन्तौ पदैः पादविन्यासैः, बृन्दावनमतीव पुण्यवच्चक्रतुः॥ १॥

तत्तदा स्वकीर्तिं गृणद्भिः गोपैः परिवृतो बलेन सह समन्वितो वेणुमुदीरयन् नादयन्, पशून्पुरस्कृत्य विहर्तुमिच्छुः कुसुमानामाकरं पशुभ्यो हितं वनं प्राविशत्॥ २॥

मञ्जुः रमणीयः नादो येषां तैः अलिमृगपक्षिभिः व्याप्तं महतां योगिनां मनसा तुल्यं स्वच्छं पयो यस्मिन् तत्सर आश्रयत्वेनास्ति यस्य तेन, एवमतिशैत्यमुक्तम्। शतपत्राणां गन्धो यस्य तेन वातेन जुष्टम्, एवं परिमलयुक्तत्वमुक्तम्। एवंविधं वनं निरीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे॥ ३॥

अरुणपल्लवानां श्रिया सह फलानां प्रसूनानां च भरेण पादयोः स्पृशन्त्यः शिखा अग्राणि येषां तान् तरून् वीक्ष्य आदिपूरुषः कृष्णः मुदा स्मयन्निव अग्रजं रामं प्रति इदं वक्ष्यमाणमाह॥ ४॥

---

1. A,B, °ण्डाव° 2. A,B कर्तृक

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

श्रवणमननाभ्यां दुरितहरणाय हेः पौगण्डवयसि क्रियमाणं विक्रमं निरुपयत्यस्मिन्नध्याये। ततः कौमारात् पौगण्डवयः नव वर्ष लक्षणं वयं श्रितौ प्राप्तौ पशुपालत्वेन सम्मतौ योग्यौ॥ १॥

उदीरयन् ध्वनयन् कुसुमाकरं कुसुमोत्पत्ति स्थानम्॥ २॥

मञ्जवः मनोहराः घोषा येषां अलयश्च मृगाश्च द्विजाश्च मञ्जुघोषैः अलिमृगद्विजैः आकुलं महतां नारायणचरणारविन्दनिरन्तरमनसां मनः प्रख्यं मनस्तुल्यं निर्मलं पयोजलं यस्य तत्तथा, महन्मनः प्रख्यपयश्च तत्सरश्च महन्मनः प्रख्यपयस्सः, तदस्यास्तीति महन्मनःप्रख्यपयःसरस्वान् तेन शतपत्राणां पद्मानां गन्धोऽस्यास्तीति शतपत्रगन्धी, तेन वातेन वायुना॥ ३॥

पल्लवारुणश्रिया युक्तयोः पादयोः प्रसूनोरुभारेण स्पृशन्त्यः शिखा एव कराग्रकोटयो येषां ते तथा, तान्वनस्पतीन् वृक्षान् दृष्ट्वा अत्र भक्तिभरभुग्नग्रीवाः पुरुषाः यथा पुष्पनिचयादिना मुकुन्द चरणारविन्दमर्चयन्ति, तथा वृक्षाश्च पुष्पभरोपनतशाखाकराग्रैः पूजयन्तीत्याक्षिप्तः, शेषार्थो बोद्धव्यः॥ ४॥

श्रीभगवानुवाच

अहो! अमी देववरामरार्चितं पदाम्बुजं[1] ते सुमनःफलार्हणम्[2]।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मन स्तमोपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्॥ ५॥

एतेऽलिनस्तव[3] यशोऽखिललोकतीर्थं गायन्त आदिपुरुषानुपदं[4] भजन्ते।
प्रायो ह्यमी मुनिगणा भवदीयमुख्या गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवम्[6]॥ ६॥

नृत्यन्त्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्यः कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमीक्षणेन।
सूक्तैश्च कोकिलगणा गृहमागताय धन्या वनौकस इयान् हि सतां निसर्गः॥ ७॥

★ धन्येयमद्य धरणीतृणवीरुधस्त्व त्पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः।
नद्योऽद्रयः खगमृगास्सदयावलोकै र्गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहश्रीः॥ ८॥

श्री[7-] शुकउवाच[-7]

एवं वृन्दावनं श्रीमत्कृष्णः[8] प्रीतमनाः[9] पशून्।
रेमे सञ्चारयन्नद्रे[10] स्सरिद्रोधस्सु सानुगः॥ ९॥

क्वचिद्गायति गायत्सु मदान्धालिष्वनुव्रतैः।
उपगीयमानचरितः स[11] खिसङ्कर्षणान्वितः॥ १०॥

---

1. A,B,G,J,M,V पा° 2. M °णैः 3. K,W °ऽलय° 4. M °थं 5. A,B,G,J,M अ° 6. M °मरात्म ★ This verse is found in M bearing number 19 7- -7. K,M,V,W omit 8. M कृष्णः 9. M, श्रीमत्; K,W, पश्यन् 10. K,W °द्रि 11. B,G,J स्रग्वी

**श्रीध० अहो** इति। तरुजन्म येन तमसा[1] कृतं, तस्य तमसः पापस्यापहत्यै नाशाय, अथवा येन त्वया ईश्वरेण। सर्वोपकारकं तरुजन्मकृतं तं त्वां नमन्ति। एवं श्लाघ्येऽपि जन्मनि यदज्ञानरूपं तमः अस्ति तस्यापहत्यै॥ ५॥

**एत** इति। हे अनघ! वने गूढमपि त्वां न त्यजन्ति। त्वयि मनुष्यवेषेण निगूढे सति, मुनयोऽप्यलिवेषेण निगूढास्त्वां भजन्तीत्यर्थः ॥६॥

**नृत्यन्तीति**। इयान् हि सतां निसर्ग इति। यदस्ति स्वस्मिन् तद्बहुमागताय महते [2] समर्पयन्तीति ॥७॥

**धन्येति**। तृणवीरुधश्च तव पादौ स्पृशन्तीति तथा। करजाभिमृष्टा नखैः स्पृष्टाः। सदयैरवलोकनैः। श्रीरपि यस्मै स्पृहयति केवलं तेन भुजयोरन्तरेण वक्षसा गोप्यो धन्या इति ॥८॥

**एवमिति**। एवं श्रीमद्वृन्दावनं प्रति प्रीतस्सन् अद्रेः समीपवर्ति सरित्तटेषु [3] गाः सञ्चारयन् सानुगः प्रीतमानाः सन् रेमे। [5-] यद्वा श्रीमद्वृन्दावनं प्रति पशून् सञ्चारयन् अद्रेः सरिद्रोधस्सु रेमे [-5] ॥९॥

तामेव रतिमाह **क्वचिदित्यादि** [6] पञ्चभिः ॥१०॥

---

1. V omits तमसा 2. A,B,J add महापुरुषाय 3. A,B,J पशून् 4. A,B,J add गोपैस्सह वर्तमानः 5- -5. A,B,J omit. 6. A,B,J दशभिः

**वीर०** तदेवाऽऽह - अहो इत्यादिभिः चतुर्भिः। स्वयं आदिपुरुषोऽपि लोकमर्यादास्थापनार्थं अवतीर्णत्वात् स्वशेषभूतमपि शेषमग्रतोऽवतीर्णत्वमात्रेण स्वतोऽधिकमिव सम्भावयन्नाह - अहो इति। हे देववर! यद्वा देववरैरमरैः अर्चितं तव [1] पदाम्बुजं पुष्पफलादिरूपं पूजासाधनं उपादाय शिखाभिर्नमन्ति तरवः, किमर्थं आत्मनः तमसः तापस्य अपहत्यै नाशाय येन तमसा तरुजन्मकृतं सम्पादितं तस्य तमसोऽपहत्यै इत्यन्वयः ॥५॥

हे आदिपुरुष! एते भृङ्गाः तव अनुपदमखिललोकपावनं यशो गायन्तः भजन्ते, तिरश्चां कथमेवंविधं ज्ञानम्? तत्राऽऽह - अमी अलयः प्रायेण भवद्भक्तेषु मुख्याः मुनिगणा एव, अत एव अनघानाम् आत्मनां [2] दैवं दैवतं गूढं गोपवेषेणेति शेषः। त्वां न जहति न त्यजन्ति ॥६॥

हे ईड्य! अमी शिखिनो मयूराः नृत्यन्ति, तथा हरिण्यो गोप्य इव ईक्षणेन ते तुभ्यं प्रियं कुर्वन्ति। तथा स्वगृहं प्रति आगताय ते कोकिलानां गणाः सूक्तैः प्रियं कुर्वन्ति। एते कोकिलादयो वनौकसोऽपि धन्या एव। सतां निसर्गः स्वभावः इयान् हि। [3] यत्मृदूक्त्यादिभिः बहुमानमियानेव हि ॥७॥

इयं धरिणी [4] तृणवीरुधश्च धन्याः, कुतः? यतः तव पादौ स्पृशन्तीति तथा। तथा द्रुमलताश्च धन्याः कुतः? करजैः [5] नखैः अभिमृष्टाः तथा अद्र्यादयोऽपि धन्याः। कुतः? सदयैरवलोकनैः त्वया वीक्षिता इति शेषः तथा गोप्योऽपि धन्याः, कुतः? भुजयोरन्तरेण वक्षसा आलिङ्गिता इति शेषः। कथम्भूतेन? यत् यस्मिन् स्पृहा [6-] यस्याः तथाविधा [-6] श्रीः, तेन ॥८॥

★ एवमग्रजं वदन् शोभावद्वृन्दावनं पश्यन् अद्रिसरितां रोधस्सु तटेषु गाश्चारयन् सहानुगो रेमे ॥९॥

तदेव प्रपञ्चयति **क्वचिदि** त्यादिना श्रीदामेत्यतः प्राक्तनेन। मदेन मधुपानमदेन अन्धेषु भृङ्गेषु गायत्सु सत्सु स्वयं सखीन् हासयन् क्वचिदनुगायति, अनुगैरुद्गीयमानं चरितं यस्य सखिभिः सङ्कर्षणेन चान्वितो रेमे ॥१०॥

1. A,B पा° 2. A,B omit दैवं 3. A,B omit यत् 4. A,B तृणानि 5. A,B नखैः 6- -6. A,B स्पृहावती ★ The commentary on verse 9 is not found in A and B editions.

**विज०** इममेवार्थं विशदयति **अहो** इति। देववर! यद्वा देववराः ब्रह्मादयः, अमराः देवाः एतैरर्चितं सुमनः फलाहीणैः पुष्पफलोपायनैः, आत्मनः स्वस्य तमोपहत्यै अज्ञाननिमत्तपापनिरासाय, तरुषु जन्म येन, तमोनिमित्तपापेन॥ ५॥

यतो यथा देवादयः मनुष्यलिङ्गमवाप्य भगवन्तं सेवन्ते तथा एते भ्रमरा अपि तेष्वे तेषु तस्मात् त्वच्चरणपद्मसेवाऽनवरतं न हातव्या मुमुक्षुभिः इति भावेनाऽऽह - **एत** इति। अलिनो भ्रमराः "भ्रमराणं पक्षमूलमलमाहुर्मनीषिणः" इति, अखिललोकतीर्थं समस्तजनस्य स्नानलक्षणं कीर्तनयोग्यं शुद्धिजननस्थानीयं "शास्त्रेष्वम्भसि पावने" इति च। यद्वा अखिलः अनल्पः लोकः प्रकाशः ज्ञानं येषां ते तथा तेषां सेवायोग्यशास्त्रस्थानीयम्। "लुक् प्रकाशे" इति धातुः। अनुपथं "पथ गतौ" इति धातुः। यत्र गच्छसि त्वं तत्रानुगमनलक्षणसेवां कुर्वन्तीत्यर्थः। अनुपदं वा मुनिगणाः सर्वज्ञानां देवादीनां गणाः "वेता वेद्यस्य सर्वस्य मुनिः सद्भिः उदाहृतः (उत्पलमाला) इत्युत्पलमाला। त्वदीयेषु वैष्णवेषु मुख्या गूढं मनुष्यलिङ्गधरं न जहति त्यजन्ति। "ओ हाक् त्यागे" इति धातुः। जहातीति पाठे वा। "व्यत्ययो बहुलम्" (अष्टा 3-1-85) इति सूत्रात् निर्णयः। अमराणाम् आत्मदैवं कुलदैवं, अनधात्मदैवमिति पाठे अनधानां निर्दुःखानां मुक्तानां आत्मदैवं मुक्तानां परमागतिः (अंहो दुःख) "दुःखैनो व्यसनेष्वघम्" (अम को 3-184) इत्यमरः, अनघेति पृथक् पदं वा॥ ६॥

पूर्वोक्तमतिदिशति **नृत्यन्तीति।** शिखिनो मयूराः, अन्यत्र केशशिखाधारिणः तापसाः, हरिण्यः मृगस्त्रियः। अन्यत्र हिरण्मयवत्, तपस्तेजसा ज्वलन्तः, आसां भारोऽस्तीति हरिण्यः, परोपदेश सम्बन्धेन हरिभक्तजनतापहरिण्य इत्युच्यन्ते। "महेशाज्ज्ञानमन्विच्छेन्मोक्षमिच्छेर्जनार्दनात्" (ब्रह्माण्ड पु.?) इति स्मृतेः। "हरिणी सा हिरण्मयी" (हला. को. 1-131) इत्यभिधानम्। ते तव ईक्षणेन प्रियं कुर्वन्ति, कोकिलगणाश्च सूक्तैः कर्णरम्यैः वचनैः प्रियं कुर्वन्तीति। अन्यत्र कः ब्रह्मा, उः शिवः तयोः किल वार्ता कीर्तनं सम्भावना च येषां ते, कोकिलाः, इन्द्रादयः परभृतः इतरप्राणिरक्षार्थं प्राणधारिणः न स्वार्थं परमभागवता इत्यर्थः, स्मार्तन्याय:। गृहमिति गृहमागताय अतिथये, गृहिणार्घ्यपाद्यादिकं दातव्यमिति यत्तस्मात् वनौकसो मृगादयो वा, वानप्रस्थादयो वा, धन्याः कृतार्थाः स्वं स्वं निवासमागतं त्वां सभाजयन्ति। नितरां स्वभावः इयान् एतावान् हि यस्मात्तस्मादिदमुचितमिति भावः। "वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिः ब्राह्मणो गृहान् तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हरवैवस्वतोदकं आशां प्रतीक्षे संगतसूनृतां चेष्टपूर्ते पुत्रपशूंच सर्वान् एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्य अल्पमेधसो यस्यामश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे" (कठ. उ. 1-7) इति। "वार्ता सम्भाव्ययोः किल" (वैज को. 8-7-19) इति यादवः। ईड्य! सर्वकर!॥ ७॥

शुकः परीक्षितमाह - **धन्येयमिति**। कस्माद्धन्येत्यत्राऽऽह - तृणवीरुध इति। तस्य कृष्णस्य पादौ स्पृशन्तीति तत्पादस्पृशः, करजैः नखैः अभिमृष्टाः अभितः श्रिताः लूना इत्यर्थः। नद्यादयो दयासहितैः अवलोकैः अवलोकिताः गोप्यः श्रीः यद्भुजयोः अन्तरं वक्षःस्थलं स्पृहयतीति यत्स्पृहा, तस्मिन् भुजयोरन्तरेण मध्ये आलिङ्गिता इति यत् तस्मात् इयं पृथिवी, तद्गताः पदार्थाश्च धन्या इत्यर्थः॥८॥

कृष्णः एवंविधमाहात्म्यं बृन्दावनमवाप्य रेमे इत्यन्वयः। अद्रेः पादेषु सरितो नद्यः रोधस्सु तीरेषु पशून् सञ्चारयन्॥९॥

रतिप्रकारं दर्शयति - **क्वचिदिति**। अनुव्रतैः अनुचरैः सखिभिः संकर्षणेन चान्वितः अनुगतः॥१०॥

---

1. A,B,M omit यद्वा

**क्वचिच्च कलहंसानामनुकूजति कूजितम्।**
**अनुनृत्यति नृत्यन्तं बर्हिणं हासयन्सखीन्[2]॥११॥**

**मेघगम्भीरया वाचा नामभिर्दूरगान् पशून्।**
**क्वचिदाह्वयति प्रीत्या गोगोपालमनोज्ञया॥१२॥**

**चकोरक्रौञ्च चक्राह्व भारद्वाजांश्च[3] बर्हिणः[4]।**
**अनुरौति स्म सत्वानां भीतवद्व्याघ्रसिंहयोः॥१३॥**

**क्वचित्क्रीडापरिश्रान्तं गोपोत्सङ्गोपबर्हणम्।**
**स्वयं विश्रमयत्यार्यं[6] पादसंवाहनादिभिः॥१४॥**

**नृत्यतो गायतः[7] क्वापि वल्गतो युध्यतो मिथः।**
**गृहीतहस्तौ[8] गोपालान् हसन्तौ प्रशशंसतुः॥१५॥**

---

1. A,B,G,J, M अभि° 2. A,B,G,J,M क्वचित् 3. V भ° 4. M °जाऽलिः; V °जांस्तु 5. M °णाम् 6. K,M,V,W विश्रा° 7. M °तो वापि 8. V हस्तान्

**श्रीध० क्वचिदिति**। बर्हिणं नृत्यन्तं अन्वभिनृत्यति बर्हिणमभिमुखो नृत्यतीति वा। सखीन् हासयन्॥११,१२॥

**चकोरेति**। चकोरादीननुसृत्य[1] रौति कदाचिच्च सत्त्वानां मध्ये व्याघ्रसिंहयोः ताभ्यां भीतवद्भवति। सत्वेषु पलायमानेषु पलायत इत्यर्थः। तयोः सत्त्वानां बलोद्रेकाणां च भीतवद्भवतीति वा॥१३॥

**क्वचिदिति**। आर्यमग्रजं विश्रमयति[2] विगतश्रमं करोति॥१४॥

**नृत्यत** इति। मिथो नृत्यादीन् कुर्वतो गोपान् प्रशशंसतुः ॥ १५॥

---

1. A,B,J °कृ° 2. V °श्रा°

**वीर०** क्वचित् कलहंसानां कूजितमनुसृत्य[1] कूजति चुकूज। तथा नृत्यन्तं बर्हिणमभिनृत्यति अनुननर्त[2]॥ ११॥

क्वचिन्मेघस्येव गम्भीरया वाचा सङ्केतितनामभिः सखीन् हासयन् दूरगान् पशून् आह्वयति। आजुहाव। कया? गवां गोपानां च मनोज्ञया प्रीत्या तयोपलक्षितो वा॥ १२॥

क्वचिच्चकोरादीननुसृत्य रौति रुराव; सत्वानां मृगाणां मध्ये व्याघ्रसिंहयोः ताभ्यां भीतवद्भवति॥ १३॥

क्वचिद्गोपानामुत्सङ्गोऽङ्क एवं उपबर्हणमुपधानं यस्य तं क्रीडापरिश्रान्तम् आर्यमग्रजं स्वयं पादपीडनादिभिः विश्रामयति॥ १४॥

वल्गतः उत्प्लवतः नृत्यादीन् कुर्वतो गोपान् गृहीतौ हस्तौ याभ्यां तथाभूतौ प्रशशंसतुः ॥ १५॥

---

1. A,B °कृ° 2. A,B अभिनयं करोतीत्यर्थः।

**विज०** हासयन् हासं जनयन्॥ ११॥

नामभिः प्रसूतिवाग्प्रयुक्तादिलक्षणैः गवां गोपालानां मनोऽन्तःकरणं ज्ञापयन्त्या बोधयन्त्या मनोरमया वा॥१२॥

व्याघ्र (शार्दूल) सिंहयोः सकाशात् भीतवत् स्वयमपि भीतो भवति॥ १३॥

गोपस्य उत्सङ्गोऽङ्क एव उपबर्हणं शिरःपीठं यस्य स तथा तं, आर्यं ज्येष्ठं पादसंवाहनादिभिः विश्रामयति क्रीडाप्राप्तक्लेशं नाशयति॥ १४॥

रामकृष्णौ नर्तनादिकुर्वाणान् गोपालान् नृत्यादिविशेषविषयेषु प्रशशंसतुः स्खलनादिविषये हसन्तौ वल्गतः उत्प्लवतः ॥ १५॥

**क्वचित्पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्शितः।**
**वृक्षमूलाश्रयश्शेते गोपोत्सङ्गोपबर्हणः ॥ १६॥**

**पादसंवाहनं चक्रुः केचित्तस्य महात्मनः।**
**परे[1] तु[1] हतपाप्मानो व्यजनैस्समवीजयन्॥ १७॥**

**अन्ये तदनुरूपाणि मनोज्ञानि महात्मनः।**
**गायन्ति स्म महाराज! स्नेहक्लिन्नाधियश्शनैः[2] ॥ १८॥**

**एवं निगूढात्मगतिस्स्वमायया[3] गोपात्मजत्वं चरितैर्विडम्बयन्।**
**रेमे रमालालितपादपल्लवो ग्राम्यैस्समं ग्राम्यवदीशचेष्टितः[4]॥ १९॥**

**श्रीदामनामा[5] गोपालो रामकेशवयोस्सखा।**
**सुबलस्तोककृष्णाद्या[6] गोपाः प्रेम्णेदमब्रुवन्[6]॥ २०॥**

---

1- -1. A,B,G,J,M अपरे 2. K हृद° 3. M मति; K,W रति 4. M °तम् 5. A,B,G,J,M °दामा नाम 6- -6. M सुबलाशोक कृष्णाद्यान् गोपान् प्रेम्णेदमब्रवीत्।

**श्रीध० पादेति।** व्यजनैः पल्लवादिनिर्मितैः॥ १६-१८॥

**एवमिति।** ईशचेष्टित इति निगूढस्वभावत्वेऽप्यन्तरान्तरा ईशस्यैव चेष्टितानि दृश्यन्ते यस्मिन् सः॥१९॥

ईशचेष्टितत्वमेव दर्शयितुमाह - **श्रीदामेति।** स्तोककृष्णः[1] इति कश्चित्॥ २०॥

---

1. B,J,V omit इति

**वीर०** क्वचिन्नियुद्धेन बाहुयुद्धेन यः श्रमः तेन कर्शितः ग्लानः वृक्षमूलाश्रयः पल्लवतल्पेषु गोपानाम् उत्सङ्ग उपधानं यस्य तथाभूतः शेते शिश्ये॥ १६॥

तदा तस्य महात्मनः कृष्णस्य पादसंवाहनं केचिच्चक्रुः। अपरे अपहतपाप्मानः तत्सेवालाभादिति भावः। तरुपल्लवनिर्मितैः व्यजनैः सम्यगवीजयन्॥ १७॥

अन्ये तु, हे महाराज! प्रेमार्द्रचित्ताः हृदयङ्गमानि तदनुरूपाणि चेष्टितानि जगुः॥ १८॥

इत्थं निगूढा आत्मरतिः स्वात्मानुभूति र्येन तथाभूतः स्वसङ्कल्पेन चरितैश्चेष्टितैः गोपात्मजत्वम् अनुकुर्वन् रमया लालितौ पादावेव पल्लवौ यस्य, तथाभूतोऽपि ग्राम्यैः प्राकृतैस्सह तद्वद्रेमे। कथम्भूतः? मध्ये मध्ये ईश्वरासाधारणानि चेष्टितानि यस्य तथाभूतः॥ १९॥

तदेव दर्शयति - **श्रीदामेत्यादिना।** श्रीदामा सुबलादयश्च इदं वक्ष्यमाणमब्रुवन्॥ २०॥

**विज०** नियुद्धं बाहुवल्लीग्रहणादिद्वन्द्वयुद्धम्॥ १६,१७॥

महात्मनः कृष्णस्य मनोहराणि स्नेहेन क्लिन्ना आर्द्रा धियो येषां ते तथा॥ १८॥

बाललीलामुपसंहरति - **एवमिति।** स्वमायया स्वेच्छयैव निगूढात्ममतिः प्रच्छन्न स्वरूपानुभवः अन्यापेक्षयेति शेषः। ग्राम्यैः मूर्खजनैः किमर्थमेवं कृतमत्राह - ग्राम्यवदिति धर्म इति शेषः॥ १९॥

यद्देवकार्यार्थमवतीर्णं हरिणा तच्छेषं वक्तुमुपक्रमते - **श्रीदामेति**। सुबलश्च अशोकश्च कृष्णश्चाद्या येषां ते तथा तान्॥ २०॥

**राम! राम! महासत्त्व[1]! कृष्ण! दुष्टनिबर्हण!।**
**इतोऽविदूरे सुमहद्वनं तालालिसङ्कुलम्॥ २१॥**

**फलानि तत्र भूरीणि पतन्ति पतितानि च।**
**सन्ति किं त्ववरुद्धानि धेनुकेन दुरात्मना॥ २२॥**

**सोऽतिवीर्यो[2]ऽसुरो राम! हे कृष्ण! खररूपधृत्[3]।**
**आत्मतुल्यबलैरन्यैर्ज्ञातिभि[5]र्बहुभिर्वृतः[4]॥ २३॥**

**तस्मात्कृतनराहारा[6]द्भीतैर्नृभि रमित्रहन्!**
★ **न सेव्यन्ते पशुगणैः पक्षिसङ्घै र्विवर्जितम्॥**
**विद्यन्तेऽभुक्तपूर्वाणि फलानि सुरभीणि च॥ २४॥**

**एष वै सुरभिर्गन्धो विषूचीनो[7]ऽनुगृह्यते।**
**प्रयच्छ तानि नः कृष्ण! गन्धलोभितचेतसाम्॥ २५॥**

---

1. A,B,G,J,M बाहो 2. M °तीव्रो 3. A,B,G,J,M °धृक् 4. M °साम्य° 5. W °भिः परिवारितः ★ This half verse is not found in K,V,W. 6. M सङ्घवि° 7. A,B,G,J °नोऽवि° M. °नो वि; V. नोऽद्य

**श्रीध० रामरामेति**। तालालिसङ्कुलं ता[1-]लानाम् अलिभिः प[-1]ङ्क्तिभिर्व्याप्तम्॥ २१ - २४॥

**एष** इति। विषूचीनः सर्वतः प्रसृतः॥ २५॥

---

1- -1. A,B तालानां पङ्क्ति°; B,J ताल पङ्क्ति°

**वीर०** महासत्त्व! महाबलेति रा[1]मस्य विशेषणम्। दुष्टनिबर्हण! दुष्टघ्नेति कृष्णस्य, अविदूरे समीपे तालानां पङ्क्तिभिः व्याप्तं महद्वनमास्ते॥ २१॥

कानिचित्फलानि पतन्ति पतितुमुद्युक्तानि कानिचित्पतितानि च सन्ति, किन्तु तानि दुरात्मना धेनुकासुरेणावरुद्धानि॥ २२॥

स चासुरोऽत्यन्तं वीर्यं यस्य तथाभूतः खररूपं बिभ्राणश्च स्वस[2]मान् रूपैः बहुभिः ज्ञातिभिः परिवृतश्च कृ[3]तः॥ २३॥

कृतः नरा एवाऽऽहारो येन, तस्मात् असुराद्भीतैः नृभिः अभुक्तपूर्वाणि कदाऽप्यननुभूतानि सुरभीणि च फलानि सन्ति॥ २४॥

**एषः** अत्रापि सर्वतो व्याप्तः तत्फलसुरभिः गन्धोऽनुगृह्यते अस्माभिः, हे कृष्ण! तत्फलगन्धेन लोभितानि चेतांसि येषां तेषां नोऽस्मभ्यं तानि फलानि प्रयच्छ आदाय देहि॥ २५॥

---

1. A,B रामवि° 2. K,W सरूपैः 3. A,B omit कृतः

**विज०** दुष्टनिबर्हण! दुष्टजनोन्मूलन! अविदूरे निकटे तालानां आल्या पङ्क्त्या सङ्कुलं निबिडम् ॥ २१ ॥

तत्र खरतालवने फलान्यपरिपाकं प्रामानीति नेत्याह — पतितानीति। सन्तु तान्यानीय भुज्यन्तामिति तत्राह किन्त्विति ॥ २२ ॥

तीव्रः क्रूरः खररूपं गर्दभदेहं धारयतीति खररूपधुक् असहायश्चेत् निष्कासनीय इति नेत्याह आत्मेति ॥ २३ ॥

कृतः नराणामाहारो येन स तथा तस्मात्॥ २४॥

नृभिः अभुक्तपूर्वाणि विष्वक् सर्वत्र अञ्चतीति विषूचीनः सर्वत्र व्यामिमानित्यर्थः। विशेषेण गृह्यते घ्राणेन्द्रियेणेति शेषः ॥ २५॥

**[1]वाञ्छाऽऽसीन्महती राम! गम्यतां यदि रोचते॥ २६॥**

**एवं सुहृद्वचश्श्रुत्वा सुहृत्प्रियचिकीर्षया।**
**प्रहस्य जग्मतुर्गोपैर्वृतौ तालवनं प्रभू॥ २७॥**

**बलः प्रविश्य बाहुभ्यां तालान् सम्परिकम्पयन्।**
**फलानि पातयामास मतङ्गज इवौजसा॥ २८॥**

**फलानां पततां शब्दं निशम्यासुररासभः।**
**अभ्यधावत्क्षितितलं सनगं परिकम्पयन्॥ २९॥**

**समेत्य तरसा [2]प्रत्यग् द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं बली।**
**निहत्योरसि काशब्दं मुञ्चन् [3]पर्यसरत्खरः॥ ३०॥**

**पुनरासाद्य संरब्ध उपक्रोष्टा[5] पराक्स्थितः।**
**चरणावपरौ राजन्! बलाय [6]प्राक्षिपद्रुषा॥ ३१॥**

---

1. B,G,J वाञ्छास्ति म°2. M °स वृत्य द्वा° 3. M चरद्बलम्; A,B,G,J °सरत्खलः 4. M °ष्टुं 5. M. °हिणो°

**श्रीध०** फलानामिति। सनगं सवृक्षम्॥ २६ - २९॥

**समेत्येति।** प्रत्यक् पश्चिमाभ्यां, द्वाभ्यां पद्भ्याम्[1]। प्रत्यक् प्रतिमुखस्सन्निति वा[-1]। काशब्दमिति[2] गर्दभजातिशब्दानुकरणम् पर्यसरत् परितोऽधावदित्यर्थः॥ ३०॥

**पुनरिति।** उपक्रोष्टा गर्दभः। पराक् प्रतिमुखः अपरौ पश्चिमौ बलाय बलं हन्तुम्॥ ३१॥

---

1- -1. A,B,J omit 2. V adds केति

**वीर०** हे राम! महती वाञ्छा तत्फलानुबुभूषा वर्तते, यदि रोचते तर्हि गम्यतां न वयं नियन्तुं प्रभवाम इति भावः॥ २६॥

इत्थं सुहृदां वचः श्रुत्वा तेषां प्रियं कर्तुमिच्छया प्रहस्य गोपैः वृतौ प्रभू रामकेशवौ तालवनं प्रति जग्मतुः॥ २७॥

तत्र बलो रामः प्रविश्य बाहुभ्यां तालान्परितः कम्पयन्। कथम्? मतङ्गज[1] इव ओजसा बलेन फलानि पातयामास॥ २८॥

तदा पततां फलानां शब्दमाकर्ण्य रासभरूपोऽसुरः सवृक्षं क्षितितलं कम्पयन् अभ्यधावत्॥ २९॥

बलं रामं स बली असुरः समेत्य पाश्चात्याभ्यां पादाभ्यां तरसा बलेन उरसि निहत्य काशब्दं गर्दभध्वनिं मुञ्चन् स खरः पर्यसरत् परितश्चचार॥ ३०॥

पुनराशु आसाद्य संरब्धः क्रुद्धः उपक्रोष्टा गर्दभः अनभिमुखं स्थितः हे राजन्! रुषा अपरौ पाश्चात्यौ पादौ रामाय प्राक्षिपत् उद्योजयामास॥ ३१॥

---

1. W मत्तगज

**विज०** लोभ आकाङ्क्षा। 'लुभ गार्ध्ये, गृधु अभिकाङ्क्षया' मिति धातुः। अदनाकाङ्क्षा चेत् कालान्तरे आनेष्यामीति तत्राह वाञ्छेति॥ २६, २७॥

मतङ्गजः वारणः, ओजसा बलेन, अवष्टम्भेन वा। "ओजोऽवष्टम्भबलयोः" इति च॥ २८॥

रासभः गर्दभः, नगैः वृक्षैः, पर्वतैश्च सहितम्॥ २९॥

काशब्दं गर्दभजातिजं कर्णनिष्ठुरशब्दं पर्यचरच्च परितोऽवर्तत॥ ३०॥

उपक्रोष्टुं क्रोशतिरत्र क्षेपार्थः क्षेप्तुं पराक्स्थितः प्राङ्मुखः॥ ३१॥

स तं गृहीत्वा[1] पदयोर्भ्रामयित्वैकपाणिना।
चिक्षेप तृणराजाग्रे भ्रामणत्यक्तजीवितम्[2]॥ ३२॥

तेनाऽऽहतो[3] महाताल[4]ः पतमानो[5] बृहच्छिराः।
पार्श्वस्थं कम्पयन् भग्नस्स चान्यं सोऽपि चापरम्॥ ३३॥

बलस्य लीलयोत्सृष्टखरदेहहताहताः।
तालाश्चकम्पिरे सर्वे महावातेरिता इव॥ ३४॥

नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे।
ओतं[6] प्रोतमिदं यस्मिंस्तन्तुष्वङ्ग यथा पटः॥ ३५॥

---

1. A,B,G,J °त्वा प्रपदोः; M °त्वाऽथ पदोः 2. V °मे° 3. K,W महांस्ता°4. A,B,G,J बेप° 5. B महाशिराः 6. A,G,J,M ओतप्रो°

**श्रीध०** स इति। तृणराजः तालः॥ ३२,३३॥

**बलस्येति।** उत्सृष्टेन खरदेहेन। हतैः[1] आहताः चकम्पिरे अकम्पन्त॥ ३४॥

**नेति।** यस्मिन् इदं विश्वं ओतं ऊर्ध्वतन्तुषु पट इव ग्रथितं, प्रोतं तिर्यसक्तन्तुषु पटवत् एवं सङ्ग्रथितं सर्वतोऽनुस्यूतं वर्तत इत्यर्थः॥ ३५॥

---

1.A adds तालैः

**वीर०** तदा स रामः तमेकेनैव पाणिना पादयोः गृहीत्वा भ्रामयित्वा च भ्रामणेनैव[1] त्यक्तं जीवितं येन तं तृणराजाग्रे ताला‍ग्रे चिक्षेप प्राक्षिपत्॥ ३२॥

तेन प्रक्षिप्तेनासुरेण[2] हतः ताडितः महान् तालः भग्नः पतमानो बृहच्छिरोऽग्रभागो यस्य, अत एव पार्श्वस्थं तालं पातयन् पपातेति शेषः। स च पार्श्वस्थः पतमानः तथैवान्यं सोऽपि तथैवान्यम्॥ ३३॥

बलस्य रामस्य लीलया उत्सृष्टेन खरदेहेन हताः ये तैः हतास्सर्वे तालाश्चकम्पिरे यथा महावातेनेरिताः कम्पिताः तद्वत्॥ ३४॥

जगदीश्वरे अनन्ते एतन्न चित्रम्। कुतः? अङ्ग! हे राजन्! तन्तुषु पट इव इदं जगत् यच्छिरसि ओतं प्रोतं च॥ ३५॥

---

1. A,B भ्रमणेन 2. A,B परि°

**विज०** पदोः पादयोः भ्रामणेन परिभ्रमणकरणेन॥ ३२॥

तेन खररूपासुरशरीरेण बलेन पार्श्वस्थं तालं कम्पयन् भग्नोऽभूत्। किं च स च पार्श्वस्थः अन्यं तालं सोऽन्योप्यपरं तालमित्येवं परम्परया॥ ३३॥

बलस्य लीलया कर्मणा उत्सृष्टेन उत्क्षिप्तेन खरदेहेन [1]हृतताला हताः॥ ३४॥

अन्यस्य चित्रमपि रामस्य एतत्कर्म चित्रं न भवतीति शुकः परीक्षितमाह - **नैतदिति**। हि शब्दो धराऽखिलेयं ननु सर्षपयतीति प्रसिद्धिं द्योतयति॥ ३५॥

---

1. A omits हत

**ततः कृष्णं च रामं च ज्ञातयो धेनुकस्य ये।**
**क्रोष्टारोऽभ्यद्रवन्[1]त्सर्वे संरब्धा। हतबान्धवाः॥ ३६॥**

**तांस्तान्नपततः कृष्णो रामश्च नृप! लीलया।**
**गृहीतपश्चाच्चरणान् प्राहिणोत्तृणराजसु॥ ३७॥**

**फलप्रकरसङ्कीर्णं[2] दैत्यदेहैर्गतासुभिः।**
**रराज [3]खरतालाग्रैर्घनैरिव [4]नभस्स्थलम्॥ ३८॥**

**तयोस्तु [5]सुमहत्कर्म [6]निशाम्य विबुधादयः।**
**मुमुचुः पुष्पवर्षाणि चक्रुर्वाद्यानि तुष्टुवुः॥ ३९॥**

**अथ तालफलान्यादन् मनुष्या गतसाध्वसाः।**
**तृणं च पशवश्चेरुर्हतधेनुककानने॥ ४०॥**

---

1. V पत°2. M °र्णा° 3. A,B,G,J,M भूः सता°4. A,B,G,J,M नभस्तलम् 5. A,B,G,J,M °स्तत्सुम°6. B,J,M निश°

**श्रीध०** **फलेति**। घनैर्नभ इव।[1]भूतलं रराज। तत्र फलप्रकरसङ्कीर्णमिति। दैत्यदेहैः [2]खरतालाग्रैश्च सङ्कीर्णमिति[3] अरुणश्वेतनीलघनसादृश्यसम्पादनम्॥ ३६ - ३९॥

**अथेति**। आदन् अभक्षयन्॥ ४०॥

---

1. A,B,J भुवस्तलं 2. A,B,J स्तयता° 3. A मित्यनेन च

**वीर०** ततो धेनुकस्य ये ज्ञातयः क्रोष्टारो गर्दभाः खरशब्दं कुर्वन्तो वा, हतः बान्धवो येषां ते, अत एव संरब्धाः सर्वे अभ्यद्रवन् अभिमुखं जग्मुः॥ ३६॥

हे नृप! गृहीतौ पश्चाच्चरणौ येषां तान् तालेषु प्राक्षिणोत् प्राक्षिपत्, प्रत्येकाभिप्रायकमेकवचनम्[1]॥ ३७॥

फलसमूहैः सङ्कीर्णा धरा गतप्राणैः दैत्यदेहैः कठिनैः तालाग्रैश्च घनैः नभस्स्थलमिव रराज, खरदेहैः तालाग्रैः इति अरुणश्वेतनीलघनसादृश्यसम्पादनम्॥ ३८॥

निशाम्य दृष्ट्वा विबुधादयः पुष्पवर्षाणि मुमुचुः ववृषुः। वाद्यानि दुन्दुभींश्चक्रुः वादयामासुः, तुष्टुवुः, [2]विबुधादय[2] इत्यनुवर्तते॥ ३९॥

अथ ततः गतभयाः मनुष्याः तालफलान्यादन् भक्षितवन्तः हतो धेनुको यस्मिन् तस्मिन् कानने पशवश्च तृणं अचरन्॥ ४०॥

---

1. K,W omit °क° 2- -2. W omits.

**विज०** क्रोष्टारः क्षेमुकामाः ताच्छीलिकः तृन्प्रत्ययः स्वजातिरवं कुर्वाणा[1] वा॥ ३६,३७॥

फलप्रकरसङ्कीर्णा तालफलसमूहेन व्याप्ता॥ ३८॥

तयोः रामकृष्णयोः॥ ३९॥

आदन् भक्षितवन्तः॥ ४०॥

---

1. A omits कुर्वाणा

**कृष्णः कमलपत्राक्षः पुण्यश्रवणकीर्तनः।**
**स्तूयमानोऽनुगैर्गोपैस्साग्रजो व्रजमाविशत्[1]॥ ४१॥**

तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्ह वन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम्।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरुपगीतकीर्तिं गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन्त्समेताः ॥४२॥

पीत्वा मुकुन्दमुख सारघमक्षि भृङ्गै स्तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोऽह्नि।
तत्सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं सव्रीडहासविनयं यदपाङ्गमोक्षम् ॥४३॥

तयोर्यशोदारोहिण्यौ पुत्रयोः पुत्रवत्सले।
यथाकालं यथाकामं व्यधत्तां परमाशिषः ॥४४॥

विगताध्वश्रमौ तत्र मर्दनोन्मज्जनादिभिः।
वा सो वसित्वा रुचिरं दिव्यस्रग्गन्धमण्डितौ ॥४५॥

जनन्युपहृतं प्राश्य स्वाद्वन्नमुपलालितौ।
संविश्य वरशय्यायां सुखं सुषुपतुर्व्रजे ॥४६॥

एवं स भगवान् कृष्णो वृन्दावनचरः क्वचित्।
ययौ राममृते राजन्कालिन्दीं सखिभिर्वृतः ॥४७॥

---

1. A,B,G,J °माव्रजत्; M ° मागमत् 2. A,B,G,J °रनु° 3. M °ऽप्य° 4. K,W °स° 5. M °गमो 6. V °त° 7. M °क्षः 8. M तदा य° 9. A,B,G,J गताध्वान° K,W ततो गत °10. A,B,G,J मज्जनोन्मर्दनादिभिः। 11- -11. A,B,G,J,M नीवीं वसित्वा रुचिरां 12. M मृदु°

**श्रीध० तमिति।** गोरजोभिः छुरितेषु कुन्तलेषु बद्धं बर्हं वन्यानि प्रसूनानि च यस्य, रुचिरमीक्षणं चारुहासश्च यस्य तं तं च दिदृक्षितदृशः दिदृक्षिताः दर्शनोत्कण्ठिता दृशो यासां ताः ॥४१,४२॥

**पीत्वेति।** मुकुन्दस्य मुखपद्मगतं सारघं मधु, अह्नि यो विरहः तस्माज्जातं तापम्। स च तासां सत्कृतिं पूजां, कां सत्कृतिं! कथं वा कृताम्? तामाह सव्रीडेति। सव्रीडेन सलज्जेन हासेन, विनयो यथा भवति तथा। यदेतत्, किं तत् अपाङ्गमोक्षं कटाक्षदर्शनम्। तथा तासां सत्कृतिं प्राप्येति ॥४३ - ४७॥

---

1- -1. A रुचिरे ईक्षणे ° 2. A,B,J त्कण्टायुक्ता 3. V omits सव्रीडेन 4. V omits तत् 5. A,B,J तां

**वीर०** श्रोतॄणां कीर्तयतां च पुण्यावहं यच्छ्रवणं कीर्तनं च तद्यस्य, सः कृष्णः साग्रजो व्रजमाविवेश ॥४१॥

तं व्रजमाविशन्तं दिदृक्षिताः दृशो यासां ताः गोप्यः समेतास्समुदिताः अभ्यगमन् अभिमुखमाजग्मुः, कथम्भूतम्? गोरजोभिः व्याप्तेषु कुन्तलेषु बद्धं बर्हं वन्यानि प्रसूनानि च यस्य, रुचिरमीक्षणं चारुः

हासश्च यस्य, अनुगैः उपगीता कीर्तिर्यस्य तम्॥ ४२॥

मुकुन्दस्य मुखसारसं मुखपद्मं पीत्वा तद्गतं मधु पीत्वेत्यर्थः। अह्नि यो विरहः तज्जं तापं जहुः। तासां व्रजयोषितां सत्कृतिं बहुमानं समधिगम्य, सत्कृतिस्वरूपमेवाऽऽह — सलज्जं सहासं सविनयं च यथा तथा अपाङ्गयोः नेत्रान्तयोः मोक्षः प्रसरणं यस्मिन् तत् यत् तद्रूपं तासां सत्कृतिं प्राप्य गोष्ठं विवेश॥ ४३॥

यथाकामम् इच्छानुगुणं कालानुगुणं च यथा तथा परमा आशिषः कामान् व्यधत्तां अकुर्वाताम्॥ ४४॥

तदेव दर्शयन्नाह तत्र गृहे अङ्गमर्दनादिभिः गतः अध्वसम्बन्धी श्रमो ययोस्तौ, रुचिरं नवं वस्त्रं वसित्वा, दिव्याभ्यां स्रगन्धाभ्यामलङ्कृतौ॥ ४५॥

जनन्या उपहृतं पात्रे दत्तं स्वादु मृष्टमन्नं प्राश्य उपलालितौ सुखं यथा तथा सुप्तवन्तौ॥ ४६॥

कदाचिद्रामं विना इतरैस्सखिभिः वृतः हे राजन्! कालिन्दीं यमुनां ययौ॥ ४७॥

---

1. W. omits व्रजम्

**विज०** गोरजसा छुरितकुन्तलैः[1] छुरितकेशपाशैः बद्धानि बर्हवन्यप्रसूनानि पिच्छवनभवपुष्पाणि यस्स स तथा गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हवन्यप्रसूनश्च, रुचिरे ईक्षणे चारुहासश्च यस्य स तथा तम्॥ ४१,४२॥

मुकुन्दस्य मुखमेव सारघं मधु सरघायोग्यं सारघम्। "सरघामधुमक्षिकाप्रोक्ता" (हला.को. 2-101) इति हलायुधः। अह्नि विरहजं तापं यासाम् अपाङ्गमोक्षः कटाक्षनिरीक्षणं व्रीडया सहितः सव्रीडश्चासौ हासश्च सव्रीडहासः तस्य विगमो राहित्यं विशेषेण प्राप्तिः वा यस्य स तथा तासां सत्कृतिं सत्कारं समधिगम्य प्राप्य॥ ४३,४४॥

मज्जनं स्नानं उन्मर्दनं शरीर मलोद्वर्तनं नीवीं वस्त्रं वसित्वा आच्छाद्य॥ ४५॥

प्राश्य पीत्वा, संविश्य शयित्वा॥ ४६॥

इदानीं कथान्तरं वक्तुं उपक्रमते **एवमिति** ॥ ४७॥

---

1- -1. A,B omit.

—: कालियमर्दनघट्टः :—

अथ गावश्च गोपाश्च निदाघातपपीडिताः।
दुष्टं जलं पपुस्तस्यास्तृषार्ता विषदूषितम्॥४८॥

विषाम्भस्तदुपस्पृश्य दैवोपहतचेतसः।
निपेतुर्व्यसवस्सर्वे मूर्च्छिता वै कुरूद्वह॥४९॥

वीक्ष्य तान्वै तथाभूतान् कृष्णो योगेश्वरेश्वरः।
ईक्षयाऽमृतवर्षिण्या स्वनाथान्त्समजीवयत्॥५०॥

ते सम्प्रतीतस्मृतय उत्थाय च जलान्तिकात्।
आसन् सुविस्मितास्सर्वे वीक्षमाणाः परस्परम्॥५१॥

अन्वमंसत तद्राजन्! गोविन्दानुग्रहेक्षितम्।
पीत्वा विषं परेतस्य पुनरुत्थानमात्मनः॥५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे धेनुकासुरवधो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥१५॥

---

1. K.W तदै° 2- -2. A,B,G,J सलिलान्ते 3. V °गी° 4- -4. A,B,G,J समुद्धाय

**श्रीध०** त इति। सम्प्रति सद्य एव इता प्राप्ता स्मृतिर्यैस्ते सम्प्रतीतस्मृतयः। यद्वा, सम्यक् प्रतीता प्रति प्राप्ता स्मृतिर्यैस्ते तथेति॥४८ - ५२॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां पञ्चदशोऽध्यायः॥१५॥

---

1. V. omits प्रतीता

**वीर०** निदाघे ग्रीष्मर्तौ य आतपः तेन पीडिताः, अत एव तृषार्ताः तस्याः कालिन्द्याः कालियविषेण दूषितम्, अत एव दुष्टं जलं पपुः पीतवन्तः॥४८॥

तद्विषोदकमुपस्पृश्य, तं[1] दैवोपहतचेतसो मूर्च्छिताः व्यसवः प्राणव्यापाररहिताः हे कुरूद्वह! निपेतुः ॥ ४९ ॥

तथाभूतान् मूर्च्छितान् पतितांश्च तान् दृष्ट्वा मृतसञ्जीवनादियोगनिर्वाहकः कृष्णः, स्वः आत्मैव, नाथो रक्षको येषां तान् अमृतवर्षिण्या ईक्षया दृष्ट्या सम्यगजीवयत्[2] ॥ ५० ॥

ताश्च ते च ते "पुमान् स्त्रिया" (अष्टा. 1-2-69) इत्येकशेषः। गावो गोपाश्च सम्प्रतीताः सम्यक्प्राप्ताः स्मृतयः यैस्तथाभूताः जलान्तिकादुत्थाय परस्परं वीक्षमाणाः सुविस्मिताश्चाऽऽसन् ॥ ५१ ॥

विषं पीत्वा सम्परेतस्य[3] मृतस्य आत्मनो यत्पुनरुत्थानं तद्गोविन्दस्यानुग्रहेक्षण कृतममन्यत ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

---

1. A,B दैवोप°2- -2. A,B समजीवयत् सचेतनां करोति स्म ॥ ५० ॥ 3. K परे°

**विज०** निदाघातपः ग्रीष्मर्तुभवरविकिरण भवउष्णविशेषः तेन पीडिताः ॥ ४८ ॥

उपस्पृश्य आचम्य पीत्वा च ॥ ४९,५० ॥

तथाभूतान् मृतप्रायान् ईक्षया दृष्ट्या सम्प्रतीतस्मृतयः सम्यक्प्राप्तप्रत्यभिज्ञानाः ॥ ५१ ॥

विषं विषमिश्रजलं पीत्वा परेतस्य मृतस्याऽऽत्मनः पुनरुत्थानं गोविन्दस्य अनुग्रहयुक्तनिरीक्षणकृतम् अन्वमंसत न्यरूपयन् ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

(विजयध्वजरीत्या त्रयोदशोऽध्यायः)

# षोडशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या चतुर्दशोऽध्यायः)

### कालियमर्दनम्

श्री[1] बादरयणिरुवाच[-1]

विलोक्य दूषितां कृष्णां कृष्णः कृष्णाहिना विभुः।
तस्या विशुद्धिमन्विच्छन् सर्पं तमुदवासयत् ॥१॥

राजोवाच

कथमन्तर्जलेऽगाधे न्यगृह्णद्भगवानहिम्।
स वै बहुयुगावासी[2] यथाऽऽसीद्विप्र![3] कथ्यताम् ॥२॥

ब्रह्मन्! भगवतस्तस्य भूमनस्स्वच्छन्दवर्तिनः।
गोपालोदारचरितं[4] कस्तृप्येतामृतं जुषन् ॥३॥

श्रीशुक उवाच

कालिन्द्यां कालियस्याऽऽसीत् ह्रदः कश्चिद्विषाग्निना।
श्रप्यमाणपया यस्मिन्पतन्त्युपरिगाः खगाः ॥४॥

विप्रुष्मता[5] विषोदोर्मिमारुतेनाभिमर्शिताः।
म्रियन्ते तीरगा यस्य प्राणिनः स्थिरजङ्गमाः ॥५॥

तं चण्डवेग विषवीर्य मवेक्ष्य तेन दुष्टां नदीं च खलसंयमनावतारः।
कृष्णः कदम्बमधिरुह्य ततोऽतितुङ्गात्[6] आस्फोट्य गाढरशनो न्यपतद्विषोदे[7] ॥६॥

---

1- -1. A,B,G,J,M श्रीशुक उवाच 2. A,B,G,J,V °सं; K,W °सो 3. K,V,W °त्तत्र 4. W °पस्यो° 5. A,M °प्रु° 6. A,B G,J,V तुङ्गं 7. V,W °नोऽभ्य°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

षोडशे कालियस्योक्तो निग्रहो यमुनाह्रदे।
तत्पत्नीभिः स्तुतेनाथ कृष्णेनानुग्रहः कृतः[1] ॥
हत्वा रासभदैतेयान् जग्ध्वा तालफलान्यलम्।
प्रीतोऽनृत्यत्फणारङ्के कालियस्य कलानिधिः ॥

**विलोक्येति।** उदवासयत् निस्सारितवान्॥ १॥

**कथमिति।** बहूनि युगान्यावासो यस्य तमहिम्। स वै अहिः अजलचरोऽपि तस्मिन्नन्तर्जले, यथा येन प्रकारेणासीत्। अथवा बहूनि युगानि आवासो यथा भवति तथा येन[2] प्रकारेण स वै तत्रासीदिति[3] कथ्यतामिति॥ २॥

**ब्रह्मन्निति।** गोपालेन यदुदारं चरितमाचरितं तदेवामृतम्। अतः[4] कथ्यतामिति॥ ३॥

**कालिन्द्यामिति।** श्रप्यमाणं पच्यमानं पयो यस्य सः। अत[5] उपरि गच्छन्तः खगा यस्मिन् पतन्ति॥ ४॥

**विप्रुष्मतेति।** किञ्च विप्रुष्मता अम्बुकणयुक्तेन विषोदतरङ्गस्पर्शिमारुतेन स्पृष्टा यस्य तीरगा म्रियन्ते स ह्रद आसीदिति॥ ५॥

**तमिति।** तं कालियम्। चण्डो वेगो यस्य, तद्विषमेव वीर्यं यस्य तम्। कदम्बमिति। भाविना श्रीकृष्णचरणस्पर्शभाग्येन स एकः तर्त्तरि[6] न शुष्कः। अमृतमाहरता गरुत्मताक्रान्तत्वादिति च पुराणान्तरम्। आस्फोट्य बाहुं करतलेनाहत्य। गाढा दृढं बद्धा रशना कटिबन्धनवस्त्रं[7-7] येन सः[8] ॥ ६॥

---

1. V पुनः 2. V केन 3. V adds यत्तत् 4. V omits चरितम् 5. A omits अतः 6. V omits तत् 7- -7. V काञ्ची 8. V adds तथा

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ कालियदमनात्मकं कर्मानुवर्णयितुकामस्तावत् राज्ञः प्रश्नावसरप्रदानाय तत्सङ्ग्रह्य दर्शयति **विलोक्येति।** कृष्णाहिना कालियेन दूषितां कृष्णां यमुनां विलोक्याऽऽलोच्य तस्याः कृष्णायाः विशुद्धिमन्विच्छुः तं सर्पमुदवासयत् ततो निष्कासितवान्॥ १॥

तत्र विस्मितः पृच्छति राजा **कथमिति** द्वाभ्याम्[1-1]। अन्तर्जले तत्राप्यगाधे तत्राप्यहिं सर्पं कथं निगृहीतवान्? स वै अहिः बहूनि युगान्यावसतीति तथाभूतो यथा येन प्रकारेणाऽऽसीत् तदपि हे विप्र! कथ्यताम्॥ २॥

आत्मनः शुश्रूषाधिक्यं व्यनक्ति - **ब्रह्मन्निति।** भूम्नः विपुलमाहात्म्यस्य स्वतन्त्रस्यापि लीलया गोपालस्य सतः यदुदारं चरितं तदेवामृतं जुषन् कः पुमान् तृप्येत न कोऽपि॥ ३॥

विषाग्निना पच्यमानं पयो यस्मिन् तस्य ह्रदस्योपरिगाः उपरि चरन्तः खगाः पक्षिणः पतन्ति पेतुः[2] विषजलवायुप्रसारमात्रेऽपि मूर्च्छिताः पतन्तीत्यर्थः॥ ४॥

यस्य ह्रदस्य तीरगाः स्थिरजङ्गमाः वृक्षादिरूपा मृगादिरूपाश्च प्राणिनः विप्रुष्मता शीकरयुक्तेन विषजलतरङ्गाणां मारुतेनाभिमर्शिताः संस्पृष्टाः म्रियन्ते। तथाविधः कश्चिद्ध्रदः कालियस्याऽऽवासभूतः कालिन्द्यामासीदित्यन्वयः॥ ५॥

स्पर्शमात्रेणैव व्यापनशीलं विषमेव वीर्यं बलं यस्य तं कालियं ह्रदं वा तेन दुष्टां नदीं यमुनां चाऽऽलोक्य खलानां संयमनाय दमनाय अवतारो यस्य सः। हेतुगर्भमिदम्। तत्त्वात् कदम्बं वृक्षमधिरुह्य गाढा दृढीकृता रशना काञ्ची यस्यः सः, आस्फोट्य करतलेन भुजमुत्सङ्गं वा आहत्य अत्युन्नतात् ततः कदम्बात्[3] विषोदे न्यपतत्। अमृतमाहरता गरुत्मताऽऽक्रान्तत्वात् स कदम्बो विषजलेनापि न शुष्क इत्याहुः॥ ६॥

---

1- -1. K,W omit 2. K omits पेतुः 3. A,B add कथञ्चित्

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हरौ भक्तिमतां संसारविषं निर्वीर्यं भवतीति निदर्शयितुम् अनन्तरातीताध्याये संक्षिप्योक्तं कालियनागमर्दनमहिमानं प्रपञ्चयति अस्मिन्नध्याये। तत्र राज्ञः प्रश्नमुत्थापयितुमाह **विलोक्येति।** कृष्णां यमुनां कृष्णाहिना कृष्णसर्पेण उदवासयत् ततोऽन्यत्राऽऽवासमकारयत्॥ १॥

अगाधे अतलस्पर्शे न्यगृह्णात् निगृहीतवान्। प्रसह्य गृहीतवानित्यर्थः। यथा येन प्रकारेण आसीत् स प्रकारः॥ २, ३॥

श्रप्यमाणं क्वाथ्यमानं पयो जलं यस्मिन् ह्रदे स तथा यस्मिन् ह्रदे॥ ४॥

विप्रुष्मता विशेषेण दहता "प्रुषपप्रुषदाहे" इति धातुः। विषेण विशिष्टमुदं विषोदं तेन युक्ता ऊर्मयः विषोदोर्मयः यस्य स तथा स चासौ मारुतः विषोदोर्मिमारुतः तेनाभिमर्शिता आवृत्य गृहीताः यस्य ह्रदस्य॥ ५॥

तेन कालियेन खलानां संयमनार्थं निग्रहार्थं अवतारो यस्य स तथा। आस्फोट्य द्विगुणीकृतहस्तप्रहारं कृत्वा गाढ़रशनः दृढबद्धकक्षप्रदेशः विषोदे विषमिश्रितजले ह्रदे इति शेषः॥ ६॥

**सर्पह्रदः[1] पुरुषसार[2] निपातवेग सङ्क्षोभितोरगविषोच्छ्वसिताम्बुराशिः[3]।**
**पर्यक् प्रुतो[4] विषकषायितभीषणोर्मि[5] रभ्रद्धनुश्शतमनन्तबलस्य[5] किं तत्?॥ ७॥**

तस्मिन् ह्रदे विहरतो भुजदण्डघूर्णं वार्घोषमङ्ग वरवारणविक्रमस्य।
आश्रुत्य तत्स्वसदनाभिभवं ससैन्यः चक्षुश्रवास्समसरत्तदमृष्यमाणः ॥८॥

तं प्रेक्षणीयसुकुमारघनावदातं श्रीवत्सपीतवसनं स्मितसुन्दरास्यम्।
क्रीडन्तमप्रतिभयं कमलोदराङ्घ्रिं सन्दश्य मर्मसु रुषा भुजगश्चछाद ॥९॥

तं नागभोग परिवीतमदृष्टचेष्ट मालोक्य तत्प्रियसखाः पशुपा भृशार्ताः।
कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामा दुःखानुशोक भयमूढधियो निपेतुः ॥१०॥

---

1. M सा° 2. K,W वर्य 3. V °त्रमि° 4. A,B,G,J,M °षायविभी° 5- -5. A,B,G,J °र्मिधावन् धनुः M °र्मिभीमोधनु° 6. A,B,G,J तस्य 7. K,W तं स्व° 8. A,B,G,J,V निरीक्ष्य 9. M °त्तम° 10. V बलं 11. A,B,G,J,V °या च ° 12. K,W भया° 13. K कृष्णा° 14. V °र्ति

**श्रीध० सर्पेति।** सर्पस्य ह्रदः पुरुषश्रेष्ठस्य पतनभरेण, सङ्क्षोभितानाम् उरगाणां विषैरुन्नमितोऽम्बुराशिः यस्य सः। विषेण कषायीकृता भयङ्करा ऊर्मयो यस्य सः, पर्यक् परितः। धावन् धनुःशतं प्लुतः प्रसृतः। नैतच्चित्रमित्याह अनन्तबलस्येति ॥७॥

**तस्मिन्निति।** ह्रदे विहरतः भुजदण्डाहतोदकघोषं श्रुत्वा तत् ततः स्वसदनाभिभवं च निरीक्ष्य, तदसहमानः सर्पः समसरत् समाजगाम ॥८॥

**तमिति।** प्रेक्षणीयश्च सुकुमारश्च घनवदुज्ज्वलश्च तम्। श्रीवत्सपीतवसनं श्रीवत्सेन संयुक्तमुज्ज्वलत्पीतं वस्त्रं यस्य तम्। भुजया भोगेन चछाद अवेष्टयत् ॥९॥

**तमिति।** सः प्रियो येषां ते तत्प्रियाः। ते च ते सखायश्चेति तथा ॥१०॥

---

1. B,J add तदा 2. V भरेण 3. V अश्रुत् 4- -4. V omits 5. A,B,J °च्च°

**वीर०** सर्पस्य ह्रदः पुरुषवर्यस्य पुरुषोत्तमस्य निपातवेगेन सङ्क्षोभितानामुरगाणां विषैरुच्छ्वसितः प्रवृद्धोऽम्बुराशिः वारिपूरो यस्य, विषैः कषायिताः कषायीकृताः क्वथिताः भीषणा ऊर्मयो यस्मिन्, तथाभूतः पर्यक् परितोऽच्छद्धनुःशतं तत्परिमाणस्थलं प्लुत आवृतः, नैतच्चित्रमित्याह अनन्तबलस्य तत्किं कियत् ॥७॥

तस्मिन् ह्रदे विहरतः गजश्रेष्ठस्येव विक्रमो यस्य तस्य भगवतः भुजदण्डाहतोदकघोषमाकर्ण्य अङ्ग! हे राजन्! स्वनिलयतिरस्कारमसहमानः चक्षुश्रवाः सर्पः स्वसैन्यसहितः समसरत् आजगाम ॥८॥

भुजगः कालियः तं कृष्णं मर्मसु सन्दश्य चच्छाद वेष्टितवान्। कथम्भूतम्? प्रेक्षणीयश्च सुकुमारश्च घनवन्निर्मलश्च तं, श्रीवत्सशब्दोऽत्रार्श आद्यजन्तः, श्रीवत्सयुक्तं पीतं वस्त्रं यस्य तं च, स्मितेन सुन्दरमाननं यस्य, प्रतिपक्षाद्वयरहितं कमलवदुदरमङ्गी च यस्य तम्॥९॥

नागस्य भोगेन देहेन विष्टितम् अत एव अदृष्टा इतैरलक्षिता चेष्टा यस्य तं कृष्णमालोक्य तस्य कृष्णस्य प्रियाः सखायः गोपाः भयेनाऽऽर्ताः कृष्ण एव अर्पिता आत्मानो मनांसि शरीराणि वा सुहृदादयश्च यैः तथाभूताः अर्थो वित्तं कामाः इष्टार्थाः दुःखादिभिर्मूढाः धियो येषां ते निपेतुः। दुःखं मानसिकं, शोको रोदनम्॥१०॥

---

1. K क° 2. W ततः

**विज०** सर्पस्य निवासभूतह्रदः सार्पह्रदः पुरुषसारस्य पुरुषवरस्य पुरुषश्रेष्ठस्य पुरुषोत्तमस्येत्यर्थः। निपातवेगेन सङ्क्षोभितस्य सञ्चालितस्य स्वस्थानस्थितिक्लिष्टस्य उरगस्य विषेण सह उच्छ्वसितः उद्रेचितः अम्बुराशिः यस्य ह्रदस्य स तथा। विषकषायेण विषक्वाथेन विषरागेण वा विभीषणोर्मिभिः भयङ्करतरङ्गैः भीमः भयजनकः "रागे क्वाथे कषायोऽस्त्री निर्यासे सौरभे रसे" (वैज.को. 7-5-22) इति यादवः । एवंविधो ह्रदो धनुःशतं तीरस्थानमुल्लङ्घ्य पर्यक् प्लुतः परितः उद्रिच्य गतः हरेः एतत् न चित्रमित्याह अनन्तबलस्येति। लक्षयोजनविस्तारायामपरिमितभूप्लावनेऽपि न चोद्यं किमुत धनुःशतमित्यर्थः॥७॥

अङ्ग! नृप! शृणु! वरवारणविक्रमस्य गजेन्द्रविक्रमस्य यद्वा अङ्गैरवयवैः वरणीयस्य वारणस्य विक्रम इव विक्रमो यस्य स तथा। तस्य हरेः भुजदण्डाभ्यां घूर्णस्य मन्द्रध्वनितया क्षुब्धस्य वारः जलस्य घोषमाश्रुत्य तस्मात् स्वसदनाभिभवो यः तम्, अमृष्यमाणः असहमानः[1-] [-1] चक्षुश्श्रवाः सर्पः तं कृष्णं समसरत् संसृतवान् बाधितुमागतवानित्यर्थः। "वरो ना रूप जामात्रोर्देवादेरीप्सिते वृतौ" (वैज.को. 6-5-72) इति॥८॥

अवदातः श्यामलः। "अवदातोऽरुणे पीते श्वेते श्यामे निरामये" इति च। चच्छाद आच्छादितवान् आवृतवानित्यर्थः॥९॥

परिवीतं परिवेष्टितं अदृष्टचेष्टं निश्चेष्टम्॥१०॥

---

1- -1. A,B omit

**गावो वृषा वत्सतर्यः क्रन्दमानास्सुदुःखिताः।**
**कृष्णन्यस्तेक्षणा भीता स्तनन्त इव तस्थिरे॥११।**

अथ व्रजे महोत्पातास्त्रिविधा अतिदारुणाः ।
उत्पेतुर्भुवि दिव्यात्मन्यासन्न भयशंसिनः ॥१२॥

तानालक्ष्य भयोद्विग्ना गोपा नन्दपुरोगमाः ।
विना रामेण गाः कृष्णं ज्ञात्वा चारयितुं गतम् ॥१३॥

तैर्दुर्निमित्तैर्निधनं मत्वा प्राप्तमतद्विदः ।
तत्प्राणास्तन्मनस्कास्ते दुःखशोकभयातुराः ॥१४॥

आबालवृद्धवनितास्सर्वेऽङ्ग पशुवृत्तयः ।
निर्जग्मुर्गोकुलाद्दीनाः कृष्णदर्शनलालसाः ॥१५॥

---

1. A,B,G,J कृष्णे 2- -2. A °णप्राणाः 3. A क्रन्दन्त्य; G,J रुदत्य 4. A,B,G,J ह्यति 5- -5. M °र्दिवि भूम्यात्म° 6. M °श्च 7 K,W वत्सलाः

**श्रीध० अथेति।** भुवि भूकम्पादयः दिवि उल्काप्रातादयः, आत्मनि वामनेत्रस्फुरणादयः आसन्नं भयं शंसितुं शीलं येषां ते॥ ११, १२॥

**तानिति।** तानालक्ष्य गोकुलान्निर्जग्मुरिति तृतीयेनान्वयः। भयोद्विग्नाः भयहेतुभ्यो भीताः भयेन कम्पमाना इति वा॥ १३॥

**तैरिति।** न तं हरिं[1] विदन्तीति अतद्विदः ॥१४॥

**आबालेति।** पशुवृत्तय अतिवत्सलाः ॥१५॥

---

1. B,J,V omit हरिं

**वीर०** वत्सतर्यो दम्याः सुतरां दुःखिताः क्रन्दमाना आह्वयन्त्यः कृष्ण एव न्यस्तानि ईक्षणानि याभिः ताः रुदन्त्य इव तस्थुः ॥ ११॥

दिवि भुवि आत्मनीत्येवं त्रिविधा आसन्नभयसूचकाः उत्पाताः बभूवुः, तत्र भुव्युत्पाता भूकम्पादयः, दिव्युल्कापातादयः, आत्मनि वामनेत्रस्फुरणादयः ॥ १२॥

तानुत्पातानालक्ष्य भयेन उद्विग्नाः कम्पितगात्राः नन्दप्रभृतयो गोपाः रामेण विना गाश्चारयितुं गतं कृष्णं ज्ञात्वा॥ १३॥

तन्माहात्म्यानभिज्ञाः तैर्दुर्निमित्तैः निधनं तद्विपत्तिं[1] प्राप्तमिव ज्ञात्वा यतः तस्मिन्नेव प्राणाः तस्मिन्नेव मनांसि च येषाम्, अतः शोकभयाभ्यामातुराः॥ १४॥

सर्वे अङ्ग! हे राजन्। पशुवत्सलाः धेनुवद्वात्सल्ययुक्ताः कृष्णस्य दर्शने निमित्ते लालसाः निर्जग्मुः ॥ १५॥

---

1. A,B तस्य वि°

**विज०** वत्सतर्यः गर्भाधानयोग्यवयसः ॥ ११॥

त्रिविधा इत्युक्तं विव्रीयते - दिवीत्यादिना। दिवि उत्पाताः आदित्यमण्डले कबन्धादिदर्शनं निर्घातादिभिः भुवि कम्पादिकं आत्मनि देहे वामनेत्रस्फुरणादि, आसन्नभयशंसिनः समीपभयसूचकाः ॥ १२ - १४॥

पशुवत् वृत्तिर्येषां ते तथा दृष्टमात्रव्यवहारिणः ॥ १५॥

**तांस्तथा कातरान् वीक्ष्य भगवान् माधवो[1-] बलः[-1]।**
**प्रहस्य किञ्चिन्नोवाच प्रभावज्ञोऽनुजस्य सः॥ १६॥**

**तेऽन्वेषमाणा दयितं कृष्णं सूचितया पदैः।**
**भगवल्लक्षणैर्जग्मुः पदव्या यमुनातटम्॥ १७॥**

**ते तत्र तत्राब्जयवाङ्कशाशनि ध्वजोपपन्नानि पदानि विश्पतेः।**
**मार्गे[2] गवामन्यपदान्तरान्तरे निरीक्षमाणा ययुरङ्ग सत्वराः ॥ १८॥**

**अन्तर्जले[3] भुजगभोगपरीतमारात्कृष्णं निरीह्मुपलभ्य[4] जलाशयान्ते।**
**गोपांश्च मूढधिषणान्परितः पशूंश्च सङ्क्रन्दतः परमकश्मलमापुरार्ताः[5] ॥ १९॥**

**गोप्योऽनुरक्तमनसो भगवत्यनन्ते तत्सौहृदस्मितविलोकगिरस्स्मरन्त्यः।**
**ग्रस्तेऽहिना प्रियतमे भृशदुःखतमाः शून्यं[6-] प्रियव्यतिहृतं[-6] ददृशुस्त्रिलोकम्॥ २०॥**

---

1- -1. V रोहिणी सुतः 2. M मार्गं 3. A,B,G,J,M °ह्रदे 4. M लक्ष्य 5. V कल्मषमा° 6- -6 K शून्यां प्रियेण रहितां ददृशुस्त्रिलोकीम्। w शून्यां प्रियव्यतिहृतां ददृशुस्त्रिलोकीम्।

**श्रीध० तामिति।** कातरान् भीतान्॥ १६॥

त इति। भगवन्तं लक्षयन्ति यानि पदानि, तैः पदैः सूचितया पदव्या मार्गेण॥ १७॥

पदैर्मार्गज्ञान प्रकारमाह - त इति। विश्पतेः श्रीकृष्णस्यान्येषां पदानामन्तरान्तरे मध्ये मध्ये तत्तदपोह्य। गवां श्रुतीनां मार्गे सत्वरा अप्रमत्ता योगिनः तत्तदुपाध्यपवादेन यथा परं तत्त्वं मृगयन्ते तद्वदिति भावः ॥ १८॥

**अन्तरिति।** ततश्च सर्पशरीरवेष्टितं कृष्णं दूरान्निरीक्ष्य गोपांश्च पशूंश्च तथा तथा निरीक्ष्य, आर्ताः परमकश्मल परं मोहं प्रापुः ॥ १९॥

**गोप्य** इति। प्रियेण श्रीकृष्णेन व्यतिहृतं विरहितं त्रैलोक्यं शून्यं ददृशुः ॥ २०॥

---

1. V omits पदैः 2. V °हनेन 3. V परिवे° 4. B,J omit तथा 5- -5. V omits 6. V omits व्यतिहृतं

**वीर०** तदा तान्निर्गच्छतः कातरांश्चावलोक्य माधवो बलो रामः मधुवंशप्रभवत्वात् माधवः अनुजस्य प्रभावाभिज्ञोऽत एव प्रहस्य किञ्चिदपि नोवाच ॥ १६॥

ते नन्दादयः कृष्णं मृगयन्तः भगवन्तं लक्षयन्तीति तथा तैः ध्वजवज्रादिचिह्नैरिति भावः, पदैस्सूचितया पदव्या मार्गेण यमुनायास्तटं जग्मुः ॥ १७॥

तदेव प्रपञ्चयति - त इत्यनेन। विश्पतेः विश्वस्य पत्युः कृष्णस्य तत्र तत्र ध्वजादिरेखाभिरुपपन्नानि युक्तानि पदानि तत्राशनिः वज्रः गवां मार्गे अन्येषां पदानामन्तरान्तरे मध्ये मध्ये निरीक्षमाणाः अङ्ग! हे राजन्! त्वरायुक्ताः ययुः ॥ १८॥

जलमध्ये भुजगदेहेन परिवेष्टितम् अदृष्टचेष्टितं कृष्णं ह्रदस्य तीरे मूर्छितान् गोपांश्च सङ्क्रन्दतः पशूंश्च आरादेवोपलभ्य ज्ञात्वा आर्तास्सन्तो महत्कश्मलं मोहं प्रापुः ॥ १९॥

तस्य कृष्णस्य सौहृदेन सौहार्देन यत्स्मितं ये च विलोकाः कटाक्षाः तान् गिरश्च समरन्त्यः निरतिशयप्रीतिविषये तस्मिन् सर्पेण ग्रस्ते सति नितरां दुःखेन तमाः प्रियेण रहिताः त्रिलोकीं शून्यां ददृशुः ॥ २०॥

---

1. A,B omit प्रहस्य 2- -2. A,B °दिभिश्चिह्नै° 3. W भोगेन

**विज०** माधवो मधुकुलोद्भवः ॥ १६॥

भगवल्लक्षणैर्हरेः पद्मध्वजादिलक्षणोपेतैः पदैः चरणन्यासैः सूचितया सूचयन्त्या पदव्या मार्गेण ॥ १७॥

वैशद्याय पुनरुक्तं विवृणोति त इति। यवो व्रीहिविशेषः अशनिः वज्रम्। "दम्भोलिदशनिर्द्वयोः" (अम.को. 1-47) इत्यमरः। विश्पतेः प्रजापतेः कृष्णस्य गवां मार्गे कृष्णपादेनान्यस्य गोपस्य अन्यासां गवां पादेनान्तरान्तरे मध्ये मध्ये मिश्रित इति शेषः। गवां पादेन अन्यपदेन वज्रादिलक्षणेन पदेन इतरलक्षणेन पदेन अन्तरान्तरे मध्याविनाभूते वा ॥ १८॥

जलाशयान्ते ह्रदसमीपे परितः स्थितान् गोपादीनुपलक्ष्य परमं कश्मलं मोहम्॥ १९॥

तस्य कृष्णस्य सौहृदं च स्मितं च विलोकश्च गिरश्च तत्सौहृदस्मितविलोकगिरः ताः स्मरन्त्यः प्रियव्यतिहृतं विरहितम्॥ २०॥

ताः कृष्णमातरमपत्यमनुप्रतां[1] तुल्यव्यधास्समनुगृह्य[2] शुचस्स्रवन्त्यः।
त्रस्ताः[3] प्रियव्रजकथाः कथयन्त्य आसन् कृष्णाननेऽर्पितदृशो मृतकप्रतीकाः॥ २१॥

कृष्णप्राणान्निकिशतो[5] नन्दादीन् वीक्ष्य तं[6] ह्रदम्।
प्रत्यषेधत्स भगवान्रामः कृष्णानुभाववित्॥ २२॥

इत्थं[7] स्वगोकुलमनन्यगतिं निरीक्ष्य सस्त्रीकुमार मति दुःखित मात्महेतोः।
आज्ञाय मर्त्यपदवीमनुवर्तमानः स्थित्वा मुहूर्तमुदतिष्ठदुरङ्गबन्धात्॥ २३॥

तत्प्रथ्यमानवपुषा व्यथितात्मभोग स्त्यक्त्वोन्नमय्य कुपितः स्वफणां भुजङ्गः।
तस्थौ श्वसञ्छ्वसनरन्ध्रविषोऽम्बरीष स्तब्धेक्षणोल्मुकमुखो हरिमीक्षमाणः॥ २४॥

तं जिह्वया द्विशिखया परिलेलिहानं द्वे सृक्किणी[9] अतिकरालविषाग्निदृष्टिम्[10]।
क्रीडन्नमुं परिससार यथा खगेन्द्रो बभ्राम सोऽप्यवसरं[11] प्रसमीक्षमाणः[12]॥ २५॥

---

1. A,B,G,J,M प्रविष्टां 2. V. मधिगम्य 3. A,B,G,J,K तास्ताः 4. A,G,J,M,V व्रजप्रिय 5. A,B,G,J,M °र्वि° 6. V,W तद्ह्रदम् 7. A,B,G,J,M,V स्व° 8. A,B,G,J, विषाऽ° 9. A,G,J,M सृक्कि° ; W सृक्व 10. A,B,G,J,V ह्यति° 11. M °ऽप्यपसरन् 12. M °क्ष्य°

**श्रीध० इत्थमिति** । अनन्यगतिम् आत्मानम् इत्थं निरीक्ष्य, अत एव आत्महेतोः स्वगोकुलमति दुःखितमाज्ञाय उरगबन्धात् उदतिष्ठत् इत्यन्वयः॥ २१ - २३॥

**तदिति**। तस्य प्रथ्यमानेन प्रवर्धमानेन[1-] वपुषा व्यथितात्मशरीरः[2] भुजङ्गः कुण्डली[3-] श्रीकृष्णं[3-] त्यक्त्वा, कुपितः स्वफणानुन्नमय्य श्वसन् केवलमीक्षमाणः[4] तस्थौ। कथम्भूतः? श्वसनरन्ध्रेषु नासाविवरेषु विषं यस्य स तथा। अम्बरीषं भ्राष्ट्रः[5] मण्डपाकभाजनमित्यर्थः[6]। तद्वत् सन्तप्तानि स्तब्धानि ईक्षणानि यस्य स तथा। उल्मुकानि मुखेषु यस्य। स च स च[8]॥ २४॥

**तमिति**। हरिश्च क्रीडन् तममुं सर्पं परिससार परितो बभ्राम। अतिकराला विषाग्नियुक्ता दृष्टिर्यस्य तम्। जिह्वया द्विशिखयेति प्रतिमुखम्॥ २५॥

---

1- -1. A,B,J omit 2. V °तात्मा पीडितश° (व्यथितात्म भोगः पीडितनिज शरीरः।) 3- -3 A,B,J °र्लीं उन्मुच्य तं 4. V °लसमी° 5. A,B,J omit भ्राष्ट्रः 6. V मण्डकपा° 7. A,B,J omit इत्यर्थः 8. V omits स च

**वीर०** तां कृष्णस्य मातरं यशोदामपत्यमनूद्दिश्य प्रतप्तां दुःखिताम् अनुगृह्य सम्यगृहीत्वा ह्रदे पतितुमुद्युक्तां निवार्येत्यर्थः। शुचोऽश्रूणि स्रवन्त्यः तया तुल्यदुःखाः प्रियो व्रजो यस्य तस्य कृष्णस्य तास्ताः कथाः[1] पूतनायमलार्जुनभञ्जनादिरूपाः कथयन्त्यः कृष्णस्य आनने अर्पिताः निहिताः दृशो याभिः ताः मृतकप्रतीकाः मृतकल्पाः[2] आसन्॥ २१॥

कृष्ण एव प्राणो येषां तान् कृष्णैकजीवनान् नन्दादीन् तं ह्रदं विशतः प्रवेष्टु मुद्युक्तान् रामः प्रत्यषेधत् निवारितवान्, तत्र हेतुः तत्प्रभाववित् तत्रापि हेतुर्भगवान् ॥ २२॥

न विद्यतेऽन्या गतिः रक्षणोपायो यस्य तत्, आत्मनः स्वस्य हेतोः स्त्रीकुमार पर्यन्तं दुःखितं गोकुलं निरीक्ष्य आज्ञाय तद्दुःखं ज्ञात्वा मर्त्यपदवीमनुवर्तमानोऽत एव मुहूर्तमात्रं तूष्णीं स्थित्वा तत उरङ्गबन्धादुदतिष्ठत् त्याजितोरगबन्धो बभूवेत्यर्थः ॥ २३॥

तस्य कृष्णस्य प्रथ्यमानेन भारीक्रियमाणेन पृथुशब्दात्तत्करोतीति ण्यन्तात् "र ऋतो हलादेः लघोः (अष्टा 6-4-161) इति कतरभावात् कर्मणि लटः शानच्, वपुषा व्यथितस्वशरीरो भुजङ्गः कृष्णमुन्मुच्य कुपितः फणानुन्नमय्य श्वसन् केवलं हरिमीक्षमाणः तस्थौ। कथम्भूतः नासारन्ध्रेषु विषं यस्य, अम्बरीषवत्सन्तप्तानि स्तब्धानि चेक्षणानि यस्य । अम्बरीषशब्दो भ्राष्ट्रवाची "अम्बरीषः पुमान्भ्राष्ट्रं", (वैज.को. 4.3.56) "क्लीबेऽम्बरीषां भ्राष्ट्रो ना" (अम.को. 2-607) इत्यादिनामानुशासनात् "अम्बरीषः" (उणादि सू. 469) इत्यौणादिकसूत्रेण "अबि शब्दे" इत्यस्माद्धातोः "कृतृभ्यामीषन्" (उणादि.सू. 466) इत्यत ईषन्नित्यनुवर्तमाने तत्सन्नियोगेन रुडागमो निपात्यते समस्तपाठे नासिकाच्छिद्रमेव विषपाकभ्राष्ट्रं यस्य स चासौ स्तब्धेक्षणः उल्मुकान्यग्नि कणानि मुखे यस्य उल्मुकवज्ज्वलन्मुखो वा॥ २४॥

द्वे शिखे अग्रभागौ यस्यास्तया जिह्वया द्वे सृक्किणी[3] ओष्ठप्रान्तौ लेलिहानम् अतिकराला विषाग्निभीषणा दृष्टिर्यस्य तममुं कालियं क्रीडन्निव परितश्चचार। "अभितः परितस्समया" इत्यादिवचनेनामुमिति षष्ठ्यर्थे द्वितीया, अमुष्य परितस्ससारेत्यर्थः। यथा गरुडः तद्वत्, सोऽपि कालियोऽप्यवसरं दंशनार्थमन्तरमन्वेषयन् परिबभ्राम॥ २५॥

---

1. W omits कथाः 2. A,B तुल्याः 3. A °क्कि° W °क्क°

**विज०** अपत्यमनुप्रविष्टां आत्मना पुरस्थितह्रदे प्रविष्टां शरीरिण तीरे स्थितां कृष्णमातरं, यशोदां समनुगृह्य परिरम्य यशोदादुःखतुल्यव्यथाः शुचः शोकादश्रूणि स्रवन्त्यः बाष्पधारया नदीं कुर्वत्यः याः पूर्वं व्रजप्रियस्य कृष्णस्य कथाः कथयन्त्यः आसन् ता अधुना त्रस्ताः कृष्णाननेऽर्पितनेत्राः गोप्यो मृतकप्रतीकाविज्ञाता अनेनेति शेषः ॥ २१॥

कृष्ण एव प्राणो येषां ते तथा तान् ह्रदं निविशतः प्रवेष्टुकामान्॥ २२॥

आज्ञाय ज्ञात्वा उरगबन्धात् सर्पकृतबन्धनात् उदतिष्ठत् उत्थितोऽभूत्॥ २३॥

भगवति उत्थिते सर्पः किङ्कियोऽभूदित्याह - **तत्प्रथ्यमानेति**। तेन कृष्णेन प्रथ्यमानवपुषा वर्ध्यमानशरीरेण व्यथितः आत्मभोगः स्वशरीरं यस्य स तथा। अत एव कुपितः अत एव श्वसन् दीर्घश्वासं कुर्वन् श्वसनरन्ध्रे नासिकाछिद्रे

विषाम्बरीष्टं विषभ्राष्टं यस्य स तथा। "क्लीबेऽम्बरीषं भ्राष्टो ना कन्दुर्वा स्वेदिनी स्त्रियाम्" (अम.को. 2-607) इत्यमरः। स्तब्धेक्षण उल्मकमुखश्च स्तब्धे ईक्षणे उल्मुके मुखे यस्य स तथा। "अङ्गारेऽलात उल्मुकम्" (अम. को. 2-606) इत्यमरः। एवंविधो भुजङ्गो हरिमीक्षमाणः तस्थावित्यन्वयः ॥ २४॥

तं अमुं सर्पं परिससार परितश्चचार, द्वे सृक्किणी ओष्ठान्तर्भागौ स सर्पोऽप्यपसरन् तिर्यग्गच्छन् बभ्राम चतुर्दिशं परिवर्तमानोऽभूत्॥ २५॥

---

1. A °क्कि°

एवं परिभ्रमहतौजसमुन्नतांसमानम्य तत्पृथुशिरस्स्वधिरूढ आद्यः।
तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्रपादाम्बुजोऽखिलकलादि गुरुर्ननर्त॥ २६॥

तं नर्तुमुद्यतमवेक्ष्य तदा तदीया गन्धर्वसिद्धमुनि चारणदेववध्वः।
प्रीत्या मृदङ्गपणवानकवाद्यगीतपुष्पोपहारनुतिभिस्सहसोपसेदुः ॥ २७॥

यद्यच्छिरो न नमतेऽङ्ग शतैकशीर्ष्णं तत्तन्ममर्द खलदण्डधरोऽङ्घ्रिपातैः।
क्षीणायुषो भ्रमत उल्बणमास्यतोऽसृङ्नस्तो वमन् परमकश्मलमाप नागः ॥ २८॥

तस्याक्षिभिर्गरलमुद्वमतश्शिरस्सु यद्यत्समुन्नमति निभ्वसतो रुषोच्चैः।
नृत्यन्पदाऽनुनमयन् दमयाम्बभूव पुष्पैस्सुपूजित इवेह पुमान् पुराणः ॥ २९॥

तच्चित्रताण्डवनिरुग्ण फणासहस्रो रक्तं मुखैरुरु वमन् नृप! भग्नगात्रः
स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणं नारायणं तमरणं मनसा जगाम ॥ ३०॥

कृष्णस्य गर्भजगतोऽतिभरावसन्नं पार्ष्णिप्रहार परिरुग्णफणातपत्रम्।
दृष्ट्वाऽहिमाद्यमुपसेदुरमुष्य पत्न्य आर्ताश्छथद्वसनभूषणकेशबन्धाः ॥ ३१॥

तास्तं सुविग्नमनसोऽथ पुरस्कृताऽर्भाः कायान्निधाय भुवि भूतपतिं प्रणेमुः।
साध्व्यः कृताञ्जलिपुटाश्शमलस्य भर्तुर्मोक्षेच्छवश्शरणदं शरणं प्रपन्नाः ॥ ३२॥

---

1. M स्यधि° 2. M °ऽमृत 3. A,B,G,J,M °य° 4. A,B,G,J सुर 5- -5. M तेगरकाल शीर्ष्णं° 6. A,G,J °र° 7- -7 M क्षीणे बले भगवतोल्वणमाशु वक्ताद्रक्तं 8. V,W नृत्यत्प° 9- -9. M स यदा बभूव 10- -10. B,G,J पुष्पैः प्रपूजित इवेह पुमान्; M पुष्पैस्तुतोऽथ भगवान् पुरुषः V पुष्पैस्सुपूजित इवेह पुनः 11. A,B,G,J,M वि 12- -12. A,B,G,J,M फणाऽऽतपत्रो; V फणासहस्रैः 13. K रुनु° 14. M राज° 15. A,M विपन्न 16. °ऽर्हाः 17. A,B,G,J,M कायं नि 18. V पात्य 19- -19 M पुटी परमस्य 20. A,B,G,J °व्स°

**श्रीध० एवमिति**। एवं परिभ्रमेणैव हतमोजो यस्य तम्। उन्नतौ अंसौ यस्य तम्। तस्य मूर्धसु ये रत्ननिकराः तेषां स्पर्शेन अत्यरुणं पादाम्बुजं यस्य सः। अत्र छन्दोभङ्गः आर्षः। ननु कथं चञ्चलेषु शिरस्सु ननर्त ? तत्राह- अखिलकलानाम् आदिगुरुः ॥ २६ ॥

**तामिति** उपसेदुः प्राप्ताः ॥ २७ ॥

**यद्यदिति**। शतैकशीर्ष्णः शतं एकानि मुख्यानि शीर्षाणि यस्य तस्य क्षीणायुषोऽपि पुनर्भ्रमतः यद्यच्छिरो न नमते स्तब्धतां न जहाति। नृत्यच्छलेनाङ्घ्रिपातैः तत्तन्ममर्द। तथा च आस्यतो मुखेभ्यः, नस्तो नासाविवरेभ्यश्च असृग्वमन् ॥ २८ ॥

**तस्येति**। पुनरपि रुषा उच्चैः निश्वसतो यद्वत्समुन्नमति तत्तत्पदाघातेनानुनमयन् इहास्मिन्नवसरे हृष्टैर्गन्धर्वादिभिः शेषासनः पुराण पुरुष इव स यशोदा नन्दनः पुष्पैः पूजितः यद्वा तदा गन्धर्वादिभिः पुष्पैः सुपूजितो गोपैः पुराण इव पुमान् दृष्ट इति। यद्वा, पुष्पैः सुपूजित इव प्रसन्नस्सन् दमयाम्बभूव हितं कृतवानित्यर्थः ॥ २९ ॥

**तदिति** । अरणं शरणम् ॥ ३० ॥

**कृष्णस्येति**। गर्भे जगन्ति यस्य तस्यातिभरेण, अवसन्नमाक्रान्तं, पार्ष्णिः पादपृष्ठम्। आद्यं श्रीकृष्णं, श्रथन्तो विस्रंसमानाः वसनादयो यासां ताः ॥ ३१ ॥

**ता** इति। ताः शरणं प्रपन्नास्सत्यः तं प्रणेमुः। सुविग्नमनसः अतिविह्वलचित्ताः भुवीति तस्मिन् स्थाने जलं दधस्तात्वा तीरे वा। शमलस्य पापात्मनोऽपि, भर्तु र्मोक्षेच्छवः भर्तुर्यच्छमलं तस्य वा। भूतपतिं प्राणिमात्रस्य पतिं, शरणदं आश्रयप्रदम् ॥ ३२ ॥

---

1- -1. A,B,J omit 2- -2. V omits 3. B त्पा° 4. V omits पुराण 5. A,B,J,omit स 6. B adds नन्द 7. A,B,J add प्र 8. A,B,J प्र 9. A,B,J प्र 10. V omits ताः 11. V omits अति 12. A,B,J °लाध° 13. A,B,J °प्स°

**वीर०** एवं परिभ्रमणेनैव गतबलम् उन्नतौ अंसौ यस्य तं कालियमानम्य नम्रं कृत्वा तस्य पृथुषु विपुलेषु शिरस्स्वधिरूढः आद्यः अखिलविद्याकारणभूतः अखिलानां भरतशास्त्रविदाम् आदिगुरुः, हेतुगर्भमिदम्। तत्त्वात् चपलेष्वपि शिरस्सु ननर्त। कथम्भूतः ? तस्य मूर्धसु ये रत्नसमूहाः तेषां स्पर्शेन अत्यरुणं पदाम्बुजं यस्य तथाभूतः ॥ २६ ॥

नृत्यं कर्तुमुद्युक्तं तं कृष्णमवेक्ष्य तदीया भगवत्सेवकाः गन्धर्वादयः प्रीतिपूर्वकं मृदङ्गादिभिरुपलक्षिता सहसा आशु उपसेदुः आजग्मुः। यद्वा तदीयाः कालियस्य परिजनाः उपसेदुः। गन्धर्वादयश्च तथा भगवन्तं सेवितुं मृदङ्गादिभिस्सह उपसेदुरित्यन्वयः ॥ २७ ॥

शतमेकानि मुख्यानि शिरांसि यस्य तस्य शतैकशीर्ष्णः कालियस्य आर्षत्वात् "शीर्षन् छन्दसि" (अष्टा 6-1-61) इति शिरश्शब्दस्य शीर्षन्नादेशः। यद्यच्छिरो न नमते नम्रं नाभूत् अङ्ग हे राजन्! तत्तच्छिरः कर्म अङ्घ्रिपातैः खलदण्डधरः हेतुगर्भम्। तत्त्वात् ममर्द। कथम्भूतस्य? क्षीणमायुर्बलं वा यस्य भ्रमतः तदा आस्यतो मुखेभ्यः नस्तो

नासिकाभ्यश्च उल्बणमुष्णमधिकं वा असृक् रुधिरं वमन् उद्गिरन् स नागः कालियः परमधिकं कश्मलं मोहं मूर्छां दुःखं वा आप[1] लेभे॥ २८॥

अक्षिभिः नेत्रैः विषमुद्गमतः पुनः रुषा क्रोधेन उच्चैः निश्वसतः श्वासं मुञ्चतः तस्य शिरस्सु मध्ये यद्यच्छिरः कर्तृसमुन्नमति उद्धृतं[2] बभूवेत्यर्थः। तत्तत् पदा पादघातेन अनुनमयन् प्रह्वीकुर्वन् इत्थं नृत्यन् दमयाम्बभूव दण्डयामास। कथम्भूतः ? पुष्पैः पुष्पवर्षैः सुपूजितः गन्धर्वादिभिरिति कर्तृपदाध्याहारः। तादात्विकं भगवन्तं लक्षयति इह अस्मिन्नवसरे पुराणः पुमानिव शेषासनो भगवानिवाऽलक्ष्यतेत्यर्थः॥ २९॥

तस्य भगवतः चित्रेणोद्भटेन ताण्डवेन नृत्तेन निरुग्णं नितरां पीडितं फणानां सहस्रं यस्य, भग्नं गात्रं यस्य स कालियः हे नृपः मुखैः रुधिरम्[3]मुवमन् उद्गिरन् तदा तं कृष्णं चराचरात्मक सर्वभूतनियन्तारं पुराणं पुरुषं श्रीनारायणं स्मृत्वा तमेव मनसा अरणं शरणं जगाम॥ ३०॥

कृष्णस्य गर्भे यज्जगत् तस्य अतिभरेणावसन्नं पीडितं पार्ष्णिप्रहारैः पादपृष्ठघातैः परितो रुग्णाः पीडिताः फणा एवाऽऽतपत्राणि यस्य तमहिं कालियं दृष्ट्वा अमुष्य कालियस्य पत्न्यः, आर्ता दुःखिताः विस्रंसमानाः वसनादयो[4] यासां ताः। आद्यं श्रीकृष्णमुपसेदुः उपजग्मुः॥ ३१॥

ताः कालिय[5]स्य पत्न्यः सुविग्नानि नितरां भीतानि मनांसि यासाम्, अत एव पुरस्कृताः पुरोनिधापिताः अर्भाः बालाः याभिः ताः तथाभूताः भुवि कायान् देहान् निधाय दण्डवत्पातयित्वा तं भूतपतिमपराधानवेक्षणेन शरणागतभूतमात्ररक्षितारं कृष्णं प्रणेमुः नमश्चक्रुः। ततः ताः साध्व्यः पतिव्रताः शमलस्य पाप्मनो भर्तुः बिभ्रतः मोक्षेच्छवः भर्तुश्शमलस्य वा। कृताञ्जलिपुटाः[6] शरणदं शरणं रक्षणोपायमात्मानं ददातीति तथा तम्। "य आत्मदा बलदा" (तैत्ति. सं 4-1-8) इति श्रुतेः। तं कृष्णं शरणमुपायं प्रपन्नाः अध्यवसितवत्यः। "अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्। तदेकोपायतायाच्च्या प्रपत्तिश्शरणागतिः" (विष्वक्सेनसंहिता) इत्युक्तविधां प्रपत्तिं चक्रुरित्यर्थः॥ ३२॥

---

1. K आप 2. K उन्नतं 3. A,B °मुद्गमन् 4. A,B वस्त्रादयो 5. A,B °यप° 6. A,B,W धृ°

**विज०** हतौजसं क्षीणबलम् आनम्य आनमय्य[1] प्रह्वीकृत्य अमृतकलस्य चन्द्रस्याधिगुरुः परमगुरुः अमृतकलानामधिको गुरुः उद्गिरणशील इति भावः। इदं विषौषधज्ञानार्थमुक्तम्॥ २६॥

उपसेदुः उपस्थिताः॥ २७॥

गरकालशीर्ष्णः विषेण नीलशिरसः सर्पस्य। "मूर्छा तु कश्मलं मोहः" (2-566) इत्यमरः॥ २८॥

शिरस्सु मध्ये यद्यच्छिरः समुन्नमति तत्तच्छिरः अनुनमयन् नृत्यन् बभूव॥ २९॥

अङ्घ्रिपातविरोषेण रुग्णं भुग्नम्[2]। अरणं शरणं क्षीरसागरशायीयस्तम्॥ ३०॥

गर्भे जठरे जगद्यस्य सः गर्भ जगत् तस्य कृष्णस्य अतिभरेणावसन्नः पीडितः पार्ष्णिः पादपृष्ठभागो यः तेन कृतेन प्रहारेण परिरुग्णं फणातपत्रं यस्य स तथा तम्॥ ३१॥

पुरस्कृतार्हाः अग्रे कृतपूजनाः परमस्य सकाशात् पत्युर्मोक्षेच्छवः ॥ ३२ ।

1- -1. A omits 2. A,B भ°

## —: कालिय पत्नीकृत कृष्णस्तुति :—

नागपत्न्य ऊचुः

न्याय्यो हि दण्डः कृतकिल्बिषेऽस्मिंस्तवावतारः खल निग्रहाय!
रिपोस्सुतानामपि तुल्य दृष्टिर्धत्से दमं फलमेवानु शंसन्[1]॥ ३३ ॥

अनुग्रहोऽयं भवता[4] कृतो हि नो दण्डोऽसतां ते खलु कल्मषापहः ।
यद्दन्दशूकत्वममुष्य देहिनः क्रोधोऽपि तेऽनुग्रह एव सम्मतः ॥ ३४ ॥

तपस्सुतप्तं किमनेन पूर्वं निरस्तमानेन च मानदेन ?।
धर्मोऽभवा सर्वजनानुकम्पया यतो भवांस्तुष्यति सर्वजीवः[5] ॥ ३५ ॥

कस्यानु भावोऽस्य न देव! विद्महे तवाङ्घ्रिरेणु स्पर्शाधिकारः ।
यद्वाञ्छया श्रीललनाऽऽचरत्तपो विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता ॥ ३६ ॥

न नाकपृष्ठं न च सार्व भौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धिरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजः[7] प्रपन्नाः ॥ ३७ ॥

1. A,B,G,J,M,V °ष्टे° 2. धर्म 3. M शंस्यम्। 4. A,G,J °तः 5. K,W °वनः 6. V °द्धिर्न° 7. M तत्पा°

**श्रीध०** प्रथमं तावत् कुपितं भगवन्तं दण्डानुमोदनेनोपशमयन्त्यः स्तुवन्ति, **न्याय्य इति**। तत्र — ★ "दण्डानुमोदनं षड्भिः दशाभिश्च हरेस्स्तुतिः[1]। प्रार्थना[2] पञ्चभिश्श्लोकैस्तत्तः पन्नगयोषिताम्" ॥ न च निग्रहानुग्रह लक्षणम् वैषम्यं तवास्तीत्याह[3]ः धत्सेहुः दमिति। फलम्[5] अनुशंसन् ओलाचयन् ॥ ३३ ॥

निग्रहोऽप्यनुग्रहायेत्युक्तं[6] पूर्वम्[7]। इदानीमनुग्रह एवायम्। न निग्रह इत्याहुः — **अनुग्रह** इति। नोऽस्माकं यस्मादमुष्य[8] सर्पत्वं दृश्यते। अतः तन्मूलपापनिवर्तको दण्डः अनुग्रह एवा क्रोधत्वेन प्रतीयमानोऽपीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

महांश्चायमनुग्रह इति तस्य पूर्वपुण्यमभिनन्दन्ति[9] — **तप** इति। स्वयं मानरहितेन अन्येभ्यो मानदेन च। सर्वं जीवयतीति सर्वजीवः ॥ ३५ ॥

न तप आदिनिमित्तकं[10] एष भाग्योदयः किन्तु अचिन्त्यं तव कृपावैभवमित्याहुः **कन्येति** श्लोकत्रयेण। तपआदिना ब्रह्मादयोऽपि यस्याः श्रियः प्रसादमिच्छन्ति। सा श्रीः ते[11] ललनापि श्रीरेव[1] ललना उत्तमा स्त्री। यस्य त्वदङ्घ्रिस्पर्शाधिकारस्य

वाञ्छया। स्प[12] र्शाधिकार इत्यत्र छन्दोभङ्ग आर्षः[42]। तप आचरत्। अस्य सर्पस्य किं[13] कृतमिति[13] को वेत्तीत्यर्थः॥ ३६॥

**नेति।** यत्तव पादरजः प्रपन्नाः प्राप्ताः पारमेष्ठ्यार्च[14]पि तुच्छं मन्यन्ते॥ ३७॥

---

★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः 1. A,B,J °नीतिः 2. A,B,J °नं 3. V omits तवास्ति 4. V omits दमं 5. A,B,J omit फलम् 6. V °स्या° 7. A,B,J omit पूर्वम्। 8. V°दस्य 9. V °ति 10. A,B,J omitक 11- -11. A,B,J omit 12- -12. A,B,J omit 13- -13. B सः किं कृतवानिति 14. V °दीनपि

**वीर०** तत्र भगवतः तदितरासाध्यस्वभर्तृप्राणसंरक्षणात्मकस्वाभीष्टोपायतां महाविश्वासपूर्वकं यियाचिषवः तावद्याचनीयत्वोपयुक्तगुणवत्तां स्तुतिव्याजेनाऽऽविष्कुर्वत्यः तावद्रक्षणीयस्य स्वभर्तुः कार्पण्यं भवान्तरसुकृतवत्त्वं च सूचयन्त्यः प्रकृतमेतस्य दमनमहितव्याजं हितमेव तच्च समदृशा त्वया कर्तुमुचितमेवेति विज्ञापयामासुः **न्याय्य** इत्यादिना द्वयेन। ततः चतुर्भिः कार्पण्यसुकृतवत्वे, ततो दशभिर्यचनीयत्वोपयुक्तगुणानाविष्कर्तुं स्तुतिः। ततः पञ्चभिः याच्चेति विवेकः। कृतं किल्बिषं हृदविदूणात्मकं त्वद्दंशनात्मकं वा येन। अस्मिन् यस्त्वया धृतो दण्डः स न्याय्य उचित एव। कृतकिल्बिष इत्यनेन तस्य दण्डयत्वम् आकिञ्चन्यं प्रत्युत सापराधत्वं च सूचितम्। अथतद्दण्डयितृत्वं न्याय्यमित्यभिप्रायेणाऽहुः तवावतारः खलनिग्रहाय[2] खलानां[2] दुष्कृतां[3] निग्रहार्थं हि तवावतार इत्यर्थः। नन्वेवमपि वात्सल्यनिधेर्ममैतदनुचितमित्यत्राऽऽहुः - रिपोरिति। रिपोस्सुतानामपि विषये तुल्या वैषम्यरहिता दृष्टिर्यस्य तथाभूतस्त्वं फलं हितात्मकमेव अनु समनन्तरमेव शंसन् सूचयन् तावद्दमं दण्डं धत्से करोषि। रिपोस्सुतानानमपीत्यनेन मित्रामित्रविभागानादेरणापराधिनां सर्वेषामपि दमं धत्से इति सूचितम्। अत एव तुल्यदृष्टिः, यद्वा "हरिर्दुःखानि भक्तानां हितबुद्ध्या करोति वै। शस्त्रक्षाराग्निकर्माणि[4] स्वपुत्राय पिता यथा" इत्युक्तरीत्या अनुगृह्यमाणानां तावत् पुत्रादीनामिव सर्वेषामपि तादात्विकाहितव्याजं हितमेव करोषीति सूचितम्। अतोऽयं दण्डोऽनुग्रहरूप एव। अतः[5] वात्सल्यनिधेः तव उचितश्चेति भावः॥ ३३॥

दण्डस्यानुग्रहरूपतामेव स्पष्टयन्ति **अनुग्रह** इति। भवता यः कृतो दण्डस्सोऽयं नोऽस्माकमस्मद्विषये अनुग्रह एव। कुतः यतस्ते[6] दण्डः त्वत्कर्तृको[7] दण्डोऽसतां नोऽस्माकं कल्मषापहः दुरितापहः। किं तत् कल्मषम्? यदपहन्ता मद्दण्डः। तत्राऽऽहुः अमुष्य देहिनः कालियाख्यजीवस्य यत् यस्मात् कल्मषात् दन्दशूकत्वं सर्पत्वं प्राप्तमिति शेषः। तत्कल्मषापह इत्यर्थः। अतस्तव क्रोधोऽप्यनुग्रह एव। अनुग्रहगर्भ एव सम्यक् मतः विज्ञातः॥ ३४॥

कृतकिल्बिषे दन्दशूकत्वमिति पदद्वयेन साधनान्तरराहित्यात्मकम् आकिञ्चन्यरूपं कार्पण्यं सूचितम्। अथ ईश्वरानुग्रहनिमित्तं सुकृतवत्त्वमनुमान्ति **तप** इति। अनेनास्मद्भर्त्रा पूर्वं पूर्वस्मिन् जन्मनि निरस्ताहङ्कारेण मानदेन महद्भ्यः पूजाप्रदेन च सता किं तपस्सुतमं सुष्ठु कृतम्? पाकं पचतीतिवन्निर्देशः। अथवा सर्वभूतानुकम्पया कश्चिद्धर्मो वा अनुष्ठितस्स्यात्। कथमेवं ज्ञायत इत्यत्राऽऽहुः। यतः सर्वान् जीवयति "को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्" (तैत्ति.आ. 2-7) इति श्रुत्युक्तरीत्या भोगमोक्षप्रदानेनोज्जीवयतीति तथा। भवान् तुष्यति तुष्टो भवितुं तावद्दण्डयतीति भावः। तपोधर्मयोरनिर्वचनीयत्वाभिप्रायकः किंशब्दः। अनेनानुष्ठितौ तपोधर्मौ इदमित्थंतया नास्माभिरल्पबुद्धिभिर्निर्वक्तुं शक्यौ। किं तु केवलं सर्वान्तरात्मनो भवतस्तोषाल्लिङ्गात् तन्निमित्तं किञ्चित् तपआदिकं कृतमित्यनुमास्याम[8]ः इति भावः। यद्वा तप इत्यादिभिश्चतुर्भिः कार्पण्यमेवाऽऽविष्क्रियते।

अयमर्थः पूर्वमनुग्रहरूपात् दण्डात्प्रागनेन निसर्गतः क्रूरेणानेन सर्पेण किं तपस्सुतप्तम् न किञ्चित्, अथवा को धर्मः न कश्चित्, यतो येन तपसा धर्मेण वा भवांस्तुष्यति, तन्न किञ्चिदपि कृतमित्यर्थः। स्वभावतः क्रूरस्य निरस्तमानत्वाद्यसम्भावनाप्रदर्शनाय तद्विशेषणानि॥ ३५॥

**कस्येति**। अस्य कालियस्य त्वत्पादरजस्स्पर्शाधिकारः कस्य पुण्यस्यानुभावः प्रभावः? तत्पुण्यमयं न वेद वयमपि न विद्मः। यद्वा कस्य न कस्यचिदपि तादृशं पुण्यमस्मिन् सर्पजातौ किञ्चिदपि सम्भावितमित्ययं न वेद वयमपि न विद्महे इत्यर्थः। तवेत्यनेन तदङ्घ्रिरेणौदौर्लभ्यमभिप्रेतम्। तदेवाऽऽविष्कुर्वन्ति यद्वाञ्छयेति। यद्वाञ्छया यदङ्घ्रिरेणुलिप्सया श्रीललना श्रीर्लक्ष्मीरेव ललना यस्याः पादरजो ब्रह्मादयो लिप्सन्ति। सा श्रीरपि कामानङ्घ्रिरेणुव्यतिरिक्तान् पुरुषार्थान् विहायानिच्छन्ती धृतव्रता धृतं तपश्चर्योपयुक्त मिन्द्रियजयात्मकं व्रतं यथा तथाभूता तपो बहुकालमचरत्। पुरा श्रीर्वेदवतीरूपेण तपश्चचारेति श्रीरामायणकथा अत्र सूच्यते॥ ३६॥

**नन्वैश्वर्यैकैवल्यादिषु प्रार्थनीयपुरुषार्थेषु** सत्स्वपि तान्विहाय किंविशेषेण मदङ्घ्रिरेणुं वाञ्छन्तीत्यत्राऽऽहुः — **नेति**। ये त्वत्पादरजःप्रपन्नास्ते पारमेष्ठ्यादिकं न वाञ्छन्ति। पारमेष्ठ्यादिभ्योऽतिशयपुरुषार्थरूपं त्वत्पादरजः सेवमानास्तेनैव तृप्ताः पारमेष्ठ्यं चतुर्मुखैश्वर्यम्। नाकपृष्ठं स्वर्लोकं, सार्वभौमं चक्रवर्तित्वम्। रसाधिपत्यं भूलोकादधस्तनलोकाधिपत्यम्। योगसिद्धीः अणिमादीः, अपुनर्भवं कैवल्यम्॥ ३७॥

---

1. K omits तत् 2- -2. A,B omit 3- -3. A,B दुष्टानां 4. A,B क्षु° 5. A,B omit अतः 6. W omits यतः 7. A,B °क° 8. A,B,W °महे 9. A,B °गेवानेन

**विज०** दण्डः शासनं न्याय्यो युक्तं रिपोः सुतानामिति षष्ठी सप्तम्यर्थे। रिपोः सुतेष्वपि तुल्यदृष्टे। त्वं तेषु उभयेषु अपराधेषु दमं दण्डं धत्से। कथं धत्स इति तत्राह - फलमिति। अनुशंस्यं अपराधानुरूपं फलम् अनुग्रहलक्षणं दण्डं करोषीत्यन्वयः ॥ ३३॥

ननु निगृह्णतः कथमनुग्रहो भवतीत्यत्राह **अनुग्रह** इति। हिशब्द एवार्थे। भवता सर्वपूज्येन त्वया नः अस्माकं अयमनुग्रह एव कृतः न तु विरोधः कृतः। ते त्वया क्रियमाणो दण्डोऽसताम् असाधुभावानां दुष्टकर्मणां तामसयोनिं प्राप्तानां कल्मषापहः खलु पापपरिहारक एव अमुष्यासत्वं कथमत्राह — यदिति। अमुष्य कालियनाम्नो दन्दशूकत्वं तत्तत्प्राणिदंशनशीलयोनित्वमभूत् इति ज्ञायते। यद्यस्मात्तस्मात् असत्त्वं योग्यं तथा। अतः ते तव क्रोधः क्रोधकारणदण्डो योग्यस्य देहिनोऽनुग्रहः सम्मतः अस्माभिः प्रतिपन्न इत्यन्वयः। "दण्डोऽपि भगवच्चीर्णो ममैषोऽनुग्रहः कृतः" (महाकौर्मे) इत्यादिस्मृतेः। भक्तिमत एवायं विशेष इति ज्ञायते॥ ३४॥

यद्दन्दशूकत्वमपि न दुष्कर्मनिमित्तम् अपि तु पूर्वजन्मन्यत्युत्कटत्वद्विषय तप आदि प्रभावोपनतमिति मन्यामहे। "**अत्युत्कटैः पुण्यपापैः इहैव फलमश्नुते**"। यतोऽस्य गवादि प्राणिद्रोहत्वदंशनोत्पन्नपापपरिहाराय तव लक्ष्म्यादि सर्वदेवताबाञ्छितसेवा चरण सरोजरेणुमन्दिरमूर्द्धाऽभूदिति भावेन वदन्ति **तप** इत्यादिना। भूदानादिलक्षणो धर्मः। सर्वेषां जीवानां प्राणभूतः सर्वान् जीवयतीति वा॥ ३५॥

तप आदिषु कस्य पुण्यस्यानुभावोऽयं प्रभावः अध्यवसायो वा। काम्यन्त इति कामाः विषयाः तान्॥ ३६॥

कीदृशाविषया इति भावेन तानाहुः **न नाकेति**। "नाकस्य पृष्ठे सुकृतेऽनुभूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्तिति (मुण्ड.उ. 1-210) इति पारमेष्ठ्य सत्यलोकः। सार्वभौमं चक्रवर्तिपदं। "इमारामाः सरथाः सतूर्याः" (कठ.उ. 1-25) इत्यादिलक्षणं रसाधिपत्यं अखिलस्वर्गविभवं, योगसिद्धीः अणिमादिलक्षणाः अपुनर्भवं अपक्वभक्तिलभ्यं मोक्षम्। "अपुनर्भवमात्रद्धि हरिसामीप्यमुत्तमम्" (पाद्मे) इत्यादि स्मृतेः॥ ३७॥

**तदेष नाथाऽऽप दुरापमन्यै स्तमोजनिः क्रोधवशो ह्यहीशः।**
**संसारचक्रे भ्रमतश्शरीरिणो यदृच्छया स्याद्भवतस्समक्षम्॥ ३८॥**

**नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने।**
**भूतावासाय भूताय पराय परमात्मने॥ ३९॥**

**ज्ञानविज्ञाननिधये ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।**
**अगुणायाविकाराय नमस्ते प्राकृताय च॥ ४०॥**

**कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे।**
**विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे विश्वहेतवे॥ ४१॥**

**भूतमात्रेन्द्रिय प्राणमनोबुद्ध्याशयात्मने।**
**त्रिगुणेनाभिमानेन गूढस्वात्मानुभूतये॥ ४२॥**

---

1. M तदीश 2. A,B,G,J °शोऽप्यहीशः; M °शोऽप्यनीशः; V °शो ह्यहीन्द्रः 3- -3. A,B,G,J यदिच्छतः स्याद् विभावः समक्षः; M यदीप्सितं स्यद्धि भवत्समक्षम्; V यदिच्छतः स्याद् विभवः समक्षम्। 4. A,G,K,M °स्तेऽप्रा° 5. K,W विश्वरूपाय 6. A तस्य 7. M निर्गु°

**श्रीध० तदिति**। अहो तदेष अयत्नत एव प्राप। अन्यैः[1] ब्रह्मादिभिरपि। पुनः[2] कथम्भूतं पादरजः? यदिच्छतः सेव्यं मे भवत्विति प्रार्थयमानस्यैव[-3]। समक्षं[4] प्रत्यक्षं[5] त एव[-5]। विभवः अपेक्षिता सम्पद्भवति॥ ३८॥

**नम** इति।[6] भगवते अचिन्त्यैश्वर्यादिगुणाय। तदुपपादानाय[7] दशभिश्श्लोकैः विशेषणानि। पुरुषाय पूर्षु अन्तर्यामिरूपेण वर्तमानाय। महात्मने एवमपि अपरिच्छिन्नाय[8]। कुतः? भूतावासाय आकाशाद्याश्रयाय। तदपि[9] कुतः? भूताय पूर्वमपि स ते कुतः? पराय कारणाय। किञ्च परमात्मने कारणातीताय[10]॥ ३९॥

कारणत्वं कारणातीतत्त्वं च समर्थयितुमाहुः **ज्ञानेति**। ज्ञानविज्ञाननिधये ज्ञानं ज्ञप्तिः। विज्ञानं चिच्छक्तिः त[11] योः निधये, ताभ्यां प[12]रिपूर्णाय कथं तथा त्वम् अत उक्तम् ब्रह्मणे अनन्तशक्तये। ब्रह्मणे कथम्भूताय? अगुणायाविकाराय, पु[13]नः कथम्भूताय? अनन्तशक्तये, प्राकृताय प्रकृतिप्रवर्तकाय। य[14]द्वा अप्राकृताय[15] अप्राकृतानन्तशक्तियुक्ताय। अयमर्थः- अगुणत्वा दविकारं ब्रह्मज्ञप्तिमात्रत्वात्कारणातीतं प्रकृति प्रवर्तकानन्तशक्तिविज्ञाननिधित्वादीश्वरः कारणम्। तदुभयात्मने नम इति॥४०॥

अनन्तशक्तित्वात् कालशक्त्या विश्वस्रष्टृतवादिरूपेण नमस्यन्ति **कालायेति**। कालाय कालस्वरूपाय, कालनाभाय कालक्त्याचाश्रयाय। कालावयवानां सृष्टचादिसमयानां साक्षिणे। ततश्च विश्वाय विश्वस्व[16]रूपाय, तर्हि किं जडोऽहम्? न हि, तदुपद्रष्ट्रे, न च द्रष्टृमात्राय। किन्तु तत्कर्त्रे न च कर्तृमात्राय। विश्वहेतवे सर्वकारण[17]रूपाय॥ ४१॥

तदेवाहुः **भूतेति**। आशयः चित्तं, भूतादिरूपाय। अतः सर्वका[18]रण रूपायेति अहङ्कारात्मतया नमस्यन्ति त्रिगुणेनेति। एवं सृ[19]ष्टिकार्ये यस्त्रिगुणोऽभिमानः। तेन गू[20]ढानां स्वांशभूतानामात्मनाम्[21] अनुभूतिः येन तस्मै॥ ४२॥

---

1. A,B,J श्वादि° 2. A,B,J omit पुनः 3- -3. V °यत एव। 4. A,B,J °क्षः 5- -5. A,B,J °क्ष एव। 6. A,B,J add नमस्तुभ्यं 7. V adds एतानि 8. A,B,J नातिपरि 9. A,B,J एत° 10. V adds इति वा 11. A,B,J उभयोः 12. A,B,J omit परि 13. B,J omit पुनः 14. A,B,J omit यद्वा 15. A,B,J add इति वा। 16. A,B,J omit स्व 17. A,B,J °क 18. A,B,J °क 19. A,B,J सृष्टे कार्ये 20. A,B,J गूढा 21. A,B,J add जीवानाम्

**वीर०** तर्ह्येवं कृपणस्यापि कथं दुर्लभतममत्पादरजस्पर्शाधिकारः तत्राऽऽहुः - **तदिति**। एषः अहिशस्सर्पाधिपः तमोजनिः तमःप्रचुरजन्मा अत एव क्रोधवशः तदपि तथाऽपि हे नाथ! अन्यैः दुष्प्रापं त्वत्पदाम्बुजस्पर्शम् आप लेभे। यद्भवतः समक्षं प्रत्यक्षत्वं तदन्यैर्दुरापमप्येष आपेति वा अन्वयः। युक्तं चैतदित्याहुः - संसारचक्रे स्वकर्मभिर्भ्रमतो जीवस्य यदृच्छया भवतस्समक्षत्वं स्यात्। "एवं संसृति चक्रेऽस्मिन्भ्राम्यमाणे दुरत्यये। जीवे दुःखाकुले विष्णोः कृपा काऽप्युपजायते" (अहिर्बुध्न्यसंहिता) इति स्मरणात् इति भावः। विभव इति पाठे विभवः त्वदनुग्रहरूपो विभवस्समक्षः प्रत्यक्षः स्यादेव यादृच्छिकादिसुकृतविशेषरूपव्याजमात्रावलम्बनेनानुजिघृक्षोर्वात्सल्यनिधेः तवानुग्रहरूपो विभवः प्रत्यक्षस्स्यादेव। अन्यथा कस्यापि चेतनस्य निर्दुष्टस्यासम्भवात् त्वत्कृपा निर्विषयैव स्यादिति भावः॥ ३८॥

तदेवं, कार्पण्यमाविष्कृत्याथ शरण्यत्वोपयुक्तगुणैर्विशिंषन्त्यः स्तुवन्ति - **नम**[2] इत्यादिभिः दशभिः। चतुर्थ्यन्तानां भगवते इत्यादीनां तुभ्यं नम इत्यन्वयः। तत्र आश्रितकार्यनिर्वाहका आश्रयणसौकर्यापादकाश्चेति द्विविधाश्शरण्यगुणाः। तत्र ज्ञानशक्तिपूर्तिप्राप्तचादय आश्रितकार्यनिर्वाहकाः। तत्र ज्ञानमनिष्टपरिहारेष्टप्रापणोपयुक्तरूपम्। तच्च ज्ञानविज्ञाननिधय इत्यनेनोक्तम्। ज्ञानमनिष्टपरिहारोपयुक्तं, विज्ञानमिष्टप्रापणोपयुक्तम्। तयोर्निधिराश्रयः तस्मै। शक्तिर्नामाघटितघटनसामर्थ्याद्यात्मिका। सा चानन्तशक्तय इत्यनेनोक्ता। ब्रह्मण इत्यनेन सर्वशेषित्वादिगुणबृहत्त्ववाचिना भगवत इत्यनेन च षाड्गुण्यपूर्णत्ववाचिना पूर्तिप्राप्ती विवक्षिते, पूर्तिः अवाप्तसमस्तकामत्वम्। प्राप्तिः निरुपाधिकशेषित्वम्। आश्रयणसौकर्यापादकास्तु गुणाः परत्वस्वामित्वसौशील्यवात्सल्यादयः। तत्र भूताय पराय परमात्मन इति परत्वमुक्तम्। परत्वं नाम स्वेतरापेक्षयोत्कृष्टत्वम्। "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः" (भ.गी.15-17) इति स्वेतरनिखिलजगदन्तःप्रवेशनप्रशासनाभ्यां व्याप्यगतदोषास्पर्शेन

च धारकत्वं हि परमात्मशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमवगतम्, अनेन स्वेतरनियाम्यसर्ववस्त्वपेक्षयोत्कृष्टत्वं स्पष्टमेव। पराय भूताय, भूतत्वमत्र सर्वेभ्यः कारणतया प्रगवस्थितत्वम्। परमकारणायेत्यर्थः। अनेनापि परत्वं स्पष्टमेव। भूतावासाय इत्यनेन सौलभ्यमवगतम्। परत्वयुक्तोऽपि न मेर्वादिवद्दूरतरः। अपि तु सर्वभूतहृदयगुहावास इति भावः। अनेन सौलभ्यं सुव्यक्तमेव। पुरुषाय महात्मने इत्यनेन सौशील्यं विवक्षितम्। स्वयं वाचामगोचरमाहात्म्ययुक्तोऽपि यादवानामन्यतमपुरुषरूपेण तैस्सह संश्लेषस्वभाव इति भावः। महतो मन्दैस्सह संश्लेषस्वभाववत्त्वं हि सौशील्यम्। महापराधिनं कालियमनुग्रहीतुमुद्योगप्रख्यापनपरेणानेन प्रकरणेन वात्सल्यं व्यक्तमेवावगतम्। भूतावासाय परमात्मने इति व्यापकत्वोक्त्या प्रसक्तं व्याप्यगतदोषं परिजहुः अगुणायेति। हेयगुणरहिताय पराय भूतायेति कारणत्वोक्त्या प्रसक्तविकाराश्रयत्वपरिहाराभिप्रायेणाविकारायेत्युक्तिः। सद्वारकविकाराश्रयत्वेन कारणत्वेऽपि स्वरूपतः स्वभावतश्चाविकारायेत्यर्थः। सद्वारकविकाराश्रयत्वमेव स्पष्टयन्ति। प्राकृताय "भूमिरापोऽनलो वायुः" (भ.गी. 7-4), "अपरेयमितस्त्वन्याम्" (भ.गी. 7-5) इतिश्लोकद्वयोक्तप्रधानपुरुषात्मकप्रकृतिद्वयद्वारा तद्गतविकाराश्रयाय॥ ३९,४०॥

सत्त्वादिप्रकृतिगुणक्षोभनिमित्तकालस्यापि पृथङ्निमित्तताव्युदासाय तस्य तत्सामानाधिकरण्यनिर्देशः **कालायेति।** कालात्मकायेत्यर्थः। तदात्मकत्वं न मृदात्मको घट इतिवत् स्वरूपाभेदनिबन्धनम्; अपि तु आत्मा देवो जात इतिवत् शरीरात्मभावनिबन्धनमित्यभिप्रायेणाऽऽहुः कालनाभायेति। कालो नाभिवदङ्गभूतो यस्य स कालनाभः। "अच्प्रत्यन्ववपूर्वात्सामलोम्नः" (अष्टा. 5-4-75) इत्यत्र अजिति येगविभागाश्रयणात् सर्वसमासान्तोऽच्प्रत्ययः। यद्वा कालस्य नाभिः नेम्यरादीनां नाभिवद्धारकः आत्मभूत इति यावत्। देवमनुष्यादिदेहपारवश्येन जीवस्य तच्छरीरकत्ववत् न कालपारवश्येन तच्छरीरकत्वम्, अपि तु तद्यथात्म्यावलोकनेन इत्यभिप्रायेणाहुः - कालावयवसाक्षिण इति। कालावयवानां निमेषादि वत्सरान्तानां साक्षिणे साक्षाद्द्रष्ट्रे पराय भूतायेत्युक्तकारणत्वप्रयुक्तकार्यानन्यत्वाभिप्रायेण कार्यसामानाधिकरण्येन निर्दिशन्ति विश्वायेति। विश्वात्मकायेत्यर्थः। तदात्मकत्वं किं तत्स्वरूपाभेद निबन्धनम्? नेत्याहुः विश्वरूपायेति। विश्वं रूपं शरीरं यस्य तस्मै शरीरात्मभावनिबन्धनं सामानाधि करण्यमिति भावः। यद्वा सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्यैव कारणत्वात् तस्य स्थूलचिदचिद्विशिष्टेनाऽऽत्मना साकमनन्यत्वाभिप्रायेण विश्वायेत्युक्तिः विशेष्यांशस्यापि शरीरात्मभाव निबन्धनविश्वसामानाधिकरण्याभिप्रायेण विश्वरूपायेत्युक्तिः न केवलमुपादानकारणभूताय, अपि तु जगन्निमित्तभूताय च इत्यभिप्रायेणाऽऽहुः - तत्कर्त्रे इति। उपकरणाधिकरणादिकमपि त्वमेवेत्यभिप्रायेणोक्तं विश्वस्य हेतव इति। हेतुत्वं कारकषट्कसाधारणम्, गोबलीवर्दन्यायेन तत्कर्त्रे इत्युक्तिः॥ ४१॥

विश्वाय विश्वरूपायेत्युक्तयोः कार्येण सह विशिष्टविशेष्यांश सामानाधिकरण्ययोः निबन्धनद्वयमाहुः - **भूतेति।** भूतादिरूपेण परिणतत्वाद्भूताद्यात्मने, अत्र भूतादिशब्दाः भूतादिकार्यरूपेण परिणताचिद्विशिष्टब्रह्मपराः। एवं च कार्यावस्थब्रह्माभिन्नकारणावस्थब्रह्मण इत्यर्थः। भूतादीनामात्मने तदन्तः प्रवेशप्रशासनाभ्यां भर्त्रे इत्यप्यर्थस्तन्त्रेण विवक्षितः। अन्तः प्रवेशप्रशासनाभ्यां भर्तृत्वमेव हि आत्मशब्द प्रवृत्तिनिमित्तम्। तत्र भूतान्याकाशादीनि, मात्राः शब्दादयः, पञ्च, इन्द्रियाणि ज्ञानकर्मोभयेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि दश, प्राणाः पञ्च, मनो बुद्धिश्च आशयो वासना, एवं सूक्ष्माचिद्विशिष्ट ब्रह्मणः स्थूलावस्थाचिद्विशिष्टब्रह्माभेदे तयोः कार्यकारणभावो विशेषण विशेष्ययोश्शरीरात्मभावश्चेति निबन्धनद्वयमुक्तम्। अथ चित्सामानाधिकरण्येऽपि निबन्धनमाहुः त्रिगुणेनेत्यर्धेन। त्रिगुणेन गुणत्रयहेतुकेनाभिमानेन - देहात्माद्यभिमानेन गूढा च्छन्ना स्वात्मानुभूतिर्जीवानां यस्मात् तस्मै ज्ञानविकासरूपजीवगतकार्यं प्रति कारणभूतायेत्यभिप्रेतार्थः॥ ४२॥

1. W °शिष्य स्तु° 2. A,B इति 3- -3 A,B omit

**विज०** किं बहुवक्तव्यमिति भावेन वदन्ति — **तदिति**। ईश! नाथ! शङ्कर! स्वामिन्। यद्भवत्समक्षं भवतः साक्षात्करणं तदापा दुरापं, "न चक्षुषा पश्यति कश्चिनैनम्" (कठ.उ. 6-9) "नान्यैदैवै र्मनसा नापि वाचा" इत्यादिश्रुतेः। साधनसामग्रीमन्तरेण दुष्प्रापमित्यर्थः। तमसा गुणेन जनिः जन्म यस्य स तथा अत एव क्रोधस्वभावः तथाप्यनीशोऽसमर्थः ॥ ३८॥

"दण्डोऽपि भगवच्चीर्णः " (महाकौर्मे) इति स्मृत्यर्थमात्मनि ज्ञापयितुं कृष्णं स्तुवन्ति - **नम** इत्यादिना। भूतावासाय इत्यनेन "भूतनाशेन नाशःस्यात्" इत्युच्यत इति शङ्कां निवारयति भूतायेति। सर्वदा विद्यमानाय "भू सत्तायम्" इति धातुः॥ ३९॥

अविकारायेत्युक्तं समर्थयते अप्राकृतायेति॥ ४०॥

कालाय भक्तकामधेनवे, कालनाभाय कालाश्रयाय, विश्वाय स्वाधीनप्रपञ्चाय तस्य विश्वस्य उपद्रष्ट्रे अध्यक्षाय तस्य कर्त्रे अवान्तरकारणाय प्रकृतेः मूलकारणत्वं निवारयति विश्वहेतव इति। प्रपञ्चस्य मूलकारणाय "विश्वस्य तदधीनत्वात् विश्वं विष्णुरुदीर्यते" (आग्नेये) इत्यादिस्मृतेः। विश्वाय विराट्पुरुषाय तत्कर्त्रे विश्वस्योत्पादनमायाप्रेरकाय इत्यादिरर्थो न युक्तः अप्रामाणिकत्वादिति॥ ४१॥

विश्वस्य भगवदधीनत्वं विवृणोति — **भूतेति**। भूतानि पञ्चमात्राः शब्दादयः इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि, प्राणाः दश मनः सङ्कल्पविकल्पलक्षणं, बुद्धिः निश्चयहेतुः, एषामाशयः स्थानं, आत्मा स्वभावो यस्य स तथा तस्मै। "आत्मा यत्नो धृतिः बुद्धिः स्वभावो ब्रह्मवर्ष्म च" (अम.को. 3-206) इत्यमरः। "स्थानेऽभिप्राय आशयः" (वैज.को. 7-517) इति यादवः। निर्गुणेन सत्त्वादिगुणजन्मरहितेन अभिमानेनाऽज्ञानेन गूढा अप्रकाशिता स्वात्मानुभूतिः यस्य स तथा तस्मै॥ ४२॥

**नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते।**
**नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये॥ ४३॥**

**नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये।**
**प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः॥ ४४॥**

**नमः कृष्णाय रामाय वसुदेवसुताय च।**
**प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्त्वतां पतये नमः॥ ४५॥**

**नमो गुणप्रदीपाय गुणात्मच्छादनाय[1] च।**
**गुणवृत्त्युपलक्ष्याय[2] गुणद्रष्ट्रे स्वसंविदे॥ ४६॥**

**अव्याकृतविहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये।**
**हृषीकेशः नमस्तेऽस्तु मुनये मौनशीलिने॥ ४७॥**

1. M °स्थोदयाय च। 2- -2. K,W वृत्त्युपलभ्याय; M प्रत्युपलक्ष्याय

**श्रीध०** त्वं तु अहङ्कारानावृत इति स्तुवन्ति — **नम** इति। [1]नमोऽनन्ताय, अहङ्कारापरिच्छेदात् अतः सूक्ष्माय, अदृश्यत्वात्। अत एव कूटस्थाय, उपाधिकृतविकाराभावात्। अत एव विपश्चिते सर्वज्ञाय। एवं [2]वस्तुतः स्तुत्वाऽचिन्त्यमायत्वेन स्तुवन्ति नानावादानुरोधाय। अस्ति नास्ति सर्वज्ञः किञ्चिज्ज्ञो बद्धो मुक्त एकोऽनेक इत्यादि नानावादान् अनुरुणद्धि माययाऽनुवर्तते यस्तस्मै। किञ्च वाच्यवाचकशक्तये। अभिधानाभिधेयशक्तिभेदादपि नानात्वेन प्रतीयमानायेत्यर्थः ॥ ४३॥

अनावृतत्वमेव हेत्वन्तरेणापि सूचयन्त्यः स्तुवन्ति **नम** इति। [3]नमः प्रमाणमूलाय, चक्षुरादीनां चक्षुरादिरूपाय। अत एव कवये स्वयं तन्निपेक्षज्ञानाय। कुतः? शास्त्रयोनये वेदात्मकनिश्श्वासाय। [4]किञ्च प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः[4] ॥ ४४॥

किञ्च अनावृतैश्वर्यत्वादेव चतुर्मूर्ति [5]स्वरूपेण सर्वोपास्यत्वेन नमन्ति - **नमः** कृष्णायेति [6]श्लोकेन। रामाय सङ्कर्षणाय। वसुदेवसुताय च। वसुदेवशब्दितं शुद्धं सत्त्वं तत्र प्रकाशमानाय वासुदेवायेत्यर्थः। सात्वता[7]मुपासकानां पतये सोलोक्यादिना पालकाय। एवं चतुर्मूर्तये कृष्णाय तुभ्यं नम इति॥ ४५॥

कथं चतुर्मूर्तितिति तदाहुः- **नमो गुणप्रदीपायेति।** गुणाः अन्तःकरणानि तानि प्रदीपयति प्रकाशयतीति तथा तस्मै। चित्ताद्यधिष्ठातृत्वेन चतुर्मूर्तित्यर्थः[8]। ननु तथाप्येकस्यैव कथं चतुष्ट्वमत आहुः — गुणात्मच्छादनाय च तैरेव गुणैरुपासकानां फलवैचित्र्यायात्मानमाच्छाद्य नानात्वेन प्रकाशमानायेत्यर्थः। ननु तर्हि कथं प्रतीतिरत् उक्तम् — गुणवृत्त्युपलक्ष्याय चित्तादीनां चेतनाध्यवसायादिवृत्तिभिरुपलक्ष्याय। उपलक्षणमेवाहुः - गुणद्रष्ट्रे तत्साक्षिणे ! कथंचिदुपलक्ष्य एव न तु ज्ञेय इत्याहुः — स्वसंविदे, अगोचरायेत्यर्थः ॥ ४६॥

अगोचरत्वमुपलक्ष्यत्वं च दर्शयन्त्यो [9]नमन्ति — अव्याकृतविहाराय, अत[10]र्क्यमहिम्ने इत्यर्थः। सर्वव्याकृतसिद्धये सर्वकार्योमत्ति प्रकाशहेतुत्वेनोपलक्षणयोग्यायेत्यर्थः। उपलक्षणान्तरमाहुः — हे हृषीकेश! करणप्रवर्तक! किं विषय लिप्सया? न, मुनये आत्मारामाय। किं साधनवेशेन [11]वा? न हि [12]न हि मौनशीलिने मौनमात्मारामता तत्स्वभावाय॥ ४७॥

1. V omits नमः 2. V omits वस्तुतः 3. V omits नमः 4- -4. V omits 5. A,B,J omit स्व° 6. V omits श्लोकेन 7. A °तामेतदुपा° 8. V °ति भावः 9. V नमस्यन्ति 10 A add °प्र° 11. V omits वा 12. B,J omit न हि

**वीर०** एवं जगत्कारणत्वेन परत्वनिर्वहणलक्षितस्य परमात्मनश्चिदचिद्विशिष्टस्य स्वरूपं विशेष्यांशभूतं जगन्निमित्तकारणं विशोधयन्ति **नमोऽनन्तायेति।** अत्र सत्यादिवाक्यं प्रत्यभिज्ञाप्यते अनन्तपदेन तस्य। कूटस्थपदेन निर्विकारवाचिना सत्यपदस्य, विपश्चिच्छब्देन ज्ञानपदस्य च प्रत्यभिज्ञानात्, विविधं पश्यतीति विपश्चित्, तस्मै नित्यांसङ्कुचितसर्ववस्तु विषयकधर्मभूतज्ञानाश्रयायेत्यर्थः। पृषोदरादित्वाद्यशब्दस्यचिभावः, एवमचेतनात् त्रिविधजीवेभ्यश्च व्यावृत्तायेत्युक्तं भवति। अनन्तायेत्यनेन सर्ववस्तुसामानाधिकरण्यार्हत्वरूपवस्तुपरिच्छेदराहित्यमप्युक्तम्। सर्ववस्तुसामानाधिकरण्यार्हत्वं च सर्वान्तः प्रवेशेन तच्छरीरकत्वेन च, तत्र कथमणुस्वरूपजीवान्तःप्रवेशेन तच्छरीरकत्वं विभोः परमात्मनः सङ्गच्छत इत्यत्राऽहुः — सूक्ष्मायेति। "अणोरणीयान्" (कठ.उ. 2-20) "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्" (मुण्ड.उ. 1-1-6) इत्यादि श्रुत्युक्तरीत्या सूक्ष्मादपि सूक्ष्मत्वाज्जीवान्तः प्रवेशयोग्यायेति भावः। नन्वेवम्भूतं मां कथं केचिन्निमित्तकारणमेव वदन्ति। केचिच्च जीवाभिन्नमित्यादि इत्यत्राऽऽहुः, नानावादाः वेदविरुद्धाः तननुवृत्यावस्थिताय अनधिगतवेदान्तवाक्यैकवाक्यानां विप्रतिपन्नबुद्धीनां तत्तद्वादानुरूपेणापि प्रतीतायेत्यर्थः। तत्र हेतुः वाच्यवाचकशक्त्ये। वाचकाः तत्तद्वादिप्रयुक्ताः विवक्षितार्थविषया शब्दाः वाच्याः तत्तच्छब्दविवक्षिता अर्थाः, तत्र वाच्यशक्तिरुपस्थाप्यत्वयोग्यतालक्षणा, वाचकशक्तिरूपस्थापकत्वलक्षणा तदुभयशक्ति निर्वाहकत्वात् नानावादानुरोधायेत्यर्थः॥ ४३॥

एवमपि केवलं शास्त्रयोनये शास्त्रं योनिः कारणं स्वस्वरूप स्वभाव प्रमितिजनकं यस्य तस्मै शास्त्रस्य भ्रमप्रमादविप्रलिप्सादिपुरुषदेषसम्भावनां निराकुर्वत्यो विशिंषन्ति। प्रमाणमूलाय प्रमाणं स्वप्रमितिसाधनं शास्त्रं तस्य मूलाय तदाविष्कर्तृत्वेन तत्कारणाय। तथा च स्मर्यते - "अनादि निधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी नाम्ना यतस्सर्वाः प्रसूतयः" (भार. शान्ति. मो 238 - 56) इति श्रूयते च - "तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेद" (सुबा.उ. 2-1) इति, "ऋचस्सामानि जज्ञिरे छन्दाँसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत" (पु.सू. 1-4) इति च। प्रमाणमूलत्वासम्भावनां निराकुर्वन्ति। कवये पूर्वपूर्वानुपूर्वीविशिष्टत्वेन शास्त्राविष्कारोपयुक्तसार्वज्ञ्ययुक्ताय न केवलं प्रमाणमूलाय अपि तु प्रमेयनिर्वाहकायापीत्याहुः, प्रवृत्ताय निवृत्ताय च उभयकर्मनिर्वाहकाय निगमायोपनिषज्ज्ञानप्रवर्तकाय॥ ४४॥

सत्यं परत्वावस्थितोऽहमुक्तगुणयुतो न तु व्यूहविभवाद्यवस्थ इत्यत्राऽऽहुः। **नमः कृष्णायेति।** रामकृष्णादिविभवावस्थायां प्रद्युम्नानिरुद्धादिव्यूहावस्थायां चाहीनस्वस्वभावायेति भावः। विभवावस्थायां सौशील्यमेकमधिकमाविष्कृतमित्यभिप्रायेणाऽऽहुः — वसुदेवसुतायेति। यद्वा शरण्यत्वोपयुक्तमाश्रितार्तिपरिजिहीर्षैकशीलत्वमाहुः नमः कृष्णायेति। व्यूहविभवादिरूपेण सात्त्वतामाश्रितानां पतये अनिष्टपरिहारपूर्वकं पालकाय॥ ४५॥

पालकत्वप्रकारमेवाऽऽहुः गुणप्रदीपायेति। सात्वतामित्यनुवर्तते, तेषां गुणस्य धर्मभूतज्ञानस्य प्रदीपाय प्रदीपवद्विषयावारकनिवारकाय सात्त्वतां गुणप्रदीपायेत्यनेन असात्त्वतां तद्वैपरीत्यं सूचितम्। तदेव स्पष्टी कुर्वन्ति गुणात्मच्छादनाय गुणेन गुणमयमायया आत्मनो जीवान् असात्त्वतश्छादयति सङ्कुचितज्ञानान्करोतीति तथा तस्मै। एतद्विशेषणद्वय - प्रसक्तवैषम्यपरिजिहीर्षया विशिंषन्ति। गुणवृत्त्युपलभ्याय गुणस्य गुणपरिणामात्मकमनसोवृत्त्या न्यासोपासनान्यतररूपया उपलभ्याय उपलक्ष्याय गुणवृत्तिरूपव्याजमात्रापेक्षत्वाद्वैषम्यरहितायेति भावः, गुणवृत्त्यपरिज्ञानासम्भावनां निराकुर्वन्ति। गुणद्रष्टे सर्वान्तः

करणवृत्तीनां साक्षाद्गुणद्रष्ट्रे, तत्र हेतुः, स्वसंविदे स्वासाधारणापरिच्छिन्ननिरुपाधिकनित्यासङ्कुचितधर्मभूतज्ञानाश्रयाय॥ ४६॥

यद्यहं गुणद्रष्टा, तर्हि तथात्वेन किं न ज्ञाये इत्यत्राऽऽहुः - **अव्याकृतेति**। अव्याकृतः अनभिव्यक्तः विहारः गुणद्रष्टृत्वादिरूपो यस्य तस्मै न केवलं गुणद्रष्ट्रे अपि तु सर्वव्याकृतानां देवादिपदार्थानां तद्बुद्धिवृत्तीनां च सिद्धये निष्पत्तिहेतवे न केवलं तेषां सिद्धिहेतुरेव अपि तु सर्वेन्द्रियप्रशासिता चेत्यभिप्रायेण सम्बोधयन्ति हृषीकेशेति। हृषीकाणाम्[1] इन्द्रियाणाम्[2] ईशः नियन्ता शरण्यत्वोपयुक्तं गुणान्तरमाहुः। मुनये तापत्रयातुरजीवोज्जीवनाय यादृच्छिक प्रासङ्गिकानुषङ्गिकाद्यन्यतमसुकृतलेशानुचिन्तनात्मकमननशीलाय मौनशीली अजल्पाकः परिपूर्णैश्वर्यत्वाद्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगत् तृणीकृत्य जोषमासीनायेत्यर्थः। अयमपि परत्वावहो गुणः॥ ४७॥

---

1. A,B मनो 2- -2. A omits

**विज०** अनन्ताय नित्याय सर्वगताय सूक्ष्माय इन्द्रियाविषयाय "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसुक्ष्मम्" (मुण्ड. उ. 1-1-6) इति श्रुतेः। कूटस्थाय शश्वदेकप्रकाराय विपश्चिते सर्वज्ञाय निपुणबुद्धये वा। नानावादानां सिद्धान्तानां अनुरोधाय अनुकूलवर्तमानाय वाच्योऽर्थः तस्य प्रतिपाद्यत्वे योग्यत्वं वाच्यशक्तिः वाचकः शब्दः तस्यार्थप्रतिपादनसामर्थ्यं तद्द्वयं यस्य स तथा तस्मै॥ ४३॥

प्रमाणमूलाय प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रतिष्ठापकाय कवये अतिक्रान्तदर्शिने शास्त्रं वेदः योनिः ज्ञप्तिकारणं यस्य स तथा तस्मै। "योनिः स्त्रीणां भगे स्थाने कारणे ताम्रके पणे' (वैज. को. 6-5-66) इति यादवः। निर्देशकारणाय इदं कुर्यात् इदं न कुर्यात् इति विधिकर्त्रे "निदेशग्रन्थयोः शास्त्रम्" (अम.को. 335) इत्यमरः। प्रवृत्ताय प्रवृत्तिमार्गप्रवर्तकाय, निवृत्ताय निवृत्तिमार्गप्रवर्तकाय[1] च सृष्टौ प्रवृत्ताय[1] प्रलये निवृत्ताय इति वा। उभयेषां निगमाय मार्गाय विषयाय इत्यर्थः। "अयनं पदवीमार्गः पद्या च विनिगद्यते निगमः" (हला.को. 2-105) इति हलायुधः। वेदमूर्तये वा निश्चायकाय वा। "निगमो निश्चये वेदे परे पथिवणिक्पथे" (वैज.को. 7-1-35) इति यादवः॥ ४४॥

कृष्णाय उत्कृष्टानन्दरूपाय भक्तजनदुरितकर्षणशीलाय वा। शत्रूणामग्नये वा नीलवर्णाय वा। "कृष्णं सीसाद्यलोहेषु कृष्णो नीलेऽनले कलौ। शूद्रे काके पिके व्यासे ध्वान्तपक्षेऽर्जुने हरौ" (वैज.को. 6-5-14,15) इति च। रामाय रामनाम्ने अभिरामाय वा; प्रकृष्टद्युत्याऽमेयाय। यद्वा प्रकृष्टधनाय। "द्युम्नं द्रव्यं द्रविणम्" (हला० को. 1-80) इति हलायुधः। अनिरुद्धाय ज्ञानिनां निरोधरहिताय॥ ४५॥

गुणाः सत्त्वादयः भक्तिज्ञानादयो वा, तेषां प्रदीपाय ज्ञापकाय गुणात्माप्रकृतिः तस्यां स्थितः उदयः स्वरूपं यस्य स तथा तस्मै। गुणैः श्रोत्रादीन्द्रियजन्यज्ञानैः प्रत्युपलक्ष्याय अनुमेयस्वरूपाय गुणद्रष्ट्रे गुणसाक्षिणे स्वसंविदे स्वयं प्रकाशाय, "तद्ब्रह्म वेद" "अहं ब्रह्मास्मि" (बृह.उ. 1-4-10) इति श्रुतिः। अनेनापि अस्यापि अन्यो द्रष्टा, तस्यापि अन्य इत्यनवस्था निरस्तेति ज्ञातव्यम्॥ ४६॥

अव्याकृताः व्याहर्तुमशक्याः सृष्ट्यादिविहारा यस्य स तथा तस्मै। ननु व्याहर्तु मशक्यविहारश्चेत् कथं तर्हि तज्ज्ञानमत्राहुः सर्वेति। सर्वैः व्याकृता विवृता सिद्धिः स्वरूपज्ञानं यस्य स तथा। स्वानुग्रहेण ज्ञापित स्वरूप इत्यर्थः तस्मै। यद्वा, सर्वव्याकृतसिद्धये नामरूपात्मकं जगत्सर्वं व्याकृतं तस्य सिद्धिः उत्पत्तिर्येन स तथा तस्मै। मुनये सर्वज्ञानाय मौनशीलिने असम्भावितभाषणशीलरहिताय॥ ४७॥

---

1- -1. A,B omit

पारवरगतिज्ञाय[1] सर्वाध्यक्षाय ते नमः।
अविश्वाय च विश्वाय तद्द्रष्ट्रेऽस्य[2] च हतवे॥ ४८॥

त्वं ह्यस्य जन्मस्थितिसंयमान्विभो! गुणैरनीहोऽकृत कालशक्तिधृत्[3]।
त[5]त्तत्स्वभावान्प्र[5]तिबोधयन्सत[6] स्समीक्षयाऽमोघविहार ईहसे॥ ४९॥

तस्यैव तेऽभूस्तनवस्त्रिलोक्यां शान्ता अशान्ता उत मूढयोनयः।
शान्ताः प्रियास्ते ह्यधुनाऽवितुं[7] सतां स्थातुश्च ते धर्मपरीप्सयेहतः[8]॥ ५०।

अपराधस्सकृद्धर्त्रा सोढव्यस्स्वप्रजाकृतः।
क्षन्तुमर्हसि शान्तात्मन्[9] मूढस्य त्वामजानतः॥ ५१॥

अनुगृह्णीष्व भगवन्प्राणांस्त्यक्ष्यति[10] पन्नगः।
स्त्रीणां नस्साधुशोच्यानां पतिः प्राणः प्रदीयताम्॥ ५२॥

विधेहि ते किङ्करीणामनुष्ठेयं त[11]वाज्ञया।
यच्छ्रद्धयाऽनुतिष्ठन्वै मुच्यते स[12] पुमान्भयात्[12] ॥ ५३॥

---

1. V °प° 2. A तस्य K.M विश्व 3. A,B,G,J प्रभो 4. A,B,G,J,M °धृक् 5- -5. M तस्मात्स्वभावात्प्र° 6. M °यत्स्वन° 7. M °तुः 8. M कर्म° 9. V सर्वात्मन् 10. A,B,G,J,M स्त्यजति 11. K त्वदा° 12- -12 A,B,G,J सर्वतो भयात्; V सर्वबन्धनात्

**श्रीध० परावरेति।** कुतः? पराव[1]र गतिज्ञाय स्थूलसूक्ष्माणां गतिज्ञत्वेन न क्वापि सज्जमानायेत्यर्थः[2] अपि च सर्वाध्यक्षाय सर्वस्याधिष्ठात्रे। कुत एतत्? अविश्वाय न विश्वं यस्मिन्। तन्निषेधावधये विश्वाय च तद्विवर्ताधिष्ठानायेत्यर्थः[3] किञ्च तद्द्रष्ट्रे[4] अध्यासापवादसाक्षिणे अपि च। अस्य च विश्वाध्यासस्य तदपवादस्य च विद्याऽविद्याभ्यां हेतवे। यद्वा, अविश्वाय विश्वतैजसाद्यवस्थारहिताय विश्वाय च मायया स्वांशैः तत्तदवस्थाय। तद्द्रष्ट्रे, तासामवस्थानां भावाभावसाक्षिणे अन्यत्समानं, तस्मात् सर्वगतिज्ञत्वसर्वाधिष्ठातृत्वात्मारामत्वादिभिर्निरतिशयैश्वर्याय तुभ्यं नम इति। ★ "विशेषणरसङ्कीर्णैः पञ्चपञ्चाशतानुतः। अहिस्त्रीभिः प्रसन्नो यस्तासामेव भवेद्धरिः[8]"॥ ४८॥

एवं तावद्दण्डानुमोदननमस्कारैश्चभगवन्तं प्रसाद्येदानीं त्वदधीनं प्राणिनां कोऽपराध इत्याशयवत्यः प्रार्थयन्ते - **त्वं हीति।** अस्य लोकस्य जन्मादीन् त्वमेव अकृत अकरोः। ततश्च तान् तान् संस्काररूपेण सतः स्वभावान्, घोरत्वादीन् प्रति बोधयन् ईहसे क्रीडसि। यद्वा अस्य जन्मादीन् त्वमेवमीहसे इत्यन्वयः। कथम्भूतः? अकृता अनादिर्या कालशक्तिः तां धारयतीति तथा। अन्यत्समानम्॥ ४९॥

**तस्येति।** अतः तस्य तवैव अमूः तनवः तन्यन्त इति तनवः, क्रीडोपस्कराः, तथापि तवाधुना शान्ताः प्रियाः, कुतः? सतां धर्मपरिपालनेच्छया, ईहतः प्रवर्तमानस्य अतः तानवितुं स्थातुः स्थितस्य॥ ५०॥

एवं च तव अप्रियाचरणाद्यपराधः तर्हि सोढव्य इत्याहुः **अपराध** इति॥ ५१,५२॥

युष्मदनुग्रहोऽपि अन्येषां मृत्युरेवेति चेन्नेत्याहुः - **विधेहीति।** त्वदाज्ञया प्राणिनो नाऽद्यामेति भावः॥ ५३॥

---

1. V °प° 2. V omits अपि च 3. B °धवि° 4. V °वरा° 5. V omits किञ्च ★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः 6. J. °नतः 7. A,B,J वः 8. A,B,J °मि° 9. A,B,J °नेन 10. A,B,J °नानां 11. A,B,J °दि त्व° 12. A,B,J °मीह° 13. A,B,J इति॥ ५१,५२॥ 14. A,B,J °हे अन्ये° 15. A,B,J चेत्तन्ने°

**वीर०** परावरगतिज्ञाय बन्धमोक्षाभिज्ञाय आश्रितानां मोचकाय अनाश्रितानां बन्धकाय चेत्यर्थः। तथाचोक्तं भगवतैव - "तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्" "(भ.गी. 12-7) इति। "तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु" (भ.गी. 16-19) इति च आश्रयणसौकर्यापादकोऽयं गुणः कृतपराधानप्याश्रयणरूपव्याजमात्रावलम्बनेन रक्षितुमुद्यमो ह्याश्रयणसौकर्यापादकः, अनेन वैषम्याराहित्यं कारुणिकत्वं चाभिप्रेतम्। तथा च स्मर्यते "सर्वज्ञोऽपि हि सर्वशस्सदा कारुणिकोऽपि सन्। संसारतन्त्रवाहित्वाद्रक्षापेक्षामपेक्षते" (लक्ष्मीतन्त्रे) इति। सर्वाध्यक्षाय सर्वपुरुषार्थाधिपतये आश्रितानां धर्मादि स्वात्म पर्यन्तप्रदातृत्वरूप महावदान्याये इत्यर्थः। अयमाश्रितकार्यापादको गुणः, पूर्वं पराय भूतायेत्युक्तपरत्वोपयुक्तजगदुपादानत्वप्रयुक्तविश्वानन्यत्वम्। विशिष्टस्य तथात्वेऽपि विशेष्यांशास्य विश्वशरीरकत्वेन तद्भिन्नत्वं तन्निमित्तत्वं तत्सृष्टौ स्वेतरोपकरणान्तर निरपेक्षत्वं च। "विश्वाय विश्वरूपाय तत्कर्त्रे विश्वहेतवे" इत्युक्तम्। तदेव विश्वाय तुभ्यं नम इति। युष्मच्छब्दविवक्षितषाड्गुण्यपूर्णत्वाभिमुखत्वादि विशेषणानां विश्वशब्दाद्यभिप्रेतविश्वानन्यत्वादीनां चैकविशेष्यवृत्तित्वरूपमर्थसामानाधिकरण्यमुक्तम्। अथ भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तवद्विशेष्याभिधायिनां तत्तच्छब्दानामेकविशेष्य पर्यवसानात्मकं शब्दसामानाधिकरण्यमाहुः विश्वाय। "नतास्स्म सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती" (विष्णु.पु. 1-14-23) "वचसां वाच्यमुत्तमम्" (जितन्ता) इत्युक्तरीत्या सकलशब्दवाच्यायेत्यर्थः, विश्वशब्दस्य अत्र पूर्वत्र च लाक्षणिकत्वात् सर्वनामकार्यभावः संज्ञापूर्वक विधेरनित्यत्वाद्वा। एकस्यैव सर्वशब्दवाच्यत्वप्रयुक्तं सर्वेषां शब्दानां पर्यायत्वं निराहुः अविश्वायेति। तदन्यत्वमत्र नञर्थः, न विश्वः अविश्वस्तस्मै तत्तच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तेभ्यो विलक्षणायेत्यर्थः। न हि स्वस्य प्रवृत्तिनिमित्त विलक्षणैक

विशेष्यनिष्ठप्रवृत्तिनिमित्तविशिष्टैक विशेष्याभिधायिनां शब्दानां पर्यायत्व प्रसङ्ग इति भावः। कथं जातिगुणाद्याश्रय तत्तद्विशेष्यपर्यवसायिनामेकविशेष्याभिधायित्वमित्यत्राऽऽहुः — विश्वहेतव इति। अस्य च हेतवे इति च पाठः। तदा विश्वपरामर्शिदं शब्दः, जातिगुणाद्याश्रयनिखिल विशेष्यजातगतसत्तास्थितिप्रवृत्तिहेतवे तत्सत्तादिहेतुत्वेन विश्वस्य तदपृथक्सिद्धविशेषणत्वादपृथक्सिद्धविशेषणवाचिनां मत्वर्थीयप्रत्ययमन्तरेणापि विशेष्यपर्यवसायित्वमाकृति नमसिद्धमिति भावः। विश्वसत्तादिहेतुत्वासम्भावनां निराकर्तुं हेतुत्वोपयुक्तज्ञानवत्तामाहुः तद्रष्ट्रे इति॥ ४८॥

तदेवं शरण्यत्वोपयुक्तगुणाविशिष्टं स्तुत्वा अथ "अविज्ञाताः कुमारकाः" इति श्रुत्युक्तरीत्या त्वत्कुमारप्रायस्य त्वच्छरीरभूतस्यास्मद्भर्तुः कदाचिदननुकूलस्य स्वशरीरस्येव स्वपुत्रस्येव चापराधः करणकलेबरादिप्रदानेनाखिलजीवोज्जिजीवयिषया सर्वजगदुदयविभवलयलीलेन सर्वशरीरेण विपुलापराधवत्त्वेऽपि किञ्चिदानुकूल्ययुक्तजीवोज्जिजीवयिषया कृतावतारेण त्वया सोढुमुचित इति क्षमापयन्त्यः तावत् भर्तृप्राणरक्षां कैङ्कर्यं च प्रार्थयन्ते **त्वमिति** पञ्चभिः। हे विभो! त्वं ह्यनादिकालाख्यशक्तियुक्तः अनीहः सङ्कल्पेतरव्यापारशून्यः, अनेन "अकलितश्रम एव सृजत्यसौ" इति वचनार्थोऽभिप्रेतः। गुणैः रजस्सत्त्वतमोभिरस्य जगतो जन्मस्थितिलयान् कुर्वन्निति शेषः। तत्तत्स्वभावान् रजस्तमस्तदुभयस्वभावानपि सतो जीवान् समीक्षया अनुग्रहगर्भया दृष्ट्या[2] प्रतिबोधयन् तावत् दण्डेन प्रबुद्धान्कुर्वन् अप्रतिहतजगद्व्यापारूपविहारश्रेष्टसे, यद्वा त्वं समीक्षया "बहु स्यां प्रजायेय" (छान्दो. उ. 6-2-3) इत्युक्तया सङ्कल्पात्मिकया दृष्ट्या अनीहस्तद्व्यतिरिक्तव्यापारशून्यः प्रलयदशायां तत्तत्स्वभावान् तत्तत्कर्मवासनात्मक स्वभावमात्रयुक्तान् सङ्कुचितज्ञानानसत्प्रायान्सतो जीवान् प्रतिबोधयन् स्वाराधनोपयुक्तकरणकलेबरादिप्रदानेन विकसितज्ञानान् कुर्वन् एवंविधं महोपकारं कर्तुमिति भावः, अप्रतिहत जगद्व्यापारात्मकविहारोऽस्य जगतो जन्मादीनीहसे चेष्टसे करोषीति यावत् तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन्नित्यनेन सर्वजीवसाधारण्येन तद्विषयकमहोपकारैवाशीलत्वं सूचितम्। एवमपराधानवेक्षणेन केवलमुपकारैकशीलस्य तव कियानयमपराध इति भावः॥ ४९॥

[3]जन्मादीनीहमानस्य ते तव त्रिलोक्याममूस्सर्वाश्शान्तास्सात्त्विक्यः अशान्ताः राजस्यः मूढयोनयस्तामस्यश्च प्रजाः तनवः देहाः आधेया विधेयाश्शेषाश्चेत्यर्थः, सर्वा अप्यनुग्राह्या एवेति भावः। ननु सर्वासामनुग्राह्यत्वे जगद्व्यापारोच्छेदप्रसङ्गः तत्राऽऽहुः यद्यप्येवं तथापि स्थातुः स्थितिकर्तुः अत एव सतां धर्मपरिपालनेच्छया ईहतः प्रवर्तमानस्य कृतावतारस्येति यावत्। ते तव शान्तास्तनवः अवितुं रक्षितुं प्रिया इष्टा हि। सदा सकलजन्मसु सापराधा अप्यधुनाऽपराधविरिंसवः प्रियाः, अतोऽस्यानुग्राह्यत्वेऽपि न जगद्व्यापारोच्छेदप्रसङ्ग इति भावः॥ ५०॥

अतोऽयं यावच्छान्तिदण्डितोऽप्यधुनोपशान्तः पुत्रवत्सोढव्य एवेत्याहुः **अपराध** इति। भर्तुरस्मद्भर्तुः अपराधः सकृत्सोढव्यः, इतः परं पुनरपराधः कृतश्चेन्न सोढव्य इत्यभिप्रायेण सकृदित्युक्तिः, स्वप्रजाकृतः स्वपुत्रकृतत्वाच्च सोढव्य इत्यर्थः। अनेन भगवतः पितुस्थानीयत्वं सर्वजीवानां पुत्रस्थानीयत्वं चाभिप्रेतम्। किञ्च अज्ञानकृतोऽपराधः क्षमापणेन सह्य एव सर्वथेति लोकपरिपाटीमभिप्रेत्याऽऽहुः क्षन्तुमर्हसीति। अधुना त्वयि शान्त्या भवितव्यमित्यभिप्रायेण शान्तात्मन्निति सम्बोधनम्। यद्वा कृतापराधेष्वप्यधुना शान्तेषु त्वदानुकूल्योपयुक्त शान्तिमत्सु आत्मा अनुग्रहप्रवणं मनो यस्य तथाभूतेति सम्बोधनम्। मूढस्य अत एव त्वामजानतः क्षन्तुमर्हसि, अपराधमिति विमतिपरिणामेनानुषङ्गः, प्रकृतत्वाच्छेषो वा॥ ५१॥

हे भगवन्। अयं पन्नगस्सर्पः प्राणान् त्यक्ष्यति। अतोऽनुगृहणीष्व साधुशोच्यानां साधुभिर्दयनीयानां स्त्रीणामस्माकं पतिरेव प्राण, स प्रदीयताम्॥ ५२॥

युष्मदनुग्रहोऽन्येषां मृत्युरेवेति चेत्, तत्राऽऽहुः **विधेहीति**। त्वदाज्ञया यत्तव किङ्करीणा मस्माक मनुष्ठेयं तद्विधेहि, अनुष्ठेयं विशिंषन्ति। स पुमान् कालियो यदनुष्ठेयं श्रद्धयाऽनुतिष्ठन् भयात् प्रकृतात् मृत्युभयात् मुच्यते, यथाऽस्मत्तो लोका न भीतास्स्युः यथा चायं मृत्युभयान्मुच्येत, तादृशमनुष्ठेयं कर्माऽऽज्ञापयेत्यर्थः॥ ५३॥

---

1- -1. K °क्ष्यापेक्षाम्प्रतीक्षते। 2. A,B add दृष्ट्वा 3. A,B add 'जन्मादीनि ईहसे' इत्यनेन सर्वजीवान् प्रति तस्य पितृस्थानीयत्वं सूचितम्। किञ्च तस्यैव प्रतिबोधयतोऽस्य 4. A,B, add वि

**विज०** परावरगतिज्ञाय कार्यकारणस्थितिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय सर्वेषामुपरिगताय अविश्वाय विश्वेभ्यो जीवेभ्योऽन्यस्मै "शरीरेषु प्रविष्टत्वात् विश्वो जीव उदीर्यते" (माहात्म्ये) इत्यादिस्मृतिः। तात्पर्यात्पुनरुक्तमाहुः - विश्वायेति। जीवस्य जगदन्तः पतित्वेपि चेतनत्वेन स्वातन्त्र्यशङ्कानिवारणार्थं पृथग्जीवग्रहणम् "जीवस्य तदधीनत्वात् विश्वो विष्णुः" (माहात्म्ये) इति स्मृतः। "अस्योत्पत्त्यादिहेतुत्वात् विश्वहेतुश्च कीर्तितः" (माहात्म्ये) इति॥ ४८॥

प्रातिस्विकजीवाभीष्टादातृत्वात् त्वद्रष्टे इति प्रपञ्चस्य मूलकारणं हरिरित्युक्तम्। तत्स्पष्टयितुमाह **त्वं हीति**। "सत्यधर्मा सत्यकर्मा" इति श्रुतेः। अमोघविहारस्त्वं अत एव अनीहोऽक्लिष्टकर्मात्वं सत्त्वादिगुणैः अस्य जगतो जन्मादीनीहसे हि यस्मात् "देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा" इति श्रुतेः तस्मात् तव सत्यप्रपञ्चस्रष्टृत्वस्वभावात् समीक्षया सम्यग्ज्ञानेन नोऽस्मान् प्रतिबोधयस्व इत्यन्वयः। यथा तव जगत्सष्टृत्वं स्वभावः तथाऽस्मत्प्रतिबोधनमपि स्वभावोऽस्त्वित्याशयः। लोके स्वरूपशक्त्यभावाद्वरादिना मायया वाऽन्यसहायेन वा श्रमेण कर्तृत्वं न तथा तव इत्याशयेनाऽऽह अकृतेति। कालः कारणं ज्ञानं वा। अकृता वरादिना नान्यनिमित्तं स्वरूपमिति यावत्। एवंविधां शक्तिं धारयसीति स्वरूपभूतज्ञानक्रियाशक्तिधर इत्यर्थः। तदुक्तम् "हरेः स्वरूपशक्तिर्या कालशक्तिरुदीर्यते। सदा सर्वगुणात्मत्वात्" (प्रकाशिकायम्) इति। यथा स्वाधीनत्वात् सत्त्वादिगुणैः सृष्टिं करोषि तथा स्वनियतदुर्गावायुभ्यां संहारस्थिती करोषीत्याशयेनोक्तं अकृतेति। तयोरपि कालादीनत्वेन कालशब्दवाच्यत्वादित्यर्थः। तदुक्तम् "दुर्गा चाप्यबरा ततः सर्वसंहारकारित्वाद्वायुः सर्वस्य जीवनात् कालाभिमानिनावेतौ दुर्गा वायुश्च कीर्तितौ" (प्रकाशिकायाम्) इति च॥ ४९॥

विश्वायेत्यादिना हरेर्जगदात्मकत्वमुक्तमिति मन्दाशङ्कानिरासाय स्थावराजङ्गमस्य पृथक्कृत्य त्रैविध्यकथनेन मिथोपि भेदस्तात्त्विक इति दर्शनार्थं तस्य भगवत्प्रतिमात्वेन तत्त्वतः स्तवनेन हरेरतिशयिता प्रीतिः भवतीति भावेनाऽऽहुः **तस्यैवेति**। यस्त्वं "नमस्तुभ्यं भगवते" (भाग. 10-16-39) इत्यादिना प्रसक्तस्तस्य ते तवैवामूस्तनवः प्रतिमास्थानीयाः शान्ता अशान्ता मूढयोनय उतेति याः त्रिधा भिन्ना अमूरित्यर्थः। त्रिलोक्यां जङ्गमसंज्ञा इति शेषः। अत्रापि तारतम्यमस्तीत्याहुः

शान्ता इति। सुखान्तं सुखस्वभावमेवान्पुवन्तीति यत् तस्मात् शान्ता देवाः सतामप्यवितुः ते तव प्रियाः। परा पूर्वेषां सख्या "वृणक्ति वितर्तुराणो अपरेभिरेति" इति श्रुतिः। प्रियस्यापि तारतम्यविशेषद्योतको हिशब्दः। प्रियं द्विविधं अन्तर्बहिश्चेति। तत्रान्तःप्रियाः सन्तः, बहिःप्रिया असन्तः। अत्रापि कश्चन विशेषः। संहारहेतुत्वादसन्तः ईषदन्तः प्रिया इव स्थितिहेतुत्वात्सन्तो विशेषान्तः प्रिया इत्यतोऽधुनेति विशेषणम्। तदुक्तम् - "अन्तः प्रियं बहिश्चेति द्विधा प्रियमुदाहृतम्" (षाड्गुण्ये) इत्यादि। देवादीनां शान्तत्वादिकम् "सुखान्तं प्राप्नुयुर्यस्माद्देवाः शान्ता उदीरिताः" (प्रकाशिकायाम्) इत्यादि स्मृतिसिद्धम्। अशान्ताः मानुषाः प्रोक्ताः मूढयोनयोऽसुरा इत्यर्थः। अवनादि कर्मप्रवर्तनं च प्राणमुखेनेत्याहुः स्थातुरिति। कर्मप्रवर्तनार्थं सर्वशरीरिषु स्थातुरीहतः "ईह चेष्टायाम्" इति धातुः। चेष्टकत्वमीहशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्। अवनशब्दस्यापि तदेवात ईहतः प्राणस्य सकाशात् कर्मपरीप्सया कर्मपालनेच्छया पालनं प्रवर्तनं तदिच्छया प्राणस्य सकाशात् कर्मप्रवर्तन मिच्छति भगवानित्यतः समहाविभुरित्यर्थः। तदुक्तं "वायोः सकाशाज्जगतः प्रवृत्तिं कामायत्यज" (प्रकाशिकायाम्) इत्यादि, "प्राणस्य प्राणम्" (बृह.उ. 4-4-18) इति श्रुतिश्च शब्दगृहीता॥ ५०॥

सोढव्यः क्षन्तुमर्हसीति द्विर्वचनमादरार्थं स्वचापाल्यप्रकटनार्थं च शान्तानां देवानामात्मन्, स्वामिन् मूढस्येत्यस्य विवरणं त्वामजानत इति॥ ५१ - ५३॥

---

1. A,B omit तदुक्तम्

श्री बादरायणिरुवाच[1]

इत्थं स नागपत्नीभिर्भगवान्समभिष्टुतः ।
मूर्च्छितं भग्नशिरसं विससर्जाङ्घ्रिकुट्टनैः ॥५४॥

प्रतिलब्धेन्द्रियप्राणः कालियश्शनकैर्हरिम् ।
कृच्छ्रात्समुच्छ्वसन्दीनः कृष्णं प्राह कृताञ्जलिः ॥५५।

नाग उवाच[2]

वयं खलास्सहोत्पत्त्या तामसा दीर्घमन्यवः ।
स्वभावो दुस्त्यजो नाथ! भूतानां[3] यदसद्ग्रहः ॥५६॥

त्वया सृष्टमिदं सर्वं[4] धातर्गुणविसर्जनम्[5] ।
नानास्वभाववीर्योजो योनिबीजाशयाकृतिः ॥५७॥

**वयं च तत्र भगवन् ! सर्पा जात्योरुमन्यवः ।**
**कथं त्यजामस्त्वन्मायां दुस्त्यजां मोहितास्तया ॥ ५८ ॥**

**भवान् हि कारणं तत्र सर्वज्ञो जगदीश्वरः ।**
**अनुग्रहं निग्रहं वा मन्यसे तद्विधेहि नः ॥ ५९ ॥**

---

1- -1. A,B,G,J,M श्रीशुकउवाच 2- -2. A,G,V कालिय उवाचः B,J,M omit 3. A,B,G,J,M °त्यु° 3. A,B,G,J लोकानां 4. A,B,G,J,M विश्वं 5. M °तु° 6. A,B,G,J,M °त्यु° 7. A,B,G,J स्वयम्। ; M प्रभो। 8. M°ज्ञ! 9. M °र!

**श्रीध० वयमिति** यदसद्ग्रह इति। यतः स्वभावः असद्ग्रहरूपः। यद्वा यतः स्वभावात् असति देहादौ यो ग्रहः। स दुस्त्यज इति ॥ ५४ - ५६ ॥

**त्वयेति**। गुणैर्विविधतया सृज्यत इति गुणविसर्जनम्। तत्रापि नानास्वभावादयो यस्य तत् ॥ ५७ ॥

**वयमिति**। जात्या जन्मनैव। उरुः मन्युर्येषां ते। वयं स्वयं कथं त्यजामः ॥ ५८ ॥

**भवानिति**। हि यस्मात् तत्र त्वन्मायात्यागे भवानेव कारणमित्यनुग्रहं विधेहि ममाऽऽज्ञया खादतेति। ईश्वरत्वान्निग्रहं वा। विधेहि इति ॥ ५९ ॥

---

1- -1. A ग्रहोऽभिमानः, B,J ग्रहः 2. V omits स्वयं 3. A,B,J °दन्तीति 4. V omits इति

**वीर०** इत्थं स भगवान् कृष्णः नागपत्नीभिरभिष्टुतः याचितश्च अङ्गिसङ्घट्टनैः भग्नशिरसं मूर्च्छितं च कालियं विससर्ज ॥ ५४ ॥

ततः शनकैः प्रतिलब्धानीन्द्रियाणि प्राणाश्च येन तथाभूतः कालियः कृच्छ्रादत्यायासात् श्वासं मुञ्चन् कृताञ्जलिः हरिं प्राह ॥ ५५ ॥

उक्तिमेवाऽऽह — **वयमिति** त्रिभिः। वयमुत्पत्त्या सह उत्पत्तिप्रभृति खलाः दुष्टाः तामसाः दीर्घो मन्युर्येषां तथाभूताश्च, वयमिति तिर्यगभिप्रायेण निर्देशः, अत एव 'वयं च तत्र भगवन्' इत्यनेन अपौनरुक्त्यम्। हे नाथ! भूतानां स्वभावः औत्पत्तिको गुणः दुस्त्यजः यत् यतः स्वभावः असद्ग्रहः दुष्टपिशाचतुल्यः अतो दुस्त्यजः ॥ ५६ ॥

**त्वयेति**। हे धातः! गुणैर्विविधतया सृज्यत इति गुणविसर्जनमिदं तिरश्चां जालं त्वया स्पृष्टम्। कथम्भूतम्? नाना स्वभावादयो यस्य तथाभूतं, तत्र वीर्यं बलम्। ओजः प्रवृत्तिसामर्थ्यम्। योनिरुत्पत्तिक्षेत्रम्। बीजं कारणम्। आकृतिः संस्थानम् ॥ ५७ ॥

ततः किम्? अत आह - **वयं चेति**। हे भगवन्! तत्रापि तिरश्चां मध्येऽपि वयं सर्पाः जात्या जन्मनैव उर्म्मन्युः येषां तथाभूताः दुस्त्यजां त्वदनुग्रहमन्तरेण दुःखेनापि त्यक्तुमशक्यां त्वन्मायामोहिताः वयं[2] त्वन्मायां मायागुणरजः कार्यं क्रोधं कथं त्यजामः ॥ ५८॥

हि यस्मात् तत्र त्वन्मायात्यागे भवानेव कारणं, त्वं तु सर्वज्ञो निग्रहानुग्रहोचितज्ञानवान् जगदीश्वरः तदुचित सामर्थ्ययुक्तः, अतः त्वमनुग्रहं निग्रहं वा यत्[3] मन्यसे, त्वमेवं[4] कुर्विति नियन्तुं च अहं न प्रभुरिति भावः, तत् त्वदभिमतं नोऽस्मभ्यं विधेहि आज्ञापय॥ ५९॥

---

1. A,B एवं 2. A,B,W add कथं 3. W omits यत् 4. W ज्ञातुमेवं

**विज०** अङ्घ्रिकुट्टनैः अङ्घ्रिमर्दनैः ॥ ५४, ५५॥

यदसद्ग्रहो यो दुराग्रहः ॥ ५६॥

धातुः हिरण्यगर्भस्य सकाशात् गुणभूतं सर्जनं सृष्टिः अस्य जगतः प्रधान्येन विष्णोः एषा सृष्टिः "विष्णुः प्रधानतः स्रष्टा गुणस्रष्टा चतुर्मुखः" (नारदीये) इति वचनात् नानास्वभावा अग्नेरूर्ध्वज्वलनं, वायोस्तिर्यग्गमनम् इत्यादिनानाविधाः स्वभावाः। वीर्याणि पराक्रमादीनि, ओजोऽवष्टम्भः बीजं शुक्रादि, आशयः अभिप्रायः एषामाकृतिः स्वरूपं यस्य तत्॥ ५७ - ५९॥

**श्रीशुक उवाच**

**इत्याकर्ण्य वचः प्राह भगवान्कार्यमानुषः।**
**नात्र स्थेयं त्वया सर्प समुद्रं याहि मा चिरम्॥**
**स्वज्ञातयपत्यदाराद्यै[1] भुज्यतां[2] गोनृभिर्नदी[3]॥ ६०॥**

**य एतत्संस्मरेमर्त्यस्तुभ्यं मदनुशासनम्।**
**कीर्तयन्नुभयोस्सन्ध्यो न युष्मद्भयमाप्नुयात्॥ ६१॥**

**योऽस्मिन्[4] स्नात्वा ह्रदे[5] मर्त्यो देवादींस्तर्पयेज्जलैः।**
**उपोष्य मां[6] स्मरन्नर्चेत्[7] सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ६२॥**

दीपं रमणकं हित्वा ह्रदमेतमुपाश्रितः ।
यद्भयात्स सुपर्णस्त्वां नाद्यान्मत्पा द लाञ्छनम् ॥ ६३ ॥

श्री शुक उवाच

ए वमुक्तो भगवता कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ।
तं पूजयामास मु दा नागः प त्न्यश्च सादरम् ॥ ६४ ॥

दिव्याम्बर स्रग्भणिभिः प राघ्यैरपि भूषणैः ।
दिव्यगन्धानुलेपैश्च महत्योत्पलमालया ॥ ६५ ॥

पूजयित्वा जगन्नाथं प्रसाद्य गरुडध्वजम् ।
ना गराजोऽभ्यनुज्ञातः परिक्र म्याभिवन्द्य तम् ॥ ६६ ॥

सकलत्र सुहृत्पुत्रो द्वीपम ब्धोर्जगाम ह ।
तदैव साऽमृतजला यमुना निर्विषाऽभवत् ॥
अनुग्रहाद्भगवतः क्रीडा म नुज रूपिणः ॥ ६७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां आष्टादश साहस्र्यां,
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

---

1. M स° 2. A,B,G,J,M राढ्यो 3. M °ते 4. A अस्मिन् 5. A,B,G,J,K मडाक्रीडं, M. मनालीडे 6. K.V.W. वा 7. V °नर्चन् 8. M.V.W °दु° 9- -9. A,B,G,J पाडतञ्चितम्; V पदलाञ्चितम् 10- -10. V ऋषिरुवाच; W omits 11- -11 K.W उक्तो भगवता राजन्; V मुक्तो भगवतो राजन्! 12. K,W तदा 13- -13. पत्नीभिरादरम् । 14. B,J पराघ्यै 15. A,B,G,J ततप्रीतोऽ° 16- -16. K क्रम्याभिवाद्य; M क्रम्यप्रणम्य 17. A,M च 18. A,M मध्ये ज° 19. A,B,G,J,K,W मानुष

श्रीध० इतीति । यतो गोभिर्नृभिश्च नदी भुज्यतामिति ॥ ६० ॥

य इति । तस्य युष्माभिः भयं नोत्पादनीयमित्याज्ञा ॥ ६१ ॥

इतोऽपि त्वया निर्गतव्यमित्याह - य इति । त्वयि स्थिते तन्न सम्भवतीति भावः ॥ ६२ ॥

न च तव गरुड भयं भवेदित्याह - दीपमिति ॥ ६३, ६७ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वमिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

---

1. A,B,J add न युष्मात्तो भयमायात् ।

**वीर०** कार्यमानुषः दुष्कृहमन साधु परित्राणात्मक कार्यार्थं मानुषः स्वेच्छोपात्तमनुष्याकृतिः इत्थं कालियस्य वच आकर्ण्य प्राह, उक्तिमेवाऽऽह ना[1-]त्रेत्यादिभिः[-1] चतुर्भिः । हे सर्प ! अत्र ह्रदे त्वया न स्थयम्, किन्तु स्व ज्ञात्यादिभिस्सह माचिरमचिरात् समुद्रं ग्राहि, नदी यमुना गोभिर्नृभिश्च भुज्यतां पीयताम् ॥ ६० ॥

तुभ्यं मत्कर्तृक दण्डनात्मकम् एतच्चरित्रं यः पुमान् उभयोस्सन्ध्ययोः संस्मरन् कीर्तयंश्च स्यात्, स युष्मत्तो भयं सर्पेभ्यो मृत्युभयं नाऽऽप्नुयादित्याज्ञान्तरम् ॥ ६१ ॥

मद्विहारस्थानेऽस्मिन् ह्रदे यः पुमान् स्नात्वा जलैः देवान् आदि शब्दात् पितॄन् ऋषींश्च तर्पयेत् उपोष्ये मां स्मरन् अर्चेच्य, स सर्वः पापैर्मुच्यते इत्याज्ञान्तरम् ॥ ६२ ॥

ननु [2]सुपर्ण भयात् रमकाख्यं सामुद्र द्वीपं हित्वाऽस्मिन् ह्रदे प्रविष्टः पुन रितस्तत्र गतं मां गरुडोऽद्यात्, तत्राऽऽह द्वीपमिति । यस्य सुपर्णस्य भयात् एनं ह्रदं त्वमाश्रितः स सुपर्णः त्वां नाद्यात् तत्र हेतुः मत्पादलाञ्छनमिति ॥ ६३ ॥

हे राजन्! इत्थमुक्तो नागः तं कृष्णं पूजयामास, तथा नागस्य पत्न्यश्च सादरं दिव्याम्बरादिभिः पूजयामासुः । परार्थ्यैरर्घैः, ततस्तं परिक्रम्य प्रदक्षिणीकृत्य अभिवाद्य च वक्त्रादिभिः सहितः अब्धोः दीपं रमणकाख्यं जगाम ॥ ६४ - ६६ ॥

क्रीडार्थं न तु कर्मफल भोगार्थम्, मानुषं रूपमस्यास्तीति तथा तस्य भगवतोनुग्रहात् तदैव सा यमुना निर्विषा अमृत तुल्य जला चाभवत् ॥ ६७ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

---

1- -1. A,B नेति 2. A,B गरुड

**विज०** देवकार्यार्थं मानुषविडम्बः ॥ ६० ॥

सन्ध्योः सन्ध्ययोः ॥ ६१ ॥

ममाऽऽक्रीडे क्रीडास्थाने ॥ ६२ ॥

त्वं पूर्वं यस्य सुपर्णस्य भयात् नाम्ना रमणकं द्वीपं हित्वा एतत् ह्रदमुपाश्रितः । अथ सुपर्णो मत्पादलक्षणं मत्पादलाञ्छनमिव लाञ्छनं यस्य स तथा तं च, त्वां नाद्यात् न भक्षयेत् ॥ ६३, ६४ ॥

परार्ध्यैरनर्घ्यत्वेनोत्तमैः ॥ ६५ - ६७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

(विजयध्वजरीत्या चतुर्दशोऽध्यायः)

# सप्तदशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या पञ्चदशोऽध्यायः)

### -: कालियस्य कालिन्दीह्रदागमन कारणोपन्यासः :-

राजोवाच

नागालयं रमणकं कस्मात्तत्याज कालियः।
कृतं किंवा सुपर्णस्य तेनैकेनाऽसमञ्जसम्॥१॥

श्रीशुक उवाच

उपहार्यैः सर्पजनैः[1] मासि मासीह यो बलिः।
वानस्पत्योह महाभागो नागानां प्राङ् निरूपितः॥२॥

स्व स्वं भागं प्रयच्छन्ति नागाः पर्वणि पर्वणि[2]।
गोपीथायाऽऽत्मनः[3] सर्वे सुपर्णाय महात्मने॥३॥

विषवीर्यमदाविष्टः काद्रवेयस्तु कालियः।
कदर्थीकृत्य गरुडं स्वयं[4] तं बुभुजे बलिम्[5]॥४॥

तच्छ्रुत्वा कुपितो राजन् गरुत्मान्[6] भगवत्प्रियः।
विजिघांसुर्महावेगः[7] कालियं समुपाद्रवत्॥५॥

---

1. K,W °र्व° 2. K,W कल्पिते 3. K,W °नां 4. M. स्वयं तां; V. स्वयन्तु 5. A, बली 6. A,B,G,J,M,K,W भगवान् 7. M वीर्यं

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका।

नागं सप्तदशे नागालयं तं निरयापयत्। बन्धून् स्वदुःखितः[1] श्रान्तान् सुप्तांस्तत्र दवादपात्॥
नागेति। असमञ्जसम् अप्रियम्॥१॥

उपहार्यैः भक्ष्यैः सर्पजनैः सर्पायितैः[2] जनैः, वानस्पत्यः वनस्पतेर्मूले देयः नागानां तद्बाधापरिहाराय यो बलिः निरूपितः उपकल्पितः[3] यद्वा उपहार्यैः सुपर्णभक्ष्यैः सर्पा एव जनाः तैः नागानां सम्बन्धी भागः यस्मिन् एकैको नागो दीयते तथा भूतो यो बलिः सुपर्णाय निरूपित इति[3]॥२॥

**स्वमिति।** ते च नागाः स्वं स्वं भागं जनैः दत्तं सुपर्णाय प्रयच्छन्ति ततो भीताः गोपीथाय रक्षणाय[4]॥ ३॥

**विषेति।** विषवीर्याभ्यां यो मदः तेनाविष्टः काद्रवेयुः कद्रू पुत्रः कालियः[5] गरुडं कदर्थीकृत्य अविगणय्य स्वं[6] भागमदत्वा अन्यैः[6] दत्तमपि तं बलिं स्वयमेव बुभुजे॥ ४,५॥

---

1- -1. V बन्धूश्च सखिनः 2. V यतैः 3- -3 अयं व्याख्यानांशः A,B,J प्रकाशेषु चतुर्थश्लोकव्याख्यायां योजितः। 4. V °का° 5. A,B,J omit कालियः 6- -6. A,B,J तत्र स्वं स्वं भागं सर्वे नागाः प्रयच्छन्ति कालियस्तु न प्रयच्छति किन्तु अन्यैः

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

यदुक्तम् — "द्वीपं रमणकं हित्वा ह्रदं एतमुपाश्रितः। यद्भयात्" (भाग. 10-16-63) इति। तत्र कालियस्य द्वीपत्यागनिमित्तस्य सुपर्णात् भयस्य निमित्तं बुभुत्सुः पृच्छति राजा **नागालयमिति।** नागालयमित्यनेन तद्द्वीपस्थानां नागानां न सुपर्णात्भयमस्ति इति सूचितम्। अत एव पृच्छति कृतमिति। तेन एकेन कालियेन स्वस्य भयनिमित्तं सुपर्णस्य असमञ्जसम् अप्रियं किं कृतम्? अन्येषु निर्भयेषु सत्स्वपि अनेन स्वभयनिमित्तं किं अप्रियं कृतम्, अन्येषां वा भयाभाव निमित्तं च किमिति प्रश्नार्थः॥ २॥

तावत् तत्रत्यानां नागानां सुपर्णात् भयाभावनिमित्तमाह **उपहार्यैरिति।** हे महाबाहो! प्राक् पुरा काले सर्वैः जनैः "सर्पो नो मा दशतु" इति तेषां यो बलिः उपहार्यैः भक्ष्यैः मासि मासि वानस्पत्यः, वनस्पतिः अपुष्पफलवृक्षः तन्मूले देयो वानस्पत्यः वनस्पति गते चन्द्रे अमावास्यायां प्रवर्तमानो वा, निरूपितः कल्पितः॥ २॥

तत्र सर्वे नागाः जनैः पर्वणि कल्पिते बलौ स्वं स्वं भागं आत्मनां गोपीथाय रक्षणार्थं, महात्मने सुपर्णाय प्रयच्छन्ति। अतस्तत्रत्यानां न गरुडात् भयमस्तीत्युक्तम्॥ ३॥

एवं सर्वेषु नागेषु प्रयच्छत्सु एष काद्रवेयः कद्र्यास्सुतः कालियस्तु विषवीर्याभ्यां यो मदस्तेनाऽऽविष्टः सुपर्णं कदर्थीकृत्य तुच्छीकृत्य अविगणय्य इति यावत् तं गरुडाय देयं बलिं स्व बलि भागं स्वयमेव बुभुजे॥ ४॥

हे राजन्! तत् कालियस्य कर्माऽऽकर्ण्य भगवतः प्रियो भगवान् गरुडः कालियं हन्तुमिच्छुः महावेगः समुपाद्रवत्॥ ५॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

असमञ्जसम् अपराधम्॥ १॥

उपहार्यैः उपहारकैः गरुडादीनां[1] पूजकैः अन्यजनेन पूज्यै र्वा। सर्प जनैः इह यो बलिः मासि मासि प्रतिमासं क्रियत इति शेषः। कीदृशः? वानस्पत्यः सोमे वनस्पतिं गते क्रियमाणः अमावास्यायां क्रियमाण इत्यर्थः। यद्वा वनस्पतौ क्रियमाणः स बलिः प्राङ् नागानामैकमत्येनात्मरक्षणार्थं निरूपित इत्यन्वयः॥ २॥

आत्मनः गोपीथाय गोपनाय आत्मरक्षणाय॥ ३॥

कद्रोरपत्यं काद्रवेयः जातिज्ञानार्थमिदमुक्तम्। कदर्थीकृत्य धिक्कृत्य तां बलिं पूजां बलिशब्दः पूजार्थः स्त्रीलिङ्गः "पूजायां स्त्री बलिर्दैत्य भेदे ना कर एव च" इति॥ ४॥

विजिघांसुः हन्तुकामः॥ ५॥

---

1. Ma omits गरुडादीनां

तमापतन्तं तरसा विषायुधः[1] प्रत्यभ्ययादुच्छ्रितनैकमस्तकः[2]।
दन्द्रिः सुपर्णं व्यदशद् ददायुधः[3] करालजिह्वोच्छ्वसितोग्रलोचनः॥ ६॥

तं तार्क्ष्यपुत्रस्सनिरस्य मन्युमान्[4] प्रचण्डवेगो मधुसूदनासनः।
पक्षेण सव्येन हिरण्यरोचिषा जघान कद्रूसुतमुग्रविक्रमः॥ ७॥

सुपर्णपक्षाभिहतः कालियोऽतीव विह्वलः।
ह्रदं विवेश कालिन्द्याः तदगम्यं दुरासदम्॥ ८॥

तत्रैकदा जलचरं गरुडो भक्ष्यमीप्सितम्।
निवारितस्सौभरिणा प्रसह्य क्षुधितोऽहरत्॥ ९॥

मीनान् सुदुःखितान् दृष्ट्वा दीनान् मीनपतौ हते।
कृपया सौभरिः प्राह तत्रत्यक्षेममाचरन्[5]॥ १०॥

---

1. A नखायुधम् 2.A °दुत्थित; M °दुद्धृत 3. V ददा° 4. °ना प्र° 5. M तत्क्षे°

**श्रीध० तमिति।** विषमेवायुधं यस्य सः प्रत्यभ्ययात् योद्धुं प्रतिजगाम, उच्छ्रितनैकमस्तकः उन्नमितानेक फणः, रदायुधः[1] दन्तायुधः करालजिह्वाश्चासौ उच्छ्वसितोग्रलोचनश्च उच्छ्वसितानि उज्जृम्भितानि उग्राणि लोचनानि यस्य सः॥ ६॥

**तमिति।** तार्क्ष्यपुत्रो गरुडः मधुसदनस्यासनं यस्मिन् सः॥ ७॥

**सुपर्णेति।** तस्य गरुडस्यागम्यं अगाधतया च दुरासदम्॥ ८॥

तदगम्यत्वे कारणान्तरमाह[2] — **तत्रेति।** निवारितोऽपि अहरत्[3] अभक्षयत्[3] ॥ ९,१०॥

1. A,B,J द° 2. A,B,J °णमाह 3- -3. A,B,J omits

**वीर०** तमापतन्तं गरुडं विषमेव आयुधं यस्य स कालियः तरसा बलेन प्रत्यभ्यपतत्। दद्भिर्दन्तैः व्यदशत् दष्टवांश्च। कथम्भूतः ? उच्छ्रितान्युद्धृतानि[1] नैकान्यनेकानि मस्तकानि फणा येन, दन्ता एव आयुधानि यस्य कराल[2-] जिह्वश्च[-2] उच्छ्वसितोग्रलोचनश्च[3-] उच्छ्वसितानि उच्छ्रितानि[4] उग्राणि लोचनानि यस्य सः ॥६॥

मधुसूदनस्यासनमुपवेशनं यस्मिन् सः उग्र विक्रमो यस्य प्रचण्डः वेगो यस्य सः। तार्क्ष्यपुत्रो गरुडो [5]क्ष्युमान् तं कद्रूसुतं निरस्य इतस्ततः प्रक्षिप्य हिरण्यरोचिषा सव्येन वामेन पक्षेण जघान ताडितवान्॥७॥

सुपर्णस्य पक्षेणाभिहतः कालियः अतीव विह्वलः उद्विग्नः तेन सुपर्णेन अगम्यं गन्तुं अशक्यं, दुरासदमगाधत्वा अन्यैश्च दुष्प्रवेशं यमुनायाः ह्रदं विवेश[6] ॥८॥

कुतः तदगम्यमित्यत्र तत् कारणमाह - **तत्रेत्यादिभिः** त्रिभिः। तत्र ह्रदे कदाचित् गरुडः स्वाभीष्टं भक्ष्यं जलचरं मीनपतिं क्षुधितः, प्रसह्य बलादहरत् जहार। कथम्भूतः ? सौभरिणा [7]ऋषिणा निवारितोऽपि॥९॥

एवं मीनपतौ गरुडेन हृते सति सुतरां दुःखितान् [8]दीनान् मीनान् दृष्ट्वा सौभरिः कृपया तत्रत्यानां [9]ह्रदस्थानां जन्तूनां क्षेमं [10]गरुडाद्भयाभावरूपमाचरन् कुर्वन् प्राह॥१०॥

1. V °द्ध° 2- -2. A,B °ला जिह्वा यस्य 3- -3. A,B omit 4. A,B, उदस्तानि 5. A,B क्रोधवान् 6. A,B add प्रविष्टवान् 7. A,B omit ऋषिणा 8. A,B omit दीनान् 9. A,B omit ह्रदस्थानां 10. A,B omit गरुडात्

**विज०** विषमेवाऽऽयुधं यस्य स तथा, उद्धृतनैकमस्तकः उद्धृतानेकफणः दद्भिः दन्तैः व्यदशत् दंशितवान्। दन्ता एव आयुधं यस्य स तथा। करालजिह्वश्च उच्छ्वसितोग्रलोचनश्च तथा। उच्छ्वसितः दीर्घश्वासोपेतः उग्रे लोचने यस्य स तथा॥६॥

जघान अहनत्, आत्मपादैः ताडितवानित्यर्थः ॥७॥

कालिन्द्याः यमुनायाः तेन गरुडेन अगम्यं दुरासदं पश्वादीनामिति शेषः ॥८॥

गरुडस्य अगम्यत्वे निमित्तमाह - **तत्रेति**। भक्ष्यत इति भक्ष्यम्॥९॥

तत्क्षेमं तेषां शिष्टानां क्षेमं योग्यरक्षाम्॥१०॥

अत्र प्रविश्य गरुडो यदि मत्स्यान् स खादति।
सद्यः प्राणैः वियुज्येत[1] सत्यमेतद्ब्रवीम्यहम्॥ ११॥
तत्कालियः[2] परं वेद नाऽन्यः कश्चन[3] लेलिहः[3]।
अवात्सीत् गरुडाद्भीतः कृष्णेन च विवासितः॥ १२॥
कृष्णं ह्रदात् विनिष्क्रान्तं दिव्यस्रग् गन्धवाससम्[4]।
महामणिगणाकीर्णं जाम्बूनदपरिष्कृतम्॥ १३॥
उपलभ्योत्थितास्सर्वे लब्धप्राणा इवासवः[5]।
प्रमोदनिभृतात्मानो गोपाः प्रीत्याभिरेभिरे॥ १४॥
यशोदा रोहिणी नन्दो गोप्यो गोपाश्च कौरव।
कृष्णं समेत्य लब्धेहा आसन् लब्धमनोरथाः॥ १५॥

---

1. K,W °मुच्येत 2. A,B,G,J तं का° 3- -3. M कश्चित्स लेलिहा 4. M मण्डितम्। 5. A,M, इव। प्रजाः

**श्रीध० तदिति।** लेलिहः सर्पः। अतः तत्र अवात्सीत्॥ ११,१२॥

**कृष्णमिति।** जाम्बूनदं सुवर्णं तेनालङ्कृतम्॥ १३॥

**उपलभ्येति।** असवः इन्द्रियाणिप्रमोद निभृतात्मनः आनन्दपूर्णमनसः॥ १४॥

**यशोदेति।** लब्धेहाः लब्धचेष्टाः॥ १५॥

**वीर०** किम्? अत्र ह्रदे प्रविश्य यदि गरुडो मत्स्यान् खादति तर्हि स गरुडः सद्य एव प्राणैः वियुज्येत, एतदहं सत्यं ब्रवीमीति ब्राह्मणवाक्यस्य माननीयत्वात् परमपुरुषेणेव गरुत्मता तत्प्रतिघातशक्तिमतापि तस्यानुरोधः उपपद्यते॥ ११॥

तत् शापात्मकं सौभरेः वचः केवलं कालिय एव वेद तदन्यः कोऽपि लेलिहः[1] सर्पो न वेद। अतोऽयं गरुडात् भीतः तत्र ह्रदे अवात्सीत्। ततः कृष्णेन विवासितः निष्कासितश्चेति कालियदमनात्मकवृत्तान्तोपसंहारः॥ १२॥

अथ तत उपरितनं वृत्तान्तमाह - **कृष्णमिति** यावदध्यायसमाप्ति। दिव्यानि स्रगन्धवासांसि नागपत्नीभिः समर्पितानि यस्य तं महतां अनर्घाणां मणीनां गणैः आकीर्णं सर्वतः समलङ्कृतं जाम्बूनदेन सुवर्णेन अलङ्कृतं, ह्रदात् विनिर्गच्छन्तं कृष्णं उपलभ्याऽऽलक्ष्य लब्धप्राणाः असवः इन्द्रियाणीव सर्वे गोपादयः उत्थिताः ततः प्रमादेन निभृताः पूर्णा आत्मानो

देहाः मनांसि वा येषां तथा भूताः गोपाः प्रीत्या कृष्णमभिरेभिरे आलिङ्गितवन्तः ॥ १३,१४ ॥

यशोदादयो गोप्यो नन्दादयो गोपाश्च हे कौरव! कृष्णं समेत्य सङ्गत्य लब्ध चेष्टा [2]लब्धमनोरथाश्च बभूवुः ॥ १५ ॥

---

1. A,B °हानः 2. W बद्ध

**विज०** खादति भक्षति प्राणवियोगं मरणमाप्नोतु॥ ११॥

लेलिहा लेलिहानः सर्पः। छन्दोभङ्गभयादेवमुक्तम्। गरुडात् भीत्यैव अवात्सीत्, सौभरेः शापातिक्रमणसमर्थेन तेन किमर्थं ह्रदं प्रविश्य हननं न कारीति इयं आशङ्का। "विष्णुना विष्णु भक्तैश्च ब्रह्मशापोऽनुवर्त्यते। ब्राह्मणानामपीडायै बलिभिः क्षत्रियादिभिः"॥ (ब्रह्माण्डे) इत्यादि ब्रह्माण्डवचनेन निस्तुर्षा कर्तव्या। एतद्विवक्षया वा लेलिहेत्युक्तम्॥ १२,१३॥

उपलभ्य दृष्ट्वा, प्रमोदनिभृतात्मनः आनन्दपूर्णात्मानः, अभिरेभिरे आलिङ्गनं चक्रुः। अभीत्युपसर्गात् मुख्यामुख्यभेदो द्रष्टव्यः॥ १४॥

लब्धेहाः लब्धचेष्टाः पूर्वं शवप्राया इत्यर्थः॥ १५॥

**रामश्चाच्युतमालिङ्ग्य जहासास्यानुभाववित्।**
★ **प्रेम्णा तमङ्कमारोप्य पुनः पुनः रुदैक्षत।**
**[1]नगा गावो [2]वृषा वत्साः लेभिरे परमां मुदम्॥ १६॥**
**नन्दं विप्रास्समागम्य गुरवः सकलत्रकाः।**
**ऊचुस्ते कालियग्रस्तो दिष्ट्या मुक्तस्तवात्मजः॥ १७॥**
△ **यशोदा [3]च महाभागा नष्टलब्धप्रजासती।**
**परिष्वज्याङ्कमारोप्य मुमोचाश्रुकणान् [4]बहून्॥ १८॥**
★ **ततश्चास्तङ्गते भानौ कृष्णो वासमकल्पयत्।**
**सरामस्सह गोपालैः मात्रा पित्रा सगोधनः॥ १९॥**
**तां रात्रिं तत्र राजेन्द्र क्षुत्तृड्भ्यां श्रमकर्शिताः।**
**ऊषुर्व्रजौकसो गावः कालिन्द्याः उपकूलतः॥ २०॥**

★ This extra half verse is found in K,W editions only and the same is commented by Sri Veera Raghava 1- -1. A नरा नार्यो 2. A,B,G,J °गत्य; K,W °साच △ देहि दानं द्विजातीनां कृष्णनिर्मुक्ति हेतवे। नन्दः प्रीतमनाः राजन् गाः सुवर्णं तदादिशत्। The above extra verse is found in A,B,G,J editions. 3. A,B,G,J °दाऽपि 4- -4. A,B,G,J कलां मुहुः ★ It is not found in A,G,J editons 5. V ° लः 6. B,M °नैः

**श्रीध० राम** इति। नागाः वृक्षाः अपि पूर्वं शुष्कास्सन्तः सद्य एव विरूढा इत्यर्थः ॥ १६ ॥

**नन्दमिति।** ते विप्राः ऊचुः ॥ १७ ॥

**यशोदेति।** नष्टलब्धप्रजा, नष्टप्राया पुनर्लब्धा प्रजा यया सा ॥ १८,१९ ॥

**तमिति।** श्रमेण च कर्शिताः उपकूलतः कूलप्रान्ते ॥ २० ॥

**वीर०** रामस्तु कृष्णमालिङ्ग्य अस्य कृष्णस्य प्रभावं जानन् केवलं जहास हसितवान् ततस्तं कृष्णं अङ्कमारोप्य पुनः पुनः प्रीत्या उदैक्षत[1] समवैक्षत। नगादयः परमां मुदं लेभिरे। तत्र नगाः वृक्षाः वृक्षा अपि पूर्वं शुष्कास्सन्तः पुनः फलपुष्पादिभिः विरूढा इत्यर्थः ॥ १६ ॥

सभार्याः विप्राः नन्दं समेत्य कालियेन ग्रस्तः तवात्मजो मुक्तः तस्मात् विमुक्तः किल, दिष्ट्या अयं महानानन्दः[3] इत्यूचुः ॥ १७ ॥

नष्टप्राया पुनर्लब्धा प्रजा पुत्रो यया सा सती यशोदा सुतं परिष्वज्य अङ्कमारोप्य च बहूनानन्दाश्रुकणान् मुमोच ॥ १८ ॥

ततः तां रात्रिं तत्र यमुनायाः तीर एव व्रजौकसः गावश्च[4] ऊषुः उषितवन्तः। कथम्भूतः? क्षुतृड्भ्यां श्रमेण च कर्शिताः ॥ १९, २० ॥

1 K,W omit उदैक्षत 2. K,W °र्व° 3. K,W omit इत्यूचुः 4. K,W omit गावश्च

**विज०** नष्टा च लब्धा च प्रजा यस्याः सा तथा। अश्रुकणान् बाष्पबिन्दून् ॥ १६ - १९ ॥

क्षुतृड्भ्यां उत्पन्नश्रमेण कर्शिताः अभिभवं प्राप्ताः उपकूलतः कूलसमीपे ॥ २० ॥

★ **एतस्मिन्नेव काले तु व्रजे कौरवसत्तम!**
**तदाऽऽशु[1] विपिनोद्भूतो[2] दवाग्निः[3] सर्वतो व्रजम्[3]।**
**सुप्तान्निशीथ[4] आवृत्त्य[5] प्रदग्धुमुपचक्रमे ॥ २१ ॥**

-: दावाग्नितः गोपसंरक्षण घट्टः :-

तत उत्थाय सम्भ्रान्ता दह्यमाना व्रजौकसः ।
कृष्णं ययुस्ते शरणं मायामनुजमीश्वरम्॥ २२॥

कृष्ण कृष्ण महाभाग! हे रामाऽमित विक्रमः ।
एष घोरतमो वह्निः तावकान् ग्रसते हि नः ॥ २३॥

सुदुस्तरात्स्वान्नः पाहि कालाग्नेः सुहृदः प्रभो।
न शक्नुमस्त्वच्चरणं सन्त्यक्तुमकुतोभयम्॥ २४॥

इत्थं स्वजनवैक्लव्यम् निरीक्ष्य जगदीश्वरः ।
तमग्निमपिबत्तीव्रम् अनन्तोऽनन्तशक्तिधृत्॥ २५॥ ★

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पर्वार्धे
दावाग्निमोचनं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७॥

(श्री विजयध्वजरीत्या पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५॥)

---

★ This extra half verse is not found in A,G,J,K,V,W editons 1- -1. B,G,J तदा शुचि वनोद्भूतो; M. घोरः शुचि वनोद्भूतो; V. तदाऽऽशु विपिनोद्भूतो 2. A,B,G,J,M दावा° 3- -3. K,W परितो व्रजम्; M. सर्वतो वृतः 4. A,B,G,J,V सुमं नि° 5. W. आसाद्य 6. A.W मानुष° 7. A,K, °च्छीघ्रं 8. A,B,G,J,M °क् श्री विजयध्वजीयव्याख्यारीत्या अस्यैकाध्यायस्य (15) अन्तिमः श्लोकः (27) 'अथ कृष्णः' इत्यारभमाणः श्रीधरीयवीरराघवीयव्याख्ययोः (तद्रीत्या) अष्टादशाध्याये प्रथमश्लोकत्वेन स्वीकृतः

**श्रीध०** कालाग्नेः मृत्युरूपादग्नेः न मृत्योर्बिभीमः। किन्तु त्वच्चरणवियोगादित्याहुः न शक्नुम इति ॥ २१ - २५॥

★ विमोहा नहि दण्डेन ततस्स्वकारणं गतान्। गोपानपादनन्तोऽसावनन्त वनवह्नितः ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७॥

---

★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः 1. A,B,J °स्वं शरणा ग°

**वीर०** तदा रात्रौ अरण्य प्रभवो दवाग्निः निशीथे सुप्तं व्रजं व्रजस्य परित आवृत्य प्रदग्धमुपाक्रान्तवान्॥ २१॥

ततो दवाग्निना दह्यमानाः व्रजौकस उत्थाय सम्भ्रान्ताः व्याकुलचित्ताः मायया आत्मीय सङ्कल्पेन मनुजं साक्षादीश्वरं कृष्णं शरणं ययुः। रक्षणोपायत्वेन अध्यवसितवन्तः॥ २२॥

शरणयानप्रकारमेवाऽऽह — **कृष्ण कृष्णेति**[1] द्वाभ्याम्। तावकान् त्वदेकरक्षान् नः अस्मान् एष वह्निः ग्रसते॥ २३॥

स्वान् स्वकान् सुहृदो नः अस्मान् सुदुस्तरात् कालाग्नेः प्रलयाग्नितुल्यात् दवाग्नेः पाहि हे प्रभो! नास्ति कुतोऽपि भयं यस्मात् तं तव चरणं सन्त्यक्तुं न शक्नुमः। न वयं मृत्योः बिभीमः अपि तु त्वच्चरणवियोगादिति भावः॥ २४॥

स्वजनानां वैक्लव्यं निरीक्ष्य अनन्तशक्तिधृत्[2] हेतुगर्भमिदम्। तत्त्वात् जगदीश्वरः[3] कृष्णः[3], शीघ्रं तमग्निं अपिबत्॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

---

1. K,W omit द्वाभ्याम् 2. A,B °क् 3- -3. W omits

**विज०** शुचिः पवनः तस्य बलेनोद्भूतः शुचि नाम्नो मरुतो बलेन वा। वृतः परिवेष्टितः। निशीथे अर्धरात्रे। अनन्तशक्तिधृक् अनियतशक्ति धृक्॥ २१ - २५॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
व्याख्यायां सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

(विजयध्वजरीत्या पञ्चदशोऽध्यायः)

# अष्टादशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या षोडशोऽध्यायः)

### -: ग्रीष्मर्तु वर्णन प्रारम्भः :-

श्रीशुकउवाच

★ अथ कृष्णः परिवृतो ज्ञातिभिर्[1]मुदितात्मभिः।
अनुगीयमानो न्यविशद्व्रजं गोकुलमण्डितम्[2]॥ १॥

व्रजे विक्रीडतोरेवं गोपालच्छद्ममायया[3]।
ग्रीष्मो नामर्तुरभवन् नातिप्रेयान् शरीरिणाम्[4]॥ २॥

स च बृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षितः।
यत्राऽऽस्ते भगवान् साक्षाद्रामेण सह केशवः॥ ३॥

यत्र निर्झरनिर्ह्राद निवृत्तस्वनझिल्लिकम्।
शश्वत्तच्छीकरै[5] जुष्ट द्रुममण्डलमण्डितम्[6]॥ ४॥

सरित्सरः प्रस्रवणोर्मिवायुना कह्लारकञ्जोत्पलरेणु हारिणा।
न विद्यते यत्र वनौकसां दवो निदाघह्न्यर्क भवोऽतिशाद्वले[7]॥ ५॥

---

* This verse has been added at the end of 15th adhyayh according to Vijayadwajiya, and which is 17th adhyaya according to the other commentaries. 1. A बन्धुभिः 2. V °तः। 3. A,M. रूपिणोः 4. M °णः। 5. A,B,G,J °रर्जीषि 6. M पिप्पल 7. A,V °ह्वले

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अष्टादशो ततो ग्रीष्मे वसन्त गुणलक्षिते। अघातयद्बलेनालं प्रलम्बं लीलय हरिः॥
कृत्वा नृत्यं फणाग्रेषु कलियस्य सकौतुकम्। बलं प्रलम्बतुङ्गां समारोहयदमित्र हा[1]॥
व्रज इति। गोपालच्छद्ममायाया गोपालनमेव च्छद्म यस्यां तया माया[2] ॥ १ - ३॥

वसन्तसाम्यमाह — चतुर्भिः **यत्रेति।** यत्र ग्रीष्मेऽपि निर्झराणां निर्ह्रदिन घोषेण निवृत्तस्वनाः च्छन्नध्वनयः झिल्लिकाः कठोरध्वनयः सूक्ष्मकीटा यस्मिन्। तथा भूतं बृन्दावनं भवति। किञ्च, शश्वत्तेषां निर्झराणां शीकरैः अम्बुकणैः, जुष्टाः स्निग्धाः ये द्रुमास्तेषां मण्डलैर्मण्डितम्॥ ४॥

**सरिदिति।** यत्र ग्रीष्मे वने वा निदाघो ग्रीष्मः, तेन तत्कालीन वह्न्यर्काभ्यां च भवति यो दवः तापः अतिशाद्वले अतिहरित तृणाकीर्णे। यद्वा अतिक्रान्तः शाद्वलेऽपि स्थाने॥ ५॥

---

1. A,B,J °दरातिहा 2. V omits मायया 3. A,B,J ध्वनिसू° 4. A,B,J ऋजीषाः 5. V °ड्व°

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ बलदेव कृतं कृष्णकारितं प्रलम्बासुरवधात्मकं कर्मानुवर्णयति अष्टादशेन, तावत्तदुपोद्घातत्वेन काश्चित् पौगण्ड क्रीडाः तदुपयुक्तं वनं कालं च अनुवर्णयितुं तावत् वृत्तेन सङ्गमयितुं वृत्तशेष माह — **अथेति।** अथ तद्रात्रि व्यतिक्रमानन्तरं मुदिता आत्मानो मनांसि येषां तैः ज्ञातिभिः गोपैः अनुगीयमानो भगवान् गवां समूहेन मण्डितं व्रजं प्राविशत्॥ १॥

गोपालच्छद्म गोपाल इति व्याजो यतः तया मायया आत्मसङ्कल्पेन इत्थं व्रजे सम्यक् क्रीडतोः सतोः रामकृष्णयोरिति शेषः। ग्रीष्माख्यः ऋतुः प्रवृत्तः अनेनोक्ताः क्रीडा वासन्तिका इति सूचितम्॥ २॥

स च यद्यपि शरीरिणां नातीव सुखकरः तथापि बृन्दावनस्य गुणैः वसुन्तर्तुतुल्यो बभूव। के ते गुणाः? यैः वसन्त इव लक्षितः ऋतुधर्मम् अतिक्रम्यापि कुत स्तस्य ते गुणा इत्यत्राह — यत्रेति। यत्र साक्षात् भगवान् केशवो रामेण सह आस्ते। भगवदावासप्रभावेन गुणव्यत्यय इति भावः। यत्र बृन्दावने भगवान् आवासस्तस्य गुणैरित्यन्वयः॥ ३॥

ग्रीष्मस्य वसन्त तुल्यतां ख्यापयितुं बृन्दावनगुणाननुवर्णयति **यत्रेति।** यत्र शब्दानां बृन्दावन सहचरिते ग्रीष्मऋतावित्यर्थः। निर्झराणां घोषेण निवृत्तस्वनाः छन्नध्वनयः झिल्लिकाः कठोरध्वनयः सूक्ष्मकीटविशेषाः। यस्मिन् तथा भूतं बृन्दावनं अभवदित्यर्थः। किञ्च शश्वत् सदा तेषां निर्झराणां शीकरैः अम्बुकणैः। जुष्टाः स्निग्धाः ये द्रुमाः तेषां मण्डलैः मण्डितम्॥ ४॥

**सरिदित्यादि।** सरितां सरसां प्रस्रवणानां निर्झराणां च ये ऊर्मयः तेषां सम्बन्धिना वायुना कह्लारादीनां रेणून् हरतीति तथाभूतेन यत्रातिशाद्वले अतिहरित तृणाकीर्णे अतिक्रान्तशाद्वलेपि वा निदाघो ग्रीष्मस्तेन तात्कालिक वह्न्यर्काभ्यां च भवति यो दव स्तापः स वनौकसां न विद्यते॥ ५॥

---

1. A,B उप° 2- -2. W omits 3. A,B omit यत्र

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हरेः भूभार हरणस्य यदन्तरङ्गं कर्तुं अवतीर्णं शेषेण तद्वनुमपक्रमते - **व्रज** इत्यादिना। गोपालच्छद्मरूपिणोः गोपालाविति कपटशब्दिनोः "रूपं शब्दे पशौ श्लोके ग्रन्थावृत्तौ सितादिषु। सौन्दर्ये च स्वभावे च" (वैज. को. 6-3-28) इति यादवः। नातिप्रेयान् नातिप्रियतरः धर्महेतुत्वात्॥ १- ३॥

वसन्ततुल्यत्वे निमित्तमाह - **यत्रेति**। यत्र बृन्दावने निर्झरस्य निर्ह्रदिन शब्देन निवृत्तस्वनाः प्रतिष्टब्धस्वराः झिल्लिकाः कीटविशेषाः यस्मिन् तत्तथा तस्य निर्झरस्य शीकरैः वायुशीर्णवारिबिन्दुभिः॥ ४॥

सरित् नदी सरो देवखातः एतयोः प्रस्रवणं निर्झरं ऊर्मिस्तरङ्गः एतत्सम्बन्धिवायुना च कल्हारं सौगन्धिकं कञ्जं पद्मं, उत्पलं नीलोत्पलं एषां रेणुभिः परागैः हारिणा मनोहरेण यद्वा रेणूनां हारो हरणं अस्यास्तीति हारी तेन निदाघवह्न्यर्केभ्यो भवः उत्पत्तिः यस्य स तथा दवस्तापः -'दवपरिताप' इति धातुः, अचू प्रत्यये एतत्सिध्यति। वनाग्निरित्यर्थाङ्गीकारे वन्हीत्येतद्वचर्थं भवति। अतिशाद्वले कोमलतर तृणोपेते॥ ५॥

**अगाध तोय ह्रदिनी तटोर्मिभिः द्रवत्पुरीष्याः पुलिनैः समन्ततः।**
**न यत्र चण्डांशुकराविषोल्बणा भुवो रसं शाद्वलितं विगृह्णते॥ ६॥**

**वनं कुसुमितं श्रीमत् नदच्चित्रमृगद्विजम्।**
**गायन्मयूरभ्रमरं कूजत्कोकिलसारसम्॥ ७॥**

**क्रीडिष्यमाणः कत्कृष्णो भगवान् बलसंयुतः।**
**वेणुं विरणयन् गोपैर्गोधनैः संवृतोऽविशत्॥ ८॥**

**प्रवाल बर्हस्तबकः स्रग्धातुकृत भूषणाः।**
**रामकृष्णादयोगोपा ननृतुर्युयुधुर्जगुः॥ ९॥**

**कृष्णस्य नृत्यतः केचित् जगुः केचिदवादयन्।**
**वेणुपाणितलैः शृङ्गैः प्रशशंसुरथापटे॥ १०॥**

---

1. M तटेऽहैः 2. M °त्युलिन्याः ; K. W त्पुरीषैः 3. A,M °ह्व° 4. A,B,G,J च गृ° M निगृ° 5. M वेणुं

**श्रीध०** ननु शाद्वलमेव कुतत्स्यम्? तत्राह — **अगाधेति**। अगाधानि तोयानि यासां तासां ह्रदिनीनां तटस्थिर्भिः ऊर्मिभिः पुलिनैस्सह द्रवत् पुरीषं पङ्को यस्या तस्याः भुवः रसं शाद्वलितं शाद्वलरूपतां च विषवदुल्बणाऽपि सूर्यरश्मयो न विगृह्णते न हरन्ति॥ ६॥

**वनमिति**। तद्वनम् अविशदित्युत्तरेणान्वयः। नदन्तः चित्राः मृगाः द्विजाश्च यस्मिन्, गायन्तो मयूराः भ्रमराश्च यस्मिन्, कूजन्तः कोकिलाः सारसाश्च यस्मिन् तत्॥ ७॥

**क्रीडिष्यमाण** इति। तद्वनम् अविशत्॥ ८ - १०॥

1. V °ह्व° 2. B स्पर्शिनीभिः 3. V °ह्व° 4. V °ह्व° 5. A,B,J omit वि 6- -6. V omits 7. A,B,J omit वनम्

**वीर०** ननु शाद्वलमेव कुतः तत्राह — **अगाधेति**। अगाधानि तोयानि यासां तासां ह्रदिनीनां तटस्पर्शिभिः ऊर्मिभिः हेतुभिः पुलिनैस्सह द्रवत् पुरीषं पङ्को यस्याः तस्याः भुवः रसं शाद्वलितं शाद्वलरूपतां च विषवदुल्बणा अपि सूर्यस्य रश्मयो, यत्र न विगृह्णते न हरन्ति, आशुतरव्यासौ विषदृष्टान्तः, तद्वन माविशत् इत्युत्तरेणान्वयः ॥ ६ ॥

श्रीमत् फलकिसलयादिसमृद्धिमत् भगवदावासत्वात् लक्ष्मीवद्वा, नदन्तश्चित्रा मृगा द्विजाः पक्षिणश्च यस्मिन्, गायन्तो मयूराः भ्रमराश्च यस्मिन्, कूजन्तः कोकिलाः सारसाश्च यस्मिन् तत् ॥ ७ ॥

एवम्भूतं [1]वनं भगवान् कृष्णः क्रीडिष्यमाणो बलदेवेन संयुतः वेणुं विशेषेण रणयन् नादयन् गोपैः गोधनैश्च संवृतः प्राविशत् ॥ ८ ॥

ततः प्रवालादिभिः कृतानि भूषणानि यैः तथा भूताः रामकृष्णादयो गोपाः ननृतुः, युयुधुः मिथो बाहुभिः, जगुश्च ॥ ९ ॥

तत्र कृष्णस्य नृत्यतः सतः केचिद्गोपाः जगुः केचिच्च वेण्वादिभिः अवादयन्, केचिच्च प्रशशंसुः ॥ १० ॥

1. K,W omit वनं

**विज०** विषवदुल्बणाः चण्डांशुकराः सूर्यरश्मयः, यत्र शाद्वलितं बालतृणनिबिडं भुवो गतं रसं जलं न निगृह्णते। किं कारणमत्राह — **अगाधेति**। अगाधं तोयं यस्याः सा अगाधतोया सा च ह्रदिनी नदी तत्तस्याः तटेरुहैः तीरजातैः वृक्षैः समन्ततः द्रवन्त्यः स्यन्दमानायाः पुलिन्याः विभक्त नद्याः शाखाद्य इत्यर्थः। पुलिनैः निमित्तैः सर्वदा द्रवीभूत स्थलत्वादित्यर्थः ॥ ६,७ ॥

विरणयन् विविधैः स्वरैः ध्वनयन् कृष्णः तद्वनमविशत् इत्यन्वयः ॥ ८ ॥

धातुर्गैरिकः ॥ ९,१० ॥

**गोपजाति प्रतिच्छन्नौ देवा गोपाल रूपिणः।**
**ईडिरे कृष्ण रामौ च नटा इव नटं नृप ॥ ११ ॥**

**[2]भ्रामणैर्लङ्घनैः क्षेपैः आस्फोटनविकर्षणैः।**
**चिक्रीडतुर्नियुद्धेन काक पक्ष धरावुभौ ॥ १२ ॥**

**क्वचिन्नृत्यत्सुचान्येषु गायकौ वादकौ स्वयम्।**
**शशंसन्तुर्महाराज साधुसाध्विति वादिनौ ॥ १३ ॥**

**क्वचित्कुम्भैः क्वचित्बिल्वैः क्वचामलकमुष्टिभिः[4]।**
**अस्पृश्यनेत्र बन्धाद्यैः क्वचिन्मृगखगेहया॥ १४॥**

**क्वचिच्च दर्दुरप्लावैः विविधैरुपहासकैः।**
**कदाचिदान्दोलिकया[5] कर्हिचिन्नृपचेष्टया[6]॥ १५॥**

---

1. A,B,J,V °न्ना 2. V °भ्र° 3. A,B,G,J,K,W धरौक्वचित् 4. K,W शुक्तिभिः 5. M क्वचित्तथान्दो° 6. A,B,G,J °चित्स्पन्दो°

**श्रीध० भ्रमणैरिति।** काक पक्षाः चूडाकरणात् प्राक्तनकेशाः भ्रमणादिप्रकारैः[1] नियुद्धेन बाहुयुद्धेन चिक्रीडतुः॥ ११ - १३॥

**क्वचिदिति।** कुम्भैः कुम्भ वृक्षफलैः अस्पृश्यत्वं, नेत्रबन्धश्च तदाद्यैः मृगाणां खगानां च चेष्टया॥ १४॥

**क्वचिदिति।** दर्दुरप्लावैः मण्डूकप्लुतिभिः आन्दोलिकया[2] दोलालम्बनेन[3] नृपाणामिव लीलया॥ १५॥

---

1. A,B,J भ्रा° 2. A,B,J स्पन्दो° 3. V डो°

**वीर०** गोपजातिप्रतिच्छन्नौ साक्षादीश्वरावतार भूतौ रामकृष्णौ गोपालरूपिणो देवा ईडिरे तुष्टुवुः हे नृप! नटं नटा इव॥ ११॥

भ्रामणादिभिः नियुद्धेन बाहुयुद्धेन च, काकपक्ष धरौ रामकृष्णौ क्वचित् चिक्रीडतुः काकपक्षा चूडाकर्मणः प्राक्तनकेशाः। तत्र भ्रामणं नाम जिघृक्षतः प्रतिद्वन्द्वि जनादात्मानं कौशलेन वञ्चयता परितः तत्सञ्चारणं, लङ्घनमासन्नस्य प्राप्त स्वग्रहणस्य वञ्चनार्थं लाघवेनेतस्ततो वल्गनं, स्वगृहीतस्य भूमौ पातनं क्षेपः, करतलैः भुजैः व्याघात अस्फोटनं बलपरीक्षार्थं अन्योन्यं आकर्षणं विकर्षणम्॥ १२॥

क्वचिदन्येषु गोपेषु नृत्यत्सु सत्सु स्वयं गायकौ वादकौ च भूत्वा हे महाराज! साधु साध्विति वदन्तौ प्रशशंसतुः॥ १३॥

क्वचिद्बिल्वादिभिः इत्येवं लोकप्रसिद्धाभिः बालक्रीडाभिः रामकृष्णौ विचेरतुः, सञ्चरितवन्तौ[1] इति[2-] त्रयाणामन्वयः[2-]। कुम्भो नाम वृक्ष विशेषः, तस्य फलैः गुच्छैरिति पाठान्तरम्। आमलकैः शुक्तिभिः कालिन्दीपुलिनगत मुक्तास्फोटैश्च अस्पृश्यं, आवां मिथो न स्पृश्यविति, भाषाबन्धनेन तदनुकूलं कर्म, नेत्रबन्धः आगमिष्यतो नामकथनार्थं पाणिभ्यां कस्यचिन्नेत्र प्रच्छादनम्। मृगाणां खगानां चेहया तत्सजातीयचेष्टया दर्दुरप्लावैः मण्डूकप्लुतिभिः उपहासकैः परिहासक वाक्यैः आन्दोलिकया तदाकारदोलालम्बनेन नृपाणा मिव लीलया च॥ १४,१५॥

---

1. A,B add सन्तौ 2- -2. K.W omit

**विज०** भ्रामणैः मण्डलाकारेण तिर्त्तिरैः लङ्घनैः दशपदान्युत्पतनैः क्षेपैः आक्षेप वचनैः पाषाणक्षेपणैर्वा। आस्फोटनैः एकं हस्तं द्विगुणीकृत्येतरेण पाणिनाऽऽस्फालनानि आस्फोटनानि तैः परस्परैः पाणिना पाणिम् अवलम्ब्य आकर्षणं विकर्षणं नियुद्धेन मल्लयुद्धेन काकपक्षधरौ अकृतचौलकेशधारिणौ त्रिवृत्कृतवेणीधारिणावित्यर्थः ॥ ११,१२॥

कुम्भैः कुम्भफलैः वर्तुलाकारैः। "कुम्भोलूखलकेक्लीबे कौशिको गुगुलः पुमान् (अम.को. 2-80) इत्यमरः। पृष्ठतो धावनात्स्प्रष्टुमशक्यं त्वं मां स्पृशेत्युक्त्वा पुरतो लीलया धावतीति यत्तदिदमस्पृश्यक्रीडनम्। वस्त्रेणनेत्रमाच्छाद्य मां स्पृशेतिनिगद्य तं मुक्त्वा पुरतो भ्रमणं नेत्र बन्धलीला। दूरान्तर प्रदेशे स्थितं वृक्षं लक्षीकृत्योभाभ्यां प्राक् वृक्षस्य स्पर्शी विजयी स्यादितीयं क्रीडाधावन संज्ञेत्यादिकमादिपद गृहीतम्॥ १३॥

दर्दुरप्लावैः मण्डूकवत् उत्पतनैः ॥ १४॥

दोणीनिम्नसानुस्थलं अन्तर्लता निबिडो ह्रस्वादिकुञ्जः "निकुञ्ज कुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे" (अम.को. 2-46) इत्यमरः ॥ १५॥

**एवं तौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वने।**
**नद्यद्रिद्रोणिकुञ्जेषु काननेषु[1] सरस्सु[2] च॥ १६॥**

**पशूंश्चारयतोर्गोपैः तद्वनेरामकृष्णयोः।**
**गोपरूपीप्रलम्बोऽगात् असुरस्तज्जिघांसया[3]॥ १७॥**

**-: प्रलम्ब वध घट्टः :-**

**तं विद्वानपि दाशार्हो भगवान् सर्वदर्शनः।**
**अन्वमोदततत्सख्यं वधं तस्य विचिन्तयन्॥ १८॥**

**तत्रोपाहूय[4] गोपालान् कृष्णप्राह विहारवित्।**
**हे गोपा विहरिष्यामो द्वन्द्वीभूय यथा यथम्॥ १९॥**

**तत्र चक्रुः परिवृढौ[5] गोपा रामजनार्दनौ।**
**कृष्णसंघट्टिनः केचित् आसन्[6] रामस्य चापरे॥ २०॥**

---

1. M पुलिनेषु 2. A,K,W सरित्सु 3. A,B,G,J,V °जिहीर्षया 4. M.V °प° 5. A,B,G,J,M °वृ° 6. M गोपाः

**श्रीध० एवमिति।** नद्यः अद्रिद्रोणयः कुञ्जानि च एषु[1]॥ १६॥

**पशूनिति**। चारयतोस्सतोः तद्वने तस्मिन् वने तयोः जिहीर्षया॥ १७,१८॥

**तत्रेति**। यथायथं वयो बलाद्यनुरूपं द्वन्द्वीभूय॥ १९॥

**तत्रेति**। परिवृढौ नायकौ। तत्र केचन श्रीकृष्ण संघट्टिनः श्रीकृष्ण पक्षीयाः॥ २०॥

---

1. A,B,J एतेषु

**वीर०** नद्यादिषु रामकृष्णयोर्गोपैः सह पशूंश्चारयतो गोपरूपी प्रलम्बोऽगादित्युत्तरेणान्वयः। द्रोणः पर्वतसन्धिप्रदेशः तज्जिघांसया रामकृष्णहननेच्छया॥ १६, १७॥

सर्वदर्शनः हेतुगर्भ मिदम्। सर्वज्ञत्वात् तं जिघांसु मागतं गोप रूपिणं प्रलम्बासुरं विद्वानपि सद्यो न तं जघानेति वाक्यशेषः। किन्तु उपायान्तरेण तस्य वधं विचिन्तयन् तेन सह सख्यमेवान्वमोदत अन्वमन्यत॥ १८॥

तत्र गोपानाहूय तद्वधोचित विहारक्रमाभिज्ञः प्राह। उक्ति मेवाह हे गोपा इति। यथायथमाकृति वयोबलानुरूपं द्वन्द्वीभूय संघद्वयं भूत्वा विहरिष्यामः इति॥ १९॥

तत्रैवं भगवतोक्ते सति गोपाः रामकृष्णौ परिवृढौ संघयोः नायकौ चक्रुः, तत्ः केचित् गोपाः [1-] कृष्णसंघट्टिनः [-1] कृष्णपक्षीया बभूवुः अपरे तु रामस्य संघट्टिनः॥ २०॥

---

1- -1. A,B omit

**विज०** यस्य यो विहार तं वेत्तीति॥ १६ - १९॥

परिवृढौ नायकौ, कृष्ण संघट्टिनः कृष्णपक्षीयाः॥ २०॥

**आचेरुः विविधाः क्रीडाः वाह्यवाहकलक्षणाः।**
**तत्रारोहन्ति जेतारो वहन्ति च पराजिताः॥ २१॥**

**वहन्तो वाह्यमानाश्च चारयन्तश्च गोधनम्।**
**भाण्डीरकं नाम वटं जग्मुः कृष्णपुरोगमाः॥ २२॥**

**रामसंघट्टिनो [2]यर्हि श्रीदामवृषभादयः।**
**क्रीडायां जयिन स्तांस्तान् [3]कृष्णादयो नृप॥ २३॥**

**उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः ।**
**वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणी सुतम् ॥ २४ ॥**
**अविषह्यं मन्य मानः कृष्णं दानवपुङ्गवः ।**
**वहन् द्रुततरं प्रागात् अवरोहणतः परम् ॥ २५ ॥**

---

1. A,B,J,K,W यात्रा° 2.A,V ये हि ; M. ये तु 3. V °स्तंस्ते ह्यहुः

**श्रीध० वहन्त** इति । वाह्यमानाः पृष्ठेनोह्यमानाः ॥ २१ - २४ ॥

**अविषह्यमिति** । कृष्णदृष्टिवञ्चनाय अवरुह्यतेऽस्मिन्नित्यवरोहणं मर्यादा । ततः परं दूरमगात् ॥ २५ ॥

**वीर०** [1]इत्थं भूत्वा वाह्यवाहकेति भावप्रधानो निर्देशः । वाह्यत्ववाहकत्वे लक्षणे फले यासु ताः वाह्या वाहकाश्च जयपराजय कृता यास्त्विति वा तथा भूताः विविधाः क्रीडाश्चेरुः । वाह्यवाहकलक्षणा इत्येतदेव विशदयति — **यत्रेति** । यत्र यासु क्रीडासु जेतार आरोहन्ति पराजितास्तु वहन्तीति ॥ २१ ॥

एवं क्रीडायां जयेन [2]हेतुना वाह्यमानाः पराजयेन हेतुना वहन्तश्च गोधनं चारयन्तश्च कृष्णप्रभृतयो गोपाश्शनैः भाण्डीराख्यं वटं वृक्षं जग्मुः ॥ २२ ॥

तत्र यर्हि यदा श्रीदामादयो राम संघट्टिनः क्रीडायां जिग्युः तदा तान् हे नृप ! कृष्णादयः ऊहुः ऊढवन्तः ॥ २३ ॥

तत्र भगवान् श्रीकृष्णः पराजितः श्रीदामानमुवाह, भद्रसेनस्तु वृषभं तथा श्रीकृष्णसंघट्टी प्रलम्बासरो रोहिणीसुतं बलदेवमुवाह ॥ २४ ॥

तावद्रामसंघट्टी किं न बभूव प्रलम्ब इति इमामाशङ्कां निराकुर्वन् तं विशिनष्टि कृष्ण मविषह्यं सोढुं अशक्यं व्योमासुर वृत्तान्त स्मरणेन दुर्वहं मन्यमानः श्रीकृष्णसङ्घट्टी भूत्वा रामेण पराजितः तमेव उवाहेत्यर्थः । यद्यहं रामसंघट्टी भवेयं तर्हि यदा कृष्णेन पराजितः तं वहेयं तर्हि व्योमासुरवत् म्रियेयेत्यभिप्रायेण कृष्णसङ्घट्टी बभूवेत्यभिप्रायः । रोहिणी सुतं वहन् अवरुह्यतेऽस्मिन् इत्यवरोहणं मर्यादास्थानं ततः परं दूरं द्रुततरं यथा तथा प्रागात् ॥ २५ ॥

---

1. A,B एवं 2. K,W omit हेतुना

**विज०** वाह्यवाहकत्वं विशदयति तत्रेति 'उवाह कृष्णो भगवान्' इत्यत्र व्यत्ययेननेतव्यः श्रीदामाकृष्णमुवाहेति कुत एवं विकल्प्यते, हरिवंशादि वचनात् — तथाप्ययं दुराग्रह इति न वक्तव्यं, बहुमानविरोधेतु व्यत्यासः शब्दतोऽर्थतः (ब्रह्मतर्के) इत्यादि निर्णयवचनात्॥ २१ - २४॥

प्रलम्बः कृष्णं विहाय राममवहत्। तत्र किं कारणमत्राह अविषह्यमिति॥ २५॥

**तमुद्वहन् धरणि[1] धरेन्द्रगोरवं महासुरोविगतरयो[2] निजंवपुः।**
**स आस्थितः पुरटपरिच्छदो बभौ तडिद्युमानुडुपतिमानिवाम्बुधः[3][4]॥ २६॥**

**निरीक्ष्य तद्वपुरलमम्बरे चरत्[5] प्रदीप्तदृग्भ्रुकुटितटोग्रदंष्ट्रकम्[6]।**
**ज्वलच्छिखं कटककिरीट कुण्डलः विषाद्भुतं हलधर ईषदत्रसत्॥ २७॥**

**अथाऽऽगत स्मृतिरभयोरिपुं बलो विहायसार्थमिव[7] हरन्तमात्मनः।**
**रुषाऽहनच्छिरसि[8] दृढेन मुष्टिना सुराधिपो गिरिमिव वज्ररंहसा॥ २८॥**

**स आहतस्सपदि विशीर्णमस्तको[9] मुखाद्वमन् रुधिरमपस्मृतोऽसुरः।**
**महारवं व्यसुरपतत्समीरयन् गिरिर्यथा मघवत आयुधाहतः॥ २९॥**

**दृष्ट्वा प्रलम्बं निहतं बलेन बलशालिना।**
**गोपास्सुविस्मिता आ[10] सन्साधु साध्विति वादिनः[10]॥ ३०॥**

**आशिषोऽभिगृणन्तस्तं[11] प्रशशंसुस्तदर्हणम्।**
**प्रेत्यागतमिवालिङ्ग्य प्रेमविह्वलचेतसः॥ ३१॥**

**पापे प्रलम्बे निहते देवाः परमनिर्वृताः।**
**अभ्यवर्षन् बलं माल्यैश्शशंसुस्साधुसाध्विति॥ ३२॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैय्यासिक्यां अष्टदशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धेपूर्वार्धे
प्रलम्बवधो नाम अष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

---

1. V °णी° 2. K,W विहत; V. निहत 3. A,B,G,J,M °डि° 4. B,G,J,V °वाडिवा° 5. A,V चरन्; M. चरं 6. V °ष्ट्रम् 7. M सोर्ध्वम् ह° K,W सार्थमपह° 8. V.W. °र° 9. K,M शीर्षको 10- -10. V आसन्नसाधुं साधुरूपिणम्; M. आसन्नसाधु साध्विति राविणः 11. A °श्च; M °स्ते

**श्रीध० तमिति**। धरणि[1]धरेन्द्रवत् गौरवं यस्य तं निजं आसुरं वपुः आ[2-]स्थित[-2]ः पुरटपरिच्छदः सुवर्णालङ्कारः तटिद्वान् विद्युद्दीप्तिमान् इत्यलङ्कारोपमा। उडुपतिवाडिति रामोपमा। उडुपतिं वहतीत्युडुपतिवाट्[3]। यथोचितस्थानेषु स्थिता विद्युतो भवन्ति, उपरि च उडुपति तथा सोऽम्बुदो यथा भाति तद्वद्वा[4-]तीत्यर्थ[-4]ः॥ २६॥

**निरीक्ष्येति**। अलं अतिवेगेन प्रदीप्ते दृशौ यस्मिन् वपुषि तत् भ्रुकुटि तट संलग्ना उग्र[5]दंष्ट्रा यस्मिन् तत्, प्रदीप्तदृक् भ्रुकुटितटं यस्मिन्, उग्राः दंष्ट्राः यस्मिन्, तच्च तच्चेति वा। ज्वलन्त्यः शिखाः केशाः यस्मिन् तत्॥ २७॥

अथेति। आगतस्मृति अभय इव आत्मनः सार्धं गोपसमूहं विहाय हरन्तं रिपुं अहनत्। यद्वा, विहायसा आकाशमार्गेण आत्मनः प्राप्तं अर्धमिव हरन्तमिति। वज्ररंहसा वज्र वेगेन मुष्टिना॥ २८॥

**स** इति। अपस्मृतः गतस्मृतिः महारवं समीरयन्॥ २९,३०॥

**अशिष** इति। तदर्हणं प्रशंसार्हम्॥ ३१,३२॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
अष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

---

1. V °णी° 2- -2. V omits 3. A,B,J add यदि 4- -4. A,B,J द्वभावित्यर्थः। 5. A,B,J उग्रा

**वीर०** धरणीधरेन्द्रवत् पर्वतवत् गौरवं यस्य तं बलदेवं वहन् स महासुरः प्रलम्बः निहतरयो नष्टवेगः निजं स्वासाधारणं वपुरास्थितस्सन् स्वर्णालङ्कारः बभौ। तटिद्वुमानित्यलङ्कारोपमा। उडुपातिमानिवेति रामोपमा। यदि यथोचितस्थानेषु विद्युतो भान्ति उपरि चोडुपतिः तदा सोऽम्बुदो यथा भवति तद्वत् बभावित्यर्थः॥ २६॥

**निरीक्ष्येति**। हलधरः ब[1-]लदेवस्तु[-1] तद्वपुः निरीक्ष्य किञ्चिदबिभेत्। कथम्भूतम्? अम्बरे चरत् आकाशस्पर्शी अत्युन्नतमित्यर्थः। अलमतिवेगेन प्रदीप्ते दृशौ यस्मिन्। भकुटि तट लग्ना उग्रदंष्ट्रा यस्मिन्। तच्च तच्चेति वा। ज्वलन्त्यः शिखाः केशाः यस्मिन् कटकादीनां त्विषा अद्भुतं चित्रम्॥ २७॥

अथाऽऽगतस्मृतिः लब्धासुरस्वशक्यादिज्ञानः अतएवाभयः बलदेवः आत्मनः सार्थं सहायं गोप समूहं विहाय दूरतो हरन्तं रिपुं रुषा शिरसि दृढेन मुष्टिना जघान यथा सुराधिप इन्द्रो वज्ररंहसा वज्रवेगेन गिरि तद्वत्॥ २८॥

सोऽसुरः प्रलम्बः आहतः ताडितः सपद्येव भग्नशिराः मुखाद्रुधिरं वमन् उद्गिरन् अपस्मृतः अपगतं स्मृतं स्मृतिः यस्य सः। महारवं उच्चैः स्वरमीरयन् व्यसुर्गतप्राणो न्यपतत् यथा मघवतः इन्द्रस्य आयुधेन आहतोगिरिस्तद्वत्॥ २९॥

बलशालिना बलदेवेन हतं असुरं दृष्ट्वा विस्मिता बभूवुः॥ ३०॥

आशिषः प्रयुञ्जानाः प्रशंसार्हं तं बलदेवं प्रशशंसुः मृतिं प्राप्य पुनरागतमिवालिङ्ग्य प्रेम्णा विक्लवानि अधृष्टानि चेतांसि येषां ते प्रशशंसुः इत्यन्वयः ॥ ३१ ॥

परमनिर्वृताः नितरां हृष्टाः [2]देवाश्च माल्यैः पुष्पैः बलदेवं [3-]पापे सर्वदुःखकरे प्रलम्बे निहते सति[-3] अभ्यवर्षन्। साधु साध्विति प्रशशंसुश्च ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्र चन्द्रिकायां
व्याख्यायां अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

---

1- -1. K,W omit 2. K,W omit देवाश्च 3- -3. W omits

**विज०** धरणि धरेन्द्रः पर्वतराजः तद्वत् गौरवं अतिभारवत्वं यस्य स तथा तं, पुरटपरिच्छदः स्वर्णालङ्कारः तडिता द्युमता आदित्येन च संयुक्तः तडिद्युमान् उडुपतिः चन्द्रः तद्वानम्बुद इतीयमाशङ्का अभूतोपमा। यद्वा तडिद्युमान् तडिता युक्तो मेघ [1-]इव, तत्र मेघस्थाने प्रलम्बः तडिस्थाने पुरटपरिच्छदः चन्द्रस्थानीयो रामः ॥ २६ ॥

अम्बरे चरमित्यलुक् ॥ २७ ॥

अथ कृष्णस्तवानन्तरं आगतस्मृतिः उपात्तमूलस्मरणः वज्रांहसा वज्रवेगेन ॥ २८ ॥

महारवं समीरयन्, व्यसुः गतप्राणः ॥ २९ ॥

बलशालिना रामेण राविणः वादिनः ॥ ३०,३१ ॥

माल्यैः पुष्पैः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां
व्याख्यायां अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

(विजयध्वजरीत्या षोडशोऽध्यायः)

---

1- -1. A,B,M omit

# एकोनविंशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या सप्तदशोऽध्यायः)

### -: दवाग्निपानवृत्तान्तः :-

श्रीशुक उवाच

क्रीडासक्तेषु गोपेषु तद्गावो दूरचारिणीः ।
स्वैरं चरन्त्यो विवशुस्तृणलोभेन गह्वरम् ॥ १ ॥

अजा गोवो महिष्यश्च[1] निर्विशन्त्यो[2] वनाद्वनम् ।
मुञ्जाटवीं[3] निविविशुः[4] क्रन्दन्त्यो[5] दावतर्षिताः[6] ॥ २ ॥

तेऽपश्यन्तः पशून्गोपाः कृष्णरामादयस्तदा ।
जातानुतापा[7] न[8] विदुर्विचिन्वन्तो गवां गतिम् ॥ ३ ॥

तृणैस्तत्खुरदच्छिन्नैर्गोष्पदैरङ्कितैर्गवाम् ।
मार्गमन्वगमन्सर्वे नष्टाजीव्या[9] विचेतसः ॥ ४ ॥

मुञ्जाटव्यां भ्रष्टमार्गं क्रन्दमानं[10] स्व[11] गोधनम् ।
अ[12]प्राप्य तृषिताः श्रा[13]न्तास्ततस्ते[14] संन्यवर्तयन् ॥ ५ ॥

---

1. K,W मनुष्याश्च 2. A,B,G,J °र्वि° 3. A,B,G,J,K,W इषीका° 4. B,G,J निर्विविशुः ; A,K,W विविशुः 5. W क्रीडन्त्यो 6. W तापिताः 7. K,W कम्पा 8. V विविशुः 9. M नष्टजीवा 10. M °नाः 11. A च 12. A,B,G,J सम्प्राप्य 13. M याता° 14. V ° स्तेन न्यव°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ऊनविंशे निविष्टं तु गोपगोकुलमच्युतः ।
मुञ्जारण्यमरण्याग्नेररक्षत्तन्निपानतः ॥

क्रीडेति । दूरचारिणीः दूरचारिण्यः[1] प्रथमार्थे द्वितीया[-1] ॥ १ ॥

**अजा** इति। वनाद्वनान्तरं निविशन्त्यो[2] दावेन तर्षिताः तृषिताः[3] क्रन्दन्त्य इषीकाटवीमत्युच्छ्रितघनतृणविशेषारण्यं नि[4]र्विविशुः[-4] ॥ २ ॥

**त** इति। कृष्णरामौ आदी[5] येषां ते न तु तौ ॥ ३ ॥

**तृणैरिति**। तासां गावां खुरैः दद्भिश्च च्छिन्नैः तृणैः गोष्पदैरङ्कितैः भूप्रदेशैश्च गवां मार्गमन्वगमन्। नष्टाजीव्या गतजीविकासाधनाः ॥ ४ ॥

**मुञ्जाटव्यामिति**। मुञ्जाटव्यपि सैव इ[6-]षीकाटवी[6] ॥ ५ ॥

---

1- -1. A,B,J,Va omit 2. A,B,J,Va निर्वि° 3. V omits तृषिताः 4- -4. V विविशुः 5. V आदौ 6- -6. V omits.

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ दवा[1]ग्निपानानन्तरं श्रीकृष्ण[2]कर्मानुवर्णयितुं[3] तावत् तत्प्रा[4]क्तनं वृत्तान्तमाह **क्रीडेति**। प्रलम्बवधानन्तरमपीत्यादिः, गोपेषु क्रीडासक्तेषु सत्सु तेषां गावो दूरचारिण्यो यथेच्छं चरन्त्यः तृणलोभेन गह्वरं विविशुः ॥ १ ॥

तदेव प्रपञ्चयति - **अजा** इति। अजादयो वनाद्वनं विशन्त्यः दावेन तापेन तर्षिताः तृषिताः आक्रोशन्त्यः इषीकाटवीमत्युच्छ्रितसान्द्रतृणविशेषारण्यं विविशुः, इषीकाट्येव पूर्वत्र गह्वर[5]शब्दविवक्षिता ॥ २ ॥

ततस्ते क्रीडासक्ताः कृष्णादयो गोपास्तदा पशून् अपश्यन्तोऽत एव जाता अनुकम्पा येषां तथाभूताः गवां गतिं गतिकृत खुरविन्यासात्मकं चिह्नं विचिन्वन्तोऽपि न विदुः न लक्षितवन्तः ॥ ३ ॥

ततः कथञ्चिल्लब्धैः तासां गावां खुरैः दद्भिः दन्तैश्च च्छिन्नैः तृणैः गोष्पदैश्च अङ्कितं गवां मार्गम् अन्वगमन् अनुसृत्य जग्मुः, ततः पुनरपि नष्टजीव्याः नष्टः लीनः आजीव्यः जीवनसाधनमार्गो येषां ते, अत एव विचेतसः विचाराक्रान्तचित्ताः ॥ ४ ॥

मुञ्जाटव्यां भ्रष्टो लीनः मार्गो यस्य तत्, क्रन्दमानं गोरूपधनमप्राप्य तृषिता अत एव श्रान्तास्ते गोपाः सन्न्यवर्तयन् प्रत्याजग्मुः अन्वेषणाद्विरेमिरे ॥ ५ ॥

---

1. K दा° 2. T,W omit श्रीकृष्ण 3. A,B वर्णितुं 4. A,B omit तत् 5. A,B,J,W गहन

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

स्वभक्तजनसंसारविनाशनं हरेरेव सुशकं नान्यस्येति निदर्शनाय दावाग्निपानप्रकटितमाहात्म्यमस्य वक्तुमुपक्रमतेऽस्मिन्नध्याये। तेषां गोपानां गावः दूरचारिणीः दूरगामिन्यः स्वैरं स्वेच्छया गह्वरं गम्भीरकक्षम्॥ १॥

मुञ्जाट ईषिकाटवीं शराटवीं वा उभयं च प्रचुरं तत्रेत्यर्थः। "शरो मुञ्ज इतीरितः" (हला.को. 2-36) इति हलायुधः। दावेन तापेन तर्षिताः जलं पातुकामाः॥ २॥

अपश्यन्तः, अनुतापः पश्चात्तापः, विचिन्वन्तः अन्वेषमाणाः॥ ३॥

तासां गवां खुरैः दद्भिः दन्तैः च्छिन्नैरङ्कितैः भूतलैः नष्टजीवाः जीवन्मृताः; विचेतस इतोगता। अत्र गता इति विविधबुद्धयः, वौ दैवे गतं चेतो येषां ते तथा ये दैवमेव चेतस वचसा च शरणं गच्छन्त इत्यर्थः॥ ४॥

भ्रष्टमार्गं मार्गं हित्वा इतस्ततो गतं ततो मुञ्जाटव्याः सन्न्यवर्तयन् गतमार्गमेव आगन्तुकामा अभवन्नित्यर्थः॥ ५॥

---

1. A इ°

★ ता आहूता भगवता मेघगम्भीरया गिरा
स्वनाम्नां निनदं श्रुत्वा प्रतिनेदुः प्रहर्षिताः॥ ६॥

ततस्समन्ताद्वनधूमकेतुर्यदृच्छयाऽभूत्क्षयकृद्वनौकसाम्।
समीरितस्सारथिनोल्बणोल्मुकैर्विलेलिहानः स्थिरजङ्गमान् महान्॥ ७॥

तमापतन्तं परितो दवाग्निं गोपास्सगावः प्रसमीक्ष्य भीताः।
ऊचुश्च कृष्णं सबलं प्रपन्ना यथा हरिं मृत्युभयार्दिता जानाः॥ ८॥

कृष्णकृष्ण! महावीर्य! हे रामाऽमितविक्रम!।
दवाग्निना दह्यमानान् प्रपन्नांस्त्रातुमर्हथः॥ ९॥

नूनं त्वद्बान्धवाः कृष्ण! न चार्हन्त्यवसादितुम्।
वयं हि सर्वधर्मज्ञ! त्वन्नाथास्त्वत्परायणाः॥ १०॥

---

★ कृष्णप्रोत्तुङ्गमारुह्य वृक्षं मेघनिभच्छविः। आर्तास्ता आह्वयामास दर्शयन्नास्स्वनामभिः॥ The above extra verse is found in B.K.V.W edns. and the same is not commented. 1. K,W °मं 2. A,B,G,J,M °श्च गा° 3. M ऊचुः स्म 4. M °तो ज° 5. G.J °वीर! 6. M °ऽमोघ° 7. A,B,G,J,M दा° 8. V. नार्हन्त्येवाव° 9. A,B,G,J,M °सी°

**श्रीध०** तत इति। वनौकसां[1-] [-1] गोगोपानां[2] नाशहेतुः वनवह्निः सर्वतः प्रादुरभूत्। सारथिना वायुना॥ ६ - १०॥

1- -1. B,J,V,Va omit 2. V omits गो

**वीर०** तदा भगवता कर्त्रा मेघस्येव गम्भीरया गिरा आहूतास्ताः गावः स्वस्वनाम्नां ध्वनिमाकर्ण्य प्रहर्षिताः प्रतिदध्वनुः। ततः प्रतिनादेन गोधनानि संजग्मुरित्यर्थतोऽत्र विवक्षितम्॥ ६॥

ततस्तदा यदृच्छया महान् वनधूमकेतुः[1] दवाग्निरभूदुदभवत्। कथम्भूतः? वनौकसां क्षयं नाशं करोतीति तथा सारथिना वायुना समीरितः उद्दीपितः उल्बणैरुल्मुकैः ज्वालायुक्तैः तृणकाष्ठादिभिः स्थावरजङ्गमात्मकं भूतजातं विलेलिहानः पुरः पुरः संस्पृशन्॥ ७॥

परित आपतन्तं व्याप्याऽऽगच्छन्तं दवाग्निमवलोक्य भीतास्सगावो गोपाः सरामं कृष्णं प्रपन्नाश्शरणं गताः ऊचुः। यथा मृत्युभयेन संसारभयेन[2-] [-2] अर्दिताः पीडिताः जनाः हरिमाश्रितबन्धहरं भगवन्तं प्रपन्नाः स्वदैन्यं विज्ञापयन्ति तद्वत्॥ ८॥

उक्तिमेवाऽऽह - **कृष्णेति** द्वाभ्याम्। त्वमेव बान्धवो येषां ते, अवसादितुं दुःखितुं नार्हन्त्येव नूनं ध्रुवम्। हे धर्मज्ञ! प्रपन्नपरिपालनात्मकधर्मज्ञ! वयं त्वमेव नाथो रक्षको येषां, त्वमेव परमयूनं रक्षणोपायो येषां तथाभूताश्च॥ ९,१०॥

1. T,W omit वन 2- -2. T,W omit

**विज०** ततः कृष्णेन किमकारीति तत्राह - **ता** इति। प्रतिनेदुः प्रत्याक्रोशं चक्रुः॥ ६॥

संसारस्तु सदा दुःखाकर इति दर्शनार्थं एकदुःखशमनानन्तरं दुःखान्तरं वदति **तत** इति। ततः गोदर्शनानन्तरं धूमकेतुः अग्निः सारथिना वायुना समीरितः प्रेरितः वर्धितः उल्बणोल्मुकैः क्रूरतरज्वालाभिः स्थिरजङ्गमान् विलेलिहानः विशेषेणाऽऽस्वादयन्॥ ७॥

प्रपन्नाः शरणमिति शेषः॥ ८,९॥

नूनमिदानीम्॥ १०॥

## श्रीशुक उवाच

**वचो निशम्य कृपणं बन्धूनां भगवान् हरिः।**
**निमीलयत मा भैष्ट लोचनानीत्यभाषत॥ ११॥**

तथेति मीलिताक्षेषु भगवानग्निमुल्बणम्।
पीत्वा मुखेन तान्कृच्छ्राद्योगाधीशो व्यमोचयत्॥ १२॥

ततश्च तेऽक्षीण्युन्मील्य पुनर्भाण्डीरमापिताः[1]।
निशाम्य[2] विस्मिता आसन्नात्मानं गाश्च मोचिताः॥ १३॥

कृष्णस्य योगवीर्यं[3] तद्योगमायानु भावितम्।
दवाग्नेरात्मनः[5] क्षेमं वीक्ष्य तं[6] मेनिरेऽमरम्॥ १४॥

गास्सन्निवर्त्य[7] सायाह्ने सहरामो जनार्दनः।
वेणुं विरणयन्गोष्ठमगाद्गोपैरभिष्टुतः[8]॥ १५॥

गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने[9]।
क्षणं युगशतानीव[10] यासां येन विनाऽभवत्॥ १६॥ ★

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे एकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

(विजयध्वजरीत्या सप्तदशोऽध्यायः)

---

1. K,W मागताः ; M. माश्रिताः 2. M °श° 3. K,W °ताः। 4. A,B,G,J,M दा° 5. K,W °नां 6. B,G,J,M ते 7. K,W °पत्य 8. K,W °ष्टं प्रा° 9. W °न्दमा° 10. K,W °नम्। 11- -11. A,B,G,J युगशतमिव ; M. यथा युगशतं ★ श्रीविजयध्वजव्याख्यायां अस्यैवाध्यायस्य सम्बन्धित्वेन, अत्रैव योजितौ 17,18 संख्यान्वितौ 'तयो' रिति, 'गोपवृद्धौ' इति च आरभमाणौ द्वौ श्लोकौ श्रीधरीयव्याख्यायां श्रीवीराघवीयव्याख्यायां च अनन्तराध्याये तद्रीत्या विंशे प्रथम द्वितीय श्लोकत्वे नोपात्तौ।

**श्रीध० वच** इति। कृच्छ्रात् गह्वरप्रवेशक्षुत्तृड्श्रमादिजनितात्।[1] तत्क्षणमेव[2] भाण्डीरं नीत्वा तान् अमोचयदित्यर्थः॥ ११, १२॥

**तत** इति। क्षणेनैव भाण्डीरं प्रापिताः। ततोऽक्षीण्युन्मील्य विस्मिताः आसन्[3]॥ १३ - १६॥

★ श्रीदामादिस्वगोपानां स्वाङ्कमारुह्य हृष्यताम्। स्वैश्वर्यमाविरकरोद्वनवह्निनिपानतः॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
एकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

---

1. V omits क्षत् 2- -2. A,B,J,Va omit 3. A,B,J,Va omit आसन् ★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः ।

**वीर०** हरिः आश्रितार्तिहरो भगवान् कृपणं बन्धूनां वचो निशम्य आकर्ण्य मा भैष्ट भयं मा कुरुत, लोचनानि निमीलयत पिहितानि कुरुतेत्युवाच ॥ ११ ॥

तथेत्यङ्गीकृत्य सर्वेषु गोपेषु मीलितान्यक्षीणि यैस्तथाभूतेषु सत्सु भगवान् उल्बणमुत्कटमग्निं मुखेन पीत्वा, तत्र हेतुः योगाधीशः आश्चर्यशक्त्यात्मकयोगवतामधीशः, मुखेन पीत्वेत्यस्य उत्पत्तिस्थाने लीनं कृत्वा इत्यर्थः । "मुखादिन्द्र श्चाग्निश्च" (पु.सू. 1-6) इति श्रुतिः । कृच्छ्रात् दवाग्निजा दुःखात् सगोधनान् गोपान् अमोचयत् ॥ १२ ॥

ततस्ते गोपाः लोचनान्युन्मील्य पुनर्भाण्डीरं प्रत्यागताः आत्मानम् आत्मनः प्रत्येकाभिप्रायकमेकवचनम्[1] । तथा मोचिता गाश्च आलोक्य विस्मिता आसन् ॥ १३ ॥

ततस्तस्य कृष्णस्य योगमायया आश्चर्यशक्तिरूपया अनुभाविताः तत्प्रभावविषयीकृताः[2] तस्य कृष्णस्य योगात्मकं वीर्यं दवाग्नेरात्मनां क्षेमं च वीक्ष्य तं कृष्णममरं दैवतं मेनिरे ॥ १४ ॥

ततस्सायाह्ने गास्सन्निपत्य सङ्गीकृत्य सरामः कृष्णो वेणुं विरणयन्[3] वादयन् गोपैरभिष्टुतो गोष्ठं प्रागात् ॥ १५ ॥

तदा गोविन्दस्य दर्शनं गोपीनां यशोदादीनां परमानन्दकरमासीत् । तत्र हेतुं वदन् दर्शनं[4] विशिनष्टि । यासां गोपीनां येन कृष्णेन विना क्षणमपि युगशतमिवाभवत्, अतः तद्दर्शनं परमानन्दकरं बभूव[5] ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

---

1. K,T,W omit क 2. T,W omit तस्य 3- -3. K,T,W omit 4. K,T,W omit दर्शनं 5. A,B add इत्यर्थः ।

**विज०** योगमायानुभावितं स्वरूपसामर्थ्येन प्रभावितं अमरं जरामरणशून्यं नारायणं मेनिरे ॥ ११ - १४ ॥

सायाह्ने सन्ध्याकाले ॥ १५ ॥

यथा यावान् युगशतं कालः यासां गोपीनां येन गोविन्ददर्शनेन विना क्षणः कालः तावान् अभवत् ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

(विजयध्वजरीत्या सप्तदशोऽध्यायः)

# विंशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या अष्टादशोऽध्यायः)

### -: वर्षर्तुवर्णन घट्टः :-

### श्रीशुक उवाच

★ तयोस्तदद्भुतं कर्म [1]दवाग्नेर्मोक्षमात्मनः।
गोपास्स्त्रीभ्यस्समाचख्युः प्रलम्बवधमेव च॥१॥

[2]गोपवृद्धाश्च गोप्यश्च तदुपाकर्ण्य विस्मिताः।
मेनिरे देवप्रवरौ रामकृष्णौ व्रजं गतौ॥२॥

ततः प्रावर्तत प्रावृट् सर्वसत्त्वसमुद्भवा।
विद्योतमानपरिधिः [3]विष्फूर्जित [4]नभस्स्थला॥३॥

सान्द्रनीलाम्बुदैर्व्योम सविद्युत्स्तनयित्नुभिः।
अस्पृष्टज्योतिराच्छन्नं ब्रह्मेव सगुणं बभौ॥४॥

[5]अष्टौ मासान्निपीतं यद्भूम्या[6]मुदमयं वसु।
स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते॥५॥

---

★ अत्रत्यौ द्वौ श्लोकौ (१, २) विजयध्वजरीत्या पूर्वाध्यायस्य अन्तिम श्लोकौ भवतः।

1. A,B,G,J,M,Ma दा° 2. V °पा° 3. A,B,G,J,M,Ma,V °स्फू° 4. A,B,G,J,M,Ma °भस्त° 5. G अष्ट 6. A,B,G,J °श्रोद°

### श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

विंशे प्रावृट्छरच्छोभा वर्णनेन वनोचिताः।
प्रावृट्क्रीडा निरूप्यन्ते गोपरामयुजो हरेः॥

हेयादेयोपमानेन प्रावृट्छरदृतुश्रियोः ।
वर्णनं त्वद्भुतैश्वर्य कृष्णलीला विवक्षया॥

तत्र प्रावृट् वर्णनं - **तत** इत्यादि द्वाविंशत्या। सर्वेषां प्राणिनां समुद्भवः उत्पत्तितः जीवनतश्च यस्यां सा। प्रावृट् विद्योतमानाः परिधयः परिवेषादिशोभाः यस्यां सा, विष्फूर्जितं[1] संक्षुभितं नभःस्थलं च यस्यां सा॥ १ - ३॥

**सान्द्रेति**। सान्द्रैः निबिडैः नीलाम्बुदैः विद्युद्गर्जितसहितैः आच्छन्नं सगुणं गुणैराच्छन्नं जीवाख्यं विद्युद्गर्जिताम्बुदानां सत्त्वरजस्तमोभिरुपमा॥ ४॥

**अष्टाविति**। पर्जन्यः सूर्यः स्वगोभिः निजरश्मिभिः[2] काले यथोचित समये। अत्र राजोपमा, करादानतः समये पुनर्दानतश्च सूचिता॥ ५॥

---

1. A,B,J,P °स्फू° 2. P.V omit निज

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं वसन्तग्रीष्मयोः भगवतः क्रीडा अनुवर्णिताः। अथ प्रावृट् छरदो स्ता अनुवर्णयितुं दृष्टान्तैस्तैस्तावत् देयोपादेयविभागं प्रदर्शयन्नेव प्रावृषं[2] तात्कालिकान् कांश्चिद्विहारांश्च अनुवर्णयति विंशेनाध्यायेन[3]। तावत् प्रथमं[5] भगवत्क्रीडा[4] वृत्तशेषमाह - **तयोरिति** द्वाभ्याम्। अत्मनः आत्मनां, दवाग्नेः मोक्षणात्मकं तद्रामकृष्णयोः अद्भुतं कर्म प्रलम्बवधं च गोपाः स्त्रीभ्यो यशोदादिभ्यः कथयामासुः॥ १॥

तद्गोपबालैः उक्तमाकर्ण्य विस्मिता गोपवृद्धाः नन्दादयः[5] गोप्यश्च रामकृष्णौ व्रजं गतौ देवश्रेष्ठौ मेनिरे देवश्रेष्ठावेव रामकृष्णरूपेण व्रजे जनितौ[6] इत्यमन्यन्तेत्यर्थः॥ २॥

ततः प्रावृड् वर्षऋतुः[7] प्रार्वतत[7]। प्रावृषं विशिनष्टि सर्वेषां प्राणिनां समुद्भवः उत्पत्तितो जीवनतश्च यस्यां विद्योतमानाः विद्युद्भिः[8] द्योतमानाः[8] परिधयो दिशो यस्यां विस्फूर्जितं वज्रनिर्घोष्टं नभस्स्थलं यस्यां सा प्रावृट् प्रावर्ततेत्यन्वयः॥ ३॥

**सान्द्रेति**। सान्द्रैः निबिडैः नीलाम्बुदैः विद्युद्गर्जितसहितैः आच्छन्नमत एव अस्पष्टानि[9] ज्योतींषि सूर्यचन्द्रादीनि यस्मिन् तद्वचोम सगुणं ब्रह्मेव बभौ, यथा प्रकृत्या तिरोहितं ज्योतिः ज्ञानरूपत्वात् विषय प्रकाशक धर्मभूतज्ञानं यस्य तत् सगुणं, ब्रह्मा गुणत्रयवश्यं ब्रह्मागुणतो बृहत्त्वार्हं जीवस्वरूपं भाति तद्वदित्यर्थः। अनेन आकाशस्य यावच्छरदं नीलाम्बुद

विद्युत्स्तनयितृसम्बन्ध वज्जीवस्य यावन्मुक्ति, गुणवश्यत्वं सूर्यादिज्योति स्थानीयधर्मभूतज्ञानस्य सङ्कोचेन प्रसराभावः। व्योमवत्स्वतो निर्मलस्य आगन्तुकमालिन्यं चेति तदपनोदक मोक्षोपाये यतितव्यमित्यभिप्रेतम्, ब्रह्मशब्देन मुक्तिदशायां ज्ञानद्वारा बृहत्वमस्तीति सूचितम्॥ ४॥

**अष्टाविति।** यत् अष्टौ मासान् अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। कार्तिकादारभ्य यावज्ज्येष्ठं स्वगोभिः स्वकिरणैः नितरां पीतं गृहीतं उदकात्मकं वसु धनं तत्स्वगोभि रेव पुनरुचितकाले आगते प्राप्ते सति मोक्तुं पर्जन्यो वर्षाधिदेवः सूर्यः प्रारेभे। अनेन राज्याधिकृतः शिक्षितः पर्जन्यवत् यथोचित[10] काले प्रजाभ्यो धनानि गृहीत्वा पुनरर्थिभ्यो दद्यादिति, यावज्ज्ञानोदयं गृहीतान् कामान् सति ज्ञानोदये जह्यादिति मुमुक्षुशिक्षा वा॥ ५॥

---

1. K,T,W omit तैः 2. A,B प्रावृड्तुं 3. K,T,W omit अध्यायेन 4- -4. K,T,W omit 5. K,T,W omit नन्दादयः 6. A,B जातौ 7- -7. A °तुं तं -8 -8. K,W omit 9. A,B °स्पृ° 10. A,B °तं कालेषु

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

किं तत् कर्मेति तत्राह - दावाग्नेरिति। चशब्दः समुच्चये। दावाग्निमोक्षं प्रलम्बवधं चेति द्वयमेवेत्यर्थः॥ १॥

एकश्चशब्दः समाहारे "चोन्वाचये समाहारे" (वैज.को. 8-7-4) इति यादवः। व्रजं गतौ कृष्णरामौ देव प्रवरौ मेनिरे इत्यन्वयः॥ २॥

नारायण भक्ति वैशद्याऽवैशद्यदृष्टान्तत्वेन प्रावृट् ऋतुं वर्णयत्यस्मिन्नध्याये। ततः ग्रीष्मर्त्वनन्तरं सर्वेषां सत्त्वानां स्थावरजङ्गमलक्षणानां पदार्थानां समुद्भवो यस्यां सा तथा। "सत्त्वं द्रव्ये सत्ता स्वभावयोः"(वैज.को. 6-5-94) इतिः यादवः। विद्योतमानाः तडिदन्तरे प्रकाशमानाः परिधयः परिवेषा यस्यां सा तथा। विस्फूर्जितं अशनिगर्जनोपेतं नभस्तलं यस्याम्। एवंविधा प्रावृट् प्रावर्तत इत्यन्वयः॥ ३॥

प्रावृड्गुणान्तरं दर्शयति - **सान्द्रेति।** जलेन सान्द्रनीलाम्बुदैराच्छन्नं व्योम नभो बभौ। विद्युता स्तनयित्नुना गर्जितेन सहितैः अत एवास्पष्ट सूर्यज्योतिः। "परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्" (प्रश्न.उ.1-8) इति श्रुतिः। कथमिव? सगुणं चतुर्मुखाख्ये ब्रह्मेव॥ ४॥

अष्टौ मासानिति द्वितीया सप्तम्यर्थे "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" (अष्टा.2-3-5) इति सूत्रात् संवत्सरमधीते, क्रोशं कुटिला नदीति प्रयोगः। उदमयं जलात्मकं वसु वस्तु भूम्यां विद्यमानं स्वगोभिः स्वरश्मिभिः पीतं ताभिरेव मोक्तुं

प्रारब्धवान् पर्जन्यो गर्जन्मेघः अभिमन्यमानेनाभिमानी सविता लक्ष्यते। "पर्जन्यो गर्जदभ्रेऽध्वाने शक्रेऽस्त्रयन्त्रके" (वैज.को.7-1-42) इति। स्वगोभिः इत्युक्त्या सवितेति गम्यते। "अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते आदित्या ज्जायतेगा वृष्टिर्वृष्टिरन्नं ततः प्रजाः" (मैत्र.उ. 6-37) इति च॥५॥

तटित्[1]वन्तो महामेघाश्चण्डश्वसनवेपिताः।
प्राणिनां[2] जीवनं ह्यम्बु[3] मुमुचुः करुणा इव॥६॥

तपः कृशा देवमीढा आसीद्[4]वर्षीयसी मही।
यथैव काम्यतपसस्तनुस्[5]सम्प्राप्य तत्फलम्॥७॥

निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति न ग्रहाः।
यथा पापेन पाषण्डा[6] नहि वेदाः कलौ युगे॥८॥

श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन् गिरः।
तूष्णीं शयानाः प्राग्यद्वद्ब्राह्मणा नियमात्यये॥९॥

आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः[7-7]।
पुंसो यथा स्वतन्त्रस्य गेहे[8] द्रविण[9] सम्पदः॥१०॥

---

1. A,B,G,J,M,Ma °डि° 2. A,B,G,J प्रीणनं; V प्राणनं 3. A,B,G,J ह्यस्य; V चास्य 4. V ह्यासी° 5. A °नू° 6. G,J,M,Ma °ख° 7- -7. K,T,W° ऽन्नुपूरिताः 8. A,B,G,J,K देह°; M,Ma देहो; T,W गेह° 9. M,Ma °दा।

**श्रीध० तटित्वन्त** इति। अस्य विश्वस्य, प्राणनं[1] आप्यायनकरं, जीवनमुदकं मुमुचुः। कृपालवः यथा तप्तं जनं निरीक्ष्य अनुकम्पमानाः तदाप्यायनाय स्वजीवनमपि त्यजन्ति। तद्वन्महान्तो मेघाः तटिन्नेत्रैः तप्तं विश्वं निरीक्ष्य, वायुभिर्वेपिताः जीवनं मुमुचुरिति॥६॥

**तत** इति। तपसा ग्रीष्मेण कृशा देवमीढा पर्जन्यसिक्ता। 'मिह[2] सेचने' इति धातुः[2]। वर्षीयसी उच्छ्वना पुष्टा काम्यं तपो यस्य तस्य। तनुः कामान् संप्राप्य यथेति साऽपि[3] देवैः फलदानेन सिक्ता[3] ॥७,८॥

**श्रुत्वेति। नियमात्यये**[4] नित्यकर्मावसाने आचार्यनिनदं[5] श्रुत्वा तच्छिष्याः यथा अधीयते तद्वदिति॥९॥

**आसन्निति।** अनुशुष्यतीः अनुशुष्यन्त्यः। अस्वतन्त्रस्य इन्द्रियपरतन्त्रस्य स्वतन्त्रस्य इति च्छेदे निरङ्कुशस्य त्यर्थः ॥१०॥

---

1. A,B,J प्री° 2- -2. A,B,J omit 3- -3. B,J,P,V omit 4- -4. A,B,J omit 5. P.V निगमं 6- -6. A,B,J omit 7. A,B,J °स्येति वा॥ २०॥

**वीर० तटित्वन्त** इति। चण्डश्वसनेन तीव्रवायुना कम्पिताः मेघाः प्राणिनां जीवनं जीवनसाधनं अम्बु जलम्। करुणा इत्यर्शा आद्यजन्तः करुणावन्त इव मुमुचुः, प्राणसञ्जीवनं ह्यस्य मुमुचुरिति पाठान्तरम्। तदा अस्य विश्वस्य प्राणसञ्जीवन करं जीवनं जलं करुणा इव मुमुचुः इत्यर्थः। अनेन दुःखितं जनमवलोक्य मेघवच्छ्वासेन कम्पितगात्राः करुणावन्तश्च स्वजीवन पर्यन्तदानेन उपकुर्युरिति शिक्षा कृता॥ ६॥

**तपः**कृशेति। तपसा ग्रीष्मेण कृशा शुष्का देवेन पर्जन्येन मीढा सिक्ता भूमिः वर्षीयसी प्रवृद्धा बभूव। सस्यादि सम्पन्ना बभूवेत्यर्थः। यथा काम्यं तपो यस्य तस्य पुंसः तनुः तावत् तपोदशायां कृशा सती तत्फलं काम्यतपःफलं प्राप्य परिपुष्टा भवति। अनेन काम्यस्य तपसः केवलं देवसुखसाधनत्वमेव, न तु आत्मसुखसाधनत्वमिति शिक्षितम्॥ ७॥

**निशामुखेष्विति।** निशामुखेषु सायंकालेषु खद्योता ते जोविशिष्टा कीटविशेषा एव भान्ति त व्र हेतुः तमसेति। एतेन दिवसे तेषां शोभा नास्तीति भावः। न तु ग्रहाश्चन्द्रगुरुशुक्रादयः मेघकृततमोबृतत्वात् गगनस्येत्यर्थः। यथा कलौ युगे पापेन पापप्रचुरेण पाषण्डा वेदविरुद्धा आगमा एव भान्ति, न तु वेदाः अनेन वैदिकधर्माभासरुचिः पापहेतुकेति सूचितम्॥ ८॥

**श्रुत्वेति।** पर्जन्यस्य निनदं गर्जितम् आकर्ण्य मण्डूकाः भेकाः गिरं व्यसृजन् ध्वनिं चक्रुः। यथा ब्राह्मणाः शिष्याः, आचार्यस्य नित्यकर्मणः प्राक् तूष्णीं शयानाः तस्य नियमात्यये नित्यकर्मावसाने तस्य ध्वनिं श्रुत्वा अधीयते तद्वत्। अनेन आचार्यसन्निधौ अध्ययनावसरं प्रतीक्षमाण असीतेति सूचितम्॥ ९॥

**आसन्निति।** अम्बुभिः वर्षजलैः पूरिता क्षुद्रनद्यः उत्पथवाहिन्यः आसन् "क्षुद्रा नद्यः न शुष्यतीः" इति पाठे शोषरहितास्सत्यः उत्पथवाहिन्य; आसन्नित्यर्थः। 'अनुशुष्यतीः' इत्यपि पाठः। तदा आसन्नशोषा इत्यर्थः। उभयत्रापि विभक्तिव्यत्यय आर्षः। यथा अस्वतन्त्रस्य इन्द्रियपरवशस्य पुंसो गेहद्रव्यसमृद्धयः, न शुष्यन्त्यः दानभोगयोरभावात्। यद्वा अनुशुष्यन्त्यः धर्मानुपयुक्तत्वेनेति भावः। जितेन्द्रियस्य तु दानभोगाभ्यां शुष्यन्त्यः धर्मोपयोगद्वारा आसन्न शोषाश्च।

द्रव्यसम्पदां शोषो नाम, तद्व्यय एव। अम्बुपूरिता इति पाठे तु अजितेन्द्रियस्य, यथा द्रव्यसम्पदः वराटिकापर्यन्तैः अप्यार्जनैः पूरिताः ततः पुनः वृद्धचादिभिः निन्दितैः वर्धन्त एव। अपात्र गामिन्यो वा, तद्वदित्यर्थः। अनेनैवास्वतन्त्रेन्द्रियसम्पदश्चला व्यर्थाश्चेति सूचितम्॥ १०॥

---

1. A,B तडि° 2. K °नं जी° 3. A,B omit मुमुचुः 4. K °नं जी° 5. A,B °तान्तःकरणाः 6. W शीक्षा 7. A,B,K add तद्वत् 8. A,B °म्यत° 9- -9. T,W omit 10- -10. T,W omit 11- -11. T.W omit 12. A,B omit गुरु 13. K,T,W omit पापप्रचुरेण 14. A,B add भान्ति। तद्वत् 15. T,W omit भेकाः 16. A,B add तूष्णीं

**विज०** प्रचण्डश्वसनवेपिताः कम्पिताः जीवनं जीवनसाधनम्। करुणयन्तीति करुणाः। यद्वा कृष्णस्य करुणा इव। अनेन भक्तिसामग्रीमतां ज्ञानाम्बु वर्षन्ति कृष्णकटाक्षा इति सूचितं भवति॥ ६॥

ग्रीष्मे तपःकृशा सूर्यातपेन कार्श्यं गता, देवेन सविद्रा मीढा सेचिता वर्षीयसी वृद्धा अतिवृद्धिं गता। का इव? काम्यतपसः पुंसः तनुः तत्फलं काम्यतपःफलं प्राप्य सम्पदा वर्धते। अनेन प्रवृत्तिप्रकारमार्गो दर्शितः॥ ७॥

निशामुखेषु सन्ध्यासु सूर्यादिग्रहाः न भान्ति पापेन कर्मणा। अनेन दुर्जनवृद्धचा सज्जनाभिभवो दर्शितः॥ ८॥

पर्जन्यनिनदं मन्दगर्जन्मेघनादं प्राक् पूर्वं तूष्णीं शयानाः मण्डूकाः नियमो नाम मौनेन जपादिकः तस्यात्यये अवसाने वेदाध्ययनशीला भवन्ति। अनेन विष्ण्वनुग्रहम् आकाङ्क्षमाणैः कालो वन्ध्यो न कर्तव्य इति दर्शितम्॥ ९॥

ग्रीष्मे शुष्यन्तीः शोषं गच्छन्त्यः क्षुद्रनद्यः फल्गुजलाः अनु ग्रीष्मानन्तरं वर्षासु उत्पथवाहिन्यः जलाभिवृद्धचा तीरमुद्रिच्य स्यन्दमाना[1] बभ्रुः। अस्वतन्त्रस्य विषयरागादिवशङ्गतस्य पुंसो देहो वनितादिभोगेन वर्धते। अनेन रजोगुणस्वभावः सूचितः॥ १०॥

---

1. A,B स्य°

**हरिता[1] हरिभिश्शष्पैः इन्द्रगोपैश्च लोहिता।**
**उच्छिलीन्ध्रकृतच्छाया नृणां श्रीरिव भूरभूत्॥ ११॥**

**क्षेत्राणि सस्यसम्पद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः।**
**मानिनाम्[2]मनुतापञ्च[3] दैवाधीनमजानताम्[4]॥ १२॥**

जलस्थलौकसस्सर्वे नववारिनिषेवया।
अबिभ्रन्[6] रुचिरं रूपं यथा हरिनिषेवया॥ १३॥

सरिद्भिः सङ्गतः[7] सिन्धुर्क्षुभ्[8]क्षोभ श्वसनोर्मिमान्।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामार्त्तं[9] गुणयुग्यथा॥ १४॥

गिरयो वर्षधाराभिः हन्यमाना न विव्यथुः।
अभिभूयमाना व्यसनैः यथाऽधोक्षजचेतसः॥ १५॥

---

1. T,W °तो 2. B,G,J ध° 3. A,B,G,J मुप° 4. M,Ma °पं वा 5. M,Ma विपत्तिं तदजा° 6. A,B,G,J °त् 7. K,T,W संश्रितः 8. B,G,J °श्रुभे° 9. A,B,G,J,K,V °र्त्तं°

**श्रीध० हरितेति।** हरिभिः नीलैः शष्पैः बालतृणैः नीलवर्णा क्वचित्[1] क्वचिदिन्द्रगोपैः लोहितवर्ण[2] कीटविशेषैः लोहिता आरक्ता[3] तत्र तत्र उच्छलीन्द्रैश्छत्राकारैः उद्भिदैः[4]। कृतच्छाया भूनृणां[5] राज्ञां श्रीः सेनारूपा[6] सम्पदिव॥ ११॥

**क्षेत्राणीति।** तथा हि वृष्टेरविच्छेदे लसन्तः प्रियङ्खादयः मुदं ददुरिति[7] विच्छेदे शुष्यन्तो अनुतापं चेति॥ १२॥

**जलेति।** अबिभ्रन्[8] अभिभरुः यथा हरिनिषेवयेति। हरिनिषेवायां[9] प्रवृत्ता हि सद्य एव सर्वे रुचिरा भवन्ति। तस्याः परमधर्मत्वात् परमसुखत्वाच्च तद्वदिति॥ १३॥

**सरिद्भिरिति।** कामाक्तं कामवासनायुक्तमिति श्वसनोर्मि साम्यं, गुणैः विषयैः युज्यत इति सरित्सङ्गतिसाम्यम्॥ १४॥

**गिरय** इति। अधोक्षज एव चेतो येषां ते॥ १५॥

---

1. A,B,J omit क्वचित् 2. B,J,P,V omit लोहितवर्णा 3. A,B,J omit आरक्ता 4. P.V पुष्पैः 5. B,J,P,V omit भू 6. B,J,P,V omit रूपा 7. A,B,J ददति 8. A,B,J °त् 9. A,B,J °सेवा°

**वीर० हरितेति।** भूमिः हरिभिः हरित् वर्णैः शष्पैः बालतृणैः हरित वर्णा इन्द्रगोपैः कीटविशेषैः लोहिता, उद्गतैः शिलीन्द्रकुसुमैः कृतच्छाया, लोहितपीतवर्णा च बभूव। नृणां श्रीरिव, यथा नृणां राज्ञां श्रीः सेनासम्पत् हरितलोहितपीतवर्णपटैः विचित्र वर्णा भवति, तद्वत् इदं वास्तवार्थकथनम्। यद्वा नृणां स्वदेहालङ्कारमात्रपराणां श्रीः वस्त्राभरणादि सम्पत् तथेत्यर्थः। अनेन मूर्खाणां सम्पत् स्वोपकारमात्र पर्यवसन्ना न तु परोपकारार्थेति सूचितम्॥ ११॥

**क्षेत्राणीति।** क्षेत्राणि सस्यसमृद्धिभिः कृषीवलानां मुदं फलमदृष्टाधीनमित्यजानतां मानिनां फलसमृद्धिद्वेषिणां अनुतापं च ददुः। अनेन परसमृद्धिं दृष्ट्वा हर्षवता[1] भवितव्यमिति शिक्षितम्॥ १२॥

**जलस्थलौकस** इति। जलौकसः स्थलौकसश्च[2] सर्वे नवस्य[3] वारिणो निषेवया रुचिरं रूपं अबिभ्रन् अभिभरुः। संज्ञापूर्वकविधेः अनित्यत्वात् आर्षत्वाद्वा अभ्यस्तलक्षणजुसभावः यथा हृदय कमलस्थ हरिनिषेवया रुचिरं रूपं बिभ्रति तद्वत्। "वसतिहृदि सनातने च तस्मिन् भवति पुमान् जातोऽस्य सौम्यरूपः इति वचनार्थोऽत्रोक्तः। अनेन[4] हरिसेवया विना न सौम्यतेति सूचितम्॥ १३॥

**सरिद्भिरिति।** सिन्धुस्समुद्रस्सरिद्भिः सङ्गतो वातोद्धूत तरङ्गश्च। चुक्षोभ[5] सञ्चचाल, यथा अपक्वयोगिनः अनिष्पन्नसमाधेः पुंसः चित्तं विषयस्पृहायुक्तं गुणयुक्त्च गुणैर्विषयै र्युज्यत इति तथा भूतं च सत् क्षुभ्यति तद्वत्। कामासक्तमिति श्वसनोर्मिसाम्यं, गुणयुगिति श्वसनोर्मिसरित्सङ्गसाम्यं चित्तचाञ्चल्यनिमित्तकामाञ्जनगुणयोगनिवर्तक भगवत्तमाधिविपाकार्थं यतितव्यमिति सूचितम्॥ १४॥

**गिरय** इति। वर्षधाराभिरभिहन्यमाना अपि[6] गिरयो न विव्यथुः यथा अधोक्षजे एव चेतांसि येषां ते, व्यसनैः आध्यात्मिकादि तापैः पीड्यमाना अपि न व्यथन्ति तद्वत्। भगवद्भक्तिरेव तापत्रयविघातिनीत्युक्तं भवति॥ १५॥

---

1- -1. T,W ° द्विमता° 2. A,B add ते 3. A,B add नूतनस्य 4. T,W omit अनेन 5. A,B चुक्षुभे 6. K,T,W omit अपि

**विज०** हरिभिः श्यामैः शष्पैः बालतृणैः हरिता श्यामला इन्द्रगोपैः आषाढसमये उत्पद्यमानैः जपाकुसुमवर्णैः कृमिविशेषैः लोहिता रक्ता च उत्कृष्टैः उत्पलैः शिलीन्ध्रैः गुल्मविशेषपुष्पैः छत्राकै र्वा कृतच्छाया कृतशोभा भूः नृणां श्रीरिव सम्पदिव बहुविधाऽभूत् इत्यर्थः। अनेन भूमिवदेक एव चेतनो गुणविकारेण नानास्वभावमापन्न इव प्रतीयत इति संसारस्य असारत्वज्ञानेन हेयत्वेन हरौ भक्तिः कर्तव्येति सूच्यते॥ ११॥

कर्षकाणामुल्लेखनादि क्रियया वर्तमानानां क्षेत्राणि केदाराः सस्यानां सम्पद्भिः फलोद्रेकाभिमुखलक्षणाभिर्मुदं ददुः। वाशब्दः चार्थे। तदजानतां कृषिक्रियाविशेषमजानतां मानिनां कृष्याद्यभिमानवतां पुंसां तान्येव क्षेत्राणि अतिवृष्टचनावृष्टि

मेदुरसामग्र्याद्यभावादिना सस्यनाशेन विपत्तिमनुतापञ्च ददुः। पुनरुत्पत्तिनाशेन बीजं नष्टमित्यनुतापम्। इन्द्रियाणि विषय जलादाकृष्य हरिचरणारविन्द एव मनो निदधतां क्षेत्राणि पुण्यस्थानानि सस्यसम्पद्भिः ज्ञानसमुद्रैकैः मुदं ददति, तान्येव पुण्यस्थानानि तदजानतां स्नानादिक्रियाविशेषमबुध्यमानानां मानिनां अहङ्कारिणां पुंसां अयोग्यानां विपत्तिं दुःखलक्षणां बहुलवित्तव्ययेन न किमपि फलं प्राप्तं इत्यनुतापं च ददतीत्यतो मुमुक्षुणा स्वयं विचक्षणेभ्यो वा श्रुत्वा ज्ञात्वा हरिचरणसरोजे भक्तिः कर्तव्येति सूचितम्॥ १२॥

जलौकसः पातालवासिनः, स्थलौकसः भूलोक वासिनः, किञ्च सर्वे अन्तरिक्षादिलोकवासिनः। सर्वेषां संसारदुःखं निवारयतीति वारि ज्ञानं नवं निर्दोषं वारि तस्य नितरां सेवया अभ्यासलक्षणया रुचिरं निर्दोषं रूपमबिभ्रन् बिभ्रति कथङ्कारं जातया यथा यथावद्धरिनिषेक्या जातया॥ १३॥

अपक्वयोगिनः अपक्वः परिपाकमप्राप्तः योगोऽस्यास्तीति अपक्वयोगी तस्य, गुणयुक् रजोगुणयुक्। यद्वा गुणेषु विषयेषु युङ्क्ते इति। अत एव कामार्तम्॥ १४॥

न विव्यथुः न विलीना बभूवुः। कुतः? गिरयः गिरणोद्गिरणसमर्थत्वात् यथाभावमात्रे निदर्शनं न तु बुद्धिमत्वाबुद्धिमत्त्वविवक्षायाम्। अनेन सर्वसहनशक्तिः हरि भक्तानामेवेति दर्शितम्॥ १५॥

मार्गा बभूवुस्सन्दिग्धास्तृणैश्च्छन्ना असंस्कृताः।
नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता इव॥ १६॥

लोक बन्धुषु मेघेषु विद्युतश्चल सौहृदाः।
स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्विव॥ १७॥

धनुर्वियति माहेन्द्रं निर्गुणं च गुणिन्यभात्।
व्यक्ते गुणव्यतिकरेऽगुणवान् पुरुषो यथा॥ १८॥

स रराजोडुपश्च्छन्नः स्वज्योत्स्नाराजितैर्घनैः।
अहम्मत्या भासितया स्वभासा पुरुषो यथा॥ १९॥

मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दन् शिखण्डिनः।
गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाऽच्युतजनागमे॥ २०॥

1. A,B,G,J ह्यसं ° 2. M,Ma °श्रिता ः 3- -3. K. कालेन चाऽहता ; T.W कालाहता इव । 4. M,Ma °रे गु ° 5. V °रज्ञि ° 6. K,T,W तत्र

**श्रीध० मार्गा** इति। असंस्कृताः अक्षुण्णाः, नाभ्यस्यमाना इत्यसंस्कृतसाम्यं, कालेन[1] हता इति तृणाच्छादनसाम्यम्॥ १६॥

**लोकबन्धुष्विति।** यथा कामिन्यः पुंश्चल्यः॥ १७॥

**धनुरिति।** निर्गुणं ज्यारहितं[2] गुणिनि[3] गर्जनशब्दवति वियति[4]। अभात् अशोभत। गुणव्यतिकरात्मके[5] व्यक्ते प्रपञ्चे अगुणवान् निर्गुणः पुरुषो यथेति॥ १८॥

**नेति।** स्वभासा भासितया अहम्मत्येति। स्वचैतन्येनैव प्रकाशितेनाहङ्कारेण च्छन्नो जीवो यथा यद्वा तद्वत्[6] अहं विद्वान् दाता वेत्ता शूर इति, स्वप्रतीत्यैवारोपितयेति॥ १९॥

**मेघेति।** मेघागमेनोत्सवो येषां ते अतो हृष्टाः॥ २०॥

1. A,B,J °न चाऽहता 2. A,B,J add अपि 3. A,B,J गर्जित 4. A,B,J omit वियति । 5. V °ने 6. A,B,J omit तद्वत्

**वीर० मार्गा** इति। तृणैः छन्नाः असंस्कृता अक्षुण्णाः वर्षासु पथिकानां प्रायशो गमनाभावादिति भावः। अत एव सन्दिग्धा सन्देहजनकाः बभूवुः यथा श्रुतयो वेदाः द्विजैः नाभ्यस्यमाना अनावर्त्यमाना इत्यसंस्कृतसाम्यं, यतो नाभ्यस्यमानाः अत एव कालेन केनचित्कालेन आहता विस्मृताश्च भवन्ति, कालेन चाहता इति तृणाच्छादनसाम्यम्। अनेनाधीतानां वेदानां आवृत्तिं कुर्वतैव स्थेयं, अन्यथा तु प्रत्यवाय इति सूचितम्। तथा च स्मर्यते "अधीत मपि यद्वेदं नानुपालयति द्विजः। स जीवन्नेव शूद्रत्व माशु गच्छति सान्वयः॥" इति॥ १६॥

**लोकबन्धुष्विति।** सर्वप्राणिजीवनभूतजलप्रदानेन महोपकर्तृत्वाल्लोकानां बन्धुषु मेघेषु विद्युतस्तटितः। चलं सौहृदं यासां तथा भूता बभूवुः अनियतदेशमल्पकालं च सङ्गं चक्रुरित्यर्थः यद्वा स्थैर्यं न चक्रुरित्यपि दाष्टर्यान्तिकान्वयि, चल सौहृदास्सत्यः स्थैर्यं न चक्रुः। यथा कामिन्यः पुंश्चल्यः गुणिषु सौन्दर्य सौशील्यादि गुणाश्रयेष्वपि निर्धनेषु पुरुषेषु चलसौहृदाः स्थैर्यं न कुर्वन्ति तथा। अनेन यत्नतः कामिनीसङ्गः परिहार्य इति सूचितम्॥ १७॥

**धनुरिति।** गुणिनि शब्दगुणके वियत्याकाशे माहेन्द्रं धनुः निर्गुणं मौर्वीरहितमभाद्भौ यथा गुणव्यतिकरे गुणत्रयपरिणामात्मके व्यक्ते देहे अगुणवान् गुणत्रयरहितः पुरुषः जीवो भाति तद्वत् वियद्धनुषोरिव देहात्मनोः विलक्षणस्वरूपस्वभावत्व मुक्तम्॥ १८॥

**नेवि।** उडुपः चन्द्रः स्वज्योत्स्नया राजितैः प्रकाशितैः घनैः मेघैः छन्नो न रराज। घनेभ्यो विलक्षणतया न रराजेत्यर्थः। यथा पुरुष ः प्रत्यगात्मा स्वभासा स्वापृथक्सिद्धधर्मभूतज्ञानेन भासितया समुन्नतया अहम्मत्या देहात्मभ्रान्त्या देहात्पृथङ् न प्रकाशते तद्वत् देहात्मभ्रान्तिरात्मस्वरूपापह्नवहेतु रिति सा यत्नेन परिहार्येत्युक्तम्॥ १९॥

**मेघेति।** मेघागमे उत्सवः येषामतो हृष्टाः शिखण्डिनः मयूराः प्रत्यनन्दन्। यथा गृहेषु तप्ताः त्रिभिः तापैरिति शेषः। अत एव निर्विण्णाः जनाः अच्युतभक्तानां आगमने सति प्रतिनन्दन्ति तद्वत्। तापत्रयतप्तैः अवश्यमच्युत जनसङ्गतिः कार्येत्युक्तम्॥ २०॥

---

1- -1. A,B omit 2- -2. T,W omit 3. A,B तद्वत् 4. A,B °नीनां 5. A,B add भवति 6 A,B °पाच्छादन °

**विज०** असंश्रिताः जनैः अनाक्रान्ताः। अनेन सच्छास्त्रं निरन्तरमभ्यसनीयं ज्ञानोत्पत्तये इति व्यतिरेकनिदर्शनम्॥ १६॥

चलसौहृदाः चञ्चलस्वभावाः विद्युतः लोकोपकारित्वाल्लोक बन्धुषु मेघेषु स्थैर्यं स्थिरस्थितिं न चक्रुः नापुरित्यन्वयः। कामिन्यः गुणिषु विविधेषु पुरुषेषु इव यथा स्थैर्यं न कुर्वन्ति तथा। विद्युद्वत् चञ्चलभक्ति र्न कर्तव्या, किन्तु पूर्ववत्स्थिरा इति भावः। चलसौहृदाः चलस्नेहाः मानुषस्वभावो दर्शित इति वा॥ १७॥

गुणिनि शब्दगुणोपेते नीलिमगुणयुक्ते वा वियति महेन्द्रस्य विद्यमानं निर्गुणं ज्यारहितं धनुः अभात् भाति। कथमिव? गुणव्यतिकरे जगत्सर्जने व्यक्ते प्रवृत्ते पुरुषो नारायणो यथा गुणवान् सत्त्वादिगुणैः प्रवर्तमानो भाति सृष्टेः पूर्वं निर्गुणः सत्त्वादिगुणप्रवृत्तिशून्यः गुणवान् प्रशस्तज्ञानानन्दादिगुणपूर्णो वा निर्गुणः देहरहितः गुणव्यतिकरे गुणवान् देहवान् पुरुषो हिरण्यगर्भो यथेति वा॥ १८॥

स्वया ज्योत्स्नया राजितैः सन्ध्यारागं प्राप्तैः घनैः छन्नः उडुपः चन्द्रः न राज स्वरूपाभिव्यक्तिं नाऽऽप स्वभासा स्वयं प्रकाशज्ञानेन भासितया अभिव्यक्तया अहम्मत्या अहङ्काराख्याया पुरुषः संसारी यथा अभिव्यक्तस्वरूपो न भवति भगवत्प्रसादानुगृहीतज्ञानलक्षण प्रकाशेनाभिव्यक्तरूपः पुरुषः स्यात् यथा तथा शरदादिलक्षणप्रकाशेन प्रकाशितमण्डलः चन्द्र इति सूचितं भवति॥ १९॥

शिखण्डिनो मयूराः मेघानां आगम एवोत्सवः तेन हृष्टाः रोमाञ्चत्वं प्राप्ताः कुटुम्बभरणादिना तप्ताः सज्जन दर्शनाभावाग्निना वा। अत एव निर्विण्णाः विरक्ताः संसारहेयबुद्धियुक्ताः॥ २०॥

**पीत्वाऽपः पादपाः पद्भिः आस न्नानात्ममूर्तयः।**
**प्राक् क्षामास्तपसा श्रान्ता यथाकामानु सेवया॥ २१॥**

सरस्वशान्तरोधस्सु[2] न्यूषुरङ्गापि[4] सारसाः।
गृहेष्वशान्तकृत्येषु ग्राम्या इव दुराशयाः॥ २२॥

जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे।
पाषण्डिनाम्प्रसद्वादैः[5] वेदमार्गाः[6] कलौ[7] यथा॥ २३॥

व्यमुञ्चन् वायुभिर्नुन्ना[8] भूतेभ्यो[9] ह्यमृतं घनाः।
य[10]थाऽऽशिषो विश्प[11]तयः काले काले द्विजेरिताः॥ २४॥

एवं वनं तद्वर्षिष्ठं पक्व खर्जूरजम्बुमत्।
गोगोपबालैः वृतो र[12]न्तुं सबलः प्राविशद्धरिः॥ २५॥

---

1. M,Ma °न्नात्म° 2. V क्षुत् 3. K,T,W तोयेषु 4. M.Ma ट्चू° 5. G,J पाखण्डि 6. M,Ma वामशैवाद्यैः 7. M.Ma युगे 8. A °रि° 9. A,B,G,J °भ्योऽथामृतं 10. M.Ma यथाविशो 11. M,Ma °ट्प° 12. K वस्तुं

**श्रीध० पीत्वेति**। नानात्ममूर्तयः अनेकरूपदेहाः॥ २१॥

**सरस्विति**। अशान्तानि पङ्ककण्टकादियुक्तानि, रोधांसि तटानि एषां ते, तेष्वपि न्यूषुः नितरामवसन्। सारसाः चक्रवाकाः अशान्तानि घोराणि अनुपरतानि वा कृत्यानि येषु तेष्वपि गृहेषु॥ २२॥

**जलौघैरिति**। ईश्वरे इन्द्रे॥ २३॥

**व्यमुञ्चन्निति**। नुन्नाः प्रेरिताः आशिषः कामान् विश्पतयो राजानः वणिजां पतयो वा। द्विजेरिताः पुरोहितैरुक्ताः॥ २४॥

प्रावृषि कृताः[1] क्रीडाः[2] वर्णयति सप्तभिः **एवमिति**। वर्षिष्ठं समृद्धं अ[3-]तिशय वर्षयुक्तं वः[-3] ॥ २५॥

---

1. A,B,J °तां 2. A,B,J °डां 3- -3. A,B,J omit

**वीर० पीत्वेति**। पादपाः वृक्षाः पद्भिः मूलैः अपो जलानि पीत्वा नानात्म मूर्तयः नानाविधा आत्मनां मूर्तयः शाखापल्लवपुष्पफलादिरूपाः येषां तथा भूताः बभूवुः। यथा प्राक्काम्यतपःफलरूपकामानुसेवातः प्राक्तपश्चर्यादशायां तपसा श्रान्ताः क्षामाः कृशाश्च। जनाः कामानुसेवया नानात्ममूर्तयो भवन्ति कलत्रपुत्रपौत्रादि परिजनरूपेणेति तद्वत्। अनेन काम्यतपसः शरीरावयव पुष्टिफलकत्वमात्रं सूचितम्। यद्वा फलाभिसन्धिरहितभगवदाराधनात्मक तपश्चर्यादशायां तपसा

श्रान्ताः कृशाश्च तत्फलानुभवात्मकमुक्तिदशायां काम्यन्त इति कामाः, भगवतः कल्याणगुणास्तेषां अनुसेवया "स एकधा भवति द्विधा भवति त्रिधा भवति" (छान्दो.उ. 7-26-2) इत्यादि श्रुत्युक्तरीत्या नानात्ममूर्तिमन्तो भवन्ति तद्वत्। अनेन भगवदाराधनात्मक तपसः स्वेच्छानु रूपाप्राकृतानेकशरीरपरिग्रहेण भगवता भोगसाम्यसाधनत्व मुक्तम्॥ २१॥

**सरस्स्विति।** अङ्ग! हे राजन्! अशान्तानि अनिर्मलानि कलुषितानि इति यावत्। तानि तोयानि येषु तथा भूतेष्वपि सरस्सु सारसाः चक्रवाकाः गोनर्दाख्यपक्षिविशेषा वा न्यूषुः नितरामुषितवन्तः। 'अशान्तरोधस्स्विति' पाठे अशान्तानि सलिलाकुलानि पङ्ककण्टकादियुक्तानि रोधांसि तटानि येषां तेष्वपि सरस्स्वित्यर्थः। अशान्तान्यनुपरतानि कृत्यानि येषु। तेष्वपि गृहेषु दुराशयाः वैषयिकसुखाभासलेशलिप्सवो, ग्राम्याः पामरा इव, ते यथा निवसन्ति तद्वत्। अनेन ग्राम्याणां विषयाः दुःखप्रचुरा अल्पसुखाश्चेत्युक्तं भवति॥ २२॥

**जलौघैरिति।** ईश्वरे पर्जन्ये वर्षति सति जलपूरैः उत्कटैः सेतवः जलनिरोदार्था मृत्पाषाणनिर्मिताः, निरभिद्यन्त त्रुटिता बभूवुः। यथा कलौ युगे प्रवृत्ते सति पाषण्डानां वेदबाह्यानां असद्वादैः वेदमार्गा वर्णाश्रमधर्मा निर्भिद्यन्ते तद्वत्। अनेन पाषण्डवादानां अश्रोतव्यत्व मुक्तम्॥ २३॥

**व्यमुञ्चन्निति।** वायुना नुन्नाः प्रेरिताः सन्तो घना मेघा भूतेभ्योऽमृतवज्जीवनहेतुं जलं व्यमुञ्चन्, यथा द्विजैः पुरोहितादिभिः ईरिताः प्रेरिताः विशपतयो जनाध्यक्षा राजानः उचितकालेषु आशिषः कामानर्थिभ्यो विमुञ्चन्ति तद्वत्। राजभिः एवं भवितव्यमित्युक्तं भवति॥ २४॥

तदेवं वर्षर्तुमनुवर्ण्यथ तदा कृतानि कानिचिद्भगवच्चेष्टितानि वर्णयति **एवमित्यादिभिः** सप्तभिः। इत्थं पक्वानि खर्जूरादिफलान्यस्मिन् सन्तीति तद्वत्। तद्वर्षिष्ठं वृद्धं प्रभूतमिति यावत्। वनं हरिः सबलदेवो गोपालै स्सह रन्तुं प्राविशत्॥ २५॥

---

1- -1. T.W omit 2. A,B add परिकरादि 3. A,B °र्दकाख्य° 4. A,B °र्थं 5. A.B °णादि नि° 6. T,W °र्माणि भि°

**विज०** पद्भिः मूलैः फलैः पुष्पैः नम्रात्ममूर्तयः शाखोपशाखाभिः नतस्वरूपाः प्राक् ग्रीष्मे तपसा तपोमासोर्जिततापेन क्षामाः कृशाः यथाकामानामनुसेवया जातेन श्रमेण श्रान्ताः इन्द्रियदौर्बल्यमाप्ताः प्राक् कुटुम्बव्यवस्थायां क्षामाः पादेन ग्रासेन आत्मानं पान्ति रक्षन्तीति पादपाः। तपस्विनः गतिसाधनत्वात्पाद्भिः शास्त्रैः अपः पुरुषार्थावाप्तिहेतुत्वात् ज्ञान रसान् पीत्वा स्वाद्यनम्रावरुद्धा वशीकृतात्मनः परमात्मनो मूर्तिर्विग्रहविशेषो यैस्ते तथेति भावः। यद्वा प्राक् क्षामा वनिताद्यभावेन तपसा कामाग्नितापेन श्रान्ता जनाः कामानुसेवया पश्चादेव वनितादि लाभेन निरन्तर कामभोगेन पुत्रतत्पुत्रपुष्पफलादिना नम्रात्ममूर्तयः परायणनिजशरीरा यथा भवन्ति तथेति॥ २१॥

अङ्ग! हे परीक्षित्! सारसाः चक्रवकाः अशान्तानि जलैः पूर्णानि रोधांसि तीराणि येषां तानि तथा तेषु सरस्स्वपि ऊषुर्हि जलप्राबाहाभिभूततीरवासस्याशक्यत्वेपि तत्रैवोषुरित्यर्थः। दुराशयाः ग्राम्याः प्राकृतजनाः अशान्तकृत्येषु अनुपरतकर्तव्येषु गृहेष्विव यथा वसन्ति। अनेन नित्यसंसारिस्वभावो दर्शितः॥ २२॥

पाखण्डादिमतज्ञानं[1] नरक साधकमिति ज्ञातव्यम्॥ २३॥

वायुभिः नुन्नाः प्रेरिताः अमृतं जलं द्विजैरीरिताः प्रेरिताः विट्पतयो राजानः विशः प्रजा उद्दिश्य काले काले कालगुणं ज्ञात्वाऽमृतं हेम विमुञ्चन्ति प्रयच्छन्ति। "अमृतं व्योम्नि देवान्ने यज्ञशेषे रसायने। अयाचिते जले दुग्धे मोक्षेऽन्ने हेम्नि गोरसे" (वैज.को 7-5-7) इति यादवः। यद्वा षष्ठमंश इति ब्राह्मणोक्तं विशो वैश्या विश्पतिभ्यो राजभ्यः यथा काममृतं करात्मकं धनं ददतीति॥ २४॥

वर्षिष्ठं प्रभूतवर्षोपेतम्॥ २५॥

---

1. °ष°

धेनवो मन्दगामिन्यः ऊधोभारेण भूयसा।
ययुर्भगवताऽऽहूता द्रुतं प्रीत्या स्नुतस्तनीः॥ २६॥

वनौकसः प्रमुदिता वनराजीर्मधुच्युतः।
जलधारा गिरेर्नादानासन्ना ददृशे गुहाः॥ २७॥

क्वचिद्वनस्पतिक्रोडे गुह्यायां चाभिवर्षति।
निर्विशन् भगवान् रेमे कन्दमूल फलाशनः॥ २८॥

दध्योदनमुपानीतं शिलायां सलिलान्तिके।
सम्भोजनीयैर्बुभुजे गोपैस्सङ्कर्षणान्वितः॥ २९॥

शाद्वलोपरि संविश्य चर्वतो मीलितेक्षणान्।
दृप्तान् वृषान् वत्सतरान् गाश्च स्वोधोभरश्रमाः॥ ३०॥

1. T,W °ता सार्धं 2. T,W भीत्या 3. V °नाः 4- -4. M,Ma गिरिर्गम्भीरसन्नाद सन्नादा ददृशुर्गुहाः 5. B,G,J,V निर्विश्य 6. M,Ma °नैः 7. B,G,J °नं समा° 8. V °ड्व° 9. M,Ma स° 10. A,B,G,J तृप्तान्; M,Ma वृषान् 11. M,Ma वत्सान्

**श्रीध० वनौकस** इति। वनौकसः पुलिन्दाः[1] प्रमुदिताः भगवान् ददृशे। तथा वनराजीः [2-]वनपरम्पराः[-2] मधुच्युतः मधुस्रवाः ददृशे गिरेस्सकाशात् जलधाराः तासां नादांश्च आसन्नाः निकटवर्तिनीर्गुहाश्च। यद्वा वनौकसः प्रमुदिता आसन्। तथा वनराजीर्वनराजयः[3] मधुच्युत आसन्, गिरेर्जलधारा आसन्। तानेवम्भूतान् आददृशे सर्वतो ददर्श, भगवान् तथा जलधाराणां[4] नादान् गुहाश्चेति॥ २६ - ३०॥

1. A,B,J ° न्दीः 2- -2. A,B,J omit 3. A,B,J add वनपरम्पराः 4. A,B,J omit जल

**वीर०** भूयसा ऊधसः पयःकोशस्य भारेण मन्दगामिन्योऽपि धेनवो भगवता आहूताः स्नुतस्तन्यस्सत्यो द्रुतमेव ययुः॥ २६॥

वनौकःप्रभृतीन् ददर्शेत्यन्वयः[1]। प्रमुदिताः मधुच्युत इति च वनराजी इत्यस्य विशेषणं, मधुच्युतः मधूनि स्रवन्त्यः प्रमुदिताः फलपुष्पसमृद्धिभिः मुदिता इव स्थिताः[2] वनौकसः पुलिन्दीरिति वा। गिरेः सकाशात् जलधारास्तासां नादान् आसन्ना निकटवर्तिनीः गुहाश्च ददृशुः इत्यर्थः॥ २७॥

कदाचित् पर्जन्ये अभितो वर्षति सति वनस्पतिक्रोडे वृक्षमूले गुहायां वा प्रविशन्[3] भगवान् कन्दानि मूलानि फलान्येव अशनं यस्य तथा भूतो रेमे॥ २८॥

कदाचित् गृहादानीतं दध्यन्नं सलिलसमीपे स्थितायां शिलायां पात्रभूतायां सहभोजनीयैः गोपैःस्सह बुभुजे॥ २९॥

क्वचित् शाद्वलोपरि हरिततृणाकीर्णप्रदेशे उपविश्य वृषादीन्वीक्ष्य भगवान् सर्वभूतानां मुदमावहतीति तथा तां आत्मशक्त्या स्वसङ्कल्पात्मिकया उपबृंहितां प्रवर्धितां तां प्रावृट्श्रियं पूजयाञ्चक्रे बह्वमन्येतेत्यन्वयः। चर्वतो मीलितेक्षणान् दृप्तानिति च वृषानित्यस्य विशेषणम्, चर्वतः तृणानि स्वादतः मीलितानीक्षणानि यैस्तान् दृप्तान् गर्वितान् स्वोधसां भरेण[4] श्रमो यासां ताः गाश्च॥ ३०॥

1. A,B,K ददृशे इत्य° 2. A,B add प्रमुदिताः 3. T,W omit भगवान् 4. A,B add भारेण

**विज०** स्नुतस्तनीः क्षरितस्तन्यः ॥ २६ ॥

वनौकसो गावः मृगादयो वा गुहाः ददृशुरित्यन्वयः। कथम्भूताः? प्रमुदिताः प्रकृष्टानन्दाः वने राजी राजनं यासां ताः वनराज्यः। मधुश्रुतः मधुवन्मधुरं क्षीरं श्च्यवन्तीति मधुश्च्युतः। गम्भीरश्चासौ सन्नादश्च गम्भीरसन्नादः तेन सन्नादेन सह वर्तमानाः। यद्वा वृष्टचभावसमये मधुश्च्युतः वनराजीः वनपंक्तीः ददृशुः। वृष्टौ सत्यां गुहाद दृशुरिति। वनौकसः किराता वा। गिरेः हेतोः सन्नादाः राक्षसाः। सन्नादाः भावप्रधानो निर्देशः। नष्टराक्षसत्वेन नादसहिताः ॥ २७॥

अभिवर्षति सति वनस्पतिक्रोडे गुहायां चैव निर्विशन् उपभुञ्जानः ॥ २८॥

सम्भोजनीयैः सहभोक्तव्यैः ॥ २९,३० ॥

प्रावृट्श्रियं च तां वीक्ष्य सर्वभूतमुदावहाम्।[1]
भगवान् पूजयाञ्चक्रे आत्मशक्त्युपबृंहिताम्[2] ॥ ३१ ॥

शरदृतु वर्णनम्

एवं निवसतोस्तस्मिन्[3] रामकेशवयोर्व्रजे।
शरत्समभवद्वच्छ्रा[4] स्वच्छाम्ब्वपरुषानिला[5-] ॥ ३२ ॥

शरदा[6-] नीरजोत्पत्त्या[6-] नीराणि प्रकृतिं ययुः।
भ्रष्टानामिव[7-] चेतांसि पुनर्योगनिषेवया[7-] ॥ ३३ ॥

व्योम्नोऽब्दं[8] भूतशाबल्यं भुवः पङ्कमपां मलम्।
शरज्जहाराश्रमिणां कृष्णभक्तिर्यथाऽशुभम्[9] ॥ ३४ ॥

सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः[10] शुभ्रवर्चसः।
यथा त्यक्तैषणाश्शान्ता[11] मुनयो मुक्तकल्मषाः[12] ॥३५॥

1. A,V सुखा° 2. V ह्या° 3. M,Ma °स्तत्र 4. K,T,W °भ्र° 5- -5. M,Ma °म्बु ह्रुषितानिला 6- -6. K,T,W शारदानि; M,Ma शारद्या नी° 7- -7. K यथा भ्रष्टानि 8. M,Ma °ऽब्दमभ्रशा° 9. A,B,G,J,V कृष्णे 10. V न 11. A,B,G,J,M,Ma °क्तै° 12. A,B,G,J,V किल्बिषाः

**श्रीध०** ततः शरदं वर्णयत्यष्टादशभिः - **एवमिति।** विगतानि अभ्राणि यस्यां सा। स्वच्छानि अम्बूनि यस्यां सा। अपरुषः शान्तोऽनिलो यस्यां सा [1] ॥ ३१,३२ ॥

**शरदेति।** नीरजानामुत्पत्तिर्यया तया। शरदा कृतानां नीरजानां उत्पत्त्या वा॥ ३३ ॥

**व्योम्न** इति। व्योमादीनां चतुर्णां चतुरो [2] मेघादीन् मलान् शरदहरत् आश्रमिणां चतुर्णां कृष्णे जाता भक्तिर्यथा अशुभमसुखं हरति। तथाहि - ब्रह्मचारिणो गुर्वर्थोदकाहरण[3-] कुम्भ[-3]श्रमं यथा भक्तिर्हरति [4] तथा पूर्णस्य, तेनानुपयोगात्। गुरुभिरपि कृतार्थस्य तस्यानियोगात्। एवं व्योम्नोऽब्दं [5] मेघं शरज्जहार, यथा च गृहिणोऽपत्यादि साङ्कर्यं भक्तिर्हरति विविक्तवासरुच्युत्पत्तेः तथाभूतानां शाबल्यं साङ्कर्यं शरत् वर्षासु वृष्टिभिः यानि सङ्क[-6]लानि वसन्ति, यथा च वनस्थस्य मलधारणक्लेशं भक्तिर्हरति एवं भुवः पङ्कं शरत् यथा च यतीनां कामादिवासनामलं श्रीकृष्णभक्तिर्हरति एव मपां मलम् [7] शरदिति॥ ३४ ॥

**सर्वस्वमिति।** त्यक्तैषणाः त्यक्ताः पुत्र वित्त [8] दारैषणा यैस्ते॥ ३५ ॥

1. A,B,J add च सा च। 2. A,B,J omit मेघादीन् 3- -3. A,B,J °णादिकष्टं 4. A,J,P,V तथा 5. A,J जलदं; B omits मेघं 6. A,B,J °भिया सङ्क° 7. V omits शरदिति 8. A,B,J लोकै°

**वीर०** अथ शरदागममाह - **एवमिति।** तस्मिन् व्रजे इत्थं निवसतोः रा[1-]मकेशवयोः [-1] सम[2]भवत् सम्यक्प्रावर्तत। कथम्भूता? विगतानि अभ्राणि यस्यां स्वच्छान्यम्बूनि यस्यां, अपरुषस्सुखस्पर्शोऽनिलो वायुः [3] यस्यां, ततस्त्रयाणां कर्मधारयः ॥ ३१,३२ ॥

अथ मुमुक्षूणां हितं दर्शयन्निव समीचीनैः दृष्टान्तैः शारदान् धर्मान् अनुवर्णयति **शारदानीत्यादिना** यावदध्यायसमाप्ति। पूर्वं शारदानि [4-] शरत्सम्बन्धीनि [-4] नीराणि जलानि निर्म[5]लान्येव स्थितानि अन्तरा प्रावृषि रजोत्पत्त्या पङ्कप्रादुर्भविन, भ्रष्टानि इत्युत्तरस्वा[6]रस्या दध्याहर्तव्यम्। पुनः प्रकृतिं स्व स्वभावं ययुः। यथा योगिनां चित्तानि निर्मालान्येव क्वचित् योग[7]भ्रष्टान्यपि, पुनरपि पुनर्योगनिषेवया प्रकृतिं यान्ति तद्वत्। योगभ्रंशेन चित्तकालुष्ये सति पुनर्योगमेव सेवेतेति

शिक्षितम्। "शरदा नीरजोत्पत्त्या" इति पाठान्तरम्। नीरजानां उत्पत्ति र्यस्यां तया शरदा हेतुभूतया नीराणि प्रकृतिं स्वच्छत्वाविकारत्वशान्तत्वादिरूपां ययुः उत्तरार्धं तु पूर्ववत्॥ ३३॥

**व्योम्न** इति। क्रमेण व्योमभूतपृथिवी जलानां चतुर्णां अभ्रशाबल्यपङ्कमलानि चत्त्वारि शरदहरत्, यथा चतुर्णामाश्रमिणां अशुभं कृष्णभक्तिः हरति तद्वत्। तत्राब्दं मेघं भूतानां ज्योतिस्सलिलमरुतां शाबल्यं सम्पर्कं वर्षासु तेषां मिथस्सम्पर्काच्छरदितन्निवृत्तेरिति भावः। यथा कृष्णभक्तिः बह्मचारिणो गुरूपदिष्टार्थग्रहणप्रतिबन्धक मज्ञानात्मकमशुभं हरति, यथा च गृहस्थस्य विषयसङ्गदोषं यथा वनस्थस्य कदाचिदशक्तया स्वाश्रमोचित धर्मानुष्ठानप्रयुक्त प्रत्यवायं, यथा च यतिनः कृष्ण प्राप्ति प्रतिबन्धकं पुण्यपापात्मकं सवासनं कामादि दोषरूप मशुभं हरति तथेत्यर्थः। अनेनावश्यं चतुर्भिरपि आश्रमिभिः कृष्णभक्तिः कार्येत्युक्तम्॥ ३४॥

**सर्वस्वमिति**। जलदा मेघाः सर्वस्वत्वभूतं जलं हित्वा शुभ्रं वर्चो येषां तथाभूताः विरेजिरे, यथा मुनयो भगवन्मननशीलाः त्यक्ताः दारधनपुत्राणां ईषणाः यैः तथाभूताः निवृत्तपापा विराजन्ते तद्वत्। अनेन अवश्यं मुनिभिः ईषणा स्त्याज्या इत्युक्तम्॥ ३५॥

---

1- -1. K,T,W omit 2. K,T,W omit समभवत् 3. K,T,W omit वायुः 4- -4. T,W omit 5. T,W °तानि अव ° 6. A,B,K °स्मादध्या° 7. A,B °गात्र° 8. A,B °त्वाप्रकृतिवि° 9- -9. T,W omit 10. A,B °रस्त° 11. T,W omit अनेन

**विज०** आत्मशक्त्युपबृंहितां संवर्धिताम्॥ ३१॥

व्यभ्रा विगतमेघा स्वच्छाम्बु तस्य विषुषितेन विषुषा बिन्दुना युतः अनिलः स्वच्छाम्बुषुषितानिलः स यस्यां सा तथा॥ ३२॥

शारद्या शरत्सम्बन्धिन्या नीरजानां पद्मानां उत्पत्त्या। प्रकृतिं स्वच्छतां योगभ्रष्टानां पुनर्योगनिषेवया योगाभ्यासेन॥ ३३॥

शरत् व्योम्नः अब्दं अर्थिभ्यो जलस्य दातारं मेघं जहार। वर्षाकालो विरत इत्यर्थः। ततोऽभ्रशाबल्यं अभ्रं जलं दधत् मेघः न तु वर्षणं कुर्वन् तन्निमित्तं शाबल्यं व्योम्नः निम्रवणं जहार अभ्रच्छायाभावात् भुवः पङ्कं कर्दमं, अपां मलं कालुष्यं च अहरत्। तत्तदाश्रमोक्तानुष्ठानयथावस्थिति सूचनाय आश्रमिणामित्युक्तम्। अशुभं पातकम्॥ ३४॥

सर्वस्वं जलं शुभ्रवर्चसः धवलवर्णाः त्यक्ताः पुत्रादि दुष्टैषणा यैस्ते तथा॥ ३५।

गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन्न मुमुचुश्शिवम्।
यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा[1-] [-1] ॥ ३६ ॥

नै वाविन्दन्[2] क्षीयमाणं जलं गाधजलेचराः।
यथाऽऽयुरन्वहं क्षीणं[3] नरा मूढाः कुटुम्बिनः ॥ ३७ ॥

गाधवारिचरास्तापमविन्दन्[4] शरदर्कजम्।
यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः ॥ ३८ ॥

शनैः शनैः जहुः पङ्कं स्थलान्यामञ्च[5] वीरुधः।
यथाऽहम्ममतां धीराः शरीरादिष्वनात्मसु ॥ ३९ ॥

निश्चलाम्बुरभूत्तूष्णीं[6] समुद्रश्शरदागमे।
आत्मन्युपरते यद्वत् मुनिर्व्युपरतागमः[7] ॥ ४० ॥

---

1- -1. T,W सदा 2. A,B,G,J,V °विदन् 3. A,B,G,J,M,Ma क्षय्यं 4. M,Ma °विदन् 5. M,Ma °संश्च 6. K,T,W धरस्तू° 7. A,B,G,J,V सम्यक्

**श्रीध० गिरय** इति। अयं भावः न ह्युपाध्यायाः कर्मविद्यामिव ज्ञानिनो ज्ञानामृतं सर्वतो वितरन्ति। अपि तु कृपया क्वचिदेव। एवं गिरयश्शिवं निर्मलं तोयं क्वचिन्मुमुचुः क्वचिन्न, न पुनः प्रावृषीव सर्वत इति ॥ ३६ ॥

**नेति।** गाधे क्षुद्रे जले चरन्तीति तथा ते मीनादयः ॥ ३७ ॥

**गाधेति।** अविन्दन् लेभिरे ॥ ३८ ॥

**शनैरिति।** तत्र ममतामिव पङ्कम्। अहन्तामिव आमतामपक्वतां जहुरिति ॥ ३९ ॥

**निश्चलेति।** आत्मन्युपरते त्यक्त क्रियो मुनिरिव। निश्चलाम्बुः स एवं व्युपरतागमः निवृत्त वेदघोष इव तूष्णीमभूदिति ॥ ४० ॥

**वीर० गिरय** इति। पर्वताः क्वचिन्निर्मलं जलं मुमुचुः क्वचिन्न मुमुचुश्च ज्ञानिनो यथा क्वचित् तत्त्वत्रययाथात्म्य ज्ञानात्मक ममृतं केभ्यश्चित् शुश्रूषुभ्यो ददते केभ्यश्च[1-] न ददते[-1]। अनेन सर्वेभ्योऽपि प्रष्टृभ्यो नोपदेष्टव्यं ज्ञानिभिः

ज्ञान मित्युक्तम्। [2]तथा चोक्तं[2] भगवता - "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिन स्तत्त्वदर्शिनः" (भ.गी.4-34) इति॥ ३६॥

**नैवेति।** गाधजलेचराः अल्पजल चारिणः क्षीयमाणं जलं नैवाविन्दन् नैव ज्ञातवन्तः, यथा मूढाः अज्ञाः कुटुम्बपोषणरता नरा अल्पायुषस्तथाऽप्यन्वहं क्षीयमाणमायु र्न जानन्ति तद्वत्। अनेन कुटुम्बिभि रपि देहात्मनोर्याथात्म्यं परिशीलयद्भिः अन्वहमायुःक्षयानु सन्धाननिमित्तपरितापवद्भिश्च भवितव्य मित्युक्तं भवति॥ ३७॥

**गाधेति।** गाधवारिचराः क्षुद्रजलचरा शरदि योऽर्कस्तज्जं ताप मविन्दन् लेभिरे यथा अजितोन्द्रियः इन्द्रियपरतन्त्रः कुटुम्बी दरिद्रः धनधान्यहीनः कृपणः दीनः क्षुत्प्रयुक्तं तापं जानाति तद्वत् जितेन्द्रियेण भवितव्य मिति सूचितम्॥ ३८॥

**शनैरिति।** स्थलानि शनैः शनैः पङ्कं जहुः वीरुधस्तु आममपक्वतां [3]जहुः, यथा धीरा ज्ञानिनः शरीरादिषु देहेन्द्रियादिषु अनात्मसु आत्मव्यतिरिक्तेषु अहम्ममतां अहन्तां ममतां च जहति, तद्वत्। तत्र अहन्ता साम्यं पङ्कस्य, ममतासाम्यं आमस्येति विवेकः। अवश्यं ज्ञानिभिः अहङ्कारममकारौ यत्नेन परिहर्तव्यावित्युक्तं भवति॥ ३९॥

**निश्चलेति।** शरदागमे शरदः प्रवृत्तौ सत्यां समुद्रो निश्चलाम्बुधरः तूष्णीं बभूव यथा मुनिश्शुभाश्रय मननशीलः व्युपरतः आगमः अन्नपानाद्यागमो यस्य सः, अनुपनतान्नपानोऽपि आत्मनि शरीरे उपरतेऽपि आदिकर्मणि क्तः उपरन्तु मारब्धवत्यपि देहविपत्तिपर्यन्तदशाया मपि निश्चलस्तूष्णीं आस्ते, तद्वत्। मुनिनैवं भवितव्यमिति शिक्षा॥ ४०॥

---

1. T,W omit 2- -2. A,B तथैवोक्तं 3. T,W omit जहुः

**विज०** शिवं जलं जान्वान नूपानूपस्थल भेदाभिप्रायेण निरीक्षेणाजन मोक्षामोक्षौ ज्ञानिनां ज्ञानदानादाने योग्या-योग्य मुहूर्तामुहूर्त्त कालभेद विवक्षयेति ज्ञातव्यम्॥ ३६॥

गाधजलेचराः अल्प जलनिवासिनो मत्स्यादयः प्राणिनः क्षीयमाणं शुष्यमाणं जलं दृष्ट्वा सुखं नैवाविन्दन् अन्वहं क्षय्यं क्षीयमाणं अन्तं गच्छदायुः। अनेन संसारस्य अनित्यत्वेन असारत्वं संसूचितवान्॥ ३७॥

शरदर्कः शरदृतुसम्बन्धी सूर्यः तस्माज्जातः शरदर्कजः तं कुटुम्बसम्बद्धं तापम्॥ ३८॥

वीरुधः आसन् अङ्कुरिताः अनात्म व्यतिरिक्तेषु जडेष्वित्यर्थः॥ ३९॥

उपरते उपरतविषयव्यापारे आत्मनि मनसि। यद्वा, उपे शर्वाधिपे हरौ रते सति उपरतागमः निवृत्तशास्त्र श्रवणादिकः समाधिस्थ इत्यर्थः॥ ४०॥

केदारेभ्य स्त्वपोऽगृह्णन् कर्षका दृढसेतुभिः।
यथा प्राणैः स्रवज्ज्ञानं[1-] तन्निरोधेन योगिनः॥४१॥

शरदर्कांशुजं[2-] तापं[2] भूतानामुडुपोऽहरत्।
देहाभिमानजं[3] बोधो मुकुन्दो व्रज योषिताम्॥४२॥

खमशोभत निर्मेघं शरद्विमलतारकम्।
सत्त्वयुक्तं यथा चित्तं शब्दब्रह्मार्थदर्शनम्॥४३॥

अखण्डमण्डलो[4] व्योम्नि राजोडुगणैश्शशी।
यथा यदुपतिः कृष्णो वृष्णि चक्रावृतो[5] भुवि॥४४॥

आश्लिष्य समशीतोष्णं प्रसूनवनमारुतम्।
जनास्तापं जहुर्गोप्यो न कृष्णहृत[6] चेतसः॥४५॥

---

1- -1. M,Ma स्वविज्ञानं 2- -2. A,B,G,J °जांस्तापान् 3. A दुःखं 4. M,Ma °ल° 5. M,Ma चक्रैर्वृतो 6. M,Ma °ष्णा°

**श्रीध०** केदारेभ्य इति। केदारेभ्यः[1] बद्धसेतु शालि दात्रेभ्यः दृढैस्सेतुभिः अपोऽगृह्णन्। ततः[2] परं वृष्ट्यभावात् प्राणैरिन्द्रियैः तन्निरोधेन इन्द्रिय प्रत्याहारेण द्वारेण[3]॥४१॥

**शरदिति।** देहाभिमानजं बोध इव। व्रजयोषितां तापं[4] मुकुन्द इव चेत्यर्थः॥४२॥

**खमिति।** शरदा विमलाः तारकाः यस्मिन् तत्। खमाकाशं[5-] शब्दब्रह्मणो वेदस्यार्थान् पूर्वोत्तरमीमांसा प्रणीतान्[6] दर्शयतीति तथा तदिव[7]॥४३,४४॥

**आश्लिष्येति।** समः[8] अन्यूनानधिकः शीतश्च[9] उष्णश्च तं न तु गोप्यः कृष्णापहृत चेतस्त्वेन तासां सन्तापो[10] दुःसह इति, यद्वा नकार उपमार्थः तथा च कृष्णहृत चेतस इवेति। चेतसा कृष्णमाश्लिष्य आ लिङ्ग्य[11-] यथेत्यर्थः॥४५॥

1. P.V omit केदारेभ्यः 2. P.V omit परं 3. A,B,J omit द्वारेण 4. B,P,V omit तापं 5- -5. A,B,J omit 6. A,B,J निर्णीतान् 7. A,B,J तद्वत् 8. A,B,J °नाधि° 9. P.V °तोष्णश्च 10. P.V omit सन्तापो 11- -11. A,B,J omit.

**वीर०** केदारेभ्य इति पञ्चमी। कृषीवलाः शालिक्षेत्रेभ्यः प्रवहन्तीः अपः जलानि दृढैः सेतुभिः बन्धनैः अगृह्णन् निरुद्धवन्तः ततः परं वृष्टयभावादिति भावः। यथा योगिनः प्राणैरिन्द्रियैः तद्द्वारा स्रवत् बाह्यविषयग्रहण प्रवणी- भवत् ज्ञानं धर्मभूत ज्ञानं तन्निरोधेन प्राणनिरोधेन आत्मस्वरूपगोचरं कुर्वन्ति, तद्वत्, इन्द्रिय निरोधपरेणात्मस्वरूप परिशीलन परेण च भवितव्यमिति सूचितम्॥ ४१॥

**शरदिति।** उडुपः चन्द्रः भूतानां शरदि योऽर्कः तस्यांशुभ्यो जातान् तापान् जहार। उत्तरार्धस्य यथेत्यादिः। यथा देहाभिमानेन जातं तापं परकृतनिन्दादिप्रयुक्तं देहयाथात्म्यगोचरो बोधो हरति यथा च व्रजयोषितां तापं मन्मथप्रयुक्तं मुकुन्दो जहार, तद्वत्। 'देहाभिमानजं तापम्' इति पाठे बोध इति कर्तृ पदमध्याहर्तव्यम्। यथोक्त एवार्थः। अनेन हेयत्वज्ञानार्थं देहयाथात्म्य परिशीलनमपि कर्तव्यमित्युक्तं भवति॥ ४२॥

**खमिति।** निर्मेघं मेघरहितं शरदि विमलास्तारका यस्मिन् तथाभूतं सत् [1]खमशोभत, यथा सत्त्वयुक्तं सत्त्वगुणयुक्तं, सत्त्वप्रचुरमिति यावत् तच्चित्तं शब्द ब्रह्मणो वेदस्य योऽर्थो अर्थ पञ्चकरूपः तं पश्यतीति [2]तथा। नन्द्यादित्वात् कर्तरि ल्युः। यद्वा शब्दब्रह्मार्थो [3]दृश्यतेऽनेनेति तथा करणे लयुट्। सत्त्वप्रवणं चेतो रागाद्यकलुषितं सत् निर्मल मतीन्द्रिय वेदार्थप्रकाशकं भवति तद्वदित्यर्थः। सत्त्वप्राचुर्याय आहारशुद्ध्या- भवितव्यमिति सूचितम्। अत्र तारकास्थानीयाः वेदार्थाः परमात्मतदाराधनाराधकादि स्वरूपात्मकाः, आकाशस्थानीयं चेतः, मेघस्थानीयं रजः तमश्चेति विवेकः॥ ४३॥

**अखण्डेति।** शशी चन्द्रो व्योम्नि आकाशे निर्मेघे अखण्डं पूर्णं मण्डलं यस्य तथा भूतो नक्षत्रसमूहैः सह, यथा यदुपतिः श्रीकृष्णो भुवि वृष्णीनां समूहेनाऽऽवृतो रराज तद्वत्। अनेन यदुपतेश्चन्द्रवत्सर्वलोकाह्लादकरत्वमभिप्रेतम्॥ ४४॥

**आश्लिष्येति।** जनाः समं मितं शीतं उष्णं च यस्य तं, प्रकृष्टानि सूनानि कुसुमानि यस्य तस्य वनस्य मारुतमाश्लिष्य अनुभाव्य तापं जहुः। ग्रीष्मशैत्यप्रयुक्तं दुःखं जहुरित्यर्थः। गोप्यस्तु तापं मन्मथ तापं न जहुः। तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि - कृष्णेन हृतानि चेतांसि यासां तथाभूताः। अनेन कृष्णस्य यौवनावस्था गोपीचित्तसमाकृष्टिश्च सूचिता॥ ४५॥

1. T,W सम° 2. A omits तथा 3. A,B लक्ष्यते°

**विज०** केदारेभ्यः केदारार्थं, प्राणैः इन्द्रियैः, तेषां इन्द्रियाणां निरोधेन प्रत्याहारेण ॥ ४१ ॥

अहं देह इति देहाभिमानो देह विषयं ज्ञानं, तस्माज्जातं देहाभिमानजं तापं, बोधः आत्म ज्ञानं मुकुन्दो यथेति शेषः दृष्टान्तद्वयम् ॥ ४२ ॥

खमाकाशं शरदा विमलानि विशदानि तारकाणि यस्मिंस्तथा, सत्त्वेन व्यवसायेन युक्तं सत्त्वगुणोपेतं वा, शब्दात्मकं ब्रह्म वेदः तस्य मुख्यवाच्यः श्रीनारायण स्तं दर्शयतीति शब्दब्रह्मार्थ दर्शनं, शब्दब्रह्म हिरण्यगर्भः तस्यार्थो हेतुः कारणमिति वा ॥ ४३ ॥

अखण्डमण्डलं पूर्णमण्डलम् ॥ ४४ ॥

मारुतं शारदमिति शेषः अर्कजनितं तापं गोप्यः, कामार्कजनितं तापं न जहुः तत्र निमित्तं कृष्णेनाऽऽहृत चेतसः कृष्णेनाऽऽहृतं चेतो यासां ता स्तथा ॥ ४५ ॥

**गावो मृगाः खगा नार्यः पुष्पिण्यश्शरदाऽभवन्।**
**अन्वीयमानास्स्ववृषैः फलैरीशक्रिया इव ॥ ४६ ॥**

**उदहृष्यन् वारिजानि, सूर्येण कुमुदं विना।**
**राज्ञा तु निर्भया लोका यथा दस्यून् विना नृप ॥ ४७ ॥**

**पुरग्रामे ष्वाग्रयणैरिन्द्रियैश्च महोत्सवैः।**
**बभौ भूः पक्वसस्याढ्या कलाभ्यां नितरां हरेः ॥ ४८ ॥**

**वणिग्यतिनृपस्नाताः निर्गम्यार्थान् प्रपेदिरे।**
**वर्षरुद्धा यथा सिद्धाः स्वपिण्डान् काल आगते ॥ ४९ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्री वैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशम स्कन्धे पूर्वार्धे
प्रावृट् शरद्वर्णनं नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

1. K,T,W °दागमो° 2. M,Ma ऋषभैः 3. M,Ma °षत्रि° 4. V उपा° 5- -5. A,B,G,J,V सूर्योत्थाने कुमुद्विना 6. M,Ma °को 7. V आसन् 8- -8. M,Ma °ष्वाश्रमिणामिन्द्रयाग 9- -9. A,B,G,J,K वणिष्वुनि नृपस्नाताः ; M,Ma वणिजो नगरात्स्वीयात्

**श्रीध० गाव** इति। पुष्पिण्यो गर्भिण्यः अन्वीयमानाः स्ववृषैः स्वपतिभिः अनिच्छन्त्योऽपि[1] बलादनुगम्यमानाः ईश्वराराधनार्थाः क्रियाः बलात्फलैरनुगम्यमानाः समस्तभोग गर्भा यथेति॥ ४६॥

**उदह्यन्निति।** कुमुत् कुमुदं कुत्सिता[2-] मुत्[-2] यस्य तदिति दस्यु साम्यम्॥ ४७॥

**पुरेति।** आग्रयणैः नवान्नप्राशनार्थैः वैदिकैः कर्मभि[3]ः ऐन्द्रियै इन्द्रियार्थैः लौकिकैश्च महोत्सवैः कलाभ्यां रामकृष्णाभ्यां दर्शनादिमहोत्सवाभ्याम्॥ ४८॥

**वणिगिति।** वणिजः यतयः नृपाः स्नातकाश्च दृष्टादृष्टाभ्यां वर्षरुद्धास्सन्तः निर्गम्य अर्थान् वाणिज्य स्वाच्छन्द्य दिग्विजय विद्यादीन् प्रपेदिरे प्रापद्यन्त। यथा मन्त्र योगादि सिद्धाः आयुषा रुद्धाः काले आगते स्वपिण्डान् योगादि प्राप्यान् देवादि देहानिति॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थ दीपिकायां
व्याख्यायां विंशोऽध्यायः॥ २०॥

1. A °च्छत्यो° 2- -2. P.V °ताः मुदः 3. A, omits कर्मभिः ; B.J यागैः

**वीर० गाव इति।** गवादयः स्ववृषैः स्वस्वप्रियैः अन्वीयमानाः शरदा निमित्तभूतया पुष्पिण्यो गर्भिण्यो बभूवुः। यथा ईश्वराराधनात्मिकाः[1] क्रियाः स्वसाध्यैः फलैः धर्मादिपुरुषार्थैः अन्वीयमाना समस्त भोग गर्भा भवन्ति, तद्वत्। अनेनेश्वरक्रियाणां फलाऽविनाभावित्वमुक्तम्॥ ४६॥

**उदहृष्यन्निति।** कुमुदमिति जात्यभिप्रायमेकवचनम्। कुमुदान्युत्पलानि विना सर्वाणि वारिजानि सूर्येणोदहृष्यन् विकासेन हृष्टा इव लक्षिता बभूवुः। यथा हे नृप! दस्यून् चोरव्याघ्रादीन् विना इतरे सर्वे जनाः राज्ञा हेतुना निर्भया हृष्यन्ति, तद्वत्। अनेन राज्ञा दस्यू नुद्वेजयता भवितव्यमित्युक्तम्॥ ४७॥

**पुरग्रामेष्विति।** पुरेषु ग्रामेषु चाग्रयणैः नूतन व्रीहयादि भक्षणाभ्यनुज्ञानार्थैराग्रयणाख्य यागरूपैः ऐन्द्रियैः इन्द्रिय प्रीत्यर्थैः अन्यैश्च महद्भिः उत्सवैः सर्वसस्याढ्या भूः बभौ हरेः कलाभ्यां रामकृष्णाभ्यां तु नितरां बभौ छत्रि न्यायेन कलाभ्यामित्युक्तिः॥ ४८॥

**वणिगित्यादि।** वणिगादयः तावद्वर्षेण रुद्धाः शरदि निर्गम्यार्थान् प्रयोजनानि प्रपेदिरे। तत्र वणिजः क्रयविक्रयादि व्यापारिणः, मुनयः सन्न्यासिनः, नृपाः जयिनः, स्नाताः तीर्थ यात्रा पराः एते वाणिज्यस्वच्छन्द सञ्चार[2] विजयतीर्थस्नानादिरूपानर्थान् प्रेपेदिरे इत्यर्थः। यथा[3] सिद्धास्तपस्सिद्धाः फलकाले आगते सति अस्माल्लोकात् निर्गत्य स्वपिण्डान् स्वस्वतपस्साध्य भोग्य जातं प्रतिपद्यन्ते तद्वत्। अनेन तपसः फलाऽविनाभावित्वमुक्तम्॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्र चन्द्रिकायां
व्याख्यायां विंशोऽध्यायः॥ २०॥

---

1. A,B,T,W °का° 2. A,B omit सं 3. A,B यद्वा

**विज०** पुष्पिण्यः गर्भिण्यः ऋषभैः इति पाठः। वृषभैरिति पाठे मातृ सहोदरी विवेक ज्ञान शून्यत्वात्तथोक्तमित्यर्थः। फलैर्बीजैः अन्वीयमानाः उप्यमानाः, ईषत्क्रियाः शनैः क्रियमाणाः, कृषिक्रिया इव फलैः स्वर्गादि लक्षणैः अनुगता ईष त्क्रिया ऊनातिरेकपरिहारार्थाः, विलम्बमान याग क्रिया इव "लाभनिष्पत्ति भोगेषु बीजे फाले धने फलम्" (वैज.को 6-5-52) इति वा॥ ४६,४७॥

इन्द्रयागमहोत्सवैः इन्द्रदैवत्याग्रायणेष्टि लक्षणोत्सवैः हरेः कलाभ्यां नितरां बभौ, आश्रमिणां अग्निव गृहस्थमात्राणां वा॥ ४८॥

प्रावृषि वर्षेण रुद्धाः शरदि स्वीयात् नगरात् पत्तनात् निर्गत्य अर्थान् देयादेयविषयान् प्रपेदिरे वर्षेणाब्देन तल्लक्षित कालेनेत्यर्थः। रुद्धाः साधन सामग्री सम्पत्ति पर्यन्त कालेन प्रतिबद्धाः सिद्धाः मन्त्रौषध तपस्सम्पन्नाः पुरुषाः काले फलदानाभिमुखलक्षणे आगते आसन्ने स्वीयात् नगरात्स्वत्वेनाभिमताद्देहान्निर्गत्य

स्वपिण्डान्निजफलानभावयोग्यान्देहान् यथा प्रपद्यन्ते इत्यन्वयः। "वर्षोऽस्त्री भारताद्यम्बुवृष्टिषु प्रावृषि स्त्रिया (वैज. को. 6-5-79)" इति यादवः ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

(विजयध्वजरीत्या अष्टादशोऽध्यायः)

# एकविंशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या एकोनविंशोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकर सुगन्धिना।
न्यविशद्वायुना[1] वातं सगोगोपालकोऽच्युतः[2] ॥ १ ॥

कुसुमितवनराजिशुष्मि[3] भृङ्गद्विजकुलघुष्टसरस्सरिन्महीध्रम्[4]।
यदुपतिरवगाह्य चारयन् गास्सह पशुपालबलश्चुकूज वेणुम्[5] ॥ २ ॥

तद्व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम्[6]।
काश्चित्परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन्[7] ॥ ३ ॥

तद्वर्णयितुमारब्धाः स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम्।
नाशकन् स्मरवेगेन, विक्षिप्तमनसो नृप! ॥ ४ ॥

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन्गोपवृन्दैर्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः ॥ ५ ॥

---

1. M,Ma °ना वीतं; V °नोपेतं 2. K,T,W सह गोपा° 3. G °ष्म° 4. A °जु° 5. A,B,G,J,M,Ma °मधु° 6. M,Ma महो° 7. M,Ma न्यवेदयन्

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एकविंशे शरद्रम्यबृन्दावनगते हरौ।
तद्वेणुस्वन माकर्ण्य गोपीभिर्गीतमीर्यते ॥

**इत्थमिति**। इत्थमेवम्भूतं वनम्। तदेवाऽऽह - शरदा स्वच्छानि जलानि यस्मिन् तत्। वायुनोपेतं[1] अनुगतं वनम्[2]। तद्देशव्याप्तमित्यर्थः[3] ॥ १ ॥

**कुसुमितेति**। ततश्च कुसुमितवनराजिषु शुष्मिणो मत्ताः भृङ्गाः द्विजाः च[4] तेषां कुलानि तैर्घुष्टा(नि)स्सरांसि सरितः महीध्राश्च यस्मिन् तद्वनं कृष्णः अवगाह्य प्रविश्य वेणुमवादयत्॥ २॥

**तदिति**। तत् कृष्ण[5] वेणु गीतं, **स्मरस्य उदयो यस्मात्तत्**। आश्रुत्य[6] **श्रुत्वा परोक्षं** यथा भवति तथा व्रजे स्थितत्वात्॥ ३॥

**तदिति**। विक्षिप्तमनसः व्याकुल चित्ताः॥ ४॥

यादृक्[7] कृष्णस्य[8] स्मरणं, तासां मनसः क्षोभकं जातं तदाऽऽह **बर्हेति**। नटवत् वरं वपुः बिभ्रत्। बृन्दावनं प्राविशत्। कथम्भूतं तद्वनम्? स्वपदाङ्कितैः रमणं रतिजनकं गोपबृन्दैः गीतकीर्तिः, तथा बर्हमयापीडं[9] शिरोभूषणं बिभ्रत्। बर्हमापीडो यस्मिन्निति वपुषो विशेषणं वा। वेणुवादनमुत्प्रेक्षते रन्ध्रान्वेणोरिति। अतो नूनम्। अधरसुधैव पूणद्विणोरुच्छलन्ती गीतवत् प्र[10] सर्पतीति[10] भावः॥ ५॥

---

1. A,B,J ° ना वातं, 2. B,J omit वनम् 3. A,B,J तदेक° 4. A,B,J add खगाः 5. P.V °ष्णस्य 6. P.V omit श्रुत्वा 7. A,B,J यादृशं 8. A,B,J ° ष्ण स्म° 9. A,B,J °यमापी° 9- -9. A,B,J प्रसर्पितुमर्हतीति

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थं शरदमनुवर्ण्यथ तदा बृन्दावने क्रीडतो वेणुं रणयतो भगवतो गोपी चित्तापहारिणः कांश्चिद्विहारान् स्ववेणुगीतान् गोपीभिर्मिथोऽनुवर्णितानाह एकविंशेन **इत्थमिति**। इत्थमेवम्भूतं शारदगुणसम्पन्नं वनमिति विशेष्य मध्याहर्तव्यम्। इत्थमित्यनेनाभिप्रेतं प्रकाशयन् विशिनष्टि। शरदा स्वच्छानि जलानि यस्मिन्, पद्माकरैः शोभिनो गन्धो यस्य तेन वायुना[1] वातं व्याप्तं वनं गोभिर्गोपालैश्च सहितोऽच्युतो न्यविशत्॥ १॥

ततश्च कुसुमितवनराजिषु, शुष्मिणां मत्तानां भृङ्गाणां द्विजानां पक्षिणां च कुलैर्घुष्टाः(नि) शब्दिताः[2](नि) सरांसि सरितः, महीध्राः पर्वताश्च यस्मिन् तद्वनं विगाह्य प्रविश्य यदुपतिः कृष्णः पशुपालैः बलदेवेन च सहितः गाश्चारयन् वेणुं चुकूज अवादयत्॥ २॥

स्मरस्योदयो यस्मात् तत् कृष्णस्य वेणुगीतमाकर्ण्य काश्चिद्वजस्त्रियः तस्य कृष्णस्य[3] परोक्षमसमक्षं स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन्॥ ३॥

तत् कृष्णस्य वेणुगीतं चेष्टितं वर्णयितुम् आरब्धाः आरब्धवत्यः तत्स्मरन्त्यो, हे नृप! स्मरवेगेन व्याकुलितचित्ताः तावत् वर्णयितुमेव नाशक्नुवन्, शक्ता न बभूवुः, कृष्णश्च तच्चेष्टितं च तयोस्समाहारः, कृष्ण चेष्टितम्। यादृशस्तदा कृष्णः चेष्टितं च तदुभयं स्मरन्त्यो नाशक्नुवन्नित्यर्थः॥ ४॥

कीदृशं कृष्णचेष्टितमित्यत्राऽऽह **बर्हेति**। बर्हात्मकमापीडं शिरोभूषणं द्वितीयान्तानां बिभ्रदित्यनेनान्वयः। कर्णयोः श्रोत्रसन्ध्योः कर्णिकारं लाङ्गलीकुसुमात्मकं कर्णपूरं च तथा कनकवत्कपिशं पिशङ्गं वासः वैजयन्तीं मालां नटात्मकवरस्येव वपुश्च बिभ्रत्। नटवरवपुरिति बहुव्रीहिणा कृष्णविशेषणं वा। तस्य तत्पुरुषपक्षे तद्विशेषणत्वमपि बर्हापीडमित्यस्य बहुव्रीहिणा सम्भवति, अधरस्य सुधया वेणोरन्ध्रान्पूरयन् साधरसुधेन मुखवायुना वेणुं नादयन्नित्यर्थः। गोपानां वृन्दैः गीता कीर्तिर्यस्य तथाभूतः सन् स्वपदैरङ्कितैः रमणं रतिजनकं वृन्दावनं प्राविशत्। उक्तं वेषं कृष्णं बर्हापीडादिधारणवेणुरन्ध्रपूरणवृन्दारण्य-प्रवेशनात्मकं चेष्टितं च स्मरन्त्यो नाशक्नुवन्निति पूर्वेणान्वयः ॥ ५॥

---

1. A,B वातेन 2. T,W omit शब्दिताः 3. T,W omit कृष्णस्य 4. T,W °त्यन्वयः 5. T,W omit तथा 6. K. वा° 7. K,T,W omit सन् 8- -8. K,T,W भावः

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

स्वयोग्यतानुसारेण हरौ ज्ञानसाधनं भक्तिः कर्तव्येत्यभिप्रेत्य अस्मिन्नध्याये तत्र गोपस्त्रीणां कृष्णे स्नेहातिशयं वक्तुमुपक्रमते - **इत्थं शरत्स्वच्छजलमित्यादिना**। पद्माकराणां सुगन्धोऽस्यास्तीति पद्माकरसुगन्धी, तेन वायुना वीतं परिवृतं, इत्थमुक्तविधिना शरदा स्वच्छं निर्मलं जलं यस्मिन् तत्तथा। अनेन वायोः शैत्यं सूचितम्। न्यविशत् वनमिति शेषः। "नेर्विशः" (अष्टा 1-3-17) इति सूत्रेण लौकिकस्याऽऽत्मनेपदविधानम्, न तु छान्दसस्य। अच्युत इत्यनेन वनक्रीडाद्यभावेऽपि सुखच्युतिः नास्तीति सूचयति॥ १॥

अत्र वनशब्देन वृक्षसमुच्चय उच्यते। कुसुमिताः पुष्पितोपेताः, वनराजयः वृक्षपङ्क्तयो यस्मिंस्तत्तथा। शुष्मिभिः मत्तैः स्वजातिश्रेष्ठैर्वा, भृङ्गैः द्विजगणैः पक्षिगणैश्च; घुष्टानि शब्दितानि, सरांसि अखाततटाकाः सरितः स्यन्दमाना नद्यः, महीध्राः पर्वता यस्मिन् तत्तथा। मधुपतिः माधवः, एवंविधं वनमवगाह्य वेणुं चुकूजेत्यन्वयः। कूजनं सुरतमन्त्रणं कामवर्धनं सीत्कारोद्भवं, श्रोत्रीणां गोपीनां कर्षणार्थमेवमुक्तम्॥ २॥

महः कामः, तस्योदयः अङ्कुरीभावः यस्मात् तन्महोदयं, स्मरोदयमिति केचित् पठन्ति। तद्वेणुं गीतमाश्रित्य काश्चिद्व्रजस्त्रियः परोक्षं कासांचिददृष्टश्रुतं कृष्णस्य चरितं स्वसखीभ्यो न्यवेदयन्नित्यन्वयः॥ ३॥

वर्णयितुं कीर्तयितुम्॥ ४॥

हरेस्तदाकारदर्शनं च सुखहेतुरिति भावेन तस्य स्वरूपप्रकारं वक्ति **बर्हापीडमित्यादिना**। बर्हं पिच्छमेवापीडं शेखरोत्तंसं यस्मिन् तत्। नटवत् वरवपुः शुभाकारं बिभ्रदिति प्रत्येकं सम्बन्धयितव्यम्। स्वपदेन स्वपादेन रमत इति रमणं रमयत् रन्ध्रान् सुषिराणि॥ ५॥

---

1- -1. Ma यस्य सः तं 2- -2. Ma नटवरवपुः 3. Ma °रः

★ बर्हापिञ्छो वनचरवपुः कर्णयो कर्णिकारः सव्येबाहौ निहितवदनः सज्जमन्यत्रहस्ते।
भ्रूविन्यासाङ्गुलिभिरणवन्गापयन्गोपवृन्दान् भूतग्रामं तर्हि रमयन् ब्रह्मगान्धर्वमेव ॥ ६॥

इति वेणुरवं राजन्सर्वभूतमनोहरम्।
श्रुत्वा व्रजस्त्रियस्सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे ॥ ७॥

गोप्य ऊचुः

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामस्सख्यः! पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं यैस्तैर्निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम् ॥ ८॥

चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्ज मालानुरक्तपरिधानविचित्रवेषौ
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ ॥ ९॥

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुदामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथाऽऽर्याः ॥ १०॥

वृन्दावनं सखि! भुवो वितनोति कीर्तिं यद्देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि।
गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्तं प्रेक्ष्याद्रि सान्वपरतान्य समस्तसत्त्वम् ॥ ११॥

---

★ This extra verse is found in B.M.Ma edn and its commentary of Vijayadwaja is found in A,B,M,Ma editions.
1. A,B,G,J,Ma °भि° 2. A,B,G,J °ननुवि° ; M,Ma °नभिनि° 3. A,B,G,J यैर्वानि° ; M,Ma यैर्यैर्नि° 4. A,B,G,J,V °पृक्त; K,T,W °युक्त 5. T,W रे° 6- -6. M,Ma °सरसाम्रगेयम्; V मपि गोपिभोग्याम् 7- -7. M,Ma °रसौघमार्गे 8. M,Ma हृष्टत्व° 9. M,Ma °वस्सदर्भाः। 10. A,B,G,J,M,Ma नृत्यं 11. M,Ma °दतानुचरितान्य

श्रीध० इतीति। अभिरेभिरे। वर्णयन्त्यः सत्यः। पदे पदे परमानन्दमूर्तिं कृष्णं परिरब्धवत्यः ॥ ६,७॥

अनुवर्णनमेवाह **अक्षण्वतामिति** त्रयोदशभिः। अक्षण्वतां चक्षुष्मतां, तावदिदमेव फलं प्रियदर्शनं, परमन्यत् न विदामः न विद्म इत्यर्थः। तच्च फलं सखिभिस्सह पशून् वने प्रवेशयतो रामकृष्णयोर्वक्त्रं यैर्निपीतम् सादरं दृष्टं तैरेव जुष्टं सेवितम् नान्यैरित्यर्थः। कथम्भूतं वक्त्रम्? अनुवेणु, वेणु मनुवर्तमानं, तं वादयत्। तथा अनुरक्तकटाक्षमोक्षं स्निग्धकटाक्षविसर्गं, अथवा यैर्निपीतं तयोर्वक्त्रं तैः जुष्टम्। इदमेवाक्षण्वतामक्ष्णोः फलमिति ॥ ८॥

अन्या आहुः **चूतेति**। चूतप्रवालादीनां विचित्राभिर्मालादिभिः अनुपृक्ते ईषदन्तरान्तरतस्संयुक्ते परिधाने नीलपीताम्बरे, ताभ्यां विचित्रो वेषो ययोस्तौ। क्व कदाचित् पशुपालगोष्ठ्यां गोपालसभायां मध्ये, अलमत्यर्थम्। विरेजतुः। अहो! गोपालानां पुण्यमिति भावः ॥९॥

अन्या ऊचुः **गोप्य** इति। हे गोप्यः! अयं वेणुः किं स्म पुण्यमाचरत् कृतवान्। कथम्? यत् यस्मात् गोपिकानामेव भोग्यां सतीमपि। दामोदराधरसुधां स्वयं स्वातन्त्र्येण, यथेष्टं भुङ्क्ते कथमवशिष्टस्सं केवलमवशिष्टं रसमात्रं यथा भवति तथा। यतः यासां हृदिनीनां पयसा पुष्टः वेणुः ताः मातृतुल्या हृदिन्यः हृष्यत्त्वचः विकसितकमलवनमिषेण रोमाञ्चिताः लक्ष्यन्ते। येषां वंशे जातास्ते तरवो मधुधारामिषेण आनन्दाश्रु मुमुचुः। यथा आर्याः कुलवृद्धाः स्ववंशे भगवत्सेवकं दृष्ट्वा हृष्यत्त्वचोऽश्रुमुञ्चन्ति तद्वदिति ॥१०॥

काश्चिदाहुः **वृन्दावनमिति**। हे सखि! वृन्दावनं भुवः कीर्तिं स्वर्गादपि विशेषेण तनोति। कथम्भूतम्? यद्देवकीसुतस्य पदाम्बुजाभ्यां लब्धा लक्ष्मीः शोभा संपत् येन तत्। किञ्च, गोविन्दस्य वेणुमनु वेणुनिनादं शृत्वा अनन्तरं मन्दगर्जितं नीलमेघं तं मत्वा, मत्ता, ये मयूराः तैः षां नृत्यं प्रेक्ष्य, सङ्गशः तत्र तत्रैव अद्रिसानुषु उपरतानि उपरतक्रियाणि अन्यानि समस्तानि सत्त्वानि यस्मिन् तत्। न एतदन्यत्रेषु लोकेषु विद्यते, अतो लो कान्तरापेक्षया भुवः कीर्तिं वितनोतीत्यर्थः ॥११॥

---

1. A,B,J omit सत्यः 2. A,B,J वनं 3- -3. B,J,P,V omit 4. A,B,J add यत् 5. A,B,J omit वि 6. B,J °पानां° 7- -7. P.V omit 8. P.V omit हृदिनीनां 9. A,B,J omit वेणुः 10. A तैः आचरितं 11. A,B,J omit एव 12- -12. P,V omit.

**वीर०** एवं तावद्वर्णयितुमशक्ताः ततश्शनैः लब्धाश्वासा वर्णयामासुरित्याह **इतीति**। हे राजन्! इति इत्थं तावदेवम्भूता व्रजस्त्रियः सर्वभूतानां मनोहरं वेणुरवमाकर्ण्य तमेव सचेष्टितं वर्णयन्त्यः अभिरेभिरे, तद्वर्णनात्मकं विहारं चक्रुः, 'अभिरेमिरे' इति पाठे वर्णयितुं बुद्धौ सन्निधापितं, मन्मथं मन्मथं भगवन्तं परिरेभिरे इत्यर्थः ॥६,७॥

वर्णनामेवाऽऽह - **अक्षण्वतामित्यादिना** यावदध्यायपरिसमाप्ति। इतीत्यस्य वक्ष्यमाणप्रकारेणेति वाऽर्थः। तदा तमेव प्रकारमक्षण्वतामित्यादिना दर्शयति, हे सख्यः! चक्षुष्मतां जनानां चक्षुषामिदमेव फल मन्यत्तु न विद्मः, किं तत्? यद्व जेशस्य नन्दस्य सुतयोः रामकृष्णयोः वक्त्रं मुखं यैः नितरां पीतमनुभूतं दृष्टमिति यावत्, तदेतत् "यैर्वा निपीतम्" इति पाठः। "यैस्तैर्निपीतम्" इति च पाठो दृश्यते। तदा यैश्चक्षुर्भिस्साधनैः तैरक्षण्वद्भिः कर्तृभिः निपीतमित्येतदित्यर्थः। कथम्भूतयोः? वयस्यैः समानवयस्कैः गोपैस्सह पशूननुनिवेशयतोः वनं प्रति प्रवेशयतोः, कथम्भूतं वक्त्रम्? अनुवेणु वेणुमनुवर्तमानं वेणुं वादयदित्यर्थः। जुष्टं पश्यतां, निरतिशयप्रीतिविषयम् अनुरक्तानां स्निग्धानां कटाक्षाणां मोक्षो विसर्गो यस्मिन् तथाभूतम् ॥८॥

अन्यास्त्वाहुः **चूतेति**। एवम् उत्तरत्रापि। अत एव सर्वत्र वक्तृभेदान्नातीव सङ्गतिरपेक्षिता। चूतपल्लवादीनां मालाभिरनुयुक्ते ईषदन्तरान्तरा संयुक्ते। "अनुपृक्ते" इति पाठे स एवार्थः। परिधाने नीलपीताम्बरे ताभ्यां

विचित्रौ वेषौ ययोः तौ, क्व च कदाचित् गायमानौ गोपसभायां मध्ये नितरां बिरेजतुः यथा रङ्गे नटश्रेष्ठौ तथा। अहो पश्यतां गोपानां महत् भाग्यमिति भावः॥९॥

**गोप्य** इति। हे गोप्यः! अयं कृष्णकरस्थः वेणुः किं स्म कुशलं पुण्यमाचरच्चकार? कुतः? यत् यस्मात् गोपिकानामपि, अपिशब्दो दौर्लभ्यद्योतकः, गोपिकानाम् अस्माकमपि दुर्लभां दामोदरस्याधरसुधां स्वयं भुङ्क्ते, अनेकोपभोग्यां स्वयमेक एव भुङ्क्ते, अवशिष्टरसं तु हृदिन्यो नद्यस्तरवश्च भुञ्जते। कृत्स्नायामधरसुधायां वेणुनैकेन पीयमानायां यद्गलितमधरसुधात्मक रसकणजालं हृदिन्यस्तरवश्च भुञ्जते, अश्रु इति जात्यभिप्रायकमेकवचनम्। अवशिष्टरसभोगप्रयुक्तहर्षाश्रूणि मुमुचुः, हृष्यत्त्वचश्च। तत्र हृदिन्यो विकसितकमलव्याजेन हृष्यावचः उदञ्चितरोमाण इव लक्ष्यन्ते। तरवस्तु मधुमिषेणऽऽनन्दाश्रूणि मुमुचुरिवेति भावः। थथा आर्या भागवतशेषरसाभिज्ञास्तद्भुक्तावशिष्टमुपभुज्य हृष्यावचोऽश्रूणि मुञ्चन्तश्च भवन्ति तद्वत् ॥१०॥

**बृन्दावनमिति।** हे सखि। बृन्दावनं भुवः कीर्तिं वितनोति अनितरलोकसाधारणीं कीर्तिं जनयतीत्यर्थः। अत्र हेतुं वदन्त्यो विशिंषन्ति। यद्बृन्दावनं देवकीसुतस्य पदाम्बुजाभ्यां लब्धा लक्ष्मीः सौन्दर्य सम्पत् येन, किञ्च गोविन्दस्य वेणुमनु वेणुगीतमनुसृत्य मन्दगर्जितनीलमेघप्रान्त्या मत्ता ये मयूरास्तेषां नृत्तमवलोक्याद्रिसानुष्वपरतानि वेणुगीततदनु रूपमयूरनृत्तदिदक्षया निवृत्तस्वस्वव्यापाराणि, अन्यानि मयूरव्यतिरिक्तानि समस्तानि सत्त्वानि जन्तवो यस्मिन् तथाभूतम्, न ह्यन्योऽस्त्येवंविधो लोक इति भावः॥११॥

---

1. A,B °शब्द° 2. A,B वर्णितुं 3. K बुध्या 4. A,B add बुध्या 5. A,B omit परि 6. T omits वा 7. A,B,K °दर्थः 8. T,W सवय° 9. A,B वि° 10. T,W omit गोपानां 11. K,T,W omit महत् 12. A,B add इत्यर्थः

**विज०** बर्हमेवाऽपिच्छो यस्य स तथा। वनचरवपुः किराताकार इव आकारो यस्य स तथा। "शुभाकारे तनौ वपुः" (वैज.को. 6-3-30) इति च। वनचरा गोपा वा। कर्णयोः कर्णिकार इत्येकंपदं कण्ठेकाल इतिवत्। भ्रुवोर्विन्यासः भ्रूभङ्गविशेषः, तेन सह अङ्गुलीभिः, अन्यत्र हस्ते सज्जं सक्तं रणयन् वेणुमिति शेषः। अङ्गुलीभीरणयन् इति वक्तव्ये ह्रस्वत्वं छन्दोभङ्गभयात्कृतम्। गान्धर्वं ब्रह्मैव भरतशास्त्रोक्तप्रकारमेव। गोपबृन्दान् गापयन् इति द्विकर्मकोऽयं धातुः। भूतग्रामं प्राणिसमूहं रमयन् बृन्दावनं प्राविशत् इति पूर्वेणान्वयः॥६॥

अभिरेमिरे इत्यत्र या रतिः सा मुख्यतः श्रिय एव तद्गीतरसविशेषज्ञत्वात् तदन्यासां तदभावात् तस्मादौपचारिकमभिरमणम्। तदुक्तम् "श्रीदेवीवेणुमाश्रित्य रेमे कृष्णमुखाम्बुजे" (तन्त्रभागवते) इत्यादि। 'सुरा इतरभाण्डगा' इत्यत्र इतरभाण्डानि वेणुमन्तरेणान्यभूषणानि गता आविष्टा इत्यर्थः। इतरेषां रामादीनां वा। "वणिब्मूलधने मूलधने पात्रे भाण्डं भूषाश्चभूषयोः" (वैज.को.6-3-23) इति यादवः। वनचरा गोपा वा॥७॥

गोपस्त्रीणां वर्णनप्रकारं दर्शयति अक्षण्वतामित्यादिना। यैर्यैर्व्रजेशसुतयोः रामकृष्णयोः वक्त्रं नितरां पीतं दृष्टिभिरिति शेषः। तेषां तेषामक्षण्वतां चक्षुष्मतां चक्षुषामिदं फलं लाभं विदामो न परं नान्यत्

फलं, अन्यस्य नरकदुःखफलहेतुत्वात्। हे सख्यः! कीदृशयोः? वयस्यैः पशूनभिनिवेशयतोः अनुसन्ध्यं गोष्ठे इति शेषः। अनुवेणोः पश्चाद्भागे जुष्टं चुम्बितं अनुरक्तः स्निग्धः कटाक्षमोक्षो यस्मिन् तत्तथा॥८॥

चूतस्य प्रवलादिभिः अनुरक्तपरिधानेन विचित्रः नानाविधः वेषो ययोस्तौ तथा। अनुरक्तं अनुरागोपेतं पशुपालगोष्ठ्यां, गोपगोष्ठ्यां मध्ये "गवां समष्टिः संवार्ता, गोष्ठ्यशाला च कथ्यते" इत्युत्पलमाला क्व च क्वचित् स्थले गायमानौ तिष्ठत इति शेषः॥९॥

हे गोप्यः! अयं वेणुः किं कुशलं तपोलक्षणं आचरत् स्म स्मरणं कर्तव्यं किमप्यस्तीति वृत्तं पूर्वजन्मनि चीर्णं वा। "स्मृतौ वृत्ते निषेधे स्म" (वैज.को.8-7-7) इति च। यो वेणुः दामोदरस्याधरोष्ठः स एव सुधा तया सरसं सरागमग्रयं गेयं यस्मिन्सः, सरागमग्रचगेयः तं, रसं भुङ्क्ते आस्वादयति, सदर्भाः दर्भाङ्कुरैः सहिताः तरवः हृष्टत्वचः अस्मद्वंश्योऽयमिति रोमाञ्चितसर्वगात्राः येन वेणुना पीतावशिष्टो यो रसः तस्यौघः प्रवाहो यस्मिन् स यदवशिष्टरसौघः तस्मिन् मार्गे कृष्णेन सञ्चरितेऽध्वनि अश्रु आनन्दजलं ममुचुरित्यन्वयः। सदर्भाः सकुशा वा॥१०॥

भुवो भूमेः हे सखि! यद्वृन्दावनं देवकीसुतस्य पादाम्बुजाभ्यां लब्धा लक्ष्मीः श्रीः येन तत् देवकीसुत पदाम्बुजलब्धलक्ष्मि। लक्ष्मेति केचित्। लक्ष्म चिह्नं गोविन्दस्य वेणुमनु वेणुस्वरानुकूलमेघनादशङ्कया वेणुस्वरानुकारेण वा, मत्तानां मयूराणां नृत्यं दृष्ट्वा आदृताः सादराश्च अनुकूलं चरितं येषां ते तथा, कृष्णचरितानुकूलचरिताश्चान्ये मनुष्यविजातीयाः समस्ताः सत्वा जन्तवो यस्मिन् तत् आदृतानुचरितान्यसमस्तसत्त्वं "सत्त्वोऽस्त्री" (वैज.को. 6-5-93) इति वचनात् पुल्लिंगोप्ययंशब्दः। आदृतौ सादरार्चितौ इति च॥११॥

---

1. Ma मुख्या अत एव त्रि° 2. A,B तोऽ°

धन्यास्स्म[1] मूढमतयोऽपि[2] हरिण्य एता या[3] नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्।
आकर्ण्य[4] वेणुरणितं[5] च[6] सकृष्णसाराः[6] पूजां[7] दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः॥१२॥

कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलं[8] श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणुविचित्रगीतम्।[9]
देव्यो विमानगतयस्स्मरनुन्नसारा भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः॥१३॥

गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत[10] पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः।
शा[11] बास्स्तनस्नुतपयः[11] कबलास्स्म तस्थुर्गोविन्दमात्मनि दृशाऽश्रुक[12] लाः स्पृशन्त्य[12]ः॥१४॥

प्रायो बताम्ब! मुनयो विहगा[13] वनेस्मिन् कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणु गीतम्।
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान् शृण्वन्ति[14] मीलितदृशो विगतान्यवाचः॥१५॥

**नद्यस्तदा[15] तदुपधार्य मुकुन्दगीतमार्वतलक्षितमनोभव भग्नवेगाः।**
**आलिङ्गनस्थ[16] गितमूर्मि[16] भुजैमुरारेर्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः॥१६॥**

---

1. A °स्तु; M,Ma °स्सु; K,T,W °श्च 2. K,T,W °ग° 3. M,Ma यनन्द 4. M,Ma आपीय 5. M,Ma °चि° 6- -6. A,B,G,J सहकृष्णसाराः ; K,T,W सहकृष्णसारैः 7. V ददुः 8. A चारुवेषं; K चारुशीलं M,Ma रूपसारं; 9. K,T,W विविक्त 10. M,Ma °तं 11- -11. A,B,G,J शाबाः स्नुतस्तनपयः M,Ma सानन्दनप्रतनवः 12- -12. M,Ma °कणान्प्रवन्त्यः 13. M,Ma °क्षणास्त° 14. B,G,J °न्त्यमी° 15. K,T,W °था° 16. M,Ma °प्रमुदितोर्मि°

**श्रीध०** अपरा आहुः **धन्या** इति। हे सखि! मूढमतयः तिर्यग्जातयोऽपि। एता हरिण्यः धन्याः कृतार्थाः। याः वेणुरणितं वेणुनादं आकर्ण्य नन्दनन्दनं प्रति प्रणयसहितैरवलोकनैर्विरचितां पूजां, सम्मानं ददुः कृतवत्यः। किञ्च कृष्णसारैः स्वपतिभिस्सहिता एव ददुः[1]। अस्मत्पतयस्तु गोपाः क्षुद्राः समक्षं तन्नसहन्ते इति भावः॥१२॥

अन्या ऊचुः **कृष्णमिति**। हे गोप्यः! आश्चर्यं शृणुत। वनितानामुत्सवो यस्मात्तद्रूपं शीलं च यस्य तम् श्रीकृष्णं निरीक्ष्य तेन वादितवेणोरसंकीर्णं गीतं च शृत्वा विमानैर्गच्छन्त्यो देव्यो देवानामङ्केषु स्थिता अपि स्मरेण नुन्नसाराः परिक्षिप्तधैर्याः मुमुहुः। मोहलिङ्गमापुः भ्रश्यत्प्रसूनाः कबराश्चूडाः यासां ताः। विगता नीव्यो यासां ताः। अत्र सर्वत्र वक्तृभेदा नातीव सङ्गतिर्वक्तव्या॥१३॥

**गाव** इति। क्षरणशङ्कयैव उत्तभितैः उन्नमितैः कर्णपुटैः पिबन्त्यस्सत्यः तथा शाबाश्च वत्साः। स्तन्यपाने प्रवृत्ताः समनन्तरमेव गीतं शृत्वा। तदेव पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः[2] पिबन्तः, स्तनस्नुतपयः[3] कबलाः केवलं स्तनेभ्यः क्षरितक्षीरग्रासाः मुखेषु एषां ते तस्थुः विस्मृतक्रिया बभूवुरित्यर्थः। तत्र हेतुः गोविन्दं दृशा मर्गेण आत्मनि मनसि, स्पृशन्त्यः[4]। अत एव अश्रुणां कला लेशा, लोचनयोर्यासां ताः गावः ते च शाबाः वत्साः[5]॥१४॥

**प्राय** इति। भो अम्ब! मातः! अस्मिन् वने ये विहगाः पक्षिणः ते प्रायेण मुनयो भवितुमर्हन्ति। कुतः? कृष्णेक्षितं कृष्णदर्शनं पुष्पफलाद्यन्तरं विना यथा भवति तथा। रुचिराः प्रवालाः येषां तान्। द्रुमभुजान् वृक्षाणां शाखा आरुह्य। तेन श्रीकृष्णेन उदितं प्रकटितं कलवेणुगीतं, केनापि सुखेन निमीलितदृशः[6] त्यक्तान्यवाचस्सन्तो ये शृण्वन्तीति। तथाहि मुनयः श्रीकृष्णदर्शनं यथा भवति तथा। वेदोक्तकर्मफलपरित्यागेन वेदद्रुमशाखारूढाः रुचिरप्रवाल - स्थानीयानि कर्माण्येवोपाददानाः सुखिनस्सन्तः, श्रीकृष्णगीतमेव शृण्वन्ति, अतस्त एवैते भवितुमर्हन्तीति भावः॥१५॥

**नद्य** इति। आस्तां चेतनानां कथा। नद्योपि[7] आवर्तैः परिभ्रमैः लक्षितेन सूचितेन मनोभवेन कामेन भग्नो वेगो यासां ताः, आलिङ्गनेन स्थगितमाच्छादितं यथा भवति तथा। ऊर्मय एव भुजास्तैः कमलोपहाराः कमलानि उपहरन्त्यः मुरारेः पादयुगलं गृह्णन्ति धारयन्ति॥१६॥

1. A,B,J °धुः 2. A,B,J °त्तम्भि° 3. A,B,J स्नुतस्तन° 4. A,B,J आलिङ्गन्त्यः 5. A,J,P,V omit वत्साः 6. A,B,J अनिमी° 7. V omits नद्योपि

**वीर० धन्या** इति। मूढगतयः तिर्यग्गतयोऽपि, 'मतय' इति पाठे सुन्दरासुन्दरवस्तुविवेकरहिता अपि। 'गतय' इति पाठेऽपि अयमप्यर्थः सम्भवति। "गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः" इति न्यायात् एता हरिण्यो धन्याः कृतार्थाः। एवं कुत इत्यत्र विशिंषन्ति। याः हरिण्यः वेणुगीतमाकर्ण्य उपात्तः स्वीकृतः बर्हादिभिः विचित्रो वेषो येन तं नन्दस्य नन्दनं प्रति प्रणयसहितैः अवलोकैः पूजां सम्मानं दधुः कृतवत्यः। किञ्च कृष्णसारैः स्वपतिभिस्सहिता एव दधुः। अस्मत्पतयस्तु गोपाः क्षुद्राः तन्न सहन्तेऽसमक्षमिति भावः॥ १२॥

अन्यास्तु - हे गोप्यः! इदमप्यद्भुतं शृणुतेत्याहुः - **कृष्णमिति।** वनितानामुत्सवो यस्मात्तत् रूपं शीलं च यस्य तं कृष्णं निरीक्ष्य तेन वादितस्य वेणोरसङ्कीर्णं गीतमाकर्ण्य विमानैः गच्छन्त्यो देवानाम् अङ्केषु स्थिताः स्मरापहृतधैर्या मुमुहुः, मोहे लिङ्गमाहुः। भ्रश्यत्प्रसूनाः कबराश्चूडाः यासां ताः, विगता नीव्यो यासां ताः शिथिलनीवीबन्धनाः॥ १३॥

**गाव** इति। कृष्णमुखान्निर्गतं वेणुगीतमेव पीयूषममृतं उत्तभितैरवनमने क्षरणशङ्कयैवोन्नमितैः कर्णपुटैः पिबन्त्यः तस्थुः। तदा शाबा वत्साश्च स्तन्यपानप्रवृत्ता गीतं श्रुत्वा तदेव पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्तः स्नुतपयः कबलाः केवलं स्तनेभ्यो गलित क्षीरग्रासाः मुखेषु येषां ते तस्थुः, विस्मृतस्वव्यापारा बभूवुरित्यर्थः। अत्र हेतुः गोविन्दं दृशा दृष्टिमार्गेणाऽऽत्मनि चित्ते स्पृशन्त्यः आलिङ्गन्त्यः, अत एव अश्रूणां कला लेशाः लोचनयोः यासां ताः गावः ते च शाबाः॥ १४॥

**प्राय** इति। अम्ब! हे मातः! अमातरमपि पूजार्थं सम्बोधयन्ति अम्बेति। अस्मिन् वने विहगाः पक्षिणः प्रायशो मुनयो भवितुमर्हन्ति। कुतः? ये विहगाः रुचिराः प्रवालाः पल्लवाः येषां तान् द्रुमभुजान् तरुशाखाः आरुह्य स्वभोज्यं फलादिकं विहाय केवलं कृष्णस्येक्षितं दर्शनं यस्मिन् तद्यथा भवति तथा, तेनोदितं प्रकटितं मधुरं वेणुगीतं केनापि सुखेन मीलितदृशः त्यक्तान्यवाचस्सन्तः शृण्वन्ति। तथाहि - मुनयः वेदद्रुमशाखाश्रिताः कृष्णदर्शनं यथा भवति तथा वेदोक्तकाम्यकर्मफलपरित्यागेन भगवदेकदृष्टयः सुखिनः तन्महिमानमेव शृण्वन्ति। अतः त एवैते भवितुमर्हन्तीति॥ १५॥

आस्तां चेतनानां कथेत्यभिप्रायेण काश्चिदाहुः **नद्य** इति। तथा यथा चेतनास्तद्वदचेतना नद्योऽपि तन्मुकुन्दस्य गीतं वेणुगीतमुपधार्य श्रुत्वा, उत्प्रेक्षामात्राभिप्रायंकमिदम्। आवर्तैः परिभ्रमैः लक्षितेन सूचितेन मनोभवेन कामेन भग्नो

वेगो यासां ताः, आलिङ्गनेन स्थगितमाच्छादितं यथा भवति तथा, ऊर्मय एव भुजास्तैः कमलान्युपहरन्त्यः मुरारेः पादयुगलं गृह्णन्ति धारयन्ति॥ १६॥

---

1. A,B °मर्थः 2. A,B °न्ते न स° 3- -3. A,B त्तत् चारु; K त्तं चारु° 4. A,B °ञ्च श्रुत्वा 5- -5. T,W omit 6. A,B,T,W °त्तम्भि° 7. A,B तथा 8. A,B °त्तम्भि° 9. A,B omit स्व 10. A,B omit अम्बेति 11. A,B omit परि 12. T,W omit गीतं 13. A,B मन्मथेन

**विज०** सुष्ठु मूढा विवेकरहिता मतिर्यासां ताः तथा। कृष्णसारानुसारेण पुंमृगेण कान्तमृगेण वा सहिताः, नन्दस्य नन्दनं वेणोरचितं निस्सृतं स्वरं च आपीय आस्वाद्य प्रणयेन सहितैः अवलोकनैः दर्शनैः उन्नतमस्तकत्वाद्दधुरिति॥ १२॥

वनितानामुत्सवभूतं रूपसारं स्थिरसौन्दर्यं यस्य स तथा तं (रूपं) "सौन्दर्ये च स्वभावे च" (वैज. को. 6-3-28) इति "सारो बले स्थिरांशे" (वैज. को. 6-5-97) इति यादवः। तेन क्वणितात् वातेन शब्दितात् वेणोर्वीतं निर्गतं चित्रं सप्तस्वरमिश्रगीतं "वी गतौ" इति धातुः। "चित्रमाश्चर्यलेख्ययोः" (वैज. को. 6-5-30) इति यादवः। देव्यो देवस्त्रियः स्मरेण नुन्नं नष्टं सारो धैर्यं यासां तास्तथा, भ्रश्यत्प्रसूनकबराः विगलितपुष्पकेशभराः विगताः त्रस्ताः नीव्यः वस्त्राणि वस्त्रग्रन्थयो वा यासां तास्तथा। "नीवी वस्त्रांशुकग्रन्थ्योः" इति च॥ १३॥

उत्तभितकर्णपुटैः निश्चलकर्णरन्ध्रभागैः कबलाः कबलसहिताः गोविन्दमात्मनि हृदि स्मरन्त्यः दृशा नेत्रेण अश्रुबिन्दून् स्रवन्त्यः शाबस्नुतस्तनपयः कबला इति केचित्, शाबा वत्सा; तेषां स्मरणेन स्नुताः संस्रुताः क्षीराणि कबलाः, शष्प्ग्रासाः यासां तास्तथा तस्थुरित्यन्वयः। कबलाः आसां सन्तीति कबलाः अर्श आद्यच् "अजाद्यतष्टाप्" (अष्ट 4-1-4) इति टाप्प्रत्यये कृते कबलेति रूपं सिद्धं भवति जायाशब्दवदिति वा॥ १४॥

विगताः त्यक्ताः स्वजातिसिद्धा वाचो यैस्ते, विगतान्यवाचो धृतमौना इत्यर्थः। बत आश्चर्यमिदं, हे अम्ब! पक्षिणां मुनीनां च मौनत्वसामान्यादेवमुच्यते॥ १५॥

यद्यदा मुकुन्देन गीतं तदा तदुपधार्य हृद्यवधार्य आवर्तेन अम्भसां भ्रमेण लक्षितेन मनोभवेन कामेन भग्नो वेगो यासां तास्तथा। ऊर्मय एव भुजाः आलिङ्गनेन स्पर्शलक्षणेन प्रमुदिता ऊर्मिभुजाः आलिङ्गन प्रमुदितोर्मिभुजाः तैः, कमलमेवोपहारो यासां तास्तथा॥ १६॥

[1]दृष्ट्वाऽऽतपे व्रजपशून्सह रामगोपैस्सञ्चारयन्तमनुवेणुमुदीरयन्तम्।
प्रेमप्रवृद्ध [2]उदितः कुसुमावलीभिस्सख्युर्व्यधात्स्ववपुषाऽम्बुद आतपत्रम्॥ १७॥

**पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जरागश्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन।**
**तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्॥ १८॥**

**हन्तायमद्रिरबला! हरिदासवर्यो यद्रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः।**
**मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत् पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः॥ १९॥**

**गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदारवेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः।**
**आस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम्॥ २०॥**

**श्रीशुक उवाच**

**एवंविधा भगवतो या वृन्दावनचारिणः।**
**वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः॥ २१॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे वेणुगीतं नाम एकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

---

1. K,T,W दृष्ट्वा तटे 2. M,Ma हृषितः 3. M,Ma सख्यम्। 4. M,Ma °कन्त° 5- -5. A,B,G,J,Ma omit

**श्रीध० दृष्ट्वेति।** लोकार्तिहरणशीलत्वादिसाम्यात् सख्युः श्रीकृष्णस्य अम्बुदः तदुपरि उदितः पुनः प्रेम्णा प्रवृद्धस्सन् कुसुमावलीभिः पुष्पसमूहैः तत्तुल्यैस्तुषारैर्वा सह स्ववपुषा छत्रं विहितवान्॥ १७॥

ससीत्कारमाहुः **पूर्णा** इति। पूर्णाः कृतार्थाः पुलिन्द्यश्शबराङ्गनाः। कथमित्यत आह प्रथमं दयितानां स्तनेषु मण्डितेन अनुलिप्तेन पुनश्च रतिसमये उरुगायस्य श्रीकृष्णस्य पदाब्जयोः रागेण आरुण्येन श्रीः कान्तिर्यस्य तेन कुङ्कुमेन पुनस्तस्य वतृणेषु रूषितेन लग्नेन, तद्दर्शनेन तथाभूतस्य कुङ्कुमस्य दर्शनेन, स्मरकृता रुक् तापो यासां ताः, तेन कुङ्कुमेन! आननेषु कुचेषु च कामतप्तेषु लिम्पन्त्यः तदाधिं कामव्यथां जहुः। अतस्ताः कृताथांः। धिक्! अन्या मादृशीः याः एवम्भूतमपि आधिशमनं न लभन्ते इति॥ १८॥

**हन्तेति।** हन्तेति हर्षे। हे सख्यः! अयमद्रिर्गोवर्धनः ध्रुवं हरिदासेषु श्रेष्ठः। कुत इत्यत आह यस्माद्रामकृष्णयोः चरणस्पर्शेन प्रमोदो यस्य सः, तृणाद्युद्गमभिषेण रोमहर्षदर्शनात्। किञ्च यत् यस्मात् मानं तनोति। सहगोभि र्गणेन सखिसमूहेन च, वर्तमानयोरपि तयोः। कैः पानीयैः सूयवसैः शोभनतृणैः कन्दैः कन्दमूलैश्च, यथोचितम् अतोऽयं अतिधन्य इत्यर्थः॥ १९॥

**गा** इति। हे सख्यः! इद न्त्वतिचित्रं, गोपैस्सह[8] वने गाः सञ्चारयतोः तयोः रामकृष्णयोः मधुरपदैः महावेणुनादैः, शरीरिषु ये गतिमन्तस्तेषां अस्पन्दनं, स्थावरधर्मः, तरूणां पुलकः,[9] जङ्गमधर्म इति। निर्युज्यन्ते गावः ए[10]भिरिति निर्योगाः पादबन्धनरज्जवः। अधृष्यगवां कर्षणार्थाः पाशाश्च तैः कृतं लक्षणं चिह्नं ययोः, शिरसि निर्योगवेष्टनेन स्कन्धस्थ पाशेन च। गोपपरिबृढश्रिया विराजमानयोरित्यर्थः॥ २०,२१॥ ★

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां एकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

---

1. A,B,J साहङ्कारमाहुः 2. A,B,J °हुः 3. P,V वक्षः ° 4. A,B,J °श्यो 5. A,B,J °हुः 6. A,B,J निभेन 7. P,V omit यस्मात् 8. A,B,J add बने 9. A adds रोमाञ्चश्च 10. A,B,J आभि° ★ गोपीनां कामतः कृष्णे निस्सीमप्रेमसङ्क्रमः। कात्यायन्यर्चनोद्भूत तत्प्रसादमहोदयः This extra verse is found in A edn. only.

**वीर०** दृष्ट्वेति। तटे यमुनातीरे। 'आतपे' इति पाठान्तरम्। तदा तस्मिन् रामेण गोपैश्च सह व्रजपशून् सञ्चारयन्तम् अनु गवां पश्चाद्भागे वेणुमुदीरयन्तं वादयन्तं[1] श्रीकृष्णं दृष्ट्वा अम्बुदः मेघः[2] उदितः पुनः प्रेम्णा प्रबुद्धः, सख्युः कृष्णस्य लोकार्तिहरत्वनीलवर्णत्वादि साम्यात् सखित्वव्यपदेशः उपरि इति शेषः। कुसुमसमूहतुल्यैः तुषारैस्सह स्ववपुषा आतपत्रं व्यधात् चकार॥ २७॥

शबराङ्गनानामपि भाग्यं वयं न लेभिमहे[3] इति ससीत्कारमाहुः **पूर्णा इति**। पुलिन्द्यः शबसङ्गनाः[4] पूर्णाः कृतार्थाः, कुतः तत्राहुः उरु अधिकं गीयते मुनिभिरित्युरुगायः कृष्णः। तस्य पदाब्जयोः रागेणाऽरुण्येन श्रीः औज्ज्वल्यं यस्य तेन कुङ्कुमेन। कथम्भूतेन? दयितायाः महालक्ष्म्याः स्तनयोर्मण्डितेन अलङ्कृतेन[5] क्रीडासमये[6] लक्ष्म्यास्तनयोः[7] निहितत्वात् उरुगायपदाब्जयोः कुङ्कुमसम्बन्धः, उरुगायपदाब्जाभ्यां वनसञ्चारदशायां तृणेषु रूषितेन लिप्तेन आनेनषु कुचेषु च लिम्पन्त्यः, कथम्भूतास्सत्यः? तस्य कुङ्कुमस्य दर्शनेन स्मरकृता रुक् यासां तथाभूतास्सत्यः आननेषु कुचेषु च लिम्पन्त्यः तदाधिं कामव्यथां जहुः। अतस्ताः पूर्णा इति भावः॥ १८॥

**हन्तेति**। हे अबलाः! अयमद्रिः हरिदासश्रेष्ठः। अहो! अचराणामपि हरिदास्याभिरुचिरिति विस्मीयते हन्तेति। कुतः? यत् यस्मात् रामकृष्णयोः चरणस्पर्शेन प्रमोदो यस्य सः! उदञ्चितैः तृणैरोमहर्षमालक्ष्य तेन रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोद आलक्ष्यते। किञ्च गोभिः सखिगणैस्सहितयोः तयोः रामकृष्णयोः यः गोवर्धनाद्रिः पानीयादिभिर्यथोचितं मानं पूजाम् आतिथ्यात्मिकां करोति तत्र[9] सूयवसानि शोभनानि तृणानि, सुशब्दे दीर्घ आर्षः। संयवसेति पाठान्तरम्। तदाऽपि स एवार्थः। कन्दरेषु कन्दानि मूलानि च तैः॥ १९॥

हे गोप्यः! इद न्त्वतिचित्रमिति काश्चिदाहुः **गा** इति। हे सख्यः! गोपैस्सह प्रतिवनं गाश्चारयन्तः, निर्योगाः

निर्युज्यन्ते गावः एभिरिति निर्योगाः, दोहनवेलायां गवां पादबन्धनार्थं रज्जवः पाशास्तु दुष्टगवाकर्षणार्थाः तैः कृतं चिह्नं लक्षणं ययोः शिरसि निर्योगवेष्टनेन[10] स्कन्धयोः पाशधरणेन[11] च गोपप्रिया विराजमानयोरित्यर्थः। एवम्भूतयोः तयोः रामकृष्णयोः कलान्यव्यक्तमधुराणि पदानि शब्दाः येषु तैः, उदारवेणुस्वनैः[12] महावेणुरवैः हेतुभिः देहिनां मध्ये चरणामस्पन्दनमीषदप्यचलनं तरूणां स्थावराणां तु पुलको रोमाञ्चश्चेति चित्रम्। जङ्गमानां स्थावरधर्मः, स्थावराणां जङ्गमधर्मश्चेत्येतदतिचित्रमित्यर्थः ॥ २० ॥

क्रीडा[13] नुवर्णनामुपसंहरति - **एवमिति**। बृन्दावनचारिणो भगवत इत्थम्भूता अन्याश्च याः क्रीडाः ताश्च मिथो वर्णयन्त्यो गोप्यः तन्मयतां कृष्णप्रचुरतां, कृष्णविषयबुद्धिप्राचुर्यं ययुरित्यर्थः ॥ २१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

---

1. A,B,K omit वादयन्तं 2. T,W omit मेघः 3. K लभामहे 4. A,B,T,W पुण्याः 5. A,B add तया 6. T,W omit क्रीडा 7. A,B add उरुगाय पदाब्जराग श्रीकुङ्कुमस्य भक्त्या 8. A,B omit लक्ष्म्या 9. A,B omit तत्र 10. A,B,T,W °ष्टन स्क° 11. K धा° 12- -12. T,W omit 13. A,B omit अनु

**विज०** अम्बुदः श्यामवर्णसाम्यात् सख्युः मुरारेः स्ववपुषाऽऽतपत्रं व्यधात् कुसुमावलीभिः नन्दनवनपुष्पराजिभिस्सह यद्वा जलकणनिकरैस्सह "पुष्पं मेघपुष्पम्" इत्यभिधानात्। प्रेम्णा प्रवृद्धं समुद्रिक्तं हृषितं हर्षणं रोमाञ्च लक्षणं यस्य स तथा। अभिमान्यपेक्षयैतत् ॥ १७ ॥

पुलिन्धः शबरस्त्रियः तस्मात् कामादुत्पन्नमाधिं मनोदुःखं जहुरित्यन्वयः। कीदृशः ? पूर्णाः कृतकृत्याः तस्य कृष्णस्य दर्शनेन जातस्मर एव रुक् रोगो यासां ताः। क्रीडासमये तृणेषु रूषितेनाऽऽदिग्धेन[1] दयिताया प्रियतमायाः गोप्याः स्तनमण्डितेन स्तनयोः घट्टितेन उरुगायस्य हरेः पादाब्जयोः स्वतः अरुणयोरपि रागजननार्थं लिप्तेन श्रीमता कुङ्कुमेन आननकुचेषु लिम्पन्त्य इति[2] ॥ १८ ॥

हन्त आश्चर्यं, अयमद्रिः गोवर्धनो हरिदासवर्यः भगवद्भक्तश्रेष्ठः, कुतः ? ययोः रामकृष्णयोः चरणस्पर्शादाविर्भूतप्रमोदो योऽद्रिः सहगोगणयोः तयोः पानीयादिभिः मानं पूजां तनोति। यद्यस्मादिदमेव हि भक्तश्रेष्ठत्वं सूयवसं शोभनो ग्रासः, दैर्घ्यं छान्दसं, सूयवसाद्भगवती हीति दर्शनात्। कन्दरं गुहा गृहं, वृष्टौ स्थातुं योग्यं, कन्दं सूरणं, मूलं अकण्डूयमानं दीर्घाकारं कन्दम् ॥ १९ ॥

गोपकैस्सह अनुवनं गाः नयतोः सञ्चारयतोः तनुभृत्सु शरीरिषु जन्तुषु सख्यं, विचित्रमिदं चित्रमपि चित्रं,

किं तदिति कतपदैः उदारवेणुस्वनैः विक्शानां गतिमतां जङ्गमानां अस्पन्दनं स्थावरधर्मभजनं, तरूणां स्थावराणां पुलकं, जङ्गमधर्मं, रोमाञ्चभजनं विचित्रां पश्यतेति शेषः। कथमेतद्युज्यत इति तत्राह निर्योगेति। नितरां योगपाशेन योगशक्तिलक्षणपाशेन कृतं लक्षणं अस्पन्दनस्पन्दमानाख्यं ययोस्तौ तयोः। यद्वा निर्योगपाशः क्षेपणाख्यः तेन कृतं योगचिह्नं ययोः ॥ २० ॥

वृन्दावनचारिणो हरेः एवंविधाः याः क्रीडास्तास्ताः मिथो वर्णयन्त्यो गोप्यः तन्मयतां तत्स्वामितां ययुरित्यन्वयः ॥ २१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

(विजयध्वजरीत्या एकोनविंशोध्यायः)

---

1. A,B °न दि 2. A,B omit इति

# द्वाविंशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या विंशोऽध्यायः)

### -: गोपीवस्त्रापहरणकथारम्भः :-

श्रीशुक उवाच

हेमान्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिकाः[1]।
चेरुर्हविष्यं भुञ्जानाः मासं[2-] कात्यायनी[-2] व्रतम्॥१॥

आप्लुत्याम्भसि कालिन्द्या जलान्ते चोषितेऽरुणे।
कृत्वा प्रतिकृतिं देवीमानर्चुर्नृप! सैकतीम्॥२॥

गन्धैर्माल्यैस्सुरभिभिर्बलिभिर्धूपदीपकैः।
उच्चावचैश्चोपहारैः[3]! प्रवालफल तण्डुलैः[4]॥३॥

कात्यायनि! महामाये![5]! महायोगिन्यधीश्वरि!
नन्दगोपसुतं देवि! पतिं मे कुरु ते नमः॥४॥

इति मन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिकाः।
एवं मासं व्रतं चेरुः कुमार्यः कृष्णचेतसः।
भद्रकालीं[7] समानर्चुः भूयान्नन्दसुतः[8-] पतिः[-8]॥५॥

---

1. A गोप 2- -2. A,B,G,J,M,Ma कात्यायन्यर्चन° 3. M,Ma °चारैः 4. M,Ma तन्दुलैः 5. A °भोगे 6. M,Ma °स 7. V °लिं 8- -8. भूया नन्दसुता इति।

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्वाविंशे गोपकन्यानां वस्त्राहरणलीलया।
वरं दत्वा गतः कृष्णो यज्ञाशालामितीयति॥

★ गोपीनां कामतः कुष्णे निस्सीमप्रेमसम्भवः।
कात्यायन्यर्चनोद्भूततत्प्रसादमहोदयः॥

हेमान्त इति। प्रथमे मासि मार्गशीर्षे॥ १ - ४॥

महामायेत्यादिसम्बोधनैस्तव न किञ्चिदशक्यमिति सूचयन्त्यः ता ः स्वैरं प्रत्येकं प्रार्थयन्ते **इतीति**। कृष्णचेतस्त्वमेवाह भूयान्नन्दसुतः पतिरिति आनर्चुरिति॥ ५॥

---

★ A omits this verse 1. B,J सङ्गमः 2- -2. A,B,J omit 3- -3. P,V omit.

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं गोपीभिर्मिथोऽनु वर्णितानि शारत्कालिकानि कानिचिद्भगवतश्चेष्टितान्युक्तानि। अथ कानिचिद्विवक्षुस्तावदन्तरा सिंहावलोकितन्यायेन पौगण्डवयसो भगवतः कानिचिच्चेष्टितानि हैमन्तकालिकान्यनुवर्णयति समभिरध्यायैः। तत्र किञ्चिच्चेष्टितं वक्तुमुपोद्घातमाह - **हैमन्त** इति। हेमन्ते ऋतौ तत्रापि प्रथमे मासे मार्गशीर्षे नन्दव्रजस्थाः गोप कुमारिकाः कात्यायन्याः दुर्गायाः अर्चनात्मकं व्रतंचेरुः अनुष्ठितवत्यः। कथम्भूताः? हविष्यं भुञ्जानाः नियताहारा इति भावः॥ १॥

कथं चेरुरित्यत्राऽऽह - **आप्लुत्येति**। अरुणे उदिते सति अरुणोदयवेलायां यमुनाया अम्भसि स्नात्वा जलान्ते तटे प्रतिकृतिं वालुकामयीं कात्यायनीप्रतिमां विधाय, हे नृप!॥ २॥

गन्धादिभिस्समभ्यगानर्चुः सुरभिभिः गन्धैः माल्यैः पुष्पैश्च धूपैः दीपकैश्चान्यैः नानाविधैः बलिभिः पूजासाधनैः नानाविधैः उपहारैः नैवेद्यैः पल्लवादिभिश्च॥ ३॥

तथा कात्यायनीत्यादिमन्त्रं जपन्त्यस्ताः कुमारिकाः पूजां चक्रुः, हे महामये अत्याश्चर्यशक्त्यधिष्ठात्रि! महायोगिनि! स्वाराधनात्मकमहायोगिनिर्वाहिके! अधीश्वरि! आराधकसमीहितफलदानसमर्थे! हे देवि! नन्दगोपसुतं मम कुरु। नम इति प्रत्येकाभिप्राय मेकवचनम्। एवम्भूतायास्तव न किञ्चिदपि अशक्यमिति सम्बोधनानामभिप्रायः॥ ४॥

इत्थं मासं व्रतं कृष्णचित्ताः कुमार्यः चेरुश्चक्रुः। मासमित्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया। कृष्णचेतस्त्वमेवाऽऽह भूयान्नन्दसुतः पतिरित्यानर्चुरिति॥ ५॥

---

1. K,T,W omit अनु 2. A,B °वचे° 3. A,B,T,W °क्त्वा 4. A,B, °न्तिक 5. A,B°न्युप 6. A,B,K add मासि 7. T,W omit सति 8. T,W पैश्च° 9. A,B add तुभ्यं 10. A,B °यक° 11. T,W omit.

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भक्तिरेव भगवत्प्रसादजननीति दर्शयितुं गोपकुमारीणां कृष्णे भक्तिं निरूपयति अस्मिन्नध्याये। तत्र तासां हरेः सर्वकार्याणामन्तरङ्गं कात्यायनीति तदर्चव्रतकरणेन श्रीकृष्णः प्रसन्नो भवतीति तदर्चनाविधिं कथयति हेमन्त इति! कार्तिकमार्गशीर्षमासौ हेमन्तऋतुः। तत्र प्रथमे मासि कार्तिकमासे व्रतं नियमम्॥ १॥

कालिन्द्याः यमुनायाः जलान्ते जलसमीपे चशब्दः एवार्थः। उदिते अरुणे अरुणोदय एव सैकतीं सिकतानिर्मितां प्रतिमाम् आनर्चुः पूजां चक्रुः॥ २॥

बलिभिः परिवार देवताविषयपूजाभिः॥ ३॥

कात्यायनि कृत्यानामुत्पादके महती माया माहात्म्यं यस्यां सा तथा तस्याः सम्बुद्धिः महामाये! महान् योग उपायोऽस्या अस्तीति महायोगिनी तत्सम्बोधनं महायोगिनि! अधीश्वरि! अधिगतेश्वरि! ते तुभ्यं नमोऽस्तु॥ ४॥

इति समाप्तं एवं प्रकारं वा। उषसि ब्राह्मे मुहूर्ते॥ ५॥

---

1- -1. B,M,Ma omit.

---

उषस्युत्थाय गोत्रैस्वैः अन्योन्याबद्धबाहवः।
कृष्णमुच्चैर्जगुर्यान्त्यः कालिन्द्यां स्नातुमन्वहम्॥ ६॥

नद्यां कदाचिदागत्य तीरे निक्षिप्य पूर्ववत्।
वासांसि कृष्णं गायन्त्यो विजहुस्सलिले मुदा॥ ७॥

भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगीश्वरेश्वरः।
वयस्यैरावृतस्तत्र गतस्तत्कर्मसिद्धये॥ ८॥

तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरः।
हसद्भिः प्रहसन् बालैः परिहासमुवाच ह॥ ९॥

अत्राऽऽगत्या बलाः! कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम्।
सत्यं ब्रवाणि नो नर्म यद्यूयं व्रतकर्शिताः॥ १०॥

---

1. K स्युत्थाप्य; M,Ma स्यभ्यर्च 2- -2. K ता गौत्रैर°; M,Ma °तास्वैरमन्यो° 3. T,W °सक्त 4. K,T,W मुबताः 5. M,Ma नदी° A,B,G,J,K,M,Ma °गे° 7. A,M,Ma,V °रागत° 8. A,M,Ma,V वृत° 9. A द्वत 10. A °रम् 11. A,B ब्रु°

**श्रीध०** व्रतस्य पूर्वाङ्गमाह - **उषसीति**। गोत्रैर्नामभिः अन्योन्याबद्धबाहवः परस्परं गृहीतपाणयः ॥६,७॥

**भगवानिति**। योगीश्वराणाम् ईश्वरः इति प्रत्येकं तारतम्यमनोरथपूरणसामर्थ्यं दर्शयति। तासां कर्मणः सिद्धये फलदानायेति ॥८॥

**तासामिति**। नीपं कदम्बम्। बालैस्सह ॥९॥

**अत्रेति**। हे अबलाः! नो नर्म न परिहासः। यस्मात् यूयं व्रतकर्शिताः व्रतश्रान्ताः ॥१०॥

---

1. A,B,J ° गे ° 2- -2. A,B,J omit.

**वीर०** इत्थं मासं व्रतं चरित्वाऽथ कदाचिदुषसि गोत्रैर्नामभिः प्रबोध्य परस्परं गृहीताः पाणयो याभिस्ताः कालिन्द्यां स्नातुमुद्यताः ॥६॥

आगत्य पूर्ववन्नद्याः तीरे वासांसि निक्षिप्य कृष्णमेव गायन्त्यस्सलिले मुदा विजह्रुः ॥७॥

तदा सर्वज्ञो भगवान् तत्कर्म तासां विहरणं च ज्ञात्वा तासां कर्मणो व्रतस्य सिद्धये तत्कर्म सफलीकर्तुं वयस्यैस्सह तत्राऽऽगतस्सन् ॥८॥

तासां वासांसि गृहीत्वा सत्वरो नीपं कदम्बमारुह्य हसद्भिर्बालैस्सहितः प्रहसन् परिहासवाक्यमुवाच ॥९॥

तदेव दर्शयति - **अत्रेति**। हे अबलाः! इदं सत्यमेव ब्रुवाणि, नो नर्म न परिहासं, यत् यस्माद्यूयं व्रतेन कर्शिताः श्रान्ताः ॥१०॥

---

1. A,B वस्त्राणि 2. A,B °रं

**विज०** नन्दस्नुषा भूयास्म इत्येवं सङ्कल्प्य नदीमागत्य नदीं प्राप्य। भूयान्नन्दसुतः पतिरित्यपि पाठः ॥६,७॥

योगेश्वरेश्वर इत्यनेन दूरश्रवण दर्शनादिशक्तिः सूच्यते, तासां कर्मसिद्धये संकल्पव्रतसिध्यर्थम् ॥८॥

नीपमर्जुनं परितो हासो यस्मिन् तद्वचनं परिहासम् ॥९,१०॥

**न मयोदितपूर्वं वा अनृतं तदिमे विदुः।**
**एकैकशः प्रतीच्छध्वं सहैवोत सुमध्यमाः ॥११॥**

तस्य तत्क्ष्वेलितं दृष्ट्वा गोप्यः प्रेमपरिप्लुताः।
व्रीडिताः प्रेक्ष्य चान्योन्यं जातहासा न निर्ययुः ॥१२॥

एवं ब्रुवति गोविन्दे नर्मणाऽऽक्षिप्तचेतसः।
आकण्ठमग्नाश्शीतोदे वेपमानास्तमब्रुवन् ॥१३॥

मा[5-]ऽनयं भोः कृथास्त्वां[-5] तु नन्दराजसुतं[6] प्रियम्।
जानीमोऽङ्ग व्रजश्लाघ्यं देहि वासांसि वेपिताः ॥१४॥

श्याम[7]! सुन्दर! ते दास्यः करवाम तवोदितम्।
देहि वासांसि धर्मज्ञ[8]! ★ नो चेद्राज्ञे ब्रुवाम हे[9] ॥१५॥

---

1. M,Ma वै 2. V ह्य 3. M,Ma °च्छन्तु 4- -4. V सह वा तनु° 5- -5. M,Ma मानयन्त्यो वयं त्वां 6. A,B,G,J,T,W गोप 7. M,Ma स्याम 8. V सर्वज्ञ! ★ The following two more extra padas are found in M,Ma Edns. वेपितानां महाबल शीतार्दितानां बालानां 9. V °है

**श्रीध० नेति।** एकैकशो वा आगत्य वासांसि[1] स्वीकुरुत, सहैव वा। न तत्र अस्माकमाग्रह इत्यर्थः ॥११॥

**तस्येति।** क्ष्वेलितं परिहासः। प्रेमपरिप्लुताः प्रेमरसमग्नाः[2] ॥१२,१३॥

तत्र मग्ना[3] ऊचुः **मेति।** अङ्ग! भो कृष्ण! अनयम् अन्याय्यम्। मा कृथाः ॥१४॥

प्रौढा ऊचुः **श्यामेति।** नो चेत् राज्ञे नन्दाय कंसाय वा। ब्रुवामहै[4-] ॥१५॥

---

1. B,J,P,V omit वासांसि 2. A,B,J निम° 3. A,B,J मुग्धा 4- -4. A,B,J ब्रुवाम, ब्रुवाम हे कृष्ण! इति

**वीर०** स्ववचनप्रामाण्यं ससाक्षिकमाह **नेति।** मया अनृतं नोदितपूर्वं नोक्तपूर्वं कदाऽप्यनृतं मया नोक्तमित्यर्थः। तदनृतस्य अनुक्तपूर्वत्वमिमे गोपा विदुः, अतो हे सुमध्यमाः! एकैकशो वा आगत्य स्वीकुरुत, सह वा, नास्माकमाग्रहः ॥११॥

एवं कृष्णस्य क्ष्वेलितं परिहासं दृष्ट्वा प्रेम्णा[1-] परितो व्याप्ताः अन्योन्यं[-1] प्रेक्ष्य व्रीडिताश्च हसन्त्यो न निर्ययुः ॥१२॥

गोविन्दे[2-] एवं[-2] ब्रुवति सति नर्मणा परिहासेनाऽऽक्षिप्तं गृहीतं चेतो यासां ताः, शीतोदके आकण्ठमग्नाः अत एव कम्पमानाः कृष्णमब्रुवन् ॥१३॥

किमब्रुवन्नित्यपेक्षायां सामादिचतुर्विधोपायपूर्वकं भगवज्ज्ञानसम्पन्नं गोप्युक्तमाह द्वाभ्याम्[-3]। भोः कृष्ण! अनयम् अन्यायं मा कृथाः, त्वां नन्दराजस्य सुतम् अत एव तस्य प्रियं च जानीमः। नन्दराजोऽपि प्रेम्णा त्वामनयकारिणमपि न शिक्षयतीति भावः। नवनीतचौर्यादिषु धौर्त्यं प्रसिद्धमेवेत्यभिप्रायेण विशिंषन्ति श्लाघ्यमिति। यद्वा अस्मदनुष्ठितव्रतेन नन्दराजसुतं त्वां श्लाघ्यं प्रियं भविष्यन्तं जानीम एव। किन्तु अधुनैवानयं मा कृथाः। वयं तु शीतोदकवेपिताः, अतो वासांसि प्रयच्छ॥ १४॥

हे श्याम! सुन्दर! ते तव दास्यो वयं तवोदितं त्वयोक्तमन्यच्चत्किञ्चित्करवाम[4]। भावगर्भमिदम्। निरतिशयत्वत्सौन्दर्यादिभिः त्वद्दास्यस्सत्यः त्वदभिप्रेतं करवामैवेत्यभिप्रायः। हे धर्मज्ञ! अनेनैकान्ते नग्नस्त्रीदर्शनाकरणरूपधर्मज्ञ! स्त्रीणां लज्जास्वभावरूपधर्मं जानाति[5] तथेति, वा, वासांसि प्रयच्छ, मुग्धभावादनुपपन्नमपि त्रासयन्त्य इवाऽऽहुः, नो चेन्न प्रयच्छसि चेद्राज्ञे नन्दाय कंसाय वा, ब्रुवामहे॥ १५॥

---

1- -1. A omits 2- -2. T,W omit 3- -3. T,W omit 4. A,B omit यत् 5. A,B add इति

**विज०** क्ष्वेलितं सिंहवन्नादितं परिहासेनोदितं वा न निर्ययुः जलादिति शेषः॥ ११, १२॥

नर्मणा गर्हितस्नेहविनोद वचनेन॥ १३॥

शीतजले स्थित्या वेपिताः वयम्॥ १४॥

ते तव दास्यः स्याम भवाम राज्ञे नन्दगोपाय॥ १५॥

**श्रीकृष्ण उवाच**

**भवत्यो[2] यदि मे दास्यो मयोक्तं वा करिष्यथ।**
**अत्राऽऽगत्य स्ववासांसि प्रतीच्छत[3] शुचिस्मिताः[4]।**
**★ नोचेन्नाहं प्रदास्ये किं क्रुद्धो[5] राजा करिष्यति॥ १६॥**

**ततो जलाशयात्सर्वा दारिकाश्शीतवेपिताः।**
**पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुस्तीरमङ्गनाः[6]॥ १७॥**

**भगवानाहृता[7] वीक्ष्य शुद्धभावप्रसादितः[8]।**
**स्कन्धे निधाय वासांसि प्रीतः प्रोवाच सस्मितः[9]॥ १८॥**

**यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रताः व्यगाहतैतत्तदु[10] देवहेलनम्।**
**बद्ध्वाऽञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेंऽहसः कृत्वा नमोऽधो[11] वसनं प्रगृह्यताम्॥ १९॥**

★ **इत्येतद्वचनं श्रुत्वा धर्मयुक्तं महात्मनः।**
**एकेन पाणिना नेमुरेकेनाऽऽच्छाद्य चाङ्गनाः॥ २०॥**

---

1. A,B,G,J,V,M,Ma श्रीभगवान् 2. M,Ma °न्त्यो 3. A,B,G,J °च्छन्तु 4. M,Ma,V सुमध्यमाः ★ M,Ma,V editions add this half verse 5. V वृ° 6- 6. A,B,G,J °श्शीतकर्शिताः 7. M,Ma °नथ ता 8. M,Ma मुग्ध 9. A,B,G,J,K,T,W °तम् 10. K,T,W °तदुत 11. A,V वो ★ A,G,J omit this verse, but M,Ma omit only this half verse.

**श्रीध०** **तत** इति। प्रोत्तेरुः निर्गताः॥ १६,१७॥

**भगवानिति।** आहताः ईषदक्षतयोनीः वीक्ष्य॥ १८॥

**यूयमिति।** धृतव्रतास्सत्यो विवस्त्राः अपो व्यगाहत अप्सु स्नाता इति यत् तदेतत्। उ एव। देवहेलनं अपराध एवेत्यर्थः। व्रतवैगुण्यभीतानां प्रायश्चित्तमिवाह - अस्य अंहसः पापस्य, अपनुत्तये[1] निवृत्तये[1] मूर्ध्नि अञ्जलिं बध्वा, ओन्नम इति प्रणामं कृत्वा॥ १९,२०॥

---

1- -1. A,B,J omit.

**वीर०** एवमुक्तो भगवान् यदुक्तं 'नो चेद्राज्ञे ब्रुवामहे' इति, तदिदमनुपपन्नम्। न हि जलान्निर्गत्य वासांसि ग्रहीतुमेव लज्जन्तीनां राज्ञे ब्रुवामहे इत्युक्तिरुपपन्ना। नग्नानां राजसन्निधौ गमनासम्भवात्, न चान्यप्रेषणया निवेदनसम्भवः प्रेषणीयस्य[1] जनस्य अत्राभावादिति तदुक्तेरुत्तरं न देयमेवेत्यभिप्रेत्य 'ते दास्यः करवाम तवोदितम्' इत्यस्योत्तरमाह - **भवत्य** इति। हे शुचिस्मिताः न हि स्वामिनोक्तं किञ्चिदेव स्वसम्मतं दासीभिः कर्तव्यमिति नियमः। किन्तु सर्वमपि तदभिमतं कर्तव्यमेवेति[2] भावः॥ १६॥

स्वाम्यभिमतकरणं दासीनामुचितमेवेत्यभिप्रेत्य शीतेन कम्पिताः कुमारिकाः कालिन्दीह्रदात् प्रोत्तेरुः निर्जग्मुः॥ १७॥

ततो भगवानाहताः ईषदक्षतयोनीः[3] बाल्ययौवनसन्धिस्थाः ताः कुमारिका अवलोक्य शुद्धभावेन निष्कपट भावेन यथोक्तानतिक्रमशीलेन भावेन हेतुना प्रसादितः प्रसादः[4] अनुग्रहः अस्य सञ्जात इति तथा अनुग्रहयुक्तः स्कन्धे[5] वृक्षशाखायां वासांसि निधायाऽऽरोप्य प्रीतः सस्मितश्च पुनरुवाच॥ १८॥

तदेवाऽऽह - यूयमिति। धृतव्रताः सत्यो विवस्त्राः यूयमपो व्यगाहत अप्सु स्नाता इति यत्तदेतद्देवहेलनमुत अपराध एवेत्यर्थः। व्रतवैगुण्यभीतानां प्रायश्चित्तविधानमाह। अस्यांहसः पापस्य अपनुत्तये अपनोदनाय मूर्ध्नि अञ्जलिं बद्ध्वा नमस्कृत्य वसनं प्रगृह्यताम्॥ १९॥

इत्थमच्युतेन अभिहिताः अङ्गनाः एकेन वामेन पाणिना योनिमाच्छाद्य इतरेण पाणिना नेमुः॥ २०॥

---

1. A,B °यज° 2. A,B omit एव 3. A,B °दप्यक्ष° 4. A,B add अत्र 5- -5. T,W omit.

विज० दारिकाः कुमार्यः॥ १६,१७॥

मुग्धभावेन मधुरस्वभावेन प्रसादितः प्रसादं गमितः॥ १८॥

यूयं वस्त्रहीना अपो जलं व्यगाहतेति यत्तदेतत् उ तापकारणं देवहेलनं देवतापराधः। अतः तस्यांहसः अपराधस्य परिहाराय "उ तापेऽव्ययमीशे च" (बैज. को. 8-7-10) इति यादवः॥ १९,२०॥

△ ता वीक्ष्योवाच भगवान् भूयो धर्म्यमिदं वचः।
एकेन पाणिना यो वै प्रणमेद्देवमच्युतम्।
तस्य दण्डः करच्छेद इति वेदविदो विदुः॥ २१॥

तस्मादुभाभ्यां पाणिभ्यां प्रणमेत्स्वामिनं नरः।
तथा च यूयं कुरुत तन्मे प्रियतरं भवेत्॥ २२॥

★ इत्यच्युतेनाभिहिता[1] व्रजाबला मत्वा विवस्त्राप्लवनं व्रतच्युतिम्।
तत्पूर्तिकामास्तदशेष कर्मणां साक्षात्कृतं नेमुरवद्यमुन्मथतः[2]॥ २३॥

तास्तथाऽवनता[3] दृष्ट्वा भगवान्देवकीसुतः।
वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत्[4] करुणः[5] स्नेहतोषितः[6]॥ २४॥

दृढं[7] प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः[8] प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः।
वस्त्राणि चैवापहृताव्यथाप्यमुं[9] ता नाभ्यसूयन् प्रियसङ्गनिर्वृताः॥ २५॥

---

△ A,G,J omit 21st and 22nd slokas. ★ Here V adds this verse:- अहंस्तूभयमेतत्तु परिमार्जयितुं यदि। इच्छावः पाणियुगलैर्नमस्कृत्य प्रगृह्यताम्॥ 1. B,G,J,V °तं 2. A,B,G,J °मृयतः; M,Ma °मुज्जितुम्; V °मुरुचतः 3. K °दाऽ° 4- -4. V सम्प्रादात् 5. K,T,W त° 6. A,B,G,J तेन 7. K,T,W इत्थं 8. K,T,W °मूः 9. K,T,W तं नाभ्य; M,Ma नैवाभ्य

**श्रीध० इतीति।** इति दोषत्वेन अच्युतेनाभिहितं, विवस्त्राप्लवनं व्रतस्य च्युतिहेतुं मत्वा तस्य व्रतस्य[1] पूर्तिकामाः तदशेषकर्मणां तस्य व्रतस्य अन्येषामशेष कर्मणा च साक्षात्कृतं फलभूतं तमेव नेमुः। यतः[2] स एव अवद्यमुक्[3] पापमार्जकः ॥ २१-२३ ॥

**(इत्थमिति) दृढमिति।** दृढम् अत्यर्थम्। प्रलब्धाः[4] वञ्चिताः 'यूयं विवस्त्रा' इत्यादिना त्रपया लज्जया च। हापिताः त्याजिताः। अत्राऽऽगत्य स्ववासांसि प्रतीच्छत[4] इत्याग्रहेण प्रस्तोभिता उपहसिताः। "सत्यं ब्रुवाणि नो नर्मेत्यादिना (भाग 10-22-10) क्रीडनवच्च कारिताश्च। बध्वाऽञ्जलीत्यादि, प्रायश्चित्तच्छलेन[5] ताः नाभ्यसूयन्। दोषदृष्ट्या नापश्यन् ॥ २४,२५ ॥

---

1. A,B,J omit व्रतस्य 2. A,B,J omit यत 3. V मुद् 4- -4. A,B,J omit 5. V adds एवमपराधेऽपि

**वीर०** पुनरपि भगवान् ता वीक्ष्य इदं वक्ष्यमाणं धर्म्यं धर्मादनपेतं वाक्यमाह। तदेवाऽऽह एकेनेति सार्धेव। एकेन पाणिना नेमुरित्यादिसार्धश्लोकद्वयं क्वचिन्न दृश्यते। तस्मादिति। हस्तद्वयसम्पुटस्यैवाञ्जलिशब्दार्थत्वादिति भावः ॥ २१,२२ ॥

इत्थमच्युतेनाभिहिताः व्रजकुमारिकाः विवस्त्रस्नानप्रयुक्तां व्रतच्युतिं व्रतभ्रंशं मत्वा तस्य व्रतस्य पूर्तिमवैगुण्यं कामयमानास्तस्य व्रतस्यान्येषां कर्मणां च साक्षात्कर्तारमच्युतं नेमुः। हस्तद्वयेन मूर्ध्न्यञ्जलिं बद्ध्वा नेमुरित्यर्थः। कुतः ? यतः केवलमशेषकर्मणां न साक्षात्कृदेव। अपि तु अवद्यमुक् अवद्यं कर्मवैगुण्यापादकं पापं तस्मात् मोचयतीति तथा। ण्यर्थगर्भोऽत्र मुचिः, अतः प्रणेमुरित्यर्थः ॥ २३ ॥

अथ भगवान् तदा अवनतास्ता दृष्ट्वा तेन प्रणामेन तोषितः तरुणश्च। 'करुण' इति पाठे करुणावान् ताभ्यः कुमारिकाभ्यो वासांसि प्रददौ ॥ २४ ॥

इत्थमिति। यद्यपि इत्थं प्रलब्धाः 'यूयं विवस्त्रा' इत्यादिनाऽधिक्षिप्ताः, त्रपया लज्जया हापिताः। 'बद्ध्वाऽञ्जलीन्' इत्यादिना प्रायश्चित्तव्याजेन यन्त्रपाञ्चालिकावत्प्रवर्तिताः। वासांसि चापहृतानि। तथाऽप्यमूः कुमारिकाः तं कृष्णं नाभ्यसूयन्। गुणेषु सत्स्वपि उक्तान् दोषान्नाऽऽविश्चक्रुः। तत्र हेतुः, निरतिशयप्रियस्य कृष्णस्य सङ्गेन निर्वृताः सुखिताः तत्सङ्गनिर्वृत्या विस्मृतदोषा इति भावः, नाभ्यसूयन् ॥ २५ ॥

**विज०** विवस्त्राप्लवनं दिगम्बरस्नानं व्रतच्युतिं नियमभ्रंशं तत्पूर्तिकामाः तस्य व्रतस्य पूर्णतां कामयमानाः तासामशेषकर्मणां साक्षात्कृतं साक्षीभूतं कृष्णं नेमुः। अनेन किं प्रयोजनमत्राह - अवद्यमिति। उज्झितुं उन्मूलयितुम् ॥ २१ - २३ ॥

करुणः दयाशीलः ॥ २४॥

तासां कृष्णे भक्त्यतिशयं कथयति - **दृढमिति**। प्रलब्धाः वञ्चितवत्कारिताः हापिताः त्याजिताः मुक्तलज्जाः कारिताः प्रस्तोभिताः चाटुवचनजालं प्रापिताः, क्रीडनवत् दारुयन्त्रवत् अथापि तथापि अमुं कृष्णं प्रति गुणेषु दोषाविष्करणमसूया। तत्र हेतुमाह - प्रियेति। प्रियेण कृष्णेन सह सङ्कथनलक्षणसङ्गेन निर्वृताः ॥ २५॥

**परिधाय स्ववासांसि प्रेष्ठसङ्गमसज्जिताः।**
**गृहीतचित्ता नोचेलुस्तस्मिन् लज्जायितेक्षणाः ॥ २६॥**

**तासां विज्ञाय भगवान् स्वपादस्पर्शकाम्यया।**
**धृतव्रतानां सङ्कल्पमाह दामोदरोऽबलाः ॥ २७॥**

**सङ्कल्पो विदितस्साध्व्यो भवतीनां मदर्चनं।**
**मयाऽनुमोदितस्सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति ॥ २८॥**

**न मय्यावेशितधियां, कामः कामाय कल्पते।**
**भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते ॥ २९॥**

**याताऽबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः।**
**यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्याचनं सतीः ॥ ३०॥**

---

1. A,B,G,J नो चे° 2. M,Ma लज्जेषिते° 3. K,T,W °ल्पं प्राह 4. A °नात्; B,G,J °नं 5. A,K,T,V,W °ताः 6. T,W कां 7. K,T,V,W °नाः 8. A,J °श° 9. K °त बाला!

**श्रीध० परिधायेति**। प्रेष्ठसङ्गमेन सज्जिताः वशीकृताः। अतो गृहीतचित्तास्सत्यो नोचेलुः। गृहीतचित्तत्वमाह — तस्मिन् कृष्णे लज्जायितेक्षणाः लज्जावितसितं ईक्षणं यासां ता इत्यर्थः ॥ २६॥

**तासामिति**। दामोदर इति भक्तवात्सल्यं दर्शयति अबलाः प्रति ॥ २७॥

**सङ्कल्प** इति। भो साध्व्यः! भवतीनां मदर्चनं एव सङ्कल्पः मनोरथः। स च लज्जया युष्माभिरकथितोऽपि मया विदितः स मयानुमोदितः, अतः सत्यो भवितुमर्हतीति सम्भावनोक्त्या आत्यन्तिको न भविष्यतीति सूचितम् ॥ २८॥

तत्कृत इत्यत आह **नेति**। कामाय पुनः कामभोगाय विषयमहिम्ना कामस्यापि शान्तिहेतुत्वादिति भावः। कामाप्ररोहे दृष्टान्तः भर्जिताः[7] दग्धाः, क्वथिताः, पक्वा, धनाः यवादयः[7], बीजयाय अङ्कुरोद्गमाय, प्राय इति स्वेच्छया पुनः प्ररोहमपि सूचयति[8] ॥ २९॥

**यातेति**। सिद्धाः पूर्णमनोरथाः तदाह इमाः आगामिनी रात्रीः। मया रंस्यथेति आर्या कात्यायनी। सती सत्यः ॥ ३०॥

---

1- -1. A,B,J नो चेत्तुः 2. B °मेवाह 3- -3. A,B,J °नमेव 4- -4. P.V omit स च 5. A,B,J °ति। अर्हतीति° 6. A °नामात्रोक्त्या° 7- -7. A,B,J °ता दग्धा, क्वथिता पक्वा, धाना यवादि 8. A,B,J add ध्रुवादीनां तथा दर्शनात्

**वीर०** किन्तु स्ववासांसि परिधाय धृत्वा प्रेष्ठस्य सङ्गमेन वशीकृताः अत एव तदपहृतचित्ता नोच्चेलुः न चलितवत्यः। गृहीतचित्तत्वमेवाह - तस्मिन् कृष्णे लज्जायितं लज्जाविलसितं ईक्षणं यासां ताः ॥ २६॥

ततो भगवान् दामोदरः स्वपादस्पर्शकाम्यया स्वपादस्पर्शशब्देन अत्र तात्पर्यतः स्वेन सह क्रीडा विवक्षिता, तत्काम्यया धृतमनुष्ठितं व्रतं कात्यायन्यर्चनात्मकं याभिः तासां सङ्कल्पमभिसन्धिविशेषं विज्ञाय प्राह। तदेवाऽऽह अबला इत्यादिना। हे अबलाः! हे साध्व्यः! मदर्चने मया सह क्रीडात्मके अर्चने निमित्ते यो भवतीनां सङ्कल्पः, स मया विज्ञातः, अनुमोदितोऽभ्यनुज्ञातश्चेत्यर्थः। सोऽसौ सङ्कल्पः सत्य एव भवितुमर्हति ॥ २७,२८॥

केनापि व्याजमात्रेणानुजिघृक्षैकशीलत्वात् म[2]होदारत्वात्[2] च देहान्ते तासां मुक्तिमपि सङ्कल्पयति। मय्यावेशिता धीः याभिः तासां भवतीनां कामः मद्विषयकोऽभिलाषः कामाय केवलं विषयभोगायैव न कल्पते न भवति, किन्तु मुक्तयेऽपीत्यर्थतोऽत्र विवक्षितम्। विषयवैलक्षण्यमहिम्ना मद्विषयककामस्यापि संसृतिबीजभर्जनद्वारा मुक्तिहेतुत्वादिति भावः, यद्वा मय्यावेशिताया धियो विषयवैलक्षण्यादविप्लुतत्वेन यावद्देह पातानुवर्तित्वात् तदा संसृतिबीजभर्जनद्वारा मुक्ति हेतुत्वात् मद्विषयकः कामः केवलं न कामायैव कल्पत इति भावः। निर्वीर्यं संसृतिबीजं न पुनस्संसृतये भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह। प्रायो भर्जिताः भ्राष्टे निष्टप्ताः[3] क्वथिताः[4] निष्पक्वाश्च धानाः बीजाय नेष्यते अङ्कुरोद्गमाय नेष्यते नेष्यन्ते! वचनव्यत्यय आर्षः। प्राय इत्यस्य भर्जिताः क्वथिता[5] इत्याभ्यामन्वयः ॥ २९॥

यत एवमतो हे बालाः! यूयं सिद्धाः पूर्णमनोरथाः व्रजं यात गच्छत। सिद्धत्वमेवाऽऽह। मया सह इमाः आगामिनीः रात्रीः शारदीः रंस्यथ। देवताराधनं न मुधा भवितुमर्हतीत्यभिप्रायेणाऽऽह यदिति। सतीः हे सत्यः! यन्मया सह क्रीडनात्मकं प्रयोजनमुद्दिश्य भवत्यः इदमार्यायाः कात्यायन्याः व्रतं चेरुः चक्रुः ॥ ३०॥

1. A,B °नं 2- -2. K,W omit 3. A,B °क्षि° 4. A,B,K °ङ° 5. K ङ°

**विज०** प्रेष्ठस्य कृष्णस्य सङ्गमे सजिताः सन्नद्धाः न उन्बेलुः स्थितप्रदेशादिति शेषः। लज्जया ईषन्निमील्य प्रेषितानि ईक्षणानि यासां ताः। यद्वा लज्जया इषितानि गतानि ईक्षणानि यासां तास्तथा। "इषु गातौ" इति धातुः॥ २६॥

पादं शरीरम्। "उत्तमानां शरीरं तु पादशब्देन भण्यते" इति॥ २७॥

यन्मदर्चनं तस्मिन् कृतः नन्दसुतः पतिर्भूयादिति सङ्कल्पः अनुमोदितः अनुज्ञातः॥ २८॥

मत्सम्भोगलालसानां भवतीनां विषयौत्सुक्यं पुनः संसारवर्तनाय स्यात्। अतोऽस्मत्सङ्कल्पो निन्द्य इति शङ्का माभूदित्याशयेनाह **नेति**। कामाय विषयेच्छाप्ररोहाय, तत्र दृष्टान्तमाह भर्जितेति। धाना बीजं बीजाय अङ्कुरोत्पादनशक्तिमते॥ २९॥

आर्यार्चनं कात्यायनीपूजां सतीः सत्यः॥ ३०॥

**श्रीशुक उवाच**

**इत्यादिष्टा भगवता लब्धकामाः कुमारिकाः।**
**ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भोजं कृच्छ्रान्निर्विशुर्व्रजम्॥ ३१॥**

**अथ गोपैः परिवृतो भगवान्देवकीसुतः।**
**बृन्दावनाद्गतो दूरं चारयन्गास्सहाग्रजः॥ ३२॥**

**निदाघार्कातपे तीक्ष्णे छायाभिस्स्वाभिरात्मनः।**
**आतपत्रायितान्वीक्ष्य द्रुमानाह व्रजौकसः॥ ३३॥**

**हे स्तोककृष्ण! हे अंशो! श्रीदामन्सुबलार्जुन।**
**विशालवृषभौजस्विन् देवप्रस्थ! वरूथप॥ ३४॥**

**पश्यतैतान्महाभागान्परार्थैकान्तजीवितान्।**
**वातवर्षातपहिमान् सहन्तो वारयन्ति नः॥ ३५॥**

1- -1. K,T,V,W omit 2. V °वि° 3. A,B,G,J,M,Ma तिग्मे K,T,W ग्रीष्मे; V. तस्मिन् 4. A,B,G,J,M,Ma °लर्षभ तेज° 5. A,B,G,J,M,Ma,V प्रस्य 6. A जीवनान्, M,Ma जीविनः

**श्रीध० इतीति।** ★ "भक्त्यानुकम्प्यकन्यास्तास्तद्विवर्जितयज्वनाम्। पत्न्यनुग्रहतस्तेषामहन्कर्ममहामदम्" ॥ ३१-३३ ॥

द्विजभार्याया[1] अनुग्रहाय[-1] यज्ञवाटं गच्छन् विप्राणां काठिन्यमभिप्रेत्य तेभ्योपि द्रुमाश्श्रेष्ठा इति तानभिनन्दति[2] हे **स्तोककृष्णेति** चतुर्भिः। स्तोककृष्णादयो गोपाः ॥ ३४ ॥

**पश्यतेति।** एतान् द्रुमान् पश्यत। परार्थमेकान्तेन[3] जीवितं येषां तान्। तदाह वातवर्षादीन् स्वयं सहन्तः[4] सहमानाः न[5]ः अस्माकं वारयन्ति ॥ ३५ ॥

★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः। 1- -1. A,B,J विप्रभार्यानु 2. P,V नन्दयति 3. A,B,J °मेवैकान्तेन 4. P,V omit सहन्तः 5. A,B,J omit नः

**वीर०** इत्थं भगवता[1] कृष्णेनाऽऽदिष्टाः[-1] कुमारिकाः लब्धप्रायाः कामा इष्टार्था याभिः तथाभूतास्तस्य भगवतः पदाम्भोजं ध्यायन्त्यः तमेवानुचिन्तयन्त्य इत्यर्थः। कृच्छ्रात् कथञ्चित् व्रजं निर्विविशुः, तद्विश्लेषासहिष्णुत्वादिति भावः ॥ ३१ ॥

चरित्रान्तरमाह **अथेति।** कदाचित् बृन्दावनाद्दूरं गतः साग्रजो गाश्चारयन् तीक्ष्णे निदाघार्कस्य ग्रैष्मार्कस्याऽऽतपे आत्मनः स्वस्य स्वाभिश्छायाभिरातपत्रवदाचरितान् द्रुमानवलोक्य व्रजौकसो गोपानाह ॥ ३२,३३ ॥

तदेवाऽऽह **हे स्तोककृष्णेत्यादिभिः** पञ्चभिः[2]। स्तोककृष्णाख्यः कश्चिद्गोपबालः, एतान् द्रुमान् पश्यत। कथम्भूतान्? परार्थं[4] परोपकारार्थमेव एकान्तं[5] नियतं जीवितं येषां तान् तदेवाऽऽह वातेति। स्वयं वातादीन् सहमानाः नोऽस्माकं तान् वारयन्ति, हिमानिति पुंस्त्वमार्षम् ॥ ३४,३५ ॥

1- -1. K,W omit 2. T,W omit पञ्चभिः 4. T,W omit एव 5. T,W ऐ°

**विज० व्रजौकसः** आहेत्यन्वयः। तिग्मे तीव्रे ॥ ३१ - ३४ ॥

परार्थाय परोपकाराय एकान्तेन नियमेन जीवनं स्वायूरक्षणं येषां ते तान्, नः वारयन्ति क्षुधितानस्मान् तर्पयन्ति ॥ ३५ ॥

अहो! [1]हेषां [2]परं जन्म सर्वप्राण्युपजीवनम्।
सुजनस्येव येषां वै विमुखा यान्ति नार्थिनः ॥ ३६ ॥

पत्रपुष्पफलच्छायामूलवल्कलदारुभिः।
गन्धनिर्यासभस्मास्थितोकैः[3] कामान्वितन्वते ॥ ३७ ॥

एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु।
प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय आ[5-]चरणं[-5] सदा ॥ ३८ ॥

इति प्रवालस्तबकफलपुष्पदलोत्करैः[6]।
तरूणां नम्रशाखानां[7] मध्येन यमुनां गतः[8] ॥ ३९ ॥

तत्र गाः पाययित्वाऽपः सुमृष्टाश्शीतलाश्शिवाः[9]।
ततो नृप! स्वयं गोपाः कामं स्वादु पपुर्जलम् ॥ ४० ॥

तस्या उपवने कामं चारयन्तः पशूनृप!
कृष्णरामावुपाग[10]म्य क्षुधाऽऽर्ता इदमब्रुवन् ॥ ४१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे गोपीवस्त्रापहारोनाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

---

1. A,B,G,J,M,Ma,V एषां 2. A,B,G,J,M,Ma वरं 3. A,B,G,J,M,Ma तोकमैः 4. V सामग्र्यं 5- -5. A,B,G,J एवाऽऽचरेत् 6. M,Ma मूल 7. K रम्य 8. T,W गताः 9. V °ह्र° 10. K °मन्त्र्य

**श्रीध० अहो** इति। सुजनस्य कृपालोरर्थिन इव ॥ ३६ ॥

**पत्रेति**। निर्यासो घनरसः तोकाः[1] पल्लवाद्यङ्कुराः ॥ ३७, ३८ ॥

**इतीति**। इत्यभिनन्दन्[2] प्रवालादिसमूहैर्नतशाखानां[3] तरूणां मध्यतो[4] यमुनां प्राप्तः ॥ ३९, ४० ॥

**तस्या** इति। कुमारिकाभ्यः पूर्वमेव तन्नर्माकुलतया। अगृहीतभोज्यानामेव निर्गमात् क्षुधार्ता इत्युक्तम्॥ ४१॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां द्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥

---

1. A,B,J तोक्मा: 2. P,V नन्दयन् 3. A °दीनां 4. A,B,J मध्येन

**वीर०** अहो! सर्वप्राणिन उपजीवयतीति तथा तदेषां द्रुमाणां जन्म परं[1] मनुष्यजन्मनः श्रेष्ठम्। किञ्च सुजनस्य वदान्यस्येव येषामर्थिनो विमुखा न यान्ति। किन्तु छायाफलादिभिस्सत्कृता एव भवन्ति॥ ३६॥

तदेवाऽऽह **पत्रेति**। पत्रादिभिः अर्थिनां कामान् वितन्वते विस्तरेण ददते इत्यर्थः। निर्यासः घनीभूतरसः अस्थीनि शान्ताग्नयोऽङ्गाराः तोकाः पल्लवाद्यङ्कुराः॥ ३७॥

अनुपकारिणां जन्म वृथेत्यभिप्रयन्नाह[2] **एतावदिति**। इहलोके देहिषु मध्ये देहिनां जन्मनः साफल्यमेतावदेव। कियत्? प्राणादिभिः श्रेय आचरणं भूतहितधरणमित्येतावत्॥ ३८॥

इति इत्थमभिनन्दन् प्रवालादीनामुत्करैः समूहैः रम्याश्शाखा येषां तेषां तरूणां मध्येन यमुनां गताः॥ ३९॥

तत्र यमुनायां मधुराश्शीतला निर्मलाश्च अपः जलानि गाः पाययित्वा हे नृप! गोपाः कृष्णादयः स्वयमपि मृष्टं[3] जलं पपुः॥ ४०॥

ततस्तस्य यमुनायाः समीपे वने पशूंश्चारयन्तो गोपाः हे नृप! कृष्णरामौ उपामन्त्र्य आहूय सम्बोध्य वा। 'उपागम्य' इति पाठे समीपमेत्य इदं वक्ष्यमाणमब्रुवन्। कथम्भूताः? क्षुधाऽऽर्ताः प्रातर्भुक्तवन्तोऽपि विप्रपत्नीरनुजिघृक्षता भगवतोत्पादितया क्षुधा पीडिता इति भावः॥ ४१॥

---

1. A,B,K वरं 2. A,B ० थैवेत्य 3. A,B शुद्धं

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां द्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥

**विज०** सुजनस्य जन्मनः साफल्यमेतावत् अर्थिनो येषां विमुखा न यान्तीति ये अस्थ्ना सारेण तोक्मैः अङ्कुरैः साफल्यमेतावत्॥ ३६ - ४१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे द्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥

(विजयध्वजरीत्या विंशोऽध्यायः)

# त्रयोविंशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या एकविंशोऽध्यायः)

### -: विप्रपत्न्यनुग्रहधन्यः :-

★ गोपा ऊचुः[1-1]

राम राम महाबाहो[2]! कृष्णदुष्टनिबर्हण !
एषा वै बाधते क्षुन्नः तच्छान्तिं कर्तुमर्हथः ॥१॥

श्रीशुक उवाच[3-3]

इति विज्ञापितो गोपैः भगवान् जगदीश्वरः[4-4]।
भक्ताया विप्रभार्यायाः प्रसीद न्निद मब्रवीत्॥२॥

△ प्रयात देवयजनं ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः।
सत्त्रमाङ्गिरसं नाम ह्यासते स्वर्गकाम्यया॥३॥

तत्र गत्वौदनं गोपा याचताऽस्मद्विसर्जिताः।
कीर्तयन्तो भगवत आर्यस्य ममचाऽभिधाम्॥४॥

इत्यादिष्टा भगवता गत्वाऽयाचन्त ते तथा[5]।
कृताञ्जलिपुटा विप्रान्दण्डवत्पतिता भुवि॥५॥

---

★ The following extra matter is found in V edition — श्रीशुक उवाच - तत्र गत्वोपविष्टास्ते गोपाला यमुनातटे। ऊचुर्बुभुक्षिता राजन् कृष्ण रामौजगत्पती॥ 1- -1. M,Ma श्रीशुक उवाच 2. A,B,G,J,K,T,W °वीर्य 3- -3. M,Ma omit 4- -4. A,B,G,J देवकीसुतः △ M,Ma add श्रीकृष्ण उवाच 5. V तदा

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

त्रयोविंशे ततो गोपै रन्नयाच्चापदेशतः।
तत्पत्न्यनुग्रहात्कृष्णो दीक्षिता नन्वतापयत्॥

**इतीति।** भक्ताया इत्येकवचनम् सचः साकुश्याभिप्रायेण॥ १-३॥

**तत्रेति।** अस्म द्विसर्जिताः आवाभ्यां प्रहिता स्समन्तो याचध्वम्। युष्माकं का तत्र का लज्जा? ननु तथाऽपि अपात्रत्वा दस्मभ्यं किमिति दास्यन्तीति चे त्तत्राऽऽह कीर्तयन्त इति॥ ४,५॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थ मब्रुव न्नित्युक्तम्। किं तत्? इत्यत्राऽऽह - **राम रामेति।** नोऽस्मान् एषा क्षुद्बाधते, तस्याः क्षुधः शान्तिं कर्तुमर्हथः॥ १॥

विप्रभार्याया इत्येकवचनं जात्यभिप्रायकम्, विप्रभार्याणां, प्रसीदन् ता अनुजिघृक्षुः इद मब्रवीत्॥ २॥

तदेवाऽऽह - **प्रयातेति।** ब्रह्मवादिनो ब्राह्मणाः। देवा इज्यन्तेऽस्मिन्निति देवयजन मङ्गिरसाख्यं सत्र मासते अनुतिष्ठन्ति॥ ३॥

हे गोपाः! तत्र सत्रवाटे[1] गत्वा अस्मद्विसर्जिताः आवाभ्यां प्रेषिताः वय मिति वदन्तोऽन्नं याचत याचध्वम्। अस्मद्विसर्जिता इत्येतदेवोपपादयति। भगवत आर्यस्य अग्रजस्य रामस्य मम च अभिधां नामधेयं कथयन्तो याचतेत्यन्वयः॥ ४॥

भगवता इत्थ मादिष्टा स्ते गोपा स्तत्र गत्वा यथोक्तमयाचन्त। याच्ञा प्रकार मेव दर्शयति कृताञ्जलिपुटा इति। ताव द्विप्रानुद्दिश्य भुवि दण्डवत्पतिताः कृतान्यञ्जलिपुटानि यै स्तथा भूता स्ते गोपाः॥ ५॥

---

1. A,B यज्ञ°

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

कृष्णभक्तौ योग्यतैव बलीयसी न शास्त्रज्ञान मित्येतत्कथयति अस्मिन्नध्याये। तत्र गोपानां कृष्णस्य च प्रश्न प्रतिवचने कथयति शुक इति। दुष्टनिबर्हण! दुष्टजनोन्मर्दन! क्षुत् भोक्तु मिच्छा बाधते क्लिश्नाति। अस्याः क्षुधः शान्तिं प्रशमम्। "शान्तिः प्रशममङ्गले" (वैज.को.6-2-39) इति यादवः॥ १॥

विप्रभार्याया: पतित्यक्ताया:, जाता वेकवचनम्। भक्ता या: इति च्छेदो वा॥ २॥

देवयजनं यज्ञवाटं, सत्त्रं बहुकर्तृकम्, आङ्गिरसं अङ्गिरसा बृहस्पतिना कथितं बृहस्पतिसवन मित्यर्थ:। आसते कुर्वते, अनेकार्थत्वा द्धातूनाम्। ह्रिशब्दो हेतौ यस्मात्। सत्त्रे अन्नं देयम् तस्मात् प्रयात॥ ३॥

अस्मद्विसर्जिता: नियुक्ता: निर्मुक्ता वा। युष्माकं[1] का वा तत्र लज्जा? ननु अस्माकं गोपालत्वेन अपात्रत्वात् किमिति दास्यन्तीति तत्राऽऽह - कीर्तयन्त इति[1]। आर्यस्य श्रेष्ठस्य रामस्याऽ भिधानं नाम॥ ४॥

निराधारो दण्डो यथा पतति॥ ५॥

---

1- -1. Ma omits.

हे भूमिदेवा: शृणुत कृष्णस्याऽऽदेश कारिण:।
प्राप्तान्[1] जानीत भद्रं वो गोपान्नो राम चोदितान्॥ ६॥

गाश्चारयन्ता वविदूर[2] ओदनं रामाच्युतौ वो[3] लषतो[3] बुभुक्षितौ।
तयोर्द्विजा ओदन मर्थिनो यदि श्रद्धा च[4] वो यच्छत धर्मवित्तमा:॥ ७॥

दीक्षाया: पशुसंस्थाया: सौत्रामण्याश्च सत्तमा:।
अन्यत्र दीक्षितस्याऽपि नाऽन्नमश्नन्हि दुष्यति॥ ८॥

इति ते भगवद्याच्ञां शृण्वन्तोऽपि न शुश्रुवु:।
क्षुद्राशा भूरिकर्माणो बालिशा वृद्धमानिन:॥ ९॥

देश[5]: काल: पृथग्द्रव्य[5] मन्त्रतन्त्रर्त्विगग्नय[6]:।
देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मय:॥ १०॥

---

1. A आ° 2. M,Ma °त्ति° 3- -3. V यलुषतो 4. V °त° 5- -5. M,Ma देशकालपृथग्द्रव्य 6. A द्विजाग्नय: ; B,G,J,M,Ma °र्त्विजोग्नय: ।

**श्रीध०** अविदूरे वर्तमानौ सन्तौ वो यत् ओदनम्[1] अन्नम्। तत् लषतः अभिलषतः वः[2] ओदनं श्रद्धा च यद्यस्ति तर्हि यच्छतेति॥५ - ७॥

दीक्षिता वय मभोज्यान्ना इति वदिष्यन्तीति स्वय मेवाऽऽशङ्क्याऽऽह - **दीक्षाया** इति। दीक्षाया आरभ्य अग्निष्टोमीयपश्वालम्भा त्पूर्वं दोषः ; न ततोऽन्यत्र। तथा सौत्रामण्याश्च अन्यत्र अन्यदा॥८॥

**इतीति**। क्षुद्रे स्वर्गादा वाशामात्रं येषां ते। भूरीणि क्लेशाधिकानि कर्माणि येषां ते। अतः अज्ञाः वृद्धमानिनः[3] ज्ञान वृद्धा[3] इति मानवन्तः॥९॥

ननु कर्मक्रम मुल्लङ्घ्य अदेशकाले अन्यार्थमन्न मन्यस्मै कथं देयम्? तत्राऽऽह - **देश** इति। पृथक् चरुपुरोडाशादि द्रव्यम्। तन्त्रं प्रयोगः। धर्मोऽपूर्वम्॥१०॥

---

1. A,B,J omit ओदनम् 2. P,V omit वः 3- -3. A वृथाज्ञानाः वृद्धाः ; B,J वृथाज्ञानवृद्धाः

**वीर०** हे भूमिदेवाः! शृणुत! किम्? कृष्णस्याज्ञाकरणशीलान् रामेण चोदिता निह प्राप्ता नस्मान् गोपालान् जानीत। वो युष्मभ्यं भद्र मस्तु॥६॥

किमर्थं चोदिता इह प्राप्ताश्च इत्यत्राऽऽह **गा** इति। इतोऽविदूरे समीपे गाश्चारयन्तौ रामकृष्णौ बुभुक्षितौ क्षुधितौ[1] वः युष्माक मोदनं लषतः अभिलषतः वाञ्छत[2] इति यावत्। 'यलुषत' इति पाठे यत् यस्मात् लषतः। अतो हे द्विजाः! वः युष्माकं श्रद्धा वर्तते चेत्[3] अर्थिनो स्तयोः ओदनं यच्छत। दीक्षिताना मस्माक मन्नं न भोज्य मिति[4] शङ्कां निराकुर्वन्तः सम्बोधयन्ति हे धर्मवित्तमाः इति॥७॥

तदेवोपपादयन्ति **दीक्षाया** इति। हे सत्तमाः! दीक्षायाः दीक्षापूर्विकायाः अग्नीषोमीय[5] पशुसंस्थायाः ऊर्ध्वं सौत्रामण्या अन्यत्राऽनन्तरे च दीक्षितस्य यजमानस्य अन्न मभन् न दुष्यति। बुभुक्षु रिति कर्तृपद मध्याहर्तव्यम्। दीक्षितशब्दः यजमानपरः[6] सौत्रामण्यां दीक्षणीयेष्टिपूर्वकसङ्कल्पाभावात्॥८॥

इत्थं भगवतो याच्ञां ते[7] ब्राह्मणाः शृण्वन्तोऽपि नाद्रियन्त। तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि क्षुद्रे स्वार्गादावाशामात्रं येषां तदर्थं भूरीणि क्लेशावहानि कर्माणि येषां ते। स्वयं बालिशा मूर्खा अपि वृद्धमानिनः[8] वृद्धं ज्ञानाधिक मात्मानं मन्यन्त इति तथा॥९॥

देशादि र्यन्मयः यत्प्रचुरो [9] भवति तं कृष्णं साक्षात्परब्रह्मभूतं धाकुण्यपूर्णं मधोक्षजं न मेनिरे, किन्तु [10-] म नुष्यबुद्ध्या [-10] केवलं प्राकृतं मनुष्य मेवाऽमन्यन्त। तत्र हेतुः- दुष्प्रज्ञाः कर्ममीमांसोपचितज्ञानाः मर्त्यात्मानः मर्त्ये मरणशीले देहे आत्मा आत्मबुद्धि र्येषां ते, तत्र देशः "समे यजेत" इत्याद्युक्तः। काले वसन्तादिः पृथग्द्रव्यं चारुपुरोडाशादिकम्। धर्मोऽपूर्वम्। एतेषां भगवत्प्राचुर्यं तच्छरीरत्वेन तन्निर्वाह्यत्वेन चेति ज्ञेयम्॥ १०॥

---

1. T,W omit क्षुधितौ 2. A,B इच्छतः ; T,W omit वाञ्छतः 3. A,B add तर्हि 4. A,B add इमां 5- -5. A,B अग्निष्टोमीय 6. A,B add अत्र 7. T,W omit ते 8- -8. J omits 9. T,W omit भवति 10- -10. T,W omit.

**विज०** हे भूमिदेवाः! ब्राह्मणाः! "भूमिदेवो द्विजोत्तमः" (हला०. को. 2-236) इति हलायुधः॥ ६॥

लषतोऽभिलषतः इच्छतः, श्रद्धा आस्तिक्यं अभिलाषो वा। "श्रद्धाऽऽस्तिक्याभिलाषयोः" (वैज.को. 6-2-38) इति यादवः॥ ७॥

ननु दीक्षितान्नं न भोक्तव्यम् इति शास्त्रविरोधं परिहरति **दीक्षाया** इति। दीक्षाया व्रतसङ्गहरूपायाः वर्तमानाया स्सत्याः पशुसंस्थाया अग्नीषोमीयपश्वालम्भादूर्ध्वं दीक्षितस्य अन्न मश्नन् सौत्रामण्याः तथा सौत्रामणीनाम्न्याः इष्टेश्चान्यत्र कर्मान्तरे दीक्षितस्य चान्नं न दुष्यति॥ ८॥

इति हेतुपूर्वां भगवद्वाच्याम्। अश्रवणे तेषां बुद्धिविशेष माह — **क्षुद्राशा** इति। क्षुद्राशाः तुच्छफलेच्छवः, तदर्थं भूरि कर्माणः। किमेते भ्रान्ताः इति, सत्य मित्याह बालिशा इति। बालिशा मूर्खाः। "बालिशो बाल मूर्खयोः" (वैज.को. 7-4-20) इति। एतदेव द्रढयति बुद्धीति। वृद्धा इत्यभिमानो येषा मस्तीति॥ ९॥

देशः कृष्णसारसञ्चारविषयः [1], कालः वसन्तादिः [2] पृथग्द्रव्यं चरुपुरोडाशादि, मन्त्रो देवताप्रसादप्रकाशक ओंकारादिः तन्त्र मनुष्ठानविधिः, ऋत्विजोऽध्वर्युप्रभृतयः, अग्नय आहवनीयादयः, देवता इन्द्रादि शब्दवाच्याः क्रतु स्सङ्कल्पः, यजमानोऽधिकारी, धर्मोऽदृष्टं, यन्मयः यत्प्रधानप्रतिपाद्यः॥ १०॥

---

1. Ma adds अभिमानो वा 2. Ma °दिकालः।

तं[1] ब्रह्म परमं साक्षाद्भगवन्त मधोक्षजम्।
मनुष्यदृष्ट्या दुष्प्रज्ञा मर्त्यात्मानो न तै[2] विदुः ॥११॥

न ते तदोमिति[3] प्रोचुः न नेति च परन्तप!
गोपाः निराशाः प्रत्येत्य[4] तथोचुः[4] कृष्णरामयोः ॥१२॥

तदुपाकर्ण्य भगवान् प्रहस्य[5] जगदीश्वरः।
व्याजहार पुनर्गोपान् दर्शयन् लौकिकीं गतिम् ॥१३॥

मां ज्ञापयत पत्नीभ्य स्ससङ्कर्षण मागतम्।
दास्यन्ति काम मन्नं वः स्निग्धा मय्युषिता धिया ॥१४॥

[6]गत्वा[7] च पत्नीशालायां दृष्ट्वाऽऽसीना स्स्वलङ्कृताः।
नत्वा द्विजसती[8] गोपाः प्रश्रिता इद मब्रुवन् ॥१५॥

---

1. A,V,T,W तद्ब्रह्म 2. A,B,G,J,M,Ma मेर्निरे 3. A,B,G,J,M,Ma य° 4- -4. K,T,W तदूचू रामकृष्णयोः 5. K,T,W °हसन् 6. V adds श्रीशुक उवाच 7. A,B,G,J,K,M,Ma °त्वाऽथ 8. T,W °वधू°

**श्रीध० तदिति।** मनुष्योऽयमिति दृष्ट्या मर्त्यात्मानो दे[1]हाभिमानिन[-1]ः ब्राह्मणा वयं महान्त इति मन्यमानाः ॥११,१२॥

**तदिति।** लौकिकीं गति मिति नहि कार्यार्थिनो निर्विचन्ते। को वा याचको न पराभूयत इत्यादि लोकस्थितिं दर्शयन् ॥१३॥

**मामिति।** केवलं देहेन गृहे वसन्ति धिया च मय्येवोषिताः। यतो मयि स्निग्धा, अतो दास्यन्तीति ॥१४,१५॥

---

1- -1. A,B,J omit.

**वीर०** शृण्वन्तोऽपि न शुश्रुवुः इत्येतदेव विशदयति **नेति।** ते ब्राह्मणाः हे परन्तप! ओमिति न प्रोचुः। नाऽपि नेति। ओमित्यङ्गीकारद्योतकमव्ययम्। ततो गोपाः निराशाः प्रत्यागत्य तद्विप्राणामनादरणं रामकृष्णयोरूचुः ॥११, १२॥

ततो भगवान् लौकिकीं गतिं नहि कार्यार्थिनो निर्विद्यन्ते, "तृणा दपि लघु स्तूल स्तूला दपि च याचकः" (शार्ङ्गधरपद्धतिः 400) इत्युक्तरूपां लोकपरिपाटीं दर्शयन्निव पुनर्गोपान् व्याजहार उवाच॥ १३॥

तदेवाऽऽह **मामिति**। सङ्कर्षणेन[1] सहितं मा मागतं पत्नीभ्यः, द्विजाना मिति शेषः। ज्ञापयत। ताश्च केवलं देहेन गृहे वसन्ति, धिया तु मय्येवोषिताः मयि स्निग्धाः। अतः कामं यथेष्ट मन्नं दास्यन्ति॥ १४॥

अथ गोपाः पत्नीशालायां गत्वा स्वलङ्कृता आसीनाश्च द्विजसती र्दृष्ट्वा प्रश्रिता नम्रा स्सन्तः इदं वक्ष्यमाण मब्रुवन्॥ १५॥

---

1. A,B °णस°

**विज०** मर्त्यात्मानः देहोऽह मिति बुद्धियुक्ताः न मेनिरे न ज्ञातवन्तः॥ ११।

तथोभयं, ओमिति, न नेति च॥ १२॥

लौकिकीं गतिं लोकसिद्धां रीतिम्॥ १३॥

दाने कारण माह मयीति। धिया मय्युषिताः मामेव चिन्तयन्त्य इत्यर्थः॥ १४॥

द्विजसतीः द्विजपत्नीः॥ १५॥

**नमो वो द्विजपत्नीभ्यो[1] निबोधत वचांसि नः।**
**इतोऽविदूरे चरता कृष्णेन[2] प्रेषिता वयम्॥ १६॥**

**गाश्चारयन्स गोपालैः सरामो दूरमागतः।**
**बुभुक्षितस्य तस्यान्नं सानुगस्य प्रदीयताम्॥ १७॥**

**श्रुत्वाऽच्युत मुपायातं[3] नित्यं[4] तद्दर्शनोत्सुकाः।**
**तत्कथाऽऽक्षिप्तमनसो बभूवुर्जातसम्भ्रमाः॥ १८॥**

**चतुर्विधं बहुगुण मन्नमादाय भाजनैः।**
**अभिसस्रुः प्रियं सर्वा स्समुद्र मिव निम्नगाः॥ १९॥**

**निषिध्यमानाः पतिभिः भ्रातृभिः पितृभि स्सुतैः।**
**भगवत्युत्तमाश्लोके दीर्घश्रुतधृताशयाः ॥ २० ॥**

---

1. A,B,G,J,K विप्र 2. B,G,J °नेहेषिता 3. A,J,T,V,W यान्तं 4. K,T,W तास्तु 5- -5. A,G,J,M,Ma भ्रातृभि र्बन्धुभिस्सुतैः ; B पितृभि र्भ्रातृबन्धुभिः 6. M,Ma भृ°

**श्रीध० नम** इति। प्रेषिताः प्रेरिताः ॥ १६ ॥

**गा** इति। स कृष्णो गोपालै स्सह ॥ १७ ॥

**श्रुत्वेति**। तत्कथाक्षिप्तमनसः, अत एव तद्दर्शनोत्सुकाः तं कृष्ण मागतं श्रुत्वा जातसम्भ्रमा बभूवु रिति ॥ १८ ॥

**चतुर्विध** मिति। भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यभेदै श्चतुर्विधम्। बहुगुणं संस्कार विशेषैः बहवो गुणाः रससौरभ्यादयो यस्मिंस्तत्। भाजनै रमत्रै र्भाण्डैर्वा। पत्यादिभि र्वार्यमाणा अपि प्रियं श्रीकृष्णम् अभिसस्रुः अभिजग्मुः। अप्रतिबन्धे दृष्टान्तः समुद्रं निम्नगा नद्य इवेति ॥ १९ ॥

**निषिध्यमाना** इति। तत्र हेतुः भगवतीति। दीर्घं बहुकालम् श्रुतेन श्रवणेन धृतः आशयो याभि स्ताः ॥ २० ॥

---

1. A,B,J ईषिताः 2. A,B,J °स्त्वात् 3- -3. A,B,J तमुपागतं 4. A,B,J omit इति। 5. A,B,J अत्र।

**वीर०** विप्रपत्नीभ्यो वो युष्मभ्यं नमः, नोऽस्माकं वचांसि निबोधत शृणुत। किम्? इत स्समीपे सञ्चरता कृष्णेन वयं प्रेषिताः ॥ १६ ॥

स तु स रामो गोपै स्सह दूर मागतः, व्रजादिति शेषः। अधुना बुभुक्षितस्य सानुगस्य गोपसमूह सहितस्य तस्य श्रीकृष्णास्य वो यदि श्रद्धा तर्हि अन्नं प्रदीयतां प्रकर्षेण दीयतां, न त्वस्माक माशाभङ्गः कार्यः इति भावः ॥ १७ ॥

पूर्वमेव तस्य कृष्णस्य कथया आक्षिप्ता न्याहृतानि मनांसि यासां ताः। अत एव तद्दर्शन तत्परा स्तदा तमागतं श्रुत्वा जातसम्भ्रमा बभूवुः ॥ १८ ॥

चतुर्विधं भक्ष्यभोज्यलेह्यपेयात्मकं बहुगुणं रस सौरभ्यादि बहुगुणक मन्नं पात्रै रादाय सर्वाः [7]विप्रपत्न्यः प्रियं निरतिशयप्रीतिविषयं भगवन्त मभिजग्मुः। कथम्भूताः? पत्यादिभिः निवार्यमाणा अपि भगवति दीर्घं बहुकालं श्रवणेन धृत आशयो यासां ताः। अत एव नद्यः समुद्रं प्रति इव अप्रतिबन्धा प्रियम् अभिसस्रु रित्यन्वयः॥ १९, २०॥

---

1. A,B omit वयं 2. K,T,W omit स तु 3- -3. T,W सानुचरस्य तस्य 4- -4. K,T,W omit 5- -5. T,W omit 6- -6. A,B जातोत्सवाः 7. A,B द्विज

**विज०** चरता बुभुक्षितेन ताच्छीलिक स्तृन्प्रत्ययः। 'चर गति भक्षणयोः इति धातुः'॥ १६ - १८॥

चतुर्विधं भक्ष्य भोज्य लेह्य चोष्य पानात्मकं बहुगुणं मधुरादिगुणोपेतम्॥ १९॥

दीर्घश्रुतेन बहुकालश्रवणेन भगवति भृत आशयो या भि स्ताः। कदाऽनु द्रक्ष्याम इत्यभिप्रायः आशयः॥ २०॥

**यमुनोपवनेऽशोकनवपल्लवमण्डिते।**
**[1]विचरन्तं वृतं गोपै र्दृदृशु स्साग्रजं स्त्रियः॥ २१॥**

**श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्हधातुप्रवाल नट वेष मनुव्रतांसे।**
**विन्यस्त हस्त मितरेण धुनान मब्जं कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम्॥ २२॥**

**[2]प्राय श्श्रुतप्रियतमोदय कर्ण पूरैर्यस्मिन्निमग्नमनस स्तमथाक्षिरन्ध्रैः।**
**अन्तः [3]प्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य तापं प्राज्ञं यथाभिमतयो विजहुर्नरेन्द्र!॥ २३॥**

**तास्तथा [4]त्यक्तसर्वाशाः प्राप्त आत्मदिदृक्षया।**
**विज्ञायाऽखिलदृग्दृष्ट्वा प्राह प्रहसिताननः॥ २४॥**

**[6]श्री भगवानुवाच[-6]**

**स्वागतं वो महाभागाः! आस्यतां करवाम किम्?**
**यन्नो दिदृक्षयाऽभ्येता उपपन्न मिदं हि वः॥ २५॥**

**[8-]नन्वद्धा मयि[-8] कुर्वन्ति कुशला स्स्वार्थ दर्शिनः[-9]।**
**अहैतुक्यव्यवहितां भक्तिमात्मप्रिये यथा॥ २६॥**

1. M,Ma प्र 2. M,Ma दीर्घश्रु° 3. M,Ma °वि° 4. K,T,W °दा 5. A,B,G,J,V °म्द्रष्टा; M,Ma °म्दृष्टया 7. A,B,G,J °या प्राप्ता; K,T,W °याऽऽयाता 8- -8. M,Ma न श्रद्धा मधि 9- -9. M,Ma °लार्थनिदर्शना ः; V लास्वार्थदर्शिन ः।

**श्रीध० यमुनेति।** तथाऽऽगतास्सत्यो ददृशुः ॥ २१ ॥

**श्याम मिति।** हिरण्यवत्परिधिः परिधानं यस्य तं पीताम्बरमित्यर्थः। वनमाल्यैः बर्हैः धातुभिः प्रवालैश्च नटव द्वेषो यस्य तम्। अनुव्रतस्य सख्यु रंसे विन्यस्तो निहितो हस्तो येन तम्। इतरेण हस्तेन लीलया अब्जं धुनानं भ्रामयन्तम्। कर्णयो रुत्पले यस्य। अलकाः कपोलयो र्यस्य। मुखाब्जे हासो यस्य तञ्च, तञ्च ॥ २२ ॥

वृत्ते रपि लयेन सा[1]मरस्य माह[-1] **प्राय** इति। प्रा[2]यो बहुशः श्रुता ये प्रियतमस्योदया उत्कर्षाः त एव कर्णपूराः कर्णौ पूरयन्ति कृतार्थी कुर्वन्तीति तथा तैः कर्णाभरणै रिति वा यस्मिन् श्रीकृष्णे निमग्नमनस आविष्ट चेतसः, तं लोचनद्वारैः अन्तःप्रवेश्य सुचिर मु[3]पगुह्य तापं जहुः। अभिमतयोऽहंवृत्तयः प्राज्ञं सुषुप्ति साक्षिणं परिरभ्य तस्मिन् लयं प्राप्य यथेति ॥ २३ ॥

**ता** इति। अखिलदृशां द्रष्टा सर्वबुद्धिसाक्षी। ता स्तथा प्राप्ता विज्ञायापि। तथेत्येतद्विवृणोति त्य[4]क्तसर्वाशा[-4]ः त्यक्तास्सर्वा आशा याभिस्ताः। केवल मात्मनः स्वस्यैव दिदृक्षयेति ॥ २४ ॥

**स्वागत** मिति। हे महाभागाः! वः स्वागतं शुभ मागमनम्। तदेवाऽऽह - यद्यस्मात् प्रतिबन्धतिरस्कारेण अस्माकं दिदृक्षया प्राप्ता इति। इदं व उपपन्नं सम्पन्नं युक्त मिति वा ॥ २५ ॥

युक्त[5]त्वमेवाऽऽह - **नन्विति।** आत्मप्रिये आत्मा चाऽसौ प्रियश्च तस्मिन्मयि कुशला विवेकिनः, अत एव स्वस्याऽऽत्मनोऽर्थं पु[6]रुषार्थं[-6] पश्यन्ति, ये ते यथा यथावत् भक्तिं कुर्वन्ति। यथावत्त्वमाह - अद्धा साक्षात्। अत्र हेतुः अहैतुक्यव्यवहितां फलाभिसन्धिरहिताम् अत एव अव्यवहितां निरन्तराम् ॥ २६ ॥

1- -1. B साम्य माह 2. A,B,J omit प्रायः 3. P,V गृह्य 4- -4. P,V omit 5. B,J माह 6- -6. V omits.

**वीर०** यमुनासमीपवने कथम्भूते? अशोकानां तरूणां नवैः पल्लवैः मण्डिते विचरन्तम् अग्रजेन सहितं गोपैश्चाऽऽवृतं कृष्णं स्त्रियो, द्विजपत्न्यः ददृशुः ॥ २१ ॥

कथम्भूतम्[1]? श्यामं हिरण्यवत्परिधिः परिधानं यस्य तम्, पीताम्बर मित्यर्थः। वनमाल्यैः वन्यैः पुष्पैः बर्हैः धातुभिः गैरिकादिभिः प्रवालैः पल्लवैश्च नटव द्वेषो यस्य अनुव्रतस्य सख्युः अंसे स्कन्धे विन्यस्तो हस्तो वामकरो येन, इतरेण[2] अब्जं धुनानं लीलया भ्रामयन्तं, कर्णयो रुत्पले यस्य, अलकाः कपोलयो र्यस्य, मुखाब्जे हासो यस्य तं, तथाविधं ददृशुरित्यन्वयः॥ २२॥

बहुश आकर्णिताः प्रियतमस्योदया उत्कर्षाः त एव कर्णौ पूरयन्ति कृतार्थौ कुर्वन्ति तथा तैः, कर्णाभरणै रिति वा। यस्मिन् कृष्णे निमग्नमनस आविष्टचित्ता[3] स्तं कृष्णम् अथ दर्शनानन्तरम् अक्षिरन्ध्रैः लोचनद्वारैः अन्तःप्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य उपगूह्य[4] तापं तद्दर्शनाभावजं जहुः। हे नरेन्द्र! अभिमतयः भगवद्भक्तानां तद्दिदृक्षात्मिका बुद्धयः प्राज्ञं परमात्मानं "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः" (बृह.उ.4-3-21) "प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढः" (बृह.उ.4-3-35) इति श्रुतेः। तं दृष्ट्वा यथा तद्दर्शनाभावजं[5] ताप माध्यात्मिकादिकं वा जहति तद्वत्। 'अतिमतय' इति पाठे ज्ञानाधिकाः॥ २३॥

तदा भगवानात्मनः स्वस्य दिदृक्षया प्राप्ताः ता दृष्ट्वा त्यक्ताः[6] सर्वा आशाः पत्यादिविषयाः याभिस्तथा भूताः विज्ञाय, तत्र हेतुः अखिलं पश्यतीति। तथा प्रहसित माननं यस्य स प्राह॥ २४॥

तदेवाऽऽह - **स्वागतमित्यादिभिः** पञ्चभिः। हे महाभागाः! अस्मदनुग्रहविषयतारूपमहाभाग्यशालिन्यः! वः स्वागतं शोभनमागमनं भद्रादिभि रनिर्बद्धाः कुशल मागताः[7]? आस्यताम् उपविश्यताम्। वो युष्माकं किं कार्यम्? अत्राऽऽगमनप्रयोजनं किमिति प्रश्नः। यदि किञ्चि दस्ति तदवश्यं वयं करवाम। सर्वज्ञत्वा त्तदभिप्रेतं विज्ञाय तस्यौचित्य माविष्करोति यदिति। नोऽस्माकं दिदृक्षया अभ्यागता इति यत्तदिदं वो युष्माकम् उपपन्नमुचितमेव॥ २५॥

औचित्य मेवोपपादयति **नन्विति**। ननु हे द्विजपत्न्यः! कुशला आत्महिताहितविवेकिनः स्वार्थ दर्शनाः सर्वप्रयोजनाभिज्ञा जनाः आत्मनः स्वस्मादपि प्रिये मय्यद्धा मय्येव। अद्धेति स्फुटावधारणयोः। अहैतुकीं फलाभिसन्धिरहिता मव्यवहिता मविच्छिन्नां भक्तिं यथावत्कुर्वन्ति। विवेकिनो[8] यथा मयि[8] [9] भक्तिं[10] कुर्वन्ति तथा भवत्योऽपि कृतवत्य इति वार्थः[10]॥ २६॥

---

1. A,B कीदृशम्? 2. A,B add हस्तेन 3. T,V °दि° 4. K °गु° 5. A,B add जहुः 6. T,W omit सर्वाः 7. A,B add किम्? 8--8. T,W omit 9. A,B add महानुभावाः 10- -10. T,W omit.

**विज०** किङ्कुणविशिष्टं ददृशुः इति तत्राऽऽह श्यामं हिरण्य परिधिं सुवर्णमेखलं, सुवर्णव न्पीताम्बरं वा। वनमाल्येन वनपुष्पेण बर्हेण मयूरपिच्छेन, धातुना गैरिकेण, प्रवालेन नटवेषवद्वेषो यस्याऽसौ तथा तम्, अनुव्रतांसे कस्यचि द्वयस्यस्य स्कन्धे, कर्णयो रुत्पले, अलकः कुन्तलं कपोले च, मुखाब्जे हासो यस्य स तथा तं, धुनानं परिकम्पयन्तम्॥ २१,२२॥

दीर्घकाल मारभ्य श्रुतः प्रियतम स्योदयो दीर्घश्रुतप्रियतमोदयः स एव कर्णपूराः कर्णालङ्करणानि तैः यस्मिन् कृष्णे निमग्नमनसः अवगाह्य दृढबद्धहृदयाः पूर्वं ताः स्त्रियोऽथ तं कृष्णं अक्षिविवरैः अन्तः प्रविश्य सुचिरं परिरभ्य आलिङ्ग्य तापं स्मरनिमित्तं ज्वरं जहुः। कथमिव? यथा प्राज्ञाः सुषुप्त्यवस्था साक्षिणः प्राज्ञं प्राप्ताभिमतयः इन्द्रियवृत्तयः तापं त्यजन्ति "सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति" (छान्दो.उ. 6-8-1) इति श्रुतेः। यद्वा भगवत्तत्वज्ञाननिपुणाः प्राज्ञाः। प्राज्ञमिति पाठे परिरभ्येति सम्बन्धः॥२३॥

त्यक्तसर्वाशाः त्यक्तसर्वातितृष्णाः, "आशा दिगतितृष्णयोः" (वैज. को. 6-2-3) इति च। दृष्ट्या अपरोक्षज्ञानेन तासां भक्तिं विज्ञाय अखिलदृक् अखण्डज्ञानी॥२४॥

अभ्येता अभ्यागताः, यद्यस्मात् इदं वः उपपन्नं युक्तम्॥२५॥

एवं कुशलं पुण्यमेवार्थः कुशलार्थः, तस्य नितरां दर्शनं येषां ते, कुशलार्थनिदर्शनाः। "अर्थी समर्थो विद्वानधिक्रियते" इति वचनात्। कुशला निपुणाश्च अर्थनिदर्शनाश्च ते तथा। यद्वा कुशलार्थो भगवन्निदर्शन मुदाहरणं येषां ते तथा। 'कुशलाः स्वार्थ दर्शनाः' इति पाठः। एते श्रद्धां विषयाभिलाषं न कुर्वन्ति, किन्तु आत्मप्रिये भगवति अहैतुकीं निर्निमित्तां अव्यवहितां निरन्तरीभूतां भगवद्भक्तिमधिकुर्वन्ति अधिकां कुर्वन्ति। कथ मिव? यथाऽऽत्मप्रिये स्वभर्तरि, भगवतीति शेषः। यथाशास्त्रविहित प्रकारेण "तदेत त्प्रेष्ठः" इति श्रुतेः। देहादिभ्योऽपि प्रियत्वं हरे रेवेति प्रतिपादयति। यद्वा स्वार्थदर्शनाः स्वर्गादिफलार्थदृष्टयः कुशलाः यज्ञविद्यानिपुणाः अहैतुक्यव्यवहितां श्रद्धा मास्तिक्यबुद्धिं अधि अधिके ईश्वरे न कुर्वन्ति। व्यतिरेकदृष्टान्तं माह - अहैतुकी इति। भक्ता आत्मप्रिये मयि यथा भक्तिं कुर्वन्ति न तथेति॥२६॥

प्राणबुद्धिमनस्स्वात्म दारापत्यधनादयः।
यत्सम्पर्का त्प्रिया आसं स्ततः कोन्वपरः प्रियः॥२७॥

तद्यात देव यजनं पतयो वो द्विजातयः।
स्वसत्रं पारयिष्यन्ति युष्माभि र्गृहमेधिनः॥२८॥

विप्रपत्न्य ऊचुः

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं सत्यं कुरुष्व निगमं तव पादमूलम्।
प्राप्ता वयं तुलसिदाम पदाऽवसृष्टं केशै र्निवोढुमतिलङ्घ्य समस्तबन्धून्॥२९॥

गृह्णन्ति नो न पतयः पितरौ सुता वा न भ्रातृबन्धुसुहृदः कुत एवचाऽन्ये।
तस्मा न्त्वत्प्रपदयोः पतितात्मनां नो नाऽन्या भवेद्गति रिन्दम तद्विधेहि॥३०॥

**श्रीभगवानुवाच**

**पतयो नाऽभ्य सूयेरन् पितृ भ्रातृ सुतादयः।**
**लोकाश्च वो मयोपेता देवा अप्यनुमन्वते॥ ३१॥**
**न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणा मिव।**
**तन्मनो मयि युञ्जाना अचिरान्मा मवाप्स्यथ ॥ ३२॥ ★**

---

1. T,W स्त्रियः (याः) 2. M,Ma,T,W साध्व्यो 3. A,B,G,J omit विप्र; M,Ma द्विज 4. M,Ma °त्प्रसीद पद° 5. M,Ma श्रीकृष्णः 6. V न ह्य° 7. M,Ma °नित्यं 8. A,B,G,J,K,M,Ma °ह ★ The following extra verse is found in B,K,T,V,W and there is no commentary on the same. श्रवणा दर्शना द्धचाना न्मयि भावोऽनुकीर्तनात्। न तथा सन्निकर्षेण, प्रतियात ततो गृहान्॥

**श्रीध०** आत्मनः सर्वतः[1] प्रेष्ठत्व मुपपादयति - **प्राणेति।** स्वाज्ञातयः आत्मा देहः एते सर्वे यत्सम्पर्कात् यस्य अध्यासेन[2] उपकरणत्वेन वा॥ २७॥

**तदिति।** तत्तस्मात् कृतार्था यूयं देवयजनं यज्ञवाटं यात गच्छत। ननु[3] कृतार्थाः किमिति यास्यामः इति चेत् अत[4] आह पतय इति। पारयिष्यन्ति समापयिष्यन्ति, पतीनामनुग्रहायेत्यर्थः॥ २८॥

**मेति।** नृशंसं पुरुषम्। निगमं प्रतिज्ञां "न मे भक्तः प्रणश्यति" (भ.गी. 9-31) इति। वेदं वा "न स पुन रावर्तते" (निरा.उ.33) इति। पदावसृष्टमवज्ञयाऽपि दत्तम्। बहुमानेन केशैर्निर्वोढुं दासीभवितुम्॥ २९॥

**गृह्णन्तीति।** किञ्च, न गृह्णन्ति नोऽस्मान्। हे अरिन्दम! कामलोभादिदमन[5]! भवतः प्र[6]पदयो[6], पादाग्रयोः पतितदेहानाम् अन्या स्वर्गादि गतिरपि न भवेत् मा भूत्। तत्तस्मात् दास्यमेव विधेहीति॥ ३०॥

**पतय** इति। मयोपेता अनुज्ञाताः प्रत्यक्षं देवान् प्रदर्श्याऽऽह देवा अपीति॥ ३१॥

तथाऽपि त्वां त्युक्तुं न शक्नुम इति चेत्तत्राऽऽह **नेति।** नृ[7]णां मद्भक्तानां[7] प्रीतये सुखाय[8] अनुरागाय स्नेहवृद्धये अङ्गसङ्गोऽङ्गाभ्यां सङ्गः॥ ३२॥

---

1. V °त्र 2. P,V आध्यानेन 3. P,V omit ननु 4. A तत्राह 5. A,B,J °भपापादि 6- -6. P,V omit 7- -7. A,B,J omit 8. B omits सुखाय

**वीर०** आत्मप्रिये इत्येतदेव काक्वोपपादयति **प्राणेति।** स्वाऽऽत्मा स्वदेहः स्वो जीवः आत्मा देहो वा। प्राणादयो यत्सम्पर्कात् यत्सम्बन्धात् प्रिया भवन्ति, ततो मत्तः प्रियेऽन्यः को नु? न कोऽपि; निरतिशयप्रियोऽहमेव।

इत्थम्भूते मयि अहैतुक्यव्यवहिता भक्ति र्भवतीना मुचितैवेति तत्कारिता महिदृक्षोचितैवेति भावः। यत्सम्पर्कात् प्रिया इत्यनेन "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय" (बृह.उ. 2-4-5) इत्यादि श्रुत्यर्थो विवक्षितः। तदर्थस्तूक्तः पुरस्तात्॥ २७॥

[1]तत् तस्मा दागमन प्रयोजनस्य महर्शनस्य जातत्वात् देवयजनं सत्त्रवाटं गच्छत। वो युष्माकं पतयो ब्राह्मणाः गृहमेधिनः गार्हस्थ्यधर्मपरायणाः युष्माभिरेव सहायभूताभिः स्वसत्रं पारयिष्यन्ति स[2]मापयिष्यन्ति दम्पत्यो स्साहाधिकारादिति भावः॥ २८॥

स्वमनोरथाननुगुणोक्तिश्रवणात् निर्विण्णा आहुः [3]**मैवमिति**। हे विभो! भवानेवं 'तद्यात देव यजनं' इत्येवं नृशंसं परुषं वचो वक्तुं नार्हति। किन्तु यो निगमः "प्रियोऽहि ज्ञानिनोऽत्यर्थ महं स च मम प्रियः" (भ.गी. 7-17), "न मे भक्तः प्रणश्यति" (भ.गी.9-31) इत्यादिवचनरूपः, तं सत्यं कुरुष्व। नित्य मिति पाठेऽपि स एवाऽर्थः। वयन्तु समस्तबन्धूनतिलङ्घ्य पदावसृष्टमवज्ञयाऽपि दत्तमिति भावः। तत्तुलसिदाम केशैर्बहुमानेन वोढुं प्राप्ताः, दासीभवितुं प्राप्ता इति भावः॥ २९॥

किञ्च, अतिलङ्घितबन्धू नस्मान् न पत्यादय एव परिगृह्णन्ति, कुतोऽपरे गृह्णीयुः। तस्मात् हे अरिन्दम! भवतः प्रपदयोः पादाग्रयोः पतिता आत्मानो देहा यासां ताः पतिता स्समर्पिताः आत्मानः प्रत्यगात्मानः याभि स्तासां वा। नोऽस्माकं नाऽन्या गतिः, अस्मत्समीहितोपायोऽन्यो नाऽस्ति, अत स्त्वमेव [4]अस्मदभिमतं विधेहि। यद्वा, अन्या गतिः स्वर्गादि रपि मा भूत्, किन्तु त्वदविश्लेषेण त्वद्दासीत्व मेव अस्माकं सम्पादय॥ ३०॥

एव मुक्तो भगवान् तावत् यदुक्तं पत्यादयः केऽपि नाऽऽस्मान् गृह्णन्तीति तत्रोत्तर माह **पत्य** इति। वो युष्मान् पत्यादयः अन्ये लोका जनाः किमुत, मयोपेता मत्प्रभृतयो देवाश्च नाऽभ्यसूयेरन् न दोषदृष्ट्या द्रक्ष्यन्ति, किन्तु अनुमन्वते अनुमोदन्ते॥ ३१॥

यदुक्तं तद्विधेहीति, तत्रोत्तर माह **नेति**। इह लोके नृणामङ्गसङ्गः देहयोगः न प्रीतये न वैषयिकसुखाय, अपि तु मय्यनुरागाय, जन्मनः फलं मद्भक्तिरेवेत्यर्थः। यद्वा नृणां चेतनानामङ्गसङ्गः तादात्विक[6]रागाय न तु कालान्तरप्रीतये, विश्लेषस्तु कालान्तरेऽपि प्रीतिवर्धक इत्यभिप्रायः। तस्मात् परोक्षमपि मयि मनो युञ्जानाः अचिरा देव मामवाप्स्यथ संसृतिबन्धान्मुक्ताः नित्यं मद्दास्यं करिष्यथेति भावः [7]स्मरणादिना यथा मयि भावः, तथा सन्निकर्षेण नेति॥ ३२॥

---

1. K,T,W omit तत् 2- -2. K,T,W omit 3. A,B add पत्न्यः 4. A,B add तत् 5. T,W °स° 6. A,B,T,W °स्मि° 7- -7. T,W omit.

**विज०** तव सर्वस्मा दाधिक्यं कुत इत्यत्राऽऽह **प्राप्तेति** ॥ २७॥

यस्मा दखण्डेश्वरे मयि भक्तिं कुर्वन्ति, नाऽन्यत्र, तस्मात् मदाज्ञां कुरुतेत्याह - **तदिति**। गन्तव्ये निमित्तमाह पतय इति। वः पतयः द्विजातय इति। अतः कालक्षेपो नोचितः। निमित्तान्तरमप्यस्तीत्याह - स्वसत्र मिति। पारयिष्यन्ति सम्पादयिष्यन्ति॥ २८॥

यातेति नृशंसं परुषं गदितुं निगमं "न मे भक्तः प्रणश्यति" (भ.गी. 9-31) इति वचनं सत्यं कुरु। पदावसृष्टं श्रीपादच्युतं, तेन दत्तं वा तुलसीदाम श्रीतुलसीमालां केशै र्नितरां वोढुं तव[1] पादमूलं प्राप्ताः ॥ २९॥

कालक्षेपात् द्विजातय अस्मान्न गृह्णन्तीति सूचितम्। तत्र तत्सहायाभावात् पुनर्गमने ते नैव गृह्णन्तीत्याहुः - गृह्णन्तीति। ततः शरणं विधेहि कुरु॥ ३०॥

कुत एव चान्य इत्यत्राऽऽह लोकाश्चेति॥ ३१॥

तव पादमूलं प्राप्ता इत्यत्र अङ्गसङ्ग स्सूचितः तत्राऽऽह - **नेति**। इह नृणा मङ्गसङ्गो मम प्रीतये न भवति। मम अनुरागाय च न स्यात्[2]। तस्मात् मयि मनो युञ्जानाः यूयं क्षिप्रं मा मवाप्स्यथ इत्यन्वयः। अनेन, अहं भक्त्यैव तुष्टो भवामि नाऽन्येनेति सूचितम्॥ ३२॥

---

1. A,B omit तव 2. A omits स्यत्।

श्रीशुक उवाच

इत्युक्ता द्विजपत्न्य[1] स्ता यज्ञवाटं पुन र्गताः।
ते चाऽनसूयव स्ताभिः[2] स्त्रीभि स्सत्र मपारयन्॥ ३३॥

तत्रैका विधृता[3] भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम्।
हृदोपगूह्य[4] विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम्॥ ३४॥

भगवानपि[5] गोविन्द स्तेनैवान्नेन गोपकान्।
चतुर्विधेनाऽऽशयित्वा स्वयञ्च बुभुजे प्रभुः ॥ ३५॥

एवं लीला नरवपुर्नृलोक मनुशीलयन्।
रेमे गो गोप गोपीनां रमय[6] रूपवाक्कृतैः ॥ ३६॥

अथाऽनुस्मृत्य[7] विप्रा स्ते अन्वतप्यन्[8]कृतागसः।
यद्विश्वेश्वरयोर्याच्ञा मह्न्म[9] नृविडम्बयोः ॥ ३७॥

**दृष्ट्वा स्त्रीणां भगवति कृष्णे भक्ति मलौकिकीम्।**
**आत्मानञ्च तया हीन मनुत[10] मा व्यगर्हयन्॥ ३८॥**
**धिग्जन्म न[11] स्सुहृद्वृत्तं धिग्व्रतं[11] धिग्बहुज्ञताम्।**
**धिक्कुलं धिक्क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे॥ ३९॥**

---

1. B,J मुनि 2. A,B,G,J °स्वाभिः 3. V, W °द्रु° 4. A,B,G,J,K,M,Ma,T °गु° 5. K °थ 6. M,Ma °नृप! 7. T,W तदनु 8. V ह्म° 9- -9. M,Ma °महनन्नृ°; K,T,W °महन्मर्त्य° 10. T,W तप्य 11- -11. A,B,G,J,V नस्त्रिवृद्विद्यां धिग्व्रतं, M,Ma नस्तु धिग्बुद्धिं धिग्वृतं

**श्रीध० इतीति।** अनसूयवः[1] अदोषदृष्टयः॥ ३३॥

**तत्रेति।** देहमिति। तदीयं देहं तत्र विहाय चैतन्येन भगवन्तं प्रापेत्यर्थः॥ ३४,३५॥

**एव** मिति। अनुशीलयन् अनुकुर्वन्। गोगोपगोपीना मिति कर्मणि षष्ठी। रूपवाकृतैः रूपेण वाचा। कृतै श्चरितैश्च रमयन्। ता[2] रामयितुं रेमे इत्यर्थः॥ ३६॥

अनुस्मृति प्रकार माह **अथेति।** नरानुकरणवतोः विश्वेश्वरयोः याच्ञां यत् अहन्म हतवन्तः तत्कृतागसो वय मित्यनुस्मृत्येति॥ ३७॥

तथा[3] च भार्याः गुरूनिव मानयन्तो भगवद्भक्तिरहितमात्मानं अनिन्द न्नित्याहुः[4] - **दृष्ट्वेति।** अलौकिकीम् लोकातीताम्॥ ३८॥

**धिगिति।** त्रिवृत् शौक्लं, सावित्रं, दैक्षमिति त्रिगुणितं जन्म व्रतं ब्रह्मचर्यम्। क्रियाः कर्माणि दाक्ष्यञ्च। क्रियादाक्ष्य मित्येकं वा पदम्। धिगि त्यधिक्षेपि। ये वयं तु[5] अधोक्षजे विमुखा स्तेषां नः[6] जन्मादि यत्[7] तत्सर्वं धिगिति व्यगर्ह्यन्नित्यर्थः[8]॥ ३९॥

---

1. A adds तासु 2. A,P,V तान् 3. A,B,J तदा 4. A,B,J °ह 5. P,V omit तु 6. A,B,J omit नः 7. A,B,J omit यत् 8. A,J, omit °य°

**वीर०** इत्थं भगवतोक्ता स्ता द्विजपत्नयो यज्ञवाटं पुन[1] र्जग्मुः। तत स्ते द्विजाः अनसूयव एव ताभि स्सह सत्र मपारयन् समापितवन्तः॥ ३३॥

तत्र द्विजपत्नीनां मध्ये काचित् भर्त्रा विधृता[2] निवारिता सती यथाश्रुतं भगवन्तं हृदोपगूह्य[3] संश्लिष्य कर्मानुबन्धनं कर्मायत्तं स्वदेहं तत्याज॥ ३४॥

अथ भगवान् तेनैव द्विजपत्नीसमर्पितेनैव अन्नेन गोपकान् भोजयित्वा तच्चतुर्विध मन्नं स्वय मपि बुभुजे॥ ३५॥

लीलया, न तु कर्मणा नरस्येव वपुर्यस्य स भगवान् इत्थं रूपादिभिः कृतानि चेष्टितानि तैश्च नृलोकमनुशीलयन् अनुकुर्वन् गोगोपपीना मिति कर्मणि षष्ठी। गावादीन् रमयन् स्वय मपि रेमे। यद्वा, नृलोक मनुशीलयन् अनुरञ्जयंश्च गोगोपगोपीनां मध्ये रेमे॥ ३६॥

**अथेति।** अथ विप्राः अनुस्मृत्य भगवान् यदुष्ववतीर्ण इति श्रुतत्वा दनुस्मृत्येत्यर्थः। कृतागसः, हेतुगर्भ मिदम्। तत्त्वा दन्वतप्यन्। किं तदागः. यतोऽन्वतप्यन्, तत्राऽऽह यत् यस्मात् मर्त्य मनुकुर्वतोः विश्वेश्वरयोः याच्ञा-महन् बभञ्जुः, ततः कृतागसः। अहन्निति यत् तदेवाऽगः इति वा॥ ३७॥

तदा भार्याः मानयन्तो भगवद्भक्ति रहित मात्मानं व्यनिन्द न्नित्याह **दृष्ट्वेति।** अलौकिकी मनितर जन साधारणीं तया कृष्ण भक्त्या हीनं रहितम्॥ ३८॥

गर्हाप्रकार मेवाऽऽह **धिगिति।** नोऽस्माकं जन्म धिक्! "उभसर्वतसोः कार्या धिक्" (796 वार्तिक under अष्टा. 1-4-48) इत्यादिवचनेन शेषषष्ठ्यपवादकत्वेन जन्मादीनां द्वितीया। धिक् शब्दो निन्दा द्योतकः। अस्माकं जन्मादयो निन्द्या इत्यर्थः। क्रिया यज्ञादिरूपाः दाक्ष्यं तदनुष्ठानसामर्थ्यम्। तत्र हेतुं वदन्तो विशिंषन्ति ये वयमधोक्षजे विमुखाः। 'त्रिवृत्' इति पाठे तज्जन्मनो[4] विशेषणम्। शौक्लं सावित्रं दैक्ष मिति त्रिगुणीकृतं जन्मेत्यर्थः। 'नस्तु धिग्बुद्धिम्' इति पाठे स्पष्टोऽर्थः। व्रतं ब्रह्मचर्यम्॥ ३९॥

---

1. T,W omit पुनः 2. T,W °द्धु° 3. K °गु° 4. A,B omit तत्।

**विज०** इतिशब्दो हेतौ॥ ३३॥

विधृता पृथक्कृता त्यक्ता इत्यर्थः "वि निषेधे पृथग्भावे" (वैज०.को. 8-7-6) इति यादवः। कर्मानुबन्धनं कर्मानुगम्॥ ३४,३५॥

वाग्भिः कृतैः कर्मभिश्च गोगोपगोपीनां मनांसि रमयन्॥ ३६॥

नन्वेते विप्राः समीचीना, उत असमीचीनाः? नाऽऽद्यः अनुभवादर्शनात्। न द्वितीयः, कृष्णपरायणानां स्त्रीणां पाणिग्रहण सम्बन्ध दर्शनात्। अथ कथं निर्णयः? इति, राज्ञो मानसीं शङ्कां परिहरति **अथेति।** ते विप्राः अथ मङ्गलाः कुतोऽन्वतप्यन् यतः कृतागसः कृतापराधत्वात्। अपराध सद्भावे किं प्रमाण मिति तत्राऽऽह अनुस्मृत्येति।

अनुस्मरणं प्रमाण मित्यर्थः। कोऽसा वपराध इति तत्राऽऽह - यदिति। अहनन् हिंसितवन्तः तिरस्कृतवन्त इति यत् स इत्यर्थः। नृविडम्बयोः मनुष्य मनुकुर्वतोः ॥ ३७॥

तेषा मनुतापः कथ मभूदिति तत्राऽऽह दृष्ट्वेति ॥ ३८॥

किमाकारोऽसौ इति तत्राऽऽह धिगिति। ततो जन्मादिकं धिक् कुत्सितम्। "धिक् भर्त्सने कुत्सने (वैज.को. 8-7-5) इति च॥ ३९॥

नूनं भगवतो माया योगिना[1] मपि मोहिनी।
यद्वयं गुरवो नृणां स्वार्थे मुह्यामहे द्विजाः ॥ ४०॥

अहो पश्यत नारीणा मपि कृष्णे जगद्गुरौ।
दुरन्तभावं यो[2]ऽ विध्य[2] न्मृत्युपाशा न्गृहाभिधान्॥ ४१॥

[3]नाऽऽसां द्विजाति संस्कारो न निवासो गुरावपि।
न तपो नाऽऽत्म मीमांसा न शौचं न[4] क्रिया श्शुभाः ॥ ४२॥

[5]अथाऽपि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे योगे[6]श्वरेश्वरे।
भक्तिर्दृढा न चाऽस्माकं संस्कारादिमता मपि॥ ४३॥

[7]ननु स्वार्थविमूढानां प्रमत्तानां गृहेहया॥
अहो न स्स्मारयामास गोपवाक्यै स्सतां गतिः ॥ ४४॥

अन्यथा पूर्णकामस्य कैवल्या द्याशिषां पतेः।
ईशितव्यैः किमस्माभि रीश स्यैत द्विडम्बनम्॥ ४५॥

---

1. A,M,Ma मायिना° 2- -2. M,Ma यश्छिन्द्या° 3. M,Ma आसां 4. V च 5. T,V,W त° 6. T,V,W °गी° 7. K,T,W स हि।

श्रीध० अहो इति। योऽविध्यत् अच्छिनत् तं दुरन्तं भावं भक्तिं पश्यतेति॥ ४०, ४१॥

नेति। द्विजातिसंस्कारः उपनयनम्[1]। क्रियाः सन्ध्योपासनादयः ॥ ४२ - ४५॥

---

1. P,V °यः।

**वीर०** भगवन्माया तरण हेतुः तद्भक्तिरेव, न तु उक्तजन्मादय इत्यभिप्रायेणाऽऽहुः **नून मिति** द्वाभ्याम्। नूनं योगिना मपि मोहिनी, यत् यस्मात् वयं द्विजा अपि उक्तजन्मादिमन्तोऽपि, तत्राऽपि नृणां गुरवोऽपि स्वार्थे स्वहिते विषये मुह्यामहे। भगवन्मायया मोहिता एवेत्यर्थः ॥ ४० ॥

अहो नारीणा मपि उक्तजन्मादिमध्ये केनाऽपि रहिताना मपीति भावः। **कृष्णे** दुरन्तभाव मनवधिक भक्तिं पश्यत। यो दुरन्तभावः गृहाभिधान् मृत्युपाशान् भगवनन्मायाप्रयुक्तान् अविध्यत् अच्छिनत् तं दुरन्तभावं पश्यतेत्यन्वयः ॥ ४१ ॥

द्विजा अपि, नारीणा मपीत्यनेन अभिप्रेतं स्पष्टयन्ति **नाऽऽसा मिति** द्वाभ्याम्। आसां नारीणां न द्विजाति संस्कारः नोपनयनान्त संस्कारः, न च गुरुकुलवासः नाऽपि तप आदयः। आत्ममीमांसा **देहवितक्षण** प्रत्यगात्मविचारः। क्रियाः सन्ध्योपासनादिरूपाः। अथाप्येषा मभावेऽपि कृष्णे दृढा भक्ति र्विद्यते। द्विजाति संस्कारादि मतामप्यस्माकं सा न विद्यते ॥ ४२,४३ ॥

अस्माकं विवेकोदयार्थ मेव भगवतो याच्ञा। अन्यथा सा[2] अवाप्त समस्तकामस्य असङ्गते त्याहुः स इत्यादिभि स्त्रिभिः। गृहेहया गृहव्यापारेण प्रमत्तानाम् अत एव स्वहितेऽपि विमूढाना मप्यस्माकं अहो सतां गतिः, हेतुगर्भ मिदम्, सतां गतित्वात् गोपवाक्यैः स्मारयामास। साधुपरित्राणार्थ मवतीर्णं निरतिशय पुरुषार्थस्वरूप मात्मानं याच्ञाव्याजेन स्मारयामासेत्यर्थः ॥ ४४ ॥

**अन्यथेति।** कैवल्यादी त्यादिशब्दो भोग मोक्षसङ्ग्राहकः। कैवल्यादि पुरुषार्थदस्य ईशस्य सर्वनियन्तुः ईशितव्यैरस्माभिः किम्? न किञ्चित्प्रयोजन मित्यर्थः। अत एव तद्याचनं विडम्बन मनुकरण मात्रम्। तात्पर्यन्तु अस्म दनुजिघृक्षाया मितिभावः ॥ ४५ ॥

---

1. A,B,T,W मायिना° 2. K असौ

**विज०** शास्त्रज्ञान मप्रयोजकम्, प्राप्ते काले फलाभावात् अतो भगव दनुग्रह एव वरीया नित्याशयेनाऽऽहुः **नून मिति।** मायिनां ज्ञानिना मपि अत्र हेतुमाह यद्वय मिति। गुरवो द्विजातय इत्येतद्द्वयं मोहासम्भवे हेतुः ॥ ४० ॥

दुरन्तभावं अव्यवहित भक्तिं गृहाभिधानान् मृत्यु पाशान् छिन्द्यात् छिनत्ति ॥ ४१ ॥

आसां स्त्रीणां द्विजाति संस्कारः उपनयन लक्षणः गुरौ गुरुकुल निवासो विद्याऽध्ययनार्थ मिति शेषः। आत्ममीमांसा ब्रह्मविचारः शौचं बाह्याभ्यन्तर शुद्धिः शुभाः क्रिया यागादि लक्षणाः ॥ ४२ - ४४ ॥

अन्यथा स्मारयितृत्वेनाऽपि। तर्हि स्त्रीणां किमर्थं कृत मिति, तत्राऽऽह ईशस्येति ॥ ४५ ॥

हित्वाऽन्यान् भजते यं श्रीः पादस्पर्शाशया सकृत्।
स्वात्म[1] दोषापवर्गेण तद्याच्ञा जनमोहिनी॥४६॥

देश[2]ः कालः पृथग्द्रव्यं[2] मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नयः।
देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च[3] यन्मयः॥४७॥

स एव[4] भगवान् साक्षा द्विष्णु र्योगेश्वरेश्वरः[5]।
जातो यदुष्वित्याश्रुत्य[6] अपि[7] मूढा न विद्महे॥४८॥

★ नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाऽकुण्ठमेधसे।
यन्मायामोहितधियो[8] भ्रमामः कर्मवर्त्मसु॥४९॥

स वै न आद्यः पुरुषः स्वमायामोहितात्मनाम्।
अविज्ञातानु भावानां क्षन्तुमर्हत्यतिक्रमम्॥५०॥

इति स्वाद्य[9] मनुस्मृत्य कृष्णे[10] ते कृत हेलनाः।
दिदृक्षवोऽप्यच्युतयोः[11] कंसाद्भीता न चाऽचलन्॥५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे त्रयोविंशोऽध्यायः॥२३॥

---

1. A,B,G,J आत्म 2- -2. M,Ma देशकालपृथग्द्रव्य 3. T,V,W °ध° 4. A,B,G,J,M,Ma एष 5. T,V,W °गी° 6- -6. A,B,G,J यदुष्वित्यशृण्म; M,Ma भुवीति शृण्वाना 7. A,B,G,J,V ह्य°; M,Ma ये वि° ★ अहो वयं धन्यतमा येषां न स्ताहशीः स्त्रियः। भक्त्या यासां मति र्जाता अस्माकं निश्चला हरौ। This above additional verse is found in A,B,G & J Edns. 8. M,Ma दृशो 9. M,Ma कृष्ण° 10. M,Ma विप्राः 11. A व्रजमथ; K °ऽपि स्वस्थानात्

श्रीध० हित्वेति। स्वात्म[1]दोषापवर्गेण चाञ्चल्य गर्वादित्यागेन॥४६, ४७॥

स इति। इत्यशृण्म। एवं सर्वत्र श्रुतवन्तो वयं हि, तथाऽपीति॥४८ - ५०॥

**इतीति।** नचाऽचलन्, तयो र्दर्शनाय न जग्मुः[2] ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

---

1. A,B,J आत्मनो 2. A adds इत्यर्थः ॥

**वीर०** पूर्णकामत्व मेव व्यञ्जयितु माहुः **हित्वेति।** श्रीः महालक्ष्मीः अन्यान् ब्रह्मादीन् हित्वा यं कृष्णं सकृदपि पादस्पर्शेच्छया स्वात्मदोषापवर्गेण चञ्चलत्वरूपस्वदोषप्रहाणेन भजते। एवं श्रियाऽप्यनुवर्त्यस्य पूर्णकामत्वं किमु वक्तव्य मिति भावः। अतः तस्य एवम्भूतस्य याच्चा केवलं जनमोहिनी जनाना मश्रुतावताराणा मात्ममहिमाच्छादनी श्रुतावताराणा मस्माकं[1] तु तत्स्मारिणीति भावः ॥ ४६ ॥

श्रुतावताराणामप्यस्माकन्तावत्[2] विमोहिन्येवाऽभूत्, किमुत, अश्रुतावताराणा मित्यभि प्रायेणाऽऽहुः **देश** इति द्वाभ्याम्। देशादयो यन्मयाः स एव भगवान् साक्षा चदुषु जातोऽवतीर्ण इत्याश्रुत्याऽपि तावन्न विद्महे न विज्ञातवन्तः[3] स्मः ॥ ४७, ४८ ॥

इत्थ मनुतप्ताः प्रणाम मन्तरेण स्वापराधक्षमानिमित्त मनुपलभमाना नमस्कुर्वाणाः क्षमापयन्ति **नम इति** द्वाभ्याम्। अज्ञानकृत मपराधं जानात्येवेत्यभिप्रायेण विशिंषन्ति अकुण्ठमेधस इति। अप्रतिहता मेधा धिषणा यस्य तस्मै। "नित्य मसिच् प्रजा मेधयोः (अष्टा. 5-4-112) इत्यसिच्। स्वयन्त्वकुण्ठमेधाः, वयं तन्माया मोहितधियः। अतः क्षन्तु-मर्हतीत्येवेत्यभिप्रायेणाऽऽहुः यन्मायेति। कर्मवर्त्मसु तद्भक्ति विधुरेषु केवलं यज्ञादि कर्ममार्गेषु भ्रमामः। पुरुषार्थसाधनबुद्धि कुर्मः। यद्वा "ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम्" (भ.गी.9-21) इत्याद्युक्तविधिगमनागमनमार्गेषु पुण्यपापात्मक कर्मायत्त स्वर्गनरकादिमार्गेषु वा भ्रमामः ॥ ४९ ॥

अत स्त्वन्मायया मोहितचित्तानाम् अत एव अविज्ञातोऽनु भावो महिमा यै स्तेषां नोऽस्माकं व्यतिक्रम मपराधं क्षन्तु मर्हति ॥ ५० ॥

इत्थं तावत् कृष्णे विषये कृतं हेलन मपराधो यैस्तथाभूताः शनैः स्वकृत मपराध मनुस्मृत्य ततस्तं श्रीकृष्णं[4] द्रष्टु मिच्छवोऽपि कंसाद्भीताः स्वस्थाना न्न चलितवन्तः। द्रष्टुं न जग्मुः। किन्तु तं ध्यायन्तः स्वस्थान एव तस्थुः ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

1. A,B °मप्यस्माकं 2. T,W omit अपि 3. A,B omit वि 4. K,T,W omit श्रीकृष्णं

विज्ञ० स्वात्मदोषापवर्गेण अन्यत्र चञ्चलत्वादिस्वकीयदोषपरित्यागेन स्थैर्यस्वभावेनेत्यर्थः ॥ ४६ - ५० ॥

अथापि अनुतापापि हरि दिदृक्षवो द्रष्टुकामाश्च नाचलन् नागच्छन्। कुतः ? कंसाद्भीता इति ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

(श्रीविजयध्वजरीत्या एकविंशोऽध्यायः)

# चतुर्विंशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या द्वाविंशोऽध्यायः)

### -: इन्द्रयागभञ्जन गोवर्धनाचलोद्धरणघट्टः :-

श्रीशुक उवाच

भगवानपि तत्रैव बलदेवेन संयुतः
अपश्यन्निवसन्गोपानिन्द्रयागकृतोद्यमान्॥ १॥

तदभिज्ञोऽपि भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः।
प्रश्रयावनतोपृच्छद्वृद्धान्नन्दपुरोगमान्॥ २॥

कथ्यतां मे पितः! कोऽयं सम्भ्रमो व उपागतः।
किं फलं? कस्य चोद्देशः? केन वा साध्यते? मखः[1]॥ ३॥

एतद्ब्रूहि महान्कामो मह्यं शुश्रूषवे पितः।
न हि गोप्यं हि साधूनां कृत्यं[2] सर्वात्मना मिह[3]॥ ४॥

अस्त्यस्वपरदृष्टीनाममित्रोदास्तविद्विषाम्[4]।
उदासीनोऽरिवद्वर्ज्य आत्मवत्सुहृदुच्यते[5]॥ ५॥

---

1. V °घ° 2. M,Ma कीर्त्यं 3. M,Ma त्विह° 4. A,K,T,W अस्त 5. M,Ma °दास°

### श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुर्विंशे महेन्द्रस्य मखं व्यावर्त्य हेतुभिः।
कृष्णः प्रवर्तयामास गोवर्धनमहोत्सवम्[1]॥
भूसुराणां क्रियागर्वं निरस्य स्वस्सुरेषु च।
मघवन्मदभङ्गाय तन्मखं समवारयत्[2]॥

**भगवानिति।** ब्राह्मणाः कंसाद्भीताः स्वाश्रमस्था एव भगवन्तमभजन्। भगवानपि तत्रैव निवसन् इन्द्रयागकृतोद्यमान् गोपानपश्यदिति सम्बन्धः॥ १,२॥

**कथ्यतामिति।** वृथासम्भ्रमो न भवति। मखोऽयमिति[3] चेत् किमत्र फलं, का देवता, केन वाऽधिकारिणा,[4] केन वा साधनेन साध्यते॥ ३॥

**एतदिति।** एतद्ब्रूहि महान्कामो मम श्रवणे वर्तते। यद्वा तव महान्कामो दृश्यत इति तूष्णीं स्थितं प्रत्याह- नेति सर्वात्मनां सर्वत्रात्मदृष्टीनाम्॥ ४॥

**अस्तीति।** अत एव न विद्यते स्वः पर इति दृष्टिर्येषामिति।[5] स्वपरदृष्ट्यभावादेव[6] न तद्भवामित्रादयोऽपि[7-] एषां सन्तीत्याह[7] - अमित्रेति। न मित्रम् उदास्त उदासीनो विद्विडचेषां तेषां कृत्यं सर्वकर्म[8] न[9] गोपनीयं किञ्चिदस्ति इ[10-] ति पूर्वेणान्वयः[10]। सत्यपि भेद दर्शने उदासीनः शत्रुवद्वर्ज्य आत्मतुल्यत्वात् सुहृत्[11] न वर्जनीय इत्याह उदासीन इति॥ ५॥

---

1 A,B,J °खो° 2. P,V °ख 3. A,B,J add एवं 4. A,B,J omit वा 5. P,W omit इति 6. P,V स्वः पर इतिह° 7- -7. A,B,J तत्तद्भेदा अमित्रादयोऽपि तेषां न सन्तीत्याह - 8. P,V omit सर्वं 9. A adds एव 10- -10. A,B,J इत्यर्थः 11. A,B,J add मन्त्रेषु

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ इन्द्रप्रीतिकरयागभञ्जनं ततस्सङ्क्रुद्धेन्द्रचोदितमहावातवर्षपीडित शरणागतव्रजवासिरिरक्षिषोपयुक्त गोवर्धना चलोद्धरणात्मकं भगवच्चेष्टितमनुवर्णयति द्वाभ्यामध्यायाभ्याम् **भगवानिति।** तत्रैव बृन्दावन एव निवसन् इन्द्रयागार्थं कृत उद्यमः प्रयत्नो यैस्तान् गोपानपश्यत्॥ १॥

सर्वात्मा सर्वदर्शनश्चेति च हेतुगर्भम्। अतस्तदभिज्ञोऽपि उद्यमस्य इन्द्रयागार्थत्वं जानन्नपि अज्ञ इव अवनतो नम्रः नन्द प्रभृतीन् वृद्धानपृच्छत्॥ २॥

प्रश्नप्रकारमेवाह - कथ्यतामिति। हे पितः। वो युष्माकं कः सम्भ्रमः उपस्थितः सम्भ्रमो न भवति मखोऽयमित्यत्राह किं फलमिति। मखश्चेत्किमत्र फलम्। कस्य सम्बन्धी उद्देशः का देवतेति प्रश्नः, केन साधनेन साध्यते इति साधनप्रश्नः॥ ३॥

हे पितः श्रोतुमिच्छवे मह्यमेतन्मत्पृष्टं ब्रूहि। अत्र महान्कामः शुश्रूषा वर्तते, गोप्यत्वाद्वक्तुं श्रोतुं च न योग्यमित्याशङ्कां निराकरोति - **न हीति।** साधूनां कृत्यं न हि गोप्यम्। तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि। सर्वात्मनां सर्वेष्वात्मान आत्मतुल्या येषां ज्ञानैकाकारत्वेन सर्वेऽप्यात्मान एकरूपा एवेति जानतामित्यर्थः॥ ४॥

अस्तस्वपरदृष्टीनाम् अस्ता रहिता स्वपरेषु स्वपराभिमतदेहेषु दृष्टिः युष्मदस्मद्दर्शनं येषां देहात्मनोर्याथात्म्यज्ञानमित्यर्थः। अत एव मित्रोदासीनशत्रुरहितानां न हि समदर्शिनां गोप्यमस्तीति भावः। विषमदर्शिनामपि सुहृद्विषये न गोप्यमस्तीत्याह

उदासीन इति। अरिवदुदासीनोऽपि वर्ज्य एव, अनेनोदासीनामित्रयोः गोप्यश्रवणनिषेध उक्तः। सुहृत्तु आत्मवत्स्वतुल्य उच्यते। अतस्सुहृदहं श्रोतुं योग्य एवेति भावः॥५॥

---

1. T,W omit भगवत् 2. A,B प्रति

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

स्वमहिमानं प्रकटयितुमुत्पथवर्ती पुरुषः सन्मार्गोपदेशेन शिक्षणीय इति शास्त्रशासनं पश्यन् कृष्णः सन्मार्गं दर्शयितु मुपक्रमत इत्याह शुक इति। तत्र व्रज एव निवसन्॥१॥

सर्वात्मा सर्वदर्शन इत्येतद्द्वयं तदभिज्ञत्वे हेतुः। प्रश्रयः सेवाशीलता॥२॥

कोऽयम्? किं विषयः? मखविषयश्चेत्तत्राह किं फलमिति। दृष्टम् उत अदृष्टं फलं, यद्वा किमर्थं सम्भ्रमः। अस्य सम्भ्रमस्य किं फलं साध्यं, मखश्चेत् अत्राह कस्येति। कां देवतामुद्दिश्य द्रव्यत्यागलक्षणः, केनाधिकारिणा हेतुना वा॥३॥

तदेतत्पृष्टं सर्वं मह्यं ब्रूहि, किमर्थं? महान्कामः, मम तस्मिन्कार्ये महत्याकाङ्क्षावर्तते। तुशब्दो भेदार्थः। इह वाच्यव्यवहारविशेषे यत्सर्वात्मना कीर्त्यं वक्तुं योग्यं तत्साधूनां गोप्यं न हि, कुत इत्थं सङ्कल्प्यत इत्यतः प्रसिद्धत्वादित्याह हीति॥४॥

कथमेतदवगतमिति तत्राह **अस्तीति**। निरस्तस्वकीयपरकीय बुद्धीनां शास्त्रादिसद्भावेऽयं विशेषो दुर्घट इति तत्राह- अमित्रेति। न विद्यते मित्रं उदासीनः विद्विट् येषां ते तथा तेषां मित्रादिविशेषाभावात् स्वकीयत्वादिबुद्ध्यभावेन साधूनां गोप्यं नास्तीति प्रसिद्धमेवेत्यर्थः। ननु चेतनानां चित्तस्य प्रमितत्त्वेन साधूनां मित्राद्यभाववचनं कण्ठोपरिगतवदौपचारिकं "परोक्ष प्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः" (बृह.उ. 4-2-2) इति श्रुतेः। "षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः" (सुबा. 27-18) इति स्मृतेः। अतः कथं गोप्यं नास्तीत्याशङ्क्य योग्यतातिरेकेण मित्रादिकं नास्तीति तत्वं, न तु सर्वात्मना, अतो गोप्यं नास्त्येवेति शत्रुः सर्वथा वर्ज्यः मित्रविषये उदासीनोपि तथा तस्य शत्रौ कथनसम्भवादरिवदसुद्धद्वर्ज्यः आत्मवत्सुहृदवर्ज्य इत्यभिप्रायेणाऽऽह उदासीन इति। अतः त्वत्सुहृत्वान्नोप्यमपि मह्यं ब्रूहीति भावः॥५॥

**ज्ञात्वा ज्ञात्वा च[1] कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति[2]।**
**विदुषः कर्मसिद्धिस्स्यात् यथा[3] नाऽविदुषो भवेत्॥६॥**

तत्र तावत्क्रियायोगो[4] भवतां[5] किं विचारितः[6] ?
अथवा लौकिकस्तन्मे[7] पृच्छतस्साधुभण्यताम्[8]॥७॥

नन्द उवाच

पर्जन्यो भगवानिन्द्रो मेघास्तस्यात्ममूर्तयः।
तेऽभिवर्षन्ति[9] भूतानां प्री[10]णनं जीवनं[-10] पयः ॥८॥

तं[11] तात वयमन्ये च वार्मुचां पतिमीश्वरम्।
द्रव्यैस्तद्रेतसा सिद्धैः यजन्ते[12] क्रतुभिर्नराः ॥९॥

तच्छेषेणोपजीवन्ति त्रिवर्गफलहे[13]तवे।
पुं[14]सां पुरुषकाराणां पर्जन्यः फलभावनः ॥१०॥

---

1. K,T,W हि 2. M,Ma ते 3. A,B,G,J तथा 4. M,Ma °गा 5. M,Ma भवता 6. M,Ma °ताः 7. M,Ma °का° 8. K,T,V,W फ 9. M,Ma,T,Wअभि° 10- -10. M,Ma प्राणनं जीवनं; K,T,W जीवनं प्राणनं; V प्राणसञ्जीवनं 11. A,M,Ma तत्तात; T,V,M तं तथा 12. A °न्ति° 13. V सिद्धये 14. A पुंसः

**श्रीध०** किञ्च सुहृद्भिः सह विचार्य ज्ञात्वैव कर्म कर्तव्यं, न तु गतानुगतिकत्व[1]मात्रेणेत्याह - **ज्ञात्वेति।** अज्ञात्वा च। तत्र विदुषो यथावत्कर्मफलं स्यात्तथा नाविदुषः ॥६॥

**तत्रेति।** भवतामयं क्रियायोगः शास्त्रतः[3] किं विचारितः प्रवृत्तो लौकिकाचार[4] प्राप्तो वेति। साधु सोपपत्तिकं भण्यतां[5] कथ्यतामिति ॥७॥

आचारप्राप्त ऐवेति सहेतुकमाह - **पर्जन्य** इति। आत्ममूर्तयः प्रियमूर्तयः ॥८॥

ततः किमित्यत आह - **तमिति।** तमिन्द्रं वार्मुचां[6] मेघानां प[7]तिं स्वामिनमीश्वरं नियन्तारम्[7]। तद्रेतसा तद्वृष्टिपयसा ॥९॥

**तदिति।** उपजीवन्ति[8] जीविकां कल्पयन्ति धर्मार्थकामसिद्धये। ननु कृष्यादिभिर्जीवन्ति, किमिन्द्रेणे[9]त्यत्राह पुंसामिति। फलभावनः फलसाधकः। पर्जन्यं विना कृष्यादि वैफल्यादित्यर्थः ॥१०॥

---

1. P,V omit °त्व° 2. A,B,J त° 3. A,B,J add अपि 4. A,P,V °क आ° 5. P,V फ° 6. P,V किमत 7- -7. P,V omit 8. A,B,J add प 9. A,B,J °ण तत्राह

**वीर०** किञ्च सुहृद्भिस्सह ज्ञात्वा ज्ञात्वा पुनः पुनर्विचार्यैवायं लौकिको जनः कर्माण्यनुतिष्ठतीति लोकपरिपाटी प्रदृश्यते। गातानुगतमात्रेणानुष्ठाने त्वन्धपरम्पराप्रसङ्गः इति भावः। किञ्च यथा विदुषः कर्मसिद्धिः नाऽविदुषस्तथा भवेत्॥ ६॥

तत्रैवं सति भवतामयं क्रियायोगः किं विचारितः[1]? सुहृद्भिः शास्त्रतः किं विचारित इत्यर्थः। आहोस्वित् केवलं लौकिक एव आचार प्राप्त एव। भ्रान्तिमूलकोऽप्याचारोऽऽस्तीति भावः। तदेतृष्टं साधु यथा भवति[2] तथा पृच्छतो मम फण्यतां कथ्यताम्॥ ७॥

आचारप्राप्त एवेति वदन् तस्य कर्तव्यत्वं सहेतुकमाह नन्दः पर्जन्य इत्यादिभिश्चतुर्भिः[3]। पर्जन्यो वर्षाधिदेवता, सा च इन्द्र एव। यद्यपि "अष्टौ मासान्निपीतं यद्भूम्यामुदमयं वसु। स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते" (भाग.10-20-5) इत्यादिषु पर्जन्यस्सूर्य इति प्रतीयते। तथाऽपि इन्द्रशासनानुवर्तिमेघद्वारकं तस्य वर्षकत्वमित्यविरोधः[4]। अस्त्विन्द्रः पर्जन्यः, ततः किमत आह मेघास्तस्येन्द्रस्याऽऽत्ममूर्तयः स्वशरीरतुल्याः तद्वन्नियाम्या इत्यर्थः। ते च मेघाः भूतानां जीवानां जीवनं प्राणधारणसाधनभूतं प्राणनमाप्यायकं प्राणाप्यायनद्वारा तद्धारणसाधनं पयः जलं वर्षन्ति॥ ८॥

ततोऽपि किमित्यत्राह - **तमिति**। हे तात तं वार्मुचां मेघानां पतिं पालकमीश्वरं नियन्तारञ्चेन्द्रम् अस्मत्प्रभृतयः सर्वे नराः तस्य इन्द्रस्य रेतसा रेतःस्थानीयेन जलेन सिद्धैः नानाविधैः द्रव्यैः द्रव्यसाधनकैः क्रतुभिर्यजन्ते॥ ९॥

एवमिष्ट्वा तच्छेषेण यागावशिष्टेन[5] द्रव्येणोपजीवन्ति जना[6] इति शेषः। जीविकां कल्पयन्ति। किमर्थम्? त्रिवर्गफल हेतवे धर्मार्थकामहेतवे[7] तं[8] यजन्तीत्यन्वयः। त्रिवर्गफलहेतवे उपजीवन्तीति वा, एवमिन्द्रयागावशिष्टेन जीवनं ततस्त्रिवर्गसिद्धिः इत्युक्तम् ननु वृद्धयादिभिरुपजीवनं ततः त्रिवर्गसिद्धिरिति[9] किमिन्द्रेणेत्यत आह - पुंसामिति। पुरुषं कुर्वन्ति त्रिवर्गफलयुक्तं कुर्वन्तीति पुरुषाकारास्त्रिवर्गप्रापका इति यावत्, तेषां मध्ये पर्जन्य इन्द्रएव पुंसां फलभावनः फलप्रापकः स्वायत्तवृष्ट्यादिद्वारेति भावः॥ १०॥

---

1- -1. T,W omit 2. T,W omit भवति 3- -3. T,W इति। 4. A,B °र्षु° 5- -5. A,B यागविशिष्ट°; T,W यागविशिष्टेन 6- -6. T,W omit 7. T,W फल 8. A,B add सिद्धये 9. A,B त्रै°

**विज०** अस्तु तव वक्तव्यं अथाप्यस्माकं फलज्ञानाभावेऽपि सन्ध्योपासनादिवदनुष्ठानं घटत इत्याशङ्क्य, सत्यं ज्ञानाभावे युष्माकं फलप्राप्तिः न स्यादित्याह - **ज्ञात्वेति**। कश्चित् ज्ञात्वाऽनुतिष्ठते कश्चिदज्ञात्वा। तत्र विदुषः कर्मसिद्धिः अनुष्ठानफलं स्यात्, अविदुषः कर्मानुष्ठानमजानतः पुंसः यथावत्फलं न भवेत्। मन्त्रावृत्त्या द्रव्यसम्पत्या च ऋत्विगनुगुणेन वा किञ्चित्सम्भवेऽपि पूर्णफलं न स्यादित्यर्थः यथाऽविदुषो न स्यात् तथा विदुष इति वा॥ ६॥

अस्त्वन्यत्र प्रकृते किमिति तत्राह **ततेति**। तत्र देवता कर्मणां मध्ये तावत् प्रथमं क्रियायोगाः कर्मानुष्ठानप्रकाराः लौकिकवृद्धव्यवहारादवगताः गतानुगतवद्वा॥७॥

पर्जन्यशब्दस्य गर्जन्मेघेऽपि वर्तनात्तद्वचावृत्यर्थं इन्द्र इति। तर्हि इन्द्रइत्येवालमिति चेन्न। अस्य पर्जन्यशब्दस्य मेघाभिमानित्व विशेषद्योतनार्थत्वात्, तत्कथमत्राह - मेघा इति। आत्मवत् देहवन्मूर्तयः देहाः स्वदेहो यथाऽभिमन्यमानत्वेन प्रेष्ठः तथा मेघा अपीति भावः। मेघैः किं प्रयोजनं लोकस्य, इत्याशङ्क्य 'मिह सेचने' इति धातु निष्पन्नमेघशब्दार्थसूचनपूर्वकं तत्प्रयोजनमाह - अभिवर्षन्तीति। प्राणनं चेष्टाकरणं जीवनं शरीराप्यायनं, अनेन प्राणशब्दविवरणं कृतम्। प्राणिनामिति पाठे पयसो गतेः हेतुत्वेन पयश्शब्द वाच्यत्वे जलस्य 'पयगतौ' इति धातोरर्थः॥८॥

यतो मेघा लोकोपकारिणः तत्तस्मात् वार्मुचां जलदानां मेघानामित्यर्थः। इश्वरं अयष्टृणां शिक्षणसमर्थं तेषां मेघानां रेतसा रतिकरलक्षणेन जलेन सिद्धैः उत्पन्नैः अन्येच नराः॥९॥

तच्छेषेण इष्टावशिष्टेन त्रिवर्गफल हेतवे धर्मार्थकामलक्षणपुरुषार्थ सिद्धये पुरुषकाराणां पराक्रमसिद्धकर्मणां फलभावनः फलसाधकः॥१०॥

य एवं[1] विसृजेद्धर्मं पारम्पर्यागतं नरः।
कामाल्लोभाद्भयाद्द्वेषात् स वै नाऽऽप्नेति शोभनम्॥११॥

श्रीशुक उवाच

वचो निशम्य नन्दस्य तथाऽन्येषां व्रजौकसाम्[2]।
इन्द्राय मन्युं जनयन् पितरं प्राह केशवः॥१२॥

श्री भगवानुवाच

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रलीयते[3]।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते[4]॥१३॥

अस्ति चेदीश्वरः[5] कश्चित्फलरूप्यन्यकर्मणाम्[5]।
कर्तारं भजते सोऽपि न[6] ह्यकर्तुः प्रभुर्हि सः॥१४॥

किमिन्द्रेणेह भूतानां स्वस्वकर्मानुवर्तिनाम्[7]।
अनीशो नाऽन्यथा कर्तुं स्वभावविहितं नृणाम्॥१५॥

1. K,T,W एनं 2. K,T,W बनौ° 3. B,G वि; J नि 4. V व प्र 5- -5. K,T,W रूप्यस्यकर्मणाम्; M,Ma रूपस्सकर्मणः 6. V नह्यकर्तुं; T,W नार्हकर्तुः 7. V स्वंस्वं

**श्रीध० वच** इति। इन्द्राय मन्युं जनयन्निति। कोप जननद्वारा गर्वपर्वतादिन्द्रमवतारयितुं देवतानिराकरणं नतु अयमेव भगवतोभिप्राय इत्यर्थः ॥ ११, १२॥

प्रथमं तावत् कर्मवादेन देवान्निराकरोति - **कर्मणेति**। ननु जडात्कर्मणः केवलात्कथं फलसिद्धिः स्यात् अहो अपरिशीलितमीमांसानां स्वमतिविलसित श्रद्धा कर्मणः फलकरत्वे वचनतोऽवगते किं ततोऽनुपपन्नं नामेति भावः ॥१३॥

केचित्पुनः अतिसाहसाद्भीताः कर्म परतन्त्रमीश्वरं मन्यन्ते तन्मतमनूद्य निराकरोति - **अस्ति चेदिति**। स्वयं कर्मभिः लिप्तोऽन्येषां जीवानां कर्मणां फलरूपी फलदाता सोऽपि कतरिं भजते तत्तत्कर्मफलदानेन॥ १४॥

अतः कर्मण एव फलसिद्धेः तत्पारतन्त्र्ये च अजागलस्तन तुल्यत्वान्न देवतया कृत्यमित्याह किमिन्द्रेणेति। ननु कर्मणोऽपि प्रवृत्तिरन्तर्याम्यपेक्षैव कथं सर्वथा देवताया अनुपयोग इत्याशङ्क्याह - स्वभावविहितमिति। स्वभावेन प्राक्तन संस्कारेणैव विहितं यत्कर्म तदन्यथाकर्तुमनीशेन॥ १५॥

1. A,B,J omit भगवतः 2. A,B,J add इति चेत् 3. A,B,J omit परि 4. A,B,J °णा° 5. A,B,J कारणत्वे; P. करणत्वे 6. A,B,J omit इति भावः 7. A,B,J °भिर° 8. A,B,J omit सोऽपि 9. P,V omit तत्

**वीर०** अतः तदाराधनात्मकमिदं वृद्धाचार परम्पराप्राप्तं यः पुमान् कामाद्यन्यतमाद्धेतोः त्यजेत्, स शोभनं सुखं नाप्नोति। किन्तु दुःखमेव इति भावः ॥ ११॥

इत्थं नन्दस्य तथा अन्येषां गोपानामपि वचो निशम्य भगवानिन्द्राय मन्युं जनयन् क्रोधजननद्वारा गर्वं वारयितुं नन्दं प्राह॥ १२॥

यदुक्तं 'पर्जन्यः फलभावनः' (भाग 10-24-10) इति तत्प्रतिक्षेप्तुकामस्तावत् ईश्वराराधनभूतकर्मणामवश्यकर्तव्यतां वक्तुकामः फलसाधनत्वव्युदासाय प्राधान्येन पुण्यपापकर्मणां सुखदुःखादि हेतुत्वमाह **कर्मणेति**। सुखम् ऐहिकम्। क्षेमं पारलौकिकम्। जायते प्रलीयत इति दृष्टान्तार्थम्। यथा कर्मणैव हेतुना जायते प्रलीयते च तथा सुखं दुःखं च कर्मणैव प्राप्नोति। एवकारेण केवल देवतानिरासो गूढमभिसंहितः ॥ १३॥

ननु क्षणिकस्य जडस्य च कर्मणः कथं कालान्तरभाविविचित्रफलहेतुत्वम्? न त्वपूर्वद्वारा तस्य स्थिरत्वेऽपि जडत्वाविशेषात्। अतः "तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पुशुभिस्तर्पयति" इत्याद्युक्तरीत्या कर्मजनितनिग्रहानुग्रहवती देवतैव सुखदुःखादि हेतुः तत्राऽऽह - **अस्तिचेदिति**। अस्य कर्तुः कर्मणां फलं रूपयति कल्पयतीति तथा फलदाता कश्चिदीश्वरोऽस्ति चेत्तर्हि

हे पितः ! सोऽपि[1] ईश्वरः कर्तारमेव भजते यस्स्वाराधनरूपं कर्मानुतिष्ठति तमेवानुवर्तते, तस्मा एव फलं ददाति, न ह्यकर्तुः प्रभुः फलदः । एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां कर्मण एव फलसाधनत्वम्, ईश्वरस्य तत्तत्कर्मानुवर्तित्वेन तत्परतन्त्रं चोक्तम्। कश्चिदीश्वरोऽस्ति चेदित्यनेन इन्द्रस्यानीश्वरत्वमभिप्रेतम् सम्भावितस्येश्वरस्यैकत्वं हि विवक्षितम्। अयं भावः - क्षणिकत्वा जडत्वाच्च केवलकर्मणः फलदत्वं न सम्भवतीति दैवतैव फलदेति ब्रूषे, तर्हि सा किमिन्द्रवाग्वादिरूपेणानेका? उतैका[5]? इन्द्रादीनां कार्यत्व[6] कर्मवश्यत्वदुःखित्वादेः प्रतिपन्नत्वेन फलदत्वासम्भवात्, न हि स्वदुःखनिराकरणेष्ट[7] साधनासमर्थस्यान्येष्टानिष्टप्रापणपरिहारसामर्थ्यम् अत इन्द्राद्यन्तर्याम्यकर्मवश्यो निस्समाभ्यधिकः कश्चिदीश्वर एकः फलदः, सोऽप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां कर्मानुवर्तित्वेन तत्परतन्त्र इति। न चैवमीश्वरस्य स्वातन्त्र्यादिभङ्गः जन्ममरणसुखदुःखादेः कर्मायत्तत्वेऽपीश्वरस्य पूर्वपूर्वकर्मवासनानुरोधेन जीवप्रेरकत्वात्तस्य मूलकारणत्वात् ईश्वरस्य हि स्वकेष्वपि व्यापारेषु स्वयं ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्न[8]वत्त्वात्तत्कर्तृत्वम्। चेतनप्रवृतिहेतुत्वात् कारयितृत्वम् चेतनप्रवृत्ति हेतुत्वात् कारयितृत्वम्। स्वयं सर्वकार्यहेतुत्वेन सामान्यकारणत्वादुदासीनत्वम्। प्रवृत्तस्य चेतनस्योत्तरोत्तरं प्रवर्तकत्वादनुमन्तृत्वम्। सर्वव्यापारसाक्षात्कर्तृत्वात्साक्षित्वम्। विशेषकारणभूत तत्तत्कर्मसाहित्येनैव विशेष कार्य हेतुत्वा त्सहकारित्वम्। कर्मभिराराधितस्यैव फलहेतुत्वात्फलदत्वम्। चेतनशेषित्वात् तत्तच्चेतन फलोपभोगस्यापि स्वोपभोगशेषत्वात् फलित्वम्। कर्मानुरोधेनैव फलप्रदानादविषमत्वम्, सहकारिसन्निधिक्रमानुरोधेनैव परदुःखनिराचिकीर्षाशालित्वादनैर्घृण्यम् तत्तत्कर्मानुरोधेन निग्रहानुग्रहसद्भावेऽपि किञ्चिदनुकूल्यमवलोक्य निश्शेष निग्रह प्रणाशेन यावदात्मभाविमोक्षप्रदानादनुग्रहप्राबल्यम्। अत एव परमोदारत्वञ्चेत्यादि सर्वमुपपन्नमेव। तस्मादीश्वरस्य कर्मपारतन्त्र्य कथनमन्वय व्यतिरेकाभ्यां कर्मणः फलसाधनत्वाभावव्युदासार्थम्। न चैतावता ईश्वरस्य फलदत्वव्युदासः। "कर्तारं भजते सोऽपि" इत्यनेन तस्यापि फलदत्वावगमात्। न चान्यतरसाधनत्वमन्यतरेण प्रतिबद्ध्यते कर्मणामीश्वरानुग्रहनिग्रहद्वारा सुखदुःखादिफलसाधनत्वादीश्वरस्य तु साक्षादिति विरोधाभावात्, चेदिति सम्भावनया ईश्वरास्तित्वे वादिविप्रतिप्रत्तिस्सूचिता। अस्तीति तदभ्युपगमेन तस्य कर्मानुवर्तित्वकथनेन च ईश्वरानभ्युपगमवादो धर्मिग्राहकमानविरुद्ध इति दर्शितम्॥ १४॥

तदेवमीश्वराराधनभूत कर्मणोऽवश्यानुष्ठेयत्वं फलितम्। ईश्वर इत्येकवचनेनेन्द्र वह्न्यादीनामनीश्वरत्वमवगतम्। तदेव व्यञ्जयन्नाह **किमिति**। स्वस्वकर्मानुवर्तिनां राजसादिस्वस्वभावानुगुणपुण्यापुण्यात्मककर्मानुवर्तिनां भूतानाम् इन्द्रेण किम्? स्वभावानुगुण कर्मणामेव सुखदुःखादि हेतुत्वे सति इन्द्रस्य न तद्धेतुत्वमिति भावः। स्वस्वकर्मानुवर्तिनामित्यनेन कर्मवैचित्ये तत्तत्कर्तृ स्वभाव वैचित्र्यमेव निमित्तमित्यभिप्रेतम्। ननुभूतानां स्वस्व कर्मानु वर्तित्वेऽपि स्वस्व कर्मजनितनिग्रहानुग्रहवानीश्वर एव फलद इति चेत् अस्त्वेवमीश्वर किमिन्द्रेणानीशेनेत्याह अनीशेनेति नृणां स्वभाव विहितं स्वभावानुगुण कर्मविहितं सुखदुःखादिकम् अन्यथा कर्तुं अप्रभुणा इन्द्रेण किम्? न कश्चिदपीत्यर्थः। अन्यथा कर्तुमनीशेनेत्यनेन सर्वेश्वरस्तु साध्वसाधुकर्मकारयितृत्वद्वारा अन्यथा च कर्तुं प्रभुरिति सूचितम्॥ १५॥

---

1. A,B add प्राप्नोति 2- -2. T,W omit 3- -3. A,B सुखदुःखादि 4. T,W omit सोऽपि 5. A,B add नाऽधः 6. A,B add कर्मस्व
7. A,B °पादना° 8. A,B °र्षाया प्र° 9. A,B पुण्यपापात्मक

**विज०** विपक्षेबाधकमाह **य एवमिति**। कामाद्धुर्विषयाभिलाषात्, लोभाद्वित्तव्ययशङ्कया, भयात् राजभयात् द्वेषात् देवताद्वेषात्॥ ११॥

मन्युं क्रोधम्॥ १२॥

कर्मफलदातृत्वेन कर्मप्रेरयितृत्वेन कर्मशब्दवाच्यत्वेन च नारायण एव सर्वस्य कर्तेत्यभिप्रेत्य सर्वस्य कारणं कर्मैव इत्याह - **कर्मणेति** ॥ १३॥

ननु प्रवृत्तेर्बुद्धिपूर्वकत्वेन कर्मणोऽचेतनत्वेन तदयोगात् जगत्तदधीनमिति वक्तुं न युक्तं, किन्तु चेतनाधीनमेव चेतनोऽपि न देवदत्तवत्साधारणो भवति, अपि तु विशिष्ट एव कश्चिदिति श्रीकृष्ण हार्दानभिज्ञस्य नन्दगोपस्य मानसीं शङ्कां गूढभिसन्धिः परिहरति - **अस्ति चेदिति**। यदि कश्चिदीश्वरोऽस्तीति मतं तर्हि स ईश्वरः कर्मणः फलं सुखादिलक्षणं रूपयति अनुकूलं करोति ददातीति फलरुपः सहायकल्पः न स्वतन्त्र इत्यर्थः। एतदेव द्रढयति कर्तारमिति। फलरूपत्वेन प्रयोजकत्वात् जगतः तदधीनत्वमायातं इत्यतो वाऽऽह कर्तारमिति। स त्वदभिमत ईश्वरोऽपि कर्म कर्तारं भजते फलदातृत्वेनानुवर्तते ना कर्मकर्तारं कुत इत्यत आह नहीति। स ईश्वरः कर्माकर्तुः फलदाने प्रभुः समर्थो नहि कस्मात्सामर्थ्याभाव इत्यत्राह - हीति। उद्रेके कारणाभावात्॥ १४॥

अवान्तरेवरत्वमभ्युपगम्य इदमुदितम्। इदानीमीश्वर एव त्वदभीष्टो नापेक्षितः। वस्तुतस्तु स्वभावविहित कर्मण एव फलदातृत्वोपपत्रेः पयस्स्यन्दनादिवत् इत्याशयेनेश्वरमाक्षिपति किमिन्द्रेणेति। स्वस्माद्भावः सत्ता यस्य स तथा न पराधीन सत्ताकः यद्वा स्वतन्त्रो भावः स्वभावः तेन नारायणेन विहितं कथितं अन्यथा कर्तुमनीशेनासमर्थेन॥ १५॥

**स्वभाव तन्त्रोहि जनः स्वभावमनुवर्तते ।**
**स्वभावस्थमिदं सर्वं सदेवासुरमानुषम्॥ १६॥**

**देहानुच्चावचान् जन्तुः प्राप्योत्सृजतिकर्मणा ।**
**शत्रुर्मित्रमुदासीनः[1] कर्मैव गुरुरीश्वरः॥ १७॥**

**तस्मात्सम्पूजयेत्कर्म[2] स्वभावस्थः[3] स्वकर्मकृत्[4] ।**
**अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम्॥ १८॥**

★ **आजीव्यैकतरं भावं यस्त्वन्यमुपजीवति[5] ।**
**नतस्माद्विन्दते क्षेमं जारं[6] नार्यसती यथा॥ १९॥**

**वर्तेत ब्रह्मणा विप्रो राजन्यो रक्षया भुवः ।**
**वैश्यस्तु वार्तया जीवेच्छूद्रस्तु द्विजसेवया॥ २०॥**

1. T,V W ऊ ° 2. M,Ma °त्सुपू° 3. V °तः ° 4. T,W °तः ★ This verse was been printed as 24th in M,Ma editions. The commentary on this by vijayadhvaja is printed here itself. 5. A,K,M,Ma धा° 6. A,T,W °राजा°

**श्रीध०** एतद्विवृणोति **स्वभावतन्त्र** इति। प्रवृत्तेः संस्काराधीनत्वात् किमन्तर्यामिणेत्यर्थः॥ १६॥

तस्मात्स्वभावतो निष्पन्नस्य कर्मणा एव सर्वकारणत्वात् कर्मैव पूज्यमित्याह **देहानि**[1]ति सार्धेन॥ १७॥

**तस्मादिति।** संपूजयेत् सम्मानयेत्। ननु देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मकत्वात् कर्मणः, कथं देवतां विना सिद्धिरित्याशङ्क्याह[2]- कर्माङ्गमात्रं देवतेति पक्षमुपसंहरन्निव। हेतुवादमाश्रित्य अन्यामेव देवतां समर्थयते। अञ्जसेति॥ १८॥

हेतु बलेनैव विपक्षे दोषमाह - **आजीव्येति।** उपजीवति सेवते॥ १९॥

स्ववृत्तिं वक्तुं दृष्टान्तत्वेन वर्णानां वृत्ति भेदमाह - **वर्तेतेति।** ब्रह्मणा वेदाध्य्य[3]यनादिना॥ २०॥

1. B,V नित्यादि 2. A,J,P,V omit आह 3. A,J °ध्यापना°

**वीर०** स्वस्वकर्मानुवर्तिनामिति स्वभावविहितमिति च भूतानां स्वस्वभावानुवर्तित्वं सूचितम्। तदुपपादयति - **स्वभावतन्त्र** इति। स्वभावस्थं सर्वं जगत् स्वभावानुगुणप्रवृत्तिमदित्यर्थः। अथवा जगदन्तर्भूतं देवादि वस्तु निस्स्वभावं नास्तीत्यर्थः। तथा च गीतं भगवता "नतदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्त्वं प्रकृतिजैमुक्तं यदेभिस्स्यात्त्रिभिर्गुणैः" (भ.गी.18-40) इति॥ १६॥

स्वभावमनुवर्तत इत्यनेन प्रवृच्याख्य कर्मणस्स्वभावानुवर्तित्वमुक्तम्। "कर्मणा जायते जन्तुः" (भाग. 10-24-13) इत्यनेन कर्मणोपि जन्मादि निमित्तत्वमुक्तम्। तदुभयमुपपादयन् कर्मैव बहु मन्तव्यमित्याह - **देहानिति।** जन्तुः जीवः कर्मणा स्वभावानुगुणेनेति शेषः। नानाविधान् कर्मानुरूपान् देहान्प्राप्य त्यजति, अरिमित्रादिकं च कर्मैव कर्मकृतमेवेत्यर्थः। ईश्वरः इन्द्रादिगतं सावधिकमीश्वरत्वमपि कर्मकृतमेवेति भावः॥ १७॥

यतः कर्मैव सुखदुःखादि हेतुः, तस्मात् स्वभावस्थः पुमान् स्वकर्मकृत् स्वस्वभावानु रूपकर्मशीलः कर्मपूजयेत् बहुमन्येत। कर्मेति द्वितीयान्तम् अहो! कर्मणो वैभवमितिश्लाघेतेत्यर्थः। किञ्च, वयं केवलं वनौकसः द्विजानामाशिषो गाः पर्वतं चोपजीवामः। ततस्त एव आराध्या इत्यभिप्रयन् अन्यथा सदृष्टान्तमनर्थमाह अञ्जसेति सार्धेन। येन अञ्जसा सुखं वर्तेत जीवेत्। तदेवास्य जिजीविषोः दैवतं दैवतत्वेन द्रष्टव्यं तद्वदाराधनीयमिति यावत्॥ १८॥

यस्त्वेकतरं अन्यतरं भावं पदार्थमुपजीव्या व्यतरमुपधावति अनुवर्तते भजत[1] इति यावत्, स तस्मादुपजीव्य बुध्याराध्यमानात् क्षेमं न विन्दते। असती पुंश्चली नारी पतिमुपजीव्य माराध्य जारमनुवृत्य यथा न तस्मात् क्षेमं विन्दते, तद्वत्॥ १९॥

किञ्चास्मद्वृत्तिरिन्द्रयागानपेक्षाचेति विवक्षुस्तावत् स्ववृत्तिं वक्तुं दृष्टान्तत्वेन वर्णानां वृत्तिभेदमाह - वर्तेतेति। विप्रो ब्रह्मणा वेदेन वर्तेत वेदाध्यापनादिनोपजीवेदित्यर्थः राजन्यः भुवः रक्षया वार्तया वैश्यो वर्तेत, द्विजसेवया त्रैवर्णिकसेवया शूद्रो वर्तेत॥ २०॥

---

1. A,B वर्त्य 2. A,B °ध्ययना° 3- -3. K,T,W omit

**विज०** ननु यदि स्वभावेनैव कर्म क्रियते तर्हि कर्ता मृद्दण्डसलिलादि बाह्यद्रव्यं किमर्थमपेक्षत इत्याशङ्क्य तदपि स्वभावनियत मित्यतः सर्वं स्वभावादीनमित्याह **स्वभावेति।** हि शब्देन पयस्स्यन्दनादिकमपि नारायणकृतमित्यभिप्रैति। "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गिप्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते" (बृह.उ. 3-8-9) इति श्रुतेः। स्वभावादि शब्दवाच्यस्य हरेरधीनमिदं सर्वमित्यभिप्रायेणावान्तरेश्वर एव अत्र निषिध्यते। न तु मुख्येश्वर इत्यत्र आचार्यैः "फलरुप्यन्य ः कर्मणाम्" (भाग 10-24-14) इत्याद्यावान्तरेश्वर विषयमित्यभिधायि। "स्वभावे कर्मणि च यस्सत्त्वादिषु गुणेषु च। स्थितो विष्णुः सर्वकर्ता पृथक्संस्थश्च सर्वगः" (भागवततन्त्रे) इत्यादि प्रमाणं च कृष्णहार्दतात्पर्यार्थं उदाहारि। यद्वा स ईश्वरः कर्मणो हरेः फलरुपो ज्ञानात्मा कर्तरि कर्म भजते। अकर्तुः अकर्मणः प्रभवतीति प्रभुः। तदुक्तम् - "तेन जातं फलं यस्मात्कर्मणः फलमीर्यते" (भागवत तन्त्रे) इति। अस्तु अवान्तरेवरः कर्मफलरुपः। प्रकृते किमायतमिति तत्राह - किमिति। स्वस्वकर्मज्ञानविषयं बिम्बभूतं भगवन्तं अनुवर्तिनां प्रतिबिम्बानां, ननु त्रैलोक्येश्वर मिन्द्रं कथं कर्मफलभागिति तुच्छीकरोषीति तत्राह - अनीशेनेति। अस्मदभिमतं कर्मशब्दवाच्यं वस्तु कर्मफलभाक् न भवतीत्याशयेन स्वावेत्युक्तम्। स्वः स्वाधीनः भावः क्रिया यस्य स्वस्वभावः। तदुक्तम् "न चासौ कर्मफलभाक् नास्य किञ्चिन्न शक्यते" (भागवततन्त्रे) इत्यादि। एतदेवोपपादयति स्वभावतन्त्र इति। हि शब्देन तेषामवान्तरेशानां विष्णुवशत्वमन्तरेणान्यकर्मवशत्वं नास्तीति दर्शयति। "नान्यकर्मवशत्वं तु तेषां विष्णुं विना क्वचित्" (भागवततन्त्रे) इति। "स्वभावस्थमिदं सर्वमि" त्यनेन सर्वशब्द वाच्यत्वं स्वभावस्य हरेरिति सूचितम्। "सच ब्राह्मणगिर्यादिनामा विष्णुरजः परः (भागवततन्त्रे) इत्यादि स्मृतेः॥ १६॥

ननु विष्णोः सर्वनामवत्त्वे एकस्यैवोच्चनीचदेहयोग वियोग प्राप्त्या देवदत्तात् विशेषाभावेन सर्वं तदधीनमिति वक्तुं न शक्यते इति तत्राह **देहानिति।** दुःखयतीति दुःखी तद्दुःखस्वातन्त्र्या तच्छब्दवाच्यत्वं, न तु तदनुभवतः, अतः सर्वनामत्वं युज्यते उत्सृजति त्यजति, सृजति आपादयति। जातस्य शत्रोर्विभावश्च हरिणैवेत्याह शातृरिति। "सुखं दुःखं भवो भावः" (भ.गी. 10-4) इत्यादि स्मृतेः। यद्वा, यथा तत्तच्छक्तिप्रेरकत्वेन ब्राह्मणादिशब्दवाच्यत्वं हरेः तथा शातृत्वादि शब्दवाच्यत्वमित्याह - शातृरिति। कर्मशब्द वाच्यो हरिरेव शातृत्वादिः पूज्यत्वात्तत्वोपदशेन गुरुः ऐश्वर्यादियोगादीश्वरः॥ १७॥

यस्माद्गिरिति सर्वमिदमिति गिर्यादिनामा हरिः तस्मात्स्वविहितकर्मकृत् स्वभावस्थः नारायणार्पितसर्वेन्द्रियवृत्तिः पुरुषः "क्रियापतनयोः (यजनयोः) कर्म" (वैज. को. 6-3-4) इत्यभिधानात्। क्षितिधृत्यादि क्रियाश्रयत्वेन जगत्सर्जनादि क्रियाश्रयत्वेन वा परोक्षापरोक्षज्ञानविषयत्वेन वा कर्मसु पूजयेदित्यन्वयः। तदुक्तम् "एतस्मात्कारणात्कृष्णः शक्रस्य विमदाय च। गिर्यादि स्थितमात्मानं पूजयामास वल्लवैः" (भागवत तन्त्रे) इति। स्वकर्मकृत् इत्युक्तं विवृणोति - अञ्जसेति। येन अञ्जसा तत्त्वेन यो वर्तेत अस्य तदेव दैवतं कुलदैवं हि लोक प्रसिद्धम्। "अञ्जसा त्वरिते तत्त्वे महदद्भुतखेदयोः" (वैज.को. 8-7-31) इति यादवः। अनेन यच्छास्त्रे विघ्नेश्वरादिनामाख्यातं तदप्यस्य हरेनमिति सिद्धम्॥ १८॥

एकतरं बहूनां सिद्धान्तानां मध्ये एकं भावं सिद्धान्तमाजीव्योपजीव्यान्यं भावमुपधावति उपास्ते स पुरुषः तस्माद्भावात् क्षेमं सुखी न लभते। यौवनं जरयतीति जारः असती बहुभर्तृका॥ १९॥

यस्य यत् किमिति तत्राह - **वर्तेतिति**। ब्रह्मणा वेदेन विहितेन यागादिना। यद्वा यो येन कर्मणा अञ्जसा सहितो वर्तेत अस्य तदेव कर्म दैवतं मान्यंहि, तर्हि विप्रादेः किं कर्म विहितमित्यत्राऽऽह - ब्रह्मणेति। कृच्छ्र चान्द्रायणादि लक्षणेन तपसा "वेदस्तत्त्वं तपोब्रह्म" (अम.को. 3-271) इत्यमरः। वार्तया कृष्यादिलक्षणया चतुर्विधया॥ २०॥

**कृषिवाणिज्य गोरक्षाः कुसीदं तुर्यमुच्यते।**
**वार्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोऽनिशम्॥ २१॥**

**सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः।**
**रजसोत्पद्यते विश्वमन्योन्यं विविधं जगत्॥ २२॥**

**राजसा चोदिता मेघा वर्षान्त्यम्बूनि सर्वतः।**
**प्रजास्तैरेव सिध्यन्ति महेन्द्रः किं करिष्यति?॥ २३॥**

**न नः पुरो जनपदा न ग्रामा[2] न गृहा[2] वयम्।**
**वनौकसस्तात नित्यं वनशैल[3]निवासिनः॥ २४॥**

**तस्माद्गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चाऽऽरभ्यतां मखः[4]।**
**य इन्द्रयाग सम्भाराः तैरयं साध्यतां मखः[5]॥ २५॥**

---

1. A स्तैनैव 2- -2. M,Ma ग्रामगृहिणो 3. M,Ma काननाद्रि 4. V °घः 5. V °घः

**श्रीध०** वैश्यवृत्तेश्चातुर्विध्यमाह **कृषीति**। कृषिवाणिज्यसहिता गोरक्षा। एवं त्रयम्। कुसीदं वृद्धिजीवनं चतुर्थम्॥ २१॥

ननु गवामपि वृत्तिः महेन्द्राधीनै वेत्याशङ्क्य निरीश्वर साङ्ख्यमताश्रयेण निराकरोति **सत्त्वमिति** श्लोकद्वयेन। अन्योन्यं स्त्री[1]पुरुष[1]योगेन॥ २२॥

**रजसेति**। सर्वत इति। समुद्रादि[2]लोषरादि[2]ष्वपि वृष्टिदर्शनान्न प्रेक्षावत्पूर्वकत्वं[3] वृष्टेरिति भावः। तैरेव मेघैरेव, सिध्यन्ति जीवन्ति[4]॥ २३॥

तथापि योगक्षेमार्थं देवतापेक्षेति चेद[5]त आह **नेति**। पुरः पत्तनानि। जनपदा देशाः। नः[6] अस्माकं योगक्षेमहेतुर्वनशैलादय एवेति भावः॥ २४॥

ब्राह्मणानपि संगृह्णन्निगमयति - **तस्मादिति**। स्वयमुत्प्रेक्षित याग कल्पमाह य इन्द्रयाग सम्भारा इति सार्धपञ्चभिः। सम्भाराः साधनानि॥ २५॥

---

1- -1. P.V omit 2- -2. P.V. शैलवनादि 3. P.V omit क 4. P.V add इति 5. P.V °त्त° 6. A,B,J omit नः 7. A,B,J प्रयोगकल्पनामाह

**वीर०** वर्णान्तराणामपि प्रतिनियतस्वस्व वृत्त्यलाभे वार्तैव वृत्तिरित्यभि प्रयन्नेतत्स्वरूपं दर्शयितुं तस्याश्चातुर्विध्यमाह- **कृषीति।** कृष्यादीनां द्वन्द्वः, कृष्यादयस्तिस्रः, कुसीदं वृद्धिजीवनं, तुरीयं चतुर्थम्। एवं वार्ता चतुर्विधोच्यते। कृषिगोरक्ष वाणिज्या इति वा पाठः। रक्षाशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वात्। इत्थं वृत्तीरभिधाय अथ स्ववृत्तिमाह तत्रेति। तत्र वार्ताभेदानां चतुर्णां मध्ये गोवृत्तयः गोरक्षा वृत्तिः येषां तथाभूताः वयम्॥ २१॥

अथ स्ववृत्तेरिन्द्राराधनानपेक्षत्वमाह - **सत्त्वमिति** त्रिभिः। तत्र तावद्रवां वृत्तेः महेन्द्राधीनत्व शङ्कां निराकुर्वन्नाह द्वाभ्याम्। सत्त्वादयो जगतः स्थितिसृष्टयन्त हेतवः, तत्र रजसा हेतुभूतेन अन्योन्यं स्त्री[1]पुरुषयोगेन जगदुत्पद्यते॥ २२॥

ततः किमत आह **रजसेति।** रजसा रजस्स्वभावेन प्रेरिताः सर्वत्र नदी समुद्रपर्वतादिषु वर्षन्ति। समुद्रेष्वपि वृष्टिदर्शनान्न प्रेक्षावत्पूर्वकत्वं वृष्टेरिति भावः। प्रजाः गवादयः [2]प्रजाः तैरेव मेघैरेव सिध्यन्ति जीवन्ति। व्रजा इति पाठे गोसमूहा इत्यर्थः। एवं सति महेन्द्रः किमप्यनिष्टं न करिष्यति, किञ्चिदपि नोपकरिष्यति चेत्यर्थः॥ २३॥

नोऽस्माकं पुरः पत्तनानि जनपदा देशाः ग्रामा गृहाश्च न सन्ति न पुरादयो वास स्थानानीत्यर्थः। किन्तु हे तात! वयं नित्यं वनादि निवासिनः॥ २४॥

तस्मात् [4]अस्मज्जीवनहेतूनां गवां ब्राह्मणानाम् अस्मत्कुलमाशासानाम् अद्रेस्तृण जलादिभिः नित्यं गोवर्धनस्याद्रेश्च तुष्ट्यर्थो मखो याग आरभ्यताम्। अनेन "अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम्" (भाग 10-24-18) इत्यभिप्रेतं स्पष्टीकृतम्। कथमारम्भनीय इत्यत्राऽऽह - य इति। सम्भाराः साधनानि तैरयं वक्ष्यमाणविधिः साध्यताम्॥ २५॥

---

1. A,B पुंयो° 2. A,B omit प्रजाः 3. A,B omit एव 4. A,B omit अस्मत्

**विज०** कृषिर्भुव उल्लेखनादि क्रिया वाणिज्यं सत्यानृतलक्षण क्रियादि, गोरक्षापशुपालनं, वृद्ध्यर्थं द्रव्यप्रयोगः कुसीदम्। तत्र कृत्यादिषु गोभिः वृत्तिराजीवनं येषां ते तथा॥ २१॥

प्रकारान्तरेण इन्द्रमाक्षिपति - **सत्त्व मित्यादिना।** विश्वं समस्तं अन्योन्यं निमित्तीकृत्येतिशेषः॥ २२॥

मेघानामिन्द्रो नियोजक इत्यत्राह - **रजसेति।** रञ्जयति सर्वमिति रजो भगवानभिहितः। नह्यचेतनस्य रजोगुणस्य मेघे प्रेरकत्वं सञ्जाघटीति। सिध्यन्ति सम्पन्नकार्या भवन्ति। किं करिष्यति न किमपीत्यर्थः। "प्रश्ने क्षेपे विकल्पे किम्" (वैज.को.8-7-3) इति यादवः॥ २३॥

इतोऽप्यस्मत्कुलदेवतात्वाभावात् इन्द्रयागो नोचित इत्याशयेनाह **न न** इति। पुरः पुराणि ग्रामास्थितिमुपादाय गृहिणः सपत्नीकाः॥ २४,२५॥

**पच्यन्तां विविधाः पाकाः सूपान्ताः[1] पायसादयः।**
**संयावापूपशष्कुल्यः सर्वदोहश्च गृह्यताम्॥ २६॥**

**हूयन्तामग्नयस्सम्यग्ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः।**
**अन्नं बहुगुणं[2] तेभ्यो देयं वो[3] धेनुदक्षिणाः॥ २७॥**

**अन्येभ्यश्च[4] श्व चण्डालपतितेभ्यो[5] यथार्हतः ।**
**यवसं च गवां दत्वा गिरये दीयतां बलिः ॥ २८॥**

**स्वलङ्कृता भुक्तवन्तः स्वनुलिप्तास्सुवाससः ।**
**प्रदक्षिणं च कुरुत गोविप्राऽनलपर्वतान् ॥ २९॥**

**एतन्मम मतं तात! क्रियतां यदि रोचते।**
**अयं गोब्राह्मणाद्रीणां मह्यं च दयितो मखः[6] ॥ ३०॥**

---

1. M,Ma °न्धः पा° 2. A,B,G,J,V °विधं 3- -3. M,Ma तेभ्योदीयतां; V. देयं तेभ्यो वो 4. A,B,G,J श्चश्व° 5. B,G,J,M,Ma चा° 6. V °घः

**श्रीध० पच्यन्तामिति** सूपं मौद्गम्। पायसं केवले पयसि पक्वम्। संयावादयो गोधूमादि विक्रियाः। क्रमश्च सूपपायसयोः श्रुत्या, दोहस्यार्थतोऽन्येषां पाठतः ॥ २६॥

यागशोभार्थं श्रद्धोत्पादनार्थं चाह **हूयन्तामिति**। धेनुदक्षिणाः धेनुसहिता दक्षिणाः, ता एव वा दक्षिणाः। वो युष्माभिः ॥ २७॥

**अन्येभ्य** इति। यवसं तृणम् ॥ २८,१९॥

**एतदिति**। सर्वान् शिरःकम्पेन अनुमोदयन्नाह - गोब्राह्मणाद्रीणामिति। मह्यं मम च ॥ ३०॥

**वीर०** अयमित्यनेनाभिप्रेतं प्रकारं दर्शयति पच्यन्तामित्यादिभिश्चतुर्भिः। पाकाः पच्यन्तां क्रियन्ताम्। सूपपायसादिशब्दाः तत्पाकपराः। यद्वा पाकशब्दोऽत्र बहुलग्रहणात् असंज्ञायामपि "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" (अष्टा०. 3-3-19) इति कर्मणिघञन्तः पक्तव्याः पच्यन्तामित्यर्थः। 'सूपान्ताः पायसादयः' इति पित्रर्थपाकक्रमविपर्ययद्योतनार्थमुक्तम्। तत्र सूपादयः पायसान्ता हि पच्यन्ते, संयावादयो गोधूमादि विक्रियाः। सर्वदोहः व्रजे कृत्स्नं क्षीरं गृह्यतां पायसाद्यर्थमेकत्र समुद्धियतामित्यर्थः ॥ २६॥

यागशोभार्थं श्रद्धोत्पादनार्थं चाऽऽह - **हूयन्तामिति**। ब्रह्मवादिभिः ब्राह्मणैः सम्यक् यथावत् अग्नयः हूयन्ताम्। तेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो बहुगुणं षड्रसोपेतमन्नं वः युष्माभिः देयम्। धेनुसहिता दक्षिणाः ता एव दक्षिणा वा देयाः ॥ २७॥

श्वादिभ्योऽपि यथायोग्यमन्नादिकं देयम्। श्वपर्यन्ता अन्नादिभिस्तर्पणीया इत्यर्थः। तथा गवां यवसं तृणं दत्वा, गवामिति सम्प्रदानस्य शेषत्वविवक्षया षष्ठी। गिरये गोवर्धनाय बलिः दीयताम् ॥ २८॥

शोभनानि वासांसि येषां तथाभूताः गवादीन् प्रदक्षिणं कुरुत ॥ २९॥

हे तात! एतदेवंविधं कर्म अस्माभिः कर्तव्यत्वेन मम सम्मतम्। यदीदं रोचते, तर्हि क्रियताम्। अयं मदुक्तो मखो गवादीनां मह्यं मम च दयितः प्रियः। गवाद्यन्तरात्मनो मम प्रीतिकर इति गूढाभिसन्धिः[2] ॥ ३० ॥

---

1. A,B °मिति च° 2- -2. A,B गूढोऽभिप्रायः

**विज०** सूपो मुद्गान्नं, अन्धः केवलान्नं, संयावः भिन्नयवकृतः मुद्गभिन्नौदनो वा। अपूपं पिष्टकृतं, शष्कुली पैष्टिका मण्डलाकृतिः। सर्वदोहः क्षीरदधितक्रादिकः ॥ २६ ॥

बहुगुणं षड्रसोपेतम् ॥ २७ ॥

यवसं तृणसूचिका, गिरये गिरिसन्निहिताय तन्नाम्ने हरये ॥ २८ - ३० ॥

श्रीशुक उवाच

कालात्मना भगवता शक्रदर्प[1] जिघांसया[2]।
प्रोक्तं निशम्य नन्दाद्याः साध्वगृह्णन्त[3] तद्वचः ॥ ३१ ॥

तथाच व्यदधुस्सर्वं[4] यथाऽऽह मधुसूदनः[5]।
वाचयित्वा स्वस्त्ययनं तद्द्रव्येण गिरिद्विजान्[6] ॥ ३२ ॥

उपहृत्य बलीन्[7] सर्वानादृता यवसं गवाम्।
गोधनानि पुरस्कृत्य गिरिं चक्रुः प्रदक्षिणम् ॥ ३३ ॥

अनांस्यनडुयुक्तानि ते चाऽऽरुह्य स्वलङ्कृताः।
गोप्यश्च कृष्णवीर्याणि गायन्त्यस्सद्विजाशिषः ॥ ३४ ॥

कृष्णस्त्वन्यतमं रूपं गोपविस्रम्भणं[8] गतः।
शैलोऽस्मीति ब्रुवन्[9] भूरि बलिमादद्बृहद्वपुः[10] ॥ ३५ ॥

तस्मै नमो व्रजजनैः स[11] ह चक्रे महात्मने[11]।
अहो पश्यत शैलोऽसौ[12] रूपीनोऽनुग्रहं व्यधात् ॥ ३६ ॥

एषोऽवजानतो मर्त्यान् कामरूपी ब[13]नौकसः।
हन्ति ह्यस्मै नमस्यामश्शर्मणे ह्यात[14]मनो गवाम् ॥ ३७ ॥

**इत्यादि गोद्विजमखं वासुदेवप्र[15] चोदिताः।**
**यथाविधाय गोपाला[16]: सहकृष्णा व्रजं ययुः॥ ३८॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे चतुर्विंशोऽध्यायः॥ २४॥

---

1. A,B,G,J,K,T,W °र्ण° 2. A,B,G,J,K,T,W °ता 3. K,T,W हत्तद्विदः 4. M,Ma ४वि° 5. M,Ma °र्वे 6- -6. M,Ma द्रव्यैर्गोविप्रभूभृताम् 7. K बलिं 8. A,B,G,J,M,Ma °श्र° 9. A वदन् 10. K,T,W °दनू बृ° 11- -11. A,G,J,T,W सह चक्रेऽऽत्मऽऽनात्मने; B स चक्रे आत्मनाऽत्मने; M स चक्रे ऽऽत्मनाऽऽत्मने; Ma सश्चक्रेऽघात्मनाऽऽत्मने 12. T,W °ऽयं 13. M,Ma बनेचरः 14. A,B,G,J,M,Ma आ° 15. A,B,G,J प्रणो° 16. A,B,G,J,K,T,W ते गोपाः

**श्रीध० तथेति**। तद्रव्येण तेन महेन्द्र मखद्रव्येण गिरिद्विजान् प्रति यथायथम्॥ ३१, ३२॥

**उपहृत्येति**। बलीनुपहृत्य दत्वा। आदृताः सादराः॥ ३३॥

**अनांसीति**। अनड्वद्युक्तानि उत्तमानड्वद्भिः[3] युक्तानि। सद्विजाशिषो द्विजाशीर्भिः सहिताः॥ ३४॥

**कृष्ण** इति। गोपविभ्रम्भणं गोपानां विश्वासजनकं रूपं गतः प्राप्तस्सन् बलिमुपहारमादत् अभक्षयत्॥ ३५॥

**तस्मै** इति। तस्मै आत्मने आत्मना स्वयं व्रजजनैः सह नमश्चक्रे। अहो इति सार्धश्लोकं पठन्॥ ३६॥

कामरूपी सर्पादिरूपः। अस्मै अद्रये। शर्मणे क्षेमाय॥ ३७,३८॥

★ कर्मैवालं प्राक्स्वभावो गुणा वा कर्माङ्गं वा तद्वशो वा महेशः। वार्ताकिन्नी देवतेतीयमुक्ता देवक्षोभे षण्मति र्नत्वभीष्टा॥

---

1. P.V omit रिं° 2. J °तेन 3- -3. उत्तमदृषभैः 4. P.V इत्यादि। ★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः

**वीर०** शक्रस्य दर्पं निराचिकीर्षता कालात्मना कालरूपेण बहिः कालात्मनां अन्तः पुरुष रूपेण च नियमयतेति भावः। तेन भगवता प्रोक्तं निशम्य अतद्विदः शक्रदर्पजिघांसामजानना अपि नन्दाद्याः तत्साध्वगृह्णन् अभ्युपजग्मुः॥ ३१॥

ततो यथोक्तं चक्रुः, तदेवाऽऽह वाचयित्वेति। स्वस्त्ययनं पुण्याहं तद्रव्येण इन्द्रयागार्थद्रव्येण गिरिं द्विजाश्चोद्दिश्य॥ ३२॥

बलिं गवां यवसं च उपहृत्य समर्प्य सर्वे नन्दादय आदरयुक्ता गोधनान्यग्रतः कृत्वा प्रदक्षिणं चक्रुः॥ ३३॥

अनड्वद्युक्तानि वृषभयुक्तान्यनांसि शकटान्यारुह्य ते नन्दादयः तथा स्वलङ्कृताः गोप्यश्च द्विजानामाशीर्वादसहिताः कृष्णस्य चेष्टितानि गायन्त्यो गिरिः प्रदक्षिणं चक्रुरित्यन्वयः ॥ ३४॥

कथमयमचेतनो गिरिर्बलिं गृह्णाति? कथंतरामस्मानगृह्णाति चेत्यादि रुपां नन्दादीनामाशङ्का मपनुदन् कृष्णः स्वयं गोपानां विश्वासकरं तन्मध्य गतमेकमन्यच्च रुपं प्राप्तः तत्र बृहद्वपुष्मान् गिरिर्मूर्ध्नि स्थित्वा शैलोऽस्मीति ब्रुवन् बलिं स्वीकुर्वन् पुनर्गोप मध्यगतरूपेण अहो इत्यादि सार्धश्लोकं पठन् गोपजनैस्सह महात्मने बृहद्वपुषे स्वस्मा एवतस्मै गिरिरूपाय नमश्चक्रे इत्यन्वयः। अहो! इति। अहो! हे गोपाः पश्यत, असौ शैलः रूपी अस्मदुपहृत बल्यादानोप युक्तरूपधरः नोऽस्माकमनुग्रहं व्यधादकरोत्। एष कामरूपी यथेष्टरूपग्रहण समर्थः गिरिः अवजानतः अवहेलनं कुर्वाणान् वनौकसो मर्त्यान् हन्ति अत आत्मनोऽस्माकं गवां च शर्मणे क्षेमाय अस्मै गिरये नमस्यामः नमः करवाम॥ ३५ - ३७॥

इति इत्थं वासुदेवेन चोदिता गोपाला अद्रचादीनां मखं यथावद्विधाय कृष्णेन सहिता व्रजं प्रति जग्मुः ॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीविरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४॥

---

1- -1. A,B दर्पनाशं 2- -2. A,B काल रूपेण 3. A,B omit उपहृत्य 4. A,B गतेन

**विज०** शक्रदर्पजिघांसया शक्रादि देवानाम् असुरावेशाद्दर्पादिकं भवति तदनुग्रहार्थं तद्दर्पादिहननेच्छया, तदुक्तम् "अत्यल्प स्त्वसुरावेशो देवानां च भविष्यति" (भागवत तन्त्रे) इति॥ ३१ - ३४॥

गोपविश्रम्भणं गोपानां विश्वासकरं, आदत् भक्षितवान्॥ ३५॥

तस्मै आत्मने पर्वतरूपिणे सङ्कल्प्य नमनमिति तत्राह अहो इति॥ ३६ - ३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे चर्तुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४॥

(विजयध्वजरीत्या द्वाविंशोऽध्यायः)

# पञ्चविंशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या त्रयोविंशोऽध्याय ः)

श्रीशुक उवाच

इन्द्र स्तदाऽऽत्मनः पूजां विज्ञाय विहतां नृप ।
गोपेभ्यः कृष्णनाथेभ्यो नन्दादिभ्य श्चुकोप ह[1]॥ १॥

गणं सांवर्तकं[2] नाम मेघानाञ्चान्तकारिणाम् ।
इन्द्रः प्राचोदय[3] त्क्रुद्धो वाक्यञ्चाऽऽहेशमा[4] न्युत॥ २॥

अहो श्रीमदमाहात्म्यं गोपानां काननौकसाम् ।
कृष्णं मर्त्य मुपाश्रित्य ये चक्रु र्देवहेलनम्॥ ३॥

यथा दृढैः कर्ममयैः क्रतुभि[5] र्नाम नौनिभैः[-5] ।
विघामान्वीक्षिकीं हित्वा तितीर्षन्ति भवार्णवम्॥ ४॥

वाचालं बालिशं[6] स्तब्धं[-6] मज्ञं पण्डितमानिनम् ।
कृष्णं मर्त्य मुपाश्रित्य गोपा मे चक्रु रप्रियम्॥ ५॥

एषांश्रियाऽ वलिप्तानां कृष्णेनाऽऽध्मायि[7] तात्मनाम् ।
धुनुत श्रीमदस्तम्भं पशून्नयत संक्षयम्॥ ६॥

अहञ्चैरावतं नाग मारुह्यानुव्रजे व्रजम् ।
मरुद्गणै र्महावीर्यै[8] र्नन्दगोष्ठजिघांसया[9]॥ ७॥

---

1. A,B,G,J सः 2. A,V सं° 3. A °णो° 4. M,Ma मन्युना 5- -5. M,Ma कुप्लवैर्ज्ञान मानिनः 6- -6. M,Maमानिनं मत्तं 7. V मत्तानां ध्मा° M,Ma कृष्णेनाऽप्यायि° 8. A,B,G,J °वीर्यैः 9. K,T,W °प°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पञ्चविंशे रुषा शक्रे व्रजनाशाय वर्षति ।
उद्धृत्य गिरि मासारा दरक्ष द्गोकुलं प्रभुः ॥

**इन्द्रेति।** कृष्णो नाथो येषां तेभ्यः ॥ १ ॥

**गण मिति।** क्रुद्धश्च सन्निन्द्रः। संवर्तकं[1] नाम, संवर्तः प्रलयः, तत्कतरि मेघानां [2]प्रसिद्धं गणं प्राचोदयत् प्रेषयामास। ननु कथं कृष्णनाथानां घाते प्रवृत्त इत्याशङ्क्य आत्मसम्भावनया निरस्तविवेकत्वात् इत्याशयेनाऽऽह वाक्यञ्चाहेत्यादि पञ्चभिः। ईशमानी अहमीश्वर[3] इति गर्ववान्॥ २॥

**अहो इति।** देवेहेलनम् देवस्य मम अवज्ञाम्॥ ३॥

**यथेति।** अदृढैः असमर्थैः। कर्ममयैः क्रियानिर्वर्त्यैः अत एव नामनौनिभैः नाममात्रेण या नाव[4] इतिव्यवह्रियन्ते[5] तत्सदृशैः। आन्वीक्षिकीमात्मानुस्मृतिरूपाम्॥ ४॥

**वाचालमिति।** तथा वाचालं बहुभाषिणं, बालिशं शिशुम् पण्डित मानिनम् पण्डितोऽह[6] मित्यात्मानं मन्यमानम्[-6], अतः स्तब्धमविनीतमिति। निन्दायां योजिताऽपि इन्द्रस्य भारती श्रीकृष्णं स्तौति। तथा हि - वाचालं शास्त्र योनिम्, बालिशं एव मपि शिशुव ज्ञिरभिमानिनम्, स्तब्धम् अन्यस्य वन्द्यस्याऽभावात् अनम्रम्। अज्ञं नाऽस्ति ज्ञो यस्मा त्तं सर्वज्ञ मित्यर्थः! पण्डितमानिनं ब्रह्मविदां बहु माननीयम् कृष्णम् सदानन्दरूपं परब्रह्म मर्त्यं तथाऽपि भक्तवात्सल्येन मनुष्यतया प्रतीयमान मिति॥ ५॥

**एषा मिति।** अवलिप्तानां मत्तानां ध्मायितात्मनां बृंहित देहानां धुनुत अपनयत। श्रीमदेन यः स्तम्भो गर्वः तं भिद्यत ॥ ६॥

तान्प्रत्याह **अह** मिति। अनुव्रजे[7] अनन्तर मेवाऽगमिष्यामि, मरुद्गणैः देवगणै स्सह॥ ७॥

---

1. A,B,J सां, 2. A, omits प्रसिद्धं; V प्रसिद्ध 3. A,B,J °मेवेश्वर 4. A,B,J नौः 5. A,B,J °यते 6- -6. A,B,J पण्डितम्मन्यं 7. A,B,J add अनु

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तत[1]ः किं जातम्? तदाह[-1] - **इन्द्र** इति। हे नृप! तदा इन्द्रः स्वस्य पूजां कृष्णेन विहतां ज्ञात्वा। कृष्णो नाथो रक्षिता येषां तेभ्यो गोपेभ्यः चुकोप क्रुद्धवान्॥ १॥

तदा क्रुद्धः अन्तकारिणां प्रलयकारिणां[2-] मेघानां सांवर्तकाख्यं गणं प्राचोदयत्[3]; इदं वक्ष्यमाण वाक्यञ्चाह॥ २॥

तदेवाह - **अहो** इत्यादिभिः पञ्चभिः। काननौकसां गोपानां श्रीमदस्य धनसम्पत्तिकृतस्य मदस्य माहात्म्यं वैभवम्। अहो आश्चर्यकरम्। तदेव दर्शयति - ये गोपाः कृष्णं मर्त्यं मरणशीलमुपाश्रित्य देवस्य मम हेलन मपराधं चक्रुः, मद्यागं बभञ्जु रित्यर्थः॥ ३॥

किं त्वद्यागमात्रेणे त्यत आह **यथेति**। आन्विक्षिकीं आत्मविद्यां हित्वा विहाय केवलं दृढैः नौकातुल्यैः कर्मात्मकैः क्रतुभिः अस्मदाराधनात्मकैरेव साधनैः भवार्णवं यथा तितीर्षन्ति तरीतु मिच्छन्ति विवेकिन इति शेषः। अह मेव मुक्तिदोऽपि मद्याग एव तत्साधन मपीति भावः ॥४॥

एवं सति केवलं वाचालं कुत्सितं बहु च वदन्तं बालिशं मूर्खं, स्तब्ध मविनीतम् अज्ञं पण्डित मात्मानं मन्यमानं मर्त्यं मन्निग्रहा न्मरिष्यमाणञ्च कृष्ण माश्रित्य ये गोपाः ममाऽप्रियं चक्रुः ॥५॥

श्रिया सम्पदा गर्वितानां कृष्णेनाऽऽध्मायिताः वर्धिता आत्मानो देहाः येषां तेषां गोपानां श्रीमदप्रयुक्त मविनयं धुनुत अपाकुरुत। तथा पशून् संक्षयं नाशं नयत॥६॥

बिभ्यत स्तान्प्रत्याह आह - अहमद्य ऐरावतं गज मारुह्य महावेगै र्मरुद्भि स्सह व्रजं प्रति अनुव्रजे, युष्मत्पृष्ठत एव आगमिष्यमि। किमर्थम्? नन्दादयो ये गोपा स्तेषां जिघांसया। हेत्वर्थे तृतीया। सनर्थस्तु अश्वेन जिगमिषतीतिव दविवक्षितः। हननार्थमित्यर्थः ॥७॥

---

1- -1. T,W omit 2- -2. T,W omit 3. A,B add मन्युमानीशमानीति पाठान्तरम्। (वाक्यञ्चाहीशमानी इत्यस्य स्थाने) 4- -4. K,T,W omit 5. K,T,W omit विहाय 6. T,W °थावत्ति° 7. A,B तर्तुं, T तरितुं 8. A,B omit ये।

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

गोवर्धनोद्धरणेन स्वनाथाः सगोधना गोपालाः इन्द्रकृतापदो रक्षिताः। एवं भक्तिज्ञानसम्पन्नान् संसारार्तान् प्राणिनो रक्षत्येवाऽधोक्षज इति प्रतिपादयितुमयमध्याय आरभ्यते। तत्र मुख्य प्राण मेकमन्तरेण अन्येषां देवादीना मत्यल्पा - सुरावेश स्तस्मिन् गते प्रकृति भावश्चेति उभयं दर्शयितु मुपक्रमते **इन्द्र** इति। विहतां निराकृतां कृष्ण एव नाथो येषां ते तथा, तेभ्यः। "क्रुधद्रुहेर्ष्याऽसूयार्थानां यम्प्रति कोपः" (अष्टा. 1-4-37) इति चतुर्थी। कृष्णं प्रति च कोपं कृतवानिति सूचनायेदं विशेषणम्। असुरावेशं प्रकटयतीति ज्ञायतेऽनेन। हेत्यनेन शक्रकोपेन कृष्ण माहात्म्य मेव प्रकाश्यते॥१॥

अन्तकारिणां प्रलयं कुर्वता मित्यनेन भगवन्त मन्तरेण अन्यानिवर्त्यत्व माह - सांवर्तक मिति। अमुनैव जगत्क्षयकरत्वे सूचितेऽपि, अन्तकारिणा मिति तदेव विशेषितम्। प्राचोदयत् प्रेरितवा नित्यर्थः। ईशं कृष्ण मुद्दिश्य मन्युना कोपेन अह मेवेशो नाऽन्य इति मन्युना दैन्याभिमानेन वा। "मन्यु र्दैन्येक्रतौ क्रुधि" (वैज.को. 3-309) इति यादवः॥ २ ॥

मर्त्यं मरणधर्मत्वेनाऽनित्यं कृष्ण मुपाश्रित्य सर्वस्मा दधिकाश्रयोऽय मिति कृत्वा देवस्य त्रैलोक्याक्षेमुः मम हेलन मवज्ञां कृतवन्त इति अनेन ईशमन्युनेत्येत द्विवृतम्॥३॥

देवस्वभावत्वा दसुरावेशोऽपि तत्त्वमेव कथ्यत इत्याशयेनाऽऽह **यथेति**। अदृढै रसारैः अन्यत्र क्षरद्दारुकृतैः कर्ममयैः बहुव्यापारसाध्यैः, अन्यत्र तक्षणादि बहुकर्मसाधितैः कुत्सितै रल्पप्रयोजनैर्वा प्लवैः। "कुः पापोऽल्पार्थकुत्सयोः" (वैज.को. 8-7-3) इति यादवः। आन्वीक्षिकीं स्वानुकूलबिम्बदर्शनात्मिकां विद्याम् आत्मज्ञान मित्यर्थः ॥ ४ ॥

वाचालम् "अस्ति चे दीश्वरः कश्चित्" (भाग 10-24-14) इत्यादि शास्त्र कुत्सित भाषणम्, अत एव "वर्तेत ब्रह्मणा" (भाग. 10-24-20) इत्यादि मानं प्रमाण मस्यास्तीति मानिनम्। "रजसा चौदिता मेघाः" (भाग. 10-24-23) इत्यादिना मत्तत्व मज्ञत्वञ्च लभ्यते। "आजौ व्येकतरं भावम्" (भाग. 1-24-19) इत्यादिना पण्डितमानित्वम् ॥ ५ ॥

अवलिप्तानां दृप्तानां आप्यायितात्मनां वर्धितमनसाम्। धुनुत निराकुरुत ॥ ६ ॥

नागं गजम् ॥ ७ ॥

श्रीशुक उवाच

**इत्थं मघवताऽऽज्ञप्ता मेघा निर्मुक्तबन्धनाः ।**
**नन्दगोकुल मासारैः पीडयामासु रोजसा ॥ ८ ॥**

**विद्योतमाना विद्युद्भिः स्तनन्तः[1] स्तनयित्नुभिः ।**
**तीव्रैर्मरुद्गणैर्नुन्ना ववृषुर्जलशर्कराः ॥ ९ ॥**

**स्थूणास्थूला[2] वर्षधारा मुञ्चत्स्वभ्रेष्वभीक्ष्णशः ।**
**जलौघैः प्लाव्यमाना भूः नाऽदृश्यत नतो न्नता[3] ॥ १० ॥**

**अत्यासारातिवातेन[4] पशवो जातवेपनाः ।**
**गोपा गोप्यश्च शीतार्ता गोविन्दं शरणं ययुः ॥ ११ ॥**

**शिरस्सुतांश्च कायेन प्रच्छाद्यासारपीडिताः ।**
**वेपमाना भगवतः पादमूल मुपाययुः ॥ १२ ॥**

---

1. A,M,Ma नदन्तः 2. M,Ma स्थाणु 3. A,B,G,J,M,Ma,T,V,W °तम् 4. V °पा°

**श्रीध० इत्थ** मिति। मघवता इन्द्रेण निर्मुक्तं बन्धनं येषां ते प्रलयभिया ये बद्धा आसन् ते निर्मुक्त बन्धना स्सन्तः आसारैः धारासम्पातैः पीडयामासुः ॥ ८ ॥

**विद्योतमाना** इति। स्तनयित्नुभिः अशनिभिः[3] स्तनन्तः गर्जन्तः मरुद्गणैः आवहप्रवहादिवायुसमूहैः नुन्नाः प्रेरिताः। जलशर्कराः जलोपलाः[4] ॥ ९ ॥

**स्थूणेति**। स्थूणावत् स्थूलाः अभ्रेषु मुञ्चत्सु[5] नतोन्नतं[6] नतं निम्नम्, उन्नतं तद्विपरीतं यथा भवति तथा भूर्नाऽदृश्यत ॥ १० ॥

**अत्यासारेति**। जातवेपना जातकम्पाः ॥ ११ ॥

तत्र पशूनां प्रयासं[7] विशिनष्टि **शिर** इति ॥ १२ ॥

---

1- -1. A,B,J °याभिप्रायेण बद्धा 2. A,B,J तदा 3. A °ध्वनिभिः 4. A,B,J °लान् 5. A,B,J add सत्सु 6. A,J omit नतं 7. A,B,J यानं

**वीर०** इत्थ मिन्द्रेणादिष्टा मेघाः मुक्तानि बन्धनानि शृङ्खलानि येषां तथाभूताः आगत्य आसारैः जल धारासम्पातैः यावद्बलं नन्दव्रजं पीडयामासुः ॥ ८ ॥

पीडा मेव प्रपञ्चयति द्वाभ्याम्[1]। तटिद्भिर्विद्योतमानाः स्तनयित्नुभिः अशनिभिः गर्जन्तः। यद्यपि स्तनयित्नुशब्दो गर्जन्मेघपरः तथाप्यौचित्यात् एवं व्याख्यातम्। चण्डवातसङ्घातैः प्रेरिता स्सन्तो जल शर्कराः वर्षोपलान् क्वृषु[2]ः ॥ ९ ॥

अभीक्ष्णशः अविच्छेदेन स्तम्भवत् स्थूला वर्षधाराः मेघेषु मुञ्चत्सु सत्सु जलप्रवाहैः प्लाव्यमाना सती पृथिवी तिम्नोन्नता नाऽदृश्यनि नतोन्नत मिति पाठे त द्यथा तथा (न) अदृश्यत ॥ १० ॥

अत्यासारै रत्यन्तवातेन च। अत्यासाराऽऽनिपाते नेति पाठे अत्यासारस्य अत्यन्तपातेन निष्ठुरपातेन् जातकम्पनाः पशवो गोपागोप्यश्च शीतेनाऽऽर्ताः पीडिताः भगवन्तं शरणंप्रापुः। परीता इति पाठे परितो व्याप्ता इत्यर्थः ॥ ११ ॥

शरण याचन प्रकार मेवाऽऽह द्वाभ्याम् - **शिर इति**। जाता वेक वचनम्। शिरांसि स्वस्वसुतांश्च[3] कायेन[4] प्रच्छाद्य[4] आसार[5] पीडिताः[6] कम्पमानाः भगवतः पादमूल मुपाययुः ॥ १२ ॥

---

1. K,T,W omit द्वाभ्याम् 2. T,W ववर्षुः 3. A,B omit स्व 4- -4. A,B देहेन आच्छाद्य 5. A,B °रैः 6. A,B omit पीडिताः

**विज०** निर्मुक्तबन्धनाः विगलितनिगडाः त्यक्तजलस्तम्भा इत्यर्थः। आसारै र्धारासम्पातैः, वेगवद्वर्षै रित्यर्थः। ओजसा स्वशक्तिलक्षणबलेन ॥ ८ ॥

स्तनयित्नुभि र्गर्जितैः। "स्तनयित्नुर्हि गर्जितेऽभ्रे" (वैज.को. 8-1-46) इति यादवः। जलान्येव शर्कराः. श्वेतपाषाणशिलाः ॥ ९ ॥

ऋत्यद्यप्लहनडड्यड्ड ऋत्यद्यकञ्जप्लः, नतोन्नतं निम्नोच्चस्थलम्॥ १०,११॥
स्वकायेन शिरश्च सुतांश्च प्रच्छद्य॥ १२॥

**कृष्ण कृष्ण! महाभाग! त्वन्नाथं गोकुलं प्रभो।**
**त्रातु मर्हसि देवान्नः कुपिताद्भक्तवत्सल!॥ १३॥**

**शि[1-]लावर्षनिपातेन[-1] हन्यमान मचेतनम्।**
**निरीक्ष्य भगवान्मेने कुपितेन्द्रकृतं हरिः॥ १४॥**

**अपर्त्व[2-]त्युल्बणं वर्ष मतिवातं शिलामयम्।**
**स्वयागे[3] विहतेऽस्माभि रिन्द्रो[4] नाशाय वर्षति॥ १५॥**

**तत्र प्रतिविधिं सम्यक् आ[5-]त्मयोगेन साधये[-5]।**
**लोकेशमानिनां[6] मौढ्यात् हरिष्ये श्रीमदं तमः॥ १६॥**

**नहि[7] मद्भावयुक्तानां सुराणा मीशविस्मयः।**
**मत्तोऽ[8] सतां मानभङ्गः प्रशमायोपकल्पते[9]॥ १७॥**

**तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्।**
**गोपाये स्वा[10]त्मयोगेन स्वोऽयं मे व्रत आहितः॥ १८॥**

---

1- -1. M,Ma शीतवर्षातिपातेन; V शिलावर्षातिपातेन। 2. A,M,Ma °र्ता वुल्बणं 3. M,Ma तन्मखे 4. A,B,J नि° 5- -5. A साधये योगमायया; V ज्ञानयोगेन साधये 6. A,M,Ma °नो 7. A,B,G,J,V स° 8. M,Ma °त्तस्स 9. M,Ma पचते 10. V सात्र°

**श्रीध०** गोपगोपीनां प्रार्थना माह **कृष्णेति**। त्वमेव नाथो यस्य तद्गोकुलं गवां कुलं वंशं नः अस्मांश्च कुपितात्[1] देवादिन्द्रात् त्रातुं रक्षितुं अर्हसि॥ १३॥

**शिलेति**। विज्ञापनात्पूर्व मेव कुपितेनेन्द्रेण कृतं तद्वर्षं मेने॥ १४॥

कथं मेने? तदाह - **अपर्त्विति** अपगत ऋतु र्यस्य तद्वर्षं, अतिशयितो वातो यस्मिं स्तत्, अतिवातं शिलामयं शिलाप्रचुरम्॥ १५॥

तत्र प्रतिज्ञापूर्वकं गोवर्धनोद्धरण माह **तत्रेति**। तत्र[2] प्रतिविधिं प्रतीकारं[3] स्वसामर्थ्येन साधयिष्यामि। तेन च मौढ्यात् लोकेशमानिनां श्रीमदलक्षणं तमो हरिष्यामि बहुवचनेन वरुणादी नभिप्रैति॥ १६॥

ननु देवास्सात्विका स्त्वद्भक्ताश्च, कुतस्तेषां तमः? तत्राऽऽह **नहीति**। सद्भावस्सत्त्वम्, मद्भक्तिर्वा; तद्युक्तानां सुराणां ईशा वयमिति विस्मयो गर्वः। हि यस्मात् न घटते, अतोऽसन्तस्ते किञ्च तेषां मानभङ्गोऽनुग्रह एवेत्याह मत्त इति॥ १७॥

**तस्मा** दिति। गोपाये रक्षिष्यामि किञ्च सोऽयं मे मया व्रतो नियमः, सङ्कल्पो वा, आहितो धृत इत्यर्थः॥ १८॥

---

1. A,B,J omit कुपितात् 2. P,V omit तत्र 3. V °ति

**वीर०** हे महाभाग, अस्मद्रक्षोपयुक्तज्ञानरूप महाभाग्यशालिन्, त्वमेव नाथो यस्य तर्जकुलं कुपिता देवात्पर्जन्यात्[1] पातु मर्हसि। भक्तवत्सलस्याऽधुना उपेक्षा नोचितेति[2] तत्सम्बोधनाभिप्रायः॥ १३॥

शिलावर्षस्य निष्ठुरपातेन पीड्यमानम्, अत एव अचेतनं[3-] तत्[-3] जडीभूतं गोकुल मवलोक्य आश्रितार्तिहरो भगवान् कुपितेनेन्द्रेण कृत मेतत्कर्म इति मेने॥ १४॥

मननप्रकार मेवाऽऽह अपगतो वर्षऋतु र्यस्य, अत्यन्तो वातो यस्य, तच्छिलामय मुल्बणं वर्ष मस्माभिः स्वयागे विहते सति अस्मान्नाशाय वर्षति॥ १५॥

अथ भगवतः प्रतिज्ञापूर्वकं गोवर्धनोद्धरण माह - **तत्रेति**। तत्रैवं सति प्रतिविधिं वर्षप्रयुक्तपीडाप्रतीकारं स्वसामर्थ्येन साधयिष्यामि। मौढ्याल्लोकेश मात्मानं मन्यमानस्य श्री मदात्मकं तमः अज्ञानं तमोगुणकार्यं श्रीमदं[4] हरिष्यामि॥ १६॥

ननु उपेन्द्रादिरूपेण तद्रक्षणशीलः कथं तदनर्थोद्युक्तइत्यपवादशङ्कया स्वयमेव सोपपत्तिकं तत्समाधातु माह **नहीति**। मद्भावयुक्तानां मयि भक्त्यात्मक भावबन्धयुक्तानां सुराणां सत्त्वप्रचुराणां, ईशा वयमिति विस्मयो गर्वो नहि नास्त्येव। अथाऽपि प्रकृति वशात् कदाचिदसतां असज्ज्ञानानां[5-] ईशविस्मयवतां[-5] तेषां मानभङ्ग ईशविस्मयभङ्गः प्रशमायैवोपकल्पते। तद्रक्षैकशीलस्य मम तन्मानभङ्गद्वारा तदुपशान्त्युपयुक्तोद्योग उचित एवेति भावः॥ १७॥

तस्मा त्तदुद्योगस्य सूचितत्वात् गोकुलस्य शरणागतत्वाच्च, अह मेव नाथो रक्षिता यस्य, अह मेव रक्षणोपायो यस्य, अह मेव परिग्रहः शरण्यः प्राप्यो यस्य, तद्वोढं, स्वात्मयोगेन स्वसामर्थ्येन गोपाये रक्षेयन्, सोऽयं शरणागतरक्षणमद्भक्त विस्मयभङ्गरूपो व्रतो मया आहितो धृतः॥ १८॥

---

1. A,B omti पर्जन्यात् 2. A,B अनुचि° 3- -3. K,T,W omit 4. A,B,K add वा 5- -5. K,T,W omit.

**विज०** अचेतनं निस्संज्ञम्॥ १३,१४॥

अपर्ती अनृतौ अवृष्टिसमये इत्यर्थः॥ १५॥

प्रतिविधिं परिहारं, आत्मयोगेन आत्मसामर्थ्येन स्वनिर्मितोपायेन वा, तमोऽज्ञानम्॥ १६॥

अज्ञान हरणेन किं प्रयोजन मित्याशङ्क्य संसार बन्धननिमित्ताहङ्कार नाशनार्थमित्याशयेनाऽऽह - **नहीति**। मद्भावयुक्तानां मद्भक्ति युक्तानाम्। इत्थ मर्थश्चेत्पाठोऽप्येवं किं न स्यादिति चेन्न, भक्तिशब्दार्थविवरणार्थत्वात्। तथा हि "भावो लीला क्रिया चेष्टा भक्त्यादिष्वर्थेषु" भावशब्दप्रवृत्तेः, भगवल्लीलादिमत्त्व प्रदर्शनि सर्वकालं भगवत्येन मनोवृत्ति रिति प्रकाशनेन भक्ते स्तिमितत्व मुक्तं स्यादिति। ईशोऽहमिति स्मयोऽत्युल्बण दर्पो नहि। सतां स्वभावमाह मत्त इति। प्रशमांय प्रकृष्ट मन्निष्ठायै॥ १७॥

ममाऽयं जय स्तम्भ इत्याह **तस्मा दिति**। अह मेव परिग्रहो यस्य स तथा। "पत्नी स्वीकार शपथमूलेष्वपि परिग्रहः" (वैज. को 8-1-30) इति। क्रतो नियमो जयस्तम्भः। गोपाये पालयामि॥ १८॥

---

* Ref. वैजयन्ती Which reads - "भावो लीला क्रिया चेष्टा भूत्यभिप्रायजन्तुषु" (6-1-43)

**इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम्।**
**दधार लीलया कृष्ण[1] च्छत्राक मिव बालकः॥ १९॥**

**अथाऽऽ ह भगवान् गोपान् हेऽम्ब! तात! व्रजौकसः।**
**यथोपजोषं विशत गिरिगर्तं सगोधनाः॥ २०॥**

**न त्रास इह वः कार्यो मद्धस्ताद्रिनिपातनात्[2]।**
**वातवर्षभयेनाऽलं तत्त्राणं विहितं हि[4] वः॥ २१॥**

**तथा निविविशु[5] र्गर्तं[6] कृष्णाश्वासितमानसाः।**
**यथाऽवकाशं सधनाः[7] सप्रजा[8] गोपजीवितः[9]॥ २२॥**

**क्षुत्तृड्व्यथां सुखापेक्षां हित्वा तै र्व्रजवासिभिः।**
**वीक्ष्य[10] माणो दधारा[11] ऽद्रिं समाहं नाऽचलत्पदात्॥ २३॥**

कृष्ण योगोऽनुभावं तं निशा[12]म्येन्द्रोऽतिविस्मितः।
निस्तम्भो भ्रष्टसङ्कल्पः स्वा[13-]न्मेघान्स न्यवारयत्[-13] ॥ २४॥

---

1. K,T,W विष्णुः 2. B,G,J °ने 3. M,Ma °यञ्चालं 4. A,K,T,W मया 5. A,B,G,J,M,Ma° र्वि° 6. V °र्गर्ते 7. M,Ma सन्धानाः 8. A,B,G,J °व्र° 9. M,Ma °वनाः 10. T,W °क्ष° 11. A,B,G,J °वद्रिं 12. M,Ma °श° 13- -13. स्वयं मेघानवारयत्।

**श्रीध० इतीति।** कृत्वा उद्धृत्य छत्राकं शि[2-]लीन्ध्रं यथा[-2] ॥ १९॥

**अथेति।** यथोपजोषं यथासुखम्॥ २०, २१॥

**तथेति।** सव्रजाः शकटमाण्डलीसहिताः[3]। सोपजीविनः भृत्य पुरोहितादिसहिताः ॥ २२॥

**श्रुधिति।** पदात् स्थलात् ॥ २३, २४ ॥

---

1. A,B,J उत्कृत्य 2- -2 A,B,J उच्छिलीन्ध्रम् 3. B,J ० ल ०

**वीर०** इतीत्थ मुक्त्वा एकेनैव हस्तेन गोवर्धनाचलं कृत्त्वा उत्कृत्य; उत्पाट्येति यावत्। सप्ताहा[1-]यनो[-1] विष्णुः श्रीकृष्णो लीलया शिलीन्ध्र मिव दधार, वाम करकनिष्ठिकानखाग्रेण दधारेत्यर्थः ॥ १९॥

अथ धारणानन्तरं भगवान्गोपा नाह। उक्ति मेवाऽऽह अम्बेत्यादिना तथेत्यतः प्रातनेन। हे अम्ब हे तात! हे व्रजौकसः! यथासुखं सगोधनाः सर्वे यूयं गिरिगर्तं[2] विशत[3]॥ २०॥

मद्भस्ता द्योऽद्रेः पा[4-]तः तस्मात्[-4] वः[5-] युष्माभि[-5]ः इहाऽधुना त्रासो भयं न कर्तव्यः[6]। वातवर्षाभ्यां यद्भयं तेनाऽलम्। तन्नकर्तव्यम् इत्यर्थः तत्त्राणं वातवर्ष भयात्त्राणं मया विहितम्॥ २१॥

तथा कृष्णेन समाधापितचित्ता सगोधना स्सपुत्र पौत्राः भृत्यपुरोहितादिवर्गसहितश्च सर्वे व्रजैकसो यथावकाशम् असङ्कीर्ण यथातथा गिरिगर्तं विविशुः ॥ २२॥

स्वावलोकनजानन्दपूर्त्यैव तेषां क्षुत्तृट्कृतपीडां वारयन् सप्ताहं तथा दधारेत्याह। क्षत्तृड्व्ययां सुखापेक्षां च हित्वा केवल मीक्षमाणो भगवान् सप्ताह मद्रिं दधार। पदा न्नचचाल। यत्र उद्धार समये पदं विन्यस्तं न तत श्चचालेत्यर्थः ॥ २३॥

तत स्तं कृष्णस्य योगानुभावं सामर्थ्यप्रभावं दृष्ट्वा इन्द्रोऽतीव विस्मितः भ्रष्टसङ्कल्पः अत एव निस्तम्भो निगर्वः मेघान्न्यवर्तयत्॥ २४॥

---

1- -1. A,B वर्षो 2. A,B खातं° 3. A,B निर्वि° 4- -4. B निपातनात् 5- -5. K,T,W omit 6. A,B ° व्यम्

**विज०** कृत्त्वा उन्मूल्य। 'कृतीच्छेदने' छत्राकं शिलीन्ध्रं, यथोपजोषं यथासुखं, गर्तं बिलम्॥ १९,२०॥

वातवर्षनिमित्तं भयं अलं निवारितम्। "अलन्तु भूषणे शक्तौ पर्याप्तौ विनिवारणे" (वैज. को. 8-7-13) इति यादवः। तन्नाणं तस्मा द्भया द्रक्षणम्॥ २१॥

कृष्णेनाऽऽश्वासितमानसाः आप्यायितमनोरथाः सोपजीवनाः व्रीहितन्दुलादि शरीरयात्रासाधनैः सहिताः॥२२॥

सुखापेक्षां शयनासनवसनादिसुखसाधन श्रद्धां हित्वा मुक्त्वा॥ २३॥

योगानु भावं योगैश्वर्यम्। अनुभावः प्रभावे स्यान्निश्चये भाव सूचके" (वैज. को. 8-1-8) इति। महापुरुषान्दृष्ट्वा स्थाणुवत्प्रावण्याराहित्यं स्तम्भः, तद्रहितो निस्तम्भः। भ्रष्टसङ्कल्पः गलित मनोरथः॥ २४॥

**खं व्यभ्र मुदितादित्यं वातवर्षञ्च दारुणम्।**
**निशाम्योपरतं[1] गोपान् गोवर्धनधरोऽब्रवीत्॥ २५॥**

**निर्यात त्यजत त्रासं गोपा स्सस्त्रीधनार्भकाः।**
**उपारतं वातवर्षं व्युदप्रायाश्च निम्नगाः॥ २६॥**

**तत स्ते निर्ययु र्गोपाः स्वं[2] स्व मादाय गोधनम्।**
**शकटोढोपकरणं[3] स्त्रीबाल स्थविरा श्शनैः॥ २७॥**

**भगवानपि तं शैलं स्वस्थाने पूर्ववत्प्रभुः।**
**पश्यतां सर्वभूतानां स्थापयामास लीलया॥ २८॥**

---

1. M,Ma °श° 2. T,W °स्व° 3. A,M,Ma °टाटोप°

**श्रीध० निर्यातिति**। व्युदप्रायाः विगतोदकपायाः स्वल्पजला इत्यर्थः॥ २५,२६॥

**तत** इति। शकटोढोकरणं शकटै रूढ मुपकरणं यथा भवति तथा॥ २७,२८॥

**वीर०** तत उपरतं वात वर्षम्। अत एव विगतान्यभ्राणि यस्मात्, अत एव उदितः प्रकाशमान आदित्यो यस्मिन् तदाकाशञ्चदृष्ट्वा गोवर्धनधरो भगवान् गोपा नाह॥ २५॥

उक्तमेवाह[1] - **निर्यातिति**।हे गोपाः! स्त्रीभिर्धनैः अर्भकैश्च सहिता निर्गच्छत। त्रासं भयं त्यजत। वातवर्षमुपारतं निवृत्तम्। निम्नगाः[2] व्युदप्रायाः निरुदकप्रायाश्च स्वल्पजलाश्चेत्यर्थः॥ २६॥

ततो भगवदुक्त्यनन्तरं सर्वे गोपाः स्त्रियो बालाः स्थविरावृद्धाश्च शनै श्शकटै रूढानि गृहोपकरणानि यस्मिन् तद्यथा भवति तथा। स्वं स्वं गोधन मादाय निर्ययुः गर्तान्निर्जग्मुः ॥ २७॥

अथ प्रभुः समर्थो[3] भगवानपि सर्वभूतानां पश्यतां सतां लीलया पर्वतं[4] शैलं गोवर्धनं[4] स्वस्थाने स्थापयामास ॥ २८॥

---

1. A,B °वित° 2. A,B,K add 3- -3. K,T,W omit 4- -4. K,T,W omit.

विज्र० व्यभ्रं विगतमेघं, वातश्च वर्षश्च वातवर्षम्, एकवद्भावः ॥ २५॥

व्युदप्रायाः विगतजल प्रायाः ॥ २६॥

शकटाटोपकरणं शकट गत मुपकरणं जीवन साधनं शकटाटोपकरणञ्चाऽऽदाय, गतौ शकटपरिवर्तनेन आटोपकरणं सम्भ्रमविधि र्यथा भवति तथा इति वा॥ २७,२८॥

तं प्रेमवेगा न्निभृता वनौकसो[1] यथा समीयुः परिरम्भणादिभिः।
गोप्यश्चसस्नेह मपूजयन्मुदा दध्यक्षतान्द्रि र्युयुजु स्सदाशिषः[2] ॥ २९॥

यशोदा रोहिणी नन्दो रामश्च बलिनां वरः।
कृष्ण मालिङ्ग्य युयुजु राशिषः स्नेहकातराः ॥ ३०॥

दिवि देवगणा स्साध्या[3] स्सिद्धगन्धर्व चारणाः।
तुष्टुवु र्मुमुचु स्तुष्टाः[4] पुष्पवर्षाणि पार्थिव[5] ॥ ३१॥

शङ्ख तुन्दुभयो नेदु र्दिविदेव प्रचोदिताः[2]।
जयुर्गन्धर्वपतय स्तुम्बुरुप्रमुखा नृप ॥ ३२॥

ततोऽ नुरक्तैः पशुभिः परिश्रितो राजन्स्वगोष्ठं[7] सबलेऽविशद्धरिः[8]।
तथाविधान्यस्य कृतानि गोपिका गायन्त्य ईयु र्मुदिता हृदि स्पृशः ॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५॥

---

1. A,B,G,J,M,Ma व्रजौ 2. M,Ma °स्तथाऽऽ° 3. M,Ma स्सर्वे 4. M,Ma,T,W °स्सर्वे 5. M,Ma भारत। 6. A,B,G,J °णो° 7. A,B,G,J,M,Ma °न्स° 8. A,B,G,J °व्रज°

**श्रीध० तमिति।** निभृताः पूर्णाः यथा यथोचितं, परिरम्भणादिभिः समीयु रुपजग्मुः। सदाशिषः श्रेष्ठा नाशीर्वादान्॥ २९ - ३२॥

तत इति। ततो गोवर्धनस्थानात्, अस्य कृष्णस्य तथा विधानि गोवर्धनोद्धरणादिरूपाणि [1] कृतानि कर्माणि गायन्त्य ईयु र्ययुः। कथम्भूताः? एवं प्रेम्णा हृदि स्पृशन्तीति हृदिस्पृशः। यद्वा कथम्भूतस्य? प्रेष्ठत्वेन तासां [2] हृदि [3] स्पृशतीति हृदिस्पृक्, तस्य॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
पञ्चविंशोऽध्यायः॥ २५॥

---

1. A adds तानि 2. A,B omit हृदि 3. B omits स्पृशतीति।

**वीर०** तं स्थापितवन्तं भगवन्तं प्रेमातिशयात् परिरम्भणादिभिः यथार्हं सञ्जग्मुः निभृता स्सुखिताश्च बभूवुः। तथा गोप्यश्च दध्यादिभिः सस्नेहं यथा भवति तथा मुदा हर्षेण अपूजयन्। सदाशिषः श्रेष्ठाशीर्वादान् प्रयुयुजुः॥ २९॥

**यशोदेति।** [1-] यशोदादयः [-1] स्नेहकातराः स्नेहेन व्याकुलितचित्ताः॥ ३०॥

**दिवीति।** [3] दिवि देवगणादयः तुष्टा स्तुष्टुवुः पुष्पवर्षाणिमुमुचुः। [4] ववृषुश्च। हे पार्थिव!॥ ३१॥

**शङ्केति।** [5-] शङ्खादयो [-5] नेदुः दध्वनुः हे नृप!॥ ३२॥

ततो राजन्! अनुरक्तैः पशुपालैः परिवृतो बलदेवेन सहितो हरिः स्वगोष्ठं जगाम। गोपिकाश्च तथाविधानि गोवर्धनोद्धरणतुल्यानि अमानुषाणि [6] अस्य भगवतः कृतानि कर्माणि गायन्तः हृदिस्पृशः श्रीकृष्ण हृदयङ्गमास्सत्यः हृदिस्पृश इति भगवद्विशेषणं वा। मुदितास्सत्यः ईयुः व्रजं जग्मुः॥ ३३॥

इति श्रीमद्भगवते दशम स्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां पञ्चविंशोऽध्यायः॥ २५॥

---

1- -1. K,T, W omit 2. A,B °लचि° 3. K,T omit दिवि 4. T,Wववर्षुश्च 5- -5. K,T,W omit 6. A,B add अन्यान्यपि।

**विज०** प्रेमवेगात्प्रेमोद्रेकात् निभृता निश्चलाः पूर्णानन्दा वा। समीयुः समाजं प्राप्ताः॥ २९॥

स्नेहकातराः स्नेहकलिलान्तःकरणाः ॥ ३०-३२ ॥

हृदिस्पृशः मनोहराः । 'हृद्युभ्या मुपसंख्यानम् (अष्टा. 6-3-8 under वार्तिक) इत्यलुक् ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

(विजयध्वजरीत्या त्रयोविंशोऽध्यायः)

# षड्विंशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या चतुर्विंशोऽध्यायः)

### श्रीशुक उवाच

एवंविधानि कर्माणि गोपाः कृष्णस्य वीक्ष्य ते।
नतद्वीर्यविदः[1] प्रोचुः नन्द[2-] मभ्येत्य विस्मिताः[-2] ॥१॥

बालकस्य यदेतानि कर्माण्यत्यद्भुतानि वै।
कथ मर्हत्यसौ जन्म ग्राम्येष्वात्मजुगुप्सितम्॥२॥

यस्समहायनो बालः करणैकेन लीलया।
कथं बिभ्रद्गिरिवरं पुष्करं गजराडिव॥३॥

तोकेनाऽऽमीलिताक्षेण[3] पूतनाया महौजसः।
पीतः[4] स्तन स्सह प्राणैः कालेनेव वय स्तनोः॥४॥

हिन्वतोऽधश्शयानस्य मास्यस्य चरणा वुदक्।
अनोऽपत द्विपर्यस्तं रुदतः प्रपदा हतम्॥५॥

एकहायन आसीनो हियमाणो विहायसा।
दैत्येन यस्तृणावर्त महन्कण्ठग्रहातुरम्॥६॥

क्वचिद्धैयङ्गवस्तैन्ये मात्राबद्ध उलूखले।
गच्छन्नर्जुनयो र्मध्ये बाहुभ्यां तावपातयत्॥७॥

---

1. A,B,G,J,V अ° 2- -2. A,B,G,J समभ्येत्य सुवि; M,Ma समुपेत्य सुवि° 3. K,T,W °न मी° 4. M,Ma °तं

### श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

षड्विंशे विस्मितान् गोपान् कृष्णस्याद्भुतकर्मभिः।
नन्दो गर्गोक्ति माशंस्य[1] तदैश्वर्य मवर्णयत्।

**एवमिति।** [2-]नन्द मभ्येत्य[-2] नन्दं [3-]उपागम्य[-3] ॥ १ ॥

यदूचु स्तदाह - **बालकस्येति।** यत् यस्मात् अद्भुतानि कर्माणि तस्मा दग्राम्येषु गोपालेषु कथं जन्मार्हति? आत्मजुगुप्सितम् आत्मानर्हम् ॥ २ ॥

अद्भुतानि कर्माण्याहुः [4-]द्वादशभिः[-4] **य** इति। [5-]यस्सप्तहायनः[-5] कथं बिभ्रत् स्थित इति। पुष्करं पद्मं गजराट् महागज इव ॥ ३ ॥

**तोकेनेति।** महौजसः महाबलायाः तनोर्वयः आयुः यौवनं वा, कालेन यथा पीयते तद्वत्। कथ मित्यनुवर्तते ॥ ४ ॥

**हिन्वत** इति। अनसोऽधश्शयानस्य मास्यस्य मासाः त्रयः परिच्छेदका यस्य। उदक् ऊर्ध्वं चरणौ हिन्वतः चालयतः प्रपदेन पादाग्रेण आहतं विपर्यस्तं अनः कथमपतत् ॥ ५ ॥

**एकहायन** इति। यः [6]कृष्णः दैत्येन ह्रियमाणस्सन् तं तृणावर्तं दैत्यं कथं अह न्नित्यर्थः ॥ ६ ॥

**क्वचि** दिति। हैयङ्गवस्तैन्ये नवनीतचौर्ये। हैयङ्गवीन मिति वक्तव्ये हैयङ्गव मिति प्रयोग आर्षः। एव मेव सर्वत्राऽपि ज्ञेयम्। "[7-]हैयङ्गवीनं संज्ञायाम्[-7]" इति। बाहुभ्यां गच्छन् [8]चर न्नित्यर्थः ॥ ७ ॥

---

1. A,B,J °श्राव्य 2- -2. A,B,J समभ्येत्य 3- -3. A समभिगम्य; B,J अभिगम्य 4- -4. A,B,J omit 5- -5. A,B,J omit 6. P,V omit कृष्णः 7- -7. A,B,J omit 8. A,B,J रिङ्ग°

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथामानुष गोवर्धनोद्धरणात्मक चेष्टित स्मारितपूतनाशकटासुरवधादिवृत्तान्तै रतिमानुषैः कृष्ण ममानुषं शङ्कमानैर्गोपैः पृष्टो नन्दो गर्गगीतानुवादेन साक्षादयं नारायणो न केवलं मर्त्य इत्याहेत्याह मुनिः षड्विंशेन **एवमिति।** ते गोपाः कृष्णस्य एवंविधानि गोवर्धनोद्धरणादिव मानुषाणि पूतनादिवधात्मकानि कर्माणि वीक्ष्य अनुस्मृत्य, नतद्वीर्यविदः कृष्णासाधारणजगद्वचापारादिरूपापार महिमान मजानन्तः केवल मेतै रेव कर्मभिः तं विस्मयपूर्वक माशङ्कमानाः विस्मयप्रयुक्तमुखविकासयुक्ताः नन्द मभिगम्योचुः ॥ १ ॥

उक्त मेवाऽऽह **बालकस्ये** त्यादिभि स्त्रयोदशभिः। यत् यस्मात्, एतानि बालकस्य कर्माणि [1]अद्भुतानि, तस्मा दग्राम्येषु गोपेषु कथमसा वात्मनः स्वस्य जुगुप्सितं अननुरूपं जन्मार्हति ॥ २ ॥

[2]अद्भुतानि[3] कर्माण्येवाऽऽहु र्द्वादशभिः **य इति।** यः कृष्णः कथं बिभ्रत् स्थितः। पुष्करं पद्मं महागज इव। धारणायोग्यत्व सूचकं बाल स्सप्तहायन इति च विशेषणद्वयम्। साधनत्वायोग्यत्वसूचनाय करेणैकेनेत्युक्तम्। धार्यत्वानर्हत्व सूचनाय गिरिवर मित्युक्तम्। एव मुत्तरत्राऽपि द्रष्टव्यम् ॥ ३ ॥

**तोकेनेति।**[4] महौजसो महाबलायाः पूतनायाः प्राणै स्सह स्तनः तोकेन शिशुना तत्राऽपि मीलिताक्षेण नेत्रोन्मीलनेऽपि असमर्थवयसेति[5] भावः। कथं पीतः? यथा तनो श्शरीरस्य वयो यौवनं कालेन पीयते तद्वत् ॥ ४ ॥

**हिन्वत** इति। शकटस्याधश्शयानस्य बालस्य। मास्यस्येतिपाठे मासास्त्रयः परिच्छेदका यस्य तस्य उदगूर्ध्वं चरणौ हिन्वतश्चालयतः रुदतश्च प्रपदा पादाग्रेणाऽऽहतमन शकटं विपर्यस्तं सत् कथ मपतत्? सर्वत्र कथंशब्दोऽनुवर्तते॥ ५॥

**एकहायन** इति। यः कृष्णः एकाब्दवयस्को भुवि निषण्णो दैत्येन तृणावर्तेन आकाशमार्गेण नीयमानः तं कण्ठग्रहणेन आतुरं पीडितं तृणावर्तं कथ महन् हतवान्॥ ६॥

**क्वचिदिति**। कदाचिन्नवनीतचौर्ये सति क्रुद्धया मात्रा यशोदया उलूखले बद्धो बाहुभ्यामर्जुनयो र्मध्ये गच्छन् रिङ्गन् तावर्जुनौ कथ मपातयत्॥ ७॥

---

1. A,B,K अत्यद्भु° 2. K अत्यद्भु° 3. A,B add अस्य 4. A,B add किञ्च 5. A,B °स्केनेति 6. A,B °ण हत° 7. T,W omit हतवान् 8- -8. K,T,W omit.

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

अनुस्मरणार्थ माप्रेङ्खाश्रितवयः सप्तवर्षपर्यन्तं बालचरित मनुक्रम्यतेऽस्मिन्नध्याये। तत्र श्रीशुको गोपानां सङ्कथन प्रकारं कथयति **एवंविधानीति**। ये गोपाः कृष्णस्यैवंविधानि कर्माणि वीक्ष्य तत्र तत्र साक्षा दृष्ट्वाऽपि तस्य कृष्णस्य वीर्यं माहात्म्यं विदन्ति जानन्ति ते तद्वीर्यविदः न भवन्ति ते, गोपाः समेत्य सम्भूय प्रोचुः व्याकुर्वन्नित्यन्वयः॥ १॥

बालस्यैतानि कर्माण्यत्यद्भुतानि वक्तु मशक्यानि वा इति यत्तस्मा दसौ आत्मनः स्वस्य जुगुप्सितं ग्राम्येषु विषयिजनेषु जन्म कथ महंति, निरूप्यमाणे न योग्य इत्यन्वयः॥ २॥

कानि तानि कर्माणीति तत्राऽऽहुः **य** इति बिभ्रत् अबिभ्रत्। पुष्करं पद्मम्॥ ३॥

तोकेन शिशुना आमीलिताक्षेण ईषत्फुल्लनेत्रेण महौजसः महाबलायाः अधृष्यावष्टम्भाया वा। "ओजोऽवष्टम्भ बलयोः" (वैज.को. 6-3-4) इति। स्तनं पीतं वय मद्राक्ष्मेति शेषः। कालेनाऽन्तकेन ॥ ४॥

चरणा वुदक् ऊर्ध्वं हिन्वतः उत्क्षिपतः मास्यस्य मासमात्रवयस्कस्य प्रपदेन पादाग्रेणाऽऽहतं पीडितम्॥ ५॥

एक एव हायनो वर्षं वत्सरो यस्य स तथा। तृणावर्तमहन्निति यत्कर्म तदपि॥ ६॥

हैयङ्गवं हैयङ्गवीनं सद्योदधिमन्थने जातं नवनीतं तस्य स्तैन्ये चौर्ये सति। बाहुभ्यां गच्छन्निति सम्बन्धः॥ ७॥

**वने सञ्चारय न्वत्सा न्सरामो बालकै र्वृतः।**
**हन्तुकामं बकं दोर्भ्यां मुखतोऽरि मपाटयत्॥ ८॥**

**वत्सेषु वत्सरूपेण प्रविशन्तं जिघांसया।**
**हत्वा न्यपातयत्तेन कपित्थानि च लीलया॥ ९॥**

हत्वा रासभदैतेयं तद्बन्धूंश्च बलान्वितः।
चक्रे तालवनं क्षेमं परिपक्वफलान्वितम्[2]॥१०॥

प्रलम्बं घातयित्वोग्रं बलेन बलशालिना।
अमोचय द्व्रजपशून् गोपांश्चाऽऽरण्य वह्निना॥११॥

आशीविषतमाहीन्द्रं[3] दमित्वा विमदं ह्रदात्।
प्रसह्योद्वास्य यमुनां चक्रेऽसौ निर्विषोदकात्॥१२॥

दुस्त्यजश्चाऽनु रागोऽस्मिन्सर्वेषां नो व्रजौकसाम्।
नन्द ते तनयोऽस्मासु तस्याऽप्यौत्पत्तिकः कथम्॥१३॥

क्व सप्त हायनो बालः क्व महाद्रिविधारणम्।
ततो नो जायते शङ्का व्रजनाथ तवाऽऽत्मजे॥१४॥

---

1. T,W °त° 2. M,Ma °लोचितम् 3. M,Ma °षं महारौद्रं

**श्रीध० वने** इति। मुखतो हन्तुं कामो यस्य तं बकवेषमरिं बाहुभ्यां मुखतः कथ मपाटयत्॥८-११॥

**आशीविषेति।** आशीविषतमः अतिक्रूरविषश्चाऽसौ अहीन्द्रश्च तम्॥१२॥

**दुस्त्यज** इति। औत्पत्तिकः स्वाभाविकः। कथमिति किं सर्वेषा मय मात्मा स्यादिति शङ्का॥१३॥

उक्त मपि अनिविस्मयेनाभिनयेन वदन्ति **क्व सप्त हायन** इति॥१४॥

**वीर० वने** इति। रामेण सहितो बालकैश्च वृतो वत्सान् वने सम्यक्[1] चारयन् जिघांसुं बकासुर मरिं मुखे भुजाभ्यां कथं अपाटयत्[2] विदारितवान्॥८॥

**वत्सेष्विति।** हन्तु मिच्छया वत्सरूपेण वत्सेषु प्रविष्टं वत्सासुरं हत्वा लीलया न्यपातयत्। तेन पातितेन दैत्यकलेबरेण[3] कपित्थानि च न्यपातयत्॥९॥

**हत्वेति।** बलदेवेन सहितो रासभासुरं, तद्बन्धूंश्च हत्वा परिपक्वैः फलै रन्वितं तालवनं क्षेमं चक्रे। सर्वैः प्रवेष्टुं क्षेमं[4] चक्रे इत्यर्थः॥१०॥

**प्रलम्ब** मिति। बलशालिना बलदेवेन उग्रं प्रलम्ब मसुरं घातयित्वा स्वयं व्रजपशून् गोपांश्च दवाग्ने रमोचयत्॥११॥

**आशीविषेत्यादि।** आशीविषतमः अतिक्रूरविषः स चाऽऽसौ अहीन्द्रश्च, तम्। बला दमित्वा ततो[5] विगतमदं तं[6] ह्रदा दुद्वास्य निष्कास्य यमुनां निर्विषोदकां चक्रे॥१२॥

**दुस्त्यज** इति। हे नन्द! ते[7] तव तनयेऽस्मिन् कृष्णेनाऽस्माकं सर्वेषां व्रजौकसा मनुरागः दुस्त्यजः कथम्? तस्यैवंविधातिमानुषचेष्टितस्य अस्मासु औत्पत्तिकः जन्मसिद्धोऽनुरागः कथम्? अतस्सर्वशक्तिः सर्वेषा मात्मा व किं तवाऽऽत्मज इति आशङ्कामह इति भावः॥ १३॥

**अन्यथैतन्न** घटत इत्याशङ्कामेवाऽऽविष्कुर्वन्ति **केति**। हे व्रजनाथ! ततोऽद्रिधारणादेः, तवाऽऽत्मजे शङ्का सर्वशक्तिपरमात्मशङ्का जायते॥ १४॥

---

1. T,W omit सम्यक् 2. T,W omit अपाटयत् 3. A,B देहेन 4. K क्षमं 5. A omits ततो 6. B omits तं 7. K omits ते

**विज०** मुखतः मुखे, गृहीत्वेति शेषः अपाटयत् व्यदारयत्॥ ८॥

तेन दैत्येन कपित्थानि कपित्थबीजानि। "फले लुक्"॥ ९॥

क्षेमं प्राप्तरक्षम्॥ १०, ११॥

दमित्वा निगृह्य, उद्वास्य उच्चाटयित्वा॥ १२॥

अनुरागो हृदयङ्गमः स्नेहः। औत्पत्तिकः उत्पत्तिसिद्धः, कथम्?॥ १३॥

"ततो नो जायते शङ्का" इत्यादिना नतद्वीर्यविद इति स्पष्टीकृतम्॥ १४॥

नन्द उवाच

**श्रूयतां मे वचो गोपाः व्येतु शङ्का च[1] वोऽर्भके।**
**एनं कुमार मुद्दिश्य गर्गो मे य दुवाच ह[2]॥ १५॥**

**वर्णा स्त्रयः किलाऽस्याऽऽसन्गृह्णतोऽनुयुगं तनूः।**
**शुक्लो रक्त स्तथा पीत इदानीं कृष्णताङ्गतः॥ १६॥**

**प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जात स्तवाऽऽत्मजः।**
**वासुदेव इति श्रीमा नभिज्ञा स्सम्प्रचक्षते॥ १७॥**

**बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते।**
**गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः[3]॥ १८॥**

**एष वश्श्रेय आधास्य द्गोप गोकुलनन्दनः।**
**अनेन स्व[4]र्व दुर्गाणि यूय मञ्ज स्तरिष्यथ॥ १९॥**

**पुराऽनेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः।**
**अराजके रक्ष्यमाणा जिग्यु र्दस्यून् समेधिताः[5]॥ २०॥**

1. V ममाभके 2. K,V तत् 3. M,Ma °नः 4. V बहु 5. V °तान्।

**श्रीध०** प्राक्श्रुत मेवगर्गाचार्यवाक्यं तच्चरित्रपरिशीलनेन निवृत्ताऽसम्भावनस्य नन्दस्य कृष्णतत्त्वावबोधकं जातम्। सइदीनीं तेनैव वाक्येन गोपा नुपदिशति श्रूयता मिति॥ १५-२०॥

**वीर०** एव मापृष्टः प्राक् श्रुत श्रीकृष्ण जातकात्मक गर्गवाक्यो नित्यं तच्चरित्र परिशीलन निवृत्तेश्चरत्वासम्भवनो नन्दस्तेनैव गर्गवाक्येन गोपाना माशङ्का मपनुदति। हे गोपाः! एनं कृष्ण मुद्दिश्य गर्गो यदुवाच तच्छ्रूयताम्, तच्छ्रवणेनैव अस्मिन्नभके विषये भवतां शङ्का व्येतु निवर्तताम्॥ १५॥

किं तद्गर्गोक्तं येन शङ्का व्येति इत्यत्र तदेवाऽऽह **वर्णा** इत्यादिभिः इत्यद्धेत्यतः प्राक्तनैः, इमे श्लोकाः पुरस्ता देव व्याख्याताः॥ १६-२०॥

**विज०** व्येतु विगता भवतु। वः युष्माकं प्रसक्तकथां प्रति अन्तरङ्गत्वेन कथान्तरमारभ्यत इति सूचनाय हकारः। "प्रत्यारम्भे प्रसिद्धौ ह" (वैज.को. 8-7-8), "हा विषादशुगार्तिषु" (वैज.को. 8-7-8) इति च॥ १५॥

वर्णा श्शुक्लाद्याः॥ १६॥

क्वचि न्मधुराया वसुदेवस्य सकाशात्, अभिज्ञाः वसुदेवस्याऽपत्य मिति तद्धितप्रत्ययज्ञान पटवः॥ १७॥

न केवल मेत देव नामरूपत्रय मेव, अपितु अन्या न्यपि सन्ती त्याह **बहूनीति।** नारायणादीनि गुणानु रूपाणि मधुसूदनादीनि कर्मानुरूपाणि॥ १८॥

आधास्यत् आधास्यति। यद्वा यदि यूय मस्मिन् भक्त्युद्रिक्तं चित्त मकरिष्यन् तर्ह्ययं वः पुरुषार्थलक्षण माधास्यत्। "लिङ्निमित्ते लृङ्क्रियातिपत्तौ (अष्टा. 3-3-139) इति सूत्रादयं विधिः॥ १९,२०॥

**स एतस्मिन्महाभागो[1] प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः।**
**नाऽरयोऽभिभवन्त्येता न्विष्णुपक्षा निवाऽसुराः॥ २१॥**

**तस्मान्नन्द! कुमारोऽयं नारायण समोगुणैः।**
**श्रिया कीर्त्याऽनुभावेन तत्कर्मसु न विस्मयः॥ २२॥**

**इत्यद्धा मां समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते।**
**मन्ये नारायणस्यांशं[2] कृष्ण मक्लिष्टकारिणम्॥ २३॥**

इति नन्दवच श्श्रुत्वा गर्गगीतं व्रजौकसः ।
★ दृष्ट श्रुतानुभावा स्ते कृष्णस्याऽमिततेजसः ॥
मुदिता नन्द मानर्चुः कृष्णश्च गतविस्मयाः[3] ॥ २४ ॥

देवे वर्षति यज्ञविप्लवरुषा वज्राश्मवर्षानिलैः[4]
सीदद्बालपशुस्त्रि आत्मशरणं दृष्ट्वाऽनुकम्प्युत्स्मयन्[7] ।
उत्पाटचैककरेण शैल मबलो लीलोच्छिलीन्ध्रं यथा
बिभ्र द्गोष्ठ मपान्महेन्द्रमदभि त्प्रेयान्न इन्द्रो गवाम्[8] ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टा दशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

---

1. A,B,G,J भागाः 2. K,T,W °णं साक्षात् ★ This half verse is not found in T,V,W edns 3--3. K कृष्णं विगतविस्मयाः ; T,W कृष्णश्च विगतस्मयाः 4. A,B,G,J °प° 5. A,B,G,J त्पा° 6. V चा° 7. M,Ma °यः 8. A,B,G,J,K,M,Ma त्री°

**श्रीध० तस्मा** दिति। तस्मा त्तस्य कर्मसु विस्मयो नास्तीति नन्दस्योक्तिः ॥ २१,२२ ॥

**इतीति।** इत्यद्धा साक्षात् मां प्रति समादिश्य गर्गे स्वगृहं गते सति तदानीं तथा अमन्यमानोऽपि इदानीं कृष्णं नारायणस्यांशं मन्ये। अत्र हेतुः अक्लिष्ट कारिण मिति ॥ २३,२४ ॥

गोवर्धनोद्धरणं सपरिकर मनुस्मरन् प्रकटितैश्वर्यस्य कृष्णस्य प्रीतिं प्रार्थयते **देवे** इति। यज्ञविप्लवेन या रुट् तया देवेन्द्रे वर्षति सति वज्राश्मवर्षानिलहः[1] अशनिजल शर्करा[2] तिवृष्टि वायुभिः सीदद्बाल[3] पशुस्त्रि सीदन्तो बाला[4]ः पशवः स्त्रियश्च यस्मिन् तत्तथा। आत्मा स्वयमेव शरणं यस्य तद्गोष्ठं दृष्ट्वा अनुकम्पी उत्स्मयन् हसन् प्रौढि माविष्कुर्वन्[5] शैल मुत्पाटच अबलः बालः लीलार्थं उच्छिलीन्ध्रं यथा एकेन करेण बिभ्रत् दधत् यो गोष्ठ मपात् पालितवान्। एवं महेन्द्र मदभित्। गवामिन्द्र इति उत्तराध्यायार्थं स्मरति।[6] एवम्भूतः श्रीकृष्णः नः प्रेयात् प्रीयतामिति ॥ २५ ॥

★ षड्विंशे दशमेव्यक्तः षड्विंशो दशमो हरिः। व्यनक्तु पञ्चविंशत्यां चतुर्विंशतितः पृथक् ॥

△ अस्यार्थः दशमस्कन्धे षड्विंशतितमाध्याये षड्विंशति तत्त्वात्मकः दशलक्षणलक्षितः हरिः चतुर्विंशतितत्त्वापेक्षया पृथक् जीवसंज्ञं मां व्यनक्तु।

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

---

1. A,B,J °प° 2. A,B,J °रा तीव्र 3. A,B,J °त्या° 4. A,B,J पा° 5. P,V add सः 6. A,B,J add सः ★ श्रीधरीयोऽयंश्लोकः ।
△ It is not found in A,B,J edns.

**वीर०** इत्यद्धेति नन्दोक्तिः । इति नन्दवच इत्यादिस्तु शुकोक्तिः । इतीत्थ मद्धा स्फुटं, मां समादिश्य सम्यक् ज्ञापयित्वा गर्गे स्वगृहं गते सति अहं कृष्णं साक्षा न्नारायणं मन्ये। तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि अक्लिष्टकारिणां अक्लिष्टानि क्लेशरहितानि अतिमानुषचेष्टितानिकरोतीति तथा तं, अतो नारायणं मन्ये इत्यर्थः ॥ २१ - २३ ॥

इत्येवं विविधं गर्गगीतं नन्दवचः [1-]नन्देन उदितं[-1] श्रुत्वा सर्वे व्रजौकसौ विगताश्चर्या मुदिताश्च नन्दं कृष्णञ्च आनर्चुः । कृष्णं प्रति गतविस्मयानन्दमानर्चुः बह्वमन्यन्तेति वा ॥ २४ ॥

गोवर्धनोद्धरणं सपरिकर मनुस्मरन् प्रकटितैश्वर्यस्य भगवतः स्वविषय प्रीतिं प्रार्थयते शुकमुनिः **देव!** इति। यज्ञविघातेन हेतुना या रुट् तया हेतुभूतया देवे[2] इन्द्रे वर्षति सति, अशनि शिलावर्षवातैः सीदन्तः क्लिश्यन्तो बालाः पशवः स्त्रियश्च यस्मिन् तथा। स्वय मेव शरणं रक्षिता रक्षणोपायश्च यस्य तद्गोष्ठं दृष्ट्वा 'स्त्रियात्मेति' इयङार्षः । अनुकम्पायुक्तः उत्स्मयन् स्वमाहात्म्य माविश्चिकीर्षु स्तावद्धसन्, अबलः बालोऽपि शैलं लीलार्थ मुत्पाटितं छत्राक मिव एकेन करेण उत्पाटच बिभ्राणो गोष्ठं यो ररक्ष समहेन्द्रमदभित् गवामिन्द्रो नोऽस्माकं प्रीयात् प्रीयताम्[3] प्रसन्नो[4-] भवतु[-4]। यदुत्तराध्यायस्थं सुरभिवाक्यादि "त्वं न इन्द्रो जगत्पते" (भाग. 10-27-20) इत्यादि तदप्यनुसन्दधता शुकेन विशेषितो गवा मिन्द्र इति ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

---

1- -1. A,B,K omit 2. A,B °वेन्द्रे 3. A,B omit प्रीयताम् 4- -4. T,W omit

**विज०** आनर्चुः पूजयामासुः ॥ २१ - २४॥

श्रीशुकः प्रथमभागसमाप्ति सूचनाय स्वेष्टदेवतां कृष्णमभिष्टुवन् तत आत्मरक्षा माशास्ते **देव** इति। यज्ञविप्लवः यज्ञभङ्ग इत्यर्थः। तस्मा दुत्पन्नया रुषा वज्राश्मवत् वज्रपाषाणवत् कर्कशैर्वर्षैः अनिलैश्च स्त्रिया सह सीदन्तः कम्पमानाः बालाश्च पशवश्च यस्मिंस्तत् सीदद्बालपशु, आत्मा शरणं रक्षिता यस्य तत्तथा। अनुकम्पी हृदयद्रवीभावयुक्तः उत्स्मयः उद्गतस्मयः निरस्तदर्पः, उत्कृष्टमन्दहासो वा, महेन्द्रस्य मदं गर्वं भिनत्ति निर्मूलयतीति महेन्द्र महेन्द्र मदभित्। अबलोऽस्थूलः अणुर्बालः लीलासाधन मुत्फुल्लशिलीन्ध्रं यथा तथैकेन हस्तेन शैलं शिलोच्चयं पर्वत मुत्पाटच बिभ्रत् गवा मिन्द्रो गोविन्दोऽस्मभ्यं प्रीयात् प्रीतो भवत्वित्यन्वयः.। 'पायान्नः' इति पाठे नोऽस्मान् रक्ष त्वित्यर्थः। "गोस्वामी गोविन्दोऽधिकृतो गवाम्" (वैज.को. 3-4-59) इत्यमरः ॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६॥

(विजयध्वजरीत्या चतुर्विंशोऽध्यायः)

---

★ अयं वैजयन्ती पाठः ; (3-4-59) अमरकोशपाठस्तु - "गोष्ठाध्यक्षे तु गोविन्दः" (3-248) इति।

# सप्तविंशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या पञ्चविंशोऽध्यायः)

### -: गोविन्दपट्टाभिषेकघट्टः :-

श्रीशुक उवाच

गोवर्धने धृते शैल आसारा व्रक्षिते व्रजे।
गोलोका दाव्रजन्कृष्णं सुरभिः शक्र एव च ॥१॥

विविक्त उपसङ्गम्य व्रीडितः कृतहेलनः।
पस्पर्श पादयो[1] रेनं किरीटेनाऽर्कवर्चसा॥२॥

दृष्टश्रुतानुभावोऽस्य कृष्णस्यामिततेजसः।
नष्टत्रिलोकेशमद इद[2] माह[2] कृताञ्जलिः ॥३॥

---

1. V युगलं 2- -2. A,B,G,J इन्द्र आह

### श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

सप्तविंशे तदालक्ष्य कृष्णस्य प्राभवं परम्।
वर्ण्यते सुरभीन्द्राभ्या मभिषेकमहोत्सवः ॥

**गोवर्धन** इति। गोवर्धने धृते शैले इति शक्रस्य भयेनागमने हेतुः, आसारा व्रक्षिते व्रजे इति सुरभे र्हर्षेणागमने॥१॥

तत्रेन्द्र आगत्य किं कृतवांस्तदाह 'विविक्त' इत्यादिना, 'अथाऽऽह सुरभिः' इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। **विविक्त** इति। विविक्त एकान्ते। पादयोः पस्पर्श नमश्चकार॥२॥

**दृष्टेति**। अस्य श्रीकृष्णस्य श्रुतश्चाऽसा वनुभावश्च श्रुतानुभावः। दृष्टः श्रुतानुभावो येन स इन्द्रः। नष्टः त्रिलौकशोऽह मिति मदो यस्य सः॥३॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ कृतापराधेनेन्द्रेण स्तुतिपूर्वकं क्षमापितस्य तदनुग्रहप्रकारं सुरभीन्द्रादिकृतक्षीरगङ्गाजलाद्यभिषेकप्रकारं तन्निमित्तं गोविन्द नामधेयं तादात्विकं तुम्बुरुनारद हर्ष प्रयुक्त गानादि प्रकारञ्चाह सप्तविंशेन। तत्र प्रथमं शक्रागमनं तत्कृत श्रीकृष्ण स्तवनञ्चाऽऽह **गोवर्धन** इति। सुरभिः कामधेनुः। गोवर्धने धृते शैले इतीन्द्रस्य समयामने हेतुः। 'आसारा द्रक्षिते व्रजे,[3] इति सुरभे स्सहर्षागमने हेतुः॥ १॥

तत्रेन्द्र आगत्य किं कृतवान्, तत्राऽऽह विविक्त इत्यादिना अथाऽऽह सुरभिरित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। कृतं हेलना मपराधो येन, अत एव व्रीडितो लज्जितः, अत एव एकान्ते समीप मेत्य, अर्कस्येव वचो यस्य, तेन किरीटेन एनं कृष्णं पादयोः पस्पर्श नमश्चकार॥ २॥

**दृष्टेति।** अमितं तेजः प्रभावो यस्य तस्य कृष्णस्य दृष्टः श्रुतश्च अनुभावो येन तथा भूतः, अत एव नष्टोऽपगतः त्रिलोकेशोऽहमिति मदो यस्य कृतोऽञ्जलिर्येन तथाभूतः। इदं वक्ष्यमाणं स्तुत्यात्मकं क्षमापणात्मकञ्च वाक्यमाह॥ ३॥

---

1- -1. T,W omits 2- -2. A,B गोवर्धनाख्ये शैले पर्वते धृते सति कृष्णेन 3. A,B add सति

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

"तस्मिन्नप्यसुरावेशे गते प्रकृति रेवतु" (भागवत तन्त्रे) इति वचनात् देवस्वभाव प्रकटन पूर्वकं सुरभिक्षीराभिषेकेण शक्रस्तुत्या च हरिमाहात्म्यस्य अतिसिद्धत्वात् मुमुक्षुभि स्तस्मिन् अतिशयितं प्रेम विधेय मिति अस्याध्यायस्यारम्भः। तत्र सुरभीन्द्रयो रागमनं कथयति **गोवर्धन** इति। गोलोकाद्गवामधिकृतस्थानात् सुरभिः इन्द्रस्तु स्वर्गलोकात्। "दिग्दृष्टि दीधितिस्वर्गवज्रवाम्बाणवारिषु। भूमौ पशौ च विद्वद्भिर्गोशब्दो दशसु स्मृतः" (हला. को.5-68) इति हलायुधः। यो हरे विरोध माचरत् स एवाऽऽव्रज दित्यन्वयः॥ १॥

विविक्ते एकान्ते। 'विजिर् पृथग्भावे' इति धातुः। जनसम्मर्दराहित्यस्थले इत्यर्थः॥ २॥

इदानीं दृष्टः पूर्वं श्रुतः अनुभावो येन स तथा। इन्द्र इद माह॥ ३॥

**इन्द्र उवाच**

**विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तं तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम्।**
**मायामयोऽयं गुणसम्प्रवाहो न विद्यते तेऽग्रहणानुबन्धः॥४॥**

**कुतो नु तद्धेतव ईश तत्कृता लोभादयो येऽबुधलिङ्गभावाः।**
**अथाऽपि दण्डं भगवा न्बिभर्ति धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय॥५॥**

**पिता गुरु स्त्वं जगता मधीशो दुरत्ययः काल उपात्तदण्डः।**
**हिताय चेच्छातनुभि स्समीहसे मानं विधुन्वञ्जगदीश मानिनाम्॥ ६॥**
**ये मद्विधाज्ञा जगदीश मानिन स्त्वां वीक्ष्य कालेऽभय माशु तन्मदम्।**
**हित्वाऽऽर्यमार्गं प्रभजन्त्यपस्मया ईहाखलाना मपि तेऽनुशासनम्॥ ७॥**
**स त्वं ममैश्वर्यमदप्लुतस्य कृता गसस्तेऽविदुषः प्रभावम्।**
**क्षन्तुं प्रभोऽथार्हसि मूढचेतसो मैवं पुनर्भून्म तिरीश मेऽसती॥ ८॥**

---

1. K,T,W ग्र° 2. A,M,Ma मन्युलो° 3. A,B,G,J,K त° 4. A,B,G,J,K त° 4. A,B,G,J,K स्वे° 5. W धू° 6. M,Ma °धाः स्युः 7. K,T,W °लेभ° 8. M,Ma तं म° 9. K,T,W °दै° 10. A कृतांहस° 11. V °दसतीश मे मतिः; K,T,W °न्मति रीश्वरेऽ सती।

**श्रीध०** तत्र ममापराधं क्षमस्वेति वक्तुं तव तावदपरोधो नास्त्येव त्वयाऽनुग्रह एव कृत इत्याह चतुर्भिः **विशुद्धसत्त्वमिति।** तवधाम स्वरूपं शान्तम् एकरूपम्, अतश्च तपोमयं प्रचुरज्ञानं सर्वज्ञ मित्यर्थः। कुतः? ध्वस्तरजस्तमस्कं ध्वस्ते अविद्यमाने रजस्तमसी यस्मिन् अतएवाऽयं अस्मदादिषु दृश्यमानः मायाकार्यरूपः गुणसम्प्रवाहः गुणै स्सम्प्रोह्यत इति तथा, संसार इत्यर्थः। स ते तव न विद्यते यतः अग्रहणेनाज्ञानेनाऽनुबध्यत इति तथा, सः सर्वज्ञस्य ते नास्तीत्यर्थः। अज्ञानसम्बन्धो वा॥ ४॥

यदा अज्ञानतत्कृतदेहसम्बन्धौ न स्तः तदा तत्कृतानां लोभादीनां का वार्ते त्याह **कुत** इति। तत्कृताः देहसम्बन्धकृताः तद्धेतवः पुनरप्यन्यस्य देहस्य हेतवः। ननु ज्ञानिना मपि ते दृश्यन्ते अत आह अबुधलिङ्ग भावाः अज्ञानिनां गमकाः यावद्रागादिमत्त्वम् तावदज्ञानित्व मेव, ज्ञानित्वं न सिद्ध मित्यर्थः। लोभाद्यभावेऽपि मन्मानभङ्गो दण्डार्थ मित्याह अथापीति॥ ५॥

ननु त्वद्दण्डे च मम गोपपुत्रस्य का शक्तिः? किं वार कारणम्, को वा दण्डः मया कृत इत्यत आह **पितेति।** जगतां त्वं पिता जनकः गुरु रुपदेष्टा। अधीशः नियन्ता इति दण्डधारणे हेतुत्रयम्। कालत्वात्समर्थः तस्मादुपात्तदण्डो हिताय कल्याणाय स्वेच्छातनुभिः लीलावतारैः समीहसे। तव समीहा लीलैव। जगदीशमानिना मस्माकं मानधुन मित्यर्थः॥ ६॥

कथ मेत दित्यत आह **ये** इति। मद्विधाश्च ते अज्ञाश्च। अतो जगदीशमानिनः काले भयकालेऽपि यथा अधुनैवातिवृष्टौ त्वा मभयं भय मगणयन्तं वीक्ष्य आशु तन्मदं जगदीशा वयमिति मदं हित्वा वीतगर्वा स्सन्तः आर्यमार्गं त्वद्भक्तिलक्षणं प्रभजन्ति। अतस्ते इहैव खलाना मनुशाशनं दण्ड इत्यर्थः॥ ७॥

एवं भगवत्स्वरूपमभिप्रायञ्चाऽनुवर्ण्य क्षमापयति - **सत्वमिति।** एवम्भूता असती मतिः मे पुनर्माभूदिति प्रार्थनोन्तरम्॥ ८॥

1. B,J,P,V omit तव 2- -2. P,V omit 3. A,B विधू° 4. A,B विगत A,B °स्तव 6. P,V °द्रूप°

**वीर०** तत्र स्तुत्यात्मकं वाक्यं ताव द्दर्शयति विशुद्धसत्त्व मित्यादिना। तत्रेत ः प्राक् त्रिलोकेशमदाविष्टोऽहम् अधुना यथाश्रुता दैवामानुषत्वन्माहात्म्यावलोकनाध्यवसितनित्य निरुपाधिक त्रिलोकेशत्वं तदसाधारणमिति मत्वा त्यक्तत्रिलोकेशमदोऽभव मित्यभिप्रायेणाऽकर्मायत्तविभूतिद्वय सम्बन्धविशिष्टं स्तौतीन्द्र ः **विशुद्धसत्त्व** मिति। तव धाम स्थानं परमव्योमेति यावत्। विशुद्धं रजस्तमोभ्या मननुविद्धं सत्त्वं सत्त्वमयम्, अतएव ध्वस्तरज स्तमस्कं निर्धूत रजस्तमोगन्धम्, अत एव शान्तं रागद्वेषादि रहितं केवलं त्वदुपासनात्मकतपस आगतं, ततोऽगम्य मित्यर्थ ः। तवेति स्वस्वामिभावरूपसम्बन्धे षष्ठी। एवं नित्यविभूतिनायकत्व मुक्तम्। अथ तदेव धाम विशिंषन् लीलाविभूति नायकत्वमाह। ते तव अयं मायामय ः मायाया आगत ः पूर्वत्राऽत्र च "तत आगत ः" (अष्टा.4-3-74) इत्यधिकारे, "मयट् च" (अष्टा.4-3-82) इति मयट्। सङ्कल्पमात्रपरिष्कृत इत्यर्थ ः। सत्त्वादिगुणकार्यरूपस्संसार ः तन्मूलक ः ग्रहणानुबन्ध ः शरीरग्रहणकारणभूत ः कर्मानुबन्धश्च न विद्यते, यत्रेति शेष ः। यत्र गुणसम्प्रवाह ः ग्रहणानुबन्धश्च न विद्यते तथाभूतं त्वद्धामेत्यर्थ ः। तव मायामय इति गुणसम्प्रवाहस्य भगवत्सङ्कल्पायत्तत्वोक्त्या तस्य तादधीन्यलाभात् लीलाविभूति नायकत्वमुक्तं भवति॥ ४॥

न न्वहमेवंविधश्चेत् कथं रागादय ः, कथं तन्मूला दण्डादि प्रवृत्ति रित्याशङ्क्य परिहरति **कुत ः** इति। यद्यपि त्वद्धामैव गुणसम्प्रवाहग्रहणानुबन्धादिरहितम्। अतो हे ईश, निरुपाधिकसर्वेश्वर, तत्कृता ः तेन शरीरग्रहणेन कृता ः, तत्प्रयुक्ता इत्यर्थ ः। तद्धेतव ः पुन रन्यस्य शरीर ग्रहणस्य हेतवो ये रागादय ः ते कुतो नु, तव न सन्त्येवेत्यर्थ ः। अत्यन्तासम्भावनायां हेतुं वदन् रागादीन्विशिनष्टि। अबुधलिङ्गभावा ः अबुधानां देहात्मभ्रमवतां लिङ्गभावा ः चिह्नभूतपदार्थभूता ः। रागादिभिरेव हि अबुधत्वं व्यज्यते। नित्यं स्वयाथात्म्यानुभवस्वरूपस्य तव कथं रागादि सम्भावनापीति भाव ः। तथाऽपि हे भगवन्! पूर्णषाड्गुण्य! भवान् धर्मसंस्थापनाय। खलानां निग्रहाय च दण्डं बिभर्ति। भगवानिति पाठे षाड्गुण्य पूर्णो भवानित्यर्थ ः॥ ५॥

न च खलनिग्रहेण तव वैषम्य प्रसङ्ग ः, तन्निग्रहस्यऽपि तद्दमनद्वारा तदनुग्रह हेतुत्वात् इत्यभिप्रायेण खलनिग्रहस्यौचित्यं द्योतयितुं विशिंषन् वैषम्याभाव माह **पितेति**। सर्व जगतां पिता जनक ः, गुरु र्हितोपदेष्टा, अधीशो नियन्ता, दुरत्यय ः न तु लौकिक नियन्तृत्वात् कथञ्चि दत्येतुं शक्य ः। अत ः काले उचितकाले उपात्तो दण्डो येन तथा, नहि लोके पित्रादय ः उत्पथगामिन ः पुत्रादीन् शिक्षया सन्मार्गे प्रवर्तयितुं प्रभवोऽप्युपेक्षन्ते। न चैतावता तेषां वैषम्यञ्चेति भाव ः। अत ः सर्वजगत्पितृत्वादिसम्बन्धविशिष्टस्य प्रभो ः तव उचित एव खलनिग्रहार्थो, दण्ड इत्यर्थ ः। अत स्त्वं जगदीश मात्मानं मन्य मानानां मादृशां मानं गर्वं विधुन्वन् अस्माकं हितार्थ मेव स्वेच्छोपात्ताप्राकृतदिव्यतनुभि रुपलक्षित ः ईहसे चेष्टसे। अतो न वैषम्य मिति भाव ः॥ ६॥

दण्डस्य हितार्थत्व मेवोपपादयति **ये** इति। ये मादृशाश्च ते अज्ञाश्च जगदीश मात्मानं मन्यामानाः ते उचितकाले भयं भयङ्करं दण्डधरं त्वां वीक्ष्य तन्मदं जगदीशाभिमानप्रयुक्तं मद माशु हित्वा अपस्मयाः अपगतगर्वाः आर्यमार्गं सतां वर्त्म प्रभजन्ति अनुवर्तन्ते। अत स्तव ईहा चेष्टाऽपि खलाना मनुशासनं शिक्षैव ॥७॥

तदेवं भगवतः केवलं लोकहितार्थैकप्रवृत्तत्व मभिधाय अथ क्षमापयति **स त्व** मिति। मदैश्वर्येण इन्द्राधिपत्येन यो मदस्तेन प्लुतस्य व्याप्तस्य उत्पथं प्रतिपन्नस्य[5] वा। ममैश्वर्येति पाठान्तरम्। तदा ऐश्वर्येण इन्द्राधिपत्येनेत्येवार्थः। अत एव ते तव प्रभाव मविदुषः, अत एव कृतमार्गोऽपराधो येन तस्य मम अपराध मिति शेषः। स[6]ः एवम्भूत स्त्वं क्षन्तुमर्हसि। हे प्रभो! निग्रहीतु मनुग्रहीतुञ्च समर्थ! अथ पुन र्मूढचेतसो मम असती दुष्टा एवंविधा मति र्मभूत्, तथा अनुगृहाणेति प्रार्थना ॥८॥

---

1. A,B तव धा° 2. T,W omit अतः 3. A,B, add भूतः 4. W शी° 5. A,B,K add इति 6. T,W omt सः

**विज०** कीदृशं तत्राऽह - **विशुद्धेति**। अहं तव धाम गृहस्थानीयं स्वरूपं शरणं, प्रपद्येति शेषः। अनन्त-पदार्थराशिं गृह्णातीति गृहम्। ननु गृहवत्सत्त्वादिगुणदारुभी रचितश्चेत् कालान्तरे जीर्णं स्या दित्यत्राऽऽह विशुद्धेति। विगतं शुद्धसत्त्वं रजस्तमोभिश्ररहितं केवलसत्त्वगुणो यस्मा त्तथा। चारुतर पदार्थैः कुशल पुरुषेण रचितं, न चेत् नयन सुभगं न स्यात् इत्यत्राऽऽह शान्त मिति। शान्तं मङ्गलम्। "शान्तिः प्रशममङ्गले" (वैज. को. 6-2-39) इति। अत एव सुखनिष्ठं वा क्षोभरहितं वा। नन्वेवञ्चेत् पाषाणकल्प मित्यत्राऽऽह - तपोमय मिति। ज्ञानात्मकं यदा सत्त्व मपि न सम्बध्यते तदा रजस्सम्बन्धो नाऽस्तीति किं वक्तव्यमिति भावेनाऽऽह ध्वस्तेति। अत्र लिङ्गमाह मायामय इति। यत त्वयि अयं मायामयः भगवदिच्छानिमित्तगुणसम्प्रवाहः त्रिगुणसम्बन्धो न विद्यते यस्मा त्तस्मादिति शेषः। 'विद सत्तायाम्' इति धातोः जीववत्तत्सम्बन्धो[1] नाऽस्ति। किन्तु सृष्ट्यादौ प्रेरकत्वसम्बन्धोऽस्तीति कृत्वा न विद्यत इति कीदृशः अग्रहणानुबन्धः, अग्रहण माग्रहः स एकानुबन्धो गुणभूतो यस्य स तथा। यद्वा, यत्र गुणसम्प्रवाहे अग्रहण मज्ञान मनुबध्नाती त्यग्रहणानुबन्धः। अनेन कार्याभावे कारणाभावोऽनुमीयत इति सूचितम् ॥४॥

ननु "खलेन पर्षन्प्रतिहन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्रा" इति श्रुतेः। हरेः काम क्रोधादि दर्शनम् लोभाद्यभावः कथयत इत्यत्राऽऽह **कुत** इति। ते गुणाः हेतवो निमित्तानि येषां ते तद्धेतवः न विद्यन्त इति। कुतो नु? किं वक्तव्य मित्यर्थः। यद्वा तस्य संसारहेतवः कुतः कल्प्यन्ते इति शेषः। अबुधस्य अज्ञानिनः लिङ्गभावाः लक्षणभूताः। अत्र कारणाभावात्कार्याभावानुमानञ्च द्रष्टव्य मित्यर्थः। यद्यपि तव गुणनिमित्ताः कामादयो न सन्ति, तथाऽपि शास्त्रविहिता अदोषकरत्वा त्सन्तीत्याशयेनाऽऽह - अथापीति। दण्डं शासनं हिंसां वा। "दण्डोऽस्त्री शासने राज्ञां हिंसायां लगुडे गुणे" (वैज.को. 6-5-38) इति यादवः। विशुद्धसत्त्वं निर्मलसत्त्वगुणयुक्त मित्या

वपव्याख्यानप्रत्याख्यानाय विगतशुद्धसत्त्व मित्यादि व्याख्यात माचार्यैः। सत्त्वगुणाङ्गीकारे "मायामयोऽयं गुणसम्प्रवाहो न विद्यते" इत्येतत् व्याहृतं[2] स्यात् इति पक्ष्यद्भि रिति असच्छासनेन धर्मस्थापनं प्रयोजनं सच्छिक्षणेन किं फलं स्यात्? किञ्च उभयेषां शासका उभये तौ नैक इतीयं शङ्का "असताञ्च सताञ्चैव हरि रेवाऽनुशासकः, सतान्तु श्रेयसे सैव ह्यनुशास्ति र्भविष्यति" (आग्नेये) इत्याग्नेयवचनेन परिहर्तव्येति॥ ५॥

पितृत्वा द्गुरुत्वा त्स्वामित्वाच्च हरेरेकस्यैव अनुशासकत्वं नाऽन्यस्येत्याशयेनाऽऽह **पितेति**। पुण्य पाप फलवाचकत्वेन उपात्तदण्डः गृहीतशासनः हिताय, सता मिति शेषः। "गुरु रात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम्। इह प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः" (विष्णु.ध. 65-27) इत्येतन्निरस्तमिति ज्ञातव्यम्॥ ६॥

सतामनुशासनं श्रेयस इत्यभिप्रेतम्। तदिदानीं व्यक्त माह **ये** इति। हे जगदीश, मद्विधा मानिनः स्युः, ते काले असुरावेशनिर्मोकसमये प्राप्ते अभयं त्वां वीक्ष्य अस्मन्मदनिर्मूलनवीर्यं त्वां दृष्ट्वा येन मदेन त्व दपराध मकार्ष्म तन्मदं हित्वा अपस्मयाः निरस्तगर्वाः आर्यमार्गं विद्वज्जनसिद्धान्तं प्रभजन्ति। न केवल मस्माकं तवेहाऽनुशासनं खलानामपीत्याह - इहेति॥ ७॥

तत्र कर्तव्यं प्रार्थयते - **सत्वमिति**। अविदुषः अज्ञस्य॥ ८॥

---

1. A,B omit तत् 2. A adds न

**तवावतारोऽय मधोक्षजेह भुवोभराणा[1] मुरुभारजन्मनाम्।**
**चमूपतीना मभवाय देव भावाय युष्मच्चरणानुवर्तिनाम्॥ ९॥**

**नम स्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने।**
**वासुदेवाय कृष्णाय सात्त्वतां पतये नमः॥ १०॥**

**स्वच्छन्दोपात्तदेहाय[2] विशुद्धज्ञानमूर्तये।**
**सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः॥ ११॥**

**मयेदं भगवन्गोष्ठनाशायाऽऽसारवायुभिः।**
**चेष्टितं विहते यज्ञे मानिना तीव्रमन्युना॥ १२॥**

**त्वयेशानुगृहीतोऽस्मि ध्वस्तस्तम्भो हतोद्यमः[3]।**
**ईश्वरं गुरु मात्मानं त्वामहं शरणं गतः॥ १३॥**

---

1. B,G,J स्वयं 2. M,Ma °देनात्त 3. A,B,G,J,M,Ma वृथो°

**श्रीध०** महा नयमपराधः, कथं क्षन्तव्य इति चेत् तत आह - **तवेति**। हे अधोक्षज! इह चमूपतीनां स्वय मेव भुवो भाराणां पुनश्च उरुभारजन्मनाम् ऊरूणां बहूनां भाराणां जन्म येभ्य स्तेषां अभावय नाशाय, युष्मच्चरण सेविनान्तु भवाय उद्भवाय अतो मम त्वत्सेवकत्वा दत्यन्तापराधोऽपि क्षन्तव्य हति भावः ॥९॥

क्षमापयन्नमस्करोति **नम** इति। तुभ्यं भगवते कृष्णाय नमः पुरुषाय सर्वान्तर्यामिणे महात्मने अन्तस्थत्वेऽपि अपरिच्छिन्नाय। कुतः वासुदेवाय सर्वनिवासाय सात्त्वतां यादवानां पतये नमः ॥१०॥

तर्हि किमहं यादवः? तत्राऽऽह **स्वच्छन्देति**। स्वच्छन्दोपात्तदेहाय स्वेषां भक्तानां छन्देन इच्छया स्वीकृत देहाय तत्राऽपि विशुद्धं ज्ञान मेव मूर्ति र्यस्य तस्मै। स्वस्य मायया सर्वस्मै सर्वरूपाय, कुतः सर्वबीजाय कारणाय अत एव सर्वभूतात्मने नम इति॥ ११॥

कृतागस इत्यनेन उक्त मपराधं निवेदयति **मयेति**। आसार वायुभिः गोष्ठनाशाय मयेद मकृत्यं विचेष्टितं कृत मिति॥ १२॥

**त्वयेति**। तथाऽपि भो ईश! त्वया अनुगृहीतोऽस्मि। अनुग्रहं दर्शयति ध्वस्तस्तम्भ इति, वृथोद्यम इति च॥ १३॥

---

1- -1. A,B स्वयम्भाराणां 2. A,B omit ऊरूणां 3. A,B omit उद्भवाय 4- -4 A,B °धिनोऽपि क्षन्तव्यम् 5- -5. B omits 6. B,J omit नमः 7- -7. A,B न। 8. A adds यादवादिषु 9. A,B omit स्वस्य 10. P.V omit सर्वरूपाय 11. A,B सर्वस्य बी° 12. A °रैः 13. A,B,J omit वि 14. A,B,J omit इति।

**वीर०** एवं प्रार्थनां कृत्वा भगवतः भूभारावतरणाय कृतावतारस्य लोकहितार्थैक प्रवृत्तत्व मेवोपपादयति - **तवेति**। हे अधोक्षज! भुवः उरुभारस्य जन्म येभ्यस्तेषां भुवो भरणां भूभृतां चमूपतीनां अभवाय संसाराभावाय दण्डद्वारा मुक्ति प्रदानायेति भावः। हे देव! युष्मच्चरणानुवर्तिनां भवाय विभवाय उत्तरोत्तर मनुवृत्त्यभिवृद्धये चेहलोके तवाऽवतारः ॥९॥

क्षन्तु मर्हसीत्युक्तम्। तत्र "अञ्जलिः परमा मुद्रा क्षिप्रं देवप्रसादनी" (भरद्वाजसं) इत्युक्तरीत्या अञ्जलिबन्धनमस्कृतिपूर्वकतच्छरणागति मन्तरेण नाऽन्योस्ति क्षमाहेतुः इत्यभिप्रयन् शरण्यगुणा नाविष्कुर्वन् अञ्जलिबन्धेन नमस्कुर्वन् स्वापराध मावेदयन् कार्पण्यञ्च प्रकाशयन् शरणं व्रजति नमस्तुभ्य मिति चतुर्भिः। भगवते इत्यादिभि श्शरण्यगुणाविष्कारः। पूर्णषाड्गुण्यमूर्तये महात्मने शरणागतशब्द भाजमवलोक्य अपराधविस्मरणेन केवलमनुजिघृक्षैक प्रवणचित्ताय वासुदेवाय वसुदेवपुत्राय। अनेन सौलभ्यं सौशील्यञ्चाऽभिप्रेतम्। कृष्णायेत्यनेन केवलं क्षेमङ्करत्वम्। सात्त्वतां भक्तानां पतये इत्यनेन कृतागसा मपि भक्तानां मादृशां पुन श्शिक्षया पालकायेति। पुरुषाय महात्मन इति पदद्वयेन "महान् प्रभु र्वै पुरुष स्सत्यस्यैषप्रवर्तकः (श्वेता.उ. 3-12) इत्युक्तसत्यप्रवर्तकत्वम्॥ १०॥

स्वच्छन्देन स्वेच्छयैव, न तु कर्मणा। उपात्तः परिगृहीतो देहो यस्य तस्मै इत्यनेन कर्मोपात्तदेहानां ब्रह्मादीनां प्रपित्सुतुल्यत्वं, भगवत एवाऽऽश्रित कार्यावहनक्षमत्वञ्च। विशुद्धं नित्यं सङ्कोचविकासादि विकाररहितं ज्ञानं मूर्तिराकारः प्रकार इति यावत्। सा यस्य तस्मै। अनेन "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तैत्ति. उ. 2-1-1) इत्युपक्रम्य "सत्यंज्ञान मनन्तम्" (तैत्ति.उ. 2-1-1) इत्युक्तज्ञानशब्दार्थप्रत्यभिज्ञानात्परत्वमुक्तं भवति। तदेव प्रपञ्चयति - सर्वस्मै सर्वपदार्थानन्यस्मै अनन्यत्वञ्च मृदनन्यो घट इति वन्न स्वरूपाभेदनिबन्धनम्, अपि तु कारणत्वान्तरात्मत्वनिबन्धन मित्यभिप्रायेणोक्तं, सर्वबीजाय सर्वकारणाय सर्वभूताना मात्मन इति॥ ११॥

स्वापराध मावेदयति **मयेति।** यज्ञे विहते सति तन्निमित्त स्तीव्रो मन्यु र्यस्य, तेन मानिना[3] देहात्माभिमानिना मया हे भगवन्! पूर्णाङ्गुण्येन त्वया अनुगृहीतस्य गोष्ठस्य नाशाय आसारवायुभिः इद मकृत्यं चेष्टितं कृतम्॥ १२॥

तथाऽप्यहं हे ईश! त्वया ध्वस्तः अविनयो यस्य सः, मदापनयनद्वारा अनुगृहीत एवाऽस्मि। सम्प्रति हत उद्यमः अपचिकीर्षात्मको यस्य सः। अनेन अधुनापराधचिकीर्षाभिसन्धिराहित्यमावेदितम्। अनेनैव कार्पण्यञ्च प्रकाशितम्। एवम्भूतोहं अधुना त्वां शरणं गतः। शरणागतावपि त्वमेव प्रयोजककर्तेत्यभिप्रायेण विशिनष्टि ईश्वरमिति। शरणागतये मां नियमयन्तमित्यर्थः। आचार्यसान्निध्यभावशङ्का प्रयुक्तशरणागतिवैयर्थ्याशङ्कापरिहाराय विशिनष्टि गुरु मिति। देहात्माभिमानक्रोधादिदुर्गुणापनयनद्वारा हितप्रवर्तकत्वेन आचार्यकृत्यमपि प्राप्त मित्यर्थः। ननु न तवेदं[4] शरणं गतोऽस्मीति वचो निर्व्यलीक मिति शङ्कां निराचिकीर्षु र्विशिनष्टि आत्मान मिति। अन्तरात्मन स्तवाऽविदितं किमस्तीति भावः॥ १३॥

---

1- -1. T,W omit 2. A,B °क° 3. A,B omit मानिना 4. A,B,K तदेव°

**विज०** सतां भवाय पुण्यलक्षण भद्राय देवदत्तवजननं भजतो हरेः अवतारः कथं भवाय स्यादितीदम् "आवेशो वसुदेवादौ देहादानं हरेः स्मृतम्" (पाद्मे) इत्यादिपाद्मवचनेन परिहर्तव्यम्॥ ९॥

न केवलं ग्रन्थान्तरसिद्ध मिदम् अत्रापीत्याशयेनाऽऽह **स्वच्छन्देनेति।** स्वच्छन्देन स्वेच्छया सर्वस्मै सर्वव्यापिने सर्वबीजाय सर्वस्य मूलकारणाय॥ १०, ११॥

आसारसहितवायुभिः॥ १२॥

ध्वस्तस्तम्भः निरस्तस्थूणस्वभावः॥ १३॥

**श्रीशुक उवाच**

**एवं सङ्कीर्तितः कृष्णो मघोना भगवानमुम्।**
**मेघगम्भीरया वाचा प्रहस न्निद मब्रवीत्॥ १४॥**

श्रीभगवा नुवाच

मया तेऽकारि मघवन्मखभङ्गोऽनुगृह्णता।[3]
मदनुस्मृतये नित्यं मत्तस्येन्द्र श्रिया भृशम्॥ १५॥

मा मैश्वर्य श्रीमदान्धो दण्डपाणिं न पश्यति।
तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य वाञ्छाम्यनुग्रहम्॥ १६॥

गम्यतां शक्र भद्रं वः[5] क्रियतां मेऽनुशासनम्।
स्थीयतां स्वाधिकारेषु युक्तै र्वः[6] स्तम्भवर्जितैः॥ १७॥

अथाऽह सुरभिः कृष्ण मभिवन्द्य[7] मनस्विनी।
स्वसन्तानै रुपामन्त्र्य[8] गोपरूपिण मीश्वरम्॥ १८॥

---

1- -1. M,Ma,T,V,W omit 2. K,T,W इत्थं 3. V यज्ञ 4. A,B,G,J,M,Ma चेच्छा° 5. M,Ma ते 6. M,Ma °र्विस्रम्भ 7. A,V नन्द्य; K,T,W वाद्य 8. K,T,W गत्य; V गम्य।

**श्रीध०** इन्द्रेण स्वाभिप्राये निवेदिते भगवानपि तथैवाऽऽह **मयेति**। इन्द्रश्रिया देवराज्येन॥ १४ - १६॥

**गम्यतामिति**। वः युष्माभिः। बहुवचनं वरुणाद्यभिप्रायेण। क्व गन्तव्यं स्वर्गेऽपि तवैवेश्वरत्वादिति चेत्तत्राऽऽह-क्रियतामिति। मदनुशासनेन यथापूर्वं तत्र स्थीयता मित्यर्थः। युक्तै रप्रमत्तैः स्तम्भविवर्जितैः[1] निरहङ्कारैः॥ १७॥

**अथेति**। स्वसन्तानै र्गोभिस्सह[2]॥ १८॥

---

1. A,B,J omit वि 2. A,B,J add उपामन्त्र्य।

**वीर० इत्थमिति**। इत्थं मघोना इन्द्रेण सङ्कीर्तितः कृष्णः अमुं मघवान मुवाच॥ १४॥

तदेवाऽऽह **मयेति** त्रिभिः। हे मघवन्! अनुजिघृक्षता मया त्वद्यज्ञभङ्गः कृतः। कोऽसा वनुग्रह इत्यत्र तद्दर्शयति। इन्द्रश्रिया इन्द्राधिपत्येन। इन्द्रेति सम्बोधनं वा। नितरां मत्तस्य तव नित्यं मद्विषयकानुस्मृतये मखभङ्गोऽकारीत्यन्वयः मदनुस्मृत्यापादनमेवाऽनुग्रह इति भावः॥ १५॥

मत्तस्य मदनुस्मृतये इत्यनेन मदन्यस्य स्वानुस्मृतिप्रतिबन्धकत्वम्, अत एव तदपनयनस्य हितत्वं सूचितम्। तदेव व्यनक्ति मा मिति। ऐश्वर्यश्रीमदाभ्यां आधिपत्यसम्पन्मदाभ्यां[1] अन्धो विवेकशून्यो जनः दण्डधरं मां न पश्यति। अतो यस्याऽनुग्रह मिच्छामि तत्सम्पद्भ्यो भ्रंशयामि। तस्य सम्पदभिलाषं निवर्तयामीत्यर्थः ॥ १६॥

हे शक्र, वो युष्माक मितः परं मदनुस्मृत्यात्मकं भद्रमेव भवेत्। बहुवचनं वरुणाद्यभिप्रायकम्। किन्तु ममाऽनुशासनं क्रियताम्। किन्त दनुशासनम् यदस्माभिः कर्तव्यम्? तत्राऽऽह[2] अविनयरहितैः युक्तै स्सावधानैः वो युष्माभिः। विभक्तिव्यत्यय आर्षः। स्वाधिकारेष्वेव स्थीयताम् ॥ १७॥

सुरभिरप्याव्रज दित्युक्तम्, साऽऽगता किञ्चकारेत्यत्राऽह - अथेति। मनस्विनी तत्तद्वाञ्छितार्थप्रदानप्रवणरूप प्रशस्तमनस्का। पयस्विनीति पाठान्तरम्[3]। तदा प्रभूतपयस्का सुरभिः स्वसन्तानैः स्वापत्यै स्सह आगत्य। गोपस्येव रूपमस्याऽस्तीति तथा। तं साक्षादीश्वरं कृष्णमभिवाद्योवाच ॥ १८॥

---

1. A,B सम्पद्भ्यां 2. A,B add स्तम्भवर्जितै रिति। 3. A,B पाठे।

---

**विज०** मघोना इन्द्रेण ॥ १४॥

अकारि कृतः। हे भगवन्! इन्द्र! ॥ १५॥

'पण व्यवहारे' इति धातोः हानादिव्यवहारसाधनत्वात्पाणिर्हस्तः, दण्डपाणिं यमं माम्। भ्रंशयामि विस्रस्तं करोमि। चशब्द एवार्थे। अनुग्रह मेव नाऽन्यद्वित्तादिकम् अनुग्रहानन्तरमविनश्वरसम्पदश्चेति समुच्चये वा। ऐश्वर्यमीश्वरत्वं, गवादिसमृद्धिः श्रीः, आभ्या मुद्धतेन[1] मदेनाऽन्धः ज्ञानलक्षणचक्षूरहितः ॥ १६॥

मयि मनसा युक्तैः अनित्यैश्वर्यादौ विस्रम्भवर्जितैः भवद्भिः स्वाधिकारेषु त्रैलोक्यरक्षणादिषु स्थीयताम् ॥१७॥

अथशब्दः कथारम्भे। मनस्विनी शुद्धमनाः स्वसन्तानैः स्ववंशजातगोभिः, सहेति शेषः ॥ १८॥

---

1. A,B °द्धृ°

---

सुरभि रुवाच[1]

**कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्म न्विश्वसम्भव[2] ।**
**भवता लोकनाथेन सनाथा वय मच्युत ॥ १९॥**

त्वं नः परमकं[3-] दैवं त्वं न इन्द्रो जगत्पते ।
भवाय भवगोविप्रदेवानां ये च साधवः ॥२०॥

इन्द्रं न स्त्वाऽभिषेक्ष्यामो ब्रह्मणा चोदिता[4] वयम् ।
अवतीर्णोऽसि विश्वात्मन्[5] भूमेर्भारापनुत्तये ॥२१॥

श्रीशुक[6] उवाच[-6]

एवं कृष्ण मुपामन्त्र्य सुरभिः पयसात्मनः ।
जलै राकाशगङ्गाया[7] ऐरावतकरोद्धृतैः ॥२२॥

इन्द्र स्सुरर्षिभिस्साकं चोदितो[8] देवमातृभिः ।
अभ्यषिञ्चत[9] दाशार्हं गोविन्द इति चाऽभ्यधात् ॥२३॥

---

1- -1 T,W omit 2. V भावन 3- -3. V त्वमेव परमं 4. A,B,G,J नो° 5- -5. V भगवन् 6- -6. M,Ma,V omit 7. M,Ma °श्रा° 8. A प्रहितो; B,G,J नोदितो 9. T.W अभि

**श्रीध०** **कृष्ण कृष्णेति**। कृष्णेत्यादिना सम्बोध्य इन्द्रेण हता अपि भवता सनाथाः वयं कृताः रक्षिता इत्यर्थः ॥१९॥

**त्वमिति**। त्वं नः परमं दैवं[1] देवता। अतः हे जगत्पते गोविप्रदेवानां येऽन्ये च साधव स्तेषां भवायाऽभ्युदयाय अद्य[2] त्वमेव नः अस्माकं इन्द्रो भव ॥२०॥

ननु भवता मिन्द्रोऽस्तीति चेदत आह - **इन्द्र** मिति। अलं पुरन्दरस्येन्द्रतया इत्यर्थः। ननु देव[3] इन्द्रो भव[4] कथ महं भवेय मिति चेदत आह - **अवतीर्णोऽसीति** ॥२१॥

**एव** मिति। सुरभि रात्मनः पयसा अभ्यषिञ्चत्। इन्द्रश्च आकाशगङ्गाया[5] जलैः अभ्यषिञ्चत इत्युत्तरेणान्वयः[6-] ॥२२॥

**इन्द्र** इति। देवमातृभि रदित्यादिभिः। देवै र्मातृभिश्चेति वा। गाः पशून्, गां स्वर्गं वा। इन्द्रत्वेन[7] विन्दतीति कृत्वा गोविन्द इत्यभ्यधात्, नाम कृतवा नित्यर्थः ॥२३॥

---

1. B adds दैवतं 2- -2. P,V त्वमेव 3. A,B,J add एव 4. A,B,J,P भवति 5. A adds मन्दाकिन्याः 6- -6. A,B,J omit 7. P,V °त्वे

**वीर०** तदेवाऽऽह - कृष्ण कृष्णेति त्रिभिः। हे विश्वस्यान्तरात्मन्! विश्वस्य सम्भवो यस्मात्तथाभूत! हे महायोगिन्! युज्यत इति योगो धर्मः सोऽस्याऽस्तीति तथा। स्वासाधारणकल्याणगुणशालिन्! वयं लोकनाथेन साक्षाद्भवतैव सनाथाः कृताः नाथाभासेनेन्द्रेण हता अपि त्वया रक्षितत्वात्त्वमेव नो नाथ इत्यर्थः॥१९॥

त्व मेव नोऽस्माकं परो मा न विद्यते यस्मा त्तथाभूतं दैवतम्। हे जगत्पालक! गवां विप्राणां देवानां ये साधवः तेषाञ्च नोऽस्माकञ्च अभ्दुदयाय त्वमेव इन्द्रो भव[2]॥२०॥

ननु गवादीना मय मिन्द्रोऽस्त्येवेत्यत्राऽऽह - **इन्द्र मिति।** तत्तदधिकारप्रदेन ब्रह्मणा चोदिता वयं त्वा मेवेन्द्र मभिषेक्ष्यामः। पुरन्दरस्याऽल मिन्द्रतया इति भावः। ननु देव इन्द्रो भवितु मर्हति न त्वहं मर्त्यः। तत्राऽऽह अवतीर्ण इति। भारावतरणाय देवाना मपि देव स्त्वमिति भावः॥२१॥

इयं सुरभिः कृष्णं सम्प्रार्थ्य आत्मनः पयोभिः क्षीरैः अभ्यषिञ्चत[3]। तथेन्द्रोऽपि देवमातृभि रदित्यादिभिः चोदितः। देवैः मातृभि श्चेति वा। सुरैः ऋषिभि स्सहितश्च ऐरावतकरोद्धृतैः ऐरावतकरगतघटसमाहृतैः। प्रमाणान्तराविरोधादेवंव्याख्यातम्। आकाशगङ्गाया जलैः दाशार्हं श्रीकृष्ण मभिषिक्तवान्, गोविन्द इत्यभ्यधात्, अभिधां चकार। गाः पशुधनं विन्दति लभत इति वा। गां स्वर्ग मिन्द्रत्वेन विन्दतीति वा। उभयविधशब्दप्रवृत्तिनिमित्ताश्रयत्वा दन्वर्थसंज्ञामकरो दित्यर्थः। गां भुवं विन्दतीति संज्ञा तु स्वाभाविकी त्यभिप्रायः॥२२, २३॥

---

1. A,B omit नः 2. A,B add इति 3. A,B °त्

**विज०** विश्वात्मन्! विश्वव्यापिन्! सनाथाः कृताःस्मः इति॥१९॥

नोऽस्माकं परमकं अत्युत्तम मिष्ट दैवम् इन्द्रः ईश्वरः देवानां देवजातीनां ये च साधवः ऋष्यादयः तेषां भवाय भद्र लक्षणाय श्रेयसे॥२०॥

नः इन्द्रं स्वामिनं त्वाम्॥२१॥

सुरभिः आत्मनः पयसा॥२२॥

दशार्हं दशार्हकुलतिलकम्। दाशं सुखादिदाम मर्हतीति वा। अभ्यषिञ्चत[1] देवमातृभिः चोदित इन्द्रश्च सुरर्षिभि स्सार्धमाकाशगङ्गाया जलैः कृष्ण मभ्यषिञ्च दित्यन्वयः। गोविन्दः गोःविन्दो लाभो यस्य सः। आलभत इति वा। गोविन्द इत्यभ्यधात्, अभिधानं कृतवांश्च॥२३॥

1. A,B °त्

तत्राऽऽगता स्तुम्बुरुनारदादयो गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणाः ।
जगुर्यशो लोकमलापहं हरेः सुराङ्गना स्सं[1]ननृतु र्मुदान्विताः ॥ २४॥

तं तुष्टुवु र्देवनिकायकेतवो ह्यवाकिरं श्चाद्भुतपुष्प वृष्टिभिः ।
लोकाः परा न्निर्वृति माप्नुवंस्त्रयो गाव स्तदा गा मनयन् पयः[2]प्लुताम् ॥ २५॥

नानारसौघा स्सरितो वृक्षा आसन् मधुस्रवाः ।
अकृष्टपच्यौषधयो गिरयोऽबिभ्रवुन्मणीन् ॥ २६॥

कृष्णेऽभिषिक्त एतानि स्[4]र्वाणि कुरुनन्दन!
निर्वैराण्यभवं स्तात! क्रूराण्यपि निसर्गतः ॥ २७॥

इति गोगोकुलपतिं गोविन्द मभिषिच्य सः ।
अनुज्ञातो ययौ शक्रो वृतो देवादिभिर्दिवम् ॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्री वैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे इन्द्रस्तुतिर्नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७॥

1. A,B,G,J,M,Ma °य° 2. A,B,G,J,K,M,Ma पयोद्रुः ; V पयोवृ° 3. A °यसुदु° M,Ma बिभ्रनु° 4. B,G,J,K,T,W सत्त्वानि।

**श्रीध० तमिति।** देवनिकायेषु केतव इव दर्शनीया, मुख्या इत्यर्थः। गावो गां पृथ्वीं पयोभि र्द्रुता मार्द्रा मनयन् अकुर्वन्नित्यर्थः ॥ २४, २५॥

नानारसौघाः क्षीरादिवाहिन्यः अकृष्टपच्याः कर्षणं विनैव पक्वा ओषधयो व्रीह्यादय आसन् यद्वा अकृष्टपच्या ओषधयो येषु ते गिरयः उन्मणीन् गर्भगतान्मणीन् उत् उद्गतान् बहिः प्रकटा नबिभ्रत् अबिभरुः ॥ २६-२८॥

★ इन्द्र स्त्वमसि देवानां त्वं गवा मिन्द्रतां गतः ।
गोविन्द इति लोके त्वां गास्यन्ति भुवि मानवाः ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वमिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७॥

---

1. A adds सन्धिरार्षः 2. V omits मणीन् ★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः । This verse is not found in A,B,J edns.

**वीर० तत्रेति।** तत्रेत्यादिग्रन्थस्य कृष्णेऽभिषिक्त इत्यादिः। तुम्बुरुप्रभृतयो हरेः लोकस्य शृण्वतः संस्मरतश्च मलमपहन्तीति तथा। तद्यशो जगुः सुराणा मङ्गना रम्भादयः सम्यक् ननृतुः ॥ २४॥

**तमिति।** देवसङ्घेषु केतुव[1] दर्शनीयाः मुख्या इत्यर्थः। अद्भुताभिः पुष्पवृष्टिभिरभितोऽवाकिरन्। त्रयो लोकाः परां निर्वृतिं मानन्दं प्रापुः। गावो गां पृथ्वीं पयोभिः क्षीरै र्द्रुतां सिक्तामनयन् चक्रुः ॥ २५॥

सरितो नानारसौघाः क्षीरादिवाहिन्यो बभूवुः। वृक्षास्तु मधूनि स्रवन्तीति तथाभूताः ओषधयस्तु अकृष्टपच्याः कृषिं विनैव व्रीह्यादयः फलिता आसन् इत्यर्थः। सन्धि रार्षः। [2]यद्वा, अकृष्टपच्याश्च (ताः) ओषधयश्च इति कर्मधारय[-2]ः। यद्वा अकृष्टपच्या ओषधयो येषु ते गिरयः उन्मणीन् उद्गतान् बहिः [3]प्रकटान् मणीन् अबिभ्रत् अबिभरुः ॥ २६॥

तदा हे कुरु नन्दन! कृष्णेऽभिषिक्ते सति, इन्द्रे [4]कृते सतीति भावः। एतानि स्वभावतः क्रूराण्यपि सर्वाणि भूतानि सर्पव्याघ्रादीनि हे तात! वैर रहिता न्य[5]भवन् ॥ २७॥

स इन्द्र इत्थं गवां गोकुलस्य [6]नन्दव्रजस्य[-6] पतिं गोविन्दमभिषिच्ये त्युक्तार्थोपसंहारः। तेनाभ्यनुज्ञातः कृष्णाधीनस्वाधिकारो भूत्वेति तात्पर्यम्, देवादिभिः परिवृतो दिवं स्वर्गलोकं [7]प्रति ययौ ॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७॥

---

1. A,B °व इव द° 2- -2. T,W omit 3. A,B प्रकाशान् 4. K,T,W omit कृते 5- -5. T,W निर्वैराण्य° 6- -6. K,T,W omit 7. K,T,W omit प्रति

**विज०** संननृतुः समीचीनं नृत्यं चक्रुः ॥ २४॥

देवनिकायानां केतवः श्रेष्ठाः गां भूमिं पयसा द्रुतां परिप्लुतां अनयन् प्रापयामासुः ॥ २५॥

मधु मधुररसं स्रवन्त्यः उन्मणी नबिभ्रन् भृतवन्तः ॥ २६-२८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे सप्तविंशोऽध्यायः॥ २७ ॥
(विजयध्वजरीत्या पञ्चविंशोऽध्यायः)

# अष्टाविंशोऽध्यायः

## (श्रीविजयध्वजरीत्या षड्विंशोऽध्यायः)

### -: श्रीकृष्णस्य वरुणलोकगमनवृत्तान्तः :-

श्रीशुक उवाच

एकादश्यां निराहारः समभ्यर्च्य जनार्दनम् ।
स्नातुं नन्द स्तु कालिन्द्यां[1] द्वादश्यां जल माविशत्॥ १॥

तं गृहीत्वाऽनयद्भृत्यो[2] वरुणस्याऽसुरोऽन्तिकम् ।
अविज्ञायाऽऽसुरीवेलां प्रविष्ट मुदकं निशि॥ २॥

चुक्रुशु[3] स्त मपश्यन्तः कृष्ण रामेति गोपकाः[4] ।
भगवां स्तवुपश्रुत्य पितरं वरुणाहृतम्॥
तदन्तिकं गतो राजन् स्वाना मभयदो विभुः॥ ३॥

प्राप्तं वीक्ष्य हृषीकेशं लोकपाल स्सपर्यया ।
महत्या पूजयित्वाऽऽह तद्दर्शनमहोत्सवः[5]॥ ४॥

वरुण उवाच

अद्य मे निभृतो[6] देहोऽद्यैवाऽर्थोऽधिगतः[7] प्रभो!
★ अक्ष्णो र्वाचश्च साफल्यं तव मे दर्शना द्विभो ।
त्वत्पादभाजो[9] भगव न्नवापुः[8] पार मध्वनः॥ ५॥

---

1. A,B,G,J,K,M,Ma °न्याः 2. V °दूतो 3. M,Ma गोपाला° 4. M,Ma चुक्रुशुः ; V. गोपिकाः 5. T,W त्व° 6. A,M,Ma वि 7. M,Ma देह अद्यार्थी; T,W देह अप्यार्थो; V. देहो ह्यद्यार्थो 8. V मया ★ This half verse is not found in A,G,J,M,Ma,V editions 9. A,M,Ma यत्पा°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

**अष्टविंशे ततो नन्दानयनं वरुणालयात् ।**
**वैकुण्ठदर्शनिश्चाऽपि[1] गोपाना मनुवर्ण्यते॥**

**गोवर्धनं समुद्धृत्य वशे कृत्वाऽमरेश्वरम् ।**
**नन्दानयनतः कृष्णो वरुणश्च वशेऽनयत्॥**

**एकादश्या** मिति। कलामात्रायां द्वादश्यां पारणाऽऽदराभिनिवेशेनाऽऽसुरीं वेला मविज्ञाय अरुणोदयात्पूर्वमेव शास्त्रबलेन निशि उदकं प्रविष्टं तदनभिज्ञो वरुणस्य भृत्योऽनयदिति। तथा च शास्त्रम् — "कलार्धा द्वादशीं दृष्ट्वा निशीथा दूर्ध्व मेव हि। आमध्याह्नाः क्रिया स्सर्वाः कर्तव्याः शम्भुशासनात्"[2] इत्यादि। वक्ष्यति च वरुणः "अजानता मामकेन" (भाग. 10-28-7) इति। भगवद्धर्ममजानतेत्यर्थः॥ १, २॥

**चुक्रुशु** रिति। स्वानां भगवद्धर्मपराणा मभयदो मा भैष्टे त्यभयं ददत्॥ ३॥

**प्राप्त** मिति। सपर्ययाऽर्हणेन॥ ४॥

**अद्येति**। अद्य इदानीं मे मया देहो निभृतः ध्रुतः। यद्वा निभृतः पूर्णमनोरथः इत्यर्थः। किञ्च अद्यैवाऽर्थोऽधिगतः। सर्वस्त्वाकरपतिनाऽपि इतः पूर्वं नैवंविधोऽर्थः प्राप्त इत्यर्थः। किञ्च संसारोऽपि निवृत्त ऐवेत्याशयेनाऽऽहत्वत्पादभाज इति। अध्वनः पारं मोक्षम्॥ ५॥

---

1. A,B,J °ऽथ 2. P.V इति।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ वरुणदूताहृत नन्दानयन स्वलोक प्रदर्शनात्मकं कर्माऽनुवर्णय त्यष्टाविंशेन **एकादश्या** मिति। कदाचि न्नन्दः एकादश्यां निराहारो जनार्दनं सम्य गभ्यर्च्य कलामात्रावशिष्टायां द्वादश्यां पारणाभिनिवेशेनाऽऽसुरी मसुरसञ्चार सहचरितां वेलामर्धरात्ररूपा मविज्ञायैव तदा स्नातुं कालिन्द्या[1] यमुनायाः[2] जल माविवेश प्रविष्टः[3]॥ १॥

तं निशि उदकं प्रविष्टं नन्दं वरुणस्य भृत्योऽसुरो गृहीत्वा वरुणस्य समीप मनयत्॥ २॥

ततः प्रभाते[4] नन्द मपश्यन्तो गोपाः हे कृष्ण! हे राम! इति चुक्रुशुः[5] रुरुदुः, आजुहुवुर्वा। तदा भगवान् तदाक्रोशनं वरुणाऽऽहृतं पितरञ्च श्रुत्वा ज्ञात्वा चेति शेषः। हे राजन्! स्वाना मभयदो विभुस्समर्थः, हेतुगर्भमिदम्, एवंविधत्वा त्तस्य वरुणस्याऽन्तिकं गतः। तदा लोकपालो वरुणः स्वान्तिकं प्राप्तं कृष्ण मवलोक्य तस्य दर्शन मेव महानुत्सवो यस्य तथाभूतो महत्या सपर्यया पूजया साधनेन पूजयित्वाऽब्रवीत्। तदेवाऽऽह - **अद्येति** पञ्चभिः। हे

प्रभो! अद्य अधुना मे मया देहो निभृतः धृतः। यदा त्वद्दर्शनं जातं तदैव देहसाफल्यं प्राप्त इत्यर्थः। यद्वा निभृतः पूर्णं मनोरथ इत्यर्थः। किञ्च, अर्थोऽपि चैवाऽधिगतः। सकल रत्नाकरपतिनाऽपि इतः पूर्वं नैवंविधः पुरुषार्थः प्राप्त इत्यर्थः। तथा ममाऽक्ष्णोः साफल्यं दर्शना ज्जातम् त्वद्दर्शना न्मम मुक्ति रपि करस्थे त्यभिप्रायेणाऽऽह - हे भगवान्! त्वत्पादं भजन्तीति तथा, तेऽपि संसाराध्वनः पारं त्वा मापुः, किमुत त्वद्दर्शनभागहमिति भावः॥ ३-५॥

---

1. T,W °न्धां° 2- -2. T,W omit 3. K,T,W omit प्रविष्टः 4. A,B add तं 5. T,W omit चुक्रुशुः 6. A,B नन्दं।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भक्तजनानुकम्पार्थोऽय मवतारो, नाऽऽत्मार्थम् इति दर्शयितुं वरुणपाशात् नन्दगोपमोचनं नन्दादीनां स्वशोकप्रदर्शनञ्च कथयति अस्मिन्नध्याये शुक इति तत्र वरुणपाशग्रहणं कथं नन्दस्याऽभूत्? इतीदं वक्तु मारभते **एकादश्या** मिति। व्रतघ्नाहारोनाऽस्तीति निराहारः॥ २॥

आसुरीं वेलां निशीथकालम्॥ २॥

वरुणभृत्येनाऽऽहृत मपि वरुणाहृत मिति वचनं वरुणस्य स्वामि भृत्यापराधे स्वामिनो दण्ड इति। यथा तथा युज्यत इत्यर्थः॥ ३,४॥

मे मया विधुतो दण्डोऽद्य सफलो जात इति शेषः। अर्थः पुरुषार्थः। कथं तदिति तत्राऽऽह - यत्पादेति। अध्वनः पारं संसार समुद्रस्य मार्गस्य तीरान्तरम्। अद्धावात्यनेनेत्यध्वा॥ ५॥

**नम स्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने।**
**न यत्र श्रूयते माया लोकसृष्टिविकल्पना॥ ६॥**

**अजानता मामकेन मूढेनाऽकार्यवेदिना।**
**आनीतोऽयं तव पिता तत्प्रभो क्षन्तु मर्हसि॥ ७॥**

★ **पितैष ते मयाऽऽनीतो यन्न स्त्वत्पाद दर्शनम्।**
**गोविन्द नीयता मेष पिता ते पितृवत्सल!**

△ **प्रजा वय मनुग्राह्या सापराधा अपि प्रभो!॥ ८॥**

**श्री शुक उवाच**

**एवं प्रसादितः कृष्णे भगवा न खिलेश्वरः।**
**आदायाऽगात्स्वपितरं बन्धूनाञ्चाऽऽवहन्मुदम्॥ ९॥**

1. K,M,Ma ६° 2. T,W त्वमितरं 3- -3. V त्वत्प्रभावं जगद्गुरोः। 4. V °हृतो 5. A,B,G,J तद्भवान् 6. A,B,G,J °ति ★ This half verse is not found in A,B,G,J edns. 7. V य आ° 8- -8. M,Ma,V मामकाहृतः। △ This half verse is not found in A,G,J,M,Ma edns. But in its place another half verse runs thus - 'ममा प्यनुग्रहं कृष्ण कर्तुं मर्हसि स्यशेषकृत् 9- -9. T,W omit. 10. A,B,G,J °नीश्वरेश्वरः॥

**श्रीध० नम इति।** भगवते निरतिशयैश्वर्याय, ब्रह्मणे पूर्णाय। परमात्मने सर्व जीव नियन्त्रे। तत्र हेतुः - न यत्रेति। लोकसृष्टिं विकल्पयति। या माया सा यत्र न श्रूयते, अविद्यमानेव तिष्ठतीत्यर्थः॥६॥

**अजानतेति।** अजानता मद्भृत्येन त्वत्पित्राऽऽहरणं यत्कृतं तदिति॥७॥

**पितेति।** नन्दं विमुच्य समर्पयति॥८,९॥

**वीर०** एवं स्वकृतार्थता[1] माविष्कृत्य अथ क्षमापयितुकामः क्षमाहेतुः केवल मञ्जलिमुद्रैवे त्यभिप्रयन् असाधारण गुणैः विशिंषन्नमस्करोति **नम** इति। पूर्णाङ्गुण्याय स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशय बृहते लोकत्रयान्तःप्रवेशव्याप्यगत धर्मास्पर्शाभ्यां नियन्त्रे भर्त्रे च तुभ्यं नमः। यत्र त्वयि लोकस्य जीवलोकस्य दृष्टिं ज्ञानं विकल्पयति विविधं कल्पयति गुणत्रयोन्मेषानुगुणकर्मरुचिजननद्वारा ज्ञान सङ्कोचविकासादिहेतु र्माया न श्रूयते, नाम्नाऽपि न श्रूयते, न सुतरां स्वकार्यक्षमेति भावः। लोकसृष्टीति पाठे लोकसृष्टिं देवमनुष्यादि शरीर सृष्टिं नानाविधां कल्पयतीति तथा देवमनुष्यादि शरीर रूपेण विक्रियमाणा यत्र त्वयि न श्रूयते, तस्मै अप्राकृत स्वेच्छोपात्तादेहाय तुभ्य मित्यन्वयः॥६॥

अथ स्वापराधं निवेदयन् क्षमापयति - **अजानतेति।** अकार्य वेदिना कार्यविदिना, विवेक शून्येनेति यावत्। मूढेन अज्ञेन त्वमितर मजानानेन त्वत्प्रभावानभिज्ञेन वा मामकेन मद्भृत्येन तव पिता आनीत इति य त्तदिदं क्षन्तुं त्वमर्हसि। हे प्रभो! निग्रहानुग्रह समर्थ! यद्यस्मादेष तव पिता मया आनीतः, अत एव हि दुर्लभमपित्वद्दर्शनं नोऽस्माकं जातं, भृत्यकृतापराधोऽपि महाफलाय बभूवेति भावः। [2]इत्युक्त्वा नन्दं समर्पयति - गोविन्देति। हे गोविन्द! हे पितृवत्सल! [3-]एष तव पिता नीयताम्[-3]। कृतापराधे स्वस्मि न्ननुग्रहं प्रार्थयते - प्रजा इति। प्रजाः पुत्रप्रायाः वयम्; अत एव हे प्रभो! सापराधा अप्यनुग्राह्या एव त्वयेति[4-] शेषः[-4] इत्थं वर्णनेति[5-]शेषः[-5]। प्रसादितः प्रसन्नीकृतः कृष्णः पितर मादाय बन्धूनां मुदं हर्षं[6] आवहन् जगाम॥७ - ९॥

1. K,T,W omit स्व 2. T,W omit इत्युक्त्वा 3- -3. T,W omit 4- -4. T,W omit 5- -5. T,W omit 6. T,W omit हर्षं

**विज०** ब्रह्मणे देशादितोऽपरिच्छिन्नाय लोक दृष्टिं विकल्पयतीति लोकदृष्टिविकल्पना विपरीतज्ञानापादिकेत्यर्थः माया बन्धकशक्तिः, परमात्मने उत्कृष्टानन्दस्य दात्रे॥ ६॥

अकार्यविदिना कार्य ज्ञानी न भवतीति॥ ७॥

बन्धूनाञ्च मुद मावहत्॥ ८,९॥

नन्द स्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा लोकपाल महोदयम्।
कृष्णे च सन्नतिं तेषां ज्ञातिभ्यो विस्मितोऽब्रवीत्॥ १०॥

तेत्वौत्सुक्यधियो राज न्मत्वा गोपा स्तमीश्वरम्।
अपि नस्स्वर्गतिं सूक्ष्मा मुपाधास्य दधीश्वरः॥ ११॥

इति स्वानां स भगवान् विज्ञायाऽखिलदृक्स्वयम्।
सङ्कल्पसिद्धये तेषां कृपयैत दचिन्तयत्॥ १२॥

जनो वै लोक एतस्मि न्नविद्याकामकर्मभिः।
उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन्॥ १३॥

इति सञ्चिन्त्य भगवा न्महाकारूणिको विभुः।
दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्॥ १४॥

सत्यं ज्ञान मनन्त यद्ब्रह्म ज्योति स्सनातनम्।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः॥ १५॥

तेतु ब्रह्महदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः।
ददृशु र्ब्रह्मणो लोकं यत्राऽक्रूरोऽध्य गात्पुरा॥ १६॥

नन्दादय स्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृताः।
कृष्णञ्च समभिष्टूय मानयन्त स्सुविस्मिताः॥ १७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे अष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८॥

1. K,T,W °चौत्सु° 2. M,Ma °स्त्वधीश्वरम् 3. K,T,W °त्य° 4. V सङ्कल्पं 5. M,Ma °येदम° 6. K,T,W जनोऽयं 7. M,Ma स्व 8. B,G,J,K,T,W हरिः 9. V चन्न° 10- -10. M,Ma कृष्ण मचक्षत 11. T,W °ऽभ्य° 12- -12. A,B,G,J,M,Ma तत्र च्छन्दोभिः स्तूयमानं सु°

**श्रीध० नन्दस्त्विति।** अतीन्द्रिय मदृष्टपूर्वं लोकपालस्य महोदय मैश्वर्यम्। तेषां[1] तत्रत्यानाम्[1] ॥ १० ॥

**ते** इति। औत्सुक्ययुक्ता धीः येषां ते। अपि किं स्वगतिं स्वस्थानं सूक्ष्मां ब्रह्माख्यां चोपाधास्यात् उपाधास्यति। नोऽस्मान्प्रापयिष्यतीति सङ्कल्पितवन्तः इत्यर्थः ॥ ११ ॥

**इतीति।** इति एवम्भूतं स्वानां तेषां सङ्कल्प मखिलदृक् सर्वज्ञः स्वयमेव विज्ञाय तेषां सङ्कल्पसिद्धये कृपया एत द्वक्ष्यमाणमचिन्तयत् ॥ १२ ॥

**जन इति।** अविद्या देहादिष्वहम्बुद्धिः[2], ततः कामः, ततः कर्म, तै रुच्चावचासु देवतिर्यगादिषु भ्रमन् स्वीयां गतिं न वेद ॥ १३ ॥

**इतीति।** स्वं ब्रह्मस्वरूपं लोकं वैकुण्ठाख्यञ्च तमसः[3] परम्[3] तमसः प्रकृतेः परम् ॥ १४ ॥

देहादिपिहितानां तद्दर्शन[4] मशक्य मिति प्रथमं देहादिव्यतिरिक्तं ब्रह्मस्वरूपं[5] दर्शयामासेत्याह — **सत्यमिति।** सत्य मबाध्यं ज्ञानं, अजडमनन्तम् अपरिच्छिन्नं ज्योतिः स्वप्रकाशं सनातनं शश्वत्सिद्धं ब्रह्म[6] गुणापाये गुणापोहे ज्ञानिनो य त्पश्यन्ति तत्कृपयैव दर्शयामास ॥ १५ ॥

ते इति। एवं ब्रह्महृदं ब्रह्मैव हृद[7] ह्रद हृदः, तत्र निमग्नस्य विशेषविज्ञानाभावात् तं ब्रह्म हृदं, ते तु नीताः प्रापिताः तस्मिन्[8] मग्नाश्च। तु शब्दोक्तं विशेष माह - पुनः कृष्णेनोद्धृताः समाधे रिवोत्थापिताः सन्तो ब्रह्मण स्तस्यैव लोकं वैकुण्ठाख्यं दद्दशु रिति। ननु ब्रह्मनिमग्नानां पुन र्लोकदर्शन मघटित मेवे त्याशङ्क्याऽऽह — यत्रेति। यत्र यस्मिन् कृष्णे निमित्ते सति पूर्वं मक्रूरोऽध्यगात् दृष्टवान्। शुकपरीक्षित्संवादात् प्राक्तनत्वात् पुरेति[9] भूतनिर्देशः। न ह्यतर्क्यैश्वर्ये भगवति किञ्चिदपि असम्भावितमिति भावः। अथवा अक्रूरो यत्र दृष्टवान् तस्य यमुनाह्रदस्य ब्रह्म ह्रद इति नाम। तं ह्रदं नीता मग्ना[10] स्सन्तो ब्रह्मणो[11] लोकं ददृशुः। पुनश्च कृष्णेनोद्धृताः पूर्वव त्तं दृष्ट्वा विस्मिता बभूवु रिति[12]। व्यवहितान्वयोऽप्रसिद्धकल्पना च सोढव्येति ॥ १६,१७ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

1- -1. A,B,J omit 2. A,B,J °वहं 3- -3. A,B,J omit 4. B,J omit तत् 5. B,J °स, तदाह 6. P,V omit ब्रह्म 7. A,B,J °वत् 8. A अथाऽस्मिन् 9. B,J,P,V omit पुरेति 10. A,B,J omit मग्नाः 11. P,V °ह्मलो° 12. B,J omit इति।

**वीर०** नन्दस्त्वतीन्द्रिय मदृष्टपूर्वं वरुणस्य महोदय मैश्वर्यं तेषां वरुणादीनां कृष्णे सन्नतिं नम्रतां भृत्यता मिति यावत्। दृष्ट्वा अतीव विस्मितः तत् ज्ञातिभ्योऽन्ववर्णयत्॥ १०॥

तत स्ते नन्दस्य ज्ञातयो गोपाः हे राजन्! तं कृष्णं साक्षात् जगदीश्वरं परमपुरुषं मत्वा औत्सुक्य युक्ता धी र्येषां तथा भूताः अय मीश्वरः कृष्णः सूक्ष्मा मतीन्द्रियां स्वगतिं स्वस्वरूपरूपगुणविभूति प्रकारं नोऽस्माक मुपाधास्य त्यपि दर्शयिष्यति किम्? इति सङ्कल्पितवन्तः। उपाधान मत्र दर्शनं, धातूना मनेकार्थत्वात्, उत्तरानुगुण्याच्च॥ ११॥

इत्थं स्वानां, अभिप्राय मिति शेषः। अखिलदृक्, हेतुगर्भमिदम्! तत्त्वात् स्वय मेव विज्ञाय तेषां मनोरथसिद्धये कृपया एतत् वक्ष्यमाण मचिन्तयत्॥ १२॥

चिन्तित मेवाऽऽह जन इति। जनोऽयं गोपजन्मभृत् जीवलोके अस्मिन् लोके अविद्यादिभि रुत्तममध्यमाधमासु देवतिर्यङ्मनुष्यादि देहप्रवेशरूपासु गतिषु भ्रमन् स्वां मदसाधारणां गतिं न वेद बत! तद्राऽविद्या देहात्माभिमानस्वतन्त्रात्माभिमानमूल मज्ञानम्। कामः शब्दादि विषयाभिलाषः। कर्म तदनुगुणा चेष्टा॥ १३॥

इत्थं सञ्चिन्त्य महाकारुणिको विभुः, हेतुगर्भ मिदम्। तत्त्वात् गोपानां स्वलोकं दर्शयामास। स्वंस्वरूपं लोकं नित्यविभूतिं च दर्शयामासेत्यर्थः। तत्र सत्यं ज्ञान मित्यर्धेन स्वं विशिनष्टि। तमसः पर मित्यनेन यद्धीत्यर्धेन च लोक मिति विवेकः। तमसः परं प्रकृति मण्डलात् बहिर्भूतं "क्षयन्त मस्य रजसः पराके" "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" (श्वेता. उ. 3-8) इत्यादिश्रुतेः। (लोका रजांस्युच्यन्ते, क्षयन्तं निवसन्त मित्यर्थः)॥ १४॥

सत्यं निर्विकारं नित्यासङ्कुचितापरिच्छिन्नज्ञानाश्रयं ज्ञानात्मकञ्च त्रिविधपरिच्छेदरहितं स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयनृहत् स्वयम्प्रकाश मनादिनिधनं समाधिनिष्ठा मुनयो गुणापाये त्रिगुणात्मकप्रकृतिसम्बन्धनिवृत्तौ सत्यां यत्पश्यन्ति तदिति स्थानकटाक्षेण नपुंसकनिर्देशः॥ १५॥

स्वलोकयो रतीन्द्रियत्व मालोच्य भगवता प्रकारान्तरेण दर्शितौ ददृशु रित्याह - त इति। ते गोपाः ब्रह्म ह्रदं प्रति भगवता प्रापिताः तदाज्ञया तत्र मग्नाः उद्धृता स्समाधियुक्ताः ब्रह्मणो लोकं ददृशुः। कोऽसौ ब्रह्महृद स्तत्राऽऽह यत्रेति। यत्र यस्मिन् यमुनाह्रदे अक्रूरः पुराऽध्यगात्, ब्रह्मलोक मित्यनु वर्तते, दृष्टवान् स एव ब्रह्महृदाख्यः। पुरेति कथाप्रवृत्तेः पूर्वकालो विवक्षितः॥ १६॥

नन्दादय स्तं लोकं दृष्ट्वा परमानन्द भरिताः कृष्णं सम्य गभिष्टूय बहुमन्वानाः सुतरां विस्मिताश्चाऽभवन्॥ १७॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवबिदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां अष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८॥

---

1- -1. K,T,W omit 2. K चिन्ता मे 3. K धृत् 4. A,B °शन 5. A,B यत् 6. A,B add स्व 7- -7. T,W omit 8. T,W नित्याप°

**विज०** अतीन्द्रियं इन्द्रियाविषयम्॥ १०॥

नन्दवर्णितकृष्णमाहात्म्यं श्रुत्वा गोपानां बुद्धौ कि मन्ववर्तत? तत्राऽऽह **त** इति। तु शब्दोऽवधारणार्थो विशेषार्थो वा। औत्सुक्यधियः पूर्वस्मा द्विशिष्टभक्त्याहृतबुद्धयः ते गोपाः तं कृष्ण मधीश्वरं ब्रह्मादेरप्यधिकं ईश्वर मेवं मत्वा ज्ञात्वा एषोऽधीश्वरो नोऽस्माकं इष्ट मकरिष्यत्। तर्हि सूक्ष्मा मतीन्द्रियां स्वगतिं स्वस्थानमप्युपाधास्यत् अदर्शयिष्य दिति॥ ११॥

बुद्ध्या मनीषितं एवं कथ मवगत मित्यतः कृष्णचिन्तनेनाऽवसीयते इत्याशयेनाऽऽह **इतीति**। स्वाना मिति सर्वनामसंज्ञामन्तरेण प्रयोगो ज्ञानित्व विशेषद्योतनाय। स्वानां ज्ञातीनां हार्दं विज्ञाय। तत्र हेतुः अखिलदृगिति॥ १२॥

सन्निहितत्वा दिद मित्युक्तं विवृणोति **जन इति**। एतस्मिन् लोके सांसारिकसञ्चारस्थाने अविद्याकामकर्मादिभि र्भ्रमन् परिवर्तमानः अत एव उच्चावचासु उत्कृष्टापकृष्टासु गतिषु पतितो जनः स्वगतिं गम्यत इति गतिः स्वबिम्बभूतो नारायणः तं स्वस्वरूपं च न वेद न जानातीति॥ १३॥

सञ्चिन्त्य गोपानुद्दिश्य लोकं वैकुण्ठं कीदृशम्? तमसः प्रकृतेः परं व्यतिरिक्तं अप्राकृत मित्यर्थः॥ १४॥

किंविशिष्टं कृष्ण मिति तत्राऽऽह **सत्य मिति**। सत्य मबाधितं जानातीति ज्ञानं सर्वज्ञं अन्तत्रयशून्यं अविनाशि वा यत् ब्रह्म एवं विशिष्टम्। "सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म" (तैन्ति.उ. 2-1-1) इति श्रुतिसिद्धम्। "यच्चज्योतिः स्वयं प्रकाशमानं परंज्योतीरूपं सम्पद्य" इति श्रुतिवेदितं "यच्च सनातनं सदैकप्रकारम्" "अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः" (कठ.उ. 2-18) इति श्रौतं यच्च समाहिता मुनयो गुणापाये सत्त्वादिगुणनिवृत्तौ अवरणाभावात् पश्यन्ति। "हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभं ज्योतिषां ज्योति स्तद्यदात्मविदो विदुः" (मुण्ड.उ. 2-2-9) इत्यादिश्रुतिशतं हिशब्देन गृहीतम्। एवंविधगुणविशिष्टं ब्रह्मशब्दवाच्यं कृष्ण मचक्षतेति सम्बन्धः। किंविशिष्टा गोपाः पुरा अक्रूरो यत्र ह्रदे मग्नः ब्रह्म कृष्णात्मकं अध्यगात् अधिगतवान् चक्षुषा अपश्यत् द्रक्ष्यतीति भूतपूर्वत्वेन व्यपदेशः कथायाश्चक्रवद्वर्तमानार्थः। तस्मात्ब्रह्मसन्निधानात् ह्रदान्मग्नाः स्नाताऽऽनीताः। अत्रेतिहास माचक्षते - यदि परब्रह्मत्वं तर्हि नः स्वलोकं दर्शयेति गोपैः प्रार्थितेन कृष्णेन च उक्तम् - यदि युष्माकं मल्लोकदिदृक्षा तर्हि शुद्धेन चक्षुषा भाव्यम्। तदर्थ मस्याः कालिन्द्या ह्रदे मज्जनानन्तरं द्रक्ष्यथे त्युदिता स्ते तथा कृत्वा शुद्धचक्षुषा तल्लोकं तत्रस्थितं सत्यादिगुणविशिष्टं ब्रह्माभिन्नं कृष्ण मपश्य न्निति॥ १५॥

ते गोपाः तं लोकं ददृशुः। कस्येत्यत उक्तं ब्रह्मण इति। अनेन कृष्ण ब्रह्मणो रैक्यं सूचितम्। शून्यागार मिव अपश्यन्निति तत्राऽऽह - कृष्ण मिति। तस्मिन् लोके कृष्णश्चाऽपश्य न्नित्यर्थः ॥ १६ ॥

★ एत देव स्पष्ट माह - नन्दादय इति। तुशब्दोऽय मभेदं वक्ति॥ १७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

(विजयध्वजरीत्या षड्विंशोऽध्यायः)

---

★ It is not found in A.B edns.

श्री:

# श्रीमद्भागवत दशमस्कन्धस्थश्लोकपादानुक्रमणिका
## (प्रथमो भाग: 1-28 अध्याया:)

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| — अ — | | | | अज्ञं पण्डितमानिनम् | 25 | 5 | b |
| अकरोत्सात्त्वतां पति: | 1 | 9 | d | अज्ञानप्रभवाहन्धा: | 4 | 26 | c |
| अकृष्टपच्यौषधय: | 27 | 26 | c | अज्ञान संज्ञौ भवबन्धमोक्षौ | 14 | 26 | a |
| अक्षण्वतां फलमिदं | 21 | 8 | a | अज्ञाय तं साऽथ निशाचरी हरिम् | 6 | 9 | a |
| अखण्डमण्डलो व्योम्नि | 20 | 44 | a | अञ्जसा येन वर्तेत | 24 | 18 | c |
| अगाद्गोपै रभिष्टुत: | 19 | 15 | d | अणिमाद्यैर्महिमभि: | 13 | 53 | a |
| अगाद्धृतैरासुपया | 13 | 30 | d | अतत्त्वजन्तो मृगयन्ति सन्त: | 14 | 28 | b |
| अगाधतोय ह्रदिनी | 18 | 6 | a | अतद्वीर्यविद: प्रोचु: | 26 | 1 | c |
| अगुणवान् पुरुषो | 20 | 18 | d | अत: क्षमस्वाच्युत मे रजो भुवो हि | 14 | 10 | a |
| अगुणायाऽविकाराय | 16 | 40 | c | अतिकरुण मनुस्मरन्त्यशोचत् | 7 | 24 | c |
| अग्नयश्च द्विजातीनाम् | 3 | 4 | c | अतिवातं शिलामयम् | 25 | 15 | b |
| अग्नेर्यथा दारुवियोग | 1 | 51 | a | अतिवेलं सहाग्रजम् | 11 | 13 | b |
| अग्रजो भविता देव: | 1 | 24 | c | अतृप्तमुत्सृज्य जवेन सा ययौ | 9 | 5 | c |
| अघार्दनं शाद्वलभोजनञ्च | 14 | 60 | b | अतोऽर्हत: स्थावरताम् | 10 | 21 | a |
| अघृष्टजानुभि: पद्भि: | 8 | 26 | c | अत्यासारातिवातेन | 25 | 11 | a |
| अघोऽपि यत्स्पर्शन धौत पातक: | 12 | 38 | c | अत्र प्रविश्य गरुड: | 17 | 11 | a |
| अङ्कसङ्गो नृणा मिव | 23 | 32 | b | अत्र भोक्तव्य मस्माभि: | 13 | 6 | a |
| अङ्घ्रं यस्यास्समाक्रम्य | 6 | 38 | c | अत्राऽऽगत्य स्ववासांसि | 22 | 16 | c |
| अङ्गेमां चरमां प्रजाम् | 4 | 6 | d | अत्राऽऽगत्याबला: कामं | 22 | 10 | a |
| अङ्गेषु करयो: पृथक् | 6 | 22 | b | अत्रैव माया धमनावतारे हि | 14 | 16 | a |
| अचिरान्मामवाप्स्यथ | 23 | 32 | d | अथ काल उपावृत्ते | 1 | 56 | a |
| अजरामृत्यु नश्वरम् | 10 | 9 | d | अथ कृष्ण: परिवृत: | 18 | 1 | a |
| अजस्रचित्त्यात्मनि केवले परे | 14 | 26 | c | अथ गावश्च गोपाश्च | 15 | 48 | a |
| अजा गावो महिष्यश्च | 19 | 2 | a | अथ गोपै: परिवृत: | 22 | 32 | a |
| अजाद्याभि र्विभूतिभि: | 13 | 53 | b | अथ तालफलान्यादन् | 15 | 40 | a |
| अजानत स्त्वत्पृथगीशमानिन: | 14 | 10 | b | अथवा लौकिक स्तन्मे | 24 | 7 | c |
| अजानता मामकेन | 28 | 7 | a | अथ व्रजे महोत्पात: | 16 | 12 | a |
| अजानतां त्वत्पदवी मनात्मनि | 14 | 19 | a | अथ सर्वगुणोपेत: | 3 | 1 | a |
| अजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुष: | 14 | 10 | c | अथागतस्मृतिरभयो रिपुं बल: | 18 | 28 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अथाऽघनामाऽभ्यपतन्महासुर: | 12 | 13 | a | अनन्यबोध्यात्मतया न चाऽन्यथा | 14 | 6 | d |
| अथानुस्मृत्य विप्रास्ते | 23 | 37 | a | अनपत्यौ च दम्पती | 3 | 39 | b |
| अथान्यदपि कृष्णस्य | 7 | 3 | a | अनश्नोपरि नाऽपतत् | 11 | 23 | d |
| अथाऽपि ते देव पदाम्बुजद्वय: | 14 | | | अनस्स्वारोप्य गोपाला: | 11 | 30 | c |
| अथाऽपि ह्युत्तमश्लोके | 23 | 43 | a | अनावृतत्वाद्बहिरन्तरं न ते | 3 | 17 | c |
| अथाऽप्यभिभवन्त्येनं | 11 | 55 | a | अनास्यनङ्गुयुक्तानि | 24 | 34 | a |
| अथाऽऽह भगवान् गोपान् | 25 | 20 | a | अनिर्दशान् निर्दशांश्च | 4 | 31 | c |
| अथाऽहमंशभागेन | 2 | 9 | a | अनीशेनाऽन्यथा कर्तुं | 24 | 15 | c |
| अथाऽऽह सुरभि: कृष्णम् | 27 | 18 | a | अनीशोऽपि द्रष्टुं किमिदं | 13 | 58 | c |
| अथैनमस्तौदवधार्य पूरुषम् | 3 | 12 | a | अनुकूजति कूजितम् | 15 | 11 | b |
| अथैन मात्मजं वीक्ष्य | 3 | 23 | a | अनुकृत्य रुतै र्जन्तून् | 11 | 39 | c |
| अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य | 8 | 40 | c | अनुगीयमानो न्यविशत् | 18 | 1 | c |
| अथो यथावन्नवितर्कगोचरं | 8 | 41 | a | अनुगृह्णीष्व भगवन् | 16 | 52 | a |
| अदित्यामास कश्यपात् | 3 | 42 | b | अनुग्रहं निग्रहं वा | 16 | 59 | c |
| अदृश्यतानुजा विष्णो: | 4 | 9 | c | अनुग्रहाद्भगवत: | 16 | 67 | e |
| अदृष्टग्राम्य विषयौ | 3 | 39 | a | अनुग्रहोऽयं भवत: | 16 | 34 | a |
| अदृष्टतोऽन्यन्न निमित्तमस्ति | 1 | 51 | b | अनुजानीहि नौ भूमन् | 10 | 37 | a |
| अदृष्ट परमो जन: | 5 | 29 | b | अनुजानीहि मां कृष्ण | 14 | 39 | a |
| अदृष्टमात्मन स्तत्त्वम् | 5 | 29 | c | अनुज्ञातो ययौ शक्र: | 27 | 28 | c |
| अदृष्ट्वाऽन्यतमं लोके | 3 | 41 | a | अनुज्ञातोऽविशद्गृहम् | 4 | 28 | d |
| अदो रूपमलौकिकम् | 3 | 30 | b | अनुतप्ता व्यगर्हयन् | 23 | 38 | d |
| अद्य मे निभृतो देह: | 28 | 5 | a | अनुभूय बृहद्वने | 11 | 20 | b |
| अद्य वाऽब्द शतान्ते वा | 1 | 38 | c | अनुरौति स्म सत्त्वानाम् | 15 | 13 | c |
| अद्यानेन महाव्याल: | 14 | 48 | a | अनुष्ठेयं तवाऽऽज्ञया | 16 | 53 | b |
| अद्याऽपि यत्पदरज: श्रुतिमृग्यमेव | 14 | 34 | d | अनृतं तदिमे विदु: | 22 | 11 | b |
| अद्यैव त्वद्दतेऽस्य किं मम न ते | 14 | 18 | a | अनेन सर्वदुर्गाणि | 8 | 16 | c |
| अद्यैवाऽर्थोऽधिगत: प्रभो | 28 | 5 | b | अनेन सर्वदुर्गाणि | 26 | 19 | c |
| अद्राक्षी दर्जुनौ पूर्वम् | 9 | 22 | c | अनोऽपतद्विपर्यस्तम् | 26 | 5 | c |
| अद्रेश्चारभ्यतां मख: | 24 | 25 | b | अनोभि रनङ्गुयुक्तै: | 5 | 31 | c |
| अधराहनुवद्रोध: | 12 | 20 | c | अन्तरं प्राप्य बालक: | 11 | 25 | b |
| अधश्शयानस्य शिशोरनोऽल्पक | 7 | 7 | a | अन्तरामिषगन्धवत् | 12 | 23 | d |
| अनन्तमारोपय दङ्कमन्तकम् | 6 | 9 | c | अन्तर्बहि: पूरुषकालरूपै: | 1 | 7 | b |
| अनन्ते जगदीश्वरे | 15 | 35 | b | अन्तर्भवेऽनन्त भवन्तमेव हि | 14 | 28 | a |
| अनन्तोऽनन्तशक्तिधृक् | 17 | 25 | d | | | | |
| अनन्यनाथान् स्वकरा दवच्युतान् | 12 | 27 | b | | | | |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अन्तर्व्रजे तदबला: | 8 | 24 | b | अपि ह्युपनिष हृशाम् | 13 | 55 | d |
| अन्तर्ह्रदे भुजगभोग | 16 | 19 | a | अपूर्वं प्रेम वर्धते | 13 | 36 | d |
| अन्त: प्रविश्य गङ्गायाम् | 10 | 4 | a | अपोथयच्छिलापृष्टे | 4 | 8 | c |
| अन्त: प्रवेश्य सुचिरं | 23 | 23 | c | अप्यासी द्विप्रियं तेषाम् | 11 | 54 | c |
| अन्धकूपगभीराक्षम् | 6 | 17 | a | अप्रमेयं बलं तस्य | 7 | 10 | c |
| अन्नमादाय भाजनै: | 23 | 19 | b | अप्राप्य तृषिता: श्रान्ता: | 19 | 5 | c |
| अन्नं बहुविधं तेभ्य: | 24 | 27 | c | अप्सर: किन्नरोरगै: | 4 | 11 | b |
| अन्नाद्यवास: स्रगभीष्ट | 7 | 5 | c | अप्सरोभि स्समं मुदा | 3 | 6 | d |
| अन्यत्र दीक्षितस्यापि | 23 | 8 | c | अबिभ्रन् रुचिरं रूपम् | 20 | 13 | c |
| अन्यथा पूर्णकामस्य | 23 | 45 | a | अभिज्ञास्सम्प्रचक्षते | 8 | 14 | d |
| अन्याश्च कंससंविग्ना: | 2 | 7 | e | अभिज्ञास्सम्प्रचक्षते | 26 | 17 | d |
| अन्ये तदनुरूपाणि | 15 | 18 | a | अभिनृत्यति नृत्यन्तम् | 15 | 11 | c |
| अन्येभ्यश्चाश्च चाण्डाल | 24 | 28 | a | अभिभूयमाना व्यसनै: | 20 | 15 | c |
| अन्यैश्चाऽसुरभूपालै: | 2 | 2 | a | अभिवन्द्य मनस्विनी | 27 | 18 | b |
| अन्योन्यं विविधं जगत् | 24 | 22 | d | अभिषिच्च द्विजोत्तमै: | 7 | 14 | d |
| अन्योन्या बद्धबाहव: | 22 | 6 | b | अभिसस्रु: प्रियं सर्वा: | 23 | 19 | c |
| अन्वञ्चमाना जननी | 9 | 10 | a | अभीक्ष्णं विस्मृतात्मकम् | 14 | 44 | d |
| अन्वतप्यन् कृतागस: | 23 | 37 | b | अभ्यधावत्क्षितितलं | 15 | 29 | c |
| अन्वभावि तथैव तत् | 11 | 56 | d | अभ्यवजह्: सहेश्वरा: | 13 | 10 | d |
| अन्वमंसत तद्राजन् | 15 | 52 | a | अभ्यवर्षन्बलं माल्यै: | 18 | 32 | c |
| अन्वमोदत तत्सख्यम् | 18 | 18 | c | अभ्यवहृत्य सहार्भकै: | 14 | 46 | b |
| अन्वीयमाना: स्ववृषै: | 20 | 46 | c | अभ्यषिञ्चत दाशार्हम् | 27 | 23 | c |
| अपक्वयोगिनश्चित्तम् | 20 | 14 | c | अभ्याननाः फुल्लदृशो प्रजार्भका: | 13 | 8 | b |
| अपराध: सकृद्भर्त्रा | 16 | 51 | a | अमंसताम्भोजकरेण | 6 | 6 | c |
| अपरे हतपाप्मान: | 15 | 17 | c | अमित्रोदास्तविद्विषाम् | 24 | 5 | b |
| अपर्त्त्यत्युल्बणं वर्षम् | 25 | 15 | a | अमुना वपुषाऽनघे | 3 | 37 | b |
| अपश्यत्तन्मयं जगत् | 2 | 24 | d | अमोचय द्व्रजपशून् | 26 | 11 | c |
| अपश्यन्नारदो देवौ | 10 | 5 | c | अम्भोजन्मजनि स्तदन्तरगतो | 13 | 15 | a |
| अपश्यन्निवसन्गोपान् | 24 | 1 | c | अम्भोजवन राजिनि | 10 | 4 | b |
| अपि कृष्णे जगद्गुरौ | 23 | 41 | b | अयक्ष्वोब्राह्मणाद्रीणाम् | 24 | 30 | c |
| अपि गुह्यं वदामि ते | 13 | 3 | b | अयन्तथा चेद्वकवद्विनङ्क्ष्यति | 12 | 24 | b |
| अपि न: स्वगतिं सूक्ष्मम् | 28 | 11 | c | अयन्तु सोदर्यविनाशकृत् | 12 | 14 | c |
| अपि मूढा न विद्महे | 23 | 48 | d | अयन्त्वसभ्य स्तव जन्म | 3 | 22 | a |
| अपि राजन्य सत्तम | 14 | 52 | b | | | | |
| अपि हन्ताऽऽगताऽऽशङ्क: | 8 | 9 | c | | | | |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| अयं वै तद्वधोपाय: | 4 | 42 | e |
| अयं वै रोहिणी पुत्र: | 8 | 12 | a |
| अराजके रक्ष्यमाण: | 8 | 17 | c |
| अराजके रक्ष्यमाण: | 26 | 20 | c |
| अर्चिष्यन्ति मनुष्या स्त्वाम् | 2 | 10 | a |
| अर्पयामास कृच्छ्रेण | 1 | 57 | c |
| अलक्षितोऽस्मिन्रहसि | 8 | 10 | a |
| अलङ्काररक्षा तिलका- | 13 | 23 | b |
| अलं विहारै: क्षुत्क्षान्त: | 11 | 14 | c |
| अवघ्राय व्रजौकस: | 6 | 42 | b |
| अवतीर्णोऽसि विश्वात्मन् | 27 | 21 | c |
| अवतीर्णोऽश भागेन | 10 | 35 | c |
| अवतीर्य यदोर्वंशे | 1 | 3 | a |
| अवरोहणत: वरम् | 18 | 25 | d |
| अवाकिरंश्चाद्भुतपुष्पवृष्टिभि: | 27 | 25 | b |
| अवात्सी द्गरुडाद्भीत: | 17 | 12 | c |
| अवाचन्त विचित्राणि | 5 | 13 | a |
| अवाप जननीगतिम् | 6 | 39 | b |
| अवापु: पार मध्वन: | 28 | 5 | d |
| अविक्रियात्स्वानुभवात् | 14 | 6 | c |
| अविज्ञातानुभावानाम् | 23 | 50 | c |
| अविज्ञायाऽसुरी वेलाम् | 28 | 2 | c |
| अविदूरे व्रजभुव: | 11 | 37 | a |
| अविद्या काम कर्मभि: | 28 | 13 | b |
| अविन्दच्छरदर्कजम् | 20 | 38 | b |
| अविश्वाय च विश्वाय | 16 | 48 | c |
| अविषह्यं मन्यमान: | 18 | 25 | a |
| अव्यक्तप्रभवाप्ययम् | 10 | 12 | b |
| अव्यक्तरावो न्यपतत् | 7 | 28 | c |
| अव्ययस्सार्भवत्सकम् | 12 | 30 | b |
| अव्याद्जोऽङ्घ्रिमणिमांस्तव | 6 | 23 | a |
| अव्याहृत विहाराय | 16 | 47 | a |
| अश्वानामयुतं सार्धं | 1 | 31 | c |
| अष्टमा ब्रुवयो: पुत्रात् | 1 | 60 | c |
| अष्टौ मासान् निपीतं यत् | 20 | 5 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| असत: श्रीमदान्धस्य | 10 | 13 | a |
| असतोऽविजितात्मन: | 1 | 61 | d |
| असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण | 14 | 28 | c |
| असंयुगविकत्थनै: | 4 | 36 | b |
| असावन्यतमो वाऽपि | 11 | 25 | c |
| असुरद्विट् गुहाशय: | 4 | 42 | b |
| असुर स्तज्जिघांसया | 18 | 17 | d |
| असुरो बकरूपधृक् | 11 | 47 | b |
| अस्ति चेदीश्वर: कश्चित् | 24 | 14 | a |
| अस्त्यस्वपर दृष्टीनाम् | 24 | 5 | a |
| अस्त्वित्युक्त स्स एवेह | 8 | 50 | a |
| अस्पन्दनं गतिमतां पुलक- | 21 | 20 | c |
| अस्पष्टज्योतिराच्छन्नम् | 20 | 4 | c |
| अस्पृश्य नेत्र बन्धाद्यै: | 18 | 14 | c |
| अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या: | 13 | 55 | c |
| अस्मत्सङ्ग्रसनव्यात्त | 12 | 19 | c |
| अस्मान्किमत्र ग्रसिता | 12 | 24 | a |
| अस्यत स्ते शरव्रातै: | 4 | 33 | a |
| अस्य प्रपञ्चस्य बहि: | 14 | 16 | b |
| अस्याऽपि देव वपुषो | 14 | 2 | a |
| अस्यास्त्वामष्टमो गर्भ: | 1 | 34 | c |
| अहङ्क्रियानैच्छमिवार्चि: | 14 | 9 | d |
| अहञ्चैरावतं नागम् | 25 | 7 | a |
| अहन् कण्ठग्रहातुरम् | 26 | 6 | d |
| अहन्म नृविडम्बयो: | 23 | 37 | d |
| अहम्मत्या भासितया | 20 | 19 | c |
| अहं पूर्व महं पूर्वम् | 12 | 6 | c |
| अहं ममाऽसौ पतिरेष मे | 8 | 42 | a |
| अहं सुतो वामभवम् | 3 | 41 | c |
| अहेतु विदचिन्तयत् | 13 | 35 | d |
| अहैतुक्यव्यवहिताम् | 23 | 26 | c |
| अहो अमी देववरा- | 15 | 5 | a |
| अहो एषां वरं जन्म | 22 | 36 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| अहोऽज्ञ जनताज्ञता | 14 | 27 | d |
| अहोऽतिधन्या व्रज- | 14 | 31 | a |
| अहोऽतिरम्यं पुलिनं | 13 | 5 | a |
| अहो ते देवकीपुत्रा: | 5 | 28 | a |
| अहो न: स्मारयामास | 23 | 44 | c |
| अहो नृलोकस्य विडम्बनं | 3 | 31 | d |
| अहो पश्यत नारीणाम् | 23 | 41 | a |
| अहो पश्यत शैलोऽसौ | 24 | 36 | c |
| अहो बतात्यद्भुतमेष | 7 | 31 | a |
| अहो बताऽस्य बालस्य | 11 | 54 | a |
| अहो ब्रह्मविदां वाच: | 11 | 56 | a |
| अहो भगिन्यहो भाव! | 4 | 15 | a |
| अहो भग्यमहो भाग्यम् | 14 | 32 | a |
| अहो विचित्रं मित्राणि | 12 | 19 | a |
| अहो विस्रंसितो गर्भ: | 2 | 15 | c |
| अहो श्रीमदमाहात्म्यम् | 25 | 3 | a |
| अंशेन साक्षाद्भगवान् | 2 | 41 | b |
| **- आ -** | | | |
| आकण्ठमग्ना: शीतोदे | 22 | 13 | c |
| आकर्ण्य भर्तुर्गदितम् | 4 | 30 | a |
| आकर्ण्य वेणुरणितं च | 21 | 12 | c |
| आकल्पमार्क सुमहन् | 14 | 40 | d |
| आक्रान्ता भूरिभारेण | 1 | 17 | c |
| आख्यास्यते राम इति | 8 | 12 | c |
| आगत्य सहसा कृष्णम् | 11 | 47 | c |
| आङ्घ्रिमस्तक मापूर्णा: | 13 | 50 | a |
| आचख्यु र्भोजराजाय | 4 | 2 | c |
| आचरेत्स तथाविध: | 1 | 44 | b |
| आचष्टेदं सहात्मना | 13 | 59 | d |
| आचेरुर्विविधा: क्रीडा: | 18 | 21 | a |
| आजीव्यैकतरं भावम् | 24 | 19 | a |
| आज्ञाय मर्त्यपदवी मनु | 16 | 23 | c |
| आतपत्रायितान्वीक्ष्य | 22 | 33 | c |
| आत्मजान्स्वकृतान्भुज: | 14 | 18 | b |
| आत्मजाभ्युदयार्थाय | 7 | 16 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| आत्मतुल्यबलै रन्यै: | 15 | 23 | c |
| आत्मद्योतगुणैश्छन्न | 10 | 33 | c |
| आत्मन: क्षेममन्विच्छन् | 1 | 44 | c |
| आत्मनिर्देशमात्रेण | 10 | 26 | c |
| आत्मनो गुरुमत्तया | 7 | 27 | b |
| आत्मनो भक्तवश्यताम् | 11 | 11 | b |
| आत्मन्युपरते यद्वत् | 20 | 40 | c |
| आत्मयोगेन साधये | 25 | 16 | b |
| आत्मवत्सुहृदुच्यते | 24 | 5 | d |
| आत्मशक्त्युपबृंहिताम् | 20 | 31 | d |
| आत्माऽऽत्मना भासि | 14 | 19 | b |
| आत्मादिस्तम्बपर्यन्तै: | 13 | 52 | a |
| आत्मानञ्च तया हीनम् | 23 | 38 | c |
| आत्मान मखिलात्मनाम् | 14 | 55 | b |
| आत्मान मिह सञ्जातम् | 1 | 68 | a |
| आत्मानमेवात्मतया | 14 | 25 | a |
| आत्मानं गाश्च मोचिता: | 19 | 13 | |
| आत्मानं घूर्णमाशिषाम् | 8 | 20 | d |
| आत्मानं भगवान् पर: | 6 | 26 | b |
| आत्मानं भूषयाञ्चक्रु: | 5 | 9 | c |
| आत्मानं मन्यतेऽस्वदृक् | 4 | 22 | b |
| आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य: | 14 | 27 | c |
| आत्माऽस्यधीशाऽखिल | 14 | 14 | b |
| आत्मौपम्येन भूतानि | 10 | 13 | c |
| आदाय मात्रे प्रतिहृत्य | 7 | 30 | a |
| आदायाऽगात्स्वपितरम् | 28 | 9 | c |
| आदिष्टा प्रभुणांशेन | 1 | 25 | c |
| आहतां यवसं गवाम् | 24 | 33 | b |
| आधास्यत्येष व: श्रेय: | 8 | 16 | a |
| आनम्य तत्पृथुशिर | 16 | 26 | b |
| आनर्चाधोक्षजधिया | 8 | 2 | c |
| आनर्चु र्नृपसैकतीम् | 22 | 2 | d |
| आनीतोऽयं तव पिता | 28 | 7 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| आप्लुत्याऽम्भसि कालिन्द्या: | 22 | 2 | a |
| आबालवृद्धवनिता: | 16 | 15 | a |
| आभाष्याऽऽहाऽशरीरवाक् | 1 | 34 | b |
| आयान्त्यत्र महोत्पाता: | 11 | 22 | c |
| आयु: श्रियं यशो धर्मम् | 4 | 46 | a |
| आरादागतमृत्यव: | 4 | 45 | d |
| आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं | 2 | 32 | c |
| आरुह्य ये द्रुमभुजान् | 21 | 15 | c |
| आरुह्यानुव्रजे व्रजम् | 25 | 7 | b |
| आरोहन्तश्च तै र्द्रुमान् | 12 | 9 | b |
| आर्ता: श्लथद्वसनभूष- | 16 | 31 | d |
| आर्यस्य मम चाऽभिधात् | 23 | 4 | d |
| आलिङ्गनस्थगित मूर्मि- | 21 | 16 | c |
| आलोक्य तत्प्रियसखा: | 16 | 10 | b |
| आवर्त लक्षितमनोभव | 21 | 16 | b |
| आविरासी द्यथा प्राच्याम् | 3 | 8 | e |
| आविवेशांशभागेन | 2 | 16 | c |
| आविष्टचित्तो न भवाय | 2 | 37 | d |
| आशिष: स्नेहकातारा: | 25 | 30 | d |
| आशिषोऽभिगृणन्तस्तम् | 18 | 31 | a |
| आशिषो विफला: कृता: | 7 | 13 | d |
| आशीविषतमाहीन्द्रम् | 26 | 12 | a |
| आश्लिष्य समशीतोष्णम् | 20 | 45 | a |
| आश्रुत्य तत्स्वसदना | 16 | 8 | c |
| आश्वास्य च महीं गीर्भि: | 1 | 26 | c |
| आसतुर्यमलार्जुनौ | 10 | 23 | d |
| आसते स्वर्गकाम्यया | 23 | 3 | d |
| आसन्नभयशंसिन: | 16 | 12 | d |
| आसन्ना ददृशे गुहा: | 20 | 27 | d |
| आसन्नानात्ममूर्तय: | 20 | 21 | b |
| आसन्नुत्पथवाहिन्य: | 20 | 10 | a |
| आसन् रामस्य चाऽपरे | 18 | 20 | d |
| आसन् वर्णा स्त्रयो ह्यस्य | 8 | 13 | a |
| आसन्सुविस्मितास्सर्वे | 15 | 51 | c |
| आसँह्लब्धमनोरथा: | 17 | 15 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| आसाराद्रक्षिते व्रजे | 27 | 1 | b |
| आसिञ्चन्तो विलिम्पन्त: | 5 | 14 | c |
| आसीद्गोविन्ददर्शने | 19 | 16 | b |
| आसीद्वर्षीयसी मही | 20 | 7 | b |
| आसीनस्संविशंस्तिष्ठन् | 2 | 24 | a |
| आसीनं त्वां श्रिय: पति: | 6 | 27 | b |
| आस्तृताया ममार्गोऽयम् | 12 | 22 | a |
| आस्ते पूर्वव दावृत: | 3 | 52 | d |
| आस्ते प्रतीक्षं स्तज्जन्म | 2 | 23 | c |
| आस्ते महित्वं प्राग्दृष्टं | 13 | 64 | c |
| आस्फोटन विकर्षणै: | 18 | 12 | b |
| आस्फोटच गाढशनो | 16 | 6 | d |
| आस्यतां करवाम किम् | 23 | 25 | b |
| आह दामोदरोऽबला: | 22 | 27 | d |
| आहूय विप्रान् वेदज्ञान् | 5 | 1 | c |
| आहैष प्राणहरो हरि: | 2 | 20 | c |
| **इ** | | | |
| इत एतेऽत्र कुव्रत्या: | 13 | 43 | a |
| इतरेऽपत्यवित्ताद्या: | 14 | 50 | c |
| इति खरपवनचक्रपांसुवर्षे | 7 | 24 | a |
| इति गोगोकुलपतिम् | 27 | 28 | a |
| इति घोरतमाद्भावात् | 2 | 23 | a |
| इति ते भगवद्याच्ञाम् | 23 | 9 | a |
| इति नन्दवच: श्रुत्वा | 26 | 24 | a |
| इति नन्दादयो गोपा: | 5 | 31 | a |
| इति नन्दादयो गोपा: | 11 | 57 | a |
| इति पौरा विचुक्रुशु: | 2 | 15 | d |
| इति प्रणयबद्धाभि: | 6 | 31 | a |
| इति प्रभाष्य तं देवी | 4 | 13 | a |
| इति प्रवाल स्तबक | 22 | 39 | a |
| इति बालक मानीय | 7 | 14 | a |
| इति बाला व्रजे जगु: | 14 | 48 | d |
| इति ब्रुवन्तोऽति विवाह | 7 | 8 | e |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| इति मन्त्रं जपन्त्य स्ता: | 22 | 5 | a |
| इति मात्रे न्यवेदयन् | 8 | 32 | d |
| इति विज्ञापितो गोपै: | 23 | 2 | a |
| इति वेणुरवं राजन् | 21 | 7 | a |
| इति वेदविदो विदु: | 22 | 21 | f |
| इति व्यवस्थाजगरं बृहद्वपु: | 12 | 16 | a |
| इति सञ्चिन्तयन् श्रुत्वा | 8 | 9 | a |
| इति सञ्चिन्त्य दाशार्हे: | 13 | 38 | a |
| इति सञ्चिन्त्य भगवान् | 28 | 14 | a |
| इति संस्पृश्य रेमिरे | 12 | 6 | d |
| इति स्वाद्य मनुस्मृत्य | 23 | 51 | a |
| इति स्वानां स भगवान् | 28 | 12 | a |
| इति होचु: समागता: | 8 | 28 | d |
| इतीरिशेऽतर्क्ये निजमहिमनि | 13 | 58 | |
| इतोऽविदूरे चरता | 23 | 16 | c |
| इतोऽविदूरे सुमहत् | 15 | 21 | c |
| इत्थ मात्माऽऽत्मनाऽऽत्मानम् | 13 | 27 | a |
| इत्थं द्विजा यादव देवदत्त: | 12 | 40 | a |
| इत्थं मघवताऽऽज्ञप्ता: | 25 | 8 | a |
| इत्थं मिथोऽतथ्यमतज्ज्ञभाषितं | 12 | 25 | a |
| इत्थं यशोदा तमशेषशेखरम् | 11 | 19 | a |
| इत्थं विदिततत्त्वायाम् | 8 | 43 | a |
| इत्थं शरत्स्वच्छ जलम् | 21 | 1 | a |
| इत्थं सङ्कीर्तित स्ताभ्याम् | 10 | 39 | a |
| इत्थं सतां ब्रह्मसु स्वानुभूत्या | 12 | 11 | a |
| इत्थं स नागपत्नीभि: | 16 | 54 | a |
| इत्थं स्त्रीभि: सभयनयन | 8 | 31 | c |
| इत्थं स्म पृष्टस्स तु | 12 | 44 | a |
| इत्थं स्वगोकुल मनन्यगतिं | 16 | 23 | a |
| इत्थं स्वजन वैक्लव्यम् | 17 | 25 | a |
| इत्यच्युतेनाऽभिहिता व्रजाबला: | 22 | 23 | a |
| इत्यद्धा मां समादिश्य | 26 | 23 | a |
| इत्यद्रिगोद्विजमरवम् | 24 | 38 | a |
| इत्यन्तरेणाऽर्जुनयो: | 10 | 26 | a |
| इत्यभिष्टूय पुरुषं | 2 | 42 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| इत्यभिष्टूय भूमानम् | 14 | 41 | a |
| इत्याकर्ण्य वच: प्राह | 16 | 60 | a |
| इत्याख्यातौ श्रियान्वितौ | 9 | 23 | d |
| इत्यात्मानं समादिश्य | 8 | 20 | a |
| इत्यादिश्याऽमरगणान् | 1 | 26 | a |
| इत्यादिष्टा भगवता | 22 | 31 | a |
| इत्यादिष्टा भगवता | 23 | 5 | a |
| इत्युक्तस्स खल: पाप: | 1 | 35 | a |
| इत्युक्ता द्विजपत्न्यस्ता: | 23 | 33 | a |
| इत्युक्तौ तं परिक्रम्य | 10 | 43 | a |
| इत्युक्त्वाद्रिदरीकुञ्ज- | 13 | 14 | a |
| इत्युक्त्वाऽश्रुमुख: पादौ | 4 | 23 | c |
| इत्युक्त्वाऽऽसीद्गिरिस्तूष्णीम् | 4 | 46 | a |
| इत्युक्त्वैकेन हस्तेन | 25 | 19 | a |
| इत्येतद्वचनं श्रुत्वा | 22 | 20 | a |
| इद माह विशाम्पते | 5 | 21 | d |
| इदं तत्राऽन्वपद्यत | 1 | 47 | d |
| इदानीमप्रजस्य ते | 5 | 22 | b |
| इदानीं कृष्णतां गत: | 8 | 13 | d |
| इदानीं कृष्णतां गत: | 26 | 16 | d |
| इन्द्र आह कृताञ्जलि: | 27 | 3 | d |
| इन्द्रगोपैश्च लोहिता: | 20 | 11 | b |
| इन्द्रयाग कृतोद्यमान् | 24 | 1 | d |
| इन्द्रस्तदाऽऽत्मन: पूजां | 25 | 1 | a |
| इन्द्रस्सुरर्षिभिस्साकम् | 27 | 23 | a |
| इन्द्रं न स्त्वाभिषेक्ष्याम: | 27 | 21 | a |
| इन्द्र: प्राचोदयत्क्रुद्ध: | 25 | 2 | c |
| इन्द्राय मन्युं जनयन् | 24 | 12 | c |
| इन्द्रियाणि हृषीकेश: | 6 | 25 | a |
| इन्द्रियाण्यनुशुष्यन्ति | 10 | 16 | c |
| इन्द्रो नाशाय वर्षति | 25 | 15 | d |
| इमां त्वं दीनवत्सल | 1 | 45 | d |
| इयान्प्रेमा कथं भवेत् | 14 | 49 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| इयेष किल तं बन्धुम् | 9 | 12 | c |
| इव त्वमेषोऽन्त इव | 14 | 19 | d |
| इहाऽऽनेष्ये वत्सकानहम् | 13 | 13 | d |
| **ई** | | | |
| ईक्षयाऽमृतवर्षिण्या | 15 | 50 | c |
| ईडिरे कृष्ण रामौ च | 18 | 11 | c |
| ईप्सित: परमोऽभव: | 10 | 42 | d |
| ईयन् सुमहाघोर | 7 | 21 | c |
| ईशस्यैत द्विडम्बनम् | 23 | 45 | d |
| ईशितव्यै किमस्माभि: | 23 | 45 | c |
| ईश्वरं गुरु मात्मानम् | 27 | 13 | c |
| ईषामात्रोग्रदंष्ट्रास्यम् | 6 | 16 | a |
| ईहा खलानामपि तेऽनु | 27 | 7 | d |
| **उ** | 8 | 36 | b |
| उक्तस्स भगवान् हरि: | | | |
| उक्तेन वृत्तं प्रभुणा बलो | 13 | 39 | d |
| उग्रसनेश्च पितरम् | 1 | 69 | a |
| उग्रसेनसुत: कंस: | 1 | 30 | a |
| उच्चावचासु गतिषु | 28 | 13 | c |
| उच्चावचैश्चोपहारै: | 22 | 3 | c |
| उच्छिलीन्ध्रकृतच्छाया | 20 | 11 | c |
| उत्तराहनुवद्धनम् | 12 | 20 | b |
| उत्तार्य गोपी सुशृतं | 9 | 7 | a |
| उत्क्षेपणं गर्भगतस्य | 14 | 12 | a |
| उत्थातव्य मितोऽस्माभि: | 11 | 22 | a |
| उत्थाप्य दोर्भि: परिरभ्य | 13 | 22 | b |
| उत्थायोत्थाय कृष्णस्य | 13 | 64 | a |
| उत्थित: कृष्णनिर्भुक्ति | 6 | 35 | c |
| उत्पाटचैककरेण शैल | 26 | 25 | c |
| उत्पात इति कातरा: | 11 | 3 | d |
| उत्पातागम शङ्कित: | 6 | 1 | d |
| उत्पेतु र्भुवि दिव्यात्मनि | 16 | 12 | c |
| उत्प्रेक्षन्ते स्म लीलया | 12 | 18 | d |
| उत्सिच्यमाने पयसि | 9 | 5 | d |
| उदरे सन्निवेशय | 2 | 8 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| उदहृष्यन्वारिजानि | 20 | 47 | a |
| उदासीनोऽरिवद्वर्ज्य: | 24 | 5 | c |
| उदीर्णदृष्टे र्भ्रमतस्त्वित | 12 | 31 | b |
| उदुह्य दोर्भि: परिरभ्य मूर्ध्नि | 13 | 33 | c |
| उद्गायति क्वचिन्मुग्ध: | 11 | 9 | c |
| उद्दामकाञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभि: | 3 | 10 | c |
| उद्धर्मशार्वरहरक्षिति | 14 | 40 | c |
| उद्वीक्ष्यमाणंभयविह्वलेक्षणम् | 9 | 11 | c |
| उन्मादा ये ह्यपस्मार: | 6 | 29 | c |
| उपक्रोष्टा पराक् स्थित: | 15 | 31 | b |
| उपगीयमान चरित: | 15 | 10 | c |
| उपगीयमानमाहात्म्यम् | 8 | 45 | c |
| उपगूह्यात्मजा मेवं | 4 | 7 | a |
| उपतस्थे समाहित: | 1 | 20 | d |
| उपपन्न मिदं हि व: | 23 | 25 | d |
| उपलब्धो भवानद्य | 5 | 23 | c |
| उपलभ्योत्थिता स्सर्वे | 17 | 14 | a |
| उपशान्तेन चेतसा | 3 | 35 | b |
| उपसंहर विश्वात्मन् | 3 | 30 | a |
| उपस्थितान्तिके तस्मै | 1 | 18 | c |
| उपस्थितो निवर्तेत | 1 | 50 | c |
| उपहार्यैस्सर्पजनै: | 17 | 2 | a |
| उपहृत्य बलीन्सर्वान् | 24 | 33 | a |
| उपाधास्यदधीश्वर: | 28 | 11 | d |
| उपारतं वातवर्षम् | 25 | 26 | c |
| उपालभ्य हितैषिणी | 8 | 33 | b |
| उपाहृतोरुबलिभि: | 4 | 11 | c |
| उपेक्ष्यै: किंधनस्तम्भै: | 10 | 18 | e |
| उपेन्द्र इति विख्यात: | 3 | 4 2 | c |
| उपोष्य मां स्मरन्नर्चेत् | 16 | 62 | c |
| उभयायित मात्मानम् | 13 | 18 | c |
| उभयोरपि भारत | 1 | 63 | b |
| उभावपि वने कृष्ण: | 13 | 16 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| उलूखलं विकर्षन्तम् | 11 | 3 | a |
| उलूखलं विकर्षन्तम् | 11 | 6 | a |
| उलूखलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थितम् | 9 | 8 | a |
| उवाच परिसान्त्वयन् | 1 | 36 | d |
| उवाह कृष्णो भगवान् | 18 | 24 | a |
| उषस्युत्थाय गोत्रै: स्वै: | 22 | 6 | a |
| **ऊ** | | | |
| ऊचुश्च कृष्णं सबलं | 19 | 8 | c |
| ऊचुश्च सुहृद: कृष्णम् | 14 | 45 | a |
| ऊचुस्ते कालियग्रस्त: | 17 | 17 | c |
| ऊचे कृष्णोऽस्य भी भयम् | 13 | 13 | b |
| ऊधोभारेण भूयसा | 20 | 26 | b |
| ऊषु व्रजौकसो गाव: | 17 | 20 | c |
| ऊहु: कृष्णादयो नृप | 18 | 23 | d |
| **ऋ** | | | |
| ऋषिणा करुणात्मना | 10 | 40 | b |
| ऋषे रासीदनुग्रहात् | 10 | 37 | d |
| ऋषेर्भागवत मुख्यस्य | 10 | 24 | a |
| ऋषेर्विनिर्गमे कंस: | 1 | 65 | a |
| **ए** | | | |
| एकदा क्रीडमानास्ते | 8 | 32 | a |
| एकदा गृहदासीषु | 9 | 1 | a |
| एकदा चारयन् वत्सान् | 13 | 28 | a |
| एकदाऽऽरोह मारूढम् | 7 | 18 | a |
| एकदाऽर्भक मादाय | 7 | 34 | a |
| एकस्त्वमात्मा पुरुष: | 14 | 23 | a |
| एकस्मिन्नपि यातेऽब्दे | 14 | 43 | a |
| एकहायन आसीन: | 26 | 6 | a |
| एकं शकटमास्थिते | 11 | 33 | b |
| एकं सपाणि कबलं परमेष्ठ्यचष्ट | 13 | 62 | d |
| एकादशैव हि वयं भूरिभागा: | 14 | 33 | b |
| एकादश्यां निराहार: | 28 | 1 | a |
| एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूल: | 2 | 27 | a |
| एकावशिष्टाऽवरजा | 5 | 28 | c |
| एके तमनुरुन्धना: | 2 | 4 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| एकेन पाणिना नेमु: | 22 | 20 | c |
| एकेन पाणिना यो वै | 22 | 21 | c |
| एकेनाऽऽच्छाद्य चाङ्गना: | 22 | 20 | d |
| एकैकश: प्रतीच्छध्वम् | 22 | 11 | c |
| एकोऽसि प्रथमं ततो व्रज | 14 | 18 | b |
| एतत्कंसाय भगवान् | 1 | 64 | a |
| एतत्कौमारजं कर्म | 12 | 37 | a |
| एतत्ते सर्वमाख्यातम् | 14 | 59 | a |
| एतत्सुहृद्भिश्चरितं मुरारे: | 14 | 60 | a |
| एतदन्यच्च सर्वं मे | 1 | 12 | a |
| एतदप्यन्तराननम् | 12 | 22 | d |
| एतद्धृषीक चषकै रसकृत् | 14 | 33 | c |
| एतद्वहि महान् काम: | 24 | 4 | a |
| एतद्वा दर्शितं रूपम् | 3 | 44 | a |
| एत द्विचित्रं सहदेवकाल | 8 | 39 | a |
| एतन्मम मतं तात! | 24 | 30 | a |
| एतस्मिन्नेव काले तु | 17 | 21 | a |
| एतावजन्म साफल्यम् | 22 | 38 | a |
| एते यदा मत्सुहृद स्तिलाप: | 12 | 15 | a |
| एतेऽलिनस्तव यशोऽखिल | 15 | 6 | a |
| एनं कुमार मुद्दिश्य | 26 | 15 | c |
| एवञ्चेत्तर्हि भोजेन्द्र | 4 | 31 | a |
| एवमुक्तो भगवता | 16 | 64 | a |
| एवमेतन्महाराज | 4 | 26 | a |
| एवमेतेषु भेदेषु | 13 | 44 | a |
| एवं कृष्ण मुपामन्त्र्य | 27 | 22 | a |
| एवं तौ लोकसिद्धाभि: | 18 | 16 | a |
| एवं दुर्मन्त्रिभि: कंस: | 4 | 43 | a |
| एवं धार्ष्ट्यान्युशति कुरुते | 8 | 31 | a |
| एवं निगूढात्मगति: स्वमायया | 15 | 19 | a |
| एवं निवसतो स्तस्मिन् | 20 | 32 | a |
| एवं निशम्य भृगुनन्दन | 1 | 14 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| एवं परिभ्रमहतौजसं | 16 | 26 | a |
| एवं प्रसादित: कृष्ण: | 28 | 9 | a |
| एवं बृन्दाबनं श्रीमत् | 15 | 9 | a |
| एवं ब्रुबति गोविन्दे | 22 | 13 | a |
| एवं भवान् बुद्धचनुमेय | 3 | 17 | a |
| एवं मासं व्रतं चेरु: | 22 | 5 | c |
| एवं लीलानरवपु: | 23 | 36 | a |
| एवं बनं तद्वर्षिष्टम् | 20 | 25 | a |
| एवं विधं त्वां सकलात्मना | 14 | 24 | a |
| एवं विधानि कर्माणि | 26 | 1 | a |
| एवं विधा भगवत: | 20 | 21 | a |
| एवं विमृश्य तं पापं | 1 | 52 | a |
| एवं विहारै: कौमारै: | 11 | 58 | a |
| एवं विहारै: कौमारै: | 14 | 61 | a |
| एवं वां तप्यतो स्तीव्रं | 3 | 36 | a |
| एवं व्रजौकसां प्रीतिम् | 11 | 36 | a |
| एवं सकृद्दर्शाज: | 13 | 56 | a |
| एवं सङ्कीर्तित: कृष्ण: | 27 | 14 | a |
| एवं सन्दर्शिताह्यङ्ग | 9 | 19 | a |
| एवं स भगवान् कृष्ण: | 15 | 47 | a |
| एवं सम्प्रार्थितो विप्र: | 8 | 11 | a |
| एवं सम्मोहयन् विष्णुम् | 13 | 45 | a |
| एवं स सामभिर्भेदै: | 1 | 46 | a |
| एवं साधारणं देहम् | 10 | 12 | a |
| एवं सुहृद्वच: श्रुत्वा | 15 | 27 | a |
| एवं स्वगेह दामानि | 9 | 17 | a |
| एवं स्वमाया रचितेष्वसौ | 1 | 43 | c |
| एवं हि जन्तो रपि दुर्विभाव्य: | 1 | 51 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| एष घोरतमो वह्नि: | 17 | 23 | c |
| एष व: श्रेय आधास्यत् | 26 | 19 | a |
| एष वै सुरभिर्गन्ध: | 15 | 25 | a |
| एषा तवाऽनुजा बाला | 1 | 45 | a |
| एषा मन्तर्गतं ध्वान्तम् | 12 | 22 | c |
| एषा वै बाधते क्षुन्न: | 23 | 1 | c |
| एषां घोषनिवासिना मुत भवान् | 14 | 35 | a |
| एषां श्रियाऽवलिप्तानाम् | 25 | 6 | a |
| एषोऽनुकम्प्यो मयि नाथवानिति | 14 | 10 | d |
| एषोऽवजानतो मर्त्यान् | 24 | 37 | a |
| एहीत: साधु भुज्यताम् | 14 | 45 | d |
| एह्यावयो: प्रियं देहि | 11 | 16 | c |
| **ऐ** | | | |
| ऐक्षन्त तृषितेक्षणा: | 11 | 53 | d |
| ऐन्द्रियैश्च महोत्सवै: | 20 | 48 | b |
| ऐरावतकरोद्धृतै: | 27 | 22 | d |
| **ओ** | | | |
| ओघेन व्यूह्यमानानाम् | 5 | 24 | c |
| ओतप्रोत मिदं यस्मिन् | 15 | 35 | c |
| **औ** | | | |
| औत्थानिके कर्मणि या: | 7 | 8 | b |
| औत्थानिकौत्सुक्यमना | 7 | 6 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| **क** | | | |
| क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् | 1 | 4 | c |
| कचित् पशव्यं निरुजम् | 5 | 25 | a |
| कच्चुकोष्णीषभूषिता: | 5 | 8 | b |
| कटधूमस्य सौरभ्यम् | 6 | 42 | a |
| कटिसूत्राङ्गुलीयकै: | 13 | 49 | f |
| कण्ठाभरणभूषिता | 5 | 16 | f |
| कति वर्षाणि वृष्णिभि: | 1 | 11 | b |
| कथमन्तर्जलेऽगाधे | 16 | 2 | a |
| कथमर्हत्यसौ जन्म | 26 | 2 | c |
| कथं त्यजामस्त्वन्मायाम् | 15 | 58 | c |
| कथं विप्रद्विरिवरम् | 26 | 3 | c |
| कथ स्वयं वै शकटं विपर्यगात् | 7 | 8 | d |
| कथितो वंशविस्तार: | 1 | 1 | a |
| कथ्यतां भगवन्नेतत् | 10 | 1 | a |
| कथ्यतां मे पित: कोऽयम् | 24 | 3 | a |
| कदने कदनप्रियम् | 4 | 44 | b |
| कदर्थीकृत्य गरुडं | 17 | 4 | c |
| कदाचिदान्दोलिकया | 18 | 15 | c |
| कदाचिदौत्थानिककौतुकाप्लवे | 7 | 4 | a |
| कदाचिद्यमुनातीरे | 11 | 40 | a |
| कन्दमूलफलाशन: | 20 | 28 | d |
| कन्याश्चैवाऽनुवत्सरम् | 1 | 56 | d |
| कन्या साऽपि दिवंगता | 5 | 28 | d |
| कपित्थानि च लीलया | 26 | 9 | d |
| कम्बुकङ्कणपाणय: | 13 | 49 | b |
| करवाम तवोदितम् | 22 | 15 | b |
| करं दातुं कुरूद्वह | 5 | 18 | d |
| करालजिह्वोच्छ्वसितोग्रलोचन: | 17 | 6 | d |
| करिष्यमाण आदेशम् | 8 | 48 | c |
| करुणस्तेन तोषित: | 22 | 24 | d |
| करेणैकेन लीलया | 26 | 3 | b |
| करोति कर्णरम्याणि | 7 | 1 | c |
| करो वै वार्षिको दत्त: | 5 | 30 | a |
| कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् | 23 | 22 | d |
| कर्तरि भजते सोऽपि | 24 | 14 | c |
| कर्मणा जायते जन्तु: | 24 | 13 | a |
| कर्मणैव प्रलीयते | 24 | 13 | b |
| कर्मणैवाऽभिपद्यते | 24 | 13 | d |
| कर्माण्यत्यद्भुतानि वै | 26 | 2 | b |
| कर्मान्तरनियुक्तासु | 9 | 1 | c |
| कर्मैव गुरुरीश्वर: | 24 | 17 | d |
| कर्षकाणां मुदं ददु: | 20 | 12 | b |
| कर्षका दृढसेतुभि: | 20 | 41 | b |
| कर्हिचिन्नृपचेष्टया | 18 | 15 | d |
| कलवाक्यै: स्वकालेन | 11 | 36 | c |
| कलाभ्यां नितरां हरे: | 20 | 48 | d |
| कलेबरं परशुभि: | 6 | 34 | a |
| कल्पते नाऽन्यथा क्वचित् | 8 | 4 | d |
| कवये शास्त्रयोनये | 16 | 44 | b |
| कषन्तमञ्जन्मषिणी स्वपाणिना | 9 | 11 | b |
| कस्तृप्येताऽमृतं जुषन् | 16 | 3 | d |
| कस्मात्तत्याज कालिय: | 17 | 1 | b |
| कस्मान्मुकुन्दो भगवान् | 1 | 9 | a |
| कस्मान्मृदमदान्तात्मन् | 8 | 34 | a |
| कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे | 16 | 36 | a |
| कस्येदं कुत आश्चर्यम् | 11 | 3 | c |
| कह्लारकञ्जोत्पलरेणुहारिणा | 18 | 5 | b |
| कंस आहूय मन्त्रिण: | 4 | 29 | b |
| कंस एवं प्रसन्नाभ्यां | 4 | 28 | a |
| कंसभृत्य: प्रचोदित: | 7 | 20 | b |
| कसंस्तद्वाक्यसारवित् | 1 | 55 | b |
| कंसस्तुष्टमना राजन् | 1 | 59 | c |
| कंस: परमविस्मित: | 4 | 14 | b |
| कंस: पापमति: सख्यं | 8 | 8 | a |
| कंसा दहमधीरधी: | 3 | 29 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| कंसाद्भीता न चाऽचलन् | 23 | 51 | d |
| कंसाद्भीता शुचिस्मिता | 3 | 23 | d |
| कंसानुशिष्टस्स बकी बकानुज: | 12 | 14 | b |
| कंसायाऽऽनकदुन्दुभि: | 1 | 57 | b |
| कंसेन प्रहिता घोरा | 6 | 2 | a |
| कंसेन बहवो हता: | 5 | 28 | b |
| क: परेतव दुत्थित: | 13 | 59 | b |
| **- का -** | | | |
| काकपक्षधरावुभौ | 18 | 12 | d |
| काचगुञ्जमणिस्वर्ण | 12 | 4 | c |
| कात्यायनि महामाये | 22 | 4 | a |
| काद्रवेयस्तु कालिय: | 17 | 4 | b |
| काननेषु सरस्सु च | 18 | 16 | d |
| कामकर्मगुणादिभि: | 13 | 54 | b |
| कामरूपधरान्दिक्षु | 4 | 44 | c |
| कामरूपी वनौकस: | 24 | 37 | b |
| काम: स्वादु पपुर्जलम् | 22 | 40 | d |
| काम: कामाय कल्पते | 22 | 29 | b |
| कामाक्तं गुणयुग्यथा | 20 | 14 | d |
| कामाल्लोभाद्भयाद्द्वेषात् | 24 | 11 | c |
| कायं निधाय भुवि भूतपतिं प्रणेमु: | 16 | 32 | b |
| कारयामास विधिवत् | 5 | 2 | c |
| कार्यार्थे सम्भविष्यति | 1 | 25 | d |
| कालपाशाऽऽवृतोऽसुर: | 4 | 43 | d |
| कालस्वभावसंस्कार | 13 | 54 | a |
| काल: परमशोभन: | 3 | 1 | b |
| कालाग्ने: सुहृद: प्रभो | 17 | 24 | b |
| कालात्मना भगवता | 24 | 31 | a |
| कालाय कालनाभाय | 16 | 41 | a |
| कालावयवसाक्षिणे | 16 | 41 | b |
| कालिन्दीं सखिभिर्वृत:- | 15 | 47 | d |
| कालिन्द्या उपकूलत: | 17 | 20 | d |
| कालिन्द्यां कालियस्याऽऽसीत् | 16 | 4 | a |
| कालिन्द्यां स्नातु मन्वहम् | 22 | 6 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| कालियश्शनकैर्हरिम् | 16 | 55 | b |
| कालियं समुपाद्रवत् | 17 | 5 | d |
| कालियोऽतीव विह्वल: | 17 | 8 | b |
| काले काले द्विजेरिता: | 20 | 24 | d |
| काले गोप्यो यर्हि गृह कृत्येषु | 8 | 30 | d |
| सुव्यग्रचित्ता: | | | |
| कालेन यैर्वा विमता: सुकल्पै: | 14 | 7 | c |
| कालेन व्रजता तात | 8 | 21 | a |
| कालेन स्नानशौचाभ्याम् | 5 | 4 | a |
| कालेनाल्पेन राजर्षे | 8 | 26 | a |
| कालेनेव वय स्तनो: | 26 | 4 | d |
| कालोऽयमिति विह्वल: | 4 | 3 | b |
| काश्चित्परोक्षं कृष्णस्य | 21 | 3 | c |
| काष्ठाद्यथाऽऽनन्दकरं मनस्त: | 2 | 18 | d |
| कांस्तु लोकान्गमिष्यामि | 4 | 16 | c |
| किन्त्वीश्वर त्वन्न विनिर्मितोऽस्मि | 14 | 13 | d |
| किमाकर्यं कदर्याणाम् | 1 | 58 | c |
| किमतद्वस्तु रूप्यताम्- | 14 | 57 | d |
| किमद्य तस्मिन्करणीयमाशु मे | 2 | 21 | a |
| किमस्ति नास्ति व्यपदेशभूषितम् | 14 | 12 | c |
| किमिदं कुत एवेति | 6 | 42 | c |
| किमिदं मायया विना | 14 | 17 | d |
| किमिन्द्रेणाल्पवीर्येण | 4 | 37 | a |
| किमिन्द्रेणेह भूतानाम् | 24 | 15 | a |
| किमु गावो नु मातर: | 6 | 39 | d |
| किमुद्यमै: करिष्यन्ति | 4 | 32 | a |
| किमेतदद्भुतमिव | 13 | 36 | a |
| किरीटिन: कुण्डलिन: | 13 | 48 | c |
| किरीटेनार्कवर्चसा | 27 | 2 | d |
| किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे | 14 | 12 | b |
| किं किं न विस्मरन्तीह | 14 | 44 | a |
| किं क्षेमशूरैर्विबुधै: | 4 | 36 | a |
| किं दुस्सहं नु साधूनाम् | 1 | 58 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| किं न स्तपश्चीर्ण मधोक्षजार्चनम् | 7 | 32 | a |
| किं नो सपद्येव पुनर्व्यदर्शि | 14 | 15 | d |
| किं पुन: श्रद्धया भक्त्या | 6 | 37 | a |
| किं फलं कस्य चोद्देश: | 24 | 3 | c |
| किं बहूक्त्या न मे प्रभो | 14 | 38 | b |
| किं मया हुतया मन्द! | 4 | 12 | a |
| किं मे न दृष्टं भगवंस्तदैव | 14 | 15 | b |
| किं वर्ण्यते दिष्टं मतो व्रजौकसाम् | 12 | 12 | d |
| किं वा मदीयो बत बुद्धिमोह: | 8 | 40 | b |
| किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैव | 14 | 15 | c |
| किं वेद निरयो यत: | 10 | 10 | d |
| किं स्वप्न एत दुत देवमाया | 8 | 40 | a |
| कीर्तयन्तो भगवत: | 23 | 4 | c |
| कीर्तयन्नुभयोस्सन्ध्यो: | 16 | 61 | c |
| कीर्तिमन्तं प्रथमजं | 1 | 57 | a |
| कुचकुङ्कुमकान्तय: | 11 | 32 | b |
| कुटुम्ब्यविजितेन्द्रिय: | 20 | 38 | d |
| कुतो देहान्तरं विना | 1 | 8 | d |
| कुतो नु तद्भवेत ईश तत्कृता: | 27 | 5 | a |
| कुपिताद्भक्तवत्सल | 25 | 13 | d |
| कुपितेन्द्रकृतं हरि: | 25 | 14 | d |
| कुमारास्तेऽग्रजोऽप्ययम् | 8 | 34 | d |
| कुमार्य: कृष्णचेतस: | 22 | 4 | d |
| कुमुदा चण्डिका कृष्णा | 2 | 12 | a |
| कुरु द्विजातिसंस्कारम् | 8 | 10 | c |
| कुरुपाञ्चालकेकयान् | 2 | 3 | b |
| कुर्वतीनां सुतेक्षणम् | 6 | 41 | b |
| कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमीक्षणेन | 15 | 7 | b |
| कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम् | 2 | 30 | d |
| कुर्वन्ति सात्त्वतां भर्तु: | 6 | 3 | C |
| कुर्वन्तो रममाणाश्च | 11 | 57 | c |
| कुशला: स्वार्थदर्शिना: | 23 | 26 | b |
| कुसीदं तुर्यमुच्यते | 24 | 21 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| कुसुमितवनराजि शुष्मिभृङ्ग | 21 | 2 | a |
| कूजत्कोकिलसारसम् | 18 | 7 | d |
| कूजन्त: कोकिलै: परे | 12 | 7 | d |
| कूटस्थाय विपश्चिते | 16 | 43 | b |
| कूष्माण्डा येऽर्भकग्रहा: | 6 | 28 | b |
| कृच्छ्रं यदृच्छयाप्नोति | 10 | 15 | c |
| कृच्छाच्छनैरपगता: | 13 | 34 | c |
| कृच्छ्राच्छनैर्मील्यदृष्टी: | 13 | 59 | c |
| कृच्छ्रात्पुनर्लब्धबहिर्दृशिश्शनै: | 12 | 44 | c |
| कृच्छ्रात्समुच्छ्वसन् दीन: | 16 | 55 | c |
| कृच्छ्रा निर्विविशुर्व्रजम् | 22 | 31 | d |
| कृतवान् यानि विश्वात्मा | 1 | 3 | c |
| कृतस्वस्त्ययनं विप्रै: | 7 | 11 | c |
| कृतं किं वा सुपर्णस्य | 17 | 1 | c |
| कृतं पूर्वं यतो भयम् | 11 | 54 | d |
| कृतागसस्तेऽविदुष: प्रभावम् | 27 | 8 | b |
| कृतागसं तं प्ररुदन्तमक्षिणी | 9 | 11 | a |
| कृताञ्जलिपुटा विप्रान् | 23 | 5 | c |
| कृताञ्जलि: प्रश्रयवान् समाहित: | 13 | 65 | c |
| कृता यतस्त्वय्यभवाश्रयात्मनि | 2 | 39 | d |
| कृतास्तदा नष्टसमा व्रजौकस: | 12 | 15 | b |
| कृत्यं किमत्राऽस्य खलस्य जीवनम् | 12 | 28 | a |
| कृत्यं सर्वात्मनामिह | 24 | 4 | d |
| कृत्वा गोवर्धनाचलम् | 25 | 19 | b |
| कृत्वा तरन् वत्सवदं स्म यत्प्लवा: | 1 | 5 | d |
| कृत्वा नमोऽधो वसनं प्रगृह्यताम् | 22 | 19 | d |
| कृत्वा प्रतिकृतिं देवीं | 22 | 2 | c |
| कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्या: | 14 | 16 | c |
| कृपणा करुणं सती | 4 | 4 | b |
| कृपणा पुत्रिकोपमा | 1 | 45 | b |
| कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने | 9 | 18 | d |
| कृपया सौभरि: प्राह | 17 | 10 | c |
| कृपयैत दचिन्तयत् | 28 | 12 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| कृमिविड्भस्मसंज्ञितम् | 10 | 10 | b |
| कृषिवाणिज्य गोरक्षा: | 24 | 21 | a |
| कृष्ण कदम्बमधिरुह्य ततोऽतितुङ्गात् | 16 | 6 | c |
| कृष्ण कृष्ण महाभाग | 17 | 23 | a |
| कृष्ण कृष्ण महाभाग | 25 | 13 | a |
| कृष्ण कृष्ण महायोगिन् | 10 | 29 | a |
| कृष्ण कृष्ण महायोगिन् | 27 | 19 | a |
| कृष्ण कृष्ण महावीर्य | 19 | 9 | a |
| कृष्ण कृष्णारविन्दाक्ष | 11 | 14 | a |
| कृष्णञ्च गतविस्मया: | 26 | 24 | f |
| कृष्णञ्च तस्योरसि लम्बमानम् | 7 | 30 | b |
| कृष्णञ्च वर्णं तमसा जनात्यये | 3 | 20 | d |
| कृष्णञ्च समभिष्टुय | 28 | 17 | c |
| कृष्णदर्शन लालसा: | 16 | 15 | d |
| कृष्ण दुष्टनिबर्हण | 15 | 21 | b |
| कृष्ण दुष्टनिबर्हण | 23 | 1 | b |
| कृष्णप्राणान् निर्विशत: | 16 | 22 | a |
| कृष्णभक्तिर्यथाऽशुभम् | 20 | 34 | d |
| कृष्णभुक्तस्तनक्षीरा: | 6 | 39 | c |
| कृष्णमक्लिष्टकारिणम् | 26 | 23 | d |
| कृष्णमायाहता राजन् | 14 | 43 | c |
| कृष्णमालिङ्ग्य युयुजु: | 25 | 30 | c |
| कृष्ण मुच्चै र्जगुर्यान्त्य: | 22 | 6 | c |
| कृष्ण मेन मवेहि त्वम् | 14 | 55 | a |
| कृष्णयोगोनुभावं तम् | 25 | 24 | a |
| कृष्णराम कथां मुदा | 11 | 57 | b |
| कृष्णरामादय स्तदा | 19 | 3 | b |
| कृष्ण रामा वुपागम्य | 22 | 41 | c |
| कृष्ण रामेति गोपका: | 28 | 3 | b |
| कृष्णलीला जगु: प्रीता: | 11 | 32 | c |
| कृष्णवत्सैरसंख्यातै: | 12 | 3 | a |
| कृष्णसङ्गिन: केचित् | 18 | 20 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| कृष्णस्तु गृहकृत्येषु | 9 | 22 | a |
| कृष्णस्तु यमयो र्ययौ | 10 | 26 | b |
| कृष्णस्त्वन्यतमं रूपम् | 24 | 35 | a |
| कृष्णस्य गर्भजगतोऽतिभरावसन्नम् | 16 | 31 | a |
| कृष्णस्य गोप्यो रुचिरम् | 8 | 28 | a |
| कृष्णस्य नृत्यत: केचित् | 18 | 10 | a |
| कृष्णस्य योगवीर्यं तत् | 19 | 14 | a |
| कृष्णस्य विष्वक् पुरराजिमण्डलै: | 13 | 8 | a |
| कृष्णस्याऽऽदेशकारिण: | 23 | 6 | b |
| कृष्णस्याऽमित तेजस: | 26 | 24 | d |
| कृष्णस्यामित तेजस: | 27 | 3 | b |
| कृष्णस्यार्भक चेष्टितम् | 6 | 45 | b |
| कृष्णं दानवपुङ्गव: | 18 | 25 | b |
| कृष्णं नभोगतो गन्तुम् | 7 | 26 | c |
| कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सव रूपशीलम् | 21 | 13 | a |
| कृष्णं निरीहमुपलभ्य जलाशयान्ते | 16 | 19 | b |
| कृष्णं प्रणम्य शिरसाऽखिल लोकनाथम् | 10 | 28 | c |
| कृष्णं प्राह कृताञ्जलि: | 16 | 55 | d |
| कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य | 25 | 3 | c |
| कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य | 25 | 5 | c |
| कृष्णं महाबकग्रस्तम् | 11 | 48 | a |
| कृष्णं ययुस्ते शरणम् | 17 | 22 | c |
| कृष्णं समेत्य लब्धेहा: | 17 | 15 | c |
| कृष्णं सूचितया पदै: | 16 | 17 | b |
| कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च | 14 | 56 | b |
| कृष्ण हृदा द्विनिष्क्रान्तम् | 17 | 13 | a |
| कृष्ण: कमलपत्राक्ष: | 15 | 41 | a |
| कृष्ण: कृष्णाहिना विभु: | 16 | 1 | b |
| कृष्ण: प्राह विहारवित् | 18 | 19 | b |
| कृष्ण प्रीतमना: पशून् | 15 | 9 | b |
| कृष्णाननेऽर्पितदृशो मृतक प्रतीका: | 16 | 21 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| कृष्णाय परमात्मने | 6 | 37 | b |
| कृष्णायाऽकुण्ठमेधसे | 23 | 49 | b |
| कृष्णावतारोत्सवसम्भ्रमोऽस्पृशत् | 3 | 11 | c |
| कृष्णाश्वासित मानसा: | 25 | 22 | b |
| कृष्णोक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम् | 21 | 15 | b |
| कृष्णो च सन्नतिं तेषाम् | 28 | 10 | c |
| कृष्णो ते कृतहेलना: | 23 | 51 | b |
| कृष्णेन च विवासित: | 17 | 12 | d |
| कृऽष्णेन प्रेषिता वयम् | 23 | 16 | d |
| कृष्णेनाऽद्भुतकर्मणा | 16 | 64 | b |
| कृष्णेनाऽऽध्मायितात्मनाम् | 25 | 6 | b |
| कृष्णो न्यस्तेक्षणा भीता: | 16 | 11 | c |
| कृष्णो भक्तिमलौकिकीम् | 23 | 38 | b |
| कृष्णोऽभिषिक्त एतनि | 27 | 27 | a |
| कृष्णो योगेश्वरेश्वरे | 23 | 43 | b |
| कृष्णोऽर्पितात्म सुहृदर्थ | 16 | 10 | c |
| कृष्णो विश्वेश्वरेऽनन्ते | 5 | 13 | c |
| कृष्णोदाराभिकेहितम् | 8 | 47 | b |
| कृष्णो ब्रह्मण आदेशम् | 8 | 52 | a |
| कृष्णो मुदं भक्षितवान् | 8 | 32 | c |
| कृष्णो योगेश्वरेश्वर: | 15 | 50 | b |
| कृष्णो योगेश्वरेश्वर: | 22 | 8 | b |
| कृष्णो वासमकल्पयत् | 17 | 19 | b |
| केचित्तस्य महात्मन: | 15 | 17 | b |
| केचित्पुष्पै: दलै: केचित् | 13 | 9 | a |
| केचित्प्राञ्जलयो भीता: | 4 | 34 | a |
| केचित्सन्धिग्धचेतस: | 11 | 5 | d |
| केचिद्वृक्षै: प्रगायन्त: | 12 | 7 | c |
| केचिद्वेणून्वादयन्त: | 12 | 7 | a |
| केदारेभ्य स्त्वपो गृह्णन् | 20 | 41 | a |
| केन वा साध्यते मख: | 24 | 3 | d |
| केयं वा कुत आयाता | 13 | 37 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| केवलानुभवानन्द | 3 | 13 | c |
| केशै र्निबोद्ध मतिलङ्घ्य समस्तबन्धुन् | 23 | 29 | d |
| कैलासोपवने रम्ये | 10 | 2 | c |
| कैवल्याद्यखिलार्थद: | 6 | 40 | d |
| कैवल्याद्याशिषां पते: | 23 | 45 | b |
| कोटरा रेवती ज्येष्टा | 6 | 29 | a |
| कोणेषु शङ्ख उरुगाय उपर्युपेन्द्र: | 6 | 24 | c |
| कोन्विहार्हति विज्ञातुम् | 10 | 32 | c |
| कोमलैस्सर्वगात्रेषु | 13 | 50 | c |
| को विद्वा नात्मसात्कृता | 10 | 12 | c |
| को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन् | 14 | 21 | a |
| कौणपास्त्वघबान्धवा: | 13 | 29 | d |
| कौमारं जहतुर्व्रजे | 11 | 58 | b |
| कौमारं जहतुर्व्रजे | 14 | 61 | b |
| कौस्तुभाऽमुक्तकन्धरा: | 13 | 49 | d |
| क्रतवश्च हरेस्तनू: | 4 | 41 | d |
| क्रतुभिर्नाम नौनिभै: | 25 | 4 | b |
| क्रतुर्धर्मश्च यन्मय: | 23 | 10 | d |
| क्रतुर्धर्मश्च यन्मय: | 23 | 47 | d |
| क्रन्दन्त्यो दावतर्षिता: | 19 | 2 | d |
| क्रन्दमानं स्वगोधनम् | 19 | 5 | b |
| क्रन्दमानास्सुदु:खिता: | 16 | 11 | b |
| क्रियतां मेऽनुशासनम् | 27 | 17 | b |
| क्रियतां यदि रोचते | 24 | 30 | b |
| क्रियासु य स्त्वच्चरणरविन्दयो: | 2 | 37 | c |
| क्लिश्यन्ति ये केवल बोध लब्धये | 14 | 4 | b |
| क्रीडन्तमकुतोभयम् | 6 | 19 | b |
| क्रीडन्तमप्रतिभयं कमलोदराङ्घ्रिं | 16 | 9 | c |
| क्रीडन्तं पातु गोविन्द: | 6 | 26 | c |
| क्रीडन्तं सा सुतं बालै: | 11 | 13 | a |
| क्रीडन्तो विष्णुना समम् | 13 | 43 | d |
| क्रीडन्नमुं परिससार यथा खगेन्द्र: | 16 | 25 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| क्रीडन्नात्म विहारैश्च | 13 | 20 | c |
| क्रीडापरावतिबलौ स्वसुतौ निषेद्धुम् | 8 | 25 | b |
| क्रीडाभिश्चेरतुर्वने | 18 | 16 | b |
| क्रीडामनुजबालक: | 8 | 36 | d |
| क्रीडामनुजरूपिण: | 16 | 67 | f |
| क्रीडायां जयिनस्तास्तान् | 18 | 23 | c |
| क्रीडाश्रान्तोऽसि पुत्रक | 11 | 15 | d |
| क्रीडासक्तेषु गोपेषु | 19 | 1 | a |
| क्रीडासक्तेन पुत्रकौ | 11 | 12 | d |
| क्रीडास्तन्मयतां ययु: | 20 | 21 | d |
| क्रीडिष्यमाणस्तत्कृष्ण: | 18 | 8 | a |
| क्रीणीहि भो: फलानीति | 11 | 7 | a |
| क्रुद्धो राजा करिष्यति | 22 | 16 | f |
| क्रूराण्यपि निसर्गत: | 27 | 27 | d |
| क्रोधो हि तेऽनुग्रह एव सम्मत: | 16 | 34 | d |
| क्रोष्टाशेऽभ्यद्रवन्सर्वे | 15 | 36 | c |
| क्वचाऽऽमलकमुष्टिभि: | 18 | 14 | b |
| क्वचिच्च कलहंसानाम् | 15 | 11 | a |
| क्वचिच्च दर्दुरुद्भावै: | 18 | 15 | a |
| क्वचिज्जातस्तवात्मज: | 8 | 14 | b |
| क्वचिज्जातस्तवात्मन: | 26 | 17 | b |
| क्वचित्कुम्भै: क्वचिद्बिल्वै: | 18 | 14 | a |
| क्वचित्कृत्रिमगोवृषै: | 11 | 38 | d |
| क्वचित्क्रीडापरिश्रान्तम् | 15 | 14 | a |
| क्वचित्पल्लवतल्पेषु | 15 | 16 | a |
| क्वचित्पादै: किङ्किणीभि: | 11 | 38 | c |
| क्वचिदाह्वयति प्रीत्या | 15 | 12 | c |
| क्वचिद्गायति गायत्सु | 15 | 10 | a |
| क्वचिद्वैयङ्गवस्तैन्ये | 26 | 7 | a |
| क्वचिद्वनस्पतिक्रोडे | 20 | 28 | a |
| क्वचिद्वनाशाय मनो दधद्वजात् | 12 | 1 | a |
| क्वचिद्वादयतो वेणुम् | 11 | 38 | a |
| क्वचिन्न मुमुचु: शिवम् | 20 | 36 | b |
| क्वचिन्नृत्यत्सु चाऽन्येषु | 18 | 13 | a |
| क्वचिन्मृगखगेहया | 18 | 14 | d |
| क्व महाद्रि विधारणम् | 26 | 14 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| क्व वा कथं वा कति वा कदेति | 14 | 21 | c |
| क्व वासं ज्ञातिभिस्साकं | 1 | 9 | c |
| क्व समहायनो बाल: | 26 | 14 | a |
| क्वाऽप्यदृष्ट्वान्तर्विपिने | 13 | 17 | a |
| क्वाऽहं तमो महदहं खचराग्निवार्भू- | 14 | 11 | a |
| क्वेदृग्विधा विगणिताण्डपराणुचर्या | 14 | 11 | c |
| क्षणं युगशतानीव | 19 | 16 | c |
| क्षणादनेनेति बकार्युशन्मुखम् | 12 | 24 | c |
| क्षणार्धं मेनिरेऽर्भका: | 14 | 43 | d |
| क्षन्तु मर्हत्यतिक्रमम् | 23 | 50 | d |
| क्षन्तु मर्हसि शान्तात्मन् | 16 | 51 | c |
| क्षन्तुं प्रभोऽथार्हसि मूढचेतस: | 27 | 8 | c |
| क्षमध्वं मम दौरात्म्यम् | 4 | 23 | a |
| क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मन: | 9 | 9 | d |
| क्षान्त्वा रोषञ्च देवकी | 4 | 25 | b |
| क्षिप्त मेतन्न संशय: | 7 | 9 | d |
| क्षीणायुषो भ्रमत | 16 | 28 | c |
| उल्बणमास्यतोऽसृक् | | | |
| क्षीबाणौ समबुध्यत | 10 | 5 | d |
| क्षुत्तृडभ्यां श्रमकर्शिता: | 17 | 20 | b |
| क्षुत्तृड्व्यथां सुखापेक्षाम् | 25 | 23 | a |
| क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यती: | 20 | 10 | b |
| क्षुद्राशा भूरिकर्माण: | 23 | 9 | c |
| क्षुधार्था इदमब्रुवन् | 22 | 41 | d |
| क्षेत्राणि सस्य सम्पद्भि: | 20 | 12 | a |
| क्षेपणै: क्षिपत: क्वचित् | 11 | 38 | b |
| क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य | 2 | 29 | b |
| क्षौमं वास: पृथुकटितटे बिभ्रती | 9 | 3 | a |
| सूचनद्धम् | | | |
| क्षौमा निर्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन् | 14 | 40 | b |
| **ख** | | | |
| खड्गपाणि: कचोऽग्रहीत् | 1 | 35 | d |
| खद्योतार्चिरिवाऽहनि | 13 | 46 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| ख मशोभत निर्मेघम् | 20 | 43 | a |
| खरदेहहताहता: | 14 | 34 | b |
| खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशा: | 7 | 36 | a |
| खं व्यभ्रमुदितादित्यम् | 25 | 25 | a |
| ख्यातश्च भुवि सर्वत: | 8 | 7 | b |
| **ग** | | | |
| गच्छदेवि व्रजं भद्रे | 2 | 7 | a |
| गच्छन्तस्साधुहंसकै: | 12 | 8 | b |
| गच्छन्नर्जुनयोर्मध्ये | 26 | 7 | c |
| गजानां हेममालिनाम् | 1 | 31 | b |
| गजाविव करेणुभि: | 10 | 4 | d |
| गणं सांवर्तकं नाम | 25 | 2 | a |
| गण्डशैलस्तनं रौद्रम् | 6 | 16 | c |
| गतस्तत्कर्मसिद्धये | 22 | 8 | d |
| गतिर्धातुर्दुरत्यया | 1 | 50 | b |
| गते मयि युवां लब्ध्वा | 3 | 40 | a |
| गतो नारायणाश्रमम् | 10 | 23 | b |
| गत्वा च पत्नीशालायाम् | 23 | 15 | a |
| गत्वा जलाशयाभ्याशम् | 11 | 45 | c |
| गत्वाऽयाचन्त ते तथा | 23 | 5 | b |
| गदा राजीव पाणय: | 13 | 48 | b |
| गन्ता तमोऽन्धं तनुमानिनो ध्रुवम् | 2 | 22 | d |
| गन्धनिर्यास भस्मास्थि | 22 | 37 | c |
| गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणा: | 27 | 24 | b |
| गन्धर्वसिद्धमुनिचारणदेववध्व: | 16 | 27 | b |
| गन्धलोभितचेतसाम् | 15 | 25 | d |
| गन्धैर्माल्यैस्सुरभिभि: | 22 | 3 | a |
| गम्भीरतोयौघजवोर्मिफेनिला | 3 | 50 | b |
| गम्यतां यदि रोचते | 15 | 26 | b |
| गम्यतां शक्र भद्रं व: | 27 | 17 | a |
| गरिमाणं शिशोर्वोढुम् | 7 | 18 | c |
| गरुडो भक्ष्य मीप्सितम् | 17 | 9 | b |
| गरुत्मा भगवत्प्रिय: | 17 | 5 | b |
| गर्गगीतं व्रजौकस: | 26 | 24 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| गर्ग: पुरोहितो राजन् | 8 | 1 | a |
| गर्गे च स्वगृहं गते | 8 | 20 | b |
| गर्गे च स्वगृहं गते | 26 | 23 | b |
| गर्गो मे यदुवाच ह | 26 | 15 | d |
| गर्गो यदाह भगवान् | 11 | 56 | e |
| गर्भसङ्कर्षणात्तं वै | 2 | 13 | a |
| गर्भे प्रणीते देवक्या: | 2 | 15 | a |
| गर्भो बभूव देवक्या: | 2 | 5 | c |
| गलग्रहणनिश्चेष्ट: | 7 | 28 | a |
| गले गृहीत उत्स्रष्टुम् | 7 | 27 | c |
| गह्वरेष्वात्मवत्सकान् | 13 | 14 | b |
| गा गोपकै रनुवनं नयतोरुदार- | 21 | 20 | a |
| गाढं कराभ्यां भगवान्प्रपीड्य तत् | 6 | 11 | c |
| गाधवारिचरा स्तापम् | 20 | 38 | a |
| गायकाश्च जगुर्नेदु: | 5 | 5 | c |
| गायकौ वादकौ स्वयम् | 18 | 13 | b |
| गायन्त आदिपुरुषानुपदं भजन्ते | 15 | 6 | b |
| गायन्ति स्म महाराज | 15 | 18 | c |
| गायन्त्य ईयु र्मुदिता हृदिस्पृश: | 25 | 33 | d |
| गायन्त्यद्याऽपि कवय: | 8 | 47 | c |
| गायन्त्यस्सद्विजाशिष: | 24 | 34 | d |
| गायन्मयूरभ्रमरम् | 18 | 7 | c |
| गावश्च कृष्णमुखनिर्गत वेणुगीत | 21 | 14 | a |
| गावस्ततो गोष्ठ मुपेत्य सत्वरम् | 13 | 24 | a |
| गावस्तदा गा मनयन् पय:धुताम् | 27 | 25 | d |
| गोवो मृगा: खगा नार्य: | 20 | 46 | a |
| गावो वत्सा नुप व्रजम् | 13 | 29 | b |
| गावो वृषा वत्सतर्य: | 16 | 11 | a |
| गावो वृषाश्च वत्सश्च | 5 | 7 | a |
| गाश्च सर्वगुणोपेता: | 7 | 16 | a |
| गाश्च स्वाधोभरश्रमा: | 20 | 30 | d |
| गाश्च हन्मो हविर्दुघा: | 4 | 40 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| गाश्चारयन्तावविदूर ओदनम् | 23 | 7 | a |
| गाश्चारयन्तौ सखिभिस्समं पदै: | 15 | 1 | c |
| गाश्चारयन्स गोपालै: | 23 | 17 | a |
| गास्सन्निवर्त्य सायाह्ने | 19 | 15 | a |
| गां गता तत्तथाऽकरोत् | 2 | 14 | d |
| गां पौरुषीं मे शृणुतामरा: पुन: | 1 | 21 | c |
| गिरये दीयतां बलि: | 24 | 28 | d |
| गिरयोऽबिभ्रदुन्मणीन् | 27 | 26 | d |
| गिरयो मुमुचुस्तोयम् | 20 | 36 | a |
| गिरयो वर्ष धाराभि: | 20 | 15 | a |
| गिरं समाधौ गगने समीरिताम् | 1 | 21 | a |
| गिरा सूनृतया मुनिम् | 8 | 3 | b |
| गिरिकन्दरनासिकम् | 6 | 16 | b |
| गिरिगर्तं सगोधना: | 25 | 20 | d |
| गिरिर्यथा मघवत आयुधाहत: | 18 | 29 | d |
| गिरिं चक्रु: प्रदक्षिणम् | 24 | 33 | d |
| गिरे: शृङ्गमिव स्थितम् | 11 | 46 | d |
| गिलन्त्य इव चाऽङ्गानि | 13 | 31 | c |
| गीतैस्सुगा वाद्यधराश्च वाद्यकै: | 12 | 34 | c |
| गीर्भिर्धिषणमैड्यन् | 2 | 25 | d |
| गुञ्जावतंस परिपिच्छलसन्मुखाय | 14 | 1 | b |
| गुणकर्मानुरूपाणि | 8 | 15 | c |
| गुणकर्मानुरूपाणि | 26 | 18 | c |
| गुणद्रष्टे स्वसंविदे | 16 | 46 | d |
| गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान् | 2 | 35 | c |
| गुणवृत्त्युपलक्ष्याय | 16 | 46 | c |
| गुणात्मच्छादनाय च | 16 | 46 | b |
| गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुम् | 14 | 7 | a |
| गुणापाये समाहिता: | 28 | 15 | d |
| गुणेषु माया रचितेषु देह्यसौ | 1 | 42 | c |
| गुणेषु रागानुगतो विमुह्यति | 1 | 43 | d |
| गुणैरनीहोऽकृत कालशक्तिधृत् | 16 | 49 | b |
| गुरवस्सकलत्रका: | 17 | 17 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| गुरवो गुह्यमप्युत | 13 | 3 | d |
| गुरोऽपि क्षत्रबन्धव: | 12 | 43 | b |
| गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सु चक्षुषा | 14 | 24 | c |
| गुहायाञ्चाऽभिवर्षति | 20 | 28 | b |
| गुह्यकौ धनदात्मजौ | 9 | 22 | d |
| गूढ स्वात्मानुभूतये | 16 | 42 | d |
| गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवम् | 15 | 6 | d |
| गूढो रहसि बालयो: | 8 | 11 | d |
| गृहपालास्समुत्थिता: | 4 | 1 | d |
| गृहिणां दीनचेतसाम् | 8 | 4 | b |
| गृहीतचित्ता ने चेलु: | 22 | 26 | c |
| गृहीतपश्चाच्चरणान् | 15 | 37 | c |
| गृहीतहस्तौ गोपालान् | 15 | 15 | c |
| गृहीत्वा दधिमन्थानं | 9 | 4 | c |
| गृहीत्वापरपादाभ्याम् | 11 | 42 | a |
| गृहेऽवतीर्णोऽसि ममाऽखिलेश्वर | 3 | 21 | b |
| गृहेषु तमा निर्विष्णा: | 20 | 20 | c |
| गृहेष्वशान्तकृत्येषु | 20 | 22 | c |
| गृह्णतोऽनुयुगं तनू: | 8 | 13 | b |
| गृह्णतोऽनुयुगं तनू: | 26 | 16 | b |
| गृह्णन्ति नो न पतय: पितरौ सुता वा | 23 | 30 | a |
| गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहारा: | 21 | 16 | d |
| गृह्यमाणै स्त्वमग्राह्य: | 10 | 32 | a |
| गृह्याणि कर्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ | 8 | 25 | c |
| गेहे द्रविणसम्पद: | 20 | 10 | d |
| गोकुलस्य हितैषिभि: | 11 | 22 | b |
| गोकुलं सर्वमावृण्वन् | 7 | 21 | a |
| गोकुले रामकेशवौ | 8 | 21 | b |
| गो गोपबालैर्वृतो रन्तुम् | 20 | 25 | c |
| गो गोपालमनोज्ञया | 15 | 12 | d |
| गो गोपीनां मातृताऽस्मिन् | 13 | 25 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| गोधनानि पुरस्कृत्य | 11 | 31 | a |
| गोधनानि पुरस्कृत्य | 24 | 33 | c |
| गोधनान्यग्रतो यान्तु | 11 | 28 | c |
| गोधनैस्संवृतोऽविशत् | 18 | 8 | d |
| गोपगोकुलनन्दन: | 8 | 16 | b |
| गोपगोकुलनन्दन: | 26 | 19 | b |
| गोपगोपी गवां सेव्यं | 11 | 27 | c |
| गोपगोपीषु भारत | 8 | 51 | d |
| गोपगोभिरलङ्कृतम् | 2 | 7 | b |
| गोपजातिप्रतिच्छन्नौ | 18 | 11 | a |
| गोपरूपिणमीश्वरम् | 27 | 18 | d |
| गोपरूपी प्रलम्बोऽगात् | 18 | 17 | c |
| गोपवाक्यैस्सतां गति: | 23 | 44 | d |
| गोपविश्रम्भणं गत: | 24 | 35 | b |
| गोपवृद्धा महोत्पातान् | 11 | 20 | a |
| गोपवृद्धाश्च गोप्यश्च | 20 | 2 | a |
| गोपा गोप्यश्च शीतार्ता: | 25 | 11 | c |
| गोपा गोप्य: कलेवरम् | 6 | 18 | b |
| गोपात्मजत्वं चरितैर्विडम्बयन् | 15 | 19 | b |
| गोपा नन्दपुरोगमा: | 16 | 13 | b |
| गोपा नन्दादय: श्रुत्वा | 11 | 1 | a |
| गोपानां काननौकसाम् | 25 | 3 | b |
| गोपानां तमस: परम् | 28 | 14 | d |
| गोपा निराशा: प्रत्येत्य | 23 | 12 | c |
| गोपान् गोकुलरक्षायाम् | 5 | 18 | a |
| गोपान् गोपीश्च बालका: | 7 | 9 | b |
| गोपा न्नो रामचोदितान् | 23 | 6 | d |
| गोपान् प्रसुप्तानुपलभ्यनिद्रया | 3 | 51 | b |
| गोपा मे चक्रुरप्रियम् | 25 | 5 | d |
| गोपायस्व समाहित: | 8 | 19 | d |
| गोपाये स्वात्मयोगेन | 25 | 18 | c |
| गोपा रामजनार्दनौ | 18 | 20 | b |
| गोपालच्छद्ममायया | 18 | 2 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| गोपालसूनुं पितरं जगद्गुरो: | 11 | 49 | b |
| गोपालोदार चरितम् | 16 | 3 | c |
| गोपाश्च गाव: प्रसमीक्ष्य भीता: | 19 | 8 | b |
| गोपास्तद्रोधनायास | 13 | 32 | a |
| गोपास्समाययू राजन् | 5 | 8 | c |
| गोपास्सस्त्री धनार्भका: | 25 | 26 | b |
| गोपास्सुविस्मिता आसन् | 18 | 30 | c |
| गोपांश्च मूढधिषणान् परित: पशूंश्च | 16 | 19 | c |
| गोपांश्चारण्यवह्नित: | 26 | 11 | d |
| गोपा: कृष्णस्य वीक्ष्य ते | 26 | 1 | b |
| गोपा: परस्परं दृष्टा: | 5 | 14 | a |
| गोपा: प्रीत्याभिरेमिरे | 17 | 14 | d |
| गोपा: प्रेम्णेदमब्रुवन् | 15 | 20 | d |
| गोपा: स्त्रीभ्यस्समाचख्यु: | 20 | 1 | c |
| गोपिकायां स ईश्वर: | 8 | 43 | b |
| गोपिकोलूखले दाम्ना | 9 | 14 | c |
| गोपित्वा मायाऽऽत्मानम् | 6 | 4 | c |
| गोपीथायाऽऽत्मनस्सर्वे | 17 | 3 | c |
| गोपीदृगुत्सवदृशि: प्रविवेश गोष्ठम् | 14 | 47 | d |
| गोपीनां परमानन्द: | 19 | 16 | a |
| गोपीनां विस्मयन्तीनाम् | 9 | 17 | c |
| गोपीभि: कृतरक्षणम् | 6 | 31 | b |
| गोपीभि: स्तोभितोऽनृत्यत् | 11 | 9 | a |
| गोपुच्छभ्रमणीदिभि: | 6 | 20 | d |
| गोपेभ्य: कृष्णनाथेभ्य: | 25 | 1 | c |
| गोपैर्गृणद्भि: स्वयशोबलान्वित: | 15 | 2 | b |
| गापैस्सङ्हर्षणान्वित: | 20 | 29 | d |
| गोपो ज्ञानवयोधिक: | 11 | 21 | b |
| गापोत्सङ्गोपबर्हणम् | 15 | 14 | b |
| गोपोत्सङ्गोपबर्हण: | 15 | 16 | d |
| गोप्ता यदूनां भविता तवात्मज: | 2 | 41 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| गोप्यन्वधावन्न यमाप योगिनाम् | 9 | 9 | c |
| गोप्यश्च कृष्णवीर्याणि | 24 | 34 | c |
| गोप्यश्च गोपास्सहगोधनाश्च मे | 8 | 42 | c |
| गोप्यश्च गोपा: किल नन्दमुख्या: | 7 | 30 | c |
| गोप्यश्च सस्नेह मपूजयन्मुदा | 25 | 29 | c |
| गोप्यश्चाऽऽकर्ण्य मुदिता: | 5 | 9 | a |
| गोप्यश्चाति प्रियादृता: | 11 | 53 | b |
| गोप्यस्तूर्णं समभ्येत्य | 6 | 19 | c |
| गोप्यस्सुमृष्टमणिकुण्डल निष्ककण्ठच: | 5 | 11 | a |
| गोप्य: किमाचर दयं कुशलं स्म वेणु: | 21 | 10 | a |
| गोप्य: प्रेमपरिप्लुता: | 22 | 12 | b |
| गोप्य: श्रियं द्रष्टु मिवाऽऽगतां पतिम् | 6 | 6 | d |
| गोप्य: संस्पृष्टसलिला: | 6 | 22 | a |
| गोप्यो गोपाश्च कौख | 17 | 15 | b |
| गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन्समेता: | 15 | 42 | d |
| गोप्योऽनुरक्तमनसोभगवत्यनन्ते | 16 | 20 | a |
| गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहाश्री: | 15 | 8 | d |
| गोप्यो रूढरथा नून | 11 | 32 | a |
| गोमूत्रेण स्नापयित्वा | 6 | 21 | a |
| गोलोका दाव्रजत्कृष्णम् | 27 | 1 | c |
| गोवत्सैर्ददृशुस्सुतान् | 13 | 32 | d |
| गोवर्धनधरोऽब्रवीत् | 25 | 25 | d |
| गोवर्धनाद्रिशिरसि | 13 | 29 | c |
| गोवर्धने धृते शैले | 27 | 1 | a |
| गोविन्द इति चाऽभ्यधात् | 27 | 23 | d |
| गोविन्द नीयता मेष: | 28 | 8 | c |
| गोविन्दमभिषिच्य स: | 27 | 28 | b |
| गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकला: स्पृशन्त्य: | 21 | 14 | d |
| गोविन्दवेणुमनुमत्त मयूरनृत्तं | 21 | 11 | c |
| गोविन्दं शरणं ययु: | 25 | 11 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| गोविन्दानुग्रहेक्षितम् | 15 | 52 | b |
| गोविन्दे लभते रतिम् | 6 | 45 | d |
| गोविप्रानल पर्वतान् | 24 | 29 | d |
| गोष्पदैरङ्कितैर्गवाम् | 19 | 4 | b |
| गौ र्भूत्वाऽश्रुमुखी खिन्ना | 1 | 18 | a |
| ग्रस्तोऽग्निना प्रियतमे भृशदु:खतप्ता: | 16 | 20 | c |
| ग्राम्या इव दुराशया: | 20 | 22 | d |
| ग्राम्यान्भोगानभुञ्जाथाम् | 3 | 40 | c |
| ग्राम्येष्वात्म जुगुप्सितम् | 26 | 2 | d |
| ग्राम्यै स्समं ग्राम्यवदीशचेष्टित: | 15 | 19 | d |
| ग्राह्यैर्गुणैस्सन्नपि तद्गृणाग्रह: | 3 | 17 | b |
| ग्रीष्मो नामर्तुरभवत् | 18 | 2 | c |
| घनैरिव नभस्तलम् | 15 | 38 | d |
| घर्मकालगुणाननु | 3 | 34 | b |
| घृणार्दितो दिष्टकृतेन विस्मित: | 12 | 27 | d |
| घोरा तमादाय शिशोर्ददावथ | 6 | 11 | b |
| घोषप्रघोषरुचिरं व्रजकर्दमेषु | 8 | 22 | b |
| घ्नन्ति ह्यसुतृपो लुब्धा: | 1 | 67 | c |
| घ्राणैरवापु: परमां मुदं ते | 13 | 33 | d |
| **च** | | | |
| चकार नाम करणम् | 8 | 11 | c |
| चकार सूनोरभिषेचनं सती | 7 | 4 | d |
| चकोर क्रौञ्च चक्राह्व | 15 | 13 | a |
| चक्रवातरूपेण | 7 | 20 | c |
| चक्रवातेन नीतोयं | 11 | 24 | a |
| चक्राग्रत: सहगदो हरिरस्तु पश्चात् | 6 | 24 | a |
| चक्रुर्वाद्यानि तुष्टुवु: | 15 | 39 | d |
| चक्रे तालवनं क्षेमं | 26 | 10 | c |
| चक्रे विश्वदृगीश्वर: | 13 | 18 | d |
| चक्रेऽसौ निर्विषोदकाम् | 26 | 12 | d |
| चक्षुषां वयुनेन स: | 13 | 38 | d |
| चक्षु:श्रवा: समसरत्तदमृष्यमाण: | 16 | 8 | d |
| चच्छर्द सद्योऽतिरुषाक्षतं बक: | 11 | 49 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| चछादाजो ज्ञात्वा सपदि परमो ऽजायवनिकाम् | 13 | 58 | d |
| चण्डश्वसन वेपिता: | 20 | 6 | b |
| चतुरास्येन शौरिणा | 13 | 40 | b |
| चतुर्भुजं शङ्खगदाद्युदायुधम् | 3 | 9 | b |
| चतुर्भुजा: शङ्खचक्र | 13 | 48 | a |
| चतुर्विधं बहुगुणम् | 23 | 19 | a |
| चतुर्विधे नाशयित्वा | 23 | 35 | c |
| चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वै: | 13 | 53 | c |
| चतुश्शतं पारिबर्हं | 1 | 31 | a |
| चतूरस: पञ्चविधष्षडात्मा | 2 | 27 | b |
| चन्द्रिका विशदस्मैरै: | 13 | 51 | a |
| चमूपतिना मभवाय देव | 27 | 9 | c |
| चरणावपरौ राजन् | 15 | 31 | c |
| चरन्तु शनकैस्तृणम् | 13 | 6 | d |
| चरन्त्यो ददृशुस्तृणम् | 13 | 29 | d |
| चराचरात्माऽऽस निमीलितेक्षण: | 6 | 8 | b |
| चरितं पस्माद्भुतम् | 1 | 1 | d |
| चर्वतो मीलितेक्षणान् | 20 | 30 | b |
| चारयन्नास्सहाग्रज: | 22 | 32 | d |
| चारयन्तश्च गोधनम् | 18 | 22 | b |
| चारयन्त: पशून्नृप | 22 | 41 | b |
| चारयन्तोऽर्भलीलाभि: | 12 | 3 | c |
| चारयन्तौ विचेरतु: | 11 | 44 | d |
| चारयामासतुर्वत्सान् | 11 | 37 | c |
| चिक्रीडतुर्निमुद्धेन | 18 | 12 | c |
| चिक्रीडतु र्युवतिभि: | 10 | 4 | c |
| चिक्रीडे जनयन्मुदम् | 8 | 27 | d |
| चिक्रीडे वनगोष्ठचो: | 13 | 27 | d |
| चिक्षेप तृणराजाग्रे | 15 | 32 | c |
| चित्रध्वजपताकास्रक् | 5 | 6 | c |
| चित्राम्बरा: पथिशिखाच्युतमाल्यवर्षा: | 5 | 11 | b |
| चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ | 3 | 45 | c |
| चिन्तयानो हृषीकेशम् | 2 | 24 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| चिरस्य पादयो: पतन् | 13 | 64 | b |
| चिरं ध्यात्वा स आत्मभू: | 13 | 44 | b |
| चिरं पाहीति बालके | 5 | 12 | b |
| चुक्रुशु स्त मपश्यन्त: | 28 | 3 | a |
| चुक्षोभ श्वसनोर्मिमान् | 20 | 14 | b |
| चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्ज | 21 | 9 | a |
| चूर्णयामास राजेन्द्र | 6 | 15 | c |
| चूर्णीचिकीर्षोरात्मानम् | 12 | 30 | c |
| चेतो मन: कर्म वचोभिरञ्जसा | 8 | 41 | b |
| चेतो विश्वफलान् फलन्त्यदपरं | 14 | 35 | b |
| कुव्राप्ययन् मुह्यति | | | |
| चेरतु: पुष्पिते वने | 10 | 3 | d |
| चेरतु: प्राकृतौ यथा | 11 | 39 | d |
| चेरु रार्याचिनं सती: | 22 | 30 | d |
| चेरुर्हविष्यं भुञ्जाना: | 22 | 1 | c |
| चेष्टामाहु श्चेष्टते॰ येन विश्वम् | 3 | 26 | b |
| चेष्टितं विहते यज्ञे | 27 | 12 | c |
| चैल पल्लव तोरणै: | 5 | 6 | d |
| चोद्यमानोऽपि दारुण: | 1 | 46 | b |
| च्युतधान्यं करद्वयम् | 11 | 8 | b |
| च्युत प्रसूनानुगति: परामृशत् | 9 | 10 | d |
| च्युतं हरिकथामृतम् | 1 | 13 | d |
| छत्राक मिव बालक: | 25 | 19 | d |
| छदा यथाऽम्भोरुहकर्णिकाया: | 13 | 8 | d |
| छायाभि स्स्वाभि: स्स्वाभि रात्मन: | 22 | 33 | b |
| छित्त्वा तत्ते व्रजौकस: | 6 | 34 | b |
| छिद्रं ह्यन्तर्निहित वयुन: | | | |
| शिक्यभाण्डेषु तद्वित् | 8 | 30 | b |
| **ज** | | | |
| जगच्चैतत्तवार्पितम् | 14 | 39 | d |
| जगता मास कर्मसु | 7 | 19 | d |
| जगतो यो जगच्च य: | 9 | 13 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| जगन्नयान्तोदधिसम्प्लवोदे | 14 | 13 | a | जलै राकाशगङ्गाया: | 27 | 22 | c |
| जगत् स्थास्नु च खं दिश: | 8 | 37 | b | जलै: पवित्रौषधिभि: | 7 | 14 | c |
| जगदेतच्चराचरम् | 14 | 54 | d | जलौघैर्निरभिद्यन्त | 20 | 23 | a |
| जगद्धिताय सोऽप्यत्र | 14 | 55 | c | जलौघै: प्लाव्यमाना भू: | 25 | 10 | c |
| जगर्जरनुसागरम् | 3 | 7 | d | जवेन विभ्रंसिकेशबन्धन | 9 | 10 | c |
| जगाम शनकैस्तत्र | 10 | 24 | c | जहाराऽऽसीनमर्भकम् | 7 | 20 | d |
| जगाम सत्रिनयन: | 1 | 19 | c | जहास तञ्चापि न तत्र पश्यति | 9 | 7 | d |
| जगुर्गन्धर्वपतय: | 25 | 32 | c | जहासास्यानुभावित् | 17 | 16 | b |
| जगुर्यशो लोकमलापहं हरे: | 27 | 24 | c | जह्रुषु: ये च कंसाद्या: | 12 | 29 | c |
| जगु: किन्नरगन्धर्वा: | 3 | 6 | a | जातकर्माऽऽत्मजस्य वै | 5 | 2 | b |
| जगु: केचिदवादयन् | 18 | 10 | b | जातमात्रां स्वसुस्सुताम् | 4 | 8 | b |
| जगृहु र्जातसम्भ्रमा: | 6 | 19 | d | जातयो नौ महादेवे | 8 | 49 | a |
| जग्मतुर्दिशमुत्तराम् | 10 | 43 | d | जातहासा न निर्ययु: | 22 | 12 | d |
| जग्मु: कृष्णपुरोगमा: | 18 | 22 | d | जातं जातमहन्पुत्रम् | 1 | 66 | c |
| जघान कद्रूसुतमुग्रविक्रम: | 17 | 7 | d | जातं पर मबुध्यत | 3 | 53 | b |
| जघास हैयङ्गव मन्तरं गत: | 9 | 6 | d | जात: खलु तवान्तकृत् | 4 | 12 | b |
| जज्ञे नन्द इति ख्यात: | 8 | 50 | c | जातानुतापा न विदु: | 19 | 3 | c |
| जनन्युपहतं प्राश्य | 15 | 46 | a | जातानुरामा गतमन्यवोऽर्भकान् | 13 | 33 | b |
| जनास्तापं जहुर्गोप्य: | 20 | 45 | c | जाताह्लादो महामना: | 5 | 1 | b |
| जनास्समन्तात् परिवव्रुरार्तवत् | 7 | 8 | f | जातो भूय स्तयो रेव | 3 | 43 | c |
| जनिष्यते तत्पूजार्थं | 1 | 23 | c | जातो यदुष्वित्याशृत्य | 23 | 48 | c |
| जनोऽय मुनतिष्ठति | 24 | 6 | b | जानन्त एव जानन्तु | 14 | 38 | a |
| जनो वै लोक एतस्मिन् | 28 | 13 | a | जानन् प्राग्विष्णुना हतम् | 1 | 68 | b |
| जन्तवो न सदैकत्र | 4 | 18 | c | जानासि तत्त्वं भगवन्महिम्न: | 14 | 29 | c |
| जन्तो र्नेच्छति तां व्यथाम् | 10 | 14 | b | जानीमोऽङ्ग व्रजश्लाघ्यम् | 22 | 14 | c |
| जन्म ते मय्यसौ पाप: | 3 | 29 | a | जानुभ्यां सहपाणिभ्याम् | 8 | 21 | c |
| जन्मना ब्रह्मणो गुरु: | 8 | 6 | d | जाम्बूनद परिष्कृतम् | 17 | 13 | d |
| जन्मर्क्षन्तेऽद्य भवत: | 11 | 17 | c | जायमाने जनार्दने | 3 | 8 | b |
| जन्मर्क्षयोगे समवेतयोषिताम् | 7 | 4 | b | जायमानेऽजने तस्मिन् | 3 | 5 | c |
| जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय | 14 | 20 | c | जारं नार्यसती यथा | 24 | 19 | d |
| जयाद्यनेकोत्सव मङ्गलस्वनान् | 12 | 35 | b | जिग्युर्दस्यून् समेधिता: | 8 | 17 | d |
| जलधारा गिरेर्नादान् | 20 | 27 | c | जिग्युर्दस्यून् समेधिता: | 26 | 20 | d |
| जलस्थलौकस: सर्वे | 20 | 13 | a | जिघांसयाऽपि हृयये | 6 | 36 | c |
| जलं गाधजलेचरा: | 20 | 37 | b | | | | |
| जलान्ते चोदितेऽरुणे | 22 | 2 | b | | | | |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| जिघांसयैन मासाद्य | 11 | 55 | c |
| जिघांसु र्दैत्य आगमत् | 11 | 40 | d |
| जिजीविषव उत्सृज्य | 4 | 33 | c |
| जीर्णपर्णानिलाहारौ | 3 | 35 | a |
| जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् | 14 | 3 | b |
| जीवसाम्यं गतालिङ्गै: | 10 | 14 | c |
| जीविताशा बलीयसी | 14 | 53 | d |
| जीवेत यो मुक्ति पदे सदायभाक् | 14 | 8 | d |
| जुगोप कुक्षिङ्गत आत्तचक्र: | 1 | 6 | c |
| जृम्भतो ददृशे जगत् | 7 | 35 | d |
| ज्ञातय: पर्युपासते | 2 | 4 | b |
| ज्ञातयो धेनुकस्य ये | 15 | 36 | b |
| ज्ञातयो बन्धुसुहृद: | 1 | 63 | c |
| ज्ञातं मया पुरैवैतत् | 10 | 40 | a |
| ज्ञाता नाराश्च चिक्षिपु: | 12 | 5 | b |
| ज्ञातिभि र्बहुभिर्वृत: | 15 | 23 | d |
| ज्ञातिभि र्मुदितात्मभि: | 18 | 1 | b |
| ज्ञातिभ्यो विस्मितोऽब्रवीत् | 28 | 10 | d |
| ज्ञातुं नेशे कथञ्चन | 13 | 44 | d |
| ज्ञात्वा चारयितुं गतम् | 16 | 13 | d |
| ज्ञात्वा ज्ञात्वा च कर्माणि | 24 | 6 | a |
| ज्ञात्वा दत्तकरं राज्ञे | 5 | 19 | c |
| ज्ञात्वाऽविश त्तुण्डमशेषदृग्धरि: | 12 | 28 | d |
| ज्ञान विज्ञान निधये | 16 | 40 | a |
| ज्ञानिनाञ्चाऽत्मभूतानाम् | 9 | 21 | c |
| ज्ञानिनो ददते न वा | 20 | 36 | d |
| ज्ञानेन भूयोपि च तत्प्रलीयते | 14 | 25 | c |
| ज्ञाने प्रयास मुदपास्य नमन्त एव | 14 | 3 | a |
| ज्यायोषै र्धनुषस्तव | 4 | 32 | d |
| ज्योतिर्यथैवोदकपार्थिवेष्वद: | 1 | 43 | a |
| ज्योतिश्चक्रं जलं तेज: | 8 | 38 | a |
| ज्योतिषा मयनं साक्षात् | 8 | 5 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| ज्योति: स्वधाम्ना ज्वलयद्दिशो दश | 12 | 33 | b |
| ज्वलच्छिखं कटककिरीटकुण्डल | 18 | 27 | c |
| **ड** | | | |
| डाकिन्यो यातुधान्यश्च | 6 | 28 | a |
| **त** | | | |
| तच्चाऽपि सत्यं न तवैव मायया | 14 | 14 | d |
| तच्चित्र ताण्डव निरुग्णफणा सहस्रो | 16 | 30 | a |
| तच्चेजलस्थं तव सज्जगद्वपु: | 14 | 15 | a |
| तच्छान्तिं कर्तु मर्हथ: | 23 | 1 | d |
| तच्छ्रुत्वा कुपितो राजन् | 17 | 5 | a |
| तच्छ्रुत्वा भगवान् कृष्ण स्तु | 12 | 30 | a |
| तच्छ्रुत्वैकधियो गोपा: | 11 | 29 | a |
| तच्छेषेणोपजीवन्ति | 24 | 10 | a |
| तज्जातिमनुरुन्धत: | 7 | 3 | d |
| तटित्वन्तो महामेघा: | 20 | 6 | a |
| तटिद्द्युमानुडुपतिमानिवाम्बुद: | 18 | 26 | d |
| तत आरभ्य नन्दस्य | 5 | 17 | a |
| तत आरात् विशुद्धयति | 10 | 17 | d |
| तत उत्थाय सम्भ्रान्ता: | 17 | 22 | a |
| ततश्च तेऽक्षीण्युन्मील्य | 19 | 13 | a |
| ततश्च पौगण्डवय: समाश्रितौ | 15 | 1 | a |
| ततश्च भगवान् कृष्ण: | 8 | 27 | a |
| ततश्च शौरि र्भगवत्प्रचोदित: | 3 | 47 | a |
| ततश्चास्तङ्गते भानौ | 17 | 19 | a |
| ततस्तन्मूलखनने | 4 | 37 | e |
| ततस्ते निर्ययुर्गोपा: | 25 | 27 | a |
| ततस्ते सन्न्यवर्तयन् | 19 | 5 | d |
| ततस्सपशवो गोपा: | 13 | 34 | a |
| ततस्समन्ताद्वनधूमकेतु | 19 | 7 | a |
| तत: कृष्णश्च रामश्च | 15 | 36 | a |
| तत: कृष्णो मुदं कर्तुम् | 13 | 18 | a |
| तत: कोन्वपर: प्रिय: | 23 | 27 | d |
| तत: प्रावर्तत प्रावृट् | 20 | 3 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| ततो जगन्मङ्गलमच्युतांशम् | 2 | 18 | a |
| ततो जलाशयात्सर्वा: | 22 | 17 | a |
| ततोऽतिकायस्य निरुद्धमार्गिणो हि | 12 | 31 | a |
| ततोऽति कुतुकोद्वृत्त- | 13 | 57 | a |
| ततोऽति हृष्टा: स्वकृतोऽकृताहंजम् | 12 | 34 | a |
| ततोऽनुज्ञाप्य भगवान् | 14 | 42 | a |
| ततोऽनुरक्तै: पशुभि: परिश्रित: | 25 | 33 | a |
| ततो नृप स्वयं गोपा: | 22 | 40 | c |
| ततो नृपोन्मर्दनमज्जलेपन | 13 | 23 | a |
| ततो नो जायते शङ्का | 26 | 14 | c |
| ततो बालध्वनिं श्रुत्वा | 4 | 1 | c |
| ततो भक्ति र्भगवति | 8 | 51 | a |
| ततोऽर्वाक्प्रतिलब्धाक्ष: | 13 | 59 | a |
| ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य | 13 | 16 | a |
| ततोऽवरुह्याप्ससार भीतवत् | 9 | 9 | b |
| ततो विदूराच्चरत: | 13 | 29 | a |
| ततो हसन् हृषीकेश: | 14 | 46 | a |
| तत्कथाऽऽक्षिप्तमनस: | 23 | 18 | c |
| तत्कथाश्रवणौत्सुके | 11 | 33 | d |
| तत्कर्त्रे विश्वहेतवे | 16 | 41 | d |
| तत्कर्मसु न विस्मय: | 26 | 22 | d |
| तत्कालिय: परं वेद | 17 | 12 | a |
| तत्कालीनं कथं भवेत् | 12 | 41 | b |
| तत्तत्रावैव यास्याम: | 11 | 28 | a |
| तत्तत्सद्मप्रविष्टवान् | 13 | 21 | d |
| तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन्सत: | 16 | 49 | c |
| तत्तथा साधयिष्यामि | 10 | 25 | c |
| तत्तदात्माऽभवद्राजन् | 13 | 21 | c |
| तत्तद्गोष्ठे निवेश्य स: | 13 | 21 | b |
| तत्तद्वत्सान् पृथङ्नीत्वा | 13 | 21 | a |
| तत्तन्ममर्दखरदण्डधरोऽङ्घ्रिपातै: | 16 | 28 | b |
| तत्तेनुकम्पां सुसमीक्षमाण: | 14 | 8 | a |
| तत्त्वय्यपीह तत्सर्वं | 14 | 17 | c |
| तत्पादसलिलं यथा | 1 | 16 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| तत्पूर्तिकामास्तदशेषकर्मणाम् | 22 | 23 | c |
| तत्प्रतिच्छाययाऽरुणम् | 12 | 20 | d |
| तत्प्रध्यमानवपुषा व्यथितात्मभोग: | 16 | 24 | a |
| तत्प्राणा स्तन्मनस्का स्ते | 16 | 14 | c |
| तत्र गत्वा जगन्नाथं | 1 | 20 | a |
| तत्र गत्वौदनं गोपा: | 23 | 4 | a |
| तत्र गा: पाययित्वाऽप: | 22 | 40 | a |
| तत्र चक्रुर्व्रजावासम् | 11 | 34 | c |
| तत्र चक्रु: परिवृढौ | 18 | 20 | a |
| तत्र तावत् क्रियायोग: | 24 | 7 | a |
| तत्रत्य क्षेममाचरन् | 17 | 10 | d |
| तत्रत्याश्च पुनर्दूरात् | 12 | 5 | c |
| तत्र प्रतिविधिं सम्यक् | 25 | 16 | a |
| तत्र श्रिया परमया ककुभ: स्फुरन्तौ | 10 | 28 | a |
| तत्रसु र्वज्रनिर्भिन्नं | 11 | 46 | c |
| तत्राऽऽगता स्तुम्बुरुनारदादय: | 27 | 24 | a |
| तत्राऽऽजग्मु: कुरुश्रेष्ठ | 11 | 1 | c |
| तत्राणं विहितं हि व: | 25 | 21 | d |
| तत्राऽपि मदनुग्रहात् | 10 | 21 | d |
| तत्राप्यच्युत रक्षणम् | 11 | 25 | d |
| तत्राऽऽरोहन्ति जेतार: | 18 | 21 | c |
| तत्रांशेनावतीर्णस्य | 1 | 2 | c |
| तत्रैकदा जलचरम् | 17 | 9 | a |
| तत्रैकदा विधृता भर्त्रा | 23 | 34 | a |
| तत्रोद्वहत्पशुपवंश शिशुत्वनाटचम् | 13 | 62 | a |
| तत्रोपनन्दनामाऽऽह | 11 | 21 | a |
| तत्रोपाहूय गोपालान् | 18 | 19 | a |
| तत्सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठम् | 15 | 43 | c |
| तत् सन्निकृष्य रोहिण्या: | 2 | 8 | c |
| तत्सौहृदस्मितविलोकगिर: स्मरन्त्य: | 16 | 20 | b |
| तत्स्मारितानन्तहताखिलेन्द्रिय: | 12 | 44 | b |
| तथाऽघवदनान्मृत्यो: | 13 | 4 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| तथा च यूयं कुरुत | 22 | 22 | c |
| तथा च व्यदधु: सर्वं | 24 | 32 | a |
| तथा ते विकृतैस्सह | 1 | 15 | b |
| तथा न ते माधव तावका: क्वचित् | 2 | 33 | a |
| तथा न ह्यनु ये च तम् | 14 | 52 | d |
| तथा निर्विविशु र्गतम् | 25 | 22 | a |
| तथाऽन्येषां व्रजौकसाम् | 24 | 12 | b |
| तथाऽपि दण्डं भगवान् बिभर्ति | 27 | 5 | c |
| तथाऽपि देवास्सापन्त्यात् | 4 | 37 | c |
| तथाऽपि भूमन् महिमा गुणस्य ते | 14 | 6 | a |
| तथा यशोदा रोहिण्यौ | 11 | 33 | a |
| तथाविधान्यस्य कृतानि गोपिका: | 25 | 33 | c |
| तथेति पाययित्वाऽर्भा: | 13 | 7 | a |
| तथेति मीलिताक्षेषु | 19 | 12 | a |
| तथेति सुतमादाय | 1 | 61 | a |
| तथेत्योमिति तद्वच: | 2 | 14 | b |
| तथोचु: रामकृष्णयो: | 23 | 12 | d |
| तदगम्यं दुरासदम् | 17 | 8 | d |
| तदद्भुतस्तोत्र सुवाद्यगीतिका | 12 | 35 | a |
| तदनुत्वं ह्यप्रविष्ट: | 3 | 14 | c |
| तदनुस्मृत्युदस्रव: | 13 | 34 | d |
| तदन्तिकं गतो राजन् | 28 | 3 | e |
| तदपिद्वचङ्गुलं न्यूनम् | 9 | 16 | c |
| तदभिज्ञोऽपि भगवान् | 24 | 2 | a |
| तदर्थमेव सकलम् | 14 | 54 | c |
| तदस्तु मे नाथ सभूरिभाग: | 14 | 30 | a |
| तदहं मत्तयो मध्ध्या | 10 | 19 | a |
| तदा घनच्छदा देवा: | 12 | 29 | a |
| तदा बकारिं सुरलोकवासिन: | 11 | 51 | a |
| तदाऽयं सुतपा नाम | 3 | 32 | c |
| तदा वां परितुष्टोऽहम् | 3 | 37 | a |
| तदाऽऽशु विपिनोद्भूत: | 17 | 21 | c |
| तदुपाकर्ण्य भगवान् | 23 | 13 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| तदुपाकर्ण्य विस्मिता: | 20 | 2 | b |
| तदेव हारं वद मन्यसे चेत् | 7 | 2 | d |
| तदेवाऽस्य हि दैवतम् | 24 | 18 | d |
| तदेष नाथाऽऽप दुरापमन्यै: | 16 | 38 | a |
| तदैव साऽमृतजला | 16 | 67 | c |
| तदैवोपहत चेतस: | 15 | 49 | b |
| तदोचुर्व्यक्तमतीन् | 7 | 9 | a |
| तद्गच्छतं मत्परमौ | 10 | 42 | a |
| तद्गावो दूरचारिणी: | 19 | 1 | b |
| तद्दग्धसत्त्वदुर्गन्धोऽपि | 12 | 23 | c |
| तद्दर्शनमहोत्सव: | 28 | 4 | d |
| तद्दर्शनस्मररुज स्तृण रूषितेन | 21 | 18 | c |
| तद्दंष्ट्राभिश्च पश्यत | 12 | 21 | d |
| तद्दाम बध्यमानस्य | 9 | 15 | a |
| तद्द्रव्येण गिरिद्विजान् | 24 | 32 | d |
| तद्दष्ट्रेस्य च हेतवै | 16 | 48 | d |
| तद्धाम्नाऽभू दज स्तूष्णीम् | 13 | 57 | c |
| तद्धितस्य परं तप: | 10 | 15 | d |
| तद्बन्धूंश्च बलान्वित: | 26 | 10 | b |
| तद्बाल चरितानि च | 9 | 2 | b |
| तद्बूहि मे महायोगिन् | 12 | 42 | a |
| तद्भवान्क्षन्तुमर्हसि | 28 | 7 | d |
| तद्भवान् भोक्तुमर्हति | 11 | 14 | d |
| तद्भूरिभाग्यमिहजन्म किमप्यटव्याम् | 14 | 34 | a |
| तद्याच्ञा जनमोहिनी | 23 | 46 | d |
| तद्यात देवयजनम् | 23 | 28 | a |
| तद्राजेन्द्र यथा स्नेह: | 14 | 51 | a |
| तद्वने रामकृष्णयो: | 18 | 17 | b |
| तद्वर्णयितु मारब्धा: | 21 | 4 | a |
| तद्वल्लुभतयैव हि | 14 | 50 | d |
| तद्वशो दारुयन्त्रवत् | 11 | 9 | d |
| तद्वीक्षणोत्प्रेमरसाप्लुताशया | 13 | 33 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| तद्वीक्ष्य गोपालसुता विसिस्मिरे | 11 | 51 | d |
| तद्वजस्त्रिय आश्रुत्य | 21 | 3 | a |
| तनुष्वङ्ग यथा पट: | 15 | 35 | d |
| तनुस्साम्प्राप्य तत्फलम् | 20 | 7 | d |
| तन्त्वेशानं क्षेमधाम प्रपद्ये | 3 | 26 | d |
| तन्नादद्दष्टमनसावनुसृत्य लोकम् | 8 | 22 | c |
| तन्निरोधेन योगिन: | 20 | 41 | d |
| तन्मञ्जुघोषालिमृगद्विजाकुलम् | 15 | 3 | a |
| तन्मनो मयि युञ्जाना: | 23 | 32 | c |
| तन्मातरो वेणुरवत्वरोत्थिता: | 13 | 22 | a |
| तन्मातरौ निजसुतौ घृणया स्नुवन्त्यौ | 8 | 23 | a |
| तन्मातृणाञ्च कस्यच | 13 | 18 | b |
| तन्माधवो वेणुमुदीरयन् वृत: | 15 | 2 | a |
| तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्र | 16 | 26 | c |
| तन्मूला देवता स्सर्वा: | 4 | 42 | c |
| तन्मे प्रियतरं भवेत् | 22 | 22 | d |
| तपसा श्रद्धया नित्यम् | 3 | 37 | c |
| तपस्विनो यज्ञशीलान् | 4 | 40 | c |
| तपस्सत्यं दमश्शम: | 4 | 41 | b |
| तपस्सुतमं किमनेन पूर्वं | 16 | 35 | a |
| तप: कृशा देवमीढा | 20 | 7 | a |
| तप: परमदुष्करम् | 3 | 36 | b |
| तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम् | 27 | 4 | b |
| तपो यज्ञास्सदक्षिणा: | 4 | 39 | d |
| तमग्निमपिबत् तीव्रम् | 17 | 25 | c |
| तमङ्कमारुढ मपाययत् स्तनम् | 9 | 5 | a |
| तमद्भुतं बालक मम्बुजेक्षणम् | 3 | 9 | a |
| तमनुज्ञाप्य गोकुलम् | 5 | 31 | d |
| तमन्तरिक्षात्पतितं शिलायाम् | 7 | 29 | a |
| तमश्मानं मन्यमान: | 7 | 27 | a |
| तमसा भान्ति न ग्रहा: | 20 | 8 | b |
| तमसा मूढचेतस: | 4 | 45 | b |
| तमापतन्तं तरसा विषायुध: | 17 | 6 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| तमापतन्तं परितो दवाग्निम् | 19 | 8 | a |
| तमापन्तं स निगृह्य तुण्डयो: | 11 | 50 | a |
| तमाह भ्रातरं देवी | 4 | 4 | a |
| तमुद्वहन् धरणि धरेन्द्रगौरवम् | 18 | 26 | a |
| तमूचुर्देवशत्रव: | 4 | 30 | b |
| तमोजनि: क्रोधवशोऽप्यहीश: | 16 | 38 | b |
| तमोऽपहत्यै तरुजन्मयत्कृतम् | 15 | 5 | d |
| तमोमदं हरिष्यामि | 10 | 19 | c |
| तम्यां तमोवन्नैहारम् | 13 | 46 | a |
| तयाऽभिहितमाकर्ण्य | 4 | 14 | a |
| तया हृतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु | 3 | 48 | a |
| तयो रजनशङ्कया | 1 | 66 | d |
| तयो रनुग्रहार्थाय | 10 | 7 | c |
| तयोर्द्विजा ओदन मर्थिनोर्यदि | 23 | 7 | c |
| तयो र्यशोदा रोहिण्यौ | 15 | 44 | a |
| तयोर्वा पुन रेवाऽहम् | 3 | 42 | a |
| तयो श्शापस्य कारणम् | 10 | 1 | b |
| तयोस्तत्सुमहत्कर्म | 15 | 39 | a |
| तयोस्तदद्भुतं कर्म | 20 | 1 | a |
| तरसा ववृधे गले | 12 | 30 | d |
| तरूणां नम्रशाखानाम् | 22 | 39 | c |
| तर्हि तन्नोऽनयो महान् | 8 | 9 | d |
| तर्ह्यसौ नाऽऽत्मवत्प्रिय: | 14 | 53 | b |
| तव चाऽऽनकदुन्दुभे: | 8 | 8 | b |
| तव राजर्षि सत्तम | 1 | 15 | b |
| तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकार: | 16 | 36 | b |
| तवानुचरकिङ्करौ | 10 | 37 | b |
| तवार्हणं येन जन: समीहते | 2 | 34 | d |
| तवाऽवतार: खलनिग्रहाय | 16 | 33 | b |
| तवावतारोऽप्यमघोक्षजेह | 27 | 9 | a |
| तवाऽस्ति कुक्षे: कियदप्यनन्त: | 14 | 12 | d |
| तस्थौ श्वसञ्छ्वसनरन्ध्र विषाम्बरीष | 16 | 24 | c |
| तस्मात्कृत नराहारात् | 15 | 24 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| तस्मात् प्रियतम: स्वात्मा | 14 | 54 | a |
| तस्मात्सम्पूजयेत्कर्म | 24 | 18 | a |
| तस्मात्सर्वात्मना राजन् | 4 | 40 | a |
| तस्मादिदं जगदशेष मसत्स्वरूपम् | 14 | 22 | a |
| तस्मादुभाभ्यां पाणिभ्याम् | 22 | 22 | a |
| तस्माद्गवां ब्राह्मणानाम् | 24 | 25 | a |
| तस्माद्भद्रे स्वतनयान् | 4 | 21 | a |
| तस्माद्भवत्प्रपदयो: पतितात्मनां न: | 23 | 30 | c |
| तस्मान्न कस्यचिद्द्रोहम् | 1 | 44 | a |
| तस्मान्नन्दकुमारोऽयम् | 26 | 22 | a |
| तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते | 8 | 19 | a |
| तस्मान्मच्छरणं गोष्ठम् | 25 | 18 | a |
| तस्मि न्न्यस्तवती, यत: | 7 | 22 | d |
| तस्मिन् स्तनं दुर्जरवीर्य मुल्बणम् | 6 | 11 | a |
| तस्मिल्लँजायितेक्षणा: | 22 | 26 | d |
| तस्मै तुभ्यं भगवते | 10 | 33 | a |
| तस्मै नमो व्रजजनै: | 24 | 36 | a |
| तस्य च ब्रह्मगोविप्रा: | 4 | 39 | c |
| तस्य तत्क्ष्वेलितं दृष्ट्वा | 22 | 12 | a |
| तस्य दण्ड: करच्छेद | 22 | 21 | e |
| तस्य ह्रदे विहरतो भुजदण्डघूर्ण | 16 | 8 | a |
| तस्या उपवने कामं | 22 | 41 | a |
| तस्याक्षिभिर्गरलमुद्वमतश्शिरस्सु | 16 | 29 | a |
| तस्यान्तु कर्हिचिच्छौरि: | 1 | 29 | a |
| तस्याऽपि भगवान्कृष्ण: | 14 | 57 | c |
| तस्याप्यौत्पत्तिक: कथम् | 26 | 13 | d |
| तस्या विशुद्धि मन्विच्छन् | 16 | 1 | c |
| तस्यां रात्र्यां व्यतीतायाम् | 4 | 29 | a |
| तस्या: स्वनेनातिगभीररंहसा | 6 | 13 | a |
| तस्यैव तेऽमूस्तनवस्त्रिलोक्याम् | 16 | 50 | a |
| तं गृहीत्वाऽनयद्भृत्य: | 28 | 2 | a |
| तं गोरजश्छुरित कुन्तलबद्धबर्ह | 15 | 42 | a |
| तं चण्डवेग विषवीर्यमवेक्ष्य तेन | 16 | 6 | a |
| तं जिह्वया द्विशिखया परिलोलिहानम् | 16 | 25 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| तं जुगुप्सितकर्माणम् | 1 | 36 | a |
| तं तात वयमन्ये च | 24 | 9 | a |
| तं तार्क्ष्यपुत्र: स निरस्य मन्युमान् | 17 | 7 | a |
| तं तालुमूलं प्रदहन्त मग्निवत् | 11 | 49 | a |
| तं तालुमूलं प्रदहन्त मग्निवत् | 11 | 49 | a |
| तं तुष्टुवुर्देवनिकायकेतव: | 27 | 25 | a |
| तं दृष्ट्वा परमप्रीत: | 8 | 2 | a |
| तं दृष्ट्वा व्रीडिता देव्य: | 10 | 6 | a |
| तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय | 5 | 20 | a |
| तं नर्तुमुद्यत मवेक्ष्य तदा तदीय | 16 | 27 | a |
| तं नागभोगपरिवीतमदृष्ट चेष्टम् | 16 | 10 | a |
| तं पूजयामास मुदा | 16 | 64 | c |
| तं प्रेक्षणीयसुकुमारघनावदातं | 16 | 9 | a |
| तं प्रेमवेगान्निभृता वनौकस: | 25 | 29 | a |
| तं ब्रह्म परमं साक्षात् | 23 | 11 | a |
| तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्य: | 27 | 16 | c |
| तं मत्वाऽऽत्मज मव्यक्तम् | 9 | 14 | a |
| तं वत्सरूपिणं वीक्ष्य | 11 | 41 | a |
| तं विद्वानपि दाशार्ह: | 18 | 18 | a |
| तं वीक्ष्य विस्मिता बाला: | 11 | 43 | c |
| तं स्वस्तिमन्तं पुरुषादनीतम् | 7 | 30 | c |
| ता आशिषं प्रयुञ्जाना: | 5 | 12 | a |
| ता आहूता भगवता | 19 | 6 | a |
| तात एहि स्तनं पिब | 11 | 14 | b |
| तात मज्जनमावह | 11 | 17 | b |
| तातं भवन्तं मन्वान: | 5 | 26 | c |
| ता नाभ्यसूयन् प्रियसङ्गनिर्वृता: | 22 | 25 | d |
| तानालक्ष्य भयोद्विग्ना: | 16 | 13 | a |
| तानि नो वद विस्तरात् | 1 | 3 | d |
| ता निष्फला भविष्यन्ति | 7 | 17 | c |
| तान् दृष्ट्वा भयत्रस्तान् | 13 | 13 | a |
| तान्यहं वेद नो जना: | 8 | 15 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| तान्यहं वेद नो जना: | 26 | 18 | d |
| तान् वीक्ष्य कृष्ण: सकलाभयप्रदो हि | 12 | 27 | a |
| तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोऽह्नि | 15 | 43 | b |
| तामसा दीर्घमन्यव: | 16 | 56 | b |
| तामात्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्वर: | 9 | 9 | a |
| तार्क्ष्य: क्षितौ हलधर: पुरुषस्समन्तात् | 6 | 24 | d |
| तालान् सम्परिकम्पयन् | 15 | 27 | b |
| ताला श्चकम्पिरे सर्वे | 15 | 34 | c |
| तावकान् ग्रसते हि न: | 17 | 23 | d |
| तावङ्घ्रियुग्म मनुकृष्य सरीसृपन्तौ | 8 | 22 | a |
| तावत्कारागृहं गृहम् | 14 | 36 | b |
| तावत्तदभिमान्यज्ञ: | 4 | 22 | c |
| तावत्प्रविष्टा स्त्वसुरान्तरोदरम् | 12 | 26 | a |
| तावत्सर्वे वत्सपाला: | 13 | 47 | a |
| तावदेत्यात्मभूरात्म | 13 | 41 | a |
| तावद्बालानुपादाय | 11 | 26 | c |
| तावद्रागादयस्तेना: | 14 | 36 | a |
| तावन्त एव तत्राब्दम् | 13 | 43 | c |
| तावन्तोऽसि चतुर्भुजास्तदखिलै स्साकं मयोपासिता: | 14 | 18 | c |
| तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते | 14 | 18 | d |
| तावन्नन्दादयो गोपा: | 6 | 32 | a |
| तावान्मोहोऽङ्गि निगड: | 14 | 36 | c |
| तावीक्ष्योवाच भगवान् | 22 | 21 | a |
| तासा मविरतं कृष्णे | 6 | 41 | a |
| तासां वासांस्युपादाय | 22 | 9 | a |
| तासां विज्ञाय भगवान् | 22 | 27 | a |
| तास्तथा त्यक्तसर्वाशा: | 23 | 24 | a |
| तास्तथाऽवनता दृष्ट्वा | 22 | 24 | a |
| तास्तं सुविग्नमनसोऽथ पुरस्कृतार्भा: | 16 | 32 | a |
| तास्ता व्रजप्रियकथा कथयन्त्य आसन् | 16 | 21 | c |
| तां केशबन्धव्यतिषक्त मल्लिकाम् | 6 | 5 | a |
| तां गृहीत्वा चरणयो: | 4 | 8 | a |
| तां तीक्ष्णचित्तामतिवामचेष्टिताम् | 6 | 10 | a |
| तां रात्रिं तत्र राजेन्द्र | 17 | 20 | a |
| तां वीक्ष्य कंस: प्रभया जितान्तराम् | 2 | 20 | a |
| तां स्तथा कातरान्वीक्ष्य | 16 | 16 | a |
| तां स्तन्यकाम आसाद्य | 9 | 4 | a |
| तां स्ता नापतत: कृष्ण: | 15 | 37 | a |
| ता: कृष्णमातरमपत्य मनुप्रविष्टाम् | 16 | 21 | a |
| ता: कृष्णवाहे वसुदेव आगते | 3 | 49 | a |
| तितीर्षन्ति भवार्णवम् | 25 | 4 | d |
| तिरश्चीनमुलूखलम् | 11 | 4 | b |
| तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेऽजनस्य | 14 | 20 | b |
| तिर्यग्गतमुलूखलम् | 10 | 26 | d |
| तिलाद्रीन् सप्तरत्नौघ | 5 | 3 | c |
| तिष्ठन् मध्ये स्वपरि सुहृदो हासयन्नर्मभि: स्वै: | 13 | 11 | c |
| तीक्ष्णतुण्डोऽग्रसद्बली | 11 | 47 | d |
| तीरं क्षीरपयोनिधे: | 1 | 19 | d |
| तीरे निक्षिप्य पूर्ववत् | 22 | 7 | b |
| तीव्रै र्मरुद्गणैर्नुन्ना: | 25 | 9 | c |
| तुङ्गशृङ्गालयोऽप्येता: | 12 | 21 | c |
| तुण्डेन हन्तुं पुनरभ्यपद्यत | 11 | 49 | d |
| तुभ्यं मदनुशासनम् | 16 | 61 | b |
| तुम्बुरु प्रमुखानृप | 25 | 32 | d |
| तुलसी नवदामभि: | 13 | 50 | b |
| तुल्य व्यथा समनुगृह्य शुच: स्रवन्त्य: | 16 | 21 | b |
| तुष्टुवुर्मुमुचुस्तुष्टा: | 25 | 31 | c |
| तुष्टुवु र्सिद्धचारणा: | 3 | 6 | b |
| तूर्यघोषेण महता | 11 | 31 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| तूष्णीं शयाना: प्राम्यद्वत् | 20 | 9 | c |
| तृणञ्च पशवश्चेरु: | 15 | 40 | c |
| तृणलोभेन गह्वरम् | 19 | 1 | d |
| तृणावर्त महाशनै: | 2 | 1 | b |
| तृणावर्त विसृष्टाभि: | 7 | 23 | c |
| तृणावर्तश्शान्तरय: | 7 | 26 | a |
| तृणैश्छन्ना असङ्कता: | 20 | 16 | b |
| तृणैस्तत्खुरदच्छिन्नै: | 19 | 4 | a |
| तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं वै | 3 | 43 | a |
| तृप्तान् वृषान् वत्सतरान् | 20 | 30 | c |
| तृषार्ता विषदूषितम् | 15 | 48 | d |
| ते चाऽनसूयव: स्वाभि: | 23 | 33 | c |
| ते चाऽऽरुह्य स्वलङ्कता: | 24 | 34 | b |
| ते तत्र तत्राब्ज यवाङ्कुशाशनि | 16 | 18 | a |
| ते तत्र ददृशु र्बाला: | 11 | 46 | a |
| ते तत्र वर्णितं गोपै: | 6 | 43 | a |
| ते तु तूर्णं मुपव्रज्य | 4 | 2 | a |
| ते तु ब्रह्म ह्रदं नीता: | 28 | 16 | a |
| ते त्वौत्सुक्यधियो राजन् | 28 | 11 | a |
| तेनाऽऽहतो महाताल: | 15 | 33 | a |
| तेनाऽन्यदपि सन्दधे | 9 | 16 | b |
| तेनैकेनाऽसमञ्जसम् | 17 | 1 | d |
| तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितं | 14 | 25 | b |
| तेनैव वपुषाऽनघे | 3 | 43 | b |
| तेनैव सर्वेषु बहिर्गतिषु | 12 | 32 | a |
| तेनैव साकं पृथुका: सहस्रश: | 12 | 2 | a |
| तेनैवान्नेन गोपकान् | 23 | 35 | b |
| तेऽन्वेषमाणा दयितम् | 16 | 17 | a |
| तेऽपश्यन्त: पशून्गोपा: | 19 | 3 | a |
| तेपाते परमं तप: | 3 | 33 | d |
| ते पीडिता निविविशु: | 2 | 3 | a |
| तेऽभिवर्षन्ति भूतानां | 24 | 8 | c |
| तेभ्य आचष्ट तत्सर्वं | 4 | 29 | c |
| ते वै रज:प्रकृतय: | 4 | 45 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| तेषान्तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्ताम् | 14 | 33 | a |
| तेषा मसौ क्लेशल एव शिष्यते | 14 | 4 | c |
| तेषां प्रीतिं स्वलीलया | 8 | 52 | d |
| तेषां सुख क्रीडन वीक्षणाक्षम: | 12 | 13 | b |
| ते सम्प्रतीतस्मृतय: | 15 | 51 | a |
| तैरयं साध्यतां मख: | 24 | 25 | d |
| तैर्दुर्निमित्तैर्निधनम् | 16 | 14 | a |
| तैर्या: प्रोक्ता स्तथाऽऽशिष: | 7 | 17 | b |
| तैस्तैरतुल्यातिशयै: | 10 | 34 | c |
| तैस्तै: कामै रदीनात्मा | 5 | 15 | e |
| तोकता मायया विना | 13 | 25 | d |
| तोकाचरित मद्भुतम् | 7 | 3 | b |
| तोकाश्लेषसुनिर्वृता: | 13 | 34 | b |
| तोकेनाऽऽमीलिताक्षेण | 26 | 4 | a |
| तोकै: कामांन् वितन्वते | 22 | 37 | d |
| तौ दृष्ट्वा मदिरा मत्तौ | 10 | 7 | a |
| तौ वत्सपालकौ भूत्वा | 11 | 44 | a |
| त्यक्तज्ञातिसुहृत्खल: | 4 | 16 | b |
| त्यक्तोद मपि बाधते | 1 | 13 | b |
| त्यक्त्वा यष्टिं सुतं भीतम् | 9 | 12 | a |
| त्यक्त्वोन्नमय्य कुपित: स्वफणा-न्भुजङ्ग: | 16 | 24 | b |
| त्रय्याचोपनिषद्भिश्च | 8 | 45 | a |
| त्रातुमर्हसि देवान: | 25 | 13 | c |
| त्राहि त्रस्तान् भृत्यविद्रासहाऽसि | 3 | 28 | b |
| त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान् | 6 | 15 | b |
| त्रिगुणेनाभिमानेन | 16 | 42 | c |
| त्रिवर्गफलहेतवे | 24 | 10 | b |
| त्रिवर्गोऽर्थाय कल्पते | 5 | 27 | d |
| त्रिविधा: अतिदारुणा: | 16 | 12 | b |
| त्रि: परिक्रम्य पादयो: | 14 | 41 | b |
| त्वञ्च स्नात: कृताहार: | 11 | 18 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| त्वत्तोऽस्य जन्मस्थिति संयमान् विभो | 3 | 19 | a |
| त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन | 2 | 30 | c |
| त्वत्पादभाजो भगवन् | 28 | 5 | c |
| त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य | 3 | 27 | c |
| त्वत्पार्श्वयो र्धनुरसीमधुहाऽजनश्च | 6 | 24 | b |
| त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया | 14 | 5 | b |
| त्वदाश्रयित्वा दुपचर्यते गुणै: | 3 | 19 | d |
| त्वन्नाथं गोकुलं प्रभो | 25 | 13 | b |
| त्वन्नाथा स्त्वत्परायणा: | 19 | 10 | d |
| त्वन्मायया संवृतचेतस्त्वाम् | 2 | 28 | c |
| त्वमस्य लोकस्य विभो रिरक्षिषु: | 3 | 21 | a |
| त्वमाद्य: पुरुष: पर: | 10 | 29 | b |
| त्वमेक एवास्य सत: प्रसूति: | 2 | 28 | a |
| त्वमेक: सर्वभूतानाम् | 10 | 30 | a |
| त्वमेव कालो भगवान् | 10 | 30 | c |
| त्वमेव जगतां नाथो | 14 | 39 | c |
| त्वमेव पुरुषोऽध्यक्ष: | 10 | 31 | c |
| त्वमेव पूर्वसर्गेऽभू: | 3 | 32 | a |
| त्वमेव भासीशभिदाश्रयेऽपि | 13 | 39 | b |
| त्वया दैवनिसृष्टेन | 4 | 5 | c |
| त्वया भागवतोत्तम | 13 | 1 | b |
| त्वयाऽभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया: | 2 | 33 | c |
| त्वया सृष्ट मिदं सर्वम् | 16 | 57 | a |
| त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते | 3 | 19 | c |
| त्वयेशाऽनु गृहीतोऽस्मि | 27 | 13 | a |
| त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि | 2 | 30 | a |
| त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धय: | 2 | 32 | b |
| त्वय्येव नित्य सुखबोधतनावनन्ते | 14 | 22 | c |
| त्वं न इन्द्रो जगत्पते | 27 | 20 | b |
| त्वं न: परमकं दैवम् | 27 | 20 | a |
| त्वं पासि न स्त्रिभुवनञ्च तथाऽधुनेश | 2 | 40 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| त्वं महान् प्रकृति: सूक्ष्मा | 10 | 31 | a |
| त्वं सन्निधानं त्वमनुग्रहश्च | 2 | 28 | b |
| त्वं हि ब्रह्मविदां श्रेष्ठ: | 8 | 6 | a |
| त्वं ह्यस्यजन्मस्थितिसंयमान्विभो | 16 | 49 | a |
| त्वामहं शरणं गत: | 27 | 13 | d |
| त्वामात्मानं परं मत्वा | 14 | 27 | a |
| त्वां वीक्ष्य कालेऽभयमाशु तन्मदम् | 27 | 7 | b |
| त्विषाद्भुतं हलधर ईषदद्रसत् | 18 | 27 | d |
| त्विषा परिष्वक्त सहस्र कुन्तलम् | 3 | 10 | b |
| त्विषोल्लसत्कुन्तलमण्डिताननाम् | 6 | 5 | d |
| **द** | | | |
| दण्डपाणिं न पश्यति | 27 | 16 | b |
| दण्डवत्पतिता भुवि | 23 | 5 | d |
| दण्डो सतां ते खलुकल्मषापह: | 16 | 34 | b |
| दत्त्वा स्तनं प्रपिबतो: स्म मुखं निरीक्ष्य | 8 | 23 | c |
| ददर्श तल्पेऽग्नि मिवाऽऽहितं भसि | 6 | 7 | d |
| ददहु: काष्ठवेष्टितम् | 6 | 34 | d |
| ददृशु र्ब्रह्मणो लोकम् | 28 | 16 | c |
| ददृशुर्यमलार्जुनौ | 11 | 2 | b |
| ददृशुस्साग्रजं स्त्रिय: | 23 | 21 | d |
| ददृशे सबलं हरिम् | 13 | 41 | d |
| दद्भिस्सुपर्णं व्यदशद् ददायुध: | 17 | 6 | c |
| दधार लीलया कृष्ण: | 25 | 19 | c |
| दधार सर्वात्मकमात्मभूतम् | 2 | 18 | c |
| दधिक्षीरघृताम्बुभि: | 5 | 14 | b |
| दधिनिर्मन्थने काले | 9 | 2 | c |
| दध्यक्षत कुशाम्बुभि: | 7 | 12 | d |
| दध्य क्षताद्भि र्युयुजुस्सदाशिष: | 25 | 29 | d |
| दध्योदन मुपानीतम् | 20 | 29 | a |
| दमित्वा विमदं ह्रदात् | 26 | 12 | b |
| दम्पत्यो र्नितरा मासीत् | 8 | 51 | c |
| दरिद्रस्याऽन्नकाङ्क्षिण: | 10 | 16 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| दरिद्रस्यैव युज्यन्ते | 10 | 17 | a | दास्यन्ति काम मन्नं व: | 23 | 14 | c |
| दरिद्र: परमीक्षते | 10 | 13 | d | दास्य गतानां परदैवतेन | 12 | 11 | b |
| दरिद्रो निरहंस्तम्भ: | 10 | 15 | a | दिदृक्षवोऽत्यच्यतयो: | 23 | 51 | c |
| दर्याननान्तो गिरिशृङ्गदष्ट्र: | 12 | 17 | b | दिवारूढं क्षुधार्दिता: | 13 | 6 | b |
| दर्शनं नौ भगवत: | 10 | 37 | c | दिविदेवगणास्साध्या: | 25 | 31 | a |
| दर्शनान्तो भवेद्बन्ध: | 10 | 18 | c | दिविदेवप्रणोदिता: | 25 | 32 | b |
| दर्शनान्तो भवेद्बन्ध: | 10 | 41 | c | दिव्यगन्धानुलेपैश्च | 16 | 65 | c |
| दर्शयन्नात्मसौहृदम् | 4 | 24 | d | दिव्यवर्षसहस्राणि | 3 | 36 | c |
| दर्शयन् बलदेवाय | 11 | 41 | c | दिव्यस्रगम्बरालेप | 4 | 10 | a |
| दर्शयल्लौकिकीगतिम् | 23 | 13 | d | दिव्यस्रगन्धमण्डितौ | 15 | 45 | d |
| दर्शयंश्चर्माऽऽजगरम् | 14 | 46 | c | दिव्यस्रगन्धवाससम् | 17 | 13 | b |
| दर्शयंस्तद्विदां लोक | 11 | 11 | a | दिव्याम्बरस्रग्भूषणिभि: | 16 | 65 | a |
| दर्शयामास लोकं स्वम् | 28 | 14 | c | दिश: प्रसेदु र्गगनं | 3 | 2 | a |
| दवाग्नेर्मोक्षमात्मन: | 20 | 1 | b | दिशीन्दुरिव पुष्कल: | 3 | 8 | f |
| दशच्छदो द्विखगोह्यदिवृक्ष: | 2 | 27 | d | दिशोऽपश्यत्पुर: स्थितम् | 13 | 60 | b |
| दह्यमानस्य देव: | 6 | 35 | a | दिष्ट्याङ्कितां त्वत्पदकै स्सुशोभनै: | 2 | 38 | c |
| दह्यमाना व्रजौकस: | 17 | 22 | b | दिष्ट्या भ्रात: प्रेवयस: | 5 | 22 | a |
| दातुमर्हसि मन्दाया: | 4 | 6 | c | दिष्ट्या! मुक्त स्तवात्मन: | 17 | 17 | d |
| दानवान् गृहमाविशत् | 4 | 44 | d | दिष्ट्याम्बते कुक्षिगत: परं पुमान् | 2 | 41 | a |
| दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम् | 21 | 10 | b | दिष्ट्यासंसारचक्रेऽस्मिन् | 5 | 23 | a |
| दामोदरेण तरसोत्कलिताङ्घिबन्धौ | 10 | 27 | b | दिष्ट्या स्वबन्धन् प्रणयन्नुपस्थित: | 7 | 32 | d |
| दाम्नाचोलूखले बद्ध: | 10 | 39 | c | दिष्ट्या हरेऽस्य भवत: पदोभुव: | 2 | 38 | a |
| दाम्नाऽतद्वीर्यकोविदा | 9 | 12 | d | दीक्षाया: पशुसंस्थाया: | 23 | 8 | a |
| दाम्ना बद्धञ्च बालकम् | 11 | 3 | b | दीनान् मीनपतौ हते | 17 | 10 | b |
| दाम्ना बद्धं स्वमात्मजम् | 11 | 6 | b | दीना हतसुता प्रभो | 4 | 6 | b |
| दारापत्य धनादय: | 23 | 27 | b | दीनांश्चमृत्योर्जठराग्निघासान् | 12 | 27 | c |
| दारिका: शीतवेपिता: | 22 | 17 | b | दीर्घश्रुतधृताशाया: | 23 | 20 | d |
| दारिद्र्यं परमाञ्जनम् | 10 | 13 | b | दु:खशोकभयातुरा: | 16 | 14 | d |
| दावाग्निना दह्यमानान् | 19 | 9 | c | दु:खानुशोकभयमढ धियो निपेतु: | 16 | 10 | d |
| दावाग्नि स्सर्वतोव्रजम् | 17 | 21 | d | दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं | 1 | 5 | c |
| दावाग्ने रात्मन: क्षेमम् | 19 | 14 | c | दुरत्यय: काल उपात्तदण्ड: | 27 | 6 | b |
| दावोष्ण खरवातोऽयम् | 12 | 23 | a | दुरन्तभावं योऽविध्यन् | 23 | 41 | c |
| दासीनां सुकुमारीणाम् | 1 | 32 | a | दुरासदोऽतिदुर्धर्ष: | 2 | 17 | c |
| | | | | दुर्गाध्वकृच्छ्रतोऽभ्येत्य | 13 | 32 | c |
| | | | | दुर्गेति भद्रकालीति | 2 | 11 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| दुर्लभं प्रियदर्शनम् | 5 | 23 | d |
| दुष्टं जलं पपुस्तस्या: | 15 | 48 | c |
| दुष्टां नदीञ्च खलसंयमनावतार: | 16 | 6 | b |
| दुस्त्यजश्चाऽनुरागोऽस्मिन् | 26 | 13 | a |
| दुस्त्यजं किं धृतात्मनाम् | 1 | 58 | d |
| दुस्त्यजां मोहिता: तया | 16 | 58 | d |
| दुहित्रे देवक: प्रादात् | 1 | 32 | c |
| दूरे क्षिप्त्वाऽवयवश: | 6 | 34 | c |
| दृढं प्रलब्धा स्त्रपया च हापिता: | 22 | 25 | a |
| दृश्यन्तोऽनुगता इव | 3 | 16 | b |
| दृष्टश्रुतानुभावा स्ते | 26 | 24 | c |
| दृष्टश्रुतानु भावोऽस्य | 27 | 3 | a |
| दृष्टश्रुताभ्यां मनसाऽनुचिन्तयत् | 1 | 41 | c |
| दृष्टि स्सतां दर्शनोऽस्तु भक्तनूनाम् | 10 | 38 | d |
| दृष्ट्या स्वयोत्थाप्ये तदन्वित: पुन: | 12 | 32 | c |
| दृष्ट्वाऽघासुरमोक्षणं प्रभवत: प्राप्तपरंविस्मयम् | 13 | 15 | d |
| दृष्ट्वा तपे व्रजपशन् सहराम गोपै: | 21 | 17 | a |
| दृष्ट्वा तं तादृशं सर्वे | 12 | 18 | a |
| दृष्ट्वत्वरेणनिजघोरणतोऽवतीय | 13 | 63 | a |
| दृष्ट्वाऽथतत्स्नेह वशोऽस्मृतात्मा | 13 | 30 | a |
| दृष्ट्वाद्भुतानि बहुश: | 7 | 33 | a |
| दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्ण: | 9 | 18 | c |
| दृष्ट्वा प्रलम्बं निहतं | 18 | 30 | a |
| दृष्ट्वा महीशस्य जगाम विस्मयम् | 12 | 35 | d |
| दृष्ट्वा यशोदो प्रमुखा व्रजस्त्रिय: | 7 | 8 | a |
| दृष्ट्वा रामाक्षयोऽर्भका: | 11 | 48 | b |
| दृष्ट्वार्भकान् कृष्ण मुखानघासुर: | 12 | 14 | a |
| दृष्ट्वा समत्वं तच्छरे: | 1 | 59 | a |
| दृष्ट्वाऽऽसीना: स्वलङ्कृता: | 23 | 15 | b |
| दृष्ट्वा स्त्रीणां भगवति | 23 | 28 | a |
| दृष्ट्वाऽहि माद्य मुपसेदुरमुष्य पत्न्य: | 16 | 31 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| दृष्ट्वोचु र्विस्मिता व्रजे | 12 | 37 | d |
| देयं वो धेनु दक्षिणा: | 24 | 27 | d |
| देवकी तमुपाधावत् | 3 | 23 | c |
| देवकी दारिकावच: | 8 | 9 | b |
| देवकी वसुदेवाभ्याम् | 4 | 28 | c |
| देवकी सर्वदेवता | 1 | 56 | b |
| देवकी वसुदेवञ्च | 1 | 66 | a |
| देवकी वसुदेवञ्च | 4 | 14 | c |
| देवकीं वसुदेवञ्च | 4 | 24 | c |
| देवक्या अष्टमो गर्भ: | 8 | 8 | c |
| देवक्या औग्रसेनिना | 2 | 4 | d |
| देवक्या गर्भजन्मतत् | 4 | 2 | b |
| देवक्या गर्भसम्बन्ध: | 1 | 8 | c |
| देवक्या गर्भसम्भूतम् | 1 | 65 | c |
| देवक्या जठरे गर्भम् | 2 | 8 | a |
| देवक्याद्या यदुस्त्रिय: | 1 | 62 | d |
| देवक्या श्शयने न्यस्य | 3 | 52 | a |
| देवक्या सूर्यया सार्धं | 1 | 29 | c |
| देवक्यां देवरूपिण्याम् | 3 | 8 | c |
| देवक्यां पुव्रतां शुभे | 2 | 9 | b |
| देवक्रियायां प्रतियन्त्यथाऽपि हि | 2 | 36 | d |
| देवता यजमानश्च | 23 | 10 | c |
| देवता यजमानश्च | 23 | 47 | c |
| देवदेवं वृषाकपिम् | 1 | 20 | b |
| देवप्रस्थ वरूथप | 22 | 34 | d |
| देवर्षि र्मे प्रियतम: | 10 | 25 | a |
| देवव्रताद्यातिरथै स्तिमिङ्गलै: | 1 | 5 | b |
| देवसंज्ञित मप्यन्ते | 10 | 10 | a |
| देवा अप्यनुमन्वते | 23 | 31 | d |
| देवा गोपाल रूपिण: | 18 | 11 | b |
| देवार्दी स्तर्पयेज्जलै: | 16 | 62 | b |
| देवानां ये च साधव: | 27 | 20 | d |
| देवान्प्रतिकृतामर्षा: | 4 | 30 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| देवाश्चोपरिसन्तुष्टा: | 11 | 43 | e |
| देवा: परमनिर्वृता: | 18 | 32 | b |
| देवा: प्रतिययु र्दिवम् | 2 | 42 | d |
| देवा: समरभीरव: | 4 | 32 | b |
| देवे वर्षति यज्ञविप्लवरुषावाज्रा- | | | |
| श्मवर्षानिलै: | 26 | 25 | a |
| देवैस्सानुचरै स्साकम् | 2 | 25 | c |
| देव्यो विमानगतय: स्मरनुन्नसारा: | 21 | 13 | c |
| देशकालार्थतत्त्वज्ञ: | 11 | 21 | c |
| देश: काल: पृथग्द्रव्यम् | 23 | 10 | a |
| देश: काल: पृथग्द्रव्यम् | 23 | 47 | a |
| देह प्राणेन्द्रियद्रुह: | 6 | 29 | d |
| देहयोग वियोगौ च | 4 | 20 | c |
| देहस्वात्मेन्द्रियेश्वर: | 10 | 30 | b |
| देहं कर्मानुबन्धनम् | 23 | 34 | d |
| देहं मानुष माश्रित्य | 1 | 11 | a |
| देह: किमन्नदातु: स्वम् | 10 | 11 | a |
| देह: प्राण मिवाऽऽगतम् | 5 | 20 | b |
| देहात्म वादिनां पुंसाम् | 14 | 52 | a |
| देहानुच्चावचा ञ्जन्तु: | 24 | 17 | a |
| देहान्तर मनुप्राप्य | 1 | 39 | c |
| देहाभिमानजं बोध: | 20 | 42 | c |
| देहिना मिह देहिषु | 22 | 38 | b |
| देहिनां गोपिकासुत: | 9 | 21 | b |
| देहि वासांसि धर्मज्ञ | 22 | 15 | c |
| देहि वासांसि वेपिता: | 22 | 14 | d |
| देही कर्मगतिं गत: | 1 | 40 | d |
| देही कर्मानुगोऽवश: | 1 | 39 | b |
| देही वाऽऽभाति मायया | 14 | 55 | d |
| देहेन सह जायते | 1 | 38 | b |
| देहे पञ्चत्व मापन्ने | 1 | 39 | a |
| देहे मृते तं मनुजा: शपन्ति | 2 | 22 | c |
| देहोऽपि ममताभाक् चेत् | 14 | 53 | a |
| दैतेया नातिकोविदा: | 4 | 30 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| दैत्य देहै र्गतासुभि: | 15 | 38 | b |
| दैत्यानाञ्च वधोद्यमम् | 1 | 64 | d |
| दैत्यानीकशतायुतै: | 1 | 17 | b |
| दैत्येनयस्तृणावर्तम् | 26 | 6 | c |
| दैत्येन विपदं वियत् | 11 | 24 | b |
| दैत्यो नाम्ना तृणावर्त: | 7 | 20 | a |
| दैत्यो निर्गत लोचन: | 7 | 28 | b |
| दैवमप्यनृतं वक्ति | 4 | 17 | a |
| दैवाधीन मजानताम् | 20 | 12 | d |
| दैवाधीना स्सहाऽऽसते | 4 | 18 | d |
| दैवी वा नर्युतासुरी | 13 | 37 | b |
| दोर्भ्यां बकं कंसखं सतां गति: | 11 | 50 | b |
| द्रक्ष्याम गां याञ्च तवानुकम्पिताम् | 2 | 38 | d |
| द्रवत्पुरीष्या: पुलिनैस्समन्तत: | 18 | 6 | b |
| द्रव्याण्यात्माऽऽत्म विद्यया | 5 | 4 | d |
| द्रव्यालाभे स गृहकुपितो | | | |
| यात्युपक्रोश्य तोकान् | 8 | 29 | d |
| द्रव्यै स्तद्रेतसा सिद्धै: | 24 | 9 | c |
| द्रष्टुं मञ्जु महित्व मन्यदपि तदत्सान् | 13 | 15 | b |
| वत्सपान् | | | |
| द्रतरुद्रर्षादिके | 13 | 61 | d |
| द्रुतं प्रीत्या स्नुत स्तनी: | 20 | 26 | d |
| द्रुमण्डल मण्डितम् | 18 | 4 | d |
| द्रमयो: पततो खम् | 11 | 1 | b |
| द्रुमाकीर्णं समाप्रियम् | 13 | 60 | d |
| द्रुमानाह व्रजौकस: | 22 | 33 | d |
| द्रोग्धु र्वै परतोभयम् | 1 | 44 | d |
| द्रोणस्स भगवान् व्रजे | 8 | 50 | b |
| द्रोणो वसूनां प्रवर: | 8 | 48 | a |
| द्रौण्यस्त्र विप्लुष्टमिदं मदङ्गं | 1 | 6 | a |
| द्वन्दीभूय यथायथम् | 18 | 19 | d |
| द्वयं कथं स्यादिति संविचिन्त्य तत् | 12 | 28 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| द्वयो र्ममैनं स बलं हनिष्ये | 12 | 14 | d |
| द्वादशाङ्गेषु नामभि: | 6 | 21 | d |
| द्वादशेषु र्महात्मनो: | 3 | 36 | d |
| द्वादश्यां जलमाविशत् | 28 | 1 | d |
| द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं बली | 15 | 30 | b |
| द्वारस्तु सर्वा: पिहिता: दुरत्यया: | 3 | 48 | c |
| द्वराजिरगृहान्तर: | 5 | 6 | b |
| द्वा:स्थेषु पौरेष्वपि शायितेष्वथ | 3 | 48 | b |
| द्विजकुल घुष्टसरस्सरिन्महीध्रम् | 21 | 2 | b |
| द्विजालिकुलसन्नाद | 3 | 3 | c |
| द्विजै: कालहता इव | 20 | 16 | d |
| द्विपात्ककुद्वीव उदास्यपुच्छ: | 13 | 30 | c |
| द्वीप मध्ये र्जगाम ह | 16 | 67 | b |
| द्वीपं रमणकं हित्वा | 6 | 63 | a |
| द्वीपान् नगांस्तद्दुहितृर्वनानि | 7 | 36 | c |
| द्वे शते समलङ्कृते | 1 | 32 | b |
| द्वे सृक्किणी अतिकराल विषाग्नि दृष्टिम् | 16 | 25 | b |
| द्वौनाम नान्यौस्त ऋतेऽज्ञ भावान् | 14 | 26 | b |
| व्यङ्कुलोनमभूत्तेन | 9 | 15 | c |
| धत्से दमं फलमेवानु शंसन् | 16 | 33 | d |
| धनु र्वियति माहेन्द्रं | 20 | 18 | a |
| धनुश्शूलेषु चर्मासि | 4 | 10 | c |
| धन्या वनौकस इयान् हि सतां निसर्ग: | 15 | 7 | d |
| धन्यास्स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता: | 21 | 12 | a |
| धम्येय मद्य धरणी तृणवीरुधस्त्वत् | 15 | 8 | a |
| धरया सह भार्यया | 8 | 48 | b |
| धराधरोष्ठो जलदोत्तरोष्ठ: | 12 | 17 | a |
| धर्मयुक्तं महात्मन: | 22 | 20 | b |
| धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय | 27 | 5 | d |
| धर्मोऽथवा सर्वजनानुकम्पया | 16 | 35 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| धातु र्गुणविसर्जनम् | 16 | 57 | b |
| धातुप्रवालनटवेष मनुव्रतांसे | 23 | 22 | b |
| धावन् धनुश्शत मनन्तबलस्य किं तत् | 16 | 7 | d |
| धिक्कुलं धि क्रियादाक्ष्यम् | 23 | 39 | c |
| धिग्जन्म नस्सुहृद्धृतम् | 23 | 39 | a |
| धिग्व्रतं धिग्बहुज्ञताम् | 23 | 39 | b |
| धुनुत श्रीमदस्तम्भम् | 25 | 6 | c |
| धूमश्चाऽगरुसौरभ: | 6 | 35 | b |
| धूलिधूसरिताङ्ग स्त्वं | 11 | 17 | a |
| धृत व्रतानां सङ्कल्पम् | 22 | 27 | c |
| धृत्वाद्भुतं व्यात्तगुहाननं तदा | 12 | 16 | c |
| धेनवो मन्द गामिन्य: | 20 | 26 | a |
| धेनुकेन दुरात्मना | 15 | 22 | d |
| धेनूनां नियुते प्रादात् | 5 | 3 | a |
| धौतात्मभि र्योगिभिरप्यलभ्य: | 12 | 12 | b |
| ध्मान्त: शृङ्गाणि केचन | 12 | 7 | b |
| ध्यायन्त्य स्तत्पदाम्भोजम् | 22 | 31 | c |
| ध्वजोपपन्नानि पदानि विश्पते: | 16 | 18 | b |
| ध्वनिप्रतिध्वान लसद्द्रुमाकुलम् | 13 | 5 | d |
| ध्वस्तस्तम्भोवृथोद्यम: | 27 | 13 | b |
| ध्वान्तागारे धृतमणि गणंस्वाङ्कमर्थप्रदीपम् | 8 | 30 | c |
| ध्वान्तान्तरास्यो वितताध्वजिह्व: | 12 | 17 | c |
| ध्रुवंश्रितो यन्न पुरेय मीदृशी | 2 | 20 | d |
| **न** | | | |
| न कदाचिदपि स्फुटम् | 7 | 17 | d |
| न कृष्ण हृत चेतस: | 20 | 45 | d |
| नगा गावो वृषा वत्सा: | 17 | 16 | e |
| न ग्रामा न गृहा वयम् | 24 | 24 | b |
| न घटेतेति तस्य तत् | 11 | 5 | b |
| न चाऽन्त र्न बहि र्यस्य | 9 | 13 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| न चाऽन्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन् | 14 | 29 | d | नन्दगोप व्रजौकसाम् | 14 | 32 | b |
| न चार्हन्त्यवसादतुम् | 19 | 10 | b | नन्दगोपसुतं देवि | 22 | 4 | c |
| नटा इव नटं नृप | 18 | 11 | d | नन्दगोपसुतं प्रियम् | 22 | 14 | b |
| न तथा ममतालम्बि | 14 | 51 | c | नन्दगोपस्समाहित: | 7 | 15 | b |
| न तथा विद्धकण्टक: | 10 | 14 | d | नन्दगोपाभिनन्दिता | 5 | 16 | d |
| न तपो नाऽऽत्म मीमांसा | 23 | 42 | c | नन्दगोपेबृहद्वने | 7 | 33 | b |
| न तल्लिङ्गं परिश्रान्ता | 3 | 53 | c | नन्दगोष्ठ जिघांसया | 25 | 7 | d |
| न तस्मा द्विन्दते क्षेमम् | 24 | 19 | c | नन्द ते तनयोऽस्मासु | 26 | 13 | c |
| न ते तदुक्तं जगृहु: | 11 | 5 | a | नन्दपत्न्यां भविष्यसि | 2 | 9 | d |
| न ते तदोमिति प्रोचु: | 23 | 12 | a | नन्दमभ्येत्य विस्मिता: | 26 | 1 | d |
| न तेऽभवस्येश भवस्यकारणं | 2 | 39 | a | नन्दयित्वा ब्रवीद्ब्रह्मन् | 8 | 3 | c |
| न ते श्रद्धधिरेगोपा: | 7 | 10 | a | नन्दव्रजकुमारिका: | 22 | 1 | b |
| न तेषामिह सम्भव: | 3 | 16 | d | नन्द व्रज मुपेयुषि | 5 | 13 | d |
| न तेषां सत्यशीलानाम् | 7 | 13 | c | नन्द व्रजं शौरि रुपेत्य तत्र तान् | 3 | 51 | a |
| न तेषु क्लिश्यमानेषु | 5 | 27 | c | नन्द स्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा | 28 | 10 | a |
| न व्रास इहव: कार्य: | 25 | 21 | a | नन्दस्त्वात्मजउत्पन्ने | 5 | 1 | a |
| न त्वं विस्मृतशस्त्रास्त्रान् | 4 | 35 | a | नन्दस्य पत्नी कृतमज्जनादिकम् | 7 | 5 | a |
| नत्वा द्विजसती र्गोपा: | 23 | 15 | c | नन्दं विप्रास्समागम्य | 17 | 17 | a |
| न त्वाऽभीष्टं जगद्धाता | 14 | 41 | c | नन्द: कंसस्य वार्षिक्यम् | 5 | 18 | c |
| न त्वामुदश्रुजलैरकृताऽभिषेकम् | 13 | 63 | d | नन्द: किमकरो द्ब्रह्मन् | 8 | 46 | a |
| नदच्चित्रमृगद्विजम् | 18 | 7 | b | नन्द: पथिवचश्शौरि: | 6 | 1 | a |
| नद्यद्रिद्रोणिकुञ्जेषु | 18 | 16 | c | नन्द: प्रमुदितो मेने | 8 | 20 | c |
| नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्द गीतम् | 21 | 16 | a | नन्द: स्वपुत्रमादाय | 6 | 44 | a |
| नद्य: प्रसन्न सलिला: | 3 | 3 | a | नन्दादयश्चाद्भुत दर्शनाकुला: | 7 | 8 | c |
| नद्यां कदाचि दागत्य | 22 | 7 | a | नन्दादय स्तुतं दृष्ट्वा | 28 | 17 | a |
| न न: पुरो जनपदा: | 24 | 24 | a | नन्दादय स्समागम्य | 11 | 20 | c |
| न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमम् | 16 | 37 | a | नन्दादिभ्यश्चुकोप ह | 25 | 1 | d |
| न नामरूपे गुणकर्म जन्मभि: | 2 | 36 | a | नन्दादीन् वीक्ष्य तं ह्रदम् | 16 | 22 | b |
| न निवासो गुरावपि | 23 | 42 | b | नन्दाद्या ये व्रजे गोपा: | 1 | 62 | a |
| ननु स्वार्थ विमूढानां | 23 | 44 | a | नन्दालयं सवलया व्रजती विरेजु: | 5 | 11 | c |
| ननृतु र्युयुधु र्जगु: | 18 | 9 | d | नन्दो महामना स्तेभ्य: | 5 | 15 | a |
| न नेति च परन्तप | 23 | 12 | b | न न्यवर्तत कौरव्य | 1 | 46 | c |
| नन्द गोकुल मासौरै: | 25 | 8 | c | नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति | 23 | 26 | a |
| | | | | नन्वहं ते ह्यवरजा | 4 | 6 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् | 16 | 37 | b | नलकूबरसादनम् | 10 | 42 | b |
| न पुन: कल्पते राजन् | 6 | 41 | c | नवकुङ्कुमकिञ्जल्क | 5 | 10 | a |
| न पूर्वं नाऽपि चाऽपरम् | 9 | 13 | b | नवनीतैश्च चिक्षिपु: | 5 | 14 | d |
| न प्रीतयेऽनुरागाय हि | 23 | 32 | a | नवपल्लवमण्डिते | 23 | 21 | b |
| न भस्स्व र्विवराणि च | 8 | 38 | b | नववारिनिषेवया | 20 | 13 | b |
| न भ्रातृबन्धु सुहृद: कुतएव चाऽन्ये | 23 | 30 | b | न वव्रायेऽपवर्गं मे | 3 | 39 | c |
| नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मन: | 15 | 5 | c | न वा अमीषाञ्च सतां विनाशनम् | 12 | 28 | b |
| न मयोदित पूर्वं वा | 22 | 11 | a | न विद्यते तेऽग्रहणानुबन्ध: | 27 | 4 | d |
| न मय्यावेशितधियाम् | 22 | 29 | a | न विद्यते यत्र वनौकसां दव: | 18 | 5 | c |
| न मर्त्या एव केवलम् | 4 | 17 | b | न विवाससमात्मानम् | 10 | 20 | c |
| नमस्तुभ्यं भगवते | 16 | 39 | a | न वेद स्वां गतिं भ्रमन् | 28 | 13 | d |
| नमस्तुभ्यं भगवते | 23 | 49 | a | न शक्नुमस्त्वच्चरणं | 17 | 24 | c |
| नमस्तुभ्यं भगवते | 27 | 10 | a | न शक्यते रूढपयश्चिकित्सितुम् | 4 | 38 | b |
| नमस्तुभ्यं भगवते | 28 | 6 | a | न शोचं न क्रियाश्चुभा: | 23 | 42 | d |
| नमस्तेऽप्राकृताय च | 16 | 40 | d | नश्यन्त्यग्नौ पतङ्गवत् | 11 | 55 | d |
| नमस्ते विश्वमङ्गल | 10 | 36 | b | न श्रीरप्यङ्ग संश्रया | 9 | 20 | b |
| नम: कृष्णाय रामाय | 16 | 45 | a | नष्टत्रिलोकेशमद: | 27 | 3 | c |
| नम: परमकल्याण! | 10 | 36 | a | नष्टलब्धप्रजा सती | 17 | 18 | b |
| नम: प्रमाणमूलाय | 16 | 44 | a | नष्टाजीव्या विचेतस: | 19 | 4 | d |
| न मृषेति विचिन्तयन् | 6 | 1 | b | नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने | 3 | 25 | a |
| नमो गुणप्रदीपाय | 16 | 46 | a | न सेव्यते पशुगणै: | 15 | 24 | c |
| नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय | 16 | 43 | a | न सेहे गिरिकूटवत् | 7 | 18 | d |
| नमो वो द्विजपत्नीभ्य: | 23 | 16 | a | नस्तो वमन् परमकश्मलमाप नाग: | 16 | 28 | d |
| न यत्रचण्डांशुकरा विषोल्बणा: | 18 | 6 | c | न स्त्री भवितुमर्हति | 8 | 8 | d |
| न यत्र श्रवणादीनि | 6 | 3 | a | न हि गोप्यं हि साधूनाम् | 24 | 4 | c |
| न यत्र श्रूयते माया | 28 | 6 | c | न हि मद्भावयुक्तानाम् | 25 | 17 | a |
| न युष्मद्भ्यमाप्नुयात् | 16 | 61 | d | न हि वेदा: कलौ युगे | 20 | 8 | d |
| न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा | 16 | 37 | c | न ह्यकर्तु: प्रभुर्हि स: | 24 | 14 | d |
| न राजोड्डपश्छन्न: | 20 | 19 | a | न ह्यन्यो जुषतो जोषान् | 10 | 8 | a |
| नरा मूढा: कुटुम्बिन: | 20 | 37 | d | न ह्यस्मादस्ति मे भयम् | 1 | 60 | b |
| नर्मणाऽऽक्षिप्तचेतस: | 22 | 13 | b | न ह्यस्यास्ते भयं सौम्य | 1 | 54 | a |
| नलकूबरमणिग्रीवौ | 9 | 23 | c | नागपत्न्यश्च सादरम् | 16 | 64 | d |
| नलकूबर मणिग्रीवौ | 10 | 23 | c | नागराजोऽभ्यनुज्ञात: | 16 | 66 | c |
| नलकूबरसादनम् | 10 | 42 | b | नागानां प्राङ्विरूपित: | 17 | 2 | d |
| | | | | नागालयं रमणकम् | 17 | 1 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नागा: पर्वणि पर्वणि | 17 | 3 | b | नारायणसमो गुणै: | 26 | 22 | b |
| नातिप्रेयाञ्छरीरिणाम् | 18 | 2 | d | नारायणस्त्वं नहि सर्वदेहिनाम् | 14 | 14 | a |
| नाऽत्र स्थेयं त्वया सर्प | 16 | 60 | c | नारायणस्योदरनाभिनालात् | 14 | 13 | b |
| नाऽदृश्यत नतोन्नत | 25 | 10 | d | नारायणं तमरणं मनसा जगाम | 16 | 30 | d |
| नाऽद्यान्मत्पादलाञ्छनम् | 16 | 63 | d | नारायणोऽङ्गं नरभूजलायनात् | 14 | 14 | c |
| नाऽद्यापि पुनरुत्थिता: | 13 | 42 | d | नाविन्दन् भववेदनाम् | 11 | 57 | d |
| नानाक्रीडापरिच्छदौ | 11 | 37 | d | नाऽशकन् स्मरवेगेन | 21 | 4 | c |
| नानारसौघास्सरित: | 27 | 26 | a | नाऽशक्नोदद्भुतार्भकम् | 7 | 27 | d |
| नानावादानुरोधाय | 16 | 43 | c | नाऽशक्नोद्भूरिभारकृत् | 7 | 26 | d |
| नानावीर्या: पृथग्भूता: | 3 | 15 | c | नाशायाऽऽसारवायुभि: | 27 | 12 | b |
| नानास्वभाववीर्यौजो | 16 | 57 | c | नासत्या: सन्ति कर्हिचित् | 11 | 56 | b |
| नानोपहारबलिभि: | 2 | 10 | c | नाऽऽसां द्विजातिसंस्कार: | 23 | 42 | a |
| नानोपायनपाणय: | 5 | 8 | d | नाऽहं भक्षितवानम्ब | 8 | 35 | a |
| नाऽन्नमश्नन् हि दुष्यति | 23 | 8 | d | निगमाय नमो नम: | 16 | 44 | d |
| नान्यथा मद्भवं ज्ञानम् | 3 | 44 | c | निगृह्य निगलै र्गृहे | 1 | 66 | b |
| नाऽन्यदस्तीति किञ्चन | 14 | 56 | d | नितरां मुनिसत्तम | 1 | 2 | b |
| नाऽन्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् | 14 | 4 | d | नित्यमुद्विग्नमनस: | 4 | 32 | c |
| नाऽन्य: कश्चन लेलिह: | 17 | 12 | b | नित्यं क्षुत्क्षामदेहस्य | 10 | 16 | a |
| नाऽन्या भवेद्गतिरिन्दम तद्विधेहि | 23 | 30 | d | नित्यं तद्दर्शनोत्सुका: | 23 | 18 | b |
| नाऽन्या मेऽपि विमोहिनी | 13 | 37 | d | नित्यं यदन्तर्निजजीवितेप्सुभि: | 12 | 13 | c |
| नाऽपराधोऽस्ति देहिन: | 1 | 48 | d | नित्यं वनौकसस्तात | 24 | 24 | c |
| नाऽपश्यत्कश्चिदाऽऽत्मानम् | 7 | 23 | a | नित्यं सन्निहितो हरि: | 1 | 28 | d |
| नाऽभ्यनन्दत तद्वाक्यम् | 1 | 61 | c | नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जन: | 14 | 23 | c |
| नाऽभ्यस्यमाना: श्रुतय: | 20 | 16 | c | निदाघवह्न्यर्कभवोऽतिशाद्वले | 18 | 5 | d |
| नामग्रहण भीरव: | 6 | 30 | d | निदाघातपपीडिता: | 15 | 48 | b |
| नामधेयानि कुर्वन्ति | 2 | 11 | a | निदाघार्कातपे तीक्ष्णे | 22 | 33 | a |
| नामभिर्दूरगान् पशून् | 15 | 12 | b | निद्रयाऽपगतस्मृति: | 3 | 53 | d |
| नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते | 2 | 37 | b | निधाय याता: सदनुग्रहो भवान् | 2 | 31 | d |
| नाऽयमात्मा तथैतेषु | 4 | 19 | c | निपेतुर्व्यसव स्सर्वे | 15 | 49 | c |
| नायं सुबोधो भगवान् | 9 | 21 | a | निबोधत वचांसिन: | 23 | 16 | b |
| नाऽरयोऽभिभवन्त्येतान् | 8 | 18 | c | निमीलयत माभैष्ट | 19 | 11 | c |
| नाऽरयोऽभिभवन्त्येतान् | 26 | 21 | c | निमेषादि र्वत्सरान्तो महीयान् | 3 | 26 | c |
| नारायणसमो गुणै: | 8 | 19 | b | नियुङ्क्ष्वाऽस्माननुव्रतान् | 4 | 37 | f |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| नियुद्ध श्रमकर्शित: | 15 | 16 | b |
| निरस्तमानेन च मानदेन | 16 | 35 | b |
| निरीक्षमाणा ययुरङ्गसत्त्वरा: | 16 | 18 | d |
| निरीक्षमाणे जननी अतिष्ठताम् | 6 | 10 | d |
| निरीक्ष्य जगदीश्वर: | 17 | 25 | b |
| निरीक्ष्य तद्वपु रल मम्बरे चरत् | 18 | 27 | a |
| निरीक्ष्य पश्चात्सुत मागमच्छनै: | 9 | 8 | d |
| निरीक्ष्य भगवान्मेने | 25 | 14 | c |
| निरीक्ष्य रन्तुं भगवान्मनो दधे | 15 | 3 | d |
| निरूपितव्ये तव तस्य साक्षिण: | 2 | 36 | b |
| निरूप्य मधुरां गत: | 5 | 18 | b |
| निर्गम्यार्थान्प्रपेदिरे | 20 | 49 | b |
| निर्गुणश्च गुणिन्यभात् | 20 | 18 | b |
| निर्घातभयशङ्किता: | 11 | 1 | d |
| निर्जग्मुर्गोकुलाद्दीना: | 16 | 15 | c |
| निर्दयै रजितात्मभि: | 10 | 9 | b |
| निर्बन्धं तस्य तं ज्ञात्वा | 1 | 47 | a |
| निर्ममन्थ स्वयं दधि | 9 | 1 | d |
| निर्मलोडु गणोदयम् | 3 | 2 | b |
| निर्यातत्यजत व्रासम् | 25 | 26 | a |
| निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् | 21 | 20 | d |
| निर्विशन् भगवान्प्रेमे | 20 | 28 | c |
| निर्वैराण्यभवं स्तात | 27 | 27 | c |
| निर्व्यूह्यमाना निहनिष्यसे चमू: | 3 | 21 | d |
| निलायनै: सेतुबन्धै: | 11 | 58 | c |
| निलायनै स्सेतुबन्धै: | 14 | 61 | c |
| निवारित: सौभरिणा | 17 | 9 | c |
| निवासभूता नितरां न रेजे | 2 | 19 | b |
| निविशन्त्यो वना द्वनम् | 19 | 2 | b |
| निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात् | 1 | 4 | a |
| निवृत्तस्वनझिल्लिकम् | 18 | 4 | b |
| निवृत्त: पुन रापतेत् | 1 | 50 | d |
| निशाम्य वेधास्त्रिदशानुवाच ह | 1 | 21 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| निशाम्य श्रद्धया मर्त्य: | 6 | 45 | c |
| निशाम्याऽसुररासभ: | 15 | 29 | b |
| निशाचरीत्थं व्यथिता व्यसु: क्षितौ | 61 | 14 | a |
| निशामुखेषु खद्योता: | 20 | 8 | a |
| निशाम्य विबुधादय: | 15 | 39 | b |
| निशाम्य विस्मिता आसन् | 19 | 13 | c |
| निशाम्येन्द्रोऽतिविस्मित: | 25 | 24 | b |
| निशाम्योपरतं गोपान् | 25 | 25 | c |
| निशीथे तमसोद्भूते | 3 | 8 | a |
| निश्चलाम्बुरभूत्सूर्णीम् | 20 | 40 | a |
| निषिध्यमाना: पतिभि: | 23 | 20 | a |
| निषेक्तु र्मातुरेव वा | 10 | 11 | b |
| निष्कण्ठ्य: सुवासस: | 11 | 32 | d |
| निष्पीड्यमानाऽखिलजीवमर्मणि | 6 | 12 | b |
| निष्पेततु: परमविक्रमितातिवेप | 10 | 27 | c |
| निसर्गविज्ञात जगद्विचेष्टितम् | 6 | 9 | b |
| निहत्योरसि काशब्दम् | 15 | 30 | c |
| निहन्त्यात्मनि युञ्जत: | 13 | 46 | d |
| नि:श्रेयसाय भगवन् | 8 | 4 | c |
| नि:स्तम्भो भ्रष्टसङ्कल्प: | 25 | 24 | c |
| नीत्वाऽन्यत्र कुरुद्वहान्तरदधात्खेऽ-वस्थितो य: पुरा | 13 | 15 | c |
| नीत्वा स्वचारं कृतवत्यथोदयम् | 11 | 19 | d |
| नीपमारुह्य सत्वर: | 22 | 9 | b |
| नीराणि प्रकृतिं ययु: | 20 | 33 | b |
| नून मेतद्धरे रेव | 12 | 42 | c |
| नूनं त्वद्बान्धवा: कृष्ण | 19 | 10 | a |
| नूनं बतर्षिस्सञ्जात: | 6 | 33 | a |
| नूनं भगवतो माया | 23 | 40 | a |
| नूनं ह्यदृष्टनिष्ठोऽयम् | 5 | 29 | a |
| नूपुरै: कटकै र्भाता: | 13 | 49 | e |
| नृणां श्रीरिव भूरभूत् | 20 | 11 | d |
| नृत्यगीताद्यनेकार्है: | 13 | 52 | c |
| नृत्यतो गायत: क्वाऽपि | 15 | 15 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| नृत्यन्तश्च कलापिभि: | 12 | 8 | d |
| नृत्यन्त्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्य: | 15 | 7 | a |
| नृत्यन् पदानुनमयन्दमयाम्बभूव | 16 | 29 | c |
| नृप स्वात्मैव वल्लभ: | 14 | 50 | b |
| नृलोक मनुशीलयन् | 23 | 36 | b |
| नृशंसं निरपत्रपम् | 1 | 36 | b |
| नृशंसं निरपत्रपम् | 1 | 53 | b |
| नेत्रे आसीत्सुविस्मिता | 7 | 37 | d |
| नेदुर्दुन्दुभयस्समम् | 1 | 33 | b |
| नेदुर्दुन्दुभयो दिवि | 3 | 5 | d |
| नेमं विरिञ्चो न भव: | 9 | 20 | a |
| नेशे महि त्वबसितुं मनसाऽऽन्तरेण | 14 | 2 | c |
| नेह स्थेयं बहुदिनम् | 5 | 30 | c |
| नैकत्र प्रियसंवास: | 5 | 24 | a |
| नैकोऽप्यभोजि कबल: | 14 | 45 | c |
| नैतच्चित्रं भगवति हि | 15 | 35 | a |
| नैतद्विचित्रं मनुजार्भमायिन: | 12 | 38 | a |
| नैते सुरेशा ऋषयो न चैते | 13 | 39 | a |
| नैवाविन्दन् क्षीयमाणम् | 20 | 37 | a |
| नैवाऽशृणो द्वै रुदितं सुतस्य सा | 7 | 6 | c |
| नैवैते घोरदर्शना: | 11 | 55 | b |
| नैषाति दुस्सहा क्षुन्मां | 1 | 13 | a |
| नो चे द्राक्षे ब्रुवामहे | 22 | 15 | d |
| नो चेन्नाहं प्रदास्ये किं | 22 | 16 | e |
| नोदितो देवमातृभि: | 27 | 23 | b |
| नोपेक्ष्या इति मन्महे | 4 | 37 | d |
| नोपेयातां यदाऽऽहूतौ | 11 | 12 | c |
| नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तटिदम्बराय | 14 | 1 | a |
| न्यगृह्णाद्भगवानह्नि | 16 | 2 | b |
| न्यवर्तत वना द्वजम् | 14 | 46 | d |
| न्यविशद्वायुना वातम् | 21 | 1 | c |
| न्यषेध त्प्रीतिमावहन् | 9 | 4 | d |
| न्यस्तशस्त्रा दिवौकस: | 4 | 34 | b |
| न्यस्यात्मन्यथ बालस्य | 6 | 22 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| न्याय्यो हि दण्ड: कृतकिल्बिषेऽस्मिन् | 16 | 33 | a |
| न्यूषु रङ्गापि सारसा: | 20 | 22 | b |
| **प** | | | |
| पक्वखर्जूरजम्बुमत् | 20 | 25 | b |
| पक्षिसङ्घैर्विवर्जितम् | 15 | 24 | d |
| पक्षेण सव्येन हिरण्यरोचिषा | 17 | 7 | c |
| पङ्काङ्गरागरुचिरावुपगूह्य दोर्भ्याम् | 8 | 23 | b |
| पच्यन्तां विविधा: पाका: | 24 | 26 | a |
| पञ्चषट्सु त्रियामासु | 13 | 28 | c |
| पतन्ति पतितानि च | 15 | 22 | b |
| पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्य: | 2 | 32 | d |
| पतन्त्युपरिगा: खगा: | 16 | 4 | d |
| पतमानोऽपि तद्देह: | 6 | 15 | a |
| पतमानो बृहच्छिरा: | 15 | 33 | b |
| पतयो नाभ्यसूयेरन् | 23 | 31 | a |
| पतयो वो द्विजातय: | 23 | 28 | b |
| पतितेभ्यो यथार्हत: | 24 | 28 | b |
| पतिं मे कुरु ते नम: | 22 | 4 | d |
| पति: प्राण: प्रदीयताम् | 16 | 52 | d |
| पत्त्रपुष्पफलच्छाया | 22 | 37 | a |
| पत्न्य: कत्यभवन् विभो: | 1 | 11 | d |
| पथि प्रग्रहिणं कंसम् | 1 | 34 | a |
| पथि व्यशेत ग्रसनाशया खल: | 12 | 16 | d |
| पदव्या यमुना तटम् | 16 | 17 | d |
| पदं पदं य द्विपदां न तेषाम् | 14 | 58 | d |
| पदाम्बुजं ते सुमन: फलार्हणम् | 15 | 5 | b |
| पद्भ्यां भक्तहृदिस्थाभ्याम् | 6 | 38 | a |
| पद्माकर सुगन्धिना | 21 | 1 | b |
| पपौ यस्या: स्तनं हरि: | 8 | 46 | d |
| पप्रच्छ भूयोऽपि तदेव पुण्यं | 12 | 40 | c |
| पयांसि यासामपिबत् | 6 | 40 | a |
| परश्वाऽपि विमोहित: | 7 | 23 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| परव्राजातोऽतन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ | 13 | 58 | b | पशूंश्चारयतो गोपैः | 18 | 17 | a |
| परब्रह्मात्मनोऽखिलान् | 13 | 56 | b | पश्यतां सर्वभूतानाम् | 25 | 28 | c |
| परमात्मान मेव च | 14 | 27 | b | पश्य एतान् महाभागान् | 22 | 35 | a |
| परमानन्द निर्वृताः | 28 | 17 | b | पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात् | 13 | 47 | b |
| परं कौतूहलं गुरो | 12 | 42 | b | पश्यत्सु बालेषु ददार लीलया | 11 | 50 | c |
| परं न जीर्णाश्शिशवस्सवत्साः | 12 | 26 | b | पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये | 2 | 28 | d |
| परं नताङ्गः कृतधीः कृताञ्जलिः | 3 | 12 | b | पश्य पश्य वयस्यां स्ते | 11 | 18 | a |
| परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनि | 14 | 9 | b | पश्येश मेऽनार्यमनन्त आद्ये | 14 | 9 | a |
| पराय परमात्मने | 16 | 39 | d | पस्पर्श पादयो रेनम् | 27 | 2 | c |
| परार्थैकान्त जीवितान् | 22 | 35 | b | पाणिभ्यां योनि माच्छाद्य | 22 | 17 | c |
| परार्ध्यै रपि भूषणैः | 16 | 65 | b | पात्यमानैः पपात ह | 11 | 43 | b |
| परावरगतिज्ञाय | 16 | 48 | a | पादमूल मुपाययुः | 25 | 12 | d |
| परावराणां परमस्य वेधसः | 12 | 38 | b | पादसंवाहनं चक्रुः | 15 | 17 | a |
| परिक्रम्याऽभिवन्द्य तम् | 16 | 66 | d | पादसंवाहनादिभिः | 15 | 14 | d |
| परिव्रात स्सुरेश्वरैः | 11 | 24 | d | पादस्पर्शाशया सकृत् | 23 | 46 | b |
| परिधाय स्व वासांसि | 22 | 26 | a | पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभि मृष्टाः | 15 | 8 | b |
| परिपक्वफलान्वितम् | 26 | 10 | d | पादाम्बुजोऽखिल कलादिगुरुर्ननर्त | 16 | 26 | d |
| परिभूतो न्यवर्तत | 13 | 40 | d | पानीयसूयवसकन्दर कन्दमूलैः | 21 | 19 | d |
| परिष्वज्याऽङ्कमारोप्य | 17 | 18 | c | पापे प्रलम्बे निहते | 18 | 32 | a |
| परिहास मुवाच ह | 22 | 9 | d | पाययित्वा स्तनं माता | 6 | 31 | c |
| परीता महदादिभिः | 13 | 53 | d | पाययित्वा पपुर्जलम् | 11 | 45 | d |
| परुषानिलश्वासदवेक्षणोष्णः | 12 | 17 | d | पारम्पर्यागतं नरः | 24 | 11 | b |
| पर्जन्यः काल आगते | 20 | 5 | d | पार्श्वस्थं कम्पयन् भग्नः | 15 | 33 | c |
| पर्जन्यः फलभावनः | 24 | 10 | d | पार्ष्णिप्रहारपरिरुग्णफणातपत्रम् | 16 | 31 | b |
| पर्जन्यो भगवानिन्द्रः | 24 | 8 | a | पालयन् वत्सपो वर्षं | 13 | 27 | c |
| पर्यक्ष्मोविषकषाय विभीषणोर्मिः | 16 | 7 | c | पालयिष्यन्त एकदा | 11 | 45 | b |
| पलायनपरा ययुः | 4 | 33 | d | पाषण्डिना मसद्वादैः | 20 | 23 | c |
| पल्लवैरङ्कुरैः फलैः | 13 | 9 | b | पितरं प्राह केशवः | 24 | 12 | d |
| पवन उपारत पांसुवर्षविगे | 7 | 25 | d | पितरं वरुणा हृतम् | 28 | 3 | d |
| पशवो जातवेपनाः | 25 | 11 | b | पितरौ नाऽन्वविन्देताम् | 8 | 47 | a |
| पशव्यं नवकाननम् | 11 | 27 | b | पिता गुरुस्त्वं जगता मधीशः | 27 | 6 | a |
| पशून् नयत संक्षयम् | 25 | 6 | d | पिता ते पितृवत्सल | 28 | 8 | d |
| पशून् पुरस्कृत्य पशव्य माविशत् | 15 | 2 | c | पितामहा मे समरेऽमरञ्जयैः | 1 | 5 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| पितुर्गेहात् व्रजं गत: | 1 | 9 | b |
| पितृदेवार्चनं तथा | 5 | 2 | d |
| पितृभ्रातृसुतादय: | 23 | 31 | b |
| पितैष ते मयाऽऽनीत: | 28 | 8 | a |
| पित्रो: सम्पश्यतोस्सद्य: | 3 | 46 | c |
| पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजात् | 1 | 13 | c |
| पीठको न्मानपादुकम् | 11 | 10 | b |
| पीडयामासु रोजसा | 25 | 8 | d |
| पीतकौशेय बासस: | 13 | 47 | d |
| पीतप्रायस्य जननी | 7 | 35 | a |
| पीत: स्तन: सह प्राणै: | 26 | 4 | c |
| पीतामृतैरप्यमरै: प्रतीक्ष्यते | 12 | 13 | d |
| पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम् | 3 | 9 | d |
| पीत्वाऽप: पादपा: पद्भि: | 20 | 21 | a |
| पीत्वा मुकुन्दमुखसारघ मक्षिभृङ्गै: | 15 | 43 | a |
| पीत्वा मुखेन तान्कृच्छ्रात् | 19 | 12 | c |
| पीत्वा विषं परेतस्य | 15 | 52 | c |
| पीनाहि भोगोत्थितमद्भुतं महत् | 12 | 33 | a |
| पीयूषमुत्तभित कर्णपुटै: पिबन्त्य: | 21 | 14 | b |
| पुण्यगन्धवह: शुचि: | 3 | 4 | b |
| पुण्यश्रवणकीर्तन: | 15 | 41 | b |
| पुण्याद्रि तृणवीरुधम् | 11 | 27 | d |
| पुण्यं कृष्णकथामृतम् | 12 | 43 | d |
| पुत्रभूते जनार्दने | 8 | 51 | b |
| पुत्रयो: पुत्रवत्सले | 15 | 44 | b |
| पुत्रवित्त गृहादिषु | 14 | 51 | d |
| पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं जातकम्पञ्च सुभ्रू: | 9 | 3 | b |
| पुत्रस्नेह स्नुत स्तनी | 11 | 13 | d |
| पुत्रस्नेह स्नुता न्यलम् | 6 | 40 | b |
| पुत्रान् प्रसुषुवे चाऽष्टौ | 1 | 56 | c |
| पुत्रान् समर्पयिष्येऽस्या: | 1 | 54 | c |
| पुत्रांश्च सुहृदस्सखीन् | 1 | 67 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| पुत्रिकैका प्रदीयताम् | 4 | 5 | d |
| पुत्रौ भूत्वा तम:प्लुतौ | 10 | 20 | b |
| पुनरासाद्य संरब्ध: | 15 | 31 | a |
| पुनरुत्थान मात्मन: | 15 | 52 | d |
| पुनर्गोरिजसाऽर्भकम् | 6 | 21 | b |
| पुनर्भाण्डीरमापिता: | 19 | 13 | b |
| पुनर्योगिनिषेवया | 20 | 33 | d |
| पुन: पुन रुदैक्षत | 17 | 16 | d |
| पुमान्चिरज्येत विना पशुघ्नात् | 1 | 4 | d |
| पुमान्वेद परावरम् | 8 | 5 | d |
| पुरग्राम व्रजाकरा | 3 | 2 | d |
| पुरग्राम व्रजादिषु | 4 | 31 | d |
| पुरग्राम व्रजादिषु | 6 | 2 | d |
| पुरग्रामेष्वाग्रयणै: | 20 | 48 | a |
| पुरं यथा रुद्रशरेण विद्धम् | 7 | 29 | c |
| पुरा नारद शापेन | 9 | 23 | a |
| पुराऽनेन व्रजपते | 8 | 17 | a |
| पुरानेन व्रजपते | 26 | 20 | a |
| पुरावदाब्दं क्रीडन्तम् | 13 | 41 | c |
| पुरावदस्वपि हरे: | 13 | 25 | c |
| पुरुष: प्रकृते: पर: | 3 | 13 | b |
| पुरुषादाननुव्रत: | 1 | 46 | d |
| पुरुषादैरिवाभ्येत्य | 4 | 15 | c |
| पुरुषाय महात्मने | 16 | 39 | b |
| पुरुषाय महात्मने | 27 | 10 | b |
| पुरुषावप्यचक्ष्महि | 11 | 4 | d |
| पुरुषां स्त्रीन् पुनाति हि | 1 | 16 | b |
| पुरुषेषु गुणिष्विव | 20 | 17 | d |
| पुरेह भूमन्बहवोऽपि योगिन: | 14 | 5 | a |
| पुरैव पुंसाऽवधृतो धराज्वर: | 1 | 22 | a |
| पुलिनारोह भीषणम् | 6 | 17 | b |
| पुलिनेऽपि च वत्सपान् | 13 | 16 | b |
| पुष्करं गजराडिव | 26 | 3 | d |
| पुष्प वर्षाणि पार्थिव | 25 | 31 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पुष्पिण्य: शरदाऽभवन् | 20 | 46 | b | पृथक्पृथ गुपासिता: | 13 | 52 | d |
| पुष्पैस्सुपूजित इवेह पुमान् पुराण: | 16 | 29 | d | पृथुश्रोण्यश्चलत्कुचा: | 5 | 10 | d |
| पुष्पैस्सुरा अप्सरसश्च नर्तनै: | 12 | 34 | b | पृथ्व्यां वपु: कनकदण्डमिवाऽ- | | | |
| पुष्पोपहार नुतिभि: सहसोप सेदु: | 16 | 27 | d | भिपात्य | 13 | 63 | b |
| पुंसस्त्रिवर्गो विहित: | 5 | 27 | a | पृश्निगर्भ इति श्रुत: | 3 | 41 | d |
| पुंसां पुरुषकारणाम् | 24 | 10 | c | पृश्निगर्भस्तु ते बुद्धिम् | 6 | 26 | a |
| पुंसोऽक्ष्णोस्सवितुर्यथा | 10 | 18 | d | पृश्नि: स्वायम्भुवे सति | 3 | 32 | b |
| पुंसोऽक्ष्णोस्सवितुर्यथा | 10 | 41 | d | पृष्ट्वाऽनामय मादृत: | 5 | 21 | b |
| पुंसो महदतिक्रम: | 4 | 46 | d | पेतु: क्षितौ वज्रनिपातशङ्कया | 6 | 13 | d |
| पुंसो यथा स्वतन्त्रस्य | 20 | 10 | c | पौगण्डे कीर्तितं भुवि | 14 | 59 | d |
| पूजयित्वा जगन्नाथम् | 16 | 66 | a | प्रकाशते यस्य च येन वा गुण: | 2 | 35 | d |
| पूजां चक्रु: कुमारिका: | 22 | 5 | b | प्रकीर्णारुणमूर्धजम् | 6 | 16 | d |
| पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकै: | 21 | 12 | d | प्रचण्डवेगो मधुसूदनासन: | 17 | 7 | b |
| पूजितस्सुखमासीन: | 5 | 21 | a | प्रच्छाद्यासार पीडिता: | 25 | 12 | b |
| पूतनाकेशिधेनुकै: | 2 | 1 | d | प्रजानां नाशहेतव: | 11 | 22 | d |
| पूतनाऽऽगमनादिकम् | 6 | 43 | b | प्रजापति पतिर्विभु: | 1 | 26 | b |
| पूतना नन्दगोकुलम् | 6 | 4 | b | प्रजापति रकल्मष: | 3 | 32 | d |
| पूतना बालघातिनी | 6 | 2 | b | प्रजा यत्समपद्यत | 5 | 22 | d |
| पूतना मातृकादय: | 6 | 29 | b | प्रजा वयमनुग्राह्या: | 28 | 8 | e |
| पूतनाया महौजस: | 26 | 4 | b | प्रजाशाया निवृत्तस्य | 5 | 22 | c |
| पूतना लोकबालघ्नी | 6 | 36 | a | प्रजासर्गे यदा तत: | 3 | 33 | b |
| पूर्णस्य करवाम किम् | 8 | 3 | d | प्रजासव: प्राणभृतो हि ये ते | 12 | 15 | d |
| पूर्णं पुरुष सूक्तेन | 1 | 20 | c | प्रजा स्तै रेव सिध्यन्ति | 24 | 23 | c |
| पूर्णं ब्रह्मसनातनम् | 14 | 32 | d | प्रजा स्नेह मयी विभु: | 8 | 43 | d |
| पूर्णा: पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग | 21 | 18 | a | प्रणमे त्स्वामिनं नर: | 22 | 22 | b |
| पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृत: | 14 | 23 | d | प्रणमे हेवमच्युतम् | 22 | 21 | d |
| पूर्णोन्तरङ्गे पवनो निरुद्ध: | 12 | 31 | c | प्रणम्य च पुन: पुन: | 10 | 43 | b |
| पूर्तेष्टदत्तमुत भूतसौहृदम् | 7 | 32 | b | प्रणिपात पुरस्सरम् | 8 | 2 | d |
| पूर्देव्यन्तीव पुत्रिका | 13 | 51 | d | प्रणीतं भवता येन | 8 | 5 | c |
| पूर्वन्तु तान्नि: स्वनित् | 6 | 18 | c | प्रणीय वत्सान्व्रजमेत्य तज्जगु: | 11 | 52 | d |
| पूर्ववत् स्थापितं गोपै: | 7 | 12 | a | प्रतिक्षणं नव्यव दच्युतस्य यत् | 13 | 2 | c |
| पूर्वापरं बहिश्चाऽन्त: | 9 | 13 | c | प्रतिगृह्य परिक्रम्य | 2 | 14 | c |
| पृच्छत स्साधु भण्यताम् | 24 | 7 | d | प्रतिनेदु: प्रहर्षिता: | 19 | 6 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| प्रतिमुच्य पदोर्लोहम् | 3 | 52 | c |
| प्रतियातु कुमारोऽयम् | 1 | 60 | a |
| प्रतिलब्धेन्द्रिय प्राण: | 16 | 55 | a |
| प्रतिवार्यात्मवत्सपै: | 13 | 20 | b |
| प्रतिस्पर्धेते सृक्कभ्याम् | 12 | 21 | a |
| प्रतीक्षते त्वां दाशार्ह | 11 | 16 | a |
| प्रतीक्षमाणेन बकारिवेशनम् | 12 | 26 | c |
| प्रतीक्ष्य खेऽवस्थित मीशनिर्गमम् | 12 | 33 | c |
| प्रतीच्छन्तु शुचिस्मिता: | 22 | 16 | d |
| प्रत्यनन्द च्छिखण्डिन: | 20 | 20 | b |
| प्रत्यभ्यया दुच्छ्रितनैकमस्तक: | 17 | 6 | b |
| प्रत्यर्च्य कृष्ण चरितं कलिकल्म षघ्नम् | 1 | 14 | c |
| प्रत्यर्प्य मृत्यवे पुत्त्रान् | 1 | 49 | a |
| प्रत्यषेध त्स भगवान् | 16 | 22 | c |
| प्रत्याह तं भागवतोत्तमोत्तमम् | 8 | 2 | b |
| प्रत्युत्थाय कृताञ्जलि: | 8 | 2 | b |
| प्रदक्षिणञ्च कुरुत | 24 | 29 | c |
| प्रदग्धु मुपचक्रमे | 17 | 21 | f |
| प्रदीप्तदृग्भ्रकुटि तटोग्र दंष्ट्रकम् | 18 | 27 | b |
| प्रद्युम्नायानिरुद्धाय | 16 | 45 | c |
| प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि | 14 | 37 | a |
| प्रपद्यते तत्किमपि ह्यपस्मृति: | 1 | 41 | d |
| प्रपद्यमान स्सह तेन जायते | 1 | 42 | d |
| प्रपन्नजनतानन्द- | 14 | 37 | c |
| प्रपन्नां स्त्रातु मर्हथ: | 19 | 9 | d |
| प्रपेदिरेऽञ्जोच्युत ते गतिं पराम् | 14 | 5 | d |
| प्रबोधय ञ्छङ्खरवेण चारुणा | 12 | 1 | c |
| प्रभावज्ञोऽनुजस्य स: | 16 | 16 | d |
| प्रभो विधात स्सदनुग्रहाय च | 14 | 20 | d |
| प्रमत्तानां गृहेहया | 23 | 44 | b |
| प्रमोदनिभृतात्मन: | 17 | 14 | c |
| प्रयच्छ तानि न: कृष्ण | 15 | 25 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतञ्च | 1 | 7 | c |
| प्रयाणे रथ मारुहत् | 1 | 29 | d |
| प्रयाणोपक्रमे तात | 1 | 33 | c |
| प्रयात देवयजनं | 23 | 3 | a |
| प्रलम्ब बकचाणूर | 2 | 1 | a |
| प्रलम्ब वधमेव च | 20 | 1 | d |
| प्रलम्बं घातयित्वोग्रम् | 26 | 11 | a |
| प्रलम्बो रोहिणी सुतम् | 18 | 24 | d |
| प्रवाल फलतण्डुलै: | 22 | 3 | d |
| प्रवाल बर्हस्तबक | 18 | 9 | a |
| प्रवाल मृद्वङ्घ्रिहतं व्यवर्तत | 7 | 7 | b |
| प्रविशन्तं जिघांसया | 26 | 9 | b |
| प्रविश्य सन्दृश्य च दध्यमत्रकम् | 9 | 7 | b |
| प्रविष्ट इव भाव्यसे | 3 | 14 | d |
| प्रविष्ट मुदकं निशि | 28 | 2 | d |
| प्रवृत्ताय निवृत्ताय | 16 | 44 | c |
| प्रवृद्धस्नेह कलिल | 8 | 44 | c |
| प्रशमायोपकल्पते | 25 | 17 | d |
| प्रशशंसु रथाऽपरे | 18 | 10 | d |
| प्रशशंसु स्तदर्हणम् | 18 | 31 | b |
| प्रशस्य प्राविशद्गृहम् | 1 | 55 | d |
| प्रश्रयावनतोऽपृच्छत् | 24 | 2 | c |
| प्रश्रिता इद मब्रुवन् | 23 | 15 | d |
| प्रसक्तधी स्स्वात्मजयो: | 5 | 21 | c |
| प्रसह्य क्षुधितोऽहरत् | 17 | 9 | d |
| प्रसह्योदास्य यमुनां | 26 | 12 | c |
| प्रसादलेशानुगृहीत एव हि | 14 | 29 | b |
| प्रसादं लेभिरे गोपी | 9 | 20 | c |
| प्रसाद्य गरुड ध्वजम् | 16 | 66 | b |
| प्रसार्य गोष्ठे निजरूपमास्थिता | 6 | 14 | c |
| प्रसीदन्निदमब्रवीत् | 23 | 2 | d |
| प्रसून बन मास्तम् | 20 | 45 | b |
| प्रस्खलन्मुक्तमूर्धज: | 4 | 3 | d |
| प्रस्तेभिता: क्रीडनवच्च कारिता: | 22 | 25 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| प्रस्नुतं पाययामास | 7 | 34 | c | प्रापाऽऽत्मसाम्यन्त्वसतां सुदुर्लभम् | 12 | 38 | d |
| प्रस्विन्नगात्रा क्षपती रुरोद ह | 6 | 12 | d | प्राप्तं कालं प्रतिव्योढुम् | 1 | 47 | c |
| प्रहसन्नाऽऽह गुह्यकौ | 10 | 39 | d | प्राप्तं वीक्ष्य हृषीकेशम् | 28 | 4 | a |
| प्रहसन्निदमब्रवीत् | 1 | 53 | d | प्राप्ता आत्मदिदृक्षया | 23 | 24 | b |
| प्रहसन्निदमब्रवीत् | 1 | 59 | d | प्राप्ताज्ञानीत भद्रं व: | 23 | 6 | c |
| प्रहसन्निदमब्रवीत् | 27 | 14 | d | प्राप्ता वयं तुलसिदाम पदावसृष्टम् | 23 | 29 | c |
| प्रहस्य किञ्चिन्नोवाच | 16 | 16 | c | प्राप्योत्सृजति कर्मणा | 24 | 17 | b |
| प्रहस्य जगदीश्वर: | 23 | 13 | b | प्राप्स्यामि त्वं यशोदायाम् | 2 | 9 | c |
| प्रहस्य जग्मतुर्गोपै: | 15 | 27 | c | प्राय: श्रुतप्रियतमोदय कर्णपूरै: | 23 | 23 | a |
| प्रहस्य तमुवाच ह | 4 | 25 | d | प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या: | 15 | 6 | c |
| प्रहृष्ट वदनाम्भोज: | 1 | 53 | a | प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेस्मिन् | 21 | 15 | a |
| प्राक् क्षामा स्तपसा श्रान्ता: | 20 | 21 | c | प्रायो बीजाय नेष्यते | 22 | 29 | d |
| प्राक्तनं त्यजते वपु: | 1 | 39 | d | प्रायो मायास्तु मे भर्तु: | 13 | 37 | c |
| प्राक् सिद्धं गुणसंवृत: | 10 | 32 | d | प्राविशत्कामचारिणी | 6 | 4 | d |
| प्रागयं वसुदेवस्य | 8 | 14 | a | प्रावृट् श्रियञ्च तां वीक्ष्य | 20 | 31 | a |
| प्रागयं वसुदेवस्य | 26 | 17 | a | प्राह प्रहसितानन: | 23 | 24 | d |
| प्रागेव विद्यमानत्वात् | 3 | 16 | c | प्राहिणोत्तृणराजसु | 15 | 37 | d |
| प्राग्जन्मस्मरणाय मे | 3 | 44 | b | प्राहिणोद्गत जीवितम् | 11 | 42 | d |
| प्राङ्गं यथाभिमतयो विजहुर्नरेन्द्र | 23 | 23 | d | प्राहुस्सङ्कर्षणं भुवि | 2 | 13 | b |
| प्राणबुद्धिमन: स्वात्म | 23 | 27 | a | प्रियकृद्रामकृष्णयो: | 11 | 21 | d |
| प्राणान् नारायणोऽवतु | 6 | 25 | b | प्रीणनं जीवनं पय: | 24 | 8 | d |
| प्राणां स्त्यजति पन्नग: | 16 | 52 | b | प्रीणनं जीवनं ह्यम्बु | 20 | 6 | c |
| प्राणिन: स्थिरजङ्गमा: | 16 | 5 | d | प्रीत: प्रियतमं दोर्भ्याम् | 5 | 20 | c |
| प्राणे गते वर्ष्मसु का नु चिन्ता | 12 | 15 | c | प्रीत: प्रोवाच सस्मित: | 22 | 18 | d |
| प्राणेशश्चान्तरात्मन: | 14 | 43 | b | प्रीतिं कुर्वन्ति मानवा: | 8 | 18 | b |
| प्राणेषु वत्सान् सुहृद: परेतान् | 12 | 32 | b | प्रीतिं कुर्वन्ति मानवा: | 26 | 21 | b |
| प्राणैरर्थैर्धिया वाचा | 22 | 38 | c | प्रीत्या मृदङ्गपणवानक वाद्यगीत प्रेक्षणाक्ष मभाषत | 16 | 27 | c |
| प्राणैस्समं रोषसमन्वितोऽपिबत् | 6 | 11 | d | प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा जहृषुर्हसन्त्य: | 8 | 33 | d |
| प्रातरेव कृताहार: | 11 | 15 | c | प्रेक्ष्याद्रिसान्वपरतान्य समस्तसत्त्वम् | 8 | 24 | d |
| प्रात स्समुत्थाय वयस्य वत्सपान् | 12 | 1 | b | प्रेत्याऽऽगत मिवाऽऽलिङ्ग्य | 21 | 11 | d |
| प्रादात्ते चाऽन्वयुज्यत | 7 | 16 | d | प्रेत्याऽऽगत मिवौत्सुक्यात् | 18 | 31 | c |
| प्रादादन्नं महागुणम् | 7 | 15 | d | प्रेमप्रवृद्ध उदित: कुसुमा बलीभि: | 11 | 53 | c |
| प्रादुरासं वरदराट् | 3 | 38 | a | | 21 | 17 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| प्रेमविह्वलचेतस: | 18 | 31 | d |
| प्रेम्णा तमङ्कमारोप्य | 17 | 16 | c |
| प्रेष्ठसङ्गमसज्जिता: | 22 | 26 | b |
| प्रोक्तं निशम्य नन्दाद्या: | 24 | 31 | c |
| प्रोक्ता स्ते शौरिणा ययु: | 5 | 31 | c |
| प्रोत्तेरुस्तीरमङ्गना: | 22 | 17 | d |
| प्रोध्मात वेणुदलशृङ्ग खोत्सवाढ्य: | 14 | 47 | b |
| प्रोष्याऽऽगत उदारधी: | 6 | 44 | b |
| प्लवन्तश्च पलाशिषु | 12 | 9 | d |
| प्लवानां स्रोतसो यथा | 5 | 24 | d |
| **फ** | | | |
| फल पुष्पदलोत्करै: | 22 | 39 | b |
| फलप्रकर सङ्कीर्ण | 15 | 38 | a |
| फल प्रवाल स्तबक | 12 | 4 | a |
| फलप्रसूनोरुभरेण पादयो: | 15 | 4 | b |
| फलभाण्ड मपूरि च | 11 | 8 | d |
| फलरूप्यन्य कर्मणाम् | 24 | 14 | b |
| फल विक्रयिणी तस्य | 11 | 8 | a |
| फलानां पततां शब्दम् | 15 | 29 | a |
| फलानि तत्र भूरीणि | 15 | 22 | a |
| फलानि पातयामास | 15 | 28 | c |
| फलानि सुरभीणि च | 15 | 24 | f |
| फलार्थी धान्य मादाय | 11 | 7 | c |
| फलै रपूरयद्रत्नै: | 11 | 8 | c |
| फलै रीशक्रिया इव | 20 | 46 | d |
| **ब** | | | |
| बकैरुपविशन्तश्च | 12 | 8 | c |
| बद्धसेतुभुजोर्वीड्ढि | 6 | 17 | c |
| बद्धाञ्जली विरजसा | 10 | 28 | d |
| बद्धोलूखलमामन्त्र्य | 10 | 43 | c |
| बद्धाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तये | 22 | 19 | c |
| बन्धूनाञ्चाऽऽवहन्मुदम् | 28 | 9 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| बन्धूनां भगवान्हरि: | 9 | 11 | b |
| बबन्ध प्राकृतं यथा | 9 | 14 | d |
| बभूवतुस्तौ पशुपाल | 15 | 1 | b |
| बभूव प्राकृतश्शिशु: | 3 | 46 | d |
| बभूवाऽऽक्रीडगह्वरम् | 12 | 36 | d |
| बभूवुरतिविस्मिता: | 6 | 32 | d |
| बभूवुरिन्द्रियाणीव | 11 | 48 | c |
| बभूवुर्जातसम्भ्रमा: | 23 | 18 | d |
| बभौ भू: पङ्कसस्याढ्या | 20 | 48 | c |
| बभ्रमुस्तदविज्ञाय | 11 | 2 | c |
| बभ्राम सोऽप्यवसरं | 16 | 25 | d |
| बर्हप्रसूननवधातु | 14 | 47 | a |
| बर्हापिञ्छो वनचरवपु: | 21 | 6 | a |
| बर्हापीडं नटवरवपु: | 21 | 5 | a |
| बर्हिणं हासयन्सखीन् | 15 | 11 | d |
| बलदेवेन संयुत: | 24 | 1 | b |
| बलभद्रं बलोच्छ्रयात् | 2 | 13 | d |
| बलस्य लीलयोत्सृष्ट | 15 | 34 | a |
| बल: प्रविश्य बाहुभ्याम् | 15 | 28 | a |
| बलाधिक्याद्बलं विदु: | 8 | 12 | d |
| बलाय प्राक्षिपद्भुषा | 15 | 31 | d |
| बलिनोऽग्ने: शुनोऽपि वा | 10 | 11 | d |
| बलिभिर्धूपदीपकै: | 22 | 3 | b |
| बलिभिस्त्वरितं जग्मु: | 5 | 10 | c |
| बलिभिस्सपरिच्छदम् | 7 | 12 | b |
| बलिमागधसंश्रय: | 2 | 2 | d |
| बलिमादत् बृहद्वपु: | 24 | 35 | d |
| बलेन बलशालिना | 18 | 30 | b |
| बलेन बलशालिना | 26 | 11 | b |
| बहवो मृत्यवोऽभवन् | 11 | 54 | a |
| बहवो हिंसिता भ्रात: | 4 | 5 | a |
| बहवो हिंसितास्सुता: | 4 | 15 | d |
| बहिरन्त:पुरद्वार: | 4 | 1 | a |
| बहुनामनिकेतेषु | 4 | 13 | c |
| बहुनामा बभूव ह | 4 | 13 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| बहुमानपुरस्सरम् | 1 | 52 | d | बृन्दावनं जनाजीन्य | 13 | 60 | c |
| बहूनि सन्ति नामानि | 8 | 15 | a | बृन्दावनं पुण्यमतीव | 15 | 1 | d |
| बहूनि सन्ति नामानि | 26 | 18 | a | बृन्दावनं सखिभुव: | 21 | 11 | a |
| बाण भौमादिभिर्युत: | 2 | 2 | b | बृन्दावनं सम्प्रविश्य | 11 | 34 | a |
| बाध्यबाधकतामियात् | 4 | 22 | d | बृन्दावनाद्गतो दूरम् | 22 | 32 | c |
| बालकस्य न वै विदु: | 7 | 10 | d | बृहत्कवाटायासकील | 3 | 48 | d |
| बालकस्य यदेतानि | 26 | 2 | a | बृहद्वनं तदधुना | 5 | 25 | c |
| बालग्रहस्तत्र विचिन्वती | 6 | 7 | a | बृहन्नितम्बस्तनकृच्छ्र | 6 | 5 | b |
| बालघ्न्या बालको ह्यसौ | 11 | 23 | b | ब्रह्मज्योतिर्निर्गुणं | 3 | 24 | b |
| बालश्च तस्या उरसि | 6 | 19 | a | ब्रह्मज्योतिस्सनातनम् | 28 | 15 | b |
| बालभाषितमित्युत | 7 | 10 | b | ब्रह्मणास्तमुवाच ह | 8 | 48 | d |
| बालयोरनयोर्नृणाम् | 8 | 6 | c | ब्रह्मणा चोदिता वयम् | «27 | 21 | b |
| बालस्योत्पाटनं तर्वो: | 11 | 5 | c | ब्रह्मणा वा तपस्यता | 4 | 37 | b |
| बालं प्रतिच्छन्ननिजोरु | 6 | 7 | c | ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये | 16 | 40 | b |
| बाला ऊचुरनेनेति | 11 | 4 | a | ब्रह्मणे परमात्मने | 28 | 6 | b |
| बालिशा बृद्धमानिन: | 23 | 9 | d | ब्रह्मन् कालान्तरकृतं | 12 | 41 | a |
| बालेन निष्कर्षयताऽन्च | 10 | 27 | a | ब्रह्मन् परोद्भवे कृष्णे | 14 | 49 | a |
| बालो निवृत्तिं गमिता | 7 | 31 | b | ब्रह्मन् भगवतस्तस्य | 16 | 3 | a |
| बाहुक्षेपञ्च कुरुते | 11 | 10 | c | ब्रह्मभावेन चाऽसकृत् | 3 | 45 | b |
| बाहुभ्यां तावपातयत् | 26 | 7 | d | ब्रह्महिंसां हितं मेने | 4 | 43 | c |
| बिभर्ति क्वचिदाज्ञप्त: | 11 | 10 | a | ब्रह्महेव मृत: श्वसन् | 4 | 16 | d |
| बिभर्ति सोऽयं ममगर्भ | 3 | 31 | c | ब्रह्माणं शरणं ययौ | 1 | 17 | d |
| बिभर्षि रूपाण्यवबोध | 2 | 29 | a | ब्रह्मा तदुपधार्याऽथ | 1 | 19 | a |
| बिभर्षि शुक्लं खलु वर्ण | 3 | 20 | b | ब्रह्माद्वयं परमनन्त | 13 | 62 | b |
| बिभ्रद्वोष्ठमपान्महेन्द्र | 26 | 25 | d | ब्रह्मापि स्वासनस्थेन | 13 | 40 | a |
| बिभ्रद्वास: कनककपिशं | 21 | 5 | b | ब्रह्मा भवश्च तत्रैत्य | 2 | 25 | a |
| बिभ्रद्वेणुं जठरपटयो: | 13 | 11 | a | ब्रह्मेव सगुणं बभौ | 20 | 4 | d |
| बीजन्यासमकुर्वत | 6 | 22 | d | ब्रह्मेशानौ पुरोधाय | 2 | 42 | c |
| बुद्धिभ्रंशो रजोगुण: | 10 | 8 | b | ब्राह्मणा नियमात्यये | 20 | 9 | d |
| बुभुक्षितस्य तस्याऽऽन्नम् | 23 | 17 | c | ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिन: | 4 | 40 | b |
| बुभुजु: कृतभाजना: | 13 | 9 | d | ब्राह्मणा ब्रह्मवादिन: | 23 | 3 | b |
| बृन्दारण्यं स्वपद | 21 | 5 | d | ब्राह्मणै: ब्रह्मवादिभि: | 24 | 27 | b |
| बृन्दावनचर:क्वचित् | 15 | 47 | b | ब्रूयु: स्निग्धस्य शिष्यस्य | 13 | 3 | c |
| बृन्दावनं गोवर्धनम् | 11 | 35 | a | | | | |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| भ | | | | भगवान् पूजयाञ्चक्रे | 20 | 31 | c |
| भक्तानामभयङ्करः | 2 | 16 | b | भगवान् बलसंयुतः | 18 | 8 | b |
| भक्ताया विप्रभार्यायाः | 23 | 2 | c | भगवान् बालचेष्टितैः | 11 | 11 | d |
| भक्तिमात्मप्रिये यथा | 23 | 26 | d | भगवान् बालवत्कचित् | 11 | 9 | b |
| भक्तिर्दृढा न चाऽस्माकम् | 23 | 43 | c | भगवान् भूतभावनः | 1 | 3 | b |
| भक्तिर्हरौ तत्पुरुषे च | 7 | 2 | c | भगवान् माधवो बलः | 16 | 16 | b |
| भक्तिस्स्यात्परमा लोके | 8 | 49 | c | भगवान्समभिष्टुतः | 16 | 54 | b |
| भक्त्या च हृदि भावितः | 3 | 37 | d | भगवान्सर्वदर्शनः | 18 | 18 | b |
| भगवत्युत्तमश्लोके | 23 | 20 | c | भगवान्हरिरीश्वरः | 7 | 1 | b |
| भगवद्रूपमपरम् | 14 | 56 | c | भगवांस्तत्र कौरव | 10 | 5 | b |
| भगवन्तमधोक्षजम् | 23 | 11 | b | भगवांस्तदभिप्रेत्य | 22 | 8 | a |
| भगवन्तं यथाश्रुतम् | 23 | 34 | b | भगवांस्तदुपश्रुत्य | 28 | 3 | c |
| भगवल्लक्षणैर्जग्मुः | 16 | 17 | c | भगिनीं हन्तुमारब्धः | 1 | 35 | c |
| भगवानखिलेश्वरः | 28 | 9 | b | भगिन्याः प्रीतिमावहन् | 1 | 30 | b |
| भगवानग्निमुल्बणम् | 19 | 12 | b | भग्नचापानयुध्यतः | 4 | 35 | d |
| भगवानपि गोविन्दः | 23 | 35 | a | भग्नं विलोक्यस्वसुतस्य | 9 | 7 | c |
| भगवानपि तत्रैव | 24 | 1 | a | भग्नार्जुनमथाऽह्वयत् | 11 | 12 | b |
| भगवानपि तं शैलम् | 25 | 28 | a | भद्रकालीं समानर्चुः | 22 | 5 | e |
| भगवानपिबत् स्तनम् | 6 | 38 | d | भयाद्धाहेति चुक्रुशुः | 12 | 29 | b |
| भगवानपि विश्वात्मा | 2 | 6 | a | भयानकावर्तशताकुलानदी | 3 | 50 | c |
| भगवानपि विश्वात्मा | 2 | 16 | a | भर्जिता कथिता धाना | 22 | 29 | c |
| भगवानात्ममायया | 3 | 46 | b | भवता लोकनाथेन | 27 | 19 | c |
| भगवानाह ता वीक्ष्य | 22 | 18 | a | भवता सोमसूर्ययोः | 1 | 1 | b |
| भगवानिदमब्रवीत् | 13 | 4 | d | भवतां किं विचारितः | 24 | 7 | b |
| भगवान्कार्यमानुषः | 16 | 60 | b | भवतां यदि रोचते | 11 | 28 | d |
| भगवान्गोकुलेश्वरः | 10 | 39 | b | भवतीनां मदर्चने | 22 | 28 | b |
| भगवान् जगदीश्वरः | 23 | 2 | b | भवत्पदाम्भोरुहनाव | 2 | 31 | c |
| भगवान् देवकीपुत्रः | 6 | 40 | c | भवत्यो यदि मेदास्यः | 22 | 16 | a |
| भगवान् देवकीसुतः | 22 | 24 | b | भवद्भिरंशैर्यदुषूप | 1 | 22 | b |
| भगवान् देवकीसुतः | 22 | 32 | b | भवद्भ्यामुपलालितः | 5 | 26 | d |
| भगवान् पुरुषः परः | 1 | 23 | b | भवानेकश्शिष्यते | 3 | 25 | d |
| | | | | भवान्भोजयशस्करः | 1 | 37 | b |
| | | | | भवान् रक्षितवान्रहः | 8 | 34 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| भवान् हि कारणं तत्र | 16 | 59 | a | भूतग्रामं तर्हि रमयन् | 21 | 6 | d |
| भवाम्बुधिर्वत्सपदं | 14 | 58 | c | भूते ध्रुक् तत्कृते | 10 | 10 | c |
| भवाय भवगोविप्र | 27 | 20 | c | भूतप्रेतपिशाचाश्च | 6 | 28 | c |
| भवाय युष्मच्चरणानु | 27 | 9 | d | भूतमात्रेन्द्रियप्राण | 16 | 42 | a |
| भवाय विभवाय च | 10 | 35 | b | भूतानामुडुपोऽहरत् | 20 | 42 | b |
| भवार्णवं भीम मदभ्र | 2 | 31 | b | भूतानां सम्बभूव ह | 2 | 17 | d |
| भवेऽत्र वाऽन्यत्र तु वा | 14 | 30 | b | भूतानि यानि स्थिर | 7 | 36 | d |
| भवो निरोध: स्थिति | 2 | 39 | c | भूतावासाय भूताय | 16 | 39 | c |
| भवौषधाच्छ्रोत्रमनोभि | 1 | 4 | b | भूतेभ्यो ह्यमृतं घना: | 20 | 24 | b |
| भाण्डीरकं नाम वटम् | 18 | 22 | c | भूत्वा निषेवे तव पाद | 14 | 30 | d |
| भारतैवं वत्सपेषु | 13 | 12 | a | भूपांसव: खे मिहिका | 14 | 7 | d |
| भारद्वाजांश्च बर्हिण: | 15 | 13 | b | भूमिर्दृप्तनृपव्याज | 1 | 17 | a |
| भारं भुवो हर यदूत्तम | 2 | 40 | d | भूमेर्भारापनुत्तये | 27 | 21 | d |
| भारोपनीतस्तव जन्म | 2 | 38 | b | भूमेर्भारायमाणानाम् | 1 | 64 | c |
| भार्याऽऽस्ते नन्दगोकुले | 2 | 7 | d | भूमौ निधाय तं गोपी | 7 | 19 | a |
| भावार्यो भुवतिस्स्मृत: | 14 | 57 | b | भूम्न: स्वच्छन्दवर्तिन: | 16 | 3 | b |
| भावैर्भाव पृथग्दृश: | 4 | 27 | d | भूम्यामुदमयं वसु | 20 | 5 | b |
| भित्त्वा मृषाश्रुर्दृषदश्मना | 9 | 6 | c | भूम्यां निपतितौ तत्र | 11 | 2 | a |
| भिन्नहृत्कर्ण मस्तका: | 6 | 18 | d | भूयान्नन्दसुत: पति: | 22 | 5 | f |
| भीतवद्व्याघ्रसिंहयो: | 15 | 13 | d | भूयो धर्म्यमिदं वच: | 22 | 21 | b |
| भीता: स्म इति वादिन: | 4 | 34 | d | भूरिपुण्यवदर्पितै: | 1-3 | 50 | d |
| भीतैर्नृभिरमित्रहन् | 15 | 24 | b | भूर्यम्बुतृणवीरुधम् | 5 | 25 | b |
| भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्ट | 21 | 10 | c | भूषिता अप्यभूषयम् | 12 | 4 | d |
| भुज्यतां गोनृभिर्नदी | 16 | 60 | f | भृशमनुतमधियोऽश्रु | 7 | 25 | b |
| भुञ्जान एवाऽऽत्मकृतं | 14 | 8 | b | भेर्यो दुन्दुभयो मुहु: | 5 | 5 | d |
| भुञ्जानं यज्ञभुक् पातु | 6 | 27 | c | भोक्ष्यमाणो व्रजाधिप: | 11 | 16 | b |
| भुञ्जान: पर्यटन्पिबन् | 2 | 24 | b | भोजानां कुलपांसन: | 1 | 35 | b |
| भुञ्जानेष्वच्युतात्मसु | 13 | 12 | b | भोजेन्द्रगेहेऽग्निशिखेव | 2 | 19 | c |
| भुव: पङ्कमपां मलम् | 20 | 34 | b | भ्रमाम: कर्म वर्त्मसु | 23 | 49 | d |
| भुवि पतिता मृतवत्सका | 7 | 24 | d | भ्रश्यत्प्रसूनकबरा | 21 | 13 | d |
| भुवि भौमानि भूतानि | 4 | 19 | a | भ्रश्यन्ति मार्गा त्वयि | 2 | 33 | b |
| भुवि विश्वेश्वरे हरौ | 8 | 49 | b | भ्रष्टानामिव चेतांसि | 20 | 33 | c |
| भुवो भराणामुरुभार | 27 | 9 | b | भ्राजमानो यथा रवि: | 2 | 17 | b |
| भुवो रसं शाद्वलितं | 18 | 6 | d | | | | |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| भ्रातरञ्चावधीत्कंसम् | 1 | 10 | c |
| भ्रातरं नन्दमागतम् | 5 | 19 | b |
| भ्रातर्मम सुत: कच्चित् | 5 | 26 | a |
| भ्रातुस्समनुतप्तस्य | 4 | 25 | a |
| भ्रातृभिर्पितृभिस्सुतै: | 23 | 20 | b |
| भ्रामणत्यक्तजीवितम् | 15 | 32 | d |
| भ्रामणैर्लङ्घनै: क्षेपै: | 18 | 12 | a |
| भ्रामयित्वा कपित्थाग्रे | 11 | 42 | c |
| भ्रामयित्वैकपाणिना | 15 | 32 | b |
| भ्रूविन्यासाङ्गुलिभि: | 21 | 6 | c |
| **म** | | | |
| मखभङ्गोऽनुगृह्णता | 27 | 15 | b |
| मग्ना: कृष्णेन चोद्धृता: | 28 | 16 | b |
| मघोना भगवानमुम् | 27 | 14 | b |
| मघोनि वर्ष त्यसकृद्यमानुजा | 3 | 50 | a |
| मण्डूका व्यसृजन्गिर: | 20 | 9 | b |
| मतङ्गज इवौजसा | 15 | 28 | d |
| मत्तस्येन्द्र श्रियाभृशम् | 27 | 15 | d |
| मत्त: कामा नभीप्सन्तौ | 3 | 35 | c |
| मत्तोऽसतां मानभङ्ग: | 25 | 17 | c |
| मत्वा गोपा स्तमीश्वरम् | 28 | 11 | b |
| मत्वापरं ब्रह्म सुता नपाययन् | 13 | 22 | d |
| मत्वा प्राप्त मतद्विद: | 16 | 14 | b |
| मत्वा वृन्दावनश्रियम् | 12 | 18 | b |
| मत्वा विवस्त्राप्लवनं व्रतच्युतिम् | 22 | 23 | b |
| मत्वा सुतं स्नेहनिबद्धधीर्नृप | 11 | 19 | b |
| मत्स्याश्वकच्छप वराह नृसिंह हंस | 2 | 40 | a |
| मथुरा भगवान्यत्र | 1 | 28 | c |
| मथुरा मावसत्पुरीम् | 1 | 27 | b |
| मथुराया व्रजं गता: | 6 | 32 | b |
| मथ्नतीं जननीं हरि: | 9 | 4 | b |
| मदनुस्मृतये नित्यम् | 27 | 15 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| मदाघूर्णित लोचनौ | 10 | 3 | b |
| मदान्धालि ष्वनुव्रतै: | 15 | 10 | b |
| मदाराधन मीहतु: | 3 | 35 | d |
| मद्धस्ताद्रि निपातनात् | 25 | 21 | b |
| मधुपुर्यां च केशव: | 1 | 10 | b |
| मध्येन यमुनां गत: | 22 | 39 | d |
| मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्याम् | 21 | 9 | c |
| मन आनकदुन्दुभे: | 2 | 16 | d |
| मनसा दूयमानेन | 1 | 53 | c |
| मनसो वपुषो वाच: | 14 | 38 | c |
| मनांस्यासन् प्रसन्नानि | 3 | 5 | a |
| मनुष्यदृष्ट्या दुष्प्रज्ञा: | 23 | 11 | c |
| मनुष्या गतसाध्वसा: | 15 | 40 | b |
| मनोज्ञानि च न: प्रभो | 7 | 1 | d |
| मनोज्ञानि महात्मन: | 15 | 18 | b |
| मनोबुद्ध्याशयात्मने | 16 | 42 | b |
| मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम् | 12 | 39 | b |
| मनो मात्रा गुणा स्त्रय: | 8 | 38 | d |
| मनो योगेश्वरोऽवतु | 6 | 25 | d |
| मनोरथेनाभिनिविष्ट चेतस: | 1 | 41 | b |
| मनोवचोभ्या मनुमेय वर्त्मन: | 2 | 36 | c |
| मनोविकारात्मक माप पञ्चसु | 1 | 42 | b |
| मनोहरन्तीं वनितां व्रजौकसाम् | 6 | 6 | b |
| मन्त्रतन्त्रर्त्विगग्नय: | 23 | 10 | b |
| मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नय: | 23 | 47 | b |
| मन्दं मन्दं जलधर: | 3 | 7 | c |
| मन्दाकिन्यां मदोत्कटौ | 10 | 2 | d |
| मन्नाथं मत्परिग्रहम् | 25 | 18 | b |
| मन्माया मोहितेतरे | 13 | 43 | b |
| मन्यते देवकी सुतम् | 8 | 7 | d |
| मन्यमानैरिमं देहम् | 10 | 9 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मन्यसे तद्विधेहि न: | 16 | 59 | d | महारवं व्यसुरपतत् समीरयन् | 18 | 29 | c |
| मन्ये नारायणस्यांशम् | 26 | 23 | c | महार्हवस्त्राभरण | 5 | 8 | a |
| मया तेऽकारि मघवन् | 27 | 15 | a | महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डल | 3 | 10 | a |
| मयाऽनुमोदित: सोऽसौ | 22 | 28 | c | महावासेरिता इव | 15 | 34 | d |
| मया वां बत पाप्मना | 4 | 15 | b | महासत्त्व मवस्थितम् | 11 | 46 | b |
| मया व्यापादिता नपि | 4 | 21 | b | महासुरं कालनेमिम् | 1 | 68 | c |
| मयेदं भगवन्गोष्ठ | 27 | 12 | a | महासुरो विगतरयो निजं वपु: | 18 | 26 | b |
| मयेमा रंस्यथ क्षपा: | 22 | 30 | b | महिम्ने ब्रह्मणे नम: | 10 | 33 | d |
| मयोक्तं वा करिष्यथ | 22 | 16 | b | मही मङ्गलभूयिष्ठ | 3 | 2 | c |
| मल्लघ्नै र्महावीर्यै: | 25 | 7 | c | महेन्द्र: किं करिष्यति | 24 | 23 | d |
| मर्कटोत्प्लवनादिभि: | 11 | 58 | d | महेश्वरत्वेऽपि च बालभावम् | 6 | 8 | c |
| मर्कटोत्प्लवनादिभि: | 14 | 61 | d | मह्यञ्च दयितो मख: | 24 | 30 | d |
| मर्कान् भोक्ष्यन् विभजति स चेन्नात्ति | 8 | 29 | c | मह्यं शुश्रूषवे पित: | 24 | 4 | b |
| भाण्डं भिनत्ति | | | | मातरं पितरं भ्रातॄन् | 1 | 67 | a |
| मर्काय कामं ददतं शुचिस्थितम् | 9 | 8 | b | मातुरद्धाऽतदर्हणम् | 1 | 10 | d |
| मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम् | 9 | 14 | b | मातुश्च मे य: शरणं गताया: | 1 | 6 | d |
| मर्त्यालिङ्गेन जायते | 3 | 44 | d | मातु: पितुर्वा क्रेतुर्वा | 10 | 11 | c |
| मर्त्यात्मानो न ते विदु: | 23 | 11 | d | मातृमृष्टान्स्वलङ्कृतान् | 11 | 18 | b |
| मर्त्यो मृत्युव्यालभीत: पलायन् | 3 | 27 | a | मात्रापित्रा सगोधन: | 17 | 19 | d |
| मर्दनोन्मज्जनादिभि: | 15 | 45 | b | मात्रा बद्ध उलूखले | 26 | 7 | b |
| महतीतरमायैश्यम् | 13 | 46 | c | मात्रा सह भवद्भजे | 5 | 26 | b |
| महत्पदं पुण्ययशो मुरारे: | 14 | 58 | b | मात्रेक रसमूर्तय: | 13 | 55 | b |
| महत्या पूजयित्वाऽऽह | 28 | 4 | c | माथुराञ्छूरसेनांश्च | 1 | 27 | c |
| महत्योत्पल मालया | 16 | 65 | d | मादृशो वां वृतस्सुत: | 3 | 38 | d |
| महदासीत्तदद्भुतम् | 6 | 15 | d | माधवी कन्यकेति च | 2 | 12 | b |
| महद्विचलनं नृणाम् | 8 | 4 | a | मानयन्तस्सुविस्मिता: | 28 | 17 | d |
| महन्मन:प्रख्यपयस्सरस्वता | 15 | 3 | b | मानयं भो: कृथा स्त्वान्तु | 22 | 14 | a |
| महाकारुणिको विभु: | 28 | 14 | b | मानयामास विस्मित: | 7 | 33 | d |
| महापुरुषमाद्ध्यौ | 7 | 19 | c | मानं तनोति सहगोगणयो स्तयोर्यत् | 21 | 19 | c |
| महापुरुषलक्षणम् | 3 | 23 | b | मानं विधुन्वञ्जगदीश मानिनाम् | 27 | 6 | d |
| महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु | 3 | 25 | b | मानिना तीव्रमन्युना | 27 | 12 | d |
| महामणिगणाकीर्णम् | 17 | 13 | c | मानिनामनुतापञ्च | 20 | 12 | c |
| महायोगिन्यधीश्वरि | 22 | 4 | b | | | | |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| माऽनुशोच यतस्सर्व: | 4 | 21 | c | मिथोघ्नन्तं न पश्यन्ति | 4 | 27 | c |
| मानुषं देहमासाद्य | 7 | 3 | c | मीनान् सुदु:खितान्दृष्ट्वा | 17 | 10 | a |
| मानेन त्रुटचनेहसा | 13 | 41 | b | मुकुन्द चरणैषिणाम् | 10 | 18 | b |
| मा प्रत्यक्षं मांसदृशां कृषीष्ठा: | 3 | 28 | d | मुकुन्दमुद्वीक्ष्य विनम्रकन्धर: | 13 | 65 | b |
| मा भूद्भयं भोजपतेर्मुमूर्षो: | 2 | 41 | c | मुकुन्दो व्रजयोषिताम् | 20 | 42 | d |
| मामकैरपि गोव्रजे | 8 | 10 | b | मुक्तकच्छशिखा: केचित् | 4 | 34 | c |
| मामैश्वर्यश्रीमदान्ध: | 27 | 16 | a | मुक्तस्तनेष्वपत्येष्वपि | 13 | 35 | c |
| मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति | 14 | 22 | d | मुक्तस्सर्वमदैरिह | 10 | 15 | b |
| मायात्वमेव प्रकटीकृतं ते | 14 | 16 | d | मुक्तं बकास्यादुपलभ्य बालका: | 11 | 52 | a |
| मायानारायणीशाना | 2 | 12 | c | मुक्त: कथञ्चिद्रक्षस्या | 11 | 23 | a |
| माया भगवती भुवि | 4 | 13 | b | मुक्त्वा शिक्यानि बुभुजु: | 13 | 7 | c |
| माया भवति नाऽन्यथा | 12 | 42 | d | मुखतोऽरिमपाटयत् | 26 | 8 | d |
| माया मनुजमीश्वरम् | 17 | 22 | d | मुखपङ्कजभूतय: | 5 | 10 | b |
| माया मनुष्यस्य वदस्व विद्वन् | 1 | 7 | d | मुखं लालयती राजन् | 7 | 35 | c |
| मायामयोऽयं गुणसम्प्रवाह: | 27 | 4 | c | मुखाद्वमन् रुधिरमपस्मृतोऽसुर: | 18 | 29 | b |
| माया मोहित चेतस: | 14 | 44 | b | मुग्धप्रभीतवदुपेत्यतुरन्ति मात्रो: | 8 | 22 | d |
| मायाशये शयाना मे | 13 | 42 | c | मुग्धस्मितालपदशनं ययतु: प्रमोदम् | 8 | 23 | d |
| मायाश्रितानां नरदारकेण | 12 | 11 | c | मुच्यते स पुमान् भयात् | 16 | 53 | d |
| मायां वितत्येक्षितु मात्मवैभवं हि | 14 | 9 | c | मुञ्चत्स्वप्रेष्वभीक्ष्णश: | 25 | 10 | b |
| मारुतेनाभिमर्शिता: | 16 | 5 | b | मुञ्चन् पर्यसरत्खल: | 15 | 30 | d |
| मार्गमन्वगमन् सर्वे | 19 | 4 | c | मुञ्जाटवीं निविविशु: | 19 | 2 | c |
| मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रिय: पते: | 3 | 50 | d | मुञ्जाटव्यां भ्रष्टमार्गम् | 19 | 5 | a |
| मार्गा बभूवुस्सन्दिग्धा: | 20 | 16 | a | मुदं लेभे कुरूद्वह | 6 | 44 | d |
| मार्गे गवामन्यपदान्तरान्तरे | 16 | 18 | c | मुदा द्विजेभ्योऽयुतमाप्लुतो गवाम् | 3 | 11 | d |
| मालानुरक्त परिधान विचित्रवेषौ | 21 | 9 | b | मुदावहा वीरणवत् दिवौकसाम् | 11 | 50 | d |
| मा विद्यान्मधुसूदन | 3 | 29 | b | मुदिता नन्दमानर्चु: | 26 | 24 | c |
| मा शोचतं महाभागौ | 4 | 18 | a | मुनये मौनशीलिने | 16 | 47 | d |
| मासं कात्यायिनी व्रतम् | 22 | 1 | d | मुनयो मुक्त कल्मषा: | 20 | 35 | d |
| मासि मासीह यो बलि: | 17 | 2 | b | मुनिभि र्नारदादिभि: | 2 | 25 | b |
| मास्यस्य चरणा वुदक् | 26 | 5 | b | मुनिर्व्युपरतागम: | 20 | 40 | d |
| मा हिंसी: कृपणान् वृथा | 4 | 12 | d | मुने कृष्णविचेष्टितम् | 1 | 12 | b |
| मां ज्ञापयत पत्नीभ्य: | 23 | 14 | a | मुमुचु र्मुनयो देवा: | 3 | 7 | a |
| मित्राणीवाजिता वास | 13 | 61 | c | मुमुचु: करुणा इव | 20 | 6 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| मुमुचु: पुष्पवर्षाणि | 15 | 39 | c |
| मुमोचाऽश्रुकणान् बहून् | 17 | 18 | d |
| मुष्टिकारिष्ट द्विविध | 2 | 1 | c |
| मुष्णन्तोऽन्योन्यशिक्यादीन् | 12 | 5 | a |
| मुष्णंश्चक्षूंषि रेणुभि: | 7 | 21 | b |
| मुहुर्लिहन्त्य: स्रवदौधसं पय: | 13 | 24 | d |
| मुहूर्तमभवद्गोष्ठं | 7 | 22 | a |
| मूढस्य त्वा मजानत: | 16 | 51 | d |
| मूढेनाऽकार्यवेदिना | 28 | 7 | b |
| मूर्तिमद्भिरुपासिता: | 13 | 54 | d |
| मूर्तिमद्भिश्चराचरै: | 13 | 52 | b |
| मूर्छितं भग्नशिरसम् | 16 | 54 | c |
| मूर्च्छिता वै कूरूद्वह | 15 | 49 | d |
| मूर्धन् विनिर्भिद्य विनिर्गतो बहि: | 12 | 31 | d |
| मूर्ध्न्युपाघ्राय परमाम् | 6 | 44 | c |
| मूलवल्कलदारुभि: | 22 | 37 | b |
| मूलं हि विष्णुर्देवानाम् | 4 | 39 | a |
| मृत्युपाशान्गृहाभिधान् | 23 | 41 | d |
| मृत्युर्जन्मवतां वीर | 1 | 38 | a |
| मृत्युर्बुद्धिमताऽपोह्य: | 1 | 48 | a |
| मृत्यु र्मे विहित: किल | 1 | 60 | d |
| मृत्युर्वा न म्रियेत चेत् | 1 | 49 | d |
| मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुव: | 1 | 38 | d |
| मृत्यो: पौगण्डके बाला: | 12 | 37 | c |
| मेघ गम्भीरया गिरा | 19 | 6 | b |
| मेघ गम्भीरया वाचा | 15 | 12 | a |
| मेघ गम्भीरया वाचा | 27 | 14 | c |
| मेघागमोत्सवाहृष्टा: | 20 | 20 | a |
| मेघानाञ्चान्त कारिणाम् | 25 | 2 | b |
| मेघा निर्मुक्त बन्धना: | 25 | 8 | b |
| मेघा स्तस्याऽऽत्ममूर्तय: | 24 | 8 | b |
| मेनिरे देवप्रवरौ | 20 | 2 | c |
| मैवं पुनर्भून्मतिरीश मेऽसती | 27 | 8 | d |

| | अध्याय | श्लोक | पाद० |
|---|---|---|---|
| मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसम् | 23 | 29 | a |
| मोक्षेप्सव: शरणदं शरणं प्रपन्ना: | 16 | 32 | d |
| मोचयामास निगलात् | 4 | 24 | a |
| मोचये कृपणा मिमाम् | 1 | 49 | b |
| मोहितैस्स्वपुरद्वास्स्थै: | 13 | 40 | c |
| मोहितौ मम मायया | 3 | 39 | d |
| मौग्ध्यलज्जोरुमन्युना | 13 | 32 | b |
| म्रियन्ते तीरगा यस्य | 16 | 5 | c |
| **य** | | | |
| य आत्मनो दृश्यगुणेषु | 3 | 18 | a |
| य इन्द्रयागसम्भारा: | 24 | 25 | c |
| य एतत्पूतनामोक्षम् | 6 | 45 | a |
| य एतत्संस्मरेन्मर्त्य: | 16 | 61 | c |
| य एतस्मिन्महाभागा: | 8 | 18 | a |
| य एतस्मिन् महाभागे | 26 | 21 | a |
| य एवं विसृजेद्धर्मम् | 24 | 11 | a |
| यक्षरक्षोविनायका: | 6 | 28 | d |
| यच्छन्तौ बालचेष्टितै: | 11 | 36 | b |
| यच्छन् प्रियतमं किञ्चित् | 6 | 37 | c |
| यच्छृण्वतोऽपैत्यरति: | 7 | 2 | a |
| यच्छ्रद्धयाऽनुतिष्ठन्वै | 16 | 53 | c |
| यच्छ्रीमदान्धयोर्वाग्भि: | 10 | 40 | c |
| यजन्ते क्रतुभिर्नरा: | 24 | 9 | d |
| यज्जाता नैष्ठिकी रति: | 1 | 15 | d |
| यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिन् | 14 | 53 | c |
| यज्जीवितं तु निखिलं | 14 | 34 | c |
| यज्ञवाटं पुनर्गता: | 23 | 33 | b |
| यज्ञोऽच्युत: कटितटं | 6 | 23 | b |
| यत आत्मविपर्यय: | 4 | 20 | b |
| यतस्ते भयमुत्थितम् | 1 | 54 | d |
| यतो भवांस्तुष्यति सर्वजीव: | 16 | 35 | d |
| यतो यतो धावति दैवचोदितम् | 1 | 42 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यत्कौमारे हरिकृतम् | 12 | 41 | c | यथा नाऽविदुषो भवेत् | 24 | 6 | d |
| यत्कौमारे हरिकृतम् | 14 | 59 | c | यथा पापेन पाषण्डा: | 20 | 8 | c |
| यत्तज्ज्ञानमतीन्द्रियम् | 8 | 5 | b | यथा पूर्वसखं स्वकम् | 14 | 42 | d |
| यत्तद्विगर्हितं कर्म | 10 | 1 | c | यथा प्राणै: स्रवज्ज्ञानम् | 20 | 41 | c |
| यत्ता आत्तशरासना: | 11 | 30 | d | यथा भक्तिमतामिह | 9 | 21 | d |
| यत्तृप्तयेऽद्यापि न चाऽलमध्वरा: | 14 | 31 | d | यथाऽऽमयोऽङ्गे समुपेक्षित: | 4 | 38 | a |
| यत्पादपांसुर्बहुजन्म | 12 | 12 | a | यथा यदुपति: कृष्ण: | 20 | 44 | c |
| यत्पिबामो मुहुस्त्वत्त: | 12 | 43 | c | यथा यान्त्यपयान्ति च | 4 | 19 | b |
| यत्पृष्टोहमिह त्वया | 14 | 59 | b | यथाऽऽयुरन्वहं क्षीपम् | 20 | 37 | c |
| यत्र क्वचित्पूर्वशत्रु: | 4 | 12 | c | यथार्थतन्त्रो न विहन्ति विक्रमम् | 2 | 21 | b |
| यत्र धर्मस्सनातन: | 4 | 39 | b | यथावकाशं पुरुष: पुरो भवान् | 3 | 31 | b |
| यत्र निर्झरनिर्ह्राद | 18 | 4 | a | यथावकाशं सधना: | 25 | 22 | c |
| यत्र नैसर्गदुर्वैरा: | 13 | 16 | a | यथा वदसि देहिनाम् | 4 | 26 | b |
| यत्र स्त्रीद्यूतमासवम् | 10 | 8 | d | यथा विधाय गोपाला: | 24 | 38 | c |
| यत्राऽक्रूरोऽध्यगात्पुरा | 28 | 61 | d | यथाऽऽशिषो विश्पतय: | 20 | 24 | c |
| यत्राऽऽस्तां यमलार्जुनौ | 10 | 24 | d | यथा समीयु: पूरिरम्भणादिभि: | 25 | 29 | b |
| यत्राऽऽस्ते भगवान् साक्षात् | 18 | 3 | c | यथाऽऽसीद्विप्र कथ्यताम् | 16 | 2 | d |
| यत्राऽऽस्से त्वं सुहृद्वृत: | 5 | 25 | d | यथाऽहम्ममतां धीरा: | 20 | 39 | c |
| यत्सम्परेत: पुनरेव बालक: | 7 | 32 | c | यथा हरिनिषेवया | 20 | 13 | d |
| यत्सम्पर्कात्प्रिया आसन् | 23 | 27 | c | यथा हरिं मृत्युभयार्दिता जना: | 24 | 32 | b |
| यथा कण्टकविद्धाङ्गि: | 10 | 14 | a | यथाऽहं मधुसूदन: | 24 | 32 | b |
| यथा कामानुसेवया | 20 | 21 | d | यथेन्द्रियग्राम उपेक्षितस्तथा | 4 | 38 | c |
| यथाकालं यथाकामम् | 15 | 44 | c | यथेमेऽविकृता भावा: | 1 | 15 | a |
| यथा कृष्णे तु पूर्ववत् | 13 | 26 | d | यथैव काम्यतपस: | 20 | 7 | c |
| यथा ज्ञानामृतं काले | 20 | 36 | c | यथैवैकेन गच्छति | 1 | 40 | b |
| यथाऽच्युतजनागमे | 20 | 20 | d | यथोचितमपूजयत् | 5 | 15 | f |
| यथा तृणजलूकैवम् | 1 | 40 | c | यथोपजोषं विशत | 25 | 20 | c |
| यथात्यतैषणा: शान्ता: | 20 | 35 | c | यथोरगं सुप्तमबुद्धि रज्जुधी: | 6 | 9 | d |
| यथा दरिद्र: कृपण: | 20 | 38 | c | यदर्थवाणी श्रुति चेतसामपि | 13 | 2 | b |
| यथा दस्यून्विना नृप | 20 | 47 | d | यदाऽनेवंविदो भेद: | 4 | 20 | a |
| यथा दृढै: कर्ममयै: | 25 | 4 | a | यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्य | 3 | 47 | c |
| यथा देह: प्रियतम: | 14 | 52 | c | यदाश्रयं येन यत: प्रतीयते | 8 | 41 | c |
| यथाऽधोक्षजचेतस: | 20 | 15 | d | यदाऽऽसीत्तदपि न्यूनम् | 9 | 16 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यदि दूरं गत: कृष्ण: | 12 | 6 | a | यद्यच्छिरो न नमतेऽङ्ग शतैकशीर्ष्णि | 16 | 28 | a |
| यदि मत्स्यान् स खादति | 17 | 11 | b | यद्यत्समुन्नमति नि:श्वसतो रुषोच्चै: | 16 | 29 | b |
| यदिमौ धनदात्मजौ | 10 | 25 | b | यद्यदादत्त बन्धनम् | 9 | 16 | d |
| यदिमौ लोकपालस्य | 10 | 20 | a | यद्यसौ न निवर्तेत | 1 | 48 | c |
| यदि सत्यगिरस्तर्हि | 8 | 35 | c | यद्यूयं व्रतकर्शिता: | 22 | 10 | d |
| यदुक्तं योगमायया | 4 | 29 | d | यद्येवं तर्हि व्यदेहीति | 8 | 36 | a |
| यदुद्दिश्य व्रतमिदम् | 22 | 30 | c | यद्रामकृष्णचरणस्पर्श प्रमोद: | 21 | 19 | b |
| यदुद्विग्न: प्रतीक्षते | 4 | 2 | d | यद्रूपमनिदं यथा | 2 | 42 | b |
| यदुपतिरवगाह्य चारयन्गा: | 21 | 2 | c | यद्वयं गुरवो नृणाम् | 23 | 40 | c |
| यदुपुर्यां सहाऽऽवात्सीत् | 1 | 11 | c | यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽऽचरत्तप: | 16 | 36 | c |
| यदुभिस्स व्यरुध्यत | 1 | 68 | d | यद्विश्वेश्वरयोर्याच्ञाम् | 23 | 37 | c |
| यदुभोजान्धकाधिपम् | 1 | 69 | b | यद्विस्रम्भादहं पाप: | 4 | 17 | c |
| यदूनामपृथग्भावात् | 8 | 12 | e | यद्वै त्वाऽऽहाऽशरीरवाक् | 1 | 54 | b |
| यदूनामहमाचार्य: | 8 | 7 | a | यन्नम्रियेत द्रुमयो: | 11 | 25 | a |
| यदूनां कदनं चक्रे | 2 | 2 | c | यन्नस्त्वत्पाददर्शनम् | 28 | 8 | b |
| यदूनां निजनाथानाम् | 2 | 6 | c | यन्नूतनयतीशस्य | 13 | 1 | c |
| यदूनां पतये नम: | 10 | 36 | d | यन्नो दिदृक्षयाऽभ्येता | 23 | 25 | c |
| यदूनां सुमहातपा: | 8 | 1 | b | यन्माययेत्थं कुमति: स मे गति: | 8 | 42 | d |
| यदूनमत्वा सुरानिति | 1 | 65 | b | यन्मायामोहितधिय: | 23 | 49 | c |
| यदृच्छया च देवर्षि: | 10 | 5 | a | यन्मित्रं परमानन्दम् | 14 | 32 | c |
| यदृच्छया नन्दगृहेऽसदन्तकम् | 6 | 7 | b | यन्मोहितं जगत्सर्वम् | 14 | 44 | c |
| यदृच्छयाऽभूत्क्षयकृद्वनौकसाम् | 19 | 7 | b | यमनन्तं प्रचक्षते | 2 | 5 | b |
| यदृच्छया स्याद्विभवस्समक्ष: | 16 | 38 | d | यमाहाऽऽनकदुन्दुभि: | 6 | 33 | d |
| यदृषीणां विहिंसनम् | 4 | 42 | f | यमुना निर्विषाऽभवत् | 16 | 67 | d |
| यदोश्च धर्मशीलस्य | 1 | 2 | a | यमुना पुलिनानि च | 11 | 35 | b |
| यद्गीतं तन्महात्मना | 10 | 25 | d | यमुनोपवनेऽशोक | 23 | 21 | a |
| यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् | 14 | 34 | b | ययाऽञ्जो दुस्तरं तरेत् | 8 | 49 | d |
| यद्दन्दशूकत्वममुष्यदेहिन: | 16 | 34 | c | ययाबानकदुन्दुभि: | 1 | 61 | d |
| यद्देवकीसुतपदाम्बुज लब्धलक्ष्मि | 21 | 11 | b | यया सम्मोहितं जगत् | 1 | 25 | c |
| यद्धर्मार्थसुहृत्प्रियात्म | | | | ययुर्भगवताऽऽहूता: | 20 | 26 | c |
| तनयप्राणार्शयास्त्वत्कृते | 14 | 35 | d | ययुस्सह पुरोहिता: | 11 | 31 | d |
| यद्धि पश्यन्ति मुनय: | 28 | 15 | c | ययू रूढपरिच्छदा: | 11 | 29 | d |
| यद्भयात्स सुपर्णस्त्वाम् | 16 | 63 | c | ययौ तदवमोचनम् | 5 | 19 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ययौ राममृते राजन् | 15 | 47 | c | याचितस्तां विनिर्भर्त्स्य | 4 | 7 | c |
| ययौ सर्वफलप्रद: | 11 | 7 | d | याताबला: व्रजं सिद्धा: | 22 | 30 | a |
| यर्ह्यङ्गना दर्शनीय कुमारलीलौ | 8 | 24 | a | यातुधानश्च तत्र हि | 6 | 3 | d |
| यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षम् | 3 | 1 | c | यातुधान्यपि सास्वर्गम् | 6 | 39 | a |
| यल्लोकशमलापहम् | 8 | 47 | d | या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम् | 21 | 12 | b |
| यवसञ्च गवां दत्वा | 24 | 28 | c | यानि यानीह गीतानि | 9 | 2 | a |
| यश: श्रियं हन्त्यनुकूलमायु: | 2 | 21 | d | याने दुहितृवत्सल: | 1 | 32 | d |
| यशोदा गृहशङ्किता | 7 | 11 | b | या वृन्दावनचारिण: | 20 | 21 | b |
| यशोदा च महाभागा | 8 | 46 | c | या योगमायाऽजनि नन्दमायया | 3 | 47 | d |
| यशोदा च महाभागा | 17 | 18 | a | यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवय: | 13 | 19 | c |
| यशोदाऽजोहवीत् कृष्णम् | 11 | 13 | c | यावत् कृष्ण न ते जना: | 14 | 36 | d |
| यशोदा नन्दगेहिनी | 9 | 1 | b | यावदात्मनिदर्शनम् | 1 | 52 | b |
| यशोदा नन्दपत्नी च | 3 | 53 | a | यावदौत्पातिकोऽरिष्ट: | 11 | 26 | a |
| यशोदा नन्दसूनुना | 14 | 48 | b | यावद्धतोऽस्मि हन्ताऽस्मीति | 1 | 48 | b |
| यशोदा प्रेषयामास | 11 | 12 | e | यावद्बुद्धि बलोदयम् | 4 | 22 | a |
| यशोदा भयसम्भ्रान्त | 8 | 33 | c | यावद्यष्टिविषाणवेणु | 13 | 19 | b |
| यशोदायास्सुतोद्भवम् | 5 | 9 | b | यावद्वत्सपवत्सकाल्पक वपु: | 13 | 19 | a |
| यशोदा रोहिणी नन्द: | 17 | 15 | a | यावन्तो गोकुले बाल: | 13 | 42 | a |
| यशोदा रोहिणी नन्द: | 25 | 30 | a | याश्चामीषाञ्च योषित: | 1 | 62 | b |
| यशोदा रोहिणीभ्यां ता: | 6 | 20 | a | यासां येन विनाऽभवत् | 19 | 16 | b |
| यशोदा सन्दधत्यपि | 9 | 17 | b | यासां विभो वत्सतरात्मजात्मना | 14 | 31 | c |
| यशोदा सा धराऽभवत् | 8 | 50 | d | यास्यामोऽन्यत्र सानुगा: | 11 | 26 | d |
| यस्मिन्निमग्नमनसस्तमथाक्षिरन्ध्रै: | 23 | 23 | b | यास्येथे मद्गतिं पराम् | 3 | 45 | d |
| यस्य कुक्षाविदं सर्वम् | 14 | 17 | a | युक्तैर्व: स्तम्भवर्जितै: | 27 | 17 | d |
| यस्य भासा सर्वमिदम् | 13 | 56 | c | युयुधाते परस्परम् | 11 | 39 | b |
| यस्य वाञ्छाम्यनुग्रहम् | 27 | 16 | d | युवयो: कामदित्सया | 3 | 38 | b |
| यस्यावतारा ज्ञायन्ते | 10 | 34 | a | युवां प्राप्तमनोरथौ | 3 | 40 | d |
| यस्येदं सेश्वरं वशे | 9 | 19 | d | युवां मां पुत्रभावेन | 3 | 45 | a |
| यस्त्वन्यमुपजीवति | 24 | 19 | b | युवां वै ब्रह्मणाऽऽदिष्टौ | 3 | 33 | a |
| यस्सप्तहायनो बाल: | 26 | 3 | a | युष्माभिर्गृहमेधिन: | 23 | 28 | d |
| यं तं प्राप विमुक्तिदात् | 9 | 20 | d | यूथीकृत्य स्ववत्सकान् | 12 | 3 | b |
| य: कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोग: | 8 | 40 | d | यूयमञ्जस्तरिष्यथ | 8 | 16 | d |
| याचताऽस्मद्विसर्जिता: | 23 | 4 | b | यूयमञ्जस्तरिष्यथ | 26 | 19 | d |
| | | | | यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता: | 22 | 19 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| ये च कंसमनुव्रता: | 1 | 63 | d |
| ये चक्रुर्देवहेलनम् | 25 | 3 | d |
| ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम् | 14 | 24 | d |
| येन येनाऽवतारेण | 7 | 1 | a |
| येन वा देवऋषेस्तम: | 10 | 1 | d |
| येनाऽहमेकोऽपि भवज्जनानाम् | 14 | 30 | c |
| येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमलमानिन: | 2 | 32 | a |
| येऽन्ये विद्योपजीविन: | 5 | 15 | d |
| ये प्रायशोऽजितजितोऽ प्यसितैस्त्रिलोक्याम्- | 14 | 3 | d |
| ये मद्विधाज्ञा जगदीशमानिन: | 27 | 7 | a |
| येऽसूयाऽनृतदम्भेर्ष्या | 7 | 13 | a |
| यैस्तै र्निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम् | 21 | 8 | d |
| योगमायानुभावितम् | 19 | 14 | b |
| यागमायां समादिशत् | 2 | 6 | d |
| योगाधीशो व्यमोचयत् | 19 | 12 | d |
| योगिनामपि मोहिनी | 23 | 40 | b |
| योगीशो वा समाऽऽस स: | 6 | 33 | b |
| योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम् | 14 | 21 | b |
| योनिबीजाशयाकृति | 16 | 57 | d |
| योऽभूतपूर्वस्तोकेषु | 14 | 49 | c |
| योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो | 3 | 26 | a |
| यो वेद न स मुह्यति | 5 | 29 | d |
| योऽस्मिन् स्नात्वा मदाक्रीडे | 16 | 62 | a |
| **र** | | | |
| रतं मुखैरुल्लवमन् | 16 | 30 | b |
| रक्तास्तन्मातरो यथा | 6 | 37 | d |
| रक्षाञ्चक्रु: गोशकृता | 6 | 21 | c |
| रक्षां विदधिरे सम्यक् | 6 | 20 | c |
| रक्षित्वा वत्सपालकान् | 13 | 4 | b |
| रक्षोघ्नानि स्वकर्मसु | 6 | 3 | b |
| रक्षो विदित्वाऽखिल | 12 | 25 | c |
| रङ्गमाणौ विजह्रतु: | 8 | 21 | d |
| रङ्गे यथानटवरौ क च | 21 | 9 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| रजसा चोदिता मेघा: | 24 | 23 | a |
| रजसा तमसाऽऽवृतम् | 7 | 22 | b |
| रजसोत्पद्यते विश्वम् | 24 | 22 | c |
| रजस्सत्त्वतमोमयी | 10 | 31 | b |
| रज्ज्वाकर्षश्रमभुज | 9 | 3 | c |
| रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ | 14 | 25 | d |
| रत्नाभरणभूषिता | 4 | 10 | b |
| रथानाञ्च त्रिषट् शतम् | 1 | 31 | d |
| रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया | 21 | 5 | c |
| रमयन् रूपवाक्कृतै: | 23 | 36 | d |
| रमयन् सुहृदो गुणै: | 8 | 12 | b |
| रमाक्रीडमभून्नृप | 5 | 17 | d |
| रराज भूस्सतालाग्रै: | 15 | 38 | c |
| रराजोडुगणैश्शशी | 20 | 44 | b |
| रश्मीन् हयानां जगृहे | 1 | 30 | c |
| असद्भिरसदाश्रयै: | 10 | 18 | f |
| रसनां प्रति गर्जति | 12 | 22 | b |
| रसा दिशश्च प्रतिनेदिरे | 6 | 13 | c |
| रहोजुषा किं हरिणा | 4 | 36 | c |
| राक्षसी रुधिराशना | 6 | 36 | b |
| राजधानी ततस्साऽभूत् | 1 | 28 | a |
| राजन्नजगरं चर्म | 12 | 36 | a |
| राजन्य विप्र विबुधेषु | 2 | 40 | b |
| राजन्यसंज्ञाऽसुरकोटि | 3 | 21 | c |
| राजन्यो रक्षया भुव: | 24 | 20 | b |
| राजन् सगोष्ठं सबल: | 25 | 33 | b |
| राजन् सञ्जातवेपथु: | 7 | 37 | b |
| राजान: प्रायशो भुवि | 1 | 67 | d |
| राज्ञाञ्चोभयवंश्यानां | 1 | 1 | c |
| राज्ञा तु निर्भया लोका | 20 | 47 | c |
| राज्ञे दृष्टा वयञ्च ते | 5 | 30 | b |
| रामकृष्णादयो गोपा: | 18 | 9 | c |
| रामकृष्णौ व्रजं गतौ | 20 | 2 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| रामकेशवयोर्व्रजे | 20 | 32 | b |
| रामकेशवयोस्सखा | 15 | 20 | b |
| राममाधवयोर्नृप | 11 | 35 | d |
| राम राम महाबाहो | 23 | 1 | a |
| राम राम महासत्व | 15 | 21 | a |
| रामश्च नृप लीलया | 15 | 37 | b |
| रामश्च बलिनां वर: | 25 | 30 | b |
| रामश्चाऽच्युतमालिङ्ग्य | 17 | 16 | a |
| रामसङ्कर्षिणो यर्हि | 18 | 23 | a |
| रामस्सङ्कर्षणस्त्वया | 1 | 8 | b |
| राम: कृष्णश्च गोव्रजे | 8 | 26 | b |
| राम: कृष्णानुभाववित् | 16 | 22 | d |
| रामाच्युतौ वो लषत: | 23 | 7 | b |
| रामादय: प्राणमिवैन्द्रियो गण: | 11 | 52 | b |
| रामाद्या गोपदारका: | 8 | 32 | b |
| रामेण सह केशव: | 18 | 3 | d |
| रामेति लोकरमणात् | 2 | 13 | c |
| रिपुर्महान् बद्धबल: | 4 | 38 | d |
| रिपोस्सुतानामपि तुल्यदृष्टि: | 16 | 33 | c |
| रुदत: प्रपदाहतम् | 26 | 5 | d |
| रुदताऽनेन पादेन | 7 | 9 | c |
| रुदत्या दीनदीनवत् | 4 | 7 | b |
| रुदन्तं सुतमादाय | 7 | 11 | a |
| रुदन्ती करुणं विभो: | 1 | 18 | b |
| रुदन्त्य इव तस्थिरे | 16 | 11 | d |
| रुदन् स्तानार्थीचरणै: | 7 | 6 | d |
| रुदितमनुनिशाम्य | 7 | 25 | a |
| रुद्रस्यानुचरौ भूत्वा | 10 | 2 | a |
| रुरुदुनुपलभ्य | 7 | 25 | c |
| रुषाऽहनच्छिरसि दृढेन | 18 | 28 | c |
| रूपञ्चेदं पौरुषं ध्यान | 3 | 28 | c |
| रूपन्ते ब्रह्मणो विदु: | 10 | 29 | d |
| रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्त | 3 | 24 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| रूपाणि च सुतस्य ते | 8 | 15 | b |
| रूपाणि च सुतस्य ते | 26 | 18 | b |
| रूपी नोऽनुग्रहं व्यधात् | 24 | 36 | d |
| रेजतु: कृष्णरामाभ्याम् | 11 | 33 | c |
| रेमे गोगोपगोपीनाम् | 23 | 36 | c |
| रेमे रमालालितपादपल्लव: | 15 | 19 | c |
| रेमे सञ्चारयन्नद्रे: | 15 | 9 | c |
| रोहिणी च महाभागा | 5 | 16 | c |
| रोहिणी पुत्रवत्सलाम् | 11 | 12 | f |
| रोहिणी वसुदेवस्य | 2 | 7 | c |
| रोहिणीं योगनिद्रया | 2 | 15 | b |
| रोहिण्यास्तनय: प्रोक्त: | 1 | 8 | a |
| रौक्मै रथशतैर्वृत: | 1 | 30 | d |
| **ल** | | | |
| लक्ष्मश्रिये मुदुपुद्रे | 14 | 1 | d |
| लक्ष्यं पतनकारणम् | 11 | 2 | d |
| लब्धकामा: कुमारिका: | 22 | 31 | b |
| लब्धप्राणा इवाऽसव: | 17 | 14 | b |
| लब्ध्वा दिव्यशरच्छते | 10 | 22 | b |
| लब्ध्वा पुन: प्रापुरतीव | 7 | 30 | f |
| लब्ध्वा भक्तौ भविष्यत: | 10 | 22 | d |
| लालयन्ती सुतं सती | 7 | 18 | b |
| लिम्पन्त्य आननकुचेषु | 21 | 18 | d |
| लिहन्त्य: स्वौधसंपय: | 13 | 31 | d |
| लेभिरे परमां मुदम् | 17 | 16 | f |
| लोकपालमहोदयम् | 28 | 10 | b |
| लोकपाल: सपर्यया | 28 | 4 | b |
| लोकबन्धषु मेघेषु | 20 | 17 | a |
| लोकसृष्टि विकल्पना | 28 | 6 | d |
| लोकानाशिष एव च | 4 | 46 | b |
| लोकानां यदसद्ग्रह: | 16 | 56 | d |
| लोकान् सर्वान् निर्मयं | 3 | 27 | b |
| लोकाश्च वो मयोपेता: | 23 | 31 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| लोका: परां निर्वृति माप्नुवं स्त्रय: | 27 | 25 | c |
| लोकेश मानिनां मौढ्यात् | 25 | 16 | c |
| लोचनानीत्यभाषत | 19 | 11 | d |
| लोभमोहमदान्विता: | 4 | 27 | b |
| लोभादयो येऽबुधलिङ्गभावा: | 27 | 5 | b |
| **व** | | | |
| वक्तारं पृच्छकं श्रोतॄन् | 1 | 16 | c |
| वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ | 1 | 12 | c |
| वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं | 21 | 8 | c |
| वक्त्रान्मुकुन्दो भगवान् विनिर्ययौ | 12 | 32 | d |
| वचो निशम्य कृपणम् | 19 | 11 | a |
| वचो निशम्य नन्दस्य | 24 | 12 | a |
| वज्राहतो वृत्र इवाऽपतन्नृप | 6 | 14 | d |
| वणिग्यतिनृपस्नाता: | 20 | 49 | a |
| वत्सपालमिषेण स: | 13 | 27 | b |
| वत्सपालौ बभूवतु: | 11 | 36 | d |
| वत्सयूथगतं हरि: | 11 | 41 | b |
| वत्सवत्योऽप्यपाययन् | 13 | 31 | b |
| वत्सानारुध्य शाद्वले | 13 | 7 | b |
| वत्सान् गृणन्ननुगगीत पवित्रकीर्ति: | 14 | 47 | c |
| वत्सान् पालांश्च विश्वदृक् | 13 | 17 | b |
| वत्सान् पुरस्कृत्य विनिर्ययुर्मुदा | 12 | 2 | d |
| वत्सान्पुलिनमानिन्ये | 14 | 42 | c |
| वत्सान् मुञ्चन् क्वचिदसमये क्रोशसञ्जातहास: | 8 | 29 | a |
| वत्सान् सखीनिव पुरा परितो विचिन्वत् | 13 | 62 | c |
| वत्सान् सवयसानपि | 13 | 38 | b |
| वत्सास्त्वन्तर्वने दूरम् | 13 | 12 | c |
| वत्सास्समीपेऽप: पीत्वा | 13 | 6 | c |
| वत्सांश्चारयतो: स्वकै: | 11 | 40 | b |
| वत्सेषु वत्सरूपेण | 26 | 9 | a |
| वत्सैरितस्तत उभावनुकृष्यमाणौ | 8 | 24 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| वदनो विमुमोच ह | 11 | 6 | d |
| वदन्ति तावका ह्येते | 8 | 34 | c |
| वदन्तो व्रजमाययु: | 6 | 42 | d |
| वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात् | 3 | 19 | b |
| वधं तस्य विचिन्तयन् | 18 | 18 | d |
| वनराजीर्मधुच्युत: | 20 | 27 | b |
| वनशैलनिवासिन: | 24 | 24 | d |
| वनशोभेक्षणाय तम् | 12 | 6 | b |
| वनं कुसुमितं श्रीमत् | 18 | 7 | a |
| वनं तालालिसङ्कुलम् | 15 | 21 | d |
| वनं बृन्दावनं नाम | 11 | 27 | a |
| वने सञ्चारयन् वत्सान् | 26 | 8 | a |
| वनौकस: प्रमुदिता: | 20 | 27 | a |
| वन्द्याभ्यां लोकवन्दितै: | 6 | 38 | b |
| वन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम् | 15 | 42 | b |
| वन्यस्रजे कमलवेत्र विषाणवेणु | 14 | 1 | c |
| वयश्च तत्र भगवान् | 16 | 58 | a |
| वयस्यैरावृतस्तत्र | 22 | 8 | c |
| वयस्यैर्व्रजबालकै: | 8 | 27 | b |
| वयस्यै: कृष्णबलयो: | 11 | 40 | c |
| वयं खलास्सहोत्पत्त्या | 16 | 56 | a |
| वयं गोवृत्तयोऽनिशम् | 24 | 21 | d |
| वयं धन्यतमा लोके | 12 | 43 | a |
| वयं हि सर्वधर्मज्ञ | 19 | 10 | c |
| वरवध्वोस्सुमङ्गलम् | 1 | 33 | d |
| वरस्त्रियं तत्प्रभया च धर्षिते | 6 | 10 | c |
| वरं मत्सदृशं सुतम् | 3 | 40 | b |
| वरुणस्याऽसुरोऽन्तिकम् | 28 | 2 | b |
| वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे | 21 | 7 | d |
| वर्णयन्त्यो मिथो गोप्य: | 20 | 21 | c |
| वर्णास्त्रय: किलास्याऽऽसन् | 26 | 16 | a |
| वर्तमान: पुनर्भव: | 5 | 23 | b |
| वर्तेत ब्रह्मणा विप्र: | 24 | 20 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वर्तेत योऽत्यन्तनृशंसितेन | 2 | 22 | b | वाञ्छाऽस्ति महती राम | 15 | 26 | a |
| वर्षन्त्यम्बूनि सर्वत: | 24 | 23 | b | वाणीगुणानुकथने श्रवणं कथायाम् | 10 | 38 | a |
| वर्षरुद्धा यथा सिद्धा: | 20 | 49 | c | वातवर्षञ्च दारुणम् | 25 | 25 | b |
| वर्षवातातपह्मि | 3 | 34 | a | वातवर्षभयेनाऽलम् | 25 | 21 | c |
| वल्गतो युध्यतो मिथ: | 15 | 15 | b | वातवर्षातपहिमान् | 22 | 35 | c |
| वल्गुस्मितापाङ्गविसर्गवीक्षितै: | 6 | 6 | a | वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् | 14 | 11 | d |
| ववर्ष पर्जन्य उपांशु गर्जित: | 3 | 49 | c | वातेन जुष्टं शतपत्रगन्धिना | 15 | 3 | c |
| ववर्षु: पुष्पसन्ततिम् | 11 | 43 | f | वात्या रूपधरो हरन् | 7 | 26 | b |
| ववृषुर्जलशर्करा: | 25 | 9 | d | वादित्रगीतद्विजमन्त्रवाचकै: | 7 | 4 | c |
| ववौ वायु: सुखस्पर्श: | 3 | 4 | a | वादित्राणि महोत्सवे | 5 | 13 | b |
| वसन्त इव लक्षित: | 18 | 3 | b | वानस्पत्यो महाबाहो | 17 | 2 | c |
| वसुदेव उपश्रुत्य | 5 | 19 | a | वामनत्वाच्च वामन: | 3 | 42 | d |
| वसुदेव प्रचोदित: | 8 | 1 | d | वामे पाणौ मसृणकबलं | | | |
| वसुदेववचो भूय: | 7 | 33 | c | तत्फलान्यङ्कुलीषु | 13 | 11 | b |
| वसुदेवसुताय च | 16 | 45 | b | वारुणीं मदिरां पीत्वा | 10 | 3 | a |
| वसुदेव: कृतोद्वह: | 1 | 29 | b | वारुण्या श्रीमदान्धयो: | 10 | 19 | b |
| वसुदेवोऽथ दारिकाम् | 3 | 52 | b | वार्धोषमङ्ग वरवारणविक्रमस्य | 16 | 8 | b |
| वसुदेवोऽपि तं प्रीत: | 1 | 55 | c | वार्ता चतुर्विधा तत्र | 24 | 21 | c |
| वसुदेवो महाभाग: | 1 | 36 | c | वार्मुचां पतिमीश्वरम् | 24 | 9 | b |
| वस्तुतो जानतामत्र | 14 | 56 | a | वास: स्रग्रुक्ममालिनी: | 7 | 16 | b |
| वस्त्रकाञ्चनमालिन: | 5 | 7 | d | वासांसि कृष्णं गायन्त्य: | 22 | 7 | c |
| वस्त्राऽऽकल्पाञ्जनादिभि: | 5 | 9 | d | वासांसि ताभ्य: प्रायच्छत् | 22 | 24 | c |
| वस्त्राणि चैवाऽपहृतान्यथाऽप्यमुं | 22 | 25 | c | वासांसि पर्यधुश्शीघ्रम् | 10 | 6 | c |
| वहन्ति च पराजिता: | 18 | 21 | d | वासुदेव इति श्रीमान् | 8 | 14 | c |
| वहन्तो वाह्यमानाश्च | 18 | 22 | a | वासुदेव इति श्रीमान् | 26 | 17 | c |
| वहन् द्रुततरं प्रागात् | 18 | 25 | c | वासुदेवकथाप्रश्न: | 1 | 16 | a |
| वाक्यञ्चाहेशमान्युत | 25 | 2 | d | वासुदेवकथायां ते | 1 | 15 | c |
| वाचयित्वा स्वस्त्ययनम् | 5 | 2 | a | वासुदेवकलानन्त: | 1 | 24 | a |
| वाचयित्वा स्वस्त्ययनम् | 7 | 15 | a | वासुदेवगृहे साक्षात् | 1 | 23 | a |
| वाचयित्वा स्वस्त्ययनम् | 24 | 32 | c | वासुदेवप्रचोदिता: | 24 | 38 | b |
| वाच्यवाचकशक्तये | 16 | 43 | d | वासुदेवस्य सान्निध्यम् | 10 | 22 | a |
| वाचालं बालिशं स्तब्धम् | 25 | 5 | a | वासुदेवाय कृष्णाय | 27 | 10 | c |
| वाञ्छन्ति यत्पादरज: प्रपन्ना: | 16 | 37 | d | वासुदेवाय वेधसे | 10 | 33 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वासुदेवाय शान्ताय | 10 | 36 | c | विदुष: कर्मसिद्धि: स्यात् | 24 | 6 | c |
| वासुदेवेऽखिलात्मनि | 13 | 36 | b | विदुषां किमपेक्षितम् | 1 | 58 | b |
| वासोऽलङ्कारगोधनम् | 5 | 15 | b | विदु: पौगण्डकेऽर्भका: | 12 | 41 | d |
| वासो बसित्वा रुचिरम् | 15 | 45 | c | विदेहान् कोसलानपि | 2 | 3 | d |
| वाह्यवाहकलक्षणा: | 18 | 21 | b | विद्यन्तेऽभुक्तपूर्वाणि | 15 | 24 | e |
| विकर्षता मध्यमेन | 11 | 4 | c | विद्याधर्यश्च ननृतु: | 3 | 6 | c |
| विकर्षन्त: कीशबालान् | 12 | 9 | a | विद्यामान्वीक्षिकीं हित्वा | 25 | 4 | c |
| विकारै: प्राकृतैर्गुणै: | 10 | 32 | b | विद्युतश्चलसौहृदा: | 20 | 17 | b |
| विकुर्वन्तश्चतैस्साकम् | 12 | 9 | c | विद्योतमानपरिधि: | 20 | 3 | c |
| विक्षिप्तमनसोनृप | 21 | 4 | d | विद्योतमाना विद्युद्भि: | 25 | 9 | a |
| विगताध्वश्रमौ तत्र | 15 | 45 | a | विधीयतामाशु तथैव मा चिरम् | 1 | 21 | d |
| विचङ्क्रमतुरञ्जसा | 8 | 26 | d | विधेहि ते किङ्करीणाम् | 16 | 53 | a |
| विचरन्तं वृतं गोपै: | 23 | 21 | c | विध्वस्तनानारसकुप्य भाजनम् | 7 | 7 | c |
| विचार्यमाणे तरणाविवाहनि | 14 | 26 | d | विनानुवादं न च तन्मनीषितम् | 3 | 18 | c |
| विचिकाय समन्तत: | 13 | 16 | d | विना प्राणै: विचेतस: | 11 | 48 | d |
| विचित्रधातुबर्हस्रक् | 5 | 7 | c | विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो | 2 | 33 | d |
| विचिन्त्यानकदुन्दुभि: | 1 | 47 | b | विना रामेण गा: कृष्णम् | 16 | 13 | c |
| विचिन्वन्तो गवां गतिम् | 19 | 3 | d | विना विनोदं बत तर्कयामहे | 2 | 39 | b |
| विचिन्वन् भगवान् कृष्ण: | 13 | 14 | c | विनिर्गतोऽजास्विति वाङ्क वै मृषा | 14 | 13 | c |
| विच्छायाभि: प्रधावन्त: | 12 | 8 | a | विनिर्गतो वत्सपुरस्सरो हरि: | 12 | 1 | d |
| विजया वैष्णवीति च | 2 | 11 | d | विनिर्धूतमनोमलौ | 3 | 34 | d |
| विजह्रुस्सलिले मुदा | 22 | 7 | d | विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जम् | 23 | 22 | c |
| विजह्रुस्तत्र तत्र ह | 12 | 3 | d | विपर्ययो वा किं न स्यात् | 1 | 50 | a |
| विजानीत: सुदुर्मदौ | 10 | 20 | d | विपर्येति यथैव भू: | 4 | 19 | d |
| विजिघांसुर्महावेग: | 17 | 5 | c | विप्रा मन्त्रविदो मुक्ता: | 7 | 17 | a |
| विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम् | 2 | 35 | b | विप्रा वेदाश्च गावश्च | 4 | 41 | a |
| विज्ञाय विहतां नृप | 25 | 1 | b | विप्रा हुत्वाऽर्चयाऽचक्रु: | 7 | 12 | c |
| विज्ञायाऽखिलदृक्स्वयम् | 28 | 12 | b | विप्रुष्मता विषोदोर्मि | 16 | 5 | a |
| विज्ञायाऽखिलदृग्दृष्ट्वा | 23 | 24 | c | विप्रेभ्य: समलङ्कृते | 5 | 3 | b |
| विज्ञायार्भकवत्सला | 9 | 12 | b | विप्रेभ्यो देहिगाश्शुचि: | 11 | 17 | d |
| विडम्बयसि भूतले | 14 | 37 | b | विप्र: कृतस्वस्त्ययनं सुपूजितै: | 7 | 5 | b |
| विदितोऽसिभवान्साक्षात् | 3 | 13 | a | विबुध्य तां बालकमारिकाग्रहम् | 6 | 8 | a |
| विदित्वा कंसजं भयम् | 2 | 6 | b | विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया | 14 | 5 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभि: | 14 | 6 | b | विषयान् बुभुजे पुरा | 1 | 27 | d |
| विभाति सचराचरम् | 13 | 56 | d | विषवीर्यमदाविष्ट: | 17 | 4 | a |
| विभावयन् किञ्चिदुवाच न प्रभु: | 6 | 8 | d | विषाम्भस्तदुपस्पृश्य | 15 | 49 | a |
| विभ्रंशोऽनुग्रह: कृत: | 10 | 40 | d | विषूचीनोऽवगृह्यते | 15 | 25 | b |
| विमुखा यान्ति नाऽर्थिन: | 22 | 36 | d | विष्णुञ्च स्ववधम्प्रति | 1 | 65 | d |
| विमुखा ये त्वधोक्षजे | 23 | 39 | d | विष्णुपक्षानिवाऽसुरा: | 8 | 18 | d |
| विमुच्य प्रश्रितोऽब्रवीत् | 4 | 14 | d | विष्णुपक्षानिवाण्सुरा: | 26 | 21 | d |
| विमोहं विश्वमोहनम् | 13 | 45 | b | विष्णुरव्यय ईश्वर: | 10 | 30 | d |
| विरथान् भयसन्नतान् | 4 | 35 | b | विष्णुर्भुजं मुखमुरुक्रम ईश्वर: कम् | 6 | 23 | d |
| विराजं जनयन्ति हि | 3 | 15 | d | विष्णुर्योगेश्वरेश्वर: | 23 | 48 | b |
| विरेजु: शुभ्रवर्चस: | 20 | 35 | b | विष्णुस्सर्वगुहाशय: | 3 | 8 | d |
| विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत् | 3 | 10 | d | विष्णोराराधनार्थाय | 5 | 16 | a |
| विरोचयन्तं गतभी: प्रभाववित् | 3 | 12 | d | विष्णोर्माया भगवती | 1 | 25 | a |
| विलोचयन्तीं भवनं शुचिस्मिताम् | 2 | 20 | b | विष्णोर्वीर्याणि शंस न: | 1 | 2 | d |
| विलोलिहान: स्थिरजङ्गमान्महान् | 19 | 7 | d | विससर्जाङ्गिकुट्टनै: | 16 | 54 | d |
| विलोक्य दूषितां कृष्णाम् | 16 | 1 | a | विस्तारयंन् क्रीडिसि योगमायाम् | 14 | 21 | d |
| विलोक्य नन्द: प्रहसत् | 11 | 6 | c | विस्फूर्जितनभस्तला | 20 | 3 | d |
| विलोक्य पूतनादेहम् | 6 | 32 | c | विस्मिता भारपीडिता | 7 | 19 | b |
| विवरेषुवसन्ति हि | 2 | 7 | f | विस्रब्धं प्रतिभाषित: | 4 | 28 | b |
| विवस्त्राश्शापशङ्किता: | 10 | 6 | b | विस्रब्ध: कन्यकागिरा | 4 | 24 | b |
| विवस्त्रौ नैव गुह्यौकौ | 10 | 6 | d | विस्रस्तकबरस्रज: | 9 | 18 | b |
| विविक्त उपसङ्गम्य | 27 | 2 | a | विहरस्व स्वलङ्कृत: | 11 | 18 | d |
| विविधैरुपहासकै: | 18 | 15 | b | विहर्तुकाम: कुसुमाकरं वनम् | 15 | 2 | d |
| विविशुस्तृणलोभिता: | 13 | 12 | d | विहसन्त: प्रतिच्छाया: | 12 | 10 | c |
| विवृत्य नेत्रे चरणौ भुजौ मुहु: | 6 | 12 | c | विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता | 16 | 36 | d |
| विवेश तस्मिन् मिषतां दिवौकसाम् | 12 | 33 | d | विहायसा मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् | 7 | 30 | d |
| विशालर्षभतेजस्विन् | 22 | 34 | c | विहाय सार्थमिव हरन्तमात्मन: | 18 | 28 | b |
| विशीर्णसर्वावयवं करालम् | 7 | 29 | b | वीक्षमाणा: परस्परम् | 15 | 51 | d |
| विशुद्धज्ञानमूर्तये | 27 | 11 | b | वीक्ष्य कौमारचापलम् | 8 | 28 | b |
| विशुद्धसत्त्वं तवधाम शान्तम् | 27 | 4 | a | वीक्ष्य तं मेनिरेऽमरम् | 19 | 14 | d |
| विश्वं यदेतत् स्वतनौ निशान्ते | 3 | 31 | a | वीक्ष्य तान्वै तथाभूतान् | 15 | 50 | a |
| विश्वात्मन् विश्वसम्भव | 27 | 19 | b | वीक्ष्यमाणो दधाराद्रिम् | 25 | 23 | c |
| विश्वाय तदुपद्रष्टे | 16 | 41 | c | विक्ष्यान्तरा कोशपरिच्छदासिवत् | 6 | 10 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वीक्ष्याऽऽसीदुत्तमा प्रीति: | 11 | 35 | c | वैष्णवीं व्यतनोन्मायाम् | 8 | 43 | c |
| वीक्ष्योद्धसन्त: करताडनैर्ययु: | 12 | 24 | d | व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वम् | 10 | 29 | c |
| वीक्ष्यौत्कण्ठ्यमनुक्षणम् | 13 | 35 | b | व्यक्ते गुणव्यतिकरे | 20 | 18 | c |
| वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजाम् | 1 | 7 | a | व्यक्तेतरद्रूपमजस्य संस्तुतिं | 14 | 60 | c |
| वीर्यैर्देहिष्वसङ्गतै: | 10 | 34 | d | व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते | 3 | 25 | c |
| वृक्षतां प्रापितौ मदात् | 9 | 23 | b | व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम् | 22 | 19 | b |
| वृक्षमूलाश्रयश्शेते | 15 | 16 | c | व्यग्रायां मातरि प्रभु: | 9 | 22 | b |
| वृक्षा आसन् मधुस्रवा: | 27 | 26 | b | व्यचरद्दिव्यवास:स्रक् | 5 | 16 | e |
| वृतो देवादिभिर्दैवम् | 27 | 28 | d | व्यजनैस्समवीजयन् | 15 | 17 | d |
| वृतौ तालवनं प्रभू | 15 | 27 | d | व्यत्यस्तचक्राक्षविभिन्न कूबरम् | 7 | 7 | d |
| वृत्तेस्वर्लोकतां भूय: | 10 | 22 | c | व्यदृश्यन्त घनश्यामा: | 13 | 47 | c |
| वृद्धबालग्रहाच्चये | 6 | 30 | b | व्यधत्तां परमाशिष: | 15 | 44 | d |
| वृद्धान्ननन्दपुरोगमान् | 24 | 2 | d | व्यमुञ्चन्वायुभिर्नुन्ना: | 20 | 24 | a |
| वृद्धान् बालान्स्त्रियो राजन् | 11 | 30 | a | व्यवस्यते स्वव्यतिरेकतोऽबुध: | 3 | 18 | b |
| वृषभं भद्रसेनस्तु | 18 | 24 | c | व्यसनं समवोचत | 1 | 18 | d |
| वृषायमाणौ नर्दन्तौ | 11 | 39 | a | व्यसृजद्वसुदेवश्च | 4 | 25 | c |
| वृष्णयो वसुदेवाद्या: | 1 | 62 | c | व्याख्यातार्था प्रहसितमुखी न- | | | |
| वृष्णिचक्रावृतो भुवि | 20 | 44 | d | ह्युपालब्धुमैच्छत् | 8 | 31 | d |
| वेणुगीतं स्मरोदयम् | 21 | 3 | b | व्याजहार पुनर्गोपान् | 23 | 13 | c |
| वेणुपाणितलै: शृङ्गै: | 18 | 10 | c | व्यात्ताजगरतुण्डेन हि | 12 | 18 | c |
| वेणुस्वनै: कलपदैस्तनुभृत्सु सख्य: | 21 | 20 | b | व्याददाव्याहतैश्वर्य: | 8 | 36 | c |
| वेणुं क्वणन्तमनुगैरुपगीत कीर्तिम् | 15 | 42 | c | व्यादाय केशांश्चरणौ भुजावपि | 6 | 14 | b |
| वेणुं विरणयन् गोपै: | 18 | 8 | c | व्यालतुण्डायते न वा | 12 | 19 | d |
| वेणुं विरणयन् गोष्ठम् | 19 | 15 | c | व्यालोलकुन्तलपयोधरहारशोभा: | 5 | 11 | d |
| वेदक्रियायोगतपस्समाधिभि: | 2 | 34 | c | व्याहर्तुमारभत भागवत प्रधान: | 1 | 14 | d |
| वेपमाना भगवत: | 25 | 12 | c | व्युदप्राप्याश्च निम्नगा: | 25 | 26 | d |
| वेपमानास्तमब्रुवन् | 22 | 13 | d | व्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुन: | 12 | 39 | d |
| वेदमार्गा: कलौ यथा | 20. | 23 | d | व्येतु शङ्का च वोऽभके | 26 | 15 | b |
| वैकारिकानीन्द्रियाणि | 8 | 38 | c | व्योम्नोऽब्दं भूतशाबल्यम् | 20 | 34 | a |
| वैभवं तव गोचर: | 14 | 38 | d | व्रजकार्यममन्त्रयन् | 11 | 20 | d |
| वैयासकिस्स भगवानथ विष्णुरातम् | 1 | 14 | b | व्रजनाथ तवाऽऽत्मजे | 26 | 14 | d |
| वैयासकिं यन्निगृहीतचेता: | 12 | 40 | d | व्रजन्तमव्याद्वैकुण्ठ: | 6 | 27 | a |
| वैश्यस्तु वार्तया जीवेत् | 24 | 20 | c | | | | |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| व्रजस्य राम: प्रेमर्धे: | 13 | 35 | a |
| व्रजस्य सात्मनस्तोकेषु | 13 | 36 | c |
| व्रजस्योवाह वै हर्षम् | 11 | 11 | c |
| व्रजस्सम्मृष्टसंसिक्त | 5 | 6 | a |
| व्रजस्सर्वसमृद्धिमान् | 5 | 17 | b |
| व्रजं गोकुलमण्डितम् | 18 | 1 | d |
| व्रजं जगाम नन्दस्य | 8 | 1 | c |
| व्रजं नाऽभिभवेदित: | 11 | 26 | b |
| व्रजं सहात्मानमवाप शङ्काम् | 8 | 39 | d |
| व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन | 1 | 40 | a |
| व्रजान् स्वान् स्वान् समायुज्य | 11 | 29 | c |
| व्रजे कौरवसत्तम | 17 | 21 | b |
| व्रजे वसन् किमकरोत् | 1 | 10 | a |
| व्रजे विक्रीडतो रेवम् | 18 | 2 | a |
| व्रजेश्वरस्याखिलचित्तपा सती | 8 | 42 | b |
| व्रजौकसां बहुतिथम् | 12 | 36 | c |
| व्रजौकसां स्वतोकेषु | 13 | 26 | a |
| व्रियतां वर इत्युक्ते | 3 | 38 | c |
| व्रीडित: कृतहेलन: | 27 | 2 | b |
| व्रीडिता: प्रेक्ष्य चान्योन्यम् | 22 | 12 | c |
| **श** | | | |
| शकटान् युङ्क्त मा चिरम् | 11 | 28 | b |
| शकटैरर्धचन्द्रवत् | 11 | 34 | d |
| शकटोढोपकरणम् | 25 | 27 | c |
| शक्रदर्पं जिघांसता | 24 | 31 | b |
| शङ्खचक्रगदाधरा | 4 | 10 | d |
| शङ्खचक्रगदापद्म | 3 | 30 | c |
| शङ्खतूर्यमृदङ्गानि | 1 | 33 | a |
| शङ्खदुन्दुभयो नेदु: | 25 | 32 | a |
| शत्रुर्मित्रमुदासीन: | 24 | 17 | c |
| शनैरथोत्थाय विमृज्य | 13 | 65 | a |
| शनैर्निस्सीम ववृधे | 13 | 26 | c |
| शनैर्मुग्ध इवासदत् | 11 | 41 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| शनैश्शनैर्जहु:पङ्कम् | 20 | 39 | a |
| शपन्तश्च प्रतिस्वनान् | 12 | 10 | d |
| शब्दब्रह्मार्थदर्शनम् | 20 | 43 | d |
| शब्देन प्रदिशो दिश: | 7 | 21 | d |
| शम्भुना वा वनौकसा | 4 | 36 | d |
| शयानं पातु माधव: | 6 | 26 | d |
| शरज्जहाराऽऽश्रमिणाम् | 20 | 34 | c |
| शरत्स मभवद्वच्चभ्रा | 20 | 32 | c |
| शरदर्काशुजं तापम् | 20 | 42 | a |
| शरदा नीरजोत्पत्त्या | 20 | 33 | a |
| शरद्विमलतारकम् | 20 | 43 | b |
| शरीरसंयोगवियोगहेतु: | 1 | 51 | d |
| शरीरादिष्वनात्मसु | 20 | 39 | d |
| शरीरिणां श्रेय उपायनं | 2 | 34 | b |
| शरीरिष्वशरीरिण: | 10 | 34 | b |
| शर्कराभिरुपद्रुत: | 7 | 23 | d |
| शर्मणो आत्मनो गवाम् | 24 | 37 | d |
| शर्वादयोऽङ्घ्रिजमध्वमृतासव | 14 | 33 | d |
| शशंसतुर्महाराज | 18 | 13 | c |
| शशंसाऽभ्येत्य नारद: | 1 | 64 | b |
| शशंसु: साधु साध्विति | 11 | 43 | d |
| शशंसुस्साधुसाध्विति | 18 | 32 | d |
| शश्वत्तच्छीकरैर्जुष्ट | 18 | 4 | c |
| शतकुम्भाम्बराबृतान् | 5 | 3 | d |
| शाद्वलोपरि संविश्य | 20 | 30 | a |
| शान्तर्क्षग्रहतारकम् | 3 | 1 | d |
| शान्ता अशान्ता उत मूढ | 16 | 50 | b |
| शान्तास्तत्र समैन्धत | 3 | 4 | d |
| शान्ता: प्रियास्ते ह्यधुना | 16 | 50 | c |
| शप्तं दास्यन्निदं जगौ | 10 | 7 | d |
| शाबा: स्तनस्नुत पय: | 21 | 14 | C |
| शारदेत्यम्बिकेति च | 2 | 12 | d |
| शिग्भिस्त्वग्भिर्दृषद्भिश्च | 13 | 9 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| शिरस्सुतांश्च कायेन | 25 | 12 | a | श्यामं हिरण्यपरिधिं | 23 | 22 | a |
| शिलायां पतितस्तत्र | 11 | 24 | c | श्रद्दधानस्य विस्तृतम् | 1 | 12 | d |
| शिलायां सलिलान्तिके | 20 | 29 | b | श्रद्धा च वो यच्छत धर्म | 23 | 7 | d |
| शिलावर्षनिपातेन | 25 | 14 | a | श्रद्धा दया तितिक्षा च | 4 | 41 | c |
| शिशव: पावकोपमा: | 4 | 5 | b | श्रप्यमाणपया यस्मिन् | 16 | 4 | c |
| शिशूंश्चचार निघ्नन्ती | 6 | 2 | c | श्रिया कीर्त्याऽनुभावेन | 8 | 19 | c |
| शिशोरासन् सुविस्मिता: | 6 | 43 | d | श्रिया कीर्त्याऽनुभावेन | 26 | 22 | c |
| शीलौदार्यगुणैस्समम् | 3 | 41 | b | श्रिया जुष्टं चतुर्भुजम् | 3 | 30 | d |
| शुक्लो रक्तस्तथा पीत: | 8 | 13 | c | श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तन | 21 | 18 | b |
| शुक्लो रक्तस्तथा पीत: | 26 | 16 | c | श्रीकृष्णवृष्णिकुल | 14 | 40 | a |
| शुद्धभावप्रसादित: | 22 | 18 | b | श्रीदामन् सुबलार्जुन | 22 | 34 | b |
| शुद्धचन्ति दानैस्सन्तुष्टया | 5 | 4 | c | श्रीदामवृषभादय: | 18 | 23 | b |
| शुष्कं बृन्दावनेऽद्भुतम् | 12 | 36 | b | श्रीदामानं पराजित: | 18 | 24 | b |
| शूद्रस्तु द्विजसेवया | 24 | 20 | d | श्रीदामा नाम गोपाल: | 15 | 20 | a |
| शून्यतोय सदोदरं | 6 | 17 | d | श्रीमदादाभिजात्यादि: | 10 | 8 | c |
| शून्यं प्रियव्यतिहृतं | 16 | 20 | d | श्रीमदान्धौ सुरात्मजौ | 10 | 7 | b |
| शूरसेनान् महाबल: | 1 | 69 | d | श्रीवत्सपीतवसनं | 16 | 9 | b |
| शूरसेनो यदुपति: | 1 | 27 | a | श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभि | 3 | 9 | c |
| शृङ्गाण्यापूर्य सर्वत: | 11 | 31 | b | श्रीवत्साङ्कित वक्षस्स्का: | 13 | 49 | c |
| शृङ्गचशिदंष्ट्रचहि जल | 8 | 25 | a | श्रीवत्साङ्गददोरत्न | 13 | 49 | a |
| शृणुष्वावहितो राजन् | 13 | 3 | a | श्रुत्वाऽग्रजांस्ते न्यहनत् | 3 | 22 | b |
| शृण्वत्या: किल तन्मातु: | 8 | 28 | c | श्रुत्वा च तत्कूजितवेणु | 21 | 13 | b |
| शृण्वन्गृणन्नेति नरोऽखिलार्थान् | 14 | 60 | d | श्रुत्वाऽच्युतमुपायातम् | 23 | 18 | a |
| शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च | 2 | 37 | a | श्रुत्वा तद्विस्मिता गोपा: | 11 | 53 | a |
| शृण्वन्निमीलितदृश: | 21 | 15 | d | श्रुत्वा तन्निधनं स्वस्ति | 6 | 43 | c |
| शृण्वन्तोऽपि न शुश्रुवु: | 23 | 9 | b | श्रुत्वाऽधुनैवाऽभिसरत्युदायुध: | 3 | 22 | d |
| शृण्वन्नपि कथां मुहु: | 13 | 1 | d | श्रुत्वा पर्जन्यनिनदम् | 20 | 9 | a |
| शेकात आपतुरलं मनस: | 8 | 25 | d | श्रुत्वा मातरमच्युत: | 11 | 7 | b |
| शेषाख्यं धाम मामकम् | 2 | 8 | b | श्रुत्वा विचिन्त्येत्यमृषा | 12 | 25 | b |
| शेषोऽन्वगाद्वारि निवारयन् | 3 | 49 | d | श्रुत्वा व्रजस्त्रियस्सर्वा: | 21 | 7 | c |
| शैलोऽस्मीति ब्रुवन् भूरि | 24 | 35 | c | श्रुत्वा स्वधाम्नोऽन्त्यज: | 12 | 35 | c |
| शोकहर्षभयद्वेष | 4 | 27 | a | श्रुत्वा स्वभर्तुश्चरितं | 12 | 40 | b |
| श्यामसुन्दर ते दास्य: | 22 | 15 | a | श्रूयतां मे वचो गोपा: | 26 | 15 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| श्रेय आचरणं सदा | 22 | 38 | d |
| श्रेय एवं महोदयम् | 8 | 46 | b |
| श्रेय:स्रुतिं भक्तिमुदस्य | 14 | 4 | a |
| श्रोणीभराक्रान्तगति: | 9 | 10 | b |
| श्लाघनीयगुणश्शौरे: | 1 | 37 | a |
| श्वासवद्भाति फश्यत | 12 | 23 | b |
| श्वेतद्वीपपतिश्चित्तम् | 6 | 25 | c |
| **स** | | | |
| स आस्थित: पुरटपरिच्छदो बभौ | 18 | 26 | c |
| स आहतस्सपदि विशीर्णमस्तक: | 18 | 29 | a |
| स एव दृष्टो ह्युत्पात: | 6 | 33 | c |
| स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभि | 12 | 39 | c |
| स एवमुक्त्वा देवर्षि: | 10 | 23 | a |
| स एव यद्दृग्विषय: स्वयं स्थित: | 12 | 12 | c |
| स एव स्वप्रकृत्येदम् | 3 | 14 | a |
| स एष जीवन् खलु सम्परेता: | 2 | 22 | a |
| स एष भगवान् साक्षात् | 23 | 48 | a |
| स कथं भगिनीं हन्यात् | 1 | 37 | c |
| स कपित्थैर्महाकाय: | 11 | 43 | a |
| सकलत्रसुहृत्पुत्र: | 16 | 67 | a |
| सकृद्यदङ्गप्रतिमान्तराहिता | 12 | 39 | a |
| सखि सङ्कर्षणान्वित: | 15 | 10 | d |
| सख्य: पशूननु विवेशयतोर्वयस्यै: | 21 | 8 | b |
| सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाम्बुद-आतपत्रम् | 21 | 17 | d |
| सगोगोपालकोऽच्युत: | 21 | 1 | d |
| स गोव्रजोत्पात्मपदुर्गमार्ग: | 13 | 30 | b |
| सङ्कर्षणमुशन्त्युत | 8 | 12 | f |
| सङ्कल्पसिद्धये तेषाम् | 28 | 12 | c |
| सङ्कल्पो विदितस्साध्य्य: | 22 | 28 | a |
| सङ्क्रन्दत: परमकश्मलमापुरार्ता: | 16 | 19 | d |
| स चक्रे आत्मनाऽऽत्मने | 24 | 36 | b |
| स च वृन्दावनगुणै: | 18 | 3 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| स चाऽन्यं सोऽपि चापरम् | 15 | 33 | d |
| स जातकोप: स्फुरितारुणाधरम् | 9 | 6 | a |
| सञ्चारयन्तमनुवेणुमुदीरयन्तम् | 21 | 11 | b |
| सञ्जातनिद्राक्षमशीशयच्छनै: | 7 | 5 | d |
| सञ्जातो मयि भावो वाम् | 10 | 42 | c |
| स तत्र तत्रारुणपल्लवश्रिया | 15 | 4 | a |
| स तल्पात्तूर्णमुत्थाय | 4 | 3 | a |
| स तं गृहीत्वा प्रपदो: | 15 | 32 | a |
| सतामभद्राणि मुहु: खलानाम् | 2 | 29 | d |
| सतामयं सारभृतां निसर्ग: | 13 | 2 | a |
| सतां विद्वेषमाचेरु: | 4 | 45 | c |
| स तेऽवतारं पुरुषैस्समर्पितम् | 3 | 22 | c |
| सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहम् | 3 | 24 | c |
| सत्तामात्रिरसं नाम हि | 23 | 3 | c |
| सत्त्वकूटं पुर:स्थितम् | 12 | 19 | b |
| सत्त्वञ्च शुध्यत्यचिरेण पुंस: | 7 | 2 | b |
| सत्त्व युक्तं यथाचित्तम् | 20 | 43 | c |
| सत्त्वं न चेद्धातरिदं निजंवपु: | 2 | 35 | a |
| सत्त्वं रजस्तम इति | 24 | 22 | a |
| सत्त्वं विशुद्धं श्रयसे भवान् स्थितौ | 2 | 34 | a |
| सत्त्वाभ्यां स्रष्टृपालका: | 13 | 51 | d |
| सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि | 2 | 29 | c |
| सत्यज्ञानानन्तानन्द | 13 | 55 | a |
| सत्यमर्ककरारक्तम् | 12 | 20 | a |
| सत्यमेतद्ववीम्यहम् | 17 | 11 | d |
| सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यम् | 2 | 26 | a |
| सत्यस्य योनिं निहितञ्च सत्ये | 2 | 26 | b |
| सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रम् | 2 | 26 | c |
| सत्यस्स्वयञ्ज्योतिरनन्त आद्य: | 14 | 23 | b |
| सत्यं कर्तुं वचो हरि: | 10 | 24 | b |
| सत्यं कर्तुं व्रजे विभु: | 8 | 52 | b |
| सत्यं कुरुष्व निगमं तव पादमूलम् | 23 | 29 | b |
| सत्यं ज्ञानमनन्तं यत् | 28 | 15 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सत्यं ब्रुवाणि नो नर्म | 22 | 10 | c | सन्निपत्य समुत्पाद्य | 3 | 16 | a |
| सत्यं मे व्याहृतं सति: | 3 | 43 | d | सन्नियम्येन्द्रियग्रामम् | 3 | 33 | c |
| सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्न: | 2 | 26 | d | सन्निवृत्तस्स्वयं प्रभु: | 2 | 23 | b |
| सत्ये चैव व्यवस्थितिम् | 1 | 59 | b | सन्न्यवेशयदात्मजम् | 6 | 31 | d |
| सत्यो भवितुमर्हति | 22 | 28 | d | सपद्यादृतपाप्मन: | 6 | 35 | d |
| सत्वं घोरादुग्रसेनात्मजान्न: | 3 | 28 | a | सपद्येवाऽभित: पश्यन् | 13 | 60 | a |
| स त्वं निलोकस्थितये स्वमायया | 3 | 20 | a | सपाणिकबलो ययौ | 13 | 14 | d |
| स त्वं मग्नैदैश्वर्य मदाप्लुतस्य | 27 | 8 | a | सप्तत्वगष्टविष्टपो नवाक्ष: | 2 | 27 | c |
| सत्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीप: | 3 | 24 | d | सप्तमो वैष्णवं धाम | 2 | 5 | a |
| स त्वहं त्यक्तकारुण्य: | 4 | 16 | a | सप्ताहं नाऽचलत्पदात् | 25 | 23 | d |
| सदाश्रया रात इति | 13 | 44 | c | सप्रजा गोपजीविन: | 25 | 21 | d |
| सदेवासुरमानुषम् | 24 | 16 | d | सप्रातराशो गोवत्सान् | 11 | 44 | c |
| सद्भि: क्षिणोति तत्तर्ष | 10 | 17 | c | सबल: प्राविशद्धरि: | 20 | 25 | d |
| सद्य: प्राणैर्वियुज्येत | 17 | 11 | c | स बिभ्रत् पौरुषं धाम | 2 | 17 | a |
| सद्यो देव्यम्बरं गता | 4 | 9 | b | स भवान् सर्वलोकस्य | 10 | 35 | a |
| सद्योऽद्रय: खगमृगा: सदयावलोकै: | 15 | 8 | c | समक्षं पश्य मे मुखम् | 8 | 35 | d |
| सद्यो नष्टमतिर्गोपी | 8 | 44 | a | समभ्यर्च्य जनार्दनम् | 28 | 1 | b |
| सद्वेषादिव पूतनाऽपि सकुला | 14 | 35 | c | समं बालस्य सर्वत: | 6 | 20 | b |
| त्वामेव देवाऽऽपिता | | | | समं भगवता मुदा | 13 | 7 | d |
| सनगं परिकम्पयन् | 15 | 29 | d | समाकिरन् नन्दनमल्लिकादिभि: | 11 | 51 | b |
| सन्तन्वसुस्तदुद्वीक्ष्य | 6 | 18 | a | समागतान् पूजयती व्रजौकस: | 7 | 6 | b |
| सन्तं गुणं तं किमु यन्ति सन्त: | 14 | 28 | d | समाधिनाऽऽवेशितचेतसैके | 2 | 30 | b |
| सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानाम् | 1 | 6 | b | समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवम् | 14 | 58 | a |
| सन्ति किन्त्ववरुद्धानि | 15 | 22 | c | समीक्षयामोऽधविहार ईहसे | 16 | 49 | d |
| सन्त्यक्तुमकुतोभयम् | 17 | 24 | d | समीडिरे चाऽऽनकशङ्खसंस्तवै: | 11 | 51 | c |
| सन्त्युत्पाताश्च गोकुले | 5 | 30 | d | समीरवेगानुगतं विभाव्यते | 1 | 43 | b |
| सन्दधेऽन्यच्च गोपिका | 9 | 15 | d | समीरित: सारथिनोल्बणोल्मुखै: | 19 | 7 | c |
| सन्दश्य दद्भिर्दधिमन्थभाजनम् | 9 | 6 | b | समीहितं शूरसुतेन देवी | 2 | 18 | b |
| सन्दश्य मर्मसु रुषा भुजया चछाद | 16 | 9 | d | समुत्थाय जलान्तिकात् | 15 | 51 | b |
| सन्दिश्य साधुलोकस्य | 4 | 44 | a | समुद्रमिव निम्नगा | 23 | 19 | d |
| सन्दिष्टैवं भगवता | 2 | 14 | a | समुद्रं याहि मा चिरम् | 16 | 60 | d |
| सन्दोहं प्रथितुं प्रभो | 14 | 37 | d | समुद्र: शरदागमे | 20 | 40 | b |
| सन्नाथा वयमच्युत | 27 | 19 | d | समुद्विजे भवद्धेतो: | 3 | 29 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| समेत्य भावो गोवत्सान् | 13 | 31 | a | सर्वपापै: प्रमुच्यते | 16 | 62 | d |
| समेत्य तरसा प्रत्यक् | 15 | 30 | a | सर्वप्राण्युपजीवनम् | 22 | 36 | b |
| सम्भवन्तु सुरस्त्रिय: | 1 | 23 | d | सर्वभूतमनोहरम् | 21 | 7 | b |
| सम्भोजनीयैर्बुभुजे | 20 | 29 | c | सर्वभूतमुदावहाम् | 20 | 31 | b |
| सम्भ्रमो व उपागत: | 24 | 3 | b | सर्वभूतात्मने नम: | 27 | 11 | d |
| सम्मील्य मृगशाबाक्षी | 7 | 37 | c | सर्वयादवभूभुजाम् | 1 | 28 | b |
| सम्यग्यतस्त्यक्तमुपाददत् पुमान् | 3 | 18 | d | सर्वलोकैकपालकौ | 11 | 44 | b |
| सम्यग्व्यवसिता बुद्धि: | 1 | 15 | a | सर्वव्याहृतसिद्धये | 16 | 47 | b |
| स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वर: | 1 | 22 | c | सर्वसत्त्वसमुद्भवा | 20 | 3 | b |
| स योजनायाम महाद्रिपीवरम् | 12 | 16 | b | सर्वस्मै सर्वबीजाय | 27 | 11 | c |
| सरस्वती ज्ञानखले यथा सती | 2 | 19 | d | सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुन: | 3 | 17 | d |
| सरस्स्वशान्तरोधस्सु | 20 | 22 | a | सर्वस्वं जलदा हित्वा | 20 | 35 | a |
| सर: पुलिनमानीय | 13 | 4 | c | सर्वत्वं वेत्सि सर्वदृक् | 14 | 39 | b |
| सरामस्सह गोपालै: | 17 | 19 | c | सर्वं पृथक्त्वं निगमात्कथं वदेत् | 13 | 39 | c |
| स रामो दूरमागत: | 23 | 17 | b | सर्वं विधिकृतं कृष्ण: | 13 | 17 | c |
| स रामो बालकैर्वृत: | 26 | 8 | b | सर्वं विष्णुमयं गिरोङ्गवदज | | | |
| स रामो वनमाविशत् | 13 | 28 | b | स्सर्वस्वरूपो बभौ | 13 | 19 | d |
| सरित्तीरगतं कृष्णम् | 11 | 12 | a | सर्वाणि कुरुनन्दन | 27 | 27 | b |
| सरित्तोयपरिप्लुता: | 12 | 10 | b | सर्वात्मा प्राविशद् व्रजम् | 13 | 20 | d |
| सरित्सर: प्रस्रवणोर्मिवायुना | 18 | 5 | a | सर्वात्मा सर्वदर्शन: | 24 | 2 | b |
| सरिद्भिस्सङ्गनस्सिन्धु: | 20 | 14 | a | सर्वाध्यक्षाय ते नम: | 16 | 48 | b |
| सरिद्रोधस्सु सानुग: | 15 | 9 | d | सर्वानचष्ट वैकुण्ठं | 13 | 38 | c |
| सर्गाय रक्तं रजसोपबृंहितम् | 3 | 20 | c | सर्वा स्नेहर्धिकां विना | 13 | 25 | b |
| सर्पह्रद: पुरुषसारनिपातवेग | 16 | 7 | a | सर्वा पूर्ववदावृता: | 4 | 1 | b |
| सर्पं तमुदवासयत् | 16 | 1 | d | सर्वेऽङ्ग पशुवृत्तय: | 16 | 15 | b |
| सर्पा जात्योरुमन्यव: | 16 | 58 | b | सर्वे नश्यन्तु ते विष्णो: | 6 | 30 | c |
| सर्वकामवरप्रदाम् | 2 | 10 | d | सर्वे मिथो दर्शयन्त: | 13 | 10 | a |
| सर्वकामवरेश्वरीम् | 2 | 10 | b | सर्वे मिथ्याभिशंसिन: | 8 | 35 | b |
| सर्वकालसुखावहम् | 11 | 34 | b | सर्वे वै देवता प्राया: | 1 | 63 | a |
| सर्वक्षेत्रविकारवित् | 10 | 31 | d | सर्वेषा मपि जन्मिनाम् | 14 | 54 | b |
| सर्वग्रहभयङ्कर: | 6 | 27 | d | सर्वेषामेव जन्तूनाम् | 14 | 50 | a |
| सर्वज्ञो जगदीश्वर: | 16 | 59 | b | सर्वेषामेव धातूनाम् | 14 | 37 | a |
| सर्वदोहश्च गृह्यताम् | 24 | 26 | d | सर्वेषां नो व्रजौकसाम् | 26 | 13 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सर्वोपकरणानि च | 11 | 30 | b | सहैवोत सुमध्यमा: | 22 | 11 | d |
| सवत्सा: सर्व एव हि | 13 | 42 | b | सहोपविष्टा विपिने विरेजु: | 13 | 8 | c |
| सवाखशीन्दुतारकम् | 8 | 37 | d | संक्षोभितोरग विषोच्छ्वसिताम्बुराशि: | 16 | 7 | b |
| सविद्युत्स्तनयित्नुभि: | 20 | 4 | b | संयावापूंपशष्कुल्य: | 24 | 26 | c |
| स विस्मयोत्फुल्लविलोचनो हरिम् | 3 | 11 | a | संरब्धा हतबान्धवा: | 15 | 36 | d |
| सवेपथुर्गद्गदयैडतेरया | 13 | 65 | d | संलालित: स्वाचरितै: प्रहर्षयन् | 13 | 23 | c |
| स वै न आद्य: पुरुष: | 23 | 50 | a | संविश्य वरशय्यायाम् | 15 | 46 | c |
| स वै नाऽप्नोतिगोधनम् | 24 | 11 | d | संवेष्टिताण्डघटसमवितस्तिकाय: | 14 | 11 | b |
| स वै बको नाम महान् | 11 | 47 | a | संसारचक्रे भ्रमत: शरीरिण: | 16 | 38 | c |
| स वै बहुयुगावासी | 16 | 2 | c | संसारोऽज्ञानसम्भव: | 6 | 41 | d |
| सव्यासव्ये नगोदरे | 12 | 21 | b | संसृतिर्न निवर्तते | 4 | 20 | d |
| सव्ये बाहौ निहितवदन: - | | | | संस्कारादिमतामपि | 23 | 43 | d |
| सज्जामन्यत्र हस्ते | 21 | 6 | b | संस्कारान् कर्तुमर्हसि | 8 | 6 | b |
| सव्रीडहासविनयं यदपाङ्गमोक्षम् | 15 | 43 | d | संस्कारैस्तपसेज्यया | 5 | 4 | b |
| ससङ्कर्षणमागतम् | 23 | 14 | b | साकं भेकैर्विलङ्घन्त: | 12 | 10 | a |
| सस्त्रीकुमारमतिदु:खित मात्महेतो: | 16 | 23 | b | साक्षात्कृतं नेमुखद्यमृग् यत: | 22 | 23 | d |
| सस्वजे प्रेमविह्वल: | 5 | 20 | d | साक्षात्तवैव किमुतात्म सुखानुभूते: | 14 | 2 | d |
| सहकृष्णा व्रजं ययु: | 24 | 38 | d | सा खेचर्येकदोपेत्य | 6 | 4 | a |
| सह गोपाल बालकै: | 11 | 37 | b | सा गृहीत्वा करे पुत्रम् | 8 | 33 | a |
| सह दैवै स्तया सह | 1 | 19 | b | साग्रजो व्रजमाविशत् | 15 | 41 | d |
| सहन्तो वारयन्ति न: | 22 | 35 | d | सा तत्र ददृशे विश्वम् | 8 | 37 | a |
| सहपशुपालबलश्चुकूजवेणुम् | 21 | 2 | d | सा तद्भस्तात्समुत्पत्य | 4 | 9 | a |
| सहबालो न्यसुर्व्रजे | 7 | 28 | d | सात्त्वताम्पतये नम: | 16 | 45 | d |
| सहमानौ श्वासरोध | 3 | 34 | c | सात्त्वताम्पतये नम: | 27 | 10 | d |
| सहरामो जनर्दन: | 19 | 15 | b | सात्मं भाति यथा तथा | 14 | 17 | b |
| सहरामो वसंश्चक्रे | 8 | 52 | c | सा देवकी सर्वजगन्निवास | 2 | 19 | a |
| सहरामो व्रजस्त्रीणाम् | 8 | 27 | c | साद्रिद्वीपान्धिभूगोलम् | 8 | 37 | c |
| सहलाङ्गूलमच्युत: | 11 | 42 | b | साद्रिर्मही द्यौश्च चचाल सग्रहा | 6 | 13 | b |
| सह सम्मन्त्र्य दुर्मति: | 4 | 43 | b | साधवस्समदर्शिन: | 10 | 17 | b |
| सहसाऽवजगाम ह | 13 | 17 | d | साधवो दस्युपीडिता: | 8 | 17 | b |
| सहस्रवदन: स्वराट् | 1 | 24 | b | साधवो दस्युपीडिता: | 26 | 20 | b |
| सहाऽऽसन् नृमृगादय: | 13 | 61 | b | साधवो बन्धुवत्सला: | 4 | 23 | b |
| स हि सर्वसुराध्यक्षो हि | 4 | 42 | a | साधु पृष्टं महाभाग | 13 | 1 | a |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| साधु साध्वितिवादिन: | 11 | 29 | b | सुखं सुषुपतुर्व्रजे | 15 | 46 | d |
| साधु साध्वितिवादिन: | 18 | 30 | d | सुजनस्येव येषां वै | 22 | 36 | c |
| साधु साध्वितिवादिनौ | 18 | 13 | d | सुतपदवीमबला विलक्ष्य माता | 7 | 24 | b |
| साधुस्समत्वेन भयाद्विमुच्यते | 7 | 31 | d | सुतरां मत्कृतात्मनाम् | 10 | 41 | b |
| साधूनामसुरद्रुहाम् | 3 | 5 | b | सुतस्य रुचिरस्मितम् | 7 | 35 | b |
| साधूनां समचित्तानाम् | 10 | 18 | a | सुतं मया संस्कृतं ते | 8 | 7 | c |
| साधूनां समचित्तानाम् | 10 | 41 | a | सुतं यशोदा नाऽपश्यत् | 7 | 22 | c |
| साध्वगृह्णन्त तद्वच: | 24 | 31 | d | सुतं यशोदा शयने निधाय तत् | 3 | 51 | c |
| साध्व्य: कृताञ्जलिपुटा: शमलस्य | | | | सुतं विलोक्याऽऽनकदुन्दुभिस्तदा | 3 | 11 | b |
| भर्तु: | 16 | 32 | c | सुतं समादाय स सूतिकागृहात् | 3 | 47 | b |
| सानुगस्य प्रदीयताम् | 23 | 17 | d | सुतामुपादाय पुनर्गृहानगात् | 3 | 51 | d |
| सानुज: कुलनन्दन | 11 | 15 | b | सुता मे यदि जायेरन् | 1 | 49 | c |
| सान्त्वयामास वै शौरि: | 1 | 52 | c | सुदुर्विभाव्यं प्रणतास्मि तत्पदम् | 8 | 41 | d |
| सान्द्रनीलाम्बुदैर्व्योम | 20 | 4 | a | सुदुस्तरात्स्वान्न: पाहि | 17 | 24 | a |
| साऽपराधा अपि प्रभो | 28 | 8 | f | सुद्दतौ धनदात्मजौ | 10 | 2 | b |
| सामर्थ्यजुरुपाकृतै: | 7 | 14 | b | सुपर्णपक्षाभिहत: | 17 | 8 | a |
| सा मुञ्च मुञ्चाऽलमिति प्रभाषिणी | 6 | 12 | a | सुपर्णाय महात्मने | 17 | 3 | d |
| साम्प्रतं पतिराशिषाम् | 10 | 35 | d | सुप्तां निशीथ आवृत्य | 17 | 21 | e |
| सत्यङ्कृतो यामयमेन माधव: | 13 | 23 | d | सुबलस्तोककृष्णाद्या: | 15 | 20 | c |
| सायुधाष्टमहाभुजा | 4 | 9 | d | सुमन: पिच्छधातुभि: | 12 | 4 | b |
| सारुणापाङ्गवीक्षतै: | 13 | 51 | b | सुमनांसि मुदान्विता: | 3 | 7 | b |
| साऽऽरोप्यारोहमात्मजम् | 8 | 44 | b | सुमृष्टाश्शीतलाश्शिवा: | 22 | 40 | b |
| सार्धं विजह्रु: कृतपुण्यपुञ्जा: | 12 | 11 | d | सुरभि: पयसाऽऽत्मन: | 27 | 22 | b |
| साल्वान् विदर्भान् निषधान् | 2 | 3 | c | सुरभि: शक्र एव च | 27 | 1 | d |
| सा वीक्ष्य विश्वं सहसा | 7 | 37 | a | सुराङ्गनास्सन्ननृतुर्मुदाऽन्विता: | 27 | 24 | d |
| सांख्ययोगैश्च सात्त्वतै: | 8 | 45 | b | सुराणामीश विस्मय: | 25 | 17 | b |
| सिञ्चन्त्योऽजनमुज्जगु: | 5 | 12 | d | सुराधिपो गिरिमिव वज्ररंहसा | 18 | 28 | d |
| सिद्धगन्धर्वचारणा: | 25 | 31 | b | सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि | 14 | 20 | a |
| सिद्धचारणगन्धर्वै: | 4 | 11 | a | सुवाससं कम्पितकर्णभूषण | 6 | 5 | c |
| सिद्धावुपेत्य कुजयोरिव जातवेदा: | 10 | 28 | b | सुहृत्प्रियचिकीर्षया | 15 | 27 | b |
| सीदत्पालपशुस्त्रिय आत्मशरणं- | | | | सुहृदां चित्रकर्मणाम् | 5 | 24 | b |
| दृष्ट्वाऽनुकम्प्युत्स्मयन् | 26 | 25 | b | सुहृदो ह्यनुभाविता: | 5 | 27 | b |
| सुखं दु:खं भयं क्षेमम् | 24 | 3 | c | सूतै: स्तनमपाययत् | 7 | 11 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सूतैश्च कोकिलगणागृहमागताय | 15 | 7 | c | स्तेयोपायैर्विरचितकृति: सुप्रतीको- | | | |
| सूतमागधवन्दिन: | 5 | 5 | b | यथाऽऽस्ते | 8 | 31 | b |
| सूतमागधवन्दिभ्य: | 5 | 15 | c | स्त्रियमुद्वाहपर्वणि | 1 | 37 | d |
| सूतीगृहमगात् शीघ्रम् | 4 | 3 | c | स्त्रियं मा हन्तुमर्हसि | 4 | 4 | d |
| सूनोस्तनौ वीक्ष्य विदारितास्ये | 8 | 39 | c | स्त्रिया विटानामिव साधुवार्ता | 13 | 2 | d |
| सूपबिष्टं कृतातिथ्यम् | 8 | 3 | a | स्त्रिया: स्वसुर्गुरुमत्या वधोऽयम् | 2 | 21 | c |
| सूपान्ता: पायसादय: | 24 | 26 | b | स्त्रियो रुदत्यो ददृशुस्समेता: | 7 | 29 | d |
| सूर्येण कुमुदं विना | 20 | 47 | b | स्त्रीजनैरनुगायद्भि: | 10 | 3 | c |
| सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधींश्च | 7 | 36 | b | स्त्रीणां न साधुशोच्यानाम् | 16 | 52 | c |
| सृष्टा विधाऽहं जगतो विधाने | 14 | 19 | c | स्त्रीबालस्थविराद्यशनै: | 25 | 27 | d |
| सृष्ट्वाऽग्रे त्रिगुणात्मकम् | 3 | 14 | b | स्त्रीभी: सव्रमपारयन् | 23 | 33 | d |
| सेतवो वर्षतीश्वरे | 20 | 23 | b | स्त्रैणयोरनितात्मनो: | 10 | 19 | d |
| सेश्वरास्सचतुर्मुखा: | 4 | 42 | d | स्थलान्यामञ्च वीरुध: | 20 | 39 | b |
| सोढव्य: स्वप्रजाकृत: | 16 | 51 | b | स्थातुश्च ते धर्मपरीप्सये हत: | 16 | 50 | d |
| सोऽतिवीर्यो सुरो राम | 15 | 23 | a | स्थानागतं तं परिरभ्य निर्वृता: | 11 | 52 | c |
| सोऽनृतादतिविह्वल: | 1 | 57 | d | स्थानानि च नरा भुवि | 2 | 11 | b |
| सोऽयं मे व्रत आहित: | 25 | 18 | d | स्थाने स्थिता: श्रुतिगतां- | | | |
| सौत्रामण्याश्च सत्तमा: | 23 | 8 | b | तनुवाङ्मनोभि: | 14 | 3 | c |
| सौमङ्गल्यगिरो विप्रा: | 5 | 5 | a | स्थापयामास लीलया | 25 | 28 | d |
| स्कन्धप्रवालविटपौ कृतचण्डशब्दौ | 10 | 27 | d | स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतव: | 24 | 22 | b |
| स्कन्धे निधाय वासांसि | 22 | 18 | c | स्थित्वा मुहूर्तमुदतिष्ठदुरङ्गबन्धात् | 16 | 23 | d |
| स्तनन्त: स्तनयित्नुभि: | 25 | 9 | b | स्थीयतां स्वाधिकारेषु | 27 | 17 | c |
| स्तनं दत्त्वाऽऽप सद्गतिम् | 6 | 36 | d | स्थूणास्थूलावर्षधारा: | 25 | 10 | a |
| स्तनं स्नेहपरिप्लुता | 7 | 34 | d | स्थैर्यं न चक्रु: कामिन्य: | 20 | 17 | c |
| स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा | 14 | 31 | b | स्नात: शुचिरलङ्कृत: | 5 | 1 | d |
| स्तबका वनराजय: | 3 | 3 | d | स्नातुं नन्दस्तु कालिन्द्याम् | 28 | 1 | c |
| स्तब्धेक्षणोल्मुकमुखो हरिमीक्षमाण: | 16 | 24 | d | स्निग्धा मय्युषिता धिया | 23 | 14 | d |
| स्तवैश्च विप्राजयनिश्वनै र्गणा: | 12 | 34 | d | स्निग्धा: सुशिग्वेत्र विषाणवेणव: | 12 | 2 | b |
| स्तिमितैकादशेन्द्रिय: | 13 | 57 | b | स्नुषेयं तव कल्याण | 4 | 4 | c |
| स्तूयमानेदमब्रवीत् | 4 | 11 | d | स्नेहक्लिन्नधियदशनै: | 15 | 18 | d |
| स्तूयमानोऽनुगैर्गोपै: | 15 | 41 | c | स्नेहवल्गुयाद्वमन्वहम् | 13 | 26 | b |
| स्तेयं स्वाद्वत्त्यथ दधिपय: कल्पितै: | | | | स्नेहस्नुतस्तन्यपय: सुधासमं | 13 | 22 | c |
| स्तेपयोगै: | 8 | 29 | b | स्नेहस्नुतं सस्मितमीक्षती मुखम् | 9 | 5 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| स्पृशच्छिखान् वीक्ष्य वनस्पतीन्- | | | | स्वपादस्पर्शकाल आगते | 20 | 49 | d |
| मुदा | 15 | 4 | c | स्वपुत्रस्योदयाय च | 5 | 16 | b |
| सृष्ट्वा चतुर्मुकुटकोटिभिरङ्घ्रियुग्मम् | 13 | 63 | c | स्वप्नदृष्टा महोत्पाता: | 6 | 30 | a |
| स्फुटत्सरोगन्धहृतालिपत्रिक | 13 | 5 | c | स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदु:खदु:खम् | 14 | 22 | b |
| स्मयन्ती विस्मिताऽभवत् | 9 | 17 | d | स्वप्ने यथा पश्यति देहमीदृशम् | 1 | 41 | a |
| स्मयन्निवाहाऽग्रजमादिपूरुष: | 15 | 4 | d | स्वभावकर्माशयलिङ्गभेदम् | 8 | 39 | b |
| स्मरन्ती तान्यगायत | 9 | 2 | d | स्वभावतन्त्रो हि जन: | 24 | 16 | a |
| स्मरन्त्य: कृष्णचेष्टितम् | 21 | 4 | b | स्वभावमनुवर्तते | 24 | 16 | b |
| स्मृति: स्यान्मत्प्रसादेन | 10 | 21 | c | स्वभावविहितं नृणाम् | 24 | 15 | d |
| स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे | 10 | 38 | c | स्वभावस्थमिदं सर्वम् | 24 | 16 | c |
| स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणम् | 16 | 30 | c | स्वभावस्थ: स्वकर्मकृत् | 24 | 18 | b |
| स्मृत्वा स्मृत्वा पुन: पुन: | 13 | 64 | d | स्वभावो दुस्त्यजो नाथ | 16 | 56 | c |
| स्यातां नैवं यथा पुन: | 10 | 21 | b | स्वभासा पुरुषो यथा | 20 | 19 | d |
| स्यालस्वस्रोरथाऽग्रहीत् | 4 | 23 | d | स्वभुवं प्रागवस्थितान् | 14 | 42 | b |
| स्रग्धातुकृतभूषणा: | 8 | 9 | b | स्वमहिध्वस्तमहिभि: | 13 | 54 | c |
| स्वकान् स्वकान् वत्सतरानपाययन् | 13 | 24 | c | स्वमातु: स्विन्नगात्राया: | 9 | 18 | a |
| स्वकार्थानामिव रज: | 13 | 51 | e | स्वमायामोहितात्मनाम् | 23 | 50 | b |
| स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद्भुवि | 1 | 22 | d | स्वयञ्च बुभुजे प्रभु: | 23 | 35 | d |
| स्वकृतं विन्दतेऽवश: | 4 | 21 | d | स्वयमात्माऽऽत्मगोवत्सान् | 13 | 20 | a |
| स्वकेलिसम्पन्मृदुलाच्छवालुकम् | 13 | 5 | b | स्वयमेव विमोहित: | 13 | 45 | d |
| स्वगृहान् यात बालका: | 11 | 16 | d | स्वयं तं बुभुजे बलिम् | 17 | 4 | d |
| स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे | 20 | 5 | c | स्वयं निगृह्य बुभुजे | 1 | 69 | c |
| स्वचिकीर्षितमेव तत् | 8 | 11 | b | स्वयं विश्रामयत्यार्यम् | 15 | 14 | c |
| स्वच्छन्दोपात्तदेहाय | 27 | 11 | a | स्वयं व्यशीर्यन्त यथातमोर वौ | 3 | 49 | b |
| स्वच्छाम्ब्वपरुषानिला | 20 | 32 | d | स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन् | 2 | 31 | a |
| स्वज्ञात्यपत्यदाराद्यै: | 16 | 60 | e | स्वयोगे विहितेऽस्माभि: | 25 | 15 | c |
| स्वज्योत्स्नाराजितैर्धनै: | 20 | 19 | b | स्वयैव माययाऽजोऽपि | 13 | 45 | c |
| स्वधाम परमं ययौ | 1 | 26 | d | स्वरूप: सर्वबुद्धिदृक् | 3 | 13 | d |
| स्वधाम प्रत्यपद्यत | 14 | 41 | d | स्वरोचिषा भारत सूतिकागृहम् | 3 | 12 | c |
| स्वनाथान् समजीवयत् | 15 | 50 | d | स्वर्गे लोकें मिषति बुभुजे | | | |
| स्वनाम्नां निनदं श्रुत्वा | 19 | 6 | c | यज्ञभुग्बालकेलि: | 13 | 11 | d |
| स्वनुलिप्तास्सुवाससः | 24 | 29 | b | स्वलङ्कृता भुक्तवन्त: | 24 | 29 | a |
| स्वपरेतिभिदा यत: | 4 | 26 | d | स्ववशेनाऽपि कृष्णेन | 9 | 19 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन् | 21 | 3 | d |
| स्वसद्रं पारयिष्यति | 23 | 28 | c |
| स्वसन्तानैरुपामन्त्र्य | 27 | 18 | c |
| स्वसुर्निहतवान् शिशून् | 4 | 17 | d |
| स्वसुर्वधान्निववृते | 1 | 55 | a |
| स्वस्तिवाचनपूर्वकम् | 8 | 10 | d |
| स्वस्थ: शेते मृत्युरस्मादपैति | 3 | 27 | d |
| स्वस्थाने पूर्ववत्प्रभु: | 25 | 28 | b |
| स्वस्वकर्मानुवर्तिनाम् | 24 | 15 | b |
| स्वस्वकात्मनि देहिनाम् | 14 | 51 | b |
| स्वस्वभोज्यरुचिं पृथक् | 13 | 10 | b |
| स्वं स्वमादाय गोधनम् | 25 | 27 | b |
| स्व स्वं भागं प्रयच्छन्ति | 17 | 3 | a |
| स्व स्वं वत्सकुलं सर्वे | 11 | 45 | a |
| स्वं स्वं वास: प्रगृह्यताम् | 22 | 10 | b |
| स्वगतं तेऽतिरंहसा | 14 | 45 | b |
| स्वागतं वो महाभागा | 23 | 25 | a |
| स्वाङ्कमारोप्य भामिनी | 7 | 34 | b |
| स्वात्मदोषापवर्गेण | 23 | 46 | c |
| स्वात्मानमात्माऽऽत्मतया विचक्षते | 14 | 24 | b |
| स्वाद्वन्नमुपलालितौ | 15 | 46 | b |
| स्वानाञ्च प्रीतिमावहन् | 11 | 10 | d |
| स्वानामभयदो विभु: | 28 | 3 | f |
| स्वानां निरोद्धुं भगवान् मनो दधे | 12 | 25 | d |
| स्वान् मेघान् सन्न्यवारयत् | 25 | 24 | d |
| स्वान् स्वान् सहस्रोपरि-संख्ययान्वितान् | 12 | 2 | c |
| स्वार्थे मुह्यामहे द्विजा: | 23 | 40 | d |
| स्वार्थोन्मूलितसौहृद: | 4 | 8 | d |
| स्वार्भकस्य कृतागस: | 9 | 15 | b |
| स्विन्नं वक्त्रं कबरविगलन्मालती-निर्मन्थ | 9 | 3 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य-कोऽपि | 14 | 2 | b |
| स्वैरं चरन्त्यो विबशु: | 19 | 1 | c |
| स्वोद्भवेष्वपि कथ्यताम् | 14 | 49 | d |
| **ह** | | | |
| हतधेनुककानने | 15 | 40 | d |
| हतस्व कान्तस्मरणेन | 12 | 26 | d |
| हतेषु षट्सु बालेषु | 2 | 4 | c |
| हतोऽविता वयञ्चास्मात् | 14 | 48 | c |
| हत्वा न्यपातयत्तेन | 26 | 9 | c |
| हत्वा रासभदैतेयम् | 26 | 10 | a |
| हनिष्यामोऽद्य वै शिशून् | 4 | 31 | d |
| हन्ताऽयमद्रिरबला | 21 | 19 | a |
| हन्ता यां नयसेऽबुध: | 1 | 34 | d |
| हन्ति जन्तू नृतेऽसत: | 10 | 12 | d |
| हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि | 4 | 46 | c |
| हन्ति ह्यस्मै नमस्याम: | 24 | 37 | c |
| हन्तुकामं बकं दोर्भ्याम् | 26 | 8 | c |
| हन्तुं नाऽर्हसि कल्याणीम् | 1 | 45 | c |
| हन्यन्ते पशवो यत्र | 10 | 9 | a |
| हन्यमानमचेतनम् | 25 | 14 | b |
| हन्यमाना न विव्यथु: | 20 | 15 | b |
| हन्यमानास्समन्तत: | 4 | 33 | b |
| हरिणा भक्तवश्यता | 9 | 19 | b |
| हरिता हरिभिश्शष्पै: | 20 | 11 | a |
| हरिद्राचूर्णतैलाद्भि: | 5 | 12 | c |
| हरिद्रातैलरूषिता: | 5 | 7 | b |
| हरिष्ये श्रीमदं तम: | 25 | 16 | d |
| हरिं जगाम शरणम् | 6 | 1 | c |
| हरिं साऽमन्यताऽऽत्मजम् | 8 | 45 | d |
| हरेरनुग्रहान्नूनम् | 11 | 23 | c |
| हरेरात्माहिमोक्षणम् | 12 | 37 | b |
| हरेर्निवासात्मगुणै: | 5 | 17 | c |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: | | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| हरेर्वैरानुबन्धकृत् | 2 | 23 | d | हुङ्कारघोषै: परिहूत | 13 | 24 | b |
| हरे: प्रियचिकीर्षया | 1 | 24 | d | हुत्वा चाऽग्निं द्विजातिभ्य: | 7 | 15 | c |
| हर्षशोकविवर्धन: | 2 | 5 | d | हूयन्तामग्नय: सम्यक् | 24 | 27 | a |
| हसद्भि: प्रहसन्बालै: | 22 | 9 | c | हृत्केशवस्त्युदरमीश | 6 | 23 | c |
| हसन्तश्च पुनराददु: | 12 | 5 | d | हृदयाऽऽसीद्यथा पुरा | 8 | 44 | d |
| हसन्तो हासयन्तश्च | 13 | 10 | c | हृदोपगुह्य विजहौ | 23 | 34 | c |
| हसन्तौ प्रशशंसतु: | 15 | 15 | d | हृद्गम्बपुर्भिर्विदधन्नमस्ते | 14 | 8 | c |
| हस्ताग्राह्यो रचयति विधिं | 8 | 30 | a | हृषीकेश नमस्तेस्तु | 16 | 47 | c |
| हस्तादाचिच्छिदे खल: | 4 | 7 | d | हृष्यत्त्वचोऽश्रुमुमुचु: | 21 | 10 | d |
| हस्ते गृहीत्वा भिषयन्त्यवागुरत् | 9 | 11 | d | हे कृष्णखररूपधृत् | 15 | 23 | b |
| हस्ते गृहीत्वा सहरामम् | 11 | 19 | c | हे गोपा विहरिष्याम: | 18 | 19 | c |
| हस्तौ च कर्मसु मनस्तव | 10 | 38 | b | हे भूमिदेवाश्शृणुत | 23 | 6 | a |
| हंस्यन्यासक्तविमुखान् | 4 | 35 | c | हेमन्ते प्रथमे मासि | 22 | 1 | a |
| हायनापूरणीध्वज: | 13 | 28 | d | हेऽम्ब तात व्रजौकस: | 25 | 20 | b |
| हारिणो वनमालिन: | 13 | 48 | d | हे रामाऽऽगच्छ त्वाताशु | 11 | 15 | a |
| हिताय चेच्छातनुभि: | 27 | 6 | c | हे रामाऽमितविक्रम ! | 17 | 23 | b |
| हितावतीर्णस्य क ईशिरे | 14 | 7 | b | हे रामाऽमितविक्रम ! | 19 | 9 | b |
| हित्वा तैर्व्रजवासिभि: | 25 | 23 | b | हे स्तोककृष्ण हे अंशो | 22 | 34 | a |
| हित्वाऽन्यान् भजते यं श्री: | 23 | 46 | a | हैयङ्गवं चौर्यविशङ्कितेक्षणम् | 9 | 8 | c |
| हित्वाऽऽर्यमार्गं प्रभजन्त्यपस्मया: | 27 | 7 | c | ह्रदमेतमुपाश्रित: | 16 | 63 | b |
| हिन्वतोऽधश्शयानस्य | 26 | 5 | a | ह्रदं विवेश कालिन्द्या: | 17 | 8 | c |
| हिंसाऽपि विनिवर्तते | 10 | 16 | d | ह्रद: कश्चिद्विषाग्निना | 16 | 4 | b |
| हिंसा मानविवर्जिता: | 7 | 13 | b | ह्रदा जलरुहश्रिय: | 3 | 3 | b |
| हिंस्र: स्वपापेन विहिंसित: | 7 | 31 | c | ह्रियमाणो विहायसा | 26 | 6 | b |

श्री:

# व्याख्यानोद्धृतानां प्रमाण वचनानां आकरनिर्देशनी

## दशम: स्कन्ध: (प्रथमो भाग: 1-28 अध्याया:)

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | अ | | | |
| 1 | 24 | 26 | अकर्तरि च कारके | वीर० | अष्टा० 3-3-19 | 461 |
| 2 | 16 | 49 | अकलितश्रम एव सृजति | वीर० | | 334 |
| 3 | 3 | 25 | अक्षरं तमसि लीयते | वीर० | सुबा.उ. 2-2 | 75 |
| 4 | 2 | 27 | अक्षो रथाङ्ग आधारे | विज० | वैज. को. 6-5-2 | 47 |
| 5 | 3 | 19 | अगुणो गुणदेहत्वात् | विज० | आग्नेये | 71 |
| 6 | 8 | 45 | अग्निं मीळे पुरोहितम् | विज० | ऋक्.सं 1-1-1 | 167 |
| 7 | 7 | 32 | अग्निहोत्रं तप स्सत्यं | विज० | हेम चन्द्र: | 144 |
| 8 | 20 | 5 | अग्नौ प्रास्ताहुति: सम्यक् | विज० | मैत्र.उ. 6-37 | 374 |
| 9 | 16 | 24 | अङ्गारोऽलात उल्मुकम् | विज० | अम.को. 2-606 | 317 |
| 10 | 3 | 25 | अचेतना परार्था च नित्या | वीर० | परमसंहिता | 76 |
| 11 | 16 | 41 | अच्प्रत्यन्वपूर्वात्साम० | वीर० | अष्टा. 5-4-75 | 326 |
| 12 | 2 | 26 | अजस्यावक्रचेतस: | विज० | कठ.उ. 5-1 | 46 |
| 13 | 21 | 14 | अजाद्यतष्टाप् | विज० | अष्टा. 4-1-4 | 405 |
| 14 | 28 | 14 | अजानता मामकेन | श्रीध० | भाग० 10-28-7 | 502 |
| 15 | 3 | 20 | अजा मेका लोहित शुक्ल० | वीर० | म.ना.उ. 8-4 | 69 |
| 16 | 28 | 15 | अजो नित्य श्शाश्वतोऽयं | विज० | कठ.उ. 2-18 | 508 |
| 17 | 2 | 39 | अज्ञाना देव मन्यन्ते | विज० | ब्रह्मतर्के | 57 |
| 18 | 27 | 10 | अञ्जलि: परमा मुद्रा | वीर० | भर.सं. | 492 |
| 19 | 24 | 18 | अञ्जसा त्वरिते तत्त्वे | विज० | वैज.को.8-7-31 | 458 |
| 20 | 24 | 25 | अञ्जसायेन वर्तेत तदे. | वीर० | भाग. 10-24-18 | 460 |
| 21 | 9 | 18 | अणिमा लघिमा योग | विज० | | 175 |
| 22 | 1 | 42 | अणुर्ह्येष आत्मा (एषोऽणु रात्मा) | विज० | मुण्ड.उ. 3-1-9 | 20 |
| 23 | 14 | 14 | अणो रणीयान् महतो | वीर० | कठ.उ. 2-20 | 265 |
| 24 | 16 | 43 | अणो रणीयान् | वीर० | कठ.उ. 2-20 | 329 |
| 25 | 6 | 10 | अति स्यादधिकार्थोक्तौ | विज० | वैज.को. 8-7-15 | |
| 26 | 10 | 27 | अति स्या दधिकार्थोक्तौ | विज० | वैज.को. 8-7-15 | 189 |
| 27 | 1 | 21 | अत्यर्था मिति गीर्वाणि | विज० | | 12 |
| 28 | 24 | 31 | अत्यल्पस्त्वसुरावेशो | विज० | भागवततन्त्रे | 464 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Text quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 29 | 16 | 35 | अत्युत्कटै: पुण्यपापैरिहैव | विज० | | 324 |
| 30 | 1 | 21 | अथ कस्मा द्वौ रिति | विज० | निरुक्तम् | 12 |
| 31 | 2 | 26 | अथ यद्देवाश्च प्राणाश्च | वीर० | कौषी.उ. 1-6 | 44 |
| 32 | 6 | 9 | अथाऽथोऽनन्तराप्यर्थ | विज० | वैज.को. 8-7-14 | |
| 33 | 2 | 26 | अद्वैतं परमार्थत: | विज० | आगम.प्र. 17 (माण्डूक्योपनिषत् कारिका:) | 46 |
| 34 | 7 | 31 | अधो न क्षीयते जातु | विज० | भारत.उद्यो. 69-10 | 144 |
| 35 | 3 | 24 | अध्यात्मयोगाधिगमेन | विज० | कठ.उ. 2-12 | 78 |
| 36 | 16 | 32 | अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे | वीर० | विष्वक्सेनसंहिता | 320 |
| 37 | 9 | 19 | अनन्याधीनत्वं तव किल | वीर० | वर.स्तव: - 20 | 176 |
| 38 | 3 | 24 | अनादरान्निरीहश्च | विज० | तन्त्र भागवते | 78 |
| 39 | 16 | 44 | अनादिनिधना ह्येषा वाक् | विज० | भार. शान्ति. 238-56 | 330 |
| 40 | 25 | 24 | अनुभाव: प्रभावे स्यात् | विज० | वैज.को. 8-1-8 | 474 |
| 41 | 16 | 50 | अन्त:प्रियं बहिश्चेति द्विधा | विज० | षाड्गुण्ये | 336 |
| 42 | 9 | 6 | अन्तर:परिधानीये बाह्ये | विज० | वैज.को. 7-5-1 | 171 |
| 43 | 2 | 32 | अन्धकारोऽरविन्दान्ध० | विज० | उत्पलमाला | 52 |
| 44 | 3 | 13 | अपरेऽय मितस्त्वन्याम् | वीर० | भ.गी. 7-5 | 64 |
| 45 | 16 | 40 | अपरेऽयमितस्त्वन्याम् | वीर० | भ.गी. 7-5 | 326 |
| 46 | 6 | 39 | अपि: पदार्थसम्भावना | विज० | अष्टा. 1-4-96 | 130 |
| 47 | 16 | 37 | अपुनर्भवमान्नाद्विहरि | विज० | पाद्मे | 324 |
| 48 | 3 | 26 | अभयं प्रतिष्ठां विन्दते | विज० | तैत्ति.उ. 2-7 | 78 |
| 49 | 16 | 25 | अभित: परित स्समया | वीर० | वार्तिक under अष्टा. 1-4-48 | 317 |
| 50 | 20 | 24 | अमृतं व्योम्नि देवान्ने | विज० | वैज.को. 7-5-7 | 384 |
| 51 | 16 | 24 | अम्बरीष | वीर० | उ.णा.सू० 316 | 469 |
| 52 | 16 | 24 | अम्बरीष: पुमान् भ्राष्ट्रम् (भ्राष्ट्र: पुंस्यम्बरीषोऽस्त्री) | वीर० | वैज.को. 4-3-56 | 316 |
| 53 | 16 | 44 | अयनं पदवी मार्ग: पद्या | विज० | हला.को. 2-105 | 331 |
| 54 | 23 | 26 | अर्थी समर्थो विद्वा नधि० | विज० | | 437 |
| 55 | 25 | 21 | अलन्तु भूषणे शक्तौ | विज० | वैज.को. 8-7-13 | 474 |
| 56 | 16 | 9 | अवदातोऽरुणे पीते श्वेति | विज० | | 311 |
| 57 | 14 | 8 | अविज्ञाता: कुमारका: | वीर० | | 261 |
| 58 | 16 | 49 | अविज्ञाता: कुमारका: | वीर० | | 334 |
| 59 | 2 | 26 | अविनाशी अरेऽयमात्मा | विज० | बृह.उ. 4-5-14 | 46 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 60 | 3 | 25 | अव्यक्त मक्षरे विलीयते | वीर० | सुबा.उ. 2-2 | 75 |
| 61 | 3 | 24 | अव्यक्त मचलं धुवम् | विज० | | 77 |
| 62 | 1 | 61 | अव्यवस्थितचित्तस्य | वीर० | पञ्चतन्त्रे | 27 |
| 63 | 24 | 8 | अष्टौ मासान्निपीतं यत् | वीर० | भाग. 10-20-5 | 452 |
| 64 | 27 | 5 | असताञ्च सताञ्चैव | विज० | आग्नेये | 491 |
| 65 | 2 | 26 | असावादित्य: सत्यं (ब्रह्म) | वीर० | सूर्य.उ. 5 | 44 |
| 66 | 25 | 5 | अस्ति चे दीश्वर: कश्चित् | विज० | भाग. 10-24-14 | 468 |
| 67 | 1 | 50 | अस्या स्त्वा मष्टमो गर्भ: | श्रीध० | भाग. 10-1-34 | 22 |
| 68 | 4 | 17 | अस्या स्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता | वीर० | भाग. 10-1-34 | 92 |
| 69 | 16 | 48 | अस्योत्पत्त्यादिहेतुत्वात् | विज० | माहात्म्ये | 335 |
| 70 | 4 | 20 | अहं ब्रह्मास्मि देवोऽस्मि | विज० | गारुडे | 96 |
| 71 | 16 | 46 | अहं ब्रह्मास्मीति | विज० | बृह.उ. 1-4-10 | 331 |
| 72 | 9 | 19 | अहं भक्तपराधीनो | वीर० | भाग. 9-4-63 | 176 |
| 73 | 6 | 9 | अहं रुद्राय धनु रातनोमि | विज० | | |
| | | | **आ** | | | |
| 74 | 25 | 5 | आजीव्येकतरं भावं | विज० | भाग. 10-24-19 | 468 |
| 75 | 2 | 26 | आत्मन एष प्राणो जायते | विज० | प्रश्न.उ. 3-3 | 46 |
| 76 | 14 | 54 | आत्मन स्तु कामाय | वीर० | बृह.उ. 4-5-6 | 285 |
| 77 | 16 | 42 | आत्मा यत्नो धृति र्बुद्धि: | विज० | अम.को. 3-206 | 327 |
| 78 | 3 | 24 | आत्मा वा ये इद मेक एव | विज० | ऐत.उ. 1-1-1 | 77 |
| 79 | 28 | 14 | आदित्यवर्णं तमस: परस्तात् | वीर० | श्वेता.उ. 3-8 | 507 |
| 80 | 3 | 13 | आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् | श्रीध० | तैत्ति.उ. 3-6 | 63 |
| 81 | 10 | 33 | अनीदवात स्वधया | विज० | ऋक्स. 8-7-17 | 192 |
| 82 | 14 | 14 | आपो नारा इति प्रोक्ता: | श्रीध० | मनुस्मृ० 1-10 | 263 |
| 83 | 14 | 14 | आपो नारा इति प्रोक्ता: | वीर० | मनुस्मृ०1-10 | 264 |
| 84 | 8 | 22 | आभीरपल्ली किङ्किण्यो: | विज० | | 155 |
| 85 | 10 | 17 | आरा दूरसमीपयो: | विज० | अम: को. 3-397 | 185 |
| 86 | 2 | 18 | आविश्य पितरं विष्णु: | विज० | वामने | 38 |
| 87 | 27 | 9 | आवेशो वसुदेवादौ | विज० | पाद्मे | 493 |
| 88 | 23 | 24 | आशा दिगतितृष्णयो: | विज० | वैज.को. 6-2-3 | 437 |
| | | | **इ** | | | |
| 89 | 14 | 57 | इकश्तिततौ धातुनिर्देशे | वीर० | वार्तिक under अष्टा. 3-3-108 | 287 |
| 90 | 3 | 35 | इजादेश्च (गुरुमतोऽनृच्छ:) | वीर० | अष्टा. 3-1-36 | 80 |
| 91 | 4 | 13 | इति हेतु प्रकरण प्रकारादि | विज० | वैज.को. 8-7-17 | 91 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Text quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 92 | 7 | 24 | इति हेतु प्रकरण प्रकारादि | विज० | वैज.को 8-7-17 | 142 |
| 93 | 10 | 28 | इन्द्रद्रु; ककुभोऽर्जुन: | श्रीध० | अम.को.2-91 | 188 |
| 94 | 16 | 37 | इमा रामास्सरथा स्सतूर्या: | विज० | कठ.उ. 1-25 | 324 |
| 95 | 6 | 39 | इ विचित्रे स्मरे पुमान् | विज० | वैज.को. 8-7-10 | 130 |
| | | | उ | | | |
| 96 | 22 | 19 | उ तापेऽव्यय मीशे चा | विज० | वैज.को. 8-7-10 | |
| 97 | 7 | 10 | उताऽप्यर्थविकल्पयो: | विज० | अम.को. 3-398 | 136 |
| 98 | 14 | 27 | उत्तम: पुरुष स्त्वन्य: | वीर० | भ.गी. 15-17 | 274 |
| 99 | 16 | 39 | उत्तम: पुरुष स्त्वन्य: | वीर० | भ.गी. 15-17 | 326 |
| 100 | 1 | 20 | उपान्मन्त्रकरणे | विज० | अष्टा. 1-3-25 | 12 |
| 101 | 1 | 27 | उपान्वध्याङ्वस: | विज० | अष्टा. 1-4-48 | 15 |
| 102 | 23 | 39 | उभसर्वतसो: कार्या | वीर० | वर्तिक under अष्टा. 1-4-48 | 442 |
| 103 | 14 | 14 | उभेऽस्मिन्... समाहितम् | वीर० | छान्दो.उ. 8-1-3 | 265 |
| | | | ऋ | | | |
| 104 | 16 | 44 | ऋच स्सामानि जज्ञिरे | वीर० | पु.सू. 1-4 | 330 |
| 105 | 2 | 27 | ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् | विज० | श्वेता.उ. 4-8 | 47 |
| 106 | 14 | 19 | ऋते मायां विशालाक्षीम् | वीर० | रामा. 7-110-11 | 268 |
| | | | ए | | | |
| 107 | 3 | 19 | एकमेवाऽद्वितीयम् | वीर० | छान्दो.उ. 6-2-1 | 69 |
| 108 | 14 | 23 | एक मेवाऽ द्वितीयम् | वीर० | छान्दो.उ. 6-2-1 | 271 |
| 109 | 3 | 17 | एको देव स्सर्वभूतेषु | विज० | श्वेता.उ. 6-11 | 67 |
| 110 | 14 | 23 | एत द्यो वेत्ति | वीर० | भ.गी. 13-1 | 271 |
| 111 | 10 | 15 | एत द्वैष परन्तपो यत् | विज० | बृह.उ. 5-11-1 | 184 |
| 112 | 24 | 16 | एतस्य वा अक्षरस्य | विज० | बृह.उ. 3-8-9 | 458 |
| 113 | 24 | 18 | एतस्मा त्कारणात्कृष्ण: | विज० | भागवततन्त्रे | 458 |
| 114 | 1 | 2 | एतेचांशकला विष्णो: | वीर० | भाग. 1-3-28 | 3 |
| 115 | 14 | 24 | एव मनृता दात्मानं जुगुप्सेत् | वीर० | म.ना.उ. 8-2 | 271 |
| 116 | 2 | 26 | एव मनृता दात्मानं जुगुप्सेत् | वीर० | म.ना.उ. 8-2 | 44 |
| 117 | 2 | 26 | एवं पुण्यस्य कर्मणो | वीर० | म.ना.उ. 9-7 | 44 |
| 118 | 16 | 38 | एवं संसृतिचक्रेऽस्मिन् | वीर० | अहिर्बुध्न्य संहिता | 325 |
| 119 | 8 | 45 | एष पन्था: | विज० | बृह.उ. 4-4-9 | 167 |
| 120 | 14 | 14 | एष मे आत्माऽन्तर्हृदये | वीर० | छान्दो.उ. 3-14-3 | 265 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 121 | 2 | 26 | एष ह्येव परमानन्द: | विज० | | 47 |
| | | | **ऐ** | | | |
| 122 | 3 | 18 | ऐकात्म्य ज्ञानतो यान्ति | विज० | ब्रह्मवैवर्ते | 70 |
| 123 | 3 | 19 | ऐश्वर्या त्पूर्णशक्तित: | विज० | ब्राह्मे | 71 |
| | | | **ओ** | | | |
| 124 | 4 | 36 | ओकसी मन्दिराशयौ (श्रमौ) | विज० | वैज.को. 6-3-4 | 100 |
| 125 | 26 | 4 | ओजोऽवष्टम्भबलयो: | विज० | वैज.को. 6-3-4 | 479 |
| | | | **क** | | | |
| 126 | 10 | 33 | क एव ब्रह्म जानाति | विज० | | 192 |
| 127 | 4 | 34 | कक्ष्या करि वरत्रायां | विज० | वैज.को. 6-2-7 | 100 |
| 128 | 14 | 23 | कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् | वीर० | ब्र.सू. 2-3-33 | 271 |
| 129 | 24 | 17 | कर्मणा जायते जन्तु: | वीर० | भाग. 10-24-13 | 457 |
| 130 | 28 | 2 | कलार्धां द्वादशीं दृष्ट्वा | श्रीध० | | 502 |
| 131 | 2 | 35 | कश्चिन्मां वेत्तितत्त्वत: | विज० | भ.गी. 7-3 | 53 |
| 132 | 1 | 7 | कारणन्तु ध्येय: | वीर० | अथ.शिखा.उ. 3 | 4 |
| 133 | 2 | 30 | कारणन्तु ध्येय: | वीर० | अथ.शिखा.उ. 3 | 45 |
| 134 | 14 | 24 | कारणन्तु ध्येय: | वीर० | अथ.शिखा.उ. 3 | 271 |
| 135 | 14 | 58 | कारणन्तु ध्येय: | वीर० | अथ.शिखा.उ. 3 | 287 |
| 136 | 20 | 5 | कालाध्वनो रत्यन्त संयोगे | विज० | अष्टा. 2-3-5 | 373 |
| 137 | 8 | 9 | किं मया हतया मन्द | श्रीध० | भाग. 10-4-12 | 146 |
| 138 | 18 | 13 | कुम्भोलूखलके क्लीबे | विज० | अम.को. 2-80 | 357 |
| 139 | 23 | 4 | कु: पापोत्पार्थकुत्सयो: | विज० | वैज.को. 8-7-3 | 468 |
| 140 | 1 | 9 | कृतवा न्यानि विश्वात्मा | वीर० | भाग. 10-1-3 | 7 |
| 141 | 8 | 13 | कृषिर्भूवाचकश्शब्द: | वीर० | भार. 5-68-5 | 151 |
| 142 | 8 | 15 | कृषि र्भूवाचक श्शब्द: | विज० | भार. 5-68-5 | 152 |
| 143 | 2 | 9 | कृष्णस्तु भगवान्स्वयम् | श्रीध० | भाग. 1-3-28 | 34 |
| 144 | 16 | 45 | कृष्णं सीसाद्यलोहेषु | विज० | वैज.को. 6-5-15 | 331 |
| 145 | 16 | 24 | कृतृभ्यामीषन् | वीर० | उणा.सू. 466 | 316 |
| 146 | 3 | 19 | केवलो निर्गुणश्च | विज० | श्वेता.उ. 6-11 | 71 |
| 147 | 16 | 35 | कोह्येवान्यात्क: प्राण्यात् | वीर० | तैत्ति.आ. 2-7 | 322 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 148 | 12 | 39 | कौमारं पञ्चमाब्दान्तं | वीर० | | 231 |
| 149 | 7 | 4 | क्रमनिम्नमहीभागे कवि० | विज० | वैज.को. 6-1-37 | 134 |
| 150 | 24 | 18 | क्रिया यजनयोः कर्म | विज० | वैज.को. 6-3-4 | 458 |
| 151 | 25 | 1 | क्रुध द्रुहेर्ष्यासूयार्थानां | विज० | अष्टा. 1-4-37 | 467 |
| 152 | 16 | 24 | क्लीबेऽम्बरीषं भ्राष्ट्रो ना | वीर० | अम.को. 2-607 | 316 |
| 153 | 28 | 14 | क्षयन्तमस्य रजसः पराके | वीर० | ऋक्सं. 7-100-5 | 507 |
| 154 | 3 | 17 | क्षेत्रज्ञः पुरुषो ह्यात्मा | विज० | हला.को. 1-134 | 67 |
| 155 | 2 | 29 | क्षेमो ना प्रासरक्षायां | विज० | वैज.को. 6-5-22 | 48 |
| | | | **ख** | | | |
| 156 | 27 | 5 | खलेन पर्षान्प्रतिहन्मि | विज० | | 490 |
| | | | **ग** | | | |
| 157 | 1 | 16 | गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयात् | विज० | विष्णु.पु. 2-8-123 | 10 |
| 158 | 1 | 50 | गति र्धातु र्दुरत्यया | श्रीध० | भाग. 10-1-50 | 22 |
| 159 | 21 | 12 | गत्यर्था बुद्धयर्थाः | वीर० | न्याय | |
| 160 | 6 | 15 | गव्यूतिः स्त्री क्रोशयुगम् | विज० | अम्र.को. 2-18 | 121 |
| 161 | 27 | 7 | गुरु रात्मवतां शास्ता | विज० | विष्णु.ध. 65-27 | 491 |
| 162 | 3 | 51 | गृहाः पुंसि च भूम्न्येव | विज० | अम.को. 2-23 | 86 |
| 163 | 26 | 25 | गोस्वामी गोविन्दोऽधिकृतो गवाम् | विज० | अम.को. 3-248 | 485 |
| | | | गोष्ठाध्यक्षे तु गोविन्दः | विज० | वैज.को. 3-4-59 | |
| 164 | 2 | 22 | गौ र्दृष्टिर्दीधितिः स्वर्गे | विज० | हला.को. 5-68 | 41 |
| | | | **च** | | | |
| 165 | 2 | 26 | चक्षुषी चन्द्र सूर्यौ | वीर० | मुण्ड.उ. 2-1-4 | 44 |
| 166 | 21 | 13 | चित्र माश्चर्यलेख्ययोः | विज० | वैज.को. 6-5-30 | 405 |
| 167 | 20 | 1 | चोन्वाचये समाहारे | विज० | वैज.को. 8-7-4 | 373 |
| | | | **छ** | | | |
| 168 | 10 | 10 | छन्नोऽन्येषां नतु स्वस्य | विज० | महाकौर्मे | 193 |
| | | | **ज** | | | |
| 169 | 3 | 20 | जगतां वर्धयन् सत्त्वम् | विज० | ब्रह्मतर्के | 71 |
| 170 | 3 | 13 | जग व्यापार वर्जं | वीर० | ब्र.सू. 4-4-17 | 64 |
| 171 | 1 | 41 | जन्तो र्वै कस्यचिद्धेतोः | श्रीध० | भाग. 11-22-41 | 16 |
| 172 | 2 | 36 | जन्म कर्म च मे दिव्यम् | वीर० | भ.गी. 4-9 | 51 |
| 173 | 14 | 19 | जलं संस्तभ्य मायया | वीर० | भारते | 268 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 174 | 14 | 14 | जह्नु र्नारायणो नर: | वीर० | भरते. अनुशा. 135-39 | 264 |
| 175 | 10 | 30 | जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु: | विज० | भ.गी. 2-27 | 192 |
| 176 | 1 | 3 | जातो गत: पितृगृहा द्वत | श्रीध: | भाग 9-24-66 | 3 |
| 177 | 1 | 1 | जातो गत: पितृगृहा द्वत | वीर० | भाग. 9-24-66 | 3 |
| 178 | 2 | 21 | जीवन्भद्राणि (पश्यतु) | विज० | भार. आरण्य. 240-36 | 41 |
| 179 | 16 | 48 | जीवस्य तदधीनत्वात् | विज० | माहात्म्ये | 335 |
| 180 | 3 | 17 | ज्ञाताऽपि सर्व भावानां (सर्वस्य भवान्) | विज० | तन्त्र भागवते | 67 |
| | | | **त** | | | |
| 181 | 14 | 2 | तत आगत: | वीर० | अष्टा. 4-3-74 | 258 |
| 182 | 27 | 4 | तत आगत: | वीर० | अष्टा. 4-3-74 | 489 |
| 183 | 5 | 1 | तत आरभ्य | वीर० | भाग. 10-5-17 | 105 |
| 184 | 2 | 26 | तत्सत्य मित्याचक्षते | श्रीध० | तैत्ति.उ. 2-6 | 42 |
| 185 | 3 | 14 | तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनु प्राविशत् | श्रीध० | तैत्ति.उ. 2-6 | 63 |
| 186 | 3 | 14 | तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत् | वीर० | तैत्ति.उ. 2-6 | 65 |
| 187 | 3 | 24 | तदव्यक्त माह (हि) | विज० | ब्र.सू. 3-2-22 (23) | 77 |
| 188 | 9 | 14 | तदव्यक्त माह हि | विज० | ब्र.सू. 2-22 (23) | 75 |
| 189 | 14 | 34 | तदस्तु मे नाथ स भूरि | श्रीध० | भाग. 10-14-30 | 276 |
| 190 | 23 | 26 | तदेत त्प्रेष्ठ: | विज० | | 437 |
| 191 | 3 | 25 | तदेत दक्षयं नित्यं जगत् | वीर० | विष्णु.पु. 1-22-60 | 76 |
| 192 | 3 | 19 | तदैक्षत बहु स्याम् | वीर० | छान्दो.उ. 6-2-3 | 69 |
| 193 | 16 | 46 | तद्ब्रह्म वेद | विज० | | 331 |
| 194 | 20 | 36 | तद्विद्धि प्रणिपातेन | वीर० | भ.गी. 4-34 | 390 |
| 195 | 3 | 25 | तम: परे देव एकी | वीर० | सुबा.उ. 2-2 | 75 |
| 196 | 3 | 22 | तमो द्वेषात्मकं शुद्धं | विज० | ब्रह्मतर्के | 72 |
| 197 | 4 | 20 | तल्लक्षणै र्विहीनस्सन् | विज० | गारुडे | 96 |
| 198 | 11 | 56 | तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते | श्रीध० | भाग. 10-8-19 | 216 |
| 199 | 27 | 1 | तस्मिन्नप्यसुरावेशे | विज० | भागवततन्त्रे | 487 |
| 200 | 16 | 44 | तस्य ह वा एतस्य महतो | वीर० | सुबा.उ. 2-1 | 330 |
| 201 | 10 | 35 | तस्यावतार देहस्था: | विज० | महाकौर्मे | 193 |
| 202 | 2 | 19 | तस्या श्शिखाया मध्ये | वीर० | मना.उ. 9-12 | 37 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 203 | 5 | 1 | तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां | वीर० | भाग. 10-4-29 | 105 |
| 204 | 1 | 20 | तस्येद मेव शिर: | विज० | तैत्ति.उ. 2-1-1 | 12 |
| 205 | 2 | 26 | तं देवा: प्राणयन्त | विज० | एत.उ. 1-5-1 | 46 |
| 206 | 16 | 48 | तानहं द्विषत: क्रूरान् | वीर० | भ.गी. 16-19 | 333 |
| 207 | 8 | 41 | तां स्ते प्रेत्याऽभिगच्छन्ति | विज० | ईशा.उ. 3; बृह.उ. 4-4-11 | 163 |
| 208 | 10 | 34 | तुच्छयेनाभ्वपिहितं | विज० | ऋक्सं 10-129-3 | 193 |
| 209 | 23 | 13 | तृणा दपि लघु स्तूल: | वीर० | शार्ङ्ग.पद्ध. 400 | 432 |
| 210 | 24 | 14 | तृप्त एवैन मिन्द्र: | वीर० | | 454 |
| 211 | 23 | 49 | ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं | वीर० | भ.गी. 9-21 | 446 |
| 212 | 24 | 16 | तेन जातं फलं यस्मात् | विज० | भागवत तन्त्रे | 458 |
| 213 | 14 | 23 | तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं | वीर० | श्वेता.उ. 3-9 | 270 |
| 214 | 16 | 48 | तेषा महं समुद्धर्ता मृत्यु० | वीर० | भ.गी. 12-7 | 333 |
| 215 | 2 | 33 | तेषां नित्याभियुक्तानां | वीर० | भ.गी. 9-22 | 50 |
| 216 | 26 | 25 | त्वं न इन्द्रोजगत्पते | वीर० | भाग. 10-27-20 | 484 |
| | | | द | | | |
| 217 | 9 | 6 | दधिमण्डो भवे न्मस्तु | विज० | हला.को. 2-166 | 170 |
| 218 | 16 | 34 | दण्डोऽपि भगवच्चीर्णो | विज० | महाकौर्मे | 323 |
| 219 | 16 | 39 | दण्डोऽपि भगवच्चीर्ण: | विज० | महाकौर्मे | 327 |
| 220 | 27 | 5 | दण्डोऽस्त्रीशासने राज्ञां | विज० | वैज.कौ. 6-5-38 | 491 |
| 221 | 16 | 18 | दम्भोलि दशनिर्द्वयो: | विज० | आम.को. 1-47 | 315 |
| 222 | 14 | 11 | दशोत्तेरण पयसा मैत्रे० | वीर० | विष्णुपु. 2-7-23 | 264 |
| 223 | 27 | 1 | दिदृष्टिदीधितिस्वर्गवज्र० | विज० | हला.को. 5-68 | 487 |
| 224 | 2 | 41 | दिष्टया स्या न्मङ्गलादिषु | विज० | वैज.को. 8-7-21 | 57 |
| 225 | 16 | 49 | दुर्गा चाप्यवरा तत: | विज० | प्रकाशिकायम् | 335 |
| 226 | 15 | 6 | दु:खैनो व्यसने ष्वघम् | विज० | अम.को. 3-184 | 293 |
| 227 | 8 | 9 | देवक्या अष्टमो गर्भो न | श्रीध० | भाग. 10-8-8 | 146 |
| 228 | 16 | 49 | देवस्यैव स्वभावोऽयं | विज० | | 330 |
| 229 | 1 | 42 | देवादित्वं योग्यतया | विज० | नारदीये | 20 |
| 230 | 4 | 26 | देवोऽहं मानुषो वेति | विज० | ब्रह्माण्डे | 97 |
| 231 | 1 | 40 | देहान्तर मनुप्राप्य | वीर० | भाग. 10-1-39 | 18 |
| 232 | 16 | 45 | द्युम्नं द्रव्यं द्रविणम् | विज० | हला.को. 1-80 | 331 |
| 233 | 20 | 3 | सत्त्वं, द्रव्ये सत्तास्वभावयो: | विज० | वैज.को. 6-5-94 | 373 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Text quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 234 | 14 | 3 | द्रौपद्या सहिता स्सर्वे | वीर० | | 258 |
| 235 | 8 | 24 | द्वा सुपर्णा | विज० | मुण्ड.उ. 3-1-1 | 155 |
| 236 | 17 | 1 | द्वीपं रमणकं हित्वा | वीर० | भाग. 10-16-63 | 343 |
| | | | **ध** | | | |
| 237 | 23 | 39 | धिग्भर्त्सने कुत्सने | विज० | वैज.को. 8-7-5 | 443 |
| 238 | 6 | 9 | ध्वाङ्क्षाराति र्निशाटन: | विज० | हला.को. 2-91 | |
| | | | **न** | | | |
| 239 | 16 | 38 | न चक्षुषा पश्यति कश्चन | विज० | कठ.उ. 6-9 | 327 |
| 240 | 24 | 16 | न चाऽऽसौ कर्मफलभाक् | विज० | भागवततन्त्रे | 458 |
| 241 | 3 | 41 | न तत्समश्चाभ्यधिकश्च | वीर० | श्वेता.उ. 6-8 | 82 |
| 242 | 16 | 48 | नता: स्म सर्ववचसां प्रति० | वीर० | विष्णु पु० 1-14-23 | 333 |
| 243 | 3 | 41 | न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिक: | वीर० | भ.गी. 11-43 | 82 |
| 244 | 24 | 16 | न तदस्ति पृथिव्यां वा | वीर० | भ.गी. 18-40 | 457 |
| 245 | 14 | 2 | न भूत सङ्गसंस्थानो | वीर० | भार.शान्ति. 206-60 | 258 |
| 246 | 16 | 50 | नम स्तुभ्यं भगवते | विज० | भाग. 10-16-39 | 335 |
| 247 | 23 | 29 | न मे भक्त: प्रणश्यति | श्रीध० | भ.गी. 9-31 | 438 |
| 248 | 23 | 29 | न मे भक्त: प्रणश्यति | वीर० | भ.गी. 9-31 | 439 |
| 249 | 23 | 29 | न मे भक्त: प्रणश्यति | विज० | भ.गी. 9-31 | 440 |
| 250 | 14 | 14 | नराज्ञातानि तत्त्वानि नाराणि | श्रीध० | पाद्मपुराणम् | 263 |
| 251 | 2 | 28 | नलोपो नञ: | वीर० | अष्टा० 6-3-73 | 45 |
| 252 | 14 | 50 | न वा अरे पत्यु: कामाय | वीर० | बृह.उ. 4-5-6 | 283 |
| 253 | 14 | 54 | न वा अरे (पत्यु: कामाय) | वीर० | बृह.उ. 4-5-6 | 285 |
| 254 | 23 | 27 | न वा अरे पत्यु: कामाय | वीर० | बृह.उ. 4-5-6 | 439 |
| 255 | 23 | 29 | न स पुन रावर्तते | श्रीध० | निरा.उ. 33 | 438 |
| 256 | 3 | 9 | नस्तद्धिते | वीर० | अष्टा. 6-4-144 | 62 |
| 257 | 10 | 40 | न ह्यन्यो जुषतो जोष्यान् | श्रीध० | भाग. 10-10-8 | 196 |
| 258 | 10 | 40 | न ह्यन्यो जुषतो जोष्यान् | वीर० | भाग. 10-10-8 | 196 |
| 259 | 2 | 26 | न ह्येतस्मा दिति नेति नेति | वीर० | बृह.उ. 2-3-6 | 44 |
| 260 | 16 | 37 | नाकस्य पृष्ठेते सुकृते | विज० | मुण्ड.उ. 1-2-10 | 324 |
| 261 | 24 | 16 | नान्यकर्म वशत्वन्तु तेषां | विज० | भागवततन्त्रे | 458 |
| 262 | 16 | 38 | नाऽन्यै र्देवै र्न मनसा नापि | विज० | | 327 |
| 263 | 3 | 25 | नामानि सर्वाणि च यं विशन्ति | विज० | | 78 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 264 | 11 | 56 | नारायणसमो गुणैः | वीर० | भाग. 10-8-19 | 217 |
| 265 | 18 | 15 | निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे | विज० | अम.को. 2-46 | 357 |
| 266 | 16 | 44 | निगमो निश्चये वेदे | विज० | वैज.को. 7-1-35 | 331 |
| 267 | 23 | 49 | नित्यमसिच् प्रजामेधयोः | वीर० | अष्टा. 5-4-112 | 446 |
| 268 | 16 | 43 | नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं | वीर० | मुण्ड.उ. 1-1-6 | 329 |
| 269 | 16 | 43 | नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं | विज० | मुण्ड.उ. 1-1-6 | 330 |
| 270 | 2 | 26 | नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां | वीर० | कठ.उ. 5-13 | 44 |
| 271 | 16 | 44 | निदेशग्रन्थयो श्शास्त्रम् | विज० | अम.को. 3-335 | 331 |
| 272 | 3 | 24 | निर्गुणं केवलो निर्गुणश्च | विज० | श्वेता उ. 6-11 | 78 |
| 273 | 3 | 24 | निर्विकारोऽक्षर श्शुद्धः | विज० | | 78 |
| 274 | 3 | 20 | निषेधे वागलङ्कारे क्षीप्सने | विज० | वैज.को. 8-7-20 | 71 |
| 275 | 3 | 19 | निष्कलं निष्क्रियं शान्तं | वीर० | श्वेता.उ. 6-19 | 69 |
| 276 | 14 | 37 | निष्कलं निष्क्रियं | वीर० | श्वेता.उ. 6-19 | 279 |
| 277 | 1 | 15 | निष्ठोत्कर्षे व्यवस्थायां | विज० | वैज.को. 6-2-21 | 10 |
| 278 | 21 | 13 | नीवी वस्त्रांशुक ग्रन्थ्योः | विज० | | 405 |
| 279 | 6 | 39 | नु पृच्छायां विकल्पे च | विज० | अम.को. 3-403 | 130 |
| 280 | 21 | 1 | ने र्विशः | विज० | अष्टा. 1-3-17 | 398 |
| 281 | 7 | 33 | नेह स्थेयं बहुदिनं | वीर० | भाग. 10-5-30 | 143 |
| 282 | 8 | 41 | नैषा तर्केण मति रापनेया | विज० | कठ.उ. 2-9 | 163 |
| | | | प | | | |
| 283 | 8 | 19 | पक्षः पार्श्व गरुत्साध्य | विज० | वैज.को. 6-1-35 | 152 |
| 284 | 25 | 18 | पत्नी स्वीकारशपथ | विज० | वैज.को. 8-1-30 | 472 |
| 285 | 2 | 38 | पदाद्याश्रयणा द्विष्णोः | विज० | ब्रह्मतर्के | 57 |
| 286 | 3 | 24 | परञ्ज्योति रुपसम्पद्य | विज० | छान्दो.उ. 8-3-4 | 77 |
| 287 | 4 | 20 | परब्रह्मण एकस्य | विज० | गारुडे | 96 |
| 288 | 1 | 43 | परस्वो हरि रुद्दामः | विज० | प्रकाशिकायां | 20 |
| 289 | 20 | 4 | परायणं ज्योति रेकं तपन्तं | विज० | प्रश्न.उ. 1-8 | 373 |
| 290 | 2 | 36 | पराऽस्य शक्ति र्विविधैव | वीर० | श्वेता.उ. 6-8 | 51 |
| 291 | 8 | 36 | पराऽस्य शक्ति र्विविधैव | वीर० | श्वेता.उ. 6-8 | 161 |
| 292 | 8 | 17 | परित्राणाय साधूनां | वीर० | भ.गी. 4-8 | 151 |
| 293 | 1 | 43 | परेषां द्रोह माचरन् | विज० | तन्त्र भागवते | 20 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 294 | 24 | 5 | परोक्षप्रिया इव हि देवा: | विज० | बृह.उ. 4-2-2 | 450 |
| 295 | 24 | 13 | पर्जन्य: फल भावन: | वीर० | भाग. 10-24-10 | 454 |
| 296 | 20 | 5 | पर्जन्यो गर्जदभ्रेऽभ्रध्वाने | विज० | वैज.को. 7-1-42 | 374 |
| 297 | 11 | 27 | पर्वताद्री (शैल वृक्षौ) नगा वगौ | विज० | अम.को. 3-175 | 208 |
| 298 | 7 | 8 | पुमान् स्त्रिया | वीर० | अष्टा. 1-2-69 | 136 |
| 299 | 15 | 51 | पुमान् स्त्रिया | वीर० | अष्टा. 1-2-69 | 306 |
| 300 | 4 | 1 | पूतनाकंसनरक शिशु | विज० | गारुडे | 88 |
| 301 | 14 | 23 | पूर्व मेवाऽह मिहाऽऽसम् | श्रीध० | | 269 |
| 302 | 3 | 25 | पृथिव्यप्सु प्रलीयते | वीर० | सुबा.उ. 2-2 | 75 |
| 303 | 3 | 25 | प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्धि | वीर० | भ.गी. 13-19 | 76 |
| 304 | 2 | 26 | प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रति | वीर० | ब्र.सू. 3-2-22 | 44 |
| 305 | 7 | 32 | प्रणय: प्रसर स्समौ (प्रसरप्रणयौ समौ) | विज० | अम.को. 3-138 | 144 |
| 306 | 1 | 53 | प्रत्यग्र मुक्तं सद्यस्कं | विज० | हला.को. 4-78 | 25 |
| 307 | 8 | 48 | प्रत्यारम्भे प्रसिद्धौ ह | विज० | वैज.को. 8-7-8 | 167 |
| 308 | 26 | 15 | प्रत्यारम्भे प्रसिद्धौ ह | विज० | वैज.को. 8-7-8 | 482 |
| 309 | 3 | 18 | प्रविष्टत्वा च्छरीरेषु जीवा: | विज० | ब्रह्माण्डे | 70 |
| 310 | 10 | 10 | प्रश्ने क्षेपे विकल्पे किम् | विज० | वैज.को. 8-7-3 | 181 |
| 311 | 24 | 23 | प्रश्ने क्षेपे विकल्पे किम् | विज० | वैज.को. 8-7-3 | 460 |
| 312 | 5 | 25 | प्रसक्तधी रात्मजयो: | श्रीध० | भाग. 10-5-22 | 112 |
| 313 | 1 | 42 | प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढ: | विज० | बृह.उ. 4-3-35 | 20 |
| 314 | 23 | 23 | प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढ: | वीर० | बृह.उ. 4-3-35 | 436 |
| 315 | 23 | 23 | प्राज्ञेनाऽऽत्मना सम्परिष्वक्त: | वीर० | बृह.उ. 4-3-21 | 436 |
| 316 | 16 | 50 | प्राणस्य प्राणम् | विज० | बृह.उ. 4-4-18 | 336 |
| 317 | 2 | 35 | प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् | विज० | भ.गी. 7-17 | 53 |
| 318 | 23 | 29 | प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् | वीर० | भ.गी. 7-17 | 439 |
| | | | **फ** | | | |
| 319 | 3 | 51 | फणा द्वयो: | विज० | अम.को. 1-229 | 85 |
| 320 | 24 | 16 | फल रूप्यन्यकर्मणाम् | विज० | भाग. 10-24-14 | 458 |
| | | | **ब** | | | |
| 321 | 1 | 9 | बलं गदं सारणञ्च | श्रीध० | भाग. 9-24-46 | 6 |
| 322 | 3 | 14 | बहिश्चविद्यमानत्वा दप्रवि० | विज० | ब्रह्मतर्के | 66 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 323 | 2 | 36 | बहुधा विजायते | वीर० | पु.सू. 2-1 | 51 |
| 324 | 18 | 24 | बहुमानविरोधे तु व्यत्यास: | विज० | ब्रह्मतर्के | 360 |
| 325 | 16 | 49 | बहुस्यां प्रजायेय | वीर० | छान्दो.उ. 6-2-3 | 334 |
| 326 | 23 | 9 | बालिशो बालमूर्खयो: | विज० | वैज.को. 7-4-20 | 430 |
| 327 | 3 | 25 | ब्रह्मण: स्वस्य मानेन | वीर० | | 75 |
| 328 | 3 | 24 | ब्रह्मविदाप्नोति परम् | विज० | तैत्ति. 2-1-1 | 77 |
| 329 | 8 | 41 | ब्रह्मविदाप्नोति परम् | विज० | तैत्ति.उ. 2-1-1 | 163 |
| 330 | 14 | 58 | ब्रह्मवदाप्नोति परम् | वीर० | तैत्ति.उ. 2-1-1 | 287 |
| 331 | 27 | 11 | ब्रह्मविदाप्नोति परम् | वीर० | तैत्ति.उ. 2-1-1 | 493 |
| 332 | 2 | 28 | ब्रह्मा देवानां प्रथमस्सम्बभूव | विज० | मुण्ड.उ. 1-1 | 47 |
| | | | **भ** | | | |
| 333 | 14 | 15 | भक्त्यात्वनन्यया शक्य: | वीर० | भ.गी. 11-54 | 259 |
| 334 | 2 | 31 | भगवत्पादपोतोऽसौ | विज० | वामने | 48 |
| 335 | 4 | 26 | भगवद्दर्शनाद्यस्य | विज० | भविष्यत्पुराणे | 97 |
| 336 | 2 | 39 | भवो भद्रे हरे प्राप्तौ सत्ता० | विज० | वैज.को. 6-1-41 | 57 |
| 337 | 8 | 46 | भागा भाग्यांशतुर्यांशा: | विज० | वैज.को. 6-1-41 | 167 |
| 338 | 2 | 23 | भावो लीला क्रिया चेष्टा० | विज० | वैज.को. 6-1-43 | 41 |
| 339 | 25 | 17 | भावो लीला क्रियाचेष्टा० | विज० | वैज.को. 6-1-43 | 472 |
| 340 | 1 | 7 | भासनोपसम्भाषाज्ञान० | वीर० | अष्टा. 1-3-47 | 4 |
| 341 | 1 | 7 | भासनोपसम्भाषाज्ञान० | विज० | अष्टा. 1-3-47 | 5 |
| 342 | 1 | 27 | भुजोऽनवने | वीर० | अष्टा. 1-3-66 | 14 |
| 343 | 16 | 39 | भूतनाशेन नाश: स्यात् | विज० | | 327 |
| 344 | 23 | 6 | भूमिदेवो द्विजोत्तम: | विज० | हला.को. 2-236 | 430 |
| 345 | 3 | 13 | भूमिरापोऽनलो वायु: | वीर० | भ.गी. 7-4 | 64 |
| 346 | 16 | 39 | भूमिरापोऽनलो वायु: | वीर० | भ.गी. 7-4 | 326 |
| 347 | 14 | 57 | भूवादयो धातव: | वीर० | अष्टा. 1-3-2 | 287 |
| 348 | 15 | 6 | भ्रमराणां पक्षमूल मल माहु: | विज० | | 293 |
| | | | **म** | | | |
| 349 | 6 | 9 | मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्न | विज० | अम.को. 3-402 | |
| 350 | 25 | 2 | मन्यु र्दैन्ये क्रतौ क्रुधि | विज० | अम.को. 3-309 | 467 |
| 351 | 14 | 2 | मयट् च | वीर० | अष्टा. 4-3-82 | 258 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 352 | 27 | 4 | मयट् च | वीर० | अष्टा. 4-3-82 | 489 |
| 353 | 8 | 29 | मर्को मनसि वायौ च तोके | विज० | वैज.को. 6-1-45 | 158 |
| 354 | 3 | 16 | महदादि स्त्वविकृत: | विज० | ब्रह्मतर्के | 67 |
| 355 | 3 | 15 | महदाद्या: विशेषान्ता ह्यण्ड० | वीर० | विष्णु.पु. 1-2-53 | 65 |
| 356 | 3 | 25 | महानव्यक्ते विलीयते | वीर० | सुबा.उ. 2-2 | 76 |
| 357 | 27 | 10 | महान्प्रभुर्वै पुरुष: | वीर० | श्वेता.उ. 3-12 | 493 |
| 358 | 15 | 7 | महेशाज्ज्ञानमन्विच्छेत् | विज० | | 294 |
| 359 | 14 | 19 | मायया सततं वेत्ति | वीर० | भार. App. 15-2805 pr | 268 |
| 360 | 14 | 19 | मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् | वीर० | श्वेता.उ. 4-10 | 268 |
| 361 | 14 | 19 | माया वयुनं ज्ञानं | वीर० | वे.नि. 3-9 | 268 |
| 362 | 19 | 12 | मुखा दिन्द्रश्चाऽग्निश्च | वीर० | पु.सू. 1-6 | 369 |
| 363 | 14 | 60 | मुष्णन्तोऽन्योन्यशिक्यादीन् | श्रीध० | भाग. 10-12-5 | 286 |
| 364 | 14 | 60 | मुष्णन्तोऽन्योन्यशिक्यादीन् | वीर० | भाग. 10-12-5 | 288 |
| 365 | 16 | 28 | मूर्छा तु कश्मलं मोह: | विज० | अम.को. 2-566 | 320 |
| 366 | 21 | 7 | मूलधने पात्रे भाण्डं भूषाश्वभूपयो: | विज० | वैज.को. 6-3-23 | 401 |
| 367 | 2 | 28 | मोहितं नाऽभिजानाति मां | वीर० | भ.गी. 7-13 | 45 |
| | | | **य** | | | |
| 368 | 16 | 32 | य आत्मदा बलदा | वीर० | तैत्ति.सं. 4-1-8 | 320 |
| 369 | 2 | 26 | य आदित्ये तिष्ठन् यश्चन्द्र० | वीर० | बृह.उ. 3-7-9 | 44 |
| 370 | 28 | 15 | यच्च ज्योति: स्वयं प्रकाशमानं | विज० | | 508 |
| 371 | 28 | 15 | यच्च सनातनं सदैक० | विज० | | 508 |
| 372 | 3 | 13 | यतो वा इमानि भूतानि | वीर० | तैत्ति.उ. 3-1 | 64 |
| 373 | 8 | 41 | यतो वा इमानि भूतानि | वीर० | तैत्ति.उ. 3-1 | 162 |
| 374 | 8 | 41 | यतो वा इमानि भूतानि | विज० | तैत्ति.उ. 3-1 | 163 |
| 375 | 9 | 9 | यतो वाचो निवर्तन्ते | वीर० | तैत्ति.उ. 2-4 | 172 |
| 376 | 2 | 27 | यत्किञ्च जगत्यां जगत् | विज० | ईशा.उ. 1 | 47 |
| 377 | 2 | 36 | यत्त दद्रेश्य मग्राह्यं | वीर० | मुण्ड.उ. 1-6 | 51 |
| 378 | 3 | 24 | यत्त दद्रेश्य मग्राह्यं | वीर० | मुण्ड.उ. 1-6 | 74 |
| 379 | 1 | 51 | यथा कुण्डस्थितस्याऽग्ने: | विज० | वामने | 25 |
| 380 | 14 | 24 | यथा वृक्षस्य सम्पुष्पितस्य | वीर० | म.ना.उ. 7-9 | 271 |
| 381 | 3 | 29 | यथाऽसादृश्ये | विज० | अष्टा. 2-1-7 | 79 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Text quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 382 | 1 | 43 | यथैवोदशरावेषु | विज० | तन्त्रभागवते | 20 |
| 383 | 2 | 26 | यदन्यद्देवेभ्य: प्राणेभ्य: | वीर० | कौषी.उ. 1-6 | 44 |
| 384 | 8 | 5 | य दुपचित मन्यजन्मनि | श्रीध० | | 146 |
| 385 | 2 | 1 | यदुभि स्सव्यरुध्यत | श्रीध० | भाग. 10-1-68 | 32 |
| 386 | 2 | 1 | यदुभि स्सव्यरुध्यत | विज० | भाग. 10-1-68 | 32 |
| 387 | 10 | 33 | यमेवैष वृणुते तेन लभ्य: | विज० | कठ.उ. 2-22 | 192 |
| 388 | 2 | 36 | यस्य चैतत्कर्म स वै | वीर० | कौषी.उ. 4-18 | 51 |
| 389 | 10 | 29 | यस्य पृथिवी शरीरम् | वीर० | बृह.उ. 3-7-3 | 189 |
| 390 | 10 | 29 | यस्याऽक्षरं शरीरं | वीर० | सुबा.उ. 7-1 | 189 |
| 391 | 2 | 36 | यस्सर्वज्ञ स्सर्ववित् | वीर० | मुण्ड.उ. 2-2-7 | 51 |
| 392 | 1 | 42 | यं यं वाऽपि स्मरन् भावं | वीर० | भ.गी. 8-6 | 19 |
| 393 | 5 | 29 | यं हि न व्यथयन्त्येते | वीर० | भ.गी. 2-15 | 115 |
| 394 | 6 | 9 | य स्सर्वज्ञ: | विज० | मुण्ड.उ. 1-1-9 | |
| 395 | 1 | 49 | याव दवधारणे | विज० | अष्टा. 2-1-8 | 24 |
| 396 | 14 | 19 | योगमायां समादिशत् | वीर० | भाग. 10-2-6 | 268 |
| 397 | 16 | 44 | योनि: स्त्रीणां भगे स्थाने | विज० | वैज.को. 6-5-66 | 331 |
| 398 | 2 | 16 | यो मनसि तिष्ठन् | वीर० | बृह.उ. 3-7-20 | 37 |
| | | | र | | | |
| 399 | 16 | 24 | र ऋतो हलादे र्लघो: | वीर० | अष्टा. 6-4-161 | 316 |
| 400 | 25 | 5 | रजसा चोदिता मेघा: | विज० | भाग. 10-24-23 | 468 |
| 401 | 10 | 17 | रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा | विज० | भ.गी. 2-59 | 185 |
| 402 | 16 | 7 | रागे क्वाथे कषायोऽस्त्री | विज० | वैज.को. 7-5-22 | 311 |
| 403 | 1 | 43 | रागोऽनुरागे लाक्षायां | विज० | वैज.को. 6-1-51 | 21 |
| 404 | 2 | 36 | रुक्मवर्णं कर्तार मीशम् | विज० | मुण्ड.उ. 3-1-3 | 53 |
| 405 | 6 | 9 | रुद्रो मा विशान्तक | विज० | तैत्ति.आर. 10-37-1 | |
| 406 | 18 | 2 | रूपं शब्दे पशौ श्लोके | विज० | वैज.को. 6-3-28 | 354 |
| 407 | 21 | 13 | रूपं... सौन्दर्ये च स्वभावे च | विज० | वैज.को. 6-3-28 | 405 |
| 408 | 10 | 29 | रूप्यत्वात्तु जगद्रूपं | विज० | वामने | 189 |
| | | | ल | | | |
| 409 | 20 | 46 | लाभनिष्पत्तिभोगेषु (फलम्) | विज० | वैज.को. 6-5-52 | 395 |
| 410 | 1 | 37 | लाभोपकृतिसम्बन्धा: | श्रीध० | | 16 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 411 | 26 | | लिङ्निमिते लृङ् क्रियातिपत्तौ व | विज० | अष्टा. 3-3-139 | 482 |
| 412 | 16 | 48 | वचसां वाच्यमुत्तमम् | वीर० | जित.स्तो. | 333 |
| 413 | 21 | 7 | वणिङ्मूलधने पात्रे भाण्डं | विज० | वैज.को. 6-3-23 | 401 |
| 414 | 4 | 36 | वनं भास्यप्सुकानने | विज० | वैज.को. 6-3-31 | 100 |
| 415 | 16 | 8 | वरो ना रूपजामात्रो: | विज० | वैज.को. 6-5-72 | 311 |
| 416 | 25 | 5 | वर्तेत ब्रह्मणा | विज० | भाग. 10-24-20 | 468 |
| 417 | 3 | 20 | वर्धयं स्तु तमो लोके | विज० | ब्रह्मतर्के | 71 |
| 418 | 3 | 20 | वर्धयं स्तु रजो येन | विज० | ब्रह्मतर्के | 71 |
| 419 | 20 | 49 | वर्षोऽ स्त्री भारताद्यम्बु | विज० | वैज.को. 6-5-79 | 395 |
| 420 | 8 | 14 | वसन्ति यत्र भूतानि वसन्ति | वीर० | विष्णु. पु. 6-5-75 | 151 |
| 421 | 1 | 8 | वसुदेवस्तु देवक्याम् | श्रीध० | भाग. 9-24-53 | 6 |
| | 1 | 9 | वसुदेवस्तु रोहिण्यां | श्रीध० | भाग. 9-24-46 | |
| 422 | 2 | 36 | वाचारम्भणं विकार: | विज० | छान्दो.उ. 6-1-5 | 53 |
| 423 | 6 | 10 | वाम: क्रूरे मनोहरे | विज० | वैज.को. 6-4-16 | |
| 424 | 16 | 50 | वायोस्सकाशाज्जगत: | विज० | प्रकाशिकायाम् | 336 |
| 425 | 15 | 7 | वार्तासम्भाव्ययो: किल | विज० | वैज.को. 8-7-19 | 294 |
| 426 | 3 | 13 | विज्ञान मानन्दम् | वीर० | बृह.उ. 3-9-28 | 64 |
| 427 | 8 | 47 | विद ज्ञाने तु वेत्तीतिविद्लृ० | विज० | | 167 |
| 428 | 23 | 34 | वि निषेधे पृथग्भावे | विज० | वैज.को. 8-7-6 | 442 |
| 429 | 16 | 41 | विश्वस्य तदधीनत्वात् | विज० | आग्नेये | 327 |
| 430 | 14 | 14 | विश्वं नारायणं देव मक्षरं | वीर० | म.ना.उ. 9-1 | 265 |
| 431 | 16 | 48 | विश्वाय विश्वरूपाय तत्कर्त्रे | वीर० | | 333 |
| 432 | 17 | 12 | विष्णुना विष्णुभक्तैश्च | विज० | ब्रह्माण्डे | 347 |
| 433 | 10 | 30 | विष्णु स्सर्व गुणोद्रेकात् | विज० | वामने | 192 |
| 434 | 16 | 57 | विष्णु: प्रधानत: स्रष्टा | विज० | नारदीये | 338 |
| 435 | 11 | 50 | वीरणं श्रीतृणं विदु: | विज० | | 214 |
| 436 | 16 | 50 | वृणक्ति वितर्तुराणो अप० | विज० | | 336 |
| 437 | 15 | 6 | वेत्ता वेद्यस्य सर्वस्य | विज० | उत्पलमाला | 293 |
| 438 | 24 | 20 | वेद स्तत्त्वं तपो ब्रह्म | विज० | अम.को. 3-271 | 459 |
| 439 | 10 | 33 | वेदाऽह मेतं पुरुषं महान्तं | विज० | पु.सू. 2-1 | 192 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 440 | 15 | 7 | वैश्वानर: प्रविशत्यतिथि: | विज० | कठ.उ. 1-7 | 224 |
| 441 | 15 | 6 | व्यत्ययो बहुलम् | विज० | अष्टा. 3-1-85 | 293 |
| 442 | 1 | 42 | व्याप्ता ह्यात्मान श्चेतना: | विज० | | 20 |
| 443 | 1 | 1 | व्यास: प्रपञ्चो विस्तार: | विज० | हला.को. 4-81 | 5 |
| 444 | 14 | 49 | व्रजौकसां स्वतोकेषु | श्रीध० | भाग. 10-13-26 | 282 |
| 445 | 14 | 49 | व्रजौकसां स्वतोकेषु | वीर० | भाग. 10-13-26 | 283 |
| | | | श | | | |
| 444 | 7 | 32 | शरणागतसन्त्राणं भूतानां | विज० | भारते | 144 |
| 445 | 16 | 48 | शरीरेषु प्रविष्टत्वात् | विज० | माहात्म्ये | 335 |
| 446 | 19 | 2 | शरो मुञ्ज इतीरित: | विज० | हला.को. 2-36 | 336 |
| 447 | 23 | 1 | शान्ति: प्रशममङ्गले | विज० | वैज.को. 6-2-39 | 427 |
| 448 | 27 | 4 | शान्ति: प्रशममङ्गले | विज० | वैज.को. 6-2-39 | 490 |
| 449 | 15 | 6 | शास्त्रेष्वम्भसि पावने | विज० | - | 293 |
| 450 | 16 | 28 | शीर्षन् छन्दसि | वीर० | अष्टा. 6-1-61 | 319 |
| 451 | 21 | 6 | शुभाकारे तनौ वपु: | विज० | वैज.को. 6-3-30 | 401 |
| 452 | 23 | 7 | श्रद्धाऽऽस्तिक्याभिलाषयो: | विज० | वैज.को. 6-2-38 | 430 |
| 453 | 21 | 7 | श्रीर्देवी वेणुमाश्रित्य रेमे | विज० | तन्त्र भागवते | 401 |
| | | | ष | | | |
| 454 | 24 | 5 | षट्कर्णो भिद्यते मन्त्र: | विज० | सुभा. 27-18 | 450 |
| | | | स | | | |
| 455 | 2 | 16 | स आत्मा अङ्गा न्यन्या: | वीर० | तैत्ति.उ. 1-5-1 | 27 |
| 457 | 3 | 24 | स इमान् लोकान् असृजत | विज० | ऐत.उ. 1-2 | 78 |
| 458 | 20 | 21 | स एकधा भवति द्विधा | वीर० | छान्दो.उ. 7-26-2 | 383 |
| 459 | 24 | 16 | स च ब्राह्मणगिर्यादि | विज० | भागवततन्त्रे | 458 |
| 460 | 2 | 26 | सच्छब्द उत्तमं ब्रूयात् | विज० | तन्त्र भागवते | 46 |
| 461 | 23 | 23 | सता सौम्य तदासम्पन्नो | विज० | छान्दो.उ. 6-8-1 | 437 |
| 462 | 3 | 21 | सतां सुखविवृद्धयर्थं | विज० | ब्रह्मतर्के | 72 |
| 463 | 1 | 3 | स(तु) शब्दस्य विस्तर: | विज० | अम.को.उ. 135; वैज.को. 5-23 | 5 |
| 464 | 8 | 36 | सत्यकामस्सत्यसङ्कल्प: | वीर० | छान्दो.उ. 8-1-5 | 161 |
| 465 | 2 | 26 | सत्यञ्च समदर्शनम् | श्रीध० | भाग. 11-19-37 | 42 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 466 | 3 | 14 | सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत् | वीर० | तैति.उ. 2-6 | 65 |
| 467 | 16 | 49 | सत्यधर्मा सत्यकर्मा | विज० | | 335 |
| 468 | 2 | 26 | सत्यसंहिता वै देवा: | विज० | | 46 |
| 469 | 3 | 13 | सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म | वीर० | तैत्ति.उ. 2-1-1 | 64 |
| 470 | 3 | 19 | सत्यं ज्ञान मनन्तं | वीर० | तैत्ति.उ. 2-1-1 | 69 |
| 474 | 14 | 23 | सत्यं ज्ञान मनन्तं | वीर० | तैत्ति.उ. 2-1-1 | 270 |
| 475 | 27 | 11 | सत्यं ज्ञान मनन्तं | वीर० | तैत्ति.उ. 2-1-1 | 493 |
| 476 | 28 | 15 | सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म | विज० | तैत्ति.उ. 2-1-1 | 508 |
| 477 | 2 | 26 | सत्यं धर्म उदाहृत: | विज० | | 46 |
| 478 | 22 | 24 | सत्यं ब्रवाणि नो नर्म | श्रीध० | भाग. 10-22-10 | 418 |
| 479 | 2 | 35 | सत्त्वं ब्रह्मादि देहाख्यम् | विज० | तन्त्र भागवते | 53 |
| 480 | 11 | 46 | सत्त्वोऽस्त्री जन्तुषु क्लीबे | विज० | वैज.को. 6-5-93 | 214 |
| 481 | 21 | 11 | सत्त्वोऽ स्त्री | विज० | वैज.को. 6-5-93 | 402 |
| 482 | 3 | 19 | सदेव सोम्येद मग्र आसीत् | वीर० | छान्दो.उ. 6-2-1 | 69 |
| 483 | 3 | 24 | समसु प्रथमा | विज० | शब्दनिर्णये | 78 |
| 484 | 2 | 26 | सप्राण मसृजत | विज० | प्रश्न.उ. 6-4 | 46 |
| 485 | 2 | 32 | समाधिनाऽऽवेशितचेतसैके | वीर० | भाग. 10-2-30 | 50 |
| 486 | 1 | 21 | समाधि र्ध्यान सन्धान | विज० | वैज.को. 7-1-81 | 12 |
| 487 | 3 | 16 | समेत्यान्योन्यसंयोगं | वीर० | विष्णु.पु. 1-2-52 | 65 |
| 488 | 1 | 37 | सम्बन्धलाभोपकृतिरभेदो | विज० | | 19 |
| 489 | 15 | 43 | सरघा मधु मक्षिका | विज० | हला.को. 2-101 | 304 |
| 490 | 17 | 2 | सर्पा नो मा दशतु | वीर० | | 343 |
| 491 | 2 | 37 | सर्वक्रियासु कर्तृत्व पूज्य० | विज० | क्रियायोगे | 54 |
| 492 | 16 | 48 | सर्वज्ञोऽपि हि सर्वेश: (विश्वेश:) | वीर० | लक्ष्मीतन्त्रे 17-78 | 333 |
| 493 | 3 | 20 | सर्वत्र सर्वं कुरुते विशेष: | विज० | ब्रह्मतर्के | 71 |
| 494 | 3 | 17 | सर्वत्राव्यवधानेन | विज० | तन्त्र भागवते | 67 |
| 495 | 2 | 36 | सर्वनामा सर्वकर्मा | विज० | | 53 |
| 496 | 13 | 19 | सर्वं विष्णुमयं जगत् | श्रीध० | | 240 |
| 497 | 13 | 19 | सर्वं विष्णुमयं जगत् | वीर० | | 241 |
| 498 | 4 | 21 | सर्व: शर्व: शिव: स्थाणु: | विज० | भारते. 13-135-17 | 96 |
| 499 | 3 | 24 | सर्वाशुभविनिर्मुक्तगुण | विज० | तन्त्र भागवते | 78 |
| 500 | 14 | 3 | सर्वे च्यवनधर्माण: | वीर० | भाग. 12-328-31 | 258 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Test quoted | in commentary | Particular of Sources etc | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 501 | 21 | 13 | सारो बले स्थिरांशे च | विज० | वैज.को. 6-5-97 | 405 |
| 502 | 24 | 17 | सुखं दु:खं भवो भाव: | विज० | भ.गी. 10-4 | 458 |
| 503 | 16 | 50 | सुखान्तं प्राप्नुयु र्यस्मात् | विज० | प्रकाशिकायाम् | 336 |
| 504 | 8 | 41 | सुदुश्शोभनदु:खयो: | विज० | | 163 |
| 505 | 2 | 38 | सुष्ठु दिष्टचोपजोषं | विज० | वैज.को. 8-8-17 | 56 |
| 506 | 5 | 5 | सूता: पौराणिका: प्रोक्ता: | श्रीध० | | 105 |
| 507 | 14 | 28 | सोऽन्वेष्टव्य: सविजिज्ञा० | वीर० | छान्दो.उ. 8-7-1 | 274 |
| 508 | 21 | 13 | सौन्दर्ये च स्वभावे च | विज० | वैज.को. 6-3-28 | 405 |
| 509 | 25 | 9 | स्तनयित्नुर्हि गर्जितेऽग्रे | विज० | वैज.को. 8-1-46 | 469 |
| 510 | 11 | 45 | स्थानेऽभिप्राय आशय: | विज० | वैज.को. 7-5-17 | 212 |
| 511 | 16 | 42 | स्थानेऽभिप्राय आशय: | विज० | वैज.को. 7-5-17 | 327 |
| 512 | 10 | 28 | स्मृतौ वृत्ते निषेधे स्म | विज० | वैज.को. 8-7-7 | 189 |
| 513 | 21 | 10 | स्मृतौ वृत्ते निषेधे स्म | विज० | वैज.को. 8-7-7 | 402 |
| 514 | 8 | 46 | स्याद्धर्म मस्त्रियां पुण्य० | विज० | अम.को. 1-132 | 167 |
| 515 | 11 | 47 | स्युरेवन्तु पुन र्वैवेति | विज० | अम.को. 3-427 | 214 |
| 516 | 1 | 43 | स्वतन्त्रत्वा त्सुखत्वाच्च | विज० | पाद्मे | 21 |
| 517 | 1 | 41 | स्वप्ने यथा दृष्टश्रुत | विज० | | 20 |
| 518 | 3 | 13 | स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाऽग्रे | वीर० | | 64 |
| 519 | 24 | 16 | स्वभावे कर्मणि च य: | वीर० | भागवततन्त्रे | 458 |
| 520 | 4 | 27 | स्वरूपभेदो हि पर | विज० | भविष्यत्पुराणे | 97 |
| 521 | 3 | 18 | स्वातन्त्र्य पारतन्त्र्यादि | विज० | ब्रह्मवैवर्ते | 70 |
| 522 | 3 | 20 | स्वेच्छया तु गुणा द्विष्णु: | विज० | तन्त्र भागवते | 71 |
| | | | ह | | | |
| 523 | 3 | 15 | हन्ताऽह मिमा स्तिस्रो देवता: | वीर० | छान्दो.उ. 6-3-2 | 65 |
| 524 | 15 | 7 | हरिणी स्यात् हिरण्मयी | विज० | हला.को. 1-131 | 294 |
| 525 | 16 | 33 | हरिर्दु:खानि भक्तानां हित० | वीर० | | 322 |
| 526 | 16 | 49 | हरे: स्वरूपशक्तिर्या काल० | विज० | प्रकाशिकायाम् | 335 |
| 527 | 26 | 15 | हा विषादशुगार्तिषु | विज० | वैज.को 8-7-8 | 482 |
| 528 | 28 | 15 | हिरण्मये परे कोशो विरजं | विज० | मुण्ड.उ. 2-292-9 | 508 |
| 529 | 10 | 8 | हि हेतावववधारणे | विज० | वैज.को. 8-7-9 | 181 |
| 530 | 25 | 33 | हृद्युभ्यां डे. उपसंख्यानाम् | विज० | वार्तिक under अष्टा. 6-3-8 | 477 |
| 531 | 26 | 7 | हैयङ्गवीनं संज्ञायाम् | श्रीध० | अष्टा० 5-2-23 | |

ŚRIMAD

# BHĀGAVATA MAHĀPURĀṆAM

OF MAHARṢI VEDAVYASA

SKANDHA - X VOL. II

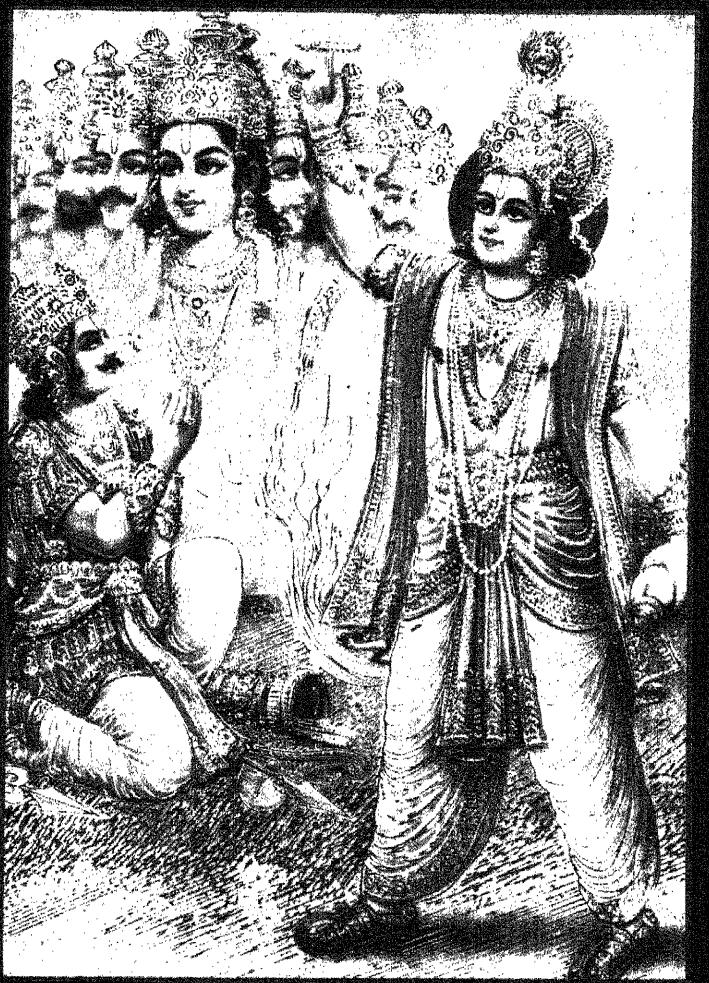

EDITED BY : DR. N.C.V. NARASIMHACHARYA

TIRUMALA TIRUPATI DEVASTHANAMS
TIRUPATI

Harih Om

# SRĪMAD
# BHĀGAVATA
# MAHĀPURĀNAM

*of Maharshi Vedavyasa*

**SKANDHA - X**

**VOL.II**

**(Adhyayas 29 to 60)**

सादरं श्रीहरि समर्पितम्
रामः
7/9/2002

**With the Commentaries:**

Bhavarthadipika of Sri Sridharaswami, Bhagavatachandrachandrika of Sri Vira Raghavacharya, Padaratnavali of Sri Vijayadhvaja Tirtha


**Edited by**

Pandita Raja, Sahitya Visarada, Vachaspati,
Siromani, Vidwan,
**Recipient of President's Certificate of Honour**
**Dr.N.C.V. Narasimhacharya,** M.A., B.O.L.,
Special Officer,
**SRI BHAGAVATHA PROJECT,**
T.T.Devasthanams, Tirupati.



**Published by**

**Dr. I.V.Subba Rao, I.A.S.,**
**Executive Officer,**
**Tirumala Tirupati Devasthanams,**
**TIRUPATI.**

**2000**

SRIMAD BHAGAVATAMAHAPURANAM - SKANDHA - X, Vol. II.
Edited by
Dr. N.C.V. Narasimhacharya

T.T.D. Religious Publications Series No. 589
First Edition 2000
Price: Rs.250/-

Copies: 1,000.

*Published by*:
**Dr. I.V.Subba Rao,** I.A.S.,
Executive Officer,
T.T.Devasthanams,
Tirupati.

***Laser Typeset by*:**
**SREE OM SHAKTI LASER TYPESETTER,**
CHENNAI - 14. Phone: 854 7250

Printed at :
GAYATHRI ART PRINTERS
5-9-33, Basheerbagh,
Hyderabad - 500 063.
Phone : 3230210

ओं नमो वेङ्कटेशाय

श्रीवेदव्यासमहर्षिप्रणीतम्

# श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

## दशमः स्कन्धः

### द्वितीयो भागः

(द्वात्रिंशदध्यायात्मकः)

श्री श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका, श्रीवीरराघवनिर्मिता श्रीभागवतचन्द्रचन्द्रिका,
श्रीविजयध्वजविलिखिता पदरत्नावली चेति त्रिभिः व्याख्यानैः भूषितम्


पण्डितराजः साहित्यविशारदः वाचस्पतिः
शिरोमणिः विद्वान् इति बिरुद भाजा
राष्ट्रपति पुरस्कार ग्रहीत्रा
डॉ. यन्.सि.वि. नरसिंहाचार्येण यम्.ए.बि.ओ.यल्.
(विशिष्टाधिकारी, श्रीमद्भागवत शोधपूर्ण परिष्करण परिषत्)
परिष्कृतम्



तिरुमल तिरुपति देवस्थान निर्वहणाधिकृतैः
डा.ऐ.वि. सुब्बारावु, ऐ.प.एस्., महोदयैः
प्रकाशितम्

२०००

" ईशानां जगतोऽस्य वेङ्कटपते र्विष्णोः परां प्रेयसीं
तद्वक्षःस्थल नित्यवासरसिकां तत्क्षान्तिसंवर्धनीम्।
पद्मालङ्कृतपाणिपल्लवयुगां पद्मासनस्थां श्रियं
वात्सल्यादिगुणोज्ज्वलां भगवतीं वन्दे जगन्मातरम्॥"

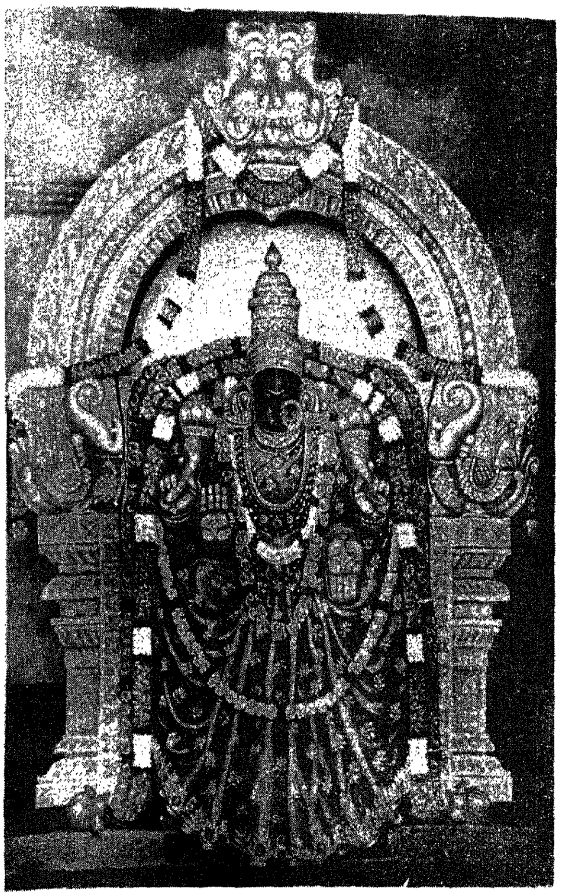

श्रीमद्वेङ्कटनायकस्य हृदये द्वेधा विधायाऽऽत्मनो
मूर्तिं शश्वदियं कृपामृतझरीस्रोतस्विनी भार्गवी।
उद्धर्तुं निखिला नगण्यविषमांहोवह्निदग्धात्मनो
जन्तून् सन्निदधाति विश्वजननी पद्मावती रक्षतात्॥

हरिः ओम्

लोकोद्धारैकदीक्षापर निगममहाहर्म्यधर्म्यप्रदीपः
स्वाङ्घ्रिद्वन्द्वप्रपन्नाखिलदुरिततमोध्वंसिपुण्यप्रदीपः।
दिङ्मूढेभ्यो नरेभ्यः प्रकटितसरणिः स्नेहदीप्रः प्रदीपः
युष्मानस्मान्समस्ता नवतु वृषगिरिस्थास्नुमङ्गल्यदीपः॥

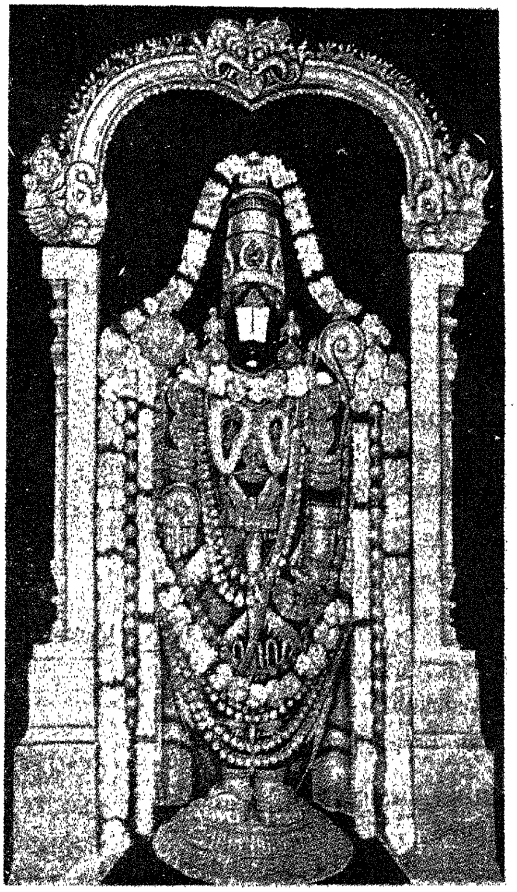

श्रीमद्भागवतं पुराण मखिलाम्नायैकसारः क्व वा?
प्रज्ञादुर्विधकिम्पचानधिषणाः शैक्षाः क्व वा मादृशाः?
भक्त्या चापलत स्तथाऽपि च परिष्कर्तुं वयं व्यापृताः,
एतत् प्राभृतयाम वेङ्कटपतेः पादाब्जयोः, स्वीक्रियात्॥

# THE CRITICAL EDITION OF SRIMAD BHAGAVATA

## THE EDITORIAL BOARD


**Ex-Officio Chairman**

**Dr. I.V.SUBBA RAO,** I.A.S.,

**MEMBERS**

1. **Prof. S.B.Raghunathacharya** M.A., Ph.D.,
   Director General,
   S.V.Institute of Higher Vedic Studies
   T.T.Devasthanams, Tirupati.

2. **Prof. P. Sri Ramachandrudu,** M.A., (TRIO)
   Retired Professor of Sanskrit,
   Osmania University, Hyderabad.

3. **Prof. P. Sri Rama Murthy,** M.A., Ph.D.,
   Retired Professor of Sanskrit,
   Andhra University, Waltair.

4. **Prof. M.Narasimhacharya,** M.A., Ph.D.,
   Professor of Sri Vaishnavism,
   University of Madras, Chennai.

5. **Prof. N.S.Ramanuja Tatacharya**
   Professor of Sanskrit,
   French Institute of Indology,
   Pondicherry.

**Co-Ordinated Members**

6. **Dr.Medasani Mohan,** M.A., Ph.D.,
   Director,
   Sri Annamacharya Project,
   T.T.Devasthanams, Tirupati.

7. **Dr.N.S.Rama Murthy,** M.A.,
   Editor,
   T.T.Devasthanams, Tirupati.

**Convener**

8. **Dr. N.C.V. Narasimhacharya,** M.A., B.O.L.,
   Special Officer,
   Sri Bhagavata Project,
   T.T.Devasthanams, Tirupati.

# CONTENTS


1. Foreword ..... I
2. Introduction - English ..... II
3. Introduction - Sanskrit ..... VII
4. List of Abbreviations - (Editions) ..... XIII
5. List of Abbreviations (Texts cited) ..... XIV
6. Contents of each canto (in prose) ..... XV
7. Contents of each canto (in slokas) ..... XVII
8. Process of Reciting Sri Bhagavata ..... XIX

| Text. | Page |
|---|---|
| Canto.29 | 1 |
| Canto.30 | 26 |
| Canto.31 | 46 |
| Canto.32 | 58 |
| Canto.33 | 70 |
| Canto.34 | 91 |
| Canto.35 | 101 |
| Canto.36 | 116 |
| Canto.37 | 138 |
| Canto.38 | 152 |
| Canto.39 | 171 |
| Canto.40 | 193 |
| Canto.41 | 211 |
| Canto.42 | 230 |
| Canto.43 | 244 |
| Canto.44 | 258 |
| Canto.45 | 276 |
| Canto.46 | 294 |
| Canto.47 | 313 |

| Text. | Page |
|---|---|
| Canto.48 | 347 |
| Canto.49 | 364 |
| Canto.50 | 377 |
| Canto.51 | 424 |
| Canto.52 | 447 |
| Canto.53 | 470 |
| Canto.54 | 489 |
| Canto.55 | 509 |
| Canto.56 | 520 |
| Canto.57 | 536 |
| Canto.58 | 551 |
| Canto.59 | 571 |
| Vijayadhwaja Extra 10 chapeters | 591 |
| Canto.60 | 667 |
| Appendix-I Quarter Verse Index | 1 |
| Appendix-II Citations Index | 108 |
| Extra Verse Index - 1 | 129 |
| Extra Verse Index - 2 | 146 |

# FOREWORD

Sri Bhāgavata critical edition project is one of the important projects being taken up by the Tirumala Tirupati Devasthanams. Sri Bhāgavata occupies a unique place in the spiritual literature of the world containing as it does the quintessence of devotion, knowledge and spirituality. It takes us to higher realms of thought and enriches our world-view.

Sri Bhāgavata purāṇa is an indispensable text for those who are interested in Indian culture, philosophy and religion. When the great seer-composer Vedavyāsa was in a depressed, gloomy mood, the celestial sage Narada has advised him to write this epic with the Lord Śrī Kṛṣṇa as the central figure. It has that magical touch of the great composer who not only captures the subtle nuances of the Lord's life but also brings to the narrative a unique devotional, sublime flavour and fervour that entertains, ennobles and enthralls all. It has a message for everyone - young and old.

The project aims at the preparation of a reference volume incorporating the three main commentaries drawn from the three dominant schools of philosophy - Advaita, Dvaita and Viśiṣṭādvaita. The present volume containing the second part of the tenth Skandha forms a part of the twelve - volume critical edition being edited by the eminent scholar Sri N.C.V. Narasimhacharyulu who has painstakingly prepared this edition by bringing in new insights with his vast experience and rare erudition.

The Tirumala Tirupati Devasthanams humbly offers this Bhakti Bhāṣya, (as Śri Bhāgavata is called) to the discerning readers. Hopefully they would have the divine flavour of the nectar drawn from the veda.

**"Nigama Kalpataroḥ Galitaṃ Phalaṃ Sukamukhādamṛta drava saṃyutam**
**Pibata Bhāgavataṃ rasamālayaṃ Muhuraho Rasikā Bhuvi Bhāvukāḥ"**

(Bhāgavata - 1-1-3)

(Drink deep the nectar flowing from the fruit of the Vedas as it trickles down from Śri Śuka, the parrot, perched on the tree of wisdom.)

**(I.V. SUBBARAO)**

# INTRODUCTION

It is well known to all that the munificent Management of Tirumala Tirupati Devasthanams is making strenuous incessant and sincere efforts for maintaining our Cultural Heritage enshrined in veritable Hindu Scriptures and other works akin to them. It strains every nerve, as it were, to sustain the Religio-philosophic outlook, wherein our Nations's peace and prosperity lie. In order to servive the Sanātana Dharma in the nation, to propagate and instil Bhakti in the minds of the people and making them pious, to convey the message of the Ṛṣis to mankind, to disseminate the ever-lasting, ever-fresh and inestimable greatness of Ārṣa Dharma far and wide for the benefit of the sophisticated and unsophisticated people alike, the noble Devasthanam has founded many an institution such as Dharma Prachāra Pariṣat, the Dāsasāhitya project, the Ālwar Divya Prabandha Project, the Recording Project and the Publication Cell. Further, the Management is sanctioning heavy amounts under the scheme of 'Aid to Publish Religious Texts'. It is also financing the Paurāṇikas, Veda Ghanapāṭhys et cetera, the torch bearers of Indian Culture. It is generously granting financial aid to the numerous authors of Religious works in various languages. For the sake of upholding Arts and Fine Arts such as Music and Dance the Devasthanam is maintaining the educational institutions *viz.* the Arts Colleges, the College of Music and Dance, the Veda Pāṭhaśālas, the Oriental College and others.

Śrī Bhāgavata Critical Edition Project is one among such institutions. When the unparalleled greatness of the sacred Śrī Bhāgavata is acknowledged, the value of the Project will be well realised. The Śrī Bhāgavata is a veritable encyclopeadia of Spiritual Philosophy rendered in purāṇa form to make it more palatable, valuable, accessible and acceptable to literates as well as illiterates. It kindles in readers the unmotivated pure devotion towards the Supreme.

Although there are eighteen purāṇas only the Bhāgavata purāṇa commands much reverence of the devotees. This purāṇa abounds in essential teachings to gain salvation and freedom from the worldly trials and tribulations. After the advent of this purāṇa all the other purāṇas were relegated to the background. This purāṇa is a devotional, philosophical, metaphisical and religious text rendered in a fine poetic form. Thus this text being wonderful and peculiar is extolled as a spiritual book *Par Excellence.* It has been worshipped as a deity placed on the golden throne. The pious people recite the purāṇa like the scripture of high order with much respect, since the daily recital of the text is sincerely believed to be capable of alleviating all sorts of human sufferings. Unlike all the other purāṇas the Bhāgavata is quoted by all the divergent and diverse sectarians as a genuine and authentic text to substantiate or to fortify their respective Dogmas, for, it has been accepted as an authority by the followers of all the schools of philosophy.

Apart from its superb poetry and the very wide range of its devotional teachings, the reason for its forceful and ever expanding appeal lies in its elaborate exposion of the life and messages of Śrī Kṛṣṇa. Out of eighteen thousand verses six thousand and odd verses deal with him directly. Śrī Kṛṣṇa is depicted as a perfect incarnation of Śrī Mahāviṣṇu. He is represented in the text as Saccidānandasvarūpa Parabrahman, as described in the Upaniṣads and the Bhāgavadgītā. He is projected herein as Supreme God. He is the perfect being amidst all the imperfect situations. The Eternal Boy, the paragon of the masculine beauty he always remains in his spiritual elevation, though he appears to be a pastoral boy intermingling with cowherd boys and other boys of lowest birth and station. This type of depiction of Lord in this text became most appealing and attracting even among lower classes. It is read by devotees with peity in raptures.

## ABOUT THE PURĀṆAS

Purāṇa means old. It means "an old, ancient and sacred record" containing the whole body of Hindu mythology. But it is appropriately defined thus पुराऽपि नवम् though it belongs to the remote past it looks anew on account of its ever fresh value of the subject matter. Further, the word पुरा means both past and future. So purāṇa means पुरा = आगतानागतौ अणति कथयति इति पुराणम् purāṇa tells us about the past and future. Hence it can be termed as an ever-green book. The Vāyu purāṇa defines thus- since the text tells about the past event it is called purāṇa and he, who knows the etymology,(निरुक्ति) will be liberated from sins. Like this there are also some other different definitions of the work.

All the ancient texts such as the Śṛtis, Smṛtis and Purāṇas are treated as having no beginning (अनादि). They were not composed by human beings. Owing to the adversaries of time many texts of old were almost ruined. Even the surviving texts remained jumbled and utterly confused. the Lord Nārāyaṇa born as Kṛṣṇa dvaipāyana, as believed by Indian tradition, arranged all the disorderly texts in a proper order, categorising, dividing and subdividing the Vedas. That is why he was called as Vedavyāsa (arranger of Vedas). Like the Vedas the purāṇas also are authorless. They emanated, like the Vedas from the breath of the Omniscient Lord. Vyāsa arranged the purāṇas also naming them as Pādma, Skānda and so on. So the saying अष्टादश पुराणानां कर्ता सत्यवती सुतः can properly be comprehended. The word कर्ता संस्कर्ता here means i.e. arranger in a scientific and proper order, but not the author. The purāṇas are reckoned as eighteen, but the Kūrmapurāṇa gives a list of eighteen Upapurāṇas.

## MODE OF EDITING AND PUBLISHING

As said above Śrī Bhāgavata purāṇa is an indispensable and invaluable book to them who are interested in the spiritual and devotional knowhow. But unfortunately this purāṇa critically and authentically edited and nicely printed is not available at present. Even a good edition of the work containing mere text (मूल मात्र) to enable the devotees to perform daily recital (नित्य पारायण) is not available. The Management of T.T.D. knowing the dire necessity of the text, has taken up the problem seriously to tackle and consequently established the Śrī Bhāgavata Critical Edition Project in 1981 and constituted an Editorial Board. Ever since its inception the Project is trying to go ahead speedily. But it could not show speedy progress by leaps and bounds as thought of, but it goes by fits and starts owing to several reasons.

## SPECIAL FEATURES OF THE EDITION

Though as many as eleven commentaries with text were printed by others long ago, they are not available now. We have taken only three commentaries belonging to the schools of Advaita, Viśiṣṭādvaita and Dvaita which are completely true and faithful to the Scriptures. We have used several different editions to collate and corroborate. We have consulted all the available editions, taken the best readings after thorough study and comparison and prepared our edition.

Having in view the benefit to the reader scholars I have prepared two types of appendices and added them arranged alphabetically at the end of the text. One is with the quarter verse index. This will facilitate the scholars to locate the citation from Sri Bhagavata occurring in any text they study with exact number of Skandha, Canto and verse. The other belongs to the alphabetical index of the citations given in the commentaries to substantiate the particular subject. The citations are numerous because the scholiasts are well versed in all the texts, the scriptures and others. The readers can know that the particular citation is from such and such text whether it be Sṛti, Smṛti, Purāṇa, Agama and the like. Then they can study the source text, with commentary if any, and understand fully well the spirit and purport of the citation. This is the special advantage of this index.

After finishing the fourth skandha we took up the fifth skandha for editing. But at this juncture our Management ordered us to take up immediately the tenth skandha for editing, as this tenth skandha is directly connected with Śrī Kṛṣṇás life and history. This tenth skandha is considered to be the quintessence of the entire text because of its sacredness and importance. Obeying the orders of the Management we took the tenth skandha for editing, discontinuing fifth skandha in the middle. We have edited tenth skandha deviding it into

three volumes and prepared the press copy. We have proposed to publish the entire Bhāgavata text in fourteen volumes. The nine skandhas go to make nine volumes. The tenth skandha being very large is split into three volumes as tenth, eleventh and twelfth volumes and eleventh and twelfth skandhas into two volumes as the thirteenth and fourteenth volumes (9+3+2=14).

Later we took up for editing the semifinished fifth skandha. We completed fifth to nineth skandha (inclusive of both). The press copy was also prepared upto this. We are now going ahead with the editorial work of the eleventh skandha. After completing this work we shall take the twelfh i.e., the last skandha. When it is completed, the Bhāgavata will be of fourteen volumes.

The first volume containing first skandha was published by TTD in the year 1989. The first part of the tenth skandha containing twenty eight cantos (1to 28) was released in the year 1998. The second part of the tenth skandha containing thrity two cantos (29 to 60) is released now. Third part containing thirty cantos (61 to 90) will be released in due course

ACKNOWLEDGEMENTS

It is my pleasant duty to express my sincere gratitude to those reputed and respected persons, who have generously helped me in getting this volume published. At the outset, I thank the Scholar Trio, *viz.* Dr. Ekkirala Krishnamacharyulu, Sri P.V.R.K. Prasad, I.A.S. the then Executive Officer and Dr. Pannala Radhakrishna Sarma, with whose strenuous and sincere efforts the Sri Bhāgavata Critical Edition Project was established in the year 1981. Thence forth this Project has been striving, at its best to publish the volumes of Śrī Bhāgavata one after the other.

Every successive Executive Officer of T.T.D. is extending help with devotional zeal and enthusiasm for the furtherance of the Project. Every successor emulates his predecessor with regard to evincing interest in the sacred task. The successive list of the Executive Officers of TTD is as follows Sri P.V.R.K. Prasad, I.A.S. Sri G. Kumaraswamy Reddy, I.A.S. Sri S. Lakshminarayana, I.A.S. Sri Ch. Venkatapathy Raju, I.A.S. Sri M.V.S. Prasad, I.A.S. Sri D.V.L.N. Murthy, I.A.S. Sri N. Ramesh Kumar, I.A.S. and Sri M.K.R. Vinayak, I.A.S. I ardently thank them all for their unstinted help extended towards the said Project. Their help went a long way to carry on the research work connected with the editing of the Śrīmad Bhāgavata. The present Executive Officer Dr. I.V. Subba Rao, I.A.S. is taking special care and interest and his help gives a stimulus to the Project work. As such I profoundly thank him. I also thank Sri D. Ramakrishnaiah, I.A.S. the Joint Executive Officer. I offer my heartfelt greatfulness to Avadhani sarvabhouma, Mahasahasravadhani

Dr. Medasani Mohan, the Director, Sri Annamacharya Project etc. for his uniform interest in the Project work.

My thanks are due also to the learned Editorial Board of Śrī Bhāgavata Project for its valuable suggestions. I convey my deep gratefulness to the Chairman and the members of the TTD Trust Board and the members of the Specified Authority for kindly providing all the facilities to the Project.

I feel it is quite essential to express my deep debt of gratitude to the Research Assistants of the Śrī Bhāgavata Project *viz.* Sri J.C. Jayachandra Sastry, Siromani and Vidwan Sri A. Varadarajaṇ, Siromani and Vidwan Sri U. Venkataramaiah, M.A. Siromani (all the three retired) and Dr. K. Rajagopalan, M.A., Ph.D. (who left the Project some time ago) Sri S.B.S. Bhattacharya, Siromani, Sikshasastri, Srimati S. Poornavalli, M.A. Gold Medalist, and Dr. S. Dasaratha, M.A., Ph.D. But for the assistance of the said research scholars I could not have accomplished this work. I must once again thank heartily the noble man Dr. P. Radhakrishna Sarma for furnishing the old and rare printed books of various editions of Bhāgavata with commentaries, without which the Critical Edition of the Śrī Bhāgavata could not have been brought forth. Many hearty thanks are due to Sri K. Appanacharya, Special Officer, Dasasahitya Project, TTD and Dr. M.S. Narayana Murty, Director, S.V. University Oriental Research Institute, Tirupati for furnishing me with the required books. In fine, I express my sincere gratitude to all those other scholars too, who have helped me in one way or the other. Lastly I thank M/s Om Shakti Laser Type Setters and Printers for their neat execution.

Now the second volume of the tenth skandha along with the three commentaries, Introduction, Appendices is being presented to the connoisseurs. By the oversight some mistakes might have crept in, for which I crave the indulgence of the readers. The concrete suggestions, if any, for the improvement of this edition are always welcome.

I feel amply rewarded if this Edition can serve the purpose of the readers and scholars and fulfil the objective of T.T.Devasthanams in propagating Hindu Culture and Religion.

--EDITOR

Tirupati,

Dt. 16 /06 /2000.

# आमुखम्

''अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि'' (बृह.उ. 2-4-10) इति श्रुतिशिरःप्रतिपादितरीत्या साक्षा त्परब्रह्मणैव प्रादुष्कृताः श्रुतयः। इदमेव भङ्गचन्तरेण सङ्गृह्यते ''यस्य निःश्वसितं वेदाः'' इति। अखिलैरपि संवित्पथे खिलैः मनुजैः दुर्ज्ञाना स्ता इति विदित्वा प्रकृतिवत्सलो भगवान्, अनादेः कालात् प्रसृताः बहुमुखक्षुण्णाः अतिमात्रसङ्कीर्णाः ताः परिष्कृत्य प्रतिबोधयितुं 'कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम्', इति, 'व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे' इत्यादिरूपै र्वाक्यै रुपश्लोक्यमानः वेदव्यासरूपः संजज्ञे। चतुर्धा विभक्तान् वेदान्, पुनः संहिता ब्राह्मण रूपेण नानाप्रकार शाखात्मना च संविभज्य असङ्कीर्णरूपान् परिणिष्ठितस्वरूपांश्च व्यदधात्। तेषां शिष्य प्रशिष्य मुखेन अनारताविच्छिन्नप्रसारं सम्पिपादयिषुः पैल-जैमिनि-सुमन्तु-वैशम्पायनाभिधान् चतुर श्चतुरां श्छात्रान् परिकल्प्य ऋक्-यजुस्-साम-अथर्ववेदान् तेभ्यः उपदिदेश। ते च सुष्ठु अधीत्य लोके वेदान् व्यतानिषुः। अत एव कृष्णद्वैपायनः ''यतो विव्यास वेदान् स वेदव्यास इतीरितः'' इति व्युत्पत्तिप्रदर्शनानुगुणं 'वेदव्यास' इति पप्रथे।

अत्र कश्चि द्विशेषः - व्यासमहर्षिः एव मनादिवेदप्रतानाय गृहीतान् उपदेशविशुद्धान् चतुरोऽपि शिष्या नुपेक्ष्य श्रीमद्भागवतपुराणन्तु स्वपुत्त्राय ज्ञानवैराग्यादिषु 'पुत्त्रा दिच्छे त्पराजयम्' इति सूक्तिरीत्या वस्तुतः स्वस्मादपि प्रभूततर प्रज्ञानिधये, दृढतरवैराग्यखनये श्रीशुकायैव उपादिक्षत्। तत्र कारणं किम् ? इदं पुराणं वेदेभ्योऽपि विशिष्टतरं आपामर माप्राज्ञं वर्णलिङ्गादिभेदवर्जं सकलजनसुबोधं निखिलनिगमसारभूतम्। अत एव अर्हत्तराय उपदेष्टव्य मिति मत्या मुनि रेव मकरोत्। इद मेकमेवाऽल मस्य पुराणस्य माहात्म्य मुद्भावयितुम्। अतो वेदेभ्योऽप्यभ्यर्हिततर मिदं पुराणरत्न मिति सिद्ध्यति। आसन्न मृत्यवे भागवताय परीक्षिन्महाराजाय मोक्षाधिगमार्थ मिदं भागवत मुपदिष्ट मिति च विश्वे विजानन्ति।

किञ्च। भागवत मिति नामैवाऽऽस्य पुराणस्य महिमान मुद्घोषयति। नामगतो 'भा' शब्दः भक्तिं बोधयति। 'ग' शब्दः ज्ञानं ज्ञापयति। ज्ञानशब्दगतः आदिमस्तालव्यो जकारः कण्ठ्यतां प्राप्य गकारोऽजनिष्ट। 'व' कारो वैराग्यं गमयति। 'त' वर्ण स्तत्त्वं कथयति। अन्तिमो 'म'कारः सारालङ्कारपद्धत्या सकलपुरुषार्थमौलिभूतं मोक्षं गमयति। ईदृश स्सम्प्रदायः भारतशब्दविवरणे 'तवा'भिधाना दिति शब्दव्याख्याने अन्यत्र च समादृतः। भारतशब्दः भावरागतालान् वक्ति। 'त' 'वा' इत्यक्षरे तार्क्ष्यं, वासुकिञ्च बोधयतः। 'पुराऽपि नवं' पुराण मित्यादि व्युत्पत्तयः परिशील्यन्ताम्। तथा च भक्ति ज्ञान वैराग्य तत्त्व मोक्षाणां समुदितानां स्वरूपयाथात्म्यं महापुरुषचरित्रद्वारा, उपाख्यानादिमुखेन चोपदेष्टु मलम्भूष्णु भवतीदं पुराण मिति

साम्प्रदायिका अभिप्रयन्ति। 'भक्ति र्ज्ञानञ्च वैराग्यं तत्त्वमोक्षौ च यत्र तु, क्षोदक्षमं निरूप्यन्ते तद्धि भागवतं स्मृतम्'। अतो भागवतं श्रेयस्कामै रवश्य मध्येयम्।

अपि च। 'मोक्षसाधनसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी' इति शङ्करभगवत्पादाना ममोघं वचनम्। श्रीमद्भागवतं, कथोपाख्यानादिद्वारा यावन्तो भक्तेः प्रकारा भवितु मर्हन्ति, तेषां समेषां स्वरूप मसमानया सरण्या सर्वजनानुकूल मामोदकरञ्च प्रतिपादयति।

महाभारत हरिवंशादि कर्तु रपि कृष्णद्वैपायनस्य दुर्लभां मनश्शान्ति मुपकल्पयितुं नारदमहर्षिणा कृतमुपदेश मनुरुध्य निर्मितस्य दिव्यपुराणस्य महिमानं वर्णयितुं कारणान्तरगवेषण मनावश्यकमेव। भागवते भक्तिप्रकाराः सामग्र्येण सोदाहरणं निरूपिता इति अस्य पुराणस्य भक्तिभाष्य मिति व्यवहारो ननु युक्तरूपः।

आश्चर्यकरोऽन्योऽप्यत्राऽस्ति विशेषः। न केवलं भक्तिरेव मुक्तिसाधिका। अपि तु द्वेषादिरपि तथा। ''कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'' इति श्लाघितेन भगवता सम्बन्धः यादृशः तादृशो वा भवतु, स सर्वोऽपि मोक्षहेतु र्भवती त्यत्राऽयं श्लोकः प्रमाणपदवी मारोपणीयः - 'कामाद्गोप्यो भया त्कंसः द्वेषा च्चैद्यादयो नृपाः। सम्बन्धा द्वृष्णयः, स्नेहा द्यूयं, भक्त्या वयं नृप!' इति।

अपि च। 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहये'दिति इतिहासस्याऽपि वेदार्थसमुपबृंहणत्वमस्ति। तथाऽपि 'य न्न दृष्टं हि वेदेषु तत्सर्वं दृश्यते स्मृतौ। उभयो र्य न्न दृष्टं हि त त्पुराणैः प्रगीयते' इति नारदपुराणवचनं परिशीलयद्भिः पुराणस्य ग्रन्थान्तरेभ्यः प्रामुख्यं प्रतीयत एव।

पुराणान्यपि वेदा इवापौरुषेयाण्येव। अनादिकालात् पुराण मेकराशीभूतमेव भक्तपरम्परयाधिगम्यमानं सङ्कीर्ण मासीत्। वेदव्यासो वेदानिव तत्तुल्यानि पुराणान्यपि प्रतिपाद्यमानविषयपरामर्शपूर्वकं पाद्म स्कान्दादि नाम्ना संविभज्य अष्टादशधा प्रासीसरत्। ''अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवतीसुतः'' इत्यस्य वाक्यस्याऽर्थं यथाव दजानन्तः व्यासकर्तृकाणि सर्वाणि पुराणानीति मेनिरे। तत्र 'कर्ता' इति पदस्य प्रणेता इति नाऽर्थः। कर्ता संस्कर्ता इत्येवाऽर्थः। वेदवत् सङ्कीर्णानां पुराणानां सत्यवतीसुतः केवलसंस्कर्ता इत्यभिप्राय मभियुक्ता आमनन्ति।

तेषु पुराणेषु भागवतं प्रशस्यतमम्, सर्वसम्मतञ्च। पाद्मपुराणादिषु अद्वैतिनां प्रतिपत्ति रधिका नास्ति। शैवपुराणादिषु

वैष्णवानां प्रतिपत्ति र्नास्ति। परन्तु श्रीविष्णुभागवतं द्वैत्यद्वैतिविशिष्टाद्वैतिनामपि सम्प्रतिपन्नम्। वेदाः प्रभुसम्मिताः। साधारणतः पुराणं मित्रसम्मितम्। काव्यन्तु कान्तासम्मितमेव। भागवतन्तु पूर्वोक्तगुणत्रयविशिष्टं सत् सहृदयानां त्रिगुणा मात्मतुष्टिं जनयत् पुराणान्तरा ण्यतिशेते। अयं श्लोकोऽत्राऽनुसन्धानमर्हति - 'वेदाः पुराणं काव्यञ्च प्रभु र्मित्रं प्रियेव च। बोधयन्तीति हि प्राहुः त्रिव द्भागवतं पुनः' इति।

प्रायशः पुराणानि पञ्चलक्षणानि भवन्ति। अत्र पुराणे तल्लक्षण मपर्याप्तम्। इदं दशलक्षणपरिष्कृतं सत् समानाना मुत्तमश्लोकं भवति। अस्य पुराणस्य 'प्रेक्षावतां भागवते परीक्षा' इत्युक्तविधया लब्धवर्णै रेवोपलब्धार्थत्व मस्ति। 'उत्सव स्सुधिया मेव हन्त ! दुर्मेधसो हताः'। एषा दुःस्थिति र्मास्त्विति, सकलसुबोध मिदं भवतु इति च मन्यमानैः दयालुभि स्सुधीधौरेयैः बहुभिः र्बहुमतस्थानां बहुमत्यै बह्व्यो व्याख्या निरमायिषत।

पुराणशब्दनिर्वचनम् - तच्च बहुविधम् - 'पुरैव विद्यमानत्वेऽपि सम्प्रति नवत्वात् पुराणत्वम्' इति आचार्यो वेदान्तदेशिकः पद मिदं निर्वक्ति स्म। अन्येऽपि शब्दमेत मन्यथा बहुधा व्युत्पादयन्ति स्म। तद्यथा - ''पुरा नवं भवति पुराणम्'' इति यास्कः। 'पुरापरम्परां वष्टि पुराणं तेन वै स्मृतम्' इति पाद्मपुराणम्। ''यस्मा त्पुरा ह्यभूच्चैतत् पुराणं तेन तत् स्मृतम्'' इति ब्रह्माण्डपुराणे। 'यस्मा त्पुरा ह्यनक्तीदं पुराणं तेन वा स्मृतम्। निरुक्त मस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते' इति वायुपुराणेन निरुक्तज्ञानमात्रेणाऽपि सर्वपापक्षय उपदिष्टः। एव मन्यथा च निर्वचनानि विद्यन्ते। पुराणानि अष्टादशेति प्रायोवादः। अष्टादश उपपुराणा न्यपि कौर्मे निरदिश्यन्त।

पुराणोत्तमस्यापि भागवतस्य शोधपूर्णपरिष्कारः अद्य याव न्न व्यधायि। साधारणः सव्याख्यो मुद्रितो ग्रन्थो वा, सम्यङ्मुद्रितः पारायणायापेक्षितो मूलग्रन्थो वाऽद्य न लभ्यते। दशामेता मवलोक्य परोपकारनिरतैः धर्मरक्षाबद्धदीक्षैः ति.ति.देवस्थानाधिकृतैः ग्रन्थदौर्लभ्यपरिहार स्साधनीय इति 1981 (क्री.श.) वत्सरे समकल्पि। तदनुरोधेन नियुक्ता परिष्करणसमितिः ग्रन्थप्रकाशनाय प्रयस्यति। अस्य पुराणस्य शतशो व्याख्यानानि सन्ति। अस्माभिः मुद्रितानि एकादश व्याख्यानानि अदर्शिषत। दशमस्कन्धस्य तु उपत्रिंशद्व्याख्यानानि सम्पादितानि सन्ति सम्मुद्रचन्ते। एवं सति, परमवैदिकमतानां द्वैताद्वैतविशिष्टाद्वैताख्यानां सम्बन्धीनि त्रीण्येव व्याख्यानानि विजयध्वजीय श्रीधरीय वीरराघवीयानि आदाय, तदीयान् बहून् प्रकाशा नालोक्य मूलग्रन्थं व्याख्यानानि च विमृश्य समीचीनपाठनिर्णयपुरस्सरं परिष्कृत्य ग्रन्थाः मुद्रणाय सज्जीक्रियन्ते।

पठितॄणां पण्डितानां सौविध्यं निधाय मनसि द्वा वनुषन्धौ सम्पाद्य ग्रन्थान्ते आयोजिषताम् । तत्र एकस्मिन् श्रीभागवतश्लोकानां पादानुक्रमणिका अकाराद्यनुक्रमेण निरदेशि। पठ्यमानेषु ग्रन्थेषु श्रीभागवतसम्बद्धः श्लोको वा श्लोकार्धं वा पादो वा संवादाद्यर्थं दीयमानः श्रीभागवते कुत्र वर्तते इति बोधयितुं अय मनुबन्ध उपकरोति। अन्योऽनुबन्धः व्याख्याने षूद्धृतानां विषयाणां सम्बन्धी । उदाहृतश्लोकादिपार्श्वे एव कोष्ठे आकरानिर्देशः क्रियते । तावदेव न, अकाराद्यनुक्रमेण उद्धारान् लिखित्वा ते च ग्रन्थान्ते मुद्रयन्ते। इदं पाठकानां सौकर्याय भवति। ते च उद्धृतमूलग्रन्थान्, व्याख्यानानि च, यदि विद्यन्ते, दृष्ट्वा सम्पूर्णं भावं सुष्ठु जानीयुः। अय मत्र ग्रन्थे परिकल्पितो विशेषः।

द्वादशस्कन्धै र्विभक्तः ग्रन्थोऽयं चतुर्दशभागात्मना क्रमशः प्रकटीक्रियते। तत्र दशमस्कन्धस्य अतिविस्तृतत्वा त्स एक एव भागत्रयात्मना विभजनीय आसीत्। अत इदं भागवतं चतुर्दशखण्डात्मकं भवति। तत्र प्रथमस्कन्धात्मा प्रथमखण्डः 1989 (क्री.श.) वत्सरे प्राकाश्यत। द्वितीयतृतीयचतुर्थ स्कन्धानां परिष्कारं परिसमाप्य पञ्चमस्कन्धपरिष्करणे प्रवर्त्यमाने सति देवस्थानाधिकृताः ''पञ्चमः स्कन्धः तथैव तिष्ठतु । दशमस्कन्धस्य श्रीकृष्णचरित्रेण साक्षा त्सम्बद्धस्य कृत्स्नग्रन्थप्राणभूतस्य परिष्कारप्रकाशादिकं सद्य एवाऽऽरभ्यता मिति समादिशन् । आदेशानुरोधेन दशमः स्कन्धः परिष्करणायोपात्तः । तस्य प्रथमो भागः परिष्कृत्य 1998 (क्री.श.) वत्सरे प्राकाश्यत । अत्र प्रथमाध्यायात्प्रभृति अष्टाविंशाध्यायपर्यन्ताः (२८) अध्यायाः सन्ति । अद्य प्रकाश्यमानः दशमस्कन्धस्य द्वितीयो भागः । अत्र एकोनत्रिंशाध्यायेनारब्धाः षष्टितमाध्यायपर्यन्ताः द्वात्रिंशदध्यायाः सन्ति। तृतीयोऽपि भागः अचिरेणैव कालेन प्रकाश्येत। अवशिष्टेषु स्कन्धेषु द्वितीयस्कन्धा दारब्धः नवमस्कन्धपर्यन्तो ग्रन्थः शोधपूर्णं परिष्कृत्य मुद्रणाय सज्जीकृतः । एकादशः स्कन्धः सम्पाद्यमानो वर्तते। पश्चाच्च द्वादशः (अन्तिमः) स्कन्धः परिष्करणाय आदीयेत।

अस्मिन् अद्य प्रकाश्यमाने ग्रन्थभागे श्रीकृष्णस्य शैशवकौमारलीलाः अवतार पूर्वरङ्गा दारभ्य वरुणदूतेन वरुणालयं प्रापितस्य नन्दस्य तस्मात्प्रदेशात् कृष्णकृततदानयनपर्यन्ताः वृत्तान्ताः प्रत्यपाद्यन्ते। रासक्रीडासमारब्धाः श्रीरुक्मिणी कृष्णयोः प्रणयकलहपर्यन्तो भागः अत्र द्वितीयपुस्तके लब्धपदः । गोपीवस्त्रापहरणक्रीडा - रासलीलयोः आपाततः वैषयिकशृङ्गाररसप्लुतयोरिव दृश्यमानयोः अध्यात्मदृष्ट्या परिशील्यमानयोः सत्योः अत्र भौतिकशृङ्गारगन्धोऽपि नास्तीति, गोपिकाकृष्णवृत्तान्तः मधुरभक्तिप्रधानः जीवात्मपरमात्मनोः दासस्वामिभावपवित्रः इति भासेतैव । अत्र विस्तृतचर्चा दशमस्कन्धप्रथमपुस्तके पीठिकायां व्यलेखि। पाठकसहृदयाः तत्र तं विषयं कटाक्षयन्तु।

अस्मिन् द्वितीयपुस्तके लक्ष्यमाणाः कथांशाः भागवतैः श्रद्धयाऽध्येतु मर्हा भवन्ति । एकैकस्य कथांशस्य तात्पर्यविषयभूताः विशेषाः बहून् सूक्ष्मधर्मान् प्रतिबोधयन्ति, श्रीकृष्णे दृढां भक्तिं जनयितुं स्थापयितुञ्च कुशला भवन्ति । कदा चित् कश्चिदजगरो नन्द मग्रसीत् । भीतै र्गोपैः नन्दं मोचयितुं बहुधा हिंस्यमानोऽपि सर्पः तं नाऽमुञ्चत् । तदा नन्दनन्दनः तं सर्पं पदाऽस्पृशत् । तदा शापग्रस्तः सः सर्पशरीरं हित्वा विद्याधरोऽभवत् । अत्र घट्टे मायामानुषस्य हरेः पितृभक्तिः, अश्रितोद्धरणसङ्कल्पश्च सुष्ठु बोध्यते । नन्दस्य प्रेमरूपा भक्ति स्तं ररक्ष । अजगरोऽत्र संसारः । संसारग्रस्तस्य जीवस्योद्धरणाय नरैः क्रियमाणाः उपायाः सफला न भवन्ति । भगवच्चरणस्पर्श एक एव संसारोद्धरणाय सुलभोपायः इति तत्त्व मत्राऽसूचि । अरिष्टासुरवधः केशिसंहारः कंसवधः चाणूरमुष्टिकादिनिधनम् इत्यादयः कथाः भगवतः स्वजने निर्व्याजपक्षपातं, आर्तत्राणपरायणत्वं, साधूनां परित्राणे तदर्थे असाधूनां शिक्षणे सदा सन्नद्धत्व ञ्च सूचयन्ति । कुब्जावृत्तान्तः वासुदेवस्य वात्सल्यैकरसत्वं पिशुनयति । आत्मनि कृतया अत्यल्पयाऽपि सेवया परितुष्टः परमात्मा तां त्रिवक्रां स्वाङ्गसंस्पर्शेन ऋजूकृत्य दिव्यसुन्दरीं विधाय तत स्तस्या अभिलाषमप्यपूरयत् । अत्र भागे विद्यमानं रस्यं गोपिकागीतं, विरहार्तानां तासां सात्त्विकमधुरभक्तिं, 'न विना विप्रलम्भेन शृङ्गारः पुष्टि मश्नुते' इति अलङ्कारशास्त्रसमयानुरोधेन परिपोषितशृङ्गाररसस्फूर्तिं जनयत् भक्तिरसिका न्प्रीणयति । अक्रूरस्य अनितरसाधरणी भक्तिः भक्तामृतं सम्पद्यते । अत्रत्यं श्यमन्तकोपाख्यानं महतामपि अकाण्डे अपवादकलङ्कः सम्भवतीति कलङ्कापमार्जनाय सर्वथा प्रयतनीय मिति च कृष्णचरितमुखेन प्रतिबोध्यते । श्रीरुक्मिणी वासुदेवयोः राक्षसपद्धति र्विवाहः, तत स्तयो र्नूतनदम्पत्यो स्सरसपरिहासरसरञ्जितः संलापश्च अस्मिन्घट्टे विद्यमानः भाग ममुं लोकोत्तरयति । अन्येऽपि बहवोंऽशाः वर्तमानाः सरससहृदयभागवतानां अमन्दानन्दसन्दोहसन्दायका भवन्ति । विस्तरभया दितो विरम्यते । ईदृशोऽयं भागवतग्रन्थभागः व्याख्यात्रयाविशिष्टः विशोध्य परिष्कृत्य मुद्राप्य भागवतकरकमलयो रुपहारीक्रियते । अस्मत्परिष्कारेण यदि स्वल्पाऽपि वा तृप्ति स्तेषां सतां जायेत तदाऽहं मां कृतार्थं मत्वा तृप्ति मपारा मधिगमिष्यामि । अवश्यविनिवेदनीयाः के चि द्विषयाः प्रकटितभागवतग्रन्थद्वयपीठिकयोः विज्ञापिताः तत्र दृश्यन्तामिति सहृदयपाठका नर्थये ।

## उपकारस्मृतिः

इद मस्माकं परिष्कारकर्मचारिणां मुख्य मविस्मरणीयं पवित्रं कृत्यम् । परिष्कारसंस्थायाः प्रतिष्ठापनं यत्कृतं, तत्र श्रीमन्तः डा. एक्किराल कृष्णमाचार्याः, तादात्विक ति.ति.दे. निर्वहणाधिकृताः श्री पि.वि. आर्. के. प्रसाद महाशयाः (ऐ.ए.यस्.), संस्थाप्रथमनिदेशकाः डा. पन्नाल राधाकृष्णशर्माण श्चेति मूर्तित्रयमेव निदान मिति तेषु कृतज्ञता प्रथमतो

निवेद्यते। ततः क्रमशः कार्यनिर्वहणाधिकृताः ऐ.ए.यस्. बिरुदभाजः श्रीमन्तः जि. कुमारस्वामि रेड्डी - यस्. लक्ष्मीनारायण-सिहेच्. वेङ्कटपतिराजु - यम्. वि.यस्. प्रसाद - डि. वि. यल्.यन्.मूर्ति- यन्. रमेशकुमार - यम्.के.आर्. विनायक समाख्याः सर्वेऽपि समित्या अभिवृद्धये बह्वीं श्रद्धा मवहन्। तेऽपि कृतज्ञतानिवेदनार्हाः। अद्यत्वे कार्यनिर्वहणपदवीं भजमानाः यम्.ए., पिहेच्.डि., ऐ.ए.यस्. पट्टभद्राः श्रीमन्तः ऐ.वि. सुब्बारावु महोदयाः अनूनां श्रद्धां वहन्तः कृतज्ञतानिवेदन मर्हन्ति। उपकार्यनिर्वाहकेषु ऐ.ए.यस्. उपाधिभूषितेषु डि. रामकृष्ण महाशयेषु च कृतज्ञता निवेद्यते। अर्हणीयाः ति.ति.दे. धर्मकर्तृमण्डलीसदस्याः भूतपूर्वा वर्तमानाश्च सोपकारस्मृति वन्द्यन्ते। समितिनिदेशकेभ्यः सर्वथोपकर्तृभ्यः, अवधानिसार्वभौमेभ्यः श्रीमद्भ्यो मेडसानि मोहन समाख्येभ्यः कृतज्ञतां निवेदयामि।

अत्र कर्मणि सहायभूताः भूतपूर्वपरिशोधकाः श्रीमन्तः के.सि. जयचन्द्रशास्त्रिणः यु. वेङ्कटरामय्य नामानः आ. वरदराजन् आह्वयाः कृतज्ञताञ्जलि मर्हन्ति। डा. के. राजगोपालाख्योऽपि कृतज्ञतोक्ति मर्हति। श्रीमान् यस्.बि.यस्.भट्टाचार्यः, (शिरोमणिः शिक्षाशास्त्री) श्रीमती यस्. पूर्णवल्लीनाम्नी (यम्.ए. सुवर्णपदकग्रहीत्री) डा. यस्. दशरथाख्यश्च परिष्करणकर्मणि सश्रद्धं स्वस्वकृत्यं निर्वहन्तीति तेषु कृतज्ञो भवामि।

ब्रह्मश्रीयुताः डा. पन्नाल राधाकृष्णशर्माणः पुनरपि श्रद्धापूर्वं स्मर्यन्ते यत स्तै र्महाशयैः शोधपूर्णपरिष्करणापेक्षिताः देवनागराक्षरेषु आन्ध्राक्षरेषु च मुद्रिताः दुर्लभा अमूल्या बहवो ग्रन्थाः अस्मभ्य मदायिषत। तेषु सर्वदा कृतज्ञो भवामि। दाससाहित्य प्राजेक्ट् नेतारः श्रीमन्तः के. अप्पण्णाचार्याः विजयध्वजीयव्याख्योपेतान् अलभ्यान् ग्रन्थान् प्रादुरिति तेभ्यः कार्तज्ञ्य मावेदयामि। श्री वे. प्राच्यभाषापरिशोधनालयनिदेशकेभ्यः डा. यम्.यस्. नारायणमूर्ति महाशयेभ्यः कृतग्रन्थदानोपकारेभ्यः कृतज्ञता निवेद्यते। यया कयापि विधया परिष्करणकर्मणि दत्तोपकारेषु सर्वेष्वपि कृतज्ञतां वहामि। मुद्रणालयाधिकृतेषु स्वामि-कर्मचारिषु कृतज्ञो वर्ते।

अत्र ग्रन्थे अनवधानात्, चक्षुःपाटववैकल्यात्, मतिलोपात्, व्युत्पत्तिदौस्स्थ्यात्, कारणान्तराद्वा परिष्करण मुद्रापत्रशोधनसम्बन्धिनः बहवो दोषाः लब्धपदाः स्युः, ते क्षन्तव्याः। पाठकान् लब्धवर्णान्, उपलक्षितानि स्खालित्यानि सूचयन्त्विति प्रार्थये। कृतज्ञो भूत्वा भविष्यत्प्रकाशे तान् भ्रंशान् परिहर्तुं प्रयतिष्ये।

श्रीपदपुरी
16-6-2000

विदुषामनुचरः
**सम्पादकः।**

## LIST OF ABBREVIATIONS

(of the Edition of Srimad Bhagavata Mahapurana being referred to)

1.A. Edited by Sri Krishna Sankara Sastri - contains about 30 commentaries - Printed in Devanagari Script at Ahmedabad, Gujarat.

2.B. Printed in Devanagari Script at Brindavan - contains 9 commentaries.

3.G. Contains text only - Printed at Gita Press, Ghorakhpur - in Devanagari Script.

4.H. Contains Sridhara's Commentary. Edited by Sri Hayagriva Sastry. Printed in Telugu Script at Madras.

5.J. Contains Sridharacharya's Commentary - Edited by Prof. J.L.Sastri - in Devanagari Script.

7.M. Contains the commentary of Sri Vijaya Dhvaja Tirtha - printed in Devanagari Script Madhava Edition.

8.Ma. Contains the commentary of Sri Vijaya Dhvaja Tirtha - Printed in Devanagari Script - Another Madhva Edition.

9.T. Contains the commentary of Sri Veera Raghavacharya - Printed in Telugu Characters - Published by Sri Tridandi Srimannarayana Ramanuja Jeer Swami.

10.V. Contains the commentary of Sridharacharaya - Printed at Vavilla Press, Madras in Telugu Script.

11.W. Contains the commentary of Sri Veera Raghava Charya - Printed in Telugu characters - Published by the Maharaja of Wanaparti Samsthan, Andhra.

## LIST OF ABBREVIATIONS

Commentaries

1. श्रीध० श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

2. वीर० श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

3. विज० श्रीविजध्यजतीर्थकृता पदरत्नावली

## Texts cited in commentaries and their Abbreviations

| Abbreviation | Name of the Book | Abbreviation | Name of the Book |
|---|---|---|---|
| अथ . शिखा . उ . | अथर्वशिखोपनिषत् | ब्र.सू. | ब्रह्मसूत्राणि |
| अद्वै . उ . | अद्वैतोपनिषत् | - | ब्राह्मे |
| - | अध्यात्मे | - | भद्रिकायाम् |
| - | अभिधानम् | भ . गी . | भगवद्गीता |
| अम . को . | अमरकोशः | भर . सं . | भरद्वाजसंहिता |
| अष्टा . | अष्टाध्यायी | - | भागवततन्त्रे |
| - | अहिर्बुध्न्यसंहिता | भाग . | भागवतम् |
| आगम . प्रा . | आगमप्रामाण्यम् | - | भविष्यत्पुराणे |
| आप . श्रो . सू | आपस्तम्ब क्षौत सूत्रम् | भारते . आनु . | भारते आनुशासनिकपर्व |
| - | आग्नेये | भारते . आरण्य | भारते आरण्यपर्व |
| ईशा . उ . | ईशावाश्योपनिषत् | भारते . उद्योग | भारते उद्योगपर्व |
| उणा . सू . | उणादिसूत्राणि | भारते . शान्ति | भारते शान्तिपर्व |
| - | उत्पलमाला | मनु . स्मृ . | मनुस्मृतिः |
| ऋक् . सं . | ऋक् संहिता | - | महाकौर्मे |
| ऐत . उ . | ऐतरेयोपनिषत् | - | माहात्म्ये |
| कठ . उ . | कठोपनिषत् | म . ना . उ . | महानारयणोपनिषत् |
| - | कापिलेये | महा . उ . | महोपनिषत् |
| कुमार . स . | कुमारसम्भवम् | माण्डू . उ . | माण्डूक्योपनिषत् |
| कौषी . उ . | कौषीतक्युपनिषत् | - | माध्यन्दिनश्रुतिः |
| - | क्रियायोगे | मुण्ड . उ . | मुण्डकोपनिषत् |
| - | गारुडे | मैत्रा . उ . | मैत्रायण्युपनिषत् |
| - | गोपालः | याज्ञ . स्मृ . | याज्ञवल्क्यस्मृतिः |
| - | चाक्रायण श्रुतिः | रामा . | रामायणम् |
| छान्दो . उ . | छान्दोग्योपनिषत् | - | रुद्रः |
| जित . स्तो | जितन्तास्तोत्रम् | - | लक्ष्मीतन्त्रे |
| - | तत्वनिर्णये | वर . स्तवः | वरदराजस्तवः |
| - | तन्त्रभागवते | - | वामने |
| तैत्ति . आ . | तैत्तिरीय आरण्यकम् | - | वाराहे |
| तैत्ति . उ . | तैत्तिरीयोपनिषत् | - | वररुचिः |
| तैत्ति . सं . | तैत्तिरीयसंहिता | विष्णु . ध . पु . | विष्णुधर्मोत्तरपुराणम् |
| - | दत्तः | विष्णु . पु . | विष्णुपुराणम् |
| - | नारदीये | - | विष्वक्सेनसंहिता |
| निरा . उ . | निरालम्बोपनिषत् | वे . नि . | वेदनिघण्टुः |
| - | निरुक्तम् | - | शब्दनिर्णये |
| नृ . उ . ता . उ . | नृसिंह उत्तरतापिन्युपनिषत् | शार्ङ्ग . पद्ध . | शार्ङ्गधरपद्धतिः |
| - | पञ्चतन्त्रे | - | शिशुपालवधम् |
| - | परमसंहिता | श्वेता . उ . | श्वेताश्वतरोपनिषत् |
| - | पाञ्चरात्रे | सुबा . उ . | सुबालोपनिषत् |
| - | पाद्मपुराणम् | सुभा . | सुभाषितरत्नभाण्डागारम् |
| पु . सू . | पुरुषसूक्तम् | सूर्य . उ . | सूर्योपनिषत् |
| - | प्रकाशिकायाम् | - | स्कान्दे |
| प्रश्न . उ . | प्रश्नोपनिषत् | - | षाड्गुण्ये |
| बृह . उ . | बृहदारण्यकोपनिषत् | - | हरिवंशे |
| - | ब्रह्मतर्के | हला . को . | हलायुधकोशः |
| - | ब्रह्मवैवते | - | हेमचन्द्रः |

# श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्धस्थानां
# एकोनत्रिंशारब्धानां षष्टिपर्यन्तानां अध्यायानां
## - विषयानुक्रमणी -
## (दशमस्कन्धे पूर्वार्धे)

अध्याय संख्या — विषयः


२९. वेणुनादं श्रुत्वा आगतानां गोपीनां श्रीकृष्णेन सह संवादः, रासारम्भः, तासां मानापनोदाय भगवतोऽन्तर्धानञ्च।

३०. गोपीद्वारा भगवतोऽनुसन्धानं तदाचरितानुकरणं यमुनापुलिने तदागमप्रतीक्षणञ्च।

३१. गोपीगीतम्। विरहार्तगोपीनां भगवदुपस्थानाय प्रार्थनम्।

३२. भगवतः प्रादुर्भावः, गोपीना माश्वासनञ्च।

३३. महारासवर्णनम्, परीक्षित्कृतशङ्कायाः शुकद्वारा समाधानञ्च।

३४. अजगरमुखान्नन्दस्य मोचनम्। अजगरस्य पूर्वविद्याधरस्वरूपप्राप्तिः। शङ्खचूडवधः।

३५. युग्मगीतम्। गोचारणाय वनङ्गतस्य भगवतो गोपीजनकृतं गुणगानम्।

३६. अरिष्टासुरवधः। कंसस्य अक्रूरं प्रति नन्दगोकुलागमनाय आदेशश्च।

३७. केशिवधः। नारदकृतं भगवत्स्तवनम्। निलायनक्रीडायां व्योमासुरवधश्च।

३८. कंसाज्ञया रामकृष्णौ मधुरा मानेतुं अक्रूरस्य नन्दगोकुलं प्रति गमनम्। तत्र रामकृष्णद्वारा तस्य सत्कारश्च।

३९. श्रीकृष्णबलरामयोः मधुरां प्रति प्रस्थानम्। विरहकातरगोपीनां करुणोद्गारः। कालिन्द्या मक्रूरकर्तृकं भगवद्धामदर्शनञ्च।

४०. अक्रूरकृता भगवत्स्तुतिः।

४१. रामकृष्णयो र्मधुरायां प्रवेशः। रजकवधः। वायक मालाकारयो रनुग्रहणञ्च

४२. कुब्जाया मनुग्रहः। धनुषो भङ्गः। मल्लशालासज्जीकरणञ्च।

४३. कुवलयापीडवधः। भगवतो मल्लशालायां प्रवेशः।चाणूरेण सह संवादश्च।

४४. चाणूरमुष्टिकादीनां मल्लानां निधनम्। कंसस्य वधश्च।

४५. वसुदेवदेवकीसान्त्वनम्। उग्रसेनस्य राज्याभिषेकः, रामकृष्णयो रुपनयनम् विद्याध्ययनम्, गुरो र्मृतपुत्रस्य आनयनञ्च

४६. स्वविरहार्तगोपगोपीनां सान्त्वनाय भगवता उद्धवस्य प्रस्थापनम्। नन्दोद्धवसंवादश्च।

४७. उद्धवगोपीसंवादः। भ्रमरगीतम्। उद्धवस्य मधुरागमनञ्च।

४८. भगवता कुब्जामनोरथपूर्तिः। अक्रूरगृहं गत्वा पाण्डवसमाचारज्ञानाय अक्रूरस्य हस्तिनापुरं प्रति प्रस्थापनञ्च।

४९. अक्रूरस्य हस्तिनापुरे गमनं, कुन्त्याः करुणोद्गारः, अक्रूरधृतराष्ट्रसंवादः। अक्रूरस्य पुनः यदुपुर्यामागमनञ्च।

## (उत्तरार्धे)

५०. रामकृष्णयोः जरासन्धेन सह युद्धं, द्वारकादुर्गनिर्माणञ्च।

५१. कालयवनविनाशः, मुचुकुन्दकृता भगवतः स्तुतिश्च।

५२. रामकृष्णयो र्द्वारकागमनं बलरामविवाहः, श्रीकृष्णाय रुक्मिण्याः सन्देशश्च।

५३. कृष्णस्य कुण्डिनपुरे गमनम्, रुक्मिणीहरणञ्च।

५४. यदुभि स्सह सङ्ग्रामे चैद्यपक्षीयाणां राज्ञां पराजयः, रुक्मिणः पराभवः। बलभद्रकृतसान्त्वनम्। रुक्मिणीश्रीकृष्णविवाहश्च।

५५. प्रद्युम्नस्य जन्म, शम्बरासुरवधश्च।

५६. स्यमन्तकोपाख्यानं भगवतः कलङ्कमार्जनम्। जाम्बवतीसत्यभामयोः पाणिग्रहणञ्च।

५७. सत्राजितं हत्वा शतधन्वना स्यमन्तकहरणं तस्य च वधः। अक्रूरस्य च पलायनम्। पुन र्द्वारकाया मागमनञ्च।

५८. कालिन्दी मित्रविन्दा सत्या भद्रा लक्ष्मणादीनां पाणिग्रहणम्।

५९. मुरवधः। भौमासुरवधः। भूमिकृता भगवत्स्तुतिः। भौमाहृतषोडशसहस्रराजकन्यकानां परिणयनम्। पारिजातहरणञ्च।

६०. रुक्मिणीश्रीकृष्णयोः प्रणयकलहः।

श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्धस्थानां
एकोनत्रिंशारब्धानां षष्टिपर्यन्तानां अध्यायानां

## अध्यायार्थ सङ्ग्रहश्लोका

ऊनत्रिंशे तु रासार्थ मुक्तिप्रत्युक्तयो हरेः।
गोपीभी रासरंरम्भे तस्यचाऽन्तर्धिकौतुकम्॥ २९ ॥

त्रिंशे विरहसन्तप्तगोपीभिः कृष्णमार्गणम्।
उन्मत्तव न्न नियतं भ्रमतीभि र्वने वने॥ ३० ॥

एकत्रिंशे निशायां ताः पुनः पुलिन मागताः।
कृष्ण मेवाऽनुगायन्त्यः प्रार्थयन्ते तदागमम्॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशे विरहालापविक्लिन्नहृदयो हरिः।
तत्राऽऽविर्भूय गोपा स्ता स्सान्त्वयामास मानयन्॥ ३२॥

त्रयस्त्रिंशे ततो गोपी मण्डलीमध्यगो हरिः।
प्रिया स्ता रमयामास ह्लादिनीवनकेलिभिः॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशेऽहिना ग्रस्तं नन्दं हरि रमूमुचत्।
विद्याधरश्चाऽङ्गिरश्शापा च्छङ्खचूडं तथाऽवधीत्॥ ३४॥

पञ्चत्रिंशे वनं याते कृष्णे गोकुलयोषितः।
युग्मश्लोकानुगीतेन निन्यु र्दुःखेन वासरान्॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशे निहतेऽरिष्टे नारदोक्त्या बलाच्युतौ।
वसुदेवसुतौ ज्ञात्वा कंसोऽक्रूरं समादिशत्॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशे हते केशि न्यच्युतो भाविकर्मभिः।
नारदेन स्तुतः क्रीडन् व्योमासुर मथाऽवधीत्॥ ३७॥

अष्टत्रिंशे यथा ध्याय न्नक्रूरो गोकुलं गतः।
तथैव रामकृष्णाभ्यां गृहं नीत्वा सुसत्कृतः॥

प्रातः केशिवधे वृत्ते द्वादश्यां निर्गते मुनौ।
ततो व्योमे हतेऽक्रूरः सायं गोकुल मागमत्॥ ३८ ॥

नवत्रिंशे पुरीं गच्छत्यच्युते गोपिकोक्तयः।
अक्रूरेणाऽथ कालिन्द्यां विष्णुलोकस्य दर्शनम्॥ ३९ ॥

चत्वारिंशे ततोऽक्रूरः कृष्णं मत्वेश्वरेश्वरम्।
प्रणम्य भक्त्या तुष्टाव सगुणाऽगुणभेदतः॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशकेऽहन् रजकं प्रविश न्पुरीम्।
ततो वरा नदा त्तुष्ट स्सुदाम्नो वायकस्य च॥४१॥

द्विचत्वारिंशके कुब्जोन्नमनं धनुषो भिदा।
वध स्तद्रक्षिणां कंसारिष्टरङ्गोत्सवानि च॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशके हत्वा गजेन्द्रं रामकृष्णयोः।
रङ्गप्रवेशसौभाग्यं चाणूरेणाऽनुभाषणम्॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशके तु मल्लकंसादिमर्दनम्।
कंसयोषित आश्वासः ताभ्यां पित्रोश्च दर्शनम्॥४४॥

पञ्चचत्वारिंशकेऽथ पितृनन्दादिसान्त्वनम्।
उग्रसेनाभिषेकश्च गुरौवासा त्पुरागमः॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशके घोष मुद्धवं प्रेष्य तद्गिरा।
यशोदानन्दयोश्चक्रे कृष्ण श्शोकापनोदनम्॥

कामचारं द्विजाति स्सन् परित्यज्याऽतिसंयतः।
गुरोर्ज्ञान मनुप्राप्य सख्या गोपी रुपादिशत्॥ ४६ ॥

सप्त चत्वारिंशकेऽथ कृष्णादेशेन गोपिकाः।
बोधायित्वोद्धव स्तत्त्व मनुज्ञाप्याऽगमत्पुरीम्॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशकेऽथ कृष्णः कुब्जामरीरमत्।
अक्रूरस्य गृहं गत्वा तं गजाह्वय मादिशत्॥

सैरन्ध्रिकाम मापूर्य पूरयित्वा मनोरथान्।
अक्रूरस्य ततः कृष्ण स्तेन पार्था नसान्त्वयत्॥४८॥

उनपञ्चाशत्तमेतु गत्वाऽक्रूरो गजाह्वयम्।
राज्ञ स्स्वभ्रातृपुत्रेषु बुद्धा वैषम्य मागमत्॥ ४९ ॥

ततः पञ्चाशत्तमेतु जरासन्धभया दिव।
कारयित्वाऽम्बुधौ दुर्गं तं निनाय निजं जनम्।

कपटान् कपटेनैव हत्वा दैत्या नयत्नतः।
अजय त्तं जरासन्धं धर्मेणैव तु धार्मिकम्॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमेऽहन् मुचुकुन्ददृशा हरिः।
यवनं मुचुकुन्देन स्तुतस्सन्नन्वकम्पत।
यवनेन्द्रसुता त्कालयवना द्यदुभीषणात्।
हरि र्हरगिर स्स्वैरं पालनायाऽपलायत॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशत्तमे धावन् भयादिव गतः पुरीम्।
अन्वमोदत सन्देशं रुक्मिण्या द्विजवर्णितम्॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशत्तमे गत्वा विदर्भा नद्भुतेहितः।
रुक्मिणी माहर त्कृष्णो मिषतां द्विषतां बलात्॥५३॥

चतुःपञ्चाशत्तमेतु जित्वा राज्ञो विपक्षगान्।
रुक्मिणश्च विरूप्याऽथ भैष्म्याः पाणिं पुरोऽग्रहीत्॥५४॥

पञ्चपञ्चाशत्तमेतु प्रद्युम्नोऽजनि कृष्णतः।
शम्बरेण हृत स्सोऽथ हत्वा तं कान्तयाऽऽगमत्॥
प्रद्युम्नहानिलाभाद्यै श्शम्बराहरणादिना।
कुटुम्बिना मपत्यादिसुखदुःख मसूचयत्॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमे मिथ्याभियोगे मणि माहरत्।
कन्यां जाम्बवतः प्राप कृष्ण स्सत्राजित स्ततः।
पुत्त्रादिकामसौख्यस्य निष्ठां मुक्त्वाऽतिचञ्चलाम्।
अर्थस्याऽनर्थता माह स्यमन्ताहरणादिना॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमेतु पुनः शतधनो र्वधे।
प्राप्तं स्वदुर्यशो मार्ष्टि कृष्णोऽ क्रूरागता न्मणेः।
उपामन्त्र्य तमेकान्ते स रामोऽगा द्गजाह्वयम्॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमेतु कृष्णः पञ्च करेऽग्रहीत्।
कालिन्दीं मित्त्रविन्दाश्च सत्यां भद्राश्च लक्ष्मणाम्।
कालिन्दीं निजलाभाय तपः पर मुपेयुषीम्।
उपनेष्यन् प्रियावास मिन्द्रप्रस्थ मथाऽगमत्॥ ५८ ॥

ऊनषष्टितमे भौमं हत्वा तेनाऽऽहृता हरिः।
कन्या स्सहस्रशः प्राप्य पारिजातं ततोऽहरत्॥
परिणीय तत स्ताभिः तन्मनोरथपूरणैः।
आत्मारामोऽप्यसौ रेमे तद्गृहेषु गृहस्थवत्॥ ५९ ॥

अथ षष्टितमे कृष्णः परिहासेन रुक्मिणीम्।
कोपयित्वा ततः प्रेमकलहे ता मसान्त्वयत्॥
रामारामजनानन्दमहोदयविडम्बनैः।
रुक्मिण्या प्रेमकलहच्छद्मनैश्वर्य मीर्यते॥ ६० ॥

## श्रीमद्भागवतपाठविधिः

स्नातः शुचि र्भूत्वा प्राणा नायम्य त्रिराचम्य च मङ्गलपाठपूर्वकं भगवन्तं प्रणमेत्। तदनु सश्रितैः षोडशोपचारै र्मनसोपचारैर्वा व्यासं शुकं वासुदेवं श्रीमद्भागवतग्रन्थं च सादरं सविनयं समक्तिभावं सम्पूजयेत्। ततः पाठारम्भात् प्राक् 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' इति द्वादशाक्षरमन्त्रम् 'ओं क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' इति गोपालमन्त्रं वाऽष्टोत्तरशतवारं जपेत्। पश्चादेवं विनियुञ्जीत—

## विनियोगः

ओं अस्य श्रीमद्भागवताख्यस्तोत्रमन्त्रस्य नारद ऋषिः, बृहती छन्दः, श्रीकृष्णः परमात्मा देवता, ब्रह्म बीजम्, भक्तिः शक्तिः, ज्ञानवैराग्ये कीलकम्, मम श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थं पाठे विनियोगः।

## ऋष्यादिन्यासः

'नारदर्षये नमः' शिरसि। 'बृहतीच्छन्दसे नमः' मुखे। 'श्रीकृष्णपरमात्मदेवतायै नमः' हृदि। 'ब्रह्मबीजाय नमः' गुह्ये। 'भक्तिशक्तये नमः' पादयोः। 'ज्ञानवैराग्यकीलकाय नमः' नाभौ। श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थकपाठविनियोगाय नमः सर्वाङ्गे। द्वादशाक्षरमन्तेण हृदयाद्यङ्गन्यासं करन्यासं च कुर्यात्। अथवाऽधोऽङ्कितरीत्याऽङ्गन्यासकरन्यासौ विदध्यात्—

## अङ्गन्यासः

ओं क्लां हृदयाय नमः। ओं क्लीं शिरसे स्वाहा। ओं क्लूं शिखायै वषट्। ओं क्लैं कवचाय हुम्। ओं क्लौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ओं क्लः अस्त्राय फट्।

## करन्यासः

ओं क्लां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ओं क्लीं तर्जनीभ्यां नमः। ओं क्लूं मध्यमाभ्यां नमः। ओं क्लैं अनामिकाभ्यां नमः। ओं क्लौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ओं क्लः करतलकरपृष्ठाभ्यां. नमः।

## अथ ध्यानम्

कस्तूरीतिलकं ललाटफलके वक्षःस्थले कौस्तुभं नासाग्रे नवमौक्तिकं करतले वेणुं करे कङ्कणम्।
सर्वाङ्गे हरिचन्दनं च कलयन् कण्ठे च मुक्तावलिं गोपस्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपालचूडामणिः॥
अस्ति स्वस्तरुणीकराग्रविगलत्कल्पप्रसूनाप्लुतं वस्तु प्रस्तुतवेणुनादलहरीनिर्वाणनिर्व्याकुलम्।
म्रस्तम्रस्तनिबद्धनीविविलसद्गोपीसहस्रावृतं हस्तन्यस्तनतापवर्ग मखिलोदारं किशोराकृति॥
इत्येवं ध्यात्वा पाठमारभेत।

## श्रीमद्भागवतसप्ताहपारायणस्य दैनन्दिनविश्रामस्थलानि निम्नाङ्कितपद्येषु निरूपितानि

मनुकर्दमसंवादपर्यन्तं प्रथमेऽहनि। भरताख्यानपर्यन्तं द्वितीयेऽहनि वाचयेत्॥
तृतीये दिवसे कुर्यात् सप्तमस्कन्धपूरणम्। कृष्णाविर्भावपर्यन्तं चतुर्थे दिवसे वदेत्॥
रुक्मिण्युद्वाहपर्यन्तं पञ्चमेऽहनि शस्यते। श्रीहंसाख्यानपर्यन्तं षष्ठेऽहनि वदेत्सुधीः॥
सप्तमे तु दिने कुर्यात् पूर्तिं भागवतस्य वै। एवं निर्विघ्नतासिद्धि र्विपर्यय इतोऽन्यथा॥

# श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

ओं नमो भगवते वासुदेवाय

## दशमः स्कन्धः

## पूर्वार्धम्

## एकोनत्रिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या सप्तविंशोऽध्यायः)

-: रासक्रीडारम्भघट्टः :-

श्रीशुक उवाच

भगवानपि ता[1-] रात्रीः[-1] शरदोत्फुल्लमल्लिकाः[2] ॥[3]
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥ १ ॥

तदोडुराजः ककुभः करै र्मुखं प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन[4] शन्तमैः।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन् प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः॥ २ ॥

दृष्ट्वा कुमुद्वन्त[5-] मखण्डमण्डलं रामाननाभं[6] नवकुङ्कुमारुणम्।
वनञ्च तत्कोमलगोभि रञ्जितं[7] जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्॥ ३ ॥

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः[8]।
आजग्मुरन्योन्य मलक्षितोद्यमाः[9] स यत्र कान्तो[10-] जवलोलकुण्डलाः[-10]॥ ४ ॥

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद्दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्याऽपरा ययुः॥ ५ ॥

---

1- -1 M.Ma तां रत्रिं 2. M.Ma शा०, 3. M.Ma °काम् 4. M.Ma °णैश्च 5- -5 M.Ma मुकुन्दस्त० 6. B.G.J.V र० 7. B.G.J.V रञ्जितं; K °रङ्गितं 8. M. °निषक्त० 9. M.Ma °ताशयाः 10- -10 M.Ma कार्तस्वर

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ऊनत्रिंशे तु रासार्थमुक्तिप्रत्युक्तयो हरेः। गोपीभी रासंसरम्भे तस्य चाऽन्तर्धिकौतुकम्॥
ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकन्दर्पदर्पहा। जयति श्रीपति र्गोपीरासमण्डलमण्डनः॥

**भगवानिति**। ननु विपरीतमिदम्, परदारादिविनोदेन[1] कन्दर्पजितत्वप्रतीतेः[2]? मैवम्, 'योगमाया मुपाश्रितः', "आत्मा रामोऽप्यरीरमत्" (भाग 10-29-42) 'साक्षान्मन्मथमन्मथः" (भाग 10-32-2) "सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः" (भाग 10-33-26) इत्यादिषु स्वातन्त्र्याभिधानात्। तस्मात् रासक्रीडाविडम्बनं कामविजयख्यापनायेत्येव तत्वम्। किञ्च, शृङ्गारकथापदेशेन विषयतो[3] निवृत्तिपरेयं पञ्चाध्याय्यां व्यक्तीकरिष्यामः। ता रात्रीरिति "याताऽबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः" (भाग 10-22-27) इति च प्रतिश्रुता इत्यर्थः॥ १ ॥

**तदेति**। तदा तस्मिन्नेव क्षणे तत्प्रीतये उडुराजश्चन्द्रः उदगात् उदितः। किं कुर्वन्? दीर्घकालेन दर्शनं यस्य सः प्रियः स्वप्रियाया[4] मुखमरुणेन कुङ्कुमेन यथा विलिम्पति तथा। प्राच्याः ककुभो दिशो मुखं शन्तमैस्सुखतमैः करै रश्मिभिः अरुणेन उदयरागेण विलिम्पन् अरुणीकुर्वन् इत्यर्थः। स प्रसिद्ध उडुराजः तथा चर्षणीनां जनानां ओषधीनाञ्च[5-5] शुचः तापग्लानी मृजन् अपनयन् ॥ २ ॥

**दृष्ट्वेति**। कुमुत् कुमुदं विकसनीयं विद्यते यस्मिन्[6] तं कुमुद्वन्तम्। न[7] खण्डं मण्डलं यस्य तम् रमाया आननस्य आभेव आभा यस्य तम्, नवकुङ्कुममिव अरुणम्, एवंविधं[8-8] चन्द्रं दृष्ट्वा तथा वनञ्च तस्य कोमलैर्गोभिः रश्मिभिः रञ्जितं[9] दृष्ट्वा कलं मधुरं जगौ अगायत्। कथम्? वामदृशां[10] वामा[11-11] मनोहरादृशो[12] यासां तासां मनोहरं यथा तथा॥ ३॥

**निशम्येति**। असापत्न्याय अन्योन्यमलक्षितो न ज्ञापितः उद्यमो याभिस्ताः। स कान्तो यत्र तत्र गीतध्वनिमार्गेण आजग्मुः। । जवेन वेगेन लोलानि चञ्चलानि कुण्डलानि यासां ताः॥ ४ ॥

श्रीकृष्णसूचकशब्दश्रवणेन तत्प्रवणचित्तानां तत्क्षणमेव त्रैवर्गिककर्मनिवृत्तिं द्योतयन्त्य इव अर्धावसितं[12] कर्म विहाय ययुः। तदाह- **दुहन्त्य** इति। पयः स्थालीस्थं चुल्ल्यामधिश्रित्य[13] तत्काथमप्रतीक्षमाणाः काश्चि द्ययुः। संयावं गोधूमकणान्नं पक्वमनुद्वास्य अवतार्य[14] अपरा ययुः॥ ५ ॥

1. B, J ° र वि० 2. B विजेतृत्वप्रतीतिः 3. B, j. शेषतो 4. P, PA-Omit स्व 5- -5 B, J. Omit 6. B, J. यस्य 7. Pa अ० 8- -8 P, pa, V Omit 9. P, Pa, V add मधुरं 10, P, Pa, V Omit वामदृशां 11- -11 P, Pa, V वक्रा 12 P, pa, V अभ्यव० 13 P, Pa, V °त्य त० 14. B, J. अनुत्तार्य; 15- -15 B, J. omit.

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ विवक्षितानि यूनो भगवतः शारदानि[1] चेष्टितान्यनुवर्णयति पञ्चभि रध्यायैः। यदुक्तं भगवता "मयेमा रंस्यथ क्षपाः" इति, तत्सत्यापयितुम्[2-2] अनुजिघृक्षैकशीलत्वात् केनाऽपि व्याजेन गोपीः कृतार्थयितुञ्च ताभिस्सह चिक्रीडिषुस्तावत् वेणुगीतेनैव तास्समाहूय तन्मनःपरीक्षापूर्वकं ताभिस्सह विजहारेत्याह- एकोनत्रिंशेन **भगवानपीति**। "नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृताः" (भाग. 10-18-17) इत्युक्तभगवल्लोकदर्शनजानन्दपारवश्यप्रयुक्तात्मारामानन्दादिसमुच्चयार्थोऽपिशब्दः, ताः याः

"मयेमा रंस्यथ क्षपाः" (भाग- 10-22-27) इति प्रतिज्ञाताः, ता इत्यर्थः। शरदा हेतुभूतया उत्फुल्ला मल्लिका यासु ताः रात्रीः अवलोक्य रन्तुं मनश्चक्रे। चिक्रीडिषायाः प्रसक्तं कर्ममूलत्वं निराचिकीर्षुर्विशिनष्टि- योगमायामुपाश्रितः। युज्यत इति योगा तां मायामात्मीयं सङ्कल्पमाश्रितः स्वसङ्कल्पएव केवलं तन्मूलं, न तु कर्मेति भावः॥ १ ॥

तदा यदा रन्तुं मनश्चक्रे तदैव तत्प्रीतये स शारद उडुराजश्चन्द्रः उदगादुदितः। किं कुर्वन्? दीर्घेण कालेन दर्शनं यस्य सः चिरं प्रोष्याऽऽगतः प्रियः स्वप्रियायाः मुखमरुणेन कुङ्कुमेन यथा विलिम्पति तथा प्राच्याः ककुभो दिशो मुखं शन्तमैः सुखतमैः करै रश्मिभिः, अरुणेनोदयरागेण विलिम्पन्, अरुणीकुर्वन्नित्यर्थः। तथा चर्षणीनां ओषधीनां मनुष्याणाञ्च शुचः तापग्लानीः मृजन्नपनयन् चेतनाचेतनतापं निराकुर्वन्नित्यर्थः॥ २ ॥

**दृष्ट्वेति।** कुमुत् कुमुदं विकसनीयं विद्यते यस्य तम्। यद्वा, कोः पृथिव्या मुदस्यास्तीति तं भूमे रानन्दकरं चन्द्रं तस्य कुमुद्वतः कोमलैः गोभिः किरणैरङ्कितं रमणीयं वनञ्च दृष्ट्वा वामदृशां कामिनीनां मनोहरं मधुरञ्च यथा भवति[3] तथा भगवान् इति[4-] शेषः[-4]। जगौ वेणुमवादयदित्यर्थः। कुमुद्वन्तं कथम्भूतम्? अखण्डं सम्पूर्णं मण्डलं यस्य तं, नवकुङ्कुममिव अरुणम्, अतः कुङ्कुमारुणकान्तामुखसदृशाम्॥ ३ ॥

**निशम्येति।** तत् मन्मथोद्दीपकं गीतमाकर्ण्य व्रजस्त्रियः स कृष्णो यत्र तत्र आजग्मुः । कथम्भूताः? कृष्णेन गृहीतमाकृष्टं, कृष्णे निवेशितं वा मानसं यासां, परस्परमलक्षितो न ज्ञापित उद्यमः कृष्णं प्रति गमनोद्योगः यासां, जवेन वेगेन लोलानि चञ्चलानि कुण्डलानि यासां ताः[5]॥ ४॥

कृष्णगृहीतमानसत्वमेव तच्चेष्टाभिः प्रपञ्चयति दुहन्त्य[6-] इत्यादिभिस्त्रिभिः[-6]। काश्चि द्व्रजस्त्रियो गाः पयो दुहन्त्यस्सत्यो दोहं हित्वा स[7-]मुत्सुकाः, कृष्णे इति शेषः। त[-7]म् अभिययुः प्रापुः[8]। अपरास्तु स्थालीस्थं क्षीरं चुल्ल्यामधिरोप्य तत्क्वाथमप्रतीक्षमाणाः ययुः। काश्चित्तु संयावं गोधूमकणान्नं पक्वमनुद्वास्य अनवरोप्य ययुः[9]॥५॥

1. B ° दादिकानि 2- -2 B तस्य सत्यत्वमापादयितुं 3 T, W Omit भवति 4- -4 T, W Omit 5 B तथभूताः 6- -6 B इति त्रिभिः: T, W इत्यादिना 7- -7, T, W Omit 8. T, W Omit प्रापुः 9. T, W Omit ययुः :

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

निर्दोषभक्तिजनितब्रह्मज्ञानमेव मुक्तिसाधनमिति या शास्त्रतात्पर्यार्थनिर्धारणा तदर्थमर्थवादं वदत्यस्मिन्नध्याये। तत्र वैकुण्ठदर्शनानन्तरं कः कथाप्रसङ्ग इति तत्राऽऽह-**भगवानपीति।** यद्रात्रिमुखे लोकदर्शनं तां रात्रिं शारदेन शरदृतुसम्बन्धिना कालेन उत्फुल्ला विकसिता मल्लिका नवमल्लिका यस्यां सा ताम्। योगमायां स्वरूपसामर्थ्यम्॥१॥

उडुराजश्चन्द्रः प्राच्याः ककुभो दिशः मुखं शन्तमैः सुखकरैः, कुङ्कुमपुष्पवदरुणैः, 'कुम्भ मन्दायां गतौ' इति धातोः ककुबिति योगात्मकः शब्दः । भृशं मन्दगामिन्याः प्राच्याः सौन्दर्यातिशयेन पूज्यायाः स्त्रियो मुखं यौवनातिशयेन

उडुकल्पस्य जनस्य अनुरागजनकत्वेन राजशब्दवाच्यः पुरुषः शन्तमेनाऽरुणेन करेण हस्तेन कलहोद्भूतदुःखाश्रुकलिलं यथा विलिम्पति निर्मार्ष्टि तथेति शब्दाक्षिप्त इति शेषः। कीदृशः उडुराजः? चर्षणीनां सस्यानां खरकिरणसन्तापम्लानलक्षणाः शुचः मृजन् परिहरन् हिमकिरणकरेण पाणिना वा दीर्घदर्शनः दीर्घकालात् दर्शनं यस्य स तथा। अन्यत्र बहुकालप्रवासेन दृष्टिमार्गं प्राप्तः प्रियो भर्ता दर्शनीयो वा॥ २ ॥

मुकुन्दः अखण्डमण्डलं पूर्णमण्डलं रामस्य बलभद्रस्य आननमिव शोभमानं रामाणा मानन मिव रमणीयं कुङ्कुमपुष्पवदरुणं तमुडुराजं दृष्ट्वा तस्य चन्द्रस्य कोमलगोभिः मृदुतररश्मिभिः रञ्जितं मण्डितं वामदृशां स्त्रीणां मनोरमं मनोहरं वनं सेवायोग्यस्थलञ्च दृष्ट्वा कलमव्यक्तमधुरस्वरं जगावित्यन्वयः ॥ ३ ॥

अनङ्गवर्धनं कामोद्रेककारणं अन्योन्यं परस्परमलक्षिताशयाः अज्ञातमनोभावाः पूर्वमदृष्टवनस्थाना वा, स कृष्णो यत्राऽऽस्ते, तत्रेति शेषः । कार्तस्वरं सुवर्णं तेन रचितानि लोलानि कुण्डलानि यासां ता स्तथा ॥ ४ ॥

तदा तासां भावविशेषं कथयति - **दुहन्त्य इति**। दोहनक्रियां दोहनपात्रं वा अधिश्रित्य पयश्श्रपयितुं चुल्ल्या मारोप्य, संयावं क्वथदन्नमनुद्वास्य अनवरोप्य ॥ ५ ॥

**परिवेषयन्त्य स्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून्पयः।**
**शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चित् अश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्॥ ६ ॥**

**लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने।**
**व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः॥ ७ ॥**

**ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः।**
**गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त काश्चन॥ ८ ॥**

**अन्तर्गृहगताः काश्चिद्गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।**
**कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥ ९ ॥**

**दुस्सहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताऽशुभाः।**
**ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः॥ १० ॥**

**तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्याऽपि सङ्गताः।**
**जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥ ११ ॥**

1. K,T,W भा० 2. B, G, J मोहिताः , M, Ma योषितः

**श्रीध० लिम्पन्त्य** इति। अन्याः प्रमृजन्त्यः अङ्गोद्वर्तनादि कुर्वत्यः । काश्च काश्चित् कृष्णतुष्ट्यर्थं कर्म तदासक्तमनसामन्यथा कृतमपि फलत्येवेति द्योतयन्नाह- व्यत्यस्तेति। स्थानतः स्वरूपतश्चोर्ध्वाधोधारणेन विपर्ययं प्राप्तानि वस्त्राभरणानि यासां ताः ॥ ६, ७ ॥

न च कृष्णाकृष्टमनसां विघ्नाः प्रभवन्तीत्याह- **ता वार्यमाणा** इति॥ ८ ॥

**अन्तरिति।** न लब्धो विनिर्गमो याभिस्ताः प्रागपि तद्भावनायुक्ताः तदा नितरां दध्युरित्यर्थः॥ ९॥

किञ्च, तदानीम् एवं[1] तं परमात्मानं कृष्णं ध्यानतः प्राप्ताः सत्यो गुणमयं देहं जहुरित्याह-**दुस्सहेति श्लोकद्वयेन। तमिति।** ननु कथं जहुः परमात्मेति ज्ञानाभावादित्याह-जारबुद्ध्यापीति। न हि वस्तुशक्ति र्बुद्धिमपेक्षते अन्यथा मत्वाऽपि पीतामृतवदिति भावः। ननु तथाऽपि[2] प्रारब्धकर्मबन्धने सति कथं जहुः? तत्राऽऽह-सद्यः प्रक्षीणबन्धना इति। ननु कथं भोगमन्तरेण प्रारब्धं[3] कर्म क्षीणम्? भोगेनैव सद्यः क्षीणमित्याह-दुस्सहेति। दुस्सहो यः प्रेष्ठस्य[4] विरहः तेन यः[5] तीव्रः तापः तेन धुतानि गतान्यशुभानि पापानि[6] यासां ताः। तदप्राप्तिपरमदुःखभोगेन पापं क्षीणमित्यर्थः। तथा ध्यानेन प्राप्ता अच्युतस्य आश्लेषेण या निर्वृतिः परमसुखभोगः तया क्षीणं मङ्गलं पुण्यबन्धनं यासां ताः। अतो ध्यानेन परमात्मप्राप्तेः तत्कालसुखदुःखाभ्याञ्च निश्शेषकर्मक्षयात् गुणमयं देहं जहुः॥ १०,११ ॥

1. B.P एव 2 B.J तदपि 3 P. V. ° ब्धकर्म 4. B.J प्रेष्ठवि० 5 B.J omit यः 6 B.J omit पापानि

**वीर०** काश्चि त्परिवेषयन्त्यः पत्यपत्यादीन् भोजनार्थं निवेश्य अन्नादिकं पात्रेषु ददत्यः तत्परिवेषणं हित्वा, अपरास्तु शिशून् पयः पाययन्त्यः तद्धित्वा, अन्यास्तु पतीन् शुश्रूषन्त्यः उपचरन्त्यः शुश्रूषां हित्वा, परास्तु अश्नन्त्यो भाजनं पात्रमपास्य हित्वा॥ ६ ॥

एवमन्या लेपनमार्जनाञ्जनादीन् कुर्वाणा लेपनादीन् विहाय, लोचने अञ्जन्त्य इत्यन्वयः। काश्चित्तु व्यत्यस्तानि विपरीतस्थानानि वस्त्राभरणानि[1] यासां तथाभूताः सत्यः[2] कृष्णसमीप माययुः॥ ७ ॥

एवं गच्छन्त्यः पित्रादिभिः वार्यमाणा अपि कृष्णगृहीतमानसत्वात् काश्चि न्न न्यवर्तन्त गृहानाजग्मुः॥ ८ ॥

काश्चिद्गोप्यस्तु अन्तर्गृहगताः पतिभिरन्तर्गृहनिरुद्धा इत्यर्थः। अत एव न लब्धो निर्गमो यासां ताः, प्रागपि कृष्णभावनायुक्ताः तदा नितरां कृष्णं दध्युः ध्यातवत्यः। कथम्भूताः? मीलिते लोचने याभि स्तथाभूताः॥ ९ ॥

एवं ध्यातवतीनां प्रारब्धकर्मक्षयपूर्वकभगवत्प्राप्तिमाह-**दुस्सहेति** द्वाभ्याम्। दुःखेनाऽपि सोढुं मशक्यो यः प्रियतमस्य कृष्णस्य विरहस्तेन य स्तीव्रतापः तेन धुताः निरस्ता अशुभाः प्रारब्धपापकर्माणि यासां, ध्यानेन प्राप्तो यः अच्युतस्याऽऽश्लेषः तेन या निर्वृतिरानन्दः तया क्षीणानि मङ्गलानि प्रारब्धपुण्या यासां ताः[3]॥ १० ॥

एवं सद्य एव प्रक्षीणानि बन्धनानि संसृतिबन्धनिमित्तानि पुण्यपापात्मकानि यासां ताः, परमात्मानं कृष्णमेव जारबुद्ध्याऽपि सङ्गताः सत्त्वादिगुणप्रचुरं देहं तत्यजुः। एवकाराऽपिशब्दाभ्यां कोऽपि भावो भगवदनन्यविषयो मुक्तयेऽवकल्पत इत्यभिप्रेतम्॥ ११॥

---

1. B, वस्त्राण्याम०2. T.W omit सत्यः 3. B तथाभूताः।

**विज०** परिवेषयन्त्यः भुञ्जानानां पात्रेषु भोक्तव्यं विनिक्षिपन्त्यः तत्परिवेषणं, पाययन्त्यः, स्तनादिकमिति शेषः। पादमर्दनादिना शुश्रूषन्त्यः॥ ६ ॥

प्रमृजन्त्यः शरीरोन्मार्जनं कुर्वत्यः, स्थानसम्मार्जनं वा। अञ्जन्त्यो मष्यादिना, मुखकण्ठादिषु आभरणादि दधानाः कण्ठादिषु वस्त्राणि वसाना इति व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः॥ ७ ॥

वार्यमाणा निरोध्यमाना गोविन्देनाऽपहृता आकृष्टा आत्मानो मनांसि यासां तास्तथा॥ ८ ॥

अलब्धविनिर्गमाः न लब्धं विनिर्गमनं याभि स्तास्तथा। तस्य कृष्णस्य भावनया भक्तिसंस्कारेण युक्ताः॥ ९ ॥

काश्चन ताः स्त्रियः गुणमयं सत्त्वादिगुणविकृतदेहं जहुरित्यन्वयः। अयं देहत्यागः संसारिण इव न, किन्तु मुच्यमानस्येव इत्याह- सद्य इति। बन्धनध्वंसोऽपि प्रारब्धपुण्यपापप्रणाशेन दृष्टत्वात्. तत्राऽपि तथैवेत्याह **दुस्सहेति।** दुस्सहः सोढु मशक्यः प्रेष्ठस्य कृष्णस्य विरहः सांसारिको वियोगः तेनोत्पन्नस्तीव्रतापः समुत्कटज्वरानुभवः, तेन धुताशुभाः निरस्तपापाः ध्यानेन प्राप्तः अच्युतस्याऽऽश्लेषः ध्यानप्राप्ताऽच्युताश्लेषः, तेन उद्भूतया निर्वृत्या स्वरूपानन्दाविर्भावविलक्षणया क्षीणानि प्रारब्धानि मङ्गलानि पुण्यानि याभिस्तास्तथा॥ १० ॥

अनारब्धफलानां कुतो निवृत्तिरिति तत्राऽऽह-**तमिति।** जार उपपतिः पत्युरप्यधिक इति सम्भावितः। तं कृष्णं परमात्मानं नारायणमेव सङ्गताः सम्यग्ज्ञातवत्यः । अनेन बिम्बभूतहरिज्ञानेन प्रारब्धप्राणाश इति सूचितम्॥ ११ ॥

**राजोवाच**

**कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने।**
**गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्?॥ १२ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यं सिद्धिं यथा गतः।**
**द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताऽधोक्षजप्रियाः॥ १३ ॥**

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्ति र्भगवतो नृप[2]!।
अव्यक्तस्याऽप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः[3]॥ १४ ॥

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं[4-] सौहृद मेव च[5]।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥ १५ ॥

---

1- -1 B परीक्षिदुवाच 2. V भुवि 3. B, G, J, V °य° 4- -4 M, Ma मोहं मैत्रीं 5. M, Ma वा।

**श्रीध०** ननु, यथा पतिपुत्त्रादीनां वस्तुतो ब्रह्मत्वेऽपि न तद्भजनान्मोक्षः , तथा बुद्ध्यभावात्। एवं कृष्णेऽपि ब्रह्मबुद्ध्यभावेन तत्सङ्गतिः कथं मोक्षहेतुरिति शङ्कते - **कृष्णं विदुरिति**। परं केवलं कान्तं कमनीयम्॥ १२ ॥

परिहरति - **उक्तमिति**। अयं भावः - जीवेष्वावृतं ब्रह्मत्वं कृष्णस्य तु हृषीकेशत्वादनावृतम्। अतो न तत्र बुद्ध्यपेक्षेति। ॥१३॥

ननु देही कथमनावृतः स्यात्, अत आह - **नृणामिति**। गुणात्मनो गुणनियन्तुः भगवत एवंरूपा अभिव्यक्तिः; अतो न देहिसादृश्यं अत्र वक्तुं युज्यत इति भावः ॥ १४ ॥

अतो यथाकथञ्चित् तदासक्तिः मुक्तिकारणमित्याह- **काममिति**। ऐक्यं सम्बन्धम्। सौहृदं भक्तिम्, विदधतः[1-] कुर्वन्तः[-1] ॥ १५ ॥

---

1- -1 B, J Omit.

**वीर०** तदेव तन्मुखेन विशदयितुं पृच्छति राजा **कृष्णमिति**। हे मुने! कृष्णं परं केवलं कान्तमेव विदुः, न तु परब्रह्मत्वेन, तासाम् एवम्भूतानां गुणधियां विषयासक्तधियां गोपीनां कथं गुणप्रवाहस्य सत्त्वादिगुणमयदेहपरम्परायाः उपरमो निश्शेषक्षयः ॥ १२ ॥

अस्य प्रश्नस्योत्तरं सप्तम एव अभिहितमित्याह- **उक्तं पुरस्तादेतत्ते** इति। एतदत्र वक्तव्यमुत्तरं तुभ्यं पुरस्तात् सप्तमस्कन्ध एवोक्तं "गोप्यः कामाद्भयात्कंसः (भाग० 7-1-30) इत्यादिना। कोऽपि भगवत्यनन्यभावो मुक्तिहेतुरेव इत्युक्तमेवेत्यर्थः। उक्तेऽप्युत्तरे कैमुत्यनयेनोपपत्तिमाह - चैद्य इत्यादिना। चैद्यश्शिशुपालो हृषीकेशं द्विषन्नपि यथा सिद्धिं पुनर्द्वाःस्थतां गत[1],ः यथेति निदर्शनं वा। द्विषन्नपि सिद्धिं गतः, किमु तस्य प्रिया गोप्यस्सिद्धिं ययुरिति॥ १३ ॥

किञ्च, केनापि स्वानन्यविषयकनिरन्तरभावेन भावितमानसाननुग्रहीतुमवतीर्णे कामाद्यन्यतमं भावं ये कुर्वन्ति न तेषां मुक्तौ विस्मयः कार्य इत्याह - **नृणामिति**। अव्ययस्य जीववत्कर्मायत्तोत्पत्त्यादिविकाररहितस्य अप्रमेयस्य अपरिच्छिन्नस्य वाङ्मनसागोचरस्य वा, सत्त्वादिप्राकृतगुणरहितस्यानन्तकल्याणगुणाश्रयस्य भगवतो भुवि लोके व्यक्तिः नृणां निःश्रेयसार्थायैव। अव्ययस्येत्यादिविशेषणैः एवम्भूतस्याप्युत्पत्त्यादिविकाराश्रयत्वादिवद्भावं केवलं लोकानुग्रहार्थमेवेत्युक्तम्, तद्व्यक्तेः जीवव्यक्ति-वैलक्षण्यं च ॥ १४ ॥

नित्यं कामाद्यन्यतमं भावं ये हरौ विदधतः कुर्वाणाः, वर्तन्त इति शेषः । कामादि विदधज्जनसंसृतिबन्धहारिणि प्रीतिं[2] कुर्वन्तीत्यर्थः । ते तन्मयतां यान्ति। स्वार्थेऽत्र मयट्। तत्प्रकारतां तत्साधर्म्यं यान्तीत्यर्थः । हीति प्रसिद्धिः चैद्यादिषु द्योत्यते। प्राचुर्ये वाऽत्र मयट्। ये कामाद्यन्यतमं कुर्वन्ति ते ततः तज्ज्ञान प्रचुरतां यान्ति तद्द्वारा मुक्ता भवन्तीत्यर्थः। कामादीन्कुर्वाणा नित्यं तत्सौन्दर्यचिन्ताप्राचुर्येण कामादीनपि विस्मृत्य मुक्ता भवन्तीति भावः । शिशुपालो हि कृष्णसौन्दर्यचिन्ताप्राचुर्येण द्वेषं विस्मृतवान्। तत्र कामो मन्मथप्रयुक्ताभिलाषविशेषः । ऐक्यमेककुलप्रसूतत्वानुसन्धानम्। स्नेहस्सख्यम्। सौहृदं भक्तिः । "गोप्यः कामात्" (भाग 7-1-30) इत्यादिस्थानप्रामाण्यात्। हरौ इत्यनेन कामाद्यन्यतमभावविधायिजनबन्धहरत्वरूप वस्तुस्वभावोऽभिप्रेतः । अज्ञानेनापि स्पृष्टस्याऽग्नेर्दाहकत्ववत्। तत्र वस्तुस्वभावात् मुक्तिप्रतिबन्धकप्रारब्धकर्मक्षयाभावः उद्देशान्तरप्रतिपत्तिश्च[3]। अत एव उद्देशान्तरप्रतिपत्तेः[4] दशाननस्य मोक्षाभावः । गोपीनां तु दुस्सहेत्यादिना प्रारब्धकर्मक्षयोक्तेः[5] भगवद्व्यतिरेकेणोद्देश्यान्तराभावेन तत्प्रतिपत्त्यभावाच्च वस्तुस्वभावायत्तो मोक्ष उपपन्नः। वस्तूतस्तु गोपीनामपि गोवर्धनोद्धरणादिभिरीश्वरत्वज्ञानमस्त्येव॥ १५ ॥

1. B. प्राप्तः 2. T. W. Omit प्रीतिं 3. B, K. °श्या० 4 B.K °श्या० 5. B. °क्तिः

**विज०** जारबुद्ध्याऽपि सङ्गता इत्युक्तं तस्य तात्पर्यमजानन्निव राजा पृच्छति- **कृष्णमिति**। गोप्यः कृष्णं परं कान्तं जारं पतिं विदुः । ब्रह्मतया श्रुतिशतगीतपरब्रह्मत्वेन न विदुः अनधिकारित्वात्। या एवंविधास्तासां गुणेषु विषयेषु धीर्बुद्धिः यासां तास्तथा। गुणप्रवाहोपरमः संसारप्रवाहनिवृत्तिः कथं सम्भाव्यते? निवृत्तिमार्गलभ्या प्रवृत्तिमार्गेण कथं संसारनिवृत्तिः स्यादिति "उत्तिष्ठत जाग्रत" (कठ. उ. 3-14) इति श्रुतेः ॥ १२ ॥

भक्त्या सन्ततमधुमथनमहिमसंस्मरणसमुदितसंविदा निवृत्तियोग्या मुक्तिः , न तु कामादिना। तेन स्वर्गादि प्राप्तिरेव-"कृष्णकामाः तदा गोप्यः त्यक्त्वा देहं दिवं गताः " (स्कान्दे) इत्यादिस्मृतेः, इत्यभिप्रायं हृदि कृत्वा अर्थवादस्याऽपि स्वार्थसाधनसमर्थकत्वात्तेन चोद्यं परिहरति शुकः - **उक्तमिति**। द्वे मुक्ती ह्यानन्दानुभवलक्षणा, नित्यदुःखानुभवलक्षणेति। ते उभे अपि सिद्धिशब्दोक्ते तत्र यथाशास्त्रविहितमङ्गीकर्तव्यमिति। तदुक्तम् - (अथोदकत्वेन) "सदा द्वेषिणामधरं तमः इति मुक्तिशब्दोदितं चैद्यप्रभृतौ" (स्कान्दे) इत्यादि लोकसङ्ग्रहार्थं किमुत अधोक्षजप्रिया इति। अन्यथा "कामस्त्वशुभकृच्चापि भक्त्या विष्णोः प्रसादकृत्" (स्कान्दे) इत्यादिनोदाहरिष्यत्। जगत्प्रपितामहे विष्णौ जारबुद्धिः कथं घटते इति चेत्, अत एव जारबुद्ध्याऽपीत्यत्र अपिपदेन जारबुद्धिं गर्हयामास, स्त्रीणां जारे हि प्रेष्ठत्वबुद्धिः सापि न घटत इति चेत् न। सर्वेषां हरौ प्रेष्ठत्वबुद्धेः अविगाहतया वृत्तेः "तदेतत्प्रेयः" ( बृह. उ. 1-4-8) इति श्रुतेः। अयं भावः कुतोऽवगत इति अविगाहतया चे न्न। जगत्प्रपितामहे जारबुद्धिः न युक्ता इत्याचार्यवचनात् ॥ १३ ॥

ननु आचार्यस्यापि यथास्थितग्रन्थाभिप्रायकथनं विना वक्रगत्या व्याख्याने कोऽभिप्राय इत्याशङ्क्योत्तरग्रन्थानुकूल्यादित्याशयेनाह- **नृणामिति**। व्यक्तिरवतारः । अन्यथाऽवतारो न घटत इत्यत्र हेतुमाह-अव्यक्तस्येति। ज्ञानादिगुणात्मनः भगवतो व्यक्तिर्न केवलमसुरनिर्हरणार्थाय किन्तु मोक्षलक्षणपुरुषार्थाय। पुरुषार्थस्तु भगवत्प्रसादेन स्यात्, स च भक्त्या। सा हरेः यथा स्वरूपविज्ञानेन। विज्ञानं च गुणोत्कर्ष ज्ञानपूर्वकम्, न त्वन्यथा। "गुणोत्कर्षज्ञातरि यादृशी स्यात्" इति श्रुतेः । तस्मात् द्वेषादिना नित्यसुखानन्दानुभवलक्षणमोक्षो वर्षानन्त्येनापि न स्यात्॥ १४ ॥

नन्वेवं तर्हि द्वेषादिना कां सिद्धिमाप्नोतीति तत्राऽह **काममिति**। ये हरौ कामादिकं विदधत उपासते ते तन्मयतां यान्ति कामाद्यात्मतामाप्नुवन्ति न तु भगवन्मयताम्। नित्यस्तिमितानन्दवारिधेः हरेः कामाद्यभावात् हिशब्दो "यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेबरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः" ॥ (भ. गी 8-6)इत्यादि स्मृतिं सूचयति। अवधारणार्थो वा "कामिनः कामित्वमेव क्रोधिनः क्रोधित्वमेव" इत्यादि। तदुक्तम् - "विमुक्तावपि कामिन्यो विष्णुकामा व्रजस्त्रियः । द्वेषिणश्च हरौ नित्यं द्वेषिणस्तमसि स्थिताः" (स्कान्दे) इति विशेषद्योतको वा। । तदुक्तम्- "भक्त्या हि नित्यकामित्वं न तु भक्तिं विना भवेत्। अन्तः कान्ततया वाऽपि मुक्तिर्भक्तिमतां हरौ" (पाद्मे) इति च। मनुष्यविशेषवद्देवविशेषद्योतनार्थोऽपि भवति। "स्नेहभक्ताः सदा देवाः कामित्वेनाप्सरस्स्त्रियः (पाद्मे) इत्यादेः। भक्त्यैव मोक्षो नान्येन साधनेन। इममर्थविशेषं च वक्ति। "भक्त्या वा कामभक्त्या वा मोक्षो नान्येन केनचित्" (भद्रिकायाम्) इत्यतः कामभक्त्या मोक्षं स्त्रीणां वक्ति- "कामभक्त्याऽप्सरस्स्त्रीणाम्" इत्यादेः। उपासनायाः विशेषोऽस्तीति सूचयति। "उपास्यः श्वशुरत्वेन देवः स्त्रीणां जनार्दनः " (भद्रिकायाम्) इत्यादेः । तत्तद्योग्यतोपासनामन्तरेण मुक्तिः कस्यापि न स्यादिति इमं व्याचष्टे। "योग्योपासां विना नैव मोक्षः कस्यापि सेत्स्यति" (भद्रिकायाम्) इत्यादेः । पतित्वपितृत्वादि ूचयति। "पतित्वेन श्रियोपास्यो ब्रह्मणा मे पितेति च" (वाराहे) इत्यादेः । गुरुत्वविशेषमपि ब्रूते "गुरुः श्रीब्रह्मणोर्विष्णुः सुराणां च गुरोर्गुरुः " (वाराहे) इत्यादेः सर्वेषामपि ज्ञानेन गुरुत्वं ब्रह्मणः, उपास्यदैवत्वं विष्णोरिति इमं, चाह- "गुरुर्ब्रह्माऽस्य जगतो दैवं विष्णुः सनातनः " (वाराहे) इत्यादेः ॥ १५ ॥

**न चैवं विस्मयः कार्यो[1] भवता भगवत्यजे।**
**योगेश्वरेश्वरे[2] कृष्णे यत एतद्विमुच्यते॥ १६ ॥**

**ता दृष्ट्वाऽन्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः।**
**अवदत्[3] वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन्[4]॥ १७ ॥**

**श्रीभगवानुवाच[5]**

**स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि[6] वः।**
**व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूताऽऽगमनकारणम्॥ १८ ॥**

**रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता[7]।**
**प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिस्सुमध्यमाः॥ १९ ॥**

**मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।**
**विचिन्वन्ति[8] ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं[9] बन्धुसाध्वसम्॥ २० ॥**

1. K.T.W. र्योऽधोक्षजे भ० 2. V. ०गी० 3. K.W. उवाच 4. M.Ma ०पा० 5- -5 M.Ma श्रीकृष्ण उवाच 6.K.T.W. ०म 7. V. क्रू० 8 M.Ma ०न्तो 9. B.G.J. कृध्वं

**श्रीध०** न च भगवतोऽयमतिभार इत्याह - **न चैवमिति।** यतः श्रीकृष्णादेतत्स्थावरादिकमपि विमुच्यते॥ १६ ॥

प्रस्तुतमाह-**ता** इति। वाचःपेशैः वाग्विलासैः ॥ १७ ॥

**स्वागतमिति।** सर्वाः ससम्भ्रममागता विलोक्य सभयमिवाऽऽह - व्रजस्येति॥ १८ ॥

लज्जया मन्दहसिता[1] आलक्ष्याऽऽह **रजनीति**॥ १९ ॥

किञ्च, **मातर** इति। विचिन्वन्ति मृगयन्ते। बन्धूनां साध्वसं भयं[2] कृच्छ्रं मा कृद्वं मा कुरुतेत्यर्थः ॥२०।

1. B.J. ०तमाल० 2. B.J. Omit भयं

**वीर० न चेति।** एवमेवं सति कृष्णे[1] विषये न भवता विस्मयः कार्यः। विस्मयासम्भावनां द्योतयितुं विशिनष्टि। अधोक्षजे अधःकृता अनितरविषया अक्षजा इन्द्रियवृत्तयो यस्मात् तस्मिन् स्वविषयककामक्रोधादिमज्जनेन्द्रियाणाम् अन्यविषयानाभिमुख्यावहे तथा कर्तुं समर्थानामपीश्वरे नियन्तरि कामादिप्रयुक्तसमाधिनिर्वाहकजनेश्वरे वा। भगवति तदुपयुक्तज्ञानादिगुणाश्रये यतः कृष्णाद्धेतोः एतत्स्थावरादिकमपि विमुच्यते, तस्मिन्॥ १६ ॥

प्रस्तुतमाह - **ता दृष्ट्वेति।** ताः आगताः गोपीः दृष्ट्वा वदतां निपुणवादिनां मध्ये श्रेष्ठो भगवान् वाग्विलासैः उवाच तन्मनःपरीक्षार्थमाहेत्यर्थः॥ १७ ॥

उक्तमेवाह - **स्वागत**मित्यादिना "इति[2-] विप्रियम्" (भाग 10.29.28) इत्यतः प्राक्तनेन[-2]। मत्प्रेष्ठानां वो भाग्यं वाचामगोचरमित्यभिप्रायेण सम्बोधयति महाभागा इति। वो युष्माकमागतमागमनं शोभनं जातम्। किन्तु व्रजस्थानामयमाधिव्याधिराहित्यं[3] इति प्रश्नः । तत्कच्चिदस्मदिष्टमित्यर्थः । यद्यनामयं तर्ह्यागमनकारणं ब्रूत। तदनामयापादनादन्यद्वः किं प्रियं करवाम॥ १८ ॥

लज्जाप्रयुक्तमन्दहासमालक्ष्याऽऽह - **रजनीति।** एषा रात्रिः स्वयं भयङ्करा, भयङ्करैः सत्त्वैः व्यालव्याघ्रादिभिः निषेविता सहचरिता च। अतो व्रजं प्रति गच्छत। हे सुमध्यमाः! इहाऽस्मिन् वने रात्रौ स्त्रीभिः न स्थातुं युक्तम्॥ १९ ॥

किञ्च मात्रादयो युष्मानपश्यन्तो मृगयेयुः । अतो बन्धूनां मात्रादीनां साध्वसं भयं मा कृद्वं नोत्पादयत॥ २० ॥

1. B. कृष्ण 2- -2 T.W. Omit 3. B. adds किल

**विज०** यथा हिशब्दोपक्षिप्ता बहवो विशेषाः शास्त्रान्तरसिद्धाः सन्ति तस्मात् भगवति विस्मयो न कार्य इत्युपसंहरति- **न चैवमिति।** विस्मयः आश्चर्यबुद्धिः भगवताऽप्येवमकारि, किमुत अस्माभिः इति दर्पो वा। "चित्रे दर्पे च विस्मयः" (वैज.को. 7-1-65) इति यादवः। भगवत्यैश्वर्यादिगुणसामग्रीमतीत्ययं हेतुरौत्पत्तिकलक्षण इत्याह अज इति। न जायते

इत्यजः। सौभर्यादियोगेश्वरा अपि योगबलेनाऽतिमानुषं कुर्वन्ति, किमुत तदीश्वरोऽयमिति भावेनाऽऽह — योगेश्वरेश्वर इति। कृष्णविषयः प्रश्नः, परिहारोऽन्यविषय इवेयते। अतः कथं संशयनिस्तार इति शङ्कानिरासाभिप्रायेणाह कृष्ण इति। हेत्वन्तरमाह यत इति। यतो यस्मात् कृष्णादेतज्जग द्विमुच्यते संसारमुक्तं भवति। "यस्य प्रसादात् परमार्तिरूपादस्मात्संसारान्मुच्यते नाऽपरेण" इति श्रुतेः ॥ १६ ॥

परीक्षित्प्रश्नं परिहृत्य बुभुत्सितकथाशेषं वक्ति - **ता** इति। वाचः परिभाषणादुदितैः पाशैः स्नेहलक्षणैः वदतां व्यक्तवाचां कवीनां श्रेष्ठः प्रशस्ततमः ॥ १७ ॥

वः किं प्रियं करवाणि? युष्माकं मयाऽभीष्टं कर्तव्यं, तत्किम्? तदभीष्टं जानन्नपि अज्ञ इव पृच्छति व्रजस्येति। कच्चिद्व्रजस्य स्थानं अनामयं, न आमयो रोगो यस्मिन् तत्तथा॥ १८ ॥

ननु यत्किञ्चिन्निमित्तमपेक्षते भवदागमनम्, अन्यथाऽस्यामवस्थायां नोचितमिति तत्राह — **रजनीति**। घोरसत्त्वा राक्षसादयः ॥ १९ ॥

विचिन्वन्तः मृगयन्तः कृच्छ्रं कुरुध्वं साध्वसं भयम्॥ २० ॥

**दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम्।**
**यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम्॥ २१ ॥**

**तद्यात मा चिरं घोषं[2] शुश्रूषध्वं पतीन्सतीः ।**
**क्रन्दन्ति बाला वत्साश्च तान्पाययत दुह्यत॥ २२ ॥**

**अथवा मदभिस्नेहाद्भवत्यो[3] यन्त्रिताशयाः ।**
**आगता ह्युपपन्नं तत्[4] प्रीयन्ते मयि[5] जन्तवः ॥ २३ ॥**

**भर्तृशुश्रूषणं[6] स्त्रीणां परो[7] धर्मो ह्यमायया।**
**तद्बन्धूनां च कल्याण्यः[8] प्रजानां चानुपोषणम्॥ २४ ॥**

**दुश्शीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।**
**पतिः स्त्रीभि र्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी[9]॥ २५ ॥**

1. M.Ma नीलैज० 2 BG.J.K. M.Ma गोष्ठं 3. M.Ma °न्त्यो० 4. B.G.J. वः 5. M.Ma मम 6. B.G.J.M.Ma भर्तुः 7. K.T.W. परमो; V. पर 8. M.Ma कल्याणं 9. M.Ma

**श्रीध०** ईषत्प्रणयकोपेनान्यतो विलोकयन्तीः प्रत्याह - **दृष्टमिति**। राकेशस्य पूर्णचन्द्रस्य करैः रञ्जितम्। यमुनास्पर्शिनोऽनिलस्य लीला मन्दगतिः तया एजन्तः कम्पमानाः तरूणां पल्लवास्तैः शोभितम्॥ २१ ॥

**तदिति।** सतीः हे सत्यः ॥ २२ ॥

संरम्भक्षुभितदृष्टीः प्रत्याह-**अथवेति।** यन्त्रिताशया वशीकृतचित्ताः । उपपन्नं युक्तम्। प्रीयन्ते प्रीता भवन्ति॥ २३

दृष्टादृष्टभयप्रदर्शनेन निवर्तयति भर्त्रित्यादि श्लोकत्रयेण॥ २४, २५ ॥

1. B.J.

**वीर०** एवं प्रत्याचक्षाण ईषत्प्रणयकोपान्विता विलोकयन्तीः प्रत्याह - **दृष्टमिति।** राकेशस्य पूर्णचन्द्रस्य करैः रञ्जितम्, यमुनास्पर्शिनोऽनिलस्य लीलया मन्दगत्या कम्पमानैः तरूणां पल्लवैः शोभितं वनं दृष्टं हि॥ २१ ॥

अतोऽत्राऽऽगमनप्रयोजनं जातमति, व्रजं प्रति यात, चिरं विलम्बं मा कुरुत। गत्वा किं विधेयं, तत्राऽऽह - सतीः हे सत्यः ! विभक्तिव्यत्ययः आर्षः । पतिव्रतानामेवंविधमागमनमनुचितमिति साक्षेपं सम्बोधनम्। पतीन् शुश्रूषध्वं परिचरत। किञ्च, वत्साः गवामिति शेषः । बालाश्च क्रन्दन्ति क्रन्देयुः । अतः तान् वत्सान् बालांश्च पाययत, क्षीरमिति शेषः। , गा इति शेषः । तदर्थं गा दुह्यतेत्यर्थः ॥ २२॥

ननु त्वयि स्नेहाद्वयमागताः , अतः कथमेवं वक्तुमर्हसीत्यत्राऽऽह- **अथवेति।** मयि प्रेमप्रकर्षाद्वशीकृतचित्ता यदि यूयमागताः तर्हि इदमागमनमुपपन्नं युक्तमेव। कुतः ? हि यस्मात् जन्तवो मयि प्रीयन्ते मयि प्रीतियुक्ता भवन्ति। सर्वान्तर्यामिणि सर्वसुहृदि मयि सर्वजन्तुसाधारणं पीतिमात्रं भवतीनामप्यविरुद्धम्॥ २३ ॥

न केवलं त्वदभिस्नेहमात्रादागताः , किन्तु त्वया सह रन्तुमिच्छयेत्यत्र दृष्टादृष्टभयप्रदर्शनेन प्रत्याचष्टे - भर्तृशुश्रूषणमिति त्रिभिः । यदमायया निष्कापट्येन भर्तुः शुश्रूषणं परिचरणं तदेव स्त्रीणां परो मा यस्मात्तथाविधः धर्मः । तथा हे कल्याण्यः! । तस्य भर्तुः बन्धूनां पितृभ्रात्रादीनां, प्रजानां स्वापत्यानां च यथार्हं शुश्रूषणम् अनुपोषणं च परमो धर्मः ॥ २४ ॥

**दुश्शील** इति। दुश्शीलो दुराचाररतः दुर्भगः कुरूपः , वृद्धो जरितो रोगोऽस्यास्तीति तथा, न विद्यते धनं वित्तं यस्य, तथाभूतोऽपि पतिः लोकेप्सुभिः पुण्यलोकानिच्छन्तीभिः स्त्रीभिः न त्याज्यः । महापातकसंयुक्तस्तु हातव्य इत्यभिप्रायेण विशिनष्टि- अपातकीति। यद्वा एवंविधोऽपि पतिरपातकी स्त्रीणां निर्दुष्ट एव। अतः स न हातव्य इत्यर्थः। लोकेप्सुभिरित्यनेन अदृष्टं भयं प्रदर्शितम्॥ २५ ॥

1- -1 K.T.W. Omit 2. B. कार्ष्ट 3.B. सम्बोधयति 4- -4 B. Omits 5. B. ०पी 6. T.W. Omit- स्त्रीभिः 7. B. भूतोऽपि

**विज०** राकेशश्चन्द्रः यमुनाया अनिलेन वायुना निर्भयेन एजद्भिः कम्पमानैः तरुपल्लवैः शोभितं, यद्वा यमुनानिलानीत नीरिणैजद्भिः ॥ २१ ॥

ततो युष्मानपश्यन्तो बन्धवो भयमवाप्नुवन्ति यस्मात् तस्मात् सतीः सत्यः ॥ २२ ॥

"ब्रूताऽऽगमनकारणम्" (भाग 10-29-18) इत्ययुक्तमुक्तं रागमूलत्वात्प्रवृत्तेरिति तत्राह **अथवेति।** मदभिस्नेहात् मदधिकरणस्नेहात् यन्त्रिताशयाः बद्धान्तःकरणाः नियमिताभिप्राया वा। हि यस्मात् तस्मात् आगमनमुपपन्नं, तत्कथमत्राऽऽह - प्रीयन्त इति। मम प्रीयमाणस्य सतः सर्वेऽपि प्रीणन्ति न चेत् तवेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रमितत्वात्॥ २३ ॥

किञ्च, अन्यदेकं शास्त्रविहितं वदामीत्याशयेनाऽऽह- **भर्तुरिति।** स्त्रीणाममायया अवञ्चनया भर्तुः पत्युः शुश्रूषणं धर्मो हि लोकवेदसिद्धः, भर्तरि सन्निहितो नारायण इति बुद्ध्या शुश्रूषणं परो धर्मो हि यस्मात्तस्मात् तस्य भर्तुः बन्धूनां कल्याणं च श्रेय इति च। न केवलं तद्बन्धूनां श्रेयः अपि तु प्रजानां सन्ततिलक्षणानां च अनुपोषणं समृद्धिकरणंच भवतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

पत्युः दौश्शील्यादिदोषसद्भावेऽपि स्त्रीभिस्तत्त्यागो न विहित इत्याह - **दुश्शील** इति। दुश्शीलः कलहादिशीलसम्पन्नः दुर्भगो निर्वीर्यः कान्तिविहीनो वा। वृद्धः गतवयाः जडः स्वकार्यमूढः रोगी भग्नाङ्गोऽल्पाङ्गः कुष्ठादिव्याधिपीडितो वा, ब्रह्महत्यादि दोषसद्भावे कथं न हातव्य इति तत्राह- लोक इति। दौश्शील्यादिदोषसद्भावेऽपि ब्रह्महत्यादिपञ्चमहापातकरहितश्चेत् पतिः शुचिरेव न हातव्योऽन्यथा विदोष इति भावेन लोक इत्युक्तम्॥ २५ ॥

**अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्।**
**जुगुप्सितं हि सर्वत्र ह्यौपपत्यं कुलस्त्रियाः ॥ २६ ॥**

**श्रवणाद्दर्शनाद्ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात्।**
**न तथा सन्निकर्षेण, प्रतियात ततो गृहान्॥ २७ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम्।**
**विषण्णा भग्नसङ्कल्पा श्चिन्तामापु र्दुरत्ययाम्॥ २८ ॥**

**कृत्वा मुखान्यव शुचः श्वसनेन शुष्यद्बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः ।**
**अस्रैरुपात्तमषिभिः कुचकुङ्कुमानि तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराश्च तूष्णीम्॥ २९ ॥**

**प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं कृष्णं तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः ।**
**नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किञ्चित् संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः ॥ ३०**

1. B.G. J.M.Ma.V. च 2. B.G.J.M.Ma औ० 3. M.Ma V. °यः 4- -4 M.Ma. न्यक्कृत्यवक्त्र वनजान्यतिताप 5 M.Ma महीं 6. M.Ma आ० 7. B.G.J.M.Ma °राः स्म

**श्रीध० अस्वर्ग्यमिति।** फल्गु तुच्छम्। कृच्छ्रं दुस्सम्पाद्यम्। औपपत्यं जारसौख्यम्॥ २६ ॥

I, **श्रवणादिति॥** २७, २८ ॥

चिन्तां प्राप्तानां स्थितिमाह- **कृत्वेति।** शुचः शोकादुद्गतेन श्वसनेन शुष्यन्तो बिम्बफलसदृशा अधरा[2] येषु तानि अव अवाञ्चि कृत्वा तथाऽङ्गुष्ठेन[3] महीं लिखन्त्यः । तथा गृहीतकज्जलैरश्रुभिः कुचकुङ्कुमानि क्षालयन्त्यः तूष्णीं स्थिताः । यत उरुदुःखस्य[4] भरो भारो[4] यासां ताः ॥ २९ ॥

किञ्च **प्रेष्ठमिति।** किञ्चित्संरम्भेण कोपावेशेन गद्गदा गिरो यासां ता अब्रुवत स्म। संरम्भे कारणं-प्रेष्ठमित्यादि प्रियेतरमिव[5] वैरिणमिव[5] प्रतिभाषमाणं प्रत्याचक्षाणम्॥ ३० ॥

1. P.V. चिन्ता० 2- -2 P.V. बिम्बाधराः 3. P.V. अ० 4- -4 P.V. उरुः दुःखभरो 5- -5 B.J. Omit

**वीर०** अथ दृष्टभयप्रदर्शनेन प्रत्याचष्टे **अस्वर्ग्यमिति।** कुलस्त्रियाः औपपत्यं भर्तरि सत्यसति वा योऽन्यः सङ्गम्यते स उपपतिः तस्य कर्म औपपत्यं तत्सङ्गमनम्। "पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्" (अष्टा 5-1-128) इति कर्मणि यक्। उपपतिमत्त्वम्। तदस्वर्ग्यमसुखकरमयशस्करं तुच्छं दुःखावहं भयावहं च सर्वत्र निन्दितं च॥ २६ ॥

"पतिं विश्वस्य" (मना-उ 9-3) "एष भूताधिपतिः " (बृह उ: 4-4-22) "माता पिता भ्राता निवासश्शरणं सुहृद्गतिश्च नारायणः" (सुबा.उ. 6-2-1) इत्युक्तरीत्या नित्यो निरुपाधिकश्च पतिर्बन्धुश्च त्वमेव इत्याशयवतीः आलक्ष्याऽऽह- **श्रवणादिति।** न च, गोपीनामेवंविधाभिप्रायसङ्गतिः तस्मिन् तासां परब्रह्मत्वज्ञानाभावादिति शङ्क्यम्। अनुपदं वक्ष्यमाणैरेव तासां वचोभिः "प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा" (भाग 10-29-32) "यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमायाः" (भाग. 10-29-36) "श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे" (भाग. 10-29-37) इत्यादिभिरेव तज्ज्ञानाविष्कारात्। मयि नित्ये निरुपाधिके पत्यौ बन्धौ च मयि श्रवणादिभिः यादृशो भावो भवति, न तथा सन्निकर्षेणाऽङ्गसङ्गेन भवति। अतो गृहान्प्रति यात गच्छत। भावः प्रीत्यात्मकोऽभिप्रायविशेषः । तत्र श्रवणं मत्स्वरूपगुणविभूत्यादि[1]श्रवणम्[1]। कीर्तनं गुणनामकीर्तनम्। ध्यानं तत्पूर्वकमनुचिन्तनम्। तद्दर्शनं तत्पूर्वकसाक्षात्कारः ॥ २७ ॥

इत्थं स्वमनोरथाननुगुणं गोविन्दस्य वचो निशम्य गोप्यो भग्नः सङ्कल्पो यासां ताः । अत एव विषण्णा दुःखिताः । अत एव अनवधिकां चिन्तां प्रापुः ॥ २८ ॥

चिन्तां प्राप्तानां स्थितिमाह- कृत्वेति। अव अवाक् मुखानि कृत्वा। कथम्भूतानि? शुचः शोकात् यः श्वसनः सोष्णो निश्श्वासमारुतः तेन शुष्यन्तो बिम्बफलवदधरा येषु तथाभूतानि तथा वामचरणाङ्गुष्ठेन महीं लिखन्त्यः तथा गृहीतानि कज्जलानि यैस्तैरश्रुभिः कुचयोः कुङ्कुमानि क्षालयन्त्यः उरुः दुःखभारो यासां तथाभूताः तूष्णीं स्थिता बभूवुः ॥ २९ ॥

किञ्च प्रेष्ठमिति। ततः शनैः रुदितेन रोदनेनोपहते शोकाश्रुपूर्णतया लुप्तदर्शने नेत्रे विमृज्य [2]प्रमृज्य किञ्चित् [3]संरम्भेण कोपावेशेन गद्गदाः गिरो यासां तथाभूताः अनुरक्ताः तस्मिन् [4]अनुरागयुक्ताः, अत एव तदर्थं [5-]कृष्णार्थमेव[-5] त्यक्ताः सर्वे मनोरथा याभिः तथाभूताः गोप्यः कृष्णमूचुः । कथम्भूतम्? प्रेष्ठं तथाऽपि प्रियेतरं वैरिणमिव भाषमाणम्। इदं विशाषणद्वयं संरम्भकारणम्॥ ३० ॥

1- -1 T.W. Omit 2 T.W. Omit प्रमृज्य 3. T.W. Omit संरम्भेण 4. B. adds एव 5- -5 T.W. Omit

**विज०** कामस्य पुरुषार्थत्वेन पतिदोषेण तदप्राप्त्या जन्मनो निष्प्रयोजनत्वमापन्नमिति प्रकारान्तरेण साफल्यमापादनीयं हीति। विपक्षे बाधकमाह **अस्वर्ग्यमिति।** चशब्दः एवार्थे। उपपतिः पत्युः प्रतिनिधिः उपपतिः जारः तत्सम्बन्धि कर्म ग्राम्यलक्षणं तत्कुलस्त्रियः सर्वत्र पत्युरुत्तमाधममध्यमेषु पुरुषेषु जुगुप्सितमेवेत्यन्वयः । कथं तदुच्यते? अस्वर्ग्यं स्वर्गविरोध्येव न भवति। किन्तु अयशस्यं इहामुत्र च दुष्कीर्तिकरं च। तथापि न बहुलं, फल्गु तुच्छफलं अल्पकालविषयत्वात् कृच्छ्रं कष्टं "स्यात्कष्टं कृच्छ्रम्" (अम.को.1-235) इत्यमरः। कृच्छ्रं कर्तुः श्रमसाधनं वा मरणादिभयजनकम्॥ २६॥

ननु तव मुख्यभर्तृत्वात् त्वत्सेवनं जारसेवनवदस्वर्ग्यं न भवति। किन्तु पतिसेवनात् मुख्यसाधनमेव स्यादित्याशङ्क्य, सत्यम्, तथापि मच्छ्रवणादिना युष्माकं मयि भक्तिः स्यात् न तथा मम सन्निकर्षनिषेवणेन यस्मात्तस्मात् भवतीभिः गृहानवाप्य मयि भक्तिः कर्तव्येत्याह **श्रवणादिति**॥ २७ ॥

"प्रतियात व्रजं, नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः!" इति गोविन्दभाषितम् अधुना विप्रियं पश्चाद्विशेषतः प्रियं चिन्तां मनसि दुःखचर्यां विचारं "चिन्ता चार्चिक्ययोश्चर्चा" (वैज. को 6-2-12) इति॥ २८ ॥

दुःखं लक्षयितुमाह -न्यक्कृत्येति। वक्त्रवनजानि मुखकमलानि न्यक्कृत्य अधः कृत्वा बिम्बफलतुल्यान्यधराणि बिम्बाधराणि अन्तर्गतशोकाग्न्यतितापेन शुष्यन्ति बिम्बाधराणि येषु तानि तथा। "कामबाणप्रविद्धाङ्गा स्विन्नयोनिवराङ्गना। पादाङ्गुष्ठनखेनाधोवदना लिखती क्षितिम्" इति कामशास्त्रात्प्रसिद्धभावं दर्शयति चरणेनेत्यादिना। उपात्तमषिभिरङ्गीकृताञ्जनैराश्रैः बाष्पैः उरूणां दुःखानां भारो यासां तास्तथा स्म कृष्णवाक्याभिप्रायं संस्मृत्य "कामस्य दहनास्त्रैस्तु दग्धाङ्गोत्पादिताश्रुभिः। नेत्रद्वारेण निर्याति दुःखमन्तर्गतं स्त्रियाः " इति॥ २९ ॥

तदर्थं कृष्णकृते विनिवर्तितः सर्वकामो यासां तास्तथा। रुदितेन रोदनेन उपहते क्लिष्टे संरम्भेण प्रणयकोपेन गद्गदपदं स्खलदक्षरपदं यासां तास्तथा॥ ३० ॥

## गोप्य ऊचुः

मैवं विभोऽर्हति भवान्गदितुं नृशंसं सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
प्राप्ता[1] भजस्व[2] दुरवग्रह! मा त्यजाऽस्मान् देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजतां[3] मुमुक्षून्॥ ३१

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग! स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेत[4-] दुपदेशपदे[-4] त्वयीशे[5] प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥ ३२ ॥

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलास्स्व आत्मन् नित्यप्रिये[6] पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्?
तन्नः प्रसीद वरदेश्वर[7-]! मा स्म छिन्द्या[-7] आशां धृतां[8] त्वयि चिरादरविन्दनेत्र[9]॥ ३३ ॥

चित्तं सुखेन[10] भवताऽपहृतं गृहेषु यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलात् यामः कथं व्रजमहो[11] करवाम किं वा॥ ३४ ॥

सिञ्चाऽङ्ग! नस्त्वदधरामृतपूरकेण हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम्।
नो चेद्वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहाः ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे! ते॥ ३५ ॥

1. B,G,J,V भक्ताः M, Ma भक्त्या 2. M, Ma भजेम 3. B,G,J °ते 4--4 M, Ma अस्त्येव तत्तदपि देववरे 5. K, T, W श । 6. M, Ma नित्याऽप्रियैः ; V नित्यं प्रियैः 7--7 B, G,J,V परमेश्वर ! 8. B,G,J, भृ० 9.M,Ma परामर० 10.M,Ma सखे ! न 11. B,G,J,K,M,Ma °थो

**श्रीध० मेति।** नृशंसं क्रूरम्। हे दुरवग्रह! स्वच्छन्द! तव[1] पादमूलं भक्ताः सेवितवतीरस्मान् भजस्व, त्वं[2] मा त्यजेति॥ ३१ ॥

**यदिति।** अपि च। यदुक्तं 'पत्यपत्य' इत्यादि त्वया, धर्मविदेति सोपहासमेवम्, एतदुपदेशानां पदे विषये त्वय्येवाऽस्तु। उपदेशपदत्वे हेतुः ईश इति। विविदिषा वाक्येन सर्वोपदेशानामीशपरत्वावगमादिति भावः । ईशत्वे हेतुः - आत्मा किल भवानिति। "भोग्यस्य हि सर्वस्य भोक्ता आत्मैवेश" इत्यतः प्रेष्ठो बन्धुश्च भवानेवेति सर्वबन्धुषु करणीयं त्वय्येवाऽस्तु इत्यर्थः[3] । अथवा धर्मोपदेशानां पदे स्थाने धर्मोपदेष्टरि त्वयि सति अस्मासु च धर्मं जिज्ञासमानासु सतीषु त्वया धर्मविदा यदुक्तमेवमेतदस्तु, न तु त्वं धर्मोपदेष्टा किन्तु भवानात्मेति। अथवा, यदुक्तम् एतदुपदेशपदे[4] तन्नोचेरे पुरुषेऽस्तु नाम, त्वयि तु ईशे स्वामिनि सति एवम्, काक्वा नैवमित्यर्थः । यतः तनुभृतां त्वमात्मा फलरूप इति। यद्वा, यदुक्तं 'पत्यादिशुश्रूषणं धर्मः ' इति एवमेतत्त्वय्येवाऽस्तु। कुतः उपदेशपदे शुश्रूषणीयत्वेनोपदिश्यमानानां पत्यादीनां पदेऽधिष्ठाने। कुतः ? ईशे[5]। ईश्वरमधिष्ठानं विना कोऽपि पतिपुत्रादिर्नाम नास्ति[6]। अन्यत्समानम्। अलमतिविस्तरेण ॥ ३२ ॥

एतत्सदाचारेण द्रढयन्त्यः प्रार्थयन्ते - कुर्वन्तीति[1] कुशलाः शास्त्रनिपुणाः। तथा च शास्त्रम् - "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं च लोकः " [7-] इत्यादि[-7] ॥ ३३ ॥

किञ्च 'प्रतियात, इति यदुक्तं तदशक्यं, त्वयैव चित्तादीनामपहृतत्वादित्याहुः। **चित्तमिति**। यदस्माकं चित्तम् एतावन्तं कालं सुखेन गृहेषु निर्विशति, तत्त्वयाऽपहृतम्। करावपि यौ गृह्यकृत्ये[8] निर्विशतस्तावपि। सुखात्मना त्वयेति वा॥ ३४ ॥

**सिञ्चेति**। अतोऽङ्ग! हे कृष्ण! नोऽस्माकं तवाधरामृतपूरकेण तवैव हाससहितेनावलोकेन कलगीतेन च जातो यो हृच्छयाग्निः कामाग्निस्तं सिञ्च। नो चेद्वयं तावत्, एकोऽग्निः, तथा विरहाज्जनिष्यते योऽग्निः तेन चोपयुक्तदेहा दग्ध शरीरा योगिन इव ते पदवीमन्तिकं ध्यानेन याम प्राप्नुयाम॥ ३५ ॥

1. P, V Omit तव 2. B, J Omit त्वं 3. P, V °इति भावः 4. P,V तदुप० 5. B.J add न हि 6. B, J इति 7- -7 B, J इति 8.B, J °ह

**वीर०** उक्तिमेवाऽऽह- मैवमित्येकादशभिः । हे विभो! इत्थं नृशंसं[1] क्रूरं यथा[2] तथा वक्तुं भवान्नार्हति, हे दुरवग्रह! स्वच्छन्द! सर्वान् विषयान्, भोग्यान् पत्यपत्यादीन् विहाय 'सर्वनिगमम्' इति पाठे सर्वेषां पत्यादीनां निगममाज्ञां सन्त्यज्य तव पादमूलं प्राप्ताः। 'भक्ता' इति पाठे भजमानाः अतोऽस्मान्न त्यज, किन्तु भजस्व अनुकूलो भव, मुमुक्षून्भजमानान् भक्तान् आदिपुरुषो भगवान् यथा न त्यजति, तद्वत्॥ ३१ ॥

यदुक्तं "भर्तृशुश्रूषणं[3] स्त्रीणाम्" (भाग 10.29.24) इत्यादि, तदनूद्य तत्रोत्तरमाहुः- **यदिति**। अङ्ग! हे कृष्ण! धर्मविदा त्वया पत्यादीनामनुवृत्तिरेव स्त्रीणां स्वधर्मः स्वानुरूपो धर्मः इत्युक्तम्। तदेतत्त्वय्युपदेशपदे सति, पद्यते गम्यते इति पदम्, त्वय्युपदेशार्थं गन्तव्ये सति एवमेवाऽस्तु। उपदेशपदत्वाभिप्रायेण सम्बोधयन्ति ईशेति। 'ईशे' इति सप्तम्यन्तोऽपि पाठः , न वयमुपदेशार्थं प्राप्ताः । किन्तु त्वत्सङ्गतय इति भावः । तदेवाऽऽविश्चक्रुः, भवान् प्रेष्ठः प्रियतम इति बुद्ध्या प्राप्ता इत्यर्थः । प्रेष्ठत्वे हेतुः- तनुभृतामात्मा निरुपाधिकबन्धुश्च। किलेति श्रौतीं प्रसिद्धिं द्योतयन्ति। यद्वा, यत् पत्यपत्याद्यनुवृत्तिरेव स्त्रीणां स्वधर्म इत्युक्तम्[4]। तदेतत्पत्यादिषु कर्तव्यमनुवर्तन मुपदेशपदे, उपदिश्यते इत्युपदेशः, अनुवर्तनीयत्वेनोपदेष्टव्यपत्यादिरूपेणावस्थिते साक्षात्त्वय्येवाऽस्तु, पत्यादीन् प्रीतिविषयान् बन्धूंश्चापादयति तदन्तरात्मतया तद्रूपेणावस्थिते[4] नित्यनिरुपाधिकपत्यादिरूपे सर्वविधबन्धौ त्वय्येव तेषु कर्तव्यत्वेन उपदिष्टाऽनुवृत्तिरस्तु इत्यर्थः । तदेवाभिप्रेत्य विशिंषन्ति प्रेष्ठ इत्यादिना॥ ३२ ॥

अत्र सदाचारं प्रमाणयन्त्यो विज्ञापयन्ति - **कुर्वन्तीति**। कुशलाः शास्त्रनिपुणाः आत्मन् आत्मनि अत एव नित्यप्रिये त्वय्येव रतिं कुर्वन्ति, नित्यप्रिय इत्यनेन सोपाधिकपत्यदीनामनित्यप्रियत्वं सूचितम्। तथा चोक्तम् - "तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते। तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च जायते" (विष्णु पु: 2-6-48) "तस्माद्दुःखात्मकं

नास्ति न च किञ्चित्सुखात्मकम्'' (विष्णु. पु. 2-6-49) इति। कुशला इत्यनेन ''न वा अरे पत्युः कामाय पतिः भवत्यात्मनस्तु कामाय'' (बृह.उ. 2-4-5) इत्यादि शास्त्रार्थाभिज्ञत्वमभिप्रेतम्। यत एवम्, अतोऽन्ततो दुःखदैः सोपाधिकैः पत्यादिभिः किम्? न किञ्चित्साध्यमस्तीति भावः । तत्तस्मान्नोऽस्माकं प्रसीद। त्वयि चिरं धृतां बद्धामस्माकमाशां मा स्म च्छिन्द्याः विफलं न कुर्याः, आत्मपर्यन्तवदान्यस्य तव इदमाशाच्छेदनमनुचितमित्यभिप्रायेण वरदेश्वरेति सम्बोधनम्। त्वत्सौन्दर्यावलोकनेन त्वय्येवाऽऽशा धृतेत्यभिप्रायेण सम्बोधयन्त्यरविन्दनेत्रेति ॥ ३३ ॥

यदुक्तं ''तद्यात मा चिरं गोष्ठम्'' (भाग 10-29-22) इत्यादि, तत्रोत्तरमाहुः - **चित्तमिति।** यच्चित्तं गृहेषु निर्विशति निर्विवेश गृहाभिनिविष्टं यच्चित्तमित्यर्थः । तत्सुखेन अनायासेन भवता अपहृतम्, तथा उत अपि च यौ गृह्यकृत्ये गृहकार्ये अभिनिविष्टौ करौ तावपि भवता अपहृतौ व्यापाररहितौ कृतावित्यर्थः । तथा पादावपि तव पादमूलात् पदमात्रमपि न चलतः आः कथं व्रजं यास्यामः ? अथो अनन्तरं वा किं करवाम? ॥ ३४ ॥

तर्हि किं मया विधेयमित्यत्राऽऽहुः - **सिञ्चेति।** अङ्ग! हे कृष्ण! तव अधरामृतस्य पूरकेण प्रवाहेन नोऽस्माकं हासयुक्तेन तवावलोकेन मधुरवेणुनादेन च जातं हृच्छयाग्निं कामाग्निं सिञ्च शमय, नो चेत् यद्येवं न करोषि तर्हि हे सखे! वयं भवद्वियोगजाग्निना दग्धदेहास्सत्यः त्वद्वचानेन साधनेन तव पदयोः पदवीं याम प्राप्नुयम। त्वयाऽनुपभुक्तं व्यर्थमिदं शरीरं त्वद्विरहाग्निना दग्ध्वा त्वद्वचानेन त्वत्सन्निधिमेव प्राप्स्यामः , मृत्वाऽपि त्वां न त्यजेमेति भावः ॥ ३५ ॥

1. K, T, W Omit नृशंसं 2. B adds भवति 3. T, W भर्तुः 4- -4 T, W Omit 5. T, W. °ह 6. T, W Omit अतः

**विज०** तथा विचार्य किमब्रुवन्निति तत्राह- **मैवमिति।** नृशंसं परुषं वचनमेवं गदितुं वक्तुं नार्हसि कुत इत्यत्राऽऽह-सन्त्यज्येति। हे दुरवग्रह! अवग्रहो वर्षविघातः तद्रहितः भक्ताभीष्टवर्षणशीलेत्यर्थः । शब्दादिसर्वविषयान् सन्त्यज्य भक्त्या तव पादमूलं भजेम सेवितुमवाप्ता इति यत् तस्मात् माऽस्मान् त्यज। अत्र दृष्टान्तमाह-देव इति॥ ३१ ॥

शुश्रूषध्वं पतीनिति यदुदितं तत्राहुः **यत्पतीति।** हे अङ्ग! स्त्रीधर्मशास्त्रविदा त्वया स्त्रीणां पत्यादीनां अनुवृत्तिः अनुवर्तनं स्वधर्म इति यत्तदस्त्येव, न सन्दिग्धम्। तर्हि तान्विसृज्य अत्र किमर्थमागतमिति तत्राह-तदपीति। देववरे अस्मत्पित्रादीनां जामातृस्थानीये त्वयि तदपि क्रियत इति शेषः । देवानां वरणीये वा देवाद्यभीष्टदातरि वा न केवलं पतिस्थानीये ईशे ऐश्वर्यादिगुणसम्पन्ने तस्माद्वरणीय इत्यर्थः । परमानन्दविषयोऽपि हि पतिरयं कथं तद्विषय इत्याशङ्क्य न केवलमस्माकमेव परमानन्दगोचरः अपि तु सर्वेषामिति भावेनाह-प्रेष्ठ इति। अस्माकं विशेषतोऽपि प्रेष्ठ इत्याह - बन्धुरिति। बन्धुरूपः परमात्मा। किल तथा पुरातनवार्ता 'वार्ता सम्भाव्ययोः किल'' (अम.को. 3-409) इति। यद्वा आत्मभूतो बन्धुः ॥ ३२ ॥

इतोऽपि त्वमेव अस्माकं मुख्यः पतिः इत्याशयेनाहुः - **कुर्वन्तीति**। कुशलाः सारासारविवेकपटवः स्वे आत्मन् अनिमित्तबन्धावात्मनि, स्वामिनि वा त्वयि रतिं कुर्वन्ति। नोऽस्माकं नित्याप्रियैः पत्यादिभिः किं प्रयोजनमिति शेषः। नित्यप्रियत्वं कथमिति तत्राहुः- आर्तिदैरिति। अनेन क्रन्दन्ति वत्साः इत्येतत् परिहृतम्। ततः किमत्राऽऽहुः तन्न इति। यस्मात्त्वं मुख्यो भर्ता अतस्तस्मात्। तर्हि किंरूपः प्रसाद इत्यत्राऽऽहुः -मा स्मेति। आशामतितृष्णां, "आशा दिगतितृष्णयोः" (वैज:को:6-2-3) इति यादवः ॥ ३३ ॥

प्रतियातेत्यस्य उत्तरमाहुः **चित्तमिति**। हे सखे! नो यच्चित्तं उत तदपि गृहेषु न निर्विशति उपभोगत्वेन न स्मरति। कुत इत्यत्राऽऽहुः - भवतेति। भवताऽपहृतं तस्मादिति शेषः । "स हि सर्वमनोवृत्तिप्रेरकः समुदाहृतः " इति वचनात्। करावपि कर्मसाधनेऽपि गृह्यकृत्ये गृह्ययोग्यकार्ये सम्मार्जनोपलेपनादिलक्षणे न तिष्ठत इति शेषः । अस्मत्पादौ गमनसाधनेऽपि तव पादमूलात् पदं एकपादन्यासमात्रमपि न चलत इत्यथो तस्मात् कथं व्रजं यामः, किं वा करवाम इति न ज्ञायते इति शेषः ॥ ३४ ॥

तर्हि भवतीनां किमभीष्टमित्यत्राऽऽहुः **सिञ्चेति**। पूरकेण प्रवाहेण हाससहितावलोकेन कलगीतेन मधुरगानेन जातो हृच्छयः कामः स एवाग्निः तं सिञ्च अभिषिञ्च, शमय, नो चेत् न शमयसि चेत् विरहाज्जातेनाग्निना उपयुक्तो देहो यासां तास्तथा। ३५ ॥

1. B, M Omit अनुवृत्तिः

**यर्ह्यम्बुजाक्ष! तव पादतलं रमाया दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य।**
**अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमङ्ग[1]! स्थातुं त्वयाऽभिरमिता[2] बत पारयामः ॥ ३६ ॥**

**श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या लब्ध्वाऽपि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।**
**यस्यास्स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयासः तद्वद्वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः ॥ ३७ ॥**

**तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन! तेऽङ्घ्रिमूलं प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः ।**
**त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां पुरुषभूषण ! देहि दास्यम्॥ ३८ ॥**

**वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रीगण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।**
**दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षश्श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः ॥ ३९ ॥**

**का स्त्र्यङ्ग! ते कलपदायतमूर्छितेन[3] सम्मोहिताऽऽर्यचरिता न्न चले त्त्रिलोक्याम्।**
**त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद्गोद्रुमद्विजमृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥ ४० ॥**

1. T, W. मङ्गः ः 2. M, Ma या विरहिता 3. M, Ma पदामृतवेणुगीतं

**श्रीध०** ननु स्वपतीनेवोपगच्छत, त एनमग्निं सिञ्चेयुरिति चेत्तत्राऽऽहुः **यर्हीति।** रमाया लक्ष्म्याः दत्तक्षणं दत्तोत्सवं दत्तावसरं वा। तदपि क्वचिदेव न सर्वदा। अरण्यजनाः प्रिया यस्य तस्य तव। अरण्यजनप्रियत्वादरण्ये क्वचिद्यर्हि अस्प्राक्ष्म स्पृष्टवत्यो वयं तत्र च त्वया अभिरमिता आनन्दिताःस्सत्यः तदारभ्यान्यसमक्षं स्थातुमपि न पारयामः नं[1-] शक्नुमः[-1] तुच्छास्ते न रोचन्त इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

त्वत्पादसौभाग्यं तु अतिचित्र मित्याहुः **-श्रीरिति।** वक्षस्यसापत्न्यं स्थानं लब्ध्वाऽपि तुलस्या सपत्न्या सह यत्[2] तव पादाम्बुजरजः कामयते स्म। भृत्यैः सर्वैर्जुष्टमिति सौभाग्यातिरेकोक्तिः । यस्याः स्ववीक्षणकृते श्री रात्मानं विलोकयत्वित्येतदर्थं मन्येषां ब्रह्मादीनां तपोभिः प्रयासः, सा तद्रजः तद्वद्वयमपि प्रपन्ना इति॥ ३७ ॥

**तदिति।** हे वृजिनार्दन! दुःखहन्तः! त्वदुपासने त्वद्भजन एवाऽऽशा यासां ता वयं वसतीः गृहान्विसृज्य हित्वा[3] योगिन इव प्राप्ताः । तव सुन्दरस्मितविलसितनिरीक्षणेन यस्तीव्रः कामः तेन तप्तचित्तानाम् नः[4], हे पुरुषरत्न! दास्यं देहि॥ ३८ ॥

ननु गृहादिस्वाम्यं विहाय[5] महास्यं[6] किमिति प्रार्थ्यते? अत आहुः **-वीक्ष्येति।** अलकावृतमुखं केशान्तैरावृतमुखम्। तथा कुण्डलयोः श्रीर्ययोस्ते गण्डस्थले यस्मिन्, अधरे सुधा यस्मिन् तच्च तच्च[7] तव[8] मुखं वीक्ष्य दत्ताभयं भुजदण्डयुग्मं[9] वक्षश्च श्रिया एकमेव रमणं रतिजनकम्। अत्र विसर्गलोपे सन्धिरार्षः[10-] । वीक्ष्य दास्य एव भवामेति॥ ३९ ॥

ननु जुगुप्सितमौपपत्यमित्युक्तम्। तत्राऽऽहुः **का स्त्रीति।** अङ्ग! हे कृष्ण! कलानि पदानि यस्मिन् तदायतं दीर्घं मूर्च्छितं स्वरालापभेदस्तेन। कलपदामृतेति पाठान्तरे कलपदामृतमयं[11-] वेणुगीतं[-11] तेन सम्मोहिता सती[12] का वा स्त्री आर्यचरितात् निजधर्मात् न चलेत्। यन्मोहिताः पुरुषा अपि चलिताः , किञ्च त्रैलोक्यसौभगमिति यद्यतः अबिभ्रन् अबिभरुः । त्वद्द्योतकशब्दश्रवणमात्रेणापि तावत् निजधर्मत्यागो युक्तः । किं पुनः ? त्वदनुभवेनेति भावः ॥४०॥

1- -1 B.J Omit 2. B, J Omit यत् 3. P, V Omit हित्वा 4. B, J Omit नः 5. B, J °हस्वा° 6. J Omits मत् 7. B adds एवं 8. P, V Omit तव 9. B युगं 10- -10 B.J Omit 11- -11 B पदं यदमृतमयं 12. J, P, V Omit सती

**वीर०** ननु[1] स्वपतय एवाधरामृतं सिञ्चेयुः, तत्राऽऽहुः **यर्हीति।** हे अम्बुजाक्ष। अरण्यजनानां मुनीनां प्रियस्य तव रमायाः लक्ष्म्याः दत्तक्षणं दत्तोत्सवं दत्तावसरं वा तदपि[2] कदाचिदेव न सर्वदा अरण्यजनप्रियत्वादिति भावः । एवंविधं पादतलं यर्हि यदा वयमस्प्राक्ष्म स्पृष्टवत्यः , अरण्यजनप्रियत्वादरण्ये क्वचिद्यदा स्पृष्टवत्यः , तत्र च त्वया अभिरमिता अभिनन्दितास्सत्यः तत आरभ्य अङ्ग! हे कृष्ण! अन्यसमक्षं स्थातुमपि न पारयामः , पुरुषान्तरसमक्षमवस्थातुमपि[3] न शक्नुमः । तुच्छास्ते न रोचन्ते इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

त्वत्पादसौरभ्यं तु अतिविचित्र मित्याहुः **श्रीरिति।** श्रीः लक्ष्मीः तव वक्षसि असापत्नम्[4] उन्नतं च पदं स्थानं लब्ध्वाऽपि तुलस्या सपत्न्या सह यत्तव पदाम्बुजरजः कामयते स्म। कथम्भूतम्? भृत्यैस्सर्वैर्जुष्टमिति सौभाग्यातिशयोक्तिः।

कथम्भूता श्रीः? यस्याः श्रियः स्ववीक्षणकृते स्वावलोकनार्थं श्री रस्मानवलोकत्वित्येतदर्थम् अन्येषां सुराणां ब्रह्मादीनां प्रयासः[5]। 'अन्यतपःप्रयासः, इति पाठे अन्येषां ब्रह्मादीनां तपःक्लेश इत्यर्थः । सा श्रीश्चकमे इत्यन्वयः । तद्वत्, श्रीवत् वयमपि तव पादरजः प्रपन्नाः ॥ ३७ ॥

हे वृजिनार्दन! दुःखहन्तः ! त्वद्भजन एवाऽऽशा यासां ताः वयं वसतीः गृहान् विसृज्य योगिन इव तवाङ्घ्रिमूलं प्राप्ताः । तत्तस्मान्नोऽस्माकं प्रसन्नो भव। कीदृशः प्रसादः कार्य इत्यत्राऽऽह - तव सुन्दरं स्मितं यस्मिन् तेन निरीक्षणेन यस्तीव्रः स्मरतापः तेन तप्ता आत्मानो देहाः यासां ताः , तासामस्माकं हे पुरुषरत्न! त्वद्दास्यं देहि॥ ३८॥

ननु भोग्यं गृहादिकं विहाय किमिति मद्दास्यं प्रार्थ्यते इत्यत्राऽऽहुः - **वीक्ष्येति**। कुण्डलयोः श्री र्ययोस्ते गण्डस्थले यस्मिन्, अधरे सुधा यस्मिन्, हसितयुक्तोऽवलोको यस्मिन्, तथा अलकैश्चूर्णकुन्तलैः आवृतं मुखम् आश्रिताना मभयप्रदं भुजदण्डयोः युग्मं श्रियो लक्ष्म्या एकं मुख्यं रतिजनकं क्रीडायोग्यं वा, वक्षश्चावलोक्य तवैवं दास्यो भवाम त्वद्रूपस्य निरतिशयभोग्यत्वादिति भावः ॥ ३९ ॥

यदुक्तं "जुगुप्सितं च सर्वत्र ह्यौपपत्यम्" ( भाग 10-29-26) इति तस्योत्तरमाहुः - **का स्त्रीति**। अङ्ग! हे कृष्ण! कलानि मधुराणि पदानि यस्मिन् तदायतं दीर्घं मूर्च्छितं स्वरालापभेदः तेन सम्मोहिता सती। 'कलपदामृतवेणुगीतसम्मोहिता' इति पाठे स्पष्टोऽर्थः। लोकत्रयसुन्दरमिदं रूपं निरीक्ष्य च त्रिलोक्यामपि का वा स्त्री आर्यचरितात् सदाचारान्निजधर्मा न्न चलेत्? सर्वाऽपि चलेदेवेत्यर्थः । यद्यतो गावो द्विजाः पक्षिणो मृगाश्चापि पुलकानि रोमाञ्चान् अबिभ्रन् अबिभरुः। त्वद्द्योतकशब्दश्रवणमात्रेणापि तिरश्चामपि निजधर्मत्यागो दृष्टः , किं पुनः मादृशामिति भावः ॥ ४० ॥

1.B adds स्व 2. K तदापि 3. T, W Omit अपि 4. B पत्न्यं 5. T, W Omit प्रयासः

**विज०** यर्हि यदा क्वचिद्वने दत्तक्षणं दत्तावसरं अस्प्राक्ष्म स्पृष्टवत्यः अरण्यजनः सन्न्यस्तजनः तत्प्रभृति तदानी मारभ्य अन्यसमक्षं अन्यजनाभिमुखं न पारयामः न शक्नुमः । बत अद्भुतमाश्चर्यं तव महिमा। अनेन त्वदङ्गस्पर्शनानन्तरम् अन्याङ्गस्पर्शनशङ्का निवारिता॥ ३६ ॥

अद्यापि लक्ष्म्या तव पादपद्मद्वन्द्वधूलिनिषेवणं काङ्क्षितं, किमुतास्माकमिति भावेनाऽऽहुः **श्रीरिति**। अन्येषां सुराणां ब्रह्मादीनां प्रयासः प्रयत्नः यस्याः श्रियः स्ववीक्षणकृतः स्वनिरीक्षणार्थं कृतः सा श्रीः वक्षसि पदं लब्ध्वाऽपि तुलस्याः पदं यस्य तव पदाम्बुजरजः चकमे कामितवती यथा, वयं च तद्वत् तथा तस्य तव पादरजोनिषेवणाय प्रपन्ना इत्यन्वयः। 'स्ववीक्षणकृते' इति पाठे स्वदर्शनार्थमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

वृजिनार्दन! दुःखनाशन! वसतीः गृहान् त्वदुपासने आशा श्रद्धा यासां तास्तथा। सुन्दरं च तत्स्मितं च सुन्दरस्मितं तेन, सुन्दरं स्मितं यस्य तत् (तेन) तन्निरीक्षणेन उद्भूतेन तीव्रेण कामाग्निना तप्त आत्मा देहो यासां ताः। पुरुषभूषण! पुरुषतिलक!॥ ३८ ॥

हे वीक्ष्य! दर्शनीय! वयं तव दास्यो भवामेत्यन्वयः। 'आशिषि लिङ् लोटौ' इति आशिषि लोट्। दासीभूत्वा आशिषं कामयामहे इत्यर्थः । दासीभावे कारणमाहुः अलकेति। कुण्डलश्रिया युक्तं गण्डस्थलं अधरसुधा च यस्य तत्तथा। हसितेन युक्तमवलोकं च प्रतिजनं दत्ताभयं भुजदण्डयोर्युगं च श्रिय एकरमणं प्रधानरतिस्थानं वक्षश्च विलोक्य दृष्ट्वा विचार्य वीक्ष्येति वा॥ ३९ ॥

अस्मत्स्मरशमनं च न चित्रमिति भावेनाऽऽहुः - का स्त्रीति। ते तव कलपदैः अव्यक्तमधुरशब्दावयवैः अमृतं श्रवणानन्दकरं यद्वेणुगीतं वंशगानं तेन सम्मोहिता त्रिलोक्यां त्रैलोक्ये का स्त्री त्रैलोक्यसौभग मलङ्कारभूतमिदं रूपं सुन्दरतरावयवोपक्लृप्तमाकारं च नितरां दृष्ट्वाऽऽर्याणां सतां चरितात् मार्गादिति शेषः। न चलेत् स्खलिता न भवतीत्यन्वयः। इदं न चित्र मित्याहुः - यदिति। यद्यस्मात् वेणुगानात् यस्य रूपस्य स्पर्शादिना वा गवादयोऽन्तःप्रज्ञाः चेतनराशयः पुलकानि रोमाञ्चानि अबिभ्रन् दधुरिति॥ ४० ॥

---

1- -1 B, M Omit

व्यक्तं भवान् व्रजजनार्तिहरोऽभिजातो देवो यथाऽऽदिपुरुषस्सुरलोकगोप्ता।
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो! तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम्॥ ४१ ॥

श्रीशुक उवाच

इति विक्लबितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः ।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत्॥ ४२ ॥

ताभिस्समेताभिरुदारचेष्टितः प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः ।
उदारहासद्विजकुन्ददीधितिः व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः ॥ ४३ ॥

उपगीयमान उद्गायन् वनिताशतयूथपः ।
मालां बिभ्रद्वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन्वनम्॥ ४४ ॥

नद्याः पुलिनमाविश्यगेपीभिर्हिमवालुकम्।
जुष्टं तत्तरलाऽसङ्गि कुमुदामोदवायुना॥ ४५ ॥

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः ।
क्ष्वेल्याऽवलोकहसितै र्व्रजसुन्दरीणा मुत्तम्भयन्रतिपतिं रमयाञ्चकार॥ ४६ ॥

एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः ।
स्वात्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि॥ ४७ ॥

**तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः ।**
**प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥ ४८ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां
अष्टादशसाहस्र्यां श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे रासकीडावर्णनं नाम एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

1. B.G.J.M.Ma भयार्ति 2. K.T.W °रो हि 3. B.G.J.M.Ma.T °गे० 4. M, Ma °मो न्य० 5. T, W व्यराज० 6. V. °त्स वनाद्वनम् 7. K.T.W °मासाद्य 8. B.G.J.M.Ma °र्हि० 9. B.G.J.M.Ma रेमे 10. B.G.J °लाऽऽनन्द; M, Ma °लाऽऽनन्दि V °लाऽम्भोज 11. M.Ma केली 12. M.Ma कराग्र 13. M.Ma °ला° 14. B.G.J.K.T.W आ० 15. M.Ma °णामाधिक्या०

**श्रीध० व्यक्तमिति।** व्यक्तं निश्चितम् ॥ ४१ ॥

**इतीति।** विक्लबितं पारवश्यप्रलपितम्। गोपीः अरीरमत् रमयामास ॥ ४२ ॥

**ताभिरिति।** प्रियस्येक्षणेनोत्फुल्लानि मुखानि यासां ताभिः उदारहासश्च द्विजाश्च तेषु कुन्दकुसुमवद्दीधितिः यस्य सः। एणाङ्कश्चन्द्रः ॥ ४३-४५ ॥

**बाह्विति।** बाहुप्रसारश्च परिरम्भश्च करादीनामालभनं स्पर्शश्च नर्म परिहासश्च नखाग्रपातश्च तैः। क्ष्वेल्या क्रीडया च अवलोकैश्च[1] हसितैश्च कामं तासामुद्दीपयन् ता रमयामास ॥ ४६ ॥

**एवमिति।** महात्मनः अ[2-]नासक्तचित्तत्वात् इति भावः[2] ॥ ४७ ॥

**तासामिति।** त[3-]त्सौभगमि[-3]दं सौभाग्येन मदम् अस्वाधीनताम्। मानं गर्वम्। केशवः कश्च ईशश्च केशौ तौ वशयतीति तथा सः ॥ ४८ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

1. P,V लोकनैः 2- -2. B,J विमुक्तचित्तात् 3- -3. J,P,V omit 4. B,J omit केशौ

**वीर०** व्रजजनार्त्यपाकरणायाऽवतीर्णस्य पुनः तदार्त्यापादनमनुचित मित्यभिप्रायेणाऽऽहुः — **व्यक्तमिति**। यथा आदिपुरुष उपेन्द्रादिरूपेण सुरलोकार्तिनिरसनेन तद्रक्षणार्थमवतीर्णः तथा त्वमपि व्रजजनस्याऽऽर्तिहरो नूनं जातः, तत्तस्मात् हे आर्तबन्धो! किङ्करीणां नोऽस्माकं ततेषु स्मरतापततेषु स्तनेषु शिरस्सु च पङ्कजवच्छीतलं कोमलं करं निधेहि, निधायाऽऽर्तिं शमयेति भावः। आर्तबन्धो! इति तदनुगुणं सम्बोधनम्। किङ्करीणामित्यपेक्षणीयसम्बन्धाविष्कारः ॥ ४१ ॥

इत्थं तासां विल्लबितं पारवश्यप्रलपितमाकर्ण्य योगीश्वरेश्वरोऽप्यात्मारामोऽपि गोपीः अरीरमत् रमयामास। आत्मारामत्वाद्विषयविमुखोऽप्यार्तिहरस्वभावत्वात् ताभिस्सह रेमे इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

तदेव प्रपञ्चयति — **ताभिरित्यादिना**। प्रियस्य स्वस्य ईक्षणेन उत्फुल्लानि मुखानि यासां ताभिः सङ्गताभिः गोपीभिस्सह अच्युतः उदारहासश्च द्विजा दन्ताश्च तेषु कुन्दकुसुमवद्दीधितिर्यस्य तथाभूतो व्यरोचत रराज। उडुभिः वृतश्चन्द्र इव ॥ ४३ ॥

गोपीभिरुद्गीयमानः स्वयं च उद्गायन् वनिताशतानां यूथपः क[1]रिणीयूथप[-1]इवेति भावः। वैजयन्तीं मालां बिभ्राणो वनमलङ्कुर्वन् व्यचरत् ॥ ४४ ॥

हेममय्यो वालुकास्सिकता यस्मिंस्तत् नद्या यमुनायाः पुलिनं, कथम्भूतम्? तस्या यमुनायाः तरलानां तरङ्गाणां सम्बन्धिनां कुमुदानामामोदो यस्य तेन वायुना जुष्टम् आसाद्य अधिष्ठाय रमयाञ्चकारेत्युत्तरेणान्वयः[2] ॥ ४५ ॥

किं कुर्वन्? बाहुप्रसारः स्कन्धस्योपरि बाहुप्रसारणम्। परिरम्भः आलिङ्गनम्। करेणालकादीनामालभनं संस्पर्शश्च, नर्म परिहासश्च, नखाग्रपाताः नखक्षताश्च तैः क्ष्वेल्या क्रीडया चावलोकनैश्च हसितैश्च मन्मथं तासा मुद्दीपयन्॥ ४६॥

इत्थं महात्मनः आसक्तचित्ताद्भगवतो हेतोः लब्धो मानो गर्वो याभिस्ताः मानिन्यो गोप्यः आत्मानं भुवि स्त्रीणां मध्ये अभ्यधिकं सर्वोत्कृष्टं मेनिरे ॥ ४७ ॥

ततः किम्? अत आह — **तासामिति**। तासां गोपीनां स चासौ सौभगेन सौन्दर्याभिमानेन यो मदः तं मानं चित्तसमुन्नति मस्वाधीनतामिति यावत्। तं च वीक्ष्य केशवः ब्रह्मरुद्रयोरपि नियन्ता भगवान् प्रशमाय तासां मदमानयोः प्रशान्तये प्रसादाय उत्तरोत्तराभिनिवेशापादनरूपानुग्रहाय च तत्रैव पुलिने अन्तर्हितवान् ॥ ४८ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

1- -1. B omits 2. B,T,W °याम्बभूवे० .

**विज०** सर्वस्य स्वामित्वेन भर्तृगुणयोगादस्मत्कुलेऽभिजातत्वेन बन्धुत्वेन सम्बन्धयोग्यत्वात् अस्माकं त्वत्सम्बन्धेन जारसंसर्गदोषागमनेन निन्द्यत्वं दूरोत्सारितं स्यादिति भावेनाऽऽहुः — **व्यक्त**मिति। भगवान् यथा सुरलोकगोप्ता वामनतयाऽभिजातः, तथाऽऽदिपुरुषो देवो भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजात इति व्यक्तम्। इदमसन्दिग्धमिति यत्तत् तस्मा द्यथा यस्मादिति वा। कामाश्रितसेषु उभयत्र योज्यम् ॥ ४१ ॥

विह्वलं चिन्तां कामार्तवचनं न्यरीरमत् नितरां रमयामास ॥ ४२ ॥

समेताभिः मिलिताभिः उदारः उत्कृष्टः हासः द्विजा दन्ताः कुन्दा मल्लिकाः आसां दीधितिः कान्तिर्यस्य सः द्विजा एव कुन्दाः द्विजकुन्दाः, उदारहासेन विवृतानां द्विजकुन्दानां दीधितिर्यस्य सः इति वा। एणाङ्कः चन्द्रः "एणः कुरङ्गो हरिणः" (हला. को. 2-75)) इति हलायुधः ॥ ४३ ॥

शतशब्दोऽनेकवाची। वैजयन्तीं विजयावहाम् ॥ ४४ ॥

हिमवालुकं शीतलसैकतं तस्या नद्याः तरलैः मन्दकल्लोलैः आनन्दयितुं शीलमस्यास्तीति तरलानन्दी, कुमुदानामामोदस्य वायु स्तत्तरलानन्दी कुमुदामोदवायुः तेन। यद्वा तया नद्या तरलानि नृत्यन्तीव स्थितानि च तानि आनन्दीनि उत्फुल्लानि कुमुदानि तत्तरलानन्दिकुमुदानि तेषामामोदेन सौरभेण संपृक्तेन वायुना ॥ ४५ ॥

परिरम्भ आलिङ्गनं तदेव करालकेली तीव्रक्रीडा तस्यां नीवी वस्त्रग्रन्थिः तस्यां, स्तनेषु आलभनेन मोचनस्पर्शलक्षणेन नर्मणा हास्योक्त्या च कराग्राणां नखानां पातैः उल्लेखलक्षणैश्च[1] क्ष्वेलावलोकहसितैः बालसिंहनादनिरीक्षणमन्दहासैश्च रतिपतिं काममुत्तम्भयन् उज्जृम्भयन् उल्लोलयन्नित्यर्थः। रमयाञ्चकार रेमे। "बाहुपीडनकुचग्रहणाभ्यामाह तेन नखदन्तनिखातैः (शिशुपा.वध. 10-72) बोधित स्तनुशयस्तरुणीनामुन्मिमील शनकैरपि मारः" इति माघः ॥ ४६ ॥

भुवि स्त्रीणां मध्ये स्वात्मानमाधिक्येन अभ्यधिकं मेनिरे ॥ ४७ ॥

सौभगमदं सौभाग्यनिमित्तं मदं मानमहङ्कारं मदाहङ्कारयोः प्रशमाय नाशाय प्रसादाय अनुग्रहाय च प्रकर्षेण प्रसादजननाय च अन्तरधीयत तासां दृष्ट्या अदृश्योऽभवदित्यर्थः ॥ ४८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥
**(विजयध्वजरीत्या सप्तविंशोध्यायः)**

1. Ma °खन०

# त्रिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या अष्टाविंशोऽध्यायः)

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः।
अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम् ॥ १ ॥

गत्याऽनुरागस्मितविभ्रमेक्षणैः[1-] मनोरमालापविहारविभ्रमैः।
आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापतेः तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः ॥ २ ॥

गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः ।
असावहन्त्वित्यबलास्तदात्मिका न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः ॥ ३ ॥

गायन्त्य उच्चैरमुमेव सङ्गता विचिक्युरुन्मत्तकवद्वनाद्वनम् ।
पप्रच्छु राकाशशिव दन्तरं बहिः भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ॥ ४ ॥

दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ! प्लक्ष! न्यग्रोध! नो मनः ।
नन्दसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः ॥ ५ ॥

---

1- -1. G.J. Va विभ्रमेक्षितैः; M.Ma रञ्जितेक्षितैः 2. M.Ma न्वि° 3. M. Ma ना० 4. G.J.Va संहता 5. M.Ma चेरु° 6- -6. किंशुक।
7- -7. M.Ma. °रिहागात्किं सह 8- -8. K. हासवि०

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

त्रिंशे विरहसन्तप्तगोपीभिः कृष्णमार्गणम्। उन्मत्तवन्नियतं भ्रमन्तीभि वने वने ॥

**अन्तर्हिते** इति। अचक्षाणा अपश्यन्त्यः ॥ १ ॥

**गत्येति।** गत्या च अनुरागस्मिताभ्यां विभ्रमेक्षितानि सविलासनिरीक्षणानि[2-] तैश्च मनोरमा आलापाश्च विहाराः क्रीडाश्च विभ्रमा अन्ये च विलासा स्तैश्च रमापतेः गत्यादिभिः एतैराक्षिप्तानि आकृष्टानि चित्तानि यासां ताः। अतस्तस्मिन्नेव आत्मा यासां ताः तस्य विविधा श्चेष्टा जगृहुः तदनुकरणैः[3] आक्रीडन् ॥ २ ॥

अपि च **गतीति**। प्रियस्य गत्यादिषु प्रतिरूढा आविष्टा मूर्तयो यासां ताः, अतः कृष्णविहारविभ्रमाः कृष्णस्येव विहाराः क्रीडाः विभ्रमाः विलासा यासां ताः। अहमेव कृष्ण इति परस्परं निवेदितवत्यः॥ ३ ॥

किञ्च **गायन्त्य** इति। वनाद्वनान्तरं गच्छन्त्यो विचिक्यु रमृगयन्। उन्मत्ततुल्यत्वमाह - वनस्पतीन्पप्रच्छुः। भूतेष्वन्तरं मध्ये सन्तं पुरुषं बहिश्च सन्तमिति ॥ ४ ॥

तत्प्रपञ्चयति नवभिः। तत्र महत्त्वादेते पश्येयुरित्याशया[4] दश्वत्थादीन् पृच्छन्ति-**दृष्ट** इति। प्रेमहासविलसितैरवलोकनैरस्माकं मनो हृत्वा चोर इव गतो व[5] ः युष्माभिः किं दृष्ट इति ॥ ५ ॥

1. P. °ती 2- -2. P. सविलासनिरीक्षितानि ; V. विलासनिरीक्षितानि 3. J.Va णेन 4. J. °याऽश्व° 5. P.V. omit वः

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ अन्तर्हितभगवद्दर्शनजतापतप्तानां भगवतो गत्यनुरागस्मित विभ्रमेक्षितालापविहार विभ्रमापहृत चित्तानां उन्मत्तायितानां च गोपीनां तच्चेष्टानुकरणं तावच्चेतनाचेतनाविभागेन प्रश्नपूर्वक मन्वेषणप्रकारमुपलक्षणतस्त्र्यन्तरासक्त्वध्यवसायप्रकारं स्त्र्य[1-]न्तरस्यापि तद्वन्मदमानप्रशमनार्थं मन्तर्धानं, तया सह पुनरन्वेषणप्रकारं[-1] चाऽऽह — त्रिंशेन **अन्तर्हित** इति। भगवत्यन्तर्हिते सति तमवीक्षमाणाः यूथपमपश्यन्त्यः करिण्य इव सहसा अविमर्शेनैव अन्वतप्यन् ॥ १ ॥

**गत्येति**। रमापतेः गत्या अनुरागस्मिताभ्यां यानि विलासनिरीक्षणानि तैश्च मनोरमालापाश्च विहाराः क्रीडाश्च विभ्रमा अन्ये च विलासाश्च तैः आक्षिप्तानि आकृष्टानि चित्तानि यासां ताः, अत एव तदात्मिकाः तस्मिन्नैव आत्मा चित्तं यासां ताः, तज्ज्ञानप्रचुराः इत्यर्थः। अत एव भगवतः तास्ता विविधाश्चेष्टाः जगृहुः अनुचक्रुः ॥ २ ॥

तदेव प्रपञ्चयति - **गतीति**। तदात्मिकाः अत एव प्रियस्य कृष्णस्य गत्यादिषु प्रतिरूढमूर्तयः भगवद्गत्याद्यनुकारेषु चिकीर्षितेषु सत्सु हृदयारूढास्तस्य मूर्तयो यासां ताः। अतः कृष्णविहारा इव विभ्रमाः क्रीडा यासां ताः, तस्य प्रिया अबला गोप्यः असावहं कृष्णोऽहमिति मिथो निवेदितवत्यः ॥ ३ ॥

किञ्च **गायन्त्य** इति। सङ्गताः समुदिताः सङ्घीभूताः इति यावत्। अमुं कृष्णमेव गायन्त्यो वनाद्वनं गच्छन्त्यः उन्मत्तवद्विचिक्यिरमृगयन्। वनस्पतीन् प्रति पप्रच्छुश्च। कथम्भूतम्? आकाशवद्भूतेषु चराचरात्मकेषु अन्तर्बहिश्च व्याप्य वसन्तं पुरुषं पुरुषाकारं पुरुषशब्दवाच्यं वा परमपुरुषं वा, एवम्भूतमपि प्राकृतमिव पप्रच्छुरित्यर्थः। वनस्पतीन् पप्रच्छुः इत्यनेन उन्मत्ततुल्यत्वं दर्शितम् ॥ ४ ॥

भगवद्विरहव्यथामुषितचेतनाचेतनतिर्यगतिर्यग्विवेकानां प्रश्नप्रकारमेवाऽऽह नवभिः। अश्वत्थादीनां प्रत्येकसम्बोधनेन प्रश्नोऽपि प्रत्येकमवगन्तव्यः। प्रेमहासविलोकनैः अस्माकं मनो हृत्वा चोर इव नन्दसूनुः गतः वो युष्माभिः किं दृष्टः?

अश्वत्थादीनां महत्त्वाद्यङ्गाङ्गत्वात्, तत्राश्वत्थस्य भगवद्विभूतित्वाच्च ते पश्येयुरित्यादावश्वत्थादीन् पृच्छति। ततो महान्तः पुष्पैर्बहूपकारिणश्चेति कुरवकादीन् पृच्छन्तीत्येवं यथासम्भवं केचिद्व्याचक्षते ॥ ५ ॥

1- -1. K. omits.

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हरेरेव योगैश्वर्यमौत्पत्तिकं, नान्यस्येति ज्ञापनभावेन गोपस्त्रीणां श्रीकृष्णे भक्त्यतिशयं कथयति अस्मिन्नध्याये। तत्र गोपीनां सन्तापादिप्रकारं प्रवक्ति शुकः **अन्तर्हित** इति। यूथपं गजेन्द्रम् ॥ १ ॥

गत्या बालसिंहखेलनगमनेन अनुरागेण स्नेहेन उदितानि स्मितानि तैः रञ्जितानि सम्पर्कगतानीक्षितानि तैः मनोरमौ आलापविहारौ तयोर्विभ्रमैः शृङ्गारैः आक्षिप्तचित्ताः आकृष्टमनसः, या या भगवता रचिता विशिष्टचेष्टाः तास्ताः जगृहु तस्मिन् कृष्णे आत्मा मनो यासां ता स्तथा, ग्रहणम् अनुकरणं यत्तदात्मिकाः। तदाकारमिता इति पाठार्थौ ता[1] मादधाते ॥ २ ॥

एतदेव विशिनष्टि — **गतीति**। प्रियस्य कृष्णस्य गत्यादिषु प्रतिरूढा अङ्कुरिता अङ्गीकृता मूर्तिः यासां तास्तथा। तत्र निमित्तं दर्शयति असाविति। असौ कृष्णोऽहं वा नु[2], इति विकल्प्याऽन्योन्यं पृष्ट्वा वा तदात्मिकाः तद्गतचित्ताः। "प्रश्ने विकल्पे नु स्विच्च" (वैज.को. 8-7-6) इति यादवः। नाऽवेदिषुः आत्मानमिति शेषः कृष्णविहारविभ्रमवत् विभ्रमो यासां तास्तथा। अनेनापि तदात्मकत्वं विवृतम् ॥ ३ ॥

सङ्गताः मिलिताः आकाशवद्भूतेषु बहिरन्तरं सन्तं, बाह्याभ्यन्तरदेशयोर्वर्तमानम् "अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः" (मना. उ. 9-5) इति श्रुतिः ॥ ४ ॥

उन्मत्तत्त्वं स्पष्टयति - **दृष्ट** इति। हे शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। हे न्यग्रोध वट! न्यक् अधः रोधः आवरणं यस्य सः पादैः अधोभूमिमावृणोतीति। किंशुक पलाश! "पलाशे किंशुकः पर्णः" (अम.को. 2-75) इत्यमरः। रक्तपुष्पवान् ॥ ५ ॥

1. Ma °ता० न° (नि) 2. Ma न वा

**कच्चि त्कुरवकाशोक नागपुन्नागचम्पकाः[1-] [-1]।**
**रामानुजो मानिनीनां गतो[2] दर्पहरस्मितः[3-] [-3] ॥ ६ ॥**

कच्चि त्तुलसि! कल्याणि! गोविन्दचरणप्रिये!
सह त्वालिकुलैर्बिभ्रद्दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः ॥ ७ ॥

मालत्यदर्शि वः कच्चि न्मल्लिके! जातियूथिके!
ं वो जनयन्यातः करस्पर्शेन माधवः ॥ ८ ॥

चूतप्रियाल पनसासनकोविदार जम्ब्वर्क बिल्ववकुलाम्रक पारिजाताः!
येऽन्ये परार्थभविका यमुनोपकूलाः शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः ॥ ९ ॥

किं ते कृतं क्षिति! तपो बत केशवाङ्घ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहै र्विभासि।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन ॥ १० ॥

1- -1. M,Ma नाग! पुन्नाग! चम्पक!; T,W. नीपोदुम्बरचन्दनाः 2. G,J,Va इतो; M,Ma दोग्धा 3- -3. M.Ma नन्दस्य चात्मजः 4. V. °लु 5- -5. M,Ma जम्ब्वक्ष; V. जम्बीर 6- -6. G,J,M,Ma, V,Va कदम्बनीपाः 7. G,J,K,Va भवका; M,Ma भविनो 8. M,Ma शुभं 9. M.Ma °षा

**श्रीध०** महान्तः स्वपुष्पैर्बहूपकारिणश्चेति कुरवकादीन् पृच्छन्ति - **कच्चिदिति।** हे कुरवकादयः! दर्पहरं स्मितं यस्य स इतो गतः कच्चिद्दृष्ट इति ॥ ६ ॥

**कच्चिदिति।** अलिकुलैस्सह त्वा त्वां बिभ्रतवातिप्रियः त्वया किं दृष्ट इति ॥ ७ ॥

गुणातिरेकेऽपि न म्रत्वात् इमाः पश्येयुः इति पृच्छन्ति - **मालतीति।** हे मालति! मल्लिके! जाति! यूथिके! वो युष्माभिः किमदर्शि दृष्टः। करस्पर्शेन वः प्रीतिं जनयन् किं यात इति। अत्र मालतीजात्योरवान्तरविशेषो द्रष्टव्यः ॥८॥

फलादिभिः सर्वप्राणिनां सन्तर्पका एते पश्येयुरिति पृच्छन्ति - **चूतेति।** चूताम्रयोरवान्तरजातिभेदः, नीपकदम्बयोश्च। हे चूतादयः येऽन्येच परार्थभविकाः परार्थमेव भवो जन्म येषां ते। यमुनोपकूलाः तस्याः कूलसमीपे वर्तमानाः। तीर्थवासिन इत्यर्थः। ते भवन्तो रहितात्मनां शून्यचेतसां नः कृष्णपदवीं कृष्णस्य मार्गं शंसन्तु कथयन्तु ॥ ९ ॥

**किमिति।** हे क्षिति! हे क्षिते! त्वया किं तपः कृतं, या त्वं केशवाङ्घ्रिस्पर्शोत्सवा केशवस्य अङ्घ्रिस्पर्शोत्सवो यस्यास्सा। कुतः? अङ्गरुहैः उत्पुलकिता रोमाञ्चिता विभासि शोभसे। तत्र विशेषं पृच्छन्ति-अपि किमयमुत्सवोऽङ्घ्रिसम्भवोऽधुना तवैकदेशाङ्घ्रिस्पर्शसम्भूतः। यद्वा नैतावत्, किन्तु उरुक्रमविक्रमात्पूर्वमेव त्रिविक्रमस्य पदा सर्वाक्रमणात्। आहो अथवा। नैतावदेव, अपि तु ततोऽपि पूर्वं वराहस्य वपुषः परिरम्भणेनेति। अतः त्वया नूनं दृष्टः, तं दर्शयेति ॥ १० ॥

1- -1. P,V. नम्राः 2. J,Va °व° 3. P,V. कृष्णमार्गं 4. P.V. तदेक

**वीर० कच्चिदिति।** हे कुरवकादयः मानिनीनां दर्पहरं स्मितं यस्य स रामानुजः इहागतः। कच्चिदितीष्टप्रश्नद्योतकमव्ययम्। दृष्टः आगतश्च किम्? तदस्मदिष्टमित्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि ॥ ६ ॥

हे गोविन्दचरणप्रिये! अत एव हे कल्याणि! अलिकुलैस्सह त्वां बिभ्राणः तवाऽतिप्रियश्च अच्युतः त्वया दृष्टः कच्चित्? ॥ ७ ॥

गुणातिरेकेऽपि नम्रा इतीमाः पश्येयुरिति पृच्छन्ति — **मालतीति।** हे मालति! हे मल्लिके! हे जाति! हे यूथिके! वो युष्माभिः अदर्शि कच्चिद्दृष्टः किम्? माधवः करस्पर्शेन युष्माकं प्रीतिं जनयन् किं यातः, अत्र मालतीजात्योः अवान्तरविशेषो द्रष्टव्यः ॥ ८ ॥

फलादिभिः सर्वप्राणिसन्तर्पका इमे पश्येयुरिति पृच्छन्ति — **चूतेति।** चूताम्रयोः कदम्बनीपयोश्च अवान्तरभेदो द्रष्टव्यः। हे चूतादयः भवन्तः ये चान्ये परार्थमेव भविका जन्म येषां ते यमुनाकूलसमीपे वर्तमानाः तीर्थवासिन इत्यर्थः। रहितात्मनां शून्यचेतसामस्माकं कृष्णपदवीं शंसन्तु कथयन्तु ॥ ९ ॥

हे क्षिति! त्वया किं तपः कृतम्? अन्यथेदं न घटत इत्याहुः। या त्वं केशवस्याङ्घ्रिस्पर्शेनोत्सवो यस्यास्तथाभूता, कुतः अङ्गरुहैः उत्पुलकिता रोमाञ्चिता विभासि शोभसे, उदञ्चितानि तृणान्यालक्ष्य तेन रोमाञ्चः? तत्र हेतुः केशवाङ्घ्रिस्पर्शः। तत्र च हेतुः प्राक्तनं तपश्चेति सम्भाव्य अथोत्सवे हेत्वन्तराण्यपि सम्भावयन्ति। अपि किमयमुत्सवोऽङ्घ्रिसम्भवः। अधुनैकदेशे भगवदङ्घ्रिस्पर्शसम्भवः। किं वा पूर्वमेव उरुक्रमस्य त्रिविक्रमस्य विक्रमात् पदा सर्वाक्रमणाज्जातः? अथवा ततोऽपि पूर्वं वराहवपुषः भगवतः परिरम्भणेनाऽऽलिङ्गनेन जातः ॥ १० ॥

**विज०** कुरवकः करञ्जः नागः, नागकेसरः। "पुन्नागे पुरुषस्तुङ्गः" (अम.को. 2-82) इति, दोग्धा जिह्वामधुरः॥ ६,७॥

मालती जातिभेदः, वो युष्माभिः अदर्शि दृष्टः। यूथिका शतपत्रिका ॥ ८ ॥

प्रियालो राजादनः देवदारुर्वा, कोविदारः काञ्चनारकः, असनः पीतसारकः, अक्षं शुकनासं, परार्थभविनः लोकोपकारार्थमुत्पन्नाः यमुनाकूलसमीपे जाताः, रहित आत्मा स्वामी कृष्णो यासां तास्तथा तासाम् ॥९॥

हे क्षिति! ते त्वया किं शुभं तपोलक्षणं कृतं, पर्याप्तमङ्गोपाङ्गपूर्णं शुभं ते तव किं बताऽऽमन्त्रितं सत्कारपूर्वकं व्यावृत्तमस्तीत्यर्थः। "युगेऽक्षपाते पर्याप्ते कृतं क्ली विहितेऽर्थवत्" (वैज; को 6-5-21) इति यादवः। "खेदानुकम्पा सन्तोष विस्मयामन्त्रणे बत" (अम.को. 3-399) इत्यमरः। अस्तीति कथमवगम्यते इत्यत्राऽऽह — केशवेति। केशवस्य सुकेशभारस्याऽङ्घ्रयोः स्पर्श एव उत्सवः तेन उत्पुलकितैः ऊर्ध्वमुखोल्लसितैः अङ्गरुहैः रोमलक्षणैर्वृक्षैः विभासि यत्तस्मादिति शेषः। यद्वा केशवाङ्घ्रिस्पर्शेनोत्सवा प्रकृष्टप्रसवा सती त्वमङ्गरुहैर्वृक्षैः उत्पुलकिता रोमाञ्चिता विभासि। यद्वा अङ्घ्रिस्पर्शनलक्षणेनोत्सवेन

उत्पुलकिताङ्गरुहैः अङ्कुरितपुष्पितफलितैर्वृक्षैः हे अङ्घ्रिसम्भवे नारायणश्रीपादसम्भवे उत्पन्ने अपि "पद्भ्यां भूमिः" (पु.सू. 13) इति श्रुत्या लोकसम्भाविते उरुक्रमस्य त्रिविक्रमस्य विक्रमात् पादविक्रमणात् अङ्गरुहैः उत्पुलकितैर्विभासि वा। आहो स्वित् वराहवपुषा नारायणेन कृतेन परिरम्भणेन अलिङ्गनेनोद्भूतिलक्षणेन "केशाद्वोऽन्यतरस्याम्"(अष्टा 5-2-109) इति सूत्रेण शोभमानाः केशा अस्य सन्तीति मत्वर्थे वप्रत्ययो विधीयते। अर्थान्तरविवक्षायां गोपीनामनभीष्टत्वम् ॥१०॥

अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रैः तन्वन्दृशां सखि! सुनिर्वृतिमच्युतो वः[1] ।
कान्ताङ्गसङ्ग कुचकुङ्कुमरञ्जितायाः कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः ॥ ११ ॥

बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो रामानुजस्तुलसिकालिकुलै र्मदान्धैः ।
अन्वीयमान इह वस्तरवः! प्रणामं किं वाऽभिनन्दति चरन्प्रणयावलोकैः ॥ १२ ॥

पश्यतेमा[2] लता[3] बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः ।
नूनं तत्करजस्पर्शा[4] बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो! ॥ १३ ॥

श्री[5]शुक उवाच[5]

★ इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः ।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ॥ १४ ॥

कस्याश्चित्पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत्स्तनम्।
तोकयित्वा रुदत्यन्या पदाऽहन् शकटायतीम्[6] ॥ १५ ॥

1. M,Ma °मीश्वरो 2. V. पृच्छ° 3. M,Ma °ह 4. G,J,V,Va स्पृष्टा 5- -5. G,J,V,Va omit. ★ From the 14th verse beginning with इत्युन्मत्तवचो to the end of 23rd verse ending with भीतिविडम्बनम् i.e. 10 verses and the commentary of Vijayadhvaja there on are not found in M.Ma editions. 6. K,T,W रुदन्त्य°

**श्रीध०** हरिण्या दृष्टिप्रसृत्या[1] कृष्णदर्शनं सम्भाव्याऽऽहुः — अपीति। हे सखि! एणपत्नि! अपि किमुपगतः समीपं गतः। गात्रैः सुन्दरैर्मुखबाह्वादिभिः। प्रियया सहेति यदुक्तं तद्द्योतकम्[2]। कान्ताया अङ्गस[3]ङ्गस्तेन[3] तत्कुचकुङ्कुमेन रञ्जितायाः कुन्दकुसुमस्रजो गन्धः। कुलपतेः श्रीकृष्णस्य वाति आगच्छति ॥ ११ ॥

फलभारेण नतान् तरून् कृष्णं दृष्ट्वा प्रणता इति मत्वा प्रियया सहितस्य[4] गतिविलासं सम्भावयन्त्यः पृच्छन्ति — **बाहुमिति**। तुलसिकाया अलिकुलैः अतः तदामोदमदान्धैः अन्वीयमानोऽनुगम्यमान इह चरन्निति ॥ १२ ॥

**पश्यतेति**। काश्चिदाहुः — हे सख्यः! इमा लताः कृष्णेन सङ्गता नूनम्। अत इमाः पृच्छत। ननु स्वपतिसङ्गतौ तत्सङ्गतिर्दुर्घटा? न। वनस्पतेः पत्युर्बाहून् शाखा आश्लिष्टा अपि अहो भाग्यं नूनं तन्नखैः स्पृष्टा यत उत्पुलकानि बिभ्रति। न हि स्वपतिसङ्गतावीदृक्पुलकसम्भव इति भावः ॥ १३ ॥

उन्मत्तकवत्प्रच्छुरित्येतत्प्रपञ्चित मिदानीं "रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः" इति यदुक्तं तत्प्रपञ्चयति — **इतीति**। उन्मत्तवचोगोप्यः उन्मत्तवचसश्च ता गोप्यश्च। कृष्णान्वेषणेन कातरा अतिविह्वलाः। अनुचक्रुरनुकृतवत्यः ॥ १४ ॥

कस्याश्चिदित्यादिभिश्चतुर्भि स्नुकरणं प्रपञ्चयते। ततश्चतुर्भिस्तन्मयत्वं पुनरेकेनानुकरणमिति विवेकः। **कस्या** इति। पूतनायन्त्याः पूतनावदाचरन्त्याः कृष्णवदाचरन्ती स्तनमपिबत्। तोकयित्वा तोकवत् शि[5-] शुवत्[-5] आत्मानं कृत्वा ॥ १५ ॥

1. J,Va प्रत्यासत्त्या 2. J,Va तत्र चो° 3- -3. P,V °सङ्गतः 4. J, Va °ह त° 5. J,Va omit

**वीर०** हरिण्या दृष्टिलालित्यस्य श्रीकृष्णदर्शनजहर्षयुक्ततां सम्भाव्य पृच्छन्ति — **अपीति**। हे एणपत्नि! वो युष्माकं दृशां सुनिर्वृतिं निरतिशयानन्दं गात्रैस्सुन्दरैः पाणिपादादिभिरवयवैः वितन्वन् विस्तरेण जनयन् अच्युतः प्रियया सह इहोपगतः अपि किम्? आगतः किम्? इत्यर्थः। नोपगत इति मा वोच इत्यभिप्रेत्य तत्र लिङ्गमाहुः। कापटचेन न ब्रूयुरिति सख्यमापादयन्तीभि स्सम्बोध्यते हे सखीति। कान्ताया अङ्गसङ्गेन आलिङ्गनेन यत्कुचकुङ्कुमं तेन रञ्जितायाः कुलपतेः गोकुलनाथस्य कृष्णस्य कुन्दस्रजो गन्ध इह वाति प्रसरति। अनेन कान्तया सह उपगतत्वे लिङ्गमुक्तं भवति ॥ ११ ॥

फलभारेण नतान् तरून् कृष्णदर्शनात् प्रणतान्मत्वा प्रियया सहितस्य गतिविलासं सम्भावयन्त्यः पृच्छन्ति — **बाहुमिति**! हे तरवः! रामानुजो गृहीतं दक्षिणपाणिना धृतं पद्मं येन तथाभूतः। प्रियायाः स्कन्धे बाहुं वामबाहुं निधाय तुलसिकाया अलिकुलैः तदामोदमदान्धैरन्वीयमानोऽनुगम्यमान इह चरन् प्रणयसहितैरवलोकै र्वा युष्माकं प्रणाममभिनन्दति किम्? ॥ १२ ॥

तत्र काश्चित् काश्चिद्गोपीराहुः — **पश्यतेति** हे सख्यः! इमा लताः कृष्णेन नूनं सङ्गताः पश्यत, पृच्छतेति पाठान्तरम् तदा इमाः पृच्छतेत्यर्थः। ननु स्वपतिसङ्गतौ तत्सङ्गतिः दुर्घटा, तत्राऽऽहुः। वनस्पतेः पत्युः बाहून् स्कन्धान् आश्लिष्टा अपि कर्तरि क्तः। 'आश्लिष्ये'ति पाठान्तरम्। तदा आश्लिष्यापि नूनं तस्य कृष्णस्य करजैः नखैः स्पृष्टाः कुतः? यत उत्पुलकानि बिभ्रति। न हि स्वपतिसङ्गतानामपि ईदृक्पुलकसम्भव इति भावः। उद्गञ्चितकोरकाणि पुलकत्वेन सम्भावयन्तीना मियमूक्तिः ॥ १३ ॥

उन्मत्तकवत् पप्रच्छुरित्येतत् प्रपञ्चितम्। अथ रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः इति यदुक्तम् तत्प्रपञ्चयति **इतीति**। इति उन्मत्तस्येव वचांसि यासां ताः गोप्यः कृष्णान्वेषणेनातिकातराः अतिविह्वलाः तदात्मिकाश्च भगवतः तास्ताः लीलाः अनुचक्रुः अनुकृतवत्यः ॥ १४ ॥

कस्याश्चिदित्यादिभिश्चतुर्भि रनुकरणं प्रपञ्च्यचते। ततश्चतुर्भि स्तन्मयत्वम्। पुनरेकेनानुकरणमिति विवेकः। कस्याश्चिद्गोपिकायाः पूतनावदाचरन्त्याः काचित्कृष्णवदाचरन्ती स्तनमचुम्बत्। अन्या तु तोकयित्वा शिशुवदात्मानं कृत्वा रुदन्ती शकटासुरवदाचरन्तीं काञ्चि त्पदा चरणेन अहन् ताडयामास ॥ १५ ॥

**विज०** हे एणपत्नि! मृगजाये! ते ईश्वरः कयाचित्प्रियया प्रियतमया इहोपगतः सामीप्यमाप्तः किम्? कीदृशः? हे सखि! मृगभार्ये! गात्रैः आननादिशरीरावयवैः वो युष्माकं दृशां सुनिर्वृतिं तन्वन्नपि विस्तारयन्, प्रश्ने निमित्तमाह — कान्तेति। कान्तायाः कमनीयायाः अङ्गसङ्गात् आलिङ्गनलक्षणात् सङ्क्रान्तकुचकुङ्कुमेन रञ्जिताया अनुरागीकृतायाः अस्मत्कुलपतेः कृष्णस्य अंसावलम्बिन्याः कुन्दस्रजः कुन्दपुष्परचितमालाया गन्ध इह वाति आगच्छतीति यत्तस्मादिति शेषः। 'वा गति गन्धनयोः' इति धातुः। यद्वा कान्तस्य भगवतोऽङ्गसङ्गसंयोगो यस्यास्सा तथा। अत्र स्त्रीशब्दोऽध्याहार्यः। सा कान्ताङ्गसङ्गा स्त्री तस्याः कुचकुङ्कुमरञ्जितायाः कुलपतेः कुन्दस्रजः गन्धोऽस्यास्तीति मत्वर्थे अच् प्रत्ययात् गन्धवान् वायुरिह वाति वीजयतीति, गोपीनामेकवचनबहुवचनाभ्यां भक्त्यतिशयपिशाचीग्रहणं सूचयति। यद्वा, एणपत्नीतुल्यनेत्रत्वात् सखीत्युपचर्यते। वः ईश्वरो भर्ता, मृगः कयाचित्प्रियया हरिण्या उपगतः। आश्लिष्टोऽपि किं न भवति गर्हितत्वात्। अस्मत्कुलपतिरस्मान्विहाय कयाचिदालिङ्गित इत्याशयेनाऽऽहुः — कान्तेति। कान्ताया अङ्गे उरोवयवे सङ्गो ययोस्तौ कान्ताङ्गसङ्गौ तौ कुचौ च कान्ताङ्गसङ्गकुचौ तयोः कुङ्कुमेन रञ्जितायाः अरुणीभूतायाः कुलपतेः कुन्दस्रजो गन्ध इह वाति। स्वयं च न दृश्यते, तत्सद्भावो विज्ञायत इति व्यङ्ग्यालङ्कारोक्तिः ॥ ११ ॥

विटवृत्तिमनुवर्तमानस्य पुंसो मालत्यादिपुष्पादानेच्छया तत्समीपजिगमिषासम्भवेन तत्प्रश्न उपयुज्यते। अश्वत्थादि प्रश्नः क्वोपयुज्यते, इत्यतः सम्भवं दर्शयितुमाहुः — **बाहुमिति**। हे तरवः प्रणामप्रदक्षिणादिना? प्रसन्नाः संसारात्तारयन्तीति तरवोऽश्वत्थादयः भगवच्चरणप्रियतुलसिकापुष्पमकरन्दलोलैः अलिकुलैरन्वीयमानो रामानुज एकं बाहुं प्रियांऽसे उपधा यपरेण गृहीतपद्मः प्रणामं चरन् कुर्वन् प्रणयावलोकैः वः अभिनन्दति किं वेत्यन्वयः। प्रावण्याऽलङ्कारोक्तिः। यद्वा इह चरन् रामानुजः प्रणयावलोकैः वः प्रणाममभिनन्दति, किञ्चानेन स्थावराणां भक्त्युन्नतिः सूचितेति ॥ १२ ॥

नूनं निश्चयेन यास्तस्य कृष्णस्य करनखस्पर्शादुत्पुलकितानि पुष्कफललक्षणानि बिभ्रति ताः लताः वनस्पतेः बाहून् शाखा अश्लिष्टा अपि सम्भाव्याः पश्यत। अहो उन्मुख्यो भक्त्येत्यन्वयः। अयं रूपकालङ्कारः सुरतसुखस्मारकः ॥ १३ ॥

**दैत्ययित्वा जहारान्यामेका कृष्णाभिभावनाम्।**
**रिङ्ग्यामास काऽप्यङ्गी कर्षन्ती घोषनिस्वनौ ॥ १६ ॥**

कृष्णरामायिते द्वे तु गोपवत्सायिताः परा[3] ः ।
वत्सायितां[4-] गृहीत्वाऽन्या[-4] भ्रामयित्वा[5-] न्यपातयत् ।
कृष्णायिता घ्नती वान्या[-5] तत्रैका तु बकायतीम् ॥ १७ ॥

आ[6-] ह्वयद्दूरगा[-6] यद्वत्कृष्णस्तमनुकुर्वतीम्[7-] [-7] ।
वेणुं क्वणन्तीं क्रीडन्तीमन्याश्शंसन्ति साध्विति ॥ १८ ॥

कस्याश्चित्स्वभुजं न्यस्य चलन्त्याहाऽपरा अनु[8] ।
कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मना[11] ः ॥ १९ ॥

मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां तत्त्राणं विहितं मया ।
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन वि[12-] तत्यो[-12] न्निदधेऽम्बरम् ॥ २० ॥

★ This half verse is not found in V Edn. 1. G,J,Va °ङ्गै° 2. G,J,Va °नैः 3- -3. G,J,Va गोपायन्त्यश्च काश्चन 4- -4. G,J,Va वत्सायतीं हन्ति चान्या 5- -5. G,J,Va omit two quarter verses. 6- -6. G,J,V,Va आहूय दू° 7. J,Va वर्ततीम् 8. K कस्याश्चि° 9. J °ह परां; V °ह परां 10. G,J,Va ननु; V तु सा 11. V °या 12- -12. G,J,Va यतन्त्युन्नि°

**श्रीध० दैत्ययित्वेति**[1]। दैत्ययित्वा[2] दैत्यवत्तृणावर्तवदात्मानं कृत्वा एका कृष्णार्भभावनां कृष्णस्यार्भं बाल्यं भावयति या तामन्यां जहार ॥ १६,१७ ॥

**आह्वयदिति**[3-] [-3] । दूरगाः दूरे वर्तमानाः गाः। यद्वद्यथा कृष्णः तथाऽऽहूय तं कृष्णम् अनुकुर्वतीम्[4-] अनुवर्तमानाम्[-4]। अनुवर्ततीम्[5-] [-5] इति वा पाठः॥ १८, १९ ॥

**मेति**। यतन्ती प्रयत्नं कुर्वती अम्बरमुत्तरीयं वस्त्रमुन्निदधे ऊर्ध्वं धृतवती ॥ २० ॥

1. J,Va °त्या 2. J,Va °त्या° 3- -3. V आहूयेति 4- -4. J,Va (अनुवर्ततीम्) अनुवर्तमानाम्। 5- -5. J,Va

**वीर०** काचित्तु दैत्ययित्वा तृणावर्तवदात्मानं कृत्वा अन्यां काञ्चित्कृष्णस्यार्भं बाल्यं भावयन्तीं जहार हृतवती। काचित्तु घोषाणां ध्वनतां भूषणानां निस्स्वनो ययोस्तौ। भूषणस्वनौ इति पाठान्तरम्। तावङ्घ्री चरणौ कर्षन्ती रिङ्खयामास जानुचङ्क्रमणं चकार ॥ १६ ॥

द्वे गोप्यौ कृष्णरामाविवाऽऽचेरतुः। काश्चन गोपा वत्साश्च तद्वदाऽऽचेरुः। तत्र काचिद्वत्सासुरवदाचरन्तीं काञ्चित् गृहीत्वा भ्रामयित्वा न्यपातयत्। काचिद्बकासुरवदाचरन्तीं घ्नतीव बभूव ॥ १७ ॥

तदा दूरगा दूरे वर्तमानाः गोवदाचरन्तीः, काश्चित् यद्वत्कृष्णः तद्वदाह्वयत् आजुहाव, 'आहूय' इति पाठे यद्वत्कृष्णः तद्वद्दूरगा आहूय, पुनस्तमनुकुर्वतीं, 'कृष्णत्वम्' इति पाठे कृष्णभावमनुकुर्वतीम्। तदेव दर्शयति वेणुं क्वणयन्तीं केवलं मुखेन गायन्तीं, 'क्रीडन्तीम्' इति पाठान्तरम्। काश्चित्साधु साध्विति शंसन्ति प्रशशंसुः ॥ १८ ॥

काचित्तु तन्मनाः कृष्णाभेदाभिमानयुक्तमनाः कस्यांचित्स्वभुजं न्यस्य कस्याश्चिदंसे स्वभुजं निधायेत्यर्थः। चलन्ती पादविन्यासान्कुर्वती अपराः प्रत्याह, किमिति? ननु हे सख्यः! अहं कृष्णः मम ललितां सुन्दरतरां गतिं पश्यतेति ॥ १९ ॥

तथा काचित्कृष्णोऽहमिति वदन्ती वर्षवाताभ्यां मा भैष्ट भयं मा कार्ष्ट, ताभ्यां वर्षवाताभ्यां त्राणं रक्षणं मया विहितमित्युक्त्वा अम्बरमुत्तरीयमेकेन हस्तेन वितत्य विस्तृत्य उन्निदधे ऊर्ध्वं धृतवती ॥ २० ॥

आरुहचैका[1] पदाऽऽक्रम्य शिरस्याहाऽपरां[2-] नृप[-2]!।
हे! गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृत्[3] ॥ २१ ॥

तत्रैका चाऽऽह हे गोपाः! दावाग्निं पश्यतोल्बणम् ।
चक्षूंष्याशु[5] पिदध्वं वो विधास्ये क्षेममञ्जसा ॥ २२ ॥

बध्नन्त्येका[6-] स्रजा काञ्चित्[-6] त्वा[7-] मद्योलूखले हरे[-7] ।
★ बध्नामि भाण्डभेत्तारं हैयङ्गवमुषन्त्विति।
भीता सुदृक्पिधायाऽऽस्यं भेजे भीतिविडम्बनम् ॥ २३ ॥

एवं कृष्णं[8] पृच्छमाना बृन्दावनलतास्तरून्।
व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः ॥ २४ ॥

पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः।
लक्ष्यन्ते हि ध्वजाम्भोजव[9-] ज्राङ्कुशलतादिभिः[-9 10-] ॥ २५ ॥[-10]

1. V °कां 2- -2. शिर आहा° 3. G,J,Va,W धृक्; V भृत् 4. G,J,V,Va °कोवाच 5. G,J,V °ष्वपि° 6- -6. G,J,Va बद्धान्यया स्रजा काचित्; V बध्नन्त्यन्या स्रजैकाऽऽह 7- -7. G,J,Va तन्वी तत्र उलूखले ★ This half verse is not found in G,J,Va Edns. 8. M,Ma °क्षन्त 9- 9. V यदम्भोज 10- -10. G,J,Va वज्राङ्कुशयवादिभिः; V. ध्वजवज्राङ्कुशादिभिः

**श्रीध० तत्रेति।** पिदध्वं[1] निमीलयत ॥ २१, २२ ॥

**बध्नन्तीति।** सुदृक् सुनयनम् आस्यं पिधाय, सुदृक् वराक्षीति वा। भीतिविडम्बनं भयानुकरणम् ॥ २३ ॥

**एवमिति।** एवं पुनरपि बृन्दावने लतास्तरूंश्च कृष्णं पृच्छन्त्यो वनोद्देशे वनप्रदेशे। व्यचक्षत अपश्यन् ॥२४,२५॥

1. J,Va अपि°

**वीर०** हे नृप! काञ्चित्कालियायन्तीं शिरसि पदा आक्रम्य अपरा काचिदुवाच किमिति? हे दुष्टसर्प! गच्छ इतो ह्रदादपसर। ननु हे अहे! अहं खलानां दण्डधृत्[1] दण्डयिता जातः अवतीर्ण इति ॥ २१ ॥

तथा तत्र गोपीनां मध्ये काचिदुवाच — **किमिति।** हे गोपाः! उल्बणं दुस्सहं प्रभूतं वा दावाग्निं पश्यत। चक्षूंषि पिदध्वं निमीलयत। वो युष्माकमाशु क्षेममञ्जसा सुखेन विधास्ये करिष्यामीति ॥ २२ ॥

एका तु स्रजा काञ्चिद्बध्नन्ती प्रोवाच, किमिति? हे हरे! अधुना त्वां हैयङ्गवमुषं नवनीतचोरं तद्भाण्डभेत्तारं च, अतः उलूखले बध्नामीति। तथैवं बद्धोक्ता च सा भीतेव शोभने दृशौ तदास्यं पिधाय हस्ताभ्याम् आच्छाद्य सुदृक् वराक्षी वा सती मुखं पिधाय भीतिविडम्बनं भयानुकरणं भेजे चकार ॥ २३ ॥

इत्थं पुनरपि बृन्दावने लतास्तरूंश्च कृष्णं पृच्छमानाः वनप्रदेशे परमात्मनः कृष्णस्य पदानि व्यचक्षत अपश्यत् ॥ २४ ॥

तदा दृष्टभगवत्पादानां तासामुक्तिमाह — **पदानीति।** इमानि महात्मनो नन्दसूनोः पदानि व्यक्तं नूनम्। हि यस्मात् ध्वजादिभीरेखात्मकैः लक्ष्यन्त इति ॥ २५ ॥

1. T,W °क्

**विज०** उपसंहरति — **एवमिति।** वनोद्देशे वनप्रदेशे ॥ २१-२४ ॥

परमात्मचरणाकृतित्वं कथमवगम्यते इति तल्लक्षणमुच्यते — **पदानीति।** लता कल्पलता आदिशब्देन चक्रादिकं गृह्यते। यवादीत्यपि पाठः ॥ २५ ॥

**तै स्तैःपदैस्त त्पदवी मन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः।**
**वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्याऽऽर्तास्समब्रुवन् ॥ २६ ॥**

कस्याः पदानि चैतानि[3-] यातायां[-3] नन्दसूनुना ।
अंसन्यस्तप्रकोष्ठायाः करेणोः[4] करिणा यथा ॥ २७ ॥

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान्हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो या मनयद्रहः ॥ २८ ॥

धन्या अहो! अमी आल्यो[5] गोविन्दाङ्घ्रिजरेणवः।
या[6-] न्ब्रह्मेशादयो देवाः[-6] दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये[7-] [-7] ॥ २९ ॥

तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत्।
एकाऽपहृत्य[8] गोपीनां रहो[9] भुङ्क्तेऽच्युताधरम् ॥ ३० ॥

1- -1. V ततस्ततस्तं प° 2. K,T,W सं° 3- -3. V यातायाः पश्यध्वं 4. M,Ma करिण्याः 5. V ह्या° 6- -6. G,J,M,Ma,Va यान् ब्रह्मेशौ रमा देवी; V यान् ब्रह्मेशौ रमा देवाः 7- -7. M,Ma °र्मूर्ध्नां तदूतये 8. G,J,K,V,Va यै° 9. K,T,W धनं

**श्रीध० तैरिति।** सुपृक्तानि सम्मिश्राणि ॥ २६ ॥

**कस्या** इति। तेनांसे न्यस्तः प्रकोष्ठो यस्याः। करेणोः हस्तिन्याः ॥ २७ ॥

**अनयेति।** रह एकान्तस्थानम् ॥ २८ ॥

**धन्या** इति। हे आल्यः! सख्यः! अहो धन्या अतिपुण्या गोविन्दाङ्घ्रिजरेणवः, तत्र हेतुः — यानीति। अस्माभिरप्येतद्रेण्वभिषेकेण तथैव कृष्णः प्राप्तुं शक्य इति भावः ॥ २९ ॥

अन्या आहुः — **तस्या** इति। गोपीनां सर्वस्वम्। अयं भावः — भवेदेवं यदि तस्याः पदानि संपृक्तानि न भवेयुः तानि तु[1-] नः दुःखं[-1] कुर्वन्तीति ॥ ३० ॥

1- -1. P,V नः कथं दुःखं

**वीर० ततः** तैस्तैः ध्वजादिचिह्नितैः पदैः तस्य कृष्णस्य पदवीं पुरःपुरोऽन्विच्छन्त्यः अन्वेषयन्त्यः, अबला गोप्यः तदा कस्याश्चिद्वध्वाः पदैः सम्पृक्तानि अन्तराऽन्तरा युक्तानि भगवतः पदानि विलोक्याऽऽर्ता दुःखिता ऊचुः ॥ २६ ॥

तदेवाऽऽह — **कस्या** इत्यादिभिः सार्धैरष्टभिः। करिणा सह करिण्या इव नन्दसूनुना सह गच्छन्त्याः कस्याश्चिद्वध्वाः पदानि हे गोप्यः! पश्यत! कथम्भूतायाः? अंसे स्कन्धे न्यस्तः प्रकोष्ठो यस्याः तस्याः. अन्यथा एवंविधः पदानां सम्पर्को न स्यादिति भावः ॥२७॥

अनया, कृष्णेन सह यातया भगवान् हरिरीश्वरो नूनम् आराधितः, पूर्वजन्मनीति शेषः। कुतः? यद्यस्मान्नोऽस्मान् सर्वाः विहाय गोविन्दः प्रीतियुक्तो रहः एकान्तं यामनयत्। न ह्यनाराधितेश्वराणां रहसि गोविन्दसङ्गस्सुलभ इति भावः ॥ २८ ॥

काश्चिदाहुः — **धन्या** इति। हे आल्यः सख्यः! अमी गोविन्दस्य पादाब्जरेणवः धन्याः। अहो! तत्र हेतुः यानिति। यान् गोविन्दाङ्घ्रिचब्जरेणून् बह्मादयो देवाः अघनुत्तये गोविन्दप्राप्तिप्रतिबन्धकपापापनुत्तये मूर्ध्नि धृतवन्तः। अस्माभिरप्येतद्रेणवभिषेकेण तथैव कृष्णः प्राप्तुं शक्य इति भावः ॥ २९ ॥

अन्यास्त्वाहुः — **तस्या** इति। तस्याः गोविन्देन सह यातायाः अमूनि पदानि नोऽस्माकम् उच्चैः भृशं क्षोभं चित्तक्षोभं कुर्वन्ति, तत्र हेतुः — या स्वयमेकैव सर्वासां गोपीनां सम्बन्धि सर्वस्वभूत मच्युतस्याधरमधरामृतमपहृत्य रहसि भुङ्क्ते ॥ ३० ॥

**विज०** अन्विच्छन्त्यः अन्वेषणं कुर्वत्यः वध्वाः कस्याश्चिद्गोपस्त्रियः पदैश्चरणैः निक्षिप्तैः सुपृक्तानि अन्तराले मिश्रितानि ईर्षया (ईर्ष्यया) आर्ताः समब्रुवन् संलापमकुर्वन् ॥ २६ ॥

प्रकोष्ठः करतलमूलभागः करिणा सहितायाः करिण्याः पदानि यथा स्वांसन्यस्तहस्तायाः करिण्याः पदैः संपृक्तानि करिणा कृतानि पदानि वा ॥ २७, २८ ॥

हे आल्यः! सख्यः! धन्या निरपेक्षाः: "आलिः सेतौ सखीपङ्क्तयोः" (वैज.को. 6-2-3) इति यादवः। "निरपेक्षो गुणैः पूर्णो धन्य इत्युच्यते बुधैः" इति च। ब्रह्माद्या मूर्ध्ना यान् दधुरिति यत्तस्मात् धन्या इत्यर्थः। तस्मात् विष्णोरूतये अभिप्रायसिद्धये रक्षासिद्धये वा ॥ २९ ॥

ननु धन्यानां कृष्णपादतलयुक्तानां रेणूनां सन्दर्शनं युष्माकमभूत्। इतःपरं शोकस्य किं कारणमित्याशङ्क्य, सत्यम्, अथापि तदीयपदसम्पृक्तमन्यस्त्रीपदं सन्दृश्य संस्मृत्य महाशोको जायत इत्याशयेनाऽऽहुः — **तस्या** इति। गोपीनां मध्ये एका गोपी कृष्णमपहृत्य वशीकृत्य अच्युताधरं अच्युतस्य हरेः, अच्युतं सन्ततस्यन्दमानामृतमधरोष्ठं रहो रहस्येकान्तदेशे भुङ्क्ते यत् ततस्तस्या गोप्या अमूनि पदानि सन्दृश्याऽधरपानं संस्मृत्य उच्चैः क्षोभं चित्तविक्षेपं कुर्वन्ति, तस्माच्छोक इत्यर्थः ॥ ३० ॥

**न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नूनं तृणाङ्कुरैः।**
**खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलामुन्निन्ये प्रेयसीं प्रियः ॥ ३१ ॥**

★ **इ मान्यधिकामग्नानि पदानि वहतो वधूम्।**
**गोप्यः! पश्यत कृष्णस्य भाराक्रान्तानि कामिनः ॥ ३२ ॥**

अत्रावरोपिता कान्ता पुष्पहेतोर्महात्मना।
अत्र प्रसूनापचयः प्रियार्थे प्रेयसा कृतः ॥ ३३ ॥

प्रपदाक्रमणे ह्येते पश्यतासकले पदे।
केशप्रसाधनं त्वत्र कामिन्याः कामिना कृतम् ॥ ३४ ॥

तानि चूडयता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम्।
$ इत्येवं प्रलपन्त्यस्ता गोप्यश्चेरुर्विचेतसः ॥ ३५ ॥

---

★ Three half verses commencing with इमानि ..... and ending with ..... महात्मना are not found in Va.Edn. 1. K,T,W ल° 2. G,J क्रान्तस्य 3. K गा° 4. G,J,Va °व° 5. V प्रीत्यर्थे 6. V °से 7. G,J,K,M,Ma,Va एते 8. G,J,V,Va दर्शयन्त्यः $ This half verse is printed after the half verse beginning with कामिनां दर्शयन् (V.36) in G,J,V,Va editions and before कामिनां दर्शयन् in M,Ma editions. 9. M,Ma,V °चेतनाः

**श्रीध०** तदसंपृक्तान् केवलकृष्णपादरेणूनेव विचिन्वत्यः[1] तान्दृष्ट्वा पुनरत्यन्तं समतप्यन्[2]। तदाह श्लोकत्रयेण — **न लक्ष्यन्त** इति। खिद्यती सुजाते सुकुमारे अङ्गितले यस्यास्तामुन्निन्ये स्कन्धमारोपितवान् ॥ ३१ ॥

**प्रपदेति** प्रपदाभ्यामाक्रमणं क्षोणीमर्दनं[3] ययोः। अत एव असकले पदे पश्यतेति। तस्याः कृष्णजान्वन्तरुपविष्टाया[4] श्चिह्नं दृष्ट्वाऽऽहुः — केशप्रसाधनमिति ॥ ३२-३४ ॥

**तानीति**। कान्तामधिकृत्य तानि प्रसूनानि चूडयता चूडानुकारेण बध्नता इह[5] ध्रुवमुपविष्टम् ॥ ३५ ॥

---

1. P,V,Va °न्त्यः 2. J,Va °तपन् 3. V सम्म० 4. P,V °न्त उप 5. J,Va omit इह

**वीर०** अन्या तु केवलमसंपृक्तानि कृष्णस्यैव पदानि दृष्ट्वा सामर्षमाह — **न लक्ष्यन्त** इति। तस्याः वध्वाः पदान्यत्र न दृश्यन्ते। कुतः? यतो नूनं तृणाङ्कुरैः खिद्यन्ती सुजाते सुकुमारे अङ्गितले यस्यास्तां प्रेयसीं प्रियः श्रीकृष्णः उन्निन्ये स्कन्धमारोपितवान् ॥ ३१ ॥

अपरास्तु सत्यम्, अत एव अधिकलग्नानि पदानि पश्यतेत्याहुः — **इमानीति**। हे गोप्यः। वधूं वहतो गामिनो गच्छतः, 'कामिन' इति पाठे कामिनः, अत एव वधूं वहतः कृष्णस्य, अत एव भाराक्रान्तानि अत एव अधिकलग्नानीमानि पदानि पश्यत ॥ ३२ ॥

काश्चित् क्षोणीसम्मर्दमालक्ष्याऽहुः - **अत्रेति**। महात्मना कामिना अत्र पुष्पहेतोः पुष्पापचयार्थं कान्ता अवरोपिता। अत्र तु प्रियार्थे प्रियामलङ्कर्तुं प्रेयसा कृष्णेन प्रसूनानामपचयः पुष्पलवनं कृतः ॥ ३३ ॥

अत एव प्रपदाभ्यां पादाग्राभ्याम् उच्चप्रसूनापचयार्थमाक्रमणं ययोस्ते अत[1] एव असकले अर्धमग्ने एते पदे पादाङ्कौ पश्यत। काश्चित्तस्याः कृष्णजान्वन्तरमुपविष्टायाः चिह्नं क्षोणीसम्मर्दनादिकमालक्ष्याऽऽहुः — केशप्रसाधनमिति। अत्र कामिना कृष्णेन कामिन्याः केशप्रसाधनं केशानामितस्ततो विश्लथतां प्रसाधनं पुनस्सीमन्तसमीकरणाभ्यां बन्धनं कृतम् ॥ ३४ ॥

कान्तामधिकृत्य तानि प्रसूनानि चूडयता शिरोभूषणं कुर्वता कृष्णेनेह नूनम् उपविष्टम्। इत्युक्तप्रकारेण, एवं प्रकारान्तरेणापि प्रलापं कुर्वत्यः। दर्शयन्त्य इति पाठे मिथः तच्चिह्नानि दर्शयन्त्यस्ता गोप्यः तत्र तत्र विचेतस उन्मत्तसदृश्यो विचेरुः ॥ ३५ ॥

1. W omits अत एव

**विज०** इदमधिकं शोककारणमित्याशयेनाऽऽहुः — **नेति**। नूनं तर्क एवं कथं तस्याः गोप्याः पदानि न लक्ष्यन्ते न दृश्यन्ते। अदर्शने कारणमूहयन्ति तृणाङ्कुरसम्बन्धेन। खिद्यत्परिघातमाप्नुवत् सुजातं ललितमङ्घ्रितलं यस्याः सा तथा। प्रेयसीं उन्निन्ये उद्धृत्य नीतवान्। उदू(दु)हच नयनेन भूमिसम्बन्धाभावात् पदादर्शनमपि, अत एव तादृशप्रेम नाऽस्माकं प्राप्तमिति शोकोऽस्माकम् ॥ ३१ ॥

युष्मत्परित्यागव त्प्रेयसीपरित्यागेन गमनात् पत्पदादर्शनं किं न स्यादित्यतः कुत उद्धृत्य गमनमनुमीयत इत्यत एतल्लिङ्गमप्रतिहत मित्याहुः — **इमानीति**। धूमाग्न्योरविनाभावात् भारवहपुरुषपदमज्जनं भारवहनाविनाभूतं प्रत्यक्षसिद्धत्वा दुदू(दु)हचगमनमनुमीयत इत्यर्थः। मानयितुं शीलमस्यास्तीति मानी। तस्य अधिकशृङ्गारोक्तिरियम् ॥ ३२ ॥

अवरोहणं स्नेहाधिक्यादित्याशयेनाऽऽहुः — महात्मनेति। कथमिदमवगतं, पुष्पनिमित्तादित्यत्राहुः — **अत्रेति**। अपचयः नखादिसंयोगेन यथा म्लानं न भवति तथा प्रलूनम्। इदमपि प्रेयसां प्रेमातिशयप्रकटनम् ॥ ३३ ॥

इदमपि चित्रमित्याहुः — **प्रपदेति**। हे गोप्यः! प्रपदयोः पादाग्रयोराक्रमणं ययोरस्ति ते प्रपदाक्रमणे एते पदे पादलाञ्छने असकले असम्पूर्णे उन्नतशाखापुष्पापचये प्रियकृष्णकरावनमितशाखाग्रहणे दुःस्थपदत्वाद्यावत्पादप्रमाणरहिते, पश्यतेत्यन्वयः। केशमार्जन्या केशप्रसाधनं केशसंस्कारः: 'कमु गतौ' इति धातोः काम आनन्दः, कामो गतिर्ज्ञानं चाऽस्य स्त इति कामी पूर्णानन्दज्ञानवानित्यर्थः। तेन कामिना प्रशस्तेच्छावता वा ॥ ३४ ॥

कान्तां स्त्रियं तानि पुष्पाणि चूडयता संस्कृतकेशपाशे सुदर्शनीयं निदधता कृष्णेनेह स्थले उपविष्टं, पश्यतेति शेषः। इदं ध्रुवं निश्चितं, सन्देहं न कुरुतेत्यर्थः। इतिशब्द आदिवचनः। प्रकृष्टं कृष्णविषयं प्रलापं कुर्वन्त्यः विटविषयमनर्थवचनं कुर्वन्त्यश्च[1] ॥ ३५ ॥

1. M,Ma add अविशिष्टचेतना अविपरीतचेतनाश्च।

★ रेमे तया चाऽऽत्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः।
कामिनां दर्शयन्दैन्यं स्त्रीणां चाऽपि[1] दुरात्मताम् ॥ ३६ ॥

यां गोपीमनयत्कृष्णो विहायाऽन्याः स्त्रियो वने।
सा च मेने तदाऽऽत्मानं वरिष्ठां[2] सर्वयोषिताम् ॥
हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः[3] ॥ ३७ ॥

ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत्।
न पारयेऽहं चलितुं[4] नय मां यत्र ते मनः ॥ ३८ ॥

एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्धं[5] आरुह्यतामिति।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णस्सा वधूरन्वतप्यत ॥ ३९ ॥

हा नाथ! रमण! प्रेष्ठ! क्वासि क्वासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे! दर्शय सन्निधिम् ॥ ४० ॥

★ This half verse is printed after तानि चूडयता etc. in G,J,M,Ma,V,Va 1. M चैवं G,J,Ma,V चैव 2. G,J,K,M,Ma,Va °ष्टं 3. M, इह; Ma °ति ह। 4. K,T,W °रि° 5. K,T,W °न्धमार°

**श्रीध० रेमे** इति। रेमे तयेत्यादि शुकोक्तिः। आत्मरतः स्वतस्तुष्टः। आत्मारामः आत्मक्रीडः[1]। अखण्डितः स्त्रीविभ्रमैरनाकृष्टोऽपि। तथा चेत्किमिति रेमेऽत[2] आह — कामिनामिति ॥ ३६ ॥

स्त्रीणां दुरात्मतामाह — सा चेति द्वाभ्याम्। कामो यानमागमनसाधनं यासां ता गोपीर्हित्वा मां भजते इति हेतोरात्मानं वरिष्ठां[3] मेने इति ॥ ३७, ३८ ॥

कामिनां दैन्यं दर्शयति — **एवमुक्त** इति। अखण्डितत्वमाह — ततश्चेति। तस्यां स्कन्धारोहोद्यतायामन्तर्हित इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

अनुतापमाह — **हा नाथेति** ॥ ४० ॥

1. J स्वक्रीडः, Va स्वाक्रीडः 2. P.V. °मेत्यत 3. J,Va ष्टं

**वीर०** किं विचेतोभिर्गोपीभिः केवलमित्थं सम्भावनामात्रं कृतम् उत तत्सत्यमेवेति राज्ञः संशयं निराह मुनिः — **रेम** इति। तया गोपीभिरुद्भावितया कयाचिद्गोप्या सह भगवान् रेमे। कथम्भूतः? आत्मारामोऽप्यखण्डितोऽपि

अवाप्तसमस्तकामत्वेन स्त्रीविभ्रमैरखण्डितचित्तोऽपि। तथा चेत्किमिति रेमेऽत आह- कामिनामिति। कामिनां विषयासक्तचित्तानां दैन्यं तत्पारवश्यात्मकं स्त्रीणां दौर्जन्यं च दर्शयन् दर्शयितुमित्यर्थः ॥ ३६ ॥

स्त्रीणां दुरात्मतामाह — **यामिति।** अन्यास्त्रियो विहाय कृष्णो यां गोपीमनयत्, सा च तदा सर्वयोषितां मध्ये आत्मानं वरिष्ठा[1] ममन्यत। मननप्रकारमेवाऽऽह — हित्येति। कामो यानमागमनसाधनं यासां ताः सर्वा गोपीः विहायाऽसौ प्रियां[2] मामेव भजते अनुवर्तते। अतोऽहं सर्वयोषितां श्रेष्ठेति मेने इत्यर्थः। तत एवमभिमत्यनन्तरं किञ्चिद्दूरं गत्वा गर्विता सती केशवं सर्वेश्वरं[3] कृष्णमब्रवीत्। किमिति? अहं गन्तुं चरितुं न शक्नोमि। अतो यत्र ते मनः यत्र[4] जिगमिषसि, तत्र मां नयेति ॥ ३७ ३८ ॥

कामिनां दैन्यं दर्शयति — **एवमिति।** इत्थमुक्तौ भगवान् प्रियामाह — किमिति? स्कन्धे[5] आरुह्यतामिति त्वयेति शेषः। अखण्डितत्वमाह — ततश्चेति। ततः तस्यां स्कन्धारोहोद्यतायां सत्याम् अन्तर्हितवान्। ततस्तदैव सा वधूरनुतप्तवती ॥ ३९ ॥

अनुतापप्रकारमेवाऽऽह — **हा नाथेति।** हेति खेदे। हे नाथ! हे प्रियतम! हे महाभुज! क्वासि। तव किङ्कर्याः कृपणायाः दीनायाश्च मम हे सखे! तव सन्निधिं दर्शय ॥ ४० ॥

1. K °ष्ठ° 2. T,W °यो 3. T,W omit सर्वेश्वरं T,W omit यत्र 5. K °न्धमारु०

**विज०** अयं सर्वस्मादधिकशोकतम इत्याहुः — **रेम** इति। तया कामिन्या रेमे च सुरतशीलामप्यनुबभूव[1], न स्वार्थमिति सूचयन्ति आत्मरत इति। आत्मनि स्वरुपानन्दे रतः आत्मन्येवाऽऽरामः[1] क्रीडा यस्य स तथा। "आत्मरतिआत्मक्रीडः" (छान्दो.उ. 7-25-2) इति श्रुतिः। अनेन विशेषणद्वयेन हेर्विटवृत्तिं निषिध्यन्ति। भगवत्प्रीतिसाधनभक्तिज्ञानादितारतम्यात् प्रीतितारतम्यमसूचि इति ज्ञायते। तथा चान्या गोप्य इन्द्रियवृत्तयः कृष्णनीता कामिनी भक्तिं बुद्धिर्वा ग्राहयेति, बुद्धिमता तत्तत्पदानि तत्तदर्थबोधकत्वेन योजनीयानीति सङ्गाहयमिति सन्तोष्टव्यम्। शोकादिकं च गुणनिमित्तमिति। अत एव अखण्डितः कामेनेति शेषः। कामिनां दुरात्मतां स्त्रीणामेवं दैन्यं दर्शयन् दर्शयन्त्यश्च ॥ ३६ ॥

अहम्भावः सर्वथा त्याज्य इति दर्शयितुमाह — **यामिति।** अनेन राक्षस्याः बुद्धेः स्वभावो दर्शितः। अत्यधिकं भजतेति, हेत्यनेन विषयलोलुपानां प्रवृत्तिरीदृशी इति दर्शयति ॥ ३७ ॥

कथान्तरारम्भं वा। तमाह — **तत** इति। "प्रत्यारम्भे प्रसिद्धे ह" (वैज.को. 8-7-8) इति यादवः। वनोद्देशं विषयप्रदेशं, केशवं प्रशस्तकेशपाशं वने कामिनम्। पारये समर्थये पारं गन्तुं न शक्नोमीति वा ॥ ३८ ॥

यत्र गन्तुं विटगतस्वभावं दर्शयितुमाह — **एवमिति।** भक्त्या लभ्यो नान्यथेति भावं दर्शयति तत इति। शुद्धबुद्धेः स्वभावोऽयमिति दर्शयितुमाह सा वधूरिति ॥ ३९ ॥

हा विषण्णास्मि वने। "हा विषादशुगार्तिषु" (वैज.को. 8-7-8) इति च। हे नाथ! आशाप्रद! हे रमण! रतिप्रद! हे प्रेष्ठ! प्रियतम! दास्याः शिक्षायोग्यायाः, "दासु हिंसायाम्" इति धातुः। कृपणायाः कृपाविषयायाः ॥ ४० ॥

---

1. Ma ली

**अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्योऽविदूरतः।**
**ददृशुः प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सतीम्[1] ॥ ४१ ॥**

**तया कथितमाकर्ण्य मानप्राप्तिं च माधवात्।**
**अवमानं च दौरात्म्याद्विस्मयं परमं ययुः ॥ ४२ ॥**

**[3-]ततोऽविशन्वनं[-3] चन्द्रज्योत्स्ना यावद्विभाव्यते।**
**तमः प्रविष्टमालक्ष्य ततो निववृतुस्त्रियः ॥ ४३ ॥**

**तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः।**
**तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥ ४४ ॥**

**पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः[4]।**
**समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षिताः[5] ॥ ४५ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
रासक्रीडायां कृष्णान्वेषणं नाम त्रिंशोऽध्यायः॥ ३० ॥

---

1. M,Ma °श्लिष्टां मो° 2. G,J,Va — °खीम् 3- -3. M,Ma गत्वा वनाद्वनं 4. V °विताः 5. M,Ma °णीः

**श्रीध० अन्विच्छन्त्य** इति। अन्विच्छन्त्यो मृगयमाणाः। अविदूरतः समीपे ॥ ४१, ४२ ॥

**तत** इति। ततस्तयापि सहिताः कृष्णान्वेषणाय वनमविशन्। ततो हरेः अन्वेषणान्निवृत्ताः ॥ ४३ ॥

**तन्मनस्का** इति। एवं तमःप्राप्ता अपि स्वगृहान्नैव स्मृतवत्यः। तदात्मिकाः स एवाऽऽत्मा यासां ताः। तन्मय्य[1] इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

**पुनरिति**। किन्तु पूर्वं यत्र श्रीकृष्णेन सङ्गतिरासीत् तदेव कालिन्द्याः पुनः[2] पुलिनमागत्य कृष्णं भावयन्ति ध्यायन्तीति तथा ताः कृष्णस्याऽऽगमनं काङ्क्षितं यासां ताः मिलिताः सम्मिलिताः[3-] [-3] सत्यः कृष्णमेव जगुरिति ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे।
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

---

1. P,V °मयाः 2. J,Va omit 3- -3. J,Va omit

**वीर०** इत्थं प्रियस्य विश्लेषणमोहितां विचित्तां दुःखितां च तामविदूरतः ता गोप्यो ददृशुः। कथम्भूताः? भगवतो मार्गमन्वेषयन्त्यः ॥ ४१ ॥

ततस्तया स्वस्याः माधवात् मानप्राप्तिं सम्मानप्राप्तिं तथा आत्मनो दौरात्म्याद्धेतोः अवमानं च कथितमाकर्ण्य सर्वा गोप्यः परमं विस्मयं प्रापुः ॥ ४२ ॥

ततस्तया सहिताः कृष्णान्वेषणाय यावच्चन्द्रिका प्रकाशते तावद्वनं चेरुः। ततस्तमसा सान्द्रतरुच्छायाकृतेन प्रविष्टं व्याप्तं वनमालक्ष्य ततोऽ[1]न्वेषणान्निवृत्ताः ॥ ४३ ॥

एवं तमःप्राप्ता अपि स्वगृहान्नैव स्मृतवत्यः। तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि। तस्मिन् कृष्ण एव मनो यासाम्, अत एव तदात्मिकाः तज्ज्ञानप्रचुराः, अत एव तस्यैवाऽऽलापो यासां, तस्यैव विविधा चेष्टा यासां, ताः तस्यैव गुणान् गायन्त्यः ॥ ४४ ॥

किन्तु पूर्वं कृष्णेन यत्र सङ्गताः तदेव कालिन्द्याः पुलिनमागत्य समवेताः समुदिताः कृष्णभावनायुक्ताः कृष्णस्याऽऽगमने काङ्क्षितं काङ्क्षा यासां ताः कृष्णमेव जगुः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीविरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

---

1. t,W Omit अन्वेषणात्

**विज०** गां दृष्टिं पान्ति रक्षन्ति दुर्विषयगमनराहित्येनेति गोप्य इन्द्रियवृत्तयः शास्त्रविषयाः अविदूरतः ज्ञात्वा समीपे स्थिताः मुक्तेः पूर्वमपरोक्षबुद्धेः आविर्भावतिरोभावौ क्वचित्स्याता मिति भावदर्शनायोच्यते प्रियेत्यादिना ॥ ४१ ॥

मानप्राप्तिं अपरोक्षलक्षणमानप्राप्तिम् ॥ ४२ ॥

यावच्चन्द्रज्योत्स्ना विभाव्यते तावत् वनाद्वनं गत्वा ततश्चन्द्रचन्द्रिकास्तमयानन्तरं प्रविष्टं प्राप्तं तम आलक्ष्य दृष्ट्वा निववृतुः, निवृत्ता इत्यनेन दुश्शास्त्रान्निवृत्त्य सच्छास्त्राभ्यसनाय यत्नं चक्रुरिति सूच्यते। 'स्त्यै ष्टचै शब्दसङ्घातयोः' इति धातोः शास्त्रविषया बुद्धयः ॥ ४३ ॥

सत्त्वबुद्धीनां स्वभावं दर्शयति **तन्मनस्का** इति ॥ ४४ ॥

समवेताः एकविषयीकृताः तस्य कृष्णस्य अगमनकाङ्क्षिण्यः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

(श्रीविजयध्वजरीत्या अष्टाविंशोऽध्यायः)

# एकत्रिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या एकोनत्रिंशोऽध्यायः)

गोप्य ऊचुः

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।[1]
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकाः त्वयि धृतासवस्त्वां[4] विचिन्वते[3] ॥ १ ॥[2-]

शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः ॥ २ ॥

विषजलाप्ययाद्व्यालराक्षसात्[5] वर्षमारुताद्वैद्युतानलात् ।
वृषमयात्मजाद्विश्वतो भयात्[6] ऋषभ[7] ते वयं रक्षिता मुहुः[8] ॥ ३ ॥

न[9] खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो[10] विश्वगुप्तये[11] सख उदेयिवान् सात्त्वतां कुले ॥ ४ ॥

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य[12]! ते चरणमीयुषां[13] संसृतेर्भयात् ।
करसरोरुहं कान्त! कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥ ५ ॥

---

1. M,Ma साधु तत्र° 2- -2. M,Ma त्वा दिदृक्षतां 3. M ग° 4. M,Ma स्त्वा वि° 5. M.Ma V °श° 6. M,Ma भयाद्व्यादि 7. M,Ma मुखात् 8. T,W वृ° 9. M,Ma स 10. T,W,V °घ° 11. M,Ma °र्चि° 12. M,Ma वर्य 13. M,Ma,V श°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एकत्रिंशे निशायां[1] ताः पुनः पुलिन मागताः। कृष्णमेवाऽनुगायन्त्यः प्रार्थयन्ते तदागमम्॥

**जयतीति**। हे दयित! ते जन्मना व्रजः अधिकं यथा भवति तथा जयति अत्युत्कर्षेण[2] वर्तते। यस्मात् त्वमत्र जातः तस्मात् इन्दिरा लक्ष्मीः अत्र हि श्रयते[3] व्रजमलङ्कृत्य वर्तते। एवं व्रजे[4] सर्वस्मिन् मोदमाने अत्र तु तावकाः त्वदीयगोपीजनाः[5] त्वयि त्वदर्थमेव कथञ्चित् धृता असवो यै स्ते त्वां विचिन्वते, मृगयन्ते[6]। अतस्त्वया दृश्यतां प्रत्यक्षीभूयतामिति। यद्वा अस्माभि र्भवान् दृश्यताम्। यद्वा, एवं त्वया दृश्यता मेते विचिन्वते इति, अत्र स्वतन्त्राणां बहूनां च वक्तृत्वात् अपरा आहुरिति सर्वश्लोकेष्ववतारणा[7]। तथाऽपि सङ्गतिरुच्यते[8] ॥ १ ॥

तत्र विचिन्वन्तु, मम किमितिचेत् तत्राहुः — **शरदिति**, शरादुदाशये शरत्कालिके[9] सरसि सा[10-] धुजात सत्सरसिजोदर श्रीमुषा[-10] साधु जातं सम्यग्जातं यत्सरसिजं सुविकसितं[11] पद्मं तस्योदरे गर्भे या श्री स्तां मुष्णाति हरतीति तथा। तथा दृशा नेत्रेण हे सुरतनाथ! सम्भोगपते! वरद! अभीष्टप्रद! अशुल्कदासिकाः अमूल्यदासीः नः[12] निघ्नतो मारयतः ते तव त्वया क्रियमाणः इहलोके अयं वधो न भवति किम्? किं[13] शस्त्रेणैव वधो वधः? किं दृशा वधो[14] वधो न भवति? किन्तु भवत्येव। अत स्तव दृशा अपहृतप्राणप्रत्यर्पणाय त्वया दृश्यता मिति भावः। त्वया दृश्यतामिति यथासम्भवं सर्वत्र वाक्यशेषः ॥ २ ॥

किञ्च बहुभ्यो मृत्युभ्यः कृपया रक्षित्वा किमिति इदानीं दृशा मन्मथं प्रेष्य घातयसीत्याहुः — **विषेति**। हे ऋषभ! श्रेष्ठ! विषमयाज्ज[15-] लाशयात्[-15] तथा व्यालराक्षसात् अघासुरात्, वर्षात् मारुतात् वैद्युतानलात् अशनि[16] निपातात्। वृषोऽरिष्टः तस्मात् मयात्मजात् व्योमात् विश्वतः अन्यस्मादपि सर्वतोभयाच्च बक[17]कालियदमनादिना रक्षिताः किमिदानी मुपेक्षसे भावः ॥ ३ ॥

अपि च विश्वपालनायाऽवतीर्णस्य तव भक्तोपेक्षा अत्यन्तमनुचितेत्याशयेनाऽऽहुः — **न खल्विति**। हे सखे! भवान् खलु निश्चितं यशोदासुतो न भवति, किन्तु सर्वप्राणिनां बुद्धिसाक्षी। ननु स किं दृश्यो भवति? तत्राऽऽहुः विघ्ननसा ब्रह्मणा विश्वपालनाय प्रार्थितस्सन् सात्त्वतां कुले उदेयिवान् उदित इति ॥ ४ ॥

तस्मात्त्वद्भक्तानामस्माक मेतत्प्रार्थनाचतुष्टयं सम्पादयेत्याहुः चतुर्भिः — **विरचितेति**। हे वृष्णिधुर्य! संसृतेर्भयात् ते चरणमीयुषां[18] शरणं[19] प्रापानां प्राणिनां विरचितं दत्त मभयं येन तत्तथा। हे कान्त! कामदं वरदं तथा श्रियः करं तथा, तद्भवतः[20] करसरोरुहं नः शिरसि धेहि ॥ ५ ॥

1. J,Va निराशाः 2. J,Va omit अति 3. P,V, omit श्रयते 4. Va omits व्रजे 5. J,Va याः 6. J,Va omit मृगयन्ते 7. P,V धा° 8. J,Va अ° 9. J,Va कलीने 10- -10. J,Va omit 11. J,Va omit सु 12. V omits नः 13. J,Va omit किं 14. J,Va omit वधो 15- -15. J,Va जलात् यः अप्ययः नाशः तस्मात् 16. J,Va omit नि 17. J,Va omit बक° 18. P,Va °श 19. Va omits प्रापानां 20. J,Va °वत्क°

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

"तद्गुणानेव गायन्त्यः" (भाग 10-30-44) कृष्णं जगुः इति चोक्तं, तदेव गानं प्रपञ्चयत्येकत्रिंशेन **जयतीति**। व्रजस्ते तव जन्मना हेतुना नितरां जयत्युत्कर्षं प्राप्नोति। किञ्च तव जन्मना इन्दिरा लक्ष्मीरपि नित्यमत्र व्रजे श्रयते व्रजमलङ्कुर्वती अस्माभिरलक्ष्यमाणा च अत्रैव वर्तत इत्यर्थः। यद्वा अत्र व्रजे श्रयते त्वामिति शेषः। नित्यानपायित्वादिति भावः। इन्दिरा महती समृद्धिर्वा। एवं सर्वस्मिन् व्रजे मोदमानेऽत्र त्वदीया वयन्तु त्वयि निमित्ते त्वदर्थमेवेत्यर्थः। कथञ्चिद्धृताः असवः प्राणाः याभिस्तथाभूता स्त्वामेव मृगयन्ते अतस्त्वया दृश्यताम् प्रायक्षीभूयताम् अस्माकमिति शेषः। अत्र वक्तृबाहुल्यात् प्रतिश्लोक 'मपरा आहु' रित्यवतारणा द्रष्टव्या। तत्र यथासम्भवं पूर्वोत्तरवचसां सङ्गति रुच्यते ॥ १ ॥

तत्र विचिन्वन्तु, मम किं तत्राऽऽहुः **शरदिति**। शरत्कालिके सरसि सम्यक् जातस्य, अनेन गम्भीरारम्भस्समुद्भूतत्वमभिप्रेतेम् सत्सरसिजस्य सत्त्वमत्र सुमृष्टनालत्व रविकरविकसितत्त्वादिकं विवक्षितम्। उदरे गर्भे या श्रीः ताम् मुष्णाति हरति तिरस्करोतीति यावत्। तथा तया दृशा नेत्रेण हे सुरतनाथ! सम्भोगवर्धक! तदर्थं याचनीयेति वा। हे आत्मपर्यन्ताभीष्टप्रद! तव अशुल्कदासिकाः मूल्यरहिता दासीः मूल्यं विनाऽपि दास्यं प्राप्ताः, शुल्कदासिका इति च्छेदे तव सम्बन्धिना शुल्केन सौन्दर्यात्मकेन मूल्येन दासीरस्मा निघ्नतो मारयतः ते तव त्वया क्रियमाणः इह लोके अयं वधो न भवति किम्, शस्त्रेणैव वधो वधः, दृशा वधो वधः किं न भवतीति भावः। दृशा निघ्नत इत्यनेन दृशा नः प्राणानपहृतवत इत्यभिप्रेतम्। अतः त्वद्दृशाऽपहृतप्राणप्रत्यर्पणाय त्वया दृश्यतामिति, यथासम्भवं सर्वत्र वाक्यशेषः॥ २॥

किञ्च कृपया बहुभ्यो मृत्युभ्यो रक्षितवतोऽधुना दृशैव घातोऽनुचित इत्यभिप्रेत्याऽऽहुः **विषेति**। हे ऋषभ श्रेष्ठ! विषमयात्कालियह्रदजलाद्योऽप्ययो नाशः तस्मात् तथा व्यालराक्षसात् अघासुरात् वर्षात् मारुतात् वैद्युतानलात् अशनिपातजादग्नेः वृषोऽरिष्टः तस्मात्[1] मयात्मजात् व्योमासुरात् विश्वतः अन्यस्मादपि सर्वतो भयाच्च, कालियमद दमनादिभिः पुनः पुनारक्षिताः। किमिदानीं केवलदृशा घातयसीति भावः ॥ ३ ॥

किञ्च निखिलजगत्पालनार्थमवतीर्णस्य, तत्राऽपि स्वाश्रितपक्षपातिनः तवाऽऽश्रितोपेक्षाऽनुचितेत्यभिप्रेत्याहुः — **न खल्विति**। हे सखे, भवान्, खलु नूनं, यशोदासुतो न भवति प्राकृतः केवलं यशोदासुतोनभवति, किन्तु अखिलदेहिनामन्तरात्मा अतो दृक् पश्यति सर्वमिति दृक्। कर्तरि क्विप्। अन्तः प्रविष्टः शुभाशुभसाक्षी परमात्मेत्यर्थः। स किं कर्मायत्तदेहभाग्भवति? नेत्याहुः, विधनसा विरिञ्चिना विश्वपालनाय प्रार्थितः सात्त्वतां भक्तानां यदूनां कुले उदेयिवान् स्वेच्छयाऽवतीर्णः, न तु प्राकृतवत् कर्मणा जात इत्यर्थः ॥ ४ ॥

तस्मात्तावकानामस्माकमभिमतमेतच्चतुष्टयं सम्पादयेत्याहुः चतुर्भिः — **विरचितेति**। हे वृष्णिधुर्य![2]! संसृतेर्भयात् संसारभयात्[3] तव चरणमीयुषां शरणं गतानां जनानां विरचितं दत्तमभयं येन तत् कामदमभीष्टदं तथा श्रियोलक्ष्म्याः करं गृह्णातीति तथा, तत्करसरोरुहं हे कान्त! नोऽस्माकं शिरसि निधेहि ॥ ५ ॥

1. K. °लं 2. T,W वर्य 3. T,W omit संसारभयात्

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

वेदान्तानधिकारिणां मुमुक्षुविविदिषूणां समर्थानां हरेस्सङ्कीर्तनमेव तदुपासनं स्यात् तत्प्रसादजनकत्वेनेति, अतः स्त्रीभूतानां गोपीनामुपासनाप्रकारं[1] निरूपय त्यस्मिन्नध्याये। तत्र गोप्यः चित्ते सन्निहितत्वात् सम्बोध्याऽगायन् — **जयतीति**। कृष्णेत्यध्याहार्यम्। हे कृष्ण! व्रजन्ति यस्मिन्निवासं गोपा इति गोपनिवासस्थानं व्रजः। अयं ते तव जन्मना अधिकं जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते। तत्र हेत्वन्तरञ्चाऽऽहुः श्रयत इति। तत्र व्रजे, 'इदि परमैश्वर्ये इति धातुः। इन्दिं ऐश्वर्यं

राति ददातीति नित्यैश्वर्यरूपत्वात् इन्दिरा श्रीः, साऽधुना श्रयते आश्रयते हि यस्मात्तस्माच्चेत्यर्थः। तव जन्मनिमित्तं श्रियः श्रयणञ्च त्वयाऽविनाभूतत्वाच्छ्रिय इति भावः। स्वाभिप्रायं दर्शयन्ति दयितेति। हे प्रेष्ठ, भवान् स्वात्मनैव त्वा दिहक्षतां द्रष्टुकामानां दृश्यतां चक्षुर्विषयो भवतु, त्वयि गतासवः समर्पितप्राणाः त्वा त्वां विचिन्वते, साकाङ्क्षत्वा दर्शनदानं युक्तमित्यर्थः॥ १॥

अलुक्समासन्यायेन शरदुदाशय इत्येकं पदम्। शरदुदाशये शरत्कालसम्बन्धिसरोवरे साधु भूम्याद्युपद्रव मन्तरेणजातम् उत्पन्नम्, अत एव सत् प्रशस्तं विकसितं यत्सरसिजं पद्मं तस्य उदरं अरुणायमानमन्तर्दलं तस्य श्रियं शोभां मुष्णातीति शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदर श्रीमुट् तथा दृशा शुल्कदासिकाः क्रीतदासीः नो निघ्नतो मारयतः ते अस्मदाशादिहनने किं वधो न भवति? खड्गादेरप्यधिको वधोऽर्धरात्रेऽस्मत्त्याग इत्यर्थः। सुरतनाथ निधुवनवीर! ॥ २ ॥

इदानीमपि अस्मद्रक्षा भवता कार्या, तथा यथा पुराकृता इत्याशयेनाऽऽहुः **विषेति**। विषजलाशयात् विषयुतयमुनाह्रदात्। यद्वा विषजलपानेन आशयो दीर्घनिद्रा मरणं तस्मात्। व्यालात्सर्पात्, राक्षसात्तृणावर्तनाम्नः वर्षयुक्ताद्वायोः वैद्युतानलात् निर्घातलक्षणाग्नेः वृषमया द्वत्सासुरनिमित्ताद्भयात्, किं बहुना? हे वृषभ श्रेष्ठ!, विश्वतोमुखात् भयात् ते त्वया वयं मुहुः रक्षिता इत्यन्वयः॥ ३॥

गोप्यः स्वतत्त्वज्ञानं विज्ञापयन्ति **न खल्विति**। गोपिका नन्दयतीति गोपिकानन्दनः स भवान् हे सखे! विश्वगुप्तये जगद्रक्षार्थं सात्त्वतां यदूनां कुले उदेयिवान् उदयं गतः, जन्मभजनाय योग्यो नेत्याशयेनाहुः — **अखिलेति**। अखिलदेहिना मन्तर्यामित्वेन द्रक्ष्यति पश्यतीति। यद्वा अन्तरात्मानं स्वरूपं पश्यतीति। "अनश्नन्नन्य अभिचाकशीति" (मुण्ड उ. 3-1-1) इति श्रुतिः। किञ्च विखनसार्चितः ब्रह्मणा पूजितः विरिञ्चिगुरुरित्यर्थः। यद्वा, यः सात्त्वतां कुले उदेयिवान् स भवान्गोपिकानन्दनः खलु न भवतीत्यर्थः। "निषेधे वागलङ्कारे क्षीप्सनेऽनुनये खलु" (वैज. को. 8-7-20) इति च। "अलं खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा" इति क्त्वायोगः अक्षेपापेक्षिकः। तर्हि क इति तत्राऽऽहुःअखिलेति। न खल्विति पाठे वाक्यालङ्कारार्थः॥ ४॥

विरिञ्चिगुरुश्चेत् अपेक्षिताशेषपुरुषार्थप्रदः स्यात्तत्र कथं निर्णय इत्याहुः **विरचितेति**। श्रियः करं गृह्णातीति श्री करग्रहं, शरणमीयुषां पुंसां धेहि निधेहि, हे कान्त! कमनीय! ॥ ५ ॥

1. Ma °न

**★व्रजजनार्तिहन्वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित।**
**भज सखे भवत्किङ्करीः[1] स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय[2] ॥ ६ ॥**

**प्रणतदेहिनां पापकर्शनं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम्।**
**फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ॥ ७ ॥**

मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण ।
विधिकरी रिमा वीर मुह्यती रधरशीधुनाऽऽप्याययस्व नः ॥ ८ ॥

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते[3] भूरिदा जनाः ॥ ९ ॥

प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षितं विहरणञ्च ते ध्यानमङ्गलम् ।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक! नो मनः क्षोभयन्ति हि ॥ १० ॥

---

★ According to M.Ma this is second verse 1. M.Ma भवे किं 2. M.Ma °यन् 3. T.V.W ये 4. G.J.M.Ma.Va °क्षणं

**श्रीध० व्रजेति।** हे व्रजजनार्तिहन्! हे वीर! निजजनानां यः स्मयो गर्वः तस्य ध्वंसनं नाशकं स्मितं यस्य तथाभूत, हे सखे! भवत्किङ्करीः नोऽस्मान् भज आश्रय। स्म[1] निश्चितम्। प्रथमं तावत् जलरुहाननं चारु योषितां नो दर्शय ॥ ६ ॥

**प्रणतेति।** अ[2]विशेषेण प्रणतानां देहिनां पापकर्शनं पापहन्तृ तृणचरान् पशून् अनुगच्छति कृपयेति। तथा सौभाग्येन श्रियो निकेतनं, वीर्यातिरेकेण फणिनः फणास्वर्पितं ते पदाम्बुजं नः कुचेषु कृणु कुरु किमर्थम्? हृच्छयं कामं कृन्धि छिन्धि ॥ ७ ॥

**मधुरयेति।** हे पुष्करेक्षण! तवैव मधुरया गिरा वल्गूनि वाक्यानि यस्यां तया बुधानां मनोज्ञया हृद्यया गम्भीरयेत्यर्थः मुह्यती इमा नः विधिकरीः किङ्करीः[3] अधरशीधुना आप्याययस्व सञ्जीवयेति ॥ ८ ॥

किञ्च अस्माकं त्वद्विरहे प्राप्तमेव मरणं, किन्तु त्वत्कथामृतं पाययद्भिः सुकृतिभिः वञ्चितमित्याहुः — **तवेति।** कथैवामृतम्, अत्र हेतुः, तप्तजीवनं प्रसिद्धादमृता[4]दुष्कर्ष माहुः। कविभिः ब्रह्मविद्भिरपि ईडितं स्तुतं, देवभोग्यन्तु अमृतं तै स्तुच्छीकृतम्। किञ्च कल्मषापहं कामकर्मनिरसनम्। तत्तु अमृतं नैवम्भूतम्। किञ्च श्रवणमङ्गलं श्रवणमात्रेण मङ्गलप्रदम्, तत्तु अनुष्ठानापेक्षम्। किञ्च श्रीमत् सुशान्तं, तत्तु मादकम् एवम्भूतं त्वत्कथामृतं आततं यथा भवति तथा भुवि ये गृणन्ति निरूपयन्ति ते जनाः भूरिदाः बहुदातारः जीवितं ददतीत्यर्थः। यद्वा एवम्भूतं त्वकथामृतं ये भुवि गृणन्ति ते भूरिदाः पूर्वजन्मसु बहुदत्तवन्तः सुकृतिनः इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति — ये केवलं कथामृतं गृणन्ति तेऽपि तावदतिधन्याः, किं पुनर्ये त्वां पश्यन्ति। अतः प्रार्थयामहे त्वया दृश्यता मिति ॥ ९ ॥

ननु[5] मत्कथाश्रवणेनैव निर्वृता भवत[6]; किं मद्दर्शनेन - [7]त्वद्विलासक्षुभितचित्ता वयं तत्राऽपि शान्तिं विन्दाम इत्याहुः — **प्रहसितमिति।** हे प्रिय! कुहक! कपट! संविदः सङ्केतनर्माणि ॥ १० ॥

---

1. J.Va add इति 2. V. omits अ 3. P.V omit किङ्करीः 4. J. Va °द्धामृ° 5. P.V add तर्हि 6. P.V °न्तु 7. J.V add न.

**वीर०** हे व्रजजनार्तिहन्, हे वीर! निजजनानां यः स्मयो गर्वः तं ध्वंसयतीति तथा। नन्द्यादेराकृतिगणत्वात् कर्तरि ल्युः। तथाभूतं स्मितं यस्य, हे तथाभूत, हे सखे, भवत्किङ्करीः नोऽस्मान् भज अनुवर्तस्व, स्म निश्चितम्, अद्भुतं वा। सुन्दरं जलरुहाननं तावद्योषितामस्माकं दर्शय ॥ ६ ॥

अविशेषेण प्रणतानां देहिनां पापहन्तृ, तृणचरा गावः, ता अनुसृत्य गच्छतीति तथा, सौभाग्येन श्रियो निकेतन माश्रयभूतं वीर्यातिरेकेण फणिनः कालियस्य फणेष्वर्पितं तव पदाम्बुजं नोऽस्माकं कुचेषु कृणु निधेहि। हृच्छयं कामं कृन्धि छिन्धि ॥ ७ ॥

हे पुष्करेक्षण! बुधानां हृद्यया वल्गूनि वाक्यानि यस्यां, तथा अत एव मधुरया कोकिलादिशब्दवच्छ्राव्यया तव गिरा मुहुर्यतीर्विधिकरीः किङ्करीश्च इमा नोऽस्मान् अधरामृतेन आप्याययस्व सञ्जीवय ॥ ८ ॥

किञ्च अस्माकं त्वद्विरहेण मरणं प्राप्तप्रायमेव। किन्तु त्वत्कथामृतं मिथः ये पाययन्ति तैर्वञ्चितमित्यभिप्रेत्याहुः — **तवेति**। तव कथैव अमृतं, तत्र हेतुः तप्तानां तापत्रयतप्तानां जीवनम्। प्रसिद्धामृतादुत्कृष्टता माहुः। कविभिर्ब्रह्मादिभिः ईडितं स्तुतम्। देवभोग्यन्त्वमृतं तैः तुच्छीकृत मिति भावः: किञ्च कल्मषापहं श्रोतॄणां[1-] वदतां स्मरताश्च पापहरम्, प्रसिद्धन्तु नैवंविध मितिभावः। किञ्च श्रवणमात्रेणैव मङ्गलं निःश्रेयसरूपं यस्मात्तथाभूतम्, प्रसिद्धन्तु पुनस्संसारनिमित्तमिति भावः। किञ्च। श्रीमत् शान्त्यादि गुणावहम्। प्रसिद्धन्तु मादकमिति भावः। एवम्भूतं[-1] त्वत्कथामृतं आततं विस्तृतं यथा तथा। भुवि ये गृणन्ति निरूपयन्ति ते जनाः भूरिदाः बहुवदान्याः जीवितं दधतीत्यर्थः। पूर्वजन्मसु बहुदत्तवन्तः सुकृतिन इति यावदिति वा॥ ९॥

मत्कथामृतश्रवणेनैव तृप्ता भवथ इत्यत्र तथाऽपि त्वद्विलासक्षुभितचित्ता वयं न शान्तिमाप्नुम इत्यभिप्रेत्याहुः — **प्रहसितमिति**। हे प्रिय! हे कुहक! वञ्चक! तव प्रहसितञ्च, प्रेम्णा वीक्षितञ्च। ध्यानमङ्गलं ध्यानेनापि मङ्गलं सुखं यस्मा त्तत् विहरणञ्च। याश्च रहसि संविदः सङ्केतचेष्टाः कथम्भूताः हृदिस्पृशो हृदयारूढाः ताश्च नोऽस्माकं मनः क्षोभयन्ति हि ॥ १० ॥

1- -1. T omits.

**विज०** व्रजजनस्य आर्तिं हन्ति हिनस्ति नाशयतीति व्रजजनार्तिहा, तस्य सम्बोधनं व्रजजनार्तिहन्! वीर! शूर! निजजनस्य स्मयो गर्वः तं ध्वंसि स्मितवत् स्मितं यस्य स तथा तत्सम्बुद्धिः निजजनस्मयध्वंसनस्मित, 'यूष पूष कामसमृद्धौ' इति धातोः योषितां समृद्धकामानां नः कामसमृद्धिं, पालयेति शेषः। कथङ्कारं पालनम् अत्राऽऽहुः — भजेति। हे सखे, चारु सुन्दरं तव, जलरुहस्य पद्मस्य सममाननं प्रवृत्तिशून्यस्य यद्दर्शनेच्छा स्यात् तादृक्शक्तिवन्मुखं दर्शयंस्त्वं किङ्करीः दासीः नो भज पालय, स्म स्मृत्वा पत्यादीन् विहाय अर्धरात्रे वनं प्राप्ता इति। भवे भवे इति द्विरावृत्तिः कर्तव्या जन्मनि जन्मनि किङ्करी रित्यर्थः। यद्वा भवे, तादर्थ्ये सप्तमी, अस्मद्भद्रार्थमित्यर्थः। यद्वा, अस्मज्जीवनसत्तायां विवक्षितायाम्। अन्यथा मरणमेवाऽस्माक मापद्यत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

न केवलं करनिधानेन पूर्यते। अपि तु कुचेषु चरणनिधानञ्चापेक्षितमित्याहुः — **प्रणतेति**। तृणचरान् पशून् अनुगच्छतीति तृणचरानुगं, फणिफणेष्वर्पितम् कृणु कुरु। हृच्छयं कामं कृन्धि छिन्धि॥ ७ ॥

वल्गूनि मनोहराणि वाक्यानि निराकाङ्क्षाणि पदात्मकानि यस्यां सा तथा, तथा बुधानां विदुषां मनोज्ञया हृद्यया। मधुरयेत्यनेन प्राप्तां बालभाषणशङ्कां निराकरोति। विधिकरी दासीः अधरशीधुना अधरामृतेन आप्याययस्व सेचय जीवय वा, मुह्यतीः मोहं गच्छतीः ॥ ८ ॥

तप्तान् जीवयतीति तप्तजीवनं श्रवणमात्रेण मङ्गलं श्रीमत्समृद्धिम् आततं विस्तृतं भुवि ये जनाः तव कथामृतं गृणन्ति पानादिना ते भूरि बहुलं दुःखं घ्नन्ति खण्डयन्तीति, भूरीणि हिरण्यादीनि ददतीति वा। "भूरि स्वर्णं जातरूपं हिरण्यं राः कल्याणं हेम रुक्मं सुवर्ण" मिति। भवन्तीति शेषः ॥ ९ ॥

तव कथामृतं तप्तजीवनादिफलदञ्चेत् अधरशीधुनाऽऽप्यायनं किमर्थमित्याशङ्क्य तव हसितादिना मुग्धा वयं तवाधरशीधुं प्रार्थयामहे इत्याशयेनाऽऽहुः — **प्रहसितमिति**। हे प्रिय! प्रेम्णा वीक्षणं ध्यानमङ्गलं विहरणं विहारः विक्रमणलक्षणः हृदिस्पृशः हृदयङ्गमाः संविदः सम्भाषणादयः। "संविद्युद्धे प्रतिज्ञायां सङ्केताचारनामसु। सम्भाषणे क्रियाकारे विज्ञाने तोषणेऽपि च" इति वचनात्। एते सर्वेपि सुरते सम्भवन्ति। कुहक! धूर्तेति प्रणयकोपे। हि यस्मात्तस्मात् अधरामृतपानप्रार्थनम्॥ १० ॥

**चलसि यद्व्रजाच्चारयन्पशून्नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्।**
**शिलतृणाङ्कुरै स्सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति ॥ ११ ॥**[1]

**दिनपरिक्षये नीलकुन्तलै र्वनरुहाननं बिभ्र दावृतम्।**
**वनरजस्वलं दर्शयन्मुहु र्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ॥ १२ ॥**[2]

**प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि।**
**चरणपङ्कजं शन्तमञ्च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाऽऽधिहन् ॥ १३ ॥**

**सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम् ।**
**इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर न स्तेऽधरामृतम् ॥ १४ ॥**

**अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटि युँगायते त्वामपश्यताम् ।**
**कुटिलकुन्तलं श्रीमुखञ्च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृ दृशाम् ॥ १५ ॥**[4] [5]

1. G.J.M.Ma, T.V.Va.W सि° 2. G.J.Va. घ° 3. G.J.M.Va °र्यु° 4. M.Ma °व° 5. M.Ma नुर्ह°

**श्रीध०** किञ्च त्वयि वयमतिप्रेमार्द्रचित्ताः, त्वं पुन रस्मासु केन हेतुना कपटमाचरसीत्याहुः श्लोकद्वयेन — **चलसीति**। हे नाथ! कान्त! यद्यदा व्रजाच्चलसि, पशूंश्चारयन् तदा तत् [1-] नलिनवत् सुन्दरं [-1] कोमलं ते पदं, शिलैः कणिशैः तृणैरङ्कुरैश्च सीदति क्लिश्यतीति [2-] [-2] नो मनः कलिलतां अस्वास्थ्यं गच्छति प्राप्नोति। एवम्भूता स्त्वद्दुःखशङ्कितचित्ता वयम् ॥ ११ ॥

**दिनेति**। त्वन्तु दिनपरिक्षये सायङ्काले नीलकुन्तलै रावृतं, घनरजस्वलं गोरजश्छुरितं वनरुहाननम् अलिमालाकुल परागविच्छुरितपद्मतुल्यमाननं [3] बिभ्रत् तच्च मुहुर्मुहुः दर्शयन्नो मनसि केवलं स्मरं यच्छसि अर्पयसि, न तु सुखं [4] ददासीति कपटः[5] इति भावः ॥ १२ ॥

अतोऽधुना कपटं विहाय एवं कुर्विति प्रार्थयन्ते श्लोकद्वयेन **प्रणतेति**। हे आधिहन्! हे रमण! पद्मजेन [6] अर्चितम् आपदि ध्येयं ध्यानमात्रेण आपन्निवर्तकं शन्तमञ्च सेवासमयेचाऽपि सुखतमं तव [7] चरणपङ्कजं कामतापशान्तये नः स्तनेष्वर्पयेति ॥ १३ ॥

अपि च हे वीर! ते अधरामृतं नो वितर देहि। स्वरितेन नादितेन वेणुना सुष्ठु चुम्बित मिति, वेणुनादामृत [8] वासितमितिभावः। इतररागविस्मारणं नृणामितरेषु सार्वभौमादिसुखेषु रागमिच्छां विस्मारयति विलोपयतीति तथा तत् ॥ १४ ॥

किञ्च क्षणमपि त्वददर्शने दुःखं, दर्शने सुखञ्च दृष्ट्वा सर्वसङ्गपरित्यागेन यतय इव वयं त्वामुपागताः त्वन्तु कथ मस्मान् त्यक्तु मुत्सहस इति सकरुणमूचुः श्लोकद्वयेन [10] **अटतीति**। यत् यदा भवान्काननं बृन्दावनं प्रति अटति गच्छति तदा त्वामपश्यतां प्राणिनां त्रुटिः क्षणार्धमपि युगवद्भवति। एवमदर्शने दुःखमुक्तम्। पुनश्च कथञ्चिद्दिनान्ते ते तव श्रीमन्मुखं उत् उच्चैरीक्षमाणानां तेषां दृशां पक्ष्मकृत् ब्रह्मा जडो मन्द एव। निमेषमात्रमप्यन्तर मसहचमिति दर्शने सुखमुक्तम्॥ १५॥

1- -1. J.Va नलिनसुन्दरं 2- -2. J.Va क्लिश्येदिति 3. J.Va omit वि 4. J.Va सङ्गं 5. J.Va add त्वम् 6. J.Va add ब्रह्मणा 7. J.Va ते 8. J. Va omit वेणु 9. J.Va ला° 10. J.Va omit श्लोक

**वीर०** किञ्च। त्वयि वय मतीव प्रेमार्द्रचित्ताः, त्वन्तु कुतोऽस्मा न्वञ्चयसीत्यभिप्रेत्याऽऽहुः द्वाभ्याम्। हे नाथ! हे कान्त! यद्यदा पशून् चारयन् व्रजाच्चलसि तदा नलिनवत्सुन्दरं कोमलं ते तव पदं शिलैः कठिनैः तृणैः, अङ्कुरैश्च सीदतीति क्लिश्येदिति [1] नोऽस्माकं मनः कलिलता मस्वास्थ्यं गच्छति याति ॥ ११ ॥

एवम्भूता स्त्वत्क्लेशशङ्कितचित्ता वयम्। त्वन्तु दिनपरिक्षये सायङ्काले नीलकुन्तलैः आवृत्तं वनरजस्वलं गोरजश्छुरितं वनरुहाननम् अलिमालाकुलपरागच्छुरितपद्मतुल्य माननं मुहुर्मुहु र्दर्शयन् नोऽस्माकं मनसि केवलं हे वीर! स्मरं यच्छसि काममुद्दीपयसि, न तु सङ्गं ददासि। अतः कपटस्त्वमिति भावः ॥ १२ ॥

अतोऽधुना कपटं विहाय सङ्गतो भवेति प्रार्थयन्ते द्वाभ्याम्। हे रमण! तव चरणपङ्कजं अस्माकं स्तनेषु अर्पय, निधाय कामाग्निं शमयेति भावः। तदनुगुणं सम्बोधयन्ति हे आधिहन्निति। आधिर्मनःपीडा। कथम्भूतं, शन्तमं सेवासमये सुखतमं, आपदि ध्येयञ्च। धरण्यां मण्डन मलङ्कारभूतं ह्रस्वत्वमार्षम्[2-2]। पद्मजेन ब्रह्मणा अर्चितं प्रणताभीष्टदञ्च॥ १३॥

तथा हे वीर! तवाऽधरामृतं वितर देहि। कथम्भूतम्? नृणामितरेषु सार्वभौमादिसुखेषु रागमिच्छां विस्मारयति लोपयतीति तत्तथा। स्वरितेन नादितेन वेणुना स्वरयुक्तेन वेणुना सुष्ठु यथा तथा चुम्बितं नादामृतवासित मिति भावः शोकनाशनं तापत्रयजदुःखशामक मुत्तरोत्तरं रतिवर्धकञ्च ॥ १४ ॥

किञ्च क्षणमपि त्वद्विश्लेषमसहमाना स्सर्वसङ्गपरित्यागेन वयं यतय इव त्वां उपागताः। त्वन्तु कथमस्मान् त्यक्तु मुत्सहसे इत्यभिप्रेत्याऽऽहुः - द्वाभ्याम्। भवान्[3] यद्यदा अह्नि बृन्दावनं प्रत्यटति गच्छति, तदा त्वामपश्यतां प्राणिनां त्रुटिः क्षणार्धमपि युगवद्भवति। एव मदर्शने दुःखमुक्तम्। पुनश्च कथञ्चिद्दिनान्ते तव कुटिलाः[4] कुन्तलाः[5] यस्मिन् तत् श्रीमत् मुखं उत् उच्चैः ईक्षमाणानां तेषां दृशां पक्ष्मकृदब्रह्मा जडो मन्द एव। निमेषमात्रमपि असह्यमिति दर्शनसुख मुक्तम्॥ १५॥

1. T.W omit क्लिश्येदिति 2- -2. T.W omit 3. T.W omit भवान् 4. T.W °लानि 5. T.W °लानि

**विज०** त्वच्चरितं ज्ञानिनामपि दुर्बोधं किमुताऽस्माकमिति भावेनाऽऽहुः **चलसीति**। पशूंश्चारयन्[1] यद्यदा व्रजाच्चलसि गच्छसि तदा शिलतृणाङ्कुरैः छिन्नशिखत्वेन[2] परुषैरिषीकादितृणाग्रैः शिलाश्शर्कराः ताभिस्तृणाङ्कुरैश्च वा सीदति व्यथतीति कलिलतां, नारायणोऽन्योवेति[3] संशयपङ्किलताम् ॥ ११ ॥

ननु व्याकुलचित्तानां कामोद्बोधायोगात् 'कृन्धिहृच्छय' मिति कथमुक्तम्? अत्र वदन्ति - **दिनेति**। दिनपरिक्षये सन्ध्याकाले, वनादागच्छन्निति शेषः। वनरजस्वलं वनभूमौ सता गोरजसा युक्तं दर्शयन् नीलकुन्तलैरावृतं वनरुहं जलजं कमलं तद्वत् शोभमान माननं बिभ्रत् त्वं नो मनसि स्मरं कामं मुहुरनिशं नूतनम् ॥ १२ ॥

धरणि मण्डनं भूमिभूषणं सर्वापदि ध्येयं पद्मजार्चितं ब्रह्मणाऽऽराधितं शन्तमं सुखतमम् आधिहन्! मनोदुःखनाशन! ते चरणपङ्कजं नः स्तनेष्वर्पय निधेहीत्यन्वयः ॥ १३ ॥

स्तनतटेषु चरणार्पणादुद्बुद्धज्वलित कामाग्निज्वालाशमनाय तवाऽधरामृतपिपासुभ्योऽस्मभ्यं देहीत्याहुः **सुरतेति**। सुरतं ग्राम्यधर्मः। स्वरितवेणुना स्वरयुक्तवेणुना ध्वनियुक्तवेणुना रागो रस इतरेषां रसानां आस्वादनसुखं विस्मारयतीति इतरराग विस्मारणम्, इतरेषु मधुरेषु वस्तुषु रागं स्नेहं विस्मारयतीति इतररागविस्मारणं वा। वितर देहि। "विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्" (अम. को. 2-428) इति हलायुधः ॥ १४ ॥

किञ्च अहोरात्र मस्माकं त्वत्सञ्चिन्तनमेब, अन्यो व्यापारो नेष्यते इत्याशयेनाऽऽहुः **अटतीति**। यद्यदा यस्मिन्नहि काननमटति गच्छति तदा तस्मिन् अह्नि त्रुटिः, त्रुटीति प्रातिपदिकग्रहणं, तेन विभक्त्यन्तं पदं [4]लक्षयति। अणुद्वयलक्षणः परमाणुः त्रयः परमाणवः त्रसरेणुः, त्रय स्त्रसरेणबः त्रुटिः स कालावयवः नः त्वामपश्यतामस्माकं युगायते युगवदाचरति। दिव्यद्वादशसहस्रपरिमितसमानो वर्तते पक्ष्म नुदन्ति व्यथयन्तीति पक्ष्मनुदः तादृश्यो दृशो यासां तास्तथा। तासामनिमिषनेत्राणां तव मुखमीक्षतामीक्षमाणानामस्माकं प्रवृत्तिर्जडवदचेतनव न्निश्चेष्टनमित्यर्थः। अनेन बहुकालोऽपि त्रुटितुल्यइति सूच्यते। नुर्दृशामिति पाठे नु र्मानवस्य तव मुखमीक्षतां दृशां पक्ष्म जडवदुत्क्षेपावक्षेपलक्षणप्रवृत्तिशून्यमित्यर्थः। अनेन मानवस्याऽप्यनिमिषत्वं सूच्यते ॥ १५ ॥

1. M °शू° 2. M °खरत्वेन 3. Ma °णो वेति 4. Ma adds न

**पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलङ्घ्य ते[1] ह्यच्युतागताः।**
**गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ॥ १६ ॥**

**रहसिसंविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् ।**
**बृहदुरःश्रियो वीक्ष्यधाम[2-2] ते मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः ॥ १७ ॥**

**व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम् ।**
**त्यज मनाक्च न स्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम् ॥ १८ ॥**

**★यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताश्शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।**
**तेनाऽटवी मटसि तद्व्यथते न किंस्वित्कूर्पादिभिर्भ्रमति धी र्भवदायुषां नः ॥ १९ ॥**

इति श्रीमद्भगवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
रासक्रीडायां गोपीगीतं नामैकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

1. G.J K.Va.W तेऽन्त्य° 2. M.Ma वीर वीक्ष्य; T.V.W धाम वीक्ष्य 3. M.Ma भज. ★ This verse is not found in M.Ma. edns.

**श्रीध० पतीति**। तस्मात् हे अच्युत! पतीन्सुतान् अन्वयान् तत्सम्बन्धिनः भ्रातॄन् बान्धवांश्च अतिविलङ्घ्य ते[1] ते[2-] व समीपमागता वयम्। कथम्भूतस्य गतिविद अस्मदागमनं जानतः गीतगती र्वा जानतः गतिविदो वयंवा[-2] तवोद्गीतेन उच्चैर्गीतेन मोहिताः हे कितव! शठ! एवम्भूताः योषितः निशिस्वयमागताः, त्वामृते कस्त्यजेत् न कोऽपीत्यर्थः ॥१६॥

अतः त्वया त्यक्तानां अस्माकं प्राक्तनत्वद्दर्शननिदानस्य[3] हृद्रोगस्य त्वत्सङ्गत्यैव चिकित्सां कुर्वित्या[4-]हुः श्लोकद्वयेन[-4]। **रहसीति**। श्रियो धाम ते बृहत् विशालं उरश्च वीक्ष्य अतिस्पृहा भवति। तया च मुहुर्मुहुः मनो मुह्यति ॥ १७ ॥

**व्रजेति**। तव च व्यक्ति रभिव्यक्तिः व्रजवनौकसां सर्वेषां अविशेषेण वृजिनहन्त्री दुःखनिरसनी[5] विश्वमङ्गलं[6] सर्वमङ्गलरूपा च। अतः त्वत्स्पृहात्मनां त्वत्स्पृहारूढमनसां नः मनाक् ईषत् किमपि त्यज मुञ्च। कार्पण्य मकुर्वन् देहीत्यर्थः। किं तत्? स्वजनहृद्रोगाणां यदति गोप्यं निषूदनं निवर्तकमौषधम्। तत् त्वमेव वेत्सीति गूढोऽभिप्रायः[7] ॥ १८ ॥

अतिप्रेमधर्षिता रुदत्य[8] आहुः **यदिति**। हे प्रिय! यत्ते तव सुकुमारं पदाब्जं कठिनेषु कुचेषु सम्मर्दन शङ्किताः शनैःशनैः[9] दधीमहि धारयेम वयम्, त्वन्तु[10] तेन अटवी मटसि गच्छसि[11], नयसीति पाठे पशून् वा काञ्चिदन्यां वा आत्मानमेव वा नयसि प्रापयसि। तत् ततः तत्पदाम्बुजं वा। कूर्पादिभिः सूक्ष्मपाषाणादिभिः किं स्विन्न व्यथते। कथन्नु नाम न व्यथते[12]। भवानेवाऽऽयुर्जीवनं यासां तासां नो धी र्भ्रमति मुह्यतीति ॥ १९ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

1. J.Va omit ते 2- -2. V omits 3. J.Va °नह्° 4- -4. J. Va °त्याशये नाहुः द्वयेन। 5. J.Va °सि° 6. J.Va add इति 7. J.Va °ढाभिप्रायम् 8. P.V °न्त्य 9. J.Va omit शनैः 10. P.V omit त्वन्तु 11. J.Va omit गच्छसि 12. J व्यथेतेति।

**वीर०** तस्मात् हे अच्युत! पतीन् सुतानन्वयान् तत्सम्बन्धिनः भ्रातृन्बान्धवांश्च अत्यन्तं विलङ्घ्य ते तव अन्ति समीपमागता वयम्। कथम्भूतस्य? गतिविदः अस्मदागमनं जानतः गतिविदो वयं तवोद्गीतेन मोहिताः हे कितव! धूर्त! एवम्भूता योषितः निशि स्वयमागताः, त्वां विना कस्त्यजेत् न कोऽपीत्यर्थः ॥ १६ ॥

अतः त्वया त्यक्तानामस्माकं प्राक्तनत्वद्दर्शननिदानहृद्रोगस्य त्वत्सङ्गत्यैव चिकित्सां कुर्वित्याहुर्द्वाभ्याम् **रहसीति**। तव रहसि संविदं साङ्केत्यं कर्म हृच्छयोदयं कामजनकं प्रेम्णा वीक्षणञ्च प्रहसितमाननञ्च श्रियो लक्ष्म्याः स्थानभूतं बृहद्विशाल मुरो वक्षश्च वीक्ष्य अस्माक मतीव स्पृहा भवति, तया च मुहु र्मुहु र्मनो मुह्यते मोहं प्राप्नोति ॥ १७ ॥

अङ्ग! हे कृष्ण! तव अभिव्यक्तिरवतारो व्रजवनौकसां गोपानां मुनीनाञ्च वृजिनहन्त्री पापनिरसनी दुःखनिरसनी वा विश्वस्य मङ्गलं[1] मङ्गलावहा च। अतः त्वत्स्पृहात्मनां त्वत्स्पृहारुणमनसां नोऽस्माकं मना गीषत् त्यज मुञ्च, किञ्चित् देहीत्यर्थः। किं तत्? यत्स्वजनस्य हृद्रोगाणां निषूदनं निवर्तकं औषधं, तत्तु त्वमेव वेत्सीति गूढाभिप्रायः[2] ॥ १८ ॥

अतिप्रेमधर्षिता रुदन्त्य[3] आहुः - **यदिति**। हे प्रिय! यत्तव[4] सुकुमारं पदाब्जं तन्नः कठिनेषु[5] स्तनेषु सम्मर्दशङ्किताः शनैश्शनैः[6] धारयाम। तेन पदाब्जेन अधुना अटवीं अटसि चरसि। नयसीति पाठे अटवीं[7] प्रति पशूनात्मानं वा नयसि

प्रापयसि। तत्पदाब्जं कूर्पादिभिः तीक्ष्णसूक्ष्मशिलादिभिः किंस्विन्न व्यथते कथन्नु नाम न व्यथते, व्यथत एवेति, नोऽस्माकं धीः भ्रमति न स्वस्था भवति। कथम्भूतानां[8], भवानेवाऽऽयुः जीवितं यासां तथा भूतानां त्वदधीनजीवितानामित्यर्थः॥ १९॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

1. T.W omit मङ्गलं 2. K. गूढोऽभि 3. K °त्य 4. K omits यत् 5. K adds कुचेषु 6. K omits शनैः 7. K वनं 8. K adds नः.

**विज०** भगवदुन्मुखस्मरणमुग्धा गोप्यो रतिविहारसमयोऽयमिति निरूप्य सुरतसंविदाधि क्षिपन्ति-**पतीति**। ते तव सकाशमागता हि यस्मात् हे कितव! कः पुरुषः निशि योषितः त्यजेदित्यन्वयः। आगमने हेतुं वदन्ति गतिविद इति। गतिविदः आकर्षलक्षणगानज्ञस्य तवोद्गीतेन स्थितोत्थानकरगानेन मोहिताः मूर्च्छां प्रापिताः ॥ १६ ॥

किं बहुनोक्तेन, अस्मदवस्थेयं हीति विज्ञापयन्ति —**रहसीति**। हृच्छयस्य उदयो यस्मात् तत्तथा। वीक्ष्य निरूप्य अतिस्पृहा अतिशयितस्पृहया मुह्यते। विभक्तिव्यत्यय श्छान्दसः। बृहति दधातीति बृहत् श्रियः निवासस्थानमिति शेषः। यद्वा बृहदुरःश्रिय इत्येकं पदम्। बहुवचनं द्रष्टृणामनुक्षणं कान्तिविशेषबाहुल्यद्योतकम् ॥ १७ ॥

यदि भवानस्मदापदं न परिहरिष्यति तर्ह्ययमवतारो व्यर्थोऽभविष्यत्, न च तद्युक्तम्। अतोऽस्मद्दुःखं भवता अवश्यं परिहरणीयमिति भावेनाऽऽहुः — **व्रजेति**। भो अङ्ग! ते तवेयं व्यक्तिः अवतारलक्षणा व्रजौकसां गोपानां मार्गौकसां तीर्थसार्थानां वा निवहौकसां ग्रामवासिनां वा, वनौकसां वनवासिनां सन्न्यासिनां वा वानप्रस्थानां वा, जलाश्रयाणां वा अलमत्यर्थं वृजिनहन्त्री दुःखनाशिनी, यद्यस्मात् त्वयि स्पृहा यस्य स त्वत्स्पृहः आत्मा यासां ताः तथा, तासां नः चक्षुर्विषयं मनाक् ईषदपि भज। सामान्योक्त्या पुनरुक्तं कुर्वन्ति स्वजनेति। विश्वमङ्गलं यद्वचक्तं रूपं स्वजनस्य हृद्रुजां अन्तर्गतरोगाणां निषूदनं निर्मूलकरं, तस्मादस्माकं स्वजनैकत्वात् अभीष्टं भवता कर्तव्यमिति भावः ॥ १८,१९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥
**(विजयध्वजरीत्या एकोनत्रिंशोऽध्यायः)**

# द्वात्रिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या त्रिंशोऽध्यायः)

श्री[1-] शुक उवाच[-1]

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
रुरुदुः सुस्वरं राजन्कृष्णदर्शनलालसाः ॥ १ ॥

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥ २ ॥

तं विलोक्याऽऽगतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः।
उत्तस्थुर्युगपत्सर्वाः तन्वः प्राणमिवाऽऽगतम् ॥ ३ ॥

★कृष्णस्य मुखलावण्यसुधां नयनभाजनैः।
आपीयाऽऽपीय नाऽतृप्यन्सन्तस्तच्चरणं यथा।॥ ४ ॥

काचित्कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा।
काचिद्बभार[2] तद्बाहुमंसे चन्दनरूषितम्[3] ॥ ५ ॥

काचिदञ्जलिनाऽगृह्णात्तन्वी ताम्बूलचर्वितम्[4] ।
एका तदङ्घ्रियुगलं[5] सन्तप्तस्तनयोरधात् ॥ ६ ॥

1- -1. K omits ★ This verse is found in K,T,W and it is commented by Viraraghava only. 2. G,J,M,Ma,Va °द्दधार 3. G,J,Va भू° 4. V चर्वणम्5. G,J,Va कमलम्

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्वात्रिंशे विरहालापविक्लिन्नहृदयो हरिः। तत्राऽऽविर्भूय गोपीस्तास्सान्त्वयामास मानयन्॥

स्वप्रेमामृतकल्लोलविह्वलीकृतचेतसः। सदयं नन्दयन्गोपी रुदतो नन्दनन्दनः॥

**इतीति**। इत्येवंप्रभृति चित्रधा अनेकधा सुस्वरं उच्चैः कृष्णदर्शने लालसा अतिस्पृहा यासां ताः ॥ १ ॥

**तासामिति**। साक्षान्मन्मथमन्मथः, जगन्मोहनस्य कामस्यापि, मनस्युद्भूतः कामः साक्षात् तस्याऽपि मोहक इत्यर्थः॥ २॥

**तमिति**। तन्वः करचरणादयः ॥ ३ ॥

**काचिदिति**। अञ्जलिना संहतहस्तद्वयेन ॥ ४ - ६ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थं गोपीनां गानमुपवर्णितम्। अथ इत्थं[1] गायन्तीर्गोपीरनुजिघृक्षोराविर्भूतस्य भगवतो दर्शनहर्षजां तासां विक्रियां सरससाक्षेपसल्लापां तां क्रीडाञ्चाऽनुवर्णयति द्वात्रिंशेन — **इतीति**। इत्थं भगवतो गुणान् प्रगायन्त्यः चित्रधा अनेकधा प्रलपन्त्यश्च हे राजन्! कृष्णदर्शने लालसा अतिस्पृहा यासां ताः। सुस्वरं यथा तथा उच्चै रुरुदुः ॥ १ ॥

तासां[2] रुदन्तीनां अग्रे शौरिः आविर्बभूव। कथम्भूतः? स्मयमानं मुखाम्बुरुहं यस्य सः। जगन्मोहकस्य कामस्याऽपि मोहकः ॥ २ ॥

तमागतं प्रेष्ठं कृष्णमवलोक्य, अबला गोप्यः प्रीत्या उत्फुल्ला विकसिता दृशो यासां तथाभूताः युगपत् सर्वा उत्तस्थुः, यथा आगतं प्राणं तन्वः शरीराणि तद्वत्। वियुक्ते प्राणे पुनरागत्य सुस्थे सति यथा तनुरुत्तिष्ठते तद्वदित्यर्थः॥ ३॥

अथ ताः कृष्णमुखे यल्लावण्यं तदेव सुधा तां नयनरूपैः भाजनैः पानपात्रैः पुनःपुनः आपीय आपीय पीत्वा पीत्वाऽपि नाऽतृप्यन् न तृप्ता बभूवुः। यथा सन्तः भक्ताः तच्चरणं भगवत्पदाब्जलावण्यं पुनःपुनरनुभूयाऽपि न तृप्यन्ति, तद्वत् ॥ ४ ॥

काचिद्गोपी हरेः कराम्बुजं हर्षेण अञ्जलिना जग्राह। काचित्तु चन्दनेन रूषितं लिप्तं तस्य बाहुं अंसे आत्मनः स्कन्धे बभार ॥ ५ ॥

काचित्तन्वी योषित् अञ्जलिना संहतहस्तद्वयेन तस्य ताम्बूलचर्वितं[3] चर्वितताम्बूलं जग्राह। एका तु विरहतापेन तप्तयोः स्तनयोः तस्य भगवतोऽङ्घ्रिकमलं कमलवच्छीतलमङ्घ्रिम् अधात्[4] दधार ॥ ६ ॥

1. K एवं 2. K adds एवं 3. T,W omit चर्वित 4. T,W omit दधार

# श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

यथा गोपीनामात्मानं प्रकाशयन् भगवांस्तथा साधनसामग्र्या ज्ञानिनामपीति इममर्थं दर्शयितुमस्याऽध्यायस्य प्रारम्भः। तत्र शुकः रोदनादिकमपि भक्त्युद्रेकलक्षणमिति दर्शयितुं गोपीनां रोदनप्रकारं कथयति — **इतीति**। चित्रधा नानाविधेन सुस्वरं यथा श्रोतृसुखकरं भवति तथा स्वरं कुर्वत्यः, अनेन परिदेवनादिकं व्यावर्तयति ॥ १ ॥

भक्त्युद्रेकोद्भूतरोदनफलमाह — **तासामिति**। मनो मथ्नातीति मन्मथः कामः साक्षात्स्पष्टीकृतसर्वाङ्गसुन्दर इन्द्रतुल्यः तस्याऽपि मन्मथः मदमथनः। "मदनो मन्मथो मारः कामः" इति रुद्रः। अनेनैवंविधभगवदुपासनासामर्थ्यात्समुद्भूतः सौन्दर्यसागरः काम इति सूचितं भवति ॥ २ ॥

तन्वः भोगायतनशरीराणि ॥ ३, ४ ॥

गोपीनां करादिग्रहणादिषु हरेः करादानादिना भक्त्येकलभ्यः श्रीनारायण इति निदर्शयन् तत्प्रवृत्तिं कथयति **काचिदित्यादिना**। चन्दनरूषितं लिप्तम् ॥ ५ ॥

चर्वितं भक्षितोच्छिष्टं अधात् दधार ॥ ६ ॥

एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला।
घ्नन्तीवैक्षत् कटाक्षेण[1] निर्दष्टदर्शनच्छदा[2] ॥ ७ ॥

अपराऽनिमिषद्दृग्भ्यां[3] जुषाणा तन्मुखाम्बुजम् ।
आपीतमपि नाऽतृप्यत् सन्तस्तच्चरणं यथा ॥ ८ ॥

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण[4] हृदिकृत्य[5] निमील्य च ।
पुलकाङ्ग्युपगुह्याऽऽस्ते[6] योगीवाऽऽनन्दनिर्भरा[7] ॥ ९ ॥

सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः ।
जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः[8] ॥ १० ॥

ताभि र्विधूतशोकाभि र्भगवानच्युतो वृतः[9] ।
व्यरोचताऽधिकं तात![10] पुरुषः शक्तिभिर्यथा ॥ ११ ॥

तास्समादाय कालिन्द्या निर्विश्य पुलिनं विभुः ।
विकचत्कुन्दमन्दारसुरभ्यनिलषट्पदम्[11] ॥ १२ ॥

1. G,T,W घ्नतीवै°; M,Ma प्रत्यवै° 2. G,J,V,Va °पैः 3. G,J,K,Va सन्दष्ट 4. M,Ma °षं दृ° 5. V °त्वा 6. T,V,W गू° 7. G,J,K,T,Va,W सम्प्लुता 8. M,Ma °नः 9. M,Ma नृप! 10. V तत्र 11. G,J,K,M,Ma,Va °स° 12. M,Ma °तानि°.

**श्रीध० एकेति**। भ्रुकुटिं[1] भ्रुवमाबध्य कुटिलीकृत्य प्रेमसंरम्भेण प्रणयकोपावेशेन विह्वला विवशा, निर्दिष्टः[2-] दशनच्छदः[-2] यया, कटाः कटाक्षाः तैः ये आक्षेपाः परिभवाः तैः ताडयन्तीव ऐक्षत् ॥ ७ ॥

**अपरेति**। अनिमिषतीभ्यां[3] अनिमीलन्तीभ्यां दृग्भ्याम् आपीतमपि सम्यग्दृष्टमपि पुनः[4] जुषाणा नाऽतृप्यत् ॥ ८ ॥

**तमिति**। हृदि कृत्वा[5] हृदयं नीत्वेत्यर्थः। आनन्दसंप्लुतेति[6-] वा पाठः[-6] ॥ ९ ॥

**सर्वा** इति। प्राज्ञमीश्वरं प्राप्य यथा मुमुक्षवो जनाः। यद्वा, प्राज्ञं ब्रह्मज्ञं प्राप्य यथा संसारिणः। यद्वा प्राज्ञं सुषुप्तिसाक्षिणं[7-] प्राप्य[-7] यथा विश्वतैजसावस्था जीवाः ॥ १० ॥

**ताभिरिति**। पुरुषः परमात्मा शक्तिभिस्सत्त्वादिभिः यथा। यद्वा, उपासकः पुरुषः ज्ञानवीर्यबलादिभिः। यद्वा, पुरुषोऽनुशयी[8] प्रकृत्याद्युपाधिभिर्वृतो यथा अधिकं[9] व्यरोचत[10], तद्वत् ॥ ११ ॥

**ता** इति। विकचत्कुन्दमन्दारैः[11] सुरभिर्योऽनिलः तस्मात् षट्पदा यस्मिन् तत् ॥ १२ ॥

1. P,V omit भ्रुवम् 2- -2. J,Va दष्टाः अधरोष्ठाः 3. J,Va °न्ती० 4. J,Va add °पुनः 5. J,Va °कृत्य 6- -6. J,Va omit 7- -7. J,Va सौषुप्तं 8. J,Va °शा° 9. P,V omit अधिकं 10. J,Va विरोचते 11. J,Va °स°

**वीर०** एका तु भ्रुकुटिं भ्रुवमाबध्य कुटिलीकृत्य प्रेमसंरम्भेण प्रेमगर्भक्रोधेन विह्वला निर्दिष्टो दशनच्छदोऽधरोष्ठो यया तथाभूता कटाक्षेण घ्नन्तीव ताडयन्तीव ऐक्षत। कटाक्षेपैरिति पाठे कटाक्षपातैरित्यर्थः ॥ ७ ॥

अपरा तु निमेषमकुर्वतीभ्यां दृग्भ्यां तस्य मुखाम्भोजमापीतमपि पुनः पुनर्जुषाणा सेवमाना नाऽतृप्यत् न तृप्ता बभूव। यथा सन्तो भक्तास्तच्चरणं पुनःपुनरनुभूयाऽपि न तृप्यन्ति, तद्वत् ॥ ८ ॥

काचित्तु नेत्ररन्ध्रद्वारेण तं कृष्णं हृदि निधाय उपगूह्याऽऽलिङ्ग्य च निमील्य, नेत्रे इति शेषः। पुलकानि पुलकितानि अङ्गान्यस्यास्सन्तीति तथाभूता। आनन्देन संप्लुता आनन्दमग्ना योगीवाऽऽस्ते आस्त ॥९॥

तास्सर्वा गोप्यः केशवस्यावलोकनमेव परम उत्सवस्तेन सुखिताः विरहजं तद्विश्लेषजं तापं विजहुः तत्यजुः। यथा जनाः योगिजनाः प्राज्ञं परमात्मानम् प्राप्य साक्षात्कृत्य आध्यात्मिकादितापत्रयं जहति, तद्वत्। यद्वा, "प्राज्ञेनाऽऽत्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नाऽन्तरम्" (बृह.उ.4-3-21) "प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढः" (बृह.उ. 4-3-35) इत्युक्तरीत्या यथा सुषुप्तिदशायां परमात्मना सम्परिष्वक्ता जाग्रत्कालिक बाह्याभ्यन्तरक्लेशान् जहति तद्वदित्यर्थः ॥ १० ॥

तत्र तदा ताभिर्विगतविरहजशोकाभिः परिवृतः नितरां व्यरोचत। हे तात! यथा पुरुषो जीवः शक्तिभिः चतुर्विंशति तत्त्वात्मिकाभिः वृतो रोचते। यद्वा, पुरुषः परमपुरुषः शक्तिभिः विमलादिकाभिः परिवृतस्तद्वत् ॥ ११ ॥

ततो विभुः कृष्णः तास्समादाय कालिन्द्याः पुलिनं निर्विश्य तत्र ताभिः परिवृतो व्यरोचतेति पूर्वेणाऽन्वयः। पुलिनं कथम्भूतम्? विकसद्भिः कुन्दैः मन्दारैः सुरभिः यो मन्दानिलः तस्मात्, षट्पदा भृङ्गा यस्मिन् ॥ १२ ॥

**विज०** प्रेमसंरम्भविह्वला प्रणयकोपाकुलिता, भ्रुकुटिं ललाटशिरां आबध्य प्रकाश्य निर्दष्टदशनच्छदा नितरां दष्टोष्ठपुटा ॥ ७ ॥

अनिमिषं निमेषलक्षणव्यापारशून्यमिति क्रियाविशेषणम्। जुषाणा सेवमाना ॥ ८ ॥

हृदि स्थितं कृत्वा पुलकाङ्गी रोमाञ्चितगात्रा उपगुह्य आलिङ्ग्य आनन्दनिर्भरा परमानन्दपूर्णा ॥९॥

जनः शोकाकुलः संसारी वा प्राज्ञं पण्डितं दुःखशमनबोधकं परमात्मानं वा, "प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढः" (बृह.उ. 4-3-35) इति श्रुतिः ॥ १० ॥

पुरुषो विष्णुः, शक्तिभिः लक्ष्मीविभूतिभिः । ११ ॥

विभुः, अनिलश्च षट्पदाश्च अनिलषट्पदाः, विकसतोः कुन्दमन्दारयोः, सुष्ठु रताः क्रीडावन्तः अनिलषट्पदाः यस्मिंस्तत्तथा ॥ १२ ॥

**शरच्चन्द्रांशुसन्दोह ध्वस्तदोषातमश्शिवम्।**
**कृष्णाया[1] हस्ततरलाऽऽचितकोमलवालुकम् ॥ १३ ॥**

**तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः।**
**स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितै रचीक्लृप[2] न्नासनमात्मबन्धवे ॥ १४ ॥**

**तत्रोपविष्टो भगवान्स ईश्वरो[3] योगीश्वरान्तर्हृदि[4] कल्पितासनः।**
**चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चितस्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत् ॥ १५ ॥**

**सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा[5]।**
**संस्पर्शनेनाङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः[6] संस्तभ्य[7] ईषत्कुपिता[8] बभाषिरे[9] ॥ १६ ॥**

**गोप्य ऊचुः**

**भजतोऽनु भजन्त्येके एक एतद्विपर्ययम्।**
**नोभयांश्च भजन्त्यन्ये[10] एतन्नो ब्रूहि साधु भोः[11] ॥ १७ ॥**

1. M,Ma कृष्णेहाऽऽयस्त 2. T,V,W °चिक्लि° 3. V ईशो 4. G,J,M,Ma,Va °गे° 5. M,Ma °द्भुवः 6. M,Ma नोत्काङ्क 7. M,Ma °ताङ्गहृच्छयम् 8. G,J,V,Va संस्तुत्य 9. V चेष° 10. G,J,V,Va °न्त्येके 11. M,Ma,V भो!

**श्रीध० शरदिति**। शरच्चन्द्रांशूनां सन्दोहैः समूहैः ध्वस्तं दोषातमः रात्रिगतं तमः यस्मिंस्तत्। अतः शिवं सुखकरं हस्तरूपैस्तरलैः तरङ्गैः आचिताः आस्तृताः कोमला वालुका यस्मिन्। एवम्भूतं पुलिनं तास्समादाय निर्विश्य तत्र[1] ताभिः वृतः अधिकं व्यरोचतेति पूर्वेणान्वयः ॥ १३ ॥

**तदिति**। ताश्च मनोरथानामन्तं ययुः, पूर्णकामा बभूवुः। श्रुतयो यथेति। अयमर्थः- यथा कर्मकाण्डे श्रुतयः परमेश्वरमपश्यन्त्यः तत्तत्कामानुबन्धैरपूर्णा इव भवन्ति। ज्ञानकाण्डे तु परमेश्वरं दृष्ट्वा तदाह्लादपूर्णाः कामानुबन्धं जहुः[2], तद्वदिति। आप्तकामा अपि प्रेम्णा तमभजन्नित्याह — स्वैरिति। अचीक्लृपन् रचयामासुः। आत्मबन्धवे अन्तर्यामिणे ॥ १४ ॥

**तत्रेति**। गोपीसभागतः ताभिः सम्मानितस्सन् चकास शुशुभे त्रैलोक्ये या लक्ष्मीः शोभा तस्याः एकमेव पदं स्थानं तद्वपुः दधत् दर्शयन् ॥ १५ ॥

**सभाजयित्वेति**। सहासलीलेक्षणेन विभ्रमो विलासः यस्यां तया भ्रुवा उपलक्षिताः संस्पर्शनेन[3-] सम्मर्दनेन[-3]॥ १६ ॥

तत्र भगवतः अकृतज्ञतां तद्वचनेनैव उपपादयितुकामाः गूढाभिप्राया लोकवृत्तान्तमिव पृच्छन्ति **भजत** इति। भजतः प्राणिनः अनु अनन्तरम्। केचित्[4]तद्भजनानुसारेण भजन्ति केचिदेतद्विपर्ययं यथा भवति तथा। तद्भजनानपेक्षे[5] अभजतोऽपि भजन्ति। अन्ये तु नोभयानिति ॥ १७ ॥

1. J,Va omit तत्र 2. J,Va जहति 3- -3. Va omits 4. Va omits तत् 5. P.V °क्षितं

**वीर०** शरच्चन्द्रांशूनां सन्दोहैस्समूहैः ध्वस्तं नाशितं[1] दोषातमो रात्रितमो यस्मिन्। अतः शिवङ्करं कृष्णाया यमुनायाः हस्तरूपैः तरलैः तरङ्गैः आचिता आस्तृताः कोमला वालुका यस्मिन् तथाभूतम्॥ १३॥

तस्य भगवतो दर्शनेन य आह्लादः तेन विधूता निरस्ता हृद्रुजः तद्विश्लेषजा मनःपीडाः यासां ताः गोप्यः मनोरथान्तं मनोरथप्रतिपादनाकाङ्क्षापर्यवसानं प्रापुः, यथा श्रुतयस्तद्वत्। यथा भागद्वयात्मिकाः श्रुतयः तात्पर्यवृत्त्या अभिधया च प्रतिपिपादयिषितं परमात्मानं प्रतिपाद्य प्रतिपादनाकाङ्क्षापर्यवसानं प्राप्नुवन्ति तद्वदित्यर्थः। इत्थं पूर्णमनोरथाः प्रेम्णा तमभजन्नित्याह। कुचकुङ्कुमेनाऽङ्कितैः स्वैः स्वकीयैः उत्तरीयैः आत्मबन्धवे आसनं रचयामासुः ॥ १४ ॥

योगीश्वराणामन्तर्हृदि हृदयकमलमध्ये कल्पितमासनं यस्य तथाभूतोऽपि ईश्वरो भगवान्, तत्र गोप्युत्तरीयरचितासने समासीनः गोपीसमुदायमध्यगतः त्रैलोक्यसौन्दर्यैकाश्रयं वपुर्दधत् बिभ्राणः चकास दर्शयन् शुशुभे ॥ १५ ॥

अनङ्गं कामं दीपयत्युद्दीपयति तथा तं भगवन्तं सहासलीलेक्षणेन विभ्रमो यस्यां तया भ्रुवा सभाजयित्वा रञ्जयित्वा। यद्वा, आत्मभिस्सह क्रीडयित्वा उक्तविधया भ्रुवोपलक्षिताः गोप्यः, अङ्गेष्वात्मनामूरुषु यौ कृतौ निहितौ भगवतश्चरणौ तयोः यावात्मनां हस्तौ तयोः संस्पर्शनेन, करणस्य शेषत्वविवक्षया षष्ठी। ताभ्यां मर्दनेन तत्पूर्वकं संस्तभ्य दृढमङ्गी गृहीत्येत्यर्थः। ईषत्कुपितास्सत्यो बभाषिरे ॥ १६ ॥

भाषणमेवाऽऽह — **भजत** इति। केचित् भजतोऽनुवर्तमानान् भजन्ति अनुवर्तन्ते। एके तु एतद्विपर्ययं कुर्वन्ति, अभजतो भजन्तीत्यर्थः। अन्ये तु उभयान् भजतश्चाभजतश्च न भजन्ति। भो कृष्ण! एतदस्मभ्यं ब्रूहि। उक्तविधान् प्रश्नान्[2] तत्र प्रवर्तकं साध्यं गुणदोषतारतम्यञ्च ब्रूहीत्यर्थः। तृतीयकोटचन्तर्भूतस्त्वमिति भावः ॥ १७ ॥

1. T,W omit नाशितं 2. T,W omit प्रश्नान्

**विज०** शरत्कालचन्द्रांशूनां सन्दोहेन निरन्तरराज्या ध्वस्तं निरस्तं दोषातमः रात्र्यन्धकारो यस्मिन् तत्तथा। कृष्णायाः यमुनायाः ईहया प्रवाहलक्षणचेष्टया आयस्ताः आयासं प्राप्ताः तरला अणुतरङ्गा एतैः आचितानि[1] आसिक्तानि च कोमलानि च वालुकानि सैकतानि यत्र तत्तथोक्तम्। यद्वा कृष्णेहया श्रीकृष्णमूर्तिक्रीडया आयस्तानि च तरलानि चञ्चलानि च अत एवाऽऽचितानि इतस्ततो विकीर्णानि च, शेषं समम्। "अणुस्तरङ्गो लोलः स्यात्तरला कुरलस्तथा" इति गोपालः। "आचितं छन्नसिक्तयोः" इति च ॥ १३ ॥

मनोरथान्तं प्रार्थितार्थपूर्तिं, मनोरथानामर्थानामन्तं निर्णयहेतुं परमात्मानम्। 'रथ गतौ' इति धातुः। श्रु तस्य ब्रह्मणो दर्शनेन विषयीकरणलक्षणेन जाताह्लादेन पूर्णार्थिलक्षणेन अवधूता हृद्रुजः विषयीकरणलक्षणाः यासां तास्तथा। उत्तरीयैः प्रावरणीयवस्त्रैः आसनं विमलोत्कर्षणीज्ञानेत्यादिक्लृप्तमिव पीठम्, अन्यत्राऽऽत्मनो वायोर्बन्धवे "सतो बन्धुमसति निरविन्दन्" (नृ.पूर्व.उ. 1-1) इति श्रुतिः ॥ १४ ॥

गोपीपरिषद्गतः गोपस्त्रीसमूहमध्यवर्ती त्रैलोक्यलक्ष्मीणां त्रैलोक्यसौन्दर्याणामेकं पदं स्थानं, त्रिलोकीजनसेव्या लक्ष्मीः श्रीः तस्याः एकं केवलं पदं भोगयोग्याश्रमं वा ॥ १५ ॥

अनङ्गं कामं दीपयतीति अनङ्गदीपनः तं लीलया लालित्येन ईक्षणं हाससहितं सहासं सहासलीलेक्षणेन विभ्रमन्त्योऽनुदिशं सञ्चलन्त्यः भ्रुवो यासां तास्तथा। संस्पर्शनेन उत्पन्ना उत्का उत्कण्ठा सैव अङ्गं लक्षणं तेन कृतः पूर्णः अङ्गे शरीरे हृच्छयः कामः संस्पर्शनोत्काङ्गकृताङ्गहृच्छयः तं संस्तभ्य करचरणाद्यङ्गस्पर्शनेन अभिव्यक्तं कामं निरुध्येत्यर्थः ॥ १६ ॥

गोप्यः शास्त्रतत्त्वमजानत्यः[2] हरेरकृतज्ञताकरणाभिप्रायेण पृच्छन्ति — **भजत** इति। एके केचित् भजतः सेवमानान् अनुभजन्ति सेवानुकूलफलसमर्पणेन सेवन्ते। एके केचित् एकस्योक्तस्य विपर्ययं कुर्वन्ति फलोद्देशेन सेवमानान् अविशिष्टफलदानेन अनुवर्तन्ते। अन्ये नोभयांश्चानुवर्तन्ते। यदेतत्पक्षत्रयं अत्र साधु निर्दोषपक्षमस्माकं ब्रूहि विविच्य कथयेत्यर्थः॥ १७॥

1. Ma omits आचितानि 2. M,Ma °न्त्यः

## श्रीभगवानुवाच

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते।
न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नाऽन्यथा ॥ १८ ॥

भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदञ्च सुमध्यमाः ॥ १९ ॥

भजतोऽपि न वै केचित् भजन्त्यभजतः कुतः ।
आत्मारामा ह्याप्तकामा ह्यकृतज्ञा गुरुद्रुहः ॥ २० ॥

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
★तथैव मत्तः फलसम्पदः स्युः उच्चावचाः कल्पतरोरिवार्थिनाम्।
यथाऽधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयाऽन्यन्निभृतो न वेद ॥ २१ ॥

एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं माऽसूयितुं माऽर्हथ तत्प्रियं प्रियाः ॥ २२ ॥

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां सुसाधुकृत्यं विबुधायुषाऽपि वः।
या माऽभजन्दुर्जरगेहशृङ्खलां सञ्छिद्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥२३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
रासक्रीडायां गोपीसान्त्वनं नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

1- -1 M,Ma स्वार्थं तद्वित्त 2. T,W °राघोऽ° 3. G,J,K,Va अ° 4. M,Ma वृत्तयो यथा ★ This additional half verse along with commentary is found in M & Ma Edns. 5. M,Ma °तं 6. M,Ma °र्थार्पित 7 M,Ma °यो 8. M,Ma सा° 9. M,Ma ना° 10. M,Ma मां प्रि° 11. G,J,Va स्व 12- -12. M,Ma यो मां भजेद्दु° 13. M,Ma दे° 14. G,J,K,M,Ma,Va °लाः 15. G,J,V,Va संबृश्च्य 16- -16. M,Ma वृद्धिं प्रतियाति सोऽधुना ; T,W तन्व्यः प्रतियातु साधुना

**श्रीध०** विदिताभिप्रायस्सन्[1] उत्तरमाह **मिथ** इति। हे सख्यः, उपकारप्रत्युपकारतया ये मिथो भजन्ति, तेऽन्यं न भजन्ति, किन्त्वात्मानमेव। कुतः? हि यस्मात् स्वार्थ एवैकान्तः उद्यमो येषां ते, तत्र च न सौहृदम् अतो न सख्यं[2], न च धर्मः दृष्टोद्देशात्, गोमहिष्यादिभजनवदित्यर्थः ॥ १८ ॥

ये तु अभजतो भजन्ति ते द्विविधाः- करुणाः स्निग्धाश्च। तत्र तु यथाक्रमं धर्मकामौ भवत इत्याह — **भजन्त्यभजत** इति। करुणा[3] एषामस्तीति करुणाः, दान्ता[-3] इत्यर्थः ॥ १९ ॥

तृतीयप्रश्नस्योत्तरं[4] - **भजतोऽपीति**[-4]। अयमर्थः - ते[5] तु चतुर्विधाः- एके आत्मारामाः अपराग्दृशः, केचिदाप्तकामाः विषयदर्शिनोऽपि[6] पूर्णकामत्वेन भोगेच्छारहिताः[-6]। अन्ये[7] तु अकृतज्ञा मूढाः अन्ये गुरुद्रुहः[-7] अतिकठिनाः। "स पिता यस्तु पोषकः" इति न्यायात्। उपकर्ता गुरुतुल्यः तस्मै द्रुह्यन्तीति तथा ते ॥ २० ॥

अत्र चरमकोटिगतमात्मानं मत्वा अक्षिसङ्केतैः परस्परगूढस्मितमुखीः ता दृष्ट्वाऽऽह — **नाऽहन्त्विति**। हे सख्यः! अहं[8] तेषां मध्ये न कोऽपि। किन्तु परमकारुणिकः परमसुहृच्च। कथम्? अमीषां भजतां अनुवृत्तिवृत्तये निरन्तरध्यानप्रवृत्त्यर्थं तान् न अहं[9] भजामि। एतत्सदृष्टान्तमाह — यथेति। तस्य धनस्यैव चिन्तया निभृतः पूर्णः व्याप्त इति यावत्। अन्यत्तु क्षुत्पिपासादिकमपि[10] न वेद ॥ २१ ॥

**एवमिति**। मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां मदर्थे उज्झितः लोकः युक्तायुक्ताप्रतीक्षणात्। वेदश्च धर्माधर्माप्रतीक्षणात्। स्वाः ज्ञातयश्च स्नेहत्यागात्, याभिस्तासां वो युष्माकं परोक्षं अदर्शनं यथा भवति तथा। भजता युष्मत्प्रेमालापान् शृण्वतैव तिरोहितमन्तर्धानेन स्थितम्। तत्तस्मात् हे अबलाः! हे प्रियाः! मा मां असूयितुं दोषारोपेण द्रष्टुं यूयं माऽर्हथ न योग्याः स्थ ॥ २२ ॥

परमार्थं तु शृणुतेत्याह-**नेति**। निःखद्यसंयुजां[11] निरवद्या संयुक् संयोगः यासां, निःखद्यं[12] यथा भवति तथा संयुज्यन्ते भजन्त इति वा। तथा तासां वः विबुधानामायुषा चिरकालेनाऽपि स्वयं साधुकृत्यं प्रत्युपकारकृत्यं कर्तुं न पार्ये न शक्नोमि। कथम्भूतानाम्? याः भवत्यः दुर्जरा अजरा या गृहशृङ्खला[13] तां संवृश्चेच्च[14] निश्शेषं छित्त्वा मा माम् अभजन् तासां मच्चित्तं बहुषु प्रेमयुक्ततया नैकनिष्ठम्। तस्माद्वो युष्माकमेव साधुना साधुकृत्येन यत् युष्मत्साधुकृत्यं तत्, प्रतियातु प्रतिकृतं भवतु। युष्मत्साधुत्वेनैव ममाऽऽनृण्यम्, न तु मत्कृतप्रत्युपकारेणेत्यर्थः ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

1. J,Va omit सन् 2. J,Va सुखं 3- -3. J,Va omit 4- -4. J, Va प्रश्नस्य 5. J,Va omit ते तु 6- -6. J,Va दर्शिनोऽपि 7- -7. V omits 8. Va omits 9. J,Va omit अहं 10. J,Va °द्यपि 11- -11. J,Va omit 12- -12. J,Va omit 13. J,Va गेह 14. J,Va °दृष्ट्वा

**वीर०** विदिताभिप्राय उत्तरमाह **मिथ** इति। हे सख्यः! ये मिथो भजन्ति परस्परमुपकुर्वन्तोऽनुवर्तन्ते, ते स्वार्थे स्वप्रयोजने एव निमित्ते, एकान्तः नियत उद्यमो येषां तथाभूताः स्वप्रयोजनमात्रपरास्ते हीत्यर्थः। यस्मादेव मत एव तत्र मिथो भजने न सौहृदं मिथोभजनप्रवर्तकं न सौहृदमित्यर्थः। किन्तु उपचिकीर्षाप्रत्युपचिकीर्षे एव तत्र कारणमिति भावः। अत एव न तत्र धर्मः न तत्साध्यो धर्म इत्यर्थः। किन्तु केवलं दृष्टमेव तत्साध्यं प्रयोजनमिति भावः। तदेवाऽऽह तन्मिथो भजनं स्वार्थार्थम् स्वार्थस्वप्रयोजनम् एवार्थः प्रयोजनं यस्य तथाभूतं हि न त्वन्यथा स्वार्थनिरपेक्षपरोपकारार्थद्वारा धर्मार्थं न भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

द्वितीयकोटचन्तर्गतानाह — **भजन्तीति**। हे सुमध्यमाः! अभजतः ये भजन्ति ते करुणाः करुणावन्तः "अर्श-आद्यच्" (अष्टा. 5-2-127) स्वार्थनिरपेक्षपरोपचिकीर्षा करुणा। सा च पित्रादिष्वतीव प्रसिद्धेति तां निदर्शयति — पितरो यथेति। अत्राऽभजद्भजने सौहृदं सर्वभूतसुहृत्त्वं प्रवर्तकं तत्साध्यस्तु निरपवादो निर्बाधो धर्मः। अक्षय्यो भगवदनुग्रहरूपधर्म इत्यर्थः। अथ तृतीयान् त्रेधा विभज्य दर्शयति — भजतोऽपीति। ये भजतोऽपि न वै भजन्ति। कुतोऽभजतो भजेयुः? ते तु आत्मारामादयः, अत्र आत्मारामाःकेवलं स्वदेहमात्रपोषणपरायणाः, न तु ज्ञानिनः, तेषां सर्वभूतसुहृत्त्वेन द्वितीयकोटचन्तर्गतत्वात्। आप्तकामाः शब्दादिविषयभोगतदुपकरणतत्स्थानसमृद्धिमन्तः। अकृतज्ञाः कृतघ्नाः। अकृतज्ञानामेव परां काष्ठां दर्शयति गुरुद्रुह इति। यद्वा, अकृतज्ञत्वकार्यं दर्शयति गुरुद्रुह इति। गुरुभिः कृतं महोपकारमननुस्मृत्य तेभ्योऽपि द्रुह्यन्तीति तथाभूताः। एतेषां त्रयाणां इतरभजनाभावात् प्रवर्तकसाध्यगुणदोषा नोक्ताः ॥ १९,२० ॥

इत्थं भगवतोक्ताः गोपीस्तावदनुवर्तमाना अस्मानभजन् अयं तृतीयकोटचन्तर्भूतः। तत्राऽपि नाऽऽत्मारामो नाऽप्याप्तकामश्च, तथा चेदमस्माभिस्सह वने विहारासम्भवात्। अतोऽयं नूनमकृतज्ञ इत्यक्षिसङ्केतैः परस्परं सूचयन्तीर्दृष्ट्वा प्रत्याह - **नाहन्त्विति**। हे सख्यः! भजतोऽपि जन्तून्नाहं भजामि, न तेषां दृष्टिगोचरो भवामीत्यर्थः। तथाऽपि नाऽकृतज्ञ इति भावः। तर्हि किमर्थं न भजसीत्यत आह- अमीषां मां भजतां जन्तूनां अनुवृत्तिवृत्तये अनुवर्तनस्य मदनुध्यानरूपस्य अविच्छेदाय। अनेनाऽऽत्मनः कृतज्ञत्वं परमकारुणिकत्वञ्चोक्तम्। प्रियस्याऽदृश्यमानस्य अत्यन्ताभिनिवेशविषयत्वे दृष्टान्तमाह — यथेति। अधनो निर्धनः पुमान् कदा चित् दैवाल्लब्धे धने विनष्टे सति, तच्चिन्तया विनष्टधनचिन्तया निभृतो व्याप्तः, अन्यन्न वेद नान्यत् स्मरति। किन्तु तदेव नष्टं धनमविच्छेदेन अनुस्मरन् अवतिष्ठते। अविनष्ट इति वा छेदः। तस्मिन्नविनष्टे सति चिन्तया विषयचिन्तया निभृतः पूर्णः, तद्धनमन्यच्च न वेद नाऽनुस्मरति, किन्तु प्रमत्तो भवतीति भावः। अस्मिन्पक्षे व्यतिरेके दृष्टान्तः ॥ २१ ॥

आत्मनः कृतज्ञता माविष्कुर्वन् कारुणिकत्वमेवाह — **एवमिति**। हे अबलाः! मदर्थमुज्झिताः त्यक्ताः लोकः युक्तायुक्ताप्रतीक्षणात्, वेदः धर्माधर्मानपेक्षणात्, स्वा ज्ञातयश्च स्नेहत्यागात् याभिस्तासां वः युष्माकम्। अनेन कृतज्ञत्वमाविष्कृतम्। मय्यनुवृत्तये परोक्षं भजता परोक्षमुपकुर्वता मया तिरोहितम्। अनेन कारुणिकत्वमुक्तम्। तत् तस्मात् हे प्रियाः! प्रियतमं माम् असूयितुं दोषदृष्ट्या द्रष्टुं नाऽर्हथ ॥ २२ ॥

आत्मनः कृतज्ञताकाष्ठामाह — **न पारय** इति। निरवद्यं निष्कपटं यथा तथा, संयुज्यन्ते भजन्त इति तथा तासां वो युष्माकं सुसाधु यथा तथा कर्तुं प्रत्युपकर्तुं अहं विबुधायुषाऽपि न पारये न शक्नोमि। मनुष्यायुषा न

शक्नोम्येव, ब्रह्मायुषाऽपि न शक्नोमीति भावः। या भवत्यः दुर्जरगेहशृङ्खलाम्[4-] अच्छेद्यगृहरूपशृङ्खलां[-4] सम्यक् छित्वा माम[5-]भजन्, तत्तस्मात् तासां वः सा शृङ्खला अधुना प्रतियातु, भूयो विनिवर्ततामित्यर्थः। मया कार्यः प्रत्युपकारो मुक्तिप्रदानमेव। तत्तु सदृशं भवेदिति भावः। यद्वा, तस्माद्युष्माकमेव साधुना साधुकृत्येन तद्युष्मत्साधुकृत्यं प्रतियातु प्रतिकृतं भवतु। "मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं हरे। नरः प्रत्युपकारार्थी विपत्तिमभिकाङ्क्षति" (रामा. 7-40-23) इत्युक्तरीत्या युष्मत्साधुकृत्यं तेनैव जीर्यत्विति भावः ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां व्याख्यायां
द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

1. K omits केवलं 2- -2. K omits 3- -3. T,W omits 4- -4. K °लास्सञ्छिद्य 5- -5. K °पं पाशं

**विज०** तत्र परिहारं वक्तुमुपक्रमते **मिथ** इति। हे सख्यः! ये मिथो भजन्ति उपकारप्रत्युपकारलक्षणां सेवां कुर्वन्ति ते स्वार्थैकान्तोद्यमा हि स्वप्रयोजननियतप्रयत्ना यस्मात् तस्मात् तत्र तेषु सौहृदं अनिमित्ततः स्नेहलक्षणो धर्मो नाऽस्ति। ननु तर्हि किमस्ति, तत्राऽऽह स्वार्थमिति। स्वप्रयोजनार्थं वित्त जानीध्वम्। विपक्षं प्रतिषेधति नेति ॥ १८ ॥

ये अभजतः फलेष्विच्छाननुगतान् भजन्ति फलमर्पयन्ति। तत्र कारणमाह करुणा इति। करुणयन्ति प्राणिनो दृष्ट्वा द्रवीकृतहृदया भवन्तीति करुणाः। तत्र दृष्टान्तः लोकानुग्रहकरणशीलाः पितरो यथा बालादीन् दृष्ट्वा। गुणान्तरञ्चाऽस्तीत्याह- धर्म इति। हे सुमध्यमाः! अत्र तेषु जनेषु सौहृदलक्षणो धर्मश्च निरपवादः निर्दोषः! इदं सम्प्रज्ञातसमाधिस्थस्य लक्षणम्॥ १९॥

असम्प्रज्ञातसमाधिस्थस्य लक्षणमाह - **भजतोऽपीति**। अत्र केचिज्जनाः भजतोऽपि फलार्थितया सेवमानानपि न भजन्ति स्वप्रयोजनाभावात्। कथं तदित्यत्राऽऽह — आत्मेति। आत्मनि परमात्मन्येव आरामः क्रीडा येषान्ते तथा, बाह्यप्रवृत्तिशून्या इत्यर्थः। तदपि कथमित्याशङ्क्य सुखार्थे हि प्रवृत्तिः, सुखं तु स्वत एव पूर्णमित्याशयेनाह आप्तकामा इति। काम्यत इति कामः आनन्दः, हिशब्दो हेतौ। आनन्दाप्तौ निमित्तमाह — अकृतेति। अकृतं परमात्मानं जानन्तीति, तज्ज्ञानञ्च निष्पापत्वादित्याह - गुरुद्रुह इति। गुरूणि पापानि द्रोहितवन्तो नाशितवन्त इति। "नास्त्यकृतः कृतेन" (मुण्ड.उ. 1-2-12) इति श्रुतिः। "नराणां क्षीणपापानाम्" इति स्मृतिः। कीदृशाः कृतघ्ना इत्यतो वाऽऽह भजतोऽपीति। ये केचित् भजतः शरणार्थितया सेवमानानपि न भजन्ति, ग्रहणलक्षणां सेवां न कुर्वन्ति। अभजतः कुतो भजन्ति। तत्र कारणमाह आत्मारामा इति। परमात्मविषयमतिरहिता देहलक्षणात्मनि नितरां रताश्च। तर्हि कुत्र रतिरित्यत्राऽऽह- आप्तेति। आप्ते विस्रब्धे स्त्रीजने कामो येषां ते तथा। एतादृशाः कृतघ्ना हि कृतं न जानन्ति नाशयन्ति च। अत एव गुरुद्रुहः देवादिगुरूणां द्रोग्धार इत्युच्यन्ते हविराद्यदानात् ॥ २० ॥

अहमेष्वेक इति भवतीनाम् आशङ्का माभूदित्याह — **नाऽहमिति**। अपि समुच्चये। तुशब्दो विशेषप्रकाशकः। अहं भजतः फलार्थितया सेवमानान् अभजतोऽपि फलार्थितया असेवमानान्न भजामि, तदिच्छया फलं न दास्यामि, "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" (कठ.उ. 2-22) इति मम विजयशिखामणेः ततः प्रयोजनाभावात् तेभ्यः प्रयोजनं न ममेत्यर्थः। तर्ह्येषां सेवा निष्फला किं नेत्याह अमीषामिति। अमीषामुभयेषां यथा यथा सेवाः स्युः तथा तथा मत्तः उच्चावचाः सेवाफलसम्पदः स्युरेव अर्थिनां योग्यानामधिकारिणां कल्पवृक्षाद्यथा फलानि तथेत्यर्थः। भगवान् गोपीनां सेवास्तवनव्याजेन स्वोपासनाप्रकारं दर्शयति — यथेति। यथा अधनो धनहीनः दरिद्रः दैवाल्लब्धधने नष्टे तच्चिन्तया नष्टधननियतरत मनस्कत्वेन नितरां भृतं गृहीतं अन्यन्न वेद। यद्वा, निभृतं स्तिमितं निश्चलं स्थिरं पुरोवर्त्यन्यद्वस्तु ॥ २१ ॥

हे अबलाः! एवं मदर्थं मामुद्दिश्य अर्पिते लोकवेदस्वे लौकिककर्मवैदिककर्मलक्षणसर्वस्वे यासां तास्तथा। तासां वो युष्माकं अनुवृत्तयः सेवालक्षणा उपासनाः अविषया न स्युः इत्यन्वयः। तर्हि किमर्थं भवताऽन्तरधायि इत्याशङ्क्य अस्माकं स्वभावोऽयमित्याशयेनाऽऽह मयेति। अत्र भजतेति शतृप्रत्ययः इच्छावाची, परोक्षं भजता व्यवधानमिच्छता मया तिरोहितं, पारोक्ष्यं कृतम्। "परोक्षप्रिया इव हि देवाः" (ऐत.उ. 3-14) इति श्रुतिः। व्यवधानमस्मत्प्रियं यस्मात् तस्मात् हे प्रियाः, यूयं प्रियं मां सासूयितुं असूयासहितां मतिं कर्तुं नाऽर्हथेत्यन्वयः। "सन्निकर्षो हि मर्त्याना मनादरणकारणम्" इति स्मृतेश्च, शिक्षणायाऽप्येवं कृतम् ॥ २२ ॥

ननु युष्मदनुग्रहाभावात् तत्कथमित्याशङ्क्य अनुग्रहविशेषं कथयति — **नेति**। विबुधायुषा दिव्यवत्सरकल्पितजीवनलक्षणेनाऽपि अहं निरवद्यसंयुजां निर्दुष्टमनोयोगवृत्तीनां वः सुसाधुकृत्यं युष्माकं सर्वसम्मतं निर्दोषकर्म प्रतिकर्तुं न पारये न शक्नोमीत्यनेन गोपीष्वधिकोऽनुग्रहोऽस्तीति दर्शितम्। न केवलं युष्मासु[1] अनुग्रहविशेषो मम निर्व्याजभक्त्या भजमाने कस्मिंश्चिदपि स्यादित्याशयेनाऽऽह यो मामिति। यो मां भजेन्मामुद्दिश्य भक्तिं करोति स पुरुषः स्त्रीजनो वा अधुना अस्मिन् जन्मन्येव दुर्जरदेहशृङ्खलाः भक्तिज्ञाने विना जरयितुं शिथिलीकर्तुमशक्याः लिङ्गशरीरलक्षणशृङ्खलाः संवृश्च्य छित्वा वृद्धिं स्वरूपभूतानन्दलक्षणां प्रतियाति "तस्य तावदेव चिरम्" (छान्दो.उ. 6-14-2) इत्यादि श्रुतेः। यद्वा दह्यते सिच्यते इति देहः। दुर्जरा दुरुच्छेदाः पुत्रमित्रादिनिबद्धस्नेहलक्षणाः शृङ्खलाः संवृश्च्य मां भजेत्सेवते, सोऽधुनैव भक्तिज्ञानादिसाधनसामग्रीलक्षणां वृद्धिं प्रतियातीत्यन्वयः ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

**(विजयध्वजरीत्या त्रिंशोऽध्यायः)**

---

1. Ma युष्मत्सेवानु०

# त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या एकत्रिंशोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः।
जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः[1] ॥ १ ॥

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः[2]।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतै रन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥ २ ॥

रासोत्सवस्सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ॥ ३ ॥

प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं[3] स्त्रियः।
यं मन्येरन्नभस्ताव द्विमानशतसङ्कुलम्[4] ॥
दिवौकसां सदाराणामौत्सुक्यनिभृतात्मनाम्[5] ॥ ४ ॥

ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः[6] पुष्पवृष्टयः।
जगुर्गन्धर्वपतयस्सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम् ॥ ५ ॥

वलयानां नूपुराणां किङ्किणीनाञ्च योषिताम्।
सप्रियाणामभूच्छब्द स्तुमुलो रासमण्डले ॥ ६ ॥

1. M,Ma तत्सङ्गो° 2. Ma °जैः 3. M,Ma °टस्त्रि° 4. M,Ma °त न° 5. G,J,K,Va °क्यापहृता° 6. M,Ma °दुः खात्पेतुः

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

त्रयस्त्रिंशे ततो गोपी मण्डलीमध्यगो हरिः। प्रियास्ता रमयामास ह्रदिनीवनकेलिभिः॥

**इत्थमिति**। तत्तदा अङ्ग! हे राजन्! यद्वा, तस्य भगवतोऽङ्गेन अभ्रवपुषा[1] करचरणाद्यवयैर्वा उपचितास्समृद्धा आशिषो यासां ताः ॥ १ ॥

**तत्रेति**। रासक्रीडा, रासो नाम बहुनर्तकीयुक्तो नृत्तविशेषः। तां क्रीडाम् अन्योन्यमाबद्धाः सङ्ग्रथिता बाहवः यैस्तैस्सह ॥ २ ॥

तत्साहित्यमभिनयेन दर्शयति - अक्षरचतुष्टयाधिकेन सार्धेन **रासोत्सव** इत्यादिना। तासां मण्डलरूपेणाऽवस्थितानां द्वयोर्द्वयोर्मध्ये ॥ ३ ॥

**प्रविष्टेनेति**। प्रविष्टेन तेनैव कण्ठे गृहीतानां उभयत आलिङ्गितानाम्। कथम्भूतेन? यं सर्वाः स्त्रियः स्वस्वनिकटं मामेवाऽऽश्लिष्टवानिति मन्येरन्। तेन एतदर्थं द्वयोर्द्वयोर्मध्ये प्रविष्टेनेत्यर्थः। नन्वेकस्य कथं तथा प्रवेशः? सर्वसन्निहितत्वे वा[2] कुतः[3] स्वनिकटवर्तित्वाभिमानस्तासामित्यत उक्तं योगेश्वरेणेति। अचिन्त्यशक्तिनेत्यर्थः। तावत् तत्क्षणमेव। अत्यौत्सुक्यव्याप्तमनसां[4] सस्त्रीकाणां देवानां विमानशतैः[5] सङ्कीर्णं नभो बभूव ॥ ४ ॥

★ **त** इति। तत्तस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य अमलं निर्मलं यशो जगुरिति ॥ ५ ॥

**वलयानामिति**। सप्रियाणां कृष्णसहितानां तुमुलः सङ्कीर्णः ॥ ६ ॥

1. J,Va omit अभ्र 2. P,V add तस्मिन् 3. J,Va स्वैक 4. J,Va omit अति 5. J,Va add सङ्कुलं ★ This commentary on V.5 is not found in P&V Edns.

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथैवं सूक्ताभिर्गोपीभिस्सह भगवतो रासक्रीडामनुवर्णयति त्रयस्त्रिंशेन। इत्थं भगवतः सुतरां पेशला मृदुला[1] वाचश्श्रुत्वा गोप्यस्तस्याङ्गेन अङ्गसङ्गेन उपचितास्समृद्धा आशिषो यासां तथाभूताः विरहजं तापं जहुः ॥ १ ॥

अथ तत्र पुलिने भगवान्, स्त्रिय एव रत्नानि तैस्सहितो रासक्रीडामारब्धवान्। कथम्भूतैः? अनुव्रतैः अन्योन्यमाबद्धास्सङ्ग्रथिता बाहवो यैस्तथाभूतैः। रासो नाम अनेकनर्तकनर्तकीयुक्तो नृत्तविशेषः[2] ॥ २ ॥

अ[3-]नेकनर्तकनर्तकीसाहित्यमेव[-3] अभिनयेन दर्शयति **रासोत्सव** इत्यादिना नभस्तावदित्यतः प्राक्तनेन। तासां मण्डलरूपेण स्थितानां द्वयोर्द्वयोर्मध्ये प्रविष्टेन कृष्णेन गोपीमण्डलमण्डितो रासोत्सवस्सम्प्रवृत्त इत्यन्वयः। कथम्भूतानाम्? तेनैव कण्ठे गृहीतानाम् उभयत आलिङ्गितानाम्। कथम्भूतेन? यं कृष्णं सर्वाः स्त्रियः स्वनिकटस्थं मन्येरन् मामेवाऽऽश्लिष्टवानिति मन्येरन्, तथाभूतेन। तदर्थं द्वयोर्द्वयोर्मध्ये प्रविष्टेनेत्यर्थः। नन्वेकस्य कथं तथा प्रवेशः, सर्वसन्निहिते तस्मिन्वा कथं तासां स्वनिकटवर्तित्वमात्राभिमान[4] इत्यतो विशिनष्टि योगेश्वरेणेति[5]। अचिन्त्यविविधविचित्रशक्तिनेति भावः। बहुरूपतामापन्नेन तासां स्वस्वनिकटवर्तित्वमात्राभिमानं जनयता चेति गूढाभिसन्धिः, तथा च वक्ष्यति "कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः" (भाग. 10-33-20) इति। अत एव "अचीकृपन्नासनमात्मबन्धवे" इत्युक्तमुपपन्नम्। नभ इति। यदा रासोत्सवः सम्प्रवर्तितः तावत्तत्क्षणमेव औत्सुक्यव्याप्तमनसां सस्त्रीकाणां देवानां[6] विमानशतैः सङ्कुलं[7] सङ्कीर्णं नभो बभूव[8] ॥ ३, ४ ॥

**तत** इति। [9-]दुन्दुभयो दध्वनुः[-9] सस्त्रीका गन्धर्वश्रेष्ठाः अमलं शृण्वतां वदताञ्च पापहरं तस्य भगवतो यशो जगुः ॥ ५ ॥

**वलयानामिति**। सप्रियाणां कृष्णसहितानां योषितां ये वलयादयस्तेषां तेषां शब्दस्तुमुलः सङ्कीर्णो बभूव ॥ ६ ॥

1. K omits मृदुला 2. K नृत्य° 3- -3. K तदेव 4. K वृत्तित्व 5. K °गी° 6. K °वादीनां 7. J,W omit सङ्कुलं 8. K adds इति शेषः। 9- -9. T,W omit.

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भक्तिप्रसन्नभगवत्प्रीतिरेव आनन्दानुभवे कारणं नाऽन्यत्साधनमिति निदर्शयितुं रासक्रीडां वर्णयति अस्मिन्नध्याये। "स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः" (छान्दो.उ. 8-12-3) इत्यादि श्रुतिः। तत्र गोपीनां कृष्णविरहसमुद्भूतसन्तापप्रणाशं वक्ति **इत्थमिति**। तापत्यागे निमित्तमाह तत्सङ्गेति। हरेरङ्गसङ्गलक्षणसेवनेन उपचिताः फलरूपेण परिणताः आशिषः प्रार्थना यासां तास्तथा। यद्वा, उपचिताः सञ्चिताः समृद्धिं गता आशिषः शुभानि यासां तास्तथा ॥ १ ॥

समृद्धफलशुभानुभवप्रकारं वक्तुमुपक्रमते **तत्रेति**। तत्र वने तस्यामवस्थायां अन्योन्याबद्धबाहुभिः इति रासक्रीडाप्रकारं दर्शयति। समतलमतृणप्रदेशे वितस्तिमात्रोन्नतशङ्कुं संस्थाप्य तत्परितः सर्वैः स्वपादमवष्टभ्य वृत्ताकारेण स्थित्वा एकस्या वामहस्तं अन्यस्या निकटवर्तिन्या दक्षिणपाणिना सङ्गृह्य स्वशक्त्याऽवष्टम्भेन वर्तुलाकारभ्रमणं चक्रवत्क्रिया रासक्रीडा ॥ २ ॥

नृत्यादिषु भरतरीतिसंज्ञेषु गातुमुपक्रान्तेषु योऽधिरसोल्लासो जायते स रसः तत्सम्बन्धी रसो रासः, तदुद्रेकेण क्रीडा नृत्यविशेषः। एवंविधो रासक्रीडोत्सवः कृष्णेन सम्यक्प्रवृत्त इत्यन्वयः। कीदृशः? गोपीनां तासां मण्डलेन वलयेन मण्डितोऽलङ्कृतः। कथम्भूतेन? तासां गोपीनां मध्यं प्रविष्टेन। मध्ये शङ्कुस्थापनात् कथं मध्यप्रवेशस्सङ्गत इति तत्राऽऽह - द्वयोरिति। वलयस्थितानां तासां द्वयोर्द्वयोर्मध्ये प्रविष्टेन। एकस्येदं कथं घटत इत्यतो योगेश्वरेणेति। योगैश्वर्यादिकस्य बहुत्वं घटत इति भावः। कीदृशीनां कृष्णेन कण्ठे गृहीतानाम्। तत्रैवं विशेषः। कृष्णदक्षिणभागस्थिताया कृष्णदक्षिणांसग्रहणं, वामभागस्थितायास्तस्य वामस्कन्धग्रहणम्। स्वनिकटस्थस्त्रियः कण्ठे गृहीतेन तेनैव रासोत्सवः सम्प्रवृत्त इति गतेनाऽन्वय इत्यर्थः ॥ ३ ॥

नन्वेवं कृष्णे रासक्रीडाकारिणि के साक्षिण इति तत्राऽऽह — यन्मन्येतेति। कृष्णो यदा रासक्रीडां कर्तुं मन्येत न्यरूपदिति व्यत्ययः। तावत्तदा नभः औत्सुक्येन निभृतात्मनाम् निश्चलमनसां सदाराणां सभार्याणां दिवौकसां विमानशतसङ्कुलं आसेति शेषः ॥ ४ ॥

ततः रासोत्सवप्रारम्भानन्तरम् ॥ ५,६ ॥

तत्राऽपि[1] शुशुभे ताभिर्भगवान्देवकीसुतः।
मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा ॥ ७ ॥

पादन्यासै र्भुजविधुतिभिस्सस्मितै[2] र्भ्रूविलासै-
र्भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः।
स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाग्रन्थयः कृष्णवध्वो
गायन्त्यस्तं तटित[3] इव ता मेघचक्रे विरेजुः ॥ ८ ॥

उच्चैर्जगु[4]र्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः।
कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम् ॥ ९ ॥

काचित्समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः।
उन्निन्ये पूजिता तेन प्री[5-]यता साधु[-5] साध्विति॥
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानञ्च बह्वदात्[6] ॥ १० ॥

काचिद्रासपरिश्रान्ता पार्श्वस्थस्य गदाभृतः।
जग्राह बाहुना[7] स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका[8] ॥ ११ ॥

1. G,J,K,V,Va °ति° 2. V °तभ्रू° 3. G,J,K,Va °डि° 4. M,Ma °गुः कृतमदा 5- -5. V प्रीयमाणेन 6. T,W °धा° 7. T,W पाणिना 8. M,Ma स्रवत्कबर°

**श्रीध० तत्रेति।** महामरकतो नीलमणिरिव। म[1-]रतक इति पाठान्तरम्[-1]। हैमानां मणीनां मध्ये म[2]ध्ये ताभिः स्वर्णवर्णाभिः आश्लिष्टाभिः शुशुभे। गोपीदृष्टचभिप्रायेण वा, विनैव मध्यपदावृत्तिमेकवचनम् ॥ ७ ॥

स यथा ताभिश्शुशुभे तथा ता अपि तेन विरेजुरित्याह — **पादन्यासैरिति।** भुजविधुतिभिः करचालनैः भज्यमानैर्मध्यैः चलद्भिः कुचैः पटैश्च गण्डलोलैः गण्डेषु चञ्चलैः स्विद्यन्मुख्यः स्विद्यन्ति स्वेदमुद्गिरन्ति मुखानि यासां ताः। क[3-]बरेषु रशनासु च ग्रन्थयो[-3] दृढा या[4] सां[5-] ताः। यद्वा[-5], तेषु तासु च अग्रन्थयः शिथिलग्रन्थय इत्यर्थः। तत्र नानामूर्तिः कृष्णो मेघचक्रमिव, तास्तु बहुविधाः तटित[6] इव, स्वेदस्तुषार इव, गीतं गर्जितमिवेति यथासम्भवमूह्यम्॥ ८॥

**उच्चैरिति।** नृत्यमानाः नृत्यन्त्यः रक्तकण्ठ्यः नानारागानुरञ्जितकण्ठ्यः[7] कृष्णस्य अभिमर्शेन संस्पर्शेन मुदिताः, इदं विश्वम् ॥ ९ ॥

**काचिदिति**। मुकुन्देन सह स्वरजातीः षड्जादिस्वरालापगतीः अमिश्रिताः कृष्णेन उन्नीताभिः[8] असङ्कीर्णाः। प्रीयमाणेन सम्मानिता,[9] तत्स्वरजात्युन्नयनमेव ध्रुवं ध्रुवाख्यं तालविशेषं कृत्वोन्निन्ये उन्नीतवती ॥ १० ॥

एवं नृ[10]त्यगीतादिना श्रीकृष्णसम्मानितानां तासामतिप्रीतिविलसितं वृत्तमाह — **काचिदिति**। श्लथन्ति वलयानि मल्लिकाश्च यस्यास्सा ॥ ११ ॥

1- -1. J,Va omit 2. P,V,Va omit मध्ये 3- -3. V omits 4. P,V omit °दृढा 5- -5. V omits 6. J,Va °डि° 7. J,Va रागैस्तु 8. P,V उन्नी° 9. J,Va स्वरतज्जात्यु° 10. P,V नृत्त

**वीर० तत्रापीति**। हैमानां मणीनां मध्ये महामरकतः इन्द्रनीलमणिरिव[1] ताभिः स्वर्णवर्णाभिराश्लिष्टः तत्रातीव शुशुभे। गोपीदृष्टचभिप्रायेणैकवचनम्। एवमुत्तरत्राऽप्यवगन्तव्यम् ॥ ७ ॥

यथा ताभिः भगवान् शुशुभे तथा तेन ताश्च विरेजुरित्याह — **पादन्यासैरिति**। पादविक्षेपैः[2] भुजविधुतिभिः करचालनैः स्मितेन सहितैः भ्रुवां विलासैश्च भज्यमानैर्मध्यैः चलद्भिः कुचैश्च पटैश्च, गण्डेषु चलैः[3] कुण्डलैश्च उपलक्षिताः स्विद्यन्ति स्वेदमुद्गिरन्ति मुखानि यासां ताः। कबरेषु रशनासु च ग्रन्थयो यासाम्। यद्वा, तेषु तासु च न विद्यन्ते ग्रन्थयो यासां ताः, शिथिलकबरादिग्रन्थिमत्य इत्यर्थः: एवम्भूताः कृष्णस्य वध्वः तं कृष्णं गायन्त्यः तेन विरेजुः। यथा मेघचक्रे तटित[4] स्तद्वत्। तत्र कृष्णो मेघचक्रमिव, तास्तु बहुविधास्तटित[5] इव स्वे[6]दस्तुषार इव[-6] गानं गर्जितमिवेति यथासम्भवमूह्यम् ॥ ८ ॥

**उच्चैरिति**। नृत्यन्त्यो नानारागैः अनुरञ्जितकण्ठ्यः[7] कृष्णस्याभिमर्शेन मुदिता उच्चैर्जगुः, यद्गीतेन यासां यस्य च गीतेन इदं विश्वमावृतं व्याप्तं कृत्स्नं जगत्तद्गीतैकदेशवदिति भावः ॥ ९ ॥

कृ[8-]ष्णाभिमर्शमुदितानां तासां प्रत्येकं गीतादिचेष्टितमाह — **काचिदिति**[-8]। तत्र काचिदङ्गना मुकुन्देन सह स्वरजातीः स्वरभेदान् षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाख्यान् अमिश्रिताः कृष्णोन्नीताभिः असङ्कीर्णाः उन्निन्ये अमूर्छयत्। कथम्भूता ? प्रीयता[9] प्रीयमाणेन अनेन[10] कृष्णेन साधु साध्विति पूजिता स[11-]म्मानिता[-11]। जात्युन्नयनमेव ध्रुवं ध्रुवाख्यं ता[12]लविशेषं कृत्वोन्निन्ये उन्नीतवती। इत्थमुन्नीतवत्यै[13] बहुमानं सम्मानं अदाच्चकार, कृष्ण इति शेषः ॥ १० ॥

एवं नृ[14]त्तगीतवाद्यादिना कृष्णसम्मानितानां तासामतिप्रेमविलसितं वृत्तमाह- **का[15-] चिदित्यादिना**[-15]। रासेन परिश्रान्ता श्लथन्ति वलयानि मल्लिकाश्च यस्यास्तथाभूता, आत्मनो बाहुना पार्श्वस्थस्य[16] भगवतोंऽसं जग्राह ॥ ११ ॥

1. T,W omit इन्द्र 2. K न्यासैः वि 3. K चञ्चलैः 4. K °डि° 5. K °डि° 6- -6. K omits 7. K omits अनु 8. T,W omit 9. K adds सती 10. K तेन श्री° 11- -11. K तदेव स्वर जा० 12. T,W °न 13. K adds तस्यै 14. K नृत्य 15- -15. K चतुर्भिः काचिदिति। 16. K समीपस्थस्य

**विज०** तत्राऽपि रासक्रीडायामपि। यद्वा, तत्राऽपि नभस्यपि, रासमण्डले एवञ्चेत् सप्रियाणामिति पदं पूर्णार्थं लभते। अन्यत्र कृष्णव्यतिरेकेण प्रियाभावात्। अस्मिन् पक्षे प्रियेण बहुरूपं गतेन कृष्णेन सहितानां तत्र अपिशब्दसामर्थ्यात् पारवश्यात् शिक्षार्थं नभस्यपि रासक्रीडा प्रवृत्तेति प्रतर्क्यम्। हैमानां हिमवत्सम्भूतानां मणीनां माणिक्यानां मध्ये मरकतश्याममणिरिव। "अनन्तरत्नप्रभवस्य" (कुमार. 1-2) इत्युक्तं रत्नजातीनामुत्पत्तिर्हिमवद्गिरेरिति प्रसिद्धम्। यद्वा, हैमानां हेमकार (हिमाकर) सम्भूतानां तत्रत्यानां मणीनां निर्मलत्वेन कान्त्यतिशयात् ॥ ७ ॥

तत्र नृत्यप्रकारं कथयति **पादेति**। पादन्यासैर्वक्रस्थापितपादविक्षेपविशेषैः भुजानां विधुतिभिः कम्पनविशेषैः भ्रूविलासैः भ्रूभङ्गैः। चलकुचतटैरिति केचित्। कबरेत्यादौ श्लथदिति पदमध्याहार्यम्। श्लथन्त्यः कबररशनाग्रन्थयः बन्धविश्लेषाः यासां तास्तथा। यद्वा, कबररशनाना मग्रन्थयः अबन्धनानि यासां ताः, मुच्यमानकबरकाञ्च्य इत्यर्थः। स्तनितरशनाग्रन्थय इति केचित्। 'स्तन ष्टन' इति धातुः। कृष्णवध्वः कृष्णपरिग्रहाः कृष्णयुक्ताः गोपस्त्रिय इति वा। भावैः पुरुषान् बध्नन्तीति बध्वः। "समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः" इत्युक्तेः। तं कृष्णं गायन्त्यो या एवंविधास्ताः मेघचक्रे मेघमण्डले तडित इवेति कान्तिविशेषद्योतनार्थं दृष्टान्तोपादानम्, न तु पादन्यासादिविशेषप्रकाशनार्थम्; अचेतनत्वात्तडिताम्। यद्वा यत्तडित इति तडितो यथा प्रकाशनाप्रकाशने तथा पादविन्यासाद्यावर्तनमिति दर्शनाय। 'तडगतौ' इति धातोः तडन्ति क्षिप्रतिरोधानं गच्छन्तीति क्षिप्रतिरोधानगमनशीलार्थे इत्प्रत्ययः ॥ ८ ॥

रक्तकण्ठ्यः रागयुक्तकण्ठगुणाः अभिमर्शः कामकलोद्बोधककरस्पर्शविशेषः, यासां गीतेन इदं जगदावृतं व्याप्तं देवसाक्षिकत्वात् ॥ ९ ॥

अमिश्रिताः स्वरान्तरानन्तरिताः स्वरजातीः षड्जादिस्वरभेदान्। उन्निन्ये उत्कृष्टत्वेन गीतवती मूर्छयामास च। "निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः, पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः" (अम. को. 1-183) इत्यमरः॥ १० ॥

कृष्णोऽपि तदेव गीतं ध्रुवमुन्निन्ये व्यक्तवर्णेन प्लावयामास, तेन तस्यै एव समं गायन्त्यै; अत्र समगानं नाम तत्प्रशंसार्थं मुकुन्देन तद्गानानुसारेण गीतमिति ज्ञातव्यम्। अन्यथा त्रिजगति मुकुन्दगायनसमं गायनज्ञः कोऽस्ति स्वविभूतिमन्तरेण ? स्रवन्ती श्लथयन्ती कबरबद्धमल्लिका यस्यास्सा तथा ॥ ११ ॥

**तत्रैकांसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम्।**
**चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह ॥ १२ ॥**

**कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्तकुण्डलत्विषमण्डितम्।**[1]
**ग[2]ण्डं गण्डे स[2]न्दधत्या आदात्ताम्बूलचर्वितम् ॥ १३ ॥**[3]

**नृत्यन्ती[4] गायती काचित्कूजन्नूपुरमेखला।**
**पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं श्रान्ताऽधात्स्तनयोश्शिवम् ॥ १४ ॥**[5]

**गोप्यो लब्ध्वाऽच्युतं कान्तं श्रिय एकान्तवल्लभम्।**
**गृहीतकण्ठ्यस्तद्दोर्भ्यां गायन्त्यस्तं विजह्रिरे ॥ १५ ॥**

**कर्णोत्पलालकविटङ्ककपोलघर्मवक्त्रश्रियो वलयनूपुरघोषवाद्यैः।**
**गोप्यस्समं भगवता ननृतुः स्वकेश स्रस्तस्रजो भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम् ॥ १६ ॥**

1. M,Ma भूषिते 2. M,Ma खण्डखण्डे भिद° 3. G,J,K,T,Va,W अ° 4. K,M,Ma,T,V,W °ती 5. V शा° 6. M,Ma स्म

**श्रीध० तत्रेति**। उत्पलस्य सौ[1-] रभमिव[-1] सौरभं यस्य तं बाहुम् ॥ १२ ॥

**कस्या** इति। नाट्येन नृत्येन विक्षिप्तयोश्चञ्चलयोः कुण्डलयोः त्विषेण त्विषा, अ[2-]दन्तत्वमार्ष[-2]म्। मण्डितं गण्डं कपोलं, तथाभूते स्वगण्डे सन्दधत्याः संयोजयन्त्याः ॥ १३ ॥

**नृत्यतीति**। कूजती नूपुरे मेखला च यस्यास्सा ॥ १४ ॥

एवमन्या अपि गोप्यः यथायथं नानाविभ्रमैः विजह्रुरित्याह — **गोप्य** इति ॥ १५ ॥

तत्र गायकेषु वादकेषु च अ[3-]स्त्रीकेषु[-3] गन्धर्वकिन्नरादिषु रसावेशेन मुह्यत्सु नृत्यत्सु वा अन्यामेव वाद्यादिसम्पत्तिं दर्शयन् राससम्भ्रममाह — **कर्णोत्पलेति**। कर्णोत्पलैश्च अलकविटङ्कैरलकालङ्कृतैः कपोलैः घर्मैश्च वक्त्रेषु श्रीः शोभा यासां ताः। घोषाः किङ्किण्यः वलयनूपुरघोषैः वाद्यैः वादित्रैः भ[4-]गवता नन्तु[-4]ः स्वकेशेभ्यः स्रस्ताः स्रजो यासां ताः। एतेन तालगतिसन्तुष्टाः केशाः सशिरःकम्पं पादेषु पुष्पवृष्टिमिवाऽकुर्वन्नित्युत्प्रेक्षितम्। भगवता स[5]मं ननृतुः। क? भ्रमरा एव गायका यस्यां तस्यां राससभायाम् ॥ १६ ॥

1- -1. J,Va omit 2- -2. J,Va omit 3- -3. J,Va omit 4- -4. J,Va omit 5. J,Va सह

**वीर०** तत्र तासां मध्ये एका तु आत्मनः अंसगतं स्कन्धे निहितमुत्पलस्य सौरभमिव सौरभं यस्य तं, चन्दनेन समन्तालिप्तं कृष्णस्य बाहुमाघ्राय हृष्टानि पुलकितानि रोमाणि यस्यास्तथाभूता बाहुमधरं वा चुचुम्ब ॥१२॥

नाट्येन नृत्येन विक्षिप्तयोश्चञ्चलयोः कुण्डलयोस्त्विषेण त्विषा अदन्तत्वमार्षम्। मण्डितं कपोलं तथाभूते स्वगण्डे सन्दधत्याः संयोजयन्त्याः, कस्याश्चित् कस्यैचित् ताम्बूलचर्वितं ददौ ॥ १३ ॥

काचित्तु नृत्यन्ती गायन्ती[1] च कूजन्ती नूपुरे, मेखला च यस्यास्तथाभूत्वा श्रान्ता शिवं शान्तं पार्श्वस्थस्याऽच्युतस्य हस्ताब्जं अब्जवच्छीतलं हस्तं स्तनयोरधात् निदधे ॥ १४ ॥

इत्थमन्या अपि गोप्यो यथायथं नानाविधैर्विभ्रमैः विजह्रुरित्याह — **गोप्य** इति। श्रियो लक्ष्म्याः एकान्तवल्लभमनन्यपतिं लब्ध्वा तस्याऽच्युतस्य दोर्भ्यां गृहीताः कण्ठाः यासां ताः तमच्युतं गायन्त्यो विजह्रिरे ॥ १५ ॥

तत्र वादकेषु गायकेषु च सस्त्रीकेषु गन्धर्वकिन्नरादिषु रसावेशेन मुह्यत्सु नृत्यत्सु च, अन्यामेव वाद्यादिसम्पत्तिं दर्शयन् राससम्भ्रममाह — **कर्णोत्पलेति**। कर्णोत्पलैः कर्णावतंसैः उत्पलैश्च, अलकविटङ्कैः अलकालङ्कृतैः कपोलैश्च घर्मैस्स्वेदबिन्दुभिश्च वक्त्रेषु श्रीश्शोभा यासां ताः गोप्यः घोषाः किङ्किण्यः वलयादिभिर्वाद्यैः वादित्रैश्च भगवता सह, भ्रमरा एव गायका यस्यां तस्यां राससभायां ननृतुः। कथम्भूताः स्वकेशेभ्यः स्रस्ताः स्रजो यासां तथाभूताः। एतेन तालगतिसन्तुष्टाः केशाः सशिरःकम्पाः पादेषु पुष्पवृष्टिमिवाऽकुर्वन्नित्युत्प्रेक्षितम् ॥ १६ ॥

1. K °ती

**विज०** उत्पलसौरभमुत्पलमालया सुगन्धितम् ॥ १२ ॥

नाट्येन नृत्येन विक्षिप्तयोः किञ्चित् स्रस्तयोः कुण्डलयोः[1] त्विषेण रोचिषा भूषिते मण्डिते। 'त्विष-दीप्तौ' इति धातोः अवि(पि)कृते त्विषइति रूपं भवति। गण्डखण्डे गण्डमण्डले "समूहे मण्डले खण्डमाहु श्शब्दविशारदाः" इत्युत्पलमाला। अभिदधत्याः सपत्न्याः कोपोद्बोधाय यत्किञ्चिन्मन्त्रयन्त्याः ॥ १३ ॥

अधाद्दधौ, शिवं सुखयतीति सुखम् ॥ १४ ॥

गृहीतकण्ठ्यः आलिङ्गितकण्ठ्यः एकान्तवल्लभं निर्णीतनियतभर्तारं विजह्रिरे क्रीडाञ्चक्रुः ॥ १५ ॥

कर्णोत्पलं अलकः कुन्तलकश्च कर्णोत्पलालकौ ताभ्यां विटङ्कं कपोलं कपोलस्य विटङ्कोऽलङ्कारः घर्मः, तेन स्वेदजलं लक्ष्यते। कपोलालङ्कारस्वेदजलेन च वक्त्राणां श्रीः शोभा यासां तास्तथा। वलयनूपुरलक्षणवाद्यघोषैः समं भगवता च समं भ्रमरा एव गायकाः अनुस्वरदानकरा यस्यां सा तथा भ्रमरगायकाः। रासगोष्ठी रासक्रीडा[2] तस्याम् ॥ १६ ॥

1. Ma omits कुण्डलयोः2. Ma adds भ्रमरगायकरासगोष्ठी

एवं परिष्वङ्गकराभिमर्शस्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः।
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि[1-] र्यथाऽर्भकः स्वप्रतिबिम्ब विभ्रमः[-1] ॥ १७ ॥

तदङ्गसङ्गप्रमुदाकुलेन्द्रियाः[2] केशान्दुकूलं कुचपट्टिकां वा।
ना ऽञ्जः[3-] प्रतिव्योढु[-3] मलं व्रजस्त्रियो विस्रस्तमाल्याभरणाः[4] कुरूद्वह ॥ १८ ॥

कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य व्य[5-] मुह्यन् खेचरस्त्रियः[-5]
कामार्दिताश्शशाङ्कश्च सगणो विस्मितोऽभवत् ॥ १९ ॥

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ॥ २० ॥

तासां रतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः।
प्रामृजत्करुणः प्रेम्णा शन्तमेनाऽङ्ग! पाणिना ॥ २१ ॥

1- -1. M,Ma कामिनीभिर्यथा स्वतन्त्रः प्रतिघं विडम्बयन् 2. M,Ma °म° 3- -3. M,Ma त्यक्तुं पतिं वोढु° 4. G,J,Va °ला° 5- -5. G,J,Va मुमुहुः खेचरस्त्रियः ; M,Ma व्यमुहयन्त सुरस्त्रियः 6. K,M,Ma,T,V,W राम भ° 7. G,J,Va तासामति.

**श्रीध०** यथा गोप्यो नानाविभ्रमैः भगवता सह विजह्रुः। एवं भगवानपि स्वविलासैस्ताभिस्सह रेम इत्याह — **एवमिति**। तद्विलासानभिभूतस्यैव। रतौ दृष्टान्तः यथाऽर्भक इति। स्वप्रतिबिम्बैः विभ्रमः क्रीडा यस्य स इति, अनेनैतद्दर्शितम्। स्वीयमेव सर्वकलाकौशलं सौगन्ध्यलावण्यमाधुर्यादि च तासु सञ्चार्य, ताभिस्सह रेमे यथाऽर्भकः स्वप्रतिबिम्बैरिति ॥ १७ ॥

तास्तु भगवद्विलासैः आकुला बभूवुरित्याह — **तदङ्गेति**। तस्याङ्गसङ्गेन प्रकृष्टा मुत् प्रीतिः तया आकुलानि अवशानि इन्द्रियाणि यासां ताः। विश्लथबन्धान् केशादीन् अञ्जसा प्रतिव्योढुं यथापूर्वं धर्तुं नाऽलं न समर्था बभूवुः। विस्रस्तानि माल्यानि आभरणानि च यासां ताः ॥ १८ ॥

न केवलं ता एवाऽऽकुलेन्द्रियाः किन्तु देव्योऽपीत्याह — **कृष्णेति**। किञ्च शशाङ्कश्चेत्यनेन एतत्सूचितम् - शशाङ्केन विस्मितेन गतौ विस्मृतायां ततः प्राक्तनास्सर्वेऽपि ग्रहाः तत्र तत्रैव तस्थुः। ततश्चातिदीर्घासु रात्रिषु यथासुखं विजह्रुरिति ॥ १९ ॥

किञ्च, **कृत्वेति**। अयं भावः। "कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि, नन्दगोपसुतं देवि, पतिं मे कुरु ते नमः" (भाग. 10-22-4) इति प्रत्येकं ताभिः प्रार्थनात्। भगवताऽपि — "याताऽबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः" (भाग. 10-22-27) इति तथैव प्रतिश्रुतत्वात् तावन्तमात्मानं कृत्वा रेमे इति। यावतीर्यावत्यः ॥ २० ॥

कृपातिशयमाह — **तासामिति** ॥ २१ ॥

1. Va इव 2. J,Va विस्रस्ताः मालाः 3. P,V omit किञ्च

**वीर०** इत्थं गोप्यो नानाविभ्रमैः भगवता सह विजह्रुः। तथा भगवानपि स्वविलासैः ताभिस्सह रेम इत्याह - **एवमिति**। इत्थं रमेशः श्रियः पतिः भगवानपि व्रजसुन्दरीभिस्सह परिष्वङ्गादिभिः रेमे। तत्र परिष्वङ्गः परिरम्भः, कराभिमर्शः करेण स्तनो र्वीदीनां संस्पर्शः। स्निग्धेक्षणं सानुरागावलोकनम्। उद्दामविलासः उदारलीला परिष्वङ्गादिरूपं विहारं कृतवानित्यर्थः। रमेशो रेमे इत्यनेन अवाप्तसमस्तकामत्वादनपेक्षितविहारोऽपि सर्वकारणत्वात् अस्वात्मकवस्त्वन्तररहितोऽपि केवलं रेम इति सूचितम्। कथमेवम्भूतस्य क्रीडा सङ्घटत इत्यतो दृष्टान्तमाह — यथेति। अर्भको यथा स्वप्रतिबिम्बैः विभ्रमः क्रीडा

यस्य तथाभूतो भवति तद्वत्। स यथा स्वप्रतिबिम्बैः स्वानन्यैरेव रमते तथा रमेशोऽपि स्वात्मिकाभिः व्रजसुन्दरीभिः कामिनां स्त्रीपारवश्यं दर्शयन्निव रेम इत्यर्थः। अत्र बिम्बप्रतिबिम्बयोरिव स्वात्मिकानां व्रजसुन्दरीणां स्वशरीरत्वेन स्वकार्यत्वेन च स्वानन्यत्वमात्रेऽर्भकदृष्टान्तः, न त्वङ्गत्वादावपीति द्रष्टव्यम् ॥ १७ ॥

तास्तु भगवतः तद्विलासैः अनभिभूतस्वविलासैराकुला बभूवुरित्याह — **तदङ्गसङ्गेति** । तस्य भगवतोऽङ्गसङ्गेन प्रकृष्टा मुत् प्रीतिः तया आकुलान्यवशानीन्द्रियाणि यासां तास्तथा विस्रस्ता विश्लथा माला आभरणानि च यासां तथाभूताः, विश्लथबन्धान् केशादीन् अञ्जसा आशु प्रतिव्योढुं यथापूर्वं धर्तुं, नाऽलं न प्रबभूवुः ॥ १८ ॥

न केवलं ता एवाऽऽकुलेन्द्रियाः, किन्तु पश्यन्त्यो देवानां स्त्रियोऽपीत्याह — **कृष्णविक्रीडितमिति**। खेचराणां देवानां स्त्रियः। किञ्च, शशाङ्कः चन्द्रः सगणः शुक्राङ्गारकगुर्वादिगणसहितः विस्मितो बभूव। अनेनैतत्सूचितम् - विस्मितेन शशाङ्केन स्वगतौ विस्मृतायाम् इतरेऽपि ग्रहाः स्वस्वगतिं विस्मृत्य तत्र तत्रैव तस्थुः। अतो रात्रिर्दीर्घा च बभूवेति॥ १९॥

कथमेकोऽनेकाभिर्युगपद्रेमे इत्यत आह — **कृत्वेति**। गोपयोषितः यावतीर्यावत्यः तावन्तमात्मानं कृत्वा ताभिस्सह लीलया रेमे। अध्ययनेन वसतीतिवत् लीलयेति हेतौ तृतीया। आत्मारामोऽपि षाड्गुण्यपूर्णोऽपि केवलं लीलार्थमेव रेम इत्यर्थः॥ २०॥

तस्य तासु कृपातिशयमाह — **तासामिति**। स भगवान् रतिविहारेण रतिविहाराभ्यां श्रान्तानां तासां गोपीनां वदनानि प्रस्विन्नानि, अङ्ग! हे राजन्! करुणः करुणावान् शन्तमेन निरतिशयसुखकरेण पाणिना प्रामृजत् परिमृष्टवान् ॥ २१ ॥

1- -1. T,W स्तनयोः बाह्वादीनां

**विज०** स्वतन्त्र ईश्वरो विधिनिषेधाद्यविषयः प्रतिघं विधिनिषेधविवर्जितं पुरुषमनुकुर्वन्। यद्वा, प्रवृत्तिधर्मं "विध्याद्यगोचरे कोपे प्रवृत्ते प्रतिघं विदु"रिति च ॥ १७ ॥

तस्य कृष्णस्य अङ्गसङ्गेनोत्पन्नेन प्रमदेनान्देन आकुलानि पूर्णानीन्द्रियाणि यासां तास्तथा, केशादीन्चोंदु पतिं कृष्णं वा त्यक्तुं अलं पर्याप्ताः शक्तिवर्जिता आसन्नित्यर्थः। "अप परी वर्जने" (अष्टा. 1-4-88) इति सूत्रात्। यद्वा शक्तयभावेऽपि निवारिताः। "अलन्तु भूषणे शक्तौ पर्याप्तौ शक्तिवारणे (वैज.को. 8-7-13) इति। प्रेमकामात्मत्वात् वहनादिशक्तयभाव इत्यर्थः। कुरूद्वहेति विशेष्य सम्बोधनेन कृष्णस्य भक्तिभामिनीलोलत्वं पश्येत्यभिमुखीकरणेन भक्तेरवश्यकर्तव्यत्वं सूचयति॥ १८॥

सगणः रोहिण्यादिनक्षत्रगणेन सहितः। यद्वा गणनं संख्यानं तेन सहितः ॥ १९ ॥

किमत्र सङ्ख्येयम्, अत्राऽऽह — **कृत्वेति**। यद्वा योगैश्वर्यात् बहुरूपग्रहणेन बह्वीभिः स्त्रीभिः रमणं घटत इति राज्ञः सिद्धत्वेऽपि मन्दाशङ्कां परिहरति। यावतीर्यावत्यः। रामेति व्यत्ययेन परदाराभिमर्शनेन दोषो नास्तीति वक्ष्यमाणमर्थ मिहैव सूचयति। यद्वा, रराम चिक्रीडे रासक्रीडाविरामसूचनार्थो वा ॥ २० ॥

इदञ्च भक्तपारवश्यं 'हरेरजस्रं स्मरेत्' इत्याशयेन हरिचरितं वक्ति — **तासामिति**। प्रामृजत् सम्मार्जितवान्॥ २१॥

**गोप्यः स्फुरत्कनककुण्डलकुन्तलत्विड्गण्डश्रिया सुधितहास्य निरीक्षणेन।**
**मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि पुण्यानि तत्कररुहस्पर्शप्रमोदाः ॥ २२ ॥**

**ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्गसङ्ग घृष्टस्रजः स्वकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः।**
**गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद्वाः श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः ॥ २३ ॥**

**सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग।**
**वैमानिकैः कुसुमवर्षिभि रीड्यमानो रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः ॥ २४ ॥**

**ततश्च कृष्णोपवने जलस्थलप्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्तटे।**
**चचार भृङ्गप्रमदागणावृतो यथा मदच्युद्द्विरदः करेणुभिः ॥ २५ ॥**

**एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः स सत्यकामोऽनुरताबलागणः।**
**सिषेव आत्मन्यवरुद्ध सौरतः सर्वाः शरत्काव्यकथा रसाश्रयाः ॥ २६ ॥**

1- -1. G,J,K,Va °त्पुरट; M,Ma °न्मकर 2. M,Ma सुरत° 3. M,Ma °र्ययौ श्र० 4. M,Ma ध्वस्त० 5. G,J,Va स०; M,Ma सु° 6. M,Ma °न्तर्जले 7. G,J,Va °म्णेक्षितः; M,Ma °सिव्मेक्षितः 8- -8. M,Ma प्रहसिताभिरभिष्टुताङ्गः; V. प्रहसिता परितस्ततोऽङ्गः 9. V मदान्धो द्वि° 10. M,Ma सौभगः

**श्रीध०** ततोऽतिहृष्टानां गोपीनां चरितमाह — **गोप्य** इति। स्फुरतां स्वर्णकुण्डलानां कुन्तलानाञ्च त्विषा, गण्डेषु या श्रीः तया सुधितेन अमृतायितेन हाससहितेन निरीक्षणेन च ऋषभस्य पत्युः कृष्णस्य मानं दधत्यः पूजां कुर्वत्यः तत्कर्माणि जगुः। तस्य कररुहैः नखैः स्पर्शेन प्रमोदो यासां ताः ॥ २२ ॥

अथ जलकेलिमाह — **ताभिरिति**। तासा मङ्गसङ्गेन घृष्टा सम्मर्दिता या स्रक् तस्याः अत एव तासां कुचकुङ्कुमेन रञ्जितायाः सम्बन्धिभिः गन्धर्वपालिभिः गन्धर्वपाः गन्धर्वपतय इव गायन्तः ये अलयः तै रनुद्रुतः अनुगतः स कृष्णः वाः उदकं आविशत् भिन्नसेतुः विदारितवप्रः, स्वयञ्चाऽतिक्रान्तलोकवेदमर्यादः ॥ २३ ॥

**स** इति। स्वरतिः आत्मारामोऽपि अत्र गोपीमण्डले अम्भसि वा ॥ २४ ॥

स्थलजलक्रीडे दर्शिते, वनक्रीडां दर्शयति — **ततश्चेति**। यमुनाया उपवने जलस्थलप्रसूनानां गन्धो यस्मिन् तेनाऽनिलेन जुष्टानि दिशां तटानि अन्ता यस्मिन्। यद्वा दिशश्च तटं स्थलञ्च यस्मिन्, तस्मिन् वने भृङ्गाणां प्रमदानाञ्च गणैरावृतः चचार ॥ २५ ॥

रासक्रीडां[3] निगमयति **एवमिति**। स कृष्णः सत्यसङ्कल्पः अनुरागिस्त्रीकदम्बस्थः एवं[4] सर्वा निशाः सेवितवान्। शरत्काव्यकथारसाश्रयाः शरदिभवाः काव्येषु कथ्यमानाः ये रसाः तेषाम् आश्रयभूता निशाः। यद्वा, निशा इति द्वितीया अत्यन्तसंयोगे, शृङ्गाररसाश्रयाः शरदि प्रसिद्धाः काव्येषु याः कथास्ताः सिषेव इति। एवमप्यात्मन्येवाऽवरुद्धः सौरतः सुरतरसः[5] चरमधातुः[6], न तु स्खलितो यस्येति कामजयोक्तिः ॥ २६ ॥

---

1. J. Va उप° 2. J,Va omit चचार 3. P,V °डा निगमनं 4. Va एव 5. J,Va omit सुरतरसः 6. P.V रसो

**वीर०** ततोऽतिहृष्टानां गोपीनां चरितमाह — **गोप्य** इति। तस्य भगवतः कररुहैर्नखैः स्पर्शेन प्रमोदो यासां ता गोप्यः स्फुरतां कर्णकुण्डलानां, कुन्तलानाञ्च त्विषां गण्डेषु या श्रीस्तया सुधितेन अमृतायितेन हासयुक्तनिरीक्षणेन च ऋषभस्य भर्तुः कृष्णस्य मानं दधत्यः पूजां कुर्वत्यः पुरटकुण्डलादित्विडादिभिः तस्य हर्षं जनयन्त्य इत्यर्थः। तस्य कर्माणि चेष्टितानि जगुः ॥ २२ ॥

अथ तस्य ताभिस्सह जलक्रीडामाह — **ताभिरिति** द्वाभ्याम्। तासामङ्गसङ्गेन घृष्टा सम्मर्दिता या स्रक् तस्याः अत एव तासां कुचकुङ्कुमेन रञ्जिताया स्सम्बन्धिभिः गन्धर्वपालिभिः, गन्धर्वपाः गन्धर्वपतय इव गायन्तो येऽलयो भृङ्गाः तै रनुद्रुतः अनुगतः[1] स कृष्णः ताभिस्सह श्रमं रतिविहारजमपोहितुं अपाकर्तुं वाः जलं आविशत्, यथेभराट् गजपतिः श्रान्तः गजीभिस्सह जलं प्रविशति तद्वत्। भिन्नसेतुर्विदारितटः, दार्ष्टान्तिके त्वतीतलोकवेदमर्यादः ॥२३॥

स इति। स भगवान्, स्वयमात्मना स्वरतिरात्मारामोऽपि गजेन्द्रस्येव लीला यस्य तथाभूतः, तदेवाह - अम्भसि अलं नितरां प्रहसतीभिः युवतीभिः प्रेम्णा उक्षितस्सिक्तः स्वयमपि ता स्सिच्यमानः। भ्वादिव द्विवादेराकृतिगणत्वात्कर्तरि श्यन्। सेचयन्नित्यर्थः। यद्वा ताभि स्ताव त्किञ्चिदुक्षितः प्रत्युक्षणेन पुनः[2] परित स्सिच्यमानः अङ्ग! हे राजन्, कुसुमानि वर्षन्तीति तथा, तै र्वैमानिकैः विमानारूढैः देवै रीड्यमानः स्तूयमानः अत्र रासे रेमे ॥ २४ ॥

एवं स्थलजलक्रीडे वर्णिते। अथ वनक्रीडां वर्णयति — **ततश्चेति**। जलस्थलप्रसूनानां गन्धो यस्मिन् तेनानिलेन जृष्टानि दिशां तटानि अन्ताः यस्मिन्। यद्वा दिशश्च तटं स्थलश्च यस्मिन्, कृष्णाया यमुनाया उपवने प्रान्तवने भृङ्गाणां प्रमदानाञ्च गणैरावृत श्चचार, यथा मदच्युत् मदधाराः स्रवन् द्विरदः मत्तगजः करेणुभिः इभीभिः, तद्वत् ॥२५॥

रासक्रीडां निगमयति — **एवमिति**। एव मित्थं स भगवान् सत्यसङ्कल्पः अनुरतोऽनुरागी स्त्रीणां गणो यस्य तथाभूतोऽपि आत्मन्येव अवरुद्धः सौरतश्चरमधातुः, नतु स्खलितो यस्य तथा भूत इति कामजयस्सूच्यते। चन्द्रांशुभिः विराजिता स्सर्वाः शरदि काव्येषु कथ्यमाना ये कथारसाः तेषामाश्रयभूता निशा स्सिषेवे ॥ २६ ॥

---

1. K omits अनुगतः 2. T,W omit अत्र रासे

**विज०** ऋषभस्य प्रवृद्धानुन्मथितवीर्यस्य हरेः स्फुरतोश्चलतोः मकरकुण्डलयोः कुन्तलानां त्विषा दीप्त्या दीप्तगण्डश्रिया युक्तसुरतयोग्यहासोपेताभीष्टाङ्गनिरीक्षणेन आनन्दमात्मनो दधत्यः तस्य हरेः कररुहाणां नखानां स्पर्शेन स्मरोल्लासजनकलक्षणेन नखक्षतेन अभिव्यक्तः प्रमोदः प्रकृष्ट आनन्दो यासां ता स्तथा ॥ २२ ॥

वनक्रीडां निरूप्य जलक्रीडां वक्ति — **ताभिरिति**। कृष्णस्याऽङ्गसङ्गेन ध्वस्ता निरस्ताः स्रजो यासां ताः सुकुचानां कुङ्कुमरजोभिः रञ्जिता रागिताः याः ताभिः गोपीभिः। आगच्छन्ति आवृत्य गच्छन्तीत्यङ्गाः, तरङ्गाः तत्सङ्गेन ध्वस्ता निरस्ताः स्रजो यस्याः सा तथा तस्याः, सुकुचकुङ्कुमरेणुभिः रञ्जितायाः यमुनायाः वाः वारि आविशदित्यन्वयः। गन्धर्वाणां पालिभिः श्रेणिभिः श्रान्तः भिन्नसेतुरिति द्वयम् इभराड्विशेषणम्। यद्वा शॄ हिंसायामिति धातोः श्रान्तः नित्यनिरस्तमृत्युः भिन्नसेतुः विशेषितलोकमर्यादः, "भेदो विशेषे दलने विश्लेषे दारणे भेदः" (वैज.को. 6-1-42) इति। अत्र विशेषोनाम व्यावर्तको धर्मोऽपि लक्ष्यते। पृथक् पृथक् स्थापिततत्सेतुरिति वा। एः कामस्य भां दीप्तिं राजयतीति इभराट् कामस्य भां राजति क्षिपतीति वा इभराट्, कृष्णः गोपीविषये 'गज गजि शब्दे' इति धातोः गजीभिः शब्दयन्तीभिः। यद्वा भिन्नसेतुरित्यनेन गजस्य मदातिरेकसूचनेन कृष्णस्य तात्कालिकहर्षातिरेकं व्यञ्जयति। भिन्नवेदविहितधर्ममर्याद इत्यर्थः। "कृष्णे स्वधामोपगते धर्मः कं शरणं गतः" (भाग. 1-3-43) इत्यादि स्वोक्तिविरुद्धं स्यादिति नाऽसावङ्गीकर्तुं योग्यः इति॥ २३॥

स्वस्मिन् स्वेन वा रतिः न पराच्च न परेण वा यस्य तथेत्यनेन तत्तत्काले रमणकथनं लोकमोहनाय विशेषस्मरणाय वेति गमयितव्यम् ॥ २४ ॥

कृष्णायाः यमुनायाः उपवने जलप्रसूनानि कुमुदादीनि, स्थलपुष्पाणि सैगन्धिक कुन्दादीनि तेषां गन्धमिश्रवायुना जुष्टाः परिमलिताः दिक्तटाः दिगन्ताः यस्य स तथा। तस्मिन् मदच्युत् मदजलस्रावी, अन्यत्र दुष्टगर्वनाशनः। 'रद लेखने' इति धातोः पुण्यपापयोः रदो लेखनं येन स द्विरदः। चित्रगुप्तेन पुण्यपापलेखनकर्त्रेत्यर्थः। करे हस्तविषये अणुभिः लतावत् दण्डायतबाहुभिः इत्यर्थः। भृङ्गवद्गायमानप्रमदागणपरिवृतः। यद्वा भृङ्गप्रमदा भृङ्गस्त्रियः तासां गणेन संवृतः ॥ २५ ॥

उपसंहरति **एवमिति**। अनुरताबलागणः अनुरतस्त्रीगणः तदिच्छानुकूलरमितस्त्रीजनो वा, नितरां शं सुखं यासु ताः निशाः रात्रीः एकोऽपि क्षणो रतिक्रीडां विना न हापित इति शरत्काललक्षणवर्णनेन[1] ये काव्यकथायां संयाताः रसाः शृङ्गारहास्यादिरूपाः, एतेषामाश्रयः। अश्रया इति पाठे निशाविशेषणम्। रसानाश्रयन्तीति रसाश्रयाः आत्मन्यवरुद्धं निरुद्धं सौभगं सौरतं निर्दुष्टं रेतोलक्षणं वीर्यं येन स तथा, सुरतक्रिया वीर्यं निरुध्य क्रियत इत्यर्थः। यद्वा वशीकृतयोगैश्वर्यः यद्वा आत्मनि देहे विकाशीकृतसौन्दर्यः ॥ २६ ॥

---

1. Ma °नं येन का°

राजोवाच

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ॥ २७ ॥

स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताऽभिरक्षिता।
प्रतीप माचरद्ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम् ॥ २८ ॥

आप्तकामो[1] यदुपतिः कृतवान्वै जुगुप्सितम्।
किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत ॥ २९ ॥

श्रीशुक उवाच

धर्मव्यतिक्रमो दृष्टः ईश्वराणाञ्च साहसम्[2]।
तेजीयसां न दोषाय वह्ने स्सर्वभुजो यथा ॥ ३० ॥

नैतत्समाचरे ज्जातु मनसाऽपि ह्यनीश्वरः।
नश्यत्याश्वा[3] चरन्मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं[4] विषम् ॥ ३१ ॥

1. M,Ma आत्मारामो 2. M,Ma °सः 3- -3. G,J,V,Va विनश्यत्या° 4. M,Ma °ऽपिबत् वि°

**श्रीध०** स इति। प्रतीपं[1] प्रतिकूलम् अधर्ममित्यर्थः। आचरत्कृतवान्। न चेदमधर्ममात्रम् कलञ्जभक्षणादिवत्[2]। किन्तु महासाहसमित्याह — परदाराभिमर्शनमिति ॥ २७-२८ ॥

आप्तकामस्य नाऽय मधर्म इति चेत् यद्येवं कामाभावात् निन्दितं केनाऽभिप्रायेण कृतवानिति पृच्छति — **आप्तकाम** इति ॥ २९ ॥

परमेश्वरे कैमुत्यन्यायेन[3] परिहर्तुं सामान्यतो महतां वृत्तमाह — **धर्मव्यतिक्रम** इति। साहसञ्च दृष्टं प्रजापतीन्द्रसोमविश्वामित्रादीनां तच्च तेषां तेजस्विनां दोषाय न भवतीति ॥ ३० ॥

तर्हि "यद्यदाचरति श्रेष्ठ स्तत्तदेवेतरो जनः (भ.गी. 3-21) इति न्यायेन अन्योऽप्येवं[4] कुर्यादित्याशङ्क्याऽऽह — **नैतदिति**। अनीश्वरः देहादिपरतन्त्रः यथा रुद्रव्यतिरिक्तो विषमाचरन् भक्षयन् ॥ ३१ ॥

1. Va omit प्रतीपं 2. Va adds (विष) 3. J,Va °तिक° 4. J,Va omit एवं

**वीर०** उपदेशानुष्ठानविरोधिनिरसनादिभिः केवलं धर्मपरित्राणार्थं अवतीर्णस्य भगवतः कथं परदारपरिग्रहरूपाधर्माचरणमिति पृच्छति राजा **संस्थापनायेति**। इतरस्याऽधर्मस्य प्रशमनार्थञ्चांशेन बलरामेण सह स्वसङ्कल्पात्मकज्ञानेनैव, न तु कर्मणेति वा। अवतीर्णः ॥ २७ ॥

स एवम्भूतः धर्ममर्यादानां स्वयं कर्ता अनुष्ठाता वक्ता उपदेष्टाच विरोधिनिरसनेन अभितो रक्षिताच सन् हे ब्रह्मन्! परदाराभिमर्शनात्मकं प्रतीपं धर्मप्रतिकूलम्[1] अधर्ममिति यावत्, कथमाचरत् कृतवान्[2] ॥२८॥

किञ्च स्वय मवाप्तसमस्तकामोऽपि यदुपतिः जुगुप्सितं निन्दितं कर्म कृतवान्। अनवाप्तकामस्य इन्द्रियपरवशस्य जुगुप्सिताचरणं दृष्टम्, नत्ववाप्तकामस्य स्वतन्त्रस्येति भावः। अतः केनाऽभिप्रायेण कृतवानिति पृच्छति किमभिप्राय इति, एतत् एतस्मिन्विषये नोऽस्माकं संशयः। तं हे सुव्रत, छिन्धि निराकुरु ॥२९॥

कैमुत्यनयेन उत्तरं विवक्षुः कर्मवश्यत्वप्रयुक्तशास्त्रवश्यतावतामेव शास्त्रविरुद्धं कर्म प्रत्यवायजनकं, न तु अकर्मवश्यानां अशास्त्रवश्यानामिति तावदुत्तरमाह — **धर्मव्यतिक्रम** इति। यद्यपीश्वराणां अशास्त्रवश्यानां धर्मव्यतिक्रमः शास्त्रोक्तधर्मातिलङ्घित्वं साहसं, सहसा शास्त्रार्थाविमर्शेन कृतं साहसं कामचार इति यावत्। तदुभयं दृष्टं, तथाऽपि तत् तेजीयसां न दोषाय न प्रत्यवायावहं, स्वर्गिणां मुक्तानाञ्च व्यापारेषु व्यभिचारादिति भावः। नहि स्वर्गिमुक्तव्यापारश्शास्त्रानुवर्ती, न वा प्रत्यवायावहः, तेजीयस्त्वमत्र शास्त्रवश्यतानापादकसामर्थ्यवत्त्वरूपं विवक्षितम्, पदार्थानां विलक्षणशक्तिकत्वादिति तात्पर्यम्। तत्र दृष्टान्तमाह वह्नेरिति। यथा सर्वभुजः सर्वदाहकस्य वह्नेः दाहमात्रेण दाह्यपटादिगतमालिन्यसम्बन्धो न विद्यते, तद्वत्। नहि अबादिषु स्वसम्बन्धिपृथिव्यादिगतलौहित्यादिकं दृष्टमिति वह्नावपि तद्वत्प्रसङ्ग इति भावः ॥ ३० ॥

"यद्यदाचरति श्रेष्ठः" (भ.गी. 3-21) इति न्यायेन अन्योऽप्येवं कुर्यादित्याशङ्क्याऽऽह — **नैतदिति**। एतदशास्त्रवश्यत्वेनाचरितम् अनीश्वरश्शास्त्रवश्यः कदाचिदपि मनसाऽपि नाऽऽचरेत् चिकीर्षामपि न कुर्यात् इत्यर्थः। विपर्यये बाधकमप्याह[3] नश्यतीति। मौढ्यात् स्वस्य शास्त्रवश्यत्वाऽज्ञानात् तत्प्रतिषिद्धमाचरन्नाशु नश्यति, नाशोऽत्र निरयप्राप्तिः। तत्र दृष्टान्त माह — यथेति। रुद्रो यथा अब्धिजं विषं आचरदभक्षयत्, तथा तदन्यो भक्षयन् आशु नश्यति, रुद्रस्य विषपानप्रयुक्तप्राणविपत्त्यनापादकशक्तिमत्त्वं स्वस्य तदभावञ्च अजानन् केवलं रुद्रो भक्षितवान्, तथाऽहमपि भक्षयिष्यामीति यो मौढ्याद्भक्षयति स नश्यत्येवेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

1. T,W omit धर्म 2. K adds इत्यर्थः 3. T,W °कमाह

**विज०** ज्ञातशास्त्रतात्पर्यार्थोऽपि परीक्षित् स्वनाम्नोऽर्थं सफलं कुर्वन् तथा श्रोतृजनविद्वज्जनचित्तसन्देहप्रहाणाय पृच्छति - **संस्थापनायेति**। इतरस्याधर्मस्य, हिशब्देन "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत!" (भ.गी. 4-7) इत्यादि वाक्यं प्रमाणयति ॥ २७ ॥

प्रतीपं प्रतिकूलं किमकारीत्यत्राऽऽह अभिमर्शनं अविचार्य ग्रहणम् ॥ २८ ॥

विषयभोगलौल्यात् कृतं किम्? नेत्याह **आत्माराम** इति। कोऽभिप्रायोऽस्य मच्चरितं चरेत्, मदुक्तमेव चरेत्, न चरितं चरेदिति चेति, नः परिसरवर्तिजनस्य ॥ २९ ॥

नारायणानुग्रहसुधापात्राणां स्मृतिविहितधर्मव्यतिक्रमो न दोषाय दृष्टः; किमुत, दूरीकृतविधिनिषेधबन्धस्य हरेरित्याशयेन प्रश्नं परिहरति **धर्मेति**। चशब्दः कैमुत्यद्योतकः यद्यर्थो वा, यद्यपीश्वराणां योगैश्वर्यपारङ्गतानां साहसः हेतुशून्यो धर्मव्यतिक्रमः शास्त्रविहिताचारविरुद्धाचारः - अजीगर्तस्य पुत्रविक्रयः, विश्वामित्रस्य श्वभक्षणप्रवृत्तिः, सप्तर्षीणां शवभक्षणोद्योगः इत्यादिलक्षणो दृष्टः, शास्त्रे तथापि स तेषां न दोषाय धर्मप्रतिबन्धकाय न भवति। तत्कुत इति हेतुगर्भविशेषणमाह तेजीयसामिति। "तेजो बले प्रभावे(ऽन्ने)च ज्योतिष्यर्चिषि रेतसि, नवनीतेऽनले दुर्गे" (वैज.को. 6-3-14) इति यादवः। तत्र दृष्टान्त माह — वह्नेरिति। अमेध्यादिदहनलक्षणोपेतस्याऽग्नेः ॥ ३० ॥

नन्वेवञ्चेत् श्रेष्ठाचरितत्वेन अश्रेष्ठस्य परावराचरणप्रसङ्गः "यद्यदाचरति श्रेष्ठः" (भ.गी. 3-21) इत्यादिस्मृतेश्चेति तत्राऽऽह - नेति। स्मृतिः सत्कर्मणः, "लोकसङ्ग्रहमेवाऽपि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि" (भ.गी. 3-20) इति विधानाच्चेति; इममर्थं हिशब्देन विशिनष्टि। "हि स्याद्विशेषणे हेतौ" (वैज.को. 8-7-9) इति यादवः। मनसाऽपि नाऽऽचरे त्किमुत कायेन। विपक्षे बाधक माह नश्यतीति। 'णश अदर्शने' इति धातोः समूलमुच्छिन्नोभवतीत्यर्थः। "अदर्शनं लोपः" (अष्टा. 1-1-60) इति सूत्रात् 'लुषू छेदने' इति धातोः। मौढ्यात् क्रोधोद्रेकात् मौर्ख्या द्वा। 'मोहकान्मौर्ख्यमूढत' इति मोहोमोहनितन्द्रिते इति कालान्तरे सञ्जातेन निवर्तनेन नाशो न स्यादित्यतः आश्विति। किञ्चित्कालमवसरं न ददातीत्यर्थः। व्यतिरेकं दर्शयति यथेति। यथा रुद्रो विषमपिबत्, तथाऽहमपि विषं पास्यामीति तत्पानेन नश्यति; तस्मान्नकर्तव्यमित्यर्थः। विषपानेन आशु नाशः स्यादिति दर्शनाय तदुक्तम्, न तु समूलतरुच्छेदविषये। विषपानान्मृतिं दृष्ट्वा अन्यस्य निवृत्तिसम्भवात् न तथा प्रकृत इति ॥ ३१ ॥

**ईश्वराणां वच स्सत्यं तथैवाऽऽचरितं क्वचित्।**
**तेषां यत्स्ववचोयुक्तं बुद्धिमां[1] स्तत्सदाचरेत् ॥ ३२ ॥**

**कुशलाचरितेनैषामिह चार्थो[2] न विद्यते।**
**विपर्ययेण चाऽनर्थो[3] निरहङ्कारिणां प्रभो ॥ ३३ ॥**

**किमुताऽखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम्।**
**ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः ॥ ३४ ॥**

**यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः।**
**स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि ननह्यमाना स्तस्येच्छयाऽऽत्तवपुषः कुत एव बन्धः ॥ ३५ ॥**

**गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषाञ्च[4] विदेहिनाम्।**
**योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः[5-] एष[-5] क्रीडनदेहभाक् ॥ ३६ ॥**

1. M,Ma °मन्नैतदा°; V °मांस्तत्तदा; K,T,W °मानेतदा° 2. G,J,Va स्वा° 3. G,J,Va वा° 4. G,J,Va °मेव दे° M,Ma °मपि दे° 5- -5. G,J,Va क्रीडनेनेह दे

**श्रीध०** कथं तदा[1] सदाचारस्य प्रामाण्यम्? अत आह — ईश्वराणामिति। तेषां वचस्सत्यम्। अत स्तदुक्त-माचरे देव। आचरितन्तु क्वचित् सत्यम्। अतः स्ववचोयुक्तं तेषां वचसा यद्यदुक्तम् अविरुद्धं तत्तदेवाऽऽचरेत् ॥ ३२ ॥

ननु तर्हि तेऽपि किमेवं साहसमाचरन्ति? तत्राऽऽह — **कुशलेति**। प्रारब्धकर्मक्षपणमात्रमेव तेषां कृत्यं नाऽन्यदित्यर्थः॥ ३३ ॥

प्रस्तुतमाह — **किमुतेति**। कुशलाकुशलान्वयो न विद्यत इति किं पुन र्वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

एतदेव स्फुटीकरोति — **यदिति**। यस्य पादपङ्कजपरागस्य निषेवणेन तृप्ताः। यद्वा यस्य पादपङ्कजपरागे सेवा[2] येषां ते तथा। ते च तृप्ताश्चेति, भक्ता इत्यर्थः, तथा ज्ञानिनश्च ननहयमानाः बन्धमप्राप्नुवन्तः ॥ ३५ ॥

गोपीनां परदारत्व मङ्गीकृत्य परिहृतम्। इदानीं भगवतः सर्वान्तर्यामिणः परदारसेवा नाम न किञ्चिदित्याह[3] — गोपीनामिति। योऽन्तश्चरति अध्यक्षो बुद्ध्यादिसाक्षी, स[4-] एष[-4] क्रीडनाय देहभाक् न तु अस्मदादितुल्यः, येन दोषः स्यादिति॥ ३६ ॥

1. J,Va तर्हि 2. J,Va निषेवा 3. J,Va कांचि° 4- -4. J,Va क्रीडनेन

**वीर०** कथन्तर्हि श्रेष्ठाचारस्य प्रामाण्य मित्याशङ्क्य न कात्स्न्र्येन श्रेष्ठाचारः प्रमाणम्, किन्तु शास्त्राविरोध्येव। श्रेष्ठवचस्तु कात्स्न्र्येन प्रमाण मित्याह — **ईश्वराणा**मिति। ईश्वराणां कर्मवश्यत्वाभावप्रयुक्तशास्त्रवश्यत्वाभाववताम् — "एवं कुरु, एवं मा कुरु" इत्येवंरूपं वचः कात्स्न्र्येन सत्यम्, अबाधितं प्रमाणमिति यावत्। आचरितन्तु क्वचिदेव किञ्चिदेव प्रमाणमित्यर्थः। किं तदाचरितं यत् प्रमाणम्, तत्राऽऽह, तेषामीश्वराणां यदाचरितं स्ववचोयुक्तं स्ववचसा समायुक्तं स्ववचसोऽविरुद्धं तत्सत्यमित्यर्थः। तत्तस्माद्बुद्धिमानपि ईश्वरवचसोऽनुकूलमेव ईश्वराचरितम् आचरेत्। 'बुद्धिमा न्नतदाचरेत्' इति पाठान्तरम्। तदा अयुक्तमिति च्छेदः। स्ववचसः ईश्वरवचसः अयुक्तं विरुद्धं ईश्वराणाम् आचरितं नाऽऽचरेदित्यर्थः॥ ३२ ॥

तेजीयसां न दोषायेति, एतदेव स्पष्टयति कुशलाचरितेनेति। येषां तेजीयसामीश्वराणाम् इह लोके कुशलाचरितेन साधनेन अर्थः साध्यं प्रयोजनं न विद्यते, नाऽपि विपर्ययेण, अकुशलाचरितेन अनर्थोऽपि न विद्यते। तत्र हेतुं वदन्

विशिनष्टि निरहङ्कारिणामिति। अनात्मनि देहे आत्माभिमानरहितानामित्यर्थः। हे प्रभो, देहात्माभिमानो हि पूर्वपूर्वकर्ममूलकः पुनरुत्तरोत्तरकर्ममूलश्च; तदभावात् कर्मवश्यत्वाभावः, तदभावाच्च शास्त्रवश्यत्वाभावः, तदभावाच्च धर्माधर्ममूलकौ अर्थानर्थौ न स्त इति भावः ॥ ३३ ॥

यतोऽकर्मवश्यानां जीवानामेव कुशलाकुशलाचारनिमित्तकौ अर्थानर्थौ न स्तः। किं पुनस्तेषामपि नियन्तुरपहतपाप्मनो भगवत इत्याह - **किमुतेति**। तिर्यगादिरूपेणावस्थितानां अखिलानां सत्त्वानां जीवानां[1] नियाम्यानां नियन्तुस्सर्वेश्वरस्य कुशलाकुशलान्वयो नास्तीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः। कुशलाकुशलकर्मप्रयुक्तसुखदुःखादिसम्बन्धोऽत्र कुशलाकुशलान्वयशब्दविवक्षितः। सत्त्वशब्दो जीवपरः "सत्त्व मस्त्री तु जन्तुषु" (अम.को 3-368) इति कोशात्। जन्तुशब्दः जीवपर्यायः — "प्राणी तु चेतनो जन्मी जन्तुजन्युशरीरिणः" (अम.को. 1-139) इति नामपाठात्? "सत्त्वं प्रकृतिजै र्मुक्तम्" (भ.गी. 18-40) इति भगवदुक्तेश्च ॥ ३४ ॥

कैमुत्यनयेनोक्तमेव प्रपञ्चयति **यत्पादेति**। यत्पादपङ्कजपरागस्य निषेवणेन तृप्ताः निवृत्तशब्दादिविषयाभिलाषाः योगप्रभावेन यस्य पादपङ्कजानुध्यानात्मकयोगसामर्थ्येन विधुता अखिलाः कर्मात्मका बन्धा येषां ते मुनय स्सनकादयोऽपि ननह्यमानाः अनह्यमानाः अनाबध्यमानाः शास्त्रावश्या इति यावत्। स्वैरं यथेच्छं चरन्ति, किमुतेच्छया, न तु कर्मणेति भावः। आत्तं परिगृहीतं, वपुरप्राकृतं शुद्धसत्त्वमयं येन तस्यापहतपाप्मनो भगवतः कुत एव बन्धः? कुतश्चिदप्याचरितात् स्वैरात् बन्धो नास्त्येवेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

यत्पृष्टमाप्तकामो यदुपतिरित्यादिना अवाप्तसमस्तकामस्य स्वतो निरतिशयानन्दस्य ग्राम्यचेष्टान्वयः कथमिति, तस्योत्तर माह - द्वाभ्याम्। गोपीनां तासां पतीनाञ्च तथाऽन्येषां देहिनां जीवानाञ्च। योऽन्तश्चरति अन्तरात्मतया व्याप्नुवन्नियमयति, यश्चाऽध्यक्षः तत्तत्कर्मानुगुणसुखदुःखादिफलदश्च स एष भगवान् कृष्णः क्रीडनदेहभाक्,[2] न तु अस्मदादिवत् सुखदुःखादिभोगाय कर्माधीनदेहभाक् इत्यर्थः। क्रीडानृदेहभाक् इति पाठान्तरम्, तदा नराकृतिभागित्यर्थः ॥ ३६ ॥

1. T,W omit जीवानां 2. K adds क्रीडनाय देहभाक्

**विज०** यद्येवं तर्हि आप्तत्वेन ईश्वरोक्तमपि ग्राह्यमित्यायातमिति तत्राऽऽह — **ईश्वराणामिति**। सत्यं परमार्थत्वेन अभीष्टज्ञापकम्। "परमार्थेऽर्थवत्सत्यम् (वैज.को. 6-5-95) इति यादवः। तद्वचनमेव सत्यश्चेत् "कुर्याद्विद्वांस्तथा सक्त श्चिकीर्षुर्लोकिसङ्ग्रहम्" (भ.गी. 3-25) इति विधानं व्यर्थमिति तत्राऽऽह तथैवेति। क्वचिदित्युपहासादिव्यावृत्तये। अनुवर्तिनां वैदिककर्ममार्गप्रदर्शनार्थं यदाचरणं तदपि सत्यं फलदर्शनात्। तर्हि वचनं सत्यं किं नेत्याह तेषामिति। अयुक्तं वेदोऽप्रमाणलक्षणमित्यादि लक्षणं, प्रतीतिकार्यविषयम्। यद्वा स्ववचसोऽयुक्तं विरोधि तेषां यदाचरितं बुद्धिमानेतन्नाचरेदिति श्रुतिश्च ॥ ३२ ॥

इतोऽपि शुष्कजलनारिकेलफलवन्निर्मुक्तशरीराभिमानानां दूरीकृतकुशलाकुशलानां फलवत्वाद्धर्मव्यतिक्रमो न दोषायेत्याशयेनाऽऽह **कुशलेति**। इह संसारमण्डले अर्थः प्रयोजनं प्रारब्धकर्मनाशेनापातकदेहत्वादभीष्टकत्वाच्च विपर्ययेण विपर्ययाचरणेन अनर्थो नरकपातादिलक्षणः। अत्र हेतुमाह निरहङ्कारिणामिति ॥ ३३ ॥

उपसंहरति **किमुतेति** अखिलसत्त्वानां समस्तप्राणिनाम् इत्यस्य विवरणं तिर्यङ्मर्त्येत्यादिना। ईशितव्यानां नियम्यानाम् ईशितु र्नियामकस्य च समुच्चये, ईशितव्याना मचेतनानाञ्च कुशलाकुशलान्वयः पुण्यपापफललेपः किमुत ॥ ३४ ॥

कथान्तरात्कैमुत्यन्यायं दर्शयति **यत्पादेति**। भक्तियोगप्रभावेन विधुतो विध्वस्तोऽखिलबन्धो येषां ते तथा ननह्यमाना अतएव पुत्रस्नेहेन बध्यमाना न भवन्ति, कर्मभि र्वा ॥ ३५ ॥

क्रीडनं क्रीडासाधनं देहं भजतीति क्रीडनदेहभाक् अध्यक्षः साक्षी, अयञ्च बन्धाभावे हेतुः ॥ ३६ ॥

**अनुग्रहाय भक्तानां[1] मानुषं देह मास्थितः[2]।**
**भजते तादृशीः[3-] क्रीडा याः[-3] श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥ ३७ ॥**

**नाऽसूयन्खलु[4] कृष्णाय मोहिता स्तस्य मायया।**
**मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्स्वान्स्वान्दारान् व्रजौकसः ॥ ३८ ॥**

**ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः।**
**अनिच्छन्त्यो ययु र्गोप्यः स्वगृहान्भगवत्प्रियाः ॥ ३९ ॥**

**विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः।**
**भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः[5]॥ ४० ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
रासक्रीडावर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

1. G,J,K,V,Va भूतानां 2. M,Ma,V °श्रि° 3- -3. M,Ma °शीं क्रीडां यां 4. M,Ma °नृप! 5. M,Ma °शु विधुनोत्य°

**श्रीध०** नन्वेवञ्चे दासकामस्य निन्दिते कुतः प्रवृत्तिरित्यत आह — **अनुग्रहायेति**। शृङ्गाररसाकृष्टचेतसः[1] बहिर्मुखानपि स्वपरान् कर्तुमिति भावः ॥ ३७ ॥

नन्वन्येऽपि भिन्नाचाराः स्वचेष्टितमेवेति वदन्ति, तत्राऽऽह — **नाऽसूयन्निति**। एवम्भूतैश्वर्याभावे तथा कुर्वन्तः पापा ज्ञेया इति भावः ॥ ३८ ॥

**ब्रह्मरात्र** इति। ब्रह्मरात्रे ब्रह्ममुहूर्ते, उपावृत्ते प्राप्ते ॥ ३९ ॥

भगवतः कामविजयरूपरासक्रीडाश्रवणादेः कामविजयमेव फलमाह - **विक्रीडितमिति**। अचिरेण धीरस्सन् हृद्रोगं कामं आशु अपहिनोति परित्यजतीति ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

1. J,Va add अति

**वीर०** अवाप्तसमस्तकामस्य किं क्रीडाजन्यसुखलेशेनेति शङ्कां निराह[1] - **अनुग्रहायेति**। भूतानामनुग्रहाय अस्मदादिभूतान्यनुग्रहीतुं मानुषं मनुष्यस्येव सन्निवेशविशिष्टं देहमास्थितः तादृशीः उक्तविधाः क्रीडाः भजते अनुकरोति[2], क्रीडात्ववान्तरप्रयोजनं भूतानुग्रहस्तु भगवदवतारस्य परमं[3] प्रयोजनमिति भावः। अवतारस्य क्रीडार्थत्वं, क्रीडायास्त्वनुग्रहार्थत्वञ्चोक्तम्। कथं क्रीडाया अनुग्रहार्थत्व मित्यत आह — याः श्रुत्वेति। याः क्रीडाः श्रुत्वा तत्परः भगवत्परो भवेत् जन इति कर्तृपदाध्याहारः। मत्क्रीडा शृण्वतो - लोकस्य निरतिशयपुरुषार्थभूते मयि इष्टानिष्टप्रापणपरिहारदक्षे नितरा मासक्ति र्यथा स्यादित्येव भजते न तु स्वयमपरिपूर्णो भजते, इति भावः ॥ ३७ ॥

नन्वेवमपि उक्ताभिप्रायेण क्रीडा भजन्तं तदभिप्रायानभिज्ञा गोपीनां पतयः किं नाभ्यसूयन्नित्यत आह — **नाऽसूयन्निति**। व्रजौकसः गोपीनां[4] पतयः तस्य कृष्णस्य मायया मोहिताः स्वस्वदारान् स्वपार्श्वस्थानेव मन्यमानाः कृष्णाय नाऽसूयन् दोषबुद्ध्या न ददृशुः। कृष्णायेत्यत्र "क्रुध द्रुह....." (अष्ट. 1-4-37) इत्यादिना चतुर्थी ॥ ३८ ॥

प्रकृतमाह **ब्रह्मरात्र** इति। ब्रह्मरात्रे ब्राह्मे मुहूर्ते उपावृत्ते प्राप्ते सति, वासुदेवेन अनुमोदिताः अनुमोदनपूर्वकमाज्ञापिता अपि गोप्यः, भगवानेव निरतिशयप्रियो यासां तथा भूताः। अतएव अनिच्छन्त्यः, गन्तुमिति शेषः। कथञ्चित्स्वगृहान्प्रति ययुः ॥ ३९ ॥

प्रकृतरासक्रीडाश्रवणादिफलमाह — **विक्रीडितमिति**। व्रजवधूभिस्साकमिदं विष्णोः कृष्णस्य विक्रीडितम्। भावे क्तः। यः पुमान् श्रद्धान्वितोऽनुक्रमेण शृणुयात् अथवा वर्णयेच्छ्रावयेच्च, स भगवति परामुत्कृष्टां भक्तिं प्राप्य धीरः जीवद्दशायां[5] जितेन्द्रियः कामं नितरां हृद्रोगं रोगवदनर्थकरं हृदयस्थमज्ञानं[6] आशु अचिरेण विधुनोति निरस्यति। श्रोता आशु धुनोति, तथा वर्णयिताऽपि अचिरेण धुनोतीति प्रत्येकाभिप्रायकोऽचिरेणाऽऽशुशब्दयोः प्रयोगः, अतो न पौनरुक्त्यम्। यद्वा, हृद्रोगनाशोपक्रमणयो र्मध्ये कालविलम्बाभावाभिप्रायक आशुशब्दः। श्रवणोन्मुखस्य रोगादेरिव चिरेण निश्शेषशान्तिशङ्काव्युदासायाऽचिरेणशब्दः, अचिरेण धीरः, आशु धुनोतीति वाऽन्वयः। हृद्रोगरूपं कामं मदनम्, आशु विधुनोति विजयते इत्यर्थो वा ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

1. K निराकरोति 2. T,W omit अनु° 3. T,W omit परमं 4. T,W omit गोपीनां 5. K °द° 6. T,W हृत्स्थम°

**विज०** स्वेच्छाविग्रहस्वीकारो निस्पृहस्य किंप्रयोजनमित्यत आह — **अनुग्रहायेति**। तादृशीं मानुषदेहक्रीडां चरितं श्रुत्वा तत्परः(सः) भगवानेव परो यस्य स तथा, तस्मिन् तात्पर्ययुक्तो वा। यद्वा, स पुरुषइव जन्ममृत्युशून्यो भवेत् ॥ ३७ ॥

स्वैरिणीवृत्तिमाश्रितानां गोपीनां ग्रहणं तद्भर्तृभिः कथञ्च कृतम्, कथञ्च कृष्णे दोषाविष्करणमकृतम्? अत्राऽऽह — **नेति**। गुणेषु दोषाविष्करणमसूया। "क्रुधद्रुहेर्ष्याऽसूयार्थानां यं प्रति कोपः" (अष्टा. 1-4-37) इति चतुर्थी ॥ ३८ ॥

ब्रह्मरात्रे ब्राह्मे मुहूर्ते ॥ ३९ ॥

संसारनिवृत्तिहेतुत्वात् अस्मिन् कृष्णविक्रीडिते श्रद्धादिकं कार्यमिति विधायकफलमाह — **विक्रीडितमिति**। च-शब्दः श्रद्धातिशयजननार्थः पूर्वोक्तविक्रीडितानि यथा संसारनिवर्तकानि तथेदञ्चेति आशु भक्तिं प्रतिलभ्य अनुदिनं कृत्वा हृद्रोगं काममनिष्टं अपहिनोति प्रतित्यजति, दुष्टकामत्याग एव संसारनिवृत्तिरित्यर्थः ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
टीकायां त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

(विजयध्वजरीत्या एकत्रिंशोऽध्यायः)

# चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या द्वात्रिंशोऽध्यायः)

-: अहिरूपधारिणः सुदर्शनाख्यगन्धर्वस्य शापमोक्षणम् :-

श्रीशुक उवाच

एकदा देवयात्रायां गोपाला जातकौतुकाः।
अनोभिरनडुद्युक्तैः प्रययुस्तेऽम्बिकावनम् ॥ १ ॥

तत्र स्नात्वा सरस्वत्यां देवं पशुपतिं प्रभुम्[1]।
आनर्चुरर्हणै र्भक्त्या देवीञ्च नृपतेऽम्बिकाम् ॥ २ ॥

गावो हिरण्यं[2] वासांसि मधु मध्वन्नमाहृताः।
ब्राह्मणेभ्यो ददुस्सर्वे देवो नः प्रीयतामिति[3] ॥ ३ ॥

ऊषुस्सरस्वतीतीरे जलं प्राश्य यतव्रताः[4]।
रजनीं तां महाभागाः सनन्दा[5] नन्दकादयः[6] ॥ ४ ॥

कश्चिन्महानहिस्तस्मिन् विपिनेऽतिबुभुक्षितः।
यदृच्छयाऽऽगतो नन्दं शयानमुरगोऽग्रसीत्[7] ॥ ५ ॥

1. G,J वि 2. M,Ma °ण्य° 3. P,V प्रि° 4. G,J धृत° 5. M,Ma °ग। 6. G,J,K नन्दसुनन्द° ; M,Ma नन्दसनन्द° 7. P,V °सत्

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुस्त्रिंशेऽहिना ग्रस्तं नन्दं हरिरमुमुचत्। विद्याधरं चाङ्गिरश्शापाच्छङ्खचूडं तथाऽवधीत्॥
रासापदेशतः[1] कामं किङ्करीकृत्य कामतः[2]। अनुगृह्णन् वशं निन्ये तथा विद्याधराधिपम्॥

तदेवं कामानुग्रहमुखेन कामजयं प्रतिपाद्य तथैव विद्याधरजयं प्रतिपादयितुं तत्प्रसङ्गं दर्शयति — **एकदेति**॥ १,२॥

**गाव** इति। गावः गाः। मधु मधुरं मध्वन्नं मधुना सहितमन्नम् ॥ ३ ॥

**ऊषुरिति**। जलमात्रं प्राश्य उपोषिताः तां निशां तत्र ऊषुः न्यवसन् ॥ ४ ॥

**कश्चिदिति**। महानहिः अजगरः, उरगः उरसा गच्छतीति अलक्षितत्वमुक्तम्, अग्रसत् जग्रास ॥ ५ ॥

1. J °सोप° 2. Va वा°

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ सुदर्शनाख्यविद्याधरस्य ब्राह्मणशापात् सर्पतां गतस्य शापविमोचनात्मकं सप्रस्तावं तथा शङ्खचूडाख्य यक्षवधतच्छिरोमण्युपहारात्मकं च भगवतः कामम् अनुवर्णयति चतुस्त्रिंशेन **एकदेत्यादिना**। कदाचित् देवयात्रायां साम्बं पशुपतिं प्रतिगमनतत्पूजाद्यात्मिकायां निमित्तभूतायां अनडुद्भिः वृषैः युक्तैः अनोभिः शकटैः अम्बिकावनं ययुः, देवयात्रायां विषयभूतायां, जातं कौतुकं येषां ते तथाभूता ययुः इति वा ॥ १ ॥

तत्र तद्वनसमीपस्थायां सरस्वत्याख्यायां नद्यां स्नात्वा, हे नृपते! अर्हणैः पूजासाधनैः गन्धादिभिः देवं पशुपतिं देवीम् अम्बिकां च भक्त्या पूजयामासुः ॥ २ ॥

ततो गावः गाः हिरण्यं वासांसि, मधु मधुरं मधुसहितं अन्नं च, ब्राह्मणेभ्यो ददुः। कथम्भूताः? देवः पशुपतिः नोऽस्माकं प्रीतो भवत्वित्यभिप्रायवन्तः ॥ ३ ॥

ततो जलमात्रं प्राश्य यतव्रताः यतं नियतं व्रतं ब्रह्मचर्यात्मकं येषां ते तथाभूताः, तत्रैव सरस्वत्याः तीरे नन्दप्रभृतयो गोपाः तां रात्रिं उषितवन्तः ॥ ४ ॥

तस्मिन् विपिने अम्बिकावने कश्चिन्महान् विपुलकायोऽहिः सर्पः अतीव बुभुक्षितो न्यवसदिति शेषः। स च उरगः यदृच्छयाऽऽगतः तत्र सञ्चरन् नन्दं प्राप्तः तमग्रसीत् ॥ ५ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

मुकुन्दभक्त्या संसाराहिग्रासमोक्षस्य ज्ञानरत्नदानस्य निदर्शनाय नन्दस्य सर्पात् मोक्षं, शङ्खचूडं हत्वा बलभद्राय तच्छिरोरत्नदानं च निरूपयत्यस्मिन्नध्याये। तत्र प्रथमतः गोपानां यात्राप्रकारं कथयति — **एकदेति**। अम्बिकामाहात्म्यविषयां किंवदन्तीमाकर्ण्य जातकौतुकाः उत्पन्नकुतूहलबुद्धयः अम्बिकावनं दुर्गावासस्थानं वनं अनडुद्युक्तैः वृषभयुक्तैः अनोभिः शकटैः॥ १ ॥

पशवो जीवाः तेषां पतिं प्रभुं समर्थं "समर्थेऽधिपतौ प्रभुः" (वैज.को. 6-4-10) इति च। तत्र वने सरस्वत्यां स्यन्दमानायाम् अर्हणैः पुष्पोपहारादिसाधनैः ॥ २ ॥

मध्वन्नं मधुना युक्तमन्नं, यद्वा मधुरान्नं, मधु क्षौद्रम् ॥ ३,४ ॥

यदृच्छया तस्मिन् वने आगतोऽभूत्। आगमने निमित्तमाह - अतिबुभुक्षित इति। शयानं निद्रां कुर्वन्तम् ॥५॥

स चुक्रोशाऽहिना ग्रस्तः कृष्ण कृष्ण! महानयम्।
सर्पो मां ग्रसते तात! प्रपन्नं परिमोचय ॥ ६ ॥

तस्य चाऽऽक्रन्दितं श्रुत्वा गोपालास्सहसोत्थिताः।
ग्रस्तं च दृष्ट्वा सम्भ्रान्ताः[1] सर्पं विव्यधुरुल्मुकैः[2] ॥ ७ ॥

अलातैर्हन्यमानोऽपि नाऽमुञ्चत्[4-] मुरङ्गमः[-4]।
तमस्पृशत् पदाऽभ्येत्य भगवान् सात्त्वतां पतिः ॥ ८ ॥

स वै भगवतश्श्रीमत्पादस्पर्शहताशुभः।
भेजे सर्पवपुर्हित्वा रूपं विद्याधरार्चितम् ॥ ९ ॥

त पपृच्छद्धृषीकेशः प्रणतं समुपस्थितम्।
दीप्यमानेन वपुषा पुरुषं हेममालिनम् ॥ १० ॥

1. G,J वि ° 2. K °थु° 3. G,J °र्दह्य° 4- -4. P,V °त भुजङ्गमः।

**श्रीध० तस्येति।** विव्यधुः ताडयामासुः। उल्मुकैः ज्वलत्काष्ठैः ॥ ६,७ ॥

**अलातैरिति।** अलातैः उल्मुकैरेव ॥ ८ ॥

**स इति।** विद्याधरेष्वर्चितं पूजितम् ॥ ९ ॥

**तमिति।** गोपेष्वात्मन ऐश्वर्यं प्रकाशयितुमविद्वानिव तमपृच्छत्। दीप्यमानेन वपुषा समवस्थितम् ॥ १० ॥

**वीर०** स च ग्रस्यमानो नन्दः चुक्रोश। कृष्णमाह च किमिति? हे तात! पुत्र! महान् अयं सर्पो मां ग्रसते, प्रपन्नं शरणं गतं मां सर्पात् मोचयेति ॥ ६ ॥

अस्य नन्दस्य आक्रन्दितं रोदनं आह्वानं वा श्रुत्वा गोपास्सर्वे आशु उत्थिताः, सर्पेण ग्रस्तं नन्दं दृष्ट्वा च सम्भ्रान्ताः व्याकुलचित्ताः सर्पमुल्मुकैः साङ्गारकाष्ठैः विव्यधुः ताडयामासुः ॥ ७ ॥

सोऽहिः अलातैः उल्मुकैः ताड्यमानोऽपि तं नन्दं नामुञ्चत्[1], न तत्याज। ततः प्रपन्नानां पालको भगवानागत्य पदा तं सर्पं पस्पर्श ॥ ८ ॥

स च सर्पो भगवतः श्रीमतः पादस्य स्पर्शेन हतमशुभं सर्पतापादकं यस्य तथाभूतः सर्पशरीरं त्यक्त्वा [2]विद्याधरार्चितं[-2] विद्याधरैः सम्माननीयं रूपं विद्याधररूपं प्राप ॥ ९ ॥

ततः प्रणतं कृतप्रणामं पुरतः दीप्यमानेन वपुषा तिष्ठन्तम्। हेममालाधारं तं पुरुषं भगवान् पप्रच्छ ॥ १० ॥

1. T,W omit नामुञ्चत् 2- -2. T,W omit

**विज०** प्रकर्षेणाऽऽपन्नं विपदं गतं, शरणागतं वा ॥ ६-१० ॥

[-1]उवाच

को भवान् परया लक्ष्म्या रोचते शुभदर्शन[-2]।
कथं जुगुप्सितामेतां गतिं वा प्रापितोऽवशः ॥ ११ ॥

सर्प उवाच

अहं विद्याधरः कश्चित्सुदर्शन इति श्रुतः।
श्रिया[3] सुरूपसम्पत्त्या विमानेन[4] चरन् दिशः ॥ १२ ॥

ऋषीन् विरूपानङ्गिरसः प्राहसं[5] रूपदर्पितः।
तैरिमां प्रापितो योनिं प्रलब्धैः[6] स्वेन पाप्मना ॥ १३ ॥

शापो मेऽनुग्रहायैव कृतस्तैः[8] करुणात्मभिः।
यदहं लोकगुरुणा पदा स्पृष्टो[9] हताशुभः ॥ १४ ॥

तं त्वाऽहं भवभीतानां प्रपन्नानां भयापहम्।
आपृच्छे शापनिर्मुक्तः पादस्पर्शादमीवहन् ॥ १५ ॥

1- -1. G,J,M,Ma,P,V omit 2- -2 G,J,M,Ma रोचतेऽद्भुतदर्शन; P,V शोभते शुभलक्षण! 3. G,J,M,Ma °या स्व°; P,V °याऽनु° 4. G,J,M,Ma नाऽचरं; P,V नाऽऽचरन् 5. K,T,W प्रहसन् 6.M,Ma लब्धः 7. J °वं 8. M,Ma पाद° 9. K,T,W ग°

**श्रीध० क** इति। यः परया शोभया प्रकाशते स[1] भवान् क इति ॥ ११, १२ ॥

**ऋषीनिति**। प्राहसं अपहसितवानस्मि[2], प्रलब्धैरुपहसितैः मदीयेनैव पाप्मना[3] निमित्तेन ॥१३॥

**शाप** इति। यत् यतः शापात् ॥ १४ ॥

**तमिति**। आपृच्छे स्वं लोकं गन्तुं अनुज्ञां याचे, हे अमीवहन्! दुःखनाशन ॥ १५ ॥

1. J omits स 2. J,Va उप° 3. J,Va पापेन

**वीर०** प्रश्नमेवाह — **को भवानिति**। अधुना यः परया लक्ष्म्या कान्त्या रोचते प्रकाशते स भवान् कः? अहं विद्याधर इति चेत्, तर्हि हे शुभदर्शन! कथं निन्दितामेतां गतिं सर्पतां प्रापितः। विप्रशापादिति चेत्, तत्राऽऽह — अवशः कथं शापनिमित्तापचारनिमित्तदेहपारवश्यमिति भावः। यद्यपि सर्वज्ञस्य प्रश्नानुपपत्तिः तथाप्यात्मनः प्रभावं प्रकाशयितुं अविदुष इव प्रश्नोपपत्तिः। अत एव सुदर्शनपदपर्यायेण शुभदर्शनपदेन सम्बोधनं कृतम् ॥ ११ ॥

इत्थमापृष्टः स्वपूर्ववृत्तं विज्ञापयन् आत्मनः कृतार्थतामाविष्करोति — **अहमिति**। अहं तावत् कश्चित् विद्याधरः सुदर्शन इति स्मृतः प्रसिद्धः। सोऽहं श्रिया कान्त्या सुरूपसम्पत्त्या सौन्दर्यसमृद्ध्या च उपलक्षितः कदाचित् विमानेन साधनेन सर्वा दिशः समन्तात् सञ्चरन् सौन्दर्येण गर्वितो विरूपान् अङ्गिरसः ऋषीन् दृष्ट्वा हसितवानस्मि, तदा मदीयेनैव पाप्मना पापेन हेतुना प्रलब्धैः उपहसितैः तैः अङ्गिरोभिः ऋषिभिः इमां योनिं सर्पजन्म प्रापितः ॥ १२,१३ ॥

प्रलब्धैरपि तैरङ्गिरोभिः करुणात्मभिः हेतुगर्भमिदम्। कारुण्यस्वभावत्वात् मदनुग्रहार्थमेव शापः कृतः। कुतः? यत् यस्मात् अहं त्रिलोकगुरुणा त्वया कर्त्रा पदा करणेन[1] स्पृष्टः; अन्यथा एतन्न सम्भाव्यत इति भावः। गतमशुभं पापं यस्य तथाभूतश्चाहं पादस्पर्शाद्धेतोः शापेन निर्मुक्तः ॥ १४ ॥

हे अमीवहन्! अमीवं पापं दुःखं वा तद्धन्तीति तथाभूतं[2-] तं त्रिलोकगुरुं[-2] भवात् संसारात् भीतानां प्रपन्नानां[3] भयमपहन्तीति तथाभूतं, त्वां आपृच्छे स्वर्लोकं गन्तुमनुज्ञां याचे ॥ १५ ॥

1. T,W omit करणेन 2- -2. K °त त्रि° 3. T omits प्रपन्नानां

**विज०** पाप्मना अपराधेन प्रलब्ध उपलब्धो विप्रलब्धो वा। विरूपान् सौन्दर्यरहितान् "सौन्दर्ये च स्वभावे च (रूपशब्दं प्रचक्षते)" (वैज.को. 6-3-28) इति। अङ्गिरसः पुत्रा आङ्गिरसः? ॥ ११-१४ ॥

आपृच्छे आज्ञां प्रार्थये। अमीवहन्! दोषनाशन! ॥ १५ ॥

**प्रपन्नोऽस्मि महायोगिन् महापुरुष सत्पते।**
**अनुजानीहि[1] मां कृष्ण सर्वलोकेश्वरेश्वर॥**
**ब्रह्मदण्डाद्विमुक्तोऽहं[2] सद्यस्तेऽच्युत दर्शनात् ॥ १६ ॥**

**यन्नाम गृह्णन्नखिलान् श्रोतॄनात्मानमेव च।**
**सद्यः पुनाति किं भूयः तस्य स्पृष्टः पदा हि ते ॥ १७ ॥**

उवाच[-3]

इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं परिक्रम्याऽभिवाद्य च।
सुदर्शनो दिवं यातः कृच्छ्रान्नन्दश्च[5] मोचितः ॥ १८ ॥

निशाम्य कृष्णस्य तदात्मवैभवं व्रजौकसो विस्मितचेतसस्ततः।
समाप्य तस्मिन् नियमं पुनर्व्रजं नृपा[6] ययुस्तत्कथयन्त आदृताः ॥ १९ ॥

कदाचिदथ गोविन्दो रामश्चाद्भुतविक्रमः।
विजहृतुर्वने रात्र्यां मध्ये[7-] गोव्रजयोषिताम्[-7] ॥ २० ॥

1. G,J देव 2. M,Ma °द्भु° 3- -3. G,J,K,P,T,V,W omit 4. G,J,P,V वन्द्य 5. K,T,W °स्तु 6. P,V गो° 7- -7. G,J,M,Ma मध्यगौ

**श्रीध०*** अहिदेहं निहत्यैवं प्रागुन्मत्तं सुदर्शनम्। तद्वदुन्मादिनं कृष्णः शङ्खचूडमताडयत्॥

तत्प्रसङ्गमाह — **कदाचिदिति** ॥ १६-२० ॥

★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः :

**वीर०** हे महायोगिन्! अचिन्त्यविविधविचित्रशक्ते! हे महापुरुष! हे सतां पते! त्वां प्रपन्नोऽस्मि। मामनुजानीहि आज्ञापय, हे अच्युत! तव दर्शनादेव हेतोः सद्यः ब्रह्मशापाद्विमुक्तोऽहमित्येतत् न चित्रमिति वाक्यशेषः ॥ १६ ॥

एतदेव कैमुत्यनयेन स्पष्टयति — **यन्नामेति**। यस्य तव नाममात्रमेव गृह्णन् उच्चरन् पुमान् आत्मानं श्रोतॄंश्च सर्वान् जनान् सद्यः पुनाति, किं पुनः साक्षात् तादृशप्रभाववन्नाम्नस्तव पदा संस्पृष्टः शापाद्विमुक्त इति, कियदेतदित्यर्थः॥ १७॥

इत्थमनुज्ञाप्य अनुज्ञां गृहीत्वा दाशार्हं कृष्णं प्रदक्षिणीकृत्य अभिवाद्य च सुदर्शनः स्वर्गं प्रति ययौ। नन्दोऽपि कृच्छ्रात् सर्पग्रासात् मोचितः ॥ १८ ॥

ततो व्रजौकसो गोपाः कृष्णस्य आत्मवैभवं, अनितरसाधारणं प्रभावं निशाम्य दृष्ट्वा विस्मितं चेतो येषां तथाभूताः। तस्मिन् अम्बिकावने नियमंव्रतं समाप्य आदरयुक्ताः कृष्णस्य आत्मवैभवमेव कथयन्तो, हे नृप! पुनः व्रजं प्रति आजग्मुः॥ १९॥

अथ शङ्खचूडवधतच्छिरोमण्यादानात्मकं कर्म प्रस्तौति — **कदाचिदित्यादिना** यावदध्यायपरिसमाप्ति। अद्भुतविक्रम इति रामकृष्णयोः उभयोरपि विशेषणम्। तावुभौ वने गवां व्रजस्त्रीणां च मध्ये विजह्रतुः ॥ २० ॥

**विज०** चात् तं स्तुत्वा दाशार्हं कृष्णम् ॥ १६-१८ ॥

निशाम्य दृष्ट्वा ॥ १९,२० ॥

**उपगीयमानौ ललितं स्त्रीजनैर्बद्धसौहृदैः।**
**स्वलङ्कृतानुलिप्ताङ्गौ स्रग्विणौ विरजोऽम्बरौ[1] ॥ २१ ॥**

**निशामुखं मानयन्तौ उदितोडुपतारकम्।**
**मल्लिकागन्धमत्तालिजुष्टं कुमुदवायुना ॥ २२ ॥**

**जगतुस्सर्वभूतानां मनःश्रवणमङ्गलम्।**
**तौ कल्पयन्तौ युगपत् स्वरमण्डलमूर्च्छितम्[2] ॥ २३ ॥**

**गोप्यस्तद्गीतमाकर्ण्य मूर्च्छिता नाऽविदन्नृप।**
**स्रंसद्दुकूलमात्मानं स्रस्तकेशस्रजं ततः[3] ॥ २४ ॥**

**एवं विक्रीडतोस्स्वैरं गायतोस्सम्प्रमत्तवत्[4]।**
**इति ख्यातो धनदानुचरोऽभ्यगात् ॥ २५ ॥**

1. M,Ma °जा° 2. K मूर्छनम्; M,Ma मूर्छनाम् 3. M,Ma श्लथ 4. P,V चि°

**श्रीध० उपगीयमानाविति।** विरजोऽम्बराविति विरजसी निर्मले अम्बरे ययोस्तौ ॥ २१ ॥

**निशेति।** किञ्च निशाप्रवेशं सत्कुर्वन्तौ। उदित उडुपः तारकाश्च यस्मिन् तत्। मल्लिकागन्धेन मत्ता अलयो यस्मिन् तत् ॥ २२ ॥

**जगतुरिति।** अनिबद्धत्वादन्यैः युगपत्कल्पयितुमशक्यमपि तौ स्वरमण्डलमूर्च्छनं[1-1] युगपत्कल्पयन्तौ। मनश्श्रवणयोर्मङ्गलं यथा भवति तथा जगतुः अगायतामिति ॥ २३ ॥

**गोप्य** इति। मूर्च्छिताः तद्गीतलीनचित्ताः स्रंसद्भ्रश्यत् दुकूलं यस्मात् तम्, आत्मानं देहं स्रस्ताः केशेभ्यः स्रजो यस्य तं च तं च, ततो नाऽविदन् ॥ २४, २५ ॥

---

1- -1. J,Va °लस्य मूर्च्छितं

**वीर०** कथम्भूतौ? बद्धं निश्चलं सौहृदं येषां तैः स्त्रीजनैः ललितं यथा तथा उपगीयमानौ स्वलङ्कृतानि अनुलिप्तानि च अङ्गानि ययोः। स्रजौ अनयोः स्त इति तथाभूतौ, विरजसी निर्मले अम्बरे वाससी ययोस्तौ ॥ २१ ॥

**निशेति**। उदित उडुपश्चन्द्रः तारकाश्च यस्मिन् तत्, मल्लिकानां गन्धेन मत्तैः अलिभिः जुष्टं सेवितं सहचरितमित्यर्थः। कुमुदवायुना कुमुदगन्धयुक्तेन वायुना च जुष्टं निशामुखं मानयन्तौ प्रशंसन्तौ ॥ २२ ॥

**जगतुरिति**। तौ रामकेशवौ अनिबद्धत्वात् अन्यैः युगपत्कल्पयितुमशक्यमपि स्वरमण्डलस्य मूर्च्छनं युगपत्कल्पयन्तौ मनश्श्रवणयोर्मङ्गलं यथा तथा जगतुः गीतवन्तौ, स्वरमण्डलमूर्च्छनं षड्जादिस्वरसमुदायस्य मूर्च्छनमारोहावरोहणप्रकारः ॥ २३ ॥

**गोप्य** इति। तयोर्गीतमाकर्ण्य मूर्च्छिताः परवशाः ततः हे नृप! आत्मानं देहं न विदुः नाऽनुसमदधत। कथम्भूतम्? स्रंसद्भ्रश्यत् दुकूलं यस्मात्, स्रस्ताः केशेभ्यः स्रजो यस्य तं च तं च ॥ २४ ॥

एवं स्वैरं यथेष्टं सम्प्रमत्तवत् रामगोविन्दयोः विहरतोः गायतोश्च सतोः, कुबेरस्यानुचरः शङ्खचूडाख्यः आजगाम ॥ २५ ॥

**विज०** विरजाम्बरौ धौतवस्त्रौ ॥ २१ ॥

मल्लिकागन्धस्य आस्वादनेन मत्ता अलिनो भ्रमराः यस्मिन् मल्लिकागन्धमत्तालि ॥ २२ ॥

जगतुः गानं कृतवन्तौ, कथङ्कारमिति तत्राह — ताविति। स्वरमण्डलमूर्च्छनां सप्तानां स्वराणां मण्डलानां समूहानां मूर्च्छनां एकविंशतिलक्षणां कल्पयन्तौ, युगपत् एकस्मिन् क्षणे, यद्वा मण्डलमावृत्तिलक्षणं, "सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामा एकविंशतिमूर्च्छनाः" इति भरतः ॥ २३-२५ ॥

**तयोर्निरीक्षतो राजन्[1] तन्नाथं प्रमदाजनम्।**
**क्रोशन्तं कालयामास दिश्युदीच्यामशङ्कितः ॥ २६ ॥**

**क्रोशन्तं कृष्ण रामेति विलोक्य स्वपरिग्रहम्।**
**यथा गा दस्युना ग्रस्ता भ्रातरावन्वधावताम् ॥ २७ ॥**

**मा भैष्टेत्यभयारावौ सालहस्तौ[2] तरस्विनौ[3]।**
**आसेदतुस्तं[4-4] तरसा त्वरितं गुह्यकाधमम् ॥ २८ ॥**

**स वीक्ष्य तावनुप्राप्तौ कालमृत्यू इवोद्विजन्।**
**विसृज्य स्त्रीजनं मूढः प्राद्रवज्जीवितेच्छया[5] ॥ २९ ॥**

**त मन्वधाव द्गोविन्दो यत्र यत्र स धावति।**
**जिहीर्षुस्तच्छिरोरत्नं तस्थौ रक्षन् स्त्रियो बलः ॥ ३० ॥**

अविदूर इवाभ्येत्य शिरस्तस्य दुरात्मनः।
जहार मुष्टिनैवाऽङ्ग! सहचूडामणिं विभुः ॥ ३१ ॥

शङ्खचूडं निहत्यैवं मणिमादाय भास्वरम्[6]।
अग्रजाय[7-] ददौ प्रीत्या[-7] पश्यन्तीनां च योषिताम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
शङ्खचूडवधो नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

1. M,Ma °रेव 2. G,J शा° ; M,Ma ता° 3. M,Ma मन° 4- -4. P,V निषेधतु° 5. M,Ma °वने° 6. M,Ma °सु° 7- -7. G,P,V °याऽददात्प्रीत्या ; J,M,Ma °याददत्प्रीत्या

**श्रीध० तयोरिति।** निरीक्षतोः निरीक्षमाणयोः तौ नाथौ यस्य तं, प्रमदाजनं[1- -1] कालयामास हठात् प्रेरयामास ॥ २६ ॥

**क्रोशन्तमिति।** दस्युना व्याघ्रेण ॥ २७ ॥

**मा भैष्टेति।** मा भैष्ट भयं मा[2] प्राप्नुवतेत्यभयवाचौ[3] ॥ २८-३० ॥

**अविदूर** इति। शिरसा सह चूडामणिं जहारेत्यर्थः ॥ ३१, ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

1- -1. P,V,Va omit 2. J,Va न 3. J,Va प्राप्नुते°

**वीर०** स च शङ्कारहितः तयोः रामकृष्णयोः निरीक्षमाणयोः सतोः तौ[1] रामकृष्णौ नाथौ यस्य तं, स्त्रीजनं उदीच्यां दिशि कालयामास, हठात्प्रेरयामास। ततः ततो निस्सारयामासेत्यर्थः ॥ २६ ॥

कथम्भूतम्? क्रोशन्तं, हे कृष्ण! हे राम! इति सरोदनमाह्वयन्तं तदैवं दस्युना व्याघ्रेण ग्रस्ता गाव इव क्रोशन्तं तेनोदीचीं दिशं प्रति कृष्यमाणं स्वपरिग्रहं स्वपरिगृहीतं स्त्रीजनम् अवलोक्य भ्रातरौ रामकृष्णौ अन्वधावताम् ॥ २७ ॥

सालवृक्षाः हस्तयोः ययोस्तौ भयं मा कार्ष्टेत्येवंविधो रवः[2] (एवंविधः आरवः) शब्दः ययोः तथाभूतौ महाबलिनौ रामकृष्णौ त्वरितं यथा तथा गुह्यकाधमं शङ्खचूडम् आसेदतुः ॥ २८ ॥

गुह्यकाधमः कालमृत्यु इव प्राप्तौ तौ रामकृष्णावालोक्य उद्विजन् बिभ्यत्[3] स्त्रीजनं विहाय जीवितुमिच्छया प्राद्रवत्[4- -4] मूढस्तच्चरणागत्यात्मकजीवनोपायानभिज्ञः केवलं प्राद्रवत् ॥ २९ ॥

स शङ्खचूडो यत्र यत्र धावति तत्र तत्र शङ्खचूडं कृष्णोऽन्वधावत्। किञ्चिकीर्षुः? तस्य शिरोरत्नं हर्तुमिच्छुः, बलरामस्तु स्त्रियो रक्षन् तत्रैव तस्थौ ॥ ३० ॥

ततोऽविदूरे[6- -6] समीप एव अभ्येत्य तदभिमुखं गत्वा विभुः भगवान् मुष्टिनैव अङ्ग[5]! हे राजन्! चूडामणिसहितं दुरात्मनस्तस्य शङ्खचूडस्य शिरो मूर्धानं जहार ताडयामास ॥ ३१ ॥

इत्थं शङ्खचूडं हत्वा भास्वरं तेजोयुक्तं मणिमादाय आगत्य योषितां पश्यन्तीनां सतीनां प्रीत्या अग्रजाय रामाय ददौ दत्तवान् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

1. K adds एव 2. K रावः 3. K,T omit बिभ्यत् 4- -4. K omits 5. T,W omit अङ्ग। 6- -6. K omits.

**विज०** तौ नाथौ यस्य, स तन्नाथः तं कालनं द्रवणम् ॥ २६ ॥

स्वपरिग्रहं स्वस्त्रीजनं दस्युना व्याघ्रेण ग्रस्ताः क्रोशन्तीः गाः यथा तथा क्रोशन्तं विलोक्य। "दस्युस्तस्कर शार्दूलौ हन्तारौ गां नृहिंसकौ" इति च ॥ २७ ॥

मा भैष्ट भीता मा भवन्त्वित्यभयवाक्ययुक्तौ, तालो गीताङ्गवाद्यविशेषः। यद्वा तालस्तृणराजः स हस्ते ययोस्तौ तथा मनस्विनौ विशिष्टमनोयुक्तौ तरसा बलेन "तरसी बलरंहसी" ( वैज. को. 6-3-13) इति ॥ २८ ॥

मरणकालः, कश्चिदसुरो वा, मृत्युर्यमः उद्विजन् बिभ्यत् ॥ २९-३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धेपूर्वार्धे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

(विजयध्वजरीत्या द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥)

# पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः)

-: दिवाकाले श्रीकृष्णविरहप्रयुक्तगोपीविलापः। इयमेव वेणुगीता।

श्रीशुक उवाच

गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः।
कृष्णलीला[1] प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान् ॥ १ ॥

गोप्य ऊचुः

वामबाहुकृतवामकपोलो वल्गितभ्रुरधरार्पितवेणुः[2]।
कोमलाङ्गुलिभिराश्रितमार्गं गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः ॥ २ ॥

व्योमयानवनितास्सहसिद्धैर्विस्मि[3]तास्तदुपधार्य सलज्जाः।
काममार्गणसमर्पितचित्ताः कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्यः ॥ ३ ॥

हन्त! चित्रमबलाः शृणुतेदं हारहास उरसि स्थितविद्युत्[4]।
नन्दसूनु रयमार्तजनानां नर्मदो यर्हि कूजितवेणुः[5] ॥ ४ ॥

बृन्दशो व्रजवृषा मृगगावो वेणुवाद्यहृतचेतस आरात्[6]।
दन्तदष्टकबला धृतकर्णा निद्रिता लिखितचित्रमिवाऽऽसन् ॥ ५ ॥

1. G,J,P,V °लाः 2. G,J,T,W °णुम् 3. K,T,W °स्मृ 4. G,J °र 5. M,Ma श° 6. M,Ma एत्य

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पञ्चत्रिंशे वनं याते कृष्णे गोकुलयोषितः। युग्मश्लोकानुगीतेन निन्यु र्दुःखेन वासरान्।

एवं रात्रिषु कृष्णेन स्वैरं अभिरमितानां दिवा तद्विरहितानां अनुगीतेन दिननिस्तारप्रकारमाह - **गोप्य** इति दुःखेन कृच्छ्रेण ॥ १ ॥

वामबाहुकृतवामकपोल इत्यादीनि द्वादश युगलानि **वामेति**। हे गोप्यः! वामे बाहौ तन्मूले कृतः अर्पितः वामः कपोलो येन सः, वल्गिते नर्तिते भ्रुवौ येन सः वल्गितभ्रूः, मुकुन्दः अधरेऽर्पितं वेणुं कोमलाभिरङ्गुलीभिः आश्रिता मार्गाः सप्तस्वरच्छिद्राणि यस्य तम्। यत्र यदा ईर्यति वादयति ॥ २ ॥

**व्योमेति**। तदा व्योमयानानां सिद्धानां वनिताः सिद्धैः स्वपतिभिस्सह वर्तमाना अपि तद्वेण्वीरणं उपधार्य आकर्ण्य प्रथमं विस्मिताः ततः काममार्गणेभ्यः समर्पितानि चित्तानि याभिस्ताः तत्परवशा इत्यर्थः। सलज्जास्सत्त्यः कश्मलं मोहं ययुः। अत्र लिङ्गं- अपस्मृताः विस्मृता नीव्यो याभिरिति। अतः एवम्भूतस्य कृष्णस्य विरहं कथं सहाम इति सर्वत्र वाक्यशेषः ॥ ३ ॥

**हन्तेति**। हन्त! हे अबलाः! इदं चित्रं शृणुत। हारहासः हारवद्विशदो हासो यस्य सः। यद्वा, वेणुवादने अधोवदनेन हसतः हारेषु स्फुरन् हासो यस्य सः। [1- -1] हारवद्वा वक्षसि शोभमानो हासो यस्य सः। यद्वा हाराणां हास एव विशदा स्फूर्तिर्यस्मिन्। उरसीति। उरसि स्थिता[2] विद्युदिव लक्ष्मीर्यस्य सः। यर्हि यदा कूजितवेणुः [3- -3] नादितवेणुः भवति ॥ ४ ॥

**बृन्दश** इति। तदा व्रजे ये वृषाः, मृगाः, गावश्च वेणुवाद्येन हृतानि चेतांसि येषां ते। आराद्दूरादेव दन्तैर्दष्टाः कबलाः ग्रासाः यैस्ते, धृता उत्तम्भिताः कर्णाः यैस्ते, निद्रिता इव लिखितचित्रमिव च आसन्। अविदुषां तिरश्चामिव[4] इदमतिचित्रमित्यर्थः ॥५ ॥

1- -1. J,Va यद्वा हारवत् 2. J,Va °रा 3- -3. Va omits 4. J,Va omit इव

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथेत्थं निशासु भगवता सह विहरन्तीनामहस्सु तेन विश्लिष्टानां गोपीनां तल्लीलानुवर्णनेन कालनिर्यापणप्रकारमाह — पञ्चत्रिंशेन **गोप्य** इत्यादिना। कृष्णे वनं याते सतीत्यस्याऽस्य अहस्स्वित्यादिः[1] तं कृष्णमनुद्रुतं अनुवृत्तं तदासक्तमिति यावत् तच्चेतो यासां ताः गोप्यः कृष्णलीला गायन्त्यः वासरानहानि दुःखेन कृच्छ्रेण कथञ्चित् निन्युः निर्यापयामासुः ॥ १ ॥

कीदृशं तल्लीलाप्रगानम्, येन वासरान् निन्युः इत्यतः तद्दर्शयति — **वामबाहुकृतवामकपोल** इत्यादिना। अत्र द्वौ द्वौ श्लोकावेकवाक्यतयाऽन्वेतव्यौ, हे गोप्यः! कृष्णो यत्र यदा वामबाहौ तन्मूले कृतः अर्पितः वामः कपोलो येन, वल्गिते नर्तिते भ्रुवौ येन, तथाभूतः कोमलाभिः अङ्गुलिभिः आश्रिता मार्गास्सप्तस्वरच्छिद्राणि यस्य तमधरे अर्पितं वेणु मीरयति [2- -2] वादयति ॥ २ ॥

तदा व्योमयानानां वनिताः कश्मलं मोहं ययुः इत्यन्वयः। व्योम्नि यानं गमनं येषां ते व्योमयानाः, व्योम्नि यान्तीति वा व्योमयानाः, सिद्धाः। नन्द्यादेराकृतिगणत्वात् कर्तरि ल्युः। तेषां वनिताः सिद्धैः स्वपतिभिः सह वर्तमाना अपि तद्वेणुगीत मुपधार्याऽऽकर्ण्य प्रथमं विस्मिताः, ततः कामस्य मदनस्य मार्गणे समर्पितानि चित्तानि याभिस्ताः तत्परवशा इत्यर्थः। सलज्जास्सत्यः कश्मलं ययुः। तत्र लिङ्गं वदन्त्यः[3] ताः विशिंषन्ति[4-] अपस्मृतनीव्यः[5-] अपस्मृता विस्मृताः नीव्यः भ्रश्यद्दुकूलबन्धा याभि स्तथाभूताः एवंविधस्य कृष्णस्य विश्लेषं कथं सहेमेति सर्वत्र वाक्यशेषः ॥ ३ ॥

**हन्तेति**। हे अबलाः! इदं चित्रं शृणुत। हन्त! अत्याश्चर्यमेतत्। अयं नन्दसूनुः हारवद्विशदोऽमलो[6] हासो यस्य, यद्वा हारेषु स्फुरन् हासो यस्य, उरःस्थिता[7] विद्युदिव लक्ष्मीर्यस्य तथाभूतः, आर्तजनानां तद्विश्लेषजदुःखपीडितानां मादृशानां नर्मदो नितरां दुःखकारकस्सन् यर्हि यदा कूजितो वादितो वेणुर्येन तथाभूतो भवति ॥ ४ ॥

तदा व्रजे ये वृषाः, मृगा, गावश्च वेणुवाद्येन हृतानि चेतांसि येषां ते, आराद्दूरादेव दन्तैः दष्टा एव न तु चर्विताः कबलाः तृणग्रासा यै स्ते, धृताः उत्तम्भिताः कर्णाः यैस्ते, निद्रिताः सञ्जातनिद्रा इव लिखितचित्रमिव चित्रितवृषादिरिव च आसन् तस्थुः। अविदुषां तिरश्चामपीदमानन्दपारवश्यजनकं वेणुगीतम्, अतोऽतिचित्रमिति भावः ॥५॥

1. K °ति शेषः। 2- -2. K शब्दाययति 3. K वदन् 4- -4. K विशिनष्टि 5- -5. K omits 6. T,W omit अमलः 7. K उरसि

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

स्त्रीणां उपासनाप्रकारः ईदृश इति दर्शयितुं गोपीनां भगवल्लीलानुस्मरणं कथयत्यस्मिन्नध्याये। तत्र प्रथमतस्तासां कृष्णे भक्तिलक्षणं वक्ति **गोप्य** इति। प्रकृष्टगानेन आदृतचेतस्त्वं भक्तेः लक्षणं सूचयति ॥ १ ॥

द्वौ द्वौ ग्रन्थौ एकस्या गीतम्। तत् द्वाभ्यां द्वाभ्यां श्लोकाभ्यामन्वयः। एका गोपी गोप्यन्तराणि सम्बोधयति। हे गोप्यः! शृणुतेति शेषः। वामबाहुमूले कृतं वामकपोलं येन स तथा, वलिता नर्तिता भ्रूः यस्य स तथा। अधरोष्ठे अर्पितो वेणुर्येन स तथा, मुकुन्दो यत्र यदा कोमलाङ्गुलिभिः आश्रितमार्गं आच्छादितरन्ध्रं वेणुं ईरयति गायतीत्यर्थः ॥२॥

तदा सिद्धैस्सह व्योमयानवनिताः विमानस्थाः स्त्रियः, तद्गीतमुपधार्य श्रुत्वा विस्मिताः, अनन्तरं स्वयमशक्ताः सलज्जाः कामबाणेन विद्धं चित्तं यासां ताः। तथा अपस्मृता नीवी वस्त्रग्रन्थिः यासां ताः, मुच्यमानवस्त्रग्रन्थिस्मरणरहिताः कश्मलं मूर्च्छां ययुः इत्यर्थः ॥ ३ ॥

हारेण भासते इति हारभासः। हारवद्विशदो हासो यस्य स तथेति पाठार्थौ। उरसि स्थितविद्युत् विद्युदिव विष्णुं द्योतयति श्रीवत्साङ्कनामेति, यर्हि यदा कूजितवेणुर्भवति ॥ ४ ॥

तदा एत्य समेत्य व्रजवृषादयः लिखितचित्रमिव निश्चेष्टा आसन् इत्यन्वयः। धृतकर्णाः निश्चलकर्णाः कबलस्तृणग्रास निद्रिताः कार्यान्तररहिताः ॥ ५ ॥

बर्हिणस्स्तबकधातुपलाशैः बद्धमल्लपरिबर्हविडम्बः।
कर्हिचित्सबल आलि! स गोपैर्गास्समाह्वयति यत्र मुकुन्दः ॥ ६ ॥

तर्हि भग्नगतयस्सरितो वै तत्पदाम्बुजरजोऽनिलनीतम्।
स्पृहयतीर्वयमिवाऽबहुपुण्याः प्रेमवेपितभुजाः स्तिमितापः ॥ ७ ॥

अनुचरैस्समनुवर्णितवीर्य आदिपूरुष इवाऽचलभूतिः।
वनचरो गिरितटेषु चरन्ती वेणुनाऽऽह्वयति गा स्स यदा हि ॥ ८ ॥

वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः।
प्रणतभारविटपा मधुधाराः प्रेमहृष्टतनव स्ससृजुः स्म ॥ ९ ॥

दर्शनीयतिलको वनमाला दिव्यगन्धतुलसीमदमत्तैः।
अलिकुलैरलघु गीतमभीष्टं आद्रियन् यर्हि सन्धितवेणुः ॥ १० ॥

---

1- -1. M,Ma आमृशन् पयसि वाऽ° 2- -2. M,Ma हतवेगाः 3. M,Ma °न्त 4- -4. P,V °वो ववृषुः 5- -5. M,Ma विकचोत्पलमाला 6. G,J,K,P,V मधु 7. M,Ma °यत्

**श्रीध०** किञ्च। अचेतनासु सरित्सु तदतिविचित्रमित्याहुः — **बर्हिण** इति। हे आलि! सखि! बर्हिणो मयूरस्य स्तबकाः बर्हिगुच्छाः धातवो गैरिकादयश्च, पलाशानि पल्लवाश्च तैः बद्धश्चाऽसौ मल्लानां परिबर्हः परिकरः तं विडम्बयति। अनुकरोति तथा स मुकुन्दः अनुगैर्गोपैस्सह वेणुनेत्युपरितनम् अत्रापि ज्ञातव्यम्। यत्र यदा गाः समाह्वयति ॥६॥

**तर्हीति**। तर्हि तदा तद्ध्वनिश्रवणात् अनिलेन नीतं तस्य पदाम्बुजरजः स्पृहयन्त्य इव, भग्नगतयः सरितः वै निश्चितं, वयमिव ताअप्यबहुपुण्याः यतो न प्राप्नुवन्ति। केवलं प्रेम्णा वेपिता भुजास्तरङ्गा यासां ताः, स्तिमिताः निश्चलाः आपो यासां ताः, गोप्योपि लोचनयोः स्तिमितजला भवन्तीति ॥७॥

स्थावरेष्वप्यतिचित्रं दृश्यत इत्याहुः — **अनुचरैरिति**। अनुचरैः गोपैः देवादिभिर्वा मुग्धानां वाक्यं आदिपूरुष इवेति। अचलभूतिः निश्चलश्रीः वेणुना तत्तन्नाम्नां गानेन ॥ ८ ॥

**वनलता** इति। तथा प्रणताः भारेण विटपाः शाखा यासां ताः, वनगता लताः स्वस्मिन् विष्णुं प्रकाशमानं सर्वभूतान्तर्यामित्वात् अस्मास्वपि विद्यत इति सूचयन्त्य इव मधुधाराः ववृषुः, स्मेति विस्मये, तरवश्च। तथा तत्पतीनामपि तथैवाऽऽनन्द इति भावः ॥ ९ ॥

एतानि विष्णुव्यक्तिलक्षणानि। किञ्च सरसि कमलवनेषु विहरतां पक्षिणामपि मनआकर्षकं[7] तद्गीतं, किं पुनरन्येषामित्याहुः — **दर्शनीयेति**। दर्शनीयस्तिलको यस्य दर्शनीयानां सुन्दराणां मध्ये मुख्य इति वा, वनमालासु या दिव्यगन्धा तुलसी। तस्याः मधुना मत्तैरलिकुलैः अलघु उच्चैरभीष्टमनुकूलं गीतम् आद्रियन् आदरेण गृह्णन्, यर्हि अधरे सन्धितवेणुर्भवति ॥ १०॥

1. J,Va °तीव चि° 2- -2. J,Va मयूरपिच्छाः 3. J,Va omit अनुगैः 4. J,Va सम्यगाह्व° 5. J,Va °म्ना 6- -6. J,Va omit 7. J,Va °णं

**वीर०** इतोऽप्यतिचित्रं शृणुतेति काश्चिदाहुः **बर्हिणेति**। हे आलि! सखि! बर्हिणस्य मयूरस्य स्तबको बर्हं[1] यद्वा बर्हिणशब्देन तत्पिञ्छं[2] लक्ष्यते। स च स्तबका गुच्छाः धातवो गैरिकादयश्च, पलाशानि पल्लवाश्च तैः बद्धश्चासौ मल्लानां परिबर्हः, परिकरश्च, तं विडम्बयत्यनुकरोतीति तथा, स मुकुन्दो बलरामेण सहितः कर्हिचित्[3] यदा यत्र देशे गोपैः गाः समाह्वयति। अस्य वेणुगीतेनेत्यादिः। वेणुगीतेन गोपान् गाश्च समाह्वयति ॥ ६ ॥

तर्हि तदा अचेतनास्सरितोऽपि अनिलेन नीतं प्रापितं तस्य पदाम्बुजरजः स्पृहयतीः स्पृहयन्त्य[4] इव भग्ना गतिर्यासां तथाभूताः वै निश्चितम्। भुग्नगतय इति पाठे कुटिलगतयः, तथाऽपि ताः वयमिवाऽबहुपुण्याः यतो न प्राप्नुवन्ति। केवलं प्रेम्णा वेपिताः कम्पिताः भुजास्तरङ्गा यासां, स्तिमिता निश्चला आपो यासां तथाभूताश्च। गोप्योऽपि लोचनयोः स्तिमितजला भवन्तीति, वयमिवेति दृष्टान्ताभिप्रायः ॥ ७ ॥

स्थावरेष्वपि अतिचित्रं दृश्यत इत्याहुः - **अनुचरैरिति**। सः कृष्णो यदा हि वने चरन् गिरे स्तटेषु चरन्तीः गाः वेणुना तत्तन्नाम्नोपेतेन वेणुगीतेन आह्वयति। कथम्भूतः! अनुचरैः गोपैः देवादिभिर्वा, सम्यग् वर्णितं वीर्यं यस्य, तथाभूतः मुग्धानां वचनं आदिपूरुष इवेति, अचला विभूतिः लक्ष्मीः यस्य स चेति। इतरेषु चलाऽपि लक्ष्मीः न तस्मिन् चलेति भावः ॥ ८ ॥

तदा प्रणताः भारेण विटपाः यासां ताः, पुष्पैः फलैश्चाढ्याः प्रेम्णा हृष्टा उदञ्चितास्तनवो यासां ताः। वनगता लताः स्वस्मिन् विष्णुं प्रकाशमानं सूचयन्त्य इव मधुधारा ववृषुः तथा तरवश्च। तत्पतीनामपि तथैवाऽऽनन्द इति भावः। स्म विस्मये ॥ ९ ॥

कमलवनेषु विहरतां पक्षिणामपि चित्ताकर्षकं तद्गीतं किंपुनरन्येषां इत्यभिप्रायेणाऽऽहुः- **दर्शनीयतिलक** इति। दर्शनीयानां सुन्दराणां मध्ये श्रेष्ठः कृष्णः वनमालायां या दिव्यगन्धतुलसी तस्या मधुना मत्तैः अलिकुलैः क्रियमाणम् अलघूच्चैः अभीष्टमाद्रियन् आदरेण गृह्णन् यर्हि अधरे संहितवेणुर्भवति ॥ १० ॥

1. T,W बर्हः 2. T,W °च्छो 3. T,W omit चित् 4. T,W °हन्त्य

**विज०** हे आलि! सखि! कर्हिचित् कदाचित् यत्र यदा यस्मिन् देशे स्थित्वा गाः समाह्वयति ॥६॥

तर्हि तदा तस्मिन् देशे स्थिताः सरितस्तीरे पयसि वाऽनिलनीतं तत्पदाम्बजरजः आमृशन् आस्पृशन्वै इत्यन्वयः! कथम्भूतः? बर्हिणस्य मयूरस्य स्तबकैः पिच्छबन्धविशेषैः धातुभिः गिरिसम्भवैः मनश्शिलादिभिः पलाशैः पल्लवैः बद्धस्य मल्लपरिबर्हस्य मल्लपुरुषशिरःपरिकरस्य विडम्बोऽनुकारो यस्य स तथा, "मयूरो बर्हिणो बर्ही नीलकण्ठो भुजङ्गभुक्" (अम. को. 2-248) इत्यमरः। किञ्च, बहूनि अनेकानि पुण्यानि यासां ताः तथा "विपुलानेकयोर्बहु"रिति (वैज. को. 6-4-10) यादवः। प्रेम्णा कामोन्नतस्नेहेन वेपिताः कम्पिताः भुजास्तरङ्गलक्षणा यासां ता स्तथा। अत एव हतवेगाः मन्दीकृतस्यन्दनलक्षणजवाः, अत एव भग्नगतयः स्तिमितप्रवाहाः आसन्नित्यनुषङ्गः। अनेन सरन्तीति सरित इति सरिच्छब्दार्थो लुप्त इति दर्शितम् ॥ ७ ॥

अनुचरैः सनकादिभिः, अन्यत्र गोपैः अचलभूतिः स्थिरश्रीः "भूतिः श्रीजन्मभस्मसु" (वैज. को. 6-2-27) इति यादवः। वनचरः कक्षे सञ्चरन् अन्यत्र वने चरणं शयनं जलशयन इत्यर्थः। यदा वेणुना ध्मातवेणुध्वनिना गिरितटेषु चरन्तीः तृणभक्षणं कुर्वन्तीः, अन्यत्र वायोस्तटवद्विस्तृते मुखे वर्तमाना गाः पशून्, अन्यत्र वेदवाणीराह्वयति सनकादिभिः स्तूयमानो जलशयानः आदिपुरुषो वायुमुखे वर्तमानश्रुतीः तदर्थकथनपूर्वकमुपदिशति ॥ ८ ॥

तदात्मनि स्थितं विष्णुं व्यञ्जयन्त इव पुष्पफलाढ्याः अत एव प्रणतं प्रणमनं बिभ्रतीति प्रणतभाराः। अण् प्रत्ययः। विटपाः शाखा येषां तरूणां यासां लतानां वा ते तास्तथा, यद्वा पुष्पफलभारेण प्रणता विटपा येषां ते तथा, प्रेम्णा हृष्टरोमाञ्चिताः तनवः येषां यासां वा ते ताः तथा, एवंविधा वनलतास्तरवश्च मधुधारा रसधाराः ससृजुः स्म, स्मृत्वा सृष्टवन्त इत्यर्थः। अन्यत्र आत्मनि हृदये स्थितं विष्णुं व्यञ्जयन्तः अपरोक्षीकुर्वन्त इव ज्ञानपुष्पेण जीवन्मुक्त्यवस्थाफलेनाऽऽढ्याः प्रणतस्य भारो भरणं येषां ते, प्रणतभाराः ते विटपा भुजाः येषां ते तथा, मूर्ध्न्यारोपिताञ्जलिपुटा इत्यर्थः। अत एव भक्त्युद्रेकेण रोमाञ्चितगात्राः वने अरण्ये रता निवृत्तिधर्ममनुतिष्ठन्तो वने भासि, ग्रीष्मे पञ्चाग्निज्वालासेवायां, वर्षर्तौ कानने वने जले, हिमर्तौ कण्ठदघ्नसलिले वसन्तः "वनं भास्यप्सु कानने" (वैज.को. 6-3-31) इति यादवः। तरवः संसारतरणशीलाः, तीर्णसंसारा वा मुमुक्षवो मुच्यमाना मुक्ताश्च यथायोग्यमधिकारिणो मधुधाराः ज्ञानेनैशत्वाद्यानन्दाम्बुसन्ततीः ससृजुस्तत्स्वभावा बभूवुरित्यर्थः। "धाराऽस्त्रांगेऽम्बुसन्तत्यां सैन्याग्रेऽश्वगतिष्वपि" (वैज.को. 6-2-20) इति। "सर्गः स्वभावनिर्मोक निश्चयाध्यायसृष्टिषु" (अम.को. 3-178) इति च। अत्र वनचरशब्दसामर्थ्यान्मत्स्याद्यवतारविषयत्वेनापि ज्ञातव्यावेतौ श्लोकौ शब्दशक्तिविशारदैरिति ग्रन्थबाहुल्यभयादुपरम्यत इति ॥ ९ ॥

यर्हि यदा सन्धितवेणुः, स्वरेणेति शेषः। कृष्णः दर्शनीयायाः चक्षुःप्रियायाः विकचैः उत्पलैः नीलोत्पलैः, कृताया मालायाः दिव्यगन्धायाः अमानुषपरिमलायाः तुलस्याश्च मधुना पीतेन मत्तैः अलिकुलैः अभीष्टं गातुमुपक्रान्तं अलघु गम्भीरं गीतं आद्रियत् आर्चत्। "आदृतौ सादरार्चितौ" (वैज.को. 7-4-2) इति ॥ १० ॥

**सरसि सारसहंसविहङ्गाश्चारुगीतहृतचेतस एत्य।**
**हरिमुपासत ते यतचित्ता हन्त मीलितदृशो धृतमौनाः ॥ ११ ॥**

**सहबलस्स्रगवतंसविलास स्सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः।**
**हर्षयन्यर्हि वेणुरवेण जातहर्ष उपरम्भति विश्वम् ॥ १२ ॥**

महदतिक्रमणशङ्कितचेता मन्दमन्दमनुगर्जति मेघः।
सुहृदमभ्यवर्षत्सुमनोभिश्छायया च विदधत्प्रतपत्रम् ॥ १३ ॥

विविधगोपचरणेषु विदग्धो वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः।
तव सुतस्सति यदाऽधरबिम्बे दत्तवेणुरनयत्स्वरजातीः ॥ १४ ॥

सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाश्शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः।
कवय आ नमित कन्धरचित्ताः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः ॥ १५ ॥

1. K,T,W यत 2- -2. M,Ma आह्वयद्वर्हि 3. T,W रञ्जति 4. K विश्वः 5. P,V वि 6. M,Ma °धे वित° 7. M,Ma मधुरां 8. M,Ma °क्षाम् 9- -9. M,Ma सुमनसस्त° 10- -10. G,J,K,M,Ma आनत 11. M,Ma गात्राः

**श्रीध० सरसीति**। तर्हि ये सरसि सारसा हंसाः अन्ये च विहङ्गाः ते[1] चारुणा गीतेन हृतचेतसः एत्य[2] आगत्य। हरिम् उपासत अभजन्त, तत्समीपे उपविविशुर्वा। हन्तेति विषादे ॥ ११ ॥

मेघोऽपि हरिं सेवत इत्याहुः — **सहबल** इति[3] व्रजदेव्यो गोप्यः! सहबलः सरामः कृष्णः स्रग्भिः निर्मिताभ्यामवतंसाभ्यां कर्णभूषणाभ्यां विलासो यस्य। यद्वा, मुक्ताफलस्रगापीडेन विलासो यस्येति, क्षितिभृतः सानुषु गिरिस्तटेषु वर्तमानः स्वयं जातहर्षः विश्वं हर्षयन् यदा वेणुरवेणोपरम्भति निनादयति नादेन आपूरयतीत्यर्थः[4] ॥ १२ ॥

**महदिति**। तदा मेघः महतः श्रीकृष्णस्यातिक्रमेण शङ्कितं चेतो यस्य सः, न पुनः पुरतो याति न चोच्चैर्गर्जति, किन्तु तत्रैव स्थितस्सन् वेणुरवमनु मन्दं गर्जति। किञ्च, सुहृदं विश्वार्तिहरणादिसाम्यात् सुहृत् कृष्णः तं सुमनोभिरभ्यवर्षीदिति। अदृश्यैर्देवैः क्रियमाणं कुसुमवर्षं मेघे कल्पयित्वोक्तम्, तुषारो वा कुसुमतया कल्पितः, स एव वा देवतारूपोऽभ्यवर्षीदिति। प्रतपादातपात् त्रायत इति प्रतपत्रं छत्रं, तत् छायया कुर्वन्निति ॥ १३ ॥

अपि च महदेतदाश्चर्यमित्याहुः — **विविधेति**। हे सति! यशोदे! तव सुतः नानागोपक्रीडासु विदग्धो निपुणः वेणुवाद्यविषये निजैव शिक्षा यासु ताः स्वोत्प्रेक्षिताः न त्वन्यतः श्रुता इत्यर्थः। स्वरजातीर्निषादर्षभादिस्वरालापभेदान् अनयत् उन्नीतवान् ॥ १४ ॥

**सवनश** इति। तत्तु[5] ताः स्वरजातीः सवनशः वारं[6-] वारं[-6] मन्द्रमध्यमतारभेदेन क्रमशो[7-] वा[-7]। यतो गीतध्वनिरागतः तत्र[8-] आनमिता[-8] कन्धरा चित्तं च येषां ते, उपधार्य[9] सम्यगाकर्ण्य, कवयः कोविदाः अपि ते[10] अनिश्चितं[11] तत्त्वं तद्भेदो यैस्ते कश्मलं मोहं ययुरिति ॥ १५ ॥

1. P,V omit ते 2. J,Va add ततः 3. J,Va add भो! 4. J,Va omit आ 5. J,Va omit तु 6- -6. J,Va omit 7- -7. J,Va omit 8- -8. J,Va ततश्च आनता 9. J,Va समाक° 10. J,Va omit ते 11. J,Va न

**वीर०** तदा ये सरसि सारसाश्च हंसाश्चाऽन्ये विहङ्गमास्ते चारुणा गीतेन हृतं चेतो येषां तथाभूता एत्याऽऽगत्य हरिं कृष्णमुपासत अभजन्त। तत्समीपे विविशुर्वा, कथम्भूताः यतं विषयान्तरेभ्य आहृतं चित्तं यैः यतं नियतं मौनं संशीलनं येषां तथाभूताश्च। हन्तेति भगवद्विरहजखेदे ॥ ११ ॥

मेघो हरिमुपास्ते इत्याहुः - **सहबल** इति। हे व्रजदेव्यः! गोप्यः! सहबलः सरामः कृष्णः स्रग्भिः निर्मिताभ्यां अवतंसाभ्यां कर्णभूषणाभ्यां[1] विलासो यस्य। यद्वा, मुक्तास्रगापीडेन विलासो यस्य। क्षितिभृतो गिरेस्तटेषु वर्तमानः स्वयं जातहर्षः विश्वं हर्षयन् यदा वेणुरवेण उपरम्भितविश्वः उपग्रथितविश्वः अनुरक्तलोको भवतीत्यर्थः। उपरञ्जति विश्वम् इति पाठान्तरं, तदा उपरञ्जति नादयति, नादेन पूरयतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

तदा स्वतुल्यच्छायत्वेन विश्वार्तिहरणादिना च साम्यात् स्वसखो मेघः, महतः कृष्णस्यातिक्रमेण शङ्कितं चेतो यस्य तथाभूतः पुरतो न याति, न चोच्चैर्गर्जति, किन्तु तत्रैव स्थितस्सन् वेणुरवमनु मन्दं मन्दं गर्जति, सुहृदं कृष्णं सुमनोभिरभ्यवर्षत् छायया प्रतपत्रं आतपत्रं व्यदधत् अकरोच्च। विदधदिति पाठे तु अडभाव आर्षः; शत्रन्तं वा। प्रतपत्रं कुर्वन् सुमनोभिरभ्यवर्षच्चेत्यर्थः। अदृश्यैः देवैः क्रियमाणं कुसुमवर्षं मेघकर्तृकं कल्पयित्वेत्थ मुक्तं, तुषारो वा कुसुमतया कल्पितः ॥ १३ ॥

ब्रह्मादीनामपि पारवश्यजनकं त्वत्सुतवेणुरणितमिति यशोदां प्रत्याहुः — **विविधगोपचरणेष्विति।** हे सति यशोदे! यदा तव सुतो नानागोपक्रीडासु निपुणः अधरबिम्बे बिम्बतुल्येऽधरे निहितो वेणुर्येन सः। वेणुवाद्यविषये उरुधा बहुप्रकारा निजैव शिक्षा यासु ताः, न त्वन्यतः श्रुता इत्यर्थः। स्वरजातीः निषादर्षभादिस्वरालापभेदान् अनयत् उन्नीतवान्॥ १४॥

तदा शक्रप्रभृतयः तत् ताः स्वरजातीः सवनशः वारं वारं मन्द्रमध्यमतारभेदेन वा, क्रमशो वा यतो गीतध्वनिरागतः तत आनता कन्धरा चित्तञ्च येषां ते, उपधार्य सम्यगाकर्ण्य कवयः कोविदाः अपि अनिश्चितं तत्त्वं तद्भेदो यैस्तथाभूताः कश्मलं मोहं प्रापुः ॥ १५ ॥

1. T,W omit कर्णभूषणाभ्यां

**विज०** तदा सरसि विहरन्तो ये सारसहंसविहङ्गाः ते पक्षिणः एत्य सम्भूय, चारुणा गीतेन हृतचेतसः आकृष्टबुद्धयः, अत एव यतचित्ताः एकाग्रकृतमानसाः अर्धनिमीलितनेत्राः धृतमौनाः स्वजातिचापल्यरहिताः हरिमुपासतेत्यन्वयः ॥ ११ ॥

हे व्रजदेव्यः! बलेन सहितः स्रजा मालयाऽवतंसेन कर्णोत्पलेन च विलासः कान्तिविशेषो यस्य स तथा। यद्वा स्रगवतंसयोर्विलासो यस्य स तथा। आत्मशोभाजनकत्वेन धृतयोः स्रगवतंसयोः शोभाजनक इत्यर्थः। क्षितिभृतो गिरेः सानुषु शिखरेषु स्थितः लोकदृष्ट्या तदानीं जातहर्षः आविष्कृतानन्दविशेषः, कृष्णो यर्हि यदा वेणुरवेण आह्वयत्, गा इति शेषः। विश्वं देहमाविश्य वर्तमानं प्राणिजातं उपरम्भति ऊर्ध्वमुखीकरोति, आह्वयति वा, नूतनं कर्तुमुपक्रमते वा । "उपरम्भस्तूर्ध्वमुखे प्रक्रमे निवृत्ते तथा" इति च ॥ १२ ॥

तदा मेघः महतो हरेरुच्चैर्गर्जनेन कर्णबाधिर्यजनकातिक्रमणमतिलङ्घनं स्यादिति शङ्कितमनाः मन्दं मन्दं अनु वेणुरवानुकूलं यथा भवति तथा गर्जति। किञ्च, सुमनोभिः पुष्पसदृशसलिलबिन्दुभिः श्यामवर्णसाम्यात् सुहृदं मित्रं अभ्यवर्षत्। किञ्च, छायया वितपत्रं वितपात् आतपात् त्रायत इति वितपत्रं, विदधे च हरेरिति शेषः। सितपत्रमिति पाठे श्वेतच्छत्रमित्यर्थः। वेणुरवेण व्रजदेवीराह्वयदिति वा ॥ १३ ॥

हे सति ! यशोदे! विविधानां गवां गीतशब्दानां पतयः गन्धर्वाः तेषां चरणेषु गीतगतिषु विदग्धः समर्थः। यद्वा, विविधानां स्वस्वजातिस्वभावचेष्टासु नानाविधानां गोपानां चरणेषु कर्मसु विदग्धः कुशलः। यद्वा, विविधो गोपो रक्षणं तस्य, चरणेषु तत्तदापद्रक्षणविधिषु प्रविष्ट इत्यर्थः। अधरबिम्बे दत्तवेणुः अधरोष्ठबिम्बफले न्यस्तवेणुः तव सुतः यदा वेणुवाद्यमधुरां वेणुलक्षणवाद्ये कर्णसुखहेतुं निजशिक्षामात्मीयगानशिक्षां प्रति स्वरजातीः षड्जादिस्वर सामान्यान्यनयत्प्रापयामास ॥ १४ ॥

तदा सुमनसो देवाङ्गनाः सुरेश्वराश्च गीतविषये कश्मलं मोहं ययुरित्यन्वयः। कीदृशाः? आनतकन्धरगात्राः, ईषन्नतकण्ठदेहावयवाः, कवयः गानपारङ्गाः निश्चिता अपि अनिश्चिततत्त्वाः, अभूतपूर्वगीतश्रवणात् गीततत्त्वनिश्चयरहिताः, किं कृत्वा, तद्गानमुपधार्य तात्पर्येण श्रुतिं निधाय ॥ १५ ॥

निजपदाब्जदलैर्ध्वजवज्रैः[1] नीरजाङ्कुशविचित्रललामैः।
व्रजभुवः प्रशमयन्[3] खुरतोदं वर्ष्म धुर्यगतिरीरितवेणुः[4] ॥ १६ ॥

व्रजति[5] तेन वयं सविलासप्रेक्षणार्पितमनोभववेगाः[6]।
कुजगतिं[7] गमिता न विदामः कश्मलेन वसनं कबरं[8] वा ॥ १७ ॥

मणिधरः क्वचिदागणयन्[9] गा मालया दयितगन्धतुलस्याः[10]।
प्रणयिनोऽनुचरस्य यदांऽसे[11] प्रक्षिपन् भुजमगायत यत्र ॥ १८ ॥

क्वणितवेणुरवावश्रितचित्ताः[12] कृष्णमन्वसत[13] कृष्णगृहिण्यः।
गुणगणार्णव[14] मनुगम्य[15] हरिण्यो गोपिका इव विमुक्तगृहाशाः[16] ॥ १९ ॥

कुन्ददामकृतकौतुकवेषो गोपगोधनवृतो यमुनायाम्।
नन्दसूनुरनघे तव वत्सो नर्मदः[17] प्रणयिनां विजहार ॥ २० ॥

1. P,V धरै° 2. G,J,K,M,Ma वज्र. 3. G,J omit प्र 4. G,J °डि° 5. M,Ma °मि° 6. G,J,M,Ma बी° 7. M,Ma व्रज 8. P,V °रीं 9. M,Ma °म° 10. M,Ma °स्या। 11. G,J,M,Ma क° 12. M,Ma °मुप 13. M,Ma °मीयुरनु 14. G,J omit व 15. G,J,K गत्य 16. M,Ma °हेशाः 17. K,T,W श°

**श्रीध०** अस्माकं तु मोहं किं ब्रूम इत्याहुः — **निजेति।** ध्वजादीनि विचित्राणि ललामानि चिह्नानि येषां तैः, निजानि पदान्येवाब्जदलानि तैः, व्रजभुवः खुरतोदं खुराक्रमणव्यथां शमयन्। वर्ष्मणा देहेन[1] धुर्यो गजस्तद्वद्गतिर्यस्य स कृष्णः वादितवेणुस्सन् व्रजतीति यत् ॥ १६ ॥

**व्रजतीति।** तेन निमित्तेन सविलासवीक्षणेनार्पितो मनोभववेगो यासु ताः। वयं, कुजा वृक्षास्तेषां गतिं गमितास्सत्यः मोहेन न विदामः कबरीं[2] वा वसनं वेति ॥ १७ ॥

**मणिधर** इति। किञ्च, मणिधरः मणीन् ग्रथितान् गोगणनार्थं[3] धरतीति मणिधरः क्वचिद्देशे तैर्मणिभिः[4] आ समन्ताद्गाः गणयन् तथा दयितगन्धा या तुलसी तस्या मालया सह वर्तमानः प्रणयिनः प्रियस्यानुचरस्य अंसे भुजं प्रक्षिपन्। यत्र यदा कदाचिदगायत ॥ १८ ॥

**क्वणितेति।** तदा क्वणितस्य[5-] वेणोः[-5] रवेण वञ्चितान्यपहृतानि चित्तानि यासां ताः, कृष्णस्य हरिणस्य गृहिण्यो भार्याः गुणगणार्णवं[6] गुणगणसमुद्रं कृष्णमनुगम्य[7] प्राप्य, ताः कृष्णमेवान्वसत अन्वासत न न्यवर्तन्तेत्यर्थः। कुतः? यतो विमुक्ताः गृहाशाः याभिस्ताः गोपिका इव ता अपि हचेवमेवान्वासतेति ॥ १९ ॥

तदेवं बृन्दावनप्रदेशेषु क्रीडित्वा सायाह्ने गोधनानि परावृत्य यमुनायां क्रीडतस्तस्य सौभाग्यमनुवर्णयन्ति- **कुन्देति।** गोपीनामुत्सवाय कुन्ददामभिः कृतकौतुकेनोत्सवेन वेषोऽलङ्कारो येन सः, हे अनघे! यशोदे! तव वत्सः पुत्रः नन्दसूनुः कृष्णः यद्वा सहैव बह्वचः कथयन्त्यः काश्चित्तव वत्स इति काश्चिन्नन्दसूनुरिति चाऽऽहुः, नर्मदः हर्षदस्सन् यदा विजहार क्रीडति स्म ॥ २० ॥

1. P,V omit देहेन 2. J,Va °रं 3. P,V °णार्थं 4. J,Va एतै° 5- -5. J,Va °तवेणुर० 6. J,Va °र्णं 7. J,Va गत्य

**वीर०** अस्माकं तु मोहं किं ब्रूम इत्याहुः **-निजपदाब्जदलैरिति।** ध्वजादीनि विचित्राणि ललामानि चिह्नानि येषां तैः, निजानि पदान्येवाब्जदलानि तैः, व्रजभुवः खुरतोदं खुराक्रमणव्यथां शमयन् वर्ष्मणा शरीरेण धुर्यः धुरं वहतीति तथा, स च गजराजः तद्वत् गतिर्यस्य सः कृष्णः वादितवेणुस्सन् व्रजतीति यत् तेन निमित्तेन सविलासवीक्षणेन च; अर्पितो मनोभववेगो यासु ताः, वयं कुजा वृक्षा स्तेषां गतिं प्रकारं निश्चेष्टतामिति यावत् गमिताः प्रापितास्सत्यो मोहेन कबरं वसनं वा न विदामः ॥ १६, १७ ॥

किञ्च मणिधरः मणीन् ग्रथितान् गोगणनार्थं धरतीति मणिधरः क्वचिद्देशे तैः मणिभिः गाः आ समन्ताद्गणयन् तथा दयितगन्धा इष्टगन्धा या तुलसी तस्या मालयोपलक्षितः प्रणयिनः प्रियस्य अनुचरस्यांऽसे स्कन्धे भुजं प्रक्षिपन्निदधत् यत्र यदा कदाचित् अगायत ॥ १८ ॥

तदा तत्र क्वणितस्य वादितस्य वेणो रवेण वञ्चितान्यपहृतानि चित्तानि यासां ताः। यन्त्रितचित्ता इति पाठे परवशीकृतानि चित्तानि यासां ताः, कृष्णस्य हरिणस्य गृहिण्यो भार्या हरिण्यः गुणगणार्णवं गुणसमुद्रं कृष्णमनुगत्य प्राप्य

तं कृष्णमेवान्वसत अन्वासत[1] न न्यवर्तन्तेत्यर्थः। कुतः? यतो विमुक्ताः त्यक्ताः गृहाशाः याभिः, कथम्? गोपिका इव, ता अपि हि एवमेव तमन्वासतेति ॥ १९ ॥

एवं बृन्दावनप्रदेशेषु क्रीडतो लीलाः प्रगीताः, अथ सायाह्ने गोधनानि परावृत्त्य यमुनायां क्रीडतः सौभाग्यमनुवर्णयन्ति- **कुन्ददामकृतकौतुकवेष** इति। कुन्ददामभिः कुन्दकुसुमस्रग्भिः कृतकौतुकेन उत्सवेन वेषोऽलङ्कारो येन सः। हे अनघे![2]! अनवद्ये! यशोदे! तव वत्सः पुत्रः नन्दसूनुः श्रीकृष्णः। यद्वा, सहैव बह्वयः कथयन्त्यः काश्चित्तव वत्स इति, काश्चिन्नन्दसूनुरिति चाऽऽहुः। प्रणयिनां सखीनां शर्मदः हर्षदः गोपैः गोपकुलेन च वृतो यमुनायां विजहार, यदेति शेषः ॥ २० ॥

1. T omits अन्वासत 2. T,W omit अनघे 3. K omits अनवद्ये

**विज०** ध्वजादय एव विचित्राणि नानाकाराणि ललामानि लाञ्छनानि येषां तानि तथा। तद्वा, ललामानि तिलका येषां तानि तथा तैः। ★ ललामोऽस्त्री ध्वजे श्रेष्ठे भूषायां पुण्ड्रचिह्नयोः (वैज.को.7.5.72) इति च निजपदाब्जयोर्दलैः अङ्गुलीलक्षणैः। यद्वा निजानि नित्यानि अन्येनामार्जितानि पदान्येव पादाङ्का एवाब्जानि यानि तेषां दलैर्विभागैः व्रजभुवः गवां खुरतोदं खुरनिखातव्यथां प्रकर्षेण शमयन् परिहरन् वर्ष्मणा महता शरीरेण युक्तो धुर्यो वृषभ स्तस्य गतिरिव गतिर्यस्य स वर्ष्मधुर्यगतिः। यद्वा वर्ष्मधुर्यो गजराजः। तदा ईरितवेणुः शब्दितवेणुः ॥ १६ ॥

तेन व्रजमितेन प्राप्तेन कृष्णेन सविलासवीक्षणेन विभ्रमोपेतवीक्षणेन अर्पितो मनोभवस्य कामस्य वेग उद्रेकलक्षणः संस्कारो यासु तास्तथा। रात्रिविशेषे वनाद्व्रजगतिं गोष्ठाख्यमन्दिरं गमिताः प्रापिताः, वयं कश्मलेन मनोऽनवस्थालक्षणेन मोहेन स्रस्तं कबरं केशभारं वसनं वस्त्रं वा स्थितिं वा न विदाम न जानीम इत्यन्वयः। कुजगतिमिति पाठे स्थावरस्वभावमित्यर्थः। ब्राह्ममुहूर्तादुत्थाय कृष्णाज्ञया वनात् प्राप्तव्रजानां पश्चादागतस्य कृष्णस्य पुनर्दर्शनेन मुग्धानां गोपिकानां वचनमिदमिति भावः ॥ १७ ॥

मणिधरः कौस्तुभरत्नधारी दयितगन्धा प्राणप्रियगन्धा तुलसी यस्यां सा तथा। तया मालयोपलक्षितः प्रणयिनः स्निग्धतमस्यानुवर्तमानस्य कस्यचिद् गोपस्यांऽसे भुजशिरसि भुजं प्रक्षिपन् निदधानो गा आगमयन् वनाद्व्रजमावर्तयन् कृष्णः क्वचित् कदाचित् कस्मिंश्चित् काले यत्र यस्मिन् देशे अगायत ॥ १८ ॥

तदा वञ्चितचित्ताः प्रलोभितान्तःकरणाः कृष्णगृहिण्यः कृष्णमृगपरिग्रहभूताः हरिण्यो गुणगणार्णं गुणगणसमुद्रं क्वणितवेणुं ध्मातवेणुं कृष्णमनुगम्य उपान्वीयुः उपासतेत्यन्वयः। का इव विमुक्तगृहेशाः परित्यक्तनिजपतयः, उभयत्र समानम्। गोपिका गोपाङ्गना इव अन्यत्र गोपनशीला इव ॥ १९ ॥

हे अनघे! यशोदे! कुन्ददाम्ना पुष्पमालयाऽलङ्कृतः कौतुकवेषः विवाहकाले वरस्य हस्ते यत् सूत्रं बध्यते तत् कौतुकं तदीयो वेषः, स यस्य स कुन्ददामकृतकौतुकवेषः। "कौतुकं विषयाऽऽभोगे हस्तसूत्रे कुतूहले" (वैज.को. 7-3-10)

इति यादवः। गोपादिभिः परिवृतः प्रणयिनां नर्मदः लीलावचनेन आनन्ददः तव वत्सः बालः नन्दसूनु र्यदा यमुनायां विजहार ॥ २० ॥

1- -1. Ma मनोभवस्थान ★ (उपलभ्यमानपाठः) ललामोऽस्त्री ललामाऽपि प्रभावे पौरुषे ध्वजे। श्रेष्ठे भूषापुण्ड्रशृङ्गतुच्छचिह्नाश्वलिङ्गिषु।

मन्दवायुरनुवात्यनुकूलं मानयन्मलयजस्पर्शेन[1]।
वन्दिनस्तमुपदेवगणा ये वाद्यगीतबलिभिः परिवव्रुः ॥ २१ ॥

वत्सलो व्रजगवां[2] यदगाध्रो[3] वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः।
कृत्स्नगोधनमुपोह्य[4] दिनान्ते गीतवेणुरनुगैडितकीर्तिः[5] ॥ २२ ॥

उत्सवं स्मररुजास्तदृशीनामुन्नयन्खुररजश्छुरितस्रक्[6]।
दित्सयैति सुहृदाशिष एष देवकीजठरभूरुडुराजः ॥ २३ ॥

मदविघूर्णितलोचन ईषन्मानदः स्वसुहृदां वनमाली।
बदरपाण्डुवदनो मृदुगण्डं मण्डयन् कनककुण्डललक्ष्म्या ॥ २४ ॥

यदुपतिर्द्विरदराजविहारो यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते।
मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं मोचयन् व्रजगवां दिनतापम् ॥ २५ ॥

## श्रीशुक उवाच

एवं व्रजस्त्रियो राजन् कृष्णलीलानुगायतीः।
रेमिरेऽहस्सु तच्चित्तास्तन्मनस्का महोदयाः ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
बृन्दावनक्रीडायां गोपिकायुगलगीतं नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

1. G,J,K रुप 2. T,W भु° 3. M,Ma °गाधो 3. M,Ma °म° 5. M,Ma गोद्भूत 6- -6. G,J,P,V श्रमरुचापि; M,Ma श्रममपोह्य 7. M,Ma

**श्रीध० मन्दवायुरिति।** तदा मलयजस्पर्शेन[1-1] मलयजस्य चन्दनस्येव सुरभिः शीतलश्च यः स्पर्शः तेन तं कृष्णं मानयन्ननुकूलं यथा तथा अनुवाति वीजयति। यद्वा मलयजो दक्षिणवायुः। यद्वा - मलयजस्य कृष्णेन स्वाङ्गेऽनुलिप्तस्य स्पर्शेन मानयन्निति। किञ्च वन्दिन इव स्तावकास्सन्तः गन्धर्वादिगणाः वाद्यगीतपुष्पवर्षादिभिः परिवव्रुः परित उपासत॥ २१॥

आयान्तमालोक्य हृष्यन्त्यः परस्परमूचुः - **वत्सल** इति। व्रजस्य गवां च, यद्वा व्रजे निबद्धानां गवां अनुकम्प्यानामस्माकमित्यर्थः। वत्सलो हितकृत्। कुतः? यद्यस्मात् अगध्रः अगं धरतीति गोवर्धनोद्धरणः बहुशो रक्षणस्योपलक्षणमेतत्। वृद्धैः[2-] ब्रह्मादिभिः पथि कन्द्यमानचरण इति। ते[-2] सेर्ष्यं सायं[3] शीघ्रमागन्तुं न ददतीत्यर्थः[4]।उपोह्य एकीकृत्य, गीतयुक्तो वेणुर्यस्य सः ॥ २२ ॥

**उत्सवमिति**। श्रमयुक्तयापि कान्त्या नेत्राणां हर्षमुन्नयन् उच्चैः प्रापयन् खुररजोभिः छुरिता व्याप्ताः स्रजो यस्य, सुहृदामस्माकं आशिषो मनोरथस्य दित्सया दातुमिच्छया देवक्या जठरे भवतीति तथा स एव उडुराजश्चन्द्रः निर्वृतिहेतुत्वेन, स एष एतीति ॥ २३ ॥

अतिसम्भ्रमेण काश्चित् समीपं आयान्तं कथयन्ति — **मदेति**। ईषन्मदेन विघूर्णिते विह्वलिते लोचने यस्य सः, बदरपाण्डुवदनः ईषत्पक्वबदरवत् पाण्डुरं वदनं यस्य सः, अत्र हेतुः, कनककुण्डलयोः लक्ष्म्या कान्त्या मृदू कोमलौ गण्डौ यस्मिन् तद्वदनं मण्डयन्[5] कोमलं[6] गण्डस्थलं वा शोभयन्निति ॥ २४ ॥

**यदुपतिरिति**। यदुपतिरिति देवकी जठरभूरिति च। "प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवाऽऽत्मजः"। (भाग 10-26-17) इत्यादि गर्गवाक्यप्रसिद्ध्योक्तम्। यद्वा "सख उदेयिवान् सात्त्वतां कुले" (भाग. 10-31-4) इति वत् ज्ञात्वा काश्चिद्वदन्तीति। गजेन्द्रस्येव गतिः चन्द्र इव प्रसन्नवदनः व्रजगवा मस्माकम्। अनन्तं दिनतापञ्च शमयन्[7] प्रणदन्नुपयाति एष समीपमायातीति॥ २५॥

**एवमिति**। एवं विरहदुःखेनापि[8], नु अहो, कृष्णलीला एव गायतीः गायन्त्यः, तस्मिन् चित्तं चेतना जीवितं यासां ताः, तस्मिन्नेव मनः सङ्कल्पविकल्परूपं यासां ताः, अत एव महानुदयः उत्सवो यासां ताः, अहस्स्वपि रेमिरे॥ २६॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

1- -1. P,V omit 2- -2. P,V omit 3. P,V omit सायं 4. P,V omit अर्थः 5. J,Va add इति 6. J,Va °लग° 7. J,Va omit प्रणदन् 8. J,Va omit विकल्प

**वीर०** मन्दवायुरित्यस्य तु तदेत्यादिः। तदा मन्दवायुः मलयजस्येव सुरभिश्शीतश्च स्पर्शस्तेन कृष्णं सम्मानयन् अनुकूलं यथा भवति तथा उपवाति वीजयति। यद्वा, मलयजो[1-] दक्षिणो वायुः[-1]। यद्वा, मलयजस्य कृष्णेनानुलिप्तस्य स्पर्शेन मानयन्निति वा। किञ्च ये वन्दिनः स्तावकाः उपदेवगणाः सिद्धविद्याधरादयः ते वाद्यगीतपुष्पवर्षादिभिः तं कृष्णं परिवव्रुः परित उपासत ॥ २१ ॥

अथाऽऽयान्तमवलोक्य हृष्यन्त्यः परस्परमूचुः **वत्सल** इति। व्रजस्य गवां च वत्सलः यद्वा, व्रजनिबद्धानां गवां अनुकम्प्यानाम्, अस्माकं च वत्सलो हितकृत्। कुतः? यत् यस्मात् अगध्रः अगं गोवर्धनं धरति तथा। इदं बहुशो रक्षणस्य उपलक्षणम्। वृद्धैः ब्रह्मादिभिः पथि वन्द्यमानौ चरणौ यस्य सः। दिनान्ते सायङ्काले कृत्स्नं गोधनं उपोह्य एकीकृत्य गीतयुक्तो वेणुर्यस्य सः, अनुजैः अनुचरैः ईडिता कीर्तिर्यस्य सः, स्मररुजा स्मररोगेण अस्ताः नष्टप्रायाः दृशो दृष्ट्यो, यासां तासामस्माकं, नेत्राणाम् उत्सवं हर्षमुन्नयन् उच्चैः प्रापयन् खुररजोभिः व्याप्ताः स्रजो यस्य सः, सुहृदामस्माकं आशिषः मनोरथस्य दित्सया दातुमिच्छया, देवक्याः जठरे भवतीति देवकीजठरभूः स एष उडुराज श्चन्द्र एव एति आगच्छति, निर्वृतिहेतुत्वेन स एष एवेत्युक्तम् ॥ २२, २३ ॥

काश्चिदिति सम्भ्रमेण समीपमायान्तं बलरामं कथयन्ति **मदविघूर्णितलोचन** इति। ईषत् मदेन वारुणीमदेन विघूर्णिते लोचने यस्य सः स्वसुहृदां मानदः ईषत्पक्वबदरवत् पाण्डु वदनं यस्य सः, अत्र हेतुः कनककुण्डलयोः लक्ष्म्या मृदुगण्डौ यस्मिन्। तद्वदनं मण्डयन् कोमलं गण्डस्थलं मण्डयन्निति वा, द्विरदराजस्य ऐरावतस्येव विहारो यस्य सः, बलभद्रस्य श्वेतवर्णत्वात्। दिनान्ते चन्द्र इव मुदितं प्रसन्नं वक्त्रं यस्य सः, व्रजभुवां अस्मदादीनां दुरन्तमपारं दिने स्वविश्लेषजं तापं मोचयन् त्याजयन् उपयाति एष समीपमायाति। यद्वा इदं श्लोकद्वयं कृष्णपरमेव योज्यम्। तदा मदेन मन्मथेन विघूर्णिते लोचने यस्य सः। द्विरदराजविहारो गजेन्द्रगतिः ॥ २४, २५ ॥

उपसंहरति शुकः — हे राजन्! इत्थं कृष्णस्य लीला अनुगायन्त्यो गोप्यः अहस्स्वपि तस्मिन् चित्तं चेतना जीवितं यासां तस्मिन्नेव मनः सङ्कल्पविकल्परूपं यासां ताः। अत एव महानुदय उत्सवो यासां तथाभूताः रेमिरे॥ २६॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

1- -1. T omits.

**विज०** तदा मलयजस्पर्शेन चन्दनगन्धदानेन कृष्णं मानयन् वायुर्यथानुकूलो भवति तथा मन्दं मन्दं उपवाति वीजयतीत्यन्वयः। किञ्च तदा ये उपदेवगणाः देवसमीपे वर्तमानाः गन्धर्वाः वन्दिनो वन्दमानाः, यद्वा मङ्गलपाठकाश्च वाद्येन गीतेन बलिना उपहारेण च तं कृष्णं परिवव्रुः ॥ २१ ॥

किञ्चिदुत्पन्नोपयोग[1-] ज्ञानं[-1] वदन्ति **वत्सल** इति। व्रजगवां विषये वत्सलः गोष्ठगोषु स्निग्धतमः अगाधः गम्भीरः अन्याऽविज्ञातमहिमा पथि ज्ञानादिवृद्धै र्वन्द्यमानचरणः स्तूयमानपादन्यासः दिनान्ते सन्ध्यायां आसन्नायां कृत्स्नं गोधनं समस्तपशुलक्षणं धनमपोह्य व्यावर्त्य गीतवेणुः गातुमुपक्रान्तवेणुः अनुगैः वयस्यैः उद्धृता मणिपङ्क्तादुद्धृत्येव प्रकाशिता कीर्तिर्यस्य स तथा ॥ २२ ॥

वनपरिभ्रमणोत्पन्नं श्रममपोह्य निरस्य स्वद्रष्टृणां दृशीनां उत्सवं सुखोत्सवं उद्वहन् खुररजश्छुरितस्रक् गोखुरसमुत्पन्नधूल्या मिश्रिता माला यस्य स तथा। देवक्या जठरमेव भूः व्यक्तिस्थानं यस्य स तथा। उडुराजश्चन्द्रइव, लुप्तोपमेयं, स यद्यदा व्रजमेति तथा एष कृष्णः सुहृदां अनिमित्तबन्धूनां आशिषः इष्टफलानि दित्सया दातुमिच्छयैवेति इत्यन्वयः। चन्द्रोऽपि व्रजगवां अध्वपशूनां पथिकानां वत्सं वर्षं सामर्थ्यात् कामोद्रेकं लाति रातीति वत्सलः, "वत्सो ना कुटजे वर्षे" (वैज.को.6-5-73) इति यादवः। "गोष्ठाध्वनिवहा व्रजाः" (वैज. को. 6-1-54) इति च। अगस्य उदयपर्वतस्य अधः शृङ्गे वर्तमानः उदयस्याधित्यकाशृङ्गं चन्द्रमार्गादूर्ध्वमिति ज्यौतिषिकाः सङ्गिरन्ते। वृद्धैः सप्तर्षिभिः पथि व्योममार्गे दिनान्ते रात्रौ कृत्स्नगोधनं समस्तकलासमेधितचन्द्रिकाख्यधनमपोह्य परिपूर्य गीतवेणुः कविभिः वर्णितस्ववंशः अनुगैः अश्विन्यादिनक्षत्रैः उद्धृतकीर्तिः राश्युपरिकृतगणनः रविकिरणसंसर्गसमुत्पन्नश्रमं निर्धूय, उत्सव मित्युभयत्र समम्। जननसमये क्षीराब्धितीरवालुकासु नववीथिषु विक्रमं कुर्वतः उच्चैःश्रवसः खुररजश्छुरितस्रक् चन्द्रोपि॥ २३ ॥

श्रीकृष्णं प्रशस्य बलभद्रप्रशंसया उपसंहरति **मदविघूर्णितेति**। वारुणीपानोत्पन्नमदेन ईषत् विघूर्णितलोचनः विभ्रान्तनेत्रः अन्यत्र घूर्णप्रकाशः। 'लुच प्रकाशे' इति धातुः। चन्द्रः कीदृशः? स्त्रीणां मानदः अभिमानखण्डनः। 'दो अवखण्डने' इति धातुः। वनानां भासां कान्तीनां मालाऽस्यास्तीति वनमाली। बदरश्चन्द्रः तद्वत्पण्डु सुन्दरं वदनं यस्य स तथा। "मानवो बदरः सिन्धुः शशिनस्तु त्रिनामकम्" (स्कान्दे) इति वचनात्। बदरफलवत् रागोपेतं वदनमित्यर्थो न शोभते, पाण्डुशब्दो व्यर्थस्स्यात्। बदरो बृहस्पतिः, पाण्डुः शुक्रः तयोर्वदनमिव वदनं यस्य स तथा चन्द्रः, कनककुण्डललक्ष्म्या मृदु गण्डं मण्डयन् अलङ्कुर्वन् इत्युभयत्र समम् ॥ २४ ॥

दुरन्तं व्रजगवां दिनतापं मोचयन् इत्यपि समम्। द्विरदराजवद् विहारो गमनक्रीडा यस्य स तथा। इदमपि पुरुषलक्षणं समम्। एवंविध एष यदुपतिः बलभद्रः यामिनीपतिश्चन्द्रइव दिनान्ते सायन्तनसमये उदयपर्वतशिखरं व्रजमुपयातीत्यन्वयः। उपयातीति लटा गोपस्त्रीणामेवं नित्यमनुस्मरणं, न कादाचित्कमिति सूचयति ॥ २५ ॥

एवंविधाः कृष्णलीला अनुगायतीः अनुगायन्त्यः अल्लोपश्छान्दसो, वृत्तभङ्गभयात् वा कृतः।यद्वा, एवं वेणुं विकल्प्य। "नु पृच्छायां विकल्पे च" (अम.को. 3-402) इत्यमरः। महानुदयः सम्पत् यासां ताः महोदयाः ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
टीकायां पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

(विजयध्वजरीत्या त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

---

1- -1. M °पमेयज्ञानाः 2- -2. Ma कुर्वन्तं उच्चैश्श्रवसम् ॥ २३ ॥ 3. Ma omits श्रीकृष्णं

# षट्त्रिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या चतुस्त्रिंशोऽध्यायः)

-: वृषभासुरवध घट्टः :-

श्रीशुक उवाच

अथ तद्गोगतो गोष्ठमरिष्टो वृषभासुरः।
महीं महाककुत्कायः कम्पयन् खुरविक्षताम् ॥ १ ॥

रम्भमाणः[1] खरतरं पदा च[2] विलिखन्महीम्।
उद्यम्य पुच्छं वप्राणि[3] विषाणाग्रेण चोद्धरन्[4] ॥

किञ्चित्किञ्चिच्छकृन्मुञ्चन्[5-] मूत्रयन्[-5] स्तब्धलोचनः ॥ २ ॥

यस्य निर्ह्रादितेनाङ्ग! निष्ठुरेण गवां नृणाम्।
पतन्त्याकालिका[6-] गर्भाः[-6] स्रवन्ति स्म भयेन वै ॥ ३ ॥

निविशन्ति[7] घना यस्य ककुद्यचलशङ्कया।
तं तीक्ष्णशृङ्गमुद्वीक्ष्य गोप्यो गोपाश्च तत्रसुः ॥ ४ ॥

पशवो दुद्रुवुर्भीताः[8-] राजन् सन्त्यज्य[-8] गोकुलम्।
कृष्ण कृष्णेति ते सर्वे गोविन्दं शरणं ययुः ॥ ५ ॥

1. M,Ma ख° 2. P,V °भ्यां 3. M,Ma अग्राणि 4. P,V चोत्क्षिपन् 5- -5. P,V °न्मूत्रमुत्सृजन् 6- -6. G,J,M,Ma,P,V °न्त्यकालतो 7. G,J,K,M,Ma,P,V निर्वि० 8- -8. P,V °वू राजन् सन्त्यज्य निज°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

षट्त्रिंशे निहतेऽरिष्टे[1] नारदोक्त्या बलाच्युतौ। वसुदेवसुतौ ज्ञात्वा कंसोऽक्रूरं समादिशत्॥

गोपीरासान्तरायान्तं शङ्खचूडं निहत्य सः। अहन् गोपी महानन्दाऽसहं दुष्टमरिष्टकम्॥

**अथेति**। एवं देवगन्धर्वादिः नृत्यगीतवाद्यकुसुमवर्षादिभिः कृष्णं प्राप्तं दृष्ट्वा व्रजस्य परमोत्सवे वर्तमाने तद्विरुद्धार्थान्तराधिकारार्थं अथशब्दः। तर्हि तदा वृषभाकृतिरसुरः, तं वर्णयति महीमित्यादि सार्धत्रयेण। महान्तौ ककुत्कायौ यस्य सः, खुरैः विक्षतां[2-] विदारितां[-2] महीं[3] कम्पयन् ॥ १ ॥

**रम्भमाण** इति। रम्भमाणः वृषभजातिशब्दं कुर्वन् विलिखन् विदारयन् उद्यम्य ऊर्ध्वं कृत्वा वप्राणि तटानि, उत्क्षिपन्, किञ्चिदिति। किञ्चित्किञ्चित् शकृत् मध्ये मध्ये ईषदीषत् पुरीषं मुञ्चन्। तथा मूत्रयन् मूत्रमुत्सृजन् स्तब्धलोचनः अनिमिषलोचनः ॥ २ ॥

**यस्येति**॥ यस्य ध्वनिना, गवां नारीणां च। तत्र "आचतुर्थाद्भवेत्स्रावः, पातः पञ्चमषष्ठयोः, अत ऊर्ध्वं प्रसूतिरस्यात्" इति विभागः ॥ ३ ॥

**निर्विशन्तीति**। ककुदि गलपृष्ठशृङ्गे ॥ ४ ॥

**पशव** इति। कृष्णेति। कृष्ण कृष्ण रक्षेति आधावन्तः ॥ ५ ॥

---

1. J,V तु 2- -2. J,Va omit 3. P,V omit वि 4. P,V omit मूत्रयन् 5- -5. V omits 6- -6. P,V ध्वनीनाकर्ण्य 7- -7. J,Va omit.

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ वृषभासुरवधात्मकं भगवतः कर्म अनुवर्णयन् नारदमुखात् तदा श्रुतवतः कंसस्य भगवद्धननोद्योगमनुवर्णयति षट्त्रिंशेन **अथेत्यादिना**। इत्थं श्रीकृष्णेन व्रजे हर्ष्यमाणे सति तर्हि अथ अरिष्टाख्यो वृषभासुरो गोष्ठं प्रत्यागतः। तं वर्णयति सार्धत्रयेण महीमित्यादिना। महान्तौ ककुत्कायौ यस्य सः, खुरैः नितरां क्षतां विदारितां महीं कम्पयन् ॥ १ ॥

खरतरं यथा तथा रम्भमाणः वृषभजातिशब्दं कुर्वन्, पदा महीं विलिखंश्च, पुच्छमुद्यम्य उन्नमय्य, शृङ्गाग्रेण वप्राणि उन्नतस्थलानि उद्धरन् उत्क्षिपन् मध्ये मध्ये किञ्चित्किञ्चित् शकृत्पुरीषं मुञ्चन् मूत्रं मुञ्चन् स्तब्धे अनिमिषे लोचने यस्य सः ॥ २ ॥

अङ्ग! हे राजन्! यस्याऽरिष्टस्य निष्ठुरेण कठिनेन निर्ह्रादेन गवां नारीणां च गर्भा आकालिकाः अप्राप्तप्रसवकाला अपि भयेन पतन्ति स्रवन्ति च। "आचतुर्थाद्भवेत्स्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः। अत ऊर्ध्वन्तु नारीणां प्रसवः परिकीर्तितः"॥ ३॥

यस्य अरिष्टस्य ककुदि गलपृष्ठे अचलशङ्कया पर्वतशृङ्गभ्रान्त्या मेघा निर्विशन्ति विपुलककुद्मान् इत्यर्थः। तीक्ष्णशृङ्गं तं अरिष्ट मवलोक्य गोप्यो गोपाश्च तत्रसुः अभिभयुः ॥ ४ ॥

हे राजन्! पशवस्तु भीताः गोकुलं सन्त्यज्य दुद्रुवुः। ते गोपा गोप्यश्च कृष्ण कृष्णेति वदन्तस्तं शरणं रक्षितारं प्रापुः ॥ ५ ॥

1. K °दस्य मु° 2- -2. T,W omit 3. K °दितेन 4. K. निर्वि° 5- -5. T,W omit.

# श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अरिष्टनामासुरहननलक्षणं विक्रमं देवकार्यसिद्धिकामुकेन नारदेनोद्बोधितस्य असुरजातेः कंसस्य सज्जनोपद्रवोद्योगं च कथयत्यस्मिन्नध्याये। अथ शङ्खचूडवधानन्तरं दैत्यान्तरनिग्रहलक्षणकथाऽऽरभ्यते। शङ्खचूडं निहत्य यदा गोपस्त्रीभिः सह व्रजमागतः श्रीकृष्णस्तर्हि तदा वृषभासुरः वृषभाकारो दैत्यः महान्तौ ककुत् कायश्च यस्य स तथा ॥ १ ॥

रवमाणः रवं कुर्वाणः शकृद्गोमयं, स्तब्धे स्थूणीकृते अतिस्थिरे लोचने यस्य स तथा निर्ह्रादितेन गर्जितेन॥ २॥

मासत्रयादर्वाक् गर्भस्रावः ततः आसप्तमात्पतनं ततः प्रसवः, नृणां मनुष्यस्त्रीणाम् ॥ ३ ॥

अचलशङ्कया पर्वतशङ्कया, तत्रसुः त्रस्ताः भीताः आसन् ॥ ४,५ ॥

**भगवानथ[1] तद्वीक्ष्य गोकुलं भयविह्वलम्[2]।**
**मा भैष्टेति गिराऽऽश्वास्य वृषासुरमुपाह्वयत् ॥ ६ ॥**

**स[3]बालैः पशुभिर्मन्द त्रासितैः किमसत्तम।**
**बलदर्पहाऽहं दुष्टानां त्वद्विधानां दुरात्मनाम् ॥ ७ ॥**

**इत्याऽऽस्फोट्याऽच्युतोऽरिष्टं तलशब्देन कोपयन्।**
**सख्युरंसे भुजाभोगं प्रसार्याऽवस्थितो हरिः ॥ ८ ॥**

**सोऽप्येवं कोपि[4]तोऽरिष्टः खुरेणावनिमुल्लिखन्।**
**उद्यत्पुच्छभ्रमन्मेघः क्रुद्धः कृष्णमुपाद्रवत् ॥ ९ ॥**

**अग्रन्यस्तविषाणाग्रः स्तब्धासृग्लोचनोऽच्युतम्।**
**कटाक्षिप्याद्रवत्तूर्णमिन्द्रमुक्तोऽशनिर्यथा ॥ १० ॥**

1. G,J,K,T,W °पि 2. G,J,M,Ma विद्रुतम् 3. G,J, गोपालैः; M,Ma सपालैः 4. P,V कु° 5. M कटचा०

श्रीध० इतीति[1]। इत्येवं वदन्। आस्फोट्य करतलेन बाहुमाहत्य तेन तलशब्देन कोपयन् भुजाभोगं भुजा भुजः सैव भोगः सर्पदेहः[2-] तं[-2] सर्पदेहाकारं भुजमित्यर्थः स्वयमच्युतः अन्यान् दुष्टान्, हरतीति हरिः ॥ ६-८ ॥

स इति। उद्यता ऊर्ध्वं गच्छता पुच्छेन भ्रमन्तो मेघा यस्मात्[3-]सः[-3] ॥ ९ ॥

अग्रेति। अग्रे न्यस्ते विषाणाग्रे येन सः। स्तब्धे असृक्तुल्ये लोचने यस्य सः। कटाक्षिप्य[4-] कटाक्षेण[-4] तिर्यक् निरीक्ष्य ॥ १० ॥

1. P,V omit इतीति 2- -2. J,Va यस्मिन् 3- -3. P,V omit 4- -4. P,V omit.

**वीर०** अथ भगवान् भयेन विह्वलं तद्गोकुलं अवलोक्य, मा भैष्ट भयं मा कार्ष्टेति गिरा आश्वास्य, सान्त्वयित्वा वृषासुरमुपाह्वयत् आजुहाव ॥ ६ ॥

आह्वानप्रकारमेवाह - **सबालैरिति**। हे मन्द! सबालैः सवत्सैः पशुभिः किं? तेभ्यो भयजननेन तव किं प्रयोजनमित्यर्थः। हे असत्तम! त्वद्विधानां दुरात्मनां बलं दर्पं च हन्तीति[1] तथाभूतोऽहमवस्थितः ॥ ७ ॥

इतीत्थमाह्वयन् आश्रितार्तिहरः आश्रितान् न च्यावयते न त्यजतीत्यच्युतः। आस्फोट्य करतलेन बाहुमाहत्य तलशब्देन अरिष्टं कोपयन् कोपयुक्तं कुर्वन् सख्युरंसे स्कन्धे (भुजा) भुज एव भोगः सर्पदेहस्तं प्रसार्याऽवस्थितः ॥ ८ ॥

ततस्सोऽरिष्टोऽपीत्थं कुपितः खुरेण भूमिमुत्क्षिपन् उद्यता ऊर्ध्वं गच्छता पुच्छेन भ्रमन्तो मेघा यस्य सः, क्रुद्धस्सन् कृष्णमुपाद्रवत् ॥ ९ ॥

तदेवाह - अग्रे न्यस्ते विषाणाग्रे येन स्तब्धे असृग्लोचने[3-] रक्तनेत्रे[-3] यस्य, सोऽपि कृष्णं कटाक्षिप्य कटाक्षेण तिर्यङ् निरीक्ष्य यथेन्द्रेण मुक्तोऽशनिः वज्रः[2] तद्वत् तूर्णं माद्रवत् समीपमागात् ॥ १० ॥

1. T,W हरतीति 2. T,W omit वज्रः 3- -3 T,W omit.

**विज०** हे मन्द! निर्भाग्य! ॥ ६,७ ॥

भुजाभोगं आभोगभुजं पुष्टवृत्तभुजम्[1] ॥ ८ ॥

उद्यति पुच्छे भ्रमन्तो मेघा यस्य स तथा ॥ ९ ॥

स्तब्धे निश्चले असृक् रुधिरमिव रक्ते लोचने यस्य स तथा, कट्याक्षिप्य कटी स्फिजौ आक्षिप्य निक्षिप्य प्रदर्श्येत्यन्वयः। कटाक्षित्वेति पाठे कटाक्षेण निरीक्ष्येत्यर्थः, अशनिः वज्रम् ॥ १० ॥

1. M भूतम्

**गृहीत्वा शृङ्गयोस्तं[1-] वा[-1] हत्वष्टादशपदानि सः।**
**प्रत्यपोवाह भगवान् गजः प्रतिगजं यथा ॥ ११ ॥**

सोऽपविद्धो भगवता पुनरुत्थाय सत्वरम्[3]।
आपतत्स्विन्नसर्वाङ्गो[4] निश्वसन् क्रोधमूर्च्छितः ॥ १२ ॥

तमापतन्तं स निगृह्य शृङ्गयोः पदा समाक्रम्य निपात्य भूतले।
निष्पीडयामास यथाऽऽर्द्रमम्बरं कृत्त्वा विषाणेन जघान सोऽपतत् ॥ १३ ॥

असृग्वमन् मूत्रशकृत्समुत्सृजन् क्षिपंश्च पादाननवस्थितेक्षणः[5-5]।
जगाम कृच्छ्रं निर्ऋतेरथ क्षयं पुष्पैः किरन्तो हरिमीडिरे सुराः ॥ १४ ॥

॥ नारदबोधितेन कंसेन रामकृष्णाह्वानाय अक्रूरप्रेषणघट्टः ॥

एवं ककुद्मिनं हत्वा स्तूयमानस्स्वजातिभिः।
विवेश गोष्ठं[6-6] सबलो गोपीनां नयनोत्सवः ॥ १५ ॥

1- -1. T,W °स्तस्य 2. G,J,M,Ma,P,V अ° 3. G,J,K,M,Ma °रः। 4. K आद्रव°; T,W आद्रव° 5- -5. M,Ma °ननिमीलिते° 6- -6. M,Ma भगवान् गोष्ठं

**श्रीध० गृहीत्वेति**। प्रत्यपोवाह प्रतिलोमं व्यनुदत् ॥ ११ ॥

**स** इति। अपविद्धः अपक्षिप्तः आपतत् आद्रवत्।[1] स्विन्नानि स्वेदयुक्तानि सर्वाणि अङ्गानि यस्य सः, क्रोधमूर्च्छितः क्रोधेन व्याप्तः ॥ १२ ॥

**तमिति**। कृत्त्वा विषाणमुत्पाट्य तेनैव जघान, स च अपतत् ॥ १३ ॥

**असृगिति**। मूत्रशकृत् मूत्रं च शकृच्च एकवद्भावः तदुभयं समुत्सृजन् इत्यर्थः। पादान् क्षिपन् इतस्ततश्चालयन्। अनवस्थितेक्षणः प्रचलितनेत्रः कृच्छ्रं कष्टं जगाम। अथ निर्ऋतेः मृत्योः क्षयं निवासं जगाम, कृच्छ्रं यथा भवति तथा मृत इति वा ॥ १४ ॥

**एवमिति**। नयनोत्सवः नयनानां मूर्तिमान् उत्सवः ॥ १५ ॥

1. P,V add आ ईषत्

**वीर०** तदा सोऽच्युतः अरिष्टं शृङ्गयोः गृहीत्वा अष्टादशपदानि प्रत्यपोवाह प्रत्यगमयत् यथा गजः प्रतिगजं तद्वत् ॥ ११ ॥

[1]ततः सोऽरिष्टः भगवता अपविद्धः अवक्षिप्तः प्रतिगमनेन पातितः पुनरुत्थाय सत्वरः स्विन्नानि प्रस्वेदयुक्तानि सर्वाण्यङ्गानि [2-]करचरणादीनि[-2] यस्य सः। क्रोधेन मूर्च्छितः परवशः निश्वसन् श्वासं मुञ्चन् [3]अपि पुनराद्रवत् [4-]कृष्णं प्रत्याद्रवत्[-4]॥ १२॥

स भगवान् पुनरापतन्तं अरिष्टं शृङ्गयोः गृहीत्वा स्वचरणेन समाक्रम्य अवष्टभ्य भूतले निपात्य यथा आर्द्रमम्बरं वस्त्रं तद्वत्[5] निष्पीडयामास। ततः कृत्वा 'कृती छेदने' उत्पाट्य, विषाणमिति शेषः। तेन विषाणेन जघान ताडयामास। स च ताडितोऽरिष्टः अपतत् ॥ १३ ॥

मूत्रं शकृच्च तयोः समाहारः। तदुत्सृजन् असृग् रुधिरं वमन् उद्गिरन् पादान् क्षिपन्नितस्ततश्चालयन् अनवस्थितेक्षणः प्रचलितनेत्रः, कृच्छ्रं कष्टं प्राणोत्क्रमणात्मकं जगाम। अथ निर्ऋते मृत्योः क्षयं निवासं जगाम। ततस्सुरा अपि पुष्पैः किरन्तो हरिं तुष्टुवुः ॥ १४ ॥

इत्थं ककुद्मिन्नं अरिष्टं हत्वा भगवान् स्वजातिभिः गोपैः स्तूयमानः गोपानां नयनानां मूर्तिमान् उत्सवः सरामो गोष्ठं विवेश ॥ १५ ॥

1. T,W omit ततः 2- -2. T,W omit 3. T,W omit अपि 4- -4. T,W omit 5. T,W add निपीड्य

**विज०** प्रत्यपोवाह प्रत्यपातयत्। अभ्याकृष्य पृष्ठतोऽपनीतवानित्यर्थः, तिर्यङ् नीतवान् वा ॥ ११, १२ ॥

अम्बरं वस्त्रं कृत्त्वा उत्कृत्य, विषाणमिति शेषः, तेन विषाणेन ॥ १३ ॥

मूत्रशकृती अनिमीलितेक्षणः विवृतनेत्रः निर्गता ऋतिर्यस्मात्स तथा निर्ऋतिर्यमः तस्य क्षयं गृहं यमलोकमित्यर्थः॥ १४

ककुद्मिन्नं वृषासुरं स्वजातिभिः गोपै र्देवै र्वा ॥ १५ ॥

**अरिष्टे निहते [1]गोष्ठे कृष्णेनाद्भुतकर्मणा।**
**कंसाय [2-]प्राह[-2] भगवान् नारदो देवदर्शनः ॥ १६ ॥**

**यशोदायास्सुतां कन्यां देवक्याः कृष्णमेव च।**
**रामं च रोहिणीपुत्त्रं वसुदेवेन बिभ्यता।**
**न्यस्तौ स्वमित्त्रे [3-]नन्दे[-3] वै याभ्यां ते पुरुषा हताः ॥ १७ ॥**

**निशम्य [4]तद्भोजपतिः कोपात्प्रचलितेन्द्रियः।**
**निशातमसिमादत्त वसुदेवजिघांसया ॥ १८ ॥**

निवारितो नारदेन तत्सुतौ मृत्युमात्मनः[5]।
ज्ञात्वा लोहमयैः पाशैः बबन्ध सह भार्यया ॥ १९ ॥

प्रतियाते तु देवर्षौ कंस आहूय[6] केशिनम्।
प्रेषयामास हन्येतां भवता रामकेशवौ[7] ॥ २० ॥

1. G,J दैत्ये 2- -2. G,J,T,W °याऽथाह 3- -3. K,T,W नन्देऽस्मिन् 4. K,T,W °म्यैत° 5. K,T,W हन्तु° 6. G,J आभाष्य ; M,Ma आशास्य 7. P,V माधवौ

**श्रीध०** ★ कामं व्रजे वसन्तं तं कृष्णं तेन तु विस्मृतम्। नारदः स्मारयामास कंसं दूतगिरेव तु॥ तदाह - **अरिष्ट** इति। देवदर्शनः देवर्षिः, यद्वा एवं कथिते[1-1] एवं भविष्यतीति साक्षात् देवदर्शनं[2] यस्य सः ॥ १६ ॥

आप्तेनैव नारदेनोक्तमाह - **यशोदाया** इति। देवक्या अष्टमगर्भत्वेन प्रसिद्धां कन्यां यशोदायाः सुतामाह- यशोदायाः सुतत्वेन प्रसिद्धं कृष्णं च देवक्याः सुतमाह; रोहिणीपुत्रं रामं च देवक्याः सप्तमं सुतमाह। यद्वा नन्दसुतत्वेन प्रसिद्धं रामं च वसुदेवभार्यायाः रोहिण्याः पुत्रमाह - तौ वसुदेवसुतौ चेत् कथं व्रजं गतौ तत्राऽऽह - वसुदेवेनेति ॥ १७॥

[3-]**निशम्येति**। तत् नारदोक्तं वाक्यं, निशातं तीक्ष्णं असिं चन्द्रहासम्[-3] ॥ १८ ॥

**निवारित** इति। हते वसुदेवे तौ पलायेतां अतो[4-] न वध्यतामपि तु[-4] बध्यतामिति मन्त्रं वदता नारदेन निवारित इति ॥ १९,२० ॥

★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः 1- -1. P एवं कृते ; V कृते 2. P,V देवद° 3- -3. It is not found in J & Va Edns. 4- -4. J,Va omit.

**वीर०** इत्थं गोष्ठे अद्भुतकर्मणा कृष्णेनाऽरिष्टे हते सति देवदर्शनो देवर्षिः नारदः यद्वा एवं कथिते एवं भविष्यतीति साक्षाद्देवचेष्टिताभिज्ञः कंसालयं गतस्तं प्राह ॥ १६ ॥

किमाहेत्यत्राह - **यशोदाया** इति। देवक्याः कन्यां अष्टमगर्भत्वेन प्रसिद्धां यशोदायास्सुतामाह। तथा यशोदायाः पुत्रत्वेन प्रसिद्धं कृष्णं देवक्या अष्टमं गर्भमाह। तथा रोहिणीपुत्रत्वेन प्रसिद्धं रामं च देवक्याः सप्तमं गर्भमाहेति सम्बन्धः। देवकीसुतौ चेत् कथं व्रजं गतौ, तत्राऽऽह - वसुदेवेन त्वत्तः[1] बिभ्यता स्वमित्रे नन्दे न्यस्तौ न्यासरूपेण निहितौ। याभ्यां रामकृष्णाभ्यां तव पुरुषा भृत्या अरिष्टादयो हताः। वसुदेवे हते तु तौ पलायेताम्। अतस्स न वध्य इत्यर्थतोऽत्र द्रष्टव्यम् ॥ १७ ॥

तन्नारदोक्तं निशम्याऽऽकर्ण्य भोजपतिः कंसः कोपात् प्रचलितानि इन्द्रियाणि यस्य सः, वसुदेवं हन्तुमिच्छया तीक्ष्णं खड्गा माददे ॥ १८ ॥

ततो नारदेन निवारितः तस्य वसुदेवस्य सुतमेवाऽऽत्मनः स्वस्य मृत्युं हन्तारं ज्ञात्वा, नारदोपदेशादिति शेषः। लोहमयैः पाशैः भार्यया देवक्या सह वसुदेवं बबन्ध ॥ १९ ॥

ततो नारदे गते सति कंसः केशिनं नाम राक्षसम्[2] आहूय प्रेषयामास। किमिति ? भवता रामकेशवौ हन्येतामिति ॥ २० ॥

1. T,W कंसात् 2. K दैत्यम्

**विज०** देवो नारायणः तद्विषयं दर्शनं ज्ञानं यस्य स तथा, यद्वा देवं दर्शयति इति। यद्वा देवानामिव दर्शनं यस्य अतीन्द्रियत्वात् स तथा। देवानां यद्दर्शनं मतं तदेव यस्य दर्शनं स तथेति वा, यथा कंसहननं शीघ्रतमं स्यात् तथाऽऽहेति द्योतनार्थः, प्रेत्युपसर्गः। अनेन देवकार्यमेव नारदेन साध्यते नत्वसुरकार्यमिति ज्ञायते ॥ १६ ॥

किमाहेति, तत्राह - **यशोदाया** इति। कन्यां दुर्गां यशोदायाः सुतां, कृष्णं देवक्याः पुत्रं, रामं बलभद्रं रोहिणीपुत्त्रमाह। वसुदेवेन तौ किं कृतावत्तत्राह - बिभ्यता, त्वदिति शेषः ॥ १७ ॥

स्वस्य मित्रे विश्वसनीये सुहृदि, याभ्यां कृष्णरामाभ्यां, ते तव पुरुषाः नियोगकारिणः ॥१८ ॥

निशातं निशितं तेजितमित्यर्थः ॥ १९ ॥

आशास्य सम्यक् शिक्षित्वा भवता मद्भृत्येषु पूज्येन ॥ २० ॥

**ततो मुष्टिकचाणूरच्छलतोसलकादिकान्[1]।[2]**
**अमात्यान् हस्तिपांश्चैव समाहूयाऽऽह भोजराट् ॥ २१ ॥**

**भो भो निशम्यतामेतद्वीरचाणूर[3-]! मुष्टिक[-3]!।**
**नन्दव्रजे किलाऽऽसाते सुतावानकदुन्दुभेः ॥ २२ ॥**

**रामकृष्णौ तु[4] तौ मह्यं मृत्यू[5-] काल[-5]निदर्शितौ[6]।**
**भवद्भ्यामिह संप्राप्तौ हन्येतां मल्ललीलया ॥ २३ ॥**

**मञ्चाः क्रियन्तां विविधा मल्लरङ्गपरिश्रिताः।**
**पौरजानपदास्सर्वे[7] पश्यन्तु स्वैरसंयुगम् ॥ २४ ॥**

1. G,J,M,Ma श° 2. G,J,M,Ma श° 3- -3 G,J °चाणूरमुष्टिकौ। T,W °चाणूरमुष्टिकाः। 4. G,J,P,V ततो; M,Ma सुतौ 5- -5. G,J मृत्युः किल; P,V मृत्यू किल 6. G,J °तः। 7. G,J °राः

**श्रीध० रामकृष्णाविति**। मह्यं मम निदर्शितौ धात्रा नारदेन वा, व्रजं गन्तुं उद्यतौ तावाह भवद्भ्यामिति॥ २१, २३॥

**मञ्चा** इति। मञ्चा उत्तुङ्गस्तम्भादिरचितस्थानानि ॥ २४-५६ ॥

**वीर०** ततो मुष्टिकादीन् अमात्यांश्च हस्तिपांश्च सामोक्त्या आहूयोवाच ॥ २१ ॥

उक्तिमेवाह - **भो भो** इत्यादिभिः पञ्चभिः। भो भो इति द्विर्वचनं प्रत्येकाभिप्रायकम्। वीरचाणूरेति कर्मधारयः। आनकदुन्दुभेः वसुदेवस्य सुतौ रामकृष्णौ नन्दव्रजे वर्तेते खलु ॥ २२ ॥

तौ तु मम मृत्यू हन्तारौ, कालेन दैवेन[1], निदर्शितौ ज्ञापितौ। अतः कथञ्चित् उपायेन इहाऽऽनीतौ भवद्भ्यां मल्लुलीलया हन्येतां[2] हन्तव्यौ ॥ २३ ॥

मञ्चा उत्तुङ्गस्तम्भादिरचितस्थानानि[3] क्रियन्ताम्। कथम्भूताः? मल्लरङ्गपरिश्रिताः मल्लयुद्धस्थानपर्यन्तस्थानविशिष्टाः। किमर्थं, तत्राऽऽह - पौराः पुरवासिनो, जानपदा देशवासिनश्च सर्वे मञ्चेषूपविश्य स्वैरं यथेष्टं संयुगं युद्धं पश्यन्तु ॥ २४॥

---

1. K दे° 2. T,W omit हन्येतां 3. T,W नाः

**विज०** मृत्यू मारकौ कालेन यमेन नितरां दर्शितौ ॥ २१-२३ ॥

मञ्चाः उत्तुङ्गस्तम्भादिरचितस्थानानि मल्लरङ्गस्य परितः सर्वासु दिक्षु श्रिताः स्थिताः स्वैरसंयुगं योधाकांक्षापूर्वकं युद्धम् ॥ २४ ॥

**★महामात्र निबोधेदं वचो मम महामते।**
**गजः कुवलयापीडः प्रभिन्नकरभामुखः[1] ॥ २५ ॥**

**संस्थाप्यो द्वारि रङ्गस्य करारोपितमुद्गरः।**
**तेन तौ तत्र हन्तव्यौ सुतावानकदुन्दुभेः ॥ २६ ॥**

**★अथ सोऽपि महामात्रः प्राह व्याकुलमानसः।**
**कथं मया निहन्तव्यं स्वस्रीयौ पृथिवीपतेः ॥ २७ ॥**

**महामात्रेणैवमुक्तः[2-] कंसस्तत्रैव दुर्मतिः[-2]।**
**उवाच भूयो वचनं समेतान् श्रावयन्नृपः[3-] ॥ २८ ॥**

## कंस उवाच

**शृणुध्व मेतद्वचनं मयोदितं निशम्य सर्वे[5] हृदि[6] धारयन्तु तत्।**
**येनाहमेतेष्वसुहृत्त्वमादितश्चरामि बन्धुष्वपि तत्र कारणम् ॥ २९ ॥**

**माता मम महाभागा कदाचित्कमलेक्षणा।**
**विचरन्ती[7] गृहोद्याने मन्दमारुतवीजिते ॥ ३० ॥**

★ 'महामात्र निबोधेदं' इति श्लोके नारब्धः 'महामात्र त्वया भद्र' इति श्लोकपर्यन्तः (31 श्लोकाः) ग्रन्थभागः G,J प्रकाशयोर्नास्ति। तथा उपरिनिर्दिष्टश्लोकानां श्रीधरीयव्याख्या नास्ति। 1. M,Ma करटा; P,V कटका * M,Ma Read this सोऽप्याकुलमतिः प्राह निहन्तव्यौ कथं मया। स्वस्रीयौ भोजराजस्य कंसस्य जगतीपतेः। 2- -2. M,Ma इत्युक्तस्तेन कंसस्तु महामात्रेण दुर्मतिः।; P,V इत्युक्त्वा तं महामात्रं कंसस्तत्रैव दुर्मतिः। 3- -3. M,Ma श्रावयन्नृप!; P,V ज्ञापयन्नृप! 4. M,Ma °र्वे 5. P,V यदि 6. K,M,Ma तस्य 7. M,Ma विचचार

**श्रीध०** 'महामात्र निबोधेद' मिति श्लोकेनारब्धस्य 'महामात्र त्वया भद्र' इति श्लोकपर्यन्तस्य ग्रन्थभागस्य श्रीधरीय व्याख्या न विद्यते।

**वीर०** हे महामात्र! हास्तिपक[1]! तस्यैव सम्बोधनम्। महामते! इति इदं वक्ष्यमाणं मम वचः शृणु। कुवलयापीडाख्यो द्विपो गजो रङ्गस्य युद्धस्थानस्य द्वारि संस्थाप्यः। कथम्भूतः? प्रभिन्ने विकसिताग्रे करे भाः कान्तिर्यस्य तन्मुखं यस्य, करे आरोपितो ग्राहितो मुद्गरो यस्य सः। तेन कुवलयापीडेन तावानकदुन्दुभेः सुतौ तत्रैव द्वार्येव हन्तव्यौ ॥२५-२६॥

अथ सः महामात्रः व्याकुलचित्तः प्राह -किमिति। पृथिवीपतेः भोजराजस्य कंसस्य तव भगिनीपुत्रौ रामकृष्णौ कथं मया हन्तव्याविति। अयोग्यतासूचनाय स्वस्रीयावित्याद्युक्तिः ॥ २७ ॥

तेन महामात्रेणेत्थमुक्तः स कंसो दुर्मतिः नृपः समुदितान् सर्वान् श्रावयन् पुनराह ॥ २८ ॥

कंसवचनमेवाह - "शृणुध्वमित्यादिना, भूतराजाय मीढुषे" इत्यन्तेन। एतद्वक्ष्यमाणं[2] वचनं शृणुध्वमिति श्रवणाभिमुख्य प्रार्थना। मयोदितमाकर्ण्य तत्सर्वे भवन्तो हृदि धारयन्त्विति श्रुतस्य चित्ते स्थिरीकरणप्रार्थना। किं तत्? इत्यपेक्षायां तावदात्मनो बन्धुषु विद्वेषकारणपरमितिहासं प्रतिजानीते येनेति। येन हेतुना अहं बन्धुषु असुहृत्त्वं विद्वेषमाश्रितः तेष्वेव चरामि तस्य विद्वेषपूर्वकचरणस्य कारणं ब्रवीमीति शेषः ॥ २९ ॥

तत्परमितिहासमाह - **मातेत्यादिना**। महाभागा सुन्दरी भाग्यशालिनी वा, मम माता महत्युद्याने वने कदाचिद्विचरन्ती बभूव। कथम्भूते वने? मन्देन मारुतेन वीजिते सञ्चलिते ॥ ३० ॥

1. T ह° 2. T,W omit वक्ष्यमाणं

**विज०** हे महामात्र! हस्तिप! कुवलयं भूमण्डलम् आपीडयतीति, कुवलयं कैरवं आपीडे शेखरे यस्य स तथेति, प्रभिन्नकरटामुखः मदस्राविगण्डमुखः ॥ २५ ॥

मुद्गरो लोहदण्डः ॥ २६ ॥

जगतीपतेः राजप्रधानलोकभर्तुः "जगती राजप्रधानलोकेऽपि" (हला.को. 5-8) इति हलायुधः ॥ २७-३० ॥

**प्रोत्फुल्लाशोकवकुलपूगपुन्नागशोभिते।**
**भ्रमद्भ्रमरसंघाते[1] कूजत्कोकिलसंयुते[2] ॥ ३१ ॥**

**नृत्यच्छिखण्डिनिवहे[3] मर्कटाटोपसुन्दरे।**
**वसन्तसमये रम्ये सालमण्डलमण्डिते ॥ ३२ ॥**

**चरन्ती तत्र मे माता चिन्तयामास सुव्रता।**
**भर्तारं कामसन्तप्ता ऋतुस्नाता स्वलङ्कृता ॥ ३३ ॥**

**तदैव कश्चिद्गन्धर्वो द्रमिलो[4] नाम नामतः।**
**चरन्नन्तर्हितः काले दृष्ट्वा तामेकचारिणीम् ॥ ३४ ॥**

**विज्ञाय चिन्तितं तस्यास्सर्वसत्त्वाशयार्थवित्[6]।**
**उग्रसेनवपुर्बिभ्रत्[7]सस्मितालापवीक्षितम्[8] ॥ ३५ ॥**

**तामाससाद कामार्तः[9] कामयानां[10] पतिव्रताम्।**
**अजानमाना साऽभ्येत्य रेमे तेन समं वने ॥ ३६ ॥**

1. P,V °त° 2. K,M,Ma सङ्कुले 3. K,T,W °ह° 4. M,Ma तत्रैव; P,V अत्रैव 5. P,V °डो 6. K,T,W त° 7. K,T,W औग्रसेनं 8. P,V °तः। 9. P,V °र्ता 10. P,V °नः

**वीर०** प्रोत्फुल्लैः अशोकादिभिः शोभिते[1] भ्रमतां भ्रमराणां सङ्घातः सङ्घो यस्मिन् कूजद्भिः कोकिलैः सङ्कुले[2] व्याप्ते ॥ ३१ ॥

नृत्यतां शिखण्डिनां मयूराणां निवहः सङ्घो यस्मिन्, मर्कटानां आटोपेन सम्भ्रमेण सुन्दरे वसन्तकालसहचरिते रम्ये सालानां वृक्षाणां मण्डलेन मण्डिते ॥ ३२ ॥

तत्रैवम्भूते महोद्याने[3] चरन्ती सुव्रता पतिव्रता ऋतुस्नाता स्वलङ्कृता च मम माता भर्तारं चिन्तयामास ॥ ३३ ॥

तदैव कश्चित् नाम्ना द्रमिल इति प्रसिद्धः गन्धर्वः इतरैरलक्ष्यमाणश्चरन् तां मम मातरमसहायचारिणीं दृष्ट्वा तस्याश्चिन्तितं विज्ञाय सर्वेषां तत्त्वतो अभिप्रेतमर्थं वेत्तीति तथाभूतः, हेतुगर्भमिदं, तत्त्वाद्विज्ञाय सस्मिते आलापवीक्षिते यस्य तत्, औग्रसेनं उग्रसेनसदृशं वपुः बिभ्राणः कामार्तः तां पतिव्रतां कामयानाम् इच्छानुरूपं वने चरन्तीम्, आससाद, सस्मितालापवीक्षितमिति क्रियाविशेषणं वा। सा त्वजानन्ती अभ्येत्य वने[4] तेन सह रेमे ॥ ३४-३६ ॥

1. T,W omit शोभिते 2. T,W omit सङ्कुले 3. K गृहे° 4. T,W omit वने

विज० सालानां सर्जानां मण्डलेन समूहेनाऽलङ्कृते ॥ ३१-३३ ॥

नाम प्रसिद्धः ॥ ३४ ॥

सर्वेषां सत्त्वानां प्राणिनां आशयार्थं अभिप्रेतार्थं वेत्तीति सर्वसत्त्वाशयार्थवित् ॥ ३५, ३६ ॥

सा तं विदित्वा रमणेतरं सती नितान्तखेदाविललोचनाशया।
उवाच कस्त्वं कितवाऽऽर्यगर्हितं दुरात्मना येन कृतं त्वयेदृशम् ॥ ३७ ॥

इति ब्रुवन्तीं परिसान्त्वयन् शनैः स दीर्घबाहुर्द्रमिलोऽभ्यभाषत[1]।
वयं हि गन्धर्वकुलोद्भवाः[2] प्रिये! गीर्वाणतुल्यामरवल्लभानुगाः ॥ ३८ ॥

भवादृशीनां मनुजाङ्गनानां[3] जानीहि भद्रे सुलभा वयं न च।
जराविनाशाद्यखिलाऽऽधिभागिनां[4] नृणां सुराणाम्महदन्तरं शुभे[5] ॥ ३९ ॥

इति ब्रुवन्तं सा भूयः प्राह[6-] क्रोधाकुलेन्द्रिया[-6]।
किं मां सान्त्वयसे भूयः कृत्वेत्थं[7] दुष्टचेष्टितम् ॥ ४० ॥

1. P,V °ङो 2. P,V वाऽबले! 3. K,T,W °जाश° 4. K,T,W जनुर्वि° 5. M,Ma प्रिये 6- -6. P,V क्रोधपर्या° 7. T,W °दं

वीर० ततः[1-] सा[-1] इङ्गिताभिः कथञ्चित् पत्युरन्यं विदित्वा सती पतिव्रता हेतुगर्भमिदं, अतो नितान्तः अपारः खेदो यस्याः, आविले व्याकुले लोचने आशयो मनश्च यस्याः तथाभूता प्राह[2] हे कितव! धूर्त! येन दुरात्मना त्वयेदृशं[3] इत्थं आर्यैः गर्हितं निन्दितं कृतं स त्वं कः? ॥ ३७ ॥

इतीत्थं ब्रुवन्तीं तां शनैः परिसान्त्वयन् स दीर्घबाहुः द्रमिलः प्राह -- तदेवाह - वयमिति। वयं तावत् गन्धर्वदेहजाः गन्धर्वाः गीर्वाणैः देवैः तुल्याः अमरवल्लभस्य इन्द्रस्य[4] अनुचराश्च। तुल्यामरेत्यत्र सन्धिरार्षः, कर्मधारयो वा॥ ३८॥

हे भद्रे! वयं भवादृशीनां मनुजाशनानां मनुजोपभोग्यानां मानुषीणामिति यावत्। न च सुलभाः किन्तु दुर्लभाः वयमित्यर्थः। तत्र हेतुमाह - जनुरिति। जनुर्विनाशौ जन्ममरणे आदी येषां तानाधीन् मनःपीडाः, इदं व्याधीनामप्युपलक्षणं, तान् भजन्तीति तथा, तेषां नृणां तद्विपरीतानां सुराणां च महत्तारतम्यमस्ति, तस्माद्वयं दुर्लभा इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

इत्थं ब्रुवन्तं द्रमिलं प्रति सा क्रोधादाकुलानीन्द्रियाणि यस्याः सा पुनः प्राह, तदेवाह - किमिति? इत्थं दुष्टचेष्टितं कृत्वा भूयः किमर्थं मां सान्त्वयसे ॥ ४० ॥

1- -1. T,W तत् 2. K adds किमिति? 3. T,W omit इत्थं 4. T,W omit इन्द्रस्य

**विज०** नितान्तखेदेन अतिमात्रव्यथया आविलौ सङ्कुलौ लोचनाशयौ यस्याः सा तथा ॥ ३७ ॥

गीर्वाणतुल्याश्चामरवल्लभानुगाश्च। अमरवल्लभ इन्द्रः ॥ ३८ ॥

जरा च विनाशश्च जराविनाशौ तौ आदी येषां अखिलानां आधीनां ते जराविनाशाद्यखिलाधयः तान् भजितुं शीलमेषामस्तीति जराविनाशाद्यखिलाधिभागिनः, तेषां महदन्तरं विशेषः ॥ ३९ ॥

अस्तु विशेषः ततः किं दोषः स्यादिति धिया वक्ति **इतीति** ॥ ४० ॥

**इमानतिक्रम्य महीजलाग्निसमीरणाकाशनिशेशसूर्यान्।**
**दिक्कालधर्मांश्च उभे च सन्ध्ये दुरात्मनेत्थं मलिनीकृताऽहम् ॥ ४१ ॥**

**गजेनेव मदान्धेन पद्मिनी वनमध्यगा।**
**विशृङ्खलेन विमला येनाऽहं मलिनीकृता ॥ ४२ ॥**

**स त्वं किमिति मां भूयः सान्त्वयस्यमराधम।**
**इति ब्रुवन्तीं प्रोवाच सभयः शापशङ्कितः ॥ ४३ ॥**

**अनुलोमस्तु कंजाक्षि मनुष्यासु दिवौकसाम्।**
**नराणां देवकान्तासु प्रतिलोमो हि सङ्गमः ॥ ४४ ॥**

**जानीहि मामनागस्कं तेन पङ्कजगन्धिनि।**
**तस्मात्ते जायतां पुत्रो मद्वीर्यं न वृथा भवेत् ॥**
**श्रीमान् धीमान् महोत्साहो न मे वाग्जायते मृषा ॥ ४५ ॥**

**इत्येवं वादिनं क्रुद्धा मम माता यशस्विनी।**
**प्राह सन्त्यज्य सन्तप्ता पातिव्रत्यं सुदुर्लभम् ॥ ४६ ॥**

1- -1. M,Ma जलाग्निमेदिनीं 2- -2. M,Ma धर्मानवधार्य येन ; P,V धर्मांश्च तथैव सन्ध्ये 3. M,Ma स भूयः 4- -4. M,Ma स्त्यरोजाक्षि 5- -5. M,Ma नाऽहमागस्कृत्तेन ; P,V मामनागस्कृत्ते हि 6. M,Ma °ते 7. V संशप्ता

**वीर०** इमान् जलादीन् द्वादशपुण्यपापसाक्षिणः अतिक्रम्याऽवधीर्य तिरस्कृत्य च येन त्वयेत्थमहं मलिनीकृता। निशेशः चन्द्रः ॥ ४१ ॥

यथा मदान्धेन गजेन्द्रेण पद्मिनी, तद्वत् वनमध्यस्था निर्मला च अहं विशृङ्खलेन लोकवेदमर्यादातिलङ्घिना येन त्वया मलिनीकृता ॥ ४२ ॥

स त्त्वं मां मलिनीकृतां हे अमराधम! किमिति सान्त्वयसे, इत्थं ब्रुवन्तीं तां स पुनः शापशङ्कितः प्रोवाच॥ ४३ ॥

तदेवाह - **अनुलोम** इति। हे सरोजाक्षि! मनुष्यासु दिवौकसां सङ्गमोऽनुलोमः क्रमप्राप्तः, न्याय्य एवेति भावः, देवकान्तासु नराणां तु सङ्गमः[1] प्रतिलोमः, अन्याय्य इति जानीहि ॥ ४४ ॥

तेन कारणेन हे पङ्कजगन्धिनि! नाऽहमपराधकृत्। किञ्च, तस्मादनुलोमात् सङ्गमात् श्रीमान् धीमान् महोत्साहश्च सर्वथा मद्वीर्यं न वृथा[2-2] भवेत्, नापि मे वाङ्मृषा भवेत् ॥ ४५ ॥

इत्थंवादिनं प्रति क्रुद्धा मम माता सुदुर्लभं पातिव्रत्यं सन्त्यज्य अत एव सन्तप्ता परितप्ता तं[3] प्राह ॥ ४६

1. T,W omit सङ्गमः 2- -2. T,W अन्यथा न 3. T,W omit

**विज०** ननु कथमेतदुष्टचेष्टितं किमप्यतिक्रम्य करणाद्गोप्यत्वादिति तत्राह -**इमानिति**। अवधीर्य अवज्ञाय ॥ ४१ ॥

मलिनत्वं सदृष्टान्तमाह - **गजेनेति** ॥ ४२ ॥

अमरैः अधमः गर्हितः "अधमौ गर्हितन्यूनौ" (वैज.को. 7-4-1) इति च देवयोनिषु नीच इति वा। मया कृतस्य कर्मणः सावद्यत्वे जलाग्न्यतिक्रमेण दोषापादनं स्यात् देवयोनित्वेन मम त्वत्संङ्गमोऽनुकूल एव विहितत्वादिति छलाभिसन्धिराह इतीति ॥ ४३ ॥

दिवौकसां देवानां मनुष्यासु स्त्रीषु सङ्गमोऽनुलोमोऽनुकूलः। मनुष्याणां देवस्त्रीषु सङ्गमः प्रतिलोमो विरुद्धः, शन्तन्वादीनां गङ्गादिषु सङ्गमो दृष्टचरः; अतः कथमेतदिति मन्दाशङ्कां पूर्वावस्थामपेक्ष्य दोषशङ्का नास्तीति हिशब्देन परिहरति ॥ ४४-४६ ॥

निस्सेतोर्भिन्नवृत्तस्य पापस्योन्मार्गवर्तिनः[1]।
क्रूरस्ते तनयो भूयात्साहसादिगुणोऽगुणः[2-2]।
नाऽनुग्राह्यो देवतानां द्विजानां च तपस्विनाम् ॥ ४७ ॥

इत्थं वदन्त्यां तस्यां सः क्रुद्धायां शापशङ्कितः।
तावकानां भवेच्छत्रुरित्युक्त्वाऽन्तरधीयत ॥ ४८ ॥

गते तस्मिन् गृहोद्यानान्माता[3] मम यशस्विनी[4]।
केनाप्यज्ञातवृत्तान्ता गृहानेवाऽभ्यपद्यत ॥ ४९ ॥

1. P,V °न्माद° 2- -2. M,Ma °सी निर्दयोऽघृणः; P,V °सी निर्गुणोदयः। 3. M,Ma म° 4. M,Ma तप°

**वीर०** तदेवाह - **निस्सेतोरिति**। मर्यादातिलङ्घिनः भिन्नं निरस्तं वृत्तं सदाचारो येन तस्य पापात्मनः लोकवेदप्रतिषिद्धाचार-वर्तिनः, तव जनिष्यमाणः तनयः क्रौर्यादिगुणको भूयात् अगुणः, अक्रोधाद्यात्मगुणरहितः देवतानां तपस्विनां द्विजानां[1] निग्राह्यः ॥ ४७ ॥

इतीत्थं तस्यां मन्मातरि ब्रुवत्यां क्रुद्धायां च सत्यां स द्रमिलः शापशङ्कितः महचमियं शपेतेति शङ्कितः, तर्हि तावकानां त्वद्बन्धूनामेव शत्रुः भवेदित्युक्त्वाऽन्तर्हितवान् ॥ ४८ ॥

तस्मिन् द्रमिले[2] गृहोद्यानात्[3] गते सति मम माता गृहोद्याने केनाप्यज्ञातः स्ववृत्तान्तो यस्यास्तथाभूता गृहानेव अभ्यपद्यत ॥ ४९ ॥

1. T,W omit द्विजानां 2. K adds तस्मात् 3. T,W म°

**विज०** निस्सेतोरित्यस्य विवरणं भिन्नवृत्तस्येति, वृत्तं चरितं अस्य विवरणं उन्मार्गवर्तिन इति, निर्दयः निर्गता करुणा यस्मात्स तथा अघृणः अकृत्यजुगुप्सारहितः "घृणा जुगुप्साकृपयोः" (वैज.को. 6-2-12) इति च। 'दय दान गति शोषणादिषु' इति धातोः यजनादिधर्मशून्यः, घृणा कृपा तया रहितः। तावकानां, देवानामिति शेषः ॥ ४७-४९ ॥

ततस्सा गर्भिणी[1-] काले[-1] कालेनैव सुषाव माम्।
इति मे नारदः प्राह कदाचिद्भगवानृषिः ॥ ५० ॥

ततः[2] प्रभृत्यहं द्वेष्मि[3] तानेतान् बन्धुदुर्जनान्।
यूयं[4] तत्र प्रमाणं हि द्विषन्ते[5] तेऽपि मां सदा ॥ ५१ ॥

उग्रसेनं च दुर्बुद्धिं[6-] देवकं[-6] च दुराशयम्।
वसुदेवं च कितव मन्यांश्च तदुपाश्रयान् ॥ ५२ ॥

हत्वा न जायते दोषो मम गन्धर्वजन्मनः।
तेनाऽऽदेक्ष्यामि परुषं हन्येतामिति तावहम् ॥ ५३ ॥

ताभ्यां हताभ्यां बालाभ्यां कुञ्जरेण बलीयसा।
कृत्वा पारत्रिकीं पूजां यान्तु तत्पदवीमिमे ॥ ५४ ॥

1- -1. M,Ma गर्भमालम्ब्य 2. P,V तदा 3. M,Ma वेद्मि 4. K,T,W अत्र 5. M,Ma °न्त्येतेऽपि 6- -6. M,Ma °द्धिमाहुकं 7. Ma पु° 8- -8. P,V भद्रात्मिकीं

**वीर०** ततस्सा गर्भं धृत्वा प्रसवकालेनैव मां सुषाव प्रसूतवती। कथम् अयं वृत्तान्त स्त्वया विज्ञात इत्यत्राह - इतीति ॥ ५० ॥

यदा नारद आह तत आरभ्य अहं बन्धुषु तांस्तान् दुर्जनान् मत्प्रतिकूलान् द्वेष्मि, ऐतेऽपि मां सदा द्विषन्ति। तत्र यूयं प्रमाणं खलु, भवन्तो जानन्ति खल्वित्यर्थः ॥ ५१,५२ ॥

अत उग्रसेनादीन् हत्वा वर्तमानस्यापि मम दोषो न जायते, तत्र हेतुः - गन्धर्वजन्मन[1-] इति[-1]। गन्धर्वजन्मनः[2-] गन्धर्वात्, न तु उग्रसेनाज्जन्म उत्पत्तिर्यस्य तस्य ममेति, यतो न दोषस्तेन कारणेनाऽहं आदेक्ष्यामि आज्ञापयामि। किमिति? तौ रामकृष्णौ परुषं यथा तथा हन्येतामिति ॥ ५३ ॥

तावद्बलीयसा कुञ्जरेण कुवलयापीडेन हताभ्यां बालाभ्यां रामकृष्णाभ्यां पूजोपकरणभूताभ्यां पारत्रिकीं परलोकस्थ-वैवस्वताद्युद्देश्यकपूजां कृत्वा इमे वसुदेवादयोऽपि तयोः पदवीं यान्तु। तयोः तावल्लोकान्तरप्राप्तिरेव, वसुदेवादिभिः परत्र कर्तव्या पूजेति भावः ॥ ५४ ॥

1- -1. T,W omit 2- -2. K omits.

**विज०** बन्धुषु दुर्जनान् बन्धुभूतान् दुर्जनान् वा ॥ ५०-५१ ॥

के ते इति तत्राह - उग्रसेन मिति ॥ ५२ ॥

कुतः पितृहत्यादिदोषो नास्तीति तत्राह - ममेति ॥ ५३,५४ ॥

वसुदेवोग्रसेनौ च तथा[1-] तौ[-1] नन्ददेवकौ।
गोपाला यादवाश्चैव येचाऽन्ये ता ननुव्रताः[2] ॥ ५५ ॥

पश्यन्तु निभृतै[3] र्नेत्रै र्हन्यमानौ स्वदारकौ।
आहूयन्तां जानपदाः[4] पश्यन्तु स्वैरसंयुगम्[5-] ॥ ५६ ॥

महामात्र त्वया भद्र रङ्गद्वार्युपनीयताम्।
द्विपः कुवलयापीडो जहि तेन ममाहितौ ॥ ५७ ॥

आरभ्यतां धनुर्यागश्चतुर्दश्यां यथाविधि।
विशसन्तु पशून्मेध्यान् भूतराजाय मीढुषे ॥ ५८ ॥

इत्याज्ञाप्याऽर्थतन्त्रज्ञ आहूय यदुपुङ्गवम्।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं तत्राऽक्रूर मुवाच ह ॥ ५९ ॥

1- -1. M,Ma तथाऽन्यौ 2. P,V °वनु 3. M,Ma विवृतै°; P,V विविधै° 4. M,Ma ज° 5- -5. M,Ma मम पौरुषम् 6. M,Ma तत्त्वज्ञ 7. G,J,K,T,W ततोऽ°

**श्रीध० महामात्रेति**। अहितौ शत्रू ॥ ५५-५७ ॥

**आरभ्यतामिति**। मीढुषे वरदाय ॥ ५८ ॥

**इतीति**। अर्थसिद्धान्तमेव जानातीत्यर्थतन्त्रज्ञः ॥ ५९ ॥

**वीर०** अतो वसुदेवादयः तदनुव्रताश्च सर्वे हन्यमानौ दारकौ बालौ निभृतैः शोकाश्रुजलपूर्णैः नेत्रैः पश्यन्तु। जानपदाः देशवासिनः आहूयन्ताम्। किमर्थम्? स्वैरसंयुगम् पश्यन्तु ॥ ५५-५६ ॥

हे महामात्र! हे भद्र! त्वया कुवलयापीडाख्यो रङ्गद्वार्युपनीयतां प्राप्यताम्। तेन कुवलयापीडेन मम शत्रू जहि घातय ॥ ५७ ॥

चतुर्दश्यां यथाविधि धनुर्याग आरभ्यताम्। मीढुषे इष्टवर्षिणे भूतराजाय रुद्राय मेध्यान् पशून् विशसन्तु ॥ ५८ ॥

इत्थमाज्ञाप्य अर्थतन्त्रज्ञः शास्त्रसिद्धान्ताभिज्ञः कंसः यदुश्रेष्ठं अक्रूरमाहूय तस्य पाणिं स्वपाणिना गृहीत्वा अक्रूरं यथा तथा उवाच ॥ ५९ ॥

1- -1. T,W omit.

**विज०** विशसन्तु सूदयन्तु। भूतराजाय भैरवविग्रहधारिणे रुद्राय मीढुषे समर्थाय अभीष्टदात्रे वा ॥ ५५-५८ ॥

अर्थतत्त्वज्ञं प्रयोजनयाथार्थ्यवेत्तारं यदुपुङ्गवं यदुश्रेष्ठम् ॥ ५९ ॥

भो भो दानपते[1] महचं क्रियतां मैत्र मादृतः।
नान्यस्त्वत्तो हिततमो विद्यते भोजवृष्णिषु ॥ ६० ॥

अत स्त्वामाश्रितस्सौम्य! कार्यगौरवसाधनम्[2]।
यथेन्द्रो विष्णुमाश्रित्य स्वार्थमध्यगमद्विभुः[3] ॥ ६१ ॥

गच्छ नन्दव्रजं तत्र सुतावानकदुन्दुभेः।
आसाते ताविहाऽनेन रथेनाऽऽनय मा चिरम् ॥ ६२ ॥

निसृष्टः[4] किल[5] मे[6] मृत्युर्दैवैर्वैकुण्ठसंश्रयैः[7-7]।
तावानय समं गोपैः नन्दाद्यैस्साभ्युपायनैः ॥ ६३ ॥

घातयिष्य इहाऽऽनीतौ[8] कालकल्पेन हस्तिना।
यदि मुक्तौ ततो मल्लै र्घातये वैद्युतोपमैः ॥ ६४ ॥

1. P,V दाश 2. P,V °ने। 3. V °भ्य° 4. P,V वि° 5. K °ष्टौ 6. K,T,W खलु 7- -7. K मृत्यू देवै° 8. P,V °हाऽनेन

**श्रीध०** भो भो इति। दाशपते[1]! हे अक्रूर! मैत्रं मित्रकृत्यं त्वया क्रियतां, त्वत्तोऽन्यः आदृतः सादरो हिततमश्च न विद्यत इति ॥ ६०-६२ ॥

**निसृष्ट**[2] इति। तौ मे मृत्युर्नितरां सृष्टः, वैकुण्ठसंश्रयैः विष्णुसंश्रयैः देवैः ॥ ६३ ॥

किं ततः तत्राऽऽह - **घातयिष्य** इति। कालकल्पेन मृत्युतुल्येन, वैद्युतोपमैः अशनितुल्यैः ॥ ६४ ॥

1. J,Va दान 2. P,V वि°

**वीर०** तदेवाह - **भो भो** इति। आदरात् सम्बोधनद्वयम्। दानपते! महोदार! महचं किञ्चित् त्वया मैत्रं मित्रकृत्यं क्रियताम्, यतस्त्वत्तोऽन्यो हिततमः भोजेषु वृष्णिषु च न विद्यते ॥ ६० ॥

अतस्त्वामेव हे सौम्य! अहमाश्रितः। कथम्भूतम्? गुरुतरकार्यसाधकं, यथा विष्णुमाश्रित्य इन्द्रः स्वार्थं स्वाभीष्टम् अध्यगमत् प्राप्तवान् तथाऽहमपि त्वामाश्रितः प्राप्नवानि ॥ ६१ ॥

अतस्त्वं नन्दव्रजं गच्छ। किमर्थम्? तत्र नन्दव्रजे वसुदेवस्य पुत्रौ आसाते तावनेन रथेन इहाऽऽनय प्रापय। चिरं विलम्बं मा कार्षीः ॥ ६२ ॥

किमर्थम्? तत्राह - **निसृष्टाविति**। संश्रीयत इति संश्रयः वैकुण्ठो विष्णुः संश्रयो येषां तैः देवैः तौ मम मृत्यू निसृष्टौ कल्पितौ खलु। अतः साभ्युपायनैः नन्दादिभिः गोपैस्सह तौ इहाऽऽनय आनीय दर्शयेत्यर्थः ॥६३॥

आनीतौ च तावनेन मृत्युतुल्येन हस्तिना घातयिष्ये। यदि ततो हस्तिना मुक्तौ भविष्यतः तर्हि अशनितुल्यैः मल्लैः चाणूरादिभिः घातये ॥ ६४ ॥

---

1- -1. T,W omit

**विज०** दानशब्देन वदान्याः लक्ष्यन्ते तेषां पते अक्रूर, मैत्रं मित्रकर्म ॥ ६० ॥

सौम्य! सुन्दर! "सौम्यो विप्रे सोमजेऽब्दे सुन्दरे सोमदैवेते" (वैज.को. 6-5-98) इति च। कार्यगौरवसाधनं समर्थनम् ॥ ६१,६२ ॥

निसृष्टः क्लृप्तः अभ्युपायनैः सहितैः ॥ ६३ ॥

वैद्युतो विद्युतो निर्गतोग्निः तस्योपमा येषां तैः ॥ ६४ ॥

**तयो र्निहतयो र्दृप्तान्[1] वसुदेवपुरोगमान्।**
**तद्बन्धून्निहनिष्यामि वृष्णिभोजदशार्हजान्[2] ॥ ६५ ॥**

**उग्रसेनं मत्पितरं[3] स्थविरं राज्यकामुकम्।**
**तद्भ्रातरं देवकं च ये चान्ये विद्विषो मम ॥**
**ततश्चैषा मही मित्र[4] भविद्री नष्टकण्टका ॥ ६६॥**

**जरासन्धो मम गुरुः द्विविदो[5] दयितस्सखा।**
**शम्बरो नरको बाणो मय्येव कृतसौहृदाः॥**
**तैरहं सुरपक्षीयान् हत्वा भोक्ष्ये महीं नृपान् ॥ ६७ ॥**

**एतज्ज्ञात्वाऽऽनय क्षिप्रं रामकृष्णाविहार्भकौ।**
**धनुर्मखनिरीक्षार्थं[6] द्रष्टुं मधुपुरश्रियम्[7] ॥ ६८ ॥**

1. G,J,M,Ma °स्तप्तान् 2. P,V °कान् 3. G,J च पि° 4. P,V मह्यं 5. M,Ma विविदो; P,V द्विविधो 6. M,Ma °र्यांग 7. G,J,M,Ma,P,V यदु

**श्रीध० उग्रसेनमिति** । नष्टकण्टका नष्टशत्रुः। ननु कतिपयाऽसुहृद्वधेन नष्टकण्टका कथं स्यात्तत्राह - जरासन्ध इति ॥६५-६७॥

ए[1-] तदिति। यदुपुरश्रियं द्रष्टुं चेति[-1] ॥ ६८ ॥

---

1- -1. P,V- omit.

**वीर०** ततस्तयोः निहतयोः तप्तान् दुःखितान् वसुदेवप्रभृतीन् तद्बन्धूंश्च वृष्ण्यादीन् हनिष्यामि तथा स्थविरमप्यधुनापि राज्यमेव कामयमानं मत्पितरं उग्रसेनं तस्य भ्रातरं देवकं च तथा योऽन्ये च मम विद्विषस्तान् सर्वान् हनिष्यामि। ततश्चैवं सति हे मित्र! इयं पृथ्वी नष्टकण्टका नष्टशत्रुः भविष्यति ॥ ६५, ६६ ॥

कुतः त्वं सर्वान्हन्तुं प्रभुः? तत्राह - **जरासन्ध** इति। द्विविदो वानरः प्रियः[1-] सखा[-1] शम्बरादयोऽसुराः मयैव सह कृतं सौहृदं यै स्तथाभूताः तै र्जरासन्धादिभिः सहितोऽहं सुरपक्षीयान् नृपान् हत्वा महीं भोक्ष्ये अनुभविष्यामि॥ ६७॥

एतत्सर्वं मया चिकीर्षितं ज्ञात्वा तौ रामकृष्णौ अर्भकाविह आनय। ननु वां हन्तुं कंसः आहूतवानित्युक्ते सति तौ पलायेतां तत्राह - धनुरिति। धनुर्मखनिरीक्षणार्थं मधुपुरश्रियं च द्रष्टुमाहूतवानिति त्वया वाच्यमित्यर्थः ॥६८॥

1- -1. T,W प्रियसखः

**विज०** मत्पितर एव एते इति शेषः। मे मित्र भविद्री भविष्यति ॥ ६५,६६ ॥

ननु त्वत्तोधिका जरासन्धादयः कण्टकाः सन्ति तत्राह - **जरासन्ध** इति ॥ ६७

आनयने निमित्तमाह - धनुरिति। धनुर्यागलक्षणोत्सवार्थम् ॥ ६८ ॥

## अक्रूर उवाच

**राजन् मनीषितं सम्यक्[-1] तव स्वावद्यमार्जनम्[2]।**
**सिध्यसिध्योः समो[3-] भूयात्[3-] दैवं हि फलभावनम्[4] ॥ ६९ ॥**

**मनोरथान् करोत्युच्चैः जनो दैवहतानपि।**
**युज्यते हर्षशोकाभ्यां तथाप्याज्ञां[5] करोमि ते ॥ ७० ॥**

## श्रीशुक[6] उवाच[-6]

**एवमादिश्य[7-] चाऽक्रूरं[-7] मन्त्रिणश्च विसृज्य सः।**
**प्रविवेश गृहं कंसः तथाऽक्रूरः स्वमालयम् ॥ ७१ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
अक्रूरसम्प्रेषणं नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

---

1. G,J,P,V सध्र्यक् 2. M,Ma चा° 3- -3. G,J,M,Ma समं कुर्यात् 4. G,J साधनम् 5. M,Ma अथा° 6- -6. M,Ma omit 7- -7. K,T,W इत्युक्तवन्तमामन्त्र्य

**श्रीध० राजन्निति।**[1] मनीषितं विचारितं सध्र्यक् सम्यक् स्वावद्यं मरणं तन्मार्जनं, तथाऽप्येतावान् अभिनिवेशो न कार्य इति, भविष्यत् सूचयन्नाह - सिद्ध्योसिद्ध्योरिति ॥ ६९ ॥

पुरुषकारस्य व्यभिचारमाह[2] - **मनोरथानिति** ॥ ७०, ७१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

---

1. J,Va add तत्र स्व° 2. P,V चारिता°

**वीर०** इत्थमुक्तः प्राह अक्रूरः - **राजन्निति।** स्वावद्यं स्वमरणं तस्य मार्जनं परिहार इति यत् तव मनीषितं विचारितं तत् सम्यगेव, तथाप्यत्राऽभिनिवेशो न कार्य इति भविष्यत्सूचयन्नाह - सिद्ध्योसिद्ध्योरिति। हि यस्माद्दैवं फलभावनं फलदम्। अतः सिद्ध्योसिद्ध्योस्समः कर्म कुर्यात् ॥ ६९ ॥

पुरुषकारस्य व्यभिचारमाह - **मनोरथानिति।** दैवहतानप्युच्चैः मनोरथान् करोति, जनः स्वसुखार्थकर्मणा दुःखेन युज्यते, कदाचित् सुखेन, तथा परदुःखार्थेन स्वयमेव दुःखेन युज्यते, परस्तु सुखेनैवेति। यद्यप्येवं तथापि तव आज्ञां करोमि ॥ ७० ॥

इत्युक्तवन्तं अक्रूरं, आमन्त्र्य पृष्ट्वा अनुज्ञाप्य वा, मन्त्रिणो विसृज्य आज्ञाप्य कंसः स्वगृहं प्रविवेश। तथाऽक्रूरश्च स्वगृहं प्रविवेश ॥ ७१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

**विज०** मनीषितं मनसा कर्तुमिष्टं मरणं ज्ञात्वापि परिहारप्रयत्नो न कृत इति यत्, अत आत्महत्यालक्षणं यदवद्यं तस्य मार्जनं परिहरणं भवति। फलनिष्पत्तिमज्ञात्वा प्रयत्नो व्यर्थ इति न निरूप्यः इत्याह - सिद्धीति। फलसिद्धावसिद्धौ च हर्षशोकाभ्यां न विषमो भूत्वा कर्म कुर्यादिति विधिशास्त्रं, तर्हि फलावाप्तिः किमधीनेति तत्राह - दैवमिति। फलभावनं फलकारणम् ॥ ६९ ॥

तर्हीदं नापेक्षितं किं, नेत्याह - **मनोरथानिति**। जनेन क्रियमाणत्वात् त्वयाप्यनुष्ठेय मिति भावः, यद्यपि फलसिद्धिः हर्यधीना, तथापि ॥ ७०,७१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
टीकायां षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

(विजयध्वजरीत्या चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥)

---

# सप्तत्रिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या पञ्चत्रिंशोऽध्यायः)

-: केशिसंहारघट्टः :-

श्रीशुक उवाच

केशी तु कंसप्रहितः खुरैर्महीं महाह्रयो[1] निर्जरयन्[2]मनोजवः[3]।
सटावधूताभ्रविमानसङ्कुलं कुर्वन्नभो हेषितभीषिताखिलः[4] ॥ १ ॥

विशालनेत्रो विकटास्यकोटरो बृहद्गलो नीलमहाचलोपमः[5-5]।
दुराशयः[6] कंसहितं चिकीर्षुः[7] व्रजं स नन्दस्य जगाम कम्पयन् ॥ २ ॥

तं त्रासयन्तं भगवान् स्वगोकुलं[8] तद्धेषितैर्वालविघूर्णिताम्बुदम्[9]।
आत्मान माजौ मृगयन्त मग्रणी रुपाह्वयत्स व्यनदन्मृगेन्द्रवत् ॥ ३ ॥

स तं निशाम्याऽभिमुखो[10] मुखेन[11-11] खं पिबन्निवाऽभ्यद्रवदत्यमर्षणः[12]।
जघान पद्भ्या मरविन्दलोचनं दुरासदश्चण्डरवो दुरत्ययः ॥ ४ ॥

तद्वञ्चयित्वा तमधोक्षजो रुषा प्रगृह्य दोर्भ्यां परिपीड्य पादयोः।
सावज्ञ मुत्सृज्य धनुश्शतान्तरे यथोरगं तार्क्ष्यसुतो व्यवस्थितः ॥ ५ ॥

स लब्धसंज्ञः पुनरुत्थितो रुषा[14] व्यादाय केशी तरसाऽपतद्धरिम्।
सोऽप्यस्य वक्त्रे भुजमुत्तरं स्मयन्प्रवेशयामास यथोरगं बिले ॥ ६ ॥

1. P,V महत्तया 2. K,T,W °र्ज्ञ°; M,Ma °र्द° 3. P,V °न्महाह्रयः 4. M,Ma हे° 5- -5. G,J,M,Ma महम्बुदो°; K महाघनो 6. P,V °सदः 7. P,V °र्षन् 8. T,W स गो° 9. M,Ma स्वहे° 10. J,M,Ma °श° 11- -11. M,Ma नभस्तलं 12. G,J,M,Ma °जवो 13. G,J,K,T,W विध्य 14. M,Ma मुखम्

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

सप्तत्रिंशे हते केशिन्यच्युतो भाविकर्मभिः। नारदेन स्तुतः क्रीडन् व्योमासुरमथाऽवधीत्॥

वृषवेषासुरं यद्वत् केशिनं हयवेषिणम्। कंसप्राणसमं[1] हत्वा कंसं व्यसुमिवाऽकरोत्॥

**केशीति**। प्रथमश्लोकेन य एवम्भूतः केशीत्यनूद्य तं भगवानुपाह्वयदिति तृतीयेनाऽन्वयः। महाहयस्सन् महीं निर्जरयन् श्लथयन् विदारयन्नित्यर्थः। सटाभिः केसरैः अवधूतानि इतस्ततः क्षिप्तानि अभ्राणि विमानानि च तैः सङ्कीर्णं नभः कुर्वन् हेषितैः अश्वजातिशब्दैः भीषितमखिलं विश्वं येन सः ॥ १,२ ॥

**तमिति**। तद्धेषितैः तैरतिनिष्ठुरै र्हेषितैः वालैः पुच्छरोमभिः विघूर्णिताः परिभ्रमिता अम्बुदा येन तम्। आजौ सङ्गमार्थं आत्मानं कृष्णं अग्रणीः पुरतो निर्गतस्सन् उपाह्वयत् स्वसमीपमाजुहाव। स च केशी तं निशम्य मृगेन्द्रवन्नादमकरोत् ॥ ३ ॥

स इति। ततः स[2] केशी तं कृष्णं दृष्ट्वा मुखेन खं पिबन्निव मुखं व्यादाय[3] विवृत्य अभिमुखम्[4-] अभ्याजगाम[-4]। किञ्च अत्यमर्षणः अतिकुपितः अत्यन्त मसहमानो वा, प्रत्यक् पद्भ्यां जघान। दुरासदः अन्यै रभिभवितुमशक्यः दुरत्यय उद्यतस्सन् दुरतिक्रमः, अत्र हेतुः चण्डरवः[5] [6] ॥ ४ ॥

**तदिति**। तत् हननं वञ्चयित्वा तञ्च हननाय प्रसारितयोः पादयोः हस्ताभ्यां गृहीत्वा परिविध्य भ्रामयित्वा व्यवस्थितः। तथैव स्थितो बभूव ॥ ५ ॥

स इति। व्यादाय मुखं प्रसार्य वेगेन हरिं प्रत्याद्रवत्। सोऽपि हरिर्हसन् उत्तरं सव्यं भुजम्। निर्भयत्वे दृष्टान्तः- यथोरगं बिल इति ॥ ६ ॥

---

1. J,Va सखं 2. J,Va omit सः 3. J,Va omit व्यादाय 4- -4. J,Va °खस्सन्नभिज° 5. J,Va °जवः 6. J,Va add चण्डस्तीव्रो जवो वेगो धावनं यस्य

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

"प्रतियाते तु देवर्षौ कंस आहूय केशिनम्। प्रेषयामास" (भाग. 10-36-20) इत्युक्तम्। प्रेषितस्स किमकरो-दित्यत्राऽऽह-**केशीत्वि**त्यादिना। केशी नामाऽसुरः तेन प्रेषितो महाश्वस्सन् मनस इव वेगो यस्य सः। खुरैर्महीं पृथ्वीं निर्झरयन्विदारयन् सटाभिः केसरैः अवधूतानि इतस्ततः क्षिप्तानि अभ्राणि विमानानि च, तैस्सङ्कीर्णं नभः कुर्वन् हेषितै रश्वजातिशब्दैः भीषित मखिलं विश्वं येन ॥ १ ॥

विशाले नेत्रे यस्य, विकटं विशाल मास्यबिलं यस्य, बृहत् पीनो दीर्घश्च गलो यस्य, नीलो महांश्च, घनो मेघ उपमा यस्य, दुराशयः दुष्ट आशयः कृष्णजिघांसाभिप्रायो यस्य, सः प्रसिद्धः कंसस्य हितं कर्तुमिच्छुः नन्दस्य व्रजं कम्पयञ्जगाम ॥ २ ॥

हेषितैः तत् स्वस्थं गोकुलं त्रासयन्तं भीषयन्तं[1-] [-1] वालैः पुच्छरोमभिः विघूर्णिताः[2] प्ररिभ्रामिताः[3] अम्बुदा येन तम्। आजौ युद्धे निमित्ते आत्मानं कृष्णं मृगयन्तं अन्वेषयन्तं, तं केशिनम् अग्रणीः अग्रे पुरतो निर्गतस्सन् भगवान् आह्वयत्, आजुहाव; स केशी रुषा मृगेन्द्रवन्नादमकरोत् ॥ ३ ॥

तत स्स केशी तमाह्वयन्तं कृष्णं निशाम्य अवलोक्य अभिमुखस्सन् मुखेन खं[4] आकाशं पिबन्निव, अत्यमर्षणः अत्यन्तक्रोधयुक्तः अभ्यद्रवत् अभ्यपतत्। किञ्च। प्रत्यक् पद्भ्यां अरविन्दलोचनं कृष्णं जघान ताडितवान्। कथम्भूतः? दुरासदः अन्यैरभिभवितु मशक्यः, चण्डः दुरतिक्रमो जवो वेगो यस्य सः ॥ ४ ॥

तद्धननं वञ्चयित्वा तं केशिनं हननाय प्रसारितयोः पादयोः हस्ताभ्यां गृहीत्वा परिविध्य भ्रामयित्वा धनुश्शतान्तरे धनुश्शतपरिमितदूरे सावज्ञं[5] सावहेलनं यथा तथा उत्सृज्य पातयित्वा व्यवस्थितः, यथा तार्क्ष्यसुतो गरुत्मान् उरगमुत्सृज्य व्यवतिष्ठते, तद्वत् ॥ ५ ॥

स केशी लब्धा संज्ञा चेतना येन सः, मूर्च्छितः पुनर्लब्धस्मृतिरित्यर्थः। पुनरुत्थितः रुषा व्यादाय, वक्त्र मिति[6] शेषः। बलेन पुनः हरिं प्रति अभ्यद्रवत्। तदा हसन् निर्भयः सोऽपि हरिरपि अस्य केशिनो वक्त्रे सव्यं भुजं प्रवेशयामास। निर्भयत्वे दृष्टान्तः, यथोरगं बिल इति। यथा सर्पविद्यावित् सर्पं बिले प्रवेशयति तद्वत्। यद्वा सर्पभोगवद्दीर्घं भुजं बिलवद्वुष्प्रवेशे तदास्यकुहरे प्रवेशयामासेति दृष्टान्तार्थः ॥ ६ ॥

1- -1. T omits 2. T,W omit अग्रणीः 3. K omits अग्रे 4. T,W omit खं 5. T,W omit सावज्ञं 6. T,W ° मित्यर्थः।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

श्रोतॄणां मन्तॄणां प्रवक्तॄणां ध्यातॄणां च बुद्ध्यारोहार्थं सङ्कलय्य[1] भगवद्विक्रमं वर्तमानं वर्तिष्यमाणञ्च कथयत्यस्मिन्नध्याये। तत्राऽऽदौ केशिदैत्यवधलक्षणं भगवद्विक्रमं वक्तुमाह **केशीति**। निर्दरयन् भिन्दन्। मनोजववत् जवो यस्य स तथा। अभ्राणि च विमानानि च अभ्रविमानानि सटाभिः स्कन्धदीर्घरोमभिः अवधूतानि अभ्रविमानानि तैः सङ्कुलम्। हेषितेन अश्वजातिशब्दितेन भीषितमखिलं यस्य स तथा। "हेषा ह्रेषा च वाजिनाम् (हला.को. 1-151) इति हलायुधः ॥ १ ॥

विकटं विस्तृतं आस्यकोटरं मुखगर्तं यस्य स तथा। दुराशयः दुष्टाभिप्रायः कृष्णहननलक्षणो यस्य स तथा॥ २॥

वालेन पुच्छेन विघूर्णितो विभ्रान्तोऽम्बुदो यस्य स तथा तम्, आजौ क्षेपार्थं मात्मानं स्वं मृगयन्तं विचिन्वन्तम्। अज गतिक्षेपणयो रिति धातुः। युद्धे वा। इयमपि तादर्थ्ये सप्तमी। अग्रणी स्तस्याऽभिमुखे स्थितः ॥ ३ ॥

तं नादम् ॥ ४ ॥

तद्धननं सावज्ञं अवमानसहितमिति क्रियाविशेषणम् ॥ ५ ॥

मुखं व्यादाय विदार्य ॥ ६ ॥

1. Ma सङ्कल्प्य

दन्ता निपेतु र्भगवद्भुजस्पृश स्ते केशिन स्तप्तमयस्स्पृशो यथा।
बाहुश्च तद्देहगतो महात्मनो यथाऽऽमयस्संववृधे ह्युपेक्षितः[1] ॥ ७ ॥

समेधमानेन स कृष्णबाहुना निरुद्धवायुश्चरणांश्च विक्षिपन्।
प्रस्विन्नगात्रः परिवृत्तलोचनः पपात लण्डं[2] विसृजन् क्षितौ व्यसुः ॥ ८ ॥

तद्देहतः कर्कटिकाफलोपमाद्व्यसो रपाकृष्य भुजं महाभुजः।
अविस्मितोऽयत्नहतारि[3] रुस्रियैः[4] प्रसूनवर्षै[5] रमरैस्स[6] ईडितः[6] ॥ ९ ॥

श्रीकृष्णं प्रति नारदागमनघट्टः

देवर्षिरुपसङ्गम्य भागवतप्रवरो[7] नृप।
कृष्णमक्लिष्टकर्माणं रहस्येतदुवाच[8] ह ॥ १० ॥

कृष्ण कृष्णाऽप्रमेयात्मन्योगेश[9] जगदीश्वर।
वासुदेवाऽखिलाऽऽवास[10] सात्त्वतां प्रवर प्रभो ॥ ११ ॥

त्वमात्मा सर्वभूतानामेको ज्योति रिवैधसाम्।
गुहाशय स्साक्षी महापुरुष ईश्वरः ॥ १२ ॥

1. G,J,M,Ma उ° 2. G,J लेण्डं; M,Ma लम्बं 3. T,W अप° 4. M,Ma ऽयं निहतारि° 5. G,J,K,P,V ° रुत्स्मयैः 6- -6. G,J,P,V ° र्दिविषद्भिरीडितः; M,Ma ववृषद्भिरीडितः 7. ,Ma भगवत्प्रवरो; P,V भगवत्प्रवणो 8- -8. G,J °स्येतदभाषत; M,Ma °सीदमभाषत 9. T,W °गी° 10. K °ऽऽधार

**श्रीध०** ततः किं, तदाह **दन्ता** इति। चर्वणाय भगवद्भुजं स्पृशन्तीति तथा, ते, व्यादानेन ये विवृताः अयो लोहं, स्पृशन्तीति स्पृशः। यद्वा, तप्तमयं मतितप्तं लोहादि स्पृशन्तो यथेति। आमयो जलोदरः[1] ॥ ७ ॥

**समेधमानेनेति।** लण्डं[2] पुरीष मुत्सृजन् ॥ ८ ॥

**तदिति।** कर्कटिकाफलं हि पक्वं सत् आद्यन्तं[3] विदीर्णं[4] भवति, तद्वद्विदीर्णात्तस्य देहात् व्यसोः[5] विगतप्राणात्। अविस्मितो गर्वरहितः, अयत्नेन हतोऽरिर्येन सः। ★ कंसाय कृष्णमादिश्य तद्रहस्यादिपेशुनैः। कंसघातादि कृष्णस्य कार्य मावेदय न्मुनिः॥ ९ ॥

तदाह देवर्षिरित्यादिना। **देवर्षिरिति।** न चाऽयं[6] सूचकः। किन्तु सर्वसुहृदित्याह भागवत्प्रवण[7] इति ॥ १० ॥

अस्मद्रहस्यं वैरिणि कंसे कथं[8] सूचितवानिति मा शङ्कीरित्याह — **कृष्ण कृष्णेति**[9]। अयं भावः — त्वमीश्वरो भूभारदैत्यसंहारायाऽवतीर्णोऽसि। अत स्तदनुरूपाऽऽचरणेन विश्वं परिपालयेति। तत्र त्वयि तावद्भयशङ्कैव नाऽस्तीत्याह — अप्रमेयात्मन्! अपरिच्छिन्नस्वरूप[10]! योगेश! अचिन्त्यप्रभाव! जगदीश्वर! विश्वनियन्तः! वासुदेव! सर्वभूतेषु वर्तमान! अखिलावास! सर्वस्याश्रय! सम्प्रति सात्त्वतां प्रवर! श्रेष्ठ! प्रभो! सर्वशक्ते ॥ ११ ॥

कथमेवं रूपोऽहमिति चेत् अत आह — **त्वमिति**। नहि त्वं जीववत्परिच्छिन्नः; किन्तु सर्वभूतानाम्[11] अन्तः एकोऽनुस्यूत आत्मा। अन्तरनुस्यूतत्वे दृष्टान्तः — एधसां काष्ठानामन्तर्ज्योतिरिवेति। भूतेषु स्थितोऽपि तै र्न दृश्यस इत्याह — गूढ इति। अत्र हेतवः — गुहाशयः बुद्धेरप्यन्तरः। किञ्च, साक्षी न हि साक्षी दृश्यत इत्यर्थः। अपि च महापुरुषः, अतः परिच्छिन्नमतिभि र्न ज्ञायस इत्यर्थः। तर्हि सर्वान्तरत्वे किं प्रमाणमत आह —
न हि ईश्वरं विना परतन्त्राणां जीवानां प्रवृत्तिर्घटत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

1. J,Va °रम्। 2. J,Va ले° 3. P,V अत्य° 4. P,V °शी° 5. P,V omit °यसोः * श्रीधरीयोऽयं श्लोकः 6. P,V add अनर्थ 7- -7. J,Va भागवतप्रवर 8. J,Va omit कथं 9. J,Va °त्यादिना। 10. J,Va omit स्व 11. J,Va अन्तर ए°

**वीर०** ततः किं, तदाह — **दन्ता** इति। भगवद्भुजं संस्पृशन्तीति[1] तथा ते तस्य केशिनो दन्ता निपेतुः। यथा तप्तमयः तप्तं लोहपिण्डं स्पृशन्तो निपतन्ति तद्वत्। तस्य केशिनो देहे प्रविष्टो महात्मनो भगवतो भुजस्तु ववृधे एधाम्बभूव। यथा उपेक्षितः अचिकित्सितः आमयो जलोदरो वर्धते तद्वत् ॥ ७ ॥

स केशी सम्यगेधमानेन कृष्णस्य बाहुना निरुद्धः वायु श्श्वासो यस्य सः, चरणान्विक्षिपन् इतस्ततश्चालयन् प्रस्विन्नं प्रस्वेदयुक्तं शरीरं यस्य, परिवृत्ते परिभ्रममाणे लोचने यस्य सः, विगतप्राणो लण्डं पुरीषं विसृजन् भूम्यां पपात ॥ ८ ॥

कर्कटिकाफलं हि पक्वं सत् आद्यन्तविदीर्णं भवति, तद्वत् विदीर्णात्तस्य केशिनो देहात् व्यसो र्गतप्राणात् महाभुजो भगवान् भुज माकृष्टवान्। अविस्मितो[2] गर्वरहितः अयत्नेन हतोऽरिश्शत्रुर्येन सः, प्रसूनवर्षाणि वर्षद्भिरुस्रियैः[3] देवैः ईडितः स्तुतः बभूव ॥ ९ ॥

अथेत्थं हतकेशिने भगवतेऽनन्तरं कर्तव्यमावेदयति[4] देवर्षिरित्याह — **देवर्षिरिति**। हे नृप, भागवतश्रेष्ठो देवर्षिर्नारदः उदारचेष्टितं कृष्णमुपसङ्गम्य रहसि एकान्ते[5] एतद्वक्ष्यमाण मुवाच ॥ १० ॥

तदेवाऽऽह **कृष्णेति**। सर्वज्ञं कर्तव्याभिज्ञमपि भगवन्तं त्वरयन्निवाऽऽवेदयितुं[6] तावत्कृतं केशिवधमभिनन्दितुकामः तावत्स्वसङ्कल्पमात्रपरिक्लृप्तजगत्पालनार्थमवतीर्णस्य तव दुष्कृद्विनाशनमुचितमेवेत्यभिप्रयन् स्तौति — **कृष्णेति** द्वाभ्याम्। यतोऽप्रमेयात्मत्वादिगुणक स्तत आत्मनैवात्माश्रय स्सृजसीति हेतुहेतुमद्भावपरतया व्याख्येयम्। कर्त्राद्यनेककारकसाध्या हि सर्वा क्रिया लोके दृष्टा। जगत्सृष्ट्यादिक्रिया तु कर्त्रादिकारकषड्भावापन्नत्वदेकसाध्येत्युच्यते। पूर्वं सृष्टेः प्राक्, त्वम् आत्मना स्वेनैव कर्त्रा आत्मा स्वयमेव आश्रय आधारो यस्य तथाभूतः मायया स्वसङ्कल्पेनैव गुणान् स्वशरीरभूतप्रधानगुणकार्यभूतान्

महदादीन् सृजसीति हि तदर्थः। "तदात्मानं स्वय मकुरुत" (तैत्ति. उ. 2-7) "ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्" (तैत्ति.ब्रा. 2-8-9-6)। "आत्मन आकाश स्सम्भूतः" (तैत्ति.उ. 2-1-1) इत्यादिश्रुते रिति भावः। तत्रैकस्यैवानेक कारकभावोपयुक्तगुणवत्तां वदन् सम्बोधयति — अप्रमेयात्मन्नित्यादिभिः। कथमेकस्यानेककारकभावापत्तिरित्यतस्सम्बोधयति- योगेशेति। विविधविचित्रानन्तशक्ते इत्यर्थः। ननु महदादय एव सृज्या न त्वहम्, तत्राऽऽह- अप्रमेयात्मन्! अपरिच्छेद्यस्वरूप! अनेन सर्वसृज्यशरीरकत्वेन सर्ववस्तुसामानाधिकरण्यार्हत्वात् स्वयमेव सृज्य इति भावः। ननु चतुर्मुखादयस्सृष्टयादि कर्तारो न त्वहम्। तत्राऽऽह जगदीश्वर! जगन्नियन्तः! कार्यभूतजगदन्तर्भूत चतुर्मुखादि नियन्तृत्वेन तद्गतं कर्तृत्वं त्वय्येव पर्यवसन्नमिति त्वमेव कर्तेति भावः। ननु ब्रह्माण्डादिः[7] आधारो न त्वहम्, इत्यत आह वासुदेवेति। वासुदेवशब्दार्थं वदन् सम्बोधयति — अखिलाधारेति। अखिलस्य ब्रह्माण्डतदन्तर्गतादिवस्तुनः आधारभूत! अखिलमाधारो व्याप्यं यस्य तथाभूतेति चार्थः। नन्वेवम्भूतः परमात्मा नत्वहम्। इत्यत आह- सात्त्वतां प्रवर![8] सात्त्वतामिति कर्तरि षष्ठी। सात्त्वद्भिर्भक्तैः प्रकर्षेण व्रियमाणेत्यर्थः।[9] परमात्मैव सन् भक्तैस्समाश्रयणीयत्वाय एवंरूपेणाऽवतीर्ण इत्यर्थः। प्रभो! अकर्मवश्य! ॥ ११ ॥

परमात्मत्वमेवोपपादयति — **त्वमिति**। सर्वभूतानां ब्रह्मादिस्थावरान्तानां, महदादिपृथिव्यन्तानाञ्च एक स्त्वमेव आत्मा अन्तः प्रविश्य प्रशासनेन धारकः। एकस्सर्वत्रैकरूपः व्याप्यवस्तुगत विकाररहित इत्यर्थः। इदमेव हि परमात्मत्वं, यत्सर्वानुप्रवेशतद्गतधर्मास्पर्शनियमनैर्भर्तृत्वम्। एकत्वे दृष्टान्तमाह — यथैधसां काष्ठानामन्तर्ज्योति रेधोगतवक्रत्वादिभि र्न स्पृश्यते तद्वदित्यर्थः। यद्यहं सर्वभूताना मात्मा, तर्हि तैः दृश्येय इत्यत आह गूढ इति। अत्राऽपि ज्योतिरिवैधसा मित्येतत् दृष्टान्ततया योज्यम्। यथैधस्सु ज्योतिरन्तर्गतमपि गूढं, मथनाद्युपायमन्तरेण नतेभ्यो विविच्य दृश्यते तथा योगविशुद्धमनसा विना न दृश्यत इत्यर्थः। क्व गूढ इत्यत आह- गुहाशयः। गुहायां हृदयकुहरे जीवे वा शेत इति तथा कारणत्वोपयुक्तं सार्वस्थ्यमाह — साक्षीति। सर्वस्य साक्षाद्द्रष्टा, सर्वज्ञ इत्यर्थः। अत एव महापुरुषः ब्रह्मादिजीवविलक्षणः पुरुषः, ईश्वरस्तेषा मधिपतिश्च ॥ १२ ॥

1. K omits सं 2. T,W अप° 3. K °रुत्स्मयैः 4. T,W °यद्दे° 5. T,W omit एकान्ते 6. T,W °न्निवेद° 7. K adds जगत् 8. K adds इति। 9. K adds इत्यर्थः°।

**विज०** तप्तं अयोनाम लोहं स्पृशन्तः तप्तमयं तापात्मानं पदार्थं स्पृशन्तीति, तप्तमयस्पृश इति वा। उपेक्षितः आमयो व्याधिः ॥ ७ ॥

विक्षिपन्नितस्ततः प्रसारयन् लम्बं शकृत्। "तुरगस्य शकृल्लम्बं लङ्काप्राकारकोशयोः" इति च, कोशं वा ॥८॥

कर्कटी कर्कन्धूलता तत्फलसदृशं उर्वारुकवत् मृदुलमित्यर्थः। कर्कटयाः फलं गर्भः तत्सदृशं, प्रसवे स्वयं म्रियते यथा तथा। भुजापकर्षेण मृत इत्यर्थः। व्यसो मृतस्य उस्रियै र्देवैः। "उस्रिया अमरा देवा स्त्रिदिवेशा दिवौकसः" इति च। प्रसूनवर्षैः फलपुष्पसमूहैः "प्रसूनं फलपुष्पयोः" (वैज.को. 7-3-22) इति च। ववृषद्भिरित्यत्र ताच्छीलिकः शतृप्रत्ययः। अवेत्यत्र अकारलोपश्च। तेन अयं वर्षः औत्पत्तिको गुणो लक्ष्यत इति ॥ ९,१० ॥

अप्रमेयात्मन् अपरिच्छेद्यस्वभाव। नन्वेवं चेत् "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः" (कठ.उ. 4-12) इत्यादिपरिमाणवचनस्य का गतिरिति तत्राऽऽह योगेशेति। योगिनां योगविषयत्वेन स्वेच्छाविग्रहग्रहणेन तदुपपत्तेः। योगेशत्वस्य वायुविषयत्वमिति मन्दाशङ्कां निरस्यति जगदीश्वरेति "आत्मन् एष प्राणो जायते आकाशाद्वायुः प्राणः श्रद्धा खं वायुः" इत्यादिश्रुतेः। वायोर्जगदन्तःपातित्वेन तदीशत्वं न पृथग्वक्तव्यमिति भावः। कृष्णशब्दस्य बह्वर्थविषयत्वेन उक्तविशेषणविशिष्टः क इति संशयनिवृत्तिः कथमिति तत्राऽऽह वासुदेवेति। वासुदेवशब्दस्यार्थान्तरमाह अखिलेति। नन्वेवञ्चेत् संशय स्तदवस्थ इति तत्राऽऽह-सात्त्वतामिति। नन्वनेन सात्त्वज्जातिश्रेष्ठ इत्येवाऽऽयातं न तु तदाधिपत्यमित्यत उक्तं प्रभो इति — "समर्थेऽधिपतौ प्रभुः" (वैज.को. 6-4-10) इति ॥ ११ ॥

उक्तविशेषणाना मन्यत्राऽपि कथञ्चिद्वृत्तिसम्भवेनाऽपि विष्णुत्वानिश्चय इति तत्राऽऽह **त्वमिति**। प्रत्यगात्मा अन्तर्यामीत्यर्थः। ईदृशोऽन्यो नास्तीत्याह एक इति। एकस्य च बहुष्ववस्थानं कथमिति तत्राऽऽह ज्योतिरिति। मथनादिना दृग्विषयत्वेन अग्ने स्सत्ता ज्ञायते, न तवेति तत्राऽऽह गूढ इति। कथं गूढत्वमित्यत उक्तं गुहेति। हृदयगुहायां शेत इति जीववत्। तर्हि त्वं संसारी चेतनः किं न? इत्याह साक्षीति। संसारिणामुनष्ठीयमानयोः पुण्यपापयो र्द्रष्टा वायो रन्तःस्थत्वेन साक्षित्वेऽपि मुख्यसाक्षित्वं तवेत्याशयेनाऽऽह — महापुरुष इति, पुरुषोत्तम इत्यर्थः। पुरुषोत्तमस्यैव मुख्यसाक्षित्वं यतोऽत ईश्वरत्वं तस्यैव मुख्यं न पशुपतेरिति भावेनाऽऽह ईश्वर इति ॥ १२ ॥

आत्मनाऽऽत्माश्रयः पूर्वं मायया सृजसे[1] गुणान्।
तैरिदं सत्यसङ्कल्पः सृजस्यत्स्यवसीश्वर[2]! ॥ १३ ॥

स त्वं भूभारभूतानां[3] दैत्यप्रमथरक्षसाम्।
अवतीर्णो विनाशाय साधूनां[4] रक्षणाय च ॥ १४ ॥

दिष्ट्याऽद्य[5] निहतो दैत्यो लीलयाऽयं हयाकृतिः।
यस्य[6] हेषितसन्त्रस्तास्त्यजन्त्यनिमिषा दिवम् ॥ १५ ॥

चाणूरं मुष्टिकञ्चैव मल्लानन्यांश्च हस्तिनम्।
कंसञ्च निहतं द्रक्ष्ये परश्वोऽहनि ते विभो ॥ १६ ॥

तस्याऽनु शङ्खयवनमुराणां नरकस्य[7] च।
पारिजातापहरणमिन्द्रस्य[8] च पराजयम् ॥ १७ ॥

उद्वाहं वीरकन्यानां वीर्यशुल्कादिलक्षणम्।
नृगस्य मोक्षणं शापाद्द्वारकायां[9] जगत्पते ॥ १८ ॥

1. G,J ससृजे; P,V संसृजे 2. G,J,M,Ma,P,V °रः 3. G,J,P,V भूधर; M,Ma भूभर 4. G,J सेतूनां 5. G,J,K,M,Ma दिष्ट्या ते 6. M,Ma अस्य 7. M,Ma °तस्य ह° 8. K,T,W भवम् 9. G,J,M,Ma °पा°

**श्रीध०** अहमीश्वरः अन्यत्सर्वं मीशितव्य मित्येतदेव कुतः? अत आह — **आत्मनेति**। साधनान्तरनिरपेक्ष एव, आत्माश्रयः स्वतन्त्रः मायया शक्त्या गुणान् भवान् ससृजे सृष्टवान्[1-1]। तैः सृष्टैः गुणैः इदं विश्वं सृजसि, अत्सि संहरसि, अवसि पालयसि। ननु सृष्ट्यादिक्रिया षट्कारकसाध्यैव दृष्टेत्यत आह — सत्यसङ्कल्प इति। न हि सङ्कल्पैकसाध्यै बहिस्साधनापेक्षेति भावः। अतस्त्वमीश्वर इत्युपसंहारः ॥ १३ ॥

प्रस्तुतमाह — **स** इति। भूधरभूतानां भुवं धरन्तीति भूधरा राजानः, तद्रूपाणाम् ॥ १४,१५ ॥

**चाणूरमिति**। परश्वः अहनीति। अद्यैव अक्रूर एष्यति, श्वो मधुरां गन्तासि, परश्वश्चाणूरादीन् त्वया निहतान् द्रक्ष्यामीति सिद्धवन्निर्देशो विज्ञापनप्रकारविशेषः ॥ १६ ॥

**तस्येति**। तस्याऽनु तदनन्तरं शङ्खादीनां शङ्खः पञ्चजनः [2-]तदादीनां[-2] वधं, द्रक्ष्यामीति शेषः। भाविनिर्देशमात्रमेतन्न त्वानन्तर्यं विवक्षितम् ॥ १७,१८ ॥

1- -1. J,Va °त्याऽऽह 2- -2. J,Va omit.

**वीर०** यत एवम्भूत स्ततो हे ईश्वर, सत्यसङ्कल्प स्त्वं सकलकारकभावमापन्न स्तावत् स्वसङ्कल्पेन गुणकार्यभूतान् स्वशरीरभूतान् महदादिपृथिव्यन्तान् सृजसि। ततः तै र्गुणैः इदं परिदृश्यमानं विचित्रसन्निवेशविशिष्टं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगत् सृजसि अवसि पालयसि, अत्सि संहरसि च ॥ १३ ॥

तत्र पालनं स्वावतारैः मन्वादिरूपेण च इत्यनेकविधम्। तत्र स्वावतारेण पालनं दुष्कृद्विनाशपूर्वकमित्यभिप्रेत्याऽऽह- **स त्वमिति**। स उक्तविधस्त्वं भुवो भारभूतानां दैत्यादीनां विनाशाय साधूनां रक्षणाय च अवतीर्णः।प्रमथाः रुद्रभूतानि। रक्षणाय चेति चशब्दो विनाशायेत्यनेनान्वेतव्यः। स चाऽन्वाचयद्योतकः। दुष्कृद्विनाशन मानुषङ्गिक मवताराप्रयोजनं, सङ्कल्पमात्रेणाऽपि तत्सिद्धेः। साधुपरित्राणमेव परममवताराप्रयोजनमिति बोध्यम् ॥ १४ ॥

एवंविधस्य तव [1-]अचिन्त्यप्रभावस्य[-1] इदं केशिहननं उचितमेवेति अभिनन्दति **दिष्ट्येति**। अयमश्वाकृति र्दैत्यः केशी लीलयैव ते त्वया हतः। दिष्ट्या, अयमस्माकं महानानन्द इत्यर्थः। लीलया हत इत्यनेन दुर्वधोऽपि लीलया हत इत्येतदद्भुतमित्यभिप्रेतम्। दुर्वधत्वमेव व्यनक्ति। यस्य केशिनो हेषितेन सन्त्रस्ता नितरां भीतास्सन्तः अनिमिषा इन्द्रादयो दिवं त्यजन्तीति ॥ १५ ॥

कर्तव्य मावेदयति — **चाणूर**मित्यादिना। अद्यैवाऽहन्यक्रूर एष्यति, श्वो मधुरां गन्तासि, परश्वश्चाणूरादीन् त्वया निहतान् द्रक्ष्यामि - इति। सिद्धवन्निर्देशो विज्ञापनप्रकारविशेषः ॥ १६ ॥

तस्य अनु तदनन्तरं, शङ्खादीनां[2] नरकस्य च, वधमिति शेषः। द्रक्ष्ये इत्यनुषङ्गः। शङ्खः[3] पञ्चजनः। भाविनिर्देशमात्र मेवैतत्, नत्वानन्तर्यं विवक्षितम्। यानि पारिजातापहरणादीनि। यानि द्वारकामधिवसन् भवान् वीर्याणि चेष्टितानि कर्ता करिष्यति। तानि सर्वाणि कविभिरस्मदादिभिः गेयान्यहं द्रक्ष्यामीति सम्बन्धः ॥ १७ ॥

वीर्यमेव शुल्कादिलक्षणं प्रदेयद्रव्यस्वरूपं यस्मिन् तं, वीराणां भीष्मकादीनां याः कन्याः रुक्मिण्यादयः तासां विवाहमित्यर्थः। नृगस्य शापान्मोक्षणं त्याजनमिति सम्बन्धः। हे जगत्पते! ॥ १८ ॥

---

1- -1. T,W omit 2. T,W omit यानि 3. K वीराणि

**विज०** अलौकिकस्य वस्तुनोऽसाधारणलक्षणेन निर्णेतुं शक्यते इति तत्राऽऽह - **आत्मनेति।** पूर्वं जगदादौ आत्मना परप्रेरणामन्तरेण। केनोपादानेनेत्यत उक्तं माययेति। मायया प्रकृत्या। कुलालस्य शालाद्यधिष्ठानदर्शनादस्य किमधिष्ठान मिति तत्राऽऽह आत्माश्रय इति। स भगवान् कस्मिन् प्रतिष्ठित इति "स्वे महिम्नि" (छान्दो.उ. 7-24-1) इति श्रुतेः। गुणान्महदादीन् ॥ १३ ॥

अवनप्रकारं दर्शयति **स त्वमिति** ॥ १४ ॥

अनिमिषा देवाः। "सुरमत्स्यावनिमिषौ (अम.को. 3-374) इति च ॥ १५ ॥

स्वोक्तार्थे वचनं प्रमाणयितुं भाविनमर्थं दिव्यचक्षुषोपलक्ष्य वक्ति **चाणूरमि** त्यादिना। ते तव करेण॥ १६ ॥

यथेदानीं केश्यादिहननं प्रत्यक्षं भवति, एवमेव कालान्तरे क्रियमाणमपि कर्म दृग्विषयं भविष्यतीति भावेनाऽऽह **तस्येति।** तस्य कंसस्य अनु अनन्तरं शङ्खादीनां हननमिति। शङ्खः पञ्चजनासुरः ॥ १७ ॥

आदिशब्देन लक्ष्यवेधनमाह। "लक्षणं कार्षिके चिह्ने नाम्नि मुद्राङ्कसम्पदोः" (वैज.को. 7-3-28) इति च ॥ १८ ॥

**स्यमन्तकस्य च मणे रादानं सह भार्यया।**
**मृतपुत्त्रप्रदानञ्च ब्राह्मणस्य स्वधामतः ॥ १९ ॥**

**पौण्ड्रकस्य वधं पश्चात्काशिपुर्याश्च[1] दीपनम्।**
**दन्तवक्त्रस्य निधनं चैद्यस्य च महाक्रतौ ॥ २० ॥**

**यानि चाऽन्यानि वीर्याणि द्वारका मावसन्भवान्।**
**कर्ता द्रक्ष्याम्यहं तानि गेयानि कविभि र्भुवि ॥ २१ ॥**

**अथ ते कालरूपस्य क्षपयिष्णो रमुष्य वै।**
**अक्षौहिणीनां निधनं द्रक्ष्याम्यर्जुनसारथे[2] ॥ २२ ॥**

**विशुद्धविज्ञानघनं स्वसंस्थया समाप्तसर्वार्थ ममोघवाञ्छितम्।**
**स्वतेजसा नित्यनिवृत्तमायागुणप्रवाहं भगवन्तमीमहि[4][5] ॥ २३ ॥**

त्वामीश्वरं स्वाश्रयमात्ममायया विनिर्मिताशेषविशेषकल्पनम्।
क्रीडार्थमद्याऽऽप्त मनुष्यविग्रहं नतोऽस्मि धुर्यं यदुवृष्णिसात्त्वताम् ॥ २४ ॥

---

1. K,P,V °शी° 2. G,J,M,Ma °थेः। 3 M,Ma वर्तिनम् 4 P,V मायया 5 T,W °हे 6- -6. G,J मद्याऽऽप्त; M,Ma माद्यन्त; P,V मध्याऽऽप्त

**श्रीध० स्यमन्तकस्येति**। भार्यया जाम्बवत्या सह स्वधामतः महाकालपुरात् ॥ १९,२० ॥

**यानीति**। द्वारकामावसन्, द्वारकायां वसन् कर्ता करिष्यति ॥ २१ ॥

**अथेति**। अमुष्य विश्वस्य, भूभारस्य वा ॥ २२ ॥

एवं विज्ञाप्य कृताभिवन्दनं भगवन्तं नमस्यति द्वयेन **विशुद्धेति**। केवलज्ञानैकमूर्तिम्। अतएव स्वसंस्थया स्वरूपसम्यक्स्थित्यैव परमानन्दरूपया, सम्यगाप्ताः प्राप्ताः सर्वे अर्था येन तम्, आप्तकामतोक्ता। सत्यसङ्कल्पतामाह अमोघवाञ्छितमिति। ननु वाञ्छा चेत्, तर्ह्यस्ति दुर्निवारा संसृतिः। अत आह - स्वतेजसेति। स्वतेजसा चिच्छक्त्या नित्यनिवृत्तो मायाकार्यरूपो गुणप्रवाहो यस्मात्तम्। अतो भगवन्तं निरतिशयैश्वर्यं ईमहि शरणं व्रजेमेति ॥ २३ ॥

ननु त्रिकालज्ञस्त्वं, कथमेतत्प्रपञ्चं न जानासि, जानासि चेत् कथमगुणप्रवाहं ब्रवीषीति तत्राऽऽह — **त्वामिति**। ईश्वरमन्यस्य वशयितारं, स्वाश्रयमन्यस्यावशम् अत आत्ममायया आत्माधीनमायया विनिर्मिता अशेषविशेषा महदाद्या यादवादिरूपा वा कल्पना येन तम् धुर्यं श्रेष्ठं नतोऽस्मीति ॥ २४ ॥

---

1 J,Va °न° 2. J,Va °लं 3. J,Va omit प्राप्ताः 4- -4. J,Va omit 5- -5. P,V omit 6. J,V °नया मा°

**वीर०** भार्यया जाम्बवत्या, सत्यभामया च सह द्वारकायां स्यमन्तकाख्यस्य मणे रादानं, ब्राह्मणस्य ब्राह्मणाय स्वधामतः स्वस्थानात् सङ्कर्षणलोकादित्यर्थः। आनीयेति शेषः। मृतानां पुत्रणां प्रदानम् ॥ १९ ॥

दीपनं दाहनं महाक्रतौ युधिष्ठिरराजसूये चैद्यस्य शिशुपालस्य च निधनं वधम् ॥ २०, २१ ॥

अथ, ननु अमुष्य भूभारस्येति कर्मणि षष्ठी क्षपयिष्णो रपाचिकीर्षोः कालशरीरस्य ते त्वया अक्षौहिणीनां सेनानां निधनं द्रक्ष्यामि। हे अर्जुनसारथे! अर्जुनादिप्रयोज्यकर्तृभिः क्षपयिष्णोरित्यभिप्रायेण अर्जुनसारथे! इति सम्बोधनम्॥ २२॥

एवं विज्ञाप्य कृताभिनन्दनं भगवन्तं प्रपद्य नमस्करोति **विशुद्धेति** द्वाभ्याम्। विशुद्धविज्ञानघनम् अपहृतपाप्मत्वादिगुणकं केवलज्ञानैकस्वरूपं स्वसंस्थया स्वनिष्ठया निरतिशयानन्दस्वात्मानुभावनिष्ठया। समाप्ताः सर्वे अर्थाः कामाः यस्य तम्। प्रयोजनान्तरानपेक्ष इत्यर्थः। यद्वा, सम्यगाप्तास्सर्वे अर्था यस्य तम्। अवाप्तसमस्तकाममित्यर्थः। सत्यसङ्कल्पता माह —

अमोघवाञ्छितमिति। अमोघवर्तिनमिति पाठे, अमोघं यथा भवति तथा कार्ये प्रवर्तमानं, स्वतेजसा पराभिभवनसामर्थ्येन[2] नित्यं निवृत्ताः मायागुणाः तेषां प्रवाहः संसारः[3] यस्य तम्, भगवन्तं षाड्गुण्यपूर्णमीश्वरं त्वा मीमहे प्रपद्येमहि ॥ २३ ॥

स्वयमेवाऽऽश्रयो यस्य तम्। "स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः" (छान्दो.उ. 7-24-1) इति श्रुत्युक्तरीत्या अनन्याधार मित्यर्थः। आत्ममायया स्वसङ्कल्पेन विनिर्मिताः अशेषास्सर्वे विशेषाः पृथिव्यादयः तेषां कल्पना देवादिरूपा सृष्टि र्येन तम्। अद्य अधुना क्रीडार्थमातः मनुष्यस्येव विग्रहो येन तम्। यद्वादीनां धुर्यं श्रेष्ठं त्वां नतोऽस्मि। यद्यपि सात्त्वच्छब्दो भागवतपरः तथाऽपि सात्त्वतेष्वपि भक्तत्वयोगात् प्रवर्तते। एव मन्यत्राऽपि द्रष्टव्यम् ॥ २४ ॥

1. T,W omit इति 2. T,W omit न 3. T,W omit संसारः

**विज०** वीर्याणा मवश्यज्ञेयत्वमाह गेयानीति। भुवीति विशेषणेन वीर्याणां संसारनिवृत्त्यर्थमेव कृतत्वं सूचयति ॥ १९,२०,२१ ॥

अथ भारतयुद्धे अमुष्य भूवलयस्य अवशिष्टं क्षपयिष्णोः क्षीणं कर्तुकामस्य अक्षौहिणीनाम्, अष्टादशानामिति शेषः। अर्जुनसारथेरित्यनेन भारतयुद्धे इति सूचयति ॥ २२ ॥

उपास्यरूपं विशिनष्टि- **विशुद्धेति**। भगवन्तं शरणमीमहीत्यन्वयः। कीदृशम्? विशुद्धविज्ञानघनम् अप्राकृतज्ञानमूर्तिं स्वसंस्थया स्वव्यवस्थया अपराधीनस्थित्या समाप्तसर्वार्थं समाप्ताशेषपुरुषार्थम्। के चित् हरे र्वृत्तिः मायामयीति सङ्गिरन्ते तत्राऽऽह — अमोघेति। कुत एतत्कथ्यत इति तत्राऽऽह - नित्येति। नित्यनिवृत्तमायागुणानां प्रकृतिगुणानां प्रवाहः परम्परा यस्मिन्स तथा। नन्वेतन्मुक्तानामप्यस्तीति तत्राऽऽह - स्वतेजसेति। स्वप्रभावेण "तेजो बले प्रभावेऽग्ने" (वैज.को. 6-3-4) इति ॥ २३ ॥

हे आद्यन्त! राक्षसनाशकर्तः! ईश्वरं, त्वां नतोऽस्मि। ईश्वरत्वं समर्थयते स्वाश्रयमित्यादिना। आत्माधीनया मायया प्रकृत्या, स्वेच्छया वा क्रीडार्थं क्रीडितुं विनिर्मिताशेषविशेषकल्पनं विरचितसमस्तदेवब्राह्मणासुरादि तत्तद्वस्तुतारतम्यलक्षणविशेष व्यवस्थानं मनुष्यविग्रह इव विग्रहो यस्य तथा तम्। मांसदृष्ट्या मनुष्याकारमित्यर्थः। मनुष्यदेहस्वीकारे कृत्यमा धुर्यमिति। धुरं वहति यो धुर्य इत्यतो यदुवृष्णिसात्त्वतां धुरस्य वोढारम्, आद्यन्तधुर्यमितिविशेषणद्वयेन दुष्टविनिग्रहविशिष्टपालनरक्षणकार्यार्थं मनुष्यविग्रहस्वीकार इति विज्ञायते। आद्यन्तो मनुष्यविग्रहो यस्येत्यर्थाङ्गीकारे "आदिनो राक्षसाः प्रोक्ता स्तदन्तत्वा ज्जनार्दनः" (ब्राह्मे) इति वचनम् निरुणद्धि। विशुद्धविज्ञानघनमित्यादिविशेषणानि चोक्तानि व्याहतानि स्युरिति ॥ २४ ॥

## श्रीशुक उवाच

**एवं यदुपतिं कृष्णं भगवत्प्रवरो[1] मुनिः**
**प्रणिपत्याऽभ्यनुज्ञातो[2] ययौ तद्दर्शनोत्सुकः ॥ २५ ॥**

भगवानपि गोविन्दो हत्वा केशिनमाहवे।
पशूनपालयद्बालैः प्रीतैर्व्रजसुखावहः ॥ २६ ॥

व्योमासुरवधघट्टः

एकदा ते पशून्पालांश्चारयन्तोऽद्रिसानुषु।
चक्रुर्निलायनक्रीडाश्चोरपालापदेशतः ॥ २७ ॥

तत्राऽऽसन्कतिचिच्चोराः पालाश्च कतिचिन्नृप।
मेषायिताश्च तत्रैके विजहु रकुतोभयाः ॥ २८ ॥

मयपुत्रो महामायो व्योमो गोपालवेषधृत्।
मेषायितानपोवाह प्रायश्चोरायितो बहून् ॥ २९ ॥

1- -1. G,J,K,T,W भागवतप्र° 2. G,J,M,Ma °त्सवः 3. P,V °शृंङ्गचापा° 4. G,J,M,Ma यत्पालैः 5. G,J,K °न्पालाश्चा°; P,V °न्बालाश्चा° 6. A,B,K,M,Ma, P,v,w, °डांश्चो° 7. G,J,T,W वेषधृक्; M,Ma रूपधृक्; P,V रूपभृत्

**श्रीध०** न्नु नारदेन व्योमवधो न दृष्टः, तत्कथं व्योमवधप्रसक्तिरिति तत्रोच्यते- प्रातरेव केशिवधानन्तरं नारदोक्त मङ्गीकृत्य पुनस्तथैव पशून् चारयता व्योमो हतः। यद्वा व्योमवधः पूर्वमेव वृत्तोऽपि वेषधारिवधप्रसङ्गादत्रोच्यत इति द्रष्टव्यम्। केचित्पुनः शङ्खचूडवधात्पूर्वमेव पठन्ति च। तमाह **एकदेति**॥ २५-२८ ॥

**मयेति**। मेषायितान् मेषवदाचरितान् स्वयं चोरवदाचरितस्सन् अपोवाह अपकृष्य निनाय॥ २९ ॥

1- -1 P.V omit 2. P.V. °वं 3 P.V. °देनोक्त० 4 J.Va पाल० 5- -5 P.V. omit

**वीर० एवमिति**। तस्य दर्शनादुत्सुकः हृष्टमनाः प्रययौ॥ २५ ॥

अथ भगवानाहवे युद्धे केशिनं हत्वा नारदेन विज्ञापितश्च व्रजस्य सुखमावहतीति तथाभूतः गोपैस्सह पशूनपालयत्॥ २६॥

प्रातरेव केशिवधानन्तरं नारदोक्तमङ्गीकृत्य पुनस्तथैव पशून्पालयता व्योमासुरो हतः। यद्वा, व्योमवधः पूर्वमेव वृत्तोऽपि वेषधारिवधप्रसङ्गादत्रोच्यत इति द्रष्टव्यम्। केचित्पुनः शङ्खचूडवधात्पूर्वमेव पठन्ति च। तमनुवर्णयति **एकदेति**। कदाचित्ते गोपाः पशूनद्रेस्सानुषु चारयन्तः चोरपालव्यवहारेण निलायनाख्यां क्रीडां चक्रुः॥ २७ ॥

तामेव दर्शयति — **तत्रेति**। तत्र गोपानां मध्ये कतिचिद्गोपाः चोरव्यपदेश्याः बभूवुः। हे नृप! केचित्तु पालाश्चौरेभ्यो रक्षकाः। अवशिष्टास्तु केचिन्मेषवदाचेरुः। एवं निर्भया विजहुः ॥ २८ ॥

एवं सति तदा मयस्य पुत्रो व्योमः महामायः अत एव गोपालस्येव रूपं बिभ्राणः स्वयं प्रायशः चोरवदाचरन् मेषवदाचरितान्बहून्गोपानपोवाह अपकृष्य निनाय ॥ २९ ॥

**विज०** तस्य दर्शनेन उत्सव उत्कृष्ट आनन्दो यस्य स तथा ॥ २५,२६ ॥

चोरपालापदेशतः वयं पशूंश्चोरयामः, वयं पालयाम इति अपदेशेन छन्नमनसा निलायनक्रीडां निलीनकर्मलक्षणक्रीडाम् ॥ २७,२८ ॥

चोरायितः चोरवद्वर्तमानः ॥ २९ ॥

**गिरिदर्यां विनिक्षिप्य नीतं[1-] नीतं[-1] महासुरः।**
**शिलया पिदधे द्वारं चतुःपञ्चावशेषिताः ॥ ३० ॥**

**तस्य तत्कर्म विज्ञाय कृष्णश्शरणदस्सताम्।**
**गोपान्नयन्तं जग्राह वृकं हरिरिवौजसा ॥ ३१ ॥**

**स निजं रूप मास्थाय गिरीन्द्रसदृशं[2] बली।**
**इच्छन्विमोक्तु मात्मानं नाऽशक्नो द्ग्रहणातुरः ॥ ३२ ॥**

**तं[3] निगृह्याऽच्युतो[4] दोर्भ्यां पातयित्वा महीतले।**
**पश्यतां दिवि देवानां पशुमारममारयत् ॥ ३३ ॥**

**गुहापिधानं निर्भिद्य गोपान्निस्सार्य कृच्छ्रतः।**
**स्तूयमानस्सुरै र्गोपैः प्रविवेश स्वगोकुलम् ॥ ३४ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
पूर्वार्धे व्योमासुरवधो नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

1- -1. K नीतान् नीतान् 2. M,Ma °हुरुणा° 3. M,Ma स 4. K,T,W ०हृत्य ततो

**श्रीध० गिरीति**। पिदधे छादितवान् ॥ ३० ॥

**तस्येति**। शरणदः आश्रयप्रदः। हरिः सिंह इव ॥ ३१,३२ ॥

**तमिति**। पशुमारं पशुमारो यथा भवति तथा। अनिःश्वास[1] मित्यर्थः ॥ ३३

**गुहेति** । भुवि गोपैः स्तूयमानः उपरि वैमानिकैर्देवैरिति ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

1. P,V अविश्वा°

**वीर०** एवं नीता न्नीतान्गोपान् गिरिदर्यां गिरिगुहायां विनिक्षिप्य तस्याः द्वारं शिलया पिदधे छादितवान्, क्रीडायां तु चत्वारः पञ्च वा गोपा अवशेषिताः ॥ ३० ॥

तदा तस्य व्योमस्य कर्म चेष्टितं, विज्ञाय सतां शरणदः आश्रयप्रदः, हेतुगर्भं, गोपान्नयन्तं व्योमं सिंहो वृकमिव ओजसा बलेन जग्राह ॥ ३१ ॥

तदा स व्योमः पर्वतश्रेष्ठतुल्यं स्वासाधारणरूपं बिभ्रत् बली ग्रहणात्पीडितः आत्मानं विमोक्तुं इच्छु रपि नाऽशक्नोत् ॥ ३२ ॥

तथा तं व्योमं नितरां गृहीत्वा भूतले पातयित्वा च दिवि देवानां पश्यतां सतां पशुमारो यथा भवति तथा यज्ञियपशुमिवेति यावत्। मारयामास ॥ ३३ ॥

ततो गुहायाः पिधानं छादनं[1-] शिलां[-1] निर्भिद्य कृच्छ्रतो दुर्गात् गिरिदरीपतनजान्निस्तार्य, गोपैः सुरैः[2] स्तूयमानश्च स्वगोकुलं विवेश ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

1- -1. T,W omit 2. T,W omit सुरैः

**विज०** गिरिदर्यां पर्वतगुहायाम् ॥ ३० ॥

हरिः सिंहः ॥ ३१ ॥

गुरुणा महता हरिणा, गृहीत इति शेषः ॥ ३२ ॥

पशून्मारयति त्यक्तप्राणान्करोति ॥ ३३,३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

(विजयध्वजरीत्या पञ्चत्रिंशोऽध्यायः)

# अष्टत्रिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या षट्त्रिंशोऽध्यायः)

## रामकृष्णानयनार्थं अक्रूरस्य नन्दगोकुलप्रवेशघट्ट

उवाच[-1]

अक्रूरोऽपि च तां रात्रिं मधुपुर्यां महामतिः।
उषित्वा रथमास्थाय प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥ १ ॥

गच्छन्पथि महाभागो भगवत्यम्बुजेक्षणे।
भक्तिं परामुपगत एवमेतदचिन्तयत् ॥ २ ॥

किं मयाऽऽचरितं भद्रं किं तप्तं परमं तपः।
किं वाऽप्यथार्हते दत्तं यद्वक्ष्याम्यद्य केशवम् ॥ ३ ॥

ममैतद्दुर्लभं मन्य उत्तमश्लोकदर्शनम्।
विषयात्मनो यथा ब्रह्मकीर्तनं शूद्रजन्मनः ॥ ४ ॥

मैवं मामाऽधमस्याऽपि[2-] स्यादेवाच्युतदर्शनम्।
ह्रियमाणः कालनद्या[3] क्वचित्तरति कश्चन ॥ ५ ॥

ममाऽद्याऽमङ्गलं नष्टं फलवांश्चैव मे भवः।
यन्नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रिपङ्कजम् ॥ ६ ॥

1- -1. P,V omit 2- -2. M,Ma मामवमंस्यामि 3. M,Ma °द्यां

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अष्टत्रिंशे यथा ध्यायन्नक्रूरो गोकुलं गतः। तथैव रामकृष्णाभ्यां गृहं नीत्वा सुसत्कृतः॥
प्रातः केशिवधे वृत्ते द्वादश्यां निर्गते मुनौ। ततो व्योमे हतेऽक्रूरस्सायं गोकुलमागमत्॥

तदेवं नारदेन[1] कंसवधादिकार्ये विज्ञापिते श्रीकृष्णो मधुरां गन्तुमुद्यतो वर्तते तदा अक्रूरोऽपि गोकुलमागमदित्याह- **अक्रूरोऽपीति**। अपीति सम्भावनायाम् ॥ १,२ ॥

**किमिति**। अर्हते योग्याय ॥ ३ ॥

स्वस्य कृष्णदर्शने असम्भवमाशङ्क्य पुनस्सम्भावयति — **ममैतदिति** द्वाभ्याम्। विषयात्मनः विषयाविष्टचित्तस्य शूद्राजन्म यस्य तस्य ब्रह्मकीर्तनं वेदोच्चारणं यथेति ॥ ४ ॥

**मैवमिति**। यद्वा, मैवम्। किन्तु अधमस्याऽपि नीचस्यापि मम स्यादेव। कुत इत्यत आह — ह्रियमाणः कालनद्येति। अयम्भावः - यथा नद्या ह्रियमाणानां तृणादीनां मध्ये कश्चित् कदाचित् तरति, कूलं प्राप्नोति तथा कर्मवशेन कालेन ह्रियमाणानां जीवानां मध्येऽपि कश्चित्तरेदिति सम्भवतीति ॥ ५ ॥

**ममेति**। अतोऽनया प्रवृत्त्यैव ममाऽमङ्गलं ध्रुवं नष्टमेवेति ज्ञायते। भवो जन्म च सफलं जातमिति, यत् यतः नमस्ये नमस्करिष्यामि ॥ ६ ॥

---

1. J,Va अपिः 2. J,Va कृष्णस्य 3. J,Va द्वयेन 4. J,Va omit अपि 5. J,Va किञ्चित् 6- -6. P,V omit 7. J,Va omit नमस्ये

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

"तथाऽक्रूरस्स्वमालयम्" (भाग. 10-36-71) इत्युक्तम्। ततस्स किमकरोत् इत्याशङ्क्य व्रजं प्रति अक्रूरगमनं तस्य च मनोरथसिद्धिं चाऽऽह अष्टत्रिंशेन **अक्रूरोऽपीति**। मे महती भगवद्विषया मतिर्यस्य सः, उषित्वा स्थित्वा प्रभाते रथमधिरुह्य नन्दगोकुलं प्रति ययौ प्रतस्थे ॥ १ ॥

महाभागः दुर्लभतरभविष्यद्भगवद्दर्शनात्मकमहाभाग्यवान् भगवति परां भक्तिं प्राप्तः, इतीत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण अचिन्तयत्॥ २ ॥

कंसकृतनिर्बन्धादलब्धभगवद्दर्शनः सम्प्रति तत्प्रेषणया भगवन्तं दिदृक्षुः तावदात्मनः तद्दर्शननिदानं बहुधा तर्कयति **किं मयेति**। अर्हते योग्याय सत्पात्रभूताय दत्तं किमित्यूहः। कुतः? यद्यस्मात् अद्य केशवं द्रक्ष्यामि, अन्यथैतन्न सम्भाव्यत इति भावः ॥ ३ ॥

पुनः "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" इति न्यायेन दर्शनासम्भवमाशङ्क्य पुनस्सम्भावयति — **ममैतदिति** द्वाभ्याम्। विषयात्मनः विषयाविष्टचित्तस्य ममैतदुत्तमैः ब्रह्मादिभिः केवलं श्लोकस्य स्तुत्यस्य वितर्क्यस्येति यावत्, न तु दृश्यस्येति भावः। तस्य दर्शनं दुर्लभं मन्ये, यथा शूद्राजन्म यस्य तस्य ब्रह्मकीर्तनं वेदप्रवचनं दुर्लभं तद्वत् ॥ ४ ॥

यद्वा, मैवम्। किन्त्वधमस्य नीचस्याऽपि ममाऽच्युतदर्शनं स्यादेव। कुत इत्यत आह — ह्रियमाण इति। अयम्भावः — यथा नद्या ह्रियमाणानां तृणादीनां मध्ये किञ्चित् कदाचित्तरति, तथा कर्मवशेन कालेन ह्रियमाणानां जीवानामपि मध्ये कश्चित्तरेदिति सम्भवतीति ॥ ५ ॥

अनया प्रवृत्त्यैव मम अद्य[4] अमङ्गलं नूनं नष्टं, मम भवो जन्माऽपि सफलं जातम्। कुतः, यद्यतो भगवतो योगिभिः केवलं ध्येयमेव, न तु दृश्यम्, अङ्घ्रिपङ्कजं नमस्करिष्ये ॥ ६ ॥

---

1- -1. T,W इत्यत्राऽऽह 2. K adds इत्यर्थः 3. T,W omit स्तुत्यस्य 4. T,W omit अद्य

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अज्ञानां भगवद्भक्तिकरणनिदर्शनार्थं गोकुलयात्राकथनच्छद्मना अक्रूरस्य भक्त्युद्रेकः प्रतिपाद्यतेऽस्मिन्नध्याये। मधुपुर्यां मधुरायां यस्यां रात्र्यां न्ययुङ्क्त तां रात्रिम् ॥ १,२ ॥

भद्रं पुण्यं सामान्योक्तं विशिनष्टि — किं तप्तमित्यादिना। अर्हते विष्णुभक्त्यादिगुणसम्पन्नाय ॥ ३ ॥

ब्रह्मकीर्तनं वेदाध्ययनम् ॥ ४ ॥

उक्तमनुवदति — **मैवमिति**। अहमेवमच्युतदर्शनं दुर्लभमिति आत्मानं मावमंस्यामि नावजानामि। कुत इत्यत्राऽऽह-स्यादिति। कथमेतत्सम्भवति, इत्यत्राऽऽह — ह्रियमाण इति। कश्चन विष्णुभक्तिमान् ॥ ५ ॥

भवो जन्म, योगिभिः सनकादिभिः ॥ ६ ॥

**कंसो बताऽद्याऽकृत मेऽत्यनुग्रहं द्रक्ष्येऽङ्घ्रिपद्मं प्रहितो मुरारेः[-1]।**
**कृतावतारस्य दुरत्ययं तमः पूर्वेऽतरन् यन्नखमण्डलत्विषा ॥ ७ ॥**

**यदर्चितं ब्रह्मभवादिभिस्सुरैः श्रिया च देव्या मुनिभिस्ससात्त्वतैः[2]।**
**गोचारणायानुचरैश्चरद्वने यद्गोपिकानां[3] कुचकुङ्कमाङ्कितम् ॥ ८ ॥**

**द्रक्ष्यामि नूनं सुकपोलनासिकं स्मितावलोकारुणकञ्जलोचनम्।**
**मुखं मुकुन्दस्य गुडालकावृतं प्रदक्षिणं मे प्रचरन्त्यमी[4-] मृगाः[-4] ॥ ९ ॥**

**अप्यद्य विष्णोर्मनुजत्वमीयुषो भारावताराय भुवो निजेच्छया।**
**लावण्यधाम्नो भवितोपलम्भनं महयं[5] न न स्यात्फलमञ्जसा दृशः[6-] ॥ १० ॥**

**य ईक्षिताऽहं रहितोऽप्यसत्सतोः स्वतेजसाऽपास्ततमोभिदा भ्रमः।**
**स्वमाययाऽऽत्मन् रचितैस्तदीक्षया प्राणाक्षधीभिस्सदनेष्वभीयते[7-] ॥ ११ ॥**

1- -1. G,J,M,Ma, P,V °तोऽमुना हरेः। 2. P,V °श्च 3. M,Ma °स्समं वने 4- -4. G,J,M,Ma °रन्ति वै 5. M,Ma ननु 6. M,Ma °मद्य सन्दृशः 7- -7. M,Ma °तेषु तत्सन्प्राणादिभिर्जन्तुषु भाति चित्रधा।

**श्रीध०** अमङ्गलनाशे सूचनान्तरमाह — **कंस** इति। बतेत्याश्चर्ये। अतिखलः कंसोऽपि ममाऽत्यन्तमनुग्रहं अकृत कृतवान्। यतोऽमुना कंसेन प्रहितो हरेरङ्घ्रिपद्मं द्रक्ष्ये द्रक्ष्यामीति। पूर्वे अम्बरीषादयः तमस्संसारमतरन् तीर्णाः॥७॥

अङ्घ्रिपद्मं विभावयति **यदिति**। ब्रह्मादिभिरर्चितमिति परमैश्वर्यमाह। श्रिया चेति सौभाग्यातिशयं, मुनिभिः भक्तिसहितैः इति परमपुरुषार्थत्वं, गोचारणायेति कृपालुत्वं, यद्गोपिकानामिति प्रेममात्रसुलभत्वम् ॥ ८ ॥

मनोरथान्तरं करोति **द्रक्ष्यामीति**। शोभनौ कपोलौ नासिका च यस्मिंस्तत्, स्मितसहितः अवलोको यस्मिन्, अरुणकञ्जवल्लोचने यस्मिन् तच्च तच्च मुखं, गुडालकावृतं वक्रकेशावृतं, तदानीमेव शुभसूचकं दृष्ट्वा अतिहृष्यन्नाह प्रदक्षिणमिति॥ ९॥

पुनरप्यन्यच्चिन्तयति — **अपीति**। ईयुषः प्राप्तवतः लावण्यस्य धाम आश्रयः तस्य विष्णोः। यद्वा विष्णोर्लावण्ययुक्तं यद्धाम वपुः, तस्योपलम्भनं दर्शनं भविता भविष्यति। अपि यद्येवं स्यात्तर्हि महच्चं मम दृशो लोचनस्य फलं न स्यादिति न, अपि तु स्यादेवेत्यर्थः ॥ १० ॥

**य ईक्षितेति**। चतुर्भिः कलापकम्। तत्रैवं शङ्का - ननु अस्मदादिवदेव कर्तृत्वभोक्तृत्वादिधर्मैः तत्र तत्र प्रतीयमानस्य कथं विष्णुत्वमिति, इमामाशङ्कां श्लोकत्रयेणाऽपाकुर्वन्, चतुर्थेन तमहं द्रक्ष्यामीति मनोरथं करोति। तथाहि य इति। य ईक्षिता ईक्षणमात्रकर्ता, असत्सतोः कार्यकारणयोः ईक्षणादिकर्ताऽपि अहंरहितः अहङ्कारहीनः। तथा अपास्ततमोभिदा भ्रमः तमस्त्वज्ञानं ततो भिदा भेदः, ततो भ्रमः, अभिनिवेशादिः अपास्ता अपाकृता स्तमआदयो यस्मिन् सः, कुत एतत्तत्राऽऽह-स्वतेजसा चिच्छक्त्या नित्यस्वरूपसाक्षात्कारेण, तथाऽपि स्वमायया स्वाधीनमायया तदीक्षया तस्यैवेक्षया प्राणाक्षधीभिः सहितैः आत्मन् आत्मनि, स्वस्मिन्नेव रचितैर्जीवैः सदनेषु बृन्दावनतरुषु, गोपीगृहेषु च लीलया कर्माणि कुर्वन् सक्तवत् अभीयते आभिमुख्येन प्रतीयते ॥ ११ ॥

1. J,Va °का° 2. J,Va omit अकृत 3. P,V omit कंसेन 4. J,Va शोभमानौ 5. P,V कुलकं 6. P,V omit ननु 7. J,Va °मां श° 8- -8. J,Va omit 9- -9. J,Va ईक्षिता परीक्षणमात्र 10. J,Va °स्वा°

**वीर०** अद्याऽधुना कंसो मे महच्चं अत्यर्थमनुग्रहमेवाऽकृत अकरोत्। बतेत्याश्चर्ये। कुतः? यतः अमुना कंसेन प्रहितः प्रेषितोऽहं मुरारेः अङ्घ्रिपङ्कजं द्रक्ष्यामि। कथम्भूतस्य? कृतः अवतारो येन तस्य, कथम्भूतम्? यस्याऽङ्घ्रिपङ्कजस्य नखमण्डलत्विषा हृदि भाव्यमानया साधनभूतया पूर्वे प्रह्लादयो दुरत्ययं तमःकार्यं संसारमतरन्। तमः पापम्। "पाप्मा वै तमः" इति श्रुतेः ॥ ७ ॥

अङ्घ्रिपद्मं विभावयति — **यदिति**। यच्छब्दयोः तदङ्घ्रिपद्मं द्रक्ष्ये इति पूर्वेण सम्बन्धः। ब्रह्मरुद्रौ आदी येषां तैः सुरैरर्चितम्। अनेन परत्वमुक्तम्। देव्या देवस्य विष्णोस्सम्बन्धिन्या श्रिया लक्ष्म्या च अर्चितम्। अनेन पारमैश्वर्यमुक्तम्, श्रिया ब्रह्मादिभिः आश्रीयमाणया लक्ष्म्याऽप्यर्चितत्वोक्तेः। सात्त्वतैर्भक्तैस्सह। मुनिभिरप्यर्चितमित्यनेन सौभाग्यातिशय उक्तः।

सात्त्वन्त एव सात्त्वताः, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण्। अनुचरैस्सह वने गोचारणार्थमनुचरदित्यनेन वात्सल्यं सौलभ्यं[5] चोक्तम्। गोपिकानां कुचकुङ्कुमैः अङ्कितमित्यनेन कमनीयत्वमुक्तम् ॥ ८ ॥

**द्रक्ष्यामीति**। नूनमहं मुकुन्दस्य मुखं द्रक्ष्यामि। तत्सूचकशुभं दृष्ट्वा हृष्यन्नाह — अमी मृगाः मे मम प्रदक्षिणं यथा तथा प्रचरन्ति गच्छन्ति। कथम्भूतं मुखम्? शोभनौ कपोलौ नासिका च यस्मिन्, स्मितसहितः अवलोको यस्मिन् तच्च तच्च अरुणे कञ्जवत् (पङ्कजवत्) लोचने यस्मिन्, तच्च गुडालकैः वक्रकेशै रावृतम्[6] ॥ ९ ॥

पुनरप्यन्यच्चिन्तयति — **अप्यद्येति**। भुवो भारावताराय भारापनोदनाय, निजेच्छया न तु कर्मणा मनुजत्वमीयुषः प्राप्तवतो निरतिशयलावण्याश्रयस्य विष्णोरुपलम्भनं दर्शनं भविता भविष्यति[7]। अप्यद्य यद्यधुनैवं(व)स्यात्तर्हि महयं मम दृशो लोचनस्य अञ्जसा आशु अव्यवहितं फलं न स्यादिति न; अपि तु स्यादेवेत्यर्थः ॥ १० ॥

ननु कोऽसावस्मदादिविलक्षणो विष्णुः यो मनुजत्वमीयिवान्, यस्य च दर्शनं बहुमन्यसे? इत्याशङ्क्य आह चतुर्भिः - **य** इत्यादिभिः। यच्छब्दयोः स चाऽवतीर्णः इत्युत्तरेण सम्बन्धः। अहंरहित इत्यत्र अहंशब्देन अनात्मन्यात्माभिमानहेतुरहङ्कारो लक्ष्यते। असत्सतोः स्वशरीरभूतयोः प्रकृतिपुरुषयोः ईक्षिता द्रष्टा ज्ञाताऽपि अहंरहितः जीववत्स्वाभेदभ्रमरहितः, जीवो हि देहं पश्यन् स्वाभिन्नमनुसन्धत्ते तद्वद्यः प्रकृतिपुरुषौ पश्यन्नपि न स्वाभिन्नावनुसन्धत्ते; किन्तु स्वरूपतः स्वभावतश्च स्वस्मादत्यन्तविलक्षणावेव पश्यतीत्यर्थः। अनेन बद्धजीववैलक्षण्यमुक्तम्। तत्र हेतुं वदन् मुक्तवैलक्षण्यमाह — स्वतेजसेति। स्वतेजसा स्वासाधारणनित्यासङ्कुचितापरिच्छिन्नज्ञानेन अपास्तं निरस्तं प्रतिक्षिप्तं तमोऽज्ञानं, तन्मूलको भिदाभ्रमः भेदभ्रमः अस्वात्मकस्वतन्त्रवस्तुभ्रमश्च यस्य सः, मुक्तो हि बद्धदशायां सङ्कुचितज्ञानेनाऽनिरस्ताज्ञानतन्मूलकाब्रह्मात्मकस्वतन्त्रवस्तुभ्रमयुक्तः। यद्वा, स्वतेजसा स्वसम्बन्धिना पराभिभवसामर्थ्येन निरस्तं तमोऽज्ञानं तन्मूलको भिदाभ्रमः स्वस्मिन्नद्वारकदेवत्वमनुष्यत्वादिभेदभ्रमश्च यस्य सः। कथमेवम्भूतो विज्ञायते इत्यत्राऽऽह — स्वमायया स्वशरीरभूतया प्रकृत्या कारणभूतया तदीक्षया तद्विषयकेन करणभूतेन स्वसङ्कल्पेन आत्मनि स्वस्मिन्नेव आधारभूते रचितैः प्राणेन्द्रियबुद्धिभिः। लिङ्गव्यत्यय आर्षः। रचिताभिः प्राणेन्द्रियबुद्धिभिः कार्यभूताभिः सदनेषु भोगायतनेषु देहेषु अभीयते अभिगम्यते बुध्यते (इति) प्राणादीनां कारणतया ज्ञायते इत्यर्थः। 'प्राणादिभिर्जन्तुषु भाति चित्रधा' इति पाठे प्राणादीनामपि परमात्मशरीरत्वात् तैर्विशिष्टः चित्रधा भातीति शास्त्रवशादवगम्याऽऽह। न च प्राणादिसृष्टिः जीवकर्तृकैवेति तत्कारणतया ज्ञायमानो जीवान्नातिरिच्यत इति वक्तुं युक्तम्। स्व(स्य)स्वप्राणादिसृष्टेः स्व(स्य)स्वकर्तृकत्वासम्भवात्। न हि प्रबुद्धः स्वदुःखसाधनानि[8] स्वयं सृजति। नाऽपि सर्वप्राणादिसृष्टिरेकजीवकर्तृका(एव) इति युक्तिमत्, तस्यापि स्वयं प्राणादिरहितस्य कर्तृत्वासम्भवात्, प्राणादिमत एव कर्तृत्वदर्शनात्। प्राणादिमत्त्वे तु तत्सृष्टेः कर्त्रन्तरसापेक्षत्वात्। न च तावत्स्वस्य[9] प्राणादीन् सृष्ट्वा ततोऽन्येषामपि सृजतीति वक्तुं युक्तम्। तावत्प्राणादिरहितस्य प्राणादिसृष्टिकर्तृत्वासम्भवात्, अन्योन्याश्रयाच्च। परमात्मा तु करणायत्तज्ञाननिरपेक्षः सङ्कल्पमात्रेणैव प्राणादीन् स्रष्टुं शक्नोतीति तत्कारणतया ज्ञायत इति सुष्ठूक्तम् ॥ ११ ॥

1. T,W omit मे 2- -2. T,W omit 3. K adds (धार्यमाणया) 4. K adds (ब्रह्मादयो) 5. K adds (सौशील्यं) 6. K adds इति 7. T,W omit भविता 8. K सुखदुःख 9. K °यश्च।

**विज०** बत आश्चर्यम्। अद्य अत्यनुग्रहमधिकानुग्रहं अकृत अकरोत्। 'अति ममात्यनुग्रहम्' इति पाठे अति अत्यर्थं स मे कृतवानित्यर्थः। प्रहितः प्रेषितः। अङ्घ्रिपद्मं विशिनष्टि कृतावतारस्येति। पूर्वे ब्रह्मादयो यस्याऽङ्घ्रिपद्मस्य नखानां मण्डलस्य त्विषा तेजसा दुरत्ययं तमोऽज्ञानमघं वा शुचं वा अतरन् तीर्णवन्त इत्यन्वयः ॥ ७ ॥

यच्च ब्रह्मादिभिः सुरैरर्चितं ससात्त्वतैः पाञ्चरात्रिकैः सहितैः, यच्च गोचारणाय गवां तृणचरार्थं अनुचरैर्गोपैः समं वने भ्रान्तम्, यच्च वने गोपिकानां कुचकुङ्कुमेनाऽङ्कितं मुद्रितं तद्वक्ष्ये इति पूर्वत्राऽन्वयः ॥ ८ ॥

नूनं निश्चयात् स्मितावलोके अरुणे कञ्जसदृशे लोचने यस्य तत्तथा। स्मितसहितोऽवलोको ययोस्ते तथा।[1] गुडाः निबिडाः अलकाः कुन्तलाः तैरावृतम्। यद्वा, गुडः गुलिकाः तद्वद्वक्राः, यद्वा, गुडाः इक्षुविकारः तद्वत् स्निग्धा अलकाः तैरावृतम्। दर्शननिश्चये शकुनं वक्ति प्रदक्षिणमिति। वै इत्यनेन अन्ये भारद्वाजनादिपक्ष्यादयो गृह्यन्ते इति सूचयति।

"ऽइक्षुविकृती स्नुही गुलिकयोर्गुडा" (वैज.को. 6-5-27) इति च ॥ ९ ॥

गतवतः उपलम्भनं दर्शनं भविता भविष्यति। मह्यं मम दृशः नेत्रस्य सं समीचीनं फलं स्यान्ननु स्यादेव। "समभेदे समीचीने" (वैज.को. 8-7-8) इति च। "प्रश्नावधारणैतिह्यसमीहाऽनुमते ननु" (वैज.को. 8-7-22) इति। सन्दृश इत्येकं वा पदम्। "न सन्दृशे तिष्ठति" (कठ.उ. 6-9) इति श्रुतिः। सन्दर्शनसाधनस्य नेत्रस्य इत्यर्थः॥ १० ॥

चैतन्यैकरसस्य हरेः गोपत्वेनावभासनं न चोद्यमिति भावेनाऽऽह — **य** इति। यो हरिः [2-]अहंरहितः[-2] अविद्यमानं दर्शनं आत्मनि यद्यभिमन्येत तदा हयुक्तदोषः स्यात्, न चाऽसावस्तीत्यर्थः। यज्ञदत्तवद्देहस्थस्याज्ञानादिसम्भवेन अहम्भावशून्यत्ववचनमौपचारिकं किं न स्यादिति तत्राऽऽह अपास्तेति। अपास्तः निराकृतः तमोभिदाभ्यामज्ञानाऽन्यथाज्ञानाभ्यां उत्पन्नो भ्रमः प्रवृत्तिः यस्य सः। 'भ्रमु अनवस्थाने' इति धातोः। "ष्ठा गतिनिवृत्तौ" इति अवस्थानं गत्यभावः, तदभावः कार्येषु प्रवर्तमानमित्यर्थः। वस्तुतत्त्वाज्ञानविपरीतनिमित्तप्रवृत्तियुक्तो न भवतीत्यर्थः। यद्वा, तमसा वस्तुतत्त्वाज्ञानेन जाता भिदा इदं रजतमित्यन्यथाज्ञानं, तदेव भ्रमो भ्रान्तिज्ञानं यस्य दूरोत्सारितं सः। ननु मुक्तोऽप्येतादृश इत्यत उक्तं स्वतेजसेति। सत्यं, किन्तु "बलमानन्द ओजश्च सहो ज्ञानमनाकुलम्। स्वरूपाण्येव जीवस्य व्यज्यन्ते परमाद्विभोः" इति श्रुतेरस्य परप्रभावेण तदात्मानमेव वेद। "अहं ब्रह्माऽस्मि" (बृह.उ. 1-4-10) इति स्वमायया स्वेच्छया आत्मन् आत्माधारतया रचितेषु जन्तुषु प्राणादिभिः सह चित्रधा सुरनरतिर्यगादिनानाजातिमिश्रत्वेन भाति। ननु तर्हि विकारोऽपि स्यादित्यत्राऽऽह तत्सन्निति। तथैव सन् अविकार एव अभ्यर्हितः श्रेष्ठ इत्यर्थः। सर्वैरभ्यर्हितो वा। "सन्सत्येऽभ्यर्हिते श्रेष्ठे साधीयसि भवत्यपि" (वैज.को. 8-4-16) इति च। अनेन मूलरूपी हरिर्यथा निर्विकारः तथा रूपान्तरवानिति सूचितं भवति। हेयदेहित्वेन आभासमानस्य किं कर्मेति तत्राऽऽह ईक्षितेति। असत्सतोः अशुभशुभयोः ईक्षिता द्रष्टा जन्तुभिः क्रियमाणस्य पुण्यपापलक्षणस्य कर्मणः साक्षीत्यर्थः, नत्वस्य दर्शनाभिमानलक्षणविकारः, आपन्नम् उद्दिश्येति वा ॥ ११ ॥

1. Ma adds इतीममर्थं सूचयति। 2- -2. Ma omits.

यस्याखिलामीवहभिस्सुमङ्गलै र्वाचो विमिश्रा गुणकर्मजन्मभिः।
प्राणन्ति शुम्भन्ति पुनन्ति वै जग द्यास्तद्विरक्ताः शवशोभना[1] मताः ॥ १२ ॥

स चाऽवतीर्णः किल सात्त्वतान्वये स्वसेतुपालामरवर्यशर्मकृत्।
यशो वितन्वन्व्रज आस्त ईश्वरो गायन्ति देवा यदशेषमङ्गलम्[2] ॥ १३ ॥

तन्त्वद्य नूनं महतां गतिं गुरुं त्रैलोक्यकान्तं दृशिमन्महोत्सवम्।
रूपं दधानं श्रिय ईप्सितास्पदं द्रक्ष्ये ममाऽऽसन्नुषसः सुदर्शनाः ॥ १४ ॥

★ अथावरूढस्सपदीशयो[3] रथा त्प्रधानपुंसोश्चरणं स्वलब्धये।
धिया धृतं योगिभिरप्यहं ध्रुवं नमस्य आभ्यां च सखीन्वनौकसः॥ १५ ॥

अप्यङ्घ्रिमूले पतितस्य मे विभुः शिरस्यधास्यन्निजहस्तपङ्कजम्।
दत्ताभयं कालभुजङ्गरंहसा प्रोद्वेजितानां शरणैषिणां नृणाम् ॥ १६ ॥

1. M,Ma स्युरशो° 2. M,Ma °स्त° ★ अयं श्लोकः विजयध्वजतीर्थेन न स्वीकृतः न व्याख्यातश्च। 3. P,V तीर्ण°

**श्रीध०** ननु सर्वदा अहङ्कार[1]रहितस्य आत्मारामस्य लीलाऽपि कुत इत्याशङ्क्य, अपरा[2]नुग्रहार्था इत्याशयेनाऽऽह- **यस्येति**। अखिलानि अखिलस्य वा अमीवानि पापानि घ्नन्तीति अखिलामीवहानि तैः, तथा सुमङ्गलैः शोभनानि मङ्गलानि येभ्यस्तैः, गुणाः करुणादयः कर्माणि जन्मानि च तैर्विमिश्रा युक्ता वाचः जगत् प्राणन्ति जीवयन्ति, शुम्भन्ति शोभयन्ति, पुनन्ति पवित्रयन्ति। व्यतिरेकमाह या इति। तैर्विरक्ता रहिताः तास्तु स्वलङ्कृता अपि वस्त्राद्यलङ्कृतशववच्छोभमानाः मताः सतां सम्मताः ॥ १२ ॥

**स** इति। स्वयं रचितान् सेतून् वर्णाश्रमधर्मान् पालयताममरवर्याणां सुखकर्ता सन्नवतीर्णः। यद्यशः लोका[3-] गायन्ति[-3]॥ १३ ॥

**तमिति**। त्रैलोक्ये एकमेव कान्तम्। दृशिर्दृष्टिः। तद्व्रतां महानुत्सवो यस्मात्। यद्वा, महानुत्सव एव। अत[4] एव श्रिया[5] ईप्सितमास्पदम्। एवम्भूतं रूपं श्रीमूर्तिं दधानं तमीश्वरं द्रक्ष्यामीति। अत्र लिङ्गं उषसः प्रभातसमयाः सुदर्शनाः शुभदर्शनाः[6-] सुखप्रभाता[-6] रजन्यः शुभसूचका बभूवुरित्यर्थः ॥ १४ ॥

**अथेति**। किञ्च, अथ दर्शनानन्तरं सपदि तत्क्षणमेव रथादवतीर्णस्सन् प्रधानयोः पुरुषयो रामकृष्णयोः चरणं योगिभिरपि आत्मलाभाय केवलं धियैव धृतं साक्षादहं नमस्यामि। आभ्यां सह अनयोस्सखीन् गोपांश्च नमस्यामीति॥ १५॥

**अपीति**। किञ्च, अधास्यत् धास्यति। तद्विभावयति दत्ताभयमिति सार्धेन ॥ १६ ॥

1. J,Va °रादिर° 2. J,Va omit अ 3- -3. J,P,V omit 4. P,V omit अत एव 5. J,Va °यः 6- -6. P,V omit.

**वीर० यस्येति**। अखिलानां वदतां (पठतां) शृण्वताञ्च जनानां[1] अमीवं पापं घ्नन्तीति तथा। तैर्यस्य गुणकर्मजन्मभिः सुमङ्गलैः निरतिशयश्रेयस्करैः विमिश्रा वाचो गिरः। प्राणन्ति शुम्भन्तीति अन्तर्भावितण्यर्थनिर्देशः। जगज्जीवयन्ति, शोभयन्ति, पुनन्ति चेत्यर्थः। तत्र गुणाः वात्सल्यसौशील्यसौलभ्यादयः, कर्माणि जगद्व्यापारप्रभृतीनि चेष्टितानि जन्मानि रामकृष्णादीनि या वाचस्तद्विरक्ताः भगवद्गुणादिप्रतिपादनरहितास्ताः पदलावण्यार्थलावण्ययुक्ता अपि, शवशोभनाः वस्त्राद्यलङ्कृतशववच्छोभनाः मता ज्ञाताः, शवकल्पानामभिमता इति भावः ॥ १२ ॥

**स चेति**। य एवंविधो विष्णुरीश्वरः स एव सात्त्वतान्वये यादवकुले श्रीकृष्णरूपेणाऽवतीर्णः किल। स्वसेतुः स्वकृतमर्यादा तं पालयतीति तथा, तेषाममरवर्याणां दैवसम्पत्तिमभिजातानां[2] शर्म सुखं करोतीति तथाभूतः। यशः कीर्तिं वितन्वन् व्रजे आस्ते। यशो विशिनष्टि अशेषाण्यखिलानि मङ्गलानि यस्मात्तत्, यच्च देवा गायन्ति ॥ १३ ॥

**तमिति**। तं सात्त्वतानां कुले अवतीर्णमुक्तविधमहमद्य नूनं द्रक्ष्यामि, यतो मम उषसः लिङ्गव्यत्यय आर्षः, उषांसि प्रभातसमयाः सुदर्शनाः प्रसन्नाः, सुखप्रभाता रजन्यः शुभसूचका बभूवुरित्यर्थः। कथम्भूतम्? महतां साधूनां गतिं स्वप्राप्तचुपायं गुरुं हितकरणम्। किञ्च रूपं विग्रहं दधानं बिभ्राणम्। कथम्भूतं रूपम्? त्रैलोक्यकान्तं त्रिलोकसुन्दरं दृशिमतां चक्षुष्मतां महानुत्सवो हर्षो यस्मात्तत् श्रियो लक्ष्म्याः ईप्सितमास्पदम् आश्रयभूतम् ॥ १४ ॥

किञ्च, **अथेति**। अथाऽस्य दर्शनानन्तरं सपदि रथावरूढोऽहमीश्वरयोः प्रधानपुंसोः पुरुषोत्तमयो रामकृष्णयोः चरणं नूनं ध्रुवं नमस्ये। चरणं कथम्भूतम्? योगिभिरप्यात्मलब्धये स्वसत्तासिद्ध्यै (द्ध्ये) धिया केवलं धृतं भावितं न तु दृष्टमिति भावः। (ततः) तथा आभ्यां प्रधानपुम्भ्यां सह अनयोः सखीन् वनौकसो गोपान्नमस्ये ॥ १५ ॥

किञ्च, अथानन्तरम् अङ्घ्रिमूले पतितस्य मम शिरसि विभुः श्रीकृष्णः स्वयं हस्तपङ्कजमधास्यत् आधास्यति।[3-] [-3] अथाऽस्य[4-] [-4] हस्तपङ्कजं विभावयति- दत्ताभयमित्यादिना सार्धेन। काल एव भुजङ्गः। तस्य रंहसा वेगेन प्रोद्वेजितानां संसारभीरूणां शरणैषिणां रक्षणोपायत्वेन अध्यवस्यतां जनानां दत्तमभयं येन तत् ॥ १६ ॥

1. T omits जनानां 2. K °वी° 3- -3. T,W omit 4- -4. K omits.

**विज०** यस्य हरेः अखिलामीवहभिः अखिलानि अमीवानि पापानि घ्नन्तीति अखिलामीवहानि तैः, अत एव सुमङ्गलैः, गुणकर्मजन्मभिः विमिश्राः सङ्कलिता वाचः, श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्णिवृषेत्यादिलक्षणाः जगत्प्राणन्ति आह्लादयन्ति, जीवयन्ति वा, शुम्भन्ति शोभयन्ति शुभयुक्तं कुर्वन्ति। पुनन्ति पवित्रयन्ति वै गङ्गादौ प्रसिद्धमित्यन्वयः। या वाचः तैर्विष्ण्वादिभिः विरक्ताः शून्याः वर्जिताः स्युः, ताः सद्भिः अशोभना मताः अवबोधिता इत्यन्वयः ॥ १२ ॥

अस्त्वेवंविधमाहात्म्यो भगवान्, ततः प्रकृते किम्? अत्राऽऽह — **स चेति**। चशब्दः एवार्थे, ईश्वर एव व्रजे आस्ते किलेत्यन्वयः। सात्त्वतामन्वये यदुकुले अवतीर्णः, किंकार्यायेति तत्राऽऽह स्वसेत्विति। स्वेन कृतः सेतुः मर्यादा तां पालयन्ति रक्षयन्तीति स्वसेतुपालाः अमराणां वर्याः अमरवर्याः, स्वसेतुपालानाममरवर्याणामिन्द्रादीनां शर्मकृत्, सुखकृत्, देवकार्यायाऽवतीर्ण इत्यर्थः। अथ किं प्रमाणमित्यत्राऽऽह — गायन्तीति। देवाः व्यासादयः पुराणादिषु। गेयसम्भवे गानं युक्तं, तत्कथमित्यत्राऽऽह यश इति। यद्यशो वितन्वन्नाऽऽस्ते अशेषाणां मङ्गलं श्रेयस्करं तद्यशः ॥ १३ ॥

स्वमानसं प्रति वक्ति — **तन्विति**। अहमद्य तमेव द्रक्ष्ये इत्यन्वयः। दृशिमतां चक्षुष्मतां महोत्सवं त्रैलोक्यकान्तं कमनीयं रूपं दधानं "भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः, भद्रं पश्येमाऽक्षिभिर्यजत्राः" (नृ.उ.ता.उ. 1) इति श्रुतिः। ममाद्य उषसः प्रभातकालावयवाः क्षणादयः सुदर्शनाः सर्वजगत्पूज्यवस्तुदर्शनप्रदा आसन् इत्यन्वयः ॥ १४ ॥ ★

कालाख्यभुजङ्गस्य रंहसा रंहोलक्षणविशेषेण अधास्यत् धास्यति धरिष्यत्यपि किम् ॥ १६ ॥

★ १५ श्लोकस्य विजयध्वजव्याख्या नास्ति।

**समर्हणं यत्र निधाय[1] कौशिकस्तथा[2-] बलिश्चाऽऽप[-2] जगत्त्रयेन्द्रताम्।**
**यद्वा विहारे व्रजयोषितां श्रमं स्पर्शेन सौगन्धिकगन्ध्यपानुदत् ॥ १७ ॥**

**न मय्युपैष्यत्यरिबुद्धिमच्युतः[3] कंसस्य भृत्यः[4] प्रहितोऽपि विश्वदृक्।**
**योऽन्तर्बहिश्चेतस एतदीहितं क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषा ॥ १८ ॥**

**अप्यङ्घ्रिमूलेऽवहितं[5] कृताञ्जलिं मामीक्षिता[6] सस्मितमार्द्रया[7] दृशा।**
**सपद्यपध्वस्त समस्तकिल्बिषो वोढा मुदं वीतविशङ्क ऊर्जिताम् ॥ १९ ॥**

**सुहृत्तमं ज्ञातिमनन्यदैवतं दोर्भ्यां बृहद्भ्यां परिरप्स्यतेऽथ[8] माम्।**
**आत्मा हि तीर्थीक्रियते तदैव मे बन्धश्च कर्मात्मक[9] उच्छ्वसित्यतः ॥ २० ॥**

**लब्धाङ्गसङ्गं प्रणतं कृताञ्जलिं मां वक्ष्यतेऽक्रूर ततेत्युरुश्रवाः।**
**तदा वयं जन्मभृतो महीयसा नैवाऽऽदृतो यो धिगमुष्य जन्म तत् ॥ २१ ॥**

1. P,V वि° 2- -2. M,Ma °को महा° 3. M,Ma °पैत्यप्रियबु० 4. G,J दूतः 5. M,Ma °ले पतितं 6. M,Ma °क्षते 7. P,V याऽऽ° 8. M,Ma °रभ्यते 9. M,Ma कामा०

**श्रीध० समर्हणमिति**। बलिना तावत्पदत्रयपरिमितभूदानसमये तस्य हस्ते उदकं निहितम्। कौशिकः इन्द्रः, तेनापि कदाचित् किञ्चिन्निहितमिति ज्ञातव्यम्। ममुक्षूणां संसारभयनिवर्तकं सकामानामभ्युदयप्रदञ्चेत्युक्तम्। अनुरक्तानां परमसुखदं चेत्याऽऽह-यद्वेति। वाशब्दो वितर्के। विहारे रासक्रीडायां, सौगन्धिकस्य गन्ध इव गन्धो यस्य तत् सौगन्धिकगन्धि ॥ १७ ॥

एवं परमानुग्रहं सम्भाव्य पुनरप्यसम्भवमाशङ्क्य परिहरति **नेति**। यद्यप्यहं कंसेन प्रहितः, अतस्तस्य दूतः। तथाऽपि मयि अरिरयमिति[1] बुद्धिं नोपैष्यति न करिष्यतीत्यर्थः। यतः विश्वदृक् सर्वज्ञः। अतो मम चेतसः अन्तश्च बहिश्च यदीहितं चेष्टितं एतत् यः क्षेत्रज्ञः अन्तर्यामी नित्यज्ञानेनेक्षते। अयं भावः — चेतसो बहिरेव कंसमनुवर्ते, अन्तस्तु कृष्णमेव, तदेव तदसौ हृदि स्थितः[2] जानातीति। यद्वा एतस्य जगत ईहितमिति, अतः[3] ॥ १८ ॥

**अपीति**। अपि यदि अङ्घ्रिमूले चरणोपान्ते अवहितं संयतं कृपामृतेन आर्द्रया दृशा मामीक्षिता द्रक्ष्यति। तर्हि, सपद्येव विनष्टाखिलकिल्बिषः[4] परां मुदं वोढा प्राप्स्यामीति ॥ १९ ॥

**सुहृदिति**। अथ मां परिरप्स्यते आलिङ्गिष्यति यदा तदैव मे आत्मा तीर्थीक्रियते अतिपवित्रीकरिष्यते, उच्छ्वसिति श्लथो भविष्यति, अतो देहात् ॥ २० ॥

**लब्धेति**। तत! भो तातेति तदा जन्मभृतः सफलजन्मानः अन्यथा तज्जन्मैव न भवतीत्याह — महीयसेति। महीयसा श्रीकृष्णेन यो वा नाऽऽदृतः अमुष्य तस्य जन्तोः तत्[5] जन्म धिक् ॥ २१ ॥

1. J,Va °रे 2. P,V °स्थो 3. J,Va omit अतः 4. J,Va कल्मषः 5. P,V omit तत्

**वीर०** किञ्च यत्र यस्मिन् हस्तपङ्कजे बलिर्वैरोचनिः पदत्रयपरिमितभूदानसमये अर्हणमर्घ्यं विधाय जगत्त्रयेन्द्रतां[1-] जगत्त्रयाधिपत्यं प्राप प्राप्स्यतीति, भाविनि मन्वन्तरे इन्द्रो भविष्यतीत्यर्थः। तथा कौशिक इन्द्रोऽपि कदाचिदर्घ्यं निधाय जगत्त्रयेन्द्रतां[-1] प्राप्तवानिति प्रसिद्धिमुपजीव्येत्थमुक्तम्। एवं मुमुक्षूणां मोक्षदं सकामानामभ्युदयप्रदञ्चेत्युक्तम्, अनुरक्तानां परमसुखदञ्चेत्याह- यद्वेति। वाशब्दो वितर्के, उक्तसमुच्चयद्योतको वा; निपातानामनेकार्थत्वात् यच्चेत्यर्थः। व्रजयोषितां विहारे यः श्रमः तम्, सौगन्धिकगन्धि यद्धस्तपङ्कजं कर्तृ अपानुदत् दूरीचकार। सौगन्धिकस्येव[2-] गन्धो यस्य तत् सौगन्धिकगन्धि[-2], सौगन्धिकं कमलजातिविशेषः ॥ १७ ॥

एवं परमानुग्रहं सम्भाव्य पुनरप्यसम्भवमाशङ्क्य परिहरति — **न मयीति**। यद्यप्यहं कंसेन प्रहितः प्रेषितः, तद्भृत्यश्च[3]। तथाऽपि मयि अरिबुद्धिम् अरेरयमिति बुद्धिं नोपैष्यति न करिष्यतीत्यर्थः: यतस्स विश्वदृक् सर्वसाक्षी। विश्वदृक्त्वमेव प्रपञ्चयति — क्षेत्रज्ञः युगपत्सर्वाणि क्षेत्राणि जानन्नीश्वरः नियन्ता च सन् एतत् अस्मच्चेतसः[4] ईहितं व्यापारं चेतसोऽन्तर्बहिश्च वसन्। "यो मनसि तिष्ठन्" (बृह.उ. 3-7-28) इति श्रुतेः। यः अमलेन सङ्कोचविकासरूपविकाररहितेन[5] चक्षुषा धर्मज्ञानेन ईक्षते सर्वं युगपत् साक्षात्करोति। अयं भावः। बहिरेवाऽहं कंसमनुवर्ते, अन्तस्तु श्रीकृष्णमेव। तदेतदसौ हृदिस्थो जानातीति॥ १८॥

अपि तच्चरणोपान्ते अवहितं संयतं[6] बद्धाञ्जलिञ्च मां स्मितेन सहितं यथा तथा कृपामृतेनाऽऽर्द्रया दृशा दृष्ट्या, द्रक्ष्यति। तर्हि सपद्येव विनष्टाखिलकल्मषः, विगतशङ्कश्च ऊर्जितां प्रभूतां[7] मुदं वोढा प्राप्स्यामि ॥ १९ ॥

किञ्च सुहृत्तमं ज्ञातिं, न विद्यते तस्मादन्यद्दैवतं यस्य तं मां पृथुभ्यां दीर्घाभ्यां भुजाभ्यां परिरप्स्यते आलिङ्गिष्यति यदा तदैव मम आत्मा देहः तीर्थीक्रियते पवित्रीकरिष्यते। अतो हेतोर्मम कर्मात्मकः बन्धश्च उच्छ्वसिति शिथिलीभविष्यति॥ २०॥

किञ्च उरुश्रवाः श्रीकृष्णः लब्धोऽङ्गसङ्गः परिरम्भो येन तं, बद्धाञ्जलिञ्च मां हे अक्रूर! हे तत! हे तातेति च वक्ष्यति सम्बोधयति। तदा वयं जन्मभृतः सफलजन्मानः भविष्यामः। यस्तु पुमान् महीयसा भगवता नैवाऽऽदृतः आदृतो न भवति अमुष्याऽनादृतस्य तज्जन्म धिक्! निन्द्यमित्यर्थः ॥ २१ ॥

1- -1. T,W omit 2- -2. T omits 3. K तस्य भृ० 4. K मच्चे° 5. T,W omit विकास 6. K °यु° 7. T,W omit प्रभूतां

**विज०** यत्र निजहस्तपद्मे समर्हणं जलपूर्वपूजां निधाय दत्वा कौशिकः इन्द्रः जगत्त्रयेन्द्रतामाप। महाबलिश्च तथा इन्द्रवत् यद्धस्तपङ्कजं सौगन्धिकस्य कह्लारस्य गन्ध इव गन्धोऽस्याऽस्तीति। विहारे वनक्रीडायाम् अपानुदत् निराकरोत्॥ १७॥

ननु किं तव बहुप्रलापेन यतः त्वं कंसभृत्यः तत्प्रहितश्च, अतस्त्वय्यप्रियबुद्धिं कुर्यादच्युत इति मन्दाशङ्कां परिहरन्निवाऽऽह — **न मयीति।** नोपैत्यपि नोपैत्येवेत्याह — विश्वदृगिति, विश्वदृक्त्वान्मम मनोनैर्मल्यं विजानातीत्यर्थः। एतदेव विवृणोति य इति। चेतस एतदीहितं सङ्कल्पलक्षणं चेष्टितम् अन्तर्बहिश्च स्थितमिति व्याप्तिकथनमात्रेण चेतनस्य चेष्टितसाक्षित्वं सम्यक् न विवृतं स्यादिति क्षेत्रज्ञ इत्युपादत्ते। "इदं शरीरं कौन्तेय! क्षेत्रमित्यभिधीयते" (भ.गी.13-1) इत्यादिना क्षेत्रज्ञशब्दार्थः सम्यग्विवृतः ॥ १८ ॥

दयार्द्रया दृशा मां सस्मितमीक्षते। किम् ईक्षणफलम्, आह — सपदीति। ईक्षणानन्तरमपास्तकिल्बिषः सम्यङ्निराकृताशुभोऽत एव वीता विविधा शङ्का यस्य स वीतशङ्कोऽहम् ऊर्जितामुद्रिक्तां मुदं वोढा वहिष्यामीत्यन्वयः॥ १९॥

अथ यदा परिरम्भणे हेतुमाह — **सुहृत्तममिति।** अन्यद्दैवतमिष्टप्रदं यस्य नास्ति स तथा। परिरम्भणात् किं फलमाप्तं भवतीति तत्राऽऽह — आत्मेति। अतोऽस्मात्परिरम्भणात् आत्मा देहः तीर्थीक्रियते शुद्धजलवत्क्रियते, पात्रीक्रियते वा, ज्ञानदानाय योग्यो भवतीत्यर्थः। अन्येषां भगवद्भक्तौ बुद्ध्यवतारीक्रियते वा, ज्ञानोपदेशाय वाऽधिक्रियते वा। किमत इत्यत्राऽऽह बन्धश्चेति। कामात्मकः विषयतृष्णालक्षणो बन्धः उच्छ्वसिति निर्वीर्यश्छिन्नो भवतीत्यर्थः। "च उच्छेदेऽपि समुच्चये" अतो देहहेतुको वा प्रवाहरूपेण सत्यो वा ॥ २० ॥

भगवतईक्षणसमये इदमित्याशयेन वक्ति **लब्धाङ्गसङ्गमिति।** उरुश्रवाः पूर्णकीर्तिः व्याप्तश्रवणशक्तिमान्वा। हे अक्रूर! हे तात! वत्सेति सम्बोधयति च। यदि जन्मभृतः जन्मनः साफल्यं प्राप्ताः। बाधकमाह महीयसेति। महत्तमेन भगवता यो नाऽऽदृतः वागादिना सादरमर्चितो न भवति, अमुष्य पुंसो यज्जन्म तत् धिक् निन्दामि निष्फलत्वात् ॥ २१ ॥

न तस्य कश्चिद्दयितः सुहृत्तमो न चाऽप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा।
तथाऽपि भक्तान्भजते यथा तथा सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रिताऽर्थदः ॥ २२ ॥

किञ्चाग्रजो माऽवनतं यदूत्तमः स्मयन्परिष्वज्य गृहीतमञ्जलौ।
गृहं प्रवेश्याऽमसमस्तसत्कृतं सम्प्रेक्ष्यते कंसकृतं स्वबन्धुषु ॥ २३ ॥

श्रीशुक उवाच

इति सञ्चिन्तयन्कृष्णं श्वफल्कतनयोऽध्वनि।
रथेन गोकुलं प्राप्तः सूर्यश्चाऽस्तगिरिं नृप ॥ २४ ॥

पदानि तस्याऽखिललोकपालकिरीटजुष्टाऽमलपादरेणोः।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि विलक्षितान्यब्जयवाङ्कुशाद्यैः । २५ ॥

तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसम्भ्रमः प्रेम्णोर्ध्वरोमाऽश्रुकलाकुलेक्षणः।
रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति ॥ २६ ॥

---

1. M,Ma °वाऽ 2. M,Ma च 3. M,Ma य° 4- -4. M,Ma वनस्पतिर्य० 5. G,J °तो° 6. P,V किं वा 7. M,Ma सञ्चितौ 8. G,J,K,T,W सम्प्र° 9- -9. M,Ma,T,W omit 10. M,Ma चूडामणि पा० 11. M,Ma °त्थ 12. K,T,W °घ्रुत्य 13. K,T,W °वे° 14. M,Ma °रिमा°

**श्रीध०** ननु सुहृदादिषु परिष्वङ्गसम्प्रश्नादयो जीवधर्माः कथमीश्वरे सङ्गच्छन्ते, अत आह — **नेति**। दयितः प्रियः तद्विपरीतोऽप्रियः, सुहृत्तमो हितः, तद्विपरीतो द्वेष्यः, एतत्सर्वव्यतिरिक्तः उपेक्ष्य इति। दयितादयो न सन्तीति सत्यम्। तथाऽपि भगवान् भक्तान् भजते। तत्र च ये यथा भक्ताः तान् तथा भजते। "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" (भ.गी. 4-11) इति भगवद्वचनात्। अविषमत्वेऽपि भक्तेभ्य एव फलं ददाति इत्यत्र दृष्टान्तः यद्वत्सुरद्रुमः इति॥२२॥

**किमिति**। यो मयाऽञ्जलिः करिष्यते तस्मिन्नेव अञ्जलौ गृहीतं मां आप्तानि समस्तानि अर्घ्यार्चादिसत्कृतानि येन तं माम् ॥ २३ ॥

**इतीति**। स तु मार्गमपि न वेद। तथाऽपि रथेन प्राप्त इति ॥ २४ ॥

**पदानीति**। अखिलैर्लोकपालैः किरीटेषु जुष्टाः अमलाः पादरेणवो यस्य तस्य क्षितिकौतुकानि क्षितेरलङ्काररूपाणि॥२५॥

**तदिति**। तद्दर्शनेन य आह्लादः तेन विवृद्धस्सम्भ्रमो यस्य सः प्रेम्णा ऊर्ध्वाणि रोमाणि यस्य सः। अश्रूणां कलाभिः लेशैराकुले ईक्षणे यस्य सः, अवस्कन्द्य अवप्लुत्य तेषु पदेषु सोऽक्रूरः अचेष्टत व्यलुण्ठत्, अहो इति दुर्लभतां भावयन् ॥ २६ ॥

1. J,Va हिततमः 2- -2. P,V omit 3. P,V omit अञ्जलौ 4. G,J अर्घादि 5. Va omits पदेषु 6. P,V omit सोऽक्रूरः 7. J,Va °ठत्

**वीर०** पुनरपि सुहृत्तमत्वज्ञातित्वादिप्रयुक्तपरिरम्भादेरसम्भवमाशङ्क्य अनन्यदैवतत्वप्रयुक्तस्य तस्य सम्भवमाह — **न तस्येति**। यद्यपि सर्वसमस्य तस्य न दयितादयस्सन्ति, न विषमा बुद्धिरस्तीत्यर्थः। तथाऽपि यथा भक्ता आत्मानं भजन्ते तथा भक्तान्भजत एव। "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" (भ.गी. 4-11), "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं, स च मम प्रियः" (भ.गी. 7-17) इति तदुक्तेरिति भावः। अवैषम्येऽपि भक्तानेवाऽनुभजते इत्यत्र दृष्टान्तः — ः कल्पतरुः। यद्वद्यथा उपाश्रितानां भजतामेव अर्थदः कामदस्तद्वत्। न ह्येतावता तस्य वैषम्यमस्तीति भावः ॥२२॥

किञ्च। यदूत्तमोऽग्रजो रामः, अवनतं प्रणतं मां स्मयन् परिष्वज्य यो मयाऽञ्जलिः क्रियते तस्मिन्नेव मां गृहं प्रवेश्य आप्तानि लब्धानि समस्तसत्कृतानि अर्घ्यादीनि येन तम् मां प्रति स्वबन्धुषु विषयभूतेषु कंसकृतं द्रोहं सम्प्रक्ष्यते, 'प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्'' (वाचि) ॥२३॥

इत्थं श्वफल्कतनयोऽक्रूरः पथि कृष्णमेव अनुचिन्तयन् रथेन गमनसाधनेन गोकुलं प्राप्तः। हे नृप! सूर्यश्च अस्तगिरिं प्राप्तः अस्तमितो बभूव। यद्यपि गोकुलमधुपुर्योरन्तरा क्रोशत्रयमेव, अक्रूरस्तु प्रभातसमय एव रथारूढो मधुपुर्याः प्रतस्थे, तथाऽपि कृष्णानुचिन्तया परवशः तत्र तत्र विलम्बयन् सायन्तनवेलायां गोकुलं प्राप्त इति भावः ॥ २४ ॥

**पदानीति**। अखिलैः लोकपालैः किरीटेषु जुष्टाः अमलाः पादरेणवो यस्य तस्य भगवतस्सम्बन्धीनि क्षितेरलङ्काररूपाणि अब्जादिरेखाभिः विलक्षितानि चिह्नितानि पदानि गोष्ठे ददर्श ॥ २५ ॥

तेषां पदानां दर्शनेन य आह्लादः तेन विवृद्धस्सम्भ्रमो यस्य, प्रेम्णा ऊर्ध्वान्युदञ्चितानि रोमाणि यस्य, अश्रूणां हर्षजानां कलाभिः लेशैः आकुले ईक्षणे यस्य सः अक्रूरः रथादवप्लुत्य तेषु पदेषु अवेष्टत व्यलुठत्। अहो प्रभोः कृष्णस्य अमून्यङ्घ्रयो रजांसि ब्रह्मादीनामपि दुर्लभानीति भावयन्नवेष्टतेत्यन्वयः ॥ २६ ॥

1. T,W omit सर्व 2. A,B क्रमेण

**विज०** अयं श्रीकृष्णः क्षीराब्धिशाय्येव नाऽन्य इति तस्य लक्षणमाह — **नेति**। "वनस्पतिर्वृक्षमात्रे कल्पादौ पुष्पवर्जिते" इत्युत्पलमाला। यथा यथा स्वस्वयोग्यफलदानेन ॥ २२ ॥

इदानीं बलभद्रमुद्दिश्य अक्रूरचिन्तां वक्ति — **किञ्चेति**। गृहीतसञ्चितौ गृहीतपशुपादबन्धनरज्जौ यदूत्तमोऽग्रजोऽवनतं मानयन् स्मयन् रामः मम स्वबन्धुषु वसुदेवादिषु कंसकृतं कर्म सम्प्रेक्ष्यते विचारयिष्यति। किञ्चेत्यन्वयः। "पादबन्धनपाशन्तु

पशूनां सञ्चितिं विदुः" इति वररुचिः। "गृहीतमानने अग्रजे" इति पाठे सुगमः पन्थाः। यद्वा, यदूत्तमः गृहीतानां फलदानाय शुभानां सञ्चितिः सङ्ग्रहः येन स तथा। तस्मिन् सति, स्मयन् मन्दस्मितं कुर्वन् कृष्णः मां सम्प्रेक्ष्यत इति कृष्णविषयो वा ॥ २३,२४ ॥

अखिललोकपालानां किरीटेषु सत्सु चूडामणिषु पादरेणवो यस्य स तथा। तस्य क्षितिकौतुकानि भूमिमङ्गलकराणि पदानि पादतललाञ्छनानि अब्जादिभिर्विलक्षितानि लाञ्छितानि। "विवाहहस्तसूत्रे च मङ्गले कौतुकं विदुः" इति च ॥ २५॥

सम्भ्रमः भक्त्युद्रेकनिमित्तव्यापारविशेषः उत्थानि रोमाणि यस्य स तथा। रोमाञ्चितगात्रश्चायं अश्रुकलयाऽऽकुलेक्षणश्च, आकुले कलिले ईक्षणे यस्य स तथा। अवस्कन्द्य अवरुह्य ॥ २६ ॥

★ देहम्भृतामियानर्थो हित्वा दम्भं भियं[1] शुचम्।
सन्देशाद्यो हरेर्लिङ्ग दर्शनश्रवणादिभिः ॥ २७ ॥ △

▲ ददर्श कृष्णं रामश्च व्रजे[2] गोदोहनं गतौ।
पीतनीलाम्बरधरौ शारदाम्बुरुहेक्षणौ[3] ॥ २८ ॥

किशोरौ श्यामलश्वेतौ श्रीनिकेतौ बृहद्भुजौ।
सुमुखौ सुन्दरवरौ बालद्विरदविक्रमौ ॥ २९ ॥

ध्वजवज्राङ्कुशाम्भोजैश्चिह्नितैरङ्घ्रिभिर्व्रजम्।
शोभयन्तौ[4] महात्मानौ सानुक्रोशस्मितेक्षणौ[5] ॥ ३० ॥

उदाररुचिरक्रीडौ स्रग्विणौ वनमालिनौ।
पुण्यगन्धानुलिप्ताङ्गौ स्नातौ विरजवाससौ ॥ ३१ ॥

प्रधानपुरुषावाद्यौ जगद्धेतू जगत्पती[6]।
अवतीर्णौ जगत्यर्थे स्वांशेन बलकेशवौ ॥ ३२ ॥

★ The verse 'देहम्भृतां' is not found in M&Ma Edns. 1. P,V भयं △ This extra verse - चिरमावेष्ट्य चोत्थाय रथमारुह्य वेगतः। क्व तिष्ठति गवेशानः कृष्णो राम इति ब्रुवन्। is found (after V.26) only in K,P,T,V,W without commentary. ▲ This extra verse - गोष्ठमध्य इति श्रुत्वा तरुस्थैर्गोपदारकैः। कृष्णसन्दर्शनाकाङ्क्षी प्रकाशे सवितुस्सति॥ is found (before V.25) in P&V edns. only without commentary. 2. T,W गोष्ठे 3. G,J,P,V श° 4. M,Ma °मानौ 5. G,J अनु 6. K,T,W °न्मयौ

**श्रीध०** ननु किमर्थमेवं व्यलुण्ठत्[1], नास्ति प्रेमसम्भ्रमे फलोद्देश इत्याह — **देहमिति**। देहभाजामेतावानेव पुरुषार्थः। कंसस्य सन्देशादारभ्य हरेर्लिङ्गदर्शनश्रवणादिभिः योऽयमक्रूरस्य वर्णित इति सन्देश आद्यः यस्यार्थस्य सः। यावानक्रूरस्य जात इति वा ॥ २७ ॥

**ददर्शेति**। ततः कृष्णं रामञ्च ददर्श। गावो दुह्यन्ते अस्मिन्निति गोदोहनं तत्स्थानं गतौ प्राप्तौ ॥ २८,२९॥

**ध्वजेति**। अनुक्रोशः अनुकम्पा तद्विलसितस्मितयुक्तमीक्षणं ययोस्तौ ॥ ३० ॥

**उदारेति**। उदारा रुचिरा क्रीडा ययोस्तौ। स्रग्विणौ रत्नस्रग्भिरलङ्कृतौ ॥ ३१ ॥

**प्रधानेति**। प्रधानभूतौ पुरुषौ प्रकृतिपुरुषात्मकौ वा। कुतः? आद्यौ। तदपि कुतः? जगद्धेतू, अत एव जगत्पती। विपरीतो वा चतुर्णां पदानां हेतुहेतुमद्भावः। जगत्यर्थे पृथिव्या भारापनयनाय स्वांशेन मूर्तिभेदेन बलकेशवौ सन्तौ अवतीर्णौ[2]॥ ३२॥

1. J,Va °ठत् 2. P,V omit अवतीर्णौ

**वीर०** नन्ववसादवदुद्धर्षोऽपि भक्तियोगविरोधी। अतः किमित्येवमवेष्टतेत्याह — **देहम्भृतामिति**। देहभाजामेतावानेव पुरुषार्थः। कोऽसौ दम्भादीन् त्यक्त्वा हरेस्सन्देशाद्वृत्तान्तात् गुणानुकथनात् लिङ्गानां विग्रहाणां चिह्नानाञ्च दर्शनश्रवणादिभिश्च योऽवस्थाविशेषः, स एवेति प्रदर्शयितुमित्यर्थः। भक्तेः परां काष्ठां दर्शयितुमवेष्टतेति भावः ॥ २७ ॥

ततो व्रजे कृष्णं रामञ्च ददर्श। कथम्भूतौ? गावो दुह्यन्तेऽस्मिन्निति गोदोहनं तत्स्थानं गतौ प्राप्तौ, श्यामलश्च श्वेतश्च तौ, श्रियो लक्ष्म्याः शोभायाश्च आश्रयभूतौ, बृहद्भुजौ पीनवर्तुलदीर्घभुजयुक्तौ, शोभने प्रसन्ने मुखे ययोस्तौ। बालद्विरदस्य कलभस्येव पदविन्यासौ ययोः ॥ २८, २९ ॥

ध्वजादिरेखाभिः चिह्नितैरङ्घ्रिपङ्कजैः व्रजमलङ्कुर्वन्तौ महात्मानौ सुशीलौ, अनुक्रोशोऽनुकम्पा तद्विलसितं स्मितयुक्तमीक्षणं ययोः ॥ ३० ॥

उदारा रुचिरा क्रीडा ययोः, स्रजावनयोः स्त इति तौ, पुण्येन चन्दनेन अनुलिप्तान्यङ्गानि ययोः, विरजे निर्मले वाससी ययोः ॥ ३१ ॥

प्रधानपुरुषौ श्रेष्ठपुरुषौ आद्यौ सृष्टेः पूर्वं विद्यमानौ जगत्कारणभूतौ जगन्मयौ जगच्छरीरकत्वेन तत्प्रचुरौ जगत्यर्थे जगत्परिपालनार्थं अंशेन सङ्कल्पेनावतीर्णौ बलाधिक्याद्बलः, केशौ ब्रह्मरुद्रौ वाति उत्पादयतीति केशवः। "क इति ब्रह्मणो नाम ईशोऽहं सर्वदेहिनाम्। आवां तवाङ्गे सम्भूतौ तस्मात्केशवनामवान्" इति रुद्रेणैव केशवशब्दार्थस्य निरुक्तेः। बलश्च केशवश्च बलकेशवौ ॥ ३२ ॥

**विज०** गोदोहनं, स्थलमिति शेषः। गोदोहनक्रियां गताविति वा ॥ २८ ॥

श्रियो लक्ष्म्याः कान्तेर्वा निकेतौ मन्दिरायमाणौ ॥ २९ ॥

अनुक्रोशेन दयया स्मितेन सहितमीक्षणं ययोस्तौ तथा ॥ ३० ॥

उदारा महती ख्याता वा, दक्षिणा वा, रुचिरा च क्रीडा ययोस्तौ। "उदारो महति ख्याते दक्षिणे दानशौण्डके" (वैज. को. 7-4-4) इति यादवः। स्नातौ शुद्धौ ॥ ३१ ॥

जगत्यर्थे भूमेरर्थे अर्थप्रदाने। प्रधानपुरुषावित्यादौ उच्यमाना गुणा बलभद्रे हरेः सन्निधानादुच्यन्ते, न त्वौत्पत्तिकाः। तदुक्तम् — "वैन्यपार्थबलेशादावाविष्टं पुरुषोत्तमम्। अपेक्ष्य तद्गुणास्सर्वे" (माहात्म्ये) इत्यादौ ॥ ३२ ॥

**दिशो वितिमिरा राजन्कुर्वाणौ प्रभया स्वया।**
**यथा मारकतश्शैलो रौप्यश्च कनकाचितः[1] ॥ ३३ ॥**

**रथात्तूर्णमवप्लुत्य सोऽक्रूरस्स्नेहविह्वलः।**
**पपात चरणोपान्ते दण्डवद्रामकृष्णयोः ॥ ३४ ॥**

**भगवद्दर्शनाह्लादबाष्पपर्याकुलेक्षणः[3]।**
**पुलकाङ्कित[4] औत्कण्ठ्यात्[5] स्वाख्याने[6] नाऽशकन्नृप ॥ ३५ ॥**

**भगवांस्तदभिप्रेत्य[7] रथाङ्गाङ्कितपाणिना।**
**परिरेभेऽभ्युपाकृष्य प्रीतः प्रणतवत्सलः ॥ ३६ ॥**

**सङ्कर्षणश्च प्रणतमुपगूह्य[8] महामनाः।**
**गृहीत्वा पाणिना पाणिमनयत्सानुजो गृहम्[9] ॥ ३७ ॥**

1. M,Ma,P,T,V,W म° 2. G,J,M,Ma,P,V °तौ 3. M,Ma पूर्णा° 4. G,J,K,P,V °काचिताङ्गः 5. T,W औत्सुक्यात् 6. M,Ma व्याख्यातुं 7. G,J °म° 8. G,J,K,M,Ma गु° 9. G,J,P,V पाणी अ°

**श्रीध० दिश** इति। स्वप्रभया विगततिमिरा दिशः कुर्वाणौ कनकाचितौ सुवर्णव्याप्ताविति सालङ्कारयोः शैलसादृश्यार्थमुक्तम् ॥ ३३,३४ ॥

**भगवदिति**। भगवद्दर्शनाह्लादेन यद्बाष्पं तेन पर्याकुले ईक्षणे यस्य सः, पुलकैराचितं व्याप्तमङ्गं यस्य सः, ऽहं नमस्करोमीति कथने नाऽशक्नोत् ॥ ३५ ॥

**भगवानिति**। अभिप्रेत्य अक्रूरोऽयमेतदर्थमागत इति ज्ञात्वा कंसहननसामर्थ्यं द्योतयन्निव रथाङ्गेन चक्रेण अङ्कितो यः पाणिः तेनाभ्युपाकृष्य तमालिङ्गितवान् ॥ ३६ ॥

**सङ्कर्षण** इति। पाणी अञ्जलिरूपेण संहतावेव गृहीत्वा ॥ ३७ ॥

**वीर०** हे राजन्! स्वया प्रभया दिशो वितिमिराः कुर्वाणौ यथा कनकेनाऽऽचितः मध्ये उपचितः मारकतः[1] शैलः इन्द्रनीलपर्वत इति यावत्, इयं कृष्णस्योपमा। रौप्य इत्यस्य अञ्जनाचित इति शेषः। इयं रामस्योपमा। एवम्भूतौ ददर्शेति सम्बन्धः ॥ ३३ ॥

तदा सोऽक्रूरः तत्क्षणमेव रथादवप्लुत्य प्रेम्णा विह्वलः रामकृष्णयोश्चरणोपान्ते दण्डवत्पपात ॥ ३४ ॥

भगवद्दर्शनजाह्लादेन यद्बाष्पं तेन परित आकुले व्याप्ते ईक्षणे यस्य सः, पुलकैराचितं व्याप्तमङ्गं यस्य तथाभूतः, हे नृप! औत्कण्ठ्यात् स्वाख्याने अक्रूरोऽहं नमस्करोमीति कथने नाऽशकत् न प्रबभूव ॥ ३५ ॥

भगवान्कृष्णः तत् अक्रूरोऽयमेतदर्थमिहाऽऽगत इत्येतज्ज्ञात्वा प्रणतवत्सलत्वाद्रथाङ्गेन चक्रेण अङ्कितो यः पाणिः तेन तमभिमुखं समीपे आकृष्य प्रीतः परिरेभे आलिङ्गितवान् ॥ ३६ ॥

ततस्सङ्कर्षणोऽपि प्रणतमक्रूरमुपगूह्य आश्लिष्य प्रीतमनाः स्वपाणिना तस्य पाणिं गृहीत्वा सानुजो गृहमनयत् ॥ ३७ ॥

---

1. T,W मरकतशैलः

**विज०** मरकतसदृशः कृष्णः, रजतपर्वतसदृशौ रामः, कनकाचितावित्युभयोस्समम्। यदेतदादित्यस्य परं कृष्णरूपमित्यत्र यथाऽऽदित्यस्य कृष्णप्रभा तिमिरापहा कृष्णमरकतश्यामप्रभाऽपि दिशो वितिमिराः करोतीति युक्तमित्यनेन कृष्णप्रभाया अन्धकारनिरासकत्वं कथमिति मन्दाशङ्का दूरतो निरस्तेति ॥ ३३ ॥

अवप्लुत्य अवरुह्य ॥ ३४ ॥

आह्लाद आनन्दः ॥ ३५ ॥

रथाङ्गं चक्रं, तेनाङ्कितेन पाणिना ॥ ३६,३७ ॥

**पृष्ट्वाऽथ[1] स्वागतं तस्मै निवेद्य च[2-] वरासनम्[-2]**
**प्रक्षाल्य विधिवत्पादौ मधुपर्कमुपाहरत्[3-] ॥ ३८ ॥**[-3]

**निवेद्य गाश्चाऽतिथये संवाह्य श्रान्तमादृतः।**
**अन्नं बहुगुणं मेध्यं श्रद्धयोपाहरद्विभुः[4] ॥ ३९ ॥**

**तस्मै भुक्तवते प्रीत्या रामः परमधर्मवित्।**
**मुखवासैर्गन्धमाल्यैः परां प्रीतिं व्यधात्पुनः ॥ ४० ॥**

★पप्रच्छ सत्कृतं नन्दः कथं स्थ निरनुग्रहे।
कंसे जीवति दाशार्हे[5] सौनपाला इवाऽवयः ॥ ४१ ॥

योऽवधीत्स्वस्वसुस्तोकान्क्रोशन्त्या असुतृप् खलः।
किन्नुस्वित्तत्प्रजानां वः कुशलं विमृशामहे ॥ ४२ ॥

इत्थं सूनृतया[6] वाचा नन्देन सुसभाजितः।
अक्रूरः परिपृष्टेन जहावध्वपरिश्रमम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
अक्रूरागमनं नाम अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

1. T,W च 2- -2 M,Ma परमासनम् 3- -3. G,J °पर्काहिणमाहरत्; M,Ma,P,V °पर्काहिमाहरत् 4. P,V °त्रभुः। ★ Three slokas numbered (४१) (४२) (४३) are not found in M,Ma Edns. 5. G,J,P,V °र्हे। 6. T,W मधुरया

**श्रीध० पृष्ट्वेति**। मधुपर्क एव अर्हः[1] अर्हणं[2] पूजा तस्मिन् वा, यदुचितमर्हणमाहरत् आनीय समर्पितवानित्यर्थः॥ ३८-४० ॥

**पप्रच्छेति**। सत्कृतं सम्मानितं निरनुग्रहे क्रूरे कथं केन प्रकारेण, स्थ जीवथेत्यर्थः। सौनः पशुघाती स एव पालको येषाम्, अवीनां मेषाणां त इव तत्तुल्या इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

निरनुग्रहतामाह — **योऽवधीदिति**। तोकान् तोकानि असुतृप् असूनेव तर्पयति यः अतः खलः तस्य कंसस्य प्रजानाम् हे अक्रूर! एषां जीवनमात्रमपि दुर्लभं तेषां वः किन्न कुशलं विचारयामेति ॥ ४२ ॥

**इत्थमिति**। मधुरया वाचा इत्थं सत्कृतः तयैव वाचा परिपृष्टेन प्रश्नेन अध्वपरिश्रमं संसारश्रमम् ॥४३॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

1. J,Va omit अर्हः 2. J,Va omit पूजा

**वीर०** ततस्स्वागतं पृष्ट्वा तस्मै अक्रूराय श्रेष्ठमासनं समर्प्य, यथाविधि पादौ प्रक्षाल्य मधुपर्कमुपाहृत्य आनीय समर्पितवान् ॥ ३८ ॥

तत आदृतोऽतिथयेऽक्रूराय गां समर्प्य श्रान्तं तं संवाह्य पादसंवाहनादिकं कारयित्वा मेध्यं विशुद्धं बहुगुणोपेतं षड्रसयुक्तमन्नं श्रद्धया समर्पयामास ॥ ३९ ॥

**तस्मै** इति। मुखवासैः कर्पूरादिभिः गन्धमाल्यताम्बूलैश्च तस्मै तस्य परां प्रीतिं व्यधात् उपापादयत् ॥ ४० ॥

ततो नन्दस्तं कुशलं पप्रच्छ। प्रश्नमेवाह — 'कथ' मित्यादिना 'विमृशामहे' इत्यन्तेन। निरनुग्रहे प्रत्युत क्रूरे च दाशार्हे कंसे जीवति सति कथं केन प्रकारेण स्थ जीवतेत्यर्थः। सौनाः पशुघातिनः पालका येषां ते, अवयो मेषा इव तत्तुल्या यूयमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

निरनुग्रहतामेवाऽऽह — **योऽवधीदिति**। स्वसुर्भगिन्याः क्रोशन्त्यास्सत्याः तोकान्[1] अपत्यानि अवधीत्, असुतृप् असून् तर्पयतीति तथा। अतः खलः तस्यैवंविधस्य कंसस्य प्रजानां वो युष्माकं कुशलं कीदृशमिति विमृशामहे। येषां जीवनमात्रमपि दुर्लभं तेषां वः कुशलं किमिति विचारयामेत्यर्थः ॥ ४२ ॥

इत्थं नन्देन सूनृतया मधुरया वाचा परिपृष्टस्सत्कृतश्च अक्रूरः अध्वश्रमं जहौ ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

1. T,W तोकानि

**विज०** मधुपर्कार्हं मधुपर्कपूजाम्। "मधुपर्कञ्च सक्षौद्रं दधि प्रोक्तं मनीषिभिः" इति तान्त्रिकाः। आहरत् दत्तवान् ॥ ३८ ॥

संवाह्य, पादाविति शेषः ॥ ३९ ॥

मुखवासैः कर्पूरताम्बूलादिभिः ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
टीकायां अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

(विजयध्वजरीत्या षट्त्रिंशोऽध्यायः)

# एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

(श्रीविजयध्वजरीत्या सप्तत्रिंशोऽध्यायः)

## श्रीशुक उवाच

सुखोपविष्टः पर्यङ्के रामकृष्णोरुमानितः[1]।
लेभे मनोरथान्सर्वान्पथि यान्स चकार ह ॥ १ ॥

किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने।
तथाऽपि तत्परा राजन् नहि[2] वाञ्छन्ति किञ्चन ॥ २ ॥

सायन्तनाशनं कृत्वा भगवान्देवकीसुतः।
सुहृत्सु वृत्तिं[3] कंसस्य पप्रच्छाऽन्यच्चिकीर्षितम् ॥ ३ ॥

## श्रीभगवानुवाच

★तात! सौम्याऽऽगतः कच्चित्[4] स्वागतं भद्रमस्तु वः।
अपि स्वज्ञातिबन्धूनामनमीव मनामयम् ॥ ४ ॥

किं नु नः कुशलं पृच्छे एधमाने कुलामये।
कंसे मातुलनाम्न्यङ्ग स्वानां न स्तत्प्रजासु च[5] ॥ ५ ॥

अहो अस्मदभूद्भूरि पित्रो र्वृजिनमार्ययोः।
यद्धेतोः पुत्रमरणं यद्धेतो र्बन्धनं तयोः ॥ ६ ॥

दिष्ट्याऽद्य दर्शनं स्वानां मह्यं[6] वस्सौम्य काङ्क्षितम्।
सञ्जातं वर्ण्यतां तावत् तवाऽऽगमनकारणम्[7] ॥ ७ ॥

1. M,Ma कृष्णानुमोदितः .2. M,Ma नैव 3. G,J, वृत्तं ★ अत आरभ्य ४,५,६,७ सांख्याकाः चत्वारः श्लोकाः विजयध्वजेन न स्वीकृताः, न व्याख्याताश्च
4. P,V कंसात् 5. P,V वै 6. P,V मम 7. G,J,K तात!

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

नवत्रिंशे पुरीं गच्छ त्यच्युते गोपिकोक्तयः। अक्रूरेणाऽथ कालिन्द्यां विष्णुलोकस्य दर्शनम्॥

भक्तानां मनोरथाः सत्या भवन्तीति द्योतयन्नाऽऽह — **सुखोपविष्ट** इति। रामकृष्णाभ्यां उरु अधिकं मानितः॥ १-३।

**तातेति**। हे तात! हे सौम्य! स्वागतं यथा तथा आगतः। स्वज्ञातिबन्धूनां स्वे सुहृदः, ज्ञातयस्सपिण्डाः, बन्धवः असपिण्डाः, सम्बन्धिनः तेषा मपि, किम् अनमीवमपापम्; अदुःखं सुखमिति यावत्, अनामयमारोग्यम् ॥ ४॥

एवं प्रश्नोऽपि मम नाऽतीव[1-1] सङ्गत इत्याह — **किन्न्विति**। अङ्ग! हे अक्रूर, पृच्छे पृच्छामि नः अस्माकं कुलस्य आमये रोगे नः मातुल इति नाम यस्य तस्मिन् नः स्वानां ज्ञातीनां तस्य प्रजासु च ॥ ५ ॥

**अहो** इति। अस्मत् अस्मन्निमित्तं वृजिनं दुःखं आर्ययो र्निरपराधयोः यद्धेतो र्योऽहमेव हेतुः तस्मात् ॥ ६॥

**दिष्ट्येति**। हे सौम्य! स्वानां वो दर्शनं अद्य मम सञ्जातं[2] दिष्ट्या भद्रम् ॥ ७ ॥

1- -1. J,Va नाऽति 2. J,Va add तत्

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ समवाप्तमनोरथेन अक्रूरेण विज्ञापित कंसचिकीर्षस्य भगवतः प्रस्थानसमुद्योगसमवलोकन भविष्यद्भगव द्विश्लेषजतापतप्तगोपीजनमिथस्सम्भाषणं मध्येमार्ग मक्रूराय स्वासाधारणदिव्यविग्रह प्रदर्शनप्रकारञ्चाऽनुवर्णय त्येकोनचत्वारिंशेन सुखोपविष्ट इत्यादिना। भक्तानां मनोरथा स्सत्या भवन्तीति दर्शयन्नाह **सुखोपविष्ट** इति। रामकृष्णाभ्यां उर्वधिकं सम्मानितः सुखं यथा तथा उपविष्टोऽक्रूरः पथि यान्मनोरथान् चकार तान्सर्वान् लेभे प्राप ॥ १ ॥

तथा हि - भगवति षाड्गुण्यपूर्णे श्रीनिकेतने श्रीनिवासे प्रसन्ने सति किमलभ्यम्? सर्वं सुलभमेवेत्यर्थः। तद्ध्यैश्वर्य कैवल्यभगवत्प्राप्त्याद्यन्यतमं स्वसमीहितं किमिति न वृण्वते इत्यत्राऽऽह — तथाऽपि यद्यपि सर्वसुलभमेव तथाऽपि हे राजन्, तत्पराः भगवत्पराः किञ्चिदपि न वाञ्छन्ति हि, तदनुभवापेक्षया सर्वस्य तुच्छत्वादिति भावः ॥ २ ॥

तदा भगवान् देवकीसुतः सायाह्नालभोजनं कृत्वा स्वसुहृत्सु वसुदेवादिषु कंसस्य वृत्तिमन्यच्च तस्य चिकीर्षितं पप्रच्छ॥ ३ ॥

प्रश्नमेवाऽऽह — **तातेत्यदिभिश्चतुर्भिः**। हे तात! सोम्य! आगत स्त्वं कच्चित् इदमस्मदिष्टं स्वागतं निर्विघ्नमागमनं जातं किल? वो युष्माकं भद्रमस्तु, सर्वत्र सर्वदा कुशल मेव भूयात्। स्वेषा मात्मीयानां, ज्ञातीनां सपिण्डानां, बन्धूनामसपिण्डानां च अनमीवं अशुभरहितम्, अनामय मारोग्यमपि अस्ति कच्चित् ॥ ४ ॥

एवं प्रश्नोऽपि मम नाऽतीव[1-1] सङ्गच्छते इत्याह — **किन्न्विति**। अङ्ग! हे तात! मातुलनाम्नि नाममात्रेण मातुले न तु वृत्त्येति भावः। तथा च अस्माकं कुलामये कुलस्य रोगतुल्ये कंसे वर्धमाने सति नोऽस्माकं स्वानां ज्ञातीनां, तत्प्रजासु तदपत्येषु च कुशलं किन्नु किमिति पृच्छे ॥ ५ ॥

अहो! अस्मत् अस्मत्तो निमित्तात् आर्ययोः पूज्ययोः निरपराधयो र्वा मातापित्रो र्भूरि वृजिनं दुःखं प्राप्तम्। तदेव प्रपञ्चयति। यत् यस्मात् अस्मत्तो हेतोः निमित्तात्पुत्राणा मस्मदग्रजानां मरणं यदस्मन्निमित्तात्तयोः पित्रोर्बन्धनञ्च प्राप्तम्॥ ६॥

अस्तु तावत्। हे सौम्य! चिरं वाञ्छितं स्वानां वो युष्माकं दर्शनन्त्वद्य सञ्जातम्, एतद्दिष्ट्या आनन्दजनक मस्माकम्। हे तात! तवाऽऽगमनकारणं वर्ण्यताम् कथ्यताम् ॥ ७ ॥

1- -1. T,W omit

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

'गोचारणाये' त्यारभ्य, 'किञ्चाऽग्रज' इत्यन्तेन ग्रन्थेन, पथि यान्मनोरथान् चकार दध्यौ, तान्लेभे इत्यन्वयः। "करणं कारणे काये साधनेऽ(नुव्रतादिषु), बवकादिषु स्पष्टाद्युच्चारणाभेद ध्यानपद्मासनादिषु" (वैज.को. 7-3-9) इति यादवः।

ननु मुख्यमनोरथो मोक्षः, सोऽनेन न लब्धः संसारानिवृत्तेः इत्यत्राऽऽह — **किमलभ्य** मिति। तत्परा मुख्य-भागवताः तत्प्रसादमन्तरेणान्यं नाऽऽकांक्षन्त इति भावः ॥ २ ॥

सायन्तनाशनं रात्रिभोजनम्। (मनुस्मृतौ द्वितीयाध्याये ५२ श्लोकादनन्तरः अधिकपाठः) ★ "सायं प्रातर्द्विजातीनां भोजनं श्रुतिचोदितम्" इति याज्ञवल्क्यः? सुहृत्सु वसुदेवादिषु वृत्तिर्वर्तनम् आजीवलक्षणं "वृत्ति र्ग्रन्थाजीवयोश्च" (वैज.को. 6-2-36) इति च ॥ ३ ॥■

★ मनुस्मृतौ द्वितीयाध्याये ५२ श्लोकादनन्तरेऽऽधिकपाठः ♦ ४.५,६,७ संख्याकानां श्लोकानां (चतुर्णां) विजयध्वजीय व्याख्या नाऽस्ति॥

### श्रीशुक उवाच

पृष्टो भगवता सर्वं वर्णयामास माधवः।
वैरानुबन्धं यदुषु वसुदेववधोद्यमम् ॥ ८ ॥

यत्सन्देशो यदर्थं[1] वा दूतः सम्प्रेषितः स्वयम्।
यदुक्तं नारदेनाऽस्य स्वजन्माऽऽनकदुन्दुभेः ॥ ९ ॥

श्रुत्वाऽक्रूरवचः कृष्णो[2] बलश्च परवीरहा।
प्रहस्य नन्दं पितरं राज्ञाऽऽदिष्टं विजज्ञतुः ॥ १० ॥

गोपान्समादिशत्सोऽपि गृह्यतां सर्वगोरसः।
उपायनानि गृह्णीध्वं युज्यन्तां शकटानि च ॥ ११ ॥

यास्यामः श्वो मधुपुरीं दास्यामो नृपते रसान्।
द्रक्ष्यामोऽत्र महासत्त्रं यान्ति जानपदाः किल।
एव माघोषयत्क्षत्त्रा नन्दगोपः स्वगोकुले ॥ १२ ॥

1. M,Ma °र्थे 2. P,V राज्ञोद्दिष्टं 3- -3. G,J,M,Ma °मः सुमहत्पर्व; P,V °मः सुमहत् सत्त्रं

**श्रीध० पृष्ट** इति। माधवः मधोर्वंशजः ॥ ८ ॥

**यदिति**। सः धनुर्मखच्छद्मा सन्देशो यस्य यदर्थं चाणूरादिभि र्घातनार्थं अस्य कृष्णस्य[1] स्वजन्म कृष्णजन्म आनकदुन्दुभे स्सकाशात् ॥ ९ ॥

**श्रुत्वेति**। विजज्ञतुः विशेषेण ज्ञापयामासतुः ॥ १० ॥

**गोपानिति**। सोऽपि नन्दोऽपि[2] गोपान् समादिशत्। तदेव दर्शयति - गृह्यतामित्यादिना। गोरसः क्षीरादिः। उपायनानि उत्तमवस्तूनि ॥ ११ ॥

**यास्याम** इति। रसान् घृतादीन्। शब्दच्छलेनेदं सूचयति — अचिकित्स्यस्य[3] रोगस्य चिकित्सार्थं श्रीकृष्णजन्मरसान्[4-] [-4] दास्याम इति क्षत्त्रा व्रजरक्षाधिकृतेन आघोषयत् सर्वतो घोषितवान् ॥ १२ ॥

1. J,Va add पुरतो वर्णयामास 2. J,Va omit अपि 3. P,V °त्स्यरो° 4- -4. J,Va omit.

**वीर०** इतीत्थं भगवता पृष्टो माधवो मधुवंशप्रभवोऽक्रूर स्सर्वं वर्णयामास। सर्वशब्दविवक्षितमेव प्रपञ्चयति वैरानुबन्धमिति सार्धेन। यदुषु विषयभूतेषु कंसस्य वैरानुबन्धं वैरमप्रीतिः तदनुबध्यते यदुषु[1] इत्यनुबन्धः तत्कार्यक्लेशापादनञ्च। तथा वसुदेवस्य वधोद्यमं वधार्थं यत्नम् ॥ ८ ॥

यः धनुर्यागच्छद्मना सन्देशो यस्य सः स्वयमात्मा दूतः दूतीकृतः, यदर्थं सोपायं समानयनेन चाणूरादिभिर्घातनार्थं[2] प्रेषितः आनकदुन्दुभेः वसुदेवात्सकाशात् स्वजन्म कृष्णजन्म च यन्नारदेनाऽस्य कंसस्योक्तं, तच्चेत्येतत्सर्वं वर्णयामासेति सम्बन्धः ॥ ९ ॥

इत्थं वर्णितमक्रूरस्य वच आकर्ण्य कृष्णः परान् शत्रून्वीरान् हन्तीति तथा। बलो रामश्च प्रहस्य राज्ञा कंसेन आदिष्टं सर्वं नन्दं प्रति विजज्ञतुः विज्ञापयामासतुः ॥ १० ॥

सोऽपि नन्दोऽपि गोपान् समादिशत् आज्ञापयामास। समादेशप्रकारमेवाह[3] गृह्यता मित्यादिना किलेत्यन्तेन। गोरसः क्षीरादिः गृह्यताम्। तथोपायनानि उत्तमवस्तूनि गृह्णीध्वम्, शकटानि युज्यन्ताम्, वृषभैरिति शेषः ॥ ११ ॥

श्व स्समनन्तरेऽह्नि मधुपुरीं प्रति गमिष्यामः नृपतेः कंसाय सम्प्रदानस्य शेषत्वविवक्षया षष्ठी। रसान् क्षीरघृतादीन्दास्यामः। अत्र मधुपुर्यां महासत्त्रं धनुर्यागं द्रक्ष्यामः। जानपदा देशवासिन स्तत्र यान्ति किल, तांश्च द्रक्ष्याम इत्यर्थः। इत्थं नन्दगोपः स्वस्य गोकुले क्षत्त्रा सूतेन प्रयोज्यकर्त्रा अघोषयत् ॥ १२ ॥

1. T,W omit यदुषु 2. K चाऽक्रूरा° 3. K °माह

**विज०** माधवः मधुकुलोद्भवः यस्य कंसस्य सन्देशो यस्य स तथा यस्य कंसस्यार्थे दूतः यत्प्रयोजन मुद्दिश्येति वा, तस्य कंसस्य यदुषु वैरानुबन्धं वैरेण सन्ततदोषभावं प्रकृतस्य वैरस्य अनुवर्तनं वा। ★ "अनुबन्धो दोषभावे प्रकृत्यादौ विनश्वरे। मुख्यानुयायिनि शिशौ प्रकृतस्यानुवर्तने" (अम.को. 3-255) इति ॥ ८ ॥

अस्य कंसस्य नारदेन यदुक्तं, तदपि किं तदुक्तं, तत्राऽऽह स्वजन्मेति ॥ ९ ॥

विजज्ञतुः विज्ञापयामासतुः ॥ १०,११ ॥

रसान् आज्यादीन् हेमानि वा। "रसो रागे विषे वीर्ये तिक्तादौ पारदे द्रवे। रेतस्याऽऽस्वादने हेम्नि निर्यासे रसशब्दयोः" (वैज.को. 6-1-49) इति च। पर्व उत्सवम्। "पक्षसन्धावुत्सवे च ग्रन्थौ पर्व विदुर्बुधाः" इति दत्तः। क्षत्त्रा यन्त्रा ॥ १२ ॥

★ उपलभ्यमानपाठस्तु 'दोषोत्पादेऽनुबन्धः स्यात्' इति।

**गोप्य स्ता स्तदुपश्रुत्य बभूवुर्व्यथिता[1] नृप!**
**रामकृष्णौ पुरीं नेतु मक्रूरं व्रजमागतम् ॥ १३ ॥**

**काश्चि त्तत्कृतहृत्तापश्वासम्लानमुखश्रियः।**
**स्रंसद्दुकूलवलयकेशग्रन्थ्यश्च[2] काश्चन ॥ १४ ॥**

**अन्याश्च तदनुध्याननिवृत्ताशेषवृत्तयः।**
**नाऽभ्यजानन्निमं लोक मात्मलोकं गता इव ॥ १५ ॥**

**स्मरन्त्यश्चापरा श्शौरे रनुरागस्मितेरिताः।**
**हृदिस्पृशश्चित्रपदा गिरस्सम्मुमुहुः स्त्रियः ॥ १६ ॥**

**गतिं सुललितां चेष्टां स्निग्धहासावलोकनम्।**
**शोकापहानि नर्माणि[3] प्रोद्दामचरितानि च ॥ १७ ॥**

**चिन्तयन्त्यो मुकुन्दस्य भीता विरहकातराः।**
**समेता स्सङ्घशः प्रोचु रश्रुमुख्योऽच्युताशयाः ॥ १८ ॥**

1. G,J °ता भृशम्; M,Ma °ताऽऽशयाः 2. P,V बन्धाश्च 3. P,V क°

**श्रीध० गोप्य** इति। ताः कृष्णैकजीवना गोप्यः, तत्तदा अक्रूरमागत मुपश्रुत्येति ॥ १३ ॥

व्यथालिङ्गान्याह पञ्चभिः **काश्चिदिति**। तेन श्रवणेन कृतो यः[1] हृत्तापः तेन[2-] यः श्वासः[-2], तेन म्लाना मुखश्रीः यासां ताः। बभूवुरिति। दुकूलानि च वलयानि च केशग्रन्थयश्च, स्रंसन्तो दुकूलादयो यासां तथाभूताः काश्चन बभूवुरित्यर्थः॥ १४॥

**अन्या** इति। तस्य श्रीकृष्णस्यानुध्यानेन निवृत्ता अशेषाः चक्षुरादिवृत्तयो यासां ताः इमं लोकं देहमपि न जानन्ति स्म, मुक्ता इवेति ॥ १५ ॥

**स्मरन्त्य** इति। अपराः स्त्रियः शौरे र्गिरः स्मरन्त्यः सम्मुमुहुः? अनुरागेण यत् स्मितं तेन ईरिताः हृदि स्पृशन्तीति हृदिस्पृशः मनोज्ञाः चित्राणि पदानि यासु ताः ॥ १६,१७ ॥

**चिन्तयन्त्य** इति। विरहेण कातराः विह्वलाः अच्युते आशयः चित्तं यासां ताः ॥ १८ ॥

1. P,V omit यः 2- -2. Va omits 3. J,Va omit अर्थः

**वीर०** हे नृप! ताः गोकुलस्थाः गोप्यः तत्[1] तदा अक्रूरं रामकृष्णावानेतुं आगत मुपश्रुत्य व्यथिता बभूवुः॥ १३॥

व्यथालिङ्गान्याह पञ्चभिः- **काश्चिदिति**। काश्चिद्गोप्यः तेन श्रवणेन कृतो हृत्ताप स्तेन यः श्वासः सोष्णो निःश्वासमारुत स्तेन म्लाना मुखश्री र्यासां ताः, श्लथानि दुकूलानि वलयानि केशग्रन्थयश्च यासां तथाभूताः काश्चन बभूवुः ॥ १४ ॥

अन्यास्तु। तस्य भगवतोऽनुध्यानेन निवृत्ता अशेषाश्चक्षुरादिवृत्तयो यासां ताः, इमं लोकं देहमपि नाभ्यजानन् नाऽनुसमदधत। अतैव लोक स्तं गता आत्मसाक्षात्कारिणः योगारुढा इवेत्यर्थः ॥ १५ ॥

अपराः स्त्रियः शौरेः गिरः स्मरन्त्यः सम्मुमुहुः। कथम्भूता गिरः? अनुरागेण, यत् स्मितं तेन ईरिताः हृदिस्पृशन्तीति तथा मनोज्ञाः, विचित्राणि पदानि यासु ताः ॥ १६ ॥

काश्चित्तु विरहेण भाविना कातरा विह्वलाः मुकुन्दस्य सुन्दरतरां गतिं तथाभूतां चेष्टां रासक्रीडाद्यात्मिकाम्, स्निग्धो यो हास स्तद्युक्तमवलोकनञ्च शोकमपघ्नन्तीति तथा, तानि कर्माणि पूतनाशकटासुरादि वधात्मकानि कर्माणि च, प्रोद्दामानि गम्भीराणि चरितानि शयनासनभोजनादीनि च स्मरन्त्यः अच्युते एव आशयः चित्तं यासां ताः, अश्रूणि मुखेषु यासां ताः, सङ्घशः समेत्य तत्र तत्र सङ्घशो भूत्वा प्रोचुः ॥ १७,१८ ॥

---

1. T,W omit तत्

विज० रामकृष्णौ पुरीं नेतुमागतमक्रूरं श्रुत्वा ज्ञात्वा गोपस्त्रिय एवमापन्नाः बभूवुरित्यन्वयः। तत्कथमिति विविच्याऽऽह काश्चिदिति। तस्य कृष्णस्य मधुपुरीगमनश्रवणकृताभ्यां हृत्तापश्वासाभ्यां म्लाना मुखश्रीः यासां ता स्तथा॥ १३,१४॥

स्रंसद्दुकूलेत्यादावपि तत्कृतेति सम्बन्धयितव्यम्। यद्वा तत्कृते कृष्णकृते तदनुध्याने निवृत्ताशेषेन्द्रियवृत्तयः। इमं लोकं देहं, आत्मलोकं मोक्षम् ॥ १५ ॥

हृदिस्पृशः हृदयङ्गमाः मनोहराः अनुरागस्मितपूर्वकमीरिताः। चित्राणि पदानि यासु ताः ॥ १६ ॥

तथा गतिं यात्रां चेष्टामङ्गविषयां स्निग्धहासेन सहित·मवलोकनम् ॥ १७ ॥

अच्युताशयाः अच्युतबुद्धयः ॥ १८ ॥

## गोप्य ऊचुः

अहो विधात स्तव न क्वचिद्दया संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः।
तांश्चाऽकृतार्था न्वियुनङ्क्ष्यपार्थकं[1] विक्रीडितं[2] तेऽर्भकचेष्टितं यथा ॥ १९ ॥

यस्त्वं प्रदर्श्याऽसितकुन्तलावृतं मुकुन्दवक्त्रं सुकपोलमुन्नसम्।
शोकापनोदस्मितलेशसुन्दरं करोषि पारोक्ष्य मसाधु ते कृतम् ॥ २० ॥

क्रूरस्त्वमक्रूरसमाख्यया स्म न श्चक्षुर्हि दत्तं हरसे बताऽज्ञवत्।
येनैकदेशेऽखिलसर्गसौष्ठवं त्वदीयमद्राक्ष्म[4] वयं मधुद्विषः ॥ २१ ॥

न नन्दसूनुः क्षणभङ्गसौहृदः समीक्षते नः स्वकृतातुरा बत।
विहाय गेहान्स्वजनान्सुतान्पतीन् स्वदास्यमद्धोपगता नवप्रियः ॥ २२ ॥

सुखप्रभाता रजनीय माशिषः सत्या बभूवुः पुरयोषितां ध्रुवम्।
याः सम्प्रविष्टस्य मुखं व्रजस्पतेः पास्यन्त्यपाङ्गोत्कलितस्मितासवम् ॥ २३ ॥

तासां मुकुन्दो मधुमञ्जुभाषितै र्गृहीतचित्तः परवान्मनस्व्यपि।
कथं पुन र्नः प्रतियास्यतेऽबला ग्राम्यास्सलज्जस्मितविभ्रमै र्भ्रमन् ॥ २४ ॥

1. T,W °र्थ° 2. M,Ma,P,T,V,W चेष्टितं 3. M,Ma स्मृतः 4. M,Ma त° 5. K,T,W °क्षिता 6. M,Ma अपि 7. G,J,K तद्दा° 8. M,Ma अलज्जाः 9. M,Ma °मद्भुवः

**श्रीध०** कृष्णसङ्गतिं विधाय विघटयतीति[1] विधातारं प्रति एव माक्रोशन्त्यः आहुः — **अहो** इति। मैत्र्या हिताचरणेन प्रणयेन स्नेहेन च अकृतार्थान् अप्राप्तभोगानपि तान् वियुनङ्क्षि वियोजयसि। तस्मान्न ताव[2]दया, बालिशोऽपि त्व मित्याहुः अपार्थकमिति॥ १९॥

विगर्हितञ्च तवेदं कर्मेत्याहुः **य** इति। शोकमपनुदतीति शोकापनोदः, स चासौ स्मितलेशश्च गूढहासः, तेन सुन्दरं मुकुन्दस्य वक्त्रं सकृत्प्रदर्श्य पुन स्तस्य पारोक्ष्यमदृश्यतां करोषि। अतस्तव कृतं कर्म असाधु निन्द्यमित्यर्थः॥ २०॥

किञ्च दत्तापहारित्वेन अतिक्रूरस्त्वमित्याहुः - **क्रूर** इति। नन्वक्रूरो हरति नाऽहमिति चे दत अहुः — अक्रूरसमाख्ययेति। न ह्येवं कर्तु मन्यः प्रभवति अतो नामान्तरेण, स्म ध्रुवम्। त्वमेवाऽऽगतोऽसि। कृष्णं हरामि न युष्मच्चक्षुरिति चेत्, न, येन त्वद्दत्तेन चक्षुषा मधुद्विषः एकदेशे नेत्रवक्त्रादौ त्वदीयं समग्रं सृष्टिनैपुण्य[3] मद्राक्ष्म दृष्टवत्यो वयं तच्चक्षुः - अयं भावः — तव[4] सर्वं रहस्यमस्माभिर्ज्ञातम्। अतः[5] अमर्षेणेव[6] कृष्णं वियोजय नस्मा नन्धीकरोषीति ॥ २१ ॥

विधातारं विहाय परस्पर मूचुः- **न नन्दसूनुरिति**। बतेति खेदे। क्षणभङ्गं अस्थिरं सौहृदं[7] यस्य सः। गेहादीन् विहाय अद्धा साक्षात् तस्यैव दास्यमुपागताः स्वकृतातुराः तत्कृतेनैव स्मितादिना परवशा अपि नः अस्मान् न समीक्षते। नवं नवं प्रियं यस्य सः अत एनं निवारयाम इति भावः ॥ २२ ॥

सेर्ष्य मूचुः **सुखमिति**। व्रजस्पतेः श्रीकृष्णस्य मुखं पास्यन्ति आदरेण द्रक्ष्यन्ति। कथम्भूतम्? अपाङ्गेन नेत्रान्तेन[8] उत्कलितं उज्जृम्भितं स्मित मेवाऽऽसवो[9] यस्मिन् तत्। यद्वा, अपाङ्गोत्कलितस्मितेन आसवरूपं यन्मुखं ततश्च पानं मुख्यमेव सम्भावयन्ति ॥ २३ ॥

ननु द्वित्राणि दिनानि तथा भवतु नाम तथाऽप्यस्मत्स्नेहाकृष्टः पित्रादिभिश्च परावर्तित आगमिष्यतीत्याशङ्क्याऽऽहुः — **तासामिति**। हे अबलाः! तासां मधुवन्मञ्जुभि र्भाषितै र्वशीकृतचित्तः, तथा तासां सलज्जस्मितैः विभ्रमैर्भ्रमन् परवान् पित्रादिपरतन्त्रोऽपि। यद्वा, व्रजे परे अन्ये बन्धवः सन्ति यस्य स तथा मनस्वी धीरोऽपि, ग्राम्या अविदग्धाः नः कथं प्रतियास्यते प्रत्येष्यति, न कथञ्चिदित्यर्थः ॥ २४ ॥

1. J,Va इ° 2. J,Va °तव द° 3. J,Va °पुण° 4. J,Va मम 5. J,Va °माऽऽभि र्ज्ञा 6. J,Va इति 7. J,Va गृ° 8. J,Va नेत्रप्रान्तेन 9. J,Va add रसो

**वीर०** उक्तिमेवाऽऽह — **अहो** इत्यादिभिः। तावच्छ्रीकृष्णसङ्गतिं विधाय विघटयतीति[1] विधातारं प्रत्येवाऽऽक्रोशन्त्य आहुः — **अहो** इति त्रिभिः। हे विधातः! तव क्वचिदपि दया नास्त्यहो! तथाहि - मैत्र्या हिताचरणेन प्रणयेन स्नेहेन विश्वासेन च देहिनो जनान् तावन्मिथः संयोज्य अकृतार्थानप्राप्तभोगानेव तान् वियुनक्षि वियोजयसि, तस्मान्न तव दयाऽस्ति। अत स्तव चेष्टित मपार्थकं प्रयोजनशून्यम्। यथा बालकचेष्टितं तद्वत्। मूर्खस्त्वमिति भावः ॥ १९ ॥

विगर्हितं च तव कर्मेत्याहुः — **यस्त्वमिति**। असितैः कुन्तलैः आवृतं तद्वत्। शोभनौ कपोलौ यस्मिन्, उन्नता नासिका यस्मिन् तत्, शोकमपनुदतीति शोकापनोदः स चासौ स्मितलेश स्तेन सुन्दरं मुकुन्दस्य वक्त्र मस्माकं प्रदर्श्य यस्त्वं पुनः तस्य पारोक्ष्यमदृश्यतां करोषि। अतः ते तव कृतं कर्म असाधु निन्द्यमित्यर्थः ॥ २० ॥

नन्वक्रूरस्तस्य पारोक्ष्यं करोति न त्वह मित्याशङ्क्याऽऽहुः — **क्रूरस्त्वमिति**। येन त्वया नोऽस्मभ्यं चक्षुर्दत्तं तत्पुन स्त्वमेव अज्ञवद्दुःखानभिज्ञवत् मूर्खवत् अक्रूरसमाख्यया हरसे। अक्रूर इति व्याजमात्रमेव। न स त्वत्तोऽन्यः। न हचेवं कर्तु मन्यः प्रभवतीत्यभिप्रायेण अक्रूरसमाख्ययेत्युक्तम्। अतो नामान्तरेण ध्रुवं त्वमेवाऽऽगतो दत्तमपहरन् क्रूर इत्यर्थः। ननु कृष्णं हरामि, न तु युष्मच्चक्षुः इत्याऽऽशङ्क्याहुः। येन त्वद्दत्तेन चक्षुषा मधुद्विषः श्रीकृष्णस्य एकदेशे नेत्रवक्त्रादौ त्वदीयं समग्रसृष्टिनैपुण्य मद्राक्ष्म दृष्टवत्यो वयम्। अयम्भावः — तव सर्व रहस्य मस्माभिर्ज्ञात मित्यमर्षेण कृष्णं वियोजय न्नस्मा नन्धीकरोषीति ॥ २१ ॥

विधातारं विहाय परस्पर माहुः — **न नन्दसूनुरिति**। बतेति खेदे। क्षणभङ्गमस्थिरं, सौहृदं यस्य स नन्दसूनुः। गेहादीन्विहाय, अद्धा साक्षात् स्वस्य तस्यैव दास्य मुपगताः स्वकृतेनैव स्मितादिना आतुराः परवशा अपि नोऽस्मान् न समीक्षिता न समीक्षिष्यते। तत्र हेतुं सेर्ष्य माहुः। नवप्रियः नवः पुरस्त्रीजनः प्रियो यस्य तथाभूतः। अत एनं निवारयाम इति भावः ॥ २२ ॥

पुनस्सेर्ष्य माहुः — **सुखप्रभातेति**। पुरयोषितां मधुरापुरस्थयोषितां इयं रात्रिः सुखप्रभाता, तथा तासां आशिषः कामाश्च सत्या बभूवुः। अत्र हेतुं वदन्त्य स्ता विशिंषन्ति। याः पुरयोषितः पुर्या प्रविष्टस्य व्रजस्पतेः श्रीकृष्णस्य। सुडागम आर्षः, पारस्करादे राकृतिगणत्वा द्वा। अपाङ्गेन नेत्रान्तेन उत्कलितमुज्जृम्भितं स्मितमेव आसवो रसो यस्य तन्मुखं पास्यन्ति। मुखकमलस्य स्मितासवं पास्यन्तीति भावः ॥ २३ ॥

मधुराङ्गतोऽपि पुन रायास्यतीत्युद्भावयन्तीः काश्चित्प्रत्याहुः **तासामिति**। हे अबलाः! तासां पुरस्त्रीणां भ्रमन् मुकुन्दः, स्वतो मनस्व्यपि धीरोऽपि परवान् परस्त्रीपरतन्त्रस्सन् ग्राम्या अविदग्धाः नोऽस्मान्प्रति कथं यास्यते न कथञ्चिदित्यर्थः ॥ २४ ॥

---

1 T,W विफल°

**विज०** हे विधातः, तव क्वचिद्दया नास्ति। कथं प्रणयेन देहिनः जन्तून् मैत्र्या मित्रभावेन संयोज्य एकीकृत्य पुनस्तान्देहिनः अकृतार्थानप्राप्तमनोरथानेव वियुनङ्क्षि वियुक्तदेहान् करोषि, अहो! इत्यन्वयः। अत स्ते तव चेष्टितं अपार्थकं निष्फलं कथमिति, अर्भकचेष्टितं यथा तथेति ॥ १९ ॥

अत्र मया किमवद्य मकारीति तत्राऽऽह **यस्त्वमिति**। यस्त्वं सुकपोलादिविशिष्टं मुकुन्दवक्त्रं प्रदर्श्य दर्शयित्वा पुनः पारोक्ष्यं परोक्षविषयं चक्षुरगोचरं करोषि यस्मात्ते त्वया कृतमासाध्वमङ्गलमित्यन्वयः। शोकस्यापनोदो निरासो येन सः शोकापनोदः स्मितलेशः तथा तेन सुन्दरं मनोहरम्। स्मितस्य लेशः स्मितलेशः ॥ २० ॥

हे विधातः, त्वं अक्रूरसमाख्यया अनृशंसोऽयमकठिनोऽयमिति गुणसमाननाम्ना स्मृतः पूर्वम्। अधुना क्रूर इति स्मर्यसे। कुतः? येन चक्षुषा मधुद्विष एकदेशे मुखाद्येकावयवे तदीयं तस्य तव विद्यमानं अखिलस्य विश्वस्य सर्गे यत्सौन्दर्यं तदद्राक्ष्म, तत् त्वया हि एवं दत्तं चक्षुरज्ञवत्कृतघ्नवत् हरसे। बत! कष्ट मित्यन्वयः। "क्रूरो भयङ्करे नृशंसे कठिनोष्णयोः (वैज.को. 6-4-4) इति च। यद्वा, तस्य मधुद्विषो विद्यमानमखिलं पूर्णसर्गं स्वाभाविक-मकृत्रिमं सौष्ठवम्। अन्यत्समम् ॥ २१ ॥

इदानीं कृष्णं कटाक्षीकृत्य वदन्ति **नेति**। स्वकृते स्वात्मानं कृष्णमुद्दिश्याऽऽतुराः क्लिष्टा अपि नोऽस्मान्न समीक्षते, न चिन्तयति। यत्तस्मान्नन्दसूनुः क्षणभङ्गसौहृदः नवप्रियः नूतनप्रियश्च। कीदृशीरस्मान् गेहादीन्विहाय स्वदास्यमद्धा प्रत्यक्षमुपागताः। अद्धा सत्यं वा। "अद्धा प्रत्यक्षसत्ययोः" (वैज.को. 8-7-12) इति च ॥ २२ ॥

सुखप्रभातत्वे निमित्तमाहुः — या इति। व्रजस्पतेः गोकुलनाथस्य। सकार श्छान्दसः। अपाङ्गेन कटाक्षनिरीक्षणेन उत्कलितमुत्पन्नं अभीष्टवर्षकीकृतं वा। स्मितमेवाऽसवममृतं यस्मिंस्तथा ॥ २३ ॥

इदानीं कृष्णमजानन्त्यो वदन्ति। मनस्वी महामनाः अपि मुकुन्दो मधुरां गतः पुनः नोस्मान्प्रति कथं प्रतियास्यते आगमिष्यते, न केनाऽपीत्यन्वयः। अनागमने निमित्तमाहुः — तासां मधुराङ्गनानां मधुमञ्जुभाषितैः, मधुवत्पुष्परसवत् मञ्जुभिः श्रुतिमनोहरैः वचनैः गृहीतचित्तो वशीकृतचेताः, अत एव परवान् पराधीनः। "परवांस्तु पराधीनो निघ्नः परवशस्तथा" (हला.को. 2-186) इति हलायुधः। तासां मधुरवचनमेव कारणं नत्वन्यदित्याशयेनाऽऽहुः अबलाः सुरतधाष्टर्यविधुराः। किञ्च ग्राम्याः अश्लीललीलाः, तदपि मुख्यं नेत्याऽऽहुः। अलज्जाः लज्जारहिताः भ्रूविलासोऽपि सुखसूचको नेत्याहुः, स्मितेन। सह विभ्रमन्ती भ्रूर्यासां ता स्तथा, "समुद्रोर्मिव दुन्नम्य भ्रूविलासेन सुन्दरी, निद्रितं मदनं या तु बोधये त्सा वराङ्गना" इति कामन्दकः। यद्वा, हे अबलाः, ता मधुराङ्गनाः ग्राम्याः नित्यसुरतकर्मोपिताः, स्मिता स्फुटीकृता विभ्रमन्ती भ्रू र्यासां ता स्तथा ॥ २४ ॥

**अद्य ध्रुवं तत्र दृशो भविष्यते दाशार्हभोजान्धक वृष्णिसात्त्वताम्।**
**महोत्सवः श्रीरमणं गुणास्पदं द्रक्ष्यन्ति ये चाऽध्वनि देवकीसुतम् ॥ २५ ॥**

**मैतद्विधस्याऽकरुणस्य नाम भूदक्रूर इत्येत दतीव दारुणः।**
**योऽसावनाश्वास्य सुदुःखितं जनं प्रियात्प्रियं नेष्यति पारमध्वनः ॥ २६ ॥**

अनार्द्रधीरेष समास्थितो रथं तमन्वमी च त्वरयन्ति दुर्मदाः।
गोपा अनोभिः स्थविरैरुपेक्षितं दैवञ्च नोऽद्य प्रतिकूल मीहते ॥ २७ ॥

निवारयाम स्समुपेत्य माधवं किं नोऽकरिष्य त्कुलवृद्धबान्धवाः।
मुकुन्दसङ्गान्निमिषार्धदुस्त्यजा दैवेन विध्वंसितदीनचेतसाम् ॥ २८ ॥

यस्याऽनुरागललितस्मितवल्गुमन्त्रलीलावलोकपरिरम्भणरासगोष्ठ्याम्।
नीताः स्म नः क्षणमिव क्षणदा विना तं गोप्यः कथं न्वति तरेम तमो दुरन्तम् ॥ २९ ॥

योऽह्नः क्षये व्रजमनन्त सखः परीतो गोपैर्विशन्खुररजश्छुरितालकस्रक्।
वेणुं क्वण न्स्मितकटाक्षनिरीक्षणेन चित्तं क्षिणोति तमृते नु कथं भवेम ॥ ३० ॥

1- -1. M,Ma दशां महोत्सवो 2. M,Ma °वं 3. K,T,W मैवंवि° 4. M,Ma विभ्रंशित 5. K,T,W °गवांखु° 6. G,J,K,M,Ma °त्यमृते 7. M,Ma तेऽम्ब

**श्रीध०** किञ्च। अस्मदुत्सवभाजोऽन्या एवाऽद्य भविष्यन्तीत्याहुः — **अद्येति**। तत्र पुरे दाशार्हादीनां दशः दृष्टेः महानुत्सवो भविष्यते भविष्यति। ये देवकीसुतं द्रक्ष्यन्ति, तथा ये चाऽन्ये अध्वनि गच्छन्तं द्रक्ष्यन्ति, तेषा मपि दशो भविष्यतीति। यद्वा दश इति द्वितीया। तेषां दशो नेत्राणि महानुत्सवः भविष्यते प्राप्स्यति। प्राप्त्यर्थस्य भवते-रात्मनेपदित्वात् ॥ २५ ॥

अक्रूरं शपन्त्य आहुः — **मेति**। एषा विधा विधानं कर्म यस्य; अत एव निष्कृपस्य अक्रूर इति शोभनं नाम मा भूत्। तत्र हेतुः अतीव दारुण इत्यादि। प्रियात्प्राणादपि प्रियतरं कृष्णं अध्वनः पारं, अस्मद्दृगोचरत्वात् अतिदूरदेशं नेष्यति ॥ २६ ॥

अहो धिगस्मज्जीवित मित्याहुः — **अनार्द्रधीरिति**। अनार्द्रा कठिना धीर्यस्य सः। तावदेव कृष्णो रथमारूढः अस्याऽविनय मालक्ष्य स्थविरैश्चोपेक्षितम्, ते न निवारयन्ति इत्यर्थः। किञ्च दैवतञ्चेति। अयं भावः — यद्यस्माकं दैव मनुकूलं भवे त्तर्हि विघ्नैः कश्चि देतेषां मध्ये प्रतिहन्येत, अकस्माद्वज्रपातो वा भवेत्। अन्यद्वा किञ्चिदनिष्टं स्यात् न तु किञ्चिदस्तीति ॥ २७ ॥

परस्परं सम्मन्त्र्य साहसमधिरुह्याऽऽहुः — **निवारयाम** इति। अकरिष्यन्, किं करिष्यन्ति निमिषार्धदुस्त्यजा-न्मुकुन्दसङ्गात् विध्वंसितानि वियोजितानि अत एव दीनानि चेतांसि यासां तासाम्, एवम्भूतानामस्माकं न मृत्यो रपि भय मित्यर्थः ॥ २८ ॥

इतोऽपि कारणादेव[8] अवश्यं साहस मेवालम्बनीय[9] मित्याहुः — **यस्येति**। हे गोप्यः। यस्य ललितं स्मितं वल्गुमन्त्रश्च लीलावलोकश्च परिरम्भणञ्च अनुरागेणैतानि[10] यस्यां रासगोष्ठ्यां रासक्रीडासभायां नः अस्माभिः क्षणदा रात्रयः क्षणमिव नीताः तममुं कृष्णं विना दुरन्तं तमः विरहदुःखं कथन्नु अतितरेम, न कथञ्चिदित्यर्थः ॥ २९ ॥

किञ्च आस्तां तावत्[11] तमोऽतितरणं, जीवनमेव कथं स्यादित्याहुः — य इति। अह्नः क्षये दिनावसाने खुररजोभिः छुरिता धूसरा अलकाः स्रजश्च यस्य सः। व्रजं विशन् स्मितेन यत्कटाक्षनिरीक्षणं तेन नश्चित्तं क्षिणोति हरति। अमुं कृष्णं विना कथं भवेम जीवेमेति ॥ ३० ॥

1. J,Va °होत्स° 2. J,Va द्वागो° 3. J,Va °रं दे° 4. J,Va °रितवन्तः 5. J,Va °देषां 6. J,Va add तत् 7. J,Va omit किं 8. J,Va omit एव 9. J,Va °वावल° 10. Va °ण 11. P,V omit तावत्

**वीर०** किञ्च, अस्मदुत्सवभाजोऽन्ये एवाद्य भविष्यन्तीत्याहुः — **अद्येति**। तत्र पुरे दाशार्हादीनां दृशोर्दृष्टे रद्य महानुत्सवः भविष्यते भविष्यति। आत्मनेपद मार्षम्। तथा ये च जनाः अध्वनि श्रीरमणं लक्ष्मीकान्तं गुणानां कल्याणाना माश्रयं देवकीसुतं द्रक्ष्यन्ति, तेषाञ्च दृशः नून मुत्सवो भविष्यति। यद्वा दृश इति द्वितीयाबहुवचनान्तम्, तेषां दृशो नेत्राणि महोत्सवो भविष्यते प्राप्स्यते, प्राप्त्यर्थस्य भवते रात्मनेपदित्वात् ॥ २५ ॥

अक्रूराय शपन्त्य आहुः — **मैवंविधस्येति**। एवंविधा विधानं कर्म यस्य। एतद्विधस्येतिपाठे, एषा विधा यस्य तस्य, अत एव निष्कृपस्य अक्रूर इतीदं नाम मा भूत्। तत्र हेतुरतीव दारुण इत्यादि। दारुणः क्रूरः। अतः क्रूर इत्येव व्यपदेष्टव्यः इति भावः। योऽसावक्रूरः, सुतरां, दुःखितं, जनमस्मत्समुदायात्मकमनाश्वास्य, असान्त्वयित्वा, प्रियात्प्राणादपि प्रियं कृष्णं अध्वनः पारं नेष्यति अस्मदगोचरमतिदूरदेशं नेष्यतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

इत्थं ब्रुवतीनां सतीनां प्रभाते रथारूढं कृष्णमालक्ष्य शपन्त्य आहुः — **अनार्द्रधीरिति**। अनार्द्रा धीर्यस्य स एष कृष्णो रथमधिरूढः, तमनुसृत्येवाऽमी दुर्मदा गोपाश्च अनोभिश्शकटैः गमनसाधनैः स्थविरैर्वृद्धैः उपेक्षितं मूर्खत्वा-त्तैरप्युपेक्षितम्, ते न निवारितवन्त इति भावः। तं कृष्णं त्वरयन्ति। किञ्च दैवमप्यद्य नोऽस्माकं प्रतिकूलं यथा तथा ईहते चेष्टते। अयं भावः — यदि दैव मस्माक मनुकूलं भवेत् विघ्नै रयं विहन्येत। अकस्मादधुनैव व्रजे किञ्चिदरिष्टं वा स्यात्, न तु तत्किञ्चिदस्ति। अतो दैवमपि प्रतिकूलमिति ॥ २७ ॥

परस्परं सम्मन्त्र्य साहस मधिरुह्याऽऽहुः — **निवारयाम** इति। तं माधव मुपेत्य वयं निवारयेम, व्रजे वृद्धा बान्धवाश्च नोऽस्माकं किमकरिष्यन्, न किञ्चिदपि करिष्यन्ति। तत्र हेतुं वदन्त्य आत्मनो विशिंषन्ति निमिषार्ध मपि दुस्त्यजात् मुकुन्दस्य सङ्गात् दैवेन विध्वंसितानि वियोजितानि अत एव दीनानि चेतांसि यासां तासां, न इति सम्बन्धः। एवम्भूताना मस्माकं न मृत्यो रपि भय मस्तीत्यर्थः ॥ २८ ॥

इतोऽप्यवश्यं साहस मेवाऽवलम्बनीय मित्याहुः — **यस्येति**। हे[1-] गोप्यः[-1]! यस्य अनुरागेण ललितं स्मितञ्च वल्गुमन्त्रः, सुन्दरतररहस्सल्लापश्च लीलावलोकश्च परिरम्भणञ्च एतानि यस्यां तस्यां रासगोष्ठ्यां रासक्रीडासभायां नोऽस्माभिः क्षणदा रात्रयः क्षणमिव नीताः क्रमिताः तममुं श्रीकृष्णं विना दुरन्तं तमो विरहजं दुःखं कथन्न्वतितरेम, न कथञ्चिदित्यर्थः ॥ २९ ॥

आस्तां तावत्तमोऽतितरणं, जीवनमेव कथं स्या दित्याहुः — **य** इति। योऽनन्तस्य रामस्य सखा। तत्सहित इत्यर्थः। गोपैश्च परिवृतः अह्नः क्षये दिनावसाने गवां खुररजोभिः छुरिता धूसरिता अलकाः स्रजश्च यस्य सः, व्रजं विशन् वेणुं वादयन् स्मितेन यत्कटाक्षवीक्षणं तेन नोऽस्माकं चित्तं क्षिणोति हरति। तममुं कृष्णं विना कथं भवेम जीवेम ॥ ३० ॥

1- -1. T,W omit

**विज०** तत्र मधुरायां दाशार्हादीनां दृशां महोत्सवो, भवितेति शेषः। महानुत्सव आनन्दो यस्य स तथा तम्, ये दाशार्हादयः देवकीसुतं द्रक्ष्यन्तीति यत्तस्मात्, ये चाऽध्वनि द्रक्ष्यन्ति तेषां दृशाञ्चेति ॥ २५ ॥

इदानी मक्रूरं शपन्ति **मैतदिति**। एवंविधस्य अतिदारुणे कर्मणि प्रवृत्तस्यैतद्विधस्य एतादृशस्य वा ॥ २६ ॥

कृष्णस्य ईश्वरत्वं संवदन्ते **अनार्द्रधीरिति**। अनेन निस्सङ्गत्वं हरेर्दर्शितम्। दुर्मदाः उत्तरकार्यान्धाः, स्थविरैः कुलवृद्धैः ॥ २७ ॥

नः किमनिष्ट मकरिष्यन्, विभ्रंशिताना मत एव दीनचेतसाम् ॥ २८ ॥

हे गोप्यः, क्षणदा निद्रावसरदाः सुरतोत्सवप्रदा वा। रात्र्यां तमो दुःखम् ॥ २९ ॥

अह्नः क्षये सन्ध्यासमये तं कृष्णमृते विना कृष्णादरातिशयात् अम्बेति सखीसम्बोधनम्। भवेम, तास्विति शेषः ॥ ३० ॥

## श्रीशुक[1-] उवाच[-1]

**एवं ब्रुवाणा विरहातुरा भृशं व्रजस्त्रियः कृष्णविषक्तमानसाः।[2]**
**विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं गोविन्द दामोदर माधवेति ॥ ३१ ॥**

**स्त्रीणामेवं रुदन्तीना मुदिते सवितर्यथ।**
**अक्रूरश्चोदयामास कृतमैत्रादिको[3] रथम् ॥ ३२ ॥**

गोपा स्तमन्वसज्जन्त नन्दाद्या श्शकटै स्ततः।
आदायोपायनं भूरि कुम्भान्गोरससम्भृतान् ॥ ३३ ॥

गोप्यश्च[4] दयितं कृष्णमनुव्रज्यानुरञ्जिताः।
प्रत्यादेशं भगवतः काङ्क्षन्त्यश्चाऽवतस्थिरे ॥ ३४ ॥

तास्तथा[5] तप्यती र्वीक्ष्य स्वप्रस्थाने यदूत्तमः।
सान्त्वयामास सम्प्रेष्यै[6] रायास्य इति दौत्यकैः ॥ ३५ ॥

1- -1. M,Ma omit 2. M,Ma नि° 3. M,Ma °त्र्या° 4. T,W °स्व 5. P,V °दा 6. G,J सप्रेमै; P,V वचनै°

**श्रीध० एवमिति**। कृष्णे विषक्तानि मानसानि यासां सुस्वर मुच्चैः। ★क्रूर मक्रूरतः श्रुत्वा कंसं कंसनिषूदनः। गोपीमनोरथारामस्सरामः तत्पुरं[1] ययौ ॥ ३१ ॥

**स्त्रीणामिति**। ता अनादृत्य कृतमैत्रादिकः मैत्रं मित्रदैवत्यं[2] सन्ध्योपासनं तदादिकं[3] कर्म कृतं येन सः ॥ ३२ ॥

**गोपा** इति। अन्वसज्जन्त अन्वगच्छन् ॥ ३३ ॥

**गोप्य** इति। अनुरञ्जिताः परावृत्य निरीक्षणादिभिः किञ्चिदानन्दिताः, प्रत्यादेशं प्रत्याख्यानम् ॥ ३४ ॥

**ता** इति। तप्यतीः सन्तप्यमानाः ता[4] आयास्ये शीघ्र मागमिष्यामीति दूतवाक्यैः ॥ ३५ ॥

★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः। 1. J,Va स्वपुरं 2. J,Va °तं 3. J,Va omit °कं 4. J,Va omit ताः

**वीर०** इतीत्थं ब्रुवाणाः भृशं नितरां कृष्णविषक्तानि[1] मानसानि यासां ताः। अत एव तद्विरहेण भाविना आतुराः व्रजस्त्रियः लज्जां विसृज्य सुस्वर मुच्चैः, हे गोविन्द, दामोदर, हे माधवेति च रुरुदुः स्म ॥ ३१ ॥

इत्थं स्त्रीणां रुदतीनां[2] सतीनां सवितरि सूर्ये उदिते सति अनन्तरमक्रूरः कृतं मैत्रं मित्रस्य कृत्यं, तदादिर्यस्य तद्येन सः गोपेषु प्रदर्शितसौहृद इत्यर्थः। रथं चोदयामास। मैत्रं मित्रस्सूर्य स्तद्दैवत्यं प्रातस्सन्ध्योपासनं तदादि कर्म कृतं येनेति वा ॥ ३२ ॥

गोरसपूर्णकुम्भान् भूरि प्रभूतमुपायनञ्च आदाय ततो नन्दाद्या गोपाः शकटैः[3] तं रथ मनु पृष्ठतः समसज्जन्त सङ्गता ययुः ॥ ३३ ॥

तदा गोप्यः श्रीकृष्ण मनुव्रज्य तेनानुरञ्जिताः आश्वासिताः भगवतः प्रत्यादेशं प्रत्युत्तरं काङ्क्षन्त्यः तत्रैव अवतस्थिरे ॥ ३४ ॥

[4]तदा यदूत्तमो भगवान् स्वस्य प्रस्थाने निमित्ते तप्यतीः [5]तप्यमानाः ताः प्रत्यादेशाकाङ्क्षिणीः गोपी स्समवलोक्य शीघ्रमागमिष्यामिति दौत्यकै र्दूतद्वारा प्रेषितैः वाक्यैः सान्त्वयामास ॥ ३५ ॥

1. T,W °नि° 2. T,W °न्ती° 3. T,W omit शकटैः 4. K ततः 5. T,W परितपन्तीः

**विज०** कृतमैत्र्यादिकः कृतसूर्यमण्डलाधिष्ठितनारायणोपासनादिक्रियः ॥ ३१-३३ ॥

प्रत्यादेशं प्रतिवचनं, तिष्ठन्तु, नाऽऽयान्त्विति गमननिषेधपरं वचनं वा ॥ ३४ ॥

समीचीनतया प्रेषयितुं योग्यै र्दौत्यकैः दूतसम्बन्धिभिः वाक्यैः ॥ ३५ ॥

**यावदालक्ष्यते केतु र्यावद्रेणू रथस्य च।**
**अनुप्रस्थापितात्मानो लेख्यानीवोप[1]लक्षिताः ॥ ३६ ॥**

**ता निराशा निववृतु र्गोविन्दविनिवर्तने।**
**★ विशोका अ[2]हनि निन्यु र्गायन्त्यः प्रियचेष्टितम् ॥ ३७ ॥**

**भगवानपि सम्प्राप्तो रा[3]माक्रूरौ तथा नृप।**
**रथेन वायुवेगेन कालिन्दी मघनाशनीम् ॥ ३८ ॥**

**तत्रोपस्पृश्य पानीयं प्रीत्वा मृ[4]ष्टमणिप्रभम्।**
**वृक्षषण्ड मुपव्रज्य स रामो रथ माविशत् ॥ ३९ ॥**

**अक्रूरस्तावुपामन्त्र्य निवेश्य च रथोपरि।**
**कालिन्द्या ह्रद मागत्य स्नानं विधिवदाचरत् ॥ ४० ॥**

1. K,M,Ma तस्थिरे ★ P,V अहानि निन्युर्गायन्त्यो विशोकाः प्रियचेष्टितम्। 2. K °हा° 3. G,J,K,T,W रामोऽक्रूरयुतो नृ° 4. G,J,K,M,Ma °ष्टं

**श्रीध० यावदिति।** कृष्ण मनुप्रस्थापिता आत्मानश्चित्तानि याभि स्ताः [1-]लेख्यानीव[-1] लेख्यमयपुत्रिका इव निश्चलाः ॥ ३६-३८ ॥

**तत्रेति।** वृक्षाणां षण्डं समूहमुपव्रज्य ॥ ३९ ॥

अक्रूर इति। [2] रथोपरि निवेश्य ॥ ४०

1- -1. J,Va omit 2. J,Va add शत्रुभ्यः

**वीर०** तदा श्रीकृष्ण मनुस्थापिताः आत्मानश्चित्तानि याभिस्ताः गोप्यः, यावत्केतुः पताका लक्ष्यते, यावच्च रथस्य रेणुः दृश्यते तावत्तत्रैव लेख्यानि चित्रस्थप्रतिमा इव उपतस्थिरे॥ ३६ ॥

ततो गोविन्दस्य विनिवर्तने दूरगमने सति निराशाः ताः गोप्यो निववृतुः न्यवर्तन्त। ततः प्रियस्य कृष्णस्यैव[1] चेष्टितं गायन्त्यः तेनैव विगतशोकाः अहानि निन्युः क्रमितवत्यः॥ ३७ ॥

हे नृप, रामाक्रूराभ्यां युक्तो भगवानपि वायोरिव वेगो यस्य तेन रथेन गमनसाधनेन अघं नाशयतीति तथा तां कालिन्दीं कालिन्दीगतं तीर्थविशेषं, प्राप्तः॥ ३८ ॥

मृष्टस्य निघर्षणेन निर्मलीकृतस्य मणे रिन्द्रनीलस्येव प्रभा यस्य तत्पानीयं जलं पीत्वा उपस्पृश्याऽऽचम्य च वृक्षाणां षण्डं समूहमुपव्रज्य सरामो रथ माविशत् आरूढवान्॥ ३९ ॥

तदा अक्रूरश्शत्रुभ्यश्शङ्कितः तौ रामकृष्णौ रथोपरि निवेश्य, आमन्त्र्य पृष्ट्वा माध्याह्निकार्थं कालिन्द्या ह्रद मागत्य तत्र यथाविधि स्नानमाचरत् कर्तु मारेभे॥ ४० ॥

1 T.W. omit एव

**विज०** केतुः ध्वजः, लेख्यानि चित्राणि॥ ३६ ॥

गोविन्दविनिवर्तने कृष्णदर्शने॥ ३७,३८ ॥

श्याममणिप्रभम्॥ ३९,४० ॥

**निमज्ज्य तस्मिन् सलिले जपन्ब्रह्म सनातनम्।**
**तावेव दृष्टश्चेऽक्रूरो[1-] रामकृष्णौ[-1] समन्वितौ॥ ४१ ॥**

**तौ रथस्थौ कथमिह सुतावानकदुन्दुभेः।**
**तर्हि स्वित्स्यन्दनेन स्त इत्युन्मज्ज्य व्यचष्ट सः ॥ ४२ ॥**

**तत्राऽपि च यथापूर्वमासीनौ पुनरेव सः ।**
**न्यमज्ज[2-] दर्शनं[-2] यन्मे[3] मृषा किं सलिले तयोः ॥ ४३ ॥**

भूय स्तत्राऽपि सोऽद्राक्षीत् स्तूयमानमहीश्वरम्।
सिद्धै र्भुजङ्गपतिभिः असुरैर्नतकन्धरैः ॥ ४४ ॥

सहस्रशिरसं देवं सहस्रफणमौलिनम्।
नीलाम्बरं बिसश्वेतं शृङ्गैः श्वेतमिव स्थितम्॥ ४५

1- -1. P,V °वाऽपश्यदक्रूरो 2- -2. M,Ma निमज्जद° 3. J तन्मे; M,Ma मेने 4. P,V °नं महे° 5- -5. G,J सिद्धचारणगन्धर्वैः; P,V सिद्धैर्गन्धर्वपतिभिः

**श्रीध० निमज्ज्येति**। ब्रह्म वेदं जपन्, "क्वेमौ बालौ क्व तौ मल्लाविति शङ्कितचेतसे, अक्रूराय जले रूप मत्याश्चर्यं व्यदर्शयत्" ॥ ४१-४३ ॥

**भूय** इति। सिद्धादिभिः स्तूयमानम् ॥ ४४ ॥

**सहस्रेति**। सहस्रं शिरांसि यस्य तम्, सहस्रफणेषु मौलयः यस्य सन्तीति तथा तम्। नीले अम्बरे यस्य तम्। बिसवत् कमलनालवत् श्वेतं, शृङ्गैः शिखरैः श्वेतं कैलासमिव स्थितम् ॥ ४५ ॥

★ श्रीधरीयोयं श्लेकः 1. P,V अस्य 2. P,V °कन्द°

**वीर०** तत्र जले सनातनं ब्रह्म नित्यब्रह्मस्वरूपावेदकं प्रणवं जपन् निमज्ज्य समन्वितौ सहभूतौ तावेव रामकृष्णौ ददर्श ॥ ४१ ॥

एवं दृष्ट्वा सोऽक्रूरः तावानकदुन्दुभे स्सुतौ रथस्थौ कथमिह स्तः? यदि रथादवरुहयेहाऽऽगतौ तर्हि रथे न स्तः इति वितर्क्य उन्मज्ज्य ददर्श ॥ ४२ ॥

तत्राऽपि रथेऽपि पूर्ववदासीनौ दृष्ट्वा, तयो स्सलिले मम दर्शनं मत्कर्तृकं दर्शनं किं मृषा, उत सत्यम्? यदि सत्यं, तर्हि पुनर्द्रक्ष्यामीति चिन्तयन् पुनर्न्यमज्जत्, पुनर्निमग्नः ॥ ४३ ॥

तत्राऽपि जले तावदहीश्वरं शेषं ददर्श। कथम्भूतम्? नता कन्धरा ग्रीवा येषां तै स्सिद्धादिभिः स्तूयमानम् ॥ ४४ ॥

सहस्रं शिरांशि फणा यस्य तं, देवं दीप्यमानं सहस्रफणेषु मौलयः किरीटानि अस्य सन्ति सहस्रफणमौलिनः। पामादेराकृतिगणत्वात् मत्वर्थीयो नप्रत्ययः। तं नीलं अम्बरं यस्य तम्, बिसवत्पद्मतन्तुवत् श्वेतं, हिरण्मयै श्रृङ्गैः रजतगिरिमिव स्थितम् ॥ ४५ ॥

1. T,W °क° 2. T,W omit सत्यं

**विज०** ब्रह्म अघमर्षणसूक्तम्। "ब्रह्म वेदस्तपस्तत्त्वम्" (अम.को. 3-271) इति च ॥ ४१ ॥

स्यन्दने रथे न स्तः न विद्येते स्वित्किम् ॥ ४२ ॥

सलिले तयोः रामकृष्णयोः दर्शनं मृषा किमिति, मेने इति शेषः ॥ ४३ ॥

असुरै रसुषु रतैः, वशीकृतेन्द्रियै रित्यर्थः ॥ ४४ ॥

बिसश्वेतं श्वेतपद्मनालतन्तुवद्धवलं शिखरैस्सह श्वेतनामानं पर्वतम् ॥ ४५ ॥

**तस्योत्सङ्गे घनश्यामं पीतकौशेयवाससम्।**
**पुरुषं चतुर्भुजं शान्तं पद्मपत्रायतेक्षणम्[1] ॥ ४६ ॥**

**चारुप्रसन्नवदनं चारुहासनिरीक्षणम्।**
**सुभ्रून्नसं चारुकर्णं सुकपोलारुणाधरम् ॥ ४७ ॥**

**प्रलम्बपीवरभुजं तुङ्गांसोरःस्थलश्रियम्।**
**कम्बुकण्ठं निम्ननाभिं वलिमत्पल्लवोदरम् ॥ ४८ ॥**

**बृहत्कटितटश्रोणि[2]करभोरुद्वयान्वितम्।**
**चारुजानुयुगं दीर्घं[3] जङ्घायुगलसंयुतम् ॥ ४९ ॥**

**तुङ्गगुल्फारुणनखव्रातदीधितिभिर्वृतम्[4]।**
**नवाङ्गुल्यङ्गुष्ठदलै र्विलसत्पादपङ्कजम् ॥ ५० ॥**

1. G,J,M,Ma °रुणे° 2. M,Ma श्रोणी 3. G,J,M,Ma,P,V चारु 4. K,W °नृपै!

**श्रीध० तस्येति।** तस्योत्सङ्गे कुण्डलीकृतदेहार्धे 'विलोक्य' (भाग. 10/39/56) इत्येकादश[1]श्लोकेनाऽन्वयः ॥ ४६ ॥

**चार्विति**। शोभने भ्रुवौ यस्य, उन्नता नासिका यस्य तञ्च, तञ्च। शोभनौ[2-] कपोलौ यस्य, अरुणावधरौ यस्य तञ्च, तञ्च[-2] ॥ ४७ ॥

**प्रलम्बेति**। तुङ्गावंसौ यस्य, उरःस्थले श्रीर्यस्य, तञ्च, तञ्च। वलिमत्पल्लवोदरं वलयः तिर्यक् निम्ना[3] रेखा यस्य सन्ति तद्वलिमत्; तच्च तत्पल्लववत् अश्वत्थदलसदृशमुदरं यस्य तम् ॥ ४८ ॥

**बृहदिति**। कटितटञ्च श्रोणिश्च करभसदृश मूरुद्वयञ्च, बृहच्च तत्कटितटश्रोणिकरभोरुद्वयञ्च, तेनान्वितम्। यद्वा, बृहद्भ्यां कटितटश्रोणिभ्यां करभोरुद्वयेन चाऽन्वितम् ॥ ४९ ॥

**तुङ्गेति**। तुङ्गौ ईषदुन्नतौ गुल्फौ अरुणनखव्रातश्च तेषां दीधितिभिः; तथा नवाः कोमलाः अङ्गुल्यः अङ्गुष्ठौ[4] च तान्येव दलानि तैश्च विलसच्छोभमानं पादपङ्कजं यस्य तम् ॥ ५० ॥

1. J,Va °शेन 2- -2. P,V omit 3. J,Va °म्न° 4. P,V °ष्ठे°

**वीर०** तस्य अहीश्वरस्य उत्सङ्गे फणप्रान्तभोगे पुरुष मद्राक्षीत्। केमौ बालौ क्व मल्लौ इत्याशङ्कापजिहीर्षया प्रदर्शित मात्मान मद्राक्षीदिति भावः। कथम्भूतम्? नीलमेघवच्छ्यामं, पीते[1] कौशेये वाससी यस्य, चत्वारो भुजा यस्य तं, शान्तं प्रसन्नं, पद्मपत्रे इव आयते ईक्षणे नेत्रे यस्य ॥ ४६ ॥

चारु सुन्दरं, प्रसन्नञ्च वदनं यस्य, चारुहासेन युक्तं निरीक्षणं यस्य, शोभने भ्रुवौ उन्नता नासिका च यस्य, चारूकर्णौ श्रोत्रे यस्य, शोभनौ कपोलौ यस्य, अरुणः अधरो यस्य स[2-] चासौ[-2] यः तम् ॥ ४७ ॥

प्रलम्बा आजानुलम्बिनः, पीवराश्च भुजा यस्य, तुङ्गौ उन्नतौ स्कन्धौ यस्य स चाऽसौ, उरसि श्री र्यस्य च तम्। कम्बुवत् शङ्खवत् रेखात्रयोपेतः नातिदीर्घो नातिह्रस्वश्च पीनश्च[3] कण्ठो यस्य, निम्ना नाभि र्यस्य, वलिमत् वलित्रयोपेतम् अश्वत्थपल्लववदुदरं यस्य ॥ ४८ ॥

बृहता कटितटेन श्रोण्या च, करभसदृशोरुद्वयेन च अन्वितं, चारु जान्वो र्युगं यस्य, दीर्घयो र्जङ्घयो र्युगलेन संयुतम् ॥ ४९ ॥

तुङ्गावीषदुन्नतौ गुल्फौ अरुणनखव्रातश्च, तेषाम् दीधितिभिः हे नृप, तथा नवाङ्गुल्यः नवाङ्गुष्ठौ च तान्येव दलानि तैश्च शोभमाने पादपङ्कजे यस्य तम् ॥ ५० ॥

1. W °त° 2- -2. W omits 3. K omits पीनश्च

**विज०** उत्सङ्गे भोगे वपुरङ्गं तत्सङ्गहीनो जनार्दन इति च ॥ ४६ ॥

सुभ्रूश्च उन्नसश्च सुभ्रून्नसः तम् ॥ ४७ ॥

तुङ्गांसश्च उरःस्थलश्रीश्च तुङ्गांसोरःस्थलश्रीः। तुङ्गावंसौ यस्य स तथा। उरःस्थले श्रीर्यस्य स तथा तम्, वलिमच्च पल्लवञ्चाऽऽकाशवच्च उदरं यस्य स तथा तम्। "पल्लवञ्च प्रकोष्ठे वाऽपि विस्तृतौ" इति वैजयन्तीमाला। (वैज.को 7-5-58) सुन्दररेखाङ्कितानन्ताण्डकोटिनिवेशनोदरमित्यर्थः॥ ४८॥

कनिष्ठिकामूलं करभः। काञ्चीपदं कटितटञ्च श्रोणी च करभवद्रुचिरं मांसलं ऊरुद्वयञ्च तानि तैरन्वितः॥ ४९,५०॥

1. उपलभ्यमानपाठः "पल्लवन्त्वस्त्री प्रकोष्ठेऽप्यतिविस्तृतौ"।

महार्हमणिभिर्युक्तकिरीटकटकाङ्गदैः।
कटिसूत्रब्रह्मसूत्रहारनूपुरकुण्डलैः ॥ ५१ ॥

भ्राजमानं पद्मकरं शङ्खचक्रगदाधरम्।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम् ॥ ५२ ॥

सुनन्दनन्दप्रमुखैः पार्षदैस्सनकादिभिः।
सुरेशैर्ब्रह्मरुद्राद्यै र्नवभिश्च द्विजोत्तमैः ॥ ५३ ॥

प्रह्लादनारदवसुप्रमुखै र्भागवतोत्तमैः।
स्तूयमानं पृथग्भावै र्वचोभिरमलात्मभिः ॥ ५४ ॥

श्रिया पुष्ट्या गिरा कीर्त्या कान्त्या तुष्ट्येलयोर्जया।
विद्ययाऽविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम् ॥ ५५ ॥

विलोक्य सुभृशं प्रीतो भक्त्या परमया युतः।
हृष्यत्तनूरुहो भावपरिक्लिन्नात्मलोचनः ॥ ५६ ॥

गिरा गद्गदयाऽस्तौषी त्सत्त्वमालम्ब्य सात्त्वतः।
प्रणम्य मूर्ध्नाऽवहितः कृताञ्जलिपुटश्शनैः ॥ ५७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
अक्रूरप्रतियाने एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

1- -1. G,J सुमहार्हमणिव्रात; M,Ma महार्हमणिविभ्राजत्; P,V महार्हमणिकव्रात 2. K,W °मकुटा° 3. K,W कविभिश्च 4. M,Ma omit प्र 5. M,Ma °ड्मार्गै 6. M,Ma °लयोऽजया

**श्रीध० महार्हेति।** सुमहार्हाः मणिव्राताः येषु तैः किरीटादिभिः॥ ५१-५३ ॥

**प्रह्लादेति।** पृथक् पृथक् भावोऽभिप्रायो येषां तैः तत्र पारिषदैः स्वामीति स्तूयमानं, सनकादिभिर्ब्रह्मेति, ब्रह्माद्यैर्महेश्वर इति। मरीच्यादिभिर्द्विजोत्तमैः परः प्रजापति रिति। वसुरुपरिचरः, प्रह्लादनारदवसवः प्रमुखा मुख्या येषां तैः परं दैवतमिति[1] च श्रेष्ठैर्वचोभिः पृथग्भावै (गैः) र्वचोभि रिति वा॥ ५४ ॥

**श्रियेति।** विद्याऽविद्ये जीवानां मुक्तिसंसृतिहेतू माया तयोः कारणं, शक्तिः ह्लादिनी, संवित् ज्ञानम्, आभि - रन्याभिश्च निषेवितम्॥ ५५ ॥

**विलोक्येति।** विलोक्य सुभृशं प्रीतः अस्मत्कृष्णोऽसावेवम्भूतः परमेश्वर इति ज्ञात्वेति॥ ५६,५७ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ३९॥

1 P.V. omit °त०

**वीर०** महार्हा मणिव्राता येषु तैः किरीटादिभिर्भ्राजमानं पद्मं करे दक्षिणे यस्य तम्, अवशिष्टैः त्रिभिः करैः शङ्खचक्रगदाः धरतीति तथा तम्, श्रीवत्सो वक्षसि यस्य तं, भ्राजन् भ्राजमानः कौस्तुभो यस्य तम्। वनमालाऽस्यास्तीति तथा तम्॥ ५१,५२ ॥

सुनन्दादिभिः पार्षदैः सनकादिभिश्च सुरश्रेष्ठैः ब्रह्मरुद्रादिभिश्च कविभिः (नवभिः) द्विजोत्तमैः मरीच्यादिभिश्च विशुद्धमानसैः क्रमेण सर्वशेषीति, परब्रह्मेति, सर्वकारणमिति, प्रजापतिरिति - एवं पृथक् पृथक् अभिप्रायवद्भिः वचोभिः स्तूयमानं शक्त्यादिभिः मूर्तिविशिष्टै श्शक्तिभिः द्वादशभिः निषेवितम्॥ ५३-५५ ॥

एवम्भूतं विलोक्य नितरां प्रीतः उत्कृष्ट्या भक्त्या च युक्तः, अत एव हृष्यन्ति उदञ्चितानि तनूरुहाणि लोमानि यस्य, भावेन प्रीत्यतिशयेन परिक्लिन्न आर्द्रः आत्मा चित्तं लोचने च यस्य सः सात्त्वतोऽक्रूरः, सत्त्वं धैर्यं मवलम्ब्य मूर्ध्ना प्रणम्य अवनतः प्रह्वः कृतमञ्जलिपुटं येन सः गद्गदया वाचा शनै स्तुष्टाव॥ ५६,५७ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ३९ ॥

**विज०** नवभिर्द्विजोत्तमैः कश्यपादिभिः ॥ ५१-५३ ॥

पृथङ्मार्गैः वैदिकतान्त्रिकमार्गविषयैः॥ ५४,५५ ॥

भावेन तद्भक्तिस्वभावेन परिक्लिन्ने आनन्दाश्रुजलस्नाते आत्मलोचने यस्य स तथा॥ ५६ ॥

सत्त्वं सत्त्वगुणं आत्मभावं वा॥ ५७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ३९ ॥

(श्रीविजयध्वजरीत्या सप्तत्रिंशोऽध्यायः)

# चत्वारिंशोऽध्यायः

(श्रीविजयध्वजरीत्या अष्टत्रिंशोऽध्यायः)

-: अक्रूरकृत श्रीकृष्णस्तुतिः :-

श्रीशुक उवाच

★एवं दृष्ट्वा तमक्रूरः प्रसन्नहृदयेन्द्रियः।
तुष्टाव पुण्डरीकाक्षं भक्त्याऽवनतकन्धरः ॥ १ ॥

अक्रूर उवाच

नतोऽस्म्यहं त्वाऽखिलहेतुहेतुं[1] नारायणं पूरुषमादिमव्ययम्[2]।
यन्नाभिजातादरविन्दकोशा द्ब्रह्माऽऽविरासीद्यत एष लोकः ॥ २ ॥

भूस्तोयमग्निः पवनः खमादिर्महानजादिर्मन इन्द्रियाणि।
सर्वेन्द्रियार्था विबुधाश्च सर्वे ये हेतवस्ते जगतोऽङ्गभूताः ॥ ३ ॥

नैते स्वरूपं विदुरात्मनस्ते ह्यजादयोन्यात्मतया[3] गृहीताः[4]।
अजो नु बद्धस्स्वगुणैरजाया[5] गुणात्परं वेद न ते स्वरूपम् ॥ ४ ॥

त्वां योगिनो यजन्त्यद्धा महापुरुष मीश्वरम्।
साध्यात्मं साधिभूतश्च साधिदैवश्च साधवः ॥ ५ ॥

त्रय्या च विद्यया केचित्त्वां वै वैतानिका द्विजाः।
यजन्ते विविधै र्यज्ञै र्नानारूपाऽमराख्यया[6] ॥ ६ ॥

★ It is not found in G,J,K,P,V,W edns. 1. M,Ma भूतं 2. G,J,P,V °माद्य° 3. P,M,Ma,V अ° 4. G,J,P,V ना° 5. G,J,M,Ma,P,V °स्स° 6. G,J,M,Ma

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चत्वारिंशे ततोऽक्रूरः कृष्णं मत्वेश्वरेश्वरम्। प्रणम्य भक्त्या तुष्टाव सगुणागुणभेदतः॥
(एवं दृष्ट्वेति प्रथमश्लोकस्य श्रीधरीयव्याख्या नास्ति)

श्रीकृष्णं प्रणमति **नतोऽस्मीति**। हे कृष्ण, त्वा त्वां नतोऽस्मि, त्वमस्मत्पितृव्यः कुतो मां बालं नतोऽसि? तत्राऽऽह आद्यं पुरुषं अव्ययञ्च, अनादिनिधनमित्यर्थः। कुत एतत्? अखिलहेतूनां [1-] पञ्चमहाभूतानां [-1] हेतुम्। स तु नारायणो नाऽहमिति चेत् तत्राऽऽह — नारायणं त्वां, किं नारायण इति मां स्तौषि, काऽत्र स्तुतिः? सत्यमेवेत्याह यन्नाभिजातादिति। [2-] यस्य नाभिजातात् अरविन्दकोशात् ब्रह्मा आविरासीत् [-2] यतो ब्रह्मणः ॥ २ ॥

अखिलहेतुहेतुत्वं प्रपञ्चयति **भूरिति**। [3] आदिरहङ्कारः, अजा माया, तस्या आदिः पुरुषः एते ये जगतो हेतवः ते सर्वे [4] ते तवाऽङ्गभूताः अङ्गात् श्रीमूर्ते र्भूताः [5] जाताः, उपसर्जनभूता वा ॥ ३ ॥

नन्वतिस्तुतिः कथं क्रियते, अहमेवाऽन्यत उत्पन्नः तत्परतन्त्रश्चेति [6-] चेत् इत्याशङ्क्य [-6], तवैषा माया त्वत्पारमार्थ्यं तु न कोऽपि वेदेत्याह — **नेति**। एते [7] अजा आदि र्येषां ते, आत्मनस्ते स्वरूपं न विदुः। अनात्मतया जडत्वेन कारणेन। जडत्वे हेतुः, गृहीताः प्रत्यक्षादिभिर्दृष्टाः। न ह्यजडो ह्यग्रोचर इति भावः। ननु जडाः मां मा जानन्तु जीवस्तु ज्ञास्यति इत्यत आह — अज इति। स अजो ब्रह्माऽपि अजाया गुणैः अनुबद्ध आवृतः गुणातीतं ते [8] तव स्वरूपं न वेद। [9] अतः अन्यः कुतो ज्ञास्यतीति। यद्वा प्रकृत्यादयः आत्मनः स्वरूपं तव स्वरूपं च न विदुः जडत्वादेव। जीवस्तु तान् आत्मानञ्च वेत्ति न पुन स्त्वत्स्वरूपमिति। यथोक्तं हंसगुह्ये — "देहोऽसवोऽक्षामनवो भूतमात्रा नात्मानमन्यञ्च परं यत्। सर्वं पुमान् वेद गुणांश्च तज्ज्ञो न वेद सर्वज्ञ मनन्तमीडे" इति ॥ ४ ॥

ननु यदि केऽपि न जानन्ति कथं तर्हि संसारनिवृत्ति र्जीवानामित्याशङ्क्य साक्षादगोचरत्वेऽपि येन केनाऽपि मार्गेण भजतां त्वं गम्योऽसीत्याह - **त्वामिति**। हैरण्यगर्भादयः अध्यात्माधिभूताधिदैवसाक्षिणं महापुरुषं तदन्तर्यामिस्वरूपं ईश्वरं नियन्तारञ्च यजन्ति ॥ ५ ॥

तदेवं साङ्ख्ययोगावेकीकृत्योक्त्वा [10] त्रयीमार्गं कर्मज्ञानभेदेन दर्शयति — **त्रय्या** चेति [11] द्वाभ्याम्। वैतानिकाः कर्मयोगिनः त्वां वै त्वामेव यजन्ते। ननु ते इन्द्रवरुणवाय्वादीन् यजन्ते न तु मामित्यत आह - नानेति। नाना वज्रहस्तादीनि रूपाणि येषां ते ये अमरा स्तेषामाख्यया नाम्ना त्वामेव यजन्त इति। अयं भावः - [12] ऐन्द्रवारुणादिसूक्तैः इन्द्रादयः सर्वैश्वर्येण प्रकाश्यन्ते, न च सर्वेश्वरा बहवस्सम्भवन्ति। अतो नामभेदेन त्वामेव यजन्त इति। तथा च श्रुतिः — "स प्रथम स्सङ्कृतिः विश्वकर्मा स प्रथमो मित्रो वरुणो अग्निः स प्रथमो बृहस्पति श्चिकित्वान् तस्मा इन्द्राय सुत माजुहोमि" इति ॥ ६ ॥

1- -1. J,Va omit 2- -2. J,Va omit 3. J,Va add स्वस्य 4. J,Va omit ते 5. J,Va omit जाताः 6- -6. J,Va °श्चेत्या°
7. Va omits अजा 8. P,V omit तव 9. J,Va omit अतः 10. J,Va क्तौ। 11. J,Va श्लोकद्वयेन 12. P,V इन्द्रवरुणा°

# श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अस्तौषी दित्युक्तं तां स्तुतिमेव दर्शयति चत्वारिंशेन, **नतोऽस्मीत्यादिना**। तावत्सर्वजगत्कारणत्वसर्वान्तरात्मत्वादिभिः स्तुवन्नमस्करोति, नतोऽस्मीत्यादि द्वाभ्याम्। अखिलहेतुहेतुं त्वामहं नतोऽस्मि। अखिलस्य व्यष्टिप्रपञ्चस्य ये हेतवो महदादयः तेषामपि हेतुं कारणमित्यर्थः। नन्वखिलहेतुहेतुः सद्ब्रह्मात्माकाशप्राणादिषु अन्यतमो, न त्वहमित्यत्राऽऽह — नारायणमिति। कृत्स्नकारणत्वस्यानेकनिष्ठत्वे "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" (श्वेता.उ. 6-8) इत्युक्तरीत्या निस्समाभ्यधिकाद्वितीयवस्त्वसिद्ध्या तस्यैकनिष्ठत्वस्य वाच्यत्वात् सदादिसामान्यशब्दघटितकारणवाक्याभिप्रेतकारणवस्तुविशेषाकाङ्क्षाशामकेन विशेषशब्दात्मकनारायण पदघटितेन "एको ह वै नारायण आसीत्" (मन्ना.उ. 1-1) इति वाक्येन नारायणेतरस्य निषेधपूर्वकं तस्यैव कारणत्वं श्रावयता कारणत्वेनाऽवगतो नारायण एव, स च त्वमेवेति भावः। नन्वस्त्वहं नारायण इति, स एवाऽखिल हेतुरिति च, तथापि ममाऽपि कारणान्तरं स्यात्, तत्राऽऽह - पूरुषमादिं आदिपूरुषं कारणत्वपराकाष्ठाभूतं स्वयं कारणान्तररहित मित्यर्थः। एवमप्यव्ययं निर्विकारं विकाराणां शरीरभूतचिदचिद्गतत्वादिति भावः। अखिलहेतुहेतुत्वमेव प्रपञ्चयति — यन्नाभीति। एष दृश्यमानो व्यष्टिप्रपञ्चः यतो बभूव स ब्रह्मा चतुर्मुखः यस्य तव नाभेः जातादरविन्दकोशादाविरासीत् उदभवत्। अनेन व्यष्टिसृष्टिश्चतुर्मुखद्वारिका समष्टिसृष्टिस्तु अद्वारिकेति दर्शिता (तम्) ॥ १,२ ॥

ननु किमिद मखिलहेतुत्वं निमित्तरूपमुतोपादानत्वरूपमित्याशङ्कायामुभयरूप(विध)ञ्चेत्यभिप्रेत्याऽऽह — **भूरिति**। पृथ्व्यादीन्याकाशान्तानि पञ्चभूतानि तेषामादिः कारणमहङ्कारः, तथा तस्यापि कारणं महान्, तस्याप्यादिः कारणमजा मूलप्रकृतिः। सा हि सर्वकार्याणा मादिभूता, तथा सात्त्विकाहङ्कारकार्यभूतानीन्द्रियाणि ज्ञानकर्मोभयेन्द्रियाणि मनश्च तेषा मधिष्ठातारो विबुधा देवाः दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रप्रजापतिचन्द्रमसः, इन्द्रियाणामर्था विषयाः शब्दादयश्चेति ये जगतो हेतवः ते सर्वे, ते तव अङ्गभूताः शरीरभूताः। अनेन मूलप्रकृतिविशिष्टो महदादिशरीरकतया तत्तद्रूपेण परिणत इत्युपादानत्व मुक्तम्। मूलप्रकृतेर्महदादीनाञ्च शरीरत्वकथनेन नियन्तृनियाम्यभावसिद्धेर्निमित्तत्वमप्युक्तम्। जगतो ये हेतव इति जगदन्तभूर्तज्ञानविकासात्मक कार्यावस्थजीवकारणभूतज्ञानसङ्कोचरूप कारणावस्थजीवानामपि तदङ्गत्वप्रतीत्या जीवान्प्रत्युपादान निमित्तत्वरूपोभयविध कारणत्वसिद्धिः ॥ ३ ॥

ननु त्वमिव सर्वेऽप्येवंविधं सर्वकारणं सर्वान्तरात्मानं सर्वशरीरकञ्च मां किं विजानीयुः? तत्राऽऽह — **नैते** इति। एते त्वच्छरीरभूता अजादयः (जीवादयः) अन्तरात्मनः तव स्वरूपं न विदुः। अजादय इत्यत्र आदिशब्दः प्रकृति तत्कार्यसङ्ग्राहकः, स च दृष्टान्तार्थः। जडाः प्रकृत्यादयो यथा न तव स्वरूपं विदुः, एवं जीवा अपि न विदुरित्यर्थः। ननु जडत्वात् प्रकृत्यादयो न विदुरिति युक्तम्, अजडा जीवास्तु कुतो न विदुः, इत्यत्राऽऽह — अन्यात्मतया गृहीता इति। अन्यस्मिन् स्वस्माद्भिन्ने देहे आत्मतया आत्माभिमानेन, तथा अन्यस्मिन् स्वतन्त्रात् त्वत्तोऽन्यस्मिन् स्वात्मनि आत्मतया स्वातन्त्र्याभिमानेन च गृहीता ग्रस्ताः देहात्माभिमानस्वतन्त्रात्माभिमानाभ्यां ग्रस्ताः स्वात्मानमेव देहविलक्षणमीश्वरपरतन्त्रञ्च न जानन्ति, कथन्तु (नु) त्वां विदुरित्यर्थः। इत्थमेव ब्रह्मापि न वेद, किमुत तत्सृज्यास्तदर्वाचीना इति कैमुत्त्यनयेनाऽऽह - अज इति। अजो ब्रह्माऽपि स्वगुणैः स्वशरीरारम्भकसत्त्वरजस्तमोगुणैः अनुबद्धः तत्परवश इति यावत्। अजायाः प्रकृतेः गुणात्, जातावेकवचनम्। गुणेभ्यः सत्त्वादिभ्यः परं विलक्षणं, तन्नियन्तृ तव स्वरूपं न वेद, किमुताऽन्ये न विदुरिति भावः।

अनात्मतयेति पाठे जडत्वेन दृष्टाः अजादयः प्रकृत्यादयः यथा न विदुः, एव मजो ब्रह्माऽपि न वेद किमुताऽन्ये न विदुरिति योजनीयम् ॥ ४ ॥

ननु सर्वे त्वेद्यं मत्स्वरूपं शशविषाणप्रायं स्यादिति मा शङ्कीः (शङ्किष्टाः) देहात्माद्यभिमानिनां मांसचक्षुराद्यवेद्यमपि योगविशुद्धमनोवेद्यमेवेत्यभिप्रयन् तदेव नानाविधब्रह्मविद्याभिः ज्ञानयोगिनः कर्मयोगिनश्च यजन्तीत्याह - **त्वामिति**। योगिन इत्यस्य केचिदित्यादिः। केचिद्योगिनः आनन्दवल्ल्यादिविहितोपासनानिष्ठाः महापुरुषं, प्रकृतेः तत्संसृष्टाच्चेतनान्मुक्तान्नित्याच्च विलक्षण मीश्वरं त्वामद्धा त्वामेव। अद्धेत्यवधारणे। साक्षात्त्वामेव "सत्यं ज्ञान मनन्तम्" (तैत्ति.उ. 2-1-1) इत्याद्युक्तविधं यजन्ति आराधयन्ति। उपासत इति यावत्। केचित्साधवस्तु अन्तरादित्यप्रतर्दनादिविद्यानिष्ठास्तु साधिदैवम् आदित्यान्तःस्थमिन्द्रादि देवतान्तर्यामिण मिन्द्रादिशरीरकं त्वां, यजन्त्युपासनां कुर्वन्तीत्यर्थः। केचित्तु साध्यात्मम् आत्मनि शरीरे अध्यात्मं तेन सहितं साध्यात्मं शरीरावयवाक्षिहृदयादिषु वसन्तं त्वां यजन्ति। तथाहि — छान्दोग्ये "य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते। (छान्दो.उ.1-6-6) इत्युपक्रम्य "तस्य ऋक्सामगोष्णौ "इत्यधिदैवतम्" (छान्दो.उ. 1-6-8) "अथाध्यात्मं...य एषोऽन्तरक्षणि पुरुषो दृश्यते (छान्दा.उ. 1-7-5) इत्युक्तम्। अपरे तु योगिनः साधिभूतं सर्वभूतस्थं सर्वशरीरकं त्वां भजन्ति। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्" (छान्दो.उ. 3-14-1) इत्युक्तविधमुपासनं कुर्वन्तीत्यर्थः। तदेवमुपासनानां अद्वारकसद्वारकभेदेन द्वैविध्यं दर्शितम् ॥ ५ ॥

अथ कर्मणामपि तदाराधनात्मकानां द्वैविध्य मभिप्रयन् तावत्सद्वारककर्माराध्यत्व माह — **त्रय्या** चेति। द्वैतानिकाः कर्मयोगिनो द्विजाः नानारूपामराः नानाविधत्वच्छरीरभूता इन्द्रादयो देवाः, तेषा माख्याः नामानि यस्यां तया त्रय्या विद्यया वेदपूर्व भागात्मिकया विद्यया बोधितैर्विविधै र्यज्ञै र्यजन्ते इन्द्रादिदेवतान्तरात्मानं, तच्छरीरकं त्वा माराधयन्तीत्यर्थः। यद्वा नानाविधानि रूपाणि वज्रहस्तत्वादीनि येषां तेषां इन्द्रादीनां आख्यया, अभिधेयमिति शेषः। आकृत्यधिकरणन्यायेन इन्द्राद्यन्तरात्मभूतत्वात्तत्पर्यन्ताभिधायिभिः इन्द्रादिनामभिः अभिधेयं तच्छरीरकं त्वां यजन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥

1. W °दिना द्वा° 2. W °तैको 3. °र° 4. W omits सः 5. K adds तत्त°

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अक्रूरस्तुतिव्यपदेशेन विद्वदधिकारयोग्यं भगवदुपासनाप्रकारं निरूपयत्यस्मिन्नध्याये। तत्राक्रूरो भगवन्तं दृष्ट्वोत्तरं किञ्चकारेति परीक्षितो मानसीं शङ्कां शुकः परिहरति — **एवमिति** ॥ १ ॥

नम्यस्य नम्ये[1] वैशिष्ट्यस्य ज्ञापनाय व्यावर्तकलक्षणमाह — अखिलेति। कदाचित्कारणं कदाचिन्नेति अन्यथाप्रतीतिं निवारयति भूतमिति। यदेतन्निमित्तकारणत्वं तत्कदाचि न्नापगच्छतीत्यर्थः। अखिलहेतुहेतुमिति पाठे उपादानकारणानामपि कारणमित्यर्थः। किं नामधेयोऽयमिति तत्राऽऽह नारायणमिति। अरविरुद्धत्वान्नाराः गुणाः तेषामयनम्। ननु तर्हि किमयं शब्दगुणाश्रयत्वेन आकाश इति चेत् तत्राऽऽह — पूरुषमति। पूर्णषड्गुणम् आकाशस्यैकगुणत्वान्महान्विशेषः। ननु, "आकाशो

वै नाम नामरूपयो र्निर्वहिता" (छान्दो उ 8-14-1) इति श्रुतेः अविनाशित्वेनाखिलहेतुत्वम्। नरसमुदायो नारमिति नरसमुदायादि सर्वपदार्थस्यावकाशप्रदत्वेनाश्रयत्वेन नारायणशब्दवाच्यत्व माकाशस्य किं न स्यादित्यतो वाऽऽह पूरुषमिति। पूरुषस्यापि पितृपितामहादिवत् घटमृदादिवद्वा बीजपरम्परा स्यादिति तत्राऽऽह आदिमिति। वैशेषिकपक्षे यथा परमाणौ कारणत्व पर्याप्तम्, एवमत्राऽपीत्यर्थः। एवंविधस्याऽपि सगर्भकर्कटवत् विनाशित्व स्यात् किं नेत्याह — अव्यय मिति। न केवल स्रष्टृत्वेनाऽस्य कारणत्व पर्याप्तमपि तु संहर्तृत्वेनाऽपीति भावेनाऽऽह आदिमिति। 'अद भक्षणे' इति धातोः अत्तृत्वादादिमित्यर्थः। संहर्तृत्वमप्यस्मिन् पर्याप्तमिति प्रकटनायेणप्रत्ययप्रयोगः। "जीवो जीवस्य जीवनम्" इति न्यायेन अत्तुरस्याऽप्यन्योऽत्ता स्यादित्यतो वाऽऽह अव्ययमिति। सर्वकारणे विरिञ्चे जाग्रति पर्याप्तकारणत्वमस्य कथमिति तत्राऽऽह यन्नाभीति। विरिञ्चस्य कारणत्व तर्हि कथमिति तत्राऽऽह — यत इति। यतो विरिञ्चाल्लोको, देवलोकोऽभूदिति शेषः ॥ २ ॥

आदित्वं स्पष्टयति- **भूरिति**। "आत्मन आकाश स्सम्भूतः" (तेत्ति उ. 2-1-1) इति श्रुतिः। आदिर्भूतादिरहङ्कारः अजा च आदिश्च अजादिः प्रकृत्याख्यकारणमित्यर्थः। न केवलमस्य समस्ताचेतनहेतुत्वम् किन्तु चेतनराशेरित्याशयेन वाऽऽह अजादिरिति। ब्रह्मादिचेतनसङ्घः अजादिः, ये सर्वे अजादयो जगतो हेतवो यथायोग्यं कारणानि। ते सर्वे तवाऽङ्गभूता अङ्गेभ्यो जाताः - "पद्भ्या भूमिः" इति श्रुतेः ॥ ३ ॥

त्वदङ्गजाताजाद्यविज्ञातमाहात्म्य मर्त्येन मया न ज्ञायते इति किं वक्तव्यमित्याशयेनाऽऽह - **नेति**। अवेदने निमित्तमाह - अन्येति। अन्यात्मतया गृहीताः एते जीवात्मानो मत्तोऽन्ये इति भगवता गृहीताः। ईश्वरो भ्रान्तत्वात् तथा गृह्णातीति चेन्न, "अहं परो हि मद्भिन्ना जीवात्मानोऽल्पशक्तयः" (स्कान्दे.) इत्यादेः। "नहीश्वरस्य सर्वज्ञस्य भ्रान्तिरुपपद्यते" — "नहि द्रष्टुर्दृष्टे र्विपरिलोपो विद्यते" (बृह उ. 4-3-23) इति श्रुतेः। ये तवाङ्गेभ्यो जाताः त एते अजादयः आत्मन स्तव स्वरूपं न विदुरित्यन्वयः। अजो ब्रह्मा आदि र्येषां रुद्रादीनां ते अजादय इति तद्गुणसंविज्ञाने बहुव्रीहौ ब्रह्मणोऽप्यज्ञानमापद्यते "वेदाऽह मेतं पुरुषम्" (पु.सू. 2-1) इति श्रुत्या तद्विज्ञानप्रतीतेः। अतो ब्रह्मकारणका रुद्रादयो न विदुरित्यर्थः किं न स्यादित्यत आह अज इति। अजाया गुणैः बद्ध इति हेतुगर्भ विशेषणम्। गुणात्परं दूरीभूतम्। अजादय इत्यत्र अजाशब्देन चित्प्रकृतिरपि ग्राह्या तस्या अपि सर्वात्मना तद्विषयज्ञानाभावात्; तदुक्तम् — "यथा हरिः स्वमात्मानं वेद तद्वद्रमाऽपिच" (माहात्म्ये) इत्यादि। अनेन वेदाहमित्यस्याऽपि गति रुक्ता भवति। अत ईश्वरस्य दुर्ज्ञेयत्वात् साधनानुष्ठानवैयर्थ्यमित्याशङ्का परास्ता। तत्प्रसादेन यथायोग्यज्ञानसम्भवाद्यथाशक्ति स्वहितमनुष्ठेयम् ॥ ४ ॥

अत्र किं प्रमाणमित्यतो वृद्धाचार एव प्रमाणमित्याह — **त्वामिति**। अधिष्ठानविशेषमाह- साध्यात्ममिति। आत्मशब्दोक्तनैरैः सह ततोऽधिकत्वेन वर्तमानं भूतैः आकाशादिभिः सह तदुत्तमत्वेन वर्तमानं देवैर्ब्रह्मादिभिस्सह ततो विशिष्टगुणत्वेन तिष्ठन्तं तत्तदुपासनार्थ तत्तदधिष्ठानेषु तत्तद्गुणप्रवर्तकत्वेन तत्तदुत्तमत्वेन वर्तमानमित्यर्थः। तदुक्तम् "स्थितो ब्रह्मादि देवेषु खादिभूतेषु चेश्वरः" (अध्यात्मे) इत्यादि ॥ ५ ॥

योगिनो यजन्त्यद्धेति विशेषणात्केचि दन्यथा यजन्तीति ध्वनित मर्थ माह- **त्रय्येति**। त्रय्या विद्यया वेदविद्यया कर्मप्रधानप्रकाशिकया वैतानिकाः याज्ञिकाः यज्ञकर्मशीला इत्यर्थः। "अस्त्री वितान मुल्लोचे विस्ताराध्वरयोः क्षणे। त्रिषु

शून्ये च मन्दे च विषाण्युक्षेभशृङ्गिषु" (वैज.को. 7-5-76,77) इति। उक्तविशेषणैः अयमर्थो विज्ञायत इत्याह वितनैरिति। विस्तृतैः "इन्द्रं यजाऽग्निं यज" इत्यादिबहुदैवत्यकर्मणामेकविषयत्वं कथं सङ्गच्छत इत्यत्राऽऽह — नानारूपेति। नानाविधानि शुक्लादिरूपाणि सौन्दर्याणि वा स्वभावा वा यशांसि वा येषां ते नानारूपाः ते चाऽमराः देवाः नानारूपामराः तेषा माख्यया विशिष्टं, विष्णु मिति शेषः। "सर्वदेवेष्वपि हरिः सर्वदेवनियामकः" (अध्यात्मे) इत्यादिवचनबाहुल्यात् उपगन्तव्यम्। विष्णोः सर्वनामत्वम् अमरेति विशेषणेन वेदस्य वाच्याभावेनाऽप्रामाण्यं स्यादिति शङ्का निरस्ता। इदञ्च विष्णावेव मुख्यमिति॥ ६॥

1. Ma°म्य

एके[1] त्वाऽखिलकर्माणि सन्न्यस्योपशमं गताः।
ज्ञानिनो ज्ञानयज्ञेन यजन्ति[2] ज्ञानविग्रहम् ॥ ७ ॥

अन्ये च संस्कृतात्मानो विधिना विहितेन ते।
यजन्ति त्वन्मया स्त्वां वै बहुमूर्त्यकमूर्तिकम्[6] ॥ ८ ॥

त्वामेवाऽन्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम्।
बह्वाचार्यविभेदेन भगवन् समुपासते ॥ ९ ॥

सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम्।[7]
ये[8] नानादेवताभक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो ॥ १० ॥

यथाऽद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिता[9] विभो।
विशन्ति सर्वतस्सिन्धुं तद्वत्त्वां गतयोऽन्ततः ॥ ११ ॥

1. K केचित्त्वा°; M,Ma एके त्व° 2. W °न्ते 3. M,Ma तु 4. G,J,K,W °नाऽभि° 5. K,W च; M,Ma वै 6. M,Ma,W °त्यैं 7. M,Ma °हे° 8. G,J येऽप्यन्यदे° 9. G,J,K,W ताः प्रभो

**श्रीध० एक** इति। ज्ञानयज्ञेन समाधिना ॥ ७ ॥

साङ्ख्ययोगत्रयीमार्गा उक्ताः। वैष्णवशैवमार्गावाह द्वयेन- **अन्ये चेति**। संस्कृतात्मानः वैष्णवशैवदीक्षया दीक्षितास्सन्तः, ते त्वया अभिहितेन पाञ्चरात्रादिविधिना त्वन्मयाः त्वन्मयत्वेनाऽऽत्मानं चिन्तयन्तः, त्वदेकप्रधाना इति वा। वासुदेवसङ्कर्षण प्रद्युम्नानिरुद्धभेदेन बहुरूपं[1] नारायणरूपेणैकमूर्तिकञ्च त्वामेव यजन्ति ॥ ८ ॥

**त्वामिति**। बह्वाचार्यविभेदेनेति नानाभेदशैवपाशुपतादिमार्गेण ॥ ९ ॥

येऽपि क्षुद्रदेवताभक्ताः तेऽपि त्वामेव यजन्तीत्याह **सर्व एवेति**। हे सर्वदेवमय! नन्वेते परस्परदेवताधिक्षेप कलहव्याकुलचित्ताः कथमेक मेव यजन्तीत्युच्यते, तत्राऽऽह — यद्यप्यन्यधिय इति। बुद्धिमात्रभेदो न वस्तुभेद इत्यर्थः॥ १०॥

तस्मात्सर्वे मार्गाः त्वय्येव पर्यवस्यन्तीति सदृष्टान्तमाह — **यथेति**। अद्रेस्सकाशात् सर्वतः प्रभवन्ति याः नद्यः ताः पुनः पर्जन्येनाऽऽपूरिता बहुस्रोतसस्सत्यः सर्वतस्सिन्धुमेव विशन्ति यथा, तद्वत् एता गतयः मार्गाः अन्ततः त्वामेव विशन्तीति ॥ ११ ॥

---

1. J,Va मूर्ति

**वीर०** सिंहावलोकनन्यायेन पुनस्साक्षात् ज्ञानयोगविशेषाराध्यमाह — **केचित्त्विति**। केचित् त्वा इति च्छेदः। त्वा त्वां यजन्तीति सम्बन्धः। केचित्तु ज्ञानिनः भगवच्छेषतैकरसात्मयाथात्म्यज्ञानिनः, भगवच्छेषतैकरसोऽहं तदायत्तस्वरूप स्थितिप्रवृत्तिश्च। भगवांस्त्वसङ्ख्येयैः कल्याणगुणैः परतर इत्येवं ज्ञानवन्त इत्यर्थः। अखिलकर्माणि उक्तविधस्वस्वरूपविरुद्धान्यहङ्कार ममकारगर्भाणि काम्यानि कर्माणि वा, सन्न्यस्य त्यक्त्वा। यद्वा "मयि सर्वाणि कर्माणि" (भ गी. 3-30) इत्युक्तरीत्या क्रियमाणानां नित्यनैमित्तिकादीनां फलसाधनताकारपरित्यागपूर्वकं भगवदाराधनरूपतामनुसन्धायेत्यर्थः। इदमेव हि भगवति कर्मणां यत्तत्कैङ्कर्यरूपत्वानुसन्धानमिति। उपशमं शब्दादिविषयेषु भोग्यताबुद्धिराहित्यं, गताः प्राप्ताः ज्ञानयज्ञेन प्राप्यं प्रापकञ्चाऽन्यदपि यन्मनोरथविषयभूतं तत्सर्वं परमपुरुष एवेत्येवंविधज्ञानयोगेन ज्ञानस्वरूपं त्वां यजन्ति। यद्वा ज्ञानविग्रहं एवंविधज्ञानेन यजतामनिष्टपरिहारेष्टप्रापणोपयुक्तज्ञानाश्रयं त्वां यजन्तीत्यर्थः ॥ ७ ॥

अथाऽद्वारककर्माराध्यत्वमाह — **अन्ये चेति**। ते त्वया अभिहितेन विधिना पञ्चरात्रात्मकेन त्वदुक्त श्रीमत्पञ्चरात्रोक्तप्रकारेणेत्यर्थः। संस्कृतात्मानः तापादिभिः पञ्चभिस्संस्कारैः संस्कृता आत्मनः देहा येषां तथाभूताः त्वन्मयास्त्वज्ज्ञानप्रचुराः, अन्ये भगवच्छास्त्रनिष्ठाः साक्षत्त्वामेव व्यूहविभवरूपेण बहुमूर्तिकं पररूपेणैकमूर्तिकञ्च यजन्ति पाञ्चकालिकै र्धर्मैः आराधयन्ति ॥ ८ ॥

अथ "येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्वकम्" (भ.गी. 9-23) इत्युक्तरीत्या तत्तद्देवतामात्रपर्यवसितबुद्धिमत्कृतयजनस्य तत्तद्देवताशरीरकतदन्तरात्मभूतपरमपुरुषाराधनरूपेण कृततदाराधनतां वक्तुं तावत् प्रदर्शनार्थमाह — **त्वामेवाऽन्ये** इति। हे भगवन्, बहूनामाचार्याणां कापालिककालामुखशैवपाशुपतादिरूपाणां भेद आचारभेदो यस्मिन् तेन शिवोपदिष्टमार्गेण शैवाद्यागमोक्तप्रकारेण त्वामेव शिवरूपिणमुपासते। उपासकानां तद्बुद्ध्यभावोऽप्युपासना तत्रैव पर्यवस्यत्येव। किन्तु तदुपासनमविधिपूर्वकम्, अत एव अन्तवत्फलसाधनमिति भावः ॥ ९ ॥

कथ मतद्विषयकोपासनानां तत्पर्यवसानमिति, अतस्सदृष्टान्तं तदुपपादयति — **सर्व एवेति** द्वाभ्याम्। हे प्रभो! ये नानादेवताभक्ता स्ते यद्यप्यन्यधियः परमात्मेतरविषयोपासनात्मकधीमन्तस्तथाऽपि ते सर्वे त्वामेव यजन्ते। तत्र हेतुं वदन्विशिनष्टि सर्वदेवमयेश्वरम् "स आत्मा, अङ्गान्यन्या देवताः" (तैत्ति.उ. 1-5-1) इत्युक्तरीत्या सर्वदेवताशरीरकत्वेन

तत्प्रचुरत्वात् सर्वदेवमयः, स चाऽऽसौ, तेषामीश्वरोऽन्तःप्रविश्य नियन्ता च। तं सर्वदेवानां त्वदायत्तसत्तादिमत्त्वेन त्वदपृथक्सिद्धविशेषणत्वेन त्वत्तोऽप्यतिरेकभावात् तद्विषयकोपासनाः त्वद्विषयका एवेति भावः ॥ १० ॥

त्वय्येव पर्यवस्यन्तीत्यत्र दृष्टान्तमाह **यथेति।** अद्रेस्सकाशात्प्रभवन्त्युत्पद्यन्त इति तथा। नद्यः पर्जन्येनाऽऽपूरिताः बहुस्रोतसस्सत्यः सर्वतस्सिन्धुं समुद्रमेव विशन्ति। तद्वत् गतयो बुद्धयोऽपि अन्ततः पर्यवसानतः त्वामेव विशेष्यभूतं विशन्ति विषयीकुर्वन्ति ॥ ११ ॥

1. K adds तदुक्त ° 2. K omits स्व 3. K omits वा 4. K यत्कै° 5- -5. W omits 6. K °ष्टेन मा° 7. W omits ये

**विज०** प्रवृत्तिमार्गविहितोपासनाप्रकारमुक्त्वा अधुना निवृत्तिमार्गविषयोपास्तिविधानमाह — **एक** इति। तुशब्देन एषां मुख्यत्वं दर्शयति। उपशमं भगवन्निष्ठाम् ॥ ७ ॥

वैदिकमतमुक्त्वा तान्त्रिकमतमाह — **अन्ये त्विति।** अन्ये पाञ्चरात्रिकाः। तुशब्देन तत्राऽपि बाहुविध्यमस्तीति सूचयति। संस्कृतात्मानः शिक्षितबुद्धयः सम्प्रदायागतप्रज्ञा वा, शुद्धदेहा वा विहितेन विधिना पञ्चधा कथितेन कालेन वा 'पञ्चकालपरायणैः' इति वचनात् 'विधी तु दैवकालौ चेति' च। त्वमेव मयः सर्वोत्तम इति बुद्धि र्येषां ते तथा बहुमूर्त्या वै बहुरूपेण च भक्तानुग्रहार्थं बहुत्वग्रहणम्। निजमेकमेवेत्याह एकमूर्तिकमिति, व्यष्ट्या समष्ट्या च त्वामेव यजन्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥

ननु शैवागमेषु शिवस्य यष्टव्यत्वेनोक्तत्वात्सर्वे त्वामेव यजन्तीति कथं युज्यते इति तत्राऽऽह **त्वामेवेति।** शिवरूपिणं पुरुषार्थमूर्तिं शिवे रुद्रे रूपं नियामकमस्यास्तीति। शिवान्तर्यामिणमित्यर्थः। दधीच्यादिबह्वाचार्यविभेदेन शैवपाशुपताद्युपदेष्टृभेदेन वा ॥ ९ ॥

उपसंहरति **सर्व एवेति।** सर्वेषां देवानां ईश्वराः इन्द्रादयः तेषा मीश्वरः सर्वदेवमहेश्वरः सर्व इति क इति तत्राऽऽह- य इति। ये इन्द्रादिनानादेवतानां भक्ताः। अत एव तद्भक्तिपूर्त्यर्थमन्यधियः स्वातन्त्र्यबुद्धयो यद्यपि, तथाऽपि तव सर्वस्वामित्वं जानन्तो देवाः तद्दत्तबलिं त्वयि समर्प्य तत्फलार्थं स्वयं स्वीकुर्वन्ति। अन्यथा पश्यतोहरत्वं तेषां स्यात्। अतस्तन्न कुर्वन्ति। किन्तु तत्फलमन्तवदेव तथा श्रुतत्वादिति भावः। यद्वा, विष्णोरन्या विलक्षणा धीर्येषां ते तथा यद्यपि तथाऽपि पूर्वादृष्टवशान्नानादेवताभक्ताः ये ते त्वत्सर्वोत्तमत्वज्ञानाभावात् तेषामित्यतः प्रभो! इत्युक्तम् ॥ १० ॥

एतदेव विशदयति **यथेति।** अद्रिभ्यः प्रभवः उत्पत्ति र्यासां ताः अद्रिप्रभवाः। पर्जन्येन गर्जन्मेघेन आपूरिताः सिन्धुं समुद्रं त्वां गतयः पूजामार्गाः पुरुषार्थसाधनानि शास्त्राणि वा येऽन्ततः पूजावसाने ब्रह्मार्पणबुद्ध्याऽवसिता इत्यर्थः ॥ ११ ॥

**सत्त्वं रजस्तम इति भवतः[1] प्रकृते र्गुणाः।**
**तेषु हि प्राकृताः प्रोता आब्रह्मस्थावरादयः ॥ १२ ॥**

तुभ्यं नमस्तेऽस्त्वविषक्तदृष्टये सर्वात्मने सर्वधियाञ्च साक्षिणे।
गुणप्रवाहोऽय मविद्ययाऽसकृत् प्रवर्तते देवनृतिर्यगात्मसु ॥ १३ ॥

अग्निर्मुखन्तेऽवनिरङ्घ्रिरीक्षणं सूर्यो नभो नाभि रथो दिशः श्रुतिः।
द्यौः कं सुरेन्द्रास्तव बाहवोऽर्णवाः कुक्षिर्मरुत्प्राणबलं प्रकल्पितम् ॥ १४ ॥

रोमाणि वृक्षौषधयः शिरोरुहा मेघाः परस्यास्थिनखानि तेऽद्रयः।
निमेषणं रात्र्यहनी प्रजापति र्मेढ्रस्तु वृष्टि स्तव वीर्य मिष्यते ॥ १५ ॥

त्वय्यव्ययात्मन्पुरुषे प्रकल्पिता लोकास्सपाला बहुजीवसङ्कुलाः।
यथा जले सञ्जिहते जलौकसोऽप्युदम्बरे वा मशका मनोमये ॥ १६ ॥

1. M,Ma °न्ति 2. P,V °स्तेष्ववि° 3. K,T,W °हो यदवि° 4. G,J कृतः 5. M,Ma °वः 6. M,Ma मेंढ्रन्तु

**श्रीध०** अत्र हेतुमाह — **सत्त्वमिति**। भवतश्शक्तिर्या प्रकृतिः तस्यास्सत्त्वादयो गुणाः अतः प्राकृताः प्रकृतिकार्योपाधयः ब्रह्मपर्यन्ताः स्थावरादयो जीवाः स्वोपाधिद्वारा तेषु गुणेषु प्रोताः प्रविष्टाः ते च प्रकृतौ। सा च त्वयीति। अतः क्रमेणोपाधिलयात्सर्वेऽपि त्वामेव प्रविशन्तीति। यद्वा, भवतः प्रकृते र्गुणेषु प्रोता ब्रह्मादयो भवद्व्यतिरिक्ता न सन्ति। अत स्त्वमेव सर्वदेवमय इति ॥ १२ ॥

ननु भवतः प्रकृते रिति वदन् ममापि प्रकृतिसम्बन्धं ब्रवीषि। ततश्च तेषां मम च को विशेषः स्यादित्याशङ्क्य विशेषमाह **तुभ्यमिति**। अविषक्तदृष्टये अविलिप्तबुद्धये। कुतः? सर्वात्मने स्वव्यतिरिक्ताभावादविषक्तदृष्टि स्त्वमित्यर्थः। किञ्च सर्वधियां साक्षिणे सर्वबुद्धिसाक्षित्वान्न क्वापि बुद्धिलोप इत्यर्थः। इतरे तु संसरन्तीत्याह गुणप्रवाह इति। देवनृतिर्यञ्च आत्मनो येषां तेषु देवादिशरीराभिमानिष्वित्यर्थः। त्वदविद्यया कृतोऽयं गुणप्रवाहः प्रवर्तते। अतो महान्विशेष इत्यर्थः ॥ १३ ॥

सर्वात्मन इत्यनेनोक्तं सगुणं रूपं स्तौति द्वाभ्याम् **अग्निर्मुखमिति**। अग्न्यादीननूद्य ईश्वरावयवता विधीयते योऽयमग्निः स तु तव मुखमित्यादि वचनव्यक्त्या। ईक्षणं चक्षुः श्रुतिः श्रवणेन्द्रियं कं मूर्धा, प्राणश्च बलञ्च तत् ॥ १४ ॥

**रोमाणीति**। अद्रयः परस्य ते अस्थिनखानि ॥ १५ ॥

न केवलमेतावदेव। किन्तु सर्वोप्ययं प्रपञ्चः त्वदवयवभूत एवेति वदन्, एवं सत्यपि प्रपञ्चस्य षड्जन्मादयो विकारास्त्वयि न प्रसज्यन्ते तस्य त्वयि कल्पितत्वादित्याह — **त्वयीति**। अव्ययात्मन् अव्ययात्मनि, पुरुषे पूर्णे लोकादयः सञ्जिहते प्रचलन्ति। हे अव्ययात्मन्निति वा। कथम्भूते त्वयि मनोमये मनःप्रधाने मनोवृत्तिव्यङ्ग्ये। "दृश्यते त्वग्र्यया" (कठ.उ. 3-12) "मनसैवानु द्रष्टव्यम्" (बृह.उ. 4-4-19) इत्यादि श्रुतेः। जले यथा जलौकसः सूक्ष्मप्राण्यण्डराशयः, यथा वा उदुम्बरान्तःकेसरेषु मशकाः परस्परवार्तानभिज्ञाः, एव मनन्तानि ब्रह्माण्डानि त्वयि चरन्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥

1. J,Va omit प्र 2. J,Va omit °वि° 3. J,Va omit रूपं 4. J,Va omit एव 5- -5. P,V omit 6. J,Va omit अव्ययात्मन् 7. J,Va °र° 8. J,Va च 9. J,Va add सं°

**वीर०** गतय इत्यनेन ज्ञानमात्रस्य विशेषणभूतप्रपञ्चविषयकस्य विशेष्यभूतपरमात्मपर्यन्तत्वं सूचितम्। तदेव व्यञ्जयितुं सर्वस्य चिदचिदात्मकप्रपञ्चस्य तद्विशेषणता माह — **सत्त्वमिति**। भवतः प्रकृतेः त्वच्छरीरभूतप्रधानस्येत्यर्थः। "यस्याऽव्यक्तं शरीरम्" (सुबा.उ. 7-1) इति श्रुतेः। ये सत्त्वादयो गुणाः तेष्वेव आब्रह्मस्थावरान्ताः प्राकृताः प्रकृतिपरिणामात्मकाः तन्तुषु पटवत्प्रोताः प्रविष्टाः ब्रह्मादिक्षेत्रज्ञाधिष्ठिता देहाः त्वदपृथक्सिद्धविशेषणभूतगुणमयप्रकृतिकार्यतया त्वदायत्तसत्तादिमन्त-स्त्वद्विशेषणभूता इत्यर्थः ॥ १२ ॥

एवमचेतनप्रपञ्चस्य त्वद्विशेषणत्वमुक्तम्। अथ ब्रह्मादिक्षेत्रज्ञानां तच्छरीरत्वेन तद्विशेषणत्वं, तदायत्तबन्धमोक्षादिमत्त्वं, तस्य बन्धापादनाद्युपयुक्तसर्वज्ञत्वं च वदन्नमस्करोति — **तुभ्यमिति**। सर्वात्मने सर्वेषां ब्रह्मादिक्षेत्रज्ञानां आत्मने। अनेन क्षेत्रज्ञानां तच्छरीरत्वेन तद्विशेषणत्वं फलितम्। यदि सर्वात्मा तर्हि जीववत्किं देहात्माभिमानी? नेत्याह — अविषक्तदृष्टये अविषक्ता देहादिष्वनभिनिविष्टा दृष्टिः यस्य तस्मै देहाभिमानरहितायेत्यर्थः। तत्र हेतुः — सर्वधियां साक्षिणे सर्वासां बुद्धीनां साक्षाद्द्रष्ट्रे। सर्वबुद्धिसाक्षित्वात् न क्वापि देहात्माद्यभिमानलेश इति भावः। किञ्च यदविद्यया यदीयया प्रकृत्या हेतुभूतया, देवनृतिर्यञ्च आत्मनो देहा येषां तेषु क्षेत्रज्ञेषु अयं परिदृश्यमानो गुणप्रवाहः गुणैः सत्त्वादिभिः निमित्तभूतैः प्रवहते प्राप्नोतीति तथा संसारः। असकृत् बहुकृत्वः प्रवर्तते तस्मै तुभ्यं ते नमः अस्तु। यदविद्ययेत्यनेन "दैवी ह्येषा गुणमयी मम" (भ.गी. 7-14) इत्यादिवचनार्थोऽभिप्रेतः ॥ १३ ॥

उक्तं चिदचिच्छरीरकत्वमेव प्रपञ्चयितुं विश्वरूपं स्तौति — **अग्निरित्यादिना**। अत्र अग्न्याद्यनुवादेन ईश्वरमुखाद्यवयवता विधीयते। योऽयमग्निस्स तव मुखमित्यादि। अवनिस्तवाङ्घ्रिः। अवनिशब्दः पातालप्रभृतिमहीतलपर्यन्तसङ्घाहकः। अङ्घ्रिशब्दस्तु पादमूलप्रभृतिजघनपर्यन्तावयवसङ्घाहकः, नाभिशब्दस्तु तत्प्रभृतीनामुरोग्रीवावदन ललाटानाम्। दिशस्तव श्रुतिश्श्रोत्रं, द्यौ स्सत्यलोकः तव कं शिरः, सुरेशा इन्द्रादयः तव बाहवः, अर्णवा स्समुद्राः तव कुक्षिः, मरुद्वायुः तव प्राणश्च बलञ्च तयो स्समाहारः तत्कल्पितं रचितं, त्वयेति शेषः। यद्वा उपासकैरिति शेषः। कल्पितं ध्यातमित्यर्थः॥ १४॥

वृक्षा ओषधयश्च तव रोमाणि। मेघास्तु शिरोरुहाः केशाः, अद्रयो गिरयः परस्य ते तव अस्थीनि नखानि च। रात्रिश्च अहश्च, ते तव निमेषणं, प्रजापतिः मेढ्रः, वृष्टिस्तव वीर्यम् इष्यते, उपासनाया मिति शेषः ॥ १५ ॥

न केवलमेतावदेव, किन्तु सर्वोऽप्ययं प्रपञ्चः त्वदवयवभूत एवेत्याह – **त्वयीति**। हे अव्ययात्मन्! अविकृतस्वरूप! विश्वशरीरकत्वेऽपि तद्गतविकारैः अस्पृष्टेति सम्बोधनाभिप्रायः। बहुभिर्जीवैः सङ्कुलाः व्याप्ताः पालकै स्सहिताः, सर्वे लोकाः मनोमये विशुद्धमनोग्राह्ये परमपुरुषे त्वयि कल्पिताः सञ्जिहते चरन्ति। जले यथा जलौकसः सूक्ष्मप्राणिराशयः, यथा वा उदुम्बरान्तःकेसरेषु मशकाः परस्परवार्ताऽनभिज्ञाः,एवमनन्तानि ब्रह्माण्डानि त्वयि सञ्जिहते चरन्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥

विज० ननु पूजादिकं सर्वं भगवद्विषयञ्चेत् मतभेदः कथमुत्पद्यते इत्याशङ्क्य सत्त्वादिगुणोपरक्तत्वा तदाकृष्टबुद्धित्वेन तद्भेद इत्याशयेनाऽऽह **सत्त्वमिति**। प्राकृताः प्रकृतिनिमित्ताः तेषु सत्त्वादिषु प्रोताः सम्यक् स्यूताः संवलिता इत्यर्थः। 'कार्यते ह्यवशः' इत्यादि हिशब्देन गृहीतम् ॥ १२ ॥

ननु प्राकृतपदार्थेष्ववस्थितस्य हरेस्ततो विशिष्टत्वमहिमासम्भवात् किं विशेषेण प्रणतिः प्रार्थ्यते इति तत्राऽऽह- **तुभ्यमिति**। तुभ्यं नमोऽस्तु यस्सात्त्विकादिनानाजनकृतपूजाविषयत्वेनोक्तस्तस्मै ते भूयोऽपि नमोऽस्त्वित्यन्वादिश्यते। प्रतिविशेषणमनुसन्धेयमिति द्योतनाय वा। अविपक्तदृष्टये अप्रतिहतज्ञानाय एकैकस्यैकैकप्रतिहते र्दृष्टत्वात् अस्य कथमप्रतिहतज्ञानत्व मित्याशङ्क्य सर्वस्वामित्वेन स्वातन्त्र्यप्रतीते र्ज्ञानप्रतिबन्धकाभावो युक्त इति भावेनाऽऽह सर्वात्मन इति। सर्वेषां तत्तच्छक्तिमाकृष्य वशीकृत्य तिष्ठत इत्यर्थः। तदेव विशिनष्टि सर्वेति। "स हि सर्वमनोवृत्तिप्रेरकः समुदाहृतः" इत्यादेः। यद्वा, अनेनासङ्गत्वं स्पष्टयत इति। अस्य सर्वस्वातन्त्र्य मस्तीति कथमवगन्तुं शक्यमित्याशङ्क्य संसारस्य हरीच्छाधीनत्वज्ञानादित्याह- गुणप्रवाह इति। अस्य हरेर्विद्ययेच्छया — "अ निषेधे पुमान्विष्णावविचित्रे स्मरे पुमान्" इति च। देवत्वोपाधिविशिष्ट आत्मनीति प्रत्येकमन्वेतव्यम् ॥ १३ ॥

नानादेवताभक्तैः क्रियमाणं यजनादिकं त्वद्विषयं कथं स्यादित्याशङ्क्य तेषां त्वदंशोद्भूतत्वेन त्वत्सम्बन्धित्वादिति भावेन तेषां त्वदङ्गजन्यत्वमाह — **अग्निर्मुखमिति**। मुखाज्जातोऽग्नि स्तव मुखमित्युच्यते — "मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च, प्राणाद्वायु रजायत" (पु.सू.6) इत्यादावितीदं त्वयैव च प्रकल्पितमहं पश्यामीत्येवं योजनीयम्। "विष्णोरङ्गसमुद्भूताः, विष्णोरङ्गानि देवताः" (अध्यात्मे) इत्यादेः। ईक्षणं नेत्रम्, कं शिरः। "पुंसि कः कं शिरोऽम्बुनोः" (अम.को. 3-160) इत्यमरः। सुरेन्द्राः लोकपालाः अर्णवं, वदन्तीति शेषः ॥ १४ ॥

निमेषणं निमेषोन्मेषौ। निमिषो मुकुलीभावो रात्रिः, उत्फुल्लता अहरुन्मेषः। प्रजापति र्दक्षः। वीर्यं रेतः ॥ १५॥

सञ्जिहते सञ्जायन्ते। जलमेवाश्रित्य तिष्ठन्तीति जलौकसः मत्स्यादयः। उदुम्बरे जन्तुफले मशकाः पिपीलिका विशेषाः, मनोमये ज्ञानस्वरूपे ॥ १६ ॥

**यानि यानीह रूपाणि क्रीडार्थं[1] त्वं बिभर्षि हि।**
**तैरामृष्टशुचो लोका मुदा गायन्ति ते यशः ॥ १७ ॥**

**नमः कारणमत्स्याय प्रलयाब्धिचराय च।**
**हयशीर्ष्णे नमस्तुभ्यं मधुकैटभमृत्यवे ॥ १८ ॥**

**अकूपाराय बृहते[2] नमो मन्दरधारिणे।**
**क्षित्युद्धारविहाराय नमस्सूकरमूर्तये ॥ १९ ॥**

**नमस्तेऽद्भुतसिंहाय साधुलोकभयापह।**
**वामनाय नमस्तुभ्यं क्रान्तत्रिभुवनाय च ॥ २० ॥**

**नमो भृगूणां पतये दृप्तक्षत्रवनच्छिदे।**
**नमस्ते रघुवर्याय रावणान्तकराय च ॥ २१ ॥**

1. G,J,M,Ma °डनार्थं बि° 2. P,V म° 3. P,V दुष्ट°

श्रीध० स्यादेवम्भूतं तव स्वरूपं दुरवगाहमिति त्वदवतारकथामृतमेव सन्तस्सेवन्त इत्याह — **यानीति**। आमृष्टा परिमार्जिता शुक् येषां ते ॥ १७ ॥

अतः स्वयमप्यवतारा न्नमस्यति — **नम** इति। हयशीर्ष्णे हयग्रीवाय। मधुकैटभयोर्मृत्यवे निहन्त्रे ॥ १८ ॥

**अकूपारायेति**। अकूपाराय कूर्माकाराय। क्षित्युद्धारो विहारो यस्य तस्मै ॥ १९,२० ॥

**नम** इति। भृगूणां पतये परशुरामाय ॥ २१ ॥

1. J,Va add तस्मादेव 2. J,Va omit नि 3. J,Va कूर्माय

**वीर०** तस्मादेवम्भूतं तव स्वरूपं दुरवगाहमिति त्वदवतारकथामृतमेव सेवन्त इत्याह — **यानीति**। त्वं क्रीडार्थं यानि यानि रूपाणि बिभर्षि तै रनुसंहितैः आमृष्टाः परिमार्जिताः शुचः आध्यात्मिकादितापाः येषां ते। लोका रसज्ञा जनाः मुदा तव यशो गायन्ति ॥ १८ ॥

कानि तानि रूपाणि यै रामृष्टशुच इत्यत्र कतिचित्तानि दर्शयन्नमस्करोति **नम** इत्यादिना। कारणमत्स्याय कारण पदेनाऽवतार प्रयोजनं सूच्यते। एवं मधुकैटभमृत्यवे इत्यनेन। एवमुत्तरत्राऽपि द्रष्टव्यम् ॥ १८ ॥

अकूपाराय कूर्माय क्षित्युद्धार एव विहारो यस्य तस्मा इति प्रयोजनमुच्यते ॥ १९ ॥

हे साधुलोकभयापह! इति सम्बोधनं प्रयोजन कथनाभिप्रायकम्। क्रान्तं त्रिभुवनं येन तस्मा इत्यवतारप्रयोजन मुच्यते ॥ २० ॥

दृप्तं गर्वितं प्रभूतं वा क्षत्रकुलमेव वनं तस्य छेत्रे इति प्रयोजनम्, दुष्टक्षेत्र, इति च पाठः। भृगूणां पतये परशुरामाय। रावणस्यान्तं नाशं कृतवानिति तथा, तस्मै इति प्रयोजनम् ॥ २१ ॥

1- -1. T,W omit.

**विज०** पुरुषसूक्तोक्तभगवन्मूर्तिविशेषं स्तुत्वा मत्स्याद्यवतारान् स्तोतुमुपक्रमते — **यानीति**। आमृष्टशुचः मार्जितशोकाः परिहृतदुःखाः। पूर्वं विद्यमानान्येव रूपाणि बिभर्षि, नाऽविद्यमानानीति, इममर्थं हिशब्दो वक्ति; "भृता मेव बिभर्तीशो ह्यवतार तनुं सदा" (तत्त्वनिर्णये) इत्यादेश्च ॥ १७ ॥

कारणमत्स्याय मन्वादिरक्षणं निमित्तीकृत्य मत्स्यवेषधारिणे इत्यर्थः। असुरमदं स्यति नाशयतीति मत्स्यः। 'षो अन्तकर्मणि' इति धातुः। मत्स्यानामुदकमेव परं जीवनमिति सूचनाय, प्रलयाब्धिचरणमन्यस्य न शक्यमिति ईश्वरत्वद्योतनाय वा। चशब्दो वक्ष्यमाणसमुच्चये वर्तते। मधुकैटभमृत्यवे केशवाय ॥ १८ ॥

अकूपाराय कूर्मरूपाय, "कूर्मोऽब्धावकूपारः" (वैज.को. 8-1-15) इति। बृहते नित्यवृद्धाय। किं कृत्यमित्यत उक्तं मन्दरेति ॥ १९ ॥

साधुलोकभयापह! देव जनस्य बल्यादेः प्राप्तभयमपहन्तीति। क्रान्तत्रिभुवनाय त्रिविक्रमाय ॥ २०,२१ ॥

**नमस्ते वासुदेवाय नमस्सङ्कर्षणाय च।**
**प्रद्युम्नायाऽनिरुद्धाय सात्त्वतां पतये नमः ॥ २२ ॥**

**नमश्शुद्धाय बुद्धाय दैत्यदानवमोहिने।**
**म्लेच्छप्रायक्षत्रहन्त्रे नमस्ते कल्किरूपिणे ॥ २३ ॥**

**भगवन् जीवलोकोऽयं[1] मोहितस्तव मायया।**
**अहं ममेत्यसद्ग्राहो भ्राम्यते कर्मवर्त्मसु ॥ २४ ॥**

**अहञ्चात्मात्मजागारदारार्थस्वजनादिषु।**
**भ्रमामि स्वप्नकल्पेषु मूढस्सत्यधिया[2] विभो ॥ २५ ॥**

**अनित्यानात्मदुःखेषु विपर्यासमतिर्[3]ह्यहम्।**
**द्वन्द्वारामस्तमोविष्टो न जाने त्वाऽऽत्मनः[4] प्रियम् ॥ २६ ॥**

1. P,V सर्व 2. M,Ma °श्शुद्ध° 3. G,J,M,Ma °र्यय° 4. M,Ma त्वां जगत्पते!

श्रीध० (सङ्कर्षणं[1-] रामं[-1]?) चतुर्व्यूहरूपेण प्रणमति — **नमस्ते वासुदेवायेति** ॥ २२,२३ ॥

एवं स्तुत्वा बन्धमोक्षं प्रार्थयितुमाह — **भगवन्निति**। असति देहादौ ग्राह आग्रहो यस्य सः। असन् ग्राहो यस्येति वा ॥ २४ ॥

न केवलं अयं लोकः अहमपि तथैवेत्याह-**अहञ्चेति** ॥ २५ ॥

मूढत्वमेव प्रकटयति — **अनित्येति**। विपर्यस्तमतिः[2] अनित्ये कर्मफले नित्यमिति। अनात्मनि देहादौ[3] आत्मेति, दुःखरूपे गृहादौ सुखमिति विपरीतमतिरित्यर्थः द्वन्द्वे सुखदुःखादिषु आरामः[4-] क्रीडा यस्य सः[-4]। ननु दुःखे कथं रति स्तत्राऽऽह — तमोविष्टः तमसा व्याप्तः, अत आत्मनः प्रियं प्रेमास्पदं त्वा[6] त्वां न जाने इत्यर्थः ॥ २६ ॥

1- -1. J,Va omit 2. G,J °र्यमतिरिति 3. J,Va देहे 4- -4. J,Va आरमति क्रीडतीति तथा सः 5. J,Va कुतो 6. P,V,Va omit त्वा

**वीर०** रामकृष्णौ विभवौ वासुदेवसङ्कर्षणौ व्यूहौ च तन्त्रेणाभिप्रेत्य नमस्करोति — **नमस्ते वासुदेवायेत्यर्धेन**। प्रद्युम्नानिरुद्धौ व्यूहौ नमस्करोति प्रद्युम्नायानिरुद्धायेति। सर्वेषां प्रयोजनाभिप्रायेण विशिनष्टि सात्त्वतां पतय इति। साधुपरित्राते इत्यर्थः। यद्वा, वासुदेवायेत्यादिभिश्चतुर्भि र्व्यूहचतुष्टयं नमस्क्रियते। सात्त्वतां पतये इत्यनेन रामकृष्णनमस्कृतिः, तेनैव प्रयोजनञ्चाऽभिप्रेतम् ॥ २२ ॥

वेदाप्रामाण्याद्युपदेष्टृत्वेऽपि शुद्धाय विशुद्धकर्मणे, तस्य दुष्कृन्निरसनार्थत्वात् इत्यभिप्रेत्य प्रयोजनञ्च वदन् विशिनष्टि- दैत्यदानवमोहिने इति। दैत्यान् दानवांश्च मोहयतीति तथा तस्मै, म्लेच्छप्रायं म्लेच्छतुल्यं, यत् क्षत्रकुलं तस्य हन्त्रे इति प्रयोजनमुक्तम् ॥ २३ ॥

एवं स्तुत्वा बन्धमोक्षं प्रार्थयन् (प्रार्थयमान) आह — **भगवन्निति**। हे भगवन्! सर्वो जनः तव मायया मोहितः, अत एव अनात्मन्यात्माभिमानरूपात्, अस्वस्मिन् स्वत्वाभिमानरूपाच्च, असतो दुष्टात् अनर्थकरात् ग्राहात् भ्रमात्मकज्ञानात् कर्मवर्त्मसु कर्ममार्गेषु शब्दादिविषयसाधनभूतेषु भ्राम्यते। यद्वा, अहं ममेति असति प्रकृतिपरिणामरूपदेहतदनुबन्ध्यादौ ग्राहः अभिनिवेशो यस्य तथा भूत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

भ्राम्यत्वेवं लोकः तव किम्? तत्राऽऽह **अहञ्चेति**। अहमित्यादिभिश्चतुर्भिस्तावत् आत्मनः कार्पण्य मावेद्य, सोऽहमित्येकेन प्रपद्य शरण्यगुणाविष्कारपूर्वकं गोप्ता भवेति प्रार्थयते — यथा सर्वलोकस्तथा तदन्तर्गतोऽहमपि गेहापत्यादिषु स्वप्नपदार्थतुल्येषु, अनित्येष्वित्यर्थः। सत्यधिया नित्यबुद्ध्या भ्रमामि, अतोऽहं मूढः ॥ २५ ॥

मूढत्वमेवाऽऽविष्करोति — **अनित्येति**। अहमनित्यानात्मदुःखेषु विपर्यस्ता मति र्यस्य सः। अनित्येषु वस्तुषु नित्यमतिमान्, अनात्मनि देहे आत्माभिमानी अन्ततो दुःखात्मकेषु शब्दादिविषयेषु सुखाभिमानी चेत्यर्थः, द्वन्द्वेषु सुखदुःखादिषु आरमते क्रीडतीति तथा सः वैषयिकसुखानुबन्धितया प्राप्तं दुःखमपि सुखवन्मन्यमान इत्यभिप्रायः। तत्र हेतुः तमसा गुणेन व्याप्तः आत्मनः प्रियं न जाने निरतिशयनित्यनिरुपाधिकप्रीतिविषयं त्वां न जानामीत्यर्थः ॥ २६ ॥

**विज०** सङ्कर्षणादिषु हरेस्सन्निधानविशेषात्तेषामवतारान्तर्भावं कृत्वा नमनं क्रियते, न तु साक्षादधोक्षजावतारत्वेन। तदुक्तम् — "प्रद्युम्ने चाऽनिरुद्धे च बलदेवे च केशवे" (तत्त्वनिर्णये) इत्यादौ ॥ २२ ॥

बुद्धावताराप्रयोजनं दैत्यमोहनमेव, नाऽन्यदिति द्योतयति दैत्येत्यादिना ॥ २३,२४ ॥

आत्मा देहः। आत्मजः पुत्रः, अर्थो हिरण्यादिः। स्वजनो बन्धुजनादिः। भ्रमामि भ्रान्तिं करोमि ॥ २५॥

अनित्यानात्मदुःखेषु विपर्ययमतिः। अनित्येषु नित्यबुद्धिः, अनात्मन्यात्मबुद्धिः ॥ २६ ॥

यथाऽबुधो जलं हित्वा प्रतिच्छन्नं तदुद्भवैः।
अभ्येति मृगतृष्णां वै ह्यहित्वाऽहं त्वा पराङ्मुखः ॥ २७ ॥

नोत्सहेऽहं कृपणधीः कामकर्महतं मनः।
रोद्धुं प्रमाथिभिश्चाक्षैर्ह्रियमाणमितस्ततः ॥ २८ ॥

सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं तच्चाऽप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्ये।
पुंसो भवेद्यर्हि संसरणापवर्गस्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात् ॥ २९ ॥

नमो विज्ञानमात्राय सर्वप्रत्ययहेतवे।
पुरुषेशप्रधानाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ॥ ३० ॥

नमस्ते वासुदेवाय सर्वभूतक्षयाय च।
हृषीकेश नमस्तुभ्यं प्रपन्नं पाहि मां प्रभो ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे अक्रूरस्तुतिर्नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

1- -1. G,J तद्वत्त्वाऽहं 2. M,Ma °स्त्वाक्षै; P,V °स्त्वाक्षैः 3. M,Ma य° 4. G,J,P,V ईश 5. P,V °पु 6. M,Ma °स्तेऽस्तु 7. P,V विभो!

**श्रीध०** तदेव सदृष्टान्तमाह — **यथेति**। तस्माज्जलात् उद्भवन्तीति तदुद्भवानि तृणादीनि, तैः तथा माया-च्छन्नं त्वा त्वामहं हित्वा पराङ्मुखो देहाद्यभिमुखो वर्ते इति ॥ २७ ॥

नन्वेवं जानतः कुतो विषयाभिमुखता, तत्राऽऽह — **नोत्सह** इति। कृपणा विषयवासनायुक्ता धीर्यस्य सः। अत एव कामकर्मभ्यां हतं क्षुभितम् इन्द्रियैश्च बलिभिर्विषयसंयुक्तैः इतस्तत आकृष्यमाणं मनः रोद्धुं नियन्तुं न शक्नोमीति॥ २८ ॥

स इति। तदेवमस्वतन्त्रो यः सोऽहं तवाङ्घ्रिमुपगतः शरणं प्राप्तः। नन्विन्द्रियपरतन्त्रस्यैतदपि कुतस्तत्राऽऽह-
! अन्तर्यामिन्, तवाङ्घ्र्युपगमनञ्चाऽसतां दुरापम्, अतो भवतोऽनुग्रह एवेत्यहं मन्ये,
वा। ननु सतां सेवयैवं भवति, किं मदनुग्रहेण इत्यत आह — पुंस इति। जीवस्य संसारस्य अपवर्गः समाप्तिर्यदा त्वत्कृपया भवेत्, सम्भावनास्पदं भवति। हे अब्जनाभ, तदा सदुपासना सम्पद्यते। तया तर्ह्येव त्वयि मति भवेत्। न त्वत्कृपां विना सत्सेवा न नितरां त्वन्मतिः; न तेषां मुक्तिरित्यर्थः ॥ २९ ॥

पादयोः पतन् प्रार्थयते द्वयेन — **नम** इति। विज्ञान मेव मात्रा मूर्ति र्यस्य तस्मै, अत एव सर्वप्रत्यय-हेतवे समस्तज्ञानकारणाय। किञ्च [7-] पुरुषेशप्रधानाय [-7] पुरुषस्य ये ईशाः सुखदुःख[8]प्रापकाः कालकर्मस्वभावादयः तेषां प्रधानाय नियन्त्रे। कुतः ब्रह्मणे परिपूर्णाय। किञ्च अनन्तशक्तये अनन्ताः शक्तयो यस्य। यद्वा अनन्ता मायाख्या शक्तिर्यस्य तस्मै। अथ वा प्रधानं प्रकृतिः पुरुषः तत्प्रवर्तकः ईशः कालः एतत्त्रितयात्मने ब्रह्मणे। वक्ष्यति च भगवान् — "प्रकृतिर्ह[9]र्यस्योपादान माधारः पुरुषः परः सतोऽभिव्यञ्जकः कालो [10]ब्रह्म तत्त्रितयन्त्वहम् (भाग 11-24-19) इति॥ ३०॥

सर्वप्रत्ययहेतुत्वमभिव्यञ्जयन् स्तौति — **नमस्त** इति। वासुदेवाय चित्ताधिष्ठात्रे। सर्वभूतक्षयाय, क्षय आश्रयः, अहङ्कारश्च प्राणिनामाश्रयः। ततश्चाऽहङ्काराधिष्ठात्रे सङ्कर्षणायेत्यर्थः। हृषीकेशेति बुद्धिमनसोरधिष्ठात्रोः प्रद्युम्नानिरुद्धयो रेकीकृत्य ग्रहणं, शरणागतं मां पाहीति प्रार्थ[11]नम् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

1- -1. J,Va देहाभिमुखो ; V omits देहाद्यभिमुखो 2. J,Va त्वद° 3. J,Va येदं 4- -4. J,Va तथैव 5- -5. J,Va नतरां 6. J,Va नतमां 7- -7. J,Va omit 8. J,Va °खादिप्रा° 9. P,V °र्यदुपा° 10. P,V ब्रह्मा 11. J,Va ना

**वीर०** उक्तमेव सदृष्टान्तमाह — **यथेति**। तस्माज्जलादुद्भवन्तीति तथा, तैस्तृणादिभि श्छन्नं जलं हित्वा, अत एवाऽबुधो मृगतृष्णां जलवदवभासमानां मरीचिकामभ्येति, तथा अहमपि त्वां निरतिशयपुरुषार्थभूतं तत्साधनभूतञ्च त्वां त्यक्त्वा पराङ्मुखः देहाद्यभिमुखो वर्ते इत्यर्थः ॥ २७ ॥

नन्वेवं जानतः कुतस्तव विषयाभिमुख्यम्? तत्राऽऽह **नोत्सहे** इति। कृपणा विषयवासनायुक्ता धीर्यस्य सः, अत एवाऽन्तः कामकर्मभ्यां हतं क्षुभितं इन्द्रियैः प्रमाथिभिर्बलिभि र्विषयसंयुक्तैरितस्ततः आकृष्यमाणं मनो रोद्धुं नियन्तुं नोत्सहे न शक्नोमि ॥ २८ ॥

तदेवं विषयपरवश स्साधनान्तररहितोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतः अङ्घ्रिमुपगतः शरणं प्राप्तः। कथम्भूतमङ्घ्रिम्? असतां दुष्प्रापम्। [1-]सापेक्षस्य अङ्घ्रिशब्दस्याऽपि अत्र समासः [-1]आर्षः। नन्विन्द्रियपरवशस्यैतदपि कुतः? तत्राऽऽह तच्चापीति। तदङ्घ्र्युपगमनं भवदनुग्रहं त्वदनुग्रहमूलकं, मन्ये। अन्तरात्मतयाऽनुजिघृक्षो स्तवाऽनुग्रहकारितं मन्ये इत्यभिप्रायेण ईशेति सम्बोधयति। अनेन शरणवरणे स्वस्वातन्त्र्यनिवृत्ति स्सूचिता। ननु प्रपित्सा सत्सेवामूलिका, न तु मदनुग्रहमूलिका, इत्यत्राऽऽह। यदा पुंसः

संसारिणः संसरणस्य अपवर्गस्समाप्तिः यस्मात्सः, अनुग्रह इति विशेष्याध्याहारः। तथाभूतस्त्वदनुग्रहो भवेत्, तदा हे अब्जनाभ, सतामुपासनया त्वयि मतिस्स्यात्। त्वत्प्रपित्सात्मिका मतिः स्यादित्यर्थः। "ईश्वरस्य च सौहार्दं यदृच्छासुकृतं तदा, विष्णोः कटाक्षः" इत्याद्युक्तरीत्या सत्सङ्गादिप्रणाडयामपि त्वदनुग्रह एव निदानमिति भावः ॥ २९ ॥

विज्ञानमात्राय[2] अनुकूलात्मकज्ञानमात्रस्वरूपाय। मात्रशब्देन स्वरूपे क्वचिदपि जडत्वशङ्काव्युदासः। सर्वप्रत्ययहेतवे सर्वेषां ज्ञानप्रदाय, पुरुषो जीव स्तस्येशः स चाऽसौ प्रधानश्च। प्रधानशब्दः तच्छरीरवाचकः। प्रधानपुरुषेश्वरायेत्यर्थः। यद्वा। पुरुषस्य ईशाः सुखदुःखादिप्रापकाः कालकर्मस्वभावादयः तेषां प्रधानाय नियन्त्रे। यद्वा। ईशः ईश्वरो हरिः प्रधानो यस्य पुरुषश्चासावीशप्रधानश्च तस्मै। हरिप्रधानभूतेन पुरुषेण रूपेण स्वरूपेण चाऽवस्थितायेत्यर्थः। ब्रह्मणे स्वरूपेण गणैश्च निरतिशयबृहते, अनन्ताश्शक्तयः जगत्सर्गाद्युपयुक्तसामर्थ्यविशेषाः यस्य तस्मै ॥ ३० ॥

वासुदेवशब्दार्थमाह — सर्वभूतक्षयाय सर्वभूतनिवासाय हे हृषीकेश! तुभ्यं नमः। अहं त्वच्छेषभूतः मम न, नाऽहं मच्छेषभूतः। एवं प्रपन्नं मां पाहि त्रायस्व। अत्र विज्ञानमात्रायेत्यनेन प्राप्यत्वोपयुक्तं निरतिशयानन्दस्वरूपं विवक्षितम्। सर्वप्रत्ययहेतव इत्यनेन प्रपित्साहेतुत्वं, पुरुषेशप्रधानायेत्यनेन सर्वशेषित्वम्, ब्रह्मण इत्यनेन वात्सल्यसौशील्यसौलभ्यादिगुणपूर्णत्वम्, अनन्तशक्तये इत्यनेन बन्धमोक्षाद्यापादनोपयुक्तसामर्थ्यवत्त्वं, वासुदेवायेत्यनेन धारकत्वं, हृषीकेशेत्यनेन नियन्तृत्वम् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

1- -1. T,W omit 2. T omits मात्र

**विज०** तदुद्भवैः जलोद्भवैः शैवलादिभिः अबुधः मृगतृष्णां मृग्यन्त इति मृगा विषयास्तत्तृष्णाश्च ॥ २७ ॥

मनो रोद्धुं नोत्सहे ॥ २८ ॥

तथाऽपि प्रयते इत्याशयेनाऽऽह **सोऽहमिति**। यः मनस्समाधानकरणाशक्तः सोऽहम्। यच्च तवाङ्घ्र्युपगमनञ्च, अपिशब्द एवार्थे। स्वपदप्राप्तौ निमित्तं ध्वनयति — पुंस इति। यर्हि यदा संसरणात् संसारात् अपवर्गो मोक्षो भवेत्, कस्य पुंसस्तदाऽऽह - हे अब्जनाभ! सतां पुरुषाणां उपासनया सेवया हेतुना त्वयि मतिः मननबुद्धिः अवतरतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

मननविषयरूपमाह **नम** इति। ज्ञानस्वरूपं नाऽन्यत्। "मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे' (वैज.को. 6-5-1) इति यादवः। यद्वा, विज्ञानं मात्रा मानं प्रमाणं यस्मिन् स तथा तस्मै। "मात्रा परिच्छदेऽर्धेशे प्रवृत्तौ कर्णभूषणे, अक्षरावयवे माने" (वैज.को. 6-5-62,63) इति च। "नैषा तर्केण मतिरापनेया" (कठ.उ. 2-9) इति च श्रुतिः। सर्वेषां ज्ञानानां हेतवे कारणाय विरिञ्चशङ्करयोः प्रत्ययहेतुत्वं औपचारिकमिति भावेनाऽऽह पुरुषेति। पुरुषेश्वरयोर्विरिञ्चिशङ्करयो रपि उत्तमोत्तमाय। एवंविधस्य किं नामधेयमित्यत उक्तं ब्रह्मण इति। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"(तैत्ति.उ. 2-1-1) इति श्रुतेः। विरिञ्च्याद्युत्तमत्वे को हेतुरित्यत उक्तं अनन्तेति ॥ ३० ॥

वासुदेवमूर्तेर्मोक्षहेतुत्वमिति कृत्वा तं नमति **नम** इति। सर्वभूतक्षयाय सर्वभूतनिवासाय "शुद्धस्फटिकसङ्काशं वासुदेवं निरञ्जनम्" इत्यादेः। हृषीकेश! इन्द्रियेश! प्रभो! समर्थ! ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
टीकायां चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

(श्रीविजयध्वजरीत्या अष्टत्रिंशोऽध्यायः)

# एकचत्वारिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

स्तुवत स्तस्य भगवान्दर्शयित्वा जले वपुः।
भूयस्समाहरत्कृष्णो नटो नाटचमिवाऽऽत्मनः ॥ १ ॥

सोऽपि चान्तर्हितं वीक्ष्य जलादुन्मज्ज्य सत्वरः।
कृत्वा चाऽऽवश्यकं सर्वं विस्मितो रथमाविशत्[1] ॥ २ ॥

तमपृच्छद्धृषीकेशः किं ते दृष्ट मिहाऽद्भुतम्[2]।
भूमौ वियति तोये वा तथा त्वां लक्षयामहे ॥ ३ ॥

अक्रूर उवाच

अद्भुतानीह[3-] यावन्ति[-3] भूमौ वियति वा जले।
त्वयि[4-] विश्वात्मके[-4] सन्ति[5] किं मे[6] दृष्टं विपश्यतः ॥ ४ ॥

यत्राऽद्भुतानि सर्वाणि भूमौ वियति वा जले।
तंत्वाऽनुपश्यतो ब्रह्मन् किम्मे[7] दृष्ट मिहाद्भुतम् ॥ ५ ॥

1. G,J,P,V °गमत् 2. G,J °वा° 3- -3. T,W यत्राद्भुतानि सर्वाणि 4- -4. V तं त्वाऽनुपश्यतो 5. G,J,M,Ma,P तानि ; V ब्रह्मन् 6. G,J,M,Ma मेऽद्द° 7. M,Ma म्मेऽद्द°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एकचत्वारिंशकेऽ हन् रजकं प्रविशन्पुरीम्। ततो वरानदात्तुष्टः सुदाम्नो वायकस्य च।
सशङ्कमक्रूरमनः प्रबोध्य[1] स्वधामसन्दर्शनतः[2-] कृपालुः[-2]। स्वराजधानीं मधुरा मपश्य दलङ्कृतानन्तमहोत्सवाढ्याम्॥ १-३ ॥

**अद्भुतानीति।** भूमौ वियति जले वा यावन्त्यद्भुतानि तानि त्वय्येव सन्ति, तच्च त्वां विपश्यतो मे किमद्भुत मदृष्टम्? अपि तु सर्वं दृष्टमेवेत्यर्थः[3] ॥ ४ ॥

ननु मत्प्राप्तेः पूर्वमेव त्वं विस्मितमुखो लक्षितोऽसि, अतो भूमौ वियति जले वा किमप्यद्भुतं दृष्टं वद इत्यत आह — **यत्रेति**। अत्र त्वयि सर्वाण्यप्यद्भुतानि सन्ति। तं त्वा मिह पश्यतो मे अन्यत्र भूम्यादौ किमद्भुतं दृष्टम्? त्वां विना न तत्र किञ्चिदद्भुतमित्यर्थः। हे ब्रह्मन्! हे परमेश्वर! इत्यर्थः। बह्मे ति वा पाठः ॥ ५ ॥

1. P,V प्रमोद्य 2- -2. J,Va सत्कृपातः 3. J,Va दृष्ट मित्य° 4- -4. J,Va ऐवेति चेदत° 5. P,V omit सन्ति।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं प्रदर्शिताक्रूरसंस्तुतस्वासाधारणरूपो भगवान् अथ प्राप्त मधुरोपवनोऽङ्गीकृताक्रूरप्रार्थनः प्रेषिताक्रूरः श्वः प्रविष्टमधुरो निगृहीतरजकः तन्तुवायमालाकारौ परमभागवतौ अकरोदित्याह — एकचत्वारिंशेन **स्तुवत** इत्यादिना। भगवान् कृष्णः आत्मनः स्वस्य वपुः स्तुवतस्तस्याऽक्रूरस्य दर्शयित्वा स्वासाधारणरूपं प्रदर्श्य पुनस्समाहरत् अन्तर्धापयामास। यथा नटो नाटचं नाटचार्हरूपं दर्शयित्वा अन्तर्धापयति तथा तद्वत् ॥ १ ॥

सोऽक्रूरोऽपि अन्तर्हितं वीक्ष्य ज्ञात्वा जलादुन्मज्ज्य त्वरया युक्तः आवश्यकं माध्याह्निकं नित्यकर्म सर्वं कृत्वा विस्मितस्सन् रथ माविशत् ॥ २ ॥

तमाविष्टवन्तमक्रूरं कृष्णः पप्रच्छ। प्रश्नमेवाऽऽह — **किं ते** इत्यादिना। इह रथे भूमौ वियत्याकाशे जले वा किमद्भुतं चित्रं त्वया दृष्टम्? न किमपि दृष्टमिति मा वोचः इत्यभिप्रेत्याह — तथा दृष्टाद्भुतं त्वां लक्षयामहे चिह्नैः अनुमिनुमः ॥ ३ ॥

इत्थमापृष्टः प्राह अक्रूरः - **अद्भुतानीति**। भूम्यादिषु यावन्त्यद्भुतानि, तानि विश्वशरीरके त्वय्येव सन्ति। तञ्च **त्वां पश्यतो मे मया किं दृष्टं**? न किमप्यद्भुतं त्वय्यविद्यमानं दृष्टमिति काक्वभिप्रेतोऽर्थः ॥ ४ ॥

दृष्टं वदेत्यत आह — **यत्रेति**। हे ब्रह्मन्, "सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः" इति (वार्तिक) इति विकल्पा न्नलोपाभावः। यत्र त्वयि कर्माणि सर्वाण्यद्भुतानि, तं त्वा मिह पश्यतो मे अन्यत्र भूम्यादौ कि मद्भुतं दृष्टम्? त्वां विना न किञ्चिदद्भुत मित्यर्थः ॥ ५ ॥

1- -1. T omits 2. T,W omit तद्वत् 3. T,W omit चित्रम्।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

तस्मिन्निजजन्मनि योग्यताया अभिभवो नाऽस्ति। किन्तु सर्वत्राद्भुतत्व मेव यत्तदेतेषु द्विव्राध्यायेषु व्यनक्ति तत्रादौ अक्रूरदृष्टभगवद्रूपस्य अन्तर्धानकारणं कृष्णाक्रूरयोः प्रश्नोत्तराभ्यां हरेः सर्वैरचिन्त्याद्भुतमाहात्म्यञ्च वक्ति - स्तुवत इति आत्मनो वपुः नटत्वेन दर्शितं नाटचं नटनविषयं हनुमदादिरूपं यथा तिरोधत्ते तथा ॥ १ ॥

आवश्यकं नित्यकर्म ॥ २ ॥

दयालुः श्रीकृष्णः आत्मनो माहात्म्यं तेन वादयितुं अज्ञातवत्पृच्छति -तमिति। अद्भुत मदर्शि लक्षणैस्त्वां लक्षयामहे व्यावृत्तं पश्यामः ॥ ३ ॥

अक्रूरः परिहरति **अद्भुतानीति**। इह भूम्यादौ यावन्त्यद्भुतानि सन्ति विश्वात्मके विश्वरूपे त्वयि तानि विपश्यतो मे किमदृष्टम्? सर्वं दृष्टमेव। तानि विश्वात्मके त्वयि सन्ति। तस्मात्त्वां विपश्यतो मे किमदृष्टमिति वा ॥ ४ ॥

किं त्वयाऽद्भुतं दृष्टमिति प्रश्नस्य सर्वं दृष्टमेवेति परिहारः कथमागत इत्यत उक्तमेव स्फोरयति - यत्रेति। यत्र भूम्यादौ सन्ति सर्वाणि अद्भुतानि यत्र यस्मिन् त्वयि सन्ति तं त्वाऽनुपश्यतो मे किमद्भुत मदृष्टं? सर्वमद्भुतं दृष्टमित्यर्थः। ब्रह्मन्! पूर्ण! ॥ ५ ॥

**श्रीशुक उवाच**[1-1]

**इत्युक्त्वा चोदयामास स्यन्दनं गान्दिनीसुतः।**
**मधुरामनय द्रामं कृष्णश्चैव दिनात्यये ॥ ६ ॥**

**मार्गे ग्रामजना राजंस्तत्र तत्रोपसङ्गताः।**
**वसुदेवसुतौ वीक्ष्य[2] प्रीता दृष्टिं न चाऽऽददुः ॥ ७ ॥**

**ताव द्व्रजौकस स्तत्र[3] नन्दगोपादयोऽग्रतः।**
**पुरोपवनमासाद्य प्रतीक्षन्तोऽवतस्थिरे ॥ ८ ॥**

**तान्समेत्याऽऽह भगवानक्रूरं जगदीश्वरः।**
**गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रश्रितं प्रहसन्निव ॥ ९ ॥**

**भवान्प्रविशतामग्रे[4] सहयानः पुरीं गृहम्[5]।**
**वयन्त्विहावमुच्याऽथ प्रातर्द्रक्ष्यामहे[6] पुरीम् ॥ १० ॥**

---

1- -1. G,J,K,P,T,V,W omit 2. P,V दृष्ट्वा 3. M,Ma °स्तात! 4. P,V °दग्रे 5. M,Ma व्रज 6. G,T ततो द्र°; M,Ma तावद्र°

**श्रीध० इतीति**। गान्दिनीसुतः अक्रूरः ॥ ६ ॥

**मार्ग इति**। दृष्टिं नाऽऽददुः। पश्यन्त एव स्थिता इत्यर्थः ॥ ७ ॥

**तावदिति**। रामकृष्णागमनं प्रतीक्षमाणाः स्थिताः ॥ ८ ॥

**तानिति**। प्रश्रितं विनीतम् ॥ ९ ॥

**भवानिति**। स्वगृहञ्च प्रविशतात्[1] प्रविशतु[2]। अवमुच्योत्तार्य विश्राम्येत्यर्थः ॥ १० ॥

1. J,Va °ताम् 2. J,Va omit प्रविशतु।

**वीर०** इतीत्थ मुक्त्वा गान्दिनीसुतः अक्रूरः स्यन्दनं रथं चोदयामास [1-]गमयामास[-1]। ततो रामं कृष्णञ्च दिनात्यये दिनावसाने मधुरां प्रापयामास ॥ ६ ॥

तदा तत्र तत्र मार्गे ग्रामेषु जनाः वसुदेवस्य सुतौ रामकृष्णावुपसङ्गतास्सन्तः तौ दृष्ट्वा प्रीताः दृष्टिं नाऽऽददुः न प्रत्याजह्रुः, पश्यन्त एव स्थिता इत्यर्थः ॥ ७ ॥

**तावदिति**। यावद्रामकृष्णौ मधुरामनयत् तावदेव ततः पूर्वमेव नन्दादयो गोपा उपवनं प्राप्य श्रीरामकृष्णागमनं प्रतीक्षमाणाः स्थिताः ॥ ८ ॥

तान्नन्दादीन् समेत्य जगदीश्वरो भगवान् स्वपाणिना विनीतमक्रूरं पाणिं गृहीत्वा प्रहसन् वक्ष्यमाणं उवाच। इवशब्देन हास्ये ईषत्त्वं द्योत्यते ॥ ९ ॥

उक्तिमेवाऽऽह — **भवानिति**। भवान् सहयानस्सहरथः पुरीं तत्र स्वगृहमग्रे विशताम्। वयन्तु इहोपवने अवमुच्य उत्तार्य विश्राम्येत्यर्थः। अथ प्रातः वो युष्माकं पुरीं मधुरां द्रक्ष्यामः ॥ १० ॥

1- -1. T,W omit

**विज०** दिनात्यये अपराह्णे ॥ ६ ॥

तयो र्वसुदेवसुतयोः लग्नाः प्रीताः प्रसन्नाः दृष्टिं नाऽददुः प्रत्यादानं न चक्रुः ॥ ७ ॥

प्रतीक्षन्तः पश्यन्तः ॥ ८,९ ॥

भवानग्रे प्रविशतां पश्चात् त्वं गृहं व्रज, अवमुच्य स्कन्धावरोहं कृत्वा ॥ १० ॥

## अक्रूर उवाच

**नाहं भवद्भ्यां रहितः प्रवेक्ष्ये मधुरापुरीम्[1]।**
**त्यक्तुं नाऽर्हसि मां नाथ! भक्तं ते भक्तवत्सल! ॥ ११ ॥**

★ त्यक्ष्ये कथं त्वत्पदपद्मयुग्मं वेक्ष्ये कथं ग्राम्यजनाग्निकुण्डम्।
वक्ष्ये कथं ग्राम्यवचो दुरन्तं द्रक्ष्ये कथं भिन्नतया जगत्पते॥

आगच्छ याम गेहान्तस्सनाथान्कुर्वधोक्षज!
साग्रजस्सह गोपालै स्सुहृद्भिश्च सुहृत्तम ॥ १२ ॥

पुनीहि पादरजसा गृहान् नो गृहमेधिनाम्।
यच्छौचेनाऽनुतृप्यन्ति पितरस्साग्नयस्सुराः ॥ १३ ॥

अवनिज्याऽङ्घ्रियुगल मासीच्छ्लोक्यो बलि महान्।
ऐश्वर्य मतुलं लेभे गतिश्चैकान्तिनां तु या ॥ १४ ॥

आपस्तेऽङ्घ्र्यवनेजन्य स्त्रीन् लोकाञ्छुचयोऽपुनन्
शिरसाऽऽधत्त या शर्व स्स्वर्यातास्सगरात्मजाः ॥ १५ ॥

1. G,J,M,Ma °रां प्रभो! ★ अयं श्लोकः न क्वापि (G,J,K,M,Ma,P,V Edns) उपलभ्यते; तथाऽपि वीरराघवविदुषा व्याख्यात इति K प्रकाशे अधोज्ञापिकायां (foot note) मुद्रितः। व्याख्या च ११-१२ श्लोकव्याख्यानमध्ये योजिता अस्माभिस्तु एषश्लोकः मूले एव ११-१२ श्लोकयो र्मध्ये, क्रमसंख्यां विहाय योजितः। अस्य व्याख्या च उचिते स्थाने (११-१२) श्लोकव्याख्यामध्ये सङ्कलिता। 2. P,V गेहं न° 3- -3. G,J,P,V सहाऽग्रजः सगो० 4. K,T,W सुरोत्तम!; M,Ma सुहृत्तमः 5. K,T,W °हं नो 6. M,Ma °नाऽति° 7. M,Ma °च्छ्लाघ्यो 8. M,Ma °र्मखे 9. V °स्त्रिलो°

**श्रीध० आगच्छेति**। साग्रजः सह गोपालैरित्यर्थः ॥ ११-१२ ॥

**पुनीहीति**। यच्छौचेन यस्य पादरजसः क्षालनोदकेन गृहाङ्गणस्थितेन ॥ १३ ॥

**अवनिज्येति**। श्लोक्यः पुण्यकीर्त्यर्हः। एकान्तिनां एकान्तभक्तानां या गति स्तां च लेभे ॥ १४ ॥

**आप** इति। अपुनन् पवित्रीकृतवत्यः। याभिरद्भिः स्वः स्वर्गं प्राप्ताः ॥ १५ ॥

1- -1. J,Va omit 2. J,Va °त्रितव°

**वीर०** एव मुक्तः प्राह अक्रूरः **नाहमिति** षड्भिः। हे विभो! भवद्भ्यां रहितो वियुक्तोऽहं पुरीं न प्रवेक्ष्ये। हे नाथ! भक्तं मां त्यक्तुं नाऽर्हसि। तत्र हेतुं वदन् सम्बोधयति - हे भक्तवत्सलेति ॥ ११ ॥

★ **त्यक्ष्य** इति। ग्राम्यजन एव अग्निकुण्डं तत् कथं वेक्ष्ये प्रवेक्ष्ये, दुरन्तं दुर्वचं ग्राम्यवचः ग्राम्यस्येव वचः "रामकृष्णा वानीतौ" इत्येवंविधं वाक्यं वक्ष्ये, कंसं प्रति इति शेषः। हे जगत्पते! कथं भिन्नतया द्रक्ष्ये तच्छरीरभूतत्वेन त्वदपृथक्सिद्धान् कंसादीन् त्वत्तः पृथक्सिद्धतया शत्रुभावेन कथं द्रक्ष्ये इत्यर्थः।

अतो हे अधोक्षज! त्व मागच्छ, यामः त्वयैव सह वयं गमिष्यामः। नोऽस्मान् सनाथान् सेश्वरान् कुरु। साग्रजः सरामः गोपालैश्च सुहृद्भिस्सह हे सुरोत्तम! ॥ १२ ॥

पादरजसा गृहमेधिनामस्माकं गृहं पुनीहि पवित्रीकुरु। यस्य पादरजसः शौचेन क्षालनोदकेन पीतेन (गृहाङ्गणस्थितेन) शिरसि धृतेन चाऽस्माकं पितरोऽग्नयः सुराश्च तृप्यन्ति तृप्ता भवन्ति। तेन पादरजसेत्यन्वयः ॥ १३ ॥

किञ्च। तवाऽङ्घ्रियुगलमवनिज्य प्रक्षाल्य बलिर्वैरोचनिः श्लोक्यः बहुलकीर्त्यर्हः। महान्, गुणै रिति शेषः। आसीत् बभूव। त्वत्सङ्कल्पात् लब्धप्रायमैश्वर्यं लेभे प्राप्तवान्। तथैकान्तिनां अनन्यप्रयोजनानां प्रपन्नानां या गतिः त्वत्प्राप्तिरूपा ताञ्च लेभे, लब्धवत्प्रायो बभूव ॥ १४ ॥

किञ्च। तवाङ्घ्रिचोरवनेजन्यः क्षालन्यः[1] आपः गाङ्गाः[2] शुचयः पवित्राः त्रीन् लोकान् अपुनन् पवित्रितवत्यः। किञ्च या आपः शर्वो रुद्रः शिरसा धृतवान्। किञ्च, याभिरद्भिः सगरात्मजाः स्वर्गं गता बभूवुः। एवंविधमहामहिमशालिपवित्रतम गङ्गादिरूपतीर्थाश्रय पादरजसा पुनीहीत्यन्वयः ॥ १५ ॥

★ अधिक पाठश्लोकव्याख्या। 1. T,W °नाः 2. A,B °ङ्घ्रयः

**विज०** अवनिज्य प्रक्षाल्य एकान्तिनां भक्तमुख्यानां या गतिः कृपा ताम् ॥ ११-१४ ॥

अपुनन् शुद्धां चक्रुः ॥ १५ ॥

**देवदेव जगन्नाथ पुण्यश्रवणकीर्तन!**
**यदूत्तमोत्तमश्लोक नारायण नमोऽस्तुते ॥ १६ ॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**आयास्ये भवतो गेह महमार्यसमन्वितः।**
**यदुचक्रद्रुहं[1] हत्वा वितरिष्ये सुहृत्प्रियम् ॥ १७ ॥**

## श्रीकृष्णबलरामयोः मधुरानगरप्रवेशाघट्टः

श्रीशुक उवाच

एवमुक्तो भगवता सोऽक्रूरो विमना इव।
पुरीं प्रविष्टः कंसाय कर्माऽऽवेद्य गृहं ययौ ॥ १८ ॥

अथाऽपराह्णे भगवान् कृष्णः सङ्कर्षणान्वितः।
मधुरां प्राविशद्गोपै र्दिदृक्षुः परिवारितः ॥ १९ ॥

ददर्श तां स्फाटिकतुङ्गगोपुर द्वारां बृहद्धेमकवाटतोरणाम्।
ताम्रारकोष्ठां परिखादुरासदां उद्यानरम्योपवनोपशोभिताम् ॥ २० ॥

सौवर्णशृङ्गाटकहर्म्यनिष्कुटै श्श्रेणीसभाभिर्भवनै रुपस्कृताम्।
वैदूर्यवज्रामलनीलविद्रुमैर्मुक्ताहरिद्भिर्वलभीषु वेदिषु ॥ २१ ॥

जुष्टेषु जालामुखरन्ध्रकुट्टिमेष्वाविष्टपारावतबर्हिनादिताम्।
संसिक्तरथ्याऽऽपणमार्गचत्वरां प्रकीर्णमाल्याङ्कुरलाजतण्डुलाम् ॥ २२ ॥

आपूर्णकुम्भै र्दधिचन्दनोक्षितैः प्रसूनदीपावलिभि स्सपल्लवैः।
सवृन्तरम्भाक्रमुकैस्सकेतुभि स्स्वलङ्कृतद्वारगृहां सपट्टिकैः ॥ २३ ॥

---

1. M,Ma °वर्ग 2- -2. P,V omit 3. M,Ma प्रविश्य 4. M,Ma ततोऽप° 5. M,Ma °रां 6- -6. M,Ma बृहत्स्फुरद्धेम 7. G,J,M,Ma °पा° 8. M,Ma °ष्ठा 9. P,V °घा 10. M,Ma वनालि 11. M,Ma °टश्रे° 12. P,V °डू° 13. G,J बृन्द 14. M,Ma °काम्।

श्रीध० प्रार्थयमानो नमस्करोति - **देवदेवेति**। अतः परमन्यच्छ्रेयो नास्तीति मत्वा बहुधा सम्बोधयति ॥१६॥

**आयास्ये** इति। आदौ तावत् यदुचक्राय द्रुह्यतीति यदुचक्रध्रुक् तं कंसं हत्वा सुहृदां प्रियं वितरिष्ये दास्यामि॥१७॥

**एवमिति**। रामकृष्णावानीतौ इति स्वकृतं कर्माऽऽवेद्य समर्प्येति ॥ १८ ॥

**अथेति**। गोपैः परिवारितः परिवृतः प्राविशत् ॥ १९ ॥

श्रीकृष्णदृष्टां पुरीमनुवर्णयति चतुर्भिः — **ददर्शेति**। स्फाटिकानि तुङ्गानि गोपुराणि पुरद्वाराणि अन्यानि[4] गृहद्वाराणि च यस्यां ताम्। बृहन्ति हेममयानि कवाटानि[5] तोरणानि च यस्यां ताम्। ताम्रञ्च आरः आरकूटश्च तन्मयाः कोष्ठा धान्यागाराश्वशालादयश्च यस्यां ताम्। परिखाः[6] परितः खातगर्ताः ताभि र्दुरासदां दुर्गमाम्। उद्यानानि दूरस्थानि वनानि, रम्याण्युपवनानि च निकटस्थानि[7] तैरुपशोभिताम् ॥ २० ॥

**सौवर्णेति**। सौवर्णाः शृङ्गाटकाः चतुष्पथाः, हर्म्याणि धनिनां गृहाणि च तेषु[8] निष्कुटा गृहोचिता आरामाश्च तैः श्रेणीनामेकरूपशिल्पोपजीविनां[9] सभाभिरुपवेशस्था[10] नैश्च भवनै रन्यगृ[11-] है[-11] रुपस्कृताम् अलङ्कृताम्। अमलाः[12] स्फटिकाः[13] हरितो मरकताः। वैदूर्यादिरत्नै र्जुष्टेषु वलभ्यादिष्वाविष्टै रुपविष्टैः पारावतै र्बर्हिभिश्च नादिताम्। तत्र वलभ्यो गृहपुरोभा[14-] गस्तम्भनिहित छादनावष्टम्भवक्रदारूणि[-14], वेदयो वलभीना मधोदेशे विरचिता अवष्टम्भवेदिकाः। जालामुखरन्ध्राणि गवाक्षच्छिद्राणि कुट्टिमानि मणिबद्धा भूमय स्तेष्विति। रथ्या राजमार्गाः, आपणाः पण्यवीथयः, मार्गा अन्ये च चत्वराणि अङ्गणानि संसिक्तानि रथ्यादीनि यस्यां ताम्। प्रकीर्णा माल्यादयो यस्यां ताम् ॥ २१, २२ ॥

**आपूर्णेति**। तथा स्वलङ्कृतानि द्वाराणि येषां ते गृहा यस्यां ताम्। कैः? आपूर्णैः[15-] अ द्भिः[-15] पूर्णैः कुम्भैः दध्ना चन्दनेनचोक्षितैः सिक्तैः प्रसूनानां दीपानां चाऽऽवलयो येषु तैः। वृन्तैः[16] फलगुच्छैः उपलक्षिता रम्भाः क्रमुकाश्च तत्सहितैः। सकेतुभिः केतवो ध्वजा स्तत्सहितैः। पट्टिका वितस्तिविस्तारपट्टवस्त्राणि तत्सहितैः। अत्रेयं[17] रीतिः — द्वारेषूभयत - स्तण्डुलानामुपरि कुम्भाः। तत्परितः प्रसूनावलयः कण्ठे पट्टिका मुखे चूतादिपल्लवाः, तदुपरि पात्रान्तरे दीपावलयः, तत्सन्निधौ रम्भाः क्रमुकाः केतवस्तोरणानि चेति ॥ २३ ॥

1. Va °ष्यामि 2. Va omits 3. J,Va omit परिवृतः। 4. J,Va omit अन्यानि 5. J,Va °पा° 6. P,V °घाः 7. J,Va °टानि 8. J,Va omit तेषु 9. J,Va omit रूप 10. P,V रुपसंवेशन 11- -11. J,Va स्थानैः अन्यैश्च भवनैर्गृ° 12. P,V °लः 13. P,V °कः 14- -14. J,Va भागेषु वक्रदारुच्छादनानि 15- -15. J,Va omit 16. J,Va वृन्दैः 17. J,Va त°

**वीर०** एवं प्रार्थयमानोऽनितरसाधारणधर्मयुक्तं सम्बोधयन्नमस्करोति — **देवदेवेति**। ब्रह्मादीनामपि देव! जगतो नाथ! पुण्यं शृण्वतां वदताञ्च पुण्यावहं यस्य श्रवणं कीर्तनञ्च तत् यस्य सः पुण्यश्रवणकीर्तनः, तस्य सम्बोधनम्। उत्तमैः ब्रह्मादिभिः श्लोक्यते ईड्यत इति तथा, उत्तमः श्लोको यशो यस्येति वा ॥ १६ ॥

इत्थं प्रार्थितः प्राह भगवान् **आयास्ये** इति। यदुचक्राय यदुवंशजसमूहाय द्रुह्यतीति यदुचक्रध्रुक् तं यदुचक्रद्रुहं कंसं हत्वा ततोऽग्रजसमन्वितोऽहं भवतो गृहं प्रत्यायास्ये आगमिष्यामि, तथाऽन्येषाञ्च सुहृदां प्रियं वितरिष्ये करिष्यामि॥ १७॥

इत्थं भगवतोक्तोऽक्रूरः विमना इव किञ्चिदसन्तुष्टमना इव भूत्वा पुरीं प्रविष्टः कर्म रामकृष्णावानीता विति स्वकृतं कर्म आवेद्य स्वगृहं ययौ ॥ १८ ॥

अथ श्वोऽपराह्णे भगवान् कृष्णः सङ्कर्षणेनान्वितो गोपैः परिवृतो द्रष्टुमिच्छुः मधुरां प्राविशत् ॥ १९ ॥

तां मधुरां ददर्श। कथम्भूताम्? स्फाटिकानि स्फटिकमयानि तुङ्गान्युच्छ्रितानि गोपुराणि पुरद्वाराणि अन्यानि च द्वाराणि यस्यां ताम्। ताम्रम् आरम् आरकूटश्च तन्मयाः प्रकोष्ठाः धान्यादिशालादयो यस्यां तां, परिखाभिः परितः खाताभिः दुर्गाम्, उद्यानानि दूरस्थानि वनानि, रम्याण्युपवनानि च निकटानि तै रुपशोभितां, सौवर्णाः शृङ्गाटका श्चतुष्पथाः, हर्म्याणि धनिनां गृहाणि च तेषु निष्कुटाः गृहोचिता आरामाः, तैः श्रेणीनामेकरूपशिल्पोपजीविनां सभाभि रुपवेशस्थानैः अन्यैश्च भवनैः गृहैरुपस्कृतामलङ्कृताम्, अमलः स्फटिकः हरित् मरकतः, वैदूर्यादिरत्नैः जुष्टेषु संयुक्तेषु वलभ्यादिषु आविष्टैः पारावतैः मयूरैश्च नादिताम्। तत्र वलभ्यः गृहपुरोभागस्तम्भनिहिताच्छादनोपष्टम्भवक्रदारूणि, वेदयः वलभीनामधोदेशे विरचितावष्टम्भवेदिकाः, जालामुखरन्ध्राणि गवाक्षच्छिद्राणि, कुट्टिमानि मणिबद्धाः भूमयः, रथ्या राजमार्गाः आपणाः पण्यवीथयः, मार्गा अन्ये, चत्वराणि अङ्गणानि संसिक्तानि रथ्यादीनि यस्याम्, विकीर्णाः तत्र तत्र अवकीर्णा माल्यादयो यस्यां, तत्र माल्यानि मालार्हाणि पुष्पाणि आपूर्णैः कुम्भैः, दध्ना चन्दनेन च उक्षितैः सिक्तैः प्रसूनानां दीपानाञ्च आवलयो येषु तैः, सवृन्ताः फलगुच्छैस्सहिताः रम्भाः कदल्यः क्रमुकाश्च तैः, केतुभिश्च सहितैः, पट्टिकाः वितस्तिविस्तारपट्टवस्त्राणि तत्सहितैश्च स्वलङ्कृतानि द्वाराणि येषां ते गृहा यस्यां ताम्। तत्रेयं रीतिः - द्वारभूम्युभयतः[1-] तण्डुलाना मुपरि कुम्भाः तत्परितः प्रसूनावलयः कण्ठे सपट्टिकाः[2], मुखे चूतादिपल्लवाः, तदुपरि पात्रान्तरे दीपावलयः तत्सन्निधौ रम्भाः क्रमुकाः केतवः तोरणानि च इति॥ २०-२३॥

1- -1. T,W द्वार्भूम° 2. K omits स

**विज०** यदुवर्गद्रुहं कंसम् ॥ १६-१७ ॥

त्वयोक्तं कर्म मया कृतमिति ॥ १८-१९ ॥

स्फाटिकानि स्फटिकरत्ननिर्मितानि तुङ्गानि उन्नतानि च गोपुराणि पुरद्वाराणि यस्यां सा तथा बृहन्ति विशालानि स्फुरन्ति शोभमानानि हेम्ना निर्मितानि कपाटानि तोरणानि च यस्यां सा तथा। ताम्रैरारैः आरकूटैर्लोहविशेषैः निर्मितानि कोष्ठान्यन्तर्भवनानि यस्यां सा तथा "आरण्यारकूटम्" इत्यभिधानम्। यद्वा ताम्रेण विरचिते आरकोष्ठे अट्टालावयववप्रे यस्यां सा। यद्वा ताम्रकृतानि अराणि दलानि यस्मिंस्तथा, ताम्रारं कोष्ठं यस्यां सा तथा सा च। असीमा परिखा खातनदी यस्यां सा। तथा ताम्रारकोष्ठापरिखां, अत एव दुरासदां दुष्प्रवेशां, ताम्रारकोष्ठां परिखादुरासदामिति पठन्ति। उद्यानैः सर्वसाधारणवनैः रम्या रमणीया च। उपवनानामारामाणां प्रमदावनानां आलिः पङ्क्तिः तया शोभिताम् उद्यानरम्योपवनालिशोभिताम्॥ २०॥

सौवर्णैः सुवर्णबद्धैः शृङ्गाटकैः चतुष्पथैः, हर्म्यैः धनिनां निवासैः निष्कुटैः पथिकावासैः गृहवाटीभि र्वा। श्रेणीसभाभिः गृहपङ्क्तयन्तरालक्लृप्तसभाभिः, श्रेणी वेश्यागृहपङ्क्तिः तत्पुरतः कृतसभाभिर्वा, भवनैः प्रशस्तैः गृहै रुपस्कृताम् अलङ्कृताम् वेदिषु परिष्कृतभूमिषु वलभीषु आच्छादनवक्रदारुषु प्रोतचित्रफलकेषु मुक्ताहारिद्भिः मुक्तावलिरश्मिमिश्रितैः वैदूर्यादिभिः ॥ २१॥

न्युप्तेषु जालानां गवाक्षाणां आमुखरन्ध्रं मुखच्छिद्रपर्यन्तेषु विद्यमानेषु कुट्टिमेषु बद्धभूमिकेषु स्थलेषु आविष्टै रुपविष्टैः पारावतैः कपोतैः, बर्हिभिर्मयूरैश्च नादितां शब्दितां, चन्दनादिजलैः संसिक्ता आर्दीकृता रथ्या रथमार्गः आपणः निषद्यामार्गः पण्यवीथिकामार्गः प्रतिगृहं पन्थाः चत्वरश्चतुष्पथः विस्तृतमार्गः यस्यां सा तथा ताम् प्रकीर्णानि व्याप्तानि माल्याङ्कुरलाजतन्दुलानि यस्यां सा तथा ॥ २२ ॥

आपूर्णकुम्भैः स्वलङ्कृतानि द्वाराणि येषां ते तथा स्वलङ्कृतद्वारा गृहा यस्यां सा तथा ताम्। कीदृशैः आपूर्णकुम्भैः? दधिचन्दनरसेन च उक्षितैः सिक्तैः प्रसूनानां दीपानां आवलयो येषु ते तथा तैः सपल्लवैः किसलयसहितमुखैः सवृन्ता रम्भा कदली सवृन्तरम्भा तथा क्रमुकाः पूगाः तैः पट्टिकया उपर्याततवितानवस्त्रेण सहिता सपट्टिका ताम् ॥ २३ ॥

तां सम्प्रविष्टौ वसुदेवनन्दनौ वृतौ वयस्यैर्नरदेववर्त्मना।
द्रष्टुं समीयुस्त्वरिताः पुरस्त्रियो हर्म्याणि चैवाऽऽरुरुहुर्नृपोत्सुकाः ॥ २४ ॥

काश्चिद्विपर्यक्कृतवस्त्रभूषणा[1] विस्मृत्य चैकं युगलेष्वथाऽपराः।
कृतैकपत्रश्रवणैकनूपुरा[2] नाङ्क्त्वा द्वितीयन्त्वपरा[3] स्स्वलोचनम् ॥ २५ ॥

अश्नन्त्य एका स्तदपास्य सोत्सवा[4-] अभ्यज्यमाना[-4] अकृतोपमज्जनाः[5]।
स्वपन्त्य उत्थाय निशाम्य निस्वनं निपाययन्त्योऽर्भमपोह्य[6] मातरः ॥ २६ ॥

मनांसि तासा मरविन्दलोचनः प्रगल्भलीलाहसितावलोकनैः[7]।
जहार मत्तद्विरदेन्द्रविक्रमो दृशां दधच्छ्रीरमणो[8] महोत्सवम्[9] ॥ २७ ॥

दृष्ट्वा मुहुश्श्रुतमनुद्रुतचेतसस्तं तत्प्रेक्षणोत्स्मित[10-] सुधोक्षणलब्धमानाः[-10]।
आनन्दमूर्तिमुपगूह्य[11] दृशाऽऽत्मलब्धं हृष्यत्त्वचो जहुरनन्तमरिन्दमाऽऽधिम् ॥ २८ ॥

प्रासादशिखरारूढाः प्रीत्युत्फुल्लमुखाम्बुजाः।
अभ्यवर्षन्सौमनस्यैः प्रमदा बलकेशवौ ॥ २९ ॥

दध्यक्षतैस्सोदपात्रै स्स्रग्ग्रन्थै रप्युपायनैः[12]
तावानर्चुः प्रमुदिता स्तत्र तत्र द्विजातयः ॥ ३० ॥

1. G,J,K,P,V °भूत 2. M,Ma °वस्त्र 3. G,J °राश्च लो° 4- -4. P,V भोजनञ्चाभ्य° 5. T,W मार्जनाः 6. G,J प्र° 7. M,Ma प्रागल्भ्य 8. G,J दद° 9. G,J,P,V °मणात्मनोत्सवम् 10. M,Ma °क्षितोत्स्मित; T,W °क्षणस्मित 11. G,J,K,M,Ma गु° 12. G,J,M,Ma रम्यु।

श्रीध० तामिति। नरदेववर्त्मना राजमार्गेण तां पुरीं; सम्प्रविष्टाविति द्वितीयान्तम् ॥ २४ ॥

औत्सुक्यमेवाऽऽह द्वयेन **काश्चिदिति**। विपर्यक् विपरीतं धृतानि वस्त्राणि भूषणानि च याभिस्ताः। युगलेषु[1] युगलधार्येषु कुण्डलकङ्कणादिषु एकं विस्मृत्य समीयुः। कृतमेकमेव पत्रं ययो स्ते श्रवणे यासाम्। एक मेव नूपुरं चरणाभरणं यासां, ताश्च ताश्च। नाङ्क्त्वा अनङ्क्त्वा एकस्मिन्नेव लोचने अञ्जनं[2] निधायैव[3] ॥ २५ ॥

**अश्नन्त्य** इति। तद्भोजनं त्यक्त्वा[4] अभ्यज्यमानाः सखीभिः क्रियमाणतैलाभ्यङ्गाः अकृतोपमज्जना[5-] अकृतस्नानाः[-5] अर्भं[6-] बालकम्[-6] अपोह्य निरस्य ॥ २६ ॥

**मनांसीति**। प्रगल्भा याः[7] लीलाः, ताभिर्हसितानि ईक्षणानि[8] च तैः श्रियं रमयतीति श्रीरमणः तेनाऽऽत्मना वपुषा तासां दृशा मुत्सवं दधत्[9] मनांसि जहार ॥ २७ ॥

**दृष्ट्वेति**। मुहुः श्रुतत्वात् तद्गतचेतसः सद्यः तं दृष्ट्वा तस्य प्रेक्षणञ्च उत्स्मितञ्च तदेव सुधा तया सुधया[10] उक्षणं सेचनं तेन लब्धो मानो यभिस्ताः। दृशोद्घाटितेन नेत्रद्वारेण आत्मनि मनसि लब्धं प्राप्तं परिष्वज्य तदप्राप्तिजनित मनन्त माधिं मानसीं[11] व्यथां जहुः। हे अरिन्दम! निर्जितकामेति सम्बोधनं, शृङ्गाररसे निमग्नो मा भूदिति ॥ २८ ॥

प्रासादेति। सौमनस्यैः कुसुमसमूहैः शोभनमनोभावै र्वा ॥ २९, ३० ॥

1. J युग्म; Va omits युगल 2. P,V कज्जलं 3. P,V omit एव 4. P,V हित्वा 5- -5. P,V omit 6- -6. P,V omit 7. V omit याः 8. J,Va निरीक्षणानि 9. J,Va °द° 10. J,Va omit सुधया 11. P,V omit मानसीं।

**वीर०** तामेवम्भूतां पुरीं वयस्यैः सखिभि स्सहितौ नरदेववर्त्मना राजवीथ्या प्रविष्टौ वसुदेवनन्दनौ द्रष्टुं पुरस्त्रियः त्वरिता स्समीयुः, तत्र तत्र समुदिता बभूवुः। तथा हे नृप! उत्सुका स्सत्यो हर्म्याण्यारुरुहुः ॥ २४ ॥

त्वरामौत्सुक्यञ्चाऽऽह द्वयेन **काश्चिदिति**। विपर्यक् विपरीतमयथायथं धृतानि वस्त्राणि भूषणानि च याभि स्ताः काश्चिदेवम्भूताः। अपरास्तु युगलेषु धार्येषु कुण्डलकङ्कणादिषु एकं विस्मृत्य, समीयुरित्यनुषङ्गः। अन्यास्तु धृतं निहितम् एकमेव पत्रं ताटङ्कः ययोस्ते श्रवणे श्रोत्रे यासां ताः, एकमेव नूपुरं चरणाभरणं यासां ताश्च स्वकीयमेकं लोचनं नाङ्क्त्वा एकस्मिन्नेव लोचने कज्जलं निधायेत्यर्थः ॥ २५ ॥

एका स्तु अश्नन्त्यः तद्भोजनं विहाय, काश्चित्तु अभ्यज्यमानाः सखीभिः क्रियमाणाभ्यङ्गा अकृतस्नाना एव। काश्चित्तु स्वपन्त्यो निस्वनं निशम्योत्थाय, अपरास्तु मातरः अर्भकं पाययन्त्यः, स्तन्यमिति शेषः। तमर्भकं विहाय समीयु रिति सर्वत्र सम्बन्धः ॥ २६ ॥

मत्तगजेन्द्रस्येव विक्रमः पादविक्षेपो यस्य सः, श्रियः कान्तो भगवान् प्रगल्भा या लीला स्ताभिः हसितानीक्षणानि च तैस्तासां पुरस्त्रीणां दृशां महोत्सवं महाहर्षं विदधानः तासां मनांसि चित्तानि अपहृतवान् ॥ २७ ॥

मुहुश्श्रुतत्वात्तद्गतचेतसः तं दृष्ट्वा हे अरिन्दम! तस्य प्रेक्षणञ्च स्मितञ्च तदेव सुधा तयोः उक्षणं सेचनं तेन लब्धो[1] मानो याभिस्ताः दृशा उद्घाटितनेत्रद्वारा आत्मनि मनसि लब्धं प्राप्तम् आनन्दमूर्तिं परिष्वज्य पुलकितत्वचः तदप्राप्तिजमनन्तमनवधिकमाधिं व्याधां जहुः ॥ २८ ॥

प्रीत्योत्फुल्लानि मुखाम्बुजानि यासां ताः प्रमदाः स्त्रियः सौमनस्यैः कुसुमसमूहैः रामकृष्णा वभ्यवर्षन् ॥ २९ ॥

द्विजातयो ब्राह्मण्यः तत्र तत्र प्रमुदितास्सत्यः दध्यादिभिः तौ[2] रामकृष्णावानर्चुः ॥ ३० ॥

1. T,W omit अनन्तं 2. T,w omit तौ।

**विज०** या पूर्वं कर्णाकर्णितसौन्दर्या तां, नरदेववर्त्मना राजमार्गेण ॥ २४ ॥

विपर्ययकृतानि व्यत्यस्तत्वेनालङ्कृतानि वस्त्राणि भूषणानि यासां ताः। वस्त्रस्थाने भूषणानि, भूषणस्थाने वस्त्राणीति युगलेषु मध्ये एकं विस्मृत्य; एतदेव स्फोरयति कृतैकेति। वस्त्रं परिधानमात्रं एकं श्रवणभूषणं एकं नूपुरञ्च यासां ताः। एक मङ्क्त्वा एकं लोचनं नाङ्क्त्वा अञ्जितं मषीकृतमकृत्वा ॥ २५ ॥

अभ्यज्यमानाः तैललेपनं कुर्वाणाः अकृतोपमज्जनाः अकृतजलस्नानाः, अर्भं बालं अपोह्य तिर्यक्कृत्वा ॥ २६ ॥

प्रागल्भ्येन धाष्टर्येन लीलासहितहसितेन, अवलोकनेन कटाक्षनिरीक्षणेन ॥ २७ ॥

श्रुतं कृष्णरूपसौन्दर्यं स्त्रियः एकदाऽपि न दृष्टोऽय मित्याधिं मनःपीडां तद्दर्शनेन जहुरित्यन्वयः। तस्य कृष्णस्य प्रेक्षितं उत्कृष्टं स्मितञ्च तत्प्रेक्षितोत्स्मिते, ते एव सुधा[1] प्रेक्षितोत्स्मितसुधा तस्या उक्षणेन लब्धो मानो यासां ता स्तथा। आत्मनि मनसि लब्धं स्थितं हृष्यत्त्वचः रोमाञ्चाञ्चिताः ॥ २८ ॥

सौमनस्यैः सुमनसां पुष्पाणां राशिभिः ॥ २९ ॥

आनर्चुः पूजयामासुः ॥ ३० ॥

1. Ma °चि°

**★ ऊचुः[1] पौरा अहो गोप्यः तपः किं मचरन्महत्।**
**याह्येतावनुपश्यन्ति नरलोकमहोत्सवौ ॥ ३१ ॥**

**- रजकवध - वायकसुदामत्रिवक्रादीनां सम्मानघट्टः**

**रजकं कञ्चि दायान्तं रङ्गकारं गदाग्रजः।**
**दृष्ट्वाऽयाचत वासांसि धौतान्यत्युत्तमानि च ॥ ३२ ॥**

देह्यावयो स्समुचितान्यङ्ग! वासांसि चाऽर्हतोः।
भविष्यति परं श्रेयो दातुस्ते नाऽत्र संशयः ॥ ३३ ॥

स याचितो भगवता परिपूर्णेन सर्वतः।
साक्षेपं रुषितः प्राह भृत्यो राज्ञ स्सुदुर्मदः ॥ ३४ ॥

ईदृशान्येव वासांसि नित्यं गिरिवनेचराः।
परिधत्त[2] किमुद्वृत्ता राजद्रव्याण्यभीप्सथ ॥ ३५ ॥

★ This verse is not found in M,Ma edns. 1. T,W यर्हो° 2. M,Ma °त्य°

**श्रीध० ऊचु रिति।** पौराः पुरस्त्रियः ॥ ३१ ॥

**रजक मिति।** रजको वस्त्रनिर्णेजकः, स एव वस्त्राणां रागमपि[1] कुर्वन् रङ्गकारः ॥ ३२, ३३ ॥

**स इति।** रुषितः कुपितः ॥ ३४ ॥

**ईदृशानीति।** [2-]हे उद्वृत्ताः[-2]! गिरौ वने चरथ ये ते यूयं नित्यं पूर्वं, परिधत्तेति सम्भावनायां लोट्। अभीप्सथ प्रार्थयथ[3] ॥ ३५ ॥

1. J,Va रङ्ग° 2- -2. P,V omit 3. J,V °यध्वम्।

**वीर०** पौराः स्त्रियः परस्परमूचुः। उक्तिमेवाऽऽह - अहो इत्यादिना। गोप्यः किं महत्तप श्चक्रुः, अन्यथैतन्न सम्भाव्यत इत्यभिप्रेत्याऽऽहुः। या गोप्यः नरलोकस्य महानुत्सवो याभ्यां तावेतौ रामकृष्णावनुपश्यन्ति॥ ३१ ॥

इत्थं तासु कथयन्तीषु सतीषु[1] तदा गदाग्रजो भगवान् कञ्चिदायान्तं, रजकः वस्त्रनिर्णेजकः स एव वस्त्राणां रङ्ग मपि कुर्वन् रङ्गकारः, तं दृष्ट्वा धौतानि निर्णिक्तानि अद्भुतानि च वस्त्राण्ययाचत ॥ ३२ ॥

याच्ञाप्रकार मेवाऽऽह - **देहीति।** अङ्ग! हे रजक! योग्ययोरावयोः समुचितानि वासांसि देहि। दातुस्तव परमुत्कृष्टं श्रेयो भविष्यति। नाऽस्मिन्नर्थे संशयोऽस्ति ॥ ३३ ॥

इत्थं भगवता सर्वतः परिपूर्णेन पूर्णकामेन याचित स्स रजकः राज्ञः कंसस्य भृत्यः दुर्मदश्च, हेतुगर्भ मिदं विशेषणद्वयम्। अतो रुषितः क्रुद्धः साक्षेपमाटोपगर्भं यथा तथा प्राह ॥ ३४ ॥

उक्तिमेवाऽऽह - **ईदृशानीति** द्वाभ्याम्। हे उद्वृत्ताः! उत्पथाः! गिरौ वने च चरन्ति ये ते यूयमीदृशान्येव वासांसि परिधत्त किम्? सम्भावनायां लोट्। राजद्रव्याण्यभीप्सथ, स्वाधिकारमनालोच्येति शेषः ॥ ३५ ॥

---

1. T,W omit सतीषु।

**विज०** रङ्गकारं वर्णकारकम् ॥ ३१-३४ ॥

साक्षेपवाक्यं विवृणोति - **ईदृशानीति**। परिधत्त परिधानं कुरुथ ॥ ३५ ॥

याताऽऽशु बालिशा मैवं[1] प्रार्थ्यं यदि जिजीविषा।
बध्नन्ति घ्नन्ति लुम्पन्ति दुष्टान्[2]राजकुलानि हि[3] ॥ ३६ ॥

इत्थं[4] विकत्थमानस्य कुपितो देवकीसुतः।
रजकस्य कराग्रेण शिरः काया दपाहरत्[5] ॥ ३७ ॥

तस्याऽनुजीविनस्सर्वे वासःकोशान्विसृज्य वै।
दुद्रुवुस्सर्वतो मार्गं[6] वासांसि जगृहेऽच्युतः ॥ ३८ ॥

वसित्वाऽऽत्मप्रिये वस्त्रे कृष्णस्सङ्कर्षण स्तदा[7]।
शेषाण्यदत्त[8] गोपेभ्यो विसृज्य भुवि कानि चित् ॥ ३९ ॥

ततस्तु वायकः प्रीतस्तयोर्वेषमकल्पयत्।
विचित्रवर्णै श्चैलेयै[9] राकल्पैरनुरूपतः ॥ ४० ॥

1. P,V नैवं 2. G,J,M,Ma दृतं रा° 3. G,J,P,V वै; M,Ma च 4. G,J,P,V एवं 5. G,J,K,T,W °तयत् 6. M,Ma मार्गे; K मार्गान् 7. G,J,M,Ma,P,V °था 8. G,J,M,Ma °ण्या° 9. M,Ma श्चैलेयैः।

**श्रीध० यातेति**। राजकुलानि राजकीयाः लुम्पन्ति निस्स्वं कुर्वन्ति ॥ ३६, ३७ ॥

**तस्येति**। वासःकोशान् वस्त्रपुटकान् ॥ ३८-३९ ॥

**तत** इति। वायकः तन्तुवायविशेषः। वेषमलङ्कारम्। चैलेयैः वस्त्रमयै राकल्पैः भूषणैः ॥ ४० ॥

**वीर०** हे बालिशाः! आशु यात। यदि जीवितुमिच्छा तर्हि मैवं प्रार्थनीयम्। यद्येवं प्रार्थ्यते, तर्हि राजकुलानि राजकीयाः दुष्टान्युष्मान् बध्नन्ति बध्नीयुः, घ्नन्ति हन्युः, लुम्पन्ति निस्स्वं कुर्युः ॥ ३६ ॥

इत्थं रजकस्य विकत्थमानस्य सतः भगवान् क्रुद्धः कराग्रेण तस्य शिरः कायादपातयत् ॥ ३७ ॥

तत स्तस्य रजकस्य अनुजीविनः सर्वे वासःकोशान् वस्त्रपुटकान् विसृज्य सर्वतोमार्गान्प्रति दुद्रुवुः पलायितवन्तः। ततो भगवान् वासांस्यादत्त ॥ ३८ ॥

तदा सङ्कर्षणः कृष्णश्च आत्मप्रिये स्वाभीष्टवस्त्रे वसित्वा परिधाय शेषाणि गोपेभ्यः अदत्त अदात्। कानिचिद्वासांसि भुवि विसृज्य त्यक्त्वा, अगादिति शेषः ॥ ३९ ॥

ततः कश्चिद्वायकः तन्तुवायकः प्रीतः प्रीतियुक्तो विचित्रवर्णैश्शैलेयैः[1] वस्त्रमयैराकल्पैः भूषणैर्यथानुरूपं तयो रामकृष्णयोः वेषमलङ्कारमकल्पयत् विदधे ॥ ४० ॥

1. T,W °श्वे०

**विज०** जिजीविषा जीवितु मिच्छा। लुम्पन्ति अवच्छेदं कुर्वन्ति। राजकुलानि राज्ञां समूहाः ॥ ३६-३७॥

वासःकोशान् वस्त्राख्यराशीन्। "कोशोऽस्त्री कुड्मले दिव्ये शास्त्रेऽर्थौघे गृहे तनौ" (वैज.को. 6-5-15) इति च। वस्त्रकरण्डकान्वा ॥ ३८ ॥

वस्त्रे परिधानोत्तरीये विसृज्य ॥ ३९ ॥

वायकः तन्तुवायकः वेषम् अद्भुतालङ्कारम्। एतदेव विशदयति विचित्रेति। विरचिता नानाविधा वर्णा नीलरक्तादयो येषां ते तथा। तैः शैलेयैः धातुभिः आकल्पैराभरणैः ॥ ४० ॥

**नानालक्षणवेषाभ्यां रामकृष्णौ विरेजतुः।**
**स्वलङ्कृतौ[1] बालगजौ पर्वणीव सितेतरौ ॥ ४१ ॥**

**तस्य प्रसन्नो भगवान् प्रादात्सारूप्यमात्मनः।**
**श्रियञ्च परमां लोके बलैश्वर्यस्मृतीन्द्रियम्[2] ॥ ४२ ॥**

**तत स्सुदाम्नो भवनं मालाकारस्य जग्मतुः।**
**तौ दृष्ट्वा सहसोत्थाय[3-] ननाम[-3] शिरसा भुवि ॥ ४३ ॥**

**तयोरासनमानीय पाद्यञ्चार्घ्यार्हणादिभिः[4]।**
**पूजां सानुगयो श्चक्रे स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः ॥ ४४ ॥**

**प्राह नस्सार्थकं जन्म पावितश्च[5] कुलं प्रभो।**
**पितृदेवर्षयो मह्यं तुष्टा ह्यागमनेन वाम् ॥ ४५ ॥**

1. M,Ma,P,V अ° 2. M,Ma °यान् 3- -3. G,J,M,Ma स समुत्थाय 4. J,M,Ma °ह्वाथार्ह° 5. P,V °लि°

**श्रीध०** [1-]नानेति। पर्वण्युत्सवे[-1] ॥ ४१ ॥

**तस्येति**। इह लोके परमां श्रियञ्च बलञ्च ऐश्वर्यञ्च स्मृतिञ्चेन्द्रियं तत्पाटवञ्च प्रादात्[2] ॥ ४२-४५

1- -1. P,V omit 2. P,V omit प्रादात्।

**वीर०** तदा तौ रामकृष्णौ नानाविधवेषाभ्यां विरेजतुः यथा पर्वण्युत्सवे स्वलङ्कृतौ सितेतरौ श्वेतवर्णकृष्णवर्णौ बालगजौ, तद्वत् ॥ ४१ ॥

ततो भगवान्प्रसन्नः तस्य वायकस्य स्वसारूप्यं स्वसाधर्म्यं, मुक्ति मिति यावत्, प्रादात् देहावसाने दास्या मीति सङ्कल्पितवानित्यर्थः। श्रियमित्यादि, अस्य जीवद्दशायामिति शेषः। इह लोके परमां श्रियं बलमैश्वर्यं च स्वविषयकस्मृतिञ्च i, तत्पाटवञ्च अदात् ॥ ४२ ॥

ततस्सुदाम्नः सुदामाख्यस्य मालाकारस्य गृहं जग्मतुः गतवन्तौ। स च तौ रामकृष्णौ दूरादेव दृष्ट्वोत्थाय अभ्येत्य शिरसा भुवि ननाम नमश्चक्रे ॥ ४३ ॥

तयोरासनमानीयाऽऽदाय समर्प्य, पाद्यञ्च, समर्प्येति शेषः। अर्घ्यार्हणादिभिः स्रगादिभिश्च सानुगयोस्तयोः पूजां चक्रे। अर्हणशब्द उपात्तेतरपूजासाधनसङ्ग्रहार्थः ॥ ४४ ॥

तत स्तौ प्राह च। उक्तिमेवाऽऽह - 'नस्सार्थक' मित्यादिना 'इत्यभिप्रेत्ये' त्यतःप्राक्तनेन। वां युवयोः आगमनेन नोऽस्माकं जन्म सार्थकं जातम्। नः कुलञ्च पावितं पवित्रीकृतम्। पित्रादयश्च मह्यं तुष्टा बभूवुः ॥ ४५ ॥

**विज०** लक्षणं मुद्रा पर्वणी इव पौर्णमास्यमावास्ये इव सितेतरौ श्वेतश्यामौ ॥ ४१ ॥

बलञ्च ऐश्वर्यञ्च स्मृतिश्च इन्द्रियञ्च बलैश्वर्यस्मृतीन्द्रियाः तान्। बलं शरीरशक्तिः, रूपं सौन्दर्यं वा, ऐश्वर्यमणिमादिः स्मृतिः भगवत्स्मरणं, इन्द्रियं ज्ञानेन्द्रियम् ॥ ४२, ४३ ॥

सार्थकं सप्रयोजनम्, पावितं शुद्धीकृतम् ॥ ४४,४५ ॥

**भवन्तौ किल विश्वस्य जगतः कारणं परम्।**
**अवतीर्णाविहांशेन क्षेमाय च भवाय च ॥ ४६ ॥**

**नहि वां विषमा दृष्टि स्सुहृदो र्जगदात्मनोः।**
**समयो स्सर्वभूतेषु भजन्तं भजतो रपि ॥ ४७ ॥**

मामाज्ञापयतं भृत्यं किमहं करवाणि वाम्।
पुंसस्त्वनुग्रहोह्येष भवद्भि र्यन्नियुज्यते ॥ ४८ ॥

उवाच

इत्यभिप्रेत्य राजेन्द्र सुदामा प्रीतमानसः :
शस्तै स्सुगन्धैः कुसुमैर्माला विरचिता ददौ ॥ ४९ ॥

ताभि स्स्वलङ्कृतौ प्रीतौ रामकृष्णौ सहानुगौ।
प्रणताय प्रपन्नाय ददतुर्वरदौ वरान् ॥ ५० ॥

सोऽपि वव्रेऽचलां भक्तिं तस्मिन्नेवाऽखिलात्मनि।
तद्भक्तेषु च सौहार्दं भूतेषु च दयां पराम् ॥ ५१ ॥

इति तस्मै वरं दत्वा श्रियञ्चान्वयवृद्धिनीम्।
बलमायुर्यशः कान्तिं, निर्जगाम सहाग्रजः ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥
(श्रीविजयध्वजरीत्या एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः)

1. G,J तावाज्ञापयत°; K साध्वाज्ञापयतं; M,Ma शाध्याज्ञापय मां 2. G,J,M,Ma पुंसोऽत्यनु°; T,W पुंसोह्यनु° 3. P,V भवद्भ्यां य° 4- -4. G,J,K,M,Ma,T,W omits 5. P,V °गन्धि 6. G,J,K,P,V °ला 7. K °ताः 8. P,V वरान् 9. G,J,M,Ma,T,W वर्धिनीम्; P,V वर्धनीम्।

**श्रीध० भवन्तौ** इति। क्षेमाय अभयाय। भवाय उद्भवाय ॥ ४६ ॥

रजकवधेन वायकानुग्रहेण च युवयो र्विषमदृष्टितयाऽनीश्वरता नाऽऽशङ्कनीयेत्याह - **न हीति**। अत्र हेतुः - समयो रिति। अत्राऽपि हेतुद्वयम्। सुहृदोरिति, जगदात्मनो रिति च ॥ ४७,४८ ॥

**इतीति**। इति एवं विज्ञापयन् अभिप्रेत्य तन्मतं ज्ञात्वा ॥ ४९-५१ ॥

**इतीति**। अन्वयवर्धनीं वंशवृद्धिमती मित्यर्थः। अप्रार्थितं श्रीप्रभृतिकं च दत्त्वा ततो विनिर्जगामेति।

★स्वैरं चरन्मधुपुरे रजकं निकृत्य कृष्णः प्रदाय च वरा नथ वायकाय।
मालाकृतं समनुकम्प्य चकार कुब्जामृज्वीं धनुश्च सहसा नमयन्बभञ्ज ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

1. V omits भवाय 2. P,V omit इति 3. J,Va °र्धि° 4. J,Va वंशे 5- -5. P,V omit ★ श्रीधरीयोऽयंश्लोकः।

**वीर०** कथं यादवयोरावयोरागमनमात्रेण सर्वमेतत्सम्पन्नम्? तत्राऽऽह - **भवन्ताविति।** विश्वस्य प्रपञ्चस्य भवन्तौ परं कारणं मूलकारणभूतावित्यर्थः। कथ मेवम्भूतयोः कर्मकृतं प्राकृतं जन्म? इत्यत आह - अवतीर्णाविति। अंशेन सङ्कल्परूपज्ञानेन न तु कर्मणेति भावः। इह लोके अवतीर्णौ जन्मनस्सुखदुःखार्थत्वं वारयन् प्रयोजनमाह - क्षेमाय, साधूनामितिशेषः। क्षेमः प्राप्तश्रियः पालनम्, भवोऽलब्धसुखप्रापणम् ॥ ४६ ॥

ननु कञ्चिदनुगृह्णन्तौ कञ्चिच्चाननुगृह्णन्तावावां नेश्वरौ, किन्तु प्राकृतौ जीवावित्यत आह -नहीति। जगत आत्मनोः, अत एव सुहृदोः। न हि स्वशरीरे कस्य चिदप्यसौहार्दं दृष्टमिति भावः। युवयो र्विषमा दृष्टिर्न विद्यते। तत्र हेतुं वदन्विशिनष्टि। भजन्तं भजतोरनुगृह्णतोरपि समयोः न हि भक्तेष्वनुग्रहो वैषम्यमूलकः। न ह्युपाश्रितार्थदस्य सुरद्रुमस्य वैषम्यमस्ति। वैषम्यपरिहारार्थमेव भजनात्मकं व्याजमपेक्षाथे इति भावः ॥ ४७ ॥

स्वस्मिन्नत्यन्तपारतन्त्र्यमावेदयितुं कैङ्कर्यानुशासनं प्रार्थयते साध्विति। वां युवयो रहं किङ्करवाणि किङ्करोऽस्मीत्यर्थः। अतो भृत्यं मां साधु यथातथा आज्ञापयतम्। एतावतैवाऽहमनुगृहीतो भविष्यामीत्यभिप्रेत्याह - पुंसस्त्विति भवद्भिर्नियुज्यते अनुशिष्यते[1-] इत्येष[-1] एव पुंसो जीवस्याऽनुग्रहः त्वत्कृतानुग्रहः ॥ ४८ ॥

इति इत्थं, विज्ञापयतीति शेषः। हे राजेन्द्र! अभिप्रेत्य तयो रभिमतं ज्ञात्वा प्रीतमानसः सुदामा प्रशस्तैः सुगन्धिभिश्च कुसुमैर्विरचितां[2] मालां[3] ताभ्यां ददौ ॥ ४९ ॥

ताभिर्मालाभिरलङ्कृतौ वरदौ तस्मै प्रपन्नाय शरणागताय वरान् इष्टार्थान् ददतुः ॥ ५० ॥

के ते वराः तेन वृताः यान् ददतुरित्यत आह - सोऽपीति। अखिलस्य चिदचिदात्मकस्य जगतः आत्मनि तस्मिन् भगवति अचलां भक्तिं, भागवतेषु सौहार्दमानुकूल्यं, भूतेषु भगवच्छरीर चेतनाचेतनात्मकेषु दयां स्वार्थनिरपेक्षपर दुःखासहिष्णुत्वरूपां वृतवान् ॥ ५१ ॥

इतीत्थं यथावृतं तस्मै वरं दत्त्वा तेनाऽवृतामन्वयवृद्धिनीं वंशवृद्धिमतीं श्रियं तथा बलादींश्च दत्त्वा सहाग्रजः ततो निर्जगाम। तत्र बलं देहधारणसामर्थ्यम् ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

1- -1. T,W इत्यनेनैव 2. K °ताः 3. K लाः

**विज०** शाधि शिक्षस्व, कर्तव्यमनुजानीहि वा। एतत्कुर्विति नियुज्यते प्रेर्यत इति यदेषः ॥ ४६-५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

(विजयध्वजरीत्या एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः)

# द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या चत्वारिंशोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

अथ व्रजन्राजपथेन माधवः स्त्रियं गृहीताङ्गविलेपभाजनाम्।
विलोक्य कुब्जां युवतीं वराननां पप्रच्छ यान्तीं प्रहसन् रसप्रदः ॥ १ ॥

का त्वं वरोर्वेतदिहानुलेपनं कस्याङ्गने वा कथयस्व साधु नः।
देह्यावयोरङ्गविलेपमुत्तमं श्रेयस्ततस्ते नचिराद्भविष्यति ॥ २ ॥

सैरन्ध्र्युवाच

दास्यस्म्यहं सुन्दर कंससम्मता त्रिवक्रनाम्नी ह्यनुलेपकर्मणि।
मद्भावितं भोजपतेरतिप्रियं विना युवां कोऽन्यतमस्तदर्हति ॥ ३ ॥

रूपपेशलमाधुर्य हसितालापवीक्षितैः।
धर्षितात्मा ददौ सान्द्रमुभयोरनुलेपनम् ॥ ४ ॥

ततस्तावङ्गरागेण स्ववर्णेतरशोभिना।
सम्प्राप्तपरभागेन शुशुभाते ऽनुरञ्जितौ ॥ ५ ॥

1- -1. M,Ma धात्रीं वचसा 2. G,J,P °तदुहा° 3- -3. M,Ma नयसि नः कथयस्व साधु 4- -4. M,Ma ते सुरवर्य 5. A,B,G,J,K,P,T,V,W मा6. K,T,W वीक्षणैः 7. M,Ma सु 8. M,Ma °प्ता°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्विचत्वारिंशके कुब्जोन्नमनं, धनुषो भिदा। वधस्तद्रक्षिणां कंसारिष्टं रङ्गोत्सवादि च ॥

**अथेति**। अङ्गविलेपाः चन्दनादयः। गृहीतान्यङ्गविलेपानां भाजनानि यया ताम्। रसप्रदः सुखप्रदः ॥ १ ॥

**का त्वमिति**। हे अङ्गने! हे वरोरु! इति सोपहासं सम्बोध्य पृच्छति - त्वं का? एतदनुलेपनं कस्य वा। उह इति निपातो भ्रूविक्षेपयुक्ते वितर्के। अस्मत्सेवा सद्यः फलत्येवेत्याह नचिरादिति ॥ २ ॥

**दासीति**। तिस्रो ग्रीवोरःकटयो[6] वक्रा इति त्रिवक्रेति नाम यस्यास्सा। अनुलेपन[7 8] क्रियायां कंसस्य बहुमता दास्यस्मि॥ ३॥

**रूपेति**। रूपं अङ्गसौष्ठवं पेशलं च सौकुमार्यं, माधुर्यं च रसिकता हसितं चालापश्च वीक्षितं च तैर्धर्षितात्मा मोहितचित्ता। सान्द्रं घनम् ॥ ४ ॥

**तत** इति। स्ववर्णेतरशोभिना रामकृष्णयोः वर्णाभ्यामितरः पीतादिवर्णस्तेन शोभितुं शीलं यस्य तेन। सम्प्राप्तपरभागेन सम्प्राप्तः परो नाभेरुपरितनो भागो येन सः। सम्प्राप्तः परभागः शोभातिशयो येनेति वा। तेनानुरञ्जितौ ॥ ५ ॥

1. P,V °ष्ट० 2- -2. °लेप भा° 3. J add आ° 4. J °तौ 5- -5. P,V सद्यः फलदेत्याह 6. J,Va कट्यो 7. J,Va omit °न 8. J,Va add साधन

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ त्रिवक्रासमर्पिताङ्गरागानुलिप्ताङ्गः ऋजूकृत[1]त्रिवक्रो निर्भिन्नचापश्चापशकलघातित तत्पालकस्समुत्पादित कंसभयः पुनस्स्वनिवेशमाविवेशेत्याह - **अथेत्यादिना** द्विचत्वारिंशेन। अथ मालाकारानुग्रहानन्तरं राजमार्गेण व्रजन् गृहीतानि अङ्गविलेपानां सुगन्धिचन्दनानां[2-] [-2] भाजनानि पात्राणि यया, वरं सुन्दरमाननं यस्याः तां कुब्जां विलोक्य सुखप्रदो भगवान् प्रहसन् तां पप्रच्छ ॥ १ ॥

प्रश्नप्रकारमेवाह - **का त्वमिति**। हे अङ्गने! हे वरोरु! इति सोपहासं सम्बोधनम्। त्वं का इहास्यां पुर्याम् एतदनुलेपनं कस्य वा कस्मै नयसीत्यर्थः। साधु यथार्थं नोऽस्मभ्यं कथयस्व। कस्मैचिद्भवतु, किन्तु उत्तममिदम[3]ङ्गलेपनमावयोरावाभ्यां ततः अनुलेपनदानेन हेतुना तवाचिरादेव श्रेयो भविष्यति ॥ २ ॥

इत्थमापृष्टा याचिता च सा प्राह - **दासीति**। हे सुन्दर! अहं कंसस्य सम्मता तस्य दासी त्रिवक्रनाम्नी नित्यमनुलेपकर्मणि तेन नियुक्ताऽस्मि। तिस्रो ग्रीवोरुकट[4]यः वक्राः यस्यास्सा त्रिवक्रेत्यन्वर्थं नाम। कंससम्मतत्वे[5] हेतुमाह- मद्भावितं मया साधितमनुलेपनं भोजपतेः कंसस्यातीव प्रियम्। अतोऽहं तत्सम्मतेति भावः। अतस्तत् राज्ञः प्रियमनुलेपनं वां विना भवन्तौ विना अन्यः को वा पुमानर्हति युवामेवार्हौ इत्यर्थः ॥ ३ ॥

**रूपेति**। भगवत इत्यादिः। भगवतो रूपादिभिः मोहित आत्मा चित्तं यस्यास्सा सान्द्रं तदनुलेपनमुभयोः ददौ। तत्र रूपमङ्गसौष्ठवम्। पेशलं सौकुमार्यम्। माधुर्यं रसिकत्वम् ॥ ४ ॥

**तत** इति। स्ववर्णेतरशोभिना स्वस्याङ्गरागस्य यो वर्णः वराहरुधिरवल्लोहितवर्णः तस्मादितरौ यौ वर्णौ तयोश्शरीरगतौ विशुद्धौ सितासितवर्णौ ताभ्यां शोभिना अत एव प्राप्तः परभागो महातिशयो येन तेन अनुरञ्जितौ तौ रामकृष्णौ शुशुभाते।

यद्वा, तौ रामकृष्णौ स्वदेहगतविशुद्धसितासितवर्णाभ्याम् इतरेणेतरवर्णेन अत एव शोभिना अत एव च सम्प्राप्तमहातिशयेन। यद्वा, सम्प्राप्तः परः उत्कृष्टः भागः शरीरकदेशो येन तेनानुरञ्जितावित्यर्थः ॥ ५ ॥

---

1. T,W ऋज्वी° 2- -2. T omits 3. K मनुलेप° 4. T,W °कटयः 5. K °त्व

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अथ निर्गमनानन्तरं धात्रीं सैरन्ध्रीं दृष्ट्वा पप्रच्छेत्यन्वयः। गृहीताङ्गविलेपभाजनां गृहीतचन्दनपात्रां कुब्जां वक्रशरीरां वयसा युवतीं तरुणीं वचसा रसप्रदः आनन्दप्रदः कामरागप्रदो वा ॥ १ ॥

हे वरोरु! साधु सत्यम्। "निर्दोषे पेशले सत्ये साधुशब्दं प्रयुञ्जते" इति ॥२॥

यच्छास्त्रविहितं ननु तदेव दासी अनुलेपकर्मणि चन्दनसौरभ्यकर्मणि सम्मता अविप्रतिपन्ना। अन्यतमः अन्येष्वपि श्रेष्ठतमः ॥ ३ ॥

धर्षितात्मा अस्ववशमनाः वशीकृतमनाः वा ॥ ४ ॥

सुवर्णादितरद्रजतं तेन कर्पूरो लक्ष्यते। कर्पूरसम्पर्केण शोभा परिमलातिशयलक्षणाऽस्यास्तीति सुवर्णेतरशोभिना भगवच्छरीरकान्तिमपेक्ष्य सम्प्राप्तः अपरभागो गुणोत्कर्षराहित्यं येन स तथा, तेन ईषद्गुणोत्कर्षं प्राप्तेन वा। भगवदङ्गसङ्गेन सम्यगुत्कर्षं प्राप्तेन वा। अनुरञ्जितौ स्वकान्त्यनुकूलरागशोभां प्राप्तौ ॥ ५ ॥

प्रसन्नो भगवान्कुब्जां त्रिवक्रां रुचिराननाम्।
ऋज्वीं कर्तुं मनश्चक्रे दर्शयन्दर्शने फलम् ॥ ६ ॥

पद्भ्यामाक्रम्य प्रपदे द्व्यङ्गुलोत्तानपाणिना।[1]
प्रगृह्य चिबुकेऽध्यात्ममुदनीनमदच्युतः ॥ ७ ॥[2][3]

सा तदर्जुसमानाङ्गी बृहच्छ्रोणिपयोधरा।
मुकुन्दस्पर्शनात्सद्यो बभूव प्रमदोत्तमा ॥ ८ ॥

ततो रूपगुणौदार्यसम्पन्ना प्राह केशवम्।
उत्तरीयान्तमाकृष्य स्मयन्ती जातह्रच्छया ॥ ९ ॥[4][5]

एहि वीर गृहं यामो न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे।
त्वयोन्मथितचित्तायाः प्रसीद पुरुषर्षभ! ॥ १० ॥[6]

1. G,J,K °त्यु° 2. G,J,M,Ma,P,V चु° 3. M,Ma °के ह्यस्या 4. T,W °रीयं समा° 5. M,Ma सस्मयं 6. P,V यावो

**श्रीध० प्रसन्न** इति। स्वदर्शने सद्यः फलं दर्शयन् ॥ ६ ॥

**पद्भ्यामिति**। तस्याः प्रपदे पादाग्रद्वयं पद्भ्यामापीड्य द्वे अङ्गुल्यावुत्ताने उन्नते यस्मिन्पाणौ तेन चुबुके मुखस्याधोभागे धृत्वा[1] अध्यात्मं देहमुन्नमयामास ॥ ७ ॥

**सेति**। तदैव[2] ऋजु समानमङ्गं यस्याः सा। बृहत्यौ[3-] श्रोणी पयोधरौ च यस्यास्सा। मुकुन्दस्पर्शनादिति मुख्यं[4] कारणम् ॥ ८,९,१० ॥

1. P,V omit धृत्वा, 2. J,P,V °व 3- -3. P,V बृहन्तौ श्रोणिपयोधरौ 4. P,V °ख्य

**वीर०** "श्रेयस्ततस्ते नचिराद्भविष्यति" (भाग. 10-42-2) इत्युक्तं श्रेयश्चकारेत्याह - **प्रसन्न इति**। स्वदर्शनफलं तस्याः दर्शयन् तां त्रिवक्रामृज्वीं कर्तुम् अवक्रां कर्तुं मनश्चक्रे मनस्कारपूर्वकमृज्वीं चकारेत्यर्थः ॥ ६ ॥

तत्प्रकारमेवाह - **पद्भ्यामिति**। तस्याः प्रपदे पादाग्रद्वयं स्वपद्भ्यामापीड्य[1] आक्रमणेनावष्टभ्य द्वे अङ्गुली उत्ताने उन्नते यस्मिन् तथाभूतेन पाणिना तस्याश्चिबुके मुखस्याधोभागे गृहीत्वा अध्यात्मं देहम् उदनीनमत् उन्नमयामास ॥७॥

सा तदैव ऋजु समानम् अनुरूपं चाङ्गं यस्याः बृहत्यौ श्रोणी पयोधरौ च यस्याः, तथाभूता मुकुन्दस्पर्शनान्निदानात् सद्य एव प्रमदोत्तमा बभूव ॥ ८ ॥

किञ्च रूपादिसम्पन्ना सती जातः हृच्छयः कामो यस्यास्सा। अत एव स्मयन्ती मुकुन्दमुत्तरीयाग्रमाकृष्य प्राह। तत्र रूपं सौन्दर्यम्। गुणा यौवनादयः। औदार्यं गत्यवलोकनादिश्रैष्ठ्यम् ॥ ९ ॥

उक्तिमेवाह - **एहीति**। हे वीर! अस्मद्गृहं प्रत्यागच्छ, यामः। इह त्वां त्यक्तुं नोत्सहे न शक्नोमि क्षोभितं चित्तं यस्याः तस्या मम प्रसीद। हे पुरुषर्षभ! ॥ १० ॥

1. T,W स

**विज०** ऋज्वीकर्तुं समीकर्तुं आत्मनो दर्शने यत्फलं तद्दर्शयन् एष्यत्कंसहननं लोकान् प्रत्याययन्निति भावः ॥ ६॥

कुब्जायाः प्रपदे पादाग्रे स्वपादाभ्यामाक्रम्याऽवष्टभ्य द्वे अङ्गुले उत्ताने यस्मिन् पाणौ तेन द्व्यङ्गुलोत्तानपाणिना चुबुके मुखाधःप्रदेशे आस्यं प्रगृह्य उदनीनमत् उन्नमयाञ्चकार। ऊर्ध्वमाकृष्टवानित्यर्थः ॥ ७, ८ ॥

उत्तरीयान्तम् उत्तरीयवस्त्राञ्चलं सस्मयं समदं हृच्छयः कामः ॥ ९ ॥

त्वया कारणेन उन्मथितचित्तायाः विलोलितमनसः ॥ १० ॥

एवं स्त्रिया याच्यमानः कृष्णो रामस्य पश्यतः।
मुखं वीक्ष्याऽनुगानां[1] च प्रहसंस्तामुवाच ह ॥ ११ ॥

एष्यामि ते गृहं सुभ्रु[2] पुंसामाधिविकर्शनम्।
साधितार्थोऽगृहाणां नः पान्थानां त्वं परायणम् ॥ १२ ॥

विसृज्य वाण्या माध्व्या तां व्रजन्मार्गे वणिक्पथैः[3]।
नानोपायनताम्बूल[4] स्रग्गन्धैस्साग्रजोऽर्चितः ॥ १३ ॥

★तद्दर्शनस्मरक्षोभादात्मानं नाविदन् स्त्रियः।
विस्रस्तवस्त्रकबरवलया[5] लेख्यमूर्तयः ॥ १४ ॥

ततः पौरान्पृच्छमानो धनुषः स्थानमच्युतः।
तस्मिन्प्रविष्टो ददृशे धनुरैन्द्रमिवाद्भुतम् ॥ १५ ॥

पुरुषैर्बहुभिर्गुप्तमर्चितं परमर्द्धिमत्[6]।
वार्यमाणो नृभिः कृष्णः प्रसह्य धनुराददे ॥ १६ ॥

1. J गोपानां 2. G,J °भ्रूः 3. G,J,M,Ma °थैः 4. G,J,K,T,W °लैः ★ This verse is not found in M,Ma edns. 5. G,J,K, °वासः 6. J °तम्

**श्रीध० एष्यामीति**। आधिविकर्शनं मनःपीडाशामनम्। कंसवधेन स्वयं[1] साधितोऽर्थः सुहृदां प्रयोजनं येन सः। अगृहाणा मकृतदाराणा पान्थाना प्रवासिनां परमयनमाश्रयस्त्वम् ॥ ११, १२ ॥

**विसृज्येति**। मधुरया गिरा तां प्रस्थाप्य व्रजन् वणिक्पथैः[2] वणिग्भिरर्चितः ॥ १३

**तदिति**। लेख्याः चित्रन्यस्ता इव मूर्तयो यासां ताः ॥ १४ ॥

**तत इति**। धनुर्मखशालां पृच्छन् ॥ १५ ॥

**पुरुषैरिति**। प्रसह्य बलात्कारेण[3] ॥ १६ ॥

1. P,V omit स्वयं 2. P,V °थैः 3. J,Va omit कारेण

**वीर०** इत्थं तथा स्त्रिया रामस्य पश्यतस्सतः याच्यमानो भगवाननुगानां गोपानां, चशब्दाद्रामस्य च मुखमवलोक्य प्रहसन् तामुवाच ॥ ११ ॥

उक्तिमेवाह - **एष्यामीति**। हे सुभ्रु! साधितः कंसवधरूपोऽर्थः प्रयोजनं येन तथाभूतः। पुंसामाधिविकर्शनं कामप्रयुक्तमनः पीडाशमनं तव गृहं प्रत्यागमिष्यामि। अगृहाणां न विद्यन्ते गृहाः अस्यां पुर्यां येषां तेषां पान्थानाम् अस्माकं त्वमेव परायणम् उपभोग्येत्यर्थः ॥ १२ ॥

एवंविधया माध्व्या मधुरया वाण्या तां विसृज्य उत्तरीयान्तं त्याजयित्वेति भावः। ततो मार्गे व्रजन् ततो वणिक्पथे प्रविष्टः तत्र नानाविधैरुपायनैः श्रेष्ठवस्तुभिः ताम्बूलादिभिश्च सरामस्समर्चितो बभूव ॥१३॥

तदा तस्य भगवतो दर्शनेन यः स्मरक्षोभस्तेन स्त्रियः आत्मानं देहं नाविदन् नानुसमदधत। वेदनाभावमेव दर्शयन्विशिनष्टि विस्रस्ताः वासःप्रभृतयो यासां ताः लेख्यवल्लिखितप्रतिमावन्निश्चला मूर्तयो यासां ताः ॥ १४ ॥

ततो धनुषः स्थानं धनुर्मखशालां पौरान् पृच्छमानोऽच्युतः तस्मिन्धनुषः स्थाने प्रविष्टः ऐन्द्रं धनुरिवाद्भुतं बहुभिः पुरुषैः गुप्तं अर्चितं परमा ऋद्धिः स्वर्णालङ्कारसम्पत्तिः अस्यास्तीति तथा तद्धनुः दृष्टवान्। तदा तत्रस्थैः पालकैः बहुधा वार्यमाणोऽपि कृष्णः प्रसह्य बलात्तद्धनुः आददे ॥ १५,१६ ॥

**विज०** हेत्यनेनाऽयमितिहासो लोके प्रवर्ततामिति सूचयन् तामाहेति ज्ञाप्यते इति ॥ ११ ॥

तरुणानां पुंसाम् आधिविकर्शनं मनःपीडापरिहारनिमित्तं गृहमागमिष्यामि, किन्तु किञ्चित्कार्यमस्तीत्याह-साधितार्थ इति। अर्थः कंसवधलक्षणः। त्वं सर्वथा परिहारार्था नेत्याह - अगृहाणामिति। अगृहाणां गृहरहितानां वनवासिनामित्यर्थः। पान्थानां पथिकानां नोऽस्माकं त्वं परायणं उत्तमाश्रयः। अनेनाऽसङ्गानामीश्वराणामस्माकं भक्ता एव पूजादिनाऽऽश्रयभूता इति दर्शितम् ॥ १२ ॥

माध्व्या मधुरया वणिजां पन्थानो येषां ते तथा तैः दर्शनार्थमागतैः पण्यवीथिकास्थितैः वैश्यैश्चार्चितः नानाविधोपायनं ताम्बूलादिकं येषां ते तथा तैः ॥ १३ ॥★

पृच्छमानः पृच्छन् ॥ १४,१५,१६ ॥

★ As the 14th verse is not taken by Vijayadhvaja, there is no commentary for the same.

**करेण वामेन सलीलमुद्धृतं सज्यं[1] च कृत्वा निमिषेण पश्यताम्।**
**नृणां विकृष्य[2] प्रबभञ्ज मध्यतो यथेक्षुदण्डं मदकर्युरुक्रमः ॥ १७ ॥**

**धनुषो भज्यमानस्य शब्दः खं[3] रोदसी दिशः।**
**पूरयामास यं श्रुत्वा कंसस्त्रासमुपागमत् ॥ १८ ॥**

तद्रक्षिणस्सानुचराः कुपिता आततायिनः।
ग्रहीतुकामा आवव्रुर्गृह्यतां बध्यतामिति ॥ १९ ॥

अथ तान्दुरभिप्रायान्विलोक्य बलकेशवौ।
क्रुद्धौ धनुष आदाय शकले तान्विजघ्नतुः ॥ २० ॥

बलश्च कंसप्रहितं हत्वा शालामुखात्ततः।
निष्क्रम्य चेरतुर्हृष्टौ निरीक्ष्य पुरसम्पदः ॥ २१ ॥

तयोस्तदद्भुतं वीर्यं निशाम्य पुरवासिनः।
तेजः प्रागल्भ्यरूपञ्च मेनिरे विबुधोत्तमौ ॥ २२ ॥

तयोर्विचरतोस्स्वैरमादित्योऽस्तमुपेयिवान्।
कृष्णरामौ वृतौ गोपैः पुराच्छकटमीयतुः ॥ २३ ॥

1. P,V सज्जं 2. T,W प्र 3. T,W °सं जगाम ह। 4. T,W तं र° 5. K,T,W रुषिता 6. G,J धन्वन 7. G,J,M,Ma,P,V तांश्च ज° 8. M,Ma °श° 9. G °ल्भ्यं 10. P,V रूपे च

**श्रीध० करेणेति**। निमिषेणातिशीघ्रम्। मदकरी मत्तहस्ती ॥ १७,१८ ॥

**तदिति**। गृह्यतां बध्यतामिति वदन्तो जिघृक्षवः आवृतवन्तः ॥ १९ ॥

**अथेति**। न केवलं क्रुद्धौ, किन्तु भग्नस्य धतुषः शकले गृहीत्वा जघ्नतुश्चेति ॥ २० ॥

**बलमिति**। परतः प्रातर्गन्तव्यमिति शालामुखादेव पुनर्निष्क्रम्य ॥ २१ ॥

**तयोरिति**। तेजः प्रभावम्, प्रागल्भ्यं धृष्टताम् ॥ २२ ॥

**तयोरिति**। शकटं शकटविमोचनस्थानम् ॥ २३ ॥

1. J,Va टाव

**वीर०** उरुक्रमो भगवान्सलीलं यथा तथा, वामेन करेणोद्धृतं धनुस्सज्यं समारोपितज्याकं कृत्वा निमिषेणाऽऽशु नृणां पश्यतां सतां विकृष्य मध्यतो बभञ्ज भग्नमकरोत्, यथा मत्तगजः इक्षुदण्डं तद्वत् ॥ १७ ॥

तदा भज्यमानस्य धनुषो ध्वनिः खमाकाशं रोदसी द्यावापृथिव्यौ दिशश्च पूरयामास, यं शब्दं श्रुत्वा कंसः त्रासं भयं प्राप्तवान् ॥ १८ ॥

तस्य धनुषो रक्षिणः पालकाः सानुचराः आततायिनः जिघांसया गृहीतशस्त्राः जिघृक्षवः गृह्यतां बध्यताम् इति ब्रुवाणाः आवव्रुः आवृतवन्तः ॥ १९ ॥

तानागतान् दुरभिप्रायात् जिघांसूनवलेक्य रामकृष्णौ धनुषः शकले आदाय ताभ्यां तान् जघ्नतुः ॥ २० ॥

तदा कंसेन प्रेषितं सैन्यं हत्वा ततः शलाद्वारान्निर्गत्य तत्र तत्र पुरसम्पदो निरीक्ष्य हृष्टौ चेरतुः ॥ २१ ॥

तयोः रामकृष्णयोः तद्धनुर्भञ्जनाद्यात्मकं कर्म निशाम्य दृष्ट्वा श्रुत्वा च, तेजःपराभिभवनसामर्थ्यं, प्रागल्भ्यं धृष्टता-रूपं तेषां समूहः, तेनानितरसाधारणेन तौ देवोत्तमौ मेनिरे अमन्यन्त ॥ २२ ॥

स्वैरं यथा तथा तयोः विचरतोस्सतोः सूर्योऽस्तं प्राप्तः , ततः तौ गोपैस्सह पुरा च्छकटं शकटावमोचनस्थानं 1- नन्दादीनां विश्रमस्थानं -1 इति यावत्, ईयतुराजग्मतुः ॥ २३ ॥

1- -1. T omits

**विज०** ज्यया मौर्व्या सहितं सज्यं निमिषपरिमितेन कालेन अनिमिषेण निमेषणरहितेन वा, स्तिमितपक्ष्मणा नेत्रेणेत्यर्थः। मदकरी नित्यमदजलस्रावी गजः, मदयुक्तो गजो वा ॥ १७ ॥

रोदसी द्यावापृथिव्यौ ॥ १८ ॥

आततायिनः आयुधान्यातत्य विस्तृत्य आगच्छन्तः ॥ १९ ॥

धनुषः द्वे शकले खण्डे आदाय ॥ २० ॥

शालामुखाद्धनुर्गृहद्वारात्॥ २१ ॥

वीर्यं पराक्रमं, तेजः बलं प्रभावं वा, प्रागल्भ्यं धाष्टर्यं, रूपं सौन्दर्यं एकवद्भावादेकवचनं, तेजःप्रागल्भ्ययो रूपं चक्षुर्ग्राह्यमिव स्थितमित्यर्थः ॥ २२ ॥

अस्तं अस्तगिरिं शकटमुपशल्यं स्वावस्थानम् ॥ २३ ॥

***गोप्यो मुकुन्दविगमे विरहातुरा या आशासताऽशिष ऋता मधुपुर्यभूवन्।**
**सम्पश्यतां पुरुषभूषणगात्रलक्ष्मीं हित्वेतरांस्तु भजत श्चकमे नु यच्छ्रीः ॥ २४ ॥**

**अवनिक्ताङ्घ्रियुगलौ भुक्त्वा क्षीरोपसेचनम्।**
**ऊषतुस्तां सुखं रात्रिं ज्ञात्वा कंसचिकीर्षितम् ॥ २५ ॥**

कंसस्तु [5-]धनुषो [5-]भङ्गं रक्षिणां स्वबलस्य च।
वधं निशाम्य गोविन्दरामविक्रीडितं परम् ॥ २६ ॥

दीर्घप्रजागरो भीतो दुर्निमित्तानि दुर्मतिः।
बहून्यचष्टोभयथा मृत्योर्दौत्यकराणि च ॥ २७ ॥

अदर्शनं स्वशिरसः प्रतिरूपे च[6] सत्यपि।
असत्यपि द्वितीये च द्वैरूप्यं ज्योतिषां[7] तथा ॥ २८ ॥

छिद्रप्रतीतिश्छायायां प्राणघोषानुपश्रुतिः।
स्वर्णप्रतीतिर्वृक्षेषु स्वपदानामदर्शनम् ॥ २९ ॥

स्वप्ने प्रेतपरिष्वङ्गः खरयानं[8] बिसादनम्।
यायान्नलदमाल्येक स्तैलाभ्यक्तो[9] दिगम्बरः ॥ ३० ॥

* This verse is not found in M,Ma edns. 1. G,J °रानु 2- -2. G,J °मेऽयनं श्रीः; P,V °मे नु यां श्रीः; T,W °मे नु यं श्रीः 3. T,W °सिक्त; M,Ma °निज्या° 4. M,Ma °लं 5- -5. P,V °तद्वनुर्भङ्गं 6. M,Ma,T,W °षु सत्स्वपि 7. K,T,W °षामपि 8. G,J विषा° 9. M,Ma °भ्यङ्गो

**श्रीध० गोप्य** इति। मुकुन्दस्य विगमे व्रजान्निर्गमनसमये या आशिष आशासत "सुखं प्रभाता रजनीयम्"[1] (भाग 10-39-23), "अद्य ध्रुवं तत्र दृशो भविष्यते" (भाग 10-39-25) इत्यादि यदुक्तवत्यः ताः ऋताः सत्या बभूवुः। पुरुषभूषणस्य श्रीकृष्णस्य गात्रस्य[2-] देहस्य लक्ष्मीं शोभाम्[-2]। कथम्भूतस्य गात्रस्य? नु अहो इतरान्ब्रह्मादीन् हित्वा यदयनमाश्रयं श्रीः कामयामास। यां गात्रलक्ष्मीमिति वा ॥ २४ ॥

**अवनिक्तेति**। अवनिक्तं क्षालितमङ्घ्रियुगलं ययोस्तौ। क्षीरमिश्रमन्नं भुक्त्वा सुखं न्यवसताम् ॥ २५ ॥

**कंस** इति। परं केवलं गोविन्दरामयोर्विक्रीडितं तत्, न तु पराक्रमः कश्चित् ॥ २६ ॥

**दीर्घेति**। उभयथा स्वप्नजागरितभेदेन प्रत्येकं मृत्योर्दौत्यकराणि च। तथा च मन्त्रः - "इत्थादुलूक आपस्तत् (श्चापघ्नन्) हिरण्याक्षो अयोमुखः। रक्षसां दूत आगतः तमितो नाशयाऽग्ने" इत्यादि। तथा - "यदेतद्भूतान्यन्वाविश्य दैवीं वाचं वदसि" इत्यादिश्च ॥ २७ ॥

तान्येव[3] दर्शयति **अदर्शनमिति** श्लोकत्रयेण - जलादौ प्रतिरूपे दृश्यमानेऽपि स्वशिरसः तत्रादर्शनम्। असत्यपि द्वितीये चक्षुषोऽन्तर्धनिऽङ्गुल्यादौ ज्योतिषां चन्द्रादीनां द्वित्वम् ॥ २८ ॥

**छिद्रेति**। छायायां प्रतिबिम्बे छिद्रप्रतीतिः। पिहितकर्णपुटकयोः[4] अन्तः श्रूयमाणो ध्वनिः[5] प्राणघोष स्तस्याऽश्रवणम्। वृक्षेषु स्वर्णवर्णप्रतीतिः। रजःकर्दमादिषु स्वपदानामदर्शनम्। एतानि जागरितजानि[6] दुर्निमित्तानि ॥ २९ ॥

स्वाप्नान्याह - **स्वप्न** इति। प्रेतैः मृतैः परिष्वङ्गः खरमारुह्य यानम्। विषभक्षणम्। नलदमाली जपाकुसुममाली यायादिति यत् तदप्येकं दुर्निमित्तमिति ॥ ३० ॥

1. P,V omit ताः 2- -2. P,V गात्रलक्ष्मीं देहशोभाम् 3. J,Va omit एव 4. °स्य योऽन्तः 5. J,Va add स 6. J,Va °तानि

**वीर०** मुकुन्दस्य विगमे व्रजान्निर्गमनवेलायां विरहेणाऽऽतुरा गोप्यः या या आशिषः आशासत "सुखं प्रभाता रजनीयम्" (भाग 10-39-23) "अद्य ध्रुवं तत्र दृशो भविष्यते" (भाग 10-39-25) इत्यादिकमुक्तवत्यः। तास्सर्वाः आशिषो मधुपुर्यां पुरुषभूषणस्य गात्रलक्ष्मीं पश्यतां जनानाम् ऋतास्सत्याः बभूवुः। कथम्भूतस्य गात्रस्य? भजतः सेवमानानितरान्ब्रह्मादीन् हित्वा श्रीः महालक्ष्मीः यद्गात्रमाश्रयं चकमे अचीकमत। यामिति पाठे यां गात्रलक्ष्मीमित्यर्थः। यमिति पाठे यं पुरुषभूषणमिति सम्बन्धः ॥ २४ ॥

अवनिक्तं[1] क्षालितमङ्घ्रियुगलं ययोस्तौ क्षीरमुपसेचनं यस्य तदन्नं क्षीरविमिश्रान्नमित्यर्थः। भुक्त्वा[2] परेद्युः कंसचिकीर्षितं ज्ञात्वा तौ[3] च सुखं यथा तथा तां रात्रिमूषतुः उषितवन्तौ ॥ २५ ॥

कंसस्तु रामकृष्णयोः केवलं क्रीडारूपं धनुर्भङ्गं, तद्रक्षिणां स्वबलस्य च वधं निशम्याऽऽकर्ण्य भीतो दीर्घप्रजागरः अलब्धनिद्रः दुःखितो बहूनि, उभयथा स्वाप्नजागरितभेदेन स्वाप्नानि जागरितानि च मृत्योः दौत्यकराणि दुष्टानि निमित्तानि अचष्ट ददर्श ॥ २६,२७ ॥

तान्येव कानिचिदाह त्रिभिः[4]। जागरितानि तान्याह - **अदर्शन**मिति द्वाभ्याम्। वियज्जलादौ प्रतिरूपे दृश्यमाने सति स्वशिरसः तत्रादर्शनम् असत्यपि द्वितीये ज्योतिषां चन्द्रादीनां द्वित्वम् ॥ २८ ॥

छायायां छिद्रप्रतीतिः कर्णरन्ध्रयोः[5] पिहितयोस्सतोरन्तश्श्रूयमाणो यो ध्वनिः स प्राणघोषः तस्याऽश्रवणं, वृक्षेषु स्वर्णवर्णप्रतीतिः, रजःकर्दमादिषु स्वपदानामदर्शनमित्यादीनि जागरितानि दुर्निमित्तानि ॥ २९ ॥

अथ स्वाप्नान्याह - **स्वप्न** इति। प्रेतानां मृतानां परिष्वङ्गः आलिङ्गनं, खरमारुह्य यानं, बिसभक्षणं, नलदमाली जपाकुसुममाली तैलेन अभ्यक्तः दिगम्बरश्चैकोऽसहायो यायात् गच्छेदिति यत्तदेकं दुर्निमित्तमिति ॥ ३० ॥

1. T,W सिक्तं, 2. T,W add अ० 3. T,W omit तौ 4. T,W add तावत् 5. T,W omit कर्ण

**विज०** क्षीरोपसेचनं क्षीरोपसेचकभूयिष्ठमन्नम् ॥ २४,२५ ॥

धनूरक्षिणां वधं प्रेषितस्वबलस्य वधं च, किंकृतमिति तत्राऽऽह - गोविन्देति। गोविन्दरामाभ्यां विक्रीडितम् ॥ २६ ॥

दीर्घः प्रजागरः निद्राराहित्यं यस्य स तथा अचष्ट अपश्यत्। उभयथा दैहिकानि बाह्यानि च। यद्वा जाग्रति स्वप्ने च दौत्यकराणि सूचकानि ॥ २७ ॥

तान्येव व्यनक्ति - **अदर्शनमित्यादिना**। प्रतिरूपेषु छायालक्षणेषु सत्स्वपि स्वशिरसोऽदर्शनं, द्वितीये चन्द्रादावसति अविद्यमानेऽपि ज्योतिषां चन्द्रादीनां द्वैरूप्यं द्विमूर्तित्वं द्वौ चन्द्रावित्यादि। बहुवचनेन दीपादयो ग्राह्याः द्विशिखात्वमित्यादिना॥ २८॥

छायायां छिद्रप्रतीतिः सुषिरदर्शनं, कर्णे प्रतिष्टब्धे करेण प्राणघोषस्य शरीरवायोः प्रणवमुच्चरतो मन्द्रध्वनेरनुपश्रुतिश्रवणं वृक्षेषु स्वर्णच्छायादर्शनं पृथिव्यां स्वपदानां पादलाञ्छनानामदर्शनम् ॥ २९ ॥

प्रेतपरिष्वङ्गः मृतालिङ्गनं स्वप्ने बिसादनं पद्मकन्दभक्षणलक्षणं "नलदमाली दक्षिणामुखो व्राजयति" इति श्रुतिः। "पद्ममालां शिरःकृत्वा यो गच्छेद्दक्षिणामुखः। एवं पश्यन्निशि स्वप्ने तत्क्षणान्मृत्युमेष्यति" इति स्वप्नदर्शने इति। यद्वा चक्ररक्तपुष्पं मृणालशून्यं वर्षासु जायमानं नलदं तत्कृतमालाधारी। "अभयं नलदं सेव्यममृणालं जलाशयम्" (अम.को. 2-210) ॥ ३० ॥

**अन्यानि चेत्यभूतानि स्वप्नजागरितानि च।**
**पश्यन्मरणसन्त्रस्तो निद्रां लेभे न चिन्तया ॥ ३१ ॥**

**व्युष्टायां निशि कौरव्य! सूर्ये चाद्भ्य स्समुत्थिते।**
**कारयामास वै कंसो मल्लक्रीडामहोत्सवम् ॥ ३२ ॥**

**आनर्चुः पुरुषा रङ्गं तूर्यभेर्यश्च जघ्निरे।**
**मञ्चाश्चाऽलङ्कृता स्स्रग्भिः पताकाः चेलतोरणैः ॥ ३३ ॥**

**तेषु पौरा जानपदा ब्रह्मक्षत्त्रपुरोगमाः।**
**यथोपजोषं विविशू राजानश्च कृतासनाः ॥ ३४ ॥**

**कंसः परिवृतोऽमात्यै राजमञ्च उपाविशत्।**
**मण्डलेश्वरमध्यस्थो हृदयेन विदूयता ॥ ३५ ॥**

**वाद्यमानेषु तूर्येषु मल्लतालोत्तरेषु च।**
**मल्लास्स्वलङ्कृता दृप्ताः सोपाध्यायाः स्समाविशन् ॥ ३६॥**

**चाणूरो मुष्टिकः कूट श्शल स्तोसल एव च।**
**त आसेदुरुपस्थानं वल्गुवाद्यप्रहर्षिताः ॥ ३७ ॥**

**नन्दगोपादयो गोपाः भोजराजसमाहुताः।**
**निवेदितोपायनास्ते एकस्मिन्मञ्च आविशन् ॥ ३८ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे मल्लरङ्गोपवर्णनं नाम द्विचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४२ ॥

1. K,T,W स्वा 2. M,Ma चाऽभिस° 3. K,T,W स्स्वल° 4. G,J,M,Ma चै° 5. K °वेशं 6. K,T,W मु° 7. J समासत; T,W उपाविशन् 8. G,J,M,Ma °शल 9. K,T,W तदासे°

**श्रीध० व्युष्टायामिति।** व्युष्टायाम्[1] कष्टेन कथञ्चित्प्रभातायां पुनः सूर्ये चाऽद्भ्यः समुत्थित इति। तथा च श्रुतिः[2-]"अद्भ्यो वा" (छान्दो.उ. 7-10-2) इति[-2]। "य उदगान्महतोऽर्णवात् विभ्राजमानः सरिरस्य मध्यात् समा वृषभो लोहिताक्षः सूर्यो विपश्चिन्मनसा पुनातु" इति च ॥ ३१ - ३३ ॥

**तेष्विति।** यथोपजोषं यथासुखम्. ॥ ३४,३५ ॥

**वाद्यमानेष्विति।** मल्लताला[3]ः उत्तरे[4] उपरि उच्चैः श्रूयन्ते येषु तेषु तूर्येषु। उपाध्याया[6]ः मल्लाचार्या[7]ः ॥ ३६॥

**चाणूर** इति। उपस्थानं मल्लरङ्गम् ॥ ३७॥

**नन्देति।** समाहुताः समाहूताः। निवेदितान्युपायनानि यैस्तै ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

1. J,Va omit व्युष्टायाम् 2- -2. P,V omit 3. J,Va लः 4. J,Va रः 5. J,Va °ते 6. P,V °यः 7. J.V °र्यः

**वीर०** अथ[1] अन्यान्यपि इत्थंभूतानि स्वाप्ननि जागरितानि च दुष्टानि निमित्तानि पश्यन् तत्सूचितमरणादतीव भीतः चिन्तया निद्रां न लेभे न प्राप्तवान् ॥ ३१ ॥

हे कौरव्य! कथञ्चिन्निशि व्युष्टायां प्रभातायां सत्याम् अद्भ्यस्सकाशात् सूर्ये समुत्थिते सति "य उदगान्महतोऽर्णवात् विभ्राजमानस्सरिरस्य मध्यात्समावृषभो लोहिताक्षः सूर्यो विपश्चिन्मनसा पुनातु" इति श्रौतीं प्रसिद्धिमुपजीव्य अद्भ्यस्सूर्ये समुत्थिते इत्युक्तम्। मल्लानां क्रीडैव महानुत्सवः तं, यद्वा मल्लानां क्रीडार्थं यस्तेषामुत्सवः मङ्गलस्नानादिरूपः तं कंसः कारयामास॥ ३२॥

पुरुषा भृत्याः रङ्गं मल्लक्रीडास्थानमानर्चुः, मार्जनचन्दनाम्भस्सेचनादिभिरिति शेषः। तूर्याणि भेर्यो भेरीश्च जघ्निरे ताडितवन्तः। स्रग्भिः पताकाभिश्चेलैश्चित्रपटैस्तोरणैश्च मञ्चाः दिदृक्षूणामुपवेशस्थानान्युच्चानि स्वलङ्कृताः ॥ ३३ ॥

ततस्तेषु मञ्चेषु ब्राह्मण क्षत्रियादयः पौराः पुरवासिनः जानपदा देशवासिनश्च जनाः यथोपवेशं राजाज्ञामनतिक्रम्य। यथोपजोषम् इति पाठे यथासुखं, विविशुः, तथा राजानः ये देशान्तरेभ्यस्समाहूताः ते राजानः कृतानि परिगृहीतान्यासनानि सिंहासनानि यैस्तथाभूताः ॥ ३४ ॥

कंसस्तु मण्डलेश्वरमध्यस्थः विदूयता तप्यमानेन हृदयेन, सहित इति शेषः, अमात्यैर्मन्त्रिभिः परिवृतो राजमञ्चमखण्डमण्डलेश्वरोपयोज्यं मञ्चमुपाविशत् ॥ ३५ ॥

तदा मल्लानां तालैः करतलैः भुजास्फालनम् उत्तरः उच्चैश्श्रूयमाणो येषु तेषु तूर्येषु वाद्यमानेषु सत्सु उपाध्यायाः मल्लाचार्याः तैस्सहितास्सर्वे मल्लास्स्वलङ्कृतास्समाविशन् ॥ ३६ ॥

तदा चाणूरादयो मल्लाः वल्गुवाद्यैः मधुरवाद्यैः प्रहर्षिताः तदुपस्थानं मल्लरङ्गम् आसेदुः आजग्मुः ॥ ३७॥

तदा नन्दादयो गोपाश्च भोजराजेन कंसेन आहूताः, निवेदितान्युपायनानि यैस्ते एकस्मिन्मञ्चे आविविशुः ॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२॥

1. T,W omit अथ 2. T,W omit ये

**विज०** अन्यानि "वनभूकर्णसप्तानां पञ्चनेत्रं विनासिका। एकजिह्वेति पञ्चत्वलक्षणं विबुधा विदुः" इत्यादीनि ॥ ३१ ॥

निशि व्युष्टायां निवृत्तायां अभिसमुत्थिते, उदयपर्वतादिति शेषः ॥ ३२ ॥

पणवगोमुखादि तूर्यम् ॥ ३३ ॥

ब्रह्माणः ब्राह्मणाः क्षत्रा मण्डलेश्वराः पुरोगमा मुख्या येषां ते तथा यथोपजोषं यथासुखम्। राज्ञो विशिनष्टि-राजान इति ॥ ३४ ॥

विदूयता तप्यमानेन ॥ ३५ ॥

मल्लानां तालशब्दोत्तरेषु उच्चैः श्रावितताल्शब्देष्वित्यर्थः। उपाध्यायाः मल्लशिक्षाचार्याः तैरसहिताः ॥ ३६ ॥

कांश्चिन्मल्लान्नाम्ना निर्दिशति - **चाणूर** इति। ये चाणूरप्रभृतयः त एव मल्लेषु प्रधानाः, त एवमुपस्थानं रङ्गसमीपम् ॥ ३७ ॥

भोजराजेन समाहूता ये नन्दादिगोपाः ते किमकुर्वन्निति तत्राऽऽह - नन्दगोपादय इति। निवेदितोपायनाः दत्तप्राभृताः॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
टीकायां द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

(विजयध्वजरीत्या चत्वारिंशोऽध्यायः)

# त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या एकचत्वारिंशोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच[1] [-1]

अथ कृष्णश्च रामश्च कृतशौचौ परन्तप![2] ।
मल्लदुन्दुभिनिर्घोषं श्रुत्वा द्रष्टुमुपेयतुः॥ १ ॥

- कुवलयापीडाख्यगजतन्निषादिवधकथा -

रङ्गद्वारं[3] समासाद्य तस्मिन्गजमवस्थितम्[4]।
अपश्यत्कुवलयापीडं[5] कृष्णोऽम्बष्ठ प्रचोदितम्॥ २ ॥

बद्ध्वा परिकरं शौरिस्समूह्य[6] कुटिलालकान्।
उवाच हस्तिपं वाचा मेघनादगभीरया॥ ३ ॥

अम्बष्ठाम्बष्ठ! मार्गं नो[7] देह्यपक्रम[8] मा चिरम्।
नो चेत्सकुञ्जरं त्वाऽद्य नयामि यमसादनम्॥ ४ ॥

एवं निर्भर्त्सितोऽम्बष्ठः कुपितः कोपितं[9] गजम्।
चोदयामास कृष्णाय कालान्तक यमोपमम्॥ ५ ॥

1- -1 P.V. omit 2 M.Ma ॰पौ 3 P.V. ॰रमुपा॰ 4 G.J.K ॰न्नाग 5. P.V. पश्यन्कु॰ 6 G.J.M.Ma ॰मु॰ 7 G.J.M.Ma नौ 8 P.V.M.Ma ॰क्राम 9 P.V. कोपय

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

त्रिचत्वारिंशके हत्वा गजेन्द्रं रामकृष्णयोः। रङ्गप्रवेश सौभाग्यं चाणूरेणानु[1] भाषणम्॥

**अथेति**। पूर्वेद्युरेव कृतं शौचं शुद्धत्वं निरपराधत्वं याभ्यां तौ। एतदुक्तं भवति - धनुर्भङ्गादिनाऽऽवाभ्यां निजैश्वर्ये सूचितेऽपि पितरौ न मुञ्चति, आवां पुनः जिघांसति। अतोऽस्य मातुलस्यापि वधे नाऽवयोः दोष इत्येवं कृतापराधपरिहाराविति। मल्लानां दुन्दुभीनां च निर्घोषं[2] मल्लतालदुन्दुभिनिर्घोषं[3] वा॥ १ ॥

**रङ्गद्वारमिति।** अम्बष्ठो हस्तिपकः तेन प्रचोदितम्[5]॥ २ ॥

**बद्ध्वेति।** परिकरं युद्धोचितं[6] परिधानं कृत्वा समुह्य[7] बद्ध्वा[8]॥ ३,४ ॥

**एवमिति।** अन्तको मृत्युः, कालस्तन्निमित्तं, यमस्तन्नियन्ता-तैरुपमा यस्य तम्॥ ५ ॥

1. J.Va ०ण च 2 P.V. omit निर् 3. P.V. omit निर् 4. P.V. ०पः 5. J.Va omit प्र 6. J.Va ०त 7 P.V. ०मू० 8. J.Va निबध्य

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

"ऊषतुस्तां सुखं रात्रिं ज्ञात्वा कंसचिकीर्षितम्" (भाग० 10-43-25) इत्युक्तम्। अथकिं परेद्युः कंसचिकीर्षितम्, किं वा तावकुरुतामित्यत्राह- **अथेत्यादिना।** हे परन्तप! अथ परेद्युः प्रातः रामः कृष्णश्च कृतशौचौ कृतं शौचं स्नानादिकर्म याभ्यां तौ मल्लानां दुन्दुभीनां च निर्घोषं श्रुत्वा द्रष्टुम् आजग्मतुः॥ १ ॥

रङ्गस्य मल्लक्रीडास्थानस्य द्वारमासाद्य तस्मिन् द्वारे अवस्थितम् अम्बष्ठेन हस्तिपेन प्रचोदितं कुवलयापीडाख्यं गजं भगवानपश्यत्॥ २ ॥

परिकरं परिधानं यथोचितं बद्ध्वा कुटिलालकान् समूह्य गर्जितवद्गभीरया वाचा हस्तिपमुवाच॥ ३ ॥

उक्तिमेवाह- **अम्बष्ठेति।** अपक्रम मार्गं परित्यज, मा चिरं विलम्बं मा कार्षीः। नो चेत् मार्गं न दास्यसि चेत् अद्य संकुञ्जरं त्वां हत्वा यमलोकं प्रापयामि॥ ४ ॥

इत्थं निर्भर्त्सितो हस्तिपः क्रुद्धः कोपितं कोपं प्रापितम्[-2] अन्तको मृत्युः, कालस्तन्निमित्तं, यमस्तु तन्नियन्ता तैः[3] उपमा यस्य तं गजं कृष्णाय चोदयामास। कृष्णं प्रति प्रद्रावयामासेत्यर्थः॥ ५ ॥

1. K omits हत्वा 2- -2 T.W. omit 3 T.W. omit तैः

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

कृष्णरामाभ्यां नन्दादिभिः सहस्थित मुत पृथगिति संशयनिरासार्थं तत्कर्म कथयति-**अथेति।** कृतशौचौ मुखप्रक्षालनादिना प्राप्तशुद्धी यद्वा कृतं पर्याप्तं पूर्णं शौचं शुचेरग्नेः सर्वदहनत्वं ययोस्तौ अग्निवत्सर्वदाहकावित्यर्थः। अत्रापि विशेषोऽस्तीत्याह- परन्तपाविति। शत्रूणामेव तापकौ न सर्वेषामित्यर्थः। मल्लदुन्दुभिनिर्घोषं मल्लयुद्धोचितं दुन्दुभिध्वनिं, मल्लयुद्धं द्रष्टुं तत्समीपमाजग्मतुः॥ १,२॥

परिकरं कक्षाख्यमुदरबन्धं काञ्चीं वा कुटिलालकान् समुह्य एकीकृत्य बद्ध्वा॥ ३ ॥

अपक्रम अपसर, यमसादनं यमगृहम्॥ ४ ॥

बलादाकर्षणे कालः मृत्युर्वा "कालो मृत्यौ (दिष्टे) यमे चैव (काचो) (वैज.को.6.1.15) इति। संहारे अन्तको रुद्र इव "रुद्रो माविशान्तक" इति श्रुतिः। क्लेशजनने यम इव स्थितः कालान्तकयमोपमः तम्॥ ५ ॥

**करीन्द्रस्तमभिद्रुत्य करेण तरसाऽग्रहीत्।**
**कराद्विगलितस्सोऽमुं निहत्याङ्घ्रिष्वलीयत॥ ६ ॥**

**संक्रुद्धस्तमचक्षाणो घ्राणदृष्टिस्स केशवम्।**
**परामृशत्पुष्करेण स प्रसह्य विनिर्गतः॥ ७ ॥**

**पुच्छे प्रगृह्यातिबलं[1] धनुषः पञ्चविंशतिम्।**
**विचकर्ष यथा नागं सुपर्ण इव लीलया॥ ८ ॥**

**स पर्यावर्तमानेन सव्यदक्षिणतोऽच्युतः।**
**बभ्राम भ्राम्यमाणेन गोवत्सेनेव बालकः॥ ९ ॥**

**ततोऽभिमुखमभ्येत्य पाणिनाऽऽहत्य वारणम्।**
**प्राद्रवन्पातयामास[2] स्पृश्यमानः पदे पदे॥ १० ॥**

1 P.V. ०लो 2 T.W. प्रद्रवन्पात०; M.Ma प्राद्रवद्यप०

**श्रीध० करीन्द्र** इति। विगलितः विच्युतः। सः[1] मुष्टिना निहत्य अलीयताऽदृश्यो बभूव॥ ६ ॥

**संक्रुद्ध** इति। अचक्षाणोऽपश्यन्। घ्राणमाघ्राणं[2] तेन दृष्टिर्दर्शनं यस्य सः। लोचनागोचरमपि पशवो हि घ्राणेन जानन्तीति प्रसिद्धम्। परामृशत् धृतवान्। पुष्करेण शुण्डाग्रेण। स कृष्णः। प्रसह्य बलेन॥ ७ ॥

**पुच्छे** इति। धनुषो धनुषां पञ्चविंशतिर्यावत्तावन्तं देशं गजं[3] विचकर्ष आकृष्य नीतवान्। कं क इव विचकर्ष? यथा नागं सर्पवद्वर्तमानं गजं सुपर्ण[4] इव स्वयमिति। "आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः" (भाग.10-3-8) इतिवत्॥ ८ ॥

**स** इति। पुच्छग्राहिणं श्रीकृष्णं ग्रहीतुं यदि दक्षिणतः परिवर्तते गजस्तर्हि सव्यतो भ्रामयति। यदा सव्यतः परिवर्तते तदा दक्षिणतो भ्रामयन् तेन सह बहु[5] बभ्राम। गोवत्सेन भ्राम्यमाणेन बालकः स[6] एव कृष्णो यथाऽन्यो वा बालक इवेति॥ ९ ॥

तत इति। वारणं गजं प्राद्रवन् प्रकर्षेण आसमन्ततो धावन् पातयामास यथाऽऽपतति तथा तं वञ्चयन् प्राद्रवदित्यर्थः॥ १० ॥

1 J.Va omit सः 2 J.Va ०मवघ्रा० 3. J.Va omit गजं 4 J.Va ०वत्स्य० 5 J.Va omit बहु 6 P.V. हि

**वीर०** करीन्द्रः तं कृष्णम् अभिद्रुत्य बलात्करेणाऽग्रहीत्, स कृष्णः कराद्विगलितः विच्युतः अमुं करीन्द्रं निहत्य मुष्टिना प्रताड्य तस्याङ्घ्रिषु चरणानां मध्ये अलीयत तस्याऽदृश्यो बभूवेत्यर्थः॥ ६ ॥

तं कृष्णमचक्षाणोऽपश्यन् अत एव संक्रुद्धः स करीन्द्रः घ्राणदृष्टिः हस्ताग्रे दृष्टिर्यस्य तथाभूतः केशवं पुष्करेण तुण्डाग्रेण परामृशत् अन्वेषयामास। स कृष्णः प्रसह्य बलात्कारेण अङ्घ्रिमध्याद्विनिर्गतः॥ ७ ॥

तमतिबलं पुच्छे प्रगृह्य धनुषः पञ्चविंशतिर्यावत्तावन्तं देशं विचकर्ष आकृष्टवान् यथा सुपर्णः गरुडः लीलया नागं सर्पं कर्षति तद्वत्॥ ८ ॥

स इति। स भगवान् पुच्छग्राहिणमात्मानं ग्रहीतुं यदि गजो दक्षिणतः परिवर्तते तर्हि सव्यतो भ्रामयन् यदाऽपसव्यतः[1] परिवर्तते तदा दक्षिणतो भ्रामयन् एवं पर्यावर्तमानेन करिणा सह स्वयं बभ्राम। यथा बालो भ्राम्यमाणेन गोवत्सेन सह भ्राम्यति तद्वत्। अत्र बालकः श्रीकृष्ण एव। बाल्यदशावस्थो दृष्टान्ततया विवक्षितः॥ ९ ॥

ततो वारणं गजमभिमुखमभ्येत्य पाणिना आहत्य प्राद्रवन्[2] धावन्[3] पदे पदे वारणेन स्पृश्यमानः पातयामास। स यथा पतन्निव[4-] तथा तं वञ्चयन् प्राद्रवदित्यर्थः॥ १० ॥

1. T.W. ०व्यः 2 T.W. प्र 3. T.W. omit धावन् 4- -4 T.W. भ्रमति

**विज०** करीन्द्रकराद्विगलितः विश्लथितः स कृष्णः अमुं करीन्द्रं निहत्य मुष्टिनाऽपहत्य करीन्द्रस्याङ्घ्रिषु पादेषु अलीयत निलीनोऽभूत्॥ ६ ॥

अचक्षाणः अपश्यन् घ्राणेदृष्टिः यस्य स तथा गजो घ्राणेन पादमध्ये निलीनं केशवं ज्ञात्वा पुष्करेण शुण्डाग्रेण तं कृष्णं परामृशत् आकृष्टवान्। स कृष्णः पुष्करग्रहणात् प्रसह्य सहसा विनिर्गतः॥ ७ ॥

विनिर्गत्य किं चकारेति तत्राह-**पुच्छ** इति। पञ्चविंशद्धनुःपरिमितस्थलपर्यन्तं, नागं सर्पम्॥ ८ ॥

सोऽच्युतः सव्यदक्षिणतो बभ्राम पुच्छं गृहीत्वेति शेषः। परि परित आवर्तमानेन पुनः पुनः सव्यतो दक्षिणतश्च भ्रमता गजेन गृह्यत इति। कथमिव? बालको भ्राम्यमाणेन गोपुच्छेन गृहीतेन भ्रमति यथा तथेति॥ ९ ॥

ततः किमनया लीलयेति मत्वा। पुच्छं मुक्त्वा करीन्द्रस्याभिमुखं गत्वा पाणिना वारणम् आहत्य प्राद्रवदित्यन्वयः। ततः किमभूदिति तत्राह- यापयामासेति। प्राद्रवन् कृष्णः करीन्द्रं यापयामास स्वपृष्ठत आगमयामास गजोऽपि तमन्वाद्रवदित्यर्थः॥ १०॥

स धावन्क्रीडया[1] भूमौ पतित्वा[2] सहसोत्थितः।
तं मत्वा पतितं क्रुद्धो दन्ताभ्यां सोऽहनत्क्षितिम्॥ ११ ॥

स्वविक्रमे प्रतिहते कुञ्जरेन्द्रोऽत्यमर्षितः।
चोद्यमानो महामात्रैः कृष्णमभ्यद्रवद्रुषा॥ १२ ॥

तमापतन्तमासाद्य भगवान्मधुसूदनः।
प्रगृह्य[3] पाणिना हस्तं पातयामास भूतले॥ १३ ॥

पतितं[4] तं पदाऽऽक्रम्य मृगेन्द्र इव लीलया।
दन्तमुत्पाट्य तेनैव[5] हस्ति पश्चाऽहनद्धरिः[6]॥ १४ ॥

मृतकं द्विपमुत्सृज्य दन्तपाणिस्समाविशत्[7]।
अंसन्यस्तविषाणोऽसृङ्मदबिन्दुभिरङ्कितः[8][9]॥
विरूढस्वेदकणिकं[10] वदनाम्बुरुहो बभौ॥ १५ ॥

1. P.V. ०न्यी 2 P.V. ०तः 3. G.J.P.V. नि० 4. G.J.K.M.Ma.T.W ०तस्य 5 G.J.P.V. तेनेऽऽभं; T.W. तेनाशु; 6 G.J.P.V. ०पांश्चाह०; M.Ma ०पानाह० 7. M.Ma ०पाणी विरेजतुः 8 M.Ma ०णाऽ० 9. M.Ma रञ्जि(ञ्चि) तौ 10. G.J. ०का 11 M.Ma रुहावुभौ

**श्रीध०** स इति। किञ्च अहनत् अहन्॥ ११-१४ ॥

**मृतकमिति**। रङ्गं समाविशत् तदा वीरश्रिया बभौ। कथम्भूतः? अंसे न्यस्तं विषाणं गजदन्तो येन सः। असृजो रक्तस्य मदस्य च बिन्दुभिः परितोऽङ्कितः। विरूढा उद्गताः स्वेदकणिकास्ताभिरुपलक्षितं वदनाम्बुरुहं यस्य सः॥ १५॥

**वीर०** यदा च गजः पतति तदा स भगवानपि क्रीडया धावन् भूमौ पतति पतितं दृष्ट्वा स यदाऽभिधावति तदा भगवानुत्थितो धावति, गजस्तु पतितं स्थितमेव मत्वा क्रुद्धः केवलं दन्ताभ्यां क्षितितलमहनत्॥ ११ ॥

इत्येवं स्वस्य गजस्य विक्रमे प्रतिहते क्षीयमाणे सति[1] कुञ्जरेन्द्रः केवलमत्यन्तं क्रोधमात्रयुक्तः हस्तिपैर्बलाच्चोद्यमानः प्रेर्यमाणः कृष्णं रुषाऽभ्यद्रवत् अभ्यधावत्॥ १२ ॥

तदा भगवानापतन्तं गजमासाद्य स्वपाणिना हस्तं तस्य शुण्डां[2] प्रगृह्य भूतले पातयामास॥ १३ ॥

पतितं गजेन्द्रं पदा पादेनाऽऽक्रम्य अवष्टभ्य सिंह इव दन्तमुत्पाट्य तेनैव दन्तेनैव हस्तिपमहनत्॥ १४ ॥

मृतं गजमुत्सृज्य दन्तः पाणौ यस्य तथाभूतः ततः अंसे न्यस्तः निहितो विषाणो गजदन्तो येन सः असृजः रुधिरस्य मदोदकस्य च बिन्दुभिः अङ्कितः विरूढाः उद्गताः स्वेदकणिका यस्मिन् तद्वदनाम्बुरुहं यस्य तथाभूतो बभौ॥ १५॥

---

1 K omits सति 2 T.W. ०णडं

**विज०** तेन दन्तेन हस्तिपान् महामात्रान्॥ ११-१४ ॥

द्विपं गजं विषाणोपरक्तेन असृजा रुधिरेण मदजलबिन्दुभिश्च विरूढा विस्तृता स्वेदजलकणिका यस्मिन् तत् विरूढस्वेदकणिकं तादृशं वदनाम्बुरुहं ययोस्तौ तथा॥ १५ ॥

**वृतौ गोपैः कतिपयैर्बलदेवजनार्दनौ।**
**रङ्गं विविशतू राजन् गजदन्तवरायुधौ॥ १६ ॥**

**मल्लानामशनिर्नृणां नरवरस्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्**
**गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां[1] शास्ता स्वपित्रोश्शिशुः**
**मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां[2-] तत्त्वं परं[-2] योगिनां**
**वृष्णीनां[3-] परदेवतेति विदितो रङ्गं गतस्साग्रजः[-3]॥ १७ ॥**

**- चाणूरमुष्टिकादिमल्लवधकथा -**

**हतं कुवलयापीडं दृष्ट्वा तावपि[4] दुर्जयौ।**
**कंसो मनस्व्यपि तदा भृशमुद्विविजे नृप॥ १८ ॥**

**तौ रेजतूरङ्गगतौ महाभुजौ विचित्रवेषाभरणस्रगम्बरौ।**
**यथा नटावुत्तमवेषधारिणौ मनःक्षिपन्तौ प्रभया निरीक्षताम्॥ १९ ॥**

**निरीक्ष्य तावुत्तमपूरुषौ जनाः[5] मञ्चस्थिता नागरराष्ट्रका नृपाः[6]।**
**प्रहर्षवेगोत्कलिते क्षणाननाः पपुर्नतृप्ता नयनैस्तदाननम्॥ २० ॥**

1 M.Ma भृतां 2- -2 M.Ma ०र्विधातृविहितः 3- -3 M.Ma च पतिः सदैव शुशुभे रङ्गेऽच्युत० 4 K.T.W. ०ति 5 P. तदा; V. तथा 6 G.J.M.Ma ०प!

**श्रीध०** न केवलं साग्रजः[1-] स एव रङ्गं[-1] समाविशत्, किन्तु **वृतौ गोपैरिति** ॥ १६ ॥

तत्र शृङ्गारादिसर्वरसकदम्बमूर्तिः भगवान् तत्तदभिप्रायानुसारेण बभौ, न[2] साकल्येन सर्वेषामित्याह- **मल्लानामिति**। मल्लादीनां[3] दशानां द्रष्टृणामशन्यादिरूपेण दशधा विदितस्सन् साग्रजो रङ्गं गत इत्यन्वयः। मल्लादिष्वभिव्यक्तारसाः क्रमेण श्लोकेन निबध्यन्ते- "रौद्रोऽद्भुतश्च शृङ्गारो हास्यं वीरो दया तथा। भयानकश्च बीभत्सः शान्तः सप्रेम भक्तिकः"॥ अविदुषां विराट् विकलः अपर्याप्तो[4] राजत इति तथा, अनेन बीभत्सरसः उक्तः। विकलत्वं च "क्व वज्रसारसर्वाङ्गौ" (भाग.10-44-8) इत्यादिना वक्ष्यति[5]॥ १७ ॥

**हतमिति**। उद्विविजे भीतो बभूव॥ १८ ॥

**तौ** इति। यथा नटाविति निर्भयत्वं दर्शितम्॥ १९ ॥

**निरीक्ष्येति**। प्रहर्षवेगेनोत्कलितानि उज्जृम्भितानि ईक्षणानि आननानि च येषां ते। तयोराननं पपुः परं, न तु तृप्ताः; निराकाङ्क्षा न बभूवुरित्यर्थः॥ २० ॥

1- -1 J.Va स एकः 2 Va omits न 3 J.Va नामज्ञानां 4 P.V. omit रसः 5 J.Va ०ते

**वीर०** रामकृष्णौ कतिपयैर्गोपैः परिवृतौ गजदन्तावेव वरे श्रेष्ठे आयुधे ययोस्तौ हे राजन्! रङ्गं मल्लक्रीडास्थानं विविशतुः॥ १६ ॥

तत्र शृङ्गारादिसर्वरसकदम्बैकमूर्तिः भगवान् तत्तदभिप्रायानुसारेण बभौ, न साकल्येन सर्वेषामित्याह-**मल्लानामिति**। मल्लादीनां द्रष्टृणामशन्यादि रूपेण दशधा विदितस्सन्साग्रजो रङ्गस्थानं गत इत्यन्वयः। अशनिः अशनिवद्रौद्रः, स्त्रीणां मूर्तिमान् स्मरः विदितः, असतां दुष्टानां क्षितिभृतां शास्ता स्वपित्रोश्शिशुः, अनेन करुणरसः प्रदर्शितो भवति। भोजपतेः कंसस्य मृत्युः, अनेन भयानकरसः, अविदुषां देहात्माभिमानिनां विराट् देहमात्रबुद्धिविषयः, योगिनां परमात्मोपासनात्मकयोगनिष्ठानां परं तत्त्वमिति विदितः स्वोपास्यवस्तुत्वेन विदित इत्यर्थः॥ १७ ॥

**हतमिति**। हतं कुवलयापीडं दृष्ट्वा ततः तौ रामकृष्णौ अतिदुर्जयाविति ज्ञात्वा मनस्वी धीरोऽपि कंसः हे नृप! नितराम् उद्विविजे[1] भीतो बभूव॥ १८ ॥

**ताविति**। विचित्रो वेषः तथा आभरणानि स्रजश्च ययोस्तौ रामकृष्णौ स्वकान्त्या[2-] [-2] पश्यतां जनानां मनः क्षिपन्तौ क्षोभयन्तौ, अपहरन्तौ वा रेजतुः। यथोत्तमवेषधारिणौ नटौ तद्वत्॥ १९ ॥

**निरीक्ष्येति**। हे नृप! पौरा जानपदाश्च जनाः तौ उत्तमपूरुषौ निरीक्ष्याऽवस्थिताः निश्चलाः प्रहर्षवेगेन उत्कलितानि उज्जृम्भितानि ईक्षणान्याननानि च येषां ते नयनैः लावण्यपानपात्रभूतैस्तयोराननं पपुः आननगतं लावण्यरसं पीतवन्त इत्यर्थः। परं तु न तृप्ता, निराकाङ्क्षा न बभूवुरित्यर्थः॥ २० ॥

1 T.W. उद्विजते 2- -2 T.W. omit

**विज०** मल्लानामशनिरिव भासमानः, उपर्यप्येवम्। योगिनां परं तत्त्वं ब्रह्म "ब्रह्म वेदस्तपस्तत्त्वम्" (वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म) (अम.को. 3-271 इति च। भोजपतेः कंसस्य मृत्युरिव, नित्यमेवेति योज्यम्॥ १६,१७॥

मनस्वी शूरोऽपि उद्विविजे 'ओ विजी भयचलनयोः' इति धातुः भीतोऽभूत्॥ १८ ॥

देहप्रभया निरीक्षतां मनः क्षिपन्तौ आकर्षन्तौ॥ २९ ॥

नागराः नगरवासिनः राष्ट्राः जनपदवासिनः प्रहर्षवेगेन उत्कलितमुत्फुल्लमीक्षणम् आननं च येषां ते तथा॥ २०॥

**पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया।**
**जिघ्रन्त इव नासाभ्यां श्लिष्यन्त इव बाहुभिः॥ २१ ॥**

**ऊचुः परस्परं ते वै यथादृष्टं यथाश्रुतम्।**
**तद्रूपगुणमाधुर्य प्रागल्भ्यस्मारिता इव॥ २२ ॥**

**एतौ भगवतस्साक्षा द्धरेर्नारायणस्य हि।**
**अवतीर्णाविहांशेन वसुदेवस्य वेश्मनि॥ २३ ॥**

**स[1] एष किल देवक्यां जातो नीतश्च गोकुलम्[2]।**
**कालमेतं वसन्गूढो ववृधे नन्दवेश्मनि॥ २४ ॥**

**पूतनाऽनेन निहता[3] चक्रवातश्च दानवः।**
**अर्जुनौ धेनुकः केशी गुह्यकोऽन्ये च तद्विधाः॥ २५ ॥**

1. G.J. एष वै 2 M.Ma ०ले 3 G.J.M.Ma नीताऽन्तं

**श्रीध०** तदेवाह-**पिबन्त** इवेति। श्लिष्यन्तः परिष्वङ्गं कुर्वन्त इव लक्षिता इत्यर्थः[1]॥ २१ ॥

**ऊचुरिति**। यथादृष्टं धनुर्भङ्गादि, यथाश्रुतं गोवर्धनोद्धरणादि तत्तदनतिक्रम्य, तदनुरूपमित्यर्थः। प्रत्यक्षं च तयो रूपं गजदन्तादि युक्तं, गुणाः शौर्यादयो, माधुर्यं हसितालापादि, प्रागल्भ्यं धाष्टर्यं तैः, स्मारिता इव स्मरणं प्रापिता इवेत्यर्थः॥ २२ ॥

विस्मितानां वाक्यान्याह अष्टभिः **एतावित्यादिभिः**[2]॥ २३ ॥

**स** इति। किलेति सर्वत्रान्वयः॥ २४ ॥

**पूतनेति**। गुह्यकः शङ्खचूडः। अन्ये चाघासुरादयः॥ २५ ॥

1 J.Va omitइत्यर्थः 2 P.V. omit आदिभिः

**वीर०** तदेवाह- **पिबन्त** इवेति। श्लिष्यन्तः परिष्वङ्गं कुर्वन्त इव इत्थं लक्षिता इत्यर्थः॥ २१ ॥

**ऊचुरिति**। यथादृष्टं धनुर्भङ्गादि, यथाश्रुतं गोवर्धनोद्धरणादि तदनतिक्रम्य तदनुरूपमित्यर्थः। ते नागरराष्ट्रकाः परस्परमूचुः। कथम्भूताः? तयोः रूपं गजदन्तादियुक्तं गुणाः शौर्यादयः माधुर्यं हसितालापादिगतं प्रागल्भ्यं धाष्टर्यं तैः स्मारिता इव स्मरणं प्रापिता इव अनितरसाधारणतद्रूपगुणादियाथात्म्यवेदिन इव, इवशब्दोऽनतिरिक्तद्योतकः॥ २२ ॥

तदेव दर्शयन् तेषामुक्तिमाह-**एतावित्यादिभिरष्टभिः**। एतौ रामकृष्णौ नारायणस्यांशेनावतीर्णौ नारायण एव स्वसङ्कल्परूपेणांशेन रामकृष्णरूपेणावतीर्ण इत्यर्थः। यद्वा छत्रिन्यायेन अंशेनावतीर्णौ इत्युक्तम्; श्रीकृष्णस्य साक्षान्नारायणावतारत्वात्, रामस्य तदंशभूतसङ्कर्षणावतारत्वात्॥ २३ ॥

तत्र कृष्णस्य चरित्रं जन्मन आरभ्य सङ्कृन्ति-**स एष** इति। देवक्यां जातः वसुदेवादित्यध्याहारः। गोकुलं प्रति नीतः वसुदेवेनेति शेषः। किलेत्याश्चर्ये प्रसिद्धौ वा। एतावन्तं कालम् अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। नन्दगेहे गूढः इतैरविज्ञातो वसन् ववृधे एधाञ्चक्रे॥ २४ ॥

अनेन श्रीकृष्णेन पूतना निहता, तथा चक्रवातस्तृणावर्तश्च दानवो निहतः, अर्जुनाविति। पातिताविति शेषः। अनेन इत्यनुषङ्गः। धेनुकादयश्च तथाविधा, अन्ये च अघासुरादयो निहताः। तत्र गुह्यकः शङ्खचूडः॥ २५ ॥

**विज०** तयोः कृष्णरामयोः रूपगुणः शब्दगुणः माधुर्यं च तेन। यद्वा रूपगुणेन कान्तिगुणेन कीर्तिगुणेन वा माधुर्येण वा। वाच इति शेषः। प्रागल्भ्येन वैशारद्येन च स्मारिताः स्मृतिं कारिताः। "रूपं शब्दे पशौ श्लोके" (वेज.को.6-3-28) इत्यादेः॥ २१,२२,२३ ॥

एतं कालम् एतावन्तं कालम्॥ २४ ॥

अन्तं नाशं नीताः। गुह्यकः शङ्खचूडः॥ २५ ॥

**गावस्सपाला एतेन दवाग्नेः[1] परिमोचिताः।**
**कालियो दमितस्सर्प इन्द्रश्च[2] विमदः कृतः॥ २६ ॥**

**सप्ताहमेकहस्तेन धृतोऽद्रिप्रवरोऽमुना।**
**वर्षवाताशनिभ्यश्च परित्रातं च गोकुलम्॥ २७ ॥**

गोप्योऽस्य नित्यमुदित हसितप्रेक्षणं मुखम्।
पश्यन्त्यो विविधांस्तापांस्तरन्ति स्माऽश्रमं मुदा॥ २८ ॥

वदन्त्यनेन वंशोऽयं यदोस्सुबहुविश्रुतः।
श्रियं यशो महत्त्वं च लप्स्यते परिरक्षितः॥ २९ ॥

अयं चास्याग्रजः श्रीमान्रामःकमललोचनः।
प्रलम्बो निहतोऽनेन व त्सको धेनुकादय ः॥ ३० ॥

1. G.J.M.Ma दा० 2 M.Maशक्र० 3 M.Ma गोप्यश्च 4 P.V. ०ताः 5- -5 V धांस्तांस्तांस्त० 6 M.Maस्म श्र० 7 T.W. ०स्तु 8 Kविस्तरः 9 V. प्रियं 10 G.J.K.T.W. ०तो येन 11- -11 G.J.K. वत्सको ये बकादयः; M.Ma बहवो धेनुकादयः; T.W. वत्स गो धेनुकादयः

**श्रीध० गोप्य** इति। अश्रममीषच्छ्रमयुक्तं मुखं, अश्रमं सुखमिति वा। यद्वा अश्रमं यथा भवति तथा तरन्ति स्मेति॥ २६-२८ ॥

**वदन्तीति**। अनेन परिरक्षितो यदोर्वंशः सुबहुविश्रुतस्सन् श्र्यादि लप्स्यते, इति वदन्तीति॥ २९ ॥

**अयमिति**। धेनुकबकवत्सासुरेषु विपर्ययोक्तिः जनवादेष्वनिश्चयात्॥ ३० ॥

**वीर०** एतेनैव गोपालैस्सहिता गावश्च अग्नेस्सकाशात् परिमोचिताः, कालियाख्यः सर्पश्च अनेनैव दमितः, विगतः मदो यस्य तथाभूतः इन्द्रश्च कृतः॥ २६ ॥

अद्रिप्रवरो गोवर्धनः अमुना कृष्णेन कर्त्रा एकेन हस्तेन धृतः वर्षधाराभ्योऽशनिभ्यश्च गोकुलं परित्रातं रक्षितम्[1]॥ २७॥

नित्यमुदितं हसितमीक्षणं च यस्मिन् तदस्य मुखं पश्यन्त्यः, यद्वा नित्यविकसितं हसितेनेक्षणाभ्यां च युक्त अस्य मुखं मुदा पश्यन्त्यः विविधान् तापान् आध्यात्मिकादीन्, अश्रमं न विद्यते श्रमो यस्मिन् तद्यथा भवति तथा तरन्ति स्म अतिवर्तन्ते स्म॥ २८ ॥

अनेन परिरक्षितो यदोर्वंशः सुबहुविस्तरस्सन्। विश्रुत इति पाठे प्रसिद्धस्सन् श्रियं कीर्तिं महत्तां पूज्यतां च लप्स्यते।। २९ ॥

अथ रामस्य गुणान् सङ्ग्रहेणाहुः-**अयं चेति**। अस्य श्रीकृष्णस्याग्रजोऽयं रामः कमललोचनः श्रीमान् कल्याणगुणसमृद्धिमान्, अनेन प्रलम्बादयो निहताश्च॥ ३० ॥

1 T.W. omitरक्षितम्

**विज०** श्रमं च तरन्ति॥ २६ - २८ ॥

इति वदन्ति अनेन कृष्णेन॥ २९,३० ॥

उवाच[-1]

जनेष्वेवं ब्रुवाणेषु तूर्येषु निनदत्सु च।
कृष्णरामौ समाभाष्य चाणूरो वाक्यमब्रवीत्॥ ३१ ॥

हे नन्दसूनो हे राम भवन्तौ वीर्यसम्मतौ[2]।
नियुद्धकुशलौ श्रुत्वा राज्ञाऽऽहूतौ दिदृक्षुणा[3]॥ ३२ ॥

प्रियं राज्ञः प्रकुर्वत्यश्श्रेयो[4] विन्दन्ति वै[5] प्रजाः।
मनसा कर्मणा वाचा विपरीतमतोऽन्यथा॥ ३३ ॥

नित्यं[6] प्रमुदिता गोपा वत्सपालास्तथा[7] स्फुटम्।
वनेषु मल्लयुद्धेन क्रीडन्तश्चारयन्ति गाः॥ ३४ ॥

तस्माद्राज्ञः प्रियं यूयं वयं च करवाम हे।
भूतानि नः प्रसीदन्ति सर्वभूतमयो नृपः॥ ३५ ॥

1- -1 G.J.K.M.Ma.T.W. omit 2 G.J.K.T.W. ०र० 3 T.W. ०क्षया। 4 G.M.Ma.P.V. ०न्त्यः 5 K.T.W. हि 6 M.Ma नित्य 7 G.J. ०ला यथा

**श्रीध० जनेष्विति।** जनेष्वेवं ब्रुवाणेषु सत्सु तदसहमानश्चाणूरोऽब्रवीदिति॥ ३१-३४ ॥

**तस्मादिति।** हे कृष्ण! प्रियं करवामेति। राज्ञि प्रीते भूतानि च प्रसीदेयुः॥ ३५ ॥

**वीर०** इति[1] इत्थं ब्रुवाणेषु जनेषु तूर्येषु वाद्येषु वाद्यमानेषु च सत्सु चाणूरः कृष्णरामौ समाभाष्य सम्बोध्य वाक्यमुवाच॥ ३१ ॥

तदेवाह- हे नन्दसूनो! इति चतुर्भिः। भवन्तौ वीराणां सम्मतौ मल्लयुद्धे प्रवीणाविति च श्रुत्वा दिदृक्षुणा युद्धदर्शनेच्छुना राज्ञा आहूतौ॥ ३२ ॥

मनःप्रभृतिकरणत्रयेण राज्ञः प्रियं कुर्वत्यः प्रजाः श्रेयः सुखं लभन्ते, अतोऽन्यथा[2] अप्रियं कुर्वत्यस्तु विपरीतमश्रेयो दुःखं विन्दन्ति॥ ३३ ॥

नाऽऽवां नियुद्धे कुशलावित्यत आह-**नित्यमिति**। वत्सपालाः वत्सपालनयोग्यात्[3] वयस आरभ्येति भावः। गोपाः यावद्गोपालनयोग्यवयसः भवन्तः वने मल्लयुद्धेन क्रीडन्त एव गाश्चारयन्ति। अतो नियुद्धकुशलावेवेति भावः॥ ३४ ॥

तस्माद्यूयं वयं च राज्ञः प्रियं करवामहै। एवं राज्ञि प्रीते सर्वाणि भूतानि नोऽस्माकं प्रसीदन्ति, कुतः? यतो राजा सर्वभूतमयः सर्वभूतात्मकः॥ ३५ ॥

1 T.W. omit इति 2 T.W. omit अतः 3 K ०न्यव०

**विज०** वीर्येण पराक्रमेण सम्मतौ सम्यक्प्रख्यातौ नियुद्धं बाहुयुद्धं मल्लयुद्धमिति यावत् तस्मिन्कुशलौ निपुणौ॥ ३१,३२,३३॥

तत्कथमवगतमिति तत्राह- **नित्येति**। नियुद्धेन क्रीडन्तः गोपालवत्सपालाश्च गोवत्सांश्च चारयन्तीति किंवदन्त्याऽवगतमित्यर्थः॥ ३४ ॥

किं कलहेन फलमिति तत्राह-भूतानीति॥ ३५ ॥

**तन्निशम्याऽब्रवीत्कृष्णो देशकालोचितं वचः।**
**नियुद्धमात्मनोऽभीष्टं मन्यमानोऽभिनन्द्यच॥ ३६ ॥**

**श्रीकृष्ण उवाच**

**प्रजा भोजपतेरस्य वयं चापि वनेचराः।**
**करवाम प्रियं नित्यं तन्नः परमनुग्रहः॥ ३७ ॥**

**बाला वयं तुल्यबलैः क्रीडिष्यामो यथोचितम्।**
**भवेन्नियुद्धं माऽधर्मः स्पृशेन्मल्लसभासदः॥ ३८ ॥**

**चाणूरउवाच**

**न बालो न किशोरस्त्वं बलश्च बलिनां वरः।**
**लीलयेभो हतो येन सहस्रद्विपसत्त्वभृत्॥ ३९ ॥**

**तस्माद्बलिभ्यां बलिभिर्योद्धव्यं नाऽनयोऽत्र वै।**
**मया विक्रम वार्ष्णेय बलेन सह मुष्टिकः॥ ४० ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४३ ॥

1- -1 G.J.P.V. omit; M.Ma श्रीभगवानुवाच 2 M.Ma ०तेर्यूयं 3. G.J.M.Ma.P.V. ०द्भवद्भ्यां 4 G.J.M.Ma मयि

**श्रीध० बाला** इति। यथोचितं नियुद्धं बाहुयुद्धं भवेत्। मल्लसभासदो मल्लसभाधिकृतान् जनानधर्मो[1] मा स्पृशेन्न स्पृशेदित्यर्थः[2]। हे मल्लेति वा॥ ३६-३८ ॥

**नेति।** सहस्रद्विपानां सत्त्वं बलं बिभर्तीति तथा॥ ३९ ॥

**तस्मादिति।** तथा[3] बलिभिर्मादृशैरस्सह। अनयोऽधर्मः विक्रम पराक्रमं कुरु। मुष्टिको विक्रमतादित्यनुषङ्गः[4]॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४३ ॥

1 P.V. omit जनान् 2 P.V. ०त्येतदर्थं 3 J.V.a omit तथा 4 P.V. omit अनुषङ्गः

**वीर०** तच्चाणूरवाक्यं निशम्य आकर्ण्य भगवान् नियुद्धं स्वस्याभिमतमेव मन्यमानोऽत एव तद्वचोऽभिनन्द्य देशकालोचितं वचोऽब्रवीत्॥ ३६ ॥

तदेवाह- **प्रजा इति।** अस्य भोजपतेः कंसस्य वनेचरा वयमपि प्रजा एव तद्देशवनोपजीवित्वाद्वयमपि कथञ्चित् प्रजा एवेत्यर्थः। न तु युष्मद्विधा इति भावः। अतः तस्य प्रियं करवाम। परं केवलं तत्कथञ्चित् तत्प्रतीति रित्येत न्नोऽस्माकम् अस्मद्विषयोऽनुग्रहः॥ ३७ ॥

वयं तु बालाः अतः तुल्यबलैस्सह क्रीडिष्यामः। न त्वधिकबलैः भवद्भिरिति भावः। यथोचितं नियुद्धं भवेत्, मल्लसभासदः मल्लसभाधिकृतानधर्मो मा स्पृशेत्। हे मल्लेति सम्बोधनं वा॥ ३८ ॥

एवमुक्तः प्राह चाणूरः-**न बाल इति।** बालशब्दोऽत्यन्तशैशवपरः, तच्च दृष्टान्तार्थम्। यथा नात्यन्तशिशुः तथा न किशोरोऽपि, किन्तु युवेति भावः। अथापि बलहीन इत्यत आह- बलिनां वरः, यादृशस्त्वं तादृश एव रामोऽपीत्याह-बलश्चेति। बलिनां वरत्वे लिङ्गं वदन् विशिनष्टि येन त्वया लीलयैव सहस्रद्विपानां सत्त्वं बलं बिभर्तीति तथा इभो गजः कुवलयापीडो हतः॥ ३९ ॥

तस्माद्बलिभ्यां युवाभ्यां बलवद्भिर्मादृशैस्सह[1] योद्धव्यम्। अत्र युद्धे अनयः अधर्मो न विद्यते, वै नूनम्। हे वार्ष्णेय! मया सह विक्रम पराक्रमं कुरु युध्यस्वेति यावत्। बलेन रामेण सह मुष्टिको विक्रमिष्यते॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४३॥

1 T.W omit सह

**विज०** यूयं भोजपतेः प्रजाः वयं चापि। विशेषोऽस्ति- वयं वनेचराः यूयं तत्समीपचराः, अतो विशेषप्रियाश्च। तथापि वयं तस्य नित्यं प्रियं करवामो नाऽप्रियमिति यत्तस्मान्नः परमनुग्रह एव॥ ३६,३७ ॥

तत्रापि किञ्चित्कर्तव्यमस्तीत्याह-**बाला इति**। वयं बाला इति यदतः तुल्यबलैः मल्लैः समं नियुद्धमिदमित्ययं धर्मः, अधर्मो मा स्पृशेत् न स्पृशतु॥३८ ॥

चाणूरः कृष्णोक्तं परिहरति-**नेति** ॥ ३९ ॥

अनयोऽन्यायलक्षणः अधर्मः। विक्रम विक्रमस्व। मुष्टिको बलेन रामेण सह विक्रमं करोत्विति॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
टीकायां त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४३ ॥

(विजयध्वजरीत्या एकचत्वारिंशोऽध्यायः)

# चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या द्विचत्वारिंशोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच[1-] [-1]

एवं चर्चितसङ्कल्पो[2] भगवान्मधुसूदनः।
आससादाऽथ[3] चाणूरं मुष्टिकं रोहिणीसुतः ॥ १ ॥

★हस्ताभ्यां हस्तयो र्बद्ध्वा पद्भ्या मेव च पादयोः।
विचकर्षतु रन्योन्यं प्रसह्य विजिगीषया ॥ २ ॥

अरत्नी द्वे अरत्निभ्यां जानुभ्याञ्चैव जानुनी।
शिरश्शीर्ष्णोरसोरस्तावन्योन्य मभिजघ्नतुः ॥ ३ ॥

परिभ्रामणविक्षेप[4] परिरम्भावपातनैः।
उत्सर्पणापसर्पैश्च[5-] ह्यन्योन्यं[-5] प्रत्यरुन्धताम्[6] ॥ ४ ॥

उत्थापनैरुन्नयनै[7] श्चालनैः स्थापनै रपि।
परस्परं जिगीषन्ता वपचक्रतुरात्मनः[8-] [-8]। ॥ ५ ॥

1- -1 P.V. omit 2. M.Ma चिन्तित 3. M.Ma ०द ह ★ An extra verse is found in P & V edns. between 1& 2 verses- आस्फोटय हस्तौ हस्ताभ्या मूरूचैव पुनः पुनः। विसृज्य भूय स्सङ्गृह्य परिक्रम्य परस्परम्॥ 4 T,W °भ्र° 5- -5 G,J सर्पणैश्चान्योन्यं; M.Ma, सर्पैश्चाप्यन्योन्यं; P.V सर्पैस्तावन्योन्यं 6. M.Ma °युध्यताम् 7. M, Ma, °म° 8- -8 M,Ma °वन्योन्यमभिचक्रतुः।

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुश्चत्वारिंशके तु मल्लकंसादिमर्दनम्। कंसयोषित्समाश्वास[1] स्ताभ्यां पित्रोश्च दर्शनम्॥

**एव मिति।** चर्चितः निश्चितः एव स्वसङ्कल्पो[2] यस्य सः॥ १, २ ॥

**अरत्नीति।** बाहुमध्यात् कनिष्ठाङ्गुलिव्यतिरेकेण कृतमुष्टिर्हस्तोऽरत्निः॥ ३ ॥

**परिभ्रामणेति।** परिभ्रामणं हस्तादिषु गृहीत्वा परित[3]श्चालनम्। विक्षेपो नोदनम्। परिरम्भो बाहुभ्यां निष्पीडनम्। अवपातन मधःक्षेपः। उत्सर्पण मुत्सृज्य पुरतो गमनम्। अपसर्पणं अपसृज्य पृष्ठतो गमनम् - एतैः प्रत्यवरुन्धतां प्रत्यावृतवन्तौ ॥ ४ ॥

**उत्थापनैरिति।** उत्थापनं जानुनी पादौ च पिण्डीकृत्य पतितस्योच्चाटनम्। उन्नयनं हस्ताभ्या मुद्धृत्य नयनम्। चालनं कण्ठादिलग्नस्य निस्सारणम्। स्थापनं पा[4]णिपादादिपिण्डीकरणम्। एवं परस्परमात्मनो देहस्य अपचक्रतुः अपकारं कृतवन्तौ ॥ ५ ॥

1 P,V ०त आ० 2. J.Va omit स्व 3. J.Va omit अपसृज्य 4. J.Va omit पाणि।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ चाणूरमुष्टिककूटशलतोसलकंसवधात्मकं कर्माऽनुवर्णयति चतुश्चत्वारिंशेन। [1]एवं चर्चितः निश्चितः स्वसङ्कल्प एव यस्य सः चाणूरमाससाद अभ्यपतत्। अथ रोहिणीसुतो रामः मुष्टिकमाससाद ॥ १ ॥

तदा तौ कृष्णचाणूरौ राममुष्टिकौ च हस्तयोः हस्ताभ्यां, पादयोः पादाभ्यां च बद्ध्वा परस्परं जेतुमिच्छया अन्योन्यं विचकर्षतुः विकृष्टवन्तौ ॥ २ ॥

[2-]कनिष्ठां विना[-2] कृतमुष्टिः हस्तोऽरत्निः। अरत्निभ्यां द्वे अरत्नी मिथोऽभिजघ्नतुः। तथा जानुभ्यां जानुनी, शिरसा शिरः, उरसा उरश्च अभिजघ्नतुः ॥ ३ ॥

परिभ्रा[3]मणं हस्तादिषु गृहीत्वा परितश्चालनम्। विक्षेपो नोदनम्। परिरम्भो बाहुभ्यां पीडनम्। अवपातनमधः पातनम्। उत्सर्पण मुत्सृज्य पुरतो गमनम्। अपसर्पणं पृष्ठतो गमनम् - एतै स्तौ कृष्णचाणूरौ राममुष्टिकौ च अन्योन्यं प्रत्यवरुन्धतां प्रत्यावृतवन्तौ ॥ ४ ॥

उत्थापनं पादौ जानुनी च पिण्डीकृत्य पतितस्योत्थापनम्। उन्नयनं हस्ताभ्यामुद्धृत्य नयनम्। चालनं काट्यादिषु लग्नस्य निस्सा[4]रणम्। स्थापनं पाणिपादादेः पिण्डीकरणम्। - एभिः परस्परमात्मनो देहस्य अपचक्रतुः अपकृतवन्तौ ॥ ५ ॥

1. T,W इत्थं 2- -2 T,W omit 3. T,W ०भ्र° 4. T,W० स्स°।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

एवं चाणूरोक्तप्रकारेण चिन्तितस्सङ्कल्पो मनोरथो येन स तथा। हेति युद्धप्रारम्भे "प्रत्यारम्भे प्रसिद्धौ ह" (वैज. को. 8-7-8) इति च ॥ १ ॥

तत्र मल्लयुद्धकरणप्रकारं कथयति **हस्ताभ्यामिति**। "आस्फोट्य हस्तौ हस्ताभ्या मूरू चैव परस्परम्। विसृज्य, भूय स्सङ्गृह्य परिक्रम्य परस्परम्" इत्येकश्लोकमादित्येन केचित्पठन्ति॥ २,३ ॥

विक्षेप आकृष्य मोचनम्। अवपातन मधोमुखेन पातनम्। उत्सर्पणं उत्क्षेपः। अपसर्पः पृष्ठतो गमनम्॥ ४॥

उन्नमनमुत्तानीकरणम्। अभिचक्रतुः मुख्यनियुद्धं कृतवन्तौ। "मल्लयुद्धं नियुद्धज्ञा विंशद्भेदं प्रचक्षते। द्वात्रिंशद्भेदमपरे चत्वारिंशद्विधं तथा"॥ इति सङ्ग्रामविजयवचनात्। सर्वनियुद्धविधिदर्शनार्थं भगवतैवं क्रीडितं तत्तद्विद्यायाः साभावादय मेवाऽर्थ उपरि "तै स्तै र्नियुद्धविधिभि र्विविधै रच्युतेतरौ युयुधाते" (भाग. 10-44-19) इत्यादिना सूच्यते च॥ ५॥

**तद्बलाबलवद्युद्धं[1] समेता स्सर्वयोषितः।**
**ऊचुः परस्परं राजन्[2] सानुकम्पावरूथशः[3-]॥ ६ ॥**

**महानयं बताऽधर्म एषां राजसभासदाम्।**
**ये बलाबलवद्युद्धं[4] राज्ञोऽन्विच्छन्ति पश्यतः ॥ ७ ॥**

**क्व वज्रसारसर्वाङ्गौ मल्लौ शैलेन्द्रसन्निभौ[5]।**
**क्व चाऽतिसुकुमाराङ्गौ किशोरौ नाऽऽमयौवनौ॥ ८ ॥**

**धर्मव्यतिक्रमो ह्यस्य समाजस्य ध्रुवं भवेत्।**
**यत्राऽधर्मस्समुत्तिष्ठे न्नस्थेयं तत्र कर्हि चित्॥ ९ ॥**

**न सभां प्रविशेत्प्राज्ञः सभ्यदोषाननुस्मरन्।**
**अब्रुवन्विब्रुवन्नज्ञो नरः किल्बिषमश्नुते॥ १० ॥**

1 M, Ma तद्वा° 2 M, Ma प्रेक्ष्य 3- -3 P,V ° म्पाश्च यू° 4 G,J ° बाल 5 P,V सम्मतौ॥

**श्रीध० तदिति**। तद्युद्धं बलाबलवत् एकतो बल मन्यतोऽबलम्। तद्युद्धं विषम मित्यूचु रित्यर्थः ॥६॥

तदेव दर्शयति - **महानिति**। यद्वा तत्[1] बालबलवतोः[2] युद्धं दृष्ट्वा महा नयमधर्म इत्यूचु रित्यन्वयः। बालयो र्बलवतोश्च युद्धं राजा चेत्पश्येत् स्वयं वारणीयः। एते तु राज्ञः पश्यतः स्वयमपि[3] अन्विच्छन्ति अनुमन्यन्त इति महानधर्म इत्यर्थः॥ ७॥

बलाबलवद्युद्धतांप्रपञ्चयति पञ्चभिः क्वेति। वज्रसाराणि वज्रवत्कठिनानि सर्वाण्यङ्गानि ययो स्तौ॥ ८ ॥

**धर्मेति।** समाजस्य सभायाः॥ ९ ॥

अपरा ऊचुः- **न सभामिति।** अब्रुवन् ज्ञात्वापि तूष्णीं तिष्ठन्। विब्रुवन् विपरीतं ब्रुवन्, अज्ञो न जानामीति ब्रुवन् । अतः प्राज्ञा न सभां प्रविशेदिति ॥ १० ॥

1 J, Va omit तत् 2 V बलाब° 3 J, Va omit अपि।

**वीर०** तदा हे राजन्, सर्वा योषितः सङ्घशः समेतास्सहिताः सानुकम्पाः रामकृष्णविषयकानुकम्पायुक्ताः, अत एव परस्परं बलाबलवदूचुः ,एकतो बलमन्यतोऽबलं तद्युक्तं विषममित्यूचु रित्यर्थः ॥ ६ ॥

तदेव दर्शयितुं तासामुक्ति माह- **महानयमिति।** एषां राजसभासदां राजसभाधिकृतानामयं महानधर्मः। बतेति खेदे। कोऽसावधर्म इत्यत्र विशेषणमुखेनाऽऽहुः -य इति। ये राजसभासदः बालयोश्च बलवतोश्च युद्धमन्विच्छन्ति। राजाचेत् पश्येत् स्वयं वारणीयः। एते तु राज्ञः पश्यतः स्वयमप्यन्विच्छन्ति अनुमन्यन्ते - इत्ययं महानधर्म इत्यर्थः ॥७॥

बालबलंवद्युद्धमेव दर्शयन्ति पञ्चभिः **क्वेति।** वज्रवत्कठिनानि सर्वाण्यङ्गानि ययोस्तौ शैलेन्द्रतुल्यौ मल्लौ क्व? अतिसुकुमाराण्यङ्गानि ययोः नाऽऽसमप्राप्तं यौवनं याभ्यां तावेतौ किशोरौ क्व? ॥ ८ ॥

अतोऽस्य समाजस्य सभायाः महान् धर्मव्यतिक्रमः धर्मविपर्ययः अधर्मो भवेत्। किं विधेय मिति काभिश्चिदुक्ते काश्चिदाहुः - यत्राऽधर्म इति। समुत्तिष्ठेत्प्रवर्तेत तत्र कर्हि चित् क्षणमपि न स्थेयमिति॥ ९ ॥

अपरा आहुः। **न सभामिति।** सभ्यानां दोषमनुस्मरन् प्राज्ञश्चेत्[1] सभां न प्रविशेत्। अब्रुवन् ज्ञात्वापि तूष्णीं तिष्ठन्, विब्रुवन् विपरीतं ब्रुवन्, अज्ञः अज्ञ इव तिष्ठन् ज्ञात्वाऽपि न जानामीति ब्रुवन्नित्यर्थः। एवंविधो यो नरः सः किल्बिष मश्नुते प्राप्नोति ॥ १० ॥

1 T, W add तां

**विज०** बालबलवतोः कृष्णचाणूरयोः युद्धं तत्प्रेक्ष्य। वरूथशः सङ्घशः ॥ ६ ॥

राजसभायां सीदन्ति उपविशन्ति इति राजसभासदः तेषां कोऽयमधर्म इत्याहुः य इति, बालस्य बलवता सह युद्धमन्विच्छन्ति अनुकूलं मन्वते। राज्ञः पश्यतस्सत इत्यनेन उभयेषामप्यधर्मः प्राप्त इति ज्ञायते॥७॥

कथमधर्म आसीदिति,तत्राऽऽहुः - **क्वेति।** वज्रवत्साराणि बलाढ्यानि सर्वाणि अङ्गानि करचरणादीनि ययो स्तौ तथा, "सारो बले स्थिरांशेऽर्थे पुमा न्न्याये वरेऽर्थवत्" (वैज.को .6.5.97) इति च ॥ ८ ॥

समाजस्य सभ्यसमूहस्य। अर्थतो मन्वादिवाक्यं प्रतीक्षयन्ति यत्रेति॥ ९ ॥

किमित्यप्रवेश इति तत्राऽऽहुः - **अब्रुवन्निति**। विब्रुवन् विपरीतं ब्रुवन्। "आत्मसर्वाङ्गसम्बन्धमलं किल्बिष" मुच्यते इति च। अनपायि मलं किल्बिष मित्यर्थः॥ १०॥

वल्गत श्शत्रुमभितः कृष्णस्य वदनाम्बुजम्।
वीक्ष्यतां श्रमवार्यासं[1] पद्मकोश मिवाम्बुभिः ॥ ११॥

किं न पश्यत रामस्य मुखमाताम्रलोचनम्।
मुष्टिकं प्रति सामर्षं[2] हाससंरम्भशोभनम्[3-]॥ १२॥

पुण्या बत व्रजभुवो यदयं नृलिङ्गगूढः पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्यः[4]।
गाः पालयन्[5-] सहबलः क्वणयन्[6] स्म वेणुं विक्रीडयाऽञ्चति गिरित्रमा[7-] र्चिताङ्घ्रिः[7-]॥ १३॥

गोप्यस्ततः किमचर न्यदमुष्य रूपं लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम्[8-]।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप मेकान्तधाम यशसश्श्रिय ईश्वरस्य[9][10]॥ १४॥

या दोहनेऽवहनने[11] मथनोपलेप प्रेङ्खेङ्खनाऽर्भरुदितोक्षणमार्जनादौ[12][13]।
गायन्तिचैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यः धन्या[14] व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः[15] ॥ १५॥

1 G. J, P, V वार्युसं; M, Ma पर्यासं 2, M, Ma ०र्ष० 3- -3 G, J, संरम्भशोभितम्; T, W सम्भ्रमशोभनम् 4 T. W माली 5 M, Ma गाश्चारयन् 6. G, J, M, Ma ०यंश्चवेणुम्; P, V ०यन्त्ववेणुं 7- -7 M, Ma गिरा वमरा० 8- -8 M, Ma मथनोत्थ 9 K, T, W ०न० 10 G, J, ऐ० 11 K, T, W ०नोदवहने 12 M, Ma जल्प 13 T, W प्रेङ्खोलितार्भ० 14. M, Ma मज० 15. M, Ma पुण्या 16. M, Ma ०माः

**श्रीध० वल्गत** इति। वल्गतः शत्रुमभितः शत्रोस्सर्वतो धावतः कृष्णस्य श्रमवारिणा ०यासं[1] वदनाम्बुजं दृश्यताम्॥ ११॥

अन्या ऊचुः - **किमिति**। सामर्षं सक्रोधम्। हासेन संरम्भः आवेशः तेन शोभनम्[2]॥ १२॥

अन्या ऊचुः - **पुण्या** इति। नृलिङ्गेन मनुष्यदेहेन गूढः। वनस्थानि चित्राणि माल्यानि यस्य सः। अयं भावः - धिगिमां सभाम्, यस्यामयं पराभूयते। तास्तु व्रजभुवो धन्याः। यत् यासु अयं कृष्णो विविधक्रीडया अञ्चति गच्छतीति॥ १३॥

अहो! कष्ट मल्पपुण्या वयं यतोऽस्माभिरनवसरे दृष्टोऽयं कृष्णः[3]। गोप्यस्तु बहुपुण्या इत्याऽहुस्त्रिभिः - **गोप्य** इति। अमुष्य श्रीकृष्णस्य रूपमङ्गं लावण्येन सारं श्रेष्ठम्। किञ्च असमोर्ध्वं न विद्यते सममूर्ध्वं अधिकञ्च यस्य तम्। तदपि नाऽन्येन आभरणादिना सिद्धम्, किन्तु स्वत एव। यशसः[4] श्रियः ऐश्वर्यस्य एकान्तधाम ऐश्वर्यस्य च अव्यभिचारि स्थानम्। पाठान्तरे अमुष्य ईश्वरस्येत्यन्वयः। एवम्भूतं अनुसवाभिनवं[5] नित्यनवीनं रूपं या नेत्रैः पश्यन्तीति॥ १४॥

**या** इति। किञ्च, या दोहनादिष्वेनं गायन्ति, ता व्रजस्त्रियो धन्याः। प्रेङ्खेङ्खनं दोलान्दोलनम् । उक्षणं सेचनम्। कथम्भूताः ? उरुक्रमचित्तयानाः[6] उरुक्रमे चित्तं उ रुक्रमचित्तं[7] तेनैवं यानं सर्वविषयप्राप्ति र्यासां ताः। पाठान्तरे (उरुक्रमचिन्तयानाः इति) उरुक्रमं चिन्तयन्त्य इत्यर्थः कुतः? अनुरक्तधियः। तत्र लिङ्गम् - अश्रुकण्ठ्यः॥ १५॥

1 J, Va मुखाम्बु० 2 J, Va शोभितम् 3 J, Va omit कृष्णः 4. J, Va omit यशसः श्रियः, 5 J, Va omit 6- -6 J, Va omit 7- -7 P, Va omit.

**वीर०** अन्यास्त्वाहुः **वल्गत** इति। शत्रुमभितः शत्रोस्सर्वतः वल्गतो धावतः कृष्णस्य अम्बुकणैः पद्मकोशमिव श्रमवारिणाऽऽप्तं व्याप्तं वदनाम्बुजं दृश्यताम् ॥ ११।

अपरा ऊचुः- **किं न पश्यतेति**। आ[1] ईषत् समन्ताद्वा। ताम्रे लोचने यस्मिंस्तत्, मुष्टिकं प्रति सामर्षं सक्रोधं, हासेन संरम्भ आवेशः तेन शोभनं रामस्य मुखं किं न पश्यत॥ १२॥

अन्या ऊचुः - **पुण्या बतेति**। स्वयं पुराणपुरुषः श्रीमन्नारायणस्सन् नृलिङ्गेन मनुष्यस्येव शरीरेण गूढः तिरोधापित स्वस्वरूपगुणः वनस्थानि विचित्राणि माल्यानि यस्य सः। गिरित्ररमाभ्यां रुद्रमहालक्ष्मीभ्या मर्चितावङ्घ्री यस्य सः। गिरित्रग्रहणं चतुर्मुखादीनामप्युपलक्षणम्। सहबलः बलरामेण सहितः वेणुं वादयन् गाश्च पालयन् विक्रीडयाऽञ्चति अटति। अयम्भावः - धिगिमां सभाम्! यस्यामयं परिभूयते। तास्तु व्रजभुवो धन्याः यतोऽयं स्वयं कृष्णो विविधक्रीडया चरतीति॥ १३॥

अहो! अल्पपुण्या वयं यतोऽस्माभिरनवसरेऽयं दृष्टः, गोप्यस्तु बहुपुण्या इत्याहुस्त्रिभिः - **गोप्य** इति। गोप्यः किं तप स्समाचरन्, ताभिराचरितं तपोऽनिर्वचनीयमित्यर्थः। कुतः? यत् यस्मात् अमुष्य श्रीकृष्णस्य रूपमङ्गं लावण्येन सारं श्रेष्ठम्। किञ्च! असमोर्ध्वं न सममूर्ध्वमधिकञ्च यस्य तत् निस्समाभ्यधिक मित्यर्थः। तदपि नाऽन्येनाऽऽभरणादिना सिद्धं, किन्तु स्वत एव अकर्मायत्तं वा। किञ्च, यशसः श्रियो लक्ष्म्याः ईश्वरस्य, भावप्रधानोऽयं निर्देशः, ऐश्वर्यस्य च एकान्तधाम अव्यभिचारस्थनं, सदा नवाभिनवं, दुरापमकृतपुण्यानां चक्षुषाऽपि प्राप्तुमशक्यम्। एवम्भूतं रूपं याः नेत्रैः अनुपिबन्ति पश्यन्तीति॥ १४॥

किञ्च, याः दोहनादिषु एनं गायन्ति ता व्रजस्त्रियो धन्याः। कथम्भूताः? उरुक्रमे चित्तं उरुक्रमचित्तं, तदेव यानं सर्वपुरुषार्थप्राप्तिस्थानं यासां ताः। पाठान्तरे (उरुक्रमचिन्तयाना इति) उरुक्रमं चिन्तयमाना इत्यर्थः। कुतः? अनुरक्तधियः। तत्र लिङ्ग मश्रुकण्ठ्यः आनन्दाश्रुनिरुद्धकण्ठ्यः तत्र दोहनं गवाम्। उदवहनं जलानयनं, मथनं दध्नः, उपलेपो गृहाणां, प्रेङ्खणं, प्रेङ्खोलनं दोलान्दोलनम्। अर्भरुदितम् रुददर्भकसान्त्वनम्, उक्षणं सेचनं, मार्जनं गृहसम्मार्जनम्॥ १५ ॥

1 T,W omit आ 2 K. प्रेङ्खेङ्खनम्

विज० श्रमपर्यासं श्रमवारिव्याप्तं पद्मकोशं पद्ममुकुलम्॥ ११ ॥

हे सख्यः! रामस्य मुखं न पश्यत किं, पश्यतेत्यन्वयः। अमर्षेण सहितो हासः सामर्षहासः तेन संरम्भेण च शोभनं चारुतरम्॥ १२ ॥

नृणां लिङ्गेन लक्षणेन गूढः छन्नः अयं कृष्णनाम। पुराणपुरुषः यत् यासु व्रजभूमिषु विक्रीडया क्रीडेच्छया अञ्चति गच्छति, पादाभ्यामिति शेषः। गाश्चारयन् गिरावञ्चति च ता व्रजभुवः स गिरिश्च पुण्याः पावनाः। बत! आश्चर्यावधेः स्थितिः । किंविशिष्टः? वने विद्यमानानि विचित्राणि नानावर्णानि माल्यानि पुष्पाणि यस्य सः तथा। गिरावमरैर्देवै-रर्चिताङ्घ्रिः व्रजभुवि अमरैरमलैः शुद्धान्तःकरणै र्गोपालैरर्चितश्रीचरणः॥ १३ ॥

अमुष्येश्वरस्य यल्लावण्यसारमथनोत्थं शृङ्गाररसमथनादुत्पन्नम्। न चेदंकृत्रिममित्याह-अनन्यसिद्धमिति। अन्यस्मात् प्रकृतेः जातं न भवतीति, अन्येषामविद्यमानं वा। अनुसवं प्रतिक्षणे अभिनवं नूतनं, ज्ञानमन्तरेण दुष्प्राप्तं श्रियो यशसश्च एकान्तधाम नियतस्थानरूपं द्रव्याश्रयलक्षणगुणम्। तत् याः दृग्भिः पिबन्ति, ताः गोप्यः किं तपः अचरन् चक्रुरित्यन्वयः॥१४॥

या गोप्यः गोदोहनादौ एनं कृष्णं गायन्ति, ता गोकुलस्त्रियः पुण्या इत्यन्वयः। अवहनने व्रीहिताडन काले, दधिमन्थनवेलायां उपजल्पे मिथस्सम्भाषणसमये। उपलेप इति केचित् पठन्ति, गोमयादिना स्थललेपनकाले, प्रेङ्खेङ्खने दोला चलनकाले, अर्भरुदिते बालरोदनकाले, उक्षणे प्राङ्गणसेचनसमये, मज्जने स्नानकाले। मार्जन इति केचित् । आदिशब्देन स्खलनपतनादिकं गृह्यते। उरुक्रमचित्ते यामः कालविशेषो यासां ता स्तथा। उरुक्रमचित्तेन गतो यामो यासां ता इति वा॥ १५॥

**प्रातर्व्रजाद्व्रजत आविशतश्च सायं गोभिस्समं क्वणयतोऽस्य निशम्य वेणुम्।**
**निर्गत्य तूर्णं मबलाः पथि भूरिपुण्याः पश्यन्ति सस्मितमुखं सदयावलोकम्॥ १६॥**

एवं प्रभाषमाणासु स्त्रीषु योगेश्वरो हरिः।
शत्रुं हन्तुं मन श्चक्रे भगवान्भरतर्षभ॥१७॥

★उपश्रुत्य गिरः स्त्रीणां पुत्रस्नेह शुगातुरौ।
पितरावन्वतप्येताम् अजानन्तौ तयो र्बलम्॥१८॥

तैस्तै र्नियुद्धविधिभिः विविधै रच्युतेतरौ
युयुधाते यथाऽन्योन्यं तथैव बलमुष्टिकौ॥१९॥

भगवद्गात्रनिष्पातै र्वज्रनिष्पेषनिष्ठुरैः।
चाणूरो भज्यमानाङ्गो मुहुर्ग्लानि मवाप ह॥२०॥

1 G, J, P, V °भ्य ★ This verse is not found in M, Ma edns. 2- -2 G,J, सभयाः स्त्रीगिरः श्रुत्वा 3 G,J,P,V, शुचाऽऽ० 4- -4 G, J,P,V पुत्रयो रबुधौ बलम् 5- -5 p,v, उभौ चाणूकेशवौ 6. M,Ma त०

**श्रीध०** अपिच, **प्रातरिति**। या अबला अस्य वेणुं निशम्य गृहात्तूर्णं निर्गम्य पथि सस्मितमुखं पश्यन्ति ता भूरिपुण्या इति॥१६॥

**एवमिति**। एवं सभयं ब्रुवाणासु स्त्रीषु तासां भयनिवृत्तये कृष्णः शत्रुं हन्तुं मन श्चक्रे॥१७॥

**उपश्रुत्येति**। सभयाः स्त्रीणां गिरः श्रुत्वा पुत्रयोः स्नेहेन या शुक् तया आतुरौ विह्वलौ पुत्रयो र्बलमजानन्तौ पितरावनुतापं प्राप्ताविति॥१८, १९॥

**भगवदिति**। तदा भगवतो गात्राणामरत्निजान्वादीनां निष्पातैः प्रहारैः वज्रस्य निष्पेषः तीव्रप्रपातः तद्वन्निष्ठुरैः भज्यमानाङ्गः श्लथद्गात्रः॥२०॥

1 J,Va omit अपि च 2 P,V omit प्र 3 J,Va गात्रः।

**वीर०** अपि च **प्रातरिति**। या अबलाः गोभिस्सह प्रातः व्रजान्निर्गच्छतः ततस्सायमाविशतश्च, वेणुं क्वणयतस्तस्य वेणुरवमाकर्ण्य गृहात्तूर्णं निर्गत्य पथि तस्य सदयोऽवलोको यस्मिन् स्मितयुक्तं मुखं पश्यन्ति, ता भूरिपुण्याः ॥१६॥

इत्थं स्त्रीषु प्रभाषमाणासु सतीषु हे भरतर्षभ, योगेश्वरो भगवान् हरिः श्रीकृष्णः शत्रुं हन्तुं मनश्चक्रे॥१७॥

तदा पितरौ देवकीवसुदेवौ नन्दवसुदेवौ वा पुत्रयोः रामकृष्णयोः बलमजानन्तौ केवलं स्त्रीणामुक्तरीत्या प्रभाषमाणानां गिरो वचांस्याकर्ण्य अन्वतप्येता मनुतप्तवन्तौ॥ १८॥

अच्युतेतरौ कृष्णचाणूरौ अन्योन्यं नानाविधै स्तै स्तैः नियुद्धविधिभिः पूर्वोक्तपरिभ्रमणविक्षेपादिभिः यथा युयुधाते तथैव बलमुष्टिकौ रामुष्टिकौ[1-] च युयुधाते॥ १९॥

तदा भगवतो गात्रस्य निष्पातैः अरत्निजान्वादिप्रहारैः वज्रस्य निष्पेषः तीव्रप्रहारः तद्वन्निष्ठुरैः भज्यमानाङ्गश्चाणूरो मुहुः ग्लानिम् आप[2] प्राप्तवान्॥ २०॥

1- -1 K omits 2 T,W omit अवाप।

विज० वेणुरवं निशम्य व्रजान्निर्गत्य पथि स्थित्वा॥ १६,१७॥

इतरः चाणूरः॥ १८,१९॥

ग्लानिं प्राणसन्देहक्लेशम्॥ २०॥

स श्येनवेग उत्पत्य[1] मुष्टीकृत्य[2] करा वुभौ।
भगवन्तं वासुदेवं क्रुध्दो वक्षस्यताडयत्[3]॥ २१॥

नाऽचलत्तत्प्रहारेण स्रजा[4] हत इव द्विपः
बाह्वो र्निगृह्य चाणूरं बहुशो भ्रामयन् हरिः॥ २२॥

भूपृष्ठे पोथयामास तरसा क्षीणजीवितम्[5]
विस्रस्ताकल्पकेशस्रगिन्द्रध्वज इवाऽपतत्॥ २३॥

तथैव मुष्टिकः पूर्वं स्वमुष्ट्याभिहतेन[6] वै।
बलभद्रेण बलिना तलेनाऽभिहतो भृशम्॥ २४॥

प्रवेपितस्य रुधिरमुद्वमन्मुखतोऽर्दितः ।
व्यसुः पपातोर्व्युपस्थे वाताहत इवाङ्घ्रिपः॥ २५॥

1 P,T,V,W उत्प्लुत्य 2 K,T,W ०त 3. G,J,P,T,V,W ०स्यबाधत 4 G,J मालाहत, K,T,W स्रग्भिर्हत 5 K,T,W त्यक्त 6 k ०ष्ट्यभि०

**श्रीध०** स इति। श्येनस्येव वेगो यस्य सः चाणूरः। अबाधत अताडयत्॥ २१,२२,॥

**भूपृष्ठ** इति। भूपृष्ठे भुवउपरि। पोथयामास आस्फोटयत्[1]।इन्द्रध्वजो वज्रम्। यद्वा, इन्द्रध्वजो नाम[2] गौडदेशेषु[3] प्रसिद्धः कस्मिंश्चिदुत्सवे महान् स्तम्भो ध्वजपताकाद्यलङ्कृतः पुरुषाकृतिरुच्छ्रीयते स यथा पतति तद्वदपतदिति[4]॥ २३, २४॥

**प्रवेपित** इति। अर्दितः पीडितः उर्व्युपस्थे भूतले ॥ २५॥

1 J,Va ०स्फाल० 2 J, Va omit नाम 3 J,Va गौडेषु 4 P,V,omit अपतत्।

**वीर०** स चाणूरः श्येनस्येव वेगो यस्य सः उत्पत्य क्रुद्धः उभौ मुष्टीकृतकरौ वासुदेवं वक्षस्यताडयत् मुष्टीकृतकराभ्यां वासुदेवस्य वक्षस्यताडयदित्यर्थः। मुष्टीकृत्य इति पाठे उभौ करौ मुष्टीकृत्य॥ २१।

भगवान् तत्प्रहारेण नाऽचलत्, यथा स्रग्भिः हतस्ताडितो द्विपो गजो न चलति तद्वत् किन्तु तरसा चाणूरं बाह्वोर्गृहीत्वा बहुकृत्वो भ्रामयन् तेनैव त्यक्तं जीवितं येन तं गतप्राणं भूपृष्ठे पोथयामास आस्फोटयत्। तेनैवं पातितः चाणूरः विस्रस्ता विक्षिप्ताः केशा आकल्पाः आभरणानि स्रजश्च यस्य तथाभूतो न्यपतत्। इन्द्रध्वजो नाम गौडदेशेषु प्रसिद्धः कस्मिंश्चिदुत्सवे महान् स्तम्भो ध्वजपताकाद्यलङ्कृतः पुरुषाकृतिः उच्छ्रीयते स यथा पतति तद्वदिति॥ २२,२३॥

तथा मुष्टिकोऽपि तावत् स्वमुष्टिना ताडितेन रामेण कर्त्रा भृशं करतलेनाऽभिताडितः प्रवेपितः कम्पितः अर्दितः पीडितः मुखतो रुधिरमुद्वमन् उद्गिरन् गतप्राणो, वातेन चण्डमारुतेनाऽऽहतः उन्मूलितमूलोऽङ्घ्रिपो वृक्ष इव उर्व्युपस्थे भूपृष्ठे पपात॥ २४,२५॥

**विज०** उर्व्युपस्थे भूमिपृष्ठे॥ २१-२५॥

**ततः कूट मनुप्राप्तं रामः प्रहरतां वरः।**
**अवधील्लीलया राजन् सावज्ञं वाममुष्टिना॥ २६॥**

**तथैव हि[1] शलः कृष्णपदाऽपहतशीर्षकः[2-2]।**
**द्विधा विदीर्णस्तोसलक[3] उभावपि[4] निपेततुः॥ २७॥**

**चाणूरे मुष्टिके कूटे शले[5-5] तोसलके हते।**
**शेषाः प्रदुद्रुवुर्मल्ला स्सर्वे प्राणपरीप्सवः[6]॥ २८॥**

**गोपान्वयस्यानाकृष्य[7] तैस्संसृज्य[8] विजह्रतुः।**
**वाद्यमानेषु तूर्येषु वल्गन्तौ चारुनूपुरौ[9]॥ २९॥**

जनाः प्रजहृषु स्सर्वे कर्मणा रामकृष्णयोः।
ऋते कंसं विप्रमुख्या स्साधव स्साधु साध्विति॥ ३०॥

1 G,J,P,V तर्ह्येव 2- -2 K प्रपदाहत; T,W, पादावहत 3 p,v कीर्ण; T,W, विशीर्ण 4 G,J,M,Ma ०श० 5- -5 G,J शले तोशलके; M,Ma तोशले शलके 6 K ०था 7 P,V ०हूय 8 T,V ०हत्य 9 G,J,P,V रुत; M,Ma नुत।

**श्रीध० गोपानिति।** वल्गन्तौ नृत्यादि कुर्वन्तौ॥ २६-२९॥

**जना इति।** साधु साधु इति वदन्तः॥ ३०॥

**वीर०** ततो रामः अनु समनन्तरं प्राप्तं कूटाख्यं मल्लं सावज्ञं सावहेलनं यथा तथा लीलया वाममुष्टिना अवधीत्॥ २६॥

तथैव कृष्णस्य प्रपदा पादाग्रेण ताडितशिराः शलाख्यो मल्लः, तोशलस्तु द्विधा विदीर्णः विदारितः, उभौ तावेतौ शलतोसलकौ निपेततुः॥ २७॥

इत्थं चाणूरादिषु हतेषु अवशिष्टा स्सर्वे मल्लाः प्राणपरीप्सया प्राणानामुमिच्छया, जीवितुमिच्छयेति यावत्। प्रदुद्रुवुः पलायितवन्तः प्राणपरीप्सव इति पाठे जीवितुमिच्छव इत्यर्थः ॥ २८॥

ततो रामकृष्णौ वयस्यान् सखीन्गोपान् आकृष्याऽऽहूय तैस्संसृज्य सङ्गम्य तूर्येषु वाद्येषु वाद्यमानेषु सत्सु चारुणी नूपुरे ययोस्तौ, वल्गन्तौ नृत्यादिकं कुर्वन्तौ विहृतवन्तौ। २९॥

तदा कंसं विना सर्वे जनाः रामकृष्णयोः कर्मणा नियुद्धात्मकेन नितरां हृष्टवन्तः तथा साधवो विप्रश्रेष्ठाश्च साधुसाध्वित्यूचुः॥ ३०॥

**विज०** सावज्ञ मनायासम् ॥ २६-२८॥

संसृज्य सङ्गम्य वल्गन्तौ नृत्यन्तौ तौ[1] वीक्ष्य नुतनूपुरौ स्तुततुलाकोटी। नूत (नूत्न) नूपुरौ इति केचित्। "तुलाकोटिस्तु नूपुरम्" (हला; को 2- 406) इति॥ २९, ३०॥

1 Ma omits तौ।

हतेषु मल्लवर्येषु विद्रुतेषु च भोजराट्।
न्यवारयत्स्वतूर्याणि वाक्यञ्चेदमुवाच ह॥ ३१॥

निस्सारयत दुर्वृत्तौ वसुदेवात्मजौ[1] पुरात्।
धनं हरत गोपानां नन्दं बध्नीत दुर्मतिम्॥ ३२॥

वसुदेवस्तु दुर्मेधा हन्यता माश्वसत्तमः।
उग्रसेनः पिता चाऽपि सानुगः परपक्षगः॥ ३३॥

कसवधघट्टः

एवं विकत्थमाने वै कंसे प्रकुपितोऽव्ययः।
लघिम्नोत्पत्य तरसा मञ्चमुत्तुङ्गमारुहत्॥ ३४॥

तमापतन्त[2] मालोक्य मृत्युमात्मन आसनात्
मनस्वी सहसोत्थाय जगृहे सोऽसिचर्मणी॥ ३५॥

1 T,W ०व सुतौ 2 G,J ०विशन्त०

**श्रीध० एव**मिति। अव्ययोऽश्रमः। लघिम्ना लाघवेन॥ ३१-३५॥

**वीर०** इत्थं मल्लवर्येषु चाणूरादिषु[1-] [-1] हतेतु, अवशिष्टेषु पलायितेषु[2-] [-2] च सत्सु भोजराट् कंसः तूर्याणि न्यवारयत्। इदं[3] वक्ष्यमाणं वाक्यमुवाच च ॥ ३१॥

तदेवाऽऽह - **निस्सारयतेति** द्वाभ्याम्। दुर्वृत्तौ वसुदेवस्याऽऽत्मजौ, द्वितीयान्तमिदम्। पुरान्निस्सारयत निष्कासयत। स्वभृत्यान् प्रति इयमुक्तिः। गोपानां धनं हरत गृह्णीत। तथा दुष्टा बुद्धि र्यस्य तं नन्दं बध्नीत बद्धं कुरुत॥ ३२॥

असत्तमो दुरात्मा वसुदेवः आशु शीघ्रं[4] हन्यताम्। तथा नोऽस्माकं पिता उग्रसेनश्च परपक्षगः शत्रुपक्षपाती, हेतुगर्भमिदम्। तत्त्वात् सानुगो हन्यताम्॥ ३३ ॥

इत्येवं कंसे विकत्थमाने विरुद्धं यथा तथा कथयति सति अव्ययो भगवान् प्रकुपितो लघिम्ना लाघवेन उत्पत्य[5] तरसा बलेन उत्तुङ्गमुन्नतं मञ्चं कंसाधिष्ठितं पीठ मारुरोह॥ ३४ ॥

तदा तात्कालिककर्तव्याभिज्ञः कंसः स्वमृत्युमिवाऽऽपतन्तं कृष्णमालोक्य सहसा त्वरया आसनादुत्थाय खड्गखेटौ जगृहे॥ ३५ ॥

1- -1 T omits 2- -2 T omits 3 T.w इत्थं 4 T.W omit शीघ्रं 5 T,W उत्प्लुत्य।

**विज.** निस्सारयत निर्गमयत॥ ३१, ३२ ॥

लघिम्ना पक्षिवत् लाघवेन। अव्ययः योगवित्। प्रधानपुरुषेश्वरः इत्यर्थः॥ ३३, ३४

मनस्वी धीरः॥ ३५ ॥

तं खड्गपाणिं विचरन्तमाशु श्येनं यथा दक्षिणसव्यमम्बरे।
समग्रहीद्दुर्विषहोग्रतेजा यथोरगं तार्क्ष्यसुतः प्रसह्य॥ ३६ ॥

[1]प्रगृह्य केशेषु चलत्किरीटं निपात्य रङ्गोपरि तुङ्गमश्रात्।
तस्योपरिष्टात्स्वयमब्जनाभः पपात विश्वाश्रय आत्मतन्त्रः॥ ३७ ॥★

[2]कंसं परेतं विचकर्ष भुमौ हरिर्यथेभं जगतो विपश्यतः।
हा हेति शब्दस्सुमहांस्तदाऽभूदुदीरित स्सर्वजनैर्नरेन्द्र॥ ३८ ॥

स नित्यदोद्विग्नधिया तमीश्वरं पिबन्नदन्वा[3-] विचरन्[-3] स्वपन् श्वसन्।
ददर्श चक्रायुधमग्रतो[4-] यत[-4] स्तदेव रूपं दुरवाप माप॥ ३९ ॥

तस्याऽनुगा[5] भ्रातरोऽष्टौ कङ्कन्यग्रोधकादयः।
अभ्यधाव न्नति[6] क्रुद्धा भ्रातु[7] र्निर्वेश कारिणः॥ ४० ॥

1 M, Ma नि, ★ कंसोऽपि कृष्णेन जगन्नयैकनिवासभूतेन निपात्य सोऽधः। तेनाऽऽत्मतन्त्रेण च पीडितोऽसुं तत्याज राजन्निमिषान्तरेण।This extra verse is found in M,Ma edns. without commentary. 2. G,J. तं सम्प० 3 G,J,K ०न्वदन् वावि०, T.W. ०न्नदन्वाऽपि 4- -4 M ०मच्युतं यत्; Ma मच्युतं यतः 5. G,J,M,Ma,P,V ०जा 6 G,J ०न्नभि 7 M ०तृनि०।

**श्रीध० तमिति।** दुर्विषहम[1]विषह्य मुग्रं तेजो यस्य स श्रीकृष्णः॥ ३६ ॥

**प्रगृह्येति।** गरिष्ठत्वाय विश्वाश्रयत्व मुक्तम्। तत्र हेतुः - अब्जनाभः। कुतः? तस्योपर्येव पपात। यत आत्मतन्त्रः [2]स्वतन्त्रः॥ ३७ - ३९ ॥

**तस्येति।** निर्वेशो निष्कृतिरानृण्यमित्यर्थः। तत्कारिणस्सन्तः ते अभ्यधावन्॥ ४० ॥

1 P,V. °मसह्य० 2. P,V omit स्वतन्त्रः॥

**वीर०** अविषह्यमुग्रं तेजो यस्य स भगवान् खड्गः पाणौ यस्य तं दक्षिणतो वामतः अम्बरे ऊर्ध्वञ्च श्येनं यथा श्येनमिव चरन्तं कंसं समग्रहीत्, यथा तार्क्ष्यसुतः कश्यपपुत्रो गरुडः प्रसह्य बलादुरगं सर्पं गृह्णाति तद्वत्॥ ३६॥

ततः केशेषु प्रगृह्य दृढं गृहीत्वा चलद्विक्षिप्तं किरीटं यस्य तं कंसम् उन्नतान्मञ्चाद्रङ्गोपरि निपात्य तस्य कंसस्योपरिष्टात् स्वयमब्जनाभो भगवान्पपात। कथम्भूतः? विश्वाधारः। अनेन गरिष्ठत्व मुक्तम्। आत्मतन्त्रः स्वतन्त्रः संहर्तेत्यर्थः॥ ३७॥

ततः जगतो जनस्य पश्यतस्सतः परेतं गतप्राणं कंसं भूमौ विचकर्ष, यथा हरिः सिंहः इभं गजं, तद्वत्। तदा हे नरेन्द्र, सर्वैर्जनैः सुमहानत्युच्चैः हा हेति शब्दः उदीरितः उद्घोषितोऽभूत्॥३८॥

यतस्सदा उद्विग्नया भीतया धिया तमीश्वरं कृष्णमेव पानभोजनाद्यवस्थासु अग्रतः चक्रायुधं ददर्श, तत स्स कंसो दुरासदमपि तदेव रूपं प्राप्तवान् तत्सारूप्यलक्षणं मुक्तिमवापेत्यर्थः॥ ३९ ॥

ततस्तस्य कंसस्य भ्रातरः कङ्कादयोऽष्टौ भ्रातु र्निर्वेशं निष्कृतिमानृण्यं, तत्कारिणः अतिक्रुद्धाः अभ्यधावन्॥४०॥

**विज०** दुर्विषहे च उग्रे च तेजसी बलार्चिषी यस्य स तथेति॥ ३६ ॥

उत्तुङ्गमञ्चादवपातनादङ्गभङ्गः कथं नाऽभूत्? तत्राऽऽह - विश्वाश्रय इति। विश्वमाश्रायो यस्येति विग्रहे उक्तचोद्यनिस्तार इत्यत उक्तम् आत्मतन्त्र इति, अपराधीनत्वात्॥३७,३८॥

. स कंसः चीर्णपुण्यफलदानार्थं कंसे स्थितो वायुः संसारावस्थायां तदुद्विग्नबुद्ध्या भीतबुद्ध्या, अन्यत्र मरणा दुद्विग्नबुद्ध्या तमीश्वरं ध्यायन् नित्यदाप्यनादौ पुनः दैत्यस्य मृत्युसमये मञ्चेऽग्रतःस्थितं यदच्युतं अविनाशि नित्यं चक्रं सुदर्शनं आयुधं यस्य स तथा ददर्श हरे रूपमाप आविष्ट इत्यर्थः। अन्यस्त्वच्युतं चक्रं छद्मैवाऽऽयुधं यस्याः तमोदेवतायाः तच्चक्रायुधमन्यथाज्ञानसाध्यं यद्ददर्श तदेव तमोदेवतायाः रूपं नित्यदुःखलक्षणमाप। दुरवापमित्युभयत्रसमम्। "चक्रं सैन्ये जलावर्ते रथाङ्गे चयराष्ट्रयोः, संसारे मण्डले वृत्ते छद्मभेदास्त्रभेदयोः" (वेज.को 6-3-7) इति च॥३९,४०॥

**तदाऽतिरभसांस्तांस्तु संयत्तान्रोहिणीसुतः।**
**अहन् परिघमुद्यम्य पशूनिव मृगाधिपः॥ ४१ ॥**

**नेदुर्दुन्दुभयो व्योम्नि ब्रह्मेशाद्या विभूतयः।**
**पुष्पैः किरन्तस्तम्प्रीता श्शशंसुर्ननृतुः स्त्रियः॥ ४२ ॥**

**तेषां स्त्रियो महाराज सुहृन्मरणदुःखिताः।**
**तत्राऽभ्ययु र्विनिघ्नन्त्य श्शीर्षाण्यश्रुविलोचनाः॥ ४३ ॥**

**शयानान्वीरशय्यायां पतीनालिङ्ग्य शोचतीः।**
**विलेपुस्सुस्वरं नार्यो विसृजन्त्यो मुहुश्शुचः॥ ४४ ॥**

**हा नाथ प्रिय धर्मज्ञ करुणानाथ वत्सल।**
**त्वया हतेन निहता वयं ते सगृहप्रजाः॥ ४५ ॥**

1 G,J,M,Ma,P,V तथा 2. K,T,W ०स्स० 3. G,J,M,Ma ०ऽभीयु० 4 M,Ma,add ०स्व० 5 M,Ma omit वि.

**श्रीध० तदेति।** तथा तादृगतिरभसो वेगो येषां तान्। संयत्तानुद्युक्तान्॥ ४१ - ४३ ॥

**शयानानिति।** शोचन्त्यो विलापांश्चक्रुः। शुचः अश्रूणि॥ ४४ ॥

**हा नाथेति।** धर्मज्ञ इत्यादिनि विलापे प्रेमसम्बोधनानि॥ ४५ ॥

**वीर०** तदा अतिमात्रो रभसो वेगो येषां तान् संयत्तान् उद्युक्तान् रामः परिघमुद्यम्य अहन् जघान। मृगाधिपः सिंहः पशूनिव॥ ४१ ॥

तदा स्वविभूतिभूता ब्रह्मरुद्रादयः पुष्पैः किरन्तः शशंसुः तुष्टुवुः। स्त्रियोऽप्सरसो ननृतुः॥ ४२ ॥

तेषा मिति। हे महाराज तेषां कंसकङ्कादीनां स्त्रियः पत्न्यः भर्तृमरणेन हेतुना दुःखिताः स्वशिरांसि विनिघ्नन्त्यः अश्रूणि लोचनयोः यासां ताः, तत्र भर्तृसन्निधावाजग्मुः॥ ४३ ॥

वीरशय्यायां युद्धभूमौ शयानान् स्वभर्तॄनालिङ्ग्य शोचन्त्यः मुहुः शुचोऽश्रूणि विसृजन्त्यः सुस्वरं यथा तथा विलेपुः विलापं चक्रुः॥ ४४ ॥

विलापनप्रकारमेवाऽऽह - हा नाथेति। नाथेत्यादीनि विलापे प्रेमसम्बोधनानि। हतेन त्वया सहैव ते त्वदीयाः सगृहास्सप्रजाश्च वय मपि निहतप्रायाः॥ ४५ ॥

**विज०** भ्रातुर्निर्वेशो निष्कृतिः आनृण्यं तत्कारिणः। "सिंहव्याघ्रौ मृगाधिपौ" इति च॥ ४१ ॥

विभूतयः हरिविशेषसन्निधानपात्राणि॥ ४२, ४३ ॥

वीरशय्यायां रणभूमौ विलेपुः विलापं चक्रुः विसृजन्त्यः ददत्यः। "त्यागो विहापितं दानमुत्सर्जनविसर्जने।" (अम.को 2-428) इति (हलायुधः),॥ ४४ ॥

करुणया नाथन्ते प्रार्थयन्ते इति करुणानाथाः। तेषु वत्सल, स्निग्ध! ते तव विद्यमानाः ये पुरा सनाथा स्ते वय मिति वा॥ ४५ ॥

1- -1 Ma omits.

त्वया विरहिता पत्या पुरीयं पुरुषर्षभ[1]।
न शोभते वयमिव निवृत्तोत्सवमङ्गला॥ ४६ ॥

अनागसां त्वं भूतानां कृतवान्द्रोहमुल्बणम्।
तेनेमां भो दशां नीतो भूतध्रुक्को लभेत शम्॥ ४७ ॥

सर्वेषामेव[2] भूताना मेष हि प्रभवाप्ययः।
गोप्ता च, तदव ध्यायी[3-] न क्वचि त्सुख[-3] मेधते॥ ४८ ॥

उवाच[-4]

राजयोषित आश्वास्य भगवान् लोकभावनः[5]।
या माहुर्लौकिकीं संस्थां हतानां समकारयत्[6]॥ ४९ ॥

मातरं पितरश्चैव मोचयित्वाऽथ बन्धनात्।
रामकृष्णौ ववन्दाते शिरसाऽऽस्पृश्य पादयोः॥ ५० ॥

देवकी वसुदेवश्च विज्ञाय जगदीश्वरौ।
कृतसंवन्दनौ पुत्रौ सस्वजाते न शङ्कितौ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसास्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
पूर्वार्धे कंसवधो नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४४ ॥

(विजयध्वजरीत्या द्विचत्वारिंशोऽध्यायः॥)

1. M,Ma भरत० 2. G,J,M,Ma ०मिह 3- -3 M,Ma ० ज्ञाय न तथा सु० 4- -4 T,W omit 5. P भूति०; V भूत० 6. K,T,W ता०

**श्रीध० त्वयेति।** ते[1] त्वदीया वयमिव[2] त्वया पत्या विरहिता पुरीयं न शोभते इति स्वदृष्ट्या अभिधानम्॥ ४६ ॥

**अनागसामिति।** अनागसामिति तु परमार्थाभिधानम्॥ ४७ ॥

**सर्वेषामिति।** एष कृष्णः। प्रभवन्त्यस्मादिति प्रभवः। अपियन्ति लीयन्ते[3] अस्मिन्नित्यप्ययः। स च स च। तस्यावध्यानं[4] अवज्ञानं[5-] कर्तुं[-5] शीलं यस्य सः॥ ४८, ४९ ॥

**मातरमिति।** आस्पृश्य ईषत्स्पृष्ट्वा॥ ५० ॥

**देवकीति।** पुत्रं भ्रान्तिं विहाय जगदीश्वराविति ज्ञात्वा शङ्कितौ सन्तौ[6] न सस्वजाते नाऽलिङ्गितवन्तौ। किन्तु बद्धाञ्जली तस्थतुरित्यर्थः। ★ प्रसह्य हत्वा हस्तीन्द्रं मल्लेन्द्रान्मल्ललीलया। बीभत्सचरितं कंसं सबीभत्सममारयत्॥ ५१॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४४ ॥

1 P,V omit ते 2. J,Va omit इव। 3 P,J,Va omit लीयन्ते 4 J,Va तदव० 5- -5 तदवज्ञा तत्क० 6 J,Va omit सन्तौ। ★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः॥

**वीर०** पत्या प्रभुणा त्वया विरहितेयं पुरी हे पुरुषर्षभ! यथा वयं, तद्वत् निवृत्ताः उत्सवाः मङ्गलानि सुखानि च यस्यां तथाभूता पूर्ववन्न शोभते इति कुदृष्ट्या ऊचुः॥ ४६ ॥

अथ परमार्थदृष्ट्या[1] ऊचुः - **अनागसामिति।** त्वं निरपराधानां भूतानां दुस्सहं द्रोहं कृतवान्। तेन कारणेन भो भर्तः! इमां दशां प्राप्तः। भूतेभ्यो[2] द्रुह्यतीति तथा, सः कोवा शं सुखं लभेत? किन्तु दुःखमेवेति भावः॥ ४७॥

किञ्च। एष श्रीकृष्णः सर्वेषां भूतानां प्रभवः प्रभवन्त्यस्मादिति प्रभवः, स्रष्टेत्यर्थः। अपियन्ति लीयन्तेऽस्मिन्निति अप्ययः। संहर्तेत्यर्थः। गोप्ता रक्षिता च। अत स्तदवध्यायी तस्मिन्विषये, अवध्यानमवज्ञा, तत्कर्तुं शीलं यस्य सः। क्वचिदपि सुखं यथा तथा नैधते न वर्धते; किन्तु दुःखमेवाऽश्नुवन्नश्यतीत्यर्थः॥ ४८ ॥

इत्थं शोचतो राजयोषितः सान्त्वयित्वा, लोकभावनः लोकं भावयति श्रेयोयुक्तं करोतीति तथा। तत्त्वात् हतानां यां लौकिकीं स्मार्तीं संस्थां दाहादिक्रिया माहुः मनुयाज्ञवल्क्यादयः, तामकारयत्॥ ४९ ॥

ततो रामकृष्णौ मातरं पितरं देवकीं वसुदेवञ्च बन्धनात् मोचयित्वा, तयोः पादयोः शिरसा ईषत् स्पृष्ट्वा ववन्दाते॥ ५० ॥

कृतं संवन्दनं याभ्यां तौ पुत्रौ जगदीश्वरौ विज्ञाय न शङ्कितौ कंसभयशङ्कारहितौ सस्वजाते आलिङ्गितवन्तौ॥ ५१॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४४ ॥

1 T,W ०मात्म 2. T,W भूतानि।

**विज०** प्रभव उत्पादकः अप्यय स्संहारहेतुः। "प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्" (नृ.पू. उ. 4-2) इति श्रुतिः। यथा सुखं भवति तथा नैधते न वर्धते॥ ४६-४८ ॥

संस्थां मृतसंस्कारम्॥ ४९, ५० ॥

न सस्वजाते आलिङ्गनं न कुर्वाते। किन्तु[1-] बद्धाञ्जली तस्थुरित्यर्थः[-1]॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४४ ॥

(श्रीविजयध्वजरीत्या द्विचत्वारिंशोऽध्यायः)

1- -1 Ma omits.

# पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः)

## पितृसान्त्वनघट्टः

1- श्रीशुक उवाच -1

पितरावुपलब्धार्थौ विदित्वा पुरुषोत्तमः।
मा भूदिति निजां मायां ततान जनमोहिनीम्॥ १ ॥

उवाच पितरावेत्य साग्रजस्सात्त्वतर्षभः।
प्रश्रयावनतः प्रीणन्नम्ब! तातेति सादरम्॥ २ ॥

उवाच -2

नाऽस्मत्तो युवयो स्तात! नित्योत्कण्ठितयोरपि
बाल्यपौगण्डकैशोराः पुत्राभ्यामभवन्क्वचित्॥ ३ ॥

न लब्धो दैवहतयो वासो नौ भवदन्तिके।
यां बालाः पितृगेहस्था विन्दन्ते लालिता मुदम्॥ ४ ॥

सर्वार्थसम्भवो देहो जनितः पोषितो यतः।
न तयोर्याति निर्वेशं पित्रो र्मर्त्यश्शतायुषा॥ ५ ॥

---

1- -1 K,T,W बादरायणिरुवाच 2- -2 G,J,M,Ma,P,V omit 3 M,Ma °मगम० 4 M,Ma ये 5 M,Ma विन्दते 6, M,Ma ताः पुनः

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पञ्चचत्वारिंशकेऽथ पितृनन्दादिसान्त्वनम्। उग्रसेनाभिषेकञ्च गुरौ वासात्पुरागमः॥

**पितराविति!** उपलब्धार्थौ विदित्वेति। अयमर्थः- उप समीपे आवयोः पुत्रबुद्ध्या सांसारिकपरमसुखभोगा त्पूर्वमेव लब्धार्थौ लब्धः आवामीश्वराविति प्राप्तः परमज्ञानरूपोऽर्थो याभ्यां तौ तथाभूतौ ज्ञात्वा, मयि प्रसन्ने सति अनयो र्ज्ञानं नाम किं दुर्लभं स्यात्? दुर्लभन्तु मयि पुत्रप्रेम[1]। अत इदानी मेव तत्त्वज्ञानं[2] मा[3] भूदिति निजां स्वाधीनां मायां तयोः प्रसारितवानिति॥ १ ॥

तदेव दर्शयति **उवाचेत्यादिभिः** अष्टभिः। प्रीणन् प्रीणयन् सादरमब्रवीत्[4]॥ २ ॥

**नेति।** अस्मत्तोऽस्मन्निमित्तं नित्यमुत्कण्ठितयोरपि युवयोः पुत्राभ्यामावाभ्यां[5] कृत्वा बाल्यपौगण्डकैशोराः तत्तदवस्थानुभवसुखानीत्यर्थः[6], नाऽभवन्निति। अस्मत्तः पुत्राभ्यामिति सामानाधिकरण्यं वा॥ ३ ॥

किञ्च।आवामेव दैवहीनावित्याह - **न लब्ध** इति। पितृगेहस्था बालाः[7] यां मुदं विन्दन्ते सा च न लब्धेति॥ ४॥

एवं तावत् श्लोकद्वयेन युवयोरावयोश्च कामहानि र्जातेत्युक्तम्। आवयोः पुनः युष्मत्परिचर्यालोपेन धर्महानि रपि जातेत्याह- **सर्वेति।** सर्वेषां धर्माद्यर्थानां सम्भवो यस्मिन्स देहो यतो याभ्यां जनितः पोषितश्च, तयोः पित्रो र्निर्वेशं निष्कृतिम्[8] आनृण्यमित्यर्थः[9]। मर्त्यः शतसंवत्सरमात्रेणाऽऽयुषा न प्राप्नोति॥ ५ ॥

1 J,Va पुत्रतया 2 J,Va तज्ज्ञानं 3 Va नाऽभू० 4 J,Va ° मब्रुवन् 5 P,V omit आवाभ्यां 6 P,V add युवयोः 7 P,V omit बालाः 8 P,V omit निष्कृतिम् 9 J,Va omit इत्यर्थः।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ पितृसान्त्वनोग्रसेनराज्याभिषेचनोपनयनगुर्वभिगमनविद्याग्रहणगुरुदक्षिणाप्रदानात्मकं चरित्रमनुवर्णयति पञ्च चत्वारिंशेन। "विज्ञाय जगदीश्वरौ" (भाग 10-44-51) इत्युक्तम्। तत्र भगवान् मयि पुत्रे सति अनयो र्मद्विषयकं ज्ञानं न दुर्लभम्। किन्तु मद्याथात्म्यानुभवादपि मयि पुत्रप्रेमजानन्दोऽतिरिच्यते[1] इत्यालोच्य स्वविषयकयाथात्म्यज्ञानतिरोधापिनीं मायामाततानेत्याह - **पितराविति।** उपलब्धः विज्ञातः अर्थः निरतिशयपुरुषार्थः आत्मा याभ्यां तथाभूतौ पितरौ विदित्वा पुरुषोत्तमो भगवान् मा भूदिति अविच्छिन्नं स्वयाथात्म्यज्ञानं मा भूदिति जनमोहिनीं मायां ततान विस्तृतवान् आच्छादितवानित्यर्थः॥ १ ॥

तत स्सात्राजः सरामस्सात्वतर्षभो भगवानात्ममायया आत्मानं केवलं पुत्रमेव मन्वानौ पितरौ उपेत्य प्रश्रयेन विनयेन अवनतो नम्रः सादरं यथातथा हे अम्ब! हे तात! इति सम्बोधनेन प्रीणन् प्रीतिं जनयन् उवाच॥ २ ॥

उक्तिमेवाऽऽह नाऽस्मत्त इति सप्तभिः। हे तात!अस्मत्तोऽस्मन्निमित्तं नित्यमुत्कण्ठितयोरपि **युवयोः** पुत्राभ्यां पुत्रयो रावयोः बाल्याद्यवस्थाः क्वचिद्भवदन्तिके नाऽभवन्, अन्यत्र इयान्कालो गतः, न तु युष्मदन्तिके इत्यर्थः॥ ३॥

तदेवाऽऽह **न लब्ध** इति। दैवेन हतयोः हतभाग्ययोः नौ आवयोः भवदन्तिके वासो न लब्ध; आवामेव भाग्यहीना वित्यर्थः पितृगेहस्था बालाः यां मुदं विन्दन्ति, सा च न लब्धेति॥ ४ ॥

एवं युवयोरावयोश्च कामहानिः जातेत्युक्तम्। अथ आवयोः पुनः युष्मत्परिचर्यालोपेन धर्महानिरपि जातेत्याह - **सर्वार्थसम्भव** इति। सर्वेषां पुरुषार्थानां धर्मादीनां सम्भवो यस्मिन् स देहो यतो याभ्यां जनितः, पोषितश्च। तयो र्निर्वेशं निष्कृतिमानृण्यं मर्त्यः शतवत्सरमात्रेणाऽपि नैति न प्राप्नोति॥ ५ ॥

1 T.W पुत्रे।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

मुरारेर्भगवतो बन्धनशक्तेः प्रकारः प्रतिपाद्यतेऽस्मिन्नध्याये। तत्र शुकः कंसवधानन्तरं श्रीकृष्णेन किमकारीति राज्ञो मानसं प्रश्नं परिहरति **पितराविति।** उपलब्धः सम्यक् ज्ञातोऽर्थः[1] वस्तु नित्याप्रतिहतं भगवत्स्वरूपं अस्मत्सुतौ नेति याभ्यां तौ तथाविधौ ज्ञात्वा मा भूत् ज्ञातमत्स्वरूपौ मा भूतामिति निरूप्य निजां मायां बन्धकशक्तिं ततान विस्तृतवान्॥ १॥

प्रीणयन् प्रीति मुत्पादयन् प्रश्रये प्रकृष्टसेवायाम् अवनतः मग्नः॥ २ ॥

अस्मन्निमित्तं नित्योत्कण्ठितयोर्युवयोः पुत्राभ्यामावाभ्यां बाल्यपौगण्डकैशोरा वयोवस्थाः पित्रोरानन्दहेतवो नागमन् युष्मत्पुरतो बाल्याद्युचिता लीला न प्राप्ता इत्यर्थः॥ ३ ॥

अप्राप्तौ निमित्त माह - **नेति।** दैवहतयोः भाग्यहीनयोः नौ आवयोः भवत्समीपे वासो न लब्ध इति यस्मात् ये बाला स्ते पित्रो र्गृहे स्थिताः यां मुदं विन्दन्ते सापि न लब्धेत्यन्वयः। विन्दते इति छान्दसः: "अभयं प्रतिष्ठां विन्दते" (तैत्ति. उ 2-7) इति श्रुतिः॥ ४ ॥

सर्वेषामर्थानां मोक्षादिपुरुषार्थानां सम्भव उत्पत्तिः यस्मात् सर्वार्थसम्भवो देहो याभ्यां जनितः पुनः पोषितश्च तयोः पित्रोः शतायुषा वर्षसहस्रेणाऽपि निर्वेशं निष्कृतिं न याति मर्त्यः अल्पायुः॥ ५ ॥

---

1 Ma ज्ञातमर्थः।

यस्तयोरात्मजः कल्यः[1] आत्मना च धनेन च।
ं न दद्यात्तं प्रेत्य स्वमांसं खादयन्ति हि॥ ६ ॥

मातरं पितरं वृद्धं भार्यां साध्वीं सुतं शिशुम्।
गुरुं[2] विप्रं प्रपन्नञ्च कल्योऽबिभ्रच्छ्वसन्मृतः[3]॥ ७ ॥

तन्नावकल्ययोः कंसाद्दुशमुद्विग्नचेतसोः[5]।
मोघमेते ०यतिक्रान्ता दिवसा वामनर्चतोः॥ ८ ॥

तत्क्षन्तुमर्हथस्तात[6]! मातर्नौ परतन्त्रयोः।
अकुर्वतो वां शुश्रूषां क्लिष्टयोर्दुर्हृदोर्भृशम्[7]॥ ९ ॥

उवाच[-8]

इति[9] मायामनुष्यस्यहरे र्विश्वात्मनो गिरा।
मोहितावङ्कमारोप्य परिष्वज्याऽऽपतुर्मुदम्॥ १० ॥

1 G,J,M,Ma कल्पः 2 P.V गुरून् 3 G,J,M,Ma कल्पोऽ 4 G,J,M,Ma कल्प० 5 G,J,M,Ma,P,V °०सान्नित्य० 6 K,T,W ° स्तत्र7 G,J,P,V °दाभृ० 8- -8 M,Ma,P,V omit 9 P,V इत्थं।

**श्रीध० य इति।** तन्मध्ये पितु र्यः पुत्रः कल्यः[1] समर्थः सन्नपि देहेन धनेन च पित्रोर्वृत्तिं जीविकां न सम्पादयेत्, तं प्रेत्य लोकान्तरे यमदूताः स्वस्यैव मांसं खादयन्ति[2] हि[3-] स्वमांस मिति वा[-3]॥ ६ ॥

किञ्च मात्रादिशुश्रूषामकुर्वन् विफलजीवितश्च भवतीत्याह-**मातरमिति।** अबिभ्रत् अपुष्णन् श्वसन्नपि मृततुल्य एवेत्यर्थः[4]॥ ७॥

**तदिति।** तत्तस्मात् नौ आवयोः मोघं व्यर्थम्। अनर्चतोः अपूजयतोः[5] ॥ ८ ॥

**तदिति।** दुर्हृदा कंसेन[6] ॥ ९,१० ।

---

1 J,Va कल्पः 2 J,Va न्तीति। 3- -3 J,Va omit 4 J,Va एवेति। 5 P,V omit अपूजयतोः 6 J,Va add कृत्वा।

**वीर०** तन्मध्ये पितु र्यः पुत्रः कल्यस्समर्थस्सन् आत्मना देहेन धनेन च पित्रो र्वृत्तिं जीविकां न दद्यात् न कल्पयेत् तं प्रेत्य लोकान्तरे यमदूताः स्वस्यैव मांसं खादयन्ति हि॥ ६ ॥

किञ्च समर्थोऽपि मात्रादीन्यथोचितमबिभ्रदपुष्णन् श्वसन्मृतः जीवन्नपि मृतप्रायः॥ ७ ॥

तत्तस्मात् उद्विग्नं भीतं चेतो ययोस्तयोर्वां युवयोः अनर्चतोरपूजयतोः। वामिति कर्मणस्सम्बन्धविवक्षया षष्ठी। असमर्थयोर्नौ आवयोः मोघं वृथा बहव एते दिवसाः व्यतिक्रान्ताः। यद्वा वामिति द्वितीया। युवामनर्चतोः, तत्र हेतुः अकल्पयोः असमर्थयोः[1], तत्राऽपि हेतुः नित्यं कंसादुद्विग्नचेतसो र्नौ आवयोः मोघमेते व्यतिक्रान्ता इत्यन्वयः। कंसा-दुद्विग्नचेतसोः इत्यनैश्वर्यमभिनयतोरुक्तिः॥ ८ ॥

हे मातः! परतन्त्रयोरावयोः तत्र युष्मदर्चनायां निमित्तभूतायां तदागः क्षन्तुमर्हथः। कथम्भूतयोः? भृशं नितरां क्लिष्टयोर्वां युवयोः शुश्रूषामकुर्वतोः, अत एव दुर्हृदोर्दुरात्मनोः॥ ९ ॥

इतीत्थं मायया स्वसङ्कल्पेन मनुष्यस्य हरेर्गिरा मोहितौ देवकीवसुदेवौ पुत्रावङ्कमारोप्य परिष्वज्य च मुदं प्रापतुः ॥ १० ॥

1 K omits असमर्थयोः

**विज०** अल्पायुश्चेत्कथं निष्करोतीत्यतो यावदायुः पितृपरिचर्या कार्या, अन्यथाऽनर्थः स्यादिति वक्ति-**यस्तयो रिति**। यस्तयोः पित्रोः आत्मना प्रेषितपुरुषमन्तरेण स्वयमेव धनेनाऽलम्बुद्धिजनकेन च द्रव्येण च वृत्तिं जीवनं न दद्यात् तं प्रेत्य यमलोके स्वमांसं खादयन्ति, यमभटा इति शेषः। अत्मज औरसोऽपि निर्धनश्चेत् किं कुर्यादित्यत आह-कल्प इति। देहेन धनेन च कर्तुं समर्थ इत्यर्थः। हिनाऽत्र "वृद्धौ च मातापितरौ" (मनु. स्मृ. 11-1 प्रक्षिप्तः) इति स्मृतिं प्रमाणयति॥ ६ ॥

सूचित स्मृतिमर्थतः प्रतीकयति - **मातरमिति**। मातरं सर्वावस्थासु मानयोग्यां पितरं वृद्धं जरसा ग्रस्तं, भार्यां भरणयोग्यामपि साध्वीमक्षतव्रतां, सुतं शिशुं स्वजीवनप्रवृत्तौ असमर्थं, गुरुं ज्ञानोपदेष्टारं, विप्रं ज्ञानपूर्णं, प्रपन्नं शरणागतञ्च एतानबिभ्रत् भरणमकुर्वन् सः श्वसन्नपि जविन्नपि मृतः मृतकल्प इत्यर्थः। कञ्चन वृद्धं काञ्चन साध्वीं, कञ्चन शिशुं प्रेङ्खायां शयानं, कञ्चन विप्रमिति पृथग्वा अन्वेतव्यमिति॥ ७ ॥

नन्वेवमस्तु, प्रकृते किमिति तत्राऽऽह- **तन्नाविति**। यत एवं शास्त्रार्थः, तस्मात्कंसात् 'कसि हिंसायाम्' इति धातोः सर्वहिंसाधिकरणत्वेन, तन्नाम्नो भोजपतेः नित्यमहोरात्रमुद्विग्नचित्तयोः, अत एव वामनर्चतोः अकल्पयोः शक्तिसामग्रीहीनयोः नौ आवयोः एते इतः पूर्वे दिवसाः मोघं व्यतिक्रान्ताः इत्यन्वयः॥ ८ ॥

एतदेव विशिनष्टि-**तत्क्षन्तु** मिति। दुर्हृदोः दुःखयुक्तमनसोः, "दुरशोभनदुःखयोः" (वैज को 8-7-4) इति यादवः॥ ९॥

विश्वात्मनः सर्वान्तर्यामिणः॥ १० ॥

सिञ्चन्तावश्रुधाराभिः स्नेहपाशेन मोहितौ।
न किञ्चिदूचतूराजन् बाष्पकण्ठौ विमोहितौ॥ ११ ॥

एवमाश्वास्य पितरौ भगवान्देवकीसुतः।
मातामहन्तूग्रसेनं यदूनामकरोन्नृपम्[2]॥ १२ ॥

आह चाऽस्मान् महाराज[3]! प्रजा स्त्वाज्ञप्तु[4] मर्हसि।
ययातिशापाद्यदुभिः[5] नाऽऽसितव्यं नृपासने॥ १३ ॥

मयि भृत्यउपासीने भवतो विबुधादयः।
बलिं हरन्त्यवनताः किमुताऽन्ये नरेश्वराः॥ १४ ॥

★ सर्वान् स्वज्ञातिसम्बन्धान्[6-6] दिग्भ्यः कंसभयाद्गतान्[7]।
यदुवृष्ण्यन्धकमधु दाशार्हकुकुरादिकान्[8]॥ १५ ॥

1 G,J,P,V चा० 2 P,V °त्पतिम् 3 K,T,W °भाग 4 G,J,K °श्च० 5 T,W °षु० ★ These additional verses(2) are found in P&V editions इत्युक्त्वाऽऽहूय पवन मुग्रसेनाय भूभुजे। सुधर्माख्यां सभां शक्रादाहरेत्याह केशवः॥ मारुतश्च तथाऽऽहेन्द्रं वासुदेवस्य शासनात्। प्रायच्छद्देव राजोऽपि सभां कृष्णानुभाववित्॥ 6- -6 G,J स्वाज्ञाति; M,Ma स्वजाति 7 G,J °कुलान् 8 M,Ma °र्ह०; P,V °र्य०

**श्रीध० एवमिति।** आश्वास्य सान्त्वयित्वा॥ ११, १२ ॥

**आहेति।** त्वमेवाऽऽज्ञापयेति मा वदेत्याह - ययातिशापादिति। तव तु यादवत्वेऽपि मदाज्ञया न दोष इति भावः॥ १३ ॥

मम तादृशी शक्तिः नास्तीति चेत्तत्राऽऽह- **मयीति।** मत्प्रसादेन सर्वं भविष्यतीत्यर्थः॥ १४ ॥

**सर्वानिति।** स्वान् ज्ञातीन् सम्बन्धिनश्च[1] दिग्भ्य आनाय्येति॥ १५ ॥

1 J,Va °न्धां श्च।

**वीर०** हे राजन्! विमोहितौ अतएव स्नेह एव पाशस्तेन यन्त्रितौ बद्धौ अश्रूणां धाराभिः पुत्त्रावभिषिञ्चन्तौ बाष्पः कण्ठयो र्ययोस्तौ किञ्चिदपि नोचतुः॥ ११ ॥

इत्थं भगवान्देवकीसुतः पितरावाश्वास्य सान्त्वयित्वा मातामहमुग्रसेनं यदूनामाधिपतिमकरोत्॥ १२ ॥

तमुवाच। उक्ति मेवाऽऽह - "अस्मान् महाभाग" इत्यादिना, "नराधिपः" इत्यन्तेन। हे महाभाग! त्वमस्मान् त्वत्प्रजाभूतान् आज्ञप्तुमर्हसि। विधेयान् कर्तुमर्हसि। अधिपतिर्भवितुमर्हसीत्यर्थः। ननु समर्थस्त्वमेव राजा भवितु मर्हसीत्यत आह- ययातिशापादिति। नृपासने नाऽऽसितव्यं नोपवेष्टव्यम्। तव तु यादवत्वेऽपि मदाज्ञया न दोष इति भावः॥ १३॥

नन्वहमसमर्थः, कथमधिपति र्भवितु मर्हामीत्यत आह - **मयीति**। त्वद्भृत्ये मयि त्वां सेवमाने सति विबुधश्रेष्ठा अपि अवनता नम्रास्सन्तो भवते बलिं हरन्ति समर्पयन्ति। किमुत अन्ये नराधिपा अर्पयन्तीति, मत्प्रभावा त्सर्वं भविष्यतीत्यर्थः॥ १४॥

ततो विश्वदृग्भगवान् सर्वान् स्वज्ञातीन् स्वसम्बन्धिनश्च यादवादीन् कंसभयात्पलायितान् [1-] दिग्भ्य आनाय्य [-1] सान्त्वयित्वा सभाजितान् सम्मानितान् कृत्वा परदेशावासेन कृशीभूतान् वित्तैस्सन्तर्प्य स्वस्वगेहेषु न्यवासयत्॥ १५ ॥

---

1- -1 T,W omit

**विज०** स्वाः प्रजाः अस्मान् ज्ञप्तुं आज्ञप्तुम्। यद्वा प्रजास्वासु कांश्चिदस्मानिति, ययातिशापात् नृपासने यदुभिर्नाऽऽसितव्यं, न स्थातव्य मिति शङ्कां त्यजेति शेषः॥ ११ - १३ ॥

शङ्कात्यागे कैमुत्येन निमित्तमाह-**मयीति**। उपासीने सेवमाने सति॥ १४ ॥

विश्वं सर्वं सृजति ददातीति विश्वसृक्। दिग्भ्य आनीय॥ १५ ॥

**सभाजितान् समाश्वास्य विदेशावासकर्शितान्।**
**न्यवासयत्स्वगेहेषु वित्तैस्सन्तर्प्य विश्वदृक्[1]॥ १६ ॥**

**कृष्णसङ्कर्षणभुजै र्गुप्ता लब्धमनोरथाः।**
**गृहेषु रेमिरे सिद्धाः कृष्णरामगतज्वराः॥ १७ ॥**

**वीक्षन्तोऽहरहः प्रीता मुकुन्दवदनाम्बुजम्।**
**नित्यं[2] प्रमुदितं श्रीमत्सदयस्मितवीक्षणम्॥ १८ ॥**

**तत्र प्रवयसोऽप्यासन् युवानोऽतिबलौजसः।**
**पिबन्तोऽक्षैर्मुकुन्दस्य मुखाम्बुजसुधां मुहुः[3]॥ १९ ॥**

## श्रीशुक उवाच

अथ नन्दं समासाद्य भगवान् देवकीसुतः।
सङ्कर्षणश्च राजेन्द्र परिष्वज्येदमूचतुः॥ २० ॥

---

1 G,J °कृत; M,Ma °सृक् 2 M,Ma नित्य 3 P,V °म्भोज 4- -4 G,J,K,M,Ma,T,W omit

**श्रीध० कृष्णेति।** सिद्धाः पूर्णाः। कृष्णरामाभ्यां गतो निवृत्तो ज्वरस्तापो येषां ते॥ १६,१७ ॥

**वीक्षन्त** इति। सदयस्मितं वीक्षणं यस्मिन् तत्॥ १८ ॥

**तत्रेति।** प्रवयसो वृद्धा अपि अतिशयितं बलमोजश्च येषां ते॥ १९,२० ॥

**वीर०** ततः कृष्णरामाभ्यां गतो निवृत्तो ज्वरस्तापो येषां, लब्धो मनोरथः यैस्ते। सिद्धाः पूर्णकामाः कृष्णसङ्कर्षणयोः भुजैर्गुप्ताः पालिताः गृहेषु रेमिरे॥ १६,१७ ॥

दयास्मिताभ्यां सहिते वीक्षणे यस्मिन् श्रीमत्सौन्दर्यवत् नित्यं प्रमुदितं विकसितं मुकुन्दस्य मुखाम्बुज महरहः पश्यन्तो रेमिरे इत्यनुषङ्गः॥ १८ ॥

तत्र तदा प्रवयसो वृद्धा अपि मुहुर्मुकुन्दस्य मुखाम्बुजसुधां नेत्रैः पिबन्तो युवानो नितरां बलीयांसश्चाऽऽसन्। "अतिबलौजसः" इति पाठे, अतिशयितं बलमोजश्च येषां तेआसन्॥ १९ ॥

**अथेति।** नन्दं समासाद्य समीपमेत्य हे राजेन्द्र! तमालिङ्ग्येदं वक्ष्यमाणमूचतुः॥ २० ॥

**विज०** सिद्धा इति लुप्तोपमा, मुक्ता इव। कृष्णरामाभ्यां गतज्वराः नष्टसन्तापाः कृष्णे रामेण रमणेन रत्या वा॥ १६-१८ ॥

तत्र मधुरायां प्रवयसो वृद्धा अपि युवान आसन्। तत्र किमौषधमिति तत्राऽऽह - पिबन्त इति॥ १९,२० ॥

पित र्युवाभ्यां स्निग्धाभ्यां पोषितौ लालितौ भृशम्।
पित्रोरभ्यधिका प्रीतिरात्मजेष्वात्मनोऽपि हि॥ २१ ॥

स पिता सा[1] च जननी यौ पुष्णीतां स्वपुत्त्रवत्।
शिशून् बन्धुभिरुत्सृष्टा नकल्यैः[2] पोषरक्षणे॥ २२ ॥

यात यूयं व्रजं तात! वयञ्च स्नेहदुःखितान्।
ज्ञातीन्वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम्[4]॥ २३ ॥

**एवं सान्त्वय्य भगवान्नन्दं सव्रज मच्युतः।**
**वासोऽलङ्कारकुप्याद्यैः[5] अर्हयामास सादरम्॥ २४ ॥**

**इत्युक्तस्तौ परिष्वज्य नन्दः प्रणयविह्वलः।**
**पूरयन्नश्रुभिर्नेत्रे[6-] सह गोपैर्व्रजं ययौ[-6]॥ २५ ॥**

1 P,V साऽपि 2 G,J,M,Ma °कल्पैः 3 M,Ma °न्नो 4 K,M,Ma,T,W प्रियम् 5 M,Ma °ग्रैः 6- -6 K,T,W सगोपो व्रजमाययौ॥

**श्रीध० पितरिति।** भृशमात्मनोऽप्याधिक्येन पोषितौ। न चाऽऽश्चर्यमेतदित्याह - पित्रोरिति। आत्मनो देहादप्यात्मजेष्वभ्यधिका हि प्रीतिरिति॥ २१ ॥

देवकीवसुदेवयोः पुत्त्रौ युवां, नाऽस्मत्पुत्त्रौ[1] इति न वाच्यमित्याह - **स पितेति**॥ २२, २३,॥

**एवमिति।** सव्रजं व्रजवासिभिस्सहितम्। कुप्यानि स्वर्णरजतातिरिक्तकांस्यपात्रादीनि, तत्प्रभृतिभिः॥ २४,२५॥

1 J,Va इत्यपि

**वीर०** उक्ति मेवाऽऽह त्रिभिः। हे पितः। स्निग्धाभ्याम् अनुरक्ताभ्यां युवाभ्यां भृशमात्मनोऽप्याधिक्येन पोषितौ लालितौ च। न च आश्चर्यमेतदित्याहतुः- पित्रोरिति। मातापित्रोः आत्मनः स्वशरीरादप्यात्मजेषु अभ्यधिका हि प्रीतिरिति॥ २१॥

ननु युवयोः पितरौ[1] देवकीवसुदेवौ नाऽऽवामित्यत्राऽऽहतुः- **स पितेति**। पोषणे रक्षणे च अकल्यैरसमर्थैर्बन्धुभिः उत्सृष्टान् त्यक्तान् शिशून्यौ स्वपुत्त्रवत् पुष्णीतां पोषितवन्तौ, तावेव पितरावित्यर्थः॥ २२ ॥

अस्तु, प्रकृते किम्? तत्राऽऽहतुः-यातेति। हे तात! यूयं व्रजं प्रति गच्छत। वयं तु अत्रत्यानां सुहृदां प्रियं विधाय अस्मत्स्नेहेन दुःखितान् युष्माकं ज्ञातीन् द्रष्टुमेष्यामः आगमिष्यामः॥ २३ ॥

इत्थं सभायां सव्रजं व्रजवासिभिस्सहितं नन्दं सान्त्वय्य वस्त्रादिभिः सादरं यथातथा अर्हयामास। तत्र कुप्यानि स्वर्णरजतादिव्यतिरिक्तनि कांस्यादिपात्राणि, तत्प्रभृतिभिः॥ २४ ॥

इत्थमुक्तो नन्द स्तौ रामकृष्णावालिङ्ग्य प्रणयेनाऽनुरागेण विह्वलः अश्रुभिः नेत्रे पूरयन् गोपै स्सह व्रजं प्रति ययौ॥ २५ ॥

1 T,W omit स्व।

**विज०** आत्मनः स्वस्मादपि॥ २१ ॥

पुष्णीतां अपुष्णातां पोषण मकुर्वताम्। पोषरक्षणे पोषणरक्षणयोः॥ २२ ॥

वयं नोऽस्माकं, ज्ञातीन् स्नेहनिमित्तेन दुःखितान् युष्मान् द्रष्टुमेष्यामोऽधुना व्रजं यात। इदानीं आगन्तुककार्य मस्ति- तत्संसाध्येत्याह - विधायेति॥ २३ ॥

सान्त्वय्य सान्त्वयित्वा सव्रजं सगोपं वासोभिरलङ्कारैश्च कुप्याग्रैः रजतहेमादिव्यतिरिक्तद्रव्यश्रेष्ठैश्च। "अकुप्यं रूप्यहेमादि (हेमाख्यं) कुप्यमन्यद्धनादिकम् (मन्यद्धनं भवेत्) (हला.को.-1-81) इति हलायुधः॥ २४,२५ ॥

श्रीरामकृष्णयोरुपनयन गुरुकुलवास गुरुपुत्रानयन घट्टः।

अथ शूरसुतो राजन् पुत्रयोस्समकारयत्[1]।
पुरोधसा ब्राह्मणैश्च यथावद्द्विजसंस्कृतिम्॥ २६ ॥

तेभ्योऽदाद्दक्षिणा[2] गावो रुक्ममाला स्स्वलङ्कृताः।
स्वलङ्कृतेभ्यस्सम्पूज्य सवत्साः क्षौममालिनीः॥ २७ ॥

याः कृष्णरामजन्मर्क्षे मनोदत्ता महामतिः[3]।
ताश्चाऽददादनुस्मृत्य कंसेनाऽधर्मतो हृताः॥ २८ ॥

ततश्च लब्धसंस्कारौ द्विजत्वं प्राप्य सुव्रतौ।
गर्गाद्यदुकुलाचार्याद्गायत्रं व्रतमास्थितौ॥ २९ ॥

प्रभवौ सर्वविद्यानां सर्वज्ञौ जगदीश्वरौ।
नान्यसिद्धाऽमलं ज्ञानं गूहमानौ नरेहितैः॥ ३० ॥

1 P,V स्साध्व० 2 G,J,P,V °णाः 3 P,V °द्युतिः

**श्रीध० अथेति।** पुरोधसा गर्गाचार्येण द्विजसंस्कृतिमुपनयनम्॥ २६ ॥

**तेभ्य** इति। गावो गाः, रुक्मस्य माला विद्यन्ते यासां ताः, क्षौमवस्त्रमालावतीः॥ २७ ॥

**या** इति। याः पूर्वं मनोदत्ता आसन् ता एवाऽददात्। ननु ताः कंसेनाऽपहृताः? सत्यम्। राजगोष्ठा दाच्छिद्य दत्ता इत्याह - कंसेनाऽधर्मत इति॥ २८ ॥

**तत** इति। गायत्रं व्रतं ब्रह्मचर्यम्॥ २९ ॥

**प्रभवाविति।** प्रकर्षेण भवन्त्याभ्यामिति प्रभवौ। अतएव सर्वज्ञौ स्वतस्सिद्धममलं ज्ञानम् प्रच्छादयन्तौ नरचेष्टितैः॥ ३०॥

**वीर०** अथाऽनन्तरं शूरसुतो वसुदेवः पुरोधसा गर्गाचार्येण ब्राह्मणैश्च यथाविधि उभयोः रामकृष्णयोः द्विजन्मसंस्कृतिं द्विजत्वाऽऽपादकसंस्कारम् उपनयनं सम्यगकारयत्॥ २६ ॥

ततः सुष्ठ्वलङ्कृतेभ्यो ब्राह्मणेभ्य स्सम्पूज्य दक्षिणां गावो गाश्च अदात्। कथम्भूताः? रुक्मस्य सुवर्णस्य माला यासां ताः सुष्ठु अलङ्कृताः वत्सै स्सहिताः क्षौमवस्त्रमालावतीः॥ २७ ॥

रामकृष्णजन्मनक्षत्रे या गावो मनोदत्ताः ताश्चाऽनुस्मृत्य (अददात्) ददौ। ननु ताः कंसेनाऽपहृताः? सत्यम्। राजगोष्ठादाच्छिद्य दत्ता इत्याह - कंसेनाऽधर्मत इति॥ २८ ॥

**ततश्चेति।** लब्धस्संस्कार उपनयनाख्यो याभ्यां तौ द्विजत्वं प्राप्य यदुकुलस्याचार्याद्गर्गाद्गायत्रं गर्गोपदिष्टं ब्रह्मचर्यम् आस्थितौ आश्रितौ॥ २९ ॥

अथो ततः सर्वविद्यानां प्रभवौ प्रकर्षेण[1] भवन्त्याभ्यामिति प्रभवौ, अतएव सर्वज्ञौ स्वतस्सिद्धममलं ज्ञानं नरचेष्टाभिः प्रच्छादयन्तौ गुरुकुले वासमिच्छन्तौ काश्यं काश्यपगोत्रजमवन्तीपुरवासिनं सान्दीपनाख्यं गुरुमभिजग्मतुः॥ ३०॥

---

1 T,W काश्यगो०

**विज०** द्विजसंस्कृतिं ब्राह्मणसंस्कारं उपनयनलक्षणम्॥ २६ ॥

गावो गाः, रुक्मं सुवर्णं, क्षौमाणि पुष्पमालाश्च आसां सन्तीति क्षौममालिनीः॥ २७ ॥

याः कृष्णरामयोः जन्मनक्षत्रे मनसा दत्तास्सङ्कल्पिताः ताश्च अददात्। याः कंसेनाऽधर्मेण हृताः ता अपि॥ २८॥

द्विजत्वमुपनीतत्वं प्राप्य, लब्धसंस्कारौ लब्धदेहशुद्धी गायत्रं व्रतं गायत्रीजपनियमं, ब्रह्मचर्यं वा॥ २९ ॥

प्रभवौ मूलकारणे, नान्येत्येकं पदं, नगनाकशब्दवत्। अन्यस्य सिद्धं न भवतीति नान्यसिद्धम् औत्पत्तिकमत एवाऽऽमलं यत् ज्ञानं तन्नरेहितैः मनुष्यचेष्टाभिः छादयन्तौ॥ ३० ॥

**अथो गुरुकुले वासमिच्छन्तावुपजग्मतुः।**
**काश्यं[1] सान्दीपनं[2] नाम अवन्तीपुरवासिनम्[3][4]॥ ३१ ॥**

**अथोपसाद्य[5] तौ दान्तौ गुरौ वृत्ति मविन्दताम्।**
**ग्राहयन्तावुपेतौ स्म भक्त्या देवमिवाऽऽहतौ॥ ३२ ॥**

**तयोर्द्विजवरस्तुष्ट श्शुद्धभावानुवृत्तिभिः।**
**प्रोवाच वेदानखिलान् साङ्गोपनिषदो गुरुः॥ ३३ ॥**

सरहस्यं धनुर्वेदं[6] धर्मन्यायपथांस्तथा।
तथाचाऽऽन्वीक्षिकीं[7] विद्यां राजनीतिश्च षड्विधाम्॥ ३४ ॥

सर्वं तदमरश्रेष्ठौ[8] सर्वविद्याप्रवर्तकौ।
सकृन्निगदमात्रेण तौ सञ्जगृहतुर्नृप॥ ३५ ॥

1 P,V श्यां 2 G,J,M,Ma °पनिं 3 G,J ह्य० 4 G,J,M,Ma °न्ति० 5 G,J,M,Ma,P,V य० 6 G,J,P,V °र्मान्या० 7 K,P,T,V,W °क्ष० 8 G,J नरवर; P,V तद्विबुध

**श्रीध० यथेति।** यथा यथावत्। उपसाद्य प्राप्य। गुरौ वृत्तिमन्यान् ग्राहयन्तौ शिक्षयन्तौ, गुरुमुपेता वुपगतौ सेवितवन्तावित्यर्थः॥ ३१,३२ ॥

**तयोरिति।** शुद्धो भावो यासु ताभिरनुवृत्तिभिः। साङ्गोपनिषदः अङ्गानि षडङ्गानि[1] शिक्षादीनि तैरुपनिषद्भिश्च सहितान्॥ ३३॥

**सरहस्यमिति।** सरहस्यं मन्त्रदेवताज्ञानसहितम्। धर्मान् मन्वादिधर्मशास्त्राणि। न्यायपथान् मीमांसादीन्। आन्वीक्षिकीं तर्कविद्याम्। षड्विधां - "सन्धिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः" (अम.को 2-4-75) इत्येवं षड्विधां राजनीतिम्॥ ३४॥

**सर्वमिति।** सकृन्निगदमात्रेण एकवारं गुरोरुच्चारणमात्रेण[2]॥ ३५॥

1 P,V omit षडङ्गानि 2 P.V. ०रूच्चा०

**वीर०** तौ रामकृष्णौ यथावत् तमुपसाद्य दान्तौ जितेन्द्रियौ सन्तौ निर्दुष्टां गुरौ[1] वृत्तिम् अन्यान् ग्राहयन्तौ शिक्षयन्तौ आदरयुक्तौ देवमिव भक्त्या गुरुमुपेतौ सेवितवन्ता वित्यर्थः॥ ३१, ३२ ॥

शुद्धो भावो यासु ताभिः अनुवृत्तिभिः तुष्टो द्विजवरो गुरुरङ्गैश्शिक्षाकल्पादिभिः षड्भिः उपनिषद्भिश्च सहितानखिलान् वेदान् तयोः प्रोवाच॥ ३३ ॥

तथा सरहस्यं मन्त्रदेवताज्ञानसहितं धनुर्वेदं, धर्मन्यायपथान् मन्वादिधर्मशास्त्राणि मीमांसान्यायादींश्च आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यां, षड्विधां सन्धिविग्रहयानासनद्वैधीभावसमाश्रयरूपां राजनीतिञ्च प्रोवाचेत्यन्वयः॥ ३४ ॥

**सर्वमिति।** हेनृप! तावमरश्रेष्ठौ परमपुरुषौ अतएव सर्वविद्याप्रवर्तकौ, अतएव सकृन्निगदमात्रेण उक्तिमात्रेणैव तद्गुरूपदिष्टं सर्वं सञ्जगृहतुः सम्यग्गृहीतवन्तौ॥ ३५ ॥

---

1 K गुरु

**विज०** यस्मादथ तस्मात्काश्यं काश्यपगोत्रजातम्॥ ३१ ॥

यथावदुपासाद्य समित्पाणी उपेतौ स्म प्रापतुः। भक्त्या दैवमिवेत्यनेन "यस्य देवे पराभक्तिः यथा देवे तथा गुरौ!" (श्वेता. उ. 6-23) इति श्रुतिं सूचयति॥ ३२ ॥

अङ्गैः शिक्षादिभिः उपनिषद्भिर्वेदान्तैः तदुपयोगिभीरहस्यज्ञानै र्वा सहितान्॥ ३३ ॥

सरहस्यं प्रयोगोपसंहारसहितं धर्मपथः वर्णाश्रमधर्मलक्षणः पूर्वमीमांसालक्षणोवा, न्यायपथान् ब्रह्मतर्कादि तर्कशास्त्रलक्षणांश्च, आन्वीक्षिकीं मीमांसाशास्त्रं वेदेतिहासाद्यर्थनिर्णायकम्। "सन्धिञ्च विग्रहञ्चैव यान मासन मेव च द्वैधीभावं संश्रयञ्च षड्गुणान् कवयो विदुः" इति षड्विधाम्॥ ३४ ॥

सकृन्निगदमात्रेण एकवारं पाठमात्रेण॥ ३५ ॥

1 Ma क०

अहोरात्रैश्चतुष्षष्ट्या संयतौ तावतीः कलाः।
★ततश्च कृतविद्यौ तौ कृतास्त्रौ रामकेशवौ।
गुरदक्षिणयाऽऽचार्यं छन्दयामासतु र्नृप!॥ ३६ ॥

द्विज स्तयोस्तं महिमानमद्भुतं संलक्ष्य राजन्नतिमानुषीं मतिम्।
सम्मन्त्र्य पत्न्या स महार्णवे मृतं बालं प्रभासे वरयाम्बभूव ह॥ ३७ ॥

तथेत्यथाऽऽरुह्य महारथौ रथं प्रभासमासाद्य दुरन्तविक्रमौ।
वेलामुपव्रज्य निषेदतुः क्षणं सिन्धुर्विदित्वाऽर्हणमाहरत्तयोः॥ ३८ ॥

तमाह भगवा नाशु गुरुपुत्रः प्रदीयताम्।
योऽसाविह त्वया ग्रस्तो बालको महतोर्मिणा॥ ३९॥

समुद्र उवाच

नाऽहार्षं तमहं देव दैत्यः पञ्चजनो महान्।
अन्तर्जलचरः कृष्ण! शङ्खरूपधरोऽसुरः॥ ४० ॥

---

1 K °त्र० 2 G,J संयत्तौ; M,Ma संयातौ * This extra half verse is found in M,Ma editions only 3 P,V °स्तन्म० 4 K,T,W संवीक्ष्य 5 K,T,W ग० 6 P,V omit ह 7- -7 P,V सिन्धुरुवाच; M,Ma omit समुद्रउवाच ★ An extra half verse- तमाह वरुणो देवो विनयावनतः स्थितः is found in M,Ma editions only 8- -8 G,J नैवाऽहार्षमहं; M,Ma नचाऽहार्ष महं 9 M,Ma °नोऽहरत्

**श्रीध० अहोरात्रैरिति।** तावतीश्चतुष्षष्टिकलाः ताश्च शैवतन्त्र[1]प्रोक्ता लिख्यन्ते; यथा-

1. गीतम् 2. वाद्यम् 3. नृत्य[2]म् 4. नाट्यम् 5. आलेख्यम् 6. विशेष[3-]कच्छेद्य[-3]म् 7. तण्डुलकुसुमबलिविकाराः 8. पुष्पास्तरणम् 9. दशन[4-]वसनाङ्गरागाः[-4] 10. मणिभूमिकाकर्म 11. शयनरचनम् 12. उदकवाद्यमुदकघातः 13. चित्रयोगाः 14. माल्यग्रथनविकल्पाः 15. शेखरापीडयोजनम् 16. नेपथ्ययोगाः[5] 17. कर्णपत्रभङ्गाः 18. सुगन्धयु[6]क्तिः 19. भूषणयोजनम् 20. ऐन्द्रजालम् 21. कौचुमारयोगाः 22. हस्तलाघवम् 23. चित्रशाकापूप[7]भक्ष्यविकारक्रियाः 24. पानकरसरागासवयोजनम् 25. सूचीवा[8]यकर्म 26. सूत्र[9-]क्रीडा[-9] 27. वीणाडमरुकवाद्यानि 28. प्रहेलिका 29. प्रतिमाला[10-] 30. दु[11]र्वाचकयोगाः[-10] 31. पुस्तकवाचनम् 32. नाटकाख्यायिकादर्शनम् 33. काव्यसमस्यापूरणम् 34. पट्टिकावेत्रबाणविकल्पाः 35 तर्ककर्माणि 36. तक्षणम् 37. वास्तुविद्या 38. रूप्यरत्नपरीक्षा 39. धातुवादः 40. मणिरागज्ञानम् 41. आकरज्ञानम् 42. वृक्षायुर्वेदयोगाः 43. मेषकुक्कुटलाव[12]कयुद्धविधिः 44. शुकशारिकाप्रलापनम् 45. उत्सादनम् 46. केशमार्जनकौशलम् 47. अक्षरमुष्टिकाकथनम् 48. म्लेच्छितकुतर्क[13-]वि[-13]कल्पाः 49. देशभाषाज्ञानम् 50. पुरुषशकटिकानि[14] र्मितिज्ञानम् 51. यन्त्रमातृका धारणमातृका 52. संवाच्यम् 53. मानसोकाव्यक्रिया 54. अभिधानकोशः 55. छन्दोज्ञानम् 56. क्रियावि[15]कल्पाः 57. छलितक[16]योगाः 58. व[17]स्त्रगोपनानि 59. द्यूतविशेषः 60. आकर्षक्रीडा 61. बालक्रीडनकानि 62. वैनायिकी[18]नां विद्यानां ज्ञानम् 63. वैजयिकी[19]नां विद्यानां ज्ञानम् 64. वैतालिकी[20]नां विद्यानां ज्ञानम् इति चतुष्षष्टिकलाः छन्दयामासतुः उपलोभितवन्तौ ॥ ३६ ॥

**द्विज इति।** प्रभासे क्षेत्रे महार्णवे मृतं बालं वरयामास ॥ ३७ ॥

**तथेति।** ईश्वराविति विदित्वा ज्ञात्वा समुद्रः तयोरर्हणमाजहारेति ॥ ३८, ३९ ॥

**नेति।** पञ्चजनस्त्वसुरोऽहार्षीत्। स च महान्, मम असाध्य इत्यर्थः ॥ ४० ॥

1 J,Va °न्त्रोक्ता 2 J,Va °त्य० 3- -3 J,Va तिलकम् नानारचना; विशेषकभेद्यम् 4- -4 MI,V अदर्शनम् 5 MI,V योगाः 6 MI,V 7 MI,V add °मुख० 8 MI,V वान 9- -9 MI,V सर्ववस्तुप्रतिकृतिनिर्माणम् 10- -10 MI,V स्वस्मिन्नरूपरचना 11 MI,V दुर्वच्चक 12 MI,V °बु० 13- -13 MI,V °कवि० 14 MI,V निमित्त 15 MI,V omit °वि० 16 MI,V omit °क० 17 MI,V वस्तु 18 MI,V °कानां 19 MI,V °कानां 20 MI,V °कानां

**वीर०** कियता कालेन कति विद्याः सञ्जगृहतुः इत्यत्राऽऽह **-अहोरात्रेति।** अहोरात्राणां चतुष्षष्ट्या चतुष्षष्टिसंख्याकै र्दिवसैः चतुष्षष्टिविद्याः सञ्जगृहतुरित्यन्वयः। ततो हे नृप! गुरुदक्षिणयेति हेत्वर्थे तृतीया। गुरवे देयदक्षिणार्थं माचार्यं छन्दयामासतुः ॥ ३६ ॥

**द्विज** इति। हे राजन्! द्विजस्सान्दीपनः तयोरामकृष्णयोः तं चतुष्षष्टिदिवसैः तावत्कलाग्रहणात्मकमद्भुतं महिमानम् अतिमानुषीं मनुष्येष्वसम्भावितां चेष्टां गतिञ्चाऽवलोक्य महापुरुषाविमाविति, निश्चित्येतिशेषः। पत्न्या सह आलोच्य प्रभासे क्षेत्रे महार्णवे मृतं बालं स्वपुत्रमयाचत। हेति विस्मये। मृतप्रत्यादानमसम्भावितमिति विस्मीयते ॥ ३७ ॥

तदा तथेत्यङ्गीकृत्य महारथौ रामकृष्णौ रथमारुह्य दुरन्तोऽपारो विक्रमो ययो स्तौ प्रभासं प्राप्य तत्र वेलां तीरं, समुद्रस्येति शेषः, उपव्रज्य क्षणं निषेदतुः उपविष्टवन्तौ। तदा सिन्धुस्समुद्रो विदित्वा ईश्वराविमाविति ज्ञात्वा तयोरर्हणं पूजामाजहार समर्पयामास, चकारेति यावत्॥ ३८ ॥

भगवान् सिन्धुमाह- किमिति। इह यो बालको द्विजपुत्रस्त्वया कर्त्रा महतोर्मिणा तरङ्गेण ग्रस्तः अन्तर्धापितः सोऽस्मद्गुरुपुत्रः आशु प्रदीयता मिति॥ ३९ ॥

इत्थ मुक्तः प्राह सिन्धुः- **नाऽहार्षमिति**। हे देव तं द्विजपुत्रमहं नाऽहार्षं नाऽपहृतवान्। किन्तु हे कृष्ण! पञ्चजनाख्यो दैत्योऽहार्षीत्। स च महान् ममाऽसाध्य इत्यर्थः। तदेवाऽऽह- सोऽसुरः अन्तर्जलचरः शङ्खाकृतिधरश्चाऽऽस्ते विवेक्तुमशक्य इति भावः। येन पञ्चजनेन नूनमपहृत इति सिन्धोर्वचः श्रुत्वा प्रभुः श्रीकृष्णः सत्वरं यथा तथा जलमाविश्य पञ्चजनं हत्वा तस्योदरे बालं नाऽपश्यत्। किन्तु तस्य पञ्चजनस्याऽङ्गाज्जातं शङ्खं पाञ्चजन्याख्यमादाय रथ मारुरोह॥ ४०॥

**विज०** चतुष्षष्ट्या संख्यया सङ्ख्यातैरहोरात्रैः कालावयवैस्तावतीः तावत्सङ्ख्याः कलाः चतुष्षष्टिकलाः विद्या इत्यर्थः। संयातौ सम्यक्प्राप्तौ। छन्दयामासतुः प्रार्थयामासतुः॥ ३६ ॥

महार्णवे प्रभासे तीर्थे॥ ३७ ॥

वेलां तीरसीमाख्याम्॥ ३८ ॥

योऽसौ गुरुपुत्रः त्वया महतोर्मिणा ग्रस्तः, सः प्रदीयता मित्यन्वयः॥ ३९ ॥

तं कृष्णम्॥ ४० ॥

**★आस्ते तेनाऽऽहृतो नूनं गुरुपुत्रस्तव प्रभो!**
**जलमाविश्य तं हत्वा गृह्यता मित्युवाच ह॥ ४१ ॥**

**तदसौ जलमाविश्य हत्वा तं जलवासिनम्।**
**विदार्यजठरं तस्य नाऽपश्यदुदरेऽर्भकम्।**
**तदङ्गप्रभवं शङ्खं मादाय रथ माविशत्॥ ४२ ॥**

**तत स्संयमनीं नाम यमस्य दयितां पुरीम्।**
**गत्वा जनार्दनश्शङ्खं प्रदध्मौ स हलायुधः॥ ४३ ॥**

**शङ्खनिर्ह्रादमाकर्ण्य प्रजासंयमनो यमः।**
**तयोस्सपर्यां महतीं चक्रे भक्त्युपबृंहिताम्॥ ४४ ॥**

उवाचाऽवनतः कृष्णं सर्वभूताशयालयम्।
लीला [7-] मानुष हे विष्णो [-7] युवयोः करवाम किम्?।
◊इत्युक्त स्तेन देवेशो देवकीनन्दनोऽब्रवीत्॥ ४५ ॥

श्रीभगवानुवाच-

गुरुपुत्रमिहानीतं [8] निजकर्मनिबन्धनम्।
आनयस्व महाराज मच्छासनपुरस्कृतः। ४६ ॥

तथेति तेनोप [9] नीतं गुरुपुत्रं यदूत्तमौ।
दत्त्वा स्वगुरवे भूयो वृणीष्वेति तमूचतुः☆ ॥ ४७ ॥

[10-] गु रु रुवाच [-10]

सम्यक्सम्पादितो [11] व [12] त्सौ भवद्भ्यां गुरुनि [13] ष्क्रि।
को नु युष्मद्विधगुरोः कामानामवशिष्यते॥ ४८ ॥

गच्छतं स्वगृहं वीरौ कीर्तिर्वामस्तु पावनी।०
गुरुणैव मनुज्ञातौ रथेनाऽनिलरंहसा।
आयातौ [14] स्वपुरं [15] तात पर्जन्यनिनदेन वै [16] ॥ ४९ ॥

समनन्दन्प्रजा स्सर्वा दृष्ट्वा रामजनार्दनौ।
अपश्यन्त्यौ बह्वहानि नष्टलब्धधना इव॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
गुरुपुत्रानयनं नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४५ ॥

★ 'आस्ते तेनाऽऽहृतो नूनं' इति पादेनारब्धस्य, 'आदाय रथ माविशत्' इति पादपर्यन्तस्य भागस्य स्थाने G,J,K,T,W प्रकाशेषु लभ्यमानः पाठः एव मस्ति - आस्ते तेनाऽऽहृतो नूनं, तच्छ्रुत्वा सत्वरं प्रभुः। जलमाविश्य तं हत्वानाऽपश्यदुदरेऽर्भकम्। तदङ्गप्रभवं शङ्खं मादाय रथ मारुहत्॥ (मागमत्- J) 1- -1 This half verse is not found in M,Ma editions. 2 M,Ma सः 3 M,Ma ततस्तौ 4 M,Ma°त्वाऽन्तः 5 M,Ma °मागमत् 6 M,Ma °तः 7- -7 G,J,M,Ma मनुष्य हे विष्णो; P,V मानुषयो र्विष्णोः (ष्णवोः) ◊ This half Verse is found in M,Ma edns only. 8 P,V °भाग 9 G,J पानी० ☆ The following extra verse is found in M,Ma edns. ततः प्रीतमना राजन्निदं वचन मब्रवीत्। सान्दीपनि र्महा भागो रामकृष्णा वरिन्दमौ॥ 10- -10 M,Ma, T,W omit 11 M,Ma °ता 12 G,J,P,V,T,W वत्स 13 T,W निष्क्रियः; M.Ma निष्क्रिया

o An extra half verse छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च' is found in G,J, edns only 14 P,V °तां 15 K,T,W गृहं 16 K वा

**श्रीध० शङ्खेति**। सपर्यां पूजाम्॥ ४१-४४ ॥

**उवाचेति**। सर्वेषां भूतानामाशया अन्तःकरणानि, तानि आलयो निवासो यस्य तम्॥ ४५ ॥

**गुरुपुत्त्रमिति**। निजं कर्मैव निबन्धनं यस्य तम्, तथाभूतमपि मदाज्ञापुरस्कारेण आनयतस्ते न दोषइत्यर्थः॥ ४६-४७॥

**सम्यगिति**। वत्सेति प्राधान्येन एकस्य सम्बोधनम्। "गुरोर्निष्क्रियो गुरोर्दक्षिणा, युष्मद्विधगुरोः मम[1] कामानां मध्ये को नु कामोऽवशिष्यते, न कोऽपीति॥ ४८॥

**गच्छतमिति**। हे[2-] वीरौ[-2]! अनिलवद्रंहो वेगो[3] यस्य तेन। पर्जन्यो मेघः, तद्वन्निनदो यस्य तेन॥ ४९ ॥

**समनन्दन्निति**। नष्टमदृष्टं तत्पुनर्लब्धं धनं याभिस्ता इवेति॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४५ ॥

1 P,V omit मम 2- . -2 P,V omit 3 P,V omit वेगो

**वीर०** ततो यमस्य प्रियां संयमनीं नाम पुरीं गत्वा शङ्खं पाञ्चजन्यं दध्मौ ध्वनयामास॥ ४१ - ४३ ॥

तदा प्रजानां शास्त्रातिलङ्घिनीनां शास्ता यमः शङ्खनिर्ह्रादं श्रुत्वा आगत्य भक्त्युत्कलितां तयोः पूजां चक्रे॥ ४४॥

सर्वेषां भूतानां आशया हृदयानि तान्यालयो[1] यस्य तं कृष्णम् अवनतः प्राह- किमिति? हे लीलामानुष! लीलार्थं परिगृहीतमनुष्यसंस्थान! हे विष्णो! युवयोः किं करवाम किङ्करा वयमित्यर्थः॥ ४५ ॥

इत्थमुक्तः प्राह भगवान्- **गुरुपुत्त्र मिति**। इह त्वत्सन्निधावानीतं, त्वद्भटैरिति शेषः। निजकर्मनिबन्धनं स्वकर्माधीनं स्वकर्मणेह प्रापितमपि[2] अस्मद्गुरुपुत्त्रं, हे महाराज! यम! मच्छासनपुरस्कृतस्त्वमानयस्व मदाज्ञापुरस्कारेण आनयतस्तव न दोष इति भावः॥ ४६ ॥

तथेत्यङ्गीकृत्य तेन यमेनोपनीतं गुरुपुत्त्रमादायाऽऽगत्य स्वगुरवे दत्त्वा पुनर्वरान्तरं वृणीष्वेत्यूचतुः॥ ४७ ॥

एवमुक्तः प्राह द्विजः - **सम्यगिति**। हे वत्सौ! भवद्भ्यां गुरुनिष्क्रियः गुरुदक्षिणा सम्यक्सम्पादितः। युष्मद्विधयो - गुरोर्मम कामानां मध्ये को नु कामोऽवशिष्यते, न कोऽपि। अतो हे वीरौ! स्वगृहं गच्छतम्। वां युवयोः कीर्तिलोकं पुनाना अस्तु, विपुला भवतु॥ ४८ ॥

इत्थं गुरुणा अनुज्ञातौ हे तात! अनिलवद्रंहो वेगो यस्य, पर्जन्यो मेघः तद्वन्निनदो यस्य तेन रथेन गृह माजग्मतुः॥ ४९ ॥

तावद्बहून्यहानि। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। अपश्यन्त्यः प्रजाः मधुरास्थाः, तदा रामजनार्दनौ, नष्टमदृष्टं पुनर्लब्धं धनं याभिः तादृश्य इव समनन्दन् सञ्जहृषुः॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४५ ॥

1 T,W°लयाः 2 T,W omit अपि

**विज०** शङ्खमत्स्यरूपधरः॥ ४१-४४ ॥

सर्वभूतानामाशयो हृदयस्थानमालयो यस्य स तथा तम्॥ ४५-४७ ॥

गुरुनिष्क्रिया गुरुकृतप्रतिक्रिया। युष्मद्विधानां पुंसां गुरोः को नु कामानां मध्ये कामोऽवशिष्यते, सर्वोऽपि कामः सिद्धो भवतीत्यर्थः॥ ४८,४९ ॥

तौ अपश्यन्त्यः॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४५ ॥

(श्रीविजयध्वजरीत्या त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः)

# षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः)

-: गोकुलं प्रति उद्धवप्रेषणादिकथाप्रारम्भघट्टः

श्रीशुक उवाच[1] [-1]

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयित स्सखा।
शिष्यो बृहस्पते स्साक्षा दुद्धवो बुद्धिसत्तमः॥ १ ॥

तमाह भगवान् प्रेष्ठं[2] भक्तमेकान्तिनं क्वचित्।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्ति हरो हरिः॥ २ ॥

गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रो र्नः[3] प्रीतिमावह।
गोपीनां मद्वियोगार्धिं[4] मत्सन्देशै र्विमोचय॥ ३ ॥

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
★मामेव दयितं प्रेष्ठ[5] मात्मानं मनसा[6] गताः
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम्॥ ४ ॥

मयि ताःप्रेयसां प्रेष्ठे[7] दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग[8] विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविक्लबाः[9]॥ ५ ॥

धारयन्त्यति कृच्छ्रेण प्रायः प्राणान्कथञ्चन।
प्रत्यागमन सन्देशै र्वल्लव्यो[10] मे मदात्मिकाः॥ ६ ॥

1- -1 K.T.W. बादरायणिरुवाच 2. K.T.W. श्रे० 3. G.J. नौं 4. K.T.W. ०र्ति ★ This extra halt verse is not found in J.edition 5. K.T.W. श्रे० 6. K.T.W. ०साऽगमन् 'बिभर्मि' इत्यस्य स्थाने 'बिभेमि' इति पाठान्तरम् विजयध्वजरीत्या स्यात् इति ज्ञायते। 7. K.T.W. श्रे० 8. M.Ma ०न्त्यङ्ग 9. G.J.K.Ml.V. विह्वलाः 10. M.Ma र्वक्तव्या

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

षट्चत्वारिंशके घोष मुद्धवं प्रेष्य तद्गिरा। यशोदा नन्दयोश्चक्रे कृष्णश्शोकापनोदनम्॥

कामचारं द्विजाति स्सन्परित्यज्याति संयतः। गुरोर्ज्ञानि मनुप्राप्य सख्या गोपी रुपादिशत्॥

गोपीनां सान्त्वनमतिरहस्यं सन्मन्त्रिसाध्यमिति तदर्थमुद्धवं विशिनाष्टि - **वृष्णीना** मिति। प्रवरः उच्चकुलत्वात् मन्त्री विश्वासास्पदत्वात् श्रीकृष्णस्याऽतिवल्लभत्वात् यादवैर्वृष्णिभिश्चादरणीयः। बुद्धिसत्तमः बुद्ध्या अतिश्रेष्ठः॥ २-३ ॥

गोपीनां विशेषतस्सन्देशे कारणमाह - **ता** इति। मय्येव सङ्कल्पात्मकं मनो यासां ताः अहमेव प्राणा यासां ताः, मम प्राणभूता इति वा। मदर्थे त्यक्ता दैहिकाः पतिपुत्रादयः भोजनपानवस्त्रभूषणस्रक्ताम्बूलादयो वा याभि स्ताः। ततः किमत आह - य इति। मन्निमित्तं त्यक्ता लोक धर्मा इहाऽमुत्र सुखे तत्साधनानि च यैस्तान् बिभर्मि पुष्णामि सुखयामीत्यर्थः॥ ४ ॥

तासां वियोगाधिं दर्शयति श्लोकद्वयेन **मयीति**। विरहेणौत्कण्ठ्यं तेन विह्वलाः परवशाः॥ ५ ॥

**धारयन्तीति**। गोकुलान्निर्गमन समये शीघ्रमागमिष्यामीति ये प्रत्यागमनसन्देशा स्तैः मे मदीया वल्ल०यो गोप्यः मदात्मिका इति, तासामात्मा स्वदेहे यदिस्यात् तर्हि विरहतापेन दह्येतैव। तस्य मयि वर्तमानत्वात्कथञ्चिज्जीवन्तीति भावः॥ ६ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथाऽध्यायत्रयेण भगवतस्स्वसखोद्धवमुखेन गोपीसान्त्वनात्मकं चरित्रमनुवर्ण्यते। गोपीसान्त्वनमतिरहस्यं सन्मित्रसाध्यमित्येतदर्थमुद्धवं विशिनष्टि **वृष्णीनामिति**। दयितस्सखा प्रियसखः साक्षात् बृहस्पतेः शिष्यः। अनेन बुद्धिकौशलं सूचितम्। बुद्धि सत्तमः निसर्गतोऽपि बुद्ध्या श्रेष्ठः॥ १ ॥

**तमिति**। क्वचिन्निर्जने देशे। प्रपन्नार्तिहरः हेतुगर्भमिदम्; तस्मात्सन्देश प्रेषण मुचितमितिभावः॥ २ ॥

तदेवाऽऽह - **गच्छेति**। हे उद्धव। हे सौम्य। नोऽस्माकं पित्रोः नन्दयशोदयोः प्रीतिमावह हर्षं जनय, मत्सन्देशैरित्यपकर्षः। मद्वियोगाद्धेतोः य आधिर्मनः पीडा तं मोचय त्याजय॥ ३ ॥

गोपीनां विशेषतः सन्देशनयनकारणमाह - **ता** इति। मय्येव सङ्कल्पात्मकं मनो यासाम्, अहमेव प्राणो यासां ताः। मदर्थे त्यक्तदैहिकाः त्यक्तदेहपोषणाः मामेव दयितं दयाऽस्य सञ्जातेति दयितः तं दयावन्तं प्रियतमम् तत्र हेतुः - आत्मानं मनसा अगमन्। गत्यर्थाः बुद्ध्यर्थाः, अध्यवसितवत्यः सन्त्वेवं विधास्ताः किं तव इत्यत आह - ये जनाः मदर्थे त्यक्ता लोकधर्मा यैस्ते तान् बिभर्मि संवर्धयामि सुखयामीति यावत्॥ ४ ॥

तासां वियोगाधिं दर्शयति द्वयेन - **मयि ता इति** प्रेयसां प्रीतिविषयाणां मध्ये निरतिशय प्रीतिविषये दूरस्थेऽपि मयि विषय भूते स्मरन्त्यः ता गोकुलस्थाः स्त्रियः अङ्ग हे उद्धव। विरहेण यदौत्कण्ठ्यं तेन विह्वलाः परवशाः मुह्यन्ति देहधर्मान्विस्मरन्ति॥ ५ ॥

किञ्च, गोकुलान्निर्गमनसमये शीघ्रमागमिष्यामीति ये प्रत्यागमन सन्देशाः तैर्मदीया वल्लव्यो गोप्यः, मच्चित्ताः कथञ्चित् कृच्छ्रेण क्लेशेन प्रायः[2] प्राणान् धारयन्ति। विरहतापेन दह्यन्त एव। मच्चित्तत्वात्कथञ्चिज्जीवन्तीति भावः॥ ६॥

1- -1 T.W. omit 2. T.W. omit प्रायः

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भगवन्मनोवशीकरणार्थं भक्तिरेव प्रधानसाधनमिति दर्शयितुं हरेर्गोपीष्वनुकम्पित्वं निरूपयत्यस्मिन्नध्याये। तत्र कृष्ण उद्धवं गोकुलं गमयितुं वक्ति **वृष्णीनामिति**॥ १ ॥

य एवंविधगुणोपेत उद्धव स्तमाह क्वचिद्रहसि॥ २ ॥

मद्वियोगेन मम विरहेण य आधिस्तं मत्सन्देशैर्मदीयाज्ञावचनैः॥ ३ ॥

अहमेव प्राणो जीवनं यासां तास्तथा। त्यक्तदैहिकाः दूरीकृतदेहधर्माः दयितं इष्टस्य दातारं प्रेष्ठं स्वशरीरादेरपि प्रियतमं आत्मानं सन्ततानुगतरूपम्। स्व स्व भक्तवात्सल्यं कथयति य इति। ये ये जना मदर्थे मां निमित्तीकृत्य त्यक्तलोकधर्माः लोको देहः तद्धर्माः अशनवसनानुलेपनादि लक्षणा स्त्यक्ता यै स्ते तथा। यद्वा त्यक्ताः स्वर्गादि लोक विषयाः धर्माः यागादि सुकृत लक्षणाः मदर्थे मन्निमित्ते निवृत्तौ वर्तमाना ये ते। यद्वा मामुद्दिश्य त्यक्ता दत्ता लोकधर्माः जनविषयाः नमनाद्याचारा यै स्ते। अहं तान् बिभेमि तेभ्यो भीतोऽस्मि। बिभर्मि रक्षितास्मि। मत्सायुज्य मावहन्तीति भक्तवश्यतां दर्शयति बिभर्मि वा॥ ४ ॥

विरहेणोत्पन्नमौत्कण्ठ्यं उत्कण्ठारागित्वं तेन विक्लबाः॥ ५ ॥

प्रत्यागमनसन्देशैः आगमिष्यति युष्मत्प्रेष्ठः कृष्ण इत्यादिवाक्यैः। मयिआत्मा मति र्मननशक्तिः, मतिर्बुद्धिः यासां ताः। तथा मत्स्वभावा वा॥ ६ ॥

**श्रीशुक[1] उवाच[-1]**

**इत्युक्त उद्धवो राजन् सन्देशं[2] भर्तु राहृतः[3]।**
**आदाय रथमारुह्य प्रययौ नन्दगोकुलम्॥ ७ ॥**

**प्राप्तो नन्दव्रजं श्रीमान्[4] निम्लोचति[5] विभावसौ।**
**छन्नयानः प्रविशतां पशूनां खुररेणुभिः॥ ८ ॥**

वाशितार्थं[6] नियुध्यद्भिः नादितं शुष्मिभिर्वृषैः।
धावन्तीभिश्च वास्राभि रुधो भारैश्च[8] वत्सकान्॥ ९ ॥

इतस्ततो[9-] विलङ्घद्भिः गोवत्सै र्मण्डितं सितैः[-9]।
गोदोह शब्दाभिरव[10] वेणूनां निस्वनेन[11] च॥ १० ॥

गायन्तीभिश्च कर्माणि शुभानि[12] बलकृष्णयोः।
स्वलङ्कृताभि गोपीभि गौ[13-] पैश्च सुविराजितम्[-13] ॥ ११ ।

1- -1 M.Ma.T.W. omit 2. M.Ma ०शान् 3. MI.V. ०रात्मनः 4. K.T.W. ०मन् 5. MI.V. निम्नो 6 G.J.MI.V. ०र्थेऽभि० 7. MI.V. ०श्रा० 8. M.Ma भारेण व०; G,J,M,L,V.भारैः स्व० 9- -9 M.Ma ववृधद्भिः गोभिर्वत्सैश्च गुम्फितम्। 10. K.T.W. ०वैः 11. G.J.M.Ma निः 12. K.T.W. शुद्धानि 13- -13 M.Ma गोवत्सैर्मण्डितं सितैः

**श्रीध० इतीति**। सन्देशं "भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना क्वचित्" (भाग०. 10-47-29) इत्यादिकम्॥ ७॥

**प्राप्त** इति। निम्नोचति अस्तं गच्छति सति, छन्नं यानं यस्येति। तदा गोपीभि रज्ञातत्वेन नन्दसङ्गं लब्धवानिति सूचयितुम्[1]॥ ८ ॥

व्रजं वर्णयति पञ्चभिः **वाशितार्थ** इति। वाशिताः पुष्पवत्यो गावः तन्निमित्तमभितो युध्यद्भिः शुष्मिभिः मत्तै र्गोवृषै र्नादितं वाश्राभिः धेनुभिः, स्ववत्सकान्प्रति॥ ९ ॥

**इतस्तत** इति। विलङ्घद्भिः उत्पतद्भिः गोदोहशब्दैः सहाभितो रवाः मुञ्च, मां मुञ्च नय, आनय, गृहाण देहि इत्यादयो यस्मिन् तत्। वेणूनां निस्वनेन च मण्डितम्[2]॥ १० ॥

**गायन्तीभिरिति**। गायन्तीभिः गोपीभिः[3] गोपैश्च सुविराजितम्॥ ११ ॥

1. J. ०यति ॥ ८ ॥ 2. MI.V. omit मण्डितम् 3. V. omits गोपीभिः।

**वीर०** इत्थमुक्त उद्धवः हे राजन् आहतः भर्तुर्भगवतस्सन्देशं "भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना क्वचित्" (भाग० 10-47-29) इत्यादिना वक्ष्यमाण मादाय रथमारुह्य नन्दगोकुलं जगाम॥ ७ ॥

[1-]तदा कीदृशश्च प्राप्तः इत्यत आह[-1] **प्राप्त** इति। विभावसौ सूर्ये निम्रोचति[2] अस्तङ्गच्छति सति श्रीमत्सम्पत्तिमत् नन्दव्रजं प्राप्तः, अक्रूरवद्भक्त्युद्रेकात् मध्ये विलम्ब्याऽस्तमयवेलायां व्रजं प्राप्त इति भावः। कथम्भूतः? प्रविशतां पशूनां[3], खुररेणुभिः छन्नं यानं रथो यस्य सः। अनेन गोपीभिरज्ञात स्सन्नन्दसङ्गमं लब्धवानिति सूच्यते॥ ८ ॥

व्रजं वर्णयति पञ्चभिः। वाशिताः पुष्पिण्यो गावः, तदर्थं संयोगार्थामीतं यावत्। परस्परं नियुध्यद्भिः शुष्मिभिः मत्तैः वृषै र्नादितं, तथा वास्राभिः धेनुभिः ऊधो भौः उपलक्षिताभिरिति शेषः। वत्सान् प्रति धावन्तीभिः मण्डितम्॥ ९॥

तथा इतस्ततः विलङ्घद्भिः सितैर्बुद्धैश्च गोवत्सैश्च मण्डितं गोदोहशब्दैस्सह अभिरवाः वत्सं मुञ्च, मामुञ्च, नय मा नय इत्यादि विधाः तैः वेणूनां स्वनेन च॥ १० ॥

रामकृष्णयोश्चेष्टितानि गायन्तीभिः गोपीभिः गोपैश्च स्वलङ्कृतैरिति लिङ्ग०यत्ययेन सम्बन्धः सुविराजितम्॥ ११॥

1- -1 T.W. omit 2. K. निम्लो० 3. K. omits पशूनां

**विज०** विभावसौ सूर्ये निम्लोचति अस्तं गच्छति सति "सूर्यवह्नी विभावसू" (अम.को. 3-381) इति। दिवाकरे (पाठान्तरं) इति केचित्। यानं रथः॥ ७, ८ ॥

वाशितार्थे सम्भोगार्थे, वृषकामिनी वासिता वा शुष्मं स्थेमा दृढं बलमेषामस्तीति शुष्मिणः तैः। ऊधोभारेण युक्ताभिः वास्राभिः वत्सलोलुपाभिः॥ ९ ॥

गोभिः वत्सैश्च गुम्फितं नादितं "गवां यो निनदो गुम्फा" (वैज.को. ) इति यादवः। "इतस्ततो ववृधद्भिः गोपैश्च सुविराजितम्" इति पाठः। ववृधद्भिः उत्पतद्भिर्नृत्यद्भिर्वा। इतस्ततो विलङ्घद्भिः" इति केचित्पठन्ति। विलङ्घनं कुर्वद्भिः॥ १०, ११ ॥

अग्न्यर्कातिथि गोविप्र पितृदेवार्चनान्वितैः।
धूपदीपैश्च माल्यैश्च गोपावासैर्मनोरमम्॥ १२ ॥

सर्वतः पुष्पितवनं द्विजालिकुलनादितम्।
हंसकारण्डवाकीर्णैः पद्मषण्डैश्च मण्डितम्॥ १३ ॥

तमागतं समालोक्य कृष्णस्यानुचरं प्रियम्।
नन्दः प्रीतः परिष्वज्य वासुदेवधियाऽऽर्चयत्॥ १४ ॥

भोजितं परमान्नेन संविष्टं कशिपौ सुखम्।
गतश्रमं पर्यपृच्छत्पाद संवाहनादिभिः॥ १५ ॥

5- नन्द उवाच -5

कच्चिदङ्ग महाभाग सखा न श्शूरनन्दनः।
आस्ते कुशल्यपत्याद्यै र्युक्तो मुक्तः सुहृद्वृतः॥ १६ ॥

1. M.Ma ०पैर्दी० 2 K.T.W. ०र्ण० 3. M.Ma ०ख० 4. G.J.M.I.V. ०गम्य; K.T.W. ०कर्ण्य 5- -5 G.J.M.I.V. omit.

**श्रीध० अग्नीति।** अग्न्याद्यर्चनान्वितैः गोपगृहैः धूपदीपादिभिश्च मनोरमम्॥ १२

**सर्वत** इति। ष ण्डा स्समूहाः॥ १३ ॥

**तमिति।** आर्चयत् पूजयामास॥ १४ - १६ ॥

1- -1 J षण्डै स्समूहैः

**वीर०** अग्न्याद्यर्चनान्वितैः गोपगृहैः धूपादिभिश्च मनोरमम्। मनोरमैरिति पाठे तै र्गोपावासै र्धूपादिभिश्च सु विराजितमिति सम्बन्धः॥ १२ ॥

परितः पुष्पितानि वनानि यस्मिन्, द्विजानां पक्षिणां भृङ्गाणाञ्च समूहै र्नादितं, हंसैः कारण्डवै र्जलकुक्कुटैश्चावकीर्णं व्याप्तं पद्मसमूहैश्च मण्डितं, हंसकारण्डवाद्याकीर्णपद्मषण्डमण्डितसरः प्रान्तवर्ति द्विजालिकुलनादित पुष्पितवन मण्डितमित्यर्थः॥ १३॥

तावत्कञ्चित्समागतं ततस्तं कृष्णस्यानुचरं प्रियञ्चोद्धवमाकर्ण्य, अभ्येत्येति शेषः। प्रीतः परिष्वज्य भगवद्बुद्ध्या पूजयामास॥ १४ ॥

ततः परमेणोत्कृष्टेन अन्नेन भोजितम्। परमान्नेनेति कर्मणः करणत्वविवक्षया तृतीया। परमान्नं भोजितमित्यर्थः। कशिपौ पर्यङ्के सुखं यथा तथा संविष्टं, गतोध्वश्रमो यस्य तम् उद्धवं पादसंवाहनादिभिः परिचरन्निति शेषः। पर्यपृच्छत्॥ २५॥

प्रश्नमेवाह - **कच्चिदित्यादिना।** अङ्ग! हे महाभाग! नोऽस्माकं सखा शूरनन्दनो वसुदेवः मुक्तः बन्धनादिति शेषः। सुहृद्भिः वृतः अपत्याद्यैस्सह कुशली सुखी आस्ते कच्चित्॥ १६॥

**विज०** कशिपौ शयनतल्पे॥ १२ - १५ ॥

मुक्तः बन्धनक्लेशात्॥ १६ ॥

**दिष्ट्या कंसो हतः पापः सानुगःस्वेन पाप्मना।**
**साधूनां धर्मशीलानां यदूनां द्वेष्टि य स्सदा॥ १७ ॥**

**अपि स्मरति नः कृष्णो मातरं सुहृदस्सखीन्।**
**गोपान्व्रजञ्चाऽऽत्मनाथं गावो बृन्दावनं गिरिम्॥ १८ ॥**

अप्यायास्यति गोविन्दः स्वजनान्[2]सकृदीक्षितुम्।
तर्हि[3] द्रक्ष्यामि[4] तद्वक्त्रं सूनासं[5] सुस्मितेक्षणम्॥ १९ ॥

दवाग्ने[6] र्वातवर्षाच्च वृषात्[7]सर्पाच्च रक्षिताः।
दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन सुमहात्मना॥ २० ॥

स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापाङ्गनिरीक्षणम्[8]।
हसितं भाषितञ्चाङ्ग! सर्वा न शिथिलाः क्रियाः॥ २१ ॥

1. MI.V, नाथान् 2. M.Ma ०नं स० 3. MI.V. क० 4. G.J.M.Ma.MI.V. ०म 5. G.J.K.M.Ma. ०न० 6. G.J.M.Ma दा० 7. G.J.MI.V. ०षस 8. G.J.MI.V. ०क्षितम्

**श्रीध० दिष्टचेति**। साधूनामित्यादि कर्मणि षष्टी॥ १७ ॥

**अपीति**। गावो गाः, गिरिं गोवर्धनम्॥ १८ ॥

**अपीति**। अप्यायास्यति आगमिष्यति किम्॥ १९ ॥

श्रीकृष्णोपकार स्मरणादिभिः अनुपमाऽऽनन्देन अभिभूयमान आह - **दवाग्नेरिति**। वाताद्वर्षाच्चेति। वृषात्सर्पाच्चेति। अन्येभ्यः दुरतिकमेभ्यो मृत्युभ्यः श्रीकृष्णेन रक्षिताः स्मः॥ २० ॥

किञ्च **स्मरता मिति**। लीलया अपाङ्गेन निरीक्षितम् अङ्ग! हे उद्धव!॥ २१ ॥

**वीर०** पापः कंसः सानुगः स्वकीयेन दुष्टेन कर्मणा निदानेन हतः, दिष्टया! अयं नो महानानन्द इत्यर्थः। पापमेव व्यनक्ति - साधूनामिति। कर्मणि षष्टी। यः कंसः साधून् धर्मएव शीलं येषां तान्यदून् द्वेष्टि अद्विक्षत् इत्यर्थः॥ १७॥

पित्रादिरूपान्नोऽस्मान् आत्मा स्वयं नाथो यस्य तं व्रजम्, गावो गाः, बृन्दावनं गिरिं गोवर्धनञ्च अपि स्मरति स्मरति किमित्यर्थः॥ १८ ॥

अप्यायास्यति आगमिष्यति किम्? तर्हि यदा आयास्यति तदा तस्य मुकुन्दस्य वक्त्रं द्रक्ष्यामि कथम्भूतम्? शोभना नासिका यस्मिन्, सुस्मिते शोभनस्मितयुक्ते ईक्षणे यस्मिन् तत्॥ १९ ॥

भगवत्कृतानुपकारान् अनुस्मरति **दवाग्नेरिति**। वाताद्वर्षाच्च, वृषात्सर्पाच्च, अन्येभ्यश्च दुरतिक्रमेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन वयं रक्षिताः। कथम्भूतेन? सुमहात्मना आश्रितार्तिहारि स्वभावेन॥ २० ॥

आत्मनामवस्थानप्रकारमेवाऽऽह- अङ्ग! हे उद्धव, भगवतो वीर्याणि चेष्टितानि, लीलया अपाङ्गेन निरीक्षणञ्च हसितञ्च भाषितञ्च स्मरतां[1] नोऽस्माकं, सर्वाः क्रिया व्यापाराश्शिथिलाः॥ २१ ॥

1 T.W. omit स्मरतां

**विज०** दिष्टया स्वकृतेन। यदूनामिति षष्ठी द्वितीयार्थे, कर्मपद मित्यध्याहार्यं वा॥ १७

मातरः मातृः, गावो गाः॥ १८ - २० ॥

क्रियाः गृहादिविषयाः॥ २१ ॥

**सरिच्छैलवनोद्देशान् मुकुन्दपदभूषितान्।**
**आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम्॥ २२ ॥**

**मन्ये कृष्णश्च रामश्च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ।**
**सुराणां महदर्थाय[1] गर्गस्य वचनं यथा॥ २३ ॥**

**कंसं नागायुतप्राणं मल्लान्[2] गजपतिं तथा।**
**अवधिष्टां[3] लीलयैव पशूनिव मृगाधिपः॥ २४ ॥**

**तालत्रयं महासारं धनुर्यष्टिमिवेभराट्।**
**बभञ्जैकेन हस्तेन सप्ताह मदधाद्गिरिम्॥ २५ ॥**

**प्रलम्बो[4] धेनुकोऽरिष्टः[5] तृणावर्तबकादयः[6]।**
**दैत्याः सुरासुरजितो हता ये नेह लीलया॥ २६ ॥**

1. K.T.W. ०तेऽ० 2. G.J.M.Ma ०ल्लौ 3. M.V. ०धीत्तान् 4. M.V. ०म्ब 5- -5 M. ०कारिष्ट 6. G.J. ०र्तो

**श्रीध०** न केवलं शिथिला एव। किन्तु, शनैरुपरमन्तीत्याह - **सरिदिति**। सरितश्च शैलाश्च वनोद्देशाश्च तान् आक्रीडान् क्रीडास्थानानि॥ २२ ॥

**मन्य** इति। सुराणामर्थाय, महद्गम्भीरं, गर्गस्य वचनं यथा॥ २३ ॥

न केवलं तद्वचनानुसारेणैव व्यवहारसम्बन्धादपीत्याह — **कंसमिति**॥ २४ ॥

**तालत्रयमिति।** इभराट् यष्टिमिव। तालत्रय प्रमाणं धनुः बभञ्ज॥ २५, २६

1. J.Va संवादा०

**वीर०** न केवलं शिथिला एव। किन्तु शनैरुपरमन्तीत्याह - **सरिदिति।** सरितश्च शैलाश्च, वनोद्देशाश्च तानाक्रीडान् क्रीडास्थानानि च ईक्षमाणानां नो मनः, तदात्मतां कृष्णात्मतां कृष्णानन्यविषयकतां प्राप्नोति॥ २२ ॥

अनितरसाधारणचेष्टितैर्लिङ्गैः रामकृष्णौ भगवदवताराविति अध्यवस्यति **मन्ये** इति। रामं कृष्णञ्च सुरोत्तमौ सङ्कर्षण नारायणौ इह लोके प्राप्तावतीर्णौ मन्ये। किमर्थम्? सुराणां महते अर्थाय प्रयोजनाय। तत्र शिष्टसंवादं प्रमाणयति गर्गस्य वचनं यथेति॥ २३ ॥

तत्र लिङ्गान्यप्याह **कंसमिति** त्रिभिः। नागायुतस्य गजायुतस्य प्राणो बलं यस्य तं, कंसं। बहुवचनान्तपाठे, तान् मल्लान् गजपतिं गजेन्द्रं कुवलयापीडं लीलयैव अवधिष्टां हतवन्तौ। यथा सिंहः पशून्, तद्वत्॥ २४ ॥

तालं परिमाणविशेषः, तत्त्रयपरिमितं महासारं अयोवद्दृढं धनुर्बभञ्ज। यथा गजेन्द्रो यष्टि मिक्षुदण्डं, तद्वत्। तथैकेन हस्तेन गिरिं गोवर्धनं सप्ताहम्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया अदधाद्दधार॥ २५ ॥

तथा देवदानवजयिनः, प्रलम्बादयो दैत्याः, येन कृष्णेन हताः। एतान्यमानुषाणि चेष्टितानि परत्वलिङ्गानीति भावः। येनेति प्रयोज्य प्रयोजककर्त्रो स्तन्त्रेण निर्देशः। अतः प्रलम्बो हत इत्यस्याऽविरोधः॥ २६ ॥

1- -1 K omits

**विज०** तदात्मतां तस्मिन्नेव०यातताम्॥ २२ ॥

महते अर्थाय प्रयोजनाय॥ २३ ॥

नागायुतवत् प्राणो बलचेष्टा यस्य स तथा तम्॥ २४ ॥

अङ्गुष्ठमध्यमे विस्तृते यत्परिमाणं स ताल इत्युच्यते। एतादृशतालत्रयपरिमाणं "प्रादेश तालगोकर्णाः" (अम. को. 2-343) इति। यष्टिं इक्षुदण्डम्॥ २५ ॥

सुरासुराञ्जयन्तीति सुरासुरजितः॥ २६ ॥

## श्रीशुक उवाच

**इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः।**
**अश्रुकण्ठोऽभवत्तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः॥ २७ ॥**

यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितनि च।
शृण्व न्त्यश्रूण्यवास्राक्षी त्स्नेहस्नुत पयोधरा॥ २८ ॥

तयोरित्थं भगवति कृष्णे नन्दयशोदयोः।
वीक्ष्याऽनुरागं परमं नन्द माहोद्धवो मुदा॥ २९ ॥

उद्धव उवाच

युवां श्लाघ्यतमौ नूनं देहिना मिह मानद।
नारायणेऽखिलगुरौ यत्कृता मति रीदृशी॥ ३० ॥

एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम्।
अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ॥ ३१ ।

यस्मिञ्जनः प्राणवियोगकाले क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम्।
निर्हृत्य कर्माशय माशु याति परांगतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः॥ ३२ ॥

1. G.J. अत्युत्क० 2. Ml.V. रति 3- -3 M.Ma इमौ प्रधान पुरुषः पुराणः। 4- -4 M.Ma ०णेषु विज्ञाय ईशा० 5 K.T.W. ०ञ्जगत्प्रा० 6. M.Ma निर्गृह्य

**श्रीध०** अखिलगुरुत्वमेव जनकत्वेन नियन्तृत्वेन चाऽऽह - **एताविति**। रामो मुकुन्दश्चेतौ विश्वस्य बीजयोनी निमित्तोपादाने। ननु पुरुषप्रधानयो बीजयोनित्वं प्रसिद्धमत आह - पुरुषः प्रधानमिति पुरुषोंऽशः प्रधानं शक्तिः, अतः प्रधानपुरुषावप्येतावेवेत्यर्थः। एवं जनकत्व मुक्तम्। किञ्च अन्वीयभूतेषु भूतेष्वनुप्रविश्य भूतानां मध्ये तदुपहितस्य विलक्षणस्य नानाभेदस्य ज्ञानस्य च जीवस्य च ईशाते ईश्वरौ नियन्तारौ भवतः। कुतः? पुराणौ अनादी अनादित्वात्कारणत्वं, ततश्च नियन्तृत्वमित्यर्थः॥ २७ - ३१ ॥

ननु सृष्ट्यादि कर्मविशात् मनुष्यादिजन्मदर्शनाच्च तस्याऽन्येभ्यः को विशेषः इत्याशङ्क्याह द्वाभ्याम् — **यस्मिन्निति**। कर्माशयं कर्मवासनां निर्हृत्य त्यक्त्वा ब्रह्ममयः स्वरूपज्ञानवान्, अर्कवर्णः शुद्धसत्त्वमूर्तिस्सन् परां गतिं तत्परं पदं याति॥ ३२ ॥

1. J.Va. omit मध्ये 2. J.Va. omit परं

**वीर० इतीति**। कृष्णे अनुरक्ता अनुरागयुक्ता धी र्यस्य अश्रूणि कण्ठे यस्य प्रेमसंरम्भेण प्रेमोद्रेकेण विह्वलः परवशः तूष्णीं बभूव नकिञ्चिदुवाच॥ २७ ॥

तदा यशोदा च वर्ण्यमानानि, भर्त्रेतिशेषः, पुत्रचरितानि शृण्वती स्नेहेन स्नुतौ प्रसृतस्तन्यौ पयोधरौ यस्या स्सा अश्रूण्यवास्राक्षीत् आनन्दज नेत्रजलबिन्दून् ववर्ष॥ २८ ॥

इत्थं तयोः[1] नन्दयशोदयोः भगवति षाड्गु[2-] ण्यपूर्णे श्रीकृष्णे[-2] परमं सर्वोत्कृष्टं[3] अनुरागं अवलोक्य उद्धवः मुदा नन्द माह॥ २९ ॥

उक्तिमेवाऽऽह **युवा**मित्यादिना — एवं निशा सा इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन[4]। हे मानद, युवां दम्पती देवाना मपि श्लाघ्यतमौ पूज्यतमावित्यर्थः। कुतः? यद्यस्मात् अखिलगुरौ नारायणे कृष्णे भगवति एवं विधानुरागयुक्ता मतिः कृता। अनेन कृतकृत्यत्वं सूचितम्। हितकृत्त्वेन नियन्तृत्वेन जनकत्वेन चाऽखिलगुरुत्वं विवक्षितम्॥ ३० ॥

तदेवोपपादयति **एताविति।** रामो मुकुन्दश्चेत्येतौ विश्वस्य बीजयोनी बीजभूतानां पृथिव्यादिनां कारणभूतौ। ननु विश्वसजातीयौ प्रकृतिपुरुषौ तस्य बीजयोनी नैतावित्यत आह पुरुषः प्रधानम्, प्रधान पुरुष शरीरका वेतावेव बीजयोनी इत्यर्थः। अनेन जनकत्वं स्पष्टीकृतम्। इमौ पुराणौ पुरुषौ विलक्षणेषु देवमनुष्यादि रूपेण नानाविधेषु भूतेषु अन्वीय अन्तः प्रविश्य ज्ञानस्य ईशाते। विलक्षणस्येति पाठे शब्दादि विषयगोचरस्य ज्ञानस्य ईशाते नियन्तारौ प्रवर्तकौ भवत इति यावत्। अनेन नियन्तृत्वमुक्तम्। यद्वा विलक्षणस्य ज्ञानस्येति सम्यग्ज्ञानस्य प्रवर्तकत्वेन हितकृत्त्वं। ईशाते इति नियन्तृत्वञ्चोक्तम्॥ ३१॥

यत्कृतामतिरीदृशीत्यनेन सूचितां कृतकृत्यता मेवोपपादयति **यस्मिन्निति** द्वाभ्याम्। यस्मिन्नित्यस्य तस्मिन्नित्युत्तरेण सम्बन्धः। क्षणं क्षणमात्रमपि विशुद्धं विषयान्तर विमुखं मनो यस्मिन् निधाय कर्माशयं कर्मवासनां निर्हृत्य दग्ध्वा ब्रह्ममयः ज्ञानप्रचुरः अर्कवर्णोऽप्राकृतरूपः परां गतिं तत्पदं याति॥ ३२ ॥

---

1. T.W. omit तयोः 2- -2 T.W. omit 3. T.W. omit सर्वोत्कृष्टं 4. T.W. omit ग्रन्थेन

**विज०** प्रेमप्रसरेण प्रेमसन्दोहेन विह्वलः विवशः॥ २७ ॥

अवास्राक्षीत् निरन्तरममुञ्चत्॥ २८, २९ ॥

नून मिदानीम्॥ ३० ॥

नारायणशतावर्यौ, ऐरावतो नागरङ्गः इतिवत् नारायणो नाम कश्चित्किं न स्यात्, अखिलगुरुश्च पाषाणवत् इति तत्राऽऽह - **एताविति**। एतौ कृष्णरामौ विश्वस्य प्रपञ्चस्य बीजयोनी बीजत्वेन रतिहेतुत्वात् रेतस्त्वेनोपजीव्यत्वेन वा योनित्वेन स्वमहिम्ना रेतोनिधानस्थानत्वेन कारणत्वेन वा कीर्तिताविति शेषः। "बीजं शुक्रे फलास्थ्न्यन्ने (वैज. को. 6-3-23) इति यादवः। "योनिः स्त्रीणां भगेस्थाने कारणे ताम्रकेपणेऽप्येषण् (वैज.को. 6-5-66) इति च। यद्वा, विश्वनाम्नो हरेः बीजे फले निष्पन्नरूपौ योनी गोवर्धनस्योद्धरणादि कर्मणा तत्त्वस्य योग्यौ च। "योग्यं यत्न क्षमारूप धानोपाधिषु वन्दने" (योग्यं यन्त्र क्षमापूप यानेनपायिषु चन्दने (वैज.को. 6-5-67) इति। "लाभे निष्पत्ति भोगेषु बीजे फले धने फलम्" (वैज.को. 6-5-52) इति च। यद्ययं न विष्णुः, तर्हि गोवर्धनोद्धरणादि कर्म न कुर्यात् मानवबलासाध्यत्वात् इत्यादि हि शब्दो वक्ति। "अजा मेकां लोहित शुक्लकृष्णां" (मना.उ. 8-4) "प्रधाना दिद मुत्पन्नम्" इत्यादिना प्रकृते र्बीजयोनित्व प्रतीतेः कथ मेतयो र्युज्यते इति तत्राऽऽह — इमाविति। "यस्त्वेष पुरुषः प्रकृतिः" इति श्रुतेः। प्रधानं प्रकृति

र्मूलकारण मित्यर्थः। अनेन विरिञ्चस्य कारणत्ववाण्यपि चित्प्रयुक्तेत्याशयेनाऽऽह पुरुष इति। "प्रकृतिं पुरुषञ्चैव प्रविश्य पुरुषोत्तमः" इत्यादेः तत्कारणत्ववाचोऽपि गति रुक्ता भवतीति। असङ्गस्य तत्प्रवेशः कथमित्यत उक्तं पुराण इति। पुरमणति प्राप्नोतीति, "तदेवाऽनुप्राविशत्" (तैत्ति उ. 2-6) इति श्रुते रसङ्गस्यापि प्रवेशो युज्यत इत्यर्थः। यद्वा, बीजयोनित्वे हेतुमाह प्रधानमिति। प्रधानत्वात्, सर्वस्मादुत्तमत्वात् "एक मेवाऽद्वितीयम्" (छान्दो उ .6-2-1) इति श्रुतिः। उत्तमत्वं कुत इत्यत्राऽऽह पुरुष इति। पुरातन पुरुषत्वात् अन्येषा मर्वाचीन पुरुषत्वा दित्यर्थः। केवलमवतारप्रयोजनं कंसादि हननं न भवति, किन्तु स्वोपदिष्टज्ञानरक्षणञ्चेति भावेनाऽऽह - अन्वीयेति। इमौ पुराणौ पूर्णानन्दौ कृष्णरामौ विलक्षणेषु विविधलक्षणेषु नानाविध०यावर्तक धर्मेषु भूतेषु अन्वीय अवतीर्य विज्ञाय ०यासाद्यात्मना विशिष्टज्ञान मुत्पाद्य असुरजनप्रकृति जनेन तन्नाशं विज्ञाय तद्धननेन तिरोहित ज्ञानोपदेशेन च ज्ञानस्येशाते समर्थयेते रक्षतः इत्यन्वयः॥ ३१ ॥

जन्मादिकं श्रोतव्यं श्रीकृष्णस्यैव मोक्षहेतुत्वात् तस्येति भावेनाऽऽह **यस्मिन्निति**। कर्माशयं शरीरारम्भक कर्मसमूहं यस्मिन्मनो वा निगृह्य विनियम्य विनाश्य ब्रह्ममयः ज्ञानप्रधान इत्यर्थः। अर्कवत्स्फटिकवत् वर्णः प्रकाशो यस्य स तथा, अतिस्वच्छ इत्यर्थः॥ ३२ ॥

**तस्मिन्भवन्ता वखिलात्म हेतौ[1] नारायणे कारणमर्त्यमूर्तौ।**
**भावं व्यधत्तां[2] नितरां महात्मन् किंवावशिष्टं युवयोस्तु[3]कृत्यम्॥ ३३ ॥**

**आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः।**
**प्रियं विधास्यते पित्रो र्भगवान्सात्त्वतां पतिः॥ ३४ ॥**

**हत्वा कंसं रङ्गमध्ये प्रतीपं सर्वसात्त्वताम्।**
**यदाह वस्समागम्य कृष्णः[4] सत्यं करोति तत्॥ ३५ ॥**

**मा खिद्यतं[5] महाभागौ द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके।**
**अन्तर्हृदि सभूताना मास्ते ज्योति रवैधसि॥ ३६ ॥**

**न ह्यस्याति[6] प्रियः कश्चिन्नाऽप्रियो वाऽस्त्यमानिनः[7]।**
**नोत्तमोनाऽधमो[8] वाऽपि[9] समानस्य[10] समोऽपि[11] वा॥ ३७ ॥**

**न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः।**
**नाऽऽत्मीयो न[12] परश्चाऽपि न देहः[13] कर्मचैव वा॥ ३८ ॥**

1. M.Ma T.W. योनौ 2. G.J. विधात्रां; MI.V. विधत्तो 3. G.J.M.Ma ०यो स्सु० 4. G.J.K.T.W. ०त्य 5. M.Ma ०चेतां 6. G.J.K. स्याऽस्ति 7. T.W. ०ह्यस्त्य० 8. T.W. ०ह्यध० 9. G. नाऽपि 10. G.J. ०स्याऽस० 11. M.Ma. च 12. M.Ma. न परश्चास्य; MI.V. नापरश्चापि 13. G.J. देहोजन्म एव च; M.Ma देहो जन्मकर्मवा; MI. देहो जन्म चैव हा; V. देहो जन्म चैव वा

**श्रीध० तस्मिन्निति**। अखिलस्याऽऽत्मा च हेतुश्च तस्मिन्, कारणेन मनुष्याकृतौ, महात्मन् महात्मनि परिपूर्णे भवन्तौ भक्तिं कुरुतः, अतः कृतार्थावित्यर्थः॥ ३३ ॥

प्रस्तुतमाह आगमिष्यतीति, पित्रोर्युवयोः॥ ३४ ॥

**हत्वेति**। "यात यूयं व्रजं तात, वयञ्च स्नेह दुःखितान्, ज्ञातीन्वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम्" (भाग. 10-45-23) इति यदाह कृष्णः तत्सत्यं करिष्यतीति॥ ३५ ॥

कालविलम्ब[2] मसहमानौ! प्रत्याह - **मा खिद्यतमिति**। हे महाभागौ अन्तिके इदानीमेव, समीपं[3] कृत इत्यत आह अन्तर्हृदीति। तर्हि सर्वैः किमिति न दृश्यते तत्राऽऽह ज्योतिरिवैधसीति। ज्यो[4-] तिर्यथा[-4] मथनं विना न दृश्यते। तथा भक्तिं विना श्रीकृष्णोऽपीति भावः॥ ३६ ॥

अहो आस्तामेतत् तस्य त्विहाऽऽगमनं स्वस्याऽतिप्रियान् पित्रादीन् विहाय न सङ्गच्छत इति मन्ये[5] तत्राऽऽह-**नेति**। अस्य प्रियादयो नहि सन्ति। तत्र हेतुः[6] अमानिनः समानस्येति च॥ ३७,३८ ॥

1. J.Va कृत कृत्यावि० 2. J.Va. ०म्बन० 3. J.Va. add वा 4- -4 J.Va. तद्यथा 5. J.Va. मन्येत 6. J.Va. ०तू

**वीर०** तस्मिन्नारायणे कारणमर्त्यमूर्तौ साधुपरित्राणरूपनिमित्तात् स्वसङ्कल्पोपात्तमनुष्य विग्रहे महात्मानि अखिलस्य चिदचिदात्मकस्य जगतः आत्मनि कारणभूतेच भवन्तावत्यन्तं भाव मनुरागं व्यधत्ता मकुरुताम्। अतो युवयोः किंकृत्यमवशिष्टं न किञ्चिदित्यर्थः॥ ३३ ॥

प्रस्तुतमाह **आगमिष्यतीति**। अदीर्घेणाऽल्पेन कालेन अच्युतो व्रजं प्रत्यागमिष्यति। तदा भगवान् पित्रो र्युवयोः प्रियं विधास्यते करिष्यति॥ ३४ ॥

सर्वेषां सात्त्वतानां यादवानां भगवद्भक्तानां वा, प्रतीपं प्रतिकूलं कंसं रङ्गमध्ये हत्वा भगवान्कृष्णः वो युष्मान्प्रति यदाह - "यात यूयं व्रजंतात, वयञ्च स्नेहदुःखितान्, ज्ञातीन्वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां प्रियम्" (भाग०.10-45-23) इति यदाऽऽह तत्सत्यं करिष्यति॥ ३५ ॥

विलम्बमसहमानौ प्रत्याह - **मा खिद्यतमिति**। हे महाभागौ, मा खिद्यतं खेदं मा कुरुतम्। अन्तिके अनतिविप्रकृष्ट काले कृष्णं द्रक्ष्यथः। किञ्च न भगवान् मधुरायामेवाऽऽस्ते किन्तु अत्राऽऽपि इत्याशयेनाह अन्तर्हृदीति। तर्हि सर्वैः किमिति न दृश्यते? तत्राऽऽह ज्योतिरिवैधसीति। यथैधसि दारुणि ज्योतिरग्निः मथनाद्युपाय मन्तरेण न दृश्यते, तद्वत् भगवान् कृष्णो भक्तिं विना न दृश्यत इत्यर्थः॥ ३६ ॥

अस्मत्तोऽपि प्रियतमान् वसुदेवादीन् विहायाऽत्राऽऽगमिष्यति इत्येत दसम्भावित मित्यत्राऽऽह - **न ह्यस्येति**। अस्य भगवतः प्रियादयो न सन्ति। तत्र हेतु रमानिनः समानस्येतिच। अमानिनः ममताभिमान रहितस्य, सर्वसमानस्य॥ ३७॥

मात्रादयस्सन्त्येवेत्यत्राऽऽह - **न मातेति**। तत्र हेतु र्न देह इति। देहस्यैवाभावे कृतस्तत्सम्बन्धिनो मात्रादय इति भावः। ननूपलभ्यते तस्यापिदेहः, तत्कथं नचास्यदेह इति ब्रूषे? अत आह कर्मचैवेति। पुण्यपापात्मक कर्मारब्ध देहो नाऽस्तीत्यर्थः॥ ३८ ॥

**विज०** भावं भक्तिम्। यद्वा लीलादिकं वा। यद्विषयमन्तरेण किमपि नास्तीत्यर्थः। व्यधत्तां व्यदधातां कृतवन्तावित्यर्थः। महात्मन् महात्मनि चेतनोत्तमे इत्यर्थः॥ ३३, ३४ ॥

प्रतीपं प्रतिकूलम्॥ ३५ ॥

अन्तिके कालक्षेपंविना बालबुद्धिमन्तरेण कृष्णस्य दूरस्थत्वं नास्तीत्याऽऽह। **अन्तर्हृदीति**। एधसि काष्ठे। ज्योति रग्निः॥ ३६ ॥

प्रेष्टानां हृद्यैव वर्तते नाऽन्येषामिति नियमोनास्तीति भावेनाऽऽह- **न हीति**। अमानिनः अहम्ममाभिमानरहितस्य योग्यतानुसारेण। 'समानस्य समोऽपि च' इति पाठः॥ ३७, ३८ ॥

**1- न चास्य कर्म वा लोके -1 सदसान्मिश्रयोनिषु।**
**क्रीडार्थं 2 सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते॥ ३९ ॥**

**सत्त्वं रजस्तम इति भजते निर्गुणो 3 गुणान्।**
**4- क्रीडन्ननीहोऽपि -4 गुणैः सृजत्यवति हन्त्यजः॥ ४० ॥**

**★ यथा भ्रमरिकादृष्ट्या भ्राम्यतीव 5 महीयते।**
**चित्ते कर्तरि तत्रात्मा कर्तेवाऽहन्धिया स्मृतः॥ ४१ ॥**

**युवयोरेव नैवाऽऽयमात्मजो भगवान्हरिः।**
**सर्वेषामात्मजोह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः॥ ४२ ॥**

**हृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत्स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च**
**9- विनाऽच्युता द्वस्त्वितरं नकिञ्चित् स एव सर्वं 10 परमात्मभूतः॥ ४३ ॥**

1- -1 K.T.W. न चास्य जन्म वा लोके; M.Ma लोकेस्य जन्मकर्माणि 2. G.J. Ml.V. ० र्थः 3. M.Ma. महान् 4- -4 G.J. ०न्नतीतोऽत्र; K.T.W. ०न्नतीतोऽपि; M.Ma ०न्ननीहोऽनु ★ This verse is not found in M & Ma edns. 5. Ml.V. तथा 6. ०M.Ma स्नु च ० 7. M.Ma. ० ष्णु म ० 8. Ml.V. वा 9- -9 G.J.Ml.V. ० द्वस्तु तरां न वाच्यं०; M.Ma द्वस्तुतया न चान्यत् 10 G.J.Ml.V. मार्थभूतः; M.Ma मार्थरूपः

**श्रीध० नेति**। सोऽपि जन्मकर्मादिरहितोऽपि[1] क्रीडा प्रयत्नेन सन्[2] साधूनां परिपालनाय सदसन्मिश्रयोनिषु सात्त्विक राजस तामस मिश्रयोनिषु[3]। यद्वा, देवादि मत्स्यादि नृसिंहादि योनिषु कल्पते आविर्भवतीत्यर्थः॥ ३९ ॥

ननु जन्मकर्मादि रहितस्य कुत एतदित्यत आह **सत्त्वमिति**। क्रीडाया[4-] मनीहोऽपि[-4]क्रीडन्, तथाऽपि माया गुणै र्घटत इत्यर्थः॥ ४० ॥

अत्राऽविद्योपाधेर्जीवस्य कर्तृत्वं दृष्टान्तीकुर्वन् तस्याविद्ययैव कर्तृत्वमिति सदृष्टान्तमाह - **यथे**ति। भ्रमरिका परिभ्रमणं तयोपलक्षितया दृष्ट्या भूरपि भ्राम्यतीव[5] यथा[6] प्रतीयते। एवं चित्ते कर्तरि सति तत्र चित्ते अहन्धिया आत्माध्यासेन आत्माकर्ता स्मृतो यथा तद्वदिति॥ ४१ ॥

किञ्च। युवयोरेव नाऽयमात्मजः किन्तु सर्वेषामपि। तत्राऽपि नाऽत्मज एव किन्तु शत्रुमित्रादि रूपोपीति सर्वात्मत्व[7] निरूपणेन मोहनिवृत्तये सम्बन्धमनैकान्तिकं[8] करोति द्वाभ्यां **युवयोरिति**॥ ४२ ॥

**हृष्टमिति**। अच्युता द्विनातरां नितरां तत्त्वतो वाच्यं निर्वचनार्हं वस्तुनास्तीति॥ ४३ ॥

1 Va omits अपि 2 J,Va add सः 3 J,Va omit मिश्र 4- -4 J,Va °डामतीतोऽपि 5 J,Va °ति 6 Va त० 7 MI,V omit °त्व० 8 J,Va °की०

**वीर०** ननूपलब्धा तस्याऽपि देहोत्पत्तिः तत्राऽऽह - **नचाऽस्य जन्मेति**। तस्योत्पत्तिखतारूपेति भावः। किमर्थमवतारस्तत्राऽह लोक इति। सोऽपि जन्म कर्मादि रहितोऽपि क्रीडार्थं साधूनां परित्राणरूप परमप्रयोजनाय च, लोके[1] सदसन्मिश्रयोनिषु उत्तमाधम मध्यमयोनिषु देवतिर्यङ्मनुष्ययोनिषु कल्पते आविर्भवति[2]। अनेन विलक्षण जन्मकर्मादिभिर्जीव वैलक्षण्यं सूचितम्॥ ३९ ॥

तदेव विशदयति - **सत्त्वमिति**। निर्गुणस्सत्त्वादि प्राकृतगुणेभ्यो निर्गतः पारवश्यरहित इत्यर्थः। जीवस्तु सत्त्वादि गुणवश्य इति भावः। सत्त्वादीन् गुणान् भजते। स्वलीलोपकरणतया नियाम्यतया च तान्परिगृह्णाति। जीवस्तु भोग्यतया नियमनाशक्त्या च तानानुवर्तत इति भावः। गुणैरुपकरण भूतैः, क्रीडन्नपि तानतीतः अतिक्रान्तः स्वरूपतस्स्वभावश्च गुणैरनभिभूत इत्यर्थः। जीवस्तु तै स्स्वभावतोऽभिभूत, इति भावः। क्रीडन्नित्यनेन जीवस्य गुणकार्य शब्दादिविषयभोगस्सूचितः। काऽसौ क्रीडेत्यतः तां दर्शयति सृजतीति। विश्वमिति कर्मपद मध्याहार्यम्। अजः स्वयं विश्वगतोत्पत्त्यादिरहितः। सृजति अवति रक्षति संहरति च। जगद्व्यापारस्तस्य क्रीडेति दर्शितं भवति। अनेन जीवस्तु सुखदुःखाद्यनुभवाय पुण्यपापात्मककर्माणि करोतीति[3] सूचितम्। अज इत्यनेन विश्वगतोत्पत्त्यादि भाग्भवति जीवः, जातोऽहं, मृतोऽहमिति देहधर्मानात्मनि मन्यत इति च॥ ४० ॥

एतदेवदृष्टान्तमुखेनोपपादयति **यथेति**। भ्रमरिका अतिवेग भ्रमणक्रिया तया उपलक्षितया दृष्ट्या यथाभूरपि भ्राम्यतीव बम्भ्रम्यमाणेव ईयते प्रतीयते, तथा आत्मा कर्ता च सन्नेवजीवः तत्रानात्मनि अकर्तरि च चित्ते चित्तशब्दोपलक्षिते देहे

अहन्धिया स्वाभेधाभिमानेन स्मृतःमतः। स्वगत कर्तृत्वात्मत्वज्ञातृत्वादीन् विस्मृत्य देहमेव तथाविधं मन्यत इत्यर्थः यद्वा, एवं जीवविलक्षणो भगवान्कृष्णः तद्याथात्म्याविद्धि स्वतुल्यतया दृश्यत इति सदृष्टान्तमाह- **यथेति**। स्वयं भ्रमरिकारहिताऽपि भूर्यथा भ्रमरिकादृष्ट्या भ्राम्यतीव प्रतीयते तथाऽऽयं कृष्णः अहन्धिया स्वतुल्य बुद्ध्या कर्ता पुण्यपापात्मक कर्मकर्ता य आत्मा जीवः स इव चित्ते अकर्तरि स्मृतः करणभूते चित्तेऽनुसन्धीयत इत्यर्थः। यद्वा, कर्तरीत्येवच्छेदः कर्तरि जीवे यच्चित्तं तस्मिन्नहन्धिया। तामेव प्रपञ्चयति - तत्र चित्ते आत्मा कर्तेव पुण्यपापादिकर्ता तदायत्त देहभाग्जीव इव स्मृतः मतः॥ ४१ ॥

एवं जीववैलक्षण्य मुपपाद्य तयोस्तस्मिन् केवलं पुत्रत्वाभिमानं वारयन् तदनवगत सम्बन्धान्तराण्युपदिशन् तानि च सर्वसाधारणानीत्याह **युवयोरिति**। अयं ज्ञानादिकल्याणगुणाकरःनिरस्तनिखिल दोषः आश्रितबन्धहरः श्रीकृष्णः युवयोरेव आत्मज एव न भवति, किन्तु सर्वेषामप्यात्मजः। कुतः हि[4] यस्मात् आत्मा सर्वान्तरात्मा तत्तदात्मजाद्यन्तरात्मतया तच्छरीरकत्वेन तद्रूपत्वादिति भावः। न केवलमात्मज एव। अपितु पिता सर्वकारणत्वादिति भावः। माता च हितैककारित्वादिति भावः। यद्वा सर्वात्मकत्वात् मात्रादिरूपोऽपि स एवेति भावः। ईश्वरः स्वामी च अनेन "माता पिता भ्राता निवास श्शरणं सुहृद्गतिश्च नारायणः" (सुब; उ 6-2-1) इति श्रुत्यर्थोऽभिसंहितः॥ ४२ ॥

सर्वेषामात्मेत्यनेनोक्तं सर्वात्मकत्वमेव[5] प्रपञ्चयति दृष्टमिति। दृष्टाद्यन्यतमं यत्किञ्चिद्वस्तु तदच्युतं[6] विना नास्ति। सर्वमच्युतायत्तसत्तादि मत्त्वेन तच्छरीरत्वेव च तदात्मकमेवेत्यर्थः। कुतः ? यतः, परमात्मभूतः लोकत्रयमप्यन्तःप्रविश्य प्रशासनेन तस्य भर्ता व्याप्यगत दोषास्पष्टश्च। अत स्सर्वं जगत्स एव। विशेषणबुद्धिशब्दयो राकृत्यधिकरणन्यायेन विशेष्यपर्यन्तत्व स्वाभाव्यद्विशेषणस्य च विशिष्टवत्स्वन्तर्भूतत्वेन विशिष्टात्पृथग्वस्तुत्वाच्च जगद्रूपेण स एवाऽनु सन्धेय इत्यर्थः॥ ४३ ॥

1 T,W omit लोके 2 T,W °र्बभूव 3 K विशेषः। 4 T,W यत् 5 T,W त्म्यमेव 6 T,W omit तत्

**विज०** नन्वेवं विधस्य हरेः कथं जन्मादिक मुपपद्यते इति तत्राऽऽह - लोक इति। सदसन्मिश्रयोनिषु सुरनरतिर्यग्योनिषु॥ ३९॥

अनुगुणैस्तत्तत्कर्मानुकूलैः सत्तादिभिः॥ ४०,४१ ॥

सम्यक् प्रणिहिते आत्मनि मनसि जायते प्रकाशते इत्यात्मज इत्यध्यात्मम्॥ ४२ ॥

युवयोरेकं तत्त्वं संक्षिप्य वदामीत्याह- **दृष्टमिति**। भविष्यत् भूतं भवद्वर्तमानं, स्थास्नु स्थावरं, चरिष्णुजङ्गमम्। अच्युताद्विना अन्यत् ब्रह्मादिकं वस्तुतया स्वातन्त्येण नैवास्ति। किन्तु सर्वं स एव तदधीनमेव। सकीदृशः परमार्थरूपः नित्याप्रतिहत स्वरूप इति बुध्यध्वमिति॥ ४३ ॥

## [1-]श्रीशुक उवाच[-1]

एवं निशा सा ब्रुवतो व्य[2]तीता नन्दस्य कृष्णानुचरस्य राजन्।
गोप्यस्समुत्थाय निरूप्य दीपान् वास्तून्समभ्यर्च्य दधीन्यमन्थन्॥ ४४ ॥

तादीपदीपै[3]र्मणिभिर्विरेजू रज्जूर्विकर्ष[4-]द्भुजकङ्कणस्रजः[-4]।
चलन्नितम्बस्तनहारकुण्डल त्विषत्कपोलारुण कुङ्कुमाननाः॥ ४५ ॥

उद्गायतीना मरविन्दलोचनं व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद्ध्वनिः।
दध्नश्च निर्मन्थन शब्दमिश्रितो निरस्यते येन दिशाममङ्गलम्॥ ४६ ॥

भगवत्युदिते सूर्ये व्र[5]ज द्वारि व्रजौकसः।
दृष्ट्वा रथं शातकौम्भं[6] कस्यायमिति चाऽब्रुवन्॥ ४७ ॥

अक्रूर आगतः किं वा यः कंस स्यार्थसाधकः।
येन नीतो मधुपुरीं कृष्णः कमल लोचनः॥ ४८ ॥

किं साधयिष्य त्य[7]स्माभिः भर्तुः प्र[8]तस्य निष्कृतिम्।
इ[9]ति स्त्रीणां वदन्तीना मुद्धवोऽगा त्कृताह्निकः॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्रयां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
नन्दशोकापनयनं नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४६ ॥

1- -1 G,J,K,T,W omit 2 T,W °व्य० 3 M,Ma रज्ज्वा 4- -4 M,Ma °त्करकङ्कणाः स्त्रियः 5 G,J, नन्द० 6 Ml,V कु० 7 Ml,V °तेस्मा० 8 J,Ml,V प्री० 9 Ml,V ततः

**श्रीध० एवमिति।** दीपान् निरूप्य प्रज्वाल्य वास्तून् देहल्यादीन्॥ ४४ ॥

**ता** इति। मणिभिः काञ्च्यादिषु स्थितैः, रज्जू विकर्षत्सु भुजेषु कङ्कणानां स्रजो यासां ताः, चलन्तो नितम्बाः स्तनाहाराश्च यासां ताः, कुण्डलै स्त्विषन्तः स्फुरन्तःकपोलाः यासाम् ताः अरुणानि कुङ्कुमानि येषु तानि आननानि यासां ता एव ताश्च ताश्च॥ ४५-४७ ॥

तदा व्रजौकसो गोप्यः सक्रोधमाहुः- **अक्रूर** इति। अर्थं साधितवानित्यर्थ साधकः। तदाऽऽहुः येन नीत इति॥ ४८ ॥

कंसं घातयित्वा पुनः किमर्थमागत इत्याशङ्क्य स्वयमेव[1] कार्यं[2] सम्भावयन्ति। **किमिति।** तदा साधितेन कार्येण प्रीतस्य तुष्टस्य[3] भर्तुः। पाठान्तरे - प्रेतस्य मृतस्य कंसस्य निष्कृतिं और्ध्व दैहिक मस्माभिः कृत्वा साधयिष्यते किम्? अस्मन्मांसैः किं पिण्डान् कृत्वा दास्यतीत्यर्थः इत्येवं[4] वदन्तीनां स्त्रीणां, तत स्तस्मिन्नवसरे कृताह्निकः[5] कृतस्नानादिनियमः उद्धवः अगात्[6-] आगतः[-6]॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
षट्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४६ ॥

1. MI,V omit स्वयमेव 2. J,Va कारणं 3. MI,V omit तुष्टस्य 4. MI.V omit इति 5. MI,V omit कृताह्निकः 6- -6 J,Va आगत इति

**वीर० एवमिति।** हे राजन्नित्थं कृष्णानुचरस्योद्धवस्य नन्दस्य च मिथो ब्रुवतस्सतः सा निशा व्यतिक्रान्ता बभूव। तदा निशायाः पश्चिमे यामे गोप्यस्समुत्थाय दीपान् निरूप्य प्रज्वाल्य वास्तून् देहल्यादीन् समभ्यर्च्य गन्धादिभिरिति शेषः । दधीन्यमन्थन् ममन्थुः॥ ४४ ॥

मथ्नती स्तावर्णयति - **ता** इति। ताः मथ्नत्यो गोप्यः दीपैः दीप्ताः या काञ्च्यादि स्थिता मणयः, तै विरेजुः। कथम्भूताः? मन्थन दण्डरज्जूः विकर्षत्सु भुजेषु कङ्कणानां स्रजः यासां ताः चलन्तो नितम्बाः स्तनाहाराश्च[1] यासां कुण्डलैः त्विषन्तः स्फुरन्तः कपोलाः यासां, अरुणानि कुङ्कुमानि येषु तानि आननानि यासां ताश्च॥ ४५ ॥

तादात्विकध्वनिं लक्षयति- **उद्गायतीनामिति।** अरविन्दलोचनं कृष्णं उच्चैर्गायन्तीनां गोपीनां ध्वनिः दध्नः निर्मथन-[2]जशब्देन मिश्रितो दिवमस्पृशत् व्याप्तवान्। येन ध्वनिना दिशाममङ्गलं निरस्यते अपनुद्यते॥ ४६ ॥

तदा भगवत्यादित्ये उदिते सति व्रजौकसो गोप्यः द्वारि शातकौम्भं सुवर्णालङ्कृतं रथं दृष्ट्वा कस्याऽयमित्यूचुः। सक्रोधमिति शेषः॥ ४७ ॥

**अक्रूर** इति। किं वा सोऽक्रूर आगतः कोऽसौ। यः कंसस्य अर्थं[3] प्रयोजनं साधितवान्। तदाहुः येन च कृष्णो मधुपुरीं नीतः[4]प्रापितः॥ ४८ ॥

कंसं घातयित्वा पुनः किमर्थमागत इत्याशङ्क्यकार्यं सम्भावयन्ति **-किमिति।** तथा साधितेन कार्येण प्रेतस्य मृतस्य भर्तुः[5-] कंसस्य निष्कृतिं और्ध्वदैहिकं अस्माभिः कृत्वा साधयिष्यति किम् अस्मन्मांसैः पिण्डान् कृत्वा दास्यति किमित्यर्थः। इतीति शुकोक्तिः[-5] । इत्थं स्त्रीणां वदन्तीनां सतीनां तस्मिन्नेवाऽवसरे कृतस्नानादिनियम उद्धव अगात्[6] आजगाम॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवत चन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां षट् चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४६ ॥

1. T,W °न 2. K °न्थ 3. T,W अर्थः 4. T,W omit नीतः 5- -5 T,W omit 6 T,W omit अगात्

**विज०** निरूप्य प्रज्वाल्य वास्तून् गृहद्वारि देहल्यादिषु वास्तुदेवताः मार्जनालेपनाक्षतादिभिः सम्यगभ्यर्च्य अमन्थन् ममन्थुः॥ ४४ ॥

मथनरज्ज्वा विकर्षन्तः उल्लिखन्तः करकङ्कणा यासां ताः। यद्वा मथन रज्ज्वाऽविकर्षन्तः । चलद्भिः नितम्बादिभिः त्विषन्ति कपोलादीनि अरुण कुङ्कुमानि आननानि यासां तथा। अरुणानि कुङ्कुमानि येषु तानि तथा वा॥ ४५ ॥

येन ध्वनिना, दिशाममङ्गल मित्यनेन दिगन्तर्वासिनां जनानामशुभं नश्यतीत्युच्यते॥ ४६ ॥

शातकौम्भं शातकुम्भेन सुवर्णेन विरचितम्॥ ४७, ४८ ॥

प्रेतस्य मृतस्य भर्तुः कंसस्य निष्कृतिमानृण्यमस्माभिः करिष्यति, अस्मद्दण्डेन कर्तुमिच्छति किमित्यर्थः। इति वदन्तीनां कृताह्निकः अनुष्ठित प्रातः काल क्रियः॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
षट्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४६ ॥
(श्रीविजयध्वजरीत्या चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः)

# सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः, षट्चत्वारिंशोऽध्यायश्च)

श्रीशुक उवाच

तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः प्रलम्बबाहुं[1] नवकञ्जलोचनम्।
पीताम्बरं पुष्करमालिनं लसन्मुखारविन्दं परिमृष्टकुण्डलम् ॥ १ ॥

शुचिस्मिताः[2] कोऽयमपीच्यदर्शनः[3] कुतश्च कस्याच्युतवेषभूषणः[4]।
इति स्म सर्वाः परिवव्रु रुत्सुका स्तमुत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रयम् ॥ २ ॥

तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः।
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने[6] विज्ञाय सन्देशहरं रमापतेः ॥ ३ ॥

जानीमस्त्वां यदुपतेः पार्षदं[7-] समुपस्थितम्[-7]।
भर्त्रेह प्रेषितः पित्रोः भवान्प्रियचिकीर्षया ॥ ४ ॥

अन्यथा गोव्रजे तस्य स्मरणीयं न चक्ष्महे।
स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः ॥ ५ ॥

1. G.J. मणि° 2. M.Ma सुवि° 3. MI.V. °तः 4. M.Ma मतीवद° 5. MI.v. इतीव 6. M,Ma °न्परि° 7- -7 G.J. MI.V पार्षदं समुपागतम्; M-Ma पार्षदार्यमनुव्रतम्

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

सप्तचत्वारिंशकेऽथ कृष्णादेशेन गोपिकाः।
बोधयित्वोद्धव स्तत्त्व मनुज्ञाप्याऽगमत्पुरीम् ॥

**शुचिस्मिता** इति। अपीच्यं सुन्दरं दर्शनं यस्य सः। अच्युतस्येव वेषो भूषणानि च[1] यस्य सः। कोऽयं, कुतो वा कस्य वा इति वदन्त्यः तं परिवव्रुः ॥ १-३ ॥

**जानीम** इति। पार्षदं सेवकम् ॥ ४ ॥

**अन्यथेति**। पित्रोः प्रियचिकीर्षयेत्यत्र हेतु

1. J.Va च

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ तासां तेन सह संवादप्रकारं भगवति प्रेमातिशयञ्चाऽनुवर्णयति सप्तचत्वारिंशेन **तमिति**। कृष्णस्य अनुचरं भृत्यं प्रलम्बौ आजानुलम्बिनौ बाहू यस्य, नवकञ्जे सद्योविकसितपद्मदले इव लोचने यस्य, पीते पिशङ्गे अम्बरे यस्य, पुष्करमाला पद्ममाला अस्यास्तीति तथा व्रीह्यादित्वान्मत्वर्थीय इनिः। मुख मरविन्द मिव मुखारविन्दम्। "उपमितं व्याघ्रादिभिः" (अष्टा 2-1-56) इति समासः। लसत् मुखारविन्दं यस्य परिमृष्टे निर्मलीकृते कुण्डले यस्य तमुद्धवं वीक्ष्य व्रजस्त्रियः सर्वाः उत्सुकाः सत्यः, उत्तमश्लोकस्य पदाम्बुज मेवाऽऽश्रयो यस्य, तमुद्धवं परिवव्रुः परिवेष्टितवत्य इत्यन्वयः। किं कुर्वत्यः? अपीच्यं सुन्दरं दर्शनं यस्य। अच्युतस्येव वेषो भूषणानि च यस्य सः। कोऽयं, कुतो वा, कस्य वेति वदन्त्य इति शेषः। स्मेति विस्मये ॥ १, २ ॥

**तमिति**। सव्रीडेन हासेन ईक्षणेन सूनृतेन मधुरभाषणेन, आदिशब्देन अर्घ्यादिभिश्च। सत्कृतं रहसि एकान्ते आसने उपविष्टं तं रमापतेः कृष्णस्य सन्देशहरं वार्ताऽऽहर्तारं विज्ञाय ज्ञात्वा अवनताः नम्राः प्रणता इति यावत्। प्रश्रयेण विनयेन अपृच्छन् पप्रच्छुः ॥ ३ ॥

प्रश्नमेवाह **जानीम** इति। त्वां यदुपतेर्भगवतः पार्षदं भृत्य मत्र समुपस्थितं समागतं जानीमः। किमर्थं समुपस्थितोऽहमित्यत्राऽऽहुः- भर्त्रेति। भर्त्रा यदुपतिना पित्रो र्नन्दयशोदयोः प्रियं कर्तुमिच्छया अत्र भवान्प्रेषितः ॥ ४ ॥

कुतोऽयं निश्चय इत्यत्राऽऽह - **अन्यथेति**। अन्यथा पित्रोः प्रियचिकीर्षामन्तरेणेत्यर्थः । तस्याऽवाप्तसमस्त कामस्येति भावः। गोव्रजे निहीने इति भावः । स्मरणीयं स्मर्तुं योग्यं वस्तु न चक्ष्महे न पश्यामः । प्रियचिकीर्षयेत्यत्र हेतुः स्नेहानुबन्ध इति। बन्धूनां पित्रादीनां सम्बन्धी स्नेहरूपोऽनुबन्धः पाशः मुनेरपि त्यक्तुमशक्यः ॥ ५॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

गोपस्त्रीणां व्यामोहोक्तिभङ्ग्यापि श्रीकृष्णैकभक्तिं निरूपयत्यस्मिन्नध्याये। तत्र गोपीनामुद्धवसन्दर्शनात् हृष्टमनसां तत्त्वप्रश्नप्रकारं वक्तुमाह **तं वीक्ष्येति**। परिमृष्टकुण्डलं शाणोल्लीढवत् द्योतमानकर्णाभरणम् ॥ १ ॥

अतीव प्रशस्ततमं दर्शनमवलोकनं यस्य स तथा, अयं क इति सामान्यप्रश्नः । कुतो देशादागत इति च विशेषप्रश्नः। अच्युतस्येव वेषभूषणानि यस्य स तथा। वैष्णवलक्षणेन इतरव्यावृत्तोऽसौ कः, वैष्णवेषु किं नामधेय इति ततोऽपि विशेषप्रश्न इति। मिथोऽनुव्रज्य सामान्यतोऽस्मत्प्रेष्ठ इति स्मृत्वा तं परिवव्रुः आवेष्टितवत्य इत्यन्वयः ॥ २॥

पुनस्ताभिः किं कृतमत्राऽऽह- **तमिति**। अनेन सामान्यज्ञानं विशिष्टज्ञानपर्यवसायीति निरणायि। प्रश्रयेणोपचारेण "प्रियं सत्यञ्च सूनृतम्" (हला. को. 1-141) इति च ॥ ३ ॥

पार्षदार्यं पार्षदानां समीपवर्तिनां भृत्यानां श्रेष्ठं तैः पूज्यं वा, अनुव्रतं भगवन्मनोनुकूलव्रतम् ॥ ४ ॥

अन्यथा यशोदानन्दगोपयोः प्रियकरणेच्छामन्तरेण स्मरणीयं स्मरणकारणयोग्यं न चक्ष्महे न पश्यामः । गोव्रजे भुवि गोष्ठे। सुरभिलोकव्यावृत्त्यर्थो गोशब्दः, गवां व्रज स्समूहो यस्मिन् स्थाने तत्तथा। तस्मिन्वा पशुजातियुक्तगोष्ठे वा ॥ ५ ॥

अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बना[1]।
पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत्सुमनस्स्विव षट्पदैः ॥ ६ ॥

निःस्वं त्यजति गणिका अकल्यं[2] नृपतिं प्रजाः
अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम् ॥ ७ ॥

खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चाऽतिथयो गृहम्[3]।
दग्धं मृगा स्तथाऽरण्यं जारो भुक्त्वा रतां[4] स्त्रियम् ॥ ८ ॥

[5-]श्रीबादरायणिरुवाच[-5]

[6-]इति गोप्यो हि[-6] गोविन्दे[7] गतवाक्कायमानसाः[8--8]।
कृष्णदूते[9] व्रजं याते[10] उद्धवे त्यक्तलौकिकाः[11] ॥ ९ ॥

गायन्त्यः प्रियकर्माणि रुदत्यश्च[12] गतह्रियः।
तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरबाल्ययोः ॥ १० ॥

भ्रमरगीतादिकथा प्रारम्भघट्टः

काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम्।
प्रिय प्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

1. G.J. °नम् 2. G.J. M.Ma °त्यं 3. K.T.W. °हान् 4. M.Ma पर 5- -5 G.J. M.Ma omit; MI.V श्रीशुक उवाच 6- -6 M.Ma ददर्श गोपीः 7. MI.V °न्द 8- -8 M.Ma मनोवाग्देहचेष्टितैः 9. M.Ma °तो 10. M.Ma ° प्राप्तः 11. M.Ma ° स्त्यक्त° 12. K.M.Ma.MI.T.V.W न्त्य°

**श्रीध०** अन्यथा गोव्रजे तस्येत्यत्र हेतुः - **अन्येष्विति**। अर्थकृता कार्यनिमित्ता विडम्बनमनुकरणमात्रं न तु तात्त्विकी मैत्री। पुम्भिरिति। पुम्भिरिति दृष्टान्तः ॥ ६ ॥

अस्यैवाऽन्यार्थनिदर्शनः[2-] [-2] दृष्टान्तप्रपञ्चः[3] **निस्स्वमित्यादिना** अधीतेति। दत्ता दक्षिणा येन तम्[4] ॥ ७ ॥

पक्षिणो वीतफलं[5-] [-5] विगतफलं[6-] [-6] वृक्षं, रतां अनुरतां अतृप्तामित्यर्थः ॥ ८ ॥

**इतीति।** त्यक्तलौकिकाः त्यक्तलोकव्यवहाराः ॥ ९ ॥

**गायन्त्य** इति। प्रियस्य कर्माणि गायन्त्यः । तथा तस्य बाल्यकैशोरयोः यानि कर्माणि तानि संस्मृत्य संस्मृत्य गतह्रियस्सत्यो रुदन्त्यश्च तमपृच्छन्निति पूर्वक्रिययैव सम्बन्धः ॥ १० ॥

**काचिदिति।** प्रियेण श्रीकृष्णेन मां प्रसादयितुं प्रस्थापितोऽयं दूत इति कल्पयित्वाऽब्रवीत्। यद्वा तस्मिन्[7-] अत्युद्धवे प्रियप्रस्थापितदूतमिति दूतदृष्टिं[-7] कृत्वा मधुकरापदेशेन उद्धवमेवाऽ ब्रवीत् इत्यर्थः ॥ ११ ॥

1. J.Va °न्तौ 2- -2 MI,V °धान्यार्थदर्शनि 3. J.Va omit दृष्टान्त 4. J.Va add याज्यम् । 5- -5 J.Va omit 6- -6 V omits 7- -7 MI V प्रियप्रस्थापिते उद्धवे।

**वीर०** अन्येषु अबन्धुषु[1] तु मैत्री अर्थकृता स्वप्रयोजनप्रयुक्ता, अतस्सा यावदर्थनिबन्धना यावत्प्रयोजनं निबन्धनं कारणं यस्या स्तथाभूतेत्यर्थः। 'यावदर्थं विडम्बना' इति पाठे यावत्प्रयोजनं विडम्ब्यतेऽनुक्रियते तथाभूतेत्यर्थः, न तु सा तात्त्विकमैत्रीति भावः । किं क्वचिदेवं दृष्टमित्यत्राऽऽहुः - पुम्भिरिति। यद्वद्यथा स्त्रीषु पुंश्चलीषु पुम्भिः कृता मैत्री। यथा च सुमनस्सु मधुभरितेषु कुसुमेषु षट्पदैः भृङ्गैः कृता एते उदाहरणे, न तु दृष्टान्तौ ॥ ६ ॥

उदाहरणान्तरमुखेन यावदर्थनिबन्धनत्वमेव स्पष्टयन्त्यः प्राहुः - **निस्स्वमिति** द्वाभ्याम्। निस्स्वं निर्धनं गणिका वेश्याः त्यजन्ति। यावत्स्वमनुवृत्त्य ततस्तं त्यजन्तीत्यर्थः । एव मुत्तरत्राऽपि। अकल्यं प्रजापालनासमर्थं नृपं, अधीता विद्या यै स्ते, शिष्या इत्यध्याहारः । दत्ता दक्षिणा येन तं, यजमानमृत्विजः त्यजन्ति। वीतानि विगतानि फलानि यस्मात्तं वृक्षं खगाः पक्षिणः तथा दग्धमरण्यं मृगास्त्यजन्ति, तथा जाराः स्त्रियं भुक्त्वा रता मतृप्तामेव त्यजन्ति ॥ ७, ८ ॥

**इतीति।** इत्थं कृष्णस्य दूते उद्धवे व्रजं गते सति गोप्यो गोविन्दं गतानि निविष्टानि वागादीनि तद्व्यापाराश्च यासां ताः, तस्य कृष्णस्य भगवतो यानि कैशोरबाल्ययोः कर्माणि तानि पुनः पुनस्संस्मृत्य गायन्त्यः[2] त्यक्तलज्जाः[3-] रुदन्त्यश्च[-3] त्यक्तलौकिकव्यवहारा अपृच्छन्निति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ९, १० ॥

तत्र काचित् गोपी कृष्णस्य सङ्गमं ध्यायन्ती मधुकरं भ्रमरं दृष्ट्वा, तं प्रियेण प्रस्थापितं प्रेषितं दूतं कल्पयित्वा कृष्णेन मां प्रसादयितुं प्रेषितोऽयं दूत इत्यभिमत्येत्यर्थः। इदं वक्ष्यमाण मब्रवीज्जगौ। यद्वा, तस्मिन्भ्रमरे प्रियप्रस्थापितोद्धव दृष्टिं कृत्वा मधुकरापदेशेन उद्धवमेवाऽब्रवीत् इत्यर्थः॥ ११ ॥

1. T.W °न्धि° 2. T.W. omit गायन्त्यः 3- -3 T.omits

**विज०** इतोऽपि स्नेहलक्षणानुग्रहं विनाऽन्यन्नास्तीति भावेनाऽऽह - **अन्येष्विति।** अन्येषु पितृव्यतिरिक्तेषु बन्धुषु मैत्री स्नेहानुवृत्तिलक्षणा मित्रभावोक्तिः अर्थकृता प्रयोजननिबद्धा इत्यन्वयः। कथमिवेति तत्राऽऽहुः— यावदर्थेति। यद्वत् यथा पुम्भिः स्त्रीषु कृता मैत्री यावदर्थं यावत्प्रयोजनसमाप्तिपर्यन्तं विडम्बनमनुकरणमात्रं यस्यास्सा तथा। यावदर्थं विडम्बयति अनुकरोतीति यावदर्थविडम्बना वा। इममर्थं दृष्टान्तान्तरेण द्रढयति सुमनस्स्विति। षट्पदैः भृङ्गैः ॥ ६ ॥

निस्स्वं वित्तहीनम् । अकल्पं रक्षणादावसमर्थम्। दत्तदक्षिणं यजमानं वा ॥ ७ ॥

वीतफलं फलरहितम् प्रणयकोपातिरेकदर्शनार्थं बहुदृष्टान्तकथनम्। जार उपपतिः ॥ ८ ॥

उत्तरकथाप्रसङ्गः क इति तत्राह ददर्शेति। गोविन्दगतमनआदिभिः त्यक्तलौकिकाः त्यक्ताः लोकाचाराः पुरुषाग्रतः श्लथितवसनादिदृढीकरणादिलक्षणा क्रिया याभि स्ता स्तथा ॥ ९ ॥

गायन्त्यः गायन्तीः , रुदन्त्यः रुदतीः[1] । कैशोरशैशवावस्थायां गतह्रिय इति लोकाचारविरुद्धाचरणं गानादिकम् ॥ १० ॥

तथा च कृष्णसङ्गमध्यानेन मुग्धा काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा प्रियेण कृष्णेन प्रस्थापितं प्रेषितं दूतं कल्पयित्वा इदं वक्ष्यमाणमब्रवीदित्यन्वयः ॥ ११ ॥

1. Mb रुदन्तीः

## गोप्युवाच

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं[1] सपत्न्याः
कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभि[2] र्नः ।
वहतु मधुपति[3] स्तन्मानिनीनां प्रसादं
यदुसदसि विडम्ब्यं[4] यस्य दूतस्त्वमीदृक् ॥ १२ ॥

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान्भवादृक्[5-5]।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं[6-6] नु पद्मा
ह्यपिबत[7] हृतचेता[8] उत्तमश्लोकजल्पैः ॥ १३ ॥

किमिह बहु षडङ्घ्रे गायसि त्वं यदूना-
मधिपति मगृहाणामग्रतो नः पुराणम्।
विजयसखसखीनां गीयतां[9] तत्प्रसङ्गः
क्षपित कुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः ॥ १४ ॥

च रसायां काः स्त्रिय स्तदुरापाः
कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य याः स्युः ।
चरणरज उपास्ते यस्य भूति र्वेयं का
ह्यपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः ॥ १५ ॥

विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारैः
अनुनय विदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात् ।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका
व्यसृज दकृतचेता किन्नु सन्धेयमस्मिन् ॥ १६ ॥

1. M.Ma °शास्मान् 2. M.Ma ° भिस्त्वम् 3. K.T.W. यदु° 4. MI.V °म्बं 5- -5 M-Ma °द्यः कस्त्यजेन्मां भ° 6- -6 G.J °त्पादपद्मं तु पद्मा; M.Ma तत्पद्म किञ्जल्कपाद 7. M.Ma मपि; MI.V अपि 8. M.Ma °चित्ता उ°; MI.V. °चेता ह्यु° 9. M.Ma गा° 10. G.J. M.Ma अपि 11. M.Ma उ० 12- -12 M.Ma अलमनुनयसौ र्या हि दौत्ये मुकुन्दम् 13. M.Ma °पत्यात 14. M.Ma °मस्य

**श्रीध० मधुपेति।** हे मधुप! कितवस्य धूर्तस्य बन्धो नोऽस्माकमङ्घ्रिं मा स्पृश मा मां नमस्कारेण प्रार्थयेत्यर्थः। तत्किमित्यपेक्षायां कृष्णवर्णस्य तस्य श्मश्रूणां लोहितत्वे कारणमुत्प्रेक्षमाणाऽऽह — सपत्न्याः कुचाभ्यां विलुलितासम्मर्दिता या श्रीकृष्णस्य वनमाला अत एतस्याः कुङ्कुमं येषु तैः श्मश्रुभिः उपलक्षितः, किन्तु तासामेव मानिनीनां प्रसादं मधुपति र्वहतु किमस्मत्प्रसादेन तस्य? यदुसदसि विडम्बं उपहासास्पदम्। कुतः यस्य दूतस्त्वमीदृक् ईदृशः ॥ १२ ॥

ननु किमित्येवं तमवजानीथ? किं वस्तेनाऽपकृतम्? अत आह - **सकृदिति।** भवाद्दृक् त्वादृशो दुर्मनाः सुमनसः कुसुमानि यथा त्यजति तद्वत् तत्यजे त्यक्तवान् अहो बत! अकृतज्ञस्य तस्य पादपद्मं श्रीः कथं सेवते? विदितं मयेत्याह — अपीति। बतेति खेदे। उत्तमश्लोकस्य जल्पैः मिथ्याकथाभिः प्रायो हृतचेताः । वयन्तु न लक्ष्मीवदविचक्षणा इति भावः ॥ १३ ॥

झङ्कारान् बहुधा कुर्वन्तं अस्मत्प्रसादलाभाय कृष्णं गायतीति मत्वाऽऽह - **किमिति।** पुराणं पुरातनं बहुशोऽनुभूतं विजयसखस्य कृष्णस्य साम्प्रतं या स्सख्यः तासा मग्रतः तत्प्रसङ्गो गीयताम् इष्टाः कृष्णस्य प्रियाः तेन पूजिता इति वा। तेनालङ्गीतेनं, अनेन क्षपिता कुचरुक् यासां ताः तवेष्टमपेक्षितं दास्यन्तीति ॥ १४ ॥

भो मातः, मैवं वोचः त्वामनुस्मृत्याऽनुस्मृत्य अनङ्गविह्वलस्त्वां प्रसादयितुं मा मादिष्टवा नित्यत आह - **दिवीति।** दिवि भुवि रसातले च याः स्त्रियः स्युः ताः का नाम दुरापाः, न काश्चन। तदित्यव्ययं तस्येत्यर्थः । कपटेन रुचिरेण हासेन भ्रूविजृम्भो यस्य तस्य, हे कपटेति वा। किञ्च यस्य चरणरजः श्रीः सेवते, तत्र वयं काः ? अपि च यद्यप्येवं तथाऽपि कृपणपक्षे कृपणानुकम्पिनि पुरुषे उत्तमश्लोकशब्दो भवतीति तथा कथनीयं त्वयेति भावः ॥ १५ ॥

पादमूले प्रविशन्तं क्षमापयिष्यन्तमिव मत्वाऽऽह - **विसृजेति**। शिरसि न्यस्तं पादं विसृज। तथाप्यमुञ्चन्तमाह - वेद्मीति। मुकुन्दादभ्येत्य ततश्शिक्षित्वेत्यर्थः। दौत्यै र्दूतकर्मभिः चाटुकारैः प्रियोक्तिरचनाभिः अनुनयविदुषः प्रार्थनाचतुरस्य ते तव[5] सर्वमहं वेद्मि। मुकुन्दवत् त्वमप्यविश्वसनीय इति भावः । ननु तेन ते किमपराद्धं तत्राऽऽह- स्वकृत इति। स्वकृते तदर्थमेव विसृष्टाः अपत्यपत्यन्यलोकाः अपत्यानि पतयश्चेतीहलोकः अन्यलोको धर्मसाध्यश्च याभिस्ताः, नः अकृतचेताः असंयतचित्तः यो व्यसृजत् अतः अस्मिन् किन्नु सन्धातव्यमिति ॥ १६ ॥

1- -1 J.Va omit 2. J.Va अविज्ञस्य 3. V omits तस्य 4. V. omits भावः 5. Ml.V. omit तव

**वीर०** तदेवाऽऽह[1-] दशभिः[-1] **मधुपेति**। हे मधुप, भ्रमर! कितवस्य धूर्तस्य बन्धो! नोऽस्माकमङ्घ्रिं चरणं मा स्पृश। मा मां नमस्कुरु मा प्रार्थयस्वेत्यर्थः । तत्किमित्यपेक्षायां कृष्णवर्णस्य तस्य श्मश्रूणां लोहितत्वे कारणमुत्प्रेक्षमाणा सासूयं प्राह। सपत्न्याः कुचाभ्यां विलुलिता सम्मर्दिता या माला अत एव च तस्याः कुङ्कुमं येषु तैश्श्मश्रुभिः उपलक्षितः त्वं मा स्पृशेति सम्बन्धः। किन्तु, यदुपतिः। मधुपतिरिति पाठे मधूनां यादवविशेषाणां पतिः। तासामस्मत्सपत्नीनां मानिनीनां प्रसादं वहतु प्रसादपात्रं भवतु। न वयं प्रसादनीया इत्यर्थः। कुत इत्यत आह- यद्यस्मात्, 'उ' इत्यवधारणे। विडम्ब्यं प्रणयित्वमिति शेषः। यस्माद्यत्प्रणयित्वं सदसि विडम्ब्यम् अपहास्यं, कृष्णस्य प्रणयित्वं सभायामधिक्षेप्यमित्यर्थः। यस्माच्च यस्य भगवतो भुक्तपूर्वयोषित्त्यागिनः ईदृग्भुक्तपूर्वपुष्पत्यागशीलो दूतस्त्वमागत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

ननु किमित्येवमवजानीथ, किं वस्तेनाऽपकृतमित्यत्राऽऽह - **सकृदिति**। मोहिनीं तापत्रयविस्मारिणीं स्वां स्वासाधारणीं अधरस्य सुधां सकृत्पाययित्वा अस्मान् तत्यजे त्यक्तवान्। यथा त्वं सुमनसः पुष्पाणि पीतमधूनि त्यजसि, तद्वत्। अतस्स भवादृक्। त्वमीदृगित्युक्तम्। अत्र तु स भवादृक् इति। अयं भावः- त्वं तादृशः स तु भवादृशः, अहो युवयोरेष स्वामिभृत्यभावो विधात्रा निर्मित इति। अहो बताऽकृतज्ञस्य पादपद्मं कथं श्री स्सेवते, विदितम्मयेत्याह अपीति। उत्तमश्लोकस्य जल्पैः मिथ्याकथाभिः हृतं चेतो यस्याः तथाभूता तत्पादपद्मं परिचरति। बतेति खेदे। वयं तु न लक्ष्मीवदविचक्षणा भावः ॥ १३ ॥

झङ्कारान्बहुधा कुर्वाणं तमस्मत्प्रसादलाभाय श्रीकृष्णं गायतीति मत्वाऽऽह - **किमिहेति**। हे षडङ्घ्रे! इह अगृहाणां वनचारिणीनां नोऽस्माकमग्रतः पुरतः पुराणं बहुशोऽनुभूतं यदुपतिं किं किमर्थं गायसि न तेन[2] तव काचिदिष्टसिद्धिरिति भावः, किन्तु विजयसखस्य श्रीकृष्णस्य सखीनां पौरस्त्रीणाम् अग्रतः तस्य विजयसखस्य प्रसङ्गो गीयताम्, एवञ्चेत्तस्येष्टास्ताः तवेष्टं कल्पयन्ति, अपेक्षितं दास्यन्ति। तत्र हेतुं वदन्ती ता विशिनष्टि। क्षपिता विजयसखालिङ्गनेन निरस्ता कुचरुग्यासां ताः॥ १४ ॥

ननु यदि पौरस्त्रियः तद्वशङ्गताः तदालिङ्गनक्षपितकुचरुजो भवेयुस्तदा मदिष्टं कल्पयेयुः, तस्य ता एव दुष्प्रापा इत्यत आह - **दिवीति।** दिवि भुवि रसायां पाताले च याः स्त्रियः स्युः, तासां मध्ये काः स्त्रियः। तदिति पृथक्पदमव्ययम्। तस्य कृष्णस्य दुरापाः दुष्प्रापाः। सर्वा अपि स्त्रियः सुलभा एवेत्यर्थः। तत्र हेतुं ब्रुवती विशिनष्टि। कपटो रुचिरस्सुन्दरश्च हासो भ्रूविक्षेपश्च यस्य तस्य अत एव यस्य भगवतश्चरणरेणुं भुतिलक्ष्मीरप्युपास्ते। कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भाभ्यां तद्वशगा तच्चरणरजस्सेवत इत्यर्थः, वयन्तु विचक्षणाः ताभ्यां न तद्वशगा इति भावः, तदाह वयं का हीति। वयं तद्वशगानां न काश्चिद्धीत्यर्थः। किञ्च कृपणपक्षे कृपणानां दीनानां जनानां पक्षे कोट्यामेव ह्युत्तमश्लोकशब्दः उत्तमश्लोकप्रसङ्ग गोचरशब्दो गेय इति शेषः। नत्वदीनपक्षेऽस्मत्समुदाये इति भावः ॥ १५ ॥

एवं भ्रमणशीलं भ्रमरं स्वपादमूले चरन्तमात्मानं प्रसादयितुमिवाऽऽलक्ष्य तं प्रत्युक्तम्। अथ स्वशिरसि भ्राम्यन्तं तं श्रोत्रान्ति[3] उपांशु प्रियोक्तीरभिधातुं चरन्तमिवाऽऽलक्ष्याऽऽह - **विसृजेति।** शिरसि पादं न्यस्तमिति शेषः। विसृज पादेन मच्छिरो मा स्पृशेत्यर्थः। तथाप्यमुञ्चन्तमाह — वेद्मीति। मुकुन्दादभ्येत्य ततश्शिक्षित्वेत्यर्थः। दौत्यैः दूतकर्मभिः चाटुकारैः प्रियवचनैश्च अलम्, अनुनयविदुषः प्रार्थनाचतुरस्य ते वेद्मि सर्वं विवक्षितं वेद्मीत्यर्थः। मुकुन्दवत्त्वमपि न विश्वसनीय इति भावः। ननु तेन किमपराद्धं तत्राऽऽह स्वकृत इति। स्वकृते तदर्थमेव विसृष्टानि अपत्यानि पतयेऽन्ये लोका धर्मसाध्या याभिस्ताः अस्मान्व्यसृजत् कस्ततोऽन्योऽपराध इति भावः। अतोऽसावकृतचेताः अकृतज्ञः, कृतघ्न इति यावत्। अतोऽस्मिन् सन्धेयं सन्धिना साध्यं किमस्तीत्यर्थः। नहि कृतघ्नेन सन्धिरुचितः। न वा कृतोऽपीष्टसाधनमिति भावः ॥ १६ ॥

1- -1 T.W omit 2. K अनेन 3. K ° न्ते

**विज०** हे मधुप! सपत्न्याः मधुरायां स्थितायाः समानभार्यायाः अधरमधुपानलोलोद्भवायाः तस्याः आलिङ्गनकाले दृढपीडितकुचाभ्यां विलुलितायां इतस्ततो विक्षिप्तायां मालायामनुषक्त कुचकुङ्कुमेन रूषितश्मश्रुभिः अञ्चितस्त्वमस्मान् मा स्पृश, प्रणयकोपात् कितवबन्धो! इति सम्बोधयति। कितवस्य नवनीतादि परद्रव्यचोरस्य कृष्णस्य बन्धो न केवलं त्वमेव मा स्पृश किन्तु स कितवो न स्पृशत्विति भावेन वक्ति वहत्विति। स मधुपतिः श्रीकृष्णः तस्यां मधुरायां विद्यमानानां मानिनीनां मानधराणां स्त्रीणां प्रसादं प्रणयकोपशान्तिलक्षणमनुग्रहं वहतु। नतमूर्ध्नेति शेषः। कीदृशम्? यदुसदसि विडम्ब्य मनुकरणयोग्यं सोत्प्रासपूर्वं वक्तव्यं "सोत्प्रास स्समनाक्स्मितम्" (अम. को. 1-216) इति। स्वकैतवं परस्मिन्नपि सङ्क्रामयितुं पटुतम इति भावेनाऽऽह यस्येति। यस्य कृष्णस्य दूतस्त्वमपीदृग्धूर्त इत्यर्थः। हे भ्रमर कितवबन्धो! उन्मत्तपुष्पबन्धो! सपत्न्या भृङ्ग्या कुचस्पर्शेन विलुलितमालायाः उद्बुद्धकाम आ समन्तात्कुङ्कुमपुष्परसमिश्रमुखरोमभिरस्मान् मा स्पृश। ईदृक्त्वं यस्य वसन्तस्य दूतस्त्वं, मधुश्चाऽयं पतिश्चेति मधुपतिः वसन्तनामा परिबृढः यत्सदसि पुष्पसमूहे विडम्ब्यं स्थिरीकर्तव्य मेतन्मानिनीनां भृङ्गीणां प्रसादं प्रसन्नभावं वहतु करोतु। कृष्णवद्वैलक्षण्यं न करोत्विति वा। "उन्मत्तः कितवो धूर्तः" (अम.को 2-123) इत्यमरः॥ १२ ॥

कृष्णस्य कितवत्वं कथमापाद्यते इत्यत एवमिति व्यनक्ति **सकृदिति।** भवादृक् भवानिव पूज्य इव स्थितः कः पुरुषः मां त्यजेत्, न त्यजति। मत्त्यागे हत्यादोषो भवति "ब्राह्मणं स्वयमाहूय याचमान मकिञ्चनम्। पश्चान्नास्तीति

यो ब्रूयात्तमाहुर्ब्रह्मघातकम्'' इति स्मृतिर्वदतीति भावेन कथितः। स्वामधरसुधां अधरोष्ठामृतं पाययित्वेति निषेधवचनाभावादुक्तदोषः कथं स्यादित्याशङ्क्य सकृत्पानेनाऽस्य बहुतृष्णाजननहेतुत्त्वात्ततोऽत्यधिक इवेति भावेनोक्तं सकृदिति। तृष्णाजनकत्वञ्च कथमित्यत उक्तं मोहनीमिति। बुद्धिमोहकरीम्। मोहिनीमिति पाठे मोहकत्वशक्तिरस्यास्तीत्यर्थः। अत्र निदर्शनमाह सुमनस इति। यथा सुमनसः पुष्पस्य गन्धमाघ्राय पुनस्तदानीमेव तत्त्यागोऽदृष्टचर स्तथेति। तस्य त्वत्तृष्णा नास्ति चेत्तवाऽपि मा भूदिति मा शङ्कीति भावगर्भमाह-परिचरतीति। अत्र लक्ष्मीपदममरश्रीपदञ्चाध्याहृत्य व्याख्येयम्। लक्ष्मीः मधुराङ्गना वा तस्य कृष्णस्य पद्मकिञ्जल्कवत् कोमलं पदं कथं केन प्रकारेण परिचरति शुश्रूषते इति शङ्कित्वा हेतुमाह अपीति। सापि उत्तमश्लोकजल्पैः उत्तमश्लोकस्य हरेः जल्पैः मधुरवचनविशेषैः हृतचित्तामुग्धचित्तत्वात् तृष्णया परिचरतीत्येवं निश्चेयम्। बत हर्षे। चित्ता उत्तमेति सन्ध्यकरणेन प्रियत्वातिरेकदर्शनार्थमेवं कथनं, न तु दोषापादकत्वेन निर्दोषत्वात्तस्य[1] सर्ववैलक्षण्यप्रदर्शनार्थञ्चेति ज्ञाप्यते इति। सुमनस इव सद्य इत्यनेन शरीरदौर्गन्ध्यं कितवपाण्डित्यं प्रतीपदर्शित्वं प्रवयस्त्वञ्चेति त्यागनिमित्तानि सन्तीति सूचयति। सुमनस[2] इव पुष्पस्य सदृशी। यथा पुष्पं सौरभ्येण घ्राणेन्द्रियतर्पकत्वेन च सेव्यं स्यात्। तथाहि सद्यः सद्यस्का यथा प्रत्यग्रवयसि वर्तमाना तरुणी तरुणैः परिहर्तुं न शक्या तथेति। किञ्च सुमनसः मालत्या लतायाः ननु त्वं यथा[3] मम मध्ये मुष्टिग्राह्यत्वमनेनाऽऽलिङ्गने सुखोद्रेकं लक्षयति। यथा सुमनसो देवाः स्वसेवकं न त्यजन्ति तथा मामपि, यथा बुधाः कामकलाज्ञास्तरुणीं न मुञ्चन्तीति तथा वा। अतो भवादृगेव श्रीकृष्ण एव नृशंसत्वेन त्यक्तवानिति वा। ''सुमनाः पुष्पमालत्योः स्त्री देवबुधयोः पुमान्'' (वैज. को 7-5-90) इति यादवः। इतरत्समम्। परिहरतीति केचित्पठन्ति॥ १३ ॥

स्वपुरतो वर्ण्यमानया प्रियवार्तया उद्बुद्धमदनकलिका पुनरपि श्रोतुकामा असहमानेव अधिक्षिप्तं कोपनार्थमधिकं वक्तीति कृत्वा तमुद्धवमाक्षिपती वक्ति- **किमिहेति**। षट्सु दर्शनेषु सन्ध्यादिषु च अङ्गिरवक्रगतिर्यस्य स तथा। षट्सु विषयेषु भगवद्भक्तिपरिपन्थिषु अङ्गिः पादो यस्य स तथेति वा। तस्य सम्बुद्धिः हे षडङ्गे, उद्धव 'अधिरघिलघि गत्यर्थौ'।' इति धातुः। त्वम् अगृहाणां गृहाश्रमरहितानां, वनचारिणामित्यर्थः। नोऽस्माकमिहाग्रतः पुराणं पुरे वर्तमानं यदूनामधिपतिं किं बहुकर्णबिलपूरं गायसि, न शब्दयेत्यन्वयः। कै गै शब्दे इति धातुः। तस्य गृहान्तर्वर्तित्वेन वनमध्यवासिपुरतो गायनमनन्वितमित्यर्थः। तर्हीदं कस्याऽग्रतो युक्तमिति तत्राऽऽह - विजयेति। विजयोऽर्जुनस्तस्य सखा कृष्णः तस्य सखीनां मधुराङ्गनानामग्रतः तस्य कृष्णस्य प्रसङ्गः गायतां गीयतां, त्वयेति शेषः। तत्र गातुस्तव फलसिद्धिरप्यस्तीत्याह क्षपितेति। तत्प्रसङ्गेन क्षपिता निरस्ता कुचानां रुक् सन्तापलक्षणा यासां तास्तथा। इष्टाः कृष्णप्रियाः मधुराङ्गनाः उद्गात्रे ते तुभ्यम् इष्टमभीष्टं धनादिकं कल्पयन्तीत्यन्वयः। ''तस्मात्तेयं धनसमयः'' इति श्रुतेः। तत्प्रसङ्गमिति पाठे भवान्गायतामित्यात्मनेपदे लोट्। तत्प्रसङ्गक्षपितेति पाठे, या यदुपतिविषया गीतिस्तां त्वं गायेति परस्मैपदे लोट्। तस्य प्रसङ्गेन प्रकृष्टालिङ्गनलक्षणेनेति विजयसखसखीनामग्रतो यदुपतिं गायतां पुंसां ते कृष्णेष्टाः स्त्रीजना अभीष्टं कल्पयन्तीति वा॥ १४ ॥

ननु प्रगल्भा चेत्त्वमेव प्रलपनं विना मत्तकाशिन्या लज्जाभावात् कृष्ण आगमिष्यतीति शङ्का मा भूदिति आह - **दिवीति**। स्वर्गादिषु विद्यमाना देवस्त्रियः तस्य कृष्णस्य दुरापाः दुष्प्रापाः स्युः, किन्तु सुप्रापा एव। कर्षणमन्यमाह - कपटेति। याः स्त्रियः कपटश्च रुचिरश्च हासयुक्तो यो भ्रूविजृम्भः भ्रूभङ्गस्तस्य विषया लक्षीभूताः स्युः। अध्यात्मकमानन्दं

पटयति गमयतीति कपटां रुचिं स्पृहां राति ददातीति कपटरुचिरः, हे कपटेति वा। तत्र हेतुमाह - चरणेति। भूतिर्लक्ष्मीर्यस्य हरेश्चरणरज उपास्ते, तदनुग्रहार्थमिति शेषः। ननु भवत्योऽपि तथा कुर्वन्त्वित्यत्राह वयमिति। तत्र वयं वनचारिण्यः काः स्याम। अपि च पुनरपि शृणु कृपणस्य किम्पचानस्य अस्मद्विधस्य जनस्य पक्षे अन्तिके उत्तमश्लोकशब्द एव कर्णविषयो न तु वाच्योऽर्थश्चक्षुर्विषय इत्यर्थः। यद्वा, उत्तमश्लोकशब्दः कृपणपक्षे दीनपक्षपाती श्रुतः सोऽप्यस्मद्विषयो नाऽभूदित्यर्थः॥ १५ ॥

प्रणतकृष्णशिरःस्थितस्वपादस्मरणातिरेकविवशा स्वपादमुद्भवशिरसि स्थितं मत्वा वक्ति **विसृजेति**। तव शिरसि स्थितं मम पादं विसृज मुञ्च। अहं त्वां वेद्मि। अनुनयसारैः सान्त्वविषयैः चाटुकारैः आपातरमणीयैः प्रियवचनैः अलं पर्याप्तम्। किञ्च, दौत्ये स्थितः त्वं मुकुन्दं च याहि। किमित्येवं कोपगर्भवचनं वदसीति तत्राऽऽह -स्वकृत इति। स्वकृते स्वनिमित्तं कृष्णार्थमित्यर्थः। विसृष्टापत्याप्तलोकाः त्यक्तपुत्रभर्तृबन्धुजनाः अस्मानिह वने व्यसृजदिति यदतोऽकृतचेताः अकृतज्ञः कृतघ्न इत्यर्थः। दूतोऽहं त्वां सन्दधामीति तत्राऽऽह किन्त्विति। अस्य कृष्णस्य अनुसन्धेयं किन्तु। न किमपीत्यन्वयः। अनुनयसारैः श्रेष्ठैर्वा "उमाप्रणामसङ्क्रान्तचरणालक्तकश्शशी, सन्ध्यारुण इवाऽऽभाति यस्य पायात्स वश्शिवः " इति वचनात् ईश्वरोप्यज्ञ जनमोहनार्थमेवंविधलीलो जयतीति॥ १६ ॥

1. Ma,Mb °कत्वा० 2 Ma,Mb add न (?) 3 Ma,Mb add तथा

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा[1] स्त्रिय मकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वाऽवेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद्यः[2-2] तदलमसितसख्यै र्दुस्त्यज स्तत्कथार्थः॥ १७ ॥

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्माविनष्टाः[3] ।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना बहव इव विहङ्गा भिक्षुचर्यां[4] चरन्ति॥ १८ ॥

वयमृतमिव[5] जिह्मव्याहृतं[6] श्रद्धधानाः कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः[7] ।
दद्दशिम सकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्र स्मररुज[8-8] उपमन्त्रिन्भण्यतामन्यवार्ता॥ १९ ॥

प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः[9-9] किं वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग! ।
नयसि कथमिहाऽस्मान्दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं[10] सततमुरसि सौम्य श्रीवधूस्साकमास्ते[11]॥ २० ॥

अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते स्मरति स पितृगेहान्[12] सौम्य बन्धूंश्च गोपान्।
क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां[13] गृणीते[14] भुजमगरुसुगन्धिं[15] मूर्ध्न्यधास्यत्कदा[16] नु॥ २१ ॥

1. M.Ma यः किरातः 2- -2 M.Ma बिलवासं वेदविद्गर्वबन्धः 3 G.J.M.Ma इह 4 M.Ma भैक्ष 5 K.T.W °ति 6. M.Ma °ह्व 7. G.J. °शुरस० 8- -8 M.Ma स्तनरुजपरमार्तिं भण्यतामस्य 9- -9 J. प्रेक्षितः किं; M.Ma प्रेषितस्त्वं 10 M.Ma °जं बन्धु 11 G.J. °र्व० 12 M.Ma °हं 13 K.T.W कथां; M.Ma कथं 14 M.Ma गृहीतो 15 G.J.K.M °गु० 16 G.J.M.Ma °न्धं

**श्रीध०** किञ्च कृष्णस्य पूर्वाणि कर्माणि अनुसन्दधाना बिभेम्यहमस्मादित्याह- **मुगयुरिति।** मृगयुर्लुब्धक इव यः कपीन्द्रं वालिनं विव्यधे अविध्यत्। लुब्धधर्मा क्रौर्यधर्मवान्। अलुब्धधर्मेति वा। लुब्धको हि तन्मांसमत्तुकामो विध्यति, अयन्तु न तथा; अतो वृथाकठिन इत्यर्थः। तथा स्त्रियञ्च शूर्पणखां स्त्रीजितः सीतापरतन्त्रः, काम एव यानं प्राप्तिसाधनं यस्या स्तां, विरूपां छिन्नकर्णनासिकामकरोद्दाशरथिरूपेण। तथा बलिमपि तद्दत्तबलिमत्त्वा भक्षयित्वा ध्वाङ्क्षवत् काकवत् अवेष्टयत् बबन्ध वामनरूपेण। 'बलिमपि बलिमत्त्वाऽधोक्षिपद्विष्टपात्'' इति पाठे बलिं पूजां गृहीत्वा विष्टपात्स्वर्गात् अधः अक्षिपदित्यर्थः। तत्तस्मात् असितस्य कृष्णस्य सख्यैरलम्। एवञ्चेत्किमिति तं नित्यं गायथ? तत्राऽऽह दुस्त्यज इति। तस्य कथारूपोऽर्थः इत्यपि च जानीम एवेति॥ १७ ॥

तत्कथापि त्रिवर्गलतामूलोन्मूलिनी, तथाऽपि न त्यक्तुं शक्नुमः; किं कुर्म इत्याह-**यदिति।** यस्यानुचरितमेव लीला। तदेव कर्णपीयूषं तस्य विप्रुट् कणिका तस्याः सकृददनं सेवनं तेन विधूताः निरस्ताः द्वन्द्वधर्माः रागादयो येषां ते, अत एव विनष्टाः असत्तुल्याः दीनं दुःखितं गृहकुटुम्बं विहाय दीनाः भोगहीनाः विहङ्गा इव भिक्षुचर्यां प्राणवृत्तिमात्रं चरन्ति। अतस्त्याज्यः। तथाऽपि त्यक्तुं न शक्नुम इति निन्दापरत्वे वाचकोऽर्थः[1-]। दुस्त्यजत्वे[2] आर्थिकोऽयमर्थः। विधूतद्वन्द्वधर्मा इत्यन्तः समासः पूर्ववत्। ततस्ते च ते अविनष्टाश्च इति समासः। इतरे पुनः द्वन्द्वधर्माणो विनष्टा एव। सपदि तत्क्षणमेव दीनं तुच्छं गृहसहितं कुटुम्बं विहाय दीना इवाऽकिञ्चनाः। धीरा इति वा पाठः। बहवः विहङ्गाः हंसा इव सारासारविवेक चतुराः भिक्षुचर्यां पारमहंस्यं चरन्ति। तस्मादेवं परमपुरुषार्थरूपत्वात् दुस्त्यज एव तत्कथार्थ इति॥ १८ ॥

ननु किमेवं ब्रूषे? पूर्वं त्वयैव साकं रहसि किमेवं नाऽवोचदित्यत आह-**वयमिति।** हे उपमन्त्रिन्! दूत! आस्तामियं वार्ता, यतः कुलिकस्य मृगयोः रुतं गीतं अज्ञा यथा ऋतं सत्यमिति श्रद्दधानाः कृष्णस्य हरिणस्य वध्वः भार्याः हरिण्यः शरैः क्षतास्सत्यो ददृशुः। एवं जिह्मस्य कुटिलस्य तस्य व्याहृतं ऋतमिव श्रद्दधानाः स्पृहयन्त्यो वयं सकृदेत ददृशिम। किं तत्? तस्य नखैः स्पर्शः तेन तीव्रः स्मरः तेन रुजः पीडाः। तस्मादन्या वार्ता भण्यतां कथ्यतामिति॥ १९॥

परावृत्य गत्वा पुनरागतं प्रत्याह - **प्रियसखेति।** हे प्रियस्य सखे! प्रेयसा श्रीकृष्णेन पुनः प्रेषितः किं त्वमागतोऽसि? अङ्ग! हे दूत! मे माननीयः पूज्योऽसि। अतो भवान् किमनुरुन्धे प्राप्तुमिच्छतीत्यर्थः। तद्वरय वृणीष्व। सम्मानितं प्रत्याह- नयसीति। इह सतीः अस्मान् दुस्त्यजं द्वन्द्वं मिथुनीभावो यस्य तस्य पार्श्वं समीपं कथं नयसि नेष्यसि। तथाहि - हे सौम्य! श्रीर्नाम वधूः साकं सहैव सततमास्ते तत्राप्युरसि वक्षस्येव॥ २० ॥

तेन सम्मन्त्रिता सती ब्रूते - **अपीति।** बत हर्षे। हे सौम्य, गुरुकुलादागत्य आर्यपुत्रः कृष्णः अधुना किं मधुपुर्यां वर्तते? कदाचिदपि नोऽस्माकं वार्ताः किं ब्रूते? अगगरुवत्सुगन्धिं भुजं नो मूर्ध्नि कदा नु धास्यतीति॥ २१ ॥

1- -1 J,Va अयं तावत् श्रौतोऽर्थः। 2 J,Va add अपि 3 J, Va अगु०

**वीर०** न केवलमयमकृतज्ञ एव। अपि तु क्रौर्यकाठिन्यादियुक्तश्चेत्याह - **मृगयुरिवेति**। मृगयुरिव व्याध इव वञ्चित्वा कपीन्द्रं निरपराधं वालिनं विव्यधे जघान। अतोऽयं लुब्धधर्मा लुब्धस्य ये धर्माः क्रौर्यकाठिन्यादयः, तद्युक्त इत्यर्थः। यद्वा अलुब्धधर्मेति च्छेदः, मृगयुरिवेत्यनेनैव तत्सादृश्यलाभात्। अलुब्धधर्मा लुब्धेऽप्यसम्भाविता ये धर्मा स्तद्युक्त इत्यर्थः। लुब्धको हि मांसमत्तुं मृगान् हन्ति, अयं तु न तथेति, वृथा काठिन्यादिमानिति भावः। तथा स्त्रीजितः स्त्रिया वैदेह्या जितः तद्वशं गत इत्यर्थः। कामयानां काम एव यानं प्राप्तिसाधनं यस्या स्तां, कामेन याति स्वेच्छया चरतीति तथा, तामिति वा, नन्द्यादित्वात्कर्तरि ल्युः। स्त्रियं शूर्पणखां विरूपां अकृत च्छिन्नकर्णनासिकामकरोदित्यर्थः[1]। एवं दाशरथिरामरूपेण कृतम्[2]। तथा वामनरूपेण यो ध्वाङ्क्षवत् वायसवत् बलिं पूजां वैरोचनिसमर्पितां, अत्त्वा भुक्त्वा परिगृह्येत्यर्थः बलिं वैरोचनिम् अवेष्टयत्, पाशैरिति शेषः। बबन्धेत्यर्थः। तत् तस्मात् असितस्य श्रीकृष्णस्य सख्यै रलम्। असितेत्यनेन नैल्यं दुष्टं हीति पामरन्यायोऽभिप्रेतः एक्ष्वेन्नित्यं किं गायथ? इत्यत्राऽऽह दुस्त्यज इति। तस्यासितस्य कथारूपोऽर्थो दुस्त्यजः त्यक्तुमशक्यः॥ १७॥

न केवलमस्माकमेव तत्कथार्थो दुस्त्यजः, किन्त्वन्येषामपि। नाऽपि वय मेव तदर्थे विसृष्टापत्यादयः, अपि त्वन्येऽस्तुतिगर्भं निन्दन्त्याह यदनुचरितेति। इह लोके बहवो जनाः यस्याऽसितस्यानुचरितमेव लीला, तदेव कर्णयोः पीयूषममृतं, तस्य विप्रुट् कणिका तस्यास्सकृददनं सेवनं तेन विधूता निरस्ता द्वन्द्वधर्मा रागद्वेषादयो येषां ते, अत एव विनष्टाः असत्तुल्या अचेतनप्राया इति यावत्। लब्धात्मस्वरूपसत्ताका इति स्तुतिरप्यभिप्रेता, समस्तत्वे अविनष्टा इति च्छेदात् सपदि तदैव दीनं दुःखितं गृहकुटुम्बं विहाय दीना विहङ्गा इव भिक्षुचर्यां चरन्ति सन्न्यासिवत्प्राणधारणमात्रं कुर्वन्ति॥ १८॥

तर्ह्येवं विचक्षणास्तावद्यूयं कथं तद्वशं गता इत्यत्राऽऽह - **वयमिति**। कृष्णस्य हरिणस्य वध्वः हरिण्यः अज्ञाः कुलिकरुतमिव मृगविश्वासकर्तुः व्याधस्य[3] गानरूपशब्दमिव वयं जिह्मस्य कुटिलस्य तस्य व्याहृतं भाषणं ऋतमिति सत्यमिति श्रद्दधानाः तस्य नखस्पर्शैः नखक्षतैः[4] तीव्रा स्मररुक् यासां तथाभूताः सकृदेतत्प्रणयित्वं ददृशिम अद्राक्ष्म। अतो हे उपमन्त्रिन्! दूत! अन्यवार्ता भण्यतां कथ्यतां, तद्वार्तया त्वलमिति भावः॥ १९॥

परावृत्य पुनरागतं प्रत्याह - **प्रियसखेति**। प्रियस्य सखे! पुनः प्रेयसा प्रियतमेन कृष्णेन प्रेषितस्त्वं आगाः किम्, आगतोऽसि किम्? तर्हि अङ्ग! हे भ्रमर! मम त्वं माननीयोऽसि पूज्योऽसि, अतः किं यत्किञ्चिदनुरुन्धे भवान् प्राप्तु मिच्छति, तद्वरय वृणीहि, इह स्थिता इति शेषः। अस्मान्कथं दुस्त्यजं द्वन्द्वं मिथुनीभावो यस्य तस्य भगवतः पार्श्वं समीपं नयसि नेष्यसि। तथाहि, हे सौम्य! श्रीर्लक्ष्मीर्नाम वधूः साकं सहैव तत्राऽप्युरसि वक्षस्येव सततमास्ते॥ २०॥

अपि बतेति हर्षे। हे सौम्य! आर्यपुत्रः श्रीकृष्णः अधुना मधुपुर्यां आस्ते किम्। पितृभ्यां गेहैश्च सहितान् बन्धून् गोपान् स्मरति किम्? क्वचिदपि कदाचिदपि किङ्करीणां नोऽस्माकं कथां वार्तां गृणीते किम्? कदा नु कदा वा अगरुवत्सुगन्धिं भुजं नो मूर्ध्नि अधास्यत् निधास्यति॥ २१॥

1. T.W omit कर्ण 2. T.W. omit कृतम् 3. T.W. omit व्याधस्य 4. K.W. फ०

**विज०** प्रणयकोपातिरेकेण असन्धेयत्वे दोषानुत्पादयति - **मृगयुरिति**। यो रामनामा भूत्वा कपीन्द्रं वालिनं विव्यधे हिंसितवान्। क इव मृगयुर्लुब्धक इव यथा लुब्धकः उपाशये स्थित्वा विध्यति मृगं, तथाऽयमपीत्याक्षेपार्थः। कपेः सुग्रीवस्य ईं स्त्रियं द्रावितवानिति अपराधं दृष्ट्वेति स्तुत्यर्थः। किञ्च किरातः निषाद इव स्त्रियं विरूपां छिन्ननासिकाकर्णत्वेन सौन्दर्यहीनामकृत। परामृष्टायाः शूर्पणख्या मे पतिर्भवेति विरूपं विपरीतशब्दं श्रुत्वा विरूपामकरोत्, न तु शुद्धस्त्रियमिति निष्कृष्टोऽर्थः। किं नः परमानन्दिनो मुक्ताः रतं मित्रं यस्य स किरातः स्त्रीजितः स्त्रैणः स्त्रीर्जिता पराभूता येन स तथा। कामयानां पतिमिच्छन्तीं काम एव यानं यस्यास्सा तथा स्मरनामरथाधिरूढां दुष्टामित्यर्थः। किञ्च। वामनावतारे महावहपर्वे यज्ञे सबहुमानं बलेः त्रिपदपरिमितं भूम्युपहारमादाय कृतघ्न इवाऽयं बलिनामानं दैत्यं बिलवासं पातालवासिनं अकृत। पूजायां हेतुमाह वेदेति। वेदविदामृषीणां वर्गेण समूहेन वन्द्य इति यत्तस्मात् मुग्धाद्बलेः पूजामवाप्यापि तं बद्ध्वा पातालनिवासिन मकरोदित्यर्थः। 'बल परिवर्तने' इति धातोः बलिं इन्द्रस्य विद्यमाने त्रैलोक्ये परिवर्तं परकीयं स्वीयवत् वशं कृत्वा चरणलक्षणं चौर्याख्यापराधं दृष्ट्वा दुष्टशिक्षणं कृतवानिति आध्यात्मार्थः। बकारवकारयोः अन्योन्यात्मकमनुशासनसिद्धम्। कृष्णः कीदृशः ? वेदविदां वैदिकानां वर्गो वर्जनं येषु ते वेदविद्वर्गवन्द्यादयः तैः वन्द्य इत्यनेन अविद्यमान कथननिपुणत्वेनाऽस्मन्मनोमोहनं कृत्वा हतवानिति सूचितम्। निन्दास्तुती उपसंहरति तदिति। यतोऽयं कृष्णोऽस्मासु शोकाधानकमकरोत् तस्मादसितेन मलिनेन कृष्णेन सह सख्यैः सहासनशयनादिलक्षणैः अलं वारितम्। असितस्य मेघश्यामस्य नित्यमुक्तस्य वा षिञ्बन्धन इति धातुः। हरेः सख्यशब्देन अर्चनादिकमुपलक्ष्यते। अर्चनादिभिः अलं भूषणम्, आत्मन इति शेषः। निर्विण्णा चेत्किमिति तत्प्रसङ्गं करोषि ? इति तत्राऽऽह दुस्त्यज इति। तस्य कृष्णस्य कथार्थः चरितविषयव्यवहारो दुस्त्यजस्त्यक्तुमशक्यः, पारवश्यादिति शेषः। किञ्च। दुःखं त्यजतीति। यद्वा, तस्य कथानिवृत्तिः अशोभनं ददातीति॥ १७ ॥

गुणा[1] अप्यनेन सूचिता इति प्रकटनाय उत्तरबन्धेन गुणानेव वक्ति **यदनुचरितेति**। यस्य कृष्णस्यानुवचनम् अनुयुगं वा अन्ववतारं वा चरिता लीलैव कर्णपीयूषं कर्णामृतं तस्य विप्रुट् बिन्दुस्तस्य सकृददनेन एकवारश्रवणलक्षणेन विधूताः द्वन्द्वधर्माः रागादिलक्षणा येषां ते, ते चाऽविनष्टा अनुच्छिन्नज्ञानधर्माश्च। अनुच्छित्तिधर्मेति श्रुतेः। विनष्टा इति पृथक्पदं वा। विगतं नष्टं नाशनं येभ्यस्ते तथा। मुक्तावपि स्वरूपभेदधर्मरहिता न भवन्तीत्यर्थः। "स वा अयमात्मा ब्रह्मविज्ञान-मयो मनोमयः" (बृह.उ. 4-4-5) इत्यादिश्रुतेः। सपदि वैराग्यज्ञानानन्तरं दीनं दारिद्र्यापादकं कुटुम्बं विसृज्य दीनाः 'दीङ् क्षये' इति धातोः दीना निर्दोषा इत्यर्थः। बहवो विहङ्गा विहायसा नाम्नाऽऽकाशेन हरिणा गच्छन्तीति विहङ्गाः सन्न्यासिनः, इह जीवराशौ भैक्षचर्यां ज्ञानलक्षणामुद्दिश्य चरन्ति, देहयात्रां कुर्वन्ति। ज्ञानार्थमेव तेषां देहधारणं नोदरपूरणार्थमित्यर्थः। "प्रव्रजन्त्येतद्ध स्म वै ते पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजां करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लौकैषणायाश्च व्युत्थायाऽथ भिक्षाचर्यां चरन्ति" (बृह.उ. 4-4-22) इति श्रुतेः॥ १८ ॥

कृष्णवध्वो वयं यस्य जिह्मं कुटिलं व्याहृतं वचनमृतं सत्यमिति श्रद्दधानाः, यथा अज्ञाः कृष्णमृगवध्वो हरिण्यः कुलिकस्य मृगविश्वासकर्तुः रुतं गीतं नानाप्रकारं श्रद्दधते आस्तिक्यबुद्धिं कुर्वन्ति। तथा तस्यैतस्य सकृन्नखस्पर्शनिन नखस्पर्शोपतापेन उत्पन्नेन तीव्रेण स्तनानां रुजेन क्षतेन जाता या तां परमां अत्युत्कटातिसुखलक्षणां पीडां ददृशिम अनुबभूविमेति यत्ततोऽस्य वार्ता भण्यताम् श्रुतया तयाप्यानन्दमाशास्महे इति, जिह्मं मन्दमल्पमपि व्याहृतमिति यदतः श्रद्दधानाः "ईश्वराणां वचस्सत्यं तथैवाऽऽचरितं क्वचित्" इति वचनात्। "जिह्मं मन्देऽघवक्रयोः" (वैज. को. 6-5-32) इति। स्वध्वनिसादृश्यात् हरिणीनां कुलिकरुतवशत्वं न त्वसत्यं तदित्यध्यात्मं योग्यम्। अन्यवार्तेति केचित्। अन्यविषयं वचनं न त्वेतद्विषयम्। सर्वस्मादन्यस्य विलक्षणस्य भिन्नस्येति वा॥ १९ ॥

आत्मनः कृष्णैकचित्तत्वं दर्शयन्ती ग्रहाविष्टेव वक्ति **प्रियेति**। हे प्रियसख, प्रियस्य कृष्णस्य सखे, पुनरागाः पश्चाद्व्यावृत्त्याऽगतोऽसि। "पुनरप्रथमे प्रश्ने व्यावृत्तावबधारणे" (वैज.को 8-7-24 ) इति। त्वं प्रेयसा कृष्णेन पुनः प्रेषितोऽसि। किमनुरुन्धे कमर्थमस्मत्तः स्वीकर्तुमिच्छति, तं वरय। प्रेष्ठबन्धुत्वात्त्वमस्माकं माननीयोऽसि। आत्मनो नेतुमागत इति भ्रान्तबुद्धिराह -अङ्गेति। अङ्ग! भो उद्धव! इह स्थितानस्मान् दुस्त्यजं बन्धोः कृष्णस्य पार्श्वं समीपं नयसि किम्? दौर्घटचम् इत्यतः सपत्नीबुद्ध्या न शक्यमित्या। ह- सततमिति। श्रीर्नाम वधूः तस्योरसि सततमास्ते। सततशब्दः आपेक्षिक इति तत्राऽऽह साकमिति। अर्धाङ्गित्वेनाऽऽस्त इति सपत्न्याः लक्ष्म्याः कदाऽपि वियोगाभावात् त्वन्नीतानां तद्दर्शनमपि दुर्लभं, किं पुनः सम्भाषणं, किंतरां तच्चर्वितादानं, कुतस्तमां सुरतलीलानुभव इत्यास्तामयं प्रसङ्ग इति॥ २० ॥

इदञ्चोन्मत्तप्रलपितसममित्याह - **अपीति**। अधुना आर्यस्य पूज्यस्य वसुदेवस्य पुत्रः श्रीकृष्णः मधुपुर्यां बत लोकस्य मनस्सन्तोषं विधाय आस्ते अपि किम्? किञ्च, स कृष्णः पितुर्नन्दस्य गेहं भार्यां यशोदां तञ्च पितरं स्मरत्यपि? किञ्च बन्धुभूतान् गोपांश्च स्मरति? अपि च स कृष्णः क्वचित्कञ्चन कालमादाय किङ्करीणां नोऽस्माकं गृहीतोऽपि अनुग्रहं करोति किम्? वद कोऽयमनुग्रह इति तत्राह भुजमिति। कदानु अगुरुवत् सुगन्धं भुजमस्मन्मूर्ध्नि अधास्यत् धारयिष्यति। तदपि वक्तव्यमित्यर्थः। यद्यागमिष्यत्तर्ह्यधास्यत्, न सन्देहः। तदागमनं कदा न्विति पृच्छामीति वा॥ २१ ॥

1. Ma, adds वा 2. Ma अग°

## श्रीशुक उवाच

**अथोद्धवो निशम्यैवं[1] कृष्णदर्शनलालसाः।**
**सान्त्वयन्प्रियसन्देशै र्गोपीरिदमभाषत॥ २२ ॥**

## उद्धव उवाच[2-2]

**अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो[3] लोकपूजिताः।**
**वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं[4] मनः[5]॥ २३ ॥**

दानव्रततपोहोम जपस्वाध्यायसंयमैः
श्रेयोभि विविधिभिरन्यैश्च कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥ २४ ॥

भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा।
भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा॥ २५ ॥

दिष्ट्या पुत्रान्पतीन्देहान्स्वजनान्भवनानि च।
हित्वाऽवृणीत यूयं यत् कृष्णाख्यं पुरुषं परम्॥ २६ ॥

सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षजे।
विरहेण महाभागा महान्मेऽनुग्रहः कृतः॥ २७ ॥

श्रूयतां प्रियसन्देशो भवतीनां सुखावहः।
यमादायाऽऽगतो भद्रा अहं भर्तू रहस्करः॥ २८ ॥

1. K.T.W. °शा० 2- -2 M.Ma omit 3. M.Ma °न्त्यो 4. MI.V म० 5. M.Ma °ता मतिः 6 MI.V ध्यान 7- -7 G.J. विविधैश्चान्यैः
8 K.T.W साध्वी 9- -9 MI.V °नं च गृहांस्तथा 10 M.Ma °गतो 11 M.Ma.T.W °न्वो 12 MI.V ह्यहं 13 M.Ma भर्तुर्हि किङ्करः

**श्रीध० अथेति**। श्रीकृष्णदर्शनोत्सुकाः गोपीः प्रियस्य सन्देशैः सान्त्वयन् प्रथमं तावत् इदमभाषत॥ २२॥

तदाह षड्भिः **अहो** इति। स्म नूनं, यूयं पूर्णार्थाः कृतार्थाः॥ २३॥

**ध्यानेति**। श्रेयोविधिभिः श्रेयस्साधनैः॥ २४॥

**भगवतीति**। अनुत्तमा अतिश्रेष्ठा॥ २५॥

**दिष्ट्येति**। अवृणीत वृतवत्यः॥ २६ ॥

**सर्वेति**। सर्वात्मभावः एकान्तभक्तिः अधिकृतः प्राप्तः। भगवत्प्रेमदर्शनेन मम च महाननुग्रहः कृत इति॥ २७॥

**श्रूयता** मिति। भर्तुः कृष्णस्य रहस्करः रहस्य कार्यकर्ता॥ २८ ॥

1 J.Va add सुख प्र० 2 J.Va ममैव

**वीर० अथेति।** कृष्णदर्शनोत्सुकाः गोपीर्निशाम्य दृष्ट्वा प्रियप्रेषितैः सन्देशैः सान्त्वयिष्यन् तावदिदं वक्ष्यमाणं अभाषत॥ २२ ॥

तदेवाऽऽह - **अहो** इत्यादिभिष्षड्भिः। नूनं यूयं पूर्णार्थाः कृतार्थाः भवत्यो यूयं लोकेषु पूजिताः। उभयत्र हेतुं वदंस्ता विशिनष्टि। यासां युष्माकं इतीत्थं भगवति वासुदेवे मनोऽर्पितं निहितम्॥ २३ ॥

कथं तदर्पणमात्रेण पूर्णार्थता पूजितता चेत्यत्राऽऽह- **दानेति।** दानादिभिरन्यैश्च श्रेयस्साधनैः नानाविधैः या भगवति भक्तिः न साध्यते न साधयितुं शक्यते सा भक्तिः अनुत्तमा उत्कृष्टा, मुनीनामपि दुर्लभा युष्माभिः दिष्ट्या सुखेनैव भगवति प्रवर्तिता; दिष्ट्या अयमस्माकं महानानन्द इत्यर्थः। तत्र दानं सत्पात्रे वित्तत्यागः, तपोऽनशनादि, स्वाध्यायो वेदाध्ययनम्, संयम इन्द्रियनिग्रहः। अत्र "नाहं वेदै र्न तपसा" (भगी. 11-53) इत्यादिभगवद्वचनार्थोऽभिप्रेतः। "नाऽन्यः पन्था" (पु.सू. 7) इत्यादि श्रुत्यर्थश्च। पुत्रादीन् त्यक्त्वा यत् यस्मात् यूयं कृष्णाख्यं परमपुरुषं अवृणीत वृतवत्यः। अतः पूर्णार्थाः लोकपूजिताश्चेति सम्बन्धः॥ २४-२६ ॥

भवतीभिः अहमपि कृतार्थीकृत इत्याह- **सर्वात्मभाव** इति। हे महाभागाः! विरहेण हेतुना अधुना अधोक्षजे। भवतीनां कर्तरि षष्ठी। युष्माभिः यस्सर्वात्मभावोऽधिकृतः प्रस्तुतः सर्वात्मना करणत्रयेण भावो भक्तिः सर्वोऽप्यात्मनो मनसः भावोऽभिप्रायविशेषः अधिकृतः प्रस्तुतः प्रकाशित इति वा। एष मे मह्यं महाननुग्रहः कृतः तत्स्मरणेनाऽहमपि कृतार्थीकृत इत्यर्थः॥ २७ ॥

एवं ताः प्रशस्य अथ प्रियसन्देशः श्रूयतामित्याह - **श्रूयतामिति।** हे भद्राः! भवतीनां सुखकरः प्रियस्य सन्देशः श्रूयताम्, सन्देशं विशिनष्टिया भर्तु र्भगवतः रहस्करः रहस्यप्रकाशकः अहं यं सन्देशमादायाऽऽगतः॥ २८ ॥

**विज०** पूर्णार्थाः कृतकृत्याः। इतिशब्दो हेत्वर्थः॥ २२,२३, ॥

शास्त्रतो नियमकरणं व्रतम्, संयम इन्द्रियनिग्रहः, हितसाधनानुष्ठानं श्रेयोविधिः॥ २४ ॥

दुर्लभेति वचनं भक्तैः कर्तव्यत्वपरं, न तु मुनीनां तादृशी भक्तिर्नास्तीति॥ २५ ॥

यूयं कृष्णाख्यं परमपुरुषं अवृणीतेति। यत्तद्दिष्ट्या सदैवाऽनुग्रहः ॥ २६ ॥

भवतीनां सर्वात्मनाऽखण्डस्वामिना हरिणा सहभावो लीला अधिगतः प्राप्त इति यदतो विरहेण महाननुग्रहः कृत इति मन्ये ॥ २७ ॥

इदानीं कृष्णसन्देशं वक्तुमुपक्रमते **श्रूयता** मिति ॥ २८ ॥

## श्रीभगवानुवाच

भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्।
यथा भूतानि भूतेषु[1] खं वाय्वग्निजलं मही॥
तथाऽहं[2] मनःप्राणबुद्धीन्द्रियगुणाश्रयः ॥ २९ ॥

आत्मन्येवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं सृजे हन्म्यनुपालये।
आत्ममायानुभावेन भूतेन्द्रियगुणात्मना॥ ३० ॥

आत्मा ज्ञानमयश्शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः।
सुषुप्तिस्वप्नजाग्रद्भिः मायावृत्तिभिरीयते ॥ ३१ ॥

येनेन्द्रियार्थान् ध्यायीत[4] मृषास्वप्नवदुत्थितः।
तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रत्यपद्यत ॥ ३२ ॥

एतदन्तः समाम्नायो योगस्साङ्ख्यो[5] मनीषिणाम्।
त्याग स्तपो दम स्सत्यं समुद्रान्ता इवाऽऽपगाः ॥ ३३ ॥

1. G.J.K.M.Ma MI.V र्जलं 2. K.T.W. तथाह्यहं 3. G.J भूते० ★ This verse is not found in M.Ma editions 4. G.J.MI.V ०येत 5. G.J.M. Ma ०ङ्ख्यं

**श्रीध० भवतीनामिति।** भवतीनां मे मया सह वियोगो नास्ति, कुतः? सर्वात्मना सर्वस्योपादानकारणेन अत एव सर्वेषु मनआदिकार्येषु अहमनुगतत्वेन स्थित इति सदृष्टान्तमाह - यथेति। भूतेषु चराचरेषु महाभूतानि यथा वाय्वग्निः वायुसहितोऽग्निः वायुश्चाग्निश्चेत्यर्थः। तथाहञ्चेति मनआदीनि कार्याणि गुणाः कारणं तेषामाश्रयत्वेनाऽनुगत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

ननु कारणत्वे सर्वानुगतत्वे च कार्यकारणभेदः स्यात् अत आह - **आत्मन्येवेति।** ननु नित्यसिद्धस्य कुतः सृज्यादिरूपता? अत आह - भूतेन्द्रियगुणात्मना। बुद्धीन्द्रियेति वा पाठः। तद्रूपेणेति। ननु निर्विकारस्य कुतः तद्रूपतेति तत्राऽऽह - आत्ममायानुभावेनेति ॥ ३० ॥

नन्वात्मनो भूतादिरूपत्वे तद्दोषप्रसङ्गः, तत्राह - **आत्मेति।** आत्मा तु शुद्धः। कुतः? अगुणान्वयः न गुणेष्वन्वेतीति तथा। तत्कुतः? व्यतिरिक्तः, तदपि कुतः? ज्ञानमयः ज्ञानस्वरूपः । नन्वहं प्रत्यये स्वसंवेद्यमेवाऽऽत्मनो नानावस्थत्वमिति कुत श्शुद्धतेति तत्राऽऽह - सुषुप्तीति। मायाकार्यमनोवृत्तिभि र्विश्वतैजसप्राज्ञरूपेण प्रतीयते न स्वत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

कुतः, मनोनिरोधे तदभावादिति व्यतिरेकं दर्शयितुं मनोनिरोधं विधत्ते - **येनेति।** उत्थितः पुमान्यथा मिथ्याभूतमेव स्वप्नं ध्यायेत्। एवं बाधितानपीन्द्रियार्थान् शब्दादीन् येन मनसा ध्यायेच्चिन्तयेत्। ध्यायंश्च येनेन्द्रियाणि प्रत्यपद्यत प्राप तन्मनः विनिद्रः अनलसस्सन् निरुन्ध्यात् नियच्छेदिति ॥ ३२ ॥

तावता च कृतार्थो भवतीत्याह - **एतदन्त** इति। एष मनोनिरोधः अन्तः समाप्तिः।? फलं यस्य सः, समाम्नायो वेदः स तत्र पर्यवस्यतीत्यर्थः। योगोऽष्टाङ्गः, साङ्ख्यः आत्मानात्मविवेकः, त्यागः सन्न्यासः, तपः स्वधर्मः, दमः इन्द्रियदमनम्। मार्गभेदेऽप्येकत्र पर्यवसाने दृष्टान्तः - समुद्रान्ता आपगा नद्य इवेति ॥ ३३ ॥

**वीर०** स्वतन्त्रात्मभ्रमदेहात्मभ्रमरूप मोहशान्तये चिदचिदीश्वरतत्त्वोपदेशपराणि प्रियसन्देशवचनान्येव सान्त्वनरूपाण्याह- **भवतीनामिति** नवभिः। मे मम सर्वात्मना भावप्रधानो निर्देशः, सर्वेषा मन्तरात्मतया भवतीनां वियोगो मद्विश्लेषो नाऽस्ति। न ह्यात्मानं विहाय शरीरं तिष्ठतीति भावः। सर्वकारणतयाऽपि न वियोग इति दृष्टान्तमुखेनाऽऽह - यथेति। यथा भूतेषु देवमनुष्यादिषु शरीरेषु कार्येषु आकाशादीनि महाभूतानि, वर्तन्त इति शेषः। वाय्वग्निजलमिति समाहारत्वेनैकवचननिर्देशः। यथा महाभूतानां तत्कार्याणाञ्च मिथो वियोगो नाऽस्ति, कारणतया तेषां तेषु समन्वयादित्यर्थः। तथाऽहमपि मनआदीनामाश्रयः आधारः तद्विशिष्ट इति यावत्। कृत्स्नजगदन्तर्भूतचिदचिदात्मकपदार्थेषु कारणतया समन्वितः। अत्र प्राणो जीवः, इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि, गुणाश्शब्दादयस्साश्रयाः। गुणपदेन मुख्यप्राणोऽपि सङ्गृह्यते, वायुपरिणामविशेषरूपत्वात्। अयं भावः - महदादिपृथिव्यन्ताचेतनवर्गशरीरकः कृत्स्नजगद्रूपेण परिणतोऽहम्, अतो न वियोगः, नहि कारणं विहाय कार्यं तिष्ठति। कारणस्यैवोत्तरोत्तरावस्थाविशिष्टस्य कार्यत्वादिति ॥ २९ ॥

सत्यं, कार्यं न कारणाद्वियुज्यते। मनआदिशरीरकत्वरूपविशिष्टवेषेण त्वं कृत्स्नजगदुपादानकारणं, तथाऽपि मनआदीना - मन्यकारणकत्वे तु न तव कृत्स्नजगदुपादानत्वसिद्धिः। तथाऽऽधारोपकरणकर्महेतुस्थितिलयकारणाना मन्यत्वेऽपि चेत्यत आह **आत्मन्येवेति।** आत्मन्येवेत्यनेन आधारान्तरस्य व्यावृत्तिः। आत्मनेत्यनेन उपकरणान्तरस्य, आत्मानमिति सृज्यान्तरस्य, सृजे इत्यनेन निमित्तान्तरस्य, अनुपालये, हन्मि इति पदाभ्यां स्थितिलयकारणान्तरयोः। एवं न केवलं व्यष्टिरूपेणैव सृजामि, अपि तु समष्टिरूपेणापीत्यभिप्रयेण भूतेन्द्रियगुणात्मनेत्युक्तम्। अनेन महदादिपृथिव्यन्तानामपि स्वोपादानकत्वसिद्धिः। आत्ममाया स्वसङ्कल्पः"बहुस्यां प्रजायेय" (तैति. उ. 2-6, छान्दो. उ. 6-2-3) इत्येवंरूपः तस्यानुभावेन प्रभावेन हेतुना। अनेन हेत्वन्तरव्यावृत्तिः, कारणत्वोपयुक्तसार्वज्ञ्यसर्वशक्तित्वादिगुणयुक्तिश्चाभिप्रेता। अत्र " ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्"(तैत्ति. ब्रा. 2-8-9-6) "तदाऽऽत्मानं स्वयमकुरुत"(तैत्ति. उ. 2-7) इत्यादि श्रुत्यर्थोऽभिप्रेतः। तत्राऽऽधारत्वनिमित्तत्व स्थितिकारणत्वान्यविशिष्टब्रह्मगतानि, उपादानत्वोपकरणत्वसृज्यत्वव्यष्टिसृष्टिसंहारकरणत्वानि तु चिदचिच्छरीरक ब्रह्मगतानीति विवेकः ॥ ३० ॥

तदेवमब्रह्मात्मकस्वतन्त्रवस्तुत्वभ्रमो निरस्तः। अथ देहात्मभ्रमं निरस्यति - **आत्मेति।** आत्मा जीवः व्यतिरिक्तः देहेन्द्रियमनःप्राणादिभ्य इति शेषः। अत एवाऽगुणान्वयः वस्तुतः प्राकृतसत्त्वादिगुणरहितः। यद्वा, गुणान्वय इति च्छेदः। व्यतिरिक्तोऽपि कर्मनिमित्तो गुणानामन्वयो यस्मिन्निति तथाभूतः। अत एव स्वतः स्वरूपतः शुद्धः निर्मलः। अस्तु, किन्तत्स्वरूपम्?

तत्राऽऽह - ज्ञानमयः "अन्योन्तर आत्मा विज्ञानमयः" (तैत्ति. उ. 2-3) इत्यत्रेव स्वार्थिको मयट्, ज्ञानस्वरूप इत्यर्थः। यद्वा प्राचुर्ये मयट्। न च ज्ञानप्राचुर्य मज्ञानाल्पत्वमवगमयतीति शङ्क्यम्, तत्प्राचुर्यस्य तदल्पत्वस्यैव व्यावर्तकत्वात्। व्यतिरिक्तस्य कथं न तथा प्रतीतिः। कथं वा देवोऽहं, मनुष्योऽहं, सुप्तोऽहं किल विललाप, सुखमहमस्वाप्स मित्यादिरूपेण प्रतितिः? तत्रऽऽह सुषुप्तीति। मायावृत्तिभिः प्रकृतिपरिणामभूतमनोव्यापारविशेषात्मिकाभिः, जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभिः देवादिशरीरात्म तादात्म्यादिविषयाभिः देवादिरूपेण प्रतीयते इत्यर्थः। तत्र जाग्रन्मायावृत्तिः बाह्येन्द्रियद्वारा बाह्यविषयगोचरान्तर सुखदुःखादिगोचरा च, न तु व्यतिरिक्तात्मत्वस्वरूपगोचरा[2]। अतो देवोऽहं इच्छामि द्वेष्मि सुख्यहं, दुःख्यहम् इति प्रतीतिः। स्वप्नवृत्तिस्तु तद्दशायां तत्तत्स्वप्नद्रष्टृकर्मानुगुणं तदेककारणताया तत्कालमात्रावस्थायितया च परमपुरुषसृष्टचक्षुरादीन्द्रियद्वारिका अद्वारिका वा तदेकानुभाव्यतत्कालमात्रावस्थायि परमपुरुषसृष्टविषयदेहादिगोचरा, न तु व्यतिरिक्तात्मगोचरेति तदा न तथा प्रतीतिः। सुषुप्तौ तु यद्यपि न मनसोऽपि व्यापारः। अत एव न द्वेद्याद्याकारप्रतीतिः। एवञ्च व्यतिरिक्तात्मस्वरूपप्रतीतिरपि सुलभा। तथाप्याऽऽप्रबोध महमित्येव प्रकाशते। न तु देहेन्द्रियादिभ्यो व्यतिरिक्तोऽहमिति। प्रतियोगिग्राहकमनोव्यापाराभावात् प्रतियोगिन एवाऽप्रतीतेः। यद्यपि सुषुप्तावहमिति प्रतीति र्न मायावृत्तिः, तथाऽपि छत्रिन्यायेन मायावृत्तिरित्युक्तम् ॥ ३१ ॥

तदेवं संसृतिहेतुभूतदेहात्मभ्रमादि र्मनःपारवश्यकृत इत्युक्तं भवति। कथं तर्हि तत्पारवश्यनिवृत्तिरित्यपेक्षायां तन्नियमेनैवेत्याह - **येनेति**। उत्थितः स्वप्नादिति विभक्तिपरिणामेन सन्निहितत्वात्सम्बध्यते। प्रबुद्धः स्वप्नवत् स्वप्नार्थानिव येन मायापरिणामरूपेण मनसा इन्द्रियार्थान् शब्दादिविषयान् मृषा सम्प्रत्यविद्यमानानपि पूर्वानुभूताननुभूतानपि अनुभूत सजातीयान् दुर्लभान् ध्यायीत तन्मनो निरुन्ध्या न्निचच्छेदिति सम्बन्धः। "ध्यायतो विषयान्पुंसस्सङ्गस्तेषूपजायते, सङ्गात्सञ्जायते कामः" (भ; गी 2-62 ) इत्युक्तरीत्या विषयध्यानतत्सङ्गाद्यापादनद्वारा मनसो बन्धकत्वमिति येनेन्द्रियार्थानित्यनेनोक्तम्। येनेत्युपात्तं मनो विशिनष्टि। येन चेन्द्रियाणि बाह्यानीन्द्रियाणि प्रत्यपद्यत प्राप। कथम्भूतः? विनिद्रः अनलसः निरुन्ध्यात्। यद्वा, तन्मन इन्द्रियाणि चेति शेषः। विनिद्रदेहात्मभ्रमरहितः अन्तर्बाह्येन्द्रियाणि निरुन्ध्यात्। प्रत्यपद्यतेत्यस्य मा मित्यादिः। येन निरुद्धेन मनसा मां यथावज्जानीयादित्यर्थः। यद्वा। तदित्यव्ययम्। तत् ततः तेभ्यो विषयेभ्यो ध्यातेभ्यः इन्द्रियाणि यथेन्द्रियाणि तत्प्रावण्यरहितानि भवेयुः तथा निरुन्ध्यात् इत्यर्थः। अनेन मनसो बाह्येन्द्रियनियम उक्तः। कथम्भूतः? विनिद्रः, पूर्ववदर्थः। अनेन मनोनियमनोपयुक्तं देहात्मभ्रमराहित्यमुक्तम्। एव मन्तरिन्द्रियनियम उक्तः। कथमेतदुभयं लभ्यम्? तत्राऽऽह प्रत्यपद्यत, मामिति पूर्ववच्छेषः। मां प्रत्यपद्यतेत्यर्थः। मद्विषयज्ञानेन तत्सुलभमिति भावः ॥ ३२ ॥

किं मनोनियमनेनेत्यत्राऽऽह - **एतदन्त** इति। समाम्नायादयः सत्यान्ताः एतदन्ताः मनोनियमनान्ताः। अन्तः फलम्। मनेनियमनफला इत्यर्थः। एतदन्त इत्येकवचनम्, समाम्नायादि प्रत्येकाभिप्रायकम्। नियमिते च मनसि मत्प्राप्तिः सुलभेति भावः। तत्र दृष्टान्तमाह - समुद्रान्ता इवापगा इति। समुद्रपर्यन्तगमनमेव नदीभिः कार्यम्। तत स्तत्प्राप्तिर्यथा सुलभा, तद्विषयान्तरेभ्यो मन आकृष्य मयि नियन्तव्यम्। ततो मत्प्राप्तिरयत्नलभ्येति तात्पर्यम्। यद्वा, प्रत्यपद्यतेतीन्द्रियनियमस्य यथावत्स्वविषयकज्ञानं फलमिति सूचितं, तदेव सदृष्टान्तं विवृणोति - एतदन्त इति। समाम्नाय उपदेशः वेदार्थः ज्ञानानुष्ठाने वा। योगः विवेकादिसाधनसप्तकानुगृहीतः साङ्ख्यप्रत्यगात्मयाथात्म्यावलोकनम्। त्यागो दानं, तपोऽनशनादि, दम इन्द्रियनिग्रहः, सत्यं सत्यवदनम् ॥ ३३ ॥

1 T.W. omit नवभिः 2 T.W ०क०

**विज०** सर्वात्मना सर्वप्रकारेण निरूप्यमाणे सति। एनमर्थं दृष्टान्तेनोपपादयति **यथेति।** यथा पञ्चभूतानि भूतेषु चराचरशरीरेषु कारणत्वेनानुगतानि तथाऽहम्। कानि तानि भूतानीत्यत आह खमित्यादिना। वाय्वग्निरिति छान्दसः प्रयोगः ॥ २९ ॥

सामान्यत उक्तं विशिनष्टि मन इति। नन्वत्र मुख्यकारणत्वं कस्येति तत्राऽऽह - आत्मना परप्रेरणामन्तरेण आत्मानं देहादि सर्वं सृजे हन्मि संहरामि अनुपालये रक्षामीति। ननु तर्हि भूतव त्त्वं तदभिन्नः किमित्यत उक्तं **आत्मनीति** ॥ ३० ॥

स्वाधारत्वेनाऽऽततत्वेन आत्मनेत्युक्तं विवृणोति **आत्मेति**।आत्ममायानुभावेन स्वरूपेच्छानिश्चयेन। निश्चयं विशिनष्टि भूतेति। भूतादीन्व्याप्य वर्तमानेन। अनेन भूतादीना मवान्तरकारणत्वेन न तत्कारणत्वोक्तिविरोधः। भूतेन्द्रियगुणात्मनेत्यनेन जडरूपत्वं परमात्मनः प्राप्तं निवारयति आत्मेति। ज्ञानमयः पूर्णज्ञानः गुणानां सत्त्वादीनामन्वयो यस्य स तथा। न केवलं ज्ञानमेव गुणोऽस्य, किन्त्वन्येऽप्यानन्दादयस्सन्तीत्यतो वोक्तं गुणान्वय इति। आनन्दादिगुणानामन्वयो यस्मिन्स तथा ॥ ३१ ॥

उक्तार्थे किं प्रमाणमिति तत्राऽऽह **सुषुप्तीति।** मायया हरेरिच्छया वृत्तिः स्वरूपलाभो यासां तास्तथा। ताभिः स्वापादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद्घटवत् इत्याद्यनुमानं पक्षधर्मताबलेन ईयते ज्ञायत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

उपजीव्यप्रमाणाभावेनाऽनुमानस्य दुर्बलत्वं स्यादिति तत्राऽऽह - **एतदन्त** इति। समाम्नायः निर्दोषः आगमः एतस्यानुमानार्थस्य अन्तो निर्णयो यस्मात्स तथा। " अन्तोऽस्त्र्यवसिते मृत्यौ"(वैज० को० 6-5-5) इति च। न केवल मनुमानेनाऽयमर्थः सम्पद्यते, वेदादिनाऽपीति भावेन चाऽऽह एतदन्त इति। हरितत्त्वनिर्णायकः एतज्ज्ञानपर्यवसायीत्यर्थः। "वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः। वासुदेवपरा योगाः" (भाग. 1-2-28) इत्यादेः। त्यागो दुर्दर्शनाभ्यासवर्जनं, सत्यं सत्यभूतं वाक्यं, अत्र दृष्टान्तमाह- समुद्रान्ता इति ॥ ३३ ॥

**यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते[1] प्रियादृशाम्।**
**मनसस्सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया ॥ ३४ ॥**

**यथा दूरचरे[2] प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते।**
**स्त्रीणाञ्च न तथा चेतः सन्निकृष्टेऽक्षिगोचरे[3] ॥ ३५ ॥**

**मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्तयः[4]।**
**अनुस्मरन्त्यो मां नित्य मचिरान्मामुपैष्यथ[5] ॥ ३६॥**

या[6] मया क्रीडता रात्र्यां[7] वनेऽस्मिन्व्रज आस्थिताः।
अलब्धरासाः[8-] कल्याण्यो माऽऽपुर्मद्वीर्यचिन्तया[-8] ॥ ३७ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं प्रियतामादेशमाकर्ण्य[9] व्रजयोषितः।
ता[10] ऊचुरुद्धवं प्रीता स्तत्सन्देशागतस्मृतीः ॥ ३८ ॥

1- -1 G.J.MI.V वर्ते प्रियो; M.Ma वर्त्यपि यो 2. M.Ma ०त०3. J.M.Ma ०क्ष० 4. G.J.k.M.Ma वृत्ति यत् 5. M.Ma ०पे० 6. M.Ma यन्म० 7. M.Ma रात्रीः 8- -8 M.Ma अलब्धावासकल्याणाः आपुर्मा मद्वि° 9 G.J.K.T.W. ०दिष्ट० 10 K.T.W °तमूचु०

**श्रीध०** ननु किमन्यानिवाऽस्मान् आत्मविद्यया प्रलोभयसि, वयं तु सर्वसुन्दरसर्वगुणगणालङ्कृतेन त्वया विरहं नैव सहाम इति चेदत आह **-यदिति।** दृशां दूरे यद्वर्ते तन्मदनुध्यानार्थं, तच्च ध्यानं मनसः सन्निकर्षार्थमिति ॥ ३४॥

एतदुपपादयति त्रिभिः[1] **यथेति**॥ ३५, ३६ ॥

उपैष्यथेति, माधुर्यमात्रमिति चेदत आह **या** इति। हे कल्याण्यः, स्वभर्तृभिः प्रतिबद्धाः याः वने क्रीडता मया सह अलब्धक्रीडाः ता स्तथैव[2] मा मां आपुः प्रापुः ॥ ३७ ॥

**एवमिति।** तस्य सेन्देशेन आगता स्मृतिः यासां ताः। प्रथमार्थे द्वितीया॥ ३८ ॥

1 J.Va त्रयेण 2. J.Va ०दै°

**वीर०** यद्यप्युक्तरीत्या त्वद्वियोगो नाऽस्ति। तथापि निरतिशयसुखावहं रूपं किं न दर्शयसीत्यत्राह **-यत्त्वति।** हे प्रियाः! अहं भवतीनां दृशां दूरे वर्ते इति यत्, तत्तु मदनुध्यानकाम्यया मदनुध्यानार्थम्। तच्च मनसः सन्निकर्षार्थम्॥ ३४॥

किं चक्षुर्गोचरे त्वयि अनुध्यानं मनस्सन्निकर्षश्च न लभ्यते इत्यतो नेत्याह - **यथेति।** प्रेष्ठे प्रियतमे दूरचरे सति तस्मिन्यथा स्त्रीणां मन आविश्य वर्तते, स्थिरतयेति शेषः। तथा तासां चेतः सन्निकृष्टे अक्षिगोचरे च प्रियतमे न वर्तते ॥ ३५ ॥

किं त्वदनुध्यानेन मनस्सन्निकर्षेण च साध्यमित्यत आह-**मयीति।** विमुक्ता अशेषा वृत्तयः व्यापाराः यस्मा-त्तद्वन्मनः तन्मयि कृत्स्नं कार्त्स्न्येन निवेश्य मामेव नित्यमनुस्मरन्त्योऽचिरादेव मामुपैष्यथ प्राप्स्यथ ॥ ३६ ॥

व्यामोहनमात्र मेत दित्यतो निदर्शयति **या** इति। हे कल्याण्यः, याः स्त्रियो व्रजएवाऽऽस्थिताः भर्त्रादि प्रतिबन्धादिति भावः। वने क्रीडता मया न लब्धः रासः क्रीडा याभि स्तथाभूताः, मद्वीर्याणां मच्चेष्टिताना मनुचिन्तया मामेव आपुः खलु ॥ ३७ ॥

**एवमिति।** इत्थं प्रियतमेन भगवता आदिष्टं श्रुत्वा तस्य सन्देशेन आगता स्मृतिर्यासां ताः, व्यत्ययेन द्वितीया। प्रीता हृष्टाः उद्धवमूचुः ॥ ३८ ॥

**विज०** "कस्त्यजेन्मां भवादृक्" (भाग० 10-47-13) इति उक्तिपरिहारमिवाऽऽह **यस्त्विति।** योऽहमन्तिके वर्तमानोऽपि भवतीनां दृशां दूरे वर्तीति प्रतीयत इति यत् तन्मदनुध्यानकाम्यया निरन्तरमुपासनेच्छया मनस्सन्निकर्षार्थं कृतमित्यन्वयः ॥ ३४ ॥

निदर्शनिनैतमर्थं मुपपादयति **यथेति।** चशब्दात्पुरुषाणामिति ग्राह्यम्। प्रेष्ठे प्रियतमे पदार्थे, पूर्वानुभूते इति शेषः। अक्षगोचरे इन्द्रियविषये॥ ३५ ॥

लोके प्रियतमस्मरणे फलसन्देहो, न तथा मत्स्मरणं, फल निश्चयादिति भावेनाऽऽह - **मयीति।** यद्विमुक्ता अशेषा वृत्तयो यस्य तत्तथा। तन्मनः मय्यावेश्य नित्यं मामनुस्मरन्त्यो यूयं शीघ्रं मां तथा उपेष्यथेत्यन्वयः ॥ ३६ ॥

अस्मिन्नर्थे स्वानुभूतमर्थं प्रमाणयति **यन्मयेति।** यत् यथा व्रजे आस्थिता अस्मिन्वने अलब्धावासकल्याणाः अप्राप्तगृहसुखाः यूयं मया रात्रीः क्रीडिताः मद्विचिन्तया मामापुः। एवमिति शेषः ॥ ३७ ॥

तत्सन्देशेनाऽऽगतभगवद्विशेषस्मरणाः ॥ ३८ ॥

## गोप्य ऊचुः

दिष्ट्या[1]ऽहितो हतः कंसो यदूनां[2] सानुगोऽघकृत्।
दिष्ट्याऽऽमैर्लब्धसर्वार्थैः कुशल्याऽऽस्तेऽच्युतोऽधुना ॥ ३९ ॥

कच्चिद्वदाग्रजः सौम्य! करोति पुरयोषिताम्।
प्रीतिं नः[3] स्निग्धसव्रीडहासोदारेक्षणार्चितः ॥ ४० ॥

कथं रतिविशेषज्ञः प्रियश्च पुरयोषिताम्[4]।
नाऽनुबध्येत तद्वाक्यैर्विभ्रमैश्चानुभाजितः[5] ॥ ४१ ॥

अपि स्मरति नस्साधो गोविन्दः प्रस्तुते क्वचित्।
गोष्ठीमध्ये पुरस्त्रीणां ग्राम्यस्वैरकथान्तरे[6] ॥ ४२ ॥

ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा[7] प्रियाभि र्बृन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये।
रेमे क्वणच्चरणनूपुररासगोष्ठ्या मस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित् ॥ ४३ ॥

1. K.T.W. किल 2. K.T.W. ०नामहितोऽ० 3. M.Ma. सुस्नि० 4. G.J. वर 5. K.T.W. ०वि० 6. G.J.MI.V. ०म्याः 7 MI.V. तथा

**श्रीध० दिष्ट्येति।** यदूना महितश्शत्रुः अघकृत् दुःखदः। दिष्ट्येत्यानन्दे। आप्तैः प्राप्तैः हितैर्वा सह॥ ३९॥

अन्या ऊचुः **कच्चिदिति।** नोऽस्माकं करणीयां प्रीतिं कच्चित्पुरयोषितां करोति। स्निग्धञ्च तत्सव्रीडहासेनोदार-मीक्षणञ्च तेनाऽर्चितः, ताभिरस्माभि र्वा ॥ ४० ॥

पुनरन्या ऊचुः-**कथमिति।** तासां वाक्यैर्विभ्रमैश्चानुभाजितः [1]पूजितः॥ ४१ ॥

पुनरन्या ऊचुः- **अपीति।** किमनया चिन्तया? [2]नः अस्मान् क्वचित् प्रस्तुते स्मरति किम्? ग्राम्या अविदग्धाः॥ ४२॥

अन्या ऊचुः- **ता** इति। कुमुदैः कुन्दैः शशाङ्केन च रम्ये बृन्दावने क्वणन्ति चरणनूपुराणि यस्यां तस्यां रासगोष्ठ्यां अस्माभिः प्रियाभिः ईडिता मनोज्ञाः कथा यस्य सः। तथा यासु निशासु रेमे, ताः कदाचित् किं नु स्मरति वा न वेति॥ ४३॥

1 Ml.V. omit पूजितः 2 J.Va. omit नः

**वीर० दिष्टचेति।** यदूना महितश्शत्रुः अघकृद्दुःखकृत् कंसः हतः किल। एतद्दिष्ट्या! अय मस्माकं महानानन्द इत्यर्थः। लब्धास्सर्वे अर्थाः पुरुषार्था यै स्तैराप्तै र्मित्रैस्सह अच्युतोऽधुना कुशल्यास्ते किल ॥ ३९ ॥

**कच्चिदिति।** हे सौम्य, गदाग्रजः कृष्णः, पुरयोषितां स्निग्धञ्च तत्सव्रीडहासेनोदारं ईक्षणं, तेनार्चितो बहुमतो वशीकृत इति भावः। तासां प्रीति मस्मासु कर्तव्यां करोति, कच्चित् इतीष्टप्रश्ने ॥ ४० ॥

ननु स्वतन्त्रस्सः कथं तद्वशः स्यात्, अत आहुः- **कथमिति।** तद्वाक्यैः [1-]पुरयोषिन्मधुरवाक्यैः[-1] तद्विभ्रमैश्च अनुभावितः वशीकृतः कथं नाऽनुबध्येत? अनुबध्येतैवेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

**अपीति।** हे साधो, पुरस्त्रीणां गोष्ठीमध्ये तत्राऽपि ग्राम्यस्वैरकथान्तरे ग्रामेषु भवा ग्राम्यजना स्तेषां सम्बन्धि यत् यादृच्छिककथान्तरं, तस्मिन्प्रस्तुते अधिकृते सति। तदा नोऽस्मान् स्मरति किम्? प्राधान्येन नास्मान् स्मरत्येव यदृच्छयापि स्मरति किमित्यर्थः ॥ ४२ ॥

पुनरन्या ऊचुः- **ताः किमिति।** कुमुदैः कुन्दैः शशाङ्केन च रम्ये बृन्दावने क्वणन्ति चरणनूपुराणि यस्यां रासगोष्ठ्यां अस्माभिः प्रियाभिरीडिताः मनोज्ञाः कथाः यस्य तथा यासु निशासु रेमे ताः कदाचित् किन्नु स्मरति?॥ ४३॥

1- -1 T.W. omit

**विज०** यदूनामहितः। आप्तजनैः ॥ ३९,४० ॥

तासां वाक्यैः कथं नाऽनुबध्येत विभ्रमैः शृङ्गारचेष्टाभिः अनुभाजितः सभाजितः ॥ ४१ ॥

ग्राम्याणां शब्दादिविषयलालसानां स्वैरकथान्तरे स्वच्छन्दविषयस्य व्यवहारविशेषे प्रस्तुते प्रसक्ते ॥ ४२

यासु निशासु ॥ ४३ ॥

**अप्येष्यतीह दाशार्ह स्तप्ता स्स्वकृतया शुचा।**
**सञ्जीवयिष्यन्नो गात्रैः यथेन्द्रो वन मम्बुदैः ॥ ४४ ॥**

**कस्मात्कृष्ण इहाऽऽयाति प्राप्तराज्यो हताहितः।**
**नरेन्द्रकन्या उद्वाह्य प्रीतः सर्वसुहृद्वृतः ॥ ४५ ॥**

**किमस्माभिर्वनौकोभिरन्याभिर्वा महात्मनः।**
**श्रीपते राप्तकामस्य क्रियतेऽर्थो महात्मनः ॥ ४६ ॥**

**परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिणी प्राह पिङ्गला।**
**तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया ॥ ४७ ॥**

**क उत्सहेत सन्त्यक्तुमुत्तमश्लोकसंविदम्।**
**अनिच्छतोऽपि यस्य श्री रङ्गान्न च्यवते क्वचित् ॥ ४८ ॥**

1 M.Ma. °स्तप्त स्व० 2 G.J. ०वयन् नु नो; M.Ma. °वयन्व्रजं; MI.V. °वयंस्तु नो 3- -3 T.W. इन्द्रो वनमिवाम्बुदैः 4- -4 M.Ma विहृत्य नगरस्त्रीभिः 5- -5 G.J.M.Ma. क्रियेतार्थः कृतात्मनः, MI.V. क्रियतेऽर्थः कृतात्मनः 6 M.Ma. सुखं 7 G.J.K.M.Ma. T.W. °ण्यप्याह

**श्रीध० अपीति।** स्वनिमित्तेन शोकेन तप्ताः नः अस्मान् गात्रैः करस्पर्शादिभिस्सञ्जीवयन्। किन्नु इहैष्यतीति ॥ ४४ ॥

अन्या ऊचुः- **कस्मादिति।** अनन्यगतित्वेन पूर्वमत्राऽवसत्, सम्प्रति महदैश्वर्यं प्राप्तः कस्मादिहाऽऽगमिष्यतीति ॥ ४५ ॥

अन्यास्तु परमार्थमूचुः- **किमिति।** वनचरीभि रस्माभिरन्याभि र्वा राजकन्याभिः, महात्मनो धीरस्य। किञ्च। श्रीपतेः, तदप्यास्तां, स्वत एवाऽऽप्तकामस्य, अत एव कृतात्मनः पूर्णस्य, किं कोऽर्थः क्रियते? न कश्चिदिति ॥ ४६ ॥

यतः अघटमाना या कृष्णसङ्गतिः, सैवाऽस्मानाकुलयति। अतो नैराश्यमेव परमं सुखं, तच्चाऽति दुष्करमित्याहुः- **परमिति।** स्वैरिणी कामचारिणी ॥ ४७ ॥

**क** इति। संविद मेकान्तवार्ताम् ॥ ४८ ॥

1 J.Va. कोऽप्यर्थः 2- -2 V. omits कामचारिणी

**वीर० अप्येष्यतीति।** आगमिष्यति किम्? स्वनिमित्तेन शोकेन सन्तप्ताः नोऽस्मान् दाशार्हः कृष्णः, दाशार्हेति पाठे हे उद्धव ! स्वकरस्पर्शादिभिः सञ्जीवयिष्यति किम्? यथा वनमिन्द्रोऽम्बुदैः सञ्जीवयति तद्वत् ॥ ४४ ॥

अन्या ऊचुः **कस्मादिति।** अनन्यगतित्वेन पूर्वमत्रोषितवानधुना तु प्राप्तं राज्यं येन, हता अहिता श्शत्रवो येन, तथाभूतः नरेन्द्रकन्या उद्वाह्य प्रीतः सुहृद्भिश्च वृतः कस्माद्धेतोः इहाऽऽगमिष्यति ॥ ४५ ॥

अन्यास्तु परमार्थमूचुः - **किमस्माभिरिति।** वनवासिनीभिः 1-अस्माभिः अन्याभिः-1 पुरयोषिद्भिर्वा महात्मनः कृष्णस्य किं को वाऽर्थः प्रयोजनं क्रियते, न किञ्चित्प्रयोजनमित्यर्थः। तत्र हेतुं ब्रुवत्यो विशिंषन्ति। महात्मनः श्रियःपतेः, तदप्यास्ताम्, स्वत एव अवाप्तसमस्तकामस्य ॥ ४६ ॥

अन्याः पुनराहुः- **परं सौख्यमिति।** यत्पिङ्गलाख्या वेश्या प्राह - नैराश्यं परमं सैख्यं हीति। तज्जानतीनामपि नोऽस्माकं तथाऽपि नैराश्यस्य सुखहेतुत्वदर्शनेऽपि कृष्णे विषये आशा दुरत्यया अपरिहार्या ॥ ४७ ॥

युक्तञ्चैतदिति काश्चिदाहुः - **क** इति। उत्तमश्लोकस्य संविदमेकान्तवार्तां त्यक्तुं को जन उत्सहेत? न कोऽप्युत्सहेतेत्यर्थः। तत्संवित्त्यागानुत्साहमेव दृष्टान्तमुखेन दर्शयन्त्य स्तं विशिंषन्ति- अनिच्छतोऽपीति। श्री र्लक्ष्मीः ऽकामयमानस्याऽपि यस्योत्तमश्लोकस्य अङ्गादुरःस्थलात् क्वचित्कदाचिदपि न च्यवते ॥ ४८ ॥

1- -1 T.W. omit

**विज०** गात्रैरवयवैः॥ ४४ ॥

अदीर्घेण कालेनाऽऽगमिष्यामीति यदुक्तं तत् स्तोभनमात्रम्, आगमने निमित्ताभावादित्याह- **कस्मादिति** ॥४५॥

कृतात्मनः पूर्णरूपस्य अर्थो विषयः किं क्रियेत किं सुखं कुर्यात् ॥ ४६ ॥

कृष्णस्य पूर्णकामत्वात्तत्तथाऽस्तु, युष्माकं सुखनिमित्तं किम्? तत्राऽऽह- **परमिति।** आशा अतितृष्णा ॥४७॥

न केवलमस्माकमेव कृष्णाशा दुस्त्यजा, अन्यस्यापीत्याहुः- **क** इति ॥ ४८ ॥

सरिच्छैलवनोद्देशा गावो वेणुरवा इमे।
सङ्कर्षणसहायेन कृष्णेनाऽऽचरिताः प्रभो॥ ४९ ॥

पुनः पुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं बत।
श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुमः ॥ ५० ॥

गत्या ललितयोदारहासलीलावलोकनैः।
माध्व्या गिरा हृतधियः कथं तं विस्मरामहे ॥ ५१ ॥

हे नाथ! हे रमानाथ! व्रजनाथार्तिनाशन।
मग्नं मुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात् ॥ ५२ ॥ ★

(विजयध्वजरीत्या पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः)

1 - - 1 M.Ma ०नाऽऽक्रीडिता विभो! 2 M.Ma ०ते त० 3. M.Ma ०के वि०4 M.Ma.T.W तद्वि० 5 K.T.W. ०वे
★ अनेन श्लोकेन विजयध्वजरीत्या पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः।

**श्रीध०** किञ्च। तद्विस्मृतौ न तावद्दुःखमस्ति। साऽपि नाऽस्माकं सम्भवतीत्याहु स्त्रिभिः- **सरिदिति**। आचरिताः सेविताः ॥ ४९, ५० ॥

**गत्येति**। हे उद्धव, कथं तं विस्मरामहे? ॥ ५१, ५२ ॥

**वीर०** किञ्च। तद्विस्मृतौ तु नाऽस्माकं दुःखमस्ति। साऽपि न सम्भवतीत्याहुः- त्रिभिः **सरिच्छैलेति**। प्रभो! हे उद्धव, सङ्कर्षणसहितेन कृष्णेन सरिदादय आचरिता स्सेविताः ॥ ४९ ॥

ततः किमित्यत आहुः- पुनः पुनर्नन्दगोपसुतं स्मारयन्ति। बत! कैर्लिङ्गैरित्यत आहुः- श्रीनिकेतैः श्रियस्सौन्दर्यसम्पदो निकेतैराश्रयैः, तस्य भगवतः पदकैः पदानीव पदकानि "इवे प्रतिकृतौ" (अष्टा० 5-3-96 ) इति क प्रत्ययः। तैः स्मारयन्ति इति पूर्वेण सम्बन्धः। अत स्तं विस्मर्तुं नैव शक्नुमः॥ ५० ॥

किञ्च गत्यादिभिः हृता धी र्यासां ताः। वयं कथं तं कृष्णं विस्मरामहे। ततश्च स्मारकै र्लिङ्गै स्तत्स्मृति रवर्जनीया। ततश्च दुःखमपीति भावः ॥ ५१ ॥

ततश्चेदं दुःखं स एव भगवानपनुदत्विति प्रार्थयन्ते **-हे नाथेति**। बुद्ध्या सन्निधापितस्य भगवतस्सम्बोधनानि हे नाथेत्यादीनि। वृजिनार्णवे दुःखाब्धौ मग्नं गोकुलमुद्धर। नाऽहं शक्त इत्यत्र सम्बोधयन्ति हे नाथेति। ईश्वरस्य तव किमशक्य मिति भावः। नन्वीश्वरो निगृह्णात्यपीत्यत आहुः- हे रमानाथेति। "लक्ष्म्या सह हृषीकेशो देव्या कारुण्यरूपया, रक्षकस्सर्वसिद्धान्ते" (पाञ्चरात्रे) इत्युक्तरीत्या केवलकारुण्यमूर्त्या पुरुषकारभूतया लक्ष्म्या नित्ययुक्तस्य तवानुग्रह एवोचित इति भावः। नन्वेवमपि कांश्चिन्निगुह्णन्नेव दृश्ये इत्यत्राऽऽहुः व्रजनाथेति। व्रजन्त्वनुगृह्णन्नेव दृश्यसे इत्यभिप्रायः। तमेवाऽऽविष्कुर्वन्ति हे आर्तिनाशनेति। विषजलाशय व्यालराक्षस वर्षमारुत प्रयुक्तपीडाहारित्वं बहुशो दृष्टमिति भावः ॥ ५२ ॥

विज० आक्रीडिताः क्रीडारङ्गीकृताः इमे सरिदादयः ॥ ४९ ॥

नन्दगोपसुतं पुनः पुनः स्मारयन्ति। बत आश्चर्यम्। ननु सरिदादिदर्शने एव श्रीकृष्णस्मरणम् अन्यदा नास्ति इत्यायातमिति तत्राऽऽह -श्रीनिकेते इति। तस्य श्रीकृष्णस्य पदके प्रशस्तपदे प्रशस्तत्वं कुत इत्यत उक्तं श्रीनिकेते इति ॥ ५० ॥

उक्तमेव द्रढयति गत्येति ॥ ५१ ॥

नित्यं स्वजाप्यं विज्ञापयन्ति- हे नाथेति। ऐश्वर्यमूर्ते! रमाया अपि आशीःप्रद! व्रजनाथानां गोपानां आर्तिनाशन! मग्नं, दुःखार्णवे इति शेषः । गवां विन्दो[1] लाभो यस्मात्स तथा गोविन्द इति ॥ ५२ ॥

॥ विजयध्वजरीत्या पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४५ ॥

1 Ma. adds लीला

(विजयध्वजरीत्या षट् चत्वारिंशोऽध्यायः आरभ्यते)

★ श्रीशुक उवाच

ततस्ताः कृष्णसन्देशै र्व्यपेतविरहज्वराः।[1]
उद्धवं पूजयाञ्चक्रु र्ज्ञात्वाऽऽत्मान मधोक्षजम्[2]॥ ५३ ॥

उवास कतिचिन्मासान्गोपीनां विनुदन् शुचः।
कृष्णलीलाकथां[5] गायन्रमयामास गोकुलम् ॥ ५४ ॥

यावन्त्यहानि नन्दस्य व्रजेऽवासी त्स उद्धवः।
व्रजौकसां क्षणप्रायाण्यासन्कृष्णस्य वार्तया[6] ॥ ५५ ॥

सरिद्वनगिरिद्रोणी वीक्षन्कुसुमितद्रुमान्।[7]
कृष्णं संस्मारयन् रेमे हरिदासो व्रजौकसाम् ॥ ५६ ॥

दृष्ट्वैवमादिगोपीनां कृष्णावेशात्म विक्लवम्।[9]
उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ ॥ ५७ ॥

उद्धव उवाच

एताः परं तनुभृतो[11] भुवि[12] गोपवध्वो गोविन्द एव मखिलात्मनि[13] रूढभावाः।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयञ्च किं ब्रह्मजन्मभि रनन्तकथारसस्य[15] ॥ ५८ ॥

★ विजयध्वजरीत्या षट्चत्वारिंशोऽध्यायः अत्र प्रारभ्यते। 1 M.Ma ०हाऽऽमयाः। 2 K.T.W. ०मासुः 3 M.Ma. ०त्वा स्निग्धम० 4 M.Ma. ०जे 5 G.J.K.T.W. ०थां 6 T.W. ह्या० 7 G.J.M.Ma. ०तान्दु० 8- -8 M.Ma कृष्णक्रीडा० समं रेमे 9 T.W. वेशितकिल्बिषम् 10- -10 G.J.K.Ml.T.V.W. omit 11 M.Ma. ०तां 12 K.T.W. ननु 13 G.J. नि० 14 M.Ma.०धि० 15 M.Ma. न यत्र

**श्रीध० तत** इति। कृष्णमधोक्षजं ज्ञात्वा तञ्च स्वात्मानं ज्ञात्वा॥ ५३ ॥

**उवासेति।** विनुदन् अपनयन्॥ ५४, ५५ ॥

**सरिदिति।** सरिद्वनगिरिदर्यादिषु प्रत्येकं श्रीकृष्णं तल्लीलासम्प्रश्नादिभिः संस्मारयन्रेमे॥ ५६ ॥

**दृष्ट्वेति।** कृष्णावेशेनाऽऽत्मनो मनसः विक्लबं वैक्लब्यं ताः गोपीर्नमस्यन् नमस्करिष्यन् उत्तमस्यात्मनो गोपस्त्रीनमस्कृतिरपि[1] न्याय्या भवतीति दर्शयितुं तासां महत्त्वं पञ्चभि र्जगौ उवाच॥ ५७ ॥

**एता** इति। एताः परं केवलं तनुभृतः सफलजन्मानः रूढभावाः परमप्रेमवत्यः। यदिति यं रुढं[2] भावं भवभियो मुमुक्षवः मुनयो मुक्ता अपि वाञ्छन्ति, वयञ्च भक्ता अपि। अतः अनन्तस्य कथासु रसो रागो यस्य तस्य ब्रह्मजन्माभिः विप्रसम्बन्धिभिः शौक्लसावित्रयाज्ञिकैस्त्रिभि र्जन्मभिः किं कोऽतिशयः। यत्र तत्र जातः स एव सर्वोत्तम इत्यर्थः। यद्वा, अनन्तकथासु रसो यस्य तस्य ब्रह्मजन्मभिः चतुर्मुखजन्मभिरपि किं कोऽर्थः[3]। यद्वा अनन्तकथासु अरसस्य ब्रह्मजन्मभिः किम्[3] ॥ ५८ ॥

1. J.Va ०रन्याय्या न भ° 2. Ml.V रूढ० 3- -3 J.Va इत्यर्थः।

**वीर० तत** इति। ता गोप्यः श्रीकृष्णस्य सन्देशै र्वाचिकैः व्यपेतो विरहज्वरो यासां ताः अधोक्षजं कृष्णमात्मानं सर्वान्तरात्मानं ज्ञात्वा, कृष्णसन्देशै रधोक्षज मात्मानं ज्ञात्वा। ०व्यपेतो विरहज्वरो याभिस्ता इति वा। उद्धवं पूजयामासुः॥ ५३॥

**उवासेति।** शुचः दुःखानि विनुदन्नपनयन् रमयामास सुखयामास ॥ ५४ ॥

**यावन्तीति।** उद्धवो नन्दस्वामिके व्रजे यावन्त्यहानि दिनान्यवात्सीत् उवास तावन्त्यहानि श्रीकृष्णस्य वार्तया क्षणतुल्यानि बभूवुः ॥ ५५ ॥

**सरिदिति।** सरिदादीन्पश्यन् तेषु प्रत्येकं कृष्णलीलाप्रश्नादिभिः तं व्रजौकसां स्मारयन्रेमे ॥ ५६ ॥

**दृष्ट्वेति।** एवं प्रदर्शितमादि र्यस्य तद्गोपीनां कृष्णावेशेन आत्मनो मनसो विक्लबं वैक्लब्यमधाष्टर्यं दृष्ट्वा नितरां प्रीतः उद्धव स्ता गोपीः नमस्यन् नमस्करिष्यन् इदं वक्ष्यमाणं जगौ। उत्तमस्यात्मनो गोपस्त्रीनमस्कृतिरन्याय्या न भवतीति दर्शयितुं तासां महत्त्वं पञ्चभिर्जगावित्यर्थः ॥ ५७ ॥

**एता** इति। एता गोपवध्वः परं केवलं तनुभृतः सफलजन्मानः। तत्र हेतुं वदन् गोपवधूर्विशिनष्टि। एव मित्थमात्मनि सर्वान्तरात्मनि गोविन्द एव रूढः भावः प्रेमात्मको यासां ताः। कुत स्तावतैव तनुभृत्त्वमित्यत आह। यत् यस्मात् भवभियो मुमुक्षवः मुनयः शुभाश्रयमननशीलाः वय मभक्ताश्च अस्मदादयः वाञ्छन्ति। रुढभाव मिति विभक्तिविपरिणामेन सम्बन्धः। यद्रूढभावत्वमिति वा। यत एव मतः अनन्तस्य गोविन्दस्य कथासु रसोऽनुरागो यस्य तस्य ब्रह्मजन्मभिः शौक्लसावित्रयाज्ञिकैः त्रिभिः किं कोऽतिशयः? अनन्तकथासु रसोऽनुरागो यस्य, रसवत्त्वमेवाऽतिशयावहं न तु ब्रह्मजन्मनेति भावः। यद्वा अनन्तकथारसस्य ब्रह्मजन्मभिः चतुर्मुखजन्मभिरपीत्यर्थः ॥ ५८ ॥

**विज०** ★ भक्तिमेव निरूपयत्यस्मिन्नध्याये। तत्राऽऽदौ गोप्यः उद्धवं कृष्णबुद्ध्या पूजयन्ति स्मेत्याह शुक इति ॥ ५३ ॥

विनुदन् परिहरन्, कृष्णस्य लीलाः यासु ता स्तथा ॥ ५४ ॥

अवात्सीत् उवास। क्षणप्रायाणि क्षणकल्पानि ॥ ५५ ॥

पार्श्वद्वयोन्नतनिम्नानिम्नकुसुमितवृक्षनिविष्टा स्थली द्रोणी सानुविशेषः। व्रजौकसां कृष्णक्रीडास्मरणं यथा भवति तथेति क्रियाविशेषणम्। सुखं कृत्वा रेमे हरिदास उद्धवः ॥ ५६ ॥

गोपीनामेवमादि कृष्णावेशात्मविक्लबं दृष्ट्वा नमस्यन् प्रावण्यं कुर्वन् ॥ ५७ ॥

अखिलात्मनि पुर्णात्मनि गोविन्दे दृढभावाः। एवं नित्यमतिवर्धमानभक्त्या एता गोपवध्व स्तनुभृतां मध्ये परमुत्तमं शरीरभरणफलभाज इत्यन्वयः। मुन्यादिषु सत्सु किं विशिष्योच्यते इति तत्राऽऽह - वाञ्छन्तीति। भवधियः भद्रबुद्धयोऽपि मुनयः यद्भक्तिलक्षणं मुक्तिसाधनं वाञ्छन्ति, वयञ्च वाञ्छामः, नत्वित्थं प्रभवाम। तत्र को हेतु रित्यतो वोक्तं भवधिय इति। संसारोद्विग्नबुद्धित्वादित्यर्थः। भवभयादिति पाठे संसारभयं सन्दृश्येति ल्यब्लोपे पञ्चमी। मुनीनां ब्रह्मकुलोत्पन्नोत्तमत्वात्किं निनिन्दिषुरिव ब्रवीषीति तत्रऽऽह किं ब्रह्मेति। यत्र येषु ब्राह्मणजननेषु अनन्तस्य हरेः कथा नास्ति। तैः किं, न किमपि प्रयोजनम् जीवन्मृतत्वादित्यर्थः ॥ ५८ ॥

★ विजयध्वजरीत्या षट्चत्वारिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते।

**क्वेमाः स्त्रियो वनचरा[1] व्यभिचारशीलाः[2] कृष्णे क्वचैष[3] परमात्मनि रूढभावः।**
**नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षाच्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ॥ ५९ ॥**

**नाऽयं श्रियोऽङ्ग[4] उ नितान्तरतेः प्रसादः स्वर्योषितां[5] नलिनगन्धरुचां[5] कुतोऽन्याः[6] ।**
**रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठलब्धाशिषां य उदगाद्व्रजवल्लवीनाम् ॥ ६० ॥**

**आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां बृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।**
**या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा भेजु र्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥ ६१ ॥**

या वै श्रियार्चि तमजादिभिराप्तकामै र्योगी[7] श्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम्।
कृष्णस्य तद्भगवतश्चरणारविन्दं न्यस्तं[8] स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् ॥ ६२ ॥

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणु मभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥ ६३ ॥

1. G.J.०री व्यभि 2. G.J. दुष्टाः 3. M.Ma. ०व 4. M.Ma. ननु 5- -5 M.Ma च ललिताङ्ग 6. M.Ma. ०न्यः 7. G.J.M.Ma. ०गे० 8. M.Ma. न्यस्य

**श्रीध०** किञ्च। ईश्वरप्रसादो महत्त्वे कारणं, तस्य च न जातिराचारो ज्ञानं वा कारणं, किन्तु केवलं भजन मेवेत्याह- **केति**। साक्षाद्भजतः पुंसः ननु[1] अहो उपयुक्तः सेवितः अगदराजः अमृतं यथेति ॥ ५९ ॥

अत्यन्तापूर्वश्चायं गोपीषु भगवतः प्रसाद इत्याह - **नेति**। अङ्गे वक्षसि उ अहो नितान्तरतेः एकान्तरतिमत्याः श्रियोऽपि नाऽयं प्रसादः, अनुग्रहो नास्ति। नलिनस्येव गन्धो रुक् कान्तिश्च यासां तासां स्वर्गाङ्गनानामप्सरसामपि नास्ति। अन्याः पुनर्दूरतो निरस्ताः। रासोत्सवे श्रीकृष्णभुजदण्डाभ्यां गृहीतः आलिङ्गितः कण्ठस्तेन लब्धा आशिषो याभिस्तासां गोपीनां य उदगात् आविर्बभूव ॥ ६० ॥

किञ्च । आस्तां तावद्गोपीनां भाग्यं, मम त्वेतावत्प्रार्थ्यमित्याह- **आसामिति**। गोपीनां चरणरेणुभाजां गुल्मादीनां मध्ये यत्किमपि अंह स्या मित्याशंसा। कथम्भूतानाम्? या इत्यादि। आर्याणां मार्गं धर्मं च हित्वा ॥ ६१ ॥

पुन स्ता एव विशिनष्टि - **या** इति। योगीश्वरैरप्यात्मन्येवार्चितं स्तनेषु न्यस्तं परिरभ्य तापं जहुरिति ॥ ६२ ॥

एवं महत्त्वं प्रतिपाद्य नमस्करोति **वन्द** इति ॥ ६३ ॥

1. MI.V. omit ननु

**वीर०** ननु वर्णाश्रमधर्मानुग्राह्यो निरूढभावः तदभावेऽपि कथमाभिर्लब्ध इत्यघटितघटनदर्शिन ईश्वर स्स्वय मेव स्वप्राप्तौ केनाऽपि व्याजेन हेतुरिति सम्भावयन्नाऽऽह - **केमा** इति। इमाः स्त्रियः जात्याऽपि निहीना इति भावः। वनचरा इत्यनेन सत्सङ्गादिसाधनाद्यभावोऽभिप्रेतः। व्यभिचारशीला इत्यनेन बाधकसद्भावः। एवंविधानां सर्वथाऽधिकाररहितानां परमात्मनि कृष्णे निरूढभावः क्व? दुर्घटमेतदिति भावः। यद्यप्येवं तथाऽपीश्वरः स्वात्मयाथात्म्यमजानतोऽप्यनुभजतः केनाऽपि भावेन अनुवर्तमानस्य साक्षात्स्वयमेव श्रेयस्तनोति। ननु खलु अविदुषामपि श्रेयःकार्यकरत्वे दृष्टान्त माह - अगदेति। यथा अगदराज औषधश्रेष्ठः उपयुक्तः भुक्तः आरोग्यं तनोति, तद्वत् ॥ ५९ ॥

अत्यन्तापूर्वश्चाऽयं गोपीषु भगवतः प्रसाद इत्याह- **नाऽयमिति**। अङ्गे वक्षसि उ[1] अहो नितान्तरतेः नितान्ता एकान्ता रतिर्यस्या स्तस्याः श्रियो लक्ष्म्याः नाऽयं प्रसादोऽनुग्रहोऽस्ति। नलिनस्येव गन्धो रुक् कान्तिश्च यासां तासां स्वर्योषितां स्वर्गाङ्गनानां अप्सरसामपि नास्ति। अन्या इतरस्त्रियस्तु कुतः, प्रसादविषया इति शेषः, दूरतो निरस्ता इति भावः। कोऽसौ प्रसादः, यः श्रिया स्वर्योषिद्भिश्च न लब्ध इत्यत्राऽऽह रासोत्सव इति। रासक्रीडायां कृष्णस्य भुजदण्डाभ्यां गृहीत आलिङ्गितः कण्ठस्तेन लब्धा आशिषो यामि स्तासां गोपीनां उदगादाविर्बभूव, वल्लवीनां मध्ये उदगाज्जगौ इति वा ॥ ६० ॥

किञ्च, आसां भाग्यं सर्वेषां दुर्लभमेव। मम त्वेतावत्प्रार्थ्यमित्याह -**आसामिति**। आसां गोपीनां चरणरेणुजुषां गुल्मलतौषधीनां मध्ये अहं किमपि स्याम्, केनाऽपि तृणकीटादिरूपेण तच्चरणरेणुसंस्पर्शयोग्येन उद्भवेयमिति। तत्र हेतुं वदन् ता विशिनष्टि- या इति। याः गोप्यः स्वजनमार्याणां पन्थानं धर्मं च हित्वा श्रुतिभिः वेदैरपि[2] विमृग्यां मुकुन्दस्य पदवीं भेजुः मुकुन्दस्वरूपरूपगुणानुचिन्तनपरा बभूवुरित्यर्थः॥ ६१ ॥

पुन स्ता विशिनष्टि- **या वा** इति। यद्भगवतः कृष्णस्य चरणारविन्दं रासगोष्ठ्यां स्तनेषु न्यस्तं निहितं त द्या गोप्यः परिरभ्य ताप मान्तरं बाह्यञ्च जहुरिति सम्बन्धः। चरणारविन्दं विशिनष्टि। श्रिया लक्ष्म्या अर्चितं तथा आप्तकामैरजादिभि श्चतुर्मुखादिभिश्च तथा योगीश्वरैरात्मनि चित्ते चाऽर्चितम् ॥ ६२ ॥

इत्थं व्रजौकसां नमस्कारार्हतां प्रतिपाद्य नमस्करोति-**वन्दे** इति। अभीक्ष्णशः पुनःपुनः नन्दव्रजस्थानां स्त्रीणां पादरजो वन्दे सेवे। कथम्भूतानाम्? यासां नन्दव्रजस्त्रीणां हरिकथोद्गीतम्, उद्गीतमिति भावे क्तः। हरिकथोद्गानं लोकत्रयं पुनाति, तथाभूतानाम् ॥ ६३ ॥

---

1. T.W. omit उ 2. T.W. omit वेदैरपि

**विज०** इमाः स्त्रियः क्व? कृष्णे एव रूढभावः क्व? अन्वयानुपपत्तेः कथमिति तत्राऽऽह **वनचरा** इति। तेऽपार्थं वनचरत्वं किं न स्यादित्यत उक्तं व्यभिचारेति। व्यभिचारशीलाः अनैकान्तिकस्वभावाः, अनियतभर्तृभिः रतितृप्ता इत्यर्थः।"शीलं वृत्तस्वभावयोः" (वैज. को. 6-3-33) इति। कृष्णोऽपि कश्चिद्गोपः किं न स्यादित्यत उक्तं परमात्मनीति। अनन्वये किमर्थं श्रेयः प्रयच्छतीत्यतो भक्तिरेव प्रयोजिकेत्याशयेनाऽऽह- नन्विति। अविदुषोऽपि शास्त्रोक्तिमजानतोऽपि अनुभजतः स्वयोग्यतानुरोधेन भक्तिं कुर्वतः पुंसः ईश्वरः साक्षाच्छ्रेयस्तनोति। नन्वित्यनेन "भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन"(भ.गी. 11-.54) इत्यैतिह्यं दर्शयति "प्रश्नावधारणैतिह्यसमीहानुमते ननु"(वैज. को. 8-7-22) इति। उपयुक्तस्सेवितोऽगदराजः औषधश्रेष्ठं रोगिकर्मानुकूलं फलं ददाति यथा, तथाऽत्रापीति ॥ ५९ ॥

यः प्रसादः व्रजवल्लवीनां गोष्ठस्थानां गोपीनां उदगात् उदितः अयं भक्त्या नितान्तरतेः श्रियः स्वर्योषिताञ्च नास्ति। नन्वस्माभिरनुज्ञातं न तु शास्त्रेणेत्यर्थः। कीदृशीनां, स्वर्गाङ्गनानां ललिताङ्गरुचां अखिलविलासोपेतशरीरकान्तीनां, कथम्भूतानां गोपीनाम्? रासक्रिडोत्सवे अस्य कृष्णस्य भुजदण्डेन गृहीतकण्ठाश्च लब्धाशिषश्च सुरतसुखोद्बोधकशुभवाक्यप्रबन्धाश्च

यास्तासां अन्याः अन्यासां स्त्रीणाम्। "बहुलं छन्दसि" इति विभक्तिव्यत्ययविधानात्, अन्यस्त्रियः ईदृशप्रसादं नाऽऽपुरिति कुत इति वा ॥ ६० ॥

अह मासां गोपीनां चरणरेणुजुषां बृन्दावने प्ररूढानां गुल्मलतौषधीनां मध्ये गुल्मादिकं किमपि स्याम्, उद्धवेयम्। अहो अमीषां पूर्वजन्मार्जितपुण्यराशिः। या गोप्यः त्यक्तुमशक्यं स्वजनं भर्त्रादिकं, आर्यपथं स्मार्तमार्गं, नियतस्वभर्तृसङ्गविषयं हित्वा। वेदशिरोभिरपि मार्गणीयां मुकुन्दपदवीं भेजुरित्यन्वयः ॥ ६१ ॥

श्रिया अजादिभिः ब्रह्मादिभिः आप्तकामैः सत्यसङ्कल्पैः योगेश्वरैः सनाकादिभिरपि आत्मनि हृदये निधाय यदर्चितं या गोप्यः कृष्णस्य भगवतश्चरणारविन्दं स्तनेषु न्यस्य परिरभ्य कामनिमित्तसन्तापं विजहुः, आसामिति पूर्वेणान्वयः ॥ ६२ ॥

वन्दे स्तौमि ॥ ६३ ॥

## श्रीशुक उवाच

**अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च।**
**गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नाऽरुरुहे रथम् ॥ ६४ ॥**

**तं निर्गतं समासाद्य नानोपायनपाणयः।**
**नन्दादयोऽनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः॥ ६५ ॥**

**मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः।**
**वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु ॥ ६६ ॥**

**कर्मभि र्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया।**
**मङ्गलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे ॥ ६७ ॥**

**एवं सभाजितो गोपैः कृष्णभक्त्या नराधिप !**
**उद्धवः पुन रागच्छन्मधुरां कृष्णपालिताम्॥ ६८ ॥**

**कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम्।**
**वासुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात् ॥ ६९ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयावसिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४७ ॥

(विजयध्वजरीत्या षट्चत्वारिंशोऽध्यायः) ॥ ४६ ॥

1 M.Ma. ०व० 2 K.T.W. ०र्म

**श्रीध० अथेति।** अनुज्ञाप्य अनुज्ञां याचित्वा आमन्त्र्य पृष्ट्वा ॥ ६४, ६५ ॥

**मनस** इति। नोऽस्माकं मनसो वृत्तयः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः स्युः। अभिधायिनीः अभिधायिन्यः स्युः[1] ॥ ६६ ॥

**कर्मभिरिति।** नः[2] कृष्णे रतिः स्यादिति ॥ ६७, ६८ ॥

**कृष्णायेति।** कृष्णादिभ्यो भक्त्युद्रेकमाह उपायनानि चाऽदादिति॥ ६९ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४७ ॥

1. J.Va. omit स्युः 2. J.Va. omit नः

**वीर० अथेति।** अनुज्ञाप्य अनुज्ञां याचित्वा आमन्त्र्य पृष्ट्वा, दाशार्ह उद्धवः, यास्यन्। "लक्षणहेत्वोः"(अष्टा० 3-2-126) इति शत्रादेशः। यातुं रथमारुरोह ॥ ६४ ॥

**तमिति।** निर्गतं व्रजान्निष्क्रान्तं उद्धवं समासाद्य अनुरागेण प्रोचुः। कथम्भूताः? नानाविधान्युपायनानि अर्हणवस्तूनि पाणिषु येषां, अश्रूणि लोचनयोर्येषां तथाभूताः॥ ६५ ॥

उक्तिमेवाऽऽह **मनस** इति। नोऽस्माकं मनसो वृत्तयः कृष्णपादाम्बुजविषयाः स्युः। वाचस्तु तन्नाम्नामभिधायिन्यः स्युः। का★ या देहास्तु तन्नमस्कारादिषु प्रवणाः स्युः॥ ६६ ॥

**कर्मभिरिति।** यत्र क्वचिदीश्वरेच्छया कर्मानुगुणया कर्मभिः पुण्यापुण्यात्मकैः, भ्राम्यमाणानां संसरतामस्माकं यदि मङ्गलाचरितानि शुभकर्माणि दानानि च सन्ति, तर्हि तैर्हेतुभिः कृष्णे भगवति रतिरनुरागः स्यादिति। मङ्गलाचरितप्रदर्शनार्थं दानैरित्युक्तम् ॥ ६७ ॥

**एवमिति।** हे नराधिप, राजन् इत्थं गोपैः कर्तृभिः कृष्णभक्त्या करणभूतया सभाजितः सम्मानितः। स इति पृथक्पदं वा। उद्धवः कृष्णेन पालिताम्। लालितामिति पाठे अनुरञ्जितां मधुरां पुनराजगाम ॥ ६८ ॥

ततः कृष्णाय नमस्कृत्य प्रीत्या हर्षेण व्रजौकसां भक्त्युत्कर्षं प्राह। वासुदेवाय कृष्णाय[1], रामाय, राज्ञे उग्रसेनाय च उपायनानि नन्दादिभि स्समर्पितान्यर्हवस्तून्यदात्समर्पितवान् ॥ ६९ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

1 K. omits कृष्णाय ★ काया इति वीरराघवादृतः पाठः।

**विज०** नोऽस्माकं मनसो वृत्तयो व्यापाराः कृष्णपादपद्माश्रयाः स्युः। अस्माकं वाचो नाम्नामभिधायिनीर्वदन्त्यः स्युः अस्माकं कायः तस्य प्रवणादिषु नमस्कारादिषु स्यादित्यन्वयः ॥ ६४ - ६६ ॥

यत्र क्वापि देवयोनिषु अचेतनस्य कर्मणः प्रवर्तकत्वं कथं घटते इत्यत उक्तं ईश्वरेच्छयेति रतिर्भक्तिलक्षणा ॥ ६७ - ६९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥
(विजयध्वजरीत्या षट्चत्वारिंशोऽध्यायः)

# अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच[1-1]

अथ विज्ञाय भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः।
सैरन्ध्र्याः कामतप्तायाः प्रिय[2-2] मिच्छन् गृहं ययौ ॥ १ ॥

महार्हो[3]पस्करोपेतं कामोपायोपबृंहितम् ।
मुक्तादामपताकाभि र्वितानशयनासनैः ॥ २ ॥

धूपैस्सुरभिभि र्दीपै स्स्रग्गन्धैरपि मण्डितम्।
★ कामशास्त्रश्रुतालेख्यै र्नानावर्णै स्सुशोभनैः ॥ ३ ॥

गृहं तमायान्तमवेक्ष्य सा[4]ऽऽसनात्सद्यस्समुत्थाय हि[5] जातसम्भ्रमा।
यथो[6]पसङ्गम्य सखीभिरच्युतं सभाजयामास स[7]दासनादिभिः ॥ ४ ॥

अथो[8]द्धवस्साधु तयाऽभिपूजितो न्यषीददुर्व्यामभिमृश्य चाऽऽसनम्।
कृष्णोऽपि नू[9]त्नं शयनं महाधनं विवेश लोकाचरितान्यनुव्रतः ॥ ५ ॥

1- -1 M.Ma. बादरायणिरुवाच 2- -2 M.Ma. प्रीतिं यच्छन् 3 G.J.K. ०स्करैराढयं; M.V. स्कराढ्यं वै ★ This half verse is not found in G.J. M.Ma. M.V. edns. , 4 K.T.W. चाऽऽ° 5 K.T.W. सु° 6 M.Ma. अ° 7 M.Ma. सहा° ; M.V. तदाऽऽ° 8. G.J. M.Ma. त० 9. G.J. तूर्णं; M.Ma दान्तं

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अष्टचत्वारिंशकेऽथ कृष्णः कुब्जामरीरमत्। अक्रूरस्य गृहं गत्वा तं गजाह्वयमादिशत्॥

सैरन्ध्री काममापूर्य पूरयित्वा मनोरथान्। अक्रूरस्य ततः कृष्णस्तेन पार्थानसान्त्वयत्॥

**महार्हेति।** महार्हैरनर्घैरुपस्करैः गृहोपकरणैरन्वितम्। कामोपायैस्तदुद्दीपकैः सुरतबन्धादिलेख्यै रुपबृंहितम् ॥ १-३ ॥

**गृहमिति।** यथा यथोदितम् ॥ ४,५ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

पूर्वं त्रिवक्रयाऽक्रूरेण च प्रार्थितो भगवान् तयोः गृहान्प्रत्येष्यामीत्युक्त्वा नित्युक्तम्। अधुना स्वं वचस्सत्यापयितुं भगवान् तद्गृहान्गत्वा तदिष्टं चकारेत्यनुवर्णयत्यष्टचत्वारिंशेन-**अथेत्यादिना।** अथ उद्धवागमनानन्तरं विज्ञाय आगमिष्यामीत्युक्तं त्रिवक्राक्रूरयोरभिप्रेतं चानुस्मृत्य। तत्र हेतुः सर्वान्तरात्मा अत एव सर्वदर्शनः युगपत् सर्वार्थसाक्षात्कर्ता तावत्कामेन तप्तायाः सैरन्ध्र्याः प्रियमिच्छन्, कर्तुमितिशेषः ॥ १ ॥

गृहमनुवर्णयति द्वाभ्याम्- महार्हैः अनर्घैः गुहोपकरणैराढ्यमन्वितं कामोपायैः क्रीडोपकरणै रुपबृंहितं समृद्धं वितानैः विपुलैः शयनासनैः शय्यादिभिः, वितानैः गृहोपरिगृहैः शयनादिभिः चेति वा। सुरभिभिर्धूपैर्दीपैः स्रग्भिर्गन्धैश्च मण्डितमलङ्कृतं तथा नानावर्णै स्सुशोभनैः सुन्दरैश्च कामशास्त्रश्रुतालेख्यैः कामशास्त्रोपदिष्टैः रतिबन्धादिभिः आलेख्यै रभिमण्डितम् ॥ २,३ ॥

**गृहमिति।** उक्तविधं गृहं प्रति आयान्तं कृष्णमवलोक्य सुजातस्सम्भ्रमो यस्यास्सा सैरन्ध्री सद्यः तदैवाऽऽसनात्समुत्थाय सखीभिस्सह यथा यथोचितम् उपसङ्गम्य अभिसमेत्य समीचीनैः आसनादिभिः आदिशब्दादर्घ्यादिभिश्च सभाजयामास पूजयामास ॥ ४ ॥

**अथेति।** अथोद्धव स्तया सैरन्ध्र्या साधु यथा तथा अभिपूजितः तथा समर्पितमासनम् अभिमृश्य संस्पृश्य उर्व्यामेव न्यषीदत् उपविवेश, नत्वासने, भगवता साम्यमनुचितं मन्वानः केवलमुर्व्यामेव उपविष्टवानित्यर्थः । कृष्णस्तु लोकानां कामुकानां चरितानि चोष्टितानि अनुव्रतः अनुसरन् नूत्नं नवीनं कैश्चिदप्यनधिरूढं महाधनमनर्घं शयनं पर्यङ्कं विवेश ॥ ५ ॥

1 T.W. omit धूपैः 2 वीरराघवाहृतः पाठः

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भक्तभक्तिरमालिङ्गगात्रः श्रीनारायणः सत्सन्नतवाञ्छितार्थसाधनार्थं अवतीर्ण इत्येतमर्थमभिप्रैति अस्मिन्नध्याये। तत्रादौ सैरन्ध्र्या अभीष्टसाधनार्थं तद्गृहगमनं वक्ति -**अथेत्यादिना।** अथ कथान्तरारम्भः, सैरन्ध्र्याः गन्धकारिकायाः कृष्णागमनकामेन तृप्तायाः यच्छन् ददत् ॥ १ ॥

महार्हैः महतां योग्यैरुपस्करैः उपकरणैरुपेतं कामोपायैः कामभोगसाधनैः उपबृंहितं पूर्णं, एतानेव दर्शयति मुक्तेति। वितानम् उपरिपट्टिका ॥ २,३ ॥

येन प्रकारेणोपगमनं कार्यं यथोपसङ्गम्य, सदासनादिभिः ॥ ४ ॥

साधुतया उचिततयाऽभिमृश्य परिमृज्य स्पृष्ट्वेत्यर्थः । दान्तं गजदन्तरचितं महता धनेन विक्रीयते आपाद्यते चेति महाधनम् ॥ ५ ॥

सा मज्जनालेपदुकूलभूषण स्रग्गन्धताम्बूलसुधासवादिभिः।
प्रसाधितात्मोपससार माधवं सव्रीडलीलोत्स्मितविभ्रमेक्षितैः ॥ ६ ॥

आहूय कान्तां नवसङ्गमह्रिया विशङ्कितां कङ्कणभूषिते करे।
प्रगृह्य शय्यामधिवेश्य रामया रेमेऽनुलेपार्पणपुण्यलेशया ॥ ७ ॥

साऽनङ्गतप्तकुचयोरुरसस्तथाऽक्ष्णो र्जिघ्रन्त्यनन्तचरणेन रुजो मृजन्ती।
दोर्भ्यां स्तनान्तरगतं परिरभ्य कान्त मानन्दमूर्ति मजहा दतिदीर्घतापम् ॥ ८ ॥

सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम्। अङ्गरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत ॥९॥

आहोष्यतामिह प्रेष्ठ दिनानि कतिचिन्मया। रमस्व नोत्सहे त्यक्तुं सङ्गं तेऽम्बुरुहेक्षण ॥१०॥

1. T.W. ०लास्मित 2. MI.V. ०गैन°

**श्रीध० सेति।** प्रसाधितो योग्यतामापादित आत्मा देहो यया सा। सव्रीडं यल्लीलयोद्गतं स्मितं, तद्येषु विभ्रमेषु, तद्युक्तैः ईक्षितैः उपलक्षिता ॥ ६ ॥

**आहूयेति।** अनुलेपार्पणादन्यत् तस्याः पुण्यं नास्तीति दर्शयितुं पुण्यलेशयेत्युक्तं न तु पुण्यस्याल्पत्वविवक्षया ॥ ७ ॥

**सेति।** कुचादीनां रुजो मृजन्ती जिघ्रन्ती च चरणम् ॥ ८ ॥

**सैवमिति।** एनं[1] काममेव प्राकृतदृष्ट्या अयाचत, न तु[2] गोप्य इव सा तन्निष्ठेति, दुर्भगा इत्युक्तम्। कृतार्थत्वेतु तस्या न सन्देहः ॥ ९,१० ॥

1. J.Va. omit एनं 2 J.Va. च

**वीर० सेति।** सा सैरन्ध्री मज्जनादिभिः प्रसाधितो योग्यतामापादित आत्मा देहो यया तथाभूता[1] सती[1] सव्रीडं यत्, लीलया उद्गतं स्मितं तत् येषु विभ्रमेषु तद्युक्तैर्वीक्षितैः उपलक्षिता माधवमुपससार उपजगाम ॥ ६ ॥

**आहूयेति।** नवसङ्गमे विषये या ह्रीर्लज्जा तया विशङ्कितां सङ्गन्तुं लज्जमानामित्यर्थः। तां कान्ताम् आहूय कङ्कणेन भूषिते हस्ते गृहीत्वा शय्यामधिवेश्य विलेपार्पणमेव पुण्यलेशो यस्या स्तया रामया सह रेमे, अनुलेपार्पणादन्यत्तस्याः पुण्यं नास्तीति दर्शयितुं तद्विशेषणम् ॥ ७ ॥

**सेति।** जिघ्रन्ती सन्निहितत्वादनन्तचरणमिति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः, अनन्तस्य भगवतश्चरणं जिघ्रन्ती तेन अनन्तचरणेन हेतुना अनङ्गेन कामेन तप्तयोः स्तनयोरुरसोऽक्ष्णोश्च रुजः पीडाः मृजन्ती अपनयन्ती कुचादिषु निधानेन[2] तद्गताः पीडाः निराकुर्वन्तीत्यर्थः। स्तनान्तरगतं कुचमध्यगतं यथा तथा कान्तं प्रियतमम् आनन्दघनं भगवन्तं दोर्भ्यां मालिङ्ग्य अतिदीर्घं बहुकालानुवृत्तं तापमनङ्गताप मजहात् तत्याज ॥ ८ ॥

**सैवमिति।** सा सैरन्ध्री कैवल्यं प्रकृतिसम्बन्धराहित्यं तस्य नाथं मोक्षदं योगिभिरपि दुष्प्रापं तं भगवन्त मेवमित्थं केवलमङ्गरागार्पणेनैव हेतुभूतेन, अनुभूयेति शेषः । दुर्भगा भाग्यहीना इदं वक्ष्यमाणमयाचत। अहो इति खेदे। साक्षान्निरतिशय पुरुषार्थभूतमोक्षदं प्राप्यापि केवलं तुच्छमेवायाचत दुर्भगेति मुनिः खिद्यते[3] ॥ ९ ॥

याच्ञामेवाह- **आहेति।** हे अम्बुरुहेक्षण! तव सङ्गं त्यक्तुं नोत्सहे न प्रभवामि। हे प्रेष्ठ! मया सह कतिचिद्दिनानि रमस्व। अत इह मद्गृहे उष्यतां, त्वयेति शेषः । एवमाह ॥ १० ॥

1- -1 T.W. omit 2 T.W. धापने° 3. T.W °ति

**विज०** सुधाकल्पासवादिभिः प्रसाधितात्मा अलङ्कृतदेहा सव्रीडलीलादिभिर्युक्ता ॥ ६ ॥

रतौ निमित्तमाह - अनुलेपेति। अनुलेपार्पणेन हरेः गन्धसमर्पणेन लब्धः पुण्यलेशः पुण्यैकदेशो यया सा, तथा, तया ॥ ७ ॥

रुजः कामज्वरान् संसारज्वरान् वा, सा स्तनान्तरगतं वक्षःस्थलगतम् ॥ ८ - १० ॥

**तस्यै कामवरं दत्वा मानयित्वा च मानदः।**
**सहोद्धवेन सर्वेश स्स्वधामाऽमदद्धिमत्[1-] ॥ ११ ॥**[-1]

**दुराराध्यं[2-] समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम्।**
**याऽवृणीत[-2] मनोग्राह्य मसत्त्वा त्कुमतिर्ह्यसौ[3] ॥ १२ ॥**

**अक्रूरभवनं कृष्ण स्सहरामोद्धवः प्रभुः।**
**क्षिश्चिचिकीर्षयन्[4] प्रागादक्रूरप्रियकाम्यया॥ १३ ॥**

**सा तान्नरवरश्रेष्ठानाराद्वीक्ष्य स्वबान्धवान्।**
**प्रत्युत्थाय प्रमुदितः परिष्वज्याभ्यनन्दत[5] ॥ १४ ॥**

**★ ननाम कृष्णं रामं च स तैरप्यभिवादितः[6]।**
**पूजयामास विधिवत्कृतासनपरिग्रहान् ॥ १५ ॥**

1 - - 1 G.J. °गमदर्चितम्; K.T.W ° गात्समृद्धिमत् 2 - - 2 K.T.W. या वृणीते 3. G.J.K.T.W. मनीष्यसौ 4. M.Ma. कीर्षन् स°; T.W. ०कीर्षया 5. J. ०भिनन्द्य च 6 T.W. ताभ्यामभि° ★ This verse in not found in M.Ma. Edns.

**श्रीध० तस्या** इति। काम एव वरस्तं दत्त्वा। मानयित्वा चालङ्कारादिदानैः ॥ ११ ॥

**दुराराध्यमिति।** मनोग्राह्यं विषयसुखम्। असत्त्वा तुच्छत्वात् ॥ १२ ॥

**अक्रूरेति।** किञ्चिचिकीर्षयन्। हस्तिनपुरप्रस्थानं[1] कारयितुमिच्छन्नित्यर्थः[2]। अक्रूरप्रियकाम्यया च ॥ १३ ॥

**स** इति। आरात् दूरतएव[3] च ॥ १४, १५, ॥

1. J.Va ०ना 2. J.Va ०स्थापनं° 3. J.Va दूरादेव।

**वीर०** तस्यै इत्थं याचमानायै सैरन्ध्र्यौ मानयित्वा मधुरभाषणादिभिस्सम्मान्य काम एव वरस्तं दत्त्वा याचितं सफलीकर्तुं पुनरेष्यामीत्युक्त्वेत्यर्थः सर्वेशः स्वोपदिष्टहितग्रहणोपयुक्ततन्मनोनियमनशक्तः मानदः सम्मानाचरणशीलः अतस्तस्या एवं सम्मानं कामवरदानं च युक्तमिति भावः। उद्धवेन सह सर्वसम्पत्समृद्धं स्वगृहमाजगाम ॥ ११ ॥

दुर्भगेत्युक्तं तस्या दौर्भाग्यमेव स्पष्टयति। **दुराराध्यमिति।** दुराराध्यं भक्तिप्रपत्तिव्यतिरिक्तोपायेन दुष्प्रसाद्यं सर्वेश्वरो ब्रह्मा तस्यापीश्वरं भगवन्तं समाराध्य केवलमङ्गरागदानेनैव प्रसाद्य या सैरन्ध्री मनोग्राह्यं शब्दादिविषयसुखम् असत्त्वा-दसाधुत्वात्तुच्छत्वात्, तद्यतोऽयाचत, ततोऽसौ सैरन्ध्री कुमनीषी कुबुद्धिर्मूर्खा दुर्भगेति भावः ॥ १२ ॥

एवं सैरन्ध्रीमनोरथं सफली चकारेत्युक्तम्। अथाऽक्रूराभिमतं सफलीकर्तुं तद्गृहं जगामेत्याह - **अक्रूरभवनमिति।** किञ्चित् हस्तिनापुरप्रस्थानं कारयितुमिच्छन्[1] तावत् रामोद्धवाभ्यां सहितो भगवान् कृष्णः अक्रूरस्य प्रियं कर्तुमिच्छया तस्य भवनं प्रति प्रागात् ॥ १२ ॥

**स** इति। सोऽक्रूरः तावन्नरवरेभ्योऽपि श्रेष्ठान् रामकृष्णोद्धवान् आराद्दूरत एव उद्वीक्ष्य प्रप्युत्थाय नितरां मुदितः परिष्वज्य अभ्यनन्दत अभिनन्दितवान् । १४ ॥

**ननामेति।** सोऽक्रूरः कृष्णं रामञ्च ननाम ववन्दे। चकारादुद्धवं च, तथा तैः रामकष्णोद्धवैरप्यभिवादितः, कृतः आसनपरिग्रहो यैस्ता न्विधिवत् पूजयामास ॥ १५ ॥

1 T.W. मिच्छया

**विज०** मनोग्राह्यं शब्दाद्यविषयं मनसाप्यग्राह्यं असवाद्रागदुष्टत्वात्, तत्त्वनिश्चयाभावाद्वा। अत एव कुमतिः कुत्सितशब्दादौ मतिः यस्या स्सा तथा ॥ ११ १२ ॥

मद्गृहमागन्तव्यमिति प्रागुक्तं सत्यं कर्तुम् अक्रूरगृहगमनं कृष्णस्य वक्ति- **अक्रूरेति**। किञ्चित्[1] पाण्डववृत्तान्तज्ञानाय अक्रूरप्रेषणकार्यं कर्तुमिच्छन् ॥ १३ ॥

आरात् दूरात् तान्वीक्ष्य ॥ १४, १५ ॥

1 Ma. किञ्च; Mb. किं

**पादावनेजनीरापो धारयञ्छिरसा नृप।**
**अर्हणेनाम्बरैर्दिव्यै र्गन्धस्रग्भूषणोत्तमैः ॥ १६ ॥**

**अर्चित्वा शिरसाऽऽनम्य पादावङ्कगतौ मृजन्।**
**प्रश्रयावनतोऽक्रूरः कृष्णरामावभाषत ॥ १७ ॥**

**दिष्ट्या पापो हतः कंस स्सानुगो[1-] वामिदं[-1] कुलम्।**
**भवद्भ्यामुद्धृतं कृच्छ्राद्दुरन्ताच्च समेधितम् ॥ १८ ॥**

**युवां प्रधानपुरुषौ जगद्धेतू जगन्मयौ।**
**भवद्भ्यां न विना किञ्चि त्परमस्ति न चापरम् ॥ १९ ॥**

**आत्मसृष्टमिदं विश्व मन्वाविश्य[2] स्वशक्तिभिः।**
**ईयसे[3] बहुधा ब्रह्मन् श्रुतिप्रत्यक्षगोचरः[4][5] ॥ २० ॥**

1 - - 1 M.Ma. ०गः पावितं 2 M.Ma. वे० 3. G.J.M.Ma MI.V °ते 4 G.J.०त० 5 G.J.MI.V. ०रम्।

**श्रीध० पादेति**।आ अप इति च्छेदः; उदकानि आ सर्वतो धारयन्नित्यन्वयः ॥ १६,१७ ॥

**दिष्ट्येति**। वां युवयो रिदं कुलमुद्धृतं समेधितं च ॥ १८ ॥

वामिदं कुलमित्यादि व्यवहारदृष्ट्योक्त्वा परमार्थमाह **युवामिति**। जगन्मयौ युवाम्। कुतः? जगद्धेतू। तदपि कुतः? प्रधानपुरुषौ तदात्मकौ। अतो भवद्भ्यां विना परं कारण मपरं कार्यं च नास्तीति ॥ १९ ॥

ननु प्रत्यक्षादिसिद्धं कथं नास्तीत्युच्यतेऽत आह-आत्मसृष्टमिति। हे ब्रह्मन्। परमेश्वर! ब्रह्म इति वा[1] पाठः। अजादिभिः[2] स्वशक्तिभिः आत्मनैव सृष्टमिदं विश्वमन्वाविश्य कारणत्वा दननुप्रविष्टोऽप्यनुप्रविश्येव स्थितः श्रुतिप्रत्यक्षगोचरं[3] यथा भवति तथा, बहुधा भवानेव प्रतीयते ॥ २० ॥

1 MI.V. omit वा 2 J.Va. रजआदिस्व° 3 J.Va. ०त

**वीर० पादेति।** हे नृप! सोऽक्रूरः पादौ अवनिज्येते प्रक्ष्याल्येते याभिस्तथा ताः, आ अप इति च्छेदः विशेषणस्य द्वितीयान्तत्वात् । आ सर्वतः शिरसा धारयन् अर्हणेन अर्घ्यादिना अम्बरादिभिश्च अर्चित्वा दिव्यैरिति पूर्वोक्त रान्वयि, अङ्कगतौ उत्सङ्गे निधापितौ पादौ शिरसा प्रणम्य मृजन्, स्वोत्तरीयेणेति शेषः। यद्वा संवहन् प्रश्रयेण विनयेन नम्रः कृष्णरामौ प्रत्यभाषत ॥ १६,१७ ॥

भाषितमेवाह- **दिष्ट्येत्यादिना।** दिष्ट्या अयमानन्द इत्यर्थः किम्? सानुगः सानुचरः पापात्मा कंसो हतः। वां युवयोरिदं कुलं दुरन्तादपारात्कृच्छ्रात् कंसकृताद्दुः खादुद्धृतं समेधितं सम्यग्विवर्धितं चेति ॥ १८ ॥

युक्तं चैतद्युवयो रित्याह - **युवामिति।** प्रधानपुरुषौ श्रेष्ठपुरुषौ पुरुषोत्तमावित्यर्थः। जगतो हेतू कारणभूतौ अत एव जगन्मयौ स्वार्थे मयट् जगद्रूपौ। प्रधानपुरुषाविति विशेषण व्यावर्त्यं दर्शयति- भवद्भ्यां विना परमुत्कृष्टं किञ्चिदपि नास्तीति भवन्तावेव सर्वोत्कृष्टावित्यर्थः। जगन्मयावित्यस्य व्यावर्त्यमाह - न चापरमिति। अपरमन्य दतदात्मकं नास्तीत्यर्थः। यद्वा, प्रधानपुरुषावित्यनेन प्रकृतिपुरुषशरीरकत्वं विवक्षितं, " यस्याऽव्यक्तं शरीरं यस्याक्षरं शरीरम्"(सुबा. उ. 7-1) इति प्रकृतिपुरुषयोः परमात्मशरीरत्वश्रवणात्, शरीरवाचिशब्दानां अपृथक्सिद्धविशेषणवाचिनां गवादिशब्दानां व्यक्तिपर्यन्तबोधकत्वा दात्मपर्यन्तबोधकत्वात् तत्सामानाधिकरण्योपपत्तेः । जगद्धेतू इत्यनेन प्रकृतिपुरुषशरीरकत्ववेषेण जगदुपादानत्वं, विशेष्याकारेण तन्निमित्तत्वं चाऽभिप्रेतम्। यथा विशिष्टाकारेणोपादानत्व मत एव कार्यस्य कारणादभिन्नत्वात् त्वद्व्यातिरिक्तं नास्तीत्यभिप्रायेणोक्तं जगन्मयौ..... न चापरमिति। जगन्मयावित्यन्वयमुखेन जगत्तादात्म्योक्तिः, न चापरमिति व्यतिरेकमुखेनेति विवेकः। न चास्ति परमित्यनेन निमित्तकारणान्तरव्युदासः। युवयोः जगदुदयविभवलयैककारणत्वाद्यथात्मसङ्कल्पं कंसादिसंहार-स्स्वकुलोद्धारश्चोचित एवेति भावः ॥ १९ ॥

ननु लोके विविधकार्यवर्गाणां विविधोपादानकत्वदर्शनात् कथं जगतोऽस्मदेककारणत्वम्? कथं वा एकस्य ममाऽनेक-देवमनुष्यादिपदार्थात्मकत्वम्? अत आह - **आत्मसृष्टमिति।** स्वशक्तिभिः स्वविशेषणभूतैः प्रकृतिपुरुषकालैः आत्मसृष्टम् आत्मनः प्रकृतिपुरुषशरीरकात् स्वस्मादुपादानभूता त्सृष्टम्, आत्मना प्रकृतिपुरुषयोः नियन्त्रा स्वेन सृष्टमित्यर्थद्वयमत्र तन्त्रेण विवक्षितम्। अनेनोपादानान्तरस्य निमित्तान्तरस्य च व्यावृत्तिः। इदं नामरूपविभागविभक्तं चिदचिदात्मकविश्व मन्वाविश्य नियन्तृतयाऽन्तरात्मतया चानुप्रविश्य हे ब्रह्मन्! बहुधा ईयसे प्रतीयसे, ईयते इति पाठे भवानित्यध्याहारः। स्वात्मन्याधारभूते स्वेनैव कर्त्रा स्वात्मानं प्रकृतिपुरुषशरीरकं जगद्रूपेण परिणमय्य तत्तन्नियन्तृतयाऽऽत्मत्वेन चानुप्रविश्य स्वपर्यन्तदेवमनुष्यादि शब्दबुद्धिविषयतया नाना प्रतीयसे इत्यर्थः। अनेन कृत्स्नं विश्वं प्रति परमपुरुषस्यैकस्यैव प्रकृतिपुरुषकालशरीरकत्ववेषेणोपादानत्वं,

स्वस्वरूपेण निमित्तत्वं तदुभयकारणत्वोपयुक्त सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वादि गुणयुक्तत्वं देवादिबुद्धिशब्दयोः आत्मभूततत्पर्यन्तत्वं चोक्तं भवति। ननु लौकिकानां देवादिबुद्धिशब्दयोः देवादिमात्रविषयत्वेनानुभवसिद्धत्वात् कथं तयोः मत्पर्यन्तता, विश्वस्य मदेकोभयकारणत्वे च किं प्रमाण मित्यतः तं विशिनष्टि- श्रुतिप्रत्यक्षगोचर इति। श्रुतिप्रत्यक्षयोः गोचरो विषयः। "तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्च कक्षीवानृषिरस्मि विप्रः" इति श्रुतिप्रसिद्धानां साक्षात्कृतब्रह्मपर्यन्त स्वात्मयाथत्म्यानां तत्पर्यन्तत्वेन गृहीत चिदचिद्वाचिशब्दशक्तीनां वामदेवादीनां प्रत्यक्षस्य "अयमात्मा ब्रह्म " (माण्डू. उ. 2. ) "तत्त्वमसि" (छान्दो. उ. 6-8-7) "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छान्दो. उ. 3-14-7) इत्यादिश्रुतीनां चोक्तविधत्वेन विषय इत्यर्थः । नहि देहात्मभ्रमस्वतन्त्रात्मभ्रमयुक्तलौकिकानुभवमात्रेण देवादिबुद्धिशब्दानां तत्पर्यन्तत्वहानिः इति भावः। श्रुतिप्रत्यक्षगोचरमिति पाठे क्रियाविशेषणम् ॥ २० ॥

**विज०** पादावनेजनीः पादप्रक्षालिनीः आ अप इति पदच्छेदः। आ इत्यास्वाद्य अपो धारयन्, अर्हणेन योग्यपूजासाधनेन ॥ १६ ॥

मृजन् परिमृजन् मृदु पीडयन् इत्यर्थः ॥ १७, १८ ॥

जगन्मयौ जगद्व्यापिनौ। एतदेव विशिनष्टि- भवद्भ्यामिति ॥ १९ ॥

अन्वावेश्य पदार्थानामणुत्वमहत्त्वानुकूलतया प्रविश्य स्वशक्तिभिः इच्छादिस्वरूपशक्तिभिः श्रुतेः प्रत्यक्षस्य च विषयः " अनृतेन हि प्रत्यूढाः, वाचारम्भणं विकारः" इत्यादिश्रुतिः। अयं घटोऽयं पट इत्यादि निर्दोषार्थेन्द्रिय सन्निकर्ष लक्षणं प्रत्यक्षम् "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इति श्रुतेः। "ऋतस्य तन्तुं विततं विवृत्य तदपश्यत्" इत्यादिश्रुतेः। ब्रह्मादि-ज्ञानि प्रत्यक्षस्य च विषयो वा ॥ २० ॥

**यथा हि भूतेषु चराचरेषु महच्चादयो योनिषु भान्ति नाना।**
**एवं भवान्केवल आत्मयोनिष्वात्माऽऽत्मतन्त्रो बहुधा विभाति॥ २१ ॥**

**सृजस्यथो लुम्पसि पासि विश्वं रजस्तमस्सत्त्वगुणै स्स्वशक्तिभिः।**
**न बध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वा ज्ञानात्मनस्ते क्व च बन्धहेतुः ॥ २२ ॥**

**देहाद्युपाधेरनिरूपितत्वा द्भवो न साक्षाच्च चिदात्मन स्स्यात्।**
**अतो न बन्धस्तव नैव मोक्ष स्स्यातां निकामं त्वयि नोऽविवेकः ॥ २३ ॥**

**त्वयोदितोऽयं जगतो हिताय यदा यदा वेदपथः पुराणः।**
**बाध्येत पाषण्डपथैरसद्भि स्तदा भवान्सत्त्वगुणं बिभर्ति ॥ २४ ॥**

**स त्वं प्रभोऽद्य वसुदेवगृहेऽवतीर्ण स्स्वांशेन भारमपनेतु मिहाऽसि भूमेः।**
**अक्षौहिणीशतवधेन सुरेतराणां[7] राज्ञाममुष्य च कुलस्य यशो वितन्वन् ॥ २५॥**

1 M.Ma त्वद्गुण 2. M.Ma.MI.V नैव 3 M.Ma. हि, MI.V. ०ऽपि 4 G.J.MI.V. ०न्न भिदा; M.Ma. ०न्न चिदा° T.W. ०च्च तदा° 5 G.J.MI.V. ०मस्त्वयि 6 G.J.M.Ma ०ख° 7 G.J. ०रांश

**श्रीध०** एकस्यैव बहुधा प्रतीतौ[1] दृष्टान्तमाह[2]- **यथेति**। योनिषु स्वस्यैव रूपान्तरेणाभिव्यक्तिस्थानेषु चराचरेषु भूतेषु[3] यथा महीप्रमुखानि कारणान्येव नाना भान्ति। आत्मयोनिषु स्वकारणकेषु भूतभौतिकेषु। जीवोऽपि नरमृगादिशरीरेषु बालयुवाद्यवस्थासु तथा तथा प्रतीयते इति तद्वच्चवच्छेदार्थमात्मतन्त्रग्रहणम् ॥ २१ ॥

ननु सृष्ट्यादिकर्तृत्वेन सगुणत्वेन[4] च मम किं जीववद्बन्ध उक्तः, न हि नहीत्याह - **सृजसीति**। तद्गुणकर्मभि र्वा तैर्गुणैः कर्मभिर्वेत्यर्थः। यतः क्व च कदाचिदपि बन्धहेतुरविद्या तव नैवास्ति। कुत इत्यत आह - ज्ञानात्मन इति। मायायाः आश्रयाऽनावारकत्वादिति[5] भावः ॥ २२ ॥

किञ्च आस्तां तावत् तव[6] बन्धशङ्का, यतः अविद्योपाधेर्जीवात्मनोऽपि न वस्तुतो बन्धोऽस्तीत्याह- **देहाद्युपाधेरिति**। भवो जन्म तन्मूला भिदा च साक्षात् स्वरूपतो न स्यादिति। ननु मम बन्धाभावं वदता त्वया किं मोक्षोऽङ्गीकृतः[7]?

चे त्तर्हि बन्धाभावे मोक्षासम्भवादापन्नो बन्धोऽपीत्याशङ्क्याह- अत इति। यतो नाऽविद्या अतो न बन्धो मोक्षश्च। एवमुभौ न स्यातामित्यर्थः। ननु उलूखले मां बद्धं श्रुतवान्। यमुनाह्रदे तु[8] दृष्टवानसि। अतः कथमुभयं नास्त्यत आह। निकाम इति। स्वाभिप्रायानुरूपस्त्वयि नोऽस्माकमविवेक एव, परमेवम्भूत इति। यद्वा नोऽविवेकत[9] एव तवोभौ स्यातामिति ॥ २३ ॥

ननु तर्हि ममावताराः तच्चरित्राणि च शुक्तिरजतवदविद्याकल्पितान्येव किम्? नहि, नहि, इयं तु तव लीलेत्याह द्वयेन - **त्वयोदित** इति ॥ २४ ॥

स इति। सुरेतरांशा ये राजानः तेषामक्षौहिणीशतानां वधेन भूमेः भारमपनेतुं स्वांशेन रामेण सहाऽवतीर्णोऽसीति[10] ॥ २५॥

1. J.Va. ०ति° 2 J.Va. सदृष्टान्त०° 3 J.Va. omit भूतेषु 4 J.Va. omit सगुणत्वेन 5 J.Va ०व० 6 Va. omit तव 7 J.Va. क्रियते 8 J.Va. omit तु 9 J.Va. ०क एव 10 J.Va. omit इति।

**वीर०** उक्तमेवोपादानकारणत्वं कारणस्य तदवस्थायामेकत्वेनावस्थितस्याऽपि कार्यावस्थायां नानात्वेन भानं च सदृष्टान्तमुपपादयति - **यथा हीति**। दृष्टान्ते योनिष्वित्यस्य स्वेत्यादिः, दार्ष्टान्तिके आत्मयोनिष्वित्यात्मशब्दप्रयोगात्। स्वे मह्यादयो योनयः उपादानकारणानि येषां तेषु चराचरात्मकेषु भूतेषु व्यष्टिभूतेषु मह्यादयः समष्टयः नाना भान्ति, कारणानि समष्टिभूतान्येवैकैकशोऽवस्थितान्यनेककार्यात्मना भान्तीति दृष्टान्तार्थः। एवं भवान् केवलः एकरूपः अविभक्तनामरूपप्रकृतिपुरुषकालशरीरकः आत्मा योनिः कारणं येषां तेषु व्यष्टिसमष्ट्यात्मकसर्वपदार्थेषु बहुधा विभाति। योनिषु आत्मयोनिषु इत्युभयत्र सप्तमीनिर्देशस्याऽयमभिप्रायः। अवस्थाभेदमात्रमेव, न तु कार्यं नाम कारणादतिरिक्तं वस्त्वस्तीति कार्यावस्थादशायां कारणमेव तत्तत्कार्याख्यावस्थाविशेषविशिष्टतया बहुधा प्रतिभातीति। न केवलं तव कारणतयैव कार्यतायां बहुधा भानम्। अपि त्वन्तरात्मतयाऽपीत्यभिप्रायेण विशिनष्टि - आत्मेति। अयं भावः -यथैकस्य जीवस्य क्रमेण देवमनुष्याद्यनेकशरीर विशिष्टत्वाकारेण बहुधा प्रतीतिः, यथा च सौभयदि र्युगपदनेकशरीरविशिष्टत्ववेषेण, तथा भवतः कृत्स्नचिदचिदन्तरात्मत्वात् तत्तच्चिदचिद्विशिष्टताकारेण बहुधा भानम् - इति। ननु जीवदृष्टान्तेन यद्येकस्यानेकधा तत्तच्छरीरविशिष्टताकारेण भानम्, तर्हि तद्वदेव कर्मवश्यतापत्ति रित्यतो विशिनष्टि -आत्मतन्त्र इति। स्वतन्त्रः अकर्मवश्य इत्यर्थः। न ह्येकस्यानेकधाऽवस्थानमेव कर्मवश्यत्वापादकम्, अपि तु सुखदुःखादि भोक्तृत्वम्। तत्तु न तवास्ति। तथा च श्रूयते "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" (मुण्ड. उ. 3-1-1) इति भावः। अनेन जीववैलक्षण्यं सूचितम् ॥ २१ ॥

तदेवोपपादयति- **सृजसीति**। स्वशक्तिभिः कार्योपयुक्तस्वापृथक्सिद्धविशेषणात्मकैः रजआद्याख्यैः प्रकृतिगुणै र्विश्वं सृजसि, लुम्पसि हरसि, पासि रक्षसि, रजःप्रचुरचतुर्मुखाख्यजीवशरीरकत्ववेषेण सृजसि, तमःप्रचुररुद्राख्यजीवशरीरकत्ववेषेण लुम्पसि, सत्त्वप्रवर्तकस्वावतारेण पासीत्यर्थः। यद्यप्येव मथापि तैर्गुणैः कर्मभिः रजआदिगुणमूलकसृष्ट्यादिव्यापारैश्च न बध्यसे। गुणपारवश्याभावात्सृष्ट्यादिकर्मणां पुण्यापुण्यमूलकत्वाभावाच्च सुखदुःखादिभोक्तृत्वापादककर्मबन्धो नास्तीत्यर्थः। बन्धाभावहेतूपन्यासेन बन्धहेतुं निराकुर्वन् विशिनष्टि - ज्ञानात्मन इति। ज्ञानात्मनः स्वस्वरूपेणावस्थितस्य स्वत एव निरस्तनिखिलदोषस्य समस्तकल्याणगुणस्य गुणपारवश्यपुण्याऽपुण्यरूपकर्मान्वयरहितस्य तव बन्धहेत्वभावात्, प्रत्युत बन्धप्रतिभट धर्मयोगाच्च न बन्धसङ्गहेतुसम्भावनापीत्यर्थः। जीवस्तूक्तविधत्वाद्विपरीत इति भावः॥ २२ ॥

तदेवं स्वेन रूपेणावस्थितस्य जीववैलक्षण्यापादकगुणकर्मान्वयाभावः तत एव बन्धाभावश्चोक्तः। अथ जीवशरीरकस्यापि जीवगतबन्धमोक्षाद्यस्पर्शमाह - **देहाद्युपाधेरिति**। देवमनुष्यादि देहादिरूपोपाधेरनिरूपितत्वात् भोगार्थतया निरूपितत्वाभावात् चिदात्मनः जीवान्तरात्मनः तव भवः संसारः साक्षान्नास्ति शरीरभूतजीवस्येवेति भावः । यथा नृसिंहः श्वेत इत्यत्र श्वैत्यं देहगतम्, न त्वात्मगतम्, तद्वत्। भिदात्मनस्स्यादिति पाठान्तरम्। तदा भिदात्मन इत्यनेन दृष्टान्तोऽभिप्रेतः, यथा शरीरगता देवत्वमनुष्यत्वादिभिदा, न तदात्मनस्साक्षा त्स्यात् अपि तु शरीरद्वारा। तथा जीवगतो भवोऽपि न साक्षाद्भवत स्स्यात्। अपि तु जीवद्वारा, स्वरूपतस्तु भवान्वयरहित एव भवानित्यर्थः। यद्वा आत्मन इति हेतुगर्भमिदं विशेषणम्। आत्मनश्चिदचिदन्तरात्मत्वात्तव न शरीरभूतचिदचिद्गता भिदाऽस्ति। नहि शरीरगतबाल्यादिभिदा शरीरिणि प्रसज्जतीति भावः।

ननु शरीरगतधर्मान्वयरहितेऽपि जीवे इव भवान्वयो दुर्वार इत्यत आह - देहाद्युपाधेरनिरूपितत्वा द्भवो नेति। जीवस्य कर्ममूलक सुखदुःखादिभोगार्थतया करणकलेबराद्युपाधे निरूपितत्वा द्भवोऽस्ति, तव तु क्रीडार्थतयेति न भवोऽस्तीति भावः। यतो न भवोऽस्ति अतः बन्धः भवनिदानभूतः कर्मबन्धः नास्ति, तस्मान्मोक्षश्च नास्ति बन्धाभावात्तदवधिकमोक्षश्च नास्ति, अतस्तावुभौ न स्यातामिति नञावृत्त्या वाक्यभेदेनान्वयः। अतो बन्धो मोक्षश्च न स्यातामिति अन्वये तु नञन्तरवैयर्थ्यम्। प्रत्येकान्वये तु स्यातामिति द्विवचनान्वयानुपपत्तिः. यद्वा नञ्भ्यां बन्धमोक्षयोः प्रत्येकमेव निषेध्यत्वावगते र्नञोश्च प्रत्येकमेव क्रियान्वयित्वावगमस्वारस्याच्च स्यातामिति द्विवचन मतन्त्रं स्यादित्यर्थः। नन्वहमपि रामकृष्णादिमनुष्यादिरूपभाक्। अतः कर्मवश्य इत्यत आह - निकामस्त्वयीति। सः रामकृष्णादिरूपदेहाद्युपाधिः। काम्यत इति कामः केवलं स्वेच्छामूलको न तु कर्ममूलक इत्यर्थः। तर्हि तथा सर्वैः किं नावसीयते इत्यत आह - नो विवेक इति। नोऽस्माकम्[5] अविवेकः जीवेश्वरयाथात्म्यविवेकाभावप्रयुक्त[6] त्वद्देहाद्युपाधेः कर्ममूलत्वोद्भावनमित्यर्थः ॥ २३ ॥

ननु देहाद्युपाधेः कर्ममूलत्वम् अत एव तत्फलभूत[7]सुखदुःखाद्यखिलभोगार्थत्वं च जीवेषु निश्चितम्। मद्देहाद्युपाधे र्मदिच्छैकमूलत्वे किं तत्प्रयोजन मित्यत आह **त्वयोदित** इति द्वाभ्याम्। जगतो हितार्थं[8] यस्त्वयोपदिष्टः पुराणो वेदमार्गः त्वन्निश्वसितभूतवेदबोधितो धर्ममार्गः। स यथा असद्भिः समीहितासाधनैः प्रत्युतानर्थावहैः पाषण्डपथैः वेदपथविरोधिभिः बाध्येत, तदा भवान् सत्त्वगुणं शुद्धसत्त्वमयं विग्रहं बिभर्ति। "यदा यदा हि धर्मस्य" (भ. गी. 4-7) "परित्राणाय साधूनाम्" (भ.गी. 4-8) इति श्लोकद्वयोक्तप्रयोजनार्थमवतरसि, न तु कर्मफलभोगार्थं जीववज्जन्ममरणादिमच्छरीरद्वारा जायस इति भावः ॥ २४ ॥

स इति। यो रामादिरूपेणावतीर्णः स त्वं हे प्रभो! अधुना इह लोके वसुदेवगृहे स्वांशेन बलरामेण सह सङ्कल्परूपेण ज्ञानेन वा अवतीर्णोऽसि, किं कर्तुम्? सुरेतराणामसुरप्रकृतीनां राज्ञां कंसादीनां अक्षौहिणीनां यानि शतानि तेषां वधेन भूमेर्भारमपनेतुं निराकर्तुं अमुष्य यादवकुलस्य[9] यशो वितन्वन् "लक्षणहेत्वोः" इति शत्रादेशः, विस्तारयितु ञ्चेत्यर्थः ॥ २५ ॥

1 K. omits भावः 2 K. पुण्यपाप 3 T.W. तं° 4 K. भवतः 5 T.W. कमिति वि० 6 T.W. क्त 7 T.W मूल 8 T.W. ०र्थत्वं 9 T.W. omit कुल

**विज०** इममेवार्थं सदृष्टान्तं दर्शयति **यथेति।** योनिषु भोगस्थानेषु, उत्पत्तिमत्त्वात् भूतशब्दवाच्येषु चराचरेषु पूर्वादृष्टवशात् गमागमेषु वस्तुषु पृथिव्यादयो नाना शुक्लनीलपीताद्यात्मना भान्ति। आत्मा स्वयं योनिः कारणं येषां तानि तथा तेषु, आत्मा परमात्मा केवल आत्मतन्त्र इति विशेषणद्वयेन महान्विशेषोऽस्ति मह्यादिभ्य इति सूचयति ॥ २१ ॥

विश्वस्यात्मयोनित्वं स्पष्टयति - **सृजसीति।**[1] केवलत्वं स्पष्टयति[1] नेति। गुणैः सत्त्वादिभिः उत्पत्तिहेत्वभावादिति युक्तमिति भावेनाह - त इति। शून्यस्त्वमिति, नेत्याह ज्ञानात्मन इति। क्व च कस्मिंश्चिद्देशे काले च ॥ २२॥

"जनितोऽत विष्णुः" इति जन्मप्रतीतेः, "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" (भ. गी. 2-27) इति मरणस्य अवश्यम्भवात् कथं नैव हेतुरित्युच्यते इति तत्राह **देहेति**। देहादिरेवोपाधिः देहाद्युपाधिः तस्योत्पत्तौ कारणभूतगुणकर्मणामनिरूपितत्वा दसम्भावित्वात् साक्षाद्भवः शुक्रशोणितसम्पर्कलक्षणं जन्म न स्यात्। हि यस्मात् अतस्तव देहबन्धो न स्यात्, देहवियोगलक्षणो मोक्षश्च नैव स्यात्, यावदन्यत्र स्याताम्, अतो नो निकामं यावद्योग्यं त्वयि विवेकः तत्त्वनिश्चायकं ज्ञानं स्यादित्यन्वयः ॥ २३ ॥

साक्षाद्भवो नास्ति चेत् तर्हि कीदृशोऽस्तीति तत्राह **त्वयेति**। त्वयोदितः प्रकाशितः। अयं भवो देहयोगलक्षणो जगतो हिताय ज्ञानलक्षणाय भवति, कथमिति तत्राह - यदेति ॥ २४ ॥

एतदेव विशिनष्टि - स **त्वमिति**। अमुष्य कुलस्य, यदूपपदस्य ॥ २५ ॥

1 - - 1 Ma. omit

**अद्येश! नो वसतयः खलु भूरिभागा[1] यस्सर्वदेव पितृभूतनृदेवमूर्तिः।**
**यत्पादशौचसलिलं त्रिजगत्पुनाति स त्वं जगद्गुरुरधोक्षज याः प्रविष्टः ॥ २६ ॥**

**कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीया द्भक्तप्रियादृत गिरस्सुहृदः कृतज्ञात्।**
**सर्वान्ददाति सुहृदो[2-] भजतोऽभिकामा[-2] नात्मानम प्युपचयापचयौ न यस्य ॥ २७ ॥**

**दिष्ट्या जनार्दन भवानिह नः प्रतीतो योगेश्वरैरपि[3] दुरापगति स्सुरेशैः।**
**छिन्ध्याशु नस्सुतकलत्रधनाप्तगेहदेहादिमोहरशनां[4] भवदीयमायाम् ॥ २८ ॥**

**उवाच[-5]**

**इत्यर्चितस्संस्तुतश्च भक्तेन भगवान्हरिः।**
**अक्रूरं सस्मितं प्राह गीर्भिस्सम्मोहयन्निव ॥ २९ ॥**

**श्रीभगवानुवाच[6-] [-6]**

**त्वं नो गुरुः पितृव्यश्च श्लाघ्यो बन्धुश्च नित्यदा।**
**वयं तु रक्ष्याः पोष्याश्च अनुकम्प्याः प्रजा हि वः ॥ ३० ॥**

1 K.T.W. भाग्या 2- -2 K.T.W हि भवान्भ° 3 M.V. °गी° 4 M.Ma. °भि 5- -5 J.M. Ma. omit 6- -6 T.W. omit

**श्रीध०** अत एवम्भूतस्य तवागमनेन कृतार्थोऽस्मीत्याह श्लोकत्रायेण[1] - **अद्येति**। हे ईश! अद्य नो वसतयो गृहास्तपोवनादपि बहुपुण्याः। कुतः? या वसतीस्त्वं साक्षात्प्रविष्टः। कथम्भूतः? यस्य तव पादशौचसलिलमेव[2] गङ्गा त्रिजगत्पुनाति। यश्च त्वं पञ्चयज्ञदेवतामूर्तिः, स त्वं जगद्गुरुरिति ॥ २६ ॥

इति तुष्यन्नाह- क इति। ऋतगिरः सत्यवाचः। त्वत्तोऽपरं शरणं कः पण्डितः[3] समीया द्गच्छेत्। यतो भवान् भजतः सर्वानभिप्तः कामांश्च ददात्यात्मानमपीति ॥ २७ ॥

**दिष्ट्येति।** नोऽविवेकिनाम्। तत्रापीह गृह एव॥ २८,२९ ॥

**त्वमिति।** वो युष्माकं प्रजाः पुत्रा हि वयमिति ॥ ३० ॥

1 J.Va. omit श्लोक° 2 J.Va. omit शौच 3 J.Va. omit पण्डितः

**वीर०** इत्थं भगवन्तं स्तुत्वा सम्प्रति तदागमनेनात्मतदनुबन्धिनां कृतार्थतामाविष्करोति - **अद्येति।** हे ईश! अधुना नोऽस्माकं वसतयः गुहाः भूरिभाग्याः[1] बहुभाग्यवत्यः, तत्र हेतुं वदन् भगवन्तं वसतीश्च विशिनष्टि - हे अधोक्षज! जगद्गुरुस्त्वं याः वसतीः प्रविष्टः। कथम्भूतः? यो भवान् सर्वे देवा ब्रह्मरुद्रेन्द्राश्च पितरश्च भूतानि च नृदेवाश्च मूर्तिश्शरीरं यस्य तथाभूतः। "स आत्मा अङ्गान्यन्या देवताः" (तैति:उ 1-5-1) इत्यादि श्रुत्यर्थोऽत्रऽनुसंहितः। यस्य च तव पादयोः शौचेन क्षालनेन पवित्रं सलिलं गङ्गात्मकं कर्तृ, त्रिजगत्[2] त्रिलोकीं पुनाति। सर्वदेवपितृभूतनृदेवमूर्तिरिति देवादीनां शरीरत्वकथनेन पारतन्त्र्यमुक्तम् ॥ २६ ॥

अत एव "को ह्येवान्या त्कः प्राण्या द्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् एष ह्येवानन्दयाति" इति श्रुत्युक्तरीत्या काममोक्षप्रदः तदुपायभूतश्च त्वमेवेति वक्तुमुपायत्वोपयुक्तगुणैस्तमेव विशिंषन् तदन्यं शरणमिच्छुर्मूर्ख इत्याह - क इति। पण्डित इत्यस्य चेदिति शेषः। पण्डितश्चेत्को वा त्वत् त्वत्तोऽन्यं शरणं समीयात् व्रजेत् समीहितसाधनत्वेन अध्यवस्येदित्यर्थः। योऽन्यः शरणं समीयात् स मूर्ख इति भावः । कथम्भूतात्? भक्तप्रियात् भक्ताः प्रिया यस्य, भक्तानां प्रियश्च तस्मात् "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः" (भ.गी. 7-17) इति त्वदुक्तेरिति भावः । तत्र बहुव्रीहिपक्षे भक्तानां प्रीतिविषयत्वोक्त्या तत्प्रतिपक्षिक्षपणपूर्वकं तत्सुखापादकत्वलाभा च्छरण्यत्वोपयुक्तगुणवत्त्वमभिप्रेतम्। तत्पुरुषपक्षे तु भक्तप्रीतिविषयतोक्त्या प्राप्यत्वोपयुक्तगुणवत्त्वम्। ऋता सत्या गीर्वाक् यस्य तस्मात् "पार्थ नैवेह नाऽमुत्र विनाशस्तस्य विद्यते" (भ:गी: 6-40) "अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन" इति सप्रतिज्ञं सत्यमेव ब्रुवत इत्यर्थः । अयमपि शरण्यत्वोपयुक्तगुणः, कृतज्ञात् कृतं यादृच्छिकप्रासङ्गिकानुषङ्गिकाद्यन्यतमं तत्कर्त्रविज्ञातं, स्वतस्तु असुकृतमपि सुकृतत्वेन जानातीति तथा। तस्मात् रक्षणे व्याजमात्रापेक्षिणो न तु पुष्कलकारणापेक्षिण इति भावः। अनेन दयालुत्वं फलितम्। सुहृदः हितैकाचरणशीलात्, अनेन कंसादिशिक्षाप्यन्तत स्तद्धितार्थैवेति भावः। कुतः? यतो भवान् सुहृदः भवत्तोषैककरणवर्णाश्रमोचितधर्मानुष्ठाननिष्ठस्य भजतो भक्तिं कुर्वतः पुरुषस्य अभिकामान् सर्वान् समीहितान् ददाति, कियदेतदभिकामान् ददातीति। यतो निरतिशयानन्दरूपम् अत एव निरतिशयपुरुषार्थरूपं चात्मानमपि ददाति। अनेन मोक्षप्रदत्वमुक्तं भवति। कथम्भूतमात्मानम्? यस्याऽऽत्मनस्स्वस्य उपचयापचयौ वृद्धिह्रासौ न भवतः, तम्। अनेन निर्विकारत्वं तत एव चिदचिद्वैलक्षण्यं च फलितम् ॥ २७ ॥

अथैवम्भूतस्य दुर्दर्शस्य तस्य केवलं स्वमांसचक्षुर्विषयतापत्त्या तस्मिन् सौलभ्यं तथा स्वस्यालभ्यलाभरूपमहानन्दप्राप्तिं च वदन् तन्मायानिवृत्तये तमेवोपायत्वेन प्रार्थयते - **दिष्ट्येति**। हे जनार्दन ! सर्वान्तरात्मन्! सुरेशैः ब्रह्मादिभिर्योगीश्वरैस्सनकादिभिश्च दुरापा दुष्प्रापा गन्तुमशक्या गतिः प्रकारो याथात्म्यमिति यावत्। सा यस्य स भवानिह मनुष्यलोके नोऽस्माकं केवलमज्ञानां प्रतीतः चाक्षुषसाक्षात्कारात्मकप्रतीतिविषयो जातः। दिष्ट्या अयं महानानन्दोऽस्माकमित्यर्थः। इहेत्यस्याऽस्मिन् गृह एवेति[3] वेत्यर्थः[4] । ननु मद्दर्शनमेव किं बहुमन्यसे, न तु समीहितं याचसे इति चेदिदं याचे इत्यभिप्रायेणाह - छिन्धीति। नोऽस्माकं भवदीयमायाकार्यभूतां सुतादिषु मोह एव रशना पाशस्तामाशु छिन्धि। इदमेव मम प्रार्थनीयमित्यर्थः ॥ २८॥

**इतीति**।भक्तेनाक्रूरेणार्चितः स्तुतश्च हरिः सस्मितं स्मितेन सहितं यथा तथा, अक्रूरं प्राह । कथम्भूतः? वाग्भिरेव सम्मोहयन्निव। स्वयाथात्म्यविषयकमोहं जनयन्निव, इवशब्देनैवमपि न तस्य नित्ययुक्तस्य मोह इति सूच्यते ॥ २९ ॥

उक्तिमेवाह **-त्वमिति** सप्तभिः। त्वं नोऽस्माकं गुरुः हितकृत् पितृव्यः पितृभ्राता च। अनेन पूज्यत्वमुक्तम्। श्लाघ्यो बन्धुश्च न तु कंसादिवन्निन्द्यबन्धुः, नाप्युपेक्ष्यः। अपि तु प्रशस्यबन्धुः। अनेनान्योन्यप्रीतिविषयत्वमुक्तम्। त्वमेवंविधः वयं तु रक्ष्यास्त्वयेति शेषः। गुरुत्वाद्धितोपदेशेनाहिताद्रक्ष्याः, पोष्याः पितृव्यत्वाद्वर्धितव्याः, अनुकम्प्याः मद्विषयकप्रीत्याश्रयत्वाद्दयनीयाः वो युष्माकं प्रजाः पुत्रा वयमित्यर्थः अतो न वयं पूज्याः,किन्तु त्वमेव इति भावः ॥ ३०

1 T.W. भागाः 2 T.W. omit व्रिजगत् 3 K ०त्यद्याऽस्मि० 4 K वाऽर्थः

**विज०** हे अधोक्षज ! सर्वे देवादयो मूर्तयः प्रतिमा यस्य स तथा, जगद्गुरुः स त्वं या वसतीः प्रविष्टः, हे ईश! अद्य ता वसतयो नोऽस्माकं गृहाः भूरिभागाः पूर्णभाग्याः अभवन् खलु। नैतच्चित्रमित्याह - यत्पादेति ॥ २६॥

"एकमेवाऽद्वितीयम्"(छान्दो. उ. 6-2-1) इति श्रुत्यर्थं गुरुमुखात् सम्यक् ज्ञातवानहं, त्वा मतः स्तौमीत्याशयेनाह क इति। भक्तप्रियात् ऋतगिर इति पदच्छेदः। भक्तप्रियाऽऽदृतगीश्चेति वा, तस्मात् भजतः सेवमानस्य सुहृदः फलापेक्षारहितस्य आत्मानमपि स्वात्मानमपि सायुज्यलक्षणं मोक्षमपि सारूप्यं वा। यस्योपचयापचयौ वृद्धिक्षयौ च न स्त इत्यनेन कृष्णस्य बाल्यवार्धकादिकं न स्वाभाविकमिति दर्शितम् ॥ २७ ॥

योगेश्वरादिभिरपि दुरापगतिः दुष्प्रापस्वरूपो भवान् नः प्रतीतः प्रतीतिविषयं गत इत्यतः इदं कर्तव्यमिति प्रार्थयते किं तदिति, तत्राह - छिन्धीति। भवदीयमायां भवदाज्ञाकरीं बन्धकशक्तिं छिन्धीत्यन्वयः । किंविधां? अत्राह सुतेति। मोहलक्षणां रशनां रज्जुम् ॥ २८ ॥

लोकविषयाभिर्गीर्भिः सम्मोहयन् तत्त्वज्ञानम् अन्यथाकुर्वन्निव, न त्वक्रूरस्येत्यन्वयः ॥ २९, ३० ॥

भवद्विधा भागवता[1] निषेव्या अर्हसत्तमाः।
श्रेयस्कामैर्नृभिर्नित्यं, देवास्स्वार्था न साधवः ॥ ३१ ॥

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥ ३२ ॥

स भवान् सुहृदां वै नः श्रेयान्[2] श्रेयश्चिकीर्षया।
जिज्ञासार्थं पाण्डवानां गच्छस्व गजसाह्वयम्[3] ॥ ३३ ॥

पितर्युपरते बाला स्सह मात्रा[4] सुदुःखिताः।
आनीतास्स्वपुरं राज्ञा वसन्त इति शुश्रुम ॥ ३४ ॥

तेषु राजाऽम्बिकापुत्त्रो भ्रातृपुत्त्रेषु दीनधीः।
समो न वर्तते नूनं दुष्पुत्त्रवशगोऽन्धदृक्॥ ३५ ॥

गच्छ जानीहि तद्वृत्तमधुना साध्वसाधु वा।
विज्ञाय[5] तद्विधास्यामो यथा शं सुहृदां भवेत् ॥ ३६ ॥

इत्यक्रूरं समादिश्य भगवान्हरिरीश्वरः।
सङ्कर्षणोद्धवाभ्यां वै तत स्स्वभवनं ययौ ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

1 G.J.M.Ma. महाभागा 2 M.Ma. किञ्चित् 3 - - 3 G.J. त्वं गजाह्व 4 K.T.W. ०त्राऽतिदुः 5. M.Ma. विचार्य

**श्रीध०** ननु नृभि र्देवाः सेव्या इति प्रसिद्धं, तत्राह - **भवदिति**। देवाः स्वार्थाः स्वकार्यसाधनपराः, साधवस्तु केवलं परानुग्रहपराः, परमार्थतस्तु साधव एव देवा इति त. एव सेव्या इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

तर्हि मृच्छिलादिमयाः[1] किं देवादयः सेव्याः[2], नैवेत्यत आह- **नहीति**। अम्मयानि तीर्थानि, मृन्मयाः शिलामयाश्च देवा न पुनन्तीति[3] न, अपि तु पुनन्त्येव[4]। तथापि साधूनां तेषां च महदन्तरमित्याह - दर्शनादेव[5] ते पुनन्तीति ॥ ३२ ॥

"किञ्चिचिकीर्षयन्प्रागात्" (भाग 10-48-13) इति यदुक्तं तत्कार्यमादिशति - **स** इति। नः सुहृदां मध्ये भवान् श्रेष्ठोऽतः पाण्डवानां श्रेयश्चिकीर्षया गजसाह्वयं हस्तिनापुरं गच्छस्व गच्छेति। यद्वा स्वेति पृथक् पदम्। हे स्व! आत्मीयेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

**पितरीति**। राज्ञा धृतराष्ट्रेण। वसन्ते निवसन्ति। शुश्रुम श्रुतवन्तो वयम्॥ ३४ ॥

**तेष्विति**। दृष्ट्वा ये[8] पुत्राः दुर्योधनादयः तद्वशेन गच्छतीति तथा। यतोऽन्धदृक् अन्धनेत्रः ॥ ३५- ३७

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

1 Ml.V. omit किं 2. J.Va. omit सेव्याः 3 J.Va. भवन्तीति 4 J.Va. भव° 5 J.Va. omit दर्शनादेव 6. J.Va. गजाह्वयं 7- -7 J.Va. omit 8 J.Va. add स्व०

**वीर०** न केवलमस्माकमेव यूयं पूज्याः, अपि तु सर्वेषामपीति सहेतुकमाह - **भवद्विधा** इति। भवादृशा भागवताः अत एव अर्हसत्तमाः, उत्कृष्टतमाः, अत एव आत्मविशुद्धि[1]रूपश्रेयस्कामैस्सर्वैर्मानवैः नित्यं सन्निषेव्याः। ननु आत्मविशुद्धये नृभिः देवाः सन्निषेव्या इति प्रसिद्धं तत्राह -देवा इति। देवा इन्द्रादयः स्वार्थाः, स्वप्रयोजनपराः, न साधवः न ते परोपकारिणः । यूयं तु न स्वार्थाः किन्तु परोपकारिण एवेत्यर्थः । तस्माद्यूयमेव सन्निषेव्याः ॥ ३१ ॥

नन्वेवमपि श्रेयस्कामै र्गङ्गादिपुण्यसरितां मृच्छिलामयभगवत्प्रतिमानामेव निषेव्यता पावित्र्यावहत्वा दित्यत आह- **न हीति**। अम्मयानि जलमयानि गङ्गादीनि न तीर्थानि न भवद्विधा इव पावनकराणि, पुनन्तीत्यस्यापकर्षो वा। न तथा पुनन्तीत्यर्थः। तथा मृच्छिलामयाः देवाः भगवत्प्रतिमाश्च न, यथा भवद्विधाः पुनन्ति न तथा पुनन्ति। किन्तु प्रकारान्तरेण पुनन्तीत्यर्थः। अभिप्रेतं वैषम्यं विशदयति - ते इति। तानि च ते च ते, पुंशेष आर्षः। अम्मयानि देवाश्च, उरुकालेन स्नानपानपरिचर्यादिसहचरितेन दीर्घेण कालेन पुनन्तिः साधवो भवद्विधास्तु दर्शनादेव पुनन्ति। अत्र केचिदेवं व्याचक्षते - किं देवादयो न सेव्या इत्यत आह - न हीति। अम्मयानि तीर्थानि मृच्छिलामयाश्च देवा न भवन्तीति न, अपि तु भवन्त्येव, तथाऽपि साधूनां च तेषां च महदन्तरमित्याह - ते पुनन्तीति, तच्चिन्त्यम्। "देवा स्स्वार्था न साधवः" इत्यनेनैवासेव्यत्वस्योक्तत्वात् पुनरसेव्यत्वाशङ्कापरिहारयोरयुक्तत्वात्, सेव्यत्वापादकपवित्रत्वापादकत्वतदभावयोरेव संशयोदयात्। अत एव "ते पुनन्त्युरुकालेन" इति पवित्रता[2]पादकत्वतारतम्योक्तिस्सङ्गच्छते। किञ्च अम्मयानां मृच्छिलामयानां चाऽतीर्थत्वाऽदेवत्वादिशङ्कायां हि "नञ्द्वयं प्रकृतमर्थं सूचयति" इति न्यायेन तीर्थत्वदेवत्वस्थिरीकरणोपपत्तिः। तदा ह्येवमाशङ्कनीयां- तर्हि किम् अम्मयानि न तीर्थान्येव, मृच्छिलामयाः किं न देवा एवेति। न च पूर्वग्रन्थादियं शङ्केति, अतो यथोक्त एवार्थः ॥ ३२ ॥

"किञ्चिच्चिकीर्षया[3] प्रागात्" (भ. गी. 10-48-13) इति यदुक्तं, तत्कार्यमादिशति - स इति। उक्तविधो भवा न्नोऽस्माकं ये सुहृदस्तेषां मध्ये श्रेयान्, अतो नः श्रेयः कर्तुमिच्छया पाण्डवानां जिज्ञासार्थं सुखदुःखविचारार्थं हास्तिनपुरं[4] गच्छ ॥ ३३ ॥

पितरि पाण्डौ उपरते स्वर्गते सति बालाः, अत एव अतिदुःखिताः राज्ञा धृतराष्ट्रेण स्वपुरं प्रत्यानीताः तत्राऽधुना वसन्तीति शुश्रुम ॥ ३४ ॥

अम्बिकापुत्त्रो धृतराष्ट्रः राजा भ्रातृपुत्त्रेषु युधिष्ठिरादिषु विषयभूतेषु दीना कृपणा धीर्यस्य, तथाभूतः समो न वर्तते, नूनं निश्चितम्। तत्र हेतुः, दुष्पुत्त्रो दुर्योधनः तद्वशगः, तत्राऽपि हेतुः अन्धदृक् अज्ञः ॥ ३५ ॥

अतस्त्वं गच्छ, साध्वसाधु वा तेषां पाण्डवानां वृत्तं वर्तनमवस्थानमिति यावत्। तज्जानीहि। तद्वृत्तं विज्ञाय ततस्सुहृदां पाण्डवानां शं सुखं यथा भवेत्तथा विधास्यामः करिष्यामः ॥ ३६ ॥

**इतीति।** समादिश्य आज्ञाप्य ततस्सङ्कर्षणोद्धवाभ्यां सह स्वगृहं गतवान् ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

1 T.W. ०द्ध 2 T.W. ताकरत्व 3 K. ०यन् 4 T. हस्तिना० 5- -5 T.W. omit 6 T.W. omit अपि

**विज०** अर्हाणां पूज्यानां मध्ये श्रेष्ठाः, देवाः स्वार्थाः स्वप्रयोजननिरताः, आत्मार्चकेभ्योऽर्चनादितृप्तिलक्षणं प्रायोजनं प्राप्य फलानां दातारः, न तु सर्वसमा इत्यर्थः । साधवः सर्वतुल्याः न स्वार्थपरायणाः परार्थैकनिष्ठा इत्यर्थः । "समा स्त्री वत्सरे धातु सर्वतुल्येषु वाच्यवत्" (वैज० को०) इति यादवः ॥ ३१ ॥

देवा अपि हि अम्मयादिशब्दवाच्या न भवन्ति, तत्र सन्निहितत्वात् तासां देवशब्दवाच्यत्व मिति भावेनाह - **न हीति।** अम्मयानि जलमयानि तीर्थशब्दवाच्यानि न भवन्ति। किन्तु तत्संहितानि दैवतानि। किमत इति तत्राह - त इति। ते उरुकालेन कृतया सेवया ॥ ३२ ॥

पाण्डवानां वृत्तिजिज्ञासार्थं 'किञ्चिच्छ्रेयश्चिकीर्षये' त्यस्य विवरणमेतत् । गजेन सम आह्वयो यस्य स तथा, हस्तिनापुरमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

शतशृङ्गगिरिनिवासिभिः ऋषिभिः आनीता राज्ञा सह वसन्ते वसन्ति, स्वमहिमानमाच्छाद्येति शेषः। इत्यत आत्मनेपदम्॥३४॥

तत्र हेतुर्हि अन्धदृगिति, तत्त्वज्ञानशून्यत्वात् ॥ ३५ ॥
तद्विधास्यामः तथा करिष्यामः, शं सुखम् ॥ ३६, ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥
(विजयध्वजरीत्या सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः)

# एकोनपञ्चाशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः)

### श्रीशुक उवाच

स गत्वा हास्तिनपुरं कौरवेन्द्रयशोङ्कितम्।
ददर्श तत्राऽऽम्बिकेयं सभीष्मं विदुरं पृथाम्॥ १ ॥

सहपुत्त्रं च बाह्लीकं भारद्वाजं सगौतमम्।
कर्णं सुयोधनं द्रौणिं पाण्डवान् सुहृदोऽपरान्॥ २ ॥

यथावदुपसङ्गम्य बन्धुभिर्गान्दिनीसुतः।
संपृष्टस्तैस्सुहृद्वार्तां स्वयं चाऽपृच्छदव्ययम्॥ ३ ॥

उवास कति चिन्मासान् राज्ञो वृत्तविवित्सया।
दुष्प्रजस्याल्पसारस्य खलच्छन्दानुवर्तिनः॥ ४ ॥

तेज ओजो बलं वीर्यं प्रश्रयादींश्च सद्गुणान्।
प्रजानुरागं पार्थेषु नसहद्भिश्चिकीर्षितम्॥ ५ ॥

1 MI.V. ह० 2 G.J.M.Ma. पौ० 3- -3 MI.V. सपुत्रं चैव बाह्लीकं; T.W. सहपुत्रं बाह्लिकं च 4 T.W. दुर्यो० 5. MI.V. स 6 MI.V. दिदृक्षया 7 M.Ma. °ज्ञ०

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका।

ऊनपञ्चाशत्तमे तु गत्वाऽक्रूरो गजाह्वयम्। राज्ञः स्वभ्रातृपुत्त्रेषु बुद्ध्वा वैषम्यमागमत्॥

**स इति।** कौरवेन्द्राणां यशोभिरङ्कितम्। तत्कृतदेवब्राह्मणायतनादिभिरङ्कितम् इत्यर्थः॥ १ ॥

**सहपुत्त्रमिति।** बाह्लीकपुत्त्रः सोमदत्तः। भारद्वाजो द्रोणः। गौतमः कृपः॥ २ ॥

**यथावदिति।** अव्ययं कुशलम्॥ ३ ॥

**उवासेति।** दुष्प्रजस्याऽसत्पुत्त्रस्य अल्पसारस्य मन्दधृतेः खलानां कर्णादीनां छन्दमिच्छा मनुवर्तितुं शीलं यस्येति तथा तस्य॥ ४ ॥

**तेज** इति। तेजः प्रभावः। ओजः शस्त्रादि नैपुण्यम्। वीर्यं शौर्यम्। नसहद्भिःअसहमानैः। चिकीर्षितं इत उपरि कर्तुमिष्टम्॥ ५ ॥

1 J.Va. पौ० 2 J.Va. omit अङ्कितम् 3 J.Va. omit इत्यर्थः 4 Ml.V.omit इति 5 Ml.V. प्रतापः 6 J.Va. °णम् 7 Ml.V. तदुपरि

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथैवं प्रेरितोऽक्रूरः संविज्ञातसुहृद्वृत्तान्तः पुनरागतः[1] भगवतो न्यवेदयदित्याह- एकोनपञ्चाशत्तमेन **सगत्वेत्यादिना।** सोऽक्रूरः कौरवेन्द्राणां यशोभिः यशस्सूचकदेवब्राह्मणाद्यायतनादिभिः अङ्कितं हास्तिनपुरं गत्वा तत्र भीष्मेण सहितमाम्बिकेयं धृतराष्ट्रं विदुरादींश्च ददर्शेति सम्बन्धः। तत्र पृथा कुन्ती, बाह्लीकपुत्रः[2] सोमदत्तः, गौतमः कृपाचार्यः, भारद्वाजो द्रोणः द्रौणिरश्वत्थामा अपरान् सुहृदः ज्ञातीनित्यर्थः[3]॥ १,२ ॥

**यथावदिति।** गान्दिनीसुतोऽक्रूरः यथावत् यथायोग्यं बन्धुभिस्सह समुपेत्य तैः बन्धुभिः सम्पृष्टस्वकुशलः स्वयमपि सुहृदाम् अव्ययं कुशलं पप्रच्छ॥ ३ ॥

**उवासेति।** ततो राज्ञो धुतराष्ट्रस्य वृत्तपरिशीलनार्थं कतिचिन्मासानुषितवान्। कथम्भूतस्य? दुष्टाः प्रजाः पुत्रा यस्य। असिजभावः आर्षः। अल्पः मन्दः सारो धृतिर्यस्य, खलान् कर्णादीन् अनुवर्तितुं शीलमस्येति तथा॥ ४ ॥

**तेज** इत्यादि। पार्थेषु प्रजानाम् अनुरागं, तेषां तेजआदिगुणांश्चासहमानैः धार्तराष्ट्रैः दुर्योधनादिभिः यत्कृतं विषप्रदानादिकं अपेशलं कठिनं दुष्टं कर्म, यच्च चिकीर्षितं तत्सर्वम् अस्मै अक्रूराय पृथा विदुरश्चाचख्यौ। तत्र तेजः पराभि भवनसामर्थ्यम्,[4] ओजः परैरनभिभूतत्वम्, बलं शारीरं धानुषञ्च, वीर्यं शौर्यम्, तच्च युद्धे स्वगृह इव प्रवेशसामर्थ्यम्॥ ५॥

1 T.W. °त्य तद्भ० 2 T.W °ह्लिक० 3- -3 T.W. omit 4 T.W. °भव

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

योग्यानां भगवति हरौ स्वतएव भक्तिः प्रकाश्यत इति व्यनक्त्यस्मिन्नध्याये। तत्रादौ अक्रूरस्य धृतराष्ट्रादिदर्शनं वक्ति-**स गत्वेति**॥ १ ॥

बाह्लीकं कुरुवंशे कञ्चन वृद्धं राजानं शन्तनो भ्रातरं, भारद्वाजं भरद्वाजस्यापत्यं द्रोणं, सगौतमं सकृपम्॥ २॥

तैर्भीष्मादिभिः सुहृद्वार्तां प्रति सम्पृष्टः अभूदिति शेषः। अक्रूरः स्वयं च तेषामव्ययं अनामयं पृष्टवान्॥ ३॥

वृत्तविवित्सया स्वपुत्रेषु वृत्तं वर्तनं समं विषमञ्चेति ज्ञातुमिच्छया अल्पमन्याय्यं सारं यस्य स तथा तस्य तत्र हेतुः खलच्छन्दानुवर्तिन इति। खलानां पुत्राणां छन्दमिच्छा मनुवर्तितुं शीलमस्यास्तीति तस्य॥ ४ ॥

तेजो ज्योतिर्लक्षणा दीप्तिः, ओजः पराभिभवलक्षणं सामर्थ्यं, बलं शारीरं रूपंवा, वीर्यं पराक्रमः॥ ५ ॥

**कृतश्च धार्तराष्ट्रैर्यत् गरदानाद्यपेशलम्।**[1]
**आचख्यौ सर्वमेतस्मै पृथा विदुर एव च॥ ६ ॥**[2]

**पृथा तु भ्रातरं प्राप्तमक्रूरमुपसृत्य तम्।**
**उवाच जन्मनिलयं स्मरन्त्यश्रुकलेक्षणा॥ ७ ॥**[3]

**अपि स्मरन्ति नस्सौम्य पितरौ भ्रातरश्च मे।**[4]
**भगिन्यो**[5] **भ्रातृपुत्त्राश्च जामयस्सख्य एव च॥ ८ ॥**

**भगवान् कृष्णः शरण्यो भक्तवत्सलः॥**
**पैतृष्वसेयान् स्मरति रामश्चाम्बुरुहेक्षणः॥ ९ ॥**

**सपत्नमध्ये शोचन्तीं वृकाणां हरिणीमिव।**
**सन्त्वयिष्यति मां वाक्यैः पितृहीनांश्च बालकान्॥ १० ॥**

1 M.Ma. °कौ० 2 G.J.K.Ml.V. °चा० 3 M.Ma. °णम् 4 K.Ml.V. ये 5 M.Ma. °न्यौ 6 M.Ma. °त्री० 7 J. °स्रे०

**श्रीध० कृतिमिति।** गरस्य विषस्य दानादि। अपेशलमन्याय्यम्। तेज ओज इत्यादि सर्वं कथयामास॥ ६॥

तत्कथनात्पूर्वतरं[1] पृथाया वृत्तान्तमाह[2]- **पृथेति।** अश्रूणां कला लेशा ययोस्ते ईक्षणे नेत्रे[3] यस्यास्सा॥ ७॥

**अपीति।** अपि किम्। जामयः कुलस्त्रियः॥ ८॥

**भ्रात्रेय** इति। पैतृष्वसेयान्[4] मत्पुत्त्रान्[5-] इत्याशयः[-5]॥ ९ ॥

**सपत्नेति।** शोचन्तीं[6-] मां वाक्यैः[-6] सान्त्वयिष्यति किम्॥ १० ॥

1 J. ०तमं 2 J.Va. °त्तमा० 3 J.Va. omit नेत्रे 4 J.Va. °स्रे० 5--5 J.Va. omit 6--6 Ml.V. omit

**वीर०** तत्र[1-] पृथाया विशेषमाह[-1]- **पृथात्विति।** तत्र पृथा तु तदाख्यानात्पूर्वमेव समागतं भ्रातरम् अक्रूरमुपसृत्य समुपेत्य जन्मनिलयं जननभवनं स्मरन्ती अश्रूणां कलाः लेशाः ययोस्ते इक्षणे यस्यास्सा तमक्रूरमुवाच॥ ६,७ ॥

उक्तिमेवाह-**अपीति** षड्भिः। हे सौम्य! मे पित्रादयो नोऽस्मान् स्मरन्त्यपि स्मरन्ति किम्? तत्र जामयः कुलस्त्रियः॥ ८ ॥

**भ्रात्रेय** इति। देहसम्बन्धेनाप्यात्मनां रक्षकत्वख्यापनाय भ्रात्रेय इत्युक्तिः। भ्रातुः पुत्रो भ्रात्रेयः, शरणमुपायतामर्हतीति शरण्यः। अनेन देहसम्बन्धादिक मनादृत्य शरणागतरक्षाशीलत्वमुक्तम्। तदुपयुक्तगुणपूर्तिरुच्यते- भगवानिति। शरणगतानपि कदाचिद्दोषान्वेषणेन न रक्षेदित्याशङ्कां निराकुर्वन्व्याचष्टे भक्तवत्सल इति। भक्तेषु दोषादर्शीपितृष्वसुः पितृभगिन्या ममाऽपत्यरूपान् युधिष्ठिरादीन् स्मरति, अपीति शेषः अनुषङ्गो वा, स्मरति किमित्यर्थः। तथा अम्बुरुहे इव ईक्षणे यस्य स रामोऽपि स्मरति किम्? तदीक्षणप्रसारमात्रेणैव निस्तापा वयं भविष्याम इत्यभिप्रायेण तदीक्षणयोः अम्बुरुहोपमा॥ ९ ॥

**सपत्नमध्य** इति। वृकाणां मध्ये हरिणीमिव शत्रूणां मध्ये शोचन्तीं मां, पितृहीनान् बालकान् पुत्रांश्च वाक्यैः सान्त्वयिष्यति किम्॥ १० ॥

1- -1 T.W. omit

**विज०** जन्मनिलयं जन्मगृहम्॥ ६,७ ॥

जामयः भ्रातृवर्गभार्याः॥ ८ ॥

पितृष्वसुः पुत्रान् पाण्डवान्॥ ९ ॥

सपत्नमध्ये शत्रुमध्ये, वृकाणां मध्ये स्थिताम्॥ १० ॥

**कृष्ण कृष्ण महायोगिन् सर्वात्मन्[1] विश्वभावन[2]।**
**प्रपन्नां पाहि गोविन्द शिशुभिश्चावसीदतीम्॥ ११ ॥**

**नान्यत्तव पदाम्भोजात्पश्यामि[3] शरणं नृणाम्।**
**बिभ्यतां मृत्युसंसारादीश्वरस्यापवर्गिकात्॥ १२ ॥**

**नमः कृष्णाय शुद्धाय ब्रह्मणे परमात्मने।**
**योगेश्वराय योगाय, त्वामहं शरणं[4] गता॥ १३ ॥**

**श्रीशुक[5-] उवाच[-5]**

**इत्यनुस्मृत्य स्वजनं कृष्णं च जगदीश्वरम्।**
**प्रारुदद्दुःखिता राजन् भवतां[6] प्रपितामही॥ १४ ॥**

समदुःखसुखोऽक्रूरो विदुरश्च महायशाः।
सान्त्वयामासतुः कुन्तीं तत्पुत्रोत्पत्तिहेतुभिः॥ १५ ॥

1 G.J.K.Ml.V. विश्वात्मन् 2 M.Ma. पालक 3 M.Ma. °मः 4 M.Ma. °णाग० 5- -5 M.Ma.Ml.V. omit 6 T.W. °तः

**श्रीध०** कुन्त्यपि[1-] अधिगतपरमार्था श्रीकृष्णं स्तौति[-1] **कृष्णेति**। हे महायोगिन्! महान् योग उपायो मायाख्योऽस्यास्तीति। हे विश्वात्मन्! सर्वान्तर्यामिन्! हे विश्वभावन! विश्वपालक! प्रपन्नां शरणागताम्। अवसीदतीं दुर्योधनादिकृतैरपकारैः[2-] क्लिश्यन्तीम्॥ ११ ॥[-2]

**नेति**। आपवर्गिकात् मोक्षप्रदात्॥ १२ ॥

**नम** इति। शुद्धाय धर्मात्मने। ब्रह्मणेऽपरिच्छिन्नाय परमात्मने जीवसखाय। योगेश्वराय अणिमादियुक्ताय। योगाय ज्ञानात्मने॥ १३ ॥

**इतीति**। प्रपितामही, प्रपितामहः पाण्डुः तस्य भार्या प्रारुदत्[3] प्ररुरोद[4]॥ १४ ॥

**समेति**। पृथया सह समं दुःखं सुखं च यस्य सः। तस्याः पुत्राणामुत्पत्तिहेतुभिः जनकैः धर्मानिलेन्द्रादिभिः, तत्कथनैरित्यर्थः॥ १५ ॥

1--1 J.Va. omit 2--2 J.Va omit 3 J.Va. omit प्रारुदत् 4 J.Va. omit प्र

**वीर०** एवमक्रूरं प्रति परोक्षमुक्त्वा अथ सर्वान्तरात्मानं भगवन्तं बुद्ध्या सन्निधाप्य कार्पण्यावेदनपूर्वक[1-] मात्मात्मीयरक्षां प्रार्थयते- **कृष्ण कृष्णेति**। हे महायोगिन्! सर्वज्ञ! हे सर्वान्तरात्मन्! विश्वं भावयति स्वभक्तजनं[-1] सुखयुक्तं करोतीति तथा। शिशुभिः पुत्रैस्सह अवसीदतीं क्लिश्यन्तीम्, अधुना प्रपन्नां शरणागतां च मां पाहि॥ ११ ॥

ननु ब्रह्मरुद्रादिषु सत्सु किं मामेव शरणं गच्छसीत्यत्राह- **नान्यदिति**। मृत्युरूपात्संसाराद्बिभ्यतां[2] ब्रह्मादीनामपि अपवर्गप्रदात् ईश्वरस्य तव पदाम्भोजात् अन्यत् नृणां शरणम् इष्टसाधनं न पश्यामः। ब्रह्मादीनामपि प्रपन्नतुल्ययोगक्षेमत्वात् न प्रपत्तव्यतेति भावः॥ १२ ॥

प्रपत्तिमपि यथावत् कर्तुमशक्नुवत्याः मम भगवत्प्रसादी अञ्जलिरेवेत्यभिप्रायेण प्रणमति-**नम** इति। शुद्धाय रागद्वेषादिरहिताय किञ्चित् स्वानुकूल्यमात्रापेक्षायेति यावत्, अञ्जलिरेव तं प्रसादयितुमलमिति भावः। ब्रह्मणे स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयबृहते। अनेन परिपूर्णस्य नास्माभिः विधेयमन्यदपेक्षितमित्यभिप्रेतम्। परमात्मने अन्तः प्रविश्य[3-] प्रशासनेन[-3] भर्त्रे, त्वत्प्रशासनानुरूपमेव अस्मत्प्रवृत्तिरित्यभिप्रेतम्। योगेश्वराय तत्तदधिकार्यनुरूपमनेकधावस्थितन्यासात्मक्योगनिर्वाहकाय योगाय युज्यते सर्वात्मभिरिति योगः तस्मै, निरुपाधिकसर्वविधबन्धवे एवम्भूताय कृष्णाय स्वर्गापवर्गसुखहेतवे नमः, त्वाम् उक्तविधम् अहं कृपणा शरणं गता शरणागतशब्दभागस्मीति भावः॥ १३ ॥

**इतीति**। इदं श्रीमच्छुकवचनम्। हे राजन्। भवतां प्रपितामहः पाण्डुः तस्य स्त्री कुन्ती इति इत्थं कृष्णं स्वजनं चानुस्मृत्य दुःखिता सती प्रारुदत् रुरोद[4]॥ १४ ॥

तदा समं सुखं दुःखं च यस्य सः, कुन्त्या सहेति शेषः। यद्वा बन्धुजनसुखदुःखदर्शनजमनोविकाररहितः ज्ञाननिष्ठत्वात्। अक्रूरो विदुरश्च तस्याः पुत्राणामुत्पत्तिहेतुभिः जनकैः धर्मानिलेन्द्रादिभिः, तत्कथनैरित्यर्थः। सत्पुत्रेति पाठान्तरम्। तत्र सद्भिः धर्मानुवर्तिभिः पुत्रैः तदुत्पत्तिहेतुभिश्च पूर्वोक्तैः कुन्तीं सान्त्वयामासतुः, धर्मानुवर्तित्वात्, भगवदभिमानविषयत्वाच्च न तेषा मशुभमस्ती त्येवंविधैः उपदेशैरित्यर्थः॥ १५ ॥

1- -1 K. omits 2 T.W. प्रपत्तृ 3- -3 T.W. त्मकाय 4 T.W. उपारुदत्

**विज०** द्युमणेरुदयादुत्फुल्लया नलिन्या यथा तथा अक्रूरस्य दर्शनादुद्रेचितया भक्त्या विवशा विशेषप्रबुद्धभगवद्गुणानित्थं तत्परा कुन्ती मनस्याऽऽविर्भूतं कृष्णं स्तौति- **कृष्णेति**। महानपरिच्छिन्नो योगो ज्ञानमुपायो वाऽस्तीति तत्सम्बुद्धिः। "महत्पूज्यविशालयोः"। (वैज.को 6-5-63) इति यादवः। सर्वमाप्नोति धारयतीति सर्वात्मा हे सर्वात्मन्! गोविन्द गवामिन्द्र!॥ ११ ॥

मृत्युवत् भयहेतोः संसारात् आपवर्गिकात्अपवर्गाख्यक्रियासाध्यफलप्राप्तेः साधकात् तदापादकाद्वा। "अपवर्गः क्रियासाध्यफलाप्तौ त्यागमोक्षयोः" इति वैजयन्ती॥ १२ ॥

'कृष्णं सीसाद्यलोहेषु' इत्यतः कृष्णशब्दस्य सीसाद्येऽपि वृत्ते स्तन्निरासार्थं शुद्धायेति। किं तत् शुद्ध मत्राह- ब्रह्मण इति। अस्याप्यनेकार्थवृत्तेः न निर्णय इत्यतः परमात्मन इति। दुर्भगाशरीरे वसतो हरेः कर्दम इव शुद्धत्वं कथं युज्यत इति तत्राह - योगेश्वरायेति। योगैश्वर्याद्धटत इत्यर्थः। ननु तर्हि योगैश्वर्यनिमित्तं शुद्धत्वं चेत् स्वतो नास्तीत्यायात मित्यत उक्तं योगायेति ज्ञानसंहताय ज्ञानात्मत्वेनाप्राकृतत्वा त्स्वाभाविकमित्यर्थः। ततः किमत्राह-त्वामिति॥ १३ ॥

इति, एवमादिगुणपूर्णम्॥ १४ ॥

तस्याः पुत्राणां युधिष्ठिरादीनां उत्पत्तेः हेतुभिः दुर्वाससोऽनुग्रहेण[1-] धर्मानिलेन्द्रसंयोगादिलक्षणैः[-1]॥ १५ ॥

1- -1 Ma. ग्रह धर्ममगवत्

**यास्यन् राजानमभ्येत्य विषमं पुत्रलालसम्।**
**अवद त्सुहृदां मध्ये बन्धुभि स्सौहृदोदितम्[1]॥ १६ ॥**

**अक्रूर[2-] उवाच[-2]**

**भो भो वैचित्रवीर्य त्वं कुरूणां कीर्तिवर्धन।**
**भ्रातर्युपरते पाण्डौ अधुनाऽऽसनमास्थितः[3-]॥ १७ ॥**[-3]

धर्मेण पालयन्नुर्वीं प्रजाश्शीलेन रञ्जयन्।
वर्तमानः समः[4] स्वेषु श्रेयः कीर्तिं मवाप्स्यसि॥ १८ ॥

अन्यथा त्वाऽऽचरन् लोके गर्हितो यास्यसे तमः।
तस्मात्समत्वे[5] वर्तस्व पाण्डवेष्वात्मजेषु च॥ १९ ॥

नेह चात्यन्तसंवासः कस्यचि[6] त्केनचित्सह।
राजन्[7-] स्वेनापि[-7] देहेन, किमु जायात्मजादिभिः[8]॥ २० ॥

1 M.Ma. प्रा० 2- -2 M.Ma. omit 3--3 M.Ma. बन्धुना सम० 4 MI.V. समं 5 M.Ma. °स्त्वं 6 G.J. कर्हि० 7- -7 MI.V राजन्नपि स्व 8 K.T.W. °षु

**श्रीध० यास्यन्निति**। बन्धुभिः रामकृष्णादिभिः सौहृदेनोदितमुक्तं यत् तदवदत्[1]॥ १६ ॥

**भो भो**। इति। भ्रातर्युपरत इति। पाण्डोः पुत्रेषु सत्सु राजासनं त्वमास्थित इति कटाक्षः॥ १७ ॥

भवतु, तथाप्येवं वर्तमानः श्रेयोऽवाप्स्यसीत्याह **धर्मेणेति**॥ १८ ॥

**अन्यथेति**। तमो नरक मिह[2] च महदुःखमिति भावः॥ १९ ॥

नन्वात्मजानात्मजादिषु कथं समत्वं स्यात्तत्राह-**नेति**। अत्यन्तं नित्यं संवासः सम्यक् अवस्थितिः[3]॥ २० ॥

1 J.Va. add इति 2 J.Va. मिहैव 3 J.Va omit अव

**वीर० यास्यन्निति**। यास्यन् गमिष्यन्, मधुरां प्रतीति शेषः। पुत्रलालसं पुत्रेष्वासक्तबुद्धिम् अत एव विषमं भ्रातृपुत्रेष्विति शेषः। विषमबुद्धिं राजानं धृतराष्ट्रं अभ्येत्य बन्धुभिः कृष्णादिभिः यत् सौहृदेन सौहार्देन कथितम्, तत् सुहृदां मध्ये अवोचत्॥ १६॥

उक्तिमेवाह- **भो भो** इति नवभिः। हे वैचित्रवीर्य! हे कुरूणां कीर्तिवर्धन! एवंविधस्य तव इयं विषमा बुद्धिः अनुचितेति सम्बोधनद्वयाभिप्रायः। भ्रातरि पाण्डौ उपरते स्वर्गते सति अधुना त्वं नृपासनम् अधिष्ठितवान्। इतोऽप्यनुचितं नेति भावः॥ १७ ॥

तदाह - **धर्मेणेति**। शीलेन अवैषम्यादिस्वभावेन रञ्जयन् स्वस्मिन् तासामनुरागं जनयन् स्वेष्वात्मीयेषु समो वर्तमानः अविषमस्सन् श्रेयः कीर्तिं च प्राप्स्यसि॥ १८ ॥

अन्यथा वैषम्यमाचरन् जनैर्निन्दितः, ततः तमो नरकं यास्यसि प्राप्स्यसि, तस्मात् पाण्डवेषु 1-युधिष्ठिरादिषु-1 आत्मजेषु च विषये समत्वेन वर्तस्व॥ १९ ॥

ननु अनपायिष्वात्मजेषु यावत्स्वार्थमनुवर्तमानेषु भ्रातृपुत्रादिषु च कथं साम्यं स्यादित्यत्राह- **नेहेति**। इह लोके कस्यचित् केनचित् साकं अत्यन्तसंवासः नित्यं सम्यक् स्थितिः नास्ति, संयोगवियोगयोः कर्ममूलत्वेन यावत्कर्मैव तावित्यर्थः। तदेव कैमुत्यन्यायेनाह- हे राजन्! धृतराष्ट्र! स्वेन स्वकीयेन देहेन सहाऽपि नात्यन्तसंवासः, भार्यापुत्रादिभिस्सह अत्यन्तसंवासो नास्तीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः॥ २० ॥

1--1 T.W. omit

**विज०** यास्यन् गन्तुमिच्छन् पुत्रलालसं पुत्रस्नेहकातरं बन्धुभिस्सहितं सौहृदोदितं सुहृद्भावेन कथितम् ॥ १६-१८॥

तमोऽघं दुःखमित्यर्थः, पुत्रनाशेनेति शेषः। "तमो राहुस्तमोऽघं च" इति च। "दुःखैनोव्यसनेष्वघम्"इति च॥ १९ ॥

सर्वस्यानित्यत्वात् क्वचित् कस्मिंश्चिदपि विशेषस्नेहो न कार्यः, योग्यतामन्तरेणेति भावेनाह- **नेहेति**। इह लोके कस्यचित् केनचित्सह अत्यन्तसंवासो नास्त्येव जायात्मजादिभिस्सह संवासनिदर्शनात्, किं विशेष्य निषिध्यते इत्यत्र कैमुत्यमाह स्वेनापीति॥ २० ॥

**एकः प्रसूयते जन्तु रेक एव प्रलीयते।**
**एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृत मेक एव च दुष्कृतम्॥ २१ ॥**

**अधर्मोपचितं वित्तं हरन्त्यन्येऽल्पमेधसः।**
**सम्भोजनीयापदेशैः जलानीव जलौकसः॥ २२ ॥**

**पुष्णाति या नधर्मेण स्वबुद्ध्या तमपण्डितम्।**
**तेऽकृतार्थं प्रहिण्वन्ति प्राणा राय स्सुतादयः॥ २३ ॥**

**स्वयं किल्बिषमादाय तैस्त्यक्तोऽनर्थकोविदः।**
**असिद्धार्थो विशत्यन्धं स्वधर्मविमुख स्तमः॥ २४ ॥**

**तस्माल्लोकमिमं राजन् स्वप्नमायामनोरथम्।**
**वीक्ष्याऽऽयम्याऽऽत्मनाऽऽत्मानं समश्शान्तो भव प्रभो॥ २५ ॥**

1 T.W. °भी० 2 M.Ma. चेतसः 3--3 M.Ma. अन्तेऽकृतार्था हिण्वन्ति 4 G.J.M.Ma. नार्थ० 5--5 M.Ma सम्भजन्नात्म०

**श्रीध०** तत्र तावत् उत्पत्तिमरणयोः सुखदुःखयोश्च केनापि साहित्यं नास्तीत्याह- **एक** इति॥ २१ ॥

किञ्च यदा च सह संवसन्ति[1] तदापि क्लेशोपार्जितवित्तापहारितया पुत्त्रा नाम शत्रव एव ज्ञेया इत्याह- **अधर्मेति।** सम्भोजनीयाः पोष्याः। पुत्त्रादय इति व्यपदेशैरल्पमेधसो मूढस्य वित्तं हरन्ति। जलौकसो मत्स्यस्य जीवनभूतानि जलानि यथा तत्पुत्त्रा हरन्ति तद्वदिति भावः[2]॥ २२ ॥

किञ्च यानेवं पुष्णाति ते धनमादाय मृता जीवन्तोऽपि वा तं परित्यजन्तीत्याह- **पुष्णातीति।** स्वबुद्ध्या स्वीया इत्यभिमानेन, रायोऽर्थाः, अकृतार्थमप्राप्तभोगम्॥ २३ ॥

स पुनः पापैकपाथेयो नरकं विशतीत्याह- **स्वयमिति।** असिद्धार्थोऽपूर्णमनोरथः॥ २४ ॥

**तस्मादिति।** स्वप्नश्च माया च मनोरथश्च तत् तेन तुल्यम्। आयम्य नियम्य शान्तस्सन् समो भवेति॥ २५॥

1 M.V. omit सं 2 J.Va omit भावः

**वीर०** एतदेव निदर्शयति- जन्तुः शरीरी एक एव प्रसूयते, न तु जायात्मजादिभिस्सहेति भावः। तथा एक एव प्रलीयते, नहि म्रियमाणेन सह तज्जायादयो म्रियन्त इति भावः। सुकृतदुष्कृतशब्दौ तत्फलभूतस्वदैहिकसुखदुःखपरौ, न तद्भोगेऽपि केनचित् साहित्यमिति भावः॥ २१ ॥

किञ्च यदा च सह संवसन्ति, तदा क्लेशोपार्जितवित्तापहारितया पुत्त्रा नाम शत्रव एव ज्ञेया इत्याह- **अधर्मोपचितमिति।** सम्भोजनीयाः पोष्याःपुत्त्रादय इति व्यपदेशैः अल्पमेधसः मूढस्य अधर्मेण आर्जितं वित्तं हरन्ति, यथा मत्स्यस्य[1] जलौकसो जीवनभूतानि जलानि तत्पुत्त्रा हरन्ति, तद्वत्॥ २२ ॥

किञ्च, **पुष्णातीति।** स्वबुद्ध्या आत्मात्मीयबुद्ध्या यो यान् पुष्णाति, ते प्राणाः रायो धनानि सुतादयः आदिशब्दग्राह्या भार्यादयः, प्राणशब्दः शरीरोपलक्षकः, तं पुष्णन्तं अकृतार्थं अप्राप्तभोगं कामान् अभुक्त्वैव मृतं प्रहिण्वन्ति त्यजन्ति॥ २३॥

स्वयं तु अनर्थकोविदः स्वानर्थेष्वेव कुशलः न तु स्वहित इति भावः। तैः प्राणादिभिः त्यक्तः किल्बिषं तत्पोषणार्थं कृतं पापमादाय असिद्धार्थः अपरिपूर्णमनोरथः स्वधर्मविमुखः, हेतुगर्भमिदम्। तत्त्वात् अन्धं तमः अन्धतामिस्राख्यं नरकं प्रविशति॥ २४ ॥

उपदेशमुपसंहरति- **तस्मादिति**। हे राजन्! तस्मात् तत्त्वस्थितेरेवंविधत्वात् इमं देहतदनुबन्ध्यादिकं सर्वं लोकं स्वप्नमायामनोरथम् आश्चर्यमनोरथमिव अनित्यं वीक्ष्य ज्ञात्वा आत्मना बुद्ध्या आत्मानम् आयम्य नियम्य हे प्रभो! समः सर्वत्र समबुद्धिः सन् शान्तः रागद्वेषादिविनिर्मुक्तो भव॥ २५ ॥

1 K. omits मत्स्यस्य 2 T.W. omit वि

**विज०** इतोऽपि वैषम्यबुद्धिः न कार्येत्याह- एक इति॥ २१ ॥

अन्ये अल्पचेतसः दुर्बुद्धेः अधर्मेण उपचितं आर्जितं हरन्ति। सम्भोजनीयापदेशैः सम्भोजनीयाः सहभोजनयोग्याः बन्धवः अपदेशैः कपटवचनैः ममैतेऽपेक्षणीया इति मिथ्याहेतुभिरित्यर्थः। जलानि हरन्तो जलसम्बन्धितया जलौकसः प्राणिनो यथा हरन्ति। यद्वा, जलौकसो यादोगणस्य विद्यमानानि जलानि यथाऽन्ये हरन्ति॥ २२ ॥

यः स्वबुद्ध्या ममत्वभ्रान्तबुद्ध्या अधर्मेणान्यायेन यान् पुष्णाति स्वत्वेनाभिमतास्ते प्राणादयस्तु अन्ते मरणसमये तमपण्डितं अज्ञं हिन्वन्ति त्यजन्ति। "अग्निं वागप्येति वातं प्राणः" इति श्रुतेः। कीदृशाः? अकृतार्थाः अपूर्णस्वप्रयोजनाः यथा यो योऽधर्मेण यान् स्वीयबुद्ध्या पुष्णाति ते प्राणादयः तमपण्डितं हिन्वन्तीति, तं च मरणं विदुरिति॥ २३ ॥

पुनः स्वयं किं करोतीति तत्राह- स्वयमिति। नाऽर्थकोविदः स्वप्रयोजनकुशलो न भवति॥ २४ ॥

किमन्येन बहूपन्यासेन, प्रकृते किमागतमिति तत्राह- **तस्मादिति**। लोकं शरीरं स्वप्नेति लुप्तोपमा। स्वप्नवत् मायावत् इन्द्रजालवत् मनोराज्यविजृम्भितव दन्यत्र स्वनिमित्तं स्वप्नस्य स्वाधीनत्वप्रतीतेः तदर्थं मायामनोरथमित्युक्तम्। आत्मना मनसा आत्मानं परमात्मानं भजन् शान्तो भगवदेकनिष्ठः स्वपरबुद्धिं विहायाऽऽत्मजेषु पाण्डुपुत्रेषु च च समो भवेत्यन्वयः॥ २५॥

## धृतराष्ट्र उवाच

**यथा वदति कल्याणीं वाचं दानपते भवान्।**
**तथाऽनया न तृप्यामि मर्त्यः प्राप्य यथाऽमृतम्॥ २६ ॥**

**तथाऽपि सूनृता सौम्य हृदि न स्थीयते चले।**
**पुत्त्रानुरागविषमे विद्युत्सौदामनी यथा॥ २७ ॥**

**ईश्वरस्य विधिं को नु विधुनोत्यन्यथा पुमान्।**
**भूमे र्भारावताराय योऽवतीर्णो यदोः कुले॥ २८ ॥**

यो दुर्विमर्शपथया निजमाययेदं सृष्ट्वा गुणान्विभजते तदनु[3] प्रविष्टः।
तस्मै नमो दुरवबोधविहारतन्त्र संसारचक्रगतये परमेश्वराय॥ २९ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्यभिप्रेत्य नृपते रभिप्रायं स यादवः[4]।
सुहृद्भिस्समनुज्ञातः पुनर्यदुपुरीमगात्॥ ३० ॥

शशंस रामकृष्णाभ्यां धृतराष्ट्रविचेष्टितम्।
पाण्डवान्प्रति कौरव्य! यदर्थं प्रेषित स्स्वयम्॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
एकोनपञ्चाशोऽध्यायः॥ ४९ ॥

1 K.T.W. यदा 2 K.T.W. तदा 3 K. तनुषु 4 Ml.V. माधवः

**श्रीध० यथेति।** हे दानपते! अक्रूर! न तृप्याम्यलमिति न मन्ये॥ २६ ॥

**तथेति।** सूनृता प्रिया[1] वाक् चलेऽस्थिरे हृदि न स्थीयते न तिष्ठतीत्यर्थः। सुदामा नाम[2] पर्वतः तत्र भवा विद्युदिव। तस्मिन् स्फटिकशिलामये सहसैवातिस्फुरिता विद्यु द्यथा लीयते तद्वदित्यर्थः । यद्वा सुदामा माला तस्या इयं सौदामनी। मालाकारेत्यर्थः॥ २७ ॥

नन्वेवं जानतोऽपि कथमयं महामोह[3] इति चेत् तत्राऽऽह[4]- **ईश्वरस्येति।** विधिं विधानम्। मायामिति यावत्। क्[5]ः पुमान् विधुनोति, न कोऽपीत्यर्थः[5]॥ २८ ॥

अतस्तमेव नमस्यति- **य इति।** दुर्विमर्शपथया अवितर्क्यमार्गया। गुणान् कर्माणि तत्फलानि च विभजते[6] विविच्य ददाति। दुरवबोधो यो विहारः क्रीडा स एव तन्त्रं[7] प्रधानं मुख्यकारणं[8] यस्य संसारचक्रस्य, अत एव तस्य गतिः यस्मात् तस्मै नम इति॥ २९ ॥

**इतीति।** अभिप्रेत्य ज्ञात्वा॥ ३०, ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां एकोनपञ्चाशोऽध्यायः॥ ४९ ॥

1 Ml.V. °यवा० 2 J.Va. omit नाम 3 J.Va. omit महा० 4 J.Va. अत आह 5- -5 J.Va. omit 6 J.Va. add इति 7 Ml.V. omit एव 8 J.Va. मुख्यं

**वीर०** इत्थं प्रतिबोधितः प्राह धृतराष्ट्रः- **यदेति।** हे दानपते! दानाधिप! अत्युदार! मूढमप्येवं ज्ञानप्रदानेन सञ्जिजीवयिषोस्तवौदार्य मनितरसाधारणमिति सम्बोधनाभिप्रायः। यदा भवान् कल्याणीं कल्याणावहां वाचं वदति, तदा अनया वाचा न तृप्यामि न तस्यामलम्बुद्धिं करोमीत्यर्थः। इदानीं न तृप्याम्येव। शृण्वन्नपि न तृप्यामीत्यभिप्रायेण यदातदाशब्दयोः प्रयोगः। यथा मर्त्यो मरणशीलः अमृतं प्राप्य अशित्वा न तृप्यति, तद्वत् निरतिशयहिता त्वद्वागिति भावः॥ २६॥

**तथापीति।** हे सौम्य! भवतो वाक् सूनृता मधुरा हिता च। तथापि तद्वचः हृदि न स्थीयते न प्रतिष्ठितं भवति। तत्र हेतुं वदन् हृद्विशिनष्टि- पुत्रानुरागेण विषमे यथा सौदामनी विद्युत् तद्वत्। सुदामा पर्वतः तेनैकदिक्[1] सौदामनी तत्र भवेति यावत्। सुदाम्नि हि स्फटिकशिलामये स्फुरिता तटित् तदैव लीयते, तद्वदित्यर्थः। यद्वा सुदामा अलातमाला, तन्मयी सौदामनी॥ २७॥

ननु एवं जानतोऽपि कथमयं मोह इत्यत आह- **ईश्वरस्येति।** को वा पुमान् ईश्वरस्य विधिं चिकीर्षां अन्यथा विदधाति अन्यथा करोति? कोऽसावीश्वर इत्यत आह- भूमेरिति। यो यदोः कुले भूमेः भारस्य मत्पुत्रतदनुबन्धिरूपस्य अवताराय अवतीर्णः, मत्पुत्रसञ्जिहीर्षात्मकभगवच्चिकीर्षानुगुणमेव तन्मायोन्मोहितदुर्मनीषा प्रवर्तते इति भावः॥ २८॥

युक्तं चैत द्वुरवबोधमायत्वा त्सर्वनियन्तृत्वाच्चे त्यभिप्रयन् केवलं तमेवेश्वरं प्रणमति-**य** इति। यः ईश्वरः दुर्विमर्शपथया इतरैः ज्ञातुमशक्यप्रकारया स्वप्रकृत्या इदं ब्रह्मादितनुजालं सृष्ट्वा तनुषु चतुर्मुखादितनुषु प्रविष्टः तत्तदधिष्ठातृजीवान्तरात्मतया प्रविष्टः "तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत्" इतिवत्। स्थित्यर्थोऽत्र अनुप्रवेश उक्तः, गुणान् शब्दादिविषयान् विभजते, ब्रह्मादिभ्य इति शेषः। प्रतिनियतान् शब्दादीन् तेभ्यो विभज्य प्रयच्छतीत्यर्थः। अन्यैर्दुरवबोधः ईश्वरस्य विहारः क्रीडा तादृशविहार[2]तन्त्रात्मिका संसारचक्रगतिः यस्मात् तस्मै सर्वोत्कृष्टाय ईश्वराय नमः॥ २९॥

**इतीति।** स यादवोऽक्रूरः नृपतेः धृतराष्ट्रस्य अभिप्रायम् अभिप्रेत्य ज्ञात्वा सुहृद्भिः पाण्डवादिभिः सम्यगनुज्ञातः पुनः मधुरां आजगाम॥ ३०॥

**शशंसेति।** [3]ततो हे कौरव्य! पाण्डवान् प्रति यत् धृतराष्ट्रस्य विचेष्टितं कृतं विषप्रदानादि, यस्य चेष्टितस्य विज्ञानार्थमेव स्वयं भगवता प्रेषितः, तत् सर्वं कृष्णरामाभ्यां शशंस कथयामास॥ ३१॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकोनपञ्चाशोऽध्यायः॥ ४९॥

1 T.W. अलातः 2 K. omits विहार 3 K. omits ततो

**विज०** अनया वाचा न तृप्यामि अलम्बुद्धिं न प्राप्नोमि। अमृतं देवान्नम्। "अमृतं व्योम्नि देवान्ने यज्ञशेषे रसायने अयाचिते जले ह्यग्नौ मोक्षणे हेम्नि गोरसे॥ क्लीबे तु ना त्वमरस्त्रीगुडूच्यामघभिक्षयोः इति च॥ २६ ॥

सूनृता वाक् सुदाम्नः पर्वताद्वयज्यमाना सौदामनी विद्युत् विद्युल्लता। यद्वा विशेषेण द्यौति प्रकाशते तादृशी सौदामनी क्षणप्रभा यथा अस्थिरा तथेति। विधिमाज्ञां विधुनोति अन्यथा करोति, अनेकार्थत्वात् धातूनाम्। दुर्विमर्शपथया दुर्विज्ञेयमार्गया दुरवबोधः दुर्ज्ञेयः विहारः सृष्ट्यादिव्यापारलक्षणा क्रिया, तस्य तन्त्राधीनसंसारचक्रगतिः संसारवृत्तिः प्रकारो यस्य स तथा तस्मै इत्यभिप्रेत्य इति ज्ञात्वा॥ २७-३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
एकोनपञ्चाशोऽध्यायः॥ ४९ ॥

(श्रीविजयध्वजरीत्या अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः)

# पञ्चाशोऽध्यायः

## उत्तरार्धम्

(विजयध्वजरीत्या एकोन पञ्चाशोऽध्यायः)

-: जरासन्धयुद्ध यवनागमनादिकथा :-

### श्रीशुक उवाच

[1-]अस्तिः प्रास्तिश्च[-1] कंसस्य महिष्यौ भरतर्षभ!
[2]हते भर्तरि दुःखार्ते ईयतुः स्वपितु[3] गृहम्[4] ॥ १ ॥

पित्रे मगधराजाय जरासन्धाय दुःखिते।
वेदयाञ्चक्रतु स्सर्वमात्मवैधव्यकारणम्[5] ॥ २ ॥

स तदप्रियमाकर्ण्य शोकामर्षयुतो नृपः[6]।
अयादवीं[7] महीं कर्तुं चक्रे परममुद्यमम् ॥ ३ ॥

अक्षौहिणीभि र्विंशत्या[8] तिसृभिश्चाऽपि संवृतः[9]।
यदुराजधानीं मधुरां[10] न्यरुणत्सर्वतो दिशम् ॥ ४ ॥

निरीक्ष्य तद्बलं कृष्ण उद्वेल मिव सागरम्।
स्वपुरं तेन संरुद्धं स्वजनञ्च भयाकुलम् ॥ ५ ॥

चिन्तयामास भगवान् [11-]ह रिः कारण[-11] मानुषः।
तद्देशकालानुगुणं स्वावतारप्रयोजनम् ॥ ६ ॥

1- -1 B,G,J. अस्तिः प्रासिश्च; M,Ma. अस्तिप्रास्तीति. 2 B.G.J. मृते 3 B.G.J.K.Ml,V. स्म 4 B.G.J.K.M.Ma. ०हान् 5 M.Ma. ०रूप्य 6 B.G.J.Ml.V. नृप ! 7 B.G.J.M.Ma. ०वीं° 8 M.Ma. ०द्भिः 9 W. युतः 10. B.G.J.M.Ma. ०थु० 11 - -11 W. स हरिः कार्य

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

★ दशमस्कन्धपूर्वार्धभावार्थस्य प्रदीपिका। यस्येयं मुखतो भाति नाऽस्ति तस्याऽऽन्तरं तमः॥

ततः पञ्चाशत्तमे तु जरासन्धभयादिव। कारयित्वाऽम्बुधौ दुर्गं तं निनाय निजं जनम्।

कपाटान् कपटैरेव[1] हत्वा दैत्यानयत्नतः। अजयत्त[2] जरासन्धं धर्मेणैव तु धार्मिकम्॥

**अस्तिरिति**। अस्तिप्रास्तिसंज्ञिके[3], ईयतुः जग्मतुः ॥ १,२ ॥

**स** इति। कंसे शोकः कृष्णे च अमर्षः, ताभ्यां युतः ॥ ३ ॥

**अक्षौहिणीभिरिति**। न्यरुणत् रुरोध ॥ ४ ॥

**निरीक्ष्येति**। तस्य बलम् सैन्यम्, उद्वेलं लङ्घितमर्यादं सागरमिव। तेन तस्य बलेन संरुद्धम् ॥ ५ ॥

**चिन्तयामासेति**। किं बलमेव हन्मि न मागधम्, मागधं वा हत्वा बलं गृह्णामि, यद्वा, समागधं सर्वं हन्मि इति चिन्तयामास। न प्रथमं, कथं जेष्यामीत्येवं चिन्तयितुं युक्तम् तत्राऽऽह - कारणमानुष इति भूभारावतारकारणेन मानुषः, न तु[4]तत्त्वतः इति ॥ ६ ॥

★ This verse is not found in B.J. edns 1. M.V. °टैनैव 2 B.J. °च्च 3 B.J °प्ति 4 M.V. omit तु।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

व्याख्यातं दशमस्कन्धपूर्वार्धं मे यथाश्रुतम्। यथामतीतस्तुष्यन्तु क्षाम्यन्तु गुणवत्तमाः॥

अथ जरासन्धजयात्मकं भगवच्चेष्टितं वर्णयितुकामः तावज्जरासन्धस्य भगवता सह युयुत्साकारणं प्रस्तौति-**अस्तिः प्रास्तिश्चेति** सार्धद्वयेन। हे भरतर्षभ[1-1]! भरतसत्तम! अस्तिः प्रास्तिश्चेति द्वे कंसस्य भार्ये ते भर्तरि कंसे हते सति, भगवतेति शेषः। दुःखार्ते दुःखपीडिते भूत्वा पितुर्जरासन्धस्य गृहान् ईयतुः जग्मतुः ॥ १ ॥

ततो मगधदेशाधिपतये जरासन्धाय स्वपित्रे दुःखिते अस्तिप्रास्ती सर्वमात्मनोः वैधव्यकारणं निवेदयाञ्चक्रतुः ज्ञापितवत्यौ ॥ २ ॥

स जरासन्धः तद्दुहितृभ्यामावेदितं अप्रिय माकर्ण्य शोकामर्षाभ्यां युतः महीं यादवाङ्कुररहितां कर्तुं परम मुद्यमं प्रयत्नं चक्रे ॥ ३ ॥

तदेवाऽऽह- **अक्षौहिणीति**। त्रयोविंशत्यक्षौहिणीबलपरिवेष्टित इत्यर्थः। यदुराजानामाश्रयभूतां मधुरां चतुर्दिक्षु निरुद्धवान् ॥ ४ ॥

[2]तदा श्रीकृष्णः उद्वेलं लङ्घितमर्यादं सागरमिव स्थितं तस्य जरासन्धस्य बलम्, तेन बलेन संरुद्धं स्वपुरं, भयेन व्याकुलं स्वजनञ्च निरीक्ष्य चिन्तयामासेति सम्बन्धः ॥ ५ ॥

हरिः कारणमानुष इति हेतुगर्भम्। यद्यपि न तस्योपद्रवः, सर्वकारणत्वेन न तद्बलसंहारे प्रयासश्च। तथाऽपि आश्रितार्तिहरत्वात्, सर्वकारणत्वेऽपि मानुषत्वात् गुहीतमनुष्यरूप तत्सजातीयचेष्टितत्वात् मनुष्यवच्चिन्तयामास, चिन्तयित्वा निश्चितवानित्यर्थः। किं कथम्? इत्यत्राऽऽह तद्देशेति, तद्देशकालानुगुणं यथा भवति तथा स्वावतारप्रयोजनं विचार्य अध्यवास्यत् ॥ ६ ॥

1- -1 B.T.W. omit 2 T.W. omit तदा

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदत्नावली

सच्छास्त्रस्य असच्छास्त्रेणेव कतिपयेष्वध्यायेषु श्रीकृष्णस्य जरासन्धेन सह सङ्ग्रामं वर्णयति। तत्त्वनिर्णयेन सदसतां भक्तिद्वेषाभ्यामुद्बुद्धाभ्यां विहितनिर्वाणाप्तिर्भवति। तत्र कथां प्रसञ्चयितुमाह-अस्तीति। अस्तिप्रास्तिशब्दाभ्यां अविद्याया द्वे रूपे संशयविपरीतज्ञाननामनी उच्येते। तत्र संशये ज्ञानसत्तामात्रमस्ति, विपरीते तदपि नाऽस्ती त्यस्तिप्रास्ती। अस भुवि, भूसत्ताया मिति धातोः। यद्वा निश्चायकप्रमाणाभावेन निश्चयज्ञानाभावात् संशयविपरीतज्ञानवाचकावेतौ 'असु निरसने' इति धातोः, कंसस्य महिष्यौ। कसि हिंसायाम् इति धातोः, हिंसात्मनोऽधर्मस्य महिमबन्धकत्वेन सम्बन्धिन्यौ' षिञ् बन्धने' इति धातोः कृष्णनाम्ना धर्मेण भर्तरि स्वनिर्वाहके कंसनाम्न्यधर्मे हते विनाशिते स्वपितुः स्वपोषकस्य जरासन्धस्य 'जॄ वयो हानौ' इति धातोः वयोहानिहेतुभूता शैवी शास्त्रसंहिता जरेत्युच्यते। तस्यां सन्धा मरणापत्तावपि न मुञ्चामीति प्रतिज्ञा यस्य स तथा। तस्य गृहान् प्रमेयविशेषान् ईयतुः प्राप्य स्थिते। शब्दशक्तिविचक्षणैः पुरुषै रध्यात्मविषयतया अत्राऽर्थो ज्ञातव्य इति ग्रन्थबाहुल्यभीरुणा मया न प्रदर्श्यते इति ॥ १ ॥

आत्मवैरूप्यकारणं आत्मवैधव्यादिनिमित्तं, अन्यत्र प्रतिपादनासामर्थ्यम् ॥ २ ॥

'नॄ नये' इति धातोः नॄन् नयान् शैवशास्त्रोक्तान् पिबतीति नृपः शास्त्रज्ञः यः प्रतिसम्भूमेत्यभिधानात् यो स एव अदो दुष्टदण्डकस्तं वान्ति शरणं गच्छन्तीति यादवाः वैष्णवाः तद्रहिताम् ॥ ३ ॥

एकस्थानमारभ्य षोडशस्थाने या संख्या सा अक्षौहिणीत्युच्यते इति। अन्ये गजानां सप्त सहस्राणि द्विशती साशीतिः।एवं रथानामपि संख्या। अश्वाना मेकविंशतिसहस्री पञ्चशती विंशतिश्च। पदातीनां पञ्चत्रिंशत्सहस्रं विंशतिभिश्चेति अक्षौहिणीसंख्यां ब्रुवते। एको गज एको रथः त्रयोऽश्वाः पञ्च पदातय इति दशसंख्या पत्तिर्नाम। त्रिगुणिता पत्तिः सेना मुखमिति भिन्नं वा पदम्। सेना मुखस्त्रिगुणो गुल्मनामा, तत्त्रिगुणो गुणनामा, गुणत्रिगुणा वाहिनी नाम, वाहिनी

त्रिगुणा पृतना, तत्त्रिगुणा चमूः, तत्त्रिगुणिता चमू रनीकिनी, दशानीकिनीत्यक्षौहिणीति केचित्। "एकेभैकरथ त्र्यश्वा पत्तिः पञ्च पदातिका, पत्त्यङ्गैस्त्रिगुणैस्सर्वैः क्रमा दाख्या यथोत्तरम्। सेनामुखं गुल्मगणौ वाहिनी पृतना चमूः। अनीकिनी दशानीकि न्यक्षैहिणी (अम. को. 2-537, 538) इत्यमरः ॥ ४-६ ॥

**हनिष्यामि बलंह्येत द्भुवि भारं समाहितम्।**
**मागधेन समानीतं पश्यतां सर्वभूभुजाम्॥ ७ ॥**

**अक्षौहिणीभिस्संख्यातं भटाश्वरथकुञ्जरैः।**
**मागधस्तु न हन्तव्यो भूयः कर्ता बलोद्यमम् ॥ ८ ॥**

**एतदर्थोऽवतारोऽयं भूभारहरणाय मे।**
**संरक्षणाय साधूनां कृतोऽन्येषां वधाय च ॥ ९ ॥**

**अन्योऽपि धर्मरक्षायै देहः सम्म्रियते मया।**
**विरामायाऽप्यधर्मस्य काले प्रभवतः क्वचित् ॥ १० ॥**

1 B.G. वश्यानां, J.K. वंश्यानां 2 M.Ma. भृताम् 3 K.W. सङ्कुलम्। 4 M.Ma. ०धोऽपि 5 M.Ma. संश्रियते 6- -6 M.Ma. विरामाय ह्य° MI.V. विरमाय ह्य°

**श्रीध०** एवं त्रेधा विचिन्त्य प्रथमं पक्षं निर्धारितवान्। तदाह चतुर्भिः - **हनिष्यामीति** ॥ ७ ॥

**अक्षौहिणीभिरिति।** बलोद्यमं कर्ता करिष्यति॥ ८ ॥

नन्वत एव हन्तव्य स्तत्राऽऽह - **एतदर्थ** इति। एतच्छब्दार्थं स्पष्टयति भूभारहरणायेति ॥ ९ ॥

अय मेतदर्थोऽवतार इत्युपलक्षणमित्याह - **अन्य** इति। प्रभवतः उद्भवतः ॥ १० ॥

1 B.J. त्रि° 2 MI,V ०लायोद्यमं 3 B.J. add इति।

**वीर०** विचार्य निश्चितमेव दर्शयति - **हनिष्यामीति** चतुर्भिः। वंशे भवा वंश्याः तेषां सर्वेषां भूभृतां राज्ञा मेतत् भूमे र्भाररूपं समाहितं समुदितं मागधेन जरासन्धेन आनीत मत्र प्रापितम्॥ ७ ॥

★ 1- पदातिभिरश्वैरथैश्च सङ्कुलं व्याप्तम्, अक्षौहिणीभिस्त्रयोविंशतिसंख्याकाभिरिति शेषः, संख्यातं बलं हनिष्यामि। मागधस्तु मया न हन्तव्यः हन्तु मनर्हः। तत्र कारणमाविष्करोति, भूयः पुनः बलायोद्यमं कर्ता करिष्यति। यद्यधुनैव मागधो हतः भूयो बलस्यानेता न स्यात्। यदि न हतः, तदा पुन र्बलं समानयन् अवतिष्ठेतैव एवञ्चेत्कृत्स्नं बलं हतं स्यात् अतस्सोऽधुना न हन्तव्य इति -1 ॥ ८ ॥

ननु किं वृथा बलहननेन ममाऽर्थः, यो द्वेष्टि स एव हन्तव्य इत्याशङ्क्य, तर्ह्यवतरणं नाऽर्थवत्स्यात् इत्यभिप्रयन्नाऽऽह- एतदर्थ इति। मे मम अवतारः एतदर्थः एषोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तथाभूतः। कोऽसावर्थ इत्यपेक्षायां भूभारेत्यादिभिश्चतुर्थ्यन्तैः प्रयोजनविशेषान्निर्दिशति- भूभारहरणाद्यर्थ मयमवतारः कृत इत्यन्वयः। अन्येषा मसाधूनां वधाय च ॥ ९ ॥

नेदं प्रयोजनविशेषपरिगणनम्, अपि तु प्रदर्शनमात्रमित्यभिप्रेत्याह - **अन्योऽपीति**। अन्योऽप्यवतारस्याऽर्थः प्रयोजनम्। कोऽसौ? अत स्तं दर्शयति - धर्मरक्षायै इति। अन्योऽपीत्येकवचनं सामान्याभिप्रायकम्। काले कदाचि त्कचित् प्रभवतः प्रकर्षेण भवतो वर्धमानस्याऽधर्मस्य विरामाय विध्वंसनाय च मया देहः सम्भ्रियते परिगृह्यते ॥ १० ॥

★ This extra matter is found in B. edn. अन्योऽपि वाराहादिदेहः। धर्मरक्षायै प्रभवतः उद्भवतः अधर्मस्य विरमाय च मया सम्भ्रियते ॥ ८ ॥

1- - 1 B omits

**विज०** अन्योऽपि वाराहादिरपि स्वकाले प्रभवतः वर्धमानस्याऽधर्मस्य[1] विरामाय विनाशाय ॥ ७ - १० ॥

1 B omits अधर्मस्य

## विजयध्वजरीत्या अधिकपाठः।

**एवं ध्यायति गोविन्दे मगधाधिपति र्बली।**
**मधुरां सवनोद्यानां रुरोध बहुसैनिकः॥ 1 ॥**

**कलिङ्गश्चेकितानश्च दन्तवक्त्रविदूरथौ।**
**उल्मुको वेणुदारी च शाल्वश्चैद्यश्च दुर्मतिः ॥ 2 ॥**

**पूर्वद्वारं समासाद्य रुरुधु र्मगधाज्ञया।**
**विन्दानुविन्दा वावन्त्यौ विराटो दरदस्तथा॥ 3 ॥**

एकलव्यो बाह्लिकश्च तथा पञ्चनदेश्वरः।
रुरुधु र्दक्षिणद्वारं पौण्ड्रकश्च महाबलः॥ 4 ॥

युधामन्यु र्बृहत्क्षत्रः शाल्वो भूरिश्रवास्तथा।
उत्तमौजाश्च रुक्मी च द्रुमश्चैव सुदक्षिणः ॥ 5 ॥

एते नियुक्ता राजानो जरासन्धेन भारत!
पश्चिमद्वार मासाद्य रुरुधु र्मधुरां पुरीम् ॥ 6 ॥

द्रुपदश्शिशुपालश्च त्रिगर्तोऽथ जयद्रथः।
शकुनिस्सोमदत्तश्च कुणिन्दश्च महाबलः॥ 7 ॥

जरासन्धेन सहिताः सर्वे मदबलान्विताः।
उत्तरद्वारमासाद्य रुरुधु र्भरतर्षभ !॥ 8 ॥

ते निरुध्य चतुर्द्वाराण्युद्वेलाम्भोधिसन्निभाः।
सिंहनादश्च कुर्वन्तो दध्मु श्शङ्खाननेकशः ॥ 9 ॥

क्ष्वेलन्तो युद्धसन्नद्धा जध्नु र्भेरी स्सहस्रशः ॥ 10 ॥

तद्वीरभूपालकदम्बजृम्भितं युगावसानार्णवघूर्णितोपमम्।
निशम्य कृष्णो न चचाल चेतसा सृगालघोषं मृगराडिवोद्धतः ॥ 11 ॥

एतस्मिन्नेव काले तु गगनात्सूर्यवर्चसौ॥ 12 ॥

1 B. सौ° 2 °द्वार

**विज०** मधुरां योग्यानां परमानन्ददात्रीं वेदान्तविद्यां, तस्याश्चतुर्द्वाराणि ऋगादीनि पाष(ख)ण्डशैववीरादयः लिङ्गादिशब्दिताः बहव स्सैनिकाः सेनारक्षकाः यस्य स तथा। "सेनारक्षास्तु सैनिकाः" (अम. को. 2-518) इत्यमरः। 1 - 9 ॥

क्ष्वेलन्तः अट्टहासं कुर्वन्तश्च॥ 10 ॥

कदम्बः समूहः ॥ 11, 12 ॥

1- -1
एवं ध्यायति गोविन्दे आकाशात्सूर्यवर्चसौ।
रथावुपस्थितौ सद्य स्ससूतौ सपरिच्छदौ ॥ ११ ॥

आयुधानि च दिव्यानि पुराणानि यदृच्छया।
2
दृष्ट्वा तानि हृषीकेशस्सङ्कर्षणमथाब्रवीत् ॥ १२ ॥

[विजयध्वजरीत्या अधिकपाठः]

(K.M.Ma. प्रकाशेषु दृश्यमानः)
चक्रं सुदर्शनं घोरं सहस्रारं मनोरमम्।
गदा कौमोदकी गुर्वी नाम्ना कौमोदकी शुभा॥ 13 ॥

त्रिनतं कार्मुकश्रेष्ठं शार्ङ्गसंज्ञं गुणान्वितम्।
तीक्ष्णधारः शितमुखः खड्गो नन्दकसंज्ञितः॥ 14 ॥

लघू शरार्चितौ रम्यौ तूणौ चाक्षयसायकौ।
तुरगाश्शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकाः ॥ 15 ॥

हलश्च बलभद्रस्य मुसलश्च दृढं गुरु।
इत्येतान्यायुधान्याजौ गगनादागतानि सः॥ 16 ॥

3- -3
श्रीकृष्ण उवाच
4 5
पश्यार्य! व्यसनं प्राप्तं यदूनां सात्त्वतां प्रभो!
एष ते रथ आयातो दयितान्यायुधानि च ॥ १३ ॥

6
यानमास्थाय जह्येत द्व्यसनात्स्वान् समुद्धर।
7 8
एतदर्थं हि नौ जन्म साधूनामीश शर्मकृत् ॥ १४ ॥

9
त्रयोविंशत्यनीकाख्यं भूमेर्भार मपाकुरु।
10- -10
एवं सम्मन्त्र्य दाशार्हौ दंशितौ रथिनौ पुरात् ॥ १५ ॥

1- -1 M.Ma. एतस्मिन्नेव काले तु गगनात् 2 M.Ma राजन् 3 --3 B.G.J.M.Ma.Ml.V omit 4 Ml.V ०ऽद्य 5 B.G.J.M.Ma.Ml.V. त्वावतां 6 K.W. एन° 7 K.W. ०नामिह 8 M.Ma. सत्कृतम्। 9 M.Ma. ०कानां 10- -10 रथिनां वरौ॥

**श्रीध० एवमिति।** ससूतौ सारथिसहितौ परिच्छदः परिकरः, ध्वजकवचादिः तत्सहितौ ॥ ११, १२ ॥

**पश्येति।** त्वं अवन् रक्षको नाथो विद्यते येषां ते त्वावन्तः, तेषाम् ॥ १३, १४ ॥

**त्रयोविंशतीति।** दंशितौ बद्धकवचौ ॥ १५ ॥

1 B.J. add एव

**वीर० एवमिति।** ध्यायति विचार्य निश्चितवति सति तदैव द्वौ रथौ आकाशा दवतीर्योपस्थितौ स्तः। कथम्भूतौ? वर्चः ययोस्तौ। सारथिसहितौ। परिच्छदः परिकरः ध्वजकवचादिः तत्सहितौ॥ ११ ॥

अथ हृषीकेशः पुराणानि पुरातनानि, दिव्यान्यमानुषाणि*आयुधानि। चकारात् तैस्सहितौ रथौ च दृष्ट्वा सङ्कर्षणं प्रत्युवाच ॥ १२ ॥

उक्तिमेवाऽऽह-सार्धद्वयेन। हे आर्य! हे प्रभो! यदूनां व्यसनं प्राप्तमेत त्पश्य। नैते यदव उपेक्ष्या इत्यभिप्रायेण तान्विशिनष्टि[1] सात्त्वतामिति। सात्त्वतां भक्तानां, भृत्यानामिति यावत्। न हि स्वामी। भृत्यानुपेक्षितुमर्हतीति भावः । तर्हि किं विधेयमित्यत्राऽऽह- एष इति। दयितानि प्रियाणि आयुधानि। चकारात् कवचादीनि च आयातानीति लिङ्गवचन विपरिणामः ॥ १३ ॥

एनं रथ मास्थाय अधिष्ठाय एत त्परबलं जहि नाशय। स्वान् स्वकीयान् व्यसनादापद उद्धर, एतदर्थं प्रतिपक्षनिरसनार्थं हि इह लोके नौ आवयोः जन्म अवतारः। यद्वा नौ जन्म एतत्प्रतिपक्षनिरसन मर्थः प्रयोजनं यस्य तत्तथा। साधूनां शर्मकृत् सुखकारि च ॥ १४ ॥

अतः त्रयोविंशत्यनीकाख्यं त्रयोविंशत्यक्षौहिणीसैन्यव्यपदेशं, केवलं भूमेर्भार मपाकुर्वपनय। एवमिति। इत्थं मिथः सम्मन्त्र्य आलोच्य दाशार्हौ रामकृष्णौ दंशितौ कवचितौ रथिनौ रथारूढौ स्वासाधारणैरायुधैराढ्यौ युक्तौ चाल्पीयसा कतिपयेन बलेन चाऽऽवृतौ च भूत्वा पुरात् मधुराया निष्क्रान्तौ॥ १५ ॥

1 B तानेव

**विज०** सपरिच्छदौ सोपस्करणौ ॥ ११,१२ ॥

सहस्रं अराणि दलानि यस्य तत्तथा। कौ मह्यां मोदको नारायणः तस्य विद्यमाना कौमोदकी ॥ 13 ॥

त्रिषु स्थानेषु कोटिद्वये मध्ये च नतं वक्रं नतम्। " कार्मुकन्तु चतुर्हस्तम्" (वैज०. को. 3-7-173) इति यादवः। शृङ्गविकृतं गुणेन ज्यया अन्वितं सहितम् ॥ 14 - 16 ॥

त्वावतां त्वद्युक्तानाम्। यद्वा- त्वं अवः रक्षको येषां ते त्वावन्तः तेषां त्वावतामिति पाठ श्छान्दसः। साधूनां साधुभिः सत्कृतम्। कृद्योगे षष्ठी ॥ १३,१४ ॥

त्रयोविंशत्यनीकानां त्रयोविंशदक्षौहिणीनां समुत्पन्नं भूमेर्भारम् ॥ १५ ॥

## विजयध्वजरीत्या अधिकपाठः

(B.K.M.Ma. प्रकाशेषु उपलभ्यमानाः प्रथमश्लोकः एवं ध्यायति K. प्रकाशे नास्ति।)

1 दंशितैश्च यदुश्रेष्ठैर्बहुभिश्च समन्वितौ।
निर्जग्मतुः पुरवरात् बलेनाऽल्पीयसा नृप ॥ 17 ॥

निर्गत्य सदनात्कृष्णो वृष्णीनाहूय सर्वशः।
आज्ञापयामास तूर्णं चतुर्द्वारस्य पालने ॥ 18 ॥

★ 2 वसुदेवश्च निशठं कृतवर्माणमुद्धवम्।
कृष्णो निर्यातयामास पूर्वद्वारेण भारत! ॥ 19 ॥

उग्रसेनं सुदामानं पृथुं विपृथुमेव च।
हरिर्निर्यातयामास द्वारेणाऽनुत्तरेण वै॥ 20 ॥

सात्यकिश्च गदश्चैव प्रसेनं गान्दिनीसुतम्।
हरिः प्रतीचीद्वारेण प्रेषयमास दुर्मदान्॥ 21 ॥

गोविन्दस्तु महातेजाः स्वयं दारुकसारथिः।
आत्ताभीष्टप्रहरणः सङ्कर्षणसहायवन्॥ 22 ॥

उत्तरेण विनिर्गम्य द्वारेण जगदीश्वरः
शङ्खं दध्मौ महाप्राणं दैत्यदानवभीषणम्॥ 23 ॥

आह दारुकमासीनं रथाग्रे माधवः स्मयन् ॥ 24 ॥

### श्रीभगवानुवाच

रथं वाहय धर्मज्ञ यत्र तौ चैद्यमागधौ।
तर्पयामि नृपान् सर्वान् सायकै र्युद्धदुर्मदान्॥ 25 ॥

### श्री शुक उवाचं

इत्युक्तो दारुक स्तेन हयांस्तूर्णमचोदयत्।
व्यनद त्सिंहनादश्च गोविन्दः परवीरहा॥ 26 ॥

शङ्खमाध्माय रामोऽपि सिंहनादं व्यनीनदत्।
ततोऽभूत्परसैन्यानां हृदिचिन्ता[6] सवेपथुः॥ 27 ॥

पूर्वद्वारि नृपै स्सार्धं यदूनां कदनं महत्।
आसीच्चतुर्भिरष्टानां[-7] तदद्भुत मिवाऽभवत्॥ 28 ॥

दक्षिणद्वार्यपि तथा गोविन्दाध्मातचेतसाम्[8]।
आसीद्यदूनां कथनं राजन्यकटकेन वै ॥ 29 ॥

अपरद्वार्यपि तथा यदूनां दृढधन्विनाम्।
आसीद्राजसमाजेन सङ्ग्रामो रोमहर्षणः ॥ 30 ॥

ते हन्यमाना यदवो राजभिश्शाक्रविक्रमैः।
न चेलुस्सङ्गराद्राजन् लोकद्वयजिगीषवः॥ 31 ॥

तत्र यादव शार्दूलो विष्णुस्त्रैलोक्य वल्लभः।
आससाद महाघोरौ यत्र तौ चेद्यमागधौ ॥ 32 ॥

1. This verse (दंशितैश्च ) is not found in k edn. 2. ब्रह्मसूत्रादयो वसुदेवादिशब्दवाच्याः3. दुःखं मन्दयन्ति अल्पीकुर्वन्तीति दुर्मदास्तान्। नुमागमाभावश्छान्दसः। 4. महाप्राणं महाघोषम् 5. युद्धदुर्मदान् युद्धे दुष्टमदान्। 6 वित्रासवेपथुः 7- -7 वसुदेवादिभि श्चतुर्भिः कलिङ्गाद्यष्टानाम्। 'कद क्लद हिंसार्थौ' इति धातुः। कदनं युद्धम्। 8. गोविन्देनाऽऽध्मातं आश्वासितं चेतो येषां ते तथा, तेषां राजन्यानां कटकेन सैन्येन। "सैन्येऽपि कटकोऽस्त्रि याम्" इत्यभिधानम्। समूहेन वा।

★ निर्जग्मतुः स्वायुधाढ्यौ बलेनाल्पीयसावृतौ।
शङ्खं दध्मौ विनिर्गम्य हरि र्दारुकसारथिः ॥ १६ ॥

ततोऽभूत्परसैन्यानां हृदि वित्रासवेपथुः।
तानाह मागधो वीक्ष्य हे कृष्ण! पुरुषाधम॥ १७ ॥

☆ न त्वया योद्धु मिच्छामि वालकेनेह[1-] लज्जया[-1]।
गुप्तेन च[2] त्वया मन्द न योत्स्ये याहि बन्धुहन् ॥ १८ ॥

त्वन्तु राम यदि श्रद्धा युध्यस्व धैर्य मुद्वह।
हित्वा वा मच्छरै श्छिन्नं देहं स्वर्याहि मां जहि ॥ १९ ॥

## श्रीभगवानुवाच।

न वै शूरा विकत्थन्ते दर्शयन्त्येव पौरुषम्।
न गृह्णीमो वयं राजन्नातुरस्य मुमूर्षतः ॥ २० ॥

★ निर्जग्मतुः इत्यारभ्य वर्तमाना एते पञ्च श्लोकाः(16-20) M.Ma. प्रकाशयोः न विद्यन्ते। ☆ K.Ml.V.W. प्रकाशेषु अस्य श्लोकस्य पूर्वार्धोत्तरार्धयोः वैपरीत्येन पाठो वर्तते। 1- -1 B.G.J. बालेनैकेन; K.W बालकेनेव 2 B.G.J.K.W हि 3 B.G.J तव 4 - - 4 Ml.V. स्थैर्य मावह 5 W. छित्वा 6 K.W. ०र्भिन्नं 7 K.W नहि

**श्रीध० निर्जग्मतुरिति।** स्वायुधाढ्यौ शोभनायुधसम्पन्नौ ॥ १६ ॥

**तत** इति। पुरुषा अधमा यस्मात् इति वास्तवोऽर्थः। हे पुरुषेत्तमेति ॥ १७ ॥

**न त्वयेति।** गुप्तेन दर्शितत्वात् सर्वान्तरत्वात् दानानर्हेण हे मन्द! बध्नातीति बन्धुः अविद्या। तां हन्तीति हन् हे अविद्या- निरसनेति। याहि प्राप्नुहि ॥ १८ ॥

**त्वमिति।** अच्छेद्यदेहोऽसाविति स्वयमेव मत्वा अपरितोषात् पक्षान्तरमाह - यद्वा मां जहि इति ॥१९॥

**नेति।** यथाश्रुतार्थग्रहणेन भगवत उत्तरं 'न वै शूरा इति' विकत्थन्ते श्लाघन्ते ॥ २० ॥

1- -1 B.J. omit 2 B.J. तथा 3 Ml.V. ०वदुत्त०

**वीर०** ततो हरिः दारुकाख्यस्सारथिः यस्य तथाभूतः शङ्खं पाञ्चजन्यं दध्मौ ध्वनयामास ॥ १६ ॥

ततः शङ्खध्वानात् परसैन्यानां हृदि वित्रासो भयं तेन वेपथुः गात्रकम्पो बभूव। **ताविति।** तौ रामकृष्णौ अवलोक्य मागधो जरासन्ध आह। उक्तमेवाऽऽह कृष्णेत्यादिना। गुप्तेन कर्तरि क्तः गोपयता, आत्मानमिति शेषः स्वजनेनेति वा। त्वया सह न योत्स्ये न युद्धं करोमि। याहि गच्छ। तत्र कारणं वदन् सम्बोधयति - हे मन्द! मूढ! तत्र हेतुः - हे बन्धुहन्! अत एव हे पुरुषाधम! बन्धुर्मातुलः तस्य हन्तः! न केवलं न योत्स्याम्येव। अपि तु त्वया योद्धुं नेच्छाम्यपि। यथा बालकेन सह लज्जया न युयुत्से तद्व दित्यर्थः ॥ १७, १८ ॥

अथ राम माह **त्वमिति**। यदि श्रद्धा, युद्धार्थ मस्तीति शेषः। तर्हि हे[3] राम! युध्यस्व। स्थैर्यमावह; न तु प्रारभ्य पलायस्वेति भावः। एवञ्चेत् मच्छरैः भिन्नं देहं त्यक्त्वा स्वर स्वर्गं याहि यास्यसीत्यर्थः। यद्वा, समर्थश्चेत्त्वं मामेव जहि ॥ १९ ।

एव मुक्तः प्राह भगवान् - नहीति। विकत्थन्ते विविधमात्मानं न श्लाघन्ते शूराः, किन्तु रिपूणामपि[4-] श्लाघ्यं[-4] पौरुष मेव दर्शयन्ति। अत स्तवाऽशूरस्य मुमूर्षतः[5] मर्तुमाशंसमानस्य, अत एवाऽऽतुरस्य वचो वयं न गृह्णीमः न बहुमन्यामहे[6] ॥ २० ॥

1- -1 K.T.W omit 2 K.T.W. omit इत्यर्थः 3 K.T.W. omit हे राम! 4- -4 K,T.W. omit 5.K.T.W. omit मुमूर्षतः 6 B adds इत्यर्थः

## श्रीशुक उवाच[1-] [-1]

जरासुत स्ता वभिसृत्य[2] माधवौ महाबलौघेन बलीयसाऽऽवृणोत्।
ससैन्ययानध्वजवाजिसारथी[3] सूर्यानलौ वायुरिवाऽभ्ररेणुभिः ॥ २१ ॥

सुपर्णतालध्वजचिह्नितौ[4] रथौ अलक्षयन्त्यो[5] हरिरामयोर्मृधे।
स्त्रियः पुराट्टालकहर्म्यगोपुरं समाश्रितास्सम्मुमुहु[6] श्शुचार्दिताः ॥ २२ ॥

हरिः परानीकपयोमुचां मुहु श्शिलीमुरवात्युल्बणवर्षपीडितम्।
स्वसैन्यमालोक्य सरासुरार्चितं व्यस्फूर्जयच्छार्ङ्गशरासनोत्तमम्[7] ॥ २३ ॥

गृह्णन्निषङ्गादथ सन्दधच्छरान्विकृष्य मुञ्चन् शितबाणपूगान्[8]।
निघ्नन्रथान्कुञ्जरवाजिपत्तीन्[9]निरन्तरं यद्वदलातचक्रम् ॥ २४ ॥

1- -1 M.Ma. omit 2 K.W ०गम्य; M, Ma. वीक्ष्य 3 Ml.V. ०थिः 4 V. ०व° 5 M.Ma. विलक्ष° W. विलोक° 6 K.M.Ma.Ml.V.W. चार्पिताः 7 M.Ma. व्यघूर्ण० 8 M.Ma. सञ्चयम् 9 M.Ma. यूथपान्; Ml.V. पत्तीर्नि।

**श्रीध० जरासुत** इति। माधवौ मधुवंशसम्भवौ[1] महता सैन्यसमूहेन आवृतत्वात् वायुरभ्रैः सूर्यं रेणुभिश्च अग्निं यथेत्यदर्शनमात्रमेव आवरणमिति[2] सूचितम् ॥ २१ ॥

**हरिरिति**। परस्याऽनीकानि सैन्यानि तान्येव पयोमुचः मेघाः तेषां शिलीमुरवा बाणाः। तेषा मत्युल्बणं वर्षं, तेन पीडितं व्यस्फूर्जयत् उज्जृम्भितवान्॥ २२,२३ ॥

तदाह **गृह्णन्निति।** निषङ्गादिषुधेः शरान् गृह्णन्। अथ तान्गुणे सन्दधत्, गुणमाकृष्य निशितबाणसमूहान् मुञ्चन् निघ्नन् प्रहरन् पत्तिः पदातिः, निरन्तरमिति ग्रहणादिक्रियाविशेषणम्। ज्वलत्काष्ठं भ्रमणे यथा चक्रवद्भ्रमति तद्वत् व्यस्फूर्जयदिति ॥ २४ ॥

---

1 B.J. omit सं 2 MI.V. ०नाव०3 . ०त्तीः 4 MI.V. ०तीः

**वीर० जरासुत इति।** तौ सैन्यादिभिस्सहितौ। मधुवंशजत्वाद्द्वयोरपि माधवाविति निर्देशः। रामस्य माधवांशत्वाद्वा माधवव्यपदेशः। अभिसृत्य अभिमुखमागत्य बलीयसा महता सैन्यसमूहेन आवृणोत् आवृतवान्। ससैन्यइत्यस्य प्रथमैकवचनान्तपाठे जरासुतविशेषणत्वम्। यथा वायु रभ्रै स्सूर्यं, रेणुभिश्चाग्निं आवृणोति तथेति दृष्टान्तार्थः। अनेनाऽदर्शनमात्र मेव नाऽऽवरण-मिति सूचितम् ॥ २१ ॥

**सुपर्णेति।** तदा पुरस्त्रियः पुरस्य अट्टालकादीनाञ्च समाहारः, तत्समाश्रिता अधिरूढाः। अट्टालका उपरिभूमिकाः, मृधे युद्धे सुपर्णध्वजतालध्वजाभ्यां चिह्नितौ सञ्जातचिह्नौ हरिरामयोः रथावपश्यन्त्यः, अत एव शुचा अर्पिताः व्याप्ताः सम्मुमुहुः विचित्ता बभूवुः ॥ २२ ॥

**हरिरिति।** परस्यानीकानि सैन्यानि तान्येव पयोमुचो मेघाः तेषां शिलीमुखा बाणाः, तेषामत्युल्बणं दुस्सहं वर्षं तेन पीडितं स्वसैन्यमालोक्य सुरैरसुरैश्च बहुमतं शार्ङ्गाख्यं शरासनोत्तमं धनुश्श्रेष्ठं व्यस्फूर्जयत् उज्जृम्भितवान्। सघोषज्यायुक्तमकरोदिति वा॥ २३ ॥

**गृह्णन्निति।** निषङ्गा त्तूणात् शरान्गृह्णन्, धनुषीति शेषः। विकृष्य सन्निहितत्वाच्छरानाकृष्य निशितबाणसमूहा-न्मुञ्चन् रथादीन्निघ्नन् ध्वंसयन्, अवतस्थे इति शेषः। पत्तयः पदातयः न विद्यते अन्तरं विच्छेदो यस्यां ग्रहणादिक्रियायां तद्यथा भवति तथा, अवतस्थे इत्यर्थः। तादात्विकभगवच्छार्ङ्गस्य दृष्टान्तमाह - यद्वदलातचक्रमिति। यद्वद्यथा ज्वलत्काष्ठभ्रमणं चक्रवद्भाति तद्वद्धनुरासीदित्यर्थः । निरन्तरमित्यलातचक्रस्यैव वा विशेषणम्। विच्छेदरहितमलातचक्रं यथा तद्वत्। तद्धनु-र्व्यस्फूर्जय दिति पूर्वेण सम्बन्धो वा ॥ २४ ॥

1 K. गम्य° T.W वृत्य 2 K.T.W. तथा 3 B. °भवलोक्य T. मालोच्य 4 B. adds अत्यर्थं (अन्वर्थं); T.W. add अन्वर्थं

**विज०** माधवौ मधुकुले जातौ सैन्येन यानध्वजैः रथध्वजै र्वाजिभिः अश्वैः सारथिभिश्च सहितौ। "वाजी त्वश्वे शरे खगे" (वैज.को. 6-1-55) इति । अभ्रैर्जलधरैः, रेणुभिश्च ॥ २१ ॥

सुपर्णतालध्वजाभ्यां चिह्नितौ अङ्कितौ हरिरामयोः कृष्णबलभद्रयोः रथौ विलक्षयन्त्यः पश्यन्त्यः, पुरं गृहं, अट्टालकं गृहोपरीष्टकादिविरचितचतुरस्रस्थलं, हर्म्यं धनिनां वासः,गोपुरं पुरद्वारं, अल्पवयसौ अल्पसेनौ कृष्णरामौ मागधं प्रलयार्णवोपमसेनं दृष्ट्वा समुत्पन्नया शुचा ॥ २२ ॥

व्यघूर्णयत् विस्फारयामास। परानीकपयोमुचां शत्रुसेनामेघानाम् ॥ २३ ॥

श्रीकृष्णस्य हस्तलाघवं कथयति - **गृह्णन्निति**। निषङ्गात्तूणीरात् भ्राम्यमाण मलातचक्रम् उल्मुकमण्डलं निरन्तरं छिद्रदर्शनं दुश्शकं यद्व त्तद्वत् ॥ २४ ॥

## विजयध्वजरीत्या अधिकपाठः

ततश्शशाङ्काकृति पाञ्चजन्यं महारवं दैत्यकुलापचारम्।
मुखे निधायाऽऽशु पुपूर यादवानाश्वासयन् क्षत्रियकूटघट्टितान् ॥ 33 ॥

नृपास्तदाकर्ण्य तु कर्णनिष्ठुरं क्रमेण निर्भिन्नहृदो बभूविरे।
यदुप्रवीराश्च समुद्यतायुधा रणे नृपाञ्जघ्नुरनीकसंयुताः॥ 34 ॥

ततश्चतुर्द्वारगतान्महीपतीन् यदुप्रवीराः परिभूय सर्वशः ।
चक्रुश्शरौघैः सहसैकवाहिनं आप्यायिताः शार्ङ्गरवेण शौरिणा ॥ 35 ॥

ततो हरिं चैद्यपतिर्मण्डलीकृतकार्मुकः।
भर्त्सयन् कृष्ण कृष्णेति तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ 36 ॥

तमभ्यधाव द्गोविन्दो विमुञ्चन् सायकान् बहून्।
मण्डलीकृतकोदण्डस्तैलधौतान् शितान् शरान् ॥ 37 ॥

ततः पञ्चशरान् घोरान् आदाय दमघोषजः ।
चतुर्भि स्तुरगा नाशु विव्याधैकेन सारथिम् ॥ 38 ॥

भूयो दशाऽऽशु सन्धाय विव्याध मधुसूदनम्।
व्यनद त्सिंहनादञ्च तदद्भुतमिवाऽभवत्॥ 39 ॥

ततस्तमाह गोविन्दः साधु साध्विति पूजयन्।
भो भो चैद्य महेष्वास! वीरोऽसि बलवानसि॥ 40 ॥

अतो मे पश्य दुर्बुद्धे धानुष्मत्त्वं स्वयं रणे।
इति ब्रुवति गोविन्दे राजानः सर्व एव ते॥ 41 ॥

विव्यधु र्निशितै र्बाणै र्यौगपद्येन माधवम्।
तांस्तान् प्रत्येकशः कृष्णो विद्ध्वा पञ्चभिराशुगैः ॥ 42 ॥

सारथिं चतुरो वाहाननयद्यमसादनम्।
विभि स्त्रिभि श्शरै र्भूयोऽप्येकैकं नृपतीन्रणे ॥ 43 ॥

वक्षस्याऽऽस्ये ललाटे च विव्याध यदुनन्दनः।
ततश्च त्रिंशतां राज्ञां त्रिंशत्कार्मुकमाहवे॥ 44 ॥

स्सायकैराशु[-5] चिच्छेद यदुपुङ्गवः।
दमघोषसुतस्यापि धनुश्छित्त्वा त्रिभिश्शरैः ॥ 45 ॥

ध्वजञ्च मुकुटच्छत्रे चकर्त[6] प्रहसन्निव।
ततो दश हरिर्भल्लान् शार्ङ्गे सन्धाय माधवः ॥ 46 ॥

आकर्णान्तं[7] समाकृष्य चैद्यं विव्याध सङ्गरे।
तेन राजन्यकटकं विभ्रान्तं शरताडितम्॥ 47 ॥

कालान्तमारुतोद्धूत शैलद्रुमलतोपमम्।
त्रातारं नाऽध्यगच्छद्वै हताश्वरथसारथिः॥ 48 ॥

शरान्विमुञ्च ञ्जलजञ्च पूरयन् विस्फूर्जयन्[8] कार्मुक मुग्रपौरुषः।
विलोकयन्मागधसैन्यमाहवे[9] निरन्तरं यद्वदलातचक्रम्॥ 49 ॥

1 K. सङ्गताम् 2 K. ०ना 3 K. शिलाशितान् 4 K ०ष्क० 5- -5 K त्रिभिस्त्रिभिस्सायकैश्च 6 K. चिच्छिदे 7 K. ०न्तमिवाकृ० 8 K. विष्फारयन् 9 K. ०यलोडयत् ॥

विज० दैत्यकुलस्यापचारं नाशकरं, क्षत्रियाणां कूटेन समूहेन घट्टितान् संवेष्टितान् ॥ 33 ॥

क्रमेण तत्तद्योग्यतानुसारेण ॥ 34 ॥

एकवाहिनः एकवाहनगतान् पृष्ठवाहनहीनानित्यर्थः॥ 35 - 37 ॥

दमघोषजः शिशुपालः ॥ 38 ॥
सिंहनादं व्यनदत् सिंहनादं चकार ॥ 39 ॥
वीरः शूरोऽसि[1], बलवान् शक्तिमानसि ॥ 40 ॥
धानुष्मत्त्वं धनुष्मतां माहात्म्यम् ॥ 41 ॥

आशुगैः शरैः ॥ 42, 43 ॥
यदून्नन्दयति बलेन समर्थयतीति यदुनन्दनः॥ 44 - 47॥
कालान्तमारुतेन प्रलयकालवायुना ॥ 48, 49 ॥

1 Mb अस्ति।

निर्भिन्नकुम्भाः करिणो निपेतु रनेकशोऽश्वाः शरवृक्णकन्धराः।
रथा हताऽश्वध्वजसूतनायकाः पदातय श्छिन्नभुजोरुकन्धराः॥ २५ ॥

संछिद्यमानद्विपदेभवाजिना मङ्गप्रसूता श्शतशोऽसृगापगाः।
भुजाहयः पूरुषशीर्षकच्छपा हतद्विपद्वीपहयग्रहाऽऽकुलाः॥ २६ ॥

करोरुमीना नरकेशशैवला धनुस्तरङ्गायुधगुल्मसङ्कुलाः।
आस्थूरिकावर्तभयानका महामणिप्रवेकाभरणाश्मशर्कराः॥ २७ ॥

प्रवर्तिता भीरुभयावहा मृधे मनस्विनां हर्षकरीः परस्परम्।
विनिघ्नताऽरीन् मुसलेन दुर्मदान् सङ्कर्षणेनाऽपरिमेयतेजसा ॥ २८ ॥

बलं तदङ्गार्णवदुर्गभैरवं दुरन्तपारं मगधेन्द्रपालितम्।
क्षयं प्रणीतं वसुदेवपुत्त्रयो र्विक्रीडितं तज्जगदीशयोः परम् ॥ २९ ॥

स्थित्युद्भवान्तं भुवनत्रयस्य यः समीहतेऽनन्तगुणः स्वलीलया।
न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रहस्तथाऽपि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते ॥ ३० ॥

1 M.Ma. ०नी° 2 M.Ma. ०रुण्ण° 3 B.G.J अच्छूरिका. M.Ma. आस्फूर्जिता० M.V. अस्थूरिका० 4 M.Ma. ०वहाः 5 J °ण स्स्म°

**श्रीध० निर्भिन्नेति।** हता अश्वा ध्वजाः सूता नायका रथिनश्च येषु ते ॥ २५ ॥

**संछिद्यमानेति।** सञ्छिद्यमाना द्विपदा इभा वाजिनश्च, तेषामङ्गेभ्यः प्रसूता असृगापगा रुधिरनद्यः; परस्परं प्रवर्तिता इति तृतीयेनाऽन्वयः, प्रसिद्धनदीरूपकमाह - भुजा एवाऽहयो यासु ताः। पुरुषाणां शीर्षाण्येव कच्छपा यासु ताः। हता द्विपा एव द्वीपा अन्तर्वर्तितटानि, हया एव ग्रहा ग्राहा स्तैश्च आकुलाः व्याप्ताः॥ २६ ॥

**करेति।** करा ऊरवश्च मीना यासु ताः, नराणां केशा एव शैवलं यासु ताः, धनूंष्येव तरङ्गा आयुधान्येव गुल्माः तैश्च तैश्च सङ्कुलाः। अस्थूरिकाश्चर्माणि, चक्राणि वा, ता एवाऽऽवर्ताः तैर्भ यानका, महामणीनां प्रवेका उत्तमा आभरणानि यथायथमश्मानः: शर्कराश्च यासु ताः ॥ २७ ॥

भीरूणां भयावहाः, मनस्विनां धीराणां[3] हर्षकर्यः ॥ २८ ।

किञ्च। सङ्कर्षणेनाऽपि तद्बलं क्षयं प्रणीतम्। अङ्ग! हे राजन्! अर्णववत् दुर्गं दुर्गमं भैरवं भयङ्करञ्च यतः दुरन्तपारं, अन्तोऽत्र तलं, पारमवधिः । दुश्शब्दो निषेधे। विक्रमेणाऽगाधं देशतश्च निरवधिकमित्यर्थः । किञ्च-मगधेन्द्रेण च पालितं बलं यदेवम्भूतं रामकृष्णयोः कर्मोक्तं तत्परं केवलं तयो र्विक्रीडितम्[4] न तु पराक्रमः ॥ २९ ॥

न चैत दाश्चर्य मित्याह-**स्थितीति**। तर्हि किमित्याश्चर्यमिव वर्णितम्? तत्राऽऽह-तथाऽपीति। मर्त्याननुविधत्तेऽनुकरोतीति मर्त्यानुविधस्तस्य ॥ ३० ॥

1 MI.V. यासां 2 MI.V. यासां 3 MI.V. omit धीराणां 4 MI.V. ०डनं

**वीर०** तादात्विकं भगवच्छरपीडितं परसैन्यमनुवर्णयति-**निर्भिन्नेति**। निर्भिन्नाः[1] कुम्भाः कुम्भस्थलानि येषां ते, करिणो गजा निपेतुः । तथा अश्वाश्वानेकशः शरैर्भग्नाः कन्धरा ग्रीवा येषां तथाभूताः, निपेतु रित्यनुषज्यते। हता अश्वाः ध्वजाः सूता नायका रथिनश्च येषु ते रथाः, तथा पदातयश्च छिन्ना भुजा ऊरवः कन्धराश्च येषां तथाभूता ॥ २५ ॥

अथ भगवच्छरनिर्भिन्नपरसैन्यतनुप्रभवरुधिरनदीः प्रसिद्धनदीत्वेन निरूपयति-**सञ्छिद्यमानेति**। सञ्छिद्यमानेभ्यः पदातिगजाश्वानां अङ्गेभ्यः प्रसूता असृगापगा रुधिरनद्यः शतशः प्रवर्तिता इति तृतीयश्लोकेनाऽन्वयः । कथम्भूताः? भुजा एव अहयः सर्पा यासु, पूरुषाणां शीर्षाण्येव कच्छपा यासु तथाभूताः, हता द्विपा गजा एव द्वीपा अन्तरीपभूमयः, हया अश्वा एव ग्रहाः। तैश्चाऽऽकुला व्याप्ताः ॥ २६ ॥

करा ऊरवश्चैव मीना यासु, नराणां केशा एव शैवलं यासु ताः, धनूंष्येव तरङ्गा, आयुधान्येव गुल्मानि च तैश्च सङ्कुलाः आस्थूरिकाश्चक्राणि ता एवाऽऽवर्ताः तैर्भयानकाः महामणीना प्रवेकाः श्रेष्ठाः उत्तमाभरणानि च यथायथं शिलाश्शर्कराश्च यासु ताः॥ २७॥

भीरूणां भयावहाः मनस्विनां धीराणां मिथो हर्षकारिण्यः। विनिघ्नतेति। किञ्च-अङ्ग! हे राजन्! अपरिमेयमपरिच्छेद्यं तेजः पराभिभवसामर्थ्यं यस्य तेनाऽरीन् शत्रून् मुसलेनाऽऽयुधेन विनिघ्नता ताडयता, सङ्कर्षणेन कर्त्रा ॥ २८॥

तन्निहतावशिष्टं मगधेन्द्रेण[2] पालितं अर्णववद्दुर्गमं भैरवञ्च बलं क्षयं प्रणीतं नाशितमित्यर्थः। अद्भुतमेतत् द्वाभ्यामेव त्रयोविंशत्यनीकात्मकं बलं हतमिति विस्मयमानं राजानं प्रत्याह -वसुदेवपुत्रयोरिति। यदुक्तं रामकृष्णयोः कर्म केवलं जगदीश्वरयोस्तयोः तं क्रीडामात्र मेव न तू पराक्रमः इति भावः ॥ २९ ॥

न चाऽत्र विस्मयः कार्य इत्याह - **स्थितीति** । स्थित्यादिनां समाहारद्वन्द्वः । यो भगवानसंख्येयकल्याणगुणः स्वलीलयैव त्रिलोक्याः स्थित्यादिकमेवेहते करोति। तस्य शत्रुपक्षनिग्रहो न चित्रं नाऽऽश्चर्यविषयः । तर्हि किमिति वैचित्र्येणोपवर्ण्यते

इत्यत आह-तथापीति। चित्रत्वाभावेऽपि मर्त्या ननुविधत्ते अनुकरोतीति तथा, तस्य वर्ण्यते, कर्मेति शेषः। मर्त्यानुविधस्य अमानुषं कर्म चित्रमेवेत्यभिप्रायेण वर्ण्यत इति भावः ॥ ३० ॥

1 B.T.W ०न्नानि कुम्भानि 2 A,B,T ०न्द्र पा°

**विज०** निर्भिन्नकुम्भाः विदलीकृतमूर्धानः अनीकशः राशिशः करिप्रभृतयो निर्भिन्नकुम्भादयो बभूवुरित्यन्वयः ॥ २५॥

अङ्गप्रसूताः देहोत्पन्नाः असृगापगा रुधिरनद्यः भुजा एवाऽहयो यासु तास्तथा। एव मुत्तरत्राऽपि। कच्छपाः कूर्माः द्विपा एव द्वीपाः अन्तरद्वीपाः, हया एव ग्रहा ग्राहाः ॥ २६ ॥

धनुस्तरङ्गैः आयुधगुल्मैश्च सङ्कुलाः आस्फूर्जिताः उन्नतस्थलादधः तज्जलध्वनयः तैरावर्तैः जलभ्रमणैश्च भयानका भयप्रदा वृत्तफलकध्वनयो वा स्फूर्जितास्त एव आवर्ता, महामणिप्रवेकाः, प्रवेका उत्तमाः एवाऽश्मान आभरणान्येव शर्करा यासु तास्तथा ॥ २७ ॥

सङ्कर्षणेन एवंविधा असृगापगाः प्रवर्तिता इत्यन्वयः ॥ २८ ॥

अङ्ग! हे विष्णुरात! यन्मगधेन्द्रेण पालितम् अर्णववर्दुर्गमम्, अत एव भैरवं दुरन्तपारं चक्षुरविषयतीरान्तरम् अनवसितसमाप्ति वा तद्बलं कृष्णरामाभ्यां क्षयं प्रणीतमित्यन्वयः । जगदीश्वराभ्यामनायासेन कृतमेतद्युद्धमित्याह-वसुदेवपुत्त्रयोरिति। जगदीशयोः वसुदेवपुत्त्रयोः तद्युद्धं परं केवलं विक्रीडितं क्रीडामात्रमेव ॥ २९ ॥

योऽनन्तगुणो भुवनत्रयस्य स्वलीलया स्थित्युद्भवान्तं समीहते करोति स्थितिः उद्भवश्च अन्तश्च तत्तथा मिथो विरुद्धत्वादेकवद्भावः। यद्यपि तस्य हरेः परपक्षनिग्रहः चित्रं न भवति तथाऽपि मर्त्यानुविधस्य मनुष्यधर्ममनुकुर्वतो हरेस्तद्युद्धं बुद्धचवतारार्थं वर्ण्यते प्रशस्यते इत्यन्वयः ॥ ३० ॥

**विजयध्वजरीत्या अधिकपाठः**

**हतेषु सर्व सैन्येषु जरासन्धो महाबलः ॥ 50 ॥**

**विद्रुतेष्ववशिष्टेषु रथेनैकेन सीरिणम्।**
**तावुभौ गिरिसङ्काशौ मत्ताविव महागजौ ॥ 51 ॥**

**मागधस्तु गदां गुर्वीं मादायाऽमर्षविह्वलः**
**भ्रामयित्वा शतगुणश्चिक्षेप बलवक्षसि ॥ 52 ॥**

**तमापतन्तीं तरसा गदां शृङ्गोपमां गिरेः।**
**व्यंसयित्वा हलधरो मुधा चक्रे स्मयन्निव ॥ 53 ॥**

व्यर्थीकृत्य गदां तस्य मुसलेन हलायुधः।
पोथयित्वा रथे क्षुब्धो[1] निहत्य रथसारथी ॥ 54 ॥

1 K क्षुण्णे

विज० सीरिणं बलभद्रम्, आपेति शेषः ॥ 50 ॥

व्यंसयित्वा वञ्चयित्वा ॥ 51 - 54 ॥

जग्राह विरथं रामो जरासन्धं महाबलम्।
हतानीकावशिष्टासुं सिंहः क्षुद्रमृगं[1-] यथा[-1] ॥ ३१ ॥

बध्यमानं हृतारातिं[2] पाशै र्वारुणमानुषैः।
वारयामास गोविन्दस्तेन कार्यचिकीर्षया ॥ ३२ ॥

स मुक्तो लोकनाथाभ्यां व्रीडितो वीरसम्मतः।
वनं[3-] विविक्षु स्तपसे[-3] वारितः पथि राजभिः ॥ ३३ ॥

★ वाक्यैः पवित्रार्थपदैर्नयैश्च[4] प्राकृतैरपि[5]।
स्वकर्मबन्धप्रामोऽयं[6-] यदुभिस्ते[-6] पराभवः ॥ ३४ ॥

श्रीशुक[7-] उवाच[-7]

हतेषु सर्वानीकेषु नृपो बार्हद्रथस्तदा।
उपेक्षितो भगवता मगधान्दुर्मना[8] ययौ ॥ ३५ ॥

मुकुन्दोऽप्यक्षतबलो निस्तीर्णारिबलार्णवः।
▲ गृहीत्वा मागधेन्द्रस्य धनं स्त्रीकोशवाहनम्।
विकीर्यमाणः कुसुमैः त्रिदशैरनुमोदितः ॥ ३६ ॥

माधुरै रुपसङ्गम्य विज्वरै र्मुदितात्मभिः।
उपगीयमानविजयस्सूतमागधवन्दिभिः ॥ ३७ ॥

1 B.G.J.M.Ma सिंहमिवौजसा 2 M.Ma ०नीकं 3 - -3 B.G.J. तपसे कृतसङ्कल्पो; MI.V विविक्षु स्तपसेऽरण्यं ★ This half verse is not found in M.Ma edns. 4 K.W विचित्रा° 5 B.G.J. नयनैः W न्यायैश्च 6- -6 W बन्धनप्रातो 7- -7 B.G.J.M.Ma MI.V omit 8 M.Ma मागधो दु°। ▲ This half verse is found in M.Ma edition only.

**श्रीध०** किञ्च, **जग्राहेति** हतान्यनीकानि यस्य, अवशिष्टा असव एव यस्य तञ्च तञ्च॥ ३१ ॥

**बध्यमान** इति। हता बहुशोऽरातयो येन तं तथाभूतमपि जरासन्धं बध्यमानं वारयामासेति[1] ॥ ३२,३३॥

**वाक्यै रिति।** पवित्रार्थानि धर्मोपदेशपराणि पदानि येषु तैर्वाक्यैः नयै[2] र्नीतिभिः, प्राकृतै र्लौकिकैः। तत्र लौकिकन्याय-माहुः- स्वकर्मेति। यदुभिरल्पकैः कृत्वा ते महतः पराभवः केवलं कर्मबन्धेनैव[3] प्राप्तः । अतस्त्वया न लज्जितव्य मिति ॥ ३४ ॥

**हतेष्विति।** बार्हद्रथो जरासन्धः ॥ ३५ ॥

**मुकुन्द** इति। मुकुन्दोऽपि, ययावित्यनुषङ्गः । न क्षतं बलं यस्य सः। तस्यैवामृतदृष्ट्या क्षतप्रतिसन्धाना-दितिभावः। निस्तीर्णः अनायासेनैव तीर्णः अरिबलार्णवो येन सः, साधु सध्वित्यनुमोदितश्च ॥ ३६ ॥

**माधुरैरिति।** प्रत्युद्गतैर्[4]मधुरावासिभिर्जनै रुपसङ्गम्य मिलित्वा॥ ३७ ॥

1 Ml.V. omit इति 2 B.J. नयनैः 3 B.J. omit एव 4 J. द्यतैः

**वीर० जग्राहेति।** हतान्यनीकानि सैन्यानि यस्य, अवशिष्टा असवः प्राणा एव यस्य स चाऽसौ सच तम्, विरथं जरासन्धं जग्राह गृहीतवान् यथा सिंहः क्षुद्रमृगं गृह्णाति तद्वत् ॥ ३१ ॥

**बध्यमान**मिति। हता अरातयो येन तं, वारुणैर्मानुषैश्च पाशैस्साधनैर्बध्यमानं जरासन्धं, रामेणेति शेषः। गोविन्दः, दृष्ट्वेति शेषः । वारयामास, राममिति शेषः । तत्र हेतुः- तेन जरासन्धेन सह, यत्कार्यं पुनर्युद्धात्मकं तत्कर्तु मिच्छया हेतुभूतया न्यवारयदिति सम्बन्धः ॥ ३२ ॥

**स** इति। लोकनाथाभ्यां रामकृष्णाभ्यां विमुक्तस्स वीरश्रेष्ठो जरासन्धः तावत्तपसे तपश्चरितुं वनं प्रवेष्टुमिच्छुः पथि राजभिश्शिशुपालादिभिः कर्तृभिः विचित्राः अर्थाः पदानि शब्दाश्च येषु तैर्वाक्यैः प्राकृतैर्नयैर्न्यायैश्च साधनैर्वारितः। अत्र लौकिकन्यायमाहुः - स्वकर्मेति। यदुभिरल्पकैः महतस्ते पराभवः केवलं स्वकर्मबन्धप्राप्तः इत्येवंविधै र्नयैरिति सम्बन्धः ॥ ३३,३४ ॥

**हतेष्विति।** सर्वेष्वनीकेषु हतेषु सत्सु बार्हद्रथो जरासन्धो राजा भगवतोपेक्षितो दुःखितचित्तो मगधान् जनपदान् ययौ ॥ ३५ ॥

**मुकुन्द इति।** अक्षतमविहतं बलं स्वीयं[1] यस्य, निस्तीर्णः अरीणां बलमेवार्णवो येन तथाभूतः मुकुन्दः। अपिः त्वर्थः मुकुन्दस्तु इत्यर्थः। साधुसाध्विति देवैरनुमोदितः कुसुमैर्विकीर्यमाणश्च। विगतः ज्वरः शत्रुपीडात्मको येभ्यस्तैः। अत एव मुदितचित्तै र्माधुरैर्जनै रुपसङ्गम्य मिलित्वा सूतादिभिः उपगीयमानो विजयो यस्य तथाभूतो ययाविति सम्बन्धः। तत्र सूताः पौरुषप्रकाशकाः, मागधाः गायकाः, वन्दिनः स्तुतिपाठका इति विवेकः ॥ ३६,३७ ॥

1 B adds स्वकीयं

**विज०** हतानीकश्च हतसेनश्च अवशिष्टासुश्च अवशिष्टप्राणश्च स तथा तम्। हतानीकावशिष्टास्विति पाठे क्रियाविशेषणम् ॥ ३१ ३२ ॥

मुक्तो विसृष्टः ॥ ३३-३७ ॥

**शङ्खदुन्दुभयो नेदु र्भेरीतूर्याण्यनेकशः।**
**वीणावेणुमृदङ्गानि पुरं प्रविशति प्रभौ॥ ३८ ॥**

**सिक्तमार्गां हृष्टजनां पताकाभिरलङ्कृताम्।**
**निर्घुष्टां ब्रह्मघोषेण कौतुकाबद्धतोरणाम्॥ ३९ ॥**

**निचीयमानो नारीभि र्माल्यदध्यक्षताङ्कुरैः।**[1]
**निरीक्ष्यमाण स्सस्नेहं प्रीत्युत्कण्ठितलोचनैः॥ ४० ॥**[2]

**आयोधनाऽऽगतं वित्तमनन्तं वीरभूषणम्।**[3] [4]
**यदुराजाय तत्सर्व माहृतं प्रादिशत् प्रभुः★ ॥ ४१ ॥**[5]

1 MI.V. °र्माला 2 B,G,J,M,Ma. °त्कलि० 3 K.W. °नग° 4 K. ०माहृतं 5 MI, V. विभुः

**★ अत्र श्रीविजयध्वजरीत्या एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायस्समाप्तः॥ ४९ ॥**

**श्रीध० शङ्खेति।** तदा प्रभौ[1-] पुरं[-1] प्रविशति सति शङ्खादयो नेदुः॥ ३८ ॥

कथम्भूतां पुरम्[2]? तदाह- **सिक्तेति।** ब्रह्मघोषेण वेदघोषेण निर्घुष्टां निनादितां कौतुकेनोत्सवेन आ समन्तात्[3] बद्धानि तोरणानि यस्यां ताम्॥ ३९ ॥

**निचीयमान** इति। निचीयमानः विकीर्यमाणः प्रविवेशेति, विपरिणामतोऽनुषङ्गः॥ ४० ॥

**आयोधनेति।** आयोधनं रणभूमिः तत्रस्थं वित्तं वीराणां भूषणम्॥ ४१ ॥

1- -1 V. omits 2 M.V. पुरीम्?3 B.J. सर्वतः 4 B.J °णताऽनु०

**वीर० शङ्खेति।** प्रभौ भगवति पुरं प्रविशति सति शङ्खादयो नेदुः दध्वनुः, भेर्यश्च तूर्याणि च तानि परवल्लिङ्गता, तथा वीणावेणुमृदङ्गानीति च॥ ३८ ॥

पुरं विशिनष्टि **सिक्तमार्गामिति।** सिक्ताश्चन्दनाम्बुभिः मार्गाः यस्यां, हृष्टा जना यस्यां तां, ब्रह्मघोषेण वेदपाठघोषेण निनादिताम्, कौतुकेनोत्सवेन आ सर्वतो बद्धानि तोरणानि यस्यां ताम्॥ ३९ ॥

**निचीयमान** इति। मालामर्हन्तीति माल्यानि कुसुमानि तत्प्रभृतिभिर्निचीयमानः विकीर्यमाणः प्रीत्या उत्कण्ठितानि भरितानि लोचनानि येषां तैः, जनैरिति शेषः। स्नेहेन सहितं यथा तथा निरिक्ष्यमाणो मुकुन्दः प्रविवेशेति विपरिणतेनाऽन्वयः॥ ४०॥

ततः किं कृतवान् तदाह **आयोधनेति।** आयोधनं रणभूमिः तत्र आ समन्तात् गतं स्थितं यत् तत् सर्वमाहृतं आनीतं वीराणां भूषणं यदुराजायोग्रसेनाय प्रादिश त्समर्पितवान्॥ ४१ ॥

1 B. लिङ्गवचनाः 2--2 K.T.W. omit 3 K.T.W. omit वि 4- -4 K.T.W. omit 5 K. omits स्थितं 6 K.T.W. omit तत्

**विज०** पुरं प्रविशति सति दुन्दुभ्यादयो नेदुरित्यन्वयः॥ ३८ ॥

कौतुकाभिर्दण्डमालाभिराबद्धतोरणाम्॥ ३९ ॥

निचीयमानः राशीक्रियमाणः॥ ४० ॥

यदुराजाय उग्रसेनाय॥ ४१ ॥

## अधिकपाठे प्रथमोऽध्यायः

(इत आरभ्य विजयध्वजतीर्थीयपठितश्लोकाः)

### श्रीशुक उवाच

**तृतीये मासि भूयश्च राजा बार्हद्रथो बली।**
**दिवानिशं तप्यमानः स्मरन्पूर्वपराभवम्॥ 55 ॥**

**आहूय सर्वभूपालान् चकार कलहोद्यमम्।**
**स मत्स्यान् मालवांश्चेदीन् कुरुपाञ्चालकेरलान्॥ 56 ॥**

कलिन्दकुन्तलावन्ति काशीगान्धारसृञ्जयान्।
कलिङ्गकेकयानान्ध्रान् दशार्णान्वङ्गसैन्धवान्॥ 57 ॥

मद्रान् त्रिगर्तान् सौवीरान् पार्वतेयांश्च सर्वशः।
आहूयाक्षौहिणिगणैः त्रयोविंशतिभिर्युतः॥ 58 ॥

स मागधानतिक्रम्य पश्चिमाभिमुखो ययौ।
आकर्ष न्निव भूपालान् गजाश्वरथवल्लभान्॥ 59 ॥

आगत्य मधुरां रोद्धुं प्राविशद्यमुनातटे।
स्कन्धावारेण महता राजभिर्बहुभिर्वृतः॥ 60 ॥

उपगीयमानो न्यरमत्सूतमागधवन्दिभिः।
तदाकर्ण्य रणोद्योगं मागधस्य बलीयसः॥ 61 ॥

मन्त्रयामास शर्वर्यां कृष्ण स्सङ्कर्षणादिभिः।
वसुदेवोद्धवाक्रूरशैनेयाहुकसारणैः॥ 62 ॥

एभि रालोच्य शर्वर्यां सम्याङ्निर्धारितक्रियः।
उषस्यनुदिते सूर्ये समाहूय भटोत्तमान्॥ 63 ॥

त्रिधा विभज्य गोविन्दः स्वसेनां चतुरङ्गिणीम्।
न्ययोजयदमेयात्मा मागधेन्द्रबलं प्रति॥ 64 ॥

सङ्कर्षणश्च हार्दिक्यं गदं सारणमेव च।
वामेन प्रेषयामास मार्गेण मधुसूदनः॥ 65 ॥

सात्यकिं विपृथुश्चैव पृथु मुद्धव मेव च।
दक्षिणेनैव मार्गेण प्राहिणोत्सेनया सह॥ 66 ॥

स्वयं कतिपयैर्युक्तो रथैः कमललोचनः।
अग्रे मगधराजस्य प्रविवेश महद्बलम्॥ 67 ॥

सा सेना बहुनागाश्वरथपादातिसङ्कुला।
प्रसुप्ता यमुनातीरे विस्रब्धा रमते सुखम्॥ 68 ॥

उदयाद्रिं समारोहत्यर्के तमसि नश्यति।
नीडस्थेष्वेव कूजत्सु विहङ्गेषु[4] तत स्ततः॥ 69 ॥

विकसत्सु सरोजेषु गाय त्स्वलिकुलेषु च।
प्रविवेश बलं भीमं मागधेन्द्रस्य दुर्जयम्॥ 70 ॥

1 K. कदनो० 2 B,G,J,M,Ma,Ml,V,W. काशि 3 K. पादात 4 K. ०गेषु

**विज०** स्कन्धावारेण सैन्यनिवेशार्थं वस्त्रविरचितपुरान्तःपुरादि गृहनिचयेन॥ 55-70 ॥

हयाश्वा बद्धवैराणाः[1] श्रेणीबद्धा स्समन्ततः।
कुञ्जराश्च तदा राजन्ननारोपितपञ्जराः॥ 71 ॥

अनादत्तप्रहरणा भटाश्चाबद्धमूर्धजाः।
अप्रविष्टामवर्माणः तदाऽनारूढवाहनाः॥ 72 ॥

रथाश्चाबद्धतुरगा सर्वतोऽनुद्धृतध्वजाः[2]।
सेनायां मगधेन्द्रस्य प्रवेशे पीतवाससः॥ 73 ॥

त्रिदिक्ष्वापतितं सैन्यं दृष्ट्वा तद्राजमण्डलम्।
इतिकर्तव्यतामूढं विभ्रान्तं समपद्यत॥ 74 ॥

केचिद्भटा[3] स्समापेतुर्भयात्केचिच्च दुद्रुवुः।
केचिदात्तप्रहरणा स्त्वभिससृररीन् रणे॥ 75 ॥

केचिद्विभिन्नवर्माण श्छिन्नपादोरुबाहवः।
रिपूनेवाभ्यवर्तन्त क्रोधोद्वृत्तारुणेक्षणाः॥ 76 ॥

केचिद्धयानपर्याणा[4] नारुह्य[5] दृढविक्रमाः।
मर्दयन्तो रिपून् युद्धे विमलं लेभिरे यशः॥ 77 ॥

1 K. पल्याणाः 2 B,K. °द्धत 3 K. °द्भीता० 4 K. °ल्या० 5 K. °ह्यारूढ

**विज०** 'हय गतौ, इति धातुः। हयत्यनेनेति हयः, वैराणं पल्याणम् अश्वपृष्ठासनमित्यर्थः, श्रेणीबद्धाः पङ्क्तिबद्धा पञ्जरं गजानां पृष्ठे शत्रुमुक्तशरस्तम्भियन्त्रगृहम्॥ 71 ॥

अनादत्तप्रहरणाः अस्वीकृतायुधाः॥ 72 ॥

पीतवाससः श्रीकृष्णस्य प्रवेशे प्रवेशसमये॥ 73 ॥

विभ्रान्तमनवस्थानम्॥ 74,75 ॥

तदा जरासन्धसेनावस्थाप्रकारं कथयति- केचिदिति॥ 76 ॥

पर्याणमुभयपार्श्वावलम्बकमापदं, कविका वा॥ 77 ॥

राजान स्सहसोद्बुध्य दृष्ट्वा सैनिकसंक्षयम्।
विना रणोपस्करणं चक्रुः केचन सङ्गरम्॥ 78 ॥

केचि द्विसृज्य शिबिरं विविशुर्गहनं वनम्।
केचिन्मागध मासाद्य विजयस्वेति चाऽब्रुवन्॥ 79 ॥

रथेनैकेन गोविन्दः प्रविश्य रिपुवाहिनीम्।
जघान स बहून् वीरान् सायुधान्सरणोद्यमान्॥ 80 ॥

सङ्कर्षणोऽपि बलवान् महत्या सेनया वृतः।
बलं प्रविश्य वामेन मर्दयामास मागधम्॥ 81 ॥

शैनेयोऽ पि महाबाहु र्दक्षिणेनैव वर्त्मना।
प्रविश्य चतुरङ्गेण सैन्येन महताऽर्दयत्॥ 82 ॥

एवं सा व्यथिता सेना मागधेन्द्राभिरक्षिता।
दुद्राव त्रस्यमाना वै क्षणमात्रं दिशो दश॥ 83 ॥

तामनुद्रुत्य वार्ष्णेयः सात्यकिः पञ्चयोजनम्।
निहत्य मागधं सैन्यजयी व्यावर्तताऽऽहवात्॥ 84 ॥

मतङ्गजान्पर्वतसन्निभान्बहू न्निगृह्य सोपस्करतोमराङ्कुशान्।
रथांश्च शस्त्रध्वजवाजिसंयुता न्निनाय कृष्णो मधुरां मनोरमाम्॥ 85 ॥

छत्राणि हेमाम्बररत्नमिश्रिता न्यनेकवालव्यजनानि माधवः।
किरीटपट्टाङ्गदकुण्डलांशुका न्यवाप कृष्णोऽगणितानि संयुगे॥ 86 ॥

हलायुधो मागधकोशवाहन प्रजावरोधायुधभूषणादिकम्।
नियोजितः कंसभिदा रणार्जितं यदुप्रवीराय धनं न्यवेदयत्॥ 87 ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे अधिकपाठे प्रथमोऽध्यायः॥

6- -6 K. सैकतसञ्चयम् 7 K. संयुगम् 8 K. द्राव्य 9 K. ततोऽनु०

विज० रणोपस्करणम् युद्धसाधनम्॥ 78-83 ॥

मगधस्य अधिपतिः मागधः तस्य मागधस्य विद्यमानमपि मागधं सैन्यम्; अन्यथा मागधं निहत्येत्यनन्वितं स्यात्॥ 84,85।

हेमाम्बरादीनि छत्राणीत्यस्य विशेषणानि॥ 86,87 ॥

श्रीमद्भागते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे अधिकपाठे प्रथमोऽध्यायः।
विजयध्वजरीत्या पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५० ॥

## अधिकपाठे द्वितीयोऽध्यायः

### श्रीशुक उवाच

मागधस्तु रणश्लाघी माधवेन पराजितः।
जगाम शोणितपुरं बाणं द्रष्टुं बले स्सुतम्॥ 88 ॥

तं तथाऽऽयान्तमाकर्ण्य वृतराजन्यमण्डलम्।
मित्रं पराजितं युद्धे विष्णुना दानवेश्वरः॥ 89 ॥

अलङ्कृतैर्गजैरश्वैर्विचित्रस्यन्दनैर्भटैः।
वारकान्ताकदम्बैश्च सूतमागधवन्दिभिः॥ 90 ॥

ध्वजैः पताकै श्छत्रैश्च माङ्गल्यैः पटहस्वनैः।
सुवर्णतोरणैश्चित्रै र्दीपैः कलशदर्पणैः॥ 91 ॥

उपतस्थे जरासन्धं बाणो बाहुसहस्रवान्।
तौ दृष्ट्वा परमस्निग्धौ परस्परमनोनुगौ॥ 92 ॥

पूजां चक्रतुरन्योन्य मन्योन्यप्रियकारिणौ।
ततोऽब्रवीज्जरासन्धो बाणमाभाष्य संसदि॥ 93 ॥

दानवेन्द्र! निबोधेदं गोपेनाऽधर्मचारिणा।
रात्रौ चौर्यप्रतापेन वञ्चितोऽस्मि दुरात्मना॥ 94 ॥

गृहीता बहवस्तुङ्गा मातङ्गा मदशालिनः।
तुरङ्गमाश्च बहवो रथाश्च सपरिच्छदाः॥ 95 ॥

द्वन्द्वेन सज्जमानं मा मिमे भूपा न
निरुद्धस्तैरहं भूपै रेतैस्समसुखासुखैः॥ 96 ॥

त्वत्सन्निधिमिहाऽऽयातः साहाय्यं कुरु मे प्रभो।
इत्युक्तस्तं निजपुरं प्रवेश्य बलिनन्दनः॥ 97 ॥

स राजमण्डलायाऽऽशु कारयामास सत्क्रियाम्।
भोजनस्नानशयनगन्धताम्बूलपूर्वकैः॥ 98 ॥

रहयामास सराजन्यं जरासुतम्।
तं भुक्तवन्तं विश्रान्तं दृष्टदर्शनकौतुकम्॥ 99 ॥

अलङ्कृतं सह नृपै रासीनं काञ्चनासने।
उवाच दानवपति र्नृपानाभाष्य सादरम्॥ 100 ॥

बाण उवाच

जरासन्ध! निबोधेदं न मृषा कथ्यते मया।
एते गजा इमे ह्यश्वा इदं राज्यमिमाः प्रजाः।
त्वदधीन मिदं विश्वं यच्चाऽन्यद्वस्तु विद्यते॥ 101 ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै मागधाय बलेस्सुतः
गजानां षष्टिसाहस्रं रथानां नियुतं तथा।
प्रयुतं च तुरङ्गाणां मनोमारुतरंहसाम्॥ 102 ॥

दानवानां प्रसिद्धानां मायासङ्ग्रामवेदिनाम्।
त्रिशतं स्वात्मसाम्यानां ददौ बाणो बलेस्सुतः॥ 103 ॥

विचित्रशिबिकाच्छत्रव्यजनाऽऽकल्पवाससाम्।
असङ्ख्यातं ददौ राजन् भाण्डशय्यासनादिकम्॥ 104 ॥

कुम्भाण्डं कूपकर्णश्च मन्त्रिणौ दैत्यसत्तमौ।
आज्ञापयामास बाणः साहाय्यार्थं कुरूद्वह!॥ 105 ॥

विज० रणश्लाघी अत्युत्कटरणमाकाङ्क्षमाणः॥ 88,89 ॥

वारकान्ताकदम्बैः गणिकास्त्रीनिकरैः॥ 90 ॥

माङ्गल्यै र्मङ्गलद्योतकैः॥ 91,95 ॥

द्वन्द्वेन युद्धेन॥ 96,97 ॥

सत्क्रियां सत्कारम्॥ 98॥

राजसैन्यसहितं दृष्टं दर्शनकौतुकं स्वप्नकौतुकं येन स तथा। स्वप्ने कौतुकं दृष्ट्वा कौतूहलबुद्धि र्भवति, तथा बाणसम्पदं दृष्टवानित्यर्थः "दर्शनं चक्षुषि स्वप्ने बुद्धिशास्त्रोपलब्धिषु" (वैज.को. 7-3-17) इति॥ 99-101॥

रथानां नियुतं लक्षम्॥ 102-105 ॥

क्व सुरासुरसङ्घात संहारणपटुर्हरिः।
कुम्भाण्डकूपकर्णौ क्व वराकौ बाणमन्त्रिणौ॥ 106 ॥

अजानन्तो विष्णुशक्तिं भूपाला विनशिष्णवः।
चक्रु र्भूयो रणोद्योगं मागधेन प्रचोदिताः॥ 107 ॥

बाणेन समनुज्ञातो मागधः शोणितात्पुरात्।
निर्गत्याऽनेकभूपालचतुरङ्गबलान्वितः।
दीनैः कतिपयैर्भूयो मधुरामन्वपद्यत॥ 108 ॥

सन्निरुध्य पुरद्वारं गोपुराट्टालतोरणैः।
दीर्घिकोपवनोद्यानै रुपेतं सालभूषितम्॥ 109 ॥

कुन्तैः कुठारैः कुद्दालै र्दण्डभारैश्च भूरिभिः।
कर्षणस्थैश्च पाषाणै र्बभञ्च परितः पुरम्॥ 110 ॥

भज्यमाने पुरे तस्मिन् श्रुत्वा मागधं मागतम्।
सन्नाहभेरीस्सन्नाद्य रामकृष्णावमर्षिणौ॥ 111 ॥

रथाश्वकुञ्जरानीकै स्सायुधैस्सपरिच्छदैः।
सात्यकिं कृतवर्माण मुग्रसेनं तथा गदम्॥ 112 ॥

आहुकं वसुदेवञ्च पुरस्कृत्य महाबलौ।
निर्जग्मतुरसम्भ्रान्तौ दीप्तौ केसरिणौ यथा॥ 113 ॥

मधुराया विनिर्गत्य कृष्णः कमललोचनः।
पाञ्चजन्यं महाशङ्खं प्रदध्मौ रिपुभीषणम्॥ 114 ॥

ततः प्रववृते युद्धं यदूनां क्षत्रियै स्सह।
कुम्भाण्डकूपकर्णौ च दानवौ बाणमन्त्रिणौ॥ 115 ॥

दैत्यसैन्येन महता वृतौ मायाविशारदौ।
युयुधाते महावीर्यौ मायया वृष्णिभिस्सह॥ 116 ॥

स्वसैन्यं मायया क्लिष्टं दृष्ट्वा यादवसत्तमः।
विज्ञानास्त्रेण तन्मायामपास्य निमिषान्तरे॥
सात्यकिं कृतवर्माणं प्रोवाचाऽऽहवलालसौ॥ 117 ॥

आभ्यां[1] भवन्तौ रणदुर्मदाभ्यां रणं सुघोरं कुरुतं रणप्रियौ।
तावेवमुक्तौ कदनं भयानकं महाबलौ सम्प्रति चक्रतु र्नृप॥ 118 ॥

चापेनैकेन गोविन्दः क्षत्रियै श्शतसम्मितैः।
युयुधे नहि तच्चित्रं राजन्विश्वात्मनो हरेः॥ 119 ॥

केचिद्धतास्समापेतुः कुञ्जरा श्छिन्नपुष्कराः।
निपेतुर्बहवो राजंस्तुरङ्गाः कृत्तकन्धराः॥ 120 ॥

विशीर्णैरास्तृता पृथ्वी स्यन्दनैश्छिन्नबन्धनैः॥ 121 ॥

भटाश्च रुधिराक्ताङ्गाश्छिन्नपादोरुबाहवः।
पेतुः कृत्तमहामूलाः किंशुका इव पुष्पिताः॥ 122 ॥

शार्ङ्गमुक्ताश्शरगणाः कङ्कबर्हिणवाससः।
तैलाक्ता नतपर्वाणः स्वर्णपुङ्खा अयोमुखाः।
एकैकस्मिन् दश दश भटे चाऽश्वे शतं शतम्॥ 123 ॥

रथे रथे च साहस्रमयुतश्च गजे गजे।
अदृश्यन्त परानीके तदद्भुत मिवाऽभवत्॥ 124 ॥

**विज०** अथ जरासन्धेन सह योद्धुं श्रीकृष्णस्य अशक्यमिति मन्दाशङ्कां परिहरति- **क्रेति**। वराकौ षण्डतिलनिस्सारौ॥106-108 ॥

सालैः प्राकारैः भूषितम्॥ 109 ॥

दण्डभारै र्दीर्घीकृतनिशितप्राग्रखर्वमयदण्डैः, कर्षणस्थैः पाषाणयन्त्रनिहितैः॥ 110-112 ॥

दीप्तौ क्रोधेन ज्वलितौ॥ 113-116 ॥

आहवलालसौ युद्धोत्सुकौ॥ 117-118 ॥

शतसम्मितैः शतसंख्यापरिमितैः॥ 119 ॥

छिन्नपुष्कराः द्विधाकृत्तहस्ताः॥ 120-122 ॥

कङ्कानां लोहपृष्ठानां बर्हिणां मयूराणां पक्षा एव वासांसि येषां ते॥ 123-124 ॥

1 B. ताभ्यां

तथा तै रर्द्यमानेषु चतुरङ्गेषु मागधः।
रथेन क्रोडचिह्नेन बलभद्र मुपाद्रवत्॥ 125 ॥

स पूर्ववैरं नृपतिः स्मरन् रुषा रथं महाकाञ्चनतालकूबरम्।
आलक्ष्य दूरादधिगम्य रंहसा जरासुतः प्राह हलायुधं गदी॥ 126 ॥

आदत्स्व ते मुसलं राम तूर्णं येनाऽहिता निच्छसि जेतुमाहवे।
बलञ्च बाह्वोस्तव दर्शयाऽऽशु मे यावद्गदां न प्रहराम्यहं त्वयि॥ 127 ॥

इत्येव मुक्तो मगधेश्वरेण सङ्कर्षणोऽमर्षणविह्वलेक्षणः।
आदाय घोरं मुसलं तटित्प्रभं दण्डं यथा सूर्यसुतो युगक्षये॥ 128 ॥

आवर्तयित्वा मुसलं हलायुध स्सहस्रकृत्वो रिपुदर्पहारिणम्।
धूमाङ्कुरोद्गारिणमाशु तस्मै चिक्षेप राजन् व्यनदद्धरिर्यथा॥ 129 ॥

रामबाहुविमुक्तेन मुसलेन जरासुतः।
साश्वसूते रथे क्षुब्धे क्षणेन व्यंसितस्त्वयम्॥ 130 ॥

ततः कालायसीं गुर्वीं गिरिकूटोपमां गदाम्।
ि पदा पृथ्वीं चालयन्नभ्यगाद्बलम्॥ 131 ॥

तमापतन्तमालोक्य विरथं रोहिणीसुतः।
तमेवाऽभ्यद्रवत्पद्भ्यां विसृज्य स्यन्दनं रणे॥ 132 ॥

पश्यतां सर्वभूतानां मागधः क्रोधविह्वलः।
आवर्तयन्गदां गुर्वीं मयस्सारमयीं दृढाम्।
अभ्येत्य गदया रामं प्रजहार ननाद च॥ 133 ॥

विज० क्रोडचिह्नेन वराहलक्षणेन ध्वजेन॥ 125 ॥

काञ्चनतालश्च कूबरः युगन्धरश्च यस्मिन् स तथा॥ 126-127 ॥

सूर्यसुतो यमः॥ 128 ॥

हरिः सिंहः॥ 129 ॥

स्वयं मागधो व्यंसितो वञ्चितः॥ 130 ॥

कालायसीं कृष्णायोमयीम्॥ 131-133 ॥

तां गदां पतितां वक्ष स्यश्मकुट्टनिभां दृढाम्।
वामेन जगृहे रामः स्वहस्तेन कुरूद्वह॥134 ॥

विसृज्य स गदां तूर्णं मुरस्याऽऽहत्य मागधम्।
जग्राहाऽऽश्लिष्य बलिनं बलवान् रोहिणीसुतः॥ 135 ॥

बबन्ध पद्भ्यां जठरं मागधस्य हलायुधः।
चकार कुक्षौ तत्कण्ठं ततस्तौ पेततु र्भुवि॥ 136 ॥

तयो र्निपततो राजन्नुपर्यासीद्धलायुधः।
तं मागधं क्षणेनाऽधश्चकाराऽमितविक्रमः॥ 137 ॥

तत उत्थाय तौ वीरौ क्रोधसंरक्तलोचनौ।
भूयो जग्राहतु र्घोरौ मत्तौ द्वाविव कुञ्जरौ॥ 138 ॥

तावुभौ परमक्रुद्धौ परस्परवधैषिणौ।
उरसोरः समाहत्य भीमौ चक्रुषतू रणे॥ 139 ॥

एवं धनुश्शतशतं तावाकृष्य परस्परम्।
निकटस्था न्द्रुमान् शैलां श्चूर्णयामासतु र्नृप॥ 140 ॥

तं विसृज्य जरासन्धो गदामादाय दुर्मदः।
उदतिष्ठदमेयात्मा रामोऽपि स महाबलः।
क्षणादादत्त मुसलं प्रहर्तुमुपचक्रमे॥ 141 ॥

तं कामपालो मुसलेन मूर्ध्नि जत्रुण्यंसे भुजयोर्नाभिदेशे।
ऊरौ च जानौ जठरे च वक्षस्यनेकशो वै प्रजहार युद्धे॥ 142 ॥

तं मागधो वक्षसि कन्धरे च मुखे ललाटे चुबुके तथांसे।
नाभौ नितम्बे च तथैव पार्श्वे समं स मानी प्रजहार रामम्॥ 143 ॥

एवं प्रहरतोस्तत्र राममागधयो र्मृधे।
राजानो रणसंविग्ना बभूवु र्भृशपीडिताः॥ 144 ॥

क्रमेण ते विमनसो निवृत्तकदनोद्यमाः।
आस न्नासन्ननिधनं मन्वाना मागधेश्वरम्॥ 145 ॥

सात्यकिस्तु महातेजास्सङ्गरे बाणमन्त्रिणा।
युध्यमान स्त्रिभिर्बाणैः कुम्भाण्डेन समर्दितः॥ 146 ॥

सोऽतिविद्धो महाबाहुः क्रुद्ध स्सर्प इव श्वसन्।
आददे पञ्च नाराचान् कुम्भाण्डं हन्तुमाहवे॥ 147 ॥

ततो हाहारवो जज्ञे सेनायां दैत्यमन्त्रिणः।
सात्यकि स्तं महाबाहुराकृष्याऽऽकर्णमाशुगैः॥ 148 ॥

विव्याध कुरुशार्दूल कुम्भाण्डं बाणमन्त्रिणम्।
नाभौ कण्ठे ललाटे च हृदि मूर्ध्न्यपि दानवम्॥ 149 ॥

अभिविद्धो रथोपस्थे निषसाद विचेतनः।
तं विचेतनमालोक्य दुर्मना स्तस्य सारथिः।
अपोवाह रणा त्तूर्णं रथेन भरतर्षभ॥ 150 ॥

कूपकर्णस्तु दैतेयः प्रसक्तः कृतवर्मणा।
गतं कुम्भाण्डमालोक्य प्राप्तश्च प्राणसंशयम्।
विसृज्य कृतवर्माण मपाया त्समराङ्गणात्॥ 151 ॥

तौ विसृज्य रणं दैत्या वनापृच्छ्य च भूपतिम्।
अविसृष्टौ मागधेन हतशेषबलान्वितौ।
दैत्यौ तेनैव मार्गेण जग्मतु श्शोणितं पुरम्॥ 152 ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे अधिकपाठे द्वितीयोऽध्यायः

1- -1 M,Ma. समर्पितः :

विज० अश्मकुट्टनिभाम् अश्मसारसमाम्॥ 134-141 ॥

कामपालो बलभद्रः जत्रुणि वक्षस्स्कन्धयोर्मध्ये, अंसे स्कन्धमूले॥ 142-151 ॥

अनापृन्छ्य गमिष्यामी त्यनुक्त्वा॥ 152 ॥

इति अधिकपाठे द्वितीयोऽध्यायः।
विजयध्वजरीत्या एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५१ ॥

## अथ अधिकपाठे तृतीयोऽध्यायः।

### श्रीशुक उवाच

बाणसेनां गतां दृष्ट्वा शस्त्रौघेण भृशार्दिताः।
राजपुत्त्रा विमनसो बभूवु र्नृपसत्तम!॥ 153 ॥

गताश्च दानवीं सेनां श्रान्तांश्च धरणीपतीन्।
दृष्ट्वा कृष्णश्च युध्यन्तं रामस्य ववृधे बलम्॥ 154 ॥

स मागधं गृहीत्वाऽऽजौ मौलौ वामेन पाणिना।
प्रहर्तु मैच्छ च्छिरसि मुसलेन हलायुधः॥ 155 ॥

ततोऽन्तरिक्षे घनघोषघर्घरां शुश्राव वाणीं विशदाशरीरिणीम्।
न राम! वध्यो भवता जरासुतः सुखी निवर्तस्व रणादिति स्फुटम्॥ 156 ॥

वच स्तदाकर्ण्य हलायुधो बली विसृज्य चाऽऽस्थाय रथं रणाङ्गणात्।
न्यवर्तत ब्रह्मर्षिसिद्धसङ्घैरभिष्टुतो मागधसूतवन्दिभिः॥ 157 ॥

जरासुतस्सम्प्रति नम्रकन्धरो नृपैश्च युद्धाभिजितैस्समन्वितः।
हतावशिष्टाल्पबलेन संवृतो निवृत्तयुद्धः प्रययौ स्वकं पुरम्॥ 158 ॥

श्रीशुक उवाच

गोविन्दस्तु महातेजा स्सपत्नाञ्छरसञ्चयैः।
आच्छाद्य भूपान् विद्राव्य हत्वा च सुबहून्रणे॥ 159 ॥

संस्तूयमान स्सन्तुष्टै स्सूतमागधवन्दिभिः।
ब्राह्मणैश्च महाविद्यैः स्तोत्रं कुर्वद्भि रुच्चकैः॥ 160 ॥

अन्वीयमानो भगवान् प्राविशन्मधुरां पुरीम्।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णां तुङ्गप्राकारगोपुराम्॥ 161 ॥

चलत्कदलिकोपेतां दीपाङ्कुरविराजिताम्।
प्रविशन्राजमार्गेण स्त्रीभिः प्रासादसंस्थितैः॥ 162 ॥

पुष्पैश्च लाजाञ्जलिभिः कीर्यमाणो व्यराजत।
उपायनानि दिव्यानि पुष्पस्रगनुलेपनान्॥ 163 ॥

प्रियङ्करा माधवाभ्या मुपजह्रुः पुरौकसः।
एवं स राजमार्गेण गत्वा यादवसत्तमः॥ 164 ॥

सभां प्रविश्य विपुला मुपविश्य वरासने।
रामेण सहितो वीरः शैनेयेन च धीमता॥ 165 ॥

पूजितो यदुभि र्विप्रै र्दिवि शक्र इवाऽमरैः।
तत्राऽऽसीनै र्बुद्धिमद्भि र्यदुवृद्धैर्महात्मभिः॥ 166 ॥

उग्रसेनोद्धवमुखैरक्रूरप्रमुखैर्हरिः।
समाभाष्याऽभ्यनुज्ञात स्सङ्कर्षणसहायवान्॥ 167 ॥

द्रष्टुकामो महादुर्गं गोमन्तं पर्वतोत्तमम्।
निर्गत्य मधुरां प्रात र्दक्षिणाभिमुखो ययौ॥ 168 ॥

स रामानुगतः श्रीमानुत्तीर्य यमुनां हरिः।
देशान्बहू नतिक्रम्य पर्वतान् सरितो गिरौ॥ 169 ॥

गच्छन्क्वचिद्वनोद्देशे वृक्षमूलनिवासिनम्।
ददर्श कञ्चन मुनिं जटामण्डलमण्डितम्॥ 170 ॥

चीरकृष्णाजिनधरं कमण्डलुविराजितम्।
माधवौ समुपाविष्टं तेजसा भास्करोपमम्॥ 171 ॥

फलमूलकृताहारं वृतं शिष्यशतै र्मुनिम्।
दृष्ट्वा परमसन्तुष्टौ रामकृष्णौ जगत्पती॥ 172 ॥

प्रणामं चक्रतु र्वीरौ यथान्यायमतन्द्रितौ।
इदञ्चोवाच भगवान् कृष्ण स्तं मुनिपुङ्गवम्॥ 173 ॥

नमस्ते भार्गव श्रीमन् जामदग्न्य तपोधन!।
रामकृष्णौ स्मृतावावां क्वचि त्ते श्रवणं गतौ॥ 174 ॥

इत्युक्त स्तेन धर्मात्मा वासुदेवेन भार्गवः।
निरीक्ष्य माधवौ प्राह प्रीत्युत्फुल्लमुखेक्षणः॥ 175 ॥

स्वागतं ते यदुश्रेष्ठ! साग्रजाय महात्मने।
जाने त्वां यदुषूत्पन्नं भगवन्तमधोक्षजम्॥ 176 ॥

कार्याणां कारणं पूर्वं जगता मादिपूरुषम्।
नमस्ते पुण्डरीकाक्ष! विश्वलोकैककारण!॥ 177 ॥

किमर्थ मिह सम्प्राप्तौ भवन्तौ विश्ववन्दितौ।
इत्युक्तौ जामदग्न्येन प्राहतू रामकेशवौ॥ 178 ॥

गोमन्तं द्रष्टुमिच्छावो दुर्गहितोरिह प्रभो!
तदाकर्ण्याऽब्रवी द्रामो जामदग्न्यो जनार्दनम्॥ 179 ॥

एव मस्तु महाबाहो! गोमन्तं गच्छ साग्रजः।
करवीरपुरं नाम तन्मूले परिपालितम्॥ 180 ॥

सृगालवासुदेवेन स युवां न सहिष्यति।
तं हत्वा समरे शैलं गोमन्तं साध्ववाप्स्यथ॥ 181 ॥

इत्युक्तौ तेन रामेण जामदग्न्येन माधवौ।
तमनुज्ञाप्य सर्वज्ञं जग्मतु र्दक्षिणामुखौ॥ 182 ॥

विज० विमनसः युद्धविरतमनसः॥ 153 ॥

(दानवीं) दानवस्य बाणस्य विद्यमानाम्॥ 154 ॥

मौलौ संयतकेशे। "मौलि स्संयतकेशेषु चूडायां मुकुटेऽप्ययम्।"(वैज.को. 6-5-64) इति॥ 155 ॥

घर्घरां गम्भीराम्। "गाम्भीर्ये नूपुरारावे घर्घरस्समुदाहृतः" इति। अशरीरिणीं शरीरहीनां, दैवीमित्यर्थः॥ 156-159॥

(सन्तुष्टैः) सम्यक् प्रीतपुरुषैः महती विद्या शास्त्रविषया येषां ते तथा तैः॥ 160-167 ॥

मधुरां रक्षितुं निर्गम्य निर्धार्य पञ्चम्यर्थे वा द्वितीया॥ 168 ॥

गिरौ वनोद्देशे, वने उन्नतप्रदेशे वृक्षमूले निवासिनं कृताऽऽवासं, कञ्चन लोकविलक्षणम्॥ 169-171॥

फलं लाभः आनन्दः चेतनस्य मूलं ज्ञानं ते एव कृते पूर्णे आहारो यस्य स तथा, तम्॥ 172 ॥

प्रणामं चक्रतुरित्यादिना प्रतीयमानः कृष्णभार्गवरामयोः नम्यनन्तृभावो भेदाऽविनाभावं गमयति। तत्कथ मुभयोर्विष्णुत्वे सङ्गच्छत इत्याशङ्का[1]- "सर्वावताराभिन्नोऽपि सर्वशक्ति रपि स्वयम्। पूज्यपूजकनीचोच्चं मोहनाय दुरात्मनाम्। अखण्डैक रसो विष्णु र्दर्शये त्तत्र तत्र हि" (षाड्गुण्ये) इति षाड्गुण्यवचनेन परिहरणीयेति॥ 173-182 ॥

1 Mb. ङ्कय

तौ तथा यदुशार्दूलौ गच्छन्तौ दक्षिणापथम्।
ददर्शतुश्च गोमन्त मभ्रङ्कषमहाद्रुमम्॥ 183 ॥

करवीरपुरश्चैव तन्मूले तुङ्गतोरणम्।
दृष्ट्वा विचित्रप्राकारं हर्म्यप्रासादगोपुरम्॥ 184 ॥

शङ्खमाध्मापयामास शङ्खचक्रगदाधरः।
तस्य शङ्खध्वनिं श्रुत्वा बभूव क्रोधविह्वलः॥ 185 ॥

सृगालो वासुदेवाख्यः प्रत्यगाद्यदुनन्दनौ।
सोऽभ्येत्य बहुपादातितुरङ्गरथकुञ्जरः॥ 186 ॥

अभ्यवर्षच्छरौघेण छादयन्निव माधवौ।
तदनीकमनाधृष्यं दृष्ट्वा यादवसत्तमौ॥ 187 ॥

योधयामासतु वीरौ द्वावेवाऽऽजौ पदातिनौ।
सैन्यश्च बाणपूगेन व्यथितं भृशविह्वलम्॥ 188 ॥

दृष्ट्वा सृगालभूपाल स्तावधावदमर्षणः।
तमायान्तमभिप्रेक्ष्य रथिनं धृतकार्मुकम्।
न्यवारयद्वासुदेवो वेलेव वरुणालयम्॥ 189 ॥

तावुभौ परमक्रुद्धौ वासुदेवौ महाबलौ।
युयुधाते तथाऽन्योन्य मन्योन्यवधकाङ्क्षिणौ॥ 190 ॥

स तथा विद्यमानस्य वासुदेवस्य सङ्गरे।
शिरो जहार गोविन्दः क्षणेन मुकुटोज्ज्वलम्॥ 191 ॥

तत स्तत्सैनिकास्सर्वे हतशेषाः कुरूद्वह!
कृष्णेन स्वामिनि हते दुद्रुवु स्सर्वतोदिशम्॥ 192 ॥

ततस्तौ रामगोविन्दौ करवीरपुरं महत्।
प्रविश्य पूजितौ विप्रै र्वणिग्भिश्च यथा प्रियः॥ 193 ॥

तद्गजाश्वरथानीककोशादिधनसञ्चयम्।
मधुरां प्रेषयामास तदीयै र्भृत्यपूरुषैः॥ 194 ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे अधिकपाठे तृतीयोऽध्यायः।

विज० अभ्रङ्कषा महान्तो द्रुमा यस्मिन् स तथा तम्। अभ्राणि मेघान् कषन्त्युल्लिखन्तीति अभ्रङ्कषाः कषतेर्घातोरभ्रादिषूपपदेषु खश्प्रत्ययो भवति॥ 183-187 ॥

पदातिनौ पादै स्सञ्चरमाणौ रथादि रहिता वित्यर्थः॥ 188,189 ॥

वासुदेवौ वसुदेवपुत्रौ। कृष्णशृगलौ॥ 190 ॥

वासुदेवस्य शृगालनाम्नः॥ 191,192 ॥

प्रियसुहृद्यथा तथा पूजितौ॥ 193 ॥

तदीयै स्तस्य विद्यमानैः॥ 194 ॥

इति अधिकपाठे तृतीयोऽध्यायः
विजयध्वजरीत्या द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५२ ॥

## अधिकपाठे चतुर्थोऽध्यायः

### श्रीशुक उवाच

गोमन्तं पर्वतश्रेष्ठं तुङ्गद्रुमलतान्वितम्।
सालतालतमालाढ्यं प्रियालाशोकशोभितम्॥ 195 ॥

कदम्बनिम्बहिन्तालपूगपुन्नागशोभितम्।
आरुह्य कदलीखण्डमण्डितं मत्तकोकिलम्॥ 196 ॥

भ्रमद्भ्रमरसङ्घातप्लवङ्गाकम्पितद्रुमम्।
फलभारनतैः स्कन्धैर्नारिकेलै र्विराजितम्॥ 197 ॥

बहुप्रस्रवणोपेतं सुच्छायं निर्मलोदकम्।
रम्यं ददृशतु र्वीरौ प्रदेशं रामकेशवौ॥ 198 ॥

तत्र पवर्षणं नाम शृङ्गं पर्वतमूर्धनि।
अवापतु र्यत्र मेघा नित्यं वर्षन्त्यविक्लबाः॥199 ॥

तत्राऽऽरुह्य यदुश्रेष्ठौ पश्यन्तौ हि दिशो दश।
रममाणौ यथाकाम मूषतुः पर्वतोत्तमे॥ 200 ॥

एतस्मिन्नेव काले तु क्षीरोदे सागरोत्तमे।
निवासे देवदेवस्य शङ्खचक्रगदाधृतः॥ 201 ॥

उपासीनो महाबाहुः श्रीमान्वैरोचनो बलिः।
जहार देवदेवस्य किरीटं रत्नचित्रितम्॥ 202 ॥

इन्द्रनीलसहस्राढ्यं गोमेदकशताचितम्।
पद्मरागमहानीलमुक्ताफलविराजितम्॥ 203 ॥

पुष्परागप्रवालाढ्यं दिव्यकाञ्चननिर्मितम्।
हृतं दानववीरेण विदित्वा पुरपालकः।
तमन्वधावत्त्वरितं वैनतेयो विहङ्गराट्॥ 204 ॥

तमन्तरे समासाद्य दानवेन्द्रं दुरासदम्।
कृत्वा युद्धं महाघोरं जित्वा दानवपुङ्गवम्॥ 205 ॥

गृहीत्वा रत्ननिचयं किरीटं भास्करोपमम्।
आगच्छन्ददृशे देवं देवकीनन्दनं हरिम्॥ 206 ॥

वसन्तं साग्रजं रम्ये गोमन्ते पर्वतोत्तमे।
तस्य मूर्ध्नि निधायाऽऽशु किरीटं दिव्यभूषणम्।
प्रणम्य पादयो र्मूर्ध्ना स्तोतुं तमुपचक्रमे॥ 207 ॥

गरुड उवाच

नमो नमः कारणपूरुषाय नारायणायाऽखिलवल्लभाय।
सुरारिसंहारणकारणाय नारायणायाऽखिलकर्मसाक्षिणे॥ 208 ॥

हिरण्यगर्भत्व मुपेत्य मूले सृजस्यशेषं भुवनं स एव।
नारायणात्मन् परिपासि भूयो जहार चाऽन्ते भगवन् शिवात्मन्॥ 209 ॥

तं त्वा यदो र्वंशकरं सुरेशं जानेऽवतीर्णं भुवने वृषाकपिम्।
अहं हि भृत्य स्तव वैनतेयो ब्रूहि क्रियां किं करवाणि देव॥ 210 ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वा देवदेवेशं प्रणिपत्य विहङ्गराट्।
जानुनी धरणौ कृत्वा तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः॥ 211 ॥

तं दृष्ट्वा यादवश्रेष्ठो गरुडं पक्षिपुङ्गवम्।
प्रीत्युत्फुल्लमुखो दोर्भ्यां पस्पर्शाङ्गं तदुत्तमम्॥ 212 ॥

'गच्छ भद्र! यथाकाममेहि काले मया स्मृतः।
इत्युक्त्वा तं विसृज्योभा वीश्वरौ रामकेशवौ॥ 213 ॥

फलमूलकृताहारौ पीतनिर्झरवारिणौ।
अवरुह्य गिरेः शृङ्गा त्करवीरपुरं गतौ॥ 214 ॥

तत्र तौ चतुरो मासा नुषित्वा भरतर्षभ!
महत्या सेनया सार्धं जग्मतु र्मधुरां पुरीम्॥ 215 ॥

सृगालं निहतं श्रुत्वा मागधः क्रोधविह्वलः।
आजगाम कुरुश्रेष्ठ! महत्या सेनया वृतः॥ 216 ॥

तेन सार्धं मभूद्युद्धं सप्ताहं रामकृष्णयोः।
तदा पराजितो युद्धे मागधो बहुसैनिकः॥ 217 ॥

जगाम मगधानेव बहुभिः क्षत्रियैस्सह।
रामकृष्णौ धर्मज्ञौ सूतमागधवन्दिभिः॥ 218 ॥

स्तूयमानौ विविशतुः सानुगौ मधुरां पुरीम्॥ 219 ॥

**विज०** सालः सर्जः, तालः तृणराजः, तमालः कालस्कन्धः, प्रियालो राजादनः, अशोको वञ्जुलः "सालं सर्जं च सूरयः" (हला.को. 2-40) तृणराजस्तालः कथ्यते। "कालस्कन्धस्तमाल स्स्यात्" (अम.को. 2-114) "राजादनः प्रियाल स्स्यात्" (अम.को 2-81) "वञ्जुलोऽशोक" (अम.को. 2-110) उच्यते॥ 195 ॥

कदम्बो हरिप्रियः, निम्बः पिचुमन्दः "पिचुमन्दस्तु निम्ब (०म्बोऽथ.) स्स्यात्" (अम.को. 2-108) हिन्तालो वनक्रमुकः, नागः नागकेसरः, पूगोऽतिसारो ग्रामक्रमुकः, पुन्नागः सुरवर्णिका॥ 196,197 ॥

बहुभिः प्रस्रवणैः निर्झरैरुपेतम्॥ 198-201 ॥

[1] "उपासीनो महाबाहुः" इत्यादिना मुक्तगम्ये क्षीरसागरे बलिना दानवेन्द्रेण हरेः किरीटहरणं, गरुडेन तं जित्वा किरीटमादाय आगच्छता मार्गे गोमन्ते वसन्तं श्रीकृष्णं दृष्ट्वा किरीटहीने तच्छिरसि तन्निधानमुच्यते। तत्र संशयः- अजमनिद्रमस्वप्नम्" ('अद्वै. उ०. 36) इति श्रुतेः नित्यनिरस्तनिद्रस्य हरेः किरीटनयनं इत्यादिकं कथं सङ्गच्छते इतीय माशङ्का। "बहूनि स्थानजातानिकृष्णस्यक्षीरसागरे" (माहात्म्ये) इत्यादिमाहात्म्यवचनेनपरिहृतेति ज्ञातव्यम्॥ 202-207 ॥

नमो नम इति पुनरुक्तिः आदरार्था। पुरुषायेत्युक्ते जीवायेति शङ्का स्यात्। अतः तन्निरासार्थं कारणेति। "कारणं बन्धमोक्षयोः" इति श्रुतेः। जीवस्याऽपि कारणत्वप्रतीतेः निस्तुषत्वेन शङ्कानिवृत्तये नारायणायेति। अयं शब्दो देवदत्तादिशब्दवत् साङ्केतिको न भवति, किन्तु गुणनिबद्ध इति भावेनाऽऽह- अखिलेति। न तर्हि शौर्यादिगुणयोगोऽस्येत्यत्राऽऽह- सुरारीति। राक्षसवत्संहारी चे न्न कोऽप्येन माश्रयतीत्यत्राऽऽह- नारायणायेति। नारो नरसमुदायः तदाऽऽश्रयो नारायणः, तस्मै। ननु सर्वाश्रयत्वं राजवद्बहिःस्थत्वेन, उत अन्तःस्थत्वेन, आहोस्वित् वायुवदुभयरुपेण? नाऽऽद्यः "अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः" (म.ना.उ. . 9-5) इति श्रुतिव्याकोपात्। न द्वितीयः, कर्मभोगप्राप्तेः। न तृतीयः, अखण्डात्मनो द्वितीयत्वानुपपत्तेरिति तत्राऽऽह - अखिलेति॥ 208 ॥

सृष्टिसंहारयोश्चतुर्मुखपञ्चमुखहेतुत्वोक्ते रस्य अखण्डहेतुत्वं कथमिति तत्राऽऽह-**हिरण्यगर्भत्वमिति**। मूले आदिकाले हिरण्यगर्भं सृष्ट्वा तदन्तर्यामित्वेन तन्नामवाच्यत्वमुपेत्य भूयः पश्चात् नारायणात्मन् नारायणनामपरमात्मन्! पुनः शिवात्मानं सृष्ट्वा तदन्तर्यामित्वेन तन्नामवाच्यं, तदुक्तम्- "ब्रह्मस्थो ब्रह्मनामाऽसौ रुद्रस्थो रुद्रनामकः" (स्कान्दे) इत्यादि॥ 209

एवंविधो विष्णु स्त्वमित्याह- **तं त्वेति।** भुवने प्रसिद्धं वृषाकपिं विष्णुमवतीर्णं तत्सृष्ट्यादिहेतुञ्च जाने इत्यन्वयः। "विष्णौ रुद्रे वृषाकपिः"। इत्यतो यदोर्वशकरमित्यादि क्रियाविशेषणं कर्तव्यम्। धर्मप्रेरकत्वेन फलवर्षणाद्वृषः। [2-]अकस्य असुखस्य [-2]पातृत्वा दकपिः। यद्वा -अकादुःखात् शरणागतं जग त्पातीति वृषाकपिरिति॥ 210,211 ॥

तस्य उत्तममङ्गम् उत्तमाङ्गं शिर इत्यर्थः॥ 212-219 ॥

इति अधिकपाठे चतुर्थोऽध्यायः

विजयध्वजरीत्या त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

1 Ma. adds सुरैः 2- -2 Mb कस्य सुखस्यापातृ०

एवं सप्तदशकृत्व स्तावत्यक्षौहिणीबलः।
युयुधे मागधो राजा यदुभिः कृष्णपालितैः॥ ४२ ॥

अक्षिण्वं स्तद्बलं सर्वं वृष्णयः कृष्णतेजसा।
हतेषु स्वेष्वनीकेषु त्यक्तोऽयादरिभि र्नृप!॥ ४३ ॥

अष्टादशमसङ्गामे आगामिनि तदन्तरा।
नारदप्रेषितो वीरो यवनः प्रत्यदृश्यत॥ ४४ ॥

रुरोध मधुरा मेत्य तिसृभि र्म्लेच्छकोटिभिः।
नृलोके चाऽप्रतिद्वन्द्वो वृष्णीन् श्रुत्वाऽऽत्मसम्मितान्॥ ४५ ॥

तं दृष्ट्वाऽचिन्तयत्कृष्णः सङ्कर्षणसहायवान्।
अहो यदूनां वृजिनं प्राप्तं ह्युभयतो महत्॥ ४६ ॥

यवनोऽयं निरुन्धेऽस्मानद्य तावन्महाबलः।
माधवोऽप्यद्य वा श्वो वा परश्वो वाऽऽगमिष्यति॥ ४७ ॥

1. M.Ma ०द० 2- -2 M.Ma ०ण्वत बलं 3. M.Ma वृष्णिभिः 4. M.Ma ते० 5. B,G,J,K ०पः 6- -6 K अथाष्टादशमे युद्धे; MI.V अष्टादशे तु सङ्गामे 7 MI.V ०पद्यत 8. M.Ma ०म्म० 9. M.Ma श्वो वा म० 10- -10 M.Ma ०प्येति दृष्टात्मा परश्वो नैव संशयः॥

**श्रीध०** तावतीति छेदः। तावति पराजये वर्तमानेऽप्यक्षौहिण्यो बलं यस्य सः। सप्तदशकृत्वः सप्तदशवारान् युयुधे॥ ४२ ॥

**अक्षिण्वन्निति।** अक्षिण्वन् क्षयं निन्युः॥ ४३ ॥

**अष्टादशेति।** अष्टादशमे अष्टादशे सङ्गामे भाव्ये तन्मध्ये अकस्मात्कालयवनः प्राप्तः॥ ४४ ॥

**रुरोधेति।** आत्मसम्मितान् स्वतुल्यान्॥ ४५ ॥

**तमिति।** वृजिनं दुःखं उभयतो यवनाज्जरासन्धाच्च॥ ४६ ॥

तदाऽऽह द्वयेन **यवन** इति। निरुन्धे निरुणद्धि॥ ४७ ॥

**वीर० एवमिति।** इत्थं पुनः पुनः तावत्यः त्रयोविंशति संख्याकाः अक्षौहिण्यो बलं यस्य तथाभूतः सप्तदशवारं कृष्णपालितै र्यदुभिस्सह युयुधे॥ ४२ ॥

**अक्षिण्वन्निति।** कृष्णतेजसा हेतुभूतेन वृष्णयो यदवः तस्य जरासन्धस्य बलं सर्व मक्षिण्वन् नाशितवन्तः। इत्थं

सर्वेष्वनीकेषु हतेषु सत्सु नृपो जरासुतोऽरिभिः रामादिभिः त्यक्तो जगाम॥ ४३ ॥

अथाष्टादशमे युद्धे आगामिनि भाविनि सति तदन्तरा तन्मध्ये अष्टादशसङ्ग्रामात्पूर्व मित्यर्थः। नारदेन प्रेषितः काल यवनाख्यो वीरः प्रत्यदृश्यत, माधुरैर्जनै रिति शेषः॥ ४४ ॥

**रुरोधेति।** मनुष्यलोके न विद्यते प्रतिद्वन्द्वः तुल्यबलो यस्य तथाभूतः कालयवनः यदून् स्वात्मना तुल्यबलसम्मितान्[1-] [-1] श्रुत्वा, नारदमुखादिति शेषः। तिसृभिर्म्लेच्छानां कोटिभिः सहाऽऽगत्य मधुरां सर्वतो निरुद्धवान्॥ ४५ ॥

**तमिति।** तं कालयवनं दृष्ट्वा श्रीकृष्णश्चिन्तयामास[2]। चिन्ता मेवाऽऽह - अहो इति सार्धद्वयेन। उभयतो यवना जरासन्धाच्च वृजिनं दुःखं महत् यदूनां प्राप्तम्॥ ४६ ॥

तदेवाऽऽह- **यवन** इति। महद्बलं यस्य स यवनोऽधुना अस्मान्निरुन्धे निरुणद्धि। अद्याऽस्मिन्नहनि वा, श्वः परस्मिन्नहनि वा, परश्वस्तदनन्तरे अहनि वा मागधोऽप्यागमिष्यति॥ ४७ ॥

1- -1 K.T.W. बलान् 2 K.T.W omit श्रीकृष्णः।

**विज०** अक्षिण्वत अक्षीयत॥ ४२-४५ ॥

उभयतो मागधा द्यवनाच्च प्राप्तं वृजिनं दुःखम्॥ ४६, ४७ ॥

**आवयो र्युध्यतो रस्य[1] यद्यागन्ता[2] जरासुतः।**
**बन्धून्हनिष्यत्यथवा नेष्यते[4] स्वपुरं बली[3]॥ ४८ ॥**

**तस्मादथो विधास्यामो दुर्गं द्विपददुर्गमम्।**
**तत्र ज्ञातीन्समाधाय यवनं घातयामहे[5-]॥ ४९ ॥**

**सम्मन्त्र्य भगवान् दुर्गं द्वादशयोजनम्।**
**अन्त स्समुद्रे नगरं कृत्स्नाद्भुत मचीकरत्[6][7]॥ ५० ॥**

**दृश्यते यत्र हि त्वाष्ट्रं विज्ञानं शिल्पनैपुणम्।**
**रथ्याचत्वरवीथीभि र्यथावास्तु विनिर्मितम्॥ ५१ ॥**

**सुरद्रुमलतोद्यान विचित्रोपवनान्वितम्।**
**हेमशृङ्गै र्दिविस्पृग्भिः स्फाटिकाट्टालगोपुरैः॥ ५२ ॥**

**राजतारकुटैः कोष्ठै र्हैमकुम्भै[10-] र[-10] लङ्कृतैः[11]।**
**रत्नकूटै र्गृहै र्हैमै र्महामरकतस्थलैः॥ ५३ ॥**

वास्तोष्पतीनाश्च गृहै र्वलभीभिश्च निर्मितम्।
चातुर्वर्ण्यजनाकीर्णं यदुदेवगृहोल्लसत्[12-12]। ५४ ॥

1 W ०रब 2. M.Ma गच्छेत् 3 B.G.J.M.Ma वधिष्य० 4 MI.V ०ति 5- -5 K.W मारयामहे; MI.V घातयावहे 6. M.Ma ०ष्णा० 7. M.Ma ल्लृपत् 8. M.Ma ०पु० 9. MI.V जुष्टं 10- -10 M.Ma जुष्टं हैमैः 11 K.M.Ma, MI V.W °ःस्वल० 12- -12 M.Ma यदूनाञ्च गृहै र्लसत्।

**श्रीध० आवयोरिति**। अस्य अनेन स[1]ः॥ ४८, ४९ ॥

**इतीति**। समुद्रमध्ये दुर्गं, तन्मध्ये नगरं कृत्स्नाद्भुतं सर्वाश्चर्यमयं अचीकरत् कारयामास॥ ५० ॥

**दृश्यते** इति। त्वष्टा विश्वकर्मा। तदीयं शिल्पनैपुणञ्च क्रियाकौशलम्। तदाह सार्धे स्त्रिभिः रथ्येति। रथ्या राजमार्गाः पुरतः वीथ्यः उपमार्गाः पश्चिमतः उभयतोऽपि, चत्वराणि अङ्गणानि तन्मध्ये कोष्ठाः ततोऽप्यन्तः सुवर्णभवनानि, तदुपरि स्फाटिकाट्टालिकाः[2] तदुपरि हेमकुम्भा इति बहुभूमिकं यथावास्तु वास्तु[3] गृहादिनिर्माणस्थानं, तदनतिक्रम्य विनिर्मितम्[5]॥ ५१ ॥

सुराणां द्रुमा[6] लताश्च येषु तान्युद्यानानि विचित्रोपवनानि च तै रन्विताः। हेममयानि शृङ्गाणि येषु[7] तैः दिविस्पृग्भिः स्फाटिका अट्टालकाः[8] उपरितनभूमिका गोपुराणि[9] च द्वाराणि, तै र्निर्मित मित्युत्तरेणान्वयः॥ ५२ ॥

राजतारकुटैः रजतञ्च आरकुटञ्च पीत लोहं[10] ताभ्यां निर्मितैः कोष्ठैः अश्वशालान्न शालदिभिः। कथम्भूतैः ? हे[11] मकुम्भैः अलङ्कृतैः तथा रत्नकूटैः पद्मरागादिशिखरैः हैमै स्सौवर्णैः महामरकतमयानि स्थलानि येषु तै गृहैश्च॥ ५३ ॥

किञ्च, नगरगृ[12]हादौ वास्तोष्पतीनां देवानाञ्च[13] गृहैर्वलभीभिः चन्द्रशालाभिश्च[14] निर्मितं यदुदेवगृहैः राजगृहैः उल्लसच्छोभमानम्॥ ५४ ॥

1. B.J. omit सः 2. MI.V ०ल० 3. MI.V omit वास्तु 4. MI.V ०दीनां नि० 5 B omits वि 6 MI.V °मः 7 MI.V ०षां 8 B.J ०लाः 9. B.J. ०रि भू० 10. V ०तल लो० 11 MI.V हैमैः 12 MI.V द्वारादौ 13 V omits देवानां 14 B.J शालिका०

**वीर०** आवयो र्यवनस्य च मम च मिथो युध्यतोस्सतोः जरासुतो यद्यागमिष्यति, स तर्ह्यस्मद्बन्धून् यदून् हनिष्यति। अथवा तान् स्वपुरं प्रति नेष्यति प्रापयिष्यति, यत स्स बली॥ ४८ ॥

अथ विचार्य निश्चितमाह- **तस्मादिति**। द्विपदै र्मनुष्यैः दुःखेनाऽपि गन्तुमशक्यं दुर्गं जलदुर्गं विधास्यामः करिष्यामः तत्र दुर्गे ज्ञातीन् बन्धून् यदून् समाधाय निधाय यवनं मारयामहे घातयामहे॥ ४९ ॥

इत्थं सम्मन्त्र्य विचार्य निश्चित्य भगवान्समुद्रमध्ये दुर्गं, तत्र नगरञ्चाऽचीकरत् कारयामास, विश्वकर्मणेति शेषः। नगरं विशिनष्टि - द्वादशयोजनविस्तीर्णं कृत्स्नाद[1]द्भुतं सर्वाश्चर्यकरम्॥ ५० ॥

यत्र नगरे त्वाष्ट्रं विश्वकर्मणस्सम्बन्धि विज्ञानसूचकं क्रियाकौशलं दृश्यते, तदाह सार्धे स्त्रिभिः- रथ्येति। रथ्या राजमार्गाः पुरतो वीथ्यः उपमार्गाः पुरतः पश्चिमतः उभयतोऽपि चत्वराण्यङ्गणानि तन्मध्ये कोष्ठाः ततोऽप्यन्तः स्वर्णभवनानि तदुपरि स्फाटिकाट्टालकाः तदुपरि हेमकुम्भाः इति बहुभूमिकं यथावास्तु गृहादिनिर्माणस्थानं तदनतिक्रम्य[2] निर्मितम्॥ ५१ ॥

सुराणां द्रुमा लताश्च येषु तानि उद्यानानि विचित्राण्युपवनानि च तैरन्वितम्, हेममयानि शृङ्गाणि येषां तैः, दिविस्पृग्भिः अत्युच्चैः स्फाटिकाट्टालका उपरिभूमिकाः गोपुराणि चत्वराणि तैः॥ ५२ ॥

राजता कुटैः रजतञ्चाऽऽरकुटञ्च पीतलोहं पित्तलमिति यावत्। ताभ्यां निर्मितैः कोष्ठैः अश्वशालान्नशालादिभिः। कथम्भूतैः? हैमैः कुम्भैः स्वलङ्कृतैः तथा रत्नकूटैः पद्मरागादिशिखरैः सौवर्णैः महान्ति मरकतस्थलानि येषु तैः गृहैश्च जुष्टं सेवितम्॥ ५३ ॥

किञ्च। नगरगृहादौ वास्तोष्पतीनां देवानाञ्च गृहै र्वलभीभिः चन्द्रशालिकाभिश्च निर्मितं यदुदेवगृहै रुल्लस च्छोभमानम्॥ ५४ ॥

1. K ०त्स्नाद्भु० 2. K omits तत्

**विज०** अस्येति षष्ठी तृतीयार्थे। अनेन सह चाऽऽवयो र्युध्यतोः॥ ४८ ॥

दुःखं गच्छत्यस्मिन्निति दुर्गम् "सुदुरो रधिकरणे" (अष्टा०) इति गमेर्ड प्रत्ययः। विशिनष्टि द्विपदेति। द्वे पदे येषां ते तथा द्विपदः, पदेति निपातो विवक्षितः। मनुष्यै रगम्य मित्यर्थः॥ ४९, ५० ॥

त्वष्टु र्विश्वकर्मणो विद्यमानं त्वाष्ट्रम्। किंतद्विज्ञानमत्राह। शिल्पनैपुणमिति शिल्पविद्यापटुत्वम्। रथ्या राजमार्गः, वीथी वणिजां मार्गः, यथावास्तु वास्तुलक्षणमनतिक्रम्य॥ ५१ ॥

दिविस्पृग्भिः "द्व्युभ्या मुपसंख्यानम्" इत्यलुक्समासः॥ ५२ ॥

राजतैः रजतमयैः, आरपुटैर्लोहविशेषैः, कृतैः कोष्ठैरन्तर्गृहैः रत्नकूटैः रत्नशृङ्गैः॥ ५३ ॥

वास्तोष्पतीनां वास्तुदेवतानाम्॥ ५४ ॥

**सुधर्मा पारिजातश्च महेन्द्रः प्राहिणो द्धरेः।**
**यत्र चाऽवस्थितो मर्त्यो मर्त्यधर्मै र्न युज्यते॥ ५५ ॥**

**★ यत्प्रियं देवदेवस्य विष्णोः क्षीरोदवासिनः।**
**श्यामैककर्णान्वरुणो हयान् शुक्लान् मनोजवान्॥ 220 ॥**

△ ददौ सहस्रसंख्यातान् देवदेवाय तोयराट्॥ 221 ॥

अष्टौ निधिपतिः कोशान् लोकपालो[2-] निजोदयान्[-2]॥ ५६ ॥

○ तथाऽन्ये लोकपालाश्च ददुः स्वाधिकृतं धनम्॥ 222 ॥

यद्यद्भगवता दत्त माधिपत्यं स्वसिद्धये।
सर्वं प्रत्यर्पयामासु र्हरौ भूमिगते[3] नृप!॥ ५७ ॥

तत्र योगप्रभावेन नीत्वा सर्वजनं[4] हरिः।
प्रत्यागत्याऽथ[5-] रामेण[-5] कृष्ण स्समनुमन्त्रितः।
निर्जगाम पुरद्वारा त्पद्ममाली निरायुधः॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
दुर्गनिवेशनं नाम पञ्चाशोऽध्यायः॥ ५० ॥

1. K.W वि० ★ This extra half verse is found in M,Ma,Mb editions and the same has been bracketted in B edn. △ This additional half verse is found in M,Ma,Mb editions and the same has been bracketted in B edn. and in Ml.V edns this half verse is included in the text 2- -2 K,V,W लोकपाला निजोदयान्; M,Ma,Mb रत्नपूर्णानविक्षयान्० ○ This half verse is found in M,Ma,Mb edns and the same has been bracketted in B edn, But in Ml.V. edns it is included in the text. 3 Ml.V ०ङ्ग० 4 K सर्वं जनं; M.Ma.W स्वान् भगवान् 5- -5 B,G,J प्रजापालेन; M.Ma मधुरायाश्च W मधुरामेत्य।

**श्रीध० सुधर्मामिति।** पारिजातञ्च प्राहिणोत् प्रस्थापयामासेति, शुकपरीक्षित्संवादात्पूर्वभावित्वात् भूतनिर्देशः। मर्त्यधर्मैः क्षुत्पिपासादि षड्भिर्मिभिः॥ ५५ ॥

निधिपतिः कुबेरः अष्टौ कोशान् निधीन् - "पद्मश्चैव महापद्मो मत्स्य[1-]कूर्मौ[-1] तथौदकः। नीलो मुकुन्द-श्शङ्खश्च निधयोऽष्टौ प्रकीर्तिताः" इति प्रसिद्धान् निजोदयान् निजविभूतीः॥ ५६ ॥

अन्ये च सिद्धादयो भगवता स्वाधिकारसिद्धये यद्यदाधिपत्यं दत्तमासी त्तत्सर्वं प्रत्यर्पयामासुरिति॥ ५७ ॥

**तत्रेति।** यथा कालयवनो न वेत्ति, न चाऽऽसौ जनः तथा योगप्रभावेन नीत्वा, 'त्वमत्र प्रजाः पालय, अहं पलायिष्ये' इति समनुमन्त्रितः कृतानुमन्त्र इत्यर्थः॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
पञ्चाशोऽध्यायः॥ ५० ॥

1- -1 V मत्स्यं कूर्मः।

**वीर०** सुधर्मां नाम सभां पारिजातञ्च महेन्द्रो हरये प्राहिणोत् प्रस्थापयामासेति शुकपरीक्षित्संवादात् पूर्वभावित्वात्[1] भूतनिर्देशः। सुधर्मां विशिनष्टि - यत्रेति। मर्त्योऽपि यत् सुधर्मायां स्थितो मर्त्यधर्मैः अशनायापिपासाशोकमोहजरामरणादिभिर्न युज्यते॥ ५५ ॥

वरुणस्तु श्यामः एककर्णो येषां तान् सर्वतः शुक्लान् मनोजवान् अश्वान्, प्राहिणोत् इत्यनुषङ्गः। निधिपतिः कुबेरस्तु अष्टौ कोशान् निधीन् "पद्मश्चैव महापद्मो मत्स्यः कूर्म स्तथा वरः। नीलो मुकुन्दः शङ्खश्च निधयोऽष्टौ प्रकीर्तिताः" इत्युक्तान् प्राहिणोत्॥ ५६ ॥

तथाऽन्ये च लोकपालाः निजोदयान् निजविभूतीः, तथाऽन्ये च सिद्धादयो यद्यत्स्वाधिकारसिद्ध्यै भगवता दत्त माधिपत्यं तत्सर्वं भगवति भूमिगते भूमाववतीर्णे सति तस्मै प्रत्यर्पयामासुः॥ ५७ ॥

**तत्रेति।** यथा कालयवनो माधुराश्च जना न जानीयुस्तथा योगप्रभावेन योगमायात्मकाश्चर्यशक्तिप्रभावेन[2] माधुरं सर्वं जनं तत्र दुर्गे नीत्वा प्रापय्य, पुन रागत्य, अथ रामेण अनुमन्त्रितः आलोचितो भगवान् पद्ममालाधरो निरायुधश्च भूत्वा पुरद्वारात् निष्क्रान्तवान्॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां पञ्चाशोऽध्यायः॥ ५० ॥

1. K.T.V ०र्वि 2 B ०त्मि०

**विज०** मर्त्यधर्मैः जरादिलक्षणैः॥ ५५ ॥

क्षीरोदशायिनो विष्णोर्यत्प्रियं हृद्यं तदपि ददौ। निधिपतिः कुबेरः अष्टौ कोशान्निधीन्, अविक्षयान् अव्ययान्॥ ५६ ॥

स्वाधिकृतं स्वकीयत्वेनाभिमतम् क्षीरोदधिमथने हरिणा दत्तम्॥ ५७ ॥

योगप्रभावेण मधुरास्थित पदार्थराशिर्यथा द्वारकास्थितो भवति तथा करणसामर्थ्येन, रामेण समनुमन्त्रितः सहितः॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
पञ्चाशोऽध्यायः॥ ५० ॥
(विजयध्वजरीत्या त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः)

# एकपञ्चाशत्तमोऽध्याय

(विजयध्वजरीत्या चतुः पञ्चाशोऽध्यायः)

-: मुचुकुन्दस्य श्रीकृष्णसन्दर्शनादि कथा :-

श्रीशुक उवाच

तं विलोक्य विनिष्क्रान्त मुज्जिहानमिवोडुपम्।
दर्शनीयतमं श्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥ १ ॥

श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभाऽऽमुक्तकन्धरम्।
पृथुदीर्घचतुर्बाहुं नवकञ्जारुणेक्षणम् ॥ २ ॥

नित्यप्रमुदितं[1] श्रीम त्सुकपोलं शुचिस्मितम्।
मुखारविन्दं बिभ्राणं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ ३ ॥

वासुदेवो ह्ययमिति पुमान् श्रीवत्सलाञ्छनः ।
चतुर्भुजोऽरविन्दाक्षो वनमाल्यतिसुन्दरः ॥ ४ ॥

लक्षणैर्नारदप्रोक्तै र्नान्यो भवितुमर्हति ।
निरायुधश्चलन्पद्भ्यां[2] योत्स्येऽनेन निरायुधः ॥ ५ ॥

इति निश्चित्य यवनः प्राद्रवन्तं पराङ्मुखम् ।
अन्वधावज्जिघृक्षुस्तं दुरापमपि योगिनाम् ॥ ६ ॥

1 Ml.v. ०त्यं 2 M.Ma. ०र०

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एकपञ्चाशत्तमेऽहन्मुचुकुन्दद्दशा हरिः । यवनं मुचुकुन्देन स्तुतस्सन्नन्वकम्पत ॥
यवनेन्द्रसुता त्कालयवना द्यदुभीषणात् । हरि र्हरगिरः स्वैरं पालनायाऽपलायत ॥

**तमिति** । यदा गार्ग्यः[1] श्यालेन षण्ड[2] इत्युक्त स्तदा यादवैरुपहसिते क्रुद्धोऽसौ श्रीमहेशं[3] प्रसाद्य यदुभीषणं पुत्रं वरं लब्धवान्। ततश्च यवनेन्द्रेणाऽपुत्रेण स्वक्षेत्रे पुत्रोत्पादनाय प्रार्थितो गार्ग्यः[4] कालयवनमजीजनदिति पुराणप्रसिद्धम्। पुरद्वारान्निष्क्रान्तम्। उज्जिहान मुद्गच्छन्तम् ॥ १,२ ॥

**नित्यमिति।** नित्यप्रमुदितमित्यादि[5] मुखारविन्दविशेषणम्॥ ३,४ ॥

**लक्षणैरिति।** नारदोक्तैरेतैः लक्षणैरयं पुमान् वासुदेव एव नाऽन्यो भवितुमर्हति। अयं च निरायुधः। अतोऽनेन पद्भ्यामेव चल न्निरायुधोऽहं योत्स्यामीति निश्चित्य तं पराङ्मुखं प्राद्रवन्त मन्वधावदित्यन्वयः॥ ५,६ ॥

1 Ml.v. गर्गः 2 B.J. षण्ढः 3 Ml.v. °श्वरं 4 Ml.v. गर्गः5 B,Ml,v. omit आदि

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

दुष्कृन्निग्रहसाध्वनुग्रहा वेकेन भगवच्चेष्टितेन दर्शयन् कथाशेषमाह-**तमित्यादिना।** पुरद्वाराद्विनिष्क्रान्तं तं श्रीकृष्ण मवलोक्य नारदोक्तै रेतै र्लक्षणैः, अयं पुमान् वासुदेवो नान्यो भवितुमर्हति। अयं च निरायुधः। अनेन पद्भ्यामेव चलन् निरायुधश्चाहं योत्स्यामीति निश्चित्य पराङ्मुखं प्राद्रवन्तं अन्वधाव दित्यन्वयः। तं कथम्भूतम्? उज्जिहानमुद्गच्छन्तं उडुपं चन्द्रमिव स्थितम् अतीव दर्शनीयं पीते कौशेये वाससी यस्य॥ १ ॥

श्रीवत्सो वक्षसि यस्य, भ्राजता कौस्तुभेनाऽऽमुक्ता बद्धा अलङ्कृतेति यावत् सा ग्रीवा यस्य, पृथवः पीनाः दीर्घा श्चत्वारो बाहवो यस्य।, नवकञ्जे इवारुणे ईक्षणे यस्य तम्॥ २ ॥

नित्यप्रमुदितेत्यादि मुखारविन्दविशेषणम्। श्रीमत् सौन्दर्यसम्पद्वत् शोभनौ कपोलौ यस्मिन्। शुचि विशुद्धं स्मितं यस्मिन्। स्फुरन्ती मकराकारे कुण्डले यस्मिन्। तथाभूतं मुखारविन्दं बिभ्राणम्॥ ३ ॥

श्रीवत्सो लाञ्छनं चिह्नं यस्य। चत्वारो भुजा यस्य। अरविन्दे इवाक्षिणी यस्य, वनमाला अस्याऽस्तीति तथा, व्रीह्यादित्वान्मत्वर्थीय इनिः। एवंविधैः नारदप्रोक्तैः लिङ्गैः वासुदेव एव अय मित्यन्वयः॥ ४,५ ॥

इत्थं निश्चित्य यवनः पलायमानं पराङ्मुखं च भगवन्तं ग्रहीतुमिच्छुः अन्वधावत्। तस्य दुष्प्राप्यतां वक्तुं विशिनष्टि - योगिनामपि दुरापं योगविशुद्धमनसामपि दुर्ग्रहम्[1]॥ ६ ॥

1 B. दुर्ग्राह्यम्

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

उज्जिहानमुद्यन्तम् ॥ १-५ ॥

जिघृक्षु र्ग्रहणेच्छुः ॥ ६ ॥

**हस्तप्राप्तमिवाऽऽत्मानं हरिणा स पदे पदे ।**
**नीतो दर्शयता दूरं यवनेशोऽद्रिकन्दरम् ॥ ७ ॥**

पलायनं यदुकुले जातस्य तव नोचितम् ।
इति क्षिप न्ननुगतो नैनं प्रापाऽहताशुभः ॥ ८ ॥

एवं क्षिप्तोऽपि भगवा न्प्राविशद्गिरिकन्दरम् ।
सोऽपि प्रविष्ट स्तत्रान्यं शयानं ददृशे नरम् ॥ ९ ॥

नन्वसौ दूरमानीय शेते मामिह साधुवत् ।
इति मत्वाऽच्युतं मूढ स्तं पदा समताडयत् ॥ १० ॥

स उत्थाय चिरं सुप्तः शनै रुन्मील्य लोचने ।
दिशो विलोकय न्पार्श्वे तमद्राक्षी दवस्थितम् ॥ ११ ॥

स तावत्तस्य रुष्टस्य दृष्टिपातेन भारत ।
देहजेनाग्निना दग्धो भस्मसादभव त्क्षणात् ॥ १२ ॥

**श्रीध० हस्तेति** । आत्मानं हस्तप्राप्तमिव दर्शयता दूरं नीत इत्यन्वयः ॥ ७ ॥

**पलायनमिति** । अहताशुभोऽक्षीणकर्मा ॥ ८,९ ॥

**नन्विति**। तं शयानमच्युतं मत्वाऽताडयदिति ॥ १०, ११॥

स इति । तस्य क्रुद्धस्य दृष्टिपातेन सन्दीप्तो यः स्वदेहजोऽग्निस्तेन ॥ १२ ॥

**वीर० हस्तेति** । प्रतिपदं आत्मानं हस्तप्राप्तमिव दर्शयता भगवता दूरं नीतः स यवनाधीशोऽन्ततोऽद्रिकन्दरं प्रापितः[1] ॥ ७ ॥

यदुकुले जातस्य तव पलायन मनुचितमित्येवं क्षिपन् अभिभवन् आशु गतोऽपि यवन एनं भगवन्तं न प्राप। तत्र हेतुं[2] वदन् विशिनष्टि - अहताशुभः अक्षीणदुष्कृतः ॥ ८ ॥

भगवांस्त्वित्थं क्षिप्तोऽपि तूष्णीं गिरिकन्दरं प्राविशत्, स तु यवनः तत्र गिरिकन्दरे प्रविष्टः तत्राऽन्यं शयानं कञ्चित्पुरुषमद्राक्षीत्॥ ९ ॥

तं[3] शयानं पुरुष मसौ वासुदेवो मामित्थं दूरमानीय साधुव दधुना तूष्णीं शेते । नूनमसौ श्रीकृष्ण एवेति मूढस्सन् अच्युतमेव मत्वा तं पदा पादेनाताडयत् ॥ १० ॥

सः[4] ताडितः पुरुषः उत्थाय चिरं सुप्तः, हेतुगर्भमिदम् । तत्त्वा च्छनै र्लोचने उन्मील्य दिशोऽवलोकयन् पार्श्वे[5] स्थितं तं[6] यवनं ददर्श ॥ ११ ॥

हे भारत ! स यवनः रुष्टस्य क्रुद्धस्य तस्य पुंसः दृष्टिपातेन सन्दीप्तो यः स्वदेहजोऽग्निः, तेन तावत्तदैव क्षणाद्भस्मीबभूव ॥ १२ ॥

1 B. adds इत्यर्थः 2 B. कारणं 3 k.w. omit तं 4 K.W. omit सः 5 B.०र्व० 6 B. omits तं

**विज०** दूरमद्रिकन्दरं प्रति नीतः पदे पदे हस्तप्राप्तमिव आत्मानं दर्शयित्वा इति शेषः। दर्शयता आत्मानमिति शेषः ॥ ७ ॥

अहताशुभः अनष्टपापः ॥ ८-१२ ॥

## राजोवाच

**को नाम स पुमान्ब्रह्मन् कस्य किंवीर्य एव वा[1]।**
**कस्माद्गुहां गतः शिश्ये किंतेजो यवनार्दनः[2] ॥ १३ ॥**

## श्रीशुक उवाच

**स इक्ष्वाकुकुले जातो मान्धातृतनयो महान् ।**
**मुचुकुन्द इति ख्यातो ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गरः ॥ १४ ॥**

**स याचितः सुरगणैरिन्द्राद्यै रात्मरक्षणे ।**
**असुरेभ्यः परित्रस्तै स्तद्रक्षां सोऽकरोच्चिरम् ॥ १५ ॥**

**लब्ध्वा गुहं ते स्वःपालं मुचुकुन्दमथाऽब्रुवन् ।**
**राजन्विरमतां कृच्छ्रा द्भवान्नः परिपालनात् ॥ १६ ॥**

1 B,G,J,K,W. च 2 M,Ma.°नम्

**श्रीध०** क इति । यवनमर्दयति हिनस्तीति तथा, स कस्य वंश्यः किंवीर्यः कीदृक्प्रभाववान्, किंतेजः कस्य वीर्यं पुत्र इत्यर्थः। शिश्ये अशयिष्ट ॥ १३ ॥

स इति । सत्यः सङ्गरो युद्धं प्रतिज्ञा वा यस्य सः ॥ १४,१५ ॥

**लब्ध्वेति।** गुहं कार्तिकेयम् । स्वःपालं स्वर्गपालकं सेनान्यम् ॥ १६ ॥

**वीर०** तत्र शयानस्य पुरुषस्य कुलनामवीर्यशयनकारणादिबुभुत्सया पृच्छति राजा **को नामेति।** हे ब्रह्मन्! स यवनार्दनो यवनस्य हन्ता शयानः, को वा को नाम? किं तस्य नामधेयमित्यर्थः। कस्य सम्बन्धी? कस्य कुले जातः? किं कीदृशं वीर्यं यस्य सः। कस्मात्कारणाद्गुहां प्राप्त श्शेते स्म। किं कीदृशं तेजो यस्य तथाभूतः॥ १३॥

तत्रोत्तरमाह मुनिः- स इति नवभिः[1] । ब्रह्मणि ब्रह्मकुले साधुः ब्रह्मण्यः सत्यो धर्म्यः सङ्गरो युद्धं यस्य सः ॥ १४ ॥

स इति । स च मुचुकुन्दः असुरेभ्यः भीतैरिन्द्राद्यैः देवैरात्मनः रक्षणे निमित्ते सहायत्वेन याचित श्चिरं तेषां रक्षामकरोत् ॥ १५ ॥

तदा ते देवाः गुहं कार्तिकेयं स्वःपालं स्वर्गपालकं सेनान्यं लब्ध्वा अथ मुचुकुन्द मब्रुवन् उक्तिमेवाह-राजन्निति सार्धैश्चतुर्भिः। हे राजन्! नोऽस्माकं परिपालनात्मका त्कृच्छ्राच्छ्रमात् भवान् विरमतां विरामं प्राप्नोतु।॥ १६ ॥

1 W. omits नवभिः

विज० कस्य पुत्र इति शेषः। यवनमर्दितवान् हिंसितवान् ॥ १३,१४ ॥

तेषां सुराणां रक्षाम् ॥ १५ ॥

स्वःपालं स्वर्गरक्षाकरं परिपालनाज्जातात्कृच्छ्रात् ॥ १६ ॥

**नरलोकं[1] परित्यज्य राज्यं च[2] हतकण्टकम् ।**
**अस्मान्पालयतो वीर कामा स्ते सर्व उज्झिताः ॥ १७ ॥**

**सुता महिष्यो भवतो ज्ञातयोऽमात्यमन्त्रिणः[3]।**
**प्रजाश्च तुल्यकालीयाः[4] नाऽधुना सन्ति कालिताः ॥ १८ ॥**

**कालो बलीयान्बलिनां भगवानीश्वरोऽव्ययः ।**
**प्रजाः कालयते क्रीडन्पशुपालो यथा पशून् ॥ १९ ॥**

**वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्य मद्य[5] नः ।**
**एक एवेश्वर स्तस्य भगवान्विष्णुरव्ययः ॥ २० ॥**

1 B,G,J °के 2 B,G,J,M,Ma. °नि 3 Ml,v. °यो भृत्य 4 M,Ma. °नाः 5 M,Ma °मात्मनः

श्रीध० नरलोक मिति। उज्झिताः त्यक्ता गता इत्यर्थः ॥ १७ ॥

किञ्च सुता इति । तुल्यकालीयाः त्वत्समानकालीनाः[1] कालिता विचालिताः ॥ १८ ॥

मत्प्रजाः कोऽन्यः कालयेदिति चे दत आहुः **काल** इति । कालयते इतस्ततः चालयति ॥ १९ ॥

**वरमिति**। तस्य कैवल्यस्य ॥ २० ॥

1 Ml.v. °याः

**वीर० हे वीर! शत्रुरहितं राज्यं नरलोकं च कृत्वा केवलमस्मान्पालयत स्ते, कर्तरि शेषे षष्ठी। त्वया सर्वे कामाः** भोगाः उज्झिताः त्यक्ताः ॥ १७ ॥

किञ्च तव सुतादयः त्वत्तुल्यकालीनाः प्रजाश्च कालिताः कालवशीकृताः । अधुना न सन्ति किन्तु कालवशं गताः, मृता इति यावत् ॥ १८ ॥

कोऽसौ मत्तो बलीयान् कालो नामेति शङ्काया माब्रह्मस्तम्बपर्यन्तकृत्स्नजगतः[1] कालवश्यतां, कालस्य बलीयस्त्वं च वक्तुं कालो नाम नेश्वरात्पृथग्भूतः, किन्तु कालशरीरक ईश्वर एव कलयतीत्याहुः **काल** इति । कालः कालशरीरकः, अव्ययः कालकृतनाशादिविकाररहितः, ईश्वरः सर्वनियन्ता, भगवान्स्वयं क्रीडन्प्रजाः कालयते वशीकरोति यथा पशुपालः पशून्वशीकरोति तद्वत् ॥ १९ ॥

**वरमिति**। अतस्त्वमद्य नोऽस्मान् प्रति वरमभिमतं वरय। तर्हि मुक्तिं प्रयच्छतेत्यत्राऽऽहुः - ऋते कैवल्यमिति। कैवल्यं प्रकृतिसम्बन्धराहित्यं मुक्तिमिति यावत् । ततोऽन्यं वरं वरयेत्यर्थः । कैवल्यस्यावरणीयत्वे हेतुमाहुः[2]-एक एवेति। तस्य कैवल्यस्य ईश्वरः अधिपतिः दातेति यावत्, भगवान्विष्णुः एक एव, अतो न वयं कैवल्यं दातुं प्रभव इति भावः ॥ २० ॥

1 K. का० 2 B. हेतुं प्राहुः

**विज०** उज्झिताः त्यक्ताः ॥ १७ ॥

तुल्यकालीनाः तत्समानकालजाताः, कालिताः कालेन विनाशिताः ॥ १८ ॥

कालयते उभयपदी । कालः क इति । तत्राऽऽह भगवानिति । अव्ययः स्वरूपतोऽवयवतो गुणतोऽपि नाशरहितः ॥ १९, २० ॥

**एवमुक्तः स वै देवा नभिवाद्य[1] महायशाः।**
**★ (अयाचत गुहाविष्टो निद्रां तु बहुकालिकीम्।**
**तथेत्युक्तस्तु तैर्देवैः मुचुकुन्दो महामनाः ॥)**

☆ अशयिष्ट गुहाविष्टो निद्रया देवदत्तया ॥ २१ ॥

+ [2-]प्रतिबोधयति त्वां वै स्वपन्तं यस्त्वचेतनः[-2] ।
स त्वया [3-]दृष्टिमात्रेण[-3] भस्मीभवतु तत्क्षणात् ॥ २२ ॥

यवने भस्मतां[4] नीते भगवान्सात्त्वतर्षभः ।
आत्मानं दर्शयामास मुचुकुन्दाय धीमते ॥ २३ ॥

तमालोक्य घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभेन विराजितम् ॥ २४ ॥

तं रोचमानं वैजयन्त्या च मालया ।
चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ २५ ॥

1 B,G,J. °चन्द्र ★ This extra verse is found in M.Ma. edns only ☆ The following three extra half verses are found in B,G,J. edns, only. निद्रामेव ततो चक्रे स राजा श्रमकर्षितः। यः कश्चिन्मम निद्राया भङ्गं कुर्या त्सुरोत्तमाः । स हि भस्मीभवेदाशु,तथोक्तश्च सुरैस्तदा ॥ + This verse is not found in M.Ma. Ml.v. edns. 2--2 B.G.J. स्वापं यातं यस्तु मध्ये बोधयेत्त्वामचेतनः। 3--3 B.G.J. दृष्टमात्रस्तु 4 B,G,J M.Ma °सान्नीते

**श्रीध०** गुहायां प्रविष्टः शेते स्म ॥ २१-२५ ॥

**वीर० एवमिति।** देवैस्तर्हि बहुकालमनिद्रस्य मम शयनार्थं निर्जनं प्रदेशं प्रदर्शयतेत्युक्तौ रित्यर्थसामर्थ्यादत्र शेषो बोद्धव्यः। एवं स्वपन्तं यस्त्विति वक्ष्यमाण प्रकारेणोक्तो महायशाः। स च मुचुकुन्दो देवैः प्रदर्शितायां तस्यां गुहायां प्रविष्टः देवैः दत्तया विघ्नानुपहतीकृतया निद्रया। अध्ययनेन वसतीतिवत् हेत्वर्थे तृतिया। अशयिष्ट शयितवान्, निमित्तभूतया वा ॥ २१ ॥

**प्रतीति।** एवंशब्दविवक्षितं प्रकारमाह-अचेतनोऽजानन् यः कश्चित्स्वपन्तं शयानं त्वां[1] प्रतिबोधयति जाग्रदवस्थां प्रापयिष्यति स पुमान् त्वया कर्त्रा दृष्टिमात्रेण[2] करणेन त्वद्दृष्टिप्रसरमात्रेणेति फलद्वयफलितोऽर्थः। तत्क्षणात्[3] भस्मी भवतु इति[4] ॥ २२ ॥

प्रश्नस्योत्तरमुक्त्वा प्रकृतां कथामाह- **यवन** इत्यादिना । [5-]भस्मतां नीते[-5] भस्मतां प्रापिते सति सात्वतर्षभः भगवान्कृष्णः धीमते मुचुकुन्दायाऽऽत्मानं दर्शयामास ॥ २३ ॥

**तमिति।** तस्य भगवतस्तेजसा धर्षितः अभिभूतोऽत एव शङ्कितः,कस्येदं तेज इत्यादि शङ्कमानस्तेजसा दुर्धर्षम् अधृष्यमिव स्थितं तं भगवन्तं शनकैरवलोक्य महती विपुला बुद्धिर्यस्य स राजा मुचुकुन्दः पर्यपृच्छदिति सम्बन्धः।

तं कथम्भूतम् ? घनमिव श्यामं पीतकौशेये वाससी यस्य, श्रीवत्सो वक्षसि यस्य, तथाभूतं भ्राजता कौस्तुभेन विराजितं, वैजयन्त्या वनमालया शोभमानं च । विराजित मित्युक्तसमुच्चयार्थश्चशब्दः, अनुक्ताभरणान्तर समुच्चयार्थो वा। चारु[6] सुन्दरं प्रसन्नं च वदनं यस्य तम् ॥ २४, २५ ॥

1 K.W omit त्वां2 B. सरण 3 B adds एव 4 K.W. omit इति 5--5 K. omits 6 K.W.omit चारु

विज० आत्मनस्तु बहुकालिकीं बहुकालभोग्याम् ॥ २१-२५ ॥

प्रेक्षणीयं त्रिलोकस्य[1] सानुरागस्मितेक्षणम्।
अपीच्यवयसं मत्तमृगेन्द्रोदारविक्रमम् ॥ २६ ॥

पर्यपृच्छन्महाबुद्धि स्तेजसा तस्य धर्षित[2] ः ।
शङ्कितः शनकै राजा[3] दुर्धर्षमिव तेजसा ॥ २७ ॥

## मुचुकुन्द उवाच

को भवानिह सम्प्राप्तो विपिने गिरिगह्वरे ।
पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां विचरस्युरुकण्टके ॥ २८ ॥

किंस्वि त्तेजस्विनां तेजो भगवांस्त्वं[4] विभावसुः।
सूर्यः सोमो महेन्द्रो वा लोकपालोऽपरोऽपि वा ॥ २९ ॥

मन्ये त्वां देवदेवानां त्रयाणां पुरुषर्षभम्।
यद्बाधसे[5] गुहाध्वान्तं प्रदीपः प्रभया यथा ॥ ३० ॥

1 B,G,J, नृ 2 M.Ma. विस्मितः 3 Ml.v. राजन् 4 B,G,J. °वान्वा 5 M.Ma. °द्भाससे

**श्रीध० पर्यपृच्छदिति।** धर्षितः अभिभूतः दुर्धर्षमप्रधृष्यम्[1] ॥ २६,२७ ॥

**क** इति । विपिनेऽरण्ये तत्रापि गिरेर्गह्वरे दुष्प्रवेशस्थाने, तत्राप्युरुकण्टके पद्मपलाशसदृशाभ्यां पद्भ्यां विचरसीति ॥ २८ ॥

**किंस्विदिति** । तेजोमूर्तिः प्रभावो दीप्तिर्वा ॥ २९ ॥

सर्वत्रापरितोषा दाह-**मन्ये** इति । पुरुषर्षभं श्रीविष्णुम् । गुहाध्वान्तमन्तस्तमः ॥ ३० ॥

1 Ml.v. omit प्र

**वीर०** त्रिलोकस्य प्रेक्षणीयं दर्शनीयं सुन्दरतममिति यावत् । अपीच्यं सुन्दरं वयो यस्य तम् । प्रादुर्भूतवयसमिति भावः । मत्तस्य सिंहस्येव उदारो विक्रमः पराक्रमः पादविक्षेपो वा[1] यस्य तम् ॥ २६,२७ ॥

तं प्रश्नमेवाह **को भवानित्यादिना** वयं त्वित्यतः प्राक्तनेन । इह सम्प्राप्तो भवान् कः? किं देवः, उत मानुषः? इहेति विवक्षितमाह-विपिने अरण्ये तत्रापि गिरिगह्वरे दुष्प्रवेशस्थाने तत्राप्युरूणि कण्टकानि यस्मिन् तस्मिन् पद्मपलाशाभ्यां पद्भ्यां विचरसि ॥ २८ ॥

किंस्वित्? किं वा त्वं तेजस्विनां यत्तेजः तदेव मूर्तीभूतः[2], किं वा भगवान्विभावसुः अग्निः अथवा सूर्यः। यद्वा सोमेन्द्रयोरन्यतमः उत वरुणाद्यन्यतमो[3] लोकपालः ॥ २९ ॥

सर्वत्रापरितोषादाह-**मन्ये** इति । देवानामिन्द्रादीनामपि देवा ये ब्रह्मविष्णुरुद्रास्तेषां त्रयाणां[4] मध्ये यः पुरुषोत्तमो भगवांस्त्वं त्वामहं मन्ये । कुतः ? यत् यस्मात् गुहाध्वान्तं हृदयगुहास्थमपि ध्वान्तमज्ञानं च बाधसे विधुनोषि । यथा दीपः स्वप्रभया अन्धं तम स्तद्वत् ॥ ३० ॥

---

1 B. omits वा 2 K °तं 3 W °न्यो लो० 4 K.W. omit °त्रयाणां

**विज०** त्रिलोकस्य मध्ये दर्शनीयगुणम् ॥ २६ ॥

अतितेजसा अधिकतेजसा ॥ २७ ॥

गिरिगह्वरे प्रवेष्टुमशक्ये ॥ २८ ॥

तेजस्विनां ज्योतिष्मतां पुञ्जीभूतमेकं तेजः किंस्वित्? सामान्योक्तं विशिनष्टि - भगवानिति ॥ २९ ॥

त्रयाणां ब्रह्मविष्णुशिवानां मध्ये पुरुषर्षभं पुरुषश्रेष्ठं विष्णुं मन्ये। [1-]यद्वा त्रयाणां ब्रह्मरुद्रेन्द्राणां त्रेताग्नीनां वा। तत्र हेतुमाह[-1]-यदिति। गुहाध्वन्तमित्युपलक्षणं ब्रह्माण्डगुहाव्यापितिमिरमपि, प्रदीपो न गृहान्तर्वर्तिज्योतीरूपं परं न गृह्यते, किन्तु सूर्योऽपि ॥ ३० ॥

1--1 B. omits

**शुश्रूषतामव्यलीकमस्माकं नरपुङ्गव।**
**स्वजन्मकर्म गोत्रं वा कथ्यतां यदि रोचते॥ ३१ ॥**

**वयं तु पुरुषव्याघ्र ऐक्ष्वाकाः क्षत्रबन्धवः।**
**मुचुकुन्द इति प्रोक्तो[1] यौवनाश्वात्मजः प्रभो॥ ३२ ॥**

चिरप्रजागरश्रान्तो[2] निद्रयाऽपहतेन्द्रियः[3]।
शयेऽस्मि न्विपिने[4] कामं केनाऽप्युत्थापितोऽधुना॥ ३३॥

सोऽपि भस्मीकृतो नून मात्मीयेनैव पाप्मना।
अनन्तरं भवान् श्रीमाँल्लक्षितोऽमित्रशासनः[5]॥ ३४॥

तेजसा तेऽविषह्येण भूरि द्रष्टुं[6-] न शक्नुमः[-6]।
हतौजसो[7-] महाभाग माननीयोऽसि[-7] देहिनाम्॥ ३५॥

1 K,W. ख्यातो 2 M,Ma °रं 3 G,K,M,Ma. °योपहते०; Ml.V.W. °यापहृते 4 B,G,J,K,M,Ma,Ml. °जने 5 B,G,J. शातनः; Ml, v शासन! 6- -6 M,Ma. द्रष्टुमशक्नुमः 7- -7 Ml,v. ततो वै त्वं

**श्रीध० वयन्त्विति।** वंश्याभिप्रायेण बहुवचनम्। तेष्वहं मुचुकुन्द इति प्रोक्त[1-] इति[-1]। युवनाश्वो मान्धातुः पिता अतो मान्धाता यौवनाश्वः॥ ३१- ३५॥

1- -1 B. omits

**वीर० शुश्रूषतामिति।** यद्यपि चतुर्भुजत्वादिलिङ्गैः परमात्मासाधारणैः पुरुषर्षभं मन्ये इति पुरुषोत्तमत्वं निश्चित्य नरपुङ्गवेति सम्बोधनानुपपत्तिः। तथाऽपि पुनस्तथैव द्विभुजत्वादिविशिष्टरूपेणाऽवस्थितं तमवलोक्य तथा सम्बोधितम्। नरशब्दस्य पुरुषमात्रपरत्वं वा। स्वस्य[1] जन्म कर्म गोत्रं, वाशब्दः चार्थकः। श्रोतुमिच्छतामस्माकं अव्यलीकं निष्कपटं[2] यथा तथा कथ्यतां यदि रोचते, न वयं विधातुं प्रभव इति भावः॥ ३१॥

तर्हि तव जन्मादिकं कथयेत्यत आह - **वयन्त्विति।** वयन्त्विति वंश्याभिप्रायकं बहुवचनम्। हे पुरुषव्याघ्र! तावद्वयं क्षत्रबन्धवः क्षत्त्रेण वर्णेन बध्यन्त इति क्षत्त्रबन्धवः क्षत्त्रिया इत्यर्थः। तत्राप्यैक्ष्वाकाः इक्ष्वाकुवंश्याः "दाण्डिनायन" (आष्टा० 6-4-174) सूत्रे निपातनात्साधुः। बहुषु लुगभाव आर्षः। तत्राप्यहं यौवनाश्वात्मजः युवनाश्वस्यापत्यं यौवनाश्वो मान्धाता, तास्यात्मजः पुत्त्रः मुचुकुन्द इति ख्यातः॥ ३२॥

चिरं बहुकालं प्रजागरेण श्रान्तः अत एव निद्रयोपहतान्यभिभूतानीन्द्रियाणि यस्य सोऽहमस्मिन् निर्जने देशे कामं यथेच्छं शये शयितवानस्मि। अधुना केनापि केनचिदुत्थापितश्च॥ ३३॥

यो मा मुत्थापितवान् सोऽपि स्वीयेनैव पापेन हेतुना नूनं भस्मीकृतः। अस्मद्दृष्टिप्रसारस्तु निमित्तमात्रमिति भावः। अनन्तरं भस्मीभावनानन्तरं[3] अमित्रशासन[4] श्शत्रूणां शास्ता श्रीमान् भवान् लक्षितः दृष्टः, मयेति शेषः। सोढुमशक्येन त्वत्तेजसा अभिभूतदृष्टयो वयं त्वां भूरि चिरं द्रष्टुं न शक्नुमः। महाभाग! हे भगवन्! हतमोजस्सामर्थ्यं येषां तेषां कर्मसङ्कुचितज्ञानात्मकसामर्थ्यानां अज्ञानां मादृशां देहिनां माननीयोऽसि पूज्योऽसि भजनीयोऽसीति यावत्॥ ३४,३५॥

1 W. omits स्वस्य 2 K.W. निष्कण्टकं 3 B. adds अस्य 4 B भावादन०

विज० अव्यलीकं सत्यं शुश्रूषतां श्रोतुकामानाम्॥ ३१ ॥

ऐक्ष्वाका इक्ष्वाकुकुले जाताः ॥ ३२-३४ ॥

हतौजसः नष्टतेजसः॥ ३५ ॥

एवं सम्भाषितो[1] राज्ञा भगवान्भूतभावनः।
प्रत्याह प्रहसन्वाण्या मेघनादगभीरया[2]॥ ३६ ॥

श्री भगवानुवाच[3]

जन्मकर्माभिधानानि सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशः।
न शक्यन्तेऽनुसङ्ख्यातु[4] मनन्तत्वान्मयापि[5] हि॥ ३७ ॥

क्वचिद्रजांसि[6] विममे पार्थिवान्युरुजन्मभिः[7]।
गुणकर्माभिधानानि न मे जन्मानि कर्हिचित्॥ ३८ ॥

कालत्रयोपपन्नानि जन्मकर्माणि मे नृप।
अनुक्रमन्तो नैवान्तं गच्छन्ति परमर्षयः॥ ३९ ॥

तथाप्यद्यतनान्यङ्ग शृणुष्व गदतो मम।
विज्ञापितो विरिञ्चेन पुराऽहं धर्मगुप्तये।
भूमेर्भारायमाणाना मसुरणां[8] क्षयाय च॥ ४० ॥

अवतीर्णो यदुकुले गृह आनकदुन्दुभेः।
वदन्ति वासुदेवेति वसुदेवसुतं हि माम्॥ ४१ ॥

कालनेमिर्हतः कंसः प्रलम्बाद्याश्च सद्विषः[9]।
अयं च यवनो दग्धो राजंस्ते तिग्मचक्षुषा॥ ४२ ॥

सोऽहं तवाऽनुग्रहार्थं गुहामेतामुपागतः।
प्रार्थितः प्रचुरं पूर्वं त्वयाऽहं भक्तवत्सलः॥ ४३ ॥

वरान्वृणीष्व राजर्षे सर्वान्कामा न्ददामि ते।
मां प्रपन्नो जनः कश्चि न्न भूयोऽर्हति शोचितुम्॥ ४४ ॥

## श्रीशुक उवाच

**इत्युक्तस्तं प्रणम्याऽऽह मुचुकुन्दो मुदान्वितः।**
**ज्ञात्वा नारायणं देवं गर्गवाक्यमनुस्मरन्॥ ४५ ॥**

1- -1 M,Ma. सुभाषितो; W. सभाजितो 2 M,Ma,W. ह्राद 3- -3 M,Ma. श्रीकृष्ण उवाच 4 Ml,v. °न्ते प्रस० 5 M,Ma. Ml,v. °मापि 6 M,Ma. °कश्चि० 7 W. °न्युरु 8. K,W. °मा° 9 K,W

**श्रीध० क्वचिदिति।** क्वचित्कदाचित् कश्चित् यद्यपि रजांस्यपि[1] विममे गणितवान्, तथापि जन्मानि कर्माणि न विमिमीते॥ ३६,४१ ॥

**कालेनेति।** ते तिग्मचक्षुषा निमित्तेन मयैव दग्धः॥ ४२, ४३ ॥

**नरानिति।** अपूर्णोऽहमिति शोचितुम्। यद्वा अन्यैर्दत्तेषु वरेषु क्षीयमाणेषु यथा शोचति[2] नैवं मां प्रपन्नः। मद्दत्तवराणा मक्षय्यत्वादिति भावः॥ ४४ ॥

**इतीति।** अष्टाविंशतितमे युगे भगवानवतरिष्यतीति वृद्धगर्गवाक्यमनुस्मरन्नित्यर्थः॥ ४५ ॥

1 Ml,v. omit °अपि 2 Ml,v. °शोचन्ति

**वीर० एवमिति।** राज्ञा मुचुकुन्देनेत्थम्[1] उक्तो भगवान् प्रहसन् मेघगर्जितव द्गम्भीरया गिरा प्रत्युवाच॥ ३६॥

उक्तिमेवाह- जन्मकर्मेत्यादिना इत्युक्त इत्यतः प्राक्तनेन, यत्तावत्पृष्टं[2] स्वजन्मकर्मेत्यादि, तस्योत्तरमाह **जन्मेति।** अङ्ग! हे मुचुकुन्द! मम जन्मादीनि सहस्रशः बहुशः[3] सन्ति, अतस्तान्यत्राधुना मयाऽपि सङ्ख्यातुं एतावन्तीति परिच्छिद्य वक्तुं न शक्यन्ते। ननु किमनादिसंस्मरणशीलैरस्मदादिभिरिव विस्मृतत्वान्न शक्यन्त इत्याशङ्कावारणायानन्तत्वान्ममापीत्युक्तम्। अयं भावः -यद्यपि भवज्जन्मादीनि कर्मसङ्कुचितज्ञानै र्भवद्भि र्विस्मृतत्वा द्बहुत्वाच्च न सङ्ख्यातुं शक्यन्ते[4]। तथापि सर्वज्ञेन मया तु शक्यन्त एव। अस्मज्जन्मादीनि त्वनन्तत्वान्नैव शक्यन्ते, न चैवं सर्वज्ञत्वहानिः, अनन्तानामानन्त्यज्ञानमेव हि सर्वज्ञत्वावहम्। न तु तेषां परिच्छिन्नत्वज्ञानं तस्यायथार्थत्वेनाज्ञत्वावहत्वात् ॥ ३७ ॥

[5]असङ्ख्येयत्वमेवोपपादयति-**क्वचिदिति।** यद्यपि क्वचित्कदाचित्कश्चित्सूक्ष्मबुद्धिमान् बहुभिः जन्मभिः पृथिव्या स्सम्बन्धीनि रजांसि विममे गणयेत्। तथाऽपि मम गुणकर्माभिधानानि न विममे गणयितुं न शक्नुयादित्यर्थः "विष्णो र्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजाँसि" (ऋक्.सं.2-2-24-1) इति श्रुत्यर्थोऽत्रानुसंहितः॥ ३८ ॥

तथाहि परमर्षयः पराशरवैशम्पायनशौनकादयः कालत्रयोपपन्नानि कालत्रयोपयुक्तानि कालत्रयगोचराणीति यावत्, जन्मानि कर्माणि च अनुक्रमन्तोऽनुवर्णयन्तोऽद्याप्यन्तं पारं नैव गच्छन्ति॥ ३९ ॥

यद्यप्येवं तथापि अङ्ग! हे मुचुकुन्द! अद्यतनान्याधुनिकानि मम जन्मादीनि[6] गदतो मत्तः शृणु, धर्मपरित्राणार्थं भूमेर्भारभूतानां आसुराणां[7] असुरसम्पत्याऽभिजातानां[8] क्षयाय च ब्रह्मणा प्रार्थितोऽहं यदुकुले तत्रा प्यानकदुन्दुभेः वसुदेवस्य गृहे ग्रहिष्यामीति[9] भावः। अवतीर्णवानस्मि। ज्ञानशक्त्यादिस्वस्वभाव मजहदेव जात इत्यवतीर्णशब्दप्रयोगाभिप्रायः। एवमाधुनिकं जन्म उक्तम्। अथ नामधेयमाह - वदन्तीति। वसुदेवसुत इत्यस्य हेतुत्वद्योतको हिशब्दः। वसुदेवसुतत्वाद्वासुदेव इति वदन्ति। सन्धिरार्षः। प्रातिपदिकमात्रानुवादो वा। तस्यैव नामधेयत्वेन[10] प्रदर्शनीयत्वा द्विभक्ते स्साधुत्वार्थत्वाच्च॥ ४०, ४१॥

अथाधुनिकानि कर्माण्याऽऽह - **कालनेमिरिति**। हे राजन्! तव तिग्मेन तीक्ष्णेन चक्षुषा निमित्तेन मयैवाय यवनो दग्धः, धर्मगुप्तयाद्यर्थं प्रार्थितत्वाद्युक्त्यैव तदुपयुक्तसार्वज्ञसर्वशक्तित्वादिगुणाना[11] मुक्तप्रायत्वा न्न पृथग्गुणोक्तिः॥ ४२॥

तर्हीह किमर्थमागत इत्यत[12] आह-**सोऽहमिति**। स उक्तविधोऽहं त्वामनुग्रहीतुं इमां गुहां प्रति समुपागतः। तर्हि[13] सर्वानपि जनान् किं नानुगृह्णासीत्यत आत्मानं विशिनष्टि-भक्तवत्सल इति। नाऽहं भक्त इत्यतो विशिनष्टि- पुरा जन्मनि त्वया अहं प्रचुरं यथा तथा प्रार्थितः आराधितः॥ ४३ ॥

कोऽसावनुग्रह इत्यत आह - **वरानिति**। हे राजर्षे! ते तुभ्यं सर्वान्, काम्यन्त इति कामाः, तानिष्टान् ददामि। नन्वित्थं प्रचोदितेन मया देवाः प्रत्याख्याता इति सर्वज्ञस्त्वं किं न जानासीत्यत्राह-मामिति। भूयः पुन श्शोचितुं संसर्तुं नार्हति। किन्तु मुक्तिमेवार्हतीति भावः। मुक्तिं दास्याम्येव, किन्तु ततोऽन्येऽपि यदि कामाः प्रार्थ्या स्तानपि प्रार्थयस्व इति भावः॥ ४४ ॥

**इतीति**। इति[14] इत्थं भगवतोक्तो मुचुकुन्दस्तं श्रीकृष्णं देवं तत्रापि नारायणं ज्ञात्वा, तदुक्तिभिरिति शेषः। गर्गस्य[15] वृद्धगर्गस्य ऋषेः वाक्यं अष्टाविंशति तमे युगे भगवान् वसुदेवगृहेऽवतरिष्यतीति एवं विधमनुस्मरंश्च मुदा हर्षेण युतः[16] प्रणम्योवाच॥ ४५॥

---

1 B. °नैवं 2. B. omits यत् 3 B. omits बहुशः4 B,W. आनन्त्याना० 5 B. दुस्स० 6 K.W. जन्मानि 7 B. अ० 8.B. आ० 9 B. प्रो 10 B,K. °त्वात् 11 B. सर्वज्ञत्व 12 B. °त्र 13 K,W. omit तर्हि 14 K,W. omit इति 15 B. गर्गऋषेः 16 B. युक्तः

विज० ह्रादः निस्स्वनः॥ ३६ ॥

मातुं सङ्ख्यातुं न शक्यन्ते। कुतः? अनन्तत्वात्। अतोऽनन्ताना मनन्ता इत्येव परिसङ्ख्यान मन्यथाऽनन्तत्वहानिः॥ ३७॥

अनन्तत्वमाह-कश्चिदिति। कश्चित् क इव ब्रह्मेव सोऽपि मे जन्मानि गुणकर्माभिधानानि न विममे॥ ३८॥

अनुक्रमन्तः निरन्तरं पठन्तः॥ ३९॥

भारायमाणानां भारवदाचरतां, कर्तुः क्यङ् सुलोपश्च (अष्टा० 3-1-11) इति पाणिनिः॥ ४० ॥

गृहे भार्यालक्षणे। निमित्तं कथयति- वसुदेवेति॥ ४१ ॥

तिग्मचक्षुषा चण्डनेत्राग्निना॥ ४२-४५ ॥

## मुचुकुन्द उवाच

**विमोहितोऽयं जन ईश मायया त्वदीयया त्वां न भजत्यनर्थदृक्।**
**सुखाय दुःखप्रभवेषु सज्जते गृहेषु योषि त्पुरुषश्च वञ्चितः॥ ४६ ॥**

**लब्ध्वा जनो दुर्लभमत्र मानुषं कथञ्चिदप्यङ्ग[1] मयत्नतोऽनघ[2]।**
**पादारविन्दं न भजत्यसन्मति र्गृहान्धकूपे पतितो यथा पशुः॥ ४७ ॥**

**ममैष कालोऽजित निष्फलो गतो राज्यश्रियोन्नद्धमदस्य भूपतेः।**
**मर्त्यात्मबुद्धेः सुतदारकोशभूष्वासज्जमानस्य दुरन्तचिन्तया॥ ४८ ॥**

**कलेबरेऽस्मि न्घटकुड्यसन्निभे निरूढमानो नरदेव इत्यहम्।**
**वृतो रथेभाश्वपदात्यनीकपै र्गां पर्यटंस्त्वा[3-] मगणय्य[-3] दुर्मदः॥ ४९ ॥**

**प्रमत्तमुच्चैरिति कृत्यचिन्तया प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम्।**
**त्वमप्रमत्तः सहसाऽभिपद्यसे क्षुल्लेलिहानोऽहि रिवाऽऽखुमन्तकः॥ ५० ॥**

1 B.G.J. °ब्य० 2 MI.V.W. °तस्तव। 3- -3 B.G.J. °स्त्वागणयन्सु०

**श्रीध०** त्वद्भक्तिरेव केवलं दुर्लभा, कामास्तु तुच्छा न वरणयोग्या इत्याशयेनाऽभक्तानां संसार मष्टभिः प्रपञ्चयन् स्तौति- **विमोहित** इति। हे ईश! योषित्पुरुषश्चेति द्विविधोऽप्ययं जनः त्वदीयया मायया विमोहितः, अतोऽनर्थदृक् अर्थे[1-] संसारे दृक् दृष्टिः यस्याऽसौ। यद्वा अर्थं[-1] परमार्थस्वरूपं त्वां न पश्यतीति तथा। अतः त्वां न भजति किन्तु परस्परं वञ्चितस्सन् सुखेच्छया दुःखानामेव प्रभवो येषु तेषु गृहेष्वेव सज्जते[2] इति॥ ४६ ॥

किञ्च कामसुखं सूकरादिष्वपि सम्भवति भगवद्भजनं तु न मानुषजन्मव्यतिरेकेणेति मानुषत्वं प्राप्य त्वामभज न्नतिमूढ इत्याह- **लब्ध्वेति**। अत्र कर्मभूमौ अव्यङ्गमविकलाङ्गम्। किञ्च असति विषयसुखे मति र्यस्य सः। गृहमेवान्धकू पस्तस्मिन्निपतितः। यथा पशुः तृणलुब्धोऽन्धकूपे पततीति॥ ४७ ॥

न केवलमस्य जनस्येयं गतिः किन्तु ममापि तथैवेत्याह- **ममैष** इति। मर्त्ये शरीरे आत्मबुद्धिर्यस्य तस्य ममाऽत एव सुतादिष्वाऽऽसज्जमानस्य॥ ४८ ॥

उन्नद्धमदत्वं प्रपञ्चयति- **कलेबर** इति। घटकुड्यादिसदृशे दृश्येऽनात्मनि यत एवं सुदुर्मदोऽभव मतो ममैष कालो निष्फलो गत इति॥ ४९ ॥

त्वामगणयन्तं[3] **त्वमाक्रमसीत्याह- प्रमत्तमिति।** प्रमत्तमनवहितम्। त्वामन्तक मविगणय्य देहादिष्वासक्तमिति यावत्। कुतः प्रमत्तम्? इति कृत्यचिन्तया एवमेवं करणीयमिति मनोरथपरम्परया। मनोरथे भग्नेऽपि विषयेषु लालसमुत्सुकम्। प्राप्तेऽपि पुनः प्रवृद्धो लोभः तृष्णा यस्य त मन्तकस्त्व मभिपद्यसेऽभिभवसीत्यर्थः। क्षुधा सृक्वणी[4] लेलिहानोऽहि राखुं मूषकमिवेति॥ ५०॥

1- -1 MI.V. omit 2 B. °ति 3. MI.V. add मां 4 B. °क्विव०; J. °क्षि०

**वीर०** उक्तिमेवाह- **विमोहित** इत्यादिद्वयोदशश्लोकात्मिकाम्। यदुक्तं- "वरान्वृणीष्व राजर्षे सर्वान्कामान्ददामि ते" (भाग० 10-51-44) इति, तस्योत्तरोपयुक्तमाह- विमोहित इति। विषयाभिलाषेणैव निदानेनेदृशसंसृतिरूपानर्थं प्राप्तोऽहं भूयो विषयानेव वरयेति चोदयता त्वया वञ्चितस्स्याम्। अतो भक्तवञ्चनं तवानुचितमिति मैवं वादी रित्यभिप्रायः। हे ईश! त्वदीयया मायया मोहितो योऽयं मत्प्रभृतिः योषिच्च पुरुषश्च योषिदात्मकः पुरुषात्मकश्चेदित्यर्थः। जनस्त्वां निरतिशयपुरुषार्थभूतं न भजति, किन्तु स्वानर्थविषये दृग्बुद्धिः यस्य तथाभूतः वस्तुतोऽनर्थहेतुम प्यर्थव न्मन्यमानः प्रभवन्त्येभ्य इति प्रभवाः दुःखस्य प्रभवास्तेषु दुःखैकनिदानेषु गृहेषु सुखलेशाभासप्रभवेषु सुखाय सज्जते सक्तो भवति। सज्जनः पूर्वमेवं त्वया वञ्चित इत्यर्थः॥ ४६ ॥

नन्वित्थं जनं वञ्चयन्नहं निर्घृणो विषमश्च किमत्यत आह- **लब्ध्वेति।** हे अनघ! न विद्यते यद्भजना दघं तथाभूतेत्यर्थः। अयत्नत स्स्वप्रयत्नमन्तरेणापि केवलमनुजिघृक्षैकस्वभावत्वत्सङ्कल्पादेव हेतोः कर्मक्षेत्रे दुर्लभमपि मानुष मङ्गं शरीरं त्वदाराधनोपयुक्तं प्राप्याप्ययं जनस्त्वत्पादारविन्दं निरतिशयपुरुषार्थरूपं तत्प्राप्त्युपायभूतं च न भजति, किन्तु असन्मतिः प्रकृतिपरिणामात्मकदेह एव मतिरात्माभिमानो यस्य तथाभूतः केवलं गृहमेवान्धकूपः तस्मिन्पतितो भवति, यथा पशुः अजानन् तृणावृते कूपे जिघत्सया गतस्तत्र पतितो भवति, तद्वत्। न ह्येतावता तव वैषम्यादिकमापादयितुमुचितं केवलम नुजिघृक्षयैव स्वाराधनोपुयुक्त करणकलेबरादिप्रदानादिति भावः॥ ४७ ॥

जनसामान्योद्देशेनोक्तमर्थं स्वस्मिन् पर्यवसाययति - **ममेति।** हे अजित! एष भूतः कालो मम निष्फलो गतः मया निष्फलो नीत इत्यर्थः। कथम्भूतस्य? राज्यश्रियोन्नद्धः प्रभूतो[1] मदो यस्य दुष्टा विषयाभिलाषिणी मतिर्यस्य, तत्र हेतुः[2] - मर्त्ये मरणशीले देहे आत्मेति[3] बुद्धिर्यस्य, न केवलं मर्त्यात्मबुद्धेरेव किन्तु सुतादिषु तद्रक्षणपोषणादिविषयया अपार चिन्तया आसज्जमानस्य आसक्तस्य अहङ्कार ममकारयुक्तस्येति पदद्वयफलितोऽर्थः। तत्र कोशो धनागारम्॥ ४८॥

उन्नद्धमदत्वमेव प्रपञ्चयति- **कलेबर** इति। घटकुड्यसदृशे जडे अस्मिन् कलेबरे रूढमूलः मानः आत्माभिमानो यस्य सोऽहं नरदेव इत्यभिमन्यमान इति शेषः। रथाश्च इभा गजाश्च[4] अश्वाश्च[5] पदातयश्च तेषामनीकानि सैन्यानि तानि पान्तीति तथा तैः परिवृतो गां भूमिं पर्यटन् त्वामगणय्य तुच्छीकृत्य दुर्मद, आसमिति शेषः॥ ४९ ॥

त्वा मगणयन्त मित्थं दुर्मदं मां त्वं कालरूपेणाक्रामसीत्याह- **प्रमत्तमिति**। इति कृत्यचिन्तया एवमेवंकर्तव्यमिति मनोरथपरम्परया नितरां प्रवृद्धः लोभो यस्य तं, विषयेषु शब्दादिषु लालसम् आसक्तचित्तं प्रमत्तं स्वहितानभिज्ञं मां त्वमप्रमत्तः अन्तं करोतीत्यन्तकः विनाशहेतुः कालरूपो भूत्वा अभिपद्यसे आकर्षसि, ग्रसस[6] इति यावत्। यथा क्षुधा बृभुक्षया लेलिहानः आस्वदमानः क्षुधा लोलजिह्व इति यावत्, यङ्लुगन्ताल्लिहेः कर्तरि लटश्शानजादेशः, अहिस्सर्पः आखुं मूषकम् आपद्यते तद्वत्॥ ५० ॥

1 B. °तमदः 2. B. omits हेतुः 3 K.W. आत्मबु० 4 B. omit. गजाः 5 K.W. omit अश्वाः 6 B.W. °सि

**विज०** अनर्थदृक् स्वपुरुषार्थदर्शी न भवतीत्यर्थः। यद्वा अनर्थं संसारमर्थं पश्यतीति दुःखप्रभवेषु दुःखहेतुषु पुरुषेण वञ्चिता योषित् तथा पुनः पुरुषश्च वञ्चितः॥ ४६ ॥

मायया मोहितत्व मुपपादयति- **लब्ध्वेति**। अत्र कर्मभूमौ मानुषमङ्गं देहं असत्सु विषयेषु मतिर्यस्य स तथा अन्धकूपे पतितः पशुः यथा स्वरूपं न भजति तथा गृहलक्षणान्धकूपे॥ ४७ ॥

मर्त्यात्मबुद्धेः देहात्मबुद्धेः॥ ४८ ॥

देहात्मबुद्धित्वं दर्शयति- **कलेबर** इति। दुरन्तविषयचिन्तया दुष्टो मदो विद्याभिजनलक्षणो यस्य स तथा॥ ४९ ॥

धनादिनिमित्तमदस्य दुष्टत्वं कथ मत्राह- **प्रमत्तमिति**। क्षुधा जिह्वया सृक्किणी[1] लेलिहन्॥ ५० ॥

---

1 B. सृक्किणी

पुरा रथै र्हेमपरिष्कृतै श्चर न्मतङ्गजैर्वा नरदेवसंज्ञितः।
स एव कालेन दुरत्ययेन ते[1] कलेबरो विट्कृमि[2]भस्मसंज्ञितः॥ ५१ ॥

निर्जित्य दिक्चक्रमभूतविग्रहो वरासनस्थः समराजवन्दितः।
गृहेषु मैथुन्यसुखेषु[3] योषितां क्रीडामृगः पूरुष ईश नीयते[4]॥ ५२ ॥

करोति कर्माणि तपस्सुनिष्ठितो निवृत्तभोग स्तदपेक्षया[5] दधत्।
पुनश्च भूयासमहं स्वराडिति[6] प्रवृद्धतर्षो न सुखाय कल्पते॥ ५३ ॥

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे[7] त्वयि जायते मतिः॥ ५४ ॥

**मन्ये ममानुग्रह ईश[8]! ते कृतो राज्यानुबन्धापगमो यदृच्छया![9]!**
**यः प्रार्थ्यते साधुभिरेकचर्यया वनं विविक्षद्भि रखण्डभूमिपैः॥ ५५ ॥**

1 K.W. चेत्; M.Ma. वै, 2 MI.V. क्रिमि 3 M.Ma. परेषु 4 M.Ma. गी० 5 B,G,J,M,Ma. ददत्; MI.V. सकृत् 6- -6 B,G,J. भूयेयमहं स्वराडिति; M,Ma. भूयाय महीशराधसे .7 MI.V. प 8 W. एष 9 M,Ma. °क्षु०

**श्रीध०** किञ्च कालात्मना त्वयाऽभिपन्नो देह एवं भवतीत्याह- **पुरेति।** श्वसृगालादिभि र्भक्षितो विट्संज्ञितः तैरभक्षितः कृमिसंज्ञितः, दग्धो भस्मसंज्ञितो भवति। इति बुद्ध्या विचार्यैवम्भूतशरीरे ममतां कुर्वन्तो जना हरिं नाराधयन्ति च ते आत्मनि शत्रुभूता ज्ञेयाः सततम्। यतः- "योनेः सहस्राणि बहूनि गत्वा दुःखेन लब्ध्वापि च मानुषत्वम्। सुखावहं ये न भजन्ति विष्णुं ते वै मनुष्यात्मनि शत्रुभूताः" इति॥ ५१ ॥

किञ्च अन्तकप्राप्तेः प्रागपि दिग्विजयिनो राज्ञोऽपि पारतन्त्र्यदुःखं तदवश्यमेवेत्याह- **निर्जित्येति।** अभूतविग्रहोऽविद्यमानसङ्ग्रामः। पूर्वं ये समाना[1] राजान स्तै राजभि र्वन्दितोऽपि मिथुनीभावः सुरतमेव परं सुखं येषु तेषु योषितां गृहेषु क्रीडामृग इव इतस्ततो नीयते ॥ ५२ ॥

किञ्च तत्राऽतितृष्णाकुलस्य न भोगक्षणः कश्चिदस्तीत्याह **करोतीति।** तपसि अधश्शयनब्रह्मचर्यादौ सुनिष्ठितः। पुनश्च स्वराडिन्द्रः स्यामिति। यद्वा जन्मान्तरेष्वेवमेव चक्रवर्ती स्यामिति ॥ ५३ ॥

तदेव मष्टभिः श्लोकैरीशबहिर्मुखानां संसारं प्रपञ्च्य भक्त्या तन्निवृत्तिक्रममाह- **भवापवर्ग** इति। भो अच्युत! भ्रमतः संसरतः जनस्य यदा त्वदनुग्रहेण भवस्य बन्धस्यापवर्गोऽन्तो भवेत् प्राप्तकालः स्यात् तदा सतां सङ्गमो भवेत्। यदा च सत्सङ्गमो भवे त्तदा सर्वसङ्गनिवृत्त्या कार्यकारणनियन्तरि त्वयि भक्ति र्भवति ततो मुच्यत इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

मम तु सत्सङ्गमात्पूर्वमेव यो राज्यादिसङ्गविच्छेदो जातः सोऽयं त्वया महाननुग्रहः कृत इत्याह- **मन्य** इति। ते त्वया, साधुभि र्विवेकिभि स्तपसे वनं प्रवेष्टुमिच्छद्भिः स्वयं त्यक्तुमलभमानैः प्रार्थ्यत इति ॥ ५५ ॥

1 MI.V. समाः

**वीर०** नन्वतिदुर्लभकल्याणतरनरदेवशरीरं[1] प्राप्याऽपि किमिति तन्निन्दसीत्याशङ्काया मन्ततः कालाभिपन्नस्य तस्य गतिं पश्येत्यभिप्रायेणाह- **पुरेति।** पुरा तावत्सुवर्णालङ्कारालङ्कृतैः[2] रथै र्गजै र्वा सञ्चरन् यो नरदेवसंज्ञितः नरदेवसंज्ञाऽस्य सञ्जातेति तथा। तारकादित्वादितच्। स एव देहः दुरतिक्रमेण[3] कालेनाभिपन्नश्चेत्तावच्छ्वसृगालादिभिः[4] भक्षितो[5] विट्संज्ञितः तैरभिक्षितश्चेत्कृमिसंज्ञितः दग्धश्चेत् भस्मसंज्ञितः भवतीत्यर्थः ॥ ५१ ॥

"सर्वस्य[6-] वशी[-6] सर्वस्येशानः" (बृह.उ 4-4-22) इति श्रुत्युक्तविविधसर्ववस्त्वपेक्षस्यातन्त्र्यं त्वामवि- गणय्य स्वतन्त्रम्मन्यस्य[7] मम निहीनप्रतियोगिकपारतन्त्र्य मवर्जनीयमेवाऽऽसी दित्यभिप्रेत्याह[8]- **निर्जित्येति।** दिक्चक्रं दिङ्मण्डलं

निर्जित्याऽभूतः असम्भावितः विग्रहः विरोधो यस्य तथाभूतः असम्भावितप्रतिपक्ष इत्यर्थः। वरासनस्थः सार्वभौमासनाधिष्ठित पूर्वं समास्तुल्या राजानस्तैरपि वन्दितः पुरुषः हे ईश!मैथुन्यमेव[9] सुखं येषु तेषु गृहेषु योषितां स्त्रीणां केवलं क्रीडामृग. क्रीडार्थं पोषितो वानरादिरिव नीयते इतस्ततश्चाल्यत इत्यर्थः। पुरुष इति पारोक्ष्यनिर्देशः सर्वदिग्विजयि[10]पुरुषाभिप्रायकः॥ ५२॥

ननु भोग्यभोगोपकरणादि समृद्धान् राजगृहान् दुःखप्रभवेषु मैथुन्य[11]सुखेष्विति[12] च कथं निन्दसीत्यतस्तत्र सुखाभावमाह- **करोतीति**। पुनश्च जन्मान्तरेऽपि स्वराट् सार्वभौमो भूयासमितीत्थं प्रवृद्धः तर्षः तृष्णा यस्य तथाभूत स्तपस्सु जन्मान्तारीयं सार्वभौमत्व साधनेषु तपस्सु अधश्शयन ब्रह्मचर्यादिषु निष्ठितः सञ्जातनिष्ठः अत एव निवृत्तो भोगो यस्य तथाभूतः तदपेक्षया भाविजन्मभोगापेक्षया दधत् बिभ्राणः, तपांसीति विपरिणतेनान्वयः। कर्माणि वर्तमानदेहभोगार्थानि भोजनादिकर्माणि करोति, इत्थम्भूतोऽसौ न सुखाय कल्पते न सुखी भवति, किन्तु दुःख्येवेति भावः। यद्वा एवमन्वयः- तावद्राजशरीरप्राप्ति साधनानि कर्माणि करोति, ततो दधत् राजशरीरमिति शेषः। निवृत्तभोगः तपस्सु निष्ठितः तदपेक्षया तद्धेतुभूतः स्वराट् स्यामिति प्रवृद्धः तर्षो यस्य तथाभूतो न सुखाय कल्पत इति ॥ ५३ ॥

कदा सुखाय कल्पते इत्याह[13] **भवापवर्ग** इति। एवं संसृतौ भ्रमतः मुक्तिरिति यावत्, स यदा भवेदासन्नस्स्यात्तदैवायं[14] सुखाय कल्पते, इति पूर्वेण सम्बन्धः। कदा तर्हि भवापवार्गो भवेदित्यत आह-तर्हीति। हे अच्युत! अस्य संसरतो जनस्य यर्हि यदा यस्मिन्जन्मनि सत्समागमः सद्भिः भागवतैस्समागमः सङ्गतिस्सहवास इति यावत्। तदा भवापवर्गः न हि[15] सत्समागमः साक्षाद्भवापवर्गसाधनभूतः[16] किन्तु त्वद्भक्तिजननादि प्रणाडचेत्याह- सत्सङ्गम इति। यदा हि सत्सङ्गमस्तर्ह्येव परे इन्द्रादयः अपरे अवमा यस्मात्तस्य चतुर्मुखस्याधीशे नियन्तरि सतां गतौ त्वत्प्राप्तयुपायभूते त्वयि मतिर्भवत्यात्मिका बुद्धिः जायते उत्पद्यते ॥ ५४ ॥

यदुक्तं "सोहं तवानुग्रहार्थं गुहामेतामुपागतः" (भाग. 10-51-43) इति, तत्सत्यमेव, किन्तु पूर्वमेव देहानुबन्ध्यपनयेन[17] लिङ्गेन त्वयाऽनुगृहीतोऽहमिति मन्ये इत्यभिप्रेत्याह **मन्ये** इति। हे ईश! यदृच्छया त्रिदशसाहायकव्याजेन[18] राज्यरूपो योऽनुबन्धः पाशः तस्यापगमोऽपायः[19] कृत इत्येष महान् त्वयैवानुग्रहः कृत इति मन्ये। तस्यानुग्रहप्रयुक्तत्वे हेतुं वदन् तमेव राज्यानुबन्धापगमं विशिनष्टि य इति। यो राज्यानुन्धापनयस्साधुभिर्विवेकिभिः तपसे वनं प्रवेष्टमिच्छद्भिः सार्वभौमैरेकचर्यया एकचर्यार्थम् एकाकित्वेन[20] सञ्चारार्थं प्रार्थ्यते ॥ ५५ ॥

1 B. मं 2 B. स्वर्णा3 B. क्रमणीयेन 4 B. °श्च ता० 5 B. शृ० 6- - 6 B. omits 7 B. °मानस्य 8 B. °व्याचभि 9 B °न० 10 B.W °य 11 B °न 12 B add इत्येवं 13 B °त्यत आह 14 B adds °जनः 15 B adds किं 16 B adds (न) 17 B नयनेन 18 B °व्यकृत्य व्या० 19 B omits कृत 20 W °शि०

**विज०** किमत्र प्रमाणमित्यतः प्रत्यक्षमेवेत्याह- **पुरेति**। यो देहः पुरा नरदेव संज्ञितः स एव देहो दुरत्ययेन कालेन विट्कृमिभस्मसंज्ञितो, भवतीति शेषः। श्वादि भक्षितो विष्ठासंज्ञितो भवति। अदग्धः कृमिसंज्ञितः, दग्धः भस्मसंज्ञित इति विशेषः ॥ ५१ ॥

इदं च लज्जाकरमित्याह **निर्जित्येति**। दिक्चक्रं दिङ्मण्डलं अभूतविग्रहः अजातयुद्धः वयसा कुलेन दानेन विद्यया च समै राजभिर्वन्दितः बहिरेवंविधः पुरुषो मैथुन्यपरेषु ग्राम्यसुखमात्ररतेषु योषितां क्रीडामृगो गीयते इत्यन्वयः॥ ५२॥

त्वद्भक्तिरहितस्य पुंसः कर्मकरणं गजस्नानतुल्यमिति भावेनाह- **करोतीति**। हे महीश! निवृत्तभोगः तदपेक्षया तेषां भोगानां सजातीयभोगेच्छया सुनिष्ठितः तद्योग्यदेवतापूजासु नितरां स्थिरो यः कर्माणि तदनुगुणं तपश्च करोति। स पुनश्च धनादि ददत् भूयाय भूयसे महते राधसे सम्पदे प्रवृद्धतर्षः अत्युद्रिक्ततृष्णः सुखाय न कल्पते इत्यन्वयः। सुखं नाम मुक्तिलक्षणम् ॥ ५३ ॥

तर्हि कदा मोक्षः स्यादत्राह- **भवेति**। हे अच्युत! नानायोनिषु भ्रमतो जनस्य यदा सत्सङ्गमः तर्हि तदा भवापवर्गस्स्यात्। भगवज्ज्ञानफलं मोक्षः कथमन्यतस्स्यादिति तत्राह- सत्सङ्गम इति। यर्हि यदा सत्सङ्गमः स्यात्तदैव त्वयि श्रवणादिलक्षणः सङ्गमः स्यात्, तस्मात् परावरेशे मुक्तामुक्तस्वामिनि त्वयि मतिः त्वत्प्रसादजनकं ज्ञानं स्यात् ॥ ५४ ॥

अतो ज्ञानद्वारा सत्सङ्गमो मुक्तिसाधनमसत्सङ्गमोऽनर्थहेतुरिति गृहादिसङ्गत्यागः सत्सङ्गहेतुरित्याशयेनाह- **मन्ये** इति। ते त्वया राज्यानुबन्धापगमः राज्यस्य तदनुबन्धकस्य कोशादेश्चापगमः त्यागः एकचर्यया " एक एव चरेद्भिक्षुः" इति वचनात् एकाकित्वेन चरणम्। अखण्डभूमिपैः सार्वभौमैः विविक्षद्भिः प्रवेष्टुमिच्छद्भिः ॥ ५५ ॥

**न कामयेऽन्यं तव पादसेवनादकिञ्चन पार्थ्यतमाद्वरं विभो।**
**आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे वृणीत आर्यो वरमात्मबन्धनम् ॥ ५६ ॥**

**तस्मद्विसृज्याशिष ईश सर्वतो[1] रजस्तमस्सत्त्वगुणानुबन्धनाः।**
**निरञ्जनं निर्गुणमद्वयं परं त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम्[2] ॥ ५७ ॥**

**चिरमिह वृजिनार्तस्तप्यमानोऽनुतापै रवितृषषडमित्रोऽलब्धशान्तिः[3] कथञ्चित्[4]।**
**शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्मन्नभयमृतमशोकं पाहि माऽऽपन्नमीश ॥ ५८ ॥**

**श्रीभगवानुवाच[5]**

**सार्वभौम महाराज मतिस्ते विमलोर्जिता।**
**वरैः प्रलोभितस्यापि न कामैर्विहता यतः ॥ ५९ ॥**

**प्रलोभितो वरैर्यस्त्वमप्रमादाय विद्धि तत्।**
**न धीर्मय्येक भक्तानामाशीर्भिर्भिद्यते क्वचित् ॥ ६० ॥**

युञ्जानानामभक्तानां प्राणायामादिभिर्मनः।
अक्षीणवासनं राजन् दृश्यते क्वचि दुत्थितम् ॥ ६१ ॥

विचरस्व महीं कामं मय्यावेशितमानसः।
अस्त्वेव नित्यदा तुभ्यं भक्तिर्मय्यनपायिनी ॥ ६२ ॥

क्षात्रधर्मस्थितो जन्तून् अवधीर्मृगयादिभिः।
समाहितस्तत्तपसा जह्यघं मदुपाश्रयः ॥ ६३ ॥

जन्मन्यनन्तरे राजन्सर्वभूतसुहृत्तमः।
भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै मामुपैष्यसि केवलम् ॥ ६४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां उत्तरार्धे
दशमस्कन्धे मुचुकुन्दस्तुतिर्नाम एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

1 M.Ma °शो 2 M.Ma °मव्ययं 3 K.W °जित 4--4 M.Ma उरुकृच्छ्रेल० 5--5 Ml.V श्रीकृष्ण उवाच 6--6 M.Ma ज्ञानिनामेक 7 M.Ma न 8 B.G.J पुनरु० 9 K.W अस्त्येव; Ml.V अस्त्वियं 10 K.W क्षत्रधर्मे, M.Ma, Ml.V क्षत्रधर्म 11 B.G.J न्य० 12--12 B.G.J मदुपाश्रितः; M.Ml मामुपाश्रितः B.M.Ma.Ml °पे०

**श्रीध०** तदेवं विषयसेवामार्गं भगवत्सेवामार्गं च विविच्य वरान् वृणीष्वेति यदुक्तं तत्रोत्तरमाह- **न कामय** इति। अकिञ्चनाः निवृत्ताभिमानाः। आर्यो विवेकी ॥ ५६ ॥

**तस्मादिति।** रजस्तमस्सत्वगुणैरनु बध्यन्त इति तथा ता आशिष ऐश्वर्यादिशत्रुमारणादि धर्मादिरूपा विसृज्य परं पुरुषमीश्वरं ज्ञप्तिमात्रं ज्ञानघनम्। कुतः? निरञ्जनम्। तत्कुतः? निर्गुणम्। तदपि कुतः? अद्वयम्। अत एव अक्षरं त्वां शरणं व्रजामीति ॥ ५७ ॥

भुङ्क्ष्व तावद्भोगान् कैवल्यं तु करस्थमेवेति पुनर्वैः प्रलोभयन्तं श्रीकृष्णं पादोपसङ्ग्रहणेन प्रार्थयते-**चिरमिति।** वृजिनैः कर्मफलैरार्तः पुनस्तद्वा सनाभिस्तप्यमानः तथाप्यवितृषषडमित्रः, तृषेन तृषा तृष्णा, न विगत तृषाः षडमित्राः शत्रवः इन्द्रियलक्षणा यस्य सः। अत एवलब्धशान्तिः कथञ्चिद्दैववशेन लब्धशान्तिरिति वा। शरणं स्वज्ञानं तद्ददातीति तथा, हे शरणद! समुपेतः प्राप्तोऽहम्। अशोकत्वे हेतुः अभयम्। तत्रपि हेतुः ऋतं सत्यम्। आपन्नमापदा व्याप्तं पाहीति ॥ ५८-५९ ॥

**प्रलोभित** इति। अप्रमादाय प्रमादाय न भवत्येव। कुत इत्यत आह- न धीरिति। एकान्त भक्तानां धीराशीर्भिः प्राप्ताभिरपि न भिद्यते नासज्जत इत्यर्थः ॥ ६० ॥

व्यतिरेकमाह - **युञ्जानानामिति**। उत्थितं विषयाभिमुखम् ॥ ६१ ॥

**विचरस्वेति**। तुभ्यं तव ॥ ६२ ॥

युक्त्याभासेन भीषयन् तपसि लोकसङ्ग्रहे प्रवर्तयति- **क्षात्त्रधर्मेति**[6] ॥ ६३,६४

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

1 Ml.V म० 2 B.J. °पग्र० 3 Ml.V omit °सत्यम् 4 Ml.V °मापत्प्राप्तं 5 Ml.V न स० 6 Ml.V. क्ष०

**वीर०** तदेवं प्रतिवचनोपयुक्तार्थ उक्तः, अथ साक्षात्प्रतिवचनमाह-**न कामय** इति। हे विभोः! अकिञ्चनैः अनन्यप्रयोजनैः एकान्तिभिरतितरां प्रार्थनीयात्तव पादसेवनादन्यं वरं न कामये, अन्यो मदिष्टो वरणीयोऽर्थ एव नास्तीत्यभिप्रायः। आर्यः श्रेष्ठो विवेकी चेत् को वा पुमान् साक्षान्मुक्तिप्रदं त्वामाराध्य आराधनेन प्रसन्नीकृत्य केवलमात्मा बन्ध्यते येन तदात्मबन्धनं शब्दादिविषयजालं वृणीत वृणुयात्, मूर्खश्चेद्वृणीत इत्यर्थः ॥ ५६ ॥

यस्मात् त्वत्पादारविन्द सेवनमेव प्रार्थनीयं तस्मात् हे ईश! सर्वतः सर्वाः आ[1]शिषः रजस्तमस्सत्त्वगुणैः राजआदिगुणकार्यैः कामक्रोधादिभिः क्रोधाद्युत्तरफलका इत्यर्थः। आशिषः कामान् विसृज्य अहं त्वां व्रजामि। व्रज गतौ गत्यर्थाः बुद्ध्यर्थाः त्वत्प्राप्त्युपायत्वेन त्वामध्यवस्यामीत्यर्थः। शरण्यस्य तस्य जीवतुल्यत्ववारणाय तं विशिनष्टि निरञ्जनं पुण्यपापसम्बन्धरहितं प्रकृतिपारवश्यरूपाञ्जनरहितं वा। ननु किमहं मुक्तजीवः नेत्याह- निर्गुणं कदापि गुणत्रयसम्बन्धरहितम् अनेन बद्धदशायां गुणत्रयतत्कार्यरागादिसम्बन्धवन्मुक्तव्यावृत्तिः। तर्हि किं नित्यसिद्धः- नेत्याह। अद्वयं द्वित्वरहितं समाभ्यधिकरहितं तत्सत्वे हि ईश्वरद्वित्वप्रसङ्गः, अतः समाभ्यधिकराहित्यादीश्वराद्वित्वं नास्ति। नित्यसिद्धस्तु समाभ्यधिकवानिति तद्व्यावृत्तिः, अतः परं सर्वोत्कृष्टं सौलभ्याभावे केवलं परत्वं न शरण्यत्व प्रयोजकम् अतः वर्तमानमिति भावः। दिव्यात्मस्वरूपं निर्दिशति- ज्ञप्तिमात्रमिति। मात्रशब्देन क्वचिदपि जडत्वव्यावृत्तिः, ज्ञानैकस्वरूपमित्यर्थः। अत्र पुरुषपद[2]लभ्यं सौलभ्यमन्येषामपि वात्सल्यादिशरण्यतोपयुक्तगुणानामुपलक्षणम् ॥ ५७ ॥

इत्थं शरणं प्रतिपद्याऽथात्मनः कार्पण्यनिवेदनपूर्वकं रक्षां प्रार्थयते- **चिरमिति**। इह संसारे उरुभिर्विपुलैस्तापैराध्यात्मिकादिभिः तप्यमानोऽत एव चिरं वृजिनेन दुःखेनाऽऽर्तः पीडितः अविजिताष्षडमित्राश्शत्रवो मनष्षष्ठानीन्द्रियाणि येन सः। अवितृष षडमित्रः इति पाठे विगता तृषा येषां ते वितृषाः अवितृषास्ते षट् अमित्रा यस्येत्यर्थः। अत एव अलब्धा शान्तिर्मनः प्रसादो येन तथाभूतोऽहं हे शरणद! कथंचित्त्वत्सङ्कल्पादिवशेन त्वत्पदाब्जं समुपेतः शरणं गतवान्। पदाब्जं कथम्भूतम्? न विद्यते भयं संसारो यस्मात्, अत एव न विद्यते शोको यस्मात्, ऋतं सत्यं नित्यं वा अनेन स्वर्गयागादि साध्यसाधन वैलक्षण्यमुक्तम्। हे परा[3]त्मन्! परमात्मन्! हे सर्वनियन्तः! इत्थमापन्न मापदा व्याप्तम् अधुना प्रपन्नं मां पाहि संसृतिभयात् त्रायस्व ॥ ५८ ॥

एवं विज्ञापितः प्राह- **सार्वभौमे** त्यादिना यावत्समाप्ति। तव मतिः विमला रागादिमलरहिता ऊर्जिता बलवती निवृत्तिधर्मे एव दृढेत्यर्थः। कुतः? यतः वैरैर्हेतुभिः प्रलोभं प्रापितस्यापि तव मतिः कामैः विषयैः न विहता न विहन्यते ॥ ५९ ॥

वैरैः प्रलोभित[1] इति यत् तदप्रमादाय विद्धि बुद्धेरप्रमादार्थं विजानीहि। ननु प्रलोभनात्कदाचिद्बुद्धिप्रमादोऽपि स्यात् ततश्च भ्रश्येत् अत आह-न धीरिति। मय्येकभक्तानाम् अनन्यप्रयोजनभक्तानां मतिः क्वचित्कदाचिदप्याशीर्भिः कामैः न भिद्यते न विहन्यते ॥ ६० ॥

अभक्तानां तु भिद्यत एवेत्याह - **युञ्जानानामिति।** प्राणायामादिभिः उपायैः युञ्जानानां नियुञ्जानानां मनोनियमनं कुर्वतां तु मनः अक्षीणवासनम् अक्षीणा वासना यस्य तत्, हेतुगर्भमिदम्। तत्त्वात् क्वचिद्विषये कदाचिद्वा उत्थितं विषयप्रवणं दृश्यते ॥ ६१ ॥

**विचरस्वेति।** मयि आवेशितं मानसं येन तथाभूतस्त्वं महीं कामं यथेच्छं विचरस्व। मयि[4] नित्यमनपायिनी भक्तिस्तु अस्त्येवं तथाऽनुगृह्णामीति भावः ॥ ६२ ॥

ननु भक्त्येकलभ्यो भवान् तामन्तरेणाप्यधुना प्रत्यक्षितः, किमिति मुक्तिं विलम्बयसीति विदिततदभिप्रायः प्राह- क्षत्रेति। क्षत्र वर्णोचित धर्मनिष्ठो मृगयादिभिः लोकरक्षानुपयुक्त मृगयादि व्यापारैः जन्तून्हतवानसि, ततः त्वम् अहमेवोपाश्रयः संश्रयो यस्य सः मद्भक्तिनिष्ठस्सन् तपसा मत्प्राप्ति प्रतिबन्धकनिवर्तकेन भक्तियोगोत्पत्ति प्रतिबन्धक निवर्तकेन, वा तपसा जन्तुवधप्रयुक्तं[5] पापं जहि अपनय प्रत्यक्षित परमात्मनामप्यघे प्रारब्धे तपसाऽनुभवेन वा विनाशिते सत्येव परमात्मप्राप्तिरिति भावः ॥ ६३ ॥

कदा तर्हि अघक्षयः त्वत्प्राप्ति श्चेत्यत आह-**जन्मनीति।** अनन्तरे एतज्जन्माव्यवहितोत्तरजन्मनि त्वं द्विजश्रेष्ठो भूत्वा सर्वभूतसौहार्दवान् समः कृत्स्नं जगत् ब्रह्मात्मकं पश्यंश्च केवलं प्रकृतिमण्डलात्परतः स्थितं मामुपैष्यसि प्राप्स्यसि, वै नूनम् ॥ ६४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

1. K.W. omit आशिषः 2. B. W. omit लभ्यं 3. B. omits परात्मन् 4. B. omits मयि 5. B. adds तत्.

**विज०** फलितमाह **-नेति।** आर्यो ज्ञानी आत्मनः स्वस्य बन्धनं संसारकारणं वरम् ॥ ५६ ॥

तर्हि किं करोषीति तत्राह **-तस्मादिति।** आशिषः स्वर्गादिसम्पदः रजसा मनुष्यः तमसा राक्षसादिः सत्त्वेन देवादिः ज्ञप्तिमात्रं ज्ञानघनम् ॥ ५७ ॥

अधुना कर्तव्यम् किम्? तत्राह-**चिरमिति।** वृजिनार्तः दुःखक्लिष्टः, एतदेव विवृणोति तप्यमान इति। अवितृषः सतृष्णः उरुकृच्छ्रविषये कथञ्चिल्लब्धशान्तिः लब्धमोक्षः प्राप्तत्याग इत्यर्थः। ऋतं शश्वदेकप्रकारं आपन्नं संसारकूपे पतितं उरुकृच्छ्रे वृजिनार्ते इति वा ॥ ५८, ५९ ॥

वरैः प्रलोभित इति यत्तदप्रमादाय विद्धि, नैतच्चित्रमित्याशयेनाह-नेति ॥ ६० ॥

क्षीणा दुष्कर्मवासना यस्मिन् तत्तथा। उत्थितं विषयाभिमुखम् ॥ ६१,६२,६३ ॥

केवलं मां "केवलो निर्गुणश्च" (श्वेता. उ. 6-11) इति श्रुतेः ॥ ६४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

विजयध्वजरीत्या चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

# द्विपञ्चाशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या पञ्चपञ्चाशोऽध्यायः

-: षट्पञ्चाशोऽध्यायः, सप्तपञ्चाशोऽध्यायश्च :-

श्रीशुक उवाच

इत्थं सोऽनुगृहीतोऽङ्ग! कृष्णेनेक्ष्वाकुनन्दनः।
तं परिक्रम्य सन्नम्य निश्चक्राम गुहामुखात् ॥ १ ॥

[1]सवीक्ष्य क्षुल्लकान् मर्त्यान् पशून्वीरुद्वनस्पतीन्।
मत्वा कलियुगं प्राप्तं जगाम दिशमुत्तराम् ॥ २ ॥

तपश्श्रद्धायुतो [2]धीरो [3]निस्सङ्गो मुक्तसंशयः।
समाधाय मनः कृष्णे प्राविश द्गन्धमादनम् ॥ ३ ॥

बदर्याश्रममासाद्य नरनारायणा[4]लयम्।
सर्वद्वन्द्वसहः[5] शान्त स्तपसाऽऽराधयद्धरिम् ॥ ४ ॥

भगवा न्पुनराव्रज्य [6-]मधुरां यवनावृताम्[-6]।
हत्वा म्लेच्छबलं[7] निन्ये तदीयं द्वारकां धनम् ॥ ५ ॥

नीयमाने धने गोभि र्नृभिश्चाच्युतचोदितैः।
आजगाम जरासन्धस्त्रयोविंशत्यनीकपः ॥ ६ ॥

1 B. सं 2 M.Ma. वीरो 3 W. निर्मलो 4 M,Ma. °णाश्रमम्। 5 W. °मः 6- -6 B,G,J. पुरीं यवनवेष्टिताम्; M,Ma. मधुरां यवनाहृताम्। 7. T.W. °गणं

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्विपञ्चाशत्तमे धावन्भयादिव गतः पुरीम्। अन्वमोदत सन्देशं रुक्मिण्या द्विजवर्णितम् ॥

स इति। क्षुल्लकान् अल्पप्र[1]माणान् ॥ १,२ ॥

तप इति। तपसि श्रद्धायुतः ॥ ३ ॥

बदरीति। तत्र च बदर्याश्रमम् ॥ ४ ॥

**भगवानिति।** निन्ये अनयत् द्वारकां, मार्गे[2-] चलतिस्म[-2]॥ ५-६ ।

1 B. प्राणान् 2- -2 M,v. प्रापितवान्

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथाऽवशिष्टं मुचुकुन्दवृत्तान्तम्, इत्थं मुचुकुन्दमनुज्ञाप्य अनुगृहीतवतो भगवतोऽनन्तरचेष्टितञ्चाऽऽह- **इत्थमिति** अङ्ग! हे राजन्! श्रीकृष्णेनेत्थमनुगृहीतो मुचुकुन्दः तं श्रीकृष्णं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च गुहाद्वारा निर्गतवान्॥ १ ॥

स मुचुकुन्दः क्षुल्लकान् अल्पपरिमाणान् मर्त्यादीनवलोक्य कलियुगं प्राप्तं विज्ञाय उत्तरां दिशं प्रति जगाम तपसे इति शेषः॥ २ ॥

धीरो जितेन्द्रियः देहतदनुबन्ध्यादिषु आसक्तिरहितः मुक्तसंशयः सेत्स्यामि वा न वेति एवंविधो येन सः, श्रद्धायुतः [1-]कर्तव्यविषयत्वरायुक्तः[-1] कृष्णे भगवति स्वमनः सम्यगाधाय स्थिरीकृत्य गन्धमादनं पर्वतं प्राविशत्॥ ३ ॥

तत्रापि बदर्याश्रमं नरनारायणयोः आलयं[2] स्थानं[3] प्राप्य सर्वाणि द्वन्द्वानि शीतोष्णादीनि सहत इति तथा। शान्तः जितमनाः हरिमाश्रितबन्धहरं भगवन्तं तपसाऽऽराधयामास॥ ४ ॥

अथ मुचुकुन्दानुग्रहानन्तरं[4] भगवच्चेष्टितमाह-**भगवानि**त्यादिना। यवनैरावृतां मधुरामागत्य म्लेच्छानां बलं हत्वा तदीयं म्लेच्छसम्बन्धि सर्वं धनं द्वारकां प्रति निन्ये प्रापयामास॥ ५ ॥

अच्युतेन चोदितैर्नृभिः कर्तृभिः गोभिः साधनैः धने नीयमाने सति पूर्वव त्त्रयोविंशत्यक्षौहिणीसैनाधिपतिः[5] जरासन्ध आजगाम॥ ६

1- -1 T. omits 2. T,W. आश्रमं 3 T,W. omit स्थानं 4 B. °होत्तरं 5 K,T,W. सैन्याधि

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

इक्ष्वाकोः वंशं नन्दयतीति इक्ष्वाकुनन्दनः सन्नम्य सम्यक् नत्वा॥ १ ॥

क्षुल्लकान् गुणतः परिमाणतश्च अल्पमानान्॥ २ ॥

इदं तत्त्वम् उताऽतत्त्वमिद मिति संशयो मुक्तो येन स तथा॥ ३,४ ॥

प्रकृतमनुसरति-**भगवानिति**। यवनेन आहृतम् आनीतम्॥ ५ ॥

त्रयोविंशत्यनीकपः त्रयोविंशदक्षौहिणीपतिः ॥ ६ ॥

**(श्रीविजयध्वजीयरीत्या अधिकश्लोकाः)**

**ततो राजा जरासन्धः कालान्तानलसन्निभः।**
**विधाय मकरव्यूहं रथनागाश्वपत्तिमत्॥**
**अन्तश्चकार गोविन्दं व्यूहस्य निमिषान्तरे॥ (क)**

**ततो विलोक्य गोविन्दो वृक्षमुत्पाट्य रंहसा।**
**गजान् रथान् हयान् युद्धे पोथयमास दुर्मदः॥ (ख)**

**कृष्णेन हन्यमाना स्ते वृक्षेण रिपुकुञ्जराः।**
**पेतुर्गतासवो भूमौ वज्रनुन्ना इवाद्रयः॥ (ग)**

**रथाश्च रथिभिर्युक्ताः सतुरङ्गास्सचोदकाः।**
**निष्पिष्टा इव न क्वाऽपि दृश्यन्ते कुरुसत्तम॥ (घ)**

**रामस्तु मुष्टिना चाऽऽजौ कुञ्जरा न्मदशालिनः।**
**जघान कुपितः शैलान् वज्रेणेव सुरेश्वरः॥ (ङ)**

**राममुष्टिप्रहारेण विकीर्णस्यन्दना नृप!।**
**न व्यदृश्यन्त भूपृष्ठे चूर्णिताः शीर्णपर्णवत्॥ (च)**

**यवनस्य धनं विश्वं गच्छन्तं द्वारकामनु।**
**निहत्य यादवा न्विश्वान् तद्गृहीत्वा जरासुतः॥**
**अभ्यवर्तत सङ्ग्रामे रामकृष्णौ कुरूद्वह! ॥ छ ॥**

**विज०** रथनागाश्वपत्तिमदिति क्रियाविशेषणम्। रथादिमन्तमिति व्यत्ययेन वा योज्यम्॥ (क)

दुर्मदो यथा जन्तून्हन्ति तथा। लुप्तोपमा॥ (ख)

अद्रयो गिरयः। "अद्रयोऽर्कगिरिद्रुमाः" (वैज. को. 6-1-4) इति॥ (ग)

सतुरङ्गाः सचोदकाः ससादिनः निष्पिष्टा हताः॥ (घ - च)

यादवैः द्वारकां गच्छन्तं नीयमानं यवनस्य विश्वं धनं दृष्ट्वा अनुद्रुत्य यादवा निहत्य निर्जित्य॥ (छ)

**विलोक्य वेगरभसं रिपुसैन्यस्य माधवौ।★**
**मनुष्यचेष्टामापन्नौ राजन् दुद्रुवतु र्द्रुतम्॥ ७ ॥**

**विहाय वित्तं प्रचुर मभीतौ भीरु[1]भीतवत्।**
**पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां चेरतु[2]र्बहुयोजनम्॥ ८ ॥**

**पलायमानौ तौ दृष्ट्वा मागधः प्रहसन्बली।**
**अन्वधावद्रथानीकै रीशयोरप्रमाणवित्॥ ९ ॥**

★ तच्चापतन्तमालोक्य सहितं सबलैर्नृपैः। कीर्यमाणो शरौघेण वृष्टचेव करिपोतकौ॥ विरथौ विप्रहरणौ विवर्माणौ विसैनिकौ॥ ★ इदं श्लोकार्धत्रयं विजयध्वजीयरीत्या विलोक्येत्यारब्धस्य श्लोकस्य पूर्वार्धोत्तरार्धयो र्मध्ये लक्ष्यते। ★ 1 K,W. °त 2 B. J °ल०

**श्रीध० विलोक्येति।** वेगरभसं वेगोद्रेकम्॥ ७ ॥

**विहायेति।** भीरुभीतवत् भीरोरपि भीतवत् अतिशयेन[1] भीतवदित्यर्थः चेलतुः पलायेतां बहुयोजनं देशम्॥ ८॥

**पलायमानाविति।** अप्रमाणवित् प्रमाणमियत्ता, त न वेत्तीति तथा॥ ९ ॥

1 B,G omit शयेन।

**वीर०** माधवौ रामकृष्णौ जरासन्धसैन्यस्य वेगरभसं वेगोद्रेकम्। अवलोक्य मनुष्यचेष्टां प्राप्तौ चिकीर्षन्तौ हेतुगर्भं वा। तत्त्वात् हे राजन्! द्रुतं त्वरितं यथा तथा दुद्रुवतुः पलायितवन्तौ॥ ७ ॥

तदेवाह - **विहायेति।** प्रचुरं प्रभूतं यावनं वित्तं विहाय भीतादपि भीतवत् पद्मपत्रसदृशाभ्यां पद्भ्यां बहुयोजनं ुः जग्मतुः॥ ८ ॥

मागधो जरासन्धः तौ दृष्ट्वा बली स्वबलोपेतः दैहिकबलोपेतो वा, ईशयोः रामकृष्णयोः अप्रमाणवित् ईशयोः प्रमाणं स्वरूपरूपगुणानन्त्यरूपं, त[1] न वेत्तीति तथाभूतः रथानीकैः[2] रथिकसैन्यैस्सह अन्वधावत् अनुदुद्राव॥ ९ ॥

1 K,T,W. omit तत् 2 K,T,W. रथ

विज० वेगरभसं योगसम्भ्रमम्॥ ७,८ ॥

प्रमाणं ज्ञानबलेयत्तां न वेत्तीति अप्रमाणवित्॥ ९ ॥

(विजयध्वजीये अधिकश्लोकाः)

प्रहृत्य वीरौ विश्रान्तौ करवीरपुरे निशि।
तावारुरुहतु वीरौ गोमन्तमुदिते रवौ॥ क ॥

सिद्धचारणगन्धर्व विद्याधरनिषेवितम्।
आरुह्य शैलं गोमन्तं रामकृष्णौ त्वरान्वितौ॥ ख ॥

प्रवर्षणाख्यं तच्छृङ्गं यत्राब्दा नित्यवर्षिणः।
तत्र ता वासतू राजन् फलमूलाशनौ सुखम्॥ ग ॥

जरासन्धस्तु तुष्टात्मा तावनुद्रुत्य माधवौ।
रुरोध शैलं गोमन्तं महत्या सेनया वृतः॥ घ ॥

स भूपालान् समाहूय स्वानुगान् युद्धदुर्मदान्।
कलिङ्गं कुञ्जरपतिं सुराष्ट्राधिपतिं तथा॥ ङ ॥

जयद्रथं सिन्धुपतिं सोमदत्तश्च कौरवम्।
गान्धारराजं शकुनिं वैदर्भं रुक्मिमेव च॥ च ॥

सुदक्षिणश्च काम्बोजं विराटं मत्स्यभूपतिम्।
एतानाज्ञापयामास पूर्वस्यान्दिशि भूपतीन्॥ छ ॥

पाञ्चालराजं द्रुपदं दमघोषश्च चेदिपम्।
ब्रह्मदत्तश्च शाल्वेश मेकलव्यं निषादिपम्॥ ज ॥

बाह्लिकश्च कुरुश्रेष्ठं युधामन्युश्च दुर्जयम्।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ काशिराजश्च पौण्ड्रकम्॥ झ ॥

आज्ञापयामास नृपा नेतान्वीरो जरासुतः।
गिरिं गोमन्तमारोढुं दक्षिणस्यां दिशि प्रभो॥ ञ ॥

द्रुमं किम्पुरुषाधीशं दन्तवक्त्रं सहानुजम्।
वीरं विदेहराजानं भूरिश्रवसमेव च॥ ट ॥

करूषेशं बृहच्चापं दाशार्णञ्च शतध्वजम्।
शैब्यं सुवीरराजानं दरदञ्च महारथम्॥ ठ ॥

एतान्महीपती न्राजा जरासन्धोऽमितद्युतिः।
प्राह गोमन्तमारोढुं पश्चिमस्यां दिशि द्रुतम्॥ ड ॥

त्रिगर्तञ्च सुशर्माणं बलिनं वेणुदारिणम्।
कलिन्दञ्च महासत्त्वं केकयानपि भूपतीन्॥ ढ ॥

शिशुपालञ्च भूपालं भीष्मकञ्चाऽपि दुर्जयम्।
पुरस्कृत्याऽऽरुरोहाऽऽशु कौबेर्यां मागधो दिशि॥ ण ॥

एवं गोमन्तमारुह्य सर्वर्तुफलपादपम्।
विचित्य तत्र सर्वत्राऽप्यधश्शृङ्गाप्रवर्षणात्।
चिच्छिदुः सकलान्वृक्षा न्नापश्यन्नाममाधवौ॥ त ॥

**विज०** गोमन्तं पर्वतमारुह्य ॥ क,ख ॥

प्रवर्षणाख्यं तस्य [1-]गोमन्तस्य[-1] शृङ्गम्, आपतुरिति शेषः। अत शृङ्गे आसतुः उपविविशतुः॥ग - त॥

---

1- -1 B omits

★[1]प्राद्रुत्य [2-]दूरं संश्रान्तौ[-2] तुङ्गमारुहतां गिरिम्।
प्रवर्षणाख्यं भगवा न्नित्यदा भत्र वर्षति॥ १० ॥

गिरौ निलीनावाज्ञाय [3]नाऽधिगम्य पदं नृप।
ददाह गिरिमेधोभिः समन्तादग्निमुत्सृजन्॥ ११ ॥

तत [4]उत्प्लुत्य तरसा [5-]दह्यमानतटा[-5] दुभौ।
दशैकयोजनोत्तुङ्गा न्निपेततुरधो भुवि॥ १२ ॥

अलक्ष्यमाणौ रिपुणा सानुगेन यदूत्तमौ।
[6]स्वपुरं पुनरायातौ समुद्रपरिखां[8] नृप॥ १३ ॥

सोऽपि दग्धाविति मृषा मन्वानो[9] बलकेशवौ।
बलमाकृष्य सुमहत्[10] मगधा न्मागधो ययौ॥ १४ ॥

---

★This verse is not found in M,Ma. Edns. 1 G,J,K,W. प्र० 2- -2 Ml,v. दूरमश्रान्तौ 3 K,W. चाऽ० 4 B,G,J,Ml,V. उत्पत्य 5--5 M,Ma. मानात्तु तावुभौ। 6 M,Ma. पुरीं 7 Ml,v. °तान् 8 K,Ml,V,W °घां 9 W मत्त्वा तौ 10 Ml,v महान्

**श्रीध० प्राद्रुत्येति।** तुङ्गमेकादशयोजनोन्नतम्। प्रकर्षेण बर्षत्यस्मिन्निति प्रवर्षण इत्याख्या यस्य तं, तदाह - भगवानिति। भगवान् इन्द्रः ॥ १० ॥

**गिराविति।** तत्र विचिन्वन्नपि तयोः पदं निलयस्थान मनधिगम्य॥ ११ ॥

**तत** इति। ततो गिरिः दशचैकञ्च यानि[1] योजनानि तावदुत्तुङ्गात् मागधसंरोधदेश मतिक्रम्य परतोऽधो निपेततुः॥ १२-१४॥

---

1 B,J omit यानि

**वीर०** तौ रामकृष्णौ प्रद्रुत्य[1] पलाय्य श्रान्तौ सन्तौ[2] तुङ्गमुन्नतं[3] प्रवर्षणाख्यं गिरिमारूढवन्तौ। आख्याया अन्वर्थतामाह - भगवानिति[4]। भगवान्पर्जन्यो यत्र गिरौ नित्यदा वर्षति प्रकृष्टं नित्य मस्मिन्वर्षतीति प्रवर्षणः अधिकरणे ल्युट्॥ १०॥

स जरासन्धः हे नृप। पदं रामकृष्णयोः पादाङ्कितं तत्र तत्र भूप्रदेश मधिगम्य अवलोक्य तेन लिङ्गेन गिरौ विलीनौ अन्तर्हितौ आज्ञाय अनुमाय। नाऽधिगम्येति पाठे तत्र विचिन्वन्नपि तयोः पदं नियतस्थान मज्ञात्वा केवलं तत्र विलीनौ ज्ञात्वा तं गिरिं सर्वतो दशयोजनमेधोभिः काष्ठैः चितिं कारयित्वेति शेषः। तत्राऽग्निमुत्सृजन् ददाह॥ ११॥

तदा दह्यमानानि तटानि यस्य तस्माद्गिरे रुत्प्लुत्य दशैकञ्च योजनानि यानि तावदुत्तुङ्गात् गिरिः मागधसंरोधदेश मतिक्रम्य परतोऽधो निपेततुः॥ १२ ॥

ततो रिपुणा मागधेनाऽदृश्यमानौ रामकृष्णौ, समुद्र एव परिखा यस्यास्तां पुरीं द्वारकां प्रति पुन राजग्मतुः॥ १३॥

सोऽपि मागधोऽपि रामकृष्णौ दग्धाविति मृषा यथा तथा मन्वानो बलं सैन्यम् आकृष्याऽऽदाय मागधान् देशान् प्रति आजगाम॥ १४ ॥

---

1 B पलायित्वा 2 B omits सन्तौ 3 K,T,W °मत्युन्नतं 4- -4 B omits

**विज०** एधोभिः काष्ठैः॥ १०-१२ ॥

समुद्र एव परिखा खातं, नदी यस्यास्सा तथा॥ १३,१४ ॥

(श्रीविजयध्वजीयरीत्या सार्धं श्लोकद्वयमधिकं लक्ष्यते)

अष्टादशे तु सङ्ग्रामे जित्वा यादवसत्तमौ।
दृप्त स्स्वराष्ट्रे न्यवस ज्जितदिङ्मण्डलो नृप॥

माधवौ तु महात्मानौ प्रविश्य द्वारकां पुरीम्।
स्तूयमानौ दिवारात्रं सूतमागधवन्दिभिः॥

वृतावानन्दबहुलै र्बन्धुभि स्सुखमूषतुः॥

इति श्रीविजयध्वजरीत्या पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५५ ॥
अथ श्रीविजयध्वजरीत्या षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः आरभ्यते

श्रीशुक उवाच

कदाचि द्देवकीपुत्रो रामशैनेयसंयुतः।
सेव्यमान स्सभायां वै नानादेशेश्वरै र्नृपैः॥ क ॥

पाञ्चालराजं द्रुपदं बालैः कुन्तीसुतै र्मृधे।
बद्धं शुश्राव कौरव्य ब्राह्मणैस्सत्रयाजिभिः॥ ख ॥

तच्छ्रुत्वा हृष्टहृदयः कृतवर्माण मच्युतः।
नगरं हस्तिनपुरं प्रेषयामास वेदितुम्॥ ग ॥

स गत्वा हस्तिनपुरं वृद्धं कुरुपितामहम्।
ददर्श द्रोणविदुरधृतराष्ट्रकृपै र्वृतम्॥ घ ॥

युधिष्ठिरञ्च राजानं चतुर्भिर्भ्रातृभि र्वृतम्।
सभाजयामास भृशं कुन्तीञ्च हृदिकात्मजः॥ ङ ॥

युधिष्ठिरोऽपि पप्रच्छ सानुगं कंसमर्दनम्।
हतञ्च कालयवनं जरासन्धञ्च निर्जितम्॥ च ॥

वासुदेवञ्च निहतं करवीरपुरेश्वरम्।
द्वारवत्याञ्च करणं नगर्या वरुणालये॥ छ ॥

हतौ च हंसडिभकौ ब्रह्मदत्तश्च दुर्जयम्।
श्रुत्वा हार्दिक्यवचना द्यथार्थेन युधिष्ठिरः॥ ज ॥

मेने त्रैलोक्यसाम्राज्यं स्वहस्तगतमक्षयम्।
सभाजितश्च हार्दिक्यः सुखसम्भाषणादिभिः॥ झ ॥

पाण्डुपुत्रैस्तथा कुन्त्या सौहार्दस्नुतबाष्पया।
हार्दिक्य स्ताननुज्ञाप्य बान्धवा न्पृथया सह॥ ञ ॥

मातृष्वसेयान्धर्मज्ञा नभिवाद्य यथावयः।
गाङ्गेयेनाऽभ्यनुज्ञातो धृतराष्ट्रेण चाऽनघ!॥ ट ॥

विदुरेणाङ्गराजेन द्रोणेन च कृपेण च।
प्राज्ञेनाचार्यपुत्त्रेण तथा दुर्योधनेन च॥ ठ ॥

कृतवर्माऽभ्यनुज्ञातो निर्गत्य गजसाह्वयात्।
द्वारकां वृष्णिनिलया माजगाम दिनात्यये॥ ड ॥

स प्रविश्य सभां दिव्या मनेकनृपसेविताम्।
दृष्ट्वा गोविन्दमासीनं काञ्चने परमासने॥ ढ ॥

वीजच्चामरसङ्घातसहितं वनमालिनम्।
आचचष्टेऽखिलं तस्य यथादृष्टं यथाश्रुतम्॥ ण ॥

वृत्तान्तं कौरवेयाणां नगरे गजसाह्वये।
तदाकर्ण्य हरि स्सर्वं वृत्तान्तं जगदीश्वरः॥
पौरुषं पाण्डुपुत्त्राणां बभूवाऽऽनन्दनिर्भरः॥ त ॥

(इति श्रीविजयध्वजरीत्या षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५६ ॥)

विज० "परा पूर्वेषां संख्यां वृणक्ति वितर्तुराणो अपरेभिरेति" इत्यादिश्रुत्यर्थं दीपकन्यायेन दर्शयत्यस्मिन्नध्याये। तत्र श्रीकृष्णो युद्धे कुन्तीसुतैर्बद्धं पाञ्चालभूपतिं श्रुत्वा हृष्टः तद्वृत्तान्तविवित्सया तत्समीपे कृतवर्माणं प्रेषयामासेति कथयति -कदाचिदिति॥ क ॥

ब्राह्मणैरुक्तम्॥ ख - च ॥

वासुदेवं सृगालनामानम्। वरुणालये समुद्रे॥ छ ॥

आनन्दनिर्भरः आनन्दपूर्णो बभूवइत्यनेन पूर्णानन्दत्वं सदातनं न कादाचित्कमिति सूचयति। 'भू सत्तायाम्' धातोः सत्तायाः सदातनत्वादिति॥ ज-त ॥

इति श्रीविजयध्वजरीत्या षट्पञ्चाशोऽध्यायः॥५६ ॥

(अत्र विजयध्वजरीत्या सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः आरभ्यते)

आनर्ताधिपतिः श्रीमान् रैवतो रेवतीं सुताम्।
ब्रह्मणा चोदितः प्रादात् बलायेति पुरोदितम्॥ १५ ॥

(श्रीविजयध्वजीयरीत्या अधिकश्लोकाः)

राजोवाच

रेवतो नाम राजऽसौ ब्रह्मणा चोदितः कथम्।
तदहं श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण महामुने॥ क ॥

श्रीशुक उवाच

रेवतो नाम राजाऽऽसीत्पुरा धर्मार्थतत्त्ववित्।
रेवती नाम तस्यैका जज्ञे कन्या यशस्विनी॥ ख ॥

स ब्रह्माणं ययौ प्रष्टुं कस्मै दास्यामि तामिति।
अदत्त्वा याच्यमानोऽपि नानाजनपदेश्वरैः॥ ग ॥

सभायां ब्रह्मणस्तत्र गन्धर्वौ द्वौ हाहा हूहू।
तस्मिन्नगायतां काले ग्राममूर्छाविचक्षणौ॥ घ ॥

राजाऽतिष्ठद्बहिः किञ्चित्तद्विरामप्रतीक्षया।
गीतावसाने पप्रच्छ प्रणिपत्य पितामहम्॥ ङ ॥

एष मे भगवन्कन्या कस्मै दास्या इमामिति।
तं प्राह पद्मभूः कस्ते राजपुत्त्रो विरोचते॥ च ॥

तत्राऽन्यांश्च महीपाला नाचक्ष्वेति कुरूद्वह।
ततस्तान् रेवतः प्राह भूपालान्विषयेश्वरान्॥ छ ॥

स तानाकर्ण्य नृपतीन्प्रहस्योवाच रेवतम्।
युगानि तु बहून्यत्र गतानि तव भूपते॥ ज ॥

क्षणमात्रमिवाऽश्राव्यं शृण्वतो गीतमेतयोः।
क्वेदानीं तव ते भूपाः सुतायाः सदृशावराः॥ झ ॥

इदानीं राजशार्दूल यदुवंशविवर्धनौ।
वसुदेवगृहे जातौ रामकृष्णाह्वयौ प्रभू॥ ञ ॥

तत्र सङ्कर्षणायेमां कन्यां यच्छस्व भूपते।
इत्युक्तस्तेन भूपालस्तं प्रणम्य पुरं गतः॥ ट ॥

रामाय प्रददौ कन्यां रूपिणीं बाहुशालिने।
तामादियुगसम्भूतां दीर्घदेहां महाभुजः॥
आकृष्य लाङ्गलेनांसे समां चक्रे हलायुधः॥ ठ ॥

भगवानपि गोविन्द उपयेमे कुरूद्वह।
वैदर्भीं भीष्मकसुतां श्रियो मात्रां[1-] स्वयंवरे[-1]॥ १६ ॥

प्रमथ्य तरसा राज्ञः शाल्वादींश्चैद्यपक्षगान्।
पश्यतां सर्वलोकानां तार्क्ष्यपुत्रस्सुधामिव॥ १७ ॥

राजोवाच

भगवान्भीष्मकसुतां रुक्मिणीं रुचिराननाम्।
राक्षसेन विवाहेन[2-] उपयेम[-2] इति श्रुतम्॥ १८ ॥

भगवन् श्रोतुमिच्छामि कृष्णस्यामिततेजसः।
★ रुक्मिण्या ग्रहणं पाणेः प्रमथ्यान्यान् स्वयंवरे॥
यथा मागधशाल्वादीन् जित्वा[3-] कन्यामुपाहरत्[-3]॥ १९ ॥

ब्रह्मन् कृष्णकथाः[4] पुण्या माध्वी र्लोकमलापहाः।
को नु तृप्येत शृण्वानः[5] श्रुतज्ञो नित्यनूतनाः॥ २० ॥

1- -1 M,Ma इन्दिरांशां 2- -2 B,G,J,Ml,V विधानेन ★ This half verse is found in Ml,v Edns only 3--3 K,W जित्वैकः पुनरागमत्; M,Ma जित्वा तत्पारमागमत् 4 M,Ma,Ml,v विष्णु 5 K,W शृणुवान्

**श्रीध०** श्रीकृष्णस्य विवाहं[1] निरूपयितुं बलदेवविवाहं नवमस्कन्धोक्तम् अनुस्मारयति- **आनर्तेति** ॥ १५ ॥

**भगवानिति।** लक्ष्म्याः[2] मात्रां कलाम्॥ १६ ॥

**प्रमथ्येति।** गरुडो यथा देवान् प्रमथ्य सुधां अमृतं[3] अहरत्[4] तथेति॥ १७ ॥

**भगवानिति।** "राक्षसो युद्धहरणात्" (याज्ञ. स्मृ. 1-3-61) इति स्मृतेः। राज्ञः प्रमथ्येति च त्वदुक्त्य राक्षसेन विधानेन उपयेमे परिणीतवानिति श्रुतं पूर्वमेव वा॥ १८ ॥

**भगवन्निति।** सामान्यत एव श्रुतम्, विशेषन्तु श्रोतुमिच्छामि॥ १९ ॥

श्रवणौत्सुक्यमाविष्करोति- **ब्रह्मन्निति।** पुण्या महाफला माध्वीः श्रुतिसुखाः लोकस्य मलापहाश्च शृण्वानः शृण्वन्नित्यर्थः श्रुतज्ञः श्रुतसारवित् नित्यनूतनाः प्रतिक्षणमाश्चर्यवत् प्रतीयमानाः॥ २० ॥

1 B,J °हान् 2 B,J omit लक्ष्म्याः 3 B,J omit अमृतं 4 M,V आ०

**वीर०** अथ श्रीकृष्णस्य विवाहान् निरूपयितुकामस्तावत् बलभद्रविवाहं नवमस्कन्धोक्तङ्गा मनुस्मरति -**आनर्तेति।** स्पष्टोऽर्थः॥ १५॥

अथ भगवद्विवाहान् निरूपयितुकामस्तावत् रुक्मिणीकल्याणं तद्विस्तरबुभुत्सा मुत्थापयन्[1] सङ्गहेणाऽऽह - **भगवानपीति** द्वाभ्याम्। हे कुरूद्वह! श्रियो लक्ष्म्याः मात्रामंशभूतां भीष्मकस्य राज्ञः सुतां वैदर्भीं, यथा तार्क्ष्यपुत्रो गरुडः सुधा माजहार, तद्वत् स्वयंवरे सर्वभूतानां पश्यतां सतां चैद्यपक्षपातिनः सर्वान् शाल्वादीन् राज्ञः क्षत्रियान् तरसा बलेन प्रमथ्याऽऽलोड्य अभिभूयेति यावत्। आहृतामिति शेषः, उपयेमे इत्यन्वयः॥ १६, १७ ॥

तत्र तद्विस्तरबुभुत्सया पृच्छति राजा **भगवानिति।** रुचिरं सुन्दरमाननं यस्यास्ताम्; उपयेमे विवाहितवानिति श्रुतं, मयेति शेषः। त्वन्मुखा दधुना श्रुतमिति भावः। नियुध्याऽऽनीताया विवाहो राक्षसविवाहः। "राक्षसो युद्धहरणात्" (याज्ञ; स्मृ 1-3-61) इति स्मृतेः, यद्वा युद्धे हरणमेव राक्षसविवाहः तथाऽपि[2] च राक्षसेन विवाहेन हेतुभूतेन पश्चात् यथावत् उपयेमे इत्यर्थः॥ १८ ॥

**भगवन्निति।** यथा येन प्रकारेण मागधादी नेक एव सन् जित्वा पुनरागमत्, वैदर्भी मादायेति शेषः। त ममिततेजसः श्रीकृष्णस्य जयाऽऽगमनादिप्रकारं श्रोतुमिच्छामि॥ १९ ॥

आत्मनः श्रवणौत्सुक्यम् आविष्करोति- **ब्रह्मन्निति।** हे ब्रह्मन्! श्रीकृष्णस्य कथाः पुण्याः शृण्वतां वदताञ्च पुण्यावहाः, माध्वीः श्रुतिसुखावहाः, न केवलं पुण्या एव अपि तु शृण्वतो[3-] गदतश्च जनस्य मलापहाः पापघ्नीश्च अतः ताः श्रुतज्ञः श्रोत्रेन्द्रियविषयसुखसारासारविवेकी चेत् को वा पुमान् शृणुवान् शृण्वन्, उवङ् दीर्घश्चाऽऽर्षः[-3]। न सेवेत। श्रुतज्ञश्चेत् सर्वोऽपि सेवेतेत्यर्थः। सत्यं सेवेतेति, सकृच्छ्रुत्वा पुन र्न सेवेते त्यतः ता विशिनष्टि नित्यनूतना इति॥ २० ॥

1 K,T,W °मुत्पादयन् 2 K,T,W omit अपि 3- -3 B शृण्वान् उपधा दीर्घश्च आर्षः।

विज० अनित्यत्वात् संसारो हेयः, तदर्थं कामक्रोधादिनिलयात् देहात् संविदेवाऽऽहर्तव्येति दर्शनायोत्तराध्यायस्य प्रारम्भः। आनर्तविषयाधिपतिः॥ १५ ॥

धर्मार्थो धर्मविषयो विष्णु स्तस्य तत्त्वं वेत्तीति धर्मस्यार्थस्य तत्त्वं हरिविषयत्वलक्षणं वेत्तीति वा॥ क,ख ॥

येयं मम कन्या, तां प्रति याचकत्वसम्भवात् कुतो न दत्तेत्यत्राऽऽह-अदत्वेति। ब्रह्मणः सर्वस्य गुरुत्वात् गुर्वनुज्ञापूर्वकं क्रियमाणं सर्वं फलव दित्यभिसन्धाय याचकेभ्यो न दत्तेति भावः॥ ग ॥

तत्र तस्मिन्नवसरे ग्राममूर्छाविचक्षणौ सप्तस्वरगानविशेषविदग्धौ, स्वराणां मण्डलं ग्रामः। आरोहावरोहः मूर्छा। सप्त स्वरा स्त्रयो ग्रामा एकविंशतिः मूर्छना इति भरतः॥ घ ॥

अल्पार्थे किञ्चिदित्यव्ययम्। अल्पकालमित्यर्थः॥ ङ ॥

त्वदभीष्टवरो नास्ति तदानीन्तनकालीयाना मतीतत्वादिति ब्रह्मा वक्ति, तं प्राहेति॥ च ॥

तव ते तुभ्यं मनुष्यस्य सुबहूनि युगानि क्षणमात्रमिव गतानीति तत्र निमित्तमाह आश्राव्यमिति॥ ज,झ॥

तर्हि किं कर्तव्यमिति तत्राऽऽह इदानीमिति॥ ञ ॥

आदियुगं कृतं नाम॥ ठ ॥

तेषां पारं यथा तस्य हरेर्विवाहलक्षणं चरितं श्रोतुमिच्छामि॥ १६-१९ ॥

माध्वीः मधुराः॥ २० ॥

## -: रुक्मिणीविवाहकथारंम्भः :-

### श्रीशुक उवाच

**राजाऽऽसीद्भीष्मको नाम विदर्भाधिपतिर्महान्।**
**तस्य पञ्चाभवन्पुत्त्राः कन्यैका च वरानना॥ २१ ॥**

**रुक्म्यग्रजो रुक्मरथो रुक्मबाहु रनन्तरः।**
**रुक्मकेशो रुक्ममाली रुक्मिण्येषां स्वसा सती॥ २२ ॥**

सोपश्रुत्य[1-1] मुकुन्दस्य रूपवीर्यगुणश्रियः।
गृहागतै र्गीयमाना स्तं मेने सदृशं पतिम्॥ २३ ॥

तां बुद्धिलक्षणौदार्य रूपशीलगुणाश्रयाम्।
कृष्ण स्स्वसदृशीं[2] भार्यां समुद्वोढुं मनो दधे॥ २४ ॥

बन्धूना मिच्छतां दातुं कृष्णाय भगिनीं नृप।
ततो निवार्य कृष्णद्विट् रुक्मी[3] चैद्य ममन्यत[4]॥ २५ ॥

1--1 K.W. सा पश्यन्ती 2 B,G,J.M,Ma °श्च 3 M.Ma रुक्मी 4--4 M.Ma चैद्याय समकल्पयत्

**श्रीध० बन्धूनामिति** चैद्यममन्यत तस्या वरमित्यर्थः॥ २१-२५ ॥

**वीर०** इत्थमापृष्टो विस्तरतो वर्णयति **राजाऽऽसीदिति**। विदर्भाणां देशानाम् अधिपतिः महान्, गुणैरिति शेषः। तस्य भीष्मकस्य सुताः पञ्च, कन्यकात्वेकैव। सा च वरानना। आननग्रहणं सर्वावयवानां उपलक्षणम्। सर्वावयवसौन्दर्य वतीत्यर्थः[1]॥ २१ ॥

पुत्रान् क्रमेण निर्दिशन् कन्यकाख्यानमाह[2] - **रुक्मीति**। अग्रजो रुक्मी ततः क्रमेण रुक्मरथादयः, एषां रुक्म्यादीनां स्वसा भगिनी रुक्मिणी सा सती सुशीला॥ २२ ॥

सा रुक्मिणी स्वगृहान् प्रति आगतैः जनैः गीयमानाः श्रीकृष्णस्य रूपसौन्दर्यवीर्यगुणाः अन्ये गम्भीर्योदार्यादयः श्री र्भोग्यभोगोपकरणादिसम्पत्तिः। एताः पश्यन्ती[3] शृण्वती तं मुकुन्दमेव आत्मनः सदृशमनुरूपं पतिं मेने॥ २३ ॥

तथा कृष्णोऽपि गृहागतजनमुखात् बुद्ध्यादिगुणैकतानां तां[4] रुक्मिणीं श्रुत्वा आत्मनोऽनुरूपां भार्यां मन श्चक्रे॥ २४ ॥

एवं स्थिते रुक्मी बन्धूनां, रुक्मीतरेषामिति शेषः। कृष्णायैव भगिनीं दातुमिच्छतां सतां हे नृप! ततः त न्निवार्य श्रीकृष्णं द्वेष्टीति तथाभूतस्सन् चैद्यं शिशुपालमेव भगिन्याः पति ममन्यत चैद्यायैव दातुं निश्चिकायेत्यर्थः॥ २५॥

1 B शालिनीत्यर्थः 2 K,T,W °ख्यामाह 3 B °न्ती 4 B omits °तां

**विज०** वरं मनोहरम् आननं यस्या स्सा तथा॥ २१,२२ ॥

गृहागतैः जनैः॥ २३ - २५ ॥

**तदवेत्यासितापाङ्गी वैदर्भी दुर्मना भृशम्**
**विचिन्त्यामं द्विजं कञ्चि त्कृष्णाय प्राहिणोद्द्रुतम्॥ २६ ॥**

द्वारकां स समभ्येत्य प्रतीहारैः[1] प्रवेशितः।
अपश्य दाद्यं पुरुष मासीनं काञ्चनासने ॥ २७ ॥

दृष्ट्वा ब्रह्मण्यदेव स्त मवरुह्य निजासनात्[2]।
उपवेश्यार्हयाञ्चक्रे यथाऽऽत्मानं दिवौकसः॥ २८ ॥

तं भुक्तवन्तं विश्रान्तं उपगम्य सताङ्गतिः।
पाणिनाऽभिमृशन्पादा वव्यग्र स्तमपृच्छत॥ २९ ॥

गवानुवाच[-3]

कच्चि[4] द्विजवरश्रेष्ठ धर्म स्ते वृद्ध सम्मतः।
वर्तते नातिकृच्छ्रेण सन्तुष्टमनस स्सदा॥ ३० ॥

1 K,Ml,V,W °ति 2 M,Ma, Ml.V °सने 3- -3 B,G,J, M,Ma omit; Ml,V श्रीकृष्ण उवाच 4 J क्वचि०

**श्रीध०** **तदिति**। अवेत्य ज्ञात्वा असितापाङ्गी सुनीलकटाक्षा[1] कृष्णाय कृष्णमानेतुं प्रेषयामास॥ २६

**द्वारकामिति**। प्रतीहारैः द्वारपालैः॥ २७ ॥

**दृष्ट्वेति**। आत्मानं श्रीकृष्णम्॥ २८ ॥

**तमिति**। अभिमृशन् शनैः[2] सम्मर्दयन्॥ २९, ३० ॥

1 Ml,V omit सु 2 Ml V add शनैः

**वीर०** तद्भ्रातुर्निश्चितमालक्ष्य, असितावपाङ्गौ यस्याः सा वैदर्भी दुःखितचित्ता ततो विचिन्त्याऽऽलोच्य[1] आप्तं कञ्चिद्द्विजश्रेष्ठं[2] द्रुतं त्वरितं यथा तथा श्रीकृष्णाय प्राहिणोत् कृष्णमानेतुं प्रेषयामासेत्यर्थः। "क्रियार्थोपपदस्य" (अष्टा. 2-3-14) इति चतुर्थी॥ २६ ॥

स द्विजः द्वारकां प्रति गत्वा तत्र द्वारपालैरन्तः प्रवेशितः काञ्चनमये सिंहासने स्थितं जगत्कारणं पुरुषं श्रीकृष्णं ददर्श॥ २७ ॥

किञ्च[3-]। **दृष्ट्वेति**[-3]। तं दृष्टवन्तं द्विजमवलोक्य ब्रह्मणि कुले साधवो ब्रह्मण्याः तेषां मध्ये देवः दीप्यमानः श्रेष्ठ इत्यर्थः। स भगवान् निजासनात्[4-] स्वकीयसिंहासनात्[-4] अवरुह्य[5] अवतीर्य द्विजमुपवेश्य अर्हयाञ्चक्रे[6-] पूजयामास[-6]। तत्र दृष्टान्तः[7-] यथा दिवौकस इन्द्रादयः आत्मानं श्रीकृष्णरूपिणं पूजयन्ति तद्वदित्यर्थः[-7]॥ २८ ॥

तमिति। विश्रान्तं विगताध्वश्रमं तं द्विज मुपगम्य स्वयं सताङ्गतिः श्रेयःप्राप्तयुपायः तत्त्वात् सद्भिरेव मनुष्ठेयमिति प्रदर्शयन्निवेति भावः। अभिमृशत् शनै स्समर्दयन्, अव्यग्रः अवहितचित्तः, तं द्विजश्रेष्ठ मपृच्छत्॥ २९ ॥

प्रश्नमेव वर्णयति - कच्चिदिति षड्भिः। हे द्विजवरश्रेष्ठ ! द्विजश्रेष्ठानामपिश्रेष्ठ! ते तव धर्मः आर्यसम्मतो वर्तते कच्चित्? मदिष्टे इति भावः कोऽसा वार्यसम्मतः त्वदिष्टश्चेऽत्यतो विशिनष्टि। नातिकृच्छ्रेणाऽनतिक्लेशेन अयत्नलब्धेन सदा सन्तुष्टं मनो यस्य तस्य तव, धर्म इति पूर्वेण सम्बन्धः। सन्तोष एव ब्राह्मणस्य परमो धर्म आर्यसम्मतो मदिष्टश्चेति भावः॥ ३० ॥

---

1. K,T,W omit आलोच्य 2 T,W °विप्र 3- -3 K,T,W omit 4--4 K,T,W omit 5 K,T,W अवतीर्य 6--6 K,T,W omit 7--7 K,T,W यथा देवाः आत्मानं पूजयन्ति तद्वत् 8--8 K,T,W द्विजमपृच्छत। 9 K,T,W omit षड्भिः 10--10 K,T,W omit 11 K,T,W omit ते

विज० असितापाङ्गी नीलकटाक्षस्थला आप्तं विश्वस्तम्॥ २६-२८ ॥

अव्यग्रः असम्भ्रान्तः॥ २९-३० ॥

सन्तुष्टो यर्हि वर्तेत ब्राह्मणो येन केन चित्।
अहीयमानः स्वाद्धर्मात् स ह्यस्याऽखिल कामधुक्॥ ३१ ॥

असन्तुष्टोऽसकृ ल्लोकान् नाऽऽप्नोत्यपि सुरेश्वरः।
अकिञ्चनोपि सन्तुष्टः शेते सर्वाङ्गविज्वरः॥ ३२ ॥

विप्रान् स्वलाभसन्तुष्टान् साधून् भूतसुहृत्तमान्।
निरहङ्कारिण श्शान्तान् नमस्ये शिरसाऽसकृत्॥ ३३ ॥

कच्चि द्वः कुशलं ब्रह्मन् राजतो यस्य हि प्रजाः।
सुखं वसन्ति विषये पाल्यमानाः स मे प्रियः॥ ३४ ॥

यतस्त्वमागतो दुर्गं निस्तीर्येह यदिच्छया।
सर्वं नो ब्रूह्यगुह्यञ्चेत् किं कार्यं करवाम ते ॥ ३५ ॥

उवाच

एवं सम्पृष्टसम्प्रश्नो ब्राह्मणः परमेष्ठिना।
★ लीलागृहीतदेहेन तस्मै सर्व मवर्णयत्॥ ३६ ॥

1 M,V यदि 2--2 M,Ma °ष्टः सुखं विप्र! 3 B,G,J,M, आ० 4 M,Ma यद्द० 5 K,W मे 6--6 K,W वयं किं 7 K,W °महे; M,V °म तत् 8--8 B,G,J,M, Ma,M,V omit ★ This half verse is not found in M,Ma Edns

**श्रीध० सन्तुष्ट** इति। स धर्मोऽस्य ब्राह्मणस्याऽखिलकामदोग्धा भवति। यद्वा स ब्राह्मणोऽस्य विश्वस्याऽखिलकामधुगिति॥ ३१ ॥

**असन्तुष्ट** इति। लोकानाप्नोति। लोकाल्लोकान्तरं पर्यटति[1], नैकत्र निर्वृत स्तिष्ठतीत्यर्थः। नाऽऽप्नोतीति पाठे सुरेश्वरोऽपि भूत्वा लोका न्नाऽऽप्नोति उत्तमलोका न्प्राप्तोपि अप्राप्त इव क्लिश्यतीत्यर्थः। शेते सुख मास्ते इत्यर्थः। तदेवाऽऽह सर्वेष्वङ्गेषु वाक्पाण्यादिषु विज्वर स्तापरहितः॥ ३२ ॥

**विप्रानिति**। स्वलाभः स्वत एव प्राप्तो लाभः आत्मलाभो वा तेन सन्तुष्टान् पूर्णान् साधून् स्वधर्मनिष्ठान्॥ ३३ ॥

**कच्चिदिति**। यस्य राज्ञो विषये देशे॥ ३४ ॥

**यत** इति। यतः स्थानात् यदिच्छया [2-]यत्कार्येच्छया[-2] दुर्गं समुद्रम्॥ ३५॥

**एवमिति**। सम्पृष्टः सम्प्रश्नः प्रष्टव्योऽर्थो यं[3] सः परमेष्ठिना परमेश्वरेण बन्धूना मनभिप्रेतं रुक्मिण श्चेष्टित मित्यादि सर्वम्॥ ३६॥

1 MI,V °टन् 2--2 MI,V यस्य कार्यस्येच्छया 3 MI,V यस्य

**वीर०** एतदेवोपपादयति- **सन्तुष्ट** इति। यर्हि यदा येन केनचि दयत्नलब्धेनैव देहधारणोपयुक्तेन सन्तुष्टस्सन्[1] स्वात्[2] स्वस्मात् धर्मा द्वर्णाश्रमोचिता द्धर्मा दहीयमानो वर्तेत, स हि नित्यसन्तोषरूपो धर्मः, अस्य नित्यसन्तुष्टस्य स्वधर्मा दनपतेस्य च पुंसः अखिलान् कामान् इष्टार्थान् दोग्धीति तथा। स्वादित्यत्र "पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा" (अष्टा7-1-16) इति विकल्पात्स्मादादेशाभावः। अखिलकामधुग् इत्यनेन वृद्धसम्मतत्त्वं फलितं, शिष्टसम्मतस्यैव धर्मस्य फलसाधनत्वाव्यभिचारात्, फलसाधनत्वाध्यवसायिना मेव शिष्टत्वात्॥ ३१ ॥

एवं सन्तोषस्य पारलौकिकसुखसाधनत्वमुक्तम्, अथेह लोकेऽपि सुखहेतुत्वं वक्तु मसन्तोषस्योभयत्र दुःखहेतुता माह **असन्तुष्ट** इत्यर्धेन। सुरेश्वरोऽपि असन्तुष्टश्चेत् लोकाननुकूलतया लोक्यन्त इति लोका आनन्दाः सुखानीति यावत्, ता नैहिकामुष्मिकांश्च न प्राप्नोति। अकिञ्चनोऽपि सन्तुष्टश्चेत् सर्वाङ्गविज्वरः कस्मिंश्चिदङ्गेपि तापरहितः शेते॥ ३२ ॥

अथ सन्तोषस्य स्वाभिमतत्वमाह **विप्रानिति**। स्वलाभेन स्वसत्तालाभेन "स्वोज्जीवनेच्छा यदि ते स्वसत्तायां स्पृहा यदि। आत्मदास्यं हरेः स्वाम्यं स्वभावञ्च सदा स्मर" (विष्णुतत्त्वम्)। इत्युक्तहरिदास्याद्यनुसन्धानप्रयुक्तात्मलाभेनेत्यर्थः। तेनैव सन्तुष्टान्[3] साधून् परोपकारिणः देहात्माभिमानरहितान् शान्तान् जितेन्द्रियान् द्विजा नह मसकृच्छिरसा नमस्ये नमस्करोमि अतीव मदिष्टं कुर्वद्भ्यस्तेभ्यः प्रत्युपकर्तु मशक्तः केवलं नमस्करोमीत्यभिप्रायः॥ ३३ ॥

हे ब्रह्मन्! वो युष्माकं राजतः राज्ञः सकाशात् कुशलं कच्चित्। यस्य राज्ञो विषये देशो प्रजाः पाल्यमानाः सुखं यथा तथा वसन्ति स राजा मम प्रियः॥ ३४ ॥

यतो यस्माद्देशा दिह दुर्गं समुद्रजलात्मकं निस्तीर्य यदिच्छया यत्प्रयोजनेच्छया हेतुभूतया आगतः, तत्सर्वं मगुह्यञ्चेत् नोऽस्मभ्यं ब्रूहि, वयं किङ्करवामहे किङ्करा वयमित्यर्थः ॥ ३५ ॥

**एवमिति**। लीलया हेतुभूतया गृहीतो देहो येन। परो मा यस्मात् तस्मिन्महिम्नि तिष्ठतीति तथाभूते[4]- "स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः" (छान्दो० उ० 7-24-1)इति श्रुतेः। तेन भगवता इत्थं सम्पृष्टः सम्प्रश्नः प्रश्नविषये यस्य स ब्राह्मणः तस्मै श्रीकृष्णाय सर्वं पृष्टं वर्णयामास॥ ३६ ॥

1 K,T,W omit सन् 2 B omits स्वात् 3 B omits एवं 4 K,T,W omit भूते

**विज०** यः स्वधर्मा दहीयमानः स्वधर्मत्यागी न स्यात्॥ ३१ ॥

सुरेश्वरोऽप्यसन्तुष्टः सुरवं नाऽऽप्नोति, अकिञ्चिनो दरिद्रोऽपि सन्तुष्टः अलम्बुद्धिः॥ ३२ ॥

स्वतो लाभो यस्य धनस्य तत्तथा तेन॥ ३३ ॥

तस्य विषये राष्ट्रे, स राजा मे प्रियः॥ ३४ ॥

आगमनकारणं पृच्छति - **यत** इति। यतः कारणा त्तत्सर्वं कारणम्॥ ३५ ॥

परमेष्ठिना सर्वोत्तमेन॥ ३६ ॥

★ **रुक्मिण्या प्रेषित स्तेऽहं सकाशं पुरुषोत्तम।**
**तस्या स्सन्देश माकर्ण्य क्रियतां तदनन्तरम्[1]॥**

० **निधाय[2] लिखितं पत्रं पादयोः प्रणनाम तम्।**
**तदादाय जगन्नाथः स्मितसुन्दरलोचनः॥**
**वाचयामास धर्मात्मा सादरं स्पृहयन्निव॥**

**रुक्मिण्युवाच**

**श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां[3-] ते[-3] निर्विश्य कर्णविवरै[4] र्हरतोऽङ्गतापम्।**
**रूपं दृशां दृशिमता मखिलार्थलाभं[-5] त्वय्यच्युताऽऽ विशति चित्त मपत्रपं मे[5-]॥ ३७ ॥**

**का त्वा मुकुन्द महती गुणशीलरूप विद्यावयोद्रविणधामभि रात्मतुल्याम्[6]।**
**धीरा पतिं[7-] कुलवती न वृणीत कन्या काले नृसिंह! नरलोकमनोभिरामम्[-7]॥ ३८ ॥**

☆ स त्वं मयाऽप्यभिवृतः पतिरिन्दिराया भक्तप्रियः कृपणलोकशरण्य ईशः।
मत्वैत दङ्ग तव पादसरोजदास्याः कामं कुरु प्रियतम प्रणताऽस्मि तेऽङ्घ्रिम्॥

तन्मे भवान् खलु वृतः पति रङ्ग! जाया मात्मार्पितश्च भवतेऽत्र विभो विधेहि।
मा वीरभाग मभिमर्शतु चैद्य आरा द्गोमायुव न्मृगपते र्बलि मम्बुजाक्ष॥ ३९ ॥

पूर्तेष्टदत्तनियमव्रतदेवविप्र गुर्वर्चनादिभि रल म्भगवा न्परेशः।
आराधितो यदि गदाग्रज एत्य पाणिं गृह्णातु मे, न दमघोषसुतादयोऽन्ये॥ ४० ॥

★ The two half verses beginning with 'रुक्मिण्या' and ending with 'तदनन्तरम्' is not found in G,J,M,Ma edns. But in the place of the half verse beginning with 'रुक्मिण्या' and ending with 'पुरुषोत्तम' three extra half verses are found in Ml,V edns as following; विदर्भाधिपतेः पुत्री रुक्मिणी तव किङ्करी। विज्ञापयति ते किञ्चित् प्रस्तुतोद्वाहमङ्गला॥ तया सम्प्रेषितोऽहं ते सकाशं भीष्मकन्यया॥
1. Ml,V य०
o The three half verses beginning with 'निधाय' and ending with स्पृहयन्निव are not found in G,J, Ml, V edns 2 M,Ma वि० 3- -3 M,Ma सङ्गमांस्ते 4 M,Ma °रं ह० 5- -5 M,Ma परं भुवनमङ्गल! मङ्गलं ते। 6 G,J,Ml,V कुल 7- -7 M,Ma व्रीडावती ☆ This extra verse is found in M,Ma edns only

**श्रीध०** रुक्मिण्या स्वयमेकान्ते लिखित्वा दत्तपत्रिकाम्। मुद्रामुन्मुच्य कृष्णाय प्रेमचिह्नमदर्शयत्[1]॥ ब्राह्मणः श्रीकृष्णाज्ञया[2] वाचयति - **श्रुत्वेति**। अयमर्थः -हे अच्युत! हे भुवनसुन्दरेत्यौत्सुक्यं द्योतयति[3]। क्व तव महिमा, क्वचाहं रूपकुलशीलादियुक्ताऽपि, तथाऽपि अपगता व्रपा यस्मात् तन्मे चित्तं त्वय्याविशति आसज्जते। तत्कुतः? तत्राऽऽह - शृण्वतां कर्णविवरै रन्तः प्रविश्य अङ्गतापम्, अङ्गेति पृथक् सम्बोधनं वा। हरत स्तव गुणान् श्रुत्वा तथा दृशिमतां चक्षुष्मतां दृशा मखिलार्थलाभात्मकं रूपञ्च श्रुत्वेति॥ ३७ ॥

अहो कुलकन्याना मिद मतिधाष्ट्र्यमिति मा शङ्किष्ठाः[4] इत्याह - **का त्वेति**। हे मुकुन्द! हे नृसिंह नरश्रेष्ठ! का नाम कन्या कुलवती[5] तथा महती रूपगुणोदारा तथा धीरा धृतिमती[6] त्वा त्वां पतिं न वृणीत। मय्येव केयं दोषशङ्केति भावः। कथम्भूतं, कुलशीलादिभि रात्मनैव तुल्यं, निरुपममित्यर्थः। द्रविणं द्रव्यसम्पत् धाम प्रभावः तथा नरलोकस्य मनसा मभिरामोऽभिरमणं यस्मात्तम्। किञ्च काले विवाहावसरे॥ ३८ ॥

**तन्मे इति**। हे विभो! तत्तस्मान्मे मया भवा न्खलु पतिर्वृतः आत्मा च भवतोऽर्पितोऽत स्त्वम् अत्राऽऽगत्य मां भवतो जायां विधेहि। विपक्षे बाधकं द्योतयन्त्याह - मा वीरभागमिति। वीरस्य तव भागं माम् आरात् शीघ्रं एत्याऽगत्य[8] चैद्यः शिशुपालः[9-9] मा अभिमर्शतु मा स्पृशतु मृगपतेः[10] सिंहस्य[10] बलिं भागं[11] गो[12-12] मायुवत् गोमायुः सृगाल इवेति॥ ३९॥

अनेकजन्मकृतैः सुकृतै रिदमेव मे[13] भूयादिति प्रार्थयते **पूर्तेति**। पूर्तं कूपादि, इष्ट मग्निहोत्रादि, दत्तं हिरण्यादि दानम्। नियम स्तीर्थाटनादिः, व्रतं कृच्छ्रादि॥ ४० ॥

1 B,J,Ml. चिह्ना० 2 B,J कृष्णानुज्ञया 3 Ml,V दर्शयति 4 J,Ml,V शङ्कीः 5 B,J पुरु० 6 Ml,V धीमती 7- -7 Ml,V न मय्येव केवलं 8 Ml,V, omit एत्य 9- -9 B,J omit 10 B,J omit सिंहस्य 11 B,J, omit भागं 12--12 Ml,V omit 13 B,J, Omit मे

वीर० [1-] वर्णन मेवाऽऽह- [-1] **रुक्मिण्येति**। तव सकाशं समीपं प्रति प्रेषितोऽहं [2-] हे कृष्ण! हे माधव! [-2] तस्याः [3-] रुक्मिण्याः [-3] सन्देशं वाचिक माकर्ण्य अनन्तरं [4] तत् रुक्मिण्युक्तं क्रियताम्। यद्वा, तदनन्तरं श्रवणानन्तरं क्रियतां, यथोचितमिति शेषः॥

एवमुक्त्वा लिखितं, रुक्मिण्येति शेषः पत्रं पादयोः, भगवत इति शेषः निधाय तं श्रीकृष्णं प्रणनाम नमस्कृतवान्, [5-] ब्राह्मण इति शेषः। [-5] तत्पत्रमादाय सादरं यथा तथा वाचयामास। [6] ब्राह्मणमुखेनैवेति शेषः। कथम्भूतो [7] भगवान्? स्मितेन सुन्दरे लोचने यस्य स धर्मात्मा याचितार्थप्रदानरूपधर्मप्रवणबुद्धिमान् [8] इत्यर्थः। स्पृहयन्निव वाचनेनैव लिङ्गेन तद्विषयक स्पृहां व्यञ्जयन्निवेत्यर्थः।

[9] अथ ब्राह्मणः श्रीकृष्णानुज्ञया वाचिकं वक्ति - **श्रुत्वेति**। हे भुवनसुन्दर! अनेनौत्सुक्यं द्योतयति। त्वद्गुणानेव [10] शृण्वतां जनानां कर्णरन्ध्रै रन्तः प्रविश्य अङ्गताप माध्यात्मिकं तापं हरत स्ते तव गुणान् तथा दृशिमतां चक्षुष्मतां दृशा मखिलार्थाना मनुकूलविषयाणां लाभो यस्मा त्तथाभूतं तव रूपञ्च श्रुत्वा हे अच्युत। मम चित्तं निर्लज्जं यथा तथा, चित्तविशेषणं वा? त्वय्येवाऽऽविशति आसज्जते क्वच तव महिमा क्वचाहं रूपशीलादियुक्तापि? तथा प्यपत्रपं निर्विशति इत्यभिप्रायेण अपत्रप मित्युक्तम्॥ ३७ ॥

अहो कुलकन्याना मिद मतिधाष्टर्य मिति मा शङ्किष्ठा इत्याह - **केति**। हे मुकुन्द! हे नृसिंह! नरश्रेष्ठ! का नाम कन्या कुलवती तथा महती गुणोदारा तथा धीरा स्थिरचित्ता चेत् त्वा त्वाम् पतिं न वृणीत। तेन न मय्येव केवलं दोषशङ्केति भावः। कथम्भूतम्? गुणशीलादिभिः आत्मनैव तुल्यम् निरुपम मि[11]त्यर्थः। द्रविणं द्रव्यसम्पत्, धाम तेजः, प्रभाव इति यावत्। तथा नरलोकस्य मनसः अभिराम मतीवानुकूलविषयभूतम्, किञ्च काले विवाहावसरे॥ ३८ ॥

**तन्मे** इति। हे विभो! [12] तत् तस्मा न्मे मया भवान् खलु पति र्वृतः आत्मा च भवते तुभ्यमर्पितः अतोऽङ्ग! हे कृष्ण! जायां भार्यां विधेहि। त्वमागत्य मामिति शेषः विपक्षे बाधकं द्योतयन्त्याह - [13-] मा वीरभागमिति। हे अम्बुजाक्ष! मृगपतेः सिंहस्य बलिं गोमायुः सृगाल इव वीरस्य तव भागभूतां मां चैद्यः शिशुपालः आरात् शीघ्रमागत्य [-13] मा माअभिमर्शतु मा स्पृशतु॥ ३९ ॥

अनेकजन्मार्जितैः [14] सुकृतैः इदमेव मे भूयादिति प्रार्थयते [15] **-पूर्तेति**। पूर्तं स्मार्तं कर्म वापीकूपतटाकादिनिर्माणम् वा, इष्टं वैदिकं [16] यज्ञादिकर्म। दत्तादयः प्रदर्शनार्थाः। तत्र दत्तं दानं सत्पात्रे [17] द्रव्यत्यागात्मकं, नियम स्तीर्थस्नानादिः, व्रतं कृच्छ्रादिः देवादीनां द्वन्द्वः तेषामर्चनम्। आदिशब्देन भूतहितत्वदयादिसङ्ग्रहः। एभि र्यदि नूनं भगवा नाराधितः स्यात्तर्हि गदाग्रजः श्रीकृष्णः [18] श्वः आगत्य मम पाणिं गृह्णातु। नत्वन्ये दमघोषसुतादयः [19-] शि[-19] शुपालादयः [20-] गृह्णन्तु [-20] इत्यर्थः॥ ४०॥

---

1- -1 T.W. omit 2- -2 K.T.W omit 3- -3 B. omits 4 B omits तत् 5- -5 K.T.W omit 6 B °नेति 7 K.T.W omit भगवान्। 8 K.T.W. omit इत्यर्थः B 9 K.T.W omit अथ 10 K.T.W omit एव 11 B. omits इत्यर्थः द्रविणं 12 B omits तत् 13- -13 B omits 14 K.T.W °त० 15 B °ति 16 K.T.W यागादि 17 T.W °त्र० 18 B. K एव 19- -19 B omits 20- -20 K.T.W omit

विज० धर्मः आत्मा स्वरूपं यस्य स तथा, सुकृतविषयो वा। स्पृहयन्निव कामयमान इव।

हे भुवनसुन्दर! श्रोतॄणां कर्णविवरं निर्विश्य अङ्गतापं शरीरसन्तापं हरतः सम्यग्गमो व्याप्तिः येषां ते तथा तान् स्वरूपाभिन्नान् वा ते तव गुणान् श्रुत्वा ते तव भुवनमङ्गल! मङ्गलं पर मुत्कृष्टं रूपञ्च श्रुत्वा मे चित्तं त्वय्यपत्रप माविशति॥ ३७ ॥

महती विशाला मनो गुणेनेति शेषः। धाम तेजः कुलवती शुद्धवंशा नरलोको मुक्तामुक्तप्रपञ्च स्तस्य मनोभिरामं मनांस्यभिरमयतीति॥ ३८ ॥

अभिवृतः आभिमुख्येन वृतः, एतद्भक्तप्रियत्वादिकं पादसरोजदास्याः मम यतोऽङ्घ्रिं प्रणतास्मि।

तत्तस्मात् हे अङ्ग! हे अम्बुजाक्ष! मां जायां विधेहि। च शब्द एवार्थे। अस्या मे ममाऽऽत्मा देहः भवतोऽर्पित एव। वीरस्य तव भाग मात्मानं आरात् दूरात् स्थातुं योग्य श्चैद्यो माऽभिमर्शतु मा स्पृशतु। तत्र दृष्टान्तमाह- गोमायुवदिति। गोमायवः सृगालाः मृगपतेः सिंहस्य बलिमुपहारम्॥ ३९-४० ॥

श्वो भाविनि त्व मजितोद्वहने विदर्भान् गुप्त[1] स्समेत्य पृतनापतिभिः परीतः[2]।
निर्मथ्य चैद्यमगधेन्द्रबलं[3] प्रसह्य मां राक्षसेन विधिनोद्वह वीर्यशुल्काम्॥ ४१ ॥

अन्तःपुरान्तरचरी[4] मनिहत्य बन्धून् त्वा मुद्वहे कथमिति प्रव्रदा म्युपायम्।
पूर्वेद्यु रस्ति महती कुलदेवयात्रा[5] यस्यां बहि र्नववधू र्गिरिजा मुपेयात्[6]॥ ४२ ॥

★ तत्रैत्य मां रथपदातिगजाश्वयुक्तः सम्मथ्य शाल्वमगधान् सहचेदिभूपान्।
आदाय मां सहचरीभि रथो रमेशो गृह्णातु पाणि मुपनीय पुरीं स्वकीयाम्॥

यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजस्स्नपनं[7] महान्तो वाञ्छ न्त्युमापति रिवाऽऽत्मतमोपहत्यै[8]
यर्ह्यम्बुजाक्ष[9] न लभेय भवत्प्रसादं जह्या मसून् व्रतकृशान् शतजन्मभिः स्यात्[10]॥ ४३ ॥

श्रीशुक उवाच

▲ इति पत्रगतं विश्वं विमृश्य मधुसूदनः।
सन्देशं राजकन्याया स्तं ब्राह्मण मवैक्षत॥

## ब्राह्मण उवाच

**इत्येते गुह्यसन्देशा यदुदेव मयाऽऽहृताः।**
**विमृश्य कृत्यं यच्चाऽत्र क्रियतां तदनन्तरम्॥ ४४ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्री वैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
उत्तरार्धे रुक्मिण्युद्वाहप्रस्तावे द्विपञ्चाशोऽध्यायः॥ ५२ ॥

1 M.Ma गुप्तां स० 2 M.Ma समेतैः 3 MI.V. °धेश 4 M.Ma चरान्नवि० 5 B.G.J.M.Ma देवि 6 K याम् ★ This extra verse is found only in M.Ma edns. 7 M.Ma °स्तवनं 8 M.Ma तमो निहत्यै 9 K.M.Ma.W यच्च० 10 K.M.Ma.W स्याम् ▲ This additional verse is found only in M.Ma edns 11 B.G.J कर्तुं; M.Ma युक्तं

**श्रीध०** ननु चैद्याय बन्धुभिरर्पितायां त्वयि किमधुना करणीय मित्यपेक्षायामाह- श्वो भाविनीति। हे अजित! श्वो भाविन्युद्वहने विवाहे प्रथमं गुप्तोऽलक्षित एवाऽऽगत्य पश्चात्पृतनापतिभिः परिवृत्तस्सन् चैद्यादिबलं निर्मथ्य प्रसह्य बलात् वीर्यं प्रभावदर्शन मेव शुल्कं वैवाहिकं देयं यस्या स्तां माम् अनेन राक्षसविधिना उद्वह - इत्युपदेशरहस्यम्॥ ४१ ॥

ननु भवतु शिशुपालादिबलप्रमथनम् अन्तःपुरमध्यगताया स्तव हरणे त्वद्बन्धुवधोऽपि प्रसज्येते त्यत आह-**अन्तःपुरेति।** पुराद्बहि र्वर्तमानां गिरिजा मम्बिकाम्, अम्बिकागृहादेव मम हरणं सुकर मिति भावः॥ ४२ ॥

ननु किमनेनान र्थकारिणा निर्बन्धेन, चैद्योऽपि ताव त्प्रख्यातगुणकर्मा योग्य एव वर इति तत्राऽऽह - **यस्येति।** हे अम्बुजाक्ष! यस्य भवतोऽङ्घ्रिपङ्कजरजोभिः स्नपन मात्मन स्तमसोऽपहत्यै उमापतिरिव महान्तो वाञ्छन्ति। तस्य भवतः प्रसादं यर्ह्यहं न लभेय न प्राप्नुयां, तर्हि व्रतै रुपवासादिभिः कृशा नसून् प्राणान् जह्यां त्यजेयम्। ततः किं मित्यत आह- शतजन्मभिरिति। एवमेव वारं वारं जह्यां याव च्छतजन्मभिरपि तव प्रसादः स्यादिति॥ ४३ ॥

**इतीति।** अत्र यत्कृत्यं करणीयं तद्विमृश्य क्रियताम्, तच्चाऽनन्तरमेव क्रियतामिति॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
द्विपञ्चाशोऽध्यायः॥ ५२ ॥

1- -1 MI.V वीर्यप्रदर्शन० 2 MI.V किमत० 3. B.J य त्कर्तुं

**वीर०** ननु, बन्धुभि श्चैद्यायार्पितायां त्वयि कि मधुना मया[1] विधेय मित्यत्राऽऽह- **श्वो भाविनीति**। हे अजित! श्वो भावि न्युद्वहने विवाहे त्वं ताव द्रुतः अलक्षित एवाऽऽगत्य ततः सेनापतिभिः परिवृतस्सन् चैद्यादिबलं निर्मथ्य पराभूय प्रसह्य हठात्, वीर्यं प्रभावदर्शनमेव शुल्कं वैवाहिकं देयं यस्या स्तां मां राक्षसेन विधिनोद्वह इत्युपदेशरहस्यम्॥ ४१ ॥

ननु भवतु शिशुपालादि बलप्रमथनम् अन्तःपुरगताया स्तव हरणे त्वद्बन्धुवधोऽपि प्रसज्येतेत्यत आह- **अन्तरिति**। अन्तःपुरमध्यचरीं त्वां बन्धूनहत्वा कथ मुद्वहे इति चेत्, तत्रोपायं वदामि। पूर्वेद्युः, विवाहदिनादिति शेषः। महती कुलदेवयात्राऽस्ति, यस्यां यात्रायां बहिः, पुरादिति शेषः। नववधू रहं गिरिजा मम्बिका मुपेयां गच्छेयम्, दर्शनार्थमिति शेषः। अम्बिकागृहादेव मम हरणं सुकरमिति भावः॥ ४२ ॥

ननु किमनेनान्न[3] र्थकारिणा निर्बन्धेन, चैद्योऽपि ताव त्प्रख्यातगुणकर्मा योग्य एव वर इत्यत आह- **यस्येति**। हे अम्बुजाक्ष! यस्य तव भवतोऽङ्घ्रिरजोभिः स्नपन मात्मनस्तमसो पहत्यै[4-4] अज्ञाननिवृत्त्यै उमापतिरिव अन्येऽपि महान्तो वाञ्छन्ति। तस्य भगवतः प्रसादं यद्यहं न लभेय न प्राप्नुयां, तर्हि व्रतै रुपवासादिभिः कृशा नसून् प्राणान् जह्यां त्यजेयम्। ततः किमि त्यत आह- शतजन्मभिरपि स्यां, तवाऽहं भार्या स्या मित्यर्थः॥ ४३ ॥

इत्थं वाचिकं पठित्वाऽथ[5-] स्ववचन मप्याह- **इतीति**[-5] हे यदुदेव! इत्येवंविधा गुह्यतमाः सन्देशा मया आहृताः। यदत्र कर्तव्यं तद्विमृश्य क्रियतां, तच्च समनन्तरमेव क्रियता मिति॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां द्विपञ्चाशोऽध्यायः॥ ५२ ॥

1 K.T.W omit 2 K.T.W. मां 3 K. omits तव 4- -4 B. omits 5- -5 K.T.W आह द्विजः

**विज०** उद्वहने विवाहे श्वोभाविनि श्वः प्रभाते भविष्यति सति समेतैः पृतनापतिभिः गुप्तान् विदर्भा न्समेत्य राक्षसेन विधिना बलात् कन्याहरणलक्षणेन वीर्यं शुक्लं मौल्यं यस्याः सा तथा, तां माम्॥ ४१ ॥

नववधू र्दर्शनाय॥ ४२ ॥

यथोमापतिः श्रीहरिचरणसरसिजस्तुतिं करोति तस्य तव यदि भवत्प्रसादं पूज्यानुग्रहं न लभेय तर्हि असून् प्राणान् जह्यां त्यक्ष्यामि। किञ्च शतजन्मभिः व्रतकृशा तव भार्यैव स्या मित्यर्थः॥ ४३, ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
द्विपञ्चाशोऽध्यायः॥ ५२ ॥

(श्रीविजयध्वजरीत्या सप्त पञ्चाशोऽध्यायः)

# त्रिपञ्चाशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

वैदर्भ्याः स तु सन्देशं निशम्य यदुनन्दनः।
प्रगृह्य पाणिना पाणिं[1] प्रहस न्द्विजमब्रवीत्[2] ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

★ [3-]यथा सा रुक्मिणी नित्यं मच्चित्ताऽऽस्ते सुशोभना।[-3]
तथाऽहमपि तच्चित्तो निद्रां [4-]च न लभे[-4] निशि ॥
वेदाऽहं रुक्मिणा[5] द्वेषा न्ममोद्वाहो निवारितः ॥ २ ॥

तामानयिष्य उन्मथ्य राजन्यापशदा[6] न्मृधे।
मत्परामनवद्याङ्गी मेधसोऽग्निशिखामिव ॥ ३ ॥

[7-]श्रीशुक उवाच[-7]

उद्वाहर्क्षं रा[8] विज्ञाय रुक्मिण्या मधुसूदनः।
रथ स्संयुज्यता माशु दारुकेत्याह सारथिम् ॥ ४ ॥

स चाश्वैः सैन्यसुग्रीवमेघपुष्पवलाहकैः[9]।
युक्तं रथ मुपानीय तस्थौ प्राञ्जलि रग्रतः ॥ ५ ॥

1 K. W पाणौ 2 B, J ०न्निदम० ★This additional verse (3 halves) is not found in G, J, M, Ma edns 3--3 Ml, V यथा विनिद्रा मच्चित्ता रुक्मिणी रुचिराननना। 4--4 M, Ma नाऽध्यगमं 5 Ml, V, W °णो 6 B, G, J, M, Ma °स० 7--7 M, Ma, Ml, V omit 8 B, G, J, M, Ma च 9 B, G, J, M, Ma शैब्य

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

त्रिपञ्चाशत्तमे गत्वा विदर्भा नद्भुतेहितः। रुक्मिणी मह[1]र त्कृष्णो मिषतां द्विषतां बलात्॥

**यथेति**। निद्रायां अलाभे कारणान्तरं- वेदेति। [2-]उद्वाहो निवारित इति[-2]। तया अकथितमप्यहं जानामीति॥ १,२,॥

**तामिति**। आनयिष्ये आ[3]नेष्यामि। राजन्यापश[4]दान् राजसु हीनान्। उन्मथ्याऽऽनयने दृष्टान्तः- एधस इति॥ ३॥

**उद्वाहर्क्षमिति**। परश्वो रात्रौ विवाहनक्षत्र मिति वि[5]ज्ञाय॥ ४ ॥★

**स** इति। [6]शैब्येत्यादीनि चत्त्वारि अश्वनामानि॥ ५ ॥

1 Ml, V °मा० 2--2 B, J omit 3 Ml, V आनयिष्यामि 4 B, J °स० 5 Ml, V ज्ञात्वा ★ The commentary of 6th verse is attached to the 4th verse in B, J edns. 6 Ml.V सैन्ये०

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

**वैदर्भ्या** इति। तत स्स भगवान् यदुनन्दनस्तु वैदर्भ्याः सन्देश माकर्ण्य स्वपाणिना द्विजं पाणौ गृहीत्वा [1]प्रहसन् उवाच॥ १ ॥

उक्तिमेवाह - **यथेति**। मच्चित्तेति निद्राया अलाभे हेतुः। तथा तच्चित्त इत्यपि हेत्वन्तरं चाह-वेदेति। मयि द्वेषाद्धेतोः रुक्मिणा मदुद्वाहो निवारित इत्यहं वेद्मि। अतश्चाहं निद्रां न लभे इत्यर्थः॥ २ ॥

अधुना तु राजन्याधमान् युद्धे उन्मथ्य अनवद्यानि निर्दुष्टानि शोभनान्यङ्गानि यस्याः। अहमेव परो यस्याः, तां मच्चित्तां वा, तां रुक्मिणीं आनयिष्यामि, उन्मथ्य आनयने दृष्टान्तः- एधसो दारुणोऽग्निशिखामिवेति॥ ३ ॥

इति ब्राह्मण मुक्त्वाऽथ सूतमाह इत्याह- **उद्वाहेति**। मधुसूदनो रुक्मिण्या उद्वाहर्क्षं परश्वो रात्रौ विवाहनक्षत्रमिति विज्ञाय सारथिमाह- [2-]किमिति[-2]? हे दारुक! रथ स्संयुज्यता मश्वै स्संयुक्तः क्रियताम्[3] ॥ ४ ॥

ततो दारुकः सैन्याद्याख्यैः चतुर्भि श्श्रेष्ठैः अश्वै र्युक्तं रथ मुप समीप मानीय अग्रतः पुरतः बद्धाञ्जलिः तस्थौ॥ ५॥

1 B. omits प्रहसन् 2- - 2B दारुकेति। 3 B adds इति।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

मम द्वेषात् रुक्मिणा विवाहो निवारित इतीम मर्थं अहं वेद वेद्मि॥ १,२ ॥

एधसः काष्ठा दग्नेः शिखां ज्वालाम्॥ ३ ॥

उद्वाहर्क्षं विवाहनक्षत्रम्॥ ४ ॥

हयै र्युक्तम्॥ ५ ॥

**आरुह्य स्यन्दनं शौरि र्द्विज मारोप्य तूर्णगैः।**
**आनर्ता देकरात्रेण विदर्भा नगम द्धयैः॥ ६ ॥**

**राजा स कुण्डिनपतिः पुत्रस्नेहवशं गतः।**
**शिशुपालाय स्वां[1] कन्यां दास्य न्कर्माण्यकारयत्॥ ७ ॥**

**पुरं सम्मृष्टसंसिक्तमार्गरथ्याचतुष्पथम्।**
**चित्रध्वजपताकाभि स्तोरणैः समलङ्कृतम्॥ ८ ॥**

**स्रग्गन्धमाल्याभरणै र्विरजो[2-]ऽम्बर[-2]भूषि[3]तैः।**
**जुष्टं स्त्रीपुरुषैः श्रीमद्गृहै रगरु[4]धूपितैः॥ ९ ॥**

**पि[5]तृ न्देवा न्समभ्यर्च्य विप्रांश्च विधिव न्नृप।**
**भोजयित्वा यथान्यायं[6] वाचयामास मङ्गलम्॥ १० ॥**

1 Ml. V तां 2- -2 M, Ma, Ml, V °जाऽम्बर 3 M, Ma भूषणैः 4 B, G, J, M, Ma °गु० 5 Ml, V पितृदे० 6 Ml, V °य्यं

**श्रीध० ★ आरुह्येति।** तस्यां रात्र्यां प्रस्थाय प्रातः विदर्भदेशा नगमत्। श्वोभाविनि त्वं अजित! उद्वहने विदर्भान् गुप्तः समेत्येति रुक्मिणीसन्देशात्॥ ६ ॥

**राजेति।** पुत्रस्य रुक्मिणः स्नेहेन तद्वशमनुगच्छतीति तथा। अनेन शिशुपाले अनभिरुचिं[1] द्योतयति। कर्माणि पुरालङ्कारपितृदेवार्चनादीनि[2] ॥ ७ ॥

तान्येवाह- **पुरमित्यादि** चतुर्भिः। सम्मृष्टाः संसिक्ताश्च मार्गादयो यस्मिन् तत्। चित्रा ध्वजेषु पताकास्ताभिः समलङ्कृतमकारयत्॥ ८ ॥

**स्रगिति।** स्रग्गन्धमाल्याभरणैरित्यत्र मत्वर्थो द्रष्टव्यः। यद्वा स्रग्गन्धमाल्यानि आबिभ्रतीति तथा तैः विरजोम्बरैः[3] भूषितैश्च स्त्रीपुरुषैर्जुष्टम्। तथा श्रीमद्भि र्जगृहैश्च जुष्टम्॥ ९ ॥

**पितृनिति**। यथान्यायमन्यांश्च। कन्यां प्रति मङ्गलं वाचयामास॥ १० ॥

★ The commentary of 6th verse is attached to the 4th verse in B. J. edns 1. Ml. V अनौद्वाहिकाभि० 2 Ml. V °वता० 3 Ml. V °जै रम्बरैः 4 Ml. V °प्य०।

**वीर० आरुह्येति**। तावत् द्विज मारोप्य तत स्स्वयमपि स्यन्दनं रथ मारुह्य आनर्तात् स्वदेशा द्विदर्भान् देशान् हयै स्तुरगै रेकरात्रेणाऽगमत्। तस्यां रात्र्यां प्रस्थाय प्रातः विदर्भदेशा नगमदित्यर्थः। "श्वोभाविनि त्व मजितोद्वहने" (भाग 10-52-4) इति। रुक्मिणीसन्देशात्॥ ६ ॥

**राजेति**। कुण्डिनपति र्भीष्मकः पुत्रस्य रुक्मिणः स्नेहवशङ्गतः पुत्रस्नेहेन तत्परतन्त्रीभूत इत्यर्थः। दास्यन् 'लक्षणहेत्वोः' (अष्टा. 3-2-126) इति शत्रादेशः, दातुमित्यर्थः। कर्माणि पुरालङ्कारपितृदेवार्चनादीनि कारयामास॥ ७ ॥

कर्माण्येवाह- **पुरमिति** चतुर्भिः। सम्मृष्टा स्संसिक्ताश्च मार्गादयो यस्मिन् तत्, चित्रध्वजेषु पताका स्ताभिः तोरणैश्च सम्यगलङ्कृत मकारयत्॥ ८ ॥

स्रग्गन्धमाल्याभरणैरित्यत्र मत्वर्थीयोऽर्श आद्यच् द्रष्टव्यः। स्रगादिमद्भिः तथा विरजोम्बरैश्च भूषितैः स्त्रीपुरुषै र्जुष्टं तथा श्रीमद्भिः अगरुणा धूपितै गृहैश्च जुष्टम्॥ ९ ॥

पितृन्देवांश्च सम्यगभ्यर्च्य हे नृप! सविसर्गपाठे भीष्मकः, विप्रान् यथाविधि भोजयित्वा विधिव त्समभ्यर्च्येति वा। यथान्यायं भोजयित्वा रुक्मिणीं प्रति मङ्गलं वाचयामास, यथान्याय मन्याश्च कन्याः प्रति मङ्गलं वाचयामास इति वार्थः॥ १० ॥

1 B. °ङ्गै० 2 B. इत्यादि 3- -3 B. °काभिः

**विज०** कार्याणि विवाहयोगकार्याणि अकारयत्॥ ६,७ ॥

उक्तमेव स्पष्टयति - **पुरमिति**। प्राक् सम्मृष्टा स्त्यक्तावस्कराः पश्चा त्संसिक्ताः गोमयोदकादिप्रोक्षिता मार्गादयो यस्मिन् तत्तथा॥ ८- १० ॥

**सुस्नातां सुदतीं कन्यां कृतकौतुकमङ्गलाम्।**
**अहतांशुकयुग्मेन भूषितां भूषणोत्तमैः॥ ११ ॥**

**चक्रुः सामर्ग्यजुर्मन्त्रैर्वध्वा रक्षां द्विजोत्तमाः।**
**पुरोहितोऽथर्ववि द्वै जुहाव ग्रहशान्तये॥ १२ ॥**

हिरण्यरूप्यवासांसि[5] तिलांश्च गुडमिश्रितान्।
प्रादाद्धेनूश्च विप्रेभ्यो राजा विधिविदां वरः॥ १३ ॥

एवं चेदिपती[6] राजा दमघोषः सुताय वै।
कारयामास मन्त्रज्ञैः सर्वमभ्युदयोचितम्॥ १४ ॥

मदच्युद्भिर्गजानीकैः स्यन्दनै र्हेममालिभिः।
पत्त्यश्वसङ्कुलैः[7] सैन्यैः परीतः कुण्डिनं ययौ॥ १५ ॥

1- - 1 M, Ma सुस्नाता सुदती कन्या 2 M, Ma °ला 3 M, Ma °ता 4 W मन्त्रैः 5 MI, V रौ० 6 M, Ma चैद्य 7 MI, V °श्वैस्स०

**श्रीध० सुस्नातामिति।** कृतं कौतुकेन विवाहसूत्रेण मङ्गलं यस्यास्ताम्। अहतं नवीनम्। भूषणोत्तमैश्च भूषिताम्॥ ११॥

**चक्रुरिति।** वध्वा स्तस्याः कन्यायाः, सामादिभि[1-] र्मन्त्रैः रक्षां चक्रुः अथर्वमन्त्रैः रक्षां चक्रुः। अथर्ववित् पुरोहितः प्रतिकूलग्रहशान्त्यर्थं जुहाव[-1]॥ १२, १३ ॥

**एवमिति।** अभ्युदये उचितम्॥ १४ ॥

**मदेति।** ततः चतुरङ्गसैन्यैः परीतः परिवृतः कुण्डिनं भीष्मकस्य पुरं ययौ। मदं च्यवन्ते इति[3] मदच्युत स्तैः। स्यन्दनैः रथैः हेमरचिता माला विद्यन्ते येषु तैः॥ १५ ॥

1- -1 J, MI, V अथर्ववित् आथर्वणवेदमन्त्रवित्। 2 MI.V °क पु० 3 MI.V. omit इति

**वीर०** कथम्भूताम्? **सुस्नातामिति।** कृतं कौतुकेन विवाहसूत्रेण मङ्गलं यस्यास्ताम्। अहतयोः नवीनयोः अंशुकयो र्युग्मेन भूषणोत्तमैश्च अलङ्कृतां चक्रुरिति॥ ११ ॥

वध्वा स्तस्याः कन्यायाः सामादिभिः मन्त्रैः रक्षां च चक्रुः[1]। अथर्वमन्त्रवित्[2] पुरोहितः प्रतिकूलग्रहशान्त्यर्थं जुहाव॥ १२॥

**हिरण्येति।** विधिविदां विधिज्ञानां वरो राजा भीष्मकः हिरण्यादीन् धेनूश्च विप्रेभ्यः प्रादात्॥ १३ ॥

एवं यथा रुक्मिण्यै तथा दमघोषः सुताय शिशुपालाय च सर्वमभ्युदयोचितं कर्म मन्त्रज्ञैः द्विजैः कारयामास॥ १४॥

ततो मदजलानि स्रवद्भिः गजानां अनीकैः हेम्नो माला येषां सन्तीति तथा तैः रथैः पदातिभि रश्वैश्च सङ्कुलै व्याप्तैः सैन्यैश्च परिवृतः, चैद्य इति शेषः। कुण्डिनं पुरं ययौ॥ १५ ॥

---

1 B. adds अथर्व रक्षां च चक्रुः 2 B omits मन्त्र

**विज०** सुस्नाताऽभूदिति शेषः। कृतं कौतुके कुतूहले महोत्सवे मङ्गलं यस्याः सा तथा। यद्वा कृतं कौतुकं हस्तसूत्रलक्षणं मङ्गलं यस्या स्सा तथा। "आबध्नन्ति करे सूत्रं माङ्गल्यार्थं नवस्त्रियाः" इति, "कौतुकं विषयाभोगे हस्तसूत्रे कुतूहले, कामे ख्याते मङ्गले च" (वैज:.को 7-3-10,11) इति यादवः। अहतांशुकयुग्मेन नूतनवस्त्रयुगलेन। "अंशुकं केवले वस्त्रे सूक्ष्मवस्त्रोत्तरीययोः" (वैज.को. 7-3-1) इति च॥ ११ ॥

गृहा नेतान् रक्षया विवृणोमीत्याद्यथर्ववेदोक्तवित्॥ १२ ॥

रूप्यं रजतम्॥ १३ ॥

सुताय शिशुपालाय॥ १४ ॥

पूर्वोक्तयात्राशेषं कथयति - **मदच्युद्भिरिति**। मदच्युद्भिः मदजलस्राविभिः॥ १५ ॥

**तं वै विदर्भाधिपतिः समभ्येत्याऽभिपूज्य च।**
**निवेशयामास मुदा कल्पितान्यनिवेशने॥ १६ ॥**

**तत्र साल्वो जरासन्धो दन्तवक्त्रो विदूरथः।**
**आजग्मु श्चैद्यपक्षीयाः पौण्ड्रकाद्याः सहस्रशः॥ १७ ॥**

**कृष्णरामद्विषो यत्ताः कन्यां चैद्याय साधितुम्।**
**यद्यागत्य हरे त्कृष्णो रामाद्यै र्यदुभि र्वृतः॥ १८ ॥**

**योत्स्यामः संहिता स्तेन इति निश्चितमानसाः।**
**★ आजग्मु र्भूभुजस्सर्वे समग्रबलवाहनाः॥ १९ ॥**

**श्रुत्वैत द्भगवा न्रामो विपक्षीयनृपोद्यमम्।**
**कृष्णं चैकं गतं हर्तुं कन्यां कलहशङ्कितः॥ २० ॥**

**बलेन महता सार्धं भ्रातृस्नेहपरिप्लुतः।**
**त्वरितः कुण्डिनं प्रागा द्गजाश्वरथपत्तिभिः॥ २१ ॥**

1- -1 Ml.V. तं विदर्भाधिपस्सम्यक् 2- -2 M, Ma समेत्याभिप्र० 3 B, G, J, M, Ma शा० 4 Ml, V, W °डू० 5 B, G, J, संहता०

★ This half verse is not fonud in Ml, V editions 6 K, W °जश्चान्ये 7 K, W °द्बल० 8 Ml, V °या०

**श्रीध० तमिति।** कल्पितं निर्मितं यदन्यत्[1] निवेशनं तस्मिन्॥ १६, १७ ॥

**कृष्णेति।** यदि श्रीकृष्णो हरे दिति शङ्किताः। कन्यां साधयितु मित्यर्थः॥ १८-२१ ॥

---

1. B. J. °न्यनि०

**वीर०** तं चैद्यं समभ्येत्याऽभिपूज्य च कल्पितं निर्मितं यदन्य न्निवेशनं तस्मिन् मुदा निवेशयामास॥ १६ ॥

**तत्रेति।** कृष्णरामौ द्विषन्तीति तथा ते चैद्यपक्षानुवर्तिनः साल्वादयः पौण्ड्रकाद्याश्च सहस्रशः॥ १७ ॥

यत्तास्सन्तः चैद्याय कन्यां साधयितु माजग्मुः। कथम्भूताः? रामाद्यै र्यदुभिः परिवृतः श्रीकृष्णः आगत्य यदि कन्यां हरेत्, तर्हि सर्वे वयं सङ्घीभूता स्तेन कृष्णेन सह योत्स्यामः। चैद्याय कन्यां साधयिष्यामः- इतीत्थं कृतः निश्चयो यै स्तथाभूताः, तथा अन्ये च भूभुजो राजानः समग्राणि बलानि वाहनानि येषां तथाभूताः आजग्मुः॥ १८-१९॥

बलवान् प्रशस्तबलसम्पन्नः रामः विपक्षीयाणां[1-] शत्रुपक्षीयाणां[-1] राज्ञा[2] मुद्यमं प्रयत्नं श्रुत्वा कन्या माहर्तुं गत मेकम सहायं श्रीकृष्णं ज्ञात्वा नूनं तत्र कलहो भविष्यतीति शङ्काऽस्य सञ्जातेति तथाभूतः, भ्रातरि कृष्णे स्नेहेन व्याप्तः महता विपुलेन बलेन[3] सह, बलमेव प्रपञ्चयति- गजाश्वरथपत्तिभिरिति। त्वरितः सञ्जातत्वरः कुण्डिनं पुरं प्रति प्रागात्॥ २०, २१ ॥

---

1- -1 K omits 2 B °ज्ञां समु० 3 K omits बलेन

**विज०** तदर्थं कल्पितेऽन्यस्मिन् निवेशने गृहे॥ १६ ॥

तत्र कुण्डिनपुरे॥ १७-२१ ॥

**भीष्मकन्या वरारोहा काङ्क्ष न्त्यागमनं हरेः।**
**प्रत्यापत्तिमपश्यन्ती द्विजस्याऽचिन्तयत्तदा॥ २२ ॥**

**अहो त्रियामान्तरित उद्वाहो मेऽल्पराधसः।**
**नाऽऽगच्छ त्यरविन्दाक्षो नाऽहं वेद्म्यत्र कारणम्।**
**सोऽपि नाऽऽवर्ततेऽद्यापि मत्सन्देशहरो द्विजः॥ २३ ॥**

**अपि मय्यनवद्यात्मा दृष्ट्वा किञ्चि ज्जुगुप्सितम्।**
**मत्पाणिग्रहणे नूनं नाऽऽयाति हि कृतोद्यमः॥ २४ ॥**

दुर्भगाया न मे धाता नाऽनुकूलो महेश्वरः।
देवी वा विमुखी[1] गौरी रुद्राणी गिरिजा सती॥ २५ ॥

1 B, G, J, M, Ma °खा

**श्रीध०** सूर्योदया त्पूर्वमे वौत्सुक्येन रुक्मिण्यचिन्तय दित्याह- **भीष्मकन्येति**। प्रत्यापत्तिं प्रत्यागमनम्॥ २२॥

**अहो** इति। त्रियामा रात्रिः तावन्मात्रेणान्तरितः अल्पराधसो मन्दभाग्यायाः॥ २३॥

**अपीति**। जुगुप्सितं धाष्टर्यादि। अपीति शङ्कायाम्। नाऽऽयाति हि कृतोद्यम इति। अयमर्थः- आदौ कृतोद्यमत्वा त्तं न प्रस्थापितवान्, प्रस्थानावसरे च[2] किञ्चि न्मयि जुगुप्सितं मत्वा प्रत्याचष्ट, अतः सोऽपि द्विजो नूनं नाऽऽयातीति॥ २४॥

यद्वा ततो निर्गतोऽपि श्रीकृष्णो मद्दैववैमुख्यात् क्वचि त्प्रतिबद्धो भवेदित्याह- **दुर्भगाया** इति॥ २५

1. MI.V. अस्यार्थः 2 MI. V. वा

**वीर०** ततः पूर्वमेव रुक्मिणी औत्सुक्यादचिन्तयदित्याह- **भीष्मकन्येति**। हरेरागमनमाकाङ्क्षन्ती[1] द्विजस्य प्रेषितस्य प्रत्यापत्तिं प्रत्यागमन मपश्यन्ती च अचिन्तयत्॥ २२ ॥

चिन्ताप्रकार[2] मेवाह- **अहो** इति चतुर्भिः। त्रियामा रात्रिः तावन्मात्रान्तरितो मन्दभाग्याया मम विवाहः। अरविन्दाक्षः कृष्णः[3] अधुनाऽपि नाऽऽगच्छति। अत्र अनागमने कारणं न वेद्मि। यश्च मत्सन्देशहरो द्विज स्सोऽप्यद्यापि नावर्तते नागच्छति॥ २३॥

अपि किं वा अनवद्यात्मा मुकुन्दः किञ्चि न्मयि जुगुप्सितं धाष्टर्यादिकं[4] दृष्ट्वा मत्पाणिग्रहणे निमित्ते कृतः उद्यमः प्रयत्नो येन तथाभूतोऽपि[5] नूनं नाऽऽयाति नाऽऽगच्छत्येव कि मित्यर्थः॥ २४॥

किं वा धाता[6] विश्वकृत् महेश्वरो दुर्भगाया मम अननुकूल[7] एव। किं वा रुद्रस्य स्त्री मम विमुखी प्रतिकूला[8] ॥ २५॥

---

1 B °माणा 2 B omits प्रकार 3 B भगवान् 4 B adds अपि 5 K, T, W omit अपि 6 B adds तु 7 B नानु कू० 8 B adds एव

**विज०** वरो वरणीय आरोहो जघनप्रदेशो यस्यास्सा तथा प्रत्यापत्तिं पुनरागमनम्॥ २२॥

त्रियामान्तरितः रात्रिमात्रव्यवहितः अल्पराधसः मन्दीभूतकार्यसिद्धेः॥ २३, २४ ॥

"गौरोऽरुणे सिते पीते" (अम.को 3-344) इति गौरी (र) शब्दस्याऽदन्तस्य अनेकार्थवाचित्वेनाऽनिश्चय इत्यतो रुद्राणीति। सामान्यविवक्षायां गङ्गाया अपि तत्पत्नीत्वेन संशयाऽनिस्तार इत्यतो गिरिजेति। "गिरिजा मेनकात्मजा"

(हला.को 1-16) इत्यभिधानम्। नन्वभिधानस्य योगबलानुसारित्वेन प्रवृत्तेः नद्या अपि गिरिजात्वा दित्यतः सतीति। "सती सती योगविसृष्ट देहा तां जन्मना (ने) शैलवधूं प्रपेदे" (कुमा.सं.) इति॥ २५ ॥

**एवं चिन्तयती बाला गोविन्दहृतमानसा।**
**न्यमीलयत कालज्ञा नेत्रे अश्रुकलाकुले॥ २६ ॥**

**एवं वध्वा प्रतीक्षन्त्या गोविन्दाऽऽगमनं नृप।**
**वाम ऊरु भुजो नेत्र मस्फुर न्प्रियशंसिनः॥ २७ ॥**

**अथ कृष्णविनिर्दिष्टः स एव द्विजसत्तमः।**
**अन्तःपुरचरीं देवीं राजपुत्रीं ददर्श ह॥ २८ ॥**

**सा तं प्रहृष्टवदन मव्यग्रात्मगतिं सती।**
**आलक्ष्य लक्षणाभिज्ञा समपृच्छच्छुचिस्मिता॥ २९ ॥**

**आवेदयामास तस्यै तं प्राप्तं यदुनन्दनम्।**
**उक्तं च सत्यवचन मात्मोपनयनं प्रति॥ ३०॥**

1 B, G, J चाश्रु 2 M, Ma °न्द० 3 B, G, J, M, Ma भाषिणः 4 M, Ma, Ml, V °रां 5- -5 B, G, J तस्या आवेदय त्प्राप्तं 6- -6 B, G, J शशंस; K सरामं; M, Ma सम्प्राप्तं

**श्रीध० एवमिति।** कालज्ञा न अधुनापि गोविन्दागमनकाल इति मन्वाना किञ्चि दाश्नस्तचित्ता सती चिन्तास्तब्धे लेचने निमीलितवतीत्यर्थः॥ २६ ॥

**एवमिति।** प्रियशंसिनः प्रियसूचकाः॥ २७ ॥

**अथेति।** पुरोपवनं प्राप्तेन श्रीकृष्णेन विनिर्दिष्टः प्राप्तं मां कथयेत्यादिष्टः॥ २८ ॥

**सेति।** न व्यग्रा आत्मनो देहस्य गति र्यस्य तम्। लक्षणाभिज्ञा दूतस्य लक्षणं तत्कालकर्मभिः अभिजानातीति तथा॥ २९ ॥

**आवेदयामासेति।** तस्यै प्राप्तं यदुनन्दन मावेदितवान्। तच्च शशंस। आत्मोपनयनं प्रति आत्मना स्वयं श्रीकृष्णस्याऽऽनयनं प्रति तेन द्विजेन सत्यवचनं प्रोक्तमिति। आत्मनः प्राणेश्वरस्येति वा। यद्वा आत्मनः तस्या उपनयनं प्रति श्रीकृष्णेन यदुक्तं सत्यवचनं "ता मानयिष्ये" इत्यादि, तच्च शशंसाऽवर्णयदित्यर्थः॥ ३० ॥

1- 1 Ml.V. अधुना 2 B, J भाषिणः 3- -3 B, J तत्तत्कार्यसूचकम्

**वीर० एवमिति।** इत्थं चिन्तयन्ती बाला रुक्मिणी गोविन्देन हृतं मानसं यस्यास्सा। कालज्ञा नाऽधुनाऽपि गोविन्दागमनकाल इति मन्वाना अश्रुबिन्दुभि राकुले स्तब्धे लोचने न्यमीलयत निमीलितवती॥ २६ ॥

हे नृप! इत्थं गोविन्दागमनं गोविन्दागमनवार्ताहरं द्विजं तदागमनद्वारं च प्रतीक्षन्त्याः रुक्मिण्या वामा[1] ऊर्वादयः प्रियशंसिनः कृष्णागमनरूपप्रियसूचकाः अस्फुरन् सञ्चलितवन्तः॥ २७ ॥

अथ ततः यः[2] पूर्वम् आत्मना प्रेषितः स एव द्विजः श्रीकृष्णेनाऽऽदिष्टोऽन्तःपुरचरीं रुक्मिणीं ददर्श ह॥ २८॥

सा रुक्मिणी न व्यग्रा आत्मनो देहस्य गतिर्यस्य, प्रहृष्टं वदनं यस्य तं द्विजमालक्ष्य लक्षणाभिज्ञा दूतलक्षणतत्कार्यभिज्ञा अत एव शुचिस्मिता सती सम्यगपृच्छत्॥ २९ ॥

तस्यै पृच्छन्त्यै रुक्मिण्यै रामेण सहितं कृष्णं प्राप्तमागत मावेदयत् शशंस। आत्मोपनयनं प्रति आत्मनो रुक्मिण्याः उपनयनं स्वसमीपप्रापणं प्रति भगवता यत्सत्यवचन मुक्तं- "ता मानयिष्य उन्मथ्य राजन्यापशदा न्मृधे मत्परा मनवद्याङ्गी-मेधसोऽग्निशिखामिव" (भाग.10-53-3) इत्युक्तं सत्यवचनं शशंसेत्यर्थः॥ ३० ॥

1 T. W. omits वामा 2 B omits यः

**विज०** ध्यानकालज्ञा॥ २६ ॥

वाम ऊरु रस्फुरत् नेत्रभुजा वस्फुरताम्। प्रियभाषिणः अभीष्टकार्यशंसिनः॥ २७, २८

अव्यग्रात्मगति मसम्भ्रान्तनिजगमनम्॥ २९, ३० ॥

**तमागतं समाज्ञाय वैदर्भी हृष्टमानसा।**
**न पश्यन्ती ब्राह्मणाय प्रियमन्य न्नाम सा॥ ३१ ॥**

**प्राप्तौ श्रुत्वा स्वदुहितु रुद्वाहप्रेक्षणोत्सुकौ।**
**अभ्यया त्तूर्यघोषेण रामकृष्णौ समर्हणैः॥ ३२ ॥**

**मधुपर्क मुपानीय वासांसि रुचिराणि[1-1] सः।**
**उपायना न्यभीष्टानि विधिव त्समपूजयत्॥ ३३ ॥**

**तयो र्निवेशनं श्रीमदुपकल्प्य महामतिः।★**
**बाह्योद्याने कुण्डिनस्य यथायोगं सुविस्तृतम्॥**
**आवेद्य पूर्णं[2] नगरं जरासन्धादिभि र्नृपैः ॥**
**ससैन्ययोः सानुगयो रातिथ्यं विदधे यथा॥ ३४ ॥**

एवं राज्ञां समेतानां यथावीर्यं यथावयः।
यथाबलं यथावित्तं[3] सर्वैः कामैः समार्हयत्[4]॥ ३५॥

कृष्ण मागतमाकर्ण्य विदर्भपुरवासिनः।
आगत्य नेत्राञ्जलिभिः पपु स्तन्मुखपङ्कजम्॥ ३६ ॥

अस्यैव भार्या भवितुं रुक्मिऽण्यर्हति नापरा।
असाव प्यनवद्यात्मा भैष्म्याः समुचितः पतिः॥ ३७ ॥

किञ्चि त्सुचरितं य न्न स्तेन तुष्ट स्त्रिलोककृत्।
अनुगृह्णातु गृह्णातु वैदर्भ्याः पाणि मच्युतः॥ ३८ ॥

उवाच[-5]

एवं प्रेमकलाबद्धां वदन्ति स्म पुरौकसः।
कन्या चाऽन्तः पुरा त्प्रागा द्भटै र्गुप्ताऽम्बिकालयम्॥ ३९ ॥

पद्भ्यां विनिर्ययौ द्रष्टुं भवान्याः पादपल्लवम्[6]।
☆ परिवारैः कतिपयैः युक्तो यादवनन्दनः।
सा चाऽनुध्यायती सम्य ङ्मुकुन्दचरणाम्बुजम्॥ ४०॥

1- -1 B. G. J. Ml. V विरजांसि ★ After this half-verse, a verse beginning wit बाह्योद्याने is found in B. M. Ma edns only and it is commented by Vijayadhwaja 2 B पूर्ण० 3 K. W वृत्तं 4 Ml. V °मार्प० 5- -5 G, J, K, Ml, V, W omit 6 K, पङ्कजम्
☆ This additional half-verse is found in B, M, Ma edns.

**श्रीध० - तमिति।** तं श्रीकृष्णम्। अस्मिन्काले[1] सर्वस्वार्पणम प्यपर्याप्त मिति तदुचितं प्रिय मपश्यन्ती तदा केवलं ननाम। पश्चा द्बहु ददावित्यर्थः। यद्वा मां श्रियं ये नमन्ति ते तावत् सर्वसम्पदा मास्पदं भवन्ति किं पुन र्मयि प्रणताया मिति ततोऽधिक मन्य त्प्रि यमपश्यन्ती ननामेति॥ ३१-३३ ॥

**तयोरिति।** महामति रित्यनेन श्रीकृष्णो बाढं कन्या मुद्वोढुमेवाऽऽगतः स्या दिति वरोचितेन विधिना समपूजयदिति सूचितम्। यथा यथावत्॥ ३४ ॥

**एवमिति।** समेतानां राज्ञां मध्ये वीर्या द्यनतिक्रम्य तं तं समर्हितवानित्यर्थः॥ ३५ ॥

श्रीकृष्णे भाविकर्मसूचकं जनानुरागं दर्शयति- **कृष्ण मागत मिति** त्रिभिः॥ ३६ ॥

**अस्येति।** अस्यैव रुक्मिण्येवाऽर्हत्येव असावेव भैष्म्या एव समुचित एवेति षडवधारणानि। तत्रैकस्मि न्व्यतिरेक प्रदर्शनऽमुपलक्षणार्थं ना परेति। न च वाक्यभेददोषः। अनूद्यविधेयविधिभेदेन विभिन्नाना मेकवाक्यानां सहप्रयोगात् ग्रहं सम्मार्ष्टीत्यादिवदिति॥ ३७ ॥

**किञ्चिदिति।** अयमेवाऽनुग्रह इति निर्दिशन्ति- गृह्णात्विति॥ ३८ ॥

**एवमिति।** प्रेम्णः कला लेश स्तेन बद्धा वदन्ति स्म। सम्पूर्णं प्रेम तेषां हृद्येवाऽवर्तत इत्यर्थः॥ ३९ ॥

तस्याः गमनं विशिनष्टि- **पद्भ्यामिति** द्वयेन॥ ४० ॥

1 B, J °र्थे 2 MI, V °मर्षि० 3 B, J, omit विधि 4 B, J °मेव 5 B, J omit तस्याः 6 MI.V. add °आ

**वीर०** ततस्तं श्रीकृष्ण मागतं ज्ञात्वा हृष्टं मानसं यस्यास्सा रुक्मिणी ब्राह्मणाय प्रत्युपकर्तुं प्रियं योग्यं वस्त्वपश्यन्ती केवलं ननाम॥ ३१ ॥

**प्राप्ताविति।** स्वदुहितु रुद्वाहप्रेक्षणे निमित्ते उत्सुकौ प्राप्तौ उद्वाहदिदृक्षयाऽऽगतावित्यर्थः। श्रुत्वा तूर्यघोषेण समर्हणैः पूजासाधनैश्च सह अभ्याजगाम॥ ३२ ॥

तत स्स भीष्मको मधुपर्कादीनि समर्प्य यथाविधि सम्यगपूजयत्। तत्रोपायनानि श्रेष्ठवस्तूनि॥ ३३ ॥

महामतिः भीष्मकः तयोः रामकृष्णयोः श्रीमत् भोग्यभोगोपकरणादिसमृद्धिमत् निवेशनं गृह मुपकल्प्य सभृत्ययो स्ससैन्ययोश्च तयोः यथाव दातिथ्यं चक्रे॥ ३४ ॥

इत्थ मन्येषामपि सर्वेषां समुदितानां राज्ञां तत्तद्वीर्यवयःप्रभृत्यनुरूपं सर्वैः कामैः अपूजयत्॥ ३५ ॥

**कृष्णमिति।** विदर्भपुरवासिनः कुण्डिनपुरवासिनो जनाः कृष्ण मागतं श्रुत्वा इतस्ततः स्थित्वेति शेषः। तस्य कृष्णस्य मुखपङ्कजं मुखपङ्कजस्य लावण्यसुधां नेत्ररूपैरञ्जलिभिः पपुः पीतवन्तः॥ ३६ ॥

किञ्च, एवमित्थं प्रेमकलाबद्धाः प्रेमाश्रुगद्गदस्वरास्सन्तः पुरौकसः पुरवासिनो जनाः ऊचुः। किमिति? असौ कृष्णः अनवद्यात्मा सुन्दरतरतनुः अपिशब्दो भैष्म्या अप्यनवद्यात्मत्वसमुच्चयार्थः। समुचितोऽनुरूपः पतिः। अत्र अस्यैव रुक्मिण्ये वार्हत्येव, असावेव भैष्म्या एव समुचित एवेति षडवधारणानि। नोऽस्माभिः किञ्चित्सुचरितं स्वनुष्ठितं यद्यस्माकं प्राचीनं पुण्य मस्तीत्यर्थः। तेन सुचरितेन तुष्टः प्रीतः त्रिलोककृत् ब्रह्मा वैदर्भ्याः पाणि मच्युतो गृह्णात्विति अनुगृह्णात्विति॥ ३७, ३८॥

एवं स्थिते तदा भैष्मी कन्या भटै र्गुप्ता सती अन्तःपुरात् अम्बिकागृहं प्रति भवान्याः पादपङ्कजं द्रष्टुं पद्भ्यामेव निर्जगाम। कथम्भूता? सा रुक्मिणी मुकुन्दवदनाम्बुजं सम्यग्ध्यायन्ती॥ ३९, ४० ॥

**विज०** किमिति नगरप्रवेशाप्रदानं कृष्णरामयो रिति तत्राह- **आवेद्येति।** जरासन्धादिराजभिः नगरं पूर्णं निबिड मनवकाश मित्यावेद्य विज्ञाप्य॥ ३१-४० ॥

यतवा ङ्भ्रातृभिः सार्धं सखीभिः परिवारिता।
गुप्ता राजभटैश्शूरैः सन्नद्धै रुद्यतायुधैः॥ ❋
वेत्रझर्झरहस्तैश्च वृद्धैः कञ्चुकिभि स्तथा।
मृदङ्गशङ्खपणवाः[1] तूर्यभेर्यश्च जघ्निरे॥ ४१ ॥

नानोपहारबलिभि र्वारमुख्याः सहस्रशः।
स्रग्गन्धवस्त्राभरणै र्द्विजपत्न्यः स्वलङ्कृताः॥ ४२ ॥

गायन्तश्च स्तुवन्तश्च गायका वाद्यवादकाः।
परिवार्य वधूं जग्मुः सूतमागधवन्दिनः॥ ४३ ॥

आसाद्य देवीसदनं[2] धौतपादकराम्बुजा।
उपस्पृश्य शुचि श्शान्ता प्रविवेशाम्बिकान्तिकम्॥ ४४ ॥

तां वै प्रवयसो बालां विधिज्ञा विप्रयोषितः।
भवानीं वन्दयाञ्चक्रु र्भवपत्नीं भवान्विताम्॥ ४५ ॥

नमस्ये त्वाऽम्बिकेऽभीक्ष्णं स्वसन्तानयुतां[3-] शिवाम्[-3]।
भूया त्पति र्मे भगवा न्कृष्ण स्त दनुमोदताम्॥ ४६ ॥

★ इति सम्प्रार्थयन्ती सा[4] देवीं देवमुमां[5-] शिवम्[-5]।
पूजयामास विधिवद्द्विजपत्नीपुरस्कृता[6] ॥

अद्भि र्गन्धाक्षतै र्धूपैर्वासस्स्रङ्माल्यभूषणैः[7-]।
नानोपहारबलिभिः प्रदीपावलिभिः पृथक्॥ ४७ ॥

विप्रस्त्रियः पतिमती स्तथा तैः समपूजयत्।
लवणापूपताम्बूल कण्ठसूत्रफलेक्षुभिः॥ ४८ ॥

तस्यै स्त्रियस्ताः प्रददुः शेषां[9] युयुजु राशिषः।
ताभ्यो देव्यै नमश्चक्रे शेषां च जगृहे वधूः॥ ४९

मुनिव्रत[10] मथ त्यक्त्वा निश्चक्रामाऽम्बिकागृहात्।
♦ उपकण्ठे सुरेशस्य पौलोम्याश्च निकेतनम्।
तौ विदर्भप्रसूतानां नृपाणां कुलदेवते॥
तदन्तिकमुपागम्य शचीं सुरपतिप्रियाम्।
चिराराधितपादाब्जां सा प्रणम्य विनिर्ययौ॥
प्रगृह्य पाणिना भृत्यां[11] रत्नमुद्रोपशोभिताम्[12]॥ ५०॥

❋ After this verse a half verse begining with 'वेत्रझर्झर' is follows in B, M, Ma edns only 1 MI, V व० 2 K, M, Ma, MI, V, W देव 3- -3 MI, V युतं शिवम्।★ This verse is not found in B, G, J, M, Ma edns 4 MI, V तां 5- -5 MI, V °मापतिम्। 6 MI, V तम्। 7- -7 M, Ma वस्त्रमाल्यविभू० 8 M, Ma शेषाः MI, V शेषान् 9 M. Ma शेषाश्च; MI.V. शेषांश्च 10 K. W मौन० ♦ These two additional verses are found in B, M, Ma edns only 11 M, Ma धात्रीं 12 B, G, J, MI, V °ना।

**श्रीध० यतवागिति।** अपि च मृदङ्गादयः जघ्निरे आहताः वादिता इत्यर्थः॥ ४१ ॥

**नानेति।** वारमुख्याः गणिकोत्तमाः॥ ४२, ४३ ॥

**आसाद्येति।** उपस्पृश्याऽऽचम्य॥ ४४ ॥

**तामिति।** प्रवयसो वृद्धाः। भवान्विता मिति भवस्योपसर्जनत्वं स्त्रीकर्मोचित मुक्तम्॥ ४५ ॥

**नमस्ये** इति। रुक्मिण्या तदैव दृष्टोऽयं मन्त्रः स्वसन्तानयुतां[1] गणेशादिसहिताम्[2]। आत्मारामोऽसौ कथं त्वत्पति भवे दिति चे दत आह- त दनुमोदतामिति, भवती, श्रीकृष्णएव वा॥ ४६ ॥

**अद्भिरिति।** वाससस्रग्गन्धादिभिः अम्बिकां समपूजयत्॥ ४७ ॥

**विप्रस्त्रिय** इति। तथा विप्रस्त्रियोऽपि तैर्द्रव्यै र्लवणादिभिश्च समपूजयदिति॥ ४८ ॥

**तस्यै** इति। शेषां निर्माल्यम्॥ ४९ ॥

**मुनिव्रतमिति**। मुनिव्रतं मौनम्[3]। भृत्यां सखीम्॥ ५० ॥

1 MI.V. °तं 2 MI.V. °तम्। 3 MI.V. °नादि।

**वीर०** यतवाक्[1] मौनिनी मातृभिः सखीभिश्च परिवारिता[1] उद्यतानि[2] उद्धृतान्यायुधानि यै स्तैः सन्नद्धै रायत्तैः शूरैः राजभटैः गुप्ता, तदा मृदङ्गादयो जघ्निरे ताडिताः[3] वादिता इत्यर्थः॥ ४१ ॥

नानाविधै रुपहारैः नैवेद्यैः बलिभिः पूजासाधनैश्च सह सुष्ठ्वलङ्कृता द्विजपत्न्यः गणिकोत्तमाश्च तथा गायका गायन्तः स्तुवन्तः सूतादयः वाद्यादीनां तूर्यादीनां वादकाः वादयन्तश्चेति शेषः। वधूं कन्यां परिवार्य परिवेष्टच जग्मुः॥ ४२, ४३॥

**आसाद्येति**। देवसदन मम्बिकापतिगृहम् उपगम्य तत्र धौते प्रक्षालिते पादाम्बुजे कराम्बुजे च यस्यास्सा। उपस्पृश्याऽऽचम्य अत एव शुचि श्शान्ता समाहितचित्ता च अम्बिकागृहं प्रविवेश॥ ४४ ॥

ततः प्रवयसो वृद्धाः विधिज्ञाश्च विप्रयोषितः भवस्य पत्नीं भवेनान्वितां भवानीं प्रति तां कन्यां वन्दयाञ्चक्रुः। यद्यपि भवानीमिति पुंयोगलक्षण ङीषैव भवसम्बन्धलाभः, तथाऽपि साहित्यलाभार्थं तत्रापि भवस्याप्राधान्यसूचनार्थं भवान्विता मित्युक्तम्। पुंयोगश्चात्र भर्तृभार्यासम्बन्धविशेषरूप इति द्योतयितुं भवपत्नीमिति॥ ४५ ॥

तदा[4] रुक्मिणी नमस्य इत्यादि मन्त्रमपूर्वमेव स्वयं[5] पश्यन्ती तन्मुखेन स्वमनीषितं च प्रार्थयन्ती यथाव त्पूजयामासेत्याह- **नमस्य** इति त्रिभिः। हे अम्बिके! स्वसन्तानयुतां गणेशादिसहितां शिवां मङ्गलरूपां त्वा मभीक्ष्णं पुनः पुनः नमस्ये नमस्करोमि। भगवान् कृष्णः मम पति र्भूयादिति यत्, तदनुमोदताम् अनुगृह्णातु, भवतीति कर्तृपदाध्याहारः। यद्वा कृष्णो मम पति र्भूयात् कृष्ण एव त दनुमोदता मिति त्व मनुगृह्णीष्वेत्यर्थः॥ ४६ ॥

इत्थं प्रार्थयन्ती सा रुक्मिणी द्विजपत्नीभिः पुरस्कृता पुरोऽवस्थापिता अबादिभि र्यथाविधि देवीम्[6] उमां देवं शिवं च पूजयामासेति[7] सम्बन्धः ॥

अद्भि श्शुद्धोदकैः गन्धैः चन्दनै रक्षतैश्च वासोभिः दिव्याम्बरै स्स्रग्भि र्माल्यै र्भूषणैश्च नानाविधै रुपहारै र्नैवेद्यै-र्बलिभिश्च। यद्यपि "वैदर्भी भीष्मकसुतां श्रियो मात्राम्"(10-52-16) इति लक्ष्म्यवतारत्वेनोक्ताया[8] भगवन्नित्यानपायिन्या स्सर्वोत्तमाया रुक्मिण्याः केवलप्राकृतस्त्रिया इव अम्बिकावन्दनादिक मनुचितम्, तथाऽपि भगवत इव तमनुव्रताया अस्या मानव्यवतारत्वात् "यद्यदाचरति श्रेष्ठः" (भ.गी 3-21) इति न्यायेन लोकानुग्रहशीलत्वाच्च तथा कृतमि त्यवगन्तव्यम्॥ ४७ ॥

तत स्तया लवणापूपादिभिः तै रबादिभिश्च पतिमतीः जीवद्भर्तृकाः विप्रस्त्रीश्च सम्यगपूजयत्॥ ४८॥

ततस्ताः स्त्रियः[9] द्विजपत्न्यः शेषां स्वपूजोपयुक्तावशिष्टां सामग्रीं यद्वा शेषाशब्दः स्त्रीलिङ्गो देवतोपभुक्त स्रगादिनिर्माल्यवाची, तदा शेषां गौर्युपभुक्तनिर्माल्यमित्यर्थः। तस्यै रुक्मिण्यै प्रददुः, अलङ्काराद्यर्थमिति शेषः। तथा आशिषो युयुजुः पेठुः। तदा वधूः रुक्मिणी ताभ्यो द्विजपत्नीभ्यो देव्यै च नमश्चक्रे। शेषां जगृहे च॥ ४९ ॥

ततो मौनव्रतं विहाय रत्नमुद्रिकाभिरुपशोभितां भृत्यां सखीं गृहीत्वा रत्नमुद्रिकोपशोभितं[10] सखीपाणिं स्वपणिना गृहीत्वेत्यर्थः। अम्बिकागृहा न्निर्गतवती॥ ५०॥

1- -1 B omits 2- -2 K, T, W omit 3 K, T, W omit ताडिताः 4 T, W तथा 5 T, W omit स्वयं 6 B adds शिवां 7 K, T, W °त्यर्थः। 8 B °न प्रोक्ता० 9 K, T, W omit स्त्रियः 10 B °द्रोप०

**विज०** वेत्राणि झर्झराश्च राजाज्ञासूचकयष्टयश्च हस्तेषु येषां ते तथा, तैः कञ्चुकिभिः दौवारिकैः छन्नलिङ्गैः॥ ४१-४३॥

धौतपादकराम्बुजा प्रक्षालितपादहस्तपद्मा॥ ४४ ॥

प्रवयसो वृद्धाः विधिज्ञाः स्त्रीशास्त्रकुशलाः॥ ४५-४७॥

पतिमतीः भर्तृमत्यः॥ ४८ ॥

शेषाः अक्षताः अवशिष्टा राजस्त्रियो वा॥ ४९ ॥

मुनिव्रतं मौनव्रतं, उपकण्ठे समीपे पौलोम्याः शच्याः॥ ५० ॥

★ धृतानेकाऽऽतपत्राद्यां वीजच्चामरसङ्कुलाम्।
तां देवमायामिव वीरमोहिनीं सुमध्यमां कुण्डलमण्डिताननाम्।
श्यामां नितम्बार्पितरत्नमेखलां व्यञ्जत्स्तनीं कुन्तलशङ्कितेक्षणाम्॥ ५१ ॥

शुचिस्मितां बिम्बफलाधरद्युभिः[1] शोणायमानद्विजकुन्दकुट्मलाम्[2]।
पदा चलन्तीं[3] कलहंसगामिनीं शिञ्जत्कलानूपुरधामशोभिना[4]।
विलोक्य वीरा मुमुहुः समागता यशस्विन स्तत्कृतहृच्छयार्दिताः॥ ५२ ॥

यां वीक्ष्य ते नृपतय स्तदुदारहास व्रीडावलोकहृतचेतस उज्झितास्त्राः।
पेतुः क्षितौ गजरथाश्वगता विमूढा यात्राच्छलेन हरयेऽर्पयतीं स्वशोभाम्॥ ५३ ॥

सैवं शनै श्चलयती पदपद्मकोशौ[6] प्राप्तिं तदा भगवतः प्रसमीक्षमाणा।
उत्सार्य वामकरजैरलकानपाङ्गैः प्राप्तान् ह्रियैक्षत नृपा न्ददृशेऽच्युतं च[7]॥ ५४ ॥

तां राजकन्यां रथ मारुरुक्षतीं जहार कृष्णो द्विषतां समीक्षताम्।
रथं समारोप्य सुपर्णलक्षणं राजन्यचक्रं परिभूय माधवः।
ततो ययौ रामपुरोगम श्शनैः सृगालमध्यादिव भागह्व द्धरिः॥ ५५ ॥

★ तं मानिनः स्वाभिभवं यशःक्षयं परे जरासन्धमुखा न सेहिरे।
अहो धि गस्मद्यश आत्तधन्विनां गोपै र्हृतं केसरिणां मृगैरिव॥ ५६

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५३ ॥

★ This extra half verse is found in B, M, and Ma editions 1 B, G, J, M, Ma °ति 2 B, G, J, M, Ma °ड्म० 3 K, W °र० 4 B, J, M, Ma सि० 5- -5 M, Ma °लं नूपुरपादशोभिताम्। 6 B, G, J चलपद्म; MI, V चरणाब्ज 7 B, G, J, M, Ma सा 8 MI, V पुत्रीं 9 B, G, J, M, Ma °मैश० 10 B, M, Ma शृ० 11 M, Ma नाग ★ अयं श्लोकः विजयध्वजरीत्या अनन्तराध्याये प्रथमत्वेन पठ्यते। 12 K, W तन्मा० 13 B, G, J, M, Ma वशा 14 G, J, MI. V. W °स्मान्यश 15 G, J, K, W °न्व० 16 K, W वृकै०

**श्रीध० तामिति।** तां विलोक्य वीरा मुमुहु रिति तृतीयेनान्वयः। श्यामा मजातरजस्काम्। कुन्तलेभ्यः शङ्किते इव चपले ईक्षणे यस्यास्ताम्॥ ५१ ॥

**शुचिस्मितामिति।** द्विजा एव कुन्दानां कुट्मलानि मुकुलानि, बिम्बफलवत् योऽधरः तस्य द्युतिभिः शोणायमानानि तानि यस्यास्ताम्। कला शेभा तद्युक्तं नूपुरं शिञ्जच्च त त्कलानूपुरं च तस्य धाम दीप्ति स्तेन शोभितुं शील मस्य तेन पदा चलन्तीम्॥ ५२ ॥

न केवलं मुमुहुः पेतुश्चेत्याह- **यामिति।** यात्रामिषेण हरये स्वलावण्यं समर्पयन्तीं यां वीक्ष्य क्षितौ पेतुः सा तान्प्राप्तान् ह्रिया ऐक्षत, तदैवाऽच्युतं च ददर्श त्युत्तरेणान्वयः॥ ५३ ॥

**सैवमिति।** चलत्पद्मकोशतुल्यौ चरणौ चालयन्ती॥ ५४ ॥

**तामिति।** सुपर्णलक्षणं गरुडध्वजम्। हरिः सिंहः॥ ५५ ॥

**तमिति।** असहमानानां तेषाम् आक्रोश माह- अहो धि गस्मान्! यतोऽस्माकं यशो गोपै र्हृतमिति॥ ५६॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५३॥

1 B, J °ड्म० 2 B, J सि० 3 J °र्ह०

**वीर०** तदा तां विलोक्य समागता स्सर्वे प्रसिद्धा वीराः तद्दर्शनोदितकामातुरा मुमुहुरिति तृतीयश्लोकेनान्वयः। कथम्भूताम्? देवमायामिव सर्वाश्चर्यकरीं मूर्तीभूतां देवमायामिव स्थिता मित्यर्थः। वीरान् मोहयतीति तथा तां शोभनः कृशो मध्यप्रदेशो यस्याः, कुण्डलाभ्यां मण्डितमाननं यस्याः तां, श्यामाम् अजातरजस्कां नितम्बयोः श्रोण्यो रर्पिता निबद्धा रत्नमयी मेखला यस्याः, व्यञ्जन्तौ यौवनप्रादुर्भावसूचकौ स्तनौ यस्याः, कुन्तलेभ्यश्शङ्किते इव चपले ईक्षणे यस्याः॥ ५१ ॥

शुचि स्मितं यस्याः, बिम्बफलमिव योऽधरोष्ठस्तस्य द्युभिः कान्तिभिः शोणायमाना द्विजा दन्ता एव कुन्दानां कुट्मलानि[1] मुकुलानि यस्यास्तां, कलहंसव द्गच्छतीति[2] तच्छीला तथा तां कला शोभा तद्वती नूपुरे शिञ्जन्ती कूजन्ती[3] च ते कलानूपुरे च तयोः धाम दीप्तिस्तेन शोभते इति तथोक्तेन पदा पादेन पद्भ्यामित्यर्थः चलन्तीम्॥ ५२ ॥

न केवलं मुमुहुः अपि तु पेतुश्चेत्याह- **यामिति**। रथाद्यारूढा स्ते नृपतयो यात्रामिषेण हरये स्वलावण्यमर्पयन्तीं यां वीक्ष्य तस्या उदारहासेन व्रीडावलोकेन[4] च हृतानि चेतांसि येषां ते अत एव विमूढाः[5] अत एव च उज्झितानि त्यक्ता न्यस्त्राणि यै स्ते भूमौ पेतुः[6]॥ ५३ ॥

**सैवमिति**। सा रुक्मिणी इत्थं पद्मकोशतुल्यौ चरणौ शनैश्शनै श्चालयन्ती[7], तत्र हेतुः भगवतः श्रीकृष्णस्य प्राप्तिं प्रसमीक्षमाणा वामकरनखैः अलकानुत्सार्य अपाकृत्य अपाङ्गैः तान्प्राप्तान् नृपान् ह्रिया अवैक्षत, तदैवाऽच्युतं च ददर्श॥ ५४॥

**तामिति**। तदा कृष्णः रथमारोढु मिच्छन्तीं तां राजपुत्रीं द्विषतां चैद्यादीनां समीक्षतां सतां[8] जहार। ततो माधवः सुपर्णलक्षणं गरुडध्वजं रथ मारोप्य रथोपस्थे आरोप्ये त्यर्थः। राजन्यमण्डलं परिभूय तुच्छीकृत्य रामः पुरोगमः अग्रयायी यस्य तथाभूत श्शनैर्ययौ। शनैः इत्यनेन निर्भयत्वं सूच्यते। हरिः सिंहः सृगालमध्याद्यथा स्वभागह् च्छनै र्याति, तद्वत्॥ ५५॥

**तदिति**। मानिनः केवलं दुरहङ्कारिणश्शात्रवो जरासन्धादयः तत्कन्याहरणं स्वाभिभवं यशःक्षयं च न सेहिरे। असहमानानां तेषा माक्रोशमाह- अहो इति। अस्मत्कीर्तिं धिक्! कुतः? यतः आत्तधन्वनां[9] धनुर्धारिणाम्[10] अस्माकं, स्वमिति शेषः। गोपै रपहृतं[11] केसरिणां सिंहानां भागो वृकै रिवेति॥ ५६ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां त्रिपञ्चाशत्तमोध्यायः॥ ५३ ॥

1 B ह्म 2 B omits इति 3 K, T, W omit कूजन्ती 4 K.T.W लोकनेन 5. T.W omit वि 6 K, T, W निपेतुः 7 K ०ती 8 K omits सतां 9 B धन्विनां 10 B °र्धराणाम् 11 K, T, W °रुप०

**विज०** देवमायां लक्ष्मीं श्यामां द्व्यष्टवर्षां कुन्तलै रावरकैः शङ्कितमिव ईक्षणं यस्याः सा तथा ताम्॥ ५१ - ५४॥

नागहृत् गजहरो, हरिः सिंहः॥ ५५ ॥

यः अरिभिः कृतः तं, के के परे इति तत्राह- जरासन्धेति॥ ५६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५३ ॥

(विजयध्वजरीत्या अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः)

# चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या एकोनषष्टितमोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच[1-] [-1]

★ इति सर्वे सुसंरब्धा वाहा नारुह्य दंशिताः।
स्वैः स्वै र्बलैः परिक्रान्ता अन्वीयु र्धृतकार्मुकाः॥ १ ॥

ता नापतत आलेक्य यादवानीकयूथपाः।
तस्थु स्तत्सम्मुखा[2-] [-2] राजन् विष्फार्य[3] स्वधनूंषि ते॥ २ ॥

अश्वपृष्ठे गजस्कन्धे रथोपस्थे च कोविदाः।
मुमुचुः शरवर्षाणि मेघा अद्रि ष्वपो यथा॥ ३ ॥

पत्यु र्बलं शरासारै श्छन्नं वीक्ष्य सुमध्यमा।
सव्रीड मैक्ष त्तद्वक्त्रं भयविह्वललोचना[4]॥ ४ ॥

प्रहस्य भगवानाह मा[5-] स्म भै र्वामलोचने[5]।
विनङ्क्ष्य त्यधुनैवैतत् तावकैः शात्रवं बलम्॥ ५ ॥

1- -1 Ml, V omit ★ अयं श्लोकः विजयध्वजरीत्या द्वितीयः 2- -2 M, Ma °र्वै सम्मुखा 3 B, G, J, विष्फूर्ज्य; M, Ma विस्फूर्य, W विस्फूर्ज्य 4 M, Ma भाव० 5- -5 M, Ma मा भै स्त्वं वाम

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुष्पञ्चाशत्तमे तु जित्वा राज्ञोऽरिपक्षगान्। रुक्मिणं च विरूप्याऽथ भैष्म्याः पाणिं पुरेऽग्रहीत्।

**इतीति**। अहो धिगस्मान् इत्येवं वदन्तः सुसंरब्धाः क्रोधाविष्टाः। दंशिताः कृतसन्नाहाः। परिक्रान्ताः परिवृताः। अन्वीयुः अन्वधावन्॥ १ ॥

**तानिति।** विस्फूर्ज्य[1] टङ्कारयित्वा॥ २ ॥

**अश्वेति।** परेषां शराणां बाहुल्ये यादवाना मचलत्वे च दृष्टान्तः- मेघा इति॥ ३ ॥

**पत्युरिति।** ऐक्ष दैक्षत॥ ४ ॥

**प्रहस्येति।** मा स्म भैः मा भयं कुरु। हे वामलोचने! वराक्षि! तावकैः त्वदीयैः कृत्वा॥ ५

1 MI, V विष्फार्य 2 MI, V °रं कृत्वा

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ असहमानानां यदुभिस्सह सङ्ग्रामं पराजयं चाऽनुवर्णयति चतुष्पञ्चाशत्तमेन - **इतीति।** इति अहो धिगित्येवं ब्रुवाणास्सर्वे सुतरां क्रोधाविष्टा दंशिताः कवचिताश्च वाहान् अश्वादीनारुह्य स्वस्वबलैः परिक्रान्ताः परिवृताः धृतानि कार्मुकाणि धनूंषि यैस्ते अन्वीयुरन्वधावन्॥ १ ॥

ता नापतत श्शात्रून् अवलोक्य ते यादवसैन्याधिपतयः हे राजन्! स्वधनूंषि विष्फार्य[1] टङ्कारयित्वा सम्मुखा उत्तस्थुः॥ २॥

परेषां शराणां बाहुल्ये यादवाना मल्पत्वे च दृष्टान्तः - मेघा इत्यादि। मेघा यथा अद्रिषु अपो जलधारा मुञ्चन्ति, तद्व दश्वपृष्ठादिषु कोविदा श्शात्रवो यादवसैन्येषु[2] शरवर्षाणि मुमुचुः॥ ३॥

तदा सुमध्यमा रुक्मिणी श्शराऽऽसारैः[3-] छन्नं भर्तु र्बल मवलोक्य भयेन कातरे लोचने यस्यास्सा, सव्रीडं यथा तथा तस्य पत्युः वक्त्रं मुख मैक्षत॥ ४ ॥

तदा भगवान् प्रहस्य तामाह, उक्तिमेवाह- मास्मेति। हे वामलोचने! त्वं मास्म भैः भयं मा कृथाः, अधुनैव त्वदीयैः सैन्यै श्शात्रवं बलं विनङ्क्षयति नाशमेष्यति॥ ५ ॥

1 B विस्फूर्य 2 B °न्ये 3- -3 B शरैः

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

यादवाना मनीकानां यूथानि समूहाः तान् पान्ति रक्षन्तीति यादवानीकयूथपाः॥ १, २ ॥

अश्वपृष्ठादिषु स्थित्वा॥ ३ ॥

आसारो वेगवान् वर्ष इति। सुमध्यमा रुक्मिणी ऐक्षत् ऐक्षत[1] दृष्टवती॥ ४,५ ॥

---

1 B, M, omit ऐक्षत

तेषां तद्विक्रमं वीरा गदसङ्कर्षणादयः।
अमृष्यमाणा नाराचै र्जघ्नु र्हयगजान् रथान्॥ ६ ॥

पेतुः शिरांसि रथिना मश्विनां गजिनां भुवि।
सकुण्डलकिरीटानि सोष्णीषाणि च कोटिशः॥ ७ ॥

हस्ताः सासिगदेष्वासाः करभा[1-] ऊरुवोऽङ्घ्रयः[-1]।
अश्वाश्वतरनागोष्ट्र खरमर्त्यशिरांसि च॥ ८ ॥

हन्यमानबलानीकाः वृष्णिभि र्जयकाङ्क्षिभिः।
राजानो विमुखा जग्मुः जरासन्धपुरस्सराः[2]॥ ९ ॥

शिशुपालं समेत्याऽथ[3] हृतदारमिवाऽऽतुरम्।
नष्टत्विषं गतोत्साहं शुष्यद्वदन मब्रुवन्॥ १०॥

1- -1 W °भोरु भुजा 2 MI, V पुरोगमाः 3 B, G, J, MI, V समभ्येत्य

**श्रीध० तेषामिति।** स चासौ विक्रमश्च तम्॥ ६॥

**पेतुरिति।** उष्णीषाणि शिरोवतंसवस्त्राणि तत्सहितानि शिरांसि॥ ७ ॥

**हस्ताः** इति। करभाः प्रकोष्ठा ऊरुविशेषणं वा॥ ८,९ ॥

**शिशुपालमिति।** अप्राप्तदारमेव तं हृतदारमिवाऽऽतुरम्॥ १० ॥

**वीर०** इति तेषां चैद्यादीनां तथाविधं विक्रम मसहमाना वीरा गदादयो यादवाः नाराचै र्हयादीन्[1] जघ्नुः॥ ६ ॥

तदा अश्विनां अश्वा एषां सन्तीति ते तेषाम्, अश्वारूढानां रथिनां गजिनां च कोटिशः शिरांसि कुण्डलकिरीटसहितानि उष्णीषसहितानि च भुवि निपेतुः। खड्गगदाधनुर्भिः सहिता हस्ताश्च करभाः प्रकोष्ठाश्च ऊरवश्च अङ्घ्रयश्च निपेतुः। करभाः तत्सदृशा ऊरव इत्यूरुविशेषणं वा। तथा अश्वादीनां शिरांसि च निपेतुः। तत्र नागा गजाः॥ ७, ८ ॥

इत्थं जयकाङ्क्षिभि र्यदुभिः हन्यमानानि बलानीकानि सैन्यसमुदायाः येषां ते जरासन्धादयो राजानो विमुखाः पराङ्मुखास्सन्तो जग्मुः॥ ९॥

तत स्ते सर्वे शिशुपाल मभ्येत्य अब्रुवन्। कथम्भूतम्? अप्राप्तदारमेव हृतदारमिवाऽऽतुरं नष्टत्विषं निस्तेजस्कं, गत उत्साहो यस्मात्, शुष्यत् वदनं यस्य तम्॥ १० ॥

1 K, W °यान्

**विज०** करभाः कनिष्ठिकाया मूलप्रदेशाः, गर्दभा दश्वायां जातोऽश्वतरः॥ ६-८ ॥

आत्मनो जयकाङ्क्षिभिः जयप्रकाशकैः जयेच्छुभिर्वा॥ ९ ॥

हृतदारं बला दपहृतभार्यं पुरुषम्॥ १० ॥

1- -1
**राजान ऊचुः**

**भो भो[2] पुरुषशार्दूल दौर्मनस्य मिदं त्यज।**
**न प्रियाप्रिययो राजन् निष्ठा देहिषु दृश्यते॥ ११ ॥**

**यथा दारुमयी योषित् नृत्यते कुहकेच्छया।**
**एव मीश्वरतन्त्रोऽय मीहते सुखदुःखयोः॥ १२ ॥**

3- -3
**जरासन्ध उवाच**

**शौरेः सप्तदशाहं वै संयुगानि पराजितः।**
**त्रयोविंशतिभिः सैन्यै र्जिग्य एक महं परम्॥ १३ ॥**

**तथाप्यहं न शोचामि न प्रहृष्यामि कर्हि चित्।**
**कालेन दैवयुक्तेन[4] जान न्विद्रावितं जगत्॥ १४ ॥**

**अधुनापि वयं सर्वे वीरयूथपयूथपाः।**
**पराजिताः फल्गुतन्त्रै र्यदुभिः कृष्णपालितैः॥ १५॥**

1- -1 G, J, K, Ml, V, W omit 2 B, G, J, K, W भोः 3- -3 B, G, J, M, Ma, Ml, V omit 4 M, Ma योगेन

**श्रीध०** भो भो इति। निष्ठा स्थैर्यम्॥ ११ ॥

**यथेति।** कुहको नर्तयिता तस्येच्छया। दुःखेऽपीहमानत्वेन पारवश्यं व्यक्तं दर्शितम्॥ १२

अत्र चाऽहमेव दृष्टान्त इत्याह जरासन्धः - **शौरिरिति।** शौरिः[1] कृष्णात्सकाशात्। एकं संयुगम्। परं केवल मन्तिमं वा जिग्ये जितवानहम्। १३ ॥

**तथेति।** दैव मदृष्टं तद्युक्तेन॥ १४ ॥

**अधुनेति।** फल्गुतन्त्रैः स्वल्पसैन्यैः॥ १५ ॥

1 B, J omit शौरिः

**वीर०** उक्तिमेवाह- **भो भो** इति। हे पुरुषश्रेष्ठ! दौर्मनस्यं विषादं त्यज। न हि सुखदुःखयोः देहिषु स्थैर्यं दृश्यते। किन्तु ते क्षणिके आगमापयिनी इति भावः॥ ११॥

नन्वप्रतिहतपौरुषाणा मस्माक मयं पराभवोऽविषह्य इत्यत आहुः-**यथेति।** कुहको नर्तकः तस्येच्छया इच्छानुसारमित्यर्थः। दारुमयी योषि त्प्रतिमा यथा[1] नृत्यते तथा अयं देहिवर्गोऽपि ईश्वरपरतन्त्रः सुखदुःखयो रीहते सुखदुःखयोः निमित्तभूतयो श्चेष्टते सुखदुःखार्थकर्माणि करोतीत्यर्थः। न हि सुखदुःखप्रापणे स्वात्मन स्स्वातन्त्र्यमस्ति। अपि तु सुखायै वेहमानोऽयं जनः स्वस्वकर्मानुगुणेश्वरेच्छया सुखदुःखे प्राप्नोति। अतः किं विधेय मित्यर्थः॥ १२ ॥

एव मीश्वरपारतन्त्र्यमुक्तम्। तत्र चाऽहमेव दृष्टान्त इत्याह जरासन्धः-**शौरिरिति।** सप्तदश संयुगानि कृत्वेति शेषः। त्रयोविंशत्यक्षौहिणीकै स्सैन्यै स्सहितोऽप्यहं शौरिः श्रीकृष्णात्सकाशा त्पराजितः, सप्तदशकृत्व इति शेषः। एकं संयुगं त्वहं परं केवलं जिग्ये जितवानस्मि॥ १३ ॥

तथाऽपि सप्तदशकृत्वः पराजयकालेऽप्यहं कर्हिचि न्न शोचामि। नाऽपि जयकाले हृष्यामि च। किं कुर्वन्? दैवमदृष्टं तद्युक्तेन कालेन कालशरीरकेणेश्वरेण दैवमीश्वर स्तद्युक्तेन तदात्मकेन कालेनेति वा। कृत्स्नं जग द्विद्राविवतम् उपद्रुतं जानन्॥ १४॥

अतोऽधुनाऽपि वयं सर्वे वीरयूथपा अपि फल्गुतन्त्रैरपि अल्पबलैरपि पराजिताः॥ १५ ॥

1 B, W omit यथा 2 K, W °ष्ण स०

**विज०** प्रियाप्रिययोः सुखदुःखयोः निष्ठा व्यवस्था नियतत्वं "निष्ठोत्कर्षे व्यवस्थायाम्" (वैज. को. 6-2-21) इति॥ ११ ॥

कुहकेच्छया मायिकेच्छया॥ १२ ॥

योऽहं त्रयोविंशतिभिः सैन्यैः अक्षौहिणीभिः शौरिः सप्तदशसंयुगानि सप्तदशसंयुगेषु पराजितः। परं पश्चात् सोऽहं तावतीभिः सम्भूय एकं सेनादिविकलं कृष्णं जिग्ये, तथापि उभयधाऽपि एक मष्टादशमं सङ्ग्रामं वा॥ १३, १४ ॥

फल्गूतन्त्रैः अल्पसेनादिपरिच्छदैः॥ १५ ॥

रिपवो जिग्यु रधुना काल आत्मानुसारिणी।
तदा वयं विजेष्यामो यदा कालः प्रदक्षिणः॥ १६ ॥

2- -2
श्रीशुक उवाच

एवं प्रबोधितो मित्रै श्चैद्योऽगा त्सानुगः पुरम्।
4- -4
हतशेषाः पुन स्तेऽपि ययुः स्वं स्वं पुरं नृपाः॥ १७ ॥

रुक्मी तु राक्षसोद्वाहं कृष्णद्वि डसह न्स्वसुः।
पृष्ठतोऽन्वगम त्कृष्ण मक्षौहिण्या वृतो बली॥ १८ ॥

रुक्म्यमर्षी सुसंरब्धः शृण्वतां सर्वभूभुजाम्।
प्रतिजज्ञे महाबाहु र्दंशितः सशरासनः॥ १९ ॥

अहत्वा समरे कृष्ण मप्रत्यूह्य च रुक्मिणीम्।
कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि सत्य मेतद् ब्रवीमि वः॥ २०॥

1 M, Ma °तु जे०; MI, V च जे० 2- -2 G, J, omit 3 M. Ma सं 4- -4 MI, V स्वस्व 5 MI, V °मोच्य.

**श्रीध० रिपव** इति। प्रदक्षिणोऽनुकूलः स्यात्॥ १६ - २० ॥

**वीर०** रिपवस्तु आत्मानुसारिणि स्वानुकूले काले प्राप्ते सति जिग्युः। यदा च प्रदक्षिणोऽस्मदनुकूलः कालो भावी, तदा वयमपि जेष्याम एव॥ १६ ॥

इत्थं मित्रै र्जरासन्धादिभिः बोधितः सान्त्वितः चैद्यः स्वपुरं प्रति जगाम। ततो हतशेषा स्ते जरासन्धादयोऽपि नृपाः 1- -1 स्वं स्वं गृहं प्रति जग्मुः॥ १७ ॥

ततः कृष्णद्विद् रुक्मी तु स्वसुर्भगिन्याः राक्षसोद्वाह मसहमानः अक्षौहिण्या सैन्येन परिवृतः कृष्णं पृष्ठतोऽन्वधावत्॥ १८॥

अनुधावनात्पूर्वं तस्य संरम्भमाह-**रुक्मीति**। अमर्षी क्रुद्धः सुसंरब्धः सन्नद्धः। तदेव प्रपञ्चयति - दंशितः कवचितः शरासनेन धनुषा सहितः सर्वभूभुजां शृण्वतां सतां प्रतिजज्ञे॥ १९॥

प्रतिज्ञा मेवाह- **अहत्वेति**। अप्रत्यूह्य अनावर्त्य॥ २० ॥

1- -1 B स्वस्व 2 B °हृत्य

विज० प्रदक्षिणः अनुकूलः॥ १६,१७ ॥

असहन् असहमानः॥ १८,१९ ॥

अप्रत्यूह्य अनावृत्य, अन्यस्याऽदत्वेति वा॥ २० ॥

इत्युक्त्वा रथ मारुह्य सारथिं प्राह सत्वरः।
चोदयाश्वान् यतः कृष्ण स्तेन[1] मे संयुगो[2] भवेत्॥ २१ ॥

अद्याहं निशितै र्बाणै र्गोपालस्य सुदुर्मतेः।
नेष्ये वीरमदं[3] येन स्वसा मे प्रसभं हृता॥ २२ ॥

विकत्थमानः कुमति रीश्वरस्याऽप्रमाणवित्।
रथेनैकेन गोविन्दं तिष्ठ[4-] तिष्ठेत्युपाद्रवत्[-4]॥ २३॥ ★

△ धनु र्विकृष्य सुदृढं जघ्ने कृष्णं त्रिभि श्शरैः।
आह चोर[5] क्षणं तिष्ठ यदूनां कुलपांसन॥ २४ ॥

कुत्र यासि स्वसारं मे मुषित्वा ध्वाङ्क्षव द्धविः।
हरिष्येऽद्य मदं मन्द मायिनः कूटयोधिनः॥ २५ ॥

याव न्न मे हतो बाणैः शयीथा[6] मुञ्च दारिकाम्।
स्मय न्कृष्णो धनु श्छित्वा षड्भि र्विव्याध रुक्मिणम्॥ २६

अष्टाभि श्चतुरो वाहान् द्वाभ्यां सूतं ध्वजं त्रिभिः।
स चाऽन्यद्धनु रादाय कृष्णं विव्याध पञ्चभिः॥ २७ ॥

तै स्ताडितः[7-] शरौघैस्तु चिच्छेद[-7] धनु रच्युतः।
पुन[8-] रन्य[-8] दुपादत्त तदप्यच्छिन[9] दव्ययः॥ २८ ॥

परिघं[10] पट्टशं शूलं चर्मासी[11] शक्तितोमरौ[12]।
यद्य दायुध मादत्त[13] तत्सर्वं सोऽच्छिन[14] द्धरिः॥ २९ ॥

ततो रथा दवप्लुत्य[15-] गृहीत्वा खड्गचर्मणी[-15]।
कृष्ण[16] मभ्यद्रव त्क्रुद्धः पतङ्ग इव पावकम्॥ ३०॥

1. B.G.J.M.Ma, ०स्तस्य० 2. B.G.J.M.Ma °यं 3. B.G.J.M.Ma °र्य०4- -4 तिष्ठ तिष्ठे त्यथाह्वयत्; M.Ma अन्वधावत रंहसा ★ After 23rd Verse this extra Verse is found in B.M.Ma editions. स गत्वा नर्मदां देवीं तरन्तं मधुसूदनम्। आसाद्य युद्धसन्नद्धः तिष्ठ तिष्ठेति चाऽब्रवीत्॥ △ An half Verse beginning with धनुर्विकृष्य.....त्रिभिःशरैः is repeated in B.M.Ma editions 5 B.G.J. चाऽब्र; M.Ma चाऽरे 6. W. °ता 7- -7 K.W. शराग्रैस्तच्चि०; MI.V. शरौघैस्तच्चि० 8- -8 K.W. °रप्यन्यदा; 9. M.Ma °दच्युतः 10. B.G.J.M.Ma पहिशं 11. M.Ma.°रैः; W °रान् 12. MI.V.W °ध० 13. MI.V. चाऽ० 14. M.Ma.MI.V. ° द्विभुः 15- -15 B.G.J.MI.v. खड्गपाणि र्जिहासया 16. K पतत्क्रु०

**श्रीध० अद्येति।** गोपालस्य, वेदपालकस्येति वास्तवोऽर्थः। तथा सुदुर्मते रिति शोभनाऽनुग्रहवती दुष्टेष्वपि मति र्यस्य तस्येति॥ २१-२३ ॥

**धनुरिति।** यदूनां कुलपांसन। कुलदूषण! [1-] इति लौकिकार्थः[-1]। [2-] वास्तवार्थस्तु[-2] यदूनां [3] कुलप। हे [4-] यदुकुलपते![-4] हे अंसन! स्वयं च रिपुहननचतुर! "अंस समाघाते" इत्यस्मा द्धातोः कर्तरि ल्युट्प्रत्ययो नन्द्यादिविहितः॥ २४ ॥

**कुत्रेति।** ध्वाङ्क्षः काकः स यथा हवि र्मुष्णाति तद्वत्। वस्तुतस्तु अध्वाङ्क्षवदितिच्छेदः। सहस्राक्षवदित्यर्थः। हे मन्द![5] स्थिरेत्यर्थः॥ २५-३० ॥

1- -1 B.J. omit 2- -2 B.J. वस्तुतस्तु 3 B.J. कुलस्य पते 4- -4 B.J omit 5.MI.V.add सिंहताक्ष्यवद्वा

**वीर० इतीति।** सत्वरः त्वरया सहितः, उक्तिमेवाह-चोदयेति सार्धेन। यतो यत्र कृष्णः तत्राऽश्वा नाशु चोदय गमयेत्यर्थः। तेन कृष्णेन सह मम संयुगः सङ्गामो भवेत् भवितव्यः॥ २१ ॥

सुतरां दुर्बुद्धे र्गोपालस्य वीरमदं वीरोऽहमेवे त्येवंविधं मदं नेष्ये, ततो नयामि, त्याजयामीत्यर्थः। तत्र हेतुं वद न्विशिनष्टि-येन कृष्णेन मम भगिनी प्रसह्य नीता अपहृता॥ २२ ॥

**विकत्थमान** इति। ईश्वरस्य श्रीकृष्णस्य प्रमाणं ज्ञानशक्तिबलादीना मनन्तपरिमाणत्व मजानन् अत एव कुमति रत एव चैवं विकत्थमानः प्रगल्भं भाषमाणः तिष्ठ तिष्ठेति वद न्निति शेषः। उपाद्रव दन्वधावत्॥ २३ ॥

**धनुरिति।** दृढं धनुर्विकृष्य शरान् सन्धायेति शेषः। कृष्ण मुरो वक्षःस्थलं जघ्ने। आह च । उक्तिमेवाह-क्षणमित्यादिना स्मय न्नित्यतः प्राक्तनेन। हे यदुकुलदूषक! क्षणं तिष्ठ, ममाग्रत इति शेषः॥ २४ ॥

ध्वाङ्क्षः काकः स यथा हविः हृत्वा याति, तथा मम स्वसारं मुषित्वा क्व यास्यसि[1] नैल्य मयोग्यत्वं च दृष्टान्ताभिप्रेतम्। हे मन्द कूटयोधिनः कूट स्समुदितो युध्यते[2], तच्छीलः तथा, तस्य एकाकितया योद्धु मसमर्थस्येत्यर्थः। तव मदं हरिष्ये॥ २५ ॥

मम बाणै र्यावद्धतो न शयीथाः[3] ततः[4] पूर्वमेव दारिकां कन्यां मुञ्च। स्मयन्निति। षड्भिर्बाणै रिति शेषः। तथोत्तरत्रापि॥ २६॥

स चेति। सः रुक्मी, तैः रुक्मिप्रयुक्तैः[5] शराग्रैस्ताडितः कृष्णः तदपि धनुः चिच्छेद। एवं पुनः पुनः यद्य[6] द्धनु राददे तदप्यव्ययो भगवान् चिच्छेद॥ २७,२८ ॥

ततः परिघादिकमपि यद्य दाददे, तत्सर्वम प्यच्छिनत्॥ २९ ॥

**तत** इति। खड्गः पाणौ यस्य स रुक्मी रथा दवप्लुत्य हन्तुमिच्छया पतङ्गः शलभः पावकमिव कृष्ण मभ्यपतत्॥ ३०॥

1 K यासि 2. K.W. °ति 3. B °त 4 B adds भवान् 5 B °क्मिणा 6. K.W यद्धनु०

**विज०** अरे, नीचसम्बोधनं, तदेव व्यनक्ति यदूनामिति॥ २१-२५ ॥

ततः पूर्वमेव मुञ्च॥ २६-२८ ॥

परिघं परिघातनं पट्टिशं लोहदण्डं, शक्तितोमरैः सह चिच्छेद। द्विमुख स्तोमरः॥ २९,३० ॥

**तस्य चाऽऽपततः खड्गं तिलश श्चर्म चेषुभिः।**
**छित्त्वाऽसि माददे तिग्मं[1] रुक्मिणं हन्तु मुद्यतः॥ ३१ ॥**

**दृष्ट्वा भ्रातृवधोद्योगं[2] रुक्मिणी भयविह्वला**
**पतित्वा पादयो[3] र्भर्तु रुवाच करुणं सती॥ ३२ ॥**

**रुक्मिण्युवाच[4-4]**

**योगेश्वराप्रमेयात्मन् देवदेव जगत्पते!।**
**हन्तुं नार्हसि कल्याण! भ्रातरं मे महाभुज॥ ३३॥★**

**श्रीशुक उवाच**

**तया परित्रासविकम्पिताङ्गया शुचाऽवशुष्यन्मुखरुद्धकण्ठया[5]।**
**कातर्यविस्रंसितहेममालया गृहीतपादः करुणो न्यवर्तत॥ ३४ ॥**

चेलेन[6] बद्ध्वा त मसाधुकारिणं सश्मश्रुकेशं प्रवप न्व्यरूपयत्।
ताव न्ममर्दुः[7-] परसैन्य मुद्धतं[-7] यदुप्रवीरा नलिनीं यथा गजाः॥ ३५

कृष्णान्तिक मुपव्रज्य ददृशु स्तत्र रुक्मिणम्।
तथाभूतं हतप्रायं दृष्ट्वा सङ्कर्षणो विभुः ॥
विमुच्य बद्धं[8] करुणो भगवा न्कृष्ण मब्रवीत्॥ ३६ ॥

बलभद्र उवाच

असाध्विदं त्वया कृष्ण कृत मस्मि[9] जुगुप्सितम्।
वपनं श्मश्रुकेशानां वैरूप्यं सुहृदो वधः॥ ३७ ॥

मैवास्मा न्साध्व्यसूयेथा भ्रातु र्वैरूप्यचिन्तया।
सुखदुःखप्र[10-]दो नान्यो[-10] यतः स्वकृतभुक् पुमान्॥ ३८ ॥

बन्धु र्वधार्हदोषोऽपि न बन्धु[11] र्वध मर्हति।
त्याज्य स्तेनैव[12] दोषेण हतः किं हन्यते पुनः॥ ३९ ॥

क्षत्रियाणा मयं धर्मः प्रजापतिविनिर्मितः।
भ्राताऽपि भ्रातरं हन्या द्येन घोरतर स्ततः॥ ४०॥

1. K.W. तीक्ष्णं 2. Ml.V °तुर्व० 3. M.Ma.W °योः पत्यु० 4- -4 G.J.Ml.V omit ★ इत्युक्त्वा जगृहे पादौ कृपणा दीनभाषिणी। भ्रातरं त्रातुकामा सा कृष्णस्य जगतीपतेः॥ This extra Verse is found in M.Ma editions between the Verses 33 and 34. 5 M.Ma शुचा च०; Ml.V शुचा वि० 6 B.G.J.M.Ma चै० 7- -7 B.G.J. तावन्ममर्दुः परसैन्यमद्भुतं; M.Ma ताव त्समीयु र्जितशत्रुसैन्याः 8 K. बन्धं 9. B.G.J.K.W.°स्मज्जु० 10- -10 B.G.J.M.Ma. °दो नचान्योऽस्ति 11 B.G.J.बन्धो र्वध° K.W. बन्धो। वध° 12. B.G.J.M.Ma.W स्त्वेनैव

**श्रीध० तयेति।** परित्रासेन विकम्पितान्यङ्गानि यस्या स्तया। शुचा शोकेन अवशुष्यत्[1] मुखं यस्याः। रुद्धः कण्ठो यस्या स्सा च। तया कातर्येण वैक्लव्येन विस्रंसिता हेममयी माला यस्या स्तया। गृहीतौ पादौ यस्य सः॥ ३१-३४॥

**चेलेनेति।** सश्मश्रुकेशं सहितानि स्थाने स्थानेऽवशिष्टानि श्मश्रूणि केशाश्च यथा भवन्ति तथा। तेनैवासिना प्रवपन् मुण्डयन् व्यरूपयत् विरूपमकरोत्॥ ३५ ॥

**कृष्णान्तिकमिति।** तथाभूतं हतप्राय मित्युत्तरवाक्येऽप्यनुषङ्गः॥ ३६,३७ ॥

रुक्मिणीं सान्त्वयति-**मैवास्मानिति**॥ ३८ ॥

पुनः कृष्ण माक्षिपति **बन्धुरिति**॥ ३९ ॥

पुन र्देवीं प्रत्याह-**क्षत्रियाणामिति**। येन धर्मेण भ्रातापि भ्रातरं हन्यात्। ततः तस्मा द्भीतरोऽतिदारुणो धर्मश्च। अतः कोऽस्माक मपराध इति भावः॥ ४० ॥

---

1 M.V. विशु०

**वीर०** आपततः तस्य रुक्मिणः खड्गं चर्म खेटं च इषुभि स्तिलप्रमाणश श्चिच्छेद, एवं छित्वा रुक्मिणं हन्तुं निशितं खड्ग मादत्त॥ ३१ ॥

तदा भ्रातृवधार्थं मुद्योगं प्रयत्नं दृष्ट्वा भयकम्पिता सती रुक्मिणी भर्तुः पादयोः पतित्वा करुणं यथा तथोवाच॥ ३२॥

उक्तिमेवाह-**योगेश्वरेति**। हे योगेश्वर! योगनिर्वाहक! योगीश्वरेति पाठे योगिहृत्कमलाभिव्यक्त! तन्नियन्तश्चेत्यर्थः। योगपरिशुद्धमनोग्राह्यस्य तव स्वरूपस्वभावादिकं कथम् अयं देहाभिमानी विद्यात्? ततोऽयं मूढः केवल मनुग्राह्य एवेति तत्सम्बोधनाभिप्रायः। नन्वसाधुलोकदमनार्थ मवतीर्णोऽहमेनं निगृह्णाम्येव इत्यतः सम्बोधयति- हे जगत्पते! शरणागतजगत्पालक! नाऽयं शरणागतोऽपि कृतापराध एवे त्यत आह मे[1] शरणागताया मम भ्रातरं हन्तुं नाऽर्हसीति, शरण्यत्वोपयुक्तं वीरत्ववात्सल्यसौशील्यादिकमपि[2] सम्बोधनेनैवाह- देवानां ब्रह्मादीनामपि देव! अप्रमेयात्मन्! अपारवात्सल्यसौशील्यादिस्वभावस्वरूप! लोकदृष्ट्या अधुना तवैतद्वधो नोचित इति सम्बोधयति- **कल्याणेति**। आरब्धे विवाहरूपकल्याणेऽपरिसमाप्त एवान्तरा मद्भ्रातृ[3] वधोऽनुचित इत्यर्थः। अहो दृष्टं सखड्गस्य त्वद्भुजस्य सौन्दर्य मिति साक्षेपं सम्बोधयति-महाभुजेति॥ ३३ ॥

**तयेति**। परित्रासेन परितो भयेन विशेषतः कम्पितान्यङ्गानि यस्याः शुचा शोकेन अवशुष्यत् मुखं यस्याः, रुद्धः कण्ठो यस्या स्सा च सा कातर्येण वैक्लव्येन विस्रंसिता हेममयी माला यस्या स्तया रुक्मिण्या गृहीतौ पादौ यस्य सः करुणः करुणावान् न्यवर्तत, रुक्मिवधा दिति शेषः॥ ३४ ॥

**चेलेनेति**। तत स्त मसाधुकारिणं रुक्मिणं चेलेन[4] तद्वस्त्रेण बद्ध्वा सश्मश्रुकेशं सहितानि स्थाने स्थाने अवशिष्टानि श्मश्रूणि केशाश्च यथा भवन्ति तथा तेनैवासिना प्रवपन् मुण्डयन् विरूप मकरोत्। नलिनीं यथा गजा इति दृष्टान्तेनाऽनायासः खेलनमात्रं चाऽभिप्रेतम्॥ ३५ ॥

**कृष्णान्तिकमिति**। ददृशुः यदुप्रवीरा इति कर्तृपदानुषङ्गः, भगवान् सङ्कर्षणः तथाभूतं विरूपता मापन्नं हतप्रायं हततुल्यं रुक्मिणं दृष्ट्वा सकरुणो बन्धं विमुच्य कृष्ण मब्रवीत्॥ ३६ ॥

उक्तिमेवाह-**असाध्विति**। हे कृष्ण! असाध्वसमञ्जसं निन्दितं चेदं कर्म कृतम्। ननु बन्धुवध एवाऽसाधुः जुगुप्सितश्चे त्यत आह-वपनमिति। सृहृदो बन्धोः वधो नाम श्मश्रुकेशवपनं वैरूप्यकरणं चे त्येष एव॥ ३७ ॥

अथ रुक्मिणीं सान्त्वयति-**मैवाऽस्मानिति।** हे साध्वि! भ्रातृवैरूप्यप्रयुक्तया चिन्तया अस्मान् माऽसूयेथाः। ननु दुःखप्रदा यूय मसूयितव्या एवे त्यत आह-सुखेति। सुखप्रदः दुःखप्रदश्च अन्यो नास्ति, कुतः? यतः पुमान् स्वकृतभुक् स्वकृतकुशलाकुशलकर्मापादितसुखदुःखभुक्, सुखग्रहणं दृष्टान्तार्थम्॥ ३८ ॥

पुनः कृष्ण माक्षिपति- **बन्धुरिति।** हे बन्धो! वधायाऽर्हः उचितः दोषो यस्य सोऽपि बन्धु र्वधं नार्हति, किन्तु त्याज्य एव। स हि तेन वधार्हेण दोषेण हत एव हतप्राय एव, हतोऽपि पुन र्हन्यते कि मिति॥ ३९ ॥

भूयो रुक्मिणीं प्रत्याह- **क्षत्रियाणामिति।** प्रजापतिना ब्रह्मणा विनिर्मितोऽयं परो धर्मः। कोऽसौ? येन धर्मेण भ्राताऽपि भ्रातरं हन्यात्, यश्च घोरतरः अतिदारुणः। अतः को नामाऽस्माक मपराध इति भावः॥ ४० ॥

1. K.T.W omit मे 2. B. परत्व 3. B. रूपे 4. B. चै० 5. B omits प्रदः 6.K.T.W omit कुतः 7- -7 B omits 8 B. वधो 9 B. यतश्च 10 B omits नाम

**विज०** परित्रासेन परितो भयेन कम्पितमङ्गं यस्या स्सा तथा तया शुष्यन्मुखा च रुद्धकण्ठा च तया करुणः करुणाकरः॥ ३१-३४॥

प्रवपन् वपनं मुण्डनं कुर्वन् व्यरूपयत् सौन्दर्यहीन मकरोत्॥ ३५,३६ ॥

श्मश्रुकेशानां वपनलक्षणं वैरूप्यं सुहृदो बन्धो र्वधं कृतवान्॥ ३७ ॥

इदानीं रुक्मिणीं सान्त्वयति-**मैवेति।** हे साध्वि! रुक्मिणि! अस्मान्प्रति। स्वस्मा दन्यः, अत्र हेतुः यत इति॥ ३८॥

नन्वस्तु सुखादेः स्वयं हेतुः अथापि बन्धोः देहवियोगकरणलक्षणो वधो लोकाचारो न भवति जुगुप्सितत्वादिति। तत्सत्यमित्याह-**बन्धुरिति।** वधार्हो दोषो यस्य स तथा। द्वितीयबन्धुशब्दो हेत्वर्थः। तत्र किं कर्तव्य मित्यत्राह-त्याज्य इति। त्यागो देशनिर्यातनादिलक्षणः। किं त्याज्य इत्यतो मृतमारणदोषापत्ते रिति भावेनाह-हत इति॥ ३९ ॥

तर्हीत दीदृशं कर्म किमिति क्रियते इति। अतोऽयं न्यायः क्षत्रियेभ्योऽन्यत्र, न क्षत्रियाणा मित्याह- **क्षत्रियाणामिति।** कोऽसौ धर्म इत्यत्राह- भ्राताऽपीति। तत स्तस्मात् राजा येन कर्मणा घोरतर इत्युच्यते, धर्मविषयो वा अघोरतरो धर्म इति॥ ४०॥

1. Ma omits अतः

**राज्यस्य भूमे र्वित्तस्य श्रियो मानस्य तेजसः।**
**मानिनोऽन्यस्य वा हेतोः श्रीमदान्धाः क्षिपन्ति हि॥ ४१ ॥**

★ तवेयं विषमा बुद्धिः सर्वभूतेषु दुर्हृदाम्।
यन्मन्यसे सदाऽभद्रं सुहृदां भद्र मज्ञवत्॥ ४२ ॥

आत्ममोहो नृणा मेष कल्प्यते देवमायया।
सुहृ दुर्हृ[2] दुदासीन इति देहात्ममानिनाम्॥ ४३ ॥

एक एव परो ह्यात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्।
नानेव गृह्यते मूढै र्यथा ज्योति र्यथा नभः॥ ४४ ॥

देह आद्यन्तवा नेष द्रव्यप्राणगुणात्मकः।
आत्म न्यविद्यया क्लृप्तः[3] संसारयति देहिनम्॥ ४५॥

1. B.G.J.M.I.V. स्त्रिया ★ This Verse is not found in M.Ma editions 2 M.Ma.W. च्छ्वुरु० 3. M.Ma क्षिप्तः

**श्रीध०** पुनः श्रीकृष्णं प्रत्याह-**राज्यस्येति**। तथाऽप्यस्माक मेत दनुचितमिति भावः॥ ४१ ॥

पुनर्देवीं प्रत्याह-**तवेयमिति**। सर्वभूतेषु दुर्हृदा महितानां भ्रातृणा मज्ञवत् य दभद्रं मन्यसे इच्छसि इयं तव विषमा असमीचीना बुद्धिः। कुतः? यत स्तदेव सुहृदा मभद्रमिति। यद्वा सर्वभूतेषु दुर्हृदामपि स्वसुहृदां भद्रमेव इदं[1] दण्डरूपं मुण्डन मभद्रं यन्मन्यसे तवेयं विषमा बुद्धिरिति। अथवा सर्वभूतेषु मध्ये दुर्हृदां शिशुपालादीना मभद्रं सुहृदां भद्रं च यन्मन्यसे, तवेयं विषमा बुद्धिः समा न भवति। अज्ञवत् अज्ञानामिव॥ ४२ ॥

कुत इत्यत आह- **आत्ममोह** इति॥ ४३ ॥

परमार्थमाह- **एक एवेति**। परः शुद्धः ज्योतिश्चन्द्रादिः यथोदकेषु। नभो यथा घटादि ष्विति॥ ४४ ॥

कुत स्तर्हि न चन्द्रादिव दात्मानम् एकं शुद्धं प्रतीम स्तत्राह- **देहे** इति। द्रव्य मधिभूतम्, प्राणा इन्द्रिया ण्यध्यात्मम्। गुणशब्देनाऽधिदैवं, तत्त्रितयात्मकः देहोपाधिना शुद्धो न प्रतीयते इत्यर्थः॥ ४५ ॥

1. B.J. omit इदं

**वीर०** पुनः कृष्णं प्रत्याह- **राज्यस्येति**। श्रीमदेनैश्वर्यमदेनाऽन्धाः[1] विवेकरहिता मानिनो दुरहङ्कारिणो जनाः राज्यादेः अन्यस्य वा हेतोः कारणात् राज्याद्यर्थं तेभ्योऽन्यार्थं वेत्यर्थः। क्षिपन्ति हि क्षिपन्ति निरस्यन्ति, बन्धू निति शेषः। अस्माकं त्वेत दनुचितमिति भावः। तत्र मानस्य वयमेव वीरा इत्याभिमानस्य, तेजसः पराभिभवनसामर्थ्यस्य॥ ४१॥

सान्त्वितामपि विषण्णामेव ता मालक्ष्य अन्तरेण तत्त्वोपदेशम् अस्या विषादो न शाम्यतीति मत्वा तत्त्व मुपदिदिक्षुः तावत् देहानुबन्धिषु सौहार्दस्य तदभद्रत्वप्रयुक्तचित्तविकारस्य चाऽज्ञानप्रयुक्तत्व माह- **तवेति** द्वाभ्याम्। अज्ञवत् देहात्मस्वतंत्रा-त्माभिमानवत् सदा सुहृदां भद्रं दुर्हृदा महिताना मभद्रं च मन्यस इति यत्, तवेयं बुद्धि स्सर्वेषु भूतेषु विषयभूतेषु विषमा। असमा, एकरूपा न भवतीत्यर्थः॥ ४२ ॥

कुत इत्यत आह-**आत्ममोह** इति। नृणां एषः आत्ममोहो बुद्धिमोहो भगवन्मायया अनात्म न्यात्मबुद्धि मस्वतन्त्रे स्वातन्त्र्यबुद्धिं च कल्पयन्त्या कल्पितः। कोऽसौ, यो देहात्मवादिनां सुहृ दित्यादिरूपः॥ ४३ ॥

सुहृदादिविभागस्याऽज्ञानकल्पितत्व मेवोपपादयति- **एक एवेति।** सर्वेषामपि देहिनां जीवात्मना मात्मा अन्तरात्मा एक एव परः। गूढतयाऽवस्थाने दृष्टान्तमाह-यथा ज्योतिरिति। यथा ज्योति रग्निः काष्ठे गूढतयाऽवतिष्ठते, तथा परमात्माऽपीत्यर्थः। अवस्थितस्यापि, परस्य तत्तद्वस्तुगतदोषास्पर्शे दृष्टान्तमाह- यथा नभ इति। यथा सर्वत्र व्याप्नुवत आकाशस्य न व्याप्यगतदोषस्पर्श स्तथेत्यर्थः। एवं स्थिते एकस्य परमात्मनः कृत्स्नं जगत् शरीरभूतमिति एकशरीरभूतपाणिपादादिषु शत्रुमित्रादिविभागोऽनुपपन्नः। मूढैः परमात्मशरीरत्वानभिज्ञैस्तु नानेव शत्रुमित्रादिविभागयुक्त मिव जग द्विज्ञायते इत्यर्थः॥ ४४॥

कोऽसौ देहातिरिक्तो जीवो नाम, कीदृशश्च, देहश्च कीदृशः, कथं च देहातिरिक्तस्यात्मन स्सुखदुःखादि भोक्तृत्व मित्यतआह- **देह** इति। देहस्तावत् द्रव्यप्राणगुणात्मकः द्रव्यं पृथिव्यादिभूतपञ्चकम्। प्राणा इन्द्रियाणि, गुणाः पृथिव्यादिभूतपञ्चकगुणाः गन्धादयः, सत्त्वादिप्रकृतिगुणा रब्धद्रव्यादितत्त्वान्तरसमुदायरूपाः। आत्मा तु ज्ञानात्मक इति भावः। स च आद्यन्तवान् उत्पत्तिविनाशवान्। आत्मा तु नित्य इति भावः। स चाऽविद्यया प्रकृत्या आत्मनि कृप्तस्सन् देहिनं जीवात्मानं संसारयति, तस्य जन्मजरामरणादि दुःखं जनयतीत्यर्थः॥ ४५ ॥

1. K.T.W omit क्षिपन्ति 2- -2 omits 3- -3 B. omits

**विज०** ननु तर्हि सर्वः सर्वं हन्या दित्यतिप्रसङ्ग इत्यत्राह- **राज्यस्येति।** मानिनः देहाभिमानवन्तः अन्यस्य स्त्रीजनस्य वा क्षिपन्ति घ्नन्ति। राज्यादेः सर्वस्य हेतोः इति सम्बन्धः॥ ४१ ॥

किमत इत्यतः स्वस्य श्रीहर्यधीनत्वकल्पनामन्तरेण स्वकपोलकल्पनाबुद्धिः भ्रम एवेत्याह- **आत्मेति।** देह एव आत्मेति मानं ज्ञानं एषां ते तथा तेषां नृणां निरपेक्षत्वेनोपकर्त्ता सुहृत्, स्वसुखनाशकर्ता शत्रुः, तदुभयकर्तृत्वशून्य उदासीन इत्येष आत्ममोहो मनोभ्रमः देवस्य हरेः मायया बन्धकशक्त्या कल्प्यते। ततः सुहृच्छत्रू उभयो रितर उदासीन इति स्वकपोलकल्पना इत्याद्येति भावः॥ ४२,४३ ॥

देवः कीदृश इति तत्स्वरूप माह- **एकएवेति।** आत्मा परः परमात्मा, नियामक इति शेषः। नन्वेकत्वे "सच्च त्यच्चाऽभवत्" इति नानाभावः कथ मिति तत्राह-नानेति॥ ४४ ॥

देहात्मत्वं भ्रमनिमित्त मित्यत्र हेतुमाह-**देह** इति। द्रव्याणि, पञ्च भूतानि, पञ्च प्राणाः, त्रयो गुणाः, देह आत्मा न भौतिकत्वात् घटवदिति। आत्मनि जीवे अविद्यया हरीच्छया अज्ञानेन वा देहिनं देहात्मदर्शनं संसारयति संसारिणं करोति "तत्करेतीत्युपसंख्यान"मिति णिच्॥ ४५ ॥

★ **नात्मनोऽन्येन संयोगो वियोग श्चाऽसता[1] सति।**
**तद्धेतुत्वा त्तत्प्रसिद्धे र्दृग्रूपाभ्यां यथा रवेः॥ ४६ ॥**

**जन्मादयस्तु देहस्य विक्रिया नाऽऽत्मनः क्वचित्।**
**कलाना मेव[2] नैवेन्दो र्मृति र्ह्यस्य[3] कुहूरिव॥ ४७ ॥**

**यथा शयान आत्मानं विषया न्फलमेव च।**
**अनुभुङ्क्तेऽप्यसत्यर्थे तथाऽऽप्नोत्यबुधो भवम्[4]॥ ४८ ॥**

**तस्मा दज्ञानजं शोक मात्मशोषविमोहनम्[5]।**
**तत्त्वज्ञानेन निर्हृत्य स्वस्था भव शुचिस्मिते॥ ४९ ॥**

**श्रीशुक उवाच[6]**

**एवं भगवता तन्वी रामेण प्रतिबोधिता।**
**वैमनस्यं परित्यज्य मनो बुद्ध्या समादधे॥ ५० ॥**

★These two Verses (46,47) are not found in M.Ma editions. 1 B.G.J ऽसतः 2 B,G,J °मिव 3 MI.V. स्य 4- -4 M.Ma तथाऽऽत्माऽपि ध्रुवोऽध्रुवम्। 5 M.Ma बोध०; MI.V शोक० 6- -6 M.Ma omit

**श्रीध०** : ननु देहसम्बन्धेनापि संसारे सति शुद्धत्वं गतमेव, तत्राह- **नात्मन** इति। हे सति! अन्येनाऽधिभूतादिना आत्मनः संयोगवियोगौ न स्तः। कुतः? असतः असत्वा दन्यस्येत्यर्थः। कुतोऽसत्त्वं तत्राह - तद्धेतुत्वादिति। तस्याऽन्यस्य भूतेन्द्रियादेः प्रसिद्धेः, प्रकाशस्य तद्धेतुत्वा दात्महेतुकत्वात्[1]। ननु देवै रधिष्ठितेभ्य इन्द्रियेभ्यो भूतानां प्रतीतिः प्रसिद्धा। भूतप्रतीत्या च तत्प्रसिद्धिः, नाऽऽत्मन इत्यत आह - दृग्रूपाभ्यां यथा रवेः। यथा प्रकाश्यप्रकाशकत्वेन वर्तमानयोरपि चक्षूरूपयोः रवेः सकाशात् प्रसिद्धि र्द्वयोरपि तैजसत्वात्, तदभेदश्च; तथा भूतेन्द्रियादीनां परस्परं सिद्धानामपि चैतन्याधीन एव प्रकाशः तत्का र्यत्वाच्च, तद्व्यतिरेकेणाऽसत्त्वं चेत्यर्थः। तथा च द्वादशे वक्ष्यति- "दीप श्चक्षुश्च रूपं च ज्योतिषो न पृथक् भवेत्। एवं धीः खानि मात्राश्च न स्यु रन्यतमा दृतात्"॥ (भाग. 12-4-24) इति। यद्वा रवेः प्रसिद्धाभ्यामेव दृग्रूपाभ्यां परस्परं[2] प्रसिद्धि र्यथा भवति तद्वदिति॥ ४६ ॥

देहसम्बन्धाभावादेव नाऽऽत्मनो जन्मादयोऽपीति वक्तुं जन्मादीनां देहधर्मत्वमाह - **जन्मादयस्त्विति।** कथं तर्हि जातोऽहं बालोऽहं वृद्धोऽह मित्यात्मनि जन्मादिप्रतीतिः। देहजन्मादिनैवेति सदृष्टान्त माह- कलानामेवेति। इन्दोः कलानामेव जन्मादयो नैवेन्दो र्यथा तद्वत्। यथा च कलानाशादेव कुहूः अमावास्या इन्दुक्षय उच्यते। तद्व दस्यात्मनो देहनाशादेव मृतिव्यवहार इत्यर्थः॥ ४७ ॥

नन्वात्मनो देहादिसम्बन्धाभावे कथं भोक्तृभोग्यभोगप्रतीतिः? इत्याशङ्क्य स्वप्नदृष्टान्तेन समर्थयति - **यथा शयान** इति। आत्मानं भोक्तारं विषयान् भोग्यान् फलं भोग मसत्यप्यर्थेऽनुभुङ्क्ते, तथा अबुधः संसारं प्राप्नोति ॥ ४८॥

**तस्मादिति।** आत्मानं शोषयति विमोहयति चेति तथा तम्। निर्हृत्याऽपाकृत्य॥ ४९ ॥

**एवमिति।** समादधे समाहितमकरोत्॥ ५० ॥

1 B, J omit क 2 MI, V °र 3- -3 MI, V अत आह नाऽऽत्मन इति 4 B, J मिवेति 5 MI, V add इति। 6 MI, V °पहृत्य

**वीर०** ननु यदि देहः स्वसम्बन्धमात्रेण जीवात्मानं संसारयेत्, तर्हि परमात्मानमपि स्वसम्बन्धादेव संसारयत्वित्यत आह- **नाऽऽत्मन** इति। हे सति! आत्मनः परमात्मनः असता देहेन जीवपराभ्यामन्येन सह जीवस्येव संयोगवियोगौ उत्पत्तिमरणात्मकौ न भवतः। अनेन जीवस्योत्पत्तिविनाशौ नाम देहसंयोगवियोगात्मकावेवेत्युक्तम्। कुतः? तत्प्रसिद्धेः देहोत्पत्तेः संयोगवियोगोत्पत्ते र्वा तद्धेतुत्वा त्परमात्मसङ्कल्पहेतुकत्वात् परमात्माधीनत्वा द्देहः परमात्मनो न बन्धक इत्यर्थः। तदधीनेन तस्य बन्धाभावे दृष्टन्तमाह- दृग्रूपाभ्यां यथा रवे रिति। आदित्येनाऽनुग्राह्यं चक्षुः तेन प्रकाश्यश्यामादिरूपं चेत्युभाभ्याम् आदित्यस्य न संसर्गः दूरस्थत्वात्। एवं परमात्माधीनेन देहेनाऽन्तःस्थितस्यापि परमात्मनो दूरस्थस्येव न तत्कृतदोषाश्रयत्व मित्यर्थः॥ ४६ ॥

आद्यन्तवा नित्यनेन सूचित मात्मनो जन्माद्यभाव मुपपादयति- **जन्मादयस्त्विति।** जन्मादयो विक्रिया विकारा देहस्यैव, क्वचिदपि शरीरे स्थितस्यापि आत्मनो न सन्ति। यथा कलानामेव जन्मादयः, न चन्द्रस्य, तद्वत् द्रव्यादिसङ्घातात्मक देहानामेव न जीवस्येत्यर्थः। जन्मादय इत्यादिशब्देन बाल्यादिविकारसङ्ग्रहः। तर्हि " विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य स्समुत्थाय तान्येवाऽनुविनश्यति" (बृह. उ. 2-4-12) इति जीवविनाशवादिनी श्रुति र्विरुध्येत इत्यत आह - मृति र्ह्यस्य कुहू रिवेति। अस्य जीवस्य मरणं चन्द्रस्य कुहू रिवेत्यन्वयः। नष्टेन्दुकला पञ्चदशी कुहूः। यथा चन्द्रस्य कलानाशादेवाऽमावास्या कुहू रिन्दुक्षय इति व्यपदिश्यते, तद्वत् अस्याऽऽत्मनो देहनाशादेव मृति रिति व्यवहारः इत्यर्थः॥ ४७ ॥

देहो देहिनं संसारयतीत्युक्तम्, तत्र यावदयं संसरति, किं वा तत्र कारणम्? देहसम्बन्ध एवेति चे न्न, परमात्मनोऽपि तदविशेषा त्संसारापत्ते रित्यतः सदृष्टान्तमाह - **यथेति।** अर्थे स्वाप्ने असत्यपि अस्थिरोऽपि शयानः पुरुषः स्थिरबुद्ध्या याव दात्मानं भोक्तारं, विषयान् स्वाप्ना न्विषयान्, फलं तद्भोगञ्चाऽनुभुङ्क्ते, तद्व द्विषयध्रुवबुद्ध्या विषया न्याव दनुभवति, तदा ताव दय मबुधोऽज्ञस्सन् भवं संसारं प्राप्नोति, न तु ततो मुच्यते; प्रबुद्धस्तु मुच्यत इति भावः।
नित्यत्वेऽपि स्वप्नावस्थावैशिष्ट्यस्याऽनित्यत्वा त्तन्नित्यत्वबुद्धिः तदनुभवनिमित्ते त्यभिप्रायेणाऽऽत्मान मित्युक्तम्॥ ४८॥

उपसंहरति- **तस्मादिति**। तस्मात् तत्त्वस्थिते[3] रीदृशत्वात् आत्मानं मानसं शोषयति अभास्वरयति विमोहयति चेति तथा। तमज्ञानप्रभवं सुहृद्दुर्हृदुदासीन इत्येवंविधं मोहं तत्त्वज्ञानेन कृत्स्नस्य जगतः परमात्मशरीरकत्वज्ञानेन निर्हृत्य अपाकृत्य, हे शुचिस्मिते! स्वस्था स्वस्मिन् स्थिता ज्ञानानन्दस्वरूपात्मविमर्शनपरा भव। सुस्थेति पाठे निर्विषादा भवेत्यर्थः॥ ४९॥

**एवमिति**। तन्वी रुक्मिणी एवं प्रतिबोधिता वैमनस्यं दुःखं[7] त्यक्त्वा बुद्ध्या तत्त्वनिर्णयात्मिकया मनः सङ्कल्पविकल्पात्मकं समाहितवती॥ ५० ॥

1- -1 T, W omit 2 B adds न तु जागर्ति 3 B दृशे री० 4 K, T, W omit दुःखं

**विज०** देहः स्वेतरवृत्तिनित्यनिष्ठाधिकरणं मेयत्वा द्वटवदिति, तत्राह - **यथेति**। शयानः स्वप्नं पश्यन् आत्मानं विषयान् फलं दुःखादिलक्षणं यथाऽनुभुङ्क्ते वासनानुगुणं अनुभवति[1], अर्थे विषये तदानी मसत्य प्यविद्यमानेऽपि तथा आत्मा जीवो ध्रुवोऽध्रुवा ननित्यान् देहादी ननुभुङ्क्ते इत्यन्वयः। देहः स्वस्वेतरवृत्त्यनित्यनिष्ठाधिकरणमिति प्रत्यनुमानपराहतं तदनुमानमिति सन्तोष्टव्यम्॥ ४६ - ४८॥

उपसंहरति- **तस्मादिति**। ॥ ४९ ॥

बुद्ध्या कदाऽप्यतिरोहितज्ञानेन॥ ५० ॥

1 B omit अनु

प्राणावशेष उत्सृष्टो द्विड्भि[1] र्हतबलप्रभः।
स्मर न्विरूपकरणं वितथात्ममनोरथः॥
★ चक्रे[2] भोजकटं नाम निवासाय[3-] महत्पुरम्[-3]॥ ५१ ॥

अहत्वा दुर्मतिं[4] कृष्ण मप्रत्यूह्य यवीयसीम्।
कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामी त्युक्त्वा तत्राऽवस द्वृषा॥ ५२ ॥

भगवान् भीष्मकसुता मेवं निर्जित्य भूमिपान्।
पुर मानीय विधिव दुपयेमे कुरूद्वह![5]॥ ५३ ॥

तदा महोत्सवो नृणां यदुपुर्यां गृहे गृहे।
अभू दनन्यभावानां कृष्णे यदुपतौ नृप॥ ५४ ॥

नरा नार्यश्च मुदिताः प्रमृष्टमणिकुण्डलाः।
पारिबर्ह मुपाजह्रु र्वरयो श्चित्रवाससोः[7]॥ ५५ ॥

सा वृष्णिपुर्युत्तभितेन्द्रकेतुभि र्विचित्रमाल्याम्बररत्नतोरणैः।
बभौ प्रतिद्वार्युपक्लृप्तमङ्गलै रापूर्णकुम्भागुरुधूपदीपकैः॥ ५६ ॥

सिक्तमार्गा मदच्युद्भि राहूतप्रेष्ठभूभुजाम्।
गजै र्द्वास्सु परामृष्टरम्भापूगोपशोभिता॥ ५७ ॥

कुरुसृञ्जयकैकेय विदर्भयदुकुन्तयः।
मिथो मुमुदिरे तस्मि न्सम्भ्रमा त्परिधावताम्॥ ५८ ॥

रुक्मिण्या हरणं श्रुत्वा गीयमानं ततस्ततः।
राजानो राजकन्याश्च बभूवु र्भृशविस्मिताः। ५९ ॥

द्वारकाया मभू द्राजन् महामोदः पुरौकसाम्।
रुक्मिण्या रमयोपेतं दृष्ट्वा कृष्णं श्रियःपतिम्॥ ६० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५४ ॥

1 Ml, V रुक्मी ह० ★ This half verse is printed in Ml, V after the half verse beginning with कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि (V52) 2 Ml, V यत्र 3- -3 Ml, V °याऽभवत्पु० 4 K, W °तिः 5 K, W यदूद्वह। 6 K, W निन्यु० 7 Ml,V वेषयोः 8 M, Ma °ला० 9 M, Ma, Ml, V °ग० 10 K, W °पैः 11 Ml, V °र्गा 12 Ml, V ताम्। 13 K, W मध्ये स० 14 M, Ma °तः 15 W °नमित० 16 Ml, V °हान्मो० 17 M, Ma °र्णी रमणोपेतां

**श्रीध०**: रुक्मिण स्त्वेवं श्रुतवतो नाऽज्ञानं निवृत्तमिति दर्शय न्नाह - **प्राणावशेष** इति॥ ५१ ॥

**अहत्वेति**। अहत्वा अज्ञात्वाऽदुर्मतिं मितिच सत्योर्थः। अप्रत्यूह्याऽनावर्त्य। अप्रतिबुध्येति तु सत्यम्। यवीयसीं स्वसारम्। यत्र विरूपित स्तत्रैवाऽवसत्। तत्र च भोजकटं नाम पुर मभवत्॥ ५२ - ५४ ॥

**नरा** इति। वरयोः वरवध्वोः पारिबर्हं देय मुपस्करम्॥ ५५ ॥

**सेति**। उत्तभितै रिन्द्रकेतुभिः ध्वजविशेषैः। उपक्लृप्तानि मङ्गलानि लाजाङ्कुरपुष्पप्रकरादीनि तैः॥ ५६ ॥

**सिक्तेति**। आहूताः प्रेष्ठाः भूभुज स्तेषां गजैः परामृष्टा उच्छ्रिता रम्भाश्च पूगाश्च तै रुपशोभिता। यद्वा तैरेव गजैः परामृष्टाः संस्पृष्टाः रम्भाश्च पूगाश्च तै रुपशोभिता॥ ५७ ॥

**कुर्विति**। सम्भ्रमा दौत्सुक्यात् परिधावतां बन्धूनां मध्ये मिथः समेत्य मुमुदिरे[7] मुदं प्रापुः॥ ५८-६० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५४॥

1 MI, v omit तु 2 MI, V यत्र 3 MI, V बधूवरयोः 4- -4 MI, V omit 5 MI, V °ताम् 6 MI, V °ताम् 7 B, J, omit मुमुदिरे

**वीर०**: रुक्मिण स्त्वेवं श्रुतवतोऽपि नाऽज्ञानं निवृत्तमिति सूचयन्नाह - **प्राणेति**। रुक्मी तु द्विड्भिः शत्रुभिः हतं बलं प्रभा तेजश्च यस्य सः। अत एव प्राणमात्रावशिष्ट स्त्यक्तश्च, वितथो व्यर्थः स्वमनोरथो यस्य सः। आत्मनः स्वस्य विरूपकरणं, कृष्णकर्तृक मिति शेषः। स्मरन् भोजकटाख्यं विपुलं पुरं चक्रे॥ ५१ ॥

तत्रेत्थं सङ्कल्प्याऽवसच्चेत्याह[1-1] - **अहत्वेति**। दुर्मतिः रुक्मी यवीयसीं कनीयसीं कन्यां रुक्मिणीम् अप्रत्यूह्य अनावर्त्य कुण्डिनं पुरं न प्रवेक्ष्यामीति प्रतिज्ञाय रुषा क्रोधेन तत्र भोजकटे न्यवसत्॥ ५२ ॥

**भगवानिति**। पुरं प्रति प्रापय्य यदूद्वहो भगवान् यथाविधि विवाहितवान्॥ ५३ ॥

**तदेति**। तदा उद्वाहदिनेष्वित्यर्थः। नृणाम्[2] उत्सवो बभूव। कथम्भूतानाम्? यदुपतौ कृष्णे अनन्यभावानाम् एकान्तस्नेहानाम्॥ ५४ ॥

**नरा** इति। प्रमृष्टानि निर्मलीकृतानि मणिमयकुण्डलानि येषां यासां च ते ताश्च, वरयोः वरवध्वोः देयं पारिबर्हं मुपस्करम् आनिन्युः॥ ५५ ॥

तात्कालिकीं पुरी[3] मालक्षयति- **सेति**। उत्तभितै रुद्धृत्य प्रतिबद्धै रिन्द्रकेतुभिः ध्वजकेतुविशेषैः विचित्रै र्माल्यादिभिश्च गृहाणां द्वारे द्वारे उपक्लृप्तानि मङ्गलानि लाजाङ्कुरपुष्पप्रकरादीनि[4] तैश्च समन्ता त्पूर्णैः कुम्भैः अगरुधूपैः[5] दीपैश्च सा वृष्णीनां पूरी द्वारका बभौ॥ ५६ ॥

**सिक्तेति**। आहूताः ये प्रेष्ठा[6] भूभुजो नृपा स्तेषां[7] सम्बन्धिभि र्मदोदकं स्रवद्भिः गजै स्सिक्ताः गजमदोदकै स्सिक्ताः इत्यर्थः। ते मार्गाः वीथयो यस्यां सा तथा द्वार्षु परामृष्टा उच्छ्रिताः रम्भाः कदल्यः ताभिः पूगै श्चोपशोभिता अलङ्कृता च बभौ॥ ५७ ॥

**कुर्विति**। सम्भ्रमा दौत्सुक्यात् परितो वीथिषु धावतां सञ्चरतां बन्धूनां मध्ये कुर्वादयो मिथ स्समेत्य मुदं प्रापुः[9]॥ ५८॥

**रुक्मिण्याहरणमिति।** ततस्ततः तत्र तत्र देशेषु गीयमानं रुक्मिण्यानयनात्मकं भगवच्चेष्टितं श्रुत्वा नितरां विस्मिता बभूवुः॥ ५९ ॥

**द्वारकायामिति।** हे राजन्! रमया लक्ष्म्यवताररूपया रुक्मिण्या सहितं श्रियः[10-] पतिं[-10] श्रीकृष्णं दृष्ट्वा पुरवासिनां महान् मोदो बभूव॥ ६० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५४॥

---

1- -1 B सङ्कल्पयामासे० 2 B omits नृणाम् 3 T, W पुर० 4 B कुटकादीनि 5 B °गु० 6 B adds ये 7 T, W श्रे० 8 B adds तेषां 9 B प्राप्ताः 10- -10 T, W omit

**विज०** रुक्मी तत्र किं चकारेति तत्राह- **प्राणेति** ॥ ५१ ॥

अप्रत्यूह्य अनिवर्तयित्वा यवीयसी मनुजाम्॥ ५२, ५३ ॥

यदुपतौ कृष्णे अनन्यभावानां अन्यः शत्रुरिति भावरहितानां निरतिशयभक्तियुक्तानामित्यर्थः॥ ५४, ५५ ॥

उत्तभितेन्द्रकेतुभिः उत्क्षिप्तेन्द्रध्वजैः॥ ५६ ॥

आहूतप्रेष्ठभूभुजां गजैः, जुष्टेति शेषः। वास्तुपरामृष्टा गृहदेवतासंयुक्ता, यद्वा, वास्तुपरामृष्टा त्यक्तरजोगृहा॥ ५७॥

तस्मिन्नगरे परिधावन्तः इतस्ततो धावन्तः॥ ५८ - ६० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
टीकायां चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५४ ॥

(विजयध्वजरीत्या एकोनषष्टितमोऽध्यायः)

---

# पञ्चपञ्चाशोऽध्यायः

(अय मध्यायो विजयध्वजपाठे नोपलभ्यते)

प्रद्युम्नजनन शम्बरवधादि वृत्तान्तः

श्रीशुक उवाच

कामस्तु वासुदेवांशो दग्धः प्राग्रुद्रमन्युना।
देहोपपत्तये भूय स्तमेव प्रत्यपद्यत ॥ १ ॥

स एव जातो वैदर्भ्यां कृष्णवीर्यसमुद्भवः।
प्रद्युम्न इति विख्यातः सर्वतोऽनवमः पितुः ॥ २ ॥

तं शम्बरः कामरूपी हृत्वा तोक मनिर्दशम्।
स विदित्वाऽऽत्मन श्शत्रुं प्रास्योदन्व त्यगाद्गृहम् ॥ ३ ॥

तं निर्जगार बलवान् मीनः सोऽप्यपरै स्सह।
वृतो जालेन महता गृहीतो मत्स्यजीविभिः ॥ ४ ॥

तं शम्बराय कैवर्ता उपाजह्रु रुपायनम्।
सूदा महानसं नीत्वाऽवद्यन्[1] स्वधितिनाऽद्भुतम् ॥ ५ ॥

1 K, MI, V, W °ध्यन्

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पञ्चपञ्चाशत्तमे तु प्रद्युम्नोऽजनि कृष्णतः। शम्बरेण हृत स्सोऽथ हत्वा तं कान्तयाऽगमत् ॥
प्रद्युम्नहानिलाभाद्यैः शम्बराहरणादिना। कुटुम्बिना मपत्यादिसुखदुःख मसूचयत्[1] ॥

**काम** इति। जाम्बवत्यादिविवाहेभ्यः प्रागेव प्रद्युम्नजन्म, ततो विवाहा स्ततः शम्बरागारा[2] त्प्रद्युम्नप्रत्यागमनम्। अतः पुत्रकथनप्रस्तावेऽपि प्रथमं प्रद्युम्नस्य जातमात्रस्य शम्बरेण हरणं निरूप्यते। प्रत्यागमन न्तूत्तरकालिकमपि[3] कथापर्यवसानाय अत्रोक्तमिति। वासुदेवाधिष्ठितचित्तप्रभवत्वा द्वासुदेवांशः सृष्टिहेतुत्वाच्च। देहोपपत्तये देहप्राप्तये॥ १ ॥

स इति। अनवमोऽन्यूनः॥ २ ॥

**तमिति।** सः प्रसिद्धः कामशत्रुः शम्बर स्त मात्मन श्शत्रुं विदित्वा [4]हृत्वा समुद्रे प्रास्य प्रक्षिप्य गृह मगादिति॥ ३॥

**तमिति॥** निर्जगार गिलितवान्॥ ४ ॥

**तमिति।** स्वधितिना शस्त्रिकया, अवद्यन् [5]अवाद्यन् खण्डितवन्तः॥ ५ ॥

---

1 B, J °सुचत् 2 MI, V °गृहात् 3 B, J कालीन० 4 MI, V omit हृत्वा 5 MI, V omit अवाद्यन्

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थं भगवतो रुक्मिणीविवाहः सविस्तर मनुवर्णितः। अथ जाम्बवत्यादिविवाहान् विवक्षु स्तेभ्यः प्रागेव प्रद्युम्नजन्मेति तदनुवर्णयति पञ्चपञ्चाशत्तमेन काम इत्यादिना। यद्यपि शम्बरा[1]गारा त्प्रत्यागमनादिकन्तु विवाहेभ्यः पाश्चात्त्यं, तथाऽपि कथापर्यवसानाय अत्रोक्तमिति द्रष्टव्यम्। **कामस्त्विति।** कामो मन्मथ स्तस्य च वासुदेवांश इति विशेषणेन भाविजन्मप्रभृतिसम्बन्धः कीर्तितः। वासुदेवविभूतित्वाद्वासुदेवांशः। अत एव पुन र्देहोपपत्तये देहसंयोगाय तमेव वासुदेवमेव प्रत्यपद्यतेत्युक्तम्। प्रत्यपद्यत भगवत्तनु माश्रित्याऽवतस्थे इत्यर्थः। अनेन चतुर्व्यूहेषु तृतीयव्यूहविभूतित्व मुच्यते, नामसाम्यञ्च तद्विभूतित्वनिबन्धन मेव॥ १॥

स एव काम एव कृष्णस्य भगवतो वीर्यात् सङ्कल्परूपज्ञानात्मकात् समुद्भवो यस्य सः, वैदर्भ्यां रुक्मिण्यां जातः प्रद्युम्न इति [2]विख्यातोऽभिहितः, सर्वतः सर्वप्रकारेण पितुरनवमोऽन्यून स्तुल्य इत्यर्थः॥ २॥

**तमिति।** स प्रसिद्धः कामशत्रु श्शम्बरः तं प्रद्युम्न मात्मन स्स्वस्य शत्रुं विदित्वा, नारदमुखादिति शेषः। अनिर्दश मनतीतदशाहं तोकं शिशुं कामरूपी सन् हृत्वा उदन्वति समुद्रे प्रास्य क्षिप्त्वा गृहं प्रत्यगात्॥ ३ ॥

तं शिशुं कश्चि द्बलवा न्मीनो मत्स्यो निर्जगार निगीर्णवान्। ततः कदाचि न्मत्स्यजीविभि र्दाशैः, सोऽपि मीनोऽपि अपरै र्मीनैस्सह महता जालेन वृतः आवृतो गृहीतश्च॥ ४ ॥

कैवर्ताः दाशाः, तं महामीनं शम्बरायोपायन मुपाजह्रुः समर्पयामासुः। ततः सूदाः पाचका श्छेत्तारो वा महानसं पाकगृहं प्रति तं मीनं [3]प्रापय्य स्वधितिना शस्त्रविशेषेण [4]अवद्यन् खण्डितवन्तः॥ ५ ॥

---

1 B omits अगारात् 2 T, W, omit वि 3 B प्राप्य 4 K, T, W °ध्यन्

# श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

विजयध्वजतीर्थमते अयमध्याय एव नाऽस्ति अतः अस्य अध्यायस्य (५५) पदरत्नावलीव्याख्या नाऽस्ति।॥

दृष्ट्वा तदुदरे बालं मायावत्यै न्यवेदयन्।
नारदोऽकथय त्सर्वं तस्या श्शङ्कितचेतसः॥
बालस्य तत्त्व मुत्पत्तिंमत्स्योदर निवेशनम्॥ ६ ॥

सा च कामस्य वै पत्नी रति र्नाम यशस्विनी।
पत्यु र्निर्दग्धदेहस्य देहोत्पत्तिं प्रतीक्षती[1]॥ ७ ॥

निरूपिता शम्बरेण सा सूदौदनसाधने[2]।★
कामदेवं शिशुं बुद्ध्वा चक्रे स्नेहं तदाऽर्भके॥ ८ ॥

नातिदीर्घेण कालेन स कार्ष्णी रूढयौवनः।
जनयामास नारीणां वीक्षन्तीनाञ्च विभ्रमम्॥ ९ ॥

सा तं पतिं पद्मदलायतेक्षणं प्रलम्बबाहुं नरलोकसुन्दरम्[3]।
सव्रीडहासोत्तभितभ्रुवेक्षती प्रीत्योपतस्थे रति रङ्ग! सौरतैः॥ १० ॥

1 MI, V निरी० 2 B, G, J सूपौ०; MI, V स सूपौ ★ An additional half verse स च तं सुन्दरवरं विलोक्य मुदिताननां is found in MI, V edns only 3 MI, V °देव०

**श्रीध० दृष्ट्वेति।** तत्त्वं कामोऽयं, तव भर्तेति, उत्पत्तिं श्रीकृष्णा द्रुक्मिण्या मुत्पन्न इति॥ ६ ॥

**सेति।** यशस्विनी पतिव्रता भर्तृदेहप्राप्तिं[1] प्रतीक्षमाणा॥ ७ ॥

**निरूपितेति।** तं शिशुं कामदेवं बुद्ध्वा विज्ञाय[2]॥ ८ ॥

**नेति।** विभ्रमं सम्मोहम्॥ ९ ॥

**सेति।** अङ्ग! हे राजन्! सौरतैर्भावै रुपतस्थेऽभजत्॥ १० ॥

1 MI, V भर्तुः 2 MI, V मत्वा

**वीर०** तदा तस्य मत्स्यस्योदरेऽद्भुतं बालं दृष्ट्वा तं मायावत्यै रत्यै[1] मन्मथपत्न्यै रत्याख्यायै शम्बरेण प्रसह्याऽऽहृत्य महानसे स्थापितायै न्यवेदयन्। कोऽसा वयं बाल इति मम भर्तेव स्थितः, किं वा स एवाऽय मित्येवं शङ्कितं चेतो यस्या स्तथा, मायावत्याः नारदः तत्सर्वं कथयामास। किं तत्सर्वम्, यदकथयत्? तत्राऽऽह- बालस्येति। तत्त्वं याथार्थ्यं[2], काम एवाऽयमि त्येवंविधं, मत्स्योदरनिवेशनादिकञ्चेति सर्वं मकथयत्॥ ६ ॥

**सा चेति**। सा शम्बरेण सूदैः सह ओदनसाधने पाकगृहे निरूपिता सूदानां परिचारकतया स्थापिता मायावती पत्युः कामस्य देहोत्पत्तिं प्रतीक्षमाणा स्थिता सती तं शिशुं नारदमुखात्कामदेवं ज्ञात्वा तस्मि न्नर्भके सदाऽविच्छिन्नं[3] स्नेहं चक्रे॥ ७, ८ ॥

स[4] कार्ष्णिः कृष्णस्याऽपत्यं प्रद्युम्नः नातिदीर्घेणाऽल्पेनैव कालेन रूढं प्राप्तं यौवनं यस्य सः, विभ्रमं सम्मोहं जनयामास॥ ९ ॥

**सेति**। अङ्ग! हे राजन्, सा मायावती तं प्रद्युम्नं रूढयौवनं प्रीत्या सौरतै र्भावै रुपतस्थे अभजत्। कथम्भूता? व्रीडया सहितो यो हासः, तेन उत्तम्भिते भ्रुवौ यस्यास्तया, दृशेति विशेष्यस्याऽध्याहारः[5]। ईक्षती ईक्षमाणा॥ १०॥

1 K, T, W omit रत्यै 2 B °त्म्यं 3 K, T, W, omit सदा 4 K, T, W, omit सः 5 K, T, W °ध्याध्या०

ता माह भगवान् कार्ष्णि र्मति स्ते मतिरन्यथा।
मातृभाव मतिक्रम्य वर्तसे कामिनी यथा॥ ११ ॥

रतिरुवाच

भवा न्नारायणसुतः शम्बरेणाऽऽहृतो[1] गृहात्।
अहं तेऽधिकृता[2] पत्नी रतिः, कामो भवा न्प्रभो॥ १२ ॥

एष त्वाऽनिर्दशं सिन्धौ वक्षिप च्छम्बरोऽसुरः॥
मत्स्योऽग्रसी त्तदुदरा दिह प्राप्तो[4] भवा न्प्रभो॥ १३ ॥

तमिमं जहि दुर्धर्षं दुर्जयं शत्रु मात्मनः।
मायाशतविदं त्वञ्च मायाभि र्मोहनादिभिः॥ १४ ॥

परिशोचति ते माता कुररीव[5-] गतप्रजा[-5]।
पुत्रस्नेहाकुला दीना विवत्सा गौरिवाऽऽतुरा[6]॥ १५ ॥

1 Ml, J °णहृ० 2 K, W दयिता 3 Ml, V, W °धौ प्राक्षि० 4 B, J °दितः 5- -5 K, W कुरङ्गीव हत 6 K, W °र्यथाऽऽतुरा

**श्रीध० भवानिति।** अधिकृता पत्नीत्यत्र हेतुः रति रहं, भवा न्काम इति॥ ११- १३ ॥

**तमिति।** दुर्जयत्वे हेतुः - मायाशतविदमिति। कथन्तर्हि हन्तव्यः? तत्राऽऽह - मायाभिरिति॥ १४ ॥

न चाऽत्र विलम्बः कार्य इत्याह- **परिशोचतीति।** परिशोचति रोदितीत्यर्थः॥ १५ ॥

**वीर०** तथा भगवान्कार्ष्णिः तां मायावतीमाह - उक्तिमेवाऽऽह - मातरिति। हे मातः! तव मति रन्यथा विपरीता बभूव। अन्यथात्वमेव दर्शयति मातृभावमिति। कामिनी पुंश्चली यथा तद्वत्॥ ११ ॥

एव मुक्ता प्राह रतिः - **भवानिति** [1- -1]चतुर्भिः। नारायणस्य श्रीकृष्णस्य सुतः। एवञ्चे त्तद्गृह एव किं न वसामि, इत्यत आह- शम्बरेणेति। गृहा न्नारायणस्य गृहात्। तवाऽहं दयिता प्रियतमा पत्नी॥ १२ ॥

एषः शम्बरोऽसुरोऽनतीतदशाहमेव त्वां समुद्रे पातयामास। हे प्रभो! समर्थ!॥ १३ ॥

त मात्मनश्शत्रुं शम्बरं जहि। दुर्जयत्वे हेतुः- मायाशतविदमिति। कथन्तर्हि हन्तव्यः? तत्राऽऽह-मायाभिरिति। मोहन मादि र्यासां ताभि र्मायाभि र्मयोपदेक्ष्यमाणाभिरिति शेषः॥ १४ ॥

न चाऽत्र विलम्बः कार्य इत्याह - **परिशोचतीति।** तव माता रुक्मिणी हता विनष्टा अदृष्टेति यावत्, प्रजा पुत्रो यस्या स्सा कुरङ्गीव हरिणीव [2]परिशोचति। किञ्च, पुत्रस्नेहेनाऽऽतुरा विवत्सा विनष्टवत्सा अत एवाऽऽतुरा गौ र्यथा, तद्वत्॥ १५ ॥

1- -1 K, T, W omit 2 B, omit परि

**[1]प्रभाष्यैवं ददौ विद्यां प्रद्युम्नाय महात्मने।**
**मायावती महामायां सर्वमायाविनाशनीम्[2]॥ १६ ॥**

**स च शम्बर मभ्येत्य संयुगाय समाह्वयत्।**
**अविषह्यै स्त माक्षेपैः क्षिपन् सञ्जनय न्कलिम्॥ १७ ॥**

**सोऽधिक्षिप्तो दुर्वचोभिः [3]पदाहत इवोरगः।**
**निश्चक्राम गदापाणि रमर्षा त्ताम्रलोचनः॥ १८ ॥**

**गदा माविध्य तरसा प्रद्युम्नाय महात्मने।**
**प्रक्षिप्य न्यनद न्नादं वज्रनिष्पेषनिष्ठुरम्॥ १९ ॥**

**ता मापतन्तीं [4]भगवान् प्रद्युम्नो [5]गदया गदाम्।**
**अपास्य शत्रवे क्रुद्धः प्राहिणो त्स्वगदां [6]नदन्[7]॥ २० ॥**

1 MI, V आ० 2 B, G, J °शि० 3 G, K, W पा० 4 K, W गदया 5 W °म्नस्तरसा 6 MI, V °त्स्वां 7 B, G, J नृप

**श्रीध० गदेति।** वज्रस्य निष्पेषे निर्घाते यथा निष्ठुर स्तीव्रो नादो भवति तथाभूतं नादं व्यनदत्, सामान्य विशेषतया व्याप्यव्यापकत्वभावेन ओदनपाकं पचतीतिवत्; अतिनिष्ठुरं नाद मकरोदित्यर्थः॥ १६- २० ॥

1 B omits ओदन

**वीर० प्रभाष्येति।** सर्वा श्शात्रो स्सम्बन्धिनी र्मायाः विनाशयतीति तथा। तां मायां मोहनादिमायात्मिकां विद्यां ददौ॥ १६॥

ततः स च प्रद्युम्नः संयुगाय युद्धार्थं समाहूतवान्। किं कुर्वन्? सोढु मशक्यै रधिक्षेपै स्तं शम्बरं क्षिपन् परिभवन् कलिं कलहं जनयंश्च॥ १७ ॥

स इति। स शम्बरः पादेन ताडित स्सर्प इव दुर्वचोभि रधिक्षेपै रधिक्षिप्तः अत एव क्रोधा त्ताम्रे लोचने यस्य, गदा पाणै यस्य सः, निश्चक्राम॥ १८ ॥

तरसा बलेन गदा माविध्य भ्रामयित्वा प्रक्षिप्य प्रयुज्य वज्रस्याऽशने निष्पेषे निर्घाते यथा निष्ठुर स्तीव्रो नादो भवति तथाभूतं नादं व्यनद च्चकार। पाकं पचतीतिव दयं निर्देशः॥ १९ ॥

**तामिति।** प्रद्युम्नः स्वगदया तां शम्बरप्रयुक्ता माकाशे आपतन्तीं गदा मपास्य निरस्य स इव स्वयमपि नदन् शत्रवे शम्बराय स्वगदां प्रायुङ्क्त॥ २० ॥

1 B, ततः

स च मायां सामाश्रित्य दैतेयीं मयदर्शिताम्।
मुमुचेऽस्त्रमयं वर्षं कार्ष्णौ वैहायसोऽसुरः॥ २१ ॥

बाध्यमानोऽस्त्रवर्षेण रौक्मिणेयो महारथः।
सत्त्वात्मिकां महाविद्यां सर्वमायोपमर्दिनीम्॥ २२ ॥

ततो गौह्यकगान्धर्व पैशाचौरगराक्षसीः।
प्रायुङ्क्त शतशो दैत्यः कार्ष्णि र्व्यधमय त्स ताः॥ २३ ॥

निशात मसि मुद्यम्य सकिरीटं सकुण्डलम्।
शम्बरस्य शिरः काया त्ताम्रश्मश्रोर्जहार तत्॥ २४ ॥

आकीर्यमाणो दिविजैः स्तुवद्भिः कुसुमोत्करैः।
भार्ययाऽम्बरचारिण्या पुरं नीतो विहायसा॥ २५ ॥

1 MI, V °यां 2 MI, V मुमोचाऽस्त्र; K. W मुमुचेश्म० 3 K, W °श्म० 4 B, G, J, K, V, W चो० 5 K, W °त्स्म० 6- -6 B, G, J श्मश्रोजसाऽहरत्; MI, V श्मश्रु जहार तत् 7 K, W विबुधैः 8 K, W पुरीं

**श्रीध० स** इति। वैहायसः आकाशे स्थितः॥ २१ ॥

**बाध्यमान** इति। सत्त्वात्मिकां सत्त्वगुणमयीं, प्रायुङ्क्ते त्युत्तरस्याऽनुषङ्गः॥ २२ ॥

**तत** इति। ताः मायाः व्यधमयत् व्यनाशयत्॥ २३ ॥

**निशातमिति।** ताम्राणि श्मश्रूणि यस्मिंस्तत्। [1]ओजसा बलेन[-1]॥ २४, २५ ॥

1 - -1 MI, V omit

**वीर०** स च शम्बरः मयेन दैत्यदानवाचार्येण दर्शिता मुपदिष्टां माया मन्तर्धानाद्यात्मिका माश्रित्य वैहायसः आकाशे स्थितः कार्ष्णौ प्रद्युम्ने शिलामयं वर्षं मुमुचे॥ २१ ॥

तदा रौक्मिणेयः प्रद्युम्नः शिलावर्षेण बाध्यमान स्ताडचमानः सत्त्वत्मिकां सत्त्वगुणमयीं [1]मायां महाविद्याख्यां सर्वासुरमायोपघातिनीं प्रायुङ्क्तेत्युत्तरस्याऽपकर्षः॥ २२ ॥

ततः पुनः दैत्यः गुह्यकानांसम्बन्धिनीं तथा गन्धर्वादि सम्बन्धिनीं च मायां प्रायुङ्क्त। कार्ष्णिस्तु तास्सर्वा मायाः व्यधमयत् व्यनाशयत्॥ २३ ॥

ततः निशितं खड्गमुद्धृत्य निर्मायस्य ताम्राणि श्मश्रूणि यस्य तस्य शम्बरस्य काया त्सकिरीटं सकुण्डलञ्च शिरो जहार पातयामासेत्यर्थः॥ २४ ॥

**आकीर्यमाण** इति। स्तुवद्भिः विबुधैः देवैः कर्तृभिः कुसुमोत्करैः कुसुमाञ्जलिभिः कुसुमजालैर्वा आकीर्यमाणः प्रद्युम्नः अम्बरे स्वयं चरति अन्यांश्च चारयति तच्छीला तथा, तया भार्यया कर्त्र्या विहायसा आकाशमार्गेण पुरीं द्वारकां प्रति नीतः॥ २५ ॥

1. K, T, W omit मायां

**अन्तःपुरवरं राजन् ललनाशत[1]सङ्कुलम्।**
**विवेश पत्न्या गगना द्विद्युतेव वलाहकः॥ २६ ॥**

**तं दृष्ट्वा जलदश्यामं पीतकौशेयवाससम्।**
**प्रलम्बबाहुं ताम्राक्षं सुस्मितं रुचिराननम्॥ २७ ॥**

**[2]अलङ्कृतमुखाम्भोजं नीलवक्रालकालि[3]भिः।**
**कृष्णं मत्वा स्त्रियो ह्रीता निलिल्यु स्तत्र तत्र ह॥ २८ ॥**

**अवधार्य शनै रीषद्वैलक्षण्येन योषितः।**
**उपजग्मुः प्रमुदिताः सस्त्रीरत्नं शुचिस्मिताः॥ २९ ॥**

**अथ तत्राऽसितापाङ्गी वैदर्भी वल्गुभाषिणी।**
**अस्मर त्स्वसुतं नष्टं स्नेहस्नुतपयोधरा॥ ३० ॥**

1 K, W रत्न 2 B, G, J, स्वल० 3 B °दि० 4 B, G, J, MI, V सुचि०

**श्रीध० अन्तःपुरेति।** विद्युता सह वलाहको मेघ इव॥ २६, २७ ॥

**अलङ्कृतेति।** नीलाश्च वक्राश्च येऽलका स्त एव अलयः तैः ,ह्रीताः लज्जिताः॥ २८ ॥

**अवधार्येति।** श्रीकृष्णो न भवती त्यवधार्य स्त्रीषु रत्नं श्रेष्ठा रतिः तत्सहितम्॥ २९, ३० ॥

**वीर०** तत्र हे राजन्! ललनाः स्त्रिय एव रत्नानि तैःसङ्कुलम् अन्तःपुरश्रेष्ठं पत्न्या सह प्रविवेश, यथा विद्युता सह वलाहको नीलमेघ स्तद्वत्॥ २६ ॥

**तमिति।** प्रविष्टं प्रद्युम्नं दृष्ट्वा स्त्रियः कृष्णमेव मत्वा लज्जिता स्तत्र तत्र निलिल्युः। कृष्णं मत्वेत्यत्र हेतुं वदन् कृष्णसाधारणै धर्मैर्विशिनष्टि जलदश्याम मित्यादि। प्रलम्बौ दीर्घौ बाहू यस्य तं, नीला वक्राश्च येऽलंकाः, त एवालयः तै रलङ्कृतं मुखुम्भोजं यस्य तम्॥ २७, २८ ॥

तत स्ता योषितः शनै रीषद्वैलक्षण्येन श्रीवत्साद्यभावरूपेणेति भावः। अवधार्य कृष्णो न भवत्ययमिति निश्चित्य स्त्रीरत्नेन सहितं प्रद्युम्न मुपजग्मुः समीप माजग्मुः॥ २९ ॥

**अथ तत्रेति।** वल्गु सुन्दरं यथा तथा भाषते इति तथा सा वैदर्भी रुक्मिणी नष्टं सुत मस्मरत्। स्नेहेन स्नुतौ तरलौ पयोधरौ यस्याः। इत्थं, प्राहेति शेषः॥ ३० ॥

1 T, W °म्बु० 2- -2 T, W omit

**कोन्वयं नरवैदूर्यः कस्य वा कमलेक्षणः।**
**धृतः कया वा जठरे क्वेयं लब्धा त्वनेन वा॥ ३१ ॥**

**ममाऽसा वात्मजो नष्टो नीतो यः स्सूतिकागृहात्।**
**एतत्तुल्यवयोरूपो यदि जीवति कुत्रचित्॥ ३२ ॥**

कथन्त्वनेन सम्प्राप्तं सारूप्यं शार्ङ्गधन्वनः।
आकृत्याऽवयवै र्गत्या स्वरहासावलोकनैः॥ ३३ ॥

स एव वा भवे न्नूनं यो मे गर्भगतोऽर्भकः।
अमुष्मि न्प्रीति रधिका वामः स्फुरति मे भुजः॥ ३४ ॥

एवं मीमांसमानायां वैदर्भ्यां देवकीसुतः।
देवक्यानकदुन्दुभ्या मुत्तमश्लोक आगमत्॥ ३५ ॥

1 MI, V °डू० 2 B, G, J केयं MI. V कया 3 MI, V °ऽथ केन 4- -4 B, G, J, MI, V मम चाऽप्यात्मजो 5 MI, V °ऽयं सू० 6 K, W °काऽऽलयात्
7- -7 K, W स एव भगवा न्नूनं; MI, V स एवाऽसौ भवे न्नूनं 8 B, G, J गर्भे धृ०; MI, V गर्भ धृ० 9 B °याः 10 B °र्भ्याः

**श्रीध०** सुतं स्मरन्त्याह - **को न्वयमिति**। नरवैदूर्यः पुरुषश्रेष्ठः॥ ३१ ॥

एतेन तुल्यं वयो रूपञ्च यस्य स भवे दिति॥ ३२ ॥

तस्य स्वपुत्रत्वं सम्भावय न्त्याह - **कथन्त्विति**॥ ३३ ॥

तदेवाऽधिकं सम्भावयति, **स एवेति**॥ ३४ ॥

**एवमिति**। देवक्यानकदुन्दुभ्यां देवक्यानकदुन्दुभिभ्या मित्यर्थः॥ ३५

1 MI, V °डू० 2 MI, V नर

**वीर०** उक्तिमेवाह - **कोन्विति पञ्चभिः**। अयं नर एव वैदूर्यः पुरुषरत्न मित्यर्थः। को नु को वा कस्य वा सम्बन्धी पुत्र इति यावत्। कया स्त्रिया जठरे धृतः कस्याः पुत्र इत्यर्थः। अनेनेयं स्त्री क लब्धा॥ ३१॥

योऽसौ ममाऽऽत्मजः सूतिकागृहा न्नीतो नष्टोऽदृष्टश्च स एवाऽयं किं वेत्यर्थः। एतेन तुल्यं वयो रूपञ्च यस्य सोऽस्मत्पुत्रः क्वचि द्यदि जीवति किं वा जीवति॥ ३२॥

तस्य स्वपुत्रत्वं सम्भावय न्त्याह - **कथमिति**॥ ३३॥

निश्चिनोति। **स एवेति**। यो भगवान् कृष्णांशभूतो मम गर्भगतस्स एवाऽयं, नूनं ध्रुवम्। स एवाऽयं, भवेदिति पाठान्तरम्। तत्र हेतुः- अमुष्मिन् अस्मिन् मम प्रीति रधिका भवति, मम वामो भुजश्च स्फुरति सञ्चलति, अन्यथैत न्न घटेतेति भावः॥ ३४॥

इत्थं वैदर्भ्यां मीमांसमानायां तर्कयन्त्यां सत्या मुत्तमश्लोको भगवा न्देवकीवसुदेवाभ्यां सह तत्राऽऽजगाम॥ ३५॥

1 B °नः 2 -- 2 B omits

विज्ञातार्थोऽपि भगवां स्तूष्णीमास जनार्दनः।
नारदोऽकथय त्सर्वं शम्बराहरणादिकम्॥ ३६ ॥

तच्छ्रुत्वा महदाश्चर्यं कृष्णान्तःपुरयोषितः।
अभ्यनन्द न्बहू नब्दा न्नष्टं पुनरिवाऽऽगतम्॥ ३७ ॥

देवकी वसुदेवश्च कृष्णरामौ तथा स्त्रियः।
दम्पती तौ परिष्वज्य रुक्मिणी च ययु र्मुदम्॥ ३८ ॥

नष्टं प्रद्युम्न मायातं माकर्ण्य द्वारकौकसः।
अहो मृत इवाऽऽयातो बालो दिष्ट्येति चाऽब्रुवन्॥ ३९ ॥

यं वै मुहुः पितृसरूपनिजेशभावा स्तन्मातरो य दभज न्रह ऊढभावाः।
चित्रं न तत्खलु रमास्पदबिम्बबिम्बे कामे स्मरेऽक्षिविषये किमुताऽन्यनार्यः॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
प्रद्युम्नोत्पत्तिनिरूपणं नाम पञ्चपञ्चाशोऽध्यायः॥ ५५ ॥

1 B, G, J मृतमिवा०; MI, V पुनरिहा० 2 MI, V °न्त० 3 K, W °हाऽऽ० 4 B, G, J °हाऽ० 5 B, G, J रूढ

**श्रीध०** अतिसौन्दर्येण प्रद्युम्नं वर्णयति **यमिति**। पिता श्रीकृष्ण स्तत्सरूपे सदृशे प्रद्युम्ने निज आत्मीय ईशो भर्तेति भावो भावना यासां ताःतन्मातरः कृष्णपत्न्योऽपि रहसि ऊढभावास्सत्यः य मभज न्निति यत् त न्न खलु चित्रम्। कथं सति स्मरे स्मर्यमाणत्वेनैव क्षोभके कामेऽक्षिविषये सति। किञ्च रमास्पदं श्रीकृष्ण स्तस्य बिम्बं श्रीमूर्तिःतस्य बिम्बे प्रतिबिम्बे पुत्रे। तदा किन्नु वक्तव्य मन्यनार्यो भेजुः इति॥ ३६- ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
पञ्चपञ्चाशोऽध्यायः॥ ५५ ॥

1 MI, V add अनु 2 MI, V omit सदृशे 3 B, J निरूढ 4 MI, V तस्मिन् 5 MI, V बिम्बः 6 MI, V किमु 7 MI, V भजेयुः

**वीर०** विज्ञातोऽध्यवसितः अर्थः इतरसंशयविषयीभूतोऽर्थो येन तथाभूतोऽपि तूष्णीमास। तदा नारदः शम्बराहरणादिकं सर्वमकथयत्॥ ३६ ॥

त न्नारदकथितं महदाश्चर्यं श्रुत्वा कृष्णान्तःपुरस्त्रियो देवक्यादयश्च मृतं प्रेतं[1] पुत्रं[2] पुनरागतमिव बहू नब्दान् वत्सरान् नष्टमदृष्टं[3-] सम्प्रति दृष्टं[-3], दृष्ट्वेति शेषः, अभ्यनन्दन्॥ ३७ ॥

तौ दम्पती देवकीवसुदेवौ रुक्मिणी च परिष्वज्य, प्रद्युम्नमिति शेषः। नष्टं प्रद्युम्न मायात मित्यस्य अपकर्षो वा। मुदं ययुः॥ ३८ ॥

**नष्टमिति**। द्वारकौकसो द्वारकावस्थायिनो जना इत्थ मब्रुवन्। किमिति? अहो मृतो बालः पुन रिहाऽऽयातः दिष्ट्या! अय मानन्द इति॥ ३९ ॥

सौन्दर्यातिशयेन प्रद्युम्नं वर्णयति- **यमिति**। पिता श्रीकृष्णः तत्सरूपतया निज आत्मीय ईशः भर्तेति भावो भावना यासां ताः, पितृसारूप्या न्निजभर्तृबुद्धिसहिता इत्यर्थः। तन्मातरः श्रीकृष्णपत्न्यो रहसि निरूढभावा स्सत्यः। य मभज न्निति यत्, त न्न खलु चित्रम्। "तन्मातरो मनसिजार्द्रदृशो बभूवुः" इति पाठे ताः कृष्णपत्न्यः यं प्रद्युम्नं, दृष्ट्वेति शेषः। कामवशात् स्निग्धदृष्ट्योऽभव न्निति यत् नैतच्चित्र मिति सम्बन्धः। स्मरे स्मर्यमाणत्वेनैव क्षोभके कामेऽक्षिविषये सति। किञ्च, रमाया आस्पदं श्रीकृष्णः, तस्य बिम्बं मूर्तिः तस्य बिम्बे प्रतिबिम्बे भगवद्विग्रहसदृशे पुत्रे सतीत्यर्थः। तत् किमु वक्तव्यं य दन्या नार्यो भजेयुरिति॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
व्याख्यायां पञ्चपञ्चाशोऽध्यायः॥ ५५ ॥

1 K, T, W omit प्रेतं 2 B omits पुत्रं 3- -3 K, T, W omit

# षट्पञ्चाशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या षष्टितमोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

सत्राजितः[1-] स्वतनयां[-1] कृष्णाय कृतकिल्बिषः।
स्यमन्तकेन मणिना स्वय मुद्यम्य दत्तवान्॥ १ ॥

राजोवाच

सत्राजितः किमकरोद्ब्रह्मन् कृष्णस्य किल्बिषम्।
स्यमन्तकः कुत स्तस्य कस्मा द्दत्ता सुता हरेः॥ २ ॥

श्रीशुक उवाच

आसी त्सत्राजित स्सूर्य[2-] भक्तस्य[-2] परम स्सखा[3]।
प्रीत स्तस्मै मणिं प्रादा त्सूर्य स्तुष्टः स्यमन्तकम्॥ ३

स तं बिभ्र न्मणिं कण्ठे भ्राजमानो यथा रविः।
प्रविष्टो द्वारकां राजन् तेजसा नोपलक्षितः॥ ४ ॥

तं विलोक्य जना दूरा त्तेजसा मुष्टदृष्टयः।
दीव्यतेऽक्षै र्भगवते शशंसु स्सूर्यशङ्किताः॥ ५ ॥

1- -1 M. Ma °जि त्तनयां तन्वीं 2- -2 K. W र्य भक्तश्च 3 K, W °दा

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

षट्पञ्चाशत्तमे मिथ्याऽभियोगे मणि माहरत्। कन्यां जाम्बवतः प्राप कृष्णः सत्राजित स्तत

पुत्रादिकामसौख्यस्य निष्ठा मुक्त्वाऽतिचञ्चलाम्। अर्भस्याऽनर्थता माह स्यमन्तहरणादिना।[1]

सत्यभामाजाम्बवत्यो र्विवाहप्रस्तावाय स्यमन्तकाख्यान माह - **सत्राजित** इति। सत्राजित इत्यकारान्तः, क्वचिच्च तकारान्तोऽप्यन्वयानुसारेण द्रष्टव्यः। कृतापराध स्तच्छान्तये स्वय मेवोद्यमं कृत्वा मणिना सह प्रादादिति॥ १, २ ॥

**आसीदिति**। भक्तस्य सत्राजितः सूर्यः स्वाम्यपि सखेवाऽऽसी दित्यर्थः। स च तुष्टः तस्मै स्यमन्तकं नाम मणिं प्रादात्, प्रीतः स्निग्धः॥ ३ ॥

**स इति**। नोपलक्षितः सत्राजितोऽसा विति अविज्ञातः[2]॥ ४ ॥

**तमिति**। दीव्यते क्रीडते सूर्योऽय मिति शङ्किता स्सन्तः कथयामासुरिति॥ ५ ॥

1 MI, V °न्ता० 2 MI, V न ज्ञातः

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ सत्यभामाजाम्बवत्यो र्विवाहं वर्णयितुकाम स्तद्विस्तरपिपृच्छिषा मुत्पादयितु माह- **सत्राजित** इति। सत्राजित इत्यकारान्तः, क्वचित्तकारान्तोऽपि अन्वयानुसारेण द्रष्टव्यः। तत्राकारान्तः कर्तरि क्तान्तः सत्रेणाऽऽसमन्ता ज्जितः जितवान् सर्वोत्कर्षेण वर्तितवा निति तथा। स च ताव त्कृतं किल्बिष मपराधो येन तथाभूतः स्यमन्तकाख्येन मणिना सह स्वतनयां सत्यभामां कृष्णायोद्यम्योद्धृत्य ददौ॥ १ ॥

तत्र लब्धप्रश्नावसरः पृच्छति राजा- **सत्राजित** इति। हे ब्रह्मन्, ताव त्सत्राजि त्किं किल्बिष मपराध मकरोत्, तस्य सत्राजितस्य स्यमन्तकः कुतः कस्मा लुब्धः। कस्माद्धेतोः सुता च हरे र्हरये दत्ता॥ २ ॥

इति पृष्टः सविस्तर मनुवर्णयितुं ताव दुपोद्घात माह **आसीदिति**। सत्राजिताख्यः कश्चिद्राजा सदा परमः सूर्यभक्तः आसीत्। सूर्य स्तुष्टः, भक्त्येति शेषः। तस्मै सत्राजिताय स्यमन्तकाख्यं मणिं ददौ॥ ३ ॥

स सत्राजित स्तं मणिं कण्ठे बिभ्राणः रविरिव भ्राजमानः हे राजन्, मणितेजसा अनुपलक्षितशरीरो द्वारकां प्रविष्टः॥ ४ ॥

तं प्रविष्ट मवलोक्य जनाः दूरादेव तस्य तेजसा मुष्टा अपहृता अभिभूता दृष्टयो येषां ते सूर्योऽयमिति शङ्किता स्सन्तः अक्षै र्दीव्यते क्रीडां कुर्वाणाय भगवते श्रीकृष्णाय शशंसुः कथयामासुः॥ ५ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

त्रिविक्रमावतारस्य निरपेक्षभक्तानुकम्पिनो यदुनन्दनस्य एतज्जन्मानुष्ठितकर्मनिमित्त दुर्यशश्शमनहेतु विक्रम मनुक्रामति-अस्मिन्नध्याये। तत्र परीक्षितः प्रश्नबीज मुत्थापयति - **सत्राजिदिति**। सत्रेण हिरण्यादिदानलक्षणतपसा सूर्यस्थितं

हरिं जितवा न्वशीकृतवा नित्यतः सत्राजिदिति नाम लब्धवान्। "यज्ञभेदे सदादाने सत्र माच्छादने वने" (अम०.को 3-336) इति। कृतकिल्बिषः कृतापराधः मणिना सह स्वयमुद्यम्य याचनादिपरप्रेरणामन्तरेण मत्कन्यां तुभ्यं दास्यामीति वचनादि प्रयत्नं विधाय। सत्राजितोऽन्तरात्मा सत्रविषये अजित इति वा॥ १, २ ॥

भक्तस्य सत्राजितः सखा॥ ३ ॥

तेजसाऽर्चिषा नोपलक्षितो न दृष्टः॥ ४ ॥

अक्षै र्देवनाङ्गै र्दीव्यते द्यूतक्रीडां कुर्वते॥ ५ ॥

**नारायण नमस्तेऽस्तु शङ्खचक्रगदाधर।**
**दामोदरारविन्दाक्ष, गोविन्द यदुनन्दन॥ ६ ॥**

**एष आयाति सविता त्वां दिदृक्षु र्जगत्पते।**
**मुष्ण न्गभस्तिचक्रेण नृणां[1] चक्षूंषि तिग्मगुः[2]॥ ७ ॥**

**[3-]नन्वन्विच्छन्ति[-3] ते मार्गं त्रिलोक्यां विबुधर्षभाः।**
**ज्ञात्वाऽद्य गूढं यदुषु द्रष्टुं त्वाऽऽया[4] त्यजः प्रभो॥ ८ ॥**

**श्रीशुकः (श्रीकृष्णः)**

**निशम्य बालवचनं प्रहस्याऽम्बुजलोचनः।**
**प्राह नाऽसौ रवि र्देवः सत्राजि न्मणिना ज्वलन्॥ ९ ॥**

**[5-]श्रीशुक उवाच[-5]**

**सत्राजि त्स्वगृहं श्रीमं[6] त्कृतकौतुकमङ्गलम्।**
**प्रविश्य देवसदने मणिं विप्रै र्न्यवेशयत्॥ १० ॥**

1 Ml, V नृ० 2 M, Ma °रुक् 3- -3 K, W अन्विच्छन्ति हि 4 G, J, M, Ma त्वां या० 5- -5 G, J, M, Ma, Ml, V omit 6 K, W °मान् कृ०

**श्रीध० नारायणेति।** सूर्यं नमस्कारार्थं मागतं कल्पयि त्वोद्रिक्तभक्तीनां सम्बोधनानि नारायणेत्यादीनि॥ ६॥

**एष** इति। गभस्तिचक्रेण रश्मिजालेन मुष्णन् प्रतिघ्नन् तिग्माः तीक्ष्णाः गावो रश्मयो यस्य सः॥ ७ ॥

न चेद मघटमान मित्याहुः- **नन्विति** अन्विच्छन्ति मृगयन्ते, अजः सूर्यः॥ ८ ॥

**निशम्येति।** बालाना मज्ञानां वचनं, ज्वलन् विद्योतमानः॥ ९ ॥

**सत्राजिदिति।** कृतानि कौतुकेन उत्सवेन मङ्गलानि यस्मिं स्तत्। विप्रैः कृत्वा॥ १० ॥

**वीर०** नमस्कर्तु मागतं सूर्यं सम्भाव्य भक्त्युद्रेकेण भगवन्तं सम्बोधयन्ति नारायणेति॥ ६ ॥

**एष** इति। एष इत्यागच्छतो रूपप्रदर्शनपरं, सविता[1] सूर्य स्त्वां द्रष्टुमिच्छुः। हे जगत्पते, आयाति। कथम्भूतः? तिग्माः तीक्ष्णाः[2] गावो रश्मयो यस्य सः गभस्तिचक्रेण रश्मिजालेन नृणां चक्षूंषि मुष्णन् प्रतिघ्नन्॥ ७ ॥

न चेत दघटमान मित्याहुः- **अन्विच्छन्तिहीति।** विबुधर्षभा देवश्रेष्ठा स्त्रिलोक्यां तव मार्ग मन्विच्छन्ति अन्वेषयन्ति, त्वं यद्रूपगुणकर्मकः तथाभूतं त्वां द्रष्टु मिच्छन्तीत्यर्थः। अतोऽधुना यदुषु गूढं गृहीतयदुवेषं त्वां ज्ञात्वा हे प्रभो, अजः सूर्यःआयाति॥ ८ ॥

**निशम्येति।** बालाना मागच्छतो याथात्म्यानभिज्ञानां वचन माकर्ण्य प्रहस्याऽऽह[3] - नासाविति। असावागच्छन्न देवो रवि स्सूर्यः, किन्तु सत्राजित्। कुत स्तस्येदृशं तेज इत्यतो विशिनष्टि मणिना स्यमन्तकेन ज्वलन् विद्योतमान आयाति॥ ९ ॥

कीदृश स्तस्य मणेः प्रभाव इति जिज्ञासुं राजानं प्रत्याह मुनिः- **सत्राजिदिति।** अस्य 'सूर्याल्लब्धमणिः' इत्यादिः। श्रीमान् भाग्यवान् सत्राजित् कृतानि कौतुकेनोत्सवेन मङ्गलानि यस्मिं स्तत् स्वगृहं प्रविश्य देवसदने[4-] विप्रैः प्रयोज्यकर्तृभिः[-4] मणिं न्यवेशयत्॥ १० ॥

1 K, T, W omit सविता 2 B तीव्राः 3 B adds उक्तिमाह 4- -4 B देवतागृहे

**विज०** गभस्तिचक्रेण रश्मिमण्डलेन तिग्मरुक् सूर्यः॥ ६, ७ ॥

विबुधर्षभाः देवश्रेष्ठाः त्रिलोक्यां ते मार्ग मन्विच्छन्ति मृगयन्ते। ननु ते ष्वज स्सूर्यः अद्य यदुषु गुह्यं ज्ञात्वा द्रष्टुं या त्यायाति ,"अजाय लेकत्रयभावनाय" इति वचनात्॥ ८,९ ॥

गृहे देवसदने देवस्थाने न्यवेशयत् प्रतिष्ठितवान्। १० ॥

**दिने दिने स्वर्णभारा नष्टौ स सृजति प्रभो।**
**दुर्भिक्षमार्यरिष्टानि सर्वाधिव्याधयोऽशुभाः[1]॥**
**न सन्ति मायिन स्तत्र यत्राऽऽस्तेऽभ्यर्चितो[2-] मणिः[-2]॥ ११ ॥**

स याचितो मणिं[3] क्वाऽपि यदुराजाय शौरिणा।
नैवार्थकामुकः प्रादा द्याच्ञाभङ्ग मतर्कयन्[4]॥ १२ ॥

-: जाम्बवतः स्यमन्तकप्राप्तिः, मण्यर्थे नागरैस्सह भगवतो वनगमनञ्च :-

त मेकदा मणिं कण्ठे प्रतिमुच्य महाप्रभम्।
प्रसेनो हय मारुह्य मृगयां व्यचर द्वने॥ १३ ॥

प्रसेनं सहयं हत्वा मणि माच्छिद्य केसरी।
गिरिं[5] विशन् जाम्बवता निहतो मणि मिच्छता॥ १४ ॥

सोऽपि चक्रे कुमारस्य मणिं क्रीडनकं बिले।
अपश्य न्भ्रातरं भ्राता सत्राजि त्पर्यतप्यत॥ १५ ॥

1 B, G, J सर्पाऽधि०; M. Ma सर्पेऽपि 2- -2 M, Ma यद्राष्ट्रे 3 M, Ma मणिः 4 M, Ma °त् 5 M, Ma बिलं

**श्रीध० दिने दिन इति।** भारप्रमाणञ्च- "चतुर्भि र्व्रीहिभि र्गुञ्जं गुञ्जान्पञ्च पणं पणान्। अष्टौ धरण मष्टौ च कर्षं तांश्चतुरः पलम्। तुलां पलशतं प्राहु र्भारः स्या द्विंशति स्तुलाः" इति। मारीनामाऽकालमृत्युः। अरिष्ट मभद्रम्। अशुभा दुःखहेतवः॥ ११ ॥

**स इति।** क्वाऽपि कदाचि दनेन भगव त्यसमर्प्य स्वय मग्रभोजिनः सर्वानिष्टनिवर्तकम प्यनिष्टहेतुरेव भवतीति सूचितम्॥ १२॥

तदेव दर्शयितु माह **तमेकदेति।** प्रतिमुच्य बद्ध्वा प्रसेनः सत्राजिद्भ्राता॥ १३ ॥

**प्रसेनमिति।** आच्छिद्य आकृष्य गृहीत्वा॥ १४, १५ ॥

**वीर०** स च मणिर्हि प्रभो राजन्, प्रतिदिन मष्टौ स्वर्णभारान् सृजति असूत, भारः प्रमाणविशेषः। तथा हि-"चतुर्भि र्व्रीहिभि र्गुञ्जं गुञ्जान् पञ्च पणं पणान्। अष्टौ धरण मष्टौ तान् कर्षं तांश्चतुरः पलम्। तुलां[1] पलशतं प्राहुः भारः स्यार्द्विंशति स्तुलाः।" इति॥ किञ्च, दुर्भिक्षेति। मारी नाम अकालमृत्युः। अरिष्ट मभद्रम्। अशुभाः दुःखहेतवः, आधिः मनःपीडा, व्याधयो रोगाः। मायिनो वञ्चका श्चोरा इति यावत्। यस्मि न्राज्ये स मणि रर्चितः स्या त्तत्र कदाचिदपि दर्भिक्षादयो न सन्ति स्म[2]॥ ११ ॥

क्वाऽपि कदाचित् यदुराजाय उग्रसेनार्थं शौरिणा मणिं प्रति[3] याचितोऽपि स सत्राजित् अर्थकामुकः, हेतुगर्भ मिदम्। तत्त्वात्, याच्ञाभङ्ग[4-] याच्ञावैयर्थ्यं[-4] अविचारयन्[5] नैव ददौ॥ १२ ॥

एवं स्थिते, महती प्रभा दीप्ति र्यस्य तं मणि मेकदा प्रसेनः सत्राजिद्भ्राता कण्ठे प्रतिमुच्य बद्ध्वा अश्व मारुह्य वने मृगयां व्यचरत्॥ १३ ॥

तदा कश्चि त्केसरी सिंहः साश्वं प्रसेनं हत्वा मणि माच्छिद्याऽऽकृष्य गृहीत्वा गिरिं प्रविशन् आत्मानं दृष्टवता मणि मिच्छता जाम्बवता ऋक्षराजेन हतः॥ १४ ॥

सोऽपि जाम्बवानपि बिले स्वनिवासभूते गिरिबिले तं मणिं स्वकुमारस्य क्रीडनकं क्रीडासाधनं चक्रे। भ्राता सत्राजित् भ्रातरं प्रसेनं मणिञ्चाऽपश्यन् पर्यतप्यत परितप्याऽऽहेत्यर्थः॥ १५ ॥

1 B omits अशुभाः 2 B omits स्म 3 K, T, W omit प्रति 4- -4 K omits 5 B, T, W add एव

**विजं०** पञ्चविंशतितुलात्मको भारः, ता नष्टौ भारान् सृजति ददाति। मारी अकालमृत्युः। अरिष्टं मृत्युचिह्नम्॥ ११ ॥

क्वाऽपि कदाचित्। अतर्कयत् अनिरूपयत्॥ १२ ॥

प्रतिमुच्य बद्ध्वा॥ १३ ॥

आच्छिद्य स्वीकृत्य॥ १४ ॥

क्रीडनकं लीलासाधनम्॥ १५ ॥

**प्रायः कृष्णेन निहतो मणिग्रीवो वनं गतः।**
**भ्राता ममेति तच्छ्रुत्वा कर्णे कर्णेऽजपञ्जनाः॥ १६ ॥**

**भगवां स्तदुपश्रुत्य दुर्यशो लिप्त मात्मनि।**
**मार्ष्टुं प्रसेनपदवी मन्वपद्यत नागरैः॥ १७ ॥**

**हतं प्रसेन मश्वञ्च वीक्ष्य केसरिणा वने।**
**तञ्चाऽद्रिपृष्ठे निहत मृक्षेण ददृशु र्जनाः॥ १८ ॥**

**- भगवतः स्यमन्तकार्थे जाम्बवता सह युद्धम्-**
**ऋक्षराजबिलं भीम मन्धेन तमसाऽऽवृतम्।**
**एको विवेश भगवा नवस्थाप्य बहिः प्रजाः॥ १९ ॥**

तत्र दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं बालक्रीडनकं कृतम्।
हर्तुं कृतमति स्तस्मि न्नवतस्थेऽर्भकान्तिके॥ २० ॥

1 K, W °पज्जनः 2- -2 MI, V °नं साश्वञ्च

**श्रीध० प्रायः**इति। अजपन् उपांशु अवोचन्॥ १६-२० ॥

**वीर०** उक्तिमेवाऽऽह - **प्राय** इति। मणिः ग्रीवायां यस्य सः मम भ्राता वनं प्रति गतः, तत्र प्रायो बहुधा, ध्रुवमिति यावत्, श्रीकृष्णेनैव हतः। इत्येत द्वचो जनः श्रुत्वा कर्णे कर्णे अजपत् उपांश्ववोचत्॥ १६ ॥

क्रमेण भगवानपि तद्वच आकर्ण्य आत्मनि स्वस्मिन् दुर्यशोलिप्तं, भावेक्तः, दुर्यशोलेपं प्रमार्ष्टुं अपोहितुं नागरै र्जनैस्सह प्रसेनपदवी मन्वपद्यत अन्वगच्छत्॥ १७ ॥

**हतमिति।** तं[1] केसरिणश्चाऽद्रिपृष्ठे ऋक्षेण जाम्बवता निहतं ददृशुः॥ १८॥

**ऋक्षराजबिलमिति।** तत स्तत्र बिलद्वारे प्रजाः नागरा अनान् अवस्थाप्य भगवा नेकोऽसहाय एव तद्बिलं प्रविवेश॥ १९॥

**तत्रेति।** तत्र बिले क्रीडनकं क्रीडासाधनं यथा तथा कृतं मणिश्रेष्ठं दृष्ट्वा हर्तुं कृता निश्चिता मति र्येन सः, तस्मिन् अर्भकसमीपे अवतस्थे॥ २० ॥

1 B omits तं

**विज०** शौरे र्याच्ञाभङ्गदोषा दिद मनर्थजात मभूत्, अन्यथा मणिमाहात्म्यस्तवनं व्यर्थ मिति तात्पर्यमवगन्तव्यम्। मणिः ग्रीवायां यस्य स तथा। मम भ्राता कृष्णेन निहत इति यत् तच्छ्रुत्वा॥ १६-१७ ॥

ऋक्षेण जाम्बवता॥ १८-२० ॥

तमपूर्वं नरं दृष्ट्वा धात्री चुक्रोश भीतवत्।
तच्छ्रुत्वाऽभ्यद्रव त्क्रुद्धो जाम्बवा न्बलिनां वरः॥ २१ ॥

स वै भगवता तेन युयुधे स्वामिनाऽऽत्मनः।
पुरुषं प्राकृतं मत्वा कुपितो नाऽनुभाववित्॥ २२ ॥

द्वन्द्वयुद्धं सुतुमल मुभयो र्विजिगीषतोः।
आयुधाश्मद्रुमै र्दोर्भिः क्रव्यार्थे श्येनयोरिव॥ २३ ॥

आसी त्तदष्टाविंशाह मितरेतरमुष्टिभिः।
वज्रनिष्पेषपरुषै रविश्रम महर्निशम्॥ २४ ॥

1-
कृष्णस्य मुष्टिनिष्पातैः निष्पिष्टाङ्गोरुबन्धनः।
-1
क्षीणसत्त्वः स्विन्नगात्र स्त माहाऽतीव विस्मितः॥ २५ ॥

1- -1 B, G, J, M, Ma कृष्णमुष्टिविनिष्पात; K, W श्रीकृष्णमुष्टिनिर्घात

**श्रीध० द्वन्द्वेति**। क्रव्यार्थे आमिषार्थे॥ २१-२३ ॥

**आसीदिति**। अष्टाविंशाहम्, अष्ट च विंशतिश्च अहानि दिनानि यस्मिंस्तत् अष्टाविंशाहम्। विंशतिशब्दे तिलोप आर्षः। वज्रस्य निष्पेषो निर्घातः तद्व त्परुषै र्निष्ठुरैः॥ २४ ॥

**कृष्णस्येति**। श्रीकृष्णस्य मुष्टीनां विनिष्पातैः आघातैः निष्पिष्टानि श्लथानि अङ्गाना मुरूणि बन्धनानि सन्धिस्थानानि यस्य सः॥ २५ ॥

1 MI, V omit दिनानि 2 MI, V °शत्यहम् 3 MI, V omit वि 4 MI, V add वि० 5 MI, V add वि०

**वीर० तमिति**। त मुपस्थित मदृष्टपूर्वं नरं दृष्ट्वा भीतव द्धात्री उपमाता चुक्रोश। तच्छ्रुत्वेति तदाक्रोशनम्, अभ्यद्रवत् अभ्यधावत्॥ २१ ॥

स वै जाम्बवान् नाऽनुभाववित् भगवत्प्रभाव मजानन् अत एव तं केवलं प्राकृतं लौकिकं पुरुषमेव मत्वा आत्मनः स्वस्य स्वामिनाऽपि तेन भगवता सह युयुधे अयुध्यत॥ २२ ॥

**द्वन्द्वयुद्धमिति**। विजिगीषतो र्जेतुमिच्छतो र्दोर्भि र्भुजैः यथा क्रव्यार्थे आमिषार्थे श्येनयो र्युद्धं भवति तद्वत्॥ २३॥

**आसीदिति**। इतरेतरयो रन्योन्ययो र्मुष्टिभि र्वज्रनिष्पेषो वज्रनिर्घात स्तद्वत् निष्ठुरै स्तद् द्वन्द्वयुद्धम्, न विद्यते विश्रमो यस्मिन् तद्यथा तथा अहर्निश मष्टाविंशतिदिना न्यासीत्॥ २४ ॥

**श्रीकृष्णेति**। श्रीकृष्णस्य मुष्टीनां निर्घातै र्निष्पातै र्निष्पिष्टानि विश्लथा न्यङ्गानि उरूणि बन्धनानि सन्धिस्थानानि यस्य सः अत एव क्षीणबलः अत एव स्विन्नं प्रस्वेदयुक्तं गात्रं यस्य सः। कदाऽपि मद्बलविनाशो न दृष्टः। अहो! अधुना मृतप्रायोऽभव मित्येव मतीव विस्मितः॥ २५ ॥

**विज०** अविश्रमम् निरन्तरम्॥ २१- २५ ॥

: जाम्बवत्कृतकृष्णस्तुतिः; मणिना सह जाम्बवतीप्राप्तिश्च

जाने त्वां सर्वभूतानां प्राण[1] मोज स्सहो बलम्।
विष्णुं पुराणपुरुषं प्रभविष्णु मधीश्वरम्॥ २६ ॥

त्वं हि विश्वसृजां स्रष्टा सृज्याना[2-] मपि यच्च सत्[-2]
कालः कलयता मीशः परमात्मा[3] तथाऽऽत्मनाम्॥ २७ ॥

य स्येषदुत्कलितरोषकटाक्षमोक्षै
र्वर्त्माऽदिश न्क्षुभितनक्रतिमिङ्गिलोऽब्धिः।
सेतुः कृत स्स्वयशसोज्ज्वलिता[4] च लङ्का
रक्षश्शिरांसि भुवि पेतु रिषुक्षतानि॥ २८ ॥

इति विज्ञातविज्ञान मृक्षराजानमच्युतः।
व्याजहार महाराज! भगवा न्देवकीसुतः॥ २९ ॥

अभिमृश्याऽरविन्दाक्षः पाणिना शङ्करेण तम्[5]।
कृपया[6-] परया[-6] भक्तं मेघगम्भीरया[7] गिरा॥ ३० ॥

1 B, G, J, M, Ma, Ml, V °ण ओ० 2- -2 M, Ma सृष्टाना मधिपो वसन् 3 B, G, J, M, Ma, Ml, V पर आत्मा 4 B, G, J, M, Ma, Ml, V यश उज्ज्वलिता 5. Ml.V तु 6- -6 Ml, V तमाह कृपया 7 B, G, J प्रेम

**श्रीध०** लोके को वाऽयं मत्तो बलीया निति विस्मितस्सन् विमृश्याऽऽह - **जाने** इति। सर्वभूतानां यः प्राणः तत्र च यदोजः सहो बलञ्च इन्द्रियहृदयदेहबलानि तत्सर्वं त्व मित्यहं जाने। कथं तथा त्वमतआह- विष्णु मित्यादि॥ २६॥

**त्वमिति**। पुराणत्वे हेतुः **त्वं हीति**। स्रष्टा निमित्तम्। यच्च सत् उपादानम्। अतः पुराणम्[1]। प्रभविष्णुत्वे हेतुः काल इति। अधीश्वर[2] स्त्वम प्यत एवेत्याह - ईशः पर इति। न च तटस्थ इत्याह आत्मना मात्मेति॥ २७ ॥

यत एवम्भूतोऽतो ममेष्टदैवतं[3] रघुनाथ एव त्व मित्याह **यस्येति**। ईषदुत्कलित उद्दीपितो यो रोष स्तेन ये कटाक्षमोक्षा स्तैः क्षुभिता नक्रा ग्राहा स्तिमिङ्गिला महामत्स्याश्च यस्मिन् सोऽब्धि र्वर्त्म मार्ग[4] मादिशत् दत्तवान्। तथाऽपि[5] तस्मिन्[6-] येन त्वया[-6] स्व यश एव सेतुः कृतः, उज्ज्वलिता दग्धा च, यस्येषुभिः क्षतानि छिन्नानि रक्षसो दशग्रीवस्य शिरांसि भुवि पेतुः स एव त्वमिति जाने॥ २८ ॥

**इतीति**। इति विज्ञातं विज्ञानं येन तम्। विज्ञानशब्दः करणसाधनः कर्मसाधनो वा, ऋक्षराजं[7] प्रत्युक्तवान्[8] [9] ॥ २९, ३० ॥

1 Ml, V °णः 2 Ml, V °रत्वमपि 3 Ml, V °वं 4 Ml, V omit मार्गं 5 Ml, V omit तथाऽपि 6- -6 Ml, V °ञ्चेव 7 Ml, V राजानं 8 Ml, V omit प्रति 9 Ml, V adds विज्ञायतेऽनेनेति विज्ञानम्

**वीर०** ततो विमृशन् तं कृष्ण माह - उक्ति मेवाऽऽह **जाने** इति त्रिभिः। त्वां जाने, कथम्भूतम्? ओजः प्रवृत्तिसामर्थ्यम्, सहो वेगः, बलं धारणसामर्थ्यं, प्राणादीनां निर्वाहकमित्यर्थः। पुराणपुरुषं जगत्कारणपुरुषं प्रभविष्णुं जगद्रूपेण प्रभवनशीलं, समर्थीभवनशीलं वा कारणत्वोपयुक्तसार्वज्ञ्यसार्वशक्त्यादियुक्त मित्यर्थः। अधीश्वरं सर्वान्तरात्मानम्। तत्र देवताविशेष निर्धारणाय विष्णुमिति॥ २६ ॥

पुराणपुरुषत्वे हेतुं वदन् विशिनष्टि- **त्वं हीति**। विश्वसृजां महदादिपृथिव्यन्तानां तत्त्वानां स्रष्टा। अनेन निमित्तकारणत्व मुक्तम्। उपादानत्व माह-सृज्यानां महदादीनां यत्सत् उपादानकारणं तदपि त्वमेव। उपादानत्वप्रयुक्तं सार्वात्म्य माह - काल इति। कलयतां परिच्छिन्दतां सर्वं स्ववशीकुर्वता मिति यावत्। तेषां य[1] ईशः प्रभुः कालः सोऽपि त्वमेव, तच्छरीरक इत्यर्थः तथा आत्मनां जीवानां परमात्मा अन्तः प्रविश्य प्रशासनेन धर्ता व्याप्यगतदोषै रस्पृष्टश्च जीवशरीरक श्चेत्यर्थः॥ २७ ॥

यत एवम्भूत, स्ततो ममेष्टदैवतं श्रीरघुनाथ एव त्व मित्याह - **यस्येति**। यस्य रघुपतेः ईषदुत्कलितः उद्दीपितो यो रोषः तेन ये कटाक्षमोक्षाः तैः क्षुभिताः नक्रा ग्राहाः तिमिङ्गिला महामत्स्याश्च यस्मि न्सोऽब्धिः वर्त्म मार्ग मदिशत् दत्तवान्, येन स्वयशसा, अध्ययनेन वसतीति वत् हेत्वर्थे तृतीया। स्वकीर्त्यर्थं सेतुः कृतो निर्मितः। येन च लङ्का उज्ज्वलिता दग्धा। यस्य चेषुभिः क्षतानि छिन्नानि रक्षसो दशकण्ठस्य शिरांसि भुवि पेतुः स त्व मिति जाने इत्यन्वयः॥ २८॥

**इतीति**। इत्थं विज्ञातं विज्ञानं विज्ञेयं येन, त मृक्षराजानम्, अनित्यत्वा दार्षत्वाद्वा "राजाहः" (अष्टा. 4-5-91) इति समासान्ताभावः। व्याजहारोवाच॥ २९ ॥

कथमित्यत आह- **अभिमृश्येति**। शङ्करेण[2-] सुखकरेण[-2] पाणिना भक्तं त मृक्षराज मभितः संस्पृश्य परया निरतिशयया कृपयोपलक्षितः मेघध्वनिव द्गम्भीरया गिरा प्राह॥ ३० ॥

1. K.W. omit य॥2- -2 K.W. omit

**विज०** सर्वभूतानां प्राणादिप्रदं, प्राणः प्राणनं चेष्टाशक्तिः, ओजः अवष्टम्भशक्तिः, सह श्शरीरसामर्थ्यं, बलं स्थौल्यम्॥ २६ ॥

सृष्टाना मधिपः सृष्टेषु वसन् कालः संहर्ता आत्मनां चेतनानां परः आत्मा परमचेतनः "नित्यो नित्यानाम्" (कठ.उ 5-13) इति श्रुतिः॥ २७ ॥

उत्कलितेन उन्नतेन रोषेण जातैः कटाक्षमोक्षैः नेत्रान्तपातैः क्षोभिता नक्रा स्तिमिङ्गिलाश्च यस्मिन् स तथा स्वयशोरूपः, उज्ज्वलिता धग्धा, इषुक्षतानि शरच्छिन्नानि॥ २८,२९ ॥

शङ्करेण सुखकरेण॥ ३० ॥

मणिहेतो रिह प्राप्ताः वयमृक्षपते बिलम्।
मिथ्याभिशापं प्रमृज न्नात्मनो मणिनाऽमुना॥ ३१ ॥

इत्युक्त स्स्वां दुहितरं कन्यां जाम्बवतीं मुदा।
अर्हणार्थं स[1-] मणिना[-1] कृष्णायोपजहार ह[2]॥ ३२ ॥

★ [3-]ततोऽन्यैश्च मणिश्रेष्ठैः[-3] पूजितो भक्तवत्सलः।
तस्मै ददौ परां मुक्तिं पुनरावृत्तिवर्जिताम्[4-][-4]॥ ३३ ॥

अदृष्ट्वा निर्गमं शौरेः प्रविष्टस्य बिलं जनाः।
प्रतीक्ष्य द्वादशाहानि दुःखिता[5] स्ते पुरं ययुः॥ ३४ ॥

निशम्य देवकी देवी रुक्मि ण्यानकदुन्दुभिः।
सुहृदो ज्ञातयोऽशोच न्बिला त्कृष्ण मनिर्गतम्॥ ३५ ॥

सव्राजितं शपन्त स्ते दुःखिता द्वारकौकसः।
उपतस्थु[6-] र्महामायां[-6] दुर्गां कृष्णोपलब्धये॥ ३६ ॥

1- -1 M.Ma सह मणिं 2 B.G.J.M.I.V सः ★This Verse is not found in G.J.M.Ma editions. 3- -3 M.I.V अन्यै स्स मणिमुख्यैश्च 4- -4 M.I.V प्रीत्या जाम्बवते हरिः 5 B.G.J °ताः स्व० 6- -6 M.I.V. °श्चन्द्रभागां

**श्रीध० मणीति।** वयं[1] बहवो बिलद्वारं प्राप्ता स्तत्र मिथ्याभिशाप ममुना मणिना प्रमृजन् प्रमार्ष्टु मि[2]च्छन् अह मेक[3] एव अन्तर्बिल मिह प्राप्त इत्यर्थः॥ ३१ ॥

**इतीति।** सह मणिना समर्पयामास॥ ३२-३५ ॥

**सत्राजितमिति।** श्रीकृष्णप्राप्तये चन्द्रभागां नाम दुर्गां मभजन्॥ ३६ ॥

1. Ml.V add हि 2 B.J omit इच्छन् 3 B.J. omit एक एव

**वीर०** उक्तिमेवाऽऽह - **मणिहेतोरिति।** हे ऋक्षपते! मण्यर्थं मिह बिलं प्रति वय मागताः। अवाप्तसमस्त कामस्य तव किं मणिने त्यत आह-मिथ्येति। अमुना मणिना हेतुना आत्मनो मम यो मिथ्याभिशापः मिथ्यापवादः प्रसक्तः तममुना मणिनैव विमृजन्, "लक्षणहेत्वोः" (अष्टा 3-2-126) इति शत्रादेशः। विमार्ष्टु मपनेतु मिति यावत्। विमृज न्नह मागत इति शाब्दयोजना॥ ३१ ॥

**इतीति।** इत्थ मुक्तः स जाम्बवान् स मणिना मणिना सह स प्रसिद्धः जाम्बवान् मणिना सहेति वाजाम्बवती मुपायनार्थं श्रीकृष्णाय समर्पयामास॥ ३२ ॥

ततोऽन्यैश्च मणिश्रेष्ठैः पूजितो भक्तवत्सलो भगवान् तस्मै जाम्बवते परा मुत्कृष्टां पुनरावृत्तिरहितां मुक्तिं ददौ, दास्यामि इति सङ्कल्पितवा नित्यर्थः। तदैव ददाविति वा॥ ३३ ॥

**अदृष्ट्वेति।** बिलं प्रविष्टस्य शौरिः पुन र्निर्गमन मदृष्ट्वा द्वाःस्थाः जना द्वादशदिनानि प्रतीक्ष्य दुःखिताः पुरं द्वारकां जग्मुः॥ ३४ ॥

**निशम्येति।** देवक्यादयो बिला दनिर्गतं कृष्णं श्रुत्वा अशोचन्॥ ३५ ॥

ते दुःखिता स्सन्तः सत्राजितं शपन्तः कृष्णप्राप्तये महामायां दुर्गाम् उपतस्थुः अभजन्॥ ३६ ॥

1- -1 W omits 2- -2 K.W नेत्याह 3- -3 K.W omit 4- -4 K.W. omit 5 K.W °ममदः

**विज०** उपतस्थुः अभजन्॥ ३१-३६ ॥

**तेषान्तु देव्युपस्थानात् प्रत्यादिष्टाऽऽशिषा स च।**
**प्रादुर्बभूव सिद्धार्थः सदारो हर्षय न्हरिः॥ ३७ ॥**

**उपलभ्य हृषीकेशं मृतं पुनरिवाऽऽगतम्।**
**सह पत्न्या मणिग्रीवं सर्वे जातमहोत्सवाः॥ ३८ ॥**

**-: सत्राजिताय मणिप्रत्यर्पणं, सत्यभामाविवाहश्च :-**

**सत्राजितं समाहूय सभायां राजसन्निधौ**
**प्राप्ति श्चाऽऽख्याय भगवान् मणिं तस्मै न्यवेदयत्॥ ३९ ॥**

स चाऽतिव्रीडितो रत्नं गृहीत्वाऽवाङ्मुख स्ततः[4]
अनुतप्यमानो[5] भवन मगम त्स्वेन पाप्मना ॥ ४० ॥

सोऽनुध्यायं स्तदेवाऽघं[6] बलवद्विग्रहाकुलः।
कथं मृजा म्यात्मरजः प्रसीदे द्वाऽच्युतःकथम्॥ ४१ ॥

1. K.M.Ma.W °षां 2 M.ma भवन्; Ml.V. च सः 3. M.Ma °हा० 4. Ml.V स्स्थितः 5 M.Ma तप्य न्स्व भ० 6 K.W स्त मेवाऽर्थं

**श्रीध० तेषामिति।** स च कृष्ण स्तेषां प्रादुर्बभूव । असव इति पाठे असव इन्द्रियाणि, तेषां प्रेष्ठ इत्यर्थः। कदा देव्या उपस्थानात्, तया तान्प्रति आदिष्टा दत्ता या आशीः कृष्णं द्रक्ष्यथेति तया सहैव॥ ३७ ॥

**उपलभ्येति।** लोके[1] जनाः कथञ्चि[2] न्मृतं बन्धुं पुनरागत मुपलभन्ते। तद्व दुपलभ्य सर्वे जातमहोत्सवा आसन्निति॥ ३८, ३९ ॥

**स इति।** पाप्मना अपराधेन अनुतप्यमानः। अत्र[3-] वर्णाधिक्यमार्षम्[-3]॥ ४० ॥

**स** इति। अघं दोषम् आत्मनो रजो मल मपराधमिति॥ ४१ ॥

1. Ml.V add यदि 2. Ml.V. कञ्चित् 3- -3 B.J omit

**वीर० तेषामिति।** स च कृष्ण स्तेषां प्रादुर्बभूव। कदा? तस्या देव्या उपस्थानात्, तया तान्प्रति आदिष्टा आशिषः श्रीकृष्णं द्रक्ष्यथेत्येवंविधाः येषां तेषां सताम्, कथम्भूतः? सिद्धः साधितोऽर्थः मण्यानयनरूप[1] प्रयोजनं यस्य सः। सदारः जाम्बवतीसहितः अत एव हर्षयन्॥ ३७ ॥

**उपलभ्येति।** यथा लोके जनाः मृतं बन्धुं पुनरागत मुपलभन्ते तद्वत् हृषीकेशं, तत्राऽपि पत्न्या सहितं मणि ग्रीवायां यस्य त मुपलभ्य सर्वे जातमहोत्सवा आसन्॥ ३८ ॥

**सत्राजितमिति।** राज्ञ उग्रसेनस्य सन्निधौ प्राप्तिं मणिलाभप्रकार माख्याय तस्मै सत्राजिते मणिं न्यवेदय दर्पयामास॥ ३९॥

**सचेति।** स्वेन पात्मना याच्चावैकल्यकरणमिथ्यापवादापादनादिरूपेण अनुतप्यमानः स्वगृहं जगाम॥ ४० ॥

स सत्राजि त्तमेवार्थ मपराधरूप मनुचिन्तयन्। अघमिति च पाठः। बलवता भगवता सह यो विग्रहो विरोधः तेनाऽऽकुलश्च, चिन्तयामासेति शेषः। चिन्ताप्रकार मेवाऽऽह- कथमिति सार्धेन। आत्मरजः स्वापराधं मृजामि अपनयामि, कथं वा अच्युतः प्रसन्नो भवेत्? ॥ ४१ ॥

---

1. K.W °प

**विज०** ततः किमभूदत्राऽऽह- **तेषामिति**। हरि स्तेषां प्रादुर्बभूवे त्यन्वयः। देव्या उपस्थाना न्निषेवणा त्प्रत्यादिष्टाशिषाम् अभ्यागताभ्युदयानां भव न्पूज्य! सिद्धार्थः नित्यलब्धप्रयोजनः 'प्रत्यादिष्टाशिष'ः इति पाठे ये प्रथमं नष्टकृष्णाख्याशिषोऽभवन्। तेषाम् , तुशब्दो हेत्वर्थः। देव्युपस्थानाद्धेतो रित्यर्थः। अनेनाऽऽपदि प्राप्तायां देवताशरणं कर्तव्य मित्युक्तं भवति॥ ३७॥

आख्यायोक्त्वा॥ ३९ ॥

स्वेन पाप्मना अनुतप्यन् पश्चात्तापं कुर्वन्॥ ४०, ४१ ॥

**किं कृत्वा साधु मह्यं स्या न्न शपेद्वा जनो यथा।**
**अदीर्घदर्शनं क्षुद्रं[1-] मूढं[-1] द्रविणलोलुपम्॥ ४२ ॥**

**दास्ये दुहितरं तस्मै स्त्रीरत्नं रत्नमेव च।**
**उपायोऽयं समीचीन स्तस्य शान्ति र्नचाऽन्यथा॥ ४३ ॥**

**एवं व्यवसितो बुद्ध्या सत्राजि त्स्वसुतां शुभाम्।**
**मणिञ्च स्वय मुद्यम्य कृष्णायोपजहार ह[2]॥ ४४ ॥**

**तां सत्यभामां भगवा नुपयेमे यथाविधि।**
**बहुभि र्याचितां शीलरूपौदार्यगुणान्विताम्॥ ४५ ॥**

**भगवा नाह न मणिं प्रतीच्छामो वयं नृप।**
**तवा[3]ऽऽस्तां देवभक्तस्य वयञ्च[4] फलभागिनः॥ ४६ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्यमन्तकोपाख्याने षट्पञ्चाशोऽध्यायः॥ ४६ ॥

1- -1 K. W मूढं मां धिक्; M. Ma धिङ्मा मूढं 2 M. Ma ताम् 3 M. Ma तवाऽस्तु 4. k. W. °यन्तु; M. Ma यं हि

**श्रीध० किमिति**। किं कृत्वा कस्मि न्कृते इत्यर्थः। साधु भद्रम्। अदीर्घदर्शन मविचारकं मां[1] क्षुद्रं कृपणं मूढं मन्दमतिम्॥ ४२ ॥

एवं ध्याय न्नुपायं निश्चिनोति-**दास्ये** इति। स्त्रीरत्नं दुहितरं ताव द्दास्यामि, तदनन्तरं पारिबर्हत्वेन रत्नमपीति॥ ४३,४४ ॥

**तामिति**। बहुभिः कृतवर्मादिभिः॥ ४५ ॥

**भगवानिति**। मणिं न प्रतीच्छामः न स्वीकुर्मः। देव स्सूर्यः तद्भक्तस्येति, कटाक्ष फलभागिन इति। तवाऽपुत्रत्त्वा त्त्वदीयं धन मस्माकमेवेति गूढोऽभिप्रायः॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
षट्पञ्चाशोऽध्यायः॥ ५६ ॥

1 Ml. V. omit मां

**वीर०** किं कृत्वा, कस्मिन्कर्मणि कृते इत्यर्थः। साधु भद्रम् स्यात्। कथञ्च मां जनो न शपेत्। मां धिक्। अहं निन्द्यइत्यर्थः। तत्र हेतुं वदन्नात्मानं विशिनष्टि अदीर्घदर्शनं दूरविचारानभिज्ञं मूढं मन्दमतिं, वित्तैकासक्तम्॥ ४२॥

इत्थं विचार्य निश्चिनोति। **दास्ये** इति। स्त्रीरत्नं दुहितरं, रत्नं स्यमन्तकञ्च कृष्णाय दास्ये[1] दास्यामि। अन्यथा यदि न दास्ये इत्यर्थः, तस्य कृष्णस्य शान्ति श्चित्तसमाधिर्न भवेत्॥ ४३ ॥

**एवमिति**। बुद्ध्या व्यवसितः निश्चिन्वन् शुभां शुभलक्षणां स्वसुतां सत्यभामां मणिं स्यमन्तकञ्च उद्यम्योद्धृत्य आदाय वा कृष्णाय समर्पयामास॥ ४४ ॥

**तामिति**। उपयेमे विवाहितवान्। कथम्भूतां, बहुभिः कृतवर्मशतधन्वादिभिः याचितां, रूपादिभि रन्वितां च। तत्र रूपं सौष्ठवं, शीलं सुस्वभावः, गुणाः म्रदिमकरुणादयः॥ ४५ ॥

**भगवानिति**। उक्तिमेवाऽऽह न[2-] मणि मिति[-2]। हे नृप सत्राजित! मणिं न प्रतीच्छामः। न प्रतिगृह्णीमः। किन्तु स्त्रीरत्नमेव प्रतीच्छामः। देवभक्तस्य सवितृभक्तस्य तवैव मणि रास्तां तिष्ठतु, वयं तु केवलं फलभागिनः दुर्भिक्षादि शान्तिरूपफलभागिनः। यद्वा, तवाऽपुत्रत्वात् त्वदीयं धन मस्माक मेवे त्यन्ततः फलभागिन इत्यर्थः॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां षट्पञ्चाशोऽध्यायः॥ ५६ ॥

1 W omits दास्ये 2- -2 W omits

**विज०** मह्यं मम अदीर्घदर्शनं भविष्यज्ञानहीनम्॥ ४२ ॥

तस्य पापस्य॥ ४३-४४ ॥

फलभागिनः प्रयोजनांशमेव स्वीकुर्मः॥ ४५,४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
षट्पञ्चाशोऽध्यायः॥ ५६ ॥

(विजयध्वजरीत्या षष्टितमोऽध्यायः)

# सप्तपञ्चाशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या एकषष्टितमोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

विज्ञातार्थोऽपि भगवान्[1] दग्धा नाकर्ण्य पाण्डवान्।
कुन्तीञ्च कुल्यकरणे सहरामो ययौ कुरून्॥ १ ॥

भीष्मं कृपं[2] सुविदुरं गान्धारीं द्रोणमेव च।
तुल्यकष्टान्[3-] समागम्य[4] हा कष्टमिति होचतुः[5]॥ २ ॥

लब्ध्वा तदन्तरं[6-] राजन् शतधन्वान मूचतुः।
अक्रूरकृतवर्माणौ मणिः कस्मा न्न गृह्यते॥ ३ ॥

योऽस्मभ्यं सम्प्रतिश्रुत्य कन्यारत्नं विगृह्य[7] नः।
कृष्णायाऽदा[8] न्न सत्राजित्कस्माद्भ्रातर[9] मन्वियात्॥ ४ ॥

एवं भिन्नमति स्ताभ्यां सत्राजित मसत्तमः।
शयान मवधी ल्लोभा त्स पापः क्षीणजीवितः॥ ५ ॥

1. B.G.J.M.Ma गोविन्दो 2 M.Ma.MI.V. नृपं 3- -3 B.G.J.MI.V तुल्यदुःखौ; M.Ma समदुःखौ 4 B.G.J च सङ्गम्य 5 MI.V शो० 6 B.G.J.M.Ma लब्ध्वैतदन्तरं; K.W ज्ञात्वा तदन्तरं 7 B.G.J.M.Ma गर्ह्य 8 M.Ma. °यादात्स 9 M.Ma. °त्त०

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावर्थदीपिका।

सप्तपञ्चाशत्तमे तु पुन श्शतधनो र्वधे। प्राप्तं स्म[1] दुर्यशो मार्ष्टि कृष्णोऽक्रूराऽऽहृतान्मणेः[2]।
अक्रूर मुररीकृत्य मणेः पात्र मथाऽच्युतः। उपामन्त्र्य त मेकान्ते स रामोऽगा द्गजाह्वयम्॥

सत्राजितः श्रीकृष्णयाच्ञाभङ्गफलं व्यक्तीकर्तुम्[3] कथा मुपक्रमते[4-]- **विज्ञातार्थोऽपीति।** पाण्डवा बिलद्वारेण जतुगृहा न्निर्गता इत्येवं विज्ञातोऽर्थो येन सः, कुन्तीञ्च दग्धा माकर्ण्य कुल्यकरणे कुलोचितसंव्यवहारार्थम्[5]॥ १ ॥

**भीष्ममिति।** अन्येषां तद्दाहदुःखाभावा द्भीष्मादीन् समागम्येत्युक्तम्[6]॥ २,३ ॥

ननु जीव न्सव्राजि त्कथं मणिं दास्यति[7]। तत्रोचतुः- **योऽस्मभ्यमिति।** भ्रातरं प्रसेनं मृतं कस्मा न्नान्वियात् नाऽनुगच्छेत्, म्रियता मित्यर्थः॥ ४,५ ॥

1 MI.V स्व० 2. MI.V. °ग० 3. B.J. °ष्णाज्ञा 4--4 B.J आह 5 MI.V omit सं 6 B.J सङ्गम्ये० 7 MI.V add इति।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

फलभागिन इत्युक्तं, तदेव दर्शयितुं मणिकथाशेष माह- सप्तपञ्चाशत्तमेन **विज्ञातार्थ** इत्यादिना। विज्ञातः विदितोऽर्थः पाण्डवाः बिलद्वारेण जतुगृहान्निर्गताः इत्येवंविधोऽर्थो येन तथाभूतोऽपि केवलं प्राकृतलोक इव पाण्डवान् कुन्तीञ्च दग्धान्, जतुगृहेष्विति शेषः। आकर्ण्य कुल्यकरणे कुलोचितसंव्यवहारार्थं रामेण सहितः कुरून् देशान् ययौ॥ १ ॥

**भीष्मं कृपमिति।** पाण्डवेतरेषां जतुगृहदुःखाभावात् भीष्मादी न्समागम्येत्युक्तम्। तुल्यकष्टान् आत्मना तुल्यदुःखान् हा कष्टम्! दुःखं प्राप्त मित्येवं तान् प्रत्यूचतुः सान्त्वयामासतुः॥ २ ॥

ज्ञात्वेति। तदा अक्रूरकृतवर्माणौ भगवा नधुनाऽत्र नाऽस्ति[1] अयमेवावसर इत्येव मन्तरं समयं ज्ञात्वा हे राजन्! शतधन्वान मूचतुः। उक्तिमेवाऽऽह-मणिरित्यादिना सपादेन, न गृह्यते, त्वयेति शेषः॥ ३ ॥

ग्राह्यत्वे हेतुः **य** इति। यः सव्राजित् कन्यारत्नं सत्यभामाम् अस्मभ्यं प्रतिश्रुत्य दास्यामीति प्रतिज्ञाय नोऽस्मान् विगर्ह्य[2] अनादृत्य कृष्णायादात् ददौ। अतो मणि र्ग्राह्य इति भावः। ननु, जीवन् सव्राजित् कथं मणिं दास्यतीति, अत्रोचतुः- नेत्यादि। सव्राजित् कस्मा द्धेतो भ्रातरं प्रसेनं नान्वियात् नाऽनुगच्छेत्, हन्तव्य एव स इत्यर्थः॥ ४ ॥

**एवमिति।** इत्थं ताभ्या मक्रूरकृतवर्मभ्यां भिन्ना भेदितामति र्यस्य सोऽसत्तमः पापात्मा शतधन्वा क्षीणजीवितः हेतुगर्भ मिदम्। तत्त्वात्, लोभा न्मणिलोभात् शयानं सव्राजितं हतवान्॥ ५ ॥

1 K.W नाऽऽस्ते 2 K.W °गृह्य।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अज्ञानिनां तमःप्राप्तिसाधनं ज्ञानिनां भगवद्भक्त्युद्रेककारणं लोकविडम्बनार्थं भगवच्चरितविशेषं पूर्वाध्यायार्थबीजं निरूपय त्यस्मि न्नध्याये। अपिना सन्देहं निवारयति-कुल्यं शवदहनानन्तरं तद्दुःखजिहासया तद्गृहगमनं तस्य करणे त न्निमित्तीकृत्येत्यर्थः। ॥ १,२ ॥

अन्तरमवकाशम्॥ ३ ॥

भ्रातरं प्रसेन मन्वियात् अनुगतः स्यात्, मृतोऽस्तु। तं हन्मीत्यर्थः॥ ४,५ ॥

स्त्रीणां विक्रोशमानानां क्रन्दन्तीना मनाथवत्।
हत्वा पशू न्सौनिकवत् मणि मादाय जग्मिवान्॥ ६ ॥

सत्यभामा[1] च पितरं हतं वीक्ष्य शुचाऽर्पिता।
व्यलप त्तात तातेति हा हताऽस्मीति मुह्यती॥ ७ ॥

तैलद्रोण्यां मृतं प्रास्य जगाम गजसाह्वयम्।
कृष्णाय विदितार्थाय तप्ताऽऽचख्यौ[2] पितु र्वधम्॥ ८ ॥

तदाऽऽ कर्ण्येश्वरौ राज न्ननुसृत्य नृलोकताम्।
अहो नः परमं कष्ट मित्यस्राक्षौ विलेपतुः॥ ९ ॥

आगत्य[3] भगवां स्तस्मात् सभार्य[4-] स्साऽग्रजः[-4] पुरम्।
शतधन्वान मारेभे हन्तुं हर्तुं च[5-] तं मणिम्[-5] ॥ १० ॥

★ ततः पाञ्चालनगरा द्याज्ञसेन्याः स्वयंवरम्।
घुष्यता यज्ञसेनेन प्रेषितो दूत आगतः॥ ११ ॥

आहूत स्तेन गोविन्दो गत्वा पाञ्चालके पुरे।
ददर्श साग्रज स्तत्र किशोरान् पाण्डुनन्दनान्॥ १२ ॥

अदृष्टपूर्वा न्सुव्यक्तं ब्रह्मरूपधरा न्नृपान्।
तै र्विद्धलक्ष्यैः पौरुष्यप्रतिलब्धमनोरथैः॥ १३ ॥

कुम्भकारस्य शालायां समागम्याऽभिवन्द्य च।
पितृष्वसा मनुज्ञाप्य राजानश्च युधिष्ठिरम्।
निहन्तुं शतधन्वानं तूर्णं द्वारावतीमियात्॥ १४ ॥

1. MI.V. ०माऽपि 2 K.W. तत्राऽऽ० 3 M.Ma °गाम्य 4- -4 M. Ma भार्यया सा० 5- -5 B. G. J. K. W मणिं ततः। ★ The verses from 11th to 14th sloka found only in M.Ma editions

श्रीध०: स्त्रीणामिति। जग्मिवान् जगाम॥ ६-१४ ॥

वीर० स्त्रीणामिति। यथा सौनिकः पशुहिंसकः पशुं हन्ति, तद्वद्धत्वा अनाथवत् स्त्रीणां सव्राजिन्नारीणां विक्रोशन्तीनां[1-] आक्रोशन्तीनां[-1] रुदन्तीनाञ्च सतीनामेव मणिमादाय जगाम॥ ६ ॥

सत्यभामेति। शुचा शोकेनाऽर्पिता व्याप्ता मुह्यती मध्ये मध्ये मूर्छां प्राप्नुवती[2] व्यलपत्। विलापनप्रकार मेवाऽऽह तात तातेति, हा हताऽस्मीति॥ ७ ॥

ततो मृतं पितरं तैलद्रोण्यां तैलकटाहे प्रास्य निधाय हास्तिनपुरं[3] जगाम। तत्राऽऽगत्य विज्ञातपितृमरणरूपार्थायाऽपि[4] अजानते इव स्थिताय कृष्णाय पितु र्वधं शतधन्वकृतमाचख्यौ॥ ८ ॥

तद्वधाऽऽख्यानं श्रुत्वा हे राजन्! ईश्वरौ रामकृष्णौ नृलोकता मनुसृत्य नरचेष्टा मभिन यन्तावित्यर्थः। अस्राक्षौ अश्रुपूर्णनेत्रौ अहो! नोऽस्माकं परम मनवधिकं कष्टं दुःखं प्राप्त मित्येवं विलेपतुः विलपितवन्तौ॥ ९ ॥

ततः ससत्यभामः साग्रज स्स[5] भगवान् पुरं द्वारका मागत्य शतधन्वानं हन्तुं, ततः शतधन्वनो मणिं हन्तु ञ्चारेभे उद्युक्तवान्॥ १०-१४ ॥

1- -1 K. omits 2 B ०न्ती 3 B °नापुरं 4 K.W omit अपि 5 B °श्च०

विज० क्रन्दन्तीनां वैक्लव्यस्वरं कुर्वतीनां सौनिकवत् मारकवत् राक्षसव दित्यर्थः॥ ६,७ ॥

प्रास्य निक्षिप्य॥ ८ ॥

अस्राक्षौ अश्रुजलकलिलेक्षणौ॥ ९,१० ॥

याज्ञसेन्याः द्रौपद्याः॥ ११,१२ ॥

ब्रह्मरूपधरान् ब्राह्मणवेषं बिभ्राणान् पौरुष्येण पराक्रमेण प्रतिलब्धो मनोरथो येषां ते तथा, तैः॥ १३

पितृष्वसां पितृष्वसारम् कुन्तीम्॥ १४ ॥

**सोऽपि कृष्णोद्यमं ज्ञात्वा भीतः प्राणपरीप्सया।**
**साहाय्यं[1] कृतवर्माण मयाचत, स चाऽब्रवीत्॥ १५ ॥**

**नाऽह मीश्वरयोः कुर्यां हेलनं रामकृष्णयोः।**
**को नु क्षेमाय कल्पेत तयो र्वृजिन माचरन्॥ १६ ॥**

**कंस स्सहानुगोऽपेतो[2] यद्द्वेषात्त्याजितः श्रिया।**
**जरासन्धः सप्तदश संयुगा द्विरथो[3] गतः॥ १७ ॥**

**प्रत्याख्यातः स चाऽक्रूरं पार्ष्णिग्राह मयाचत।**
**सोऽप्याह को विरुध्येत विद्वा नीश्वरयोर्बलम्॥ १८ ॥**

★ यं कैलासाश्रय श्शम्भु र्ननाम शिरसा हरिम्।
यो हंसडिम्भकौ युद्धे जितवा न्वरदुर्मदौ॥
आशीविषो महानागो येन निर्वासितो ह्रदात्।
य इदं लीलया विश्वं सृजत्यवति हन्ति[4] च।
चेष्टां विश्वसृजो यस्य न विदुर्मोहिताऽजया[5]॥ १९

1. B.G.J.M.Ma °य्ये 2 B.G.J. °गोऽपीतो; M.Ma. °गो वीरो 3 B.G.J °न्वि° ★ These three half Verses are found only in M.Ma editions 4 K.W हन्त्यजः। 5 M.Ma °ता यया।

**श्रीध०** नेति। हेलनं प्रतिकूलम्, वृजिन मपराधम्॥ १५,१६ ॥

कंस इति। अपीतो मृतः। सप्तदशसंख्याकात्[1] संयुगात्[2]॥ १७,१८ ॥

तौ रामकृष्णा वेकमेव तत्त्व मित्यभिप्रेत्याह-**य इदमिति**। अजया मायया। मोहिताऽजयेति सन्धिरार्षः॥ १९॥

1. B.J. °न् 2 B.J °न्

**वीर०** सोऽपि शतधन्वाऽपि कृष्णस्योद्यम मुद्योग माकर्ण्य प्राणपरीप्सया प्राणरिरक्षिषया कृतवर्माणं साहाय्यं सहायार्थ मयाचत। स च कृतवर्माऽब्रवीत्॥ १५ ॥

उक्ति मेवाऽऽह **नाहमिति** द्वाभ्याम्। हेलनं प्रातिकूल्यम्। न कुर्याम्। तत्र हेतुमाह-कोन्विति। तयोः रामकृष्णयोः वृजिन मपराधं कुर्वन् को नु पुमान् क्षेमाय कल्पेत क्षेमं प्राप्नुया दित्यर्थः । न कोऽपीति भावः॥ १६ ॥

किं त्वयेत्थं दृष्ट मित्य त्रोदाहरणमात्र माह **कंस** इति। यस्मिन्[1] श्रीकृष्णे द्वेषाद्धेतोः श्रिया राज्यश्रिया, प्राणैश्चेति शेषः, त्याजितः। तथा जरासन्धोऽपि सप्तदशसंख्याकात् संयुगात्[2] विरथः शरीरमात्रावशिष्टो गतः॥ १७ ॥

इत्थं तेन प्रत्याख्यातः[3] ततोऽक्रूरं साहाय्यं अयाचत। सोऽपीति। सोऽपि अक्रूरोऽपि। उक्तिमेवाह- क्र इत्यादिना आत्मने नम इत्यन्तेन। ईश्वरयो रामकृष्णयो र्बलं जान न्कः[4] पुमान् विरुध्येत, ईश्वराभ्यामिति शेषः॥ १८ ॥

[5]भगवतो बलं वक्तुं तावत्तस्य कृत्स्नजगदुदयविभवलयलीलत्व माह- **य** इति। अवति रक्षति। अजः सृज्यगत जन्मादिस्पर्शरहितः। [6-]एवंविधेन को वा[-6] विरुध्येतेति भावः। सर्वेऽप्येवं किं न विदु रित्यत आह- चेष्टामिति। यस्य भगवतोऽजया मायया मोहिता स्तस्य चेष्टां विश्वसृष्ट्यादिरूपां न विदुः। मोहिताऽजयेत्यत्र सन्धि रार्षः॥ १९॥

1. B यत्र 2. B सङ्गामात् 3 K.T.W omit ततः 4. B adds वा 5. T.W भवतो 6- -6 K.T.W तेन को

**विज०** वृजिन मपराधम्॥ १५, १६ ॥

अपराधकार्यत्वे निमित्तानि कथयति **कंस** इति॥ १७ ॥

प्रत्याख्यातो निराकृतः। कृतवर्मणेति शेषः। पार्ष्णिग्राहं पृष्ठबलम्॥ १८,१९ ॥

**य स्सप्तहायन श्शैलमुत्पाट्यैकेन पाणिना।**
**दधार लीलया बालः उच्छिलीन्ध्र मिवाऽर्भकः॥ २० ॥**[1]

**नम स्तस्मै भगवते कृष्णायाऽद्भुतकर्मणे।**
**अनन्तायाऽऽदिभूताय कूटस्थायाऽऽत्मने नमः॥ २१ ॥**

**प्रत्याख्यात स्स तेनाऽपि शतधन्वा महामणिम्।**
**तस्मि न्न्यस्याऽश्व मारुह्य शतयोजनगं ययौ॥ २२ ॥**

**गरुडध्वज मारुह्य रथं रामजनार्दनौ।**
**अन्वयातां महावेगै रश्वै राजन् गुरुद्रुहम्॥ २३ ॥**

**मिथिलाया**[2] **उपवने विसृज्य पतितुं**[3] **हयम्।**
**पद्भ्या मधाव त्सन्त्रस्तः कृष्णोऽप्यन्वद्रव द्रुषा॥ २४ ॥**

1. Ml.V. °त्सि० 2. B.G.J °या मु° 3. M.Ma °ऽन्वभ्य°

**श्रीध० प्रत्याख्यात** इति। अन्तर्यामिकृष्णनियुक्तः तस्मि न्नक्रूरे मणिं न्यस्य ययौ अपलायत॥ २०-२२॥

**गरुड** इति। गुरुः श्वशुरः, तद्भन्तारम्॥ २३ ॥

**मिथिलाया** इति। शतयोजनमात्रगामित्वात्[1] ततः परं गन्तुमशक्तः तत्र पतितः। तं हयं विसृज्य॥ २४ ॥

1. Ml.V omit मात्र

**वीर०** बलं प्रपञ्चयति-**य** इति। यो भगवान् बालः, तत्राऽपि सप्तवर्षवयास्सन्नेव शैलं गोवर्धनम्, एकेनैव[1] पाणिना उत्पाट्य लीलया दधार, यथाऽर्भकः शिलीन्ध्र मुत्पाट्य धरति तद्वत्। शिलीन्ध्रं भूतालकुसुमम्॥ २०॥

अतः स केवलं नमस्कार्य एवेत्यभिप्रयन् नमस्करोति- **नमः** इति। भगवते षाड्गुण्यपूर्णाय अत एव अद्भुत ममानुष मदैवञ्च कर्म यस्य तस्मै। अनन्ताय अपरिच्छेद्यस्वरूपस्वभावाय, आदिभूताय जगत्कारणभूताय, कूटस्थाय स्वरूपतः स्वभावतश्च निर्विकाराय, आत्मने सर्वान्तरात्मने कृष्णाय तस्मै नमो नमः॥ २१ ॥

**प्रत्याख्यात** इति। तेन अक्रूरेणाऽप्येवं प्रत्याख्यातः स शतधन्वा महामणिं तस्मि न्नक्रूरे न्यस्य निधाय, अक्रूराधीनं शतयोजनगं शतयोजनैः गन्तव्यं देशं ययौ॥ २२ ॥

तदा गरुडो ध्वजे यस्मिन् तं रथ मारुह्य हे राजन्! महावेगै रश्वैः गमनसाधनैः गुरुद्रुहं श्वशुरहन्तारं शतधन्वान मन्वयाताम् अन्वगच्छताम्॥ २३ ॥

**मिथिलायामिति।** शतयोजनमात्रगामित्वात् ततः परं गन्तुमशक्तं पतितं हय मश्वं विसृज्य सन्त्रस्तः पद्भ्यामधावत्। एवं धावन्तं शतधन्वानं रुषा भगवान प्यन्वधावत्॥ २४ ॥

1. B. omits एव 2- -2. B °नगन्तव्य०

**विज०** उच्छिलीन्ध्रं छत्राकारम्॥ २०,२१ ॥

शतयोजनगं शतयोजनगमनसमर्थम्॥ २२ ॥

गरुडो ध्वजे यस्य स तथा तं रथम्॥ २३ ॥

मिथिलानगर्याः॥ २४ ॥

---

1. B °कम्

पदाते धावत स्तस्य पदाति स्तिग्मनेमिना।
चक्रेण शिर उत्कृत्य वाससो व्यचिनोन्मणिम्॥ २५ ॥

अलब्धमणि रागत्य कृष्ण आहाऽग्रजान्तिकम्।
वृथा हतश्शतधनु र्मणिस्तत्र न विद्यते॥ २६ ॥

तत आह बलो नूनं स मणि श्शतधन्वना।
कस्मिंश्चि त्पुरुषे न्यस्त स्तमन्वेष्टुं पुरं व्रज॥ २७ ॥

-: बलदेवस्य मिथिलानिवासः तत्र दुर्योधनस्य गदाभ्यासश्च :-

अहं वैदेह मिच्छामि द्रष्टुं प्रियतमं मम।
इत्युक्त्वा मिथिलां राजन् विवेश यदुनन्दनः॥ २८ ॥

तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय मैथिलः प्रीतमानसः।
अर्हयामास विधिव दर्हण्यं वै समर्हणैः॥ २९ ॥

1. B.G.J.MI.V °भगवां० 2. B.G.J MI.V. °ष; M.Ma °षन् 3 B.G.J वि० 4 M.Ma °रं 5 B.G.J °णीयं स०

**श्रीध० पदातेरिति।** व्यचिनोत् मृगयामास। अक्रूरे मणिरस्तीति सर्वज्ञतया विदित्वाऽपि रामवञ्चनाय तथा कृतवानिति[1-] भावः[-1]॥ २५,२६ ॥

**तत** इति। अन्वेष अन्विच्छ॥ २७ ॥

सर्वज्ञस्यैवं विचेष्टितं[2] मद्वञ्चनायेति मत्वा गूढमन्यु राह-**अहमिति**॥ २८,२९

1- -1 MI.V. °नित्यर्थः। MI.V omit वि

**वीर० पदातेरिति।** तिग्मनेमिना तीक्ष्णधारेण चक्रेण तस्य शिर उत्कृत्य छित्वा[1] तस्य वाससो: अन्तरियोत्तरीययो: मणिं व्यचिनोत् मृगयामास। अक्रूरे मणिरस्तीति सर्वज्ञतया विदित्वाऽपि रामवञ्चनार्थं तथा कृतवा नित्यर्थः॥ २५ ॥

तदाह **अलब्धमणिरिति।** न लब्धो मणि र्येन तथाभूतः अग्रजान्तिक मागत्योवाच। उक्तिमेवाऽऽह वृथेति। तत्र शतधन्वनि॥ २६॥

एवं वञ्चितोऽपि स बलो बलभद्रः सर्वज्ञत्वात् तं कृष्णमाह- नूनमिति। नूनं कस्मिंश्चित् पुरुषे सः[2] मणिर्न्यस्तः अत स्तमन्वेष्टुं स्वपुरं द्वारकां गच्छेति॥ २७ ॥

ततः पुनः सर्वज्ञेनैवं चेष्टितं मद्वञ्चनायेति गूढमन्यु राह-**अहमिति।** वैदेहं जनकम्। इतीति। हे राजन्! यदुनन्दनो बलभद्रः॥ २८ ॥

मैथिलो जनकः, तं रामं दृष्ट्वा प्रीतमानसः सहसोत्थाय पूजार्हं रामम् अर्हणैः पूजासाधनैः यथाविधि पूजयामास॥ २९॥

1. T.W भित्वा 2. K.T.W omit सः

**विज०** पद्भ्या मतिः सततं गमनं यस्य स तथा तस्य। तिग्मनेमिना चण्डधाराग्रेण, व्यचिनोत् अन्वेषणं कृतवान्॥ २५,२६ ॥

अन्वेषन् मार्गणं कुर्वन्॥ २७,२८ ॥

अर्हण्यं पूज्यम्॥ २९ ॥

**उवास तस्यां कतिचि न्मिथिलायां समा विभुः।**
**ततोऽशिक्ष द्गदां काले धार्तराष्ट्र स्सुयोधनः॥**
**मानितः प्रीतियुक्तेन जनकेन महात्मना॥ ३० ॥**

केशवो द्वारका मेत्य निधनं शतधन्वनः।
अप्राप्तिश्च मणेः प्राह प्रियायाः प्रियकृ द्विभुः॥ ३१ ॥

तत स्स कारयामास क्रिया[1] बन्धो र्हतस्य[2] वै।
साकं सुहृद्भि र्भगवान् या याः स्यु स्साम्परायिकाः॥ ३२ ॥

-: अक्रूरेण मणिप्रत्यर्पणम् :-

अक्रूरः[3-] कृतवर्मा च[-3] श्रुत्वा शतधनो र्वधम्।
व्यूषतु र्भयवित्रस्तौ द्वारकायाः प्रयोजकौ॥ ३३ ॥

अक्रूरे प्रोषितेऽरिष्टा[4-] आसन्वै[-4] द्वारकौकसाम्।
शारीरा मानसा स्तापा मुहु र्दैविकभौतिकाः॥ ३४ ॥

1. M.Ma °यां 2. M.Ma °र्मृ° 3- -3 M.Ma °रकृतवर्माणौ 4- -4 B.G.J.M.Ma °ष्टा न्यास न्वै

**श्रीध०** कतिचि त्समाः संवत्सरान्। प्रासङ्गिक माह- **उवासेति**॥ ३० ॥

सत्यभामाम प्यवञ्चय दिति सूचय न्नाऽऽह- **केशव** इति॥ ३१ ॥

**तत** इति। बन्धोः सत्राजितः। साम्परायिकाः पारलौकिक्यः[1]॥ ३२ ॥

**अक्रूर** इति। व्यूषतुः द्वारकायाः सकाशात् क्वाऽपि पलायितौ। प्रयोजकौ मणिहरणे शतधन्वनः प्रवर्तकौ, तत्राऽक्रूरः कृष्णानुमतेनैव गतः। कृतवर्मा तु भक्तपक्षपातप्राकट्यभया दिवोपेक्षित इति गम्यते। कथ मन्यथा सर्वज्ञेश्वरवञ्चनं तयो स्सम्भवतीति॥ ३३॥

तदेवं श्रीवाराणस्यां दानपतिसमाख्यया मणिहस्तेऽक्रूरे रुक्मवेदिकै र्महाध्वरैः यजमाने निवसति सति[2] पुनः श्रीकृष्णेनैव प्रस्थापितोऽक्रूर इति कर्णे कर्णे जपति सति[3] जने सत्यभामारामादीनाम प्यविश्वासे जनसङ्ग्रहायाऽक्रूरं समाहूय[4] साक्षेपं श्रीकृष्णः प्राह — इदञ्च भगवन्मतं सङ्गोप्य केचन ऋषयोऽन्यत्कारण मक्रूरानयने वर्णयन्ति। त द्यथाश्रुतं दूषयितु मनुवदति अक्रूरे प्रोषिते इति॥ ३४ ॥

1. M.V. °काः 2. B.J omit सति 3. B.J omit सति 4. M.V omit सं

**वीर० उवासेति**। विभू रामः कतिचि त्समाः वत्सरा नुषितवान्। प्रासङ्गिक माह- तत इति। धृतराष्ट्रस्यापत्यं सुयोधनः तदा काले लब्धावसरे ततो रामात् गदा मशिक्षत् गदाधारणविद्यां गृहीतवा नित्यर्थः। सुयोधनं विशिनष्टि - मानित इति॥ ३०॥

सत्यभामाम प्यवञ्चय दित्याह-केशव इति। एत्य आगत्य। शतधन्वनो निधनं वधं मणेरलाभञ्च प्रियायाः सत्यभामायाः प्राह — प्रियकृत् प्रियं कुर्वन्निव॥ ३१ ॥

अक्रूर इति। प्रयोजकौ मणिहरणार्थं शतधन्वनः प्रवर्तकौ। हेतुगर्भ मिदम्। तत्त्वात् भयेन वित्रस्तौ कृतवेपथू द्वारकायाः सकाशात् व्यूषतुः प्रोषितवन्तौ। तत्राऽक्रूरः कृष्णानुमत एव गतः। कृतवर्मा तु भक्तपक्षपातप्राकट्यभया देवोपेक्षित इति गम्यते। कथ मन्यथा सर्वज्ञेश्वरवञ्चनं तयो स्सम्भवति॥ ३३ ॥

तदेवं वाराणस्यां दानपतिसमाख्यया मणिहस्तेऽक्रूरे रुक्मवेदिकै र्महाध्वरैः यजमाने निवसति सति कृष्णेनैव प्रस्थापितोऽक्रूर[1] इति कर्णे कर्णे जपति सति जने सत्यभामारामादीनामपि अविश्वासे जनसङ्गहाय अक्रूर माहूय साक्षेपं कृष्णः प्राह[2]- इदञ्च भगवन्मतं सङ्गोप्य केचन ऋषयोऽक्रूरानयने कारणान्तर मनुवर्णयन्ति। तद्दूषयितु मनुवदति मुनिः- अक्रूरे प्रोषिते इति, प्रोषिते देशान्तरं गते सति, द्वारकास्थानां जनानां शारीरा मानसा इत्याध्यात्मिकतापकीर्तनम्। तत्र शारीरा व्याधयः, मानसा आधयः, दैविका इत्याधिदैविकतापोक्तिः भौतिका इति त्वाधिभौतिकस्य॥ ३४ ॥

1. B °भादी० 2. B

विज० काले कृष्णवियोगसमये॥ ३०,३१ ॥

बन्धोः सत्राजितः। साम्परायिकाः प्रेतविषयाः॥ ३२ ॥

व्यूषतुः[1-] प्रवासं चक्रतुः[-1] प्रयोजकौ[2-] शतधन्वनः प्रेरकौ[-2]॥ ३३,३४

1- -1 B omits 2- -2 Ma omits

★ ततोऽपृच्छ द्धरि र्वृद्धा नुग्रसेनपुरोगमान्। कस्मा दिहाऽरिष्टा न्यासन् महता सुचिरेण नः॥
इत्यङ्गोपदिशन्त्येके विस्मृत्य[1-] प्रागुदाहृतम्।मुनिवासनिवासे[-1] किं[2-] घटेताऽरिष्टदर्शनम्[-2]॥ ३५ ॥

देवेऽवर्षति काशीशः श्वफल्कायाऽऽगताय वै[3]।
स्वसुतां गान्दिनीं प्रादा त्ततोऽवर्ष त्स्म[4] काशिषु॥ ३६ ॥

तत्सुत स्तत्प्रभावोऽसा वक्रूरो यत्र यत्र[5] ह।
देवोऽभिवर्षते तत्र नोपतापा न मारिकाः॥ ३७ ॥

इति वृद्धवचः श्रुत्वा नैतावदिह कारणम्।
इति दूतै[6-] स्समानीय[-6] प्राहाऽक्रूरं[7-] जनार्दनः[-7]॥ ३८ ॥

पूजयित्वाऽभिभाष्यैनं कथयित्वा प्रियाः कथाः।
विज्ञाताखिलचित्तज्ञः स्मयमान उवाच ह॥ ३९ ॥

★ This extra Verse is found only in M.Ma editions. 1- -1 M.Ma विस्मिता वै गदाभृतः 2- -2 M.Ma निवासनिकटे किं वा 3. M.Ma गाम्।; Ml.V ताम्। 4. K.W °त्स 5. M.Ma तत्र सः।; Ml.V यत्र सः। 6- -6 B.G.J. मत्वा समानाय्य; K.W दूतैः तमानीय 7- -7 M.Ma रामाऽक्रूरौ 8- -8 M.Ma अक्रूरं मानय न्कृष्णः 9.M.Ma तत्त्वज्ञः

**श्रीध०** दूषयति- **इतीति।** अङ्ग! हे राजन्! श्रीकृष्णमाहात्म्यं विस्मृत्येति तदेवाऽऽह-मुनिवासनिवास इति। मुनीनां वासो यस्मिन् स मुनिवासः[1]। श्रीकृष्णः तस्य निवासे सति अक्रूरापगममात्रेण अरिष्टदर्शनं किं घटेत? तदिच्छां विना न घटेतेत्यर्थः॥ ३५ ॥

पुनस्तन्मतमेवाऽनुवर्णयति- **देव** इति। काशिषु काशीदेशेषु[2] देवे मघवति अवर्षति सति॥ ३६,३७ ॥

**इतीति।** इत्येवम्भूत मक्रूरमहिमप्रतिपादनपरं वृद्धानां वाक्यं श्रुत्वा सत्यमेवं, तथाऽपि एतावदेव कारणं न भवति किन्तु मणेरप्यपगम इति मत्वे त्येतदन्तं परमतम्। वस्तुतस्तु[3] कृष्णलीलावशादेव इष्टाऽरिष्टादि दर्शनमिति शुकादिसम्मतमिति भावः[3]॥ ३८ ॥

**पूजयित्वेति।** विज्ञात मखिलं येन स चाऽसा वत एव चित्तज्ञश्च। अयम्भावः-महाभागवतस्याऽस्य मया दत्तेऽपि मणा वपेक्षा नाऽस्त्येव। यस्मा दाहूतो मणिना सहैवाऽऽगत इति ज्ञात्वेति॥ ३९ ॥

1 B.J omit मुनिवासः 2- -2 B.J. omit काशी 3- -3 B.J. omit

**वीर० इतीति।** अस्यातोऽक्रूर मानयामासेत्यादिः। एवमन्ये ऋषयः उपदिशन्ती त्यनुवादः। अथ अङ्गेति। अङ्ग! हे राजन्! प्रागुदाहृतं श्रीकृष्णमाहात्म्यं यत्र यत्र भगवा नवसत् न तत्र तापत्रयसम्भावना विस्मृ त्येत्थ मुपदिशन्तीत्यर्थः। तदेवाऽऽह मुनिवासनिवास इति। मुनीनां स्वनिवासदेशेषु तापत्रयनिवर्तकानां वासस्य आश्रयभूतस्य श्रीकृष्णस्य निवासे सति अरिष्टदर्शनं दुःखोत्प्रेक्षणं दुःखसम्भावनाऽपीति यावत्, किं घटेत? न घटत एवेत्यर्थः॥ ३५॥

अथाऽन्यदपि ऋषिमतं दूषयितु मनुवदति **देव** इत्यादिना श्रुत्वेत्यन्तेन। श्रुत्वेत्यनन्तर मतोऽक्रूर मानयामासेति शेषः। वृद्धवचः प्रदर्शनमेव-देव इत्यादिना इतीत्यन्तेन। पुरा किल काशिषु काशीदेशेषु देवे पर्जन्ये अवर्षति सति तद्देशाधिपतिः तत्राऽऽगताय श्वफल्काय स्वसुतां गान्दिनीं ददौ। तत स्स पर्जन्यः तद्देशेषु अवर्षत्॥ ३६ ॥

तत्सुतः श्वफल्कस्य सुतः तत्प्रभावः पितृतुल्यप्रभावोऽक्रूरो यत्र यत्र वसति तत्र तत्र देवोऽभिवर्षते, न तत्रोपतापा मारिका अपमृत्युहेतवश्च सन्ति॥ ३७ ॥

इत्येवंविधं वृद्धानां वचः आकर्ण्य अक्रूर मानयामासेति तद्दूषयति-नैतावदिति। सत्यमेवं, तथाऽपि एतावदेव, अक्रूरावस्थानमात्रमेव[1] तत्र वृष्टा वुपतापाद्यभावे च न कारणं, किन्तु मण्यवस्थानञ्चेति, इति दूतै रिति। इत्येवं सति अक्रूरे देशान्तरस्थे सतीत्यर्थः। दूतै रक्रूरं सम्यगानीय प्राह। स्वाभिमत मानयनकारणन्तु वक्ष्यमाणेन "किन्तु माम ग्रजः सम्यक् न प्रत्येति मणिं प्रति" (भाग. 10-57-42) इति भगवद्वचनेनैव स्फुटीभविष्यतीति अत्र नोक्तम्। यद्वा, अद्भुतचेष्टितो भगवान् अक्रूरानयनार्थं व्याजेन स्वनिवासभूतायामपि द्वारकायां तापत्रय मुत्पाद्य अङ्ग! हे आर्य! हे सत्यभामे, अहो अक्रूरे प्रोषिते सति अत्र तापा उपस्थिताः। तथा ह्यन्ये जनाः प्राङ्मयोदाहृतं मणिप्रभाव मविस्मृत्यैव मुपदिशन्ति। मुनिः मननशीलोऽक्रूरः, तस्य मणियुक्तस्य निवासः, तन्निवासे तत्समीपनिवासदेशेऽपि मणियुक्ताऽक्रूरनिवाससमीपदेशेऽप्यरिष्टदर्शनं[2] न घटत एव इत्युक्त्वा तथैव, देव इत्यादिरूपं वृद्धवचनं[3] श्रुत्वा अक्रूराऽवस्थानमात्रमेव[4] न कारणं किन्तु, मणेरपी त्येवं रामादिविश्वासार्थं वृद्धवचश्च विमृश्य दूतै रक्रूरमानयामासेत्याह-अक्रूर इत्यादिभिः पञ्चभिः। अस्मिन्पक्षे अविस्मृत्येति छेदः। अरिष्टदर्शन मित्यस्यानन्तर मित्युक्त्वेति शेषः। देवोऽभिवर्षते। तत्रेत्यस्य काशीदेशेप्वित्यर्थः॥ ३८ ॥

कथ मित्यत आह- **पूजयित्वेति।** एन मक्रूर मभिभाष्य सम्बोध्य विज्ञाताखिलचित्तज्ञः सर्वाभिप्रायज्ञा ये पुरुषाः ते येन विज्ञाताः स तथा। बुद्धिमत्पुरुषान्तर्गतवेदी महाभागवतस्याऽस्य मया दत्तेऽपि मणा वपेक्षा नास्त्येव। तस्मा दाहूतो मणिना सहैवाऽऽगत इति जान न्नित्यर्थः॥ ३९ ॥

1. B °रानव० 2. K.T.W वचः 3. B omits मात्र 4 K.T.W omit पञ्चभिः।

**विज०** इतिशब्दः प्रकारवचनः। अङ्गेति सम्बोधनम्। एके केचित् पूर्वपुरुषैरुक्तं पुराणवचन मुपदिशन्ति प्र० कथमिति तत्राऽऽह - गदाभृत इति। श्रीकृष्णस्य निवासनिकटे अरिष्टदर्शन मशुभदर्शनं घटेत? किञ्च न घटेत॥ ३५॥

स्वराष्ट्रे देवे पर्जन्ये, अवर्षति काशीशः काशीराजः स्वराष्ट्रं प्रति अ
नाम्ना गान्दिनीं स्वसुताञ्च प्रादात्॥ ३६ ॥

किमनेनेति तत्राऽऽह-**तत्सुत** इति। तत्प्रभावः श्वफल्कप्रभावः, अतोऽक्रूरो यत्र देशे तत्र देवोऽभिवर्षति तस्मिन्देशे उपतापादयो न भवन्ति॥ ३७ ॥

अवर्षणादिसम्भवेऽन्यच्च निमित्त मस्तीति भावेनोच्यते-नैतावदिति[1]। इह अवर्षणादौ एतावत् अक्रूरप्रवसनमेव कारणं न भवति, किन्तु स्यमन्तक[2-]क्रराऽऽ[-2]गमनञ्च कारणमिति च वृद्धवचः श्रुत्वा अक्रूरञ्च रामञ्च समानीयाऽऽनयित्वा॥ ३८,३९ ॥

1. M.Ma °तेति! 2- -2 B.M °कग०

**ननु दानपते न्यस्त स्त्वय्याऽऽस्ते[1] शतधन्वना।**
**स्यमन्तको[2] मणिः श्रीमान् विदितः पूर्वमेव नः॥ ४० ॥**

सत्राजितोऽनपत्यत्वा द्गृह्णीयु र्दुहितुः सुताः।
दायं निनीयाऽपः पिण्डान् विमुच्यर्णश्च शेषितम्॥ ४१ ॥

तथाऽपि दुर्धरो ह्यन्यैस्त्वय्यास्तां सुव्रते मणिः।
किन्तु मा मग्रज स्सम्यङ् न प्रत्येति मणिं प्रति॥ ४२ ॥

दर्शयस्व महाभाग बन्धूनां शान्ति मावह।
अविच्छिन्ना मखास्तेऽद्य वर्तन्ते रुक्मवेदयः॥ ४३ ॥

एवं सामभि रालब्धः श्वफल्कतनयो मणिम्।
आदाय वाससा छन्नं ददौ सूर्यसमप्रभम्॥
स्यमन्तकं दर्शयित्वा ज्ञातिभ्यो रज आत्मनः॥ ४४ ॥

1. M.Ma °व्यसौ 2. MI.V. °क 3. M.Ma °र्णमशेषितः। 4. MI.V. °र्भ० 5. B.G.J.K.W °रस्त्वन्यै° 6. M.Ma प्रापितो 7. B.G.J.M.Ma °व्यु० 8. M.Ma °र०

**श्रीध०** ततः किमत आह-**सत्राजित** इति। अपः पिण्डांश्च निनीय दत्वा, ऋणञ्च विमुच्याऽपाकृत्य शेषित मवशिष्टं दायं दुहितुः सत्यभामायाः सुता गृह्णीयुरिति शास्त्रम्। तथा च स्मरन्ति- "पत्नी दुहितर श्चैव पितरो भ्रातर स्तथा। तत्सुता गोत्रजा बन्धुः शिष्या स्स ब्रह्मचारिणः॥" (याज्ञ. स्मृ. 2-135) इति॥ ४०,४१ ॥

**तथेति।** अग्रजोऽपि न प्रत्येति न विश्वसितीति॥ ४२ ॥

**दर्शयस्वेति।** नास्तीति च न वक्तव्यम्। यतोऽविच्छिन्नाः सन्तता मखा वर्तन्त इति॥ ४३ ॥

**एवमिति।** आलब्ध उक्तो, हृदि स्पृष्ट इति वा। स्यमन्तक इति। रजो मिथ्याभिशापम्॥ ४४ ॥

1. MI.V स्मृतिः 2. B.J °व्यु०

**वीर०** उक्तिमेवाऽऽह-**नन्विति** चतुर्भिः। हे दानपते! अक्रूरस्यैव इदं नामान्तरम्। स्यमन्तकमणिः शतधन्वना त्वयि निहितः अधुना आस्ते च, नोऽस्माकं पूर्वमेव शतधन्वनो वधात् प्रागेव विदितः॥ ४० ॥

ततः किमत आह-**सत्राजित** इति। अनपत्यत्वात् अपुत्रकत्वात् तस्य दुहितुः सुता दौहित्राः तस्य अपः तिलोदकानि पिण्डांश्च निनीय दत्वा ऋणं विमुच्याऽपाकृत्य अवशेषितं सर्वं दायं रिक्थं गृह्णीयुः ऋणापाकरणे यावदपेक्षितं, तदतिरिक्तं सर्व मपुत्रस्य धनं दौहित्राः गृह्णीयु रित्ययं शास्त्रार्थ इत्यर्थः॥ ४१ ॥

**तथापीति।** तथाऽपि एवं शास्त्रार्थेऽपि मणि स्त्वय्येवाऽऽस्तां तवैव[2] तिष्ठतु न तु तद्दीहित्रे गृह्यते इत्यर्थः। तत्र हेतुं वदन् मणिमक्रूरश्च विशिनष्टि-अन्यैः धर्तुमशक्यः सुव्रते शोभनं व्रतमाचारो यस्मिन तस्मिन् त्वयि। किन्त्वग्रजो रामः मणिं प्रति सम्यक् न प्रत्येति न विश्वसिति, मणिमहं तिरोधापितवानि त्याशङ्कते इति भावः॥ ४२ ॥

अतो हे महाभाग्यवन्! दर्शयस्व, मणिमिति शेषः। शान्तिं चित्तसमाधि मावह सम्पादय। नाऽस्तीति मा वोचः इत्याह-अविच्छिन्ना इति। यतस्ते स्वर्णवेदयः सन्तता मखा यज्ञाश्च वर्तन्ते प्रवर्तन्ते, अतोऽस्त्येवेत्यनुमिनोमीत्यर्थः॥ ५३॥

**एवमिति।** इत्थं सामोक्तिभिः आलब्धः हृदि स्पृष्टः ददौ, कृष्णायेति शेषः।ग्यमन्तकमिति। विभुः श्रीकृष्णो ज्ञातिभ्यो रामादिभ्यः आत्मनः स्वस्य रजः मिथ्याभिशापम्॥ ४४ ॥

---

1. K.T.W omit अयं 2. T.W °थै०

**विज०** किं कृत्वा स्वीकुर्युरिति तत्राऽऽह-निनीयेति। अपः पिण्डांश्च निनीय दत्वा अशेषतः पित्रादिविषयमृणञ्च विमुच्य गृह्णीयुरिति पूर्वेणान्वयः॥ ४०,४१ ॥

तर्हि तथाऽस्त्विति, नेत्याह-किन्त्विति। प्रत्येति विश्वासं करोति। "प्रत्ययस्तु ख्यातिरन्ध्र विश्वासाधीनहेतुषु॥"(वैज.को.7-1-51) इति॥ ४२ ॥

शान्तिं मङ्गलं, "शान्तिः प्रशममङ्गले" (वैज.को.6-2-39) इति वर्तन्ते। तथेति शेषः। रुक्मवेदयः सुवर्णमेखलाः॥ ४३॥

आरब्धः उक्तः। रजो मिथ्यावादलक्षणां धूलिम्॥ ४४॥

★मार्जयामास लोकेश अभिभाष्य हलायुधम्।
दृष्ट्वा मणिं हलधर स्तदर्थं प्रोष्य आगतः॥ ४५ ॥

योग्योऽहमिति मन्वान श्चकमे कुरुपुङ्गव।
सत्यभामा पितृधनं मन्वाना स्वात्मनोचितम्॥ ४६ ॥

ग्रहीतु मैच्छ द्विस्रब्धं हरे श्चित्तमजानती।
जाम्बवत्यपि शुल्कार्थं पित्रा दत्त म्ममेति ह ॥ ४७ ॥

स्पृहाश्चक्रे मणौ तस्मिन् सर्वं विज्ञाय माधवः।
अक्रूरस्य करे भूयो मणिं प्रत्यर्पय द्विभुः॥ ४८ ॥

△ विमृज्य[1] पाणिना[2] भूय स्तस्मै प्रत्यार्पय[3] त्प्रभुः॥ ४९ ॥

यस्त्वेतद्भगवत ईश्वरस्य विष्णोः वीर्याढ्यं[4] वृजिनहरं सुमङ्गलश्च।
आख्यानं पठति शृणो त्यनुस्मरे द्वा दुष्कीर्तिं दुरितमपोह्य याति शान्तिम्॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
स्यमन्तकोपाख्याने सप्तपञ्चाशोऽध्यायः॥ ५७ ॥

★ These additional four Verses are found in M.Ma editions only. △ This half verse is not found in M.Ma editions
1--1 K.W प्रमृज्य 2. B.G.J.MI.V मणिना 3. B.G.J. MI.V.W °त्य० 4. M.Ma °ख्यं

**श्रीध० विमृज्येति।** सम्मृज्य अन्यै र्दुर्धर इत्यादिमिषेण प्रीत्या भूय स्तस्मै प्रत्यर्पितवानिति॥ ४५-४९ ॥

**यस्त्विति।** दुष्कीर्तिं तन्मूलं दुरितञ्चेति॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
सप्तपञ्चाशोऽध्यायः॥ ५७ ॥

**वीर०** प्रमृज्य अपास्य पाणिना स्वहस्तेनैव पुन स्तस्मै अक्रूराय मणिं प्रत्यार्पयत्[1] ददौ॥ ४५-५९ ॥

उक्ताख्यानकथनश्रवणस्मरणादिफलं वदन् निगमयति -**यस्त्विति।** विष्णो वीर्येण प्रभावप्रकाशनेन आढ्यं युक्तं, वदतां शृण्वतां स्मरताञ्च पापहरम्। अनेनाऽनिष्टनिवर्तकत्वमुक्तम्। सुमङ्गलं मङ्गलावहञ्चेत्यनेन इष्टप्रापकत्वम्। यः पुमान् एवंविध माख्यानं वदेत् शृणुयात् अनुस्मरेद्वा, स दुष्कीर्तिं दुरितञ्च निरस्य मनश्शान्तिं मुक्तिसाधनभूतां याति प्राप्नोति॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां सप्तपञ्चाशोऽध्यायः॥ ५७ ॥

1. B.T.W °त्य०

**विज०** तदर्थं मणिनिमित्तम्॥ ४५ ॥

स्वात्मना इति तृतीया षष्ठ्यर्थे॥ ४६ ॥

स्नेहा द्विस्रब्धं विश्वस्तम्॥ ४७ ॥

फलमाह-**य** इति। शान्तिं मुक्तिम्॥ ४८-५०

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
सप्तपञ्चाशोऽध्यायः॥ ५७ ॥

(विजयध्वजरीत्वा एकषष्टितमोऽध्यायः)

# अष्टपञ्चाशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या द्विषष्टितमोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच[1-1]

एकदा पाण्डवा न्द्रष्टुं प्रतीता न्पुरुषोत्तमः।
इन्द्रप्रस्थं गतः श्रीमान् युयुधानादिभि र्वृतः॥ १ ॥

दृष्ट्वा त मागतं पार्था मुकुन्द मखिलेश्वरम्।
उत्तस्थु र्युगपद्वीराः प्राणा[2] मुख्य मिवागतम्॥ २ ॥

परिष्वज्याऽच्युतं वीरा अङ्गसङ्गहतैनसः।
सानुरागस्मितं वक्त्रं वीक्ष्य तस्य मुदं ययुः॥ ३ ॥

युधिष्ठिरस्य भीमस्य कृत्वा पादाभिवन्दनम्।
फल्गुनं[3] परिरभ्याऽथ यमाभ्यां चाऽभिवन्दितः[4-4]॥ ४ ॥

परमासन[5] आसीनं कृष्णा कृष्ण मनिन्दिता।
नवोढा व्रीडिता किञ्चित् शनै रेत्याभ्यवन्दत॥ ५ ॥

1- -1 MI.V. omit 2. M.Ma प्राणं 3. B.G.J.M.Ma फा० 4- -4 K.W. अभिवादितः; M.Ma अभिवन्दितः; MI.V चाभिवादितः 5. K.M.Ma MI.V.W. ०नमा०

## श्रीधरस्वमिविरचिता भावार्थदीपिका

अष्टपञ्चाशत्तमे तु कृष्णः पञ्च करेऽग्रहीत्। कालिन्दीं मित्रविन्दां च सत्यां भद्रां च लक्ष्मणाम्।

कालिन्दीं निजलाभाय तपः पर मुपेयुषीम्। परिणेष्यन् प्रियावासम् इन्द्रप्रस्थमथाऽगमत्॥

एकदेति। प्रतीतान् नष्टानपि द्रुपदगृहे[1] पुनः सर्वे दृष्टान्। युयुधानः सात्यकिः॥ १ ॥

**दृष्ट्वेति**। प्राणा इन्द्रियाणि मुख्यं पञ्चवृतिं प्राणमिव॥ २,३ ॥

**यधिष्ठिरस्येति**। ज्येष्ठयोः प्रणामं कृत्वा समेनाऽऽलिङ्गितः कनिष्ठाभ्या मभिवन्दितो बभूव॥ ४ ॥

**परमिति**। कृष्णा द्रौपदी। अनिन्दिता[2] बहुभार्या सत्यपि निन्दारहिता। पार्थै र्नव मचिरम् ऊढा परिणीता॥ ५॥

1. M.V. गेहे 2. B.J. omit अनिन्दिता

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ भगवतः कालिन्दीमित्रविन्दानाग्नजितीभद्रालक्ष्मणानां विवाहं वर्णयति अष्टपञ्चाशत्तमेन। ताव त्कालिन्दी विवाहोपोद्घात माह- **एकदेत्यादिना** अथोपयेमे इत्यतः प्राक्तनेन। प्रतीतान् नष्टा इति श्रुतानपि पुनः द्रुपदगृहे सर्वै र्दृष्टान् पाण्डवान् द्रष्टुं युयुधानः सात्यकिः आदि र्येषां तैः यदुभिः परिवृतः इन्द्रप्रस्थं ययौ॥ १ ॥

**दृष्ट्वेति**। पृथायाः कुन्त्याः अपत्यानि वीराः युधिष्ठिरादयः तमागतं कृष्णं दृष्ट्वा युगप दुत्तस्थुः यथा प्राणा इन्द्रियाणि आगतं मुख्यं पञ्चवृत्तिप्राण मनूत्तिष्ठन्ति तद्वत्॥ २ ॥

**परिष्वज्येति**। प्रीता स्त मच्युत मालिङ्ग्य अच्युतस्याऽङ्गसङ्गेन हतानि एनांसि पापानि येषां ते पार्थाः तस्यानुरागेण सहितं स्मितं यस्मिन् तत् मुख मवलोक्य मुदं हर्षं प्रापुः॥ ३ ॥

**युधिष्ठिरस्येति**। पादाभिवन्दनं कृत्वा तयो रधिकवयस्कत्वा[1] दिति भावः। फल्गुनं[2] अर्जुनं[3] परिरभ्याऽऽलिङ्ग्य तस्य तुल्यवयस्कत्वात्, यमाभ्यां यमलाभ्यां नकुलसहदेवाभ्यां अभिवादितः नमस्कृतः तयो र्न्यूनवयस्कत्वा[4] दिति भावः॥ ४॥

**परमासनमिति**। कृष्णा द्रौपदी नवोढा नव मचिर मूढा विवाहिता, अत एव किञ्चिद्वीडिता सती शनैः आगत्य कृष्ण मभ्यवन्दत ननाम॥ ५ ॥

1. K.W. °स्त्वात् 2 B. फा० 3. K.W. °स्त्वात् 4. K.W. °स्त्वात्

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

तत्तदधिकारिणां तत्तद्योग्यगुणोपसंहारार्थं भक्तवात्सल्यादिविशेषं कथयति कतिपये ष्वध्यायेषु। तत्राऽऽदौ हरे र्भक्तवात्सल्यं दर्शयितुमाह- **एकदेति**। एकदा कस्मिंश्चि दवसरे प्रतीतान् शौर्यादिगुणेन प्रख्यातान् कोविदान् वा। भगवद्भक्त्याभरणेन भूषितान्वा। "प्रतीतो भूषिते ख्याते ज्ञाते प्रत्ययिते बुधे" (वैज-को-7-4-16) इति यादवः। "प्रतीते प्रथितख्यातवित्तविज्ञात कोविदाः(विश्रुताः)" (अम.को.3-10) इत्यमरः ॥ १ ॥

मुकुन्दं मुक्तिप्रदं शरीरं प्रति आगतं प्रविष्टं मुख्यप्राणं दृष्ट्वा चक्षुरादीन्द्रियाणि यथोत्तिष्ठन्ति॥ २ ॥

अच्युतस्याङ्गसङ्गेन ॥ ३,४ ॥

कृष्णा द्रौपदी॥ ५ ॥

तथैव सात्यकिः पार्थैः पूजित श्चाभिवन्दितः।
निषसादाऽऽसनेऽन्ये च पूजिताः पर्युपासत॥ ६ ॥

पृथां समागत्य कृताभिवादन स्तयाऽतिहार्दार्द्रदृशाभिरऽम्भितः।
आपृष्टवांस्तां कुशलं सहस्नुषां पितृष्वसारं परिपृष्टबान्धवः॥ ७ ॥

तमाह प्रेमवैक्लव्यं रुद्धकण्ठाश्रुलोचना।
स्मरन्ती तान्बहून् क्लेशान् क्लेशापायात्मदर्शनम्॥ ८ ॥

तदैव कुशलं नोऽभूत्सनाथास्ते कृता वयम्।
न्नः स्मरता कृष्ण भ्राता मे प्रेषित स्त्वया॥ ९ ॥

★ पाञ्चालेषु स्थिता नस्मान् स्वयंवरकृते यदा।
अनुस्मृत्याऽऽगतो यस्त्वं तेन स्माऽऽसं सुखोषिता॥ क ॥

इत्युक्तायां तदा कुन्त्यां प्राह योगेश्वरः स्वयम्।
पाञ्चालेषु स्थितानेत्य सुतांस्ते च्छद्मरूपिणः॥ ख ॥

कुम्भकारस्य शालाया मुषिता न्सह भार्यया।
दृष्ट्वा गतोऽहं दिवसे तस्मिन्नेवाऽविलम्बितः॥ ग ॥

निहन्तुं शतधन्वानं सत्यभामापितु र्द्रुहम्।
शतधन्वनि दुर्बद्धौ हते सीरधरोऽग्रजः॥ घ ॥

कुपितो मा मनादृत्य विदेहा न्विमना ययौ।
एतावन्तं महाकालं तदाऽऽगमनकाङ्क्षया॥ ङ ॥

पुर एवाऽवसं क्वापि नाऽऽगच्छं कार्ययन्त्रितः।
इ त्येवंवादिनं कुन्ती प्राह स्नेहपरिप्लुता॥ च ॥

न तेऽस्ति स्वपरभ्रान्तिः[10-] [-10] विश्वस्य सुहृदात्मनः।
तथाऽपि स्मरतां शश्वत्[11] क्लेशा न्हंसि हृदि स्थितः॥ १० ॥

1. M.Ma °ते 2 M.Ma °म्य 3.K.M.Ma.W. वन्दन 4. M.Ma °स्तत्कु० 5. M.Ma o °व्यं० 6. Ml.V. °हुक्ते० 7. V. °दे० 8- -8 M.Ma ०भूद्यत्सनाथाः 9. M.Ma °तुं नः ★ These six slokas from क to च are found only in M.Ma editions 10- -10 M.Ma.W. स्वः पर इति 11 M.Ma.W. सर्वान्

**श्रीध० पृथामिति।** अतिहार्दिन स्नेहेनार्द्रे सजले दृशौ यस्या स्तया परिष्वक्तः। तया परिपृष्टा बान्धवा यस्य सः॥ ६,७ ॥

**तमिति।** प्रेम्णा वैक्लब्यं तेन रुद्धः कण्ठो यस्याः, क्लेशापाये आत्मनि दर्शनं यस्य तम्, भजतां क्लेशापायाय आत्मानं दर्शयतीति वा ॥ ८ ॥

**तदैवेति।** ज्ञातीन् बन्धून् नोऽस्मान्। यदा भ्राताऽक्रूरः प्रेषितः॥ ९ ॥

ज्ञातीनिति वचनात् प्राप्तं मोहं वारयन्ती स्तौति-**न तेऽस्तीति।** तत्र हेतुः- विश्वस्येति। सुहृच्च आत्मा च तस्य। हंसि नाशयसि॥ १० ॥

**वीर० तथैवेति।** यथा कृष्णः तथा सात्यकिश्च यथायोग्यं पूजितः बहुमतः अभिवन्दितश्च निषसाद उपविष्टवान्। तथाऽन्ये च यदवः पार्थैः पूजिताः कृष्णं परित उपासत॥ ६ ॥

**पृथामिति।** [1-]ततश्च भगवान्[-1] पृथां कुन्तीं समभ्येत्य कृत मभिवन्दनं येन सः। अतिस्नेहेनार्द्रे सजले दृशौ यस्या स्तया पृथया अभिरम्भितः परिष्वक्तः पितृभगिन्या पृथया परिपृष्टाः कुशलप्रश्नविषयाः बान्धवा वसुदेवादयो यस्य सः, सहस्नुषां पुत्रभार्यासहितां तां पृथा मापृष्टवान् कुशलं पप्रच्छ॥ ७ ॥

**तमिति।** प्रेम्णा वैक्लब्य मधार्ष्ट्यं, तेन रुद्धः कण्ठो यस्या स्सा, अश्रु[2] लोचनयोः यस्या स्सा पृथा तान् भूतपूर्वान् क्लेशान् स्मरन्ती क्लेशापायायाऽऽत्मानं दर्शयतीति तथा तं कृष्णं प्राह[3]॥ ८ ॥

उक्तिमेवाह- **तदैवेति।** नोऽस्माकं कुशलमभूत्, तथा वयं ते त्वया सनाथाश्च कृताः। कदा? यदा ज्ञातीन् बन्धून् नोऽस्मान् स्मरता त्वया मम भ्राता अक्रूरः प्रेषितः॥ ९ ॥

ज्ञाती नित्यनेन प्राप्तां ममतां वारयितु माह- **नेति।** ते तव स्वः पर इति च भ्रान्ति र्नास्ति। तत्र हेतुः- विश्वस्येति। जगतः सुहृच्च आत्मा अन्तरात्मा च तस्य। कथं तर्हि युष्मान् स्मरामी त्यत आह-तथाऽपीति। स्वपरभ्रान्त्यभावेऽपि स्मरतां भक्तानां हृदि स्थित स्त्वं शश्वत् सदा क्लेशान् हंसि नाशयसि॥ १० ॥

1- -1 K.W. omit 2. B अश्रूणि 3. B.W आह

विज० तस्यै कृताभिवन्दनः अभिरम्भितः आलिङ्गितः परिपृष्टबान्धवः, तयेति शेषः ॥ ६,७ ॥

क्लेशापायात्मदर्शनं क्लेशनाशकरस्वरूपदर्शनं, जतुगृहादा वनुभूतान् तांश्च बहून् क्लेशान् स्मरन्ती तं कृष्ण माहे त्यन्वयः॥ ८॥

किमत्राह-**तदैवेति**। हे कृष्ण! यद्यदा स्मरतां नो वृत्तं ज्ञातुं त्वया यदा मे भ्राता अक्रूरः प्रेषितः तदैवास्माकं, कुशल मभूदि त्यन्वयः, कथमेत दत्राह-यदिति। यदि त्युत्तरत्रापि सम्बध्यते हेतुत्वेन, अस्मत्कुशलं स्मरता त्वया सनाथाः स्वामिवन्तः कृता इति य त्पाण्डवाना मुपद्रवो न कर्तव्यः, यत स्ते कृष्णनाथा अस्मान् घ्नन्तीति॥ ९ ॥

किञ्च, यदा स्वयंवरकृते पाञ्चालेषु स्थिता नस्मा ननुस्मृत्य यस्त्व मागतः तदा तेन त्वया त्वद्गुणानसंस्मृत्याऽहं सुखोषिता आसम् इत्यन्वयः॥ क ॥

इदानी मागमनविलम्बः किमिति कृत इति कुन्त्या हार्दशङ्कां परिहर न्नाह- **इतीति**। (ख,ग)

सीरधरो हलधरः बलभद्र इत्यर्थः। (घ,ङ)

कार्ययन्त्रितः कार्यवशः। ईश्वरस्य तव इदं वचनं लोकचेष्टानुसारि, न तु तथ्यमिति भावेन प्रतिवक्ति इतीति। (च)

स्वः स्वकीयः परः परकीयः शत्रुपक्षभवः, शत्रुमित्रविभागाभावे जनार्दनो मुरारिः मधुसूदनः पार्थसारथि रित्यादीनि नामानि विक्रमनिमित्तानि कथम्? अत्राह तथापीति॥ १० ॥

**युधिष्ठर उवाच**

**★ किं न आचरितं श्रेयो न वेदाऽहमधीश्वर!॥**
**योगेश्वराणां दुर्दर्शो य न्नो दृष्टः कुमेधसाम्॥ ११ ॥**

**इति वै वार्षिका न्मासान् राज्ञा सोऽभ्यर्थित स्सुखम्।**
**जनय न्नयनानन्द मिन्द्रप्रस्थौकसां विभुः॥ १२ ॥**

**एकदा रथ मारुह्य विजयो वानरध्वजम्।**
**गाण्डीवं धनु रादाय तूणौ चाऽक्षयसायकौ॥ १३ ॥**

**साकं कृष्णेन सन्नद्धो विहर्तुं विजनं वनम्।**
**बहुव्यालमृगाकीर्णं प्राविश त्परवीरहा॥ १४ ॥**

तत्राऽविध्य च्छरै र्व्याघ्रा न्सूकरा न्महिषा न्रुरून्।
शरभा न्गवयान्खड्गान्हरिणाञ्छशशल्यकान्॥ १५ ॥

1- -1 M.Ma omit ★ This Verse is not found in M.Ma editions 2. Ml.V. °रः। 3. M.Ma °र्चि० 4. Ml.V. जः। 5. Ml.V.W तूणी 6. B. गहनं, G.J.M.Ma.Ml.V. विपिनं 7. Ml.V. महत् 8. B.G.J. °ल्ल०

**श्रीध० किमिति।** कुमेधसां विषयासक्तचित्तानां दृष्टोऽसि॥ ११ ॥

**इतीति।** सुख मवसदिति शेषः। सुखमभ्यर्थित इति वा क्रियासमाप्तिः॥ १२ ॥

कालिन्दीसन्दर्शनप्रसङ्ग माह- **एकदेति।** अक्षयाः सायका ययो स्तौ तूणौ इषुधी॥ १३-१५ ॥

1. B.J. omit सं 2 Ml.V. तूणी

**वीर०** अथ युधिष्ठिरः प्राह-**किमिति।** हे अधीश्वर! नः अस्माभिः किं पुण्यम् आचरितं कृतमिति न वेद्मि, कृतं पुण्य मीदृशमिति न वेद्मि। किन्तु सामान्यतो महत्पुण्यं कृतमेवेति तु वेद्मीति भावः। कुतः? यत् यस्मात् योगीश्वराणामपि द्रष्टु मशक्यो भवान् कुमेधसां विषयासक्तचित्ताना मस्माकं दृष्टः॥ ११ ॥

**इतीति।** इति इत्थं राज्ञा युधिष्ठिरेण अभ्यर्थितो बहुमतः स भगवान् वार्षिकान् मासान् सुखं यथा तथा, न्यवस दिति शेषः॥ १२ ॥

कालिन्दीदर्शनप्रसङ्ग माह-**एकदेति।** तदैकदा विजयोऽर्जुनः वानरो हनूमत्प्रतिकृतिः ध्वजे यस्मिन् तं रथ मारुह्य अक्षया अक्षीणाः सायका ययो स्तौ तूणौ इषुधी चाऽऽदाय सन्नद्धः कवचितः कृष्णेन सहितो विहर्तुं निर्जनं वनं प्राविशत्। व्याला स्सर्पाः गजा वा, अयं वक्ष्यमाणकथायाः यदा च "यदैव कृष्ण स्सन्दिष्टः" (भाग. 10-58-24) इत्यदिकायाः पाश्चात्यवृत्तान्तः खाण्डवदहना त्पूर्वं गाण्डीवप्राप्तचनुपपत्तेः॥ १३,१४ ॥

**तत्रेति।** तत्र वने शरैः व्याघ्रादी नविध्य ज्जघान॥ १५ ॥

1. K.W. omit नः 2. K.W. omit इति 3. B. हनु०

**विज०** इति संलापे वार्षिकान् वर्षाकालसम्बन्धिनः, राज्ञाऽभ्यर्चितः, उवासेति शेषः॥ ११-१३ ॥

विपिनं गम्भीरम्॥ १४ ॥

महिषान् वनमहिषान् रुरून् कृष्णमृगान् शरभान् अष्टपदान् खड्गान् मृगविशेषान् हरिणान् सामान्यमृगान् शल्यकान् शललान्॥ १५ ॥

ता न्निन्युः किङ्करो राज्ञे मेध्या न्पर्व ण्युपागते।
तृट्परीतः परिश्रान्तो बीभत्सु र्यमुना मगात्॥ १६ ॥

तत्रोपस्पृश्य विशदं पीत्वा वारि महारथौ।
कृष्णौ ददृशतुः कन्यां चरन्तीं चारुदर्शनाम्॥ १७ ॥

ता मासाद्य वरारोहां सुद्विजां रुचिराननाम्।
पप्रच्छ प्रेषितः सख्या फल्गुनः प्रमदोत्तमाम्॥ १८ ॥

का त्वं कस्याऽसि सुश्रोणि कुतो वा किं चिकीर्षसि।
मन्ये त्वां पति मिच्छन्तीं सर्वं कथय शोभने॥ १९ ॥

कालिन्द्युवाच

अहं देवस्य सवितु र्दुहिता पति मिच्छती।
गुं वरेण्यं वरदं तपः परम मास्थिता॥ २० ॥

1- -1 K.W. ततः क्षुत्तृट्2- -2 M.Ma मृष्टमणिप्रभम्। 3. J.M.Ma ददर्शतुः 4. MI.V.W लोचनाम् 5 M.Ma. सुदर्ती 6 B.G.J.M.Ma फा० 7 MI.V. कल्याणि 8 B.G.J °ऽसि 9. K.W कन्ये! M.Ma कन्यां

**श्रीध० तानिति।** राज्ञे युधिष्ठिराय, मेध्यान् कर्मार्हान्, बीभत्सु रर्जुनः॥ १६,१७ ॥

**तामिति।** सख्या श्रीकृष्णेन॥ १८-२० ॥

**वीर० तानिति।** तत्र मेध्यान् कर्मार्हान् मृगान् राज्ञे युधिष्ठिराय किङ्कराः निन्युः प्रापयामासुः। भक्षणार्थत्वशङ्कां व्युदस्यति-पर्व ण्युपागत इति। पर्वप्रयुक्तकर्म ण्युपस्थिते सतीत्यर्थः। ततः क्षुत्तृड्भ्यां अशनायापिपासाभ्यां परिश्रान्तो बीभत्सुः अर्जुनः यमुनां जगाम॥ १६ ॥

उपस्पृश्य स्नात्वा महारथौ कृष्णार्जुनौ विशदं निर्मलं वारि जलं पीत्वा चारु सुन्दरं दृश्यत इति तथा तां चरन्तीं काञ्चि त्कन्यां ददृशतुः॥ १७ ॥

**तामिति।** सख्या कृष्णेन प्रेषितः फल्गुनोऽर्जुनः शोभना द्विजाः दन्ताः यस्याः, रुचिरमाननं यस्या स्तां वरमाकाङ्क्षन्तीम् इव स्थितां प्रमदोत्तमां पप्रच्छ॥ १८ ॥

प्रश्नमेवाह- **का त्वमिति।** त्वं कस्याऽसि? कस्य सम्बन्धिन्यसि? किं कर्तु मिच्छसि? अहं तु पतिं मिच्छन्तीं कन्यां त्वां मन्ये, हे शोभने! कथय॥ १९ ॥

7- -7 उत्तरमाह— **अहमिति** त्रिभिः[8]। सवितु रादित्यस्य दुहितेति कस्याऽसीत्यस्योत्तरम्। किञ्चिकीर्षसी त्यस्योत्तरमाह-
9- -9 पतिमित्यादि। वरेण्यं वरणीयं विष्णुं पतिं कामयमाना परमं तप आस्थिता॥ २० ॥

1. B. omits त्व 2 B. omits वारि 3 B फा० 4 B. °ङ्क्षमाणाम् 5- -5 B omits 6 K.W omit त्वं 7- -7 W. omits 8 W. omits त्रिभिः। 9- -9 B omits.

**विज०** राज्ञे युधिष्ठिराय पर्वणि श्राद्धोचिते यजनकाले वा॥ १६ ॥

कृष्णौ यादवेन्द्रार्जुनौ॥ १७ ॥

सख्या कृष्णेन॥ १८ ॥

कन्यां दीप्ता मुत्पन्नरजसम् अत एव पतिं कामयमानां, 'कन दीप्तौ' इति धातुः। "अनवाप्तपतिः कन्या जातवीर्या वरार्थिनी" इत्युत्पलमाला॥ १९ ॥

वरेण्यं प्रार्थनीयम्॥ २० ॥

**नाऽन्यं पतिं वृणे वीर तमृते श्रीनिकेतनम्।**
**तुष्यतां मे स भगवान् मुकुन्दोऽनाथसंश्रयः[1]॥ २१ ॥**

**कालिन्दीति समाख्याता वसामि यमुनाजले।**
**निर्मिते भवने पित्रा यावदच्युतदर्शनम्॥ २२ ॥**

**तथाऽवद द्गुडाकेशो वासुदेवाय सोऽपि ताम्।**
**रथ मारोप्य तद्विद्वा न्धर्मराज मुपागमत्॥ २३ ॥**

★ **वसं स्तत्र हृषीकेशः शक्रप्रस्थे यथासुखम्।**
**विश्वकर्माण माहूय शिल्पविद्याविशारदम्॥ क ॥**

**अद्भुतं कारयामास नगरं धर्मसूनवे।**
**स प्रासादपुरद्वारगोपुराट्टालतोरणम्॥ ख ॥**

**पुरन्दरपुरप्रख्यं स्वानां प्रियचिकीर्षया।**
**अथ पार्थै रनुज्ञातः सुहृद्भिः स्वजनान्वितः॥ ग ॥**

यदैव[2] कृष्णः सन्दिष्टः पार्थानां परमाद्भुतम्।
कारयामास नगरं विचित्रं विश्वकर्मणा॥ २४ ॥

भगवां स्तत्र निवस न्स्वानां प्रियचिकीर्षया।
अग्नये खाण्डवं दातु मर्जुनस्याऽऽस सारथिः॥ २५ ॥

1 M.Ma वत्सलः★ These three extra Verses are found in M.Ma only • 'यदैव कृष्णः, इत्यारभ्य, अर्जुनस्याऽऽस सारथिः' इति श्लोकपर्यन्तं M.Ma प्रकाशेषु नास्ति। 2. K.W यदा च

**श्रीध०** अयं मां कामयेतेति[1-] शङ्कया आह[-1]— **नाऽन्यमिति**॥ ॥ २१,२२ ॥

**तथेति**। आदावेव तद्विद्वान्॥ २३ ॥

प्रसङ्गात् तात्कालिकं[2] चरित्रान्तर माह- **यदैवेति**। पार्थैः यदैव सन्दिष्टो विज्ञापितः श्रीकृष्ण स्तदैव तेषां विश्वकर्मणा देवशिल्पिना नगरं कारयामास॥ २४ ॥

**भगवानिति**। किञ्च, भगवान् निरतिशयैश्वर्यगुणवानपि अर्जुनस्य धनुरादिलाभाय सारथि रास। खाण्डवं नामेन्द्रस्य वनम्॥ २५ ॥

1- -1 B.J ° येदित्याशङ्काया माह 2. B.J. तत्कालीनं

**वीर०** बहुषु सत्सु किं विशेषेण विष्णुमेव कामयसे इत्यत आह-**नाऽन्यमिति**। हे वीर! तं विष्णुम् ऋते विना अन्यं न वृणे, तत्र हेतुं वदन्ती तं विशिनष्टि- श्रियो निकेतनम् आश्रयं, श्रीर्हि सर्वोत्तमं तमेवाश्रितवती। अतोऽहमपि तमेव वृणे इति भावः। दुर्लभस्स कथं त्वदिच्छामात्रेण लभ्यत इत्यत आह-तुष्यतामिति। तत्र हेतुः, अनाथाना मनन्यनाथानां संश्रयः॥ २१ ॥

अथ का त्व मित्यस्योत्तरमाह- **कालिन्दीति**। पित्रा सवित्रा याव दच्युतस्य श्रीकृष्णस्य दर्शनं ताव न्निवसामि॥ २२॥

**तथेति**। गुडाकेशोऽर्जुनः वासुदेवार्थं तां कन्यां रथ मारोप्य तद्भगवदभिप्रेतं जानन्॥ २३ ॥

अथार्जुनाय गाण्डीवादिप्रदानात्मकं भगवच्चेष्टितमाह- **यदेति**। सन्दिष्ट आदिष्टः पार्थै रिति विभक्तिविपरिणामः। कृष्णः प्रयोजककर्ता विश्वकर्मणा[1-] प्रयोज्यकर्त्रा[-1] विचित्रं नानाविधशिल्पोपेतं अत्याश्चर्यं नगरं पार्थाना मावासार्थं कारयामास॥ २४ ॥

तदा स्वानां प्रियं कर्तु मिच्छया तत्र नगरे निवसन् अग्नये खाण्डवं नाम वनं दातु मर्जुनस्य सारथि र्बभूव॥ २५॥

1- -1 W. omits

विज० अनाथवत्सलः॥ २१,२२ ॥

गुडाकेशः घनकेशः जितनिद्रो वा। यथा कालिन्दी ऊचे तथा सोऽपि वासुदेवाय॥ २३-२५ ॥

★ सोऽग्नि स्तुष्टो धनुरदात्[1] हयान् श्वेतान् रथं नृप।
अर्जुनायाऽक्षयौ तूणौ[2] वर्म चाभेद्य मस्त्रिभिः॥ २६ ॥

मयश्च मोचितो वह्नेः सभां सख्य उपाहरत्।
यस्मि न्दुर्योधनस्यासी ज्जलस्थलदृशिभ्रमः[3]॥ २७ ॥

स तेन समनुज्ञातः सुहृद्भि श्चानुमोदितः।
आययौ द्वारकां भूयः सात्यकिप्रमुखै र्वृतः॥ २८ ॥

अथोपयेमे कालिन्दीं सुपुण्यर्त्वृक्ष[4-] ऊर्जिते[-4]।
• रूपयौवनसम्पन्नां मनोनयननन्दिनीम्॥
वितन्वन्परमानन्दं स्वानां परममङ्गलम्॥ २९ ॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ दुर्योधनवशानुगौ।
स्वयंवरे स्वभगिनीं कृष्णे सक्तां[5-] न्यषेधताम्[-5]॥ ३० ॥

★ 'सोऽग्निरित्यारभ्य-स तेन' इति श्लोकार्धपर्यन्तं (सार्धश्लोकद्वयं ) M.Ma प्रकाशयोः नास्ति। 1. K.W. श्वादात् 2. Ml.V.W तूणां 3. K.W मति० 4- -4 पुण्ये नक्षत्र० • This extra half Verse is found only in M.Ma editions 5--5 Ml.V. कृष्णे रक्तां; M.Ma कृष्णकमां

श्रीध० स इति। अक्षयौ अक्षयसायकौ॥ २६ ॥

मय इति। खाण्डवदाहका द्वह्नेः। सख्ये अर्जुनाय। यस्मिन्निति सामान्यतो निर्देशः यस्यामित्यर्थः। जलस्थलयो र्दृशेः दृष्टेर्भ्रमः। यद्वा जले स्थलवत् दृक् दृष्टि र्यस्मिं स्तत् जलस्थलदृक् तस्मिन् भ्रम आसीदिति। मतिभ्रम[1-] इति पाठे जले स्थलबुद्धिरूपः, स्थले जलबुद्धिरूपो भ्रम इत्यर्थः॥ २७,२८

**अथेति**। सुपुण्य ऋतुः ऋक्षं च यस्मिन्[2]॥ २९ ॥

पञ्चमं मित्रविन्दाविवाह माह- **विन्दानुविन्दाविति** द्वाभ्याम्। आवन्त्यौ अवन्त्याः[3] राजानौ॥ ३० ॥

1- -1 B.J. omit 2. MI.V तस्मिन् 3. MI.V. अवन्ति

**वीर० स** इति। स दग्धखाण्डवोऽग्निः अत एव तुष्टः हे नृप! अर्जुनाय धनुरादीन् ददौ, अस्त्रिभिरस्त्रधारिभिः अभेद्यं वर्म कवचम्॥ २६ ॥

**मयश्चेति**। मयः खाण्डववनवासी वह्ने स्सकाशा न्मोचितः सख्ये अर्जुनाय सभा मुपाहरत् ददौ। तां विशिनष्टि - यस्यामिति। यस्यां सभायां जलस्थलमतिभ्रमः[1] जले स्थलबुद्धिः स्थले जलबुद्धिः इत्येवंविधो यो भ्रमः स बभूव॥ २७॥

**स** इति। स कृष्णः तेनार्जुनेन समनुज्ञातः सुहृद्भिः युधिष्ठिरादिभिः अनुमोदितश्च भूयः पुनः॥ २८ ॥

**अथेति**। ऊर्जिते ग्रहबलवति सुपुण्य मनुकूल मृक्षं नक्षत्रं यस्मिन् तस्मिन् सुमुहूर्ते स्वानां द्वारकौकसां परमानन्दं[2] विस्तारयन् परमं मङ्गलं यस्य सः विवाहितवान्॥ २९ ॥

अथ पञ्चमं मित्रविन्दाविवाहं प्रस्तौति- **विन्दानुविन्दाविति**। आवन्त्यौ अवन्तिराजौ दुर्योधनवशं दुर्योधनाधीनताम् तथा, तौ न्यषेधतां न्यवारयताम्॥ ३० ॥

1. B. दृशि 2. B परममा०

**विज०** 26 तमश्लोका दारभ्य 30 तमश्लोकपर्यन्तं विजयध्वज व्याख्या नास्ति॥ २६-३० ॥

**राजाधिदेव्यास्तनयां मित्रविन्दां[1] पितृष्वसुः।**
**प्रसह्य हृतवा न्कृष्णो राज न्राज्ञां प्रपश्यताम्॥ ३१ ॥**

**नग्नजि न्नाम कौसल्य[2] आसीद्राजाऽतिधार्मिकः।**
**तस्य सत्याऽभव त्कन्या देवी[3-] नाग्नजिती[-3] नृप॥ ३२ ॥**

**न तां शेकु र्नृपा वोढु मजित्वा सप्त गोवृषान्।**
**तीक्ष्णशृङ्गा न्सुदुर्धर्षा न्वीरगन्धासहा[4-] न्खलान्[-4]॥ ३३ ॥**

**तां श्रुत्वा वृषजिल्लभ्यां भगवा न्सात्त्वतां पतिः।**
**जगाम कौसल्यपुरं सैन्येन महता वृतः॥ ३४ ॥**

स कौसलपतिः प्रीतः प्रत्युत्थायासनादिभिः।
अर्हणेनापि गुरुणा पूजयन्प्रतिनन्दितः॥ ३५ ॥

वरं विलोक्याऽभिमतं समागतं नरेन्द्रकन्या चकमे रमापतिम्।
भूया दयं मे पति राशिषाऽमलाः करोतु सत्या यदहं धृतव्रता ॥ ३६ ॥

अर्चितं पुन रित्याह नारायण जगत्पते।
आत्मानन्देन पूर्णस्य करवाणि किमल्पकः॥ ३७ ॥

यत्पादपङ्कजरजश्शिरसा बिभर्ति श्री रब्ज स्स गिरिशः सह लोकपालैः।
लीलातनूः स्वकृतसेतुपरीप्सया यः काले दध त्स भगवा न्मम केन तुष्येत्॥ ३८ ॥

श्रीशुक उवाच

तमाह भगवान् कृष्णः कृतासन परिग्रहः।
मेघगम्भीरया वाचा सस्मितं कुरुनन्दन!॥ ३९ ॥

श्रीभगवा नुवाच

★ अन्यत्र काले विदुष स्स्वयंवरा दयाचितारं वर माहु रुत्तमम्।
स हि प्रभूणां पुरुषार्थभागिनां वेलां विनाऽऽह्वाययति क्षितीश्वर!॥

नरेन्द्र याच्ञा कविभि र्विगर्हिता राजन्यबन्धो र्निजधर्मवर्तिनः।
तथाऽपि याचे तव सौहृदेच्छया कन्यां त्वदीयां न हि शुल्कदा वयम्॥ ४० ॥

---

1.M.Ma वृन्दां 2. B.J.M.Ma °श०3- -3 M.Ma राजन् नीलेति आह्वया 4- -4 M.Ma गन्धान् महाघनान्। 5.B.J °शल्य; M.Ma °शल 6. B.J. कोश०, M.Ma कौश० 7. K.W. प्राह 8. B.G.J. M.Ma °ना० 9- -9 MI.V °णाऽपूजयत्प्र० 10. M.Ma °त्यनन्दत 11. M.Ma त्रि० 12. MI.V धृतव्रता 13. M.Ma °षां पतिः 14- -14 B.G.J सत्या यदि मे धृतो व्रतैः।; MI.V सत्या यदिमे धृतो व्रतः; M.Ma सत्यो यदि मे धृतव्रतः। 15. M.Ma °त्मना देव 16. M.Ma W °श्च 17. B.G.J °येशः 18. M.Ma °न्स्वकृतेन तु० 19. B.G.J हृष्टः ★ This extra Verse is found only in B.M.Ma editions.

**श्रीध०** षष्ठमाह- **नग्नजिदिति।** कौसल्यः अयोध्यापतिः तस्य सत्या नाम कन्याऽभवत् आसीत्, देवीः कान्तिमती नाग्नजितीति पितृनाम्ना प्रसिद्धेत्यर्थः॥ ३१,३२ ॥

**नेति।** वीरस्य गन्धमपि न सहन्त इति तथा तान्। खलान् दुर्वृत्तान्॥ ३३ ॥

**तामिति**। वृषान् जयति यः तेन लभ्याम्॥ ३४ ॥

**स** इति। प्रतिनन्दितः तं प्रतिनन्दितवान्, श्रीकृष्णेन वा स प्रतिनन्दितः॥ ३५-३९ ॥

**नरेन्द्रेति**। हे नरेन्द्र! राजन्यबन्धोः क्षत्रियस्य, शुल्कदाः द्रव्यादिप्रदाः॥ ४० ॥

1. MI.V. °ध्याधिपः 2. MI.V. °थाविधान्

**वीर० राजाधिदेव्या** इति। तथा भगवान् पितृष्वसुः स्वपितृभगिन्याः राजाधिदेव्याः तनयां राज्ञां पश्यतां सतामेव हे राजन्! प्रसह्य हृतवान्॥ ३१ ॥

अथ षष्ठं नाग्नजितीविवाह मनुवर्णयति- **नग्नजिन्नामेति**। कौसल्यः[1] कोसलदेशाधिपतिः अयोध्याधिपतिरित्यर्थः[2]। तस्य देवी कान्तिमती सत्या नाम कन्या अभूत्। अन्वर्थं[3] नामान्तरमप्याह- नाग्नजितीति। नग्नजितोऽपत्यं स्त्री[4] इति तथा। हे नृप!॥ ३२ ।

**नेति**। खलान् दुर्वृत्तान् वीराणां गन्धमपि न सहन्त इति तथा तान् सोढुमशक्यान् गोवृषान्[5-] वृषभान्[-5] यो[6-] जयति तेन लभ्यां तां[-6] नाग्नजितीं[7-] तान्[-7] गोवृषान् अजित्वा गा अनुधावमानानिति गोशब्दाभिप्रायः। वोढु मुद्वोढुं न शेकुः न प्रबभूवुः॥ ३३ ॥

**तामिति**। एवं स्थिते भगवान् तां वृषजितैव लभ्यां श्रुत्वा कौसल्यपुर मयोध्यां जगाम॥ ३४ ॥

**स** इति। स[8-] नग्नजित्[-8] प्रत्युत्थाय आसनादिभिः महता अर्हणेन पूजासाधनेन पूजयन् अनुमोदितश्च भगवन्त माह॥ ३५॥

उक्तिं विवक्षु स्तावत् नाग्नजित्युत्साह मनुवर्णयति- **वरमिति**। नरेन्द्रकन्या चकमे अकामयत। किमिति? अयमेव मे[9] मम पतिर्भूयात्, कथम्? मदिच्छामात्रेण भूयादिति स्वयमेवाऽऽशङ्क्य कामयते मे मम आशिषः कामाः अमलाः निर्विघ्नाः सत्याः सतीश्च यथार्था श्च करोतु, भगवानिति शेषः। तत्र हेतु मुद्भावयति- यद्यहं धृतं व्रतं यया सा। कृतपुण्या भवेय मित्यर्थः॥ ३६॥

अथोक्तिमाह- **अर्चितमिति**। यद्यपि सः[10] कोसलपतिः प्राह इत्यनेनैवास्य राजोक्तित्वलाभः तथाऽपि वरमित्यादिना व्यवहितत्वात् अत्र अर्चित माहेत्युक्तम्। पुनश्शब्दो वाक्यालङ्कारे। हे नारायण! हे जगत्पते! स्वानन्देनैव पूर्णस्य तव अल्पकः क्षुद्रोऽहं किं करवाणि, न किमपि प्रियं कर्तुं शक्त इत्यर्थः। यद्वा किङ्करवाणि किङ्करोऽहम्, अत आज्ञापयेत्यर्थः। आत्मनः स्वाभाविककिङ्करतां द्योतयितुं नारायणेत्यादिसम्बोधनम्, आत्मानन्देन पूर्णस्येति विशेषणं च इत्यवगन्तव्यम्॥ ३७॥

अथ परत्वं व्यनक्ति- **यत्पादेति**। अब्जजः[11] अब्जभवः[12-] ब्रह्मा, सरुद्रः[-12] लोकपालैश्च सहितः श्रीः लक्ष्मीश्च शिरसा यस्य तव पादपङ्कजरजो बिभर्ति। एकवचनं प्रत्येकाभिप्रायकम्। नाऽहं नारायणः किन्तु यदुष्वन्यतम इत्यत आह-

स्वेन त्वया कृताः ये धर्मसेतवो धर्ममर्यादाः तेषां परित्राणेच्छया काले धर्मज्ञानहानिकाले लीलातनूः लीलाविग्रहान्। अनेन अकर्मवश्यत्व मुक्तम्। दधत् बिभ्राणः। अनेन नारायण एव सन् धर्मपरित्राणाय यदुषु त्व मवतीर्ण इति लब्धम्। एवंविधो भगवान् मम केन कैङ्कर्येण तुष्टो भवेत्॥ ३८ ॥

**तमिति।** कृतः आसनपरिग्रहो येन स कृष्णः तं कौसल्यं, हे कुरुनन्दन! [13-] सस्मितं [13-] स्मितेन सहितं यथा तथा प्राह॥ ३९ ॥

उक्तिमेवाह- **नरेन्द्रेति।** हे नरेन्द्र! यद्यपि स्वधर्मनिरतस्य राजन्यबन्धोः क्षत्रियस्य याच्ञा विगर्हिता निन्दिता, प्रतिषिद्धेति यावत्। तथापि सौहृदेच्छया त्वद्बन्धुत्वेच्छया त्वदीयां कन्यां याचे, [14] वयं शुल्कदा द्रव्यादिप्रदाः न भवामः॥ ४०॥

1. B. °श० 2. B. °रिति यावत् 3. B. °र्थक० 4. K.W omit इति 5- -5 w omits 6- -6 K omits 7- -7 K omits 8- -8 w omits 9.K.w omit मे 10. K.W omit सः 11. B omits अब्जजः 12- -12. K.W omit 13- -13 K.W omit 14. K.W omit वयं

**विज०** राजाधिदेव्याः राजाधिदेवीतिनामधेयायाः॥३१ ॥

नीलेत्याह्वयो नाम यस्यास्सा नीलेत्याह्वया "आ प्रगृह्यः स्मृतौ वाक्येप्यास्तु सन्तापकोपयोः" (वैज.को. 8-7-2) इति यादवः॥ ३२ ॥

वीरान् शूरान् गन्धयन्ति हिंसयन्तीति वीरगन्धाः तान्। "गन्धो लेशे च हिंसायां घ्राणग्राहे प्रकीर्तितः" इति। वीरस्य राहो र्गन्ध इव गन्धो येषां ते तथा तान्। "वीरो रांहौ हरे शक्रे" (वैज.को.6-5-82) इति वा। महान्तो घना मेघा यथा नीला स्ते तथा तान्। यद्वा महाकठिनान् महामुद्गरानिव स्थितान्वा। "घनाः कठिनसंघाते मेघकाठिन्यमुद्गराः" (वैज.को. 6-5-30) इति॥ ३३ ॥

वृषजिह्लभ्यां लब्धुं योग्यां, सैन्येन सेनासमूहेन॥ ३४ ॥

गुरुणा बहुमानेन महित्वेन॥ ३५ ॥

अभिमत ममीष्टं वरं वरणयोग्यरूपम्। "वरो ना रूपजामात्रो र्देवादे रीप्सिते वृतौ"(वैज.को.6-5-72) इति। आशिषां भार्याभिलाषाणां पतिः साधकः, "आशी रुरगदंष्ट्रायां शुभवाक्याभिलाषयोः" (वैज.को.6-2-2) यदि मे मया व्रतः व्रतसमूहो धृतः अनुपयुक्तत्वेन निधिवत् भवत्कृतः तर्हि स सत्यः सच्चिदानन्दात्मा श्रीकृष्णः करोतु मम पाणिग्रहणं, करोत्विति शेषः। व्रतानां समूह इत्यस्मि न्नर्थे अच्प्रत्ययः। यदि सत्यो धृतो व्रतोऽस्ति तर्हि स व्रतः स्वफलत्वेन कृष्णं नः पतिं करोत्विति वा॥ ३६ ॥

आत्मना स्वलाभेन॥ ३७ ॥

स्वकृतसेतुपरीप्सया स्वकल्पितवर्णाश्रमलक्षणसेतुपालनेच्छया मयि स्थितः स्वेनैव कृतेन कर्मणा॥ ३८,३९॥

★ विदुषो विद्वांसः स्वयंवरा दन्यत्र काले अयाचितारं वर मुत्तम माहुः। पुरुषार्थभागिनां प्रयोजनांशभाजां प्रभूणां मध्ये स अर्थार्थी तां वेलां कालं विनाऽऽह्वाययति, आत्मानमिति शेषः। आह्वानमिति पाठे सा याचिता स्वयंवरकालं विनापि स्वहूतिं प्रभूणा माह्वान मर्हतीति शेषः। वेलेति पाठे प्रभूणा माह्वानं विनापि स एव वेला कालः स्वयंवराख्य इत्याहु रित्यर्थः॥

सामान्यमुक्त्वा विशिनष्टि- नरेन्द्रेति। राजन्यबन्धोः राज्ञां वंशे जातस्य निजधर्मवर्तिनः क्षात्रधर्ममनुवर्तमानस्य, शुल्कदा वेतनप्रदाः॥ ४० ॥

राजोवाच

कोऽन्य स्तेऽभ्यधिको नाथ कन्यावर इहेप्सितः।
गुणैकधाम्नो यस्याऽङ्गे श्री र्वस त्यनपायिनी॥ ४१ ।

किं त्वस्माभिः कृतः पूर्वं समयः सात्त्वतर्षभ।
पुंसां वीर्यपरीक्षार्थं कन्यावरपरीप्सया॥ ४२ ॥

समैते गोवृषा वीर दुर्दान्ता दुरवग्रहाः।
एतै र्भग्नाः सुबहुशो भिन्नगात्रा नृपात्मजाः॥ ४३ ॥

यदीमे निगृहीता स्स्युः त्वयैव यदुनन्दन।
वरो भवा नभिमतो दुहितु र्मे श्रियःपते॥ ४४ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं समय माकर्ण्य बद्ध्वा परिकरं प्रभुः।
आत्मानं सप्तधा कृत्वा न्यगृह्णा ल्लीलयैव तान्॥ ४५ ॥

बद्ध्वा ता न्दामभिः शौरिः भग्नदर्पान् हतौजसः।
व्यकर्ष ल्लीलया बद्धान् बालो दारुमयान्यथा॥ ४६ ॥

ततः प्रीतः सुतां राजा ददौ कृष्णाय विस्मितः।
तां प्रत्यगृह्णा द्भगवान् विधिव त्सदृशीं प्रभुः॥ ४७ ॥

राजपत्न्य स्स्वदुहितुः कृष्णं लब्ध्वा प्रियं पतिम्।
लेभिरे परमानन्दं जातश्च परमोत्सवः॥ ४८ ॥

शङ्खभेर्यानका नेदु र्गीतवाद्यद्विजाशिषः।
नरा नार्यः प्रमुदिताः सुवासस्स्रगलङ्कृताः॥ ४९ ॥

[11]दशधेनुसहस्राणि[12] पारिबर्हं मदा द्विभुः।
युवतीनां त्रिसाहस्रं निष्कग्रीवसुवाससम्॥ ५० ॥

1- -1 K.W °या ईप्सितो वरः। 2. Ml.V. °क्ष० 3. B.G.J.Ml.V °ह्वो 4. B.G.J.M.Ma यदि मे 5- -5 B.G.J.K.Ml.V.W omit 6. K.W विभुः 7- -7 B हतदर्पान्; K.W भग्नदन्तान्; M.Ma भग्नवीर्यान् 8- -8 K.W व्याचकर्ष तदा बद्ध्वा 9. M.Ma राजन्! 10. B.G.J.Ml.V. °श्च 11- -11 Ml.V शतं 12. Ml.V. °णां

**श्रीध० क** इति। गुणाना मेकमेव धाम स्थानं,[1] तथाभूतस्य यस्य[2] तवाऽङ्गे॥ ४१,४२ ॥

**समेति।** दुर्दान्ता अशिक्षिताः। दुरवग्रहा. अपरायत्ताः। कुत स्तत्राह[3]- एतैरिति। भग्ना भङ्गं प्रापिताः॥ ४३

**यदीति।** यद्यदि इमे गोवृषा [4-]निगृहीता दमिता नाथिता इति यावत्[-4]॥ ४४ ॥

**एवमिति।** एतान् यो निगृह्णाति तस्य कन्येति समयः कृतः। तम् [5-]आकर्ण्य आत्मानं[-5] सप्तधा कृत्वेति। बह्वीनामपि[6] योषितां सम्पूर्ण एवाहं सम्भोगयोग्यः स्या मिति सत्यां प्रति, असापत्न्यप्रदर्शनार्थ मात्मनः सप्तधाकरणम्॥ ४५-४९॥

**दशेति।** निष्कग्रीवाश्च ताः सुवाससश्च तासां युवतीनां च दासीनां [7-]पारिबर्हं अदात् दत्तवान्[-7]॥ ५० ॥

1. Ml.V add त्वं 2. Ml.V omit यस्य 3. B.J. °दाह 4- -4 Ml.V omit 5- -5 B.J. omit 6. B.J omit अपि 7- -7 B.J omit

**वीर०** इत्थमुक्त[1] आह नग्नजित् **क इति।** हे नाथ! ते त्वत्तः अभ्यधिकः कन्याया ईप्सितो वरः को वाऽस्ति, सन्ति बहव इत्यतो [2-]भगवन्तं[-2] विशिनष्टि-गुणैक इति। गुणानां कल्याण[3]गुणानां एकमेव धाम स्थानं तथाभूतात् यस्येत्यपेक्षया षष्ठ्यन्तं वा। यस्य तवाङ्गे वक्षसि श्रीः लक्ष्मीः अनपायिनी निवसति॥ ४१ ॥

**किन्त्विति।** हे सात्त्वतर्षभ! समयः भाषाबन्धनं, किमर्थम्? पुंसां वरत्वेनागतानाम्।[4] साऽपि किमर्थेत्यत्राह-कन्याया वरः अनुरूपः तत्परीप्सया हेतुभूतया॥ ४२ ॥

कोऽसौ समय इत्यत्र तं वक्तुं तावत् तत्र अन्येषा मसमर्थतामाह- **समेति।** हे वीर! दुर्दान्ताः अशिक्षिताः दुरवग्रहाः अपरायत्ताः, तत्र निदर्शनमाह-एतै रिति। एतैः गोवृषैः भिन्नानि गात्राणि येषां तथा बभूवुः, एतान् यो गृह्णाति तस्येयं कन्येति भावः॥ ४३ ॥

**यदीति।** अतो यदीमे वृषाः त्वया निगृहीता स्स्युः तर्हि भवानेव मम दुहितुः अभिमतो वरः॥ ४४ ॥

**एवमिति।** परिकर मुत्तरीयादिकम्। लीलयैवेत्यनेन श्रमाभाव उक्तः। तान्वृषान् न्यगृह्णात्॥ ४५ ॥

**बद्ध्वेति।** दामभी रज्जुभिः भग्नाः दन्ता येषाम्। अत एव हतम् ओजो बलं येषां तान् वृषान् बद्ध्वा व्याचकर्ष आकृष्टवान्। यथा बालो बद्धान् दारुमयान्[5] वृषान् विकर्षति, तद्वत्॥ ४६ ॥

**तत** इति। ततो वृषग्रहणात् प्रीतः पूर्वमेव प्रीतः तत स्सुतरां प्रीत इत्यर्थः। विस्मितश्च राजा नग्नजित्, प्रभुः श्रीकृष्णः सदृशीम् अनुरूपां तां कन्यां यथाविधि प्रत्यगृह्णात् उपयेमे इत्यर्थः॥ ४७ ॥

**राजपत्न्य** इति। दुहितुः प्रियं पतिं लब्ध्वा राजपत्न्यः परमानन्दं प्रापुः। तदा महान् उत्सवश्चाऽऽसीत्॥ ४८॥

उत्सवमेव प्रपञ्चयति- **शङ्खेति।** नेदुः दध्वनुः। तदा गीतयुक्तानि वाद्यानि द्विजानाम् आशिष आशीर्वादाश्च नेदुः। शोभनैः वासोभिः स्रग्भिश्चालङ्कृताः, आसन्निति शेषः॥ ४९ ॥

विभु र्नग्नजित् दश धेनूनां सहस्राणि पारिबर्ह मुपायन मदात्, निष्कग्रीवाः सुवाससश्च तासां युवतीनां दासीनां त्रिसहस्रम्[6], अदादित्यनुषङ्गः॥ ५० ॥

1. B °क्तः प्रा० 2- -2 K.W omit 3. K.W °णानां 4. B (परीक्षार्थं) 5.B (काष्ठ) 6. B °सा०

**विज०** कन्यायाः वरपरीप्सया वरेच्छया॥ ४१,४२ ॥

दुर्दान्ताः अशक्यशिक्षाः, दुरवग्रहा ग्रहीतु मशक्याः॥ ४३,४४ ॥

परिकरं चैलोष्णीषादिलक्षणम्॥ ४५-४८ ॥

गीतवाद्यानि द्विजाशिषश्च तथा। प्रमुदिताः, अभूवन्निति शेषः॥ ४९ ॥

पारिबर्हं स्त्रीधननिकायम्॥ ५० ॥

**नवनागसहस्राणि नागा च्छतगुणा न्रथान्।**
**रथा च्छतगुणा नश्वा नश्वा च्छतगुणा न्नरान्॥ ५१ ॥**

**दम्पती रथ मारोप्य महत्या सेनया वृतौ।**
**स्नेहप्रक्लिन्नहृदयौ[1] यापयामास[2] कोसलः[3]॥ ५२ ॥**

**★ श्रुत्वैत द्रुरुधु र्भूपा नयन्तं पथि कन्यकाम्।**
**भग्नवीर्याः सुदुर्मर्षा[4] यदुभि र्गोवृषैः पुरा ॥ ५३ ॥**

ता नस्यतः शरव्राता न्बन्धुप्रियकृ दर्जुनः।
गाण्डीवी कालयामास सिंहः क्षुद्रमृगानिव॥ ५४ ॥

पारिबर्हं[5] मुपागृह्य द्वारका मेत्य सत्यया।
रेमे यदूना[6] मृषभो भगवा न्देवकीसुतः॥ ५५ ॥

श्रुतकीर्तेः सुतां भद्रा मुपयेमे पितृष्वसुः।
कैकेयीं भ्रातृभि र्दत्तां कृष्णः सन्तर्दनादिभिः॥ ५६ ॥

सुतां च मद्राधिपते र्लक्ष्मणां लक्षणै र्युताम्।
स्वयंवरे जहारैकः स सुपर्णः सुधामिव॥ ५७ ॥

अन्या श्चैवंविधा भार्याः कृष्णस्याऽऽसन् सहस्रशः।
भौमं हत्वा तन्निरोधा दाहृता श्चारुदर्शनाः॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५८ ॥

1. K.W वि० 2. K °यौ 3.B.J. कोशलः; K °तुस्तदा; M.Ma कौशलः★ 43 and 44 Slokas are not found in M.Ma editions 4. K.W ध्र्षा 5. K.W बर्हमुपानीय; M.Ma बर्हं च सहृह्य 6. MI.V. °नां वृ० 7. MI.V. °न्दर्श०

**श्रीध० नवेति**। नागात् नागेभ्यः शतगुणा न्नव लक्षाणि रथान्[1], रथाद्रथेभ्यः शतगुणा न्नवकोटीः अश्वान्[2], अश्वा दश्वेभ्यः शतगुणा न्नवपद्मानि पदातीन्[3]॥ ५१,५२ ॥

**श्रुत्वेति**। यदुभि र्गोवृषैश्च भग्नवीर्या अपि सुदुर्मर्षा असहनशीला[4-] रुरुधुः[-4]॥ ५३ ॥

**तानिति**। अस्यतः क्षिपतः, प्रयुञ्जाना निति यावत्॥ ५४,५५ ॥

सप्तमं विवाह माह-**श्रुतकीर्तेरिति**। श्रुतकीर्ति र्नाम या पितृष्वसा तस्याः सुतां भद्रां नाम। कैकेयीं तद्देशजां सन्दर्शनादिभिः[5-] भ्रातृभिः दत्ताम्[-5]॥ ५६ ॥

अष्टमं विवाह माह-**सुतां चेति**। एक एव स श्रीकृष्णो लक्ष्मणां जहार॥ ५७

**अन्याश्चेति**। तस्य निरोधोऽन्तःपुरं तस्मात्॥ ५८ ॥

★ भैष्मी जाम्बवती भामा सत्या भद्रा च लक्ष्मणा
कालिन्दी मित्रविन्दा चेत्यष्टौ पट्टमहास्त्रियः।

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५८ ॥

1. B.J. omit रथान् 2. B.J. omit अश्वान् 3. B.J. omit पदातीन् 4- -4 MI.V omit 5- -5 B.J omit ★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः।

**वीर०** नागानां गजानां नवसहस्राणि नागात्,नागेभ्यः शतगुणं शतगुणान् नवलक्षाणि रथान्,रथा द्रथेभ्यः शतगुणान् नवकोटिपरिमितान् अश्वान्,(अश्वात्) अश्वेभ्यः शतगुणान् नवपद्मसंख्याकान् नरान् भृत्यांश्च प्रादादि त्यनुषङ्गः॥ ५१॥

**दम्पती** इति। दम्पती नग्नजिद्भार्ये तदा रथ मारोप्य सभार्यं, कृष्ण मिति शेषः। स्नेहेन प्रक्लिन्न मार्द्रं हृदयं ययो स्तौ यापयामासतुः गमयामासतुः पुरं द्वारकाम्। यापयामास कोसल इति पाठे स्नेहप्रक्लिन्नहृदय इति पाठचम्। दम्पती नाग्नजिती श्रीकृष्णौ ॥ ५२ ॥

**श्रुत्वेति।** एत द्भगवतो यानं श्रुत्वा यदुभि र्गोवृषैश्च सप्तभि र्भग्नं वीर्यं येषां तथाभूता अपि दुर्धर्षाः कन्यकां नाग्नजितीं नयन्तं श्रीकृष्णं पथि रुरुधुः॥ ५३ ॥

**तानिति।** शरसमूहान् अस्यतः क्षिपतः प्रयुञ्जाना निति यावत्, तान् भूपान् बन्धूनां कृष्णादीनां प्रीतिकृ दर्जुनः गाण्डीवी धृतगाण्डीवः कालयामास पलाययाञ्चक्रे यथा क्षुद्रमृगान् सिंहः तद्वत्॥ ५४ ॥

**पारिबर्हमिति।** पारिबर्हं श्वशुरदत्तं एत्य आगत्य सत्यया नाग्नजित्या सह॥ ५५ ॥

अथ सप्तमं विवाह माह- **श्रुतकीर्तेरिति।** सन्तर्दन आदि र्येषां तैः भ्रातृभिः दत्तां कैकयस्याऽपत्यभूतां स्वपितृष्वसुः श्रुतकीर्तेः सुतां भद्रां नाम कान्या मुपयेमे॥ ५६ ॥

अष्टमं विवाह माह- **सुतामिति।** मद्रदेशाधिपतेः सुतां शुभैः लक्षणैर्युक्तां लक्ष्मणां नाम कन्यां स्वयंवरे असहाय एव सन् जहार यथा सुपर्णो गरुत्मान् सुधां तद्वत्॥ ५७ ॥

इत्थं प्रधानपत्नीरुक्त्वा अथाऽन्या अप्याह- **अन्याश्चेति।** का स्ता इत्यत आह-भौममिति। भौमं हत्वा तन्निरोधात् अन्तःपुरात् आनीताः॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीविरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५८ ॥

---

1- -1 K.W. omit 2- -2 K.W पद्मान् 3- -3 K.W. omit 4- -4 K.W omit 5. B adds इति योज्यम् 6. B °र्म० 7- -7 K.W omit 8. B °वधनुष्कः 9. B adds कालयति 10. B adds इति शेषः। 11. B.K omit शुभैः 12- -12 K.W omit

**विज०** भौमं हत्वा तस्य भौमस्य निरोधात् तत्कारागृहात् आहृताः आनीताः॥ ५१-५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
टीकायां अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५८ ॥

(विजयध्वजरीत्या द्विषष्टितमोऽध्यायः)

# एकोनषष्टितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या त्रिषष्टितमोऽध्यायः)

-: नरकासुरवधारम्भः :-

राजोवाच

यथा हतो भगवता भौमो येन च ताः स्त्रियः।
निरुद्धा एत दाचक्ष्व विक्रमं शार्ङ्गधन्वनः॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

★ द्वारवत्यां महाभागे निवस त्यच्युते नृप।
दीनेनोद्विग्नचित्तेन समागम्य त्रिविष्टपात्॥

इन्द्रेण हृतच्छत्रेण हृतकुण्डलबन्धुना।
हृतामराद्रिस्थानेन ज्ञापितो भौमचेष्टितम्॥

● इन्द्र माश्वास्य गोविन्दः सुसम्पूज्य विसृज्य च।
सभार्यो गरुडारूढः प्राग्ज्योतिषपुरं ययौ॥ २ ॥

गिरिदुर्गै श्शस्त्रदुर्गैः जलाग्न्यनिलदुर्गमम्।
मुरपाशायुतै र्घोरैः दृढै स्सर्वत आवृतम्॥ ३ ॥

卐 स सम्प्राप्य भटै र्गुप्तं दानवेन्द्रपुरं महत्।
गदया निर्बिभेदाद्रीन् शस्त्रदुर्गाणि सायकैः॥

❄ तान्नि र्भिद्य प्रविश्याऽन्तः शस्त्रदुर्गाणि सायकैः।
चक्रेणाऽग्निं जलं वायुं मुरपाशां स्तथाऽसिना॥ ४ ॥

□ चकर्त मौरवं पाशं चक्रेणाऽमन्दमच्छिनत्।
क्षुरमालां तथा घोरां निचकर्ताऽसिना हरिः॥

वायव्यास्त्रेण सलिलं वारुणास्त्रेण पावकम्।
हरि र्निमिषमात्रेण नाशयामास भारत॥

शङ्खनादेन[10-] यन्त्राणि हृदयानि[-10] मनस्विनाम्।
प्राकारं[11-] गदया गुर्व्या निर्बिभेद[-11] गदाधरः॥ ५ ॥

1- -1 M.Ma नीता यथा 2 M.Ma या स्तदा० 3- -3 W.omits ★ This extra verse is found in B.M.Ma editions only. 4- -4 B.M.Ma हृतच्छत्रेण शक्रेण ● An extra half verse is found in B.M.Ma editions only. 5- -5 B.M.Ma हिमाद्रौ तुङ्गशिखरे 6- -6 B.omits; M.Ma गिरिदुर्गै श्शस्त्रदुर्गैः मुरपाशायुतै र्वृतम् 卐 An extra half verse is found in B.M.Ma editions only. 7.M.Ma °द्रिं 8- -8 M.Ma प्राकाराकारसंस्थितम् ❀ An extra half verse is found in M.Ma editions only; B.G.J. K.Ml.V.W omit 9- -9 M.Ma. omit. □ These four extra half verses beginning with चकर्त and ending with भारत are found only in B.M.Ma editions. 10- -10 M.Ma तीव्रेण मनांसि च 11- -11 M.Ma omit.

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ऊनषष्टितमे भौमं हत्वा तेनाऽऽहृता हरिः। कन्याः सहस्रशः प्राप[1] पारिजातं दिवोऽहरत्॥

परिणीय तत स्ताभिः तन्मनोरथपूरणैः। आत्मारामोऽप्यसौ रेमे तद्गृहेषु गृहस्थवत्॥

**यथेति।** येन ताः स्त्रियो निरुद्धाः, स भौमः चकारात् येन कारणेन हत स्त दाचक्ष्वेति॥ १ ॥

**इन्द्रेणेति।** इन्द्रेण भौमविचेष्टितं विज्ञापितस्सन्[2] प्राग्ज्योतिषपुरं भौमनगरं यया नित्यन्वयः। कथम्भूतेन[3]? हृतं छत्रं यस्य तेन लोकपालप्रधानत्वा दिन्द्रस्य। वरुणच्छत्रहरणेऽपि तस्यैव मानभङ्ग इति तथोक्तम्। हृते कुण्डले यस्यास्सा अदिति र्बन्धु र्माता यस्य, तेन हृत ममराद्रौ स्थानं मणिपर्वतलक्षणं यस्य तेन, सत्यभामाया गृहे भगवन्त मिन्द्र आगत्य विज्ञापितवान्। तदा तस्याः कौतुकाय तया भार्यया सह ययाविति। यद्वा त्वदनुज्ञयैव त्वत्पुत्रं हनिष्यामीति इतिहासोक्तं भूम्यै वरं दत्तं सत्यं कर्तुं सत्यभामाया भूम्यंशत्वात् तया सह ययौ। यद्वा नारदानीतपारिजातैककुसुमे रुक्मिण्यै दत्ते सति कुपितां सत्यभामां सान्त्वयता तुभ्यं पारिजातमेव दास्यामीति श्रीकृष्णेन प्रतिश्रुत मिति हरिवंशे प्रसिद्धम्। तदर्थं तां नीतवा निति ज्ञेयम्[4]॥ २ ॥

**गिरिदुर्गैरिति।** गरुडेन यानेन[5] कारणम्- गिरिदुर्गै रित्यादि। तैरु पलक्षितम्। जलाग्न्यनिलैश्च सर्वतो वर्तमानैः दुर्गमम्॥ ३-५॥

1. Ml.V. प्राप्य 2. B.J. omit वि 3 B.J. किम्भू० 4 B.J. omit ज्ञेयम् 5. B.J. omit न

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

"भौमं हत्वा तन्निरोधा दाहृताः" (भाग. 10-58-58) इत्युक्तम्। तद्विस्तरबुभुत्सया पृच्छति राजा- **यथेति**। येन भौमेन ताः स्त्रियो निरुद्धाः स भौमः यथा येन प्रकारेण हतः, चकाराद्येन कारणेनेत्यपि बोद्धव्यम्। तदाचक्ष्वाऽऽख्याहि॥ १ ॥

आचष्टे **इन्द्रेणेति**। इन्द्रेण भौमचेष्टितं प्रति[1] ज्ञापितस्सन् प्राग्ज्योतिषपुरं ययौ इति सम्बन्धः। कथम्भूतेन? हृतं भौमेन हृतं छत्रं यस्य तेन। लोकपालप्रधानत्वा दिन्द्रस्य वरुणच्छत्रहरणेऽपि तस्यैव मानभङ्ग इति तथोक्तम्। हृते कुण्डले यस्या स्सा, बन्धु र्माता अदितिः यस्य तेन, हृत ममराद्रिस्थानं मणिपर्वतात्मकं यस्य तेन। सत्यभामागृहे भगवन्त मिन्द्र आगत्य विज्ञापितवां स्तदा तस्याः कौतुकाय तया[2] सह ययाविति। यद्वा, त्वदनुज्ञयैव त्वत्सुतं हनिष्यामीति इतिहासेनोक्तं भूम्यै वरं दत्तं सत्यापयितुं सत्यभामाया भूम्यंशत्वा त्तया सह ययाविति। यद्वा नारदानीतपारिजातैककुसमे[3] रुक्मिण्यै दत्ते सति कुपितां सत्यभामां सान्त्वयितुं, तुभ्यं पारिजाततरुमेव दास्यामीति प्रतिश्रुतमिति हरिवंशे प्रसिद्धम्। तदर्थं तां नीतवानिति। गरुडारूढ इत्यत्र हेतुं वदन् पुरं विशिनष्टि-गिरीति। गिरिदुर्गै श्शस्त्रदुर्गै श्चोपलक्षितम्। जलाग्न्यनिलैश्च परितो वर्तमानैश्च दुर्गमम्, घोरैर्दृढैश्च मुरस्य पाशैः परित आवृतम्॥ २,३ ॥

**गदयेति**। चक्रेण सुदर्शनेन अग्निजलवायून् निर्बिभेद, असिना खड्गेन॥ ४ ॥

मनस्विनां स्वैरिणां मुरादीनां हृदयानि यन्त्राणि च शङ्खनादेन॥ ५ ॥

1. K.T.w. omit प्रति 2 T.W. add भार्यया 3. B.T.W. °तकु०

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

यथाकथं पृष्टं तत्सर्वम्॥ १ ॥

हृते कुण्डले यस्य स हृतकुण्डलः हृतकुण्डलो बन्धु र्माता यस्य स तथा तेन नरकेण हृत ममराद्रौ मेरौ स्थानं यस्य स तथा। प्राग्ज्योतिषपुरं नरकस्य नगरम्॥ २ ॥

कुत्र तन्नगर मत्राह - **हिमाद्राविति**। जलेन अग्निना[1] अनिलेन वायुना दुर्गमं गन्तुमशक्यं मुरपाशानामयुतैः अनेकैः षट्सहस्रै रित्यर्थः। यद्वा मुरपाशैः अयुतैः असम्बद्धैः पृथक्कृतैः शस्त्रदुर्गैः, दुर्गमपि गिर्यादिक्रमेण॥ ३,४ ॥

अमन्द मनलम्॥ ० ॥ ५ ॥

1. B. omits अग्निना

पाञ्चजन्यध्वनिं श्रुत्वा[1] युगान्ताशनिभीषणम्।
मुरः शयान उत्तस्थौ दैत्यः पञ्चशिरा जलात्॥ ६ ॥

त्रिशूल मुद्यम्य[2] सुदुर्निरीक्षणो युगान्तसूर्यानिलरोचिरुल्बणः[3]।
ग्रसं स्त्रिलोकीमिव[4] पञ्चभि र्मुखै रभ्यद्रव त्तार्क्ष्यसुतं यथोरगः॥ ७ ॥

आविध्य शूलं तरसा गरुत्मते निरस्य वक्त्रै र्व्यनद त्स पञ्चभिः।
खं[5] रोदसी सर्वदिशोन्तरं[6] महान् आपूरय न्नण्डकटाह मावृणोत्॥ ८ ॥

★ तदापतद्वै त्रिशिखं गरुत्मते हरिः शराभ्या[7-] मभिन[-7] त्त्रिधौजसा।
मुखेषु तञ्चापि शरै रताडय त्तस्मै गदां सोऽपि रुषा व्यमुञ्चत॥ ९ ॥

ता मापतन्तीं गदया गदां मृधे गदाग्रजो निर्बिभिदे सहस्रधा।
उद्यम्य बाहू नभिधावतोऽजितः[8] शिरांसि चक्रेण जहार लीलया॥ १० ॥

---

1. M.Ma कृत्वा 2. M.Ma °क्ष्यो 3--3 M.Ma रुज्ज्वलः; M.V. रुल्बणम् 4. M.Ma °कानिव 5. B.G.J. स 6. B.K.W. °म्बरं ★ M.Ma read thus- तमापतन्तं त्रिशिखं गरुत्मते चकर्त बाणद्वितयेन केशवः। मुखेषु तस्यापि शरा न्समर्पयन् पुन र्गदां सोऽप्यमुच न्मधुद्विषे॥ 7- -7 M.V. शरैर्भि रभिन° W. शराभ्यामहन० 8. M.Ma °तो दिशः

**श्रीध० पाञ्चजन्येति।** युगान्ताशनेः ध्वनिव द्भीषणम्। परिखाया जलात्॥ ६,७ ॥

**आविध्येति।** आविध्य आतोल्य स महान्नाद इत्यन्वयः॥ ८ ॥

**तदिति।** तस्मै श्रीकृष्णाय गदां व्यमुञ्चत्[1] व्यक्षिपत्[2]॥ ९,१० ॥

---

1. B.J. °त 2. M.V. omit व्यक्षिपत्

**वीर० पाञ्चजन्येति।** युगान्ताशने र्ध्वनिव द्भीषणं पाञ्चजन्यध्वनि माकर्ण्य॥ ६ ॥

**त्रिशूलमिति।** युगान्ते सूर्याग्न्योरिव रोचि र्दीप्ति र्यस्य स मुरासुरः अत एवोल्बणः दुस्सहो[1] दुर्निरीक्षस्सन् त्रिशूल मुद्धृत्य[2], पञ्चभि र्मुखैः त्रिलोकीं ग्रसन्निवाऽभ्यधावत् यथोरग स्सर्पः तार्क्ष्यसुतं गरुडं, तद्वत्॥ ७ ॥

**आविध्येति।** स मुरः शूल माविध्याऽऽलोल्य तरसा बलेन गरुडाय प्रयुज्य पञ्चभि र्वक्त्रैः व्यनदत् ननाद। किं कुर्वन्? रोदसी द्यावापृथिव्यौ खमन्तरिक्षं लोकोपरितनमाकाशं सर्वेषां श्रोत्रबिलं (स्थानं) वा दिगन्तरञ्चाऽऽपूरयन्, नादेनेति शेषः। स नादः[3-] कृत्स्नम प्यण्डकटाह मावृणोत्[-3]॥ ८ ॥

**तदिति।** तिस्रः शिखाः यस्य तत् गरुडायाऽऽगच्छत् त्रिशूलम् ओजसा बलेन शराभ्यां त्रिधा चिच्छेद तं मुरञ्च मुखेषु शरै[4] स्ताडयामास। सोऽपि मुरोऽपि रुषा तस्मै कृष्णाय गदां व्यमुञ्चत् प्रायुङ्क्त ॥ ९ ॥

**तामिति।** गदाग्रजो भगवान् स्वगदया तां मुरप्रयुक्ता मापतन्तीं गदां मृधे युद्धे सहस्रधा निर्बिभेद। ततो बाहू उद्धृत्य अभिधावतो मुरस्य पञ्च शिरांसि चक्रेणाऽजितो भगवां श्चिच्छेद॥ १० ॥

1. T. omits दुस्सहः 2 K. °द्ध° 3- -3 K.T.W. omit 4. T.W. omit शरैः

**विज०** निरस्य मुक्त्वा आपूरयन्, नादेनेति शेषः॥ ६-१० ॥

व्यसुः पपाताऽम्भसि कृत्तशीर्षो[1] निकृत्तशृङ्गोऽद्रि[2] रिवेन्द्रतेजसा।
★ पपात विष्णोः शिरसि प्रमोदिनी प्रसूनवृष्टि र्निहते मुरेऽसुरे।
तस्याऽऽत्मजा स्सप्त पितुर्वधातुराः प्रतिक्रियामर्षजुषः समुद्यताः[3]। ११ ॥

ताम्रोऽन्तरिक्षः[4] श्रवणो विभावसु र्वसु[5] र्नभस्वा नरुणश्च सप्तमः[5]।
पीठं[6] पुरस्कृत्य चमूपतिं मृधे[6] भौमप्रयुक्ता निरगु[7] र्धृतायुधाः[7]॥ १२ ॥

प्रायुञ्जताऽऽसाद्य[8] शरा नसीन्[8] गदाः[8] शक्त्युष्टिशूला[9] न्यजिते[10] रुषोल्बणाः[11]।
तच्छस्त्रकूटं[12] भगवा न्स्वमार्गणै[13] रमोघवीर्य स्तिलश श्चकर्त ह ॥ १३ ॥

ता[14] न्पीठमुख्या[14] ननय[15] द्यमक्षयं निकृत्तशीर्षोरुभुजाङ्घ्रिवर्ष्मणः[16]।
□ ततो द्रुततरं गत्वा भटा राजपुरं महत् हता न्मुरसुता न्सर्वान् नरकाय न्यवेदयन्॥

स्वानीकपा नच्युतचक्रसायकैः त[17]था निरस्तान्नर[18] को धरासुतः[18]॥ १४ ॥

निरीक्ष्य दुर्मर्षण[19] आस्रवन्मदै र्गजैः पयोधिप्रभवै[20] र्निराक्रमत्।
○ रथै रनेकसाहस्रै र्गजैश्च बहु भि र्वृतः।
महत्या सेनया युक्त श्चाऽऽया दायोधनं बली॥

दृष्ट्वा सभार्यं गरुडोपरिस्थितं सूर्योपरिष्टात् सतटिद्घनं[21] यथा।
△ गृहीतकोदण्ड मुदारशङ्खकौमोदकीचक्रधरं चतुर्भुजम्॥

नीलजीमूतसङ्काशं दृष्ट्वा तं गजवाहनम्।
शङ्खं माध्माय गोविन्दः सिंहनादं व्यनीनदत्॥

वरूथिनी दैत्यपतेः सुघोरान् शरा न्ववर्षाऽच्युतमूर्ध्नि दर्जया।
22- -22 23- -23 24
कृष्णं स तस्मै व्यसृज च्छतघ्नीं यो धाश्च सर्वे युगप त्प्रविव्यधुः॥ १५॥

$ अनेक बाणान्निर्मुक्तान् नरकेण स्मयन्निव।
चकर्त बाणै र्युगपत्तदद्भुत मिवाऽभवत्॥

1. M.Ma कन्धरो; MI.V. शीर्षको 2. M.Ma पक्षो ★ This extra half verse is found in M.Ma editions only 3- -3 M.Ma चिकीर्षवस्तस्य रणे प्रतिक्रियाम् 4- -4 M.Ma ध्रुवश्च विष्णुः 5- -5 नभो वसुस्वा नरणश्च सप्त 6- -6 M.Ma रथा न्समारुह्य वृषप्रयुक्तान्। 7- -7 B.G.J. निरगन् धृतायुधाः; M.Ma भवना निराक्रमन्। 8- -8 M.Ma अयुञ्जतासज्य शरासनान् भटाः 9 B.G.J.W. °क्त्यृष्टि। M.Ma क्त्यर्ष्टि 10. M.Ma °न्न० 11. M.Ma °णान् 12. M.Ma °व्रृ० 13. M.Ma °न्स० 14- -14 M.Ma तान् योद्धुमिच्छून०; तान् वीरमुख्यान० 15. B. °द्यमालयं 16. B.G.J. वर्मणः; M.Ma कार्मुकान् □ This extra verse is found in M.Ma editions only. 17- -17 M.Ma हतानिशम्याऽऽशु; MI.V. मृधेहतांस्ता न्न० 18- -18 M.Ma चुकोपभूमिजः 19 K.W. °र्धर्षण आ०; M.Ma °र्मर्षणमा० 20. M.Ma °ब्धि० ○ This extra verse is found in M.Ma editions only. 21 B.G.J.M.Ma °डि० △ These four extra half verses are found in M.Ma editions only. 22- -22 M.Ma कृष्णे स भौमो 23- -23 M.Ma लोहायसीं तेन भृशं 24 B.G.J. त्स्म विव्यधुः; M.Ma स विव्यथे। $ This extra verse is found in M.Ma editions only.

**श्रीध० व्यसुरिति।** इन्द्रतेजसा वज्रेण प्रतिक्रियया हेतुभूतया अमर्षजुषः॥ ११ ॥

**ताम्र** इति। पीठं पीठनामानं निरगुः[1] निरगमन्॥ १२,१३ ॥

**तानिति।** निकृत्तानि शीर्षादीनि येषां तान्॥ १४ ॥

**वरूथिनीति।** शतघ्नीं शक्तिविशेषम्॥ १५ ॥

1. B.J. निरगन्

**वीर० व्यसु** रिति। निकृत्तानि शीर्षाणि शिरांसि यस्य स अत एव व्यसु र्गतप्राणोऽम्भसि जले पपात। यथा इन्द्रतेजसोपलक्षितेन वज्रेण निकृत्त शृङ्गो गिरिस्तद्वत्। तस्य मुरस्य आत्मजाः सप्त पितुर्वधात् दुःखिताः प्रतिक्रियायै अमर्षजुषः क्रोधाविष्टाः भौमेन प्रेषिताः धृतान्यायुधानि यैस्ते च मृधे युद्धे निमित्ते पीठनामानं चमूपतिं पुरस्कृत्य समुद्यताः आयत्ताः निरगुः[1] निर्गता बभूवुरिति सम्बन्धः। तानेव सप्त निर्दिशति ताम्र इति॥ ११,१२ ॥

**प्रायुञ्जतेति।** उल्बणा स्ते ताम्रादयः आसाद्य अभ्येत्य रुषा क्रोधेन अजिते श्रीकृष्णे शरादीन् प्रायुञ्जत[2] -2 प्रयुक्तवन्तः। तदा भगवान् स्वमार्गणैः स्वशरै स्तच्छस्त्रजालं तिलप्रमाणश श्चिच्छेद। हेति विस्मये॥ १३ ॥

तानिति। निकृत्तानि छिन्नानि शीर्षादीनि येषां तान् ताम्रादीन् यमसदन मनयत्। वर्म्म शरीरं तच्चोपात्तातिरिक्तप्रदेशपरम्। इदमर्धं पृथगन्वेतव्यम्। स्वानीकपानिति। स्वान् कांश्चि दनीकपान् सेनापतीन् अच्युतस्य सायकै र्हतानिति शेषः। तथा कांश्चि न्निरस्तान् दूरतः पातितांश्च दृष्ट्वा धरासुतो नरकः दुस्सहः [3]न्नव न्मदो येषां तैः पयोधिप्रभवैः पयोध्यन्तर्द्वीपजैः गजैस्सह निराक्रमत् निर्गतवान्। दृष्ट्वेति। यथा सूर्यस्योपरिष्टात् तटिता सहितं घनं नीलमेघं तद्वत्। सभार्यं गरुडोपरि स्थितं कृष्णम्। तत्र सूर्यस्थानीयो गरुडः, तटित्स्थानीया भार्या, घनस्थानीयस्तु कृष्ण शति विवेकः । स भौम स्तस्मै कृष्णाय शतघ्नीं शक्तिविशेषं व्यसृजत् प्रायुङ्क्त। तथा योधाश्च भौमसम्बन्धिनः युगप त्प्रविव्यधुः ताडयामासुः, स्वस्वायुधैरिति शेषः॥ १४,१५ ॥

1. B. निरगमन् 2- -2 K.T.W. omit 3.B. °डि० 4. B. °डि० 5 B शस्त्र

विज० प्रमोदिनी सन्तोषजननी॥ (११) ॥

भौमेन प्रयुक्ताः प्रेरिताः निराक्रम न्निर्गताः॥ १२ ॥

आसज्य ज्या मारोप्य कूटम् समूहम्॥ १३ ॥

आयोधनम् युद्धस्थानम्। सूर्योपरिष्टात् स्थितं तडिता सहितं घनं मेघम्। लोहेनायसा निर्मितां, तेन शतघ्नी प्रयोगेण विव्यथे 'व्यथ-ताडने' इति धातोः, ताडितोऽभूत्॥ १५ ॥

तद्भौमसैन्यं भगवा न्गदाग्रजो विचित्रवाजै र्निशितै श्शिलीमुखैः।
निकृत्तबाहूरुशिरोध्रविग्रहं चकार तर्ह्येव हताश्व कुञ्जरम्॥ १६ ॥ ★

इति विजयध्वजरीत्या त्रिषष्टितमोध्यः॥ ६३ ॥

## ॥ अथ विजयध्वजरीत्या चतुष्षष्टितमोध्यायः आरभ्यते ॥

○ यानि योधैः प्रयुक्तानि शस्त्रास्त्राणि कुरूद्वह।
हरि स्तान्यच्छिन त्तीक्ष्णैः शरै रेकैकश स्त्रिभिः॥ १७ ॥

उह्यमान स्सुपर्णेन पक्षाभ्यां निघ्नता गजान्।
गरुत्मता हन्यमानास्तुण्डपक्षनखैर्गजाः॥ १८ ॥

□ तुरङ्गमाश्च दुर्धर्षाः पेतु रुर्व्यां गतासवः।
पुरमेवाऽविश न्नार्ता नरको युध्ययुध्यत।
दृष्ट्वा विद्रावितं सैन्यं गरुडेनार्दितं स्वकम्॥ १९ ॥

तां भौमः प्राहर च्छक्त्या वज्रः प्रतिहतो यतः।
ना ऽकम्पत तया विद्धो मालाहत इव द्विपः॥ २० ॥

1. M.Ma ततोऽनु० 2. M.Ma पत्रैः 3. M.Ma ०शरौघैः 4. M.Ma.W. °ङ्गि; MI.V. ०धि० 5- -5 M.Ma तूर्णं नृप साश्व ★ अत्र विजयध्वजरीत्या त्रिषष्टितमोऽध्यायः समाप्तः। oM.Ma add श्रीशुक उवाच 6- -6 M.Ma अच्छिनत् केशव स्तीक्ष्णैः 7. M.Ma हतान् ▫ This extra half verse is found in M.Ma editions only. 8- -8 M.Ma omit 9- -9 M.Ma वज्रेणेव हरिर्गिरिम्। 10- -10 M.Ma तयाऽतिविद्धो गरुडो मालाविद्ध इव द्विपः

**श्रीध० तदिति।** विचित्रा वाजाः पत्राणि येषां तै र्बाणै र्निकृत्ता बाहवः ऊरवः शिरोध्राः कन्धरा विग्रहा देहाश्च यस्य[1] तत् तर्ह्येव तं[2] यदा विव्यधु स्तस्मिन्नेव क्षणे॥ १६ ॥

**यानीति।** अत्याश्चर्यं कुरूद्वहेति सम्बोधनम्। तथाहि- तै र्यानि प्रयुक्तानि शस्त्राणि, तत्प्राप्तेः पूर्वमेव तत्सर्वं सैन्यं हत्वा पश्चा त्तानि शस्त्राण्यस्त्राणि च चिच्छेद। तत्राप्येकैकं शस्त्रमस्त्रञ्च त्रिभि स्त्रिभिः[4] शरैरि त्याश्चर्यम्॥ १७॥

**उह्यमान इति।** किञ्च, गरुत्मतेति॥ १८ ॥

**पुरमिति।** [5-]अयुध्यत न न्यवर्तत[-5]॥ १९ ॥

**तामिति।** यतो यया शक्त्या वज्रः प्रतिहत आसीत्,[6] असौ[7] गरुडस्तु नाऽकम्पत॥ २० ॥

1. B.J. यस्मिन् 2. MI.V omit तं 3. MI.V. °र्येण 4. B.J. omit त्रिभिः 5- -5 B.J. omit 6. B.J. आस 7. B.J. omit असौ

**वीर० तदिति।** विचित्राः वाजाः पत्राणि येषां तै र्निशितै र्बाणैः निकृत्ता बाहवः ऊरवः शिरोधरा विग्रहा देहाश्च यस्य, हताः अश्वाः कुञ्जराश्च यस्मिन् तथाभूतं, तर्ह्येव यदा विव्यधु स्तस्मिन्नेव क्षणे चकार॥ १६ ॥

**यानीति।** हे कुरूद्वह! इत्याश्चर्यसम्बोधनम्। तथा हि तै र्योधैः यानि शस्त्राणि बभूवुः तत्प्राप्तेः पूर्वमेव तत्सैन्यं सर्वं हत्वा पश्चा त्तानि शस्त्राणि चिच्छेद, तत्राप्येकैकं शस्त्रं त्रिभिश्शरै रिति॥ १७ ॥

कथम्भूतः? पक्षाभ्यां गजान्निघ्नता गरुत्मतोह्यमानः। किञ्च, गरुत्मतेति। गरुत्मता कर्त्रा तुण्डादिभिः साधनैः हतास्ताडिताः अत एवाऽऽर्ता गजाः॥ १८ ॥

पुरं प्राग्ज्योतिषपुरं[1] विविशुः। नरकस्तु युद्धेऽयुध्यत। दृष्ट्वेति। विद्रावितं पलायितं गरुडेन पीडितं स्वकीयं बल-मालोक्य[2] भौम स्तं गरुडं शक्त्या प्राहरत्। तां विशिनष्टि। यतः यया शक्त्या वज्रः प्रतिहतः आस[3]। नेति। तया शक्त्या ताडितोऽपि गरुडो नाऽकम्पत यथा मालया हतो गज स्तद्वत्॥ १९,२० ॥

1. B. adds एव 2. B. मवलो० 3. K.T.W. omit आस

**विज०** ततोऽनु तदनन्तरम्॥ १६ ॥

(अत्र विजयध्वजरीत्या त्रिषष्टितमोऽध्यायः समाप्तः)

गरुडस्य पक्षाभ्यां निघ्नतान्निहतान् गजा नच्छिनत्॥ १७,१८ ॥

ः॥ १९,२० ॥

★ तयाऽतिविद्धो गरुडो मालाविद्ध इव द्विपः।
न किञ्चिदपि राजेन्द्र चचाल नरकाहवे॥ क ॥

ततः कार्मुक मादाय नरक श्शरसञ्चयान्।
मुमोच कृष्णे तान् सर्वान् अच्छिन त्केशव श्शरैः॥ ख ॥

ततोऽर्धचन्द्रं नरकं सुसन्धाय शरासने।
आक्रष्टुकामं विज्ञाय तच्चापं केशवोऽच्छिनत्॥ ग ॥

ततः कालायसमयीं गदां गुर्वीं धरासुतः।
आददे तां क्षुरप्रेण चकर्त मधुसूदनः॥ घ ॥

ततो निशातं परशुं भौमः परबलार्दनः।
प्राहिणो द्विष्णवे तञ्च चिच्छेद श्रीधरोऽसिना॥ ङ ॥

ततः कृष्णाय चिक्षेप तोमरा न्पञ्चसप्ततिम्।
चकार सिंहनादञ्च नरकः परवीरहा॥ च ॥

तां स्तोमरान् कुरुश्रेष्ठ शरेणैकेन केशवः।
चिच्छेद यौगपद्येन तदद्भुतमिवाऽभवत्॥ छ ॥

शूलं भौमोऽच्युतं हन्तु माददे वितथोद्यमः।
तद्विसर्गा त्पूर्वमेव नरकस्य शिरो हरिः॥
अपाहर द्गजस्थस्य चक्रेण क्षुरनेमिना॥ २१ ॥

सकुण्डलं चारुकिरीटभूषितं शिरः[1] पृथिव्यां[2] पतितं समज्वलत्[3]।
हाहेति साध्वि त्यृषयस्सुरेश्वरा माल्यै र्मुकुन्दं विकिरन्त ईडिरे॥ २२ ॥

● हत्वा हरिः नरकं दैत्यवर्यं मरुद्गणै स्सहितो लोकपालैः।
समाहूतः पौरमुख्यैः सभार्यः प्राग्जोतिषं प्राविश द्रष्टुकामः॥

तत्राऽपश्यद्यदुश्रेष्ठो विचित्रं मणिपर्वतम्।
छत्रं च वारुणं हृद्यं सलिलस्रावि भारत॥

शक्राय प्राहिणो द्भूयः केशवो मणिपर्वतम्।
वरुणाय तथा छत्रं प्राहिणो दैत्यकिङ्करैः॥

तान्विसृज्य हरिर्देवान् स्वयमेव जगत्पतिः।
प्राविशत् भौम सदनं पुरन्दर पुरोपमम्॥

[4]ततश्च भूः कृष्णमुपेत्य कुण्डले प्रतप्तजाम्बूनदरत्नभास्वरे।
□ [5]सा वैजयन्त्या वनमालयाऽऽर्पयत् प्राचेतसं छत्र मथो महामणिम्॥ २३॥

अस्तौषीदथ विश्वेशं [6]देवी देववरार्चितम्।
प्राञ्जलिः प्रणता राजन् भक्तिप्रवणया धिया॥ २४॥

★ These 14 extra half verses are found in M.Ma editions only. 1. B.G.J. °णं 2. B.G.J. बभौ 3. B.G.J. M.Ma M.V. समुज्ज्व
● These 4 extra Verses are found in M.Ma editions only. 4. M.Ma ततो धरा कृ० □ This half verse reads in M.Ma editions thus पौत्रं च वीरं भगदत्तसंज्ञितं निवेद्य मालामपि वैजयन्तीम्। 5. B.G.J. स वै० 6. K.W. देव

**श्रीध० शूलमिति।** गरुडे वितथोद्यमस्सन् [1-]शूलं त्रिशूल माददे धृतवान्[-1]॥ २१,२२ ॥

**तत** इति। प्रतप्ते जाम्बूनदे यानि रत्नानि तै र्भास्वरे। मेर्वंशभूतं [2-]मन्दरशिखरं[-2] महामणिञ्च आर्पयदिति॥ २३,२४॥

1- -1 M.V. omit 2- -2 B. मन्दरं

**वीर० शूलमिति।** गरुडे व्यर्थोद्यमस्सन् शूल माददे स्वीकृतवान्। तद्विसर्गात् शूलप्रयोगात् पूर्वमेव हरि र्नरकस्य शिर श्चक्रेण चिच्छेद। कथम्भूतेन? क्षुरस्येव नेमिः धारा यस्य तेन॥ २१ ॥

**सकुण्डलमिति।** कुण्डलाभ्यां सहितं सुन्दरेण किरीटेन भूषितं शिरः पृथिव्यां पतितं सत् सम्य [1]गज्वलत्। नरकसम्बन्धिनो हाहेति, ऋषयस्तु साधु साध्विति ऊचुः। सुरेश्वरास्तु कुसुमै र्विकिरन्तो मुकुन्दं तुष्टुवुः॥ २२ ॥

**ततश्चेति।** (सा) भू र्भूमिः नरकस्य माता प्रतप्ते जाम्बूनदे यानि रत्नानि तै र्भास्वरे कुण्डले तथा वैजयन्त्या वनमालया सह प्राचेतसं वारुणं छत्रं, मेर्वंशभूतं मन्दरशिखरं महामणिञ्च कृष्णायाऽर्पयामास॥ २३ ॥

**अस्तौषीदिति।** हे राजन्! देवो देववरै रर्चितश्च तं कृष्णं भक्त्या प्रवणा या धी स्तयोपलक्षिता तुष्टाव॥ २४॥

1. B. °गुज्ज्व०

**विज०** आक्रष्टुकामं आकर्णपूर्णम् आकर्षणेच्छुम्॥ क-ग ॥

नाम्ना क्षुरप्रेण शरेण॥ घ-छ॥

क्षुरनेमिना निशितनेमिना॥ २१-२३ ॥

भक्त्या प्रवणया सततया धिया बुद्ध्या॥ २४ ॥

-: भूमिकृत श्रीकृष्णस्तुतिः :-

[1-] भूमि रुवाच [-1]

नमस्ते देवदेवेश शङ्खचक्रगदाधर।
भक्तेच्छोपात्तरूपाय परमात्म न्नमोऽस्तु ते॥ २५ ॥

नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने।
नमः पङ्कजनेत्राय नम स्ते पङ्कजाङ्घ्रये॥ २६ ॥

नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय विष्णवे।
पुरुषायाऽऽदिबीजाय पूर्णबोधाय ते नमः॥ २७ ॥

अजाय जनयित्रेऽस्य ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
[2-] पराव[-2]रात्मन् भू[3]तात्मन् परमात्मन् नमोऽस्तु ते॥ २८ ॥

त्वं वै सिसृक्षू रज उत्कट[4] प्रभो तमो निरोधाय बिभर्ष्य[5]संवृतः।
स्थानाय सत्त्वं जगतो जगत्प[6]ते कालः प्रधा[7-]नं पुरुषो भवा न्प[-7]रः॥ २९ ॥

अहं पयो ज्योति[8]रथानलोऽनिलो मात्राणि देवा मनइन्द्रियाणि[9]।
कर्ता महानि त्यखिलं च[10]राचरं त्वय्यद्वितीये भगव न्नयं भ्रमः॥ ३० ॥

तस्यात्मजोऽयं तव पादपङ्कजं भीतः प्रपन्नार्तिहरोप[11-]सादित[-11] ः।
त[12] त्पालयैनं कुरु हस्तपङ्कजं शिर स्यमुष्याऽखिलकल्मषापहम्॥ ३१ ॥

1- -1 K.W. धरोवाच; M.Ma पृथिव्युवाच 2- -2 M.Ma चराचरा०; MI.V परापरा० 3. M.Ma लोकेश 4. M.Ma °त्कटः 5. M.Ma °र्षि संवृतम्। 6. M.Ma °त्प्रभो 7- -7 M.Ma ०नः पुरुषोऽस्य पारः। 8 B.G.J. M.Ma MI.V. °थाऽनिलो नभो 9. MI.V. add च 10. M.Ma तु कारणं 11- -11 M.Ma °रं प्रसादितुम् 12. K.W. तं पा०

**श्रीध०** ऐश्वर्यं ज्ञात्वा भूमिः स्तौति- **नमस्त** इति। परमात्मन्! देवाद्यन्तर्यामिन्! [1-]भक्तानुग्रहार्थं इच्छया स्वीकृतनानारूपाय[-1]॥ २५ ॥

येन मन्त्रेण कुन्त्याः प्रसन्नः पूर्वमासी त्तेन मन्त्रेण नमस्यति- **नम** इति। पङ्कजं नाभौ यस्य तस्मै जगत्कारणायेत्यर्थः। अत एव सत्कीर्तिमयी पङ्कजानां माला विद्यते यस्य तस्मै। एवम्भूतं ध्यायतां पङ्कजव त्सुप्रसन्ने तापोपशमने नेत्रे यस्य तस्मै, पङ्कजवत् सुसेव्यौ पङ्कजाङ्कितौ वाऽङ्घ्री यस्य तस्मै नम इति॥ २६ ॥

**नम** इति। किञ्च, भगवते निरतिशयैश्वर्याय, कुतः? वासुदेवाय सर्वभूताश्रयाय, अत एव विष्णवे व्यापिने। न हि सर्वभूताश्रयत्वं परिच्छिन्नस्य सम्भवतीति, कुत स्सर्वाश्रयत्वम्? तत्राऽऽह - पुरुषाय सर्वस्मात्कार्या त्पूर्वमेव सते "पूर्व मेवाऽह मिहाऽऽसम्" इति, "तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम्" इति श्रुतेः। एतदपि कुतः? आदिबीजाय आदे र्जगत्कारणस्यापि कारणाय। एवंमपि न मृदादिवच्चाऽयमित्याह-पूर्णबोधायेति॥ २७ ॥

नन्वेवमपि स्वस्य कारणात्पूर्वं सत्त्वं न स्या दत आह- **अजायेति।** स्वय मजाय अस्य च जगतो जनयित्रे। उभयत्राऽपि क्रमेण हेतुद्वयम्। ब्रह्मणे बृहते अनन्तशक्तय इति च। बृहत्त्वा दजत्व मनन्तशक्तित्वा त्तज्जनयितृत्व मित्यर्थः। ननु पित्रादयः पुत्त्रादीनां जनकाः, तेषाञ्च तत्पूर्वे तेषाञ्च तथा भूतानि, तेषाञ्च स्वकर्मद्वारेण जीवाः, कि मत्राऽहम् तत्राऽऽह-परावरात्म न्नित्यादि। पित्राद्यात्मकत्वा त्त्वमेव जनक इत्यर्थः॥ २८ ॥

ननु गुणा विश्वोत्पत्त्यादिहेतवः ते च प्रधानस्यैव, तस्य च पुरुषः क्षोभकः, तत्र च कालो प्रसिद्धम्। कि मत्राऽऽहं, तत्राऽऽह **त्वं वै** इति। तमसो धारणेऽप्यसंवृत एव। स्थानाय पालनाय, जगत मुत्कटं रज आदि त्वमेव बिभर्षि सृजसीत्यर्थः। कालप्रधानपुरुषाश्च त्वद्व्यतिरिक्ता न सन्ति। त्वन्तु परः सर्वव्यतिरिक्तः, अत स्त्वमेव जनयितेत्यर्थः॥ २९ ॥

कार्यकारणप्रपञ्चस्य तदव्यतिरेकं तस्य च सर्वव्यतिरेक मुपपादयति- **अहमिति।** अहं भूमिः मात्राणीति देवा मन इन्द्रियाणीति च त्रिविधाहङ्कारकार्याणि, कर्ताऽहङ्कारः॥ ३० ॥

एवं स्तुत्वा प्रार्थयते - **तस्येति।** हे प्रपन्नार्तिहर! तस्य नरकस्य आत्मजः अयं भगदत्तो नाम भीतोऽत एव मया तव पादपङ्कज मुपसादितः अभयप्रदानार्थम्॥ ३१ ॥

1- -1 B.J. omit 2 B.J. °जमा० 3 B.J. omit कुतः? 4- -4 MI.V. omit 5.MI.V. स्व का० 6. MI.V. omit जगतो 7. MI.V. omit तत् 8.B.J.omiit तथा 9. MI.V. omit इति 10. B.J. omit आत्मजः 11- -11 B.J. omit.

**वीर०** स्तुति मेवाऽऽह- **नमस्त** इति। ताव त्परत्वभक्तानुग्रहशीलत्वसर्वान्तरात्मत्वादिविशिष्टं स्तुवन्ती नमस्करोति। देवाना मिन्द्रादीनां देवो ब्रह्मा तस्येश! भक्तेच्छया भक्तानुग्रहेच्छया उपात्तरूपाय गृहीतविग्रहाय तुभ्यं हे परमात्मन्! नमः॥ २५॥

पङ्कजनाभायेति। मन्त्रविशेषेण नमस्करोति **नम** इति। पङ्कजं चतुर्मुखोत्पत्तिस्थानभूतं नाभिः यस्य तस्मै जगत्कारणभूतायेति भावः। अत एव सत्कीर्तिमयी पङ्कजमाला यस्य तस्मै। पङ्कजनेत्राय पङ्कजवत्प्रपन्नजनतापत्रयोपशमननेत्राय पङ्कजव त्सौगन्ध्यसौकुमार्यादियुक्ताङ्घ्रये। अनेन भक्तैः ध्येयत्व मुक्तम्॥ २६॥

अथ ध्येयत्वसमनियतकारणत्वविशिष्टं नमस्करोति- **नमो भगवते** इति। भगवत इति कारणत्वोपयुक्तगुणपूर्ति रुच्यते। आदिबीजाय कारणकारणाय अनेन सृष्टिकारणत्व मुक्तम्। अथ स्थितिकारणत्व माह- वासुदेवाय विष्णवे पुरुषायेति। स्थितिर्हि मन्वाद्यन्तःप्रवेशस्वावतारादिभिःतत्र वासुदेवायेत्यनेन वसुदेवपुत्रत्वादिरूप स्वावतारेण स्थितिरभिप्रेता। पुरुषायेत्यनेन मन्वादिपुरुषशरीरान्तः प्रवेशेन। विष्णवे इत्यनेन कृत्स्नजगदन्तरात्मतया च अभिप्रेता। पूर्णबोधायेत्यनेन लयकारणत्वं सूचितम्। प्रलयदशायां स्वानन्दानुभवपूर्णाय असहायत्वेन स्थितायेत्यर्थः॥ २७ ॥

अथ कारणत्वप्रयुक्तविकारादिदोषप्रसङ्गं वारयन्ती नमस्करोति- **अजायेति**। अस्य जगतो जनयित्रे, अनेन निमित्तकारणत्वमुक्तम्। उपादानकारणत्वन्तु आदिबीजायेति पुरस्ता देवोक्तम्। तथऽप्यजाय कार्यगतोत्पत्त्यादिविकाररहिताय विकाराणां स्वशरीरभूतप्रकृतिपुरुषगतत्त्वा दिति भावः। न हि लोके किञ्चि देवं दृष्टमि त्येवंविधदुर्घटत्वशङ्कां व्यावर्तयति-अनन्तशक्तय इति। अनन्ताः अपरिमिताः शक्तयः स्वासाधारणाः अग्न्यादेः दाहकत्वादय इव यस्य तस्मै। ब्रह्मणे इति दृष्टान्तार्थम्। यथा स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयबृहत्त्वं त्वदसाधारणम्। तथा कारण त्वमजत्वञ्चेति। तर्हि जगदुपादानत्वं केनाऽऽकारेणे त्यपेक्षायां नामरूपयो र्निर्वहिता "ते यदन्तरा तद्ब्रह्म" इति श्रुत्युक्तविधया चिदचिद्वतनामरूपनिर्वाहकत्वोपयुक्तान्तरात्मत्वेने त्यभिप्रेत्य सम्बोधयति- परावरात्मन्! उच्चावचजीवान्तरात्मन्! भूतात्मन् अचिदन्तरात्मन् अचिदन्तरात्मत्वं जीवसाधारणमिति तद्विशेषे पर्यवसाययति परमात्मन्निति। परमात्मशब्दश्च गीताचार्येण निरुक्तः"यो लोकत्रय माविश्य बिभ र्त्यव्यय ईश्वरः" (भगी. 15-17) इति। जीव आत्माऽपि स्वभावेन व्ययः त्वन्तु स्वस्वरूपतः स्वभावतश्चाऽव्ययः इत्यभिप्रेतम्॥ २८॥

उक्तनामभि रभिप्रेतमेव कारणत्वं सुव्यक्तमाह- **त्वं वा** इति। हे विभो! ताव त्त्वं स्रष्टुमिच्छुः उत्कटं रजो बिभर्षि रजोगुणप्रधानचतुर्मुखाख्यदेहानुप्रवेशेन सृजसीत्यर्थः। जगतां विनाशाय संहाराय तमःप्रधानकालाग्निरुद्रादी ननुप्रविशसि, तथात्वेन विनाशयसीत्यर्थः। स्थानाय स्थितये तु हे जगत्पते! उत्कटं सत्त्वं बिभर्षि सत्त्वप्रधानमन्वादिशरीरको भूत्वा पालयसीत्यर्थः। न केवलं सृष्ट्यादिवत् पालनमपि सद्वारकमेव, अपि तु अद्वारकमपी त्यभिप्रायेण विशिनष्टि। असंवृतः असंवृतोऽपि जीवादिसंवरणरहितोऽपि केवलस्वावतारूपेणाऽपि पालयसीत्यर्थः। उपादानकारणत्वप्रयुक्तं कार्याऽनन्यत्वं वक्तुं, कारणत्वं न स्वरूपेण अपि तु प्रकृतिपुरुष कालवैशिष्ट्यरूपेणे त्यभिप्रेत्य कारणत्वावस्थायां प्रकृत्यादिशरीरकत्व माह-काल इत्यादि। इदं सामानाधिकरण्यं शरीरात्मभावनिबन्धनम्, अत एव स्वरूपतादात्म्यनिबन्धनत्वाऽऽशङ्कानिरासाय विशिनष्टि पर इति। परोऽन्यः सन्निहितत्त्वा त्कालादे रन्यः इत्यर्थः। "ऐतदात्म्य-मिदं सर्वं तत्सत्यम् स आत्मा" (छान्दो.उ .6-8-7) इतिव दयं निर्देशः॥ २९॥

अथ कार्यानन्यत्वमाह- **अहमिति**। अहं पृथिवी, पयो जलं, ज्योतिष एव प्रदर्शनार्थ मनल इत्युक्तम्, अनिल इति तत्कारणस्य आकाशस्याप्युपलक्षणम्। मात्राणि गन्धादितन्मात्राणि। देवाः इन्द्रियाधिष्ठितारः दिग्वातादयः, इन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च दश, कर्ता देहोऽहम्बुद्धिहेतुत्वात् कर्तेत्यहङ्कारो विवक्षितः। यद्वा महानिति तत्कार्यस्याऽ-हङ्कारस्याऽऽप्युपलक्षणम्। कर्ता जीवः "कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्" (ब्र.सू. 2-3-33) इति सूत्रम्। इत्येवंविधमखिलं चराचरात्मकं जगदद्वितीये स्वतुल्यवस्त्वन्तररहिते त्वय्येव प्रकृतिपुरुषकालशरीरके त्वय्येव मृदि घट इव वर्तते इति शेषः। अतो मृ दयं घटः इतिवत् त्वदभिन्नमेवेत्यर्थः। यद्वा, उपादानत्वं कालादिवैशिष्ट्यरूपेणे त्यभिप्रायेण कालादितादात्म्य माह-काल इत्यादि। तच्च तादात्म्यं न स्वरूपाभेदनिबन्धन मित्यभिप्रायेणतेभ्योऽन्यत्वमाह पर इति। तर्हि किन्निबन्धन मिति जिज्ञासायां

शरीरात्मभावनिबन्धनमि त्युपपादयति-अहमिति। त्वय्ये वान्तःप्रविश्य धारके आत्मन्यवतिष्ठत इत्यर्थः। पृथिव्यादिषु स्वतन्त्रबुद्धिस्तु भ्रमात्मिकेत्याह अयं भ्रम इति। अयं पृथिव्यादिषु भ्रमः भ्रमात्मक इत्यर्थः। व्यासार्थे स्तु "देहानां जीवाभिमाने भ्रमहेतुत्वात् पृथिव्यादितत्त्वजातं भ्रम इत्युच्यते" इति व्याख्यातम्॥ ३० ॥

एवं स्तुत्वा किञ्चि त्प्रार्थयते-**तस्येति**। अयं भगदत्तनामा तस्य भौमस्याऽऽत्मजः भीतस्सन् हे प्रपन्नार्तिहर! तव पादपङ्कज मुपसादितः मया प्रापितः। तं प्रपन्न मेनं पालय अमुष्य भगदत्तस्य शिरसि अखिलाशुभहन्तृ त्वत्करपङ्कजं कुरु निधेहि॥ ३१ ॥

1- -1 B. omits 2. K.T.W. omit कारण 3. T. °ता चाऽ० 4. B. °नाऽव० 5- -5 K. omits 6. T.W. omit भाव 7. B. omits भ्रम 8- -8 K.T.W. omit.

विज० भक्तेच्छया उपात्तं स्वीकृतं रूपम्॥ २५,२६ ॥

वासुदेवाय सर्वत्र स्थित्वा द्योतमानाय विष्णवे सच्चिदानन्दरूपाय पुरुषाय पूर्णषड्गुणाय आदे र्ब्रह्मणो बीजाय व्यञ्जकाय॥ २७ ॥

अस्य प्रपञ्चस्य जनयित्रे उत्पादकाय ब्रह्मणे वेदादिशब्दराशिवेद्याय। सर्वशब्दवाच्यत्वे हेतुमाह-अनन्तेति, "अनन्ता वै वेदाः" इति श्रुतेः। चराचरात्मन् चराचरमात्मा देहः प्रतिमास्थानीयो यस्य स तथा। परमात्मन् प्रत्यक्स्वरूप॥ २८॥

सिसृक्षुः स्रष्टुकामः उत्कट स्त्वं रजोगुणं बिभर्षि उपादत्से। निरोधाय संहाराय संवृतं ज्ञानसंवरणकारणं तमोगुणं, स्थानाय जगत्स्थित्यै सत्त्वगुणम्। कालः प्राणिना मदृष्टपाचकः, एवंविधः क इति तत्राऽऽह प्रधान इति। प्रधानः पुरुषोऽसि पुरुषोत्तमोऽसीत्यर्थः। "उत्तमः पुरुष स्त्वन्यः" (भगी. 15-17) इति स्मृतेः। पुरुषत्वेऽपि परिच्छिन्नत्वं नास्तीत्याह-अपार इति। यद्वा, जगत्कारणं प्रधानपुरुष इति केचि त्सङ्गिरन्ते, तदाशङ्कां निवारयति प्रधान इति। प्रधानशब्दवाच्यः पुरुषशब्दवाच्यश्च त्वमेव। तर्हि परिशिष्यमाणः कः, इत्यत्राऽऽह अस्येति। अस्य प्रपञ्चस्य पारः परिशिष्यमाणाः संसारनदीपारः तीरान्तरशब्दवाच्य-स्त्व मित्यर्थः॥ २९ ॥

सृष्ट्यादिकर्ता त्व मित्युक्त्यैव अखण्डकर्तृत्वप्रतीतावपि धात्रादिशब्दाभ्यां विरिञ्चादेरपि कर्तृत्वशङ्का मिदानीं निवारयति-**अहमिति**। अहं नाम्ना पृथिवी, मीयन्त इति मात्राणि, शब्दादिविषयाः, मानं स्वविषयज्ञानं स्वसत्त्वेन त्रायन्त इति वा, देवा इन्द्रियाभिमानिनः, कर्ता अहङ्काराभिमानी, महान् महत्तत्त्वाभिमानी विरिञ्चः, तुशब्द एवार्थे। इतिशब्दः समाप्तिवचनः। महदाद्यभिमान्यन्त मखिलकारणम् अद्वितीये च त्वय्येव। त्वमेव धारयसीत्यर्थः। आतिथ्यव त्कदाचिन्नेत्याह भगवन्निति। हे ऐश्वर्यादिगुणार्णव, अयं जगद्भ्रमः चक्रभ्रमणव द्विश्वस्य परिवर्तनं त्वन्नियत मित्यर्थः। भ्रमशब्दस्याऽऽरोपार्थत्वाङ्गीकारे अर्थक्रियानुपपत्ति रिति॥ ३० ॥

साम्प्रतं तव किं विधेय मित्यत्राऽऽह- **तस्येति**। अयं पुरोवर्ती तस्य नरकस्याऽऽत्मजः औरसः पुत्र इति, जानीहीति शेषः। तर्हि किमिति मत्प्रणामं न करोती त्यत्राह तवेति। तव प्रपन्नार्तिहरं पादपङ्कजं प्राप्य त्वां प्रसादयितुं भीत स्त्रस्तः इत्यन्वयः। ततः कि मत्राऽऽह- तदिति। यतो भीतः त त्तस्मात् तत्पालनं चैत देवेत्याह- कुर्विति।

अनेन किं फलं स्या दित्याशङ्क्य पापनिमित्तं सर्वं मनर्थजातं, तन्नाशे सर्वसुखं स्यादिति भावेनाऽऽह- अखिलेति। यद्वा, प्रपन्नार्तिहरं भगवन्तं प्रसादयितुं तव पादपङ्कजं 'भीतः सञ्चलितः' प्राप्त इत्यर्थः। "भीति भयसञ्चलनयोः" इति धातुः। अतो रक्षेत्याह-तदिति॥ ३१ ॥

-: भगवतो नरकासुरान्तःपुरगतराजकन्यकाद्याहरणम् :-

श्रीशुक उवाच

इति भूम्यार्चितो[1] वाग्भि र्भगवा न्भक्तिनम्रया।
दत्त्वाऽभयं भौमगृहं प्राविश त्सकल र्द्धिमत्[2]॥ ३२ ॥

★ राज्ये नियोज्य तं वंश्ये तदमात्यांश्च तत्पदे।
भौमावरोधकान्तानां श्रेणीं सम्प्राविश द्धरिः॥

तत्र राजन्यकन्यानां षट्सहस्राधिकायुतम्।
भौमाहृतानां विक्रम्य राजभ्यो ददृशे हरिः॥ ३३ ॥

तं प्रविष्टं स्त्रियो वीक्ष्य △ नरवीरं[3] विमोहिताः।
मनसा वव्रिरेऽभीष्टं पतिं देवोपपादितम्[4]॥ ३४ ॥

भूया त्पति रयं मह्यं धाता तदनुमोदताम्।
सर्वाः पृथक् कृष्णे भावेन हृदयं दधुः॥ ३५

1. B.G.J. °र्थि 2- -2 M.Ma प्रसन्नः प्रददौ तस्मै भगदत्ताय चाभयम्। ★ This extra verse is found in M.Ma editions only. △The following three quarter verses are read thus in M.Ma editions: ता स्सर्वा नवयौवनाः। स्वलङ्कृता विचित्राङ्ग्यो नरवर्यविमोहिताः। 3. K.W. वरवर्यं; MI.V. नरवर्यं 4.B.G.J.W. सा० 5.M.Ma °म 6- -6 M.Ma सर्वेश्वरे कृष्णे ता नार्यो?

श्रीध० इतीति। अभयं दत्वा॥ ३२ ॥

तत्रेति। शताधिक मित्यपि ज्ञातव्यम्। यथाऽऽह[1] श्रीपराशरः-"कन्यापुरे स कन्यानां षोडशाऽतुलविक्रमः। शताधिकानि ददृशे सहस्राणि महामते" इति। राजभ्य इत्युपलक्षणम्, सिद्धादिभ्यश्चेति। तथा च तेनैवोक्तम्- "देवसिद्धासुरादीनां नृपाणाञ्च जनार्दन। हृत्वा हि सोऽसुरः कन्या रुरोध निजमन्दिरे" इति॥ ३३-३५ ॥

1. MI.V. °दा०

वीर० इतीति। भक्त्या नम्रा प्रणता तया भूम्या कर्त्र्या वाग्भिः साधनभूताभिः अर्चितः सकला ऋद्धयः भोग्यभोगोपकरणादिसमृद्धयो यस्मि न्सन्तीति तत् भौमस्य गृहं प्राविशत्॥ ३२ ॥

**तत्रेति**। पराक्रम्य राजभ्यो भौमे नाहृतानां राजकन्यानां षट्सहस्राण्यधिकानि यस्मिन् तत् अयुतं दशसहस्राणि षोडशसहस्राणीत्यर्थः। ददर्श॥ ३३ ॥

**तमिति**। वरवर्यं वरश्रेष्ठं तं कृष्णं दैवेन प्रापितं भाग्यलब्ध मभीष्टं पतिं मेनिरे॥ ३४ ॥

मननप्रकारमेव दर्शयति- **भूयादिति**। मह्यं मम त दस्मदभिमतं धाता ब्रह्मा अनुमोदताम् अनुगृह्णातु सत्यापयत्वित्यर्थः। इतीति। पृथक् प्रत्येकं भावेन उक्ताभिसन्धिना कृष्णे हृदयं चित्तं दधुः निदधुः॥ ३५ ॥

**विज०** वंश्ये वंशप्राप्ते, तत्पदे अमात्यपदे, श्रेणीं पङ्क्तिं शालां वा॥ ★ ॥ ३२-३५ ॥

ताः प्राहिणो द्द्वारवतीं सुमृष्टविरजोऽम्बराः।[1]
नरयानै महाकोशा त्रथाश्वान् द्रविणं महत्॥ ३६ ॥[2-] [-2] [3]

ऐरावतकुलेभांश्च चतुर्दन्तां स्तरस्विनः।[4-] [-4]
★ भगदत्ताय दत्त्वैकं सुप्रतीकं ततोऽपरान्।
पाण्डुरांश्च चतुष्षष्टिं प्रेषयामास केशवः॥ ३७ ॥ ० [5]

इति श्रीविजयध्वजरीत्या चतुष्षष्टितमोऽध्यायः॥ ६४॥

## -: पारिजाताहरणवृत्तान्तः :-

$ गत्वा सुरेन्द्रभवनं दत्वाऽदित्यै च कुण्डले।
पूजित स्त्रिदशेन्द्रेण महेन्द्राण्या च सप्रियः॥ ३८ ॥[6]

चोदितो भार्ययोत्पाट्य पारिजातं गरुत्मति।
आरोप्य सेन्द्रा न्विबुधान् निर्जि त्योपानय त्पुरम्॥ ३९ ॥

स्थापितः सत्यभामाया गृहोद्यानोपशोभनः।
अन्वगु र्भ्रमराः स्वर्गात् तद्गन्धाऽऽसवलम्पटाः॥ ४० ॥[7] [8]

1. M.Ma रुचिराऽ०; Ml.V. विरजाऽ० 2- -2 M.Ma खरैरुष्ट्रैर्म० 3. K.M.Ma.W. °थांश्च 4- -4 M.Ma °न्तान् मदोत्कटान् ★ This extra half verse is found in M.Ma editions only. 5. Ml.V. ण्ड० ० विजयध्वजरीत्या चतुष्षष्टितमोऽध्यायः समाप्तः। पञ्चषष्टितमाध्यायादारभ्य चतुस्सप्ततितमाध्यायपर्यन्ताः दश अध्यायाः विजयध्वजरीत्या अधिकपाठत्वेनऽलभ्यन्ते। $ Verses from 38 to 45 are not found in M.Ma editions. 6. B.G.J. स० 7. Ml.V.W. य० 8. W. °ऽऽस्वाद०

**श्रीध० ता** इति। प्राहिणोत् प्रस्थापयामास, सुमृष्टाः कमनीयाश्च ताः विरजोऽम्बराश्च[1] ताः, नरयानैः शिबिकाभिः। अपि च महाकोशानिति॥ ३६,३७ ॥

**गत्वेति।** सप्रियः सत्यभामासहितः॥ ३८ ॥

**चोदित** इति। सत्यभामया प्रेरितस्सन् पारिजातवृक्ष मुत्पाट्य कृतविबुधजयस्सन् द्वारकां विवेश॥ ३९ ॥

**स्थापित** इति। गृहोद्यानं निष्कुटं तदुपशोभयति[2]॥ ४० ॥

1. Ml.V. °जा० 2. Ml.V. omit तत्

**वीर० ता** इति। विगतमालिन्यानि अम्बराणि यासां ताः, सुमृष्टाश्च स्नापिताः धौतवस्त्राद्यलङ्कारिताश्चेत्यर्थः। नरयानै रान्दोलिकाभिः द्वारकां प्रति प्रेषयामास। तथा[1] महान् कोशो[2] येषां ता ननर्घान् रथादीन् विपुलं धनञ्च प्राहिणोत् प्रेषयामास। ३६॥

**ऐरावतेति।** चत्वारो दन्ता येषां तान् तरस्विनः बलीयसः ऐरावतकुलोद्भवान् अत एव पाण्डुरान् चतुष्षष्टि संख्याकान् प्रेषयामास॥ ३७ ॥

**गत्वेति।** सप्रियः ससत्यभामः इन्द्राण्या शच्या पूजितः भार्यया सत्यभामया चोदितः प्रेरितः पारिजातं तरु मुत्पाट्य गरुत्मति आरोप्य सेन्द्रान् देवान् युद्धे निर्जित्य पुरं द्वारकां प्रति प्रापयामास॥ ३८,३९ ॥

स च तरुः स्थापितः, आलवाले इति शेषः। सत्यभामायाः गृहारामे शोभावहो बभूव। तस्य सौरभमकरन्दयोः लोलुपा भ्रमराः स्वर्गा दन्वगच्छन्। सेन्द्रान् विबुधा निर्जित्येति इन्द्रकृष्णयोः पारिजातार्थः[3] सङ्ग्राम उक्तः॥ ४० ॥

1. T.W omit तथा 2. B. adds मूल्यं 3. K.T.W °र्थस०

**विज०** ऐरावतकुले जाता निभान् पाण्डुरान् श्वेतदेहान्★॥ ३६-४० ॥

★ अत्र विजयध्वजरीत्या चतुष्षष्टितमोऽध्यायः समाप्तः।

**यया च आनम्य किरीटकोटिभिः पादौ स्पृश न्नच्युत मर्थसाधनम्।**
**सिद्धार्थ एतेन विगृह्यते महा नहो सुराणाञ्च तमो धि गाढ्यताम्॥ ४१ ॥**

-: नरकान्तःपुराहृतराजकन्यकोद्वाहादिवृत्तान्तः:-

अथो मुहूर्त एकस्मि न्नानागारेषु ताः स्त्रियः।
यथोपयेमे भगवां स्तावद्रूपधरोऽव्ययः॥ ४२ ॥

गृहेषु तासा मनपाय्यतर्क्यकृ न्निरस्तसाम्यातिशयेष्ववस्थितः।
रेमे रमाभि र्निजधाम सम्प्लुतो यथेतरो गार्हकमेधिकां श्चरन्॥ ४३ ॥

★ स्वदारेषु पृथग्भावो भक्तचित्तानुवर्तिनः।
अनन्तस्याऽप्रमेयस्य किन्नु चित्रं मुरद्विषः। क ॥

योगेश्वरेश्वरः कृष्णो भक्तै रद्यापि लक्ष्यते।
अन्त र्बहि स्समन्ताच्च शतधा च सहस्रधा॥ ख ॥

इत्थं रमापति मवाप्य पतिं स्त्रि यस्ता ब्रह्मादयोपि न विदुः पदवीं यदीयाम्।
भेजु र्मुदाऽविरत मेधितयाऽनुरागहासावलोकनवसङ्गमजल्पलज्जाः॥ ४४ ॥

प्रत्युद्गमासन वरार्हणपादशौचताम्बूलविश्रमणवीजनगन्धमाल्यैः।
केशप्रसाधशयनस्नपनोपहार्यै र्दासीशता अपि विभो र्विदधुः स्म दास्यम्॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
पारिजातहरणनरकवधो नाम एकोनषष्टितमोऽध्यायः॥ ५९ ॥

1. K.W. अतो 2. K. त० 3. B.G.J काम ★ These extra two Verses are found in B.K.W and also commented by Veeraraghava only. 4. K.W °ऽद्वितीयस्य 5. K.W. °ह० 6- -6 Ml.V. °मादरभयासन 7. K.W °व० 8. B.G.J Ml.V. °र० 9. K.W. हारै०

**श्रीध०** सेन्द्रान् विबुधान् निर्जित्येति इन्द्रकृष्णयोः सङ्गाम उक्तः। तत्र ननु कथं प्रसाधितस्वमनोरथेन श्रीकृष्णेन सहेन्द्रस्य सङ्गाम इत्याशङ्क्याह **ययाच** इति। अच्युत मर्थसाधनम् इति च कर्मद्वयं याचति धातोः। विगृह्यते विग्रहं करोति महानपि, तमः क्रोधं आढ्यतां धनिकतां धि गिति॥ ४१ ॥

**अथो** इति। यथा यथावत्। अनेन देवक्यादिबन्धुजनसमागमोऽपि प्रतिगृहं यौगपद्येन सूचितः। अव्ययः सर्वत्राऽपि सम्पूर्ण एव॥ ४२ ॥

अहो भाग्यं नारीणा मित्याह त्रिभिः-**गृहेष्विति**। अतर्क्याणि कर्माणि करोति तथा सः निरस्तं साम्य मतिशयश्च यैः, अन्येषां तेषु गृहे ष्वनपायी अवस्थितः रमाभि र्लक्ष्म्या अंशभूताभिः, निजकामसंप्लुतः स्वानन्दपरिपूर्णः गार्हकमेधिकान् गृहस्थधर्मान्॥ ४३ ॥

**इत्थमिति**। अनुरागहाससहित मवलोकञ्च तत्पूर्वकं नवसङ्गमञ्च तद्गतं जल्पञ्च तस्मिन् लज्जाञ्च भेजुः॥ ४४॥

**प्रत्युद्गमेति**। विश्रमणं पादसंवाहनं[5] केशप्रसारः केशप्रसाधनं दासीनां शतानि विद्यन्ते यासां तथाभूता अपि स्वयं विभो र्दास्यं विदधुः॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
एकोनषष्टितमोऽध्यायः॥ ५९ ॥

1. B.J. महे० 2--2 B.J. इत्याह 3. MI.V. omit धिगिति 4. MI.V. omit एव 5. MI.V. omit पाद

**वीर०** नन्विन्द्रः पराजितः किमकरोत् तदाह[1]-**ययाच** इति। आनम्य इन्द्रो मूर्धानमिति कर्तृकर्मपदाध्याहारः। किरीटाग्रैः पादौ स्पृशन् अर्थसाधन माश्रितजनाभिमत प्रयोजननिष्पादकं कल्पतरुं ययाचे। तमेवङ्कृतवन्तमिन्द्रं निन्दति- सिद्धार्थ इति। तावन्निष्पन्न स्वप्रयोजनः समनन्तरमेतेन[2] स्वप्रयोजनसाधकेन भगवता विगृह्यते विरुध्यते तत्समनन्तरमेव महान् याच्ञया प्राप्तकल्पतरुत्वेन आढ्यो बभूव। तस्मा दहो सुराणां तमः अहङ्कार माढ्यताञ्च धिक्, तदुभयं निन्द्यमित्यर्थः॥ ४२॥

**अत** इति। अत स्ततः एकस्मिन्नेव मुहूर्ते नाना बहुषु अगारेषु यावत्यः स्त्रियः तावत्सु गृहेषु इत्यर्थः। तथा तावन्ति रूपाणि शरीराणि धरतीति तथाभूतः ताः षोडशसहस्रसंख्याकाः स्त्रियः स्त्रीः उपयेमे उदवोढेति भगवन्महिमातिशयोक्तिः॥ ४२॥

अहो तासां भाग्य मित्याह- **गृहेष्विति**। अतर्क्याण्यचिन्त्यानि चेष्टितानि करोतीति तथा स भगवा न्निजधाम्ना स्वतेजसा उपात्तमनुजरूपत्वेऽपि अपरित्यक्तासाधारणप्रभावेनेत्यर्थः। सम्प्लुतो व्याप्तोऽपि स्वानन्दानुभवपूर्णोऽपि ता निरस्त साम्यातिशयेषु भोग्यादिसमुद्ध्या समाभ्यधिकरहितेषु तासां गृहेषु अनपायी विश्लेषरहितोऽवस्थितः प्राकृतजनवत् गार्हकमेधिकान्[3-] (गार्हधर्मवान्[-3] गृहस्थधर्मवान्[4-]) गृहस्थधर्मान्[-4] चरन् अनुतिष्ठन् रमाभिः रमणीयाभिः स्त्रीभिः सह रेमे॥ ४३ ॥

अतिचित्र मेत देक स्यानेकधा भवनमिति विस्मयमानं प्रत्याह-**स्वदारेष्विति**। अपरिच्छिन्नस्य समाभ्यधिकरहितस्य स्वभक्तचित्तानुवर्तिनो मुरारेः पृथग्भावः स्वदारेषु एकदैव तत्तद्दाराभिमतरूपधारणं किं चित्रं तदद्भुतचेष्टितेषु नेदं चित्र मित्यर्थः॥ (क)

भक्तचित्तानुवर्तिन इति विशेषणाभिप्रेतं व्यनक्ति। अद्याऽपि, न केवलं तदैव, अपि त्वधुनाऽपि योगेश्वरेश्वरः[5] योगनिर्वाहकः कृष्णो अन्त र्हृदि बहि स्तत्रापि समन्ताच्च भक्तैः परिपूर्णभक्तियोगैः शतधा सहस्रधा च लक्ष्यते। (ख)

अथाऽहरहस्तासां वृत्तिक्रम माह- **इत्थमिति** द्वाभ्याम्। रमापतिं श्रीकृष्णं तं विशिनष्टि- यस्य श्रीकृष्णस्य सम्बन्धिनीं पदवीं महिमानं ब्रह्मादयोऽपि न विदुः। तं पति मवाप्य अविरह मविच्छिन्नं, सन्तत मिति यावत्। तद्यथातथा वर्धितया मुदा अनुरागसहितो हासः, तत्पूर्वकावलोकश्च तत्पूर्वको नवसङ्गमश्च तत्र जल्पाः नर्मवचनानि तेषु लज्जां भेजुः प्रापुः॥ ४४ ॥

किञ्च **प्रत्युद्गमेति**। [6]दासीनां शतानि यासां तथाभूता अपि स्वयमेव विभो र्भर्तुः प्रत्युद्गमादिभिः दास्यं विदधु श्चक्रुः। तत्र प्रत्युद्गमः प्रत्युत्थानम्, आसनवरार्हणम् आसनश्रेष्ठसमर्पणम्, पादशौचं पादप्रक्षालनं,विश्रमणं पादसंवाहनादिना श्रमापहरणम्॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकोनषष्टितमोऽध्यायः॥ ५९ ॥

1. T.W अत्राऽऽह 2. adds एव 3- -3 K. omits 4- -4 T.W omit 5. B. °गी० 6. K.T.W. दास्यः। विज 41 **तमश्लोकादारब्धस्य** 45 तमश्लोकपर्यन्तस्य ग्रन्थभागस्य व्याख्या नास्ति।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
एकोनषष्टितमोऽध्यायः॥ ५९ ॥

(विजयध्वजतीर्थरीत्या चतुष्षष्टितमोऽध्यायः)

# श्रीमद्भागवतम्

दशमस्कन्धः

॥ अयं एकोनषष्टितमाध्यायानन्तरं योजनीयः ॥

इत आरभ्य विजयध्वजतीर्थीयः अध्यायदशकात्मकः अधिकपाठः

अथ विजयध्वजरीत्या पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

(अधिकपाठे प्रथमोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

हत्वा नरक मत्युग्रं दानवं दानवान्तकः।
आरुह्य गरुडं प्राया त्प्राग्ज्योतिष पुरा नृप॥ १॥

सगच्छन् गगने विष्णुः वन्दितुं देवमातरम्।
जगाम त्रिदशावासं सहितः सत्यभामया॥ २॥

स्वर्गद्वारं गतो विष्णु र्दध्मौ शङ्खं महास्वनम्।
उपाजग्मु स्तदाकर्ण्य सार्घ्यपाद्या दिवौकसः॥ ३ ॥

पूजित स्तै स्सुरैः कृष्णो भक्तिनम्रैर्गतज्वरैः।
सुरेन्द्रभवनं दिव्यं प्रविवेश मनोरमम्॥ ४ ॥

तत्र शक्र स्समं शच्या पूजयामास केशवम्।
रत्नैराभरणै र्दिव्यै र्गन्धमाल्यैश्च शोभनैः॥ ५ ॥

ततः प्राया त्पुरीं मातु रदित्या स्सह भार्यया।
दृष्ट्वोपतस्थे तं देवी पुत्रमायान्त मच्युतम्॥ ६ ॥

ववन्दे तां हरिस्तं सा पूजयामास भामिनी
आशीर्भिः परमप्रीता चिरंदृष्टं यदूत्तमम्॥ ७ ॥

सत्यभामाऽपि कौरव्य! श्वश्र्वाः कृष्णेन चोदिता।
पादयोः कुण्डले तस्याः निधाय प्रणनामवै॥ ८ ॥

स्नुषा माश्लिष्य सन्तुष्टा सा पुन र्लब्धकुण्डला।
आनन्द बाष्प प्रचुरा प्राहेदं कश्यप प्रिया॥ ९ ॥

न ते जरा न वैरूप्यं कान्तेन सह विप्रियम्
भूया त्कल्याणि! सुव्यक्तं मत्प्रसादा त्कदाचन॥ १० ॥

ततोनुज्ञाप्य तां देवीं त्रिदशानपिकेशवः।
आरुह्य प्रययौ तार्क्ष्यं सहितः सत्यभामया॥ ११ ॥

महात्मना गगने देवदेव्यौ गरुत्मता नीयमानौ विचित्रम्
अपश्यतां नन्दनं चारुगुप्तं शचीभर्तु र्दयितं हृद्यगन्धम्॥ १२ ॥

वनंदृष्ट्वा दिव्यगन्धं सुपुष्पं कृष्णं सत्या प्राह पाणौ गृहीत्वा।
प्रविश्याऽस्मिन् साधुचित्रं विहर्तुं मुहूर्तं मे काम्यते केशवेति॥ १३ ॥

अथाऽवरुह्य गरुडा त्तस्या वचनगौरवात्।
प्रविवेश वनं कृष्णः पालितं शक्रकिङ्करैः॥ १४ ॥

तत्राऽपश्यत्तरून् दिव्यान् मत्तसारङ्गनादितान्।
फलभारनतान्भूरि प्रसूनरजसाऽऽवृतान्॥ १५ ॥

चलत्किसलयोपेतान् विहङ्गध्वनिशोभितान्।
विचरन्ती तथा तत्र पारिजातं महाद्भुतम्॥ १६ ॥

दृष्ट्वा पप्रच्छ गोविन्दं विस्मयाकुललोचना।
को नामाऽयं तरुर्देव विचित्रो भुवनत्रये॥ १७ ॥

सत्य मेतस्य वृक्षस्य कृतार्थाः फलभागिनः।
प्रवालमूले विपुलो जातरूपमहातनुः॥ १८ ॥

इन्द्रनीलच्छदच्छन्नो लसद्वैदूर्यवेदिकः।
माणिक्य पुष्पो विविध मुक्ताफलफलान्वितः॥ १९ ॥

गोमेद पक्वप्रकरो वज्रकिञ्जल्करञ्जितः।
स्फुरन्मरकतस्थूल शारवाशतविराजितः॥ २० ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

गतज्वरैः नष्टसन्तापैः॥ १-५ ॥

उपतस्थे समीपे तस्थौ॥ ६ ॥

भाम तेजः अस्याः अस्तीति भामिनी। चिरकालदृष्टम्॥ ७ ॥

श्वश्वाः भर्तु र्मातुः॥ ८,९ ॥

सत्यभामा माशिषायोजयति - न ते जरेति। वैरूप्यं सौन्दर्याभावः विप्रियं कलहः॥ १०,११ ॥

हृद्यगन्धं हृदयप्रियगन्धम्॥ १२ ॥

काम्यते वनसम्पदिति शेषः। काम इति वा॥ १३, १४ ॥

सारङ्गनादितान् भृङ्गनादितान्॥ १५, १६ ॥

विविधं चित्रं मुख्यं मिश्रफलं यस्मिन् स विचित्रः "चित्र मालेख्यमिश्रयोः" इति, "मिश्रमाविलमुख्ययोः" इति च॥ १७ ॥

एतस्य वृक्षस्य फलभागिनः कृतार्था इति सत्यमित्यन्वयः, वैचित्र्यं कथयति - प्रवालेति। प्रवालो रत्नविशेष एव। मूलं शिफा यस्य स तथा। विपुलो विस्तृतः जातरूपं सुवर्णमिव महातनु र्यस्य स तथा॥ १८ ॥

इन्द्रनील मेव छदः पत्रं इन्द्रनीलच्छदः तेन छन्न स्संवृतः लस द्वैदूर्यरत्नमेव, वेदिः परिष्कृता भूमि र्यस्य स लसद्वैदूर्यवेदिकः, माणिक्यरत्नान्येव पुष्पाणि यस्य स माणिक्यपुष्पः विविधानि तारतम्योपेतानि मुक्ताफलान्येव फलानि विविधमुक्ताफलानि, तै रन्वितः॥ १९ ॥

गोमेदरत्नान्येव पक्वानि गोमेदपक्वानि तेषां प्रकरा यस्य सः। तथा वज्ररत्नान्येव कि[1]ञ्जल्कानि[1] वज्रकिञ्जल्कानि तैः रञ्जितोऽरुणीकृतः, स्थूलाः शाखाः तासां शतेन विराजितः॥ २० ॥

---

1--1 B. Omits

तरुरेष जगन्नाथ मनो मे हरते भृशम्।
नेतव्योऽयं पुरीं वृक्षो यद्यहं ते प्रिया प्रभो॥ २१ ॥

छायाया मुपविष्टां मा मन्यपत्न्य स्तवाऽनघ।
दृष्ट्वा मंस्यन्ति दयितां सर्वाभ्यो मां तवाऽच्युत॥ २२ ॥

इत्युक्तो देवकीपुत्त्रः सत्यया प्रियकान्तया।
प्राह नाऽयं तरु र्भद्रे नेतव्यो नन्दना द्वनात्॥ २३ ॥

पुराक्षीराम्बुधेर्जातो मथ्यमाना त्सुरासुरैः।
शक्राय दत्त स्सकलै स्सदा तत्फल भोक्तृभिः॥ २४ ॥

तन्नहार्य मनादृत्य मया मित्रं शतक्रतुम्।
तरुरत्नं सरोजाक्षि! धर्म मेवाऽनुतिष्ठता॥ २५ ॥

नीयमाने च वृक्षेऽस्मि न्पारिजाते शुचिस्मिते।
सङ्ग्रामो जायते घोर स्त्रिदशैर्जयकाङ्क्षिभिः॥ २६ ॥

इत्युक्तादेवदेवेन सत्यभामा पुन र्हरिम्।
प्राह भीषयसे किं मां व्यलीकैः कंसमर्दन॥ २७ ॥

नाऽभ्यनन्द दुराचारा शची मां गृहमागताम्।
हेतु र्हि वृक्ष स्तस्याऽयं भर्तृपौरुषगर्विता॥ २८ ॥

नेतव्य स्सर्वथा वृक्षः पारिजातोऽय मच्युत।
प्रियाऽहं तवचेन्नाथ नोचे द्विरम साम्प्रतम्॥ २९ ॥

इत्युक्त स्सत्यया कृष्ण स्ता ननादृत्य रक्षकान्।
उत्पाट्यारोपयामास पारिजातं गरुत्मति॥ ३० ॥

ततो निवारयामासु र्गोविन्दं वनपालकाः।
केचि द्रुततरं जग्मु र्देवेन्द्राय निवेदितुम्॥ ३१ ॥

कृष्ण कृष्ण न हर्तव्य स्तरुरेषोऽमरार्चितः।
हरसे यदि तस्य त्वं फलं सद्योऽनुभोक्ष्यसि॥ ३२ ॥

प्राप्नोषि न पुरीं कृष्ण सहाऽनेन महीरुहा।
सद्यः पश्यसि देवेन्द्रं पृष्ठतोऽभ्युद्यतायुधम्॥ ३३ ॥

सुरेन्द्रान्तिक मासाद्य द्रुतं ते वनरक्षकाः।
उपविष्टं समं शच्या शक्रं दृष्ट्वाऽब्रुवन्नृप॥ ३४ ॥

वनरक्षका ऊचुः

अवज्ञायाऽखिलान्देवा निन्द्राणीश्च त्वया सह।
जहार कृष्णदयिता पारिजातं महाद्रुमम्॥ ३५ ॥

उक्ताऽस्माभिर्भृशं देव वारयद्भि र्हरिप्रिया।
उपालभ्याऽ हर द्वृक्षं भर्तृपौरुषगर्विता॥ ३६ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्याऽऽकर्ण्याऽप्रियं शक्रो दण्डाहत इवोरगः।
शचीं विलोक्य पार्श्वस्थां नाऽमृष्य त्तत्पराभवम्॥ ३७ ॥

सन्नाहोद्योग माघोष्य सन्निपात्यच सैनिकान्।
लोकपालान् समाहूय निश्चक्राम सुरेश्वरः॥ ३८ ॥

ऐरावतं चतुर्दन्त मारुह्य वरवारणम्।
गृहीतवज्रं गच्छन्त मनुजग्मु र्दिवौकसः॥ ३९ ॥

वैश्वानर स्तु तुरग मारुह्य दृढदंशितः।
घोरां शतघ्नी मादाय स्रुवपुच्छां ययौ रणम्॥ ४० ॥

यमस्त्वाऽऽरुह्य महिषं दण्डमादाय वीर्यवान्।
मृत्युकालादिभि र्युक्तो युद्धार्थी शक्रमन्वगात्॥ ४१ ॥

निर्ऋतिश्च महातेजा घोर मारुह्य पौरुषम्।
असि हस्तोमहाबाहु र्युद्धाय प्रययौ नृप॥ ४२ ॥

मकरं भीषणाकार मारुह्य वरुण स्त्वरन्।
पाशोद्यतकरः प्राया द्युद्धायाऽनुशचीपतिम्॥ ४३ ॥

वायुः कृष्णमृगारूढो दंशित स्तोमरायुधः।
सुरेश्वर मनुप्रायाद्योद्धुं चक्रभृता सह॥ ४४ ॥

ऊढांचतुर्भिः पुरुषै श्शिबिकां नरवाहनः॥
योद्धुकाम स्त्वरन्प्राया द्विष्णुना मुद्गरायुधः ॥ ४५ ॥

ईशानो वृषभं तुङ्ग मारुह्य शितशूलभृत्।
वासवेन समं प्राया द्भूतकोटिसमन्वितः॥ ४६ ॥

भेरीशङ्खमृदङ्गैश्च पणवानकगोमुरवैः।
सुवर्णसुषिरै र्दिव्यैः कांस्यतालैश्च भूरिभिः॥ ४७ ॥

रथनेमि निनादैश्च हयानां खरनिस्वनैः।
क्ष्वेलिताऽऽस्फोटितै र्घोरै स्सङ्ग्रामाह्वानगर्जनैः॥ ४८ ॥

तिष्ठ तिष्ठेति मा याहि क्व यासीति पुनः पुनः
प्रवदद्भि स्सुरगणै श्शतशोऽथ सहस्रशः॥ ४९ ॥

कम्पयद्भिश्च शस्त्रौघैः प्रेषयद्भिश्च वाहनम्।
पुरोऽह मिति गच्छद्भिः शतशोऽथ सहस्रशः॥ ५० ॥

घोरै र्ज्याघातनिर्घोषै स्सिंहनादैश्च भूरभिः।
अभिदुद्रुवु रुद्धृत्ताः सिंहं गोमायवो यथा॥ ५१ ॥

इति श्री भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे
विजयध्वजतीर्थीयपाठे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः
( अधिकपाठे प्रथमोऽध्यायः)॥ १ ॥

1. B.M. तन्ना०

## पदरत्नावली

मंस्यन्ति निरूपयन्ति॥ २१ - २३ ॥

तस्मा त्समुद्राज्जातानां फलानां भोक्तृभिः॥ २४, २५ ॥

जयकाङ्क्षिभिः जयेच्छुभिः जितयुद्धैर्वा॥ २६ ॥

व्यलीकैः कपटवचनैः॥ २७ ॥

तरुन्नयने निमित्तमाह - नेति॥ २८ ॥

विरम, प्रियभाषण मिति शेषः॥ २९ - ३५ ॥

उपालभ्य भर्त्सयित्वा॥ ३६, ३७ ॥

सन्नाहो युद्धोद्योगार्थं विद्यमानं, गोमुखं सन्निपात्य सम्मेलयित्वा, सैनिकान् सेनानायकान्॥ ३८, ३९ ॥

स्रुवं पुच्छे यस्या स्सा, ताम्॥ ४० ॥

मृत्युकालादिभिः प्रभृतिभिः॥ ४१ - ४३ ॥

चक्रभृता कृष्णेन॥ ४४ ॥

नरवाहनोवैश्रवणः॥ ४५, ४६ ॥

सुवर्णसुषिरैः काहलैः॥ ४७ ॥

क्ष्वेलितैः सिंहनादैः आस्फोटितैः भुजास्फालैः॥ ४८ - ५१ ॥

इति श्रीविजयध्वजतीर्थकृत पदरत्नावल्यां पञ्चषष्टितमोऽध्यायः॥ ६५ ॥

## अथ विजयध्वजरीत्या षट्षष्टितमोऽध्याय :
## (अधिकपाठे द्वितीयोऽध्यायः)

### श्रीशुक उवाच-

**सुरा नभिद्रुतान्दृष्ट्वा सत्य माह जगत्पतिः।**
**इमे प्राहुणिकाः प्राप्ता स्तव वृन्दारका इति॥ १ ॥**

**तथा ब्रुवाणे देवेशे प्रेषिता देवसैनिकाः।**
**नदन्तो मुमुचुः कृष्णे शरवृष्टिं कुरूद्वह॥ २ ॥**

तत श्शार्ङ्गं समादाय सत्या व्यसन विक्लबा।
मुक्तां श्चिच्छेद बाणौघै स्ताञ्छरान्देवसैनिकैः॥ ३ ॥

ततो वैश्रवणः श्रीमान् बहुभि र्गुह्यकै र्वृतः।
विस्फारयं स्तालमात्रं कार्मुकं कनकाटनि॥ ४ ॥

स्वर्णपुङ्खान् शरान्मुञ्चन् सिंहव व्यनदन्मुहुः।
अभिदुद्राव समरे तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्। ५ ॥

तैः पञ्चभि श्शरै स्सत्या निशितै र्मर्मभेदिभिः।
अर्पयामास वेगेन विशाले जठरे नृप॥ ६ ॥

सोऽतिविद्धो रणे बाणै स्त्रिभिर्भल्लै र्हरिप्रियाम्।
अयोधयद्धनपतिः सिंहनादं व्यनीनदत्॥ ७ ॥

तानप्राप्ता नर्धचन्द्रै स्त्रिभि श्चिच्छेद सा शरैः।
भूयोऽष्टभि श्शरै र्देवी वत्सदन्तै र्मनोजवैः॥ ८ ॥

विव्याध गुह्यकपते र्ललाटे कुरुपुङ्गव।
पीडित स्तै र्भृशं बाणैः पौलस्त्यः क्रोध विह्वलः॥ ९ ॥

सन्दधे निशिता न्बाणा नेकविंशति संयुगे।
तानन्तरे सत्यभामा सायकै स्सप्तभि र्नृप॥ १० ॥

चिच्छेद निमिषार्धेन त्रिधैकैकं हरिप्रिया।
सत्यभामा ततः क्रुद्धा पौल यस्य महद्धनुः॥ ११ ॥

अर्धचन्द्रेण चिच्छेद मुष्टिदेशे द्विधा नृप।
ततोऽन्यच्चाप मादाय सज्यं कृत्वा धनेश्वरः॥ १२ ॥

ववर्ष शरजालानि क्रोधा त्सर्प इव श्वसन्।
सर्वां स्तान् सायकान् संख्ये शरै स्सन्नतपर्वभिः॥ १३ ॥

चिच्छेद लीलयादेवी तदद्भुत मिवाऽभवत्।
ततः क्रुद्धोवैश्रवणः सत्यभामां विलोक्य च॥ १४ ॥

प्राह पश्य हनिष्यामि त्वा मद्य मम पौरुषम्।
इत्युक्त्वा तालमात्रे तु चापे गुह्यकसत्तमः॥ १५ ॥

पश्यतां सर्वदेवानां मार्ष्टुकामः पराभवम्।
सन्दधे सूदितुं देवी मर्धचन्द्रं शरोत्तमम्॥ १६ ॥

तदवेत्य मनस्तस्य क्षुरप्रेण हरिप्रिया।
चिच्छेद कार्मुकं तस्य मुष्टिदेशे कुरूद्वह॥ १७ ॥

ततो मुद्गर मादाय घोरं दानवभीषणम्।
भ्रामयित्वा शतगुणं देव्यै चिक्षेप वित्तपः॥ १८ ॥

तं मुद्गरं महाघोर मायान्तं कुरुपुङ्गव।
वामेन पाणिना कृष्णो जग्राहौच्चैर्जहास च॥ १९ ॥

ततो निवृत्तसङ्गामो विदुद्राव धनेश्वरः॥
शशंस देवीं कृष्णश्च समाश्लिष्याऽभिपूजयन्॥ २० ॥

पलायिते धनपतौ सङ्गामे कंसवैरिणा।
वरुणोऽभ्यद्रवत्कृष्णं पाशमुद्यम्य संयुगे॥ २१ ॥

तमायान्त मभिप्रेक्ष्य तार्क्ष्यो मकरवाहनम्।
अभ्यद्रवन्महासत्त्वः शार्दूल इव गोवृषम्॥ २२ ॥

तयो स्समभव द्युद्धं घोरं तार्क्ष्यजलेशयोः।
यथा देवाऽसुरे युद्धे बलिवासवयो रिव॥ २३ ॥

तत्र काश्यपपुत्त्रस्य कण्ठे पाशं जलेश्वरः।
क्रुद्धश्चकर्ष विन्यस्य सिंह स्सिंहमिवौजसा॥ २४ ॥

तं पक्षकोट्या गरुडः समुद्धृत्य जलेश्वरम्॥
पद्भ्यां गृहीत्वा मकरं चिक्षेप वरुणालये॥ २५ ॥

कृच्छ्रा द्गृहीतपाशस्तु वरुणो गतवाहनः।
पदाति रेव सङ्गामा द्विदुद्राव यथागतम्॥ २६ ॥

तथा गते वार्धिपतौ सङ्गामे वायु पावकौ।
सममेवाऽभ्यवर्तेतां गोविन्दं कुरुसत्तम॥ २७ ॥

पावकः पञ्चभि र्बाणै र्मारुतश्च तथा त्रिभिः।
आयोधय द्धृषीकेशं तदद्भुत मिवाऽभवत्॥ २८ ॥

ततः प्रहस्य गोविन्दो बाणेनैकेन पावकम्।
विव्याध सप्तभिश्चैव समीरण मरिन्दमः॥ २९ ॥

एकेनाऽग्निः क्षुरप्रेण गाढं वक्षसि ताडितः।
त मसाधारणं मत्वा विदुद्राव रणाद्भुतम्॥ ३० ॥

दृष्ट्वा समीरणो युद्धा दपयातं हुताशनम्।
सायकाचितसर्वाङ्ग मात्मानश्चाऽतिविह्वलः॥ ३१ ॥

विदित्वा पुण्डरीकाक्षं सङ्गामे प्रत्युपस्थितम्।
न्यवर्तत कुरुश्रेष्ठ प्राणत्राणपरायणः॥ ३२ ॥

ततो महिष मारुह्य दण्ड मुद्यम्य भास्वरम्।
कृष्ण मभ्यद्रव द्युद्धे यमः क्रोधारुणेक्षणः॥ ३३ ॥

तमुद्यतमहादण्डं दृष्ट्वा कमललोचनः।
गदां विसृज्य तद्धस्ता त्पातयामास भूतले॥ ३४ ॥

गदया ताडितो दण्डे त्रस्तहस्तः परेतराट्।
विदुद्राव परावृत्य महिषेण कुरूद्वह॥ ३५ ॥

वैवस्वतं गतं दृष्ट्वा निर्ऋति र्भयविह्वलः।
नाऽभ्यवर्तत गोविन्दं योद्धुं विदिततद्बलः॥ ३६ ॥

शङ्करस्तु महातेजा स्त्रिशूली वृषवाहनः।
अनेकभूतसङ्घातैः कृष्णमभ्यद्रवद्रणे॥ ३७ ॥

तावुभौ लोकविख्यातौ बलिनौ वीर्यशालिनौ।
चक्राते कदनं घोरं परस्परजयैषिणौ॥ ३८ ॥

ईशानो दशभि र्बाणैः कृष्णं तार्क्ष्यञ्च पञ्चभिः॥

विव्याध समरे राजन् तिष्ठ तिष्ठेति चाऽवदत्॥ ३९ ॥

तत श्शार्ङ्गं समादाय कृष्णः परपुरञ्जयः।
त्रिंशद्भि र्युगपद्बाणै र्विव्याध वृषवाहनम्॥ ४० ॥

गरुडः पन्नगरिपुः पद्भ्यां द्वाभ्याञ्च संयुगे।
पक्षाभ्यां चञ्चु कोट्या च मर्दयामास तं वृषम्॥ ४१ ॥

भूयोऽपि कृष्णो नाराचैः पञ्चाशत्प्रमितै र्नृप।
योधयामास समरे शङ्करं लोकशङ्करम्॥ ४२ ॥

तत स्त्रिशूल माविध्य निशितं घोरदर्शनम्।
प्राहिणो द्वासुदेवाय कुपितो धूर्जटि र्नृप॥ ४३ ॥

दृष्ट्वा त्रिशूल मायान्तं केशव स्तं निवारितुम्।
गदां कौमोदकीं गुर्वीं प्राहिणोद्दैत्यमर्दनीम्॥ ४४ ॥

ते वै कौमोदकीशूले कृत्वा नभसि सङ्गरम्।
ज्वलमाने महाघोरे पेततु स्सम मम्बुधौ॥ ४५ ॥

निपात्याब्धौ त्रिशूलं तद्गदा कौमोदकीपुनः।
आससाद करं विष्णो स्त्रिशूल मपि शूलिनः॥ ४६ ॥

तत उद्यम्य निशितं खड्गं पन्नगभूषणः।
कृष्ण मभ्यद्रव त्संख्ये पार्ष्णिभ्यां चोदय न्वृषम्॥ ४७ ॥

तूर्णं गृहीत्वा बाहुभ्यां विषाणे तस्य नन्दिनः।
स शूलपाणिं चिक्षेप वैनतेयो धनुश्शतम्॥ ४८ ॥

ततो विसृज्य सङ्गामं त्रिशूलो वृषवाहनः।
प्रमथै स्सहितः प्राया त्कुरुश्रेष्ठ यथागतम्॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे षट्षष्टितमोऽध्याय
(अधिकपाठे द्वितीयोऽध्यायः)

## पदरत्नावली

प्राहुणिकाः सम्भावनया भोजयितव्याः। बृन्दारका देवाः॥ १-३॥

कनकाविद्धाटनिः कोटि र्यस्य तत्तथा॥ ४,५ ॥

विशाले जठरेविस्तृतोन्नतोदरे, ओदनमिवेति शेषः॥ ६,७॥
वत्सदन्तैः शरविशेषैः॥ ८,९ ॥

अन्तरे मध्ये॥ १०-१९॥

निवृत्तसङ्ग्रामः निवृत्तयुद्धः॥ २०-२३॥

काश्यपपुत्रस्य गरुडस्य॥ २४- २६ ॥

वार्धिपतौ वरुणे॥ २७-२९ ॥

असाधारणं लोकोत्तरम्॥ ३० ॥

सायकाचितसर्वाङ्गं शरसञ्चितसर्वावयवम्॥ ३१-३४ ॥

परेतराट् यमः॥ ३५-३७ ॥

कदनं युद्धम्॥ ३८ - ४० ॥

चञ्चुकोट्या तुण्डकोट्या वृषं नन्दिकेश्वरम्॥ ४१, ४२ ॥

धूर्जटि श्शङ्करः॥ ४३-४६ ॥

पन्नगभूषणः सर्पालङ्कार श्शिवः पार्ष्णिभ्या मास्फालनेन चोदयन् प्रेरयन्॥ ४७ ॥

शूलपाणिना सहितं नन्दिनम्॥ ४८ ॥

त्रिशूलित्वं गणस्याऽपि सम्भवतीति वृषवाहन इति॥ ४९ ॥

इति श्रीविजयध्वजतीर्थकृत पदरत्नावल्यां षट्षष्टितमोऽध्यायः।
(अधिकपाठे द्वितीयोऽध्यायः)

# अथ विजयध्वजरीत्या सप्तषष्टितमोऽध्यायः।

(अधिकपाठे तृतीयोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच-

ततस्स्वयं देवपति स्तुङ्ग मारुह्य वारणम्।
किरीटी बद्धतूणीरः प्रगृहीतशरासनः॥ १ ॥

अभ्यद्रव द्रणे कृष्णं गजः केसरिणं यथा।
पारिजातकृते राजन् पौलोम्या वचनं स्मरन्॥ २ ॥

तमायान्त मभिप्रेक्ष्य हरिः परपुरञ्जयः।
शङ्खं दध्मौ महानादं दिश स्समभिपूरयन्॥ ३ ॥

तमभिद्रुत्य देवेन्द्रो मह द्विस्फारयन्धनुः।
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन कृष्णं विव्याध सङ्गरे॥ ४ ॥

हरि र्विद्धःक्षुरप्रेण देवराजेन वक्षसि।
प्रहस्य साधु शक्रोऽसि युक्तन्त इतिचाऽब्रवीत्॥ ५ ॥

भूयोऽपिबाणान्दश देवराजः सन्धाय चापे भुजगेन्द्रकल्पे।
आकर्णपूर्णं विनिकृष्य कृष्णे मुमोच चक्रे स ह सिंहनादम्॥ ६ ॥

तानन्तरे कंसरिपु र्महात्मा छित्वा त्रिधैकेन शरेण बाणान्।
विव्याध बाणै र्दशभिः सुधौतैः पुरन्दरं भारत लीलयैव॥ ७ ॥

ते शरा देवराजस्य गात्रं निर्भिद्य सावृति।
शोणितात्काः प्रदृश्यन्ते भूयोवेगेन निर्गताः॥ ८ ॥

पुनश्च शक्रः कोदण्डे शरान् सन्धाय षोडश।
मुमोचाऽऽकृष्य गोविन्द स्तांश्चकर्त शरै स्त्रिभिः॥ ९ ॥

भूयोऽपि बाणै स्त्रिंशद्भिः सुरराजान माहवे।
आयोधय द्धरि स्ते च ममज्जुश्शक्रवक्षसि॥ १० ॥

ततश्चुकोप देवेन्द्रो दण्डाहत इवोरगः।
प्रेषयामास तोत्रेण तार्क्ष्यं प्रति महागजम्॥ ११ ॥

स गजः प्राप्य गरुडं पाकशासनचोदितः।
चतुर्भि र्घटयामास दन्तै र्बाहु युगान्तरे॥ १२ ॥

ततस्तुण्डेन गरुडः पक्षाभ्याञ्च तथा नखैः।
अर्दयामास कौरव्य गज मैरावताह्वयम्॥ १३ ॥

शक्रस्तु वज्र मुद्यम्य घोरं दानवभीषणम्।
पश्यतां सर्वभूतानां प्रजहारवृषाकपिम्॥ १४ ॥

तमागतं मधुरिपु र्वज्रं दुश्च्यवनायुधम्।
वामेन पाणिना विष्णुर्जग्राह प्रजहास च॥ १५ ॥

निरायुध स्सुरपति र्गरुडार्दितवाहनः।
व्यावर्तत रणा द्राजन् व्रीडावनतकन्धरः॥ १६ ॥

तं दृष्ट्वा भ्रष्टसङ्कल्पं पलायनपरायणम्।
सत्यभामा सुरपतिं प्रहसन्तीद मब्रवीत्॥ १७ ॥

सत्यभामोवाच-

एहि शक्र निवर्तस्व मा याहि कुलिशायुध।
पलायन मयुक्तं हि पौलाम्या वल्लभस्यते॥ १८ ॥

ऐश्वर्यमत्ता पौलोमी भर्तृपौरुषगर्विता।
अवमंस्यति सद्य स्त्वां भार्या रणपराजितम्॥ १९ ॥

इत्थं देव्या गिरं शक्रः सोपालम्भ मुदीरिताम्।
निशम्याऽभिमुखो भूत्वा प्राह देवीं शुचिस्मिताम्॥ २० ॥

इन्द्र उवाच-

येनाऽमरासुर महोरग यक्षसिद्धा
गन्धर्वकिन्नर पिशाचनिशाचराद्याः।

सृष्टा स्त्रिलोकगुरुणा रणमूर्ध्नितेन
को वा न याति परिभूति मलं विरुध्य॥ २१ ॥

वत्सो यथा तनुबलः सकृदेत्य मातु
र्यूधस्य पानसमये कुरुते विरोधम्।

तद्वद्वयश्च निजशैशव मप्रमेये
नाथे विरुध्य पिशिताशनि दर्शयाम॥ २२ ॥

इति सत्राजितः पुत्री मुक्त्वा भारतसत्तम।
कृताञ्जलिः प्रणम्याऽऽह वासुदेवं पुरन्दरः॥ २३ ॥

इन्द्रउवाच-

नमस्ते देवदेवेश पुण्डरीकाक्ष माधव।
क्षमस्व मत्कृतं विश्व मपराधं जगत्पते॥ २४ ॥

नमां त्वदेकशरणं शरणागतवत्सल।
भूरिबालिश मक्षान्तं परित्यक्तुं त्वमर्हसि॥ २५ ॥

ऐरावतश्च कुलिशं पारिजातश्च पादपः।
देवराज्यश्च भगव न्नियश्चाऽप्यमरावती॥ २६ ॥

त्वदधीन मिदं विश्व महमाज्ञाकरस्तव।
अत्र यद्रोचते नेतुं नीयतां तद्यथेच्छया॥ २७ ॥

किन्तु वक्ष्यामि गोविन्द मूलं त्वयि विरुध्यतः।
रमसे मानुषे लोके भगवंस्त्वमनन्यधीः॥ २८ ॥

तत्र नीते पारिजाते भवता कल्पपादपे।
तेन सा जायते स्वर्गा न्निर्विशेषा वसुन्धरा॥ २९ ॥

तेनाऽहं यदुशार्दूल विरोधं कृतवां स्त्वयि।
तत्क्षन्तव्यं त्वया देव कार्याकार्यं विजानता॥ ३० ॥

श्रीशुक उवाच-

इत्युक्तो देवराजेन देवदेवो जनार्दनः।
पुरन्दरं कुरुश्रेष्ठे! प्राह प्रहसिताननः॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच-

अपराध स्त्वया शक्र न कश्चिदपिचेष्टितः।
यत्कृतं तन्ममैवाऽग स्त्वभेदा दावयोः परम्॥ ३२ ॥

यत्त्वयाऽद्य सहस्राक्ष चेष्टितं साध्वसाधु वा
मयैव यत्कृतं सर्वं नाऽत्र कार्या विचारणा॥ ३३ ॥

पारिजात स्तरुश्रेष्ठो मय्यारूढे तरु र्दिवम्।
मन्निर्देशात्सहस्राक्ष स्वय मेष्यति नन्दनम्॥ ३४ ॥

इत्युक्तो वासुदेवेन देवराजः कुरुद्वह।
गोविन्दं सत्यभामाश्च प्रसाद्य गरुडं तथा॥ ३५ ॥

पुत्रो मे रक्षितव्य स्ते श्यालो बीभत्सु रित्यपि।
भूयोभूयः प्रार्थयित्वा कृतानुज्ञः पुरन्दरः॥ ३६ ॥

सार्धं सकलदिक्पालै र्लब्धवज्रः पुरं ययौ।
पुरन्दरं सदिक्पालं विसृज्य यदुनन्दनः॥ ३७ ॥

गरुडं प्राह कौख्य! यास्यामो द्वारकामिति।
गोविन्दं सत्यभामाश्च पारिजातश्च पादपम्॥ ३८ ॥

गरुडः पन्नगरिपु र्लीलयैव वहन्ययौ।
सम्प्रविश्य पुरीं रम्यां द्वारतोरणभूषिताम्॥ ३९ ॥

पताकामालिनीं दिव्यां सिक्तसम्मृष्टभूतलाम्।
ऊढोपायन ताम्बूल स्रग्गन्धकलशाक्षतैः॥ ४० ॥

उपस्थितै र्यदुश्रेष्ठैः पूजित श्चाऽभिवन्दितः
तूर्यमङ्गलनिर्घोषै र्वेदस्वाध्यायनिस्स्वनैः॥ ४१ ॥

प्रविवेश सभां दिव्यां सुधर्मां वृद्धसेविताम्।
आहुकं वसुदेवञ्च बलभद्रं तथाऽग्रजम्॥ ४२ ॥

अभिवाद्य यथान्यायं पूजित स्तै र्यथोचितम्।
उपविष्टस्सभामध्ये काञ्चने परमासने॥ ४३ ॥

रराज राजशार्दूल! बृहस्पति पुरोगमैः।
लोकपालै रुपासीनै र्दिवि वज्रधरो यथा॥ ४४ ॥

प्राङ्गणे सत्यभामायाः पारिजातं महाद्रुमम्।
स्थापयामास गोविन्दः सर्वतो मणिकुट्टिमे॥ ४५ ॥

आयान्तं देवकीपुत्रं योषित्सार्थेन भूरिणा।
श्रुत्वा द्रष्टु मुपाजग्मुः सकला यादव स्त्रियः॥ ४६ ॥

वसुदेवस्तु कौख्य रोहिण्याद्याः स्त्रियोऽखिलाः।
आजग्मुः केशवं द्रष्टुं जितशत्रु मनामयम्॥ ४७ ॥

स दृष्ट्वा मातरो विष्णु र्देवक्या सह सङ्गताः।
चक्रे प्रणाम माशीर्भिः ताश्च तं प्रत्यपूजयन्॥ ४८ ॥

रुक्मिण्याद्या स्तथा सप्त महिष्यः कृष्णवल्लभाः।
प्रणेमु र्देव मभ्येत्य दिव्यरूपाः स्वलङ्कृताः॥ ४९ ॥

रेवती रामदयिता त्रिवक्रा च यशस्विनी।
एकानङ्गा च तन्वङ्गी चित्रा च वरवर्णिनी॥ ५० ॥

अन्याश्च कुरुशार्दूल! भोजवृष्ण्यन्धकस्त्रियः।
आनीतप्रमदासार्थं जितशत्रुमनामयम्॥ ५१ ॥

गोविन्दं सत्यभामाश्चाऽप्यानीत ममरद्रुमम्।
प्रीत्युत्फुल्लमुखाः सर्वे कौतुका द्रष्टु मीययुः॥ ५२ ॥

**तं समेता यथाजोषं लाजप्रसवतण्डुलैः।**
**स्पृष्ट्वा मूर्ध्नि मुकुन्दस्य जग्मुः स्वं स्वं निवेशनम्॥ ५३ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे सप्तषष्टितमोऽध्यायः॥ ६७ ॥
(अधिकपाठे तृतीयोऽध्यायः)

---

1. MB मातु रूधस्य 2. B.M ०र्दे० 3. B.M ०या०

## पदरत्नावली

ते तव युक्तं न्याय्यं स्त्रीजितस्येति शेषः। 'न्याय्ये संयुक्त' मिति यादवः॥ १ - ५॥

सः ह इति छेदः। सशक्रः युद्धप्रारम्भे॥ ६, ७ ॥

गात्रं, गात्रा ण्यवयवान्। सावृतीति क्रियाविशेषणम् सकवचं निर्भिद्ये॥ ८,९ ॥

आहवे युद्धे॥ १० ॥

तोत्रेण गजताडन चर्मणा॥ ११ ॥

बाहुयुगान्तरे वक्षसि॥ १२-१४ ॥

दुश्च्यवनायुधम् इन्द्रायुधम्। अजेयप्रहारार्थ मायुधं समाप्त मिति दर्शयितुं पुनर्वचन मिति ज्ञातव्यम्॥ १५-१७ ॥

निवर्तस्व पुन रागच्छ मा याहि मा गच्छ। प्रहसन्तीत्यस्य तात्पर्यं दर्शयति - पौलोम्येति॥ १८ ॥

अवमंस्यति अवज्ञास्यति॥ १९, २० ॥

गतासुरावेश इन्द्रः प्रतिवक्ति येनेति॥ २१ ॥

तनुबलः अल्पबलः मातर्यूधस्येतिपाठः ऊधस्य मूधसि जातं क्षीरं मातरि विरोधं हे पिशिताशनि "याज्ञियान्ने च मांसे च पिशितं देवभोजनम्" इति॥ २२-२४ ॥

भूरिबालिशम् अधिकमूर्खम्॥ २५-२७ ॥

मूलं निमित्तम्। अनन्यधीः तत्रैव निरतबुद्धिः॥ २८-३१ ॥

त्वया यत्कृतं तदागः मयैव कृतं विद्धि आवयोः परमत्यभेदात् त्वयिस्थित्वा त्वयैवाऽपराधं कारयित्वा परिहरामीत्यर्थः॥ ३२

एत देव विवृणोति - यत्त्वयेति॥ ३३, ४४ ॥

मणिकुट्टिमे मणिबद्धस्थाने॥ ४५ ॥

योषित्सार्थेन निरन्तरपत्न्या सहेति शेषः॥ ४६-४९ ॥

एकानङ्गा, दुर्गा सुभद्रा चित्रा तारेतिच "अनुत्पन्नरजाः श्यामा तद्दृष्ट्वा वरवर्णिनी। अप्रसूता भवेद्गौरी" इति च॥ ५०

आनीतः प्रमदानां सार्थो येन स तथा तम्॥ ५१-५३ ॥

इति श्रीविजयध्वजतीर्थ कृत पदरत्नावल्यां सप्तषष्टितमोऽध्यायः॥ ६७ ॥
(अधिकपाठे तृतीयोऽध्यायः)

## अथ विजयध्वजरीत्या अष्टषष्टितमोऽ ध्यायः
(अधिकपाठे चतुर्थोऽध्यायः)

### श्रीशुक उवाच-

आराध्य देवदेवेशं शङ्करं लोकशङ्करम्।
तपसा तोषयित्वा तं कैलासगिरिवासिनम्॥ १ ॥

रुक्मिण्यां तनयं लेभे दग्धकामं पुन र्हरिः॥

वीरं प्रद्युम्ननामानं रूपौदार्यगुणान्वितम्॥ २ ॥

### राजोवाच-

पुत्त्रार्थ मीश्वरं दृष्ट्वा स्वयं लब्धवरो हरिः।
अवाप कीदृशं पुत्त्रं किंनामानं वदस्व मे॥ ३ ॥

श्रीशुक उवाच-

काम स्तु वासुदेवांशो दग्धः प्राग्रुद्रमन्युना।
देहोपपत्तये भूय स्तमेव प्रत्यपद्यत॥ ४ ॥

स एव जातो वैदर्भ्यां कृष्णवीर्यसमुद्भवः।
प्रद्युम्न इति विख्यातः सर्वतोऽनवमः पितुः॥ ५ ॥

तं शम्बरः कामरूपी हृत्वा तोकमनिर्दशम्।
स विदित्वाऽऽत्मन श्शत्रुं प्रास्योदन्वत्यगा द्गृहम्॥ ६ ॥

तं निर्जगार बलवान् मीनः सोऽप्यपरै स्सह।
वृतो जालेन महता गृहीतो मत्स्यजीविभिः॥ ७ ॥

तं शम्बराय कैवर्ता उपाजह्रु रुपायनम्।
सूदा महानसं नीत्वाऽवद्यन् स्वधितिनाऽद्भुतम्॥ ८ ॥

दृष्ट्वा तदुदरे बालं मायावत्यै न्यवेदयन्।
नारदोऽकथय त्सर्वं तस्या श्शङ्कितचेतसः॥ ९ ॥

बालस्य तत्त्व मुत्पत्तिं मत्स्योदरनिवेशनम्।
साच कामस्य वै पत्नी रति र्नाम यशस्विनी॥ १० ॥

पत्यु र्निदग्धदेहस्य देहोत्पत्तिं प्रतीक्षती॥ ११ ॥

निरुपिता शम्बरेण सा सूपोदनसाधने।
कामदेवं शिशुं बुध्वा चक्रे स्नेहं सदाऽर्भके॥ १२ ॥

नातिदीर्घेण कालेन स कार्ष्णी रूढयौवनः।
जनयामास नारीणां वीक्षन्तीनाञ्च विभ्रमम्॥ १३ ॥

सा तं पतिं पद्मदलायतेक्षणं प्रलम्बबाहुं नरलोकसुन्दरम्।
सव्रीडहासोत्तमविभ्रमेक्षितैः प्रीत्योपतस्थे रति रात्मनो धनैः॥ १४

तामाह भगवान्कार्ष्णि र्मति स्ते मति रन्यथा।
मातृभाव मतिक्रम्य वर्तसे कामिनी व मे॥ १५ ॥

रतिरुवाच-

भवान्नारायणसुतः शम्बरेण हृतो गृहात्।
अहं तेऽधिकृता पत्नी रतिः कामो भवान्प्रभो॥ १६ ॥

एष त्वा निर्दशं सिन्धा वक्षिपच्छम्बरोऽसुरः।
मत्स्योऽग्रसी त्तदुदरा दिह प्राप्तो भवान् प्रभो॥ १७ ॥

तमिमं जहि दुर्धर्षं दुर्नयं शत्रु मात्मनः।
मायाशतविदं त्वञ्च मायाभि र्मोहनादिभिः॥ १८ ॥

परिशोचति ते माता कुररीव मृतप्रजा।
पुत्त्रस्नेहाकुला दीना विवत्सा गौ रिवाऽऽतुरा॥ १९ ॥

प्रभाष्यैवं ददौ विद्यां प्रद्युम्नाय महात्मने।
मायावती महामाया सर्वमायाविनाशिनीम्॥ २० ॥

स च शम्बर मभ्येत्य संयुगाय समाह्वयत्
अवष्टभ्यौष्ठ माक्षेपैः क्षिपन् सञ्जनयन् कलिम्॥ २१ ॥

सोऽधिक्षिप्तो दुर्वचोभिः पादाहत इवोरगः।
निश्चक्राम गदापाणि रमर्षा त्ताम्रलोचनः॥ २२ ॥

गदा माविध्य तरसा प्रद्युम्नाय महात्मने।
प्रक्षिप्य व्यनद न्नादं वज्रनिष्पेषनिष्ठुरम्॥ २३ ॥

ता मापतन्तीं भगवान् प्रद्युम्नो गदया गदाम्।
अपास्य शत्रवे क्रुद्धः प्राहिणो त्स गदां नदन्॥ २४ ॥

स च मायां समाश्रित्य दैतेयीं मयदर्शिताम्।
निर्ममेऽश्ममयं वर्षं कार्ष्णौ वैहायसोऽसुरः॥ २५ ॥

बाध्यमानोऽश्मवर्षेण रौक्मिणेयो महारथः।
सत्त्वात्मिकां महाविद्यां सर्वमायोपमर्दिनीम्॥ २६ ॥

ततो गौह्यकगान्धर्व पैशाचोरगराक्षसीः।
प्रायुङ्क्त शतशो दैत्यः कार्ष्णि र्व्यधमय त्स ताः॥ २७ ॥

निशात मसि मुद्यम्य सकिरीटं सकुण्डलम्।
शम्बरस्य शिरः काया त्ताम्रश्मश्रु जहार तत्॥ २८ ॥

आकीर्यमाणो दिविजैः स्तुवद्भिः कुसुमोत्करैः।
भार्ययाऽम्बर चारिण्या पुरं नीतो विहायसा॥ २९ ॥

अन्तः पुरवरं राजन् ललनाशतसङ्कुलम्।
विवेश पत्न्या गगना द्विद्युतेव वलाहकः॥ ३० ॥

तं दृष्ट्वा जलदश्यामं पीतकौशेय वाससम्।
प्रलम्ब बाहुं ताम्राक्षं सुस्मितं रुचिराननम्॥ ३१ ॥

अलङ्कृतमुखाम्भोजं नीलवक्रालकालिभिः।
कृष्णं मत्वा स्त्रियो भीता निलिल्यु स्तत्र तत्र ह॥ ३२ ॥

उपधार्य शनै रीष द्वैलक्षण्येन योषितः।
उपजग्मुः प्रमुदिताः सस्त्रीरत्नं शुचिस्मिताः॥ ३३ ॥

अथ तत्राऽसितापङ्गी वैदर्भी वल्गुभाषिणी।
अस्मरत्स्वसुतं नष्टं स्नेहस्नुत पयोधरा॥ ३४ ॥

कोऽन्वयं नरवैदूर्यः कस्य वा कमलेक्षणः।
धृतः कया वा जठरे केयं लब्धाऽथ केन वा॥ ३५ ॥

ममचाऽप्यात्मजो नष्टो नीतो वा सूतिकागृहात्।
एतत्समवयो रूपो यदि जीवति कुत्रचित्॥ ३६ ॥

कथन्त्वनेन सम्प्राप्तं सारूप्यं शार्ङ्गधन्वनः।
आकृत्याऽवयवै र्गत्या स्वरहासावलोकनैः॥ ३७ ॥

स एव वा भवेन्नूनं यो मे गर्भे धृतोऽर्भकः।
अमुष्मि न्प्रीति रधिका वामः स्फुरति मे भुजः॥ ३८ ॥

एवं मीमांसमानायां वैदर्भ्यां देवकीसुतः।
देवकीवसुदेवाभ्यां नारदेन महात्मना॥ ३९ ॥

अन्यैश्च यादवश्रेष्ठै रुत्तमश्लोक आविशत्।
विदितार्थोऽपि भगवां स्तूष्णी मास जनार्दनः॥ ४० ॥

नारदोऽकथयत्सर्वं शम्बराहरणादिकम्।
तच्छ्रुत्वा महदाश्चर्यं कृष्णान्तःपुर योषितः॥ ४१ ॥

देवकी वसुदेवश्च कृष्णरामौ तथा स्त्रियः।
दम्पती तौ परिष्वज्य रुक्मिणी च ययु र्मुदम्॥ ४२ ॥

नष्टं प्रद्युम्न मायान्त माकर्ण्य द्वारकौकसः।
अहो मृत इवाऽऽयातो बालो दिष्ट्येति चाऽब्रुवन्॥ ४३ ॥

यं वै मुहुः पितृसरूपनिजेशभावातन्मातरो मनसिजार्द्र हृदोरुभावाः।
चित्रं न तत्खलु रमास्पद बिम्बभूते कामे स्मरेऽक्षविषये किमुनाऽन्यनार्यः॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे
शम्बरदैत्यवधो नाम अष्टषष्टितमोऽध्यायः॥ ६८ ॥
(अधिकपाठे चतुर्थोऽध्यायः)

## पदरत्नावली

"सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणजय्यः" इति श्रुति विहितसदाचारो भुव्यवतीर्णै र्देवादिभि रनुष्ठेय इति दर्शयितुं श्रीकृष्णस्य तदनुष्ठनप्रकारं शम्बरासुरवधलक्षणं विक्रमञ्च कथयत्यस्मिन्नध्याये। लोकस्य जनस्य शं सुखं करोतीति लोकशङ्करः, तं देवदेवो नारायणः ईशः स्वामी यस्य स तथा, त माराध्य, लोकदृष्ट्या इति शेषः॥ १-३ ॥

प्राग्रुद्रमन्युना दग्धो यः कामः भूय स्तमेव रुद्रमेव देहोत्पत्तये प्रत्यपद्यत॥ ४ ॥

स एव कामः कृष्णवीर्यसमुद्भवो वैदर्भ्यां जातः उपात्तदेहः, कीदृशः वासुदेवस्यांशः प्रद्युम्नो यस्मि न्नाविष्ट स्स तथा। अतएव तदभिधान मेवाऽस्याभिधानमित्याह - प्रद्युम्न इति। सर्वतो वीर्यादिभिः पितु रनवमः कृष्णस्य पुत्रत्वे योग्यः॥ ५॥

तोकं सद्योजातं शिशुं निर्गतो दशमो दिवसो यस्मात्सनिर्दशः, तम् उदन्वति समुद्रे॥ ६ ॥

अपरै र्मत्स्यैः जालेन सिचा वृतः संस्यूतः मत्स्य जीविभि र्दाशैः॥ ७ ॥

कैवर्ता मत्स्यमारकाः "कैवर्ते दाशधीवरौ" इति च। महानसं पाकस्थानम् स्वधितिना परशुना। "परश्वधः कुठारः स्या त्परशुः स्वधिति स्तथा। अवाद्यन् अखण्डयन्। दो अवखण्डने इति धातुः॥ ८ ॥

मायावती शम्बरस्य महानसाध्यक्षस्त्री॥ ९ ॥

किमकथय दद्राऽऽह - बालस्येति। मत्स्योदरनिवेशनं मत्स्योदर प्रवेशम्॥ १०, ११ ॥

पक्वानां सूपानां मुद्गानां बाह्युपदंशाना मोदनस्य च साधने संस्कारे। यद्वा सूपादि साधने अध्यक्षतया साधने सेक साधने विध्युपायनिवृत्तिषु- "मरणे मृतसंस्कारे वाचने नून मेव च। सेनाग्रे यातनायाञ्च सेचने स्फूर्तिसेवयोः॥" इति॥ १२ ॥

कृष्णस्यापत्यं कार्ष्णिः। विभ्रमं विकारं। यद्वा, देवाद्यन्यतम इति विशिष्टभ्रमम्॥ १३ ॥

रति रात्मनो धनै स्तं पति मुपतस्थे अभिमुखेन तस्थौ। किमात्मधनानि सुवर्णादीनि नेत्याह सव्रीडेति। व्रीडया सहितो हासः सव्रीडहासः, उत्तमो विभ्रमः उत्कृष्टाशृङ्गारचेष्टा ईक्षणं कटाक्षनिरीक्षणं तैः॥ १४ ॥

मातृभावं मातुःस्वभावम्। सुरतकामिनी॥ १५ ॥

अधिकृता पत्नी वधूत्तमा॥ १६ ॥

त्वां निर्दशम् इति पाठः॥ १७ ॥

मोहन शोषण द्रावणादिभिर्मायाभिः॥ १८ ॥

कुररस्य स्त्री कुररी। "उत्क्रोशः कुररो मतः" इति। मृतप्रजा नष्टापत्या॥ १९ ॥

महामाया महासामर्थ्या॥ २० ॥

ओष्ठ मवष्टभ्य दष्टा दन्तै रितिशेषः॥ २१, २२ ॥

नाद मिति क्रियाविशेषणम्। वज्रनिष्पेषः स्फूर्जथुः तद्वच्चिष्ठुरो नादो यथा भवति तथा व्यनदत्। "स्फूर्जथु र्वज्रनिष्पेषः" इति हलायुधः॥ २३, २४ ॥

दैतेयीं दैत्यानां कुले देवता मिव विद्यमानां वैहायसः विहायसि गगने स्थितः॥ २५ ॥

सत्त्वात्मिकतां बलज्ञाननिधि विष्णुदैवत्यां महाविद्यां विज्ञानास्त्रसंज्ञाम्॥ २६ ॥

गौह्यकादीन्यस्त्राणि प्रायुङ्क्त गुह्यकास्त्रं गौह्यकं, व्यधमयत् अनाशयत्॥ २७ ॥

ताम्रश्मश्रु कपिलरुचिरश्मश्रु॥ २८, २९ ॥

वलाहको मेघः॥ ३० , ३१ ॥

निलिल्युः निलीनाः॥ ३२ ॥

वैलक्षण्येन कृष्णलक्षण विपरीतलक्षण निकरेण॥ ३३ ॥

असितापाङ्गी नीलरुचिकान्तनेत्रान्ता॥ ३४ ॥

नरवैदूर्यः नरश्रेष्ठः नराकारं वैदूर्यरत्न मिव शोभमान इति वा। कस्य पुत्रः, कया स्त्रिया धृतो, गर्भे इति शेषः। इयं का केन वा लब्धा॥ ३५ ॥

प्रकारान्तरेण शङ्कते - ममेति॥ ३६ ॥

सारूप्यं सादृश्यं, सारूप्यं केनेति? तत्राऽऽह-आकृत्येति॥ ३७ ॥

नूनं निश्चयः ॥ ३८ ॥

मीमांसमानायां विचारयन्त्यात्॥ ३९-४३ ॥

नारीणां विभ्रमं जनयामासेति यदुक्तं, न तच्चित्रं मन्तव्यमित्याह - यं वा इति। यं दृष्ट्वा तस्य प्रद्युम्नस्य मातरः हरेः पत्न्यः मनसिजार्द्रहृदा कामरस क्लिन्नमनस्कत्वेन उरुभावाः बहुविधशृङ्गारचेष्टायुक्ताः अङ्गुष्ठनखमुखमूलेन करयुगपीडनादिविकारलक्षणलक्षिता अभूव न्नित्यर्थः। किं विशिष्टाः पितृसरूपतया पितृसारूप्येण निजेशोऽस्मत्पतिरय मिति भावोऽभिप्रायो यासांतास्तथा ताः। तस्मिन् कामे मदने तच्चित्रं न खलु )काम्यते इति काम स्तस्मिन् कामे अक्षविषये चक्षुर्गोचरे किमु? इतोपि चित्रं नेत्याह - रमेति रमारस्पदस्य लक्ष्मीमूर्तेः श्रीकृष्णस्य बिम्बात् अखण्डलक्षणोपेता देहा दुद्भूते जाते "आत्मा वै पुत्रनामाऽसि" इति श्रुतेः। श्रीकृष्णस्य बिम्बस्य यल्लक्षणं तत्सर्वमस्य बिम्बस्य निधीयत इति श्रीकृष्णदेह प्रतिबिम्बभूत इत्यर्थः। बिम्बोऽस्त्री मण्डलसम प्रतिमामुखलक्ष्मसु प्रतिरूपे प्रतिकृतौ स्या द्बिम्बकाफले" इति अन्यनार्यः

तन्मातृव्यतिरिक्ताः स्त्रियः, स्मृतेऽपि विमुह्यन्ति, दृष्ट्वा किमु! तदिदं सर्वं कृष्णमाहात्म्य विलास इति समर्थविशेषं वा इत्यनेन दर्शयति॥ ४४ ॥

इति श्री विजयध्वजतीर्थकृत पदरत्नावल्यां टीकायां अष्टषष्टितमोऽध्यायः
(अधिकपाठे चतुर्थोऽध्यायः)

## अथ विजयध्वजरीत्या एकोनसप्ततितमोऽध्यायः
(अधिकपाठे पञ्चमोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच-

पौण्ड्रको नाम राजा वै तस्मिन् काले कुरूद्वह!
द्वारकां वृष्णिनिलयां निरुध्य बहुसैनिकः॥ १ ॥

अर्दयामास कृष्णेन विदित्वा रहितां निशि
तं कामपालः शैनेयो वसुदेवोद्धवादयः॥ २ ॥

उग्रसेनश्च कौरव्य! ये चान्ये यदुपुङ्गवाः।
अर्चयामासु रायान्तं कालयोग्य मिवातिथिम्॥ ३ ॥

राजो वाच-

कश्चाऽसौ पौण्ड्रको नाम कस्मिन्देशे महीपतिः।
कस्य वा तनयो ब्रह्मन् सर्वमेत द्वदस्व मे॥ ४ ॥

श्रीशुक उवाच-

अपुत्रः काशि राजो वै कन्यां सुतनुसंज्ञिताम्।
प्रायच्छ द्वसुदेवाय राज्य शुल्कां कुरूद्वह॥ ५ ॥

तत्रजज्ञे महाबाहु र्दिवाकरसमद्युतिः।
कुमारः पौण्ड्रको नाम बलवीर्यमदान्वितः॥ ६ ॥

वसुदेव सुतत्वाच्च वासुदेवेति शब्दितः।
जाते तस्मिन्महाराजो वसुदेवो महाद्युतिः॥ ७ ॥

राज्यं तस्मिन्समारोप्य स कोशबलवाहनम्।
उवाह कंसावरजां देवकीं देवतोपमाम्॥ ८ ॥

निरुद्धो भोजराजेन कंसेनाऽऽनकदुन्दुभिः।
कदाचिदपि न प्राया त्करवीरपुरी मपि॥ ९ ॥

असह्यं मातृ सापत्न्य मभ्रातृत्वं तथाऽऽत्मनः।
स्मरमाणः स काशीशो यदूनुद्विजतेऽनिशम्॥ १० ॥

सकृष्ण रहितां श्रुत्वा समेत्य द्वारकां निशि।
विमृद्य बलभद्रेण शैनेयेनाऽपि निर्जितः॥ ११ ॥

निहतानेकसाहस्र हयकुञ्जरसैनिकः।
जगाम परशर्वर्यां पुरीं वाराणसीं नृप॥ १२ ॥

प्रभातायां तु शर्वर्यां हरिर्बदरिकाश्रमात्।
आययौ तार्क्ष्य मारुह्य द्वारकां रामपालिताम्॥ १३ ॥

सपताकै स्साघ्र्यपाद्यै र्यदुवृष्ण्यन्धकादिभिः।
अभिवर्णितवृत्तान्तः प्राविशत्केशव स्सभाम्॥ १४ ॥

कदाचि त्पौण्ड्रको नाम काशिराजः प्रतापवान्।
वासुदेवोऽह मित्यज्ञो दूतं कृष्णाय प्राहिणोत्॥ १५ ॥

त्वं वासुदेवो भगवा नवतीर्णो जगत्पतिः।
इति प्रस्तोभितो बालै र्मेने स्वात्मान मच्युतम्॥ १६ ॥

दूतस्तु द्वारका मेत्य सभाया मास्थितं हरिम्।
कृष्णं कमलपत्राक्षं राजसन्देश मब्रवीत्॥ १७ ॥

वासुदेवोऽवतीर्णोऽह मेकएव नचाऽपरः।
भूताना मनुकम्पार्थं त्वन्तु मिथ्याभिधां त्यज॥ १८ ॥

यानि त्व मस्मच्चिह्नानि मौढ्या द्बिभर्ष्यभीतवत्।
त्यक्त्वैहि मां त्वं शरणं नो चे देहि ममाऽऽ हवम्॥ १९ ॥

कत्थनं त दुपाकर्ण्य पौण्ड्रकस्याल्पमेधसः।
उच्चकै रुग्रसेनाद्याः सभ्याप्रजहसु स्तदा॥ २० ॥

उवाच दूत म्भगवा न्परिहासकथा मनु।
उत्स्रक्ष्ये मूढ! चिह्नानि यै स्त्व मेवं विकत्थसे॥ २१ ॥

मुखन्तवविधायाऽत्र, कङ्कगृध्रबकै र्वृतम्।
शयिष्यसे हत स्तत्र भविता शरणं शुनाम्॥ २२ ॥

इति दूत स्तदाक्षेपं स्वामिने सर्व माहरत्॥
कृष्णोऽपि रथ मारुह्य प्रायात्काशीं ससैनिकः॥ २३ ॥

पौण्ड्रकोऽपि तदुद्योग मुपलभ्य महारथः।
अक्षौहिणीभि स्सहितो निश्चक्राम पुरा द्रुतम्॥ २४ ॥

तमायान्तं रथोपस्थे सुवर्णगरुडे स्थितम्।
सुवर्णबाहुयुगल मपश्य त्पौण्ड्रकं हरिः॥ २५ ॥

शङ्खार्यसिगदाशार्ङ्गं दध च्छ्रीवत्सलक्षितम्।
बिभ्राणं कौस्तुभ मणिं वनमालाविभूषितम्॥ २६ ॥

कौशेयवाससी पीते वसानङ्गरुडध्वजम्।
आमुक्तमाल्याभरणं स्फुरन्मकरकुण्डलम्॥ २७ ॥

दृष्ट्वा त मात्मना साम्यं कृत्रिमं वेष मस्थितम्।
यथा नटं रङ्गगतं विजहास भृशं हरिः॥ २८ ॥

क्षणेन तं काशिपतेः सैनिका दृढधन्विनः।
शरै राच्छादयामासु र्मेघा श्शैल मिवाऽम्भसा॥ २९ ॥

केचि द्रजा न्रथा नश्वाना स्थाय रणमूर्धनि।
शूलै र्गदाभिः परिघै शक्त्यृष्टिप्रासतोमरैः।
असिभिः पट्टिशै र्बाणैः प्रहरन्नरयो हरिम्॥ ३० ॥

तस्य काशिपते र्मित्रं पार्ष्णिग्राहो परोनृपः।
अक्षौहिणीभि स्तिसृभि रुपायान्नृप! सङ्गरम्॥ ३१ ॥

कृष्णस्तु तत्पौण्ड्रककाशिराजयो र्बलं गजस्यन्दन वाजि पत्तिमत्।
गदासि चक्रेषुभि रार्दयद्भृशं यथा युगान्ते हुतभुक्प्रभाज्वलन्॥ ३२ ॥

आयोधनं तद्रथ वाजिकुञ्जर द्विषत्खरोष्ट्रै रिपुणावरवण्डितैः।
बभौ च तन्मानवहं मनस्विना माक्रीडनं भूतपते रिवोल्बणम्॥ ३३ ॥

अथाऽह पौण्ड्रकं शौरि र्भो भो पौण्ड्रक यद्भवान्
दूतवाक्येन मा माह तान्यस्त्राण्युत्सृजामि ते॥ ३४ ॥

त्याजयिष्येऽ भिधानं मे यत्त्वयाऽद्य मृषा कृतम्।
व्रजामि शरणं तेऽद्य यदि नेच्छामि संयुगम्। ३५ ॥

इति च्छित्त्वा शितै र्बाणै र्विरथीकृत्य पौण्ड्रकम्।
शिरोऽहर द्रथाङ्गेन वज्रेणेन्द्रो यथा गिरेः॥ ३६ ॥

तथा काशिपतेः काया च्छिर उत्कृत्य पत्रिभिः।
न्यपातय त्काशिपुर्यां पद्मकोश मिवाऽनिलः॥ ३७ ॥

एवं मत्सरिणं हत्वा पौण्ड्रकं ससखं हरिः।
द्वारका माविश त्सिद्धै र्गीयमान कथामृतः॥ ३८ ॥

श्रीशुक उवाच-

शिरः पतितमालोक्य राजद्वारि सकुण्डलम्।
किमिदं कस्य वा वक्त्र मिति संशयिरे जनाः॥ ३९ ॥

राज्ञः काशिपते र्ज्ञात्वा महिष्यः पुत्रबान्धवाः।
पौरा श्शोकहता राजन् नाथ नाथे त्युपाद्रवन्॥ ४० ॥

सुदक्षिण स्तस्य सुतः कृत्वा संस्थाविधिं पितुः।
निहत्य पितृहन्तारं यास्या म्यपचितिं पितुः॥ ४१ ॥

इत्यात्मनाऽभिसन्धाय सोपाध्यायो महेश्वरम्।
सुदक्षिणोऽर्चयामास परमेण समाधिना॥ ४२ ॥

प्रीतोऽविमुक्ते भगवां स्तस्मै वर मदा द्भवः।
पितृहन्तुर्वधोपायं स वव्रे वर मीप्सितम्॥ ४३ ॥

दक्षिणाग्निं परिचर ब्राह्मणैस्सह ऋत्विजः।
आभिचारविधानेन सचाऽग्निः प्रमथै र्वृतः॥ ४४ ॥

साधयिष्यति सङ्कल्प मब्रह्मण्ये प्रयोजितः।
इत्यादिष्ट स्तथाचक्रे कृष्णायाऽभिचरन्नृप॥ ४५ ॥

ततोग्नि रुत्थितः कुण्डा न्मूर्तिमा नतिभीषणः।
तप्तताम्रशिखाश्मश्रु रङ्गारोद्गारिलोचनः॥ ४६ ॥

दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीदन्त कठोरास्यः स्वजिह्वया।
आलिहन् सृक्किणी रक्ते विधुन्वन् त्रिशिखं ज्वलत्॥ ४७ ॥

पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्यां कम्पयन्धरणीतलम्।
सोऽभ्यधावद्धृतो भूतै र्द्वारकां प्रदहन्दिशः॥ ४८ ॥

तमाभिचार दहन मायान्तं द्वारकौकसः।
विलोक्य तत्रसु स्सर्वे वनदाहे यथा मृगाः॥ ४९ ॥

अक्षै स्सभायां क्रीडन्तं भगवन्तं भयातुराः।
त्राहि त्राहीति लोकेशं वह्नेः प्रदहतः पुरम्॥ ५० ॥

श्रुत्वा तज्जनवैक्लव्यं दृष्ट्वा स्वानाञ्च साध्वसम्।
धरणीशः प्रहस्याऽऽह मा भैष्टे त्यवितास्म्यहम्॥ ५१ ॥

सर्वस्यान्तर्बहि स्सोऽथ कृत्यां माहेश्वरीं विभुः।
विज्ञाय तद्विघातार्थं पार्श्वस्थं चक्र मादिशत्॥ ५२ ॥

तत्सूर्यकोटिप्रतिमं सुदर्शनं
जाज्वल्यमानं प्रलयानलप्रभम्।
स्वतेजसा खं ककुभोऽथ रोदसी
चक्रं मुकुन्दस्य झटित्यपूरयत्॥ ५३ ॥

कृत्यानलः प्रतिहतः सरथाङ्गपाणे
रस्त्रौजसा नृप, विभग्नमुखो निवृत्तः।
वाराणसीं प्रति समेत्य सुदक्षिणं तं
सन्निर्जितं समदहत्स्वकृतोऽभिचारः॥ ५४ ॥

चक्रश्च विष्णो स्तदनु प्रविष्टं वाराणसीं साट्टसभालयापणाम्।
सगोपुराट्टालककोष्ठतोरणां सकोशहस्त्यश्व वरूथमन्दिराम्॥ ५५ ॥

दग्ध्वा वाराणसीं सर्वां विष्णुचक्रं सुदर्शनम्।
भूयः पार्श्व मुपातिष्ठ त्कृष्णस्याऽक्लिष्टकर्मणः॥ ५६ ॥

य एतच्छ्रावयेन्मर्त्य उत्तमश्लोक विक्रमम्।
समाहितो वा शृणुया त्सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ५७ ॥

तावुभौ सर्वपापेभ्यो ब्रह्महत्यादिभिर्नृप।
विमुच्य देहावसाने विष्णुलोकं प्रयास्यतः॥ ५८ ॥

1. Mb. काशी

इति श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः॥ ६९ ॥
(अधिक पाठे पञ्चमोऽध्यायः)

## पदरत्नावली

न यस्य स्वः पर इतीममर्थं सत्यं कर्तुं पौण्ड्रकवधलक्षणं विक्रमं कथयितु मुत्तराध्याय प्रारम्भः॥ १ ॥

तस्मि न्काले कृष्णरहितां विदित्वा। कामपालो बलभद्रः॥ २ ॥

अर्पयामासुः, शरा नितिशेषः॥ ३,४ ॥

राज्यमेव शुल्कं यस्यां सा तथा ताम्॥ ५,६ ॥

नामान्तर माह वसुदेवेति। ७-९ ।
उद्विजते भीतिं करोति। भयकरण मात्मन एव फलतीति द्योतनाय स्मरमाण इति॥ १० ॥

द्वारकां समेत्याऽपमृद्य॥ ११ ॥

परशर्वर्या मपररात्रे, उषःकाले॥ १२-१५ ॥

बालै रज्ञैः प्रस्तोभितोऽविद्यमानगुणेन प्रस्तुतो मूढाक्षेपमुक्तो वा॥ ६-१८ ॥

अस्मच्चिह्नानि चक्रादीनि। मां शरण मेहि॥ १९ ॥

कत्थनं व्यर्थभाषणम्॥ २० ॥

अनु अनन्तरम्।उत्स्रक्ष्ये त्याजयिष्ये त्वदीयानि चिह्नानि॥ २१, २२ ॥

स्वामिने पौण्ड्रकाय॥ २३-२६ ॥

आमुक्तमाल्याभरणं बद्धमालालङ्कारम्॥ २७-२९ ॥

ऋष्टिः खड्गविशेषः। प्रहरन् प्राहरन्॥ ३० ॥

पार्ष्णिग्राहं पृष्ठतो गोप्तारम्॥ ३१ ॥

प्रभयाज्वलन्॥ ३२ ॥

यदायोधनं युद्धस्थानं, तद्वभा वित्यन्वयः। अवखण्डितै रुच्छिन्नैः "खण्डि खण्डने"। द्विपदः पदातयः मनस्विनां शूराणां मानवर्धनं भूतपते राक्रीडनम् श्मशानम्॥ ३३ ॥

किमाह शौरि रिति तत्राऽऽह - यदिति। भवान् दूतवाक्येन 'वासुदेवोऽवतीर्णोऽहम्' इत्यादिलक्षणेन यन्मामाह, तत्पश्येति शेषः। किन्तदिति तत्राऽऽह तानीति। यान्युत्सृजेति भवानाह रणे तान्यस्त्रा ण्युत्सृजामि मुञ्चामि॥ ३४ ॥

अद्य त्वयाऽहं यदेव वासुदेवेत्यभिधानं मृषा कृतं तत्त्वां त्याजयिष्ये प्रहापयिष्यामि यदि संयुगं नेच्छामि तर्हि त्वां शरणं व्रजामीति॥ ३५-३८ ॥

संशयिरे संशयं चक्रिरे॥ ३९, ४० ॥

संस्थाविधिं प्रेतक्रियाम् अपचितिम् अनृणत्वं प्रतिक्रियां वा "अर्चनाया मपचितिः प्रेतक्षये निष्कृतौ व्यये" इति॥ ४१ ॥

आत्मना मनसा इत्यभिसन्धाय सङ्कल्प्य॥ ४२ ॥

अविमुक्ते काश्याम् अविमुक्तेश्वर नामक्षेत्रविशेषे वा प्रीतः॥ ४३ ॥

दक्षिणाग्नि मन्वाहार्यनामानं परिचर पूजय, आभिचार विधानेन क्षुद्रप्रयोगप्रकारेण॥ ४४ ॥

अब्रह्मण्ये ब्राह्मणाचारविरुद्धाचारे प्रयोजितः आदिष्टः इश्वरेणेति शेषः अभिचरन् कृत्याप्रयोगं कुर्वन्॥ ४५, ४६ ॥

त्रिशिखं शूलमितिशेषः॥ ४७, ४८ ॥

आभिचारदहनं कृत्यालक्षणाग्निम्॥ ४९ ॥

अक्षै र्दुरोदरैः॥ ५० ॥

धरणीशः भूमीशः धरणं यस्य तद्धरणि तस्य त्रैलोक्यस्य वा, अविताऽपि रक्षितास्मि॥ ५१, ५२ ॥

सुदर्शनं नाम चक्रं अस्त्रं खं बिलं व्योमवा। "खमिन्द्रिये [illegible] व्योम्नि ताम्रे द्वाराभ्युपाययोः" इति यादवः॥ ५३ ॥

अभिचारः कृत्याग्निः॥ ५४ ॥

तदनु सुदक्षिणदहनान्तरम् अन्तः प्रतिष्ठं (प्रविष्टं) कोष्ठ मन्तर्गृहं, वरूथं रथगुप्तिशालाम्॥ ५५, ५६ ॥

एतच्चरित्रश्रवणादिफलमाह ——— य इति॥ ५७ ॥

तावुभौ श्रोता, श्रावयिता च ब्रह्महत्यादिभि रुपलक्षितेभ्योऽशुभेभ्यः। ५८ ॥

इति विजयध्वजतीर्थकृत पदरत्नावल्यां
एकोन सप्ततितमोऽध्यायः।
(अधिकपाठे पञ्चमोऽध्यायः)

# अथ विजयध्वजरीत्या सप्ततितमोऽध्यायः
## (अधिकपाठे षष्ठोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच-

अथैकदा द्वारवत्यां वसतो रामकृष्णयोः।
सूर्योपरागः सुमहा नासी त्कल्पक्षये यथा॥ १ ॥

तं ज्ञात्वा मनुजा राजन् पुरस्तादेव सर्वशः
स्यमन्त पञ्चकं क्षेत्रं जग्मुः श्रेयोविधित्सया॥ २ ॥

निःक्षत्रियां महीं कुर्वन् रामः शस्त्रभृतां वरः।
नृपाणां रुधिरौघेण यत्र चक्रे महाह्रदान्॥ ३ ॥

ईजे च भगवा न्रामो यत्राऽस्पृष्टोऽपि कर्मणा।
लोकस्य सङ्ग्रहायैष यथाऽन्योऽघापनुत्तये॥ ४ ॥

महत्यां तीर्थयात्रायां तत्राऽगुर्भारतीः प्रजाः।
कृष्ण षोडश साहस्र महिषीशिबिकान्वितः॥ ५ ॥

पुत्रपौत्रजनानीकै र्वारकान्ताकरेणुभिः
नगर स्त्री कदम्बैश्च प्रियासार्थैश्च संयुतः॥ ६ ॥

वृष्णयश्च तथाऽक्रूर वसुदेवगदादयः।
ययु र्भारत! तत्क्षेत्रं स्वमघं क्षपयिष्णवः॥ ७ ॥

शठ प्रद्युम्नसाम्बाश्च सुवज्रोद्धवसारणाः।
आहुकं कृतवर्माणं संस्थाप्य पुररक्षणे॥ ८ ॥

ते रथै र्देवविख्यातै र्हयैश्च तरल प्रभैः।
गजै र्बृहद्भि रभ्राभै र्नृभि र्विद्याधरद्युभिः॥ ९ ॥

व्यरोचन्त महाभागाः पथि काञ्चनमालिनः॥
वेदवादित्रनिर्घोषै श्शङ्खदुन्दुभिनिस्स्वनैः॥ १० ॥

गायन्तः कृष्णकृष्णेति गोविन्देति च सन्ततम्।
ककुभः पूरय न्नादैः जग्मु स्सर्वे कुरूद्वह॥ ११ ॥

स्यमन्तपञ्चकं प्राप्य क्षेत्रं तैलोक्यविश्रुतम्।
तृणैः पर्णै स्तथा काष्ठै श्चक्रिरे भवनानि च॥ १२ ॥

कम्बलाजिनवस्त्राणां शिबिराणि महीभृताम्।
आसन्विचित्ररूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः॥ १३ ॥

तत्राऽऽजग्मु र्नृपाऽनेके ब्राह्मणाश्च सहस्रशः।
वैश्या श्शूद्राश्च निस्संख्या येचाऽन्ये वर्णनिन्दिताः॥ १४ ॥

ऋषयश्च महात्मानो विख्याता श्शंसितव्रताः।
सोपाध्याया स्साग्निहोत्राः स्नातकागृहमेधिनः॥ १५ ॥

अन्धाश्च बधिराश्चैव कुब्जा वामनपण्डकाः।
व्यङ्गाजडाश्च मूकाश्च कर्मक्षयपरीप्सवः॥ १६ ॥

गोविन्दचरणाम्भोज रेणुरञ्जितमस्तकाः।
कटकाङ्गदकेयूर हारकुण्डलभूषणाः॥ १७ ॥

स्रग्गन्ध दिव्यवसनाः कलत्रैः खेचरा इव।
तत्र स्नात्वा महाभागा उपोष्य सुसमाहिताः॥ १८ ॥

ब्राह्मणेभ्योऽददु र्धेनूर्वासः स्रग्रुक्ममालिनीः।
रामहृदेषु विधिव त्पुन राप्लुत्य वृष्णयः॥ १९ ॥

ददुः स्वर्णं द्विजाग्रेभ्यः कृष्णे नो भक्ति रस्त्विति।
स्वयञ्च तदनुज्ञाता वृष्णयः कृष्णदेवताः॥ २० ॥

भुक्त्वोपविविशुः कामं स्निग्धच्छायाङ्घ्रिपाङ्घ्रिषु।
तत्राऽऽगतां स्ते ददृशुः सुहृत्सम्बन्धिनो नृपान्॥ २१ ॥

मत्स्योशीनर कौसल्य विदर्भकुरु सृञ्जयान्।
काम्बोजकैकया न्मद्रान् कुन्तिगान्धारकेरलान्॥ २२ ॥

अन्यांश्चैवाऽऽत्मपक्षीयान्परांश्च शतशो नृपान्।
नन्दादी न्सुहृदो गोपान्गोपीश्चोत्कण्ठिता श्चिरम्॥ २३ ॥

अन्योन्यसन्दर्शनहर्षरंहसा प्रोत्फुल्लहृद्वक्त्रसरोरुहश्रियः।
आश्लिष्य गाढं नयनैः स्रवज्जला हृष्य त्त्वचो रुद्धगिरो ययु र्मुदम्॥ २४ ॥

स्त्रियश्च संवीक्ष्य मिथोऽतिसौहृदाः सचापलापाङ्गदृशोऽभिरेमिरे।
स्तनैः स्तना न्कुङ्कुमपङ्करूषितान्निहत्यदोर्भ्यां प्रणयाश्रुलोचनाः॥ २५ ॥

ततोभिवाद्य ते वृद्धान्यवीयै रभिवादिताः।
स्वागतं कुशलं पृष्ट्वा चक्रुः कृष्णकथा म्मिथः॥ २६ ॥

पृथा भ्रातृ न्स्वसृर्वीक्ष्य तत्पुत्त्रान्पितरावपि।
भ्रातृपत्नी र्मुकुन्दश्च जहौ सङ्कथया शुचः॥ २७ ॥

कुन्त्युवाच-

आर्य भ्रात रह म्मन्ये आत्मान मकृताशिषम्।
यद्वा आपत्सु मद्वार्तां नाऽनुस्मरथ सत्तमाः॥ २८ ॥

सुहृदो ज्ञातयः पुत्त्रा भ्रातरः पितरावपि।
नाऽनु स्मरन्ति स्वजनं यस्य दैव मदक्षिणम्॥ २९ ॥

वसुदेव उवाच-

अम्ब माऽस्मा नसूयेथा देव क्रीडनका न्नरान्।
ईशस्य हि वशे लोकः कुरुते कार्यतेऽथवा॥ ३० ॥

कंसप्रतापिता स्सर्वे वयं याता दिशो दश।
एतर्ह्येव पुनः स्थानं दैवेनाऽऽसादिताः स्वसः॥ ३१ ॥

श्रीशुक उवाच-

वसुदेवोग्रसेनाद्यै र्यदुभि स्सेविता नृपाः।
आसन्नच्युतसन्दर्श परमानन्द निर्भराः॥ ३२ ॥

भीष्मो द्रोणोऽम्बिकापुत्रो गान्धारी ससुता तथा।
सदाराः पाण्डवाः कुन्ती सञ्जयो विदुरः कृपः॥ ३३ ॥

कुन्तिभोजो विराटश्च भीष्मको नग्नजिन्महान्।
पुरुजि द्रुपदश्शैब्यो धृष्टकेतुश्च काशिराट्॥ ३४ ॥

दमघोषो विशालाक्षो मैथिलो मद्रकैकयाः।
युधामन्यु स्सुशर्मा च ससुता बाह्लिकादयः॥ ३५ ॥

राजानोऽन्ये च राजेन्द्र युधिष्ठिरपुरोगमाः।
श्रीनिकेतं वपुः शौरे स्ससस्त्रीका वीक्ष्य विस्मिताः॥ ३६ ॥

अथ ते कृष्णरामाभ्यां सम्यक्प्राप्तसमर्हणाः।
प्रशशंसुर्मुदा युक्ता स्तुष्टाः कृष्णपरिग्रहान्॥ ३७ ॥

अहो भोजपते यूयं जन्म भाजो नृणा मिह।
यत्पश्यथाऽसकृत्कृष्णं दुर्दर्श मपि योगिनाम्॥ ३८ ॥

यन्निस्स्रुतं वेदमयं पुनाति पादावने जनपयस्तु वचश्च शास्त्रम्।
भूः कालभर्जितभगाऽपि यदङ्घ्रिपद्मस्पर्शोद्भशक्ति रभिवर्षति नोऽखिलार्थान्॥ ३९ ॥

तद्दर्शनस्पर्शनानुपथप्रजल्प शय्यासनाशनसयौवनपिण्डबन्धाः।
येषां गृहे निरयवर्त्मनि वर्तताञ्च स्वर्गापवर्ग विरमः स्वयमास विष्णुः॥ ४० ॥

नन्द स्तत्र यदू न्प्राप्तान् श्रुत्वा कृष्णपुरोगमान्।
तत्राऽगमद्धृतो गोपै स्तरसा तद्दिदृक्षया॥ ४१ ॥

तं दृष्ट्वा वृष्णयो हृष्टा स्तन्वः प्राण मिवोत्थिताः।
परिषस्वजिरे गाढं चिरदर्शनकातराः॥ ४२ ॥

वसुदेवः परिष्वज्य सम्प्रीतः प्रेमविह्वलः।
स्मरन् कंस कृतान् क्लेशान् पुत्रन्यासञ्च गोकुले॥ ४३ ॥

कृष्णरामौ परिष्वज्य पितरा वभिवाद्य च।
न किञ्चनोचतुः प्रेम्णा साश्रुकण्ठौ कुरूद्वह॥ ४४ ॥

ता वुत्सङ्गं समारोप्य बाहुभ्यां परिरभ्य च!
यशोदा च महाभागा सुतौ विजहतुः शुचः॥ ४५ ॥

रोहिणी देवकी चैव परिष्वज्य व्रजेश्वरीम्।
स्मरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीं बाष्पकण्ठ्यौ समूचतुः॥ ४६ ॥

को विस्मरेत वां मैत्री मनुवृत्तां व्रजेश्वरि।
अथ वाप्यैन्द्र मैश्वर्यं यस्या नेह प्रतिक्रिया॥ ४७ ॥

एतावदृष्टपितरौ युवयोः स्म पित्रोः
सम्प्रीणनाभ्युदय पोषणपालनानि।
प्राप्योषतु र्भवति पक्ष्म ह यद्वदक्ष्णो
र्न्यस्तावकुत्र च भयौ न सतां परस्तात्॥ ४८ ॥

गोप्यश्च कृष्ण मुपलभ्य चिरादभीष्टं
यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति।
दृग्भिर्हृदीकृत मलं परिरभ्य सद्य
स्तद्भाव मापु रपि नित्ययुजां दुरापम्॥ ४९ ॥

भगवां स्तास्तथाभूता विविक्त उपसङ्गताः।
आश्लिष्यानामयं पृष्ट्वा प्रहस न्निद मब्रवीत्॥ ५० ॥

अपि स्मरथ न स्सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षवः।
गतांश्चिरायिता नन्यासङ्गात्कृपणचेतसः॥ ५१ ॥

अवबुध्य यथाऽस्मासु इदमेव विशङ्कये।
नूनं भूतानि भगवा न्युनक्ति वियुनक्ति च॥ ५२ ॥

वायुर्यथा घनानीकं तृणतूलरजांसि च।
संयोज्य क्षिपते भूय स्तथा भूतानि भूतकृत्॥ ५३ ॥

मयि भक्ति र्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।
दिष्ट्याऽऽसीन्मयि सुस्नेहो भवतीनां मुदावहः॥ ५४ ॥

अहं हि सर्वभूताना मादि रन्तोऽन्तरं बहिः।
भौतिकानां यथा खं वा भूर्वायुर्ज्योति रङ्गनाः॥ ५५॥

एव मेतानि भूतानि भूते ष्वात्माऽत्मना ततः।
उभयं मय्यथ परे पश्यथाऽऽततमक्षरे॥ ५६ ॥

श्रीशुक उवाच-

अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः।
तदनुस्मरणध्वस्तजीवकोशास्तमध्यगुः॥ ५७ ॥

नताः स्म ते नाथ पदारविन्दं योगेश्वरै र्हृदि विचिन्त्य मगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं गेहञ्जुषा मपि मनस्युदियात्सदा नः॥ ५८ ॥

इति श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे सप्ततितमोऽध्यायः॥ ७० ॥
(अधिकपाठे षष्ठोऽध्यायः)

## पदरत्नावली

तीर्थयात्रायां बहुविधं पुण्यं निमित्तं काले (लं) ततोऽपि विशिष्टं तत्र स्नाना त्सत्पात्रत्यागा त्सन्दर्शना त्पुण्यवतां पुण्यराशेरितरेषामप्यघक्षया च्छुद्धान्तः करणत्वेन निर्मला कृष्ण विषया भक्तिः मुक्तावानन्द विशेषं मुक्तिञ्च ददातीति कृत्वा लौकिकाचारं विडम्बयतः कृष्णस्य तीर्थयात्रादि लक्षणं चरितं कथयत्यस्मिन्नध्याये। तत्राऽदौ तीर्थयात्रायां निमित्तमाह-अथेति। कल्पक्षय इत्यनेन सर्वग्रासं लक्षयति॥ १ ॥

पुरस्ता दुपरा॥ा दिति शेषः। स्यमन्तपञ्चकं कुरुक्षेत्रं स्यमन्तानां ह्रदानां पञ्चकं यस्मिं स्तत्तथा॥ २ ॥

एत देव स्पष्टयति - निःक्षत्रियामिति। निषिद्धाः क्षत्रियाः यस्यां सा तथा तां यत्र देशे यत्पञ्चमहाह्रदां श्चक्रे तत्स्यमन्तपञ्चकम्॥ ३॥

कर्मणा हत्यानिमित्तपापोत्पन्नेन अस्पृष्टोऽपि लोकसङ्ग्रहायेति। विकर्मणेति केचित्पठन्ति॥ ४ ॥

भारतीः भारत खण्डे विद्यमानाः॥ ५ ॥

वारकान्ता गणिका स्तदारूढकरेणुभिः॥ ६-८ ॥

तरलानां तरङ्गाणां प्रभावत्प्रभा येषां ते तथा, अतिधवल प्रभा इत्यर्थः। तै र्विद्याधरद्युतिभिः॥ ९-१२ ॥

कम्बलाजिनवस्त्राणां वितानै रिति शेषः॥ १३ ॥

अनेके इति पदच्छेदः, बहव इत्यर्थः। निन्दिताश्चतुर्वर्णेभ्यः पृथ क्कृताः॥ १४ ॥

शंसितव्रताः निर्मलव्रताः स्नातकाः दण्डसोदककमण्डलुधराः गृहमेधिनः पञ्चयज्ञाधिकारिणः॥ १५ ॥

कुब्जा वक्राङ्गाः, वामना ह्रस्वावयवाः, पण्डकाः क्लीबाः, व्यङ्गाः हस्ताद्यवयवहीनाः किंसाध्यमिति तत्राऽऽह कर्मेति॥ १६॥

कटकं वलयः॥ १७, १८ ॥

वासांसि स्रजश्च रुक्ममालाः स्वर्णमालाः, आसां सन्तीति वासस्स्रग्रुक्म मालिन्यः ताः॥ १९-२४ ॥

सचापला श्चाञ्चल्येनसहिताः अपाङ्गदृशः कटाक्षवीक्षणानि यासां तास्तथा। अभिरेभिरे आलिङ्गनं चक्रुः॥ २५-२७ ॥

केयं कथेति तत्राऽऽह-आर्येति। आर्यभ्रात र्ज्येष्ठभ्रातः, वसुदेवः अकृताशिष मचीर्णपुण्यम् अस्मदापत्सु मद्वार्ता नाऽनुस्मरथेति य त्तस्मा दिति शेषः॥ २८ ॥

तत्र किं कारण मिति तत्राऽऽह - यस्येति, अदक्षिणं विपरीत वृत्ति॥ २९ ॥

देव क्रीडनकान् देवस्येश्वरस्य कीडोपकरणभूतान्, ईशस्य वशे स्थितो लोकः कर्माणि कुरुते सङ्गेन कार्यते वा "कार्यते ह्यवशः" (भ.गी. 3-5) इति स्मृतेः॥ ३० ॥

कंसेन प्रतापिताः सन्तापं प्रापिताः, एतर्हि इदानीं स्वसःभगिनि!॥ ३१ -३६॥

कृष्ण परिग्रहान् कृष्णाशयान्॥ ३७, ३८ ॥

तुशब्दोऽवधारणार्थः। च शब्दः समाहारार्थः। यस्य कृष्णस्य वदनान्निस्सृतं वचः वागात्मकं शास्त्रं ब्रह्मसूत्रादिलक्षणम् इदं जगत् पुनात्येव। यस्य पादावनेजनपयश्च पुनाति कालाग्निना भर्जितभगा निर्दग्धवीर्या भूः यस्याङ्घ्रिपद्मस्पर्शेन इद्धा समृद्धाशक्तिर्यस्या स या तथा साऽस्मदर्थेऽखिलार्थानभिवर्षति, तं कृष्ण मसकृत्पश्यथेति यस्मात्तस्माज्जन्म भाज इति गतेनाऽन्वयः॥ ३९ ॥

इतोऽपि यूयं जन्मभाज इत्याशयेनाऽऽह - तद्दर्शनिति। निरयवर्त्मनि इष्टप्रद दैवविरहितमार्गे, अतएव दुःखविषये गृहे वर्ततां वर्तमानानां स्वर्गापवर्गविरमः दुःखासम्भिन्नप्रदेशः स्वर्गः कर्मसाध्य प्रदेशः अपवर्गो मोक्षः तयो र्विरामो यस्मा त्स तथा मुक्तेरेव दातेत्यर्थः।"अपवर्गः क्रियासाध्ये फलाप्तौ त्यागमोक्षयोः" इति। यद्वा, विशेषेण रमणं यस्मात्स तथा "ज्ञाना देव स्वर्गो ज्ञानादेवाऽपवर्गः" इति श्रुतेः। किमुत सन्न्यासिना मिति चशब्दः, एवंविधो विष्णुः स्वयमंशावेश मन्तरेण येषां युष्माकं गृहे आस्ते, यूयं तस्य हरे र्दर्शनञ्च स्पर्शनञ्च अनुपथश्च, अनुगमनञ्च प्रजल्पश्च शय्या च आसनञ्च अशनञ्च तानीमानि यस्य सः यौवनस्य पिण्डस्य देहस्य सन्ति स तथा तस्य पिण्डस्य बन्धः दृढालिङ्गनं येषां ते तथा तस्माज्जन्मसाफल्यं युष्माकमिति शेषः॥ ४० -४३॥

कृष्णरामयोर्जनमोहनविडम्बं कथयति कृष्णरामाविति॥ ४४,४५ ॥

व्रजेश्वरीं यशोदां समूचतुः सम्भाषणं चक्रतुः॥ ४६ ॥

यस्या मैत्र्याः वां युवयोः॥ ४७ ॥

एतौ कृष्णरामौ युवयोः पित्रो स्समीपे न्यस्तौ युवयोः सम्प्रीणनादीनि प्राप्य ऊषतुः। सम्प्रीणनं सम्प्रीतिः अभ्युदयो जातकाद्यभिवृद्धिकर्म रसायनादिपुष्टिकरणं पोषणम्। कीदृशौ अदृष्टपितरौ पितृशब्दास्पदास्मद्दर्शन मप्राप्तौ सतां परस्तात् सज्जनेभ्योऽन्यत्र अकुतश्चन भयौ कुत्रचित् भययुक्तौ न भवतः कुत्रचे त्युक्तं सङ्क्षिपति नकारेण सत्सु भययुक्ता वित्यर्थः। ब्राह्मणादिसज्जनवधा द्भिभ्यतौ यद्वा, बाल्ये विडम्बनार्थं सज्जन मन्तरेण दृष्टेभ्यो नाऽकुत्र च भयौ न बिभ्यतावित्यर्थः। तत्र दृष्टान्त माह पक्ष्मेति। यद्वद्यथा समीपन्यस्तत्वात् पक्ष्मेत्येक वचनम् द्विवचनार्थे पक्ष्मणी अक्ष्णोः नेत्रयोः कुतश्चि द्भयनिवारके तथा यूवामिति शेषः॥ ४८ ॥

गोप्य श्चिरकालादृष्टं कृष्ण मुपलभ्य दृष्ट्वा सद्योदृग्भिर्हृदि कृतम् अलं परिरभ्य तद्भावं तस्मिन्योग्यां भक्ति मापुरित्यन्वयः। कीदृशम् नित्ययुजां नित्यमनोयोगिनामपि दुरापम् दुराप मित्यनेन भक्ते रेव प्राधान्यं सूचयति। या गोप्यः यत्प्रेक्षणे तादर्थ्ये सप्तमी प्रेक्षणार्थं दृष्टिषु नेत्रेषु पक्ष्मणां कृतं निमेषलक्षणं कर्म शपन्ति, पक्ष्मकर्तारं विधिं चेत्यनेन भक्त्यतिशयो ॥ ४९,५० ॥

स्वानां यदूना मर्थचिकीर्षवः अभीष्टं कर्तुकामाः अन्यासङ्गा दन्यकार्यासक्ते श्चिरायितान् चिरादनागतान् कृपणेषु चेतो यासां ता स्तथा॥ ५१ ॥

यथा यथावदवबुध्य अस्मास्विदमेव विशङ्क्ये किं तदिति तत्राऽऽह नूनमिति॥ ५२ ॥

एतदेव विवृणोति - वायुरिति॥ ५३ ॥

प्रेष्ठवियोगादस्माक मनुताप इति तत्राऽऽह मयीति॥ ५४ ॥

मम परिच्छिन्नत्वे मद्वियोगशङ्का तदेव नाऽस्ति सर्वगतत्वा दिति हिशब्दसूचितं हेतुं व्यनक्ति - अहं हीति। आदिः कारणम् अन्तः संहर्ता आद्यन्तकाले वर्तमानो वा। ननूक्तशङ्कायाः कः परिहार इति तत्राऽऽह - अन्तर मिति। हे अङ्गनाः! यथा खादिभूतानि, भौतिकानां घटकविवक्षयैकवचनम्॥ ५५ ॥

आत्मना परमात्मना तत इति खादीनि ततानि जीवस्तत इति योज्यम्। विध्यविध्यभावा दौपचारिको व्यपदेश इति तत्राऽऽह - उभय मिति। यत् यदुक्तं शास्त्रीय मथ तस्मादुभयं जीवभूत शब्दवाच्यं तत्त्वं परे सर्वोत्तमे अक्षरे ब्रह्मणि मय्यातत मिति पश्यथेत्यन्वयः। अनेनेदंश्रद्धेय मिति आयात मिति ज्ञायते॥ ५६ ॥

स्त्रीणा मय मुपदेशो घटपृष्ठसलिलासेकव द्व्यर्थइति तत्राऽऽह अध्यात्मेति। देह मधिकृत्यवर्तमानानां परमात्मादि तत्त्वानां शिक्षयोपदेश लक्षणया शिक्षिताः विद्योपादानं कारिताः तदनु स्मरणेन तस्य श्रीकृष्णस्य निरन्तरोपासनया जात ज्ञानाग्निना ध्वस्तोदग्धः जीवकोशः लिङ्गशरीराभिमानो यासां तास्तथा, तं कृष्ण मध्यगुः तं ज्ञातवत्यः॥ ५७ ॥

ज्ञातकृष्णतत्त्वा इदं जगुरित्याह - नताः स्मेति। 'असभुवि' इत्यस्याऽऽशिषि प्रयोगः। नताः नता भवामेति प्रार्थयामहे जन्मान्तरेऽपि त्वत्पादाब्जनमन माशास्महे इत्यर्थः। ननु किमस्य माहात्म्यं येन तन्नमन मर्थनीय मिति तत्राऽऽह - योगेश्वरै रिति। यत्याश्रमिवत् ज्ञान दुर्बला नेत्याह - अगाधेति। किमर्थं विचिन्त्यमिति हेतुगर्भविशेषणमाह संसारेति। संसारकूपपातिताना मस्मादुत्तरणावलम्बम् ऊर्ध्वगमनलक्षणाधिश्रेणिहस्ताधारम्। किञ्च गेहञ्जुषां गेहाख्य देहपोषणनिरताना मपि नो मनसि सदो दियात् निरन्तर मुदेतु, त्वत्स्वरूप मिति शेषः॥ ५८ ॥

इति श्री विजयध्वजतीर्थकृत पदरत्नावल्यां सप्ततितमोऽध्यायः॥ ७० ॥

(अधिकपाठे षष्ठोऽध्यायः)

# अथ विजयध्वजरीत्या एकसप्ततितमोऽध्यायः
(अधिकपाठे सप्तमोऽध्यायः)

## श्रीशुक उवाच-

तथाऽनुगृह्य भगवान् गोपीनां स गुरुर्गतिः।
युधिष्ठिर मथाऽपृच्छ त्सर्वांश्च सुहृदोऽव्ययम्॥ १ ॥

त एवं लोकनाथेन परिपृच्छ्य सुसत्कृताः।
प्रत्यूचु र्हृष्टमनसस्तत्पादेक्षाहतांहसः॥ २ ॥

कुतोऽशिवस्त्वच्चरणाम्बुजासवं महन्मनस्तो मुखनिस्सृतं क्वचित्।
पिबन्ति ये कर्णपुटै रलं प्रभो, देहम्भृतस्तत्कृत मुच्छ्वसन्ति हि॥ ३ ॥

तं त्वात्मधाम विबुधात्मगतिं त्र्यवस्थ-
मानन्दसम्लव मखण्ड विकुण्ठबोधम्।
कालोपसृष्टनिगमावपनात्तयोग
मायाकृतिं परमहंसगतिं नताः स्मः॥ ४ ॥

इत्युत्तमश्लोकशिखामणिं जने ष्वभिष्टुव त्स्वच्युतकौरवस्त्रियः।
समेत्य गोविन्दकथां मिथोऽगृणन् नृलोकगीतां शृणु वर्णयामि ते॥ ५ ॥

## द्रौपद्युवाच-

हे वैदर्भ्यच्युतो भद्रे हे जाम्बवति कौशले।
हे सत्यभामे कालिन्दि शैब्ये रोहिणि लक्ष्मणे॥ ६ ॥

हे कृष्णपत्न्य एत न्नो ब्रूतवो भगवान्स्वयम्।
उपयेमे यथालोक मनुकुर्वन् स्वमायया॥ ७ ॥

रुक्मिण्युवाच-

चैद्याय माऽर्पयितु मुद्यतकार्मुकेषु
राजस्वशेषभटशेखरिताङ्घ्रिरेणुः।
निन्ये मृगेन्द्र इव भाग मजावियूथा-
त्तच्छ्रीनिकेतचरणाब्जसमर्चनाय॥ ८ ॥

सत्यभामोवाच-

यो मे सनाभिवधतप्तहृदा ततेन
लिप्ताभिशाप मपमार्ष्टु मुपाजहार।
जित्वर्क्षराज मथ रत्न मदा त्स तेन
नीतच्छिदादिशत मां प्रभवेऽपि दत्ताम्॥ ९ ॥

जाम्बवत्युवाच-

आज्ञाय देहविकृति न्निजनाथदैवं
सीतापतिं त्रिनवहा न्यमुनाऽभियुध्य।
ज्ञात्वावधीरण मुपाहर दर्हणम्मां
पादौ प्रगृह्य मणिनाऽह ममुष्य दासी॥ १० ॥

कालिन्द्युवाच-

तपश्चरन्ती माज्ञाय स्वपादस्पर्शकाम्यया।
सख्यो पेत्याग्रही त्पाणिं याऽहं तद्गृहमार्जनी॥ ११ ॥

मित्रविन्दोवाच-

यो मां स्वयंवर मुपेत्य विजित्य भूपान्
निन्ये श्वयूथ मिव चात्मबलिं द्विपारिः।
भ्रातृं श्च मेऽपकुरुतः स्वपुरं श्रियोऽगात्
तस्या स्तु मेऽनुभवमङ्घ्र्यवनेजनाम्भः॥ १२ ॥

नीलोवाच-

समोक्षणोऽति बलवीर्य सुतीक्ष्णशृङ्गान्
पित्रा कृता न्क्षितिप वीर्यपरीक्षणाय।
तान्वीरदुर्मदहन स्तरसा निगृह्य
क्रीडन्बबन्ध ह यथा शिशवोऽजतोकान्॥ १३ ॥

य इत्थं वीर्यशुल्कां मां दासीभिश्चतुरङ्गिणीम्।
पथि निर्जित्य राजन्या न्निन्ये तद्दास्य मस्तु मे॥ १४ ॥

भद्रोवाच-

पिता मे मातुलेयाय स्वय माहूय दत्तवान्।
कृष्णे कृष्णाय तच्चित्ता मक्षौहिण्या सखीजनैः॥ १५ ॥

तस्य मे पादसंस्पर्शो भवेज्जन्मनि जन्मनि।
कर्मभि र्भ्राम्यमाणाया येन तच्छ्रेय आत्मनः॥ १६ ॥

लक्ष्मणा उवाच

ममाऽपि राज्यच्युतजन्म कर्म च श्रुत्वा मुहु र्नारद गीत मास ह।
चित्तं मुकुन्दे किल पद्महस्तया वृतस्स्वयं यस्तु विहाय लोकपान्॥ १७ ॥

पदरत्नावली

श्रोत्रादीनां भक्त्यतिशयजननायाऽविस्मरणाय अतीताध्यायेषु उक्तं कृष्णविक्रमं सङ्क्षेपतोऽनुक्रामत्यस्मिन्नध्याये। तत्राऽऽदावुपोद्घातं रचयति तथेति। यथोपदिष्टं ज्ञानं सुदृढं स्या त्तथा ज्ञानोपदेशेनाऽनुगृह्य गतिः मुक्तिलक्षणानन्ददत्वेनेत्याशयः। अव्ययमनामयं कुशलमित्यर्थः॥ १ ॥

तस्य हरेः, पादेक्षया चरणनिरीक्षणेन, हतांहसः निर्मूलपापाः॥ २॥

किंविधां कथा मूचुरिति तत्राऽऽह-कुत इति। ये जनाः कर्णपुटैः महन्मनस्तोमुखनिस्सृतं महतां व्यासादीनां मनस्तः मनः पूर्वकं मुखकमला न्निस्सृतं गलितं त्वच्चरणाम्बुजासवं तव पादकमलकथामृतं क्वचि त्कस्मिंश्चि त्प्रसङ्गेऽपि अलं पिबन्ति अलम्बुद्धिराहित्येन सेवन्ते। तेषा मशिवः अशुभः पन्थाः कुतः स्यादित्यन्वयः। कीदृशोऽशिवमार्ग इति तत्राऽऽह देहम्भृत इति। देहम्भृतः उदरम्भराः तत्कृत मशिवमार्गप्राप्तं व्यसनं प्रेक्ष्य उच्छ्वसन्ति दीर्घं श्वसन्ति। यद्वा, ये देहभृतः शरीरिणः

कर्णपुटैः त्वच्चरणाम्बुजासवं पिबन्ति तत्तस्य तव कृतं चरित मुच्छ्वसन्ति लोके उपदिश्य विकासयन्ति विस्तारयन्ति, तेषा मशिवः कुत इति॥ ३ ॥

ननु नारायणचरणकमलामृतपायिना ममङ्गलं नास्तीत्यनेन अन्येषा मस्तीत्यायातम्। तत्र भवन्तः के? इति तत्राऽऽह - तन्त्वेति। तन्त्वाऽऽनताः स्म इत्यन्वयः। यस्य पादाब्जसुधापायिना ममङ्गलं नास्ति त मस्य देवदत्तव दन्याधीनत्वे किमेतन्नमनफल मित्यत्राऽऽहुः आत्मधाम आत्मैव धाम गृहलक्षण माश्रयो यस्य स तथा,तं स्वाश्रममित्यर्थः, स्वाश्रयत्व श्चेतोऽपि महता देवाद्यन्यतमेन नियतेन किं न स्या दित्यत्राऽऽहुः - विबुधेति। विबुधाना मात्मा गतिः स्वभावगमकं स्वामिन माश्रयं वा। स्वभावगमकत्वं कथ मत्राऽऽहुः - त्र्यवस्थ मिति। तिस्रोऽवस्थाः जाग्रदाद्या यस्मात्स तथा तम्। अनेन देवानां जाग्रल्लक्षणनिमिषस्वभावं, दैत्यानां सुप्तिलक्षणाज्ञानस्वभावं मनुष्याणां स्वप्नलक्षणमिश्रज्ञान स्वभावं गमयतीति ज्ञातव्यम्। नन्ववस्था त्रयनियन्तृत्वे तत्कृतं श्रमलक्षणं दुःख मनिवारितमापते द्देवदत्तवत्! अत्राऽऽहुः - आनन्देति। आनन्दानां सम्प्लवो महौघो यस्मिन् स तथा तं पूर्णानन्द मित्यर्थः। नन्वनुभवलक्षणसाधनाभावात् पाषाणाना मपि पूर्णानन्दः किं न स्यात्, अत्राऽहुः अखण्डेति। अखण्डः निरन्तरं विकुण्ठः अविमिश्रो बोधो यस्य स तथा तं स्वाभिन्ननिष्कल्मषज्ञान मित्यर्थः। नन्वेवंविधस्य जननं किमर्थ मत्राऽऽहुः - कालेति। कालेन गुणे नोपसृष्ट उत्सन्नो निगमो वेदादि शास्त्रनिचयः तस्याऽऽवपनाय पुन रभिव्यक्ति लक्षणाङ्गीकरणाय आत्ता अङ्गीकृता योगमायाऽऽकृतिः स्वरूपभूतेच्छयादेहो येन स तथा तं "आकारो देह आकृतिः" इति यादवः। उक्तार्थसर्वस्वे किं प्रमाणम्, अत्राऽऽहुः परमेति। परमहंसानां वेदान्तैकनिष्ठानां सन्न्यासिनां गति र्ज्ञानं यस्मिन् स तथा तं भगवत्स्वरूपविषयं परमहंसज्ञानं प्रमाण मितरेषामित्यर्थः॥ ४ ॥

अच्युतस्य कौरवाणाञ्च स्त्रिय स्समेत्य एकत्र मिलित्वा यां कथा मगृणन् तां वर्णयामि त्वं शृणु॥ ५ ॥

प्रश्नप्रतिवचनपूर्वकं शृण्विति न गानव दत्रेति विवेकायाऽऽह द्रौपदीति। हे षोडशसहस्रकृष्णपत्न्यः! पृथङ्नामग्रहणं बाहुल्यान्न कृतम्। स्वेच्छया लोक मज्ञजन मनुकुर्वन् अच्युतो भगवान् स्वयं वो युष्मान् यथा येन विधिना उपयेमे तं विधिमस्माकं ब्रूतेत्यन्वयः॥ ६,७ ॥

राजसु जरासन्धादिषु मा माम्, अशेषभटानामित्युपलक्षणम्। राज्ञां शेखरितः मूर्धसु शेखर इल अङ्घ्रिरेणु र्येन स तथा भागं तदर्थत्वेन क्लृप्तांशं न ग्राम्यभोगेच्छयेत्यत्राऽऽह- श्रीनिकेतेति। श्रीत्यनेन तद्भागं सूचयति अजाना मवीनां यथा॥ ८ ॥

सनाभे स्सहोदरस्य प्रसेननाम्नो वधेन तप्तहृदा सन्तप्तहृदयेन मे ततेन तातेन पित्रा लिप्ताभिशापं कथितमिथ्यादोषं अपमार्ष्टुं परिहर्तुं ऋक्षराजानं जाम्बवन्तं जित्वा रत्न मुपाजहार। अथ तेन कृष्णेन भगवतानीतच्छित्प्राप्तभेदलक्षणापराधः स मे पिता मां प्रभवे कर्तुमकर्तु मन्यथाकर्तुञ्च समर्थाय आदिशत दत्तवान्। रत्नञ्चादात्। कीदृशीम्? मा मन्यस्मै वाचा दत्तामपि। यद्वा ऋक्षराजं जित्वा रत्न माहरत्। आहृत्य च तद्रत्नं मत्पित्रे अदात्, तेन रत्नेन सह भगवतानीतच्छित्स पिता तस्मै प्रभवे आदिशत इत्यन्यत् समम्॥ ९ ॥

देहविकृतिं परिमाणतोवर्णतश्च विलक्षणदेहं कृष्णं प्रत्यक्ष दृष्ट्या आज्ञाय सम्यक् ज्ञात्वा। अनेन श्रीकृष्णेन त्रिनवाहानि सप्तविंशतिदिनानि अभियुध्य एनं श्रीकृष्णं निजनाथदैवं स्वकुलस्वामिदेवताभूतं सीतापतिं पुन र्ज्ञात्वा मे पिता जाम्बवान् अवधीरण मवज्ञानम्, अर्हण मपराधपरिहारयोग्यं पूजासाधनं मां मणिना सह पादौ प्रगृह्योपाहरत्, कृष्णायेति शेषः। यद्वा अवधिरवधानं निश्चयज्ञानं यत्तस्यरेणं प्रेरणं येन सोऽवधीरणः दशरथपुत्त्रोऽवतीर्णोऽयमिति विशिष्टज्ञानजनक इत्यर्थः। तं पराजित इति वा पाठः। अज्ञायेति च त्वममुष्याऽधुना कीदृशीत्यत्राऽऽह - अहमिति। "अपि माषं मषं कुर्या च्छन्दोभङ्गं न कारयेत्" इति वचनात् त्रिनवहानीति। यद्वा, "उत्ताराकारगुण स्तै र्ज्ञास्य कल्पतो गुण" इत्यनेन पूर्वपरस्थानयो र्गुणादेशेन रूपं सिद्धं भवति॥ १० ॥

याऽह मिदानीं तद्गृहमार्जनी तां मां स्वपादस्पर्शकाम्यया तपश्चरन्तीं विज्ञाय सख्याऽर्जुनेन सहोपेत्य मम पाणिमग्रहीत्। या कृष्णदेवता मम पाणि मग्रहीत् अहं तद्गृहमार्जनीति वा 'याय' इति व्यत्ययेनाऽन्वयो वा॥ ११ ॥

यः कृष्णः द्विपारिः सिंहः श्वयूथं विजित्य आत्मने कृतं बलि मुपहार मिव स्वयंवरे भूपानुपेत्य विजित्य भ्रातृन् अपकुरुतोऽपकुर्वतस्सतः मां निन्ये, स्वपुरञ्चाऽगात्। अनुभवं जन्मनि जन्मनि मम तस्य हरे रङ्घ्रय वनेजनाम्भोऽस्त्वित्यन्वयः, अपकरणे हेतुः श्रिय इति सम्पदो हेतोः। "श्रीः पद्मायां कान्तिसम्पदोः" इति। तस्या अंशं मा मिति वा॥ १२ ॥

अत्यधिके बलवीर्ये सुतीक्ष्णानि शृङ्गाणि च येषां ते तथा तान् बलशक्तिवीर्य विक्रम दुर्मदान् घ्नन्तीति दुर्मदहनः, अजतोकान् छागशिशून्॥ १३ ॥

ततः किमकारीति तत्राऽऽह - य इति। दासीभिस्सह मां निन्ये इति॥ १४ ॥

हे कृष्णे! द्रौपदि!॥ १५ ॥

येन पादस्पर्शेन आत्मनो मे तच्छ्रेयः स्यात् स पादस्पर्शो भवेत्॥ १६ ॥

हे राज्ञि, द्रौपदि! यस्तु लोकपा निन्द्रादीन् विहाय पद्महस्तया स्वयंवृतः तस्मि न्मुकुन्दे मम चित्त मासे त्यन्वयः॥ १७ ॥

**ज्ञात्वा मम मतं सध्रि पिता दुहितृवत्सलः।**
**बृहत्सेन इति ख्यात स्तत्रोपाय मचीकरत्॥ १८ ॥**

**यथा स्वयंवरे राज्ञि मत्स्यः पार्थेच्छया कृतः।**
**अयं तु बहि राच्छन्नो दृश्यते स जले परम्॥ १९ ॥**

श्रुत्वैत त्सर्वतोभूपा आययु र्मत्पितुः पुरम्।
सर्वास्त्रशस्त्रतत्त्वज्ञाः सोपाध्यायाः सहस्रशः॥ २० ॥

पित्रा सम्पूजिता स्सर्वे यथावीर्यं यथा वयः।
आददुः सशरं चापं वेद्धुं पार्षति, मद्धियः॥ २१ ॥

आदाय व्यसृजन् केचि न्सज्जीकर्तु मनीश्वराः।
आकोट्यां ज्यां समाकृष्य पेतु रेकेऽमुना हताः॥ २२ ॥

सज्यं कृत्वाऽपरे वीराः प्राग्ज्योतिमगधेश्वरौ।
भीमो दुर्योधनः कर्णो नाविन्दं स्तदवस्थितिम्॥ २३ ॥

मत्स्याभासं जले दृष्ट्वा ज्ञात्वा च तदवस्थितिम्।
पार्थो यत्तोऽसृज द्बाणा न्नाच्छिन त्पस्पृशे परम्॥ २४ ॥

राजन्येषु निवृत्तेषु भग्नमानेषु मानिषु।
भगवान्धनु रादाय सज्यं कृत्वाऽथ लीलया॥ २५ ॥

तस्मि न्सन्धाय विशिखं मत्स्यं वीक्ष्य सकृज्जले।
छिन्नेषुणाऽपातय त्तं सूर्ये चाभिजिति स्थिते॥ २६ ॥

दिवि दुन्दुभयो नेदु र्जयशब्दोऽपतद्भुवि।
देवाश्च कुसुमासारान् मुमुचुर्हर्षविह्वलाः॥ २७ ॥

तद्रङ्ग माविश महं कलनूपुराभ्यां
पद्भ्यां दिशो भ्रमयती चलपेशलाभ्याम्।
वृत्ते पिधाय परिधाय च कौशिकाग्र्ये
सव्रीडहासवदना कबरीधृतस्रक्॥ २८ ॥

उन्नीय वक्त्र मुरुकुण्डल कुन्तलत्वि-
ङ्गण्डस्थलं शिशिरहासकटाक्षमोक्षम्।
राज्ञो निरीक्ष्य परित श्शनकै र्मुरारे-
रंसेऽनुरक्तहृदया विदधे स्वमालाम्॥ २९ ॥

ततो मृदङ्गपटहा शङ्खभेर्यानकादयः।
निनेदुर्नटनर्तक्यो ननृतुर्गायका जगुः॥ ३० ॥

एवं वृते भगवति मायेशे नृपयूथपाः।
न सेहिरे याज्ञसेनि स्पर्धिनो हृच्छयातुराः॥ ३१ ॥

मां रथं स समारोप्य लसद्धयचतुष्टयम्।
शार्ङ्गमुद्यम्य सन्नद्ध स्तस्थावीशश्चतुर्भुजः॥ ३२ ॥

दारुकश्चोदयामास काञ्चनोपस्करं रथम्।
मिषतां द्विषतां राज्ञि, वृकाणां मृग राडिव॥ ३३ ॥

ते त्वसज्जन्त राजन्या निषेद्धुं पथि केचन।
संयत्ता उद्धृतेष्वासा ग्रामसिंहा यथा हरिम्॥ ३४ ॥

ते शार्ङ्गच्युतबाणौघैर्नुन्नबाह्वङ्घ्रिकन्धराः।
निपेतुः प्रधने केचि देके सन्त्यज्य दुद्रुवुः॥ ३५ ॥

ततः पुरीं पतिजयभूत्यलङ्कृतां
रविच्छदध्वजपटचित्रतोरणाम्।
कुशस्थलीं दिवि भुवि चाऽभिसंस्तुतां तदा
समाविश त्तरणिरिव स्वकेतनम्॥ ३६ ॥

पिता मे पूजयामास सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान्।
महार्हवासोऽलङ्कारै श्शय्यासन परिच्छदैः॥ ३७ ॥

दासीभि स्सर्वसम्पद्भि र्भटैभरथवाजिभिः।
आयुधानि महार्हाणि ददौ पूर्णस्य भक्तितः॥ ३८ ॥

आत्मारामस्य तस्येमा वयं वै गृहदासिकाः।
सर्वसङ्गनिवृत्त्याऽद्धा तपसा च बभूविम॥ ३९ ॥

महिष्य ऊचुः-

भौमं निहत्य सगणं युधितेन रुद्धा
ज्ञात्वाऽथ नः क्षितिजये हृतराजकन्याः।
निर्मथ्य संसृति विमोक्ष मपि स्मरन्तीः
पादाम्बुजं परिनिनाय य आप्तकामः॥ ४० ॥

न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमप्युत।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यं वा आनन्त्यं वा हरेः पदम्॥ ४१ ॥

कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः।
कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः॥ ४२ ॥

व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति पुलिन्द्य स्तृणवीरुधः।
गावश्चारयतो गोपैः पादस्पर्शं महात्मनः॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे एकसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७१ ॥
अधिकपाठे सप्तमोऽध्यायः॥ ७ ॥

## पदरत्नावली

द्रौपदीस्वयंवरे द्रौपद्याः पार्थवरेच्छया मत्स्यः कृतो यथा तथा मे पिता तत्रोपाय मचीकरत्। इद मुपाय मतो विशिनष्टि अयन्त्विति। तुशब्देनाऽन्याशक्यत्वं दर्शयति। अयं मत्स्यः दीर्घस्थूणशिखरेऽवलम्बितो बहि राच्छन्नः व्यवहितसर्वाङ्गः अदर्शनाद्वेधोऽसुकर इति तत्राऽऽह दृश्यत इति। स मत्स्यः परं केवलं जले दृश्यते वेणुनालं निर्गतच्छायया जले प्रतिबिम्बितत्वेन चक्षुर्विषय इत्यर्थः तदनेनाधोमुखेन जले छाया मावलोकय वेद्धव्य इति पार्थकृत लक्षवेधा दधिका सुकर मिति ज्ञायते॥ १८, १९ ॥

उपाध्याया आचार्याः पुरोहिता वा॥ २० ॥

हे पार्षति, सिद्धे कार्ये भोगार्थं मपि धियो येषां ते मद्धियः॥ २१ ॥

व्यसृजन्मुक्तवन्तः आकोट्यां धनुरग्रपर्यन्तम्॥ २२ ॥

तस्य मत्स्यस्य स्वरूपावस्थितिं नाऽविन्दन् न ज्ञातवन्तः॥ २३ ॥

मत्स्याभासं मत्स्याकारं यत्तोऽभयेन बाणा नसृजत् नाच्छिनच्च। तर्हि किं कृतमत्राऽऽह पस्पृशे इति॥ २४, २५ ॥

अभिजिति दिनमध्यमुहूर्ते सति॥ २६ ॥

भुवि जयशब्दोऽपतत् व्याप्तोऽभूत्॥ २७ ॥

दिश इति लक्षणया दिक्षु स्थिता नृपान् भ्रमयन्ती काम विकारसूचकनानाचेष्टाकुलान् कारयन्ती तद्रङ्गं तत्स्वयंवरस्थलं चलेन पादविक्षेपेण पेशलाभ्यां सुन्दराभ्यां वृत्ते स्वरूपे स्वेतरवस्तुभ्यो व्यावृत्तरूपे कौशिकाग्रचे कृमिकोशोत्थतन्तुकृत वस्त्र श्रेष्ठे। यद्वा, वृत्ते जघने परिधाय वृत्ते पीने स्तनद्वये पिधाय वा। कबर्यां धृता स्रक् माला यस्या स्सा तथा॥ २८ ॥

शिशिरवत् तुषारवत् धवलो हासः स्निग्धो वा॥ २९, ३०॥

हे याज्ञसेनि! द्रोपदि!॥ ३१ ॥

ईशः शिवो नेत्याह चतुर्भुज इति॥ ३२, ३३॥

ग्रामसिंहाः सारमेयाः। हरिं सिहंम्॥ ३४ ॥

नुन्नाः छिन्नाः बाहवश्चाङ्घ्रयश्च कन्धराश्च येषां ते तथा। प्रधने युद्धे॥ ३५ ॥

पत्युः स्वामिनः कृष्णस्य जयभूत्या जयश्रिया अलङ्कृतां यथा जयलक्ष्मी रुत्कृष्टा तथाऽलङ्कृतां वा रविच्छदध्वजपटाश्च चित्रतोरणाश्च यस्यां सा तथा ताम्। रविं छादयन्तीति रविच्छदाः आतपप्रतिष्टम्भकाः चित्राः नानावर्णा स्तोरणाः स्वकेतनम् आत्मीयोदयशिखरिशिखरम्॥ ३६, ३७ ॥

पूर्णस्य अन्यपालकरहितस्य॥ ३८ ॥

दासीत्वञ्च तपआदिपुण्यनिचयेन प्राप्तमिति ज्ञापनायोक्तं सर्वेति। अद्धा यथार्थभूतया। "अद्धा प्रत्यक्षसत्ययोः" इति॥ ३९ ॥

षोडशसहस्रस्त्रियः स्वविवाहप्रकारं कथयन्ति - भौम मिति। यः कृष्णः क्षितिजये भूमण्डलविजये राज्ञो निर्मथ्य हृतराजकन्याः ज्ञात्वा सगणं भौमं निहत्य तेन नरकेण रुद्धाः निरोधलक्षणसंसृतेर्मोक्षं स्मरन्तीर्नोऽस्मान् पादाम्बुजं परिनिनाय समीपं प्रापयामास पादाम्बुजं सेवयितुमूढवान्वा न कामुकबुद्ध्या। कुतः? आप्तकामः॥ ४० ॥

वय मपि भगवत्पादरज स्सेवा मन्तरेण नाऽन्य दैश्वर्यपदमाशास्महे इत्याहुः - न वयमिति। साम्राज्य मुत्तरदेशराज्यं, स्वाराज्यं पूर्वदेशराज्यं, भौज्यं दक्षिणदेशराज्यं, वैराज्यं पश्चिमदेशराज्यं, पारमेष्ठ्यं चक्रवर्तिपदम्, आनन्त्यं सर्वदेशाधिपत्यं वा हरेः पदम् इन्द्रपदं वा। साम्राज्यं चक्रवर्तिपदं, स्वाराज्यं स्वर्गराज्यं, भौज्य मन्तरिक्षराज्यं, वैराज्यं पातालराज्यम् अणिमादिराज्यं वा, पारमेष्ठ्यं ब्रह्मपदम्, आनन्त्यं मोक्षं वा न कामयामहे। किन्तु गदाभृतो हरेः पदं कामयामहे॥ ४१॥

किमर्थं मत्राऽऽह - एतस्येति। एतस्य गदाभृतः श्रीमत्पादरजः मूर्ध्नि वोढुं कीदृशम्, श्रियो लक्ष्म्याः कुचलिप्तकुङ्कुमरजोगन्धाढ्यम्॥ ४२ ॥

व्रजस्त्रियः यत्पादरजो वाञ्छन्ति, न केवलं व्रजस्त्रिय एव वाञ्छन्ति पुलिन्द्यादयोऽपीत्याहुः - पुलिन्द्य इति। गावः गाः॥ ४३ ॥

इति श्रीविजयध्वजतीर्थ कृतपदरत्नावल्यां एकसप्ततितमोऽध्यायः॥

(अधिक पाठे सप्तमोऽध्यायः)

## विजयध्वजरीत्या द्विसप्ततितमोऽध्यायः

### (अधिकपाठे अष्टमोऽध्यायः)

### श्रीशुक उवाच-

श्रुत्वा पृथा सुबलपुत्र्यथ याज्ञसेनी-
माधव्य इत्थ मनु याः परमप्रतीताः।
कृष्णेऽखिलात्मनि हरौ प्रणयानुबन्धं
सर्वा विसिस्म्यु रल मश्रुकलाऽऽकुलाक्ष्यः॥ १ ॥

इति सम्भाष्यमाणासु स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभि र्नृषु।
आययु र्मुनय स्तत्र कृष्णराम दिदृक्षया॥ २ ॥

द्वैपायनो नारदश्च च्यवनो देवलोऽसितः।
विश्वामित्र श्शतानन्दो भारद्वाजोऽथ गौतमः॥ ३ ॥

राम स्सशिष्यो भगवान् वसिष्ठो गालवो भृगुः।
पुलस्त्यः कश्यपोऽत्रिश्च मार्कण्डेयो बृहस्पतिः॥ ४ ॥

द्वितस्त्रितश्चैकतश्च ब्रह्मपुत्र स्तथाङ्गिराः।
अगस्त्यो याज्ञवल्क्यश्च वामदेवादयोऽपरे॥ ५ ॥

तान्दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रागासीना नृपादयः।
पाण्डवाः कृष्णरामौ च प्रणेमुर्लोकवन्दितान्॥ ६ ॥

तानानर्चु र्यथा सर्वे सहरामोऽच्युतोऽर्चयत्।
स्वागतासन पाद्यार्घ्य माल्यधूपानुलेपनैः॥ ७ ॥

उवाच सुख मासीनान् भगवा न्धर्मगुप्तनुः।
सदस स्तस्य महतो यतवाचोऽनु शृण्वतः॥ ८ ॥

श्रीभगवा नुवाच-

अहो वयं जन्मभृतो लब्धकात्स्न्र्येन तत्फलम्।
देवाना मपि दुष्प्रापं यद्योगेश्वर दर्शनम्॥ ९ ॥

किं स्वल्पतपसां नृणा मर्चायां देवचक्षुषाम्।
दर्शनस्पर्शनप्रश्न प्रह्वपादार्चनादिकम्॥ १० ॥

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शना देव साधवः॥ ११ ॥

नाऽग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारकं न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया॥ १२ ॥

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिश्च जलेन कर्हिचि-
ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥ १३ ॥

श्रीशुक उवाच-

निशम्येत्थं भगवतः कृष्णस्याऽकुण्ठमेधसः।
वचो दुरन्वयं विप्रा स्तूष्णी मास न्भ्रमद्धियः॥ १४ ॥

चिरं विमृश्य मुनय ईश्वर स्येशितव्यताम्।
जनसङ्गह इत्यूचुः स्मयन्तस्तं जगद्गुरुम्॥ १५ ॥

ऋषय ऊचुः

यन्मामया तत्त्वविदुत्तमा वयं विमोहिता विश्वसृजा मधीश्वरम्।
यदीशितव्यायति गूढ ईहया अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितम्॥ १६ ॥

अनीह एत द्बहुधैक आत्मना सृजत्यवत्यत्ति न बध्यते यथा।
भौमै र्हि भूमि र्बहुनामरूपिणी अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम्॥ १७ ॥

अथाऽपि काले स्वजनाभिगुप्त्यै बिभर्षि सत्त्वं खलनिग्रहाय।
स्वलीलया वेदपथं सनातनं वर्णाश्रमात्मा पुरुषः परो भवान्॥ १८ ॥

ब्रह्म ते हृदयं शुक्लं तपस्स्वाध्यायसंयमैः।
यत्रोपलब्धं सुव्यक्त मव्यक्तञ्च ततः परम्॥ १९ ॥

तस्मा द्बह्मकुलं ब्रह्मन् शास्त्रयोने स्तवात्मनः।
सभाजयसि सद्धाम तद्बह्मण्यगुणो भवान्॥ २० ॥

अद्य नो जन्मसाफल्यं विद्याया स्तपसो दृशः।
त्वया सङ्गम्य सङ्गत्या यत्त्वं नः श्रेयसां परः॥ २१ ॥

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाऽकुण्ठमेधसे।
स्वयोगमाययाच्छन्न महिम्ने परमात्मने॥ २२ ॥

न यं विन्द न्त्यमी भूपा एकारामाश्च वृष्णयः।
माया जवनिकाच्छन्न मात्मानं काल मीश्वरम्॥ २३ ॥

तस्याऽद्य ते ददृशिमाऽङ्घ्रिमघौघमर्ष-
तीर्थास्पदं हृदि धृतं सुविपक्वयोगैः।
उत्सिक्तभक्त्युपहृताशयजीवकोशा
आपु र्भवद्गतिमथानु गृहाण भक्तान्॥ २४ ॥

श्रीशुक उवाच-

इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरम्।
राजर्षिवर्यां स्तान्गन्तुं मुनयो दधिरे मनः॥ २५ ॥

तद्वीक्ष्य ताननुव्रज्य वसुदेवो महायशाः।
प्रणम्य चोपसङ्गृह्य बभाषेदं सुयन्त्रितः॥ २६ ॥

वसुदेव उवाच-

नमो व स्सर्वदेवेभ्यो ऋषयः श्रोतुमर्हथ।
कर्मणा कर्मनिर्हारो यथा स्यान्न स्तदुच्यताम्॥ २७ ॥

नारद उवाच-

नाऽतिचित्रमिदं विप्रा वसुदेवो बुभुत्सया।
कृष्णं मत्वाऽर्भकं यन्नः पृच्छति श्रेय आत्मनः॥ २८ ॥

सन्निकर्षो हि मर्त्यानां मनादरणकारणम्।
गाङ्गं हित्वा यथाऽन्योऽम्भ स्तत्रत्यो याति शुद्धये॥ २९ ॥

यस्यानुभूतिः कालेन लयोत्पत्त्यादिनाऽस्य वै।
स्वतोऽन्यस्माच्च गुणतो न कुतश्चन रिष्यति॥ ३० ॥

तं क्लेश कर्म परिपाक गुणप्रवाहै-
रव्याहतानुभव मीश्वर मद्वितीयम्।
प्राणादिभिः स्वविषयै रुपगूढमङ्गो
मेने ससूर्यमिव मेघहिमोपरागैः॥ ३१ ॥

अथोचु र्मुनयो राज न्नाऽऽभाष्याऽऽनकुदुन्दुभिम्।
सर्वेषां शृण्वतां राज्ञां तथैवाऽच्युतरामयोः॥ ३२ ॥

कर्मणा कर्मनिर्हार एष साधु निरूपितः।
यच्छ्रद्धया यजे द्विष्णुं सर्वयज्ञेश्वरं मखैः॥ ३३ ॥

चित्तस्योपशमो यो वै कविभि श्शास्त्रचक्षुषा।
दर्शित स्सुगमो योगो धर्मश्चात्ममुदावहः॥ ३४ ॥

अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजाते र्गृहमेधिनः।
यच्छ्रद्धयाऽऽमवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषम्।
वित्तैषणां यज्ञदानै र्गृहैर्दार सुतैषणाम्॥ ३५ ॥

आत्मलोकैषणा मेवं कालेन विसृजेद्बुधः।
ग्रामे त्यक्तैषणा स्सर्वे ययुर्धीरा स्तपोवनम्॥ ३६ ॥

ऋणै स्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षिपितृणां प्रभो।
यज्ञाध्ययनपुत्त्रै स्ता ननिस्तीर्य त्यज न्पतेत्॥ ३७ ॥

ब्रह्मचर्यसुताभ्यां वै ऋषिपित्रो र्महामते।
यज्ञै र्देवर्णमुन्मुच्य निर्ऋणोऽशरणो भवेत्॥ ३८ ॥

वसुदेव भवा न्नूनं भक्त्या परमया हरिम्।
जगता मीश्वरं भेजे स यद्वां पुत्त्रतां गतः॥ ३९ ॥

इति श्रीभागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे द्विसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७२ ॥
(अधिकपाठे अष्टमोऽध्यायः)

## पदरत्नावली

हरे र्ज्ञानिप्रियत्वं, यज्ञस्य तदेकविषयत्वं, तत्प्रीतेर्मुक्तिसाधनत्वं, पुत्त्रमित्त्रादिस्नेहस्य संसारमूलत्व मित्यादिक मध्यायद्वये कथयति। तत्र व्यासादिमुनीना मागमनं वक्तुं पृथादिस्त्रीणां सन्तोषोद्रेकं कथयति - पृथेत्यादिना। या माधव्यो माधवपत्न्यः तासां कृष्णे प्रणयानुबन्धं, दृष्ट्वेति शेषः। विसिस्म्युः विस्मिता अभवन्नित्यन्वयः, सत्यादीनां भक्तिप्रवाहं दृष्ट्वा वा॥ १॥

इदानी मृषीणा मागमनप्रकारं वक्ति - इतीति॥ २-४ ॥

द्वितस्त्रितैकताः सहोदराः "त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये" इति श्रुतेः॥ ५ ॥

प्रागुत्थायाऽथाऽऽनर्चुः, नमनादिनेति शेषः॥ ६,७ ॥

धर्मगुप् धर्मगोप्ती तनु र्यस्य स तथा॥ ८ ॥

तत्फलम् जन्मफलम्॥ ९ ॥

नृणां युष्मद्दर्शनादिकं दुष्प्राप मिति किं वक्तव्य मित्याह स्वल्पेति। अर्चायामिति सप्तमी प्रथमार्थे। अर्चा प्रतिमैव देव इति चक्षुर्दर्शनं येषां ते तथा। "अर्चा पूजाप्रतिष्ठयोः" इति॥ १० ॥

ननु बहि र्मुखानां नृणां तीर्थादिदर्शनादेर्जन्मनः साफल्यंस्यात् किं साधुदर्शनादिना इति तत्राऽऽह-त इति। तत्र सन्निहितास्ते देवा अपि उरुकालेन कालक्षेपं कृत्वैव पुनन्ति, न तु तदानी मेव तत्र किं कारण मित्यस्येद मेवोत्तरम्। कलनमेवं कालः ज्ञानं तावदन्तः। 'कल ज्ञाने' इति धातुः। उरुणा गुरुणा उपदिष्टज्ञानेन तत्स्वरुपं तन्मन्त्रतदङ्गाचरणादिकं ज्ञात्वा समुपास्य तद्दर्शनं प्राप्य तत्प्रसादेनाऽघक्षय इत्यतो गुरूपदेशः कारणमित्यर्थः। प्रकृते किमनेनेत्यत्राऽह दर्शनादिति। साधवः स्वदर्शना दन्यथाज्ञान मपगमयन्ति। एवशब्दः गुरूपदेशं व्यवच्छिनत्ति॥ ११ ॥

नन्ववद्यनिमित्त मन्यथा ज्ञानं जायते तत्राग्न्यादयः स्वदर्शना दघं क्षपयित्वाऽन्यथाज्ञानं नाशयन्ति, ततो जन्म साफल्यं मिति तत्राऽऽह नेति। कस्याऽघं न हरन्ती त्यत उक्तं भेदकृतः अन्यथाज्ञानिनः पुंसः दाहकत्वादिशक्तिदर्शना दयमेवाऽग्निशब्द प्रवृत्तिहेतु रिति अन्यथाज्ञानं बहिर्मुखानां जायते। मनः मनोभिमानी देवः " मनो ब्रह्मेत्युपास्ते" इति श्रुतिः। एवकारेण कियत्कालो व्यवच्छिन्न इति तत्राऽऽह मुहूर्तेति। अत्र प्रतीतार्थ मपहाय तत्र सन्निहितदेवताकल्पनं निष्प्रमाणक मित्यादि शङ्का- "प्राकृतैः दृश्यमानन्तु न द्रवं तीर्थमुच्यते" इत्यादिना परिहर्तव्या । भेदस्य अन्यथाज्ञानत्वञ्च भिन्न स्याऽभेदतो दृष्टि रिति प्रमाण सिद्धम्। नन्वियं व्यवस्था कुतः,ऋष्यादिभ्यो देवाना मुत्तमत्वा दित्यतः- "उत्तमा अपि देवेशा अचरान्विदुषो नृणाम्। पूजायै सम्प्रयच्छन्ति परोक्षत्वप्रिया यतः॥" इत्यादेः॥ १२ ॥

इतोऽपि विद्वज्जनपूजा नृभिः कार्येत्याशयेनाऽऽह - यस्येति। यस्य पुरुषस्य त्रिधातुके प्राधान्या त्पृथिव्यप्तेजःकृते वातपित्तश्लेष्माकुले वा कुणपे शववदचेतनदेहे आत्मबुद्धिः अह मिति ज्ञानं, देहोऽह मित्यन्यथाज्ञान मित्यर्थः। यस्य च कलत्रादिषु असद्भार्यादिषु स्वधीः, मदीया एते, अहमेषां भर्ता नाऽन्य इति स्वकीयत्वबुद्धिः। विषयभोगलौल्यं तत्र निमित्तम यस्य भौमे भूविकारे शिलादौ इज्यधीः पूज्यबुद्धिः यद्यस्य जले द्रवरूपे तीर्थबुद्धिः अघक्षयबुद्धिः यस्याभिज्ञेषु शास्त्रतत्त्वज्ञेषु कर्हिचिदपि न पूज्यत्वबुद्धिः स गोखरः गवि पृथिव्यां गर्दभः नाऽपरः गोस्पर्शनादिना शुद्धिः स्यदिति गोश्चाऽसौ खरश्चेति विग्रहो न सङ्गच्छते इत्युक्त एवाऽर्थः॥ १३ ॥

अकुण्ठमेधसः अप्रतिहतज्ञानस्य दुरन्वयम् अन्वेतु मशक्यं दुर्ज्ञेय मित्यर्थः। भ्रमन्ती अनवस्था धी र्येषां ते तथा॥ १४ ॥

मुनयः किमकुर्वन् पुनरिति तत्राऽऽह - चिरमिति। ईश्वरस्य जगन्नियन्तु रीशितव्यतां विद्वज्जनान् प्रति दास्यभावं चिरं विमृश्य अयं जनसङ्ग्रहः उन्मार्गप्रवृत्ति रिवाऽऽचारलक्षण इति मत्वा तं जगद्गुरुमूचु रित्यन्वयः॥ १५ ॥

अहो हरि र्विडम्बन मिति कुतूहलादुत्पन्नमन्दस्मितं कुर्वन्तः किं स्वाश्रम गमनम्, उत बालकथाम् आहो स्वित्तत्त्वविषयां किञ्चि दूचु रित्याशङ्क्य तत्त्व विषय मेवेत्याह - यन्माययेति, तत्त्वविदुत्तमाः वयं यस्य मायया विमोहिताः स भवा-नीहया लोकचेष्टया गूढः ईशितव्यायति अनीशवदाचरतीति यस्मा दहो भगवतो विचेष्टितं विचित्रम्। "लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्" (अष्टा० 3-1-13) इति क्यष् प्रत्ययः॥ १६ ॥

चेष्टाया मतर्क्यत्व मुपपादयति - अनीह इति। आत्मना परप्रेरणामन्तरेण यथा भूमिः भौमैः स्वविकृतैः पदार्थैर्बहुनामरूपिणी कार्यरूपेण बध्यते यथा, तथा भवान्न बध्यते इत्यन्वयः। यो भवा ननीहः कूटस्थ एतज्जगद्बहुधा सृजत्यवत्यत्तीति तस्मा दहो विभून्नश्चरितं कीदृशं विडम्बयतीति विडम्बनम्॥ १७ ॥

यद्यपि लोकविडम्बनशक्त्या मोहयसि तथाऽपि काले सज्जनोपप्लवसमये वेदपथञ्च बिभर्षि वर्णाश्रमात्मा वर्णाश्रमस्थापनाचार्यः॥ १८ ॥

यतो वेदमार्गप्रणेता तत स्ते तव ब्राह्मणकुलं शुक्लत्वञ्च कस्मादित्यत्राऽऽह - यत्रेति। यत्र ब्राह्मणकुले अव्यक्तं परं ब्रह्म सुव्यक्तं व्यवधानमन्तरेण उपलब्धं दृष्टं यत्तस्मात् शास्त्रयोनेः वेदप्रतिपाद्यस्य आत्मन स्तव सद्भाम प्रशस्तं स्थानं यतः सम्भावयति य त्तस्मा द्भवान् ब्रह्मण्यगुणः ब्राह्मणप्रियत्वगुणलक्षण शिखामणिः॥ १९, २० ॥

न केवलं जन्मन एव साफल्य मासीत्, किन्तु विद्यादे रपीति। तत्र निमित्तं त्वया सङ्गम्येति। त्वं नः त्वत्सङ्गत्या श्रेयसां सकाशात्परः पुरुषार्थ इति यत्॥ २१,२२ ॥

एक स्त्वमेव आरामः क्रीडावनं येषां ते तथा॥ २३ ॥

अघौघं मर्षयति नाशयतीत्यघौघमर्षं तादृशस्य तीर्थस्य गङ्गाशब्दवाच्यस्याऽऽस्पदं स्थिराश्रयं सुष्ठु विपक्काः परिपाकं प्राप्ताः योगध्यानलक्षणाः तैः उत्सिक्तया उद्रिक्तया भक्त्या उपहृतः सम्यगुन्मूलित आशयः स्थानं यस्य स तथा स जीवकोशः जीवाख्यसन्निधानस्थानीयं लिङ्गशरीरं येषान्ते। तदुत्सिक्तभक्त्युन्मूलित स्थानलिङ्गशरीराः भवतो गतिं स्थानं वैकुण्ठलक्षणम्॥ २४, २५ ॥

उपसङ्गृह्य, अनुज्ञा मिति शेषः। बभाष इदं "व्यत्ययो बहुलम्" इति सूत्रात् बभाषेदमिति छान्दसः॥ २६ ॥

सर्वे देवा येषु सन्निहिता स्ते सर्वे देवा स्तेभ्य स्सर्वत्र देवो देवनं प्रकाशनं येषां ते तथा, तेभ्य इति वा। निर्हारो मूलच्छेदः॥ २७ ॥

आत्मनः स्वस्य श्रेयः शिवं न पृच्छतीति यत्तदिदं नातिचित्रम्, मर्त्यस्वभावा दिति शेषः॥ २८ ॥

कोऽयं मर्त्यस्वभाव इति तत्राऽऽह - सन्निकर्ष इति। तत्र गङ्गातीरे स्थितोऽन्यः पृथग्जनः बालिशः शुद्धं यद्गाङ्गं गङ्गासम्बन्धि जलं हित्वाऽन्याम्भः तटाकादिस्थं जलं यथा याति तथाऽयं विचार इत्यर्थः॥ २९ ॥

यस्यानुभूतिः स्वरूपचैतन्यं कालेनाऽस्य जगतो लयोत्पत्त्यादिना तदन्तःपातित्वेन स्वतः स्वनिमित्तेनाऽन्यस्मा त्सत्त्वादिगुणाच्च कुतश्चनाऽन्यतोऽधर्मतो न रिष्यति न हिंसितं न नष्टं स्यात्,'रिष हिंसायाम्' इति धातुः॥ ३० ॥

अज्ञः अज्ञानिवद्वसुदेवः स्वविषयैः स्वेन गृह्यमाणैः प्राणादिभि रिन्द्रियादिभिः प्राकृतैर्गूढं मेने इत्यन्वयः। क्लेशै रविद्यास्मितरागद्वेषाभिनिवेशैः कर्मपरिपाकैः पुण्यापुण्यफलै स्त्याज्यानुभोगैः। परितापेति पाठे आध्यात्मिकाभिधेयै र्विकारैः भौतिकै र्गुणप्रवाहैः सृष्ट्यादिभि रव्याहतोऽनभिभूतोऽनुभवः, अनुभावो माहात्म्यं यस्य स तथा तम्। अत्र हेतुगर्भविशेषणद्वयमाह - ईश्वर मद्वितीयमिति। उपरागो राहुणा मेघादिभि राच्छन्नप्रकाशरूपं सूर्यमप्रकाशं मन्यते यथा, तथेति॥ ३१ ॥

प्रश्न प्रतिवचन मकृत्वा यत्किञ्चित्कथनं किं केन सङ्गतमिति मन्दाशङ्कां परिहर्तु माह - अथेति॥ ३२ ॥

साधुभिः विद्वद्भिर्निरूपितः॥ ३३ ॥

कर्मणा कर्मनिर्वापणं पङ्काम्भसा पङ्कप्रक्षालन मिव अनुपपन्न मित्याशङ्क्य ब्रह्मार्पणबुद्ध्यानुष्ठितं सत् समर्थं भवति। चिकित्सितद्रव्य मिव इत्याशयोनाऽऽह - चित्तस्येति। "कविभिः शमोपनिष्ठता बुद्धेः" इति शास्त्रचक्षुषा यश्चित्तस्योपशमो भगवदेकनिष्ठालक्षणो दर्शितः सुगमो योगः उपाय श्चिकित्सालक्षणः आत्मनः परमात्मनो मुदावहः सन्तोषजनको धर्मश्चाऽहिंसालक्षणः कर्मनिर्वापणसाधनम्॥ ३४ ॥

उक्तं निगमयति - अय मिति। अयं ब्रह्मार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठितः स्वस्तिमङ्गलस्य निष्पापस्य मोक्षस्य वा अयन माश्रयः द्विजाते स्त्रैवर्णिकस्य गृहमोधिनः गृहस्थस्य आप्तवित्तेन न्यायार्जितधनेन शुक्लेन निर्मलेन॥ ३५ ॥

इदानीं शुद्धान्तःकरणस्य सन्न्यासप्रकारं निरूपयति - वित्तैषणामिति। बुधः संसारस्याऽसारतां विद्वान् यज्ञदानै रनुष्ठितैः वित्तैषणां वित्तेच्छां विसृजेदिति सर्वत्र योज्यम्। गृहैर्गृहस्थाश्रमैः सहदारसुतेषणाम् आत्मन इहाऽमुत्रलोके धीरा स्त्यागशक्तिमन्तः ग्रामे ग्राम्यविषये। त्यक्तैषणा इत्यनेन ब्रह्मचारिणामपि सन्न्यासं सूचयति "यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्" इति विधिः॥ ३६॥

तत्रातिशयितवैराग्याभावे एवंविधस्य सन्न्यासानधिकार इति स्मार्तपक्ष माहुः- ऋणैरिति। त्रिभिर्ऋणै र्युक्तो जातः तानृणविशेषा ननिस्तीर्य गृहादि त्यज न्नधः पतेत् ऋणबीजभर्जनवैराग्याग्न्यभावात् इति शेषः॥ ३७ ॥

तत्र ऋण निवारण प्रकारमाह - ब्रह्मचर्येति। अनेन वेदाध्ययनं सूचयति। अशरणः गृहरहितः॥ ३८ ॥

कर्मनिर्हरणप्रश्नस्य प्रतिवचन मुक्त्वा जनसङ्ग्रहणायेदं त्वया पृष्ट मस्माभि रिति तदनुस्मृत्य प्रोक्तं भवत स्तज्जन्मान्तरानुष्ठानशुद्धस्य नेदानीं कर्तव्य मस्तीति ममत्वं ध्वनयन्तः सम्बोधयन्ति वसुदेवेति। नूनं निश्चयः, यत् यस्मात्, भेजे इत्यनेन लिटा अनद्यतनेन परोक्षवाचिना बहूनि पुरातनानि हरिभक्तिनिमित्तानि जन्मानि सूचितानि— "बहूनां जन्मना मन्ते ज्ञानवा न्मां प्रपद्यते" (भ.गी. 7-19) इति स्वोक्तेः॥ ३९ ॥

विजयध्वजतीर्थकृत पदरत्नावल्यां द्विसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७२ ॥

( अधिकपाठे अष्टमोऽध्यायः)

## विजयध्वजरीत्या द्विसप्ततितमोऽध्यायः

### (अधिकपाठे नवमोध्यायः)

### श्रीशुक उवाच-

इति तद्वचनं श्रुत्वा वसुदेवो महामनाः।
तानृषी नृत्विजो वव्रे मूर्ध्नाऽऽनम्योपसृत्य च॥ १ ॥

त एव मृषयो राजन् वृता धर्मेण धार्मिकम्।
तस्मिन्नयाजन् क्षेत्रे मखै रुत्तमकल्पकैः॥ २ ॥

तद्दीक्षायां प्रवृत्तायां वृष्णयः पुष्करस्रजः।
स्नाताः सुवाससो राजन् राजानः सुष्ठ्वलङ्कृताः॥ ३ ॥

तन्महिष्यश्च मुदिता निष्ककण्ठ्य स्सुवाससः।
दीक्षाशाला मुपाजग्मु रालिप्ता वस्तुपाणयः॥ ४ ॥

नेदुर्मृदङ्गपटह शङ्खभेर्यानकादयः।
ननृतु र्नटनर्तक्य स्तुष्टुवु स्तत्र मागधाः॥ ५ ॥

जगुस्सुकण्ठ्यो गन्धर्वा(र्व्य)स्सुगीतं सहभर्तृकाः।
तमभ्यषिञ्च न्विधिवद्भक्त मव्यग्र मृत्विजः॥ ६ ॥

पत्नीभि रष्टादशभिः सोमराज मिवोडुभिः।
ताभि र्दुकूलवलय हारनूपुर कुण्डलैः॥
स्वलङ्कृताभि र्विभवै र्दीक्षितो जनसंवृतः॥ ७ ।

तस्यर्त्विजो महाराज नूत्नकौशेय वाससः।
सप्तदश विरेजु स्ते यथा वृत्रहणोऽध्वरे॥ ८ ॥

तदा रामश्च कृष्णश्च स्वैः स्वै र्बन्धुभि रन्वितौ।
रेजतुः स्वसुतै र्दारै र्जीविशौ स्वविभूतिभिः॥ ९ ॥

ईजेऽनुयज्ञं विधिना अग्निहोत्रादिलक्षणैः।
प्राकृतै र्वैकृतै र्यज्ञै र्द्रव्यज्ञानक्रियेश्वरम्॥ १० ॥

अथर्त्विग्योऽददा त्काले यथाऽऽम्नातं सुदक्षिणाः।
स्वलङ्कृतेभ्योऽलङ्कृत्य गोभू कन्या महाधनाः॥ ११ ॥

पत्नीसंयाजावभृथै श्चरित्वाऽथ महर्षयः।
सस्नू रामह्रदे विप्रा यजमान पुरस्सराः॥ १२ ॥

स्नातोऽलङ्कारवासांसि वन्दिभ्योऽदा त्तथा स्त्रियः।
ततः स्वलङ्कृता न्वर्णा न्नाश्वभ्योन्नेन पूजयत्॥ १३ ॥

बन्धून् सदारान् ससुतान् पारिबर्हेण भूयसा।
विदर्भकोसलकुरून् काशिकैकेयसृञ्जयान्॥ १४ ॥

सदस्यर्त्विक्सुरगणा नृभूत सूत चारणाः।
श्रीनिकेत मनुप्राप्य शंसन्तः प्रययुः क्रतुम्॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रोऽनुजो द्रोणो भीष्मो द्रौणिः कृपस्तथा।
नारदो भगवान्व्यासः सुहृत्सम्बन्धिबान्धवाः॥ १६ ॥

बन्धू न्परिष्वज्य यदून् सौहृदक्लिन्नचेतसः।
ययुर्विरहकृच्छ्रेण स्वदेशांश्चापरे जनाः॥ १७ ॥

नन्दस्तु सह गोपालैः महत्या पूजयाऽर्चितः।
कृष्णरामोग्रसेनाद्यै र्न्यवस द्बन्धुवत्सलः॥ १८ ॥

वसुदेवोऽञ्जसोत्तीर्य मनोरथमहार्णवम्।
सुहृद्वृतः प्रीतमनाः इद माह करे स्पृशन्॥ १९ ॥

## वसुदेव उवाच

भ्रात रीशकृतः पाशो नृणां यः स्नेहसंज्ञितः।
तं दुस्त्यज महं मन्ये सुराणा मपि योगिनाम्॥ २० ॥

अस्मा स्वप्रतिकल्पोऽयं यत्कृतं ज्ञानसत्तमैः।
मैत्र्यर्पिता फलावापि न निवर्तेत कर्हिचित्॥ २१ ॥

प्रागकल्पाऽस्तु कुशलं भ्रात र्वो नाऽऽ चरेमहि।
अधुना श्रीमदान्धाक्षाः न पश्याम पुर स्सतः॥ २२ ॥

मा राज्यश्री रभू त्पुंसः श्रेयस्कामस्य मानद।
स्वजनान् भृत्यबन्धून्वा न पश्यति ययाऽन्धदृक्॥ २३ ॥

एवं सौहृद शैथिल्य चित्त आनकदुन्दुभिः।
रुरोद तत्कृतां मेत्रीं स्मर न्नश्रुविलोचनः॥ २४ ॥

नन्दस्तु सख्युः प्रियकृ त्प्रेम्णा गोविन्द रामयोः।
अद्य श्व इति मासां स्त्री न्यदुभिर्मानितोऽवसत्॥ २५ ॥

ततः कामैः पूर्यमाणः सव्रजः सहबान्धवः।
परार्ध्य भरणक्षौम नानानर्ध्य परिच्छदैः॥ २६ ॥

वसुदेवोग्रसेनाभ्यां कृष्णार्जुनबलादिभिः।
आदाय पारिबर्हं तं यापितो यदुभि र्ययौ॥ २७ ॥

तदा गोप्यश्च गोपाश्च गोविन्द चरणाम्बुजे।
मनः क्षिप्तं पुन र्हर्तु मनीशा मधुरां ययुः॥ २८ ॥

द्रोणो भीष्मोऽङ्गराजश्च बाह्लीकविदुरादयः।
सपुत्रो धृतराष्ट्रश्च जग्मुः स्वंस्वं निकेतनम्॥ २९ ॥

अन्येच सर्वराजानो देवयात्रार्थ मागताः।
गते मासत्रये भूयः स्वा नेव विषयान् ययुः॥ ३० ॥

**पाण्डवाश्च महात्मानः पृथा चनृपसत्तम!**
**अनुज्ञाताः केशवेन भाष्पगद्गदभाषिणः॥ ३१ ॥**

**शक्रप्रस्थं ययु स्सर्वे स्वजनैः परिवारिताः।**
**बन्धुषु प्रतियातेषु वृष्णयः कृष्णदेवताः॥ ३२ ॥**

**परिवार्य हृषीकेशं ययु र्द्वारवतीं पुरीम्॥ ३३ ॥**

इति श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७३ ॥

( अधिकपाठे नवमोऽध्यायः )

## पदरत्नावली

धर्मेण काल्पोक्तेन विधिना उत्तमकल्पकैः राजसूयसमैः "ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्य देशीयरः" इति सूत्रात्॥ १,२ ॥

"दीक्षा स्या द्व्तसङ्गहः" इति। पुष्करस्रजः कमलबीजमालाऽवलम्बिकण्ठाः॥ ३ ॥

आलिप्ता श्चन्दनेनेति शेषः। हिरण्यादिवस्तुपाणयः- "हिरण्यं रजतं वाऽपि गृहीत्वा क्रमुकं फलम्। शालां विशे द्यज्ञपत्नी शपेयु स्त्वन्यथा सुराः" इति वचनात्॥ ४, ५ ॥

अव्यग्र मव्याकुलम्॥ ६, ७ ॥

होता पोता नेष्टा प्रशास्ता अध्वर्यु रग्नीध्रो मैत्रावरुण इत्येवमादयो ऋत्विजः षोडश, दीक्षित स्त्वेक इति सप्तदश, सदस्येन वा सह। वृत्रहणः इन्द्रस्य यज्ञे॥ ८ ॥

जीवाना मीशौ स्वरूपभूताभि र्विभूतिभिः मूर्तिमतीभिः- "अणिमा महिमा गरिमा लधिमा प्राप्ति रेव च। ईशित्वञ्च वशित्वञ्च तथा प्राकाम्य मेव च" इति समाख्याताभिः नानाविधचेतनराशिसमुदायेन तत्तद्योग्यतानुसारेण सभाजनसमयेऽपेक्षिताभिः॥ ९॥

द्रव्यज्ञानोपपदयोः क्रिययो र्यज्ञलक्षणयोः ईश्वरं द्रव्ययज्ञ दानयज्ञयोः स्वामिन मित्यर्थः। कथ मीजे इति तत्राऽऽह- अनुयज्ञेति। अनुशब्दो वीप्सावचनः तं तं यज्ञं प्रति विधिना कल्पोक्तप्रकारेण अग्निहोत्रादिलक्षणैः अग्निहोत्रेष्ट्यादिचिह्नैः प्राकृतैर्यज्ञैः सप्तक्रतुभिः, वैकृतै र्यज्ञैः सौत्रामण्यादिभि रुत्तरक्रतुभिः॥ १० ॥

यथाऽऽम्नातं यथाकथितं महान्ति धनानि यासां तास्तथा॥ ११ ॥

पत्नीसंयाजः पत्नीभिः क्रियमाणः काश्चनदेवता उद्दिश्य यजनम्, अवभृथः समाप्तिः। कर्मस्थान मुभयत्रेष्टिविशेषाश्च भवन्ति। तैश्चरित्वा तांश्च कृत्वेत्यर्थः॥ १२ ॥

पूजय दपूजयत् स्त्रियः स्त्रीभ्यः॥ १३ ॥

पारिबर्हेण पूजाद्रव्येण विदर्भादींश्च अपूजयदितिशेषः॥ १४ ॥

सदस्यर्त्विगादयः प्रययु रित्यन्वयः॥ १५ ॥

अनुजो विदुरः॥ १६-२० ॥

युष्माभिर्ज्ञानिन सत्तमै रस्मासु यत्कृतं सोऽयंस्नेहपाशोऽप्रतिकल्पः असदृशः या चाऽस्माभि र्युष्मास्वर्पिता मैत्री अफला वाऽपि निष्फलावाऽपि कर्हिचि दपि न निवर्तेत निवृत्यास्मत्त इति शेषः॥ २१ ॥

एत देव विवृणोति - प्रागिति। हे भ्रातः। प्राक् वः कुशलं नाऽऽचरेमहि। कुतः अकल्पा असमर्थाः कंसेनोपद्रुतत्वात् अधुना श्रीमदान्धाक्षाः वयं पुरस्सतः पुरः स्थिता न पश्याम इति यत्, अत इति शेषः॥ २२ ॥

यया राज्यश्रिया॥ २३ ॥

सौहृदेन स्नेहेन शैथिल्यं शिथिलस्वभावं प्राप्तं चित्तं यस्य स तथा॥ २४-३३ ॥

इति श्री विजयध्वजतीर्थकृत पदरत्नावल्यां त्रिसप्तति तमोऽध्यायः॥ ७३ ॥

(अधिकपाठे नवमोऽध्यायः)

## अथ विजयध्वजरीत्या चतुस्सप्ततितमोऽध्यायः॥
## (अधिकपाठे दशमोऽध्यायः)

### श्रीशुक उवाच-

अथैकदात्मजौ प्राप्तौ कृतपादाभिवन्दनौ।
वसुदेवोऽभिनन्द्याऽऽह प्रीत्या सङ्कर्षणाच्युतौ॥ १ ॥

मुनीनां वदतां श्रुत्वा पुत्रयोर्धर्मसूचकम्।
तद्वीर्यजातविस्रम्भः परिष्वज्याऽभ्यभाषत॥ २ ॥

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् सङ्कर्षण सनातन।
जाने वामस्य यत्साक्षा त्प्रधानपुरुषौ परौ॥ ३ ॥

यत्रयेन यतो यस्य यस्मै यद्य द्यथा यदा।
स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधान पुरुषेश्वरः॥ ४ ॥

एतन्नानाविधं विश्व मात्मसृष्ट मधोक्षज।
आत्मनाऽनुप्रविश्याऽऽत्मन् प्राणान् जीवो बिभर्ष्यजः॥ ५ ॥

प्राणादीनां विश्वसृजां शक्तयो याः परस्य ताः।
पारतन्त्र्या द्वैसादृश्या द्द्वयोःश्रेष्ठे च चेष्टितम्॥ ६ ॥

कान्ति स्तेजः प्रभा सत्ता चन्द्राम्न्यर्कसविद्युताम्।
यत्स्थैर्यं भूभृतां भूमे र्वृत्ति र्गन्धोऽर्थतो भवान्॥ ७ ॥

तर्पणं प्राणन श्चाऽपां द्रवत्वं ताश्च तद्रसः।
ओज स्सहोबलश्चेष्टा गति र्वायो स्तवेश्वर॥ ८ ॥

दिशां त्वमवकाशोऽसि शब्दस्त्वं स्फोट आश्रयः।
नादो वर्ण स्त्व मोङ्कार आकृतीनां पृथक्कृतीः॥ ९ ॥

इन्द्रिय न्त्विन्द्रियाणां त्वं देवाश्च तदनुग्रहाः।
अवबोधो भवान्बुद्धे र्जीवस्यानुस्मृतिः सती॥ १० ॥

भूताना मसि भूतादि रिन्द्रियाणाश्च तैजसम्।
वैकारिकं विकल्पानां प्रधान मनुशायिनाम्॥ ११ ॥

नश्वरेष्विह भावेषु तदसि त्व मनश्वरः।
यथा द्रव्यविकारेषु द्रव्यमात्रं निरूपितम्॥ १२ ॥

सत्त्व रज स्तम इति गुणा स्तद्वृत्तयश्च याः।
त्वय्यद्धा ब्रह्मणिपरे कल्पिता योगमायया॥ १३ ॥

तस्मान्न सन्त्यमी भावा यर्हि त्वय्यविकल्पिताः।
त्वञ्चामीषु विकारेषु सन् सदा व्यावहारिकः॥ १४ ॥

गुणप्रवाह एतस्मिन्नबुद्ध्वात्वखिलात्मनः॥
गतिं सूक्ष्मामबोधेन संसरन्तीह कर्मभिः॥ १५ ॥

यदृच्छयानृतां प्राप्य सुकल्प मिह दुर्लभम्।
स्वार्थे प्रमत्तस्य वयो गतं त्वन्माययेश्वर॥ १६ ॥

असा वहं ममैवेते देहेवास्यान्वयादिषु।
स्नेहपाशै र्निबध्नाति भवान् सर्वमिदं जगत्॥ १७ ॥

युवां न नस्सुतौ साक्षा त्प्रधानपुरुषेश्वरौ॥
भूभारदैत्यक्षपणे अवतीर्णौ तथा त्विह॥ १८ ॥

तत्ते गतोऽ स्म्यरण मद्य पदारविन्द-
मापन्नसंसृतिभयापह मार्तबन्धो।
एतावताऽलमलमिन्द्रियलालसेन
मर्त्यात्मदृक्त्वयि परे यदपत्यबुद्धिः॥ १९ ॥

सूतीगृहेननुजगाद भवा नजो नौ
यद्यज्ञ इत्यनुयुगं निजधर्मगुप्त्यै।
नानातनू र्गगनव द्विदधज्जहासि
को वेद भूम्न उरुगाय विभूतिमायाम्॥ २० ॥

श्रीशुक उवाच-

आकर्ण्येत्थं पितु र्वाक्यं भगवान्सात्त्वतर्षभः।
प्रत्याह प्रश्रयानम्रः प्रहसन् श्लक्ष्णया गिरा॥ २१ ॥

वचो व स्समवेतार्थं तातैत दुपमन्महे।
यन्नः पुत्रा न्समुद्दिश्य तत्त्वग्राम उदाहृतः॥ २२ ॥

अहं यूय मसा वार्य इमे च द्वारकौकसः।
सर्वेष्वेव यदुश्रेष्ठ विश्वश्च सचराचरम्॥ २३ ॥

आत्मा ह्येकः स्वयञ्ज्योति र्नित्योऽन्यो निर्गुणो गुणैः।
आत्मसृष्टै स्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते॥ २४ ॥

रवं वायुर्ज्योति रापो भू स्तत्कृतेषु यथाशयम्।
आविस्तारोऽल्पभू र्येक नानात्वं या त्यसा वपि॥ २५ ॥

एवं भगवता राजन् वसुदेव उदाहृतम्।
श्रुत्वा विनष्टनामाधि स्तूष्णीं प्रीतमना अभूत्॥ २६ ॥

अथ तत्र कुरुश्रेष्ठ देवकी सर्वदेवता।
श्रुत्वाऽऽनीतं गुरोः पुत्रमात्मजाभ्यां शुचिस्मिता॥ २७ ॥

कृष्णरामौ समाश्राव्य पुत्रान् कंसविहिंसितान्।
स्मरन्ती कृपणा प्राह वैक्लव्या दश्रुलोचना॥ २८ ॥

देवक्युवाच-

राम रामाऽप्रमेयात्मन् कृष्ण योगेश्वरेश्वर।
वेदाऽहं वां विश्वसृजा मीश्वरा वादिपूरुषौ॥ २९ ॥

काल विध्वस्तसेतूनां राज्ञा मुच्छास्त्र वर्तिनाम्।
भूमे र्भारायमाणाना मवतीर्णौ क्षयाय मे॥ ३० ॥

यस्यांशांशांशभागेन विश्वस्थित्युदयौ लयः।
भवन्ति किल विश्वात्मन् तं त्वाऽद्याहं गतिं गता॥ ३१ ॥

चिरान्मृतसुतादाने गुरुणा किल चोदितौ।
आनिन्यथुः पितृस्थाना द्गुरवे गुरुदक्षिणाम्॥ ३२ ॥

तथा मे कुरुतां कामं युवां योगेश्वरेश्वरौ।
भोजराजहतान्पुत्रान् कामये द्रष्टुमाहृतान्॥ ३३ ॥

श्रीशुक उवाच-

एवं सञ्चोदितौ मात्रा रामकृष्णौ कुरूद्वह।
सुतलं संविविशतु र्योगमाया मुपाश्रितै॥ ३४ ॥

तस्मिन्प्रविष्टा वुपलभ्य दैत्यराड्
विश्वात्मदेवं सुतरां तथाऽऽत्मनः।
तद्दर्शनाऽऽह्लादपरिप्लुताशयः
सद्य स्समुत्थाय ननाम सान्वयः॥ ३५ ॥

तयो स्समानीय वरासनं मुदा
निविष्टयो स्तत्र महात्मनो स्तयोः
दधार पादा ववनिज्य तज्जलं
सबृन्द आब्रह्म पुन द्यदम्बुभिः॥ ३६ ॥

समर्हयामास महाविभूतिभि र्महार्हवस्त्राभरणानुलेपनैः।
सग्धूपदीपामृतभक्षणादिभिः स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पणेन च॥ ३७ ॥

स इन्द्रसेनो भगव न्पदाम्बुजं
भ्रमन्मुहुः प्रेमविभिन्नया धिया
बभाष हाऽऽनन्दजलाकुलेक्षणः
प्रहृष्टरोमा नृप गद्गदाक्षरम्॥ ३८ ॥

बलिरुवाच-

नमोऽनन्ताय महते नमः कृष्णाय वेधसे।
साङ्ख्ययोगवितानाय ब्रह्मणे परमात्मने॥ ३९ ॥

दर्शनं वां हि भूतानां दुष्प्राप मतिदुर्लभम्।
रजस्तम स्स्वभावानां यन्नः प्राप्तं यदृच्छया॥ ४० ॥

दैत्यदानवगन्धर्वसिद्धविद्याधरादयः।
यक्षरक्षः पिशाचाश्च भूतप्रमथनायकाः॥ ४१ ॥

विशुद्धसत्त्वधाम्न्यद्धा त्वयिशास्त्रशरीरिणि।
नित्यं निबद्धवैरास्ते वयञ्चाऽन्ये च तादृशाः॥ ४२ ॥

केचनोद्बद्धवैरेण भक्ताः केचन कामतः।
न तथा सत्त्वसंरब्धाः सन्निकृष्टा स्सुरादयः॥ ४३ ॥

इद मित्थ मिति प्राय स्तव योगेश्वरेश्वर।
न विदन्त्यपि योगेशा योगमायां कुतो वयम्॥ ४४ ॥

तन्नः प्रसीद निरपेक्ष विमृग्य युष्म-
त्पादारविन्दधिषणः स्वगृहान्धकूपात्।
निष्क्रम्य विश्वशरणाङ्घ्र्युपलब्धवृत्ति
श्शान्तो यथैक उत सत्त्वसखैश्चरामि॥ ४५ ॥

शाध्यस्मा नीशितव्येश निष्कामान्कुरु नः प्रभो।
पुमान्यच्छ्रद्धया तिष्ठं श्चोदनाया विमुच्यते॥ ४६ ॥

श्रीभगवा नुवाच-

आस न्मरीचेष्षट्पुत्रा ऊर्णायां प्रथमेऽन्तरे।
देवलं जहसु र्वीक्ष्य सुता ञ्छपितु मुद्यतम्॥ ४७ ॥

तेनाऽऽसुरी मगु र्योनि ममुनाऽवद्यकर्मणा।
हिरण्यकशिपो श्शापा त्पुत्त्रास्ते योगमायया॥ ४८ ॥

देवक्या जठरे जाता राजन्कंसविहिंसिताः।
सा तान् शोचत्यात्मजान् त्वां स्त इमेऽध्यासतेऽन्तिके॥ ४९ ॥

इत एता न्प्रणेष्यामो मातृशोकापनुत्तये
तत श्शापविनिर्मुक्ता लोकं यास्यन्ति विज्वराः॥ ५० ॥

स्मरोद्गीथः परिष्वङ्गः पतङ्गः क्षुद्रभृद्घृणी।
षडिमे मत्प्रसादेन पुन र्यास्यन्ति मद्गतिम्॥ ५१ ॥

इत्युक्त्वा तान्समादाय इन्द्रसेनेन पूजितौ।
पुन र्द्वारवती मेत्य मातुः पुत्त्रा नयच्छताम्॥ ५२ ॥

तान् दृष्ट्वा बालकान्देवी पुत्त्रस्नेहस्नुतस्तनी।
परिष्वज्याऽङ्क मारोप्य मूर्ध्न्यजिघ्र दभीक्ष्णशः॥ ५३ ॥

अपाययत्स्तनं प्रीता सुतस्पर्शपरिस्रुतम्।
मोहिता मायया विष्णो र्यथा सृष्टिः प्रवर्तते॥ ५४ ॥

पीत्वाऽमृतं पय स्तस्याः पीतशेषं गदाभृतः।
नारायणाङ्गसंस्पर्शाप्रतिलब्धात्मदर्शनाः॥ ५५ ॥

ते नमस्कृत्य गोविन्दं देवकीं पितरं बलम्।
मिषतां सर्वभूतानां ययुर्धाम विहायसा॥ ५६ ॥

ता न्दृष्ट्वा देवकी देवी मृतागमननिर्गमम्।
मेने सुविस्मिता मायां कृष्णसंसूचितां नृप॥ ५७ ॥

एवं विधान्यद्भुतानि कृष्णस्य परमात्मनः।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य सन्त्यनन्तानि भारत॥ ५८ ॥

सूत उवाच-

य इदमनुशृणोति श्रावयेद्वा मुरारे-
श्चरितममृतकीर्तेर्वर्णितं व्यासपुत्रैः।
जगदघभिदलन्तद्भक्तसत्कर्णपूरं
भगवतिकृतचित्तो याति तत्क्षेमधाम॥ ५९ ॥

इति श्रीभागवते दशमस्कन्धे चतुस्सप्तति तमोऽध्यायः॥ ७४ ॥
(अधिकपाठे दशमोऽध्यायः)

## पदरत्नावली

सुखं गुणोपसंहारार्थं सम्यक्तत्त्वविज्ञाने हरौ भक्ति विधानं सुशक मिति पुन रपि हरे र्माहात्म्यं निगद्यतेऽस्मिन्नध्याये। तदर्थं वसुदेवः कृष्णरामौ सम्बोध्य वक्ति अथेति॥ १ ॥

पुत्रयोः रामकृष्णयोः धाम्नस्तेजसः माहात्म्यलक्षणस्य सूचकं वदतां मुनीनां वचःश्रुत्वा तयो र्वीर्ये माहात्म्ये जात विस्रम्भः पुन रङ्कुरितविश्वासः॥ २ ॥

अहं वां प्रधानपुरुषौ जाने वां यथाऽस्य विश्वस्यसकाशात् परौ विलक्षणत्वेनोत्तमौ भवत स्तथेति, यद्वाऽस्य जगत स्तत्त्वं जाने॥ ३ ॥

तत्कथ मिति तत्राऽऽह - यत्रेति। यत्र यस्मिंस्तिष्ठति "यस्मि न्निदम्" इति श्रुतिः "यतोवा इमानि भूतानि" इति, "येन जातानि जीवन्ति" इति श्रुतिः "यस्य ब्रह्म च क्षत्र ञ्चोभे भवत ओदनः मृत्युर्यस्योपसेचनम्" इति काठकाः। यस्मा इदं क्रियत इति "सच्च त्यच्चाऽभवत्" इति यथास्थितं यदा काले इदं स्यात् तथा तदाऽस्मात् "ब्रह्मैवेदंविश्वम्" इति श्रुतिः। इदं जगत्साक्षात् स्पष्टं निर्विचारं प्रधान पुरुषेश्वरशब्दवाच्योभगवा नेव स्यात्, तस्मा त्सत्ताया अपि तदधीनत्वात्। यद्वा, यत्र यस्मिन्नधिष्ठाने येन साधनेन यतो मृदः यस्य सम्बन्धेन यस्मै देवदत्ताय यद्वस्तु यथाप्रकारेण यदा यस्मिन्काले॥ ४॥

तदिदं कथितमेव स्पष्टत्वाय कथयति एतदिति। आत्मना त्वया सृष्टम् आत्मना अनुपहतस्वरूपेण आत्मन्नात्मनि। प्राणा निन्द्रियाणि जीवो जीवनप्रदः॥ ५ ॥

प्राणादीनां मुख्यप्राणादीनां याश्शक्तयस्ताः परस्य हरे र्विद्यमानाः। तत्र हेतुः पारतन्त्र्येति। वैसादृस्या द्वैलक्षण्यात्। तदुपपादयति द्वयो रिति। द्वयोर्जीविशयोः श्रेष्ठे अतिशयेनोत्तमे हरौ चेष्टितं यस्मात्तस्मात् इत्यर्थः। यथा वायोः शक्त्यातृणपर्णादीनां चालनं यथा वा पुरुषस्य शक्त्या शरादीनां वेगवतीगतिः, तथा प्रकृते इति भावः॥ ६ ॥

पदार्थगुणानां तदधीनत्व माह - कान्ति रित्यादिना। चन्द्राग्न्यर्काणां सविद्युतां खद्योतादीनां मध्ये चन्द्रस्य या कान्तिः अग्नेर्यत्तेजः, सूर्यस्य या प्रभा विद्युदादीनां यासत्ता भूभृतां यत्स्थैर्यं भूमे र्या वृतिः सस्यादीनां जीवनत्वं यो गन्धो गुणः, तत्सर्व मर्थतोऽभिधेयत्वं यद्भवान्नाऽन्यः॥ ७ ॥

किञ्च। अपां यत्तर्पणंतृप्तिः, प्राणनं चेष्टा द्रवत्वं स्यन्दनं ता आपश्च तासां रसो गुणश्च वायोः ये ओजआदयः ते सर्वे तवाधीनप्रवृत्तिनिमित्ताः। ओजोऽवष्टम्भः, सहो मर्षणं, बलं शक्तिः, चेष्टा स्पन्दनं, गतिः सर्पणम्॥ ८ ॥

यो दिशा मवकाशः "सत्त्वं यश्च स्फोटो व्योमनि आश्रयः सत्त्वं निर्दोषः शब्द आगमः" इति वचनात् वर्णक्रमलक्षणोऽर्थव्यञ्जकशब्दः त्वम्। किञ्च स्फोटो वेणुदारणादौ जन्यो ध्वनि राश्रयः शङ्खादिजन्य स्त्व मित्यर्थः। "अवस्वरातिगर्गरः" इति श्रुतेः। आकृतीनां ब्रह्मादिप्राणिनां देवानां याः पृथक्कृतीः पृथक्क्रियाः अनिमेषादिलक्षणा स्ताश्च त्वदधीनः॥ ९ ॥

इन्द्रियाणा मिन्द्रिय मिदं द्रवणं तदनुग्राहका देवाः, सूर्यादयश्च त्वम्। बुद्ध्यवबोधो ज्ञानजननशक्तिः, जीवस्य सत्यनुस्मृतिः स्मरणशक्तिश्च भवान्॥ १० ॥

पञ्चभूतानां कारणं भूतादि स्तामसाहङ्कारः, चक्षुरादीन्द्रियाणां कारणं तैजसाहङ्कारः, विकल्पानां जरादिशून्यत्वेन परमात्मव्यपदेशानां विविधाः कल्पाः न्यायाः येषां तेषां वा देवानां कारणं वैकारिकाहङ्कारः सङ्कल्पविकल्पानां मनोवृत्तीनां वा अनुशायिनां जीवानां कारणं प्रधानं प्रकृति स्त्वम्, महदादीनां वा॥ ११ ॥

सर्व भावाना मादि स्त्वमिति निरूप्य, अधुना अन्तकालावस्थायित्वं च तवेति समर्थयते - नश्वरेष्विति। इह नश्वरेषु नाशशीलेषु भावेषु पदार्थेषु योऽनश्वरः अविनाशीभाव स्तद्रव्यं त्वमसि। सूक्ष्मार्थत्वात्दर्शनेनऽवगमयति।- तथाहि द्रव्यं प्रधानं

तद्विकारेषु पृथिव्यादिषु पदार्थेषु प्रलये नश्वरेषु द्रव्यमात्रं केवलं स्वरूपभूतं प्रधानमेव निरूपितं, तत्त्वज्ञै रिति शेषः। यद्वा द्रव्यं परमाणुतत्संयु क्तेषु घटादि पदार्थेषु नश्वरं द्रव्यमात्रं परमाणुमात्रं निरूपितं, परमाणुत्ववेदिभिरितिशेषः॥ १२ ॥

नन्वेवं तर्हि प्रधानादे र्नित्यत्वेन परमात्मनियतत्व मायातमिति तत्राऽऽह - सत्त्व मिति। इति शब्दो हेत्वर्थः। जगदुत्पत्त्यादिहेतवः सत्त्वादयो गुणा ये याश्च तेषां गुणानां वृत्तयोव्यापाराः ते ताश्च परे ब्रह्मणि तद्व्याप्ते तदव्याप्ते च देशे व्याप्ते त्वयि अद्धा अनिर्वचनीयत्वेन कल्पिता स्समर्थिताः। "एतस्मिन् खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च।" इत्यादि वेदान्तवाक्यैः सत्त्वादिगुणानां प्रधानस्वरूपत्वेन तेषां तदाधारत्वकथने प्रधानस्य तदाश्रयत्वं किमु वक्तव्य मिति। परमाणुपक्षे शुक्लवर्णेन सत्त्वेनाऽऽप्याः रजसा पार्थिवा स्सतमसा आवरकेण वायवीयाः परमाणवो लक्ष्यन्ते। इति शब्देनादित्य वाचिना तैजसालक्षिता इति चतुर्विधा गुणा स्तन्तुस्थानीयाः परमाणवो या स्तद्वृत्तयः संयोगलक्षणा स्त्वयि कल्पिताः त्वत्प्रेरितत्वेन कार्यकारणक्षमत्वेन समर्थिता इत्यर्थः। किमनेन नियमेनेत्यत उक्तं योगमाययेति। योगमायया स्वसमवेतेच्छया॥ १३ ॥

व्यतिरेकं दर्शयति - तस्मा दिति। यर्हि यदाऽमीभावास्त्वय्यविकल्पिताः त्वदाधारत्वेन निरूपिताः तदा तस्मा दनाधारतया न सन्ति स्वरूपत एव नश्यन्ति। तस्मा त्तत्सत्ताऽपि त्वदधीनेत्यर्थः। तदेव विशदयति - त्वञ्चेति। अमीषुविकारेषु विविधप्रकारेषु पदार्थेषु त्वञ्च त्वमेव सन् सद्भावं कुर्वन् सदा व्यावहारिकः हानादिव्यवहारनिर्वाहकः नान्य इत्यर्थः॥ १४ ॥

नन्वेवं तर्हि कस्मा देतस्य संसार इति तत्राऽऽह-गुणेति। एतस्मि न्गुणप्रवाहे संसारे अखिलात्मनः अखण्डस्वामिनः तव सूक्ष्मा मतीन्द्रियां गतिं स्थितिं सर्वव्यापी सर्वनियामक इत्यादिलक्षणा मबुद्ध्वाऽज्ञात्वा तेनाऽबोधेनाऽ ज्ञानेन इह कर्मभिः संसरन्तीत्यन्वयः। तत्त्वाज्ञाना त्संसार इति भावः॥ १५ ॥

ननु भवतु मनुष्यत्वलाभात् ज्ञानं सुलभं, तस्मान्मोक्षोऽपि स्या दित्याशङ्क्य सर्वञ्च त्वत्प्रसाद मन्तरेण दुर्लभ मित्याह - यदृच्छयेति। यदृच्छया भगवदिच्छया तत्रोद्बुद्धचारब्धपुण्य कर्मणा नृतां मनुष्यत्वं प्राप्य इह मनुष्यशरीरे त्वन्मायया स्वार्थे प्रमत्तस्य मम वयो गतम्, वृथेतिशेषः। अतः सुकल्पं क्लृप्तं फलप्रदं ज्ञानं दुर्लभ मभूदिति शेषः। नितरां ममत्वं त्वन्मायया॥ १६ ॥

स्वार्थे प्रमादः कीदृश इति तत्राऽऽह - असाविति। असौ देहोऽहमस्यदेहस्य अन्वयादिषु इन्द्रियकलत्रादिषु ममैवेते सन्त इति सुदृढै र्ममत्वेन बध्नाति, न केवलं मामेव किन्तु सर्वमिति भावेनोक्तं सर्व मिति॥ १७ ॥

त्वदनुग्रहान्मम किञ्चित् ज्ञान मुत्पन्न मिति भावेनाऽऽह युवा मिति। प्रधानपुरुषेश्वरौ प्रकृति जीवेश्वरौ॥ १८ ॥

अतः किं तत्राऽऽह - तत्त इति। इन्द्रियलालसेन इन्द्रियाणां शब्दविषयभोगेच्छया मर्त्ये मृत्युशिरस्के देहे आत्मदृक् अहमितिदर्शनं यत्परे परमात्मनि त्वयि अपत्यबुद्धिः पुत्रत्व ज्ञानम्॥ १९ ॥

सूतीगृह इति। अजः शुक्रशोणितसम्पर्कजन्य शरीररहितः भवान् सूतीगृहे अरिष्टे अहं यज्ञो विष्णु रिति नौ जगाद नन्विति यत्तस्मा दनुयुगं निजक्लृप्तधर्मरक्षायै नानातनूः सुरनरादिनानाविधशरीराणि विदधत्कुर्वन् त्वं पुनः रक्षावसाने तास्तनूः जहासि तिरोदधासि। कथं दधातीत्यतउक्तं गगनवदिति। यथा युगं युग्मं कार्यकारणद्वयात्मकपदार्थजातमनु अणुबृहदनुकूलत्वेन नाना भवति; पुन स्तद्गगनं तत्पदार्थजातस्य कारणावशेषे स्वयमेवैकमेव भवति, तथेत्यर्थः। हि उरुगाय! भूम्नः पूर्णानन्दस्य तव विभूतीनां मायां माहात्म्यं को वेद? वेद चेत् ब्रह्मैव वेत्ति वायुर्वा नाऽन्यः। अनेन गगाना दस्य विशेषोदर्शितः॥ २० ॥

ब्रह्माद्यन्यतम मन्तरेण प्रत्यक्षं भगवता सल्लापः कस्य सुलभः! अतो वसुदेवस्य भाग्य मतिविचित्र मिति भावेन कृष्णस्य प्रतिवचनप्रकारं कथयति - आकर्ण्येत्यादिना॥ २१ ॥

समवेतार्थं श्रुतिस्मृत्युपपन्नार्थं प्रसिद्धार्थं वा॥ २२ ॥

युष्मदादि विश्वमहमेव मदधीनमेव नाऽन्याधीनम्। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति श्रुतिसिद्धम्॥ २३ ॥

मत्समो नास्तीत्याह - एक इति। केवलः द्वितीयवर्जितः त्वं वा क इत्यत उक्तम् आत्मेति। आत्मशब्देन किं देह उच्यते इत्यतः स्वयञ्ज्योति र्नित्य इति। अनेन विशेषणद्वयेन जीवोऽपि व्यावृत्तः तस्य नित्यानभिभूत स्वयञ्ज्योतिष्ट्वा भावात् हरे स्तद्भावात्। "ब्रह्मवेदाऽहं ब्रह्माऽस्मि" इति श्रुतेः। बल मानन्द ओजश्चेति वा अह मेवेत्युक्त्या अभेदः किं नस्या दित्यत उक्तम् अन्य इति। अह मस्मा दन्योऽन्यविलक्षणः। कुतः? निर्मुणः सत्त्वादि गुणनिमित्तवैपरीत्याभावात्, अन्यस्य तद्भावात्। "कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजै र्गुणैः" (भ.गी.) इत्यादेः। ननु तर्ह्यप्राप्तनिषेधः कस्मात् इति तत्राऽऽह - इन्द्रियपूर्णेषु भूतेषु प्राणिदेहेषु बहुधेयते यथारुचिज्ञायते, जनेनेति शेषः। यथाऽऽत्मनिमित्तै र्गुणैः पञ्चभूतैः विरचितेषु शेषं समम्॥ २४ ॥

एतदेव द्रढयति - खं वायु रिति। खादीनि तत्कृतेषु वस्तुषु यथाशयं यथास्थानं स्थितानि भवन्ति। तथाऽसौ हरिरपि अल्पेष्वल्पत्वेन भूरिषु महत्त्वेनाविस्तारः प्रकाशिताविस्तारः एकनानात्वम् एकस्य अनेकसंख्याविषयत्वं यातीत्यन्वयः। अत्राऽयं भावः। स्वसृष्टतत्तद्वस्तुनियमार्थं तत्तद्वस्तुपरिमाणभूतं गृह्णातीति तात्विकाः॥ २५ ॥

विनष्टं नाम कुत्सित माधि र्यस्य स विनष्टनामाधिः "नाम कुत्सन सम्भाव्य प्रकाशेषु निगद्यते" इति॥ २६ ॥

अथ मङ्गलाचरित मारभ्यते सर्वा देवता यस्यां सन्निहिताः सा तथा॥ २७ ॥

समाश्राव्य सम्बोध्य॥ २८, २९ ॥

मे मत्तस्सकाशात् कालेन विध्वस्तधर्मसेतूनाम्॥ ३० ॥

भागोभजनं स्वीकारः, तेन गतिं शरणं गताऽस्मि॥ ३१ ॥

पितृस्थानात् यमलोकात्॥ ३२, ३४ ॥

तथाऽऽत्मनः स्वस्य सुतरा मिष्ट दैवम्॥ ३५ ॥

तज्जलं पादावनिर्णिक्तजलं यस्य पादजलै राब्रह्म चतुर्मुखपर्यन्तं जगत्पुनन पुनाति शुध्यति छान्दसोऽयं प्रयोगः। "आदित्यः सुपथाऽकरत्" इत्यादिष्विव॥ ३६ ॥

अमृतभक्षणं रसायन भोजनम्।"अमृतं व्योम्नि देवान्ने यज्ञशेषे रसायने। अयाचितेजलेजग्धौ मोक्षणे हेम्नि गोरसे। क्लीबे नात्वमरे स्त्रीतु गुडूच्यां मद्यभिक्षयोः" इति यादवप्रकाशः। इन्द्रसेनो बलिः। "गोत्रं नाम्नि कुले ऽचले" इति, "आत्मा देहे भृतौ जीवे धैर्ये" इति वा। प्रेमविभिन्नया स्नेहप्रवृद्धया धिया भगवत्पदाम्बुजं भ्रमत् शरणं गच्छन् प्रदक्षिणं कुर्वन् वा हा शुभ मिति स्मरन् "हा विषादशुगार्तिषु" इति। बभाद्वति सम्भ्रमाद्व्यत्ययः। बभारेति पाठे पादाम्बुजं बभार। गद्गदाक्षरं वचो जगादेति योज्यम्॥ ३७, ३८ ॥

वेधसे अश्रमेण कर्त्रे साङ्ख्य योगयो र्ज्ञानकर्मणोः वितानो विस्तारः येन स तथा तस्मै साङ्ख्ययोगशास्त्रकारायवा दृष्टकपिलादिभ्योव्यावर्तनायाऽऽह-ब्रह्मण इति। नन्वमुना व्यावृत्तिः, कथ मत्राऽऽह परमात्मन इति॥ ३९

अव्यक्त स्वभावयो र्युवयो र्दर्शन मनुग्रहसाध्यं, नतु प्रयत्नसाध्य मिति भावेनाऽऽह - दर्शन मिति। वां दर्शनं भूतानां दुष्प्रापं हि यस्मा त्तस्मा द्रजस्तमस्स्वभावानां नोऽतिदुर्लभंयद्युष्मद्दर्शनं प्राप्तं तद्यदृच्छया देवयो र्युवयो रनुग्रहोन्मुखीभूतयेच्छयेति मन्ये इति शेषः॥ ४० ॥

रजस्तमस्स्वभावफलं प्रकटयन् तामसत्वं नाम चूडारत्नं निर्मलीकर्तुं दर्शनं कृत मित्याशयेनाऽऽह - दैत्येति। ये दैत्यदानवा स्ते वयञ्च शास्त्रं वेदादिग्रन्थएव शरीरं प्रतिमालक्षण मस्या स्तीति शास्त्रशरीरी तस्मिन्। "शास्त्रं ग्रन्थ निदेशयोः" इति विशुद्धसत्त्वधाम्नि केवल ज्ञाननिधाने त्वयि नित्यं निबद्धवैराः अन्ये राक्षसाश्च तादृशा निबद्धवैरा इत्यतो नकोऽप्यस्मद्गुणो, युष्मद्दर्शन इति शेषः॥ ४१.४२ ॥

ननु, नित्यानु सन्धानलक्षणान्तः करणगुणेनाऽविर्भूतज्ञानगुणोऽस्तीति मा शङ्कि, यतः सुरादीना मपि नास्ति, कुतोऽस्माक मिति भावेनाऽऽह - केचनेति। केचन चैद्यादयः उद्बुद्धवैरेण क्वचि दुद्गत वैरेण भक्ताः, केचन गोपीजनाः कामतो भक्ताः सन्निकृष्टाः सहवर्तमानाः सत्त्वसंरब्धा उद्रिक्तसत्त्वगुणाः प्राणात्ययेऽपि अनुज्झितयुष्मद्भक्तिनिश्चयाः सुरगन्धर्वादयः स्तथाऽनादिद्वेषसंरम्भादिना भक्ता न भवन्ति, किन्तु निश्चलभक्तिसिन्धवः॥ ४३ ॥

अपि तथाऽपि ते योगेशाः ज्ञानोपायश्रेष्ठाः प्रायो बहुलं तव योगमायां जगत्सृष्ट्याद्यनुसंहितस्वरूप माहात्म्यं न विदन्ति कथं इद मित्थ मेवम्भूत मिति न जानन्ति, वयं कुतो हेतो र्बुध्यामहे इति॥ ४४ ॥

अधुना स्वाशयं विज्ञापयति-तन्न इति। यतो युष्मद्भक्तिज्ञानाभ्या मनुग्रह एवं प्रार्थनीयः तत्तस्मान्नस्तथा प्रसीद कथं यथा एक उत्तमपुत्रादिस्नेहलक्षणसङ्गरहित एव सत्यं श्रीनारायण एव सखा येषां ते तथा तै र्युष्मद्भक्तैः सह चरामि वर्तमानो भवामि। किङ्कृत्वा? गृहान्धकूपा न्निष्क्रम्य निर्गतोभूत्वा, कीदृशोहम्? शान्तः युष्मन्निष्ठा मुक्तः कथ मत्राऽह - निरपेक्षै स्सन्न्यासिभिः विमृग्ययो रन्वेषणीययो र्युष्मत्पदारविन्दयोः धिषणा धी र्यस्य स तथा धिषणा धिष्ण्यं गृहं वा, अस्तु निवासस्थानं, किञ्जीवन मत्राऽऽह - विश्वेति। विश्वस्य पक्षपातित्वेत शरणयो रक्षित्रो रङ्घ्रयोः सेवयोपलब्धा प्राप्ता वृत्तिः जीविका यस्य स तथा॥ ४५ ॥

सत्सेवन मपि युष्मच्छिक्षयैव भाव्य मिति भावेनाऽऽह शाधीति। यस्मिन् शासने श्रद्धया तिष्ठन् स्थिर स्सन् चोदनाया विधिनिषेधलक्षणायाः संसृते र्विमुच्यते॥ ४६ ॥

शाधीति वाक्यं श्रुतवान् कृष्ण स्त्वयाऽधुनेदं कर्तव्यमिति वक्तु मुपक्रमते - आसन्नित्यादिना। प्रथमे मनो रन्तरे ये पुत्रा स्ते कस्मिंश्चित्काले सुतान् शपितुं शिक्षयितु मुद्यतं देवलं वीक्ष्य जहसुः॥ ४७ ॥

अमुना अपहासलक्षणपापकर्मणा निमित्तेनतेन देवलेन आसुरीं योनि मगुः आपुः। कालनेमेः पुत्रत्वेन इति शेषः। ते कालनेमे र्जाताः पुत्रा हिरण्यकशिपो श्शापेन योगमायया देवक्या उदरे नीताः, ततो जाताः। कंसेन विहिंसिता इत्यन्वयः॥ ४८ ॥

सा देवकी, अधुना कुत्र आसते इत्यत आह-त इम इति॥ ४९ ॥

ततः किमत्राऽऽह इत इति॥ ५० ॥

अभिज्ञानार्थं तन्नामानि निर्दिशति - स्मर इत्यादिना मद्गतिं मत्स्थानम्॥ ५१ ॥

अयच्छतां दत्तवन्तौ॥ ५२ ॥

अजिघ्रत् आघ्राणं कृतवती॥ ५३ ॥

सुतानां स्पर्शेन परिस्रुतं क्षरितं स्रुत मित्यर्थः। मायया महिम्ना॥ ५४ ॥

अमृत मिव स्वादु लुप्तोपमं, तस्या देवक्या स्तनयस्य गदाभृतः कृष्णस्य। कृद्योगेषष्ठी। नारायण स्याङ्गस्पर्शेन प्रतिलब्धं आत्मदर्शनम् आत्मज्ञानं येषां ते तथा॥ ५५, ५६ ॥

कृष्णस्य सं समीचीनां अबाधितां सुष्ठूचितां,नाऽन्यस्येति कृष्णसंसूचितां मायां महिमानम्॥ ५७ ॥

अनेनेन्द्रजालम्,अतिदेशे नोपसंहरति - एवमिति। कृष्णेन संसूचितेयं माया। अथाऽपि बह्वयः सन्तीत्यतोवोपसंहरति एवमिति॥ ५८ ॥

फलमाह - य इति, अमृतव न्निर्मलकीर्तेः जगतोऽघं पापं दुःखं वा भिनत्तीति जगदघभित्। भक्तानां सत्प्रशस्तं कर्णपूरं कर्णाभरणं तस्य हरेः क्षेमधाम मोक्षलक्षणं स्थानं याति॥ ५९ ॥

इति श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
चतुस्सप्ततितमोऽध्यायः॥ ७४ ॥
(अधिकपाठे दशमोऽध्यायः)

# षष्टितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः)

## श्रीरुक्मिणीकृष्णयोः परस्परनर्मोक्तिघट्ट

• श्रीशुक उवाच

कर्हिचित्सुख मासीनं स्वतल्पस्थं जगद्गुरुम्।
पतिं पर्यचरद्भैष्मी व्यजनेन सखीजनैः॥ १ ॥

य[1] स्त्वेत ल्लीलया विश्वं सृजत्यत्त्यवतीश्वरः।
स हि जात स्स्वसेतूनां गोपीथाय यदुष्वजः॥ २ ॥

तस्मि न्नन्तगृहे भ्राजन्मुक्तादामविलम्बिना।
विराजिते वितानेन दीपै र्मणिमयैरपि॥ ३ ॥

मल्लिकादामभिः धूपैः[2] द्विरेफकुलनादितै[3]।
जालरन्ध्रप्रविष्टैश्च गोभि श्चन्द्रमसोऽरुणैः[4]॥ ४ ॥

पारिजातवनामोदवायुनोद्यानशालिना[5]।
धूपै [6]-सुरुजै[6] राज ज्जालरन्ध्रविनिर्गतैः॥ ५ ॥

• विजयध्वजीय व्याख्या सहित ग्रन्थे, सर्गारम्भे एते चत्वारः श्लोलाः व्या ख्या परिदृश्यन्ते राजोवाच - सर्वासां महिषीणान्तु गोविन्दासक्तचेतसाम्। मय्येव प्रेमवा न्विष्णु रिति निश्चितचेतसाम्॥ १ ॥ समः सर्वासु वा कृष्ण एकस्यां प्रेमवा नुत। तन्मे त्वं शंस तच्छ्रोतुं रति रस्ति मम प्रभो॥ २ ॥ श्रीशुक उवाच - महिषीणान्तु सर्वासां प्रथमा भीष्मनन्दना। प्रेमवा नधिकं तस्या मिति प्रख्याति रूर्जिता॥ ३ ॥ कदाचित्प्रेमकलहः केशवेन तया समम्। कृतस्तच्छृणु कौरव्य। कात्स्न्र्येन कथयामि ते॥ ४ ॥ पदरत्नावली :- प्रेक्षावतां भगवत्तत्त्वविज्ञानेऽधिकार इति लक्षण वृत्त्या तन्माहात्म्यं कथयत्यस्मि न्नध्याये। तत्र श्रुतभगव न्माहात्म्यो राजा विशेषविवित्सया शुकं पृच्छति सर्वासा मिति। किमत्र संशयबीज मित्यत उक्तं गोविन्देत्यनेन॥ १ ॥ सर्वासु प्रेमवान् मय्येव प्रेमवान् इत्युक्त ममुना॥ २ ॥ एकस्यां किमतिप्रतीयते इति प्रश्नावकाशो नास्तीति भावेन परिहरति महिषीणामिति॥ ३ ॥ कथं प्रख्याति रिति तां वक्तु मुपक्रमते कदाचित् तच्चरितम्॥ ४ ॥

★ अयं श्लोकः विजयध्वजरीत्या पञ्चसप्ततितमेऽध्याये पञ्चमःश्लोकः 1. M.Ma य एत०2. B.G.J. पुष्पैः; M.Ma.W. दिव्यैः 3. G.K.M.W. °तैः4. B.G.J.°ऽमलैः5. K.W.शोभिना 6--6 K.W. °रगरुजै० M.Ma. °रागरवै० M.V. °रागरुभी०

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अथ षष्टितमे कृष्णः परिहासेन रुक्मिणीम्। कोपयित्वा ततः प्रेमकलहे ता मसान्त्वयत्॥

रामारामजनानन्द महोदयविडम्बनैः। रुक्मिण्या प्रेमकलहच्छद्म नैश्वर्य मीर्यते॥

**कर्हिचिदिति**। स्वतल्पस्थं स्वपर्यङ्कस्थम्॥ १ ॥

वक्ष्यमाणं रुक्मिण्याः श्रियः[1] श्रीकृष्णे परमं[2] प्रेम सम्भावयितुं तस्योक्तमेव तत्त्वमनुस्मारयति-**यस्त्विति**॥ २ ॥

आदौ तावत् त्रिभिः श्लोकैः मन्दिर मनुवर्णयति- **तस्मिन्निति** । तच्छब्देनाऽतिप्रसिद्धमाह-भ्राजन्ति मुक्तादामानि तेषां विलम्बाः सन्ति यस्मिं स्तेन वितानेन विराजिते। तृतीयान्तानां विराजितपदेनान्वयः॥ ३ ॥

**मल्लिकेति**। सुगन्धितया द्विरेफकुलै र्नादिते। प्रविशद्भिः चन्द्ररश्मिभिः॥ ४ ॥

**पारिजातेति**। निर्गच्छद्भिः अगुरु[3]सम्भवै[4] धूपै श्चातिमनोहरत्वं दर्शितम्॥ ५ ॥

---

1. B.J. omit श्रियः2. M.V. °मप्रे० 3. M.V. °ग° 4. M.V. °वधू°

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ भगवतो रुक्मिण्या सह प्रेमकलहं वर्णयति षष्टितमेन - **कर्हिचिदिति**। भैष्मी रुक्मिणी जगद्गुरुं स्वपर्यङ्कस्थं तऽत्रापि सुखं यथा तथा आसीनं सखीजनै स्सहिता व्यजनेन चामरेण पर्यचर दुपचचार॥ १ ॥

एतदेव प्रपञ्चयति-यस्त्वित्यादिना, उपासाञ्चक्रे ईश्वर मित्यन्तेन।तावत् जगद्गुरुत्वं प्रपञ्चयति-**यस्त्विति**। सृजति स्वाराधनोपयुक्तकरणकलेबरादिप्रदानेन हितं करोति, अत्ति संहरति संसरतां जीवानां प्रलयमुखेन विश्रान्तिरूपहितं करोति, अवति पालयति अनिष्टनिरसनेष्टप्रापणरूपहितं करोतीति भावः। किञ्च स्वसेतूनां[1] स्वकृतधर्ममार्यादानां गोपीथाय रक्षणाय यदुषु जातः। कथम्भूतोऽपि ? अजोऽपि कर्मायत्तोत्पत्तिरहितोऽपि स्वेच्छया यदु ष्ववतीर्ण इत्यर्थः। गुरुत्वं हितैककारित्वम्। एवं जगद्गुरु रिति भावः। य एवंविधः तमीश्वर मुपतस्थे इति यच्छब्दस्य सम्बन्धः॥ २ ॥

अथ स्वतल्पस्थ मित्युक्ततल्पं वर्णयितुं तावत् तत्तल्पाश्रय[2] मन्तर्गृहं वर्णयति-**तस्मिन्निति** त्रिभिः। तच्छब्दः प्रसिद्धिपरः। तृतीयान्तानां विराजित इत्यनेनान्वयः। भ्राजन्ति भ्राजमानानि[3-3] मुक्तादामानि तेषां विलम्बो[4] यस्मिन् तेन वितानेन उल्लोचेन, मणिमयैरपि दीपै रित्यर्थः॥ ३ ॥

द्विरेफाणां भ्रमराणां कुलेन समूहेन नादितैः मल्लिकादामभिश्च विराजित इत्यन्वयः। नादिते। इति पाठान्तरम्।तदा सौरभलोभभ्रमद्भ्रमरकुलैः नादिते तत्र हेतुः मल्लिकादामभि धूपैश्च विराजित इति। अरुणैः औदयकालिकत्वादिति भावः। जालरन्ध्रद्वारा अन्तःप्रविष्टैः चन्द्रमसो गोभिः किरणैश्च॥ ४ ॥

उद्यानवने शोभते रोचते इति तथा तेन पारिजातवनामोदयुक्तेन वायुना अगरुजै रगरुकाष्ठजैः गवाक्षरन्ध्रविनिर्गतैः, धूपैश्च हे राजन्! ॥ ५ ॥

1. K.T.W. omit स्व2. K.T.W. omit तत्3- -3 B.omits 4. B.T.W. °म्बाः

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

स्वस्या रुक्मिण्याः तल्पे तलिमे स्थितम्॥ १ ॥

राजन्! हरिचरित मतिचित्रमिति भावेन तत्स्वरूपलक्षणमाह- य इति ॥ २ ॥

यद्गृहं रुक्मिण्यै क्लृप्तं तस्मि न्नन्तर्गृहे पर्यङ्के दन्तविहितमञ्चे कशिपूत्तमे तलिमे मृदुवस्त्रप्रावरणास्तरणे सुखासीनं पति मुपतस्थे इत्यन्वयः। मुक्तादाम्नां विलम्बोऽस्यास्तीति मुक्तादामविलम्बि तेन उपरिबद्धचित्रपटेनेत्यर्थः॥ ३ ॥

अरुणै रित्यनेन चन्द्रोदयकालभवा गावो लक्ष्यन्ते ॥ ४ ॥

पारिजातानां मन्दाराणां वनस्य काननस्याऽऽमोदेन युक्तेन वायुना शोभिते। कीदृशेन? उद्यान इव शालिना मनोहरेण पारिजातवनस्य सम्भजनीयस्य सेव्यस्याऽऽमोदस्य सम्बन्धिना वायुना वा आगरवैः अगु[1]रुसंपृक्तैः॥ ५ ॥

1. B.°ग°

पयःफेननिभे शुभ्रे पर्यङ्के कशिपूत्तमे।
उपतस्थे सुखासीनं जगता मीश्वरं पतिम्॥ ६ ॥

वालव्यजन मादाय रत्नदण्डं सखीकरात्।
तेन वीजयती देवी उपासाञ्चक्र ईश्वरम्॥ ७ ॥

सोपाच्युतं क्वणयती मणिनूपुराभ्यां रेजेऽङ्गुलीयवलयव्यजनाग्रहस्ता।
वस्त्रान्तगूढकुचकुङ्कुमशोणहारभासा नितम्बधृतया च परार्ध्यकाञ्च्या॥ ८ ॥

तां रू[1]पिणीं श्रिय मनन्यगतिं निरीक्ष्य या लीलया धृततनो रनुरूपरूपा।
प्रीतः स्मय न्नलककुण्डलनिष्ककण्ठ वक्त्रोल्लसत्स्मितसुधां हरि राबभाषे॥ ९ ॥

श्री[2-]भगवानु[-2]वाच

राजपुत्रीप्सिता भूपै र्लोकपालविभूतिभिः।
महानुभावैः श्रीमद्भी रूपौदार्यबलोर्जितैः[3]॥१०॥

1. M.Ma.V. रुक्मिणीं 2- -2 Ml.V श्रीकृष्णः3. W. °च्छ्रितैः

**श्रीध० पय** इति। पयसः क्षीरस्य फेन इव मृदुनि पर्यङ्के[1-] तत्स्थितकशिपूत्तमे[-1] हंसतूलिकायाम्। उपतस्थे असेवत॥ ६॥

तदेवाऽभिनयति- **वालव्यजनमिति॥ ७ ॥**

**सेति।** उपाच्युतम् अच्युतस्य समीपे सा मणिनूपुराभ्यां रेजे। कथं[2-] रेजे[-2]? क्वणयती मणिमयौ नूपुरौ कूजयन्ती[3]ति। तथा। अङ्गुलीयवलयव्यजना न्यग्रहस्ते हस्ताग्रे यस्यास्सा। वस्त्रान्ते[4] गूढौ स्थगितौ कुचौ तयोः कुङ्कुमं तेन शोणो हार स्तस्य भासा, तथा[5] नितम्बे धृतया, पराध्र्या अमूल्या काञ्ची तया च रेजे ॥ ८ ॥

**तामिति** । तां निरीक्ष्य प्रीतस्सन् स्मयमानो हरिः आबभाषे। कथम्भूताम्? या लीलया धृतनरतनोः[6] तस्यानुरूपरूपा[7] अनुरूपं रूपं यस्यास्सा। यथोक्तं श्रीपराशरेण- "देवत्वे देवदेहेऽयं मनुष्यत्वे च मानुषी। विष्णो र्देहानुरूपां वै करो त्येषाऽऽत्मन स्तनुम्" (वि.पु. 1-9-145) इति। किञ्च, अलकैः कुण्डलाभ्यां निष्केण पदकेनाऽलङ्कृतकण्ठेन च चतुर्दिक्षु शोभिते वक्त्रे उल्लसन्ती स्मितसुधा यस्यास्ताम् ॥ ९ ॥

सर्वगुणयुक्ताया अपि तव बुद्धिः मन्देत्याशयेनाह- **राजपुत्री** त्याद्येकादशभिः। हे राजपुत्रि! लोकपालानामिव विभूति रैश्वर्यं येषां तै स्तथा महाप्रभावै राढ्यै रूपादिभि रूर्जितैश्च पूर्वमीप्सिताऽसि॥ १० ॥

1- -1 B.J. पर्यङ्कस्थे 2- -2 B.J. omit 3. B.J. omit इति 4. B.J. -°न्तेन 5. B. omits तथा 6. Ml. V Omit नर 7. Ml. V. स्वस्या०

**वीर०** अथ तल्पं वर्णयति- **पयःफेनेति।** दुग्धफेनव न्मृदुले धवले च पर्यङ्के यत्कशिपूत्तम मास्तरणश्रेष्ठं तस्मिन् सुखं यथा तथा आसीनं पतिम् उपतस्थे सन्निधिमवापेत्यर्थः॥ ६ ॥

रत्नमेव दण्डस्थानीयं तदाकारं च यस्य तत् वालव्यजनं चामरं सख्याः करात् हस्ता दादाय तेन वालव्यजनेन वीजयती देवी रुक्मिणी उपासाञ्चक्रे तमेव पश्यन्ती अवतस्थे इत्यर्थः॥ ७ ॥

तादात्विकीं ता मनुवर्णयति-**सेति।** सा रुक्मिणी उपाच्युतम् अच्युतसमीपे मणिमयनूपुराभ्यां क्वणयती ध्वनिमुत्पादयन्ती अङ्गुलीयादयोऽग्रहस्ते हस्ताग्रे यस्यास्सा, वस्त्राञ्चलेन गूढयोः स्थगितयोः कुचयोः कुङ्कुमेन शोणो यो हारः मुक्ताहारः[1-] [-1] तस्य भासा दीप्त्या, नितम्बयोः धृतया पराध्र्यया[2-] अनर्घया[-2] काञ्च्या च रेजे ॥ ८ ॥

**तामिति।** तां रुक्मिणीं निरीक्ष्य प्रीतो हरिः स्मयन् ईषद्धसन् आबभाषे उवाचेति सम्बन्धः। कथम्भूताम्? रूपिणीं मनुष्यरूपधारिणीं श्रियं महालक्ष्मीं, न विद्यते अन्यः पतिः प्रत्यवतारं यस्यास्ताम् । अनन्यगतिमिति पाठान्तरम्। तदा न विद्यते अन्या गतिः प्राप्तिः यस्यास्ताम् अनन्यप्राप्यामित्यर्थः। धृततनोः उपात्तमनुष्यरूपस्य हरे र्या अनुरूपा ताम्। अलकैः[3-] कुन्तलैः[-3] कुण्डलाभ्यां निष्केण पदकाख्यभूषणेन अलङ्कृतेन कण्ठेन चतुर्दिक्षु शोभिते वक्त्रे उल्लसन्ती स्मितमेव सुधा यस्यास्तां, यद्वा अलककुण्डलनिष्काणि यथास्थानं कण्ठवक्त्रयोः यस्यास्ताम्। अनेन अनपायिनोः श्रीश्रीपत्योः[4] वक्ष्यमाणो विवादः केवलं नृलोकविडम्बनायेति सूच्यते ॥९ ॥

भाषणमेवाह -**राजपुत्रीत्यादिभिः** एकादशभिः। तात्पर्यत स्ता मुपचरन्ती मभिनन्दयन्नेव शाब्दवृत्त्या[5] कोपयन्निव कूटवचांसि प्रयुङ्क्ते - हे राजपुत्रि! लोकपालानामिव विभूति रैश्वर्यं येषां, महान्प्रभावो येषां, भोग्यादिसमृद्धिमद्भिः लोकपाल विभूतिभि रित्यस्यैव प्रपञ्चः। श्रीमद्भिः रूपादिभि रुच्छ्रितैः उत्कृष्टैः भूपैः त्व मीप्सिता, रूपं सौन्दर्यम्। औदार्यं वदान्यत्वम्। बलं शत्रुपरिभवसामर्थ्यम्। इत्थं सर्वं वस्तुगत्या आत्मनिष्ठमि त्यभिप्रेतम्। शब्दत स्त्वपरित्याज्यत्वे तात्पर्यम् ॥ १० ॥

---

1- -1 K.T.W. omit 2- -2 B. omits 3- -3 B. omits 4. B. श्रियः प० 5 K श०

**विज०** पयःफेननिभे जलबुद्बुदवन्मसृणे॥ ६ ॥

किं कर्मेति तत्राह- **वालव्यजनमिति**॥ ७ ॥

उपाच्युतं अच्युतस्य समीपे उन्नमदवनमतोः पादयो र्मणिनूपुराभ्यां क्वणयती अङ्गुलीयाख्यवलयेन व्यजनेन च युक्तं हस्ताग्रं यस्या स्सा तथा। पृथक्कृते वलये हस्तमूलेति वक्तव्यं न तु हस्ताग्रेति। वस्त्रान्तेन वस्त्राञ्चलेन गूढयोः कुचयोः लिप्तकुङ्कुमचूर्णसम्बन्धेन शोणस्य रक्तस्य हारस्य मुक्तादाम्नो भासा युक्ता उपलक्षणे तृतीया। नितम्बधृतया कटिप्रदेश वेष्टितया परार्ध्यकाञ्च्या अनर्घ्यरशनया च युक्ता॥ ८ ॥

हरिः नीलनीरदकान्तिः श्रीकृष्णः या लीलया धृततनोः भगवतः अनुरूपरूपा अनुकूलसौन्दर्या अनुगुणवृत्ता वा तां रुक्मिणीं आबभाषे इत्यन्वयः। निष्कं ग्रैवेयकं अलककुण्डलाभ्यां निष्कालङ्कृतकण्ठेन च युक्तवक्त्रे उल्लसत् स्मितमेव सुधा यस्या स्सा तथा ताम्॥ ९ ॥

ईप्सिता प्रार्थिता श्रीमद्भिः श्रीकटाक्षविषयैः, हे राजपुत्रि! ॥ १० ॥

**ता न्प्राप्ता नर्थिनो हित्वा[1] चैद्यादीन् स्मरदुर्मदान्।**
**दत्ता भ्रात्रा स्वपित्रा च कस्मा[2-] न्नो ववृषेऽसमान्[-2]॥ ११ ॥**

**राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रु[3] ! समुद्रं शरणं गतान्।**
**बलवद्भिः कृतद्वेषा न्प्राय स्त्यक्तनृपासनान्॥ १२ ॥**

**अस्पष्टवर्त्मनां पुंसा मलोकपथ मीयुषाम्।**
**आस्थिताः पदवीं सुभ्रु[4]! प्रायः सीदन्ति योषितः॥ १३ ॥**

**निष्किञ्चना वयं शश्व न्निष्किञ्चनजनप्रियाः।**
**तस्मा त्प्रायेण नह्यढया[5] मां[6] भजन्ति सुमध्यमे॥ १४ ॥**

**ययो रात्मसमं वित्तं जन्मैश्वर्याकृति र्भवेत्[7]।**
**तयो र्विवाहो मैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित्॥ १५ ॥**

1 K.W. भूपान् 2- -2 K.W. कस्मा न्न ववृषे समान्; M.Ma कस्माद्देववृषोपमान् 3. B.G.J. °भ्रूः 4 B.G.J. °भ्रूः 5 M.Ma. नो 6 M.Ma न 7 B.G.J.M.Ma °चः

**श्रीध० तानिति।** तान् हित्वा नोऽस्मा नसमान् कस्मा द्ववृषे वृतवती त्वम्॥ ११ ॥

**राजभ्य** इति। किञ्च प्रायशो राजभ्यो जरासन्धादिभ्यो बिभ्यतो भयं प्राप्नुवतः॥ १२ ॥

**अस्पष्टेति।** अस्पष्टवर्त्मना मविज्ञाताचाराणाम्। अलोकपथं अशास्त्रपारतन्त्र्यं[1] अस्त्रीपारतन्त्र्यं[-1] वा[2]। पदवीं मार्गं आस्थिता अनुसृताः॥ १३॥

किञ्च, **निष्किञ्चना** इति॥ १४॥

**ययोरिति।** आत्मसमं परस्पर मनुरूपम्। जन्मैश्वर्याभ्यां सहिता आकृतिः रूपं जाति र्वा समा[3] ॥ १५॥

1- -1 B.J. omit 2. B.J.omit वा 3. B.J. add भव आयतिः

**वीर० तानिति।** तानेवंविधा नर्थिनो याचमानान् प्राप्ता नागतान् स्मरेण कामेन दुष्टो मदो येषां तान् चैद्यादीन् त्वं पित्रा भ्रात्रा च दत्ता सती समाननुरूपान् कस्माद्धेतोः न ववृषे न वृतवत्यसि। नो ववृषे इति पाठे अर्थिनो हित्वेति पाठ्यम्। तान् हित्वा नोऽस्मान् कस्माद्धेतोः वृतवत्यसीत्यर्थः। अतस्त्वं मन्देति भावः। तत्र हेतुं वदन् आत्मानं विशिनष्टि- असमानिति अननुरूपानित्यर्थः। बहुवचनं कोपापादनार्थम्। अस्मासु त्वदनुरूपः कोऽधुना वा वरणीयोऽस्तीति। "न तत्समश्चाभ्यधिक श्च दृश्यते" (श्वेता उ.6-8) इति श्रुत्युक्तविधया सर्वोत्तमं मां कस्माद्धेतोः वृतवत्यसि? तं हेतुं आवयोः लक्ष्मीनारायणयो रनपायित्वरूपं त्वं[1] जानास्येवेति हार्दो भावः ॥ ११ ॥

असमत्वमेव प्रपञ्चयितुं विशिनष्टि-**राजभ्य** इति। हे सुभ्रु! राजभ्यो जरासन्धादिभ्यो बिभ्यतः भीतान् अत एव समुद्रं शरणं गृहं प्राप्तान् समुद्रान्तर्द्वीप मावासस्थानत्वेनाऽऽश्रिता नित्यर्थः। हार्दभावपक्षे तु अबिभ्यत इति च्छेदः। ममाभीतत्वं त्वदानयनकाले किं त्वया न दृष्ट मिति भावः। समुद्रं शरणं गता नित्यस्यायं भावः- त्वत्पितृक्षीरसागरगतसमुद्रत्व धर्मयोगित्वमात्रप्रयुक्तप्रेमातिशयेन लवणार्णवान्तर्द्वीप माश्रितानां, किं पुनः साक्षा त्त्वत्पितरि दुग्धार्णवे साक्षा च्छ्वशुरे अस्माकं प्रीतिः, किंतरां साक्षा त्त्वयि-इति। बलवद्भिरिति बलशालिभिः जरासन्धादिभिस्सह कृत उत्पादितो द्वेषो यै स्ता निति शाब्दोऽर्थः। पक्षान्तरे तु बलवद्भि रिति निन्दायां मतुप्। "भूमनिन्दा प्रशंसासु"(वार्तिकम् 3183 under अष्टा० 5-2-94) इत्यनुशासनात्। बलं धारणसामर्थ्यम्। तथा च बलवद्भिः निन्दितबलैः इन्द्रिया ण्यात्मवश्यतया धर्तु मसमर्थैः अजितेन्द्रियै रिति यावत्। कृतः द्वेषो येषु तान् अजितेन्द्रियाणा मेकमातृप्रसूतानामपि त्वद्भ्रातॄणां मयि द्वेषः। तव तु जितेन्द्रियायाः अत एव मद्याथात्म्याभिज्ञाया स्त्वयि ममेव मयि प्रीतिः अभ्यधिकैवेति प्रकृतोपचारप्रशंसायां तात्पर्यम्। प्रायः प्रायशः त्यक्तं नृपासनं यैस्तान् शापवशात् सिंहासनानर्हवंशप्रभवत्वादिति भावः। पक्षान्तरे तु उभयविभूतिनायकस्य परमेष्ठिनो मम केवलप्राकृतजनाधिष्ठेय नृपासनस्याऽयोग्यत्वादिति भावः। मम भर्ता नारायण श्चे दय मस्पृष्टशापदोषो नृपासन मधितिष्ठे देवेत्यनारायणत्वसम्भावनानिरासा येद मुक्तम्। नृपासनपरित्यागस्याऽभिनयमात्रत्वा च्चेत्यपि तात्पर्यम्॥ १२ ॥

किञ्च, सत्कुलप्रसूतानां त्वादृशीना मनिर्धारितकुलोत्पथवञ्चकमादृशानुवर्तनं दुःखहेतु रित्याह-**अस्पष्टेति**। वर्त्म गतिः प्रकारः जातिरिति यावत्। किमयं वसुदेवसुतः क्षत्रियः , उत नन्दात्मजः तृतीयवर्णप्रसूत इत्येव मस्पष्टं संशयविषयं वर्त्म येषां तेषां, अलोकपथं लोकविरुद्धपथं उत्पथमित्यर्थः। ईयुषा मुन्मर्यादाना मित्यर्थः । एवंविधानां मादृशां पुंसां पदवी मास्थिता अनुवृत्ताः स्त्रियः त्वद्विधाः हे सुभ्रु! प्रायशः सीदन्ति क्लिश्यन्ति। पक्षान्तरे तु अस्पष्टवर्त्मनां दुर्ज्ञेयस्वरूपस्वभावानामपि अ[2-]लोक[-2] पथम् [3-]ईयुषाम्[-3] अकर्मवश्याना माचारं चेष्टित मिति यावत्। प्राप्तानां कुर्वतामपीत्यर्थः । पुंसा मस्माकं पदवीं याथात्म्य मास्थिताः मा मनुवर्तमाना एव स्त्रियः प्रायशः सीदन्ति। "षदॢ गतौ", गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः विदन्त्येवेत्यर्थः मा मननुवर्तमानास्तु एवं विधाना म प्यस्माकं पदवीं न विदुरेव। अतः मा मनुवर्तमानायाः मद्याथात्म्याभिज्ञाया स्तव मदुपचरणं युक्तमेवेति॥ १३ ॥

किञ्च, लोके कुरूपोऽप्याढ्य एव स्त्रीणा मभिमतः , अहं त्वनाढ्यः न त्वादृश्या वरणीय इत्याह-**निष्किञ्चना** इति। नास्ति किञ्चन स्वं येषां ते निष्किञ्चनाः निर्धना इति यावत्, पृषोदरादित्वात् साधुः। तर्हि यूयं केषां प्रियाः के च युष्माकं प्रिया इत्यत्राह- निष्किञ्चनेति। मादृशामेव[4] जनानां वयं प्रिया स्ते च प्रिया येषां तथाभूताश्चेत्यर्थः। [5]तथाहि तस्मादेव हेतोः हे सुमध्यमे! नोऽस्मान् प्रायश आढ्याः सम्पन्ना न भजन्ति नानुवर्तन्ते। ★पक्षान्तरे तु नास्ति किञ्चनाऽनवाप्यं येषां ते निष्किञ्चनाः अवाप्तसमस्तकामा[6] इत्यर्थः। निष्किञ्चनाना मनन्यप्रयोजनाना मेकान्तिजनानां प्रियाः तस्मा दाढ्याः अभिजनादिमदैः आढ्यम्मन्या जनाः न मां भजन्ते, अनन्यार्हशेषत्वानन्यशरण्यत्वानन्यभोग्यत्वरूपाकारत्रयशालिनी त्वं मामेव भजसे इ त्युचितमेवे त्यभिप्रेतम्॥ १४ ॥

किञ्च, "विवाहश्च तथा मैत्री समयोरेव शोभते" इति न्यायेनाऽसमयोः आवयो स्सम्बन्धो न शोभत एवे त्यभिप्रायेणाह- **ययोरिति**। ऐश्वर्येण सहिता आकृतिः ऐश्वर्याकृतिः , ऐश्वर्यमाकृतिश्चेत्यर्थः । तत्र जन्म कुलम्। आकृति स्सौन्दर्यम्, ययो रात्मसमं परस्परानुरूपं वित्तादिकं भवे दस्ति तयोरेव विवाहो मैत्री च, उत्तमाधमयो रस्मादृशयोस्तु क्वचि त्कदाचिदपि न, नोचित इत्यर्थः । पक्षान्तरे तु वित्तदिभि रसमयोरपि स्वभावतः शेषशेषिणो रावयो स्सम्बन्धोऽनुरूपः, न तु विषमयोः त्वच्चैद्ययोरिति॥ १५ ॥

1. K.T.W. omit त्वं 2- -2 B.T.W.अलौकिक 3--3 B.T.W. omit 4. B. °शानामेव 5. K. omits तथाहि ★'पक्षान्तरे तु' इत्यारभ्य 'न मां भजन्ते' इत्यन्तो भागः B प्रकाशे न लभ्यते। 6. T.W.आप्त

**विज०** वरणे गुणानाह-**प्राप्तानिति**। वाचा दत्ता, देववृषोपमान् देवश्रेष्ठसमानान्॥ ११ ॥

स्ववरणाङ्गीकारे दोषा नाह-**राजभ्य** इति। अर्थित्वादिगुणोपेतान् नृपा न्हित्वा, राजभ्य इत्यादिदोषयुक्ता नस्मान् कस्मात् प्राप्तेत्यन्वयः॥ १२ ॥

एवंविधपुरुषप्राप्तौ योषितां भयं भवतीत्याह-**पुंसामिति**। अलोकपथ मीयुषां लोकविलक्षणमार्गवर्तिनां पुंसां पदवी मास्थिताः योषितः प्रायः सीदन्तीत्यन्वयः॥ १३ ॥

अस्मा द्दोषाच्च वयं न वरणीया इत्याह-**निष्किञ्चना** इति। आढ्या राजकुमार्यः॥ १४ ॥

अयं चैको हेतुः लोके विवाहे इत्याह-**ययोरिति**। ऐश्वर्याकृतिः ऐश्वर्ययुक्ताकारः, भवः सौन्दर्यम्॥ १५॥

वैद भर्येत दविज्ञाय त्वयाऽदीर्घसमीक्षया।
वृता वयं गुणै र्हीना भिक्षुभिः श्लाघिता मुधा[1] ॥ १६ ॥

[2-]अथाऽऽत्मनोऽनुरूपं[-2] वै भजस्व क्षत्रियर्षभम्[3]।
येन त्व माशिषः सत्या इहाऽमुत्र च लप्स्यसे॥ १७ ॥

चैद्यसाल्व[4]जरासन्धदन्तवक्त्रादयो नृपाः।
[5-]मम द्विषन्ति वामोरु[-5] रुक्मी चाऽपि तवाग्रजः॥ १८ ॥

तेषां वीर्यमदान्धानां दृप्तानां स्मयनुत्तये।
आनीताऽसि मया तन्वि[6] तेजोऽपहरताऽसताम्[7]॥ १९ ॥

उदासीना वयं नूनं न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः।
[8-]आत्मलब्ध्याऽऽस्महे पूर्णा गेहयोर्ज्योतिरक्रियाः[-8] ॥ २० ॥

1. M.I.V. °दा 2- -2 K. अथात्ममनोऽरूपं 3. M.I.V. पुरुषर्ष० 4. B.G.J.M.Ma शा० 5- -5 M.Ma द्विषन्ति मां वरारोहे 6. B.G.J. भद्रे; M.Ma हचद्धा; M.I.V. त्वञ्च 7. K.W. तेजसां ह० 8- -8 M.Ma नेहात्मसदृशाः क्रियाः

**श्रीध० वैदर्भीति**। न दीर्घा समीक्षा विचारो यस्या स्तया॥ १६ ॥

**अथेति**। अथ इदानीमपि॥ १७ ॥

तर्हि किमि त्यानीताऽह मिति चे त्तत्राह-**चैद्येति**। मम मां द्विषन्ति॥ १८ ॥

**तेषामिति**। स्मयनुत्तये गर्वापनयनाय॥ १९ ॥

स्त्रीणा मतिदुस्सह मौदासीन्य मकामत्वं चाह-**उदासीना** इति। गेहयोः देहगेहयोः उदासीना अत एव ज्योतिरक्रियाः ज्योतिः प्रदीपादि तद्वत् साक्षिमात्रतया क्रियारहिता आस्महे वर्तामहे इति॥ २० ॥

**वीर०** सर्व मेत द्वैषम्य मविचार्यैव त्वया वृता वयमित्याह-**वैदर्भीति**। हे वैदर्भि ! अदीर्घा अदूरा समीक्षा विचारो यस्या स्तया त्वया एत न्मदुपन्यस्त मनानुरूप्य मविदित्वा वयं वृताः। कथम्भूताः? गुणै र्वरणीयता हेतुभूतैः श्लाघ्यै र्गुणैः रहिताः अत एव भिक्षुभिः मुधा मिथ्या असद्गुणारोपेणेति भावः। श्लाघिताः न त्वाढ्यैः। पक्षान्तरे तु दीर्घसमीक्षयेति च्छेदः। अविज्ञाय अविचार्य जगन्मातुर्मम चैद्यादयः पुत्रस्थानीया इति तद्वतं वित्तजन्मादिसाम्य मविचार्य इति यावत्, दीर्घा भगवदसाधारणगुणान्वेषणपरा समीक्षा विचारो यस्याः, तया त्वया गुणैः परमात्मासाधारणैः कल्याणगुणै र्हीनाः 'ओहाङ्गतौ' सङ्गता इत्यर्थः। अत एव भिक्षुभिः नारदादिभिः मुधा व्यर्थं प्रयोजनान्तरनिरक्षेपं श्लाघिताः वयं वृताः॥ १६॥

किमत इत्यत आह-**अथेति**। अथ अधुनेत्यर्थः। क्षत्रियर्षभं चैद्याद्यन्यतमं भजस्व। तं विशिनष्टि -येन सेव्यमानेन क्षत्रियर्षभेण हेतुना इहाऽमुत्र च लोके सत्याः सती राशिषः कामान् लप्स्यसे[2]। पक्षान्तरे तु क्षत्रियर्षभं क्षत्रियश्रेष्ठत्वेनावतीर्णं मामित्थं भजस्व। इह लीलाविभूतौ अमुत्र नित्यविभूतौ च येन मया सेव्यमानेन सह सत्याः आशिषः कामान् मदनुभवात्मकान् लप्स्यसे इत्यर्थः॥ १७॥

तर्हि मां किमर्थं मानीतवा नसी त्यत आह- **चैद्येति**। हे वामोरु! शोभनोरु! मम द्विषन्ति मां द्विषन्तीत्यर्थः॥ १८॥

ततः किमत आह-**तेषामिति**। वीर्यमदेनान्धानां विवेकशून्यानां गर्वितानां च तेषां चैद्यादीनां च स्मयनुत्तये गर्वापाकरणाय मया त्व मानीता। कथम्भूतेन? असतां खलानां, तेजसामिति कर्मणि षष्ठी, तेजांसि हरता। पक्षान्तरे तु यद्यपि मदनपायिनी त्वं केनाप्युपायेन मामेव प्राप्तवत्यसि, तथापि तेषां स्मयनुत्तये मयाऽऽनीताऽसीति प्रासङ्गिकोक्तिः। युक्तं चैत दित्यभिप्राये णात्मानं विशिनष्टि-असतां तेजांसीति पूर्ववत्। हरता "लक्षणहेत्वोः" (अष्ट. 3-2-126) इति शत्रादेशः, हर्तुम्, अवतीर्णेनेति शेषः॥ १९ ॥

स्त्रीणा मतिदुस्सह मौदासीन्यमकामुकत्वं चात्म न्याह-**उदासीना** इति। गेहयोः उदासीनाः गृहशब्दपर्यायो गेहशब्दोऽप्यत्र कलत्रवेश्मोभयपरः, अत एव द्विवचनान्तनिर्देशः,अत एव न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः दारेषणापुत्रेषणाधनेषणारहिताः। तत्र हेतुः-आत्मलब्ध्या स्वात्मानुभवलाभेनैव पूर्णाः अलम्पटाः ज्योतिषा स्वयंप्रकाशस्वात्मस्वरूपस्फुरणेन हेतुना अक्रियाः[3-] निष्क्रियाः[-3] प्राकृतचेष्टारहिताः आस्महे गृहे[4] वर्तामहे इत्यर्थः। पक्षान्तरेऽर्थस्तु यथोक्त एव। तात्पर्यन्तु असतां स्मयनुत्तये अवतीर्णस्य मम गृहमेधिधर्मानुवर्तनं विडम्बनमात्रम्। अन्यथैवंविधस्य एत न्न घटते इति॥ २० ॥

1. B. adds एव 2. B. adds प्राप्स्यसे 3- -3 T.W.omit 4. B. omits गृहे

**विज०** एतद्गुणागुणसर्वस्वं अदीर्घसमीक्षया अल्पबुद्ध्या, मुधा वृथा॥ १६-१८ ॥

स्मयनुत्तये अहङ्कारनिरासाय असतां दुरात्मनां तेजोपहरता अभिमानलक्षणप्रभावप्रणाशं कुर्वता मया नीताऽसीत्यन्वयः॥ १९॥

स्वभावं सूचयति-**उदासीना** इति। उदासीना विषयव्यापारशून्याः खपुष्पा दिव दप्रसिद्धा वा। न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः कलत्रपुत्रधनलोलुपा न। आत्मलब्ध्या स्वरूपलाभेन पूर्णा अलम्बुद्धयः आस्महे। इह क्रियाश्च आत्मसदृशाः, कर्माणि जीवकर्मतुल्यानि न भवन्ति अतिमानुषाणीत्यर्थः॥ २०॥

**श्रीशुक[1-] उवाच[-1]**

**एताव दुक्त्वा भगवा नात्मानं वल्लभामिव।**
**मन्यमाना मविश्लेषात् तद्दर्पघ्न उपारमत्॥ २१ ॥**

**इति त्रिलोकाधिपते[2] स्तदात्मनः प्रियस्य देव्यश्रुतपूर्वमप्रियम्।**
**आश्रुत्य भीता हृदि जातवेपथुश्चिन्तां दुरन्तां रुदती जगाम ह॥ २२ ॥**

पदा सुजातेन नखारुणश्रिया भुवं लिखन्त्यश्रुभि रञ्जनाऽऽविलैः[3]।
आसिञ्चती कुङ्कुमरूषितौ[4] स्तनौ तस्था वधोमुख्यतिदुःखरुद्धवाक्॥ २३ ॥

तस्याः सुदुःखभयशोकविनष्टबुद्धे र्हस्ताच्छ्लथद्वलयतो व्यजनं पपात।
देहश्च विक्लबधियः सहसैव मुह्यन्[5-] रम्भेव वातविहता[6] प्रविकीर्य केशान्॥ २४ ॥

तद्दृष्ट्वा भगवा न्कृष्णः प्रियायाः प्रेमबन्धनम्।
हास्यप्रौढि मजानत्याः[8] करुणः सोऽन्वकम्पत॥ २५ ॥

1- -1 M.Ma omit; K.W. बादरायणिरुवाच 2 B,G,J,M,Ma °केश 3. B.G.J.M.Ma °ऽसितैः; MI.V. °ऽऽवृतैः 4. MI.V. °त 5- -5 M.Ma सहसैव बिभ्यत्; MI.V. सहसा विमुह्यन् 6. B.G.J. वायुवि०; MI.V वातनि० 7.MI.V तं द० 8. B.G.J.M.Ma.MI.V.W. °न्त्याः

**श्रीध० एतावदिति।** अविश्लेषाद्धेतोः आत्मानमेव वल्लभा मिति, एवार्थे इवशब्दः, आत्मानमेव[1-] वल्लभाम् सर्वासु अहमेव वल्लभा नाऽन्येति मन्यमानां गर्वितां इत्यर्थः[-1]॥ २१,२२ ॥

चिन्तालक्षणमाह- **पदेति।** नखैररुणा श्रीः कान्तिर्यस्य तेन सुजातेन[2-] सुकोमलेन[-2] पदा॥ २३ ॥

**तस्या इति।** सुदुःख मप्रियश्रवणात्, भयं त्यागशङ्कया, शोकोऽनुतापः, तै र्विनष्टा बुद्धिः यस्या स्तस्याः। श्लथन्ति पतन्ति वलयानि यस्मात् हस्तात्। देहश्च पपात। विक्लबा विवशा[3] धीः यस्या स्तस्याः॥ २४ ॥

**तदिति।** हास्यस्य प्रौढिं गाम्भीर्यम्। अन्वकम्पत[4-] दयां कृतवान् एतस्यां अबलायां परिहास मजानन्त्यां किमर्थं मच्चतुरत्व मिति विरामेत्यर्थः[-4]॥ २५ ॥

1- -1 B.J.omit 2- -2 MI.V. omit 3. B.J. अ० 4- -4 B.J.omit

**वीर० एतावदिति।** अविश्लेषात् विश्लेषाभावाद्धेतो रात्मानमेव वल्लभाम् इतरपत्न्यपेक्षया भगवतो निरतिशयप्रीतिविषयां मन्यमानां रुक्मिणीं तद्दर्पघ्न इव तस्या दर्प मपनेतुकाम इवेत्यर्थः। एताव दुक्त्वा उपारमत् तूष्णीमास। इवशब्दस्य व्यवहितेनापि दर्पघ्न इत्यनेन सम्बन्धः स्वारस्यात्, दर्पघ्न इवेत्यनेन वस्तुत स्ता मुपचरन्ती मभिनन्दितु मुक्त्वेति सूच्यते॥ २१ ॥

ततः किमासी दित्यत्राह-**इतीति।** देवी रुक्मिणी आत्मनः स्वस्य[1] प्रियस्य त्रिलोकाधिपतेः तदश्रुतपूर्वं कदाप्यश्रुतम् इति एवंविध मप्रियं वच आकर्ण्य भीता त्यागसम्भावनाभीता अत एव हृदि जातवेपथुः सञ्जातकम्पा रुदती च अपारां चिन्ताम् अवाप, यद्यप्यभिप्रायान्तरेणैव प्रयुक्तानि वचांसि, यद्यपि च साक्षा ल्लक्ष्म्यवतारभूता सापि तदभिप्रायं जानात्येव, तथाऽपि किमयं रामावतारे इवाऽत्रापि केनापि व्याजेन मां जिहासति, किं वाऽभिनन्दती त्येवं पूर्वकोटिसम्भावनामात्रेणैव जातवेपथुः रुदती च चिन्ता मवापेति तात्पर्यम्॥ २२ ॥

चिन्तालक्षणमाह- **पदेति**। नखैः अरुणा श्रीः कान्ति र्यस्य तेन सुकोमलेन पादेन वामपादाङ्गुष्ठेन भुवं लिखन्ती अञ्जनेनाऽऽविलैः व्याप्तै रश्रुभि श्चन्दनचर्चितौ स्तनौ सिञ्चती दुःखेन रुद्धा वा ग्यस्या स्सा अधोमुखी च अवतस्थे॥ २३॥

**तस्या** इति। सुदुःखम् अप्रियश्रवणजन्यं भयं त्यागसम्भावनाजन्यं शोकश्च तै र्विनष्टा स्फुरणरहिता बुद्धि र्यस्या स्तस्याः रुक्मिण्याः श्लथन्ति तात्कालिकदुःखप्रभवकार्श्येन भ्रश्यन्ति वलयानि यस्मात् तस्मा द्भस्ता द्वचजनं पपात, भूमा विति शेषः। तथा विक्लवा अधृष्टा[2] धीर्यस्या स्तस्याः, हेतुगर्भ मिदम्। तत्त्वात् तस्याः देहः मुह्यन् मोहं प्राप्नुवन् केशा न्विकीर्य पपात केशपाशविश्लथनपूर्वकं पपातेत्यर्थः। यथा वातेन चण्डमारुतेन विहता रम्भा कदली पतति तद्वत्॥ २४॥

**तदिति**। स भगवा न्कृष्णः हास्यप्रौढिम् चातुर्यम्[3] अजानत्या[4] इव लक्षितायाः प्रियायाः तत्प्रेमबन्धनं प्रेमपाश मवलोक्य करुणावान् अन्वकम्पत अनुपदमेव भीत इव अकम्पतेत्यर्थः॥ २५ ॥

1. B.T.W. स्वस्याः 2. B omits न 3. K.T. W. omit चातुर्यम् 4. B.T.W. °न्त्याः

**विज०** अविश्लेषात् निरन्तरसाहित्येन स्थिते आत्मानं वल्लभामिव मन्वानां प्रियतमाम्॥ २१ ॥

यदा हरिणा एतादृशं दुःखकरं वचन मुक्त्वोपरतं, तदा देवी आत्मनः प्रियस्य त्रिलोकेशपते रश्रुतपूर्व मप्रियं वचन माश्रुत्य दुरन्तां चिन्तां जगाम। "प्रत्ययारम्भे प्रतिवचनोपक्रमे द्वौ" इति वचनात्। इति वचनोपक्रमभीता, अत एव हृदि जातवेपथुः उत्पन्नकम्पा। तल्लक्षणमाह-रुदतीति॥ २२ ॥

एतदेव विवृणोति-**पदेति**। रक्तनखप्रभया अरुणा श्री र्यस्य स तथा। तेन सुजातेन[1] कोमलेन पदा भुवं लिखन्ती अञ्जनासितैः कृष्णैः अश्रुभिः कुङ्कुमरूषितौ स्तनौ आसिञ्चती[2] अधोमुखी भूत्वा तस्था वित्यन्वयः॥ २३ ॥

सुखदुःखादिभि र्विनष्टा इदं कर्तव्य मित्यपश्यन्ती बुद्धि र्यस्या स्सा तथा। श्लथद्विगलत् वलयो यस्य स तथा तस्मात्। केशा न्प्रविकीर्य देहश्च पपात। कीदृशः? बिभ्यत् सञ्चलन् कम्पमान इत्यर्थः। रम्भा कदली॥ २४॥

हास्यं नाम शृङ्गारादिष्वेको रसः, तस्य प्रौढिं समुद्रेकं, करुणः करुणारसं प्राप्तः, अस्य विवरण मन्वकम्पतेति॥ २५॥

1. B.omits सुजातेन 2. B. °न्ती

**पर्यङ्का दवरुह्याऽऽशु ता मुत्थाप्य चतुर्भुजः।**
**केशा न्समूह्य[1] तद्वक्त्रं प्रामृज त्पद्मपाणिना॥ २६ ॥**

**प्रमृज्याऽश्रुकले नेत्रे स्तनौ चोपहतौ शुचा।**
**आश्लिष्य बाहुना राज न्ननन्यविषयां सतीम्॥ २७ ॥**

सान्त्वयामास सान्त्वज्ञः कृपया कृपणां प्रभुः।
हास्यप्रौढे[2] र्भ्रमच्चित्तामतदर्हां सतां गतिः॥ २८ ॥

श्रीभगवानुवाच[3]

मा मा वैद र्भ्यसूयेथा जाने त्वां मत्परायणाम्।
त्वद्वचः श्रोतुकामेन क्ष्वेल्या[4]ऽऽचरित मङ्गने॥ २९ ॥

मुखं च प्रेमसंरम्भस्फुरिताधर मीक्षितुम्।
कटाक्षेपारुणापाङ्गं[5] सुन्दरभ्रुकुटीतटम्[6]॥ ३० ॥

1. B.G.J. °मु० 2. B.G.J. °ढिप्र० 3- -3.K.W. omit; Ml. श्रीकृष्णः, V. श्रीकृष्ण उवाच 4. M.Ma °लाऽऽ० 5. B.M.Ma °णा० 6. M.Ma °ङ्ग

**श्रीध० पर्यङ्कादिति**। चतुर्भुज इति उत्थापनाऽऽश्लेषणवक्त्रपरिमार्जनाद्यर्थ माविष्कृतचतुर्भुज इत्यर्थः। समूह्य[1] निबध्य॥ २६॥

**प्रमृज्येति**। अश्रुकले[2] अश्रुभिः कले[3] शोभिते। शुचा शोकाश्रुभिः॥ २७॥

**सान्त्वयामासेति**। सान्त्वयामास अनुनीतवान्॥ २८ ॥

**मेति**। मा माम्। त्वद्वचः किं नु वदिष्यसीति श्रोतुकामेन श्रोतुमिच्छता क्ष्वेल्या नर्मणा एव माचरित मुक्तं, नतु तत्त्वतः। हे अङ्गने! हे सुन्दरि! ॥ २९ ॥

**मुखञ्चेति**। प्रेमसंरम्भेण प्रणयकोपेन स्फुरितः कम्पितोऽधरो यस्मिंस्तत्। कटशब्देन कटाक्षाः तै राक्षेपैः अरुणा वपाङ्गौ यस्मिं स्तत्। अत एव सुन्दरं कुटिलं भ्रुकुटीतटं यस्मिं स्तत्॥ ३० ॥

1. B.J. °मु० 2. Ml.V. omit अश्रुकले 3. B.J.omit कले

**वीर०** चतुर्भुजः उत्थापनाऽऽश्लेषणवक्त्रपरिमार्जनार्थम् आविष्कृतचतुर्भुज इत्यर्थः। केशान् समूह्य[1] निबध्य पद्मतुल्येन पाणिना वक्त्रं प्रामृजत्॥ २६ ॥

किञ्च **प्रमृज्येति**। अश्रूणां कलाः बिन्दवो ययो स्ते नेत्रे तथा शुचा शोकाश्रुणा उपहतौ स्तनौ च[4] परिमृज्य, हे राजन्! बाहुना आलिङ्ग्य सान्त्वज्ञः[3] सतां गतिः प्राप्यः श्रेयःप्राप्त्युपायभूतो वा विभु र्भगवान् हास्यप्रौढेः भ्रम च्चित्तं यस्या स्ताम्, अतदर्हाम् इत्थ मपहसितु मनर्हां[4], तत्र हेतु रनन्यविषयां न विद्यते अन्यः पुरुषान्तरं विषयः ज्ञानविषयो यस्या स्तां दीनां सतीं रुक्मिणीं सान्त्वयामास॥ २७,२८ ॥

सान्त्वनप्रकार मेवाह-**मा मेति**। हे वैदर्भि! मां माऽसूयेथाः मह्य मसूयां मा कृथा इत्यर्थः। त्वाम् अहमेव परायणं परमप्राप्यं यस्याः तथाभूतां जाने, तर्हि किमर्थ मित्थ[5] मुक्त मित्यत आह- त्वद्वच इति। तव वचः श्रोतुमिच्छता किन्नु वदिष्यति तत् शृणोमीत्येवं कामयमानेन मया, हे अङ्गने! क्ष्वेल्या नर्मणा एव माचरितं कृत मुक्त मिति यावत्॥ २९॥

किञ्च, **मुखश्चेति**। प्रेमसंरम्भेण प्रणयकोपेन स्फुरितः कम्पितोऽधरो यस्मिन्। कटशब्दोऽत्र अपाङ्गसामीप्या द्वण्स्थलपरः, कटयोः गण्डस्थलयोः अधिकरणयोः आक्षेपाः कोपावेशेन चञ्चलनेत्राघाता स्तै रुणावपाङ्गौ नेत्रान्तौ यस्मिन् तत्, सुन्दरं कुटिलं भ्रुकुटीतटं यस्मिन् तत्, तव मुखश्चेक्षितुं द्रष्टु माचरित मिति पूर्वेण सम्बन्धः॥ ३० ॥

1. B. °मु० 2. B. adds प्रमृज्य 3. B. °द्वा 4. B °व 5. K. omits इत्थम्

**विज०** चतुर्भुजः कृष्णः द्वाभ्यां भुजाभ्यां उत्थाप्य द्वाभ्यां केशा न्समूह्य[1] एकीकृत्य बद्ध्वा वक्त्रं प्रामृजत् इति द्योतनाय चतुर्भुज इति प्रत्युक्तम्॥ २६ ॥

अश्रूणां कला ययो स्ते तथा। शुचोपहतौ कृशौ स्तनौ च, अनन्यविषयाम् अन्यस्पर्शनायोग्याम्॥ २७ ॥

अतदर्हां प्रेमगर्भविषादवचनायोग्याम्॥ २८ ॥

मा मां प्रति माऽसूयेथाः गुणे दोषदर्शनं न कुरु। तस्या तव वचः श्रोतुकामेन मया क्ष्वेल्या नर्मलक्षणलीलया आचरितं कृतम्॥ २९ ॥

प्रेमसहितसंरम्भेण स्फुरिताधरं कम्पमानाधरोष्ठं कटाक्षेण तिर्यक्दर्शिनाऽरुणापाङ्गेन रक्तनेत्रप्रान्तेन सुन्दर भ्रुकुटीतटम्॥ ३०॥

1. B. °भ्रू०

**अयं हि परमो लाभो गृहेषु गृहमेधिनाम्।**
**य न्नर्मै र्नीयते यामः प्रियया भीरु भामिनि॥ ३१ ॥**

**उवाच**[-2]

**सैवं भगवता राजन् वैदर्भी परिसान्त्विता।**
**ज्ञात्वा तत्परिहासोक्तिं प्रियत्यागभयं जहौ॥ ३२ ॥**

**बभाष[4] ऋषभं पुंसाम् ईक्षती[5] भगवन्मुखम्।**
**सव्रीडहासरुचिरस्निग्धापाङ्गेन भारत!॥ ३३ ॥**

## रुक्मिणयुवाच

न न्वेत देव मरविन्दविलोचनाऽहं यद्वै भवा न्न भवत स्सदृशी विभूम्नः।
क्व स्वे महिम्न्यभिरतो भगवांस्त्र्यधीशः क्वाऽहं गुणप्रकृति रङ्गगृहीतपादा॥ ३४ ॥

सत्यं भयादिव गुणेभ्य उरुक्रमान्तः शेते समुद्र उपलम्भनमात्र आत्मा।
नित्यं कदिन्द्रियगुणैः कृतविग्रह स्त्वं त्वत्सेवकै र्नृपपदं विधुतं तमोऽन्धम्॥ ३५ ॥

1. M.Ma भाषिणि 2- -2 K.M.Ma.W. omit 3. M.Ma तां परि 4. M.Ma.W. °षे 5. B.G.J.MI.V वीक्षन्ती 6- -6 K.W. वैदर्भ्युवाच 7- -7 B.G.J.MI.V. नन्वेवमेतदर० 8. B.G.M.Ma.MI.V. °नाऽऽह 9- -9 B.G.J.M.Ma °न् भगवतोऽस० 10. M.Ma °शो 11. M.Ma °रन्य 12- -12 M.Ma यो नित्य के० 13. B.G.J.MI.V. गणैः 14. M.Ma त्वत्सेवया नृ० 15. B. पदे

**श्रीध०** ननु कलहे तव[1] किं कौतुकं सुखं वाऽत आह-**अयं हीति**। नर्मै र्नर्मभिः। यामः कालः॥ ३१,३२॥

**बभाष** इति। भगवत स्तस्य ऐश्वर्ययुक्तं मुखं सव्रीडेन हासेन रुचिरेण स्निग्धेन च अपाङ्गेन वीक्षमाणा॥ ३३॥

★"असमत्वं भयं दुर्गाश्रयणं प्रबलैः कलिः। अराजत्व मविज्ञत्वालौकिकेहावसादनम्[2]॥निष्किञ्चनत्वं तत्प्रीति राढ्यानादरणीयता। अनौचित्यं निर्गुणत्वं वृथाश्लाघा च भिक्षुभिः॥ औदासीन्य मकामत्वं स्वदोषा न्षोडशाऽसतः। अज्ञत्वादीर्घदर्शित्वे भैष्म्या राज्ञां बहू न्गुणान्। कृष्णनर्मोदितान् भैष्मी न्यषेध त्तद्गुणस्तवैः॥" भगवतः[3] स्वनिन्दापराणीव यानि वाक्यानि[4] तानि[5] सर्वोत्कर्षपरतया व्याचक्षाणा प्रतिभाषते स्म। तत्र यदुक्तं - "कस्मा न्नो ववृषेऽसमान्"(भाग.10-60-11) इति तत्राऽसाम्यं सत्यमेवेत्याह-**नन्वेवमिति**।हे अरविन्दविलोचन! त्र्यधीशः त्रयाणां ब्रह्मादीनाम प्यधीशो नियन्ता त्वं क्व। क्व चाऽहं गुणप्रकृति स्त्रिगुणस्वभावा प्राकृतगुणमयी प्रकृतिर्वा[6]। ननु त्वमेवाऽधीश्वरी श्रीः सर्वै रुपास्यत्वा[7-] दिति चे[-7] दत आह-अङ्गैः सकामैः गृहीतौ पादौ अङ्घ्री[8] यस्या स्सा॥ ३४ ॥

यदुक्तं "राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रु[9]! समुद्रं शरणं गतान्" (भाग.10-60-12) इति तत्राह- **सत्यमिति**। हे उरुक्रम! इति भयाभावं दर्शयति-गुणाः शब्दादय एव राजन्त इति राजान स्तेभ्यो भयादिवेति। अन्तर्हृदये समुद्रे तद्वदगाधे विषयाकारै रपरिच्छिन्ने इत्यर्थः। शेते निश्चलतया प्रकाशते। उपलम्भनमात्र श्चैतन्यघन आत्मा भवा निति। "बलवद्भिः कृतद्वेषान्" (भाग.10-60-12) इति यदुक्तं तदपि सत्य मित्याह- नित्यमिति। कदिन्द्रियगणैः। वृत्त्यभिप्रायेण बहुवचनम्। कुत्सित इन्द्रियगणो येषामिति वा। तै स्त्वं नित्यं कृतविग्रहः, तेषु तवाऽप्रतीतेः। यदुक्तं 'त्यक्तनृपासनान्' इति, तदपि[10] युक्तमेवेत्याह-त्वत्सेवकैरिति। नृपाणां पद मासन मन्धं गाढं तम एव तत्। अविवेकबहुलत्वात्। त्वत्सेवकैरेव त[11] त्त्यक्तं किं पुन र्वक्तव्यं त्वया त्यक्तमिति॥ ३५ ॥

1. B.J. omit तव ★ इमे श्रीधरीयाः श्लोकाः 2. B.J. °ज्ञाता 3. B.J. °ता 4. B.J. वचनानि 5. B.J. add उक्तानि 6. B.J. °ता गु० 7- -7 MI.V °दित्यत 8. B.J.omit अङ्घ्री 9. B.J. °भ्रूः 10. MI.V omit अपि 11. MI.V. omit तत्

**वीर०** ननु कलहे किं कौतुकं सुखं वा, अत आह **-अयं हीति।** कोऽसौ? हे भीरु! हे भामिनि! कोपिनि! प्रियया सह नर्मैः प्रणयकलहैः यामो नीयत इति यत् एष परमो लाभ इत्यर्थः। सुखमेवेति भावः। यामग्रहणं घटिकाद्युपलक्षणम्॥ ३१॥

**सैवमिति।** त द्भगवदुक्तं परिहासार्थोक्तिरूपमेव ज्ञात्वा प्रियकर्तृकत्यागसम्भावनाप्रयुक्तं भयं तत्याज॥ ३२ ॥

किञ्च- **बभाष** इति। हे भारत! सव्रीडहासेन रुचिरेण स्निग्धेनाऽपाङ्गेन भगवतो मुखं वीक्षमाणा तं पुंसा मृषभं पुरुषोत्तम माबभाषे उवाच॥ ३३ ॥

भाषणमेवाह- **नन्विति** पञ्चदशभिः। तत्र ताव द्यदुक्तं "कस्मा न्नो ववृषेऽसमान्" (भाग.10-60-11) त दनुभाष्य प्रतिभाषते- नन्विति। ननु हे अरविन्दलोचन! तिष्ठतु ताव दसाम्यं गुणान्तरैः, लोचनसौन्दर्येणैव त्वं स्वतुल्यरहित इति तत्सम्बोधनाभिप्रायः। अहं भवतः असदृशी असमानेति यद्भवानुवाचे त्यनुवादः, यद्य प्यसमानिति भगवदुक्त्या भवत्या अह मसम इति प्रतीयते, एवं च मम भवा नसम इति य दित्येव मेवाऽनुवदितव्यम्। तथापि भगवदभिप्रायक्रोडीकारेणानूदितम्। अनुवादमुखेनापि मया सह भवा नसम इति वक्तु मनुचित मित्यभिप्रायेण च, यद्भवा नुवाच त त्तात्त्विक मेवेति वाक्यशेषः। तदे वोपपादयति- भूम्नः स्वरूपस्वभावाभ्याम् अपरिच्छिन्नस्य, हेतुगर्भ मिदम्। क्वेत्यादि-भगवान् षाड्गुण्यपूर्णः त्र्यधीश स्त्रिलोकनायकः स्वे महिम्नि स्वासाधारणायां नित्यविभूता वभिरत स्त्वं क्व? गुणप्रकृतिः त्वद्गुणानुवर्तिस्वभावा त्वच्छन्दानुवर्तिनी त्वत्परतन्त्रेति यावत्। ननु त्वमपि स्वतन्त्रा ब्रह्मादिभि रुपास्यमाना तदभिमतफलप्रदा चे त्यत आत्मानं विशिनष्टि-अङ्गगृहीतपादेति। अङ्गैः मम त्वत्पारतन्त्र्यमजानद्भिः गृहीतौ उपासितौ पादौ यस्या स्साऽहं क्व? अभिज्ञा स्तु न मां स्वतन्त्रा मुपासते। किन्तु मां त्वत्परतन्त्रां पुरुषकारमात्रं कृत्वा मद्विशिष्टं त्वामे वोपासते इति भावः॥ ३४॥

यदुक्तं "राजभ्यो बिभ्यत स्सुभ्रु समुद्रं शरणं गतान्" (भाग० 10-60-12) इति, तत्र प्रतिभाषते **सत्यमिति।** हे उरुक्रम! उरवः विपुला स्त्रिलोकीसङ्ग्राहकाः क्रमाः पादविन्यासाः यस्य तथाभूत! पादक्रमैरेव त्रिलोकीं सङ्गृहतस्तव कथं राजभ्यो भयमिति तदभिप्रायः। भयादिवेति भगवदुक्त्यनुवादः, राजभ्यो भयात् समुद्रं शरणं गत इत्येतत्सत्यमेवेत्यर्थः। वस्तुतो भयाभावसूचकेनेवशब्देन राजभ्यो बिभ्यत इति त्वदुक्ता वबिभ्यत इति च्छेदो यावदभिमत इति सूच्यते। तर्हि कुत श्शरणं गत इत्यत्राह-गुणेभ्य इति। मत्पितृदुग्धाब्धिगतसमुद्रत्वागाधत्वादिधर्मेभ्यः, समुद्रत्वादिधर्मयोगा लुवणार्णवं शरणं गत इत्यर्थः। तदपि किमर्थ मित्यत आह-उपलम्भनमात्रे इति। सप्तम्यन्तमिदम्। उपलम्भनमात्रे प्रदर्शनमात्रे निमित्ते मयि प्रीत्यतिशयप्रदर्शनार्थं शरणं गत इत्यर्थः। मात्रशब्देन न तु स्वपरित्राणाद्यर्थमिति सूच्यते। अन्त श्शेते समुद्र इति दृष्टान्तार्थम्। अन्त रित्यव्ययं मध्ये वर्तते। यथोपलम्भनमात्रे निमित्ते भवा नन्तस्समुद्रे क्षीराब्धिमध्ये शेते, तद्व लुवणार्णवं शरणं गत इत्यर्थः। युक्तं चैतदि त्यभिप्रायेण विशिनष्टि-आत्मेति। ममेति शेषः। आत्मा निरतिशयप्रीतिविषयः, यो यस्य प्रियतमः, स तस्यापि तथा, तथा चोक्तं भगवता- "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थ महं, स च मम प्रियः" (भ.गी. 7-17) "ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्" (भ.गी 7-18) इति च। एवञ्च त्वत्प्रियतमाया मम प्रियतमत्वा न्मत्सम्बन्धिगुणाश्रये तव प्रीति रुचितैवेति भावः। "बलवद्भिः कृतद्वेषान्' (भाग० 10-60-12) इत्यत्र प्रतिभाषते-नित्यं कदिन्द्रियगुणैः कृतविग्रह स्त्वमिति। कच्छब्देन बलवद्भि रित्यत्र मतुप् निन्दार्थकत्वेन व्याख्यातः। कदिन्द्रियाणां गुणा विषयाः शब्दादयो येषां तैः कुत्सिता

नीन्द्रियाणि गुणाः तद्विषयाः शब्दादयश्च येषां तै रिति वा, त्वं नित्यं कृतो विग्रहः यस्य सः कृतद्वेषः कृता प्रीति रिति यावत्। "प्राय स्त्यक्तनृपासनान्" (भाग. 10-60-12) इत्यत्र प्रतिभाषते-त्वत्सेवकैरिति। नृपाणां पद मासनम् अन्धं गाढं तम एव। तमश्शब्दोऽत्र नरकपर्याय स्तद्धेतुपरः, नरकावहमित्यर्थः। हेतुगर्भमिदम्। तत्त्वात् नृपपदं त्वत्सेवकैरेव विधुतं तुच्छीकृत्य त्यक्तम्, किं पुन स्त्वयोभयविभूतिनायकेन त्यक्त मिति॥ ३५ ॥

1.B. °काक्षणाद्यु० 2. K.T.W. omit ननु 3. B. ° °की 4- -4 K.T.W. omit

**विज०** कामिव ज्जनविडम्बनं मयाऽकारी त्याशयेनाह- **अयमिति।** प्रियया सह नर्मैः स्नेहगर्भपरिहासवचनै र्यामः कालावयवो नीयत इति य दयमेव गृहस्थानां गृहेषु परमो लाभो हीत्यन्वयः॥ ३१ ॥

द्विविधं वाक्यं - इष्टसाधनावबोधकमेकं, एकं दुःखपरिहारात्मकं; तत्र पश्चादुक्तं दुःखविनाशकमिति भावेनाह- सैवमिति॥ ३२॥

पूर्वोक्त मभीष्टसाधनावबोधकत्वे नोपादेयमिति सूचयितुमाह-**बभाष** इति॥ ३३॥

देववृषोपमान् नृपान् हित्वा अस्मान् कस्मा द्वृतवती त्यत्राह-**नन्विति।** यद्वा, इह जीवराशौ आत्मसदृशा न सन्ति अस्माकं क्रियाश्च ने त्यस्योत्तरमाह-नन्विति। वा इत्ययं कृष्णोक्तवाक्यार्थारम्भे वर्तते। नन्वि त्यनुमतार्थे, भवान् यदाह समो नास्तीति एत देवं ननु अनुमतं, कथं तत्राह- नेति। विभूम्नः देशतः कालतो गुणतश्च अपरिच्छिन्नस्य व्याप्तस्य भवतः सदृशोऽन्यो नास्ति, किन्तु भवानेव। रामरावणयोः युद्ध मितिवत् मत्सदृशी त्वमसीति नेत्याह-क्वेति। भगवा नैश्वर्यादिगुणसामग्रीसमुद्रो भवान् क्व? राजादिव दन्याधीनत्वं किं न स्यादिति तत्राह स्व इति। अनेन स्वार्था क्रिया नास्ती त्युक्तं भवति। सत्त्वादिगुणप्रवर्तकत्वेन प्रकृतिशब्दवाच्याऽहं क्व? तर्हि त्रिलोक्यां कश्चि न्मत्समः स्यादि त्यतो नेति भावेनाह त्र्यधीश इति। त्रयाणां लोकानां त्रयाणां वेदानां त्रयाणां गुणानां वा। ईश इत्यनेन इन्द्रादिनिरासोऽभूदित्येत ल्लोकपालविभूतिभि रित्यस्योत्तरम् ब्रह्माद्यन्यतमोऽपि नेति भावेनाह-अन्येति। अन्यैः ब्रह्मादिभिः। अनेन महानुभावै रित्यस्योत्तरं, क्वाह मित्यमुना श्रीमद्भि रित्यादेः॥ ३४ ॥

"राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रु!" (भाग 10-60-12) इति यदुक्तं तदर्धाङ्गीकारेण परिहरति-**सत्यमिति।** हे उरुक्रम! बाल्यादे रभिमानिजनशिरोरत्नराजिराजितमहापादन्यास! समुद्रेऽन्त श्शेते इति सत्यम्। किन्तु राजभ्यो बिभ्यत इति असत्यम्। तर्हि तद्वचर्थ मुक्तं, नेत्याह भयादिति। राजृ-दीप्ताविति धातोः कार्ये प्रकाशमानेभ्यः स्वशक्तिद्योतकेभ्यः सत्त्वादिगुणेभ्यो भयादिव, सज्जनशिक्षार्थं इवशब्दः। संसारावृत्तिहेतुभ्यो गुणेभ्यो बिभ्यज्जनः समुद्रिक्तसुखार्थी समुद्रादिजलवासेन यथा तपस्यति तथाऽहमिति। यद्वा पञ्चभूतमुद्रासहितत्वात् समुद्रे शरीरेऽन्तर्हृदि शेते य त्सत्यं तत् दीप्यत् शब्दादिगुणेभ्यो भयादिव अङ्गुष्ठमात्रः "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः" (म०ना० 16-5) इति श्रुतेः। शरीरान्तःस्थस्य जीवा दविशेषा ज्जननादिकमपि स्यादिति

तत्राह-उपलम्भनमात्र इति। केवलचिन्मयः, अतो न देहधर्मा अस्य स्युरिति भावः। एकत्र स्थितयोः जीवेशयोः विशेषः कथ मत्राह-आत्मेति। आत्मा तथाविधस्वभावः किंनामधेयो भवा नित्यतो वाऽऽह आत्मेति। आत्मा सुखमेवाऽऽददाति नाण्वपि दुःख मित्यात्मा। जीवस्तु शरीर मादाय शरीरान्तराणि निर्मिमीते इति तच्छब्दवाच्यः। "बलवद्भिः कृतद्वेषान्" (भाग. 10-60-12) इत्यस्य तात्पर्यं वक्ति य इति। यः अनित्ये केन्द्रियगुणैः कृतविग्रहः स त्वं तादृङ्माहात्म्यः "बलवा निन्द्रियग्रामः" (भार .1.APP. 114. 51A-2pr) इति स्मृतेः। बलवन्ति परिवर्तनवन्ति नानायोनि ष्वित्यतो नित्यानीन्द्रियाणि इत्युच्यन्ते। नियन्तु मशक्यत्वा द्बलवन्तीति भवत्प्रसादा दितरेषां इन्द्रियजयो भवतस्तु स्वत इति। "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः" (कठ.उ 4-1) इति श्रुतेः। 'प्राय स्त्यक्तनृपासना नित्यत्राह-त्वत्सेवयेति। तव सेवा यस्याः साऽहं त्वत्सेवा तया त्वत्सेवया मया नृपासनं नृपपदं नृपशब्दवाच्यमात्रं, न तु नॄन् पान्तीति नृपालनरक्षणार्थोपितम्। अन्धं तमः प्रतिविधुतं तत्त्यजनं कृतमित्यर्थः। तस्मा द्भवानेव नृपशब्दमुख्यार्थत्वा त्तत्त्वज्ञैः सर्वै स्त्यक्तं दत्तं नृपासनं यस्मै स त्यक्तनृपासनः। शिशुपालादय एव त्यक्त मुज्झितं नृपासनं यै स्ते तथा त्वत्सेवया हेतुना वा ते त्यक्ताः॥ ३५॥

---

1- -1 Ma. नेति तत्राह

त्वत्पादपद्म मकरन्दजुषां मुनीनां वर्त्माऽस्फुटं नृपशुभि र्ननु दुर्विभाव्यम्।
यस्मा दलौकिक मिवेहित मीश्वरस्य भूम्न स्तवेहित मथो अनु ये भवन्तम्॥ ३६ ॥

निष्किञ्चनो ननु भवा न्न यतोऽस्ति किञ्चि द्यस्मै बलिं बलिभुजोऽपि हरन्त्यजाद्याः।
न त्वा विद न्त्यसुतृपोऽन्तक माढ्यतान्धाः प्रेष्ठो भवान् बलिभुजा मपि तेऽपि तुभ्यम्॥ ३७ ॥

त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मा यद्वाञ्छया सुमतयो विसृजन्ति कृत्स्नम्।
तेषां विभो समुचितो भवत स्समाजः पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुखदुःखिनो र्न॥ ३८ ॥

त्वं न्यस्तदण्डमुनिभि र्गदितानुभाव आत्माऽऽत्मदश्च जगता मिति मे वृतोऽसि।
हित्वा भवद्भुव उदीरितकालवेगध्वस्ताशिषोऽब्जभवनाकपती न्कुतोऽन्ये॥ ३९ ॥

जाड्यं वच स्तव गदाग्रज यस्तु भूपा न्विद्राव्य शार्ङ्गनिनदेन जहर्थ मां त्वम्।
सिंहो यथा स्वबलि मीश पशू न्स्वभागं तेभ्यो भया द्य दुदधिं शरणं प्रपन्नः॥ ४० ॥

1. M.Ma वर्त्म० 2. MI.V. °मपी० 3. B.G.J.M.Ma भूमं० 4- -4 M.Ma अनु मे भवन्ति; MI.V. °ऽनुनये भवन्तम् 5. B. त्वां 6. M.Ma °न्ति० 7 M.Ma प्रेष्ठस्सतां 8- -8 M.Ma योऽन्तरास्से 9 M.Ma °दि० 10 M.Ma °तः प्रसादस्त्रयांश्च यश्च० 11- -11 M.Ma मुक्त्वा भवद्भवदु० 12 M.Ma गन्ध 13. M.Ma °ऽन्यान् 14. M.Ma सत्यं 15 M.Ma MI.V. यश्च 16 M.Ma °माशु 17 M.Ma °शुं स्व०

**श्रीध०** "अस्पष्टवर्त्मनां पुंसा मलोकपथ मीयुषाम्" (भाग 10-60-13) इति यदुक्तं तदपि तथैवेत्याह- **त्वत्पादेति।** नृपशुभि र्नराकारैः पशुभिः। किं पुन र्वक्तव्यं तव वर्त्माऽस्फुटमिति। किञ्च, यस्मा द्ये भवन्त मनुवर्तन्ते तेषा मपीहित मलौकिकमिव[1]। अथो अतः किमु वक्तव्यं तवेश्वर स्येहित मलौकिक मित्यर्थः[2]। "आस्थिताः पदवीं सुभ्रु[3] प्रायः सीदन्ति योषितः" (भाग. 10-60-13) इत्यस्य परिहारं वक्ष्यति-यद्वाञ्छया-इति पञ्चमश्लोकेन[4]॥ ३६ ॥

"निष्किञ्चना वयं शश्व न्निष्किञ्चनजनप्रियाः। तस्मा त्प्रायेण न ह्यढ्या मां भजन्ति सुमध्यमे" (भाग. 10-60-14) इत्येतत्च्छ्लोकोक्तं दोषत्रयं परिहरति -**निष्किञ्चन** इति। दरिद्रतालक्षणं निष्किञ्चनत्वं तु[5] तव न घटत इत्याह-यस्मा इति। अन्यतो बलिभुजः पूज्या अपि ब्रह्मादयो यस्मै भवते बलिं हरन्ति तस्य सर्वेश्वरस्य भवतो दरिद्रता न घटत इत्यर्थः। 'निष्किञ्चनजनप्रियाः' इत्यत्र तत्पुरुषेण बहुव्रीहिणा वा निन्दा स्यादिति स्वयम प्युभयथा स्तौति-प्रेष्ठो भवानिति। बलिभुजां ब्रह्मादीनां लोकेश्वराणां त्वं प्रेष्ठ स्तेऽपि तुभ्यं तवेति। "तस्मा त्प्रायेण[6] न ह्यढ्या[7] मां भजन्ति" (भाग 10-60-14) इति तस्योत्तरं न त्वा विदन्तीति। आढ्यतयाऽन्धाः त्वा त्वामन्तकं न विन्दन्ति[8]। अत स्ते असुतृपः असूनेव तर्पयन्ति, न त्वां भजन्तीत्यर्थः॥ ३७ ॥

बलिभुजामपि भवा न्प्रेष्ठ इत्यत्र हेतुं[9] वदन्ती 'ययो रात्मसमं वित्तम्' (भाग 10-60-15) इत्यनेनोक्त मनौचित्यं परिहरति-**त्वं वै** इति। परमात्मा परमानन्दस्वरूपः[10]- "एतस्यैवानन्दस्याऽन्यानि भूतानि मात्रा मुपजीवन्ति" (बृह.उ.4-3-32) इति श्रुतेः। समाजः सेव्यसेवकभावलक्षणसम्बन्धो, न तु पुंसः स्त्रियाश्च मिथो रतयोः। अत एव तत्कृतसुखदुःखिनोः, तदाकुलयोरित्यर्थः॥ ३८ ॥

"भिक्षुभिः श्लाघिता मुधा" (भाग 10-60-16) इत्यस्य परिहारः-**त्वमिति।** भिक्षुपदव्याख्यानं न्यस्तदण्डै र्मुनिभिरिति। मुधेत्यस्य परिहारः-आत्मेति। यदर्थे[11] सर्वं प्रियं भवति तस्य जगता मात्मन स्तव वरणं न वृथेत्यर्थः। किञ्च अत्मद इति। "वैदर्भ्ये तदविज्ञाय त्वयाऽदीर्घसमीक्षया" (भाग 10-60-16) इति स्वस्मि न्नुक्तं दोषद्वयं परिहरति-इतीति। इति ज्ञात्वैव मे मया वृतोऽसीत्यज्ञानपरिहारः, हित्वे त्यदीर्घसमीक्षा[12] त्वपरिहारः। भवतो भ्रुवः[13-13] सकाशा दुदीरितो यः काल स्ततोस्य वेग स्तेन ध्वस्ता आशिषो येषां ता न्ब्रह्मादीनपि विहाय। कुतोऽन्ये वराका इत्यर्थः॥ ३९ ॥

स्वाज्ञनं परिहृत्य पुरुषान्तरगुणवर्णनप्रदीप्तकोपसंरम्भेण तस्मि न्नेवाज्ञान मापादयति - **जाड्यमिति।** सिंहो यथा पशू न्विद्राव्य स्वबलिं हरति तथा शार्ङ्गधनुर्निनदेनैव जरासन्धादी न्विद्राव्य मां स्वभागं श्रियं य स्त्वं हृतवा नसि तस्य तव राजभ्यो भया दुदधिं प्रपन्न इति य द्वचो भाषणं त ज्जाड्यं मान्द्यं न घटत इत्यर्थः॥ ४० ॥

1. Ml.V. °मेव 2. Ml.V. omit अर्थः3 B.J. सुभ्रूः 4. B.J. श्लोके 5. B.J. add एतत् 6. Ml.V अ० 7 B त्वां 8 Ml.V add इति 9 B.J. omit स्व 10 B.J omit भाव 11. B.J °र्थं 12 B.J °क्षापरि० 13- -13 Ml.V. इति भावः

**वीर०** अस्पष्टवर्त्मना मित्यत्र प्रतिभाषते-**त्वत्पादेति।** तव पाद पद्मयोर्योमकरन्दः अनुभवरसात्मकः तं सेवमानानां मुनीनामेव तव वर्त्म याथात्म्यम् अस्फुटम्। किं पुन रितरेषा मिति भावः। तदेवाह-नृपशुभि रिति। ननु हे भगवन्!

नृपशुभिः नर एव पशव स्तैः पशुतुल्यै र्नृभिः पशुव ज्जिह्वोपस्थसुखमात्राभिज्ञैः नृभि रित्यर्थः। दुर्विभाव्यं दुःखेनापि विभावयितुं चिन्तयितुम् अशक्यम् इति। अलोकपथ मीयुषा मित्यत्र प्रतिभाषते-यस्मादिति। यस्मात् ये त्वा मनुवर्तन्ते तेषा मपीहितं चेष्टितं अलौकिकमेव। अथो अतः किमु वक्तव्यं भूम्न स्तवेश्वरस्य ईहित मलौकिममिति अर्थः॥ ३६ ॥

"आस्थिताः पदवीम्"(भाग.10-60-13) इत्यादौ प्रतिभाषयते 'यद्वाञ्छया' इत्यष्टमेन। तावत्, निष्किञ्चनाः, इत्यत्र प्रतिभाषते- निष्किञ्चन इति। ननु हे विभो! त्वं निष्किञ्चिन इति सत्यमेव, कुतः? यतः किञ्चिद प्यनवाप्यं नास्ति यस्य, तथाभूत स्त्वं निष्किञ्चन इत्यर्थः। दरिद्रतालक्षणनिष्किञ्चनत्वं तु तव न घटत इत्याह-यस्मात् इति। बलिभुजः बलिं पूजां भुञ्जते इति तथा। अन्येभ्यः पुजार्हा अपि ब्रह्मादयो यस्मै तुभ्यं बलिं पूजां हर न्त्यर्पयन्ति कुर्वन्तीत्यर्थः। तस्य सर्वेश्वरस्य भवतः दरिद्रता न घटते इत्यर्थः। निष्किञ्चनजनप्रिया इत्यस्योत्तरं प्रेष्ठो भवानित्यादि। निष्किञ्चनजनप्रिया इत्यत्र बहुव्रीहितत्पुरुषान्यतरत् उभावपि वा, सर्वदा चेदृश एव भवा नित्याह- प्रेष्ठ इति। बलिभुजां पूजार्हाणां नारदादीनाम्, अकिञ्चनानाम् अनन्यप्रयोजनानां प्रेष्ठो भवान्, तथा तेऽपि बलिभुजोऽपि तुभ्यं तव प्रेष्ठाः। तस्मात् प्रायेण इत्यस्योत्तरमाह नत्वेति। आढ्यतया अभिजनादिभिराढ्यत्वाभिमानेनान्धाः विवेकशून्याः, अन्तकं अन्तं करोतीत्यन्तकः तथाविधं त्वा त्वां न विदन्ति न भजन्ते, असुतृपः असू निन्द्रियाण्येव तर्पयन्तीति तथा अन्तकमित्यस्य कालरूपेणाऽऽयुर्हरन्त मित्याशयः॥ ३७॥

प्रेष्ठः इत्यत्र हेतुं वदन्ती "ययो रात्मसमं वित्तम्" (भाग. 10-60-15) इत्यादिनोक्तम् अनौचित्यं परिहरति-**त्वं वै** इति। समस्तपुरुषार्थस्वरूपः फलात्मा अभीप्सितफलरूपः आत्मा च। यद्वा, अभीष्टतपःफलरूपः सर्वेषा मिष्टतमं हि फलं सुखं, त्वं तु निरवधिकानन्दरूपः। चतुर्विधपुरुषार्थनिर्वाहकत्वस्वरूपस्य निरतिशयानन्दरूपस्य च तव सुखलेशसाधनभूतवित्तादिमद्भिः साम्यं दूरापास्त मेवेति भावः। तर्हि निस्समत्वादेव मम त्वया असमया सह विवाहोऽनुचित एव जात इत्यत आह-यद्वाञ्छयेति। यस्मिन् त्वद्दास्ये वाञ्छया कृत्स्नं त्वद्दास्यव्यतिरिक्तं सर्वं विसृजन्ति त्यजन्ति नेच्छन्तीति यावत्। अत एव ते जनाः सुमतय स्तेषां तव च समाजः सङ्गति रुचित एव, न हि तारतम्येऽपि स्वभावतः शेषशेषिणो स्सम्बन्धो नोचितः। अतः त्वद्दास्यमात्राकाङ्क्षिण्याः मम तव य सम्बन्धः सूचित एवेति भावः। ममाऽन्येन तु सम्बन्धोऽनुचित इत्यभिप्रेत्याह-पुंस इति। रतयो र्मिथोरतयो रत एव तत्कृतसुखदुःखिनोः पुंसः स्त्रियाश्च समाजो नोचित इत्यर्थः। यः केवलमैथुन्यतत्प्रयुक्त सुखदुःखानुभवार्थ स्समाजः स तु नोचितः। य स्त्वावयो श्शेषशेषिलक्षण स्समाजः स उचित एवेति भावः॥ ३८ ॥

"भिक्षुभिः श्लाघिता मुधा" (भाग. 10-60-16) इत्य स्योत्तरमाह- **त्वमिति**। भिक्षुपदव्याख्यानं न्यस्तदण्डैरिति, भिक्षुभिः सर्वभूतसुहृ त्त्वां प्रार्थयमानैः न्यस्तदण्डै रित्यस्यापि अयमेवार्थः। गदितः श्लाघितः प्रभावो यस्य तथाभूतः, तत्र हेतुं वदन्ती मुधे त्यस्योत्तरमाह-आत्मेति। त्रिजगता मात्मा आत्मदः आत्मपर्यन्तप्रदः। "य आत्मदा बलदा" (ऋक्.सं. 10-121-2) इति श्रुतेः। आत्मत्वा दात्मपर्यन्तवदान्यत्वाच्च गदित इत्यर्थः। आत्मद इत्यनेन मुक्तप्राप्यत्वं विवक्षितम्। न ह्यात्मनः प्राप्यस्य च श्लाघा प्रयोजनान्तरापेक्षा, किन्तु स्वसत्तालाभार्था प्राप्यप्राप्त्यर्था चेति। मुधैवेति सत्यमुक्त मित्यर्थः। आत्मन श्शरीरादि विलक्षणतया स्तुतौ हि शरीरसत्तासिद्धिः, अथ "वैदर्भ्ये तदविज्ञाय त्वयाऽदीर्घसमीक्षया" (भाग० 10-60-16) इत्य स्योत्तरमाह- इतीति। इतीत्थम्भूतं भवन्तं, ज्ञात्वेति शेषः। अब्जभवनाकपतीन् ब्रह्मेन्द्रादीन् भवतो भ्रुव स्सकाशादुदीरितो यः काल स्तस्य वेगेन ध्वस्ता आशिषो येषां तथाभूतान् हित्वा विहाय एवंविधत्वा न्मम तेषां पुत्रस्थानीयत्वाच्च

तद्गतवित्तादिप्रयुक्त साम्य मविचार्यैवेति भावः। एव हित्वे त्यनेन अविज्ञायेति व्याख्यातम्। मे मया त्वं वृतोऽसि, अब्जयोन्यादय एवाविचार्याः कुतोऽन्ये चैद्यादयो विचार्याः स्यु रित्यर्थः॥ ३९ ॥

पुन स्सिंहावलोकितन्यायेन "राजभ्यो बिभ्यतः" (भाग.10-60-12) इत्य स्योत्तरं वक्तु मात्मानयनदृष्टान्तेन निर्भयत्वं स्थापयन्ती स्पष्ट मबिभ्यत इत्येव प्रयोक्तव्ये संशयापादकेन ' राजभ्योऽ बिभ्यतः' इति पूर्वरूपात्मक सन्धिना प्रयुक्तं वचः शृण्वतां जाड्यावह मित्याह-**जाड्यमिति**। हे गदाग्रज! य स्त्वं शार्ङ्गनिनदेन शत्रून्[15] भूपान् विद्राव्य पलाय्य मां जहर्थ हृतवानसि, तस्येदं वचो जाड्यं शृण्वतां सन्धिविशेष मजानतां त्वयि भयसम्भावनात्मका ज्ञानरूपजाड्यावह मित्यर्थः, हरणे दृष्टान्तः- यथा सिंहः पशून् महिषादीन् विद्राव्य स्वभागं हरति, तद्वदिति। किन्तद्वचो यज्जाड्यं तदाह-तेभ्य इत्यादि। तेभ्यः शत्रुभूतेभ्यो भया दुदधिं समुद्रं शरणं प्रपन्न इति यत् तत्॥ ४० ॥

---

1 B adds वर्त्म 2 B.T.W omit इति 3 K.T.W omit तव 4. K.T.W omit भवतः 5- -5 T.W omit 6 B त्वामिति। 7 K. omits अन्तकं 8 K.T.W omit इति 9. B omits तथा 10 K.T.W प्रेष्ठम् 11 K.T.W °च्युक्तम् 12 T.W omit त्व 13 K.T.W omit असमया 14 T.W भगवन्तं 15 B.T.W पलायित्वा 16 B.T.W ०के ज्ञानं

**विज०** अस्पष्टवर्त्मनाम् इत्यस्यार्थमाह-**त्वत्पादेति**। तव पादपद्ममकरन्दसेविनां मुनीनां वर्त्म स्वरूपं स्फुटं स्पष्टं तथापि त्वदुक्तं सत्यं नृपशुभि रज्ञानिभि र्दुर्विभाव्यं दुर्ज्ञेयं तस्मात्, अस्पष्ट मित्युच्यते, यद्वा मुनीनां वर्त्म नृपशुभिः स्फुटं दुर्विभाव्यं, किमु तव वर्त्मेति। अलोकपथ मीयुषा मित्यस्या प्ययमर्थ इत्याह-यस्मादिति। हे भूमन्! ईश्वरस्य तवेहित मलौकिकमिव यस्मात् अथो तस्मात् तवेहित मनु अनुकूलानि मम ईहितानि भवन्ति, अलौकिकानीति शेषः। तवेहित मनु क्रियमाणानि ममेहिता न्यलौकिकानि यस्मा त्तस्मात् किमु तवेहित मलौकिक मिति वा॥ ३६ ॥

'निष्किञ्चना वयमिति' इदं निबोधयतः किञ्चि त्किञ्चिन्मात्रं नास्ति किन्तु सर्वमेवास्ति अतो भवान् निष्किञ्चन इत्युच्यते न त्वनाढ्यत्वं निष्किञ्चनत्वम् इत्याह- यस्मा इति। सर्वप्राणिदत्तबलिभुजो प्यजाद्या यस्मै बलिं हरन्ति स भवा न्निष्किञ्चन इति विदुषां परिषदि, न शोभत इति शेषः। तस्मात् प्रायेण नो हयाढ्या न भजन्ती त्यत्राऽ वधारयामहे न त्वेति आढ्यतान्धाः ऐश्वर्यमदान्धाः त्वा त्वां न विदन्ति न जानन्ति न लभन्ते चेत्यन्वयः। दूरस्थत्वा न्न विदन्तीति नेत्याह-अन्तिकमिति। "नेदिष्ठ मन्तिकतमम्"(अम.को.3-69)इत्यमरः। अत्र हेतुः असुतृप इति स्वेन्द्रियपोषणपरत्वात्। अन्तिकस्थत्वं स्पष्टयति बलिभुजामिति। य स्त्वं बलिभुजां ब्रह्मादीनाम प्यन्त रास्से तिष्ठसि किमुतेतरेषां, नियन्तृत्वेनेति शेषः। अत्र प्रमाणमाह प्रेष्ठ इति। सतां प्रियतमः। "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थ महं स च मम प्रियः" (भ० गी० 7-17) इत्यतो ज्ञानिदर्शनं प्रमाणम्। "कस्मै देवाय हविषा विधेम" (श्वेता० उ० .4-13) "इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिर" इत्यादि श्रुतिः॥ ३७ ॥

"ययो रात्म(रेव) समं वित्तम्" (भाग० 10-60-15) इत्याद्युक्त मनुवदति- **त्वं वै** इति। वैशब्दो हेत्वर्थः। त्वं फलात्मा सुखात्मा परमानन्दस्वरूपो वै यस्मात् तस्मात् समस्तपुरुषार्थमयोऽर्थ्यते इत्यर्थः। मयट्प्रत्ययः प्रधानार्थः। सर्वस्मा त्प्राधान्यस्वरूपः समस्तपुरुषै रर्थ्यमानस्वरूप इत्यर्थः। ये सुमतयः सम्यग्ज्ञानिनो यस्य तव वाञ्छया अनुग्रहेच्छया कृत्स्नं पुत्र मित्रवित्तादिसर्वं विसृजन्ति मुञ्चन्ति त्यक्तसर्वेषणा इत्यर्थः। अनेन प्रकृते किमागत मत्राह- तेषामिति। हे

विभो! तेषां सुमतीनां भवतश्च प्रसादः पूर्णसुखलक्षणो गुणः समुदितः सम्यगुक्तः। समानो वा नास्तीत्यस्य कोऽभिप्रायः इत्यत उक्तं यश्चेति। चोऽप्यर्थे, यश्च कोऽपि नास्तीत्यर्थः। ननु युवयोः कोऽपि गुणः समो नास्ति कि, मत्राह-त्रय्यां चेति। त्रय्यां चशब्दात् स्मृतिष्वपि च तयोः युवयोः यश्च कोऽपि गुणोऽस्ति स क इत्यतो रतयो रित्यनेन सूचितः "अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इति वेदोक्तकर्मकर्तृत्वेन सुमतीनां त्रयीरतत्वं भवतो वेदप्रतिपाद्यत्वेन च इति, एवमाकारेण समत्वम्। ननु जीवस्य चेतनत्वेन ज्ञानानन्दादिगुणोऽस्त्येव, अतः कथं समो गुणो नास्तीत्यत्राहसुखदुःखिनो रिति। सुखदुःखिनोः युवयोर्मध्ये केवलपरिपूर्णसुखो भवान्, ते सुमतयो भवज्ज्ञानपर्यन्तं दुःखिन इति। ननु पश्चात् समगुणत्व मापन्नं, "यो वानन्दा द्विमुक्तः ज्ञानानन्दी भवति" इति श्रुतेः, इतीयमाशङ्का "अल्पसम्पूर्णशक्तित्वा दल्पपूर्णसुखत्वतः" इति स्मृतिवचनेन परिहरणीया। यद्वा ये सुमतयः कृत्स्नं विसृजन्ति तेषां भवतः पुंसां भवदीयपुरुषाणां य स्त्वं फलात्मा परमानन्दमोक्षरूपः समुदितः सम्य गुक्तः। त्रय्यां त्रिवेदविहितमार्गे वर्तमानयोः सुखदुःखिनोः धर्माधर्मानुष्ठानेन तत्तत्फलभुजो र्विहितप्रतिषिद्धकर्त्रो र्य स्त्वं फलत्मा न समुदितः स त्वं मे वृतोऽसीत्यन्वयः॥ ३८ ॥

'भिक्षुभिः श्लाघिता मुधे'त्यस्योत्तरं शृणु- **त्वमिति**। न्यस्तो वाङ्मनःकायलक्षणो दण्डो यैस्ते न्यस्तदण्डाः तै र्मुनिभिः वाचंयमैः निर्जितेन्द्रियग्रामैः यतिभि रित्यर्थः। गदितानुभावः स्पष्टीकृतप्रभावस्त्वम्, अदीर्घसमीक्षयेति यदुक्तं तत्राह-आत्मेति। जगता मात्मा स्वामी भजता मात्मदः सायुज्यमुक्तिप्रदश्चेति दीर्घसमीक्षया निश्चित्य मे मया त्व मभिहितः वृतोऽसि। "हि र्हेतावबधारणे" (वैज.को. 8-7-9) इति यादवः। भवतः भव ज्जायमान मुदीरणं प्रेरणं यस्य स भवद्भवदुदीरितः स चाऽसौ कालः भवद्भवदुदीरितकालः तस्य गन्धेन ध्वस्ताशिषः निरस्तसम्पदः, अद्भ्यो जातोऽब्जः ब्रह्मा "सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्याऽमूर्छयत्" इति श्रुतेः। भवो रुद्रः नाकपति रिन्द्रः, एता न्मुक्त्वा अन्यां श्चैद्यादीन् मुक्त्वेति कुतः किमु वक्तव्य मित्यर्थः। एषा मदीर्घसमीक्षया वृतोऽसीत्यर्थः॥ ३९ ॥

"राजभ्यो बिभ्यतः" (भाग. 10-60-12) इत्येतत् प्रकारान्तरेणाऽऽक्षिपति- **सत्यमिति**। हे गदाग्रज! चशब्द एवार्थे। य स्त्वमेव शार्ङ्गिनिनदेन भूपा न्विद्राव्य मां जहर्थ हृतवानसि। कथमिव? यथा सिंहः स्वभागं पशुलक्षणं स्वबलिं स्वस्य भरणे योग्यं हरति तथा तेभ्यो राजभ्यो भयात् य देदधिं शरणं प्रपन्न इति य त्तत् तव वचः सत्यं साधुभावं त्यजतीति अस्मद्वचामोहनार्थ मुक्त मिति भावः॥ ४० ॥

**यद्वाञ्छया नृपशिखामणयोऽङ्ग वैन्यजायन्तनाहुषगयादय ऐकपत्यम्।**
**राज्यं विसृज्य विविशु र्वनमम्बुजाक्ष सीदन्ति तेऽनुपदवीं त इहाऽऽस्थिताः किम्॥ ४१॥**

**काऽन्यं श्रयेत तव पादसरोजगन्ध माघ्राय सन्मुखरितं जनताऽपवर्गम्।**
**लक्ष्म्यालयं त्वविगणय्य गुणालयस्य मर्त्यं सदोरुभय मर्थविविक्तदृष्टिः॥ ४२ ॥**

**तं त्वाऽनुरूप मभजं जगता मधीश मात्मान मत्र च परत्र च कामपूरम्।**
**स्या न्मे तवाङ्घ्रि ररणं सृतिभि र्भ्रमन्त्या यो वै भजन्त मुपयात्यनृतापवर्गः॥ ४३ ॥**

**तस्याः स्यु रच्युत नृपा भवतोपदिष्टाः स्त्रीणां गृहेषु खरगोश्वबिडालभृत्याः।**
**यत्कर्णमूल मरिकर्शन नोपयाया द्युष्मत्कथा मृडविरिञ्चिसभासु गीता॥ ४४ ॥**

त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्ध मन्तर्मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम्[21-] [-21] ।
जीवच्छवं भजति कान्तमति र्विमूढा या ते पदाब्जमकरन्द मजिघ्रती स्त्री[22] [23] ॥ ४५ ॥

1. M.Ma °दा० 2. M.Ma ना० 3. M.Ma कास्त्री 4. K. श्रयीत; M.Ma.w वृणीत 5 M.Ma ०याढ्यम् 6. B.G.J.M.Ma मर्त्या० 7. M, Ma °ऽशिषोरु 8. K. विवेक 9. M.Ma रूपम्; W. पूर्णम् 10 M.Ma शरणं 11. M.Ma शु० 12. M.Ma °त्या 13. M.Ma ये; w या 14- -14 M.Ma °न्ति उत यान्त्य० 15 M.Ma °र्गम्० 16 M.Ma क० 17. B.G.J. र्षण 18 MI.V. हर 19 B.G.J.M.Ma °ञ्च 20 w °ताः 21- -21 M.Ma °ड्भरितान्त्रवीतम् 22 M.Ma काम 23 MI.V. सा

**श्रीध०** यच्चान्यत् 'अस्पष्टवर्त्मनाम्' इत्यादिना, अर्था त्त्वां भजन्तः सीदन्ती त्यवसादनं श्रमावहत्व मुक्तं तदपि मन्द मेवेत्याह- **यद्वाञ्छयेति।** यस्य तव भजनवाञ्छया नृपोत्तमाः- अङ्गो वेनस्य पिता, वैन्यः पृथुः जायन्तो भरतः, नाहुषो ययातिः, गयश्चाऽऽदिः येषां ते। य[1] एते[2] तव अनुपदवीं[3] मार्गम् आस्थिताः[4] आश्रिता स्ते किं सीदन्ति, न सीदन्त्येव। अपि तु त्वत्पदं प्राप्ता इत्यर्थः। एवं च कोपावेशेनाऽवसादनस्य परिहारादस्पष्ट वर्त्मना मित्येत दानन्तर्यं विहायाद्रोत्कर्षः॥ ४१ ॥

यच्चोक्तं "अथाऽऽत्मनोऽनुरूपम्" (भाग.10-60-17) इति[5] तत्राह- **काऽन्यमिति** श्लोकद्वयेन। गुणाना मालयस्य तव पादसरोजगन्धं जनताया अपवर्गं मोक्षरूपं लक्ष्म्या आलयं सत्सेव्यं सद्भि र्मुखरितं वर्णित माघ्राय त मविगणय्य मर्त्यं[6] मरणधर्मकं[7] सदा उरुभयं यस्य त मन्यं का स्त्री श्रयेत सेवेत। अर्थे विविक्ता दृष्टिर्यस्याः सा। गुणालयस्येत्यनेन गुणै र्हीना इति यदुक्तं त दपास्तम्॥ ४२ ॥

अत स्त्वामेवाऽभज मित्याह-**तंत्वेति।** किञ्च प्रार्थयते- स्यादिति। अरणं शरणम्। सृतिभि र्देवतिर्यगादिभि[8] र्जन्मभिः। श्रुतिभिरिति[9-] [-9] पाठान्तरे त्वर्थवादबहुलकर्मश्रवणै रित्यर्थः। कथम्भूतस्य तव? य स्त्व मनृतस्य संसारस्याऽपववर्गो[10] नाशो यस्मात् सः भजन्त मुपयाति आत्मसात्करोति तस्य तवाङ्घ्रिरिति। भीतस्य हि शरणमेवाऽनुरूपं भजनयोग्यं, अतः त्वाम् अह[11] मभज मित्यर्थः॥ ४३ ॥

ये चोक्ता राज्ञां बहवो गुणाः "राजपुत्रीप्सिता भूपै र्लोकपालविभूतिभिः" (भाग.10-60-10) इत्यादिना, तत्र सेर्ष्यं सशापं साङ्गुलिभङ्गं चाह द्वाभ्याम्- **तस्याः स्युरिति।** खरा इव केवलं भारवाहाः, गावो बलीवर्दा इव नित्यं व्यापारक्लिष्टाः, श्वान इवाऽवमताः बिडाला इव कृपणा हिंस्राश्च, भृत्या इव किङ्करा नृपाः, तस्या दुर्भगायाः पतयः स्युः, यस्याः कर्णपथं त्वत्कथा न प्राप्नुयादिति॥ ४४ ॥

**त्वगिति।** तथाहि-ते पदाब्जमकरन्द मजिघ्रती सती या स्त्री विमूढा सा कान्तोऽय मिति मतिः यस्या स्सा कान्तमतिः जीवच्छवं भजति। त्वगादिभि र्बहिः पिनद्धं छन्नम् अन्त र्मांसादिमय मिति॥ ४५ ॥

1. MI. omits ये 2 V omits एते 3 B.J. omit अनु 4 B.J. omit आस्थिताः5 J.omits इति 6 B.J. मर्त्या 7 B.J धर्मिका 8. MI.V. °दिज० 9- -9 B.J. omit 10 MI.V add त्वा 11 MI.V. omit अहम्

**वीर०** "आस्थिताः पदवीं सुभ्रु प्राय स्सीदन्ति योषितः" (भाग.10-60-13) इत्य स्योत्तरमाह- **यद्वाञ्छयेति।** यस्मिन् त्वद्दास्ये वाञ्छया ये अङ्गादयो नृपोत्तमाः ऐकपत्यं, ततो मत्वर्यीयोऽच्, तद्राज्यं त्यक्त्वा वनं विविशुः, तत्राऽङ्गो वेनस्य पिता, वैन्यः पृथुः, जायन्तो[1] भरतः, नाहुषो ययातिः ते नृपशिखामणयो हे अम्बुजाक्ष[2-]! तव[-2] पदवीम् आस्थिताः इह सीदन्ति किम्? क्लिश्यन्ति किम्, अपि त्विह पदवीं याथात्म्यं सीदन्ति उपासिषते। उपासिषुः उपासनादशायामपि त्वदनुभवात्मकं सुखम् अनुबभूवुः, इह लोके आस्थिताः अवस्थिताः किं? किं तु त्वत्साधर्म्यम् अवापुरि त्यावृत्त्याऽन्वयः॥ ४१॥

"अथाऽऽत्मनोऽनुरूपम्" (भाग.10-60-17) इत्य स्योत्तरमाह-**काऽन्यमिति** श्लोकद्वयेन। गुणानां कल्याणानामाश्रयस्य तव पादसरोजयोः गन्धं, कथम्भूतम्? जनताया जनसमूहस्यापवर्गं निरतिशयफलरूपं लक्ष्म्याः ममाऽऽलयम् आश्रयं सेव्यमिति यावत्, सद्भिः मुखरित माघ्रातम् अविगणय्याऽनादृत्य मर्त्यं मरणशीलं सदा उरु भयं यस्य सः, तमन्यं पुरुषं का वा स्त्री अर्थविवेकदृष्टिः स्वहिताहितविभागपरिशीलनपरा चे दाश्रयेत? गुणाश्रयस्येत्यनेन गुणैर्हीना इत्येत त्पूर्वोक्तविधया व्याख्येय मित्यभिप्रेतम्॥ ४२॥

अत स्त्वामेवाऽहमभजमित्याह- **तमिति।** त मुक्तविधं' किञ्चाऽनुरूपं शेषित्वादिति भावः। एवंविधं त्वा त्वामेव अभजम्, किञ्चि त्प्रार्थयते-स्यादिति। सृतिभिः गतिभि र्जन्मभिरिति यावत्। "राघवत्वेऽभव त्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि, देवत्वे देवदेहेयं मनुष्यत्वे[3] च मानुषी"(वि.पु.1-9-144,145) इत्युक्तावतारविशेषै रित्यर्थः। भ्रमन्त्याश्चरन्त्याः त्वत्सहचारिण्या मम तवाङ्घ्रिरेव अरणं शरणं गृह्णाश्रय इति यावत्, स्यात्। कथम्भूतस्य? योऽनृतस्य पापस्य तन्मूलसंसारस्य वा अपवर्गोऽवसानं यस्मा त्तथाभूतः भजन्त मुपयाति अनुभजते, तस्य तवेति सम्बन्धः॥ ४३ ॥

ये राज्ञां गुणाः "राजपुत्रीप्सिता भूपैः (भाग.10-60-10) इत्यादिनोक्ता स्तत्र सेर्ष्यं सशापं साङ्गुलिभङ्गं चाह द्वाभ्यां-**तस्या स्स्युरिति।** हे अच्युत! ये नृपाः स्त्रीणां गृहेषु स्त्रीप्रधानकेषु गृहेषु खरा इव केवलं भारवाहाः, गावो बलीवर्दा इव नित्यं व्यापारक्लिष्टाः श्वान इव अवमताः गृहपालनाद्यर्थं द्वारस्थाश्च, बिडाला इव कृपणाः पदा ताड्यमाना अपि पुनःपुनः अनुवर्तमानाश्च भृत्या आज्ञाधारकाश्च ते तस्या दुर्भगायाः पतय स्स्युः, तामेव विशिनष्टि- यदित्यादिना। हे अरिकर्शन! शत्रुहन्! त्वं यस्याः कर्णमूलं कर्णपथं नोपयायाः नोपगतवान्, तथा मृडविरिञ्चादिभिः सभायां तेषां सभायां वा गीता स्तव कथाश्च नोपाययुः, या त्वां त्वत्कथाश्च कदाऽपि न श्रुतवती, तस्याः पतय स्स्यु रिति सम्बन्धः॥ ४४॥

तथा हीत्याह- **त्वगिति।**[4] या स्त्री तव पदाब्जमकरन्दम् अजिघ्रती नाघ्रातवती कदाप्यश्रुतत्वत्कथा अत एव विमूढा[5-] अत[-5] एव कान्तः प्रियतमोऽयं ममेति मति र्यस्या स्सा बहिः त्वगादिभिः पिनद्धं छन्न मन्त मांसादयो यस्मिन् तत्, जीवदपि शवतुल्यं कलेबरं यस्य तं पुरुषाधमं भजते, विट् मलम्, त्वगादयः प्रसिद्धाः॥ ४५ ॥

1. K.T.W omit किम्? 2- -2 K.T.W omit 3. K. omits शरणं 4. K.T.W. omit अयं 5- -5 K.T.W. जीवित

**विज०** "प्रायः सीदन्ति योषितः" (भाग.10-60-13) इत्यत्र वक्ति - **यद्वाञ्छयेति।** नृपशिखामणयोऽङ्गादयो यस्य तव श्रीपादनिषेवणवाञ्छया ऐकाधिपत्यं राज्यं साम्राज्यं विसृज्य वनं विविशुः। ते राजानः सीदन्ति किम्? तवानुपदवीं नाऽऽस्थिताः किम्? आस्थाय न सीदन्तीत्यर्थः। अम्बुजाक्ष! इत्यनेन नयनयोः स्निग्धं गुणं सूचयति॥ ४१,४२॥

स्थिरबुद्धित्वेन पुरुषाणां विषादाभावेऽपि भीरूणां स्त्रीणां स स्यादिति मन्दाशङ्कां श्लोकद्वयेन परिहरति- **केति**। का स्त्री सततरमणकाङ्क्षिणी जनतायाः जनसमूहस्याऽपवर्गो मोक्षो यस्मात् स तथा तं, सद्भिः मुखरितं मुख्यत्वेन ईरितं दत्तमुपदिष्टं प्रधानीकृतमित्यर्थः॥ एवंविधं तव पादसरोजगन्ध माघ्राय निषेव्य पुन रत्र परत्र च कामरूपं त्वा मविगणय्य मर्त्याशिषा नाशशिरस्कसम्पदा कारणेन उरुभयं गुरुतरभीतिमन्तं जनं वृणीतेत्यन्वयः। कीदृशम्? त्वां लक्ष्म्याः सकलसम्पद आलयं शौर्यादिगुणाना मालयम् अत एव आढ्यं च य स्त्व मविशेषेण स्त्रीपुरुषाणा मर्थनीयगुणरत्नाकरः तं त्वा मह मभजं चैद्यादीन्, हित्वेति शेषः । कथंविधं त्वाम्? अनुरूपम् अनुकूलसौन्दर्यम् जगता मधीशं जगता मीश्वराणां ब्रह्मादीनामपि सम्पत्प्रदं अत एवाऽऽत्मानं तेषां स्वामिनं कीदृश्यहं च अर्थविविक्तदृष्टिः अर्थोऽयमिति विवेकीकृतदृष्टिः अव्यक्त ज्ञानेत्यर्थः। किं बहुनेत्याशयेनाह- स्यादिति। कीदृश्याः? भ्रमत्याः भ्रमः तिः अन्नं यस्याः सा भ्रमतिः तस्या विपरीतज्ञानिना मशित्र्या[1] इत्यर्थः। के नेय मवगम्यत इत्यत उक्तम्- श्रुतिभिरिति। श्रुतिप्रमाणेन, सिद्धाया इति शेषः। "अभ्रमा भ्रमता मत्री। या वेदै रधिगम्यते" 'नारदीये' इत्यादिस्मृत्या च। "मुखं तु वदने मुख्ये" (वैज.को.6-3-25) इति यादवः। "तीत्यन्नम्" इति श्रुतिः। पारत्रिककामरूपत्वं दर्शयति- य इति। ये त्वां भजन्ति त उत एवाऽनृतापर्कां संसारा न्मोक्षं यान्तीत्वन्वयः। "तमेवं विद्वा नमृत इह भवति" (पु.सू.1-7) इति श्रुतिः वैशब्देन गृहीता॥ ४३ ॥

नृपाणां हेयत्वे दोषान्तरमाह- **कस्या** इति। हे अच्युत! स्वतः परतो वा च्युतिरहित! भवतोपदिष्टा नृपा श्चैद्यादयः कस्याः स्त्रियाः स्युः? न कस्या अपि भवन्तीत्यर्थः। सर्वदोषेष्वधिको दोषोऽयमिति भावेनाह-यत्कर्णमूलमिति। हे अरिकर्शन! मृडो रुद्रः रुद्रविरिञ्चसभासु गीता युष्मत्कथा येषां नृपाणां कर्णमूलं नोपयायात् नोपगच्छति, त इति शेषः। 'तासां' स्युरिति पाठे यासां कर्णमूलं तासां स्त्रीणां ते नृपाः स्यु रित्यर्थः॥ ४४ ॥

एतदेव स्पष्टयति-त्वक्श्मश्रुरोमेति। या स्त्री तव पदाब्जमकरन्द मजिघ्रती असेवमाना सा जीवच्छवं जीवन्मृतं पुरुषं भजति। तत्र निमित्तं काममति रिति। अस्य सम्पदमाह-बहिः त्वगादिभिः पिनद्धं बद्धम् अन्तर्मांसादिभिः संवृतम्। ननु विग्रहोप्येतादृशः कृष्णस्य किं न स्या दविशेषा दिति चे न्न। "आनन्दश्मश्रु रानन्दकेशः" (माध्यन्दिनश्रुतिः) इत्यिदिश्रुतेः हेतोः कालात्यायन (यादु) दिष्टत्वात्॥ ४५ ॥

1. Ml.a. °मी०

**अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुराग आत्मन्रतस्य मयि चानतिरिक्तदृष्टेः।**
**यर्ह्यस्य वृद्धय उपात्तरजोऽतिमात्रो मा मीक्षसे तदु ह नः परमानुकम्पा॥ ४६ ॥**

**नैवालीक[2] महं मन्ये[2] वच स्ते मधुसूदन!**
**अम्बाया इव हि[3] प्रायः कन्यायाः[4] स्याद्रतिः[4] क्वचित्॥ ४७॥**

**व्यूढाया[5] श्चाऽपि पुंश्चल्या मनोऽभ्येति नवं नवम्।**
**बुधोऽसतीं न बिभृया त्तां बिभ्र दुभयच्युतः॥ ४८ ॥**

## श्रीभगवानुवाच

साध्व्येत च्छ्रोतुकामेन राजपुत्रि प्रलम्भिता।
मयोदितं य दन्वात्थ सर्वं त त्सत्यमेव हि॥ ४९ ॥

या न्यान्कामयसे कामा न्मय्यकामाय मानिनि।
सन्ति ह्येकान्तभक्ताया स्तव कल्याणि नित्यदा॥ ५० ॥

1 M.Ma अस्त्य० 2- -2 M.Ma °कं भरत्येव 3. V. मे 4- -4 M.Ma °वादरतिः 5 K.W. ऊढाया; M.Ma मुग्धाया० 6. M.Ma साध्वे० 7. B-G-J.M.Ma कामै स्त्वं 8. MI.V. °त्री 9. M.Ma °न्वर्थं 10. M.Ma यं यं 11. M.Ma कामं 12- -12 M.Ma मयि कामय 13. B.G.J भामिनि; M.Ma.W. कामिनि

**श्रीध०** यदुक्तं 'उदासीना वयम्' इत्यादिना[1], तत्राह - **अस्त्विति**। यद्यपि त्वं निरपेक्षः तथापि मम ते चरणानुरागोऽस्तु। मयि च मय्यपि[2] अनतिरिक्ता[3] अनतिशयवती[3] दृष्टि र्यस्य तस्य ते। आत्मन् आत्मन्येव रतस्य। तर्हि तव तेन को लाभः। त्वच्चरणानुराग एव महान् लाभः। किञ्च यद्दर्चस्य विश्वस्य वृद्धये उपात्ता रजसोऽतिमात्रा औत्कटचं येन स तथाभूतस्सन् माम् इक्षसे[4]। उ एवार्थे। ह हर्षे। तदेव नः परमानुक्रम्पा अत्यनुग्रह इति॥ ४६ ॥

त देवं सर्वं तदुक्तं प्रति व्याख्याय प्रसन्नचित्ता मन्त्र मुपदिश न्त्याह द्वाभ्याम्-**नैवेति**। 'अथाऽऽत्मनोऽनुरूपम्' इत्यादि ते वचोऽलीकं मिथ्येति नैव मन्ये। यतो लोके कन्याया एव क्वचि द्रतिः[5] भवति। यथा काशिराजकन्यानाम् अम्बाम्बाल्यम्बिकानां[6] तिसृणां मध्ये अम्बायाः कन्याया एव साल्वे[7] रति र्जाता तद्वत्॥ ४७ ॥

**व्यूढाया** इति। व्यूढायांः परिणीताया अपीति, उभयस्मा दिहपरलोकद्वयात् च्युतो भ्रष्ट इति॥ ४८ ॥

**साध्विति**। प्रलम्भिता उपहसिता[8]। अन्वात्थ अन्वाख्यातवती[9]॥ ४९ ॥

**यानिति**। मयि एकान्तभक्तायाः ते कामाः सन्त्येव। अकामाय कामनिवृत्तये मोक्षपर्यवसायिने इत्यर्थः॥ ५०॥

1 MI.V.omit ना 2. MI.V. omit अपि 3- -3 B.J न अतिरिक्ता अति० 4 MI.V. समीक्षसे 5. MI.V. °शी० 6 B.J °लिकाम्बि० 7. B.J शा० 8. MI.V. add असि 9. B. आख्या०

**वीर०** यदुक्तम् 'उदासीना वयम्' इत्यादि, तत्राह-**अस्त्विति**। हे अम्बुजाक्ष! आत्मन् आत्मनि रतस्य आत्मारामस्येत्यर्थः। अनेन निरपेक्षत्वरूपमुदासीनत्व मनूदितम्। मय्यनतिरिक्ता अनतिशयिता दृष्टि र्यस्य[2], अनेनाकामुकत्वम्। तस्य तव चरणयोः अनुरागः प्रेमा अस्तु, ममेति शेषः। यद्यप्युदासीनोऽकामुकश्च[3] सन् गृहमेधिधर्मा नभिनयसि[4], तथाऽपि मयाऽपि त्वच्चरणानुरागमात्रमेव प्रार्थनीयं न तु ततोऽधिकमिति भावः। सन्तु वा तव वचां स्यापातप्रतीतनिष्ठुरार्थपराणि

तथापि कदाचि त्समयविशेषे तव मय्यनुकम्पस्यदुर्निवारैवे त्याभिप्रेत्याह- यर्हीत्यर्धेन। यर्हि यदा अस्य विश्वस्य वृद्धये समृद्धये उपात्ता रजसः सृष्ट्युपयुक्तरजोगुणस्याऽतिमात्रा औत्कट्यं येन तथाभूतस्सन् मा मीक्षसे इति यत् तदुह तदेव परमा निरतिशया अनुकम्पा कृपा, विचित्रं जगत् सृष्ट्वा तत्र मदनुमोदनार्थं मा मीक्षसे इत्येषैव महती कृपेत्यर्थः॥ ४६॥

तदेवं सर्वं तदुक्तं प्रतिभाष्य प्रसन्नचित्ता मन्त्र मुपदिशन्ती प्राह-**नैवेति** द्वाभ्याम्। हे मधुसूदन! तव यद्वचः "अथाऽऽत्मनोऽनुरूपं वै" (भाग 10-60-17) इत्यादि तदलीक मनृतं इति न मन्ये नाऽसत्य मित्यर्थः। कुतः? यतो लोके कन्याया एव क्वचित्पुरुषविशेषे रति र्भवति, यथा अम्बायाः काशिराजपुत्रिकायाः अम्बाख्याः, तद्वत् अम्बाया कन्याया एव साल्वे रति र्बभूवे तीतिहासोऽत्र विवक्षितः॥ ४७ ॥

तथा ऊढायाः परिणीताया अपि पुंश्चल्या मनो नवं नवं पुरुष मभ्येति, ततः किमत आह- बुध इति। बुधो बुद्धिमान् असती मुक्तविधां स्त्रियं न बिभृयात्। विपर्यये अनर्थमाह-बिभ्रत् पुष्णन् उभयच्युतः उभयस्मा देतल्लोका त्पर लोकाच्च प्रच्युतो भवति, इहाऽमुत्र च न सुखी किन्तु दुःखी भवतीत्यर्थः॥ ४८ ॥

अथैवं क्रोडीकृतस्वाभिप्रायो भगवा निदमेव मदभिप्रेतम्, कूटवचांसि तु त्वद्वचश्शुश्रूषया प्रयुक्तानीत्याह- **साध्वीति।** हे साध्वि! हे राजपुत्रि! श्रोतुकामेन मया, एतद्वच इति शेषः। प्रलम्भिता इत्थ मुपहसितेत्यर्थः, य न्मयोदितं सर्वं मन्वात्थ तात्पर्यक्रोडीकारेण प्रतिभाषितवत्यसि, तत्सर्वं सत्यमेव मदभिप्रेतमेव॥ ४९ ॥

अतीव तुष्टोऽनुगृह्णाति- **याऽन्यानिति।** हे मानिनि! याऽन्यान्कामान् "स्या न्मे तवाङ्घ्रि रणम्"(भाग.10-60-43) "अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुरागः" (भाग.10-60-46) इत्येवं काम्यमानान् अकामाय कामा न्निवृत्तये मदनपायित्वव्यतिक्रमनिवृत्तये कामयसे, ते कामा मय्येकान्तभक्ताया अनन्यप्रयोजनभक्तियुक्तायाः तव हे कल्याणि! नित्यदा सन्त्येव, न त्वया प्रार्थ्या मया देया श्चेत्यर्थः॥ ५० ॥

1. B.T.W. °क्षरूप 2. B.adds इति 3. B omits वा 4. K. °ति 5. T.W यावत् 6. K.T.W. omit इति 7. B adds एव

**विज०** अहमपि एतादृशी नेत्याह-**अस्तीति।** चरणयोरनुरागः परा भक्तिः अस्तीति भक्तेः सर्वदैकप्रकारत्वं कथयति। मया तव न कोऽप्यर्थ इति भावेनाह-आत्मन्निति। आत्मन् आत्मनि मम तु त्वत्तो महा नर्थोऽस्तीति भावेनाह-मयि चेति। मयि महाधिकारिण्यां भक्तेः न अतिरिक्ता दृष्टिः अनुग्रहलक्षणा यस्य स तथा भक्त्यनुकूलानुग्रह इत्यर्थः। तस्य चशब्दो भक्ते रन्वयव्यतिरेकसूचकः. तत्कुत इति चे न्न। "य एष देवः परोऽक्षरोऽमर स्तं वा एनमाहुः भक्ताः" इत्यादि श्रुतिसिद्धत्वात्। अनेनैव तारतम्यं सूचयति- "अथातो भक्तिमीमांसा" इति श्रुतिविहितत्वात् अन्योन्यं हेतुहेतुमद्भावं च "मिलितौ वाव एतौ एतौ भक्तो यदनुग्रहश्च भक्तिश्च" इति श्रतिसिद्ध मनुवदति? मिलितावन्योन्यं हेतुहेतुमद्भावोपेतौ, भक्त्यनुकूलानुग्रहविशेषं कथयति यर्हीति। यर्हि यदाऽस्य जगतोऽभिवृद्धये सृष्टिलक्षणायै उपात्तं स्वीकृतं रजोऽतिमात्रं केवलं रजो येन स तथा। यद्वा उपात्ताः प्रलये मूलरजसि अतीताः सङ्गताः मात्रा अंशा येन स तथा। मूलरजोगुणोपादानवान् इत्यर्थः। तदु तदेव मा मीक्षसे, ह विशेषत इत्यर्थः। यदा स्थितिलक्षणायै उपात्ता रजसोऽतिरिक्ता मात्रा सत्त्वलक्षणा येन स तथा। तदा मा मीक्षसे। यदाऽतिवृद्धिरहितो वर्धनं छेदनं संहारः तस्मै उपात्ता रजोऽतिक्रान्ता मात्रा तमोलक्षणा येन स तथा। अत्रेक्षणं नाम तत्तत्कार्य मनुस्मृत्य रजआदिमदधीनतत्तद्गुणाभिवर्धन मभिप्रेतम्। तदुक्तम्- "अथ त्रिगुणा ह्येव प्रकृति रगुणो वा वा विष्णुः स यदा ह्यरजा रजोऽस्या उद्वर्धयति" (चाक्रायण श्रुतिः) इत्यादि श्रुतौ नैत त्स्वप्रयोजन मुद्दिश्येति। नः अस्मा नुद्दिश्य कृता परमकृपेति भावः॥ ४६ ॥

भगवती भगवदुक्ते रेवं तात्पर्यं प्रकाश्य निगमयति- **नैवेति**। हे मधुसूदन! ते तव वचः अलीकम् असत्यलक्षणं भारं न भरति न तु बिभर्त्येव। भृञ् भरणे इति धातुः। कथमिव? अम्बायाः कन्यावादरति रिव, यथा मातुः कन्याप्रदानकथायां रतिः तात्पर्याभिनिवेशलक्षणा नाऽलीकं भवति। प्राय एवाऽयमर्थोऽनुमतो हि। "समुच्चयेऽनुमत्यां चा प्येव साम्येऽवधारणे" इति यादवः। क्वापि मातूरति रलीकं भरति तव वचः क्वाप्यलीकं न भवत्येवैतदुक्तं क्वचिदिति। क्वचित्क्वापि॥ ४७॥

इदानीं कृष्णस्य नियतदारत्व मात्मनो नियतपातिव्रत्यं च ध्वनयन्ती देवी **पुंश्चली इममर्थं वादयति - मुग्धाया** इति। अस्यार्थ आचार्योक्तोऽत्र लिख्यते यामसतीं बुधो न बिभृयात्. याचतां **बिभ्रद्दृष्टादृष्टच्युतो भवति तस्या** अपि पुंश्चल्या स्त्वयि मनो नवं नव मभ्येतीति मूर्छया मोहिन्या मूढत्वं युवयोरपि तत्र तत्र सुलभ मुपलब्धमिति मन्दाशङ्का। "अमुग्धैव तु मुग्धेव त्वदुःखा दुःखितेव च। श्रीर्दर्शये द्धरिश्चैव नैवैतौ मोहदुःखिनौ" (कापिलेये) इत्यादिस्मृत्या परिहर्तव्या॥ ४८॥

भगव त्योक्तं भगवता कि मनुमतं विमत मिति विकल्पं परिहरति- **साध्विति**। एतद्वचः प्रलम्भिता प्रस्तोभिता। अन्वर्थ मनुकूलार्थम्॥ ४९ ॥

हे ईश्वरि! यं यं कामं कामयसे सर्वे त्वयि नित्यदा सन्ति, हि यस्मात् तस्मात् कां विभूतिं कामयसे न कामपीत्यर्थः। यद्वा यं यं कामं कामयसे ता न्मयि कामयस्व तेषा मभावा द्वच्मीत्याह- सन्तीति। तस्मा त्प्रियवचनमुक्तं कामयति॥ ५०॥

**उपलब्धं पतिप्रेम पातिव्रत्यं च तेऽनघे।**
**य द्वाक्यै श्चाल्यमानाया न धी र्मय्यपकर्षिता॥ ५१ ॥**

**ये मां भजन्ति दाम्पत्ये तपसा व्रतचर्यया।**
**कामात्मानोऽपवर्गेशं मोहिता मम मायया॥ ५२ ॥**

**मां प्राप्य मानि न्यपवर्गसम्पदं वाञ्छन्ति ये सम्पद एव तत्पतिम्।**
**ते मन्दभाग्या निरयेऽपि ये नृणां मात्रात्मकत्वा न्निरय स्सुसङ्गमः॥ ५३ ॥**

**दिष्ट्या गृहेश्व र्यसकृ न्मयि त्वया कृता नुवृत्ति र्भवमोचनी खलैः।**
**सुदुष्कुराऽसौ सुतरां दुराशिषो हचसुम्भराया निकृतिंजुषः स्त्रियाः॥ ५४ ॥**

**न त्वादृशीं प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु पश्यामि मानिनि यया स्वविवाहकाले।**
**प्राप्ता नृपा नवगणय्य रहस्करो मे प्रस्थापितो द्विज उपश्रुतसत्कथस्य॥ ५५ ॥**

**भ्रातु र्विरूपकरणं युधि निर्जितस्य प्रोद्वाहपर्वणि च तद्वध मक्षगोष्ठ्याम्।**
**दुःखं समुत्थ मसहोऽस्मदयोगभीत्या नैवाऽब्रवीः किमपि तेन वयं जिताः स्मः॥ ५६॥**

दूत स्त्वयाऽऽत्मलभने सुविभक्तमन्त्रः[13] प्रस्थापितो मयि चिरायति शून्य मेतत्।
मत्वा जिहास[14] इद मङ्ग मनन्ययोग्यं तिष्ठेत[15-] तत्त्वयि[-15] वयं प्रतिनन्दयामः॥ ५७ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं सौरतसल्लापै[16] र्भगवान् देवकीसुतः[17]।
स्वरतो रमया रेमे नरलोकं विडम्बयन्॥ ५८ ॥

तथाऽन्यासामपि[18] स्त्रीणां[19] गृहेषु गृहवानिव।
आस्थितो गृहमेधीया न्धर्मान्[20] लोकगुरु र्हरिः[21]॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे षष्टितमोऽध्यायः॥ ६० ॥

1. M.Ma °श्चोद्य० 2 M.Ma सत्प० 3. M.Ma स्युः 4 M.Ma °ये सु० 5- -5 M.Ma गृहैश्वर्ययुते मयि 6 M.Ma वि० 7. M.Ma °यः 8. M.Ma Ml.V. °वि० 9- -9 B.G.J रहोहरो; M.Ma रहोरहो; Ml.V.रहो अहो;10 M.Ma °स्थित 11. M.Ma °ग्ना० 12 B.G.J M.Ma जिता स्ते। 13. B.G.J.M.Ma.W °वि० 14, M.Ma °सुरिद० 15- -15 M.Ma तिष्ठे स्तत स्त्वयि 16 B.G.J.M.Ma संलापै० 17. B.G.J जगदीश्वरः। 18. Ml.V. अ० 19. B.G.J.Ml.V विभुः 20. B.G.J.M.Ma धर्मांल्लोक० 21. M.Ma °र्जुषन्

**श्रीध०** अनुवादेन वरान् दत्त्वा ता मभिनन्दति- **उपलब्धमिति**। यद्यस्मा न्मयि वर्तमाना श्री र्नापकर्षिता नाऽन्यविषया जाता॥ ५१ ॥

एकान्तभक्ति मभिनन्द्य तामेव दृढीकर्तुं सकामान् भक्तान्निन्दति- **ये मामिति**। दाम्पत्ये दम्पत्युपभोग्यसुखार्थम्[1]॥ ५२ ॥

मायामोहितत्वमे वोपपादयति- **मां प्राप्येति**। अपवर्गेण सह सम्पदो यस्मिं स्तं मां प्राप्य प्रसाद्य ये केवलं सम्पद एव विषयान् वाञ्छन्ति न तु मां तत्पतिं तासां सम्पदामपि योऽहमेव पति स्तम्। तथा[2] ये विषयाः निरयेऽपि अतिनिकृष्टयोनावपि[3] स्यु स्तान्। किञ्च तेषां पुंसां[4] मात्रात्मकत्वा द्विषयात्मकत्वा न्निरयः सुखसङ्गमः शोभनसङ्गम एव स्यात्, अतो मन्दभाग्या एव[5- -5] ते इत्यर्थः॥ ५३ ॥

**दिष्ट्येति**। तस्मात् हे गृहेश्वरि! त्वया मयि भवमोचनी निष्कामानुवृत्तिः कृता। एत द्दिष्ट्या भद्रं! कथम्भूता? खलैः सुदुष्करा, दुराशिषो दुरभिप्रायाया अत एव असुम्भरायाः प्राणतर्पणपराया निकृतिंजुषो वञ्चनपरायाः स्त्रियाः सुतरा मसौ अनुवृत्तिः सुदुष्करेति॥ ५४ ॥

किञ्च, सन्ति निष्कामाः प्रेम्णैव मय्यनुवर्तमाना बह्व्यः, किन्तु त्वया सदृशीं[6] क्वापि न पश्यामीति तस्या भक्तिं बहुमानेनाऽभिनन्दति-न त्वादृशीमिति त्रिभिः। उपश्रुताः सत्यः कथा यस्य मे॥ ५५ ॥

**भ्रातुरिति।** प्रोद्वाहपर्व ण्यनिरुद्धविवाहे। अक्षगोष्ठ्यां द्यूतसभायाम्। तस्य भ्रातु र्वधम्। तस्मिन् काले कालान्तरे वा[7] त दनुस्मरणतः पुनः पुनः समुत्थं दुःखम् अस्माभि स्योगो वियोग स्तद्भीत्या असहः सोढवत्यसि। अनेनैवाऽनिरुद्धविवाहानन्तर्य मस्य ज्ञातव्यम्॥ ५६ ॥

अपि च **दूत** इति। आत्मलभने मत्प्राप्त्यर्थं मयि चिरायति 'श्वो' भाविनि विवाहे आगन्तव्य मिति कृते समये कथञ्चि दप्राप्तवति स त्येतद्विश्वं शून्यं मत्वा इद मनन्ययोग्य मङ्गं जिहासे त्यक्तुमिच्छामि[8] इत्येवं दूतः प्रस्थापितः। तथा ह्युक्तं त्वया - "य र्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं जह्या मसून् व्रतकृशान् शतजन्मभिः[10] स्यात्" (भाग 10-52-43) इति। यद्वा अजिहास इति च्छेदः। त्यक्तुमैच्छ[11] इत्यर्थः[12]। तत्तव कर्म त्वय्येव तिष्ठेत्। न त त्प्रतिकर्तुं[13] शक्यमित्यर्थः। किन्तु केवलं[14] वयं त्वां प्रतिनन्दयामो हर्षयाम इति॥ ५७ ॥

**एवमिति।** सौरतसँल्लापैः सुरतनर्मगोष्ठीभिः॥ ५८, ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां षष्टितमोऽध्यायः॥ ६० ॥

1. Ml.V. भोग 2. Ml.V. omit तथा 3. Ml.V. omit अति 4. Ml.V. omit पुंसां 5- -5 Ml.V omit 6 Ml adds कामपि; V adds चापि 7. Ml.V. omit वा 8. B.J. add त्यक्ष्यामि 9. Ml.V °च० 10. B.Ml.V स्याम् 11. V. °मैच्छत 12. Ml.V add ततः 13. B.Ml.V. °त 14 B.J omit वयं

**वीर०** अभिनन्दति- **उपलब्धमिति।** हे अनघे! पत्यौ मयि[1] प्रेम्णा[2] य त्पातिव्रत्यं पतिपारार्थ्यं त दुपलब्धं दृष्टं, मयेति शेषः। कुतः? य द्यतो वाक्यैः उक्तविधै र्मद्वाक्यैः चाल्यमानाया अपि तव धी र्बुद्धिः मयि नापकर्षिता नापनीता नाऽन्यविषया जाता॥ ५१ ॥

एकान्तभक्ति मभिनन्द्य तामेव दृढीकर्तुं सकामा न्भक्ता निन्दति[3] **-ये मामिति।** ये जनाः कामात्मानः क्षुद्रमनोरथाऽऽविलचित्ताः मोक्षाधिपतिमपि मां दाम्पत्ये दम्पत्योः कर्मणि दम्पत्युपभोग्यसुखार्थ मित्यर्थः। तपसा मनःप्रणिधानात्मकेन व्रतचर्यया अनशनादिव्रतानुष्ठानेन च भजन्ति, ते मम मायया मोहिताः॥ ५२ ॥

तदेवोपपादयति- **मामिति।** अपवर्गः मोक्षः स एव सम्पत् लक्ष्मीः यस्मा त्तं तासा मपवर्गेतरसम्पदामपि पतिं मां प्राप्य प्रसाद्य, तपआदिभिरिति शेषः। सम्पदः अपवर्गेतरकामानेव वाञ्छन्ति, ते जनाः मन्दभाग्याः। कुतः? यद्यस्मा द्वे नृणां विषयाः ते निरये नरकेऽपि स्युः। कुत श्शब्दादिविषयसुखानां केवलदुःखात्मकनरके सम्भवः? तत्राह-मात्रात्मकत्व त्तेषां सुखलेशात्मकत्वा न्नरकेऽपि[4] सम्भव इति भावः। अतो निरयः सुसङ्गमः शोभनरूपतया प्रतीयमानो दम्पत्योः सङ्गम निरयो नरकप्राय एव। अत स्ते मन्दभाग्या इत्यर्थः॥ ५३ ॥

पुनर प्यभिनन्दति- **दिष्ट्येति।** हे गृहेश्वरि! त्वया मयि भवमोचनी निष्कामा अनुवृत्तिः कृता, एतत् दिष्ट्या! आनन्दः। वृत्तिं विशिनष्टि। - असा वनुवृत्तिः खलैः दुर्जनैः दुःखेनापि कर्तु मशक्या, दुराशिषो दुरभिप्रायाः अत एव असुम्भरायाः इन्द्रियतर्पणपरायाः निकृतिंजुषः वञ्चनपरायाः स्त्रियास्तु सुतरां दुष्करा॥ ५४ ॥

**न त्वामिति।** हे मानिनि! प्रणयिनीं प्रेमवतीं न पश्यामि। तत्र निदर्शनं वदन् तां विशिनष्टि- ययेति। यया त्वया अवगणय्य अनादृत्य श्रुताः सत्कथा स्त्वदीयाः येन तस्य मे मह्यं रहस्करः रहस्यवार्ताहर्ता द्विजः प्रेषितः, अत स्त्वादृशीं भार्यां न पश्यामीत्यर्थः॥ ५५ ॥

किञ्च, त्वद्गुणै रेवाऽहं वशीकृत इत्याह-**भ्रातुरिति।** युद्धे मया निर्जितस्य भ्रातुः रुक्मिणो विरूपकरणं, तथा प्रोद्वाहपर्वण्यनिरुद्ध विवाहोत्सवे तत्रा प्यक्षगोष्ठ्यां द्यूते तस्य रुक्मिणो वधम्, इदं समनन्तराध्याये स्फुटीभविष्यति। समुत्थं तद्वधश्रवणजं दुःखं च अस्मदयोगभीत्या अस्मद्विश्लेषभीत्या हेतुभूतया असहः सोढवत्यसि, किमपि नाऽब्रवीः नोक्तवत्यसि, तेनैवंविधगुणजातेन वयं जिताः स्मः वशीकृता बभूविम। यद्यप्यस्य प्रणयकलहस्याऽनिरुद्धविवाहानन्तर्यम्, अतो ज्ञायते, तथाप्यत्र व्युत्क्रमेणोक्तिः प्रश्नानुगुण्येनेत्यवगन्तव्यम्॥ ५६ ॥

किञ्च- **दूत** इति। आत्मलभने मत्प्राप्त्यर्थं सुविभक्तः "य र्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय तव प्रसादं जह्यां मसून्व्रतकृशान् शतजन्मभि स्स्यात्" (भाग 10-52-43) इत्येवं विविच्य ज्ञापितो मन्त्रो यस्य सः दूतः प्रेषितः, तदाऽपि मयि चिरायति ईषद्विलम्बं कुर्वति सति एतद्विश्वं शून्यं मत्वा इदमनन्यार्हं मङ्गं शरीरं जिहासे हातु मिच्छामी त्येवं भवती तिष्ठेत स्थितवतीति यत्, तत् त्वयि वयं केवलं प्रतिनन्दयामः प्रतिकर्तु मशक्नुवन्तः केवलं हर्षयाम इत्यर्थः। यद्वा जिहासे इत्येवं विभक्तमन्त्रो दूतः प्रस्थापित इति सम्बन्धः॥ ५७ ॥

**एवमिति।** नरलोकं विडम्बयन् अनुकुर्वन्, हेतुगर्भ मिदम्, तत्त्वा दित्थं सौरतसल्लापैः सुरतनर्मगोष्ठीभिः स्वरतः आत्मारामोऽपि रमया लक्ष्म्यवतारभूतया रुक्मिण्या सह रेमे॥ ५८ ॥

**तथेति।** अन्यासामपि पत्नीनां गृहेषु गृहाश्रमीव गृहस्थाश्रमयुक्तान् धर्मान् आस्थितस्सन्नेव रेमे॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां षष्टितमोऽध्यायः॥ ६० ॥

---

1. T.W कृष्णे 2. T.W omit प्रेम्णा 3. B.T.W भोग 4 K.T.W omit अपि 5. B. °वि 6. T.W °म० 7. K. गम्यते 8. T.W omit अपि 9. B.omits मयि 10 T.W omit तत् 11. K.W अ०

**विज०** भर्तुः स्नेहः पातिव्रत्यं चाभीष्टसम्पत्प्राप्तौ निमित्तं त त्तवाऽस्तीत्याह- उपलब्धं दृष्टं, तत्र हेतुः यद्वाक्यै रिति। मयि संलग्ना धी र्नापकर्षिता अन्यत्र न नीता, य द्यस्मा न्नित्यमुक्तत्वा दावयोः दाम्पत्यं नित्यम्॥ ५१ ॥

तत्र मुक्तिमन्तरेण दाम्पत्यापेक्षयाऽस्मद्भजन मयुक्त मित्याशयेनाह-**य** इति॥ ५२ ॥

ननु तर्हि सम्पदर्थे भगवद्भजनं युक्तं हीति तत्राह-**मामिति**। सतः सत्यस्य मोक्षस्य पतिं ये सम्पल्लक्षणभोगाः, कथं तेषां भोगानां निरये सत्त्वमिति तत्राह-मात्रात्मकत्वादिति। मात्रात्वात्तेषां भोगानां शब्दादिविषयाविनाभूतत्वात् निरये सुसङ्गमः सुलभः सङ्गमः इत्यर्थः॥ ५३ ॥

सर्वभक्तेषु त्वमेव मुख्यभक्ते त्याशयेनाह-**दिष्ट्येति**। हे गृहैश्वर्ययुते देवि! त्वया मय्यनुवृत्तिः भक्तिः कृतेति य त्त द्दिष्ट्या त्वदन्येषां भवमोचनी वा! असा वनुवृत्तिः खलैः सुदुष्करा, दुराशिषः दुष्टेच्छायाः पत्या सह दुर्वाक्यायाः वा। असुम्भरायाः स्वप्राणपोषणपरायाः विकृतिंजुषः जारलक्षणव्याजसेवमानायाः स्त्रियः सुतरां सुदुष्करा। दिष्ट्या गृहं मङ्गलमन्दिरं च ऐश्वर्ययुतश्च दिष्ट्या गृहैश्वर्ययुतः तस्मि न्निति वा॥ ५४ ॥

श्लोकत्रयेण देव्याः पूर्वोक्तां भक्तिं लालयति-**न त्वादृशी** मित्यादिना। उपस्थिता समीपं प्रापिता त्वत्सत्कथा यस्य स तथा, तस्य रहो रहः अतिरहसि॥ ५५ ॥

विरूपकरणं केशवपनं प्रोद्वाहपर्वणि विवाहलक्षणोत्सवदिवसे अक्षगोष्ठ्यां द्यूतविशेषक्रीडायां तस्य भ्रातु र्वधं अस्मदयोग-भीत्या अस्मद्विरहभयेन॥ ५६ ॥

आत्मलभने स्वलाभार्थं सुष्ठु विविक्तमन्त्रः स्पष्टीकृतरहोवचनः, चिरायति विलम्बनं कुर्वति सति एतत् जगत् शून्यं अस दमङ्गलं मत्वा अनन्ययोग्यं अन्यपुरुषसंयोगायोग्य मिदम् अङ्गं जिहासुः तिष्ठे रिति यावत्॥ ५७ ॥

देव्या गुणा ब्रह्मायुषापि वक्तुं न शक्या इति सङ्क्षिपतीत्याह-श्रीशुक इति। सौरतसंलापैः सुरतसम्बन्धि मिथोभाषणैः नरलोकं मनुष्यजनं विडम्बयन् अनुकुर्वन्॥ ५८ ॥

इद मन्यत्राऽतिदिशति-**तथेति**। गृहवान् गृहस्थ इव आस्थितः उद्गतश्च प्रकाशितः। "आङ उद्गमने" (अष्टा 1-3-40) इति सूत्रम्॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
टीकायां षष्टितमोऽध्यायः॥ ६० ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थरीत्या पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७५ ॥

# श्रीमद्भागवत दशमस्कन्धस्थ द्वितीयभागस्य श्लोकपादानुक्रमणिका (29 to 60)

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **अ** | | | |
| अकल्यं नृपतिं प्रजाः | 47 | 7 | b |
| अकल्यै पोषरक्षणे | 45 | 22 | d |
| अकिञ्चन प्रार्थ्यतमाद्वरं विभो | 51 | 56 | b |
| अकिञ्चनोऽपि सन्तुष्टः | 52 | 32 | c |
| अकुर्वतो र्वा शुश्रूषाम् | 45 | 9 | c |
| अकूपाराय बृहते | 40 | 19 | a |
| अकृतज्ञा गुरुद्रुहः | 32 | 20 | d |
| अक्रूर आगतः किं वा | 46 | 48 | a |
| अक्रूर इत्येतदतीव दारुणः | 39 | 26 | b |
| अक्रूरकृतवर्माणौ | 57 | 3 | c |
| अक्रूरप्रियकाम्यया | 48 | 13 | d |
| अक्रूर भवनं कृष्णः | 48 | 13 | a |
| अक्रूरमुपसृत्य तम् | 49 | 7 | b |
| अक्रूरश्चोदयामास | 39 | 32 | c |
| अक्रूरस्तावुपामन्त्र्य | 39 | 40 | a |
| अक्रूरस्य करे भूयः | 57 | 48 | c |
| अक्रूरं जगदीश्वरः | 41 | 9 | b |
| अक्रूरं व्रजमागतम् | 39 | 13 | d |
| अक्रूरं सस्मितं प्राह | 48 | 29 | c |
| अक्रूरः कृतवर्मा च | 57 | 33 | a |
| अक्रूरः परिपृष्टेन | 38 | 43 | c |
| अक्रूरे प्रोषितेऽरिष्टा | 57 | 34 | a |
| अक्रूरोऽपि च तां रात्रिम् | 38 | 1 | a |
| अक्रूरो यत्र यत्र ह | 57 | 37 | b |
| अक्षिण्वंस्तद्बलं सर्वम् | 50 | 43 | a |
| अक्षिपच्छम्बरोऽसुरः | 55 | 13 | b |
| अक्षीण वासनं राजन् | 51 | 61 | c |
| अक्षौहिणीनां निधनम् | 37 | 22 | c |
| अक्षौहिणीभिर्विंशत्या | 50 | 4 | a |
| अक्षौहिणीभिस्संख्यातम् | 50 | 8 | a |
| अक्षौहिणीशतवधेन सुरेतराणाम् | 48 | 25 | c |
| अक्षौहिण्या वृतो बली | 54 | 18 | d |
| अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् | 31 | 4 | b |
| अगमत् स्वेन पाप्मना | 56 | 40 | d |
| अग्नये खाण्डवं दातुम् | 58 | 25 | c |
| अग्निर्मुखन्तेऽवनिरङ्घ्रिरीक्षणम् | 40 | 14 | a |
| अग्न्यार्कातिथिगोविप्र | 46 | 12 | a |
| अग्रजायाऽददात्प्रीत्या | 34 | 32 | c |
| अग्रन्यस्तविषाणाग्रः | 36 | 10 | a |
| अङ्गप्रसूता शतशोऽसृगापगाः | 50 | 26 | b |
| अङ्गरागार्पणेनाऽहो | 48 | 9 | c |
| अङ्ग वासांसि चार्हतोः | 41 | 33 | b |
| अङ्गसङ्गहतैनसः | 58 | 3 | b |
| अङ्गान्न च्यवते क्वचित् | 47 | 48 | d |
| अचिरान्मा मुपैष्यथ | 47 | 36 | d |
| अचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे | 32 | 14 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अजादयोऽनात्मतया गृहीताः | 40 | 4 | b |
| अजानन्तौ तयोर्बलम् | 44 | 18 | d |
| अजानमाना साऽभ्येत्य | 36 | 36 | c |
| अजाय जनयित्रेऽस्य | 59 | 28 | a |
| अजित्वा सप्त गोवृषान् | 58 | 33 | b |
| अजोऽनुबद्धस्स्वगुणैरजायाः | 40 | 4 | c |
| अञ्जन्त्यः काश्चलोचने | 29 | 7 | b |
| अटति यद्भवानह्निकाननम् | 31 | 15 | a |
| अतदर्हा सतां गतिः | 60 | 28 | d |
| अतप्यंस्तमचक्षाणाः | 30 | 1 | c |
| अतस्त्वामाश्रितः सौम्य! | 36 | 61 | a |
| अतिविलङ्घ्यते ह्यच्युतागताः | 31 | 16 | b |
| अतो न बन्धस्तव नैव मोक्षः | 48 | 23 | c |
| अत्र प्रसूनापचयः | 30 | 33 | c |
| अत्राऽवरोपिता कान्ता | 30 | 33 | a |
| अथ कृष्णाविनिर्दिष्टः | 53 | 28 | a |
| अथ कृष्णश्च रामश्च | 43 | 1 | a |
| अथ गोपीरनुज्ञाप्य | 47 | 64 | a |
| अथ तत्रासितापाङ्गी | 55 | 30 | a |
| अथ तर्ह्यागतो गोष्ठम् | 36 | 1 | a |
| अथ तान् दुरभिप्रायान् | 42 | 20 | a |
| अथ ते कालरूपस्य | 37 | 22 | a |
| अथ नन्दं समासाद्य | 45 | 20 | a |
| अथ वा मदभिस्नेहात् | 29 | 23 | a |
| अथ विज्ञाय भगवान् | 48 | 1 | a |
| अथ व्रजन् राजपथेन माधवः | 42 | 1 | a |
| अथ शूरसुतो राजन् | 45 | 26 | a |
| अथ सोऽपि महामात्रः | 36 | 27 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अथात्मनोऽनुरूपं वै | 60 | 17 | a |
| अथाऽपराह्णे भगवान् | 41 | 19 | a |
| अथावरूढः सपदीशयोरथात् | 38 | 15 | a |
| अथो गुरुकुले वासम् | 45 | 31 | a |
| अथोद्धवस्साधुतयाऽभिपूजितः | 48 | 5 | a |
| अथोद्धवो निशम्यैवम् | 47 | 22 | a |
| अथोपयेमे कालिन्दीम् | 58 | 29 | a |
| अथो मुहूर्त एकस्मिन् | 59 | 42 | a |
| अदर्शनं स्वशिरसः | 42 | 28 | a |
| अदीर्घदर्शनं क्षुद्रम् | 56 | 42 | c |
| अदृष्टपूर्वान्सुव्यक्तम् | 57 | 13 | a |
| अदृष्ट्वा निर्गमं शौरेः | 56 | 34 | a |
| अद्भिर्गन्धाक्षतैर्धूपैः | 53 | 47 | a |
| अद्भुतानीह यावन्ति | 41 | 4 | a |
| अद्य तावन्महाबलः | 50 | 47 | b |
| अद्य ध्रुवं तत्र दृशो भविष्यते | 39 | 25 | a |
| अद्याहं निशितैर्बाणैः | 54 | 22 | a |
| अद्येश नो वसतयः खलु भूरिभागाः | 48 | 26 | a |
| अधरसीधुनाऽऽप्याययस्वनः | 31 | 8 | d |
| अधर्मोपचितं वित्तम् | 49 | 22 | a |
| अधिपति मगृहाणामग्रेतो नः | 47 | 14 | b |
| पुराणम् | | | |
| अधीतविद्या आचार्यम् | 47 | 7 | c |
| अधुनापि वयं सर्वे | 54 | 15 | a |
| अधुनाऽऽसनमास्थितः | 49 | 17 | d |
| अधुना साध्वसाधुवा | 48 | 36 | b |
| अनन्तत्वान्मयाऽपि हि | 51 | 37 | d |
| अनन्तरं भवाञ्छ्रीमान् | 51 | 34 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अनन्तं वीरभूषणम् | 50 | 41 | b |
| अनन्तायादिभूताय | 57 | 21 | c |
| अनन्यविषयां सतीम् | 60 | 27 | d |
| अनमीवमनामयम् | 39 | 4 | d |
| अनयत्सानुजोगृहम् | 38 | 37 | d |
| अनयाऽऽराधितो नूनम् | 30 | 28 | a |
| अनागसां त्वं भूतानाम् | 44 | 47 | a |
| अनार्द्रधीरिष समास्थितोरथाम् | 39 | 27 | a |
| अनिच्छतोऽपि यस्य श्रीः | 47 | 48 | c |
| अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः | 33 | 39 | c |
| अनित्यानात्मदुःखेषु | 40 | 26 | a |
| अनुकम्प्याः प्रजा हि वः | 48 | 30 | d |
| अनुक्रमन्तो नैवन्तं | 51 | 39 | c |
| अनुक्रोशस्मितेक्षणौ | 38 | 30 | d |
| अनुगृह्णातु गृह्णातु | 53 | 38 | c |
| अनुग्रहाय भक्तानाम् | 33 | 37 | a |
| अनुचक्रुस्तदात्मिकाः | 30 | 14 | d |
| अनुचरैः समनुवर्णितवीर्य | 35 | 8 | a |
| अनुजानीहि मां कृष्ण | 34 | 16 | c |
| अनुतप्यमानो भवनम् | 56 | 40 | c |
| अनुद्वास्याऽपराययुः | 29 | 5 | d |
| अनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात् | 47 | 16 | b |
| अनुप्रस्थापितात्मानः | 39 | 36 | c |
| अनुभुङ्क्तेऽप्यसत्यर्थे | 54 | 48 | c |
| अनुरागस्मितेरिताः | 39 | 16 | b |
| अनुलोमस्तु कञ्जाक्षि | 36 | 44 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अनुव्रज्यानुरञ्जिताः | 39 | 34 | b |
| अनुसृत्य नृलोकताम् | 57 | 9 | b |
| अनुस्मरन्त्यो मां नित्यम् | 47 | 36 | c |
| अनेकशोऽश्वाः शरवृक्णकन्धराः | 50 | 25 | b |
| अनोभिरनडुद्युक्तैः | 34 | 1 | c |
| अन्तर्गृहगताः काश्चित् | 29 | 9 | a |
| अन्तर्जलचरः कृष्ण | 45 | 40 | c |
| अन्तर्हिते भगवति | 30 | 1 | a |
| अन्तर्हृदिसभूतानाम् | 46 | 36 | c |
| अन्तस्समुद्रे नगरम् | 50 | 50 | c |
| अन्तःपुरचरीं देवीम् | 53 | 28 | c |
| अन्तः पुरवरं राजन् | 55 | 26 | a |
| अन्तः पुरान्तरचरीमनहत्य बन्धून् | 52 | 42 | a |
| अन्धेन तमसाऽऽवृतम् | 56 | 19 | b |
| अन्नं बहुगुणं मेध्यम् | 38 | 39 | c |
| अन्यथा गोव्रजे तस्य | 47 | 5 | a |
| अन्यथा त्वाचरँल्लोके | 49 | 19 | a |
| अन्यानि चेत्थम्भूतानि | 42 | 31 | a |
| अन्याभिर्वा महात्मनः | 47 | 46 | b |
| अन्याश्च तदनुध्यान | 39 | 15 | a |
| अन्याश्चैवं विधा भार्याः | 58 | 58 | a |
| अन्यांश्च तदुपाश्रयान् | 36 | 52 | d |
| अन्याः शंसन्ति साध्विति | 30 | 18 | d |
| अन्ये च संस्कृतात्मानः | 40 | 8 | a |
| अन्येष्वर्थकृतामैत्री | 47 | 6 | a |
| अन्योन्य मभिजघ्नतुः | 44 | 3 | d |
| अन्योन्यं प्रत्यरुन्धताम् | 44 | 4 | d |
| अन्योन्याबद्धबाहुभिः | 33 | 2 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अन्योऽपि धर्मरक्षायै | 50 | 10 | a | अपि स्वज्ञातिबन्धूनाम् | 39 | 4 | c |
| अन्वगुर्भ्रमराः स्वर्गात् | 59 | 40 | c | अपीच्यवयसं मत्तः | 51 | 26 | c |
| अन्वधावज्जिघृक्षुस्तम् | 51 | 6 | c | अप्रत्यूह्य च रुक्मिणीम् | 54 | 20 | b |
| अन्वधावत् रथानीकैः | 52 | 9 | c | अप्रत्यूह्य यवीयसीम् | 54 | 52 | b |
| अन्वपद्यत नागरैः | 56 | 17 | d | अप्रमादाय विद्धि तत् | 51 | 60 | b |
| अन्वयातां महावेगैः | 57 | 23 | c | अप्राप्तिं च मणेः प्राह | 57 | 31 | c |
| अन्वाविश्य स्वशक्तिभिः | 48 | 20 | b | अप्यङ्घ्रिमूले पतितस्य मे विभुः | 38 | 16 | a |
| अन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः | 30 | 26 | b | अप्यङ्घ्रिमूलेऽवहितं कृताञ्जलिम् | 38 | 19 | a |
| अन्विच्छन्त्यो भगवतः | 30 | 41 | a | अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा | 30 | 10 | c |
| अन्वीयभूतेषु विलक्षणस्य | 46 | 31 | c | अप्यद्य विष्णोर्मनुजत्वमीयुषः | 38 | 10 | a |
| अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामम् | 30 | 12 | c | अप्यायास्यति गोविन्दः | 46 | 19 | a |
| अन्वीयुर्धृतकार्मुकाः | 54 | 1 | d | अप्याश्लिष्टा वनस्पतेः | 30 | 13 | b |
| अपचक्रतुरात्मनः | 44 | 5 | d | अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेहगात्रैः | 30 | 11 | a |
| अपराऽनिमिषदृग्भ्याम् | 32 | 8 | a | अप्येष्यतीह दशार्हः | 47 | 44 | a |
| अपश्यत्कुवलयापीडम् | 43 | 2 | c | अब्रुवन् विब्रुवन्नज्ञः | 44 | 10 | c |
| अपश्यदाद्यं पुरुषम् | 52 | 27 | c | अभयमृतमशोकं पाहि माऽऽपन्नमीश | 51 | 58 | d |
| अपश्यन्त्यो बह्वहानि | 45 | 50 | c | अभिप्रायं स यादवः | 49 | 30 | b |
| अपश्यन् भ्रातरं भ्राता | 56 | 15 | c | अभिभाष्य हलायुधम् | 57 | 45 | b |
| अपास्य शत्रवे क्रुद्धः | 55 | 20 | c | अभिमृश्यारविन्दाक्षः | 56 | 30 | a |
| अपाहरत् गजस्थस्य | 59 | 21 | e | अभिवाद्य महायशाः | 51 | 21 | b |
| अपिच कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः | 47 | 15 | d | अभीतौ भीरुभीतवत् | 52 | 8 | b |
| अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते | 47 | 21 | a | अभूदनन्य भावानाम् | 54 | 54 | c |
| अपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः | 47 | 13 | d | अभ्यज्यमाना अकृतोपमज्जनाः | 41 | 26 | b |
| अपि मय्यनवद्यात्मा | 53 | 24 | a | अभ्यद्रवत्तार्क्ष्यसुतं यथोरगः | 59 | 7 | d |
| अपि स्मरति नःकृष्णः | 46 | 18 | a | अभ्यधावन्नभिक्रुद्धाः | 44 | 40 | c |
| अपि स्मरति नस्साधो | 47 | 42 | a | अभ्यनन्दन् बहूनब्दान् | 55 | 37 | c |
| अपि स्मरन्ति नस्सौम्य | 49 | 8 | a | अभ्ययात्तूर्यघोषेण | 53 | 32 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अभ्यवर्षन्सौमनस्यैः | 41 | 29 | c | अर्हयामास विधिवत् | 57 | 29 | c |
| अभ्येति मृगतृष्णां वै | 40 | 27 | c | अर्हयामास सादरम् | 45 | 24 | d |
| अमर्षात्ताम्रलोचनः | 55 | 18 | d | अलक्षयन्त्यो हरिरामयोर्मृधे | 50 | 22 | b |
| अमात्यान् हस्तिपांश्चैव | 36 | 21 | c | अलक्ष्यमाणौ रिपुणा | 52 | 13 | a |
| अमुष्मिन् प्रीतिरधिका | 55 | 34 | c | अलब्धमणिरागत्य | 57 | 26 | a |
| अमृष्यमाणा नाराचैः | 54 | 6 | c | अलब्धराज्ञाः कल्याण्यः | 47 | 37 | c |
| अमोघवीर्यस्तिलशाचकर्तह | 59 | 13 | d | अलातैः हन्यमानोऽपि | 34 | 8 | a |
| अम्बतातेति सादरम् | 45 | 2 | d | अलिकुलैरलघुगीतमभीष्टम् | 35 | 10 | c |
| अम्बष्ठाम्बष्ठमार्गं नः | 43 | 4 | a | अलोकपथमीयुषाम् | 60 | 13 | b |
| अम्बाया इव हि प्रायः | 60 | 47 | c | अवतस्थेऽर्भकान्तिके | 56 | 20 | d |
| अयञ्च यवनो दग्धः | 51 | 42 | c | अवतीर्णाविहांशेन | 41 | 46 | c |
| अयञ्चास्याग्रजः श्रीमान् | 43 | 30 | a | अवतीर्णा विहांशेन | 43 | 23 | c |
| अयं हि परमो लाभः | 60 | 31 | a | अवतीर्णो यदुकुले | 51 | 41 | a |
| अयाचत स चाऽब्रवीत् | 57 | 15 | d | अवतीर्णो विनाशाय | 37 | 14 | c |
| अयादवां महीं कर्तुम् | 50 | 3 | c | अवतीर्णो हि भगवान् | 33 | 27 | c |
| अरत्नी द्वे अरत्निभ्याम् | 44 | 3 | a | अवतीर्णौ जगत्यर्थे | 38 | 32 | c |
| अरिष्टे निहते गोष्ठे | 36 | 16 | a | अवदत्सुहृदां मध्ये | 49 | 16 | c |
| अरिष्टो वृषभासुरः | 36 | 1 | b | अवदद्वदतां श्रेष्ठः | 29 | 17 | c |
| अर्चितं परमर्द्धिमत् | 42 | 16 | b | अवद्यन् स्वधितिनाद्भुतम् | 55 | 5 | d |
| अर्चितं पुनरित्याह | 58 | 37 | a | अवधार्य शनैरीषत् | 55 | 29 | a |
| अर्चित्वा शिरसाऽऽनम्य | 48 | 17 | a | अवधिष्ठां लीलयैव | 46 | 24 | c |
| अर्जुनस्याऽऽस सारथिः | 58 | 25 | d | अवधीर्मृगयादिभिः | 51 | 63 | b |
| अर्जुनायाक्षयौ तूणौ | 58 | 26 | c | अवधील्लीलया राजन् | 44 | 26 | c |
| अर्जुनौ धेनुकः केशी | 43 | 25 | c | अवनिक्ताङ्घ्रियुगलौ | 42 | 25 | a |
| अर्हणार्थं स मणिना | 56 | 32 | c | अवनिज्याङ्घ्रियुगलम् | 41 | 14 | a |
| अर्हणेनापि गुरुणा | 58 | 35 | c | अवन्तीपुरवासिनम् | 45 | 31 | d |
| अर्हणेनाऽम्बरैर्दिव्यैः | 48 | 16 | c | अवमानञ्च दौरात्म्यात् | 30 | 42 | c |
| अर्हण्यं वै समर्हणैः | 57 | 29 | d | अवरुह्य निजासनात् | 52 | 28 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अवस्थाप्य बहिः प्रजाः | 56 | 19 | d | असाध्विदं त्वया कृष्ण | 54 | 37 | a |
| अविच्छिन्ना मखास्तेऽद्य | 57 | 43 | c | असावप्यनवद्यात्मा | 53 | 37 | c |
| अवितृषषडभिज्ञोऽलब्धशान्तिः कथञ्चित् | 51 | 58 | b | असावहं त्वित्थबलास्तदात्मिकाः | 30 | 3 | c |
| अविदूर इवाभ्येत्य | 34 | 31 | a | असिद्धार्थो विशत्यन्धम् | 49 | 24 | c |
| अविश्रममहर्निशम् | 56 | 24 | d | असुम्भराया निकृतिं जुषः स्त्रियाः | 60 | 54 | d |
| अविषह्यैस्तमाक्षेपैः | 55 | 17 | c | असुराणां क्षयाय च | 51 | 40 | f |
| अविस्मितोऽयत्न हतारिरुत्स्त्रियैः | 37 | 9 | c | असुरेभ्यः परित्रस्तैः | 51 | 15 | c |
| अव्यग्रस्तमपृच्छत | 52 | 29 | d | असुरैर्नतकन्धरैः | 39 | 44 | d |
| अव्यग्रात्मगतिं सती | 53 | 29 | b | असृग्वमन् मूत्रशकृत्समुत्सृजन् | 36 | 14 | a |
| अव्ययस्याऽप्रमेयस्य | 29 | 14 | c | अस्तिः प्राप्तिश्च कंसस्य | 50 | 1 | a |
| अशयिष्ट गुहाविष्टः | 51 | 21 | c | अस्तौषीदथ विश्वेशम् | 59 | 24 | a |
| अश्नन्त्य एकास्तदपास्य सोत्सवाः | 41 | 26 | a | अस्त्रैरुपात्तमणिभिः कुचकुङ्कुमानि | 29 | 29 | c |
| अश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् | 29 | 6 | d | अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुरागः | 60 | 46 | a |
| अश्रुकण्ठोऽभवत्तूष्णीम् | 46 | 27 | c | अस्त्वेव नित्यदा तुभ्यम् | 51 | 62 | c |
| अश्रुमुख्योऽच्युताशयाः | 39 | 18 | d | अस्त्वेवमेतदुपदेशपदेत्वयीशे | 29 | 32 | c |
| अश्वपृष्ठे गजस्कन्धे | 54 | 3 | a | अस्पृष्टवर्त्मनां पुंसाम् | 60 | 13 | a |
| अश्वाच्छतगुणान् नरान् | 58 | 51 | d | अस्म्राक्ष्म तत्प्रभृतिनाऽन्यसमक्षमङ्ग! | 29 | 36 | c |
| अश्वाश्वतरनागोष्ट्र | 54 | 8 | c | अस्फुरन् प्रियशंसिनः | 53 | 27 | d |
| अश्विनां गजिनां भुवि | 54 | 7 | b | अस्मरत् स्वसुतं नष्टम् | 55 | 30 | c |
| अश्वै राजन् गुरुद्रुहम् | 57 | 23 | d | अस्माकं नरपुङ्गव | 51 | 31 | b |
| अष्टभिश्चतुरो वाहान् | 54 | 27 | a | अस्मान् पालयतो वीर | 51 | 17 | c |
| अष्टादशपदानि सः | 36 | 11 | d | अस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित् | 47 | 43 | d |
| अष्टादशमसङ्गमे | 50 | 44 | a | अस्यैव भार्या भवितुम् | 53 | 37 | a |
| अष्टौ निधिपतिः केशान् | 50 | 56 | g | अस्वर्य्यमयशस्यञ्च | 29 | 26 | a |
| अष्टौ स सृजति प्रभो | 56 | 11 | b | अहञ्चात्मात्मजागार | 40 | 25 | a |
| असत्त्वात्कुमतिर्ह्यसौ | 48 | 12 | d | अहतांशुकयुग्मेन | 53 | 11 | c |
| असत्यपि द्वितीये च | 42 | 28 | c | अहत्वा दुर्मतिं कृष्णम् | 54 | 52 | a |
| असन्तुष्टोऽसकृल्लोकान् | 52 | 32 | a | अहत्वा समरे कृष्णम् | 54 | 20 | a |
| | | | | अहन्परिद्यमुद्यम्य | 44 | 41 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अहमार्यसमन्वितः | 41 | 17 | b |
| अहम्ममेत्यसद्ग्राहः | 40 | 24 | c |
| अहंतेऽधिकृतापत्नी | 55 | 12 | c |
| अहं देवस्य सवितुः | 58 | 20 | a |
| अहं पयो ज्योतिरथानिलो नभः | 59 | 30 | a |
| अहं भर्तू रहस्करः | 47 | 28 | d |
| अहं विद्याधरः कश्चित् | 34 | 12 | a |
| अहं वै देहमिच्छामि | 57 | 28 | a |
| अहीयमानः स्वाद्धर्मात् | 52 | 31 | c |
| अहो अस्मदभूद्भूरि | 39 | 6 | a |
| अहो त्रियामान्तरितः | 53 | 23 | a |
| अहो धिगस्मद्यशआत्तधन्विनाम् | 53 | 56 | c |
| अहो नः परमं कष्टम् | 57 | 9 | c |
| अहो मृत इवाऽऽयातः | 55 | 39 | c |
| अहो यदूनां वृजिनम् | 50 | 46 | c |
| अहो यूयं स्म पूर्णार्थाः | 47 | 23 | a |
| अहो रात्रैश्चतुष्षष्ट्या | 45 | 36 | a |
| अहो वराहवपुषः परिरम्भणेन | 30 | 10 | d |
| अहो विधातस्तव न क्वचिद्दया | 39 | 19 | a |
| अहो सुराणां च तमो धिगाढ्यताम् | 51 | 41 | d |
| अंशेन जगदीश्वरः | 33 | 27 | d |
| अंसन्यस्त प्रकोष्ठायाः | 30 | 27 | c |
| अंसन्यस्त विषाणोऽसृक् | 43 | 15 | c |
| अंसे चन्दनरूषितम् | 32 | 5 | d |
| **आ** | | | |
| आकर्ण्य द्वारकौकसः | 55 | 39 | b |
| आकर्ण्य व्रजयोषितः | 47 | 38 | b |
| आकल्पैरनुरूपतः | 41 | 40 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| आकाशात्सूर्यवर्चसौ | 50 | 11 | b |
| आकीर्यमाणो दिविजैः | 55 | 25 | a |
| आकृत्यावयवैर्गत्या | 55 | 33 | c |
| आक्रीडानीक्षमाणानाम् | 46 | 22 | c |
| आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापतेः | 30 | 2 | c |
| आख्यानं पठति शृणोत्यनुस्मरेद्वा | 57 | 50 | c |
| आगच्छयाम गेहान्नः | 41 | 12 | a |
| आगता ह्युपपन्नं तत् | 29 | 23 | c |
| आगत्य नेत्राञ्जलिभिः | 53 | 36 | c |
| आगत्य भगवांस्तस्मात् | 57 | 10 | a |
| आगमिष्यत्यदीर्घेण | 46 | 34 | a |
| आगमिनि तदन्तरा | 50 | 44 | b |
| आघ्राय सन्मुखरितं जनतापवर्गम् | 60 | 42 | b |
| आचख्यौ सर्वमेतस्मै | 49 | 6 | c |
| आचितकोमल वालुकम् | 32 | 13 | d |
| आजगाम जरासन्धः | 52 | 6 | c |
| आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः | 29 | 4 | c |
| आजग्मुर्भूभुजस्सर्वे | 53 | 19 | c |
| आजग्मुश्चैद्यपक्षीयाः | 53 | 17 | c |
| आतिथ्यं विदधे यथा | 53 | 34 | d |
| आतुरस्य मुमूर्षतः | 50 | 20 | d |
| आत्मजेष्वात्मनोऽपि हि | 45 | 21 | d |
| आत्मजो भगवान्हरिः | 46 | 42 | b |
| आत्मना च धनेन च | 45 | 6 | b |
| आत्मनाऽऽत्माश्रयः पूर्वम् | 37 | 13 | a |
| आत्मनो मणिनाऽमुना | 56 | 31 | d |
| आत्मन्यविद्यया क्लृप्तः | 54 | 45 | c |
| आत्मन्येवाऽऽत्मनाऽऽत्मानम् | 47 | 30 | a |
| आत्मव्रतस्य मयि चानतिरिक्तदृष्टेः | 60 | 46 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| आत्ममायानुभावेन | 47 | 30 | c | आत्मोपनयनं प्रति | 53 | 30 | d |
| आत्ममोहो नृणामेष | 53 | 43 | a | आददे वितथोद्यमः | 59 | 21 | b |
| आत्मलब्ध्याऽस्महे पूर्णा | 60 | 20 | c | आदात्ताम्बूलचर्वितम् | 33 | 13 | d |
| आत्मलोकं गता इव | 39 | 15 | d | आदाय रथमारुह्य | 46 | 7 | c |
| आत्मवैधव्यकारणम् | 50 | 2 | d | आदाय रथमाविशत् | 45 | 42 | f |
| आत्मशोषविमोहनम् | 54 | 49 | b | आदाय वाससाच्छन्नम् | 57 | 44 | c |
| आत्मसृष्टमिदं विश्वम् | 48 | 20 | a | आदायोपायनं भूरि | 39 | 33 | c |
| आत्मा ज्ञानमयश्शुद्धः | 47 | 31 | a | आदानं सह भार्यया | 37 | 19 | b |
| आत्माऽऽत्मतन्त्रो बहुधा विभाति | 48 | 21 | d | आदित्योऽस्तमुपेयिवान् | 42 | 23 | b |
| आत्माऽऽत्मदश्च जगतामिति मे वृतोऽसि | 60 | 39 | b | आदिपूरुष इवाऽचलभूतिः | 35 | 8 | b |
| आत्मानन्देन पूर्णस्य | 58 | 37 | c | आद्रियन् यर्हि सन्धितवेणुः | 35 | 10 | d |
| आत्मानमत्र च परत्र च कामपूरम् | 60 | 43 | b | आधिपत्यं स्वसिद्धये | 50 | 57 | d |
| आत्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य | 48 | 27 | d | आनन्दमूर्तिमजहादतिदीर्घतापम् | 48 | 8 | d |
| आत्मानमाजौ मृगयन्तमग्रणीः | 37 | 3 | c | आनन्दमूर्तिमुपगूह्य दृशाऽऽत्मलब्धम् | 41 | 28 | c |
| आत्मारामा ह्याप्तकामा | 32 | 20 | c | आनयस्व महाराज | 45 | 46 | c |
| आत्मारामोऽपि लीलया | 33 | 20 | d | आनर्चुरर्हणैर्भक्त्या | 34 | 2 | c |
| आत्मारामोऽप्यखण्डितः | 30 | 36 | b | आनर्चुः पुरुषारङ्गम् | 42 | 33 | a |
| आत्मारामोऽप्यरीरमत् | 29 | 42 | d | आनतदिकरात्रेण | 53 | 6 | c |
| आत्मापितश्च भवतोऽत्र विभो विधेहि | 52 | 39 | b | आनर्ताधिपतिः श्रीमान् | 52 | 15 | a |
| आत्मा हि तीर्थीक्रियते तदैव मे | 38 | 20 | c | आनीतासि मया तन्वि | 60 | 19 | c |
| आत्मानं दर्शयामास | 51 | 23 | c | आनीताः स्वपुरं राज्ञा | 48 | 34 | c |
| आत्मानं नाविदन् स्त्रियः | 42 | 14 | b | आपतत् स्विन्नसर्वाङ्गः | 36 | 12 | c |
| आत्मानं मनसा गताः | 46 | 4 | d | आपस्तेऽङ्घ्र्यवनेजन्यः | 41 | 15 | a |
| आत्मानं मेनिरे स्त्रीणाम् | 29 | 47 | c | आपीतमपि नाऽतृप्यत् | 32 | 8 | c |
| आत्मानं वल्लभामिव | 60 | 21 | b | आपीयाऽऽपीय नाऽतृप्यन् | 32 | 4 | c |
| आत्मानं सप्तधाकृत्वा | 58 | 45 | c | आपूरयन्नण्डकटाहमावृणोत् | 59 | 8 | d |
| आत्मीयेनैव पाप्मना | 51 | 34 | b | आपूर्णकुम्भागुरुधूपदीपकैः | 54 | 56 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| आपूर्णकुम्भैर्दधिचन्दनोक्षितैः | 41 | 23 | a | आशीर्भिर्भिद्यते क्वचित् | 51 | 60 | d |
| आपृच्छे शापनिर्मुक्तः | 34 | 15 | c | आश्रुत्य भीता हृदि जातवेपथुः | 60 | 22 | c |
| आपृष्टवांस्तां कुशलं सहस्नुषाम् | 58 | 7 | c | आश्लिष्य बाहुना राजन् | 60 | 27 | c |
| आप्तकामो यदुपतिः | 33 | 29 | a | आसज्जमानस्य दुरन्तचिन्तया | 51 | 48 | d |
| आप्नोत्यपि सुरेश्वरः | 52 | 32 | b | आसन् कृष्णस्य वार्तया | 47 | 55 | d |
| आब्रह्मस्थावरादयः | 40 | 12 | d | आसन् वै द्वारकौकसाम् | 57 | 34 | b |
| आययौ द्वारकां भूयः | 58 | 28 | c | आससादाऽथचाणूरम् | 44 | 1 | c |
| आयातौ स्वपुरं तात | 45 | 49 | e | आसाते ताविहानेन | 36 | 62 | c |
| आयादायोधनं बली | 59 | 15 | f | आसाद्य देवीसदनम् | 53 | 44 | a |
| आयास्य इति दौत्यकैः | 39 | 35 | d | आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम् | 47 | 61 | a |
| आयास्ये भवतो गेहम् | 41 | 17 | a | आसिञ्चती कुङ्कुमरूषितौस्तनौ | 60 | 23 | c |
| आयुधानि च दिव्यानि | 50 | 12 | a | आसीच्छलोक्योबलिर्महान् | 41 | 14 | b |
| आयुधाश्मद्रुमैर्दोर्भिः | 56 | 23 | c | आसीत्तदष्टविंशाहम् | 56 | 24 | a |
| आयोधनगतं वित्तम् | 50 | 41 | a | आसीत् राजाऽतिधार्मिकः | 58 | 32 | b |
| आरभ्यतां धनुर्यागः | 36 | 58 | a | आसीत् सत्राजितः सूर्यः | 56 | 3 | a |
| आराद्वीक्ष्य स्वबान्धवान् | 48 | 14 | b | आसीनं काञ्चनासने | 52 | 27 | d |
| आराधितो यदिगदाग्रजएत्यपाणिम् | 52 | 40 | c | आसीनौ पुनरेव सः | 39 | 43 | b |
| आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरेः | 51 | 56 | c | आसेदतुस्तं तरसा | 34 | 28 | c |
| आरुह्य स्यन्दनं शौरिः | 53 | 6 | a | आस्ते कुशल्यपत्याद्यैः | 46 | 16 | c |
| आरुह्यैका पदाऽऽक्रम्य | 30 | 21 | a | आस्ते ज्योतिरिवैधसि | 46 | 36 | d |
| आरोप्य सेन्द्रान् विबुधान् | 59 | 39 | c | आस्ते तेनाऽऽहृतोनूनम् | 45 | 41 | a |
| आलक्ष्य लक्षणाभिज्ञा | 53 | 29 | c | आस्थिताः पदवीं सुभ्रूः | 60 | 13 | c |
| आवयोर्युध्यतोरस्य | 50 | 48 | a | आस्थितो गृहमेधीयान् | 60 | 59 | c |
| आविध्य शूलं तरसा गरुत्मते | 59 | 8 | a | आस्थूरिकावर्तभयानका महा | 50 | 27 | c |
| आविष्टपारावतबर्हिनादिताम् | 41 | 22 | b | आह चाऽस्मान्महाराज | 45 | 13 | a |
| आवेदयामास तस्यै | 53 | 30 | a | आह चोर क्षणं तिष्ठ | 54 | 24 | c |
| आशासताऽऽशिषऋता मधुपुर्यभूवन् | 42 | 24 | b | आहूतप्रेष्ठभू भुजाम् | 54 | 57 | b |
| आशांधृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र | 29 | 33 | d | आहूतस्तेन गोविन्दः | 57 | 12 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| आहूय कान्तां नवसङ्गमह्रिया | 48 | 7 | a |
| आहूय दूरगा यद्वत् | 30 | 18 | a |
| आहूयन्तां जानपदाः | 36 | 56 | c |
| आहूय यदुपुङ्गवम् | 36 | 59 | b |
| आहृतं प्रादिशत्प्रभुः | 50 | 41 | d |
| आहृताश्चारुदर्शनाः | 58 | 58 | d |
| आहोष्यतामिहप्रेष्ठ | 48 | 10 | a |
| **इ** | | | |
| इच्छन्ता वुपजग्मतुः | 45 | 31 | b |
| इच्छन् विमोक्तुमात्मानम् | 37 | 32 | c |
| इतररागविस्मारणं नृणाम् | 31 | 14 | c |
| इतरेतरमुष्टभिः | 56 | 24 | b |
| इतस्ततो विलङ्घद्भिः | 46 | 10 | a |
| इति क्षिपन्ननुगतः | 51 | 8 | c |
| इति गोप्यः प्रगायन्त्यः | 32 | 1 | a |
| इति गोप्यो हि गोविन्दे | 47 | 9 | a |
| इति तस्मै वरं दत्वा | 41 | 52 | a |
| इति त्रिलोकाधिपतेस्तदाऽऽत्मनः | 60 | 22 | a |
| इति दूतैस्समानीय | 57 | 38 | c |
| इति देहात्ममानिनाम् | 54 | 43 | d |
| इति निश्चितमानसाः | 53 | 19 | b |
| इति निश्चित्य यवनः | 51 | 6 | a |
| इति ब्रुवन्तं सा भूयः | 36 | 40 | a |
| इति ब्रुवन्तीं परिसान्त्वयन्शनैः | 36 | 38 | a |
| इति ब्रुवन्तीं प्रावोच | 36 | 43 | c |
| इति भूम्यार्थितो वाग्भिः | 59 | 32 | a |
| इति मत्वाऽच्युतं मूढः | 51 | 10 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| इति मायामनुष्यस्य | 45 | 10 | a |
| इति मे नारदः प्राह | 36 | 50 | c |
| इति विक्लबितं तासाम् | 29 | 42 | a |
| इति विज्ञातविज्ञानम् | 56 | 29 | a |
| इति विप्रियमाकर्ण्य | 29 | 28 | a |
| इति वृद्धवचः श्रुत्वा | 57 | 38 | a |
| इति वै वार्षिकान् मासान् | 58 | 12 | a |
| इति सञ्चिन्तयन् कृष्णम् | 38 | 24 | a |
| इति सम्मन्त्र्य भगवान् | 50 | 50 | a |
| इति सर्वाः पृथक् कृष्णे | 59 | 35 | c |
| इति सर्वे सुसंरब्धाः | 54 | 1 | a |
| इति संस्मृत्य संस्मृत्य | 46 | 27 | a |
| इति स्त्रीणां वदन्तीनाम् | 46 | 49 | c |
| इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुकाः | 47 | 2 | c |
| इत्थं भगवतो गोप्यः | 33 | 1 | a |
| इति रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ताः | 59 | 44 | a |
| इत्थं वदन्त्यां तस्यां सः | 36 | 48 | a |
| इत्थं विकत्थमानस्य | 41 | 37 | a |
| इत्थं सूनृतया वाचा | 38 | 43 | a |
| इत्थं सोऽनुगृहीतोऽङ्ग | 52 | 1 | a |
| इत्यक्रूरं समादिश्य | 48 | 37 | a |
| इत्यङ्गोपदिशन्त्येके | 57 | 35 | a |
| इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हम् | 34 | 18 | a |
| इत्यनुस्मृत्य स्वजनम् | 49 | 14 | a |
| इत्यभिप्रेत्य नृपतेः | 49 | 30 | a |
| इत्यभिप्रेप्य राजेन्द्र | 41 | 49 | a |
| इत्यर्चितस्संस्तुतश्च | 48 | 29 | a |
| इत्यस्राक्षौ विलेपतुः | 57 | 9 | d |
| इत्याज्ञाप्यार्थतन्त्रज्ञः | 36 | 59 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| इत्यास्फोट्याऽच्युतोऽरिष्टम् | 36 | 8 | a |
| इत्युक्त उद्धवो राजन् | 46 | 7 | a |
| इत्युक्तस्तं प्रणम्याऽऽह | 51 | 45 | a |
| इत्युक्तस्तेन देवेशः | 45 | 45 | e |
| इत्युक्तस्तौ परिष्वज्य | 45 | 25 | a |
| इत्युक्तःस्वां दुहितरम् | 56 | 32 | a |
| इत्युक्त्वा चोदयामास | 41 | 6 | a |
| इत्युक्त्वा तत्रावसत् रुषा | 54 | 52 | d |
| इत्युक्त्वाऽऽन्तरधीयत | 36 | 48 | d |
| इत्युक्त्वा मिथिलां राजन् | 57 | 28 | c |
| इत्युक्त्वा रथमारुह्य | 54 | 21 | a |
| इत्युक्त्वैकेन हस्तेन | 30 | 20 | c |
| इत्युन्मज्ज्य व्यचष्ट सः | 39 | 42 | d |
| इत्युन्मत्तवचो गोप्यः | 30 | 14 | a |
| इत्येते गुह्यसन्देशाः | 52 | 44 | a |
| इत्येवं प्रलपन्त्यस्ताः | 30 | 35 | c |
| इत्येवं वादिनं क्रुद्धा | 36 | 46 | a |
| इन्द्रध्वज इवाऽपतत् | 44 | 23 | d |
| इन्द्रप्रस्थं गतः श्रीमान् | 57 | 1 | c |
| इन्द्रप्रस्थौकसांविभुः | 58 | 12 | d |
| इन्द्रमाश्वास्य गोविन्दः | 59 | 2 | e |
| इन्द्रमुक्तोऽशनिर्यथा | 36 | 10 | d |
| इन्द्रश्च विमदः कृतः | 43 | 26 | d |
| इन्द्रस्य च पराजयम् | 37 | 17 | d |
| इन्द्राद्यै रात्मरक्षणे | 51 | 15 | b |
| इन्द्रेण हृतच्छत्रेण | 59 | 2 | a |
| इमानतिक्रम्य महीजलाग्नि | 36 | 41 | a |
| इमान्यधिकमग्नानि | 30 | 32 | a |
| इह चार्थो न विद्यते | 33 | 33 | b |
| इह प्राप्तो भवान् प्रभो | 55 | 13 | d |
| इहामुत्र च लप्स्यसे | 60 | 17 | d |
| **ई** | | | |
| ईक्षती भगवन्मुखम् | 60 | 33 | b |
| ईदृशान्येव वासांसि | 41 | 35 | a |
| ईयतुः स्वपितुर्गृहान् | 50 | 1 | d |
| ईयसे बहुधाब्रह्मन् | 48 | 20 | c |
| ईशयोरप्रमाणवित् | 52 | 9 | d |
| ईशितुश्चेशितव्यानाम् | 33 | 34 | c |
| ईश्वरस्य विधिंकोनु | 49 | 28 | a |
| ईश्वरस्यापवर्गिकात् | 49 | 12 | d |
| ईश्वरस्याप्रमाणवित् | 54 | 23 | a |
| ईश्वराणाञ्च साहसम् | 33 | 30 | b |
| ईश्वराणां वचस्सत्यम् | 33 | 32 | a |
| ईहते सुखदुःखयोः | 54 | 12 | d |
| **उ** | | | |
| उक्तं च सत्यवचनम् | 53 | 30 | c |
| उक्तं पुरस्तादेतत्ते | 29 | 13 | a |
| उग्रसेनञ्च दुर्बुद्धिम् | 36 | 52 | a |
| उग्रसेनञ्च मत्पितरम् | 36 | 66 | a |
| उग्रसेनवपुर्बिभ्रत् | 36 | 35 | c |
| उग्रसेनः पिताचाऽपि | 44 | 33 | c |
| उच्चै र्जगूहुर्नृत्यमानाः | 33 | 9 | a |
| उच्छिलीन्ध्रमिवाऽर्भकः | 57 | 20 | d |
| उज्जिहानमिवोडुपम् | 51 | 1 | b |
| उत्तमश्लोक आगमत् | 55 | 35 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| उत्तमश्लोकदर्शनम् | 38 | 4 | b |
| उत्तमश्लोकसंविदम् | 47 | 48 | b |
| उत्तम्भयन्नतिपतिं रमयाञ्चकार | 29 | 46 | d |
| उत्तरीयान्तमाकृष्य | 42 | 9 | c |
| उत्तस्युर्युगपत् वीराः | 58 | 2 | c |
| उत्तस्थुर्युगपत्सर्वाः | 32 | 3 | c |
| उत्थापनै रुन्नयनैः | 44 | 5 | a |
| उत्पाट्यैकेन पाणिना | 57 | 20 | b |
| उत्सर्पणापसर्पणैश्च हि | 44 | 4 | c |
| उत्सवं स्मररुजास्तदृशीनाम् | 35 | 23 | a |
| उत्सार्य वामकरजैरलकानपाङ्गैः | 53 | 54 | c |
| उदनीनमदच्युतः | 42 | 7 | d |
| उदाररुचिरक्रीडौ | 38 | 31 | a |
| उदारहासद्विजकुन्ददीधितिः | 29 | 43 | c |
| उदासीना वयं नूनम् | 60 | 20 | a |
| उदिते सवितुर्यथा | 39 | 32 | b |
| उदितोडुपतारकम् | 34 | 22 | b |
| उदीरितस्सर्वजनैः नरेन्द्र | 44 | 38 | d |
| उदुम्बरे वा मशका मनोमये | 40 | 16 | d |
| उद्गायतीनामरविन्दलोचनम् | 46 | 46 | a |
| उद्धवं पूजयाञ्चकुः | 47 | 53 | c |
| उद्धवः परमप्रीतः | 47 | 57 | c |
| उद्धवः पुनरागच्छत् | 47 | 68 | c |
| उद्धवेत्यक्तलौकिकाः | 47 | 9 | d |
| उद्धवोऽगात्कृताह्निकः | 46 | 49 | d |
| उद्धवो बुद्धिसत्तमः | 46 | 1 | d |
| उद्यत्पुच्छभ्रमन्मेघः | 36 | 9 | c |
| उद्यम्य पुच्छं वप्राणि | 36 | 2 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| उद्यम्य बाहूनभिधावतोऽजितः | 59 | 10 | c |
| उद्यानरम्योपवनोपशोभिताम् | 41 | 20 | d |
| उद्वमन् मखतोऽर्दितः | 44 | 25 | b |
| उद्वाहप्रेक्षणोत्सुकौ | 53 | 32 | b |
| उद्वाहर्क्षं च विज्ञाय | 53 | 4 | a |
| उद्वाहं वीरकन्यानाम् | 37 | 18 | a |
| उद्वाहो मेऽल्पराधसः | 53 | 23 | b |
| उद्वेलमिव सागरम् | 50 | 5 | b |
| उन्नयन् खुररजश्छुरितस्रक् | 35 | 23 | b |
| उन्निन्ये पूजितां तेन | 33 | 10 | c |
| उन्निन्ये प्रेयसीं प्रियः | 30 | 31 | d |
| उपकल्प्य महामतिः | 53 | 34 | b |
| उपगम्य सतां गतिः | 52 | 29 | b |
| उपगीयमान उद्गायन् | 29 | 44 | a |
| उपगीयमान विजयः | 50 | 37 | c |
| उपगीयमानो ललितम् | 34 | 21 | a |
| उपगुह्य महामनाः | 38 | 37 | b |
| उपजग्मुः प्रमुदिताः | 55 | 29 | c |
| उपतस्थु र्महामायाम् | 56 | 36 | c |
| उपतस्थे सुखासीनम् | 60 | 6 | c |
| उपयेमे इति श्रुतम् | 52 | 18 | d |
| उपयेमे कुरूद्वह | 52 | 15 | b |
| उपयेमे कुरूद्वह | 54 | 53 | d |
| उपयेमे पितृष्वसुः | 58 | 56 | b |
| उपयेमे यथाविधि | 56 | 45 | b |
| उपलब्धं पतिप्रेम | 60 | 51 | a |
| उपलभ्य हृषीकेशम् | 56 | 38 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| उपविष्टमिह ध्रुवम् | 30 | 35 | b |
| उपवेश्यार्हयाञ्चक्रे | 52 | 28 | c |
| उपश्रुत्य गिरः स्त्रीणाम् | 44 | 18 | a |
| उपस्पृश्य शुचिः शान्ता | 53 | 44 | c |
| उपाजह्रुरुपायनम् | 55 | 5 | b |
| उपायनानि गृह्णीध्वम् | 39 | 11 | c |
| उपायनान्यभीष्टानि | 53 | 33 | c |
| उपायोऽयं समीचीनः | 56 | 43 | c |
| उपासाञ्चक्रे ईश्वरम् | 60 | 7 | d |
| उपाह्वयत्स व्यनदन्मृगेन्द्रवत् | 37 | 3 | d |
| उपेक्षितो भगवता | 50 | 35 | c |
| उभयोरनुलेपनम् | 42 | 4 | d |
| उभयोर्विजिगीषतोः | 56 | 23 | b |
| उभावपि निपेततुः | 44 | 27 | d |
| उवाच करणं सती | 54 | 32 | d |
| उवाच कस्त्वं कितवाऽर्यगर्हितम् | 36 | 37 | c |
| उवाच जन्मनिलयम् | 49 | 7 | c |
| उवाच पितरावेत्य | 45 | 2 | a |
| उवाच भूयो वचनम् | 36 | 28 | c |
| उवाच हस्तिपं वाचा | 43 | 3 | c |
| उवाचाऽवनतः कृष्णम् | 45 | 45 | a |
| उवास कतिचिन्मासान् | 47 | 54 | a |
| उवास कतिचिन्मासान् | 49 | 4 | a |
| उवास तस्यां कतिचित् | 57 | 30 | a |
| उषित्वा रथ मास्थाय | 38 | 1 | c |
| उह्यमानः सुपर्णेन | 59 | 18 | a |

## ऊ

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ऊचुः परस्परं ते वै | 43 | 22 | a |
| ऊचुः परस्परं राजन् | 44 | 6 | c |
| ऊचुः पौरा अहो गोप्य | 41 | 31 | a |
| ऊधो भारेश्च वत्सकान् | 46 | 9 | d |
| ऊषतुस्तां सुखं रात्रिम् | 42 | 25 | c |
| ऊषुः सरस्वतीतीरे | 34 | 4 | a |

## ऋ

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ऋक्षराजबिलं भीमम् | 56 | 19 | a |
| ऋक्षराजानमच्युतः | 56 | 29 | b |
| ऋक्षेण ददृशुर्जनाः | 56 | 18 | d |
| ऋज्वीं कर्तुं मनश्चक्रे | 42 | 6 | c |
| ऋतुस्नातास्वलङ्कृता | 36 | 33 | d |
| ऋते कंसं विप्रमुख्याः | 44 | 30 | c |
| ऋते कैवल्यमद्य नः | 51 | 20 | b |
| ऋत्विजो दत्तदक्षिणम् | 47 | 7 | d |
| ऋषभ ते वयं रक्षिता मुहुः | 31 | 3 | d |
| ऋषीन्विरूपानङ्गिरसः | 34 | 13 | a |

## ए

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| एक एतद्विपर्ययम् | 32 | 17 | b |
| एक एव च दुष्कृतम् | 49 | 21 | d |
| एक एव परो ह्यात्मा | 54 | 44 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| एक एव प्रलीयते | 49 | 21 | b | एतैर्भग्नाः सुबहुशः | 58 | 43 | c |
| एक एवेश्वरस्तस्य | 51 | 20 | c | एतौ भगवतस्साक्षात् | 43 | 23 | a |
| एकदा ते पशून् पालान् | 37 | 27 | a | एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी | 46 | 31 | a |
| एकदा देवयात्रायाम् | 34 | 1 | a | एधमाने कुलामये | 39 | 5 | b |
| एकदा पाण्डवान् द्रष्टुम् | 58 | 1 | a | एधसोऽग्निशिखामिव | 53 | 3 | d |
| एकदा रथमारुह्य | 58 | 13 | a | एवमाघोषयत्क्षत्ता | 39 | 12 | e |
| एकस्मिन्मञ्च आविशन् | 42 | 38 | d | एवमादिश्य चाऽक्रूरम् | 36 | 71 | a |
| एकः प्रसूयते जन्तुः | 49 | 21 | a | एवमाश्वास्य पितरौ | 45 | 12 | a |
| एका कृष्णाभिभावानाम् | 30 | 16 | b | एवमीश्वरतन्त्रोऽयम् | 54 | 12 | c |
| एका तदङ्घ्रियुगलम् | 32 | 6 | c | एवमुक्तस्स वै देवान् | 51 | 21 | a |
| एकान्तधामयशसः श्रिय ऐश्वरस्य | 44 | 14 | d | एवमुक्तः प्रियामाह | 30 | 39 | a |
| एकाऽपहृत्य गोपीनाम् | 30 | 30 | c | एवमुक्तो भगवता | 41 | 18 | a |
| एका भ्रुकुटिमाबध्य | 32 | 7 | a | एवमेतदचिन्तयत् | 38 | 2 | d |
| एके त्वाऽखिलकर्माणि | 40 | 7 | a | एवं ककुद्मिनं हत्वा | 36 | 15 | a |
| एको ज्योतिरिवैधसाम् | 37 | 12 | b | एवं कृष्णं पृच्छमानाः | 30 | 24 | a |
| एकोऽनुभुङ्क्तेसुकृतम् | 49 | 21 | c | एवं क्षिप्तोऽपि भगवान् | 51 | 9 | a |
| एको विवेश भगवान् | 56 | 19 | c | एवं चर्चितसङ्कल्पः | 44 | 1 | a |
| एतज्ज्ञात्वाऽऽनय क्षिप्रम् | 36 | 68 | a | एवं चिन्तयती बाला | 53 | 26 | a |
| एतत्तुल्यवयोरूपः | 55 | 32 | c | एवं चेदिपती राजा | 53 | 14 | a |
| एतदन्तस्समाम्नायः | 47 | 33 | a | एवं दृष्ट्वा तमक्रूरः | 40 | 1 | a |
| एतदर्थं हि नौ जन्म | 50 | 14 | c | एवं ध्यायति गोविन्दे | 50 | 11 | a |
| एतदर्थोऽवतारोऽयम् | 50 | 9 | a | एवं निर्जित्य भूमिपान् | 54 | 53 | b |
| एतन्नो ब्रूहि साधु भोः | 32 | 17 | d | एवं निर्भर्त्सितोऽम्बष्ठः | 43 | 5 | a |
| एतावदुक्त्वा भगवान् | 60 | 21 | a | एवं निशा सा ब्रुवतोर्व्यतीता | 46 | 44 | a |
| एताः परं तनुभृतो भुविगोपवध्वः | 47 | 58 | a | एवं परिष्वङ्गकराभिमर्श | 33 | 17 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| एवं प्रबोधितो मित्रैः | 54 | 17 | a |
| एवं प्रभाषमाणासु | 44 | 17 | a |
| एवं प्रियतमाऽऽदेशम् | 47 | 38 | a |
| एवं प्रेमकलाबद्धाम् | 53 | 39 | a |
| एवं ब्रुवाणा विरहातुराभृशम् | 39 | 31 | a |
| एवं भगवतः कृष्णात् | 29 | 47 | a |
| एवं भगवता तन्वी | 54 | 50 | a |
| एवं भवान्केवल आत्मयोनिषु | 48 | 21 | c |
| एवं भिन्नमतिस्ताभ्याम् | 57 | 5 | a |
| एवं मदर्थोज्झितलोकवेद | 32 | 22 | a |
| एवं मीमांसमानायाम् | 55 | 35 | a |
| एवं यदुपतिं कृष्णम् | 37 | 25 | a |
| एवं राज्ञां समेतानाम् | 53 | 35 | a |
| एवं वध्वा प्रतीक्षन्त्या | 53 | 27 | a |
| एवं विकत्थमाने वै | 44 | 34 | a |
| एवं विक्रीडतोः स्वैरम् | 34 | 25 | a |
| एवं व्यवसितो बुद्ध्या | 56 | 44 | a |
| एवं व्रजस्त्रियो राजन् | 35 | 26 | a |
| एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः | 33 | 26 | a |
| एवं सप्तदशकृत्वः | 50 | 42 | a |
| एवं सभाजितोगोपैः | 47 | 68 | a |
| एवं समयमाकर्ण्य | 58 | 45 | a |
| एवं सम्पृष्टसम्प्रश्नः | 52 | 36 | a |
| एवं सम्भाषितो राज्ञा | 51 | 36 | a |
| एवं सम्मन्त्य दाशार्हौ | 50 | 15 | c |
| एवं सान्त्वय्य भगवान् | 45 | 24 | a |
| एवं सामभिरालब्धः | 57 | 44 | a |
| एवं सौरतसंलापैः | 60 | 58 | a |
| एवं स्त्रिया याच्यमानः | 42 | 11 | a |
| एष आयाति सविता | 56 | 7 | a |
| एष किल देवक्याम् | 43 | 24 | a |
| एष क्रीडन देहभाक् | 33 | 36 | d |
| एष ते रथ आयातः | 50 | 13 | c |
| एष त्वानिर्दशं सिन्धौ | 55 | 13 | a |
| एष हि प्रभवाप्ययः | 44 | 48 | b |
| एषां राजसभासदाम् | 44 | 7 | b |
| एष्यामि ते गृहं सुभ्रु | 42 | 12 | a |
| एहि वीर गृहं यामः | 42 | 10 | a |
| **ऐ** | | | |
| ऐक्यं सौहृदमेवच | 29 | 15 | b |
| ऐक्ष्वाकाः क्षत्रबन्धवः | 51 | 32 | b |
| ऐरावतकुलेभांश्च | 59 | 37 | a |
| ऐश्वर्यमतुलं लेभे | 41 | 14 | c |
| **औ** | | | |
| औत्सुक्यनिभृतात्मनाम् | 33 | 4 | f |
| औपपत्यं कुलस्त्रियाः | 29 | 26 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **क** | | | |
| क उत्सहेत सन्त्यक्तुम् | 47 | 48 | a |
| ककुद्यचलशङ्कया | 36 | 4 | d |
| कङ्कन्यग्रोधकादयः | 44 | 40 | b |
| कच्चित्कुरबकाशोक | 30 | 6 | a |
| कच्चित्तुलसि कल्याणि | 30 | 7 | a |
| कच्चिदङ्ग महाभाग | 46 | 16 | a |
| कच्चिद्गदाग्रजः सौम्य | 47 | 40 | a |
| कच्चिद्भः कुशलं ब्रह्मन् | 52 | 34 | a |
| कच्चिद्द्विजवर श्रेष्ठ! | 52 | 30 | a |
| कटाक्षिप्याद्रवत्तूर्णम् | 36 | 10 | c |
| कटाक्षेपारुणापाङ्गम् | 60 | 30 | c |
| कटिसूत्रब्रह्मसूत्र | 39 | 51 | c |
| कण्ठसूत्रफलेक्षुभिः | 53 | 48 | d |
| कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः | 33 | 4 | b |
| कथञ्चिदव्यङ्गमयत्नतोऽनघ | 51 | 47 | b |
| कथयित्वा प्रियाः कथाः | 57 | 39 | b |
| कथं जुगुप्सिता मेताम् | 34 | 11 | c |
| कथं तं विस्मराहे | 47 | 51 | d |
| कथं त्वनेन सम्प्राप्तम् | 55 | 33 | a |
| कथं पुनर्नः प्रतियास्यतेऽबलाः | 39 | 24 | c |
| कथं मया निहन्तव्यम् | 36 | 27 | c |
| कथं मृजा म्यात्मरजः | 56 | 41 | c |
| कथं रति विशेषज्ञः | 47 | 41 | a |
| कथं स्थ निरनुग्रहे | 38 | 41 | b |
| कथ्यतां यदि रोचते | 51 | 31 | d |
| कदाचित्कमलेक्षणा | 36 | 30 | b |
| कदाचिदथ गोविन्दः | 34 | 20 | a |
| कदाचिद्भगवाऽनृषिः | 36 | 50 | d |
| कन्याचान्तः पुरात् प्रागात् | 53 | 39 | c |
| कन्यायाः स्यात् रतिः क्वचित् | 60 | 47 | d |
| कन्यारत्नं विगृह्य नः | 57 | 4 | b |
| कन्यावर इहेप्सितः | 58 | 41 | b |
| कन्यावर परीप्सया | 58 | 42 | d |
| कन्यां कलहशङ्कितः | 53 | 20 | d |
| कन्यां चैद्याय साधितुम् | 53 | 18 | b |
| कन्यां जाम्बवतीं मुदा | 56 | 32 | b |
| कन्यां त्वदीयां नहि शुल्कदा वयम् | 58 | 40 | d |
| कन्यैका च वरानना | 52 | 21 | d |
| कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्ययाःस्युः | 47 | 15 | b |
| कम्पयन् खुर विक्षताम् | 36 | 1 | d |
| कम्बुकण्ठं निम्ननाभिम् | 39 | 48 | c |
| करभा ऊरवोऽङ्घ्रयः | 54 | 8 | b |
| करभोरुद्वयान्वितम् | 39 | 49 | b |
| करवाणि किमल्पकः | 58 | 37 | d |
| करवाम प्रियं नित्यम् | 43 | 37 | c |
| करसरोरुहं कान्तकामदं | 31 | 5 | c |
| करस्पर्शेन माधवः | 30 | 8 | d |
| करा द्विगलित स्सोऽमुम् | 43 | 6 | c |
| करारोपितमुद्गरः | 36 | 26 | b |
| करिण्य इव यूथपम् | 30 | 1 | d |
| करीन्द्रस्त मभिद्रुत्य | 43 | 6 | a |
| करुणः सोऽन्वकम्पत | 60 | 25 | d |
| करुणानाथ वत्सल | 44 | 45 | b |
| करुणाः पितरो यथा | 32 | 19 | b |
| करेणतपसाऽग्रहीत् | 43 | 6 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| करेणवामेन सलील मुद्धृतम् | 42 | 17 | a | कविभि रीडितं कल्मषापहम् | 31 | 9 | b |
| करेणोः करिणा यथा | 30 | 27 | d | कश्मलं ययु रनिश्चिततत्त्वाः | 35 | 15 | d |
| करोति कर्माणि तपस्सु निष्ठितः | 51 | 53 | a | कस्मलं ययु रपस्मृतनीव्यः | 35 | 3 | d |
| करोति पुरयोषिताम् | 47 | 40 | b | कश्मलेन कबरं वसनं वा | 35 | 17 | d |
| करोतु सत्या यदहं धृतव्रता | 58 | 36 | d | कस्मात्कृष्ण इहायाति | 47 | 45 | a |
| करोरुमीनानरकेश शैवलाः | 50 | 27 | a | कस्मा द्रुहां गत श्शिश्ये | 51 | 13 | c |
| करोषि पारोक्ष्य मसाधु ते कृतम् | 39 | 20 | d | कस्मा दत्ता सुता हरेः | 56 | 2 | d |
| कर्णं सुयोधनं द्रौणिम् | 49 | 2 | c | कस्माद्भ्रातर मन्वियात् | 57 | 4 | d |
| कर्णेकर्णेऽजपञ्जनाः | 56 | 16 | d | कस्मान्नो ववृषेऽसमान् | 60 | 11 | d |
| कर्णोत्पलालकविटङ्ककपोलघर्म | 33 | 16 | a | कस्मिं श्चित् पुरुषेन्यस्तः | 57 | 27 | c |
| कर्ता द्रक्ष्याम्यहं तानि | 37 | 21 | c | कस्य किं वीर्य एव वा | 51 | 13 | b |
| कर्ता महा नित्यखिलं चराचरम् | 59 | 30 | c | कस्यचि त्केनचित्सह | 49 | 20 | b |
| कर्तेवाऽहन्धिया स्मृतः | 46 | 41 | d | कस्य वा कमलेक्षणः | 55 | 31 | b |
| कर्मणा रामकृष्णयोः | 44 | 30 | b | कस्याङ्गने वा कथयस्व साधु नः | 42 | 2 | b |
| कर्मभिर्भ्राम्यमाणानाम् | 47 | 67 | a | कस्याश्चित्स्वभुजं न्यस्य | 30 | 19 | a |
| कर्माऽऽवेद्य गृहं ययौ | 41 | 18 | d | कस्याः पदानिचैतानि | 30 | 27 | a |
| कर्षन्तीघोषनिस्वनैः | 30 | 16 | d | कस्याऽयमिति चाऽब्रुवन् | 46 | 47 | d |
| कर्हिचित्सबलआलि सगोपैः | 35 | 6 | c | कस्याश्चित्पूतनायन्त्याः | 30 | 15 | a |
| कर्हिचि त्सुखमासीनं | 60 | 1 | a | कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्त | 33 | 13 | a |
| कलानामेव नैवेन्दोः | 54 | 47 | c | कंस आहूय केशिनम् | 36 | 20 | b |
| कलिलतां मनः कान्त गच्छति | 31 | 11 | d | कंस ञ्च निहतं द्रक्ष्ये | 37 | 16 | c |
| कलेबरेऽस्मिन्घटकुड्य सन्निभे | 51 | 49 | a | कंस स्तत्रैव दुर्मतिः | 36 | 28 | b |
| कलेबरोविट्कृमिभस्मसंज्ञितः | 51 | 51 | d | कंसस्तु धनुषोभङ्गम् | 42 | 26 | a |
| कल्पयित्वेद मब्रवीत् | 47 | 11 | d | कंस स्त्रास मुपागमत् | 42 | 18 | d |
| कल्पितान्यनिवेशने | 53 | 16 | d | कंसस्यभृत्यः प्रहितोऽपि विश्वदृक् | 38 | 18 | b |
| कल्पोऽबिभ्रच्छ्वसन्मृतः | 45 | 7 | d | कंसं नागायुतप्राणम् | 46 | 24 | a |
| कल्प्यते देवमायया | 54 | 43 | b | कंसं सम्परेतं विचकर्ष भूमौ | 44 | 38 | a |
| कवयअआनमितकन्धरचित्ताः | 35 | 15 | c | कंसः परिवृतोऽमात्यैः | 42 | 35 | a |
| | | | | कंसः सहानुगोपेतो | 57 | 17 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कंसाय प्राह भगवान् | 36 | 16 | c | कामस्तुवासुदेवांशः | 55 | 1 | a |
| कंसे जीवति दाशार्हे | 38 | 41 | c | कामं क्रोधं भयं स्नेहम् | 29 | 15 | a |
| कंसेनाधर्मतो हृताः | 45 | 28 | d | कामात्मानोऽपवर्गेशं | 60 | 52 | c |
| कंसे प्रकुपितोऽव्ययः | 44 | 34 | b | कामानामवशिष्यते | 45 | 48 | d |
| कंसे मातुलनाम्न्यङ्ग | 39 | 5 | c | कामार्दिताः शशाङ्कश्च | 33 | 19 | c |
| कंसे बताद्याऽकृत मेऽत्यनुग्रहम् | 38 | 7 | a | कामास्तेसर्व उज्झिताः | 51 | 17 | d |
| कंसो मनस्व्यपि तदा | 43 | 18 | c | कामिनां दर्शयन् दैन्यम् | 30 | 36 | c |
| कः पण्डित स्त्वदपरं शरणं समीयात् | 48 | 27 | a | कामिन्याः कामिनाकृतम् | 30 | 34 | d |
| काङ्क्षन्त्यश्चावतस्थिरे | 39 | 34 | d | कामेस्मरेऽक्षिविषये किमुतान्यनार्यः | 55 | 40 | d |
| काङ्क्षन्त्यागमनं हरेः | 53 | 22 | b | कामोपायोपबृंहितम् | 48 | 2 | b |
| काचित्कराम्बुजं शौरेः | 32 | 5 | a | कायस्तत्प्रह्वणादिषु | 47 | 66 | d |
| काचित्समं मुकुन्देन | 33 | 10 | a | कारयामास नगरं | 58 | 24 | c |
| काचिदञ्जलिनाऽ गृह्णात् | 32 | 6 | a | कारयामास मन्त्रज्ञैः | 53 | 14 | c |
| काचि द्बभार तद्बाहुम् | 32 | 5 | c | कारयामासवैकंसः | 42 | 32 | c |
| काचिद्रासपरिश्रान्ता | 33 | 11 | a | कार्यगौखसाधनम् | 36 | 61 | b |
| काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा | 47 | 11 | a | कार्ष्णिर्व्यधमयत् स ताः | 55 | 23 | d |
| कातर्यविस्रंसित हेममालया | 54 | 34 | c | कार्ष्णौ वैहायसोऽ सुरः | 55 | 21 | d |
| का त्वं कस्याऽसि सुश्रोणि | 58 | 19 | a | कालआत्मानुसारिणि | 54 | 16 | b |
| का त्वं वरोर्वेतदिहाऽनुलेपनम् | 42 | 2 | a | कालकल्पेन हस्तिना | 36 | 64 | b |
| का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूप | 52 | 38 | a | कालः कलयतामीशः | 56 | 27 | c |
| कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुम रञ्जितायाः | 30 | 11 | c | कालत्रयोपपन्नानि | 51 | 39 | a |
| कान्त्या तुष्टचेलयोर्जया | 39 | 55 | b | कालनेमि र्हतः कंसः | 51 | 42 | a |
| काऽन्यंश्रयेत तव पादसरोजगन्ध | 60 | 42 | a | कालमृत्यू इवोद्विजन् | 34 | 29 | b |
| कामकर्महतं मनः | 40 | 28 | b | कालमेतं वसन्गूढः | 43 | 24 | c |
| कामदेवं शिशुं बुध्वा | 55 | 8 | c | कालान्तकयमोपमम् | 43 | 5 | d |
| काममार्गणसमर्पितचित्ताः | 35 | 3 | c | कालिन्दीति समाख्याता | 58 | 22 | a |
| कामयानां पतिव्रताम् | 36 | 36 | b | कालिन्दीमघनाशनीम् | 39 | 38 | d |
| कामशास्त्रश्रुतालेख्यैः | 48 | 3 | c | कालिन्द्याःकृष्णभावनाः | 30 | 45 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| कालिन्द्याह्रद मागत्य | 39 | 40 | c |
| कालियोदमितस्सर्पः | 43 | 26 | c |
| कालेदधत्सभगवान् मम केन तुष्येत् | 58 | 38 | d |
| कालेन दैवयुक्तेन | 54 | 14 | c |
| कालेन व्रज मच्युतः | 46 | 34 | b |
| काले नृसिंह नरलोक मनोऽभिरामम् | 52 | 38 | d |
| कालेनैव सुषाव माम् | 36 | 50 | b |
| काले प्रभवतः क्वचित् | 50 | 10 | d |
| कालो बलीयान् बलिनाम् | 51 | 19 | a |
| कालः प्रधानं पुरुषोभवान् परः | 59 | 29 | d |
| कशिपुर्याश्च दीपनम् | 37 | 20 | b |
| काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः | 29 | 7 | d |
| काश्चित्तत्कृतहृत्ताप | 39 | 14 | a |
| काश्चिद्विपर्यक्कृतवसत्रभूषणाः | 41 | 25 | a |
| काश्चिन्महानीह स्तस्मिन् | 34 | 5 | a |
| काश्यं सान्दीपनिं नाम | 45 | 31 | c |
| कास्त्यङ्गतेकलपदायत मूर्छितेन | 29 | 40 | a |
| किङ्किणीनाञ्च योषिताम् | 33 | 6 | b |
| किञ्चाऽग्रजोमावनतं यदूत्तमः | 38 | 23 | a |
| किञ्चिच्चिकीर्षयन् प्रागात् | 48 | 13 | c |
| किञ्चित्किञ्चिच्छकृन्मुञ्चन् | 36 | 2 | e |
| किञ्चित्सुचरितं यन्नः | 53 | 38 | a |
| कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि | 31 | 16 | d |
| किन्तु मामग्रजः सम्यक् | 57 | 42 | c |
| किन्तेजो यवनार्दनः | 51 | 13 | d |
| किन्ते दृष्टमिहाद्भुतम् | 41 | 3 | b |
| किन्नुस्वित्प्रजानां वः | 38 | 42 | c |
| किमभिप्राय एतं नः | 33 | 29 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| किमलभ्यं भगवति | 39 | 2 | a |
| किमस्माभिर्वनौकोभिः | 47 | 46 | a |
| किमहं करवाणि वाम् | 41 | 48 | b |
| किमिहबहुषडङ्गेगायसि त्वं यदूनां | 47 | 14 | a |
| किमु जायात्मजादिभिः | 49 | 20 | d |
| किमुताखिलसत्त्वानाम् | 33 | 34 | a |
| किमुताधोक्षजप्रियाः | 29 | 13 | d |
| किमुतान्ये नराधिपाः | 45 | 14 | d |
| किम्मे दृष्टमिहाद्भुतम् | 41 | 5 | d |
| किम्मे दृष्टं विपश्यतः | 41 | 4 | d |
| किरीटकटकाङ्गदैः | 39 | 51 | b |
| किरीटजुष्टामलपादरेणोः | 38 | 25 | b |
| किशोरान् पाण्डुनन्दनान् | 57 | 12 | d |
| किशोरौ नात्ययौवनौ | 44 | 8 | d |
| किशौरौ श्यामलश्वेतौ | 38 | 29 | a |
| किं कार्यं करवाम ते | 52 | 35 | d |
| किं कृत्वा साधुमह्यं स्यात् | 56 | 42 | a |
| किंतप्तं परमं तपः | 38 | 3 | b |
| किंतेकृतंक्षितितपो बत केशवाङ्घि | 30 | 10 | a |
| किंत्वस्माभिः कृतं पूर्वं | 58 | 42 | a |
| किंनआचरितं श्रेयः | 58 | 11 | a |
| किंन श्यत रामस्य | 44 | 12 | a |
| किंनु नः कुशलं पृच्छे | 39 | 5 | a |
| किंनोऽकरिष्यत्कुल वृद्धबान्धवाः | 39 | 28 | b |
| किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य | 47 | 58 | d |
| किं मयाऽऽचरितं भद्रम् | 38 | 3 | a |
| किं मां सान्त्वयसे भूयः | 36 | 40 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| किंवाऽथाऽप्यहति दत्तम् | 38 | 3 | c |
| किंवाऽभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः | 30 | 12 | d |
| किंवाऽवशिष्टं युवयोस्तुकृत्यम् | 46 | 33 | d |
| किंसाधयिष्य त्यस्माभिः | 46 | 49 | a |
| किंस्वित्तेजस्विनां तेजः | 51 | 29 | a |
| कीर्तनं शूद्रजन्मनः | 38 | 4 | d |
| कीर्तिर्वामस्तु पावनी | 45 | 49 | b |
| कुक्षिर्मरुत्प्राणबलंप्रकल्पितम् | 40 | 14 | d |
| कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः | 47 | 12 | b |
| कुजगतिं गमिता न विदामः | 35 | 17 | c |
| कुञ्जरेणबलीयसा | 36 | 54 | b |
| कुञ्जरेन्द्रोत्यमर्षितः | 43 | 12 | b |
| कुटिल कुन्तलं श्रीमुखञ्च ते | 31 | 15 | c |
| कुण्डलत्विषमण्डितम् | 33 | 13 | b |
| कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि | 54 | 20 | c |
| कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि | 54 | 52 | c |
| कुतश्च कस्याऽच्युतवेषभूषणः | 47 | 2 | b |
| कुतो वा किं चिकीर्षसि | 58 | 19 | b |
| कुत्र यासि स्वसारं मे | 54 | 25 | a |
| कुन्तीञ्च कुल्यकरणे | 57 | 1 | c |
| कुन्ददामकृतकौतुकवेषः | 35 | 20 | a |
| कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वातिगन्धः | 30 | 11 | d |
| कुपितः कोपितं गजम् | 43 | 5 | b |
| कुपिता आततायिनः | 42 | 19 | b |
| कुपितो देवकीसुतः | 41 | 37 | b |
| कुपितो नानुभाववित् | 56 | 22 | d |
| कुमुदामोद वायुना | 29 | 45 | d |
| कुम्भकारस्य शालायाम् | 57 | 14 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| कुम्भान् गोरससम्भृतान् | 39 | 33 | d |
| कुररीव गतप्रजा | 55 | 15 | b |
| कुरुसृञ्जय कैकेय | 54 | 58 | a |
| कुरूणां कीर्तिवर्धन | 49 | 17 | b |
| कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन् | 29 | 33 | a |
| कुर्वन्नभोहेषितभीषिताखिलः | 37 | 1 | d |
| कुर्वत्युच्चैः पदानि यत् | 30 | 30 | b |
| कुर्वाणौ प्रभया स्वया | 38 | 33 | b |
| कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वोहरिण्यः | 47 | 19 | b |
| कुशलं विमृशामहे | 38 | 42 | d |
| कुशलाकुशलान्चयः | 33 | 34 | d |
| कुशलाचरितेनैषाम् | 33 | 33 | a |
| कुशल्यास्तेऽच्युतोऽधुना | 47 | 39 | d |
| कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि | 31 | 10 | d |
| कूजत्कोकिलसंयुते | 36 | 31 | d |
| कूजन्नूपुरमेखला | 33 | 14 | b |
| कूटस्थायाऽऽत्मने नमः | 57 | 21 | d |
| कूर्पादिभिर्भ्रमतिधीर्भवदायुषां नः | 31 | 19 | d |
| कृच्छ्रान्नन्दश्च मोचितः | 34 | 18 | d |
| कृणु कुचेषुनः कृन्धिहृच्छयम् | 31 | 7 | d |
| कृतकौतुकमङ्गलाम् | 53 | 11 | b |
| कृतकौतुकमङ्गलाम् | 56 | 10 | b |
| कृतञ्चधार्तराष्ट्रैर्यत् | 49 | 6 | a |
| कृत मस्मिञ्जुगुप्सितम् | 54 | 37 | b |
| कृतमैत्रादिको रथम् | 39 | 32 | d |
| कृतवान्द्रोह मुल्बणम् | 44 | 47 | b |
| कृतवान्वै जुगुप्सितम् | 33 | 29 | b |
| कृत शौचो परन्तप | 43 | 1 | b |
| कृतसंवन्दनौ पुत्रौ | 44 | 51 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| कृतस्तैः करुणात्मभिः | 34 | 14 | |
| कृताञ्जलिपुटश्शनैः | 39 | 57 | |
| कृतानुवृत्ति | 60 | 54 | |
| कृतावतारस्य दुरत्ययं तमः | 38 | 7 | c |
| कृतासनपरिग्रहः | 58 | 39 | |
| कृतासनपरिग्रहान् | 48 | 15 | |
| कृता स्त्रौ रामकेशवौ | 45 | 36 | |
| कृतैकपत्रश्रवणैक नूपुराः | 41 | 25 | c |
| कृतोऽन्येषां वधाय च | 50 | 9 | d |
| कृत्वा चावश्यकं सर्वं | 41 | 2 | c |
| कृत्वा तावन्त मात्मानम् | 33 | 20 | |
| कृत्वा पादाभिवन्दनम् | 58 | 4 | |
| कृत्वा पारव्रकीं पूजां | 29 | 29 | a |
| कृत्वा मुखान्यवशुचः श्वसनेन शुष्यत् | 36 | 54 | c |
| कृत्वा विषाणेन जघान सोऽपतत् | 36 | 13 | |
| कृत्वेत्थं दुष्टचेष्टितम् | 36 | 40 | |
| कृत्स्न गोधन मुपोह्य दिनान्ते | 35 | 22 | c |
| कृत्स्नाद्भुत | 50 | 50 | |
| कृपया कृपणां प्रभुः | 60 | 28 | |
| कृपया परया भक्तं | 56 | 30 | c |
| कृष्ण अहाग्रजान्तिकम् | 57 | 26 | |
| कृष्ण कृष्ण महानयम् | 34 | 6 | |
| कृष्ण कृष्ण महोयोगिन् | 49 | 11 | a |
| कृष्ण कृष्णा प्रमेयात्मन् | 37 | 11 | a |
| कृष्ण कृष्णेति ते सर्वे | 36 | 5 | c |
| कृष्णदर्शनलालसाः | 32 | 1 | |
| कृष्णदर्शनलालसाः | 47 | 22 | |
| कृष्णदूते व्रजं याते | 47 | 9 | c |
| कृष्णद्विडसहन् स्वसुः | 54 | 18 | b |
| कृष्णपादाम्बुजाश्रयः | 47 | 66 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|
| कृष्णभक्त्या नराधिप | 47 | 68 | b |
| कृष्णमक्लिष्ट कर्माणम् | 37 | 10 | c |
| कृष्णमन्वसत कृष्ण गृहिण्यः | 35 | 19 | b |
| कृष्णमभ्यद्रवत् क्रुद्धः | 54 | 30 | c |
| कृष्णमभ्यद्रवद्रुषा | 43 | 12 | d |
| कृष्णमागत माकर्ण्य | 53 | 36 | a |
| कृष्णरामगतज्वराः | 45 | 17 | d |
| कृष्णरामद्विषो यत्ताः | 53 | 18 | a |
| कृष्णरामायिते द्वे तु | 30 | 17 | a |
| कृष्णरामा वभाषत | 48 | 17 | d |
| कृष्णरामौतथा स्त्रियः | 55 | 38 | b |
| कृष्णरामौ ववन्दाते | 44 | 50 | c |
| कृष्णरामौ वृतौ गोपैः | 42 | 23 | c |
| कृष्णरामौ समाभाष्यः | 43 | 31 | c |
| कृष्णलीलाकथां गायन् | 47 | 54 | c |
| कृष्णलीलानुगायतीः | 35 | 26 | b |
| कृष्णलीलां प्रगायन्त्यः | 35 | 1 | c |
| कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य | 33 | 19 | a |
| कृष्ण वीर्यसमुद्भवः | 55 | 2 | b |
| कृष्ण श्शरणद स्सताम् | 37 | 31 | b |
| कृष्णसङ्कर्षणभुजैः | 45 | 17 | a |
| कृष्णस्तदनुमोदताम् | 53 | 46 | d |
| कृष्णस्त मनुवर्ततीम् | 30 | 18 | b |
| तद्भगवत श्चरणारविन्दम् | 47 | 62 | c |
| कृष्णस्य दयितस्सखा | 46 | 1 | b |
| कृष्णस्य मुखलावण्य | 32 | 4 | a |
| कृष्णस्य मुष्टिनिष्पातैः | 56 | 25 | a |
| कृष्णस्य वदनाम्बुजम् | 44 | 11 | b |
| कृष्णस्यानुचरं प्रियम् | 46 | 14 | b |
| कृष्णस्यामित तेजसः | 52 | 19 | b |
| कृष्णस्याऽऽसन् सहस्रशः | 58 | 58 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| कृष्णस्योत्पल सौरभम् | 33 | 12 | b |
| कृष्ण स्सङ्कर्षण स्तदा | 41 | 39 | b |
| कृष्ण स्सङ्कर्षणान्वितः | 41 | 19 | b |
| कृष्णस्समनुमन्त्रितः | 50 | 58 | d |
| कृष्ण स्स्वसदृशीं भार्यां | 52 | 24 | c |
| कृष्णं च जगदीश्वरम् | 49 | 14 | b |
| कृष्णं चैव दिनात्यये | 41 | 6 | d |
| कृष्णं चैकं गतं हर्तुं | 53 | 20 | c |
| कृष्णं तदर्थविनिवर्तित सर्वकामाः | 29 | 30 | b |
| कृष्णं तद्भावनायुतः | 29 | 9 | c |
| कृष्णं मत्वा स्त्रियो ह्रीताः | 55 | 28 | c |
| कृष्णं लब्ध्वा प्रियं पतिम् | 58 | 48 | b |
| कृष्णं विदुः परं कान्तम् | 29 | 12 | a |
| कृष्णं विव्याध पञ्चभिः | 54 | 27 | d |
| कृष्णं स तस्मै व्यसृजच्छतघ्नीं | 59 | 15 | m |
| कृष्णं संस्मारयन्नेमे | 47 | 56 | c |
| कृष्णः कमललोचनः | 46 | 48 | d |
| कृष्णः सत्यं करोति तत् | 46 | 35 | d |
| कृष्णः सन्तर्दनादिभिः | 58 | 56 | d |
| कृष्णाकृष्ण मनिन्दिता | 58 | 5 | 6 |
| कृष्णाख्यं पुरुषं परम् | 47 | 26 | d |
| कृष्णान्तःपुरयोषितः | 55 | 37 | b |
| कृष्णान्तिकमुपव्रज्य | 54 | 36 | a |
| कृष्णान्वेषणकातराः | 30 | 14 | b |
| कृष्णाभिमर्शमुदिताः | 33 | 9 | c |
| कृष्णाय कृतकिल्बिषः | 56 | 1 | b |
| कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम् | 30 | 15 | b |
| कृष्णाय प्रणिपत्याह | 47 | 69 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| कृष्णाय प्राहिणोत् द्रुतम् | 52 | 26 | d |
| कृष्णाय भगिनीं नृप | 52 | 25 | b |
| कृष्णाय विदितार्थाय | 57 | 8 | c |
| कृष्णायादान्न सत्राजित् | 57 | 4 | c |
| कृष्णायाद्भुतकर्मणे | 57 | 21 | b |
| कृण्णाया हस्ततरला | 32 | 13 | c |
| कृष्णायिताघ्नतीवान्या | 30 | 17 | e |
| कृष्णायोपजहार ह | 56 | 32 | d |
| कृष्णायोपजहार ह | 56 | 44 | d |
| कृष्णायोपजहार ह | 47 | 57 | b |
| कृष्णावेशात्म विक्लवम् | 56 | 44 | d |
| कृष्णे क्वचैष परमात्मनि रूढभावाः | 47 | 59 | b |
| कृष्णे नन्दयशोदयोः | 46 | 29 | b |
| कृष्णेन सुमहात्मना | 46 | 20 | d |
| कृष्णेनाचरिताः प्रभो | 47 | 49 | d |
| कृष्णेनाद्भुतकर्मणा | 36 | 16 | b |
| कृणेनेक्ष्वाकुनन्दनः | 52 | 1 | b |
| कृष्णे भक्ति र्हि साध्यते | 47 | 24 | d |
| कृष्णे यदुपतौ नृप | 54 | 54 | d |
| कृष्णे सक्तां न्यषेधताम् | 58 | 30 | d |
| कृष्णोऽपिनूनं शयनं महाधनम् | 48 | 5 | c |
| कृष्णोऽप्यन्वद्रवत् रुषा | 57 | 24 | d |
| कृष्णोम्बष्ठप्रचोदितम् | 43 | 2 | d |
| कृष्णो रामस्य पश्यतः | 42 | 11 | b |
| कृष्णोऽ हं पश्यत गतिम् | 30 | 19 | c |
| कृष्णौ ददृशतुः कन्याम् | 58 | 17 | c |
| केनाप्यज्ञातवृत्तान्ता | 36 | 49 | c |
| केनाऽप्युत्थापितोऽधुना | 51 | 33 | d |
| केशग्रन्थ्यश्च काश्चन | 39 | 14 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| केशप्रसाधनं त्वत्र | 30 | 34 | c | क्रियतां मैत्र मादृतः | 36 | 60 | b |
| कैशप्रसाधशयनस्नपनोपहार्यैः | 59 | 45 | c | क्रिया बन्धो र्हतस्य वै | 57 | 32 | b |
| केशवो द्वारका मेत्य | 57 | 31 | a | क्रियेतार्थः कृतात्मनः | 47 | 46 | d |
| केशान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा | 33 | 18 | b | क्रीडन्त श्चारयन्ति गाः | 43 | 34 | d |
| केशान् समूह्य तद्वक्त्रं | 60 | 26 | c | क्रीडन्ननीहोऽपि गुणैः | 46 | 40 | c |
| केशी तु कंसप्रहितः खुरैर्महीम् | 37 | 1 | a | क्रीडामृगः पुरुष ईश नीयते | 51 | 52 | d |
| कैकेयीं भ्रातृभिर्दत्तां | 58 | 56 | c | क्रीडार्थमद्यात्त मनुष्य विग्रहम् | 37 | 24 | c |
| कोनाम स पुमान् ब्रह्मन् | 51 | 13 | a | क्रीडार्थं त्वं बिभर्षि हि | 40 | 17 | b |
| कोनुक्षेमाय कल्येत | 57 | 16 | c | क्रीडार्थं सोऽपि साधूनाम् | 46 | 39 | c |
| को नु तृप्येत शृण्वानः | 52 | 20 | c | क्रीडिष्यामो यथोचितम् | 43 | 38 | b |
| को नु युष्मद्विधगुरोः | 45 | 48 | c | क्रुद्धः कृष्णमुपाद्रवत् | 36 | 9 | d |
| कोऽन्य स्तेऽभ्यधिको नाथ | 58 | 41 | a | क्रुद्धायां शापशङ्कितः | 36 | 48 | b |
| कोन्वयं नर वैदूर्यः | 55 | 31 | a | क्रुद्धोवक्षस्यताडयत् | 44 | 21 | d |
| कोपात्प्रचलितेन्द्रियः | 36 | 18 | b | क्रुद्धौ धनुष आदाय | 42 | 20 | c |
| को भवानिह सम्प्राप्तः | 51 | 28 | a | क्रूरस्ते तनयोभूयात् | 36 | 47 | c |
| कोभवान्परया लक्ष्म्या | 34 | 11 | a | क्रूरस्त्वमक्रूरसमाख्यया स्म नः | 39 | 21 | a |
| कोमलाङ्गुलिभिराश्रित मार्गम् | 35 | 2 | c | क्रोशन्तं कालयामास | 34 | 26 | c |
| कौतुकाबद्धतोरणाम् | 50 | 39 | d | क्रोशन्तं कृष्ण रामेति | 34 | 27 | a |
| कौमोदकीचक्रधरंचतुर्भुजम् | 59 | 15 | j | क्रोशन्त्या असुतृप् खलः | 38 | 42 | b |
| कौरवेन्द्रयशोङ्कितम् | 49 | 1 | b | क्वचातिसुकुमाराङ्गौ | 44 | 8 | c |
| कौस्तुभं वनमालिनम् | 39 | 52 | d | क्वचित्तरति कश्चन | 38 | 5 | d |
| कौस्तुभामुक्तकन्धरम् | 51 | 2 | b | क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते | 47 | 21 | c |
| कौस्तुभेनविराजितम् | 51 | 24 | d | क्वचि द्रजांसि विममे | 51 | 38 | a |
| क्रन्दन्तिबालावत्साश्च | 29 | 22 | c | क्वणितवेणुरवाञ्चितचित्ताः | 35 | 19 | a |
| क्रन्दन्तीनामनाथवत् | 57 | 6 | b | क्ववज्रसारसर्वाङ्गौ | 44 | 8 | a |
| क्रव्यार्थे श्येनयो रिव | 56 | 23 | d | क्व स्वेमहिम्न्यभिरतो भगवांस्त्र्यधीशः | 60 | 34 | c |
| क्रान्तत्रिभुवनाय च | 40 | 20 | d | क्वासि क्वासि महाभुज | 30 | 40 | b |
| क्रियतां तदनन्तरम् | 52 | 44 | d | क्वाहं गुणप्रकृतिरङ्गगृहीत पादाः | 60 | 34 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| केमाः स्त्रियो वनचरी व्यभिचारजुष्टाः | 47 | 59 | a |
| केयं लब्धात्वनेन वा | 55 | 31 | d |
| क्लिष्टयोर्दुर्हृदो भृशम् | 45 | 9 | d |
| क्लेशान् हंसि हृदि स्थितः | 58 | 10 | d |
| क्लेशापायात्मदर्शनम् | 58 | 8 | d |
| क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम् | 46 | 32 | b |
| क्षत्रियाणा मयं धर्मः | 54 | 40 | a |
| क्षपयिष्णो रमुष्य वै | 37 | 22 | b |
| क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः | 47 | 14 | d |
| क्षयं प्रणीतं वसुदेव पुत्रयोः | 50 | 29 | c |
| क्षात्रधर्मस्थितोजन्तून् | 51 | 63 | a |
| क्षित्युद्धारविहाराय | 40 | 19 | c |
| क्षिपन् सञ्जनयन्कलिम् | 55 | 17 | d |
| क्षिपंश्चपादाननवस्थितेक्षणः | 36 | 14 | b |
| क्षीणसत्त्वः खिन्नगात्रः | 56 | 25 | c |
| क्षुल्लेलिहानेऽहिरिवाखु मन्तकः | 51 | 50 | d |
| क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषा | 38 | 18 | d |
| क्षेमाय च भवाय च | 41 | 46 | d |
| क्ष्वेल्याऽऽचरित मङ्गने | 60 | 29 | d |
| क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणाम् | 29 | 46 | c |
| **ख** | | | |
| खगावीतफलं वृक्षम् | 47 | 8 | a |
| खरमर्त्यशिरांसिच | 54 | 8 | d |
| खरयानं विषादनम् | 42 | 30 | b |
| खलच्छन्दानुवर्तिनः | 49 | 4 | d |
| खलानांननुदण्डधृत् | 30 | 21 | d |
| खं रोदसीसर्वदिर्दशोन्तरं महान् | 59 | 8 | c |
| खं वाखग्निजलं मही | 47 | 29 | d |
| खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलाम् | 30 | 31 | c |
| खुरेणावनि मुल्लिखन् | 36 | 9 | b |
| खेदाविललोचनाशया | 36 | 37 | b |
| **ग** | | | |
| गच्छ जानीहि तद्वृत्तम् | 48 | 36 | a |
| गच्छतं स्वगृहं वीरौ | 45 | 49 | a |
| गच्छनन्दव्रजं तत्र | 36 | 62 | a |
| गच्छन् पथि महाभागः | 38 | 2 | a |
| गच्छन्तिपरमर्षयः | 51 | 39 | d |
| गच्छस्व गजसाह्वयम् | 48 | 33 | d |
| गच्छोद्धव व्रजं सौम्य | 46 | 3 | a |
| गजदन्त वरायुधौ | 43 | 16 | d |
| गजः कुवलयापीडः | 36 | 25 | c |
| गजः प्रतिगजं यथा | 36 | 11 | d |
| गजाश्वरथपत्तिभिः | 53 | 21 | d |
| गजेनेव मदान्धेन | 36 | 42 | a |
| गजै र्द्वारिसु परामृष्ट | 54 | 57 | c |
| गजैश्च बहुभिर्वृतः | 59 | 15 | d |
| गजैः पयोधिप्रभवैर्निराक्रमत् | 59 | 15 | b |
| गण्डश्रियासुधितहास्यनिरीक्षणेन | 33 | 22 | b |
| गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम् | 29 | 39 | b |
| गण्डं गण्डे सन्दधत्या | 33 | 13 | c |
| गतवाक्कायमानसाः | 47 | 9 | b |
| गतश्रमं पर्यपृच्छत् | 46 | 15 | c |
| गतिश्चैकान्तिनां तु या | 41 | 14 | d |
| गतिविद स्तवोद्गीतमोहिताः | 31 | 16 | c |
| गति स्मित प्रेक्षण भाषणादिषु | 30 | 3 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| गतिं वा प्रापितोऽवशः | 34 | 11 | d |
| गतिं सुललितां चेष्टां | 39 | 17 | a |
| गते तस्मिन् गृहोद्यानान् | 36 | 49 | a |
| गतो दर्पहरस्मितः | 30 | 6 | d |
| गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षणैः | 30 | 2 | a |
| गत्या ललितयोदार | 47 | 51 | a |
| गत्वा जनार्दनश्शङ्खम् | 45 | 43 | c |
| गत्वा पाञ्चालके पुरे | 57 | 12 | b |
| गत्वा सरेन्द्रभवनं | 59 | 38 | a |
| गदया निर्बिभेदाद्रीन् | 59 | 4 | c |
| गदसङ्कर्षणादयः | 54 | 6 | b |
| गदाग्रजो निर्बिभिदे सहस्रधा | 59 | 10 | b |
| गदामाविध्य तरसा | 55 | 19 | a |
| गन्धर्वपालिभिरनुद्रुतआविशद्गाः | 33 | 23 | c |
| गन्धस्रग्भूषणोत्तमैः | 48 | 16 | b |
| गरदानाद्यपेशलम् | 49 | 6 | b |
| गरुडध्वजमारुह्य | 57 | 23 | a |
| गरुडेनार्दितं स्वकम् | 59 | 19 | f |
| गरुत्मता हन्यमानाः | 59 | 18 | c |
| गर्गवाक्य मनुस्मरन् | 51 | 45 | d |
| गर्गस्यवचनं यथा | 46 | 23 | d |
| गर्गा द्यदुकुलाचार्यात् | 45 | 29 | c |
| गर्हितो यास्यसे तमः | 49 | 19 | b |
| गाण्डीवं धनु रादाय | 58 | 13 | c |
| गाण्डीवीकालयामास | 58 | 54 | c |
| गान्धारीं द्रोणमेवच | 57 | 2 | b |
| गायका· वाद्यवादकाः | 53 | 43 | b |
| गायतो स्सम्पमत्तवत् | 34 | 25 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| गायत्रं व्रतमास्थितौ | 45 | 29 | d |
| गायन्तश्च स्तुवन्तश्च | 53 | 43 | a |
| गायन्तिचैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यः | 44 | 15 | c |
| गायन्ति देवा यदशेषमङ्गलम् | 38 | 13 | d |
| गायन्तीभिश्च कर्माणि | 46 | 11 | a |
| गायन्त्य उच्चै रमुमेव सङ्गताः | 30 | 4 | a |
| गायन्त्यस्तं तटित इव ता मेघचक्रे विरेजुः | 33 | 8 | d |
| गायन्त्य स्तं विजह्रिरे | 33 | 15 | d |
| गायन्त्यः प्रियकर्माणि | 47 | 10 | a |
| गायन्त्यः प्रिय चेष्टितम् | 39 | 37 | d |
| गावस्सपाला एतेन | 43 | 26 | a |
| गावो बृन्दावनं गिरिम् | 46 | 18 | d |
| गावो वेणुरवाइमे | 47 | 49 | b |
| गावो हिरण्यं वासांसि | 34 | 3 | a |
| गा स्समाह्वयति यत्र मुकुन्दः | 35 | 6 | d |
| गां पर्यटं स्त्वा मगणय्य दुर्मदः | 51 | 49 | d |
| गाः पालयन्सहबलः क्वणयन् स्म वेणुम् | 44 | 13 | c |
| गिरः सम्मुमुहुः स्त्रियः | 39 | 16 | d |
| गिरा गद्गदयाऽस्तौषीत् | 39 | 57 | a |
| गिरिदर्यां विनिक्षिप्य | 37 | 30 | a |
| गिरिदुर्गैः शस्त्रदुर्गैः | 59 | 3 | a |
| गिरिविशङ्काम्बवता | 56 | 14 | c |
| गिरीन्द्रसदृशंबली | 37 | 32 | b |
| गिरौ निलाना वज्राय | 52 | 11 | a |
| गीतवाद्य द्विजाशिषः | 58 | 49 | b |
| गीतवेणु रनुगेडितकीर्तिः | 35 | 22 | d |
| गीयमानं तत स्ततः | 54 | 59 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| गीर्भि स्सम्मोहय न्निह | 48 | 29 | d | गृहआनकदुन्दुभेः | 51 | 41 | b |
| गीर्वाणतुल्यामरवल्लभानुगाः | 36 | 38 | d | गृहं तमायान्त मवेक्ष्य साऽऽसनात् | 48 | 4 | a |
| गुणकर्माभिधानानि | 51 | 38 | c | गृहं प्रवेश्याप्तसमस्तसत्कृतम् | 38 | 23 | c |
| गुणगणार्णव मनुगम्य हरिण्यः | 35 | 19 | c | गृहागतै र्गीयमानाः | 52 | 23 | c |
| गुणप्रवाहं भगवन्त मीमहि | 37 | 23 | d | गृहानेवाऽभ्यपद्यत | 36 | 49 | d |
| गुणप्रवाहोपरमः | 29 | 12 | c | गृहान्धकूपेपतितो यथा पशुः | 51 | 47 | d |
| गुणप्रवाहोऽयमविद्ययाऽसकृत् | 40 | 13 | c | गृहान्नो गृहमेधिनाम् | 41 | 13 | b |
| गुणात्परं वेद नते स्वरूपम् | 40 | 4 | d | गृहीतकण्ठ्यस्तद्दोर्भ्याम् | 33 | 15 | c |
| गुणैकधाम्नो यस्याऽङ्गे | 58 | 41 | c | गृहीतकोदण्डमुदारशङ्ख | 59 | 15 | c |
| गुप्तस्समेत्यपृतनापतिभिः परीतः | 52 | 41 | b | गृहीतचित्तः परवान्मनस्व्यपि | 39 | 24 | b |
| गुप्ता राजभटैश्शूरैः | 53 | 41 | c | गृहीतपादः करुणोन्यवर्तत | 54 | 34 | d |
| गुप्तालब्धमनोरथाः | 45 | 17 | b | गृहीतो मत्स्यजीविभिः | 55 | 4 | d |
| गुप्तेन च त्वया मन्द | 50 | 18 | c | गृहीत्वा खड्गचर्मणी | 54 | 30 | b |
| गुरुणैव मनुज्ञातौ | 45 | 49 | c | गृहीत्वा पाणिना पाणिम् | 36 | 59 | c |
| गुरुदक्षिणयाऽऽचार्यम् | 45 | 36 | c | गृहीत्वा पाणिना पाणिम् | 41 | 9 | c |
| गुरुपुत्रमिहानीतम् | 45 | 46 | a | गृहीत्वा पाणिना पाणिम् | 46 | 2 | c |
| गुरुपुत्रस्तव प्रभो | 45 | 41 | b | गृहीत्वा पाणिना पाणी | 38 | 37 | c |
| गुरुपुत्रं यदूत्तमौ | 45 | 47 | b | गृहीत्वा मागधेन्द्रस्य | 50 | 36 | c |
| गुरुपुत्रः प्रदीयताम् | 45 | 39 | b | गृहीत्वाऽवाङ्मुखस्ततः | 56 | 40 | b |
| गुरुं विप्रं प्रपन्नञ्च | 45 | 7 | c | गृहीत्वा शृङ्गयोस्तं वा | 36 | 11 | a |
| गुरौ वृत्ति मविन्दताम् | 45 | 32 | b | गृहेषु गृहमेधिनाम् | 60 | 31 | b |
| गर्वर्चनादिभिरलंभगवान्परेशः | 52 | 40 | b | गृहेषु गृहवानिव | 60 | 59 | b |
| गुहापिधानं निर्भिद्य | 37 | 34 | a | गृहेषु तासामनपाय्यतर्क्यकृत् | 59 | 43 | a |
| गुहा मेता मुपागतः | 51 | 43 | b | गृहेषु मैथुन्य सुखेषु योषितां | 51 | 52 | c |
| गुह्यकोऽन्ये च तद्विधाः | 43 | 25 | d | गृहेषु योषि त्पुरुषश्च वञ्चितः | 51 | 46 | d |
| गूढः पुराणषुरुषो वनचित्रमाल्यः | 44 | 13 | b | गृहेषु रेमिरे सिद्धाः | 45 | 17 | c |
| गूढो गुहाशय स्साक्षी | 37 | 12 | c | गृहैरगरुधूपितैः | 53 | 9 | |
| गूहमानौ नरेहितैः | 45 | 30 | d | | | | |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| गृहोद्यानोपशोभनः | 59 | 40 | b | गोपास्त मन्वसज्जन्त | 39 | 33 | a |
| गृह्णन्निषङ्गादथ सन्दधच्छरान् | 50 | 24 | a | गोपिका इव विमुक्तगृहाशाः | 35 | 19 | d |
| गृह्णातु मेनदमघोष सुतादयोऽन्ये | 52 | 40 | d | गोपीथाय यदुध्वजः | 60 | 2 | d |
| गृह्णीयु र्दुहितुस्सुताः | 57 | 41 | b | गोपीभिर्हैमवालुकम् | 29 | 45 | b |
| गृह्यतामित्युवाच ह | 45 | 41 | d | गोपीमण्डलमण्डितः | 33 | 3 | b |
| गृह्यतां बध्यतामिति | 42 | 19 | d | गोपीरिद मभाषत | 47 | 22 | d |
| गृह्यतां सर्वगोरसः | 39 | 11 | b | गोपीनां तत्पतीनाञ्च | 33 | 36 | a |
| गेयानिकविभिर्भुवि | 37 | 21 | d | गोपीनां नयनोत्सवः | 36 | 15 | d |
| गेहयोर्ज्योति रक्रियाः | 60 | 20 | d | गोपीनां मद्वियोगाधिम् | 46 | 3 | c |
| गोकुलंभयविह्वलम् | 36 | 6 | b | गोपीनां विनुद ञ्छुचः | 47 | 54 | b |
| गोकुलं वृजिनार्णवात् | 47 | 52 | d | गोपैर्विशन्खुररजश्छुरितालकस्रक् | 39 | 30 | b |
| गोचारणायानुचरैश्चरद्वने | 38 | 8 | c | गोपैर्हृतं केसरिणां मृगैरिव | 53 | 56 | d |
| गोदोहशब्दाभिखम् | 46 | 10 | c | गोपैश्च सुविराजितम् | 46 | 11 | d |
| गोपगोधनवृतो यमुनायाम् | 35 | 20 | b | गोप्ता च तदवध्यायी | 44 | 48 | c |
| गोपवत्सयिताः पराः | 30 | 17 | b | गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः | 35 | 2 | d |
| गोपाअनोभिः स्थावरै रुपेक्षितम् | 39 | 27 | c | गोप्यश्च दयितं कृष्णम् | 39 | 34 | a |
| गोपानामन्त्र्य दाशार्हः | 47 | 64 | c | गोप्य श्चेरु र्विचेतसः | 30 | 35 | d |
| गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां | 43 | 17 | b | गोप्य स्ततः किमचरन्यदमुष्यरूपम् | 44 | 14 | a |
| गोपान्नयन्तं जग्राह | 37 | 31 | c | गोप्य स्तद्गीत माकर्ण्य | 34 | 24 | a |
| गोपान्निस्सार्य कृच्छ्रतः | 37 | 34 | b | गोप्यस्ता स्तदुपश्रुत्य | 39 | 13 | a |
| गोपान्वयस्या नाकृष्य | 44 | 29 | a | गोप्यस्समंभगवता ननृतुस्स्वकेश | 33 | 16 | c |
| गोपान्व्रजञ्चात्मनाथम् | 46 | 18 | c | गोप्य स्समुत्थाय निरूप्यदीपान् | 46 | 44 | c |
| गोपान्समादिशत्सोऽपि | 39 | 11 | a | गोप्यः कथन्वतितरेम तमोदुरन्तम् | 39 | 29 | d |
| गोपालस्य सुदुर्मतिः | 54 | 22 | b | गोप्यः कृष्णे वनं याते | 35 | 1 | a |
| गोपाला जात कौतुकाः | 34 | 1 | b | गोप्यः पश्यत कृष्णस्य | 30 | 32 | c |
| गोपाला यादवाश्चैव | 36 | 55 | c | गोप्यः स्फुरत्कनककुण्डल कुन्तलत्विट् | 33 | 22 | a |
| गोपालास्सहसोत्थिताः | 34 | 7 | b | गोप्यो गोपाश्च तत्रसुः | 36 | 4 | d |
| गोपावासै र्मनोरमम् | 46 | 12 | d | | | | |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| गोप्यो गोविन्दभाषितम् | 29 | 28 | b |
| गोप्यो मुकुन्दविगमेविरहातुरायाः | 42 | 24 | a |
| गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः | 29 | 9 | b |
| गोप्योलब्ध्वाऽच्युतंकान्तं | 33 | 15 | a |
| गोप्योऽस्य नित्यमुदित | 43 | 28 | a |
| गोभिश्चन्द्रमसोऽरुणैः | 60 | 4 | d |
| गोभिस्समं क्वणयतोऽस्य निशम्यवेणुम् | 44 | 16 | b |
| गोमायुवन्मृगवतेर्बलि मम्बुजाक्ष | 52 | 39 | d |
| गोवत्सेनेव बालकः | 43 | 9 | d |
| गोवत्सैर्मण्डितं सितैः | 46 | 10 | b |
| गोविन्द एव मखिलात्मनि रूढभावाः | 47 | 58 | b |
| गोविन्द चरणप्रिये | 30 | 7 | b |
| गोविन्द दामोदर माधवेति | 39 | 31 | d |
| गोविन्द यदुनन्दन | 56 | 6 | d |
| गोविन्दविनिवर्तने | 39 | 37 | b |
| गोविन्दहृतमानसा | 53 | 26 | b |
| गोविन्दं शरणं ययुः | 36 | 5 | d |
| गोविन्दः प्रस्तुते क्वचित् | 47 | 42 | b |
| गोविन्दागमनं नृप | 53 | 27 | b |
| गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः | 30 | 29 | b |
| गोविन्दापहृतात्मानः | 29 | 8 | c |
| गोष्ठीमध्ये पुरस्त्रीणाम् | 47 | 42 | c |
| ग्रसंस्त्रिलोकी मिवपञ्चभिर्मुखैः | 59 | 7 | c |
| ग्रस्तश्च दृष्ट्वा सम्भ्रान्ताः | 34 | 7 | c |
| ग्रहीतुकामा आवव्रुः | 42 | 19 | c |
| ग्रहीतु मैच्छ द्विस्रब्धम् | 57 | 47 | a |
| ग्राम्यास्स्वैरकथान्तरे | 47 | 42 | d |
| ग्राम्यास्सलज्जस्मित विभ्रमैर्भ्रमन् | 39 | 24 | d |
| ग्राहयन्ता वुपेतौ स्म | 45 | 32 | c |

## घ

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| घटेतारिष्टदर्शनम् | 57 | 35 | d |
| घातयिष्य इहानीतौ | 36 | 64 | a |
| घातये वैद्युतोपमैः | 36 | 64 | d |
| घुष्यता यज्ञसेनेन | 57 | 11 | c |
| घृष्टस्रजः सकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः | 33 | 23 | b |
| घोरसत्वनिषेविता | 29 | 19 | b |
| घ्नन्ती वैक्षत्कटाक्षेण | 32 | 7 | c |
| घ्राणदृष्टिस्स केशवम् | 43 | 7 | b |

## च

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| चकमे कुरुपुङ्गव | 57 | 46 | b |
| चकार तर्ह्येव हताश्वकुञ्जरम् | 59 | 16 | d |
| चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चितः | 32 | 15 | c |
| चक्रवातश्च दानवः | 43 | 25 | b |
| चक्रुर्निलायनक्रीडाः | 37 | 27 | c |
| चक्रुः समर्ग्यजुर्मन्त्रैः | 53 | 12 | a |
| चक्रेण क्षुरनेमिना | 59 | 21 | f |
| चक्रेण शिर उत्कृत्य | 57 | 25 | c |
| चक्रेणाग्निं जलं वायुं | 59 | 4 | g |
| चक्रे परममुद्यमम् | 50 | 3 | d |
| चक्रे भक्त्युपबृंहितम् | 45 | 44 | d |
| चक्रे भोजकटं नाम | 54 | 51 | e |
| चक्रे स्नेहं तदार्भके | 55 | 8 | d |
| चक्षुर्हि दत्तं हरसे बताऽज्ञवत् | 39 | 21 | b |
| चक्षूंष्याशु पिदध्वं वः | 30 | 22 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| चचार भृङ्गप्रमदागणावृतः | 33 | 25 | c |
| चर्तुर्दन्तां स्तरस्विनः | 59 | 37 | b |
| चतुर्दश्यां यथाविधि | 36 | 58 | b |
| चतुर्भुजं रोचमानं | 51 | 25 | a |
| चतुर्भुजोऽरविन्दाक्षः | 51 | 4 | c |
| चतुः पञ्चावशेषिताः | 37 | 30 | d |
| चन्दानालिप्त माघ्राय | 33 | 12 | c |
| चरणपङ्कजं शन्तमञ्च ते | 31 | 13 | c |
| चरणमीयुषां संसृते र्भयात् | 31 | 5 | b |
| चरणरजउपास्ते यस्मभूति र्वयं काः | 47 | 15 | c |
| चरन्ती तत्र मे मात्रा | 36 | 33 | a |
| चरन्नन्तर्हितः काले | 36 | 34 | c |
| चरन्तीं चारुदर्शनाम् | 58 | 17 | d |
| चरामिबन्धुष्वपि तत्र कारणम् | 36 | 29 | d |
| चर्मासीशक्तितोमरौ | 54 | 29 | b |
| चलन्त्याहाऽपरा अनु | 30 | 19 | b |
| चलन्नितम्बस्तनहारकुण्डल | 46 | 45 | c |
| चलसि यद्व्रजाच्चारयन्पशून् | 31 | 11 | a |
| चाणूरं मुष्टिकञ्चैव | 37 | 16 | a |
| चाणूरे मुष्टिके कूटे | 44 | 28 | a |
| चाणूरोभज्यमानाङ्गः | 44 | 20 | c |
| चाणूरो मुष्टिकः कूटः | 42 | 37 | a |
| चणूरो वाक्यमब्रवीत् | 43 | 31 | d |
| चातुर्वर्ण्य जनाकीर्णं | 50 | 54 | c |
| चारयन्तोऽद्रिसानुषु | 37 | 27 | b |
| चारुगीतहृतचेतस एत्य | 35 | 11 | b |
| चारुजानुयुगं दीर्घं | 39 | 49 | c |
| चारुप्रसन्नवदनं | 39 | 47 | a |
| चारुप्रसन्नवदनं | 51 | 25 | c |
| चारुहासनिरीक्षणम् | 39 | 47 | b |
| चालनैः स्थापनै रपि | 44 | 5 | b |
| चिच्छेदधनुरच्युतः | 54 | 28 | b |
| चित्तंक्षिणोति तमृते नु कथंभवेम | 39 | 30 | d |
| चित्रंनतत्खलु रमास्पदबिम्बबिम्बे | 55 | 40 | c |
| चित्तं सुखेनभवताऽपहृतंगृहेषु | 29 | 34 | a |
| चित्ते कर्तरि तत्राऽऽत्मा | 46 | 41 | c |
| चित्रध्वजपताकाभिः | 53 | 8 | c |
| चिन्तयन्त्यो मुकुन्दस्य | 39 | 18 | a |
| चिन्तयामास भगवान् | 56 | 6 | a |
| चिन्तयामास सुव्रता | 36 | 33 | b |
| चिन्तामापुर्दुरत्ययाम् | 29 | 28 | d |
| चिन्तां दुरन्तां रुदती जगाम ह | 60 | 22 | d |
| चिरप्रजागरश्रान्तः | 51 | 33 | a |
| चिरमिहवृजिनार्त स्तप्यमानोऽनुतापैः | 51 | 58 | a |
| चिह्नितै रङ्घ्रिभिर्व्रजम् | 38 | 30 | b |
| चूतप्रियालपनसासनकोविदार | 30 | 9 | a |
| चेरतुर्बहुयोजनम् | 52 | 8 | d |
| चेलेन बद्ध्वा तमसाधुकारिणं | 54 | 35 | a |
| चेष्टां विश्वसृजो यस्य | 57 | 19 | c |
| चैद्यशाल्वजरासन्ध | 60 | 18 | a |
| चैद्यस्यच महाक्रतौ | 37 | 20 | d |
| चैद्य स्सिद्धिं यथागतः | 29 | 13 | b |
| चैद्यादीन् स्मर दुर्मदान् | 60 | 11 | b |
| चैद्योऽगात्सानुगः पुरम् | 54 | 17 | b |
| चोदयामास कृष्णाय | 43 | 5 | c |
| चोदयाश्वान् यतः कृष्णः | 54 | 21 | c |
| चोदितो भार्ययोत्पाट्य | 59 | 39 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| चोद्यमानो महामात्रैः | 43 | 12 | c |
| चोरपालापदेशतः | 37 | 27 | d |
| **छ** | | | |
| छन्दयामासतु नृप | 45 | 36 | f |
| छन्नयानः प्रविशताम् | 46 | 8 | c |
| छन्नं वीक्ष्य सुमध्यमा | 54 | 4 | b |
| छाययाचविदधत्प्रतपत्रम् | 35 | 13 | d |
| छित्त्वाऽसिमाददे तिग्मं | 54 | 31 | c |
| छिद्रप्रतीतिश्छायायाम् | 42 | 29 | a |
| छिन्ध्याऽऽशुनस्सुतकलत्रधनाप्तगेह | 48 | 28 | c |
| **ज** | | | |
| जगतः कारणंपरम् | 41 | 46 | b |
| जगतामीश्वरं पतिम् | 60 | 6 | d |
| जगतुः सर्वभूतानाम् | 34 | 23 | a |
| जगद्धेतू जगत्पती | 38 | 32 | b |
| जगद्धेतूजगन्मयौ | 48 | 19 | b |
| जगाम कृच्छ्रंनिर्ऋते रथक्षयम् | 36 | 14 | c |
| जगाम कौसल्यपुरं | 58 | 34 | c |
| जगाम गजसाह्वयम् | 57 | 8 | b |
| जगाम दिशमुत्तरम् | 52 | 2 | d |
| जगुर्गन्धर्वपतयः | 33 | 5 | c |
| जगृहेऽञ्जलिना मुदा | 32 | 5 | b |
| जगृहे सोऽसिचर्मणी | 44 | 35 | d |
| जगौकलं वामदृशां मनोहरम् | 29 | 3 | d |
| जग्राह बाहुना स्कन्धम् | 33 | 11 | c |
| जग्राह विरथं रामः | 50 | 31 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| जघान पद्मयामरविन्दलोचनम् | 37 | 4 | c |
| जघ्नुर्हयगजान रथान् | 54 | 6 | d |
| जघ्नेकृष्णं त्रिभिश्शरैः | 54 | 24 | b |
| जङ्घायुगलसंयुतम् | 39 | 49 | d |
| जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद्दृशाम् | 31 | 15 | d |
| जडो रोग्यधनोऽपि वा | 29 | 25 | b |
| जनकेन महात्मना | 57 | 30 | f |
| जनयन्नयनानन्दम् | 58 | 12 | c |
| जनयामास नारीणाम् | 55 | 9 | c |
| जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः | 51 | 54 | b |
| जनाः प्रजहृषुस्सर्वे | 44 | 30 | a |
| जनितः पोषितो यतः | 45 | 5 | b |
| जनेष्वेवं ब्रुवाणेषु | 43 | 31 | a |
| जनो देवहता नपि | 36 | 70 | b |
| जन्मकर्माणि मे नृप | 51 | 39 | b |
| जन्मकर्माधानानि | 51 | 37 | a |
| जन्मन्यनन्तरेराजन् | 51 | 64 | a |
| जन्मादयस्तु देहस्य | 54 | 47 | a |
| जन्मैश्वर्याकृतिर्भवेत् | 60 | 15 | b |
| जपन् ब्रह्मसनातनम् | 39 | 41 | b |
| जपस्वाध्याय संयमैः | 47 | 24 | b |
| जम्ब्वर्कबिल्ववकुलाम्रक पारिजाताः | 30 | 9 | b |
| जयतितेऽधिकं जन्मना व्रजः | 31 | 1 | a |
| जराविनाशा द्यखिलाधिभागिनां नृणां | 36 | 39 | c |
| जरासन्धपुरस्सराः | 54 | 9 | d |
| जरासन्धाय दुःखिते | 50 | 2 | b |
| जरासन्धो मम गुरुः | 36 | 67 | a |
| जरासन्धं महाबलम् | 50 | 31 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| जरासन्धः सप्तदश | 57 | 17 | c |
| जरासुतस्तावभिसृत्य माधवौ | 50 | 21 | a |
| जलमाविश्य तं हत्वा | 45 | 41 | c |
| जलरुहाननं चारुदर्शय | 31 | 6 | d |
| जलस्थलदृशिभ्रमः | 58 | 27 | d |
| जलं प्राश्य धृतव्रताः | 34 | 4 | b |
| जलाग्न्यनिलदुर्गम् | 59 | 3 | b |
| जलादुन्मज्ज्य सत्वरः | 41 | 2 | b |
| जलानीव जलौकसः | 49 | 22 | d |
| जहारकृष्णो द्विषतां समीक्षताम् | 53 | 55 | b |
| जहार मत्तद्विरदेन्द्रविक्रमः | 41 | 27 | c |
| जहार मुष्टिनेवाऽङ्ग | 34 | 31 | c |
| जहावध्वपरिश्रमम् | 38 | 43 | d |
| जहितेन ममाहितौ | 36 | 57 | d |
| जहु र्गुणमयं देहम् | 29 | 11 | c |
| जहुर्विरहजं तापम् | 32 | 10 | c |
| जहुर्विरहजं तापम् | 33 | 1 | c |
| जह्यघं मदुपाश्रयः | 51 | 63 | d |
| जह्यामसून् व्रतकृशाञ्छत जन्मभिः स्यात् | 52 | 43 | d |
| जाड्यं क्व स्तव गदाग्रज यस्तुभूपान् | 60 | 40 | a |
| जातश्च परमोत्सवः | 58 | 48 | d |
| जातस्य तव नोचितम् | 51 | 8 | b |
| जात हर्ष उपरम्भति विश्वम् | 35 | 12 | d |
| जातो नीतश्च गोकुलम् | 43 | 24 | b |
| जानन् विद्रावितं जगत् | 54 | 14 | d |
| जानीम स्त्वां यदुपतेः | 47 | 4 | a |
| जानीहि मा मनागस्कं | 36 | 45 | a |
| जानुभ्या श्चैव जानुनी | 44 | 3 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| जाने त्वां मत्पारायणाम् | 60 | 29 | b |
| जाने त्वां सर्वभूतानां | 56 | 26 | a |
| जामय स्सख्य एव च | 49 | 8 | d |
| जाम्बवत्यपि शुल्कार्थम् | 57 | 47 | c |
| जाम्बवान् बलिनां वरः | 56 | 21 | d |
| जायन्तनाहुष गयादय ऐकपत्यं | 60 | 41 | b |
| जार बुद्ध्याऽपि सङ्गताः | 29 | 11 | b |
| जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम् | 47 | 8 | d |
| जालरन्ध्र प्रविष्टेश्च | 60 | 4 | c |
| जालरन्ध्रविनिर्गतैः | 60 | 5 | d |
| जिग्य एकमहं परम् | 54 | 13 | d |
| जिघ्रन्त इव नासाभ्यां | 43 | 21 | c |
| जिघ्रन्त्यनन्तचरणेन रजो मृजन्ती | 48 | 8 | b |
| जिज्ञासार्थं पाण्डवानाम् | 48 | 33 | c |
| जित्वा कन्या मुपाहरत् | 52 | 19 | d |
| जिहीर्षुस्तच्छिरोरत्नम् | 34 | 30 | c |
| जीवच्छवं भजतिकान्तमति र्विमूढा | 60 | 45 | c |
| जुगुप्सितं हि सर्वत्र | 29 | 26 | c |
| जुषाणातन्मुखाम्बुजम् | 32 | 8 | b |
| जुष्टं कुमुद वायुना | 34 | 22 | d |
| जुष्टं तत्तरलाऽसङ्गि | 29 | 45 | c |
| जुष्टं स्त्रीपुरुषैः श्रीमत् | 53 | 9 | c |
| जुष्टेषुजालामुखरन्ध्रकुट्टिमेषु | 41 | 22 | a |
| जुहाव ग्रहशान्तये | 53 | 12 | d |
| ज्ञातयो ऽमात्यमन्त्रिणः | 51 | 18 | b |
| ज्ञातिभ्यो रजआत्मनः | 57 | 44 | f |
| ज्ञातीन् नः स्मरता कृष्ण | 58 | 9 | c |
| ज्ञातीन्वो द्रष्टुमेष्यामः | 45 | 23 | c |
| ज्ञात्वा कंसचिकीर्षितम् | 42 | 25 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ज्ञात्वा तत्परि हासोक्तिम् | 60 | 32 | c |
| ज्ञात्वाऽऽत्मान मधोक्षजम् | 47 | 53 | d |
| ज्ञात्वाऽ द्य गूढं यदुषु | 56 | 8 | c |
| ज्ञात्वा नारायणं देवम् | 51 | 45 | c |
| ज्ञात्वा लोहमयैः पाशैः | 36 | 19 | c |
| ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ | 46 | 31 | d |
| ज्ञानात्मनस्ते क्व च बन्धहेतुः | 48 | 22 | d |
| ज्ञानिनो ज्ञानयज्ञेन | 40 | 7 | c |
| ज्ञापितो भौम चेष्टितम् | 59 | 2 | d |
| ज्योत्स्ना यावद्विभाव्यते | 30 | 43 | b |
| **त** | | | |
| तआसेदु रुपस्थानम् | 42 | 37 | c |
| तच्चाऽप्यंह भवदनुग्रहमीशमन्ये | 40 | 29 | a |
| तच्चिन्तयान्यन्निभृतो नवेद | 32 | 21 | d |
| तच्छस्त्रकूटंभगवान् स्वमार्गणैः | 59 | 13 | c |
| तच्छृत्वाऽभ्यद्रवत्क्रुद्धः | 56 | 21 | c |
| तच्छृत्वामहदाश्चर्यं | 55 | 37 | a |
| तज्जानतीनां नः कृष्णे | 47 | 47 | c |
| तञ्चाद्रिपृष्ठे निहतम् | 56 | 18 | c |
| ततआह बलो नूनम् | 57 | 27 | a |
| तत उत्प्लुत्य तरसा | 52 | 12 | a |
| ततश्च कृतविद्यौ तौ | 45 | 36 | c |
| ततश्चकृष्णोपवने जलस्थल | 33 | 25 | a |
| ततश्च भूः कृष्णमुपेत्यकुण्डले | 59 | 23 | a |
| ततश्चलब्धसंस्कारौ | 45 | 29 | a |
| ततश्चान्तर्दधे कृष्णः | 30 | 39 | c |
| ततश्चैषामहो मित्र | 36 | 66 | e |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तत स्ताः कृष्णसन्दशैः | 47 | 53 | a |
| तत स्तावङ्गरागेण | 42 | 5 | a |
| ततस्तु वायकः प्रीतः | 41 | 40 | a |
| ततस्संयमनीं नाम | 45 | 43 | a |
| ततस्सकारयामास | 57 | 32 | a |
| तत स्सागर्भिणीकाले | 36 | 50 | a |
| तत स्सुदाम्नो भवनम् | 41 | 43 | a |
| ततस्स्वभवनं ययौ | 48 | 37 | d |
| ततः कूट मनुप्राप्तम् | 44 | 26 | a |
| ततः पाञ्चालनगरात् | 57 | 11 | a |
| ततः पौरान् पृच्छमानः | 42 | 15 | a |
| ततः प्रभृत्यहं द्वेष्मि | 36 | 51 | a |
| ततः प्रीतस्सुतां राजा | 58 | 47 | a |
| ततान जनमोहिनीम् | 45 | 1 | d |
| ततोऽक्रूर मुवाच ह | 36 | 59 | d |
| ततो गत्वा वनोद्देशम् | 30 | 38 | a |
| ततो गौह्यकगान्धर्व | 55 | 23 | a |
| ततो दुन्दुभयोनेदुः | 33 | 5 | a |
| ततो द्रुततरं गत्वा | 59 | 14 | c |
| ततोनिववृतुः स्त्रियः | 30 | 43 | d |
| ततो निवार्य कृष्णाद्विद् | 52 | 25 | c |
| ततोऽन्यैश्च मणिश्रेष्ठैः | 56 | 33 | a |
| ततोऽभिमुखमभ्येत्य | 43 | 10 | a |
| ततोऽभूत्परसैन्यानां | 50 | 17 | a |
| ततो मुष्टिकचाणूर | 36 | 21 | a |
| ततो ययौ रामपुरोगमै श्शनैः | 53 | 56 | e |
| ततोरथादवप्लुत्य | 54 | 30 | a |
| ततो रूपगुणौदार्य | 42 | 9 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ततोऽवर्षत् स्म काशिषु | 57 | 36 | d | तत्रैवान्तरधीयत | 29 | 48 | d |
| ततोऽविशन् वनं चन्द्र | 30 | 43 | a | तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरः | 32 | 15 | a |
| ततोऽशिक्षद्गदां काले | 57 | 30 | c | तत्रोपस्पृश्य पानीयम् | 39 | 39 | a |
| तत्क्षन्तुमर्हथ स्तात | 45 | 9 | a | तत्रोपस्पृश्यविशदं | 58 | 17 | a |
| तत्त्वज्ञानेन निर्हृत्य | 54 | 49 | c | तत्सन्देशागतस्मृतीः | 47 | 38 | a |
| तत्पदाम्बुजरजोऽनिलनीतम् | 35 | 7 | b | तत्सर्वं सोऽच्छिनद्धरिः | 54 | 29 | d |
| तत्पालयैनं कुरु हस्तपङ्कजम् | 59 | 31 | c | तत्सुत स्तत्प्रभावोऽसौ | 57 | 37 | a |
| तत्पुत्रोत्पत्तिहेतुभिः | 49 | 15 | d | तत्सुतौ मृत्युमात्मनः | 36 | 19 | b |
| तत्प्रेक्षणोत्स्मित सुधोक्षणलब्धमानाः | 41 | 28 | b | तथाऽक्रूरः स्वमालयम् | 36 | 71 | d |
| तत्रज्ञातीन् समाधाय | 50 | 49 | c | तथा चान्वीक्षिकीं विद्याम् | 45 | 34 | c |
| तत्रतत्र द्विजातयः | 41 | 30 | d | तथाऽति रभसां स्तांस्तु | 44 | 41 | a |
| तत्रतत्रोपसङ्गताः | 41 | 7 | b | तथा तैस्समपूजयत् | 53 | 48 | b |
| तत्र दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं | 56 | 20 | a | तथा तौ नन्ददेवकौ | 36 | 55 | b |
| तत्र प्रवयसोऽप्यासन् | 45 | 19 | a | तथात्वां लक्षयामहे | 41 | 3 | d |
| तत्र योगप्रभावेण | 50 | 58 | a | तथाऽनया न तृप्यामि | 49 | 29 | c |
| तत्र रांजन्यकन्यानां | 59 | 33 | a | तथा निरस्तान्नरको धरासुतः | 59 | 14 | b |
| तत्र साल्वो जरासन्धः | 53 | 17 | a | तथाऽन्यासामपि स्त्रीणां | 60 | 59 | a |
| तत्रस्नात्वा सरस्वत्याम् | 34 | 2 | a | तथाऽन्ये लोकपालाश्च | 50 | 57 | a |
| तत्त्राणं विहितं मया | 30 | 20 | b | तथाऽपि तत्परा राजन् | 39 | 2 | c |
| तत्राऽपि च यथापूर्वम् | 39 | 43 | a | तथाऽपि दुर्धरोह्यन्यैः | 57 | 42 | a |
| तत्राऽपि शुशुभे ताभिः | 33 | 7 | a | तथाऽपि भक्तान् भजते यथा तथा | 38 | 22 | c |
| तत्राऽभ्ययु र्विनिघ्नन्त्यः | 44 | 43 | c | तथाऽपि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते | 50 | 30 | d |
| तत्राऽरमत गोविन्दः | 33 | 2 | a | तथाऽपि याचे तव सौहृदेच्छया | 58 | 40 | c |
| तत्राऽविध्यच्छरै र्व्याघ्रान् | 58 | 15 | a | तथाऽपि सूनृता सौम्य | 49 | 27 | a |
| तत्राऽऽसन्कतिचिच्चोराः | 37 | 28 | a | तथाऽपि स्मरतां शश्वत् | 58 | 10 | c |
| तत्रैकां स गतं बाहुम् | 33 | 12 | a | तथाऽप्नोत्यबुधो भवम् | 54 | 48 | d |
| तत्रैका चाह हे गोपाः | 30 | 22 | a | तथाऽप्यद्यतनान्यङ्ग | 51 | 40 | a |
| तत्रैका तु बकायतीम् | 30 | 17 | f | तथाऽप्यहं न शोचामि | 54 | 14 | a |
| | | | | तथाऽप्याज्ञां करोमि ते | 36 | 70 | d |
| | | | | तथाऽप्याशा दुरत्यया | 47 | 47 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तथाबलिश्चापजगत्त्रयेन्द्रताम् | 38 | 17 | b |
| तथाभूतं हतप्रायम् | 54 | 36 | c |
| तथाऽवदत् गुडाकेशः | 58 | 23 | a |
| तथाऽहमपि तच्चित्तः | 53 | 2 | a |
| तथाहं च मनः प्राण | 47 | 29 | e |
| तथेति तेनोपानीतम् | 45 | 47 | a |
| तथेत्यथाऽऽरुह्य महारथौ रथम् | 45 | 38 | a |
| तथैव बलमुष्टिकौ | 44 | 19 | d |
| तथैव मुष्टिकः पूर्वम् | 44 | 24 | a |
| तथैव सात्यकिः पार्थैः | 58 | 6 | a |
| तथैवाऽऽचरितं क्वचित् | 33 | 32 | b |
| तदङ्गप्रभवं शङ्खम् | 45 | 42 | c |
| तदङ्गसङ्गप्रमदाकुलेन्द्रियाः | 33 | 18 | a |
| तदङ्गोपचिताशिषः | 33 | 1 | d |
| तदप्यच्छिन दव्ययः | 54 | 28 | d |
| तदमात्यांश्च तत्पदे | | | |
| तदर्थं प्रोष्य आगतः | 57 | 45 | d |
| तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः | 47 | 17 | d |
| तदवेत्यासितापाङ्गी | 52 | 26 | a |
| तदसौ जलमाविश्य | 45 | 42 | a |
| तदाकर्ण्येश्वरौ राजन् | 57 | 9 | a |
| तदागमनकाङ्क्षिताः | 30 | 45 | d |
| तदापतद्वै त्रिशिखं गरुत्मते | 59 | 9 | a |
| तदा भवान् सत्त्वगुणं बिभर्ति | 48 | 24 | d |
| तदा महोत्सवो नृणाम् | 54 | 54 | a |
| तदावयं जन्मभृतोमहीयसा | 38 | 21 | c |
| तदावयं विजेष्यामः | 54 | 16 | c |
| तदीयं द्वारकां धनम् | 52 | 5 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तदेव ध्रुवमुन्निन्ये | 33 | 10 | e |
| तदेव रूपं दुरवाप माप | 44 | 39 | d |
| तदैव कश्चि द्गन्धर्वः | 36 | 34 | a |
| तदैव कुशलं नोऽभूत् | 58 | 9 | a |
| तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखम् | 29 | 2 | a |
| तद्गन्धासवलम्पटाः | 59 | 40 | d |
| तद्गुणानेवगायन्त्यः | 30 | 44 | c |
| तद्दर्पघ्न उपारमत् | 60 | 21 | d |
| तद्दर्शनस्मरक्षोभात् | 42 | 14 | a |
| तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजः | 32 | 14 | a |
| तद्दर्शनाह्लादविशुद्धसम्भ्रमः | 38 | 26 | a |
| तद्दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः | 60 | 25 | a |
| तद्देशकालानुगुणम् | 50 | 6 | c |
| तद्देहतः कर्कटिकाफलोपमात् | 37 | 9 | a |
| तद्धेतुत्वात्तत्प्रसिद्धेः | 54 | 46 | c |
| तद्धेषितैर्वालविघूर्णिताम्बुदम् | 37 | 3 | b |
| तद्बन्धूनाञ्च कल्याण्यः | 29 | 24 | c |
| तद्बन्धू न्निहनिष्यामि | 36 | 65 | c |
| तद्बलाबलव द्युद्धम् | 44 | 6 | a |
| तद्भक्तेषु च सौहार्दम् | 41 | 51 | c |
| तद्भौमसैन्यं भगवान्गदाग्रजः | 59 | 16 | a |
| तद्भ्रातरं देवकञ्च | 36 | 66 | c |
| तद्यात माचिरं घोषम् | 29 | 22 | a |
| तद्रक्षां सोऽकरोच्चिरम् | 51 | 15 | d |
| तद्रक्षिण स्सानुचराः | 42 | 19 | a |
| तद्रूप गुणमाधुर्य | 43 | 22 | c |
| तद्वञ्चयित्वा तमधोक्षजो रुषा | 37 | 5 | a |
| तद्वत्त्वां गतयोऽन्ततः | 40 | 11 | d |
| तद्वद्वयञ्च तव पादरजः प्रपन्नाः | 29 | 37 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तद्विचेष्टा स्तदात्मिकाः | 30 | 44 | b |
| तद्विसर्गात्पूर्वमेव | 59 | 20 | c |
| तन्त्वद्य नूनं महतां गतिं गुरुम् | 38 | 14 | a |
| तन्त्वाऽनुपश्यतो ब्रह्मन् | 41 | 5 | c |
| तन्नः पर मनुग्रहः | 43 | 37 | d |
| तन्नः पर मनुग्रहः | 43 | 37 | d |
| तन्नः प्रसीदवरदेश्वर मा स्म छिन्द्याः | 29 | 33 | c |
| तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेङ्घ्रिमूलम् | 29 | 38 | a |
| तन्नाथं प्रमदाजनम् | 34 | 26 | b |
| तन्नावकल्ययोः कंसात् | 45 | 8 | a |
| तन्निरुन्ध्या दिन्द्रियाणि | 47 | 32 | c |
| तन्निर्भिद्य प्रविश्यान्तः | 59 | 4 | e |
| तन्निशम्याऽब्रवीत्कृष्णः | 43 | 36 | a |
| तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो | 29 | 41 | c |
| तन्मनस्का महोदयाः | 35 | 26 | d |
| तन्मनस्का स्तदालापाः | 30 | 44 | a |
| तन्मातरो यदभजन् रहरूढभावाः | 55 | 40 | b |
| तन्मे भवान्वलु वृतः पतिरङ्गजाया | 52 | 39 | a |
| तन्वन्दशांसखिसुनिवृतिमच्युतो वः | 30 | 11 | b |
| तन्वः प्राण मिवाऽऽगतम् | 32 | 3 | d |
| तन्वी ताम्बूलचर्वितम् | 32 | 6 | b |
| तपसाऽऽराधयद्धरिम् | 52 | 4 | d |
| तपसा व्रतचर्यया | 60 | 52 | b |
| तमस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम् | 29 | 41 | d |
| तमाऽऽचख्यौ पितुर्वधम् | 57 | 8 | d |
| तमात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् | 29 | 38 | d |
| तमा स्वकृतया शुचा | 47 | 44 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तमद्राक्षीदवस्थितम् | 51 | 11 | d |
| तमनुद्रुतचेतसः | 35 | 1 | b |
| तमन्वधाव द्गोविन्दः | 34 | 30 | a |
| तमन्वमी च त्वरयन्ति दुर्मदाः | 39 | 27 | b |
| तमन्वेष्टुं पुरं व्रज | 57 | 27 | d |
| तमपूर्वं नरं दृष्ट्वा | 56 | 21 | a |
| तमपृच्छद्धृषीकेशः | 34 | 10 | a |
| तमपृच्छद्धृषीकेशः | 41 | 3 | a |
| तमस्पृशत्पदाभ्येत्य | 34 | 8 | c |
| तमः प्रविष्ट मालक्ष्य | 30 | 43 | c |
| तमागतं समाज्ञाय | 53 | 31 | a |
| तमागतं समालोक्य | 46 | 14 | a |
| तमापतन्त मालोक्य | 44 | 35 | a |
| तमापतन्त मासाद्य | 43 | 13 | a |
| तमापतन्तं स निगृह्य शृङ्गयोः | 36 | 13 | a |
| तमापतन्तीं भगवान् | 55 | 20 | a |
| तमालोक्य घनश्यामं | 51 | 24 | a |
| तमाह प्रेमवैक्लव्य | 58 | 8 | a |
| तमाह भगवानाशु | 45 | 39 | a |
| तमाह भगवान् कृष्णः | 58 | 39 | a |
| तमाह भगवान् प्रेष्ठम् | 46 | 2 | a |
| तमाहातीव विस्मितः | 56 | 25 | d |
| तमिमं जहि दुर्धर्ष | 55 | 14 | a |
| तमुत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रयम् | 47 | 2 | d |
| तमृतेश्रीनिकेतनम् | 58 | 21 | b |
| तमेकदामणिं कण्ठे | 56 | 13 | a |
| तमेवपरमात्मानम् | 29 | 11 | a |
| तमेव प्रत्यपद्यत | 55 | 1 | d |
| तमोनिरोधाय बिभर्ष्यसंवृतः | 59 | 29 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तया कथितमाकर्ण्य | 30 | 42 | a | तवागमनकारणम् | 39 | 7 | d |
| तयाति हार्द्रार्द्र दृशाभिरभिमितः | 58 | 7 | b | तवाऽऽस्तां देवभक्तस्य | 56 | 46 | c |
| तया परित्रास विकम्पिताङ्गया | 54 | 34 | a | तवेयं विषमा बुद्धिः | 54 | 42 | a |
| तयो रासनमानीय | 41 | 44 | a | तस्थावधोमुख्यति दुःखरुद्धवाक् | 60 | 23 | d |
| तयो रित्थं भगवति | 46 | 29 | a | तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराश्च तूष्णीम् | 29 | 29 | d |
| तयो र्द्विजवर स्तुष्टः | 45 | 33 | a | तस्थु स्तत्सम्मुखा राजन् | 54 | 2 | c |
| तयो र्निरीक्षतो राजन् | 34 | 26 | a | तस्थौ प्राञ्जलि रग्रतः | 53 | 5 | d |
| तयो र्निवेशनं श्रीमत् | 53 | 34 | a | तस्थौ रक्षन् स्त्रियो बलः | 34 | 30 | d |
| तयो र्निहतयो र्दृप्तान् | 36 | 65 | a | तस्मात्ते जायतां पुत्रः | 36 | 45 | c |
| तयो र्विचरतोः स्वैरम् | 42 | 23 | a | तस्मात्प्रायेण नह्याढ्या | 60 | 14 | c |
| तयो र्विवाहो मैत्री च | 60 | 15 | c | तस्मात्समत्वे वर्तस्व | 49 | 19 | c |
| तयो र्वृजिन माचरन् | 57 | 16 | d | तस्मादज्ञानजं शोकम् | 54 | 49 | c |
| तयोर्वेष मकल्पयत् | 41 | 40 | b | तस्मादथो विधास्यामः | 50 | 49 | a |
| तयो स्तदद्भुतं वीर्यम् | 42 | 22 | a | तस्माद्बलिभ्यां बलिभिः | 43 | 40 | a |
| तयो स्सपर्यां महतीम् | 45 | 44 | c | तस्मा द्राज्ञः प्रियं यूयम् | 43 | 35 | a |
| तरन्तिस्माऽऽश्रमं मुदा | 43 | 28 | d | तस्माद्विसृज्याशिष ईश सर्वतः | 51 | 57 | a |
| तरसाक्षीणजीवितम् | 44 | 23 | b | तस्माल्लोक मिमं राजन् | 49 | 25 | a |
| तरुपल्लवशोभितम् | 29 | 21 | d | तस्मिन्नाज मवस्थितम् | 43 | 2 | b |
| तर्हिद्रक्ष्यामि तद्वक्त्रम् | 46 | 19 | c | तस्मिन्नन्तर्गृहे भ्राजन् | 60 | 3 | a |
| तर्हिभग्नगतय स्सरितो वै | 35 | 7 | a | तस्मिन्नेवाखिलात्मनि | 41 | 51 | b |
| तर्हिस्वित्स्यन्दने न स्तः | 39 | 42 | c | तस्मिन्प्रविष्टोदद्दशे | 42 | 15 | c |
| तर्ह्येव हि शलः कृष्ण | 44 | 27 | a | तस्मिन्न्यस्याश्व मारुह्य | 57 | 22 | c |
| तल शब्देन कोपयन् | 36 | 8 | b | तस्मिन्भवन्ता वखिलात्म हेतौ | 46 | 33 | a |
| तलेनाभिहतो भृशम् | 44 | 24 | d | तस्मै गदां सोपि रुषा व्यमुञ्चत | 59 | 9 | d |
| तव कथामृतं तप्तजीवनं | 31 | 9 | a | तस्मै ददौ परां मुक्तिम् | 56 | 33 | c |
| तवकल्याणि नित्यदा बिम्बे | 60 | 50 | d | तस्मै नमो दुरवबोधविहार तन्त्र | 49 | 29 | c |
| तवसुतस्सति यदाऽधरबिम्बे | 35 | 14 | c | तस्मै प्रत्यर्पयत्प्रभुः | 57 | 49 | b |
| तवस्वावद्यमार्जनम् | 36 | 69 | b | तस्मै भुक्तवते प्रीत्या | 38 | 40 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तस्मै सर्वमवर्णयत् | 52 | 36 | d | तप श्शद्धायुतो धीरः | 52 | 3 | a |
| तस्य चाऽऽक्रन्दितं श्रुत्वा | 34 | 7 | a | तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण | 32 | 9 | a |
| तस्यचापततः खड्गम् | 54 | 31 | a | तं खड्गपाणिं विचरन्त माशु | 44 | 36 | a |
| तस्य तत्कर्म विज्ञाय | 37 | 31 | a | तं तीक्ष्णशृङ्गमुद्वीक्ष्य | 36 | 4 | c |
| तस्य पञ्चाऽभवन्पुत्राः | 52 | 21 | c | तं त्रासयन्तं भगवान्स्वगोकुलं | 37 | 3 | a |
| तस्य प्रसन्नोभगवान् | 41 | 42 | a | तं त्वानुरूप मभजं जगतमधीशम् | 60 | 43 | a |
| तस्य शान्तिर्नचान्यथा | 56 | 43 | d | तं त्वाऽहं भवभीतानाम् | 34 | 15 | a |
| तस्य सत्याऽभवत्कन्या | 58 | 32 | c | तं दृष्ट्वाऽचिन्तयत्कृष्णः | 50 | 46 | a |
| तस्थ संस्मृत्य संस्मृत्य | 47 | 10 | c | तं दृष्ट्वा जलदश्यामं | 55 | 27 | a |
| तस्य स्पृष्टः पदा हि ते | 34 | 17 | d | तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय | 57 | 29 | a |
| तस्यां अमूनि नः क्षोभम् | 30 | 30 | a | तं निगृह्यऽऽच्युतो दोर्भ्याम् | 37 | 33 | a |
| तस्यात्मजाः सप्तपितुर्वधातुराः | 59 | 11 | e | तं निर्गतं समासाद्य | 47 | 65 | a |
| तस्यात्मजोऽयं तव पादपङ्कजं | 59 | 31 | a | तं निर्जगार बलवान् | 55 | 4 | a |
| तस्यानुगा भ्रातरोऽष्टौ | 44 | 40 | a | तं पदा समताडयत् | 51 | 10 | d |
| तस्यानुजीविनस्सर्वे | 41 | 38 | a | तं परिक्रम्य सन्नम्य | 52 | 1 | c |
| तस्यानु शङ्ख यवन | 37 | 17 | a | तं प्रविष्टं स्त्रियो वीक्ष्य | 59 | 34 | a |
| तस्या नूनं तृणाङ्कुरैः | 30 | 31 | b | तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतम् | 47 | 3 | a |
| तस्याश्शङ्कितचेतसः | 55 | 6 | d | तं प्राप्तं यदुनन्दनम् | 53 | 30 | b |
| तस्या स्सुदुःखभयशोकविनष्टबुद्धेः | 60 | 24 | a | तं भुक्तवन्तं विश्रान्तं | 52 | 29 | a |
| तस्यास्सुरच्युत नृपाभवतोपदिष्टाः | 60 | 44 | a | तं मत्वा पतितं क्रुद्धः | 43 | 11 | c |
| तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्धः | 33 | 35 | d | तं मानिनः स्वाभिभवं यशः क्षयम् | 53 | 56 | a |
| तस्यै कामवरं दत्त्वा | 48 | 11 | a | तं मेने सदृशं पतिम् | 52 | 23 | d |
| तस्यै मानञ्च बह्वदात् | 33 | 10 | f | तं विलोक्य जना दूरात् | 56 | 5 | a |
| तस्यै स्त्रियस्ताः प्रददुः | 53 | 49 | a | तं विलोक्य विनिष्क्रान्तम् | 51 | 1 | a |
| तस्योत्सङ्गे घनश्यामं | 39 | 46 | a | तं विलोक्यागतं प्रेष्ठम् | 32 | 3 | a |
| तस्योपरिष्टात्स्वय मब्जनाभः | 44 | 37 | c | तं वीक्ष्यकृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः | 47 | 1 | a |
| तपः किमचरन्महत् | 41 | 31 | b | तं वै विदर्भाधिपतिः | 53 | 16 | a |
| तपः परममास्थिता | 58 | 20 | d | तं शम्बरः कामरूपी | 55 | 3 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तं शम्बराय कैवर्ताः | 55 | 5 | a | ता मुत्थाप्य चतुर्भुजः | 60 | 26 | b |
| ता ऊचु रुद्धवं प्रीताः | 47 | 38 | c | ताम्बूलविश्रमणवीजन गन्धमाल्यैः | 59 | 45 | b |
| तात सौम्यागतः कच्चित् | 39 | 4 | a | ताम्रश्मश्रोर्जहार तत् | 55 | 24 | d |
| ता दीपदीप्तै र्मणिभिर्विरेजुः | 46 | 45 | a | ताम्रारकोष्ठां परिखा दुरासदाम् | 41 | 20 | c |
| ता दृष्ट्वाऽन्तिक मायाताः | 29 | 17 | a | ताम्रोन्तरिक्षः श्रवणो विभावसुः | 59 | 12 | a |
| ता नमस्य न्निदं जगौ | 47 | 57 | d | तार्क्ष्यपुत्त्रस्सुधामिव | 52 | 17 | d |
| तानस्यतः शरव्रातान् | 58 | 54 | a | तालत्रयं महासारम् | 46 | 25 | a |
| तानापतत आलोक्य | 54 | 2 | a | तावकानां भवेच्छत्रुः | 36 | 48 | c |
| तानि चूडयता कान्ताम् | 30 | 35 | a | तावकैः शात्रवं बलम् | 54 | 5 | d |
| ता निराशा निववृतुः | 39 | 37 | a | तावत्यक्षौहिणी बलः | 50 | 42 | b |
| तानेतान् बन्धुदुर्जनान् | 36 | 51 | b | तावद्रूपधरोऽव्ययः | 59 | 42 | d |
| तान् निन्युः किङ्करो राज्ञे | 58 | 16 | a | तावद्वजौकसस्तत्र | 41 | 8 | a |
| तान् पाययत दुह्यत | 29 | 22 | d | तावन्ममर्दुः परसैन्य मुद्धतं | 54 | 35 | c |
| तान्पीठमुख्या ननयद्यमक्षयम् | 59 | 14 | a | तावानय समं गोपैः | 36 | 63 | c |
| तान्प्राप्तानर्थिनो हित्वा | 60 | 11 | a | तावानर्चुः प्रमुदिताः | 41 | 30 | c |
| तान्समेत्याह भगवान् | 41 | 9 | a | तावार्यमाणाः पतिभिः | 29 | 8 | a |
| ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्गसङ्ग | 33 | 23 | a | तावाह मागधो वीक्ष्य | 50 | 17 | c |
| ताभि र्विधूतशोकाभिः | 32 | 11 | a | तावेव ददृशेऽक्रूरः | 39 | 41 | c |
| ताभिस्स्वलङ्कृतौप्रीतौ | 41 | 50 | a | ताश्चाददा दनुस्मृत्य | 45 | 28 | c |
| ताभिस्समेताभिरुदारचेष्टितः | 29 | 43 | a | तासा माविरभू च्छौरिः | 32 | 2 | a |
| ताभ्यां हताभ्यां बालाभ्याम् | 36 | 54 | a | तासां गुणधियां कथम् | 29 | 12 | d |
| ताभ्यो देव्यै नमश्चक्रे | 53 | 49 | c | तासां तत्सौभगमदम् | 29 | 48 | a |
| ता मन्मनस्का मत्प्राणाः | 46 | 4 | a | तासां मध्ये द्वयो र्द्वयोः | 33 | 3 | d |
| तामानयिष्य उन्मथ्य | 53 | 3 | a | तासां मुकुन्दो मधुमञ्जुभाषितैः | 39 | 24 | a |
| तामापतन्तीं गदया गदां मृधे | 59 | 10 | a | तासां रतिविहारेण | 33 | 21 | a |
| ता माससाद कामार्तः | 36 | 36 | a | तास्तथा तप्यतीर्वीक्ष्य | 39 | 35 | a |
| ता मासाद्य वरारोहां | 58 | 18 | a | तास्ता विचेष्टा जगृहु स्तदात्मिकाः | 30 | 2 | d |
| ता माह भगवान् कार्ष्णिः | 55 | 11 | a | ता स्समादाय कालिन्द्याः | 32 | 12 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तां किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभिः | 47 | 43 | a | तुभ्यं नमस्तेऽस्त्वविषक्त दृष्टये | 40 | 13 | a |
| तां देव मायामिव वीरमोहिनीं | 53 | 51 | a | तुमुलो रासमण्डले | 33 | 6 | d |
| तां प्रत्यगृह्णाद्भगवान् | 58 | 47 | c | तुरङ्गमाश्च दुर्धर्षाः | 59 | 19 | a |
| तां बिभ्रदुभयच्युतः | 60 | 48 | d | तुल्यकष्टान् समागम्य | 57 | 2 | c |
| तां बुद्धिलक्षणौदार्य | 52 | 24 | a | तुष्टाव पुण्डरीकाक्षं | 40 | 1 | c |
| तां भौमः प्राहरच्छक्तया | 59 | 20 | a | तुष्टा ह्यागमनेन वाम् | 41 | 45 | d |
| तां राजकन्यां रथ मारुरुक्षतीम् | 53 | 55 | a | तुष्यतां मे सभगवान् | 58 | 21 | c |
| तां रूपिणीं श्रियमनन्यगतिं निरीक्ष्य | 60 | 9 | a | तूणौ चाक्षयसायकौ | 58 | 13 | d |
| तां वै प्रवयसोबालाम् | 53 | 45 | a | तूर्णं द्वारावतीमियात् | 57 | 14 | f |
| तांश्चाकृतार्थान् वियुनङ्क्ष्यपार्थकम् | 39 | 19 | c | तूर्यभेर्यश्चजध्निरे | 42 | 33 | b |
| तां श्रुत्वा बृषजिल्लुभ्याम् | 58 | 34 | a | तूर्यभेर्यश्चजध्निरे | 53 | 41 | f |
| तां सत्यभामां भगवान् | 56 | 45 | a | तूर्येषु निनदत्सु च | 43 | 31 | b |
| तां सम्प्रविष्टौ वसुदेवनन्दनौ | 41 | 24 | a | तूष्णीमास जनार्दनः | 55 | 36 | b |
| ताः प्राहिणोत् द्वारवतीम् | 59 | 36 | a | तृट्परीतः परिश्रान्तः | 58 | 16 | c |
| त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम् | 51 | 57 | d | तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम् | 31 | 7 | b |
| तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम् | 33 | 34 | b | तृणावर्त बकादयः | 46 | 26 | b |
| तिलिशश्चर्मचेषुभिः | 54 | 31 | b | तेऽकृतार्थं प्रहिण्वन्ति | 49 | 23 | c |
| तिलांश्च गुडमिश्रितान् | 53 | 13 | b | ते केशिन स्तप्तमयस्पृशो यथा | 37 | 7 | b |
| तिष्ठतिष्ठेत्युपाद्रवत् | 54 | 23 | d | तेज ओजोबलं वीर्यं | 49 | 5 | a |
| तिष्ठेत तत्त्वयि वयं प्रति नन्दयामः | 60 | 57 | d | तेजसा तस्य धर्षितः | 51 | 27 | b |
| तिसृभिर्म्लेच्छकोटिभिः | 50 | 45 | b | तेजसा ते विषह्येण | 51 | 35 | a |
| तिसृभिश्चापि संवृतः | 50 | 4 | b | तेजसा नोपलक्षितः | 56 | 4 | d |
| तीक्ष्णशृङ्गान् सुदुर्धर्षान् | 58 | 33 | c | तेजसा मुष्टदृष्टयः | 56 | 5 | b |
| तीव्रतापधुताशुभाः | 29 | 10 | b | तेजः प्रागल्भ्य रूपञ्च | 42 | 22 | c |
| तुङ्गगुल्फारुणनख | 39 | 50 | a | तेजीयसां न दोषाय | 33 | 30 | c |
| तुङ्गमारुहतां गिरिम् | 52 | 10 | b | तेजोऽपहरता सताम् | 60 | 19 | d |
| तुङ्गं सारेःस्थलश्रियम् | 39 | 48 | b | तेन कार्यचिकीर्षया | 50 | 32 | d |
| तुण्डपक्षनखैर्गजाः | 59 | 18 | d | तेन तुष्ट स्त्रिलोककृत् | 53 | 38 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तेन तौ तत्र हन्तव्यौ | 36 | 26 | c |
| तेन पङ्कजगन्धिनः | 36 | 45 | b |
| तेन मे संयुगो भवेत् | 54 | 21 | d |
| तेन वीजयती देवी | 60 | 7 | c |
| तेनाऽटवीमटसि तद्व्यथते न किंस्वित् | 31 | 19 | c |
| तेनाऽऽदेक्ष्यामि परुषम् | 36 | 53 | c |
| तेनेमां भो दशां नीतः | 44 | 47 | c |
| ते पुनन्त्युरु कालेन | 48 | 32 | c |
| तेभ्योऽदा दक्षिणां गावः | 45 | 27 | a |
| तेभ्यो भया द्वदुदधिं शरणं प्रपन्नः | 60 | 40 | d |
| ते मन्द भाग्या नित्येऽपि ये नृणाम् | 60 | 53 | c |
| तेषां तद्विक्रमं वीराः | 54 | 6 | a |
| तेषान्तु देव्युपस्थानात् | 56 | 37 | a |
| तेषां यत्स्ववचोयुक्तम् | 33 | 32 | c |
| तेषां विभो समुचितो भवतः समाजः | 60 | 38 | c |
| तेषीं वीर्यमदान्धानां | 60 | 19 | a |
| तेषां स्त्रियो महाराज | 44 | 43 | a |
| तेषु पौरा जानपदाः | 42 | 34 | a |
| तेषु राजाऽम्बिका पुत्रः | 48 | 35 | a |
| तेषु हि प्राकृताः प्रोताः | 40 | 12 | c |
| तैरहं सुरपक्षीयान् | 36 | 67 | e |
| तैरामृष्टशुचो लोकाः | 40 | 17 | c |
| तै रिदं सत्यसङ्कल्पः | 37 | 13 | c |
| तैरिमां प्रापितो योनिम् | 34 | 13 | c |
| तैर्विद्धलक्ष्यैः पौरुष्य | 57 | 13 | c |
| तैलद्रोण्यां मृतं प्रास्य | 57 | 8 | a |
| तैलाभ्यक्तो दिगम्बरः | 42 | 30 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तैस्ताडित श्शरौ घैस्तु | 54 | 28 | a |
| तैस्तै र्नियुद्धविधिभिः | 44 | 19 | a |
| तैस्तैः पदै स्तत्पदवीम् | 30 | 26 | a |
| तै स्त्यक्तोऽनर्थ कोविदः | 49 | 24 | b |
| तैस्संसृज्य विजह्रतुः | 44 | 29 | b |
| तोकयित्वा रुदत्यन्या | 30 | 15 | c |
| तोरणैस्समलङ्कृतम् | 53 | 8 | d |
| तौ कल्पयन्तौ युगपत् | 34 | 23 | c |
| तौ दृष्ट्वा सहसोत्थाय | 41 | 43 | c |
| तौ रथस्थौ कथमिह | 39 | 42 | a |
| तौ रेजतू रङ्गगतौ महाभुजौ | 43 | 19 | a |
| तौ सञ्जगृहतुर्नृप! | 45 | 35 | d |
| त्यक्तुं नाऽर्हसि मां नाथ! | 41 | 11 | c |
| त्यक्तोऽयादरिभिर्नृप! | 50 | 43 | d |
| त्यजन्त्यनिमिषा दिवम् | 37 | 15 | d |
| त्यजमनाक् च न स्त्वत्स्पृहात्मनां | 31 | 18 | c |
| त्याग स्तपो दम स्सत्यं | 47 | 33 | c |
| त्याज्यः स्वेनैव दोषेण | 54 | 39 | c |
| त्रयाणां पुरुषर्षभम् | 51 | 30 | b |
| त्रयोविंशतिभि स्सैन्यैः | 54 | 13 | c |
| त्रयो विंशत्यनीकपः | 52 | 6 | d |
| त्रयोविंशत्यनीकाख्यं | 50 | 15 | a |
| त्रय्या च विद्यया केचित् | 40 | 6 | a |
| त्रासितैः कि मसत्तम! | 36 | 7 | 8 |
| त्रिदशैरनुमोदितः | 50 | 36 | f |
| त्रिलोक्यां विबुधर्षभाः | 56 | 8 | b |
| त्रिवक्रनामा ह्यनुलेपकर्मणि | 42 | 3 | b |
| त्रिवक्रां रुचिराननाम् | 42 | 6 | b |
| त्रिशूलमुद्यम्य सुदुर्निरीक्षण | 59 | 7 | a |
| त्रीन्लोकाञ्छुचयोऽपुनन् | 41 | 15 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| त्रुटियुगायते त्वा मपश्यताम् | 31 | 15 | b |
| त्रैलोक्यकान्तं दृशिमन्महोत्सवम् | 38 | 14 | b |
| त्रैलोक्यलक्ष्मैकपदं वपुर्दधत् | 32 | 15 | d |
| त्रैलोक्य सौभगमिदञ्च निरीक्ष्य रूपम् | 29 | 40 | c |
| त्वक्शश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्तः | 60 | 45 | a |
| त्वत्पादपद्ममकरन्दजुषां मुनीनाम् | 60 | 36 | a |
| त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम | 29 | 38 | c |
| त्वत्सेवकैर्नृपपदंविधुतं तमोऽन्धम् | 60 | 35 | d |
| त्वदीयमद्राक्ष्म वयं मधुद्विषः | 39 | 21 | d |
| त्वदीयया त्वां नभजत्यनर्थदृक् | 51 | 46 | b |
| त्वद्वचः श्रोतुकामेन | 60 | 29 | c |
| त्वद्विधानां दुरात्मनाम् | 36 | 7 | d |
| त्वमप्रमत्तः सहसाऽभिपद्यसे | 51 | 50 | c |
| त्वमात्मा सर्वभूतानाम् | 37 | 12 | a |
| त्वयाऽदीर्घसमीक्षया | 60 | 16 | b |
| त्वया विरहिता पत्या | 44 | 46 | a |
| त्वया हतेन निहताः | 44 | 45 | c |
| त्वयाहं भक्तवत्सलः | 51 | 43 | d |
| त्वयिधृतासव स्त्वां विचिन्वते | 31 | 1 | d |
| त्वयि विश्वात्मके सन्ति | 41 | 4 | c |
| त्वयैव यदुनन्दन | 58 | 44 | b |
| त्वयोदितोऽयं जगतो हिताय | 48 | 24 | a |
| त्वयोन्मथितचित्तायाः | 42 | 10 | c |
| त्वय्यच्युताविशतिचित्तमपत्रपं मे | 52 | 37 | d |
| त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रमः | 59 | 30 | d |
| त्वय्यब्जनाभसदुपासनया मतिःस्यात् | 40 | 29 | d |
| त्वय्यव्ययात्मन् पुरुषे प्रकल्पिताः | 40 | 16 | a |
| त्वय्यास्तां सुव्रते मणिः | 57 | 42 | b |
| त्वय्यास्ते शतधन्वना | 57 | 40 | b |
| त्वरितं गुह्यकाधमम् | 34 | 28 | d |
| त्वरितः कुण्डिनं प्रागात् | 53 | 21 | c |
| त्वं तु राम यदि श्रद्धा | 50 | 19 | a |
| त्वं नो गुरुः पितृव्यश्च | 48 | 30 | a |
| त्वंन्यस्तदण्डमुनिभिर्गीदितानुभावः | 60 | 39 | a |
| त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मा | 60 | 38 | a |
| त्वं वै सिसृक्षू रज उत्कटं प्रभो | 59 | 29 | a |
| त्वं हि विश्वसृजां स्रष्टा | 56 | 27 | a |
| त्वामद्योलूखले हरे | 30 | 23 | b |
| त्वामहं शरणं गता | 49 | 13 | d |
| त्वा मीश्वरं स्वाश्रय मात्ममायया | 37 | 24 | a |
| त्वा मुद्वहे कथमिति प्रवदाम्युपायम् | 52 | 42 | b |
| त्वामेवाऽन्ये शिवोक्तेन | 40 | 9 | a |
| त्वां दिदृक्षुर्जगत्पते | 56 | 7 | b |
| त्वां योगिनो यजन्त्यद्धा | 40 | 5 | a |
| त्वां वै वैतानिका द्विजाः | 40 | 6 | b |
| त्विषत्कपोलारुण कुङ्कुमाननाः | 46 | 45 | d |


## द


| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| दग्धं मृगा स्तथाऽरण्यम् | 47 | 8 | c |
| दग्धःप्राक् रुद्रमन्युना | 55 | 1 | b |
| दग्धानाकर्ण्य पाण्डवान् | 57 | 1 | b |
| दण्डव द्रामकृष्णयोः | 38 | 34 | d |
| दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य | 29 | 36 | b |
| दत्तवेणु रनयत् स्वरजातीः | 35 | 14 | d |
| दत्ताभयं कालभुजङ्गरंहसा | 38 | 16 | c |
| दत्ताभयञ्च भुजदण्डयुगं विलोकय | 29 | 39 | c |
| दत्ता भ्रात्रा स्वपित्रा च | 60 | 11 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| दत्त्वादित्यै च कुण्डले | 59 | 38 | b | दन्तवक्त्रो विदूरथः | 53 | 17 | b |
| दत्त्वाऽभयं भौमगृहं | 59 | 32 | c | दन्ता निपेतुर्भगवद्भुजस्पृशः | 37 | 7 | a |
| दत्त्वा स्वगुरवे भूयः | 45 | 47 | c | दन्ताभ्यां सोऽहन त्क्षितिम् | 43 | 11 | d |
| ददतु र्वरदौ वरान् | 41 | 50 | d | दमघोष स्सुताय वै | 53 | 14 | b |
| ददर्श कृष्णं रामञ्च | 38 | 28 | a | दम्पती तौ परिष्वज्य | 55 | 38 | c |
| ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि | 38 | 25 | c | दम्पती रथ मारोप्य | 58 | 52 | a |
| ददर्श चक्रायुधमग्रतो यतः | 44 | 39 | c | दयित दृश्यतां दिक्षु तावकाः | 31 | 1 | c |
| ददर्श तत्राऽम्बिकेयम् | 49 | 1 | c | दयितान्यायुधानि च | 50 | 13 | d |
| ददर्शतां स्फाटिक तुङ्ग गोपुर | 41 | 20 | a | दर्शनश्रवणादिभिः | 38 | 27 | d |
| ददर्श साग्रज स्तत्र | 57 | 12 | c | दर्शनादेव साधवः | 48 | 32 | d |
| ददाह गिरिमेधोभिः | 52 | 11 | c | दर्शनीयतमं श्यामं | 51 | 1 | c |
| ददुः स्वाधिकृतं धनम् | 50 | 57 | b | दर्शनीयतिलको वनमाला | 35 | 10 | a |
| ददृशिमसकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्र | 47 | 19 | c | दर्शयन्त्येव पौरुषम् | 50 | 20 | b |
| ददृशु स्तत्र रुक्मिणम् | 54 | 36 | b | दर्शयन्दर्शने फलम् | 42 | 6 | d |
| ददृशुः प्रियविश्लेष | 30 | 41 | c | दर्शयस्व महाभाग | 57 | 43 | a |
| ददौ कृष्णाय विस्मितः | 58 | 47 | b | दर्शयित्वा जले वपुः | 41 | 1 | b |
| ददौ सहस्रसंख्यातान् | 50 | 56 | e | दवाग्नेः परिमोचिताः | 43 | 26 | b |
| ददौ सूर्यसमप्रभम् | 57 | 44 | d | दशधेनुसहस्राणि | 58 | 50 | a |
| दधार लीलया बालः | 57 | 20 | c | दशैकयोजनोत्तुङ्गात् | 52 | 12 | c |
| दधु र्मूर्ध्न्यधनुत्तये | 30 | 29 | d | दह्यमानतटादुभौ | 52 | 12 | b |
| दध्नश्च निर्मन्थन शब्दमिश्रितः | 44 | 46 | c | दंशित स्सशरासनः | 54 | 19 | d |
| दध्यक्षतै स्सोदपात्रैः | 41 | 30 | a | दंशितौ रथिनौपुरात् | 50 | 15 | d |
| दध्युर्मीलितलोचनाः | 29 | 9 | d | दातु स्ते नाऽत्र संशयः | 41 | 33 | d |
| दन्तदष्टकबलाधृतकर्णाः | 35 | 5 | c | दानवेन्द्रपुरं महत् | 59 | 4 | b |
| दन्तपाणि स्समाविशत् | 43 | 15 | b | दानव्रततपो होम | 47 | 24 | a |
| दन्त मुत्पाट्यतेनैव | 43 | 14 | c | दामोदरारविन्दाक्ष | 56 | 6 | c |
| दन्तवक्त्रस्य निधनम् | 37 | 20 | c | दायं निनीयापःपिण्डान् | 57 | 41 | c |
| दन्त वक्त्रादयो नृपाः | 60 | 18 | b | दारार्थस्वजनादिषु | 40 | 25 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| दारुकेत्याह सारथिम् | 53 | 4 | d |
| दावाग्निं पश्यतोल्बणम् | 30 | 22 | b |
| दावाग्ने र्वातवर्षाच्च | 46 | 20 | a |
| दाशार्ह कुकुरादिकान् | 45 | 15 | d |
| दाशार्ह भोजान्धकवृष्णि सात्त्वताम् | 39 | 25 | b |
| दासीशता अपिविभो र्विदधुः स्म दास्यम् | 59 | 45 | d |
| दास्यन् कर्माण्यकारयत् | 53 | 7 | d |
| दास्यस्म्यहं सुन्दर कंससम्मता | 42 | 3 | a |
| दास्यामो नृपते रसान् | 39 | 12 | b |
| दास्या स्ते कृपणाया मे | 30 | 40 | c |
| दास्ये दुहितरं तस्मै | 56 | 43 | a |
| दिक्कालधर्माश्च उभे च सन्ध्ये | 36 | 41 | a |
| दिग्भ्यः कंसभया द्रुतान् | 45 | 15 | b |
| दित्सयैति सुहृदाशिष एषः | 35 | 23 | c |
| दिदृक्षुः परिवारितः | 41 | 19 | d |
| दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैः | 31 | 12 | a |
| दिनानि कतिचिन्मया | 48 | 10 | b |
| दिने दिने स्वर्णभारान् | 56 | 11 | a |
| दिवसा वा मनर्चतोः | 45 | 8 | d |
| दिवि भुवि च रसायां काःस्त्रियस्तद्दुरापाः | 47 | 15 | a |
| दिवौकसां सदाराणां | 33 | 4 | e |
| दिव्यगन्धतुलसीमधुमत्तैः | 35 | 10 | b |
| दिशो वितिमिरा राजन् | 38 | 33 | a |
| दिशो विलोकयन् पार्श्वे | 51 | 11 | c |
| दिश्युदीच्या मशङ्कितः | 34 | 26 | d |
| दिष्ट्या कंसो हतः पापः | 46 | 17 | a |
| दिष्ट्या गृहैश्वर्य सकृन्मयि त्वया | 60 | 54 | a |
| दिष्ट्याजनार्दन भवानिह नः प्रतीतः | 48 | 28 | a |
| दिष्ट्याते निहतो दैत्यः | 37 | 15 | a |
| दिष्ट्याद्य दर्शनां स्वानाम् | 39 | 7 | a |
| दिष्ट्या पापो हतः कंसः | 48 | 18 | a |
| दिष्ट्या पुत्रान् पतीन्देहान् | 47 | 26 | a |
| दिष्ट्याऽऽसैर्लब्धसर्वार्थैः | 47 | 39 | c |
| दिष्ट्याहितो हतः कंसः | 47 | 39 | a |
| दीपै र्मणिमयै रपि | 60 | 3 | d |
| दीप्यमानेन वपुषा | 34 | 10 | c |
| दीर्घप्रजागरो भीतः | 42 | 27 | a |
| दीव्यतेऽक्षै र्भगवते | 56 | 5 | c |
| दुःखं समुत्थमसहोऽस्मदयाग भीत्या | 60 | 56 | c |
| दुद्रुवु स्सर्वतोमार्गम् | 41 | 38 | c |
| दुरत्ययेभ्योमृत्युभ्यः | 46 | 20 | c |
| दुरन्तपारं मगधेन्द्रपालितम् | 50 | 29 | b |
| दुरन्ताच्च समेधितम् | 48 | 18 | d |
| दुरात्मना येन कृतं त्वयेदृशम् | 36 | 37 | d |
| दुरात्मनेत्थं मलिनीकृताऽहम् | 36 | 41 | d |
| दुरापमपि योगिनाम् | 51 | 6 | d |
| दुराराध्यं समाराध्य | 48 | 12 | a |
| दुराशयः कंसहितं चिकीर्षुः | 37 | 2 | c |
| दुरासदश्चण्डखो दुरत्ययः | 37 | 4 | d |
| दुर्गं द्वादशयोजनम् | 50 | 50 | b |
| दुर्गं द्विपददुर्गमम् | 50 | 49 | b |
| दुर्गां कृष्णोपलब्धये | 56 | 36 | d |
| दुर्जयं शत्रु मात्मनः | 55 | 14 | b |
| दुर्दान्ता दुखग्रहाः | 58 | 43 | b |
| दुर्धर्ष मिव तेजसा | 51 | 27 | d |
| दुर्निमित्तानि दुर्मतिः | 42 | 27 | b |
| दुर्भेद मयाचत | 48 | 9 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| दुर्भगाया न मे धाता | 53 | 25 | a |
| दुर्भिक्षमार्यरिष्टानि | 56 | 11 | c |
| दुर्यशो लिप्तमात्मनि | 56 | 17 | b |
| दुर्योधनवशानुगौ | 58 | 30 | b |
| दुश्शीलो दुर्भगो वृद्धः | 29 | 25 | a |
| दुष्कीर्तिं दुरितमपोह्य याति शान्तिम् | 57 | 50 | d |
| दुष्टा व्राजकुलानि हि | 41 | 36 | d |
| दुष्टाऽहे! गच्छ जातोऽहम् | 30 | 21 | c |
| दुष्पुत्रवशगोऽन्धदृक् | 48 | 35 | d |
| दुष्प्रजस्याल्पसारस्य | 49 | 4 | c |
| दुस्सह प्रेष्ठविरह | 29 | 10 | a |
| दुहन्त्योऽभिययुः काश्चित् | 29 | 5 | a |
| दुहिता पति मिच्छती | 58 | 20 | b |
| दुहितु र्मे श्रियः पते | 58 | 44 | d |
| दुःखिता द्वारकौकसः | 56 | 36 | b |
| दुःखिता स्ते पुरं ययुः | 56 | 34 | d |
| दूतस्त्वयाऽऽत्मलभने सुविभक्तमन्त्रः | 60 | 57 | a |
| दूत स्सम्प्रेषित स्स्वयम् | 39 | 9 | b |
| दूरस्थे गोकुलस्त्रियः | 46 | 5 | b |
| दूरेवर्ते प्रियादृशाम् | 47 | 34 | b |
| दृग्भिःपिबन्त्यनुसवाभिनवं दुरापम् | 44 | 14 | c |
| दृग्रूपाभ्यां यथा खेः | 54 | 46 | d |
| दृढैः सर्वत आवृतम् | 59 | 3 | d |
| दृप्तक्षत्रवनच्छिदे | 40 | 21 | b |
| दृप्ताकेशवमब्रवीत् | 30 | 38 | b |
| दृप्तानां स्मयनुत्तये | 60 | 19 | b |
| दृशांदधच्छ्रीरमणोऽत्मनोत्सवम् | 41 | 27 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| दृश्यते पुन रुत्थितम् | 51 | 61 | d |
| दृश्यते यत्र हि त्वाष्ट्रम् | 50 | 51 | a |
| दृष्टं वनं कुसुमितम् | 29 | 21 | a |
| दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत् | 46 | 43 | a |
| दृष्ट स्तेतिप्रियोऽच्युतः | 30 | 7 | d |
| दृष्टिपाते न भारत! | 51 | 12 | b |
| दृष्टो वः कश्चिदश्वत्थ | 30 | 5 | a |
| दृष्ट्वा किञ्चिज्जुगुप्सितम् | 53 | 24 | b |
| दृष्ट्वाकुमुद्वन्तमखण्डमण्डलम् | 29 | 3 | a |
| दृष्ट्वा कृष्णं श्रियःपतिम् | 54 | 60 | d |
| दृष्ट्वा तदुदरे बालम् | 55 | 6 | a |
| दृष्ट्वा तमागतं पार्थाः | 58 | 2 | a |
| दृष्ट्वा तं गजवाहनम् | 59 | 15 | h |
| दृष्ट्वा तानि हृषीकेशः | 50 | 12 | c |
| दृष्ट्वा तामेकचारिणीम् | 36 | 34 | d |
| दृष्ट्वा तावपि दुर्जयौ | 43 | 18 | b |
| दृष्ट्वा ब्रह्मण्यदेव स्तम् | 52 | 28 | a |
| दृष्ट्वा भ्रातृवधोद्योगम् | 54 | 32 | a |
| दृष्ट्वा मणिं हलधरः | 57 | 45 | c |
| दृष्ट्वा मुहुः श्रुतमनुद्रुत चेतस स्तम् | 41 | 28 | a |
| दृष्ट्वाऽयाचत वासांसि | 41 | 32 | c |
| दृष्ट्वा रथं शातकौम्भम् | 46 | 47 | c |
| दृष्ट्वा रामजनार्दनौ | 45 | 50 | b |
| दृष्ट्वा विद्रावितं सैन्यम् | 59 | 19 | e |
| दृष्ट्वा सङ्कर्षणो विभुः | 54 | 36 | d |
| दृष्ट्वा सभार्यं गरुडोपरिस्थितम् | 59 | 15 | c |
| दृष्ट्वैवमादि गोपीनाम् | 47 | 57 | a |
| देवं पशुपतिं विभुम् | 34 | 2 | b |
| देवकञ्च दुराशयम् | 36 | 52 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| देवकीजठरभू रुडुराजः | 35 | 23 | d | देहादिमोहरशनां भवदीयमायाम् | 48 | 28 | d |
| देवकीनन्दनोऽब्रवीत् | 45 | 45 | f | देहाद्युपाधे रनिरूपितत्वात् | 48 | 23 | a |
| देवकी वसुदेवश्च | 44 | 51 | a | देहिना मिह मानद | 46 | 30 | b |
| देवकी वसुदेवश्च | 55 | 38 | a | देहोत्पत्तिं प्रतीक्षती | 55 | 7 | d |
| देवक्यानकदुन्दुभ्याम् | 55 | 35 | c | देहोपपत्तये भूयः | 55 | 1 | c |
| देवक्याः कृष्णमेव च | 36 | 17 | b | देह्यपक्राम मा चिरम् | 43 | 4 | b |
| देव देव जगत्पते | 54 | 33 | b | देह्यावयोरङ्गविलेप मुत्तमम् | 42 | 2 | c |
| देव देव जगन्नाथ | 41 | 16 | a | देह्यावयो स्समुचितानि | 41 | 33 | a |
| देवदेवाय तोयराट् | 50 | 56 | f | दैतेयीं मयदर्शिताम् | 55 | 21 | b |
| देवर्षिरुपसङ्गम्य | 37 | 10 | a | दैत्यदानवमोहिने | 40 | 23 | b |
| देवाः स्वार्था न साधवः | 48 | 31 | d | दैत्य प्रमथरक्षसाम् | 37 | 14 | b |
| देवीञ्च नृपतेऽम्बिकाम् | 34 | 2 | d | दैत्यः पञ्चजनो महान् | 45 | 40 | b |
| देवी देववरार्चितम् | 59 | 24 | b | दैत्यः पञ्चशिरा जलात् | 59 | 6 | d |
| देवी नाम्नजिती नृप | 58 | 32 | d | दैत्यायिता जहारान्याम् | 30 | 16 | a |
| देवी वा विमुखी गौरी | 53 | 25 | c | दैत्यास्सुरासुरजितः | 46 | 26 | c |
| देवेऽवर्षति काशीशः | 57 | 36 | a | दैवञ्च नोऽद्य प्रतिकूल मीहते | 39 | 27 | d |
| देवै र्वैकुण्ठसंश्रयैः | 36 | 63 | b | दैवं हि फलभावनम् | 36 | 69 | d |
| देवो नः प्रीयता मिति | 34 | 3 | d | दैवेन विध्वंसित दीन चेतसाम् | 39 | 28 | d |
| देवोऽभिवर्षते तत्र | 57 | 37 | c | दोर्भ्यां बृहद्भ्यां परिरप्स्यतेऽथ माम् | 38 | 20 | b |
| देवो यथाऽऽदिपुरुषस्सुरलोक गोप्ता | 29 | 41 | b | दोर्भ्यां स्तनान्तरगतं परिरभ्य कान्तं | 48 | 8 | c |
| देवो यथाऽदिपुरुषो भजतो मुमुक्षून् | 29 | 31 | d | दोहं हित्वा समुत्सुकाः | 29 | 5 | b |
| देशकालोचितं वचः | 43 | 36 | b | दौर्मनस्य मिदं त्यज | 54 | 11 | b |
| देहआद्यन्त वानेषः | 54 | 45 | a | द्यौःकं सुरेन्द्रा स्तव बाहवोऽर्णवाः | 40 | 14 | c |
| देहजेनाग्निना दग्धः | 51 | 12 | c | द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके | 46 | 36 | b |
| देहम्भृता मियानर्थः | 38 | 27 | a | द्रक्ष्यन्ति ये चाऽध्वनि देवकीसुतम् | 39 | 25 | d |
| देहश्च विक्लबधियः सहसैव मुह्यन् | 60 | 24 | c | द्रक्ष्यामि नूनं सुकपोलनासिकम् | 38 | 9 | a |
| देहस्सम्म्रियते मया | 50 | 10 | b | द्रक्ष्या म्यर्जुन सारथेः | 37 | 22 | d |
| देहं स्वर्याहि मां जहि | 50 | 19 | d | द्रक्ष्येऽङ्घ्रिपद्मं प्रहितो मुरारेः | 38 | 7 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| द्रक्ष्ये ममासन्नुषसः सुदर्शनाः | 38 | 14 | d | द्विरेफकुल नादिते | 60 | 4 | b |
| द्रमिलो नाम नामतः | 36 | 34 | b | द्विविदो दयित स्सखा | 36 | 67 | b |
| द्रव्य प्राणगुणात्मकः | 54 | 45 | b | द्विषन्ते तेऽपि मां सदा | 36 | 51 | d |
| द्रष्टुं त्वाऽऽयात्यजः प्रभो | 56 | 8 | d | द्विषन्नपि हृषीकेशम् | 29 | 13 | c |
| द्रष्टुं प्रियतमं मम | 57 | 28 | b | द्वैरूप्यं ज्योतिषां तथा | 42 | 28 | d |
| द्रष्टुं यदुपरश्रियम् | 36 | 68 | d | **ध** | | | |
| द्रष्टुं समीयुस्त्वरिता पुरस्त्रियः | 41 | 24 | c | धनदानुचरोऽभ्यगात् | 34 | 25 | d |
| द्वन्द्वयुद्धं सुतुमुलम् | 56 | 23 | a | धनं स्त्रीकोशवाहनम् | 50 | 36 | d |
| द्वद्वाराम स्तमोविष्टः | 40 | 26 | c | धनं हरत गोपानाम् | 44 | 32 | c |
| द्व्यङ्गुलोत्तान पाणिना | 42 | 7 | b | धनु रैन्द्र मिवाद्भुतम् | 42 | 15 | d |
| द्वाभ्यां सूतं ध्वजंत्रिभिः | 54 | 27 | b | धनुर्मख निरीक्षार्थम् | 36 | 68 | c |
| द्वारका मावस न्भवान् | 37 | 21 | b | धनुर्यष्टिमिवेभराट् | 46 | 25 | b |
| द्वारका मेत्य सत्यया | 58 | 55 | b | धनुर्विकृष्य सुदृढं | 54 | 24 | a |
| द्वारकायां जगत्पते | 37 | 18 | d | धनुषः पञ्चविंशतिम् | 43 | 8 | b |
| द्वारकायाः प्रयोजकौ | 57 | 33 | d | धनुषः स्थान मच्युतः | 42 | 15 | b |
| द्वारकायामभू द्राजन् | 54 | 60 | a | धनुषो भज्यमानस्य | 42 | 18 | a |
| द्वारकां स समभ्येत्य | 52 | 27 | a | धनुस्तरङ्गायुध गुल्मसङ्कुलाः | 50 | 27 | b |
| द्वारां बृहद्धेमकवाटतोरणाम् | 41 | 20 | b | धन्या अहो अमी आल्यः | 30 | 29 | a |
| द्विजत्वं प्राप्य सुव्रतौ | 45 | 29 | b | धन्यावनस्त्रिय उरुक्रम चित्तयानाः | 44 | 15 | d |
| द्विजपत्न्यः स्वलङ्कृताः | 53 | 42 | d | धरणिमण्डनं ध्येय मापदि | 31 | 13 | b |
| द्विजमारोप्यतूर्णगैः | 53 | 6 | b | धर्मराज मुपागमत् | 58 | 23 | d |
| द्विजस्तयोस्तं महिमान मद्भुतम् | 45 | 37 | a | धर्मव्यतिक्रमो दृष्टः | 33 | 30 | a |
| द्विजस्या चिन्तय त्तदा | 53 | 22 | d | धर्मव्यतिक्रमो ह्यस्य | 44 | 9 | a |
| द्विजालिकुलनादितम् | 46 | 13 | b | धर्मस्ते वृद्धसम्मतः | 52 | 30 | b |
| द्विजानाञ्च तपस्विनाम् | 36 | 47 | f | धर्मान्न्यायपथां स्तथा | 45 | 34 | b |
| द्विड्भिर्हतबलप्रभः | 54 | 51 | b | धर्माल्लोकगुरु र्हरिः | 60 | 59 | d |
| द्विधा विदीर्णस्तोशलकः | 44 | 27 | c | धर्मेणपालयन्नुर्वीम् | 49 | 18 | a |
| द्विपः कुवलयापीडः | 36 | 57 | c | धर्मोनिरपवादोऽत्र | 32 | 19 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| धर्षितात्मा ददौ सान्द्रम् | 42 | 4 | c |
| धाता तदनुमोदताम् | 59 | 35 | b |
| धात्री चुक्रोश भीतवत् | 56 | 21 | b |
| धारय च्छिरसा नृप | 48 | 16 | b |
| धारयन्त्यपि कृच्छ्रेण | 46 | 6 | a |
| धार्तराष्ट्रस्सुयोधनः | 57 | 30 | d |
| धावन्तीभिश्च वास्त्राभिः | 46 | 9 | c |
| धिया धृतं योगिभिरप्यहं ध्रुवम् | 38 | 15 | c |
| धीरपतिं कुलवती न वृणीत कन्या | 52 | 38 | c |
| धूपदीपैश्च माल्यैश्च | 46 | 12 | c |
| धूपैरगरुजै राजन् | 60 | 5 | c |
| धूपै स्सुरभिभिर्दीपैः | 48 | 3 | a |
| धृतराष्ट्रविचेष्टितम् | 49 | 31 | b |
| धृतः कया वा जठरे | 55 | 31 | c |
| धृतोऽद्रिप्रवरोऽमुना | 43 | 27 | b |
| धौतपादकराम्बुजा | 53 | 43 | b |
| धौता न्यत्युत्तमानि च | 41 | 32 | d |
| ध्यान प्राप्ताच्युताश्लेष | 29 | 10 | c |
| ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते | 29 | 35 | d |
| ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम् | 47 | 11 | b |
| ध्वजवज्राङ्कुशाम्भोजैः | 38 | 30 | a |
| ध्वस्तदोषातम श्शिवम् | 32 | 13 | b |
| ध्वस्ताशिषोऽब्जभवनाकपतीन् कुतोऽन्ये | 60 | 39 | d |

## न

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| न कामयेऽन्यं तव पादसेवनात् | 51 | 56 | a |
| न कामै र्विहता यतः | 51 | 59 | d |
| न किञ्चिदूचतू राजन् | 45 | 11 | c |
| न क्वचित्सुखमेधते | 44 | 48 | d |
| न खलु गोपिका नन्दनो भवान् | 31 | 4 | a |
| न गृह्णीमो वयं राजन् | 50 | 20 | c |
| नश्जिन्नाम कौसल्यः | 58 | 32 | a |
| न चाऽप्रियोद्वेष्य उपेक्ष्य एव वा | 38 | 22 | b |
| न चाऽस्यकर्मवालोके | 46 | 39 | a |
| न चैवं विस्मयः कार्यः | 29 | 16 | a |
| न जाने त्वाऽऽत्मनः प्रियम् | 40 | 26 | d |
| नटो नाटचमिवात्मनः | 41 | 1 | d |
| न तथा सान्निकर्षेण | 29 | 27 | c |
| न तत्र सौहृदं धर्मः | 32 | 18 | c |
| न तयो र्याति निर्वेशम् | 45 | 5 | c |
| न तस्य कश्चिद्दयित स्सुहृत्तमः | 38 | 22 | a |
| न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रहः | 50 | 30 | c |
| न तां शेकुर्नृपा वोढुम् | 58 | 33 | a |
| न तु ब्रह्मतया मुने | 29 | 12 | b |
| न तेऽस्ति स्वपरभ्रान्तिः | 58 | 10 | a |
| नतोऽस्मि धुर्यं यदुवृष्णिसात्वताम् | 37 | 24 | d |
| नतोऽस्म्यहं त्वाऽखिलहेतुहेतुम् | 40 | 2 | a |
| न त्वया योद्धु मिच्छामि | 50 | 18 | a |
| न त्वादृशीं प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु | 60 | 55 | a |
| न त्वा विदन्त्यसु तृपोऽन्तकमाढ्यतान्धाः | 60 | 37 | c |
| न त्वां त्यक्तु मिहोत्सहे | 42 | 10 | b |
| न देवामृच्छिला मयाः | 48 | 32 | b |
| न देहः कर्म चैव वा | 46 | 38 | d |
| नद्याः पुलिन माविश्य | 29 | 45 | a |
| न धीर्मय्यपकर्षिता | 60 | 51 | d |
| नधीर्मय्येकभक्तानाम् | 51 | 60 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नन्दसूनुः क्षणभङ्गसौहृदः | 39 | 22 | a | नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽऽविदुषोऽपि साक्षात् | 47 | 59 | c |
| ननाम कृष्णं रामञ्च | 48 | 15 | a | नन्वेतदेवमरविन्द विलोचनाऽहम् | 60 | 34 | a |
| ननाम शिरसा भुवि | 41 | 43 | d | न पश्यन्तीब्राह्मणाय | 53 | 31 | c |
| ननुदानपते न्यस्तः | 57 | 40 | a | न पारयेऽहं चलितुम् | 30 | 38 | c |
| नन्दगोपसुतं बत | 47 | 50 | b | न पारयेऽहं निखद्यसंयुजाम् | 32 | 23 | a |
| नन्दगोपः स्वगोकुले | 39 | 12 | f | न प्रत्येति मणिं प्रति | 57 | 42 | d |
| नन्द गोपादयो गोपाः | 42 | 38 | a | न प्रियाप्रिययो राजन् | 54 | 11 | c |
| नन्दगोपादयोऽग्रतः | 41 | 8 | 6 | न बध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वा | 48 | 22 | c |
| नन्द माहोद्धवो मुदा | 46 | 29 | d | न बन्धु र्वध मर्हति | 54 | 39 | b |
| नन्दव्रजे किलासाते | 36 | 22 | c | न बालो न किशोरस्त्वम् | 43 | 39 | a |
| नन्द सूनु रनघे तववत्सः | 35 | 20 | c | न भार्या न सुतादयः | 46 | 38 | b |
| नन्दसूनु रय मार्तजनानाम् | 35 | 4 | c | न भूयोऽर्हति शोचितुम् | 51 | 44 | d |
| नन्दसूनुर्गतो हत्वा | 30 | 5 | c | न मय्युपैष्य त्यरिबुद्धिमच्युतः | 38 | 18 | a |
| नन्दसूनो र्महात्मनः | 30 | 25 | b | नम श्शुद्धाय बुद्धाय | 40 | 23 | a |
| नन्दस्य कृष्णानुचरस्य राजन् | 46 | 44 | b | नम स्तस्मै भगवते | 57 | 21 | a |
| नन्दं बध्नीत दुर्मतिम् | 44 | 32 | d | नमस्ते कल्कि रूपिणे | 40 | 23 | d |
| नन्दं सव्रज मच्युतः | 45 | 24 | b | नमस्ते देव देवेश | 59 | 25 | a |
| नन्दः कृष्णानुरक्तधीः | 46 | 27 | b | नमस्तेऽद्भुतसिंहाय | 40 | 20 | a |
| नन्दः प्रणयविह्वलः | 45 | 25 | b | नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये | 59 | 26 | d |
| नन्दः प्रीतः परिष्वज्य | 46 | 14 | c | नमस्ते रघुवर्याय | 40 | 21 | c |
| नन्दादयोऽनुरागेण | 47 | 65 | c | नमस्ते वासुदेवाय | 40 | 22 | a |
| नन्दाद्या श्शकटै स्ततः | 39 | 33 | b | नमस्ते वासुदेवाय | 40 | 31 | a |
| नन्दाद्यैस्साभ्युपायनैः | 36 | 63 | d | नमस्यआभ्याञ्च सखीन् वनौकसः | 38 | 15 | d |
| नन्देन सुसभाजितः | 38 | 43 | b | नमस्ये त्वाम्बिकेऽभीक्ष्णं | 53 | 46 | a |
| नन्यवर्तन्त काश्चन | 29 | 8 | d | नमस्ये शिरसाऽसकृत् | 52 | 33 | d |
| नन्वन्विच्छन्ति ते मार्गं | 56 | 8 | a | नम स्सङ्कर्षणाय च | 40 | 22 | b |
| नन्वसौ दूरमानीय | 51 | 10 | a | नम स्सूकरमूर्तये | 40 | 19 | d |
| | | | | नमः कारणमत्स्याय | 40 | 18 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नमः कृष्णाय शुद्धाय | 49 | 13 | a | नरा नार्यः प्रमुदिताः | 58 | 49 | c |
| नमः पङ्कजनाभाय | 59 | 26 | a | नरानार्यश्च मुदिताः | 54 | 55 | a |
| नमः पङ्कजनेत्राय | 59 | 26 | c | नरेन्द्रकन्या उद्वाह्य | 47 | 45 | c |
| नमः पङ्कजमालिने | 59 | 26 | b | नरेन्द्रकन्या चकमे रमापतिम् | 58 | 36 | b |
| न माता न पिता तस्य | 46 | 38 | a | नरेन्द्रयाच्ञाकविभिर्विगर्हिता | 58 | 40 | a |
| न मे जन्मनि कर्हिचिन् | 51 | 38 | d | नर्मदः प्रणयिनां विजहार | 35 | 20 | d |
| न मे वाग्जायते मृषा | 36 | 45 | f | नर्मदो यर्हि कूजितवेणुः | 35 | 4 | d |
| नमो भगवते तुभ्यम् | 59 | 27 | a | न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र | 30 | 31 | a |
| नमो भृगूणां पतये | 40 | 21 | a | न लब्धो दैवहतयोः | 45 | 4 | a |
| नमो मन्दरधारिणे | 40 | 19 | b | नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम् | 31 | 11 | b |
| नमो विज्ञान मात्राय | 40 | 30 | a | नवकञ्जारुणेक्षणम् | 51 | 2 | d |
| नयनैः प्राकृतै रपि | 50 | 34 | b | नवनागसहस्राणि | 58 | 51 | a |
| नयन्तं पथि कन्यकाम् | 58 | 53 | b | नवभिश्चद्विजोत्तमैः | 39 | 53 | d |
| नय मां यत्र ते मनः | 30 | 38 | d | नवाङ्गुल्यङ्गुष्ठदलैः | 39 | 50 | c |
| नयसि कथ मिहास्मान् दुस्त्यजद्वन्द्व पार्श्वम् | 47 | 20 | c | नविदुर्मोहिताऽजया | 57 | 19 | d |
| नयामि यमसादनम् | 43 | 4 | d | न वेदाऽह मधीश्वर | 58 | 11 | b |
| न योत्स्ये याहि बन्धुहन् | 50 | 18 | d | नवै शूराविकत्थन्ते | 50 | 20 | a |
| नरकस्य शिरो हरिः | 59 | 21 | d | नवोढा व्रीडिता किञ्चित् | 58 | 5 | c |
| नरकाय न्यवेदयन् | 59 | 14 | f | न शक्यन्तेऽनुसंख्यातुं | 51 | 37 | c |
| नरको युध्ययुध्यत | 59 | 19 | d | न शपेद्वा जनो यथा | 56 | 42 | b |
| नरनारायणालयम् | 52 | 4 | b | न शोभते वय मिव | 44 | 46 | c |
| नरयानै र्महाकोशान् | 59 | 36 | c | नश्यत्याश्वाऽऽचरन्मौढ्यात् | 33 | 31 | c |
| नरलोकमहोत्सवौ | 41 | 31 | d | नष्टत्विषं गतोत्साहं | 54 | 10 | c |
| नरलोकं परित्यज्य | 51 | 17 | a | नष्टलब्धधना इव | 45 | 50 | d |
| नरलोकं विडम्बयन् | 60 | 58 | d | नष्टं पुनरिवाऽऽगतम् | 55 | 37 | d |
| नरवीरं विमोहिताः | 59 | 34 | b | नष्टं प्रद्युम्न मायातम् | 55 | 39 | a |
| नरः किल्बिषमश्नुते | 44 | 10 | d | न सन्ति मायिन स्तत्र | 56 | 11 | e |
| नराणां देवकान्तासु | 36 | 44 | c | न सभां प्रविशेत्प्राज्ञः | 44 | 10 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| न सहद्भिश्चिकीर्षितम् | 49 | 5 | d | नाऽनुबध्येत तद्वाक्यैः | 47 | 41 | c |
| न स्थेयं तत्र कर्हिचित् | 44 | 9 | d | नानेव गृह्यते मूढैः | 54 | 44 | c |
| न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः | 60 | 20 | b | नानोपहारबलिभिः | 53 | 42 | a |
| नहि वाञ्छन्ति किञ्चन | 39 | 2 | d | नानोपहारबलिभिः | 53 | 47 | c |
| नहि वां विषमा दृष्टिः | 41 | 47 | a | नानोपायनताम्बूल | 42 | 13 | c |
| न हि सर्वात्मना क्वचित् | 47 | 29 | b | नानोपायनपाणयः | 47 | 65 | b |
| न ह्यम्मयानि तीर्थानि | 48 | 32 | a | नाऽन्यत्तव पदाम्भोजात् | 49 | 12 | a |
| न ह्यस्यातिप्रियः कश्चित् | 46 | 37 | a | नाऽन्यसिद्धाऽमलज्ञानम् | 45 | 30 | c |
| नाऽकम्पत तया विद्धः | 59 | 20 | c | नाऽन्यस्त्वत्तो हिततमः | 36 | 60 | c |
| नाऽऽगच्छत्यरविन्दाक्षः | 53 | 23 | c | नाऽन्यं पतिं वृणे वीर | 58 | 21 | a |
| नागपुन्नागचम्पकाः | 30 | 6 | b | नाऽन्यो भवितु मर्हति | 51 | 5 | b |
| नागा च्छतगुणान् रथान् | 58 | 51 | b | नाऽपश्यदुदरेऽर्भकम् | 45 | 42 | d |
| नाङ्का द्वितीयन्त्वपरास्स्वलोचनम् | 41 | 25 | d | नाऽप्रियो वाऽस्त्यमानिनः | 46 | 37 | b |
| नाऽचलत्तत्प्रहारेण | 44 | 22 | a | नाऽऽभ्यजान न्निमं लोकम् | 39 | 15 | c |
| नाऽञ्जःप्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियः | 33 | 18 | c | नाऽमुञ्च त्त मुरङ्गमः | 34 | 8 | b |
| नातिदीर्घेण कालेन | 55 | 9 | a | नाऽयं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः | 47 | 60 | a |
| नाऽऽत्मनोऽन्येन संयोगः | 54 | 46 | a | नाऽऽयाति हि कृतोद्यमः | 53 | 24 | d |
| नाऽऽत्मागाराणि सस्मरुः | 30 | 44 | d | नारदप्रेषितो वीरः | 50 | 44 | c |
| नाऽऽत्मीयो न परश्चाऽपि | 46 | 38 | c | नारदोऽकथयत्सर्वम् | 55 | 6 | c |
| नादितं शुष्मिभिर्वृषैः | 46 | 9 | b | नारदोऽकथयत्सर्वम् | 55 | 36 | c |
| नाऽधिगम्य परं नृप | 52 | 11 | b | नारदो देवदर्शनः | 36 | 16 | d |
| नाऽधुना सन्ति कालिताः | 51 | 18 | d | नारायणजगत्पते | 58 | 37 | b |
| नानागारेषु ताः स्त्रियः | 59 | 42 | b | नारायण नमस्तेऽस्तु | 56 | 6 | a |
| नानारूपामराख्यया | 40 | 6 | d | नारायण नमोऽस्तु ते | 41 | 16 | d |
| नानालक्षणवेषाभ्याम् | 41 | 41 | a | नारायणं पूरुष मादिमव्ययम् | 40 | 2 | b |
| नानावर्णै स्सुशोभनैः | 48 | 3 | d | नारायणे कारण मर्त्यमूर्तौ | 46 | 33 | b |
| नाऽनुकूलो महेश्वरः | 53 | 25 | b | नारायणेऽखिलगुरौ | 46 | 30 | c |
| नाऽनुग्राह्यो देवतानाम् | 36 | 47 | e | नाऽशक्नोद्वहणातुरः | 37 | 32 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नाऽसितव्यं नृपासने | 45 | 13 | d | निद्रां लेभे न चिन्तया | 42 | 31 | d |
| नाऽसूयन्खलु कृष्णाय | 33 | 38 | a | निद्रिता लिखितचित्र मिवाऽऽसन् | 35 | 5 | d |
| नाऽस्मत्तो युवयो स्तात | 45 | 3 | a | निधनं शतधन्वनः | 57 | 31 | b |
| नाऽहमीश्वरयोः कुर्याम् | 57 | 16 | a | निन्यु र्दुःखेन वासरान् | 35 | 1 | d |
| नाऽहन्तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् | 32 | 21 | a | निपात्य रङ्गोपरितुङ्गमञ्चात् | 44 | 37 | b |
| नाऽहं भवद्भ्यां रहितः | 41 | 11 | a | निपाययन्त्योऽर्भमपोह्यमातरः | 41 | 26 | d |
| नाहं वेद्म्यत्र कारणम् | 53 | 23 | d | निपेततु रधो भुवि | 52 | 12 | d |
| निकृत्तबाहूरुशिरोध्रविग्रहम् | 59 | 16 | c | निपेतुः पुष्पवृष्टयः | 33 | 5 | b |
| निकृत्तशीर्षोरुभुजाङ्घिचर्मणः | 59 | 14 | b | निमज्य तस्मिन् सलिले | 39 | 41 | a |
| निकृत्तशृङ्गोद्रिरिवेन्द्र तेजसा | 59 | 11 | b | निमेषणं रात्र्यहनी प्रजापतिः | 40 | 15 | c |
| निघ्नन् रथान्कुञ्जरवाजिपत्तीन् | 50 | 24 | c | निम्लोचति विभावसौ | 46 | 8 | b |
| निचीयमानो नारीभिः | 50 | 40 | a | नियुद्धकुशलौश्रुत्वा | 43 | 32 | c |
| निजकर्मनिबन्धनम् | 45 | 46 | b | नियुद्धमात्मनोऽभीष्टम् | 43 | 36 | c |
| निजजनस्मयध्वंसनस्मित | 31 | 6 | b | निरञ्जनं निर्गुण मद्वयं परम् | 51 | 57 | c |
| निजपदाब्जदलैर्ध्वजवज्र | 35 | 16 | a | निरन्तरं यद्वदलातचक्रम् | 50 | 24 | d |
| नित्यदा यत्र वर्षति | 52 | 10 | d | निरस्तसाम्याति शयेष्ववस्थितः | 59 | 43 | b |
| नित्यप्रमुदितंश्रीमत् | 51 | 3 | a | निरस्यते येन दिशाममङ्गलम् | 46 | 46 | d |
| नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्? | 29 | 33 | b | निरस्य वक्त्रैर्व्यनदत्सपञ्चभिः | 59 | 8 | b |
| नित्यमुद्विग्नचेतसोः | 45 | 8 | b | निरहङ्कारिणः शान्तान् | 52 | 33 | c |
| नित्यं कदिन्द्रियगुणैः कृतविग्रहस्त्वम् | 60 | 35 | c | निरहङ्कारिणां प्रभो | 33 | 33 | d |
| नित्यं गिरि वनेचराः | 41 | 35 | b | निरायुधश्चलत्पद्भ्याम् | 51 | 5 | c |
| नित्यं प्रमुदितं श्रीमत् | 45 | 18 | c | निरीक्ष्यतावुत्तमपूरुषौ जनाः | 43 | 20 | a |
| नित्यं प्रमुदिता गोपाः | 43 | 34 | a | निरीक्ष्य दुर्मर्षण आस्रवन्मदैः | 59 | 15 | a |
| नित्यं हरौ विदधतः | 29 | 15 | c | निरीक्ष्यपुरसम्पदः | 42 | 21 | d |
| नित्योत्कण्ठितयो रपि | 45 | 3 | b | निरीक्ष्यमाणः सस्नेहम् | 50 | 40 | c |
| निद्रया देवदत्तया | 51 | 21 | d | निरीक्ष्य यद्बलं कृष्णः | 50 | 5 | a |
| निद्रयोप हतेन्द्रियः | 51 | 33 | b | निरुद्धवायुश्चरणांश्च विक्षिपन् | 37 | 8 | b |
| निद्राञ्चनलभेनिशि | 53 | 2 | b | निरुद्धा एत दाचक्ष्व | 59 | 1 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| निरूढमानो नरदेव इत्यहम् | 51 | 49 | b | निवेद्यगाञ्चाऽतिथये | 38 | 39 | a |
| निरूपिता शम्बरेण | 55 | 8 | a | निवेद्य च वरासनम् | 38 | 38 | b |
| निर्गत्यतूर्णं मबलाः पथि भूरिपुण्याः | 44 | 16 | a | निवेशयामास मुदा | 53 | 16 | c |
| निर्गुणस्य गुणात्मनः | 29 | 14 | d | निवेश्य च रथोपरि | 39 | 40 | b |
| निर्घुष्टां ब्रह्मघोषेण | 50 | 39 | c | निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनम् | 29 | 4 | a |
| निर्जगाम पुरद्वारात् | 50 | 58 | e | निशम्य तद्भोजपतिः | 36 | 18 | a |
| निर्जगाम सहाग्रजः | 41 | 52 | d | निशम्य देवकी देवी | 56 | 35 | a |
| निर्जग्मतुः स्वायुधाढ्यौ | 50 | 16 | a | निशम्य बालवचनम् | 56 | 9 | a |
| निर्जित्य दिक्चक्रमभूतविग्रहः | 51 | 52 | a | निशम्य यदुनन्दनः | 53 | 1 | b |
| निर्जित्योपानयत् पुरम् | 59 | 39 | d | निशम्य सर्वे हृदि धारयन्तु तत् | 36 | 29 | b |
| निर्दष्ट दशनच्छदा | 32 | 7 | d | निशात मसिमादाय | 36 | 18 | c |
| निर्बिभेद गदाधरः | 59 | 5 | d | निशातमसिमुद्यम्य | 55 | 24 | a |
| निर्भिन्नकुम्भाः कारणो निपेतुः | 50 | 25 | a | निशामुखं मानयन्तौ | 34 | 22 | a |
| निर्मथ्य चैद्यमगधेन्द्रबलं प्रसह्य | 52 | 41 | c | निशाम्य कृष्णस्य तदात्मवैभवम् | 34 | 19 | a |
| निर्मिते भवने पित्रा | 58 | 22 | c | निशाम्य पुरवासिनः | 42 | 22 | b |
| निर्विश्य कर्णविवरै र्हरतोऽङ्गतापम् | 52 | 37 | b | निश्चक्राम गदापाणिः | 55 | 18 | c |
| निर्विश्य पुलिनं विभुः | 32 | 12 | b | निश्चक्राम गुहामुखात् | 52 | 1 | d |
| निर्वृत्याक्षीणमङ्गलाः | 29 | 10 | d | निश्चक्रामाम्बिका गृहात् | 53 | 50 | b |
| निर्हृत्य कर्माशय माशु याति | 46 | 32 | c | निषसादासनेऽन्ये च | 58 | 6 | c |
| निलिल्युस्तत्र तत्र ह | 55 | 28 | d | निषेव्या अर्हसत्तमाः | 48 | 31 | b |
| निवारयामस्समुपेत्य माधवम् | 39 | 28 | a | निष्कग्रीव सुवाससाम् | 58 | 50 | d |
| निवारितो नारदेन | 36 | 13 | a | निष्किञ्चन जनप्रियाः | 60 | 14 | b |
| निवासाय महत्पुरम् | 54 | 51 | f | निष्किञ्चना वयं शश्वत् | 60 | 14 | a |
| निविशन्ति घना यस्य | 36 | 4 | a | निष्किञ्चनो ननु भवान् न यतोऽस्ति किञ्चित् | 60 | 37 | a |
| निवृत्तभोग स्तदपेक्षया दधत् | 51 | 53 | b | निष्क्रम्यचेरतुर्हृष्टौ | 42 | 21 | c |
| निवृत्ताशेषवृत्तयः | 39 | 15 | b | निष्ठा देहिषु दृश्यते | 54 | 11 | d |
| निवृत्तोत्सवमङ्गला | 44 | 46 | d | निष्ठुरेण गवां नृणाम् | 36 | 3 | b |
| निवेदितोपायना स्ते | 42 | 38 | c | निष्पिष्टाङ्गोरुबन्धनः | 56 | 25 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| निष्पीडयामास यथार्द्र मम्बरम् | 36 | 13 | c | नृपा ययुस्तत्कथयन्त आदृताः | 34 | 19 | d |
| निसृष्टः किल मे मृत्युः | 36 | 63 | a | नृपो बार्हं द्रथ स्तदा | 50 | 35 | b |
| निस्तीर्णारि बलार्णवः | 50 | 36 | b | नृभिश्चाच्युत चोदितैः | 52 | 6 | b |
| निस्तीर्येह यदिच्छया | 52 | 35 | b | नृलोके चाऽप्रतिद्वन्द्वः | 50 | 45 | c |
| निस्सङ्गो मुक्तसंशयः | 52 | 3 | b | नेत्रे अश्रुकलाकुले | 53 | 26 | d |
| निस्सारयत दुर्वृत्तौ | 44 | 32 | a | नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म | 29 | 30 | c |
| निस्सेतो र्भिन्नवृत्तस्य | 36 | 47 | a | किञ्चित् | | | |
| निहतो मणिमिच्छता | 56 | 14 | d | नेदुर्दुन्दुभयो व्योम्नि | 44 | 42 | a |
| निहत्या ङ्घिष्वलीयत | 43 | 6 | d | नेष्यते स्वपुरं बली | 50 | 48 | d |
| निहन्तुं शतधन्वानम् | 57 | 14 | e | नेष्ये वीर्यमदं येन | 54 | 22 | c |
| निःश्वसन्क्रोधमूर्छितः | 36 | 12 | d | नेह चात्यन्त संवासः | 49 | 20 | a |
| निःस्वं त्यजन्ति गणिका | 47 | 7 | a | नैतत्समाचरेज्जातु | 33 | 31 | a |
| नीतं नीतं महासुरः | 37 | 30 | b | नैताव दिह कारणम् | 57 | 38 | b |
| नीताः स्म नः क्षण मिव क्षणदा विना तम् | 39 | 29 | c | नैते स्वरूपं विदुरात्मनस्तेहि | 40 | 4 | c |
| नीतो दर्शयता दूरं | 51 | 7 | c | नैनं प्रापाहताशुभः | 51 | 8 | d |
| नीतो यः सूतिकागृहात् | 55 | 32 | b | नैवाहतो यो धिगमुष्य जन्म तत् | 38 | 21 | d |
| नीत्वा सर्वजनं हरिः | 50 | 58 | b | नैवाब्रवी किमपि तेनवयं जिताः स्मः | 60 | 56 | d |
| नीयमाने धने गोभिः | 52 | 6 | a | नैवार्थकामुकः प्रादात् | 56 | 12 | c |
| नीरजाङ्कुशविचित्रललामैः | 35 | 16 | b | नैवाऽलीकमहं मन्ये | 60 | 47 | a |
| नीलजीमूतसङ्काशम् | 59 | 15 | k | नैवाऽ हार्षं महं देव | 45 | 40 | a |
| नीलवक्रालकालिभिः | 55 | 28 | b | नोचेत्सकुञ्जरं त्वाऽद्य | 43 | 4 | c |
| नीलाम्बरं बिसश्वेतम् | 39 | 45 | c | नोचेद्वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहाः | 29 | 35 | c |
| नीवीस्तनालभन नर्म नखाग्रपातैः | 29 | 46 | b | नोत्तमाधमयोः क्वचित् | 60 | 15 | d |
| नूनं तत्करज स्पर्शा | 30 | 13 | c | नोत्तमो नाऽधमो वाऽपि | 46 | 37 | c |
| नृगस्य मोक्षणं शापात् | 37 | 18 | c | नोत्सहेऽहं कृपणधीः | 40 | 28 | a |
| नृणां चक्षूंषि तिग्मगुः | 56 | 7 | d | नोपतापा न मारिकाः | 57 | 37 | d |
| नृणां निःश्रेयसार्थाय | 29 | 14 | a | नो भयांश्च भजन्त्यन्ये | 32 | 17 | c |
| नृणां विकृष्य प्रबभञ्ज मध्यतः | 42 | 17 | c | न्यगृह्णा ल्लीलयैव तान् | 58 | 45 | d |
| नृत्यच्छिखण्डिनिवहे | 36 | 32 | a | न्यमज्ज ह्रदनं यन्मे | 39 | 43 | c |
| नृत्यते कुहकेच्छया | 54 | 12 | b | न्यमीलयत कालज्ञा | 53 | 26 | c |
| नृत्यन्ती गायती काचित् | 33 | 14 | a | न्यरुणत्सर्वतोदिशम् | 50 | 4 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| न्यवासयत्स्वगेहेषु | 45 | 16 | c |
| न्यवारयत्स्वतूर्याणि | 44 | 31 | c |
| न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः | 30 | 3 | d |
| न्यषीद दर्व्या मभिमृश्य चाऽऽसनम् | 48 | 5 | b |
| न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् | 47 | 62 | d |
| न्यस्तौ स्वमित्रे नन्दे वै | 36 | 17 | e |
| **प** | | | |
| पक्षाभ्यां निघ्नता गजान् | 59 | 18 | b |
| पतङ्ग इव पावकम् | 54 | 30 | d |
| पतन्त्या कालिका गर्भाः | 36 | 3 | c |
| पताका चेलतोरणैः | 42 | 33 | d |
| पताकाभिरलङ्कृताम् | 50 | 39 | b |
| पतितं तं पदाऽऽक्रम्य | 43 | 14 | a |
| पतित्वा पादयोर्भर्तुः | 54 | 32 | c |
| पतित्वा सहसोत्थितः | 43 | 11 | b |
| पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवान् | 31 | 16 | a |
| पतिं देवोपपादितम् | 59 | 34 | d |
| पतिं पर्यचरत् भैष्मी | 60 | 1 | c |
| पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यः | 29 | 25 | c |
| पतीनालिङ्ग्य शोचतीः | 44 | 44 | b |
| पत्त्यश्वसङ्कुलैः सैन्यैः | 53 | 15 | c |
| पत्युर्निर्दग्धदेहस्य | 55 | 7 | c |
| पत्युर्बलं शरासारैः | 54 | 4 | a |
| पथि यान्स चकार ह | 39 | 1 | d |
| पदा चलन्तीं कलहंसगामिनीम् | 53 | 52 | c |
| पदा च विलिखन्महीम् | 36 | 2 | b |
| पदातयश्छिन्नभुजोरुकन्धराः | 50 | 25 | d |
| पदातिस्तिग्मनेमिना | 57 | 25 | b |
| पदातेर्धावतस्तस्य | 57 | 25 | a |
| पदानि तस्याखिललोकपाल | 38 | 25 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| पदानि परमात्मनः | 30 | 24 | d |
| पदानि वहतो वधूम् | 30 | 32 | b |
| पदानि व्यक्तमेतानि | 30 | 25 | a |
| पदापहतशीर्षकः | 44 | 27 | b |
| पदा समाक्रम्य निपात्य भूतले | 36 | 13 | b |
| पदा सुजातेन नखारुणश्रिया | 60 | 23 | a |
| पदा स्पृष्टो हताशुभः | 34 | 14 | d |
| पदाऽहञ्छकटायतीम् | 30 | 15 | d |
| पदाहत इवोरगः | 55 | 18 | b |
| पद्मकोशमिवाम्बुभिः | 44 | 11 | d |
| पद्मपत्रायतेक्षणम् | 39 | 46 | d |
| पद्ममाली निरायुधः | 50 | 58 | f |
| पद्मषण्डैश्च मण्डितम् | 46 | 13 | d |
| पद्भ्यामधावत् सन्त्रस्तः | 57 | 24 | c |
| पद्भ्यामाक्रम्य प्रपदे | 42 | 7 | a |
| पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्याम् | 52 | 8 | c |
| पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्याम् | 51 | 28 | c |
| पद्भ्यां विनिर्ययौ द्रष्टुम् | 53 | 40 | a |
| पद्मिनी वनमध्यगा | 36 | 42 | b |
| पपात चरणोपान्ते | 38 | 34 | c |
| पपात लण्डं विसृजन् क्षितौ व्यसुः | 37 | 8 | d |
| पपात विश्वाश्रय आत्मतन्त्रः | 44 | 37 | d |
| पपात विष्णोः शिरसि प्रमोदिनी | 59 | 11 | c |
| पपुर्न तृप्ता नयनैस्तदाननम् | 43 | 20 | d |
| पपुस्तन्मुखपङ्कजम् | 53 | 36 | d |
| पप्रच्छ प्रेषितः सख्या | 58 | 18 | c |
| पप्रच्छ यान्तीं प्रहसन् रसप्रदः | 42 | 1 | d |
| पप्रच्छ सत्कृतं नन्दः | 38 | 41 | a |
| पप्रच्छान्यच्चिकीर्षितम् | 39 | 3 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिः | 30 | 4 | c | परिरम्भावपातनैः | 44 | 4 | b |
| पयःफेननिभे शुभ्रे | 60 | 6 | a | परिरेभेऽभ्युपाकृष्य | 38 | 36 | c |
| पयोऽधिश्रित्य संयावम् | 29 | 5 | c | परिवार्य वधूं जग्मुः | 53 | 43 | c |
| परदाराभिमर्शनम् | 33 | 28 | d | परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा | 29 | 6 | a |
| परमस्ति न चाऽपरम् | 48 | 19 | d | परिशोचति ते माता | 55 | 15 | a |
| परमात्मन् नमोऽस्तु ते | 59 | 25 | d | परिष्वज्याऽच्युतं वीराः | 58 | 3 | a |
| परमात्मन् नमोऽस्तु ते | 59 | 28 | d | परिष्वज्याऽऽपतुर्मुदम् | 45 | 10 | d |
| परमात्मा तथाऽत्मनाम् | 56 | 27 | d | परिष्वज्याऽभ्यनन्दत | 48 | 14 | d |
| परमासन आसीनम् | 58 | 5 | a | परिष्वज्येदमूचतुः | 45 | 20 | d |
| परमोत्सवनिर्वृताः | 32 | 10 | b | परीतः कुण्डिनं ययौ | 53 | 15 | d |
| परश्वो वाऽऽगमिष्यति | 50 | 47 | d | परे जरासन्धवशा न सेहिरे | 53 | 56 | b |
| परश्वोऽहति ते विभो | 37 | 16 | d | परो धर्मो ह्यमायया | 29 | 24 | b |
| परस्परं जिगीषन्तौ | 44 | 5 | c | पर्जन्य निनदेन वै | 45 | 49 | f |
| परं सौख्यं हि नैराश्यम् | 47 | 47 | a | पर्जन्यापूरिता विभो | 40 | 11 | b |
| पराजिताः फल्गुतन्त्रैः | 54 | 15 | c | पर्यङ्कादवरुह्याऽऽशु | 60 | 26 | a |
| परामृशत्पुष्करेण | 43 | 7 | c | पर्यङ्के कशिपूत्तमे | 60 | 6 | b |
| परावरात्मन् भूतात्मन् | 59 | 28 | c | पर्यपृच्छन्महाबुद्धिः | 51 | 27 | a |
| परावरेशे त्वयि जायते मतिः | 51 | 54 | d | पर्वणीव सितेतरौ | 41 | 41 | d |
| परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः | 46 | 32 | d | पलायनं यदुकुले | 51 | 8 | a |
| परां प्रीतिं व्यधात्पुनः | 38 | 40 | d | पलायमानौ तौ दृष्ट्वा | 52 | 9 | a |
| परिक्रम्याऽभिवन्द्य च | 34 | 18 | b | पशवो दुद्रुवुर्भीताः | 36 | 5 | a |
| परिक्लिन्नात्मलोचनः | 39 | 56 | d | पशुपालो यथा पशून् | 51 | 19 | d |
| परिघं पट्टिशं शूलम् | 54 | 29 | a | पशुमार ममारयत् | 37 | 33 | d |
| परिचरति कथं तत्पादपद्मानु पद्मा हि | 47 | 13 | c | पशूनपालयद्बालैः | 37 | 26 | c |
| परित्राणाय कल्पते | 46 | 39 | d | पशून् वीरुद्वनस्पतीन् | 52 | 2 | b |
| परित्रातं च गोकुलम् | 43 | 27 | d | पशूनिव मृगाधिपः | 44 | 41 | d |
| परिधत्त किमुद्वृत्ताः | 41 | 35 | c | पशूनिव मृगाधिपः | 46 | 24 | d |
| परिपूर्णेन सर्वतः | 41 | 34 | b | पशूनां खुरेणुभिः | 46 | 8 | d |
| परिभ्रामण विक्षेप | 44 | 4 | a | पश्यताऽसकले पदे | 30 | 34 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| पश्यतां दिवि देवानाम् | 37 | 33 | c |
| पश्यतां सर्वलोकानाम् | 52 | 17 | c |
| पश्यतेमा लता बाहून् | 30 | 13 | a |
| पश्यन्ति सस्मितमुखं सदयावलोकम् | 44 | 16 | d |
| पश्यन्तीनाञ्च योषिताम् | 34 | 32 | d |
| पश्यन्तु निभृतैर्नेत्रैः | 36 | 56 | a |
| पश्यन्तु स्वैरसंयुगम् | 36 | 24 | d |
| पश्यन्तु स्वैरसंयुगम् | 36 | 56 | d |
| पश्यन्त्यो विविधांस्तापान् | 43 | 28 | c |
| पश्यन्मरणसन्त्रस्तः | 42 | 31 | c |
| पश्यामि मानिनि यया स्वविवाहकाले | 60 | 55 | b |
| पश्यामि शरणं नृणाम् | 49 | 12 | b |
| पश्यार्य व्यसनं प्राप्तम् | 50 | 13 | a |
| पाणिनाऽभिमृशन् पादौ | 52 | 29 | c |
| पाणिना शङ्करेण तम् | 56 | 30 | b |
| पाणिनाऽऽहत्य वारणम् | 43 | 10 | b |
| पाण्डवान्प्रति कौरव्य | 49 | 31 | c |
| पाण्डवान् सुहृदोऽपरान् | 49 | 2 | d |
| पाण्डवेष्वात्मजेषुच | 49 | 19 | d |
| पाण्डुरांश्च चतुष्षष्टिम् | 59 | 37 | e |
| पातयामास भूतले | 43 | 13 | d |
| पातयित्वा महीतले | 37 | 33 | b |
| पातिव्रत्यं च तेऽनघे | 60 | 51 | b |
| पातिव्रत्यं सुदुर्लभम् | 36 | 46 | d |
| पादन्यासै र्भुजविधु तिभिः | 33 | 8 | a |
| सस्मितैर्भ्रूविलासैः | | | |
| पादरेणुमभीक्ष्णशः | 47 | 63 | b |
| पादसंवाहनादिभिः | 46 | 15 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| पादस्पर्शहताशुभः | 34 | 9 | b |
| पादस्पर्शादमीवहन् | 34 | 15 | d |
| पादाभ्यामेव पादयोः | 44 | 2 | b |
| पादारविन्दं न भजत्यसम्मतिः | 51 | 47 | c |
| पादावङ्कगतौ मृजन् | 48 | 17 | b |
| पादावनेजनीरापः | 48 | 16 | a |
| पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलात् | 29 | 34 | c |
| पादौ स्पृशन्नच्युतमर्थसाधनम् | 59 | 41 | b |
| पाद्यञ्चार्घ्यार्हणादिभिः | 41 | 44 | b |
| पान्थानां त्वं परायणम् | 42 | 12 | d |
| पापस्योन्मार्गवर्तिनः | 36 | 47 | b |
| पाययन्त्यः शिशून् पयः | 29 | 6 | b |
| पारिजातवनामोद | 60 | 5 | a |
| पारिजातं गरुत्मति | 59 | 39 | b |
| पारिजातापहरणम् | 37 | 17 | c |
| पारिबर्हमदात् विभुः | 58 | 50 | b |
| पारिबर्हमुपागृह्य | 58 | 55 | a |
| पारिबर्हमुपाजह्रुः | 54 | 55 | c |
| पार्थानां परमाद्भुतम् | 58 | 24 | b |
| पार्थिवान्पुरुजन्मभिः | 51 | 38 | b |
| पार्श्वस्थस्य गदाभृतः | 33 | 11 | b |
| पार्श्वस्थाच्युत हस्ताब्जम् | 33 | 14 | c |
| पार्षदं समुपयितम् | 47 | 4 | b |
| पार्षदैस्सनकादिभिः | 39 | 53 | b |
| पार्ष्णिग्राहमयाचत | 57 | 18 | b |
| पालाश्च कतिचिन्नृप | 37 | 28 | b |
| पाल्यमानाः स मे प्रियः | 52 | 34 | d |
| पावितञ्च कुलं प्रभो | 41 | 45 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पाशैर्वारुण मानुषैः | 50 | 32 | b | पीतकौशेयवाससम् | 39 | 46 | b |
| पाञ्चजन्यध्वनिं श्रुत्वा | 59 | 6 | a | पीतकौशेयवाससम् | 51 | 1 | d |
| पास्यन्त्यपाङ्गोत्कलितस्मितासवाम् | 39 | 23 | d | पीतकौशेयवाससम् | 51 | 24 | b |
| पितरस्साग्नयस्सुराः | 41 | 13 | d | पीतकौशेयवाससम् | 55 | 27 | b |
| पितरावन्वतप्येताम् | 44 | 18 | c | पीतनीलाम्बरधरौ | 38 | 28 | c |
| पितरावुपलब्धार्थौ | 45 | 1 | a | पीताम्बरधरः स्रग्वी | 32 | 2 | c |
| पितरौ भ्रातरश्च मे | 49 | 8 | b | पीताम्बरं पुष्करमालिनं लसत् | 47 | 1 | c |
| पितर्युपरते बालाः | 48 | 34 | a | पीत्वा मृष्टमपिप्रभम् | 39 | 39 | b |
| पितर्युवाभ्यां स्निग्धाभ्याम् | 45 | 21 | a | पीत्वा वारि महारथौ | 58 | 17 | b |
| पिता माता स ईश्वरः | 46 | 42 | d | पुच्छे प्रगृह्याऽतिबलम् | 43 | 8 | a |
| पितृदेवर्षयो मह्यम् | 41 | 45 | c | पुण्यगन्धानुलिप्ताङ्गौ | 38 | 31 | c |
| पितृदेवार्चनान्वितैः | 46 | 12 | b | पुण्यश्रवणकीर्तन | 41 | 16 | b |
| पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः | 29 | 8 | b | पुण्यानि तत्कररुहस्पर्शप्रमोदाः | 33 | 22 | d |
| पितृष्वसा मनुज्ञाप्य | 57 | 14 | c | पुण्या बत व्रजभुवो यदयं नृलिङ्ग | 44 | 13 | a |
| पितृष्वसारं परिपृष्टबान्धवः | 58 | 7 | d | पुत्रयोस्समकारयत् | 45 | 26 | b |
| पितृहीनांश्च बालकान् | 49 | 10 | d | पुत्रस्नेहवशं गतः | 53 | 7 | b |
| पितॄन् देवान् समभ्यर्च्य | 53 | 10 | a | पुत्रस्नेह शुगातुरौ | 44 | 18 | b |
| पित्रा दत्तम्ममेति ह | 57 | 47 | d | पुत्रस्नेहाकुला दीना | 55 | 15 | c |
| पित्रे मगधराजाय | 50 | 2 | a | पुत्रस्य चरितानि च | 46 | 28 | b |
| पित्रो रभ्यधिका प्रीतिः | 45 | 21 | c | पुत्रानुरागविषमे | 49 | 27 | c |
| पित्रोर्नो प्रीतिमावह | 46 | 3 | b | पुत्राभ्यामभवन् क्वचित् | 45 | 3 | d |
| पित्रोर्मर्त्यश्शतायुषा | 45 | 5 | d | पुनरन्यदुपादत्त | 54 | 28 | c |
| पित्रोर्वृजिनमार्ययोः | 39 | 6 | b | पुनरावृत्ति वर्जिताम् | 56 | 33 | d |
| पिबन्त इव चक्षुर्भ्याम् | 43 | 21 | a | पुनरुत्थाय सत्वरम् | 36 | 12 | b |
| पिबन्तोऽक्षैर्मुकुन्दस्य | 45 | 19 | c | पुनर्यदुपुरीमगात् | 49 | 30 | d |
| पिबन्निवाऽभ्यद्रवदत्यमर्षणः | 37 | 4 | b | पुनश्च भूयासमहं स्वराडिति | 51 | 53 | c |
| पिबन्वदन्वा विचरन् स्वपन् श्वसन् | 44 | 39 | b | पुनः पुनः स्मारयन्ति | 47 | 50 | a |
| पीठं पुरस्कृत्य चमूपतिं मृधे | 59 | 12 | c | | | | |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पुनः पुलिनमागत्य | 30 | 45 | a | पुष्णाति यानधर्मेण | 49 | 23 | a |
| पुनाति भुवनत्रयम् | 47 | 63 | d | पुष्पहेतोर्महात्मना | 30 | 33 | b |
| पुनीहि पादरजसा | 41 | 13 | a | पुष्पैः किरन्तस्तं प्रीताः | 44 | 42 | c |
| पुमान् श्रीवत्सलाञ्छनः | 51 | 4 | b | पुष्पैः किरन्तो हरिमीडिरे सुराः | 36 | 14 | d |
| पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत् | 47 | 6 | c | पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुखदुःखिनो र्न | 60 | 38 | d |
| पुरमानीय विधिवत् | 54 | 53 | c | पुंसामाधिविकर्शनम् | 42 | 12 | b |
| पुरमेवाविशन्नार्ता | 59 | 19 | c | पुंसां वीर्यपरीक्षार्थम् | 58 | 42 | c |
| पुरं नीतो विहायसा | 55 | 25 | d | पुंसोऽप्यनुग्रहो ह्येषः | 41 | 48 | c |
| पुरं प्रविशति प्रभौ | 50 | 38 | d | पुंसो भवेद्यर्हि संसरणापवर्गः | 40 | 29 | c |
| पुरं सम्मृष्टसंसिक्त | 53 | 8 | a | पूगपुन्नागशोभिते | 36 | 31 | b |
| पुराच्छकटमीयतुः | 42 | 23 | d | पूजयन् प्रतिनन्दितः | 58 | 35 | b |
| पुराणानि यदृच्छया | 50 | 12 | b | पूजयामास विधिवत् | 48 | 15 | c |
| पुरा रथैर्हेमपरिष्कृतैश्चरन् | 51 | 51 | a | पूजयित्वाऽभिभाष्यैनम् | 57 | 39 | a |
| पुराऽहं धर्मगुप्तये | 51 | 40 | d | पूजां सानुगयोश्चक्रे | 41 | 44 | c |
| पुरीयं पुरुषर्षभ | 44 | 46 | b | पूजितश्चाभिवन्दितः | 58 | 6 | b |
| पुरीं प्रविष्टः कंसाय | 41 | 18 | c | पूजितस्त्रिदशेन्द्रेण | 59 | 38 | c |
| पुरुषश्शक्तिभिर्यथा | 32 | 11 | d | पूजिताः पर्युपासत | 58 | 6 | d |
| पुरुषं चतुर्भुजं शान्तम् | 39 | 46 | c | पूजितो भक्तवत्सलः | 56 | 33 | b |
| पुरुषं प्राकृतं मत्वा | 56 | 22 | c | पूतनाऽनेन निहता | 43 | 25 | a |
| पुरुषं हेममालिनम् | 34 | 10 | d | पूरयन्नश्रुभिर्नेत्रे | 45 | 25 | c |
| पुरुषायादि बीजाय | 59 | 26 | c | पूरयामास यं श्रुत्वा | 42 | 18 | c |
| पुरुषेशप्रधानाय | 40 | 30 | c | पूर्णबोधाय ते नमः | 59 | 27 | d |
| पुरुषैर्बहुभिर्गुप्तम् | 42 | 16 | a | पूर्तेष्टदत्तनियमव्रतदेवविप्र | 52 | 40 | a |
| पुरोधसा ब्राह्मणैश्च | 45 | 26 | c | पूर्वेतरन्यन्नरवमण्डलत्विषा | 38 | 7 | d |
| पुरोपवनमासाद्य | 41 | 8 | c | पूर्वेद्युरस्ति महती कुलदेवि यात्रा | 52 | 42 | c |
| पुरोहितोऽथर्वविद्वै | 53 | 12 | c | पृथा तु भ्रातरं प्राप्तम् | 49 | 7 | a |
| पुलकाङ्कितऔत्कण्ठ्यात् | 38 | 35 | c | पृथा विदुर एव च | 49 | 6 | d |
| पुलकाङ्ग्युपगुह्याऽऽस्ते | 32 | 9 | c | पृथां समागत्य कृताभिवादनः | 58 | 7 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पृथुदीर्घचतुर्बाहुम् | 51 | 2 | c | प्रजापतिविनिर्मितः | 54 | 40 | b |
| पृष्टो भगवता सर्वम् | 39 | 8 | a | प्रजाभोजपतेरस्य | 43 | 37 | a |
| पृष्ट्वाऽथ स्वागतं तस्मै | 38 | 38 | a | प्रजाश्च तुल्यकालीयाः | 51 | 18 | c |
| पृष्टतोऽन्वगमत् कृष्णम् | 54 | 18 | c | प्रजाश्चाऽऽज्ञप्तुमर्हसि | 45 | 13 | b |
| पेतुरुर्व्या गतासवः | 59 | 19 | b | प्रजाश्शीलेन रञ्जयन् | 49 | 18 | b |
| पेतुःक्षितौ गजरथाश्वगता विमूढाः | 53 | 53 | c | प्रजासंयमनो यमः | 45 | 44 | b |
| पेतुः शिरांसि रथिनाम् | 54 | 7 | a | प्रजाः कालयते क्रीडन् | 51 | 19 | c |
| पैतृष्वसेयान् स्मरति | 49 | 9 | c | प्रणतकामदं पद्मजार्चितम् | 31 | 13 | a |
| पैशाचोरग राक्षसीः | 55 | 23 | b | प्रणतदेहिनां पापकर्शनम् | 31 | 7 | a |
| पोषितौ लालितौ भृशम् | 45 | 21 | b | प्रणतभारविटपा मधुधाराः | 35 | 9 | c |
| पौण्ड्रकस्य वधं पश्चात् | 37 | 20 | a | प्रणतं समुपस्थितम् | 34 | 10 | b |
| पौण्ड्रकाद्याः सहस्रशः | 53 | 17 | d | प्रणताय प्रपन्नाय | 41 | 50 | c |
| पौरजानपदास्सर्वे | 36 | 24 | c | प्रणम्य मूर्ध्नाऽवहितः | 39 | 57 | c |
| प्रकीर्णमाल्याङ्कुरलाजतण्डुलाम् | 41 | 22 | d | प्रणयिनोऽनुचरस्य यदांऽसे | 35 | 18 | c |
| प्रक्षाल्य विधिवत्पादौ | 38 | 38 | c | प्रणिपत्याऽभ्यनुज्ञातौ | 37 | 25 | c |
| प्रक्षिपन् भुजमगायत यत्र | 35 | 18 | d | प्रतप्तजाम्बूनदरत्नभास्वरे | 59 | 23 | b |
| प्रक्षिप्य व्यनदन्नादम् | 55 | 19 | c | प्रतिक्रियामर्षजुषः समुद्यताः | 59 | 11 | f |
| प्रक्ष्यामोऽत्र महासत्त्रम् | 39 | 12 | c | प्रतिच्छन्नं तदुद्भवैः | 40 | 27 | b |
| प्रगल्भलीलाहसितावलोकनैः | 41 | 27 | b | प्रतिजज्ञे महाबाहुः | 54 | 19 | c |
| प्रगृह्य केशेषु चलत्किरीटम् | 44 | 37 | a | प्रतिबोधयति त्वां वै | 51 | 22 | a |
| प्रगृह्य चिबुकेऽध्यात्मम् | 42 | 7 | c | प्रतिमुच्य महाप्रभम् | 56 | 13 | b |
| प्रगृह्य दोर्भ्यां परिपीड्य पादयोः | 37 | 5 | b | प्रतियात ततो गृहान् | 29 | 27 | d |
| प्रगृह्य पाणिना पाणिम् | 53 | 1 | c | प्रतियात व्रजं नेह | 29 | 19 | c |
| प्रगृह्य पणिना भृत्याम् | 53 | 50 | c | प्रतियाते तु देवर्षौ | 36 | 20 | a |
| प्रगृह्य पाणिना हस्तम् | 43 | 13 | c | प्रतिरूपे च सत्यपि | 42 | 28 | b |
| प्रगृह्य शय्यामधिवेश्य रामया | 48 | 7 | c | प्रतिलब्धमनोरथैः | 57 | 13 | d |
| प्रजानाञ्चानुपोषणम् | 29 | 24 | d | प्रतिलोमो हि सङ्गमः | 36 | 44 | d |
| प्रजानुरागं पार्थेषु | 49 | 5 | c | प्रतीक्षन्तोऽवतस्थिरे | 41 | 8 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| प्रतीक्ष्य द्वादशाहानि | 56 | 34 | c | प्रपदाक्रमणे एते | 30 | 34 | a |
| प्रतीच्छामो वयं नृप | 56 | 46 | b | प्रपन्नं परिमोचय | 34 | 6 | d |
| प्रतीतान् पुरुषोत्तमः | 58 | 1 | b | प्रपन्नं पाहि मां प्रभो | 40 | 31 | d |
| प्रतीपमाचरद्ब्रह्मन् | 33 | 28 | c | प्रपन्नार्तिहरो हरिः | 46 | 2 | d |
| प्रतीपं सर्वसात्त्वताम् | 46 | 35 | b | प्रपन्नानां भयापहम् | 34 | 15 | b |
| प्रतीहारैः प्रवेशितः | 52 | 27 | b | प्रपन्नां पाहि गोविन्द | 49 | 11 | c |
| प्रत्यपोवाह भगवान् | 36 | 11 | c | प्रपन्नोऽस्मि महायोगिन् | 34 | 16 | a |
| प्रत्याख्यातः स चाऽक्रूरम् | 57 | 18 | a | प्रभविष्णुमधीश्वरम् | 56 | 26 | d |
| प्रत्याख्यतः स तेनापि | 57 | 22 | a | प्रभवौ सर्वविद्यानाम् | 45 | 30 | a |
| प्रत्यागत्याऽथ रामेण | 50 | 58 | c | प्रभाष्यैवं ददौ विद्याम् | 55 | 16 | a |
| प्रत्यागमन सन्देशैः | 46 | 6 | c | प्रभासमासाद्य दुरन्तविक्रमौ | 45 | 38 | b |
| प्रत्यादिष्टाऽऽशिषा स च | 56 | 37 | b | प्रभिन्नकरभामुखः | 36 | 25 | d |
| प्रत्यादेशं भगवतः | 39 | 34 | c | प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति | 38 | 26 | d |
| प्रत्यापत्तिमपश्यन्ती | 53 | 22 | c | प्रमत्तमुच्चैरिति कृत्यचिन्तया | 51 | 50 | a |
| प्रत्याह प्रहसन्वाण्या | 51 | 36 | c | प्रमथ्य तरसा राज्ञः | 52 | 17 | a |
| प्रत्युत्थानासनादिभिः | 58 | 35 | b | प्रमदा बलकेशवौ | 41 | 29 | d |
| प्रत्युत्थाय प्रमुदितः | 48 | 14 | c | प्रमुखै र्भागवतोत्तमैः | 39 | 54 | b |
| प्रत्युद्गमासनवरार्हणपादशौच | 59 | 45 | a | प्रमृज्याश्रुकले नेत्रे | 60 | 27 | a |
| प्रदक्षिणं मे प्रचरन्त्यमी मृगाः | 38 | 9 | d | प्रमृष्टमणिकुण्डलाः | 54 | 55 | b |
| प्रदध्मौ स हलायुधः | 45 | 43 | d | प्रययुस्तेऽम्बिकावनम् | 34 | 1 | d |
| प्रदीपः प्रभया यथा | 51 | 30 | d | प्रययौ नन्दगोकुलम् | 38 | 1 | d |
| प्रदीपावलिभिः पृथक् | 53 | 47 | d | प्रययौ नन्दगोकुलम् | 46 | 7 | d |
| प्रद्युम्न इति विख्यातः | 55 | 2 | c | प्रलपन्त्यश्च चित्रधा | 32 | 1 | b |
| प्रद्युम्नाय महात्मने | 55 | 16 | b | प्रलब्धैः स्वेन पाप्मना | 34 | 13 | d |
| प्रद्युम्नाय महात्मने | 55 | 19 | b | प्रलम्बपीवरभुजम् | 39 | 48 | a |
| प्रद्युम्नायाऽनिरुद्धाय | 40 | 22 | c | प्रलम्बबाहुं ताम्राक्षम् | 55 | 27 | c |
| प्रद्युम्नो गदया गदाम् | 55 | 20 | b | प्रलम्ब बाहु नरलोकसुन्दरम् | 55 | 10 | b |
| प्रधानपुरुषावाद्यौ | 38 | 32 | a | प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम् | 47 | 1 | b |
| प्रधानपुंसोश्चरणं स्वलब्धये | 38 | 15 | b | प्रलम्बाद्याश्च सद्विषाः | 51 | 42 | b |
| | | | | प्रलम्बो धेनुकोऽरिष्टः | 46 | 26 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्रलम्बो निहतोऽनेन | 43 | 30 | c |
| प्रलयाब्धिचराय च | 40 | 18 | b |
| प्रलोभितो वैरर्यत्त्वम् | 51 | 60 | a |
| प्रवर्तते देवनृतिर्यगात्मसु | 40 | 13 | d |
| प्रवर्तिता भीरुभयावहामृधे | 50 | 28 | a |
| प्रवर्षणाख्यं भगवान् | 52 | 10 | c |
| प्रविवेश गृहं कंसः | 36 | 71 | c |
| प्रविवेश स्वगोकुलम् | 37 | 34 | d |
| प्रविवेशाम्बिकान्तिकम् | 53 | 44 | d |
| प्रविश्य देवसदने | 56 | 10 | c |
| प्रविष्टस्य बिलं जनाः | 56 | 34 | b |
| प्रविष्टेन गृहीतानाम् | 33 | 4 | a |
| प्रविष्टो द्वारकां राजन् | 56 | 4 | c |
| प्रवृद्धतर्षो न सुखाय कल्पते | 51 | 53 | d |
| प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम् | 51 | 50 | b |
| प्रवेक्ष्ये मधुरा पुरीम् | 41 | 11 | b |
| प्रवेपितस्य रुधिरम् | 44 | 25 | a |
| प्रवेशयामास यथोरगं बिले | 37 | 6 | d |
| प्रशमाय प्रसादाय | 29 | 48 | c |
| प्रशमायेतरस्य च | 33 | 27 | b |
| प्रश्रयादींश्च सद्गुणान् | 49 | 5 | b |
| प्रश्रयावनतः प्रीणन् | 45 | 2 | c |
| प्रश्रयावनतोऽक्रूरः | 48 | 17 | c |
| प्रश्रितं प्रहसन्निव | 41 | 9 | d |
| प्रसन्नहृदयेन्द्रियः | 40 | 1 | b |
| प्रसन्ने श्रीनिकेतने | 39 | 2 | b |
| प्रसन्नो भगवान्कुब्जाम् | 42 | 6 | a |
| प्रसह्य धनुराददे | 42 | 16 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्रसह्य विजिगीषया | 44 | 2 | d |
| प्रसह्य हृतवान् कृष्णः | 58 | 31 | c |
| प्रसाधितात्मोपससार माधवम् | 48 | 6 | c |
| प्रसार्यावस्थितो हरिः | 36 | 8 | d |
| प्रसीद पुरुषर्षभ | 42 | 10 | d |
| प्रसीदेत् वाऽच्युतः कथम् | 56 | 41 | d |
| प्रसूनगन्धानिलजुष्टदिवन्तटे | 33 | 25 | b |
| प्रसूनदीपावलिभिस्सपल्लवैः | 41 | 23 | b |
| प्रसूनवर्षैरमरैस्स ईडितः | 37 | 9 | d |
| प्रसूनवृष्टिर्निहते मुरेऽसुरे | 59 | 11 | d |
| प्रसेनं सहयं हत्वा | 56 | 14 | a |
| प्रसेनों हयमारुह्य | 56 | 13 | c |
| प्रस्थापितो द्विज उपश्रुत सत्कथस्य | 60 | 55 | d |
| प्रस्थापितो मयि चिरायति शून्यमेतत् | 60 | 57 | b |
| प्रस्विन्नगात्रः परिवृत्तलोचनः | 37 | 8 | c |
| प्रहर्षवेगोत्कलितेक्षणाननाः | 43 | 20 | c |
| प्रहसन्द्विजमब्रवीत् | 53 | 1 | d |
| प्रहसंस्तामुवाच ह | 42 | 11 | d |
| प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षितम् | 31 | 10 | a |
| प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् | 31 | 17 | b |
| प्रहस्य नन्दं पितरम् | 39 | 10 | c |
| प्रहस्य भगवानाह | 54 | 5 | a |
| प्रहस्य सदयं गोपीः | 29 | 42 | c |
| प्रहस्याम्बुजलोचनः | 56 | 9 | b |
| प्रहृष्यामि कर्हिचित् | 54 | 14 | b |
| प्रह्लादनारदवसु | 39 | 54 | a |
| प्राकारं गदया गुर्व्या | 59 | 5 | c |
| प्रागल्भ्य स्मारिता इव | 43 | 22 | d |
| प्राग्ज्योतिषपुरं ययौ | 59 | 2 | h |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| प्राचेतसं छात्रमथो महामणिम् | 59 | 23 | d | प्राप्तिं चाख्याय भगवान् | 56 | 39 | c |
| प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः | 29 | 2 | b | प्राप्तिं तदा भगवतः प्रसमीक्षमाणा | 53 | 54 | b |
| प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः | 32 | 10 | d | प्राप्तो नन्दव्रजं श्रीमान् | 46 | 8 | a |
| प्राञ्जलिः प्रणता राजन् | 59 | 24 | c | प्राप्तौ श्रुत्वा स्वदुहितुः | 53 | 32 | a |
| प्राण ओजस्सहो बलम् | 59 | 26 | b | प्राप्य दुष्प्राप मीश्वरम् | 48 | 9 | a |
| प्राणघोषानुपश्रुतिः | 42 | 29 | b | प्रामृजत्करुणः प्रेम्णा | 33 | 21 | c |
| प्राणन्ति शुम्भन्ति पुनन्ति वै जगत् | 38 | 12 | c | प्रामृजत् पद्मपाणिना | 60 | 26 | d |
| प्राणाक्षधीभिः सदनेष्वभीयते | 38 | 11 | d | प्रायश्चोरायितो बहून् | 37 | 29 | d |
| प्राणा मुख्यमिवागतम् | 58 | 2 | d | प्रायस्त्यक्तनृपासनान् | 60 | 12 | d |
| प्राणायामादिभिर्मनः | 51 | 61 | b | प्रायः कृष्णेन निहतः | 56 | 16 | a |
| प्राणा रायस्सुतादयः | 49 | 23 | d | प्रायः प्राणान् कथञ्चन | 46 | 6 | b |
| प्राणावशेष उत्सृष्टः | 54 | 51 | a | प्रायः सीदन्ति योषितः | 60 | 13 | d |
| प्रातर्द्रक्ष्यामहे पुरीम् | 41 | 10 | d | प्रायुङ्क्त शतशो दैत्यः | 55 | 23 | c |
| प्रातर्व्रजाद्व्रजत आविशतश्च सायम् | 44 | 16 | a | प्रायुञ्जतासाद्य शरानसीन् गदाः | 59 | 13 | a |
| प्रादात् धेनूश्च विप्रेभ्यः | 53 | 13 | c | प्रारुदद्दुःखिता राजन् | 49 | 14 | c |
| प्रादात्सारूप्यमात्मनः | 41 | 42 | b | प्रार्थितः प्रचुरं पूर्वम् | 51 | 43 | c |
| प्रादुर्बभूव सिद्धार्थः | 56 | 37 | c | प्रार्थ्य यदि जिजीविषा | 41 | 36 | b |
| प्राद्रवज्जीवितेच्छया | 34 | 29 | d | प्राविशद्गन्धमादनम् | 52 | 3 | d |
| प्राद्रवन्तं पराङ्मुखम् | 51 | 6 | b | प्राविशद्गिरिकन्दरम् | 51 | 9 | b |
| प्राद्रवन्पातयामास | 43 | 10 | c | प्राविशत्परवीरहा | 58 | 14 | d |
| प्राद्रुत्य दूरं संश्रान्तौ | 52 | 10 | a | प्राविशत्सकलर्द्धिमत् | 59 | 32 | d |
| प्राप्तराज्यो हताहितः | 47 | 45 | b | प्रावोचन्नश्रुलोचनाः | 47 | 65 | d |
| प्राप्तान् नृपानवगणय्य रहस्करो मे | 60 | 55 | c | प्रासादशिखरारूढाः | 41 | 29 | a |
| प्राप्तं ह्युभयतो महत् | 50 | 46 | d | प्रास्योदन्वत्यगात् गृहम् | 55 | 3 | d |
| प्राप्तान् ह्यैक्षत नृपान् ददृशेऽच्युतं च | 53 | 54 | d | प्राह क्रोधाकुलेन्द्रियाः | 36 | 40 | b |
| प्राप्ता भजस्व दुरवग्रहमात्यजाऽस्मान् | 29 | 31 | c | प्राह नस्सार्थकं जन्म | 41 | 45 | a |
| प्राप्ता विसृज्य वसती स्त्वदुपासनाशाः | 29 | 38 | b | प्राह नाऽसौ रविर्देवः | 56 | 9 | c |
| प्राप्ताविह सुरोत्तमौ | 46 | 23 | b | प्राह व्याकुलमानसः | 36 | 27 | b |
| | | | | प्राह सन्त्यज्य सन्तप्ता | 36 | 46 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्राह संरूपदर्पितः | 34 | 13 | b |
| प्राहाक्रूरं जनार्दनः | 57 | 38 | d |
| प्राहिणोत् स्वगदां नदन् | 55 | 20 | d |
| प्रियत्यागभयं जहौ | 60 | 32 | d |
| प्रियप्रस्थापितं दूतम् | 47 | 11 | c |
| प्रियमन्यन्ननाम सा | 53 | 31 | d |
| प्रियमिच्छन्गृहं ययौ | 48 | 1 | d |
| प्रियया भीरु भामिनि | 60 | 31 | d |
| प्रियश्च वरयोषिताम् | 47 | 41 | b |
| प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किम् | 47 | 20 | a |
| प्रियस्य देव्यश्रुतपूर्वमप्रियम् | 60 | 22 | b |
| प्रियं किं करवाणि वः | 29 | 18 | b |
| प्रियं राज्ञः प्रकुर्वत्यः | 43 | 33 | a |
| प्रियं विधास्यते पित्रोः | 46 | 34 | c |
| प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः | 29 | 2 | d |
| प्रियात्प्रियं नेष्यति पारमध्वनः | 39 | 26 | d |
| प्रियायाः प्रियकृद्विभुः | 57 | 31 | d |
| प्रियायाः प्रेमबन्धनम् | 60 | 25 | b |
| प्रियार्थे प्रेयसा कृतः | 30 | 33 | d |
| प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः | 30 | 3 | b |
| प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः | 29 | 43 | b |
| प्रीतस्तस्मै मणिं प्रादात् | 56 | 3 | c |
| प्रीतस्सर्वसुहृद्धृतः | 47 | 45 | d |
| प्रीतः प्रणतवत्सलः | 38 | 36 | d |
| प्रीतः स्मयन्नलककुण्डलनिष्ककण्ठ | 60 | 9 | c |
| प्रीता दृष्टिं न चाऽऽददुः | 41 | 7 | d |
| प्रीतिं नस्स्निग्धसव्रीड | 47 | 40 | c |
| प्रीतिं वो जनयन्यातः | 30 | 8 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्रीतैर्व्रजसुखावहः | 37 | 26 | d |
| प्रीतो यामनयद्गृहः | 30 | 28 | d |
| प्रीत्युत्कण्ठितलोचनैः | 50 | 40 | d |
| प्रीत्युत्फुल्ल दृशोऽबलाः | 32 | 3 | b |
| प्रीत्युत्फुल्लमुखाम्बुजाः | 41 | 29 | b |
| प्रीत्योपतस्थे रतिरङ्ग सौरतैः | 55 | 10 | d |
| प्रीयता साधु साध्विति | 33 | 10 | d |
| प्रीयन्ते मयि जन्तवः | 29 | 23 | d |
| प्रेक्षणीयं नृलोकस्य | 51 | 26 | a |
| प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितो क्षणमार्जनादौ | 44 | 15 | b |
| प्रेमप्रसरविह्वलः | 46 | 27 | d |
| प्रेमवेपितभुजाः स्तिमितापः | 35 | 7 | d |
| प्रेमसंरम्भविह्वला | 32 | 7 | b |
| प्रेमहासावलोकनैः | 30 | 5 | d |
| प्रेमहृष्टतनवः ससृजुःस्म | 35 | 9 | d |
| प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग! | 33 | 24 | b |
| प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः | 38 | 26 | b |
| प्रेषयामास केशवः | 59 | 37 | f |
| प्रेषयामास हन्येताम् | 36 | 20 | c |
| प्रेषितो दूत आगतः | 57 | 11 | d |
| प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणम् | 29 | 30 | a |
| प्रेष्ठो भवान् बलिभुजामपि तेऽपि तुभ्यम् | 60 | 37 | d |
| प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा | 29 | 32 | d |
| प्रोत्फुल्लाशोकवकुल | 36 | 31 | a |
| प्रोद्दामचरितानि च | 39 | 31 | d |
| प्रोद्वाहपर्वाणि च तद्वधमक्षगोष्ठ्याम् | 60 | 56 | b |
| प्रोद्वेजितानां शरणैषिणां नृणाम् | 38 | 16 | d |
| प्रोवाच वेदानखिलान् | 45 | 33 | c |
| प्लक्षन्यग्रोध नो मनः | 30 | 5 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजम् | 31 | 7 | c |
| फलवांश्चैव मे भवः | 38 | 6 | b |
| फल्गु कृच्छ्रं भयावहम् | 29 | 26 | b |
| फल्गुनं परिरभ्याथ | 58 | 4 | c |
| फल्गुनः प्रमदोत्तमाम् | 58 | 18 | d |
| **ब** | | | |
| बदरपाण्डुवदनो मृदुगण्डम् | 35 | 24 | c |
| बदर्याश्रममासाद्य | 52 | 4 | a |
| बद्धमल्लपरिबर्हविडम्बः | 35 | 6 | b |
| बध्नन्त्येका स्रजा काचित् | 30 | 23 | a |
| बध्नामि भाण्डभेत्तारम् | 10 | 23 | c |
| बद्ध्वा तान् दामभिः शौरिः | 58 | 46 | a |
| बद्ध्वा परिकरं प्रभुः | 58 | 45 | b |
| बद्ध्वा परिकरं शौरिः | 43 | 3 | a |
| बध्नन्ति घ्नन्ति लुम्पन्ति | 41 | 36 | c |
| बध्यमानं हतारातिम् | 50 | 32 | a |
| बन्धश्च कर्मात्मक उच्छ्वसित्यतः | 38 | 20 | d |
| बन्धुप्रियकृदर्जुनः | 58 | 54 | b |
| बन्धुभिर्गान्दिनीसुतः | 49 | 3 | b |
| बन्धुभिस्सौहृदोदितम् | 49 | 16 | d |
| बन्धुर्वधार्हदोषोऽपि | 54 | 39 | a |
| बन्धूनामिच्छतां दातुम् | 52 | 25 | a |
| बन्धूनां शान्तिमावह | 57 | 43 | b |
| बन्धून्हनिष्यत्यथवा | 50 | 48 | c |
| बभञ्जैकेन हस्तेन | 46 | 25 | c |
| बबन्ध सह भार्यया | 36 | 19 | d |
| बभाष ऋषभं पुंसाम् | 60 | 33 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| बभूव प्रमदोत्तमा | 42 | 8 | d |
| बभूवुर्भृशविस्मिताः | 54 | 59 | d |
| बभूवुर्व्यथिता नृप | 39 | 13 | b |
| बभौ प्रतिद्वार्युपक्लृप्तमङ्गलैः | 54 | 56 | c |
| बभ्राम भ्राम्यमाणेन | 43 | 9 | c |
| बर्हिणस्तबकधातुपलाशैः | 35 | 6 | a |
| बलश्च कंसप्रहितम् | 42 | 21 | a |
| बलदर्पहाऽहं दुष्टानाम् | 36 | 7 | c |
| बलदेव जनार्दनौ | 43 | 16 | b |
| बलभद्रेण बलिना | 44 | 24 | c |
| बलमाकृष्य सुमहन् | 52 | 14 | c |
| बलमायुर्यशः कान्तिम् | 41 | 52 | c |
| बलवद्भिः कृतद्वेषान् | 60 | 12 | c |
| बलवद्विग्रहाकुलः | 56 | 41 | b |
| बलश्च परवीरहा | 39 | 10 | b |
| बलश्च बलिनां वरः | 43 | 39 | b |
| बलं तदङ्गार्णव दुर्गभैरवम् | 50 | 29 | a |
| बलायेति पुरोदितम् | 52 | 15 | d |
| बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयत् ध्वाङ्क्षवद्यः | 47 | 17 | c |
| बलिं हरन्त्यवनताः | 45 | 14 | c |
| बलेन महता सार्धम् | 53 | 21 | a |
| बलेन सह मुष्टिकः | 43 | 40 | d |
| बलेनाऽल्पीयसाऽऽवृतौ | 50 | 16 | b |
| बलैश्वर्यस्मृतीन्द्रियम् | 41 | 42 | d |
| बह्व इव विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति | 47 | 18 | d |
| बहुभिर्याचितां शील | 56 | 45 | c |
| बहुमूर्त्येकमूर्तिकम् | 40 | 8 | d |
| बहुव्यालमृगाकीर्णम् | 58 | 14 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| बहुशो भ्रामयन्हरिः | 44 | 22 | d | बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण | 31 | 8 | b |
| बहून्यचष्टोभयथा | 42 | 27 | c | बुधोऽसतीं न बिभृयात् | 60 | 48 | c |
| बह्वाचार्यविभेदेन | 40 | 9 | c | बृन्दशो व्रजवृषा मृगगावः | 35 | 5 | a |
| बाध्यमानोऽस्त्रवर्षेण | 55 | 22 | a | बृन्दावनलतास्तरून् | 30 | 24 | b |
| बाध्येत पाषण्डपथैरसद्भिः | 48 | 24 | c | बृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् | 47 | 61 | b |
| बालकेनेह लज्जया | 50 | 18 | b | बृन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये | 47 | 43 | b |
| बालको महतोर्मिणा | 45 | 39 | d | बृहत्कटितटश्रोणि | 39 | 49 | a |
| बालक्रीडनकं कृतम् | 56 | 20 | b | बृहच्छ्रेणिपयोधरा | 42 | 8 | b |
| बालद्विरदविक्रमौ | 38 | 29 | d | बृहदुरःश्रियो वीक्ष्य धाम ते | 31 | 17 | c |
| बालस्य तत्त्वमुत्पत्तिम् | 55 | 6 | e | बृहद्बलो नीलिमहाऽचलोपमः | 37 | 2 | b |
| बालं प्रभासे वरयाम्बभूव ह | 45 | 37 | d | ब्रह्मक्षत्रपुरोगमाः | 42 | 34 | b |
| बाला वयं तुल्यबलैः | 43 | 38 | a | ब्रह्मणा चोदितः प्रादात् | 52 | 15 | c |
| बालो दारुमयान् यथा | 58 | 46 | d | ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये | 40 | 30 | d |
| बालो दिष्टचेति चाऽब्रुवन् | 55 | 39 | d | ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये | 59 | 28 | b |
| बाल्य पौगण्डकैशोराः | 45 | 3 | c | ब्रह्मणे परमात्मने | 49 | 13 | b |
| बाष्पकण्ठौ विमोहितौ | 45 | 11 | d | ब्रह्मण्यस्सत्यसङ्करः | 51 | 14 | d |
| बाष्पपर्याकुलेक्षणः | 38 | 35 | b | ब्रह्मदण्डाद्विमुक्तोऽहम् | 34 | 16 | e |
| बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु | 29 | 46 | a | ब्रह्मन् कृष्णकथाः पुण्याः | 52 | 20 | a |
| बाहुश्च तद्देहगतो महात्मनः | 37 | 7 | c | ब्रह्मन् कृष्णस्य किल्बिषम् | 56 | 2 | b |
| बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मः | 30 | 12 | a | ब्रह्म रात्र उपावृत्ते | 33 | 39 | a |
| बाह्वो र्निगृह्य चाणूरम् | 44 | 22 | c | ब्रह्मरूपधरान्नृपान् | 57 | 13 | b |
| बिभ्यतां मृत्युसंसारात् | 49 | 12 | c | ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयम् | 59 | 44 | b |
| बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो | 30 | 13 | d | ब्रह्माऽऽविरासीद्यत एष लोकः | 40 | 2 | d |
| बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः | 29 | 29 | b | ब्रह्मेशाद्या विभूतयः | 44 | 42 | b |
| बिलात् कृष्णमनिर्गतम् | 56 | 35 | d | ब्राह्मणस्य स्वधामतः | 37 | 19 | d |
| बीभत्सुर्यमुनामगात् | 58 | 16 | d | ब्राह्मणः परमेष्ठिना | 52 | 36 | b |
| बुद्धिमांस्तत् समाचरेत् | 33 | 32 | d | | | | |
| बुद्धीन्द्रियगुणाश्रयः | 47 | 29 | f | | | | |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ब्राह्मणेभ्यो ददुस्सर्वे | 34 | 3 | c |
| ब्राह्मणो येन केनचित् | 52 | 31 | b |
| ब्रूताऽऽगमनकारणम् | 29 | 18 | d |
| **भ** | | | |
| भक्तप्रिया हतगिरः सुहृदः कृतज्ञात् | 48 | 27 | b |
| भक्तमेकान्तिनं क्वचित् | 46 | 2 | b |
| भक्तस्य परमस्सखा | 56 | 3 | b |
| भक्तं ते भक्तवत्सल | 41 | 11 | d |
| भक्तिप्रवणया धिया | 59 | 24 | d |
| भक्तिर्मय्यनपायिनी | 51 | 62 | d |
| भक्तिं परामुपगतः | 38 | 2 | c |
| भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्यकामम् | 33 | 40 | c |
| भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या | 47 | 25 | c |
| भक्तेच्छोपात्तरूपाय | 59 | 25 | c |
| भक्तेन भगवान्हरिः | 48 | 29 | b |
| भक्त्या देवमिवाऽऽहतौ | 45 | 32 | d |
| भक्त्या परमया युतः | 39 | 56 | b |
| भक्त्याऽवनतकन्धरः | 40 | 1 | d |
| भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम् | 47 | 69 | b |
| भगदत्ताय दत्त्वैकम् | 59 | 37 | c |
| भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि | 52 | 19 | a |
| भगवञ्जीवलोकोऽयम् | 40 | 24 | a |
| भगवत्यम्बुजेक्षणे | 38 | 2 | b |
| भगवत्युत्तमश्लोके | 47 | 25 | a |
| भगवत्युदिते सूर्ये | 46 | 47 | a |
| भगवद्गात्रनिष्पातैः | 44 | 20 | a |
| भगवद्दर्शनाह्लाद | 38 | 35 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भगवन्तं वासुदेवम् | 44 | 21 | c |
| भगवन् समुपासते | 40 | 9 | d |
| भगवानच्युतो वृतः | 32 | 11 | a |
| भगवानथ तद्वीक्ष्य | 36 | 6 | a |
| भगवानपि गोविन्दः | 37 | 26 | a |
| भगवानपि गोविन्दः | 52 | 16 | a |
| भगवानपि ता रात्रीः | 29 | 1 | a |
| भगवानपि सम्प्राप्तः | 39 | 38 | a |
| भगवानाह न मणिम् | 56 | 46 | a |
| भगवानीश्वरोऽव्ययः | 51 | 19 | b |
| भगवान् कृष्णमब्रवीत् | 54 | 36 | f |
| भगवान्देवकीसुतः | 33 | 7 | b |
| भगवान्देवकीसुतः | 39 | 3 | b |
| भगवान्देवकीसुतः | 45 | 12 | b |
| भगवान्देवकीसुतः | 45 | 20 | b |
| भगवान्देवकीसुतः | 56 | 29 | d |
| भगवान्देवकीसुतः | 58 | 55 | d |
| भगवान्देवकीसुतः | 60 | 58 | b |
| भगवान्पुनराव्रज्य | 52 | 5 | a |
| भगवान् भक्तिनम्रया | 59 | 32 | b |
| भगवान्भरतर्षभ | 44 | 17 | d |
| भगवान् भीष्मकसुताम् | 52 | 18 | a |
| भगवान् भीष्मकसुताम् | 54 | 53 | a |
| भगवान्भूतभावनः | 51 | 36 | b |
| भगवान्मधुसूदनः | 43 | 13 | b |
| भगवान्मधुसूदनः | 44 | 1 | b |
| भगवान् लोकभावनः | 44 | 49 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भगवान्वा विभावसुः | 51 | 29 | b |
| भगवान् विष्णुरव्ययः | 51 | 20 | d |
| भगवान्व्रजयोषितः | 29 | 17 | b |
| भगवान्सात्त्वतर्षभः | 51 | 23 | b |
| भगवान्सात्त्वतां पतिः | 34 | 8 | d |
| भगवान्सात्त्वतां पतिः | 46 | 34 | d |
| भगवान् सात्त्वतां पतिः | 58 | 34 | b |
| भगवान् हरिरीश्वरः | 30 | 28 | b |
| भगवान्हरिरीश्वरः | 48 | 37 | b |
| भगवांस्तत्र निवसन् | 58 | 25 | a |
| भगवांस्तदुपश्रुत्य | 56 | 17 | a |
| भगवांस्तमभिप्रेत्य | 38 | 36 | a |
| भगिन्यो भ्रातृपुत्राश्च | 49 | 8 | c |
| भग्नदर्पान् हतौजसः | 58 | 46 | b |
| भग्नवीर्याः सुदुर्मर्षाः | 58 | 53 | c |
| भजते तादृशीः क्रीडाः | 33 | 37 | c |
| भजते निर्गुणो गुणान् | 46 | 40 | b |
| भजतोऽनुभजन्त्येके | 32 | 17 | a |
| भजतोऽपि न वै केचित् | 32 | 20 | a |
| भजन्तं भजतोरपि | 41 | 47 | d |
| भजन्त्यभजतः कुतः | 32 | 20 | b |
| भजन्त्यभजतो ये वै | 32 | 19 | a |
| भज सखे भवत्किङ्करीः स्म नः | 31 | 6 | c |
| भजस्व क्षत्रियर्षभम् | 60 | 17 | b |
| भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये | 32 | 21 | b |
| भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः - | | | |
| कुण्डलैः गण्डलोलैः | 33 | 8 | b |
| भटा राजपुरं महत् | 59 | 14 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भटाश्वरथकुञ्जरैः | 50 | 8 | b |
| भटैर्गृहाम्बिकालयम् | 53 | 39 | d |
| भयविह्वललोचना | 54 | 4 | d |
| भर्तरि कामसन्तप्ता | 36 | 33 | c |
| भर्तुश्शुश्रूषणं स्त्रीणाम् | 29 | 24 | a |
| भर्तुः प्रेतस्य निष्कृतिम् | 46 | 49 | b |
| भर्त्रेह प्रेषितः पित्रोः | 47 | 4 | c |
| भवतः प्रकृतेर्गुणाः | 40 | 12 | b |
| भवता भगवत्यजे | 29 | 16 | b |
| भवता रामकेशवौ | 36 | 20 | d |
| भवतां प्रपितामही | 49 | 14 | d |
| भवतीनामधोक्षजे | 47 | 27 | b |
| भवतीनां वियोगो मे | 47 | 29 | a |
| भवतीनां सुखावहः | 47 | 28 | b |
| भवतीभिरनुत्तमा | 47 | 25 | b |
| भवतो विबुधादयः | 45 | 14 | b |
| भवत्यो यन्त्रिताशयाः | 29 | 23 | b |
| भवत्यो लोकपूजिताः | 47 | 23 | b |
| भवद्भिर्यन्नियुज्यते | 41 | 48 | d |
| भवद्भ्यामिह सम्प्राप्तौ | 36 | 23 | c |
| भवद्भ्यामुद्धृतं कृच्छ्रात् | 48 | 18 | c |
| भवद्भ्यां गुरुनिष्क्रयः | 45 | 48 | b |
| भवद्भ्यां न विना किञ्चित् | 48 | 19 | c |
| भवद्विधा भागवताः | 48 | 31 | a |
| भवन्तौ किल विश्वस्य | 41 | 46 | a |
| भवन्तौ वीर्यसम्मतौ | 43 | 32 | b |
| भवपत्नीं भवान्तिकम् | 53 | 45 | d |
| भवादृशीनां मनुजाङ्गनानां जानीहि भद्रे | 36 | 39 | a |
| भवानीं वन्दयाञ्चक्रुः | 53 | 45 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| भवान्नः परिपालनात् | 51 | 16 | d | भीष्मं कृपं सविदुरम् | 57 | 2 | a |
| भवान् नारायणसुतः | 55 | 12 | a | भुक्त्वा क्षीरोपसेचनम् | 42 | 25 | b |
| भवान्प्रविशतामग्रे | 41 | 10 | a | भुक्त्वा चाऽतिथयो गृहम् | 47 | 8 | b |
| भवान्प्रियचिकीर्षया | 47 | 4 | d | भुजमगरुसुगन्धिं मूर्ध्न्यधास्यत्कदा तु | 47 | 21 | d |
| भवान्याः पादपल्लवम् | 53 | 40 | b | भुजाह्यः पुरुषशीर्षकच्छपाः | 50 | 26 | c |
| भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेत् | 51 | 54 | a | भुवं लिखन्त्यश्रुभिरञ्जनाऽऽविलैः | 60 | 23 | b |
| भवित्री नष्टकण्टका | 36 | 66 | f | भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः | 31 | 9 | d |
| भविष्याति परं श्रेयः | 41 | 33 | c | भुवि भारं समाहितम् | 50 | 7 | b |
| भवेन्नियुद्धं माऽधर्मः | 43 | 38 | c | भूतध्रुक् को लभते शम् | 44 | 47 | d |
| भवो न साक्षाच्च चिदात्मनः स्यात् | 48 | 23 | b | भूतराजाय मीढुषे | 36 | 58 | d |
| भस्मसादभवत् क्षणात् | 51 | 12 | d | भूतानि नः प्रसीदन्ति | 43 | 35 | c |
| भस्मीभवतु तत्क्षणात् | 51 | 22 | d | भूतेन्द्रियगुणात्मना | 47 | 30 | d |
| भागवत प्रवरो नृप | 37 | 10 | b | भूतेषु च दयां पराम् | 41 | 51 | d |
| भागवत प्रवरो मुनिः | 37 | 25 | b | भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् | 30 | 4 | d |
| भारद्वाजं सगौतमम् | 49 | 2 | b | भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै | 51 | 64 | c |
| भाराक्रान्तानि कामिनः | 30 | 32 | d | भूपृष्ठे पोथयामास | 44 | 23 | a |
| भारावताराय भुवो निजेच्छया | 38 | 10 | b | भूभारहरणाय मे | 50 | 9 | b |
| भार्ययाम्बरचारिण्या | 55 | 25 | c | भूमेर्भारमपाकुरु | 50 | 15 | b |
| भार्यां साध्वीं सुतं शिशुम् | 45 | 7 | b | भूमेर्भारायमाणानाम् | 51 | 40 | e |
| भावं विधत्तां नितरां महात्मन् | 46 | 33 | c | भूमे र्भारावताराय | 49 | 28 | c |
| भावेन हृदयं दधुः | 59 | 35 | d | भूमौ वियति तोये वा | 41 | 3 | c |
| भासा नितम्बधृतया च पराध्र्यकाञ्च्या | 60 | 8 | d | भूमौ वियति वा जले | 41 | 4 | b |
| भिक्षुभिः श्लाघिता मुधा | 60 | 16 | d | भूमौ वियति वा जले | 41 | 5 | b |
| भिन्नगात्रा नृपात्मजाः | 58 | 43 | d | भूम्नस्तवेहितमथोऽनु ये भवन्तम् | 60 | 36 | d |
| भीतः प्रपन्नार्तिहरोपसादिताः | 59 | 31 | b | भूयस्तत्राऽपि सोऽद्राक्षीत् | 39 | 44 | a |
| भीतः प्राणपरीप्सया | 57 | 15 | b | भूयस्समाहरत्कृष्णः | 41 | 1 | c |
| भीताः विरहकातराः | 39 | 18 | b | भूयः कर्ता बलोद्यमम् | 50 | 8 | d |
| भीता सुदृक् पिधायाऽऽस्यम् | 30 | 23 | e | भूयात् पतिरयं महच्यम् | 59 | 35 | a |
| भीताः शनैः प्रियदधीमहि कर्कशेषु | 31 | 19 | b | भूयात् पतिर्मे भगवान् | 53 | 46 | c |
| भीष्मकन्या वरारोहा | 53 | 22 | a | भूयादयं मे पतिराशिषोऽमलाः | 58 | 36 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भूरि द्रष्टुं न शक्नुमः | 51 | 35 | b |
| भूषितां भूषणोत्तमैः | 53 | 11 | d |
| भूस्तोयमग्निः पवनः खमादिः | 40 | 3 | a |
| भृत्योराज्ञः सुदुर्मदः | 41 | 34 | d |
| भृशमुद्विविजे नृप | 43 | 18 | d |
| भेजे भीतिविडम्बनम् | 30 | 23 | f |
| भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् | 47 | 61 | d |
| भेजुर्मुदाविरतमेधितयाऽनुराग | 59 | 44 | c |
| भेजे सर्पवपुर्हित्वा | 34 | 9 | c |
| भेरीतूर्याण्यनेकशः | 50 | 38 | b |
| भैष्म्याः समुचितः पतिः | 53 | 37 | b |
| भोजयित्वा यथान्यायम् | 53 | 10 | c |
| भोजराजसमाहुताः | 42 | 38 | b |
| भोजितं परमान्नेन | 46 | 15 | a |
| भो भो दानपते महयम् | 36 | 60 | a |
| भो भो निशम्यतामेतत् | 36 | 22 | a |
| भो भो वैचित्रवीर्यत्वम् | 49 | 17 | a |
| भो भोः पुरुषशार्दूल | 54 | 11 | a |
| भौमप्रयुक्ता निरगुर्धृतायुधाः | 59 | 12 | d |
| भौमं हत्वा तन्निरोधात् | 58 | 58 | c |
| भौमाहृतानां विक्रम्य | 59 | 33 | c |
| भौमो येन च ताः स्त्रियः | 59 | 1 | b |
| भ्रमद्भ्रमरसङ्घाते | 36 | 31 | c |
| भ्रमामि स्वप्नकल्पेषु | 40 | 25 | c |
| भ्राजमानं पद्मकरम् | 39 | 52 | a |
| भ्राजमानो यथा रविः | 56 | 4 | b |
| भ्रातरं मे महाभुज! | 54 | 33 | d |
| भ्रातरः पतयश्च वः | 29 | 20 | b |
| भ्रातरावन्वधावताम् | 34 | 27 | d |
| भ्रातर्युपरते पाण्डौ | 49 | 17 | c |
| भ्रातापि भ्रातरं हन्यात् | 54 | 40 | c |
| भ्राता ममेति तच्छ्रुत्वा | 56 | 16 | c |
| भ्राता मे प्रेषितस्त्वया | 58 | 9 | d |
| भ्रातुर्निर्देशकारिणः | 44 | 40 | d |
| भ्रातुर्विरूपवारणं युधि निर्जितस्य | 60 | 56 | a |
| भ्रातुर्वैरूप्य चिन्तया | 54 | 38 | b |
| भ्रातृपुत्रेषु दीनधीः | 48 | 35 | b |
| भ्रातृस्नेहपरिप्लुतः | 53 | 21 | b |
| भ्रात्रेयो भगवान्कृष्णः | 49 | 9 | a |
| भ्रामयित्वा न्यपातयत् | 30 | 17 | d |
| भ्राम्यतीव महीयते | 46 | 41 | b |
| भ्राम्यते कर्म वर्त्मसु | 40 | 24 | d |
| **म** | | | |
| मगधान् दुर्मना ययौ | 50 | 35 | d |
| मगधान् मागधो ययौ | 52 | 14 | d |
| मग्नमुद्धर गोविन्द | 47 | 52 | c |
| मङ्गलाचरितैः दानैः | 47 | 67 | c |
| मच्छासनपुरस्कृतः | 45 | 46 | d |
| मञ्चमुत्तुङ्गमारुहत् | 44 | 34 | d |
| मञ्चस्थिता नागर राष्ट्रका नृपाः | 43 | 20 | b |
| मञ्चाश्चाऽलङ्कृताः स्रग्भिः | 42 | 33 | c |
| मञ्चाः क्रियन्तां विविधा | 36 | 24 | a |
| मणिग्रीवो वनं गतः | 56 | 16 | b |
| मणिञ्च स्वयमुद्यम्य | 56 | 44 | c |
| मणिधरः क्वचिदगणयन्गाः | 35 | 18 | a |
| मणिप्रवेका भरणाश्मशर्कराः | 50 | 27 | d |
| मणिमाच्छिद्य केसरी | 56 | 14 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मणिमादाय जग्मिवान् | 57 | 6 | d | मधुपर्कमुपानीय | 53 | 33 | a |
| मणिमादाय भास्वरम् | 34 | 32 | b | मधुपर्कमुपाहरत् | 38 | 38 | d |
| मणिस्तत्र न विद्यते | 57 | 26 | d | मधुपुर्यां महामतिः | 38 | 1 | b |
| मणिहेतोरिह प्राप्ताः | 56 | 31 | a | मधु मध्वन्नमादृताः | 34 | 3 | b |
| मणिं क्रीडनकं बिले | 56 | 15 | b | मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया | 31 | 8 | a |
| मणिं तस्मै न्यवेदयत् | 56 | 39 | d | मधुरामनयद्ग्रामम् | 41 | 6 | c |
| मणिं प्रत्यर्पयद्विभुः | 57 | 48 | d | मधुरां कृष्णपालिताम् | 47 | 68 | d |
| मणिं विप्रैन्यवेशयत् | 56 | 10 | d | मधुरां प्राविशद्गोपैः | 41 | 19 | c |
| मणिः कस्मान्न गृह्यते | 57 | 3 | d | मधुरां यवनावृतम् | 52 | 5 | b |
| मण्डयन्कनककुण्डललक्ष्या | 35 | 24 | d | मध्यगौ व्रजयोषिताम् | 34 | 20 | d |
| मण्डलेश्वरमध्यस्थः | 42 | 35 | c | मध्ये मणीनां हैमानम् | 33 | 7 | c |
| मतङ्गजैर्वा नरदेवसंज्ञितः | 51 | 51 | b | मन आविश्य वर्तते | 47 | 35 | b |
| मतिस्ते विमलोर्जिता | 51 | 59 | b | मनसस्सन्निकर्षार्थम् | 47 | 34 | c |
| मत्परामनवद्याङ्गीम् | 53 | 3 | c | मनसा कर्मणा वाचा | 43 | 33 | c |
| मत्पाणिग्रहणे नूनम् | 53 | 24 | c | मनसाऽपि ह्यनीश्वरः | 33 | 31 | a |
| मत्वा कलियुगं प्राप्तम् | 52 | 2 | c | मनसा वज्रिरेऽभीष्टम् | 59 | 34 | c |
| मत्वा जिहास इदमङ्गमनन्ययोग्यम् | 60 | 57 | c | मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि | 31 | 12 | d |
| मत्सन्देशहरो द्विजः | 53 | 23 | f | मनसो वृत्तयो नः स्युः | 47 | 66 | a |
| मत्सन्देशैर्विमोचय | 46 | 3 | d | मनस्विनां हर्षकरीः परस्परम् | 50 | 28 | b |
| मत्स्योऽग्रसीत्तदुदरात् | 55 | 13 | c | मनस्वी सहसोत्थाय | 44 | 35 | c |
| मत्स्योदर निवेशनम् | 55 | 6 | f | मनः क्षिपन्तौ प्रभया निरीक्षताम् | 43 | 19 | d |
| मदच्युद्भिर्गजानीकैः | 53 | 15 | a | मनः श्रवणमङ्गलम् | 34 | 23 | b |
| मदनुध्यानकाम्यया | 47 | 34 | d | मनांसि तासामरविन्दलोचनः | 41 | 27 | a |
| मदबिन्दुभिरङ्कितः | 43 | 15 | d | मनुष्यचेष्टामापन्नौ | 52 | 7 | c |
| मदर्थे तान्बिभर्म्यहम् | 46 | 4 | f | मनुष्यासु दिवौकसाम् | 36 | 44 | b |
| मदर्थे त्यक्तदैहिकाः | 46 | 4 | b | मनोदत्ता महामतिः | 45 | 28 | b |
| मदविघूर्णितलोचन ईषत् | 35 | 24 | a | मनोनयननन्दिनीम् | 58 | 29 | d |
| मद्भावितं भोजपते रतिप्रियम् | 42 | 3 | c | मनो बुद्ध्या समादधे | 54 | 50 | d |
| मद्वीर्यं न वृथा भवेत् | 36 | 45 | d | मनोऽभ्येति नवं नवम् | 60 | 48 | b |
| मधुकैटभमृत्यवे | 40 | 18 | d | मनो याति तदात्मताम् | 46 | 22 | d |
| मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः | 47 | 12 | a | मनोरथान्करोत्युच्चैः | 36 | 70 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः | 32 | 14 | b | मयोदितं यदन्वात्थ | 60 | 49 | c |
| मनोरमालापविहारविभ्रमैः | 30 | 2 | b | मय्यकामाय भामिनि | 60 | 50 | b |
| मन्त्रिणश्च विसृज्य सः | 36 | 71 | b | मय्यावेशितमानसः | 51 | 62 | b |
| मन्द मन्दमनुगर्जति मेघः | 35 | 13 | b | मय्यावेश्य मनः कृत्स्नम् | 47 | 36 | a |
| मन्दमारुतवीजिते | 36 | 30 | d | मय्येव कृतसौहृदाः | 36 | 67 | d |
| मन्दवायु रणुवात्यनुकूलम् | 35 | 21 | a | मकेटाटोपसुन्दरे | 36 | 32 | b |
| मन्यमानामविश्लेषात् | 60 | 21 | c | मर्त्यधर्मै र्न युज्यते | 50 | 55 | d |
| मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् | 33 | 38 | c | मर्त्यः प्राप्य यथाऽमृतम् | 49 | 26 | d |
| मन्यमानोऽभिनन्द्य च | 43 | 36 | d | मर्त्यात्मबुद्धेः सुतदार कोशभूषु | 51 | 48 | c |
| मन्ये कृष्णञ्च रामञ्च | 46 | 23 | a | मर्त्या सदोरुभयमर्थविविक्तदृष्टिः | 60 | 42 | d |
| मन्ये त्वां देवदेवानाम् | 51 | 30 | a | मल्लक्रीडा महोत्सवम् | 42 | 32 | d |
| मन्ये त्वां पतिमिच्छन्तीम् | 58 | 19 | c | मल्लतालोत्तरेषु च | 43 | 36 | b |
| मन्ये ममाऽनुगृह ईशते कृतः | 51 | 55 | a | मल्लदुन्दुभिनिर्घोषम् | 43 | 1 | c |
| मन्वानास्वात्मनोचितम् | 57 | 46 | d | मल्लरङ्गपरिश्रिताः | 36 | 24 | b |
| मन्वानो बलकेशवौ | 52 | 14 | b | मल्लानन्यांश्च हस्तिनम् | 37 | 16 | b |
| मम गन्धर्व जन्मनः | 36 | 53 | b | मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां | 43 | 17 | a |
| मम द्विषन्ति वामोरु | 60 | 18 | c | स्मरो मूर्तिमान् | | | |
| मम माता यशस्विनी | 36 | 46 | b | मल्लाः स्वलङ्कृता दृप्ताः | 42 | 36 | c |
| ममाऽद्याऽमङ्गलं नष्टम् | 38 | 6 | a | मल्लिकागन्धमत्तालि | 34 | 22 | c |
| ममाऽसावात्मजो नष्टः | 55 | 32 | a | मल्लिकादामभिः धूपैः | 60 | 4 | a |
| ममैतद्दुर्लभं मन्ये | 38 | 4 | a | मल्लिके जातियूथिके | 30 | 8 | b |
| ममैष कालोऽजित निष्फलो गतः | 51 | 48 | a | मल्लौ गजपतिं तथा | 46 | 24 | b |
| ममोद्वाहो निवारितः | 53 | 2 | d | मल्लौ शैलेन्द्रसन्निभौ | 44 | 8 | b |
| मयपुत्रो महामायः | 37 | 29 | a | महत्या सेनया युक्तश्च | 59 | 15 | e |
| मयश्च मोचितो वह्नेः | 58 | 27 | a | महत्या सेनया वृतौ | 58 | 52 | b |
| मया परोक्षं भजता तिरोहितम् | 32 | 22 | c | महदतिक्रमणशङ्कित चेताः | 35 | 13 | a |
| मया विक्रम वार्ष्णेय | 43 | 40 | c | महानजादिर्मन इन्द्रियाणि | 40 | 3 | b |
| मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे | 46 | 5 | a | महानयं बताऽधर्मः | 44 | 7 | a |
| मयि भावोऽनुकीर्तनात् | 29 | 27 | b | महानुभावैः श्रीमद्भिः | 60 | 10 | c |
| मयि भृत्य उपासीने | 45 | 14 | a | महान्मेऽनुग्रहः कृतः | 47 | 27 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| महापुरुष ईश्वरः | 37 | 12 | d | मातरं पितरं वृद्धम् | 45 | 7 | a |
| महापुरुषमीश्वरम् | 40 | 5 | b | मातरं सहृदस्सखीन् | 46 | 18 | b |
| महापुरुष सत्पते | 34 | 16 | b | मातरः पितरः पुत्राः | 29 | 20 | a |
| महाबलौघेन बलीयसाऽऽवृणोत् | 50 | 21 | b | माता मम महाभागा | 36 | 30 | a |
| महामरकतस्थलैः | 50 | 53 | d | माता मम यशस्विनी | 36 | 49 | b |
| महामरकतो यथा | 33 | 7 | d | मातामहन्तूग्रसेनम् | 45 | 12 | c |
| महामात्र त्वया भद्र | 36 | 57 | a | मातृभावमतिक्रम्य | 55 | 11 | c |
| महामात्र निबोधेदम् | 36 | 25 | a | मात्राणि देवा मन इन्द्रियाणि | 59 | 30 | b |
| महामात्रेणैव मुक्तः | 36 | 28 | a | मात्रात्मकत्वान्निरयस्सुसङ्गमः | 60 | 53 | d |
| महामोदः पुरौकसाम् | 54 | 60 | b | माथुरैरुपसङ्गम्य | 50 | 37 | a |
| महार्हमणिभिर्युक्त | 39 | 51 | a | माध्वीर्लोकमलापहाः | 52 | 20 | b |
| महार्होपस्करोपेतम् | 48 | 2 | a | माध्व्या गिरा हृतधियः | 47 | 51 | c |
| महाहयो निर्जरयन् मनोजवः | 37 | 1 | b | मानदः स्वसुहृदां वनमाली | 35 | 24 | b |
| महिष्यौ भरतर्षभ! | 50 | 1 | b | माननीयोऽसि देहिनाम् | 51 | 35 | d |
| महीं महाककुत्कायः | 36 | 1 | c | मानप्राप्तिश्च माधवात् | 30 | 42 | b |
| महेन्द्रः प्राहिणोद्धरेः | 50 | 55 | b | मानयन् मलयजस्पर्शेन | 35 | 21 | b |
| महेन्द्राण्या च सप्रियः | 59 | 38 | d | मानयित्वा च मानदः | 48 | 11 | b |
| महोत्सवः श्रीरमणं गुणास्पदम् | 39 | 25 | c | मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि | 33 | 22 | c |
| मह्यं न नस्यात् फलमञ्जसा दृशः | 38 | 10 | d | मानिनः प्रीतियुक्तेन | 57 | 30 | e |
| मह्यं वस्सौम्य काङ्क्षितम् | 39 | 7 | b | मानिनोऽन्यस्य वा हेतोः | 54 | 41 | c |
| मह्यादयो योनिषु भान्ति नाना | 48 | 21 | b | मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि | 29 | 47 | d |
| मा कृद्ध्वं बन्धुसाध्वसम् | 29 | 20 | d | मानुषं देहमास्थितः | 33 | 37 | b |
| मा खिद्यतं महाभागौ | 46 | 36 | a | मान्धातृतनयो महान् | 51 | 14 | b |
| मागधस्तु न हन्तव्यः | 50 | 8 | c | नाऽऽपुर्मद्वीर्यचिन्तया | 47 | 37 | d |
| मागधः प्रहसन् बली | 52 | 9 | b | मा भूदिति निजां मायाम् | 45 | 1 | c |
| मागधेन समानीतम् | 50 | 7 | c | मा भैष्ट वातवर्षाभ्याम् | 30 | 20 | a |
| मागधोऽप्यद्य वा श्वो वा | 50 | 47 | c | मा भैष्टेति गिराऽऽश्वास्य | 36 | 6 | c |
| मातर्नौ परतन्त्रयोः | 45 | 9 | b | मा भैष्टेत्यभयारावौ | 34 | 28 | a |
| मातस्ते मतिरन्यथा | 55 | 11 | b | मामसौ भजते प्रियः | 30 | 37 | f |
| मातरं पितरञ्चैव | 44 | 50 | a | मामाज्ञापय तं भृत्यम् | 41 | 48 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मा मा वैदर्भ्यसूयेथा | 60 | 29 | a | माल्यैर्मुकुन्दं विकिरन्त ईडिरे | 59 | 22 | d |
| मां प्रपन्नो जनः कश्चित् | 51 | 44 | c | मा वीरभागमभिमर्शतु चैद्य आरात् | 52 | 39 | c |
| मां प्राप्य मानिन्यपवर्गसम्पदम् | 60 | 53 | a | माऽसूयितुं मार्हथ तत्प्रियं प्रियाः | 32 | 22 | d |
| मां भजन्ति सुमध्यमे | 60 | 14 | d | मा स्म भैर्वामलोचने | 54 | 5 | b |
| मामीक्षसे तदु ह नः परमानुकम्पा | 60 | 46 | d | मां वक्ष्यतेऽक्रूर, ततेत्युरुश्रवाः | 38 | 21 | b |
| मामीक्षिता सस्मितमार्द्रया दृशा | 38 | 19 | b | मांसास्थिरक्तकृमिविट् कफपित्तवातम् | 60 | 45 | b |
| मामुपैष्यसि केवलम् | 51 | 64 | d | मित्रविन्दां पितृष्वसुः | 58 | 31 | b |
| मामेव दयितं प्रेष्ठम् | 46 | 4 | c | मिथिलाया उपवने | 57 | 24 | a |
| मायया च निषेवितम् | 39 | 55 | d | मिथिलायां समा विभुः | 57 | 30 | b |
| मायया सृजसे गुणान् | 37 | 13 | b | मिथो भजन्ति ये सख्यः | 32 | 18 | a |
| मयाभिर्मोहनादिभिः | 55 | 14 | d | मिथो मुमुदिरे तस्मिन् | 54 | 58 | c |
| मायावती महामायाम् | 55 | 16 | c | मिथ्याभिशापं प्रमृजन् | 56 | 31 | c |
| मायावत्यै न्यवेदयन् | 55 | 6 | b | मीनः सोऽप्यपरैस्सह | 55 | 4 | b |
| मायावृत्तिभिरीयते | 47 | 31 | d | मुकुन्दचरणाम्बुजम् | 53 | 40 | d |
| मायाशतविदं त्वं च | 55 | 14 | c | मुकुन्दपदभूषिताम् | 46 | 22 | b |
| मायिनः कूटयोधिनः | 54 | 25 | d | मुकुन्दमखिलेश्वरम् | 58 | 2 | b |
| मार्गस्थ्याचतुष्पथम् | 53 | 8 | b | मुकुन्दवक्त्रं सुकपोलमुन्नसम् | 39 | 20 | b |
| मार्गं गोप्योऽविदूरतः | 30 | 41 | b | मुकुन्दवदनाम्बुजम् | 45 | 18 | b |
| मार्गे ग्रामजना राजन् | 41 | 7 | a | मुकुन्दसङ्गान्निमिषार्धदुस्त्यजात् | 39 | 28 | c |
| मार्गेण शिवरूपिणम् | 40 | 9 | b | मुकुन्दस्पर्शनात्सद्यः | 42 | 8 | c |
| मार्जयामास लोकेश | 57 | 45 | a | मुकुन्दोऽनाथसंश्रयः | 58 | 21 | d |
| मार्ष्टुं प्रसेनपदवीम् | 56 | 17 | c | मुकुन्दोऽप्यक्षतबलः | 50 | 36 | a |
| मां राक्षसेन विधिनोद्वह वीर्यशुल्काम् | 52 | 41 | d | मुक्तादामपताकाभिः | 48 | 2 | c |
| मालत्यदर्शि वः कश्चित् | 30 | 8 | a | मुक्तादामविलम्बिना | 60 | 3 | b |
| मालया दयितगन्धतुलस्याः | 35 | 18 | b | मुक्ता हरिद्भिर्वलभीषु वेदिषु | 41 | 21 | d |
| मालाकारस्य जग्मतुः | 41 | 43 | b | मुखञ्च प्रेमसंरम्भ | 60 | 30 | a |
| मालाहत इव द्विपः | 59 | 20 | d | मुखमाताम्रलोचनम् | 44 | 12 | b |
| मालां बिभ्रद्वैजयन्तीम् | 29 | 44 | c | मुखवासैर्गन्धमाल्यैः | 38 | 40 | c |
| मालां विरचितां ददौ | 41 | 49 | d | मुखं मुकुन्दस्य गुडालकावृतम् | 38 | 9 | c |
| माल्यदध्यक्षताङ्कुरैः | 50 | 40 | b | मुखं वीक्ष्यानुगानां च | 42 | 11 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मुखाम्बुजसुधां मुहुः | 45 | 19 | d | मूत्रयन् स्तब्धलोचनः | 36 | 2 | d |
| मुखारविन्दं परिमृष्टकुण्डलम् | 47 | 1 | d | मूर्छितानाऽविदन्नृप | 34 | 24 | b |
| मुखारविन्दं बिभ्राणम् | 51 | 3 | c | मृगयां व्यचरद्वने | 56 | 13 | d |
| मुखेषु तं चापि शरैरताडयत् | 59 | 9 | c | मृगयुरिव कपोन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा | 47 | 17 | a |
| मुचुकुन्द इति ख्यातः | 51 | 14 | c | मृगेन्द्र इव लीलया | 43 | 14 | b |
| मुचुकुन्द इति प्रोक्तः | 51 | 32 | c | मृगेन्द्रो दारविक्रमम् | 51 | 26 | d |
| मुचुकुन्दामथाब्रुवन् | 51 | 16 | b | मृगेन्द्रो दारविक्रमम् | 51 | 26 | d |
| मुचुकुन्दाय धीमते | 51 | 23 | d | मृतकं द्विपमुत्सृज्य | 43 | 15 | a |
| मुचुकुन्दो मुदाऽन्वितः | 51 | 45 | b | मृतपुत्र प्रदानञ्च | 37 | 19 | c |
| मुदा गायन्ति ते यशः | 40 | 17 | d | मृतं पुनरिवागतम् | 56 | 38 | b |
| मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तम् | 35 | 25 | c | मृतिर्ह्यस्य कुहूरिव | 54 | 47 | d |
| मुनिवासनिवासे किम् | 57 | 35 | c | मृते भर्तरि दुःखार्ते | 50 | 1 | c |
| मुनिव्रतमथ त्यक्त्वा | 53 | 50 | a | मृत्युमात्मन आसनात् | 44 | 35 | b |
| मुनीनामपि दुर्लभा | 47 | 25 | d | मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषाम् | 43 | 17 | c |
| मुनेरपि सुदुस्त्यजः | 47 | 5 | d | मृत्युः किल निदर्शितौ | 36 | 23 | b |
| ममुचुः शरवर्षाणि | 54 | 3 | c | मृत्यो र्दौत्य कराणि च | 42 | 27 | d |
| मुमुचेऽस्त्रमयं वर्षम् | 55 | 21 | c | मृदङ्गशङ्खपणवाः | 53 | 41 | e |
| मुरपाशायुतैर्घोरैः | 59 | 3 | c | मृषा किं सलिले तयोः | 39 | 43 | d |
| मुरपाशांस्तथाऽसिना | 59 | 4 | h | मृषा स्वप्नवदुत्थितः | 47 | 32 | d |
| मुरः शयान उत्तस्थौ | 59 | 6 | c | मेघगम्भीरया गिरा | 56 | 30 | d |
| मुराणां नरकस्य च | 37 | 17 | b | मेघगम्भीरया वाचा | 58 | 39 | c |
| मुषित्वा ध्वाङ्क्षचद्भविः | 54 | 25 | b | मेघनादगभीरया | 43 | 3 | d |
| मुष्टिकं प्रति सामर्षम् | 44 | 12 | c | मेघनादगभीरया | 51 | 36 | d |
| मुष्टिकं रोहिणीसुतः | 44 | 1 | d | मेघपुष्पबलाहकैः | 53 | 5 | b |
| मुष्टीकृत्य करावुभौ | 44 | 21 | b | मेघा अद्रिष्वपो यथा | 54 | 3 | d |
| मुष्णन् गस्तिचक्रेण | 56 | 7 | c | मेघाःपरस्याऽस्थि नखानि तेऽद्रयः | 40 | 15 | b |
| मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः | 31 | 17 | d | मेद्रस्तु वृष्टिस्तव वीर्यमिष्यते | 40 | 15 | d |
| मुहुर्ग्लानिमवाप ह | 44 | 20 | d | मेध्यान् पर्वण्युपागते | 58 | 16 | b |
| मुहुर्दैविकभौतिकाः | 57 | 34 | d | मेनिरे विबुधोत्तमौ | 42 | 22 | d |
| मूढस्सत्यधिया विभो | 40 | 25 | d | मेषायितानपोवाह | 37 | 29 | c |
| मूढं द्रविणलोलुपम् | 56 | 42 | d | मेषायिताश्च तत्रैके | 37 | 28 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| मैतद्विधस्याऽकरुणस्य नाम भूत् | 39 | 26 | a |
| मैथिलः प्रीतमानसः | 57 | 29 | b |
| मैवं ममाधमस्याऽपि | 38 | 5 | a |
| मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसम् | 29 | 31 | a |
| मैवास्मान् साध्व्यसूयेथाः | 54 | 38 | a |
| मोघमेते व्यतिक्रान्ताः | 45 | 8 | c |
| मोचयन्व्रजगवां दिनतापम् | 35 | 25 | d |
| मोचयित्वाऽथ बन्धनात् | 44 | 50 | b |
| मोहितस्तव मायया | 40 | 24 | b |
| मोहिता मम मायया | 60 | 52 | d |
| मोहितावङ्कमारोप्य | 45 | 10 | c |
| मोहितास्तस्य मायया | 33 | 38 | b |
| मोहितां दुःखितां सतीम् | 30 | 41 | d |
| म्लेच्छप्रायक्षत्रहन्त्रे | 40 | 23 | c |
| **य** | | | |
| य इदं लीलया विश्वम् | 57 | 19 | a |
| य ईक्षिताहं रहितोऽप्यसत्सतोः | 38 | 11 | a |
| यच्छौचेनाऽनुतृप्यन्ति | 41 | 13 | c |
| यजन्ति ज्ञानविग्रहम् | 40 | 7 | d |
| यजन्ति त्वन्मया स्त्वां वै | 40 | 8 | c |
| यजन्ते विविधै र्यज्ञैः | 40 | 6 | c |
| यत एतद्विमुच्यते | 29 | 16 | d |
| यतवाङ्मातृभि स्सार्धम् | 53 | 41 | a |
| यत स्त्वमागतो दुर्गम् | 52 | 35 | a |
| यत स्स्वकृतभुक् पुमान् | 54 | 38 | d |
| यत्कर्णमूलमरिकर्षण नोपयायात् | 60 | 44 | c |
| यत्कृता मतिरीदृशी | 46 | 30 | d |
| यत्पत्यपत्यसुहृदा मनुवृत्ति रङ्ग | 29 | 32 | a |
| यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ताः | 33 | 35 | a |
| यत्पादपङ्कजरजश्शिरसा बिभर्ति | 58 | 38 | a |
| यत्पादशौचसलिलं त्रिजगत्पुनाति | 48 | 26 | c |
| यत्प्रियं देवदेवस्य | 50 | 56 | a |
| यत्सन्देशो यदर्थं वा | 39 | 9 | a |
| यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु | 31 | 19 | a |
| यन्ह्वहं भवतीनां वै | 47 | 34 | a |
| यत्र क्वापीश्वरेच्छया | 47 | 67 | b |
| यत्र चावस्थितो मर्त्यः | 50 | 55 | c |
| यत्र यत्र स धावति | 34 | 30 | b |
| यत्राद्भुतानि सर्वाणि | 41 | 5 | a |
| यत्राऽधर्मं समुत्तिष्ठेत् | 44 | 9 | c |
| यत्राऽऽस्तेऽभ्यर्चितो मणिः | 56 | 11 | f |
| यथा गा दस्युना ग्रस्ताः | 34 | 27 | c |
| यथा जले सञ्जिहते जलौकसेऽपि | 40 | 16 | c |
| यथा ज्योतिर्यथा नभः | 54 | 44 | d |
| यथाऽऽत्मानं दिवौकसः | 52 | 28 | d |
| यथा दारुमयी योषित् | 54 | 12 | a |
| यथा दूरे चरे प्रेष्ठे | 47 | 35 | a |
| यथादृष्टं यथाश्रुतम् | 43 | 22 | b |
| यथाऽद्रिप्रभवा नद्यः | 40 | 11 | a |
| यथाऽधनो लब्धधने विनष्टे | 32 | 21 | c |
| यथा नटा वुत्तमवेषधारिणौ | 43 | 19 | c |
| यथा बलं यथावित्तं | 53 | 35 | c |
| यथाऽबुधो जलं हित्वा | 40 | 27 | a |
| यथा भूतानि भूतेषु | 47 | 29 | c |
| यथा भ्रमरिका दृष्ट्या | 46 | 41 | a |
| यथा मदच्युद्द्विरदः करेणुभिः | 33 | 25 | d |
| यथाऽऽमयं संववृधे ह्युपेक्षितः | 37 | 7 | d |
| यथा मागधशाल्वादीन् | 52 | 19 | c |
| यथा मारकतश्शैलः | 38 | 33 | c |
| यथारुद्रोऽब्धिजं विषम् | 33 | 31 | d |
| यथाऽर्भक स्स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः | 33 | 17 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यथावदति कल्याणीम् | 49 | 26 | a | यदुदेवगृहोल्लसत् | 50 | 54 | d |
| यथावदुपसङ्गम्य | 49 | 3 | a | यदुदेव मयाऽऽहृताः | 52 | 44 | b |
| यथावद्द्विजसंस्कृतिम् | 45 | 26 | d | यदुपति र्द्विरदराजविहारः | 35 | 25 | a |
| यथावास्तुविनिर्मितम् | 50 | 51 | d | यदुपुर्यां गृहे गृहे | 54 | 54 | b |
| यथावीर्यं यथावयः | 53 | 35 | b | यदुप्रवीरा नलिनीं यथा गजाः | 54 | 35 | d |
| यथा शयान आत्मानम् | 54 | 48 | a | यदुभिः कृष्ण पालितैः | 50 | 42 | d |
| यथा शं सुहृदां भवेत् | 48 | 36 | d | यदुभिः कृष्णपालितैः | 54 | 15 | d |
| यथा हतो भगवता | 59 | 1 | a | यदुभिर्गोवृषैः पुरा | 58 | 53 | d |
| यथा हि भूतेषु चराचरेषु | 48 | 21 | a | यदुभिस्ते पराभवः | 50 | 34 | d |
| यथेक्षुदण्डं मदकर्युरुक्रमः | 42 | 17 | d | यदुराजधानीं मधुरां | 50 | 4 | c |
| यथेतरो गार्हकमेधिकांश्चरन् | 59 | 43 | d | यदुराजाय तत्सर्वम् | 50 | 41 | c |
| यथेन्द्रो वन मम्बुदैः | 47 | 44 | d | यदुराजाय शौरिणा | 56 | 12 | b |
| यथेन्द्रो विष्णु माश्रित्य | 36 | 61 | c | यदुवृष्ण्यन्धकमधु | 45 | 15 | c |
| यथोपजोषं विविशुः | 42 | 34 | c | यदुसदसि विडम्बं यस्य दूत स्त्वमीदृक् | 47 | 12 | d |
| यथोपयेमे भगवान् | 59 | 42 | c | यदूत्तमोत्तमश्लोक | 41 | 16 | c |
| यथोपसङ्गम्य सखीभि रच्युतम् | 48 | 4 | c | यदूनामकरोन्नृपम् | 45 | 12 | d |
| यथोपसाद्य तौ दान्तौ | 45 | 32 | a | यदूनां कुलपांसन | 54 | 24 | d |
| यथोरगं तार्क्ष्यसुतः प्रसह्य | 44 | 36 | d | यदूनां द्वेष्टि यस्सदा | 46 | 17 | d |
| यथोरगं तार्क्ष्यसुतो व्यवस्थितः | 37 | 5 | d | यदूनां सात्त्वतां प्रभो | 50 | 13 | b |
| यदनुचरितलीला कर्णपीयूष विप्रुट् | 47 | 18 | a | यदूनां साऽनुगोऽघकृत् | 47 | 39 | b |
| यदर्चितं ब्रह्मभवादिभि स्सुरैः | 38 | 8 | a | यदृच्छया गतो नन्दम् | 34 | 5 | c |
| यदर्थं प्रेषित स्स्वयम् | 49 | 31 | d | यदैव कृष्ण स्सन्दिष्टः | 58 | 24 | a |
| यदहं लोकगुरुणा | 34 | 14 | c | यदो स्सुबहु विश्रुतः | 43 | 29 | b |
| यदा कालः प्रदक्षिणः | 54 | 16 | d | यद्गीतेनेद मावृतम् | 33 | 9 | d |
| यदा यदा वेदपथः पुराणः | 48 | 24 | b | यद्गोद्रुमद्विजमृगाः पुलकान्यबिभ्रन् | 29 | 40 | d |
| यदाह व स्समागत्य | 46 | 35 | c | यद्गोपिकानां कुचकुङ्कुमाङ्कितम् | 38 | 8 | d |
| यदि जीवति कुत्रचित् | 55 | 32 | d | यद्वक्ष्याम्यद्यकेशवम् | 38 | 3 | d |
| यदि मुक्तौ तदा मल्लैः | 36 | 64 | c | यद्द्वेषात्त्याजितः श्रिया | 57 | 17 | b |
| यदीमे निगृहीताः स्युः | 58 | 44 | a | यद्धेतो र्बन्धनं तयोः | 39 | 6 | d |
| यदुक्तं नारदेनाऽस्य | 39 | 9 | c | यद्धेतोः पुत्रमरणम् | 39 | 6 | c |
| यदुचक्रद्रुहं हत्वा | 41 | 17 | c | यद्बाधसे गुहाध्वान्तं | 51 | 30 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यद्यदायुध माधत्त | 54 | 29 | c | यर्ह्यस्य वृद्धय उपात्तरजोऽतिमात्रः | 60 | 46 | c |
| यद्यद्भगवता दत्तम् | 50 | 57 | c | यवनं घातयामहे | 50 | 49 | d |
| यद्यप्यन्यधियः प्रभो | 40 | 10 | d | यवनः प्रत्यदृश्यत | 50 | 44 | d |
| यद्यागत्य हरेत्कृष्णः | 53 | 18 | c | यवने भस्मतां नीते | 51 | 23 | a |
| यद्यागन्ता जरासुतः | 50 | 48 | b | यवनेशोऽद्रिकन्दरम् | 51 | 7 | d |
| यद्वाक्यैश्चाल्यमानायाः | 60 | 51 | c | यवनोऽयं निरुन्धेऽस्मान् | 50 | 47 | a |
| यद्वाञ्छया नृपशिखामणयोऽङ्ग वैन्य | 60 | 41 | a | यशस्विनस्तत्कृतहृच्छयार्दिताः | 53 | 52 | f |
| यद्वाञ्छयासुमतयो विसृजन्ति कृत्स्नम् | 60 | 38 | b | यशोदायास्सुतां कन्याम् | 36 | 17 | a |
| यद्वा विहारे व्रजयोषितां श्रमम् | 38 | 17 | c | यशोदा वर्ण्यमानानि | 46 | 28 | a |
| यद्वै भवान्न भवतस्सदृशी विभूम्नः | 60 | 34 | b | यशोदां नन्दमेव च | 47 | 64 | b |
| यन्नमस्ये भगवतः | 38 | 6 | c | यशो वितन्वन्व्रज आस्त ईश्वरः | 38 | 13 | c |
| यन्नर्मै र्नीयते यामः | 60 | 31 | c | यस्तयो रात्मजः कल्यः | 45 | 6 | a |
| यन्नाभिजाता दरविन्दकोशात् | 40 | 2 | c | यस्त्वं प्रदर्श्य सितकुन्तलावृतम् | 39 | 20 | a |
| यन्नाम गृह्णन्नखिलान् | 34 | 17 | a | यस्त्वेतद्भगवत ईश्वरस्य विष्णोः | 57 | 50 | a |
| यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये | 29 | 34 | b | यस्त्वेतल्लीलया विश्वम् | 60 | 2 | a |
| यन्नो दृष्टः कुमेधसाम् | 58 | 11 | d | यस्मादलौकिकमिवेहितमीश्वरस्य | 60 | 36 | c |
| यन्नो विहाय गोविन्दः | 30 | 28 | c | यस्मिञ्जनः प्राणवियोगकाले | 46 | 32 | a |
| यन्मन्यसे सदा भद्रम् | 54 | 42 | c | यस्मिन् दुर्योधनस्यासीत् | 58 | 27 | c |
| यमस्य दयितां पुरीम् | 45 | 42 | b | यस्मै बलिं बलिभुजोऽपि हरन्त्यजाद्याः | 60 | 37 | b |
| य मादायाऽऽगतो भद्राः | 47 | 28 | c | यस्य निर्हृद्धितेनाऽङ्ग | 36 | 3 | a |
| यमाभ्याञ्चाभिवन्दितः | 58 | 4 | d | यस्य हेषितसन्त्रस्ताः | 37 | 15 | c |
| यमुनानिललीलैजत् | 29 | 21 | c | यस्याखिलामीवहभिस्सुमङ्गलैः | 38 | 12 | a |
| ययाच आनम्य किरीटकोटिभिः | 59 | 41 | a | यस्याऽङ्घ्रिपङ्कजरजस्स्नपनं महान्तः | 52 | 43 | a |
| ययातिशापा द्यदुभिः | 45 | 13 | c | यस्यानुरागललितस्मितवल्गुमन्त्र | 39 | 29 | a |
| ययुः स्वं स्वं पुरं नृपाः | 54 | 17 | d | यस्यां बर्हिर्नववधू गिरिजा मुपेयात् | 52 | 42 | d |
| ययौ रात्मसमं वित्तम् | 60 | 15 | a | यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयासः | 29 | 37 | c |
| ययौ तद्दर्शनोत्सुकः | 37 | 25 | d | यस्येषदुत्कलित रोषकटाक्षमोक्षैः | 56 | 28 | a |
| यर्ह्यम्बुजाक्ष! तव पादतलं रमायाः | 39 | 36 | a | यस्सप्तहायन श्शैलम् | 57 | 20 | a |
| यर्ह्यम्बुजाक्ष! न लभेय भवत्प्रसादम् | 52 | 43 | c | यस्सर्वदेवपितृभूतनृदेवमूर्तिः | 48 | 26 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यं मन्येरन् नभस्तावत् | 33 | 4 | c | या मा भजन् दुर्जरगेहशृङ्खलां | 32 | 23 | c |
| यं वै मुहुः पितृसरूपनिजेशभावाः | 55 | 40 | a | यामाहुर्लौकिकीं संस्थाम् | 44 | 49 | c |
| यः कंसस्यार्थसाधकः | 46 | 48 | b | यामिनीपति रिवैष दिनान्ते | 35 | 25 | b |
| यः प्रार्थ्यते साधुभिरेकचर्यया | 51 | 55 | c | या यान्नलदमाल्येकः | 42 | 30 | c |
| याच्ञाभङ्ग मतर्कयन् | 56 | 12 | d | या याः स्यु स्साम्परायिकाः | 57 | 32 | d |
| याज्ञसेन्याः स्वयंवरम् | 57 | 11 | b | या लीलया धृततनो रनु रूप रूपा | 60 | 9 | b |
| यात यूयं व्रजं तात! | 45 | 23 | a | यावती र्गोपयोषितः | 33 | 20 | b |
| यातायां नन्दसूनुना | 30 | 27 | b | याव दच्युतदर्शनम् | 58 | 22 | d |
| याताऽऽशु बालिशा मैवम् | 41 | 36 | a | यावदर्थविडम्बना | 47 | 6 | b |
| याते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री | 60 | 45 | d | याव दालक्ष्यते केतुः | 39 | 36 | a |
| यात्राच्छलेन हरयेऽर्पयतीं स्वशोभाम् | 53 | 53 | d | यावद्रेणू रथस्य च | 39 | 36 | b |
| यादवानीकयूथपाः | 54 | 2 | b | यावन्त्यहानि नन्दस्य | 47 | 55 | a |
| या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा | 47 | 61 | c | याव न्न मे हतो बाणैः | 54 | 26 | a |
| या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप | 44 | 15 | a | या वै श्रियार्चितमजादिभि राप्तकामैः | 47 | 62 | a |
| यान मास्थाय जह्येतत् | 50 | 14 | a | यासा मित्यर्पितं मनः | 47 | 23 | d |
| यानि कैशोर बाल्ययोः | 47 | 10 | d | यासां हरिकथोद्गीतम् | 47 | 63 | c |
| यानि चान्यानि वीर्याणि | 37 | 21 | a | यास्तद्विरक्ताः शवशोभना मताः | 38 | 12 | d |
| यानि यानीह रूपाणि | 40 | 17 | a | यास्यन्नारुरुहे रथम् | 47 | 64 | d |
| यानि योधैः प्रयुक्तानि | 59 | 17 | a | यास्यन्नाजान मभ्येत्य | 49 | 16 | a |
| यान्ति जानपदाः किल | 39 | 12 | d | यास्यामः श्वो मधुपुरीम् | 39 | 12 | a |
| यान्ति तन्मयतां हि ते | 29 | 15 | d | यास्सम्प्रविष्टस्य मुखं व्रजस्पतेः | 39 | 23 | c |
| यान्तु तत्पदवी मिमे | 36 | 54 | d | या ह्येता वनुपश्यन्ति | 41 | 31 | c |
| यान्तु ब्रह्मेशादयो देवाः | 30 | 29 | c | यां गोपी मनय त्कृष्णः | 30 | 37 | a |
| यान् यान् कामयसे कामान् | 60 | 50 | a | यां बालाः पितृगेहस्थाः | 45 | 4 | c |
| यापयामास कोसलः | 58 | 52 | d | यां वीक्ष्य ते नृपतयस्तदुदारहास | 53 | 53 | a |
| याभ्यां ते पुरुषा हताः | 36 | 17 | f | याः कृष्णरामजन्मर्क्षे | 45 | 28 | a |
| या मया क्रीडता रात्र्याम् | 47 | 37 | a | याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् | 33 | 37 | d |
| यामः कथं व्रज महो करवाम किं वा | 29 | 34 | d | युक्तं रथ मुपानीय | 53 | 5 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| युक्तो मुक्त स्सुहृद्धृतः | 46 | 16 | d |
| युगान्तसूर्यानलरोचिरुल्बणः | 59 | 7 | b |
| युगान्ताशनिभीषणम् | 59 | 6 | b |
| युज्यते हर्षशोकाभ्याम् | 36 | 70 | c |
| युज्यन्तां शकटानि च | 39 | 11 | d |
| युञ्जानानामभक्तानाम् | 51 | 61 | a |
| युधिष्ठिरस्य भीमस्य | 58 | 4 | a |
| युध्यस्व धैर्य मुद्वह | 50 | 19 | b |
| युयुधाते यथाऽन्योन्यम् | 44 | 19 | c |
| युयुधानादिभिर्वृतः | 58 | 1 | d |
| युयुधे मागधो राजा | 50 | 42 | c |
| युयुधे स्वामिनाऽऽत्मनः | 56 | 22 | b |
| युवतीनां त्रिसाहस्रम् | 58 | 50 | c |
| युवयो रेव नैवाऽ यम् | 46 | 42 | a |
| युवयोः करवाम किम् | 45 | 45 | d |
| युवानोऽति बलौजसः | 45 | 19 | b |
| युवां प्रधानपुरुषौ | 48 | 19 | a |
| युवां श्लाघ्यतमौ नूनम् | 46 | 30 | a |
| युष्मत्कथा मृडविरिञ्चि सभासु गीता | 60 | 44 | d |
| यूयं तत्र प्रमाणं हि | 36 | 51 | c |
| ये चाऽन्ये ताननुव्रताः | 36 | 55 | d |
| ये चाऽन्ये विद्विषो मम | 36 | 66 | d |
| ये त्यक्त लोकधर्माश्च | 46 | 4 | e |
| येन घोरतर स्ततः | 54 | 40 | d |
| येन त्वमाशिषः सत्याः | 60 | 17 | c |
| येन नीतो मधुपुरीम् | 46 | 48 | c |
| ये नानादेवताभक्ताः | 40 | 10 | c |
| येनाऽहमेतेष्वसुहृत्व मादितः | 36 | 29 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| येनाऽहं मालिनी कृता | 36 | 42 | d |
| येनेन्द्रियार्थान् ध्यायीत | 47 | 32 | a |
| येनैकदेशेऽखिलसर्गसौष्ठवम् | 39 | 21 | c |
| येऽन्ये परार्थभविकायमुनोपकूलाः | 30 | 9 | c |
| ये बलाबलवद्युद्धम् | 44 | 7 | c |
| ये मां भजन्ति दाम्पत्ये | 60 | 52 | a |
| ये हेतवस्ते जगतोऽङ्गभूताः | 40 | 3 | d |
| योगप्रभाव विधुताखिल कर्मबन्धाः | 33 | 35 | b |
| योगमाया मुपाश्रितः | 29 | 1 | d |
| योगस्सांख्ये मनीषिणाम् | 47 | 33 | b |
| योगिध्येयाङ्घ्रिपङ्कजम् | 38 | 6 | d |
| योगीवानन्दनिर्भरा | 32 | 9 | d |
| योगीश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः | 32 | 15 | b |
| योगीश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम् | 47 | 62 | b |
| योगेश जगदीश्वर | 37 | 11 | b |
| योगेश्वराणां दुर्दर्शः | 58 | 11 | c |
| योगेश्वराप्रमेयात्मन् | 54 | 33 | a |
| योगेश्वराय योगाय | 49 | 13 | c |
| योगेश्वरेण कृष्णेन | 33 | 3 | c |
| योगेश्वरेश्वरे कृष्णे | 29 | 16 | c |
| योगेश्वरैरपि दुरापगतिस्सुरेशैः | 48 | 28 | b |
| योग्योऽह मिति मन्वानः | 57 | 46 | a |
| योत्स्यामः संहता स्तेन | 53 | 19 | a |
| योत्स्येनेन निरायुधः | 51 | 5 | d |
| यो दुर्विमर्शपथया निजमाययेदं | 49 | 29 | a |
| योद्धव्यं नाऽनयोऽत्र वै | 43 | 40 | b |
| योधाश्च सर्वे युगपत्प्रविव्यधुः | 59 | 15 | d |
| योन्तर्बहिश्चेतस एतदीहितम् | 38 | 18 | c |
| योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः | 33 | 36 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| यो मे गर्भे धृतोऽर्भकः | 55 | 34 | b |
| योऽवतीर्णो यदोः कुले | 49 | 28 | d |
| योऽऽवधीत्स्वस्वसु स्तोकान् | 38 | 42 | a |
| यो वृणीते मनोग्राह्यम् | 48 | 12 | c |
| यो वै भजन्तमुपयात्यनृतापवर्गः | 60 | 43 | d |
| योऽसावनाश्वास्य सुदुःखितं जनम् | 39 | 26 | c |
| योऽसाविह त्वया ग्रस्तः | 45 | 39 | c |
| योऽस्मभ्यं सम्प्रतिश्रुत्य | 57 | 4 | a |
| योऽह्नः क्षये व्रज मनन्तसखः परीतः | 39 | 30 | a |
| यौ पुष्णीतां स्वपुत्रवत् | 45 | 22 | b |
| यौवनाश्वात्मजः प्रभो! | 51 | 32 | d |
| **र** | | | |
| रक्तकण्ठ्योरतिप्रियः | 33 | 9 | b |
| रक्षश्शिरांसि भुवि पेतुरिषुक्षतानि | 56 | 28 | d |
| रक्षिणां स्वबलस्य च | 42 | 26 | b |
| रङ्गं विविशतू राजन् | 43 | 16 | c |
| रङ्गकारं गदाग्रजः | 41 | 32 | b |
| रङ्गद्वारं समासाद्य | 43 | 2 | a |
| रङ्गद्वार्युपनीयताम् | 36 | 57 | b |
| रजकस्य कराग्रेण | 41 | 37 | c |
| रजकं कञ्चि दायान्तम् | 41 | 32 | a |
| रजनीं तां महाभागाः | 34 | 4 | c |
| रजन्येषा घोररूपा | 29 | 19 | a |
| रजस्तमस्सत्त्वगुणानुबन्धनाः | 51 | 57 | b |
| रजस्तमस्सत्त्वगुणैः स्वशक्तिभिः | 48 | 22 | b |
| रज्जूर्विकर्षद्भुजकङ्कणस्रजः | 46 | 45 | b |
| रतिः कामो भवान् प्रभो! | 55 | 12 | d |
| रतिर्नः कृष्णईश्वरे | 47 | 67 | d |
| रतिर्नाम यशस्विनी | 55 | 7 | b |
| रत्नकूटैर्गृहैर्हैमैः | 50 | 53 | c |
| रत्नदण्डं सखीकरात् | 60 | 7 | b |
| रत्नमुद्रोपशोभिना | 53 | 50 | d |
| रत्नमारोप्य तद्विद्वान् | 58 | 23 | c |
| रथस्संयुज्यता माशु | 53 | 4 | c |
| रथं रामजनार्दनौ | 57 | 23 | b |
| रथं समारोप्य सुपर्णलक्षणम् | 53 | 55 | c |
| रथाङ्गाङ्कितपाणिना | 38 | 36 | b |
| रथाच्छतगुणानश्वान् | 58 | 51 | c |
| रथात्तूर्ण मवप्लुत्य | 38 | 34 | a |
| रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत | 38 | 26 | c |
| रथावुपस्थितौ सद्यः | 50 | 11 | c |
| रथाश्वान् द्रविणं महत् | 59 | 36 | d |
| रथा हताश्व ध्वजसूतनायकाः | 50 | 25 | c |
| रथेन गोकुलं प्राप्तः | 38 | 24 | c |
| रथेन वायुवेगेन | 39 | 38 | c |
| रथेनाऽऽनय मा चिरम् | 36 | 62 | d |
| रथेनाऽनिलरंहसा | 45 | 49 | d |
| रथेनैकेन गोविन्दम् | 54 | 23 | c |
| रथै रनेक साहस्रैः | 59 | 15 | c |
| रथोपस्थे च कोविदाः | 54 | 3 | b |
| रथ्याचत्वरवीथीभिः | 50 | 51 | c |
| रमण! नः स्तनेष्वर्पयाऽऽधिहन् | 31 | 13 | d |
| रमयामास गोकुलम् | 47 | 54 | d |
| रमस्व नोत्सहेत्यक्तुम् | 48 | 10 | c |
| रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम् | 29 | 3 | b |
| रम्भमाणः खरतरम् | 36 | 2 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| रम्भापूगोपशोभिता | 54 | 57 | d |
| रम्भेव वातविहता प्रविकीर्यकेशान् | 60 | 24 | d |
| रहसि संविदं हृच्छयोदयम् | 31 | 17 | a |
| रहसि संविदो या हृदि स्पृशः | 31 | 10 | c |
| रहस्यपृच्छन्नुपविष्ट मासने | 47 | 3 | c |
| रहस्येतदुवाच ह | 37 | 10 | d |
| रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम् | 30 | 30 | d |
| राकेशकरञ्जितम् | 29 | 21 | b |
| राक्षसेन विधानेन | 52 | 18 | c |
| राजतारकुटैः कोष्ठैः | 50 | 53 | a |
| राजतो यस्य हि प्रजाः | 52 | 34 | b |
| राजद्रव्याण्यभीप्सथ | 41 | 35 | d |
| राजनीतिञ्च षड्विधाम् | 45 | 34 | d |
| राजन् दुद्रुवतु द्रुतम् | 52 | 7 | d |
| राजन् मनीषितं सम्यक् | 36 | 69 | a |
| राजन्यचक्रं परिभूय माधवः | 53 | 55 | d |
| राजन्यबन्धोर्निजधर्म वर्तिनः | 58 | 40 | b |
| राजन्यापशदान्मृधे | 53 | 3 | b |
| राजन् राज्ञां प्रपश्यताम् | 58 | 31 | d |
| राजन् विरमतां कृच्छ्रात् | 51 | 16 | c |
| राजन् सन्त्यज्य गोकुलम् | 36 | 5 | b |
| राजन् स्वेनाऽपि देहेन | 49 | 20 | c |
| राजपत्न्यश्च दुहितुः | 58 | 48 | a |
| राजपुत्रि प्रलम्भिता | 60 | 49 | b |
| राजपुत्रीं ददर्श ह | 53 | 28 | d |
| राजपुत्रीप्सिता भूपैः | 60 | 10 | a |
| राजभ्यो ददृशे हरिः | 59 | 33 | d |
| राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रु | 60 | 12 | a |
| राजमञ्च उपाविशत् | 42 | 35 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| राजयोषित आश्वास्य | 44 | 49 | a |
| राजं स्ते तिग्मचक्षुषा | 51 | 42 | d |
| राजाधिदेव्या स्तनयाम् | 58 | 31 | a |
| राजानञ्च युधिष्ठिरम् | 57 | 14 | d |
| राजानश्च कृतासनाः | 42 | 34 | d |
| राजानो राजकन्याश्च | 54 | 59 | c |
| राजानो विमुखा जग्मुः | 54 | 9 | c |
| राजा विधिविदां वरः | 53 | 13 | d |
| राजा स कुण्डिनपतिः | 53 | 7 | a |
| राज्ञाऽऽदिष्टं विजज्ञतुः | 39 | 10 | d |
| राज्ञाममुष्य च कुलस्य यशो वितन्वन् | 48 | 25 | d |
| राजाऽऽसीत् भीष्मको नाम | 52 | 21 | a |
| राज्ञा सोऽभ्यर्थित स्सुखम् | 58 | 12 | b |
| राज्ञाऽऽहूतौ दिदृक्षुणा | 43 | 32 | d |
| राज्ञे चोपायनान्यदात् | 47 | 69 | d |
| राज्ञोऽन्विच्छन्ति पश्यतः | 44 | 7 | d |
| राज्ञो वृत्तविवित्सया | 49 | 4 | b |
| राज्यञ्च हतकण्ठकम् | 51 | 17 | b |
| राज्यश्रियोन्नद्धमदस्य भूपतेः | 51 | 48 | b |
| राज्यस्य भूमे र्वित्तस्य | 54 | 41 | a |
| राज्यं विसृज्य विविशुर्वन मम्बुजाक्षा! | 60 | 41 | c |
| राज्यानुबन्धापगमो यदृच्छया | 51 | 55 | b |
| राज्ये नियोज्य तं वंश्ये | 32 | addl 32&33 | v |
| रामकृष्णाविहार्भकौ | 36 | 37 | b |
| रामकृष्णोरुमानितः | 39 | 1 | b |
| रामकृष्णौ तु तौ मह्यम् | 36 | 23 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| रामकृष्णौ पुरीं नेतुम् | 39 | 13 | c | रुक्मिणी च ययु र्मुदम् | 55 | 38 | d |
| राकृष्णौ विरेजतुः | 41 | 41 | b | रुक्मिणीभयविह्वला | 54 | 32 | b |
| रामकृष्णौ समन्वितौ | 39 | 41 | d | रुक्मिणीं रुचिराननाम् | 52 | 18 | b |
| रामकृष्णौ समर्हणैः | 53 | 32 | d | रुक्मिण्यर्हति नाऽपरा | 53 | 37 | b |
| रामकृष्णौ सहानुगौ | 41 | 50 | b | रुक्मिण्यानकदुन्दुभिः | 56 | 35 | b |
| रामञ्च रोहिणीपुत्रम् | 36 | 17 | c | रुक्मिण्या मधुसूदनः | 53 | 4 | b |
| रामविक्रीडितं परम् | 42 | 26 | d | रुक्मिण्या रमयोपेतम् | 54 | 60 | c |
| रामश्चाद्भुतविक्रमः | 34 | 20 | b | रुक्मिण्या हरणं श्रुत्वा | 54 | 59 | a |
| रामश्चाम्बुरुहेक्षणः | 49 | 9 | d | रुक्मिण्येषां स्वसा सती | 52 | 22 | d |
| रामः कमललोचनः | 43 | 30 | b | रुक्मीचाऽपि तवाऽग्रतः | 60 | 18 | d |
| रामः परमधर्मवित् | 38 | 40 | b | रुक्मी चैद्यममन्यत | 52 | 25 | d |
| रामः प्रहरतां वरः | 44 | 26 | b | रुक्मी तु राक्षसोद्वाहम् | 54 | 18 | a |
| रामाक्रूरौ तथा नृप! | 39 | 38 | b | रुक्म्यग्रजो रुक्मरथः | 52 | 22 | a |
| रामाद्यै र्यदुभिर्वृतः | 53 | 18 | d | रुक्म्यमर्षी सुसंरब्धाः | 54 | 19 | a |
| रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः | 30 | 12 | b | रुदत्यश्च गतह्रियः | 47 | 10 | b |
| रामानुजो मानिनीनाम् | 30 | 6 | c | रुद्धकण्ठाश्रुलोचना | 58 | 8 | b |
| रामेण प्रतिबेधिता | 54 | 50 | b | रुद्राणि गिरिजा सती | 53 | 25 | d |
| रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम् | 46 | 31 | b | रुरुदुः सुस्वरं राजन् | 32 | 1 | c |
| रावणान्तकराय च | 40 | 21 | d | रुरोध मधुरामेत्य | 50 | 45 | a |
| रासक्रीडा मनुव्रतैः | 33 | 2 | b | रूपपेशलमाधुर्य | 42 | 4 | a |
| रासोत्सव स्सम्प्रवृत्तः | 33 | 3 | a | रूपयौवनसम्पन्नाम् | 58 | 29 | c |
| रासोत्सवोऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ | 47 | 60 | c | रूपवीर्यगुणश्रियः | 52 | 23 | b |
| रिङ्खयामास काऽप्यङ्की | 30 | 16 | c | रूपशीलगुणाश्रयाम् | 52 | 24 | b |
| रिपवो जिग्युरधुना | 54 | 16 | a | रूपं दधानं श्रियईप्सितास्पदम् | 38 | 14 | c |
| रिपुसैन्यस्य माधवौ | 52 | 7 | b | रूपं दृशां दृशिमता मखिलार्थलाभम् | 52 | 37 | c |
| रुक्मकेशो रुक्ममाली | 52 | 22 | c | रूपं विद्याधरार्चितम् | 34 | 9 | d |
| रुक्मबाहु रनन्तरः | 52 | 22 | b | रूपौदार्यगुणान्विताम् | 56 | 45 | d |
| रुक्ममालाः स्वलङ्कृताः | 45 | 27 | b | रूपौदार्यबलोर्जितैः | 60 | 10 | d |
| रुक्मिणं हन्तुमुद्यतः | 54 | 31 | d | रेजेऽङ्गुलीयवलयव्यजनाग्रहस्ता | 60 | 8 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| रेमिरेऽहस्सुतचित्ताः | 35 | 26 | c |
| रेमे क्वणच्चरणनूपुरासगोष्ठ्याम् | 47 | 43 | c |
| रेमे तया चाऽऽत्मरतः | 30 | 36 | a |
| रेमे तेन समं वने | 36 | 36 | d |
| रेमेऽनुलेपार्पणपुण्यलेशया | 48 | 7 | d |
| रेमे यदूना मृषभः | 58 | 55 | c |
| रेमे रमाभिर्निजधाम सम्प्लुतः | 59 | 43 | c |
| रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिः | 33 | 17 | c |
| रेमे सभगवांस्ताभिः | 33 | 20 | c |
| रेमे स्वयं स्वरति रत्र गजेन्द्रलीलः | 33 | 24 | d |
| रैवतो रेवतीं सुताम् | 52 | 15 | b |
| रोचते शुभदर्शन | 34 | 11 | b |
| रोद्धुं प्रमाथिभिश्चाक्षैः | 40 | 28 | c |
| रोमाणि वृक्षौषधयः शिरोरुहाः | 40 | 15 | a |
| रौक्मिणेयो महारथः | 55 | 22 | b |
| रौप्यश्च कनकाचितः | 38 | 33 | d |

## ल

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| लक्षणैर्नारदप्रोक्तैः | 51 | 5 | a |
| लक्षितोऽमित्रशासनः | 51 | 34 | d |
| लक्ष्मणां लक्षणै र्युताम् | 58 | 57 | b |
| लक्ष्म्यालयन्त्वविगणय्य गुणालयस्य | 60 | 42 | c |
| लक्ष्यन्ते हि ध्वजाम्भोज | 30 | 25 | c |
| लघिम्नोत्पत्य तरसा | 44 | 34 | c |
| लप्स्यते परिरक्षितः | 43 | 29 | d |
| लब्धमाना महात्मनः | 29 | 47 | b |
| लब्धाशिषां य उदगा द्व्रजवल्लवीनाम् | 47 | 60 | d |
| लब्ध्वा गृहं ते स्वःपालम् | 51 | 16 | a |
| लब्ध्वाङ्गसङ्गं प्रणतं कृताञ्जलिम् | 38 | 21 | a |
| लब्ध्वा जनो दुर्लभमत्रमानुषम् | 51 | 47 | a |
| लब्ध्वा तदन्तरं राजन् | 57 | 3 | a |
| लब्ध्वाऽपि वक्षसिपदं किलभृत्यजुष्टम् | 29 | 37 | b |
| ललनाशतसङ्कुलम् | 55 | 26 | b |
| ललितामिति तन्मनाः | 30 | 19 | d |
| लवणापूपताम्बूल | 53 | 48 | c |
| लावण्यधाम्नो भवितोपलम्भनम् | 38 | 10 | c |
| लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम् | 44 | 14 | b |
| लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्याः | 29 | 7 | a |
| लिहन्त इव जिह्वया | 43 | 21 | b |
| लीलयाऽयं ह्याकृतिः | 37 | 15 | b |
| लीलयेभो हतो येन | 43 | 39 | c |
| लीलागृहीतदेहेन | 52 | 36 | c |
| लीलातनूः स्वकृतसेतु परीप्सयाऽधः | 58 | 38 | c |
| लीलापाङ्गनिरीक्षणम् | 46 | 21 | b |
| लीला भगवत स्तास्ता हि | 30 | 14 | c |
| लीलामनुष्य हे विष्णो | 45 | 45 | c |
| लीलावलोकपरिरम्भण रासगोष्ठ्याम् | 39 | 29 | b |
| लेख्यानीवोपलक्षिताः | 39 | 36 | d |
| लेभिरे परमानन्दम् | 58 | 48 | c |
| लेभे मनोरथान् सर्वान् | 39 | 1 | c |
| लोकपालविभूतिभिः | 60 | 10 | b |
| लोकपालो निजोदयान् | 50 | 56 | d |
| लोकपालोऽपराऽपि वा | 51 | 29 | d |
| लोकाः सपाला बहुजीवसङ्कुलाः | 40 | 16 | b |
| लोकेप्सुभि रपातकी | 29 | 25 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **व** | | | |
| वक्ता कर्ताभिरक्षिता | 33 | 28 | b |
| वक्त्रोल्लसत्स्मितसुधां हरि राबभाषे | 60 | 9 | d |
| वक्त्रश्रियो वलयनूपुरघोषवाद्यैः | 33 | 16 | b |
| वक्षःश्रियैकरमणञ्च भवाम दास्यः | 29 | 39 | d |
| वच स्ते मधुसूदन | 60 | 47 | b |
| वचोभि रमलात्मभिः | 39 | 54 | d |
| वचो मम महामते | 36 | 25 | b |
| वज्रनिष्पेषनिष्ठुरम् | 55 | 19 | d |
| वज्रनिष्पेषनिष्ठुरैः | 44 | 20 | b |
| वज्रनिष्पेषपरुषैः | 56 | 24 | c |
| वज्रः प्रतिहतो यतः | 59 | 20 | b |
| वज्राङ्कुशलतादिभिः | 30 | 25 | d |
| वत्सको धेनुकादयः | 43 | 30 | d |
| वत्सपाला स्तथा स्फुटम् | 43 | 34 | b |
| वत्सलो व्रजगवां यदगध्रः | 35 | 22 | a |
| वत्सायितां गृहीत्वाऽन्या | 30 | 17 | c |
| वदनाम्बुरुहो बभौ | 43 | 15 | f |
| वदन्ति वासुदेवेति | 51 | 41 | c |
| वदन्ति स्म पुरौकसः | 53 | 39 | b |
| वदन्त्यनेन वंशोऽयम् | 43 | 29 | a |
| वधं निशम्य गोविन्द | 42 | 26 | c |
| वध्वा रक्षां द्विजोत्तमाः | 53 | 12 | b |
| वध्वाः पदै स्सुपृक्तानि | 30 | 26 | c |
| वनचरोगिरितटेषु चरन्तीः | 35 | 8 | c |
| वनञ्च तत्कोमलगोभि रञ्चितम् | 29 | 3 | c |
| वनमाल्यातिसुन्दरः | 51 | 4 | d |
| वनरजस्वलं दर्शयन्मुहुः | 31 | 12 | c |
| वनरुहाननं बिभ्रदावृतम् | 31 | 12 | b |
| वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुम् | 35 | 9 | a |
| वनं विविक्षद्भिरखण्डभूमिपैः | 51 | 55 | d |
| वनं विविक्षु स्तपसे | 50 | 33 | c |
| वनिताशतयूथपः | 29 | 44 | b |
| वनेषु मल्लयुद्धेन | 43 | 34 | c |
| वनेऽस्मिन्व्रज आस्थिताः | 47 | 37 | b |
| वन्दिन स्तमुपदेवगणा ये | 35 | 21 | c |
| वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणाम् | 47 | 63 | a |
| वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः | 35 | 22 | b |
| वपनं श्मश्रुकेशानाम् | 54 | 37 | c |
| वयञ्च करवाम हे | 43 | 35 | b |
| वयञ्च फलभागिनः | 56 | 46 | d |
| वयञ्च स्नेहदुःखितान् | 45 | 23 | b |
| वयञ्चाऽपि वने चराः | 43 | 37 | b |
| वयन्तु पुरुषव्याघ्र | 51 | 32 | a |
| वयन्तु रक्ष्याः पोष्याश्च | 48 | 30 | c |
| वय न्त्विहाऽवमुच्याऽथ | 41 | 10 | c |
| वय मृक्षपते बिलम् | 56 | 31 | b |
| वय मृतमिव जिह्मव्याहृतं श्रद्दधानाः | 47 | 19 | a |
| वयन्ते सगृहप्रजाः | 44 | 45 | d |
| वयं हि गन्धर्वकुलोद्भवाः प्रिये | 36 | 38 | c |
| वरदनिघ्नतो नेह किं वधः | 31 | 2 | d |
| वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्गः | 47 | 20 | b |
| वरयोश्चित्रवाससोः | 54 | 55 | d |
| वरं विलोक्याभिमतं समागतम् | 58 | 36 | a |
| वरं वृणीष्वभद्रन्ते | 51 | 20 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| वरान्वृणीष्व राजर्षे | 51 | 44 | a |
| वरासनस्थः समराजवन्दितः | 51 | 52 | b |
| वरिष्ठां सर्वयोषिताम् | 30 | 37 | d |
| वरूथिनी दैत्यपतेः सुघोरान् | 59 | 15 | c |
| वरैः प्रलोभितस्याऽपि | 51 | 59 | c |
| वरो भवानभिमतः | 58 | 44 | c |
| वर्णयामास माधवः | 39 | 8 | b |
| वर्तते नातिकृच्छ्रेण | 52 | 30 | c |
| वर्तन्ते रुक्मवेदयः | 57 | 43 | d |
| वर्तमान स्सम स्स्वेषु | 49 | 18 | c |
| वर्तसे कामिनी यथा | 55 | 11 | d |
| वर्त्माऽऽदिशत् क्षुभितनक्र तिमिङ्गिलोऽब्धिः | 56 | 28 | b |
| वर्त्माऽस्फुटं नृपशुभिर्ननु दुर्विभाव्यम् | 60 | 36 | b |
| वर्मचाऽभेद्य मस्त्रिभिः | 58 | 26 | d |
| वर्षमारुतात् वैद्युतानलात् | 31 | 3 | b |
| वर्षवाताशनिभ्यश्च | 43 | 27 | c |
| वर्ष्मधुर्यगति रीरितवेणुः | 35 | 16 | d |
| वलभीभिश्च निर्मितम् | 50 | 54 | b |
| वलयानां नूपुराणाम् | 33 | 6 | a |
| वलयालेख्यमूर्तयः | 42 | 14 | d |
| वलिमत्पल्लवोदरम् | 39 | 48 | d |
| वल्गतः शत्रुमभितः | 44 | 11 | a |
| वल्गन्तौ चारुनूपुरौ | 44 | 29 | d |
| वल्गितभ्रुरधरार्पितवेणुम् | 35 | 2 | b |
| वल्गुवाद्यप्रहर्षिताः | 42 | 37 | d |
| वल्लव्यो मे मदात्मिकाः | 46 | 6 | d |
| ववृधे नन्दवेश्मनि | 43 | 24 | d |
| वश्यानां सर्वभूभुजाम् | 50 | 7 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| वसन्त इति शुश्रुम | 48 | 34 | d |
| वसन्त समये रम्ये | 36 | 32 | c |
| वसामि यमुनाजले | 58 | 22 | b |
| वसित्वाऽऽत्मप्रिये वस्त्रे | 41 | 39 | a |
| वसुदेवजिघांसया | 36 | 18 | d |
| वसुदेवपुरोगमान् | 36 | 65 | b |
| वसुदेववधोद्यमम् | 39 | 8 | d |
| वसुदेवसुतं हि माम् | 51 | 41 | d |
| वसुदेवसुतौ वीक्ष्य | 41 | 7 | c |
| वसुदेवस्तु दुर्मेधाः | 44 | 33 | a |
| वसुदेवस्य वेश्मनि | 43 | 23 | d |
| वसुदेवश्च कितवम् | 36 | 52 | c |
| वसुदेवात्मजौ पुरात् | 44 | 32 | b |
| वसुदेवाय रामाय | 47 | 69 | c |
| वसुदेवेन बिभ्यता | 36 | 17 | d |
| वसुदेवोग्रसेनौ च | 36 | 55 | a |
| वसुर्नभस्वानरुणश्च सप्तमः | 59 | 12 | b |
| वस्त्रान्तगूढकुचकुङ्कुमशोणहार | 60 | 8 | c |
| वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादम् | 47 | 12 | c |
| वह्नेस्सर्वभुजो यथा | 33 | 30 | d |
| वाक्यञ्चेद मुवाच ह | 44 | 31 | d |
| वाक्यैः पवित्रार्थपदैः | 50 | 34 | a |
| वाचयामास मङ्गलम् | 53 | 10 | d |
| वाचं दानपते भवान् | 49 | 26 | b |
| वाचः पेशै र्विमोहयन् | 29 | 17 | d |
| वाचोऽभिधायिनी नाम्नाम् | 47 | 66 | c |
| वाचो विमिश्रा गुणकर्मजन्मभिः | 38 | 12 | b |
| वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयञ्च | 47 | 58 | c |
| वाञ्छन्ति ये सम्पद एव तत्पतिम् | 60 | 53 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वाञ्छन्त्युमापति रिवात्मतमोऽपहत्यै | 52 | 43 | b | वासो नौ भवदन्तिके | 45 | 4 | b |
| वाताहत इवाङ्घ्रिपः | 44 | 25 | d | वासोऽलङ्कारकुप्याद्यैः | 45 | 24 | c |
| वाद्यगीतवलिभिः परिबभ्रुः | 35 | 21 | d | वास्तून् समभ्यर्च्य दधी न्यमन्थन् | 46 | 44 | d |
| वाद्यमानेषु तूर्येषु | 42 | 36 | a | वास्तोष्पतीनाञ्च गृहैः | 50 | 54 | a |
| वाद्यमानेषु तूर्येषु | 44 | 29 | c | वाहानारुह्य दंशिताः | 54 | 1 | b |
| वाम ऊरुर्भुजो नेत्रम् | 53 | 27 | c | विकत्थमानः कुमतिः | 54 | 23 | a |
| वामनाय नम स्तुभ्यम् | 40 | 20 | c | विकसत्कुन्दमन्दार | 32 | 12 | c |
| वामबाहुकृतवामकपोलः | 35 | 2 | a | विकीर्यमाणः कुसुमैः | 50 | 36 | e |
| वामः स्फुरति मे भुजः | 55 | 34 | d | विकृष्य मुञ्चञ्छितबाणपूगान् | 50 | 24 | b |
| वायुनोद्यानशालिना | 60 | 5 | b | विक्रमं शार्ङ्गधन्वनः | 59 | 1 | d |
| वारमुख्याः सहस्रशः | 53 | 42 | b | विक्रियानात्मनः क्वचित् | 54 | 47 | b |
| वारयामास गोविन्दः | 50 | 32 | c | विक्रीडयाञ्चति गिरित्ररमार्चिताङ्घ्रिः | 44 | 13 | d |
| वारितः पथि राजभिः | 50 | 33 | d | विक्रीडितं तज्जगदीशयोः परम् | 50 | 29 | d |
| वार्यभाणो नृभिः कृष्णः | 42 | 16 | c | विक्रीडितं तेऽर्भकचेष्टितं यथा | 39 | 19 | d |
| वालव्यजन मादाय | 60 | 7 | a | विक्रीडितं व्रजवधूभि रिदञ्च विष्णोः | 33 | 40 | c |
| वाशितार्थे नियुध्यद्भिः | 46 | 9 | a | विखनसार्थितो विश्वगुप्तये | 31 | 4 | c |
| वाससो व्यचिनोन्मणिम् | 57 | 25 | d | विचकर्षतु रन्योन्यम् | 44 | 2 | c |
| वासः कोशान्विसृज्य वै | 41 | 38 | b | विचकर्ष यथा नागम् | 43 | 8 | c |
| वासः स्रङ्माल्यभूषणैः | 53 | 47 | b | विचरन्ती गृहोद्याने | 36 | 30 | c |
| वासांसि जगृहेऽच्युतः | 41 | 38 | d | विचरस्युरुकण्टके | 51 | 28 | d |
| वासांसि रुचिरणि सः | 53 | 33 | b | विचरस्व महीं कामम् | 51 | 62 | a |
| वासुदेवधियाऽऽर्चयत् | 46 | 14 | d | विचिक्युरुन्मत्तकवद्वनाद्वनम् | 30 | 4 | b |
| वासुदेवाऽखिलाऽऽवास | 37 | 11 | c | विचित्रमाल्याम्बररत्नतोरणैः | 54 | 56 | b |
| वासुदेवानुमोदिताः | 33 | 39 | b | विचित्रवर्णैश्शैलेयैः | 41 | 40 | c |
| वासुदेवाय विष्णवे | 59 | 27 | b | विचित्रवाजै र्निशितै श्शिलीमुखैः | 59 | 16 | b |
| वासुदेवाय सोऽपिताम् | 58 | 23 | b | विचित्रवेषाभरणस्रगम्बरौ | 43 | 19 | b |
| वासुदेवे भगवति | 47 | 23 | c | विचित्रं विश्वकर्मणा | 58 | 24 | d |
| वासुदेवोह्ययमिति | 51 | 4 | a | विचित्रोपवनान्वितम् | 50 | 52 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| विचिन्त्याप्तं द्विजं कश्चित् | 52 | 26 | c |
| विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तः | 29 | 20 | c |
| विजयसख सखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः | 47 | 14 | c |
| विजयो वानरध्वजम् | 58 | 13 | b |
| विजह्रतुर्वने रात्र्याम् | 34 | 20 | c |
| विजह्रु रकुतोभयाः | 37 | 28 | d |
| विज्ञाताखिलचित्तज्ञः | 57 | 39 | c |
| विज्ञातार्थोऽपि भगवान् | 55 | 36 | a |
| विज्ञातार्थोऽपि भगवान् | 57 | 1 | a |
| विज्ञानं शिल्पनैपुणम् | 50 | 51 | b |
| विज्ञापितो विरिञ्चेन | 51 | 40 | c |
| विज्ञाय चिन्तितं तस्याः | 36 | 35 | a |
| विज्ञाय जगदीश्वरौ | 44 | 51 | b |
| विज्ञाय तद्विधास्यामः | 48 | 36 | c |
| विज्ञाय सन्देशहरं रमापतेः | 47 | 3 | d |
| विज्वरै र्मुदितात्मभिः | 50 | 37 | b |
| वितत्योन्निदधेऽम्बरम् | 30 | 20 | d |
| वितथात्ममनोरथः | 54 | 51 | d |
| वितन्वन्परमानन्दम् | 58 | 29 | e |
| वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् | 31 | 14 | d |
| वितरिष्ये सुहृत्प्रियम् | 41 | 17 | d |
| वितानशयनांशनैः | 48 | 2 | d |
| वित्तैस्सन्तर्प्य विश्वदृक् | 45 | 16 | d |
| विदतः पूर्वमेव नः | 57 | 40 | d |
| विदर्भपुर वासिनः | 53 | 36 | b |
| विदर्भयदुकुन्तयः | 54 | 58 | b |
| विदर्भाधिपति र्महान् | 52 | 21 | b |
| विदर्भानगमद्धयैः | 53 | 6 | d |
| विदार्य जठरं तस्य | 45 | 42 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| विदित्वा पुरुषोत्तमः | 45 | 1 | b |
| विदुरश्च महायशाः | 49 | 15 | b |
| विदेशावासकर्शितान् | 45 | 16 | b |
| विद्यते भोजवृष्णीषु | 36 | 60 | d |
| विद्ययाऽविद्यया शक्त्या | 39 | 55 | c |
| विद्यावयो द्रविणधामभिरात्मतुल्यम् | 52 | 38 | b |
| विद्युतेव वलाहकः | 55 | 26 | d |
| विद्युत्सौदामनी यथा | 49 | 27 | d |
| विद्राव्य शार्ङ्गनिनदेन जहर्थ मां त्वम् | 60 | 40 | b |
| विद्रुतेषु च भोजराट् | 44 | 31 | b |
| विद्वानीश्वरयोर्बलम् | 57 | 18 | d |
| विधाय सुहृदां सुखम् | 45 | 23 | d |
| विधास्ये क्षेम मञ्जसा | 30 | 22 | d |
| विधिकरी रिमा वीर मुह्यतीः | 31 | 8 | c |
| विधिज्ञा विप्रयोषितः | 53 | 45 | b |
| विधिना विहितेन ते | 40 | 8 | b |
| विधिवत् सदृशीं प्रभुः | 58 | 47 | d |
| विधिवत् समपूजयत् | 53 | 33 | d |
| विधुनोत्यन्यथा पुमान् | 49 | 28 | b |
| विनङ्क्ष्यत्यधुनैवैतत् | 54 | 5 | c |
| विनाऽच्युताद्वस्त्वितरं न किञ्चित् | 46 | 43 | c |
| विना युवां कोऽन्यतम स्तदर्हति | 42 | 3 | d |
| विनिघ्नतारीन् मुसलेन दुर्मदान् | 50 | 28 | c |
| विनिद्रः प्रत्यपद्यत | 47 | 32 | d |
| विनिर्मिताशेषविशेषकल्पनम् | 37 | 24 | b |
| विन्दन्ते ललिता मुदम् | 45 | 4 | d |
| विन्दानुविन्दा वावन्त्यौ | 58 | 30 | a |
| विपक्षीय नृपोद्यमम् | 53 | 20 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| विपिने गिरिगह्वरे | 51 | 28 | b | विलोक्य बलकेशवौ | 42 | 20 | b |
| विपिनेऽतिबुभुक्षितः | 34 | 5 | b | विलोक्य वीरा मुमुहु स्समागताः | 53 | 52 | e |
| विपरीतमतोऽन्यथा | 43 | 33 | d | विलोक्य वेगरभसम् | 52 | 7 | ac |
| विपर्ययमतिर्ह्यहम् | 40 | 26 | b | विलोक्य सुभृशं प्रीतः | 39 | 56 | a |
| विपर्ययेण चाऽनर्थः | 33 | 33 | c | विलोक्य स्वपरिग्रहम् | 34 | 27 | b |
| विप्रस्त्रियः पतिमतीः | 53 | 48 | a | विलोक्यार्तास्समब्रुवन् | 30 | 26 | d |
| विप्रान् स्वलाभसन्तुष्टान् | 52 | 33 | a | विवत्सा गौरिवाऽऽतुरा | 55 | 15 | d |
| विप्रांश्च विधिवन्नृप | 53 | 10 | b | विविधगोपचरणेषु विदग्धः | 35 | 14 | a |
| विभ्रमैश्चाऽनुभाजितः | 47 | 41 | d | विविधै रच्युतेतरौ | 44 | 19 | b |
| विमानशतसङ्कुलम् | 33 | 4 | d | विवेश गोष्ठं सबलः | 36 | 15 | c |
| विमानेनाचरं दिशः | 34 | 12 | d | विवेश पत्न्या गगनात् | 55 | 26 | c |
| विमुक्ताशेषवृत्तयः | 47 | 36 | b | विवेश यदुनन्दनः | 57 | 28 | d |
| विमुच्य बद्धं करुणः | 54 | 36 | e | विवेश लोकाचरितान्यनुव्रतः | 48 | 5 | d |
| विमुच्यर्णञ्च शेषितम् | 57 | 41 | d | विशङ्कितां कङ्कणभूषिते करे | 48 | 7 | b |
| विमृज्य पाणिना भूयः | 57 | 49 | a | विशन्ति सर्वत स्सिन्धुम् | 40 | 11 | c |
| विमृश्य कर्तुं यच्चाऽत्र | 52 | 44 | c | विशसन्तु पशून्मेध्यान् | 36 | 58 | c |
| विमोहितोऽयं जन ईशमायया | 51 | 46 | a | विशालनेत्रे विकटास्यकोटरः | 37 | 2 | a |
| वियोगश्चासता सति | 54 | 46 | b | विशुद्धविज्ञानघनं स्वसंस्थया | 37 | 23 | a |
| विरचिताभयं वृष्णि धुर्य ते | 31 | 5 | a | विशृङ्खलेन विमला | 36 | 42 | c |
| विरजोऽम्बरभूषितैः | 53 | 9 | b | विशोका अहनी निन्युः | 39 | 37 | c |
| विरहेण महाभागाः | 47 | 27 | c | विश्वस्य सुहृदात्मनः | 58 | 10 | b |
| विरहौत्कठ्यविक्लबाः | 46 | 5 | d | विषजलाप्ययात् व्यालराक्षसात् | 31 | 3 | a |
| विराजिते वितानेन | 60 | 3 | c | विषण्णा भग्नसङ्कल्पाः | 29 | 28 | c |
| विरामायाऽप्यधर्मस्य | 50 | 10 | c | विषमं पुत्रलालसम् | 49 | 16 | b |
| विरुढस्वदेकणिक | 43 | 15 | e | विषयात्मनो यथा ब्रह्म | 38 | 4 | c |
| विलक्षितान्यब्जयवाङ्कुशाद्यैः | 38 | 25 | d | विषयान् फलमेव च | 54 | 48 | b |
| विलसत्पादपङ्कजम् | 39 | 50 | d | विषाणाग्रेण चोद्धरन् | 36 | 2 | d |
| विलेपुः सुस्वरं नार्यः | 44 | 44 | c | विष्णुं पुराणपुरुषम् | 56 | 26 | c |
| विलोक्य कुब्जां युवतीं वराननाम् | 42 | 1 | c | विष्णुं वरेण्यं वरदम् | 58 | 20 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम् | 48 | 12 | b | वीक्ष्य केसरिणा वने | 56 | 18 | b |
| विष्णोः क्षीरोदवासिनः | 50 | 56 | b | वीक्ष्य तस्य मुदं ययुः | 58 | 3 | d |
| विसृजन्त्यो मुहुश्शुचः | 44 | 44 | d | वीक्ष्यतां श्रमवार्याप्तम् | 44 | 11 | c |
| विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारैः | 47 | 16 | a | वीक्ष्यमानञ्च केशवः | 29 | 48 | b |
| विसृज्य पतितं हयम् | 57 | 24 | b | वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे | 29 | 1 | c |
| विसृज्य भुवि कानि चित् | 41 | 39 | d | वीक्ष्यानुरागं परमम् | 46 | 29 | c |
| विसृज्य लज्जां रुरुदुःस्म सुस्वरम् | 39 | 31 | c | वीक्ष्याऽऽयम्याऽत्मनाऽऽत्मानम् | 49 | 25 | c |
| विसृज्य वाण्या माध्व्या ताम् | 42 | 13 | a | वीक्ष्यालकावृतमुखं तवकुण्डलश्री | 29 | 39 | a |
| विसृज्य स्त्रीजनं मूढः | 34 | 29 | c | वीणावेणुमृदङ्गानि | 50 | 38 | c |
| विस्फार्य स्वधनूंषि ते | 54 | 2 | d | वीरगन्धासहान् खलान् | 58 | 33 | d |
| विस्मयं परमं ययुः | 30 | 42 | d | वीरचाणूर मुष्टिक | 36 | 22 | b |
| विस्मर्तुं नैव शक्नुमः | 47 | 50 | d | वीरयूथपयूथपाः | 54 | 15 | b |
| विस्मिता स्तदुपधार्य सलज्जाः | 35 | 3 | b | वीर्यशुल्कादिलक्षणम् | 37 | 18 | b |
| विस्मितो रथ माविशत् | 41 | 2 | d | वीर्याढ्यं वृजिनहरं सुमङ्गलञ्च | 57 | 50 | b |
| विस्मृत्य चैकं युगलेष्वथापराः | 41 | 25 | b | वृकं हरि रिवौजसा | 37 | 31 | d |
| विस्मृत्य प्रागुदात्हृतम् | 57 | 35 | b | वृकाणां हरिणी मिव | 49 | 10 | b |
| विस्रस्तमाल्याभरणाः कुरूद्वह! | 33 | 18 | d | वृक्षषण्ड मुपव्रज्य | 39 | 39 | c |
| विस्रस्तवासः कबर | 42 | 14 | c | वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम् | 31 | 18 | b |
| विस्रस्ताकल्पकेशस्रक् | 44 | 23 | c | वृणीत आर्यो वर मात्मबन्धनम् | 51 | 56 | d |
| विहरणञ्च ते ध्यानमङ्गलम् | 31 | 10 | b | वृणीष्वेति तमूचतुः | 45 | 47 | d |
| विहर्तुं विजनं वनम् | 58 | 14 | b | वृता वयं गुणैर्हीनाः | 60 | 16 | c |
| विहाय गेहान्स्वजनान्सुतान्पतीन् | 39 | 22 | c | वृतो जालेन महता | 55 | 4 | c |
| विहाय वित्तं प्रचुरम् | 52 | 8 | a | वृतो रथेभाश्वपदात्यनीकपैः | 51 | 49 | c |
| विहायान्याः स्त्रियो वने | 30 | 37 | b | वृतो गोपैः कतिपयैः | 43 | 16 | a |
| वीक्षणार्पितमनोभववेगाः | 35 | 17 | b | वृतो वयस्यैर्नरदेववर्त्मना | 41 | 24 | b |
| वीक्षन् कुसुमितद्रुमान् | 47 | 56 | b | वृत्तिं न दद्या त्तं प्रेत्य | 45 | 6 | c |
| वीक्षन्तीनाञ्च विभ्रमम् | 55 | 9 | d | वृथा हत श्शतधनुः | 57 | 26 | c |
| विक्षन्तोऽहरहः प्रीताः | 45 | 18 | a | वृषमयात्मजात् विश्वतो भयात् | 31 | 3 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वृषात्सर्पाच्च रक्षिताः | 46 | 20 | b | वैमनस्यं परित्यज्य | 54 | 50 | c |
| वृषासुर मुपाह्वयत् | 36 | 6 | d | वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानः | 33 | 24 | c |
| वृष्णयः कृष्णतेजसा | 50 | 43 | b | वैरानुबन्धं यदुषु | 39 | 8 | c |
| वृष्णिभिर्जयकाङ्क्षिभिः | 54 | 9 | b | वैरुप्यं सुहृदो वधः | 54 | 37 | d |
| वृष्णिभोजदशार्हकान् | 36 | 65 | d | वैलक्षण्येन योषितः | 55 | 29 | b |
| वृष्णीञ्छ्रुत्वाऽऽत्मसम्मितान् | 50 | 45 | d | वोढा मुदं वीतविशङ्क ऊर्जिताम् | 38 | 19 | d |
| वृष्णीनां परदेवेति विदितो रङ्गं गतस्साग्रजः | 43 | 17 | d | व्यवर्षल्लीलया बद्धान् | 58 | 46 | c |
| वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री | 46 | 1 | a | व्यक्तं भवान्व्रजजनार्तिहरोऽभिजातः | 29 | 41 | a |
| वेणुनाऽऽह्वयति गास्स यदा हि | 35 | 8 | d | व्यक्तिर्भगवतो नृप! | 29 | 14 | b |
| वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः | 35 | 14 | b | व्यचक्षत वनोद्देशे | 30 | 24 | c |
| वेणुवाद्यहृतचेतस आरात् | 35 | 5 | b | व्यचरन्मण्डयन्वनम् | 29 | 44 | d |
| वेणुं क्वणन्तीं क्रीडन्तीम् | 30 | 18 | c | व्यजनेन सखीजनैः | 60 | 1 | d |
| वेणुं क्वणन्स्मितकटाक्षनिरीक्षणेन | 39 | 30 | c | व्यञ्जत्स्तनीं कुन्तलशङ्कितेक्षणाम् | 53 | 51 | d |
| वेणूनां निस्वनेन च | 46 | 10 | d | व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः | 35 | 9 | b |
| वेदयाञ्चक्रतु स्सर्वम् | 50 | 2 | c | व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः | 47 | 31 | b |
| वेदाऽहं रुक्मिणा द्वेषात् | 53 | 2 | c | व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः | 29 | 7 | c |
| वेला मुपव्रज्यतुनिषेदनुः क्षणम् | 45 | 38 | c | व्यपेतविरहज्वराः | 47 | 53 | b |
| वैजयन्त्या च मालया | 51 | 25 | b | व्यमुह्यन् खेचरस्त्रियः | 33 | 19 | b |
| वैदर्भी दुर्मना भृशम् | 52 | 26 | b | व्यरोचताऽधिकं तात! | 32 | 11 | c |
| वैदर्भी परिसान्त्विता | 60 | 32 | b | व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः | 29 | 43 | d |
| वैदर्भी वल्गु भाषिणी | 55 | 30 | b | व्यलपत्तात तातेति | 57 | 7 | c |
| वैदर्भी हृष्टमानसा | 53 | 31 | b | व्यसनात् स्वान्समुद्धर | 50 | 14 | b |
| वैदर्भी भीष्मकसुताम् | 52 | 16 | c | व्यसुः पपाताम्भसि कृत्तशीर्षः | 59 | 11 | a |
| वैदर्भ्यां दवेकीसुतः | 55 | 35 | b | व्यसुः पपातोर्व्युपस्थे | 44 | 25 | c |
| वैदर्भ्याः पाणिमच्युतः | 53 | 38 | d | व्यसृजदकृतचेताः किन्नुसन्धेयमस्मिन् | 47 | 16 | d |
| वैदर्भ्या स्स तु सन्देशम् | 53 | 1 | a | व्यसोरपकृष्य भुजं महाभुजः | 37 | 9 | b |
| वैदर्भ्येत दविज्ञाय | 60 | 16 | a | व्यस्फूर्जयच्छार्ङ्गशरासनोत्तमम् | 50 | 23 | d |
| वैदूर्यवज्रामलनीलविद्रुमैः | 41 | 21 | c | व्याजहार महाराज | 56 | 29 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| व्यादाय केशी तरसाऽपतद्धरिम् | 37 | 6 | b |
| व्युष्टायां निशि कौरव्य! | 42 | 32 | a |
| व्यूढायाश्चाऽपि पुंश्चल्याः | 60 | 48 | a |
| व्यूषतुर्भय वित्रस्तौ | 57 | 33 | c |
| व्योमयानवनितास्सह सिद्धैः | 35 | 3 | a |
| व्योमो गोपालवेषधृत् | 37 | 29 | b |
| व्रजजनार्तिहन् वीर योषिताम् | 31 | 6 | a |
| व्रजतितेन वयं सविलास | 35 | 17 | a |
| व्रजङ्गारिव्रजौकसः | 46 | 47 | b |
| व्रजनाथार्तिनाशन | 47 | 52 | b |
| व्रजन्मार्गे वणिक्पथे | 42 | 13 | b |
| व्रजभुवः शमयन् खुरतोदम् | 35 | 16 | c |
| व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते | 31 | 18 | a |
| व्रजस्याऽनामयं कच्चित् | 29 | 18 | c |
| व्रज स्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः | 29 | 4 | b |
| व्रजस्त्रियः कृष्ण विषक्तमानसाः | 39 | 31 | b |
| व्रजं स नन्दस्य जगाम कम्पयन् | 37 | 2 | d |
| व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद्ध्वनिः | 46 | 46 | b |
| व्रजे गोदोहनङ्गतौ | 38 | 28 | b |
| व्रजेऽवात्सीत्स उद्धवः | 47 | 55 | b |
| व्रजौकसां क्षणप्रायाणि | 47 | 55 | c |
| व्रजौकसो विस्मितचेतस स्ततः | 34 | 19 | b |
| व्रातदीधितिभिर्वृतम् | 39 | 50 | b |
| व्रीडावलोकहृतचेतस उज्झितास्त्राः | 53 | 53 | b |
| व्रीडितो वीरसम्मतः | 50 | 33 | b |
| **श** | | | |
| शकले तान्विजघ्नतुः | 42 | 20 | d |
| शक्त्यृष्टिशूलान्यजिते रुषोल्बणाः | 59 | 13 | b |
| शक्रशर्वपरमेष्ठि पुरोगाः | 35 | 15 | b |
| शङ्कितश्शनकै राजा | 51 | 27 | c |
| शङ्खचक्रगदाधर | 56 | 6 | b |
| शङ्खचक्रगदाधर | 59 | 25 | b |
| शङ्खचक्रगदाधरम् | 39 | 52 | b |
| शङ्खचूड इति ख्यातः | 34 | 25 | c |
| शङ्खचूडं निहत्यैवम् | 34 | 32 | a |
| शङ्खनादेन यन्त्राणि | 59 | 5 | a |
| शङ्खमाध्माय गोविन्दः | 59 | bet. 14&15 | d |
| शङ्खदुन्दुभयो नेदुः | 50 | 38 | a |
| शङ्खनिर्ह्राद माकर्ण्य | 45 | 44 | a |
| शङ्खभेर्यानका नेदुः | 58 | 49 | a |
| शङ्खरूपधरोऽसुरः | 45 | 40 | d |
| शङ्खं दध्मौ विनिर्गत्य | 50 | 16 | c |
| शतधन्वान मारेभे | 57 | 10 | c |
| शतधन्वान मूचतुः | 57 | 3 | b |
| शतधन्वा महामणिम् | 57 | 22 | b |
| शतयोजनगं ययौ | 57 | 22 | d |
| शत्रुं हन्तुं मनश्चक्रे | 44 | 17 | c |
| शनैरुन्मील्य लोचने | 51 | 11 | b |
| शनैरित्याऽभ्यवन्दत | 58 | 5 | d |
| शन्तमेनाङ्गपाणिना | 33 | 21 | d |
| शब्दः खं रोदसी दिशः | 42 | 18 | b |
| शम्बरस्य शिरः कायम् | 55 | 24 | c |
| शम्बराहरणादिकम् | 55 | 36 | d |
| शम्बरेणाहृतो गृहात् | 55 | 12 | b |
| शम्बरो नरको बाणः | 36 | 67 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| शयान मवधील्लोभात् | 57 | 5 | c |
| शयान मुरगोऽग्रसीत् | 34 | 5 | d |
| शयानं ददृशे नरम् | 51 | 9 | d |
| शयानान् वीरशय्यायाम् | 44 | 44 | a |
| शयीथा मुञ्च दारिकाम् | 54 | 26 | b |
| शयेऽस्मिन्विजये कामम् | 51 | 33 | c |
| शरच्चन्द्रांशुसन्दोह | 32 | 13 | a |
| शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्मन् | 51 | 58 | c |
| शरण्यो भक्तवत्सलः | 49 | 9 | b |
| शरदुदाशये साधुजातसत् | 31 | 2 | a |
| शरदोत्फुल्लमल्लिकाः | 29 | 1 | b |
| शरभान् गवयान् खड्गन् | 58 | 15 | c |
| शरान्ववर्षाऽच्युतमूर्ध्नि दुर्जया | 59 | bet. 14 & 15 | d |
| शरैरेकैकशस्त्रिभिः | 59 | 17 | d |
| शलतोशलकादिकान् | 36 | 21 | b |
| शलस्तोसल एव च | 42 | 37 | b |
| शलेतोशलके हते | 44 | 28 | b |
| शशंस रामकृष्णाभ्याम् | 49 | 31 | a |
| शशंसुर्ननृतुः स्त्रियः | 44 | 42 | d |
| शशंसु स्सूर्यशङ्किताः | 56 | 5 | d |
| शस्तै स्सुगन्धैः कुसुमैः | 41 | 49 | c |
| शस्त्रदुर्गाणि सायकैः | 59 | 4 | b |
| शस्त्रास्त्राणि कुरूद्वह | 59 | 17 | b |
| शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः | 30 | 9 | d |
| शापो मेऽनुग्रहायैव | 34 | 14 | a |
| शारदाम्बुरुहेक्षणौ | 38 | 28 | d |
| शारिरा मानसा स्तापाः | 57 | 34 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| शाल्वादींश्चैद्यपक्षगान् | 52 | 17 | b |
| शिञ्जत्कलानूपरधामशोभिना | 53 | 52 | d |
| शिरश्शीर्ष्णोरसोरस्तौ | 44 | 3 | c |
| शिरसाऽऽधत्त या श्शर्वः | 41 | 15 | c |
| शिरसाऽऽस्पृश्य पादयोः | 44 | 50 | d |
| शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् | 31 | 5 | d |
| शिरस्तस्य दुरात्मनः | 34 | 31 | h |
| शिरस्यधास्यन्निजहस्तपङ्कजं | 38 | 16 | b |
| शिरस्यमुष्याखिलकल्मषापहम् | 59 | 31 | d |
| शिरस्याहाऽपरां नृप! | 30 | 21 | b |
| शिरः काया दपाहरत् | 41 | 37 | d |
| शिरः पृथिव्यां पतितं समुज्ज्वलत् | 59 | 22 | b |
| शिरांसि चक्रेण जहार लीलया | 59 | 10 | d |
| शिलया पिदधे द्वारम् | 37 | 30 | c |
| शिलीमुखात्युल्बणवर्षपीडितम् | 50 | 23 | b |
| शिशुपालं समभ्येत्य | 54 | 10 | a |
| शिशुपालाय स्वां कन्याम् | 53 | 7 | c |
| शिशुभिश्चावसीदतीम् | 49 | 11 | d |
| शिशून् बन्धुभि रुत्सृष्टान् | 45 | 22 | c |
| शिष्यो बृहस्पते स्साक्षात् | 46 | 1 | c |
| शीर्षाण्यश्रुविलोचनाः | 44 | 43 | d |
| शुचाऽवशुष्यन्मुखरुद्धकण्ठया | 54 | 34 | b |
| शुचिस्मितां बिम्बफलाधरद्युभिः | 53 | 52 | a |
| शुचिस्मिताः कोऽयमपीच्यदर्शनः | 47 | 2 | a |
| शुद्धभावानुवृत्तिभिः | 45 | 33 | b |
| शुभानि बलकृष्णयोः | 46 | 11 | b |
| शुशुभातेऽनुरञ्जितौ | 42 | 5 | d |
| शुश्रूषता मव्यलीकम् | 51 | 31 | a |
| शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः | 29 | 22 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| शुश्रूषन्त्यः पतीन्काश्चित् | 29 | 6 | c | श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः | 33 | 23 | d |
| शुष्यद्वदनमब्रुवन् | 54 | 10 | d | श्रिय एकान्तवल्लभम् | 33 | 15 | b |
| शूलं भौमोऽच्युतं हन्तुम् | 59 | 21 | a | श्रियश्च परमां लोके | 41 | 42 | c |
| शृङ्गैः श्वेत मिव स्थितम् | 39 | 45 | d | श्रियश्चान्वयवृद्धिनीम् | 41 | 52 | b |
| शृणुध्व मेतद्वचनं मयोदितम् | 36 | 29 | a | श्रियं यशो महत्वञ्च | 43 | 29 | c |
| शृणुष्व गदतो मम | 51 | 40 | b | श्रिया च देव्या मुनिभिस्ससात्वतैः | 38 | 8 | b |
| शृण्वतां सर्वभूभुजाम् | 54 | 19 | b | श्रिया पुष्ट्या गिरा कीर्त्या | 39 | 55 | a |
| शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत् | 46 | 28 | c | श्रिया स्वरूपसम्पत्त्या | 34 | 12 | c |
| शेते मामिह साधुवत् | 51 | 10 | b | श्रियो मात्रां स्वयंवरे | 52 | 16 | d |
| शेते समुद्र उपलम्भनमात्र आत्मा | 60 | 35 | b | श्रियो मानस्य तेजसः | 54 | 41 | b |
| शेते सर्वाङ्गविज्वरः | 52 | 32 | d | श्रीनिकेतै स्तत्पदकैः | 47 | 50 | c |
| शेषाण्यादत्त गोपेभ्यः | 41 | 39 | c | श्रीनिकेतौ बृहद्भुजौ | 38 | 29 | b |
| शेषाश्च जगृहे वधूः | 53 | 49 | d | श्रीपते राप्तकामस्य | 47 | 46 | c |
| शेषां युयुजु राशिषः | 53 | 49 | b | श्रीमदान्धाः क्षिपन्ति हि | 54 | 41 | d |
| शेषाः प्रदुद्रुवु र्मल्लाः | 44 | 28 | c | श्रीमान् धीमान् महोत्साहः | 36 | 45 | e |
| शोकापनोदस्मितलेशसुन्दरम् | 39 | 20 | c | श्रीरब्जज स्सगिरीशस्सहलोकपालैः | 58 | 38 | b |
| शोकापहानि नर्माणि | 39 | 17 | c | श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या | 29 | 37 | a |
| शोकामर्षयुतो नृपः | 50 | 3 | b | श्रीर्वसत्यनपायिनी | 58 | 41 | d |
| शोणायमानद्विज कुन्दकुड्मलम् | 53 | 52 | b | श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत् | 39 | 52 | c |
| शोभयन्तौ महात्मानौ | 38 | 30 | c | श्रीवत्स वक्षसं भ्राजत् | 51 | 2 | a |
| शौरिः सप्तदशाहं वै | 54 | 13 | a | श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत् | 51 | 24 | c |
| श्रद्धयोपाहरद्विभुः | 38 | 39 | d | श्रुतकीर्तेस्सुतां भद्राम् | 58 | 56 | a |
| श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः | 33 | 40 | b | श्रुतज्ञो नित्यनूतनाः | 52 | 20 | d |
| श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि | 31 | 1 | b | श्रुतिप्रत्यक्षगोचरः | 48 | 20 | d |
| श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततम् | 31 | 9 | c | श्रुत्वाऽक्रूरवचः कृष्णः | 39 | 10 | a |
| श्रवणाद्दर्शनाद्ध्यानात् | 29 | 27 | a | श्रुत्वा गुणान्भुवन सुन्दरशृण्वतां ते | 52 | 37 | a |
| श्रान्ताऽधात् स्तनयोश्शिवम् | 33 | 14 | d | श्रुत्वा द्रष्टु मुपेयतुः | 43 | 1 | d |
| श्रान्तानां वदनानि सः | 33 | 21 | b | श्रुत्वा योगीश्वरेश्वरः | 29 | 42 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| श्रुत्वा वाचस्सुपेशलाः | 33 | 1 | b |
| श्रुत्वा शतधनो र्वधम् | 57 | 33 | b |
| श्रुत्वैतद्भगवान् रामः | 53 | 20 | a |
| श्रुत्वैतत् रुरुधु र्भूपाः | 58 | 53 | a |
| श्रूयतां प्रियसन्देशः | 47 | 28 | a |
| श्रेणीसभाभिर्भवनै रुपस्कृताम् | 41 | 21 | b |
| श्रेणीं सम्प्रविशद्भरिः | | | |
| श्रेयस्कामैर्नृभि र्नित्यम् | 48 | 31 | c |
| श्रेयस्ततस्ते नचिराद्भविष्यति | 42 | 2 | d |
| श्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः | 47 | 59 | d |
| श्रेयः कीर्तिमवाप्स्यसि | 49 | 18 | d |
| श्रेयाञ्छ्रेय श्चिकीर्षया | 48 | 33 | b |
| श्रेयोभिर्विविधिभि रन्यैश्च | 47 | 24 | c |
| श्रेयोविन्दन्ति वै प्रजाः | 43 | 33 | b |
| श्रोतृनात्मान मेव च | 34 | 17 | b |
| श्यामां नितम्बार्पितरत्नमेखलाम् | 53 | 51 | c |
| श्यामैककणान् वरुणः | 50 | 56 | c |
| श्येनं यथा दक्षिणसव्यमम्बरे | 44 | 36 | b |
| श्लथद्वलयमल्लिका | 33 | 11 | d |
| श्लाघ्यो बन्धुश्च नित्यदा | 48 | 30 | b |
| श्लिष्यन्त इव बाहुभिः | 43 | 21 | b |
| श्वफल्कतनयोऽध्वनि | 38 | 24 | b |
| श्वफल्कतनयो मणिम् | 57 | 44 | b |
| श्वफल्कायाऽऽगताय वै | 57 | 32 | b |
| श्वासम्लानमुखश्रियः | 39 | 14 | b |
| श्वो भाविनि त्वमजितोद्वहने विदर्भान् | 52 | 41 | a |

## ष

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| षट्सहस्राधिकायुतम् | 59 | 33 | b |
| षड्भिर्विव्याध रुक्मिणम् | 54 | 26 | b |

## स

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| स इक्ष्वाकुकुले जातः | 51 | 14 | a |
| स उत्थाय चिरं सुप्तः | 51 | 11 | a |
| स एव कालेन दुरत्ययेन ते | 51 | 51 | c |
| स एव जातो वैदर्भ्याम् | 55 | 2 | a |
| स एव द्विजसत्तमः | 53 | 28 | b |
| स एव वा भवेन्नूनम् | 55 | 34 | a |
| स एव सर्वं परमात्मभूतः | 46 | 43 | d |
| स कथं धर्मसेतूनाम् | 33 | 28 | a |
| स कार्ष्णी रूढयौवनः | 55 | 9 | b |
| सकिरीटं सकुण्डलम् | 55 | 24 | b |
| सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः | 47 | 3 | b |
| सकुण्डलकिरीटानि | 54 | 7 | c |
| सकुण्डलं चारुकिरीटभूषितम् | 59 | 22 | a |
| सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्माविनष्टाः | 47 | 18 | b |
| सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पायायित्वा | 47 | 13 | a |
| सकृन्निगदमात्रेण | 45 | 35 | c |
| सकोसलपतिः प्रीतः | 58 | 35 | a |
| सख उदेयिवान् सात्त्वतां कुले | 31 | 4 | d |
| सखानः शूरनन्दनः | 46 | 16 | b |
| सखीभिः परिवारिता | 53 | 41 | b |
| सखे दर्शय सन्निधिम् | 30 | 40 | d |
| सख्युरंसे भुजाभोगम् | 36 | 8 | c |
| सगणो विस्मितोऽभवत् | 33 | 19 | d |
| स गत्वा हास्तिनपुरम् | 49 | 1 | a |
| सङ्कर्षणमथाऽब्रवीत् | 50 | 12 | d |
| सङ्कर्षणश्च प्रणतम् | 38 | 37 | a |
| सङ्कर्षणश्च राजेन्द्र | 45 | 20 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सङ्कर्षणसहायवान् | 50 | 46 | b | सत्यभामा च पितरम् | 57 | 7 | a |
| सङ्कर्षणसहायेन | 47 | 49 | c | सत्यभामा पितृधनम् | 57 | 46 | c |
| सङ्कर्षणेनाऽपरिमेयतेजसा | 50 | 28 | d | सत्यमेतत् ब्रवीमि वः | 54 | 20 | d |
| सङ्कर्षणोद्धवाभ्यां वै | 48 | 37 | c | सत्यं भयादिव गुणेभ्य उरु क्रमान्त | 60 | 35 | a |
| सङ्कृद्ध स्तमचक्षाणः | 43 | 7 | a | सत्या बभूवुः पुरमोषितां ध्रुवम् | 39 | 23 | b |
| सङ्गन्तेम्बुरुहेक्षण ! | 48 | 10 | d | सत्राजित मसत्तमः | 57 | 5 | b |
| स च मायां समाश्रित्य | 55 | 21 | a | सत्राजितं शपन्त स्ते | 56 | 36 | a |
| स चर्षणीना मुदगाच्छुचो मृजन् | 29 | 2 | c | सत्राजितं समाहूय | 56 | 39 | a |
| स च शम्बर मभ्येत्य | 55 | 17 | a | सत्राजितः किमकरोत् | 56 | 2 | a |
| स चातिव्रीडितो रत्नम् | 56 | 40 | a | सत्राजितः स्वतनयाम् | 56 | 1 | a |
| स चाऽन्यद्धनुरादाय | 54 | 27 | c | सत्राजितोऽनपत्यत्वात् | 57 | 41 | a |
| स चाऽवतीर्णः किल सात्त्वतान्वये | 38 | 13 | a | सत्राजिन्मणिना ज्वलन् | 56 | 9 | d |
| स चाऽश्वै श्शैब्य सुग्रीव | 53 | 5 | a | सत्राजित्पर्यतप्यत | 56 | 15 | d |
| स चुक्रोशाहिना ग्रस्तः | 34 | 6 | a | सत्राजित्स्वगृहं श्रीमत् | 56 | 10 | a |
| सज्यञ्च कृत्वा निमिषेण पश्यताम् | 42 | 17 | b | सत्राजित् स्वसुतां शुभाम् | 56 | 44 | b |
| सञ्छिद्य तद्वः प्रतियातु साधुना | 32 | 23 | d | स त्वयादृष्टमात्रेण | 51 | 22 | c |
| सञ्छिद्यमानद्विपदेभवाजिनाम् | 50 | 26 | a | स त्वं जगद्गुरुरधोक्षजयाः प्रविष्टः | 48 | 26 | d |
| सञ्जातं वर्ण्यतां तावत् | 39 | 7 | c | सत्वं प्रभोऽद्य वसुदेवगृहेऽवतीर्णः | 48 | 24 | a |
| सञ्जीवयिष्यन्नो गात्रैः | 47 | 44 | c | स त्वं भूभारभूतानाम् | 37 | 14 | a |
| सटावधूताभ्रविमानसङ्कुलं | 37 | 1 | c | स त्वं किमिति मा भूयः | 36 | 43 | a |
| सतत मुरसि सौम्य श्रीर्वधूस्साकमास्ते | 47 | 20 | d | सत्त्वमालम्ब्य सात्त्वतः | 39 | 57 | b |
| स तदप्रिय माकर्ण्य | 50 | 3 | a | सत्त्वं रजस्तम इति | 40 | 12 | a |
| सतंनिशम्याभिमुखो मुखेनस्वम् | 37 | 4 | a | सत्त्वं ररजस्तम इति | 46 | 40 | a |
| स तं बिभ्रन्मणिं कण्ठे | 56 | 4 | a | सत्त्वात्मिकां महाविद्याम् | 55 | 22 | c |
| स तान्नरवरश्रेष्ठान् | 48 | 14 | a | सत्सङ्गमो यर्हि तदेव सद्गतौ | 51 | 54 | c |
| स तावत्तस्य रुष्टस्य | 51 | 12 | a | सदयस्मितवीक्षणम् | 45 | 18 | d |
| स तेन समनुज्ञातः | 58 | 28 | a | सदसन्मिश्रयोनिषु | 46 | 39 | b |
| स तैरप्यभिवादितः | 48 | 15 | b | सदारो हर्षयन् हरिः | 56 | 37 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सदीर्घबाहुर्द्रमिलोऽभ्यभाषत | 36 | 38 | b | स पिता सा च जननी | 45 | 22 | a |
| सद्यस्तेऽच्युत दर्शनात् | 34 | 16 | f | सप्ताहमदधाद्गिरिम् | 46 | 25 | d |
| सद्यस्समुत्थाय हि जातसम्भ्रमा | 48 | 4 | b | सप्ताहमेकहस्तेन | 43 | 27 | a |
| सद्यः पुनाति किं भूयः | 34 | 17 | c | सप्तैते गोवृषा वीर! | 58 | 43 | a |
| सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः | 29 | 11 | d | स प्रसह्य विनिर्गतः | 43 | 7 | d |
| स धावन् क्रीडया भूमौ | 43 | 11 | a | स प्रियाणामभूच्छब्दः | 33 | 6 | c |
| सनन्दा नन्दकादयः | 34 | 4 | d | सबालैः पशुभिर्मन्द | 36 | 7 | a |
| सनाथान्कुर्वधोक्षज | 41 | 12 | b | सभयः शापशङ्कितः | 36 | 43 | d |
| सनाथास्ते कृता वयम् | 58 | 9 | b | स भवान् सुहृदां वैनः | 48 | 33 | a |
| स निजं रूपमास्थाय | 37 | 32 | a | सभाजयामास सदासनादिभिः | 48 | 4 | d |
| स नित्यदोद्विग्नधिया तमीश्वरम् | 44 | 39 | a | सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनम् | 32 | 16 | a |
| सन्तप्तस्तनयोरधात् | 32 | 6 | d | स भाजितान्समाश्वास्य | 45 | 16 | a |
| सन्तस्तच्चरणं यथा | 32 | 4 | d | सभायां राजसन्निधौ | 56 | 39 | b |
| सन्तस्तच्चरणं यथा | 32 | 8 | d | सभार्यः साग्रजः पुरम् | 57 | 10 | b |
| सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशः | 51 | 37 | b | सभार्यो गरुडारूढः | 59 | 2 | g |
| सन्ति ह्येकान्त भक्तायाः | 60 | 50 | c | सभां सख्य उपाहरत् | 58 | 27 | b |
| सन्तुष्टमनस्सदा | 52 | 30 | d | सभीष्मं विदुरं पृथाम् | 49 | 1 | d |
| सन्तुष्टो यर्हि वर्तेत | 52 | 31 | a | सभ्यदोषाननुस्मरन् | 44 | 10 | d |
| सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् | 29 | 31 | b | समग्रबलवाहनाः | 53 | 19 | d |
| सन्देशं भर्तुरादृतः | 46 | 7 | b | समग्रहीद्दुर्विषहोग्रतेजाः | 44 | 36 | c |
| सन्देशाद्यो हरेर्लिङ्ग | 38 | 27 | c | समदुःखसुखोऽकूरः | 49 | 15 | a |
| सन्नद्धैरुद्यतायुधैः | 53 | 41 | d | स मणिः शतधन्वना | 57 | 27 | b |
| सन्निकृष्टेऽक्षिगोचरे | 47 | 35 | d | समनन्दन्प्रजास्सर्वाः | 45 | 50 | a |
| सन्न्यस्योपशमं गताः | 40 | 7 | b | समन्तादग्निमुत्सृजन् | 52 | 11 | d |
| सपदिगृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीनाः | 47 | 18 | c | समपृच्चच्छुचिस्मिता | 53 | 29 | d |
| सपद्यपध्वस्तसमस्त किल्बिषः | 38 | 19 | c | समभ्येत्याभिपूज्यच | 53 | 16 | b |
| स पर्यावर्तमानेन | 43 | 9 | a | समयः सात्वतर्षभ! | 58 | 42 | b |
| स पापः क्षीणजीवितः | 57 | 5 | d | समयेस्सर्वभूतेषु | 41 | 47 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| समर्हणं यत्र विधाय कौशिकः | 38 | 17 | a | सम्पृष्टस्तैस्सुहृद्वार्ताम् | 49 | 3 | c |
| समवेता जगुः कृष्णम् | 30 | 45 | c | सम्प्रक्ष्यते कंसकृतं स्वबन्धुषु | 38 | 23 | d |
| समश्शान्तो भव प्रभो | 49 | 25 | d | सम्प्राप्त परभागेन | 42 | 5 | c |
| समागम्याऽभिवन्द्य च | 57 | 14 | b | सम्भोजनीयापदेशैः | 49 | 22 | c |
| समाजस्य ध्रुवं भवेत् | 44 | 9 | b | सम्भ्रमात्परिधावताम् | 54 | 58 | d |
| समाधाय मनः कृष्णे | 52 | 3 | c | सम्मन्त्र्य पत्न्या स महार्णवे मृतम् | 45 | 37 | c |
| समानस्य समोऽपि वा | 46 | 37 | d | सम्मोहितार्यचरिता न चलेत्त्रिलोक्याम् | 29 | 40 | b |
| समाप्त सर्वार्थममोघवाञ्छितम् | 37 | 23 | b | सम्यक्सम्पादितो वत्सौ | 45 | 48 | a |
| समाप्य तस्मिन्नियमं पुनर्व्रजम् | 34 | 19 | c | स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः | 29 | 4 | d |
| समाश्रिताः सम्मुमुहुः शुचार्दिताः | 50 | 22 | d | स याचितस्सुरगणैः | 51 | 15 | a |
| समाहितस्तत्तपसा | 51 | 63 | c | स याचितो भगवता | 41 | 34 | a |
| समाहूयाऽऽह भोजराट् | 36 | 21 | d | स याचितो मणिं क्वापि | 56 | 12 | a |
| समीक्षते नः स्वकृतातुरा बत | 39 | 22 | b | सरसिजोदर श्रीमुषा दृशा | 31 | 2 | b |
| समीरणाकाश निशेशसूर्यान् | 36 | 41 | b | सरसि सारसहंसविहङ्गाः | 35 | 11 | a |
| समीहतेऽनन्तगुणः स्वलीलया | 50 | 30 | b | सररहस्यं धनुर्वेदम् | 45 | 34 | a |
| स मुक्तो लोकनाथाभ्याम् | 50 | 33 | a | सरामो रथमाविशत् | 39 | 39 | d |
| समुद्रपरिखां नृप! | 52 | 13 | d | सरिच्छैल वनोद्देशान् | 46 | 22 | a |
| समुद्रं शरणं गतान् | 60 | 12 | b | सरिच्छैलवनोद्देशाः | 47 | 49 | a |
| समुद्रान्ता इवापगाः | 47 | 33 | d | सरिद्वनगिरिद्रोणीः | 47 | 56 | a |
| समुद्वोढुं मनो दधे | 52 | 24 | d | सर्प विव्यधुरुल्मुकैः | 34 | 7 | d |
| समूह्य कुटिलालकान् | 43 | 3 | b | सर्पो मां ग्रसते तात! | 34 | 6 | c |
| समेतान् श्रावयन्नृपः | 36 | 28 | d | सर्व एव यजन्ति त्वाम् | 40 | 10 | a |
| समेतास्सङ्कशः प्रोचुः | 39 | 18 | c | सर्वज्ञौ जगदीश्वरौ | 45 | 30 | b |
| समेता स्सर्वयोषितः | 44 | 6 | b | सर्वतः पुष्पितवनम् | 46 | 13 | a |
| समेधमानेन सकृष्णबाहुना | 37 | 8 | a | सर्वतोऽनवमः पितुः | 55 | 2 | d |
| समो न वर्तते नूनम् | 48 | 35 | c | सर्वदेवमयेश्वररम् | 40 | 10 | b |
| सम्पन्ना प्राह केशवम् | 42 | 9 | b | सर्वद्वन्द्वसहः शान्तः | 52 | 4 | c |
| सम्पश्यतां पुरुषभूषणगात्रलक्ष्मीम् | 42 | 24 | c | सर्वप्रत्ययहेतवे | 40 | 30 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सर्वभूतक्षयाय च | 40 | 31 | b | सर्वास्ताः केशवालोक | 32 | 10 | a |
| सर्वभूतमयो नृपः | 43 | 35 | d | सर्वे जातमहोत्सवाः | 56 | 38 | d |
| सर्वभूतसुहृत्तमः | 51 | 64 | b | सर्वेन्द्रियार्था विबुधाश्च सर्वे | 40 | 3 | c |
| सर्वभूताशयालयम् | 45 | 45 | b | सर्वे प्राणपरीप्सवः | 44 | 28 | d |
| सर्वभूतेषु दुर्हृदाम् | 54 | 42 | b | सर्वेषाञ्च देहिनाम् | 33 | 36 | d |
| सर्वमभ्युदयोचितम् | 53 | 14 | d | सर्वेषामपि देहिनाम् | 54 | 44 | b |
| सर्वमायाविनाशिनीम् | 55 | 16 | d | सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा | 46 | 42 | c |
| सर्वमायोपमर्दिनीम् | 55 | 22 | d | सर्वेषामेव भूतानाम् | 44 | 48 | a |
| सर्वलोकेश्वरेश्वर ! | 34 | 16 | d | सर्वैः कामैः समार्हयत् | 53 | 35 | d |
| सर्वविद्या प्रवर्तकौ | 45 | 35 | b | स लब्धसंज्ञः पुनरुत्थितो रुषा | 37 | 6 | a |
| सर्वसत्त्वाशयार्थवित् | 36 | 35 | b | सवत्साः क्षौममालिनीः | 45 | 27 | d |
| सर्वं कथय शोभने | 58 | 19 | d | सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः | 35 | 15 | a |
| सर्वं तत्सत्यमेव हि | 60 | 49 | d | स विदित्वाऽऽत्मनः शत्रुम् | 55 | 3 | c |
| सर्वं तदमरश्रेष्ठौ | 45 | 35 | a | स वीक्ष्य क्षुल्लकान् मर्त्यान् | 52 | 2 | a |
| सर्वं नो ब्रूह्यगुह्यम् | 52 | 35 | c | स वीक्ष्य तावनुप्राप्तौ | 34 | 29 | a |
| सर्वं प्रत्यर्पयामासुः | 50 | 57 | e | सवृन्तरम्भाक्रमुकैस्सकेतुभिः | 41 | 23 | c |
| सर्वं विज्ञाय माधवः | 57 | 48 | b | सवैजयन्त्या वनमालयाऽर्पयत् | 59 | 23 | c |
| सर्वात्मने सर्वधियाञ्च साक्षिणे | 40 | 13 | b | स वै भगवतः श्रीमत् | 34 | 9 | a |
| सर्वात्मन् विश्वभावन | 49 | 11 | b | स वै भगवता तेन | 56 | 22 | a |
| सर्वात्मभावोऽधिकृतः | 47 | 27 | a | सव्यदक्षिणतोऽच्युतः | 43 | 9 | b |
| सर्वात्मा सर्वदर्शनः | 48 | 1 | b | सव्रीडमैक्षद्वक्त्रम् | 54 | 4 | c |
| सर्वाधिव्याधयोऽशुभाः | 56 | 11 | d | सव्रीडलीलोत्स्मित विभ्रमेक्षितैः | 48 | 6 | d |
| सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः | 46 | 21 | d | सव्रीडहासरुचिर | 60 | 33 | c |
| सर्वान्कामान् ददामि ते | 51 | 44 | b | सव्रीडहासोत्तभित भ्रुवेक्षती | 55 | 10 | c |
| सर्वान् ददाति सुहृदां भजतेऽभिकामान् | 48 | 27 | c | सश्मश्रुकेशं प्रवपन् व्यरूपयत् | 54 | 35 | b |
| सर्वान् स्वाज्ञातिसम्बन्धान् | 45 | 15 | a | स श्येनवेग उत्पत्य | 44 | 21 | a |
| सर्वार्थसम्भवो देहः | 45 | 5 | a | स सत्यकामोऽनुरताबलागणः | 33 | 26 | b |
| सर्वाश्शरत्काव्यकथारसाश्रयाः | 33 | 26 | d | स सम्प्राप्य भटैर्गुप्तम् | 59 | 4 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| स सुपर्णः सुधामिव | 58 | 57 | d | संयत्तौ तावतीः कलाः | 45 | 36 | b |
| ससूतौ सपरिच्छदौ | 50 | 11 | d | संयुगाद्विरथो गतः | 57 | 17 | d |
| ससैन्ययान ध्वजवाजिसारथी | 50 | 21 | c | संयुगानि पराजितः | 54 | 13 | b |
| ससैन्ययोः सानुगयोः | 53 | 34 | c | संयुगाय समाह्वयत् | 55 | 17 | b |
| सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम् | 33 | 5 | d | संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः | 39 | 19 | b |
| सस्त्रीरत्नं शुचिस्मिताः | 55 | 29 | d | संरक्षणाय साधूनाम् | 50 | 9 | c |
| सस्मितं कुरुनन्दन | 58 | 39 | d | संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवताऽनुरक्ताः | 29 | 30 | d |
| सस्मितालापवीक्षितम् | 36 | 35 | d | संलक्ष्य राजन्नतिमानुषीं मतिम् | 45 | 37 | b |
| सस्वजाते न शङ्कितौ | 44 | 51 | d | संवाह्य श्रान्तमादृतः | 38 | 39 | b |
| सह गोपैर्व्रजं ययौ | 45 | 25 | d | संविष्टं कशिपौ सुखम् | 46 | 15 | b |
| सह चूडामणिं विभुः | 34 | 31 | d | संशयं छिन्धि सुव्रत | 33 | 29 | d |
| सह त्वाऽलि कुलैर्बिभ्रत् | 30 | 7 | c | संसारचक्रगतये परमेश्वराय | 49 | 29 | d |
| सह पत्न्या मणिग्रीवम् | 56 | 38 | c | संसारयति देहिनम् | 54 | 45 | d |
| सहपुत्रञ्च बाह्लीकम् | 49 | 2 | a | संसिक्त रथ्याऽऽपणणमार्गचत्वराम् | 41 | 22 | c |
| सहबलः स्रगवतंसविलासः | 35 | 12 | a | संस्तभ्य ईषत्कुपिता बभाषिरे | 32 | 16 | d |
| सह मात्रा सुदुःखिताः | 48 | 34 | b | संस्थापनाय धर्मस्य | 33 | 27 | a |
| सहयानः पुरीं गुहम् | 41 | 10 | b | संस्थाप्यो द्वारि रङ्गस्य | 36 | 26 | a |
| सहरामोद्धवः प्रभुः | 48 | 13 | b | संस्पर्शनिनाङ्ककृताङ्गहस्तयोः | 32 | 16 | c |
| सहरामो ययौ कुरून् | 57 | 1 | d | साकं कृष्णेन सन्नद्धः | 58 | 14 | a |
| सहसैव व्रजाङ्गनाः | 30 | 1 | b | साकं सुहृद्भिः भगवान् | 57 | 32 | c |
| सहस्रद्विपसत्त्वभृत् | 43 | 39 | d | साक्षान्मन्मथमन्मथः | 32 | 2 | d |
| सहस्रफणमौलिनम् | 39 | 45 | b | साक्षेपं रुषितः प्राह | 41 | 34 | c |
| सहस्रशिरसं देवम् | 39 | 45 | a | साग्रजस्सह गोपालैः | 41 | 12 | c |
| सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा | 32 | 16 | b | साग्रजस्सात्त्वतर्षभः | 45 | 2 | b |
| स हि जातः स्वसेतूनाम् | 60 | 2 | c | साङ्गोपनिषदो गुरुः | 45 | 33 | d |
| सहोद्धवेन सर्वेशः | 48 | 11 | c | सा च कामस्य वै पत्नी | 55 | 7 | a |
| स ह्यस्याखिलकामधुक् | 52 | 31 | d | सा च मेने तदाऽऽत्मानम् | 30 | 37 | c |
| संयत्तान् रोहिणीसुतः | 44 | 41 | b | सा चानुध्यायतो सम्यक् | 53 | 40 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सा तदर्जुसमानाङ्गी | 42 | 8 | a |
| सा तं पतिं पद्मदलायतेक्षणम् | 55 | 10 | a |
| सा तं प्रहृष्टवदनम् | 53 | 29 | a |
| सा तं विदित्वा रमणेतरं सती नितान्त | 36 | 37 | a |
| सात्यकिप्रमुखैर्वृतः | 58 | 28 | d |
| सात्त्वतां पतये नमः | 40 | 22 | d |
| सात्त्वतां प्रवर प्रभो! | 37 | 11 | d |
| साधव स्साधु साध्विति | 44 | 30 | d |
| साधितार्थोऽगृहाणां नः | 42 | 12 | c |
| साधिदैवञ्च साधवः | 40 | 5 | d |
| साधुलोकभयापह | 40 | 20 | b |
| साधूनामीश शर्मकृत् | 50 | 14 | d |
| साधूनां धर्मशीलानाम् | 46 | 17 | c |
| साधून् भूतसुहृत्तमान् | 52 | 33 | b |
| साध्यात्मं साधिभूतञ्च | 40 | 5 | c |
| साध्व्ये तच्छ्रोतुकामेन | 60 | 49 | a |
| सानङ्गतसकुचयोरुरसस्तथाक्ष्णोः | 48 | 8 | a |
| सानुकम्पा वरूथशः | 44 | 6 | d |
| सानुगः परपक्षगः | 44 | 33 | d |
| सानुगः स्वेन पाप्मना | 46 | 17 | b |
| सानुगेन यदूत्तमौ | 52 | 13 | b |
| सानुगो वामिदं कुलम् | 48 | 18 | b |
| सानुरागस्मितं वक्त्रम् | 58 | 3 | c |
| सानुरागास्मितेक्षणम् | 51 | 26 | b |
| सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः | 35 | 12 | b |
| सान्त्वयन् प्रियसन्देशैः | 47 | 22 | c |
| सान्त्वयस्यमराधम | 36 | 43 | b |
| सान्त्वयामासतुः कुन्तीम् | 49 | 15 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सान्त्वयामास सम्प्रेष्यैः | 39 | 35 | c |
| सान्त्वयामास सान्त्वज्ञः | 60 | 28 | a |
| सान्त्वयिष्यति मां वाक्यैः | 49 | 10 | c |
| सापत्नमध्ये शोचिन्तीम् | 49 | 10 | a |
| सा मज्जनालेपदुकूलभूषण | 48 | 6 | a |
| सायन्तनाशनं कृत्वा | 39 | 3 | a |
| सारथिं प्राह सत्वरः | 54 | 21 | b |
| सारूप्यं शार्ङ्गधन्वनः | 55 | 33 | b |
| सार्वभौम महाराज | 51 | 59 | a |
| सालमण्डलमण्डिते | 36 | 32 | d |
| सालहस्तौ तरस्विनौ | 34 | 28 | b |
| सावज्ञमुत्सृज्य धनुश्शतान्तरे | 37 | 5 | c |
| सावज्ञं वाममुष्टिना | 44 | 26 | d |
| सा वधू रन्वतप्यत | 30 | 39 | d |
| सा वृष्णिपुर्युत्तभितेन्द्रकेतुभिः | 54 | 56 | a |
| सा सूदौदनसाधने | 55 | 8 | b |
| साहसादि गुणोऽगुणः | 36 | 47 | d |
| साहाय्ये कृतवर्माणम् | 57 | 11 | c |
| सिक्तमार्गां मदच्युद्भिः | 54 | 57 | a |
| सिक्तमार्गां हृष्टजनाम् | 50 | 39 | a |
| सिञ्चन्तावश्रुधाराभिः | 45 | 11 | a |
| सिञ्चाऽङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण | 29 | 35 | a |
| सिद्धार्थ एतेन विगृह्यते महान् | 59 | 41 | c |
| सिद्धैर्भुजङ्गपतिभिः | 39 | 44 | c |
| सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूयात् | 36 | 69 | c |
| सिन्धुर्विदित्वाऽर्हणमाहरत्तयोः | 45 | 38 | d |
| सिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः | 31 | 11 | c |
| सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः | 33 | 26 | c |
| सिंहनादं व्यनीनदत् | 59 | bet. 14 & 15 | n |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सिंहस्सिंहमिवौजसा | 50 | 31 | d | सुपर्णतालध्वजचिह्नितौ रथौ | 50 | 22 | a |
| सिंहः क्षुद्रमृगानिव | 58 | 54 | d | सुपुण्यर्त्वक्ष ऊर्जिते | 58 | 29 | b |
| सिंहो यथा स्वबलिमीश पशून् स्वभागम् | 60 | 40 | c | सुप्रतीकं ततोऽपरान् | 59 | 37 | d |
| सीदन्ति तेऽनु पदवीं त इहास्थितः किम् | 60 | 41 | d | सुभ्रून्नसं चारुकर्णम् | 39 | 47 | c |
| सुकपोलं शुचिस्मितम् | 51 | 3 | b | सुमध्यमां कुण्डलमण्डिताननाम् | 53 | 51 | b |
| सुकपोलारुणाधरम् | 39 | 47 | d | सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक् | 47 | 13 | b |
| सुखदुःखप्रदो नान्यः | 54 | 38 | c | सुमनस्स्विव षट्पदैः | 47 | 6 | d |
| सुखं प्रभाला रजनीयमाशिषः | 39 | 23 | a | सुमुखौ सुन्दरवरो | 38 | 29 | c |
| सुखं वसन्ति विषये | 52 | 34 | c | सुमृष्टविरजोऽम्बराः | 59 | 36 | b |
| सुखाय दुःखप्रभवेषु सज्जते | 51 | 46 | c | सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिकाः | 31 | 2 | c |
| सुखोपविष्टः पर्यङ्के | 39 | 1 | a | सुरतवर्धनं शोकनाशनम् | 31 | 14 | a |
| सुता महिष्यो भवतः | 51 | 18 | a | सुरद्रुमलतोद्यान | 50 | 52 | a |
| सुता वानकदुन्दुभेः | 36 | 22 | d | सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रिताऽर्थदः | 38 | 22 | d |
| सुतावाम कदुन्दुभेः | 36 | 26 | d | सुरभ्यनिलषट्पदम् | 32 | 12 | d |
| सुतावानकदुन्दुभेः | 36 | 62 | b | सुराणां महदन्तरं शुभे | 36 | 39 | d |
| सुतावानकदुन्दुभेः | 39 | 42 | b | सुराणां महदर्थाय | 46 | 23 | c |
| सुतां च मद्राधिपतेः | 58 | 57 | a | सुरेशैर्ब्रह्मरुद्राद्यैः | 39 | 53 | c |
| सुदर्शन इति श्रुतः | 34 | 12 | b | सुलभा वयं न च | 36 | 39 | b |
| सुदर्शनो दिवं यातः | 34 | 18 | c | सुवासः स्रगलङ्कृताः | 58 | 49 | d |
| सुदामा प्रीतिमानसः | 41 | 49 | b | सुषुप्तिस्वप्नजाग्रद्भिः | 47 | 31 | c |
| सुदुष्करासौ सुतरां दुराशिषो हि | 60 | 54 | c | सुसम्पद्य विसृज्य च | 59 | 2 | f |
| सुद्विजां रुचिराननाम् | 58 | 18 | b | सुसाधुकृत्यं विबुधायुषाऽपि वः | 32 | 22 | b |
| सुधर्मा पारिजातञ्च | 50 | 55 | a | सुस्नातां सुदतीं कन्याम् | 53 | 11 | a |
| सुधां नयन भाजनैः | 32 | 4 | b | सुस्मितं रुचिराननम् | 55 | 27 | d |
| सुनन्दनन्दप्रमुखैः | 39 | 53 | a | सुहृत्तमं ज्ञातिमनन्यदैवतम् | 38 | 20 | a |
| सुनसं सुस्मितेक्षणम् | 46 | 19 | d | सुहृत्सु वृत्तिं कंसस्य | 39 | 3 | c |
| सुन्दरभ्रुकुटीतटम् | 60 | 30 | d | सुहृदमभ्यवर्षत् सुमनोभिः | 35 | 13 | c |
| सुपर्ण इव लीलया | 43 | 8 | d | सुहृदां भद्रमज्ञवत् | 54 | 42 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सुहृदो ज्ञातयोऽशोचन् | 56 | 35 | c | सैरन्ध्र्याः कामतप्तायाः | 48 | 1 | c |
| सुहृदो जगदात्मनोः | 41 | 47 | b | सैवं कैवल्यनाथं तम् | 48 | 9 | a |
| सुहृद्दुर्हृदुदासीनः | 54 | 43 | c | सैवं भगवता राजन् | 60 | 32 | a |
| सुहृद्भिश्च सुहृत्तम | 41 | 12 | d | सैवं शनैश्चलयती चलपद्मकोशौ | 53 | 54 | a |
| सुहृद्भिश्चानुमोदितः | 58 | 28 | b | सोऽक्रूरस्स्नेहविह्वलः | 38 | 34 | b |
| सुहृद्भिस्समनुज्ञातः | 49 | 30 | c | सोऽक्रूरो विमना इव | 41 | 18 | b |
| सुहृन्मरणदुःखिताः | 44 | 43 | b | सोऽग्निस्तुष्टो धनुः | 58 | 26 | a |
| सूकरान् महिषान् रुरून् | 58 | 15 | b | सोऽधिक्षिप्तो दुर्वचोभिः | 55 | 18 | a |
| सूतमागधवन्दिनः | 53 | 43 | d | सोऽनुध्यायंस्तदेवाघम् | 56 | 41 | a |
| सूतमागधवन्दिभिः | 50 | 37 | d | सोऽपविद्धो भगवता | 36 | 12 | a |
| सूदा महानसं नीत्वा | 55 | 5 | c | सोपश्रुत्य मुकुन्दस्य | 52 | 23 | a |
| सूर्यश्चास्तगिरिं नृप! | 38 | 24 | d | सोपाच्युतं क्वणयती मणिनूपुराभ्याम् | 60 | 5 | a |
| सूर्यस्तुष्टः स्यमन्तकम् | 56 | 3 | d | सोपाध्यायास्समाविशन् | 42 | 36 | d |
| सूर्यस्सोमो महेन्द्रो वा | 51 | 29 | c | सोऽपि कृष्णोद्यमं ज्ञात्वा | 57 | 15 | a |
| सूर्यानलौ वायुरिवाभ्रेरणुभिः | 50 | 21 | d | सोऽपि चक्रे कुमारस्य | 56 | 15 | d |
| सूर्ये चाद्भ्यस्समुत्थिते | 42 | 32 | b | सोऽपि चान्तर्हितं वीक्ष्य | 41 | 2 | a |
| सूर्यो नभो नाभिरथो दिशः श्रुतिः | 40 | 14 | b | सोऽपि दग्धाविति मृषा | 52 | 14 | a |
| सूर्योपरिष्टात् सतटिद्घनं यथा | 59 | 15 | h | सोऽपि नावर्ततेऽ द्यापि | 53 | 23 | e |
| सृगालमध्यादिव भागहृद्धरिः | 53 | 56 | f | सोऽपि प्रविष्टस्तत्राऽन्यम् | 51 | 9 | c |
| सृजत्यत्त्यवतीश्वरः | 60 | 2 | b | सोऽपि भस्मीकृतो नूनम् | 51 | 34 | a |
| सृजत्यवति हन्ति च | 57 | 19 | b | सोऽपि वव्रेऽचलां भक्तिम् | 41 | 51 | a |
| सृजत्यवति हन्त्यजः | 46 | 40 | d | सोऽप्यस्य वक्त्रे भुजमुत्तरं स्मयन् | 37 | 6 | c |
| सृजस्यत्स्यवसीश्वरः | 37 | 13 | d | सोऽप्याह को विरुध्येत | 57 | 18 | c |
| सृजस्यथो लुम्पसि पासि विश्वम् | 48 | 22 | a | सोऽप्येवं कोपितोऽरिष्टः | 36 | 9 | a |
| सृजे हन्म्यनुपालये | 47 | 30 | b | सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः | 33 | 24 | a |
| सृज्यानामपि यच्च सत् | 56 | 27 | b | सोष्णीषाणि च कोटिशः | 54 | 7 | d |
| सृष्ट्वा गुणान्विभजते तदनुप्रविष्टः | 49 | 29 | b | सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापम् | 40 | 29 | a |
| सेतुः कृतः स्वयशोजवलिता च लङ्का | 56 | 28 | c | सोऽहं तवाऽनुग्रहार्थम् | 51 | 43 | a |
| सेतूनां रक्षणाय च | 37 | 14 | d | सौनपाला इवावयः | 38 | 41 | d |
| सैन्येन महता वृतः | 58 | 34 | d | सौवर्णशृङ्गाटकहर्म्यनिष्कुटैः | 41 | 21 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सौहृदश्च सुमध्यमाः | 32 | 19 | d | स्थेयं स्त्रीभिस्सुमध्यमाः | 29 | 19 | d |
| स्कन्ध आरुह्यतामिति | 30 | 39 | b | स्नातौ विरजवाससौ | 38 | 31 | d |
| स्तनौ चोपहतौ शुचा | 60 | 27 | b | स्नानं विधिवदाचरत् | 39 | 40 | d |
| स्तब्धासृग्लोचनोऽच्युतम् | 36 | 10 | b | स्निग्धहासावलोकनम् | 39 | 17 | b |
| स्तुवतस्तस्य भगवान् | 41 | 1 | a | स्निग्धापाङ्गेन भारत! | 60 | 33 | d |
| स्तुवद्भिः कुसुमोत्करैः | 55 | 25 | b | स्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः | 33 | 17 | b |
| स्तूयमानमहीश्वरम् | 39 | 44 | b | स्नेहपाशेन संवृतौ | 45 | 11 | b |
| स्तूयमानस्सुरैर्गोपैः | 37 | 34 | c | स्नेहप्रक्लिन्नहृदयः | 58 | 52 | c |
| स्तूयमानं पृथग्भावैः | 39 | 54 | c | स्नेहस्नुत पयोधराः | 46 | 28 | d |
| स्तूयमानः स्वजातिभिः | 36 | 15 | b | स्नेहस्नुतपयोधराः | 55 | 30 | d |
| स्त्रियमकृतविरूपाम् स्त्रीजितःकामयानाम् | 47 | 17 | b | स्नेहानुबन्धो बन्धूनाम् | 47 | 5 | c |
| स्त्रियं गृहीताङ्गविलेपभाजनाम् | 42 | 1 | b | स्पर्शेन सौगन्धिकगन्ध्यपानुदत् | 38 | 17 | d |
| स्त्रियः पुराद्बालकहर्म्यगोपुरम् | 50 | 22 | c | स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि | 30 | 10 | b |
| स्त्रीजनै र्बद्धसौहृदैः | 34 | 21 | b | स्पृशेन्मलु सभासदः | 43 | 38 | d |
| स्त्रीणाञ्च न तथा चेतः | 47 | 35 | c | स्पृश्यमानः पदे पदे | 43 | 10 | d |
| स्त्रीणामेव रुदन्तीनाम् | 39 | 32 | a | स्पृहयतीर्वयमिवाऽबहुपुण्याः | 35 | 7 | c |
| स्त्रीणां गृहेषु खरगोश्वबिडालभृत्याः | 60 | 44 | b | स्पृहाञ्चक्रे मणौ तस्मिन् | 57 | 48 | a |
| स्त्रीणां चापि दुरात्मताम् | 30 | 36 | d | स्फाटिकाट्टालगोपुरैः | 50 | 52 | d |
| स्त्रीणां विक्रोशमानानाम् | 57 | 6 | a | स्फुरन्मकरकुण्डलम् | 51 | 3 | d |
| स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् | 29 | 32 | b | स्फुरन्मकरकुण्डलम् | 51 | 25 | d |
| स्त्रीरत्नं रत्नमेव च | 56 | 43 | b | स्फुरिताधरमीक्षितुम् | 60 | 30 | b |
| स्त्रीरत्नै रन्वितः प्रीतैः | 33 | 2 | c | स्मयन् कृष्णो धनुश्छित्वा | 54 | 26 | c |
| स्त्रीषु योगेश्वरो हरिः | 44 | 17 | b | स्मयन्ती जातहृच्छया | 42 | 9 | d |
| स्थविरं राज्यकामुकम् | 36 | 66 | b | स्मयन् परिष्वज्य गृहीत मञ्जलौ | 38 | 23 | b |
| स्थातुं त्वयाऽभिरमिता बत पारयामः | 29 | 36 | d | स्मयमान उवाच ह | 57 | 39 | d |
| स्थानाय सत्त्वं जगतो जगत्पते | 59 | 29 | c | स्मयमानमुखाम्बुजः | 32 | 2 | b |
| स्थापितः सत्यभामायाः | 59 | 40 | a | स्मरणीयं न चक्ष्महे | 47 | 5 | b |
| स्थास्नु श्चरिष्णुर्महदल्पकञ्च | 46 | 43 | b | स्मरतां कृष्णवीर्याणि | 46 | 21 | a |
| स्थित्युद्भवान्तं भुवनत्रयस्य यः | 50 | 30 | a | स्मरति स पितृगेहान् सौम्य बन्धूंश्च गोपान् | 47 | 21 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| स्मरन्ती तान् बहून् क्लेशान् | 58 | 8 | c | स्रस्तकेशस्रजं ततः | 34 | 24 | d |
| स्मरन्त्यश्चापराश्शौरेः | 39 | 16 | a | स्रस्तस्रजो भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम् | 33 | 16 | d |
| स्मरन्त्यश्रुकलेक्षणा | 49 | 7 | d | स्रंसद्दुकूलमात्मानम् | 34 | 24 | c |
| स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति | 46 | 5 | c | स्रंसद्दुकूलवलय | 39 | 14 | c |
| स्मरन् विरूपकरणम् | 54 | 51 | c | स्वकर्म बन्धप्राप्तोऽयम् | 50 | 34 | c |
| स्मरुज उपमन्त्रिन् भण्यतामन्यवार्ता | 47 | 19 | d | स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्य लोका | 47 | 16 | c |
| स्मितावलोकारुणकञ्जलोचनम् | 38 | 9 | b | स्वगृहान्भगवत्प्रियाः | 33 | 39 | d |
| स्यन्दनं गान्दिनीसुतः | 41 | 6 | b | स्वजनञ्च भयाकुलम् | 50 | 5 | d |
| स्यन्दनै र्हेममालिभिः | 53 | 15 | b | स्वजन हृद्रुजां यन्निषूदनम् | 31 | 18 | d |
| स्यमन्तकस्य च मणेः | 37 | 19 | a | स्वजनान् भवनानि च | 47 | 26 | b |
| स्यमन्तकं दर्शयित्वा | 57 | 44 | e | स्वजनान् सकृदीक्षितुम् | 46 | 19 | b |
| स्यमन्तकं कुतस्तस्य | 56 | 2 | c | स्वजन्म कर्म गोत्रं वा | 51 | 31 | c |
| स्यमन्तकेन मणिना | 56 | 1 | c | स्वजन्माऽऽनकदुन्दुभेः | 39 | 9 | d |
| स्यमन्तको मणिः श्रीमान् | 57 | 40 | c | स्वतल्पस्थं जगद्गुरुम् | 60 | 1 | b |
| स्यातां निकामं त्वयि नोऽविवेकः | 48 | 23 | d | स्वतेजसा नित्यनिवृत्तमाया | 37 | 23 | c |
| स्यादेवाऽच्युतदर्शनम् | 38 | 5 | b | स्वतेजसापास्ततमोभिदाभ्रमः | 38 | 11 | b |
| स्यान्मे तवाङ्घ्रिरणं सृतिभिर्भ्रमन्त्या | 60 | 43 | c | स्वदास्यमद्धोपगता नवप्रियः | 39 | 22 | d |
| स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः | 41 | 44 | d | स्वधर्मविमुखस्तमः | 49 | 24 | d |
| स्रग्गन्धताम्बूलसुधासवादिभिः | 48 | 6 | b | स्वधामागमद्दृद्धिमत् | 48 | 11 | d |
| स्रग्गन्धमाल्याभरणैः | 53 | 9 | a | स्वपदानामदर्शनम् | 42 | 29 | d |
| स्रग्गन्धवस्त्राभरणैः | 53 | 42 | c | स्वपन्तं यस्त्वचेतनः | 51 | 22 | b |
| स्रग्गन्धैरपि मण्डितम् | 48 | 3 | b | स्वपन्त्य उत्थाय निशम्य निस्वनम् | 41 | 26 | c |
| स्रग्गन्धैरप्युपायनैः | 41 | 30 | b | स्वपुरं तेन संरुद्धम् | 50 | 5 | c |
| स्रग्गन्धैस्साग्रजोऽर्चितः | 42 | 13 | d | स्वपुरं पुनरायतौ | 52 | 13 | c |
| स्रग्विणौ वनमालिनौ | 38 | 31 | b | स्वप्नजागरितानि च | 42 | 31 | b |
| स्रग्विणौ विरजोऽम्बरौ | 34 | 21 | d | स्वप्नमायामनोरथम् | 49 | 25 | b |
| स्रजा हत इव द्विपः | 44 | 22 | b | स्वप्ने प्रेतपरिष्वङ्गः | 42 | 30 | a |
| स्रवन्ति स्म भयेन वै | 36 | 3 | d | स्वप्रस्थाने यदूत्तमः | 39 | 35 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| स्वबुद्ध्या तमपण्डितम् | 49 | 23 | b |
| स्वमाययात्मन्नचितैस्तदीक्षया | 38 | 11 | c |
| स्वमांसं खादयन्ति हि | 45 | 6 | d |
| स्वमुष्ट्याभिहतेन वै | 44 | 24 | b |
| स्वयञ्चाऽपृच्छदव्ययम् | 49 | 3 | d |
| स्वयमुद्यम्य दत्तवान् | 56 | 1 | d |
| स्वयंकिल्बिषमादाय | 49 | 24 | a |
| स्वयंवरे जहारैकः | 58 | 57 | c |
| स्वयंवरे स्वभगिनीम् | 58 | 30 | c |
| स्वरजाती रमिश्रिताः | 33 | 10 | b |
| स्वरतो रमया रेमे | 60 | 58 | c |
| स्वरमण्डलमूर्छितम् | 34 | 23 | d |
| स्वरहासावलोकनैः | 55 | 33 | d |
| स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम् | 31 | 14 | b |
| स्वर्णप्रतीतिर्वृक्षेषु | 42 | 29 | c |
| स्वर्यातास्सगरात्मजाः | 41 | 15 | d |
| स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः | 47 | 60 | b |
| स्वलङ्कृतद्वारगृहां सपट्टिकैः | 41 | 23 | d |
| स्वलङ्कृतमुखाम्भोजम् | 55 | 28 | a |
| स्वलङ्कृतानुलिप्ताङ्गौ | 34 | 21 | c |
| स्वलङ्कृताभिर्गोपीभिः | 46 | 11 | c |
| स्वलङ्कृतेभ्यस्सम्पूज्य | 45 | 27 | c |
| स्वलङ्कृतौ बालगजौ | 41 | 41 | c |
| स्ववर्णतिरशोभिना | 42 | 5 | b |
| स्वविक्रमे प्रतिहते | 43 | 12 | a |
| स्वसन्तानयुतां शिवाम् | 53 | 46 | b |
| स्वसा मे प्रसभं हृता | 54 | 22 | d |
| स्वसुतां गान्दिनीं प्रादात् | 57 | 36 | c |
| स्वसेतुपालामरवर्यशर्मकृत् | 38 | 13 | b |
| स्वसैन्यमालोक्य सुरासुरर्चितम् | 50 | 23 | c |
| स्वस्था भव शुचिस्मिते | 54 | 49 | d |
| स्वस्त्रीयौ पृथिवीपतेः | 36 | 27 | d |
| स्वाख्याने नाऽशकन्नृप | 38 | 35 | d |
| स्वागतं भद्रमस्तु वः | 39 | 4 | b |
| स्वागतं ते महाभागाः | 29 | 18 | a |
| स्वानां नस्तत्प्रजासु च | 39 | 5 | d |
| स्वानां परममङ्गलम् | 58 | 29 | f |
| स्वानां प्रियचिकीर्षया | 58 | 25 | b |
| स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः | 32 | 22 | b |
| स्वानीकपानच्युतचक्रसायकैः | 59 | 14 | g |
| स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः | 33 | 38 | d |
| स्वार्थमध्यगमद्विभुः | 36 | 61 | d |
| स्वार्थार्थं तद्धि नाऽन्यथा | 32 | 18 | d |
| स्वार्थे कान्तोद्यमाहिते | 32 | 18 | b |
| स्वावतारप्रयोजनम् | 50 | 6 | d |
| स्वांशेन बलकेशवौ | 38 | 32 | d |
| स्वांशेन भारमपनेतुमिहाऽसि भूमेः | 48 | 25 | b |
| स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाग्रन्थयः | 33 | 8 | c |
| स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमानाः | 33 | 35 | c |
| स्वैरिणी प्राह पिङ्गला | 47 | 47 | b |
| स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैः | 32 | 14 | c |
| स्वैः स्वैर्बलैः परिक्रान्ता | 54 | 1 | c |
| **ह** | | | |
| हतद्विपाद्विपहयग्रहाकुलाः | 50 | 26 | d |
| हतशेषाः पुनस्तेऽपि | 54 | 17 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| हतं कुवलयापीडम् | 43 | 18 | a | हन्येतामिति तावहम् | 36 | 53 | d |
| हतं प्रसेनमश्वं च | 56 | 18 | a | हन्येतां मल्ललीलया | 36 | 23 | d |
| हतं वीक्ष्य शुचाऽर्पिता | 57 | 7 | b | हयशीर्ष्णे नमस्तुभ्यम् | 40 | 18 | c |
| हतः किं हन्यते पुनः | 54 | 39 | d | हयाञ्छुक्लान्मनोजवान् | 50 | 56 | d |
| हतानां समकारयत् | 44 | 49 | d | हयाञ्छ्वेतान् रथं नृप! | 58 | 56 | d |
| हतानीकावशिष्टासु | 50 | 31 | c | हरन्त्यन्येऽल्पमेधसः | 49 | 22 | b |
| हतान्मुरसुतान्सर्वान् | 59 | 14 | e | हरिणाञ्छशशल्लकान् | 58 | 15 | d |
| हता येनेह लीलया | 46 | 26 | d | हरिणा स पदे पदे | 51 | 7 | b |
| हतेषु मल्लवर्येषु | 44 | 31 | a | हरिदासो व्रजौकसाम् | 47 | 56 | d |
| हतेषु सर्वानीकेषु | 50 | 35 | a | हरिमुपासत ते यतचित्ताः | 35 | 11 | c |
| हतेषु स्वेष्वनीकेषु | 50 | 43 | c | हरि दारुक सारथिः | 50 | 16 | d |
| हतौजसो महाभाग | 51 | 35 | c | हरिर्यथेभं जगतो विपश्यतः | 44 | 38 | b |
| हत्वा कंसं रङ्गमध्ये | 46 | 35 | a | हरिष्येऽद्य मदं मन्द | 54 | 25 | c |
| हत्वा केशिनमाहवे | 37 | 26 | b | हरिस्तान्यच्छिनत्तीक्ष्णैः | 59 | 17 | c |
| हत्वा तं जलवासिनम् | 45 | 42 | b | हरिः कारणमानुषः | 50 | 6 | b |
| हत्वा न जायते दोषाः | 36 | 53 | a | हरिः परानीकपयोमुचांमुहुः | 50 | 23 | a |
| हत्वा पशून् सौनिकवत् | 57 | 6 | c | हरिः शराभ्यामभिनत्त्रिधौजसा | 59 | 9 | b |
| हत्वा भोक्ष्ये महीं नृपान् | 36 | 67 | f | हरेर्नारायणस्य हि | 43 | 23 | b |
| हत्वा म्लेच्छबलं निन्ये | 52 | 5 | c | हरेर्विश्वात्मनो गिरा | 45 | 10 | b |
| हत्वा शालामुखात्ततः | 42 | 21 | b | हरेश्चित्तमजानती | 57 | 47 | b |
| हनिष्यामि बलं ह्येतत् | 50 | 7 | a | हरौ भूमिगते नृप | 50 | 57 | f |
| हन्त चित्रमबलाः शृणुतेदम् | 35 | 4 | a | हर्तुं कृतमतिस्तस्मिन् | 56 | 20 | c |
| हन्त मीलितदृशो धृतमौनाः | 35 | 11 | d | हर्म्याणि चैवाऽऽरुरुहुर्नृपोत्सुकाः | 41 | 24 | d |
| हन्तुं नार्हसि कल्याण | 54 | 33 | c | हर्षयन् यर्हि वेणुरवेण | 35 | 12 | c |
| हन्तुं हर्तुं च तं मणिम् | 57 | 10 | d | हसितप्रेक्षणं मुखम् | 43 | 28 | b |
| हन्यता माश्वसत्तमः | 44 | 33 | b | हसितं भासितञ्चाङ्ग! | 46 | 21 | c |
| हन्यमान बलानीकाः | 54 | 9 | a | हस्तप्राप्तमिवाऽऽत्मानम् | 51 | 7 | a |
| हन्यमानौ स्वदारकौ | 36 | 56 | b | हस्ताच्छ्लथद्वलयतो व्यजनं पपात | 60 | 24 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| हस्ताभ्यां हस्तयोर्बद्ध्वा | 44 | 2 | a | हिरण्यरूप्यवासांसि | 53 | 13 | a |
| हस्ताः सासिगदेष्वासाः | 54 | 8 | a | हृतकुण्डलबन्धुना | 59 | 2 | b |
| हंसकारण्डवाकीर्णैः | 46 | 13 | c | हृतदारमिवातुरम् | 54 | 10 | b |
| हा कष्टमिति होचतुः | 57 | 2 | d | हृतामराद्रिस्थानेन | 59 | 2 | c |
| हा नाथ प्रियधर्मज्ञ | 44 | 45 | a | हृत्वा तोकमनिर्दशम् | 55 | 3 | b |
| हा नाथ! रमण! प्रेष्ठ! | 30 | 40 | a | हृदयानि मनस्विनाम् | 59 | 5 | b |
| हारनूपुरकुण्डलैः | 39 | 51 | d | हृदयेन विदूयता | 42 | 35 | d |
| हास हास उरसि स्थितविद्युत् | 35 | 4 | b | हृदि कृत्यनिमील्य च | 32 | 9 | b |
| हासलीलावलोकनैः | 47 | 51 | b | हृदि न स्थीयते चले | 49 | 27 | b |
| हाससंरम्भशोभनम् | 44 | 12 | d | हृदि वित्रासवेपथुः | 50 | 17 | b |
| हासावलोककलगीतज हृच्छयाग्निम् | 29 | 35 | b | हृदि स्पृशश्चित्रपदाः | 39 | 16 | c |
| हासावलोक नवसङ्गमजल्पलज्जाः | 59 | 44 | d | हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः | 33 | 40 | d |
| हासोदारेक्षणार्चितः | 47 | 40 | d | हृषीकेश नमस्तुभ्यम् | 40 | 31 | c |
| हस्तिपश्चाऽहनद्धरिः | 43 | 14 | d | हृष्टरोमा चुचुम्ब ह | 33 | 12 | d |
| हास्यप्रौढिमजानन्त्याः | 60 | 25 | c | हृष्यत्तनूरुहो भाव | 39 | 56 | c |
| हास्यप्रौढिर्भ्रमच्चित्ताम् | 60 | 28 | c | हृष्यत्त्वचो जहुरनन्तमरिन्दमाधिम् | 41 | 28 | d |
| हा हतास्मीति मुह्यती | 57 | 7 | d | हे कृष्ण पुरुषाधम | 50 | 17 | d |
| हा हेति शब्दस्सुमहांस्तदाऽभूत् | 44 | 38 | c | हे नन्दसूनो! हे राम! | 43 | 32 | a |
| हाहेति साध्वित्युषयः सुरेश्वराः | 59 | 22 | c | हे नाथ! हे रमानाथ! | 47 | 52 | a |
| हित्वा गोपीः कामयानाः | 30 | 37 | e | हेमकुम्भैरलङ्कृतैः | 50 | 53 | b |
| हित्वा दम्भं भियं शुचम् | 38 | 27 | b | हेमशृङ्गैर्दिवि स्पृग्भिः | 50 | 52 | c |
| हित्वा भवद्भुव उदीरित कालवेग | 60 | 39 | c | हेलनं रामकृष्णयोः | 57 | 16 | b |
| हित्वा वा मच्छरै श्छिन्नम् | 50 | 19 | c | हैयङ्गवमुषन्त्विति | 10 | 23 | d |
| हित्वाऽवृणीत यूयं यत् | 47 | 26 | c | ह्रियमाणमितस्ततः | 40 | 28 | d |
| हित्वाऽहं त्वा पराङ्मुखः | 40 | 27 | d | ह्रियमाणः कालनद्या | 38 | 5 | c |
| हित्वेतरांस्तु भजतश्चकमे नु यच्छ्रीः | 42 | 24 | d | | | | |

# व्याख्यानोद्धृतानां प्रमाणवचनानां आकरनिर्देशनी

## दशमः स्कन्धः द्वितीयो भागः (29 अध्यायाप्रभृतिः 60 अध्यायपर्यन्तः)

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | **अ** | | | |
| 1 | 45 | 24 | अकुप्यं रूप्यहेमादि (हेमाख्यं) | विज० | हला० को० 1-81 | 285 |
| 2 | 60 | 38 | अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत | विज० | | 611 |
| 3 | 49 | 23 | अग्निं वागप्येति वातं प्राणः | विज० | बृह० उ० 3-2-13 | 373 |
| 4 | 60 | 35 | अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः | विज० | कठ० उ० 4-12 | 606 |
| 5 | 37 | 11 | अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः | विज० | कठ० उ० 4-12 | 144 |
| 6 | 50 | 4/8-13 | अज मनिद्र मस्वप्नम् | विज० | अद्वै० उ० 36 | |
| 7 | 46 | 31 | अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां | विज | म० ना० उ० 84 | 304 |
| 8 | 56 | 8 | अजाय लोकत्रयपा (भवनाय) | विज | भार० 1-1737-3 | 523 |
| 9 | 32 | 13 | अणुस्तरङ्गो लोलः स्यात् | विज० | गोपालः | 64 |
| 10 | 60 | 46 | अथ त्रिगुणो ह्येव प्रकृति | विज | चाक्रायणश्रुतिः | 616 |
| 11 | 60 | 46 | अथाऽतो भक्तिमीमांसा | विज | | 616 |
| 12 | 60 | 42 | अथाऽऽत्मनोऽनुरूपम् | श्रीध | भाग० 10-60-17 | 612 |
| 13 | 60 | 42 | अथाऽऽत्मनोऽनुरूपम् | वीर० | भाग० 10-60-17 | 613 |
| 14 | 60 | 47 | अथाऽऽत्मनोऽनुरूपम् | वीर० | भाग० 10-60-17 | 616 |
| 15 | 40 | 5 | अथाऽध्यात्मम् य एषो० | वीर० | छान्दो० उ० 1-7-5 | 196 |
| 16 | 33 | 31 | अदर्शनं लोपः | विज० | अष्टा० 1-1-60 | 85 |
| 17 | 39 | 22 | अद्धा प्रत्यक्षसत्ययोः | विज० | वैज० को० 8-7-12 | 180 |
| 18 | 42 | 33 | अद्भ्योयो वा | श्रीध० | छान्दो० उ० 7-10-2 | 241 |
| 19 | 42 | 24 | अद्य ध्रुवं तत्र दृशो भवि० | श्रीध० | भाग० 10-39-25 | 238 |
| 20 | 42 | 24 | अद्य ध्रुवं तत्र दृशो भवि० | वीर० | भाग० 10-39-25 | 239 |
| 21 | 52 | before 7y | अद्रयोऽर्क गिरिद्रुमाः | विज० | वैज० को० 6-1-4 | 450 |
| 22 | 36 | 43 | अधमौ गर्हितन्यूनौ | विज० | वैज० को० 7-4-1 | 129 |
| 23 | 33 | 7 | अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य | विज | कुमारसं० 1-2 | 75 |
| 24 | 59 | 28 | अनन्ता वै वेदाः | विज | तैत्ति० यजु० का० 1-44 | 584 |
| 25 | 58 | 19 | अनवाप्तपतिः कन्या जात | विज | उत्पलमाला | 558 |
| 26 | 31 | 4 | अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति | विज० | मुण्ड० उ० 3-1-1 | 49 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 27 | 48 | 21 | अनशन्नन्योभिचाकशीति | वीर० | मुण्ड० उ० 3-1-1 | 356 |
| 28 | 40 | 13 | अ निषेधे पुमान्विष्णौ | विज० | वैज० को० 8-7-10 | 203 |
| 29 | 39 | 8 | अनुबन्धे दोषभावे (दोषोत्पादेऽनुबन्धः स्यात्) | विज० | अम० को० 3-255 | 175 |
| 30 | 48 | 27 | अनृतं नोक्तपूर्वं मे | वीर | रामा० 1-58-19, 4-7-22. 4-14-14, 6-48-29 | 359 |
| 31 | 48 | 20 | अनृतेन हि प्रत्यूनः वाचा० | विज | | 354 |
| 32 | 30 | 4 | अन्तर्बहिश्चतत्सर्वं | विज० | मना० उ० 9-5 | 28 |
| 33 | 50 | 4 14v | अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं | विज | म० ना० उ० 9-5 | 417 |
| 34 | 47 | 33 | अन्तोऽस्त्र्यवसिते मृत्यौ | विज | वैज० को० 6-5-5 | 332 |
| 35 | 47 | 31 | अन्योन्तर आत्मा विज्ञान | वीर० | तैत्ति० उ० 2-3 | 331 |
| 36 | 33 | 18 | अप परीवर्जने | विज० | अष्टा० 1-4-88 | 79 |
| 37 | 49 | 12 | अपवर्गः क्रियासाध्य | विज | वैज० को० | 369 |
| 38 | 42 | 30 | अभयं नलदं सेव्यम् | विज | अम० को० 2-210 | 240 |
| 39 | 45 | 4 | अभयं प्रतिष्ठां विन्दते | विज० | तैत्ति० उ० 2-7 | 278 |
| 40 | 60 | 43 | अभ्रमा भ्रमता मत्ती | विज | नारदीये | 614 |
| 41 | 60 | 48 | अमुग्धैव तु मुग्धेव | विज० | कापिलेये | 617 |
| 42 | 49 | 26 | अमृतं व्योम्नि देवान्ने | विज | वैज० को० 7-5-7 | 376 |
| 43 | 48 | 20 | अय मात्मा ब्रह्म | वीर | माण्डू० उ० 2 | 354 |
| 44 | 32 | 20 | अर्श आद्यच् | वीर | अष्टा०5-2-127 | 67 |
| 45 | 33 | 18 | अलन्तु भूषणे शक्तौ | विज | वैज० को० 8-7-13 | 79 |
| 46 | 40 | 6 | अस्त्री वितान मुल्लोचे | विज० | वैज० को० 7-5-76 | 198 |
| 47 | 60 | 50 | अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते | वीर | भाग० 10-60-46 | 616 |
| 48 | 60 | 36 | अस्पष्टवर्त्मनां पुंसां | श्रीध | भाग० 10-60-13 | 608 |
| 49 | 40 | 4 | अहं परो हि मद्भिन्ना | विज | स्कान्दे | 197 |
| 50 | 38 | 11 | अहं ब्रह्माऽस्मि | विज | बृह० उ० 1-4-10 | 157 |
| 51 | 53 | 11 | अंशुकं केवले सूक्ष्म | विज | वैज० को०7-3-1 | 475 |
| | | | **आ** | | | |
| 52 | 40 | 2 | आकाशो वै नाम नामरूपयोः | विज० | छान्दो० उ० 8-14-1 | 197 |
| 53 | 60 | 59 | आङ् उद्गमने | विज० | अष्टा० 1-3-40 | 621 |
| 54 | 36 | 3 | आ चतुर्थात् भवेस्त्रावः | श्रीध | | 117 |
| 55 | 36 | 3 | आ चतुर्थात् भवेत्स्त्रावः | वीर० | | 177 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 56 | 32 | 13 | आचितं छन्नसिक्तयोः | विज | | 64 |
| 57 | 30 | 36 | आत्मरति रात्मक्रीडः | विज० | छान्दो० उ० 7-25-2 | 42 |
| 58 | 37 | 11 | आत्मन आकाशस्सम्भूतः | वीर० | तैत्ति० उ० 2-1-1 | 143 |
| 59 | 40 | 3 | आत्मन आकाश स्सम्भूतः | विज० | तैत्ति० उ० 2-1-1 | 197 |
| 60 | 37 | 11 | आत्मन् एष प्राणो जायते | विज० | | 144 |
| 61 | 29 | 1 | आत्मन्यवरुद्धसौरतः | श्रीध | भाग० 10-33-26 | 2 |
| 62 | 44 | 10 | आत्म सर्वाङ्ग सम्बन्ध | विज० | | 262 |
| 63 | 29 | 1 | आत्मारामोऽ प्यरीरमत् | श्रीध | भाग० 10-29-42 | 2 |
| 64 | 37 | 24 | आदिनो राक्षसाः प्रोक्ताः | विज | ब्राह्मे | 148 |
| 65 | 35 | 10 | आदृतौ सादरार्चितौ | विज० | वैज० को० 7-4-2 | 106 |
| 66 | 60 | 45 | आनन्दश्मश्रु रानन्दकेशः | विज | माध्यन्दिनश्रुतिः | 614 |
| 67 | 58 | 32 | अ प्रगृह्यः स्मृतौ वाक्ये | विज | वैज० को० 8-7-2 | 564 |
| 68 | 53 | 11 | आबध्नन्ति करे सूत्रं | विज० | | 475 |
| 69 | 41 | 20 | आरण्यारकूटम् | विज | अभिधानम् | 219 |
| 70 | 30 | 29 | आलिः सेतौ सखीपङ्क्तयोः | विज० | वैज० को० 6-2-3 | 38 |
| 71 | 43 | 8 | आविरासी द्यथा प्राच्यां | श्रीध | भाग० 10-3-8 | 246 |
| 72 | 29 | 33 | आशा दिगतितृष्णयोः | विज | वैज० को० 6-2-3 | 19 |
| 73 | 58 | 36 | आशी रुरगदंष्ट्रायां | विज | वैज० को० 6-2-2 | 564 |
| 74 | 60 | 36 | आस्थिताः पदवीं सुभ्रु | श्रीध० | भाग० 10-60-13 | 608 |
| 75 | 60 | 37 | आस्थिताः पदवीं सुभ्रु | वीर० | भाग० 10-60-13 | 609 |
| 76 | 60 | 41 | आस्थिताः पदवीं सुभ्रु | वीर० | भाग० 10-60-13 | 613 |
| | | | **इ** | | | |
| 77 | 29 | 18 | इति विप्रियम् | वीर० | भाग० 10-29-28 | 10 |
| 78 | 42 | 27 | इत्था दुलूक आपकत् | श्रीध | तैत्ति० आ० 4-33-1a | 238 |
| 79 | 38 | 18 | इदं शरीरं कौन्तेय | विज० | भ० गी० 13-1 | 162 |
| 80 | 40 | 6 | इन्द्रं यजाऽग्निं यज | विज | आप.श्रौ० सू० 3-16 | 198 |
| 81 | 60 | 37 | इमा रुद्राय स्थिरधन्वने | विज | ऋक्० सं० 7-46-1a | 610 |
| 82 | 47 | 50 | इवे प्रति कृतौ | वीर | अष्टा० 5-3-96 | 338 |
| | | | **ई** | | | |
| 83 | 40 | 28 | ईश्वरस्य च सौहार्दं | वीर | | 209 |
| 84 | 47 | 19 | ईश्वराणां वचस्सत्यं | विज | | 326 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | **उ** | | | |
| 85 | 59 | 29 | उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः | विज | भ० गी० 15-17 | 584 |
| 86 | 29 | 12 | उत्तिष्ठत जाग्रत | विज | कठ० उ० 3-14 | 8 |
| 87 | 38 | 31 | उदारो महति ख्याते दक्षिणे | विज० | वैज० को० 7-7-4 | 167 |
| 88 | 47 | 12 | उन्मत्तः कितवो धूर्तः | विज० | अम० को० 2-123 | 320 |
| 89 | 47 | 1 | उपमितं व्याघ्रादिभिः | वीर | अष्टा० 2-1-56 | 314 |
| 90 | 35 | 12 | उपरम्भ स्तूर्ध्वमुखे | विज | | 108 |
| 91 | 29 | 15 | उपास्यः श्वशुरत्वेन | विज | भद्रिकायाम् | 9 |
| 92 | 47 | 16 | उमाप्रणमसङ्कान्त | विज | | 322 |
| 93 | 37 | 9,10 | उस्रिया अमरा देवाः | विज | | 143 |
| | | | **ऊ** | | | |
| 94 | 43 | 1 | ऊषतु स्तां सुखं रात्रिं | वीर | भाग० 10-42-25 | 245 |
| | | | **ऋ** | | | |
| 95 | 48 | 20 | ऋतस्य तन्तुं विततं विवृत्य | विज | म० ना० उ० 2-6 | 354 |
| | | | **ए** | | | |
| 96 | 51 | 55 | एक एव चरे द्विभुः | विज | | |
| 97 | 46 | 31 | एक मेवाऽद्वितीयम् | विज | छान्दो० उ० 6-2-1 | 305 |
| 98 | 48 | 27 | एक मेवाऽ द्वितीयम् | विज० | छान्दो० उ० 6-2-1 | 360 |
| 99 | 50 | 46 | एके भैकरथा | विज० | अम० को० 2-537 | 380 |
| 100 | 40 | 1 | एको हवै नारायण आसीत् | वीर० | मना० उ० 1-1 | 195 |
| 101 | 29 | 43 | एणः कुरङ्गो हरिणः | विज | हला० को० 2-75 | 25 |
| 102 | 60 | 38 | एत स्यैवानन्दस्यान्यानि | श्रीध | बृह० उ० 4-3-32 | 608 |
| 103 | 29 | 27 | एष भूताधिपतिः | वीर | बृह० उ० 4-4-22 | 14 |
| | | | **ऐ** | | | |
| 104 | 48 | 20 | ऐतदात्म्य मिदं सर्वं | वीर० | छान्दो० उ० 6-8-7 | 354 |
| 105 | 59 | 29 | ऐतदात्म्य मिदं सर्वं | वीर० | छान्दो० उ० 6-8-7 | 583 |
| | | | **क** | | | |
| 106 | 38 | 32 | क इति ब्रह्मणो नाम | वीर | हरिवंशे | 166 |
| 107 | 59 | 33 | कन्यापुरे सकन्यानां महामते | श्रीध | | 585 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 108 | 39 | 1 | करणं कारणे काये | विज | वैज० को 7-3-9 | 173 |
| 109 | 59 | 30 | कर्ता शास्त्रार्थवत्वात् | वीर० | ब्र० सू० 2-3-33 | 583 |
| 110 | 51 | 40 | कर्तुः क्याङ् सलोपश्च | विज | अष्टा० 3-1-11 | 436 |
| 111 | 60 | 34 | कस्मान्नो ववृषेऽसमान् | श्रीध | भाग० 10-60-11 | 604 |
| 112 | 60 | 34 | कस्मान्नो ववृषेऽसमान् | वीर० | भाग० 10-60-11 | 605 |
| 113 | 60 | 37 | कस्मै देवाय हविषा विधेम | विज | श्वेता० उ० 4-13 | 610 |
| 114 | 33 | 20 | कात्यायनि महामाये | श्रीध | भाग० 10-22-4 | 78 |
| 115 | 29 | 29 | कामबाण प्रविद्धाङ्गा | विज | | 15 |
| 116 | 29 | 15 | कामभत्त्याऽप्सरः स्त्रीणाम् | विज० | भद्रिकायाम् | 9 |
| 117 | 29 | 13 | कामस्त्वशुभकृच्चापि | विज० | स्कान्दे | 8 |
| 118 | 29 | 29 | कामस्य दहनास्त्रैस्तु | विज० | | 15 |
| 119 | 50 | 14 | कारणं बन्धमोक्षयोः | विज० | विष्णु० पु० 6-7-28 | 417 |
| 120 | 50 | 14 | कार्मुकन्तु चतुर्हस्तम् | विज० | वैज० को० 3-7-173 | 384 |
| 121 | 50 | 43 | कालकन्ध स्तमालः स्यात् | विज | अम० को० 2-114 | 416 |
| 122 | 43 | 5 | कालो मृत्यौ (दिष्टे) यमे चैव | विज० | वैज० को० 6-1-15 | 246 |
| 123 | 48 | 33 | किर्षच्चिकीर्षयन्प्रागात् | श्रीध | भाग० 10-48-13 | 361 |
| 124 | 48 | 33 | किञ्चिच्चिकीर्षयन्प्रागात् | वीर० | भाग० 10-48-13 | 362 |
| 125 | 48 | 33 | किञ्चिच्छ्रेयश्चिकीर्षयेत् | विज० | | 363 |
| 126 | 57 | 38 | किन्तु मामग्रजस्सम्यक् | वीर० | भाग० 10-57-42 | 547 |
| 127 | 29 | 33 | किं प्रजया करिष्यामो येषां | श्रीध० | | 17 |
| 128 | 33 | 32 | कुर्या द्विद्वांस्तथा सक्तः | विज० | भ० गी० 3-25 | 87 |
| 129 | 40 | 19 | कूर्मेशेऽब्धावकूपारः | विज० | वैज० को० 8-1-15 | 205 |
| 130 | 33 | 34 | कृत्वा तावन्त मात्मानं | वीर० | भाग० 10-33-20 | 71 |
| 131 | 29 | 13 | कृष्णकामा स्तदा गोप्यः | विज० | स्कान्दे | 8 |
| 132 | 33 | 23 | कृष्णे स्वधामोपगते | विज | भाग० 1-3-43 | 82 |
| 133 | 51 | 64 | केवलो निर्गुणश्च | विज० | श्वेता० उ० 6-11 | 446 |
| 134 | 30 | 10 | केशा द्वोऽन्यतरस्याम् | विज० | अष्टा० 5-2-109 | 31 |
| 135 | 41 | 38 | कोशोऽस्त्रीकुद्मले दिव्ये | विज० | वैज० को० 6-5-15 | 225 |
| 136 | 48 | 27 | को ह्येवाऽन्यात्कः प्राण्यात् | वीर० | तैत्ति० उ० 2-7 | 359 |
| 137 | 35 | 20 | कौतुकं विषयाभोगे | विज० | वैज० को० 7-3-10 | 111 |
| 138 | 53 | 11 | कौतुकं विषयाभोगे | विज | वैज० को० 7-3-10 | 475 |
| 139 | 52 | 26 | क्रियार्थोपपदस्य | वीर० | अष्टा० 2-3-14 | 461 |
| 140 | 33 | 38 | क्रुध द्रुहेर्ष्या- | वीर० | अष्टा 1-4-37 | 89 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 141 | 33 | 38 | क्रुध द्रुह्येर्ष्या- | विज | अष्टा० 1-4-37 | 90 |
| 142 | 39 | 21 | क्रूरो भयङ्करे कन्धे | विज० | वैज० को० 6-4-4 | 180 |
| 143 | 43 | 17 | क्व वज्रसारसर्वाङ्गौ | श्रीध० | भाग० 10-44-8 | 250 |
| | | | **ख** | | | |
| 144 | 30 | 10 | खेदानुकम्पासन्तोष | विज० | अम० को० 3-399 | 30 |
| | | | **ग** | | | |
| 145 | 58 | 33 | गन्धो लेशे च हिंसायां | विज० | | 564 |
| 146 | 46 | 10 | गवां यो निनदो गुम्फा- | विज० | वैज० को | 298 |
| 147 | 53 | 25 | गिरिजा मेनकात्मजा | विज० | हला० को० 1-16 | 478 |
| 148 | 38 | 9 | गुडौ पिण्डेक्षुविकृतौ | विज० | वैज० को० 6-5-27 | 157 |
| 149 | 29 | 14 | गुणोत्कर्षज्ञातरि यादृशी | विज | | 8 |
| 150 | 29 | 15 | गुरुर्ब्रह्माऽस्य जगतो | विज० | वाराहे | 9 |
| 151 | 29 | 15 | गुरुः श्रीब्रह्मणो विष्णुः | विज | वाराहे | 9 |
| 152 | 29 | 13 | गोप्यः कामाद्भयात्कंसः | वीर० | भाग० 7-1-30 | 7 |
| 153 | 29 | 15 | गोप्यः कामात् | वीर० | भाग० 7-1-30 | 8 |
| 154 | 35 | 23 | गोष्ठाध्वानिवहा व्रजाः | विज० | वैज० को० 6-1-54 | 115 |
| 155 | 53 | 25 | गौरोऽरुणे सिते पीते | विज० | अम० को० 3-344 | 477 |
| | | | **घ** | | | |
| 156 | 58 | 33 | घनाः कठिनसङ्घात- | विज | वैज० को 6-5-30 | 564 |
| 157 | 36 | 47 | घृणा जुगुप्सा कृपयोः | विज० | वैज० का० 6-2-12 | 130 |
| | | | **च** | | | |
| 158 | 38 | 20 | च उच्छेदे समुच्चये | विज० | | 162 |
| 159 | 44 | 39 | चक्रं सैन्ये जलावर्ते | विज | वैज० को० 6-3-7 | 271 |
| 160 | 56 | 11 | चतुर्भिर्व्रीहिभिर्गुञ्जं | श्रीध० | | 524 |
| 161 | 56 | 11 | चतुर्भिर्व्रीहिभि गुञ्जं | वीर० | | 524 |
| 162 | 29 | 16 | चित्रे दर्पे च विस्मयः | विज० | वैज० को० 7-1-65 | 10 |
| 163 | 29 | 28 | चिन्ता च चर्चिक्ययोश्चर्या | विज० | वैज० को० 6-2-12 | 15 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | **ज** | | | |
| 164 | 36 | 27 | जगती राजप्रधानलोकेऽपि | विज० | हला० को० 5-8 | 126 |
| 165 | 48 | 23 | जनितोऽत विष्णुः | विज० | | 358 |
| 166 | 48 | 23 | जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः | विज | भ० गी० 2-27 | 358 |
| 167 | 47 | 19 | जिह्मं मन्देऽद्यवक्रयोः | विज० | वैज० को० 6-5-32 | 326 |
| 168 | 40 | 2 | जीवो जीवस्य जीवनम् | विज० | | 197 |
| 169 | 29 | 40 | जुगुप्सितञ्च सर्वत्र | वीर० | भाग० 10-29-26 | 21 |
| 170 | 60 | 35 | ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम् | वीर० | भ० गी० 7-18 | 605 |
| | | | **त** | | | |
| 171 | 59 | 27 | तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम् | श्रीध | | 582 |
| 172 | 47 | 34 | तत्यजेऽस्मान् भवादृक् | विज० | भाग० 10-47-13 | 334 |
| 173 | 48 | 20 | तत्त्वमसि | वीर | छान्दो० उ० 6-8-7 | 354 |
| 174 | 48 | 20 | तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत् | विज० | तैत्ति० उ० 2-6 | 354 |
| 175 | 49 | 29 | तत्सृष्ट्वातदेबाऽनुप्राविशत् | वीर | तैत्ति० उ०2-6 | 375 |
| 176 | 38 | 1 | तथाऽक्रूरस्स्व मालयम् | वीर० | भाग० 10-36-71 | 153 |
| 177 | 37 | 11 | तदाऽऽत्मानं स्वयमकुरुत | वीर | तैत्ति० उ० 2-7 | 143 |
| 178 | 47 | 30 | तदाऽऽत्मानं स्वय मकुरुत० | वीर | तैत्ति० उ० 2-7 | 330 |
| 179 | 29 | 13 | तदेतत्प्रेयः | विज | बृह० उ० 1-4-8 | 8 |
| 180 | 29 | 33 | तदेतत्प्रीतये भूत्वा | वीर | विष्णु० पु० 2-6-48 | 17 |
| 181 | 46 | 31 | तदेवाऽनुप्राविशत् | विज० | तैत्ति० उ० 2-6 | 305 |
| 182 | 31 | 1 | तद्गुणानेव गायन्त्यः | वीर० | भाग० 10-30-44 | 47 |
| 183 | 48 | 20 | तद्धैतत्पश्यन्नृषि र्वामदेवः | वीर | बृह० उ० 1-4-10 | 354 |
| 184 | 29 | 34 | तद्यात मा चिरं गोष्ठम् | वीर० | भाग० 10-29-22 | 18 |
| 185 | 60 | 43 | तमेवं विद्वानमृत इह भवति | विज० | पु० सू० 1-7 | 614 |
| 186 | 49 | 19 | तमो राहु स्तमोऽघं (शुक्) | विज | वैज० को० 6-5-35 | 371 |
| 187 | 34 | 28 | तरसी बलरंहसी | विज० | वैज० को० 6-3-13 | 100 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 188 | 47 | 14 | तस्मात्तेयं धनसमयः | विज० | | 321 |
| 189 | 60 | 37 | तस्मात्प्रायेण न ह्याढ्याः | श्रीध | भाग० 10-60-14 | 608 |
| 190 | 29 | 33 | तस्माद्दुःखात्मकं नाऽस्ति | वीर० | विष्णु० पु० 2-6-49 | 17 |
| 191 | 40 | 50 | तस्य ऋक्सामगोष्णौ | वीर० | छान्दो० उ० 1-6-8 | 196 |
| 192 | 32 | 23 | तस्य तावदेव चिरम् | विज० | छान्दो० उ० 6-14-2 | 69 |
| 193 | 53 | 30 | तामानयिष्य उन्मथ्य | वीर० | भाग० 10-53-3 | 479 |
| 194 | 60 | 43 | तीत्यन्नम् | विज० | | 614 |
| 195 | 37 | 8 | तुरगस्य शकृल्लम्बम् | विज | | 143 |
| 196 | 44 | 29 | तुलाकोटिस्तु नूपुरम् | विज० | हला० को० 2-406 | 268 |
| 197 | 37 | 23 | तेजो बले प्रभावेऽन्ने | विज | वैज० को० 6-3-14 | 148 |
| 198 | 33 | 30 | तेजो बले प्रभावेऽन्ने | विज | वैज० को० 6-3-14 | 85 |
| 199 | 48 | 32 | ते पुनन्त्युरुकालेन | वीर | भाग० 10-48-31, 10-84-11, 12-10-23 | 362 |
| 200 | 59 | 28 | ते यदन्तरा तद्ब्रह्म | वीर | छान्दो० उ० 8-14-1 | 583 |
| 201 | 44 | 5 | तै स्तै र्नियुद्धविधिभिः | विज० | भाग० 10-44-19 | 260 |
| 202 | 44 | 44 | त्यागो विहापितं दानं | विज० | अम० को० 2-428 | 272 |
| | | | **द** | | | |
| 203 | 50 | 12-14 | दर्शनं चक्षुषि स्वप्ने | विज | वैज० को० 7-3-17 | 404 |
| 204 | 34 | 27 | दस्यु स्तस्करशार्दूलौ | विज० | | 100 |
| 205 | 51 | 32 | दाण्डिनायन- | वीर० | अष्टा० 6-4-174 | 433 |
| 206 | 54 | 46 | दीपश्चक्षुश्च रूपञ्च | श्रीध | भाग० 12-4-24 | 503 |
| 207 | 45 | 9 | दुरशोभनदुःखयोः | विज० | वैज० को०8-7-4 | 280 |
| 208 | 49 | 19 | दुःखैनो व्यसनेष्वघम् | विज० | ना० र० को० द्व्य० का० 47 | 371 |
| 209 | 40 | 16 | दृश्यतेऽग्रयया बुद्ध्या | श्रीध | कठ० उ० 3-12 | 201 |
| 210 | 60 | 9 | देवत्वे देवदेहेऽयं | श्रीध | विष्णु० पु० 1-9-145 | 594 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 211 | 59 | 33 | देवसिद्धा--- निजमन्दिरे | श्रीध | | 585 |
| 212 | 48 | 32 | देवास्स्वार्था न साधवः | वीर | भाग० 10-48-30 | 362 |
| 213 | 59 | 30 | देहानां जीवाभिमानभ्रम | वीर | | 584 |
| 214 | 40 | 4 | देहोऽसवोऽक्षा मनवो | श्रीध | | 194 |
| 215 | 40 | 13 | दैवी ह्येषा गुणमयी | वीर० | भ० गी० 7-14 | 202 |
| | | | **ध** | | | |
| 216 | 35 | 9 | धाशः स्त्रांगेऽम्बुसन्तत्यां | विज० | वैज० को० 6-2-20 | 106 |
| 217 | 47 | 32 | ध्यायतो विषयान्पुंसः | वीर० | भ० गी 2-62 | 331 |
| | | | **न** | | | |
| 218 | 48 | 32 | नञद्वयं प्रकृत मर्थं सूचयति | वीर | | 362 |
| 219 | 40 | 2 | न तत्समश्चाभ्यधिकश्च | वीर० | श्वेता० उ० 6-8 | 195 |
| 220 | 60 | 11 | न तत्समश्चाभ्याधिकश्च | वीर० | श्वेता० उ० 6-8 | 596 |
| 221 | 29 | 1 | नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा | वीर० | भाग० 10-18-17 | 2 |
| 222 | 32 | 20 | नराणां क्षीणपापानाम् | विज० | | 68 |
| 223 | 42 | 30 | नलदमाली दक्षिणामुखो | विज० | | 240 |
| 224 | 29 | 33 | न वा अरे पत्युः कामाय | वीर० | बृह० उ० 2-4-5 | 17 |
| 225 | 38 | 10 | न सन्दृशे तिष्ठति रूपम् | विज० | कठ० उ० 6-9 | 157 |
| 226 | 40 | 4 | न हि द्रष्टु र्दृष्टे विपरि | विज | बृह० उ० 4-3-23 | 197 |
| 227 | 47 | 24 | नान्यः पन्थाः | वीर० | पु० सू० 7 | 328 |
| 228 | 40 | 2 | नारायण आसीत् | वीर० | महा० उ० 1-1 | 195 |
| 229 | 32 | 20 | नास्त्यकृतः कृतेन | विज० | मुण्ड० उ० 1-2-12 | 68 |
| 230 | 47 | 24 | नाहं वेदैर्न तपसा | वीर० | भ० गी० 11-53 | 328 |
| 231 | 56 | 27 | नित्यो नित्यानाम् | विज० | कठ० उ० 5-13 | 530 |
| 232 | 30 | 29 | निरपेक्षे गुणैः पूर्णो | विज० | | 38 |
| 233 | 42 | 2 | निर्दोषि पेशले सत्ये (साधुः) | विज० | | 232 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 234 | 33 | 10 | निषादर्षभगान्धार० | विज० | अम० को० 1-183 | 75 |
| 235 | 31 | 4 | निषेधे वागलङ्कारे | विज० | वैज० को० 8-7-20 | 49 |
| 236 | 60 | 37 | निष्किञ्चता वयं शश्वत् | श्रीध | भाग० 10-60-14 | 608 |
| 237 | 54 | 11 | निष्ठोत्कर्षे व्यवस्थायां | विज० | वैज० को० 6-2-21 | 493 |
| 238 | 35 | 26 | नु पृच्छायां विकल्पे च | विज० | अम० को० 3-402 | 115 |
| 239 | 60 | 37 | नेदिष्ठ मन्तिकतमम् | विज | अम० को० 3-69 | 610 |
| 240 | 40 | 30 | नैषातर्केण मति रापनेया | विज० | कठ० उ० 2-9 | 210 |
| | | | **प** | | | |
| 241 | 39 | 12 | पक्षसन्धा वुत्सवे च | विज० | दत्तः | 175 |
| 242 | 29 | 15 | पतित्वेन श्रियोपास्यो | विज० | वाराहे | 9 |
| 243 | 29 | 27 | पतिं विश्वस्य | वीर० | म० ना० उ० 9-3 | 14 |
| 244 | 57 | 40 | पत्नी दुहितरश्चैव | श्रीध | याज्ञ० स्मृ० 2-135 | 548 |
| 245 | 29 | 26 | पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो | वीर | अष्टा० 5-1-128 | 14 |
| 246 | 30 | 10 | पद्भ्या भूमिः | विज० | पु० सू० 13 | 31 |
| 247 | 42 | 30 | पद्ममालां शिरः कृत्वा | विज० | | 240 |
| 248 | 50 | 56 | पद्मश्चैव महापद्मो | श्रीध | | 422 |
| 249 | 50 | 56 | पद्मश्चैव महापद्मो | वीर | | 423 |
| 250 | 33 | 32 | परमार्थे त्यवत्सत्यम् | विज | वैज० को० 6-5-95 | 87 |
| 251 | 39 | 24 | परवांस्तु पराधीनो | विज० | हला० को० 2-186 | 180 |
| 252 | 60 | 35 | पराञ्चिखानि व्यतृणत् | विज० | कठ० उ० 4-1 | 607 |
| 253 | | | परापूर्वेषां सख्या वृणक्ति | विज | ऋक्० सं० 6-47-17a | 455 |
| 254 | 48 | 24 | परित्राणाय साधूनाम् | वीर० | भ० गी० 4-8 | 357 |
| 255 | 32 | 22 | परोक्षप्रिया इव हि देवाः | विज० | ऐत० उ० 3-14 | 69 |
| 256 | 30 | 5 | पलाशो किंशुकः पर्णः | विज० | अम० को० 2-75 | 28 |
| 257 | 34 | 48 | पल्लवञ्च प्रकोष्ठे वाऽपि | विज | वैज० को० 7-5-58 | 190 |
| 258 | 38 | 23 | पादबन्धनपाशान्तु | विज० | वररुचिः | 165 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 259 | 38 | 7 | पाप्मा वै तमः | वीर | | 155 |
| 260 | 48 | 27 | पार्थ नैवेह नाऽमुत्र | वीर | भ० गी० 6-40 | 359 |
| 261 | 50 | addl. 4, 23 | पिचुमन्दस्तु निम्बोऽथ | विज० | अम० को० 2-108 | 416 |
| 262 | 47 | 20 | पुनरप्रथमे प्रश्ने | विज० | वैज० को० 8-7-24 | 326 |
| 263 | 30 | 6 | पुन्नागे पुरुष स्तुङ्गः | विज० | अम० को० 2-82 | 30 |
| 264 | 40 | 14 | पुंसि कः कं शिरोम्बुनोः | विज० | अम० को 3-160 | 203 |
| 265 | 59 | 27 | पूर्वमेवाऽह मिहासम् | श्रीध | | 582 |
| 266 | 52 | 31 | पूर्वादिभ्योनवभ्यो वा | वीर० | अष्टा० 7-1-16 | 463 |
| 267 | 40 | 30 | प्रकृति र्ह्यस्योपादानम् | श्रीध | भाग० 11-24-19 | 208 |
| 268 | 46 | 31 | प्रकृतिं पुरुषञ्चैव | विज० | भ० गी० 13-19 | 305 |
| 269 | 29 | 28 | प्रतियात व्रजं नेह | विज० | भाग० 10-29-19 | 15 |
| 270 | 37 | 1 | प्रतियाते तु देवर्षौ | वीर० | भाग० 10-36-20 | 139 |
| 271 | 58 | 1 | प्रतीते प्रथितख्यात | विज० | अम० को० 3-10 | 552 |
| 272 | 58 | 1 | प्रतीतो भूषिते ख्यातौ | विज० | वैज० को० 7-4-16 | 552 |
| 273 | 57 | 42 | प्रत्ययस्तु ख्यातिरन्ध्र | विज | वैज० को० 7-1-51 | 549 |
| 274 | 60 | 22 | प्रत्यारम्भे प्रतिवचनोप | विज० | | 601 |
| 275 | 30 | 38 | प्रत्यारम्भे प्रसिद्धौ ह | विज० | वैज० को० 8-7-8 | 42 |
| 276 | 44 | 1 | प्रत्यारम्भे प्रसिद्धौ ह | विज | वैज० को० 8-7-8 | 259 |
| 277 | 40 | 22 | प्रद्युम्ने चाऽनिरुद्धे च | विज | तत्त्वनिर्णये | 206 |
| 278 | 46 | 31 | प्रधाना दिदमुत्पन्नम् | विज | | 304 |
| 279 | 44 | 48 | प्रभवाऽप्ययौ हि भूतानां | विज० | नृ० पू० उ० 4-2 | 275 |
| 280 | 47 | 28 | प्रव्रजन्त्येत द्ब्रह्म वैते | विज | बृह० उ० 4-4-22 | 325 |
| 281 | 38 | 10 | प्रश्नावधारणैतिह्य- | विज | वैज० को० 8-7-22 | 157 |
| 282 | 47 | 59 | प्रक्षावधारणैतिह्य- | विज | वैज० को० 8-7-22 | 343 |
| 283 | 30 | 3 | प्रश्ने विकल्पे तु स्विच्च | विज | वैज० को 8-7-6 | 28 |
| 284 | 37 | 9 | प्रसूनं फलपुष्पयोः | विज | वैज० को० 7-3-22 | 143 |
| 285 | 35 | 25 | प्रागयं वसुदेवस्य | श्रीध | भाग० 10-26-17 | 113 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 286 | 32 | 10 | प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढः | वीर | बृह० उ० 4-3-35 | 61 |
| 287 | 32 | 10 | प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढः | विज | बृह० उ० 4-3-35 | 62 |
| 288 | 32 | 10 | प्राज्ञेनाऽऽत्मना सम्परिष्वक्तः | वीर | बृह० उ० 4-3-21 | 61 |
| 289 | 33 | 34 | प्राणी तु चेतनो जन्मी | वीर | अम० को० 1-139 | 87 |
| 290 | 46 | 25 | प्रादेशताल गोकर्णाः | विज | अम० को० 2-343 | 302 |
| 291 | 60 | 35 | प्रायस्त्यक्तनृपासनान् | वीर० | भाग० 10-60-12 | 606 |
| 292 | 60 | 41 | प्रायस्सीदन्ति योषितः | विज० | भाग० 10-60-13 | 613 |
| 293 | 47 | 3 | प्रियं सत्यञ्च सूनृतम् | विज० | हलो० को० 1-141 | 314 |
| 294 | 38 | 22 | प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् | वीर० | भ० गी० 7-17 | 164 |
| 295 | 48 | 27 | प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् | वीर | भ० गी० 7-17 | 605 |
| 296 | 60 | 35 | प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् | वीर | भ० गी० 7-17 | 605 |
| 297 | 60 | 37 | प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् | विज० | भ० गी० 7-17 | 610 |
| 298 | 29 | 27 | प्रेष्ठो भवांस्तनुभृताम् | वीर० | भाग० 10-29-32 | 14 |
| | | | **ब** | | | |
| 299 | 38 | 11 | बलमानन्द ओजश्च | विज० | | 157 |
| 300 | 60 | 35 | बलवद्भिः कृतद्वेषान् | श्रीध | भाग० 10-60-12 | 604 |
| 301 | 60 | 35 | बलवद्भिः कृतद्वेषान् | वीर | भाग० 10-60-12 | 605 |
| 302 | 60 | 35 | बलवद्भिः कृतद्वेषान् | विज० | भाग० 10-60-12 | 607 |
| 303 | 60 | 35 | बलवा निन्द्रियग्रामः | विज० | भारत० 1. Add.1 114.51a | 607 |
| 304 | 47 | 30 | बहुस्यां प्रजायेय | वीर० | तैत्ति० उ० 2-6 | 330 |
| 305 | 50 | Addl. 4 8-13 | बहूनि स्थानजातानि | विज० | माहात्म्ये | 417 |
| 306 | 29 | 46 | बाहुपीडनकुचग्रहणाद्यैः | विज० | शिशु० वध० 10-72 | 25 |
| 307 | 46 | 31 | बीजं शुक्रे फलास्थ्न्यन्ने | विज० | वैज० को० 6-3-23 | 304 |
| 308 | 37 | 11 | ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष० | वीर० | तैत्ति० ब्रा० 2-8-9-6 | 143 |
| 309 | 47 | 30 | ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष० | वीर० | तैत्ति० ब्रा० 2-8-9-6 | 330 |
| 310 | 39 | 41 | ब्रह्मवेद स्तप स्तत्त्वम् | विज० | अम० को० 3-271 | 188 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 311 | 43 | 16,17 | ब्रह्मवेद स्तप स्तत्त्वम् | विज० | अम० को० 3-271 | 251 |
| 312 | 50 | addl. 4, 15 | ब्रह्मस्थो ब्रह्मनामाऽसौ | विज | स्कान्दे | 417 |
| 313 | 47 | 13 | ब्राह्मणं स्वयमाहूय | विज० | | 321 |
| 314 | 29 | 23 | ब्रूताऽऽगमनकारणम् | विज० | भाग० 10-29-18 | 13 |
| | | | **भ** | | | |
| 315 | 47 | 59 | भक्त्या त्वनन्यया | विज | भ० गी० 11-54 | 343 |
| 316 | 29 | 15 | भक्त्या वा कामभत्तया वा | विज० | भद्रिकायाम् | 9 |
| 317 | 29 | 15 | भक्त्या हि नित्यकामित्वं | विज | पाद्मे | 9 |
| 318 | 38 | 14 | भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम | विज | नृ० उ० ता० उ० 1 | 160 |
| 319 | 29 | 32 | भर्तृशुश्रूषणं स्त्रीणाम् | वीर० | भाग० 10-29-24 | 17 |
| 320 | 46 | 7 | भवतीनां वियोगो मे | श्रीध | भाग० 10-47-29 | 297 |
| 321 | 46 | 7 | भवतीनां वियोगो मे | वीर | भाग०10-47-29 | 297 |
| 322 | 60 | 39 | भिक्षुभिः श्लाधिता मुधा | श्रीध | भाग० 10-60-16 | 608 |
| 323 | 60 | 39 | भिक्षुभिः श्लाधिता मुधा | वीर | भाग० 10-60-16 | 609 |
| 324 | 35 | 8 | भूतिः श्रीजन्मभस्मसु | विज० | वैज० को० 6-2-27 | 106 |
| 325 | 60 | 12 | भूमनिन्दाप्रशंसासु | वीर | वार्तिक० 3183 Under अष्टा० 5-2-94 | 596 |
| 326 | 31 | 9 | भूरिस्वर्णं जातरूपं | विज० | | 52 |
| 327 | 40 | 17 | भृता मेव बिभर्तीशो | विज | तत्त्वनिर्णये | 204 |
| 328 | 33 | 23 | भेदो विशेषे दलने | विज० | वैज० को०6-1-42 | 82 |
| 329 | 59 | 1 | भौमं हत्वा तन्निरोधात् | वीर० | भाग० 10-58-58 | 573 |
| | | | **म** | | | |
| 330 | 32 | 23 | मदङ्गे जीर्णता यातु | वीर० | रामा 7-40-23 | 68 |
| 331 | 32 | 2 | मदनो मन्मयो मारः | विज० | रुद्रः | 60 |
| 332 | 38 | 38 | मधुपर्कश्च सक्षौद्रं | विज | | 170 |
| 333 | 40 | 16 | मनसैवाऽनुद्रष्टव्यम् | श्रीध | बृह० उ० 4-4-19 | 201 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 334 | 40 | 7 | मयि सर्वाणि कर्माणि | वीर० | भ० गी० 3-30 | 199 |
| 335 | 35 | 7 | मयूरो बर्हिणो बर्ही | विज० | अम० को० 2-248 | 106 |
| 336 | 29 | 1 | मयेमा रंस्यथ क्षपाः | वीर० | भाग० 10-22-27 | 3 |
| 337 | 32 | 23 | मय्येव जीर्णतां यातु | वीर० | | |
| 338 | 44 | 5 | मल्लयुद्धं नियुद्धज्ञा | विज० | सङ्ग्रामविजयवचनम् | 260 |
| 339 | 49 | 11 | महत्पूज्यविशालयोः | विज | वैज० को० 6-5-63 | 369 |
| 340 | 29 | 27 | माता पिता भ्राता | वीर० | सुबा० उ० 6-2-1 | 14 |
| 341 | 46 | 42 | माता पिता भ्राता | वीर० | सुबा० उ० 6-2-1 | 309 |
| 342 | 40 | 30 | मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे | विज० | वैज० को० 6-5-63 | 210 |
| 343 | 40 | 30 | मात्रा परिच्छदेऽर्धेशे | विज० | वैज० को० 6-5-62 | 210 |
| 344 | 35 | 24 | मानवो बदरः सिन्धुः | विज | स्कान्दे | 115 |
| 345 | 60 | 46 | मिलितौ वाव एतौ भवतो | विज० | | 616 |
| 346 | 60 | 43 | मुखन्तु वदने मुख्ये | विज | वैज० को० 6-3-25 | 614 |
| 347 | 40 | 14 | मुखादिन्द्रश्चाऽग्निश्च | विज० | पु० सू० 1-6 | 203 |
| 348 | 50 | addl. 3 | मौलि स्संयतकेशेषु | | वैज० को० 6-5-64 | 412 |
| | | | **य** | | | |
| 349 | 60 | 39 | य आत्मदा बलदाः | वीर० | ऋक्० सं० 10-121-2 | 609 |
| 350 | 42 | 31,32,33 | य उदगान्महतोऽर्णवात् | श्रीध | तैत्ति० आ० 4-42-5a | 241 |
| 351 | 42 | 32 | य उदगान्महतोऽर्णवात् | वीर० | तैत्ति० आ० 4-42-5a | 241 |
| 352 | 60 | 46 | य एष देवः परो ऽक्षरो | विज० | | 616 |
| 353 | 40 | 5 | य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः | वीर० | छान्दो० उ० 1-6-6 | 196 |
| 354 | 56 | 1 | यज्ञभेदे सदा दाने सत्रम् | विज० | अम० को० 3-336 | 522 |
| 355 | 40 | 4 | यथा हरिः स्वमात्मानं | विज० | माहात्म्ये | 197 |
| 356 | 58 | 13,14 | यदा च कृष्ण स्सन्दिष्टः | वीर | भाग० 10-58-24 | 556 |
| 357 | 33 | 27 | यदा यदा हि धर्मस्य | विज | भ० गी० 4-7 | 84 |
| 358 | 48 | 24 | यदा यदा हि धर्मस्य | वीर | भ० गी० 4-7 | 357 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 359 | 42 | 27 | यदैतद्भूतान्यन्वाविश्य | श्रीध | | 238 |
| 360 | 33 | 31 | यद्यदाचरति श्रेष्ठः | श्रीध० | भ०गी० 3-21 | 83 |
| 361 | 33 | 31 | यद्यदाचरति श्रेष्ठः | वीर० | भ०गी० 3-21 | 84 |
| 362 | 33 | 31 | यद्यदाचरति श्रेष्ठः | विज० | भ०गी० 3-21 | 85 |
| 363 | 53 | 47 | यद्यदाचरति श्रेष्ठः | वीर० | भ०गी० 3-21 | 484 |
| 364 | 32 | 21 | यमेवैष वृणुते तेन | विज | कठ० उ० 2-22 | 69 |
| 365 | 60 | 38 | ययो रात्मसमं वित्तम् | श्रीध० | भाग० 10-60-15 | 608 |
| 366 | 60 | 38 | ययो रात्मसमं वित्तम् | वीर० | भाग० 10-60-15 | 609 |
| 367 | 60 | 38 | ययो रात्मसमं वित्तम् | विज० | भाग० 10-60-15 | 610 |
| 368 | 29 | 27 | यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पाद | वीर० | भाग० 10-29-36 | 14 |
| 369 | 60 | 57 | यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय | श्रीध | भाग० 10-52-43 | 619 |
| 370 | 60 | 57 | यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय | वीर० | भाग० 10-52-43 | 620 |
| 371 | 46 | 31 | यस्त्वेष पुरुषः प्रकृतिः | विज० | | 304 |
| 372 | 45 | 32 | यस्य देवे परा भक्तिः | वीर० | श्वेता० उ० 6-23 | 288 |
| 373 | 29 | 16 | यस्य प्रासदात्परमार्ति | विज० | | |
| 374 | 40 | 12 | यस्याऽव्यक्तं शरीरम् | वीर० | सुबा० उ० 7-1 | 202 |
| 375 | 48 | 19 | यस्याऽव्यक्तं शरीरम् | वीर० | सुबा० उ० 7-1 | 353 |
| 376 | 29 | 15 | यं यं वाऽपि स्मरन्भावं | विज० | भ० गी० 8-6 | 9 |
| 377 | 46 | 35 | यात यूयं व्रजं तात | श्रीध० | भाग० 10-45-23 | 306 |
| 378 | 46 | 35 | यात यूयं व्रजं तात | वीर० | भाग० 10--45-23 | 306 |
| 379 | 29 | 1 | याताऽबला व्रजं सिद्धाः | श्रीध | भाग० 10-22-27 | 2 |
| 380 | 33 | 20 | याता बला व्रजं सिद्धाः | श्रीध० | भाग० 10-22-27 | 78 |
| 381 | 30 | 10 | युगेऽक्षपाते पर्याप्ते | विज | वैज० को० 6-5-21 | 30 |
| 382 | 40 | 9 | येऽप्यन्यदेवताभक्ताः | वीर | भ० गी० 9-23 | 199 |
| 383 | 38 | 22 | ये यथा मां प्रपद्यन्ते | श्रीध० | भ० गी० 4-1 | 163 |
| 384 | 38 | 22 | ये यथा मां प्रपद्यन्ते | वीर० | भ० गी० 4-11 | 164 |
| 385 | 46 | 31 | योग्यं यत्नक्षमारूप | विज० | वैज० को० 6-5-67 | 304 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 386 | 29 | 15 | योग्योपासां विना नैव | विज | भद्रिकायाम् | 9 |
| 387 | 46 | 31 | योनिः स्त्रीणां भगे स्थाने | विज | वैज० को० 6-5-66 | 304 |
| 388 | 51 | 51 | योनेस्सहस्राणि बहूनि | श्रीध | | 440 |
| 389 | 38 | 18 | यो मनसि तिष्ठन् | वीर० | बृह० उ० 3-7-20 | 161 |
| 390 | 59 | 28 | यो लोकत्रयमाविश्य | वीर० | भ० गी० 15-17 | 583 |
| 391 | 60 | 38 | योवाऽऽनन्दा द्विमुक्तः | विज | | 611 |
| | | | **र** | | | |
| 392 | 39 | 12 | रसो रागे विषे वीर्ये | विज | वैज० को० 6-1-49 | 173 |
| 393 | 52 | 18 | राक्षसो युद्धहरणात् | श्रीध | याज्ञ० स्मृ० 1-3-61 | 458 |
| 394 | 52 | 18 | राक्षसो युद्धहरणात् | वीर० | याज्ञ० स्मृ० 1-3-61 | 458 |
| 395 | 60 | 43 | राघवत्वेऽभवत्सीता | वीर० | विष्णु० पु० 1-9-144 | 613 |
| 396 | 60 | 44 | राजपुत्रीप्सिता भूपैः | श्रीध | भाग० 10-60-10 | 612 |
| 397 | 60 | 44 | राजपुत्रीप्सिता भूपैः | वीर० | भाग० 10-60-10 | 613 |
| 398 | 60 | 35 | राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रु | श्रीध | भाग० 10-60-12 | 604 |
| 399 | 60 | 35 | राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रु | वीर० | भाग० 10-60-12 | 605 |
| 400 | 60 | 35 | राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रु | विज | भाग० 10-60-12 | 606 |
| 401 | 60 | 40 | राजभ्यो बिभ्यतः | वीर० | भाग० 10-60-12 | 610 |
| 402 | 60 | 40 | राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रु | विज० | भाग० 10-60-12 | 611 |
| 403 | 50 | 1 addl. 4 | राजादनः प्रियालः स्यात् | विज० | अम० को 2-81 | 416 |
| 404 | 56 | 29 | राजाहस्सखिभ्यः | वीर० | अष्टा० 4-5-91 | 529 |
| 405 | 43 | 5 | रुद्रो मा विशान्तक | विज० | तैत्ति० आ० 10-37-1 | 246 |
| 406 | 43 | 21,22,23 | रूपं शब्दे पशौ श्लोके | विज | वैज० को० 6-3-28 | 252 |
| 407 | 43 | 17 | रौद्रोद्भुतश्च शृङ्गारः | श्रीध | | 250 |
| | | | **ल** | | | |
| 408 | 47 | 64 | लक्षणहेत्वोः | वीर० | अष्टा० 3-2-126 | 345 |
| 409 | 48 | 25 | लक्षणहेत्वोः | वीर० | अष्टा० 3-2-126 | 357 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 410 | 53 | 7 | लक्षणहेत्वोः | वीर | अष्टा० 3-2-126 | 473 |
| 411 | 56 | 31 | लक्षणहेत्वोः | वीर० | अष्टा० 3-2-126 | 531 |
| 412 | 60 | 19 | लक्षणहेत्वोः | वीर० | अष्टा० 3-2-126 | 599 |
| 413 | 37 | 18 | लक्षणं कर्णिके चिह्ने | विज० | वैज० को० 7-3-28 | 146 |
| 414 | 47 | 52 | लक्ष्म्या सह हृषीकेशः | वीर० | पाञ्चरात्रे | 338 |
| 415 | 35 | 16 | ललामोऽस्त्री ध्वजे श्रेष्ठे | विज० | वैज० को० 7-5-72 | 111 |
| 416 | 46 | 31 | लाभनिष्पत्तिभोगेषु | विज | वैज० को० 6-5-52 | 304 |
| 417 | 33 | 31 | लोकसङ्ग्रहमेवाऽपि | विज० | भ०गी० 3-20 | 85 |
| | | | **व** | | | |
| 418 | 50 | 1addl. 4 | वञ्चुलोऽशोके | विज० | अम० को 2-110 | 416 |
| 419 | 35 | 23 | वत्सो ना कुटजे वर्षे | विज० | वैज० को० 6-5-73 | 115 |
| 420 | 42 | 31 | वन भूकर्णसप्तानाम् | विज० | | 242 |
| 421 | 38 | 22 | वनस्पति वृक्षमात्रे | विज० | उत्पलमाला | 164 |
| 422 | 35 | 9 | वनं भास्यप्सु कानने | विज० | वैज० को० 6-3-31 | 106 |
| 423 | 51 | 46 | वरान्वृणीष्व राजर्षे | वीर० | भाग० 10-51-44 | 438 |
| 424 | 58 | 36 | वरो ना रूपजामात्रोः | विज० | वैज० को० 6-5-72 | 564 |
| 425 | 50 | 21 | वाजीत्यश्वे शरे खगे | विज० | वैज० को० 6-1-55 | 389 |
| 426 | 29 | 32 | वार्तासम्भाव्ययोः किल | विज | अम० को० 3-409 | 18 |
| 427 | 47 | 33 | वासुदेवपरावेदाः | विज० | भाग० 1-2-28 | 332 |
| 428 | 54 | 47 | विज्ञानघनएवैतेभ्यः | वीर | बृह० उ० 2-4-12 | 504 |
| 429 | 45 | 1 | विज्ञाय जगदीश्वरौ | वीर | भाग० 10-44-51 | 277 |
| 430 | 35- | 7 | विपुलानेकयो र्बहुः | विज | वैज० को० 6-4-10 | 106 |
| 431 | 29 | 15 | विमुक्तावपि कामिन्यः | विज० | स्कान्दे | 9 |
| 432 | 39 | 46 | विलोक्य सुभृशं प्रीतः | श्रीध० | भाग० 10-39-56 | 188 |
| 433 | 60 | 15 | विवाहश्च तथा मैत्री | वीर० | | 597 |
| 434 | 38 | 25 | विवाहहस्तसूत्रे च मङ्गले | विज० | | 165 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 435 | 31 | 14 | विश्राणनं वितरणम् | विज० | अम० को० 2-428 | 54 |
| 436 | 40 | 14 | विष्णो रङ्गसमुद्भूताः | विज० | अध्यात्मे | 203 |
| 437 | 51 | 38 | विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं | वीर० | ऋक्सं० 1-154-1 | 435 |
| 438 | 58 | 33 | वीरो राहौ हरौ शक्रे | विज० | वैज० को० 6-5-82 | 564 |
| 439 | 39 | 3 | वृत्तिर्ग्रन्थाजीवयोश्च | विज० | वैज० को० 6-2-36 | 173 |
| 440 | 45 | 6 | वृद्धौ च मातापितरौ | विज० | मनु० स्मृ० (प्रक्षिप्त श्लोकः)11-1 | 280 |
| 441 | 40 | 4 | वेदाहमेतं पुरुषम् | विज० | पु० सू० 2-1 | 197 |
| 442 | 53 | 47 | वैदर्भी भीमकसुतां | वीर० | भाग० 10-52-16 | 484 |
| 443 | 60 | 39 | वैदर्भ्येतदविज्ञाय | श्रीध० | भाग० 10-60-16 | 608 |
| 444 | 60 | 39 | वैदर्भ्येतदविज्ञाय | वीर० | भाग० 10-60-16 | 609 |
| 445 | 38 | 32 | वैन्यपार्थ बलेशादौ | विज० | माहात्म्ये | 167 |
| 446 | 44 | 41 | व्याघ्रसिंहौ मृगाधिपौ | विज० | | |
| | | | **श** | | | |
| 447 | 57 | 43 | शान्तिः प्रशममङ्गले | विज० | वैज० को० 6-2-39 | 549 |
| 448 | 47 | 59 | शीलं वृत्तस्वभावयोः | विज० | वैज० को० 6-3-33 | 343 |
| 449 | 40 | 31 | शुद्धस्फटिकसङ्काशं | विज० | | 210 |
| 450 | 29 | 27 | श्रीर्यत्पदाम्बुजरजः | वीर० | भाग० 10-29-37 | 14 |
| 451 | 42 | 6 | श्रेय स्तत स्ते न चिरात् | वीर० | भाग० 10-42-2 | 233 |
| 452 | 38 | 4 | श्रेयांसि बहुविघ्नानि | वीर० | | 153 |
| 453 | 53 | 6 | श्वो भाविनि त्व मजित | वीर | भाग० 10-52-41 | 473 |
| | | | **स** | | | |
| 454 | 40 | 10 | स आत्मा अङ्गान्यन्याः | वीर० | तैत्ति० उ० 1-5-1 | 199 |
| 455 | 48 | 26 | स आत्मा अङ्गान्यन्या | वीर० | तैत्ति० उ० 1-5-1 | 359 |
| 456 | 35 | 25 | सख उदेयिवान् सात्त्वतां | श्रीध | भाग० 10-31-4 | 113 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 457 | 33 | 1 | स तत्र पर्येति जक्षन् | विज० | छान्दो० उ० 8-12-3 | 72 |
| 458 | 53 | 25 | सती सतीयोग विसृष्ठदेहा | विज० | कुमा० सं०1- | 478 |
| 459 | 32 | 14 | सतोबन्धु मसति निरविन्दन् | विज० | नृ० पू० ता० उ० 1-1 | 64 |
| 460 | 40 | 5 | सत्यं ज्ञान मनन्तम् | वीर० | तैत्ति० उ० 2-1-1 | 196 |
| 461 | 40 | 30 | सत्यं ज्ञानमनन्तम् | विज० | तैत्ति० उ० 2-1-1 | 210 |
| 462 | 33 | 34 | सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु | वीर० | अम० को० 3-368 | 87 |
| 463 | 33 | 34 | सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तम् | वीर० | भ० गी० 18-40 | 87 |
| 464 | 29 | 13 | सदा द्वेषिणामधरं तमः | विज | स्कान्दे | 8 |
| 465 | 45 | 34 | सन्धिश्च विग्रहश्चैव | वीर० | | 288 |
| 466 | 45 | 34 | सन्धिर्ना विग्रहो यानम् | श्रीध | अम० को० 2-475 | 287 |
| 467 | 32 | 22 | सन्निकर्षो हि मर्त्यानाम् | विज० | | 69 |
| 468 | 38 | 11 | सन् सत्येऽभ्यर्हिते श्रेष्ठे | विज० | वैज० को० 8-4-16 | 157 |
| 469 | 32 | 20 | स पिता यस्तु पोषकः | श्रीध | | 66 |
| 470 | 34 | 23 | सप्त स्वरा स्त्रयो ग्रामाः | विज० | | 98 |
| 471 | 40 | 6 | सप्रथम स्सङ्कृति र्विश्व- | श्रीध | | 194 |
| 472 | 38 | 10 | समभेदे समीचीने | विज० | वैज० को० 8-7-8 | 157 |
| 473 | 34 | 2 | समर्थेऽधिपतौ प्रभुः | विज० | वैज० को० 6-4-10 | 92 |
| 474 | 37 | 11 | समर्थेऽधिपतौ प्रभुः | विज | वैज० को० 6-4-10 | 144 |
| 475 | 33 | 8 | समस्तभावैः खलु बन्धनं | विज | | 75 |
| 476 | 48 | 31 | समा स्त्री वत्सरे धातु | विज | | 363 |
| 477 | 60 | 47 | समुच्चयेऽनुमत्या चाऽपि | विज० | | 617 |
| 478 | 39 | 24 | समुद्रोर्मिवदुन्नम्य | विज० | | 180 |
| 479 | 33 | 13 | समूहे मण्डले खण्डम् | विज० | उत्पलमाला | 77 |
| 480 | 41 | 5 | सम्बुद्धौ नपुंसकानां वा | वीर | वार्तिक under अष्टा० | 212 |
| 481 | 35 | 9 | सर्गः स्वभावनिर्मोक | विज | अम० को० 3-178 | 106 |
| 482 | 40 | 6 | सर्वदेवेष्वपि हरिः | विज० | अध्यात्मे | 198 |
| 483 | 51 | 52 | सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः | वीर० | बृह० उ० 4-4-22 | 440 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 484 | 40 | 5 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान् | वीर० | छान्दो० उ० 3-14-1 | 196 |
| 485 | 48 | 20 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' | वीर | छान्दो० उ० 3-14-1 | 354 |
| 486 | 50 | addl. 3 | सर्वावतारभिन्नोऽपि | विज | षाड्गुण्ये | 412 |
| | | 21-30 | | | | |
| 487 | 47 | 28 | स वा अय मात्मा ब्रह्म | विज० | बृह० उ० 4-4-5 | 325 |
| 488 | 29 | 34 | स हि सर्वमनोवृत्तिप्रेरकः | विज० | | 19 |
| 489 | 40 | 13 | स हि सर्वमनोवृत्तिप्रेरकः | विज० | | 203 |
| 490 | 31 | 10 | संविद्युद्धे प्रतिज्ञायां | विज | | 52 |
| 491 | 29 | 1 | साक्षान्मन्मथमन्मथः | श्रीध | भाग० 10-32-2 | 2 |
| 492 | 39 | 3 | सायं प्रात द्विजातीनां | विज० | मनु० स्मृ० | 173 |
| | | | | | Addl. V after 2-52 | |
| 493 | 44 | 8 | सारो बले स्थिरांशेऽर्थे | विज० | वैज०. को० 6-5-97 | 261 |
| 494 | 50 | 1 | सालं सर्जञ्च सूरयः | विज० | हला० को० 2-40 | 416 |
| 495 | 42 | 24 | सुखं प्रभाता रजनीयम् | श्रीध | भाग० 10-39-23 | 238 |
| 496 | 42 | 24 | सुखं प्रभाता रजनीयम् | वीर | भाग० 10-39-23 | 239 |
| 497 | 50 | 49,50 | सुदुरो रधिकरणे | विज० | वार्तिक under अष्टा० | 421 |
| 498 | 47 | 13 | सुमनाः पुष्पमालत्योः | विज० | वैज० को० 7-5-90 | 321 |
| 499 | 37 | 15 | सुरमत्स्यावनिमिषौ | विज० | अम० को० 3-374 | 146 |
| 500 | 46 | 8 | सूर्यवह्नी विभावसू | विज० | अम० को० 3-381 | 298 |
| 501 | 51 | before IIV | सेनारक्षाश्च सैनिकाः | विज० | अम० को० 2-518 | 382 |
| 502 | 47 | 12 | सोत्प्रासस्समनाविस्मितं | विज० | अम० को० 1-216 | 320 |
| 503 | 60 | 39 | सोद्भ्य एवं पुरुषं | विज० | | 611 |
| 504 | 51 | 55 | सोऽहं तवानुग्रहार्थम् | वीर० | भाग० 10-51-43 | 441 |
| 505 | 34 | 11 | सौन्दर्ये च स्वभावे च | विज | वैज० को० 6-3-28 | 95 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 506 | 36 | 61 | सौम्यो विप्रे सोमजेऽब्दे | विज० | वैज० को० 6-5-98 | 134 |
| 507 | 40 | 5 | स्थितो ब्रह्मादिदेवेषु | विज० | अध्यात्मे | 197 |
| 508 | 29 | 15 | स्नेह भक्तास्सदा देवाः | विज | पाद्मे | 9 |
| 509 | 29 | 26 | स्यात्कष्टं कृच्छ्रम् | विज० | अम० को० 1-235 | 15 |
| 510 | 60 | 50 | स्यान्मे तवाऽङ्घ्रिरणम् | वीर० | भाग० 10-60-43 | 616 |
| 511 | 37 | 13 | स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः | विज० | छान्दो० उ० 7-24-1 | 146 |
| 512 | 37 | 24 | स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः | वीर | छान्दो० उ० 7-24-1 | 148 |
| 513 | 52 | 36 | स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः | वीर | छान्दो० उ० 7-24-1 | 464 |
| 514 | 52 | 33 | स्वोज्जीवनेच्छा यदि ते | वीर | विष्णुतत्त्वम् | 463 |
| | | | **ह** | | | |
| 515 | 30 | 40 | हा विषाद शुगार्तिषु | विज० | वैज० को० 8-7-8 | 43 |
| 516 | 60 | 39 | हि र्हेतावववधारणे | विज० | वैज० को० 8-7-9 | 611 |
| 517 | 33 | 31 | हि स्या द्विशेषणे हेतौ | विज० | वैज० को० 8-7-9 | 85 |
| 518 | 50 | 52 | हृद्युभ्यामुपसंख्यानम् | विज० | वार्तिक 3885 under अष्टा० 8-3-95 | 421 |
| 519 | 37 | 1 | हेषा हेषा च वाजिनाम् | विज० | हला० को० 1-151 | 140 |

# श्रीमद्भागवतम्
## पञ्चाशाध्यायान्तर्गतानां विजयध्वजतीर्थादृतानां अधिकपाठरूपाणां श्लोकानां अकारादि क्रमेण पादानुक्रमणिका


| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **अ** | | | |
| अक्रूरप्रमुखै र्हरिः | 50 | 167 | b |
| अग्रे मगधराजस्य | 50 | 67 | c |
| अजानन्तो विष्णुशक्तिम् | 50 | 107 | a |
| अतो मे पश्य दुर्बुद्धे | 50 | 41 | a |
| अदृश्यन्त परानीके | 50 | 124 | c |
| अनयद्यमसादनम् | 50 | 43 | b |
| अनादत्तप्रहरणा | 50 | 72 | a |
| अनापृच्छ्य च भूपतिम् | 50 | 152 | b |
| अनारोपितपञ्जराः | 50 | 71 | d |
| अनेकबालव्यजनानि | 50 | 86 | b |
| अनेकशो वै प्रजहार | 50 | 142 | d |
| अन्योन्यप्रियकारिणौ | 50 | 93 | b |
| अन्योन्यवधकाङ्क्षिणौ | 50 | 190 | d |
| अन्वीयमानो भगवान् | 50 | 161 | a |
| अपरद्वार्यपि तथा | 50 | 30 | a |
| अपायात्समराङ्गणात् | 50 | 151 | d |
| अपास्य निमिषान्तरे | 50 | 117 | d |
| अपोवाह रणात्तूर्णम् | 50 | 150 | e |
| अप्रविष्टासवर्माणः | 50 | 72 | c |
| अभिविद्धो रथोपस्थे | 50 | 150 | a |
| अभिष्टुतो मागधसूत | 50 | 157 | d |
| अभ्यवर्षच्छरौघेण | 50 | 187 | a |
| अभ्येत्य गदया रामम् | 50 | 133 | e |
| अभ्रङ्कषमहाद्रुमम् | 50 | 183 | d |
| अयस्सारमयीं दृढाम् | 50 | 133 | d |
| अयुतञ्च गजे गजे | 50 | 124 | b |
| अर्के तमसि नश्यति | 50 | 69 | b |
| अर्हणै रर्हयामास | 50 | 99 | a |
| अलङ्कृतं सह नृपैः | 50 | 100 | a |
| अलङ्कृतै र्गजै रश्वैः | 50 | 90 | a |
| अवरुह्य गिरेः शृङ्गात् | 50 | 214 | c |
| अवाप कृष्णोऽगणितानि | 50 | 86 | d |
| अवापतु र्यत्र मेघाः | 50 | 199 | c |
| अविसृष्टौ मागधेन | 50 | 152 | c |
| अश्मकुट्टनिभां दृढाम् | 50 | 134 | b |
| असङ्ख्यातं ददौ राजन् | 50 | 104 | c |
| अहं हि भृत्यस्तव वैनतेयः | 50 | 210 | c |
| **आ** | | | |
| आकर्णान्तं समाकृष्य | 50 | 47 | a |
| आकर्षन्निव भूपालान् | 50 | 59 | c |
| आकृष्याकर्ण माशुगैः | 50 | 148 | d |
| आगच्छन्ददृशे देवं | 50 | 206 | c |
| आगत्य मधुरां रोद्धुम् | 50 | 60 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| आच्छाद्य भूपान् विद्राव्य | 50 | 159 | c |
| आजगाम कुरुश्रेष्ठ | 50 | 216 | c |
| आज्ञापयामास तूर्णम् | 50 | 18 | c |
| आज्ञापयामास बाणः | 50 | 105 | c |
| आत्ताभीष्टप्रहरणः | 50 | 22 | c |
| आदत्स्व ते मुसलं राम | 50 | 127 | a |
| आददे पञ्च नाराचान् | 50 | 147 | c |
| आदाय घोरं मुसलं | 50 | 128 | c |
| आदाय दमघोषजः | 50 | 38 | b |
| आदायामर्षविह्वलः | 50 | 52 | b |
| आप्यायिताः शार्ङ्गखेण | 50 | 35 | d |
| आभ्यां भवन्तौ रणदुर्म | 50 | 118 | a |
| आरुह्य कदलीकाण्ड | 50 | 196 | c |
| आरुह्य दृढविक्रमाः | 50 | 77 | b |
| आलक्ष्य दूरा दधिगम्य | 50 | 126 | c |
| आवर्तयित्वा मुसलं | 50 | 129 | a |
| आश्वासयन् क्षत्रियकूट | 50 | 33 | d |
| आसन्नासन्ननिधनम् | 50 | 145 | c |
| आससाद महाघोरौ | 50 | 32 | c |
| आसीच्चतुर्भि रष्टानां | 50 | 28 | c |
| आसीद्यदूनां कथनं | 50 | 29 | c |
| आसीनं काञ्चनासने | 50 | 100 | b |
| आह दारुक मासीनं | 50 | 24 | a |
| आहुकं वसुदेवञ्च | 50 | 113 | a |
| आहूय सर्वभूपालान् | 50 | 56 | a |
| आहूयाक्षौहिणिगणैः | 50 | 58 | c |
| **इ** | | | |
| इति कर्तव्यतामूढम् | 50 | 74 | c |
| इति ब्रुवति गोविन्दे | 50 | 41 | c |
| इत्युक्तस्तं निजपुरम् | 50 | 97 | c |
| इत्युक्त स्तेन धर्मात्मा | 50 | 175 | a |
| इत्युक्तो दारुक स्तेन | 50 | 26 | a |
| इत्युक्तौ जामदग्न्येन | 50 | 178 | c |
| इत्युक्तौ तेन रामेण | 50 | 182 | a |
| इत्युक्त्वा तं विसृज्योभौ | 50 | 213 | c |
| इत्युक्त्वा देवदेवेशं | 50 | 211 | a |
| इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै | 50 | 102 | a |
| इत्येता न्यायुधान्याजौ | 50 | 16 | c |
| इत्येव मुक्तो मगधेश्वरेण | 50 | 128 | a |
| इदञ्चोवाच भगवान् | 50 | 173 | c |
| इदं राज्य मिमाः प्रजाः | 50 | 101 | d |
| इन्द्रनीलसहस्राढ्यं | 50 | 203 | a |
| इमे भूपा न सेहिरे | 50 | 96 | b |
| **ई** | | | |
| ईश्वरौ रामकेशवौ | 50 | 213 | d |
| **उ** | | | |
| उग्रसेनं तथा गदम् | 50 | 112 | d |
| उग्रसेनं सुदामानं | 50 | 20 | a |
| उग्रसेनोद्धव मुखैः | 50 | 167 | a |
| उत्तमौजाश्च रुक्मी च | 50 | 5 | c |
| उत्तरद्वार मासाद्य | 50 | 8 | c |
| उत्तरेण विनिर्गत्य | 50 | 23 | a |
| उत्तीर्य यमुनां हरिः | 50 | 169 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| उदतिष्ठ दमेयात्मा | 50 | 141 | c |
| उदयाद्रिं समारोहत् | 50 | 69 | a |
| उद्वेलाऽभोधिसन्निभाः | 50 | 9 | b |
| उपगीयमानोन्यरमत् | 50 | 61 | a |
| उपजह्रुः पुरौकसः | 50 | 164 | b |
| उपतस्थे जरासन्धम् | 50 | 92 | a |
| उपर्यासीद्धलायुधः | 50 | 137 | b |
| उपविश्य वरासने | 50 | 165 | b |
| उपायनानि दिव्यानि | 50 | 163 | c |
| उपासीनो महाबाहुः | 50 | 202 | a |
| उपेतं सालभूषितम् | 50 | 109 | d |
| उरसोरः समाहस्य | 50 | 139 | c |
| उरस्याहत्य मागधम् | 50 | 135 | b |
| उल्मुको वेणुदारी च | 50 | 2 | c |
| उवाच दानवपतिः | 50 | 100 | c |
| उषस्यनुदिते सूर्ये | 50 | 63 | c |
| उषित्वा भरतर्षभ | 50 | 215 | b |
| **ऊ** | | | |
| ऊरौ च जानौ जहरे च वक्षसि | 50 | 142 | c |
| ऊषतुः पर्वतोत्तमे | 50 | 200 | d |
| **ए** | | | |
| एकलव्यो बाह्लिकश्च | 50 | 4 | a |
| एकैकस्मिन् दश दश | 50 | 123 | e |
| एकैकं नृपतीन्रणे | 50 | 43 | d |
| एतस्मिन्नेव काले तु | 50 | 12 | a |
| एतस्मिन्नेव काले तु | 50 | 201 | a |
| एते नियुक्ता राजानः | 50 | 6 | a |
| एते गजा इमे ह्यश्वाः | 50 | 101 | c |
| एतैस्समसुखासुखः | 50 | 96 | d |
| एभि रालोच्य शर्वर्याम् | 50 | 63 | a |
| एव मस्तु महाबाहो | 50 | 180 | a |
| एवं धनुश्शतशतम् | 50 | 140 | a |
| एवं ध्यायति गोविन्दे | 50 | 1 | a |
| एवं प्रहरतो स्तत्र | 50 | 144 | a |
| एवं स राजमार्गेण | 50 | 164 | c |
| एवं सा व्यथिता सेना | 50 | 83 | a |
| एहि काले मया स्मृतः | 50 | 213 | b |
| **क** | | | |
| कङ्कबर्हिण वाससः | 50 | 123 | b |
| कदम्ब निम्बहिन्ताल | 50 | 196 | a |
| कमण्डलुविराजितम् | 50 | 171 | b |
| करवीरपुरङ्गतौ | 50 | 214 | d |
| करवीरपुरञ्चैव | 50 | 184 | a |
| करवीरपुरं नाम | 50 | 180 | c |
| करवीरपुरं महत् | 50 | 193 | b |
| कर्षणस्थैश्च पाषाणैः | 50 | 110 | c |
| कलिङ्ग केकया नान्ध्रान् | 50 | 57 | c |
| कलिङ्गश्चेकितानश्च | 50 | 2 | a |
| कलिन्दकुन्तलावन्ति | 50 | 57 | a |
| कारयामास सत्क्रियाम् | 50 | 98 | b |
| कार्याणां कारणं पूर्वम् | 50 | 177 | a |
| कालान्तमारुतोद्धूत | 50 | 48 | a |
| काशीगान्धारसृञ्जयान् | 50 | 57 | b |
| किमर्थ मिह सम्प्राप्तौ | 50 | 178 | a |
| किरीटपट्टाङ्गदकुण्डलां | 50 | 86 | c |
| किरीटं दिव्यभूषणम् | 50 | 207 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| किरीटं भास्करोपमम् | 50 | 206 | b |
| किरीटं रत्नचित्रितम् | 50 | 202 | d |
| किंशुका इव पुष्पिताः | 50 | 122 | d |
| कीर्यमाणो व्यराजत | 50 | 163 | b |
| कुञ्जराश्च तदा राजन् | 50 | 71 | c |
| कुञ्जराश्छिन्नपुष्कराः | 50 | 120 | b |
| कुणिन्दश्च महाबलः | 50 | 7 | d |
| कुन्तैः कुठारैः कुद्दालैः | 50 | 110 | a |
| कुम्भाण्डकूपकर्णौ क्व | 50 | 106 | c |
| कुम्भाण्डकूपकर्णौ च | 50 | 115 | c |
| कुम्भाण्डं कूपकर्णञ्च | 50 | 105 | a |
| कुम्भाण्डं गणमन्त्रिणम् | 50 | 149 | b |
| कुम्भाण्डं हन्तु माहवे | 50 | 147 | d |
| कुम्भाण्डेन समर्दितः | 50 | 146 | d |
| कुरु पाञ्चाल केरलान् | 50 | 56 | d |
| कूपकर्णस्तु दैतेयः | 50 | 151 | a |
| कृतवर्माण मुद्धवम् | 50 | 19 | b |
| कृत्वा युद्धं महाघोरं | 50 | 205 | c |
| कृष्णसङ्कर्षणादिभिः | 50 | 62 | b |
| कृष्णस्तं मुनिपुङ्गवम् | 50 | 173 | d |
| कृष्णः कमललोचनः | 50 | 114 | b |
| कृष्णेन स्वामिनि हते | 50 | 192 | c |
| कृष्णो निर्यातयामास | 50 | 19 | c |
| क्वचिदात्तप्रहरणाः | 50 | 75 | c |
| केचिद्धता स्समापेतुः | 50 | 120 | a |
| केचिद्धयानपर्याणान् | 50 | 77 | a |
| केचिद्धटा स्समापेतुः | 50 | 75 | a |
| केचिद्विभिन्नवर्माणः | 50 | 76 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| केचिद्विसृज्य शिबिरम् | 50 | 79 | a |
| केचिन्मागधमासाद्य | 50 | 79 | c |
| कोशादिधनसञ्चयम् | 50 | 194 | b |
| क्रमेण ते विमनसः | 50 | 145 | a |
| क्रमेण निर्भिन्नहृदो | 50 | 34 | b |
| क्रुद्ध स्सर्प इव श्वसन् | 50 | 147 | b |
| क्रोधसंरक्तलोचनौ | 50 | 138 | b |
| क्रोधोद्वृत्तारुणेक्षणाः | 50 | 76 | d |
| क्वचित्ते श्रवणं गतौ | 50 | 174 | d |
| क्व सुरासुरसङ्घात | 50 | 106 | a |
| क्षणमात्रं दिशो दश | 50 | 83 | d |
| क्षणा दादत्त मुसलम् | 50 | 141 | e |
| क्षणेन मुकुटोज्ज्वलम् | 50 | 191 | d |
| क्षणेन व्यंसितस्त्वयम् | 50 | 130 | d |
| क्षत्रियै श्शतसम्मितैः | 50 | 119 | b |
| क्षीरोदे सागरोत्तमे | 50 | 201 | b |
| क्ष्वेलन्तो युद्धसन्नद्धाः | 50 | 10 | a |
| **ख** | | | |
| खड्गो नन्दकसंज्ञितः | 50 | 14 | d |
| **ग** | | | |
| गगनात्सूर्यवर्चसौ | 50 | 12 | b |
| गगनादागतानि सः | 50 | 16 | d |
| गच्छन्क्वचि द्वनोद्देशे | 50 | 170 | a |
| गच्छन्तौ दक्षिणापथम् | 50 | 183 | b |
| गच्छ भद्र यथाकामं | 50 | 213 | a |
| गजानां षष्टिसाहस्रम् | 50 | 102 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| गजाश्वरथवल्लभान् | 50 | 59 | d |
| गतं कुम्भाण्डमालोक्य | 50 | 151 | c |
| गताञ्च दानवीं सेनां | 50 | 154 | a |
| गत्वा यादवसत्तमः | 50 | 164 | d |
| गदं सारणमेव च | 50 | 65 | b |
| गदा कौमोदकी गुर्वी | 50 | 13 | c |
| गदा मादाय दुर्मदः | 50 | 141 | b |
| गदां शृङ्गोपमां गिरिः | 50 | 53 | b |
| गन्धताम्बूलपूर्वकैः | 50 | 98 | d |
| गायत्स्वलिकुलेषु च | 50 | 70 | b |
| गरुडं पक्षिपुङ्गवम् | 50 | 212 | b |
| गिरिकूटोपमां गदाम् | 50 | 131 | b |
| गृहीता बहव स्तुङ्गाः | 50 | 95 | a |
| गृहीत्वा रत्ननिचयं | 50 | 206 | a |
| गोपुराट्टालतोरणैः | 50 | 109 | b |
| गोपेनाधर्मचारिणा | 50 | 94 | b |
| गोमन्तं गच्छ साग्रजः | 50 | 180 | b |
| गोमन्तं द्रष्टु मिच्छवो | 50 | 179 | a |
| गोमन्तं पर्वतश्रेष्ठं | 50 | 195 | a |
| गोमन्तं पर्वतोत्तमम् | 50 | 168 | b |
| गोमन्तं साध्ववात्स्यथ | 50 | 181 | d |
| गोमन्ते पर्वतोत्तमे | 50 | 207 | b |
| गोमेदकशताचितम् | 50 | 203 | b |
| गोविन्द स्तु महातेजाः | 50 | 22 | a |
| गोविन्द स्तु महातेजाः | 50 | 159 | a |
| गोविन्दः परवीरहा | 50 | 26 | d |
| गोविन्दाध्मातचेतसाम् | 50 | 29 | b |

## च

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| चकर्त प्रहसन्निव | 50 | 46 | b |
| चकार कलहोद्यमम् | 50 | 56 | b |
| चकार कुक्षौ तत्कण्ठम् | 50 | 136 | c |
| चकारामितविक्रमः | 50 | 137 | d |
| चक्रं सुदर्शनं घोरं | 50 | 13 | a |
| चक्रुर्भूयो रणोद्योगं | 50 | 107 | c |
| चक्रु श्शरौघैस्सहसैक | 50 | 75 | c |
| चक्रुः केचन सङ्गहम् | 50 | 78 | d |
| चतुरङ्गबलान्वितः | 50 | 108 | d |
| चतुरङ्गेषु मागधः | 50 | 125 | b |
| चतुर्द्वारस्य पालने | 50 | 18 | d |
| चतुर्भि स्तुरगानाशु | 50 | 38 | c |
| चलत्कदलिकोपेतां | 50 | 162 | a |
| चापेनैकेन गोविन्दः | 50 | 119 | a |
| चालयन्नभ्यगाद्बलम् | 50 | 131 | d |
| चिक्षेप बलवक्षसि | 50 | 52 | d |
| चिक्षेप राजन् व्यनदत् | 50 | 129 | d |
| चिच्छेद यदुपुङ्गवः | 50 | 45 | b |
| चीरकृष्णाजिनधरं | 50 | 171 | a |
| चूर्णयामासतु नृप! | 50 | 140 | d |
| चैद्यं विव्याध सङ्गरे | 50 | 47 | b |

## छ

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| छत्राणि हेमाम्बररत्न | 50 | 86 | a |
| छादय न्निव माधवौ | 50 | 187 | b |
| छिन्नपादोरुबाहवः | 50 | 76 | b |
| छिन्नपादोरुबाहवः | 50 | 122 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **ज** | | | |
| जगता मादिपूरुषम् | 50 | 177 | b |
| जगाम मगधानेव | 50 | 218 | a |
| जगाम शोणितपुरम् | 50 | 88 | c |
| जग्मतु र्दक्षिणामुखौ | 50 | 182 | d |
| जग्मतु र्मधुरां पुरीम् | 50 | 215 | d |
| जग्मतु श्शोणितं पुरं | 50 | 152 | f |
| जग्राहाऽऽश्लिष्य बलिनं | 50 | 135 | c |
| जघान स बहून् वीरान् | 50 | 80 | c |
| जघ्नु र्भेरी स्सहस्रशः | 50 | 10 | b |
| जटामण्डलमण्डितम् | 50 | 170 | d |
| जत्रुण्यंसेभुजयोर्नाभि | 50 | 142 | b |
| जयी व्यावर्तताऽऽहवात् | 50 | 84 | d |
| जरासन्ध निबोधेदम् | 50 | 101 | a |
| जरासन्धेन भारत | 50 | 6 | b |
| जरासन्धेन सहिताः | 50 | 8 | a |
| जरासन्धो महाबलः | 50 | 50 | b |
| जरासुत स्सम्प्रति नम्र | 50 | 158 | a |
| जरासुतः प्राह हलायुधं | 50 | 126 | d |
| जहार चाऽन्ते भगवन् | 50 | 209 | d |
| जहार देवदेवस्य | 50 | 202 | c |
| जानुनु धरणीं कृत्वा | 50 | 211 | c |
| जाने त्वां यदुषूत्पन्नं | 50 | 176 | c |
| जानेऽवतीर्णं भुवने | 50 | 210 | b |
| जामदग्न्य तपोधन! | 50 | 174 | b |
| जामदग्न्येन माधवौ | 50 | 182 | f |
| जामदग्न्यो जनार्दनम् | 50 | 179 | d |
| जित्वा दानवपुङ्गवम् | 50 | 205 | d |
| **त** | | | |
| तत उत्थाय तौ वीरौ | 50 | 138 | a |
| तत श्चतुर्द्वारगतान् | 50 | 35 | a |
| ततश्च त्रिंशतां राज्ञां | 50 | 44 | c |
| तत श्शशाङ्काकृतिणाञ्च | 50 | 33 | a |
| तत स्तत्सैनिकास्सर्वे | 50 | 192 | a |
| तत स्त माह गोविन्दः | 50 | 40 | a |
| तत स्तौ पेततुर्भुवि | 50 | 136 | d |
| तत स्तौ रामगोविन्दौ | 50 | 193 | a |
| ततः कालायसीं गुर्वीं | 50 | 131 | a |
| ततः पञ्चशरान् घोरान् | 50 | 38 | a |
| ततः प्रववृते युद्धम् | 50 | 115 | a |
| ततो दश हरि र्भल्लान् | 50 | 46 | c |
| ततोन्तरिक्षे घनघोष | 50 | 156 | a |
| ततोऽब्रवीज्जरासन्धः | 50 | 93 | c |
| ततोऽभूत्परसैन्यानां | 50 | 27 | c |
| ततो हरिं चैद्यपतिः | 50 | 36 | a |
| ततो हाहारवो जज्ञे | 50 | 148 | a |
| तत्र तौ चतुरो मासान् | 50 | 215 | a |
| तत्र प्रवर्षणं नाम | 50 | 198 | a |
| तत्र यादव शार्दूलः | 50 | 32 | a |
| तत्राऽऽरुह्य यदुश्रेष्ठौ | 50 | 200 | a |
| तत्राऽऽसीनै र्बुद्धिमद्भिः | 50 | 166 | c |
| तदा तै र्वर्धमानेषु | 50 | 125 | a |
| तथाऽन्ये लोकपालाश्च | 50 | 222 | a |
| तथा पञ्चनदेश्वरः | 50 | 4 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तदद्भुत मिवाऽभवत् | 50 | 28 | d | तं दृष्ट्वा यादवश्रेष्ठः | 50 | 212 | a |
| तदद्भुत मिवाऽभवत् | 50 | 39 | d | तं भुक्तवन्तं विश्रान्तम् | 50 | 99 | c |
| तदद्भुत मिवाऽभवत् | 50 | 124 | d | तं मागधं क्षणेनाऽधः | 50 | 137 | c |
| तदनीक मनाधृष्यं | 50 | 187 | c | तं मागधो वक्षसि कन्धरे च | 50 | 143 | a |
| तदाकर्ण्य रणोद्योगम् | 50 | 61 | c | तं विचेतन मालोच्य | 50 | 150 | c |
| तदाऽऽकर्ण्याऽब्रवीद्रामः | 50 | 179 | c | तं विसृज्य जरासन्धः | 50 | 141 | a |
| तदाऽनारूढवाहनाः | 50 | 72 | d | तं हत्वा समरे शैलं | 50 | 181 | c |
| तदा पराजितो युद्धे | 50 | 217 | c | त मनुद्रुत्य वार्ष्णेयः | 50 | 84 | a |
| तदीयैर्भृत्यपूरुषैः | 50 | 194 | d | तावधाव दमर्षणः | 50 | 189 | b |
| तद्गजाश्वरथानीक | 50 | 194 | a | तावाकृष्य परस्परम् | 50 | 140 | b |
| तद्वीरभूपालकदम्ब | 50 | 11 | a | ता वुभौ गिरिसङ्काशौ | 50 | 51 | c |
| तन्मूले तुङ्ग तोरणम् | 50 | 184 | b | तावुभौ परमक्रुद्धौ | 50 | 139 | a |
| तन्मूले परिपालितम् | 50 | 180 | d | ता वुभौ परमक्रुद्धौ | 50 | 190 | a |
| तमनुज्ञाप्य सर्वज्ञं | 50 | 182 | c | तावेव मुक्तौ कदनं भया | 50 | 118 | c |
| तमन्तरे समासाद्य | 50 | 205 | a | तां गदां पतितां वक्षसि | 50 | 134 | a |
| तमन्वधावत्त्वरितं | 50 | 204 | e | तांस्तान् प्रत्येकशः कृष्णः | 50 | 42 | c |
| तमभ्यधाव द्गोविन्दः | 50 | 37 | a | तिष्ठ तिष्ठेति चाऽब्रवीत् | 50 | 36 | d |
| तमापतन्त मालोक्य | 50 | 132 | a | तीक्ष्णधारः शितमुखः | 50 | 14 | c |
| तमापतन्ती तरसा | 50 | 53 | a | तुङ्गद्रुमलतान्वितम् | 50 | 195 | b |
| तमायान्त मभिप्रेक्ष्य | 50 | 189 | c | तुङ्गप्राकार गोपुरम् | 50 | 161 | d |
| तमेवाऽभ्यद्रवत्पद्भ्याम् | 50 | 132 | c | तुरगाश्शैब्यसुग्रीव | 50 | 15 | c |
| तयो र्निपततो राजन् | 50 | 137 | a | तुरङ्गमाश्च बहवः | 50 | 95 | c |
| तर्पयामि नृपान् संर्वान् | 50 | 25 | c | तुरङ्ग रथकुञ्जराः | 50 | 186 | d |
| तस्थौ प्राञ्जलि स्रग्रतः | 50 | 211 | d | तुरङ्गः कृत्तकन्धरः | 50 | 120 | d |
| तस्य मूर्ध्नि निधायाऽऽशु | 50 | 207 | c | तूणौ चाक्षयसायकौ | 50 | 15 | b |
| तस्य शङ्खध्वनिं श्रुत्वा | 50 | 185 | c | तृतीये मासि भूयश्च | 50 | 55 | a |
| तं कामपालो मुसलेन | 50 | 142 | a | तेजसा भास्करोपमम् | 50 | 171 | d |
| तं तथा यान्त माकर्ण्य | 50 | 89 | a | तेन राजन्यकटकं | 50 | 47 | c |
| तं त्वा यदो र्वंशकरं | 50 | 210 | a | तेन सार्ध मभूद्युद्धम् | 50 | 217 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ते निरुध्य चतुर्द्वाराणि | 50 | 9 | a |
| ते हन्यमाना यदवः | 50 | 31 | a |
| तैलधौतान् शितान् शरान् | 50 | 37 | d |
| तैलाक्तानतपर्वाणः | 50 | 123 | c |
| तौ तथा यदुशार्दूलौ | 50 | 183 | a |
| तौ दृष्ट्वा परमस्निग्धौ | 50 | 92 | c |
| तौ विसृज्य रणं दैत्यौ | 50 | 152 | a |
| त्रयोविंशतिभिर्युतः | 50 | 58 | d |
| त्रातारं नाऽध्यगच्छद्वै | 50 | 48 | c |
| त्रिगर्तोऽथ जयद्रथः | 50 | 7 | b |
| त्रि दिक्ष्वाऽऽपतितं सैन्यम् | 50 | 74 | a |
| त्रिधा विभज्य गोविन्दः | 50 | 64 | a |
| त्रिनतं कार्मुकश्रेष्ठं | 50 | 14 | a |
| त्रिभिस्त्रिभिश्शरैर्भूयः | 50 | 43 | c |
| त्रिशतं स्वात्मसाम्यानां | 50 | 103 | c |
| त्रिंशत्कार्मुकमाहवे | 50 | 44 | d |
| त्रिंशद्भिस्सायकै राशु | 50 | 45 | a |
| त्वत्सन्निधिमिहायातः | 50 | 97 | a |
| त्वदधीन मिदं सर्वं | 50 | 101 | e |
| त्वभिसस्रु रीन् रणे | 50 | 75 | d |

## द

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| दक्षिणद्वार्यपि तथा | 50 | 29 | a |
| दक्षिणाभिमुखो ययौ | 50 | 168 | d |
| दक्षिणेनैव मार्गेण | 50 | 66 | c |
| दक्षिणेनैव वर्त्मना | 50 | 82 | b |
| दण्डभारैश्च भूरिभिः | 50 | 110 | b |
| दण्डं यथा सूर्यसुतो युग | 50 | 128 | d |
| ददर्श कञ्चन मुनिं | 50 | 170 | c |
| ददर्शतुश्च गोमन्तं | 50 | 183 | c |
| ददुः स्वाधिकृतं धनं | 50 | 222 | b |
| ददौ बाणौ बले स्सुतः | 50 | 103 | d |
| ददौ सहस्रसंख्यातान् | 50 | 221 | a |
| दध्मुश्शङ्खाननेकशः | 50 | 9 | d |
| दन्तवक्रविदूरथौ | 50 | 2 | b |
| दमघोषसुतस्याऽपि | 50 | 45 | c |
| दशार्णान्विङ्गसैन्धवान् | 50 | 57 | d |
| दंशितैश्च यदुश्रेष्ठैः | 50 | 17 | a |
| दानवानां प्रसिद्धानाम् | 50 | 103 | a |
| दानवेन्द्र निबोधेदम् | 50 | 94 | a |
| दानवेन्द्रं दुरासदम् | 50 | 205 | b |
| दानवौ बाणमन्त्रिणौ | 50 | 115 | d |
| दिवानिशं तप्यमानः | 50 | 55 | c |
| दिवि शक्र इवाऽमरैः | 50 | 166 | b |
| दिव्यकाञ्चन निर्मितम् | 50 | 204 | b |
| दीनैः कतिपयैर्भूयः | 50 | 108 | e |
| दीपाङ्कुरविराजिताम् | 50 | 162 | b |
| दीपैः कलशदर्पणैः | 50 | 91 | d |
| दीप्तौ केसरिणौ यथा | 50 | 113 | d |
| दीर्घिकोपवनोद्यानैः | 50 | 109 | c |
| दुद्राव त्रास्यमाना वै | 50 | 83 | c |
| दुद्रुवुस्सर्वतोदिशम् | 50 | 192 | d |
| दुर्गहितो रिह प्रभो | 50 | 179 | b |
| दुर्मना स्तस्य सारथिः | 50 | 150 | d |
| दृष्टदर्शनकौतुकम् | 50 | 99 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| दृष्ट्वा कृष्णञ्च युध्यन्तं | 50 | 154 | c |
| दृष्ट्वा तद्राजमण्डलम् | 50 | 74 | b |
| दृष्ट्वा परमसन्तुष्टौ | 50 | 172 | c |
| दृष्ट्वा यादवसत्तमः | 50 | 117 | b |
| दृष्ट्वा यादवसत्तमौ | 50 | 187 | d |
| दृष्ट्वा विचित्रप्राकारं | 50 | 184 | c |
| दृष्ट्वा सृगालभूपालः | 50 | 189 | a |
| दृष्ट्वा सैनिकसंक्षयम् | 50 | 78 | b |
| देवकीनन्दनं हरिम् | 50 | 206 | d |
| देवदेवाय तोयराट् | 50 | 221 | b |
| देशान्बहूनतिक्रम्य | 50 | 169 | c |
| दैत्यदानव भीषणम् | 50 | 23 | d |
| देत्यसैन्येन महता | 50 | 116 | a |
| दैत्यौ तेनैव मार्गेण | 50 | 152 | e |
| द्रष्टुकामो महादुर्गम् | 50 | 168 | a |
| द्रुपद श्शिशुपालश्च | 50 | 7 | a |
| द्रुमश्चैव सुदक्षिणः | 50 | 5 | d |
| द्वन्द्वेन सज्जमानं मां | 50 | 96 | a |
| द्वारेण जगदीश्वरः | 50 | 23 | b |
| द्वारेणाऽनुत्तरेण वै | 50 | 20 | d |
| द्वावेवाऽऽजौ पदातिनौ | 50 | 188 | b |
| **ध** | | | |
| धनुश्छित्त्वा त्रिभिश्शरैः | 50 | 45 | d |
| धनुष्मत्त्वं स्वयं रणे | 50 | 41 | b |
| धूमाङ्कुरोद्गारिणमाशु | 50 | 129 | c |
| ध्वजञ्च मुकुटच्छत्रे | 50 | 46 | a |
| ध्वजैः पताकै श्छत्रैश्च | 50 | 91 | a |
| **न** | | | |
| न चेलु स्सङ्गरा द्राजन् | 50 | 31 | c |
| ननाम वध्यो भवता | 50 | 156 | c |
| नमस्ते पुण्डरीकाक्ष! | 50 | 177 | c |
| नमस्ते भार्गव श्रीमन् | 50 | 174 | a |
| नमो नमः कारणपूरुषाय | 50 | 208 | a |
| न मृषा कथ्यते मया | 50 | 101 | b |
| नाभौ कण्ठे ललाटे च | 50 | 149 | c |
| नाभौ नितम्बे च तथैव | 50 | 143 | c |
| नाम्ना कौमोदकी शुभा | 50 | 13 | d |
| नारायणात्मन् परिपासि | 50 | 209 | c |
| नारायणायाऽखिलकर्म | 50 | 208 | d |
| नारायणायाऽखिलवल्लभाय | 50 | 208 | b |
| नारिकेलैर्विराजितम् | 50 | 197 | d |
| निकटस्थान्द्रुमान् शैलान् | 50 | 140 | c |
| निगृह्य सोपस्करतोमरा | 50 | 85 | f |
| नित्यं वर्षन्त्यविक्लबाः | 50 | 199 | d |
| निनाय कृष्णो मधुरां | 50 | 85 | d |
| निपेतुर्बहवो राजन् | 50 | 120 | c |
| नियोजितः कंसभिदा | 50 | 87 | c |
| निरन्तरं यद्बदलातचक्रम् | 50 | 49 | d |
| निरीक्ष्य माधवौ प्राह | 50 | 175 | c |
| निरुद्ध स्तै रहं भूपैः | 50 | 96 | c |
| निर्गत्य मधुरां प्रातः | 50 | 168 | c |
| निर्गत्य सदना त्कृष्णः | 50 | 18 | a |
| निर्गत्यानेकभूपाल | 50 | 108 | c |
| निर्जग्मतु रसम्भ्रान्तौ | 50 | 113 | c |
| निर्जग्मतुः पुरवरात् | 50 | 17 | c |
| निवासे देवदेवस्य | 50 | 201 | c |
| निवृत्तकदनोद्यमाः | 50 | 145 | b |
| निवृत्तयुद्धः प्रययौ स्वकं | 50 | 158 | d |
| निशम्य कृष्णो न चचाल | 50 | 11 | c |
| निषसाद विचेतनः | 50 | 150 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| निहत्य मागधं सैन्य | 50 | 94 | c |
| निहत्य रथसारथी | 50 | 54 | d |
| नीडस्थेष्वेव कूजत्सु | 50 | 69 | c |
| नृपा नाभाष्य सादरम् | 50 | 100 | d |
| नृपा स्तदाकर्ण्य तु कर्ण | 50 | 34 | a |
| नृपैश्च युद्धाभिजितैः | 50 | 158 | b |
| न्ययोजय दमेयात्मा | 50 | 64 | c |
| न्यवर्तत ब्रह्मर्षिसिद्ध | 50 | 157 | c |
| न्यवारयद्वासुदेवः | 50 | 189 | e |
| **प** | | | |
| पद्मरागमहानील | 50 | 203 | c |
| परस्परमनोनुगौ | 50 | 92 | d |
| परस्परवधौषिणौ | 50 | 139 | b |
| पर्वतान् सरितो गिरौ | 50 | 169 | d |
| पश्चिमद्वारमासाद्य | 50 | 6 | c |
| पश्चिमाभिमुखो ययौ | 50 | 59 | b |
| पश्यतां सर्वभूतानां | 50 | 133 | a |
| पशान्तो हि दिशो दश | 50 | 200 | b |
| पस्पर्शाङ्गं तदुत्तमम् | 50 | 212 | d |
| पाञ्चजन्यं महाशङ्खम् | 50 | 114 | c |
| पर्वतेयांश्च सर्वशः | 50 | 58 | b |
| पीतनिर्झरवारिणौ | 50 | 214 | b |
| पुरस्कृत्य महाबलौ | 50 | 113 | b |
| पुष्परागप्रवालाढ्यं | 50 | 204 | a |
| पुष्पस्रगनुलेपनान् | 50 | 163 | d |
| पुष्पैश्च लाजाञ्जलिभिः | 50 | 163 | a |
| पूगपुन्नागशोभितम् | 50 | 196 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| पूजां चक्रतु रन्योन्यं | 50 | 93 | a |
| पूजितो यदुभिर्विप्रैः | 50 | 166 | a |
| पूर्वद्वारं समासाद्य | 50 | 3 | a |
| पूर्वद्वारि नृपैस्सार्धं | 50 | 28 | a |
| पूर्वद्वारेण भारत! | 50 | 19 | d |
| पृथु मुद्भव मेव च | 50 | 66 | b |
| पृथुं विपृथुमेव च | 50 | 20 | b |
| पेतुः कृत्तमहामूलाः | 50 | 122 | c |
| पोथयित्वा रथे क्षुब्धो | 50 | 54 | c |
| पौण्ड्रकश्च महाबलः | 50 | 4 | d |
| प्रजहार ननाद च | 50 | 133 | f |
| प्रजावरोधायुध भूष- | 50 | 87 | b |
| प्रणम्य पादयो र्मूर्ध्ना | 50 | 207 | e |
| प्रणामं चक्रतु र्वीरौ | 50 | 173 | a |
| प्रणिपत्य विहङ्गराट् | 50 | 211 | b |
| प्रत्यगा द्यदुनन्दनौ | 50 | 186 | b |
| प्रदध्मौ रिपुभीषणम् | 50 | 114 | d |
| प्रदेशं रामकेशवौ | 50 | 198 | d |
| प्रययौ चतुरङ्गाणाम् | 50 | 102 | e |
| प्रविवेश बलं भीमम् | 50 | 70 | c |
| प्रविवेश महद्बलम् | 50 | 67 | d |
| प्रविश न्राजमार्गेण | 50 | 162 | c |
| प्रविश्य चतुरङ्गेण | 50 | 82 | c |
| प्रविश्य पूजितौ विप्रैः | 50 | 193 | c |
| प्रविश्य रिपुवाहिनीम् | 50 | 80 | b |
| प्रवेशे पीतवाससः | 50 | 73 | d |
| प्रविश्य बलिनन्दनः | 50 | 97 | d |
| प्रसक्तः कृतवर्मणा | 50 | 151 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्रसुप्ता यमुनातीरे | 50 | 68 | c |
| प्रसेनं गान्दिनीसुतम् | 50 | 21 | b |
| प्रहर्तु मुपचक्रमे | 50 | 141 | f |
| प्रहर्तुमैच्छच्छिरसि | 50 | 155 | c |
| प्राप्तश्च प्राणसंशयम् | 50 | 151 | d |
| प्राविशद्यमुनातटे | 50 | 60 | b |
| प्राविशन्मधुरां पुरीम् | 50 | 161 | b |
| प्राहतू रामकेशवौ | 50 | 178 | d |
| प्राहिणोत्सेनया सह | 50 | 66 | d |
| प्रियङ्करा माधवाभ्यां | 50 | 164 | a |
| प्रियाला शोकशेभितं | 50 | 195 | d |
| प्रीत्युत्फुल्लमुखेक्षणः | 50 | 175 | d |
| प्रीत्युत्फुल्लमुखो दोभ्यां | 50 | 212 | c |
| प्रेषयामास दुर्मदान् | 50 | 21 | d |
| प्रोवाचाऽऽहवलालसौ | 50 | 117 | f |
| प्लवङ्गाकम्पितद्रुमम् | 50 | 197 | b |

**फ**

| | | | |
|---|---|---|---|
| फलभारनतैः स्कन्धैः | 50 | 197 | c |
| फलमूलकृताहारम् | 50 | 172 | a |
| फलमूलकृताहारौ | 50 | 214 | a |

**ब**

| | | | |
|---|---|---|---|
| बबन्ध पद्भ्यां जठरम् | 50 | 136 | a |
| बभञ्ज परितः पुरम् | 50 | 110 | d |
| बभूव क्रोधविह्वलः | 50 | 185 | d |
| बभूवुर्नृपसत्तम | 50 | 153 | d |
| बभूवु र्भृशपीडिताः | 50 | 144 | d |
| बलश्चबाह्वो स्तव दर्श | 50 | 127 | c |
| बलभद्रमुपाद्रवत् | 50 | 125 | d |
| बलवान् रोहिणीसुतः | 50 | 135 | d |
| बलं प्रविश्य वामेन | 50 | 81 | c |
| बलेनाल्पीयसा नृप! | 50 | 17 | d |
| बहुप्रस्रवणोपेतं | 50 | 198 | a |
| बहुभिश्च समन्वितौ | 50 | 17 | b |
| बहुभिः क्षत्रियै स्सह | 50 | 217 | b |
| बाण माभाष्य संसदि | 50 | 93 | d |
| बाणसेनां गतां दृष्ट्वा | 50 | 153 | a |
| बाणं द्रष्टुं बले स्सुतम् | 50 | 88 | d |
| बाणेन समनुज्ञातः | 50 | 108 | a |
| बाणो बाहुसहस्रवान् | 50 | 92 | b |
| बिभ्र द्गुर्वीं पदा पृथ्वीम् | 50 | 131 | c |
| ब्राह्मणैश्च महाविद्यैः | 50 | 160 | c |
| ब्रूहि क्रियां किं करवाणि | 50 | 210 | d |

**भ**

| | | | |
|---|---|---|---|
| भगवन्त मधोक्षजम् | 50 | 176 | d |
| भज्यमाने पुरे तस्मिन् | 50 | 111 | a |
| भटाश्च रुधिराक्ताङ्गाः | 50 | 122 | a |
| भटाश्चाऽऽबद्धमूर्धजाः | 50 | 72 | b |
| भटे चाश्वे शतं शतम् | 50 | 123 | f |
| भया त्केचिच्च दुद्रुवुः | 50 | 75 | b |
| भर्त्सयन् कृष्ण कृष्णेति | 50 | 36 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भवन्तो विश्ववन्दितौ | 50 | 178 | b |
| भाण्डशय्यासनादिकम् | 50 | 104 | a |
| भीमौ चकृषतू रणे | 50 | 139 | d |
| भूपाला विनशिष्णवः | 50 | 107 | b |
| भूयो जग्राहतु र्घोरौ | 50 | 138 | c |
| भूयो दशाऽऽशु सन्धाय | 50 | 39 | a |
| भोजन स्नानशयन | 50 | 98 | c |
| भो भो चैद्यमहेष्वास ! | 50 | 40 | c |
| भ्रमद्भ्रमरसङ्घात | 50 | 197 | a |
| भ्रामयित्वा शतगुणम् | 50 | 52 | c |
| **म** | | | |
| मगधाधिपतिर्बली | 50 | 1 | b |
| मण्डलीकृतकार्मुकः | 50 | 36 | b |
| मण्डलीकृतकोदण्डः | 50 | 37 | c |
| मण्डितं मत्तकोकिलं | 50 | 196 | d |
| मतङ्गजात्पर्वतसन्निभान् | 50 | 85 | a |
| मत्ता विव महागजौ | 50 | 51 | d |
| मत्तौ द्वाविव कुञ्जरौ | 50 | 138 | d |
| मद्रान् व्रिगर्तान् सौवीरान् | 50 | 58 | a |
| मधुरा मन्वपद्यत | 50 | 108 | f |
| मधुराया विनिर्गत्य | 50 | 114 | a |
| मधुरां प्रेषयामास | 50 | 1 | c |
| मधुरां सवनोद्यानां | 50 | 194 | c |
| मनोमारुतरंहसाम् | 50 | 102 | f |
| मन्त्रयामास शर्वर्याम् | 50 | 62 | a |
| मन्त्रिणौ दौत्यसत्तमौ | 50 | 105 | b |
| मन्वाना मागधेश्वरम् | 50 | 145 | d |
| मर्दयन्तो रिपून् युद्धे | 50 | 77 | c |
| मर्दयामास मागधम् | 50 | 81 | d |
| महत्या सेनया वृतः | 50 | 81 | b |
| महत्या सेनया वृतः | 50 | 216 | d |
| महत्या सेनया सार्धं | 50 | 215 | c |
| महाबलौ सम्प्रति चक्रतुः | 50 | 118 | d |
| महाखं दैत्यकुलापचारं | 50 | 33 | b |
| मागध श्शोणिता त्पुरात् | 50 | 108 | b |
| मागधस्तु गदां गुर्वीम् | 50 | 52 | a |
| मागधस्तु रणश्लाघी | 50 | 88 | a |
| मागधस्यबलीयसः | 50 | 61 | a |
| मागधस्य हलायुधः | 50 | 136 | b |
| मागधः क्रोधविह्वलः | 50 | 133 | b |
| मागधः क्रोधविह्वलः | 50 | 216 | b |
| मागधाय बले स्सुतः | 50 | 102 | b |
| मागधेन प्रचोदिताः | 50 | 107 | d |
| मागधेन्द्रबलं प्रति | 50 | 64 | d |
| मागधेन्द्रस्य दुर्जयम् | 50 | 70 | d |
| मागधेन्द्राभिरक्षिता | 50 | 83 | b |
| मागधो बहुसैनिकः | 50 | 217 | d |
| माङ्गल्यैः पटहस्वनैः | 50 | 91 | b |
| मातङ्गा मदशालिनः | 50 | 95 | b |
| माधवेन पराजितः | 50 | 88 | b |
| माधवौ समुपाविष्टं | 50 | 171 | c |
| मायया वृष्णिभिस्सह | 50 | 116 | d |
| मायासङ्ग्रामवेदिनाम् | 50 | 103 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| मार्गेण मधुसूदनः | 50 | 65 | d |
| मित्रं पराजितं युद्धे | 50 | 89 | c |
| मुक्ताफलविराजितम् | 50 | 203 | d |
| मुखे निधायाऽडशु पुपूर | 50 | 33 | c |
| मुखे ललाटे चुबुके | 50 | 143 | b |
| मुधा चक्रे स्मयन्निव | 50 | 53 | d |
| मुसलञ्च दृढं गुरु | 50 | 16 | b |
| मुसलेन जरासुतः | 50 | 130 | b |
| मुसलेन हलायुधः | 50 | 54 | b |
| मुसलेन हलायुधः | 50 | 155 | d |
| मेघपुष्पवलाहकाः | 50 | 15 | d |
| मौलौ वामेन पाणिना | 50 | 155 | b |
| **य** | | | |
| य चाऽन्यद्वस्तु विद्यते | 50 | 101 | f |
| यत्र तौ चैद्यमागधौ | 50 | 32 | d |
| यत्प्रियं देव देवस्य | 50 | 220 | a |
| यदुप्रवीराय धनं न्यवेदयत् | 50 | 87 | d |
| यदुप्रवीराश्च समुद्यता | 50 | 34 | c |
| यदुप्रवीराः परिभूय | 50 | 35 | b |
| यदुवृद्धैर्महात्मभिः | 50 | 166 | d |
| यदूनां कदनं महत् | 50 | 28 | b |
| यदूनां क्षत्रियै स्सह | 50 | 115 | b |
| यदूनां दृढधन्विनाम् | 50 | 30 | b |
| यथान्यायमतन्द्रितौ | 50 | 173 | b |
| याव द्गदां न प्रहरामि | 50 | 127 | d |
| युगावसानार्णवघूर्णि | 50 | 11 | b |
| युधामन्युर्बृहत्क्षत्रः | 50 | 5 | a |
| युध्यमानस्त्रिभिर्बाणैः | 50 | 146 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| युयुधाते तथाऽन्योन्यं | 50 | 190 | c |
| युयुधाते महावीर्यौ | 50 | 116 | c |
| युयुधे नहि तच्चित्रम् | 50 | 119 | c |
| येनाऽहिता विच्छसि जेतु | 50 | 127 | b |
| योधयामासतुर्वीरौ | 50 | 188 | a |
| यौगपद्येन माधवम् | 50 | 42 | b |
| **र** | | | |
| रणं सुघोरं कुरुतां रण | 50 | 118 | b |
| रणे नृपाञ्जघ्नुरनीक | 50 | 34 | d |
| रथ पादातिसङ्कुला | 50 | 68 | b |
| रथं महाकाञ्चनताल | 50 | 126 | b |
| रथं वाहय धर्मज्ञ! | 50 | 25 | a |
| रथाग्रे माधवः स्मयन् | 50 | 24 | b |
| रथानां नियुतं तथा | 50 | 102 | d |
| रथाश्च शस्त्रध्वजवाजि | 50 | 85 | c |
| रथाश्च सपरिच्छदाः | 50 | 95 | d |
| रथाश्चाऽऽबद्धतुरगाः | 50 | 73 | a |
| रथाश्वकुञ्जरानीकैः | 50 | 112 | a |
| रथिनं धृतकार्मुकम् | 50 | 189 | d |
| रथेन क्रोडचिह्नेन | 50 | 125 | c |
| रथेन भरतर्षभ! | 5 | 150 | f |
| रथेनैकेन गोविन्दः | 50 | 80 | a |
| रथेनैकेन सीरिणम् | 50 | 51 | b |
| रथे रथे च साहस्रम् | 50 | 124 | a |
| रथैः कमललोचनः | 50 | 67 | b |
| रममाणौ यथाकामं | 50 | 200 | c |
| रम्यं ददृशतु वीरौ | 50 | 198 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| राजन्यकटकेन वै | 50 | 29 | d |
| राजन्विश्वात्मनो हरेः | 50 | 119 | d |
| राजपुत्रा विमनसः | 50 | 153 | c |
| राजभिर्बहुभिर्वृतः | 50 | 60 | d |
| राजभिश्शक्रविक्रमैः | 50 | 31 | b |
| राजान स्सर्व एव ते | 50 | 41 | d |
| राजान स्सहसोद्बुध्य | 50 | 78 | a |
| राजानो रणसंविग्नाः | 50 | 144 | c |
| राजा बार्हद्रथो बली | 50 | 55 | b |
| रात्रौ चौर्यप्रतापेन | 50 | 94 | c |
| रामकृष्णावमर्षिणौ | 50 | 111 | d |
| रामकृष्णौ जगत्पती | 50 | 172 | d |
| रामकृष्णौ धर्मज्ञौ | 50 | 218 | c |
| रामकृष्णौ स्मृता वावाम् | 50 | 174 | c |
| रामबाहुविमुक्तेन | 50 | 130 | a |
| राममागधयो र्मृधे | 50 | 144 | b |
| रामस्य ववृधे बलम् | 50 | 154 | d |
| रामेण सहितो वीरः | 50 | 165 | c |
| रामोऽपि स महाबलः | 50 | 141 | d |
| रिपूनेवाऽभ्यवर्तन्त | 50 | 76 | c |
| रुरुधु र्दक्षिणद्वारं | 50 | 4 | c |
| रुरुधु र्भरतर्षभ ! | 50 | 8 | d |
| रुरुर्धु र्मधुरां पुरीम् | 50 | 6 | d |
| रुरुर्धु र्मागधाज्ञया | 50 | 3 | d |
| रुरोध बहुसैनिकः | 50 | 1 | d |
| **ल** | | | |
| लघू शरार्चितौ रम्यौ | 50 | 15 | a |
| लोकद्वयजिगीषवः | 50 | 31 | d |
| **व** | | | |
| वक्षस्याऽऽस्ये ललाटे च | 50 | 44 | a |
| वचस्तदाऽऽकर्ण्य हलायुधो | 50 | 157 | a |
| वञ्चितोऽस्मि दुरात्मना | 50 | 94 | d |
| वणिग्भिश्च यथा प्रियः | 50 | 193 | d |
| वराकौ बाणमन्त्रिणौ | 50 | 106 | d |
| वसन्तं साग्रजं रम्ये | 50 | 207 | a |
| वसुदेवञ्च निशठं | 50 | 19 | a |
| वसुदेवोद्धवाक्रूर | 50 | 62 | c |
| वामेन जगृहे रामः | 50 | 134 | c |
| वामेन प्रेषयामास | 50 | 65 | c |
| वारकान्ता कदम्बैश्च | 50 | 90 | c |
| वासुदेवस्य सङ्गरे | 50 | 191 | b |
| वासुदेवेन भार्गवः | 50 | 175 | b |
| वासुदेवौ महाबलौ | 50 | 190 | b |
| विकसत्सु सरोजेषु | 50 | 70 | a |
| विचित्रशिबिकाच्छत्र | 50 | 104 | a |
| विचित्रस्यन्दनैर्भटैः | 50 | 90 | b |
| विजयस्वेति चाऽब्रुवन् | 50 | 79 | d |
| विज्ञानास्त्रेण तन्मायां | 50 | 117 | c |
| विदित्वा पुरपालकः | 50 | 204 | d |
| विद्ध्वा पञ्चभि राशुगैः | 50 | 42 | d |
| विद्रुतेष्ववशिष्टेषु | 50 | 51 | a |
| विना रणोपस्करणम् | 50 | 78 | c |
| विन्दानुविन्दा वानन्त्यौ | 50 | 3 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| विभ्रान्तं शरताडितम् | 50 | 47 | d |
| विभ्रान्तं समपद्यत | 50 | 74 | d |
| विमलं लेभिरे यशः | 50 | 77 | d |
| विमुञ्चन् सायकान्बहून् | 50 | 37 | b |
| विरथं रोहिणीसुतः | 50 | 132 | b |
| विराटो दरद स्तथा | 50 | 3 | d |
| विलोकयन्मागधसैन्य | 50 | 49 | c |
| विविशुर्गहनं वनम् | 50 | 79 | b |
| विव्यधुर्निशितै र्बाणैः | 50 | 42 | a |
| विव्याध कुरुशार्दूल | 50 | 149 | a |
| विव्याधं मधुसूदनम् | 50 | 39 | b |
| विव्याध यदुनन्दनः | 50 | 44 | b |
| विव्याधैकेन सारथिम् | 50 | 38 | d |
| विशीर्णे रास्तृता पृथ्वी | 50 | 121 | a |
| विश्वलोकैककारण | 50 | 177 | d |
| विष्णुना दानवेश्वरः | 50 | 89 | d |
| विष्णु स्त्रैलोक्यवल्लभः | 50 | 32 | b |
| विष्णोः क्षीरोदवासिनः | 50 | 220 | b |
| विसृज्य कृतवर्माणम् | 50 | 151 | e |
| विसृज्य चाऽऽस्थाय रथं | 50 | 157 | b |
| विसृज्य स गदां तूर्णम् | 50 | 135 | a |
| विसृज्य स्यन्दनं रणे | 50 | 132 | d |
| विस्फूर्जयन् कार्मुक | 50 | 49 | b |
| विस्रब्धा रमते सुखं | 50 | 68 | d |
| विहङ्गेषु तत स्ततः | 50 | 69 | d |
| वीरोऽसि बलवानसि | 50 | 40 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| वृक्षमूलनिवासिनम् | 50 | 170 | b |
| वृत राजन्यमण्डलम् | 50 | 89 | b |
| वृतं शिष्यशतैर्मुनिम् | 50 | 172 | b |
| वृतौ मायाविशारदौ | 50 | 116 | b |
| वृष्णी नाहूय सर्वशः | 50 | 18 | b |
| वेलेव वरुणालयं | 50 | 189 | d |
| वैनतेयो विहङ्गराट् | 50 | 204 | f |
| व्यजनाकल्पवाससां | 50 | 104 | b |
| व्यथितं भृशविह्वलम् | 50 | 188 | d |
| व्यनद त्सिंहनादञ्च | 50 | 26 | c |
| व्यनदत्सिंहनादञ्च | 50 | 39 | c |
| व्यर्थीकृत्य गदां तस्य | 50 | 54 | a |
| व्यंसयित्वा हलधरः | 50 | 53 | c |
| **श** | | | |
| शकुनिस्सोमदत्तश्च | 50 | 7 | c |
| शङ्खचक्रगदाधरः | 50 | 185 | b |
| शङ्खचक्रगदाधृतः | 50 | 201 | d |
| शङ्खमाध्मापयामास | 50 | 185 | a |
| शङ्खमाध्माय रामोऽपि | 50 | 27 | a |
| शङ्खं दध्मौ महाप्राणं | 50 | 23 | c |
| शरान्विमुञ्च अलजञ्च | 50 | 49 | a |
| शस्त्रौघेण भृशार्दिताः | 50 | 153 | b |
| शार्ङ्गमुक्ता श्शरगणाः | 50 | 123 | a |
| शार्ङ्गसंज्ञं गुणान्वितम् | 50 | 14 | b |
| शार्ङ्गे सन्धाय माधवः | 50 | 46 | d |
| शाल्वश्चैद्यश्च दुर्मतिः | 50 | 2 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| शाल्वो भूरिश्रवास्तथा | 50 | 5 | b |
| शिरो जहार गोविन्दः | 50 | 191 | c |
| शुश्राव वार्णी विशदाशरीरि | 50 | 156 | b |
| शृगाल वासुदेवेन | 50 | 181 | a |
| शृङ्गं पर्वतमूर्धनि | 50 | 199 | b |
| शैनेयाऽऽहुक सारणैः | 50 | 62 | d |
| शैनेयेन च धीमता | 50 | 165 | d |
| शैनेयोऽपि महाबाहुः | 50 | 82 | a |
| शैलद्रुमलतोपमम् | 50 | 48 | b |
| श्रान्तांश्च धरणीपतीन् | 50 | 154 | b |
| श्रीमान् वैरोचनो बलिः | 50 | 202 | b |
| श्रुत्वा मागध मागतम् | 50 | 111 | b |
| श्रेणीबद्धा स्समन्ततः | 50 | 71 | b |
| **स** | | | |
| सङ्कर्षणञ्च हार्दिक्यम् | 50 | 65 | a |
| सङ्कर्षणसहायवान् | 50 | 22 | d |
| सङ्कर्षणसहायवान् | 50 | 167 | d |
| सङ्कर्षणोऽपि बलवान् | 50 | 81 | a |
| सङ्कर्षणोऽमर्षणविह्वले- | 50 | 128 | b |
| सङ्गरे बाणमन्त्रिणा | 50 | 146 | b |
| सङ्ग्रामो रोमहर्षणः | 50 | 30 | d |
| स तथा विद्यमानस्य | 50 | 191 | a |
| सन्नाहभेरीस्सन्नाह्य | 50 | 111 | c |
| सन्निरुध्य पुरद्वारम् | 50 | 109 | a |
| सपत्नाच्छरसञ्चयैः | 50 | 159 | b |
| स पूर्ववैरं नृपतिः स्मरन् | 50 | 126 | a |
| सप्ताहं रामकृष्णयोः | 50 | 217 | b |
| सभां प्रविश्य विपुलां | 50 | 165 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| समत्स्यान् मालवांश्चेदीन् | 50 | 56 | c |
| समं समानी प्रजहार | 50 | 143 | d |
| स मागधं गृहीत्वाजौ | 50 | 155 | a |
| स मागधानतिक्रम्य | 50 | 59 | a |
| समाभाष्याभ्यनुज्ञातः | 50 | 167 | c |
| समाहूय भटोत्तमम् | 50 | 63 | d |
| सम्यङ्निर्धारित क्रियः | 50 | 63 | b |
| स युवां न सहिष्यते | 50 | 181 | b |
| स राजन्यं जरासुतं | 50 | 99 | b |
| स राजमण्डलायाऽऽशु | 50 | 98 | a |
| स रामानुगतः श्रीमान् | 50 | 169 | a |
| सर्वतोऽनुद्धृतध्वजाः | 50 | 73 | b |
| सर्वे मदबलान्विताः | 50 | 8 | b |
| सहस्रकृत्वो रिपुदर्प | 50 | 129 | b |
| सहस्रारं मनोरमं | 50 | 13 | b |
| संस्तूयमान स्सन्तुष्टैः | 50 | 160 | a |
| संहारणपटुर्हरिः | 50 | 106 | b |
| साग्रजाय महात्मने | 50 | 176 | b |
| सात्यकिञ्च गदञ्चैव | 50 | 21 | a |
| सात्यकि स्तं महाबाहुः | 50 | 148 | c |
| सात्यकि स्तु महातेजाः | 50 | 146 | a |
| सात्यकिं कृतवर्माणम् | 50 | 112 | c |
| सात्यकिं कृतवर्माणम् | 50 | 117 | e |
| सात्यकिं विपृथु ञ्चैव | 50 | 66 | a |
| सात्यकिः पञ्च योजनम् | 50 | 84 | b |
| साधु साध्विति पूजयन् | 50 | 40 | b |
| सानुगौ मधुरां पुरीम् | 50 | 219 | b |
| सायकैर्युद्ध दुर्मदान् | 50 | 25 | d |
| सायुधा न्सरणोद्यमान् | 50 | 80 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सायुधैस्सपरिच्छदैः | 50 | 112 | b |
| सारथिं चतुरो वाहान् | 50 | 43 | a |
| सालतालतमालाढ्यं | 50 | 195 | c |
| साश्वसूते रथे क्षुब्धौ | 50 | 130 | c |
| सा सेना बहुनागाश्व | 50 | 68 | a |
| साहाय्यं कुरु मे प्रभो | 50 | 97 | b |
| साहाय्यार्थं कुरूद्वह | 50 | 105 | d |
| सिंहनादश्च कुर्वन्तः | 50 | 9 | c |
| सिंहनादं व्यनीनदत् | 50 | 27 | b |
| सुखी निवर्तस्व रणादिति | 50 | 156 | d |
| सच्छायं निर्मलोदकम् | 50 | 198 | b |
| सुरारिसंहारणकारणाय | 50 | 208 | c |
| सुवर्णतोरणै श्चित्रैः | 50 | 91 | c |
| सूतमागधवन्दिभिः | 50 | 61 | b |
| सूतमागधवन्दिभिः | 50 | 90 | d |
| सूतमागधवन्दिभिः | 50 | 160 | b |
| सूतमागधवन्दिभिः | 50 | 218 | d |
| सृगालघोषं मृगराडिवोद्गतः | 50 | 11 | d |
| सृगालं निहतं श्रुत्वा | 50 | 216 | a |
| सृगालो वासुदेवाख्यः | 50 | 186 | a |
| सृजस्यशेषं भुवनं स एव | 50 | 209 | b |
| सेनायां दैत्यमन्त्रिणः | 50 | 148 | b |
| सेनायां मगधेन्द्रस्य | 50 | 73 | c |
| सैन्यश्च बाणपूगेन | 50 | 188 | c |
| सैन्येन महताऽर्दयन् | 50 | 82 | d |
| सोऽतिविद्धो महाबाहुः | 50 | 147 | a |
| सोऽभ्येत्य बहुपादाति | 50 | 186 | c |
| स्कन्धावारेण महता | 50 | 60 | c |
| स्तूयमानौ विविशतुः | 50 | 219 | a |
| स्तोतुं त मुपचक्रमे | 5 | 207 | f |
| स्तोत्रं कुर्वद्भि रुच्चकैः | 50 | 160 | d |
| स्त्रीभिः प्रासादसंस्थितैः | 50 | 162 | d |
| स्मरन् पूर्वपराभवम् | 50 | 55 | d |
| स्यन्दनै श्छिन्नबन्धनैः | 50 | 121 | b |
| स्वयं कतिपयै र्युक्तो | 50 | 67 | a |
| स्वयं दारुकसारथिः | 50 | 22 | b |
| स्वर्णपुङ्खा अयोमुखाः | 50 | 123 | d |
| स्व सेनां चतुरङ्गिणीम् | 50 | 64 | b |
| स्व सैन्यं मायया क्लिष्टं | 50 | 117 | a |
| स्वहस्तेन कुरूद्वह! | 50 | 134 | d |
| स्वागतं ते यदुश्रेष्ठ! | 50 | 176 | a |
| **ह** | | | |
| हतशेषबलान्वितौ | 50 | 152 | d |
| हतशेषाः कुरूद्वह | 50 | 192 | b |
| हतावशिष्टाल्पबलेन | 50 | 158 | c |
| हताश्वरथसारथिः | 50 | 48 | d |
| हतेषु सर्वसैन्येषु | 50 | 50 | a |
| हत्वा च सुबहू न्रणे | 50 | 159 | d |
| हयाश्वा बद्धवैराणाः | 50 | 71 | a |
| हयां स्तूर्ण मचोदयत् | 50 | 26 | b |
| हरि र्निर्यातयामास | 50 | 20 | c |
| हरिः प्रतीची द्वारेण | 50 | 21 | c |
| हर्म्यप्रासादगोपुरम् | 50 | 184 | d |
| हलश्च बलभद्रश्च | 50 | 16 | a |
| हलायुधो मागधकोश | 50 | 87 | a |
| हिरण्यगर्भत्व मुपेत्य मूले | 50 | 209 | a |
| हृतं दानववीरेण | 50 | 204 | c |
| हृदि चिन्ता सवेपथुः | 50 | 27 | d |
| हृदि मूर्ध्न्यपि दानवम् | 50 | 149 | d |
| हृष्टपुष्टजनाकीर्णम् | 50 | 161 | c |

# विजध्वजरीत्या दशमस्कन्धस्थ (59) तमाध्याया दनन्तर मुपलभ्य - मान दशाध्यायस्थानां (अधिकपाठरूप) श्लोकपादाना मकाराद्यनुक्रमणी

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **अ** | | | |
| अक्षिपच्छम्बरोऽसुरः | 4 | 17 | b |
| अक्षैस्सभायां क्रीडन्तम् | 5 | 50 | a |
| अक्षोहिण्या सखीजनैः | 7 | 15 | d |
| अक्षौहिणीभिस्तिसृभिः | 5 | 31 | c |
| अक्षौहिणीभि स्सहितः | 5 | 24 | c |
| अगस्त्यो याज्ञवल्क्यश्च | 8 | 5 | c |
| अग्निहोत्रायदिलक्षणैः | 9 | 10 | b |
| अङ्गारोद्गारिलोचनः | 5 | 46 | d |
| अत्र यद्रोचते नेतुम् | 3 | 27 | c |
| अथ तत्र कुरुश्रेष्ठ | 10 | 27 | a |
| अथ तत्राऽसितापाङ्गी | 4 | 34 | a |
| अथ ते कृष्णरामाभ्याम् | 6 | 37 | a |
| अथर्त्विग्भ्योऽददात्काले | 9 | 11 | a |
| अथवाऽप्यैन्द्रमैश्वर्यम् | 6 | 47 | c |
| अथाऽपि काले स्वजना० | 8 | 18 | a |
| अथाऽवरुह्य गरुडात् | 1 | 14 | a |
| अथाऽऽह पौण्ड्रकं शौरिः | 5 | 34 | a |
| अथैकजात्मजौ प्राप्तौ | 10 | 1 | a |
| अथैकदा द्वारवत्यां | 6 | 1 | a |
| अथोचु र्मुनयो राजन् | 8 | 32 | a |
| अदित्यास्सह भार्यया | 1 | 6 | b |
| अद्य नो जन्म साफल्यं | 8 | 21 | a |
| अद्य श्व रति मासां स्त्रीन् | 9 | 25 | c |
| अधुना श्रीमदान्धाक्षाः | 9 | 22 | c |
| अध्यात्मशिक्षया गोप्यः | 6 | 57 | a |
| अनादरणकारणम् | 8 | 29 | b |
| अनिस्तीर्य त्यजन्पतेत् | 3 | 37 | d |
| अनीशा मधुरां ययुः | 9 | 28 | d |
| अनीह एत द्बहुधैक - | 8 | 17 | a |
| अनुकुर्वन् स्वमायया | 7 | 7 | d |
| अनुजग्मु र्दिवौकसः | 1 | 39 | d |
| अनुज्ञाताः केशवेन | 9 | 31 | c |
| अनुवृत्तां व्रजेश्वरि | 6 | 47 | b |
| अनेकभूतसङ्घातैः | 2 | 37 | c |
| अन्तःपुरवरं राजन्! | 4 | 30 | a |
| अन्धाश्च बधिराश्चैव | 6 | 16 | a |
| अन्यपत्न्य स्तवाऽनघ! | 1 | 22 | b |
| अन्याश्च कुरुशार्दूल! | 3 | 51 | a |
| अन्यांश्चैवाऽत्मपक्षीयान् | 6 | 23 | a |
| अन्ये च सर्व राजानः | 9 | 30 | a |
| अन्यैश्च यादवश्रेष्ठैः | 4 | 40 | a |
| अन्योन्यसन्दर्शन हर्ष | 6 | 24 | a |
| अपयातं हुताशनम् | 2 | 31 | b |
| अपराध स्त्वया शक्र | 3 | 32 | a |
| अपराधं जगत्पते | 3 | 24 | d |
| अपश्यतां नन्दनं चारु | 1 | 12 | c |
| अपश्यत्पौण्ड्रकं हरिः | 5 | 25 | d |
| अपाययत्स्तनं प्रीती | 10 | 54 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अपास्य शत्रवे क्रुद्धः | 4 | 24 | c | अर्धचन्द्रेण चिच्छेद | 2 | 12 | a |
| अपि स्मरथ न स्सख्यः | 6 | 51 | a | अर्पयामास वेगेन | 2 | 6 | c |
| अपुत्रः काशिराजोऽसौ | 5 | 5 | a | अर्पयामासु रायान्तम् | 5 | 3 | c |
| अबुद्धात्वखिलात्मनः | 10 | 15 | b | अलङ्कृतमुखाम्भोजम् | 4 | 32 | a |
| अब्रह्मण्ये प्रयोजितः | 5 | 45 | b | अवतीर्णो जगत्पतिः | 5 | 16 | b |
| अभिचारविधानेन | 5 | 44 | c | अवतीर्णौ क्षयाय मे | 10 | 30 | d |
| अभिदुद्राव समरे | 2 | 5 | c | अवतीर्णौ तथा त्विह | 10 | 18 | d |
| अभिदुद्रुवुरुद्धृत्ताः | 1 | 51 | 1 | अवद्यन् स्वधितिनाऽद्भुतम् | 4 | 8 | d |
| अभिवर्णितवृत्तान्तः | 5 | 14 | c | अवबुध्य यथाऽस्मासु | 6 | 52 | a |
| अभिवाद्य यथा न्यायम् | 3 | 43 | a | अवबोधे भवान्बुद्धेः | 10 | 10 | c |
| अभिष्टुवत्स्वच्युतकौर० | 7 | 5 | b | अवमंस्यति सद्य स्त्वाम् | 3 | 19 | c |
| अभेदा दावयोः परम् | 3 | 32 | d | अवष्टभ्यौष्ठ माक्षेपैः | 4 | 21 | c |
| अभ्यद्रव द्रणे कृष्णम् | 3 | 2 | a | अवसायाऽखिलान्देवान् | 1 | 35 | a |
| अभ्यद्रवन्महासत्त्वः | 2 | 22 | c | अवाप कीदृशं पुत्रम् | 4 | 3 | c |
| अभ्रातृत्वं तथाऽऽत्मनः | 5 | 10 | b | अव्यक्तञ्च ततः परम् | 8 | 19 | d |
| अमर्षा त्ताम्रलोचनः | 4 | 22 | d | अव्याहतानुभव मीश्वर० | 8 | 31 | b |
| अमुनाऽवद्यकर्मणा | 10 | 48 | b | असह्यं मातृसापत्न्यम् | 5 | 10 | a |
| अमुष्मिन्प्रीति रधिका | 4 | 38 | c | असावहं ममैवैते | 10 | 17 | a |
| अमृतत्वाय कल्पते | 6 | 54 | b | असिभिः पट्टिशैर्बाणैः | 5 | 30 | c |
| अम्ब माऽस्मानसूयेथाः | 6 | 30 | a | असिहस्तो महाबाहुः | 1 | 42 | c |
| अयन्तु बहिराच्छन्नः | 7 | 19 | c | अस्तौजसा नृप विभुग्न० | 5 | 54 | b |
| अयं स्वस्त्ययनः पन्थाः | 8 | 35 | a | अस्मरत्स्वसुतं नष्टं | 4 | 34 | c |
| अयोधयद्धनपतिः | 2 | 7 | c | अस्मा स्वप्रियकल्पोऽयम् | 9 | 21 | a |
| अयोधयद्धृषीकेशं | 2 | 28 | c | अहन्तेऽधिकृता पत्नी | 4 | 16 | c |
| अर्चायां देवचक्षुषाम् | 8 | 10 | b | अहमाज्ञाकर स्तव | 3 | 27 | b |
| अर्दयामास कृष्णेन | 5 | 2 | a | अहं यूय मसा वार्यः | 10 | 23 | a |
| अर्दयामास कौरव्य! | 3 | 13 | c | अहं हि सर्वभूतानाम् | 6 | 55 | a |
| अर्धचन्द्रं शरोत्तमम् | 2 | 16 | d | अहो भोजपते यूयं | 6 | 38 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अहो मृत इवाऽऽयातः | 4 | 43 | c |
| अहो वयं जन्मभृतः | 8 | 9 | a |
| अहो विचित्रं भगव० | 8 | 16 | d |
| अहो विभूम्नश्चरितं० | 8 | 17 | d |
| अंसेऽनुरक्तहृदया विदधे | 7 | 29 | d |
| **आ** | | | |
| आकर्णपूर्णं विनिकृष्य | 5 | 6 | c |
| आकर्ण्य द्वारकौकसः | 4 | 43 | b |
| आकर्ण्येत्थं पितु र्वाक्यं | 10 | 21 | a |
| आकीर्यमाणो दिविजैः | 4 | 29 | a |
| आकृतीनां पृथक्कृतीः | 10 | 9 | d |
| आकृत्याऽवयवै र्गत्या | 4 | 37 | c |
| आकोट्यां ज्यां समाकृष्य | 7 | 22 | c |
| आक्रीडनं भूतणते० | 5 | 33 | d |
| आजग्मुः केशवं द्रष्टुं | 3 | 47 | c |
| आज्ञाया देहविकृतिं निज० | 7 | 10 | a |
| आत्मजाभ्यां शुचिस्मिता | 10 | 27 | d |
| आत्मनाऽनुप्रविश्यात्मन् | 10 | 5 | c |
| आत्मलोकैषणा मेवं | 8 | 36 | a |
| आत्मसृष्टमधोक्षज | 10 | 5 | b |
| आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु | 10 | 24 | c |
| आत्मानङ्गाल मीश्वरम् | 8 | 23 | d |
| आत्मानञ्चातिविह्वलः | 2 | 31 | d |
| आत्मान मकृताशिषम् | 6 | 28 | b |
| आत्मारामस्य तस्येमा० | 7 | 39 | a |
| आत्मा ह्येकस्स्वयञ्ज्योतिः | 10 | 24 | a |
| आददु स्सशरं चापम् | 7 | 21 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| आदाय पारिबर्हं तम् | 9 | 27 | c |
| आदाय व्यसृजन्केचित् | 7 | 22 | a |
| आदि रन्तोऽन्तरं बहिः | 6 | 55 | b |
| आनन्त्यं वा हरेः पदम् | 7 | 41 | d |
| आनन्दबाष्पप्रचुराम् | 1 | 9 | c |
| आनन्दसम्प्लवमखण्ड - | 7 | 4 | b |
| आनिन्यथुः पितृस्थानम् | 10 | 32 | c |
| आनीतप्रमदासार्थम् | 3 | 51 | c |
| आनीत ममर द्रुमम् | 3 | 52 | b |
| आपन्नसंसृतिभयापह - | 10 | 19 | b |
| आपुर्भवद्गतिमथाऽनु | 8 | 24 | d |
| आभाष्यानकदुन्दुभिः | 8 | 32 | b |
| आमुक्तमाल्याभरणम् | 5 | 27 | c |
| आययु र्मत्पितुः पुरम् | 7 | 20 | b |
| आययु र्मुनय स्तत्र | 8 | 2 | c |
| आययौ तार्क्ष्यमारुह्य | 5 | 13 | c |
| आयान्तं कुरुपुङ्गव | 2 | 19 | b |
| आयान्तं देवकीपुत्रम् | 3 | 46 | a |
| आयान्तं द्वारकौकसः | 5 | 49 | b |
| आयुधानि महार्हाणि | 7 | 38 | c |
| आयोधनं तद्रथवाजि | 5 | 33 | a |
| आयोधयद्धरि स्ते च | 3 | 10 | c |
| आराध्य देवदेवेशम् | 4 | 1 | a |
| आरुह्य गरुडं प्रायात् | 1 | 1 | c |
| आरुह्य दृढदंशितः | 1 | 40 | b |
| आरुह्य प्रययौ तार्क्ष्यम् | 1 | 11 | c |
| आरुह्य वरवारणम् | 1 | 39 | b |
| आरुह्य वरुणस्त्वरन् | 1 | 43 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| आरुह्य शितशूलभृत् | 1 | 46 | b |
| आर्य भ्रात रहम्मन्ये | 6 | 28 | b |
| आलिप्ता वसुपाणयः | 9 | 4 | d |
| आलिहन् सृक्वणी रक्ते | 5 | 47 | c |
| आविस्तारोऽल्पभूर्येक | 10 | 25 | c |
| अशीर्भिः परमप्रीता० | 1 | 7 | c |
| आश्लिष्य गाढं नयनैः | 6 | 24 | c |
| आश्लिष्यानामयं पृष्ट्वा | 6 | 50 | c |
| आसन्न च्युतसन्दर्श | 6 | 32 | c |
| आसन्मरीचेष्टपुनाः | 10 | 47 | a |
| आसन्चिचित्ररूपाणि | 6 | 13 | c |
| आससाद करं विष्णोः | 2 | 46 | c |
| आसीत्कल्पक्षये यथा | 6 | 1 | d |
| आस्थाय रणमूर्धनि | 5 | 30 | b |
| आहुकं कृतवर्माणम् | 6 | 8 | c |
| आहुकं वसुदेवञ्च | 3 | 42 | c |
| **इ** | | | |
| इत एतान्प्रणेष्यामः | 10 | 50 | a |
| इति छित्वा शितैर्बाणैः | 5 | 36 | a |
| इति तद्वचनं श्रुत्वा | 9 | 1 | a |
| इति दूत स्तदाक्षेपं | 5 | 23 | a |
| इति प्रस्तोभितो बालैः | 5 | 16 | c |
| इति सत्राजितः पुत्री | 3 | 23 | a |
| इति सम्भाष्यमाणासु | 8 | 2 | a |
| इति संशयिरे जनाः | 5 | 39 | d |
| इत्थं देव्या गिरं शक्रः | 3 | 20 | a |
| इत्यनुज्ञाप्य दाशार्ह० | 8 | 25 | a |
| इत्याकर्ण्याप्रियं शक्रः | 1 | 37 | a |
| इत्यात्मनाऽभिसन्धाय | 5 | 42 | a |
| इत्यादिष्टस्तथाचक्रे | 5 | 45 | c |
| इत्युक्त स्सत्यया कृष्णः | 1 | 30 | a |
| इत्युक्ता देवदेवेन | 1 | 27 | a |
| इत्युक्तो देवकीपुत्रः | 1 | 23 | a |
| इत्युक्तो देवराजेन | 3 | 31 | a |
| इत्युक्तो वासुदेवेन | 3 | 35 | a |
| इत्युक्त्वा तान्समादाय | 10 | 52 | a |
| इत्युक्त्वा तालमात्रे तु | 2 | 15 | c |
| इत्युत्तमश्लोकशिखामणिं | 7 | 5 | a |
| इदमाह करे स्पृशन् | 9 | 19 | d |
| इद मित्थमिति प्रायः | 10 | 44 | a |
| इदमेव विशङ्कये | 6 | 52 | b |
| इन्द्रनीलच्छदच्छन्नः | 1 | 19 | a |
| इन्द्रसेनेन पूजितौ | 10 | 52 | b |
| इन्द्रणीञ्च त्वया सह | 1 | 35 | b |
| इन्द्रियन्त्विन्द्रियाणां त्वम् | 10 | 10 | a |
| इन्द्रियाणाञ्च तैजसः | 10 | 11 | b |
| इमे च द्वारकौकसः | 10 | 23 | b |
| इमे प्राहुणिकाः प्राप्ताः | 2 | 1 | c |
| इयञ्चाऽप्यमरावती | 3 | 26 | d |
| इह प्राप्तो भवान्प्रभो ! | 4 | 17 | d |
| **ई** | | | |
| ईजे च भगवान्रामः | 6 | 4 | a |
| ईजेऽनुयज्ञं विधिना | 7 | 10 | a |
| ईशस्य हि वशे लोकः | 6 | 30 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ईशानो दशभिर्बाणैः | 2 | 39 | a |
| ईशानो वृषभं तुङ्गं | 1 | 46 | a |
| ईश्वरस्येशितव्यताम् | 8 | 15 | b |
| ईश्वरा वादिपूरुषौ | 10 | 29 | d |
| **उ** | | | |
| उक्ता स्माभि र्भृशं देव | 1 | 36 | a |
| उक्त्वा भारतसत्तम! | 3 | 23 | b |
| उग्रसेनश्च कौरव्य! | 5 | 3 | a |
| उच्चकै रुग्रसेनाद्याः | 5 | 20 | c |
| उत्तमश्लोक आविशत् | 4 | 40 | b |
| उत्तमश्लोके विक्रमम् | 5 | 57 | b |
| उत्पाट्याऽऽरोपयामास | 1 | 30 | a |
| उत्सिक्तभक्त्युपहृता० | 8 | 24 | c |
| उत्स्रक्ष्ये मूढचिह्नानि | 5 | 21 | c |
| उन्नीय वक्त्र मुरुकुण्डल - | 7 | 29 | a |
| उपजग्मुः प्रमुदिताः | 4 | 33 | c |
| उपधार्य शनै रीषत् | 4 | 33 | a |
| उपयेमे यथालोकं | 7 | 7 | c |
| उपलभ्य महारथः | 5 | 24 | b |
| उपविष्ट स्सभामध्ये | 3 | 43 | c |
| उपविष्टं समं शय्या | 1 | 34 | c |
| उपस्थितै र्यदुश्रेष्ठैः | 3 | 41 | a |
| उपाजग्मु स्तदाकर्ण्य | 1 | 3 | c |
| उपाजह्रु रुपायनम् | 4 | 8 | b |
| उपायान्नृप सङ्गरम् | 5 | 31 | d |
| उपालभ्याऽऽहर द्वृक्षम् | 1 | 36 | c |
| उपासिता भेदकृतो० | 8 | 12 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| उपोष्य सुसमाहिताः | 6 | 18 | d |
| उभयं मय्यथ परे | 6 | 56 | c |
| उवाच दूतम्भगवान् | 5 | 21 | a |
| उवाच सुखमासीनान् | 8 | 8 | a |
| उवाह कंसावरजम् | 5 | 8 | c |
| **ऊ** | | | |
| ऊढां चतुर्भिः पुरुषैः | 1 | 45 | a |
| ऊढोपायनताम्बूल | 3 | 40 | c |
| ऊर्णायां प्रथमेऽन्तरे | 10 | 47 | b |
| **ऋ** | | | |
| ऋणै स्त्रिभि र्द्विजो जातः | 3 | 37 | a |
| ऋषयश्च महात्मानः | 6 | 15 | a |
| ऋषयः श्रोतुमर्हथ | 8 | 27 | b |
| ऋषिपित्रो र्महामते | 3 | 38 | b |
| **ए** | | | |
| एक एव न चाऽपरः | 5 | 18 | b |
| एकरामाश्च वृष्णयः | 8 | 23 | b |
| एकविंशति संयुगे | 2 | 10 | b |
| एकानङ्गा च तन्वङ्गी | 3 | 50 | c |
| एकेनाऽशिः क्षुरप्रेण | 2 | 30 | a |
| एके सन्त्यज्य दुद्रुवुः | 7 | 35 | d |
| एतत्समवयो रूपः | 4 | 36 | c |
| एत न्नानाविधं विश्वम् | 10 | 5 | a |
| एतर्ह्येव पुनः स्थानं | 6 | 31 | c |
| एतावताऽलमलमिन्द्रिय - | 10 | 19 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| एतावदृष्टपितरौ युवयोः | 6 | 48 | a |
| एव मेतानि भूतानि | 6 | 56 | a |
| एवं कृष्णेन शिक्षिताः | 6 | 57 | b |
| एवं भगवता राजन्! | 10 | 26 | a |
| एवं मत्सरिणं हत्वा | 5 | 38 | a |
| एवं मीमांसमानायाम् | 4 | 39 | a |
| एवंविधान्यद्भुतानि | 10 | 58 | a |
| एवं वृते भगवति | 7 | 31 | a |
| एवं सञ्चोदितौ मात्रा | 10 | 34 | a |
| एवं सौहृदशैथिल्य | 9 | 24 | a |
| एष त्वानिर्दशं सिन्धौ | 4 | 17 | a |
| एष साधु निरूपितः | 8 | 33 | b |
| एहि शक्र निवर्तस्व | 3 | 18 | a |
| **ऐ** | | | |
| ऐरावतश्च कुलिशम् | 3 | 26 | a |
| ऐरावतं चतुर्दन्तं | 1 | 39 | a |
| ऐश्वर्यमत्ता पौलीमी | 3 | 19 | a |
| **ओ** | | | |
| ओज स्सहो बलञ्चेष्टा | 10 | 8 | c |
| **क** | | | |
| ककुभः पूरयन्नादैः | 6 | 11 | c |
| कङ्कगृध्रबकैर्वृतम् | 5 | 22 | b |
| कटकाङ्गदकेयूर | 6 | 17 | c |
| कठोरास्यः स्वजिह्वया | 5 | 47 | b |
| कण्ठे पाशं जलेश्वरः | 2 | 24 | b |
| कत्थनं तदुपाकर्ण्य | 5 | 20 | a |
| कथन्त्वनेन सम्प्राप्तं | 4 | 37 | a |
| कदाचि त्पौण्ड्रको नाम | 5 | 15 | a |
| कदाचि दपि न प्रायात् | 5 | 9 | c |
| कन्यां सुतनुसंज्ञिताम् | 5 | 5 | b |
| कम्पयद्भिश्च शस्त्रौघैः | 1 | 50 | a |
| कम्पयन्धरणीतलम् | 5 | 48 | b |
| कम्बलाजिनवस्त्राणाम् | 6 | 13 | a |
| करवीरपुरीमपि | 5 | 9 | d |
| कर्मक्षयपरीप्सवः | 6 | 16 | d |
| कर्मणा कर्मनिर्हारः | 8 | 27 | c |
| कर्मणा कर्मनिर्हारः | 8 | 33 | a |
| कर्मभिर्भ्राम्यमाणायाः | 7 | 16 | c |
| कलत्रैः खेचरा इव | 6 | 18 | b |
| कल्पिता योगमायया | 10 | 13 | d |
| कविभि श्शास्त्रचक्षुषा | 8 | 34 | b |
| कश्चाऽसौ पौण्ड्रको नाम | 5 | 4 | a |
| कस्मिन् देशे महीपतिः | 5 | 4 | b |
| कस्य वा कमलेक्षणः | 4 | 35 | b |
| कस्य वा तनयो ब्रह्मन् | 5 | 4 | c |
| कंसप्रतापितास्सर्वे | 6 | 31 | a |
| कंसेनाऽऽनकदुन्दुभिः | 5 | 9 | b |
| काञ्चने परमासने | 3 | 43 | d |
| काञ्चनोपस्करं रथम् | 7 | 33 | b |
| कान्ति स्तेजः प्रभा सत्ता | 10 | 7 | a |
| कान्तेन सह विप्रियम् | 1 | 10 | b |
| कामदेवं शिशुं बुद्ध्वा | 4 | 12 | c |
| कामयामह एतस्य | 7 | 42 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कामये द्रष्टु माहृतान् | 10 | 33 | d | कुरुते कार्यतोऽथवा | 6 | 30 | d |
| कामस्तु वासुदेवांशः | 4 | 4 | a | कुशस्थलीं दिवि भुवि | 7 | 36 | c |
| कामे स्मरेऽक्षविषये | 4 | 44 | d | कृच्छ्रा द्गृहीत पाशस्तु | 2 | 26 | a |
| काम्बोजकैकयान्भद्रान् | 6 | 22 | c | कृत पादाभिवन्दनौ | 10 | 1 | b |
| कार्मुकं कनकाटनि | 2 | 4 | d | कृताञ्जलिः प्रणम्याह | 3 | 23 | c |
| कार्याकार्यं विजानता | 3 | 30 | d | कृतानुज्ञः पुरन्दरः | 3 | 36 | d |
| कार्ष्णि र्व्यधमयत्स ताः | 4 | 27 | d | कृतार्थाः फलभागिनः | 1 | 18 | b |
| कार्ष्णौ वैहायसोऽसुरः | 4 | 25 | d | कृत्यानलः प्रतिहतः सः | 5 | 54 | a |
| कालयोग्य मिवातिथिम् | 5 | 3 | d | कृत्या माहेश्वरीं विभुः | 5 | 52 | b |
| कालविध्वस्तसेतूनाम् | 10 | 30 | a | कृत्रिमवेष मास्थितम् | 5 | 28 | b |
| कालेन विसृजेद्बुधः | 8 | 36 | b | कृत्वा नभसि सङ्गरम् | 2 | 45 | b |
| कालोपसृष्टनिगमा० | 7 | 4 | c | कृत्वा संस्थाविधिं पितुः | 3 | 41 | b |
| काशिराजः प्रतापवान् | 5 | 15 | b | कृष्ण कृष्ण न हर्तव्यः | 1 | 32 | a |
| काशीकैकेयसृञ्जयान् | 9 | 14 | d | कृष्ण कृष्ण! महायोगिन्! | 10 | 3 | a |
| कांस्यतालैश्च भूरिभिः | 1 | 47 | d | कृष्णमभ्यद्रवत्संख्ये | 2 | 47 | c |
| किन्तु वक्ष्यामि गोविन्द | 3 | 28 | a | कृष्णमभ्यद्रव द्युद्धे | 2 | 33 | c |
| किमिदं कस्य वा वक्त्रम् | 5 | 39 | c | कृष्णमभ्यद्रव द्रणे | 2 | 37 | d |
| किरीटी बद्धतूणीरः | 3 | 1 | c | कृष्ण! योगेश्वरेश्वर! | 10 | 29 | b |
| किं स्वल्पतपसां नृणाम् | 8 | 10 | a | कृष्ण राम दिदृक्षया | 8 | 2 | d |
| किं नामानं वदस्व मे | 4 | 3 | d | कृष्णरामोग्रसेनाद्यैः | 9 | 18 | c |
| कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यम् | 7 | 42 | c | कृष्णरामौ तथा स्त्रियम् | 4 | 42 | b |
| कुतोऽशिव स्त्वच्चरणाम्बु० | 7 | 3 | a | कृष्णरामौ परिष्वज्य | 6 | 44 | a |
| कुन्ति गान्धारकेरलान् | 6 | 22 | d | कृष्णरामौ समाश्राव्य | 10 | 28 | a |
| कुन्तिभोजो विराटश्च | 6 | 34 | a | कृष्णवीर्यसमुद्भवः | 4 | 5 | b |
| कुपितो धूर्जटिर्नृप! | 2 | 43 | d | कृष्णष्षोडशसाहस्र | 6 | 5 | c |
| कुब्जवामनपौण्ड्रकाः | 6 | 16 | b | कृष्णसंसूचितां नृप! | 10 | 57 | d |
| कुमारः पौण्ड्रको नाम | 5 | 6 | c | कृष्णस्तु तत्पौण्ड्रक | 5 | 32 | a |
| कुररीव मृतप्रजा | 4 | 19 | b | कृष्णस्य परमात्मनः | 10 | 58 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कृष्णस्याऽकुण्ठमेधसः | 8 | 14 | b | कौतुका द्रष्टु मीययुः | 3 | 52 | d |
| कृष्णस्याऽक्लिष्टकर्मणः | 5 | 56 | d | कौशेयवाससी पीते | 5 | 27 | a |
| कृष्णं कमलपत्राक्षम् | 5 | 17 | c | क्रुद्धश्चकर्ष विन्यस्य | 2 | 24 | c |
| कृष्णं तार्क्ष्यञ्च पञ्चभिः | 2 | 39 | b | क्रोधात्सर्प इव श्वसन् | 2 | 13 | b |
| कृष्णं मत्वाऽर्भकं यन्नः | 8 | 28 | c | क्व यासीति पुनः पुनः | 1 | 49 | b |
| कृष्णं मत्वा स्त्रियो भीताः | 4 | 32 | c | क्षणेन तं काशिपतेः | 5 | 29 | a |
| कृष्णं विव्यध सङ्गरे | 3 | 4 | d | क्षमस्व मत्कृतं विश्वम् | 3 | 24 | c |
| कृष्णं सत्या प्राह पाणौ | 1 | 13 | b | क्षिपन् सञ्जनयन् कलिम् | 4 | 21 | d |
| कृष्णः परपुरञ्जयः | 2 | 40 | b | क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन | 3 | 4 | c |
| कृष्णान्तःपुर योषितः | 4 | 41 | d | क्षुरप्रेण हरिप्रिया | 2 | 17 | b |
| कृष्णायाऽकुण्ठमेधसे | 8 | 22 | b | क्षेत्रं त्रैलोक्यविश्रुतम् | 6 | 12 | b |
| कृष्णायाऽभिचरन्नृप | 5 | 45 | d | क्ष्वेलितास्फोटितैर्घोरैः | 1 | 48 | c |
| कृष्णार्जुनबलादिभिः | 9 | 27 | b | **ख** | | | |
| कृष्णे कृष्णाय तच्चित्ताम् | 7 | 15 | c | | | | |
| कृष्णेऽखिलात्मनि हरै | 8 | 1 | c | खड्गं पन्नगभूषणः | 2 | 47 | b |
| कृष्णे नो भक्ति रस्त्विति | 6 | 20 | b | **ग** | | | |
| कृष्णोऽपि रथ मारुह्य | 5 | 23 | c | | | | |
| केचनोद्वद्धवैरेण | 10 | 43 | a | गज मैरावताह्वयम् | 3 | 13 | d |
| केचिद्गजान्रथानश्वान् | 5 | 30 | a | गजः केसरिणं यथा | 3 | 2 | b |
| केचिदद्भुततरं जग्मुः | 1 | 31 | c | गजैर्बृहद्भिरभ्राभैः | 6 | 9 | c |
| केयं लब्धाऽथ केन वा | 4 | 35 | d | गण्डस्थलं शिशिरहास | 7 | 29 | b |
| केशवस्तं निवारितुम् | 2 | 44 | b | गतां श्रिरायितानन्या | 6 | 51 | c |
| कैलासगिरिवासिनम् | 4 | 1 | d | गतिर्वायो स्तवेश्वर | 10 | 8 | d |
| को नामाऽयं तरु र्देव | 1 | 17 | c | गतिं साक्ष्मावबोधेन | 10 | 15 | c |
| कोन्वयं नरवैदूर्यः | 4 | 35 | a | गते मासत्रये भूयः | 9 | 30 | c |
| को वा न याति परिभूतिः | 3 | 21 | d | गदया ताडितो दण्डे | 2 | 35 | a |
| को विस्मरेत वां मैत्रीम् | 6 | 47 | a | गदा कौमोदकी पुनः | 2 | 46 | b |
| को वेदभूम्न उरुगाय | 10 | 20 | d | गदा माविध्य तरसा | 4 | 23 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| गदासिचक्रेषुभि रार्दय० | 5 | 32 | c |
| गदां कौमोदकीं गुर्वीम् | 2 | 44 | c |
| गदां विसृज्य तद्धस्तात् | 2 | 34 | c |
| गन्धमाल्यैश्च शोभनैः | 1 | 5 | d |
| गन्धर्वकिन्नरपिशाच - | 3 | 21 | b |
| गरुडं प्राह कौरव्य! | 3 | 38 | a |
| गरुडः पन्नगरिपुः | 2 | 41 | a |
| गरुडः पन्नगरिपुः | 3 | 39 | a |
| गरुडार्दितवाहनः | 3 | 16 | b |
| गरुत्मता नीयमानौ | 1 | 12 | b |
| गाङ्गं हित्वा यथाऽन्योम्भः | 8 | 29 | c |
| गाढं वक्षसि ताडितः | 2 | 30 | b |
| गात्रं निर्भिद्य सावृति | 3 | 8 | b |
| गान्धारी ससुता तथा | 6 | 33 | b |
| गायन्तः कृष्ण कृष्णेति | 6 | 11 | a |
| गावश्चारयतो गोपैः | 7 | 43 | c |
| गीयमानकथामृतः | 5 | 38 | d |
| गुणप्रवाह एतस्मिन् | 10 | 15 | a |
| गुणा स्तद्वृत्तयश्च याः | 10 | 13 | b |
| गुरवे गुरुदक्षिणाम् | 10 | 32 | d |
| गुरुणा किल चोदितौ | 10 | 32 | b |
| गृहीतवज्रं गच्छन्तम् | 1 | 39 | c |
| गृहीतो मत्स्य जीविभिः | 4 | 7 | d |
| गेहश्रुषामपि मनसि | 6 | 58 | d |
| गोपीनाञ्च गुरु र्गतिः | 7 | 1 | b |
| गोपीश्चोत्कण्ठिताश्चिरम् | 6 | 23 | d |
| गोप्यश्च कृष्ण मुपलभ्य | 6 | 49 | a |
| गोभूकन्यामहाधनाः | 9 | 11 | d |
| गोमेदपक्वप्रकरः | 1 | 20 | a |
| गोविन्दचरणाम्बुजे | 9 | 28 | b |
| गोविन्दचरणाम्भोज | 6 | 17 | a |
| गोविन्दं कुरुसत्तमम् | 2 | 27 | d |
| गोविन्दं वनपालकाः | 1 | 31 | b |
| गोविन्दं सत्यभामाञ्च | 3 | 35 | c |
| गोविन्दं सत्यभामाञ्च | 3 | 38 | c |
| गोविन्दं सत्यभामाञ्च | 3 | 52 | a |
| गोविन्देति च सन्ततम् | 6 | 11 | b |
| ग्रामसिंहा यथा हरिम् | 7 | 34 | d |
| ग्रामे त्यक्तैषणा स्सर्वे | 8 | 36 | c |


## घ


| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| घोरमारुह्य पौरुषम् | 1 | 42 | b |
| घोरं तार्क्ष्यजलेश्योः | 2 | 23 | b |
| घोरं दानवभीषणम् | 2 | 18 | b |
| घोरं दानवभीषणम् | 3 | 14 | b |
| घोरां शतघ्नी मादाय | 1 | 40 | c |
| घौरैर्ज्याघातनिर्घोषैः | 1 | 51 | a |


## च


| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| चक्रञ्च विष्णो स्तदनु | 5 | 55 | a |
| चक्रं मुकुन्दस्य झटि० | 5 | 53 | d |
| चक्राते कदनं घोरम् | 2 | 38 | c |
| चक्रिरे भवनानि च | 6 | 12 | d |
| चक्रुः कृष्ण कथां मिथः | 2 | 26 | d |
| चक्रे प्रणाम माशीर्भिः | 3 | 48 | c |
| चक्रे स्नेहं सदाभके | 4 | 12 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| चतुर्भिर्घटयामास | 3 | 12 | c |
| चन्द्राग्न्यर्क सविद्युताम् | 10 | 7 | b |
| चरित ममृतकीर्तेर्वर्णितं | 10 | 59 | b |
| चरित्वाऽथ महर्षयः | 9 | 12 | b |
| चलत्किसलयोपेतान् | 1 | 16 | a |
| चापे गुह्यकसत्तमः | 2 | 15 | d |
| चिक्षेप वरुणालये | 2 | 25 | d |
| चिच्छेद कार्मुकं तस्य | 2 | 17 | c |
| चिच्छेद निमिषार्धेन | 2 | 11 | a |
| चिच्छेद लीलया देवी | 2 | 14 | a |
| चित्त आनकदुन्दुभिः | 9 | 24 | b |
| चित्तस्योपशमो यो वै | 8 | 34 | a |
| चित्तं न तत्खलु रमास्पद० | 4 | 44 | c |
| चित्तं मुकुन्दे किल पद्मा० | 7 | 17 | c |
| चित्रा च वरवर्णिनी | 3 | 50 | d |
| चिरदर्शनकातराः | 6 | 42 | d |
| चिरं दृष्टं यदूत्तमम् | 1 | 7 | d |
| चिरं विमृश्य मुनयः | 8 | 15 | a |
| चिरान्मृतसुतादाने | 10 | 32 | a |
| चेष्टितं साध्वसाधु वा | 3 | 33 | b |
| चैद्याय माऽर्पयतुमुद्यत० | 7 | 8 | a |
| चोदनाया विमुच्यते | 10 | 46 | d |
| च्यवनो दवलोऽसितः | 8 | 3 | b |

## छ

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| छायाया मुपविष्टां माम् | 1 | 22 | a |
| छित्त्वा त्रिधैकेन शरेण | 3 | 7 | b |
| छिन्नेषुणाऽपातयत्तम् | 7 | 26 | c |

## ज

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| जगता मीश्वरं भेजे | 3 | 39 | c |
| जगदभिदलन्तद्भक्त | 10 | 59 | c |
| जगाम त्रिदशावासं | 1 | 2 | c |
| जगाम परशर्वर्याम् | 5 | 12 | c |
| जगु स्सुकण्ठ्यो गन्धर्वाः | 9 | 6 | a |
| जग्मुः श्रेयो विधित्सया | 6 | 2 | d |
| जग्मुः स्वं स्वं निकेतनं | 9 | 29 | d |
| जग्मुः स्वं स्वं निवेशनं | 3 | 53 | d |
| जग्मु स्सर्वे कुरुद्वह! | 6 | 11 | d |
| जग्राह प्रजहास च | 3 | 15 | d |
| जग्राहोच्चैर्जहास च | 2 | 19 | d |
| जनयामास नारीणाम् | 4 | 13 | c |
| जनसङ्घह इत्यूचुः | 8 | 15 | c |
| जनेष्वभिज्ञेषु स एव गो० | 8 | 13 | d |
| जन्मभाजो नृणा मिह | 6 | 38 | b |
| जय शब्दोऽपतद्भुवि | 7 | 27 | b |
| जहार कृष्णदयिता | 1 | 35 | c |
| जहौ सङ्कथया शुचः | 6 | 27 | d |
| जाज्वल्यमानं प्रलया० | 5 | 53 | b |
| जातरूपमहातनुः | 1 | 18 | d |
| जाते तस्मिन्महाराजः | 5 | 7 | c |
| जाने कामस्य यत्साक्षात् | 10 | 3 | c |
| जितशत्रुमनामयम् | 3 | 47 | d |
| जितशत्रुमनामयम् | 3 | 51 | d |
| जित्वर्क्षराजमथ रत्न० | 7 | 9 | c |
| जीवकोशास्त मध्यगुः | 6 | 57 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| जीवशौ स्वविभूतिभिः | 9 | 9 | d |
| जीवस्यानुस्मृति स्सती | 10 | 10 | d |
| ज्ञात्वा च तदवस्थितिम् | 7 | 24 | b |
| ज्ञात्वाऽथ नः क्षितिजये | 7 | 40 | b |
| ज्ञात्वा मम मतं साध्वि! | 7 | 18 | a |
| ज्ञात्वाऽवधीरण मुपाहर० | 7 | 10 | c |
| ज्वलमाने महाघोरे | 2 | 45 | c |
| **त** | | | |
| त इमेऽध्यासतेऽन्तिके | 10 | 49 | d |
| त एव मृषयो राजन्! | 9 | 2 | a |
| त एवं लोकनाथेन | 7 | 2 | a |
| तच्छ्रुत्वा महदाश्चर्यम् | 4 | 41 | c |
| तच्छ्रीनिकेतचरणाब्ज | 7 | 8 | d |
| तत उद्यम्य निशितं | 2 | 47 | a |
| तत श्चुकोप देवेन्द्रः | 3 | 11 | a |
| तत श्शापविनिर्मुक्ताः | 10 | 50 | c |
| तत श्शार्ङ्गं समादाय | 2 | 3 | a |
| तत श्शार्ङ्गं समादाय | 2 | 40 | a |
| तत स्तुण्डेन गरुडः | 3 | 13 | a |
| तत स्त्रिशूल माविध्य | 2 | 43 | a |
| तत स्स्वयं देवपतिः | 3 | 1 | a |
| ततः कामैः पूर्यमाणः | 9 | 26 | a |
| ततः क्रुद्धौ वैश्रवणः | 2 | 14 | c |
| ततः पुरीं पतिजय | 7 | 36 | a |
| ततः प्रहस्य गोविन्दः | 2 | 29 | a |
| ततः प्राया त्पुरीं मातुः | 1 | 6 | a |
| ततः स्वलङ्कृतान् | 9 | 13 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ततो गौह्यकगान्धर्व | 4 | 27 | a |
| ततोऽग्नि रुत्थितः कुण्डा० | 5 | 46 | a |
| ततो निवारयामासुः | 1 | 31 | a |
| ततो निवृत्तसङ्ग्रामः | 2 | 20 | a |
| ततोऽनुज्ञाप्य तां देवीं | 1 | 11 | a |
| ततोऽन्यच्चाप मादाय | 2 | 12 | c |
| ततोऽभिवा द्य ते वृद्धान् | 6 | 26 | a |
| ततो महिषमारुह्य | 2 | 33 | a |
| ततो मुद्गर मादाय | 2 | 18 | a |
| ततो मृदङ्गपटहाः | 7 | 30 | a |
| ततो विसृज्य सङ्ग्रामं | 2 | 49 | a |
| ततो वैश्रवणः श्रीमान् | 2 | 4 | a |
| तत्कृतेषु यथाशयम् | 10 | 25 | b |
| तत्क्षन्तव्यं त्वया देव | 3 | 30 | c |
| तत्पादेक्षाहतांहसः | 7 | 2 | d |
| तत्पुत्रान्पितरावपि | 6 | 27 | b |
| तत्ते गतो स्मरण मद्य | 10 | 19 | a |
| तत्र काश्यपपुत्रस्य | 2 | 24 | a |
| तत्र जज्ञे महाबाहुः | 5 | 6 | a |
| तत्रत्यो याति शुद्धये | 8 | 29 | d |
| तत्र नीते पारिजाते | 3 | 29 | a |
| तत्र शक्र स्समं शच्या | 1 | 5 | a |
| तत्र स्नात्वा महाभागः | 6 | 18 | c |
| तत्राऽऽगतां स्ते ददृशुः | 6 | 21 | c |
| तत्राऽऽगम द्भृतो गोपैः | 6 | 41 | c |
| तत्रऽगुर्भारतीः प्रजाः | 6 | 5 | b |
| तत्राऽऽजग्मुर्नृपाऽनेके | 6 | 14 | a |
| तत्राऽपश्यत्तरूदिव्यान् | 1 | 15 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तन्नोपाय मचीकरत् | 7 | 18 | d | तन्नः प्रसीद निरपेक्ष | 10 | 45 | a |
| तत्त्वग्राम उदाहृतः | 10 | 22 | d | तन्मातरो मनसिजार्द्र | 4 | 44 | b |
| तत्सूर्यकोटिप्रतिमं | 5 | 53 | a | तन्वः प्राण इवोत्थितः | 6 | 42 | b |
| तथा काशिपतेः कायात् | 5 | 37 | a | तपश्चरन्ती माज्ञाय | 7 | 11 | a |
| तथा गते वार्धिपतौ | 2 | 27 | a | तपसा च बभूविव | 7 | 39 | d |
| तथाऽनुगृह्य भगवान् | 7 | 1 | a | तपसा तोषयित्वा तम् | 4 | 1 | c |
| तथा ब्रुवाणे देवेशे | 2 | 2 | a | तपस्स्वाध्यायसंयमैः | 8 | 19 | b |
| तथा भूतानि भूतकृत् | 6 | 53 | d | तप्ततामशिखाश्मश्रुः | 5 | 46 | c |
| तथा मे कुरुतां कामम् | 10 | 33 | a | तमभिद्रुत्य देवेन्द्रः | 3 | 4 | a |
| तथैवाऽच्युतरामयोः | 8 | 32 | d | तमभ्यषिञ्चन्विधिना | 9 | 6 | c |
| तदद्भुतमिवाऽभवत् | 2 | 14 | b | तमसाधारणं मत्वा | 2 | 30 | c |
| तदद्भुत मिवाऽभवत् | 2 | 28 | d | तमागतं मधुरिपुः | 3 | 15 | a |
| तदनुस्मरणध्वस्त | 6 | 57 | c | तमभिचारदहनम् | 5 | 49 | a |
| तदवेत्य मन स्तस्य | 2 | 17 | a | तमायान्त मभिप्रेक्ष्य | 3 | 3 | a |
| तदसि त्वमनश्वरः | 10 | 12 | b | तमायान्तं रथोपस्थे | 5 | 25 | a |
| तदा गोप्यश्च गोपाश्च | 9 | 28 | a | तमाह भगवा न्कार्ष्णिः | 4 | 15 | a |
| तदा रामश्च कृष्णश्च | 9 | 9 | a | तमिमं जहि दुर्धर्षम् | 4 | 18 | a |
| तद्दर्शन स्पर्शनानुपथ | 6 | 40 | a | तमुद्यतमहादण्डम् | 2 | 34 | a |
| तद्दर्शनाह्लादपरि० | 10 | 35 | c | तमेव प्रत्यपद्यत | 4 | 4 | d |
| तदीक्षायां प्रवृत्तायां | 9 | 3 | a | तयो स्समभवद्युद्धम् | 2 | 23 | a |
| तद्ब्रह्मण्यगुणो भवान् | 8 | 20 | d | तयोस्समानीय वरासनं | 10 | 36 | a |
| तद्भाव मापु रपि नित्य | 6 | 49 | d | तरसा तद्दिक्षया | 6 | 41 | d |
| तद्रङ्ग माविशमहम् | 7 | 28 | a | तरुरत्नं सरोजाक्षि! | 1 | 25 | c |
| तद्वद्वयञ्च निजशैशव | 3 | 22 | c | तरुरेष जगन्नाथ! | 1 | 21 | a |
| तद्वीक्ष्य ताननुव्रज्य | 8 | 26 | a | तरुरेषोऽमरार्चितः | 1 | 32 | b |
| तद्वीर्यजात विस्रम्भः | 10 | 2 | c | तर्पणं प्राणनञ्चापाम् | 10 | 8 | a |
| तन्त्वाऽद्याऽहं गतिं गता | 10 | 31 | d | तव बृन्दारका इति | 2 | 1 | d |
| तन्न हार्य मनादृत्य | 1 | 25 | a | तव योगेश्वरेश्वर | 10 | 44 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तस्था वीशश्चतुर्भुजः | 7 | 32 | d | तं शम्बराय कैवर्ताः | 4 | 8 | a |
| तस्माद्ब्रह्मकुलं ब्रह्मन् | 8 | 20 | a | तं समेता यथाजोषम् | 3 | 53 | a |
| तस्मान्न सन्त्यमी भावाः | 10 | 14 | a | ताञ्छरान्देवसैनिकैः | 2 | 3 | d |
| तस्मिन् काले कुरूद्वह! | 5 | 1 | b | तातैददुपमन्महे | 10 | 22 | b |
| तस्मिन्नयाजयन्क्षत्रे | 9 | 2 | c | तानानादृत्य रक्षकान् | 1 | 30 | b |
| तस्मिन्प्रविष्टा वुपलभ्य | 10 | 35 | a | तानन्तरे कंसरिपुः | 3 | 7 | a |
| तस्मिन्सन्धाय विशिखं | 7 | 26 | a | तानन्तरे सत्यभामा | 2 | 10 | c |
| तस्मै वरमदाद्भवः | 5 | 43 | b | तानप्राप्तानर्धचन्द्रैः | 2 | 8 | a |
| तस्य काशिपते र्मित्रं | 5 | 31 | a | तानानर्चु र्यथा सर्वे | 8 | 7 | a |
| तस्य मे पादसंस्पर्शः | 7 | 16 | a | तानृषीनृत्विजो वव्रे | 9 | 1 | c |
| तस्यर्त्विजो महाराज | 9 | 8 | a | तान्दृष्ट्वा देवकीदेवी | 10 | 57 | a |
| तस्याऽद्य ते ददृशिम | 8 | 24 | a | तान्दृष्ट्वा बालकान्देवी | 10 | 53 | a |
| तस्या वचन गौरवात् | 1 | 14 | b | तान्दृष्ट्वा सहसोत्थाय | 8 | 6 | a |
| तस्या श्शङ्कितचेतसः | 4 | 9 | d | तान्यस्त्राण्युत्सृजामि ते | 5 | 34 | d |
| तस्यास्तु मेऽनुभव० | 7 | 12 | d | तान्वीरदुर्मदहन० | 7 | 13 | c |
| तं कामपालः शैनेयः | 5 | 2 | c | ताभिर्दुकूलवलय | 9 | 7 | c |
| तं क्लेशकर्मपरिपाक | 8 | 31 | a | ता मापतन्तीं भगवान् | 4 | 24 | a |
| तं ज्ञात्वा मनुजा राजन्! | 6 | 2 | a | तामायान्त मभिप्रेक्ष्य | 2 | 22 | a |
| तं त्वन्माययेश्वर | 10 | 16 | d | ताम्रश्मश्रु जहार तम् | 4 | 28 | d |
| तं त्वात्मधात्र विबुधा० | 7 | 4 | a | तार्क्ष्यं प्रति महागजम् | 3 | 11 | d |
| तं दुस्त्यज महं मन्ये | 9 | 20 | c | तार्क्ष्यो मकरवाहनम् | 2 | 22 | b |
| तं दृष्ट्वा जलदश्यामं | 4 | 31 | a | तावुत्सङ्गं समारोप्य | 6 | 45 | a |
| तं दृष्ट्वा भ्रष्टसङ्कल्पं | 3 | 17 | a | तावुभौ लोकविख्यातौ | 2 | 38 | a |
| तं दृष्ट्वा वृष्णयो हृष्टाः | 6 | 42 | a | तावुभौ सर्वपापेभ्यः | 5 | 58 | a |
| तं निर्जगार बलवान् | 4 | 7 | a | तांश्चकर्त शरै स्त्रिभिः | 3 | 9 | d |
| तं पक्षकोट्या गरुडः | 2 | 25 | a | ताश्च तं प्रत्यपूजयन् | 3 | 48 | d |
| तं मुद्गरं महाघोरम् | 2 | 19 | a | तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् | 2 | 5 | d |
| तं शम्बरः कामरूपी | 4 | 6 | a | तिष्ठ तिष्ठेति चाऽवदत् | 2 | 39 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तिष्ठ तिष्ठेति मा याहि | 1 | 49 | a | त्रिदशैर्जयकांक्षिभिः | 1 | 26 | d |
| तीर्थास्पदं हृदि धृतं | 8 | 24 | b | त्रिधैकैकं हरिप्रिया | 2 | 11 | b |
| तुङ्ग मारुह्य वारणम् | 3 | 1 | b | त्रिभिर्भल्लैर्हरिप्रियाम् | 2 | 7 | b |
| तुष्टाः कृष्णपरिग्रहान् | 6 | 37 | d | त्रिभिश्चिच्छेद सा शरैः | 2 | 8 | b |
| तुष्टुवु स्तत्र मागधाः | 9 | 5 | d | त्रिवक्रा च यशस्विनी | 3 | 50 | b |
| तूर्णं गृहीत्वा बाहुभ्यां | 2 | 48 | a | त्रिशूलमपि शूलिनः | 2 | 46 | d |
| तूर्यमङ्गलनिर्घोषैः | 3 | 41 | c | त्रिशूली वृषवाहनः | 2 | 37 | b |
| तूष्णीमास जनार्दनः | 4 | 40 | d | त्रिशूली वृषवाहनः | 2 | 49 | b |
| तूष्णीमासन्भ्रमद्धियः | 8 | 14 | d | त्रिंशद्भि र्युगपद्बाणैः | 2 | 40 | c |
| तूष्णीं प्रीतमना अभूत् | 10 | 26 | d | त्वञ्चीमीषु विकारेषु | 10 | 14 | c |
| तृणतूलरजांसि च | 6 | 53 | b | त्वदधीन मिदं विश्वम् | 3 | 27 | a |
| तृणैः पूर्णै स्तथा काष्ठैः | 6 | 12 | c | त्वन्तु मिथ्याभिधां त्यज | 5 | 18 | d |
| ते त्वसज्जन्त राजन्याः | 7 | 34 | a | त्वया सङ्गम्य सङ्गत्या | 8 | 21 | c |
| ते नमस्कृत्य गोविन्दं | 10 | 56 | a | त्वयि शास्त्र शरीरिणि | 10 | 42 | b |
| तेन सा जायते स्वर्गात् | 3 | 29 | c | त्वय्यद्धा ब्रह्मणि परे | 10 | 13 | c |
| तेनाऽऽसुरी मगु र्योनिं | 10 | 48 | a | त्वं वायुर्ज्योति रापो भूः | 10 | 25 | a |
| तेनाऽहं यदुशार्दूल | 3 | 30 | a | त्वं वासुदेवो भगवान् | 5 | 16 | a |
| ते पुनन्त्युरुकालेन | 8 | 11 | c | त्वामद्य मम पौरुषम् | 2 | 15 | b |
| ते वै कौमोदकीशूले | 2 | 45 | a | | | | |
| ते शरा देवराजस्य | 3 | 8 | a | **द** | | | |
| ते शार्ङ्गच्युतबाणौघैः | 7 | 35 | a | दग्धकामं पुन र्हरिः | 4 | 2 | b |
| ते रथै र्देवविख्यातैः | 6 | 9 | a | दग्धः प्राग्रुद्रमन्युना | 4 | 4 | b |
| तैः पञ्चभिश्शरै स्सत्या | 2 | 6 | a | दग्ध्वा वाराणसीं सर्वाम् | 5 | 56 | a |
| त्यक्त्वैहि मां त्वं शरणम् | 5 | 19 | c | दण्ड मादाय वीर्यवान् | 1 | 41 | b |
| ज्याजयिष्येऽभिधानं मे | 5 | 35 | a | दण्ह मुद्यम्य भास्वरम् | 2 | 23 | b |
| त्रस्तहस्तः परेतराट् | 2 | 35 | b | दण्डाहत इवोरगः | 1 | 37 | b |
| त्राहि त्राहीति लोकेशम् | 5 | 50 | c | दण्डाहत इवोरगः | 3 | 11 | b |
| त्रिदशानपि केशवः | 1 | 11 | b | ददुः स्वर्णं द्विजाग्रेभ्यः | 6 | 20 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ददौ पूर्णस्य भक्तितः | 7 | 38 | d | दुर्नयं शत्रु मात्मनः | 4 | 18 | b |
| दधच्छ्रीवत्सलक्षितम् | 5 | 26 | b | दुष्प्रापमतिदुर्लभम् | 10 | 40 | b |
| दधार पादा ववनिज्य | 10 | 36 | c | दूतवाक्येन मामाह | 5 | 34 | c |
| दध्मौ शङ्खं महास्वनम् | 1 | 3 | b | दूतस्तु द्वारका मेत्य | 5 | 17 | a |
| दन्तै र्बाहुयुगान्तरे | 3 | 12 | d | दूतं कृष्णाय प्राहिणोत् | 5 | 15 | d |
| दमघोषो विशालाक्षः | 6 | 35 | a | दृग्भि र्हृदीकृतमलम् | 6 | 49 | c |
| दम्पती तौ परिष्वज्य | 4 | 42 | c | दृश्यते सजले परम् | 7 | 19 | d |
| दर्शन स्पर्शन प्रश्न | 8 | 10 | c | दृष्ट्वा कमललोचनः | 2 | 34 | b |
| दर्शनं वां हि भूतानाम् | 10 | 40 | a | दृष्ट्वा तदुदरे बालम् | 4 | 9 | a |
| दर्शनादेव साधवः | 8 | 11 | d | दृष्ट्वा तमात्मना साम्यम् | 5 | 28 | a |
| दर्शित स्सुगमो योगः | 8 | 34 | c | दृष्ट्वा त्रिशूल मायान्तम् | 2 | 44 | a |
| दंशित स्तोमरायुधः | 1 | 44 | b | दृष्ट्वा पप्रच्छ गोविन्दम् | 1 | 17 | a |
| दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीदन्त | 5 | 47 | a | दृष्ट्वा मंस्यन्ति दयिताम् | 1 | 22 | c |
| दाक्षिणाग्निं परिचर | 5 | 44 | a | दृष्ट्वा समीरणो युद्धात् | 2 | 31 | a |
| दानवं दानवान्तकः | 1 | 1 | b | दृष्ट्वा स्वानाञ्च साध्वसम् | 5 | 51 | b |
| दारुकश्चोदयामास | 7 | 33 | a | दृष्ट्वोपतस्थे तं देवी | 1 | 6 | c |
| दासीभिश्चतुरङ्गिणीम् | 7 | 14 | b | देवकी वसुदेवश्च | 4 | 42 | a |
| दासीभिस्सर्वसम्पद्भिः | 7 | 38 | a | देवकीवसुदेवाभ्याम् | 4 | 39 | c |
| दिवाकरसमद्युतिः | 5 | 6 | b | देवकी सर्वदेवता | 10 | 27 | b |
| दिवि दुन्दुभयो नेदुः | 7 | 27 | a | देवकीं देवतोपमाम् | 5 | 8 | d |
| दिवि वज्रधरो यथा | 3 | 44 | d | देवकीं पितरं बलम् | 10 | 56 | b |
| दिव्यरूपाः स्वलङ्कृताः | 3 | 49 | d | देवक्या जठरे जाताः | 10 | 49 | a |
| दिशस्समभिपूरयन् | 3 | 3 | d | देवक्या सह सङ्गताः | 3 | 48 | b |
| दिशां त्वमवकाशोऽसि | 10 | 9 | a | देवक्रीडनकान्नरान् | 6 | 30 | b |
| दिष्ट्याऽऽसीन्मयि सस्नेहः | 6 | 54 | c | देवदेवो जनार्दनः | 3 | 31 | b |
| दीक्षाशालामुपाजग्मुः | 9 | 4 | c | देवयात्रार्थ मागताः | 9 | 30 | b |
| दीक्षितो जनसंवृतः | 9 | 7 | f | देवराजः कुरूद्वह! | 3 | 35 | b |
| दुर्दर्श मपि योगिनाम् | 6 | 38 | d | देवराजेन वक्षसि | 3 | 5 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| देवराज्यञ्च भगवन्! | 3 | 26 | c |
| देवर्षिपितृणां प्रभो! | 3 | 37 | b |
| देवलं जहसुर्वीक्ष्य | 10 | 47 | c |
| देवाना मपि दुष्प्रापं | 8 | 9 | c |
| देवाश्च कुसुमासारान् | 7 | 27 | c |
| देवाश्च तदनुग्रहाः | 10 | 10 | b |
| देवेन्द्राय निवेदितुम् | 1 | 31 | d |
| देव्यै चिक्षेप वित्तपः | 2 | 18 | d |
| देहम्भृत स्तत्कृतमुच्छ्व० | 7 | 3 | d |
| देहे वा स्यान्वयादिषु | 10 | 17 | b |
| देहोत्पत्तिं प्रतीक्षती | 4 | 11 | b |
| देहोपपत्तये भूयः | 4 | 4 | c |
| दैतेयीं मयदीक्षिताम् | 4 | 25 | b |
| दैत्यदानव गन्धर्व | 10 | 41 | a |
| दैवेनासादिताः स्वसः | 6 | 31 | d |
| द्रवत्वं ताश्च तद्रसः | 10 | 8 | b |
| द्रव्यज्ञानक्रियेश्वरम् | 9 | 10 | d |
| द्रव्यमात्रं निरूपितम् | 10 | 12 | d |
| द्रुतं ते वनरक्षकाः | 1 | 34 | b |
| द्रोणो भीष्मोऽङ्गराजश्च | 9 | 29 | a |
| द्वयोः श्रेष्ठे च चेष्टितम् | 10 | 6 | d |
| द्वारकामाविशत्सिद्धैः | 5 | 38 | c |
| द्वारकां प्रदह न्दिशः | 5 | 48 | d |
| द्वारकां रामपालिताम् | 5 | 13 | d |
| द्वारकां वृष्णिनिलयाम् | 5 | 1 | c |
| द्वारतोरणभूषिताम् | 3 | 39 | d |
| द्विजाते गृहमेधिनः | 8 | 35 | b |
| द्वितस्त्रितश्चैकतश्च | 8 | 5 | a |
| द्विपत्खरोष्ट्रै रिपुणा | 5 | 33 | b |
| द्वैपायनो नारदश्च | 8 | 3 | a |

## ध

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| धरणीशः प्रहस्याऽऽह | 5 | 51 | c |
| धर्ममेवाऽनुतिष्ठता | 1 | 25 | d |
| धर्मश्चात्ममुदावहः | 8 | 34 | d |
| धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरम् | 8 | 25 | b |
| धृतराष्ट्रोऽनुजो द्रोणः | 9 | 16 | a |
| धृतः कया वा जठरे | 4 | 35 | c |
| धृष्टकेतुश्च काशिराट् | 6 | 34 | d |

## न

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| न कश्चिदपि चेष्टितः | 3 | 32 | b |
| न किञ्चनोचतुः प्रेम्णा | 6 | 44 | c |
| न कुतश्चन रिष्यति | 8 | 30 | d |
| नगरस्त्री कदम्बैश्च | 6 | 6 | c |
| न तथा सत्त्वसंरब्धाः | 10 | 43 | c |
| नताः स्म ते नाथ पदार | 6 | 58 | a |
| न ते जरा न वैरूप्यम् | 1 | 10 | a |
| नदन्तो मुमुचुः कृष्णे | 2 | 2 | c |
| न देवा मृच्छिलामयाः | 8 | 11 | b |
| न निवर्तेत कर्हिचित् | 9 | 21 | d |
| ननृतु र्गायका जगुः | 7 | 30 | d |
| ननृतु र्नट नर्तक्यः | 9 | 5 | c |
| नन्द स्तत्र यदून्प्राप्तान् | 6 | 41 | a |
| नन्द स्तु सख्युः प्रियकृत् | 9 | 25 | a |
| नन्द स्तु सह गोपालैः | 9 | 18 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नन्दा दीन्सुहृदो गोपान् | 6 | 23 | c | नाऽनुस्मरथ सत्तमाः | 6 | 28 | d |
| न पश्यति यथान्धदृक् | 9 | 23 | d | नाऽनु स्मरन्ति स्वजनम् | 6 | 29 | c |
| न पश्याम पुर स्सतः | 9 | 22 | d | नाऽभ्यनन्द दुराचारा | 7 | 28 | a |
| न भूर्जलं खं श्वसनो० | 8 | 12 | b | नाऽभ्यवर्तत गोविन्दम् | 2 | 36 | c |
| नम स्तस्मै भगवते | 8 | 22 | a | नाऽमृष्य तत्पराभवम् | 1 | 37 | d |
| नम स्ते देवदेवेश | 3 | 24 | a | नारदेन महात्मना | 4 | 39 | d |
| नमः कृष्णाय वेधसे | 10 | 39 | b | नारदोऽकथयत्सर्वम् | 4 | 9 | c |
| न मां त्वदेक शरणं | 3 | 25 | a | नारदोऽकथयत्सर्वम् | 4 | 41 | a |
| नमोऽनन्ताय महते | 10 | 39 | a | नारदो भगवान्व्यासः | 9 | 16 | c |
| नमो वस्सर्वदेवेभ्यः | 8 | 27 | a | नारायणाङ्गसंस्पर्श० | 10 | 55 | c |
| न यं विदन्त्यमी भूपाः | 8 | 23 | a | नाऽविन्दंस्तदवस्थितिम् | 7 | 23 | a |
| न वयं साध्वि साम्राज्यं | 7 | 41 | a | नाश्वभ्योऽन्नेन पूजयन् | 9 | 13 | d |
| न विदन्त्यपि योगेशाः | 10 | 44 | c | नित्यं निबद्धवैरास्ते | 10 | 42 | c |
| नश्वरेष्विहभावेषु | 10 | 12 | a | नित्योऽन्यो निर्गिणो गुणैः | 10 | 24 | b |
| नष्टं प्रद्युम्न मायान्तम् | 4 | 43 | a | निनेदुर्नटनर्तक्यः | 7 | 30 | c |
| न सेहिरे याज्ञसेनि! | 7 | 31 | c | निन्ये तद्दास्यमस्तु मे | 7 | 14 | d |
| न ह्यम्मयानि तीर्थानि | 8 | 11 | a | निन्ये मृगेन्द्र इव भाग० | 7 | 8 | c |
| नाऽग्निर्न सूर्यो न च चन्द्र० | 8 | 12 | a | निन्येऽश्वयूथ मिव चा० | 7 | 12 | b |
| नाऽच्छिनत्पस्पृशे परम् | 7 | 24 | d | नियात्याब्दौ त्रिशूलं तत् | 2 | 46 | a |
| नाऽतिचित्र मिदं विप्राः | 8 | 28 | a | निपेतुः प्रधने केचित् | 7 | 35 | c |
| नाऽतिदीर्घेण कालेन | 4 | 13 | a | निरायुध स्सुरपतिः | 3 | 16 | a |
| नाऽत्र कार्या विचारणा | 3 | 33 | d | निरुद्धो भोजराजेन | 5 | 9 | a |
| नाथ नाथेत्युपाद्रवत् | 5 | 40 | d | निरुध्य बहुसैनिकः | 5 | 1 | d |
| नाथे विरुध्य पिशिताशनि | 3 | 22 | d | निरूपिता शम्बरेण | 4 | 12 | a |
| नादो वर्ण स्त्वमोङ्कारः | 10 | 9 | c | निर्ऋति र्भयविह्वलः | 2 | 36 | b |
| नानातनूर्गिनवत् | 10 | 20 | c | निर्ऋणोऽशरणो भवेत् | 3 | 38 | d |
| नानात्वं यात्यसा वपि | 10 | 25 | d | निर्ऋतिश्च महातेजाः | 1 | 42 | a |
| नानाधर्मपरिच्छदैः | 9 | 26 | d | निर्विशेषा वसुन्धरा | 3 | 29 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| निर्मथ्य संसृतिविमोक्ष० | 7 | 40 | c |
| निर्ममेऽश्ममयं वर्षं | 4 | 25 | c |
| निलिल्यु स्तत्र तत्र ह | 4 | 32 | d |
| निविष्टयो स्तत्र महा० | 10 | 36 | - |
| निशम्याभिमुखो भूत्वा | 3 | 20 | c |
| निशम्येत्थं भगवतः | 8 | 14 | a |
| निशात मसि मुद्यम्य | 4 | 28 | a |
| निशितं घोरदर्शनम् | 2 | 43 | b |
| निशितै र्मर्मभेदिभिः | 2 | 6 | b |
| निश्चक्राम गदापाणिः | 4 | 22 | c |
| निश्चक्राम पुराद्भुतम् | 5 | 24 | d |
| निश्चक्राम सुरेश्वरः | 1 | 38 | d |
| निषेद्धुं पथि केचन | 7 | 34 | b |
| निष्ककण्ठ्यस्सुवाससः | 9 | 4 | b |
| निष्क्रम्य विश्वशरणा० | 10 | 45 | c |
| निष्कामान् कुरु नः प्रभो! | 10 | 46 | b |
| निहतानेकसाहस्र | 5 | 12 | a |
| निहत्य दोर्भ्यां प्रणयाश्रु | 6 | 25 | d |
| निहत्य पितृहन्तारम् | 3 | 41 | c |
| निःक्षत्रियां महीं कुर्वन् | 6 | 3 | a |
| नीतिच्छिदादिशत माम् | 7 | 9 | d |
| नीतो वा सूतिकागृहात् | 4 | 36 | b |
| नीयतां तद्यथेच्छया | 3 | 27 | d |
| नीयमाने च वृक्षेऽस्मिन् | 1 | 26 | a |
| नीलवक्रालकालिभिः | 4 | 32 | b |
| नुन्नबाह्वङ्घ्रिकन्धराः | 7 | 35 | b |
| नूत्नकौशेयवाससः | 9 | 8 | b |
| नूनं भूतानि भगवान् | 6 | 52 | c |
| नृणां यः स्नेहसंज्ञितः | 9 | 20 | b |
| नृपाणां रुधिरौघेण | 6 | 3 | c |
| नृभिर्विद्याधरद्युभिः | 6 | 9 | d |
| नृभूतसूतचारणाः | 9 | 15 | b |
| नृलोकगीतां शृणु वर्ण० | 7 | 5 | d |
| नेतव्य स्सर्वथा वृक्षः | 1 | 29 | a |
| नेतव्यो नन्दना द्वनात् | 1 | 23 | d |
| नेतव्योऽयं पुरीं वृक्षः | 1 | 21 | c |
| नेदुर्मृदङ्गपटह | 9 | 5 | a |
| नो चेद्देहि ममाऽऽहवम् | 5 | 19 | d |
| नो चेद्विरम साम्प्रतम् | 1 | 29 | d |
| न्यपातय त्काशिपुर्याम् | 5 | 37 | c |
| न्यवर्तत कुरुश्रेष्ठ! | 2 | 32 | c |
| न्यवसद्बन्धुवत्सलः | 9 | 18 | d |
| न्यस्ता वकुत्र च भयौ | 6 | 48 | d |
| न्यावर्तत रणा द्राजन् | 3 | 16 | c |
| **प** | | | |
| पक्षाभ्याञ्चञ्चुकोट्या च | 2 | 41 | c |
| पक्षाभ्याञ्च तथा नखैः | 3 | 13 | b |
| पञ्चाशत्प्रमितैर्नृप! | 2 | 42 | b |
| पणवानकगोमुखैः | 1 | 47 | b |
| पतङ्गः क्षुद्रभृद्भृणी | 10 | 51 | b |
| पताका मालिनीं दिव्याम् | 3 | 40 | a |
| पत्नीभि रष्टादशभिः | 9 | 7 | a |
| पत्नीसंयाजावभृथैः | 9 | 12 | a |
| पत्युर्निदग्धदेहस्य | 4 | 11 | a |
| पथि काञ्चनमालिनः | 6 | 10 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पथि निर्जित्य राजन्यान् | 7 | 14 | c | पाण्डवाश्च महात्मानः | 9 | 31 | a |
| पदाति रेव सङ्गामात् | 2 | 26 | c | पाण्डवाः कृष्णरामौ च | 8 | 6 | c |
| पद्भ्यां गृहीत्वा मकरम् | 2 | 25 | c | पातयामास भूतले | 2 | 34 | d |
| पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्याम् | 5 | 48 | a | पादयोः कुण्डले तस्याः | 1 | 8 | c |
| पद्भ्यां दिशो भ्रमयती | 7 | 28 | b | पादस्पर्शं महात्मनः | 7 | 43 | d |
| पद्भ्यां द्वाभ्याञ्च संयुगे | 2 | 41 | b | पादाम्बुजं परिनिनाय | 7 | 40 | d |
| पद्मकोश मिवाऽनिलः | 5 | 37 | d | पादारविन्दधिषणः स्व० | 10 | 45 | b |
| परमानन्दनिर्भराः | 6 | 32 | d | पादावनेजनपयस्सु | 6 | 39 | b |
| परमेण समाधिना | 5 | 42 | d | पादाहत इवोरगः | 4 | 22 | b |
| परस्परजयैषिणौ | 2 | 38 | d | पादौ प्रगृह्य मणिना ह० | 7 | 10 | d |
| परार्ध्याभरणक्षौम० | 9 | 26 | c | पारतन्त्र्या द्वै सादृश्यात् | 10 | 6 | c |
| परांश्च शतशो नृपान् | 6 | 23 | b | पारिजातकृते राजन् | 3 | 2 | c |
| परित्यक्तुं त्वमर्हसि | 3 | 25 | d | पारिजातञ्च पादपम् | 3 | 38 | d |
| परिपृच्छ्य सुसत्कृताः | 7 | 2 | b | पारिजातश्च पादपः | 3 | 26 | b |
| परिहार्य हृषीकेशम् | 9 | 33 | a | पारिजात स्तरुश्रेष्ठः | 3 | 34 | a |
| परिशोचति ते माता | 4 | 19 | a | पारिजातं गरुत्मति | 1 | 30 | d |
| परिषस्वजिरे गाढम् | 6 | 42 | c | पारिजातं महाद्रुमम् | 1 | 16 | d |
| परिष्वज्य व्रजेश्वरीम् | 6 | 46 | b | पारिजातं महाद्रुमम् | 1 | 35 | d |
| परिष्वज्याङ्कमारोप्य | 10 | 53 | c | पारिजातं महाद्रुमम् | 3 | 45 | b |
| परिष्वज्याऽभ्यभाषत | 10 | 2 | d | पारिजाते शुचिस्मिते | 1 | 26 | b |
| परिहासकथामनु | 5 | 21 | b | पारिजातोऽयमच्युत | 1 | 29 | b |
| पलायनपरायणम् | 3 | 17 | b | पारिबर्हिणभूयसा | 9 | 14 | b |
| पलायन मयुक्तं हि | 3 | 18 | c | पार्थो यत्तोऽसृजद्बाणान् | 7 | 24 | c |
| पलायिते धनपतौ | 2 | 21 | a | पार्श्वस्थं चक्रमादिशत् | 5 | 52 | d |
| पश्यतां सर्वदेवानाम् | 2 | 16 | a | पार्ष्णिग्राहोऽपरो नृपः | 5 | 31 | b |
| पश्यतां सर्वभूतानाम् | 3 | 14 | c | पार्ष्णिभ्यां चोदयन्वृषम् | 2 | 47 | d |
| पश्यथाततमक्षरे | 6 | 56 | d | पालितं शक्रकिङ्करैः | 1 | 14 | d |
| पाकशासनचोदितः | 3 | 12 | b | पावकः पञ्चभिर्बाणैः | 2 | 28 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पाश मुद्यम्य संयुगे | 2 | 21 | d | पुमान्यच्छ्रद्धया तिष्ठन् | 10 | 46 | c |
| पाशोद्यतकरः प्रायात् | 1 | 43 | c | पुरन्दरं कुरुश्रेष्ठ | 3 | 31 | c |
| पितरावभिवाद्य च | 6 | 44 | b | पुरन्दरं भारत लीलयैव | 3 | 7 | d |
| पिता दुहितृवत्सलः | 7 | 18 | b | पुरन्दरं स दिक्पालम् | 3 | 37 | c |
| पिता मे पूजयामास | 7 | 37 | a | पुरस्ता देव सर्वशः | 6 | 2 | b |
| पिता मे मातुलेयाय | 7 | 15 | a | पुरं नीतो विहायसा | 4 | 29 | d |
| पितृहन्तुर्वधोपायम् | 5 | 43 | c | पुरा क्षीराम्बुधेर्जातः | 1 | 24 | a |
| पित्रा कृता क्षितिपवीर्य० | 7 | 13 | b | पुरीं वाराणसीं नृप! | 5 | 12 | d |
| पित्रा सम्पूजिता स्सर्वे | 7 | 21 | a | पुरजिद्रुपदश्शैब्यः | 6 | 34 | c |
| पिबन्ति ये कर्णपुटै रलं | 7 | 3 | c | पुरोऽहमिति गच्छद्भिः | 1 | 50 | c |
| पीडित स्तै र्भृशं बाणैः | 2 | 9 | c | पुलिन्द्य स्तृणवीरुधः | 7 | 43 | b |
| पीतकौशेयवाससम् | 4 | 31 | b | पुलस्त्यः कश्यपोऽत्रिश्च | 8 | 4 | c |
| पीतशेषं गदाभृतः | 10 | 55 | b | पूजयामास केशवम् | 1 | 5 | b |
| पुण्डरीकाक्ष माधव | 3 | 24 | b | पूजयामास भामिनी | 1 | 7 | b |
| पुत्रन्यासञ्च गोकुले | 6 | 43 | d | पूजितश्चाभिवन्दितः | 3 | 41 | b |
| पुत्रपौत्रजनानीकैः | 6 | 6 | a | पूजितस्तै र्यथोचितम् | 3 | 43 | b |
| पुत्र मायान्त मच्युतम् | 1 | 6 | d | पूजितस्तै स्सुरैः कृष्णः | 1 | 4 | a |
| पुत्रयोर्धामसूचकम् | 10 | 2 | b | पृच्छति श्रेय आत्मनः | 8 | 28 | d |
| पुत्रस्नेह स्नुतस्तनी | 10 | 53 | b | पृथा च नृपसत्तम | 9 | 31 | b |
| पुत्रस्नेहाकुलादीना | 4- | 19 | c | पृथा भ्रातॄन्स्वसुर्वीक्ष्य | 6 | 27 | a |
| पुत्रान् कंसविहिंसितान् | 10 | 28 | b | पृष्ठतोऽभ्युद्यतायुधम् | 1 | 33 | d |
| पुत्रार्थमीश्वरं दृष्ट्वा | 4 | 3 | a | पेततुस्सम मम्बुधौ | 2 | 45 | d |
| पुत्रास्ते योगमायया | 10 | 48 | d | पेतुरेकेऽमुना हताः | 7 | 22 | d |
| पुत्रो मे रक्षितव्यं स्ते | 3 | 36 | a | पैशाचोरगराक्षसीः | 4 | 27 | b |
| पुन राप्लुत्य वृष्णयः | 6 | 19 | d | पौण्ड्रकस्याल्पमेधसः | 5 | 20 | b |
| पुन र्द्वारवती मेत्य | 10 | 52 | c | पौण्ड्रकं ससखं हरिः | 5 | 38 | b |
| पुन र्यास्यान्ति मद्गतिम् | 10 | 51 | d | पौण्ड्रको नाम राजा वै | 5 | 1 | a |
| पुनश्च शक्रः कोदण्डे | 3 | 9 | a | पौण्ड्रकोऽपि तदुद्योगम् | 5 | 24 | a |
| | | | | पौराश्शोकहता राजन् | 5 | 40 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पौलस्त्यस्य महद्धनुः | 2 | 11 | d | प्रविवेश वनं कृष्णः | 1 | 14 | c |
| पौलस्त्यः क्रोधविह्वलः | 2 | 9 | d | प्रविवेश सभां दिव्याम् | 3 | 42 | a |
| पौलोम्या वचनं स्मरन् | 3 | 2 | d | प्रविश्यास्मिन् साधुचित्तं | 1 | 13 | c |
| पौलोम्या वल्लभस्य ते | 3 | 18 | d | प्रशशंसु र्मुदायुक्ताः | 6 | 37 | c |
| प्रक्षिप्य व्यनदन्नादं | 4 | 23 | c | प्रसाद्य गरुडं तथा | 3 | 35 | d |
| प्रगृहीतशरासनः | 3 | 1 | d | प्रसूनरजसाऽऽवृतान् | 1 | 15 | d |
| प्रजहार वृषाकपिम् | 3 | 14 | d | प्रहरन्नरयो हरिम् | 5 | 30 | f |
| प्रणम्य चोपसङ्गृह्य | 8 | 26 | c | प्रहसन्तीदमब्रवीत् | 3 | 17 | d |
| प्रणेमु र्देव मभ्येत्य | 3 | 49 | c | प्रहसन्निदमब्रवीत् | 6 | 50 | d |
| प्रणेमुर्लोकवन्दितान् | 8 | 6 | d | प्रहसन् श्लक्ष्णया गिरा | 10 | 21 | d |
| प्रतिलब्धात्मदर्शनाः | 10 | 55 | d | प्रहस्य साधु शक्रोसि | 3 | 5 | c |
| प्रत्याह प्रश्रयानम्रः | 10 | 21 | c | प्रहृष्टरोमा नृपगद्गदा० | 10 | 38 | d |
| प्रत्यूचु र्हृष्टमनसः | 7 | 2 | c | प्रह्वपादार्चनादिकम् | 8 | 10 | d |
| प्रद्युम्न इति विख्यातः | 4 | 5 | c | प्राकृतैर्वैकृतै र्यज्ञैः | 9 | 10 | c |
| प्रद्युम्नाय महात्मने | 4 | 23 | b | प्रागल्पास्तु कुशलं | 9 | 22 | a |
| प्रद्युम्नो गदया गदाम् | 4 | 24 | b | प्रागासीना नृपादयः | 8 | 6 | b |
| प्रधानपुरुषेश्वरः | 10 | 4 | d | प्राग्ज्योतिमगधेश्वरौ | 7 | 23 | b |
| प्रधानपुरुषेश्वरौ | 10 | 18 | b | प्राग्ज्योतिषपुरान्नृप! | 1 | 1 | d |
| प्रधानपुरुषौ | 10 | 3 | d | प्राङ्गणे सत्यभामायाः | 3 | 45 | a |
| प्रधानमनुशायिनाम् | 10 | 11 | d | प्राणत्राणपरायणः | 2 | 32 | d |
| प्रभातायान्तु शर्वर्याम् | 5 | 13 | a | प्राणाञ्जीवो बिभर्त्यजः | 10 | 5 | d |
| प्रभाष्यैवं ददौ विद्याम् | 4 | 20 | a | प्राणादिभिः स्वविषयैः | 8 | 31 | c |
| प्रमथैस्सहितः प्रायात् | 2 | 49 | c | प्रणादीनां विश्वसृजां | 10 | 6 | a |
| प्रलम्ब बाहुं ताम्राक्षम् | 4 | 31 | c | प्राप्नोषि न पुरीं कृष्ण! | 1 | 33 | a |
| प्रलम्बबाहुं नरलोक० | 4 | 14 | b | प्राप्योषतु र्भवति पक्ष्म ह यद्व० | 6 | 48 | c |
| प्रवदद्भिस्सुरगणैः | 1 | 49 | c | प्रायच्छ द्वसुदेवाय | 5 | 5 | c |
| प्रवालमूलो विपुलः | 1 | 18 | c | प्रायात्कांशीं ससैनिकः | 5 | 23 | d |
| प्रविवेश मनोरमम् | 1 | 4 | d | प्रायुङ्क्त शतशौ दैत्यः | 4 | 27 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्राविशत्केशवस्सभाम् | 5 | 14 | d |
| प्रास्योदन्वत्यगाद्गृहं | 4 | 6 | d |
| प्राह देवीं शुचिस्मितां | 3 | 20 | d |
| प्राह पश्य हनिष्यामि | 2 | 15 | a |
| प्राह नाऽयं तरुर्भद्रे! | 1 | 23 | c |
| प्राह प्रहसिताननः | 3 | 31 | d |
| प्राह भीषयसे किं माम् | 1 | 27 | c |
| प्राहिणोत्स गदां नदन् | 4 | 24 | d |
| प्राहिणोद्दैत्यमर्दनम् | 2 | 44 | d |
| प्राहिणोद्वासुदेवाय | 2 | 43 | c |
| प्राहेदं कश्यपप्रिया | 1 | 9 | d |
| प्रियासार्थैश्च संवृतः | 6 | 6 | d |
| प्रियाऽहं तव चेन्नाथ! | 1 | 29 | c |
| प्रीतो विमुक्ते भगवान् | 5 | 43 | a |
| प्रीत्या सङ्कर्षणाच्युतौ | 10 | 1 | d |
| प्रीत्युत्फुल्लमुखास्सर्वे | 3 | 52 | c |
| प्रीत्योपतस्थे रति रात्मनो० | 4 | 14 | d |
| प्रेम्णा गोविन्दरामयोः | 9 | 25 | b |
| प्रेषयद्भिश्च वाहनम् | 1 | 50 | b |
| प्रेषयामास तोत्रेण | 3 | 11 | c |
| प्रेषिता देवसैनिकाः | 2 | 2 | b |
| प्रोत्फुल्लहृद्वक्त्र सरोरुह० | 6 | 24 | b |
| **फ** | | | |
| फलभारनतान्भूरि | 1 | 15 | c |
| फलं सद्योऽनु भोक्ष्यसि | 1 | 32 | d |
| **ब** | | | |
| बन्धुषु प्रतियातेषु | 9 | 32 | c |
| बन्धून्परिष्वज्य यदून् | 9 | 17 | a |
| बन्धून् सदारान् ससुतान् | 9 | 14 | a |
| बभाष हाऽऽनन्दजला० | 10 | 38 | c |
| बभेषेदं सुयन्त्रितः | 8 | 26 | d |
| बभौ च तन्नामवहं मन० | 5 | 33 | c |
| बलभद्रं तथाऽग्रजम् | 3 | 42 | d |
| बलवीर्यमदान्वितः | 5 | 6 | d |
| बलं गज स्यन्दन वाजि | 5 | 32 | b |
| बलिनौ वीर्यशालिनौ | 2 | 38 | b |
| बहुभि र्गुह्यकै र्वृतः | 2 | 4 | b |
| बाध्यमानोऽश्मवर्षेण | 4 | 26 | a |
| बाणेनैकेन पावकम् | 2 | 29 | b |
| बाल सतत्त्वमुत्पत्तिम् | 4 | 10 | a |
| बाष्पकण्ठ्यौ समूचतुः | 6 | 46 | d |
| बाष्पगद्गदभाषिणः | 9 | 31 | d |
| बाहुभ्यां परिरभ्य च | 6 | 45 | b |
| बाह्लकविदुरादयः | 9 | 29 | b |
| बिभर्षि सान्त्वं खल० | 8 | 18 | b |
| बिभ्राणं कौस्तुभमणिम् | 5 | 26 | c |
| बृहत्सेन इति ख्यातः | 7 | 18 | c |
| बृहस्पतिपुरोगमैः | 3 | 44 | b |
| ब्रह्मचर्यसुताभ्यां वै | 3 | 38 | a |
| ब्रह्मणे परमात्मने | 10 | 39 | d |
| ब्रह्म ते हृदयं शुक्लम् | 8 | 19 | a |
| ब्रह्मपुत्रस्तथाङ्गिराः | 8 | 5 | b |
| ब्रह्महत्यादिभिर्नृप | 5 | 58 | b |
| ब्राह्मणाश्च सहस्रशः | 6 | 14 | b |
| ब्राह्मणेभ्यो ददुर्धेनूः | 6 | 19 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ब्राह्मणै स्सह ऋत्विजः | 5 | 44 | b |
| ब्रूत वो भगवान्स्वयम् | 7 | 7 | b |
| **भ** | | | |
| भक्तमव्यग्रमृत्विजः | 9 | 6 | d |
| भक्ताः केचन कामतः | 10 | 43 | b |
| भक्तिनम्रैर्गतज्वरैः | 1 | 4 | b |
| भक्त्या परमया हरिम् | 3 | 39 | b |
| भगवति कृतचित्तो याति | 10 | 59 | d |
| भगवन्तं भयातुराः | 5 | 50 | b |
| भगवंस्त्व मनन्यधीः | 3 | 28 | d |
| भगवान्धर्मगुप्तनुः | 8 | 8 | b |
| भगवान्पुन रादाय | 7 | 25 | c |
| भगवान्सात्वतर्षभः | 10 | 21 | b |
| भगवांस्ता स्तथाभूताः | 6 | 50 | a |
| भग्नमानेषु मानिषु | 7 | 25 | b |
| भटेभरथ वाजिभिः | 7 | 38 | b |
| भर्तृपौरुषगर्विता | 1 | 28 | d |
| भर्तृपौरुषगर्विता | 1 | 36 | d |
| भर्तृपौरुष गर्विता | 3 | 19 | b |
| भवता कल्पपादपे | 3 | 29 | b |
| भवतीनां मुदावहः | 6 | 54 | d |
| भवन्ति किल विश्वात्मन् | 10 | 31 | c |
| भवान्नारायणसुतः | 4 | 16 | a |
| भवान्सर्वमिदं जगत् | 10 | 17 | d |
| भविता शरणं शुनाम् | 5 | 22 | d |
| भवेज्जन्मनि जन्मनि | 7 | 16 | b |
| भारद्वाजोऽथ गौतमः | 8 | 3 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भार्ययाऽम्बरचारिण्या | 4 | 29 | c |
| भार्या रणपराजितम् | 3 | 19 | d |
| भीमो दुर्योधनः कर्णः | 7 | 23 | c |
| भीष्मको नाश्नजिन्महान् | 6 | 34 | b |
| भीष्मो द्रोणोऽम्बिकापुत्रः | 6 | 33 | a |
| भीष्मो द्रौणिः कृपस्तथा | 9 | 16 | b |
| भुक्त्वेव विविशुः कामं | 6 | 21 | a |
| भूतकोटिसमन्वितः | 1 | 46 | d |
| भूतप्रमथनायकाः | 10 | 41 | d |
| भूताना मनुकम्पार्थं | 5 | 18 | c |
| भूतानामपि भूतादिः | 10 | 11 | a |
| भूतेषु बहुधेयते | 10 | 24 | d |
| भूतेष्वात्माऽऽत्मना गतः | 6 | 56 | b |
| भूभारदैत्यक्षपणे | 10 | 18 | c |
| भूमे र्भारायमाणानां | 10 | 30 | c |
| भूयः पार्श्वमुपातिष्ठत् | 5 | 56 | c |
| भूयात्कल्याणि! सुव्यक्तं | 1 | 10 | c |
| भूयोऽपि कृष्णो नाराचैः | 2 | 42 | a |
| भूयोऽपि बाणान् दश | 3 | 6 | a |
| भूयोऽपि बाणैस्त्रिंशद्भिः | 3 | 10 | a |
| भूयो भूयः प्रार्थयित्वा | 3 | 36 | c |
| भूयो वेगेन निर्गताः | 3 | 8 | d |
| भूयोऽष्टभिश्शरै र्देवी | 2 | 8 | c |
| भूरि बालिश मक्षान्तं | 3 | 25 | c |
| भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः | 6 | 55 | d |
| भूः कालभर्जितभगाऽपि | 6 | 39 | c |
| भेरीशङ्खमृदङ्गैश्च | 1 | 47 | a |
| भोजराजहतान्पुत्त्रान् | 10 | 33 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भोजवृष्ण्यन्धकस्त्रियः | 3 | 51 | b |
| भो भो पौण्ड्रक! यद्भवान् | 5 | 34 | b |
| भौतिकानां यथा खं वा | 6 | 55 | c |
| भौमं निहत्य सगणं | 7 | 40 | a |
| भौमैर्हि भूमिर्बहुनाम | 8 | 17 | c |
| भ्रमन्मुहुः प्रेमविभिन्नया | 10 | 38 | b |
| भ्रातरः पितरावपि | 6 | 29 | b |
| भ्रात रीशकृतः पाशः | 9 | 20 | a |
| भ्रातर्वो नाऽऽचरेमहि | 9 | 22 | b |
| भ्रातृपत्नी र्मुकुन्दश्च | 6 | 27 | c |
| भ्रातृंश्च मेऽपकुरुत स्व० | 7 | 12 | c |
| भ्रामयित्वा शतगुणं | 2 | 18 | c |
| **म** | | | |
| मकरं भीषणाकारं | 1 | 43 | a |
| मखै रुत्तमकल्पकैः | 9 | 2 | d |
| मत्तसारङ्गनादितान् | 1 | 15 | b |
| मत्प्रसादात्कदाचन | 1 | 10 | d |
| मत्स्यं वीक्ष्य सकृज्जले | 7 | 26 | b |
| मत्स्यः पार्थेच्छया कृतः | 7 | 19 | b |
| मत्स्याभासं जले दृष्ट्वा | 7 | 24 | a |
| मत्स्योऽग्रसी त्तदुदरात् | 4 | 17 | c |
| मत्स्योदरनिवेशनम् | 4 | 10 | b |
| मत्स्योशीनरकौसल्य | 6 | 22 | a |
| मथ्यमानात्सुरासुरैः | 1 | 24 | b |
| मनः क्षिप्रं पुनर्हर्तुम् | 9 | 28 | c |
| मनो मे हरते भृशम् | 1 | 21 | b |
| मनोरथ महार्णवम् | 9 | 19 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| मन्निदेशात्सहस्राक्ष! | 3 | 34 | c |
| मन्महिष्यश्च मुदिताः | 9 | 4 | a |
| मम चाऽप्यात्मनो नष्टः | 4 | 36 | a |
| ममज्जुश्शक्रवक्षसि | 3 | 10 | d |
| ममाऽपि राज्यच्युतजन्म | 7 | 17 | a |
| मया मित्रं शतक्रतुम् | 1 | 25 | b |
| मयि भक्ति र्हि भूतानाम् | 6 | 54 | a |
| मयैव यत्कृतं सर्वम् | 3 | 33 | c |
| मय्यारुढे तरुर्दिवम् | 3 | 34 | b |
| मर्त्यात्मदृक् त्वयि परे | 10 | 19 | d |
| मर्दयामास तं वृषम् | 2 | 41 | d |
| महत्या पूजयाऽर्चितः | 9 | 18 | b |
| महत्यां तीर्थयात्रायाम् | 6 | 5 | a |
| महद्विस्फारयद्धनुः | 3 | 4 | b |
| महन्मनस्तो मुखनि० | 7 | 3 | b |
| महात्मना गगने देव | 1 | 12 | a |
| महार्हवस्त्राभरणानु० | 10 | 37 | b |
| महार्हवासोऽलङ्कारैः | 7 | 37 | c |
| महिम्ने परमात्मने | 8 | 22 | d |
| महिषी शिबिकान्वितः | 6 | 5 | d |
| महिषेण कुरूद्वह | 2 | 35 | d |
| महिष्यः कृष्णवल्लभाः | 3 | 49 | b |
| महिष्यः पुत्रबान्धवाः | 5 | 40 | b |
| माणिक्यपुण्पो विविध० | 1 | 19 | c |
| मात स्ते मति रन्यथा | 4 | 15 | b |
| मातुः पुत्रानयच्छताम् | 10 | 52 | d |
| मातृभाव मतिक्रम्य | 4 | 15 | c |
| मातृशोकापनुत्तये | 10 | 50 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| माधव्य इत्थ मनु याः | 8 | 1 | b |
| मा भैष्टेत्यविताऽस्म्यहम् | 5 | 51 | d |
| मायाकृतिं परमहंसगतिं | 7 | 4 | d |
| मायाजवनिकाच्छन्नम् | 8 | 23 | c |
| मायाभिर्मोहनादिभिः | 4 | 18 | d |
| मायावती महामाया | 4 | 20 | c |
| मायावत्यै न्यवेदयत् | 4 | 9 | b |
| मायाशतविदं त्वञ्च | 4 | 18 | c |
| माया हि कुलिशायुध | 3 | 18 | b |
| मायेशे नृपयूथपाः | 7 | 31 | b |
| मा राज्यश्रीरभूत्पुंसः | 9 | 23 | a |
| मारुतश्च तथा त्रिभिः | 2 | 28 | b |
| मार्कण्डेयो बृहस्पतिः | 8 | 4 | d |
| मार्ष्टुकामः पराभवम् | 2 | 16 | b |
| माल्यधूपानुलेपनैः | 8 | 7 | d |
| मां रथं स समारोप्य | 7 | 32 | a |
| मिषतां द्विषतां राज्ञि! | 7 | 33 | c |
| मिषतां सर्वभूतानाम् | 10 | 56 | c |
| मीन स्सोऽप्यपरै स्सह | 4 | 7 | b |
| मुक्ताफलफलान्वितः | 1 | 19 | d |
| मुक्तांश्चिच्छेदबाणौघैः | 2 | 3 | c |
| मुखन्तव विधायाऽज्ञ! | 5 | 22 | a |
| मुनयो दधिरे मनः | 8 | 25 | d |
| मुनीनां वदतां श्रुत्वा | 10 | 2 | a |
| मुमुचु र्हर्षविह्वलाः | 7 | 27 | d |
| मुमोच चक्रे सह सिंह | 3 | 6 | d |
| मुमोचाऽऽकृष्य गोविन्दः | 3 | 9 | c |
| मुष्टिदेशे कुरुद्वह | 2 | 17 | d |
| मुष्टिदेशे द्विधा नृप | 2 | 12 | b |
| मुहूर्तं मे काम्यते केश० | 1 | 13 | d |
| मूर्तिना नातिभूषणः | 5 | 46 | b |
| मूर्ध्नाऽऽनम्योपसृत्य च | 9 | 1 | d |
| मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः | 7 | 42 | d |
| मूर्ध्न्यजिघ्रदभीक्ष्णशः | 10 | 53 | d |
| मूलं त्वयि विरुध्यतः | 3 | 28 | b |
| मृतागमननिर्गमम् | 10 | 57 | b |
| मृत्युकालादिभिर्युक्तः | 1 | 41 | c |
| मेघा श्शैल मिवाम्भसा | 5 | 29 | d |
| मेने ससूर्यमिव मेघ | 8 | 31 | d |
| मेने सुविस्मिता मायां | 10 | 57 | c |
| मेने स्वात्मान मच्युतम् | 5 | 16 | d |
| मैत्र्यर्पिता फलावापि | 9 | 21 | c |
| मैथिलो मद्रकेकयाः | 6 | 35 | b |
| मोहिता मायया विष्णोः | 10 | 54 | c |
| मौढ्या द्विभर्ष्यभीतम् | 5 | 19 | b |


## य


| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| य इत्थं वीर्यशुल्कां मां | 7 | 14 | a |
| य इद मनुशृणोति श्राव० | 10 | 59 | a |
| य एतच्छ्रावयेन्मर्त्यः | 5 | 57 | a |
| यक्षरक्षःपिशाचाश्च | 10 | 41 | c |
| यच्छ्रद्धयाप्तवित्तेन | 8 | 35 | c |
| यच्छ्रद्धया यजेद्विष्णुम् | 8 | 33 | c |
| यज्ञाध्ययनपुत्रैस्तान् | 3 | 37 | c |
| यज्ञै र्देवर्ण मुन्मुच्य | 3 | 38 | c |
| यतवाचोऽनुशृण्वतः | 8 | 8 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यतोऽर्थबुद्धिश्च जलेन | 8 | 13 | c | यदनुद्विजतेऽनिशम् | 5 | 10 | d |
| यत्कृतं ज्ञानसत्तमैः | 9 | 21 | b | यदृच्छया नृतां प्राप्य | 10 | 16 | a |
| यत्कृतं तन्ममैवाऽस्तु | 3 | 32 | c | यद्यज्ञ इत्यनुयुगं निज० | 10 | 20 | b |
| यत्पश्यथाऽसकृत्कृष्णं | 6 | 38 | c | यद्यहं ते प्रिया विभो! | 1 | 21 | d |
| यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्म | 6 | 49 | b | यद्योगेश्वरदर्शनम् | 8 | 9 | d |
| यत्र चक्रे महाह्रदान् | 6 | 3 | d | यद्वा आपत्सु मद्वार्तां | 6 | 28 | c |
| यत्र येन यतो यस्य | 10 | 4 | a | यन्नः पुत्रान्समुद्दिश्य | 10 | 22 | c |
| यत्राऽस्पृष्टोऽपि कर्मणा | 6 | 4 | b | यन्नः प्राप्तं यदृच्छया | 10 | 40 | d |
| यत्रोपलब्धं सुव्यक्तं | 8 | 19 | c | यन्निस्सृतं वेदमयम् | 6 | 39 | a |
| यत्त्वयाऽद्य मृषाकृतम् | 5 | 35 | b | यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा | 8 | 16 | a |
| यत्त्वं नः श्रेयसां परः | 8 | 21 | d | यम स्त्वारुह्य महिषम् | 1 | 41 | a |
| यत्स्थैर्यं भूभृतां भूमेः | 10 | 7 | c | यमः क्रोधारुणेक्षणः | 2 | 33 | d |
| यथा देवासुरे युद्धे | 2 | 23 | c | ययुर्द्वारवतीपुरम् | 9 | 33 | b |
| यथा द्रव्यविकारेषु | 10 | 12 | c | ययुर्धाम विहायसा | 10 | 56 | d |
| यथा नटं रङ्गगतम् | 5 | 28 | c | ययुर्धीरा स्तपोवनम् | 8 | 36 | d |
| यथाऽन्योऽघापनुत्तये | 6 | 4 | d | ययु र्भारत तत्क्षेत्रम् | 6 | 7 | c |
| यथा युगान्ते हुतभुक्प्रभा | 5 | 32 | d | ययुर्विरहकृच्छ्रेण | 9 | 17 | c |
| यथावीर्यं यथावयः | 7 | 21 | b | यर्हि त्वय्यवि कल्पिताः | 10 | 14 | b |
| यथा वृत्रहणोऽध्वरे | 9 | 8 | d | यवीयै रभिवन्दिताः | 6 | 26 | b |
| यथा सृष्टिः प्रवर्तते | 10 | 54 | d | यशोदा च महाभागा | 6 | 45 | c |
| यथा स्यान्न स्तदुच्यतां | 8 | 27 | d | यस्त्वयाऽद्य सहस्राक्ष! | 3 | 33 | a |
| यथा स्वयंवरे राज्ञि! | 7 | 19 | a | यस्मै यद्य द्यथा यदा | 10 | 4 | b |
| यदि जीवति कुत्रचित् | 4 | 36 | d | यस्य दैव मदक्षिणम् | 6 | 29 | d |
| यदि नेच्छसि संयुगम् | 5 | 35 | d | यस्याऽऽत्मबुद्धिः कुणपे | 8 | 13 | a |
| यदीशितव्यायतिगूढ | 8 | 16 | c | यस्याऽनुभूतिः कालेन | 8 | 30 | a |
| यदुभि र्मानितोऽवसत् | 9 | 25 | d | यस्या नेह प्रतिक्रिया | 6 | 47 | d |
| यदुभि स्सेविता नृपाः | 6 | 32 | b | यस्यांशांशांश भागेन | 10 | 31 | a |
| यदुवृष्ण्यन्धकादिभिः | 5 | 14 | b | यं वै मुहुः पितृसरूप० | 4 | 44 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| यानि त्व मस्मच्चिह्नानि | 5 | 19 | a |
| यापितो यदुभि र्ययौ | 9 | 27 | d |
| यास्यामो द्वारका मिति | 3 | 38 | b |
| यास्याम्यपचितिं पितुः | 3 | 41 | d |
| याऽहं तद्गृहमार्जनी | 7 | 11 | d |
| युक्तन्त इति चाऽब्रवीत् | 3 | 5 | d |
| युद्धाय प्रययौ नृप! | 1 | 42 | d |
| युद्धायाऽनुशचीपतिम् | 1 | 43 | d |
| युद्धार्थी शक्रमन्वगात् | 1 | 41 | d |
| युधामन्यु स्सुशर्मा च | 6 | 35 | c |
| युधिष्ठिरपुरोगमाः | 6 | 36 | b |
| युधिष्ठिर मथाऽपृच्छत् | 7 | 1 | c |
| युनक्ति वियुनक्ति च | 6 | 52 | d |
| युवां न न स्सुतौ साक्षात् | 10 | 18 | a |
| युवां योगेश्वरेश्वरौ | 10 | 33 | b |
| यूधस्य पानसमये | 3 | 22 | b |
| ये चाऽन्ये यदुपुङ्गवाः | 5 | 3 | b |
| ये चाऽन्ये वर्णनिन्दिताः | 6 | 14 | d |
| येन तच्छ्रेय आत्मनः | 7 | 16 | d |
| येनाऽमराऽसुरमहोरग | 3 | 21 | a |
| ये मे स नाभिवधतप्त | 7 | 9 | a |
| येषां गृहे निरयवर्त्मनि | 6 | 40 | c |
| यैस्त्वमेवं विकत्थसे | 5 | 21 | d |
| योगमाया मुपाश्रितौ | 10 | 34 | d |
| योगमायां कुतो वयम् | 10 | 44 | d |
| योगेश्वरै र्हृदि विचिन्त्य | 6 | 58 | b |
| योद्धुकामस्त्वरन्प्रायात् | 1 | 45 | c |
| योद्धुं चक्रभृता सह | 1 | 44 | d |
| योद्धुं विदित तद्बलः | 2 | 36 | d |
| योधयामास समरे | 2 | 42 | c |
| यो मां स्वयंवरमुपेत्य | 7 | 12 | a |
| यो मे गर्भे धृतोऽर्भकः | 4 | 38 | b |
| योषित्सार्थेन भूरिणा | 3 | 46 | b |

र

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| रजस्तमस्स्वभावानाम् | 10 | 40 | c |
| रतिर्नाम यशस्विनी | 4 | 10 | d |
| रतिः कामो भवान्प्रभो। | 4 | 16 | d |
| रत्नै राभरणै र्दिव्यैः | 1 | 5 | c |
| रथनेमिनिनादैश्च | 1 | 48 | a |
| रमसे मानुषे लोके | 3 | 28 | c |
| रराज राजशार्दूल! | 3 | 44 | a |
| रविच्छदध्वजपटचित्र | 7 | 36 | b |
| राजद्वारिसकुण्डलम् | 5 | 39 | b |
| राजन्कंसविहिंसिताः | 10 | 49 | b |
| राजन्येषु निवृत्तेषु | 7 | 25 | a |
| राजर्षिवर्यास्तान्गन्तुम् | 8 | 25 | c |
| राजसन्देश मब्रवीत् | 5 | 17 | d |
| राजस्वशेषभटशेखरिता० | 7 | 8 | b |
| राजानः सुष्क्वलङ्कृताः | 9 | 3 | d |
| राजानोऽन्ये च राजेन्द्र | 6 | 36 | a |
| राज्ञः काशिपते र्ज्ञात्वा | 5 | 40 | a |
| राज्ञा मुच्छास्त्रवर्तिनाम् | 10 | 30 | b |
| राज्ञो निरीक्ष्य परितः | 7 | 29 | c |
| राज्यशुल्कां कुरूद्वह | 5 | 5 | d |
| राज्यं तस्मि न्समारोप्य | 5 | 8 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| रामकृष्णौ कुरुद्वह | 10 | 34 | b |
| राम रामाऽप्रमेयात्मन् | 10 | 29 | a |
| राम श्शस्त्रभृतां वरः | 6 | 3 | b |
| राम स्सशिष्यो भगवान् | 8 | 4 | a |
| रामह्रदेषु विधिवत् | 6 | 19 | c |
| रुक्मिणी च ययु र्मुदम् | 4 | 42 | d |
| रुक्मिण्याद्या स्तथा सप्त | 3 | 49 | a |
| रुक्मिण्यां तनयं लेभे | 4 | 2 | a |
| रुरोद तत्कृतां मैत्रीम् | 9 | 24 | c |
| रूपौदार्य गुणान्विताम् | 4 | 2 | d |
| रेजतुः स्वसुतै र्दारैः | 9 | 9 | c |
| रेणुरञ्जितमस्तकाः | 6 | 17 | b |
| रेवती रामदयिता | 3 | 50 | a |
| रोहिणी देवकी चैव | 6 | 46 | a |
| रोहिण्याद्याः स्त्रियोऽखिलाः | 3 | 47 | b |
| रौक्मिणेयो महारथः | 4 | 26 | b |
| **ल** | | | |
| लब्धवज्रः पुरं ययौ | 3 | 37 | b |
| लब्धं कार्त्स्न्येन तत्फलं | 8 | 9 | b |
| लयोत्पत्त्यादिनाऽस्य वै | 8 | 30 | b |
| ललनाशतसङ्कुलम् | 4 | 30 | b |
| ललाटे कुरुपुङ्गव ! | 2 | 9 | b |
| लसद्धयचतुष्टयम् | 7 | 32 | b |
| लसद्वैदूर्यवेदिकः | 1 | 19 | b |
| लाजप्रसवतण्डुलैः | 3 | 53 | b |
| लिप्ताभिशाप मपमार्ष्टु० | 7 | 9 | b |
| लीलयैव वहन्ययौ | 3 | 39 | b |
| लोकपालान् समाहूय | 1 | 38 | c |
| लोकपालै रुदासीनैः | 3 | 44 | c |
| लोकस्य सङ्ग्रहायैणः | 6 | 4 | c |
| लोकं यास्यन्ति विज्वराः | 10 | 50 | d |
| **व** | | | |
| वचो दुरन्वयं विप्राः | 8 | 14 | c |
| वचो व स्समवेतार्थम् | 10 | 22 | a |
| वज्रकिञ्जल्करञ्जितः | 1 | 20 | b |
| वज्रनिष्पेषनिष्ठुरम् | 4 | 23 | d |
| वज्रं दुश्च्यवनायुधम् | 3 | 15 | b |
| वज्रेणेन्द्रो यथा गिरिः | 5 | 36 | d |
| वत्सदन्तै र्मनोजवैः | 2 | 8 | d |
| वत्सो यथा तनुबलः | 3 | 22 | a |
| वनदाहे यथा मृगाः | 5 | 49 | d |
| वनमालाविभूषितम् | 5 | 26 | d |
| वनं दृष्ट्वा दिव्यगन्धं | 1 | 13 | d |
| वन्दितुं देव मातरम् | 1 | 2 | b |
| वन्दिभ्योऽदात्तथा स्त्रियः | 9 | 13 | b |
| वयञ्चान्ये च तादृशाः | 10 | 42 | d |
| वयं याता दिशो दश | 6 | 31 | b |
| वयं वै गृहदासिकाः | 7 | 39 | b |
| वरुणो गतवाहनः | 2 | 26 | b |
| वरुणोऽभ्यद्रवत्कृष्णम् | 2 | 21 | c |
| वर्णाश्रमात्मा पुरुणः परो० | 8 | 18 | d |
| वर्तसे कामिनीव मे | 4 | 15 | d |
| ववन्दे तां हरिस्तं सा | 1 | 7 | a |
| ववर्ष शरजालानि | 2 | 13 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वसतो रामकृष्णयोः | 6 | 1 | b | वालो दिष्ट्येति चाऽब्रुवन् | 4 | 43 | d |
| वसानङ्गरुडध्वजम् | 5 | 27 | b | वासवेन समं प्रायात् | 1 | 46 | c |
| वसिष्ठो गालवो भृगुः | 8 | 4 | b | वासः स्रग्रुक्ममालिनीः | 6 | 19 | b |
| वसुदेव उदाहृतम् | 10 | 26 | b | वासुदेवं पुरन्दरः | 3 | 23 | d |
| वसुदेवगदादयः | 6 | 7 | b | वासुदेवेति शब्दितः | 5 | 7 | b |
| वसुदेवभवान्नूनम् | 3 | 39 | a | वासुदेवो महाद्युतिः | 5 | 7 | d |
| वसुदेवसुतत्वाच्च | 5 | 7 | a | वासुदेवोऽवतीर्णोऽहम् | 5 | 18 | a |
| वसुदेवस्तु कौरव्य! | 3 | 47 | a | वासुदेवोऽहमित्यज्ञः | 5 | 15 | c |
| वसुदेवः परिष्वज्य | 6 | 43 | a | विख्याता श्शंसिव्रताः | 6 | 15 | b |
| वसुदेवोग्रसेनाद्यैः | 6 | 32 | a | विचरन्ती तथा तत्र | 1 | 16 | c |
| वसुदेवोग्रसेनाभ्याम् | 9 | 27 | a | विचित्रो भुवनत्रये | 1 | 17 | d |
| वसुदेवोऽञ्जसोत्तीर्य | 9 | 19 | a | विजहास भृशं हरिः | 5 | 28 | d |
| वसुदेवोद्धवादयः | 5 | 2 | d | विज्ञाय तद्विघातार्थम् | 5 | 52 | c |
| वसुदेवो बुभुत्सया | 8 | 28 | b | विदर्भकुरुसृञ्जयान् | 6 | 22 | b |
| वसुदेवोऽभिनद्याऽऽह | 10 | 1 | c | विदर्भकोसलकुरून् | 9 | 14 | c |
| वसुदेवो महात्मनः | 9 | 1 | b | विदितार्थोऽपि भगवान् | 4 | 40 | c |
| वसुदेवो महायशाः | 8 | 26 | b | विदित्वा पुण्डरीकाक्षं | 2 | 32 | a |
| वह्नेः प्रदहतः पुरम् | 5 | 50 | d | विदित्वा रहितां निशि | 5 | 2 | b |
| वामदेवादयोऽपरे | 8 | 5 | d | विदुद्राव धनेश्वरः | 2 | 20 | b |
| वामः स्फुरति मे भुजः | 4 | 38 | d | विदुद्राव परावृत्य | 2 | 35 | c |
| वामेन पाणिना कृष्णः | 2 | 19 | c | विदुद्राव यथाऽऽगतम् | 2 | 26 | d |
| वामेन पाणिना विष्णुः | 3 | 15 | c | विदुद्राव रणाद्भुतम् | 2 | 30 | d |
| वायुर्यथा घनानीकम् | 6 | 53 | a | विद्यायास्तपसो दृशः | 8 | 21 | b |
| वायुः कृष्णमृगारूढः | 1 | 44 | a | विद्युतेव बलाहकः | 4 | 30 | d |
| वारकान्ता करेणुभिः | 6 | 6 | b | विधाय प्रणनाम वै | 1 | 8 | d |
| वारयद्भिर्हरिप्रियां | 1 | 36 | b | विधुन्वन् त्रिशिखं ज्वलन् | 5 | 47 | d |
| वाराणसीं प्रति समेत्य | 5 | 54 | c | विपश्चितो ध्नन्ति मुहूर्त | 8 | 12 | d |
| वाराणसीं साद्दसभा- | 5 | 55 | b | विमुच्य देहावसाने | 5 | 58 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| विमृद्य बलभद्रेण | 5 | 11 | c | वीरं प्रद्युम्न नामानम् | 4 | 2 | c |
| विमोहिता विश्वसृजा० | 8 | 16 | b | वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य | 10 | 58 | c |
| विरथीकृत्य पौण्ड्रकम् | 5 | 36 | b | वृकाणां मृगराडिव | 7 | 33 | d |
| विरोधं कृतवां स्त्वयि | 3 | 30 | b | वृतस्स्वयं यस्तु विहाय. | 7 | 17 | d |
| विलोक्य तत्रसुस्सर्वे | 5 | 49 | c | वृता धर्मेण धार्मिकम् | 9 | 2 | b |
| विविक्त उपसङ्गताः | 6 | 50 | b | वृतो जालेन महता | 4 | 7 | c |
| विवत्सा गौरिवऽऽऽतुरा | 4 | 19 | d | वृत्ति र्गन्धोऽर्थतो भवान् | 10 | 7 | d |
| विवेश पत्न्या गगनात् | 4 | 30 | c | वृत्ते पिधाय परिधाय च | 7 | 28 | c |
| विव्याध गुह्यकपतेः | 2 | 9 | a | वृष्णयश्च तथाऽक्रूर | 6 | 7 | a |
| विव्याध बाणै र्दशभिः | 3 | 7 | c | वृष्णयः कृष्णदेवताः | 6 | 20 | d |
| विव्याध वृषवाहनम् | 2 | 40 | d | वृष्णयः कृष्णदेवताः | 9 | 32 | d |
| विव्याध सप्तभिश्चैव. | 2 | 29 | c | वृष्णयः पुष्करस्रजः | 9 | 3 | b |
| विव्याध समरे राजन् | 2 | 39 | c | वेदवादित्र निर्घोषैः | 6 | 10 | c |
| विशाले जठरे नृप! | 2 | 6 | d | वदेस्वाध्याय निस्वनैः | 3 | 41 | d |
| विशुद्धशुद्धधाम्न्यद्धा | 10 | 42 | a | वेदाऽहं वां विश्वसृजाम् | 10 | 29 | c |
| विश्वञ्च सचराचरम् | 10 | 23 | d | वेद्धुं पार्षति मद्धियः | 7 | 21 | d |
| विश्वस्थित्युदयौ लयः | 10 | 31 | b | वैकारिकं विकल्पानाम् | 10 | 11 | c |
| विश्वात्मदेवं सुतरां | 10 | 35 | b | वैक्लव्यादश्रुलोचना | 10 | 28 | d |
| विश्वामित्रश्शतानन्दः | 8 | 3 | c | वैदर्भी वल्गुभाषिणी | 4 | 34 | b |
| विषाणे तस्य नन्दिनः | 2 | 48 | b | वैदर्भ्यां देवकीसुतः | 4 | 39 | b |
| विष्णुचक्रं सुदर्शनम् | 5 | 56 | b | वैनतेयो धनुश्शतम् | 2 | 48 | d |
| विष्णुना मुद्गरायुधः | 1 | 45 | d | वैराग्यं पारमेष्ठ्यं वा | 7 | 41 | c |
| विष्णुलोकं प्रयास्यतः | 5 | 58 | d | वैलक्षण्येन योषितः | 4 | 33 | b |
| विसृज्य यदुनन्दनः | 3 | 37 | d | वैवस्वतं गतं दृष्ट्वा | 2 | 36 | a |
| विस्फारयं स्तालमात्रं | 2 | 4 | c | वैश्याश्शूद्राश्च निस्संख्याः | 6 | 14 | c |
| विस्मयाकुललोचना | 1 | 17 | b | वैश्वानरस्तु तुरगं | 1 | 40 | a |
| विहङ्गध्वनिशोभितान् | 1 | 16 | b | व्यङ्गा जडाश्च मूकाश्च | 6 | 16 | c |
| वीक्षन्तीनाञ्च विभ्रमम् | 4 | 13 | d | व्यरोचन्त महाभागाः | 6 | 10 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| व्यलोकैः कंसमर्दन | 1 | 27 | d |
| व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति | 7 | 43 | a |
| व्रजामि शरणं तेऽद्य | 5 | 35 | c |
| व्रीडन्बबन्ध ह यथा | 7 | 13 | d |
| व्रीडावनतकन्धरः | 3 | 16 | d |
| **श** | | | |
| शक्तयो याः परस्य ताः | 10 | 6 | b |
| शक्त्यृष्टिप्रासतोमरैः | 5 | 30 | d |
| शक्रप्रस्थं ययु स्सर्वे | 9 | 32 | a |
| शक्रस्तु वज्र मुद्यम्य | 3 | 14 | a |
| शक्रं दृष्ट्वाऽब्रुवन्नृप | 1 | 34 | d |
| शक्राय दत्त स्सकलैः | 1 | 24 | c |
| शङ्करस्तु महातेजाः | 2 | 37 | a |
| शङ्करं लोकशङ्करम् | 2 | 42 | d |
| शङ्करं लोकशङ्करम् | 4 | 1 | b |
| शङ्खदुन्दुभिनिस्वनैः | 6 | 10 | d |
| शङ्खभेर्यानकादयः | 7 | 30 | b |
| शङ्खभेर्यानकादयः | 9 | 5 | b |
| शङ्खं दध्मौ महानादम् | 3 | 3 | c |
| शङ्खार्यसि गदाशार्ङ्ग | 5 | 26 | a |
| शचीभर्तु र्दयितं हृद्य० | 1 | 12 | d |
| शची मां गृह मागताम् | 1 | 28 | b |
| शचीं विलोक्य पर्श्वस्थाम् | 1 | 37 | c |
| शठप्रद्युम्नसाम्बाश्च | 6 | 8 | a |
| शतशोऽथ सहस्रशः | 1 | 49 | d |
| शतशोऽथ सहस्रशः | 1 | 50 | d |
| शतशोऽथ सहस्रशः | 6 | 13 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| शब्द स्त्वं स्फोटआश्रयः | 10 | 9 | b |
| शम्बरस्य शिरः कायात् | 4 | 28 | c |
| शम्बराहरणादिकम् | 4 | 41 | b |
| शम्बरेण हृतो गृहात् | 4 | 16 | b |
| शयिष्यते हतस्तत्र | 5 | 22 | c |
| शय्यासनपरिच्छदैः | 7 | 37 | d |
| शय्यासनाशनसयौवन | 6 | 40 | b |
| शरणागतवत्सल | 3 | 25 | b |
| शरवृष्टिं कुरूद्वह | 2 | 2 | d |
| शरान् सन्धाय षोडश | 3 | 9 | b |
| शरै राच्छादयामासुः | 5 | 29 | c |
| शरैरसन्नपर्वभिः | 2 | 13 | d |
| शशंस देवीं कृष्णञ्च | 2 | 20 | c |
| शंसन्तः प्रययुः क्रु | 9 | 15 | d |
| शाखाशतविराजितः | 1 | 20 | d |
| शाध्यास्मानीशितव्येश | 10 | 46 | a |
| शान्तो यथैक उतसत्त्व० | 10 | 45 | d |
| शार्ङ्ग मुद्यम्य सन्नद्धः | 7 | 32 | c |
| शार्दूल इव गोवृषम् | 2 | 22 | d |
| शास्त्रयोने स्तवात्मनः | 8 | 20 | b |
| शिबिकां नरवाहनः | 1 | 45 | b |
| शिबिराणि महीभृताम् | 6 | 13 | b |
| शिर उत्कृत्य पत्रिभिः | 5 | 37 | b |
| शिरः पतित मालेक्य | 5 | 39 | a |
| शिरोऽहरद्रथाङ्गेन | 5 | 36 | c |
| शुक्लेनेज्येतदूरुषम् | 8 | 35 | d |
| शूलैर्गदाभिः परिघैः | 5 | 30 | c |
| शैनेयेनाऽपि निर्जितः | 5 | 11 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| शैब्ये रोहिणिलक्ष्मणे | 7 | 6 | d |
| शोणिताक्ताः प्रदृश्यन्ते | 3 | 8 | c |
| श्यालो बीभत्सु रित्यपि | 3 | 36 | b |
| श्व श्वाः कृष्णेन चोदिता | 1 | 8 | b |
| श्रीनिकेत मनुप्राप्य | 9 | 15 | c |
| श्रीनिकेतं वपुश्शौरिः | 6 | 36 | c |
| श्रीमत्पादरजश्श्रियः | 7 | 42 | b |
| श्रुत्वा कृष्णपुरोगमान् | 6 | 41 | b |
| श्रुत्वा तज्जन वैक्लब्यम् | 5 | 51 | a |
| श्रुत्वा द्रष्टु मुपाजग्मुः | 3 | 46 | c |
| श्रुत्वाऽनीतं गुरोः पुत्रम् | 10 | 27 | c |
| श्रुत्वा पृथा सुबलपुत्र्यथ | 8 | 1 | a |
| श्रुत्वा मुहुर्नारद गीत | 7 | 17 | b |
| श्रुत्वा विनष्टनामाधिः | 10 | 26 | c |
| श्रुत्वैतत्सर्वतो भूषाः | 7 | 20 | a |
| श्रेयस्कामस्य मानद | 9 | 23 | b |
| **ष** | | | |
| षडिमे मत्प्रसादेन | 10 | 51 | c |
| **स** | | | |
| स इन्द्रसेनो भगवत्प० | 10 | 38 | a |
| स एव जातो वैदर्भ्याम् | 4 | 5 | a |
| स एव वा भवेन्नूनम् | 4 | 38 | a |
| सकला यादवस्त्रियः | 3 | 46 | d |
| स कार्ष्णीरूढयौवनः | 4 | 13 | b |
| सकिरीटं सकुण्डलम् | 4 | 28 | b |
| स कृष्णरहितां श्रुत्वा | 5 | 11 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सकोशबलवाहनम् | 5 | 8 | b |
| सकोश हस्त्यश्ववरूढ | 5 | 55 | d |
| सख्योपेत्याऽग्रहीत्पाणिम् | 7 | 11 | c |
| स गच्छन् गगने विष्णुः | 1 | 2 | a |
| स गजः प्राप्य गरुडं | 3 | 12 | a |
| सगोपुराट्टालक कोष्ठ | 5 | 55 | c |
| सङ्कर्षण सनातन | 10 | 3 | b |
| सङ्गात्कृपणचेतसः | 6 | 51 | d |
| सङ्गामाह्वानगर्जनैः | 1 | 48 | d |
| सङ्गामे कंसवैरिणा | 2 | 21 | b |
| सङ्गामे पर्युपस्थितम् | 2 | 32 | b |
| सङ्गामे वायु पावकौ | 2 | 27 | b |
| सङ्गामो जयते घोरः | 1 | 26 | c |
| स च मायां समाश्रित्य | 4 | 25 | a |
| स च शम्बरमभ्येत्य | 4 | 21 | a |
| स चाऽग्निः प्रमथैर्वृतः | 5 | 44 | d |
| स चापलापाङ्गदृशो० | 6 | 25 | b |
| सज्जीकर्तुमनीश्वराः | 7 | 22 | b |
| सज्यं कृत्वाऽथ लीलया | 7 | 25 | d |
| सज्यं कृत्वा धनेश्वरः | 2 | 12 | d |
| सज्यं कृत्वा परे वीराः | 7 | 23 | a |
| सञ्जयो विदुरः कृपः | 6 | 33 | d |
| सत्यभामा ततः क्रुद्धा | 2 | 11 | c |
| सत्यभामाऽपि कौरव्य | 1 | 8 | a |
| सत्यभामा पुनर्हरिम् | 1 | 27 | b |
| सत्यभामा सुरपतिम् | 3 | 17 | c |
| सत्यभामां विलोक्य च | 2 | 14 | d |
| सत्यमाह जगत्पतिः | 2 | 1 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सत्य मेतस्य वृक्षस्य | 1 | 18 | a | सभायामास्थितं हरिम् | 5 | 17 | b |
| सत्यया प्रियकान्तया | 1 | 23 | b | सभ्या जहसतु स्तदा | 5 | 20 | d |
| सत्या व्यसन विह्वला | 2 | 3 | b | सममेवा ऽभ्यवर्तेतां | 2 | 27 | c |
| सत्त्वं रज स्तम इति | 10 | 13 | a | समर्हयामास महा० | 10 | 37 | a |
| सत्त्वात्मिकां महाविद्यां | 4 | 26 | c | समाविशत्तरणिरिव | 7 | 36 | d |
| सदस स्तस्य महतः | 8 | 8 | c | समाश्लिष्याभिपूजयन् | 2 | 20 | d |
| सदस्यर्त्विक्सुरगणाः | 9 | 15 | a | समाहितो वा शृणुयात् | 5 | 57 | c |
| सदा तत्फलभोक्तृभिः | 1 | 24 | d | समीरण मरिन्दमः | 2 | 29 | d |
| सदाराः पाण्डवाः कुन्ती | 6 | 33 | c | समुद्धृत्य जलेश्वरः | 2 | 25 | b |
| स दृष्ट्वा मातरो विष्णुः | 3 | 48 | a | समेत्य गोविन्दकथां | 7 | 5 | c |
| सद्य स्समुत्थाय ननाम | 10 | 35 | d | समेत्य द्वारकां निशि | 5 | 11 | b |
| सद्यः पश्यसि देवेन्द्रम् | 1 | 33 | c | सम्प्रविश्य पुरीं रम्यां | 3 | 39 | c |
| सन्त्यनन्तानि भारत! | 10 | 58 | d | सम्प्रीणनाभ्युदयपोषण | 6 | 48 | b |
| सन्दधे निशितान्बाणान् | 2 | 10 | a | सम्प्रीतः प्रेमविह्वलः | 6 | 43 | b |
| सन्दधे सूदितुं देवीम् | 2 | 16 | c | सम्यक्प्राप्तसमर्हणः | 6 | 37 | b |
| सन्धाय चापे भुजगे० | 3 | 6 | b | स यद्वा पुत्त्रतां गतः | 3 | 39 | d |
| सन्नाहोद्योग माघोष्य | 1 | 38 | a | सर्वतोऽनवमः पितुः | 4 | 5 | d |
| सन्निकर्षो हि मर्त्यानां | 8 | 29 | a | सर्वतो मणिकुट्टिमे | 3 | 45 | d |
| सन्निकृष्टास्सुरादयः | 10 | 43 | d | सर्वपापैः प्रमुच्यते | 5 | 57 | d |
| सन्निपात्य च सैनिकान् | 1 | 38 | b | सर्वमाया विनाशिनीम् | 4 | 20 | d |
| सन्निर्जितं समदहत्स्व० | 5 | 54 | d | सर्वमायोपमर्दिनीम् | 4 | 26 | d |
| सन्सदा व्यावहारिकः | 10 | 14 | d | सर्वमेतद्वदस्व मे | 5 | 4 | d |
| सपताकै स्सार्घ्यपाद्यैः | 5 | 14 | a | सर्वयज्ञेश्वरं मखैः | 8 | 33 | d |
| सपुत्त्रो धृतराष्ट्रश्च | 9 | 29 | c | सर्वसङ्गनिवृत्त्याऽद्धा | 7 | 39 | c |
| सप्तदश विरेजुस्ते | 9 | 8 | c | सर्वस्याऽन्तर्बहिस्सोऽथ | 5 | 52 | a |
| सप्तो क्षणोति बलवीर्य | 7 | 13 | a | सर्वाभ्यो मां तवाऽच्युत | 1 | 22 | d |
| सवृन्द आब्रह्मपुन० | 10 | 36 | d | सर्वा विसिस्म्यु रलमश्रु० | 8 | 1 | d |
| सभाजयसि सद्धाम | 8 | 20 | c | सर्वास्त्रशस्त्रतत्त्वज्ञाः | 7 | 20 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सर्वांश्च सुहृदोऽव्ययम् | 7 | 1 | d | सा तान्शोचत्यात्मजान् | 10 | 49 | c |
| सर्वांस्तान्सायकान् संख्ये | 2 | 13 | c | साधयिव्यति सङ्कल्पं | 5 | 45 | a |
| सर्वेषां शृण्वतां राज्ञाम् | 8 | 32 | c | सायकाचितसर्वाङ्गं | 2 | 31 | c |
| सर्वेष्वेव यदुश्रेष्ठ | 10 | 23 | c | सायकै स्सप्तभिर्नृप | 2 | 10 | d |
| सवज्रोद्भव सारणाः | 6 | 8 | b | सारूप्यं शार्ङ्गधन्वनः | 4 | 37 | b |
| स वव्रे वरमीप्सितम् | 5 | 43 | d | सार्घ्यपाद्या दिवौकसः | 1 | 3 | d |
| स विदित्वाऽऽत्मनश्शुचम् | 4 | 6 | c | सार्धं सकलदिक्पालैः | 3 | 37 | a |
| सव्रजस्सह बान्धवः | 9 | 26 | b | सा पुनर्लब्धकुण्डला | 1 | 9 | b |
| सव्रीडहासवदना | 7 | 28 | d | साश्रुकण्ठौ कुरूद्वह | 6 | 44 | d |
| सव्रीडहासोत्तमविभ्रमे० | 4 | 14 | c | सा सूपोदन साधने | 4 | 12 | b |
| सशूलपाणिं चिक्षेप | 2 | 48 | c | सिक्तसम्मृष्टभूतलाम् | 3 | 40 | b |
| ससुता बाह्लिकादयः | 6 | 35 | d | सिद्धविद्याधरादयः | 10 | 41 | b |
| सस्त्रीका वीक्ष्य विस्मिताः | 6 | 36 | d | सिंहगोमायवो यथा | 1 | 51 | d |
| सस्त्रीरत्नं शुचिस्मिताः | 4 | 33 | d | सिंहनादं व्यनीनदत् | 2 | 7 | d |
| सस्नू रामह्रदे विप्राः | 9 | 12 | c | सिंहनादैश्च भूरिभिः | 1 | 51 | b |
| सहरामोऽच्युतोर्चयन् | 8 | 7 | b | सिंहवद्व्यचदन्मुहुः | 2 | 5 | b |
| सहाऽनेन महीरुहा | 1 | 33 | b | सिंह स्सिंह मिवौजसा | 2 | 24 | d |
| सहितस्सत्यभामया | 1 | 2 | d | सीतापतिं व्रिनवहा० | 7 | 10 | b |
| सहित स्सत्यभामया | 1 | 11 | d | सुकल्पमिह दुर्लभम् | 10 | 16 | b |
| संयत्ता उद्धृतेष्वासाः | 7 | 34 | c | सुगीतं सहभर्तृकाः | 9 | 6 | b |
| संयुगाय समाह्वयत् | 4 | 21 | b | सुतलं संविविशतुः | 10 | 34 | c |
| संयोज्य क्षिपते भूयः | 6 | 53 | c | सुतस्पर्शपरिस्रुतम् | 10 | 54 | b |
| संसरन्तीह कर्मभिः | 10 | 15 | d | सुता ञ्छपितु मुद्यतम् | 10 | 47 | d |
| संसारकूपपतितोत्तरणा० | 6 | 58 | c | सुतौ विजहतु श्शुचः | 6 | 45 | d |
| संस्थाप्य पुररक्षणे | 6 | 8 | d | सुदक्षिण स्तस्य सुतः | 5 | 41 | a |
| सांख्ययोगवितानाय | 10 | 39 | c | सुदक्षिणोऽर्चयामास | 5 | 42 | c |
| सा च कामस्य वै पत्नी | 4 | 10 | c | सुधर्मां वृद्धसेविताम् | 3 | 42 | b |
| सा तं पतिं पक्षदलाय० | 4 | 14 | a | सुरराजान माहवे | 3 | 10 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सुराणामपि योगिनाम् | 9 | 20 | d | सोमराज मिवोडुभिः | 9 | 7 | b |
| सुरानभिद्रुतान्दृष्ट्वा | 2 | 1 | a | सौहृदक्लिन्नचेतसः | 9 | 17 | b |
| सुरेन्द्रभवनं दिव्यम् | 1 | 4 | c | स्तनैः स्तनान् कुङ्कुम | 6 | 25 | c |
| सुरेन्द्रान्तिकमासाद्य | 1 | 34 | a | स्नुवद्भिः कुसुमोत्करैः | 4 | 29 | b |
| सुरेश्वर मनु प्रायात् | 1 | 44 | c | स्त्रियश्च संवीक्ष्य मिथो० | 6 | 25 | a |
| सुवर्णगरुडे स्थितम् | 5 | 25 | b | स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभिर्नृषु | 8 | 2 | b |
| सुवर्णबाहुयुगलम् | 5 | 25 | c | स्थापयामास गोविन्दः | 3 | 45 | c |
| सुवर्णसुषिरै र्दिव्यैः | 1 | 47 | c | स्नातका गृहमेधिनः | 6 | 15 | d |
| सुस्मितं रुचिराननम् | 4 | 31 | d | स्नाता स्सुवाससो राजन् | 9 | 3 | c |
| सुहृत्सम्बन्धिनो नृपान् | 6 | 21 | d | स्नातोऽलङ्कारवासांसि | 9 | 13 | a |
| सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान् | 7 | 37 | b | स्निग्धच्छायाङ्घ्रिपाङ्घ्रिषु | 6 | 21 | b |
| सुहृत्सम्बन्धिबान्धवाः | 9 | 16 | d | स्नुषा माश्लिष्य सन्तुष्टा | 1 | 9 | a |
| सुहृदो ज्ञातयः पुत्राः | 6 | 29 | a | स्नेहपाशै र्निबध्नाति | 10 | 17 | c |
| सुहृद्धृतः प्रीतमनाः | 9 | 19 | c | स्नेहस्नुतपयोधरां | 4 | 34 | d |
| सुतीगृहे ननुसू गाद भवा० | 10 | 20 | a | स्पर्धिनो हृच्छयातुराः | 7 | 31 | d |
| सूदा महानसं नीत्वा | 4 | 8 | c | स्पर्शेद्धशक्तिरभिवर्षति | 6 | 39 | d |
| सूर्ये चाऽभिजितिस्थिते | 7 | 26 | d | स्पृष्ट्वा मूर्ध्नि मुकुन्दस्य | 3 | 53 | c |
| सूर्योपराग स्सुमहान् | 6 | 1 | c | स्फुरन्मकरकुण्डलम् | 5 | 27 | d |
| सृजत्यवत्यत्ति न बध्यते | 8 | 17 | b | स्फुरन्तमरकतस्थूल | 1 | 20 | c |
| सृष्टास्त्रिलोकगुरुणा | 3 | 21 | c | स्मयन्तस्तं जगद्गुरुम् | 8 | 15 | d |
| सैनिका दृढधन्विनः | 5 | 29 | b | स्मरन्कंसकृतान्क्लेशान् | 6 | 43 | c |
| सोऽतिविद्धो रणे बाणैः | 2 | 7 | a | स्मरन्ती कृपणा प्राह | 10 | 28 | c |
| सोधिक्षिप्तो दुर्वचोभिः | 4 | 22 | a | स्मरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीम् | 6 | 46 | c |
| सोपाध्याया स्सहस्रशः | 7 | 20 | d | स्मरन्नश्रुविलोचनः | 9 | 24 | d |
| सोपाध्याया स्साग्निहोत्राः | 6 | 15 | c | स्मरमाणस्स काशीशः | 5 | 10 | c |
| सोपाध्यायो महेश्वरम् | 5 | 42 | b | स्मरोद्गीथः परिष्वङ्गः | 10 | 51 | a |
| सोपालम्भमुदीरितम् | 3 | 20 | b | स्यमन्तपञ्चकं क्षेत्रम् | 6 | 2 | c |
| सोऽभ्यधावद्धृतो भूतैः | 5 | 48 | c | स्यमन्तपञ्चकं प्राप्य | 6 | 12 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| स्यादिदं भगवान् साक्षात् | 10 | 4 | c |
| स्रग्गन्धकलयाक्षतैः | 3 | 40 | d |
| स्रग्गन्ध दिव्यवसनाः | 6 | 18 | a |
| स्रग्धूपदीपामृतभक्ष० | 10 | 37 | c |
| स्रुवपुच्छां ययौ रणम् | 1 | 40 | d |
| स्वगोत्रवित्तात्मसमर्प | 10 | 37 | d |
| स्वजनान् भृत्यबम्धून्वा | 9 | 23 | c |
| स्वजनैः परिवारितः | 9 | 32 | b |
| स्वतेजसा स्वं ककुभोऽथ | 5 | 53 | c |
| स्वतोऽन्यस्माच्च गुणतः | 8 | 30 | c |
| स्वदेशांश्चाऽपरे जनाः | 9 | 17 | d |
| स्वधीः कलत्रादिषु भौम० | 8 | 13 | b |
| स्वपादस्पर्शकाम्यया | 7 | 11 | b |
| स्वमघं क्षपयिष्णवः | 6 | 7 | d |
| स्वयञ्च तदनुज्ञाताः | 6 | 20 | c |
| स्वयमाहूय दत्तवान् | 7 | 15 | b |
| स्वय मेष्यति नन्दनम् | 3 | 34 | d |
| स्वयं लब्धवरो हरिः | 4 | 3 | b |
| स्वयोगमाययाच्छन्न | 8 | 22 | c |
| स्वरहासावलोकनैः | 4 | 37 | d |
| स्वर्गद्वारं गतो विष्णुः | 1 | 3 | a |
| स्वर्गापवर्गविरमः स्वय० | 6 | 40 | d |
| स्वर्णपुङ्खान् शरान्मुञ्चन् | 2 | 5 | a |
| स्वलङ्कृताभिर्विभवैः | 9 | 7 | e |
| स्वलङ्कृतेभ्योऽलङ्कृत्य | 9 | 11 | c |
| स्वलीलया वेदपदं सना० | 8 | 18 | c |
| स्वागतं कुशलं पृष्ट्वा | 6 | 26 | c |
| स्वागतासन पाराध्र्य | 8 | 7 | c |
| स्वाना मर्थचिकीर्षवः | 6 | 51 | b |
| स्वानेव विषयान्ययुः | 9 | 30 | d |
| स्वामिने सर्वमाहरत् | 5 | 23 | b |
| स्वाराज्यं भोज्यमप्युत | 7 | 41 | b |
| स्वार्थे प्रमत्तस्य वयः | 10 | 16 | c |
| स्वैः स्वै र्बन्धुभिरन्वितौ | 9 | 9 | b |


## ह


| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| हत्वा नरक मत्युग्रम् | 1 | 1 | a |
| हयकुञ्जरसैनिकः | 5 | 12 | b |
| हयानां खरनिस्वनैः | 1 | 48 | b |
| हयैश्च तरलप्रभैः | 6 | 9 | b |
| हरसे यदि तस्य त्वम् | 1 | 32 | c |
| हरिर्बदरिकाश्रमात् | 5 | 13 | b |
| हरि र्विद्धः क्षुरप्रेण | 3 | 5 | a |
| हरिः परपुरञ्जयः | 3 | 3 | b |
| हारकुण्डलभूषणाः | 6 | 17 | d |
| हारनूपुरकुण्डलैः | 9 | 7 | d |
| हिरण्य कशिपो श्शापात् | 10 | 48 | c |
| हृत्वमनिर्दश्म् | 4 | 6 | b |
| हृष्यत्त्वचो रुद्धगिरो ययुर्मुदम् | 6 | 24 | d |
| हे कृष्णपत्न्य एतन्नः | 7 | 7 | a |
| हे जाम्बवति कौसले | 7 | 6 | b |
| हेतुर्हि वृक्षस्तस्याऽयम् | 1 | 28 | c |
| हे वैदर्भ्यच्युते भद्रे | 7 | 6 | a |
| हे सत्याभामे कालिन्दि! | 7 | 6 | c |

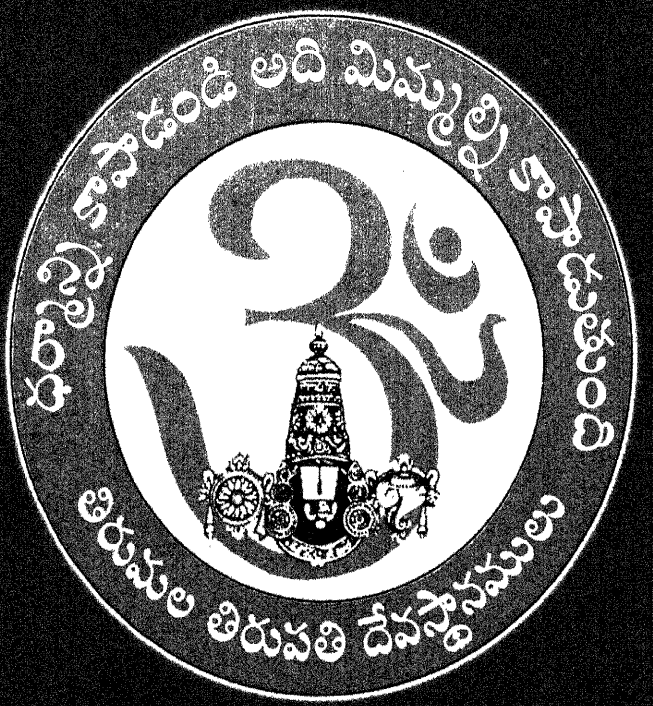


Published by Sri P. Krishnaiah, I.A.S., Executive Officer, Tirumala Tirupati Devasthanams, Tirupati and Printed at Gayatri Art Printers, Hyderabad on behalf of T.T. Devasthanams.

Harih Om

# SRĪMAD
# BHĀGAVATA
# MAHĀPURĀNAM

*of Maharshi Vedavyasa*

**SKANDHA - X**

**VOL.II**

**(Adhyayas 29 to 60)**

**With the Commentaries:**

Bhavarthadipika of Sri Sridharaswami, Bhagavatachandrachandrika of Sri Vira Raghavacharya, Padaratnavali of Sri Vijayadhvaja Tirtha


**Edited by**

Pandita Raja, Sahitya Visarada, Vachaspati, Siromani, Vidwan,

**Recipient of President's Certificate of Honour**

**Dr.N.C.V. Narasimhacharya,** M.A., B.O.L.,

Special Officer,

**SRI BHAGAVATHA PROJECT,**

T.T.Devasthanams, Tirupati.



**Published by**

**Dr. I.V.Subba Rao,** I.A.S.,

**Executive Officer,**

**Tirumala Tirupati Devasthanams,**

**TIRUPATI.**

**2000**

SRIMAD BHAGAVATAMAHAPURANAM - SKANDHA - X, Vol. II
Edited by
Dr. N.C.V. Narasimhacharya

T.T.D. Religious Publications Series No. 589
First Edition 2000
Price: Rs.250/-

Copies: 1,000.

*Published by*:
**Dr. I.V.Subba Rao,** I.A.S.,
Executive Officer,
T.T.Devasthanams,
Tirupati.

***Laser Typeset by*:**
**SREE OM SHAKTI LASER TYPESETTER,**
CHENNAI - 14. Phone: 854 7250

Printed at :
GAYATHRI ART PRINTERS
5-9-33, Basheerbagh,
Hyderabad - 500 063.
Phone : 3230210

ओं नमो वेङ्कटेशाय

श्रीवेदव्यासमहर्षिप्रणीतम्

# श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

## दशमः स्कन्धः

### द्वितीयो भागः

(द्वात्रिंशदध्यायात्मकः)

श्री श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका, श्रीवीरराघवनिर्मिता श्रीभागवतचन्द्रचन्द्रिका,
श्रीविजयध्वजविलिखिता पदरत्नावली चेति त्रिभिः व्याख्यानैः भूषितम्


पण्डितराजः साहित्यविशारदः वाचस्पतिः
शिरोमणिः विद्वान् इति बिरुद भाजा
राष्ट्रपति पुरस्कार ग्रहीत्रा
डॉ. यन्.सि.वि. नरसिंहाचार्येण यम्.ए.बि.ओ.यल्.
(विशिष्टाधिकारी, श्रीमद्भागवत शोधपूर्ण परिष्करण परिषत्)
परिष्कृतम्



तिरुमल तिरुपति देवस्थान निर्वहणाधिकृतैः
डा.ऐ.वि. सुब्बारावु, ऐ.ए.एस्., महोदयैः
प्रकाशितम्

२०००

" ईशानां जगतोऽस्य वेङ्कटपते र्विष्णोः परां प्रेयसीं
तद्वक्षःस्थल नित्यवासरसिकां तत्क्षान्तिसंवर्धनीम्।
पद्मालङ्कृत पाणिपल्लवयुगां पद्मासनस्थां श्रियं
वात्सल्यादिगुणोज्ज्वलां भगवतीं वन्दे जगन्मातरम्॥"

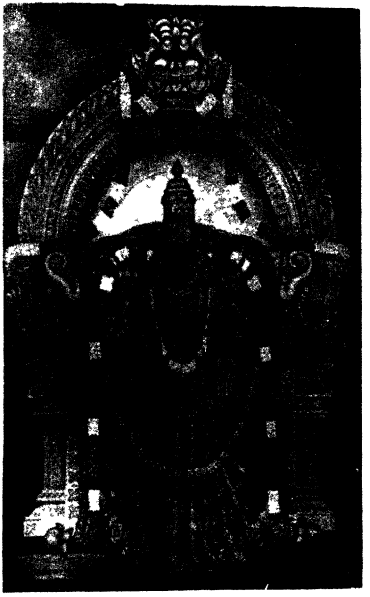

श्रीमद्वेङ्कटनायकस्य हृदये द्वेधा विधायाऽऽत्मनो
मूर्तिं शश्वदियं कृपामृतझरीस्रोतस्विनी भार्गवी।
उद्धर्तु निखिला नगण्यविषमांहोवह्निदग्धात्मनो
जन्तून् सन्निदधाति विश्वजननी पद्मावती रक्षतात्॥

हरिः ओम्

लोकोद्धारैकदीक्षापर निगममहाहर्म्यधर्म्यप्रदीपः
स्वाङ्घ्रिद्वन्द्वप्रपन्नाखिलदुरिततमोध्वंसिपुण्यप्रदीपः।
दिङ्मूढेभ्यो नरेभ्यः प्रकटितसरणिः स्नेहदीप्रः प्रदीपः
युष्मानस्मान्समस्ता नवतु वृषगिरिस्थास्तुमङ्गल्यदीपः॥

श्रीमद्भागवतं पुराण मखिलाम्नायैकसारः क्व वा?
प्रज्ञादुर्विधकिम्पचानधिषणाः शैक्षाः क्व वा मादृशाः?
भक्त्या चापलत स्तथाऽपि च परिष्कर्तुं वयं व्यापृताः,
एतत् प्राभृतयाम वेङ्कटपतेः पादाब्जयोः, स्वीक्रियात्॥

# THE CRITICAL EDITION OF SRIMAD BHAGAVATA

## THE EDITORIAL BOARD


**Ex-Officio Chairman**

**Dr. I.V.SUBBA RAO,** I.A.S.,

**MEMBERS**

1. **Prof. S.B.Raghunathacharya** M.A., Ph.D.,
   Director General,
   S.V.Institute of Higher Vedic Studies
   T.T.Devasthanams, Tirupati.
2. **Prof. P. Sri Ramachandrudu,** M.A., (TRIO)
   Retired Professor of Sanskrit,
   Osmania University, Hyderabad.
3. **Prof. P. Sri Rama Murthy,** M.A., Ph.D.,
   Retired Professor of Sanskrit,
   Andhra University, Waltair.
4. **Prof. M.Narasimhacharya,** M.A., Ph.D.,
   Professor of Sri Vaishnavism,
   University of Madras, Chennai.
5. **Prof. N.S.Ramanuja Tatacharya**
   Professor of Sanskrit,
   French Institute of Indology,
   Pondicherry.

**Co-Ordinated Members**

6. **Dr.Medasani Mohan,** M.A., Ph.D.,
   Director,
   Sri Annamacharya Project,
   T.T.Devasthanams, Tirupati.
7. **Dr.N.S.Rama Murthy,** M.A.,
   Editor,
   T.T.Devasthanams, Tirupati.

**Convener**

8. **Dr. N.C.V. Narasimhacharya,** M.A., B.O.L.,
   Special Officer,
   Sri Bhagavata Project,
   T.T.Devasthanams, Tirupati.

# CONTENTS


1. Foreword ..... I
2. Introduction - English ..... II
3. Introduction - Sanskrit ..... VII
4. List of Abbreviations - (Editions) ..... XIII
5. List of Abbreviations (Texts cited) ..... XIV
6. Contents of each canto (in prose) ..... XV
7. Contents of each canto (in slokas) ..... XVII
8. Process of Reciting Sri Bhagavata ..... XIX

| Text. | Page |
|---|---|
| Canto.29 | 1 |
| Canto.30 | 26 |
| Canto.31 | 46 |
| Canto.32 | 58 |
| Canto.33 | 70 |
| Canto.34 | 91 |
| Canto.35 | 101 |
| Canto.36 | 116 |
| Canto.37 | 138 |
| Canto.38 | 152 |
| Canto.39 | 171 |
| Canto.40 | 193 |
| Canto.41 | 211 |
| Canto.42 | 230 |
| Canto.43 | 244 |
| Canto.44 | 258 |
| Canto.45 | 276 |
| Canto.46 | 294 |
| Canto.47 | 313 |

| Text. | Page |
|---|---|
| Canto.48 | 347 |
| Canto.49 | 364 |
| Canto.50 | 377 |
| Canto.51 | 424 |
| Canto.52 | 447 |
| Canto.53 | 470 |
| Canto.54 | 489 |
| Canto.55 | 509 |
| Canto.56 | 520 |
| Canto.57 | 536 |
| Canto.58 | 551 |
| Canto.59 | 571 |
| Vijayadhwaja Extra 10 chapeters | 591 |
| Canto.60 | 667 |
| Appendix-I Quarter Verse Index | 1 |
| Appendix-II Citations Index | 108 |
| Extra Verse Index - 1 | 129 |
| Extra Verse Index - 2 | 146 |

# FOREWORD

Sri Bhāgavata critical edition project is one of the important projects being taken up by the Tirumala Tirupati Devasthanams. Sri Bhāgavata occupies a unique place in the spiritual literature of the world containing as it does the quintessence of devotion, knowledge and spirituality. It takes us to higher realms of thought and enriches our world-view.

Sri Bhāgavata purāṇa is an indispensable text for those who are interested in Indian culture, philosophy and religion. When the great seer-composer Vedavyāsa was in a depressed, gloomy mood, the celestial sage Narada has advised him to write this epic with the Lord Śrī Kṛṣṇa as the central figure. It has that magical touch of the great composer who not only captures the subtle nuances of the Lord's life but also brings to the narrative a unique devotional, sublime flavour and fervour that entertains, ennobles and enthralls all. It has a message for everyone - young and old.

The project aims at the preparation of a reference volume incorporating the three main commentaries drawn from the three dominant schools of philosophy - Advaita, Dvaita and Viśiṣṭādvaita. The present volume containing the second part of the tenth Skandha forms a part of the twelve - volume critical edition being edited by the eminent scholar Sri N.C.V. Narasimhacharyulu who has painstakingly prepared this edition by bringing in new insights with his vast experience and rare erudition.

The Tirumala Tirupati Devasthanams humbly offers this Bhakti Bhāṣya, (as Śri Bhāgavata is called) to the discerning readers. Hopefully they would have the divine flavour of the nectar drawn from the veda.

**"Nigama Kalpataroḥ Galitaṃ Phalaṃ Sukamukhādamṛta drava saṃyutam**
**Pibata Bhāgavataṃ rasamālayaṃ Muhuraho Rasikā Bhuvi Bhāvukāḥ"**

(Bhāgavata - 1-1-3)

(Drink deep the nectar flowing from the fruit of the Vedas as it trickles down from Śri Śuka, the parrot, perched on the tree of wisdom.)

**(I.V. SUBBARAO)**

# INTRODUCTION

It is well known to all that the munificent Management of Tirumala Tirupati Devasthanams is making strenuous incessant and sincere efforts for maintaining our Cultural Heritage enshrined in veritable Hindu Scriptures and other works akin to them. It strains every nerve, as it were, to sustain the Religio-philosophic outlook, wherein our Nations's peace and prosperity lie. In order to servive the Sanātana Dharma in the nation, to propagate and instil Bhakti in the minds of the people and making them pious, to convey the message of the Ṛṣis to mankind, to disseminate the ever-lasting, ever-fresh and inestimable greatness of Ārṣa Dharma far and wide for the benefit of the sophisticated and unsophisticated people alike, the noble Devasthanam has founded many an institution such as Dharma Prachāra Pariṣat, the Dāsasāhitya project, the Ālwar Divya Prabandha Project, the Recording Project and the Publication Cell. Further, the Management is sanctioning heavy amounts under the scheme of 'Aid to Publish Religious Texts'. It is also financing the Paurāṇikas, Veda Ghanapāṭhys et cetera, the torch bearers of Indian Culture. It is generously granting financial aid to the numerous authors of Religious works in various languages. For the sake of upholding Arts and Fine Arts such as Music and Dance the Devasthanam is maintaining the educational institutions *viz.* the Arts Colleges, the College of Music and Dance, the Veda Pāṭhaśālas, the Oriental College and others.

Śrī Bhāgavata Critical Edition Project is one among such institutions. When the unparalleled greatness of the sacred Śrī Bhāgavata is acknowledged, the value of the Project will be well realised. The Śrī Bhāgavata is a veritable encyclopeadia of Spiritual Philosophy rendered in purāṇa form to make it more palatable, valuable, accessible and acceptable to literates as well as illiterates. It kindles in readers the unmotivated pure devotion towards the Supreme.

Although there are eighteen purāṇas only the Bhāgavata purāṇa commands much reverence of the devotees. This purāṇa abounds in essential teachings to gain salvation and freedom from the worldly trials and tribulations. After the advent of this purāṇa all the other purāṇas were relegated to the background. This purāṇa is a devotional, philosophical, metaphisical and religious text rendered in a fine poetic form. Thus this text being wonderful and peculiar is extolled as a spiritual book *Par Excellence.* It has been worshipped as a deity placed on the golden throne. The pious people recite the purāṇa like the scripture of high order with much respect, since the daily recital of the text is sincerely believed to be capable of alleviating all sorts of human sufferings. Unlike all the other purāṇas the Bhāgavata is quoted by all the divergent and diverse sectarians as a genuine and authentic text to substantiate or to fortify their respective Dogmas, for, it has been accepted as an authority by the followers of all the schools of philosophy.

Apart from its superb poetry and the very wide range of its devotional teachings, the reason for its forceful and ever expanding appeal lies in its elaborate exposion of the life and messages of Śrī Kṛṣṇa. Out of eighteen thousand verses six thousand and odd verses deal with him directly. Śrī Kṛṣṇa is depicted as a perfect incarnation of Śrī Mahāviṣṇu. He is represented in the text as Saccidānandasvarūpa Parabrahman, as described in the Upaniṣads and the Bhāgavadgītā. He is projected herein as Supreme God. He is the perfect being amidst all the imperfect situations. The Eternal Boy, the paragon of the masculine beauty he always remains in his spiritual elevation, though he appears to be a pastoral boy intermingling with cowherd boys and other boys of lowest birth and station. This type of depiction of Lord in this text became most appealing and attracting even among lower classes. It is read by devotees with peity in raptures.

## ABOUT THE PURĀṆAS

Purāṇa means old. It means "an old, ancient and sacred record" containing the whole body of Hindu mythology. But it is appropriately defined thus पुराऽपि नवम् though it belongs to the remote past it looks anew on account of its ever fresh value of the subject matter. Further, the word पुरा means both past and future. So purāṇa means पुरा = आगतानागतौ अणति कथयति इति पुराणम् purāṇa tells us about the past and future. Hence it can be termed as an ever-green book. The Vāyu purāṇa defines thus- since the text tells about the past event it is called purāṇa and he, who knows the etymology,(निरुक्ति) will be liberated from sins. Like this there are also some other different definitions of the work.

All the ancient texts such as the Śrtis, Smṛtis and Purāṇas are treated as having no beginning (अनादि). They were not composed by human beings. Owing to the adversaries of time many texts of old were almost ruined. Even the surviving texts remained jumbled and utterly confused. the Lord Nārāyaṇa born as Kṛṣṇa dvaipāyana, as believed by Indian tradition, arranged all the disorderly texts in a proper order, categorising, dividing and subdividing the Vedas. That is why he was called as Vedavyāsa (arranger of Vedas). Like the Vedas the purāṇas also are authorless. They emanated, like the Vedas from the breath of the Omniscient Lord. Vyāsa arranged the purāṇas also naming them as Pādma, Skānda and so on. So the saying अष्टादश पुराणानां कर्ता सत्यवती सुतः can properly be comprehended. The word कर्ता संस्कर्ता here means i.e. arranger in a scientific and proper order, but not the author. The purāṇas are reckoned as eighteen, but the Kūrmapurāṇa gives a list of eighteen Upapurāṇas.

## MODE OF EDITING AND PUBLISHING

As said above Śrī Bhāgavata purāṇa is an indispensable and invaluable book to them who are interested in the spiritual and devotional knowhow. But unfortunately this purāṇa critically and authentically edited and nicely printed is not available at present. Even a good edition of the work containing mere text (मूल मात्र) to enable the devotees to perform daily recital (नित्य पारायण) is not available. The Management of T.T.D. knowing the dire necessity of the text, has taken up the problem seriously to tackle and consequently established the Śrī Bhāgavata Critical Edition Project in 1981 and constituted an Editorial Board. Ever since its inception the Project is trying to go ahead speedily. But it could not show speedy progress by leaps and bounds as thought of, but it goes by fits and starts owing to several reasons.

## SPECIAL FEATURES OF THE EDITION

Though as many as eleven commentaries with text were printed by others long ago, they are not available now. We have taken only three commentaries belonging to the schools of Advaita, Viśiṣṭādvaita and Dvaita which are completely true and faithful to the Scriptures. We have used several different editions to collate and corroborate. We have consulted all the available editions, taken the best readings after thorough study and comparison and prepared our edition.

Having in view the benefit to the reader scholars I have prepared two types of appendices and added them arranged alphabetically at the end of the text. One is with the quarter verse index. This will facilitate the scholars to locate the citation from Sri Bhagavata occurring in any text they study with exact number of Skandha, Canto and verse. The other belongs to the alphabetical index of the citations given in the commentaries to substantiate the particular subject. The citations are numerous because the scholiasts are well versed in all the texts, the scriptures and others. The readers can know that the particular citation is from such and such text whether it be Sṛti, Smṛti, Purāṇa, Agama and the like. Then they can study the source text, with commentary if any, and understand fully well the spirit and purport of the citation. This is the special advantage of this index.

After finishing the fourth skandha we took up the fifth skandha for editing. But at this juncture our Management ordered us to take up immediately the tenth skandha for editing, as this tenth skandha is directly connected with Śrī Kṛṣṇás life and history. This tenth skandha is considered to be the quintessence of the entire text because of its sacredness and importance. Obeying the orders of the Management we took the tenth skandha for editing, discontinuing fifth skandha in the middle. We have edited tenth skandha deviding it into

three volumes and prepared the press copy. We have proposed to publish the entire Bhāgavata text in fourteen volumes. The nine skandhas go to make nine volumes. The tenth skandha being very large is split into three volumes as tenth, eleventh and twelfth volumes and eleventh and twelfth skandhas into two volumes as the thirteenth and fourteenth volumes (9+3+2=14).

Later we took up for editing the semifinished fifth skandha. We completed fifth to nineth skandha (inclusive of both). The press copy was also prepared upto this. We are now going ahead with the editorial work of the eleventh skandha. After completing this work we shall take the twelfh i.e., the last skandha. When it is completed, the Bhāgavata will be of fourteen volumes.

The first volume containing first skandha was published by TTD in the year 1989. The first part of the tenth skandha containing twenty eight cantos (1to 28) was released in the year 1998. The second part of the tenth skandha containing thrity two cantos (29 to 60) is released now. Third part containing thirty cantos (61 to 90) will be released in due course

ACKNOWLEDGEMENTS

It is my pleasant duty to express my sincere gratitude to those reputed and respected persons, who have generously helped me in getting this volume published. At the outset, I thank the Scholar Trio, *viz.* Dr. Ekkirala Krishnamacharyulu, Sri P.V.R.K. Prasad, I.A.S. the then Executive Officer and Dr. Pannala Radhakrishna Sarma, with whose strenuous and sincere efforts the Sri Bhāgavata Critical Edition Project was established in the year 1981. Thence forth this Project has been striving, at its best to publish the volumes of Śrī Bhāgavata one after the other.

Every successive Executive Officer of T.T.D. is extending help with devotional zeal and enthusiasm for the furtherance of the Project. Every successor emulates his predecessor with regard to evincing interest in the sacred task. The successive list of the Executive Officers of TTD is as follows Sri P.V.R.K. Prasad, I.A.S. Sri G. Kumaraswamy Reddy, I.A.S. Sri S. Lakshminarayana, I.A.S. Sri Ch. Venkatapathy Raju, I.A.S. Sri M.V.S. Prasad, I.A.S. Sri D.V.L.N. Murthy, I.A.S. Sri N. Ramesh Kumar, I.A.S. and Sri M.K.R. Vinayak, I.A.S. I ardently thank them all for their unstinted help extended towards the said Project. Their help went a long way to carry on the research work connected with the editing of the Śrīmad Bhāgavata. The present Executive Officer Dr. I.V. Subba Rao, I.A.S. is taking special care and interest and his help gives a stimulus to the Project work. As such I profoundly thank him. I also thank Sri D. Ramakrishnaiah, I.A.S. the Joint Executive Officer. I offer my heartfelt greatfulness to Avadhani sarvabhouma, Mahasahasravadhani

Dr. Medasani Mohan, the Directoı, Sri Annamacharya Project etc. for his uniform interest in the Project work.

My thanks are due also to the learned Editorial Board of Śrī Bhāgavata Project for its valuable suggestions. I convey my deep gratefulness to the Chairman and the members of the TTD Trust Board and the members of the Specified Authority for kindly providing all the facilities to the Project.

I feel it is quite essential to express my deep debt of gratitude to the Research Assistants of the Śrī Bhāgavata Project *viz.* Sri J.C. Jayachandra Sastry, Siromani and Vidwan Sri A. Varadarajan, Siromani and Vidwan Sri U. Venkataramaiah, M.A. Siromani (all the three retired) and Dr. K. Rajagopalan, M.A., Ph.D. (who left the Project some time ago) Sri S.B.S. Bhattacharya, Siromani, Sikshasastri, Srimati S. Poornavalli, M.A. Gold Medalist, and Dr. S. Dasaratha, M.A., Ph.D. But for the assistance of the said research scholars I could not have accomplished this work. I must once again thank heartily the noble man Dr. P. Radhakrishna Sarma for furnishing the old and rare printed books of various editions of Bhāgavata with commentaries, without which the Critical Edition of the Śrī Bhāgavata could not have been brought forth. Many hearty thanks are due to Sri K. Appanacharya, Special Officer, Dasasahitya Project, TTD and Dr. M.S. Narayana Murty, Director, S.V. University Oriental Research Institute, Tirupati for furnishing me with the required books. In fine, I express my sincere gratitude to all those other scholars too, who have helped me in one way or the other. Lastly I thank M/s Om Shakti Laser Type Setters and Printers for their neat execution.

Now the second volume of the tenth skandha along with the three commentaries, Introduction, Appendices is being presented to the connoisseurs. By the oversight some mistakes might have crept in, for which I crave the indulgence of the readers. The concrete suggestions, if any, for the improvement of this edition are always welcome.

I feel amply rewarded if this Edition can serve the purpose of the readers and scholars and fulfil the objective of T.T.Devasthanams in propagating Hindu Culture and Religion.

--EDITOR

Tirupati,

Dt. 16 /06 /2000.

# आमुखम्

''अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि'' (बृह.उ. 2-4-10) इति श्रुतिशिरःप्रतिपादितरीत्या साक्षा त्परब्रह्मणैव प्रादुष्कृताः श्रुतयः। इदमेव भञ्जन्तरेण सङ्गृह्यते ''यस्य निःश्वसितं वेदाः'' इति। अखिलैरपि संवित्पथे खिलैः मनुजैः दुर्ज्ञाना स्ता इति विदित्वा प्रकृतिवत्सलो भगवान्, अनादेः कालात् प्रसृताः बहुमुखक्षुण्णाः अतिमात्रसङ्कीर्णाः ताः परिष्कृत्य प्रतिबोधयितुं 'कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम्', इति, 'व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे' इत्यादिरूपै र्वाक्यै रुपश्लोक्यमानः वेदव्यासरूपः संजज्ञे। चतुर्धा विभक्तान् वेदान्, पुनः संहिता ब्राह्मण रूपेण नानाप्रकार शाखात्मना च संविभज्य असङ्कीर्णरूपान् परिणिष्ठितस्वरूपांश्च व्यदधात्। तेषां शिष्य प्रशिष्य मुखेन अनारताविच्छिन्नप्रसारं सम्पिपादयिषुः पैल-जैमिनि-सुमन्तु-वैशम्पायनाभिधान् चतुरश्चतुरां श्छात्रान् परिकल्प्य ऋक्-यजुस्-साम-अथर्ववेदान् तेभ्यः उपदिदेश। ते च सुष्ठु अधीत्य लोके वेदान् व्यतानिषुः। अत एव कृष्णद्वैपायनः ''यतो विव्यास वेदान् स वेदव्यास इतीरितः'' इति व्युत्पत्तिप्रदर्शनानुगुणं 'वेदव्यास' इति पप्रथे।

अत्र कश्चि द्विशेषः - व्यासमहर्षिः एव मनादिवेदप्रतानाय गृहीतान् उपदेशविशुद्धान् चतुरोऽपि शिष्या नुपेक्ष्य श्रीमद्भागवतपुराणन्तु स्वपुत्त्राय ज्ञानवैराग्यादिषु 'पुत्त्रा दिच्छे त्पराजयम्' इति सूक्तिरीत्या वस्तुतः स्वस्मादपि प्रभूततर प्रज्ञानिधये, दृढतरवैराग्यखनये श्रीशुकायैव उपादिक्षत्। तत्र कारणं किम् ? इदं पुराणं वेदेभ्योऽपि विशिष्टतरं आपामर माप्राज्ञं वर्णलिङ्गादिभेदवर्जं सकलजनसुबोधं निखिलनिगमसारभूतम्। अत एव अर्हत्तराय उपदेष्टव्य मिति मत्या मुनि रेव मकरोत्। इद मेकमेवाऽल मस्य पुराणस्य माहात्म्य मुद्भावयितुम्। अतो वेदेभ्योऽप्यभ्यर्हिततर मिदं पुराणरत्न मिति सिद्ध्यति। आसन्न मृत्यवे भागवताय परीक्षिन्महाराजाय मोक्षाधिगमार्थं मिदं भागवत मुपदिष्ट मिति च विश्वे विजानन्ति।

किञ्च। भागवत मिति नामैवाऽऽस्य पुराणस्य महिमान मुद्बोधयति। नामगतो 'भा' शब्दः भक्तिं बोधयति। 'ग' शब्दः ज्ञानं ज्ञापयति। ज्ञानशब्दगतः आदिमस्तालव्यो जकारः कण्ठ्यतां प्राप्य गकारोऽजनिष्ट। 'व' कारो वैराग्यं गमयति। 'त' वर्ण स्तत्त्वं कथयति। अन्तिमो 'म'कारः सारालङ्कारपद्धत्या सकलपुरुषार्थमौलिभूतं मोक्षं गमयति। ईदृश स्सम्प्रदायः भारतशब्दविवरणे 'तवा'भिधाना दिति शब्दव्याख्याने अन्यत्र च समादृतः। भारतशब्दः भावरागतालान् वक्ति। 'त' 'वा' इत्यक्षरे तार्क्ष्यं, वासुकिञ्च बोधयतः। 'पुराऽपि नवं' पुराण मित्यादि व्युत्पत्तयः परिशील्यन्ताम्। तथा च भक्ति ज्ञान वैराग्य तत्त्व मोक्षाणां समुदितानां स्वरूपयाथात्म्यं महापुरुषचरित्रद्वारा, उपाख्यानादिमुखेन चोपदेष्टु मलम्भूष्णु भवतीदं पुराण मिति

साम्प्रदायिका अभिप्रयन्ति। 'भक्ति र्ज्ञानञ्च वैराग्यं तत्त्वमोक्षौ च यत्र तु, क्षोदक्षमं निरूप्यन्ते तद्धि भागवतं स्मृतम्'। अतो भागवतं श्रेयस्कामै रवश्य मध्येयम्।

अपि च। 'मोक्षसाधनसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी' इति शङ्करभगवत्पादाना ममोघं वचनम्। श्रीमद्भागवतं, कथोपाख्यानादिद्वारा यावन्तो भक्तेः प्रकारा भवितु मर्हन्ति, तेषां समेषां स्वरूप मसमानेया सरण्या सर्वजनानुकूल मामोदकरञ्च प्रतिपादयति।

महाभारत हरिवंशादि कर्तु रपि कृष्णद्वैपायनस्य दुर्लभां मनश्शान्ति मुपकल्पयितुं नारदमहर्षिणा कृतमुपदेश मनुरुध्य निर्मितस्य दिव्यपुराणस्य महिमानं वर्णयितुं कारणान्तरगवेषण मनावश्यकमेव। भागवते भक्तिप्रकाराः सामग्र्येण सोदाहरणं निरूपिता इति अस्य पुराणस्य भक्तिभाष्य मिति व्यवहारो ननु युक्तरूपः।

आश्चर्यकरोऽन्योऽप्यत्राऽस्ति विशेषः। न केवलं भक्तिरेव मुक्तिसाधिका। अपि तु द्वेषादिरपि तथा। ''कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'' इति श्लाघितेन भगवता सम्बन्धः यादृशः तादृशो वा भवतु, स सर्वोऽपि मोक्षहेतु र्भवती त्यत्राऽयं श्लोकः प्रमाणपदवी मारोपणीयः - 'कामाद्गोप्यो भया त्कंसः द्वेषा च्चैद्यादयो नृपाः। सम्बन्धा द्वृष्णयः, स्नेहा द्यूयं, भक्त्या वयं नृप!' इति।

अपि च। 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहये'दिति इतिहासस्याऽपि वेदार्थसमुपबृंहणत्वमस्ति। तथाऽपि 'य न्न दृष्टं हि वेदेषु तत्सर्वं दृश्यते स्मृतौ। उभयो र्य न्न दृष्टं हि त त्पुराणैः प्रगीयते' इति नारदपुराणवचनं परिशीलयद्भिः पुराणस्य ग्रन्थान्तरेभ्यः प्रामुख्यं प्रतीयत एव।

पुराणान्यपि वेदा इवापौरुषेयाण्येव। अनादिकालात् पुराण मेकराशीभूतमेव भक्तपरम्परयाधिगम्यमानं सङ्कीर्ण मासीत्। वेदव्यासो वेदानिव तत्तुल्यानि पुराणान्यपि प्रतिपाद्यमानविषयपरामर्शपूर्वकं पाद्म स्कान्दादि नाम्ना संविभज्य अष्टादशधा प्रासीसरत्। ''अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवतीसुतः'' इत्यस्य वाक्यस्याऽर्थं यथाव दजानन्तः व्यासकर्तृकाणि सर्वाणि पुराणानीति मेनिरे। तत्र 'कर्ता' इति पदस्य प्रणेता इति नाऽर्थः। कर्ता संस्कर्ता इत्येवाऽर्थः। वेदवत् सङ्कीर्णानां पुराणानां सत्यवतीसुतः केवलसंस्कर्ता इत्यभिप्राय मभियुक्ता आमनन्ति।

तेषु पुराणेषु भागवतं प्रशस्यतमम्, सर्वसम्मतञ्च। पाद्मपुराणादिषु अद्वैतिनां प्रतिपत्ति रधिका नास्ति। शैवपुराणादिषु

वैष्णवानां प्रतिपत्ति र्नास्ति। परन्तु श्रीविष्णुभागवतं द्वैत्यद्वैतिविशिष्टाद्वैतिनामपि सम्प्रतिपन्नम्। वेदाः प्रभुसम्मिताः। साधारणतः पुराणं मित्रसम्मितम्। काव्यन्तु कान्तासम्मितमेव। भागवतन्तु पूर्वोक्तगुणत्रयविशिष्टं सत् सहृदयानां त्रिगुणा मात्मतुष्टिं जनयत् पुराणान्तरा ण्यतिशेते। अयं श्लोकोऽत्राऽनुसन्धानमर्हति - 'वेदाः पुराणं काव्यञ्च प्रभु र्मित्रं प्रियेव च। बोधयन्तीति हि प्राहुः त्रिव द्भागवतं पुनः' इति।

प्रायशः पुराणानि पञ्चलक्षणानि भवन्ति। अत्र पुराणे तल्लक्षण मपर्याप्तम्। इदं दशलक्षणपरिष्कृतं सत् समानाना मुत्तमश्लोकं भवति। अस्य पुराणस्य 'प्रेक्षावतां भागवते परीक्षा' इत्युक्तविधया लब्धवर्णै रेवोपलब्धार्थत्व मस्ति। 'उत्सव स्सुधिया मेव हन्त ! दुर्मेधसो हताः'। एषा दुःस्थिति र्मास्त्विति, सकलसुबोध मिदं भवतु इति च मन्यमानैः दयालुभि स्सुधीर्धौरेयैः बहुभिः र्बहुमतस्थानां बहुमत्यै बह्व्यो व्याख्या निरमायिषत।

पुराणशब्दनिर्वचनम् - तच्च बहुविधम् - 'पुरैव विद्यमानत्वेऽपि सम्प्रति नवत्वात् पुराणत्वम्' इति आचार्यो वेदान्तदेशिकः पद मिदं निर्वक्ति स्म। अन्येऽपि शब्दमेत मन्यथा बहुधा व्युत्पादयन्ति स्म। तद्यथा - ''पुरा नवं भवति पुराणम्'' इति यास्कः। 'पुराणम्परां वष्टि पुराणं तेन वै स्मृतम्' इति पाद्मपुराणम्। ''यस्मा त्पुरा ह्यभूच्चैतत् पुराणं तेन तत् स्मृतम्'' इति ब्रह्माण्डपुराणे। 'यस्मा त्पुरा ह्यनक्तीदं पुराणं तेन वा स्मृतम्। निरुक्त मस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते' इति वायुपुराणेन निरुक्तज्ञानमात्रेणाऽपि सर्वपापक्षय उपदिष्टः। एव मन्यथा च निर्वचनानि विद्यन्ते। पुराणानि अष्टादशेति प्रायोवादः। अष्टादश उपपुराणा न्यपि कौर्मे निरदिश्यन्त।

पुराणोत्तमस्यापि भागवतस्य शोधपूर्णपरिष्कारः अद्य याव न्न व्यधायि। साधारणः सव्याख्यो मुद्रितो ग्रन्थो वा, सम्यङ्मुद्रितः पारायणायापेक्षितो मूलग्रन्थो वाऽद्य न लभ्यते। दशामेता मवलोक्य परोपकारनिरतैः धर्मरक्षाबद्धदीक्षैः ति.ति.देवस्थानाधिकृतैः ग्रन्थदौर्लभ्यपरिहार स्साधनीय इति 1981 (क्री.श.) वत्सरे समकल्पि। तदनुरोधेन नियुक्ता परिष्करणसमितिः ग्रन्थप्रकाशनाय प्रयस्यति। अस्य पुराणस्य शतशो व्याख्यानानि सन्ति। अस्माभिः मुद्रितानि एकादश व्याख्यानानि अदर्शिषत। दशमस्कन्धस्य तु उपत्रिंशद्व्याख्यानानि सम्पादितानि सन्ति सम्मुद्रयन्ते। एवं सति, परमवैदिकमतानां द्वैताद्वैतविशिष्टाद्वैताख्यानां सम्बन्धीनि त्रीण्येव व्याख्यानानि विजयध्वजीय श्रीधरीय वीरराघवीयानि आदाय, तदीयान् बहून् प्रकाशा नालोक्य मूलग्रन्थं व्याख्यानानि च विमृश्य समीचीनपाठनिर्णयपुरस्सरं परिष्कृत्य ग्रन्थाः मुद्रणाय सज्जीक्रियन्ते।

पठितॄणां पण्डितानां सौविध्यं निधाय मनसि द्वा वनुषन्धौ सम्पाद्य ग्रन्थान्ते आयोजिषताम् । तत्र एकस्मिन् श्रीभागवतश्लोकानां पादानुक्रमणिका अकाराद्यनुक्रमेण निरदेशि। पठ्यमानेषु ग्रन्थेषु श्रीभागवतसम्बद्धः श्लोको वा श्लोकार्धं वा पादो वा संवादाद्यर्थं दीयमानः श्रीभागवते कुत्र वर्तते इति बोधयितुं अय मनुबन्ध उपकरोति। अन्योऽनुबन्धः व्याख्याने षूद्धृतानां विषयाणां सम्बन्धी । उदाहृतश्लोकादिपार्श्वे एव कोष्ठे आकरानिर्देशः क्रियते। तावदेव न, अकाराद्यनुक्रमेण उद्धारान् लिखित्वा ते च ग्रन्थान्ते मुद्रन्ते। इदं पाठकानां सौकर्याय भवति। ते च उद्धृतमूलग्रन्थान्, व्याख्यानानि च, यदि विद्यन्ते, दृष्ट्वा सम्पूर्णं भावं सुष्ठु जानीयुः। अय मत्र ग्रन्थे परिकल्पितो विशेषः।

द्वादशस्कन्धै र्विभक्तः ग्रन्थोऽयं चतुर्दशभागात्मना क्रमशः प्रकटीक्रियते। तत्र दशमस्कन्धस्य अतिविस्तृतत्वा त्स एक एव भागत्रयात्मना विभजनीय आसीत्। अत इदं भागवतं चतुर्दशखण्डात्मकं भवति। तत्र प्रथमस्कन्धात्मा प्रथमखण्डः 1989 (क्री.श.) वत्सरे प्राकाश्यत। द्वितीयतृतीयचतुर्थ स्कन्धानां परिष्कारं परिसमाप्य पञ्चमस्कन्धपरिष्करणे प्रवर्त्यमाने सति देवस्थानाधिकृताः "पञ्चमः स्कन्धः तथैव तिष्ठतु। दशमस्कन्धस्य श्रीकृष्णचरित्रेण साक्षा त्सम्बद्धस्य कृत्स्नग्रन्थप्राणभूतस्य परिष्कारप्रकाशादिकं सद्य एवाऽऽरभ्यता मिति समादिशन्। आदेशानुरोधेन दशमः स्कन्धः परिष्करणायोपात्तः। तस्य प्रथमो भागः परिष्कृत्य 1998 (क्री.श.) वत्सरे प्राकाश्यत। अत्र प्रथमाध्यायात्प्रभृति अष्टाविंशाध्यायपर्यन्ताः (२८) अध्यायाः सन्ति। अद्य प्रकाश्यमानः दशमस्कन्धस्य द्वितीयो भागः। अत्र एकोनत्रिंशाध्यायेनारब्धाः षष्टितमाध्यायपर्यन्ताः द्वात्रिंशदध्यायाः सन्ति। तृतीयोऽपि भागः अचिरेणैव कालेन प्रकाश्येत। अवशिष्टेषु स्कन्धेषु द्वितीयस्कन्धा दारब्धः नवमस्कन्धपर्यन्तो ग्रन्थः शोधपूर्णं परिष्कृत्य मुद्रणाय सज्जीकृतः। एकादशः स्कन्धः सम्पाद्यमानो वर्तते। पश्चाच्च द्वादशः (अन्तिमः) स्कन्धः परिष्करणाय आदीयेत।

अस्मिन् अद्य प्रकाश्यमाने ग्रन्थभागे श्रीकृष्णस्य शैशवकौमारलीलाः अवतार पूर्वरङ्गा दारभ्य वरुणदूतेन वरुणालयं प्रापितस्य नन्दस्य तस्मात्प्रदेशात् कृष्णकृततदानयनपर्यन्ताः वृत्तान्ताः प्रत्यपाद्यन्ते। रासक्रीडासमारब्धाः श्रीरुक्मिणी कृष्णयोः प्रणयकलहपर्यन्तो भागः अत्र द्वितीयपुस्तके लब्धपदः। गोपीवस्त्रापहरणक्रीडा - रासलीलयोः आपाततः वैषयिकशृङ्गाररसप्लुतयोरिव दृश्यमानयोः अध्यात्मदृष्ट्या परिशील्यमानयोः सत्योः अत्र भौतिकशृङ्गारगन्धोऽपि नास्तीति, गोपिकाकृष्णवृत्तान्तः मधुरभक्तिप्रधानः जीवात्मपरमात्मनोः दासस्वामिभावपवित्रः इति भासेतैव। अत्र विस्तृतचर्चा दशमस्कन्धप्रथमपुस्तके पीठिकायां व्यलेखि। पाठकसहृदयाः तत्र तं विषयं कटाक्षयन्तु।

अस्मिन् द्वितीयपुस्तके लक्ष्यमाणाः कथांशाः भागवतैः श्रद्धयाऽध्येतु मर्हा भवन्ति । एकैकस्य कथांशस्य तात्पर्यविषयभूताः विशेषाः बहून् सूक्ष्मधर्मान् प्रतिबोधयन्ति, श्रीकृष्णे दृढां भक्तिं जनयितुं स्थापयितुञ्च कुशला भवन्ति। कदा चित् कश्चिदजगरो नन्द मग्रसीत् । भीतै र्गोपैः नन्दं मोचयितुं बहुधा हिंस्यमानोऽपि सर्पः तं नाऽमुञ्चत् । तदा नन्दनन्दनः तं सर्पं पदाऽस्पृशत् । तदा शापग्रस्तः सः सर्पशरीरं हित्वा विद्याधरोऽभवत् । अत्र घट्टे मायामानुषस्य हरेः पितृभक्तिः, अश्रितोद्धरणसङ्कल्पश्च सुष्ठु बोध्यते । नन्दस्य प्रेमरूपा भक्ति स्तं रक्ष । अजगरोऽत्र संसारः । संसारग्रस्तस्य जीवस्योद्धरणाय नरैः क्रियमाणाः उपायाः सफला न भवन्ति । भगवच्चरणस्पर्श एक एव संसारोद्धरणाय सुलभोपायः इति तत्त्व मत्राऽसूचि । अरिष्टासुरवधः केशिसंहारः कंसवधः चाणूरमुष्टिकादिनिधनम् इत्यादयः कथाः भगवतः स्वजने निर्व्याजपक्षपातं, आर्तत्राणपरायणत्वं, साधूनां परित्राणे तदर्थे असाधूनां शिक्षणे सदा सन्नद्धत्व ञ्च सूचयन्ति । कुब्जावृत्तान्तः वासुदेवस्य वात्सल्यैकरसत्वं पिशुनयति । आत्मनि कृतया अत्यल्पयाऽपि सेवया परितुष्टः परमात्मा तां त्रिवक्रां स्वाङ्गसंस्पर्शेन ऋजूकृत्य दिव्यसुन्दरीं विधाय तत स्तस्या अभिलाषमप्यपूरयत् । अत्र भागे विद्यमानं रस्यं गोपिकागीतं, विरहार्तानां तासां सात्त्विकमधुरभक्तिं, 'न विना विप्रलम्भेन शृङ्गारः पुष्टि मश्नुते' इति अलङ्कारशास्त्रसमयानुरोधेन परिपोषितशृङ्गाररसस्फूर्तिं जनयत् भक्तिरसिका न्प्रीणयति । अक्रूरस्य अनितरसाधरणी भक्तिः भक्तामृतं सम्पद्यते । अत्रत्यं श्यमन्तकोपाख्यानं महतामपि अकाण्डे अपवादकलङ्कः सम्भवतीति कलङ्कापमार्जनाय सर्वथा प्रयतनीय मिति च कृष्णचरितमुखेन प्रतिबोध्यते । श्रीरुक्मिणी वासुदेवयोः राक्षसपद्धति र्विवाहः, तत स्तयो र्नूतनदम्पत्यो स्सरसपरिहासरसरञ्जितः संलापश्च अस्मिन्पट्टे विद्यमानः भाग ममुं लोकोत्तरयति । अन्येऽपि बहवोंऽशाः वर्तमानाः सरससहृदयभागवतानां अमन्दानन्दसन्दोहसन्दायका भवन्ति । विस्तरभया दितो विरम्यते । ईदृशोऽयं भागवतग्रन्थभागः व्याख्यात्रयाविशिष्टः विशोध्य परिष्कृत्य मुद्राप्य भागवतकरकमलयो रुपहारीक्रियते । अस्मत्परिष्कारेण यदि स्वल्पाऽपि वा तृप्ति स्तेषां सतां जायेत तदाऽहं मां कृतार्थं मत्वा तृप्ति मपारा मधिगमिष्यामि । अवश्यविनिवेदनीयाः के चि द्विषयाः प्रकटितभागवतग्रन्थद्वयपीठिकयोः विज्ञापिताः तत्र दृश्यन्तामिति सहृदयपाठका नर्थये ।

## उपकारस्मृतिः

इद मस्माकं परिष्कारकर्मचारिणां मुख्य मविस्मरणीयं पवित्रं कृत्यम् । परिष्कारसंस्थायाः प्रतिष्ठापनं यत्कृतं, तत्र श्रीमन्तः डा. एक्किराल कृष्णमाचार्याः, तादात्विक ति.ति.दे. निर्वहणाधिकृताः श्री पि.वि. आर्.के. प्रसाद महाशयाः (ऐ.ए.यस्.), संस्थाप्रथमनिदेशकाः डा. पन्नाल राधाकृष्णशर्माण श्चेति मूर्तित्रयमेव निदान मिति तेषु कृतज्ञता प्रथमतो

निवेद्यते। ततः क्रमशः कार्यनिर्वहणाधिकृताः ऐ.ए.यस्. बिरुदभाजः श्रीमन्तः जि. कुमारस्वामि रेड्डी - यस्. लक्ष्मीनारायण-सिहेच्. वेङ्कटपतिराजु - यम्. वि.यस्. प्रसाद - डि. वि. यल्.यन्.मूर्ति- यन्. रमेशकुमार - यम्.के.आर्. विनायक समाख्याः सर्वेऽपि समित्या अभिवृद्धये बह्वीं श्रद्धा मवहन्। तेऽपि कृतज्ञतानिवेदनार्हाः। अद्यत्वे कार्यनिर्वहणपदवीं भजमानाः यम्.ए., पिहेच्.डि., ऐ.ए.यस्. पट्टभद्राः श्रीमन्तः ऐ.वि. सुब्बारावु महोदयाः अनूनां श्रद्धां वहन्तः कृतज्ञतानिवेदन मर्हन्ति। उपकार्यनिर्वाहकेषु ऐ.ए.यस्. उपाधिभूषितेषु डि. रामकृष्ण महाशयेषु च कृतज्ञता निवेद्यते। अर्हणीयाः ति.ति.दे. धर्मकर्तृमण्डलीसदस्याः भूतपूर्वा वर्तमानाश्च सोपकारस्मृति वन्द्यन्ते। समितिनिदेशकेभ्यः सर्वथोपकर्तृभ्यः, अवधानिसार्वभौमेभ्यः श्रीमद्भ्यो मेडसानि मोहन समाख्येभ्यः कृतज्ञतां निवेदयामि।

अत्र कर्मणि सहायभूताः भूतपूर्वपरिशोधकाः श्रीमन्तः के.सि. जयचन्द्रशास्त्रिणः यु. वेङ्कटरामय्य नामानः आ. वरदराजन् आह्वयाः कृतज्ञताञ्जलि मर्हन्ति। डा. के. राजगोपालाख्योऽपि कृतज्ञतोक्ति मर्हति। श्रीमान् यस्.बि.यस्.भट्टाचार्यः, (शिरोमणिः शिक्षाशास्त्री) श्रीमती यस्. पूर्णवल्लीनाम्नी (यम्.ए. सुवर्णपदकग्रहीत्री) डा. यस्. दशरथाख्यश्च परिष्करणकर्मणि सश्रद्धं स्वस्वकृत्यं निर्वहन्तीति तेषु कृतज्ञो भवामि।

ब्रह्मश्रीयुताः डा. पन्नाल राधाकृष्णशर्माणः पुनरपि श्रद्धापूर्वं स्मर्यन्ते यत स्तै र्महाशयैः शोधपूर्णपरिष्करणापेक्षिताः देवनागराक्षरेषु आन्ध्राक्षरेषु च मुद्रिताः दुर्लभा अमूल्या बहवो ग्रन्थाः अस्मभ्य मदायिषत। तेषु सर्वदा कृतज्ञो भवामि। दाससाहित्य प्राजेक्ट् नेतारः श्रीमन्तः के. अप्पण्णाचार्याः विजयध्वजीयव्याख्योपेतान् अलभ्यान् ग्रन्थान् प्रादुरिति तेभ्यः कार्तज्ञ्य मावेदयामि। श्री वे. प्राच्यभाषापरिशोधनालयनिदेशकेभ्यः डा. यम्.यस्. नारायणमूर्ति महाशयेभ्यः कृतग्रन्थदानोपकारेभ्यः कृतज्ञता निवेद्यते। यया कयापि विधया परिष्करणकर्मणि दत्तोपकारेषु सर्वेष्वपि कृतज्ञतां वहामि। मुद्रणालयाधिकृतेषु स्वामि-कर्मचारिषु कृतज्ञो वर्ते।

अत्र ग्रन्थे अनवधानात्, चक्षुःपाटववैकल्यात्, मतिलोपात्, व्युत्पत्तिदौस्स्थ्यात्, कारणान्तराद्वा परिष्करण मुद्रापत्रशोधनसम्बन्धिनः बहवो दोषाः लब्धपदाः स्युः, ते क्षन्तव्याः। पाठकान् लब्धवर्णान्, उपलक्षितानि स्खालित्यानि सूचयन्त्विति प्रार्थये। कृतज्ञो भूत्वा भविष्यत्प्रकाशे तान् भ्रंशान् परिहर्तुं प्रयतिष्ये।

श्रीपद्पुरी
16-6-2000

विदुषामनुचरः
**सम्पादकः।**

## LIST OF ABBREVIATIONS

(of the Edition of Srimad Bhagavata Mahapurana being referred to)

1.A. Edited by Sri Krishna Sankara Sastri - contains about 30 commentaries - Printed in Devanagari Script at Ahmedabad, Gujarat.

2.B. Printed in Devanagari Script at Brindavan - contains 9 commentaries.

3.G. Contains text only - Printed at Gita Press, Ghorakhpur - in Devanagari Script.

4.H. Contains Sridhara's Commentary. Edited by Sri Hayagriva Sastry. Printed in Telugu Script at Madras.

5.J. Contains Sridharacharya's Commentary - Edited by Prof. J.L.Sastri - in Devanagari Script.

7.M. Contains the commentary of Sri Vijaya Dhvaja Tirtha - printed in Devanagari Script Madhava Edition.

8.Ma. Contains the commentary of Sri Vijaya Dhvaja Tirtha - Printed in Devanagari Script - Another Madhva Edition.

9.T. Contains the commentary of Sri Veera Raghavacharya - Printed in Telugu Characters - Published by Sri Tridandi Srimannarayana Ramanuja Jeer Swami.

10.V. Contains the commentary of Sridharacharaya - Printed at Vavilla Press, Madras in Telugu Script.

11.W. Contains the commentary of Sri Veera Raghava Charya - Printed in Telugu characters - Published by the Maharaja of Wanaparti Samsthan, Andhra.

## LIST OF ABBREVIATIONS

Commentaries

1. श्रीध० श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

2. वीर० श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

3. विज० श्रीविजध्यजतीर्थकृता पदरत्नावली

## Texts cited in commentaries and their Abbreviations

| Abbreviation | Name of the Book | Abbreviation | Name of the Book |
|---|---|---|---|
| अथ . शिखा . उ . | अथर्वशिखोपनिषत् | ब्र.सू. | ब्रह्मसूत्राणि |
| अद्वै . उ . | अद्वैतोपनिषत् | - | ब्राह्मे |
| - | अध्यात्मे | - | भट्टिकायाम् |
| - | अभिधानम् | भ . गी . | भगवद्गीता |
| अम . को . | अमरकोशः | भर . सं . | भरद्वाजसंहिता |
| अष्टा . | अष्टाध्यायी | - | भागवततन्त्रे |
| - | अहिर्बुध्न्यसंहिता | भाग . | भागवतम् |
| आगम . प्रा . | आगमप्रामाण्यम् | - | भविष्यत्पुराणे |
| आप . श्रौ . सू | आपस्तम्ब क्षौत सूत्रम् | भारते . आनु . | भारते आनुशासनिकपर्व |
| - | आग्नेये | भारते . आरण्य | भारते आरण्यपर्व |
| ईशा . उ . | ईशावाश्योपनिषत् | भारते . उद्योग | भारते उद्योगपर्व |
| उणा . सू . | उणादिसूत्राणि | भारते . शान्ति | भारते शान्तिपर्व |
| - | उत्पलमाला | मनु . स्मृ . | मनुस्मृतिः |
| ऋक् . सं . | ऋक् संहिता | - | महाकौर्मे |
| ऐत . उ . | ऐतरेयोपनिषत् | - | माहात्म्ये |
| कठ . उ . | कठोपनिषत् | म . ना . उ . | महानारयणोपनिषत् |
| - | कापिलेये | महा . उ . | महोपनिषत् |
| कुमार . स . | कुमारसम्भवम् | माण्डू . उ . | माण्डूक्योपनिषत् |
| कौषी . उ . | कौषीतक्युपनिषत् | - | माध्यन्दिनश्रुतिः |
| - | क्रियायोगे | मुण्ड . उ . | मुण्डकोपनिषत् |
| - | गारुडे | मैत्रा . उ . | मैत्रायण्युपनिषत् |
| - | गोपालः | याज्ञ . स्मृ . | याज्ञवल्क्यस्मृतिः |
| - | चाक्रायण श्रुतिः | रामा . | रामायणम् |
| छान्दो . उ . | छान्दोग्योपनिषत् | - | रुद्रः |
| जित . स्तो | जितन्तास्तोत्रम् | - | लक्ष्मीतन्त्रे |
| - | तत्वनिर्णये | वर . स्तवः | वरदराजस्तवः |
| - | तन्त्रभागवते | - | वामने |
| तैत्ति . आ . | तैत्तिरीय आरण्यकम् | - | वाराहे |
| तैत्ति . उ . | तैत्तिरीयोपनिषत् | - | वररुचिः |
| तैत्ति . सं . | तैत्तिरीयसंहिता | विष्णु . ध . पु . | विष्णुधर्मोत्तरपुराणम् |
| - | दत्तः | विष्णु . पु . | विष्णुपुराणम् |
| - | नारदीये | - | विष्वक्सेनसंहिता |
| निरा . उ . | निरालम्बोपनिषत् | वे . नि . | वेदनिघण्टुः |
| - | निरुक्तम् | - | शब्दनिर्णये |
| नृ . उ . ता . उ . | नृसिंह उत्तरतापिन्युपनिषत् | शार्ङ्ग . पद्ध . | शार्ङ्गधरपद्धतिः |
| - | पञ्चतन्त्रे | - | शिशुपालवधम् |
| - | परमसंहिता | श्वेता . उ . | श्वेताश्वतरोपनिषत् |
| - | पाञ्चरात्रे | सुबा . उ . | सुबालोपनिषत् |
| - | पाद्मपुराणम् | सुभा . | सुभाषितरत्नभाण्डागारम् |
| पु . सू . | पुरुषसूक्तम् | सूर्य . उ . | सूर्योपनिषत् |
| - | प्रकाशिकायाम् | - | स्कान्दे |
| प्रश्न . उ . | प्रश्नोपनिषत् | - | षाड्गुण्ये |
| बृह . उ . | बृहदारण्यकोपनिषत् | - | हरिवंशे |
| - | ब्रह्मतर्के | हला , को . | हलायुधकोशः |
| - | ब्रह्मवैवते | - | हेमचन्द्रः |

# श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्धस्थानां
# एकोनत्रिंशारब्धानां षष्टिपर्यन्तानां अध्यायानां
## - विषयानुक्रमणी -
### (दशमस्कन्धे पूर्वार्धे)

अध्याय संख्या — विषयः


२९. वेणुनादं श्रुत्वा आगतानां गोपीनां श्रीकृष्णेन सह संवादः, रासारम्भः, तासां मानापनोदाय भगवतोऽन्तर्धानञ्च।

३०. गोपीद्वारा भगवतोऽनुसन्धानं तदाचरितानुकरणं यमुनापुलिने तदागमप्रतीक्षणञ्च।

३१. गोपीगीतम्। विरहार्तगोपीनां भगवदुपस्थानाय प्रार्थनम्।

३२. भगवतः प्रादुर्भावः, गोपीना माश्वासनञ्च।

३३. महारासवर्णनम्, परीक्षित्कृतशङ्कायाः शुकद्वारा समाधानञ्च।

३४. अजगरमुखान्नन्दस्य मोचनम्। अजगरस्य पूर्वविद्याधरस्वरूपप्राप्तिः। शङ्खचूडवधः।

३५. युग्मगीतम्। गोचारणाय वनङ्गतस्य भगवतो गोपीजनकृतं गुणगानम्।

३६. अरिष्टासुरवधः। कंसस्य अक्रूरं प्रति नन्दगोकुलागमनाय आदेशश्च।

३७. केशिवधः। नारदकृतं भगवत्स्तवनम्। निलायनक्रीडायां व्योमासुरवधश्च।

३८. कंसाज्ञया रामकृष्णौ मधुरा मानेतुं अक्रूरस्य नन्दगोकुलं प्रति गमनम्। तत्र रामकृष्णद्वारा तस्य सत्कारश्च।

३९. श्रीकृष्णबलरामयोः मधुरां प्रति प्रस्थानम्। विरहकातरगोपीनां करुणोद्गारः। कालिन्द्या मक्रूरकर्तृकं भगवद्धामदर्शनञ्च।

४०. अक्रूरकृता भगवत्स्तुतिः।

४१. रामकृष्णयो र्मधुरायां प्रवेशः। रजकवधः। वायक मालाकारयो रनुग्रहणञ्च

४२. कुब्जाया मनुग्रहः। धनुषो भङ्गः। मल्लशालासज्जीकरणञ्च।

४३. कुवलयापीडवधः। भगवतो मल्लशालायां प्रवेशः।चाणूरेण सह संवादश्च।

४४. चाणूरमुष्टिकादीनां मल्लानां निधनम्। कंसस्य वधश्च।

४५. वसुदेवदेवकीसान्त्वनम्। उग्रसेनस्य राज्याभिषेकः, रामकृष्णयो रुपनयनम् विद्याध्ययनम्, गुरो र्मृतपुत्रस्य आनयनञ्च।

४६. स्वविरहार्तगोपगोपीनां सान्त्वनाय भगवता उद्धवस्य प्रस्थापनम्। नन्दोद्धवसंवादश्च।

४७. उद्धवगोपीसंवादः। भ्रमरगीतम्। उद्धवस्य मधुरागमनञ्च।

४८. भगवता कुब्जामनोरथपूर्तिः। अक्रूरगृहं गत्वा पाण्डवसमाचारज्ञानाय अक्रूरस्य हस्तिनापुरं प्रति प्रस्थापनञ्च।

४९. अक्रूरस्य हस्तिनापुरे गमनं, कुन्त्याः करुणोद्गारः, अक्रूरधृतराष्ट्रसंवादः। अक्रूरस्य पुनः यदुपुर्यामागमनञ्च।

## (उत्तरार्धे)

५०. रामकृष्णयोः जरासन्धेन सह युद्धं, द्वारकादुर्गनिर्माणञ्च।

५१. कालयवनविनाशः, मुचुकुन्दकृता भगवतः स्तुतिश्च।

५२. रामकृष्णयो र्द्वारकागमनं बलरामविवाहः, श्रीकृष्णाय रुक्मिण्याः सन्देशश्च।

५३. कृष्णस्य कुण्डिनपुरे गमनम्, रुक्मिणीहरणञ्च।

५४. यदुभि स्सह सङ्ग्रामे चैद्यपक्षीयाणां राज्ञां पराजयः, रुक्मिणः पराभवः। बलभद्रकृतसान्त्वनम्। रुक्मिणीश्रीकृष्णविवाहश्च।

५५. प्रद्युम्नस्य जन्म, शम्बरासुरवधश्च।

५६. स्यमन्तकोपाख्यानं भगवतः कलङ्कमार्जनम्। जाम्बवतीसत्यभामयोः पाणिग्रहणञ्च।

५७. सत्राजितं हत्वा शतधन्वना स्यमन्तकहरणं तस्य च वधः। अक्रूरस्य च पलायनम्। पुन र्द्वारकाया मागमनञ्च।

५८. कालिन्दी मित्रविन्दा सत्या भद्रा लक्ष्मणादीनां पाणिग्रहणम्।

५९. मुरवधः। भौमासुरवधः। भूमिकृता भगवत्स्तुतिः। भौमाहृतषोडशसहस्रराजकन्यकानां परिणयनम्। पारिजातहरणञ्च।

६०. रुक्मिणीश्रीकृष्णयोः प्रणयकलहः।

श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्धस्थानां
एकोनत्रिंशारब्धानां षष्टिपर्यन्तानां अध्यायानां

## अध्यायार्थ सङ्ग्रहश्लोकाः

ऊनत्रिंशे तु रासार्थ मुक्तिप्रत्युक्तयो हरेः।
गोपीभी रासरंरम्भे तस्यचाऽन्तर्धिकौतुकम्॥ २९ ॥

त्रिंशे विरहसन्तप्तगोपीभिः कृष्णमार्गणम्।
उन्मत्तव न्न नियतं भ्रमतीभि र्वने वने॥ ३० ॥

एकत्रिंशे निशायां ताः पुनः पुलिन मागताः।
कृष्ण मेवाऽनुगायन्त्यः प्रार्थयन्ते तदागमम्॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशे विरहालापविह्वलद्वदयो हरिः।
तद्राऽऽविर्भूय गोपा स्ता स्सान्त्वयामास मानयन्॥ ३२॥

त्रयस्त्रिंशे ततो गोपी मण्डलीमध्यगो हरिः।
प्रिया स्ता रमयामास ह्लादिनीवनकेलिभिः॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशेऽहिना ग्रस्तं नन्दं हरि रमुमुचत्।
विद्याधरशाऽङ्गिरश्शापा च्छङ्खचूडं तथाऽवधीत्॥ ३४॥

पञ्चत्रिंशे वनं याते कृष्णे गोकुलयोषितः।
गुम्फश्लोकानुगीतेन निन्यु र्दुःखेन वासरान्॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशे निहतेऽरिष्टे नारदोक्त्या बलाच्युतौ।
वसुदेवसुतौ ज्ञात्वा कंसोऽक्रूरं समादिशत्॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशे हते केशि न्यच्युतो भाविकर्मभिः।
नारदेन स्तुतः क्रीडन् व्योमासुर मथाऽवधीत्॥ ३७॥

अष्टत्रिंशे यथा ध्याय न्नक्रूरो गोकुलं गतः।
तथैव रामकृष्णाभ्यां गृहं नीत्वा सुसत्कृतः॥

प्रातः केशिवधे वृत्ते द्वादश्यां निर्गते मुनौ।
ततो व्योमे हतेऽक्रूरः सायं गोकुल मागमत्॥ ३८ ॥

नवत्रिंशे पुरीं गच्छत्यच्युते गोपिकोक्तयः।
अक्रूरेणाऽथ कालिन्द्यां विष्णुलोकस्य दर्शनम्॥ ३९ ॥

चत्वारिंशे ततोऽक्रूरः कृष्णं मत्वेश्वरेश्वरम्।
प्रणम्य भक्त्या तुष्टाव सगुणाऽगुणभेदतः॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशकेऽहन् रजकं प्रविश न्पुरीम्।
ततो वरा नदा तुष्ट स्सुदाम्नो वायकस्य च॥४१॥

द्विचत्वारिंशके कुब्जोन्नमनं धनुषो भिदा।
वध स्तद्रक्षिणां कंसारिष्टरङ्गोत्सवानि च॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशके हत्वा गजेन्द्रं रामकृष्णयोः।
रङ्गप्रवेशसौभाग्यं चाणूरेणाऽनुभाषणम्॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशके तु मल्लकंसादिमर्दनम्।
कंसयोषित आश्वासः ताभ्यां पित्रोश्च दर्शनम्॥४४॥

पञ्चचत्वारिंशकेऽथ पितृनन्दादिसान्त्वनम्।
उग्रसेनाभिषेकश्च गुरौवासा त्पुरागमः॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशके घोष मुद्धवं प्रेष्य तद्गिरा।
यशोदानन्दयोश्चक्रे कृष्ण श्शोकापनोदनम्॥

कामचारं द्विजाति स्सन् परित्यज्याऽतिसंयतः।
गुरोर्ज्ञान मनुप्राप्य सख्या गोपी रुपादिशत्॥ ४६ ॥

सप्त चत्वारिंशकेऽथ कृष्णादेशेन गोपिकाः।
बोधयित्वोद्धव स्तत्त्व मनुज्ञाप्याऽगमत्पुरीम्॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशकेऽथ कृष्णः कुब्जामरीरमत्।
अक्रूरस्य गृहं गत्वा तं गजाह्वय मादिशत्॥

सैरन्ध्रिकाम मापूर्य पूरयित्वा मनोरथान्।
अक्रूरस्य ततः कृष्ण स्तेन पार्था नसान्त्वयत्॥४८॥

उनपञ्चाशत्तमेतु गत्वाऽक्रूरो गजाह्वयम्।
राज्ञ स्स्वभ्रातृपुत्रेषु बुद्धा वैषम्य मागमत्॥ ४९ ॥

ततः पञ्चाशत्तमेतु जरासन्धभया दिव।
कारयित्वाऽम्बुधौ दुर्गं तं निनाय निजं जनम्।

कपटान् कपटेनैव हत्वा दैत्या नयत्नतः।
अजय त्तं जरासन्धं धर्मेणैव तु धार्मिकम्॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमेऽहन् मुचुकुन्ददृशा हरिः।
यवनं मुचुकुन्देन स्तुतस्सन्नन्वकम्पत।
यवनेन्द्रसुता त्कालयवना द्यदुभीषणात्।
हरि र्हरगिर स्स्वैरं पालनायाऽपलायत॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशत्तमे धावन् भयादिव गतः पुरीम्।
अन्वमोदत सन्देशं रुक्मिण्या द्विजवर्णितम्॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशत्तमे गत्वा विदर्भा नन्हृतेहितः।
रुक्मिणी माहर त्कृष्णो मिषतां द्विषतां बलात्॥५३॥

चतुःपञ्चाशत्तमेतु जित्वा राज्ञो विपक्षगान्।
रुक्मिणश्च विरूप्याऽथ भैष्म्याः पाणिं पुरोऽग्रहीत्॥५४॥

पञ्चपञ्चाशत्तमेतु प्रद्युम्नोऽजनि कृष्णतः।
शम्बरेण हृत स्सोऽथ हत्वा तं कान्तयाऽऽगमत्॥
प्रद्युम्नहानिलाभाद्यै श्शम्बराहरणादिना।
कुटुम्बिना मपत्यादिसुखदुःख मसूचयत्॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमे मिथ्याभियोगे मणि माहरत्।
कन्यां जाम्बवतः प्राप कृष्ण स्सत्राजित स्ततः।
पुत्त्रादिकामसौख्यस्य निष्ठां मुक्त्वाऽतिचञ्चलाम्।
अर्थस्याऽनर्थता माह स्यमन्ताहरणादिना॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमेतु पुनः शतधनो वधे।
प्राप्तं स्वदुर्यशो मार्ष्टि कृष्णोऽ क्रूरागता न्मणेः।
उपामन्त्र्य तमेकान्ते स रामोऽगा द्रजाह्वयम्॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमेतु कृष्णः पञ्च करेऽग्रहीत्।
कालिन्दीं मित्त्रविन्दाञ्च सत्यां भद्राञ्च लक्ष्मणाम्।
कालिन्दीं निजलाभाय तपः पर मुपेयुषीम्।
उपनेष्यन् प्रियावास मिन्द्रप्रस्थ मथाऽगमत्॥ ५८ ॥

ऊनषष्टितमे भौमं हत्वा तेनाऽऽहृता हरिः।
कन्या स्सहस्रशः प्राप्य पारिजातं ततोऽहरत्॥
परिणीय तत स्ताभिः तन्मनोरथपूरणैः।
आत्मारामोऽप्यसौ रेमे तद्गृहेषु गृहस्थवत्॥ ५९ ॥

अथ षष्टितमे कृष्णः परिहासेन रुक्मिणीम्।
कोपयित्वा ततः प्रेमकलहे ता मसान्त्वयत्॥
रामारामजनानन्दमहोदयविडम्बनैः।
रुक्मिण्या प्रेमकलहच्छद्मनैश्वर्य मीर्यते॥ ६० ॥

## श्रीमद्भागवतपाठविधिः

स्नातः शुचि र्भूत्वा प्राणा नायम्य त्रिराचम्य च मङ्गलपाठपूर्वकं भगवन्तं प्रणमेत्। तदनु सञ्चितैः षोडशोपचारैर्मानसोपचारैर्वा व्यासं शुकं वासुदेवं श्रीमद्भागवतग्रन्थं च सादरं सविनयं सभक्तिभावं सम्पूजयेत्। ततः पाठारम्भात् प्राक् 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' इति द्वादशाक्षरमन्त्रम् 'ओं ह्रीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' इति गोपालमन्त्रं वाऽष्टोत्तरशतवारं जपेत्। पश्चादेवं विनियुञ्जीत—

## विनियोगः

ओं अस्य श्रीमद्भागवताख्यस्तोत्रमन्त्रस्य नारद ऋषिः, बृहती छन्दः, श्रीकृष्णः परमात्मा देवता, ब्रह्म बीजम्, भक्तिः शक्तिः, ज्ञानवैराग्ये कीलकम्, मम श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थं पाठे विनियोगः।

## ऋष्यादिन्यासः

'नारदर्षये नमः' शिरसि। 'बृहतीच्छन्दसे नमः' मुखे। 'श्रीकृष्णपरमात्मदेवतायै नमः' हृदि। 'ब्रह्मबीजाय नमः' गुह्ये। 'भक्तिशक्तये नमः' पादयोः। 'ज्ञानवैराग्यकीलकाय नमः' नाभौ। श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थकपाठविनियोगाय नमः सर्वाङ्गे। द्वादशाक्षरमन्तेण हृदयाद्यङ्गन्यासं करन्यासं च कुर्यात्। अथवाऽधोऽङ्कितरीत्याऽङ्गन्यासकरन्यासौ विदध्यात्—

## अङ्गन्यासः

ओं क्लां हृदयाय नमः। ओं क्लीं शिरसे स्वाहा। ओं क्लूं शिखायै वषट्। ओं क्लैं कवचाय हुम्। ओं क्लौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ओं क्लः अस्त्राय फट्।

## करन्यासः

ओं क्लां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ओं क्लीं तर्जनीभ्यां नमः। ओं क्लूं मध्यमाभ्यां नमः। ओं क्लैं अनामिकाभ्यां नमः। ओं क्लौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ओं क्लः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

## अथ ध्यानम्

कस्तूरीतिलकं ललाटफलके वक्षःस्थले कौस्तुभं नासाग्रे नवमौक्तिकं करतले वेणुं करे कङ्कणम्।
सर्वाङ्गे हरिचन्दनं च कलयन् कण्ठे च मुक्तावलिं गोपस्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपालचूडामणिः॥
अस्ति स्वस्तरुणीकराग्रविगलत्कल्पप्रसूनाप्लुतं वस्तु प्रस्तुतवेणुनादलहरीनिर्वाणनिर्व्याकुलम्।
स्रस्तस्रस्तनिबद्धनीविविलसद्गोपीसहस्रावृतं हस्तन्यस्तनतापवर्गं मखिलोदारं किशोराकृति॥

इत्येवं ध्यात्वा पाठमारभेत।

## श्रीमद्भागवतसप्ताहपारायणस्य दैनन्दिनविश्रामस्थलानि निम्नाङ्कितपद्येषु निरूपितानि

मनुकर्दमसंवादपर्यन्तं प्रथमेऽहनि। भरतारुयानपर्यन्तं द्वितीयेऽहनि वाचयेत्॥
तृतीये दिवसे कुर्यात् सप्तमस्कन्धपूरणम्। कृष्णाविर्भावपर्यन्तं चतुर्थे दिवसे वदेत्॥
रुक्मिण्युद्वाहपर्यन्तं पञ्चमेऽहनि शस्यते। श्रीहंसाख्यानपर्यन्तं षष्ठेऽहनि वदेत्सुधीः॥
सप्तमे तु दिने कुर्यात् पूर्तिं भागवतस्य वै। एवं निर्विघ्नतासिद्धि र्विपर्यय इतोऽन्यथा॥

# श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

ओं नमो भगवते वासुदेवाय

## दशमः स्कन्धः

## पूर्वार्धम्

## एकोनत्रिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या सप्तविंशोऽध्यायः)

-: रासक्रीडारम्भघट्टः :-

श्रीशुक उवाच

भगवानपि ता[1] रात्रीः[1] शरदोत्फुल्लमल्लिकाः[2] ॥
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः[3] ॥ १ ॥

तदोडुराजः ककुभः करै र्मुखं प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन[4] शन्तमैः।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन् प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः॥ २ ॥

दृष्ट्वा कुमुद्वन्त[5] मखण्डमण्डलं रमाननाभं[6] नवकुङ्कुमारुणम्।
वनञ्च तत्कोमलगोभि रञ्जितं[7] जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्॥ ३ ॥

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः[8]।
आजग्मुरन्योन्य मलक्षितोद्यमाः[9] स यत्र कान्तो[10] जवलोलकुण्डलाः[10]॥ ४ ॥

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद्दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्याऽपरा ययुः॥ ५ ॥

---

1- -1 M Ma ता रात्रिं 2 M Ma शा०, 3 M Ma °कम् 4 M Ma °णैश्च 5- -5 M Ma मुकुन्दस्त० 6 B G J V र० 7 B G J V रञ्जित, K °रञ्जित 8 M °निषक्त० 9 M Ma °ताशायाः 10- -10 M Ma कार्तस्वर

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ऊनत्रिंशे तु रासार्थमुक्तिप्रत्युक्तयो हरेः। गोपीभी रासरम्भे तस्य चाऽन्तर्धिकौतुकम्॥
ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकन्दर्पदर्पहा। जयति श्रीपति र्गोपीरासमण्डलमण्डनः॥

**भगवानिति।** ननु विपरीतमिदम्, परदारादिविनोदेन कन्दर्पजितत्वप्रतीतेः? मैवम्, 'योगमाया मुपाश्रितः', "आत्मा रामोऽप्यरीरमत्" (भाग 10-29-42) 'साक्षान्मन्मथमन्मथः" (भाग 10-32-2) "सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः" (भाग 10-33-26) इत्यादिषु स्वातन्त्र्याभिधानात्। तस्मात् रासक्रीडाविडम्बनं कामविजयख्यापनायेत्येव तत्वम्। किञ्च, शृङ्गारकथापदेशेन विषयतो निवृत्तिपरेयं पञ्चाध्याय्यां व्यक्तीकरिष्यामः। ता रात्रीरिति "याताऽबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः" (भाग 10-22-27) इति च प्रतिश्रुता इत्यर्थः॥ १ ॥

**तदेति।** तदा तस्मिन्नेव क्षणे तत्प्रीतये उडुराजश्चन्द्रः उदगात् उदितः। किं कुर्वन्? दीर्घकालेन दर्शनं यस्य सः प्रियः स्वप्रियाया मुखमरुणेन कुङ्कुमेन यथा विलिम्पति तथा। प्राच्याः ककुभो दिशो मुखं शन्तमैस्सुखतमैः करैरश्मिभिः अरुणेन उदयरागेण विलिम्पन् अरुणीकुर्वन् इत्यर्थः। स प्रसिद्ध उडुराजः तथा चर्षणीनां जनानां ओषधीनाञ्च शुचः तापघ्नानी र्मृजन् अपनयन् ॥ २ ॥

**दृष्ट्वेति।** कुमुत् कुमुदं विकसनीयं विद्यते यस्मिन् तं कुमुद्वन्तम्। न खण्डं मण्डलं यस्य तम् रमाया आननस्य आभेव आभा यस्य तम्, नवकुङ्कुममिव अरुणम्, एवंविधं चन्द्रं दृष्ट्वा तथा वनञ्च तस्य कोमलैर्गोभिः रश्मिभिः रञ्जितं दृष्ट्वा कलं मधुरं जगौ अगायत्। कथम्? वामदृशां वामा मनोहरादृशो यासां तासां मनोहरं यथा तथा॥ ३॥

**निशम्येति।** असापत्न्याय अन्योन्यमलक्षितो न ज्ञापितः उद्यमो याभिस्ताः। स कान्तो यत्र तत्र गीतध्वनिमार्गेण आजग्मुः। । जवेन वेगेन लोलानि चञ्चलानि कुण्डलानि यासां ताः॥ ४ ॥

श्रीकृष्णसूचकशब्दश्रवणेन तत्प्रवणचित्तानां तत्क्षणमेव त्रैवर्गिककर्मनिवृत्तिं द्योतयन्त्य इव अर्धावसितं कर्म विहाय ययुः। तदाह- दुहन्त्य इति। पयः स्थालीस्थं चुल्ल्यामधिश्रित्यैतत्काथमप्रतीक्षमाणाः काश्चि द्ययुः। संयावं गोधूमकणान्नं पक्वमनुद्वास्य अनवतार्य अपरा ययुः॥ ५ ॥

---

1. B, J ॰ र वि॰ 2. B विजेतृत्वप्रतीतिः 3. B, j. शेषतो 4. P, PA Omit स्व 5- -5 B, J. Omit 6. B, J. यस्य 7. Pa अ॰ 8- -8 P, pa, V Omit 9. P, Pa, V add मधुरं 10, P, Pa, V Omit वामदृशां 11- -11 P, Pa, V क्रा 12 P, pa, V अभ्यव॰ 13 P, Pa, V ॰त्य त॰ 14. B, J. अनुतार्य; 15- -15 B, J. omit.

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ विवक्षितानि यूनो भगवतः शारदानि चेष्टितान्यनुवर्णयति पञ्चभि रध्यायैः। यदुक्तं भगवता "मयेमा रंस्यथ क्षपाः" इति, तत्सत्यापयितुम् अनुजिघृक्षैकशीलत्वात् केनाऽपि व्याजेन गोपीः कृतार्थयितुञ्च ताभिस्सह चिक्रीडिषुस्तावत् वेणुगीतेनैव तास्समाहूय तन्मनःपरीक्षापूर्वकं ताभिस्सह विजहारेत्याह- एकोनत्रिंशेन भगवानपीति। "नन्दाद्यस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृताः" (भाग. 10-18-17) इत्युक्तभगवल्लोकदर्शनजानन्दपारवश्यप्रयुक्तात्मारामानन्दादिसमुच्चयार्थोऽपिशब्दः, ताः याः

"मयेमा रंस्यथ क्षपाः" (भाग- 10-22-27) इति प्रतिज्ञाताः, ता इत्यर्थः। शरदा हेतुभूतया उत्फुल्ला मल्लिका यासु ताः रात्रीः अवलोक्य रन्तुं मनश्चक्रे। चिक्रीडिषायाः प्रसक्तं कर्ममूलत्वं निराचिकीर्षुर्विशिनष्टि- योगमायामुपाश्रितः। युज्यत इति योगा तां मायामात्मीयं सङ्कल्पमाश्रितः स्वसङ्कल्पएव केवलं तन्मूलं, न तु कर्मेति भावः॥ १ ॥

तदा यदा रन्तुं मनश्चक्रे तदैव तत्प्रीतये स शारद उडुराजश्चन्द्रः उदगादुदितः। किं कुर्वन्? दीर्घेण कालेन दर्शनं यस्य सः चिरं प्रोष्याऽऽगतः प्रियः स्वप्रियायाः मुखमरुणेन कुङ्कुमेन यथा विलिम्पति तथा प्राच्याः ककुभो दिशो मुखं शन्तमैः सुखतमैः करै रश्मिभिः, अरुणेनोदयरागेण विलिम्पन्, अरुणीकुर्वन्नित्यर्थः। तथा चर्षणीनां ओषधीनां मनुष्याणाञ्च शुचः तापघ्नानीः मृजन्नपनयन् चेतनाचेतनतापं निराकुर्वन्नित्यर्थः॥ २ ॥

**दृष्ट्वेति।** कुमुत् कुमुदं विकसनीयं विद्यते यस्य तम्। यद्वा, कोः पृथिव्या मुदस्यास्तीति तं भूमे रानन्दकरं चन्द्रं तस्य कुमुद्वतः कोमलैः गोभिः किरणैरङ्कितं रमणीयं वनञ्च दृष्ट्वा वामदृशां कामिनीनां मनोहरं मधुरञ्च यथा भवति तथा भगवान् इति शेषः[4]। जगौ वेणुमवादयदित्यर्थः। कुमुद्वन्तं कथम्भूतम्? अखण्डं सम्पूर्णं मण्डलं यस्य तं, नवकुङ्कुममिव अरुणम्, अतः कुङ्कुमारुणकान्तामुखसदृशम्॥ ३ ॥

**निशम्येति।** तत् मन्मथोद्दीपकं गीतमाकर्ण्य व्रजस्त्रियः स कृष्णो यत्र तत्र आजग्मुः । कथम्भूताः? कृष्णेन गृहीतमाकृष्टं, कृष्णे निवेशितं वा मानसं यासां, परस्परमलक्षितो न ज्ञापित उद्यमः कृष्णं प्रति गमनोद्योगः यासां, जवेन वेगेन लोलानि चञ्चलानि कुण्डलानि यासां ताः[5]॥ ४॥

कृष्णगृहीतमानसत्वमेव तच्चेष्टाभिः प्रपञ्चयति दुहन्त्य इत्यादिभिस्त्रिभिः[6]। काश्चि द्व्रजस्त्रियो गाः पयो दुहन्त्यस्सत्यो दोहं हित्वा समुत्सुकाः, कृष्णे इति शेषः। तम् अभिययुः प्राप्तुः[8]। अपरास्तु स्थालीस्थं क्षीरं चुल्न्यामधिरोप्य तत्काथमप्रतीक्षमाणाः ययुः। काश्चित्तु संयावं गोधूमकणान्नं पक्वमनुद्वास्य अनवरोप्य ययुः॥५॥

---

1. B ° दादिकानि 2- -2 B तस्य सत्यत्वमापादयितुं 3 T, W Omit भवति 4- -4 T, W Omit 5 B तथभूताः 6- -6 B इति त्रिभिः T, W इत्यादिना 7- -7, T, W Omit 8. T, W Omit प्रापुः 9. T, W Omit ययुः :

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

निर्दोषभक्तिजनितब्रह्मज्ञानमेव मुक्तिसाधनमिति या शास्त्रतात्पर्यार्थनिर्धारणा तदर्थमर्थवादं वदत्यस्मिन्नध्याये। तत्र वैकुण्ठदर्शनानन्तरं कः कथाप्रसङ्ग इति तत्राऽऽह-**भगवानीति।** यद्रात्रिमुखे लोकदर्शनं तां रात्रिं शारदेन शरदृतुसम्बन्धिना कालेन उत्फुल्ला विकसिता मल्लिका नवमल्लिका यस्यां सा ताम्। योगमायां स्वरूपसामर्थ्यम्॥१॥

उडुराजश्चन्द्रः प्राच्याः ककुभो दिशः मुखं शन्तमैः सुखकरैः, कुङ्कुमपुष्पवदरुणैः, 'कुम्भ मन्दायां गतौ' इति धातोः ककुबिति योगात्मकः शब्दः । भृशं मन्दगामिन्याः प्राच्याः सौन्दर्यातिशयेन पूज्यायाः स्त्रियो मुखं यौवनातिशयेन

उडुकल्पस्य जनस्य अनुरागजनकत्वेन राजशब्दवाच्यः पुरुषः शन्तमेनाऽरुणेन करेण हस्तेन कलहोद्भूतदुःखाश्रुकलिलं यथा विलिम्पति निर्मार्ष्टि तथेति शब्दाक्षिप्त इति शेषः। कीदृशः उडुराजः? चर्षणीनां सस्यानां खरकिरणसन्तापम्लानलक्षणाः शुचः मृजन् परिहरन् हिमकिरणकरेण पाणिना वा दीर्घदर्शनः दीर्घकालात् दर्शनं यस्य स तथा। अन्यत्र बहुकालप्रवासेन दृष्टिमार्गं प्राप्तः प्रियो भर्ता दर्शनीयो वा॥ २ ॥

मुकुन्दः अखण्डमण्डलं पूर्णमण्डलं रामस्य बलभद्रस्य आननमिव शोभमानं रामाणा मानन मिव रमणीयं कुङ्कुमपुष्पवदरुणं तमुडुराजं दृष्ट्वा तस्य चन्द्रस्य कोमलगोभिः मृदुतररश्मिभिः रञ्जितं मण्डितं वामदृशां स्त्रीणां मनोरमं मनोहरं वनं सेवायोग्यस्थलञ्च दृष्ट्वा कलमव्यक्तमधुरस्वरं जगावित्यन्वयः ॥ ३ ॥

अनङ्गवर्धनं कामोद्रेककारणं अन्योन्यं परस्परमलक्षिताशयाः अज्ञातमनोभावाः पूर्वमदृष्टवनस्थाना वा, स कृष्णो यत्राऽऽस्ते, तत्रेति शेषः । कार्तस्वरं सुवर्णं तेन रचितानि लोलानि कुण्डलानि यासां ता स्तथा ॥ ४ ॥

तदा तासां भावविशेषं कथयति - दुहन्त्य इति। दोहनक्रियां दोहनपात्रं वा अधिश्रित्य पयश्श्रपयितुं चुल्त्या मारोप्य, संयावं क्वथदन्नमनुद्वास्य अनवरोप्य ॥ ५ ॥

परिवेषयन्त्य स्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून्पयः।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चित् अश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्॥ ६ ॥

लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः॥ ७ ॥

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त काश्चन॥ ८ ॥

अन्तर्गृहगताः काश्चिद्गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥ ९ ॥

दुस्सहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताऽशुभाः।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः॥ १० ॥

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्याऽपि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥ ११ ॥

---

1 K,T,W भा० 2 B, G, J मोहिताः , M, Ma योषितः

**श्रीध० लिम्पन्त्य** इति। अन्याः प्रमृजन्त्यः अङ्गोद्वर्तनादि कुर्वत्यः। काश्च काश्चित् कृष्णतुष्ट्यर्थं कर्म तदासक्तमनसामन्यथा कृतमपि फलत्येवेति द्योतयन्नाह- व्यत्यस्तेति। स्थानतः स्वरूपतश्चोर्ध्वाधोधारणेन विपर्ययं प्राप्तानि वस्त्राभरणानि यासां ताः ॥ ६, ७ ॥

न च कृष्णाकृष्टमनसां विघ्नाः प्रभवन्तीत्याह- **ता वार्यमाणा** इति॥ ८ ॥

**अन्तरिति**। न लब्धो विनिर्गमो याभिस्ताः प्रागपि तद्भावनायुक्ताः तदा नितरां दध्युरित्यर्थः॥ ९॥

किञ्च, तदानीम् एवं[1] तं परमात्मानं कृष्णं ध्यानतः प्राप्ताः सत्यो गुणमयं देहं जहुरित्याह-**दुस्सहेति श्लोकद्वयेन। तमिति**। ननु कथं जहुः परमात्मेति ज्ञानाभावादित्याह-जारबुद्ध्यापीति। न हि वस्तुशक्तिं बुद्धिमपेक्षते अन्यथा मत्वाऽपि पीतामृतवदिति भावः। ननु तथाऽपि[2] प्रारब्धकर्मबन्धने सति कथं जहुः? तत्राऽऽह-सद्यः प्रक्षीणबन्धना इति। ननु कथं भोगमन्तरेण प्रारब्धं[3] कर्म क्षीणम्? भोगेनैव सद्यः क्षीणमित्याह-दुस्सहेति। दुस्सहो यः प्रेष्ठस्य[4] विरहः तेन यः[5] तीव्रः तापः तेन धुताने गतान्यशुभानि पापानि[6] यासां ताः। तदप्राप्तिपरमदुःखभोगेन पापं क्षीणमित्यर्थः। तथा ध्यानेन प्राप्ता अच्युतस्य आश्लेषेण या निर्वृतिः परमसुखभोगः तया क्षीणं मङ्गलं पुण्यबन्धनं यासां ताः। अतो ध्यानेन परमात्मप्राप्तेः तत्कालसुखदुःखाभ्याञ्च निश्शेषकर्मक्षयात् गुणमयं देहं जहुः॥ १०,११ ॥

---

1. B.P एव 2 B.J तदपि 3 P. V. ° ब्धकर्म 4. B.J प्रेष्ठवि० 5 B.J omit यः 6 B.J omit पापानि

**वीर०** काश्चि त्परिवेषयन्त्यः पत्यपत्यादीन् भोजनार्थं निवेश्य अन्नादिकं पात्रेषु ददत्यः तत्परिवेषणं हित्वा, अपरास्तु शिशून् पयः पाययन्त्यः तद्धित्वा, अन्यास्तु पतीन् शुश्रूषन्त्यः उपचरन्त्यः शुश्रूषां हित्वा, परास्तु अश्नन्त्यो भाजनं पात्रमपास्य हित्वा॥ ६ ॥

एवमन्या लेपनमार्जनाञ्जनादीन् कुर्वाणा लेपनादीन् विहाय, लोचने अञ्जन्त्य इत्यन्वयः। काश्चित्तु व्यत्यस्तानि विपरीतस्थानानि वस्त्राभरणानि[1] यासां तथाभूताः सत्यः[2] कृष्णसमीप माययुः॥ ७ ॥

एवं गच्छन्त्यः पित्रादिभिः वार्यमाणा अपि कृष्णगृहीतमानसत्वात् काश्चि न्न न्यवर्तन्त गृहानाजग्मुः॥ ८ ॥

काश्चिद्गोप्यस्तु अन्तर्गृहगताः पतिभिरन्तर्गृहनिरुद्धा इत्यर्थः। अत एव न लब्धो निर्गमो यासां ताः, प्रागपि कृष्णभावनायुक्ताः तदा नितरां कृष्णं दध्युः ध्यातवत्यः। कथम्भूताः? मीलिते लोचने याभि स्तथाभूताः॥ ९ ॥

एवं ध्यातवतीनां प्रारब्धकर्मक्षयपूर्वकभगवत्प्राप्तिमाह-**दुस्सहेति** द्वाभ्याम्। दुःखेनाऽपि सोढु मशक्यो यः प्रियतमस्य कृष्णस्य विरहस्तेन य स्तीव्रतापः तेन धुताः निरस्ता अशुभाः प्रारब्धपापकर्माणि यासां, ध्यानेन प्राप्तो यः अच्युतस्याऽऽश्लेषः तेन या निर्वृतिरानन्दः तया क्षीणानि मङ्गलानि प्रारब्धपुण्या यासां ताः[3]॥ १० ॥

एवं सद्य एव प्रक्षीणानि बन्धनानि संसृतिबन्धनिमित्तानि पुण्यपापात्मकानि यासां ताः, परमात्मानं कृष्णमेव जारबुद्ध्याऽपि सङ्गताः सत्त्वादिगुणप्रचुरं देहं तत्यजुः। एवकाराऽपिशब्दाभ्यां कोऽपि भावो भगवदनन्यविषयो मुक्त्येऽवकल्पत इत्यभिप्रेतम्॥ ११॥

---

1. B, वस्त्राण्याभ०2. T.W omit सत्यः 3. B तथाभूताः।

**विज०** परिवेषयन्त्यः भुञ्जानानां पात्रेषु भोक्तव्यं विनिक्षिपन्त्यः तत्परिवेषणं, पाययन्त्यः, स्तनादिकमिति शेषः। पादमर्दनादिना शुश्रूषन्त्यः॥ ६ ॥

प्रमृजन्त्यः शरीरोन्मार्जनं कुर्वत्यः, स्थानसम्मार्जनं वा। अञ्जन्त्यो मष्यादिना, मुखकण्ठादिषु आभरणादि दधानाः कण्ठादिषु वस्त्राणि वसाना इति व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः॥ ७ ॥

वार्यमाणा निरोध्यमाना गोविन्देनाऽपहृता आकृष्टा आत्मानो मनांसि यासां तास्तथा॥ ८ ॥

अलब्धविनिर्गमाः न लब्धं विनिर्गमनं याभि स्तास्तथा। तस्य कृष्णस्य भावनया भक्तिसंस्कारेण युक्ताः॥ ९ ॥

काश्चन ताः स्त्रियः गुणमयं सत्त्वादिगुणविकृतदेहं जहुरित्यन्वयः। अयं देहत्यागः संसारिण इव न, किन्तु मुच्यमानस्येव इत्याह- सद्य इति। बन्धनध्वंसोऽपि प्रारब्धपुण्यपापप्रणाशेन दृष्टत्वात्. तत्राऽपि तथैवेत्याह **दुस्सहेति**। दुस्सहः सोढु मशक्यः प्रेष्ठस्य कृष्णस्य विरहः सांसारिको वियोगः तेनोत्पन्नस्तीव्रतापः समुत्कटज्वरानुभवः, तेन धुताशुभाः निरस्तपापाः ध्यानेन प्राप्तः अच्युतस्याऽऽश्लेषः ध्यानप्राप्ताऽच्युताश्लेषः, तेन उद्भूतया निर्वृत्या स्वरूपानन्दाविर्भावविलक्षणया क्षीणानि प्रारब्धानि मङ्गलानि पुण्यानि याभिस्तास्तथा॥ १० ॥

अनारब्धफलानां कुतो निवृत्तिरिति तत्राऽऽह-**तमिति**। जार उपपतिः पत्युरप्यधिक इति सम्भावितः। तं कृष्णं परमात्मानं नारायणमेव सङ्गताः सम्यग्ज्ञातवत्यः । अनेन बिम्बभूतहरिज्ञानेन प्रारब्धप्राणाश इति सूचितम्॥ ११ ॥

**राजोवाच**

**कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने।**
**गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्?॥ १२ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्य स्सिद्धिं यथा गतः।**
**द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताऽधोक्षजप्रियाः॥ १३ ॥**

**नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्ति र्भगवतो नृप[2]!।**
**अव्यक्तस्याऽप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥ १४ ॥**

**कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं[-4] सौहृद मेव च[5]।**
**नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥ १५ ॥**

---

1- -1 B परीक्षिदुवाच 2. V भुवि 3. B, G, J, V °य° 4- -4 M, Ma मोहं मैत्रीं 5. M, Ma वा।

**श्रीध०** ननु, यथा पतिपुत्त्रादीनां वस्तुतो ब्रह्मत्वेऽपि न तद्भजनान्मोक्षः , तथा बुद्धचभावात्। एवं कृष्णेऽपि ब्रह्मबुद्धचभावेन तत्सङ्गतिः कथं मोक्षहेतुरिति शङ्कते - **कृष्णं विदुरिति**। परं केवलं कान्तं कमनीयम्॥ १२ ॥

परिहरति - **उक्तमिति**। अयं भावः - जीवेष्वावृतं ब्रह्मत्वं कृष्णस्य तु हृषीकेशत्वादनावृतम्। अतो न तत्र बुद्धचपेक्षेति। ॥१३॥

ननु देही कथमनावृतः स्यात्, अत आह - **नृणामिति**। गुणात्मनो गुणनियन्तुः भगवत एवंरूपा अभिव्यक्तिः; अतो न देहिसादृश्यं अत्र वक्तुं युज्यत इति भावः ॥ १४ ॥

अतो यथाकथञ्चित् तदासक्तिः मुक्तिकारणमित्याह- **काममिति**। ऐक्यं सम्बन्धम्। सौहृदं भक्तिम्, विदधतः[1-] कुर्वन्तः[-1] ॥ १५ ॥

---

1- -1 B, J Omit.

**वीर०** तदेव तन्मुखेन विशदयितुं पृच्छति राजा **कृष्णमिति**। हे मुने! कृष्णं परं केवलं कान्तमेव विदुः, न तु परब्रह्मत्वेन, तासाम् एवम्भूतानां गुणधियां विषयासक्तधियां गोपीनां कथं गुणप्रवाहस्य सत्त्वादिगुणमयदेहपरम्पराया: उपरमो निश्शेषक्षयः ॥ १२ ॥

अस्य प्रश्नस्योत्तरं सप्तम एव अभिहितमित्याह- **उक्तं पुरस्तादेतत्ते** इति। एतदत्र वक्तव्यमुत्तरं तुभ्यं पुरस्तात् सप्तमस्कन्ध एवोक्तं "गोप्यः कामाद्भयात्कंसः (भाग० 7-1-30) इत्यादिना। कोऽपि भगवत्यनन्यभावो मुक्तिहेतुरेव इत्युक्तमेवेत्यर्थः। उक्तेऽप्युत्तरे कैमुत्यनयेनोपपत्तिमाह - **चैद्य** इत्यादिना। **चैद्यश्शिशुपालो हृषीकेशं द्विषन्नपि यथा सिद्धिं पुनर्द्वारिस्थतां गतः**[1] यथेति निदर्शनं वा। द्विषन्नपि सिद्धिं गतः, किमु तस्य प्रिया गोप्यस्सिद्धिं ययुरिति॥ १३ ॥

किञ्च, केनापि स्वानन्यविषयकनिरन्तरभावेन भावितमानसानुग्रहीतुमवतीर्णे कामाद्यन्यतमं भावं ये कुर्वन्ति न तेषां मुक्तौ विस्मयः कार्य इत्याह - **नृणामिति**। अव्ययस्य जीववत्कर्मायत्तोत्पत्त्यादिविकाररहितस्य अप्रमेयस्य अपरिच्छिन्नस्य वाङ्मनसागोचरस्य वा, सत्त्वादिप्राकृतगुणरहितस्यानन्तकल्याणगुणाश्रयस्य भगवतो भुवि लोके व्यक्तिः नृणां निःश्रेयसार्थायैव। अव्ययस्येत्यादिविशेषणैः एवम्भूतस्याप्युत्पत्त्यादिविकाराश्रयत्वादिवद्भावं केवलं लोकानुग्रहार्थमेवेत्युक्तम्, तद्वचक्तेः जीवव्यक्ति-वैलक्षण्यं च ॥ १४ ॥

नित्यं कामाद्यन्यतमं भावं ये हरौ विदधतः कुर्वाणाः, वर्तन्त इति शेषः । कामादि विदधज्जनसंसृतिबन्धहारिणि प्रीतिं[2] कुर्वन्तीत्यर्थः । ते तन्मयतां यान्ति। स्वार्थेऽत्र मयट्। तत्प्रकारतां तत्साधर्म्यं यान्तीत्यर्थः । हीति प्रसिद्धिः चैद्यादिषु द्योत्यते। प्राचुर्ये वाऽत्र मयट्। ये कामाद्यन्यतमं कुर्वन्ति ते ततः तज्ज्ञान प्रचुरतां यान्ति तद्द्वारा मुक्ता भवन्तीत्यर्थः। कामादीन्कुर्वाणा नित्यं तत्सौन्दर्यचिन्ताप्राचुर्येण कामादीनपि विस्मृत्य मुक्ता भवन्तीति भावः । शिशुपालो हि कृष्णसौन्दर्यचिन्ताप्राचुर्येण द्वेषं विस्मृतवान्। तत्र कामो मन्मथप्रयुक्ताभिलाषविशेषः । ऐक्यमेककुलप्रसूतत्वानुसन्धानम्। स्नेहस्सख्यम्। सौहृदं भक्तिः । "गोप्यः कामात्" (भाग 7-1-30) इत्यादिस्थानप्रामाण्यात्। हरौ इत्यनेन कामाद्यन्यतमभावविधायियजनबन्धहरत्वरूप वस्तुस्वभावोऽभिप्रेतः । अज्ञानेनापि स्पृष्टस्याऽग्नेर्दहिकत्ववत्। तत्र वस्तुस्वभावात् मुक्तिप्रतिबन्धकप्रारब्धकर्मक्षयाभावः उद्देशान्तरप्रतिपत्तिश्च[3]। अत एव उद्देशान्तरप्रतिपत्तेः[4] दशानन्तस्य मोक्षाभावः । गोपीनां तु दुस्सहेत्यादिना प्रारब्धकर्मक्षयोक्तेः[5] भगवद्व्यतिरेकेणोद्देश्यान्तराभावेन तत्प्रतिपत्त्यभावाच्च वस्तुस्वभावायत्तो मोक्ष उपपन्नः। वस्तुतस्तु गोपीनामपि गोवर्धनोद्धरणादिभिरीश्वरत्वज्ञानमस्त्येव॥ १५ ॥

---

1. B. प्राप्तः 2. T. W. Omit प्रीतिं 3. B, K. °श्या° 4 B.K °श्या° 5. B. °क्तिः

**विज०** जारबुद्ध्याऽपि सङ्गता इत्युक्तं तस्य तात्पर्यमजानन्निव राजा पृच्छति - **कृष्णमिति**। गोप्यः कृष्णं परं कान्तं जारं पतिं विदुः । ब्रह्मतया श्रुतिशतगीतपरब्रह्मत्वेन न विदुः अनधिकारित्वात्। या एवंविधास्तासां गुणेषु विषयेषु धीर्बुद्धिः यासां तास्तथा। गुणप्रवाहोपरमः संसारप्रवाहनिवृत्तिः कथं सम्भाव्यते? निवृत्तिमार्गलभ्या प्रवृत्तिमार्गेण कथं संसारनिवृत्तिः स्यादिति "उत्तिष्ठत जाग्रत" (कठ. उ. 3-14) इति श्रुतेः॥ १२ ॥

भक्त्या सन्ततमधुमधनमहिमसंस्मरणसमुदितसंविदा निवृत्तियोग्या मुक्तिः , न तु कामादिना। तेन स्वर्गादि प्राप्तिरेव-"कृष्णकामाः तदा गोप्यः त्यक्त्वा देहं दिवं गताः " (स्कान्दे) इत्यादिस्मृतेः, इत्यभिप्रायं हृदि कृत्वा अर्थवादस्याऽपि स्वार्थसाधनसमर्थकत्वात्तेन चोद्यं परिहरति शुकः - **उक्तमिति**। द्वे मुक्ती ह्यानन्दानुभवलक्षणा, नित्यदुःखानुभवलक्षणेति। ते उभे अपि सिद्धिशब्दोक्ते तत्र यथाशास्त्रविहितमङ्गीकर्तव्यमिति। तदुक्तम् - (अथोदकत्वेन) "सदा द्वेषिणामधरं तमः इति मुक्तिशब्दादिदं चैद्यप्रभृतौ" (स्कान्दे) इत्यादि लोकसङ्ग्रहार्थं किमुत अधोक्षजप्रिया इति। अन्यथा "कामस्त्वशुभकृच्चापि भक्त्या विष्णोः प्रसादकृत्" (स्कान्दे) इत्यादिनोदाहरिष्यत्। जगत्प्रपितामहे विष्णौ जारबुद्धिः कथं घटते इति चेत्, अत एव जारबुद्ध्याऽपीत्यत्र अपिपदेन जारबुद्धिं गर्हयामास, स्त्रीणां जारे हि प्रेष्ठत्वबुद्धिः सापि न घटत इति चेत् न। सर्वेषां हरौ प्रेष्ठत्वबुद्धेः अविगाहतया वृत्तेः "तदेतत्प्रेयः" ( बृह. उ. 1-4-8) इति श्रुतेः। अयं भावः कुतोऽवगत इति अविगाहतया चे न। जगत्प्रपितामहे जारबुद्धिः न युक्ता इत्याचार्यवचनात् ॥ १३ ॥

ननु आचार्यस्यापि यथास्थितग्रन्थाभिप्रायकथनं विना वक्रगत्या व्याख्याने कोऽभिप्राय इत्याशङ्क्योत्तरग्रन्थानुकूल्यादित्याशयेनाह- **नृणामिति**। व्यक्तिरवताः । अन्यथाऽवतारो न घटत इत्यत्र हेतुमाह-अन्यत्रस्येति। ज्ञानादिगुणात्मनः भगवतो व्यक्तिर्न केवलमसुरनिर्हरणार्थाय किन्तु मोक्षलक्षणपुरुषार्थाय। पुरुषार्थस्तु भगवत्प्रसादेन स्यात्, स च भक्त्या। सा हरेः यथा स्वरूपविज्ञानेन। विज्ञानं च गुणोत्कर्ष ज्ञानपूर्वकम्, न त्वन्यथा। "गुणोत्कर्षज्ञातरि यादृशी स्यात्" इति श्रुतेः । तस्मात् द्वेषादिना नित्यसुखानन्दानुभवलक्षणमोक्षो वर्षानन्त्येनापि न स्यात्॥ १४ ॥

नन्वेवं तर्हि द्वेषादिना कां सिद्धिमाप्नोतीति तत्राऽह **काममिति**। ये हरौ कामादिकं विदधत उपासते ते तन्मयतां यान्ति कामाद्यात्मतामाप्नुवन्ति न तु भगवन्मयताम्। नित्यस्तिमितानन्दवारिधेः हरेः कामाद्यभावात् हिशब्दो "यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः" ॥ (भ. गी 8-6)इत्यादि स्मृतिं सूचयति। अवधारणार्थो वा "कामिनः कामित्वमेव क्रोधिनः क्रोधित्वमेव" इत्यादि। तदुक्तम् - "विमुक्तावपि कामिन्यो विष्णुकामा व्रजस्त्रियः । द्वेषिणश्च हरौ नित्यं द्वेषिणस्तमसि स्थिताः" (स्कान्दे) इति विशेषद्योतको वा। । तदुक्तम्- "भक्त्या हि नित्यकामित्वं न तु भक्तिं विना भवेत्। अन्तः कान्ततया वाऽपि मुक्तिर्भक्तिमतां हरौ" (पाद्मे) इति च। मनुष्यविशेषवद्देवविशेषद्योतनार्थोऽपि भवति। "स्नेहभक्ताः सदा देवाः कामित्वेनाप्सरस्स्त्रियः (पाद्मे) इत्यादेः। भक्त्यैव मोक्षो नान्येन साधनेन। इममर्थविशेषं च वक्ति। "भक्त्या वा कामभक्त्या वा मोक्षो नान्येन केनचित्" (भद्रिकायाम्) इत्यतः कामभक्त्या मोक्षं स्त्रीणां वक्ति- "कामभक्त्याऽप्सरस्स्त्रीणाम्" इत्यादेः। उपासनायाः विशेषोऽस्तीति सूचयति। "उपास्यः श्वशुरत्वेन देवः स्त्रीणां जनार्दनः " (भद्रिकायाम्) इत्यादेः । तत्तद्योग्यतोपासनामन्तरेण मुक्तिः कस्यापि न स्यादिति इमं व्याचष्टे। "योग्योपासां विना नैव मोक्षः कस्यापि सेत्स्यति" (भद्रिकायाम्) इत्यादेः । पतित्वपितृत्वादि विशेषं सूचयति। "पतित्वेन श्रियोपास्यो ब्रह्मणा मे पितेति च" (वाराहे) इत्यादेः । गुरुत्वविशेषमपि ब्रूते "गुरुः श्रीब्रह्मणोर्विष्णुः सुराणां च गुरोर्गुरुः " (वाराहे) इत्यादेः सर्वेषामपि ज्ञानेन गुरुत्वं ब्रह्मणः, उपास्यदैवत्वं विष्णोरिति इमं, चाह- "गुरुर्ब्रह्माऽस्य जगतो दैवं विष्णुः सनातनः " (वाराहे) इत्यादेः ॥ १५ ॥

**न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।**
**योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते॥ १६ ॥**

**ता दृष्ट्वाऽन्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः।**
**अवदत् वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन्॥ १७ ॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।**
**व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूताऽऽगमनकारणम्॥ १८ ॥**

**रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता।**
**प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिस्सुमध्यमाः॥ १९ ॥**

**मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।**
**विचिन्वन्तिं ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम्॥ २० ॥**

---

1. K.T.W. योऽघोक्षजे भ० 2. V. ०गी० 3. K.W. उवाच 4. M.Ma ०पा० 5- -5 M.Ma श्रीकृष्ण उवाच 6.K.T.W. ०म 7. V. क्रू० 8 M.Ma ०न्तो 9. B.G.J. कृध्वं

**श्रीध०** न च भगवतोऽयमतिभार इत्याह - **न चैवमिति।** यतः श्रीकृष्णादेतत्स्थावरादिकमपि विमुच्यते॥ १६ ॥

प्रस्तुतमाह-**ता** इति। वाचःपेशैः वाग्विलासैः ॥ १७ ॥

**स्वागतमिति।** सर्वाः ससम्भ्रममागता विलोक्य सभयमिवाऽऽह - व्रजस्येति॥ १८ ॥

लजया मन्दहसिता[1] आलक्ष्याऽऽह **रजनीति**॥ १९ ॥

किञ्च, **मातर** इति। विचिन्वन्ति मृगयन्ते। बन्धूनां साध्वसं भयं[2] कृच्छ्रं मा कृढ्वं मा कुरुतेत्यर्थः ॥२०॥

---

1. B.J ०तमाल० 2. B.J. Omit भयं

**वीर० न चेति।** एवमेवं सति कृष्णे[1] विषये न भवता विस्मयः कार्यः। विस्मयासम्भावनां द्योतयितुं विशिनष्टि। अधोक्षजे अधःकृता अनितरविषया अक्षजा इन्द्रियवृत्तयो यस्मात् तस्मिन् स्वविषयककामक्रोधादिमज्जनेन्द्रियाणाम् अन्यविषयानाभिमुख्यावहे तथा कर्तुं समर्थानामपीश्वरे नियन्तरि कामादिप्रयुक्तसमाधिनिर्वाहकजनेश्वरे वा। भगवति तदुपयुक्तज्ञानादिगुणाश्रये यतः कृष्णाद्धेतोः एतत्स्थावरादिकमपि विमुच्यते, तस्मिन्॥ १६ ॥

प्रस्तुतमाह - **ता दृष्ट्वेति।** ताः आगताः गोपीः दृष्ट्वा वदतां निपुणवादिनां मध्ये श्रेष्ठो भगवान् वाग्विलासैः विमोहयन् उवाच तन्मनःपरीक्षार्थमाहेत्यर्थः॥ १७ ॥

उक्तमेवाह - **स्वागत**मित्यादिना "इति[2] विप्रियम्" (भाग 10.29.28) इत्यतः प्राक्तनेन[2]। मत्प्रेष्ठानां वो भाग्यं वाचामगोचरमित्यभिप्रायेण सम्बोधयति महाभागा इति। वो युष्माकमागतमागमनं शोभनं जातम्। किन्तु व्रजस्थानामयमाधिव्याधिराहित्यं[3] इति प्रश्नः । तत्कच्चिदस्मदिष्टमित्यर्थः । यद्यनामयं तर्ह्यागमनकारणं ब्रूत। तदनामयापादनादन्यद्वः किं प्रियं करवाम॥ १८ ॥

लजाप्रयुक्तमन्दहासमालक्ष्याऽऽह - **रजनीति।** एषा रात्रिः स्वयं भयङ्करा, भयङ्करैः सत्त्वैः व्यालव्याघ्रादिभिः निषेविता सहचरिता च। अतो व्रजं प्रति गच्छत। हे सुमध्यमाः! इहाऽस्मिन् वने रात्रौ स्त्रीभिः न स्थातुं युक्तम्॥ १९ ॥

किञ्च मात्रादयो युष्मानपश्यन्तो मृगयेयुः । अतो बन्धूनां मात्रादीनां साध्वसं भयं मा कृढ्वं नोत्पादयत॥ २० ॥

---

1. B. कृष्ण 2- -2 T.W. Omit 3. B. adds किल

**विज०** यथा हिशब्दोपक्षिप्ता बहवो विशेषाः शास्त्रान्तरसिद्धाः सन्ति तस्मात् भगवति विस्मयो न कार्य इत्युपसंहरति- **न चैवमिति।** विस्मयः आश्चर्यबुद्धिः भगवताऽप्येवमकारि, किमुत अस्माभिः इति दर्पो वा। "चित्रे दर्पे च विस्मयः" (वैज.को. 7-1-65) इति यादवः। भगवत्यैश्वर्यादिगुणसामग्रीमतीत्ययं हेतुरौत्पत्तिकलक्षण इत्याह अज इति। न जायते

इत्यजः। सौभर्यादियोगेश्वरा अपि योगबलेनाऽतिमानुषं कुर्वन्ति, किमुत तदीश्वरोऽयमिति भावेनाऽऽह — योगेश्वरेश्वर इति। कृष्णविषयः प्रश्नः, परिहारोऽन्यविषय इवेयते। अतः कथं संशयनिस्तार इति शङ्कानिरासाभिप्रायेणाह कृष्ण इति। हेत्वन्तरमाह यत इति। यतो यस्मात् कृष्णादेतजग द्विमुच्यते संसारमुक्तं भवति। "यस्य प्रसादात् परमार्तिरूपादस्मात्संसारान्मुच्यते नाऽपरेण" इति श्रुतेः ॥ १६ ॥

परीक्षित्प्रश्नं परिहृत्य बुभुत्सितकथाशेषं वक्ति - **ता** इति। वाचः परिभाषणादुदितैः पाशैः स्नेहलक्षणैः वदतां व्यक्तवाचां कवीनां श्रेष्ठः प्रशस्ततमः ॥ १७ ॥

वः किं प्रियं करवाणि? युष्माकं मयाऽभीष्टं कर्तव्यं, तत्किम्? तदभीष्टं जानन्नपि अज्ञ इव पृच्छति व्रजस्येति। कच्चिद्व्रजस्य स्थानं अनामयं, न आमयो रोगो यस्मिन् तत्तथा॥ १८ ॥

ननु यत्किञ्चिन्निमित्तमपेक्षते भवदागमनम्, अन्यथाऽस्यामवस्थायां नोचितमिति तत्राह — **रजनीति**। घोरसत्त्वा राक्षसादयः ॥ १९ ॥

विचिन्वन्तः मृगयन्तः कृच्छ्रं कुरुध्वं साध्वसं भयम्॥ २० ॥

**दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम्।**
**यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम्॥ २१ ॥**

**तद्यात मा चिरं घोषं[2] शुश्रूषध्वं पतीन्सतीः ।**
**क्रन्दन्ति बाला वत्साश्च तान्पाययत दुह्यत॥ २२ ॥**

**अथवा मदभिस्नेहाद्भवत्यो[3] यन्त्रिताशयाः ।**
**आगता ह्युपपन्नं तत्[4] प्रीयन्ते मयि[5] जन्तवः ॥ २३ ॥**

**भर्तृशुश्रूषणं[6] स्त्रीणां परो[7] धर्मो ह्यमायया।**
**तद्बन्धूनां च कल्याण्यः[8] प्रजानां चानुपोषणम्॥ २४ ॥**

**दुश्शीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।**
**पतिः स्त्रीभि र्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी[9]॥ २५ ॥**

---

1. M.Ma नीलैज० 2 BG.J.K. M.Ma गोष्ठं 3. M.Ma °न्त्यो० 4. B.G.J. वः 5. M.Ma मम 6. B.G.J.M.Ma भर्तुः 7. K.T.W. परमो; V. पर 8. M.Ma कल्याणं 9. M.Ma शुचि°

**श्रीध०** ईषत्प्रणयकोपेनान्यतो विलोकयन्तीः प्रत्याह - **दृष्टमिति**। राकेशस्य पूर्णचन्द्रस्य करैः रञ्जितम्। यमुनास्पर्शिनोऽनिलस्य लीला मन्दगतिः तया एजन्तः कम्पमानाः तरूणां पल्लवास्तैः शोभितम्॥ २१ ॥

**तदिति**। सतीः हे सत्यः ॥ २२ ॥

संम्भक्षुभितदृष्टीः प्रत्याह-**अथवेति**। यन्त्रिताशया वशीकृतचित्ताः । उपपन्नं युक्तम्। प्रीयन्ते प्रीता भवन्ति॥ २३ ॥

दृष्टादृष्टभयप्रदर्शनेन निवर्तयति भर्त्रित्यादि[1] श्लोकत्रयेण॥ २४, २५ ॥

---

1 BJ भर्तुरित्यादि

**वीर०** एवं प्रत्याचक्षाण ईषत्प्रणयकोपान्विता विलोकयन्तीः प्रत्याह - **दृष्टमिति**। राकेशस्य पूर्णचन्द्रस्य करैः रञ्जितम्, यमुनास्पर्शिनोऽनिलस्य लीलया मन्दगत्या कम्पमानैः तरूणां पल्लवैः शोभितं वनं दृष्टं हि॥ २१ ॥

अतोऽत्राऽऽगमनप्रयोजन जातमति, व्रजं[1] प्रति[1] यात, चिरं विलम्बं मा कुरुत[2]। गत्वा किं विधेयं, तत्राऽऽह - सतीः हे सत्यः ! विभक्तिव्यत्ययः आर्षः । पतिव्रतानामेवंविधमागमनमनुचितमिति साक्षेपं सम्बोधनम्[3]। पतीन् शुश्रूषध्वं परिचरत। किञ्च, वत्साः गवामिति शेषः । बालाश्च क्रन्दन्ति क्रन्दयेयुः । अतः तान् वत्सान् बालांश्च पाययत, क्षीरमिति शेषः। दुह्यत, गा इति शेषः । तदर्थं गा दुह्यतेत्यर्थः ॥ २२॥

ननु त्वयि स्नेहाद्वयमागताः , अतः कथमेवं वक्तुमर्हसीत्यत्राऽऽह- **अथवेति**। मयि प्रेमप्रकर्षाद्वशीकृतचित्ता यदि यूयमागताः तर्हि इदमागमनमुपपन्नं युक्तमेव। कुतः ? हि यस्मात् जन्तवो मयि प्रीयन्ते मयि प्रीतियुक्ता भवन्ति। सर्वान्तर्यामिणि सर्वसुहृदि मयि सर्वजन्तुसाधारण पीतिमात्रं भवतीनामप्यविरुद्धम्॥ २३ ॥

न केवलं त्वदभिस्नेहमात्रादागताः , किन्तु त्वया सह रन्तुमिच्छयेत्यत्र दृष्टादृष्टभयप्रदर्शनेन प्रत्याचष्टे - भर्तृशुश्रूषणमिति त्रिभिः । यदमायया निष्कापटचेन भर्तुः शुश्रूषणं परिचरणं तदेव स्त्रीणां परो मा यस्मात्तथाविधः धर्मः । तथा हे कल्याण्यः! । तस्य भर्तुः बन्धूना पितृभ्रात्रादीनां, प्रजानां स्वापत्यानां च यथार्हं शुश्रूषणम् अनुपोषणं[4] च परमो धर्मः ॥ २४ ॥

**दुश्शील** इति। दुश्शीलो दुराचाररतः दुर्भगः कुरूप[5]ः , वृद्धो जरितो रोगोऽस्यास्तीति तथा, न विद्यते धनं वित्तं यस्य, तथाभूतोऽपि पतिः लोकेप्सुभिः पुण्यलोकानिच्छन्तीभिः स्त्रीभिः[6] न त्याज्यः । महापातकसंयुक्तस्तु हातव्य इत्यभिप्रायेण विशिनष्टि- अपातकीति। यद्वा एवंविधोऽपि[7] पतिरपातकी स्त्रीणां निर्दुष्ट एव। अतः सं हातव्य इत्यर्थः। लोकेप्सुभिरित्यनेन अदृष्टं भयं प्रदर्शितम्॥ २५ ॥

---

1- -1 K.T W Omit 2 B कार्ष्ट 3 B सम्बोधयति 4- -4 B Omits 5 B ०पी 6 TW Omit- स्त्रीभिः 7 B भूतोऽपि

**विज०** राकेशश्चन्द्रः यमुनाया अनिलेन वायुना निर्मयेन एजद्भिः कम्पमानैः तरुपल्लवैः शोभितं, यद्वा यमुनानिलानीत नीरिणैजद्भिः ॥ २१ ॥

ततो युष्मानपश्यन्तो बन्धवो भयमवाप्नुवन्ति यस्मात् तस्मात् सतीः सत्यः ॥ २२ ॥

"ब्रूताऽऽगमनकारणम्" (भाग 10-29-18) इत्ययुक्तमुक्तं रागमूलत्वात्प्रवृत्तेरिति तत्राह **अथवेति**। मदभिस्नेहात् मदधिकरणस्नेहात् यन्त्रिताशयाः बद्धान्तःकरणाः नियमिताभिप्राया वा। हि यस्मात् तस्मात् आगमनमुपपन्नं, तत्कथमत्राऽऽह - प्रीयन्त इति। मम प्रीयमाणस्य सतः सर्वेऽपि प्रीणन्ति न चेत् तवेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रमितत्वात्॥ २३ ॥

किञ्च, अन्यदेकं शास्त्रविहितं वदामीत्याशयेनाऽऽह- **भर्तुरिति**। स्त्रीणाममायया अवञ्चनया भर्तुः पत्युः शुश्रूषणं धर्मो हि लोकवेदसिद्धः, भर्तरि सन्निहितो नारायण इति बुद्ध्या शुश्रूषणं परो धर्मो हि यस्मात्तस्मात् तस्य भर्तुः बन्धूनां कल्याणं च श्रेय इति च। न केवलं तद्बन्धूनां श्रेयः अपि तु प्रजानां सन्ततिलक्षणानां च अनुपोषणं समृद्धिकरणंच भवतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

पत्युः दौश्शील्यादिदोषसद्भावेऽपि स्त्रीभिस्तत्त्यागो न विहित इत्याह - **दुश्शील** इति। दुश्शीलः कलहादिशीलसम्पन्नः दुर्भगो निर्वीर्यः कान्तिविहीनो वा। वृद्धः गतवयाः जडः स्वकार्यमूढः रोगी भग्नाङ्गोऽत्याङ्गः कुष्ठादिव्याधिपीडितो वा, ब्रह्महत्यादि दोषसद्भावे कथं न हातव्य इति तत्राह- लोक इति। दौश्शील्यादिदोषसद्भावेऽपि ब्रह्महत्यादिपञ्चमहापातकरहितश्चेत् पतिः शुचिरेव न हातव्योऽन्यथा विदोष इति भावेन लोक इत्युक्तम्॥ २५ ॥

**अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्।**
**जुगुप्सितं हि[1] सर्वत्र हर्यौपपत्यं[2] कुलस्त्रियाः[3] ॥ २६ ॥**

**श्रवणाद्दर्शनाद्वचानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात्।**
**न तथा सन्निकर्षेण, प्रतियात ततो गृहान्॥ २७ ॥**

## श्रीशुक उवाच

**इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम्।**
**विषण्णा भग्नसङ्कल्पा श्चिन्तामापु र्दुरत्ययाम्॥ २८ ॥**

**कृत्वा[4] मुखान्यव शुचः श्वसनेन[5] शुष्यद्बिम्बाधराणि चरणेन भुवं[6] लिखन्त्यः ।**
**अस्रैरुपात्तमषिभिः कुचकुङ्कुमानि तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराश्च[7] तूष्णीम्॥ २९ ॥**

**प्रेष्ठं प्रियेतरमिवै प्रतिभाषमाणं कृष्णं तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः ।**
**नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किञ्चित् संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः ॥ ३० ॥**

---

1. BG J.M.Ma V. च 2. B.G.J.M.Ma औ० 3. M.Ma V. °यः 4- -4 M.Ma. न्यक्कृत्यवक्त्र वनजान्यतिताप 5 M.Ma मर्हीं 6. M.Ma आ० 7. B.G.J.M.Ma °राः स्म

**श्रीध० अस्वर्ग्यमिति।** फल्गु तुच्छम्। कृछ्रं दुस्साध्यम्। औपपत्यं जारसौख्यम्॥ २६ ॥

किञ्च, **श्रवणादिति॥** २७, २८ ॥

चिन्तां[1] प्राप्तानां स्थितिमाह- **कृत्वेति।** शुचः शोकादुद्गतेन श्वसनेन शुष्यन्तो बिम्बफलसदृशा[2] अधरा[-2] येषु मुखेषु तानि अव अवाञ्चि कृत्वा तथाऽङ्कुष्ठेन[3] महीं लिखन्त्यः । तथा गृहीतकज्जलैरश्रुभिः कुचकुङ्कुमानि क्षालयन्त्यः तूष्णीं स्थिताः । यत उरुदुःखस्य[4] भरो भारो[4] यासां ताः ॥ २९ ॥

किञ्च **प्रेष्ठमिति।** किञ्चित्संरम्भेण कोपावेशेन गद्गदा गिरो यासां ता अब्रुवत स्म। संरम्भे कारणं-प्रेष्ठमित्यादि। प्रियेतरमिव[5] वैरिणमिव[5] प्रतिभाषमाणं प्रत्याचक्षाणम्॥ ३० ॥

---

1. P.V. चिन्ता० 2- -2 P.V. बिम्बाधराः 3. P.V. अ० 4- -4 P.V. उरुः दुःखभरो 5- -5 B.J. Omit

**वीर०** अथ दृष्टभयप्रदर्शनेन प्रत्याचष्टे **अस्वर्ग्यमिति।** कुलस्त्रियाः औपपत्यं भर्तरि सत्यसति वा योऽन्यः सङ्गम्यते स उपपतिः तस्य कर्म औपपत्यं तत्सङ्गमनम्। "पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्" (अष्टा 5-1-128) इति कर्मणि यक्। उपपतिमत्त्वम्। तदस्वर्ग्यमसुखकरमयशस्करं तुच्छं दुःखावहं भयावहं च सर्वत्र निन्दितं च॥ २६ ॥

"पतिं विश्वस्य" (मना-उ 9-3) "एष भूताधिपतिः " (बृह उ: 4-4-22) "माता पिता भ्राता निवासश्शरणं सुहृद्गतिश्च नारायणः" (सुबा.उ. 6-2-1) इत्युक्तरीत्या नित्यो निरुपाधिकश्च पतिर्बन्धुश्च त्वमेव इत्याशयवतीः आलक्ष्याऽऽह- **श्रवणादिति।** न च, गोपीनामेवंविधाभिप्रायसङ्गतिः तस्मिन् तासां परब्रह्मत्वज्ञानाभावादिति शङ्क्यम्। अनुपदं वक्ष्यमाणैरेव तासां वचोभिः "प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा" (भाग 10-29-32) "यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमायाः" (भाग. 10-29-36) "श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे" (भाग. 10-29-37) इत्यादिभिरेव तज्ज्ञानाविष्कारात्। मयि नित्ये निरुपाधिके पत्यौ बन्धौ च मयि श्रवणादिभिः यादृशो भावो भवति, न तथा सन्निकर्षेणाऽङ्गसङ्गेन भवति। अतो गृहान्प्रति यात गच्छत। भावः प्रीत्यात्मकोऽभिप्रायविशेषः । तत्र श्रवणं मत्स्वरूपगुणवि[1]भूत्यादि[1] श्रवणम्। कीर्तनं गुणनामकीर्तनम्। ध्यानं तत्पूर्वकमनुचिन्तनम्। तद्दर्शनं तत्पूर्वकसाक्षात्कारः ॥ २७ ॥

इत्थं स्वमनोरथाननुगुणं गोविन्दस्य वचो निशम्य गोप्यो भग्नः सङ्कल्पो यासां ताः । अत एव विषण्णा दुःखिताः । अत एव अनवधिकां चिन्तां प्रापुः ॥ २८ ॥

चिन्तां प्राप्तानां स्थितिमाह- कृत्वेति। अव अवाक् मुखानि कृत्वा। कथम्भूतानि ? शुचः शोकात् यः श्वसनः सोष्णो निश्श्वासमारुतः तेन शुष्यन्तो बिम्बफलवदधरा येषु तथाभूतानि तथा वामचरणाङ्गुष्ठेन महीं लिखन्त्यः तथा गृहीतानि कज्जलानि यैस्तैरश्रुभिः कुचयोः कुङ्कुमानि क्षालयन्त्यः उरः दुःखभारो यासां तथाभूताः तूष्णीं स्थिता बभूवुः ॥ २९ ॥

किञ्च प्रेष्ठमिति। ततः शनैः रुदितेन रोदनेनोपहते शोकाश्रुपूर्णतया लुप्तदर्शने नेत्रे विमृज्य [2]प्रमृज्य किञ्चित् [3]संरम्भेण कोपावेशेन गद्गदाः गिरो यासां तथाभूताः अनुरक्ताः तस्मिन् अनुरागयुक्ताः, अत एव तदर्थं [5-]कृष्णार्थमेव [-5]त्यक्ताः सर्वे मनोरथा याभिः तथाभूताः गोप्यः कृष्णमूचुः । कथम्भूतम् ? प्रेष्ठं तथाऽपि प्रियेतरं वैरिणमिव भाषमाणम्। इदं विशेषणद्वयं संरम्भकारणम्॥ ३० ॥

---

1- -1 T.W. Omit 2 T.W. Omit प्रमृज्य 3. T.W. Omit संरम्भेण 4. B. adds एव 5- -5 T.W. Omit

**विज०** कामस्य पुरुषार्थत्वेन पतिदोषेण तदप्राप्त्या जन्मनो निष्प्रयोजनत्वमापन्नमिति प्रकारान्तरेण साफल्यमापादनीयं हीति। विपक्षे बाधकमाह **अस्वर्ग्यमिति**। चशब्दः एवार्थे। उपपतिः पत्युः प्रतिनिधिः उपपतिः जारः तत्सम्बन्धि कर्म ग्राम्यलक्षणं तत्कुलस्त्रियः सर्वत्र पत्युरुत्तमाधममध्येषु पुरुषेषु जुगुप्सितमेवेत्यन्वयः । कथं तदुच्यते ? अस्वर्ग्यं स्वर्गविरोध्येव न भवति। किन्तु अयशस्यं इहामुत्र च दुष्कीर्तिकरं च। तथापि न बहुलं, फल्गु तुच्छफलं अल्पकालविषयत्वात् कृच्छ्रं कष्टं "स्यात्कष्टं कृच्छ्रम्" (अम.को.1-235) इत्यमरः। कृच्छ्रं कर्तुः श्रमसाधनं वा मरणादिभयजनकम्॥ २६॥

ननु तव मुख्यभर्तृत्वात् त्वत्सेवनं जारसेवनवदस्वर्ग्यं न भवति। किन्तु पतिसेवनात् मुख्यसाधनमेव स्यादित्याशङ्क्य, सत्यम्, तथापि मल्लवणादिना युष्माकं मयि भक्तिः स्यात् न तथा मम सन्निकर्षनिषेवणेन यस्मात्तस्मात् भवतीभिः गृहानवाप्य मयि भक्तिः कर्तव्येत्याह **श्रवणादिति**॥ २७ ॥

"प्रतियात व्रजं, नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः!" इति गोविन्दभाषितम् अधुना विप्रियं पश्चाद्विशेषतः प्रियं चिन्तां मनसि दुःखचर्यां विचारं "चिन्ता चार्चिक्ययोश्चर्चा" (वैज. को 6-2-12) इति॥ २८ ॥

दुःखं लक्षयितुमाह -न्यकृत्येति। वक्त्रवनजानि मुखकमलानि न्यङ्कृत्य अधः कृत्वा बिम्बफलतुल्यान्यधराणि बिम्बाधराणि अन्तर्गतशोकाभ्यतितापेन शुष्यन्ति बिम्बाधराणि येषु तानि तथा। "कामबाणप्रविद्धाङ्गा स्त्रिन्नयोनिवराङ्गना। पादाङ्गुष्ठनखेनाधोवदना लिखती क्षितिम्" इति कामशास्त्रात्प्रसिद्धभावं दर्शयति चरणेनेत्यादिना। उपात्तमषिभिरङ्गीकृताञ्जनैराग्रैः बाष्पैः उरूणां दुःखानां भारो यासां तास्तथा स्म कृष्णवाक्याभिप्रायं संस्मृत्य "कामस्य दहनास्त्रैस्तु दग्धाङ्गोत्पादिताश्रुभिः। नेत्रद्वारेण निर्याति दुःखमन्तर्गतं स्त्रियाः " इति॥ २९ ॥

**तदर्थे** कृष्णकृते **विनिवर्तितः** सर्वकामो यासां तास्तथा। रुदितेन रोदनेन उपहते क्लिष्टे संरम्भेण प्रणयकोपेन गद्गदपदं स्खलदक्षरपदं यासां तास्तथा॥ ३० ॥

## गोप्य ऊचुः

मैवं विभोऽर्हति भवान्गदितुं नृशंसं सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
प्राप्ता भजस्व दुरवग्रह! मा त्यजाऽस्मान् देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजतां मुमुक्षून्॥ ३१ ॥

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग! स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेत दुपदेशपदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥ ३२ ॥

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलास्स्व आत्मन् नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्?
तन्नः प्रसीद वरदेश्वर! मा स्म छिन्द्या आशां धृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र॥ ३३ ॥

चित्तं सुखेन भवताऽपहृतं गृहेषु यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलात् यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥ ३४ ॥

सिञ्चाऽङ्ग! नस्त्वदधरामृतपूरकेण हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम्।
नो चेद्वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहाः ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे! ते॥ ३५ ॥

---

1. B,G,J,V भक्ताः M, Ma भक्त्या 2. M, Ma भजेम 3. B,G,J °ते 4--4 M, Ma अस्त्येव तत्तदपि देववरे 5. K, T, W श ! 6. M, Ma नित्याऽप्रियैः ; V नित्यं प्रियैः 7--7 B, G,J,V परमेश्वर ! 8. B,G,J, भृ० 9.M,Ma परामर० 10.M,Ma सखे ! न 11. B,G,J,K,M,Ma °थो

**श्रीध० मेति।** नृशंसं क्रूरम्। हे दुरवग्रह! स्वच्छन्द! तव[1] पादमूलं भक्ताः सेवितवतीरस्मान् भजस्व, त्वं[2] मा त्यजेति॥ ३१ ॥

**यदिति।** अपि च। यदुक्तं 'पत्यपत्य' इत्यादि त्वया, धर्मविदेति सोपहासमेवम्, एतदुपदेशानां पदे विषये त्वय्येवाऽस्तु। उपदेशपदत्वे हेतुः ईश इति। विविदिषा वाक्येन सर्वोपदेशानामीशपत्त्वावगमादिति भावः। ईशत्वे हेतुः - आत्मा किल भवानिति। "भोग्यस्य हि सर्वस्य भोक्ता आत्मैवेश" इत्यतः प्रेष्ठो बन्धुश्च भवानेवेति सर्वबन्धुषु करणीयं त्वय्येवाऽस्तु इत्यर्थः[3]। अथवा धर्मोपदेशानां पदे स्थाने धर्मोपदेष्टरि त्वयि सति अस्मासु च धर्मं जिज्ञासमानासु सतीषु त्वया धर्मविदा यदुक्तमेवमेतदस्तु, न तु त्वं धर्मोपदेष्टा किन्तु भवानात्मेति। अथवा, यदुक्तम्[4] एतदुपदेशपदे तद्गोचरे पुरुषेऽस्तु नाम, त्वयि तु ईशे स्वामिनि सति एवम्, काक्षा नैवमित्यर्थः। यतः तनुभृतां त्वमात्मा फलरूप इति। यद्वा, यदुक्तं 'पत्यादिशुश्रूषणं धर्मः' इति एवमेतत्त्वय्येवाऽस्तु। कुतः उपदेशपदे शुश्रूषणीयत्वेनोपदिश्यमानानां पत्यादीनां पदेऽधिष्ठाने। कुतः ? ईशे। ईश्वरमधिष्ठानं[5] विना कोऽपि पतिपुत्रादिर्नाम नास्ति[6]। अन्यत्समानम्। अलमतिविस्तरेण ॥ ३२ ॥

एतत्सदाचारेण द्रढयन्त्यः प्रार्थयन्ते - कुर्वन्तीति[1] कुशलाः शास्त्रनिपुणाः। तथा च शास्त्रम् - "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं च लोकः " इत्यादि[7-7]॥ ३३ ॥

किञ्च 'प्रतियात, इति यदुक्तं तदशक्यं, त्वयैव चित्तादीनामपहृतत्वादित्याहुः। **चित्तमिति।** यदस्माकं चित्तम् एतावन्तं कालं सुखेन गृहेषु निर्विशति, तत्त्वयाऽपहृतम्। करावपि यौ गृह्यकृत्ये[8] निर्विशतस्तावपि। सुखात्मना त्वयेति वा॥ ३४ ॥

**सिञ्चेति।** अतोऽङ्ग! हे कृष्ण! नोऽस्माकं तवाधरामृतपूरकेण तवैव हाससहितेनावलोकेन कलगीतेन च जातो यो हृच्छयाग्निः कामाग्निस्तं सिञ्च। नो चेद्भयं तावत्, एकोऽग्निः, तथा विरहाज्जनिष्यते योऽग्निः तेन चोपयुक्तदेहा दग्ध शरीरा योगिन इव ते पदवीमन्तिकं ध्यानेन याम प्राप्नुयाम॥ ३५ ॥

---

1. P, V Omit तव 2. B, J Omit त्वं 3. P, V °इति भावः 4. P,V तदुप० 5 B,J add न हि 6. B, J इति 7- -7 B, J इति 8.B, J °ह

**वीर०** उक्तिमेवाऽऽह- मैवमित्येकादशभिः । हे विभो! इत्थं नृशंसं[1] क्रूरं यथा[2] तथा वक्तुं भवान्नार्हति, हे दुरवग्रह! स्वच्छन्द! सर्वान् विषयान्. भोग्यान् पत्यपत्यादीन् विहाय 'सर्वनिगमम्' इति पाठे सर्वेषां पत्यादीनां निगममाज्ञां सन्त्यज्य तव पादमूलं प्राप्ताः। 'भक्ता' इति पाठे भजमानाः अतोऽस्मान्न त्यज, किन्तु भजस्व अनुकूलो भव, मुमुक्षून्भजमानान् भक्तान् आदिपुरुषो भगवान् यथा न त्यजति, तद्वत्॥ ३१ ॥

यदुक्तं "भर्तृशुश्रूषणं स्त्रीणाम्"[3] (भाग 10.29 24) इत्यादि, तदनूद्य तत्रोत्तरमाहुः- **यदिति।** अङ्ग! हे कृष्ण! धर्मविदा त्वया पत्यादीनामनुवृत्तिरेव स्त्रीणां स्वधर्मः स्वानुरूपो धर्मः इत्युक्तम्। तदेतत्त्वय्युपदेशपदे सति, पद्यते गम्यते इति पदम्, त्वय्युपदेशार्थं गन्तव्ये सति एवमेवाऽस्तु। उपदेशपदत्वाभिप्रायेण सम्बोधयन्ति ईशेति। 'ईशे' इति समभ्यन्तोऽपि पाठः , न वयमुपदेशार्थं प्राप्ताः । किन्तु त्वत्सङ्गतय इति भावः । तदेवाऽऽविश्चक्रुः, भवान् प्रेष्ठः प्रियतम इति बुद्ध्या प्राप्ता इत्यर्थः । प्रेष्ठत्वे हेतुः- तनुभृतामात्मा निरुपाधिकबन्धुश्च। किलेति श्रौतीं प्रसिद्धिं द्योतयन्ति। यद्वा, यत् पत्यपत्याद्यनुवृत्तिरेव स्त्रीणां स्वधर्म इत्युक्तम्। तदेतत्पत्यादिषु कर्तव्यमनुवर्तन मुपदेशपदे, उपदिश्यते इत्युपदेशः, अनुवर्तनीयत्वेनोपदेष्टव्यपत्यादिरूपेणावस्थिते साक्षात्त्वय्येवाऽस्तु, पत्यादीन् प्रीतिविषयान् बन्धूंश्चापादयति तदन्तरातमतया तद्रूपेणावस्थिते[4] नित्यनिरुपाधिकपत्यादिरूपे सर्वविधबन्धौ त्वय्येव तेषु कर्तव्यत्वेन उपदिष्टाऽनुवृत्तिरस्तु इत्यर्थः । तदेवाभिप्रेत्य विशिंषन्ति प्रेष्ठ इत्यादिना॥ ३२ ॥

अत्र सदाचारं प्रमाणयन्त्यो विज्ञापयन्ति - **कुर्वन्तीति।** कुशलाः शास्त्रनिपुणाः आत्मन् आत्मनि अत एव नित्यप्रिये त्वय्येव रतिं कुर्वन्ति, नित्यप्रिय इत्यनेन सोपाधिकपत्यदीनामनित्यप्रियत्वं सूचितम्। तथा चोक्तम् - "तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते। तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च जायते" (विष्णु पु. 2-6-48) "तस्माद्दुःखात्मकं

नास्ति न च किञ्चित्सुखात्मकम्" (विष्णु.पु. 2-6-49) इति। कुशला इत्यनेन "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय" (बृह.उ. 2-4-5) इत्यादि शास्त्रार्थाभिज्ञत्वमभिप्रेतम्। यत एवम्, अतोऽन्ततो दुःखदैः सोपाधिकैः पत्यादिभिः किम्? न किञ्चित्साध्यमस्तीति भावः । तत्तस्मान्नोऽस्माकं प्रसीद। त्वयि चिरं धृतां बद्धामस्माकमाशां मा स्म च्छिन्द्याः विफलं न कुर्याः, आत्मपर्यन्तवदान्यस्य तव इदमाशाच्छेदनमनुचितमित्यभिप्रायेण वरदेश्वरेति सम्बोधनम्। त्वत्सौन्दर्यावलोकनेन चव्यथेवाऽऽशा धृतेत्यभिप्रायेण सम्बोधयन्त्यरविन्दनेत्रेति॥ ३३॥

यदुक्तं "तद्वात मा चिरं गोष्ठम्" (भाग 10-29-22) इत्यादि, तत्रोत्तरमाहुः - **चित्तमिति।** यच्चित्तं गृहेषु निर्विशति निर्विवेश गृहाभिनिविष्टं यच्चित्तमित्यर्थः । तत्सुखेन अनायासेन भवता अपहृतम्, तथा उत अपि च यौ गृह्यकृत्ये गृहकार्ये अभिनिविष्टौ करौ तावपि भवता अपहृतौ व्यापाररहितौ कृतावित्यर्थः । तथा पादावपि तव पादमूलात् पदमात्रमपि न चलतः आः कथं व्रजं यास्यामः ? अथो अनन्तरं वा किं करवाम? ॥ ३४॥

तर्हि किं मया विधेयमित्यत्राऽऽहुः - **सिञ्चेति।** अङ्ग! हे कृष्ण! तव अधरामृतस्य पूरकेण प्रवाहेन नोऽस्माकं हासयुक्तेन तवावलोकेन मधुरवेणुनादेन च जातं हृच्छयाग्निं कामाग्निं सिञ्च शमय, नो चेत् यद्येवं न करोषि तर्हि हे सखे! वयं भवद्वियोगजाग्निना दग्धदेहास्सत्यः त्वद्धचानेन साधनेन तव पदयोः पदवीं याम प्राप्नुयम। त्वयाऽनुपभुक्तं व्यर्थमिदं शरीरं त्वद्विरहाग्निना दग्ध्वा त्वद्धचानेन त्वत्सन्निधिमेव प्राप्स्यामः , मृत्वाऽपि त्वां न त्यजेमेति भावः ॥ ३५ ॥

---

1. K, T, W Omit नृशंसं 2. B adds भवति 3. T, W भर्तुः 4- -4 T, W Omit 5. T, W. °ह 6. T, W Omit अतः

**विज०** तथा विचार्य किमब्रुवन्निति तत्राह- **मैवमिति।** नृशंसं परुषं वचनमेवं गदितुं वक्तुं नार्हसि कुत इत्यत्राऽऽह-सन्त्यज्येति। हे दुरवग्रह! अवग्रहो वर्षविघातः तद्रहितः भक्ताभीष्टवर्षणशीलेत्यर्थः । शब्दादिसर्वविषयान् सन्त्यज्य भक्त्या तव पादमूलं भजेम सेवितुमवाप्ता इति यत् तस्मात् माऽस्मान् त्यज। अत्र दृष्टान्तमाह-देव इति॥ ३१ ॥

शुश्रूषध्वं पतीनिति यदुदितं तत्राहुः **यत्पतीति।** हे अङ्ग! स्त्रीधर्मशास्त्रविदा त्वया स्त्रीणां पत्यादीनां अनुवृत्तिः अनुवर्तन स्वधर्म इति यत्तदस्त्येव, न सन्दिग्धम्। तर्हि तान्विसृज्य अत्र किमर्थमागतमिति तत्राह-तदपीति। देववरे अस्मत्पित्रादीनां जामातृस्थानीये त्वयि तदपि क्रियत इति शेषः । देवानां वरणीये वा देवाद्यभीष्टदातरि वा न केवलं पतिस्थानीये ईशे ऐश्वर्यादिगुणसम्पन्ने तस्माद्वरणीय इत्यर्थः । परमानन्दविषयोऽपि हि पतिरयं कथं तद्विषय इत्याशङ्क्य न केवलमस्माकमेव परमानन्दगोचरः अपि तु सर्वेषामिति भावेनाह-श्रेष्ठ इति। अस्माकं विशेषतोऽपि श्रेष्ठ इत्याह - बन्धुरिति। बन्धुरूपः परमात्मा। किल तथा पुरातनवार्ता 'वार्ता सम्भाव्ययोः किल" (अम.को. 3-409) इति। यद्वा आत्मभूतो बन्धुः ॥ ३२ ॥

इतोऽपि त्वमेव अस्माकं मुख्यः पतिः इत्याशयेनाहुः - **कुर्वन्तीति**। कुशलाः सारासारविवेकपटवः स्वे आत्मन् अनिमित्तबन्धावात्मनि, स्वामिनि वा त्वयि रतिं कुर्वन्ति। नोऽस्माकं नित्याप्रियैः पत्यादिभिः किं प्रयोजनमिति शेषः। नित्यप्रियत्वं कथमिति तत्राहुः - आर्तिदैरिति। अनेन क्रन्दन्ति वत्साः इत्येतत् परिर्हृतम्। ततः किमत्राऽऽहुः तत्र इति। यस्मात्त्वं मुख्यो भर्ता अतस्तस्मात्। तर्हि किंरूपः प्रसाद इत्यत्राऽऽहुः -मा स्मेति। आशामतितृष्णां, "आशा दिगतितृष्णयोः" (वैज:को:6-2-3) इति यादवः ॥ ३३ ॥

प्रतियातेत्यस्य उत्तरमाहुः **चित्तमिति**। हे सखे! नो यच्चित्तं उत तदपि गृहेषु न निर्विशति उपभोगत्वेन न स्मरति। कुत इत्यत्राऽऽहुः - भवतेति। भवताऽपहृतं तस्मादिति शेषः । "स हि सर्वमनोवृत्तिप्रेरकः समुदाहृतः " इति वचनात्। करावपि कर्मसाधनेऽपि गृह्यकृत्ये गृहयोग्यकार्ये सम्मार्जनोपलेपनादिलक्षणे न तिष्ठत इति शेषः । अस्मत्पादौ गमनसाधनेऽपि तव पादमूलात् पदं एकपादन्यासमात्रमपि न चलत इत्यथो तस्मात् कथं व्रजं यामः, किं वा करवाम इति न ज्ञायते इति शेषः ॥ ३४ ॥

तर्हि भवतीनां किमभीष्टमित्यत्राऽऽहुः **सिञ्चेति**। पूरकेण प्रवाहेण हाससहितावलोकेन कलगीतेन मधुरगानेन जातो हृच्छ्रयः कामः स एवाग्निः तं सिञ्च अभिषिञ्च, शमय, नो चेत् न शमयसि चेत् विरहाज्जातेनाग्निना उपयुक्तो गृहीतो देहो यासां तास्तथा। ३५ ॥

---

1. B, M Omit अनुवृत्तिः

यर्ह्यम्बुजाक्ष! तव पादतलं रमाया[1] दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य।
अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमङ्ग! स्थातुं त्वयाऽभिरमिता[2] बत पारयामः ॥ ३६ ॥

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या लब्ध्वाऽपि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्यास्स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुप्रयासः तद्वद्वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः ॥ ३७ ॥

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन! तेऽङ्घ्रिमूलं प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः ।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतमात्मनां पुरुषभूषण ! देहि दास्यम्॥ ३८ ॥

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रीगण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षश्श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः ॥ ३९ ॥

का स्त्र्यङ्ग! ते कलपदायतमूर्छितेन[3] सम्मोहिताऽऽर्यचरिता न्न चले त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद्गोद्रुमद्विजमृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥ ४० ॥

---

1. T, W. मज्ञः ः 2. M, Ma या विरहिता 3. M, Ma पदामृतवेणुगीतं

**श्रीध०** ननु स्वपतीनेवोपगच्छत, त एनमग्निं सिञ्चेयुरिति चेत्तत्राऽऽहुः **यर्हीति**। रमाया लक्ष्म्याः दत्तक्षणं दत्तोत्सवं दत्तावसरं वा। तदपि क्वचिदेव न सर्वदा। अरण्यजनाः प्रिया यस्य तस्य तव। अरण्यजनप्रियत्वादरण्ये **क्वचिद्यर्हि अस्प्राक्ष्म** स्पृष्टवत्यो वयं तत्र च त्वया अभिरमिता आनन्दिताःस्सत्यः तदारभ्यान्यसमक्षं स्थातुमपि न पारयामः न शक्नुमः तुच्छास्ते न रोचन्त इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

त्वत्पादसौभाग्यं तु अतिचित्र मित्याहुः -**श्रीरिति**। वक्षस्यसापत्न्यं स्थानं लब्ध्वाऽपि तुलस्या सपत्न्या सह यत् तव पादाम्बुजरजः कामयते स्म। भृत्यैः सर्वैर्जुष्टमिति सौभाग्यातिरेकोक्तिः । यस्याः स्ववीक्षणकृते श्री रात्मानं विलोकयत्वित्येतदर्थं मन्येषां ब्रह्मादीनां तपोभिः प्रयासः, सा तद्रजः तद्वद्वयमपि प्रपन्ना इति॥ ३७ ॥

**तदिति**। हे वृजिनार्दन! दुःखहन्तः! त्वदुपासने त्वद्भजन एवाऽऽशा यासां ता वयं वसतीः गृहान्विसृज्य हित्वा योगिन इव प्राप्ताः । तव सुन्दरस्मितविलसितनिरीक्षणेन यस्तीव्रः कामः तेन तप्तचित्तानाम् नः, हे पुरुषरत्न! दास्यं देहि॥ ३८ ॥

ननु गृहादिस्वाम्यं विहाय मद्दास्यं किमिति प्रार्थ्यते? अत आहुः - **वीक्ष्येति**। अलकावृतमुखं केशान्तैरावृतमुखम्। तथा कुण्डलयोः श्रीर्ययोस्ते गण्डस्थले यस्मिन्, अधरे सुधा यस्मिन् तच्च तच्च तव मुखं वीक्ष्य दत्ताभयं भुजदण्डयुगं वक्षश्च श्रिया एकमेव रमणं रतिजनकम्। अत्र विसर्गलोपे सन्धिरार्षः । वीक्ष्य दास्य एव भवामेति॥ ३९ ॥

ननु जुगुप्सितमौपपत्यमित्युक्तम्। तत्राऽऽहुः **का स्त्रीति**। अङ्ग! हे कृष्ण! कलानि पदानि यस्मिन् तदायतं दीर्घं मूर्च्छितं स्वरालापमेदस्तेन। कलपदामृतेति पाठान्तरे कलपदामृतमयं वेणुगीतं तेन सम्मोहिता सती का वा स्त्री आर्यचरितात् निजधर्मात् न चलेत्। यन्मोहिताः पुरुषा अपि चलिताः , किञ्च त्रैलोक्यसौभगमिति यद्यतः अबिभ्रन् अबिभरुः । त्वद्द्योतकशब्दश्रवणमात्रेणापि तावत् निजधर्मत्यागो युक्तः । किं पुनः ? त्वदनुभवेनेति भावः ॥४०॥

---

1- -1 B,J Omit 2. B, J Omit यत् 3. P, V Omit हित्वा 4. B, J Omit नः 5. B, J °हस्वा° 6. J Omits मत् 7. B adds एवं 8. P, V Omit तव 9. B युगं 10- -10 B,J Omit 11- -11 B पदं यदमृतमयं 12. J, P, V Omit सती

**वीर०** ननु स्वपतय एवाधरामृतं सिञ्चेयुः, तत्राऽऽहुः **यर्हीति**। हे अम्बुजाक्ष। अरण्यजनानां मुनीनां प्रियस्य तव रमायाः लक्ष्म्याः दत्तक्षणं दत्तोत्सवं दत्तावसरं वा तदपि कदाचिदेव न सर्वदा अरण्यजनप्रियत्वादिति भावः । एवंविधं पादतलं यर्हि यदा वयमस्प्राक्ष्म स्पृष्टवत्यः , अरण्यजनप्रियत्वादरण्ये क्वचिद्यदा स्पृष्टवत्यः , तत्र च त्वया अभिरमिता अभिनन्दितास्सत्यः तत आरभ्य अङ्ग! हे कृष्ण! अन्यसमक्षं स्थातुमपि न पारयामः , पुरुषान्तरसमक्षमवस्थातुमपि न शक्नुमः । तुच्छास्ते न रोचन्ते इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

त्वत्पादसौभ्यं तु अतिविचित्र मित्याहुः **श्रीरिति**। श्रीः लक्ष्मीः तव वक्षसि असापत्नम् उन्नतं च पदं स्थानं लब्ध्वाऽपि तुलस्या सपत्न्या सह यत्तव पदाम्बुजरजः कामयते स्म। कथम्भूतम्? भृत्यैस्सर्वैर्जुष्टमिति सौभाग्यातिशयोक्तिः।

कथम्भूता श्रीः? यस्याः श्रियः स्ववीक्षणकृते स्वावलोकनार्थं श्री रस्मानवलोकत्वित्येतदर्थम् अन्येषां सुराणां ब्रह्मादीनां प्रयासः। 'अन्यतपःप्रयासः, इति पाठे अन्येषां ब्रह्मादीनां तपःक्लेश इत्यर्थः । सा श्रीश्चकमे इत्यन्वयः । तद्वत्, श्रीवत् वयमपि तव पादरजः प्रपन्नाः ॥ ३७ ॥

हे वृजिनार्दन! दुःखहन्तः ! त्वदुपासने त्वद्भजन एवाऽऽशा यासां ताः वयं वसतीः गृहान् विसृज्य योगिन इव तवाङ्घ्रिमूलं प्राप्ताः । तत्तस्मान्नोऽस्माकं प्रसन्नो भव। कीदृशः प्रसादः कार्य इत्यत्राऽऽह - तव सुन्दरं स्मितं यस्मिन् तेन निरीक्षणेन यस्तीव्रः स्मरतापः तेन तप्ता आत्मानो देहाः यासां ताः , तासामस्माकं हे पुरुषरत्न! त्वद्दास्यं देहि॥ ३८॥

ननु भोग्यं गृहादिकं विहाय किमिति मद्दास्यं प्रार्थ्यते इत्यत्राऽऽहुः - **वीक्ष्येति**। कुण्डलयोः श्री र्ययोस्ते गण्डस्थले यस्मिन्, अधरे सुधा यस्मिन्, हसितयुक्तोऽवलोको यस्मिन्, तथा अलकैश्चूर्णकुन्तलैः आवृतं मुखम् आश्रिताना मभयप्रदं भुजदण्डयोः युग्मं श्रियो लक्ष्म्या एकं मुख्यं रतिजनकं क्रीडायोग्यं वा, वक्षश्चावलोक्य तवैवं दास्यो भवाम त्वद्रूपस्य निरतिशयभोग्यत्वादिति भावः ॥ ३९ ॥

यदुक्तं "जुगुप्सितं च सर्वत्र ह्यौपपत्यम्" ( भाग 10-29-26) इति तस्योत्तरमाहुः - **का स्त्रीति**। अङ्ग! हे कृष्ण! कलानि मधुराणि पदानि यस्मिन् तदायतं दीर्घं मूर्च्छितं स्वरालापभेदः तेन सम्मोहिता सती। 'कलपदामृतवेणुगीतसम्मोहिता' इति पाठे स्पष्टोऽर्थः। लोकत्रयसुन्दरमिदं रूपं निरीक्ष्य च त्रिलोक्यामपि का वा स्त्री आर्यचरितात् सदाचाराच्चिजधर्मा न चलेत्? सर्वाऽपि चलेदेवेत्यर्थः । यद्यतो गावो द्विजाः पक्षिणो मृगाश्चापि पुलकानि रोमाञ्चान् अबिभ्रन् अबिभरुः। त्वद्द्योतकशब्दश्रवणमात्रेणापि तिरश्चामपि निजधर्मत्यागो दृष्टः , किं पुनः मादृशामिति भावः ॥ ४० ॥

---

1.B adds स्व 2. K तदापि 3. T, W Omit अपि 4. B पत्न्यं 5. T, W Omit प्रयासः

**विज०** यर्हि यदा क्वचिद्वने दत्तक्षणं दत्तावसरं अस्प्राक्ष्म स्पृष्टवत्यः अरण्यजनः सन्न्यस्तजनः तत्प्रभृति तदानी मारभ्य अन्यसमक्षं अन्यजनाभिमुखं न पारयामः न शक्नुमः । बत अद्भुतमाश्चर्यं तव महिमा। अनेन त्वदङ्गस्पर्शानानन्तरम् अन्याङ्गस्पर्शनशङ्का निवारिता॥ ३६ ॥

अद्यापि लक्ष्म्या तव पादपद्मद्वन्द्वधूलिनिषेवणं काङ्क्षितं, किमुतास्माकमिति भावेनाऽऽहुः **श्रीरिति**। अन्येषां सुराणां ब्रह्मादीनां प्रयासः प्रयत्नः यस्याः श्रियः स्ववीक्षणकृतः स्वनिरीक्षणार्थं कृतः सा श्रीः वक्षसि पदं लब्ध्वाऽपि तुलस्याः पदं यस्य तव पदाम्बुजरजः चकमे कामितवती यथा, वयं च तद्वत् तथा तस्य तव पादरजोनिषेवणाय प्रपन्ना इत्यन्वयः। 'स्ववीक्षणकृते' इति पाठे स्वदर्शनार्थमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

वृजिनार्दन! दुःखनाशन! वसतीः गृहान् त्वदुपासने आशा श्रद्धा यासां तास्तथा। सुन्दरं च तत्स्मितं च सुन्दरस्मितं तेन, सुन्दरं स्मितं यस्य तत् (तेन) तन्निरीक्षणेन उद्भूतेन तीव्रेण कामाग्निना तप्त आत्मा देहो यासां ताः। पुरुषभूषण! पुरुषतिलक!॥ ३८ ॥

हे वीक्ष्या दर्शनीय। वयं तव दास्यो भवामेत्यन्वयः। 'आशिषि लिङ् लोटौ' इति आशिषि लोट्। दासीभूत्वा आशिषं कामयामहे इत्यर्थः । दासीभावे कारणमाहुः अलकेति। कुण्डलश्रिया युक्तं गण्डस्थलं अधरसुधा च यस्य तत्तथा। हसितेन युक्तमवलोकं च प्रतिजनं दत्ताभयं भुजदण्डयोर्युगं च श्रिय एकरमणं प्रधानरतिस्थानं वक्षश्च विलोक्य दृष्ट्वा विचार्य वीक्ष्येति वा॥ ३९ ॥

अस्मत्स्मरणमनं च न चित्रमिति भावेनाऽऽहुः - का स्त्रीति। ते तव कलपदैः अव्यक्तमधुराक्षरैः अमृतं श्रवणानन्दकरं यद्वेणुगीतं वंशगानं तेन सम्मोहिता त्रिलोक्यां त्रैलोक्ये का स्त्री त्रैलोक्यसौभग मलङ्कारभूतमिदं रूपं सुन्दरतरावयवोपकृतमाकारं च नितरां दृष्ट्वाऽऽर्याणां सतां चरितात् मार्गादिति शेषः। न चलेत् स्खलिता न भवतीत्यन्वयः। इदं न चित्र मित्याहुः - यदिति। यद्यस्मात् वेणुगानात् यस्य रूपस्य स्पर्शादिना वा गवादयोऽन्तःप्रज्ञाः चेतनराशयः पुलकानि रोमाञ्चानि अबिभ्रन् दधुरिति॥ ४० ॥

---

1- -1 B, M Omit

व्यक्तं भवान् व्रजजनार्तिहरोऽभिजातो[1] देवो[2] यथाऽऽदिपुरुषस्सुरलोकगोप्ता।
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो! तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम्॥ ४१ ॥

श्रीशुक उवाच

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः[3] ।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत्[4]॥ ४२ ॥

ताभिस्समेताभिरुदारचेष्टितः प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः ।
उदारहासद्विजकुन्ददीधितिः व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः[5] ॥ ४३ ॥

उपगीयमान उद्गायन् वनिताशतयूथपः ।
मालां बिभ्रद्वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन्वनम्[6]॥ ४४ ॥

नद्याः पुलिनमाविश्य गेयीभिर्हिमवालुकम्[7]।
जुष्टं[8] तत्तरलाऽसङ्गि[9] कुमुदामोदवायुना[10]॥ ४५ ॥

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु[11] नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः[12] ।
क्ष्वेल्याऽवलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणां मुत्तम्भयन्रतिपतिं[13] रमयाञ्चकार॥ ४६ ॥

एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः[14] ।
स्वात्मानं मेनिरे स्त्रीणां[15] मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि॥ ४७ ॥

**तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः ।**
**प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥ ४८ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां
अष्टादशसाहस्र्यां श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे रासकीडावर्णनं नाम एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

---

-1. B.G.J.M.Ma भयार्ति 2. K.T.W °रो हि 3. B.G.J.M.Ma.T °ो०4. M, Ma °भो न्य० 5. T, W व्यराज० 6. V. °त्स वनाद्वनम् 7. K.T.W °मासाच 8. B.G.J.M.Ma °र्हि० 9. B.G.J.M.Ma रेमे 10. B.G.J °ताऽऽनन्द; M, Ma °ताऽऽनन्दि V °ताऽऽभोज 11. M.Ma केली 12. M.Ma कराग्र 13. M.Ma °ता° 14. B.G.J.K.T.W आ० 15. M.Ma °णामाधिक्या०

**श्रीध० व्यक्तमिति।** व्यक्तं निश्चितम् ॥ ४१ ॥

**इतीति।** विक्लबितं पारवश्यप्रलपितम्। गोपीः अरीरमत् रमयामास ॥ ४२ ॥

**ताभिरिति।** प्रियस्येक्षणेनोत्फुल्लानि मुखानि यासां ताभिः उदारहासश्च द्विजाश्च तेषु कुन्दकुसुमवद्दीधितिः यस्य सः। एणाङ्कश्चन्द्रः ॥ ४३-४५ ॥

**बाह्विति।** बाहुप्रसारश्च परिरम्भश्च करादीनामालभनं स्पर्शश्च नर्म परिहासश्च नखाग्रपातश्च तैः। क्ष्वेल्या क्रीडया च अवलोकैश्च[1] हसितैश्च कामं तासामुद्दीपयन् ता रमयामास ॥ ४६ ॥

**एवमिति।** महात्मनः अनासक्तचित्तत्वात्[2] इति भावः ॥ ४७ ॥

**तासामिति।** तत्सौभगमिदं[3] सौभाग्येन मदम् अस्वाधीनताम्। मानं गर्वम्। केशवः कश्च ईशश्च केशौ[4] तौ वशयतीति तथा सः ॥ ४८ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

---

1. P,V लोकनैः 2- -2. B,J विमुक्तचित्तात् 3- -3. J.P,V omit 4. B,J omit केशौ

**वीर०** व्रजजनार्त्यपाकरणायाऽवतीर्णस्य पुनः तदार्त्यापादनमनुचित मित्यभिप्रायेणाऽऽहुः — **व्यक्तमिति।** यथा आदिपुरुष उपेन्द्रादिरूपेण सुरलोकार्तिनिरसनेन तद्रक्षणार्थमवतीर्णः तथा त्वमपि व्रजजनस्याऽऽर्तिहरो नूनं जातः, तत्तस्मात् हे आर्तबन्धो! किङ्करीणां नोऽस्माकं तप्तेषु स्मरतापतप्तेषु स्तनेषु शिरस्सु च पङ्कजवच्छीतलं कोमलं करं निधेहि, निधायाऽऽर्तिं शमयेति भावः। आर्तबन्धो! इति तदनुगुणं सम्बोधनम्। किङ्करीणामित्यपेक्षणीयसम्बन्धाविष्कारः ॥ ४१ ॥

इत्थं तासां विह्वलितं पारवश्यप्रतपितमाकर्ण्य योगीश्वरेश्वरोऽप्यात्मारामोऽपि गोपीः अरीरमत् रमयामास। आत्मारामत्वाद्विषयविमुखोऽप्यार्तिहरस्वभावत्वात् ताभिस्सह रेमे इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

तदेव प्रपञ्चयति — **ताभिरित्यादिना।** प्रियस्य स्वस्य ईक्षणेन उत्फुल्लानि मुखानि यासां ताभिः सङ्गताभिः गोपीभिस्सह अच्युतः उदारहासश्च द्विजा दन्ताश्च तेषु कुन्दकुसुमबद्दीधितिर्यस्य तथाभूतो व्यरोचत रराज। उडुभिः वृतश्चन्द्र इव ॥ ४३ ॥

गोपीभिरुल्लीयमानः स्वयं च उद्गायन् वनिताशतानां यूथपः करिणीयूथप[1-1] इवेति भावः। वैजयन्तीं मालां बिभ्राणो वनमलङ्कुर्वन् व्यचरत् ॥ ४४ ॥

हेममय्यो वालुकास्सिकता यस्मिंस्तत् नद्या यमुनायाः पुलिनं, कथम्भूतम्? तस्या यमुनायाः तरलानां तरङ्गाणां सम्बन्धिनां कुमुदानामामोदो यस्य तेन वायुना जुष्टम् आसाद्य अधिष्ठाय रमयाञ्चकारेत्युत्तरेणान्वयः[2] ॥ ४५ ॥

किं कुर्वन्? बाहुप्रसारः स्कन्धस्योपरि बाहुप्रसारणम्। परिरम्भः आलिङ्गनम्। करेणालकादीनामालभनं संस्पर्शश्च, नर्म परिहासश्च, नखाग्रपाताः नखक्षताश्च तैः क्ष्वेल्या क्रीडया चावलोकनैश्च हसितैश्च मन्मथं तासा मुद्दीपयन्॥ ४६॥

इत्थं महात्मनः आसक्तचित्ताद्भगवतो हेतोः लब्धो मानो गर्वो याभिस्ताः मानिन्यो गोप्यः आत्मानं भुवि स्त्रीणां मध्ये अभ्यधिकं सर्वोत्कृष्टं मेनिरे ॥ ४७ ॥

ततः किम्? अत आह — **तासामिति।** तासां गोपीनां स चासौ सौभगेन सौन्दर्याभिमानेन यो मदः तं मानं चित्तसमुन्नति मस्वाधीनतामिति यावत्। तं च वीक्ष्य केशवः ब्रह्मरुद्रयोरपि नियन्ता भगवान् प्रशमाय तासां मदमानयोः प्रशान्तये प्रसादाय उत्तरोत्तराभिनिवेशापादनरूपानुग्रहाय च तत्रैव पुलिने अन्तर्हितवान् ॥ ४८ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

---

1- -1. B omits 2. B,T,W °याम्बभूवे०

**विज०** सर्वस्य स्वामित्वेन भर्तृगुणयोगादस्मत्कुलेऽभिजातत्वेन बन्धुत्वेन सम्बन्धयोग्यत्वात् अस्माकं त्वत्सम्बन्धेन जारसंसर्गदोषागमनेन निन्द्यत्वं दूरोत्सारितं स्यादिति भावेनाऽऽहुः — **व्यक्तमिति**। भगवान् यथा सुरलोकगोप्ता वामनतयाऽभिजातः, तथाऽऽदिपुरुषो देवो भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजात इति व्यक्तम्। इदमसन्दिग्धमिति यत्तत् तस्मा द्यथा यस्मादिति वा। कामान्वितेषु उभयत्र योज्यम् ॥ ४१ ॥

विह्वलं चिन्तां कामार्तवचनं न्यरीरमत् नितरां रमयामास ॥ ४२ ॥

**समेताभिः** मिलिताभिः उदारः उत्कृष्टः हासः द्विजा दन्ताः कुन्दा मल्लिकाः आसां दीधितिः कान्तिर्यस्य सः द्विजा एव कुन्दाः द्विजकुन्दाः, उदारहासेन विवृतानां द्विजकुन्दानां दीधितिर्यस्य सः इति वा। एणाङ्कः चन्द्रः "एणः कुरङ्गो हरिणः" (हला. को. 2-75)) इति हलायुधः ॥ ४३ ॥

शतशब्दोऽनेकवाची। वैजयन्तीं विजयावहाम् ॥ ४४ ॥

हिमवालुकं शीतलसैकतं तस्या नद्याः तरलैः मन्दकल्लोलैः आनन्दयितुं शीलमस्यास्तीति तरलानन्दी, कुमुदानामामोदस्य वायु स्तत्तरलानन्दी कुमुदामोदवायुः तेन। यद्वा तया नद्या तरलानि नृत्यन्तीव स्थितानि च तानि आनन्दीनि उत्फुल्लानि कुमुदानि तत्तरलानन्दिकुमुदानि तेषामामोदेन सौरभेण संपृक्तेन वायुना ॥ ४५ ॥

परिरम्भ आलिङ्गनं तदेव करालकेली तीव्रक्रीडा तस्यां नीवी वस्त्रग्रन्थिः तस्यां, स्तनेषु आलभनेन मोचनस्पर्शलक्षणेन नर्मणा हास्योक्तया च कराग्राणां नखानां पातैः उल्लेखलक्षणैश्च[1] क्ष्वेलावलोकहसितैः बालसिंहनादनिरीक्षणमन्दहासैश्च रतिपतिं काममुत्तम्भयन् उज्जृम्भयन् उल्लोलयन्नित्यर्थः। रमयाञ्चकार रेमे। "बाहुपीडनकुचग्रहणाभ्यामाह तेन नखदन्तनिखातैः (शिशुपा.वध. 10-72) बोधित स्तनुशयस्तरुणीनामुन्मिमील शनकैरपि मारः" इति माघः ॥ ४६ ॥

भुवि स्त्रीणां मध्ये स्वात्मानमाधिक्येन अभ्यधिकं मेनिरे ॥ ४७ ॥

सौभगमदं सौभाग्यनिमित्तं मदं मानमहङ्कारं मदाहङ्कारयोः प्रशमाय नाशाय प्रसादाय अनुग्रहाय च प्रकर्षेण प्रसादजननाय च अन्तरधीयत तासां दृष्ट्या अदृश्योऽभवदित्यर्थः ॥ ४८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥
**(विजयध्वजरीत्या सप्तविंशोध्यायः)**

---

1. Ma °खन०

# त्रिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या अष्टाविंशोऽध्यायः)

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः।
अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम् ॥ १ ॥

गत्याऽनुरागस्मितविभ्रमेक्षणैः[1-1] मनोरमालापविहारविभ्रमैः।
आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापतेः तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः ॥ २ ॥

गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः।
असावहन्त्वित्यबलास्तदात्मिका न्यवेदिषुः[3] कृष्णविहारविभ्रमाः ॥ ३ ॥

गायन्त्य उच्चैरमुमेव सङ्गता[4] विचिक्युरुन्मत्तकवद्वनाद्वनम्[5]।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिः भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ॥ ४ ॥

दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ! प्लक्ष! न्यग्रोध! नो मनः[6-6]।
नन्दसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः[7-7] ॥ ५ ॥

---

1- -1. G.J. Va विभ्रमेक्षितैः; M.Ma रञ्जितेक्षितैः 2. M.Ma त्वि° 3. M. Ma ना० 4. G.J.Va संहता 5. M.Ma चेर° 6- -6. किंशुक!
7- -7. M.Ma. °रिहगात्किं सह 8- -8. K. हासवि०

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

त्रिंशे विरहसन्तप्तगोपीभिः कृष्णमार्गणम्। उन्मत्तवन्नियतं भ्रमन्तीभि र्वने वने ॥

अन्तर्हिते इति। अचक्षाणा अपश्यन्त्यः ॥ १ ॥

गत्येति। गत्या च अनुरागस्मिताभ्यां विभ्रमेक्षितानि सविलासनिरीक्षणानि[2-2] तैश्च मनोरमा आलापाश्च विहाराः क्रीडाश्च विभ्रमा अन्ये च विलासा स्तैश्च रमापतेः गत्यादिभिः एतैराक्षिप्तानि आकृष्टानि चित्तानि यासां ताः। अतस्तस्मिन्नेव आत्मा यासां ताः तस्य विविधा श्चेष्टा जगृहुः तदनुकरणैः[3] आक्रीडन् ॥ २ ॥

अपि च **गतीति**। प्रियस्य गत्यादिषु प्रतिरूढा आविष्टा मूर्तयो यासां ताः, अतः कृष्णविहारविभ्रमाः कृष्णस्येव विहाराः क्रीडाः विभ्रमाः विलासा यासां ताः। अहमेव कृष्ण इति परस्परं निवेदितवत्यः॥ ३ ॥

किञ्च **गायन्त्य** इति। वनाद्वनान्तरं गच्छन्त्यो विचिक्यु रमृगयन्। उन्मत्ततुल्यत्वमाह - वनस्पतीन्पप्रच्छुः। भूतेष्वन्तरं मध्ये सन्तं पुरुषं बहिश्च सन्तमिति ॥ ४ ॥

तत्प्रपञ्चयति नवभिः। तत्र महत्त्वादेते पश्येयुरित्याशया दश्वत्थादीन्[4] पृच्छन्ति-दृष्ट इति। प्रेमहासविलसितैरवलोकनैरस्माकं मनो हृत्वा चोर इव गतो व[5]ः युष्माभिः किं दृष्ट इति ॥ ५ ॥

---

1. P. °ती 2- -2. P. सविलासनिरीक्षितानि ; V. विलासनिरीक्षितानि 3. J.Va णेन 4. J. °याऽश्व° 5. P.V. omit वः

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ अन्तर्हितभगवद्दर्शनजतापतप्तानां भगवतो गत्यनुरागस्मित विभ्रमेक्षितालापविहार विभ्रमापहृत चित्तानां उन्मत्तायितानां च गोपीनां तच्चेष्टानुकरणं तावच्चेतनाचेतनाविभागेन प्रश्नपूर्वक मन्वेषणप्रकारमुपलक्षणतस्त्र्यन्तरासक्त्यध्यवसायप्रकारं स्त्र्य[1]न्तरस्यापि तद्वन्मदमानप्रशमनार्थ मन्तर्धानं, तया सह पुनरन्वेषणप्रकारं[-1] चाऽऽह — द्विशेन अन्तर्हित इति। भगवत्यन्तर्हिते सति तमवीक्षमाणाः यूथपमपश्यन्त्यः करिण्य इव सहसा अविमर्शेनैव अन्वतप्यन्॥ १ ॥

**गत्येति**। रमापतेः गत्या अनुरागस्मिताभ्यां यानि विलासनिरीक्षणानि तैश्च मनोरमालापाश्च विहाराः क्रीडाश्च विभ्रमा अन्ये च विलासाश्च तैः आक्षिप्तानि आकृष्टानि चित्तानि यासां ताः, अत एव तदात्मिकाः तस्मिन्नेव आत्मा चित्तं यासां ताः, तज्ज्ञानप्रचुराः इत्यर्थः। अत एव भगवतः तास्ता विविधाश्चेष्टाः जगृहुः अनुचक्रुः ॥ २ ॥

तदेव प्रपञ्चयति - **गतीति**। तदात्मिकाः अत एव प्रियस्य कृष्णस्य गत्यादिषु प्रतिरूढमूर्तयः भगवद्गत्याद्यनुकारेषु चिकीर्षितेषु सत्सु हृदयारूढास्तस्य मूर्तयो यासां ताः। अतः कृष्णविहारा इव विभ्रमाः क्रीडा यासां ताः, तस्य प्रिया अबला गोप्यः असावहं कृष्णोऽहमिति मिथो निवेदितवत्यः ॥ ३ ॥

किञ्च **गायन्त्य** इति। सङ्गताः समुदिताः सङ्घीभूताः इति यावत्। अमुं कृष्णमेव गायन्त्यो वनाद्वनं गच्छन्त्यः उन्मत्तवद्विचिकिय्युर्मृगयन्। वनस्पतीन् प्रति पप्रच्छुश्च। कथम्भूतम्? आकाशवद्भूतेषु चराचरात्मकेषु अन्तर्बहिश्च व्याप्य वसन्तं पुरुषं पुरुषाकारं पुरुषशब्दवाच्यं वा परमपुरुषं वा, एवम्भूतमपि प्राकृतमिव पप्रच्छुरित्यर्थः। वनस्पतीन् पप्रच्छुः इत्यनेन उन्मत्ततुल्यत्वं दर्शितम् ॥ ४ ॥

भगवद्विरहव्यथामुषितचेतनाचेतनतिर्यगतिर्यग्विवेकानां प्रश्नप्रकारमेवाऽऽह नवभिः। अश्वत्थादीनां प्रत्येकसम्बोधनेन प्रश्नोऽपि प्रत्येकमवगन्तव्यः। प्रेमहासविलोकनैः अस्माकं मनो हृत्वा चोर इव नन्दसूनुः गतः वो युष्माभिः किं दृष्टः?

अश्वत्थादीनां महत्त्वाच्चाङ्गत्वात्, तत्राश्वत्थस्य भगवद्विभूतित्वाच्च ते पश्येयुरित्यादावश्वत्थादीन् पृच्छति। ततो महान्तः पुष्पैर्बहूपकारिणश्चेति कुरवकादीन् पृच्छन्तीत्येवं यथासम्भवं केचिद्वचाचक्षते ॥ ५ ॥

---

1- -1. K. omits.

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हरेरेव योगैश्वर्यमौत्पत्तिकं, नान्यस्येति ज्ञापनभावेन गोपस्त्रीणां श्रीकृष्णे भक्त्यतिशयं कथयति अस्मिन्नध्याये। तत्र गोपीनां सन्तापादिप्रकारं प्रवक्ति शुकः **अन्तर्हित** इति। यूथपं गजेन्द्रम् ॥ १ ॥

गत्या बालसिंहखेलनगमनेन अनुरागेण स्नेहेन उदितानि स्मितानि तैः रञ्जितानि सम्पर्कगतानीक्षितानि तैः मनोरमौ आलापविहारौ तयोर्विभ्रमैः शृङ्गारैः आक्षिप्तचित्ताः आकृष्टमनसः, या या भगवता रचिता विशिष्टचेष्टाः तास्ताः जगृहु न्यरूपयन्, तस्मिन् कृष्णे आत्मा मनो यासां ता स्तथा, ग्रहणम् अनुकरणं यत्तदात्मिकाः। तदाकारमिता इति पाठाथौ सुष्ठु ता[1] मादधाते ॥ २ ॥

एतदेव विशिनष्टि — **गतीति**। प्रियस्य कृष्णस्य गत्यादिषु प्रतिरूढा अङ्कुरिता अङ्गीकृता मूर्तिः यासां तास्तथा। तत्र निमित्तं दर्शयति असाविति। असौ कृष्णोऽहं वा[2] नु, इति विकल्प्याऽन्योन्यं पृष्ट्वा वा तदात्मिकाः तद्गतचित्ताः। "प्रश्ने विकल्पे नु स्विच्च" (वैज.को. 8-7-6) इति यादवः। नाऽवेदिषुः आत्मानमिति शेषः कृष्णविहारविभ्रमवत् विभ्रमो यासां तास्तथा। अनेनापि तदात्मकत्वं विवृतम् ॥ ३ ॥

सङ्गताः मिलिताः आकाशवद्भूतेषु बहिरन्तरं सन्तं, बाह्याभ्यन्तरदेशयोर्वर्तमानम् "अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः" (मना. उ. 9-5) इति श्रुतिः ॥ ४ ॥

उन्मत्तत्त्वं स्पष्टयति - **दृष्ट** इति। हे शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। हे न्यग्रोध वट! न्यक् अधः रोधः आवरणं यस्य सः पादैः अधोभूमिमावृणोतीति। किंशुक पलाश! "पलाशे किंशुकः पर्णः" (अम.को. 2-75) इत्यमरः। रक्तपुष्पवान् ॥ ५ ॥

---

1. Ma °ता० न° (नि) 2. Ma न वा

**कच्चि त्कुरवकाशोक नागपुन्नागचम्पकाः[1]।**
**रामानुजो मानिनीनां गतो दर्पहरस्मितः[2] ॥ ६ ॥**

कच्चि त्तुलसि! कल्याणि! गोविन्दचरणप्रिये!
सह त्वालिकुलैर्बिभ्रद्दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः ॥ ७ ॥

मालत्यदर्शि वः कच्चि न्मल्लिके! जातियूथिके!
प्रीतिं वो जनयन्यातः करस्पर्शेन माधवः ॥ ८ ॥

चूत[4]प्रियाल पनसासनकोविदार जम्ब्वर्क[5-5] बिल्ववकुलाम्रक[6-6] पारिजाताः!
येऽन्ये परार्थ[7]भविका यमुनोपकूलाः शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः ॥ ९ ॥

किं ते कृतं क्षिति! तपो[8] बत केशवाङ्घ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहै र्विभासि।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा आहो वराहवपुषः[9] परिरम्भणेन ॥ १० ॥

---

1- -1. M,Ma नाग! पुन्नाग! चम्पक!; T,W. नीपोदुम्बरचन्दनाः 2. G,J,Va इतो; M,Ma दोग्धा 3- -3. M,Ma नन्दस्य चात्मजः 4. V. °तु 5- -5. M,Ma जम्ब्वक्ष; V. जम्बीर 6- -6. G,J,M,Ma, V,Va कदम्बनीपाः 7. G,J,K,Va भवका; M,Ma भविनो 8 M,Ma शुभं 9. M.Ma °षा

**श्रीध०** महान्तः स्वपुष्पैर्बहूपकारिणश्चेति कुरवकादीन् पृच्छन्ति - **कच्चिदिति**। हे कुरवकादयः! दर्पहरं स्मितं यस्य स इतो गतः कच्चिद्दृष्ट इति ॥ ६ ॥

**कच्चिदिति**। अलिकुलैस्सह त्वा त्वां बिभ्रतवातिप्रियः त्वया किं दृष्ट इति ॥ ७ ॥

गुणातिरेकेऽपि न[1] प्रत्यात्[-1] इमाः पश्येयुः इति पृच्छन्ति - **मालतीति**। हे मालति! मल्लिके! जाति! यूथिके! वो युष्माभिः किमदर्शि दृष्टः। करस्पर्शेन वः प्रीतिं जनयन् किं यात इति। अत्र मालतीजात्योरवान्तरविशेषो द्रष्टव्यः ॥८॥

फलादिभिः सर्वप्राणिनां सन्तर्पका एते पश्येयुरिति पृच्छन्ति - **चूतेति**। चूताम्रयोरवान्तरजातिभेदः, नीपकदम्बयोश्च। हे चूतादयः येऽन्येच परार्थ[2]भविकाः परार्थमेव भवो जन्म येषां ते। यमुनोपकूलाः तस्याः कूलसमीपे वर्तमानाः। तीर्थवासिन इत्यर्थः। ते भवन्तो रहितात्मनां शून्यचेतसां नः कृष्णपदवीं कृष्ण[3]स्य मार्गं शंसन्तु कथयन्तु ॥ ९ ॥

**किमिति**। हे क्षिति! हे क्षिते! त्वया किं तपः कृतं, या त्वं केशवाङ्घ्रिस्पर्शोत्सवा केशवस्य अङ्घ्रिस्पर्शोत्सवो यस्यास्सा। कुतः? अङ्गरुहैः उत्पुलकिता रोमाञ्चिता विभासि शोभसे। तत्र विशेषं पृच्छन्ति-अपि किमयमुत्सवोऽङ्घ्रिसम्भवोऽधुना तवैकदेशाङ्घ्रिस्पर्शसम्भूतः[4]। यद्वा नैतावत्, किन्तु उरुक्रमविक्रमात्पूर्वमेव त्रिविक्रमस्य पदा सर्वाक्रमणात्। आहो अथवा। नैतावदेव, अपि तु ततोऽपि पूर्वं वराहस्य वपुषः परिरम्भणेनेति। अतः त्वया नूनं दृष्टः, तं दर्शयेति ॥ १० ॥

---

1- -1. P,V. नम्राः 2. J,Va °व° 3. P,V. कृष्णमार्गं 4. P.V. तदेक

**वीर० कच्चिदिति।** हे कुरवकादयः मानिनीनां दर्पहरं स्मितं यस्य स रामानुजः इहागतः। **कच्चिदितीष्टप्रश्नद्योतकमव्ययम्।** दृष्टः आगतश्च किम्? तदस्मदिष्टमित्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि ॥ ६ ॥

हे तुलसि! हे गोविन्दचरणप्रिये! अत एव हे कल्याणि! अलिकुलैस्सह त्वां बिभ्राणः तवाऽतिप्रियश्च अच्युतः त्वया दृष्टः कच्चित्? ॥ ७ ॥

गुणातिरेकेऽपि नम्रा इतीमाः पश्येयुरिति पृच्छन्ति — **मालतीति।** हे मालति! हे मल्लिके! हे जाति! हे यूथिके! वो युष्माभिः अदर्शि कच्चिद्दृष्टः किम्? माधवः करस्पर्शेन युष्माकं प्रीतिं जनयन् किं यातः, अत्र मालतीजात्योः अवान्तरविशेषो द्रष्टव्यः ॥ ८ ॥

फलादिभिः सर्वप्राणिसन्तर्पका इमे पश्येयुरिति पृच्छन्ति — **चूतेति।** चूताम्रयोः कदम्बनीपयोश्च अवान्तरभेदो द्रष्टव्यः। हे चूतादयः भवन्तः ये चान्ये परार्थमेव भविका जन्म येषां ते यमुनाकूलसमीपे वर्तमानाः तीर्थवासिन इत्यर्थः। रहितात्मनां शून्यचेतसामस्माकं कृष्णपदवीं शंसन्तु कथयन्तु ॥ ९ ॥

हे क्षिति! त्वया किं तपः कृतम्? अन्यथेदं न घटत इत्याहुः। या त्वं केशवस्याङ्घिस्पर्शेनोत्सवो यस्यास्तथाभूता, कुतः अङ्गरुहैः उत्पुलकिता रोमाञ्चिता विभासि शोभसे, उदञ्चितानि तृणान्यालक्ष्य तेन रोमाञ्चः? तत्र हेतुः केशवाङ्घिस्पर्शः। तत्र च हेतुः प्राक्तनं तपश्चेति सम्भाव्य अथोत्सवे हेत्वन्तराण्यपि सम्भावयन्ति। अपि किमयमुत्सवोऽङ्घिसम्भवः। अथुनैकदेशे भगवदङ्घिस्पर्शसम्भवः। किं वा पूर्वमेव उरुक्रमस्य त्रिविक्रमस्य विक्रमात् पदा सर्वाक्रमणाज्जातः? अथवा ततोऽपि पूर्वं वराहवपुषः भगवतः परिरम्भणेनाऽऽलिङ्गनेन जातः ॥ १० ॥

**विज०** कुरवकः करञ्जः नागः, नागकेसरः। "पुन्नागे पुरुषस्तुङ्गः" (अम.को. 2-82) इति, दोग्धा जिह्वामधुरः॥ ६,७॥

मालती जातिभेदः, वो युष्माभिः अदर्शि दृष्टः। यूथिका शतपत्रिका ॥ ८ ॥

प्रियालो राजादनः देवदारुर्वा, कोविदारः काञ्चनारकः, असनः पीतसारकः, अक्षं शुकनासं, परार्थभविनः लोकोपकारार्थमुत्पन्नाः यमुनाकूलसमीपे जाताः, रहित आत्मा स्वामी कृष्णो यासां तास्तथा तासाम् ॥९॥

हे क्षिति! ते त्वया किं शुभं तपोलक्षणं कृतं, पर्याप्तमङ्घोपाङ्गपूर्णं शुभं ते तव किं बताऽऽमन्त्रितं सत्कारपूर्वकं व्यावृत्तमस्तीत्यर्थः। "युगेऽक्षपाते पर्याप्ते कृतं क्ली विहितेऽर्थवत्" (वैज; को 6-5-21) इति यादवः। "खेदानुकम्पा सन्तोष विस्मयामन्त्रणे बत" (अम.को. 3-399) इत्यमरः। अस्तीति कथमवगम्यते इत्यत्राऽऽह — **केशवेति।** केशवस्य सुकेशभारस्याऽङ्घ्रयोः स्पर्श एव उत्सवः तेन उत्पुलकितैः ऊर्ध्वमुखोल्लसितैः अङ्गरुहैः रोमलक्षणैर्वृक्षैः विभासि यत्तस्मादिति शेषः। यद्वा केशवाङ्घिस्पर्शेनोत्सवा प्रकृष्टप्रसवा सती त्वमङ्गरुहैर्वृक्षैः उत्पुलकिता रोमाञ्चिता विभासि। यद्वा अङ्घिस्पर्शनलक्षणेनोत्सवेन

उत्पुलकिताङ्गरुहैः अङ्कुरितपुष्पितफलितैर्वृक्षैः हे अङ्गिसम्भवे नारायणश्रीपादसम्भवे उत्पन्ने अपि "पद्भ्यां भूमिः" (पु.सू. 13) इति श्रुत्या लोकसम्भाविते उरुक्रमस्य त्रिविक्रमस्य विक्रमात् पादविक्रमणात् अङ्गरुहैः उत्पुलकितैर्विभासि वा। आहो स्वित् वराहवपुषा नारायणेन कृतेन परिरम्भणेन अलिङ्गनेनोद्धृतिलक्षणेन "केशाद्वोऽन्यतरस्याम्"(अष्टा 5-2-109) इति सूत्रेण शेभमानाः केशा अस्य सन्तीति मत्वर्थे वप्रत्ययो विधीयते। अर्थान्तरविवक्षायां गोपीनामनभीष्टत्वम् ॥१०॥

अप्येणपत्न्युपगतः प्रियया[1] इह गात्रैः तन्वन्दृशां सखि! सुनिर्वृतिमच्युतो वः।
कान्ताङ्गसङ्ग कुचकुङ्कुमरञ्जितायाः कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः ॥ ११ ॥

बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो रामानुजस्तुलसिकालिकुलै र्मदान्धैः।
अन्वीयमान इह वस्तरवः! प्रणामं किं वाऽभिनन्दति चरन्प्रणयावलोकैः ॥ १२ ॥

पश्यतेमा[2] लता[3] बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः।
नूनं तत्करजस्पर्शा[4] बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो! ॥ १३ ॥

श्री[6] शुक उवाच[5]

★ इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ॥ १४ ॥

कस्याश्चित्पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत्स्तनम्।
तोकयित्वा रुदत्यन्या पदाऽहन् शकटायतीम् ॥ १५ ॥

---

1. M,Ma °मीश्वरो 2. V. पृच्छ° 3. M,Ma °ह 4. G,J,V,Va स्पृष्टा 5- -5. G,J,V,Va omit ★ From the 14th verse beginning with इत्युन्मत्तवचो to the end of 23rd verse ending with भीतिबिडम्बनम् i.e. 10 verses and the commentary of Vijayadhvaja there on are not found in M.Ma editions. 6. K,T,W स्तन्य°

**श्रीध०** हरिण्या दृष्टिप्रसृत्या[1] कृष्णदर्शनं सम्भाव्याऽऽहुः — अपीति। हे सखि! एणपत्नि! अपि किमुपगतः समीपं गतः। गात्रैः सुन्दरैर्मुखबाह्वादिभिः। प्रियया सहेति यदुक्तं[2] तद्द्योतकम्। कान्ताया अङ्गस[3]ङ्गस्तेन तत्कुचकुङ्कुमेन[3] रञ्जितायाः कुन्दकुसुमस्रजो गन्धः। कुलपतेः श्रीकृष्णस्य वाति आगच्छति ॥ ११ ॥

फलभारेण नतान् तरून् कृष्णं दृष्ट्वा प्रणता इति मत्वा प्रियया सहितस्य[4] गतिविलासं सम्भावयन्त्यः पृच्छन्ति — **बाहुमिति**। तुलसिकाया अलिकुलैः अतः तदामोदमदान्धैः अन्वीयमानोऽनुगम्यमान इह चरन्निति ॥ १२ ॥

**पश्यतेति**। काश्चिदाहुः — हे सख्यः! इमा लताः कृष्णेन सङ्गता नूनम्। अत इमाः पृच्छत। ननु स्वपतिसङ्गतौ तत्सङ्गतिर्दुर्घटा? न। वनस्पतेः पत्युर्बाहून् शाखा आश्लिष्टा अपि अहो भाग्यं नूनं तन्नखैः स्पृष्टा यत उत्पुलकानि बिभ्रति। न हि स्वपतिसङ्गतावीदृक्पुलकसम्भव इति भावः ॥ १३ ॥

उन्मत्तकवत्प्रच्छुरित्येतत्प्रपञ्चित मिदानीं "रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः" इति यदुक्तं तत्प्रपञ्चयति — **इतीति**। उन्मत्तवचोगोप्यः उन्मत्तवचसश्च ता गोप्यश्च। कृष्णान्वेषणेन कातरा अतिविह्वलाः। अनुचक्रुरनुकृतवत्यः ॥ १४॥

कस्याश्चिदित्यादिभिश्चतुर्भि स्नुकरणं प्रपञ्चयते। ततश्चतुर्भिस्तन्मयत्वं पुनरेकेनानुकरणमिति विवेकः। **कस्या** इति। पूतनायन्त्याः पूतनावदाचरन्त्याः कृष्णवदाचरन्ती स्तनमपिबत्। तोकयित्वा तोकवत् शिशुवत् आत्मानं कृत्वा ॥ १५ ॥

---

1. J,Va प्रत्यासत्त्या 2. J,Va तत्र बो° 3- -3. P,V °सङ्गतः 4. J, Va °ह त° 5. J,Va omit

**वीर०** हरिण्या दृष्टिलालित्यस्य श्रीकृष्णदर्शनजहर्षयुक्ततां सम्भाव्य पृच्छन्ति — **अपीति**। हे एणपत्नि! वो युष्माकं दृशां सुनिर्वृतिं निरतिशयानन्दं गात्रैस्सुन्दरैः पाणिपादादिभिरवयवैः वितन्वन् विस्तरेण जनयन् अच्युतः प्रियया सह इहोपगतः अपि किम्? आगतः किम्? इत्यर्थः। नोपगत इति मा वोच इत्यभिप्रेत्य तत्र लिङ्गमाहुः। कापटचेन न ब्रूयुरिति सख्यमापादयन्तीभि स्सम्बोध्यते हे सखीति। कान्ताया अङ्गसङ्गेन आलिङ्गनेन यत्कुचकुङ्कुमं तेन रञ्जितायाः कुलपतेः गोकुलनाथस्य कृष्णस्य कुन्दस्रजो गन्ध इह वाति प्रसरति। अनेन कान्तया सह उपगतत्वे लिङ्गमुक्तं भवति ॥ ११ ॥

फलभारेण नतान् तरून् कृष्णदर्शनात् प्रणतान्मत्वा प्रियया सहितस्य गतिविलासं सम्भावयन्त्यः पृच्छन्ति — **बाहुमिति**! हे तरवः! रामानुजो गृहीतं दक्षिणपाणिना धृतं पद्मं येन तथाभूतः। प्रियायाः स्कन्धे बाहुं वामबाहुं निधाय तुलसिकाया अलिकुलैः तदामोदमदान्धैरन्वीयमानोऽनुगम्यमान इह चरन् प्रणयसहितैरवलोकै र्वा युष्माकं प्रणाममभिनन्दति किम्? ॥ १२ ॥

तत्र काश्चित् काश्चिद्गोपीराहुः — **पश्यतेति** हे सख्यः! इमा लताः कृष्णेन नूनं सङ्गताः पश्यत, पृच्छतेति पाठान्तरम् तदा इमाः पृच्छतेत्यर्थः। ननु स्वपतिसङ्गतौ तत्सङ्गतिः दुर्घटा, तत्राऽऽहुः। वनस्पतेः पत्युः बाहून् स्कन्धान् आश्लिष्टा अपि कर्तरि क्तः। 'आश्लिष्ये'ति पाठान्तरम्। तदा आश्लिष्यापि नूनं तस्य कृष्णस्य करजैः नखैः स्पृष्टाः कुतः? यत उत्पुलकानि बिभ्रति। न हि स्वपतिसङ्गतानामपि ईदृक्पुलकसम्भव इति भावः। उद्भिन्नकोरकाणि पुलकत्वेन सम्भावयन्तीना मियमुक्तिः ॥ १३ ॥

उन्मत्तकवत् पप्रच्छुरित्येतत् प्रपञ्चितम्। अथ रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः इति यदुक्तम् तत्प्रपञ्चयति **इतीति**। इति उन्मत्तस्येव वचांसि यासां ताः गोप्यः कृष्णान्वेषणेनातिकातराः अतिविह्वलाः तदात्मिकाश्च भगवतः तास्ताः लीलाः अनुचक्रुः अनुकृतवत्यः ॥ १४ ॥

कस्याश्चिदित्यादिभिश्चतुर्भि रनुकरणं प्रपञ्च्यचते। ततश्चतुर्भि स्तन्मयत्वम्। पुनरेकेनानुकरणमिति विवेकः। कस्याश्चिद्गोपिकायाः पूतनावदाचरन्त्याः काचित्कृष्णवदाचरन्ती स्तनमचुम्बत्। अन्या तु तोकयित्वा शिशुवदात्मानं कृत्वा रुदन्ती शकटासुरवदाचरन्तीं काञ्चि त्पदा चरणेन अहन् ताडयामास ॥ १५ ॥

**विज०** हे एणपत्नि! मृगजाये! ते ईश्वरः कयाचित्प्रियया प्रियतमया इहोपगतः सामीप्यमासः किम्? कीदृशः? हे सखि! मृगभार्ये! गात्रैः आननाङ्घ्रिशरीरावयवैः वो युष्माकं दृशां सुनिर्वृतिं तन्वन्नपि विस्तारयन्, प्रश्ने निमित्तमाह — कान्तेति। कान्तायाः कमनीयायाः अङ्गसङ्गात् आलिङ्गनलक्षणात् सङ्क्रान्तकुचकुङ्कुमेन रञ्जिताया अनुरागीकृतायाः अस्मत्कुलपतेः कृष्णस्य अंसावलम्बिन्याः कुन्दस्रजः कुन्दपुष्परचितमालाया गन्ध इह वाति आगच्छतीति यतस्मादिति शेषः। 'वा गति गन्धनयोः' इति धातुः। यद्वा कान्तस्य भगवतोऽङ्गसङ्गसंयोगो यस्यास्सा तथा। अत्र स्त्रीशब्दोऽध्याहार्यः। सा कान्ताङ्गसङ्गा स्त्री तस्याः कुचकुङ्कुमरञ्जितायाः कुलपतेः कुन्दस्रजः गन्धोऽस्यास्तीति मत्वर्थे अच् प्रत्ययात् गन्धवान् वायुरिह वाति वीजयतीति, गोपीनामेकवचनबहुवचनाभ्यां भक्त्यतिशयपिशाचीग्रहणं सूचयति। यद्वा, एणपत्नीतुल्यनेत्रत्वात् सखीत्युपचर्यते। वः ईश्वरो भर्ता, मृगः कयाचित्प्रियया हरिण्या उपगतः। आश्लिष्टोऽपि किं न भवति गर्हितत्वात्। अस्मत्कुलपतिरस्मान्विहाय कयाचिदालिङ्गित इत्याशयेनाऽऽहुः — कान्तेति। कान्ताया अङ्गे उरोभयवे सङ्गो ययोस्तौ कान्ताङ्गसङ्गौ तौ कुचौ च कान्ताङ्गसङ्गकुचौ तयोः कुङ्कुमेन रञ्जितायाः अरुणीभूतायाः कुलपतेः कुन्दस्रजो गन्ध इह वाति। स्वयं च न दृश्यते, तत्सद्भावो विज्ञायत इति व्यङ्ग्यालङ्कारोक्तिः ॥ ११ ॥

विटवृत्तिमनुवर्तमानस्य पुंसो मालत्यादिपुष्पादानेच्छया तत्समीपजिगमिषासम्भवेन तत्प्रश्न उपयुज्यते। अश्वत्थादि प्रश्नः क्रोपयुज्यते, इत्यतः सम्भवं दर्शयितुमाहुः — **बाहुमिति**। हे तरवः प्रणामप्रदक्षिणादिना? प्रसन्नाः संसारात्तारयन्तीति तरवोऽश्वत्थादयः भगवच्चरणप्रियतुलसिकापुष्पमकरन्दलोलैः अलिकुलैरन्वीयमानो रामानुज एकं बाहुं प्रियांऽसे उपधा यपेरण गृहीतपद्मः प्रणामं चरन् कुर्वन् प्रणयावलोकैः वः अभिनन्दति किं वेत्यन्वयः। प्रावण्यऽलङ्कारोक्तिः। यद्वा इह चरन् रामानुजः प्रणयावलोकैः वः प्रणाममभिनन्दति, किञ्चानेन स्थावराणां भक्त्युन्नतिः सूचितेति ॥ १२ ॥

नूनं निश्चयेन यास्तस्य कृष्णस्य करनखस्पर्शादुत्पुलकितानि पुष्कफललक्षणानि बिभ्रति ताः लताः वनस्पतेः बाहून् शाखा अश्लिष्टा अपि सम्भाव्याः पश्यत। अहो उन्मुख्यो भक्त्येत्यन्वयः। अयं रूपकालङ्कारः सुरतसुखस्मारकः ॥ १३ ॥

**दैत्ययित्वा जहारान्यामेका कृष्णार्भभावनाम्।**
**रिङ्ग्यामास काऽप्यङ्घ्री कर्षन्ती घोषनिस्वनौ ॥ १६ ॥**

कृष्णरामायिते द्वे तु गोपवत्सायिताः परा[3] ः ।
वत्सायितं[4] गृहीत्वाऽन्या[-4] भ्रा[5-] मयित्वा न्यपातयत् ।
कृष्णायिता घ्नती वान्या[-5] तत्रैका तु बकायतीम् ॥ १७ ॥

आ[6-] ह्वयद्दू[-6] रगा यद्वत्कृष्णस्तमनुकुर्वतीम्[7-] [-7] ।
वेणुं क्वणन्तीं क्रीडन्तीमन्याश्शंसन्ति साध्विति ॥ १८ ॥

कस्याश्चित्स्वभुजं[8] न्यस्य चलन्त्याह्याऽपरा[9] अ[10] नु ।
कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मना[11] ः ॥ १९ ॥

मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां तत्त्राणं विहितं मया ।
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन वि[12-] तत्यो[-12] न्निदधेऽम्बरम् ॥ २० ॥

---

★ This half verse is not found in V Edn 1 G,J,Va °ङ्क° 2. G,J,Va °नैः 3- -3. G,J,Va गोपायन्त्यश्च काश्चन 4- -4. G,J,Va वत्सायतीं हन्ति चान्या 5- -5. G,J,Va omit two quarter verses. 6- -6. G,J,V,Va आह्वय दू° 7. J,Va वर्ततीम् 8. K कस्याश्चि° 9. J °ह परां ; V °ह परां 10. G,J,Va ननु ; V तु सा 11. V °या 12- -12. G,J,Va यतन्त्युन्नि°

**श्रीध० दैत्ययित्वेति**[1]। दैत्ययित्वा[2] दैत्यवत्तृणावर्तवदात्मानं कृत्वा एका कृष्णाभिभावनां कृष्णस्यार्भं बाल्यं भावयति या तामन्यां जहार ॥ १६,१७ ॥

**आह्वयदिति**[3-] [-3] । दूरगाः दूरे वर्तमानाः गाः। यद्वद्यथा कृष्णः तथाऽऽहूय तं कृष्णम् अनुकुर्वतीम्[4-] अनुवर्तमानाम्[-4]। अनुवर्ततीम्[5-] [-5] इति वा पाठः॥ १८, १९ ॥

**मेति**। यतन्ती प्रयत्नं कुर्वती अम्बरमुत्तरीयं वस्त्रमुन्निदधे ऊर्ध्वं धृतवती ॥ २० ॥

---

1. J,Va °त्या 2. J,Va °त्या° 3- -3. V आह्वयेति 4- -4. J,Va (अनुवर्ततीम्) अनुवर्तमानाम्। 5- -5. J,Va अनुकुर्वतीम्

**वीर०** काचित्तु दैत्ययित्वा तृणावर्तवदात्मानं कृत्वा अन्यां काञ्चित्कृष्णस्यार्भं बाल्यं भावयन्तीं जहार हृतवती। काचित्तु घोषाणां ध्वनतां भूषणानां निस्स्वनो ययोस्तौ। भूषणस्वनौ इति पाठान्तरम्। तावङ्घ्री चरणौ कर्षन्ती रिङ्खयामास जानुचङ्क्रमणं चकार ॥ १६ ॥

द्वे गोप्यौ कृष्णरामाविवाऽऽचेरतुः। काश्चन गोपा वत्साश्च तद्वदाऽऽचेरुः। तत्र काचिद्वत्सासुरवदाचरन्तीं कांश्चित् गृहीत्वा भ्रामयित्वा न्यपातयत्। काचिद्बकासुरवदाचरन्तीं घ्नतीव बभूव ॥ १७ ॥

तदा दूरगा दूरे वर्तमानाः गोवदाचरन्तीः, काश्चित् यद्वत्कृष्णः तद्वदाह्वयत् आजुहाव, 'आहूय' इति पाठे यद्वत्कृष्णः तद्वद्दूरगा आहूय, पुनस्तमनुकुर्वतीं, 'कृष्णत्वम्' इति पाठे कृष्णभावमनुकुर्वतीम्। तदेव दर्शयति वेणुं क्वणयन्तीं केवलं मुखेन गायन्तीं, 'क्रीडन्तीम्' इति पाठान्तरम्। काश्चित्साधु साध्विति शंसन्ति प्रशशंसुः ॥ १८ ॥

काचित्तु तन्मनाः कृष्णाभेदाभिमानयुक्तमनाः कस्यांचित्स्वभुजं न्यस्य कस्याश्चिद्दंसे स्वभुजं निधायेत्यर्थः। चलन्ती पादविन्यासान्कुर्वती अपराः प्रत्याह, किमिति? ननु हे सख्यः! अहं कृष्णः मम ललितां सुन्दरतरां गतिं पश्यतेति ॥ १९ ॥

तथा काचित्कृष्णोऽहमिति वदन्ती वर्षवाताभ्यां मा भैष्ट भयं मा कार्ष्ट, ताभ्यां वर्षवाताभ्यां त्राणं रक्षणं मया विहितमित्युक्त्वा अम्बरमुत्तरीयमेकेन हस्तेन वितत्य विस्तृत्य उन्निदधे ऊर्ध्वं धृतवती ॥ २० ॥

आरुहचैका[1] पदाऽऽक्रम्य शिरस्याहाऽपरां[2-] नृप[-2]!।
दुष्टाहे! गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृत्[3] ॥ २१ ॥

तत्रैका[4] चाऽऽह हे गोपाः! दावाग्निं पश्यतोल्बणम्।
चक्षूंष्याशु[5] पिदध्वं वो विधास्ये क्षेममञ्जसा ॥ २२ ॥

[6-]बध्नन्त्येका स्रजा काश्चित्[-6] [7-]त्वा मद्योलूखले हरे[-7]।
★ बध्नामि भाण्डभेत्तारं हैयङ्गवमुषन्त्विति।
भीता सुदृक्पिधायाऽऽस्यं भेजे भीतिविडम्बनम् ॥ २३ ॥

एवं कृष्णं[8] पृच्छमाना बृन्दावनलतास्तरून्।
व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः ॥ २४ ॥

पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः।
लक्ष्यन्ते हि [9-]ध्वजाम्भोज[-9] [10-]वज्राङ्कुशलतादिभिः[-10] ॥ २५ ॥

---

1. V °कां 2- -2. शिर आहा° 3. G,J,Va,W धृक्; V भृत् 4. G,J,V,Va °कोवाच 5. G,J,V °ष्वपि° 6- -6 G,J,Va बद्धान्यया स्रजा काचित्; V बध्नन्त्यन्या स्रजैकाऽऽह 7- -7. G,J,Va तन्वी तत्र उलूखले ★ This half verse is not found in G,J,Va Edns. 8. M,Ma °क्षन्त 9- 9. V यदम्भोज 10- -10. G,J,Va वज्राङ्कुशयवादिभिः; V. ध्वजवज्राङ्कुशादिभिः

**श्रीध० तत्रेति।** पिदध्वं[1] निमीलयत ॥ २१, २२ ॥

**बध्नन्तीति।** सुदृक् सुनयनम् आस्यं पिधाय, सुदृक् वराक्षीति वा। भीतिविडम्बनं भयानुकरणम् ॥ २३ ॥

**एवमिति।** एवं पुनरपि बृन्दावने लतास्तरूंश्च कृष्णं पृच्छन्त्यो वनोद्देशे वनप्रदेशे। व्यचक्षत अपश्यन् ॥ २४, २५॥

---

1 J,Va अपि°

**वीर०** हे नृप! काञ्चित्कालियायन्तीं शिरसि पदा आक्रम्य अपरा काचिदुवाच किमिति? हे दुष्टसर्प! गच्छ इतो ह्रदादपसर। ननु हे अहे! अहं खलानां दण्डधृत्[1] दण्डयिता जातः अवतीर्ण इति ॥ २१ ॥

तथा तत्र गोपीनां मध्ये काचिदुवाच — **किमिति।** हे गोपाः! उल्बणं दुस्सहं प्रभूतं वा दावाग्निं पश्यत। चक्षूंषि पिदध्वं निमीलयत। वो युष्माकमाशु क्षेममञ्जसा सुखेन विधास्ये करिष्यामीति ॥ २२ ॥

एका तु स्रजा काञ्चिद्बध्नन्ती प्रोवाच, किमिति? हे हरे! अधुना त्वां हैयङ्गवमुषं नवनीतचोरं तद्भाण्डभेत्तारं च, अतः उलूखले बध्नामीति। तथैवं बद्धोक्ता च सा भीतेव शोभने दृशौ तदास्यं पिधाय हस्ताभ्याम् आच्छाद्य सुदृक् वराक्षी वा सती मुखं पिधाय भीतिविडम्बनं भयानुकरणं भेजे चकार ॥ २३ ॥

इत्थं पुनरपि बृन्दावने लतास्तरूंश्च कृष्णं पृच्छमानाः वनप्रदेशे परमात्मनः कृष्णस्य पदानि व्यचक्षत अपश्यत् ॥ २४ ॥

तदा दृष्टभगवत्पादानां तासामुक्तिमाह — **पदानीति।** इमानि महात्मनो नन्दसूनोः पदानि व्यक्तं नूनम्। कुतः? हि यस्मात् ध्वजादिभीरेखात्मकैः लक्ष्यन्त इति ॥ २५ ॥

---

1 T,W °क्

**विज०** उपसंहरति — **एवमिति।** वनोद्देशे वनप्रदेशे ॥ २१-२४ ॥

परमात्मचरणाकृतित्वं कथमवगम्यते इति तल्लक्षणमुच्यते — **पदानीति।** लता कल्पलता आदिशब्देन चक्रादिकं गृह्यते। यवादीत्यपि पाठः ॥ २५ ॥

**तै स्तैःपदैस्त त्पदवी मन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः।**
**वध्वाः पदैः सुपृक्तानि[2] विलोक्याऽऽर्तास्समब्रुवन् ॥ २६ ॥**

कस्याः पदानि चैतानि[3] यातायां[-3] नन्दसूनुना ।
अंसन्यस्तप्रकोष्ठायाः करेणोः[4] करिणा यथा ॥ २७ ॥

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान्हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो या मनयद्रहः ॥ २८ ॥

धन्या अहो! अमी आल्यो[5] गोविन्दाङ्घ्रयब्जरेणवः।
या[6-] न्ब्रह्मेशादयो देवाः[-6] दधुर्मूर्ध्न्यधनुत्तये[7-] ॥ २९ ॥

तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत्।
एकाऽपहृत्य[8] गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम् ॥ ३० ॥

---

1- -1. V ततस्ततस्तं प° 2. K,T,W सं° 3- -3. V यातायाः पश्यध्वं 4. M,Ma करिण्याः 5 V ह्या° 6- -6. G,J,M,Ma,Va यान् ब्रह्मेशौ रमा देवी; V यान् ब्रह्मेशौ रमा देवाः 7- -7. M,Ma °र्मूर्ध्ना तदूतये 8. G,J,K,V,Va यै° 9 K,T,W धनं

**श्रीध०** तैरिति। सुपृक्तानि सम्मिश्राणि ॥ २६ ॥

**कस्या** इति। तेनांसे न्यस्तः प्रकोष्ठो यस्याः। करेणोः हस्तिन्याः ॥ २७ ॥

**अनयेति**। रह एकान्तस्थानम् ॥ २८ ॥

**धन्या** इति। हे आल्यः! सख्यः! अहो धन्या अतिपुण्या गोविन्दाङ्घ्रयब्जरेणवः, तत्र हेतुः — यानीति। अस्माभिरप्येतद्रेणवभिषेकेण तथैव कृष्णः प्राप्तुं शक्य इति भावः ॥ २९ ॥

अन्या आहुः — **तस्या** इति। गोपीनां सर्वस्वम्। अयं भावः — भवेदेवं यदि तस्याः पदानि संपृक्तानि न भवेयुः तानि तु नः[1-] दुःखं[-1] कुर्वन्तीति ॥ ३० ॥

---

1- -1. P,V नः कथं दुःखं

**वीर०** ततः तैस्तैः ध्वजादिचिह्नितैः पदैः तस्य कृष्णस्य पदवीं पुरःपुरोऽन्विच्छन्त्यः अन्वेषयन्त्यः, अबला गोप्यः तदा कस्याश्चिद्वध्वाः पदैः सम्पृक्तानि अन्तराऽन्तरा युक्तानि भगवतः पदानि विलोक्याऽऽर्ता दुःखिता ऊचुः ॥ २६ ॥

तदेवाऽऽह — **कस्या** इत्यादिभिः सार्धैरष्टभिः। करिणा सह करिण्या इव नन्दसूनुना सह गच्छन्त्याः कस्याश्चिद्वध्वाः पदानि हे गोप्यः! पश्यत! कथम्भूतायाः? अंसे स्कन्धे न्यस्तः प्रकोष्ठो यस्याः तस्याः. अन्यथा एवंविधः पदानां सम्पर्को न स्यादिति भावः ॥ २७॥

अनया, कृष्णेन सह यातया भगवान् हरिरीश्वरो नूनम् आराधितः, पूर्वजन्मनीति शेषः। कुतः? यदस्मानोऽस्मान् सर्वाः विहाय गोविन्दः प्रीतियुक्तो रहः एकान्तं यामनयत्। न ह्यनाराधितेश्वराणां रहसि गोविन्दसङ्गस्सुलभ इति भावः ॥ २८ ॥

काश्चिदाहुः — **धन्या** इति। हे आल्यः सख्यः! अमी गोविन्दस्य पादाब्जरेणवः धन्याः। अहो! तत्र हेतुः यानिति। यान् गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणून् ब्रह्मादयो देवाः अघनुत्तये गोविन्दप्राप्तिप्रतिबन्धकपापापनुत्तये मूर्ध्नि धृतवन्तः। अस्माभिरप्येतद्रेण्वभिषेकेण तथैव कृष्णः प्राप्तुं शक्य इति भावः ॥ २९ ॥

अन्यास्त्वाहुः — **तस्या** इति। तस्याः गोविन्देन सह यातायाः अमूनि पदानि नोऽस्माकम् उच्चैः भृशं क्षोभं चित्तक्षोभं कुर्वन्ति, तत्र हेतुः — या स्वयमेकैव सर्वासां गोपीनां सम्बन्धि सर्वस्वभूत मच्युतस्याधरमधरामृतमपहृत्य रहसि भुङ्क्ते ॥ ३० ॥

**विज०** अन्विच्छन्त्यः अन्वेषणं कुर्वत्यः वध्वाः कस्याश्चिद्गोपस्त्रियः पदैश्चरणैः निक्षिप्तैः सुपृक्तानि अन्तराले मिश्रितानि ईर्षया (ईर्ष्यया) आर्ताः समब्रुवन् संलापमकुर्वन् ॥ २६ ॥

प्रकोष्ठः करतलमूलभागः करिणा सहितायाः करिण्याः पदानि यथा स्वांसन्यस्तहस्तायाः करिण्याः पदैः संपृक्तानि करिणा कृतानि पदानि वा ॥ २७, २८ ॥

हे आल्यः! सख्यः! धन्या निरपेक्षाः: "आलिः सेतौ सखीपङ्क्तचोः" (वैज.को. 6-2-3) इति यादवः। "निरपेक्षो गुणैः पूर्णो धन्य इत्युच्यते बुधैः" इति च। ब्रह्माद्या मूर्ध्ना यान् दधुरिति यत्तस्मात् धन्या इत्यर्थः। तस्मात् विष्णोरूतये अभिप्रायसिद्धये रक्षासिद्धये वा ॥ २९ ॥

ननु धन्यानां कृष्णपादततयुक्तानां रेणूनां सन्दर्शनं युष्माकमभूत्। इतःपरं शोकस्य किं कारणमित्याशङ्क्य, सत्यम्, अथापि तदीयपदसम्पृक्तमन्यस्त्रीपदं सन्दृश्य संस्मृत्य महाशोको जायत इत्याशयेनाऽऽहुः — **तस्या** इति। गोपीनां मध्ये एका गोपी कृष्णमपहृत्य वशीकृत्य अच्युताधरं अच्युतस्य होः, अच्युतं सन्ततस्यन्दमानामृतमधरोष्ठं रहो रहस्येकान्तदेशे भुङ्क्ते यत् ततस्तस्या गोप्या अमूनि पदानि सन्दृश्याऽधरपानं संस्मृत्य उच्चैः क्षोभं चित्तविक्षेपं कुर्वन्ति, तस्माच्छोक इत्यर्थः ॥ ३० ॥

**न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नूनं तृणाङ्कुरैः।**
**खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलामुन्निन्ये प्रेयसीं प्रियः ॥ ३१ ॥**

★ **इ मान्यधिकामग्नानि[1] पदानि वहतो वधूम्।**
**गोप्यः! पश्यत कृष्णस्य भाराक्रान्तानि[2] कामिनः[3] ॥ ३२ ॥**

अत्रावरोपिता[4] कान्ता पुष्पहेतोर्महात्मना।
अत्र प्रसूनापचयः प्रियार्थे[5] प्रेयसा[6] कृतः ॥ ३३ ॥

प्रपदाक्रमणे हर्षते[7] पश्यतासकले पदे।
केशप्रसाधनं त्वत्र कामिन्याः कामिना कृतम् ॥ ३४ ॥

तानि चूडयता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम्[8]।
$ इत्येवं प्रलपन्त्यस्ता गोप्यश्चेरुर्विचेतसः[9] ॥ ३५ ॥

---

★ Three half verses commencing with इमानि ..... and ending with ..... महात्मना are not found in Va.Edn. 1 K,T,W त° 2. G,J क्रान्तस्य 3. K गा° 4. G,J,Va °व° 5. V प्रीत्यर्थे 6. V °से 7. G,J,K,M,Ma,Va एते 8 G,J,V,Va दर्शयन्त्यः $ This half verse is printed after the half verse beginning with कामिनां दर्शयन् (V.36) in G,J,V,Va editions and before कामिनां दर्शयन् in M,Ma editions. 9. M,Ma,V °चेतनाः

**श्रीध०** तदसंपृक्तान् केवलकृष्णपादरेणूनेव विचिन्वत्यः[1] तान्दृष्ट्वा पुनरत्यन्तं समतप्यन्[2]। तदाह श्लोकत्रयेण — **न लक्ष्यन्त** इति। खिद्यती सुजाते सुकुमारे अङ्घ्रितले यस्यास्तामुन्निन्ये स्कन्धमारोपितवान् ॥ ३१ ॥

**प्रपदेति** प्रपदाभ्यामाक्रमणं क्षोणीमर्दनं[3] ययोः। अत एव असकले पदे पश्यतेति। तस्याः कृष्णजान्वन्तरुपविष्टाया[4] श्चिह्नं दृष्ट्वाऽऽहुः — केशप्रसाधनमिति ॥ ३२-३४ ॥

**तानीति**। कान्तामधिकृत्य तानि प्रसूनानि चूडयता चूडानुकारेण बध्नता इह[5] ध्रुवमुपविष्टम् ॥ ३५ ॥

---

1. P,V,Va °न्त्यः 2. J,Va °तपन् 3. V सम्म० 4. P,V °न्त उप 5. J,Va omit इह

**वीर०** अन्या तु केवलमसंपृक्तानि कृष्णस्यैव पदानि दृष्ट्वा सामर्षमाह — **न लक्ष्यन्त** इति। तस्याः वध्वाः पदान्यत्र न दृश्यन्ते। कुतः? यतो नूनं तृणाङ्कुरैः खिद्यन्ती सुजाते सुकुमारे अङ्घ्रितले यस्यास्तां प्रेयसी प्रियः श्रीकृष्णः उन्निन्ये स्कन्धमारोपितवान् ॥ ३१ ॥

अपरास्तु सत्यम्, अत एव अधिकलग्नानि पदानि पश्यतेत्याहुः — **इमानीति**। हे गोप्यः। वधूं वहतो गामिनो गच्छतः, 'कामिन' इति पाठे कामिनः, अत एव वधूं वहतः कृष्णस्य, अत एव भाराक्रान्तानि अत एव अधिकलग्नानीमानि पदानि पश्यत ॥ ३२ ॥

काश्चित् क्षोणीसम्मर्दमालक्ष्याऽऽहुः - **अत्रेति**। महात्मना कामिना अत्र पुष्पहेतोः पुष्पापचयार्थं कान्ता अवरोपिता। अत्र तु प्रियार्थे प्रियामलङ्कर्तुं प्रेयसा कृष्णेन प्रसूनानामपचयः पुष्पलवनं कृतः ॥ ३३ ॥

*अत एव प्रपदाभ्यां पादाग्राभ्याम् उच्चप्रसूनापचयार्थमाक्रमणं ययोस्ते अत एव असकले अर्धमग्ने एते पदे पादाङ्गौ* पश्यत। काश्चित्तस्याः कृष्णजान्वन्तरमुपविष्टायाः चिह्नं क्षोणीसम्मर्दनादिकमालक्ष्याऽऽहुः — **केशप्रसाधनमिति।** अत्र कामिना कृष्णेन कामिन्याः केशप्रसाधनं केशानामितस्ततो विश्लथतां प्रसाधनं पुनस्सीमन्तसमीकरणाभ्यां बन्धनं कृतम् ॥ ३४॥

कान्तामधिकृत्य तानि प्रसूनानि चूडयता शिरोभूषणं कुर्वता कृष्णेनेह नूनम् उपविष्टम्। इत्युक्तप्रकारेण, एवं प्रकारान्तरेणापि प्रलापं कुर्वत्यः। दर्शयन्त्य इति पाठे मिथः तच्चिह्नानि दर्शयन्त्यस्ता गोप्यः तत्र तत्र विचेतस उन्मत्तसदृश्यो विचेरुः ॥ ३५ ॥

---

1. W omits अत एव

**विज०** इदमधिकं शोककारणमित्याशयेनाऽऽहुः — **नेति।** नूनं तर्क एवं कथं तस्याः गोप्याः पदानि न लक्ष्यन्ते न दृश्यन्ते। अदर्शने कारणमूहयन्ति तृणाङ्कुरसम्बन्धेन। खिद्यत्परिघातमाप्नुवत् सुजातं ललितमङ्घ्रितलं यस्याः सा तथा। प्रेयसीं उन्निन्ये उद्धृत्य नीतवान्। उदू(दु)हच नयनेन भूमिसम्बन्धाभावात् पदादर्शनमपि, अत एव तादृशप्रेम नाऽस्माकं प्राप्तमिति शोकोऽस्माकम् ॥ ३१ ॥

युष्मत्परित्यागव त्प्रेयसीपरित्यागेन गमनात् पत्पदादर्शनं किं न स्यादित्यतः कुत उद्धृत्य गमनमनुमीयत इत्यत एतल्लिङ्गमप्रतिहत मित्याहुः — **इमानीति।** धूमाग्न्योरविनाभावात् भारवहपुरुषपदमज्जनं भारवहनाविनाभूतं प्रत्यक्षसिद्धत्वा दुदू(दु)हच्चगमनमनुमीयत इत्यर्थः। मानयितुं शीलमस्यास्तीति मानी। तस्य अधिकशृङ्गारोक्तिरियम् ॥ ३२ ॥

अवरोहणं स्नेहाधिक्यादित्याशयेनाऽऽहुः — महात्मनेति। कथमिदमवगतं, पुष्पनिमित्तादित्यत्राहुः — **अत्रेति।** अपचयः नखादिसंयोगेन यथा म्लानं न भवति तथा प्रसूनम्। इदमपि प्रेयसां प्रेमातिशयप्रकटनम् ॥ ३३ ॥

इदमपि चित्रमित्याहुः — **प्रपदेति।** हे गोप्यः! प्रपदयोः पादाग्रयोराक्रमणं ययोरस्ति ते प्रपदाक्रमणे एते पदे पादलाञ्छने असकले असम्पूर्णे उन्नतशाखापुष्पापचये प्रियकृष्णकरावनमितशाखाग्रहणे दुःस्थपदत्वाद्यावत्पादप्रमाणरहिते, पश्यतेत्यन्वयः। केशमार्जन्या केशप्रसाधनं केशसंस्कारः: 'कमु गतौ' इति धातोः काम आनन्दः, कामो गतिर्ज्ञानं चाऽस्य स्त इति कामी पूर्णानन्दज्ञानवानित्यर्थः। तेन कामिना प्रशस्तेच्छावता वा ॥ ३४ ॥

कान्तां स्त्रियं तानि पुष्पाणि चूडयता संस्कृतकेशपाशे सुदर्शनीयं निदधता कृष्णेनेह स्थते उपविष्टं, पश्यतेति शेषः। इदं ध्रुवं निश्चितं, सन्देहं न कुरुतेत्यर्थः। इतिशब्द आदिवचनः। प्रकृष्टं कृष्णविषयं प्रलापं कुर्वन्त्यः विटविषयमनर्थवचनं कुर्वन्त्यश्च[1] ॥ ३५ ॥

---

1. M,Ma add अविशिष्टचेतना अविपरीतचेतनाश्च।

★ रेमे तया चाऽऽत्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः।
कामिनां दर्शयन्दैन्यं स्त्रीणां चाऽपि[1] दुरात्मताम् ॥ ३६ ॥

यां गोपीमनयत्कृष्णो विहायाऽन्याः स्त्रियो वने।
सा च मेने तदाऽऽत्मानं वरिष्ठां[2] सर्वयोषिताम् ॥
हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः[3] ॥ ३७ ॥

ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत्।
न पारयेऽहं चलितुं[4] नय मां यत्र ते मनः ॥ ३८ ॥

एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्ध[5] आरुह्यतामिति।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णस्सा वधूरन्वतप्यत ॥ ३९ ॥

हा नाथ! रमण! प्रेष्ठ! क्वासि क्वासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे! दर्शय सन्निधिम् ॥ ४० ॥

---

★ This half verse is printed after तानि चूहयता etc. in G,J,M,Ma,V,Va 1 M चैवं G,J,Ma,V चैव 2. G,J,K,M,Ma,Va °ष्टं 3 M, झह; Ma °ति ह। 4 K,T,W °रि° 5. K,T,W °न्धमार°

**श्रीध० रेमे** इति। रेमे तयेत्यादि शुकोक्तिः। आत्मरतः स्वतस्तुष्टः। आत्मारामः आत्मक्रीडः[1]। अखण्डितः स्त्रीविभ्रमैरनाकृष्टोऽपि। तथा चेत्किमिति रेमे[2] ऽत आह — कामिनामिति ॥ ३६ ॥

स्त्रीणां दुरात्मतामाह — सा चेति द्वाभ्याम्। कामो यानमागमनसाधनं यासां ता गोपीर्हित्वा मां भजते इति हेतोरात्मानं वरिष्ठां[3] मेने इति ॥ ३७, ३८ ॥

कामिनां दैन्यं दर्शयति — **एवमुक्त** इति। अखण्डितत्वमाह — ततश्चेति। तस्यां स्कन्धारोहोद्यतायामन्तर्हित इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

अनुतापमाह — **हा नाथेति** ॥ ४० ॥

---

1. J स्वक्रीडः, Va स्वाक्रीडः 2. P V. °मेत्यत 3. J,Va ष्ठं

**वीर०** किं विचेतोभिर्गोपीभिः केवलमित्थं सम्भावनामात्रं कृतम् उत तत्सत्यमेवेति राज्ञः संशयं निराह मुनिः — **रेम** इति। तया गोपीभिरुद्भावितया कयाचिद्गोप्या सह भगवान् रेमे। कथम्भूतः? आत्मारामोऽप्यखण्डितोऽपि

अवाप्तसमस्तकामत्वेन स्त्रीविभ्रमैरखण्डितचित्तोऽपि। तथा चेत्किमिति रेमेऽत आह- कामिनामिति। कामिनां विषयासक्तचित्तानां दैन्यं तत्पारवश्यात्मकं स्त्रीणां दौर्जन्यं च दर्शयन् दर्शयितुमित्यर्थः ॥ ३६ ॥

स्त्रीणां दुरात्मतामाह — **यामिति**। अन्यास्त्रियो विहाय कृष्णो यां गोपीमनयत्, सा च तदा सर्वयोषितां मध्ये आत्मानं वरिष्ठा[1] ममन्यत। मननप्रकारमेवाऽऽह — हित्येति। कामो यानमागमनसाधनं यासां ताः सर्वा गोपीः विहायाऽसौ प्रियां[2] मामेव भजते अनुवर्तते। अतोऽहं सर्वयोषितां श्रेष्ठेति मेने इत्यर्थः। तत एवमभिमत्यनन्तरं किञ्चिद्दूरं गत्वा गर्विता सती केशवं सर्वेश्वरं[3] कृष्णमब्रवीत्। किमिति? अहं गन्तुं चरितुं न शक्नोमि। अतो यत्र ते मनः यत्र[4] जिगमिषसि, तत्र मां नयेति ॥ ३७-३८ ॥

कामिनां दैन्यं दर्शयति — **एवमिति**। इत्थमुक्तो भगवान् प्रियामाह — किमिति? स्कन्धे[5] आरुह्यतामिति त्वयेति शेषः। अखण्डितत्वमाह — ततश्चेति। ततः तस्यां स्कन्धारोहोद्यतायां सत्याम् अन्तर्हितवान्। ततस्तदैव सा वधूरनुतप्तवती ॥ ३९ ॥

अनुतापप्रकारमेवाऽऽह — **हा नाथेति**। हेति खेदे। हे नाथ! हे प्रियतम! हे महाभुज! क्वासि। तव किङ्कर्याः कृपणायाः दीनायाश्च मम हे सखे! तव सन्निधिं दर्शय ॥ ४० ॥

---

1. K °ष्ठ° 2. T,W °यो 3 T,W omit सर्वेश्वरं T,W omit यत्र 5 K °न्धमारु०

**विज०** अयं सर्वस्मादधिकशोकतम इत्याहुः — **रेम** इति। तया कामिन्या रेमे च सुरतशीलाम्[1]प्यनुबभूव, न स्वार्थमिति सूचयन्ति आत्मरत इति। आत्मनि स्वरूपानन्दे रतः आत्मन्येवाऽऽरामः[1] क्रीडा यस्य स तथा। "आत्मरतिआत्मक्रीडः" (छान्दो.उ. 7-25-2) इति श्रुतिः। अनेन विशेषणद्वयेन हेर्विटवृत्तिं निषिध्यन्ति। भगवत्प्रीतिसाधनभक्तिज्ञानादितारतम्यात् प्रीतितारतम्यमसूचि इति ज्ञायते। तथा चान्या गोप्य इन्द्रियवृत्तयः कृष्णनीता कामिनी भक्तिं बुद्धिर्वा ग्राहयेति, बुद्धिमता तत्तत्पदानि तत्तदर्थबोधकत्वेन योजनीयानीति सङ्ग्राहयमिति सन्तोष्टव्यम्। शोकादिकं च गुणनिमित्तमिति। अत एव अखण्डितः कामेनेति शेषः। कामिनां दुरात्मतां स्त्रीणामेवं दैन्यं दर्शयन् दर्शयन्त्यश्च ॥ ३६ ॥

अहम्भावः सर्वथा त्याज्य इति दर्शयितुमाह — **यामिति**। अनेन राक्षस्याः बुद्धेः स्वभावो दर्शितः। अत्यधिकं भजतेति, हेत्यनेन विषयलोलुपानां प्रवृत्तिरीदृशी इति दर्शयति ॥ ३७ ॥

कथान्तरारम्भं वा। तमाह — **तत** इति। "प्रत्यारम्भे प्रसिद्धे ह" (वैज.को. 8-7-8) इति यादवः। वनोद्देशं विषयप्रदेशं, केशवं प्रशस्तकेशपाशं वने कामिनम्। पारये समर्थये पारं गन्तुं न शक्नोमीति वा ॥ ३८ ॥

यत्र गन्तुं विटगतस्वभावं दर्शयितुमाह — **एवमिति**। भक्त्या लभ्यो नान्यथेति भावं दर्शयति तत इति। शुद्धबुद्धेः स्वभावोऽयमिति दर्शयितुमाह सा वधूरिति ॥ ३९ ॥

हा विषण्णास्मि वने। "हा विषादशुगार्तिषु" (वैज.को. 8-7-8) इति च। हे नाथ! आशाप्रद! हे रमण! रतिप्रद! हे प्रेष्ठ! प्रियतम! दास्याः शिक्षायोग्यायाः, "दासु हिंसायाम्" इति धातुः। कृपणायाः कृपाविषयायाः ॥ ४० ॥

---

1. Ma ली

**अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्योऽविदूरतः।**
**दृदृशुः प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सतीम्[1] ॥ ४१ ॥**

**तया कथितमाकर्ण्य मानप्राप्तिं च माधवात्।**
**अवमानं च दौरात्म्याद्विस्मयं परमं ययुः ॥ ४२ ॥**

**[3-]ततोऽविशन्वनं[-3] चन्द्रज्योत्स्ना यावद्विभाव्यते।**
**तमः प्रविष्टमालक्ष्य ततो निववृतुस्त्रियः ॥ ४३ ॥**

**तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः।**
**तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥ ४४ ॥**

**पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः[4]।**
**समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षिताः[5] ॥ ४५ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
रासक्रीडायां कृष्णान्वेषणं नाम त्रिंशोऽध्यायः॥ ३० ॥

---

1. M,Ma °दिलष्टां मो° 2. G,J,Va — °त्वीम् 3- -3 M,Ma गत्वा वनाद्वनं 4. V °विताः 5. M,Ma °णीः

**श्रीध० अन्विच्छन्त्य** इति। अन्विच्छन्त्यो मृगयमाणाः। अविदूरतः समीपे ॥ ४१, ४२ ॥

**तत** इति। ततस्तयापि सहिताः कृष्णान्वेषणाय वनमविशन्। ततो हेतोः अन्वेषणान्निवृत्ताः ॥ ४३ ॥

**तन्मनस्का** इति। एवं तमःप्राप्ता अपि स्वगृहान्नैव स्मृतवत्यः। तदात्मिकाः स एवाऽऽत्मा यासां ताः। तन्मय्य[1] इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

**पुनरिति**। किन्तु पूर्वं यत्र श्रीकृष्णेन सङ्गतिरासीत् तदेव कालिन्द्याः पुनः[2] पुलिनमागत्य कृष्णं भावयन्ति ध्यायन्तीति तथा ताः कृष्णस्याऽऽगमनं काङ्क्षितं यासां ताः मिलिताः सम्मिलिताः[3-3] सत्यः कृष्णमेव जगुरिति ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे।
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

---

1 P,V °मयाः 2. J,Va omit 3- -3. J,Va omit

**वीर०** इत्थं प्रियस्य विश्लेषणमोहितां विचित्तां दुःखितां च तामविदूरतः ता गोप्यो ददृशुः। कथम्भूताः? भगवतो मार्गमन्वेषयन्त्यः ॥ ४१ ॥

ततस्तया स्वस्याः माधवात् मानप्राप्तिं सम्मानप्राप्तिं तथा आत्मनो दौरात्म्याद्धेतोः अवमानं च कथितमाकर्ण्य सर्वा गोप्यः परमं विस्मयं प्रापुः ॥ ४२ ॥

ततस्तया सहिताः कृष्णान्वेषणाय यावच्चन्द्रिका प्रकाशते तावद्वनं चेरुः। ततस्तमसा सान्द्रतरुच्छायाकृतेन प्रविष्टं व्याप्तं वनमालक्ष्य ततोऽ[1]न्वेषणान्निवृत्ताः ॥ ४३ ॥

एवं तमःप्राप्ता अपि स्वगृहान्नैव स्मृतवत्यः। तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि। तस्मिन् कृष्ण एव मनो यासाम्, अत एव तदात्मिकाः तज्ज्ञानप्रचुराः, अत एव तस्यैवाऽऽलापो यासां, तस्यैव विविधा चेष्टा यासां, ताः तस्यैव गुणान् गायन्त्यः ॥ ४४ ॥

किन्तु पूर्वं कृष्णेन यत्र सङ्गताः तदेव कालिन्द्याः पुलिनमागत्य समवेताः समुदिताः कृष्णभावनायुक्ताः कृष्णस्याऽऽगमने काङ्क्षितं काङ्क्षा यासां ताः कृष्णमेव जगुः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीविराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

---

1 t,W Omit अन्वेषणात्

**विज०** गां दृष्टिं पान्ति रक्षन्ति दुर्विषयगमनराहित्येनेति गोप्य इन्द्रियवृत्तयः शास्त्रविषयाः अविदूरतः ज्ञात्वा समीपे स्थिताः मुक्तेः पूर्वमपरोक्षबुद्धेः आविर्भावतिरोभावौ क्वचित्स्याता मिति भावदर्शनायोच्यते प्रियेत्यादिना ॥ ४१ ॥

मानप्राप्तिं अपरोक्षलक्षणमानप्राप्तिम् ॥ ४२ ॥

यावच्चन्द्रज्योत्स्ना विभाव्यते तावत् वनाद्वनं गत्वा ततश्चन्द्रचन्द्रिकास्तमयानन्तरं प्रविष्टं प्राप्तं तम आलक्ष्य दृष्ट्वा निक्वृतुः, निवृत्ता इत्यनेन दुश्शास्त्राच्चिवृत्त्य सच्छास्त्राभ्यसनाय यत्नं चक्रुरिति सूच्यते। 'स्त्यै ष्टचै शब्दसङ्घातयोः' इति धातोः शास्त्रविषया बुद्धयः ॥ ४३ ॥

सत्त्वबुद्धीनां स्वभावं दर्शयति **तन्मनस्का** इति ॥ ४४ ॥

समवेताः एकविषयीकृताः तस्य कृष्णस्य अगमनकाङ्क्षिण्यः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

(श्रीविजयध्वजरीत्या अष्टाविंशोऽध्यायः)

---

# एकत्रिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या एकोनत्रिंशोऽध्यायः)

गोप्य ऊचुः

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।[1]
दयित दृश्यतां दिक्षु[2] तावकाः त्वयि धृतासवस्त्वां[3] विचिन्वते[4] ॥ १ ॥

शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः ॥ २ ॥

विषजलाप्ययाद्व्यालराक्षसात्[5] वर्षमारुताद्वैद्युतानलात्।
वृषमयात्मजाद्विश्वतो[6] भयात्[7] ऋषभ[8] ते वयं रक्षिता मुहुः ॥ ३ ॥

न[9] खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो[10] विश्वगुप्तये[11] सख उदेयिवान् सात्त्वतां कुले ॥ ४ ॥

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य![12] ते चरणमीयुषां[13] संसृतेर्भयात्।
करसरोरुहं कान्त! कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥ ५ ॥

---

1. M,Ma साधु तत्र° 2- -2 M,Ma त्वा दिदृक्षतां 3 M ग° 4 M,Ma स्त्वा वि° 5. M,Ma V °श° 6 M,Ma भयाद्व्याद्वि 7 M,Ma मुखात् 8 T,W वृ° 9 M,Ma स 10 T,W,V °थ° 11 M,Ma °चि° 12 M,Ma वर्य 13 M,Ma,V श°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एकत्रिंशे निशायां[1] ताः पुनः पुलिन मागताः। कृष्णमेवाऽनुगायन्त्यः प्रार्थयन्ते तदागमम्॥

**जयतीति**। हे दयित! ते जन्मना व्रजः अधिकं यथा भवति तथा जयति अत्युत्कर्षेण[2] वर्तते। यस्मात् त्वमत्र जातः तस्मात् इन्दिरा लक्ष्मीः अत्र हि श्रयते[3] व्रजमलङ्कृत्य वर्तते। एवं व्रजे[4] सर्वस्मिन् मोदमाने अत्र तु तावकाः त्वदीयगोपीजनाः[5] त्वयि त्वदर्थमेव कथञ्चित् धृता असवो यै स्ते त्वां विचिन्वते, मृगयन्ते[6]। अतस्त्वया दृश्यतां प्रत्यक्षीभूयतामिति। यद्वा अस्माभि र्भवान् दृश्यताम्। यद्वा, एवं त्वया दृश्यता मेते विचिन्वते इति, अत्र स्वतन्त्राणां बहूनां च वक्तृत्वात्[7] अपरा आहुरिति सर्वश्लोकेष्ववतारणा[8]। तथाऽपि सङ्गतिरुच्यते ॥ १ ॥

तत्र विचिन्वन्तु, मम किमितिचेत् तत्राहुः — **शरदिति,** शरादुदाशये शरत्कालिके सरसि[9] सा[10-]धुजात सत्सरसिजोदर श्रीमुषा[-10] साधु जातं सम्यग्जातं यत्सरसिजं सुविकसितं[11] पद्मं तस्योदरे गर्भे या श्री स्तां मुष्णाति हरतीति तथा। तथा दृशा नेत्रेण हे सुरतनाथ! सम्भोगपते! वरद! अभीष्टप्रद! अशुल्कदासिकाः अमूल्यदासीः नः[12] निघ्नतो मारयतः ते तव त्वया क्रियमाणः इहलोके अयं वधो न भवति किम्? किं[13] शस्त्रेणैव वधो वधः? किं दृशा वधो[14] वधो न भवति? किन्तु भवत्येव। अत स्तव दृशा अपहृतप्राणप्रत्यर्पणाय त्वया दृश्यता मिति भावः। त्वया दृश्यतामिति यथासम्भवं सर्वत्र वाक्यशेषः ॥ २ ॥

किञ्च बहुभ्यो मृत्युभ्यः कृपया रक्षित्वा किमिति इदानीं दृशा मन्मथं प्रेष्य घातयसीत्याहुः — **विषेति।** हे ऋषभ! श्रेष्ठ! विषमयाज्ज लाशयात्[15-] [-15] तथा व्यालराक्षसात् अघासुरात्, वर्षात् मारुतात् वैद्युतानलात् अशनि[16] निपातात्। वृषोऽरिष्टः तस्मात् मयात्मजात् व्योमात् विश्वतः अन्यस्मादपि सर्वतोभयाच्च बकका[17]लियदमनादिना रक्षिताः किमिदानी मुपेक्षसे इति भावः ॥ ३ ॥

अपि च विश्वपालनायाऽवतीर्णस्य तव भक्तोपेक्षा अत्यन्तमनुचितेत्याशयेनाऽऽहुः — **न खल्विति।** हे सखे! भवान् खलु निश्चितं यशोदासुतो न भवति, किन्तु सर्वप्राणिनां बुद्धिसाक्षी। ननु स किं दृश्यो भवति? तत्राऽऽहुः विघ्ननसा ब्रह्मणा विश्वपालनाय प्रार्थितस्सन् सात्त्वतां कुले उदेयिवान् उदित इति ॥ ४ ॥

तस्मात्त्वद्भक्तानामस्माक मेतत्प्रार्थनाचतुष्टयं सम्पादयेत्याहुः चतुर्भिः — **विरचितेति।** हे वृष्णिधुर्य! संसृतेर्भयात् ते चरणमीयुषां[18] शरणं प्रा[19]णानां प्राणिनां विरचितं दत्त मभयं येन तत्तथा। हे कान्त! कामदं वरदं तथा श्रियः करं गृह्णातीति तथा, तद्भवतः[20] करसरोरुहं नः शिरसि धेहि ॥ ५ ॥

---

1. J,Va निराशाः 2. J,Va omit अति 3. P,V, omit श्रयते 4. Va omits व्रजे 5. J,Va याः 6 J,Va omit मृगयन्ते 7. P,V धा° 8. J,Va अ° 9. J,Va कलीने 10- -10. J,Va omit 11. J,Va omit सु 12. V omits नः 13 J,Va omit किं 14 J,Va omit वधो 15- -15 J,Va जलात् यः अप्ययः नाशः तस्मात् 16 J,Va omit नि 17 J,Va omit बक° 18 P,Va °श 19 Va omits प्रामानां 20 J,Va °वत्क°

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

"तद्गुणानेव गायन्त्यः" (भाग 10-30-44) कृष्णं जगुः इति चोक्तं, तदेव गानं प्रपञ्चयत्येकद्रिंशेन **जयतीति।** व्रजस्ते तव जन्मना हेतुना नितरां जयत्युत्कर्षं प्राप्नोति। किञ्च तव जन्मना इन्दिरा लक्ष्मीरपि नित्यमत्र व्रजे श्रयते व्रजमलङ्कुर्वती अस्माभिरलक्ष्यमाणा च अत्रैव वर्तत इत्यर्थः। यद्वा अत्र व्रजे श्रयते त्वामिति शेषः। नित्यानपायित्वादिति भावः। इन्दिरा महती समृद्धिर्वा। एवं सर्वस्मिन् व्रजे मोदमानेऽत्र त्वदीया वयन्तु त्वयि निमित्ते त्वदर्थमेवेत्यर्थः। कथंञ्चिद्धृताः असवः प्राणाः याभिस्तथाभूता स्त्वामेव मृगयन्ते अतस्त्वया दृश्यताम् प्रायक्षीभूयताम् अस्माकमिति शेषः। अत्र वक्तृबाहुल्यात् प्रतिश्लोक 'मपरा आहु' रित्यवतारणा द्रष्टव्या। तत्र यथासम्भवं पूर्वोत्तरवचसां सङ्गति रुच्यते ॥ १ ॥

**तत्र विचिन्वन्तु**, मम किं तत्राऽऽहुः **शरदिति**। शरत्कालिके सरसि सम्यक् जातस्य, अनेन गम्भीरारम्भस्समुद्भूतत्वमभिप्रेतम् सत्सरसिजस्य सत्त्वमत्र सुमृष्टनालत्व रविकरविकसितत्त्वादिकं विवक्षितम्। उदरे गर्भे या श्रीः ताम् **मुणाति हरति** तिरस्करोतीति यावत्। तथा तया दृशा नेत्रेण हे सुरतनाथ! सम्भोगवर्धक! तदर्थं याचनीयेति वा। हे **आत्मपर्यन्ताभीष्टप्रद**! तव अशुल्कदासिकाः मूल्यरहिता दासीः मूल्यं विनाऽपि दास्यं प्राप्ताः, शुल्कदासिका इति च्छेदे तव **सम्बन्धिना** शुल्केन सौन्दर्यात्मकेन मूल्येन दासीरस्मा निष्ठतो मारयतः ते तव त्वया क्रियमाणः इह लोके अयं वधो न भवति किम्, शस्त्रेणैव वधो वधः, दृशा वधो वधः किं न भवतीति भावः। दृशा निष्ठत इत्यनेन दृशा नः प्राणानपहृतवत इत्यभिप्रेतम्। अतः त्वद्दृशाऽपहृतप्राणप्रत्यर्पणाय त्वया दृश्यतामिति, यथासम्भवं सर्वत्र वाक्यशेषः॥ २॥

**किञ्च** कृपया बहुभ्यो मृत्युभ्यो रक्षितवतोऽधुना दृशैव घातोऽनुचित इत्यभिप्रेत्याऽऽहुः **विषेति**। हे ऋषभ श्रेष्ठ! विषमयात्कालियह्रदजलाद्योऽप्ययो नाशः तस्मात् तथा व्यालराक्षसात् अघासुरात् वर्षात् मारुतात् वैद्युतानलात् अशनिपातजादशेः वृषोऽरिष्टः **तस्मात्** मयात्मजात् व्योमासुरात् विश्वतः अन्यस्मादपि सर्वतो भयाच्च, कालियमद दमनादिभिः पुनः पुनारक्षिताः। किमिदानीं केवलदृशा[1] घातयसीति भावः ॥ ३ ॥

**किञ्च निखिलजगत्पालनार्थमवतीर्णस्य**, तत्राऽपि स्वाश्रितपक्षपातिनः तवाऽऽश्रितोपेक्षाऽनुचितेत्यभिप्रेत्याहुः — **न खल्विति**। हे **सखे**, भवान्, खलु नूनं, यशोदासुतो न भवति प्राकृतः केवलं यशोदासुतोनभवति, किन्तु अखिलदेहिनामन्तरात्मा अतो दृक् **पश्यति सर्वमिति** दृक्। कर्तरि क्विप्। अन्तः प्रविष्टः शुभाशुभसाक्षी परमात्मेत्यर्थः। स किं कर्मायत्तदेहभाग्भवति? नेत्याहुः, **विधनसा विरिञ्चिना** विश्वपालनाय प्रार्थितः सात्त्वतां भक्तानां यदूनां कुले उदेयिवान् स्वेच्छयाऽवतीर्णः, न तु प्राकृतवत् **कर्मणा जात इत्यर्थः** ॥ ४ ॥

**तस्मात्तावकानामस्माकमभिमतमेतच्चतुष्टयं** सम्पादयेत्याहुः चतुर्भिः — **विरचितेति**। हे वृष्णिधुर्य[2]! संसृतेर्भयात् संसारभयात्[3] **तव चरणमीयुषां** शरणं गतानां जनानां विरचितं दत्तमभयं येन तत् कामदमभीष्टदं तथा श्रियोलक्ष्म्याः करं गृह्णातीति **तथा, तत्करसरोरुहं** हे कान्त! नोऽस्माकं शिरसि निधेहि ॥ ५ ॥

---

1 K °लं 2. T,W **वर्य** 3. T,W omit संसारभयात्

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

**वेदान्तानधिकारिणां मुमुक्षुविविदिषूणां समर्थानां हरेस्सङ्कीर्तनमेव तदुपासनं स्यात् तत्प्रसादजनकत्वेनेति, अतः स्त्रीभूतानां** गोपीनामुपास**नाप्रकारं निरूपय त्यस्मिन्नध्याये। तत्र गोप्यः** चित्ते सन्निहितत्वात् सम्बोध्याऽगायन् — **जयतीति**। कृष्णेत्यध्याहार्यम्। हे कृष्ण! **व्रजन्ति यस्मिन्निवासं गोपा इति गोपनिवासस्थानं व्रजः**। अयं ते तव जन्मना **अधिकं जयति सर्वोत्कर्षेण** वर्तते। **तत्र हेत्वन्तरञ्चाऽऽहुः** श्रयत इति। तत्र व्रजे, 'इदि परमैश्वर्ये इति धातुः। **इन्दिं ऐश्वर्यं**

राति ददातीति नित्यैश्वर्यरूपत्वात् इन्दिरा श्रीः, साऽधुना श्रयते आश्रयते हि यस्मात्तस्माच्चेत्यर्थः। तव जन्मनिमित्तं श्रियः श्रयणञ्च त्वयाऽविनाभूतत्वाच्छ्रिय इति भावः। स्वाभिप्रायं दर्शयन्ति दयितेति। हे प्रेष्ठ, भवान् स्वात्मनैव त्वा दिदृक्षतां द्रष्टुकामानां दृश्यतां चक्षुर्विषयो भवतु, त्वयि गतासवः समर्पितप्राणाः त्वा त्वां विचिन्वते, साकाङ्क्षत्वा इदानिदानं युक्तमित्यर्थः॥ १॥

अलुक्समासन्यायेन शरदुदाशय इत्येकं पदम्। शरदुदाशये शरत्कालसम्बन्धिसरोवरे साधु भूम्याद्युपद्रव मन्तरेणजातम् उत्पन्नम्, अत एव सत् प्रशस्तं विकसितं यत्सरसिजं पद्मं तस्य उदरं अरुणायमानमन्तर्दलं तस्य श्रियं शोभां मुष्णातीति शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदर श्रीमुद् तथा दृशा शुल्कदासिकाः क्रीतदासीः नो निघ्नते मारयतः ते अस्मदाशादिहनने किं वधो न भवति? खड्गादेरप्यधिको वधोऽर्धरात्रेऽस्मत्त्याग इत्यर्थः। सुरतनाथ निधुवनवीर! ॥ २ ॥

इदानीमपि अस्मद्रक्षा भवता कार्या, तथा यथा पुराकृता इत्याशयेनाऽऽहुः **विषेति**। विषजलाशयात् विषयुतयमुनाह्रदात्। यद्वा विषजलपानेन आशयो दीर्घनिद्रा मरणं तस्मात्। व्यालात्सर्पात्, राक्षसात्तृणावर्तनाम्नः वर्षयुक्ताद्वायोः वैद्युतानलात् निर्घातलक्षणाग्नेः वृषमया द्वत्सासुरनिमित्ताद्भयात्, किं बहुना? हे वृषभ श्रेष्ठ!, विश्वतोमुखात् भयात् ते त्वया वयं मुहुः रक्षिता इत्यन्वयः॥ ३॥

गोप्यः स्वतत्त्वज्ञानं विज्ञापयन्ति **न खल्विति**। गोपिका नन्दयतीति गोपिकानन्दनः स भवान् हे सखे! विश्वगुमये जगद्रक्षार्थं सात्त्वतां यदूनां कुले उदेयिवान् उदयं गतः, जन्मभजनाय योग्यो नेत्याशयेनाहुः — अखिलेति। अखिलदेहिना मन्तर्यामित्वेन द्रक्ष्यति पश्यतीति। यद्वा अन्तरात्मानं स्वरूपं पश्यतीति। "अनश्नन्नन्य अभिचाकशीति" (मुण्ड उ. 3-1-1) इति श्रुतिः। किञ्च विखनसार्चितः ब्रह्मणा पूजितः विरिञ्चिगुरुरित्यर्थः। यद्वा, यः सात्त्वतां कुले उदेयिवान् स भवान्गोपिकानन्दनः खलु न भवतीत्यर्थः। "निषेधे वागलङ्कारे क्षीप्सनेऽनुनये खलु" (वैज. को. 8-7-20) इति च। "अलं खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां कत्वा" इति कत्वायोगः अक्षेपापेक्षिकः। तर्हि क इति तत्राऽऽहुःअखिलेति। न खल्विति पाठे वाक्यालङ्कारार्थः॥ ४॥

विरिञ्चिगुरुश्चेत् अपेक्षिताशेषपुरुषार्थप्रदः स्यात्तत्र कथं निर्णय इत्याहुः **विरचितेति**। श्रियः करं गृह्णातीति श्री करग्रहं, शरणमीयुषां पुंसां धेहि निधेहि, हे कान्त! कमनीय! ॥ ५ ॥

---

1. Ma °न

**★व्रजजनार्तिहन्वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित।**
**भज सखे भवत्किङ्करीः[1] स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय[2] ॥ ६ ॥**

**प्रणतदेहिनां पापकर्शनं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम्।**
**फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ॥ ७ ॥**

**मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण ।**
**विधिकरी रिमा वीर मुह्यती रधरशीधुनाऽऽप्याययस्व नः ॥ ८ ॥**

**तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।**
**श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥ ९ ॥**

**प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षितं विहरणञ्च ते ध्यानमङ्गलम् ।**
**रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक! नो मनः क्षोभयन्ति हि ॥ १० ॥**

---

★ According to M.Ma this is second verse 1. M.Ma भवे किं 2. M.Ma °यन् 3. T.V.W ये 4. G.J.M.Ma.Va °क्षणं

**श्रीध० व्रजेति**। हे व्रजजनार्तिहन्! हे वीर! निजजनानां यः स्मयो गर्वः तस्य ध्वंसनं नाशकं स्मितं यस्य तथाभूत, हे सखे! भवत्किङ्करीः नोऽस्मान् भज आश्रय। स्म[1] निश्चितम्। प्रथमं तावत् जलरुहाननं चारु योषितां नो दर्शय ॥ ६ ॥

**प्रणतेति**। [2]अविशेषेण प्रणतानां देहिनां पापकर्शनं पापहन्तृ तृणचरान् पशून् अनुगच्छति कृपयेति। तथा सौभाग्येन श्रियो निकेतनं, वीर्यातिरेकेण फणिनः फणास्वर्पितं ते पदाम्बुजं नः कुचेषु कृणु कुरु किमर्थम्? हृच्छयं कामं कृन्धि छिन्धि ॥ ७ ॥

**मधुरयेति**। हे पुष्करेक्षण! तवैव मधुरया गिरा वल्गूनि वाक्यानि यस्यां तया बुधानां मनोज्ञया हृद्यया गम्भीरयेत्यर्थः मुह्यती इमा नः विधिकरीः [3]किङ्करीः अधरशीधुना आप्याययस्व सञ्जीवयेति ॥ ८ ॥

किञ्च अस्माकं त्वद्विरहे प्राप्तमेव मरणं, किन्तु त्वत्कथामृतं पाययद्भिः सुकृतिभिः वञ्चितमित्याहुः — **तवेति**। कथैवामृतम्, अत्र हेतुः, तप्तजीवनं प्रसिद्धादमृता[4] दुष्कर्ष माहुः। कविभिः ब्रह्मविद्भिरपि ईडितं स्तुतं, देवभोग्यन्तु अमृतं तै स्तुच्छीकृतम्। किञ्च कल्मषापहं कामकर्मनिरसनम्। ततु अमृतं नैवम्भूतम्। किञ्च श्रवणमङ्गलं श्रवणमात्रेण मङ्गलप्रदम्, तत्तु अनुष्ठानापेक्षम्। किञ्च श्रीमत् सुशान्तं, तत्तु मादकम् एवम्भूतं त्वत्कथामृतं आततं यथा भवति तथा भुवि ये गृणन्ति निरूपयन्ति ते जनाः भूरिदाः बहुदातारः जीवितं ददतीत्यर्थः। यद्वा एवम्भूतं त्वकथामृतं ये भुवि गृणन्ति ते भूरिदाः पूर्वजन्मसु बहुदत्तवन्तः सुकृतिनः इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति — ये केवलं कथामृतं गृणन्ति तेऽपि तावदतिधन्याः, किं पुनर्ये त्वां पश्यन्ति। अतः प्रार्थयामहे त्वया दृश्यता मिति ॥ ९ ॥

ननु [5]मत्कथाश्रवणेनैव निर्वृता भवत[6]; किं मद्दर्शनेन - [7]त्वद्विलाससुभितचित्ता वयं तत्राऽपि शान्तिं विन्दाम इत्याहुः — **प्रहसितमिति**। हे प्रिय! कुहक! कपट! संविदः सङ्केतनर्माणि ॥ १० ॥

---

1 J Va add इति 2. V. omits अ 3. P.V omit किङ्करीः 4. J. Va °द्धामृ° 5. P.V add तर्हि 6. P.V °न्तु 7. J.V add न.

**वीर०** हे व्रजजनार्तिहन्, हे वीर! निजजनानां यः स्मयो गर्वः तं ध्वंसयतीति तथा। नन्द्यादेराकृतिगणत्वात् कर्तरि ल्युः। तथाभूतं स्मितं यस्य, हे तथाभूत, हे सखे, भवत्किङ्करीः नोऽस्मान् भज अनुवर्तस्व, स्म निश्चितम्, अद्भुतं वा। सुन्दरं जलरुहाननं तावद्घोषितामस्माकं दर्शय ॥ ६ ॥

अविशेषेण प्रणतानां देहिनां पापहन्तृ, तृणचरा गावः, ता अनुसृत्य गच्छतीति तथा, सौभाग्येन श्रियो निकेतन माश्रयभूतं वीर्यातिरेकेण फणिनः कालियस्य फणेष्वर्पितं तव पदाम्बुजं नोऽस्माकं कुचेषु कृणु निधेहि। हृच्छयं कामं कृन्धि छिन्धि ॥ ७ ॥

हे पुष्करेक्षण! बुधानां हृद्यया वल्गूनि वाक्यानि यस्यां, तथा अत एव मधुरया कोकितादिशब्दवच्छ्राव्यया तव गिरा मुह्यतीर्विधिकरीः किङ्करीश्च इमा नोऽस्मान् अधरामृतेन आप्याययस्व सञ्जीवय ॥ ८ ॥

किञ्च अस्माकं त्वद्विरहेण मरणं प्राप्तप्रायमेव। किन्तु त्वत्कथामृतं मिथः ये पाययन्ति तैर्वञ्चितमित्यभिप्रेत्याहुः — **तवेति**। तव कथैव अमृतं, तत्र हेतुः तप्तानां तापप्रयतप्तानां जीवनम्। प्रसिद्धामृतादुत्कृष्टता माहुः। कविभिर्ब्रह्मादिभिः ईडितं स्तुतम्। देवभोग्यन्त्वमृतं तैः तुच्छीकृत मिति भावः: किञ्च कल्मषापहं श्रोतॄणां[1] वदतां स्मरताश्च पापहरम्, प्रसिद्धन्तु नैवंविध मितिभावः। किञ्च श्रवणमात्रेणैव मङ्गलं निःश्रेयसरूपं यस्मात्तथाभूतम्, प्रसिद्धन्तु पुनस्संसारनिमित्तमिति भावः। किञ्च। श्रीमत् शान्त्यादि गुणावहम्। प्रसिद्धन्तु मादकमिति भावः। एवम्भूतं[-1] त्वत्कथामृतं आततं विस्तृतं यथा तथा। भुवि ये गृणन्ति निरूपयन्ति ते जनाः भूरिदाः बहुवदान्याः जीवितं दधतीत्यर्थः। पूर्वजन्मसु बहुदत्तवन्तः सुकृतिन इति यावदिति वा॥९॥

तर्हि मत्कथामृतश्रवणेनैव तृप्ता भवथ इत्यत्र तथाऽपि त्वद्विलासक्षुभितचित्ता वयं न शान्तिमाप्नुम इत्यभिप्रेत्याहुः — **प्रहसितमिति**। हे प्रिय! हे कुहक! वञ्चक! तव प्रहसितञ्च, प्रेम्णा वीक्षितञ्च। ध्यानमङ्गलं ध्यानेनापि मङ्गलं सुखं यस्मा त्तत् विहरणञ्च। याश्च रहसि संविदः सङ्केतचेष्टाः कथम्भूताः हृदिस्पृशो हृदयारूढाः ताश्च नोऽस्माकं मनः क्षोभयन्ति हि ॥ १० ॥

---

1- -1. T omits.

**विज०** व्रजजनस्य आर्तिं हन्ति हिनस्ति नाशयतीति व्रजजनार्तिहा, तस्य सम्बोधनं व्रजजनार्तिहन्! वीर! शूर! निजजनस्य स्मयो गर्वः तं ध्वंसि स्मितवत् स्मितं यस्य स तथा तत्सम्बुद्धिः निजजनस्मयध्वंसनस्मित, 'यूष पूष कामसमृद्धौ' इति धातोः योषितां समृद्धकामानां नः कामसमृद्धिं, पालयेति शेषः। कथङ्कारं पालनम् अत्राऽऽहुः — भजेति। हे सखे, चारु सुन्दरं तव, जलरुहस्य पद्मस्य सममाननं प्रवृत्तिशून्यस्य यद्दर्शनेच्छा स्यात् तादृक्शक्तिवन्मुखं दर्शयंस्त्वं किङ्करीः दासीः नो भज पालय, स्म स्मृत्वा पत्यादीन् विहाय अर्धरात्रे वनं प्राप्ता इति। भवे भवे इति द्विरावृत्तिः कर्तव्या जन्मनि जन्मनि किङ्करी रित्यर्थः। यद्वा भवे, तादर्थ्ये सप्तमी, अस्मद्भद्रार्थमित्यर्थः। यद्वा, अस्मज्जीवनसत्तायां विवक्षितायाम्। अन्यथा मरणमेवाऽस्माक मापद्यत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

न केवलं करनिधानेन पूर्यते। अपि तु कुचेषु चरणनिधानद्वापेक्षितमित्याहुः — **प्रणतेति**। तृणचरान् पशून् अनुगच्छतीति तृणचरानुगं, फणिफणेष्वर्पितम् कृणु कुरु। हृच्छयं कामं कृन्धि छिन्धि॥ ७ ॥

वल्गूनि मनोहराणि वाक्यानि निराकाङ्क्षाणि पदात्मकानि यस्यां सा तथा, तथा बुधानां विदुषां मनोज्ञया हृद्यया। मधुरयेत्यनेन प्राप्तां बालभाषणशङ्कां निराकरोति। विधिकरी दासीः अधरशीधुना अधरामृतेन आप्याययस्व सेचय जीवय वा, मुह्यतीः मोहं गच्छतीः ॥ ८ ॥

तप्तान् जीवयतीति तप्तजीवनं श्रवणमात्रेण मङ्गलं श्रीमत्समृद्धिम् आततं विस्तृतं भुवि ये जनाः तव कथामृतं गृणन्ति पानादिना ते भूरि बहुलं दुःखं घ्नन्ति खण्डयन्तीति, भूरीणि हिरण्यादीनि ददतीति वा। "भूरि स्वर्णं जातरूपं हिरण्यं राः कल्याणं हेम ह्यमं सुवर्ण" मिति। भवन्तीति शेषः ॥ ९ ॥

तव कथामृतं तप्तजीवनादिफलदश्चेत् अधरशीधुनाऽऽप्यायनं किमर्थमित्याशङ्क्य तव हसितादिना मुग्धा वयं तवाधरशीधुं प्रार्थयामहे इत्याशयेनाऽऽहुः — **प्रहसितमिति**। हे प्रिय! प्रेम्णा वीक्षणं ध्यानमङ्गलं विहरणं विहारः विक्रमणलक्षणः हृदिस्पृशः हृदयङ्गमाः संविदः सम्भाषणादयः। "संविद्युद्धे प्रतिज्ञायां सङ्केताचारनामसु। सम्भाषणे क्रियाकारे विज्ञाने तोषणेऽपि च" इति वचनात्। एते सर्वेपि सुरते सम्भवन्ति। कुहक! धूर्तेति प्रणयकोपे। हि यस्मात्तस्मात् अधरामृतपानप्रार्थनम्॥ १० ॥

**चलसि यद्व्रजाच्चारयन्पशून्नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्।**
**शिलतृणाङ्कुरै स्सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति ॥ ११ ॥**[1]

**दिनपरिक्षये नीलकुन्तलै र्वनरुहाननं बिभ्र दावृतम्।**
**वनरजस्वलं दर्शयन्मुहु र्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ॥ १२ ॥**[2]

**प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि।**
**चरणपङ्कजं शन्तमञ्च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाऽऽधिहन् ॥ १३ ॥**

**सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम् ।**
**इतरागविस्मारणं नृणां वितर वीर न स्तेऽधरामृतम् ॥ १४ ॥**

**अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटि युगायते त्वामपश्यताम् ।**[3]
**कुटिलकुन्तलं श्रीमुखञ्च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृ हृशाम् ॥ १५ ॥**[4][5]

---

1. G.J.M.Ma, T.V.Va.W सि° 2. G.J.Va. घ° 3. G.J.M.Va °र्युं° 4. M.Ma °वं° 5. M.Ma नुर्हृ°

**श्रीध०** किञ्च त्वयि वयमतिप्रेमार्द्रचित्ताः, त्वं पुन रस्मासु केन हेतुना कपटमाचरसीत्याहुः श्लोकद्वयेन — **चलसीति**। हे नाथ! कान्त! यद्यदा व्रजाच्चलसि, पशूंश्चारयन् तदा तत् नलिनवत् सुन्दरं[1-1] कोमलं ते पदं, शिलैः कणिशैः तृणैरङ्कुरैश्च सीदति क्लिश्यतीति[2-2] नो मनः कलिलतां अस्वास्थ्यं गच्छति प्राप्नोति। एवम्भूता स्त्वद्दुःखशङ्कितचित्ता वयम् ॥ ११ ॥

**दिनेति**। त्वन्तु दिनपरिक्षये सायङ्काले नीलकुन्तलै रावृतं, घनरजस्वलं गोरजश्छुरितं वनरुहाननम् अलिमालाकुल परागविच्छुरितपद्मतुल्यमाननं बिभ्रत् तच्च मुहुर्मुहुः[3] दर्शयन्नो मनसि केवलं स्मरं यच्छसि अर्पयसि, न तु सुखं[4] ददासीति कपटः[5] इति भावः ॥ १२ ॥

अतोऽधुना कपटं विहाय एवं कुर्विति प्रार्थयन्ते श्लोकद्वयेन **प्रणतेति**। हे आधिहन्! हे रमण! पद्मजेन[6] अर्चितम् आपदि ध्येयं ध्यानमात्रेण आपन्निवर्तकं शन्तमञ्च सेवासमयेचाऽपि सुखतमं तव[7] चरणपङ्कजं कामतापशान्तये नः स्तनेष्वर्पयेति ॥ १३ ॥

अपि च हे वीर! ते अधरामृतं नो वितर देहि। स्वरितेन नादितेन वेणुना सुष्ठु चुम्बित मिति, वेणुनादामृत[8] वासितमितिभावः। इतरागविस्मारणं नृणामितरेषु सार्वभौमादिसुखेषु रागमिच्छां विस्मात्यति विलोपयतीति तथा तत् ॥१४॥

किञ्च क्षणमपि त्वददर्शने दुःखं, दर्शने सुखञ्च दृष्ट्वा सर्वसङ्गपरित्यागेन यतय इव वयं त्वामुपागताः त्वन्तु कथ मस्मान् त्यक्तुं मुत्सहस इति सकरुणमूचुः श्लोकद्वयेन[10] **अटतीति**। यत् यदा भवान्काननं वृन्दावनं प्रति अटति गच्छति तदा त्वामपश्यतां प्राणिनां त्रुटिः क्षणार्धमपि युगवद्भवति। एवमदर्शने दुःखमुक्तम्। पुनश्च कथञ्चिद्दिनान्ते ते तव श्रीमन्मुखं उत् उच्चैरीक्षमाणानां तेषां दृशां पक्ष्मकृत् ब्रह्मा जडो मन्द एव। निमेषमात्रमप्यन्तर मसहचमिति दर्शने सुखमुक्तम्॥ १५॥

---

1- -1 J.Va नलिनसुन्दरं 2- -2. J.Va क्लिश्येदिति 3. J.Va omit मि 4. J.Va सङ्गं 5 J.Va add त्वम् 6 J.Va add ब्रह्मणा 7 J.Va ते 8. J. Va omit वेणु 9. J.Va ला° 10. J.Va omit श्लोक

**वीर०** किञ्च। त्वयि वय मतीव प्रेमार्द्रचित्ताः, त्वन्तु कुतोऽस्मा न्त्यजयसीत्यभिप्रेत्याऽऽहुः द्वाभ्याम्। हे नाथ! हे कान्त! यद्यदा पशून् चारयन् व्रजाच्चलसि तदा नलिनवत्सुन्दरं कोमलं ते तव पद शिलैः कठिनैः तृणैः, अङ्कुरैश्च सीदतीति क्लिश्येदिति[1] नोऽस्माकं मनः कलिलता मस्वास्थ्यं गच्छति याति ॥ ११ ॥

एवम्भूता स्त्वत्क्लेशशङ्कितचित्ता वयम्। त्वन्तु दिनपरिक्षये सायङ्काले नीलकुन्तलैः आवृत्तं वनरजस्वलं गोरजश्छुरितं वनरुहाननम् अलिमालाकुलपरागच्छुरितपद्मतुल्य माननं मुहुर्मुहु र्दर्शयन् नोऽस्माकं मनसि केवलं हे वीर! स्मरं यच्छसि काममुद्दीपयसि, न तु सङ्गं ददासि। अतः कपटस्त्वमिति भावः ॥ १२ ॥

अतोऽधुना कपटं विहाय सङ्गतो भवेति प्रार्थयन्ते द्वाभ्याम्। हे रमण! तव चरणपङ्कजं अस्माकं स्तनेषु अर्पय, निधाय कामाग्निं शमयेति भावः। तदनुगुणं सम्बोधयन्ति हे आधिहरिति। आधिर्मनःपीडा। कथम्भूतं, शन्तमं सेवासमये सुखतमं, आपदि ध्येयञ्च। धरण्यां मण्डन मलङ्कारभूतं [2-] ह्रस्वत्वमार्षम्[-2]। पद्मजेन ब्रह्मणा अर्चितं प्रणताभीष्टदञ्च ॥ १३ ॥

तथा हे वीर! तवाऽधरामृतं वितर देहि। कथम्भूतम्? नृणामितरेषु सार्वभौमादिसुखेषु रागमिच्छां विस्मारयति लोपयतीति तत्तथा। स्वरितेन नादितेन वेणुना स्वरयुक्तेन वेणुना सुष्ठु यथा तथा चुम्बितं नादामृतवासित मिति भावः शोकनाशनं तापत्रयजदुःखशामक मुत्तरोत्तरं रतिवर्धकञ्च ॥ १४ ॥

किञ्च क्षणमपि त्वद्विश्लेषमसहमाना स्सर्वसङ्गपरित्यागेन वयं यतय इव त्वां उपागताः। त्वन्तु कथमस्मान् त्यक्तु मुत्सहसे इत्यभिप्रेत्याऽऽहुः - द्वाभ्याम्। [3] भवान् यद्यदा अह्नि बृन्दावनं प्रत्यटति गच्छति, तदा त्वामपश्यतां प्राणिनां त्रुटिः क्षणार्धमपि युगवद्भवति। एव मदर्शने दुःखमुक्तम्। पुनश्च कथञ्चिद्दिनान्ते तव कुटिलाः [4] कुन्तलाः [5] यस्मिन् तत् श्रीमत् मुखं उत् उच्चैः ईक्षमाणानां तेषां दृशां पक्ष्मकृद्ब्रह्मा जडो मन्द एव। निमेषमात्रमपि असह्यमिति दर्शनसुख मुक्तम् ॥ १५ ॥

---

1. T.W omit क्रियेदिति 2- -2. T.W omit 3. T.W omit भवान् 4. T.W °लानि 5. T.W °लानि

**विज०** त्वचरितं ज्ञानिनामपि दुर्बोधं किमुताऽस्माकमिति भावेनाऽऽहुः **चलसीति**। [1] पशूंश्चारयन् यद्यदा व्रजाच्चलसि गच्छसि तदा शिलतृणाङ्कुरैः [2] छिन्नशिखत्वेन परुषैरिषीकादितृणाग्रैः शिलाश्चार्कराः ताभिस्तृणाङ्कुरैश्च वा सीदति व्यथतीति कलिलतां, नारायणोऽन्योवेति [3] संशयपङ्किलताम् ॥ ११ ॥

ननु व्याकुलचित्तानां कामोद्बोधायोगात् 'कृन्धिहृच्छय' मिति कथमुक्तम्? अत्र वदन्ति - **दिनेति**। दिनपरिक्षये सन्ध्याकाले, वनादागच्छन्निति शेषः। वनरजस्त्वं वनभूमौ सता गोरजसा युक्तं दर्शयन् नीलकुन्तलैरावृतं वनरुहं जलजं कमलं तद्वत् शोभमान माननं बिभ्रत् त्वं नो मनसि स्मरं कामं मुहुरनिशं नूतनम् ॥ १२ ॥

धरणि मण्डनं भूमिभूषणं सर्वापदि ध्येयं पद्मजार्चितं ब्रह्मणाऽऽराधितं शन्तमं सुखतमम् आधिहन्! मनोदुःखनाशन! ते चरणपङ्कजं नः स्तनेष्वर्पय निधेहीत्यन्वयः ॥ १३ ॥

स्तनतटेषु चरणार्पणादुद्बुद्धज्वलित कामाग्निज्वालाशमनाय तवाऽधरामृतपिपासुभ्योऽस्मभ्यं देहीत्याहुः **सुरतेति**। सुरतं ग्राम्यधर्मः। स्वरितवेणुना स्वरयुक्तवेणुना ध्वनियुक्तवेणुना रागो रस इतरेषां रसानां आस्वादनसुखं विस्मारयतीति इतरराग विस्मारणम्, इतरेषु मधुरेषु वस्तुषु रागं स्नेहं विस्मारयतीति इतरागविस्मारणं वा। वितर देहि। "विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्" (अम. को. 2-428) इति हलायुधः ॥ १४ ॥

किञ्च अहोरात्र मस्माकं त्वत्सञ्चिन्तनमेव, अन्यो व्यापारो नेष्यते इत्याशयेनाऽऽहुः **अटतीति**। यद्यदा यस्मिन्नहि काननमटति गच्छति तदा तस्मिन् अह्नि त्रुटिः, त्रुटीति प्रातिपदिकग्रहणं, तेन विभक्त्यन्तं पदं [4]लक्षयति। अणुद्वयलक्षणः परमाणुः त्रयः परमाणवः त्रसरेणुः, त्रय स्त्रसरेणवः त्रुटिः स कालावयवः नः त्वामपश्यतामस्माकं युगायते युगवदाचरति। दिव्यद्वादशसहस्रपरिमितसमानो वर्तते पक्ष्म नुदन्ति व्यथयन्तीति पक्ष्मनुदः ताद्दश्यो दृशो यासां तास्तथा। तासामनिमिषनेत्राणां तव मुखमीक्षतामीक्षमाणानामस्माकं प्रवृत्तिर्जडवदचेतनव न्निश्चेष्टनमित्यर्थः। अनेन बहुकालोऽपि त्रुटितुल्यइति सूच्यते। नुर्दृशामिति पाठे नु र्मानवस्य तव मुखमीक्षतां दृशां पक्ष्म जडवदुत्क्षेपावक्षेपलक्षणप्रवृत्तिशून्यमित्यर्थः। अनेन मानवस्याऽप्यनिमिषत्वं सूच्यते ॥ १५ ॥

---

1. M °शू° 2. M °खरत्वेन 3. Ma °णो वेति 4 Ma adds न

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलङ्घ्य ते[1] ह्यच्युतागताः।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ॥ १६ ॥

रहसिसंविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् ।
बृहदुरःश्रियो वीक्ष्य[2]धाम[2] ते मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः ॥ १७ ॥

व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम् ।
त्यज[3] मनाक्च न स्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम् ॥ १८ ॥

★यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताश्शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाऽटवी मटसि तद्व्यथते न किंस्वित्कूर्पादिभिर्भ्रमति धी र्भवदायुषां नः ॥ १९ ॥

इति श्रीमद्भगवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
रासक्रीडायां गोपीगीतं नामैकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

---

1. G.J K.Va.W तेऽन्त्य° 2. M.Ma वीर वीक्ष्य; T.V.W धाम वीक्ष्य 3. M.Ma भज. ★ This verse is not found in M.Ma. edns.

**श्रीध० पतीति**। तस्मात् हे अच्युत! पतीन्सुतान् अन्वयान् तत्सम्बन्धिनः भ्रातॄन् बान्धवांश्च अतिविलङ्घ्य ते[1] त[2]व समीपमागता वयम्। कथम्भूतस्य गतिविद अस्मदागमनं जानतः गीतगती र्वा जानतः गतिविदो वयंवा तवोद्गीतेन उच्चैर्गतिन मोहिताः हे कितव! शठ! एवम्भूताः योषितः निशिस्वयमागताः, त्वामृते कस्त्यजेत् न कोऽपीत्यर्थः ॥ १६ ॥

अतः त्वया त्यक्तानां अस्माकं प्रातनत्वद्दर्शननिदानस्य[3] द्वोगस्य त्वत्सङ्गत्यैव चिकित्सां कुर्वित्या[4]हुः श्लोकद्वयेन[-4]। रहसीति। श्रियो धाम ते बृहत् विशालं उरश्च वीक्ष्य अतिस्पृहा भवति। तया च मुहुर्मुहुः मनो मुह्यति ॥ १७ ॥

व्रजेति। तव च व्यक्ति रभिव्यक्तिः व्रजवनौकसां सर्वेषां अविशेषेण वृजिनहन्त्री दुःखनिरसनी[5] [6] विश्वमङ्गलं सर्वमङ्गलरूपा च। अतः त्वत्स्पृहात्मनां त्वत्स्पृहाल्ढमनसां नः मनाक् ईषत् किमपि त्यज मुञ्च। कार्पण्य मकुर्वन् देहीत्यर्थः। किं तत्? स्वजनद्वोगाणां यदति गोप्यं निषूदनं निवर्तकमौषधम्। तत् त्वमेव वेत्सीति गूढोऽभिप्रायः[7] ॥ १८ ॥

अतिप्रेमधर्षिता स्त्रदत्य[8] आहुः यदिति। हे प्रिय! यत्ते तव सुकुमारं पदाब्जं कठिनेषु कुचेषु सम्मर्दन शङ्किताः शनैः[9]शनैः दधीमहि धारयेम वयम्, त्वन्तु तेन अटवी मटसि गच्छसि, नयसीति पाठे पशून् वा काञ्चिदन्यां वा आत्मानमेव वा नयसि प्रापयसि। तत् ततः तत्पदाम्बुजं वा। कूर्पादिभिः सूक्ष्मपाषाणादिभिः किं स्विन्न व्यथते[10]? कथन्नु नाम न व्यथते[12]। भवानेवाऽऽयुर्जीवनं यासां तासां नो धी र्भ्रमति मुह्यतीति ॥ १९ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

---

1. J.Va omit ते 2- -2 V omits 3. J.Va °नह° 4- -4 J. Va °त्याहाये नाहुः द्वयेन। 5. J.Va °सि° 6. J.Va add इति 7 J.Va °द्वाभिप्रायम् 8. P.V °न्त्य 9. J.Va omit शनैः 10 P.V omit त्वन्तु 11. J.Va omit गच्छसि 12 J व्यथेतेति।

वीर० तस्मात् हे अच्युत! पतीन् सुतानन्वयान् तत्सम्बन्धिनः भ्रातृन्बान्धवांश्च अत्यन्तं विलङ्घ्य ते तव अन्ति समीपमागता वयम्। कथम्भूतस्य? गतिविदः अस्मदागमनं जानतः गतिविदो वयं तवोद्गीतेन मोहिताः हे कितव! धूर्त! एवम्भूता योषितः निशि स्वयमागताः, त्वां विना कस्त्यजेत् न कोऽपीत्यर्थः ॥ १६ ॥

अतः त्वया त्यक्तानामस्माकं प्रातनत्वद्दर्शननिदानद्वोगस्य त्वत्सङ्गत्यैव चिकित्सां कुर्वित्याहुर्द्वाभ्याम् रहसीति। तव रहसि संविदं साङ्केत्यं कर्म हृच्छयोदयं कामजनकं प्रेम्णा वीक्षणञ्च प्रहसितमाननञ्च श्रियो लक्ष्म्याः स्थानभूतं बृहद्विशाल मुरो वक्षश्च वीक्ष्य अस्माक मतीव स्पृहा भवति, तया च मुहु र्मुहु र्मनो मुह्यते मोहं प्राप्नोति ॥ १७ ॥

अङ्ग! हे कृष्ण! तव अभिव्यक्तिरवतारो व्रजवनौकसां गोपानां मुनीनाञ्च वृजिनहन्त्री पापनिरसनी दुःखनिरसनी वा विश्वस्य[1] मङ्गलं मङ्गलावहा च। अतः त्वत्स्पृहात्मनां त्वत्स्पृहाल्ढमनसां नोऽस्माकं मना गीषत् त्यज मुञ्च, किञ्चित् देहीत्यर्थः। किं तत्? यत्स्वजनस्य द्वोगाणां निषूदनं निवर्तकं औषधं, तत्तु त्वमेव वेत्सीति गूढाभिप्राय[2]ः ॥ १८ ॥

अतिप्रेमधर्षिता स्त्रदन्त्य[3] आहुः - यदिति। हे प्रिय! यत्तव सुकुमारं पदाब्जं तन्नः[4] कठिनेषु[5] स्तनेषु सम्मर्दशङ्किताः शनैः[6]शनैः धारयाम। तेन पदाब्जेन अधुना अटवीं अटसि चरसि। नयसीति पाठे अटवीं[7] प्रति पशूनात्मानं वा नयसि

प्रापयसि। तत्पदाब्जं कूर्पादिभिः तीक्ष्णसूक्ष्मशिलादिभिः किंस्विन्न व्यथते कथन्नु नाम न व्यथते, व्यथत एवेति, नोऽस्माकं धीः भ्रमति न स्वस्था भवति। कथम्भूतानां[8], भवानेवाऽऽयुः जीवितं यासां तथा भूतानां त्वदधीनजीवितानामित्यर्थः॥ १९॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

---

1. T.W omit मङ्गलं 2. K. गूढोऽभि 3. K °त्य 4. K omits यत् 5. K adds कुचेषु 6. K omits शनैः 7. K वनं 8. K adds नः.

**विज०** भगवदुन्मुखस्मरणमुग्धा गोप्यो रतिविहारसमयोऽयमिति निरूप्य सुरतसंविदाधि क्षिपन्ति-**पतीति**। ते तव सकाशमागता हि यस्मात् हे कितव! कः पुरुषः निशि योषितः त्यजेदित्यन्वयः। आगमने हेतुं वदन्ति गतिविद इति। गतिविदः आकर्षलक्षणगानज्ञस्य तवोद्गीतेन स्थितोत्थानकरगानेन मोहिताः मूर्च्छां प्रापिताः ॥ १६ ॥

किं बहुनोक्तेन, अस्मदवस्थेयं हीति विज्ञापयन्ति —**रहसीति**। हृच्छयस्य उदयो यस्मात् तत्तथा। वीक्ष्य निरूप्य अतिस्पृहा अतिशयितस्पृहया मुह्यते। विभक्तिव्यत्यय श्छान्दसः। बृहति दधातीति बृहत् श्रियः निवासस्थानमिति शेषः। यद्वा बृहदुरःश्रिय इत्येकं पदम्। बहुवचनं द्रष्टॄणामनुक्षणं कान्तिविशेषबाहुल्यद्योतकम् ॥ १७ ॥

यदि भवानस्मदापदं न परिहरिष्यति तर्ह्ययमवतारो व्यर्थोऽभविष्यत्, न च तद्युक्तम्। अतोऽस्मद्दुःखं भवता अवश्यं परिहरणीयमिति भावेनाऽऽहुः — **व्रजेति**। भो अङ्ग! ते तवेयं व्यक्तिः अवतारलक्षणा व्रजौकसां गोपानां मार्गौकसां तीर्थसार्थानां वा निवहौकसां ग्रामवासिनां वा, वनौकसां वनवासिनां सन्न्यासिनां वा वानप्रस्थानां वा, जलाश्रयाणां वा अलमत्यर्थं वृजिनहन्त्री दुःखनाशिनी, यद्यस्मात् त्वयि स्पृहा यस्य स त्वत्स्पृहः आत्मा यासां ताः तथा, तासां नः चक्षुर्विषयं मनाक् ईषदपि भज। सामान्योक्त्या पुनरुक्तं कुर्वन्ति स्वजनेति। विश्वमङ्गलं यद्वचक्तं रूपं स्वजनस्य हृद्रुजां अन्तर्गतरोगाणां निषूदनं निर्मूलकरं, तस्मादस्माकं स्वजनैकत्वात् अभीष्टं भवता कर्तव्यमिति भावः ॥ १८,१९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥
**(विजयध्वजरीत्या एकोनत्रिंशोऽध्यायः)**

---

# द्वात्रिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या त्रिंशोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच[1]

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
रुरुदुः सुस्वरं राजन्कृष्णदर्शनलालसाः ॥ १ ॥

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥ २ ॥

तं विलोक्याऽऽगतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः।
उत्तस्थुर्युगपत्सर्वाः तन्वः प्राणमिवाऽऽगतम् ॥ ३ ॥

★कृष्णस्य मुखलावण्यसुधां नयनभाजनैः।
आपीयाऽऽपीय नाऽतृप्यन्सन्तस्तच्चरणं यथा।॥ ४ ॥

काचित्कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा।
काचिद्बभार[2] तद्बाहुमंसे चन्दनरूषितम्[3] ॥ ५ ॥

काचिदञ्जलिनाऽगृह्णात्तन्वी ताम्बूलचर्वितम्[4] ।
एका तदङ्घ्रियुगलं[5] सन्तप्तस्तनयोरधात् ॥ ६ ॥

---

1- -1. K omits ★ This verse is found in K,T,W and it is commented by Viraraghava only. 2. G,J,M,Ma,Va °हधार 3. G,J,Va भू° 4. V चर्वणम्5. G,J,Va कमलम्

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्वात्रिंशे विरहालापविक्लिन्नहृदयो हरिः। तत्राऽऽविर्भूय गोपीस्तास्सान्त्वयामास मानयन्॥

स्वप्रेमामृतकल्लोलविह्वलीकृतचेतसः। सदयं नन्दयन्गोपी रुदतो नन्दनन्दनः॥

**इतीति**। इत्येवंप्रभृति चित्रधा अनेकधा सुस्वरं उच्चैः कृष्णदर्शने लालसा अतिस्पृहा यासां ताः ॥ १ ॥

**तासामिति**। साक्षान्मन्मथमन्मथः, जगन्मोहनस्य कामस्यापि, मनस्युद्भूतः कामः साक्षात् तस्याऽपि मोहक इत्यर्थः॥ २॥

**तमिति**। तन्वः करचरणादयः ॥ ३ ॥

**काचिदिति**। अञ्जलिना संहतहस्तद्वयेन ॥ ४ - ६ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थं गोपीनां गानमुपवर्णितम्। अथ [1]इत्थं गायन्तीर्गोपीरनुजिघृक्षोराविर्भूतस्य भगवतो दर्शनहर्षजां तासां विक्रियां सस्मसाक्षेपसल्लापां तां क्रीडाश्चाऽनुवर्णयति द्वात्रिंशेन — **इतीति**। इत्थं भगवतो गुणान् प्रगायन्त्यः चित्रधा अनेकधा प्रलपन्त्यश्च हे राजन्! कृष्णदर्शने लालसा अतिस्पृहा यासां ताः। सुस्वरं यथा तथा उच्चै रुरुदुः ॥ १ ॥

तासां [2]रुदन्तीनां अग्रे शौरिः आविर्बभूव। कथम्भूतः? स्मयमानं मुखाम्बुरुहं यस्य सः। जगन्मोहकस्य कामस्याऽपि मोहकः ॥ २ ॥

तमागतं प्रेष्ठं कृष्णमवलोक्य, अबला गोप्यः प्रीत्या उत्फुल्ला विकसिता दृशो यासां तथाभूताः युगपत् सर्वा उत्तस्थुः, यथा आगतं प्राणं तन्वः शरीराणि तद्वत्। वियुक्ते प्राणे पुनरागत्य सुस्थे सति यथा तनुरुत्तिष्ठते तद्वदित्यर्थः॥ ३॥

अथ ताः कृष्णमुखे यल्लावण्यं तदेव सुधा तां नयनरूपैः भाजनैः पानपात्रैः पुनःपुनः आपीय आपीय पीत्वा पीत्वाऽपि नाऽतृप्यन् न तृप्ता बभूवुः। यथा सन्तः भक्ताः तच्चरणं भगवत्पदाब्जलावण्यं पुनःपुनरनुभूयाऽपि न तृप्यन्ति, तद्वत् ॥ ४ ॥

काचिद्गोपी होः कराम्बुजं हर्षेण अञ्जलिना जग्राह। काचित्तु चन्दनेन रूषितं लिप्तं तस्य बाहुं अंसे आत्मनः स्कन्धे बभार ॥ ५ ॥

काचित्तन्वी योषित् अञ्जलिना संहतहस्तद्वयेन तस्य ताम्बूलचर्वितं [3]चर्वितताम्बूलं जग्राह। एका तु विरहतापेन तप्तयोः स्तनयोः तस्य भगवतोऽङ्घ्रिकमलं कमलवच्छीतलमङ्घ्रिम् [4]अधात् दधार ॥ ६ ॥

---

1. K एवं 2. K adds एवं 3. T,W omit चर्वित 4. T,W omit दधार

# श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

यथा गोपीनामात्मानं प्रकाशयन् भगवांस्तथा साधनसामग्र्या ज्ञानिनामपीति इममर्थं दर्शयितुमस्याऽध्यायस्य प्रारम्भः। तत्र शुकः रोदनादिकमपि भक्तचुद्रेकलक्षणमिति दर्शयितुं गोपीनां रोदनप्रकारं कथयति — **इतीति**। चित्रधा नानाविधेन सुस्वरं यथा श्रोतृसुखकरं भवति तथा स्वरं कुर्वत्यः, अनेन परिदेवनादिकं व्यावर्तयति ॥ १ ॥

भक्तचुद्रेकोद्भूतरोदनफलमाह — **तासामिति**। मनो मथ्नातीति मन्मथः कामः साक्षात्स्पष्टीकृतसर्वाङ्गसुन्दर इन्द्रतुल्यः तस्याऽपि मन्मथः मदमथनः। "मदनो मन्मथो मारः कामः" इति रुद्रः। अनेनैवंविधभगवदुपासनासामर्थ्यात्समुद्भूतः सौन्दर्यसागरः काम इति सूचितं भवति ॥ २ ॥

तन्वः भोगायतनशरीराणि ॥ ३, ४ ॥

गोपीनां करादिग्रहणादिषु हेतुः करादानादिना भक्त्येकलभ्यः श्रीनारायण इति निदर्शयन् तत्प्रवृत्तिं कथयति **काचिदित्यादिना**। चन्दनरूषितं लिप्तम् ॥ ५ ॥

चर्वितं भक्षितोच्छिष्टं अधात् दधार ॥ ६ ॥

एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला।
[1]घ्नन्तीवैक्षत् [2]कटाक्षेण [3]निर्दष्टदशनच्छदा ॥ ७ ॥

अपराऽनिमिषद्दृग्भ्यां [4]जुषाणा तन्मुखाम्बुजम् ।
आपीतमपि नाऽतृप्यत् सन्तस्तच्चरणं यथा ॥ ८ ॥

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य [5]निमील्य च ।
पुलकाङ्ग्युपगुह्याऽऽस्ते [6]योगीवाऽऽनन्दनिर्भरा [7] ॥ ९ ॥

सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः ।
जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः [8] ॥ १० ॥

ताभि र्विधूतशोकाभि र्भगवानच्युतो [9]वृतः ।
व्यरोचताऽधिकं [10]तात! पुरुषः शक्तिभिर्यथा ॥ ११ ॥

तास्समादाय कालिन्द्या निर्विश्य पुलिनं विभुः ।
[11]विकचत्कुन्दमन्दारसुरभ्य[12]निलषट्पदम् ॥ १२ ॥

1. G,T,W घ्नतीवै° ; M,Ma प्रत्यवै° 2. G,J,V,Va °पैः 3. G,J,K,Va सन्दष्ट 4. M,Ma °वं ६° 5. V °त्वा 6. T,V,W गू° 7. G,J,K,T,Va,W सम्प्लुता 8. M,Ma °नः 9. M,Ma नृप! 10. V तत्र 11. G,J,K,M,Ma,Va °स° 12. M,Ma °तानि°.

**श्रीध० एकेति।** भ्रुकुटिं[1] भ्रुवमाबध्य कुटिलीकृत्य प्रेमसंरम्भेण प्रणयकोपावेशेन विह्वला विवशा, निर्दिष्टः[2] दशनच्छदः[-2] यया, कटाः कटाक्षाः तैः ये आक्षेपाः परिभवाः तैः ताडयन्तीव ऐक्षत् ॥ ७ ॥

**अपरेति।** अनिमिषतीभ्यां[3] अनिमीलन्तीभ्यां दृग्भ्याम् आपीतमपि सम्यग्दृष्टमपि पुनः[4] जुषाणा नाऽतृप्यत् ॥८॥

**तमिति।** हृदि कृत्वा[5] हृदयं नीत्वेत्यर्थः। आनन्दसंप्लुतेति[6-] वा पाठः[-6] ॥ ९ ॥

**सर्वा** इति। प्राज्ञमीश्वरं प्राप्य यथा मुमुक्षवो जनाः। यद्वा, प्राज्ञं ब्रह्मज्ञं प्राप्य यथा संसारिणः। यद्वा प्राज्ञं सुषुप्तिसाक्षिणं[7-] प्राप्य[-7] यथा विश्वतैजसावस्था जीवाः ॥ १० ॥

**ताभिरिति।** पुरुषः परमात्मा शक्तिभिस्सत्त्वादिभिः यथा। यद्वा, उपासकः पुरुषः ज्ञानवीर्यबलादिभिः। यद्वा, पुरुषोऽनुशयी[8] प्रकृत्याद्युपाधिभिर्वृतो यथा अधिकं[9] व्यरोचत[10], तद्वत् ॥ ११ ॥

**ता** इति। विकचत्कुन्दमन्दारैः[11] सुरभिर्योऽनिलः तस्मात् षट्पदा यस्मिन् तत् ॥ १२ ॥

1. P.V omit भ्रुवम् 2- -2. J,Va दष्टाः अधरोष्ठाः 3. J,Va °न्ती° 4. J,Va add °पुनः 5. J,Va °कृत्य 6- -6. J,Va omit 7- -7 J,Va सौषुप्तं 8. J,Va °शा° 9. P,V omit अधिकं 10 J,Va विरोचते 11. J,Va °स°

**वीर०** एका तु भ्रुकुटिं भ्रुवमाबध्य कुटिलीकृत्य प्रेमसंरम्भेण प्रेमगर्भक्रोधेन विह्वला निर्दिष्टो दशनच्छदोऽधरोष्ठो यया तथाभूता कटाक्षेण घ्नन्तीव ताडयन्तीव ऐक्षत। कटाक्षेपैरिति पाठे कटाक्षपातैरित्यर्थः ॥ ७ ॥

अपरा तु निमेषमकुर्वतीभ्यां दृग्भ्यां तस्य मुखाम्भोजमापीतमपि पुनः पुनर्जुषाणा सेवमाना नाऽतृप्यत् न तृप्ता बभूव। यथा सन्तो भक्तास्तच्चरणं पुनःपुनरनुभूयाऽपि न तृप्यन्ति, तद्वत् ॥ ८ ॥

काचित्तु नेत्रस्प्रद्वारेण तं कृष्णं हृदि निधाय उपगूह्याऽऽलिङ्ग्य च निमील्य, नेत्रे इति शेषः। पुलकानि पुलकितानि अङ्गान्यस्यास्सन्तीति तथाभूता। आनन्देन संप्लुता आनन्दमग्ना योगीवाऽऽस्ते आस्त ॥९॥

तास्सर्वा गोप्यः केशवस्यावलोकनमेव परम उत्सवस्तेन सुखिताः विरहजं तद्विश्लेषजं तापं विजहुः तत्यजुः। यथा जनाः योगिजनाः प्राज्ञं परमात्मानम् प्राप्य साक्षात्कृत्य आध्यात्मिकादितापत्रयं जहति, तद्वत्। यद्वा, "प्राज्ञेनाऽऽत्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नाऽन्तरम्" (बृह.उ.4-3-21) "प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढः" (बृह.उ. 4-3-35) इत्युक्तरीत्या यथा सुषुप्तिदशायां परमात्मना सम्परिष्वक्ता जाग्रत्कालिक बाह्याभ्यन्तरक्लेशान् जहति तद्वदित्यर्थः ॥ १० ॥

तत्र तदा ताभिर्विगतविरहजशोकाभिः परिवृतः नितरां व्यरोचत। हे तात! यथा पुरुषो जीवः शक्तिभिः चतुर्विंशति तत्त्वात्मिकाभिः वृतो रोचते। यद्वा, पुरुषः परमपुरुषः शक्तिभिः विमलादिकाभिः परिवृतस्तद्वत् ॥ ११ ॥

ततो विभुः कृष्णः तास्समादाय कालिन्द्याः पुलिनं निर्विश्य तत्र ताभिः परिवृतो व्यरोचतेति पूर्वेणाऽन्वयः। पुलिनं कथम्भूतम्? विकसद्भिः कुन्दैः मन्दारैः सुरभिः यो मन्दानिलः तस्मात्, षट्पदा भृङ्गा यस्मिन् ॥ १२ ॥

विज० प्रेमसंरम्भविह्वला प्रणयकोपाकुलिता, भ्रुकुटिं ललाटशिरां आबध्य प्रकाश्य निर्दष्टदशनच्छदा नितरां दष्टोष्ठपुटा ॥ ७ ॥

अनिमिषं निमेषलक्षणव्यापारशून्यमिति क्रियाविशेषणम्। जुषाणा सेवमाना ॥ ८ ॥

हृदि स्थितं कृत्वा पुलकाङ्गी रोमाञ्चितगात्रा उपगुह्य आलिङ्ग्य आनन्दनिर्भरा परमानन्दपूर्णा ॥९॥

जनः शोकाकुलः संसारी वा प्राज्ञं पण्डितं दुःखशमनबोधकं परमात्मानं वा, "प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढः" (बृह.उ. 4-3-35) इति श्रुतिः ॥ १० ॥

पुरुषो विष्णुः, शक्तिभिः लक्ष्मीविभूतिभिः । ११ ॥

विभुः, अनिलश्च षट्पदाश्च अनिलषट्पदाः, विकसतोः कुन्दमन्दारयोः, सुष्ठु रताः क्रीडावन्तः अनिलषट्पदाः यस्मिंस्तत्तथा ॥ १२ ॥

शरच्चन्द्रांशुसन्दोह ध्वस्तदोषातमश्शिवम्।
कृष्णाया[1] हस्ततरलाऽऽचितकोमलवालुकम् ॥ १३ ॥

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः।
स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितै रचीक्लृप[2] न्नासनमात्मबन्धवे ॥ १४ ॥

तत्रोपविष्टो भगवान्स ईश्वरो[3] योगेश्वरान्तर्हृदि[4] कल्पितासनः।
चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चितस्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत् ॥ १५ ॥

सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा[5]।
संस्पर्शनेनाङ्गकृताङ्गिहस्तयोः[6] संस्तभ्य[7] ईषत्कुपिता[8] बभाषिरे[9] ॥ १६ ॥

## गोप्य ऊचुः

भजतोऽनु[10] भजन्त्येके एक एतद्विपर्ययम्।
नोभयांश्च भजन्त्यन्ये[11] एतन्नो ब्रूहि साधु भोः ॥ १७ ॥

1. M,Ma कृष्णेहाऽऽयस्त 2. T,V,W °चिक्लि° 3. V ईशो 4. G,J,M,Ma,Va °गे° 5. M,Ma °ड्डवः 6. M,Ma नोत्काङ्क 7. M,Ma °ताङ्कहृच्छयम् 8. G,J,V,Va संस्तुत्य 9. V चेष° 10. G,J,V,Va °न्त्येके 11. M,Ma,V भो!

**श्रीध० शरदिति।** शरच्चन्द्रांशूनां सन्दोहैः समूहैः ध्वस्तं दोषातमः रात्रिगतं तमः यस्मिंस्तत्। अतः शिवं सुखकरं हस्तरूपैस्तरलैः तरङ्गैः आचिताः आस्तृताः कोमला वालुका यस्मिन्। एवम्भूतं पुलिनं तास्समादाय निर्विश्य तत्र ताभिः वृतः अधिकं व्यरोचतेति पूर्वेणान्वयः ॥ १३ ॥

**तदिति।** ताश्च मनोरथानामन्तं ययुः, पूर्णकामा बभूवुः। श्रुतयो यथेति। अयमर्थः- यथा कर्मकाण्डे श्रुतयः परमेश्वरमपश्यन्त्यः तत्तत्कामानुबन्धैरपूर्णा इव भवन्ति। ज्ञानकाण्डे तु परमेश्वरं दृष्ट्वा तदाह्लादपूर्णाः कामानुबन्धं जहुः[2], तद्वदिति। आप्तकामा अपि प्रेम्णा तमभजन्नित्याह — स्वैरिति। अचीकृपन् रचयामासुः। आत्मबन्धवे अन्तर्यामिणे ॥ १४ ॥

**तत्रेति।** गोपीसभागतः ताभिः सम्मानितस्सन् चकास शुशुभे त्रैलोक्ये या लक्ष्मीः शोभा तस्याः एकमेव पदं स्थानं तद्वपुः दधत् दर्शयन् ॥ १५ ॥

**सभाजयित्वेति।** सहासलीलेक्षणेन विभ्रमो विलासः यस्यां तया भ्रुवा उपलक्षिताः संस्पर्शनेन सम्मर्दनेन[3-3]॥ १६ ॥

तत्र भगवतः अकृतज्ञतां तद्वचनेनैव उपपादयितुकामाः गूढाभिप्राया लोकवृत्तान्तमिव पृच्छन्ति **भजत** इति। भजतः प्राणिनः अनु अनन्तरम्। केचित्तद्भजनानुसारेण भजन्ति[4] केचिदेतद्विपर्ययं यथा भवति तथा। तद्भजनानपेक्षे[5] अभजतोऽपि भजन्ति। अन्ये तु नोभयानिति ॥ १७ ॥

1. J,Va omit तत्र 2. J,Va जहति 3- -3. Va omits 4. Va omits तत् 5. P,V °क्षितं

**वीर०** शरच्चन्द्रांशूनां सन्दोहैस्समूहैः ध्वस्तं नाशितं[1] दोषातमो रात्रितमो यस्मिन्। अतः शिवङ्करं कृष्णाया यमुनायाः हस्तरूपैः तरलैः तरङ्गैः आचिता आस्तृताः कोमला वालुका यस्मिन् तथाभूतम्॥ १३॥

तस्य भगवतो दर्शनेन य आह्लादः तेन विधूता निरस्ता हृद्गजः तद्विश्लेषजा मनःपीडाः यासां ताः गोप्यः मनोरथान्तं मनोरथप्रतिपादनाकाङ्क्षापर्यवसानं प्रापुः, यथा श्रुतयस्तद्वत्। यथा भागद्वयात्मिकाः श्रुतयः तात्पर्यवृत्त्या अभिधया च प्रतिपिपादयिषितं परमात्मानं प्रतिपाद्य प्रतिपादनाकाङ्क्षापर्यवसानं प्राप्नुवन्ति तद्वदित्यर्थः। इत्थं पूर्णमनोरथाः प्रेम्णा तमभजन्नित्याह। कुचकुङ्कुमेनाऽङ्कितैः स्वैः स्वकीयैः उत्तरीयैः आत्मबन्धवे आसनं रचयामासुः ॥ १४ ॥

योगीश्वराणामन्तर्हृदि हृदयकमलमध्ये कल्पितमासनं यस्य तथाभूतोऽपि ईश्वरो भगवान्, तत्र गोप्युत्तरीयरचितासने समासीनः गोपीसमुदायमध्यगतः त्रैलोक्यसौन्दर्यैकाश्रयं वपुर्दधत् बिभ्राणः चकास दर्शयन् शुशुभे ॥ १५ ॥

अनङ्गं कामं दीपयत्युद्दीपयति तथा तं भगवन्तं सहासलीलेक्षणेन विभ्रमो यस्यां तया भ्रुवा सभाजयित्वा रञ्जयित्वा। यद्वा, आत्मभिस्सह क्रीडयित्वा उक्तविधया भ्रुवोपलक्षिताः गोप्यः, अङ्गेष्वात्मनामूरुषु यौ कृतौ निहितौ भगवतश्चरणौ तयोः यावात्मनां हस्तौ तयोः संस्पर्शेन, करणस्य शेषत्वविवक्षया षष्ठी। ताभ्यां मर्दनेन तत्पूर्वकं संस्तभ्य दृढमङ्घ्री गृहीत्वेत्यर्थः। ईषत्कुपितास्सत्यो बभाषिरे ॥ १६ ॥

भाषणमेवाऽऽह — **भजत** इति। केचित् भजतोऽनुवर्तमानान् भजन्ति अनुवर्तन्ते। एके तु एतद्विपर्ययं कुर्वन्ति, अभजतो भजन्तीत्यर्थः। अन्ये तु उभयान् भजतश्चाभजतश्च न भजन्ति। भो कृष्ण! एतदस्मभ्यं ब्रूहि। उक्तविधान्[2] प्रश्नान् तत्र प्रवर्तकं साध्यं गुणदोषतारतम्यञ्च ब्रूहीत्यर्थः। तृतीयकोट्यन्तर्भूतस्त्वमिति भावः ॥ १७ ॥

---

1. T,W omit नाशितं 2. T,W omit प्रश्नान्

**विज०** शरत्कालचन्द्रांशूनां सन्दोहेन निरन्तरराज्या ध्वस्तं निरस्तं दोषातमः राज्यन्धकारो यस्मिन् तत्तथा। कृष्णायाः यमुनायाः ईह्या प्रवाहलक्षणचेष्टया आयस्ताः आयासं प्राप्ताः तरला अणुतरङ्गा एतैः आचितानि[1] आसिक्तानि च कोमलानि च वालुकानि सैकतानि यत्र तत्तथोक्तम्। यद्वा कृष्णेह्या श्रीकृष्णमूर्तिक्रीडया आयस्तानि च तरलानि चञ्चलानि च अत एवाऽऽचितानि इतस्ततो विकीर्णानि च, शेषं समम्। "अणुस्तरङ्गो लोलः स्यात्तरला कुरलस्तथा" इति गोपालः। "आचितं छन्नसिक्तयोः" इति च ॥ १३ ॥

मनोरथान्तं प्रार्थितार्थपूर्तिं, मनोरथानामर्थानामन्तं निर्णयहेतुं परमात्मानम्। 'रथ गतौ' इति धातुः। श्रुतिविषये तस्य ब्रह्मणो दर्शनेन विषयीकरणलक्षणेन जाताह्लादेन पूर्णार्थलक्षणेन अवधूता हृद्रुजः विषयीकरणलक्षणाः यासां तास्तथा। उत्तरीयैः प्रावरणीयवस्त्रैः आसनं विमलोत्कर्षणीज्ञानेत्यादिक्लृप्तमिव पीठम्, अन्यत्राऽऽत्मनो वायोर्बन्धवे "सतो बन्धुमसति निरविन्दन्" (नृ.पूर्व.उ. 1-1) इति श्रुतिः ॥ १४ ॥

गोपीपरिषद्गतः गोपस्त्रीसमूहमध्यवर्ती त्रैलोक्यलक्ष्मीणां त्रैलोक्यसौन्दर्याणामेकं पदं स्थानं, त्रिलोकीजनसेव्या लक्ष्मीः श्रीः तस्याः एकं केवलं पदं भोगयोग्याश्रमं वा ॥ १५ ॥

अनङ्गं कामं दीपयतीति अनङ्गदीपनः तं लीलया लालित्येन ईक्षणं हाससहितं सहासं सहासलीलेक्षणेन विभ्रमन्त्योऽनुदिशं सञ्चलन्त्यः भ्रुवो यासां तास्तथा। संस्पर्शेन उत्पन्ना उत्का उत्कण्ठा सैव अङ्गं लक्षणं तेन कृतः पूर्णः अङ्गे शरीरे हृच्छयः कामः संस्पर्शोत्काङ्गकृताङ्गहृच्छयः तं संस्तभ्य करचरणाद्यङ्गस्पर्शेन अभिव्यक्तं कामं निरुध्येत्यर्थः ॥ १६ ॥

गोप्यः शास्त्रतत्त्वमजानत्यः[2] हरेरकृतज्ञताकरणाभिप्रायेण पृच्छन्ति — **भजत** इति। एके केचित् भजतः सेवमानान् अनुभजन्ति सेवानुकूलफलसमर्पणेन सेवन्ते। एके केचित् एकस्योक्तस्य विपर्ययं कुर्वन्ति फलोद्देशेन सेवमानान् अविशिष्टफलदानेन अनुवर्तन्ते। अन्ये नोभयांश्चानुवर्तन्ते। यदेतत्पक्षत्रयं अत्र साधु निर्दोषपक्षमस्माकं ब्रूहि विविच्य कथयेत्यर्थः॥ १७॥

---

1. Ma omits आचितानि 2. M,Ma °न्त्यः

## श्रीभगवानुवाच

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते।
न तत्र सौहृदं धर्मः [1-]स्वार्थार्थं[-1] तद्धि नाऽन्यथा ॥ १८ ॥

भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा।
धर्मो निरपवादो[2]ऽत्र सौहृदश्च सुमध्यमाः ॥ १९ ॥

भजतोऽपि न वै केचित् भजन्त्यभजतः कुतः ।
आत्मारामा ह्याप्तकामा ह्यकृतज्ञा गुरुद्रुहः[3] ॥ २० ॥

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये[4]।
★तथैव मत्तः फलसम्पदः स्युः उच्चावचाः कल्पतरोरिवार्थिनाम्।
यथाऽधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयाऽन्यन्निभृतो[5] न वेद ॥ २१ ॥

एवं मदर्थो[6]ज्झितलोकवेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः[7]।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं मा[8]ऽसूयितुं मा[9]ऽर्हथ तत्प्रियं[10] प्रियाः ॥ २२ ॥

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं[11] विबुधायुषाऽपि वः।
या[12-] मा[-12]ऽभजन्दुर्जरगेहशृङ्खलां[13] संच्छिद्य[14] तद्वः[15] प्रतियातु[16-] साधुना[-16] ॥२३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
रासक्रीडायां गोपीसान्त्वनं नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

---

1- -1 M,Ma स्वार्थं तद्वित्त 2. T,W °राधोऽ° 3. G,J,K,Va अ° 4. M,Ma वृत्तयो यथा ★ This additional half verse along with commentary is found in M & Ma Edns. 5. M,Ma °तं 6. M,Ma °र्धार्पित 7 M,Ma °यो 8 M,Ma सा° 9. M,Ma ना° 10 M,Ma मां प्रि° 11. G,J,Va स्व 12- -12. M,Ma यो मां भजेदु° 13. M,Ma दे° 14. G,J,K,M,Ma,Va °ताः 15. G,J,V,Va संवृच्य 16- -16. M,Ma वृद्धिं प्रतियाति सोऽधुना ; T,W तन्व्यः प्रतियातु साधुना

श्रीध० विदिताभिप्रायस्सन्[1] उत्तरमाह **मिथ** इति। हे सख्यः, उपकाराप्रत्युपकारतया ये मिथो भजन्ति, तेऽन्यं न भजन्ति, किन्त्वात्मानमेव। कुतः? हि यस्मात् स्वार्थ एवैकान्तः उद्यमो येषां ते, तत्र च न सौहृदम्[2] अतो न सख्यं, न च धर्मः दृष्टोद्देशात्, गोमहिष्यादिभजनवदित्यर्थः ॥ १८ ॥

ये तु अभजतो भजन्ति ते द्विविधाः- करुणाः[3] स्निग्धाश्च। तत्र तु यथाक्रमं धर्मकामौ भवत इत्याह — **भजन्त्यभजत** इति। करुणा एषामस्तीति करुणाः, दान्ता इत्यर्थः[3] ॥ १९ ॥

तृतीयप्रश्नस्योत्तरं[4] - **भजतोऽपीति**[4]। अयमर्थः - ते[5] चतुर्विधाः- एके आत्मारामाः अपराम्दृशः, केचिदाप्तकामाः विषयदृशिनोऽपि[6] पूर्णकामत्वेन भोगेच्छारहिताः। अन्ये तु अकृतज्ञा मूढाः अन्ये गुरुद्रुहः अतिकठिनाः। "स पिता यस्तु पोषकः" इति न्यायात्। उपकर्ता गुरुतुल्यः तस्मै द्रुह्यन्तीति तथा ते ॥ २० ॥

अत्र चरमकोटिगतमात्मानं मत्वा अक्षिसङ्केतैः परस्परगूढस्मितमुखीः ता दृष्ट्वाऽऽह — **नाऽहन्त्विति**। हे सख्यः! अहं तेषां मध्ये न कोऽपि। किन्तु परमकारुणिकः परमसुहृच्च। कथम्? अमीषां भजतां अनुवृत्तिवृत्तये निरन्तरध्यानप्रवृत्त्यर्थं तान् न अहं भजामि। एतत्सदृष्टान्तमाह — यथेति। तस्य धनस्यैव चिन्तया निभृतः पूर्णः व्याप्त इति यावत्। अन्यत्तु क्षुत्पिपासादिकमपि न वेद ॥ २१ ॥

**एवमिति**। मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां मदर्थे उज्झितः लोकः युक्तायुक्ताप्रतीक्षणात्। वेदश्च धर्माधर्मप्रतीक्षणात्। स्वाः ज्ञातयश्च स्नेहत्यागात्, याभिस्तासां वो युष्माकं परोक्षं अदर्शनं यथा भवति तथा। भजता युष्मत्प्रेमालापान् शृण्वतैव तिरोहितमन्तर्धानेन स्थितम्। तत्तस्मात् हे अबलाः! हे प्रियाः! मा मां असूयितुं दोषारोपेण द्रष्टुं यूयं माऽर्हथ न योग्याः स्थ ॥ २२ ॥

एवमस्तामिदम्, परमार्थं तु शृणुतेत्याह-**नेति**। नि[11] स्वद्यसंयुजां[11] निस्वद्या संयुक् संयोगः यासां, नि[12] स्वद्यं यथा भवति तथा संयुज्यन्ते भजन्त इति वा। तथा तासां[12] वः विबुधानामायुषा चिरकालेनाऽपि स्वयं साधुकृत्यं प्रत्युपकाराकृत्यं कर्तुं न पारये न शक्नोमि। कथम्भूतानाम्? याः भवत्यः दुर्जरा अजरा या गृहशृङ्खला[13] तां संवृश्चय[14] निरशेषं छित्त्वा मा माम् अभजन् तासां मच्चित्तं ब्रह्मणि प्रेमयुक्ततया नैकनिष्ठम्। तस्माद्वो युष्माकमेव साधुना साधुकृत्येन यत् युष्मत्साधुकृत्यं तत्, प्रतियातु प्रतिकृतं भवतु। युष्मत्साधुकृत्येनैव ममाऽऽनृण्यम्, न तु मत्कृतप्रत्युपकारेणेत्यर्थः ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

---

1. J,Va omit सन् 2. J,Va omit सं 3- -3. J,Va omit 4- -4 J, Va प्रश्नस्य 5. J,Va omit ते तु 6- -6. J,Va दर्शिनोऽपि 7- -7 V omits 8. V, Va omit 9. J,Va omit 10. J,Va °चपि 11- -11 J,Va omit 12- -12. J,Va omit 13. J,Va गेह 14. J,Va °त्यन्त

**वीर०** विदिताभिप्राय उत्तरमाह **मिथ** इति। हे सख्यः! ये मिथो भजन्ति परस्परमुपकुर्वन्तोऽनुवर्तन्ते, ते स्वार्थे स्वप्रयोजने एव निमित्ते, एकान्तः नियत उद्यमो येषां तथाभूताः स्वप्रयोजनमात्रपरास्ते हीत्यर्थः। यस्मादेव मत एव तत्र मिथो भजने न सौहृदं मिथोभजनप्रवर्तकं न सौहृदमित्यर्थः। किन्तु उपचिकीर्षाप्रत्युपचिकीर्षे एव तत्र कारणमिति भावः। अत एव न तत्र धर्मः न तत्साध्यो धर्म इत्यर्थः। किन्तु केवलं दृष्टमेव तत्साध्यं प्रयोजनमिति भावः। तदेवाऽऽह तन्मिथो भजनं स्वार्थार्थम् स्वार्थस्स्वप्रयोजनम् एवार्थः प्रयोजनं यस्य तथाभूतं हि न त्वन्यथा स्वार्थनिरपेक्षपरोपकारार्थद्वारा धर्मार्थं न भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

द्वितीयकोटचन्तर्गतानाह — **भजन्तीति**। हे सुमध्यमाः! अभजतः ये भजन्ति ते करुणाः करुणावन्तः "अर्श-आद्यच्" (अष्टा. 5-2-127) स्वार्थनिरपेक्षपरोपचिकीर्षा करुणा। सा च पित्रादिष्वतीव प्रसिद्धेति तां निदर्शयति — पितरो यथेति। अत्राऽभजद्भजने सौहृदं सर्वभूतसुहृत्त्वं प्रवर्तकं तत्साध्यस्तु निरपवादो निर्बाधो धर्मः। अक्षय्यो भगवदनुग्रहरूपधर्म इत्यर्थः। अथ तृतीयान् द्वेधा विभज्य दर्शयति — भजतोऽपीति। ये भजतोऽपि न वै भजन्ति। कुतोऽभजतो भजेयुः? ते तु आत्मारामादयः, अत्र आत्मारामाःकेवलं स्वदेहमात्रपोषणपरायणाः, न तु ज्ञानिनः, तेषां सर्वभूतसुहृत्त्वेन द्वितीयकोटचन्तर्गतत्वात्। आप्तकामाः शब्दादिविषयभोगतदुपकरणतत्स्थानसमृद्धिमन्तः। अकृतज्ञाः कृतघ्नाः। अकृतज्ञानामेव परां काष्ठां दर्शयति गुरुद्रुह इति। यद्वा, अकृतज्ञत्वकार्यं दर्शयति गुरुद्रुह इति। गुरुभिः कृतं महोपकारमननुस्मृत्य तेभ्योऽपि द्रुह्यन्तीति तथाभूताः। एतेषां त्रयाणां इतरभजनाभावात् प्रवर्तकसाध्यगुणदोषा नोक्ताः ॥ १९,२० ॥

इत्थं भगवतोक्ताः गोपीस्तावदनुवर्तमाना अस्मानभजन् अयं तृतीयकोटचन्तर्भूतः। तत्राऽपि नाऽऽत्मारामो नाऽप्याप्तकामश्च, तथा चेदमस्माभिस्सह वने विहारासम्भवात्। अतोऽयं नूनमकृतज्ञ इत्यक्षिसङ्कोचैः परस्परं सूचयन्तीर्हृद्धा प्रत्याह - **नाहन्त्विति**। हे सख्यः! भजतोऽपि जन्तूनाहं भजामि, न तेषां दृष्टिगोचरो भवामीत्यर्थः। तथाऽपि नाऽकृतज्ञ इति भावः। तर्हि किमर्थं न भजसीत्यत आह- अमीषां मां भजतां जन्तूनां अनुवृत्तिवृत्तये अनुवर्तनस्य मदनुध्यानरूपस्य अविच्छेदाय। अनेनाऽऽत्मनः कृतज्ञत्वं परमकारुणिकत्वञ्चोक्तम्। प्रियस्यादृश्यमानस्य अत्यन्ताभिनिवेशविषयत्वे दृष्टान्तमाह — यथेति। अधनो निर्धनः पुमान् कदा चित् दैवाल्लब्धे धने विनष्टे सति, तच्चिन्तया विनष्टधनचिन्तया निभृतो व्याप्तः, अन्यन्न वेद नान्यत् स्मरति। किन्तु तदेव नष्टं धनमविच्छेदेन अनुस्मरन् अवतिष्ठते। अविनष्ट इति वा छेदः। तस्मिन्नविनष्टे सति चिन्तया विषयचिन्तया निभृतः पूर्णः, तद्धनमन्यच्च न वेद नाऽनुस्मरति, किन्तु प्रमत्तो भवतीति भावः। अस्मिन्पक्षे व्यतिरेके दृष्टान्तः ॥ २१ ॥

आत्मनः कृतज्ञता माविष्कुर्वन् कारुणिकत्वमेवाह — **एवमिति**। हे अबलाः! मदर्थमुज्झिताः त्यक्ताः लोकः युक्तायुक्ताप्रतीक्षणात्, वेदः धर्माधर्मानपेक्षणात्, स्वा ज्ञातयश्च स्नेहत्यागात् याभिस्तासां वः युष्माकम्। अनेन कृतज्ञत्वमाविष्कृतम्। मय्यनुवृत्तये परोक्षं भजता परोक्षमुपकुर्वता मया तिरोहितम्। अनेन कारुणिकत्वमुक्तम्। तत् तस्मात् हे प्रियाः! प्रियतमं माम् असूयितुं दोषदृष्ट्या द्रष्टुं नाऽर्हथ ॥ २२ ॥

आत्मनः कृतज्ञताकाष्ठामाह — **न पारय** इति। निरवद्यं निष्कपटं यथा तथा, संयुज्यन्ते भजन्त इति तथा तासां वो युष्माकं सुसाधु यथा तथा कर्तुं प्रत्युपकर्तुं अहं विबुधायुषाऽपि न पारये न शक्नोमि। मनुष्यायुषा न

शक्नोम्येव, ब्रह्मायुषाऽपि न शक्नोमीति भावः। या भवत्यः दुर्जरगेहशृङ्खलाम्[4] अच्छेद्यगृहरूपशृङ्खलां[5] सम्यक् छित्त्वा मामभजन्, तत्तस्मात् तासां वः सा शृङ्खला अधुना प्रतियातु, भूयो विनिवर्ततामित्यर्थः। मया कार्यः प्रत्युपकारो मुक्तिप्रदानमेव। तत्तु सदृशं भवेदिति भावः। यद्वा, तस्माद्युष्माकमेव साधुना साधुकृत्येन तद्युष्मत्साधुकृत्यं प्रतियातु प्रतिकृतं भवतु। "मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं हरे। नरः प्रत्युपकारार्थी विपत्तिमभिकाङ्क्षति" (रामा. 7-40-23) इत्युक्तरीत्या युष्मत्साधुकृत्यं तेनैव जीर्यत्विति भावः ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां व्याख्यायां
द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

---

1. K omits केवलं 2- -2. K omits 3- -3. T,W omits 4- -4. K °लासच्छिद्य 5- -5. K °पं पाशं

**विज०** तत्र परिहारं वक्तुमुपक्रमते **मिथ** इति। हे सख्यः! ये मिथो भजन्ति उपकारप्रत्युपकारलक्षणां सेवां कुर्वन्ति ते स्वार्थैकान्तोद्यमा हि स्वप्रयोजननियतप्रयत्ना यस्मात् तस्मात् तत्र तेषु सौहृदं अनिमित्ततः स्नेहलक्षणो धर्मो नाऽस्ति। ननु तर्हि किमस्ति, तत्राऽऽह स्वार्थमिति। स्वप्रयोजनार्थं वित्त जानीध्वम्। विपक्षं प्रतिषेधति नेति ॥ १८ ॥

ये अभजतः फलेष्विच्छाननुगतान् भजन्ति फलमर्पयन्ति। तत्र कारणमाह करुणा इति। करुणयन्ति प्राणिनो दृष्ट्वा द्रवीकृतहृदया भवन्तीति करुणाः। तत्र दृष्टान्तः लोकानुग्रहकरणशीलाः पितरो यथा बालादीन् दृष्ट्वा। गुणान्तरञ्चाऽऽस्तीत्याह- धर्म इति। हे सुमध्यमाः! अत्र तेषु जनेषु सौहृदलक्षणो धर्मश्च निरपवादः निर्दोषः! इदं सम्प्रज्ञातसमाधिस्थस्य लक्षणम्॥ १९॥

असम्प्रज्ञातसमाधिस्थस्य लक्षणमाह - **भजतोऽपीति**। अत्र केचिज्जनाः भजतोऽपि फलार्थितया सेवमानानपि न भजन्ति स्वप्रयोजनाभावात्। कथं तदित्यत्राऽऽह — आत्मेति। आत्मनि परमात्मन्येव आरामः क्रीडा येषान्ते तथा, बाह्यप्रवृत्तिशून्या इत्यर्थः। तदपि कथमित्याशङ्क्य सुखार्थे हि प्रवृत्तिः, सुखं तु स्वत एव पूर्णमित्याशयेनाह आप्तकामा इति। काम्यत इति कामः आनन्दः, हिशब्दो हेतौ। आनन्दाप्तौ निमित्तमाह — अकृतेति। अकृतं परमात्मानं जानन्तीति, तज्ज्ञानञ्च निष्पापत्वादित्याह - गुरुद्रुह इति। गुरूणि पापानि द्रोहितवन्तो नाशितवन्त इति। "नास्त्यकृतः कृतेन" (मुण्ड.उ. 1-2-12) इति श्रुतिः। "नराणां क्षीणपापानाम्" इति स्मृतिः। कीदृशाः कृतघ्ना इत्यतो वाऽऽह भजतोऽपीति। ये केचित् भजतः शरणार्थितया सेवमानानपि न भजन्ति, ग्रहणलक्षणां सेवां न कुर्वन्ति। अभजतः कुतो भजन्ति। तत्र कारणमाह आत्मारामा इति। परमात्मविषयमतिरहिता देहलक्षणात्मनि नितरां रताश्च। तर्हि कुत्र रतिरित्यत्राऽऽह- आप्तेति। आप्ते विप्रब्धे स्त्रीजने कामो येषां ते तथा। एतादृशाः कृतघ्ना हि कृतं न जानन्ति नाशयन्ति च। अत एव गुरुद्रुहः देवादिगुरूणां द्रोग्धार इत्युच्यन्ते हविराद्यदानात् ॥ २० ॥

अहमेष्येक इति भवतीनाम् आशङ्का माभूदित्याह — **नाऽहमिति**। अपि समुच्चये। तुशब्दो विशेषप्रकाशकः। अहं भजतः फलार्थितया सेवमानान् अभजतोऽपि फलार्थितया असेवमानान्न भजामि, तदिच्छया फलं न दास्यामि, "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" (कठ.उ. 2-22) इति मम विजयशिखामणेः ततः प्रयोजनाभावात् तेभ्यः प्रयोजनं न ममेत्यर्थः। तर्ह्येषां सेवा निष्फला किं नेत्याह अमीषामिति। अमीषामुभयेषां यथा यथा सेवाः स्युः तथा तथा मत्तः उच्चावचाः सेवाफलसम्पदः स्युरेव अर्थिनां योग्यानामधिकारिणां कल्पवृक्षाद्यथा फलानि तथेत्यर्थः। भगवान् गोपीनां सेवास्तवनव्याजेन स्वोपासनाप्रकारं दर्शयति — यथेति। यथा अधनो धनहीनः दरिद्रः दैवाल्लब्धधने नष्टे तच्चिन्तया नष्टधननियतरत मनस्कत्वेन नितरां भृतं गृहीतं अन्यन्न वेद। यद्वा, निभृतं स्तिमितं निश्चलं स्थिरं पुरोवर्त्यन्यद्वस्तु ॥ २१ ॥

हे अबलाः! एवं मदर्थं मामुद्दिश्य अर्पिते लोकवेदस्वे लौकिककर्मवैदिककर्मलक्षणसर्वस्वे यासां तास्तथा। तासां वो युष्माकं अनुवृत्तयः सेवालक्षणा उपासनाः अविषया न स्युः इत्यन्वयः। तर्हि किमर्थं भवताऽन्तरधायि इत्याशङ्क्य अस्माकं स्वभावोऽयमित्याशयेनाऽऽह मयेति। अत्र भजतेति शतृप्रत्ययः इच्छावाची, परोक्षं भजता व्यवधानमिच्छता मया तिरोहितं, पारोक्ष्यं कृतम्। "परोक्षप्रिया इव हि देवाः" (ऐत.उ. 3-14) इति श्रुतिः। व्यवधानमस्मत्प्रियं यस्मात् तस्मात् हे प्रियाः, यूयं प्रियं मां सासूयितुं असूयासहितां मतिं कर्तुं नाऽर्हथेत्यन्वयः। "सन्निकर्षो हि मर्त्याना मनादरणकारणम्" इति स्मृतेश्च, शिक्षणायाऽप्येवं कृतम् ॥ २२ ॥

ननु युष्मदनुग्रहाभावात् तत्कथमित्याशङ्क्य अनुग्रहविशेषं कथयति — **नेति**। विबुधायुषा दिव्यवत्सरकल्पितजीवनलक्षणेनाऽपि अहं निरवद्यसंयुजां निर्दुष्टमनोयोगवृत्तीनां वः सुसाधुकृत्यं युष्माकं सर्वसम्मतं निर्दोषकर्म प्रतिकर्तुं न पारये न शक्नोमीत्यनेन गोपीष्वधिकोऽनुग्रहोऽस्तीति दर्शितम्। न केवलं युष्मासु[1] अनुग्रहविशेषो मम निर्व्याजभक्त्या भजमाने कस्मिंश्चिदपि स्यादित्याशयेनाऽऽह यो मामिति। यो मां भजेन्मामुद्दिश्य भक्तिं करोति स पुरुषः स्त्रीजनो वा अधुना अस्मिन् जन्मन्येव दुर्जरदेहशृङ्खलाः भक्तिज्ञाने विना जरयितुं शिथिलीकर्तुमशक्याः लिङ्गशरीरलक्षणशृङ्खलाः संवृश्च्य छित्वा वृद्धिं स्वरूपभूतानन्दलक्षणां प्रतियाति "तस्य तावदेव चिरम्" (छान्दो.उ. 6-14-2) इत्यादि श्रुतेः। यद्वा दह्यते सिच्यते इति देहः। दुर्जरा दुरुच्छेदाः पुत्रमित्रादिनिबद्धस्नेहलक्षणाः शृङ्खलाः संवृश्च्य मां भजेत्सेवते, सोऽधूनैव भक्तिज्ञानादिसाधनसामग्रीलक्षणां वृद्धिं प्रतियातीत्यन्वयः ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥
**(विजयध्वजरीत्या त्रिंशोऽध्यायः)**

---

1. Ma युष्मत्सेवानु०

# त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या एकत्रिंशोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः।
जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः[1] ॥ १ ॥

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः[2]।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतै रन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥ २ ॥

रासोत्सवस्सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ॥ ३ ॥

प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं[3] स्त्रियः।
यं मन्येरन्नभस्ताव द्विमानशतसङ्कुलम्[4] ॥
दिवौकसां सदाराणामौत्सुक्यनिभृतात्मनाम्[5] ॥ ४ ॥

ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः पुष्पवृष्टयः[6]।
जगुर्गन्धर्वपतयस्सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम् ॥ ५ ॥

वलयानां नूपुराणां किङ्किणीनाञ्च योषिताम्।
सप्रियाणामभूच्छब्द स्तुमुलो रासमण्डले ॥ ६ ॥

---

1. M,Ma तत्सङ्गो° 2. Ma °जैः 3. M,Ma °टस्त्रि° 4. M,Ma °त न° 5. G,J,K,Va °क्यापहृता° 6. M,Ma °दुः खात्पेतुः

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

त्रयस्त्रिंशे ततो गोपी मण्डलीमध्यगो हरिः। प्रियास्ता रमयामास हृदिनीवनकेलिभिः॥

**इत्थमिति**। तत्तदा अङ्ग! हे राजन्! यद्वा, तस्य भगवतोऽङ्गेन अभ्रवपुषा[1] करचरणाद्यवयवैर्वा उपचितास्समृद्धा आशिषो यासां ताः ॥ १ ॥

**तत्रेति**। रासक्रीडा, रासो नाम बहुनर्तकीयुक्तो नृत्तविशेषः। तां क्रीडाम् अन्योन्यमाबद्धाः सङ्ग्रथिता बाहवः यैस्तैस्सह ॥ २ ॥

ततसाहित्यमभिनयेन दर्शयति - अक्षरचतुष्टयाधिकेन **सार्धेन रासोत्सव** इत्यादिना। तासां मण्डलरूपेणाऽवस्थितानां द्वयोर्द्वयोर्मध्ये ॥ ३ ॥

**प्रविष्टेनेति**। प्रविष्टेन तेनैव कण्ठे गृहीतानां उभयत आलिङ्गितानाम्। कथम्भूतेन? यं सर्वाः स्त्रियः स्वस्वनिकटं मामेवाऽऽश्लिष्टवानिति मन्येरन्। तेन एतदर्थं द्वयोर्द्वयोर्मध्ये प्रविष्टेनेत्यर्थः। नन्वेकस्य कथं तथा प्रवेशः? सर्वसन्निहितत्वे वा[2] कुतः[3] स्वनिकटवर्तित्वाभिमानस्तासामित्यत उक्तं योगेश्वरेणेति। अचिन्त्यशक्तिनेत्यर्थः। तावत् तत्क्षणमेव। अत्यौत्सुक्यव्याप्तमनसां[4] सस्त्रीकाणां देवानां विमानशतैः[5] सङ्कीर्णं नभो बभूव ॥ ४ ॥

★त इति। तत्तस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य अमलं निर्मलं यशो जगुरिति ॥ ५ ॥

**वलयानामिति**। सप्रियाणां कृष्णसहितानां तुमुलः सङ्कीर्णः ॥ ६ ॥

---

1. J,Va omit अग्र 2. P,V add तस्मिन् 3. J,Va स्वैक 4. J,Va omit अति 5. J,Va add सङ्कुलं ★ This commentary on V.5 is not found in P&V Edns.

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथैवं सूक्ताभिर्गोपीभिस्सह भगवतो रासक्रीडामनुवर्णयति त्रयस्त्रिंशेन। इत्थं भगवतः सुतरां पेशला मृदुला[1] वाचश्श्रुत्वा गोप्यस्तस्याङ्गेन अङ्गसङ्गेन उपचितास्समुद्धा आशिषो यासां तथाभूताः विरहजं तापं जहुः ॥ १ ॥

अथ तत्र पुलिने भगवान्, स्त्रिय एव रत्नानि तैस्सहितो रासक्रीडामारब्धवान्। कथम्भूतैः? अनुव्रतैः अन्योन्यमाबद्धास्सङ्ग्रथिता बाहवो यैस्तथाभूतैः। रासो नाम अनेकनर्तकनर्तकीयुक्तो नृत्तविशेषः[2] ॥ २ ॥

अ[3-]नेकनर्तकनर्तकीसाहित्यमेव[-3] अभिनयेन दर्शयति **रासोत्सव** इत्यादिना नभस्तावदित्यतः प्राक्तनेन। तासां मण्डलरूपेण स्थितानां द्वयोर्द्वयोर्मध्ये प्रविष्टेन कृष्णेन गोपीमण्डलमण्डितो रासोत्सवस्सम्प्रवृत्त इत्यन्वयः। कथम्भूतानाम्? तेनैव कण्ठे गृहीतानाम् उभयत आलिङ्गितानाम्। कथम्भूतेन? यं कृष्णं सर्वाः स्त्रियः स्वनिकटस्थं मन्येरन् मामेवाऽऽश्लिष्टवानिति मन्येरन्, तथाभूतेन। तदर्थं द्वयोर्द्वयोर्मध्ये प्रविष्टेनेत्यर्थः। नन्वेकस्य कथं तथा प्रवेशः, सर्वसन्निहिते तस्मिन्वा कथं तासां स्वनिकटवर्तित्वमात्राभिमान इत्यतो विशिनष्टि योगेश्वरेणेति[5]। अचिन्त्यविविधविचित्रशक्तिनेति भावः। बहुरूपतामापन्नेन तासां स्वस्वनिकटवर्तित्वमात्राभिमानं जनयता चेति गूढाभिसन्धिः, तथा च वक्ष्यति "कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः" (भाग. 10-33-20) इति। अत एव "अचीकृपन्नासनमात्मबन्धवे" इत्युक्तमुपपन्नम्। नभ इति। यदा रासोत्सवः सम्प्रवर्तितः[6] तावत्तत्क्षणमेव औत्सुक्यव्याप्तमनसां सस्त्रीकाणां देवानां विमानशतैः सङ्कुलं[7] सङ्कीर्णं नभो बभूव[8] ॥ ३, ४॥

**तत** इति। [9-]दुन्दुभयो दध्वनुः[-9] सस्त्रीका गन्धर्वश्रेष्ठाः अमलं शृण्वतां वदताञ्च पापहरं तस्य भगवतो यशो जगुः ॥ ५ ॥

**वलयानामिति।** सप्रियाणां कृष्णसहितानां योषितां ये वलयादयस्तेषां तेषां शब्दस्तुमुलः सङ्कीर्णो बभूव ॥६॥

---

1. K omits मृदुता 2. K नृत्य° 3- -3. K तदेव 4. K वृत्तित्व 5. K °गी° 6. K °वादीनां 7. J,W omit सङ्कुलं 8. K adds इति शेषः। 9- -9. T,W omit.

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भक्तिप्रसन्नभगवत्प्रीतिरेव आनन्दानुभवे कारणं नाऽन्यत्साधनमिति निदर्शयितुं रासक्रीडां वर्णयति अस्मिन्नध्याये। "स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः" (छान्दो.उ. 8-12-3) इत्यादि श्रुतिः। तत्र गोपीनां कृष्णविरहसमुद्भूतसन्तापप्रणाशं वक्ति **इत्थमिति**। तापत्यागे निमित्तमाह तत्सङ्गेति। हरेरङ्गसङ्गलक्षणसेवनेन उपचिताः फलरूपेण परिणताः आशिषः प्रार्थना यासां तास्तथा। यद्वा, उपचिताः सञ्चिताः समृद्धिं गता आशिषः शुभानि यासां तास्तथा ॥ १ ॥

समृद्धफलशुभानुभवप्रकारं वक्तुमुपक्रमते **तत्रेति**। तत्र वने तस्यामवस्थायां अन्योन्याबद्धबाहुभिः इति रासक्रीडाप्रकारं दर्शयति। समतलमगृणप्रदेशे वितस्तिमात्रोन्नतशङ्कुं संस्थाप्य तत्परितः सर्वैः स्वपादमवष्टभ्य वृत्ताकारेण स्थित्वा एकस्या वामहस्तं अन्यस्या निकटवर्तिन्या दक्षिणपाणिना सङ्गृह्य स्वशक्तयाऽवष्टम्भेन वर्तुलाकारभ्रमणं चक्रवत्क्रिया रासक्रीडा ॥२॥

नृत्यादिषु भरतरीतिसंज्ञेषु गातुमुपक्रान्तेषु योऽधिरसोल्लासो जायते स रसः तत्सम्बन्धी रसो रासः, तदुद्देकेण क्रीडा नृत्यविशेषः। एवंविधो रासक्रीडोत्सवः कृष्णेन सम्यक्प्रवृत्त इत्यन्वयः। कीदृशः? गोपीनां तासां मण्डलेन वलयेन मण्डितोऽलङ्कृतः। कथम्भूतेन? तासां गोपीनां मध्यं प्रविष्टेन। मध्ये शङ्कुस्थापनात् कथं मध्यप्रवेशस्सङ्गत इति तत्राऽऽह - द्वयोरिति। वलयस्थितानां तासां द्वयोर्द्वयोर्मध्ये प्रविष्टेन। एकस्येदं कथं घटत इत्यतो योगेश्वरेणेति। योगैश्वर्यादिकस्य बहुत्वं घटत इति भावः। कीदृशीनां कृष्णेन कण्ठे गृहीतानाम्। तत्रैवं विशेषः। कृष्णदक्षिणभागस्थिताया कृष्णदक्षिणांसग्रहणं, वामभागस्थितायास्तस्य वामस्कन्धग्रहणम्। स्वनिकटस्थस्त्रियः कण्ठे गृहीतेन तेनैव रासोत्सवः सम्प्रवृत्त इति गतेनाऽन्वय इत्यर्थः ॥ ३ ॥

नन्वेवं कृष्णे रासक्रीडाकारिणि के साक्षिण इति तत्राऽऽह — यन्मन्येतेति। कृष्णो यदा रासक्रीडां कर्तुं मन्येत न्यरूपदिति व्यत्ययः। तावत्तदा नभः औत्सुक्येन निभृतात्मनाम् निश्चलमनसां सदाराणां सभार्याणां दिवौकसां विमानशतसङ्कुलं आसेति शेषः ॥ ४ ॥

ततः रासोत्सवप्रारम्भानन्तरम् ॥ ५,६ ॥

तत्राऽपि[1] शुशुभे ताभिर्भगवान्देवकीसुतः।
मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा ॥ ७ ॥

पादन्यासै र्भुजविधुतिभिस्सस्मितै[2] र्भ्रूविलासै-
र्भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः।
स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाग्रन्थयः कृष्णवध्वो
गायन्त्यस्तं तटित[3] इव ता मेघचक्रे विरेजुः ॥ ८ ॥

उच्चैर्जगु[4]र्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः।
कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम् ॥ ९ ॥

काचित्समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः।
उन्निन्ये पूजिता तेन प्री[5-]यता साधु[-5] साध्विति॥
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानञ्च बह्वदात्[6] ॥ १० ॥

काचिद्रासपरिश्रान्ता पार्श्वस्थस्य गदाभृतः।
जग्राह बाहुना[7] स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका[8] ॥ ११ ॥

---

1. G,J,K,V,Va °ति° 2. V °तभ्रू° 3. G,J,K,Va °हि° 4. M,Ma °गुः कृतमदा 5- -5. V प्रीयमाणेन 6. T,W °धा° 7. T,W पाणिना 8. M,Ma श्रक्त्कवर°

**श्रीध० तत्रेति**। महामरकतो नीलमणिरिव। म[1-]रतक इति पाठान्तरम्[-1]। हैमानां मणीनां मध्ये मध्ये[2] ताभिः स्वर्णवर्णाभिः आश्लिष्टाभिः शुशुभे। गोपीदृष्टचभिप्रायेण वा, विनैव मध्यपदावृत्तिमेकवचनम् ॥ ७ ॥

स यथा ताभिश्शुशुभे तथा ता अपि तेन विरेजुरित्याह — **पादन्यासैरिति**। भुजविधुतिभिः करचालनैः भज्यमानैर्मध्यैः चलद्भिः कुचैः पटैश्च गण्डलोलैः गण्डेषु चञ्चलैः स्विद्यन्मुख्यः स्विद्यन्ति स्वेदमुद्गिरन्ति मुखानि यासां ताः। क[3-]बरेषु रशनासु च ग्रन्थयो[-3] दृढा[4] या[5-]सां ताः। यद्वा[-5], तेषु तासु च अग्रन्थयः शिथिलग्रन्थय इत्यर्थः। तत्र नानामूर्तिः कृष्णो मेघचक्रमिव, तास्तु बहुविधाः तटित[6] इव, स्वेदस्तुषार इव, गीतं गर्जितमिवेति यथासम्भवमूहचम्॥ ८॥

**उच्चैरिति**। नृत्यमानाः नृत्यन्त्यः रक्तकण्टचः नाना[7]रागानुरञ्जितकण्ठचः कृष्णस्य अभिमर्शेन संस्पर्शेन मुदिताः, इदं विश्वम् ॥ ९ ॥

**काचिदिति**। मुकुन्देन सह स्वरजातीः षड्जादिस्वरालापगतीः अमिश्रिताः कृष्णेन उनीताभिः[8] असङ्कीर्णाः। प्रीयमाणेन सम्मानिता,[9] तत्स्वरजात्युन्नयनमेव ध्रुवं ध्रुवाख्यं तालविशेषं कृत्वोन्निन्ये उन्नीतवती ॥ १० ॥

एवं नृत्यगीतादिना[10] श्रीकृष्णसम्मानितानां तासामतिप्रीतिविलसितं वृत्तमाह — **काचिदिति**। श्लथन्ति वलयानि मल्लिकाश्च यस्यास्सा ॥ ११ ॥

---

1- -1. J,Va omit 2. P,V,Va omit मध्ये 3- -3. V omits 4. P,V omit °द्धा 5- -5. V omits 6. J,Va °हि° 7. J,Va रागैरनु 8. P,V उन्नी° 9. J,Va स्वरतज्जात्यु° 10. P,V वृत्त

**वीर० तत्रापीति**। हैमानां मणीनां मध्ये महामरकतः[1] इन्द्रनीलमणिरिव ताभिः स्वर्णवर्णाभिराश्लिष्टः तत्रातीव शुशुभे। गोपीदृष्टचभिप्रायेणैकवचनम्। एवमुत्तरत्राऽप्यवगन्तव्यम् ॥ ७ ॥

यथा ताभिः भगवान् शुशुभे तथा तेन ताश्च विरेजुरित्याह — **पादन्यासैरिति**।[2] पादविक्षेपैः भुजविधुतिभिः करचालनैः स्मितेन सहितैः भ्रुवां विलासैश्च भज्यमानैर्मध्यैः चलद्भिः कुचैश्च पटैश्च, गण्डेषु चलैः[3] कुण्डलैश्च उपलक्षिताः स्विद्यन्ति स्वेदमुद्गिरन्ति मुखानि यासां ताः। कबरेषु रशनासु च ग्रन्थयो यासाम्। यद्वा, तेषु तासु च न विद्यन्ते ग्रन्थयो यासां ताः, शिथिलकबरादिग्रन्थिमत्य इत्यर्थः: एवम्भूताः कृष्णस्य वध्वः तं कृष्णं गायन्त्यः तेन विरेजुः। यथा मेघचक्रे तटित[4] स्तद्वत्। तत्र कृष्णो मेघचक्रमिव, तास्तु बहुविधास्तटित इव स्वे[5] दस्तुषार[6] इव गानं गर्जितमिवेति यथासम्भवमूह्यम् ॥ ८ ॥

**उद्भैरिति**। नृत्यन्त्यो नानारागैः अनुरञ्जितकण्ठचः[7] कृष्णस्याभिमर्शेन मुदिता उच्चैर्जगुः, यद्गीतेन यासां यस्य च गीतेन इदं विश्वमावृतं व्याप्तं कृत्स्नं जगत्तद्गीतैकदेशवदिति भावः ॥ ९ ॥

[8-]कृष्णाभिमर्शमुदितानां तासां प्रत्येकं गीतादिचेष्टितमाह — **काचिदिति**[-8]। तत्र काचिदङ्गना मुकुन्देन सह स्वरजातीः स्वरभेदान् षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाख्यान् अमिश्रिताः कृष्णोन्नीताभिः असङ्कीर्णाः उन्निन्ये अमूर्छयत्। कथम्भूता? [9]प्रीयता प्रीयमाणेन [10]अनेन कृष्णेन साधु साध्विति पूजिता स [11-]सम्मानिता[-11]। जात्युन्नयनमेव ध्रुवं ध्रुवाख्यं[12] ता तविशेषं कृत्वोन्निन्ये उन्नीतवती। [13]इत्थमुन्नीतवत्यै बहुमानं सम्मानं अदाच्चकार, कृष्ण इति शेषः ॥ १० ॥

एवं नृत्तगीतवाद्यादिना कृष्णसम्मानितानां तासामतिप्रेमविलसितं वृत्तमाह- [15-]**काचिदित्यादिना**[-15]। रासेन परिश्रान्ता श्लथन्ति वलयानि मल्लिकाश्च यस्यास्तथाभूता, आत्मनो बाहुना[16] पार्श्वस्थस्य भगवतोंऽसं जग्राह ॥ ११ ॥

---

1. T,W omit इन्द्र 2. K न्यासैः वि 3. K चञ्चलैः 4. K °हि° 5. K °हि° 6- -6. K omits 7. K omits अनु 8. T,W omit 9. K adds सती 10. K तेन श्री° 11- -11. K तदेव स्वर जा० 12. T,W °न 13. K adds तस्यै 14. K नृत्य 15- -15. K चतुर्भिः काचिदिति। 16. K समीपस्थस्य

**विज०** तत्राऽपि रासक्रीडायामपि। यद्वा, तत्राऽपि नभस्यपि, रासमण्डले एवञ्चेत् सप्रियाणामिति पदं पूर्णार्थं लभते। अन्यत्र कृष्णव्यतिरेकेण प्रियाभावात्। अस्मिन् पक्षे प्रियेण बहुरूपं गतेन कृष्णेन सहितानां तत्र अपिशब्दसामर्थ्यात् पारक्यात् शिक्षार्थं नभस्यपि रासक्रीडा प्रवृत्तेति प्रतर्क्यम्। हैमानां हिमवत्सम्भूतानां मणीनां माणिक्यानां मध्ये मरकतश्यामममणिरिव। "अनन्तरत्नप्रभवस्य" (कुमार. 1-2) इत्युक्तं रत्नजातीनामुत्पत्तिर्हिमवद्गिरीरिति प्रसिद्धम्। यद्वा, हैमानां हेमकार (हिमाकर) सम्भूतानां तत्रत्यानां मणीनां निर्मलत्वेन कान्त्यतिशयात् ॥ ७ ॥

तत्र नृत्यप्रकारं कथयति **पादेति**। पादन्यासैर्वक्रन्यापितपादविक्षेपविशेषैः भुजानां विधुतिभिः कम्पनविशेषैः भ्रूविलासैः भ्रूभङ्गैः। चलकुचतटैरिति केचित्। कबरेत्यादौ स्रथदिति पदमध्याहार्यम्। स्रथन्त्यः कबरशनाग्रन्थयः बन्धविश्लेषाः यासां तास्तथा। यद्वा, कबरशनाना मग्रन्थयः अबन्धनानि यासां ताः, मुच्यमानकबरकाञ्च्य इत्यर्थः। स्तनितरशनाग्रन्थय इति केचित्। 'स्तन छन' इति धातुः। कृष्णबध्वः कृष्णपरिग्रहाः कृष्णयुक्ताः गोपस्त्रिय इति वा। भावैः पुरुषान् बध्नन्तीति बध्वः। "समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः" इत्युक्तेः। तं कृष्णं गायन्त्यो या एवंविधास्ताः मेघचक्रे मेघमण्डले तडित इवेति कान्तिविशेषद्योतनार्थं दृष्टान्तोपादानम्, न तु पादन्यासादिविशेषप्रकाशनार्थम्; अचेतनत्वात्तडिताम्। यद्वा यत्तडित इति तडितो यथा प्रकाशनाप्रकाशने तथा पादविन्यासाद्यावर्तनमिति दर्शनाय। 'तडगतौ' इति धातोः तडन्ति क्षिप्रतिरोधानं गच्छन्तीति क्षिप्रतिरोधानगमनशीलार्थे इत्प्रत्ययः ॥ ८ ॥

रक्तकण्ठ्यः रागयुक्तकण्ठ्गुणाः अभिमर्शः कामकलोद्बोधककरस्पर्शविशेषः, यासां गीतेन इदं जगदावृतं व्याप्तं देवसाक्षिकत्वात् ॥ ९ ॥

अभिश्रिताः स्वरान्तरानन्तरिताः स्वरजातीः षड्जादिस्वरभेदान्। उन्निन्ये उत्कृष्टत्वेन गीतवती मूर्छयामास च। "निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः, पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः" (अम. को. 1-183) इत्यमरः॥ १०॥

कृष्णोऽपि तदेव गीतं ध्रुवमुन्निन्ये व्यक्तवर्णेन प्लावयामास, तेन तस्यै एव समं गायन्त्यै; अत्र समगानं नाम तत्प्रशंसार्थं मुकुन्देन तद्गानानुसारेण गीतमिति ज्ञातव्यम्। अन्यथा व्रिजगति मुकुन्दगायनसमं गायनज्ञः कोऽस्ति स्वविभूतिमन्तरेण? स्रवन्ती स्रथयन्ती कबरबद्धमल्लिका यस्यास्सा तथा ॥ ११ ॥

**तत्रैकांसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम्।**
**चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह ॥ १२ ॥**

**कस्याश्चिन्नाटचविक्षिप्तकुण्डलत्विषमण्डितम्।**
**गण्डं गण्डे सन्दधत्या आदात्ताम्बूलचर्वितम् ॥ १३ ॥**

**नृत्यन्ती गायती काचित्कूजन्नूपुरमेखला।**
**पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं श्रान्ताऽधात्स्तनयोश्शिवम् ॥ १४ ॥**

**गोप्यो लब्ध्वाऽच्युतं कान्तं श्रिय एकान्तवल्लभम्।**
**गृहीतकण्ठचस्तद्दोर्भ्यां गायन्त्यस्तं विजहिरे ॥ १५ ॥**

**कर्णोत्पलालकविटङ्ककपोलघर्मवक्त्रश्रियो वलयनूपुरघोषवाद्यैः।**
**गोप्यस्समं भगवता ननृतुः स्वकेश स्रस्तस्रजो भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम् ॥ १६ ॥**

---

1 M,Ma भूषिते 2 M,Ma खण्डखण्डे भिद° 3. G,J,K,T,Va,W अ° 4. K,M,Ma,T,V,W °ती 5. V शा° 6. M,Ma स्म

**श्रीध० तत्रेति**। उत्पलस्य सौ[1-]रभमिव[-1] सौरभं यस्य तं बाहुम् ॥ १२ ॥

**कस्या** इति। नाट्येन नृत्येन विक्षिप्तयोश्चञ्चलयोः कुण्डलयोः त्विषेण त्विषा, अ[2-]दन्तत्वमार्ष[-2]म्। मण्डितं गण्डं कपोलं, तथाभूते स्वगण्डे सन्दधत्याः संयोजयन्त्याः ॥ १३ ॥

**नृत्यतीति**। कूजती नूपुरे मेखला च यस्यास्सा ॥ १४ ॥

एवमन्या अपि गोप्यः यथायथं नानाविभ्रमैः विजह्रुरित्याह — **गोप्य** इति ॥ १५ ॥

तत्र गायकेषु वादकेषु च अ[3-]स्त्रीकेषु[-3] गन्धर्वकिन्नरादिषु रसावेशेन मुहुश्चत्सु नृत्यत्सु वा अन्यामेव वाद्यादिसम्पत्तिं दर्शयन् राससम्भ्रममाह — **कर्णोत्पलेति**। कर्णोत्पलैश्च अलकविटङ्कैस्तलकालङ्कृतैः कपोलैः घर्मैश्च वक्त्रेषु श्रीः शोभा यासां ताः। घोषाः किङ्किण्यः वलयनूपुरघोषैः वाद्यैः वादित्रैः भ[4-]गवता ननृतुः स्वकेशेभ्यः स्रस्ताः स्रजो यासां ताः। एतेन तालगतिसन्तुष्टाः केशाः सशिरःकम्पं पादेषु पुष्पवृष्टिमिवाऽकुर्वन्नित्युत्प्रेक्षितम्। भगवता समं ननृतुः। क? भ्रमरा एव गायका यस्यां तस्यां राससभायाम् ॥ १६ ॥

---

1- -1 J,Va omit 2- -2 J,Va omit 3- -3 J,Va omit 4- -4. J,Va omit 5. J,Va सह

**वीर०** तत्र तासां मध्ये एका तु आत्मनः अंसगतं स्कन्धे निहितमुत्पलस्य सौरभमिव सौरभं यस्य तं, चन्दनेन समन्ताल्लिप्तं कृष्णस्य बाहुमाघ्राय हृष्टानि पुलकितानि रोमाणि यस्यास्तथाभूता बाहुमधरं वा चुचुम्ब ॥ १२ ॥

नाट्येन नृत्येन विक्षिप्तयोश्चञ्चलयोः कुण्डलयोस्त्विषेण त्विषा अदन्तत्वमार्षम्। मण्डितं कपोलं तथाभूते स्वगण्डे सन्दधत्याः संयोजयन्त्याः, कस्याश्चित् कस्यैचित् ताम्बूलचर्वितं ददौ ॥ १३ ॥

काचित्तु नृत्यन्ती गायन्ती च कूजन्ती नूपुरे, मेखला च यस्यास्तथाभूत्वा श्रान्ता शिवं शान्तं पार्श्वस्थस्याऽच्युतस्य हस्ताब्जं अब्जवच्छीतलं हस्तं स्तनयोरधात् निदधे ॥ १४ ॥

इत्थमन्या अपि गोप्यो यथायथं नानाविधैर्विभ्रमैः विजहुरित्याह — **गोप्य** इति। श्रियो लक्ष्म्याः एकान्तवल्लभमनन्यपतिं लब्ध्वा तस्याऽच्युतस्य दोर्भ्यां गृहीताः कण्ठाः यासां ताः तमच्युतं गायन्त्यो बिजह्रिरे ॥ १५ ॥

तत्र वादकेषु गायकेषु च सस्त्रीकेषु गन्धर्वकिन्नरादिषु रसावेशेन मुह्यत्सु नृत्यत्सु च, अन्यामेव वाद्यादिसम्पत्तिं दर्शयन् राससम्भ्रममाह — **कर्णोत्पलेति**। कर्णोत्पलैः कर्णावतंसैः उत्पलैश्च, अलकविटङ्कैः अलकालङ्कृतैः कपोलैश्च घर्मैस्स्वेदबिन्दुभिश्च वक्त्रेषु श्रीश्शोभा यासां ताः गोप्यः घोषाः किङ्किण्यः वलयादिभिर्वाद्यैः वादित्रैश्च भगवता सह, भ्रमरा एव गायका यस्यां तस्यां राससमायां ननृतुः। कथम्भूताः स्वकेशेभ्यः स्रस्ताः स्रजो यासां तथाभूताः। एतेन तालगतिसन्तुष्टाः केशाः सशिरःकम्पाः पादेषु पुष्पवृष्टिमिवाऽकुर्वन्नित्युत्प्रेक्षितम् ॥ १६ ॥

1. K °त्ती

**विज०** उत्पलसौरभमुत्पलमालया सुगन्धितम् ॥ १२ ॥

नाटचेन नृत्येन विक्षिप्तयोः किञ्चित् स्रस्तयोः कुण्डलयोः[1] त्विषेण रोचिषा भूषिते मण्डिते। 'त्विष-दीप्तौ' इति धातोः अवि(पि)कृते त्विषइति रूपं भवति। गण्डखण्डे गण्डमण्डले "समूहे मण्डले खण्डमाहु श्शब्दविशारदाः" इत्युत्पलमाला। अभिदधत्याः सपत्न्याः कोपोद्बोधाय यत्किञ्चिन्मन्त्रयन्त्याः ॥ १३ ॥

अधाद्दधौ, शिवं सुखयतीति सुखम् ॥ १४ ॥

गृहीतकण्ठचः आलिङ्गितकण्ठचः एकान्तवल्लभं निर्णीतनियतभर्तारं विजहिरे क्रीडाञ्चक्रुः ॥ १५ ॥

कर्णोत्पलं अलकः कुन्तलकश्च कर्णोत्पलालकौ ताभ्यां विटङ्कं कपोलं कपोलस्य विटङ्कोऽलङ्कारः घर्मः, तेन स्वेदजलं लक्ष्यते। कपोलालङ्कारस्वेदजलेन च वक्त्राणां श्रीः शोभा यासां तास्तथा। वलयनूपुरलक्षणवाद्यघोषैः समं भगवता च समं भ्रमरा एव गायकाः अनुस्वरदानकरा यस्यां सा तथा भ्रमरगायकाः। रासगोष्ठी रासक्रीडा[2] तस्याम् ॥ १६ ॥

---

1. Ma omits कुण्डलयोः 2. Ma adds भ्रमरगायकरासगोष्ठी।

**एवं परिष्वङ्गकराभिमर्शस्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः।**
**रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि[1] र्यथाऽर्भकः स्वप्रतिबिम्ब विभ्रमः[1] ॥ १७ ॥**

**तदङ्गसङ्गप्रमुदाकुलेन्द्रियाः[2] केशान्दुकूलं कुचपट्टिकां वा।**
**ना ऽञ्जः[3] प्रतिव्योढु[3] मलं व्रजस्त्रियो विस्रस्तमाल्याभरणाः[4] कुरूद्वह ॥ १८ ॥**

**कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य व्य[5] मुह्यन् खेचरस्त्रियः[5]।**
**कामार्दिताश्शशाङ्कश्च सगणो विस्मितोऽभवत् ॥ १९ ॥**

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ॥ २० ॥

तासां रतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः।
प्रामृजत्करुणः प्रेम्णा शन्तमेनाऽङ्ग! पाणिना ॥ २१ ॥

---

1- -1. M,Ma कामिनीभिर्यथा स्वतन्त्रः प्रतिघं विडम्बयन् 2. M,Ma °म° 3- -3. M,Ma त्यक्तुं पतिं वोढुं° 4. G,J,Va °ला° 5- -5. G,J,Va मुमुहुः खेचरस्त्रियः; M,Ma व्यमुहन्त सुरस्त्रियः 6. K,M,Ma,T,V,W राम भ° 7. G,J,Va तासामति.

**श्रीध०** यथा गोप्यो नानाविभ्रमैः भगवता सह विजह्रुः। एवं भगवानपि स्वविलासैस्ताभिस्सह रेम इत्याह — **एवमिति**। तद्विलासानभिभूतस्यैव। रतौ दृष्टान्तः यथाऽर्भक इति। स्वप्रतिबिम्बैः विभ्रमः क्रीडा यस्य स इति, अनेनैतद्दर्शितम्। स्वीयमेव सर्वकलाकौशलं सौगन्ध्यलावण्यमाधुर्यादि च तासु सञ्चार्य, ताभिस्सह रेमे यथाऽर्भकः स्वप्रतिबिम्बैरिति ॥ १७ ॥

तास्तु भगवद्विलासैः आकुला बभूवुरित्याह — **तदङ्गेति**। तस्याङ्गसङ्गेन प्रकृष्टा मुत् प्रीतिः तया आकुलानि अवशानि इन्द्रियाणि यासां ताः। विस्रथबन्धान् केशादीन् अञ्जसा प्रतिव्योढुं यथापूर्वं धर्तुं नाऽलं न समर्था बभूवुः। विस्रस्तानि माल्यानि आभरणानि च यासां ताः ॥ १८ ॥

न केवलं ता एवाऽऽकुलेन्द्रियाः किन्तु देव्योऽपीत्याह — **कृष्णेति**। किञ्च शशाङ्कश्चेत्यनेन एतत्सूचितम् - शशाङ्केन विस्मितेन गतौ विस्मृतायां ततः प्राक्तनास्सर्वेऽपि ग्रहाः तत्र तत्रैव तस्थुः। ततश्चातिदीर्घासु रात्रिषु यथासुखं विजह्रुरिति ॥ १९ ॥

किञ्च, **कृत्वेति**। अयं भावः। "कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि, नन्दगोपसुतं देवि, पतिं मे कुरु ते नमः" (भाग. 10-22-4) इति प्रत्येकं ताभिः प्रार्थनात्। भगवताऽपि — "यातोऽबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः" (भाग. 10-22-27) इति तथैव प्रतिश्रुतत्वात् तावन्तमात्मानं कृत्वा रेमे इति। यावतीर्यावत्यः ॥ २० ॥

कृपातिशयमाह — **तासामिति** ॥ २१ ॥

---

1. Va इव 2. J,Va विस्रस्ताः माताः 3. P,V omit किञ्च

**वीर०** इत्थं गोप्यो नानाविभ्रमैः भगवता सह विजह्रुः। तथा भगवानपि स्वविलासैः ताभिस्सह रेम इत्याह - **एवमिति**। इत्थं रमेशः श्रियः पतिः भगवानपि व्रजसुन्दरीभिस्सह परिष्वङ्गादिभिः रेमे। तत्र परिष्वङ्गः परिरम्भः, कराभिमर्शः करेण स्तनोर्वीदीनां संस्पर्शः। स्निग्धेक्षणं सानुरागावलोकनम्। उद्दामविलासः उदारलीला परिष्वङ्गादिरूपं विहारं कृतवानित्यर्थः। रमेशो रेमे इत्यनेन अवाप्तसमस्तकामत्वादनपेक्षितविहारोऽपि सर्वकारणत्वात् अस्वात्मकवस्त्वन्तररहितोऽपि केवलं रेम इति सूचितम्। कथमेवम्भूतस्य क्रीडा सङ्घटत इत्यतो दृष्टान्तमाह — **यथेति**। अर्भको यथा स्वप्रतिबिम्बैः विभ्रमः क्रीडा

यस्य तथाभूतो भवति तद्वत्। स यथा स्वप्रतिबिम्बैः स्वानन्यैरेव रमते तथा रमेशोऽपि स्वात्मिकाभिः व्रजसुन्दरीभिः कामिनां स्त्रीपारवश्यं दर्शयन्निव रेम इत्यर्थः। अत्र बिम्बप्रतिबिम्बयोरिव स्वात्मिकानां व्रजसुन्दरीणां स्वशरीरत्वेन स्वकार्यत्वेन च स्वानन्यत्वमात्रेऽर्मकदृष्टान्तः, न त्वङ्गत्वादावपीति द्रष्टव्यम् ॥ १७ ॥

तास्तु भगवतः तद्विलासैः अनभिभूतस्वविलासैराकुला बभुवुरित्याह — **तदङ्गसङ्गेति** । तस्य भगवतोऽङ्गसङ्गेन प्रकृष्टा मुत् प्रीतिः तया आकुलान्यवशानीन्द्रियाणि यासां तास्तथा विस्रस्ता विस्रथा माला आभरणानि च यासां तथाभूताः, विस्रथबन्धान् केशादीन् अञ्जसा आशु प्रतिव्योढुं यथापूर्वं धर्तुं, नाऽलं न प्रबभूवुः ॥ १८ ॥

न केवलं ता एवाऽऽकुलेन्द्रियाः, किन्तु पश्यन्त्यो देवानां स्त्रियोऽपीत्याह — **कृष्णविक्रीडितमिति**। खेचराणां देवानां स्त्रियः। किञ्च, शशाङ्कः चन्द्रः सगणः शुक्राङ्गारकगुर्वादिगणसहितः विस्मितो बभूव। अनेनैतत्सूचितम्- विस्मितेन शशाङ्केन स्वगतौ विस्मृतायाम् इतरेऽपि ग्रहाः स्वस्वगतिं विस्मृत्य तत्र तत्रैव तस्थुः। अतो रात्रिर्दीर्घा च बभूवेति॥१९॥

कथमेकोऽनेकाभिर्युगपद्रेमे इत्यत आह — **कृत्वेति**। गोपयोषितः यावतीर्यावत्यः तावन्तमात्मानं कृत्वा ताभिस्सह लीलया रेमे। अध्ययनेन वसतीतिवत् लीलयेति हेतौ तृतीया। आत्मारामोऽपि षाड्गुण्यपूर्णोऽपि केवलं लीलार्थमेव रेम इत्यर्थः॥ २०॥

तस्य तासु कृपातिशयमाह — **तासामिति**। स भगवान् रतिविहारेण रतिविहाराभ्यां श्रान्तानां तासां गोपीनां वदनानि प्रस्विन्नानि, अङ्ग! हे राजन्! करुणः करुणावान् शान्तमेन निरतिशयसुखकरेण पाणिना प्रामृजत् परिमृष्टवान् ॥ २१ ॥

---

1- -1. T,W स्तनयोः बाह्वादीनां

**विज०** स्वतन्त्र ईश्वरो विधिनिषेधाद्यविषयः प्रतिघं विधिनिषेधविवर्जितं पुरुषमनुकुर्वन्। यद्वा, प्रवृत्तिधर्मं "विध्याद्यगोचरे कोपे प्रवृत्ते प्रतिघं विदु"रिति च ॥ १७ ॥

तस्य कृष्णस्य अङ्गसङ्गेनोत्पन्नेन प्रमदेनान्देन आकुलानि पूर्णानीन्द्रियाणि यासां तास्तथा, केशादीन्बोंदु पतिं कृष्णं वा त्यक्तुं अलं पर्याप्ताः शक्तिवर्जिता आसन्नित्यर्थः। "अप परी वर्जने" (अष्टा. 1-4-88) इति सूत्रात्। यद्वा शक्तयभावेऽपि निवारिताः। "अलन्तु भूषणे शक्तौ पर्याप्तौ शक्तिवारणे (वैज.को. 8-7-13) इति। प्रेमकामात्मत्वात् वहनादिशक्तयभाव इत्यर्थः। कुरूद्वहेति विशेष्य सम्बोधनेन कृष्णस्य भक्तिभामिनीलोलत्वं पश्येत्यभिमुखीकरणेन भक्तेरवश्यकर्तव्यत्वं सूचयति॥ १८॥

सगणः रोहिण्यादिनक्षत्रगणेन सहितः। यद्वा गणनं संख्यानं तेन सहितः ॥ १९ ॥

किमत्र सङ्ख्येयम्, अत्राऽऽह — **कृत्वेति**। यद्वा योगैश्वर्यात् बहुरूपग्रहणेन बह्वीभिः स्त्रीभिः रमणं घटत इति राज्ञः सिद्धत्वेऽपि मन्दाशङ्कां परिहरति। यावतीर्यावत्यः। रराभेति व्यत्ययेन परदाराभिमर्शनेन दोषो नास्तीति वक्ष्यमाणमर्थ मिहैव सूचयति। यद्वा, राम चिक्रीडे रासक्रीडाविरामसूचनार्थो वा ॥ २० ॥

इदञ्च भक्तपारवश्यं 'हरेरजस्रं स्मरेत्' इत्याशयेन हरिचरितं वक्ति — तासामिति। प्रामृजत् सम्मार्जितवान्॥ २१॥

गोप्यः स्फुरत्कनककुण्डलकुन्तलत्विड्गण्डश्रिया सुधितहास्य निरीक्षणेन।
मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि पुण्यानि तत्कररुहस्पर्शप्रमोदाः ॥ २२ ॥

ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्गसङ्ग घृष्टस्रजः स्वकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः।
गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद्वाः श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः ॥ २३ ॥

सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः प्रेम्णीक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग।
वैमानिकैः कुसुमवर्षिभि रीड्यमानो रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः ॥ २४ ॥

ततश्च कृष्णोपवने जलस्थलप्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्तटे।
चचार भृङ्गप्रमदागणावृतो यथा मदच्युद्विरदः करेणुभिः ॥ २५ ॥

एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः स सत्यकामोऽनुरताबलागणः।
सिषेव आत्मन्यवरुद्ध सौरतः सर्वाः शरत्काव्यकथा रसाश्रयाः ॥ २६ ॥

---

1- -1. G,J,K,Va °त्पुट; M,Ma °न्मकर 2. M,Ma सुत° 3. M,Ma °र्यथौ श्र० 4. M,Ma ध्वस्त० 5. G,J,Va स०; M,Ma सु° 6. M,Ma °न्तर्जले 7. G,J,Va °म्णेक्षितः; M,Ma °सिम्प्रेक्षितः 8- -8. M,Ma प्रहसिताभिरभिष्टुताङ्गः; V. प्रहसिता परितस्ततोऽङ्गः 9. V मदान्धो द्वि° 10. M,Ma सौभगः

**श्रीध०** ततोऽतिहृष्टानां गोपीनां चरितमाह — **गोप्य** इति। स्फुरतां स्वर्णकुण्डलानां कुन्तलानाञ्च त्विषा, गण्डेषु या श्रीः तया सुधितेन अमृतायितेन हाससहितेन निरीक्षणेन च ऋषभस्य पत्युः कृष्णस्य मानं दधत्यः पूजां कुर्वत्यः तत्कर्माणि जगुः। तस्य कररुहैः नखैः स्पर्शेन प्रमोदो यासां ताः ॥ २२ ॥

अथ जलकेलिमाह — **ताभिरिति**। तासा मङ्गसङ्गेन घृष्टा सम्मर्दिता या स्रक् तस्याः अत एव तासां कुचकुङ्कुमेन रञ्जितायाः सम्बन्धिभिः गन्धर्वपालिभिः गन्धर्वपाः गन्धर्वपतय इव गायन्तः ये अलयः तै रनुद्रुतः अनुगतः स कृष्णः वाः उदकं आविशत् भिन्नसेतुः विदारितवप्रः, स्वयञ्चाऽतिक्रान्तलोकवेदमर्यादः ॥ २३ ॥

स इति। स्वरतिः आत्मारामोऽपि अत्र गोपीमण्डले अम्भसि वा ॥ २४ ॥

स्थलजलक्रीडे दर्शिते, वनक्रीडां दर्शयति — **ततश्चेति**। यमुनाया उपवने जलस्थलप्रसूनानां गन्धो यस्मिन् तेनाऽनिलेन जुष्टानि दिशां तटानि अन्ता यस्मिन्। यद्वा दिशश्च तटं स्थलञ्च यस्मिन्, तस्मिन् वने भृङ्गाणां प्रमदानाञ्च गणैरावृतः चचार ॥ २५ ॥

रासक्रीडां[3] निगमयति **एवमिति**। स कृष्णः सत्यसङ्कल्पः अनुरागिस्त्रीकदम्बस्थः एवं[4] सर्वा निशाः सेवितवान्। शरत्काव्यकथारसाश्रयाः शरदिभवाः काव्येषु कथ्यमानाः ये रसाः तेषाम् आश्रयभूता निशाः। यद्वा, निशा इति द्वितीया अत्यन्तसंयोगे, शृङ्गाररसाश्रयाः शरदि प्रसिद्धाः काव्येषु याः कथास्ताः सिषेव इति। एवमप्यात्मन्येवाऽवरुद्धः सौरतः सुरतरसः[5] चरमधातुः[6], न तु स्खलितो यस्येति कामजयोक्तिः ॥ २६ ॥

---

1. J. Va उप° 2. J,Va omit चचार 3. P,V °डा निगमनं 4. Va एव 5. J,Va omit सुरतरसः 6. P,V रसो

**वीर०** ततोऽतिहृष्टानां गोपीनां चरितमाह — **गोप्य** इति। तस्य भगवतः कररुहैर्नखैः स्पर्शेन प्रमोदो यासां ता गोप्यः स्फुरतां कर्णकुण्डलानां, कुन्तलानाञ्च त्विषां गण्डेषु या श्रीस्तया सुधितेन अमृतायितेन हासयुक्तनिरीक्षणेन च ऋषभस्य भर्तुः कृष्णस्य मानं दधत्यः पूजां कुर्वत्यः पुरटकुण्डलादित्विडादिभिः तस्य हर्षं जनयन्त्य इत्यर्थः। तस्य कर्माणि चेष्टितानि जगुः ॥ २२ ॥

अथ तस्य ताभिस्सह जलक्रीडामाह — **ताभिरिति** द्वाभ्याम्। तासामङ्गसङ्गेन घृष्टा सम्मर्दिता या स्रक् तस्याः अत एव तासां कुचकुङ्कुमेन रञ्जिताया स्सम्बन्धिभिः गन्धर्वपातिभिः, गन्धर्वपाः गन्धर्वपतय इव गायन्तो येऽलयो भृङ्गाः तै रनुद्रुतः अनुगतः[1] स कृष्णः ताभिस्सह श्रमं रतिविहारजमपोहितुं अपाकर्तुं वाः जलं आविशत्, यथेभराट् गजपतिः श्रान्तः गजीभिस्सह जलं प्रविशति तद्वत्। भिन्नसेतुर्विदारिततटः, दाष्टीन्तिके त्वतीततलोकवेदमर्यादः ॥२३॥

स इति। स भगवान्, स्वयमात्मना स्वरतिरात्मारामोऽपि गजेन्द्रस्येव लीला यस्य तथाभूतः, तदेवाह - अम्भसि अलं नितरां प्रहसतीभिः युवतीभिः प्रेम्णा उक्षितस्सिक्तः स्वयमपि ता स्सिच्यमानः। भ्मादिव द्विवादेराकृतिगणत्वात्कर्तरि श्यन्। सेचयन्नित्यर्थः। यद्वा ताभि स्ताव त्किञ्चिदुक्षितः प्रत्युक्षणेन पुनः[2] परित स्सिच्यमानः अङ्ग! हे राजन्, कुसुमानि वर्षन्तीति तथा, तै र्वैमानिकैः विमानारूढैः देवै रीड्यमानः स्तूयमानः अत्र रासे रेमे ॥ २४ ॥

एवं स्थलजलक्रीडे वर्णिते। अथ वनक्रीडां वर्णयति — **ततश्चेति**। जलस्थलप्रसूनानां गन्धो यस्मिन् तेनानिलेन जृष्टानि दिशां तटानि अन्ताः यस्मिन्। यद्वा दिशश्च तटं स्थलश्च यस्मिन्, कृष्णाया यमुनाया उपवने प्रान्तवने भृङ्गाणां प्रमदानाञ्च गणैरावृत श्चचार, यथा मदच्युत् मदधाराः स्रवन् द्विरदः मत्तगजः करेणुभिः इभीभिः, तद्वत् ॥२५॥

रासक्रीडां निगमयति — **एवमिति**। एव मित्थं स भगवान् सत्यसङ्कल्पः अनुरतोऽनुरागी स्त्रीणां गणो यस्य तथाभूतोऽपि आत्मन्येव अवरुद्धः सौरतश्चरमधातुः, नतु स्खलितो यस्य तथा भूत इति कामजयस्सूच्यते। चन्द्रांशुभिः विराजिता स्सर्वाः शरदि काव्येषु कथ्यमाना ये कथारसाः तेषामाश्रयभूता निशा स्सिषेवे ॥ २६ ॥

---

1. K omits अनुगतः 2. T,W omit अत्र रासे

**विज०** ऋषभस्य प्रवृद्धानुन्मथितवीर्यस्य हरेः स्फुरतोश्चलतोः मकरकुण्डलयोः कुन्तलानां त्विषा दीप्त्या दीप्तगण्डश्रिया युक्तसुरतयोम्यहासोपेताभीष्टाङ्गनिरीक्षणेन आनन्दमात्मनो दधत्यः तस्य हरेः कररुहाणां नखानां स्पर्शेन स्मरोल्लासजनकलक्षणेन नखक्षतेन अभिव्यक्तः प्रमोदः प्रकृष्ट आनन्दो यासां ता स्तथा ॥ २२ ॥

वनक्रीडां निरूप्य जलक्रीडां वक्ति — **ताभिरिति**। कृष्णस्याऽङ्गसङ्गेन ध्वस्ता निरस्ताः स्रजो यासां ताः सुकुचानां कुङ्कुमरजोभिः रञ्जिता रागिताः याः ताभिः गोपीभिः। आगच्छन्ति आवृत्य गच्छन्तीत्यङ्गाः, तरङ्गाः तत्सङ्गेन ध्वस्ता निरस्ताः स्रजो यस्याः सा तथा तस्याः, सुकुचकुङ्कुमरेणुभिः रञ्जितायाः यमुनायाः वाः वारि आविशदित्यन्वयः। गन्धर्वाणां पालिभिः श्रेणिभिः श्रान्तः भिन्नसेतुरिति द्वयम् इभराड्विशेषणम्। यद्वा शृ हिंसायामिति धातोः श्रान्तः नित्यनिरस्तमृत्युः भिन्नसेतुः विशेषितलोकमर्यादः, "भेदो विशेषे दलने विश्लेषे दारणे भेदः" (वैज.को. 6-1-42) इति। अत्र विशेषोनाम व्यावर्तको धर्मोऽपि लक्ष्यते। पृथक् पृथक् स्थापिततत्सेतुरिति वा। एः कामस्य भां दीप्तिं राजयतीति इभराट् कामस्य भां राजति क्षिपतीति वा इभराट्, कृष्णः गोपीविषये 'गज गजि शब्दे' इति धातोः गजीभिः शब्दयन्तीभिः। यद्वा भिन्नसेतुरित्यनेन गजस्य मदातिरेकसूचनेन कृष्णस्य तात्कालिकहर्षातिरेकं व्यञ्जयति। भिन्नवेदविहितधर्ममर्याद इत्यर्थः। "कृष्णे स्वधामोपगते धर्मः कं शरणं गतः" (भाग. 1-3-43) इत्यादि स्वोक्तिविरुद्धं स्यादिति नाऽसावङ्गीकर्तुं योग्यः इति॥ २३॥

स्वस्मिन् स्वेन वा रतिः न पराच्च न परेण वा यस्य तथेत्यनेन तत्तत्काले रमणकथनं लोकमोहनाय विशेषस्मरणाय वेति गमयितव्यम् ॥ २४ ॥

कृष्णायाः यमुनायाः उपवने जलप्रसूनानि कुमुदादीनि, स्थलपुष्पाणि सैगन्धिक कुन्दादीनि तेषां गन्धमिश्रवायुना जुष्टाः परिमलिताः दिक्तटाः दिगन्ताः यस्य स तथा। तस्मिन् मदच्युत् मदजलस्रावी, अन्यत्र दुष्टगर्वनाशनः। 'रद लेखने' इति धातोः पुण्यपापयोः रदो लेखनं येन स द्विरदः। चित्रगुप्तेन पुण्यपापलेखनकर्त्रेत्यर्थः। करे हस्तविषये अणुभिः लतावत् दण्डायतबाहुभिः इत्यर्थः। भृङ्गवद्गायमानप्रमदागणपरिवृतः। यद्वा भृङ्गप्रमदा भृङ्गस्त्रियः तासां गणेन संवृतः ॥ २५ ॥

उपसंहरति **एवमिति**। अनुरताबलागणः अनुरतस्त्रीगणः तदिच्छानुकूलरमितस्त्रीजनो वा, नितरां शं सुखं यासु ताः निशाः रात्रीः एकोऽपि क्षणो रतिक्रीडां विना न हापित इति शरत्काललक्षणवर्णनेन[1] ये काव्यकथायां संयाताः रसाः शृङ्गारहास्यादिरूपाः, एतेषामाश्रयः। अश्रया इति पाठे निशाविशेषणम्। रसानाश्रयन्तीति रसाश्रयाः आत्मन्यवरुद्धं निरुद्धं सौभगं सौरतं निर्दुष्टं रेतोलक्षणं वीर्यं येन स तथा, सुरतक्रिया वीर्यं निरुध्य क्रियत इत्यर्थः। यद्वा वशीकृतयोगैश्वर्यः यद्वा आत्मनि देहे विकाशीकृतसौन्दर्यः ॥ २६ ॥

---

1. Ma °नं येन का°

राजोवाच

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ॥ २७ ॥

स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताऽभिरक्षिता।
प्रतीप माचरद्ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम् ॥ २८ ॥

आप्तकामो[1] यदुपतिः कृतवान्वै जुगुप्सितम्।
किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत ॥ २९ ॥

श्रीशुक उवाच

धर्मव्यतिक्रमो दृष्टः ईश्वराणाञ्च साहसम्[2]।
तेजीयसां न दोषाय वह्ने स्सर्वभुजो यथा ॥ ३० ॥

नैतत्समाचरे ज्जातु मनसाऽपि ह्यनीश्वरः।
नश्यत्याश्वा[3] चरन्मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्[4] ॥ ३१ ॥

---

1. M,Ma आत्मारामो 2. M,Ma °सः 3- -3 G,J,V,Va विनश्यत्या° 4. M,Ma °ऽपिबत् वि°

**श्रीध० स** इति। प्रतीपं[1] प्रतिकूलम् अधर्ममित्यर्थः। आचरत्कृतवान्। न चेदमधर्ममात्रम् कलङ्कभक्षणात्वित्[2]। किन्तु महासाहसमित्याह — परदाराभिमर्शनमिति ॥ २७-२८ ॥

आप्तकामस्य नाऽय मधर्म इति चेत् यद्येवं कामाभावात् निन्दितं केनाऽभिप्रायेण कृतवानिति पृच्छति — **आप्तकाम** इति ॥ २९ ॥

परमेश्वरे कैमुत्यन्यायेन[3] परिहर्तुं सामान्यतो महतां वृत्तमाह — **धर्मव्यतिक्रम** इति। साहसञ्च दृष्टं प्रजापतीन्द्रसोमविश्वामित्रादीनां तच्च तेषां तेजस्विनां दोषाय न भवतीति ॥ ३० ॥

तर्हि "यद्यदाचरति श्रेष्ठ स्तत्तदेवेतरो जनः (भ.गी. 3-21) इति न्यायेन अन्योऽप्येवं[4] कुर्यादित्याशङ्क्याऽऽह — **नैतदिति**। अनीश्वरः देहादिपरतन्त्रः यथा रुद्रव्यतिरिक्तो विषमाचरन् भक्षयन् ॥ ३१ ॥

---

1. Va omit प्रतीपं 2. Va adds (विष) 3. J,Va °तिक° 4. J,Va omit एवं

**वीर०** उपदेशानुष्ठानविरोधिनिरसनादिभिः केवलं धर्मपरित्राणार्थं अवतीर्णस्य भगवतः कथं परदारपरिग्रहरूपाधर्माचरणेमिति पृच्छति राजा **संस्थापनायेति**। इतरस्याऽधर्मस्य प्रशमनार्थञ्चांशेन बलरामेण सह स्वसङ्कल्पात्मकज्ञानेनैव, न तु कर्मणेति वा। अवतीर्णः ॥ २७ ॥

स एवम्भूतः धर्ममर्यादानां[1] स्वयं कर्ता अनुष्ठाता वक्ता उपदेशाच विरोधिनिरसनेन अभितो रक्षिताच सन् हे ब्रह्मन्! परदाराभिमर्शनात्मकं प्रतीपं धर्मप्रतिकूलम् अधर्ममिति यावत्, कथमाचरत् कृतवान्[2] ॥२८॥

किञ्च स्वय मवाप्तसमस्तकामोऽपि यदुपतिः जुगुप्सितं निन्दितं कर्म कृतवान्। अनवाप्तकामस्य इन्द्रियपरवशस्य जुगुप्सिताचरणं दृष्टम्, नत्ववाप्तकामस्य स्वतन्त्रस्येति भावः। अतः केनाऽभिप्रायेण कृतवानिति पृच्छति किमभिप्राय इति, एतत् एतस्मिन्विषये नोऽस्माकं संशयः। तं हे सुव्रत, छिन्धि निराकुरु ॥२९॥

कैमुत्यनयेन उत्तरं विवक्षुः कर्मवश्यत्वप्रयुक्तशास्त्रवश्यतावतामेव शास्त्रविरुद्धं कर्म प्रत्यवायजनकं, न तु अकर्मवश्यानां अशास्त्रवश्यानामिति तावदुत्तरमाह — **धर्मव्यतिक्रम** इति। यद्यपीश्वराणां अशास्त्रवश्यानां धर्मव्यतिक्रमः शास्त्रोक्तधर्मातिलङ्घित्वं साहसं, सहसा शास्त्रार्थाविमर्शेन कृतं साहसं कामचार इति यावत्। तदुभयं दृष्टं, तथाऽपि तत् तेजीयसां न दोषाय न प्रत्यवायावहं, स्वर्गिणां मुक्तानाञ्च व्यापारेषु व्यभिचारादिति भावः। नहि स्वर्गिमुक्तव्यापारश्शास्त्रानुवर्ती, न वा प्रत्यवायावहः, तेजीयस्त्वमत्र शास्त्रवश्यतानापादकसामर्थ्यवत्त्वरूपं विवक्षितम्, पदार्थानां विलक्षणशक्तिकत्वादिति तात्पर्यम्। तत्र दृष्टान्तमाह वह्नेरिति। यथा सर्वभुजः सर्वदाहकस्य वह्नेः दाहमावेण दाहचपटादिगतमालिन्यसम्बन्धो न विघते, तद्वत्। नहि अबादिषु स्वसम्बन्धिपृथिव्यादिगतलौहित्यादिकं दृष्टमिति वह्नावपि तद्वत्प्रसङ्ग इति भावः ॥ ३० ॥

तर्हि "यद्यदाचरति श्रेष्ठः" (भ.गी. 3-21) इति न्यायेन अन्योऽप्येवं कुर्यादित्याशङ्क्याऽऽह — **नैतदिति**। एतदशास्त्रवश्यत्वेनाचरितम् अनीश्वरश्शास्त्रवश्यः कदाचिदपि मनसाऽपि नाऽऽचरेत् चिकीर्षामपि न कुर्यात् इत्यर्थः। विपर्यये बाधकमप्याह नश्यतीति। मौढ्याद् स्वस्य शास्त्रवश्यत्वाऽज्ञानात् तत्प्रतिषिद्धमाचरन्नाशु नश्यति, नाशोऽत्र नित्यप्राप्तिः[3]। तत्र दृष्टान्त माह — यथेति। रुद्रो यथा अब्धिजं विषं आचरदभक्षयत्, तथा तदन्यो भक्षयन् आशु नश्यति, रुद्रस्य विषपानप्रयुक्तप्राणविपत्त्यनापादकशक्तिमत्त्वं स्वस्य तदभावञ्च अजानन् केवलं रुद्रो भक्षितवान्, तथाऽहमपि भक्षयिष्यामीति यो मौढ्याद्भक्षयति स नश्यत्येवेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

---

1 T,W omit धर्म 2. K adds इत्यर्थः 3. T,W °कमाह

**विज०** ज्ञातशास्त्रतात्पर्यार्थोऽपि परीक्षित् स्वनाम्नोऽर्थं सफलं कुर्वन् तथा श्रोतृजनविद्वज्जनचित्तसन्देहप्रहाणाय पृच्छति - **संस्थापनायेति**। इतरस्याधर्मस्य, हिशब्देन "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत!" (भ.गी. 4-7) इत्यादि वाक्यं प्रमाणयति ॥ २७ ॥

प्रतीपं प्रतिकूलं किमकारीत्यत्राऽऽह अभिमर्शनं अविचार्य ग्रहणम् ॥ २८ ॥

विषयभोगलौल्यात् कृतं किम्? नेत्याह **आत्माराम** इति। कोऽभिप्रायोऽस्य मच्चरितं चरेत्, मदुक्तमेव चरेत्, न चरितं चरेदिति चेति, नः परिसरवर्तिजनस्य ॥ २९ ॥

नारायणानुग्रहसुधापात्राणां स्मृतिविहितधर्मव्यतिक्रमो न दोषाय दृष्टः; किमुत, दूरीकृतविधिनिषेधबन्धस्य हरेरित्याशयेन प्रश्नं परिहरति **धर्मेति**। चशब्दः कैमुत्यद्योतकः यद्यर्थो वा, यद्यपीश्वराणां योगैश्वर्यपारङ्गतानां साहसः हेतुशून्यो धर्मव्यतिक्रमः शास्त्रविहिताचारविरुद्धाचारः - अजीगर्तस्य पुत्रविक्रयः, विश्वामित्रस्य श्वभक्षणप्रवृत्तिः, सप्तर्षीणां शवभक्षणोद्योगः इत्यादितक्षणो दृष्टः, शास्त्रे तथापि स तेषां न दोषाय धर्मप्रतिबन्धकाय न भवति। तत्कुत इति हेतुगर्भविशेषणमाह तेजीयसामिति। "तेजो बले प्रभावे(ऽग्ने)च ज्योतिष्यर्चिषि रेतसि, नवनीतेऽनले दुर्गे" (वैज.को. 6-3-14) इति यादवः। तत्र दृष्टान्त माह — वह्नेरिति। अमेध्यादिदहनतक्षणोपेतस्याऽग्नेः ॥ ३० ॥

नन्वेवञ्चेत् श्रेष्ठाचरितत्वेन अश्रेष्ठस्य परावाचरणप्रसङ्गः "यद्यदाचरति श्रेष्ठः" (भ.गी. 3-21) इत्यादिस्मृतेश्चेति तत्राऽऽह - नेति। स्मृतिः सत्कर्मणः, "लोकसङ्ग्रहमेवाऽपि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि" (भ.गी. 3-20) इति विधानाच्चेति; इमर्थं हिशब्देन विशिनष्टि। "हि स्याद्विशेषणे हेतौ" (वैज.को. 8-7-9) इति यादवः। मनसाऽपि नाऽऽचरे त्किमुत कायेन। विपक्षे बाधक माह नश्यतीति। 'णश अदर्शने' इति धातोः समूलमुच्छिन्नोभवतीत्यर्थः। "अदर्शनं लोपः" (अष्टा. 1-1-60) इति सूत्रात् 'तुप्तृ छेदने' इति धातोः। मौढ्यात् क्रोधोद्रेकात् मौर्ख्या द्वा। 'मोहकान्मौर्ख्यमूढत' इति मोहोमोहनितन्द्रिते इति कालान्तरे सञ्जातेन निवर्तनेन नाशो न स्यादित्यतः आश्विति। किञ्चित्कालमवसरं न ददातीत्यर्थः। व्यतिरेकं दर्शयति यथेति। यथा रुद्रो विषमपिबत्, तथाऽहमपि विषं पास्यामीति तत्पानेन नश्यति; तस्मान्नकर्तव्यमित्यर्थः। विषपानेन आशु नाशः स्यादिति दर्शनाय तदुक्तम्, न तु समूलतरुच्छेदविषये। विषपानान्मृतिं दृष्ट्वा अन्यस्य निवृत्तिसम्भवात् न तथा प्रकृत इति ॥ ३१ ॥

**ईश्वराणां वच स्सत्यं तथैवाऽऽचरितं क्वचित्।**
**तेषां यत्स्ववचोयुक्तं बुद्धिमां[1] स्तत्सदाचरेत् ॥ ३२ ॥**

**कुशलाचरितेनैषामिह चार्थो[2] न विद्यते।**
**विपर्ययेण चाऽनर्थो[3] निरहङ्कारिणां प्रभो ॥ ३३ ॥**

**किमुताऽखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम्।**
**ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः ॥ ३४ ॥**

**यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः।**
**स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि ननह्यमाना स्तस्येच्छयाऽऽत्तवपुषः कुत एव बन्धः ॥ ३५ ॥**

**गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषाञ्च विदेहिनाम्।**
**योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः एष क्रीडनदेहभाक् ॥ ३६ ॥**

---

1. M,Ma °मनैतदा° ; V °मांस्तत्तदा ; K,T,W °मानेतदा° 2. G,J,Va स्वा° 3. G,J,Va वा° 4. G,J,Va °मेव दे° M,Ma °मपि दे° 5- -5. G,J,Va क्रीडनेनेह दे

**श्रीध०** कथं तदा सदाचारस्य प्रामाण्यम्? अत आह — ईश्वराणामिति। तेषां वचस्सत्यम्। अत स्तदुक्त-माचरे देव। आचरितन्तु क्वचित् सत्यम्। अतः स्ववचोयुक्तं तेषां वचसा यद्यदुक्तम् अविरुद्धं तत्तदेवाऽऽचरेत् ॥ ३२ ॥

ननु तर्हि तेऽपि किमेवं साहसमाचरन्ति? तत्राऽऽह — **कुशलेति**। प्रारब्धकर्मक्षपणमात्रमेव तेषां कृत्यं नाऽन्यदित्यर्थः ॥ ३३ ॥

प्रस्तुतमाह — **किमुतेति**। कुशलाकुशलान्वयो न विद्यत इति किं पुन र्वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

एतदेव स्फुटीकरोति — **यदिति**। यस्य पादपङ्कजपरागस्य निषेवणेन तृप्ताः। यद्वा यस्य पादपङ्कजपरागे सेवा येषां ते तथा। ते च तृप्ताश्चेति, भक्ता इत्यर्थः, तथा ज्ञानिनश्च ननह्यमानाः बन्धमप्राप्नुवन्तः ॥ ३५ ॥

गोपीनां परदारत्व मङ्गीकृत्य परिहृतम्। इदानीं भगवतः सर्वान्तर्यामिणः परदारसेवा नाम न किञ्चिदित्याह — गोपीनामिति। योऽन्तश्चरति अध्यक्षो बुद्ध्यादिसाक्षी, स एष क्रीडनाय देहभाक् न तु अस्मदादितुल्यः, येन दोषः स्यादिति ॥ ३६ ॥

---

1. J,Va तर्हि 2. J,Va निषेवा 3. J,Va काचि° 4- -4. J,Va क्रीडनेन

**वीर०** कथन्तर्हि श्रेष्ठाचारस्य प्रामाण्य मित्याशङ्क्य न कात्स्न्र्येन श्रेष्ठाचारः प्रमाणम्, किन्तु शास्त्राविरोध्येव। श्रेष्ठवचस्तु कात्स्न्र्येन प्रमाण मित्याह — **ईश्वराणा**मिति। ईश्वराणां कर्मवश्यत्वाभावप्रयुक्तशास्त्रवश्यत्वाभाववताम् — "एवं कुरु, एवं मा कुरु" इत्येवंरूपं वचः कात्स्न्र्येन सत्यम्, अबाधितं प्रमाणमिति यावत्। आचरितन्तु क्वचिदेव किञ्चिदेव प्रमाणमित्यर्थः। किं तदाचरितं यत् प्रमाणम्, तत्राऽऽह, तेषामीश्वराणां यदाचरितं स्ववचोयुक्तं स्ववचसा समायुक्तं स्ववचसोऽविरुद्धं तत्सत्यमित्यर्थः। तत्तस्माद्बुद्धिमानपि ईश्वरवचसोऽनुकूलमेव ईश्वराचरितम् आचरेत्। 'बुद्धिमा न्नतदाचरेत्' इति पाठान्तरम्। तदा अयुक्तमिति च्छेदः। स्ववचसः ईश्वरवचसः अयुक्तं विरुद्धं ईश्वराणाम् आचरितं नाऽऽचरेदित्यर्थः ॥ ३२ ॥

तेजीयसां न दोषायेति, एतदेव स्पष्टयति कुशलाचरितेनेति। येषां तेजीयसामीश्वराणाम् इह लोके कुशलाचरितेन साधनेन अर्थः साध्यं प्रयोजनं न विद्यते, नाऽपि विपर्ययेण, अकुशलाचरितेन अनर्थोऽपि न विद्यते। तत्र हेतुं वदन्

विशिनष्टि निरहङ्कारिणामिति। अनात्मनि देहे आत्माभिमानरहितानामित्यर्थः। हे प्रभो, देहात्माभिमानो हि पूर्वपूर्वकर्ममूलकः पुनरुत्तरोत्तरकर्ममूलश्च; तदभावात् कर्मवश्यत्वाभावः, तदभावाच्च शास्त्रवश्यत्वाभावः, तदभावाच्च धर्माधर्ममूलकौ अर्थानर्थौ न स्त इति भावः ॥ ३३ ॥

यतोऽकर्मवश्यानां जीवानामेव कुशलाकुशलाचारनिमित्तकौ अर्थानर्थौ न स्तः। किं पुनस्तेषामपि नियन्तुरपहतपाप्मनो भगवत इत्याह - **किमुतेति**। तिर्यगादिरूपेणावस्थितानां अखिलानां सत्त्वानां जीवानां नियाम्यानां नियन्तुस्सर्वेश्वरस्य कुशलाकुशलान्वयो नास्तीति किमु वक्तव्येमित्यर्थः। कुशलाकुशलकर्मप्रयुक्तसुखदुःखादिसम्बन्धोऽत्र कुशलाकुशलान्वयशब्दविवक्षितः। सत्त्वशब्दो जीवपरः "सत्त्व मस्त्री तु जन्तुषु" (अम.को 3-368) इति कोशात्। जन्तुशब्दः जीवपर्यायः — "प्राणी तु चेतनो जन्मी जन्तुजन्युशरीरिणः" (अम.को. 1-139) इति नामपाठात्? "सत्त्वं प्रकृतिजै र्मुक्तम्" (भ.गी. 18-40) इति भगवदुक्तेश्च ॥ ३४ ॥

कैमुत्यनयेनोक्तमेव प्रपञ्चयति **यत्पादेति**। यत्पादपङ्कजपरागस्य निषेवणेन तृप्ताः निवृत्तशब्दादिविषयाभिलाषाः योगप्रभावेन यस्य पादपङ्कजानुध्यानात्मकयोगसामर्थ्येन विधुता अखिलाः कर्मात्मका बन्धा येषां ते मुनय स्सनकादयोऽपि ननहचमानाः अनहचमानाः अनाबध्यमानाः शास्त्रावश्या इति यावत्। स्वैरं यथेच्छं चरन्ति, किमुतेच्छया, न तु कर्मणेति भावः। आत्तं परिगृहीतं, वपुरप्राकृतं शुद्धसत्त्वमयं येन तस्यापहतपाप्मनो भगवतः कुत एव बन्धः? कुतश्चिदप्याचरितात् स्वैरात् बन्धो नास्त्येवेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

यत्पृष्टमाप्तकामो यदुपतिरित्यादिना अवाप्तसमस्तकामस्य स्वतो निरतिशयानन्दस्य ग्राम्यचेष्टान्वयः कथमिति, तस्योत्तर माह - द्वाभ्याम्। गोपीनां तासां पतीनाञ्च तथाऽन्येषां देहिनां जीवानाञ्च। योऽन्तश्चरति अन्तरात्मतया व्याप्नुवन्नियमयति, यश्चाऽध्यक्षः तत्तत्कर्मानुगुणसुखदुःखादिफलदश्च स एष भगवान् कृष्णः क्रीडनदेहभाक्,[2] न तु अस्मदादिवत् सुखदुःखादिभोगाय कर्माधीनदेहभाक् इत्यर्थः। क्रीडानूदेहभाक् इति पाठान्तरम्, तदा नराकृतिभागित्यर्थः ॥ ३६ ॥

---

1. T,W omit जीवानां 2. K adds क्रीडनाय देहभाक्

**विज०** यद्येवं तर्हि आप्तत्वेन ईश्वरोक्तमपि ग्राह्यमित्यायातमिति तत्राऽऽह — **ईश्वराणामिति**। सत्यं परमार्थत्वेन अभीष्टज्ञापकम्। "परमार्थेऽर्थवत्सत्यम् (वैज.को. 6-5-95) इति यादवः। तद्वचनमेव सत्यञ्चेत् "कुर्याद्विद्वांस्तथा सक्त श्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम्" (भ.गी. 3-25) इति विधानं व्यर्थमिति तत्राऽऽह तथैवेति। क्वचिदित्युपहासादिव्यावृत्तये। अनुवर्तिनां वैदिककर्ममार्गप्रदर्शनार्थं यदाचरणं तदपि सत्यं फलदर्शनात्। तर्हि वचनं सत्यं किं नेत्याह तेषामिति। अयुक्तं वेदोऽप्रमाणलक्षणमित्यादि लक्षणं, प्रतीतिकार्यविषयम्। यद्वा स्ववचसोऽयुक्तं विरोधि तेषां यदाचरितं बुद्धिमानेतन्नाचरेदिति श्रुतिश्च ॥ ३२ ॥

इतोऽपि शुष्कजलनारिकेलफलवन्निर्मुक्तशरीराभिमानानां दूरीकृतकुशलाकुशलानां फलवत्वाद्धर्मव्यतिक्रमो न दोषायेत्याशयेनाऽऽह **कुशलेति**। इह संसारमण्डले अर्थः प्रयोजनं प्रारब्धकर्मनाशेनापातकदेहत्वादमीष्टकत्वाच्च विपर्ययेण विपर्ययाचरणेन अनर्थो नरकपातादिलक्षणः। अत्र हेतुमाह निरहङ्कारिणामिति ॥ ३३ ॥

उपसंहरति **किमुतेति** अखिलसत्त्वानां समस्तप्राणिनाम् इत्यस्य विवरणं तिर्यङ्मर्त्येत्यादिना। ईशितव्यानां नियम्यानाम् ईशितु र्नियामकस्य च समुच्चये, ईशितव्याना मचेतनानाञ्च कुशलाकुशलान्वयः पुण्यपापफलतेपः किमुत ॥ ३४ ॥

कथान्तरत्वैमुत्यन्यायं दर्शयति **यत्पादेति**। भक्तियोगप्रभावेन विधुतो विध्वस्तोऽखिलबन्धो येषां ते तथा ननहच्यमाना अतएव पुत्रस्नेहेन बध्यमाना न भवन्ति, कर्मभि र्वा ॥ ३५ ॥

क्रीडनं क्रीडासाधनं देहं भजतीति क्रीडनदेहभाक् अध्यक्षः साक्षी, अयञ्च बन्धाभावे हेतुः ॥ ३६ ॥

**अनुग्रहाय भक्तानां[1] मानुषं देह मास्थितः[2]।**
**भजते तादृशीः[3-] क्रीडा यः[-3] श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥ ३७ ॥**

**नाऽसूयन्खलु[4] कृष्णाय मोहिता स्तस्य मायया।**
**मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्स्वान्स्वान्दारान् व्रजौकसः ॥ ३८ ॥**

**ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः।**
**अनिच्छन्त्यो ययु र्गोप्यः स्वगृहान्भगवत्प्रियाः ॥ ३९ ॥**

**विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः।**
**भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः[5]॥ ४० ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
रासक्रीडावर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

---

1. G,J,K,V,Va भूतानां 2. M,Ma,V °श्रि° 3- -3. M,Ma °र्शां क्रीडां यां 4. M,Ma °भूप! 5. M,Ma °शु विधुनोत्य°

**श्रीध०** नन्वेवञ्चे दाप्तकामस्य निन्दिते कुतः प्रवृत्तिरित्यत आह — **अनुग्रहायेति**। शृङ्गाररसाकृष्टचेतसः[1] बहिर्मुखानपि स्वपरान् कर्तुमिति भावः ॥ ३७ ॥

नन्वन्येऽपि भिन्नाचाराः स्वचेष्टितमेवेति वदन्ति, तत्राऽऽह — **नाऽसूयन्निति**। एवम्भूतैश्वर्याभावे तथा कुर्वन्तः पापा ज्ञेया इति भावः ॥ ३८ ॥

**ब्रह्मरात्र** इति। ब्रह्मरात्रे ब्रह्ममुहूर्ते, उपावृत्ते प्राप्ते ॥ ३९ ॥

भगवतः कामविजयरूपरासक्रीडाश्रवणादेः कामविजयमेव फलमाह - **विक्रीडितमिति**। अचिरेण धीरस्सन् हृद्रोगं कामं आशु अपहिनोति परित्यजतीति ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

---

1. J,Va add अति

**वीर०** अवाप्तसमस्तकामस्य किं क्रीडाजन्यसुखलेशेनेति शङ्कां निराह[1] - **अनुग्रहायेति**। भूतानामनुग्रहाय[2] अस्मदादिभूतान्यनुग्रहीतुं मानुषं मनुष्यस्येव सन्निवेशविशिष्टं देहमास्थितः तादृशीः उक्तविधाः क्रीडाः भजते अनुकरोति, क्रीडात्ववान्तरप्रयोजनं भूतानुग्रहस्तु भगवदवतारस्य परमं[3] प्रयोजनमिति भावः। अवतारस्य क्रीडार्थत्वं, क्रीडायास्त्वनुग्रहार्थत्वञ्चोक्तम्। कथं क्रीडाया अनुग्रहार्थत्व मित्यत आह — याः श्रुत्वेति। याः क्रीडाः श्रुत्वा तत्परः भगवत्परो भवेत् जन इति कर्तृपदाध्याहारः। मत्क्रीडा शृण्वतो - लोकस्य निरतिशयपुरुषार्थभूते मयि इष्टानिष्टप्रापणपरिहारदक्षे नितरा मासक्ति र्यथा स्यादित्येव मनुग्रहाय क्रीडा भजते न तु स्वयमपरिपूर्णो भजते, इति भावः ॥ ३७ ॥

नन्वेवमपि उक्ताभिप्रायेण क्रीडा भजन्तं तदभिप्रायानभिज्ञा गोपीनां पतयः किं नाभ्यसूयन्नित्यत आह — **नाऽसूयन्निति**। व्रजौकसः गोपीनां[4] पतयः तस्य कृष्णस्य मायया मोहिताः स्वस्वदारान् स्वपार्श्वस्थानेव मन्यमानाः कृष्णाय नाऽसूयन् दोषबुद्ध्या न ददृशुः। कृष्णायेत्यत्र "क्रुध द्रुह्.....” (अष्ट. 1-4-37) इत्यादिना चतुर्थी ॥ ३८ ॥

प्रकृतमाह **ब्रह्मरात्र** इति। ब्रह्मरात्रे ब्राह्मे मुहूर्ते उपावृत्ते प्राप्ते सति, वासुदेवेन अनुमोदिताः अनुमोदनपूर्वकमाज्ञापिता अपि गोप्यः, भगवानेव निरतिशयप्रियो यासां तथा भूताः। अतएव अनिच्छन्त्यः, गन्तुमिति शेषः। कथञ्चित्स्वगृहान्प्रति ययुः ॥ ३९ ॥

प्रकृतरासक्रीडाश्रवणादिफलमाह — **विक्रीडितमिति**। व्रजवधूभिस्साकमिदं विष्णोः कृष्णस्य विक्रीडितम्। भावे क्तः। यः पुमान् श्रद्धान्वितोऽनुक्रमेण शृणुयात् अथवा वर्णयेच्छ्रावयेच्च, स भगवति परामुत्कृष्टां भक्तिं प्राप्य धीरः जीवद्दशायां[5] जितेन्द्रियः कामं नितरां हृद्रोगं रोगवदनर्थकरं[6] हृदयस्थमज्ञानं आशु अचिरेण विधुनोति निरस्यति। श्रोता आशु धुनोति, तथा वर्णयिताऽपि अचिरेण धुनोतीति प्रत्येकाभिप्रायकोऽचिरेणाऽऽशुशब्दयोः प्रयोगः, अतो न पौनरुक्त्यम्। यद्वा, हृद्रोगनाशोपक्रमणयो र्मध्ये कालविलम्बाभावाभिप्रायक आशुशब्दः। श्रवणोन्मुखस्य रोगादेरिव चिरेण निश्शेषशान्तिशङ्काव्युदासायाऽचिरेणशब्दः, अचिरेण धीरः, आशु धुनोतीति वाऽन्वयः। हृद्रोगरूपं कामं मदनम्, आशु विधुनोति विजयते इत्यर्थो वा ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

---

1 K निराकरोति 2. T,W omit अनु° 3. T,W omit परमं 4. T,W omit गोपीनां 5. K °द° 6. T,W हृत्थम°

**विज०** स्वेच्छाविग्रहस्वीकारो निस्पृहस्य किंप्रयोजनमित्यत आह — **अनुग्रहायेति**। तादृशीं मानुषदेहक्रीडां चरितं श्रुत्वा तत्परः(सः) भगवानेव परो यस्य स तथा, तस्मिन् तात्पर्ययुक्तो वा। यद्वा, स पुरुषइव जन्ममृत्युशून्यो भवेत् ॥ ३७ ॥

स्वैरिणीवृत्तिमाश्रितानां गोपीनां ग्रहणं तद्भर्तृभिः कथञ्च कृतम्, कथञ्च कृष्णे दोषाविष्करणमकृतम्? अत्राऽऽह — **नेति**। गुणेषु दोषाविष्करणमसूया। "क्रुधद्रुहेर्ष्याऽसूयार्थानां यं प्रति कोपः" (अष्टा. 1-4-37) इति चतुर्थी ॥ ३८॥

ब्रह्मरात्रे ब्राह्मे मुहूर्ते ॥ ३९ ॥

संसारनिवृत्तिहेतुत्वात् अस्मिन् कृष्णविक्रीडिते श्रद्धादिकं कार्यमिति विधायकफलमाह — **विक्रीडितमिति**। च-शब्दः श्रद्धातिशयजननार्थः पूर्वोक्तविक्रीडितानि यथा संसारनिवर्तकानि तथेदञ्चेति आशु भक्तिं प्रतिलभ्य अनुदिनं कृत्वा हृद्रोगं काममनिष्टं अपहिनोति प्रतित्यजति, दुष्टकामत्याग एव संसारनिवृत्तिरित्यर्थः ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
टीकायां त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

(विजयध्वजरीत्या एकत्रिंशोऽध्यायः)

---

# चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या द्वात्रिंशोऽध्यायः)

-: अहिरूपधारिणः सुदर्शनाख्यगन्धर्वस्य शापमोक्षणम् :-

## श्रीशुक उवाच

एकदा देवयात्रायां गोपाला जातकौतुकाः।
अनोभिरनडुद्युक्तैः प्रययुस्तेऽम्बिकावनम् ॥ १ ॥

तत्र स्नात्वा सरस्वत्यां देवं पशुपतिं प्रभुम्[1]।
आनर्चुरर्हणै र्भक्त्या देवीञ्च नृपतेऽम्बिकाम् ॥ २ ॥

गावो हिरण्यं[2] वासांसि मधु मध्वन्नमादृताः।
ब्राह्मणेभ्यो ददुस्सर्वे देवो नः प्रीयतामिति[3] ॥ ३ ॥

ऊषुस्सरस्वतीतीरे जलं प्राश्य यतव्रताः[4]।
रजनीं तां महाभागाः सनन्दा[5] नन्दकादयः[6] ॥ ४ ॥

कश्चिन्महानहिस्तस्मिन् विपिनेऽतिबुभुक्षितः।
यदृच्छयाऽऽगतो नन्दं शयानमुरगोऽग्रसीत्[7] ॥ ५ ॥

---

1. G,J वि 2. M,Ma °ण्य° 3. P,V प्रि° 4 G,J धृत° 5. M,Ma °ग। 6. G,J,K नन्दसुनन्द° ; M,Ma नन्दसन्नन्द° 7 P,V °सत्

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुस्त्रिंशेऽहिना ग्रस्तं नन्दं हरिरमुमुचत्। विद्याध्रं चाङ्गिरश्शापाच्छङ्खचूडं तथाऽवधीत्॥
रासापदेशतः[1] कामं किङ्करीकृत्य कामतः[2]। अनुगृह्णन् वशं निन्ये तथा विद्याधराधिपम्॥

तदेवं कामानुग्रहमुखेन कामजयं प्रतिपाद्य तथैव विद्याधरजयं प्रतिपादयितुं तत्प्रसङ्गं दर्शयति — **एकदेति**॥ १,२॥

**गाव** इति। गावः गाः। मधु मधुरं मध्वन्नं मधुना सहितमन्नम् ॥ ३ ॥

**ऊषुरिति**। जलमात्रं प्राश्य उपोषिताः तां निशां तत्र ऊषुः न्यवसन् ॥ ४ ॥

**कश्चिदिति**। महानहिः अजगरः, उरगः उरसा गच्छतीति अलक्षितत्वमुक्तम्, अग्रसत् जग्रास ॥ ५ ॥

---

1 J °सोप° 2 Va बा°

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ सुदर्शनाख्यविद्याधरस्य ब्राह्मणशापात् सर्पतां गतस्य शापविमोचनात्मकं सप्रस्तावं तथा शङ्खचूडाख्य यक्षवधतच्छिरोमण्युपहारात्मकं च भगवतः कामम् अनुवर्णयति चतुस्त्रिंशेन **एकदेत्यादिना**। कदाचित् देवयात्रायां साम्बं पशुपतिं प्रतिगमनतत्पूजाद्यात्मिकायां निमित्तभूतायां अनडुद्भिः वृषैः युक्तैः अनोभिः शकटैः अम्बिकावनं ययुः, देवयात्रायां विषयभूतायां, जातं कौतुकं येषां ते तथाभूता ययुः इति वा ॥ १ ॥

तत्र तद्वनसमीपस्थायां सरस्वत्याख्यायां नद्यां स्नात्वा, हे नृपते! अर्हणैः पूजासाधनैः गन्धादिभिः देवं पशुपतिं देवीम् अम्बिकां च भक्त्या पूजयामासुः ॥ २ ॥

ततो गावः गाः हिरण्यं वासांसि, मधु मधुरं मधुसहितं अन्नं च, ब्राह्मणेभ्यो ददुः। कथम्भूताः? देवः पशुपतिः नोऽस्माकं प्रीतो भवत्वित्यभिप्रायवन्तः ॥ ३ ॥

ततो जलमात्रं प्राश्य यतव्रताः यतं नियतं व्रतं ब्रह्मचर्यात्मकं येषां ते तथाभूताः, तत्रैव सरस्वत्याः तीरे नन्दप्रभृतयो गोपाः तां रात्रिं उषितवन्तः ॥ ४ ॥

तस्मिन् विपिने अम्बिकावने कश्चिन्महान् विपुलकायोऽहिः सर्पः अतीव बुभुक्षितो न्यवसदिति शेषः। स च उरगः यदृच्छयाऽऽगतः तत्र सञ्चरन् नन्दं प्राप्तः तमग्रसीत् ॥ ५ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

मुकुन्दभक्त्या संसाराद्विग्रासमोक्षस्य ज्ञानरत्नदानस्य निदर्शनाय नन्दस्य सर्पात् मोक्षं, शङ्खचूडं हत्वा बलभद्राय तच्छिरोरत्नदानं च निरूपयत्यस्मिन्नध्याये। तत्र प्रथमतः गोपानां यात्राप्रकारं कथयति — **एकदेति**। अम्बिकामाहात्म्यविषयां किंवदन्तीमाकर्ण्य जातकौतुकाः उत्पन्नकुतूहलबुद्धयः अम्बिकावनं दुर्गावासस्थानं वनं अनडुद्युक्तैः वृषभयुक्तैः अनोभिः शकटैः॥ १ ॥

पशवो जीवाः तेषां पतिं प्रभुं समर्थं "समर्थेऽधिपतौ प्रभुः" (वैज.को. 6-4-10) इति च। तत्र वने सरस्वत्यां स्यन्दमानायाम् अर्हणैः पुष्पोपहारादिसाधनैः ॥ २ ॥

मध्वन्नं मधुना युक्तमन्नं, यद्वा मधुरान्नं, मधु क्षौद्रम् ॥ ३,४ ॥

यदृच्छया तस्मिन् वने आगतोऽभूत्। आगमने निमित्तमाह - अतिबुभुक्षित इति। शयानं निद्रां कुर्वन्तम् ॥५॥

**स चुक्रोशाऽहिना ग्रस्तः कृष्ण कृष्ण! महानयम्।**
**सर्पो मां ग्रसते तात! प्रपन्नं परिमोचय ॥ ६ ॥**

**तस्य चाऽऽक्रन्दितं श्रुत्वा गोपालास्सहसोत्थिताः।**
**ग्रस्तं च दृष्ट्वा सम्भ्रान्ताः[1] सर्पं विव्यधुरुल्मुकैः[2] ॥ ७ ॥**

**अलातैर्हन्यमानोऽपि[3] नाऽमुञ्चत्तमुरङ्गमः[4-]।**
**तमस्पृशत् पदाऽभ्येत्य भगवान् सात्त्वतां पतिः ॥ ८ ॥**

**स वै भगवतश्श्रीमत्पादस्पर्शहताशुभः।**
**भेजे सर्पवपुर्हित्वा रूपं विद्याधरार्चितम् ॥ ९ ॥**

**त पपृच्छ ऋषीकेशः प्रणतं समुपस्थितम्।**
**दीप्यमानेन वपुषा पुरुषं हेममालिनम् ॥ १० ॥**

---

1. G,J वि ° 2. K °भु° 3. G,J °र्हन्य° 4- -4. P,V °त भुजङ्गमः।

**श्रीध० तस्येति**। विव्यधुः ताडयामासुः। उल्मुकैः ज्वलत्काष्ठैः ॥ ६,७ ॥

**अलातैरिति**। अलातैः उल्मुकैरेव ॥ ८ ॥

**स इति**। विद्याधरेष्वर्चितं पूजितम् ॥ ९ ॥

**तमिति**। गोपेष्वात्मन ऐश्वर्यं प्रकाशयितुमविद्वानिव तमपृच्छत्। दीप्यमानेन वपुषा समवस्थितम् ॥ १० ॥

**वीर०** स च ग्रस्यमानो नन्दः चुक्रोश। कृष्णमाह च किमिति? हे तात! पुत्र! महान् अयं सर्पो मां ग्रसते, प्रपन्नं शरणं गतं मां सर्पात् मोचयेति ॥ ६ ॥

अस्य नन्दस्य आक्रन्दितं रोदनं आह्वानं वा श्रुत्वा गोपास्सर्वे आशु उत्थिताः, सर्पेण ग्रस्तं नन्दं दृष्ट्वा च सम्भ्रान्ताः व्याकुलचित्ताः सर्पमुल्मुकैः साङ्गारकाष्ठैः विव्यधुः ताडयामासुः ॥ ७ ॥

सोऽहिः अलातैः उल्मुकैः ताड्यमानोऽपि तं नन्दं नामुञ्चत्[1], न तत्याज। ततः प्रपन्नानां पालको भगवानागत्य पदा तं सर्पं पस्पर्श ॥ ८ ॥

स च सर्पो भगवतः श्रीमतः पादस्य स्पर्शेन हृतमशुभं सर्पतापादकं यस्य तथाभूतः सर्पशरीरं त्यक्त्वा विद्याधरार्चितं विद्याधरैः सम्माननीयं रूपं विद्याधररूपं प्राप ॥ ९ ॥

ततः प्रणतं कृतप्रणामं पुरतः दीप्यमानेन वपुषा तिष्ठन्तम्। हेममालाधारं तं पुरुषं भगवान् पप्रच्छ ॥ १० ॥

---

1. T,W omit नामुद्यत् 2- -2. T,W omit

विज० प्रकर्षेणाऽऽपन्नं विपदं गतं, शरणागतं वा ॥ ६-१० ॥

श्रीकृष्ण उवाच

को भवान् परया लक्ष्म्या रोचते शुभदर्शन।
कथं जुगुप्सितामेतां गतिं वा प्रापितोऽवशः ॥ ११ ॥

सर्प उवाच

अहं विद्याधरः कश्चित्सुदर्शन इति श्रुतः।
श्रिया सुरूपसम्पत्त्या विमानेन चरन् दिशः ॥ १२ ॥

ऋषीन् विरूपानङ्गिरसः प्राहसं रूपदर्पितः।
तैरिमां प्रापितो योनिं प्रलब्धैः स्वेन पाप्मना ॥ १३ ॥

शापो मेऽनुग्रहायैव कृतस्तैः करुणात्मभिः।
यदहं लोकगुरुणा पदा स्पृष्टो हताशुभः ॥ १४ ॥

तं त्वाऽहं भवभीतानां प्रपन्नानां भयापहम्।
आपृच्छे शापनिर्मुक्तः पादस्पर्शादमीवहन् ॥ १५ ॥

---

1- -1. G,J,M,Ma,P,V omit 2- -2 G,J,M,Ma रोचतेऽद्भुतदर्शन; P,V शोभते शुभलक्षण! 3. G,J,M,Ma °या स्व°; P,V °याऽनु° 4. G,J,M,Ma नाऽचरं; P,V नाऽऽचरन् 5. K,T,W प्रहसन् 6.M,Ma लब्धः 7. J °वं 8. M,Ma पाद° 9. K,T,W ग°

श्रीध० क इति। यः परया शोभया प्रकाशते स भवान् क इति ॥ ११, १२ ॥

ऋषीनिति। प्राहसं अपहसितवानस्मि, प्रलब्धैरुपहसितैः मदीयेनैव पाप्मना निमित्तेन ॥१३॥

शाप इति। यत् यतः शापात् ॥ १४ ॥

**तमिति**। आपृच्छे स्वं लोकं गन्तुं अनुज्ञां याचे, हे अमीवहन्! दुःखनाशन ॥ १५ ॥

---

1. J omits स 2. J,Va उप° 3. J,Va पापेन

**वीर०** प्रश्नमेवाह — **को भवानिति**। अधुना यः परया लक्ष्म्या कान्त्या रोचते प्रकाशते स भवान् कः? अहं विद्याधर इति चेत्, तर्हि हे शुभदर्शन! कथं निन्दितामेतां गतिं सर्पतां प्रापितः। विप्रशापादिति चेत्, तत्राऽऽह — अवशः कथं शापनिमित्तापचारनिमित्तदेहपारवश्यमिति भावः। यद्यपि सर्वज्ञस्य प्रश्नानुपपत्तिः तथाप्यात्मनः प्रभावं प्रकाशयितुं अविदुष इव प्रश्नोपपत्तिः। अत एव सुदर्शनपदपर्ययेण शुभदर्शनपदेन सम्बोधनं कृतम् ॥ ११ ॥

इत्थमापृष्टः स्वपूर्ववृत्तं विज्ञापयन् आत्मनः कृतार्थतामाविष्करोति — **अहमिति**। अहं तावत् कश्चित् विद्याधरः सुदर्शन इति स्मृतः प्रसिद्धः। सोऽहं श्रिया कान्त्या सुरूपसम्पत्त्या सौन्दर्यसमृद्ध्या च उपलक्षितः कदाचित् विमानेन साधनेन सर्वा दिशः समन्तात् सञ्चरन् सौन्दर्येण गर्वितो विरूपान् अङ्गिरसः ऋषीन् दृष्ट्वा हसितवानस्मि, तदा मदीयेनैव पाप्मना पापेन हेतुना प्रलब्धैः उपहसितैः तैः अङ्गिरोभिः ऋषिभिः इमां योनिं सर्पजन्म प्रापितः ॥ १२,१३ ॥

प्रलब्धैरपि तैरङ्गिरोभिः करुणात्मभिः हेतुगर्भमिदम्। कारुण्यस्वभावत्वात् मदनुग्रहार्थमेव शापः कृतः। कुतः? यत् यस्मात् अहं त्रिलोकगुरुणा त्वया कर्त्रा पदा करणेन[1] स्पृष्टः; अन्यथा एतन्न सम्भाव्यत इति भावः। गतमशुभं पापं यस्य तथाभूतश्चाहं पादस्पर्शाद्धितोः शापेन निर्मुक्तः ॥ १४ ॥

हे अमीवहन्! अमीवं पापं दुःखं वा तद्धन्तीति तथाभूतं[2] तं त्रिलोकगुरुं[2] भवात् संसारात् भीतानां प्रपन्नानां[3] भयमपहन्तीति तथाभूतं, त्वां आपृच्छे स्वर्लोकं गन्तुमनुज्ञां याचे ॥ १५ ॥

---

1. T,W omit करणेन 2- -2. K °त त्रि° 3. T omits प्रपन्नानां

**विज०** पाप्मना अपराधेन प्रलब्ध उपलब्धो विप्रलब्धो वा। विरूपान् सौन्दर्यरहितान् "सौन्दर्ये च स्वभावे च (रूपशब्दं प्रचक्षते)" (वैज.को. 6-3-28) इति। अङ्गिरसः पुत्रा आङ्गिरसः? ॥ ११-१४ ॥

आपृच्छे आज्ञां प्रार्थये। अमीवहन्! दोषनाशन! ॥ १५ ॥

**प्रपन्नोऽस्मि महायोगिन् महापुरुष सत्पते।**
**अनुजानीहि मां कृष्ण[1] सर्वलोकेश्वरेश्वर ॥**
**ब्रह्मदण्डाद्विमुक्तोऽहं सद्यस्तेऽच्युत[2] दर्शनात् ॥ १६ ॥**

**यन्नाम गृह्णन्नखिलान् श्रोतॄनात्मानमेव च।**
**सद्यः पुनाति किं भूयः तस्य स्पृष्टः पदा हि ते ॥ १७ ॥**

श्रीशुक उवाच

इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं परिक्रम्याऽभिवाद्य च।
सुदर्शनो दिवं यातः कृच्छ्रान्नन्दश्च मोचितः ॥ १८ ॥

निशाम्य कृष्णस्य तदात्मवैभवं व्रजौकसो विस्मितचेतसस्ततः।
समाप्य तस्मिन् नियमं पुनर्व्रजं नृपा ययुस्तत्कथयन्त आदृताः ॥ १९ ॥

कदाचिदथ गोविन्दो रामश्चाद्भुतविक्रमः।
विजहतुर्वने रात्र्यां मध्ये गोव्रजयोषिताम् ॥ २० ॥

---

1 G,J देव 2. M,Ma °द्भु° 3- -3 G,J,K,P,T,V,W omit 4. G,J,P,V वन्द्य 5. K,T,W °स्तु 6. P,V गो° 7- -7. G,J,M,Ma मध्यगौ

**श्रीध०*** अहिदेहं निहत्यैवं प्रागुन्मत्तं सुदर्शनम्। तद्वदुन्मादिनं कृष्णः शङ्खचूडमताडयत्॥

तत्प्रसङ्गमाह — **कदाचिदिति** ॥ १६-२० ॥

---

★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः :

**वीर०** हे महायोगिन्! अचिन्त्यविविधविचित्रशक्ते! हे महापुरुष! हे सतां पते! त्वां प्रपन्नोऽस्मि। मामनुजानीहि आज्ञापय, हे अच्युत! तव दर्शनादेव हेतोः सद्यः ब्रह्मशापाद्विमुक्तोऽहमित्येतत् न चित्रमिति वाक्यशेषः ॥ १६ ॥

एतदेव कैमुत्यनयेन स्पष्टयति — **यन्नामेति**। यस्य तव नाममात्रमेव गृह्णन् उच्चरन् पुमान् आत्मानं श्रोतॄंश्च सर्वान् जनान् सद्यः पुनाति, किं पुनः साक्षात् तादृशप्रभाववन्नाम्नस्तव पदा संस्पृष्टः शापाद्विमुक्त इति, कियदेतदित्यर्थः॥ १७॥

इत्थमनुज्ञाप्य अनुज्ञां गृहीत्वा दाशार्हं कृष्णं प्रदक्षिणीकृत्य अभिवाद्य च सुदर्शनः स्वर्गं प्रति ययौ। नन्दोऽपि कृच्छ्रात् सर्पग्रासात् मोचितः ॥ १८ ॥

ततो व्रजौकसो गोपाः कृष्णस्य आत्मवैभवं, अनितरसाधारणं प्रभावं निशाम्य दृष्ट्वा विस्मितं चेतो येषां तथाभूताः। तस्मिन् अम्बिकावने नियमंव्रतं समाप्य आदरयुक्ताः कृष्णस्य आत्मवैभवमेव कथयन्तो, हे नृप! पुनः व्रजं प्रति आजग्मुः॥ १९॥

अथ शङ्खचूडवधतच्छिरोमण्यादानात्मकं कर्म प्रस्तौति — **कदाचिदित्यादिना** यावदध्यायपरिसमाप्ति। अद्भुतविक्रम इति रामकृष्णयोः उभयोरपि विशेषणम्। तावुभौ वने गवां व्रजस्त्रीणां च मध्ये विजहतुः ॥ २० ॥

**विज०** चात् तं स्तुत्वा दाशार्हं कृष्णम् ॥ १६-१८ ॥

निशाम्य दृष्ट्वा ॥ १९,२० ॥

**उपगीयमानौ ललितं स्त्रीजनैर्बद्धसौहृदैः।**
**स्वलङ्कृतानुलिप्ताङ्गौ स्रग्विणौ विरजोऽम्बरौ[1] ॥ २१ ॥**

**निशामुखं मानयन्तौ उदितोडुपतारकम्।**
**मल्लिकागन्धमत्तालिजुष्टं कुमुदवायुना ॥ २२ ॥**

**जगतुस्सर्वभूतानां मनःश्रवणमङ्गलम्।**
**तौ कल्पयन्तौ युगपत् स्वरमण्डलमूर्च्छितम्[2] ॥ २३ ॥**

**गोप्यस्तद्गीतमाकर्ण्य मूर्च्छिता नाऽविदन्नृप।**
**स्रंसद्दुकूलमात्मानं स्रस्तकेशस्रजं ततः[3] ॥ २४ ॥**

**एवं विक्रीडतोस्स्वैरं गायतोस्सम्प्रमत्तवत्।**
**शङ्खचूड इति ख्यातो धनदानुचरोऽभ्यगात्[4] ॥ २५ ॥**

---

1 M.Ma °जा° 2 K मूर्छनम्; M.Ma मूर्छनाम् 3. M.Ma श्लथ 4. P.V चि°

**श्रीध० उपगीयमानाविति।** विरजोऽम्बराविति विरजसी निर्मले अम्बरे ययोस्तौ ॥ २१ ॥

**निशेति।** किञ्च निशाप्रवेशं सत्कुर्वन्तौ। उदित उडुपः तारकाश्च यस्मिन् तत्। मल्लिकागन्धेन मत्ता अलयो यस्मिन् तत् ॥ २२ ॥

**जगतुरिति।** अनिबद्धत्वादन्यैः युगपत्कल्पयितुमशक्यमपि तौ स्वरमण्डलमूर्च्छनं[1-1] युगपत्कल्पयन्तौ। मनश्श्रवणयोर्मङ्गलं यथा भवति तथा जगतुः अगायतामिति ॥ २३ ॥

**गोप्य** इति। मूर्च्छिताः तद्गीतलीनचित्ताः स्रंसद्भ्रश्यत् दुकूलं यस्मात् तम्, आत्मानं देहं स्रस्ताः केशेभ्यः स्रजो यस्य तं च तं च, ततो नाऽविदन् ॥ २४, २५ ॥

---

1- -1. J,Va °तस्य मूर्च्छितं

**वीर०** कथम्भूतौ? बद्धं निश्चलं सौहृदं येषां तैः स्त्रीजनैः ललितं यथा तथा उपगीयमानौ स्वलङ्कृतानि अनुलिप्तानि च अङ्गानि ययोः। स्रजौ अनयोः स्त इति तथाभूतौ, विरजसी निर्मले आम्बरे वाससी ययोस्तौ ॥ २१ ॥

**निशेति**। उदित उडुपश्चन्द्रः तारकाश्च यस्मिन् तत्, मल्लिकानां गन्धेन मत्तैः अलिभिः जुष्टं सेवितं सहचरितमित्यर्थः। कुमुदवायुना कुमुदगन्धयुक्तेन वायुना च जुष्टं निशामुखं मानयन्तौ प्रशंसन्तौ ॥ २२ ॥

**जगतुरिति**। तौ रामकेशवौ अनिबद्धत्वात् अन्यैः युगपत्कल्पयितुमशक्यमपि स्वरमण्डलस्य मूर्च्छनं युगपत्कल्पयन्तौ मनश्श्रवणयोर्मङ्गलं यथा तथा जगतुः गीतवन्तौ, स्वरमण्डलमूर्च्छनं षड्जादिस्वरसमुदायस्य मूर्च्छनमारोहावरोहणप्रकारः ॥ २३ ॥

**गोप्य** इति। तयोर्गीतमाकर्ण्य मूर्च्छिताः परवशाः ततः हे नृप! आत्मानं देहं न विदुः नाऽनुसमदधत। कथम्भूतम्? स्रंसद्भ्रश्यत् दुकूलं यस्मात्, स्रस्ताः केशेभ्यः स्रजो यस्य तं च तं च ॥ २४ ॥

एवं स्वैरं यथेष्टं सम्प्रमत्तवत् रामगोविन्दयोः विहरतोः गायतोश्च सतोः, कुबेरस्यानुचरः शङ्खचूडाख्यः आजगाम ॥ २५ ॥

**विज०** विरजाम्बरौ धौतवस्त्रौ ॥ २१ ॥

मल्लिकागन्धस्य आस्वादनेन मत्ता अलिनो भ्रमराः यस्मिन् मल्लिकागन्धमत्तालि ॥ २२ ॥

जगतुः गानं कृतवन्तौ, कथङ्कारमिति तत्राह — ताविति। स्वरमण्डलमूर्च्छनां सप्तानां स्वराणां मण्डलानां समूहानां मूर्च्छनां एकविंशतिलक्षणां कल्पयन्तौ, युगपत् एकस्मिन् क्षणे, यद्वा मण्डलमावृत्तिलक्षणं, "सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामा एकविंशतिमूर्च्छनाः" इति भरतः ॥ २३-२५ ॥

**तयोर्निरीक्षतो राजन्[1] तन्नाथं प्रमदाजनम्।**
**क्रोशन्तं कालयामास दिश्युदीच्यामशङ्कितः ॥ २६ ॥**

**क्रोशन्तं कृष्ण रामेति विलोक्य स्वपरिग्रहम्।**
**यथा गा दस्युना ग्रस्ता भ्रातरावन्वधावताम् ॥ २७ ॥**

**मा भैष्टेत्यभयारावौ सालहस्तौ[2] तरस्विनौ[3]।**
**आसेदतुस्तं[4] तरसा त्वरितं[4] गुह्यकाधमम् ॥ २८ ॥**

**स वीक्ष्य तावनुप्राप्तौ कालमृत्यू इवोद्विजन्।**
**विसृज्य स्त्रीजनं मूढः प्राद्रवज्जीवितेच्छया[5] ॥ २९ ॥**

**त मन्वधाव द्गोविन्दो यत्र यत्र स धावति।**
**जिहीर्षुस्तच्छिरोरत्नं तस्थौ रक्षन् स्त्रियो बलः ॥ ३० ॥**

**अविदूर इवाभ्येत्य शिरस्तस्य दुरात्मनः।**
**जहार मुष्टिनैवाऽङ्ग! सहचूडामणिं विभुः ॥ ३१ ॥**

**शङ्खचूडं निहत्यैवं मणिमादाय भास्वरम्[6]।**
**अग्रजाय ददौ प्रीत्या[7] पश्यन्तीनां च योषिताम् ॥ ३२ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
शङ्खचूडवधो नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

---

1. M,Ma °खे 2. G,J शा° ; M,Ma ता° 3. M,Ma मन° 4- -4. P,V निषेधतु° 5. M,Ma °वमे° 6. M,Ma °मु° 7- -7 G,P,V °याऽददात्प्रीत्या ; J,M,Ma °याददत्प्रीत्या

**श्रीध० तयोरिति।** निरीक्षतोः निरीक्षमाणयोः तौ नाथौ यस्य तं, प्रमदाजनं[1-1] कालयामास हठात् प्रेरयामास॥ २६॥

**क्रोशन्तमिति।** दस्युना व्याघ्रेण॥ २७॥

**मा भैष्टेति।** मा भैष्ट भयं मा[2] प्राप्नुवतेत्यभयवाचौ[3] ॥ २८-३० ॥

**अविदूर** इति। शिरसा सह चूडामणिं जहारेत्यर्थः ॥ ३१, ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

---

1- -1. P,V,Va omit 2. J,Va न 3. J,Va प्राप्नुते°

**वीर०** स च शङ्खारहितः तयोः रामकृष्णयोः निरीक्षमाणयोः सतोः तौ[1] रामकृष्णौ नाथौ यस्य तं, स्त्रीजनं उदीच्यां दिशि कालयामास, हठात्प्रेरयामास। ततः ततो निस्सारयामासेत्यर्थः ॥ २६ ॥

कथम्भूतम्? क्रोशन्तं, हे कृष्ण! हे राम! इति सरोदनमाह्वयन्तं तदैवं दस्युना व्याघ्रेण ग्रस्ता गाव इव क्रोशन्तं तेनोदीचीं दिशं प्रति कृष्यमाणं स्वपरिग्रहं स्वपरिगृहीतं स्त्रीजनम् अवलोक्य भ्रातरौ रामकृष्णौ अन्वधावताम् ॥ २७॥

सालवृक्षाः हस्तयोः ययोस्तौ भयं मा कार्ष्टेत्येवंविधो रवः[2] (एवंविधः आरवः) शब्दः ययोः तथाभूतौ महाबलिनौ रामकृष्णौ त्वरितं यथा तथा गुह्यकाधमं शङ्खचूडम् आसेदतुः ॥ २८ ॥

गुह्यकाधमः कालमृत्यू इव प्राप्तौ तौ रामकृष्णावालोक्य उद्विजन् बिभ्यत्[3] स्त्रीजनं विहाय जीवितुमिच्छया प्राद्रवत्[4] मूढस्तच्चरणागत्यात्मकजीवनोपायानभिज्ञः केवलं प्राद्रवत् ॥ २९ ॥

स शङ्खचूडो यत्र यत्र धावति तत्र तत्र शङ्खचूडं कृष्णोऽन्वधावत्। किञ्चिकीर्षुः? तस्य शिरोरत्नं हर्तुमिच्छुः, बलरामस्तु स्त्रियो रक्षन् तत्रैव तस्थौ ॥ ३० ॥

ततोऽविदूरे[6] समीप एव अभ्येत्य तदभिमुखं गत्वा विभुः भगवान् मुष्टिनैव अङ्ग[5]! हे राजन्! चूडामणिसहितं दुरात्मनस्तस्य शङ्खचूडस्य[6] शिरो मूर्धानं जहार ताडयामास ॥ ३१ ॥

इत्थं शङ्खचूडं हत्वा भास्वरं तेजोयुक्तं मणिमादाय आगत्य योषितां पश्यन्तीनां सतीनां प्रीत्या अग्रजाय रामाय ददौ दत्तवान् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

---

1 K adds एव 2. K रावः 3. K,T omit बिभ्यत् 4- -4. K omits 5. T,W omit अङ्ग! 6- -6. K omits.

विज० तौ नाथौ यस्य, स तन्नाथः तं कालनं द्रवणम् ॥ २६ ॥

स्वपरिग्रहं स्वस्त्रीजनं दस्युना व्याघ्रेण ग्रस्ताः क्रोशन्तीः गाः यथा तथा क्रोशन्तं विलोक्य। "दस्युस्तस्कर शार्दूलौ हन्तारौ गां नृहिंसकौ" इति च ॥ २७ ॥

मा भैष्ट भीता मा भवन्त्वित्यभयवाक्ययुक्तौ, तालो गीताङ्गवाद्यविशेषः। यद्वा तालस्तृणराजः स हस्ते ययोस्तौ तथा मनस्विनौ विशिष्टमनोयुक्तौ तरसा बलेन "तरसी बलरंहसी" ( वैज. को. 6-3-13) इति ॥ २८ ॥

मरणकालः, कश्चिदसुरो वा, मृत्युर्यमः उद्विजन् बिभ्यत् ॥ २९-३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धेपूर्वार्धे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

(विजयध्वजरीत्या द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥)

# पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः)

-: दिवाकाले श्रीकृष्णविरहप्रयुक्तगोपीविलापः। इयमेव वेणुगीता।:-

श्रीशुक उवाच

गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः।
कृष्णलीला[1] प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान् ॥ १ ॥

गोप्य ऊचुः

वामबाहुकृतवामकपोलो वल्गितभ्रुरधरार्पितवेणुः[2]।
कोमलाङ्गुलिभिराश्रितमार्गं गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः ॥ २ ॥

व्योमयानवनितास्सहसिद्धैर्विस्मितास्तदुपधार्य[3] सलज्जाः।
काममार्गणसमर्पितचित्ताः कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्यः ॥ ३ ॥

हन्त! चित्रमबलाः शृणुतेदं हारहास उरसि स्थितविद्युत्[4]।
नन्दसूनु रयमार्तजनानां नर्मदो यर्हि कूजितवेणुः[5] ॥ ४ ॥

बृन्दशो व्रजवृषा मृगगावो वेणुवाद्यहृतचेतस आरात्[6]।
दन्तदष्टकबला धृतकर्णा निद्रिता लिखितचित्रमिवाऽऽसन् ॥ ५ ॥

---

1. G,J,P,V °लाः 2. G,J,T,W °णुम् 3. K,T,W °स्मृ 4. G,J °र 5. M,Ma श° 6. M,Ma एत्य

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पञ्चत्रिंशे वनं याते कृष्णे गोकुलयोषितः। युग्मश्लोकानुगीतेन निन्यु र्दुःखेन वासरान्।

एवं रात्रिषु कृष्णेन स्वैरं अभिरमितानां दिवा तद्विरहितानां अनुगीतेन दिननिस्ताप्रकारमाह - **गोप्य** इति। दुःखेन कृच्छ्रेण ॥ १ ॥

वामबाहुकृतवामकपोल इत्यादीनि द्वादश युगलानि **वामेति**। हे गोप्यः! वामे बाहौ तन्मूले कृतः अर्पितः वामः कपोलो येन सः, वल्गिते नर्तिते भ्रुवौ येन सः वल्गितभ्रुः, मुकुन्दः अधरेऽर्पितं वेणुं कोमलाभिरङ्गुलीभिः आश्रिता मार्गाः समस्वरच्छिद्राणि यस्य तम्। यत्र यदा ईरयति वादयति ॥ २ ॥

**व्योमेति**। तदा व्योमयानानां सिद्धानां वनिताः सिद्धैः स्वपतिभिस्सह वर्तमाना अपि तद्वेण्वीरणं उपधार्य आकर्ण्य प्रथमं विस्मिताः ततः काममार्गणेभ्यः समर्पितानि चित्तानि याभिस्ताः तत्परवशा इत्यर्थः। सलज्जास्सत्त्वः कश्मलं मोहं ययुः। अत्र लिङ्गं- अपस्मृताः विस्मृता नीव्यो याभिरिति। अतः एवम्भूतस्य कृष्णस्य विरहं कथं सहाम इति सर्वत्र वाक्यशेषः ॥ ३ ॥

**हन्तेति**। हन्त! हे अबलाः! इदं चित्रं शृणुत। हारहासः हारवद्विशदो हासो यस्य सः। यद्वा, वेणुवादने अधोवदनेन हसतः हारेषु स्फुरन् हासो यस्य सः। [1- हारवद्वा -1] वक्षसि शोभमानो हासो यस्य सः। यद्वा हाराणां हास एव विशदा स्फूर्तिर्यस्मिन्। उरसीति। उरसि स्थिता[2] विद्युदिव लक्ष्मीर्यस्य सः। यर्हि यदा कूजितवेणुः[3- -3] नादितवेणुः भवति॥ ४॥

**बृन्दश** इति। तदा व्रजे ये वृषाः, मृगाः, गावश्च वेणुवाद्येन हृतानि चेतांसि येषां ते। आराद्दूरादेव दन्तैर्दष्टाः कबलाः ग्रासाः यैस्ते, धृता उत्तम्भिताः कर्णाः यैस्ते, निद्रिता इव लिखितचित्रमिव च आसन्। अविदुषां तिरश्चामिव[4] इदमतिचित्रमित्यर्थः ॥५ ॥

---

1- -1. J,Va यद्वा हारवत् 2. J,Va °रा 3- -3. Va omits 4. J,Va omit इव

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथेत्थं निशासु भगवता सह विहरन्तीनामहस्सु तेन विश्लिष्टानां गोपीनां तल्लीलानुवर्णनेन कालनिर्यापणप्रकारमाह — पञ्चत्रिंशेन **गोप्य** इत्यादिना। कृष्णे वनं याते सतीत्यस्याऽस्य अहस्स्वित्यादिः[1] तं कृष्णमनुद्रुतं अनुवृत्तं तदासक्तमिति यावत् तच्चेतो यासां ताः गोप्यः कृष्णलीला गायन्त्यः वासरानहानि दुःखेन कृच्छ्रेण कथञ्चित् निन्युः निर्यापयामासुः॥ १॥

कीदृशं तल्लीलाप्रगानम्, येन वासरान् निन्युः इत्यतः तदीर्यति — **वामबाहुकृतवामकपोल** इत्यादिना। अत्र द्वौ द्वौ श्लोकावेकवाक्यतयाऽन्वेतव्यौ, हे गोप्यः! कृष्णो यत्र यदा वामबाहौ तन्मूले कृतः अर्पितः वामः कपोलो येन, वल्गिते नर्तिते भ्रुवौ येन, तथाभूतः कोमलाभिः अङ्गुलिभिः आश्रिता मार्गास्समस्वरच्छिद्राणि यस्य तमधरे अर्पितं वेणु मीरयति वादयति[2- -2] ॥ २ ॥

तदा व्योमयानानां वनिताः कश्मलं मोहं ययुः इत्यन्वयः। व्योम्नि यानं गमनं येषां ते व्योमयानाः, व्योम्नि यान्तीति वा व्योमयानाः, सिद्धाः। नन्द्यादेराकृतिगणत्वात् कर्तरि ल्युः। तेषां वनिताः सिद्धैः स्वपतिभिः सह वर्तमाना अपि तद्वेणुगीत मुपधार्याऽऽकर्ण्य प्रथमं विस्मिताः, ततः कामस्य मदनस्य मार्गेण समर्पितानि चित्तानि याभिस्ताः तत्परवशा इत्यर्थः। सलज्जास्सत्यः कश्मलं ययुः। तत्र लिङ्गं वदन्त्यः[3] ताः विशिंषन्ति[4-] अस्मृतनीव्यः[-5] अपस्मृता विस्मृताः नीव्यः भ्रश्यद्दुकूलबन्धा याभि स्तथाभूताः एवंविधस्य कृष्णस्य विश्लेषं कथं सहेमेति सर्वत्र वाक्यशेषः ॥ ३ ॥

हन्तेति। हे अबलाः! इदं चित्रं शृणुत। हन्त! अत्याश्चर्यमेतत्। अयं नन्दसूनुः हारवद्विशदोऽमलो[6] हासो यस्य, यद्वा हारेषु स्फुरन् हासो यस्य, उरःस्थिता[7] विद्युदिव लक्ष्मीर्यस्य तथाभूतः, आर्तजनानां तद्विश्लेषजदुःखपीडितानां मादृशानां नर्मदो नितरां दुःखकारकस्सन् यर्हि यदा कूजितो वादितो वेणुर्येन तथाभूतो भवति ॥ ४ ॥

तदा व्रजे ये वृषाः, मृगा, गावश्च वेणुवाद्येन हृतानि चेतांसि येषां ते, आराद्दूरादेव दन्तैः दष्टा एव न तु चर्विताः कवलाः तृणग्रासा यै स्ते, धृताः उत्तम्भिताः कर्णाः यैस्ते, निद्रिताः सञ्जातनिद्रा इव लिखितचित्रमिव चित्रितवृषादिरिव च आसन् तस्थुः। अविदुषां तिरश्चामपीदमानन्दपारवश्यजनकं वेणुगीतम्, अतोऽतिचित्रमिति भावः ॥५॥

---

1. K °ति शेषः। 2- -2. K शब्दायमति 3. K वदन् 4- -4. K विशिनष्टि 5- -5. K omits 6. T,W omit अमलः 7. K उरसि

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

स्त्रीणां उपासनाप्रकारः ईदृश इति दर्शयितुं गोपीनां भगवल्लीलानुस्मरणं कथयत्यस्मिन्नध्याये। तत्र प्रथमतस्तासां कृष्णे भक्तिलक्षणं वक्ति गोप्य इति। प्रकृष्टगानेन आदृतचेतस्त्वं भक्तेः लक्षणं सूचयति ॥ १ ॥

द्वौ द्वौ ग्रन्थौ एकस्या गीतम्। तत् द्वाभ्यां द्वाभ्यां श्लोकाभ्यामन्वयः। एका गोपी गोप्यन्तराणि सम्बोधयति। हे गोप्यः! शृणुतेति शेषः। वामबाहुमूले कृतं वामकपोलं येन स तथा, वल्गिता नर्तिता भ्रूः यस्य स तथा। अधरोष्ठे अर्पितो वेणुर्येन स तथा, मुकुन्दो यत्र यदा कोमलाङ्गुलिभिः आश्रितमार्गं आच्छादितरन्ध्रं वेणुं ईरयति गायतीत्यर्थः ॥२॥

तदा सिद्धैस्सह व्योमयानवनिताः विमानस्थाः स्त्रियः, तद्गीतमुपधार्य श्रुत्वा विस्मिताः, अनन्तरं स्वयमशक्ताः सलज्जाः कामबाणेन विद्धं चित्तं यासां ताः। तथा अपस्मृता नीवी वस्त्रग्रन्थिः यासां ताः, मुच्यमानवस्त्रग्रन्थिस्मरणरहिताः कश्मलं मूर्च्छां ययुः इत्यर्थः ॥ ३ ॥

हारेण भासते इति हारभासः। हारवद्विशदो हासो यस्य स तथेति पाठार्थौ। उरसि स्थितविद्युत् विद्युदिव विष्णुं द्योतयति श्रीवत्साङ्कनामेति, यर्हि यदा कूजितवेणुर्भवति ॥ ४ ॥

तदा एत्य समेत्य व्रजवृषादयः लिखितचित्रमिव निश्चेष्टा आसन् इत्यन्वयः। धृतकर्णाः निश्चलकर्णाः कवलस्तृणग्रासः निद्रिताः कार्यान्तररहिताः ॥ ५ ॥

**बर्हिणस्स्तबकधातुपलाशैः बद्धमल्लपरिबर्हविडम्बः।**
**कर्हिचित्सबल आलि! स गोपैर्गास्समाह्वयति यत्र मुकुन्दः ॥ ६ ॥**

**तर्हि भग्नगतयस्सरितो वै तत्पदाम्बुजरजोऽनिलनीतम्।**
**स्पृहयतीर्वयमिवाऽबहुपुण्याः प्रेमवेपितभुजाः स्तिमिताप्तः ॥ ७ ॥**

**अनुचरैस्समनुवर्णितवीर्य आदिपूरुष इवाऽचलभूतिः।**
**वनचरो गिरितटेषु चरन्ती र्वेणुनाऽऽह्वयति गा स्स यदा हि ॥ ८ ॥**

**वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः।**
**प्रणतभारविटपा मधुधाराः प्रेमहृष्टतनव स्ससृजुः स्म ॥ ९ ॥**

**दर्शनीयतिलको वनमाला दिव्यगन्धतुलसीमदमत्तैः।**
**अलिकुलैरलघु गीतमभीष्टं आद्रियन् यर्हि सन्धितवेणुः ॥ १० ॥**

---

1- -1. M,Ma आम्रशान् पयसि वाऽ° 2- -2. M,Ma हतवेगाः 3. M,Ma °न्त 4- -4. P,V °वो ववृषुः 5- -5. M,Ma विकचोत्पलमाला 6. G,J,K,P,V मधु 7. M,Ma °यत्

**श्रीध०** किञ्च। अचेतनासु सरित्सु तदतिविचित्रमित्याहुः — **बर्हिण** इति। हे आलि! सखि! बर्हिणो मयूरस्य स्तबकाः बर्हिगुच्छाः धातवो गैरिकादयश्च, पलाशानि पल्लवाश्च तैः बद्धश्चाऽसौ मल्लानां परिबर्हः परिकरः तं विडम्बयति। अनुकरोति तथा स मुकुन्दः अनुगैर्गोपैस्सह वेणुनेत्युपरितनम् अत्रापि ज्ञातव्यम्। यत्र यदा गाः समाह्वयति ॥६॥

**तर्हीति**। तर्हि तदा तद्ध्वनिश्रवणात् अनिलेन नीतं तस्य पदाम्बुजरजः स्पृहयन्त्य इव, भग्नगतयः सरितः वै निश्चितं, वयमिव ताअप्यबहुपुण्याः यतो न प्राप्नुवन्ति। केवलं प्रेम्णा वेपिता भुजास्तरङ्गा यासां ताः, स्तिमिताः निश्चलाः आपो यासां ताः, गोप्योपि लोचनयोः स्तिमितजला भवन्तीति ॥७॥

**स्थावरेष्वप्यतिचित्रं दृश्यत** इत्याहुः — **अनुचरैरिति**। अनुचरैः गोपैः देवादिभिर्वा मुग्धानां वाक्यं आदिपूरुष इवेति। अचलभूतिः निश्चलश्रीः वेणुना ततन्नाम्ना गानेन ॥ ८ ॥

**वनलता** इति। तथा प्रणताः भारेण विटपाः शाखा यासां ताः, वनगता लताः स्वस्मिन् विष्णुं प्रकाशमानं सर्वभूतान्तर्यामित्वात् अस्मास्वपि विद्यत इति सूचयन्त्य इव मधुधाराः ववृषुः, स्मेति विस्मये, तरवश्च। तथा तत्पतीनामपि तथैवाऽऽनन्द इति भावः ॥ ९ ॥

एतानि विष्णुव्यक्तिलक्षणानि। किञ्च सरसि कमलवनेषु विहरतां पक्षिणामपि मनआकर्षकं[7] तद्गीतं, किं पुनरन्येषामित्याहुः — **दर्शनीयेति**। दर्शनीयस्तिलको यस्य दर्शनीयानां सुन्दराणां मध्ये मुख्य इति वा, वनमालासु या दिव्यगन्धा तुलसी। तस्याः मधुना मत्तैरलिकुलैः अलघु उच्चैरभीष्टमनुकूलं गीतम् आद्रियन् आदरेण गृह्णन्, यर्हि अधरे सन्धितवेणुर्भवति ॥ १० ॥

---

1. J,Va °तीव चि° 2- -2. J,Va मयूरपिच्छाः 3 J,Va omit अनुगैः 4. J,Va सम्यगाह° 5. J,Va °म्ना 6- -6. J,Va omit 7. J,Va °णं

**वीर०** इतोऽप्यतिचित्रं शृणुतेति काश्चिदाहुः **बर्हिणेति**। हे आलि! सखि! बर्हिणस्य मयूरस्य स्तबको बर्हं[1] यद्वा बर्हिणशब्देन तत्पिञ्छं[2] लक्ष्यते। स च स्तबका गुच्छाः धातवो गैरिकादयश्च, पलाशानि फलवाश्च तैः बद्धश्चासौ मलानां परिबर्हः, परिकरश्च, तं विडम्बयत्यनुकरोतीति तथा, स मुकुन्दो बलरामेण सहितः कर्हिचित्[3] यदा यत्र देशे गोपैः गाः समाह्वयति। अस्य वेणुगीतेनेत्यादिः। वेणुगीतेन गोपान् गाश्च समाह्वयति ॥ ६ ॥

तर्हि तदा अचेतनास्सरितोऽपि अनिलेन नीतं प्रापितं तस्य पदाम्बुजरजः स्पृहयतीः स्पृहयन्त्य[4] इव भग्ना गतिर्यासां तथाभूताः वै निश्चितम्। भुग्नगतय इति पाठे कुटिलगतयः, तथाऽपि ताः वयमिवाऽबहुपुण्याः यतो न प्राप्नुवन्ति। केवलं प्रेम्णा वेपिताः कम्पिताः भुजास्तरङ्गा यासां, स्तिमिता निश्चला आपो यासां तथाभूताश्च। गोप्योऽपि लोचनयोः स्तिमितजला भवन्तीति, वयमिवेति दृष्टान्ताभिप्रायः ॥ ७ ॥

स्थावरेष्वपि अतिचित्रं दृश्यत इत्याहुः - **अनुचरैरिति**। सः कृष्णो यदा हि वने चरन् गिरे स्तटेषु चरन्तीः गाः वेणुना तत्तन्नामोपेतेन वेणुगीतेन आह्वयति। कथम्भूतः! अनुचरैः गोपैः देवादिभिर्वा, सम्यग् वर्णितं वीर्यं यस्य, तथाभूतः मुग्धानां वचनं आदिपूरुष इवेति, अचला विभूतिः लक्ष्मीः यस्य स चेति। इतरेषु चलाऽपि लक्ष्मीः न तस्मिन् चलेति भावः ॥ ८ ॥

तदा प्रणताः भारेण विटपाः यासां ताः, पुष्पैः फलैश्चाढ्याः प्रेम्णा हृष्टा उदञ्चितास्तनवो यासां ताः। वनगता लताः स्वस्मिन् विष्णुं प्रकाशमानं सूचयन्त्य इव मधुधारा ववृषुः तथा तरवश्च। तत्पतीनामपि तथैवाऽऽनन्द इति भावः। स्म विस्मये ॥ ९ ॥

कमलवनेषु विहरतां पक्षिणामपि चित्ताकर्षकं तद्गीतं किंपुनरन्येषां इत्यभिप्रायेणाऽऽहुः- **दर्शनीयतिलक** इति। दर्शनीयानां सुन्दराणां मध्ये श्रेष्ठः कृष्णः वनमालायां या दिव्यगन्धतुलसी तस्या मधुना मत्तैः अलिकुलैः क्रियमाणम् अलघूच्चैः अभीष्टमाद्रियन् आदरेण गृह्णन् यर्हि अधरे संहितवेणुर्भवति ॥ १० ॥

---

1. T,W बर्हः 2. T,W °ञ्छो 3. T,W omit चित् 4. T,W °हन्त्य

**विज०** हे आलि! सखि! कर्हिचित् कदाचित् यत्र यदा यस्मिन् देशे स्थित्वा गाः समाह्वयति ॥६॥

तर्हि तदा तस्मिन् देशे स्थिताः सरितस्तीरे पयसि वाऽनिलनीतं तत्पदाम्बजरजः आमृशन् आस्पृशन्वै इत्यन्वयः। कथम्भूताः? बर्हिणस्य मयूरस्य स्तबकैः पिच्छबन्धविशेषैः धातुभिः गिरिसम्भवैः मनश्शिलादिभिः पलाशैः पल्लवैः बद्धस्य मल्लपरिबर्हस्य मल्लपुरुषशिरःपरिकरस्य बिम्बोऽनुकारो यस्य स तथा, "मयूरो बर्हिणो बर्ही नीलकण्ठो भुजङ्गभुक्" (अम. को. 2-248) इत्यमरः। किञ्च, बहूनि अनेकानि पुण्यानि यासां ताः तथा "विपुलानेकयोर्बहु"रिति (वैज. को. 6-4-10) यादवः। प्रेम्णा कामोन्नतस्नेहेन वेपिताः कम्पिताः भुजास्तरङ्गलक्षणा यासां ता स्तथा। अत एव हतवेगाः मन्दीकृतस्यन्दनलक्षणजवाः, अत एव भग्नगतयः स्तिमितप्रवाहाः आसन्नित्यनुषङ्गः। अनेन सरन्तीति सरित इति सरिच्छब्दार्थो लुप्त इति दर्शितम् ॥ ७ ॥

अनुचरैः सनकादिभिः, अन्यत्र गोपैः अचलभूतिः स्थिरश्रीः "भूतिः श्रीजन्मभस्मसु" (वैज. को. 6-2-27) इति यादवः। वनचरः कक्षे सञ्चरन् अन्यत्र वने चरणं शयनं जलशयन इत्यर्थः। यदा वेणुना ध्मातवेणुध्वनिना गिरितटेषु चरन्तीः तृणभक्षणं कुर्वन्तीः, अन्यत्र वायोस्तटद्विस्तृते मुखे वर्तमाना गाः पशून्, अन्यत्र वेदवाणीराह्वयति सनकादिभिः स्तूयमानो जलशयानः आदिपुरुषो वायुमुखे वर्तमानश्रुतीः तदर्थकथनपूर्वकमुपदिशति ॥ ८ ॥

तदात्मनि स्थितं विष्णुं व्यञ्जयन्त इव पुष्पफलाढ्याः अत एव प्रणतं प्रणमनं बिभ्रतीति प्रणतभाराः। अण् प्रत्ययः। विटपाः शाखा येषां तरूणां यासां लतानां वा ते तास्तथा, यद्वा पुष्पफलभारेण प्रणता विटपा येषां ते तथा, प्रेम्णा हृष्टरोमाञ्चिताः तनवः येषां यासां वा ते ताः तथा, एवंविधा वनलतास्तरवश्च मधुधारा रसधाराः ससृजुः स्म, स्मृत्वा सृष्टवन्त इत्यर्थः। अन्यत्र आत्मनि हृदये स्थितं विष्णुं व्यञ्जयन्तः अपरोक्षीकुर्वन्त इव ज्ञानपुष्पेण जीवन्मुक्त्यवस्थाफलेनाऽऽढ्याः प्रणतस्य भारो भरणं येषां ते, प्रणतभाराः ते विटपा भुजाः येषां ते तथा, मूर्ध्न्यरिपिताञ्जलिपुटा इत्यर्थः। अत एव भक्त्युद्रेकेण रोमाञ्चितगात्राः वने अरण्ये रता निवृत्तिधर्मननुतिष्ठन्तो वने भासि, ग्रीष्मे पञ्चाग्निज्वालासेवायां, वर्षर्तौ कानने वने जले, हिमर्तौ कण्ठदघ्नसलिले वसन्तः "वनं भास्यप्सु कानने" (वैज.को. 6-3-31) इति यादवः। तरवः संसारतरणशीलाः, तीर्णसंसारा वा मुमुक्षवो मुच्यमाना मुक्ताश्च यथायोग्यमधिकारिणो मधुधाराः ज्ञानेनैशत्वाद्यानन्दाम्बुसन्ततीः ससृजुस्तत्स्वभावा बभूवुरित्यर्थः। "धाराऽस्त्रांगेऽम्बुसन्तत्यां सैन्याग्रेऽश्वगतिष्वपि" (वैज.को. 6-2-20) इति। "सर्गः स्वभावनिर्मोक निश्चयाध्यायसृष्टिषु" (अम.को. 3-178) इति च। अत्र वनचरशब्दसामर्थ्यान्मतस्याद्यवतारविषयत्वेनापि ज्ञातव्यावेतौ श्लोकौ शब्दशक्तिविशारदैरिति ग्रन्थबाहुल्यभयादुपरम्यत इति ॥ ९ ॥

यर्हि यदा सन्धितवेणुः, स्वरेणेति शेषः। कृष्णः दर्शनीयायाः चक्षुःप्रियायाः विकचैः उत्पलैः नीलोत्पलैः, कृताया मालायाः दिव्यगन्धायाः अमानुषपरिमलायाः तुलस्याश्च मधुना पीतेन मत्तैः अलिकुलैः अभीष्टं गातुमुपक्रान्तं अलघु गम्भीरं गीतं आद्रियत् आर्चत्। "आदृतौ सादरार्चितौ" (वैज.को. 7-4-2) इति ॥ १० ॥

**सरसि सारसहंसविहङ्गाश्चारुगीतहृतचेतस एत्य।**
**हरिमुपासत ते यतचित्ता हन्त मीलितदृशो धृतमौनाः ॥ ११ ॥**

**सहबलस्रगवतंसविलास स्सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः।**
**हर्षयन्यर्हि वेणुरवेण जातहर्ष उपरम्भति विश्वम् ॥ १२ ॥**

**महदतिक्रमणशङ्कितचेता[5] मन्दमन्दमनुगर्जति मेघः।**
**सुहृदमभ्यवर्षत्सुमनोभिश्छायया च विदधत्प्रतपत्रम्[6] ॥ १३ ॥**

**विविधगोपचरणेषु विदग्धो वेणुवाद्य उरुधा[7] निजशिक्षाः[8]।**
**तव सुतस्सति यदाऽधरबिम्बे दत्तवेणुरनयत्स्वरजातीः ॥ १४ ॥**

**स्वनशस्त्वपधार्य[9-9] सुरेशाश्शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः।**
**कवय आ नमित[10-10] कन्धरचित्ताः[11] कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः ॥ १५ ॥**

---

1. K,T,W यत 2- -2. M,Ma आह्वयद्वर्हि 3. T,W रञ्जति 4. K विश्वः 5. P,V वि 6. M,Ma °धे वित° 7. M,Ma मधुरां 8. M,Ma °क्षाम् 9- -9. M,Ma सुमनसस्त° 10- -10. G,J,K,M,Ma आनत 11. M,Ma गात्राः

**श्रीध० सरसीति**। तर्हि ये सरसि सारसा हंसाः अन्ये च विहङ्गाः ते[1] चारुणा गीतेन हृतचेतसः एत्य[2] आगत्य। हरिम् उपासत अभजन्त, तत्समीपे उपविविशुर्वा। हन्तेति विषादे ॥ ११ ॥

मेघोऽपि हरिं सेवत इत्याहुः — **सहबल इति**[3] व्रजदेव्यो गोप्यः! सहबलः सरामः कृष्णः स्रग्भिः निर्मिताभ्यामवतंसाभ्यां कर्णभूषणाभ्यां विलासो यस्य। यद्वा, मुक्ताफलस्रगपीडेन विलासो यस्येति, क्षितिभृतः सानुषु गिरिस्तटेषु वर्तमानः स्वयं जातहर्षः विश्वं हर्षयन् यदा वेणुरवेणोपरम्भति निनादयति नादेन आपूरयतीत्यर्थः[4] ॥ १२ ॥

**महदिति**। तदा मेघः महतः श्रीकृष्णस्यातिक्रमेण शङ्कितं चेतो यस्य सः, न पुनः पुरतो याति न चोच्चैर्गर्जति, किन्तु तत्रैव स्थितस्सन् वेणुरवमनु मन्दं गर्जति। किञ्च, सुहृदं विश्वार्तिहरणादिसाम्यात् सुहृत् कृष्णः तं सुमनोभिरभ्यवर्षीदिति। अदृश्यैर्देवैः क्रियमाणं कुसुमवर्षं मेघे कल्पयित्वोक्तम्, तुषारो वा कुसुमतया कल्पितः, स एव वा देवतारूपोऽभ्यवर्षीदिति। प्रतपादातपात् त्रायत इति प्रतपत्रं छत्रं, तत् छायया कुर्वन्निति ॥ १३ ॥

अपि च महदेतदाश्चर्यमित्याहुः — **विविधेति**। हे सति! यशोदे! तव सुतः नानागोपक्रीडासु विदग्धो निपुणः वेणुवाद्यविषये निजैव शिक्षा यासु ताः स्वोत्प्रेक्षिताः न त्वन्यतः श्रुता इत्यर्थः। स्वरजातीर्निषादर्षभादिस्वरालापभेदान् अनयत् उन्नीतवान् ॥ १४ ॥

**स्वनश इति**। तत्तु[5] ताः स्वरजातीः सवनशः[6-6] वारं वारं[7-7] मन्द्रमध्यमतारभेदेन क्रमशो वा[8-8]। यतो गीतध्वनिरागतः तत्र आनमिता[9] कन्धरा चित्तं च येषां ते, उपधार्य सम्यगाकर्ण्य, कवयः कोविदाः अपि ते अनिश्चितं[10] तत्त्वं[11] तद्भेदो यैस्ते कश्मलं मोहं ययुरिति ॥ १५ ॥

---

1. P,V omit ते 2. J,Va add ततः 3. J,Va add भो! 4. J,Va omit आ 5. J,Va omit तु 6- -6. J,Va omit 7- -7. J,Va omit 8- -8. J,Va ततश्च आनता 9. J,Va समाक° 10. J,Va omit ते 11. J,Va न

**वीर०** तदा ये सरसि सारसाश्च हंसाश्चाऽन्ये विहङ्गमास्ते चारुणा गीतेन हृतं चेतो येषां तथाभूता एत्याऽऽगत्य हरिं कृष्णमुपासत अभजन्त। तत्समीपे विविशुर्वा, कथम्भूताः यतं विषयान्तरेभ्य आहृतं चित्तं यैः यतं नियतं मौनं संशीलनं येषां तथाभूताश्च। हन्तेति भगवद्विरहजखेदे ॥ ११ ॥

मेघो हरिमुपास्ते इत्याहुः - **सहबल** इति। हे व्रजदेव्यः! गोप्यः! सहबलः सरामः कृष्णः स्रग्भिः निर्मिताभ्यां अवतंसाभ्यां कर्णभूषणाभ्यां[1] विलासो यस्य। यद्वा, मुक्तास्रगापीडेन विलासो यस्य। क्षितिभृतो गिरेस्तटेषु वर्तमानः स्वयं जातहर्षः विश्वं हर्षयन् यदा वेणुरवेण उपरम्भितविश्वः उपग्रथितविश्वः अनुरक्तलोको भवतीत्यर्थः। उपरञ्जति इति पाठान्तरं, तदा उपरञ्जति नादयति, नादेन पूरयतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

तदा स्वतुल्यच्छायत्वेन विश्वार्तिहरणादिना च साम्यात् स्वसखो मेघः, महतः कृष्णस्यातिक्रमेण शङ्कितं चेतो यस्य तथाभूतः पुरतो न याति, न चोच्चैर्गर्जति, किन्तु तत्रैव स्थितस्सन् वेणुरवमनु मन्दं मन्दं गर्जति, सुहृदं कृष्णं सुमनोभिरभ्यवर्षत् छायया प्रतपत्रं आतपत्रं व्यदधत् अकरोच्च। विदधदिति पाठे तु अडभाव आर्षः; शत्रन्तं वा। प्रतपत्रं कुर्वन् सुमनोभिरभ्यवर्षच्चेत्यर्थः। अदृश्यैः देवैः क्रियमाणं कुसुमवर्षं मेघकर्तृकं कल्पयित्वेत्थ मुक्तं, तुषारो वा कुसुमतया कल्पितः ॥ १३ ॥

ब्रह्मादीनामपि पारवश्यजनकं त्वत्सुतवेणुरणितमिति यशोदां प्रत्याहुः — **विविधगोपचरणेष्विति**। हे सति यशोदे! यदा तव सुतो नानागोपक्रीडासु निपुणः अधरबिम्बे बिम्बतुल्येऽधरे निहितो वेणुर्येन सः। वेणुवाद्यविषये उरुधा बहुप्रकारा निजैव शिक्षा यासु ताः, न त्वन्यतः श्रुता इत्यर्थः। स्वरजातीः निषादर्षभादिस्वरालापभेदान् अनयत् उन्नीतवान् ॥ १४ ॥

तदा शक्रप्रभृतयः तत् ताः स्वरजातीः सवनशः वारं वारं मन्द्रमध्यमतारभेदेन वा, क्रमशो वा यतो गीतध्वनिरागतः तत आनता कन्धरा चित्तञ्च येषां ते, उपधार्य सम्यगाकर्ण्य कवयः कोविदाः अपि अनिश्चितं तत्त्वं तद्भेदो यैस्तथाभूताः कश्मलं मोहं प्रापुः ॥ १५ ॥

---

1. T,W omit कर्णभूषणाभ्यां

**विज०** तदा सरसि विहरन्तो ये सारसहंसविहङ्गाः ते पक्षिणः एत्य सम्भूय, चारुणा गीतेन हृतचेतसः आकृष्टबुद्धयः, अत एव यतचित्ताः एकाग्रकृतमानसाः अर्धनिमीलितनेत्राः धृतमौनाः स्वजातिचापल्यरहिताः हरिमुपासतेत्यन्वयः ॥ ११ ॥

हे व्रजदेव्यः! बलेन सहितः स्रजा मालयाऽवतंसेन कर्णोत्पलेन च विलासः कान्तिविशेषो यस्य स तथा। यद्वा स्रगवतंसयोर्विलासो यस्य स तथा। आत्मशोभाजनकत्वेन धृतयोः स्रगवतंसयोः शोभाजनक इत्यर्थः। क्षितिभृतो गिरेः सानुषु शिखरेषु स्थितः लोकदृष्ट्या तदानीं जातहर्षः आविष्कृतानन्दविशेषः, कृष्णो यर्हि यदा वेणुरवेण आह्वयत्, गा इति शेषः। विश्वं देहमाविश्य वर्तमानं प्राणिजातं उपरम्भति ऊर्ध्वमुखीकरोति, आह्वयति वा, नूतनं कर्तुमुपक्रमते वा । "उपरम्भस्तूर्ध्वमुखे प्रक्रमे निवृत्ते तथा" इति च ॥ १२ ॥

तदा मेघः महतो हरेरुच्चैर्गर्जनिन कर्णबाधिर्यजनकातिक्रमणमतिलङ्घनं स्यादिति शङ्कितमनाः मन्दं मन्दं अनु वेणुरवानुकूलं यथा भवति तथा गर्जति। किञ्च, सुमनोभिः पुष्पसदृशसलिलबिन्दुभिः श्यामवर्णसाम्यात् सुहृदं मित्रं अभ्यवर्षत्। किञ्च, छायया वितपत्रं वितपात् आतपात् त्रायत इति वितपत्रं, विदधे च हरेरिति शेषः। सितपत्रमिति पाठे श्वेतच्छत्रमित्यर्थः। वेणुरवेण व्रजदेवीराह्वयदिति वा ॥ १३ ॥

हे सति ! यशोदे! विविधानां गवां गीतशब्दानां पतयः गन्धर्वाः तेषां चरणेषु गीतगतिषु विदग्धः समर्थः। यद्वा, विविधानां स्वस्वजातिस्वभावचेष्टासु नानाविधानां गोपानां चरणेषु कर्मसु विदग्धः कुशलः। यद्वा, विविधो गोपो रक्षणं तस्य, चरणेषु तत्तदापद्रक्षणविधिषु प्रविष्ट इत्यर्थः। अधरबिम्बे दत्तवेणुः अधरोष्ठबिम्बफले न्यस्तवेणुः तव सुतः यदा वेणुवाद्यमधुरां वेणुलक्षणवाद्ये कर्णसुखहेतुं निजशिक्षामात्मीयगानशिक्षां प्रति स्वरजातीः षड्जादिस्वर सामान्यान्यनयत्प्रापयामास ॥ १४ ॥

तदा सुमनसो देवाङ्गनाः सुरेश्वराश्च गीतविषये कश्मलं मोहं ययुरित्यन्वयः। कीदृशाः? आनतकन्धरगात्राः, ईषन्नतकण्ठदेहावयवाः, कवयः गानपारङ्गाः निश्चिता अपि अनिश्चिततत्त्वाः, अभूतपूर्वगीतश्रवणात् गीततत्त्वनिश्चयरहिताः, किं कृत्वा, तद्गानमुपधार्य तात्पर्येण श्रुतिं निधाय ॥ १५ ॥

निजपदाब्जदलैर्ध्वजवज्रैः[1][2] नीरजाङ्कुशविचित्रललामैः।
व्रजभुवः प्रशमयन् खुरतोदं वर्ष्म धुर्यगतिरीरितवेणुः[3][4] ॥ १६ ॥

व्रजति[5] तेन वयं सविलासप्रेक्षणार्पितमनोभववेगाः[6]।
कुजगतिं[7] गमिता न विदामः कश्मलेन वसनं कबरं वा[8] ॥ १७ ॥

मणिधरः क्वचिदागणयन्[9] गा मालया दयितगन्धतुलस्याः[10]।
प्रणयिनोऽनुचरस्य[11] यदांऽसे प्रक्षिपन् भुजमगायत यत्र ॥ १८ ॥

क्वणितवेणुरववञ्चितचित्ताः[12] कृष्णमन्वसत[13] कृष्णगृहिण्यः।
गुणगणार्णव[14] मनुगम्य[15] हरिण्यो गोपिका इव विमुक्तगृहाशाः[16] ॥ १९ ॥

कुन्ददामकृतकौतुकवेषो गोपगोधनवृतो यमुनायाम्।
नन्दसूनुरनघे तव वत्सो नर्मदः[17] प्रणयिनां विजहार ॥ २० ॥

---

1. P,V धरै° 2. G,J,K,M,Ma वज्र. 3. G,J omit प्र 4. G,J °द्धि° 5. M,Ma °मि° 6. G,J,M,Ma वी° 7. M,Ma व्रज 8. P,V °र्सि 9. M,Ma °म° 10. M,Ma °स्या। 11. G,J,M,Ma क° 12. M,Ma °मुप 13. M,Ma °मीयुलु 14. G,J omit व 15. G,J,K गत्य 16. M,Ma °हेशाः 17. K,T,W श°

**श्रीध०** अस्माकं तु मोहं किं ब्रूम इत्याहुः — **निजेति।** ध्वजादीनि विचित्राणि ललामानि चिह्नानि येषां तैः, निजानि पदान्येवाब्जदलानि तैः, व्रजभुवः खुरतोदं खुराक्रमणव्यथां शमयन्। वर्ष्मणा देहेन धुर्यो[1] गजस्तद्वद्गतिर्यस्य स कृष्णः वादितवेणुस्सन् व्रजतीति यत् ॥ १६ ॥

**व्रजतीति।** तेन निमित्तेन सविलासवीक्षणेनार्पितो मनोभववेगो यासु ताः। वयं, कुजा वृक्षास्तेषां गतिं गमितास्सत्यः मोहेन न विदामः कबरीं[2] वा वसनं वेति ॥ १७ ॥

**मणिधर** इति। किञ्च, मणिधरः मणीन् ग्रथितान् गोगणनार्थं[3] धरतीति मणिधरः क्वचिद्देशे तैर्मणिभिः[4] आ समन्ताद्गाः गणयन् तथा दयितगन्धा या तुलसी तस्या मालया सह वर्तमानः प्रणयिनः प्रियस्यानुचरस्य अंसे भुजं प्रक्षिपन्। यत्र यदा कदाचिदगायत ॥ १८ ॥

**क्वणितेति।** तदा क्वणितस्य[5] वेणोः[-5] रवेण वञ्चितान्यपहृतानि चित्तानि यासां ताः, कृष्णस्य हरिणस्य गृहिण्यो भार्याः[6] गुणगणार्णवं गुणगणसमुद्रं कृष्णमनुगम्य[7] प्राप्य, ताः कृष्णमेवान्वसत अन्वासत न न्यवर्तन्तेत्यर्थः। कुतः? यतो विमुक्ताः गृहाशाः याभिस्ताः गोपिका इव ता अपि हचेवमेवान्वासतेति ॥ १९ ॥

तदेवं बृन्दावनप्रदेशेषु क्रीडित्वा सायाह्ने गोधनानि परावृत्य यमुनायां क्रीडतस्तस्य सौभाग्यमनुवर्णयन्ति- **कुन्देति।** गोपीनामुत्सवाय कुन्ददामभिः कृतकौतुकेनोत्सवेन वेषोऽलङ्कारो येन सः, हे अनघे! यशोदे! तव वत्सः पुत्रः नन्दसूनुः कृष्णः यद्वा सहैव बह्वचः कथयन्त्यः काश्चित्तव वत्स इति काश्चिन्नन्दसूनुरिति चाऽऽहुः, नर्मदः हर्षदस्सन् यदा विजहार क्रीडति स्म ॥ २० ॥

---

1. P,V omit देहेन 2. J,Va °रं 3. P,V °णार्थं 4. J,Va एतैं° 5- -5. J,Va °तवेणुर० 6. J,Va °र्णं 7. J,Va गत्य

**वीर०** अस्माकं तु मोहं किं ब्रूम इत्याहुः **-निजपदाब्जदलैरिति।** ध्वजादीनि विचित्राणि ललामानि चिह्नानि येषां तैः, निजानि पदान्येवाब्जदलानि तैः, व्रजभुवः खुरतोदं खुराक्रमणव्यथां शमयन् वर्ष्मणा शरीरेण धुर्यः धुरं वहतीति तथा, स च गजराजः तद्वत् गतिर्यस्य सः कृष्णः वादितवेणुस्सन् व्रजतीति यत् तेन निमित्तेन सविलासवीक्षणेन च; अर्पितो मनोभववेगो यासु ताः, वयं कुजा वृक्षा स्तेषां गतिं प्रकारं निश्चेष्टतामिति यावत् गमिताः प्रापितास्सत्यो मोहेन कबरं वसनं वा न विदामः ॥ १६, १७ ॥

किञ्च मणिधरः मणीन् ग्रथितान् गोगणनार्थं धरतीति मणिधरः क्वचिद्देशे तैः मणिभिः गाः आ समन्ताद्गणयन् तथा दयितगन्धा इष्टगन्धा या तुलसी तस्या मालयोपलक्षितः प्रणयिनः प्रियस्य अनुचरस्यांऽसे स्कन्धे भुजं प्रक्षिपन्निदधत् यत्र यदा कदाचित् अगायत ॥ १८ ॥

तदा तत्र क्वणितस्य वादितस्य वेणो रवेण वञ्चितान्यपहृतानि चित्तानि यासां ताः। **यन्नितचित्ता इति पाठे** परवशीकृतानि चित्तानि यासां ताः, कृष्णस्य हरिणस्य गृहिण्यो भार्या हरिण्यः गुणगणार्णवं गुणसमुद्रं कृष्णमनुगत्य प्राप्य

तं कृष्णमेवान्वसत अन्वासत[1] न न्यवर्तन्तेत्यर्थः। कुतः? यतो विमुक्ताः त्यक्ताः गृहाशाः याभिः, कथम्? गोपिका इव, ता अपि हि एवमेव तमन्वासतेति ॥ १९ ॥

एवं वृन्दावनप्रदेशेषु क्रीडतो लीलाः प्रगीताः, अथ सायाह्ने गोधनानि परावृत्य यमुनायां क्रीडतः सौभाग्यमनुवर्णयन्ति- कुन्ददाम्नकृतकौतुकवेष इति। कुन्ददामभिः कुन्दकुसुमस्रग्भिः कृतकौतुकेन उत्सवेन वेषोऽलङ्कारो येन सः। हे अनघे![2] अनवद्ये! यशोदे! तव वत्सः पुत्रः नन्दसूनुः श्रीकृष्णः। यद्वा, सहैव बह्वयः कथयन्त्यः काश्चित्तव वत्स इति, काश्चिन्नन्दसूनुरिति चाऽऽहुः। प्रणयिनां सखीनां शर्मदः हर्षदः गोपैः गोपकुलेन च वृतो यमुनायां विजहार, यदेति शेषः ॥ २० ॥

---

1. T omits अन्वासत 2. T,W omit अनघे 3 K omits अनवद्ये

**विज०** ध्वजादय एव विचित्राणि नानाकाराणि ललामानि लाञ्छनानि येषां तानि तथा। तद्वा, ललामानि तिलका येषां तानि तथा तैः। ★ ललामोऽस्त्री ध्वजे श्रेष्ठे भूषायां पुण्ड्रचिह्नयोः (वैज.को.7.5 72) इति च निजपदाब्जयोर्दलैः अङ्गुलीलक्षणैः। यद्वा निजानि नित्यानि अन्येनामार्जितानि पदान्येव पादाङ्का एवाब्जानि यानि तेषां दलैर्विभागैः व्रजभुवः गवां खुरतोदं खुरनिखातव्यथां प्रकर्षेण शमयन् परिहरन् वर्ष्मणा महता शरीरेण युतौ धुर्यो वृषभ स्तस्य गतिरिव गतिर्यस्य स वर्ष्मधुर्यगतिः। यद्वा वर्ष्मधुर्यो गजराजः। तदा ईरितवेणुः शब्दितवेणुः ॥ १६ ॥

तेन व्रजमितेन प्राप्तेन कृष्णेन सविलासवीक्षणेन विभ्रमोपेतवीक्षणेन अर्पितो मनोभवस्य कामस्य वेग उद्रेकलक्षणः संस्कारो यासु तास्तथा। रात्रिविशेषे वनाद्व्रजगतिं गोष्ठाख्यमन्दिरं गमिताः प्रापिताः, वयं कश्मलेन मनोऽनवस्थालक्षणेन[1-1] मोहेन स्रस्तं कबरं केशभारं वसनं वस्त्रं वा स्थितिं वा न विदाम न जानीम इत्यन्वयः। कुजगतिमिति पाठे स्थावरस्वभावमित्यर्थः। ब्राह्ममुहूर्तादुत्थाय कृष्णाज्ञया वनात् प्राप्तव्रजानां पश्चादागतस्य कृष्णस्य पुनर्दर्शनेन मुग्धानां गोपिकानां वचनमिदमिति भावः॥ १७॥

मणिधरः कौस्तुभरत्नधारी दयितंगन्धा प्राणप्रियगन्धा तुलसी यस्यां सा तथा। तया मालयोपलक्षितः प्रणयिनः स्निग्धतमस्यानुवर्तमानस्य कस्यचिद् गोपस्यांऽसे भुजशिरसि भुजं प्रक्षिपन् निदधानो गा आगमयन् वनाद्व्रजमावर्तयन् कृष्णः क्वचित् कदाचित् कस्मिंश्चित् काले यत्र यस्मिन् देशे अगायत ॥ १८ ॥

तदा वञ्चितचित्ताः प्रलोभितान्तःकरणाः कृष्णगृहिण्यः कृष्णमृगपरिग्रहभूताः हरिण्यो गुणगणार्णं गुणगणसमुद्रं क्वणितवेणुं ध्मातवेणुं कृष्णमनुगम्य उपान्वीयुः उपासतेत्यन्वयः। का इव विमुक्तगृहेशाः परित्यक्तनिजपतयः, उभयत्र समानम्। गोपिका गोपाङ्गना इव अन्यत्र गोपनशीला इव ॥ १९ ॥

हे अनघे! यशोदे! कुन्ददाम्ना पुष्पमालयाऽलङ्कृतः कौतुकवेषः विवाहकाले वरस्य हस्ते यत् सूत्रं बध्यते तत् कौतुकं तदीयो वेषः, स यस्य स कुन्ददामकृतकौतुकवेषः। "कौतुकं विषयाऽऽभोगे हस्तसूत्रे कुतूहले" (वैज.को. 7-3-10)

इति यादवः। गोपादिभिः परिवृतः प्रणयिनां नर्मदः लीलावचनेन आनन्ददः तव वत्सः बालः नन्दसुनु र्यदा यमुनायां विजहार ॥ २० ॥

---

1- -1. Ma मनोभवस्थान ★ (उपलभ्यमानपाठः) तलामोऽस्त्री तलामाऽपि प्रमाणे पौरुषे ध्वजे। श्रेष्ठे मूषापुण्ड्रकृतुच्छपिच्छाबलिषु।

मन्दवायुरनुवात्यनुकूलं[1] मानयन्मलयजस्पर्शेन।
वन्दिनस्तमुपदेवगणा ये वाद्यगीतबलिभिः परिवव्रुः ॥ २१ ॥

वत्सलो व्रजगवां[2] यदगध्रो[3] वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः।
कृत्स्नगोधनमुपोह्य[4] दिनान्ते गीतवेणुरनुगेडितकीर्तिः[5] ॥ २२ ॥

उत्सवं स्मररुजास्तदृशीनामुन्नयन्खुररजश्छुरितस्रक्[6-]।
दित्सयैति सुहृदाशिष एष देवकीजठरभूरुडुराजः[-6] ॥ २३ ॥

मदविघूर्णितलोचन ईषन्मानदः[7] स्वसुहृदां वनमाली।
बदरपाण्डुवदनो मृदुगण्डं मण्डयन् कनककुण्डललक्ष्म्या ॥ २४ ॥

यदुपतिर्द्विरदराजविहारो यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते।
मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं मोचयन् व्रजगवां दिनतापम् ॥ २५ ॥

## श्रीशुक उवाच

एवं व्रजस्त्रियो राजन् कृष्णलीलानुगायतीः।
रेमिरेऽहस्सु तच्चित्तास्तन्मनस्का महोदयाः ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
वृन्दावनक्रीडायां गोपिकायुगलगीतं नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

---

1. G,J,K ल्य 2. T,W भुं° 3. M,Ma °गाधो 3. M,Ma °म° 5. M,Ma गोद्धृत 6- -6. G,J,P,V श्रमरुचापि; M,Ma श्रममपोह्य 7. M,Ma °मुद्वह°

**श्रीध० मन्दवायुरिति।** तदा मलयजस्पर्शेन[1-] मलयजस्य[-1] चन्दनस्येव सुरभिः शीतलश्च यः स्पर्शः तेन तं कृष्णं मानयन्ननुकूलं यथा तथा अनुवाति वीजयति। यद्वा मलयजो दक्षिणवायुः। यद्वा - मलयजस्य कृष्णेन स्वाङ्गेऽनुलिप्तस्य स्पर्शेन मानयन्निति। किञ्च वन्दिन इव स्तावकास्सन्तः गन्धर्वादिगणाः वाद्यगीतपुष्पवर्षादिभिः परिवव्रुः परित उपासत॥ २१॥

**आयान्तमालोक्य हृष्यन्त्यः परस्परमूचुः - वत्सल** इति। व्रजस्य गवां च, यद्वा व्रजे निबद्धानां गवां अनुकम्प्यानामस्माकमित्यर्थः। वत्सलो हितकृत्। कुतः? यद्यस्मात् अगध्रः अगं धरतीति गोवर्धनोद्धरणः बहुशो रक्षणस्योपलक्षणमेतत्। वृद्धैः ब्रह्मादिभिः पथि कन्द्यमानचरण इति। ते सेर्ष्यं सायं शीघ्रमागन्तुं न ददतीत्यर्थः।उपोह्य एकीकृत्य, गीतयुक्तो वेणुर्यस्य सः ॥ २२ ॥

**उत्सवमिति**। श्रमयुक्तयापि कान्त्या नेत्राणां हर्षमुन्नयन् उच्चैः प्रापयन् खुरजोभिः छुरिता व्याप्ताः स्रजो यस्य, सुहृदामस्माकं आशिषो मनोरथस्य दित्सया दातुमिच्छया देवक्या जठरे भवतीति तथा स एव उडुराजश्चन्द्रः निर्वृतिहेतुत्वेन, स एष एतीति ॥ २३ ॥

अतिसम्भ्रमेण काश्चित् समीपं आयान्तं कथयन्ति — **मदेति**। ईषन्मदेन विघूर्णिते विह्वलिते लोचने यस्य सः, बदरपाण्डुवदनः ईषत्पक्वबदरवत् पाण्डुरं वदनं यस्य सः, अत्र हेतुः, कनककुण्डलयोः लक्ष्म्या कान्त्या मृदू कोमलौ गण्डौ यस्मिन् तद्वदनं मण्डयन् कोमलं गण्डस्थलं वा शोभयन्निति ॥ २४ ॥

**यदुपतिरिति**। यदुपतिरिति देवकी जठरभूरिति च। "प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवाऽऽत्मजः"। (भाग 10-26-17) इत्यादि गर्गवाक्यप्रसिद्धयोक्तम्। यद्वा "सख उदेयिवान् सात्त्वतां कुले" (भाग. 10-31-4) इति वत् ज्ञात्वा काश्चिद्वदन्तीति। गजेन्द्रस्येव गतिः चन्द्र इव प्रसन्नवदनः व्रजगवा मस्माकम्। अनन्तं दिनतापञ्च शमयन् प्रणदन्नुपयाति एष समीपमायातीति॥ २५॥

**एवमिति**। एवं विरहदुःखेनापि, नु अहो, कृष्णलीला एव गायतीः गायन्त्यः, तस्मिन् चित्तं चेतना जीवितं यासां ताः, तस्मिन्नेव मनः सङ्कल्पविकल्परूपं यासां ताः, अत एव महानुदयः उत्सवो यासां ताः, अहस्स्वपि रेमिरे॥ २६॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

---

1- -1. P,V omit 2- -2. P,V omit 3. P,V omit सायं 4. P,V omit अर्थः 5 J,Va add इति 6. J,Va °लग° 7. J,Va omit प्रणदन् 8. J,Va omit विकल्प

**वीर०** मन्दवायुरित्यस्य तु तदेत्यादिः। तदा मन्दवायुः मलयजस्येव सुरभिश्शीतश्च स्पर्शस्तेन कृष्णं सम्मानयन् अनुकूलं यथा भवति तथा उपवाति वीजयति। यद्वा, मलयजो दक्षिणो वायुः। यद्वा, मलयजस्य कृष्णेनानुलिप्तस्य स्पर्शेन मानयन्निति वा। किञ्च ये वन्दिनः स्तावकाः उपदेवगणाः सिद्धविद्याधरादयः ते वाद्यगीतपुष्पवर्षादिभिः तं कृष्णं परिवव्रुः परित उपासत ॥ २१ ॥

अथाऽऽयान्तमवलोक्य हृष्यन्त्यः परस्परमूचुः **वत्सल** इति। व्रजस्य गवां च वत्सलः यद्वा, व्रजनिबद्धानां गवां अनुकम्प्यानाम्, अस्माकं च वत्सलो हितकृत्। कुतः? यत् यस्मात् अगध्रः अगं गोवर्धनं धरति तथा। इदं बहुशो रक्षणस्य उपलक्षणम्। वृद्धैः ब्रह्मादिभिः पथि वन्द्यमानौ चरणौ यस्य सः। दिनान्ते सायङ्काले कृत्स्नं गोधनं उपोहद्य एकीकृत्य गीतयुक्तो वेणुर्यस्य सः, अनुजैः अनुचरैः ईडिता कीर्तिर्यस्य सः, स्मररुजा स्मररोगेण अस्ताः नष्टप्रायाः दृशो दृष्ट्यो, यासां तासामस्माकं, नेत्राणाम् उत्सवं हर्षमुन्नयन् उच्चैः प्रापयन् खुरजोभिः व्याप्ताः स्रजो यस्य सः, सुहृदामस्माकं आशिषः मनोरथस्य दित्सया दातुमिच्छया, देवक्याः जठरे भवतीति देवकीजठरभूः स एष उडुराज श्चन्द्र एव एति आगच्छति, निर्वृतिहेतुत्वेन स एष एवेत्युक्तम् ॥ २२, २३ ॥

काश्चिदिति सम्भ्रमेण समीपमायान्तं बलरामं कथयन्ति **मदविघूर्णितलोचन** इति। ईषत् मदेन वारुणीमदेन विघूर्णिते लोचने यस्य सः स्वसुहृदां मानदः ईषत्पक्वबदरवत् पाण्डु वदनं यस्य सः, अत्र हेतुः कनककुण्डलयोः लक्ष्म्या मृदुगण्डौ यस्मिन्। तद्वदनं मण्डयन् कोमलं गण्डस्थलं मण्डयन्निति वा, द्विरदराजस्य ऐरावतस्येव विहारो यस्य सः, बलभद्रस्य श्वेतवर्णत्वात्। दिनान्ते चन्द्र इव मुदितं प्रसन्नं वक्त्रं यस्य सः, व्रजभुवां अस्मदादीनां दुरन्तमपारं दिने स्वविश्लेषजं तापं मोचयन् त्याजयन् उपयाति एष समीपमायाति। यद्वा इदं श्लोकद्वयं कृष्णपरमेव योज्यम्। तदा मदेन मन्मथेन विघूर्णिते लोचने यस्य सः। द्विरदराजविहारो गजेन्द्रगतिः ॥ २४, २५ ॥

उपसंहरति शुकः — हे राजन्! इत्थं कृष्णस्य लीला अनुगायन्त्यो गोप्यः अहस्स्वपि तस्मिन् चित्तं चेतना जीवितं यासां तस्मिन्नेव मनः सङ्कल्पविकल्परूपं यासां ताः। अत एव महानुदय उत्सवो यासां तथाभूताः रेमिरे॥ २६॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

---

1- -1. T omits.

**विज०** तदा मलयजस्पर्शेन चन्दनगन्धदानेन कृष्णं मानयन् वायुर्यथानुकूलो भवति तथा मन्दं मन्दं उपवाति वीजयतीत्यन्वयः। किञ्च तदा ये उपदेवगणाः देवसमीपे वर्तमानाः गन्धर्वाः वन्दिनो वन्दमानाः, यद्वा मङ्गलपाठकाश्च वाद्येन गीतेन बलिना उपहारेण च तं कृष्णं परिवव्रुः ॥ २१ ॥

किञ्चिदुत्पन्नोपयोग[1] ज्ञानं[1] वदन्ति **वत्सल** इति। व्रजगवां विषये वत्सलः गोष्ठगोषु स्निग्धतमः अगाधः गम्भीरः अन्याऽविज्ञातमहिमा पथि ज्ञानादिवृद्धै र्वन्द्यमानचरणः स्तूयमानपादन्यासः दिनान्ते सन्ध्यायां आसन्नायां कृत्स्नं गोधनं समस्तपशुलक्षणं धनमपोहद्य व्यावर्त्य गीतवेणुः गातुमुपक्रान्तवेणुः अनुगैः वयस्यैः उद्धृता मणिपङ्क्तादुद्धृत्येव प्रकाशिता कीर्तिर्यस्य स तथा ॥ २२ ॥

वनपरिश्रमणोत्पन्नं श्रममपोह्य निरस्य स्वद्रष्टॄणां दृशीनां उत्सवं सुखोत्सवं उद्वहन् खुरजश्छुरितस्रक् गोखुरसमुत्पन्नधूल्या मिश्रिता माला यस्य स तथा। देवक्या जठरमेव भूः व्यक्तिस्थानं यस्य स तथा। उडुराजश्चन्द्रइव, तुमोपमेयं, स यद्यदा व्रजमेति तथा एष कृष्णः सुहृदां अनिमित्तबन्धूनां आशिषः इष्टफलानि दित्सया दातुमिच्छयैवेति इत्यन्वयः। चन्द्रोऽपि व्रजगवां अध्वपशूनां पथिकानां वत्सं वर्षं सामर्थ्यात् कामोद्रेकं लाति रातीति वत्सलः, "वत्सो ना कुटजे वर्षे" (वैज.को.6-5-73) इति यादवः। "गोष्ठाध्वनिवहा व्रजाः" (वैज. को. 6-1-54) इति च। अगस्य उदयपर्वतस्य अधः शृङ्गे वर्तमानः उदयस्याधित्यकाशृङ्गं चन्द्रमार्गादूर्ध्वमिति ज्यौतिषिकाः सङ्गिरन्ते। वृद्धैः सप्तर्षिभिः पथि व्योममार्गे दिनान्ते रात्रौ कृत्स्नगोधनं समस्तकलासमेधितचन्द्रिकाख्यधनमपोह्य परिपूर्य गीतवेणुः कविभिः वर्णितस्ववंशः अनुगैः अश्विन्यादिनक्षत्रैः उद्धृतकीर्तिः राश्युपरिकृतगणनः रविकिरणसंसर्गसमुत्पन्नश्रमं निर्धूय, उत्सव मित्युभयत्र समम्। जननसमये क्षीराब्धितीरवालुकासु नववीथिषु विक्रमं कुर्वतः उच्चैःश्रवसः खुरजश्छुरितस्रक् चन्द्रोपि॥ २३ ॥

श्रीकृष्णं प्रशस्य बलभद्रप्रशंसया उपसंहरति **मदविघूर्णितेति**। वारुणीपानोत्पन्नमदेन ईषत् विघूर्णितलोचनः विभ्रान्तनेत्रः अन्यत्र घूर्णप्रकाशः। 'लुच प्रकाशे' इति धातुः। चन्द्रः कीदृशः? स्त्रीणां मानदः अभिमानखण्डनः। 'दो अवखण्डने' इति धातुः। वनानां भासां कान्तीनां मालाऽस्यास्तीति वनमाली। बदरश्चन्द्रः तद्वत्पण्डु सुन्दरं वदनं यस्य स तथा। "मानवो बदरः सिन्धुः शशिनस्तु त्रिनामकम्" (स्कान्दे) इति वचनात्। बदरफलवत् रागोपेतं वदनमित्यर्थो न शोभते, पाण्डुशब्दो व्यर्थस्स्यात्। बदरो बृहस्पतिः, पाण्डुः शुक्रः तयोर्वदनमिव वदनं यस्य स तथा चन्द्रः, कनककुण्डललक्ष्म्या मृदु गण्डं मण्डयन् अलङ्कुर्वन् इत्युभयत्र समम् ॥ २४ ॥

दुरन्तं व्रजगवां दिनतापं मोचयन् इत्यपि समम्। द्विरदराजवद् विहारो गमनक्रीडा यस्य स तथा। इदमपि पुरुषलक्षणं समम्। एवंविध एष यदुपतिः बलभद्रः यामिनीपतिश्चन्द्रइव दिनान्ते सायन्तनसमये उदयपर्वतशिखरं व्रजमुपयातीत्यन्वयः। उपयातीति लटा गोपस्त्रीणामेवं नित्यमनुस्मरणं, न कादाचित्कमिति सूचयति ॥ २५ ॥

एवंविधाः कृष्णलीला अनुगायतीः अनुगायन्त्यः अलोपश्छान्दसो, वृत्तभङ्गभयात् वा कृतः।यद्वा, एवं वेणुं विकल्प्य। "नु पृच्छायां विकल्पे च" (अम.को. 3-402) इत्यमरः। महानुदयः सम्पत् यासां ताः महोदयाः ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
टीकायां पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

(विजयध्वजरीत्या त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

---

1- -1. M ° पमेयज्ञानाः 2- -2. Ma कुर्वन्तं उच्चैश्श्रवसम् ॥ २३ ॥ 3. Ma omits श्रीकृष्णं

# षट्त्रिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या चतुस्त्रिंशोऽध्यायः)

-: वृषभासुरवध घट्टः :-

श्रीशुक उवाच

अथ तत्पर्यागतो गोष्ठमरिष्टो वृषभासुरः।
महीं महाककुत्कायः कम्पयन् खुरविक्षताम् ॥ १ ॥

रम्भमाणः[1] खरतरं पदा च[2] विलिखन्महीम्।
उद्यम्य पुच्छं वप्राणि[3] विषाणाग्रेण चोद्धरन्[4] ॥

किञ्चित्किञ्चिच्छकृन्मुञ्चन् मूत्रयन्[5] स्तब्धलोचनः ॥ २ ॥

यस्य निर्हादितेनाङ्ग! निष्ठुरेण गवां नृणाम्।
पतन्त्यकालिका[6] गर्भाः स्रवन्ति स्म भयेन वै[6] ॥ ३ ॥

निविशन्ति[7] घना यस्य ककुद्यचलशङ्कया।
तं तीक्ष्णशृङ्गमुद्वीक्ष्य गोप्यो गोपाश्च तत्रसुः ॥ ४ ॥

पशवो[8] दुद्रुवुर्भीताः राजन् सन्त्यज्य[8] गोकुलम्।
कृष्ण कृष्णेति ते सर्वे गोविन्दं शरणं ययुः ॥ ५ ॥

---

1. M,Ma ख° 2. P,V °भ्यां 3 M,Ma अप्राणि 4. P,V चोत्क्षिपन् 5- -5. P,V °न्मूत्रमुत्सृजन् 6- -6. G,J,M,Ma,P,V °न्त्यकालतो 7. G,J,K,M,Ma,P,V निर्वि० 8- -8. P,V °वू राजन् सन्त्यज्य निज°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

षट्त्रिंशे निहतेऽरिष्टे[1] नारदोक्त्या बलाच्युतौ। वसुदेवसुतौ ज्ञात्वा कंसोऽक्रूरं समादिशत्॥

गोपीरासान्तरायान्तं शङ्खचूडं निहत्य सः। अहन् गोपी महानन्दाऽसहं दुष्टमरिष्टकम्॥

अथेति। एवं देवगन्धर्वादिः नृत्यगीतवाद्यकुसुमवर्षादिभिः कृष्णं प्राप्तं दृष्ट्वा व्रजस्य परमोत्सवे वर्तमाने तद्विरुद्धार्थान्तराधिकारार्थं[2] अथशब्दः[3]। तर्हि तदा वृषभाकृतिरसुरः, तं वर्णयति महीमित्यादि सार्धत्रयेण। महान्तौ ककुत्कायौ यस्य सः, खुरैः क्षितां विदारितां महीं कम्पयन् ॥ १ ॥

**रम्भमाण** इति। रम्भमाणः वृषभजातिशब्दं कुर्वन् विलिखन् विदारयन् उद्यम्य ऊर्ध्वं कृत्वा वप्राणि तटानि, उत्क्षिपन्, किञ्चिदिति। किञ्चित्किञ्चित् शकृत् मध्ये मध्ये ईषदीषत् पुरीषं मुञ्चन्। तथा मूत्रयन्[4] मूत्रमुत्सृजन् स्तब्धलोचनः अनिमिषलोचनः[5] ॥ २ ॥

**यस्येति**॥ यस्य ध्वनिना,[6] गवां नारीणां च। तत्र "आचतुर्थाद्भवेत्स्रावः, पातः पञ्चमषष्ठयोः, अत ऊर्ध्वं प्रसूतिस्स्यात्" इति विभागः ॥ ३ ॥

**निर्विशन्तीति**। ककुदि गलपृष्ठशृङ्गे ॥ ४ ॥

**पशव** इति। कृष्णेति। कृष्ण कृष्ण रक्षेति आधावन्तः[7] ॥ ५ ॥

---

1. J,V तु 2- -2. J,Va omit 3. P,V omit वि 4. P,V omit मूत्रयन् 5- -5. V omits 6- -6. P,V ध्वनीनाकार्य्य 7- -7. J,Va omit.

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ वृषभासुरवधात्मकं भगवतः कर्म अनुवर्णयन् नारदमुखात्[1] तदा श्रुतवतः कंसस्य भगवद्धननोद्योगमनुवर्णयति षट्त्रिंशेन[2] **अथेत्यादिना**। इत्थं श्रीकृष्णेन व्रजे हर्ष्यमाणे सति तर्हि अथ अरिष्टाख्यो वृषभासुरो गोष्ठं प्रत्यागतः। तं वर्णयति सार्धत्रयेण महीमित्यादिना। महान्तौ ककुत्कायौ यस्य सः, खुरैः नितरां क्षतां विदारितां महीं कम्पयन् ॥ १ ॥

खरतरं यथा तथा रम्भमाणः वृषभजातिशब्दं कुर्वन्, पदा महीं विलिखंश्च, पुच्छमुद्यम्य उन्नमय्य, शृङ्गाग्रेण वप्राणि उन्नतस्थलानि उद्धरन् उत्क्षिपन् मध्ये मध्ये किञ्चित्किञ्चित् शकृत्पुरीषं मुञ्चन् मूत्रं मुञ्चन् स्तब्धे अनिमिषे लोचने यस्य सः ॥ २ ॥

अङ्ग! हे राजन्! यस्याऽरिष्टस्य निष्ठुरेण कठिनेन निर्ह्रादेन[3] गवां नारीणां च गर्भा आकालिकाः अप्राप्तप्रसवकाला अपि भयेन पतन्ति स्रवन्ति च। "आचतुर्थाद्भवेत्स्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः। अत ऊर्ध्वन्तु नारीणां प्रसवः परिकीर्तितः" ॥ ३ ॥

यस्य अरिष्टस्य ककुदि गलपृष्ठे अचलशङ्कया पर्वतशृङ्गभ्रान्त्या मेघा निविशन्ति[4] विपुलककुद्भान् इत्यर्थः। तीक्ष्णशृङ्गं तं अरिष्ट मवलोक्य गोप्यो गोपाश्च तत्रसुः अभिभयुः ॥ ४ ॥

हे राजन्! पशवस्तु भीताः गोकुलं सन्त्यज्य दुद्रुवुः। ते गोपा गोप्यश्च कृष्ण कृष्णेति वदन्तस्तं शरणं रक्षितारं प्रापुः[5] ॥ ५ ॥

---

1. K °दस्य मु° 2- -2. T,W omit 3. K °क्षितेन 4. K निर्वि° 5- -5. T,W omit.

# श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अरिष्टनामासुरहननलक्षणं विक्रमं देवकार्यसिद्धिकामुकेन नारदेनोद्बोधितस्य असुरजातेः कंसस्य सज्जनोपद्रवोद्योगं च कथयत्यस्मिन्नध्याये। अथ शङ्खचूडवधानन्तरं दैत्यान्तरनिग्रहलक्षणकथाऽऽरभ्यते। शङ्खचूडं निहत्य यदा गोपस्त्रीभिः सह व्रजमागतः श्रीकृष्णस्तर्हि तदा वृषभासुरः वृषभाकारो दैत्यः महान्तौ ककुत् कायश्च यस्य स तथा ॥ १ ॥

रवमाणः रवं कुर्वाणः शकृद्गोमयं, स्तब्धे स्थूणीकृते अतिस्थिरे लोचने यस्य स तथा निर्ह्रादितेन गर्जितेन ॥ २ ॥

मासत्रयादर्वाक् गर्भस्रावः ततः आसप्तमात्पतनं ततः प्रसवः, नृणां मनुष्यस्त्रीणाम् ॥ ३ ॥

अचलशङ्कया पर्वतशङ्कया, तत्रसुः त्रस्ताः भीताः आसन् ॥ ४,५ ॥

भगवानथ[1] तद्वीक्ष्य गोकुलं भयविह्वलम्[2]।
मा भैष्टेति गिराऽऽश्वास्य वृषासुरमुपाह्वयत् ॥ ६ ॥

सबालैः[3] पशुभिर्मन्द त्रासितैः किमसत्तम।
बलदर्पहाऽहं दुष्टानां त्वद्विधानां दुरात्मनाम् ॥ ७ ॥

इत्याऽऽस्फोट्याऽच्युतोऽरिष्टं तलशब्देन कोपयन्।
सख्युरंसे भुजाभोगं प्रसार्याऽवस्थितो हरिः ॥ ८ ॥

सोऽप्येवं कोपितोऽरिष्टः[4] खुरेणावनिमुल्लिखन्।
उद्यत्पुच्छभ्रमन्मेघः क्रुद्धः कृष्णमुपाद्रवत् ॥ ९ ॥

अग्रन्यस्तविषाणाग्रः स्तब्धासृग्लोचनोऽच्युतम्।
कटाक्षिप्याद्रवत्तूर्णमिन्द्रमुक्तोऽशनिर्यथा[5] ॥ १० ॥

---

1. G,J,K,T,W °पि 2. G,J,M,Ma विह्वलम् 3. G,J, गोपालैः; M,Ma सपालैः 4. P,V कु° 5. M कटचा०

श्रीध० इतीति[1]। इत्येवं वदन्। आस्फोट्य करतलेन बाहुमाहत्य तेन तलशब्देन कोपयन् भुजाभोगं भुजा भुजः सैव भोगः सर्पदेहः[2] तं सर्पदेहाकारं[2] भुजमित्यर्थः स्वयमच्युतः अन्यान् दुष्टान्, हरतीति हरिः ॥ ६-८ ॥

स इति। उद्यता ऊर्ध्वं गच्छता पुच्छेन भ्रमन्तो मेघा यस्मात्सः[3] ॥ ९ ॥

अग्रेति। अग्रे न्यस्ते विषाणाग्रे येन सः। स्तब्धे असृक्तुल्ये लोचने यस्य सः। कटाक्षिप्य[4] कटाक्षेण तिर्यक् निरीक्ष्य ॥ १० ॥

---

1. P,V omit इतीति 2- -2. J,Va यस्मिन् 3- -3. P,V omit 4- -4. P,V omit.

वीर० अथ भगवान् मयेन विहितं तद्भेकुलं अवलोक्य, मा भैष्ट भयं मा कार्ष्टेति गिरा आश्वास्य, सान्त्वयित्वा वृषभासुरमुपाह्वयत् आजुहाव ॥ ६ ॥

आह्वानप्रकारमेवाह - सबालैरिति। हे मन्द! सबालैः सवत्सैः पशुभिः किं? तेभ्यो भयजननेन तव किं प्रयोजनमित्यर्थः। हे असत्तम! त्वद्विधानां दुरात्मनां बलं दर्पं च हन्तीति[1] तथाभूतोऽहमवस्थितः ॥ ७ ॥

इतीत्थमाह्वयन् आश्रितार्तिहरः आश्रितान् न च्यावयते न त्यजतीत्यच्युतः। आस्फोट्य वस्ततेन बाहुमाहत्य तत्रशब्देन अरिष्टं कोपयन् कोपयुक्तं कुर्वन् सव्युरसे स्कन्धे (भुजा) भुज एव भोगः सर्पदेहस्तं प्रसार्याऽवस्थितः ॥ ८ ॥

ततस्सोऽरिष्टोऽपीत्थं कुपितः खुरेण भूमिमुत्क्षिपन् उद्यता ऊर्ध्वं गच्छता पुच्छेन भ्रमन्तो मेघा यस्य सः, क्रुद्धसन् कृष्णमुपाद्रवत् ॥ ९ ॥

तदेवाह - अग्रे न्यस्ते विषाणाग्रे येन स्तब्धे असृग्लोचने रक्ततेजे यस्य, सोऽपि कृष्णं कटाक्षिप्य कटाक्षेण तिर्यङ् निरीक्ष्य यथेन्द्रेण मुक्तोऽशनिः वज्रः[2] तद्वत् तूर्णं माद्रवत् समीपमागात्[3] ॥ १० ॥

---

1. T,W हतीति 2. T,W omit वज्रः 3- -3 T,W omit.

विज० हे मन्द! निर्भाग्य! ॥ ६,७ ॥

भुजाभोगं आभोगभुजं पुष्टवृत्तभुजम्[1] ॥ ८ ॥

उद्यति पुच्छे भ्रमन्तो मेघा यस्य स तथा ॥ ९ ॥

स्तब्धे निश्चले असृक् रुधिरमिव रक्ते लोचने यस्य स तथा, कटाक्षिप्य कटी स्फिजौ आक्षिप्य निक्षिप्य प्रदर्श्येत्यन्वयः। कटाक्षित्वेति पाठे कटाक्षेण निरीक्ष्येत्यर्थः, अशनिः वज्रम् ॥ १० ॥

---

1. M भूतम्

**गृहीत्वा शृङ्गयोस्तं[1] वा[2] हयष्टादशपदानि सः[-1]।**
**प्रत्यपोवाह भगवान् गजः प्रतिगजं यथा ॥ ११ ॥**

सोऽपविद्धो भगवता पुनरुत्थाय सत्वरम्।[3]
आपतत्स्विन्नसर्वाङ्गो निश्वसन् क्रोधमूर्च्छितः[4] ॥ १२ ॥

तमापतन्तं स निगृह्य शृङ्गयोः पदा समाक्रम्य निपात्य भूतले।
निष्पीडयामास यथाऽऽर्द्रमम्बरं कृत्त्वा विषाणेन जघान सोऽपतत् ॥ १३ ॥

असृग्वमन् मूत्रशकृत्समुत्सृजन् क्षिपंश्च पादाननवस्थितेक्षणः[5-5]।
जगाम कृच्छ्रं निर्ऋतेरथ क्षयं पुष्पैः किरन्तो हरिमीडिरे सुराः ॥ १४ ॥

॥ नारदबोधितेन कंसेन रामकृष्णाह्वानाय अक्रूरप्रेषणघट्टः ॥

एवं ककुद्मिनं हत्वा स्तूयमानस्स्वजातिभिः।
विवेश गोष्ठं[6] सबलो गोपीनां नयनोत्सवः ॥ १५ ॥

---

1- -1. T,W °स्तस्य 2. G,J,M,Ma,P,V अ° 3. G,J,K,M,Ma °रुः। 4. K आद्रव°; T,W आद्रव° 5- -5. M,Ma °ननिमीलिते° 6- -6 M,Ma भगवान् गोष्ठं

**श्रीध०** गृहीत्वेति। प्रत्यपोवाह प्रतिलोमं व्यनुदत् ॥ ११ ॥

स इति। अपविद्धः अपक्षिप्तः आपतत् आद्रवत्।[1] स्विन्नानि स्वेदयुक्तानि सर्वाणि अङ्गानि यस्य सः, क्रोधमूर्च्छितः क्रोधेन व्याप्तः ॥ १२ ॥

तमिति। कृत्त्वा विषाणमुत्पाट्य तेनैव जघान, स च अपतत् ॥ १३ ॥

असृगिति। मूत्रशकृत् मूत्रं च शकृच्च एकवद्भावः तदुभयं समुत्सृजन् इत्यर्थः। पादान् क्षिपन् इतस्ततश्चालयन्। अनवस्थितेक्षणः प्रचलितनेत्रः कृच्छ्रं कष्टं जगाम। अथ निर्ऋतेः मृत्योः क्षयं निवासं जगाम, कृच्छ्रं यथा भवति तथा मृत इति वा ॥ १४ ॥

एवमिति। नयनोत्सवः नयनानां मूर्तिमान् उत्सवः ॥ १५ ॥

---

1. P,V add आ ईषत्

**वीर०** तदा सोऽच्युतः अरिष्टं शृङ्गयोः गृहीत्वा अष्टादशपदानि प्रत्यपोवाह प्रत्यगमयत् यथा गजः प्रतिगजं तद्वत् ॥ ११ ॥

[1]ततः सोऽरिष्टः भगवता अपविद्धः अवक्षिप्तः प्रतिगमनेन पातितः पुनरुत्थाय सत्वरः स्विन्नानि प्रस्वेदयुक्तानि [2-]सर्वाण्यङ्गानि [-2]करचरणादीनि यस्य सः। क्रोधेन मूर्च्छितः परवशः निश्वसन् श्वासं मुञ्चन् [3]अपि पुनराद्रवत् कृष्णं प्रत्याद्रवत्[4-]॥ १२ ॥

स भगवान् पुनरापतन्तं अरिष्टं शृङ्गयोः गृहीत्वा स्वचरणेन समाक्रम्य अवष्टभ्य भूतले निपात्य यथा आर्द्रमम्बरं वस्त्रं तद्वत्[5] निष्पीडयामास। ततः कृत्वा 'कृती छेदने' उत्पाट्य, विषाणमिति शेषः। तेन विषाणेन जघान ताडयामास। स च ताडितोऽरिष्टः अपतत् ॥ १३ ॥

मूत्रं शकृच्च तयोः समाहारः। तदुत्सृजन् असृग् रुधिरं वमन् उद्गिरन् पादान् क्षिपन्नितस्ततश्चालयन् अनवस्थितेक्षणः प्रचलितनेत्रः, कृच्छ्रं कष्टं प्राणोत्क्रमणात्मकं जगाम। अथ निर्ऋते मृत्योः क्षयं निवासं जगाम। ततस्सुरा अपि पुष्पैः किरन्तो हरिं तुष्टुवुः ॥ १४ ॥

इत्थं ककुद्मिनं अरिष्टं हत्वा भगवान् स्वजातिभिः गोपैः स्तूयमानः गोपानां नयनानां मूर्तिमान् उत्सवः सरामो गोष्ठं विवेश ॥ १५ ॥

---

1. T,W omit ततः 2- -2. T,W omit 3. T,W omit अपि 4- -4. T,W omit 5. T,W add निपीड्य

विज० प्रत्यपोवाह प्रत्यपातयत्। अभ्याकृष्य पृष्ठतोऽपनीतवानित्यर्थः, तिर्यङ् नीतवान् वा ॥ ११, १२ ॥

आम्बरं वस्त्रं कृत्त्वा उत्कृत्य, विषाणमिति शेषः, तेन विषाणेन ॥ १३ ॥

मूत्रशकृती अनिमीलितेक्षणः विवृतनेत्रः निर्गता ऋतिर्यस्मात्स तथा निर्ऋतिर्यमः तस्य क्षयं गृहं यमलोकमित्यर्थः ॥ १४ ॥

ककुद्मिनं वृषासुरं स्वजातिभिः गोपै र्देवै र्वा ॥ १५ ॥

**अरिष्टे निहते [1]गोष्ठे कृष्णेनाद्भुतकर्मणा।**
**[2-]कंसाय [-2]प्राह भगवान् नारदो देवदर्शनः ॥ १६ ॥**

**यशोदायास्सुतां कन्यां देवक्याः कृष्णमेव च।**
**रामं च रोहिणीपुत्रं वसुदेवेन बिभ्यता।**
**न्यस्तौ स्वमित्रे [3-]नन्दे वै [-3]याभ्यां ते पुरुषा हताः ॥ १७ ॥**

**निशम्य[4] तद्भोजपतिः कोपात्प्रचलितेन्द्रियः।**
**निशातमसिमादत्त वसुदेवजिघांसया ॥ १८ ॥**

निवारितो नारदेन तत्सुतौ मृत्युमात्मनः[5]।
ज्ञात्वा लोहमयैः पाशैः बबन्ध सह भार्यया ॥ १९ ॥

प्रतियाते तु देवर्षौ कंस आहूय[6] केशिनम्।
प्रेषयामास हन्येतां भवता रामकेशवौ[7] ॥ २० ॥

---

1 G,J दैत्ये 2- -2. G,J,T,W °याऽथाह 3- -3. K,T,W नन्देऽस्मिन् 4. K,T,W °भ्यैत° 5. K,T,W हन्तु° 6. G,J आभाष्य ; M,Ma आज्ञास्य 7. P,V माधवौ

**श्रीध०** ★ कामं व्रजे वसन्तं तं कृष्णं तेन तु विस्मृतम्[1]। नारदः स्मारयामास[2] कंसं दूतगिरेव तु॥ तदाह - **अरिष्ट** इति। देवदर्शनः देवर्षिः, यद्वा एवं कथिते[-1] एवं भविष्यतीति साक्षात् देवदर्शनं यस्य सः ॥ १६ ॥

आप्तेनैव नारदेनोक्तमाह - **यशोदाया** इति। देवक्या अष्टमगर्भत्वेन प्रसिद्धां कन्यां यशोदायाः सुतामाह- यशोदायाः सुतत्वेन प्रसिद्धं कृष्णं च देवक्याः सुतमाह; रोहिणीपुत्रं रामं च देवक्याः सप्तमं सुतमाह। यद्वा नन्दसुतत्वेन प्रसिद्धं रामं च वसुदेवभार्यायाः रोहिण्याः पुत्रमाह - तौ वसुदेवसुतौ चेत् कथं व्रजं गतौ तत्राऽऽह - वसुदेवेनेति ॥ १७॥

[3-]**निशाम्येति**। तत् नारदोक्तं वाक्यं, निशातं तीक्ष्णं असिं चन्द्रहासम्[-3] ॥ १८ ॥

**निवारित** इति। हते वसुदेवे तौ पलायेतां[4-] अतो न वध्यतामपि तु[-4] बध्यतामिति मन्त्रं वदता नारदेन निवारित इति ॥ १९,२० ॥

---

★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः 1- -1. P एवं कृते ; V कृते 2 P,V देवद° 3- -3. It is not found in J & Va Edns. 4- -4. J,Va omit.

**वीर०** इत्थं गोष्ठे अद्भुतकर्मणा कृष्णेनाऽरिष्टे हते सति देवदर्शनो देवर्षिः नारदः यद्वा एवं कथिते एवं भविष्यतीति साक्षाद्देवचेष्टिताभिज्ञः कंसालयं गतस्तं प्राह ॥ १६ ॥

किमाहेत्यत्राह - **यशोदाया** इति। देवक्याः कन्यां अष्टमगर्भत्वेन प्रसिद्धां यशोदायास्सुतामाह। तथा यशोदायाः पुत्रत्वेन प्रसिद्धं कृष्णं देवक्या अष्टमं गर्भमाह। तथा रोहिणीपुत्रत्वेन प्रसिद्धं रामं च देवक्याः सप्तमं गर्भमाहेति सम्बन्धः। देवकीसुतौ चेत् कथं व्रजं गतौ, तत्राऽऽह - वसुदेवेन त्वत्तः[1] बिभ्यता स्वमित्रे नन्दे न्यस्तौ न्यासरूपेण निहितौ। याभ्यां रामकृष्णाभ्यां तव पुरुषा भृत्या अरिष्टादयो हताः। वसुदेवे हते तु तौ पलायेताम्। अतस्स न वध्य इत्यर्थतोऽत्र द्रष्टव्यम् ॥ १७ ॥

तन्नारदोक्तं निशम्याऽऽकर्ण्य भोजपतिः कंसः कोपात् प्रचलितानि इन्द्रियाणि यस्य सः, वसुदेवं हन्तुमिच्छया तीक्ष्णं खड्गं माददे ॥ १८ ॥

ततो नारदेन निवारितः तस्य वसुदेवस्य सुतमेवाऽऽत्मनः स्वस्य मृत्युं हन्तारं ज्ञात्वा, नारदोपदेशादिति शेषः। लोहमयैः पाशैः भार्यया देवक्या सह वसुदेवं बबन्ध ॥ १९ ॥

ततो नारदे गते सति कंसः केशिनं नाम राक्षसम्[2] आहूय प्रेषयामास। किमिति ? भवता रामकेशावौ हन्येतामिति॥ २० ॥

---

1. T,W कंसात् 2. K दैत्यम्

विज० देवो नारायणः तद्विषयं दर्शनं ज्ञानं यस्य स तथा, यद्वा देवं दर्शयति इति। यद्वा देवानामिव दर्शनं यस्य अतीन्द्रियत्वात् स तथा। देवानां यद्दर्शनं मतं तदेव यस्य दर्शनं स तथेति वा, यथा कंसहननं शीघ्रतमं स्यात् तथाऽऽहेति द्योतनार्थः, प्रेत्युपसर्गः। अनेन देवकार्यमेव नारदेन साध्यते नत्वसुरकार्यमिति ज्ञायते ॥ १६ ॥

किमाहेति, तत्राह - यशोदाया इति। कन्यां दुर्गां यशोदायाः सुतां, कृष्णं देवक्याः पुत्रं, रामं बलभद्रं रोहिणीपुत्रमाह। वसुदेवेन तौ किं कृतावत्तत्राह - बिभ्यता, त्वदिति शेषः ॥ १७ ॥

स्वस्य मित्रे विश्वसनीये सुहृदि, याभ्यां कृष्णरामाभ्यां, ते तव पुरुषाः नियोगकारिणः ॥१८ ॥

निशातं निशितं तेजितमित्यर्थः ॥ १९ ॥

आशास्य सम्यक् शिक्षित्वा भवता मद्भृत्येषु पूज्येन ॥ २० ॥

ततो मुष्टिकचाणूरच्छलतोसलकादिकान्[1]।[2]
अमात्यान् हस्तिपांश्चैव समाहूयाऽऽह भोजराट् ॥ २१ ॥

भो भो निशम्यतामेतद्वीरचाणूर[3]! मुष्टिक[-3]!।
नन्दव्रजे किलाऽऽसाते सुतावानकदुन्दुभेः ॥ २२ ॥

रामकृष्णौ तु[4] तौ महयं मृत्यू[5-] कालनिदर्शितौ[-5]।[6]
भवद्भ्यामिह संप्राप्तौ हन्येतां मल्ललीलया ॥ २३ ॥

मञ्चाः क्रियन्तां विविधा मल्लरङ्गपरिश्रिताः।
पौरजानपदास्सर्वे पश्यन्तु स्वैरसंयुगम्[7] ॥ २४ ॥

---

1. G,J,M,Ma श° 2. G,J,M,Ma श° 3- -3 G,J °चाणूरमुष्टिकौ। T,W °चाणूरमुष्टिकाः। 4. G,J,P,V ततो; M,Ma सुतौ 5- -5. G,J मृत्युः किल; P,V मृत्यू किल 6. G,J °तः। 7. G,J °राः

**श्रीध० रामकृष्णाविति।** महत्वं मम निदर्शितौ धात्रा नारदेन वा, व्रजं गन्तुं उवतौ तावाह भवद्भ्यामिति ॥ २१, २३ ॥

**मञ्चा** इति। मञ्चा उत्तुङ्गस्तम्भादिरचितस्थानानि ॥ २४-५६ ॥

**वीर०** ततो मुष्टिकादीन् अमात्यांश्च हस्तिपांश्च सामोक्त्या आहूयोवाच ॥ २१ ॥

उक्तिमेवाह - **भो भो** इत्यादिभिः पञ्चभिः। भो भो इति द्विर्वचनं प्रत्येकाभिप्रायकम्। वीरचाणूरेति कर्मधारयः। आनकदुन्दुभेः वसुदेवस्य सुतौ रामकृष्णौ नन्दव्रजे वर्तेते खलु ॥ २२ ॥

तौ तु मम मृत्यू हन्तारौ, कालेन दैवेन[1], निदर्शितौ ज्ञापितौ। अतः कथञ्चित् उपायेन इहाऽऽनीतौ भवद्भ्यां मल्लीलया हन्येतां[2] हन्तव्यौ ॥ २३ ॥

मञ्चा उत्तुङ्गस्तम्भादिरचितस्थानानि[3] क्रियन्ताम्। कथम्भूताः? मल्लरङ्गपरिश्रिताः मल्लयुद्धस्थानपर्यन्तस्थानविशिष्टाः। किमर्थं, तत्राऽऽह - पौराः पुरवासिनो, जानपदा देशवासिनश्च सर्वे मञ्चेषूपविश्य स्वैरं यथेष्टं संयुगं युद्धं पश्यन्तु ॥ २४ ॥

---

1. K दे° 2. T,W omit हन्येतां 3. T,W नाः

**विज०** मृत्यू मारकौ कालेन यमेन नितरां दर्शितौ ॥ २१-२३ ॥

मञ्चाः उत्तुङ्गस्तम्भादिरचितस्थानानि मल्लरङ्गस्य परितः सर्वासु दिक्षु श्रिताः स्थिताः स्वैरसंयुगं योधाकांक्षापूर्वकं युद्धम् ॥ २४ ॥

***महामात्र निबोधेदं वचो मम महामते।**
**गजः कुवलयापीडः प्रभिन्नकरभामुखः[1] ॥ २५ ॥**

**संस्थाप्यो द्वारि रङ्गस्य करारोपितमुद्गरः।**
**तेन तौ तत्र हन्तव्यौ सुतावानकदुन्दुभेः ॥ २६ ॥**

***अथ सोऽपि महामात्रः प्राह व्याकुलमानसः।**
**कथं मया निहन्तव्यं स्वस्रीयौ पृथिवीपतेः ॥ २७ ॥**

**महामात्रेणैवमुक्तः[2] कंसस्तत्रैव दुर्मतिः[2]।**
**उवाच[3] भूयो वचनं समेतान् श्रावयन्नृपः[3] ॥ २८ ॥**

## कंस उवाच

शृणुध्व मेतद्वचनं मयोदितं निशम्य सर्वे[1] हृदि[5] धारयन्तु तत्।
येनाहमेतेष्वसुहृत्त्वमादितश्चरामि बन्धुष्वपि[6] तत्र कारणम् ॥ २९ ॥

माता मम महाभागा कदाचित्कमलेक्षणा।
विचरन्ती[7] गृहोद्याने मन्दमारुतवीजिते ॥ ३० ॥

---

★ 'महामात्र निबोधेदं' इति श्लोके नास्त्यः 'महामात्र त्वया भद्र' इति श्लोकपर्यन्तः (31 श्लोकाः) ग्रन्थभागः G,J प्रकाशायोनास्ति। तथा उपरिनिर्दिष्टश्लोकानां श्रीधरीयव्याख्या नास्ति। 1. M,Ma कटा; P,V कटका * M,Ma Read this श्लोकपर्यन्तः प्राह निहन्तव्यौ कथं मया। स्वग्रीवौ भोजराजस्य कंसस्य जगतीपतेः। 2- -2. M,Ma इत्युक्तस्तेन कंसस्तु महामात्रेण दुर्मतिः।; P,V इत्युक्त्वा तं महामात्रं कंसस्तेन दुर्मतिः। 3- -3 M,Ma श्रावयन्नृप।; P,V श्रावयन्नृप। 4. M,Ma °र्वे 5. P,V यदि 6. K,M,Ma तस्य 7. M,Ma विचरार

श्रीध० 'महामात्र निबोधेदं' मिति श्लोकेनारब्धस्य 'महामात्र त्वया भद्र' इति श्लोकपर्यन्तस्य ग्रन्थभागस्य श्रीधरीय व्याख्या न विद्यते।

. वीर० हे महामात्र! हास्तिपक[1]! तस्यैव सम्बोधनम्। महामते! इति इदं वक्ष्यमाणं मम वचः शृणु। कुवलयापीडाख्यो द्विपो गजो रङ्गस्य युद्धस्थानस्य द्वारि संस्थाप्यः। कथम्भूतः? प्रभिन्ने विकसिताग्रे करे भाः कान्तिर्यस्य तन्मुखं यस्य, करे आरोपितो ग्राहितो मुद्गरो यस्य सः। तेन कुवलयापीडेन तावानकदुन्दुभेः सुतौ तत्रैव द्वार्येव हन्तव्यौ ॥ २५-२६ ॥

अथ सः महामात्रः व्याकुलचित्तः प्राह -किमिति। पृथिवीपतेः भोजराजस्य कंसस्य तव भगिनीपुत्रौ रामकृष्णौ कथं मया हन्तव्याविति। अयोग्यतासूचनाय स्वग्रीवात्याबुत्तिः ॥ २७ ॥

तेन महामात्रेणेत्थमुक्तः स कंसो दुर्मतिः नृपः समुदितान् सर्वान् श्रावयन् पुनराह ॥ २८ ॥

कंसवचनमेवाह - "शृणुध्वमित्यादिना, भूतराजाय मीढुषे" इत्यन्तेन। एतद्वक्ष्यमाणं[2] वचनं शृणुध्वमिति श्रवणाभिमुख्य प्रार्थना। मयोदितमाकर्ण्य तत्सर्वे भवन्तो हृदि धारयन्त्विति श्रुतस्य चित्ते स्थिरीकरणप्रार्थना। किं तत्? इत्यपेक्षायां तावदात्मनो बन्धुषु विद्वेषकारणपरमितिहासं प्रतिजानीते येनेति। येन हेतुना अहं बन्धुषु असुहृत्त्वं विद्वेषमाश्रितः तेष्वेव चरामि तस्य विद्वेषपूर्वकचरणस्य कारणं ब्रवीमीति शेषः ॥ २९ ॥

तत्परमितिहासमाह - मातेत्यादिना। महाभागा सुन्दरी भाग्यशालिनी वा, मम माता महत्युद्याने वने कदाचिद्विचरन्ती बभूव। कथम्भूते वने? मन्देन मारुतेन वीजिते सञ्चालिते ॥ ३० ॥

---

1. T ह° 2. T,W omit वक्ष्यमाणं

विज० हे महामात्र! हस्तिप! कुन्तयं भूमण्डलम् आपीडयतीति, कुन्तयं कैरवं आपीडे शेखरे यस्य स तथोक्तः, प्रभिन्नकटामुखः मदस्राविगण्डमुखः ॥ २५ ॥

मुद्गरो लोहदण्डः ॥ २६ ॥

जगतीपतेः राजप्रधानलोकभर्तुः "जगती राजप्रधानलोकेऽपि" (हला.को. 5-8) इति हलायुधः ॥ २७-३० ॥

प्रोत्फुल्लाशोकवकुलपूगपुन्नागशोभिते।
भ्रमद्भ्रमरसंघाते कूजत्कोकिलसंयुते ॥ ३१ ॥

नृत्यच्छिखण्डिनिवहे मर्कटाटोपसुन्दरे।
वसन्तसमये रम्ये सालमण्डलमण्डिते ॥ ३२ ॥

चरन्ती तत्र मे माता चिन्तयामास सुव्रता।
भर्तारं कामसन्तप्ता ऋतुस्नाता स्वलङ्कृता ॥ ३३ ॥

तदैव कश्चिद्गन्धर्वो द्रुमिलो नाम नामतः।
चरन्नन्तर्हितः काले दृष्ट्वा तामेकचारिणीम् ॥ ३४ ॥

विज्ञाय चिन्तितं तस्यास्सर्वसत्त्वाशयार्थवित्।
उग्रसेनवपुर्बिभ्रत्सस्मितालापवीक्षितम् ॥ ३५ ॥

तामाससाद कामार्तः कामयानां पतिव्रताम्।
अजानमाना साऽभ्येत्य रेमे तेन समं वने ॥ ३६ ॥

---

1. P,V °त° 2. K,M,Ma सङ्कुले 3. K,T,W °ह° 4. M,Ma तदैव; P,V अदैव 5. P,V °ड्रो 6. K,T,W त° 7. K,T,W औग्रसेनं 8. P,V °तः। 9. P,V °र्ता 10. P,V °नः

वीर० प्रोत्फुल्लैः अशोकादिभिः शोभिते भ्रमतां भ्रमराणां सङ्घातः सङ्घो यस्मिन् कूजद्भिः कोकिलैः सङ्कुले व्याप्ते ॥ ३१ ॥

नृत्यतां शिखण्डिनां मयूराणां निवहः सङ्घो यस्मिन्, मर्कटानां आटोपेन सम्भ्रमेण सुन्दरे वसन्तकालसहचरिते रम्ये सालानां वृक्षाणां मण्डलेन मण्डिते ॥ ३२ ॥

तत्रैवम्भूते महोद्याने चरन्ती सुव्रता पतिव्रता ऋतुस्नाता स्वलङ्कृता च मम माता भर्तारं चिन्तयामास ॥ ३३ ॥

तदैव कश्चित् नाम्ना द्रमिल इति प्रसिद्धः गन्धर्वः इतरैरलक्ष्यमाणश्चरन् तां मम मातरमसहायचारिणीं दृष्ट्वा तस्याश्चित्तिं विज्ञाय सर्वेषां तत्त्वतो अभिप्रेतमर्थं वेत्तीति तथाभूतः, हेतुगर्भमिदं, तत्त्वाद्विज्ञाय सस्मिते आलापवीक्षिते यस्य तत्, औग्रसेनं उग्रसेनसदृशं वपुः बिभ्राणः कामार्तः तां पतिव्रतां कामयानाम् इच्छानुरूपं वने चरन्तीम्, आससाद, सस्मितालापवीक्षितमिति क्रियाविशेषणं वा। सा त्वजानन्ती अभ्येत्य वने[4] तेन सह रेमे ॥ ३४-३६ ॥

---

1. T,W omit शोभिते 2. T,W omit सङ्कुले 3. K गृहे° 4. T,W omit वने

विज० सालानां सर्जानां मण्डलेन समूहेनाऽलङ्कृते ॥ ३१-३३ ॥

नाम प्रसिद्धः ॥ ३४ ॥

सर्वेषां सत्त्वानां प्राणिनां आशयार्थं अभिप्रेतार्थं वेत्तीति सर्वसत्त्वाशयार्थवित् ॥ ३५, ३६ ॥

**सा तं विदित्वा रमणेतरं सती नितान्तखेदाविललोचनाशया।**
**उवाच कस्त्वं कितवाऽऽर्यगर्हितं दुरात्मना येन कृतं त्वयेदृशम् ॥ ३७ ॥**

**इति ब्रुवन्तीं परिसान्त्वयन् शनैः स दीर्घबाहुर्द्रमिलो[1]ऽभ्यभाषत।**
**वयं हि गन्धर्वकुलोद्भवाः[2] प्रिये! गीर्वाणतुल्यामरवल्लभानुगाः ॥ ३८ ॥**

**भवादृशीनां मनुजाङ्गनानां[3] जानीहि भद्रे सुलभा वयं न च।**
**जराविनाशाद्यखिलाऽऽधिभागिनां[4] नृणां सुराणाम्महदन्तरं[5] शुभे ॥ ३९ ॥**

**इति ब्रुवन्तं सा भूयः प्राह[6-] क्रोधा[-6]कुलेन्द्रिया।**
**किं मां सान्त्वयसे भूयः कृत्वेत्थं[7] दुष्टचेष्टितम् ॥ ४० ॥**

---

1 P,V °डो 2. P,V वाऽबले! 3. K,T,W °जाश° 4. K,T,W जनुर्वि° 5. M,Ma प्रिये 6- -6 P,V क्रोधपर्या° 7 T,W °दं

वीर० तत[1-]ः सा इङ्गिताभिः कथञ्चित् पत्युरन्यं विदित्वा सती पतिव्रता हेतुगर्भमिदं, अतो नितान्तः अपारः खेदो यस्याः, आविले व्याकुले लोचने आशयो मनश्च यस्याः तथाभूता प्राह[-1] हे कितव! धूर्त! येन दुरात्मना त्वयेदृशं इत्थं[3] आर्यैः गर्हितं निन्दितं कृतं स त्वं कः? ॥ ३७ ॥

इतीत्थं ब्रुवन्तीं तां शनैः परिसान्त्वयन् स दीर्घबाहुः द्रमिलः प्राह[2]. - तदेवाह - वयमिति। वयं तावत् गन्धर्वदेहजाः गन्धर्वाः गीर्वाणैः देवैः तुल्याः अमरवल्लभस्य[4] इन्द्रस्य अनुचराश्च। तुल्यामरेत्यत्र सन्धिरार्षः, कर्मधारयो वा॥ ३८॥

हे भद्रे! वयं भवादृशीनां मनुजाशनानां मनुजोपभोग्यानां मानुषीणामिति यावत्। न च सुलभाः किन्तु दुर्लभाः वयमित्यर्थः। तत्र हेतुमाह - जनुरिति। जनुर्विनाशौ जन्ममरणे आदी येषां तानाधीन् मनःपीडाः, इदं व्याधीनामप्युपलक्षणं, तान् भजन्तीति तथा, तेषां नृणां तद्विपरीतानां सुराणां च महत्तारतम्यमस्ति, तस्माद्वयं दुर्लभा इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

इत्थं ब्रुवन्तं द्रमिलं प्रति सा क्रोधादाकुलानीन्द्रियाणि यस्याः सा पुनः प्राह, तदेवाह - किमिति? इत्थं दुष्टचेष्टितं कृत्वा भूयः किमर्थं मां सान्त्वयसे ॥ ४० ॥

---

1- -1. T,W तत् 2. K adds किमिति? 3. T,W omit इत्थं 4. T,W omit इन्द्रस्य

**विज०** नितान्तखेदेन अतिमात्रव्यथया आविलौ सङ्कुलौ लोचनाशयौ यस्याः सा तथा ॥ ३७ ॥

गीर्वाणतुल्याश्चामरवल्लभानुगाश्च। अमरवल्लभ इन्द्रः ॥ ३८ ॥

जरा च विनाशश्च जराविनाशौ तौ आदी येषां अखिलानां आधीनां ते जराविनाशाद्यखिलाधयः तान् भजितुं शीलमेषामस्तीति जराविनाशाद्यखिलाधिभागिनः, तेषां महदन्तरं विशेषः ॥ ३९ ॥

अस्तु विशेषः ततः किं दोषः स्यादिति धिया वक्ति **इतीति** ॥ ४० ॥

**इमानतिक्रम्य महीजलाग्निसमीरणाकाशनिशेशसूर्यान्।**
**दिक्कालधर्मांश्च उभे च सन्ध्ये दुरात्मनेत्थं मलिनीकृताऽहम् ॥ ४१ ॥**

**गजेनेव मदान्धेन पद्मिनी वनमध्यगा।**
**विशृङ्खलेन विमला येनाऽहं मलिनीकृता ॥ ४२ ॥**

**स त्वं किमिति मां भूयः सान्त्वयस्यमराधम।**
**इति ब्रुवन्तीं प्रोवाच सभयः शापशङ्कितः ॥ ४३ ॥**

**अनुलोमस्तु कंजाक्षि मनुष्यासु दिवौकसाम्।**
**नराणां देवकान्तासु प्रतिलोमो हि सङ्गमः ॥ ४४ ॥**

**जानीहि मामनाग्रास्कं तेन पङ्कजगन्धिनि।**
**तस्मात्ते जायतां पुत्रो मद्वीर्यं न वृथा भवेत् ॥**
**श्रीमान् धीमान् महोत्साहो न मे वाग्जायते मृषा ॥ ४५ ॥**

**इत्येवं वादिनं क्रुद्धा मम माता यशस्विनी।**
**प्राह सन्त्यज्य सन्तप्ता पातिव्रत्यं सुदुर्लभम् ॥ ४६ ॥**

---

1- -1. M,Ma जलाग्निमेदिनीं 2- -2. M,Ma धर्मानवधार्य येन; P,V धर्माश्च तथैव सन्ध्ये 3. M,Ma स भूयः 4- -4 M,Ma स्त्यरोजाक्षि
5- -5. M,Ma नाऽहमागस्कृत्तेन; P,V मामनागस्कृत्ते हि 6. M,Ma °ते 7. V संशप्ता

**वीर०** इमान् जलादीन् द्वादशपुण्यपापसाक्षिणः अतिक्रम्याऽवधीर्य तिरस्कृत्य च येन त्वयेत्थमहं मलिनीकृता। निशेशः चन्द्रः ॥ ४१ ॥

यथा मदान्धेन गजेन्द्रेण पद्मिनी, तद्वत् वनमध्यस्था निर्मला च अहं विशृङ्खलेन लोकवेदमर्यादातिलङ्घिना येन त्वया मलिनीकृता ॥ ४२ ॥

स त्वं मां मलिनीकृतां हे अमराधम! किमिति सान्त्वयसे, इत्थं ब्रुवन्तीं तां स पुनः शापशङ्कितः प्रोवाच ॥ ४३ ॥

तदेवाह - **अनुलोम** इति। हे सरोजाक्षि! मनुष्यासु दिवौकसां सङ्गमोऽनुलोमः क्रमप्राप्तः, न्याय्य एवेति भावः, देवकान्तासु नराणां तु सङ्गमः[1] प्रतिलोमः, अन्याय्य इति जानीहि ॥ ४४ ॥

तेन कारणेन हे पङ्कजगन्धिनि! नाऽहमपराधकृत्। किञ्च, तस्मादनुलोमात् सङ्गमात् श्रीमान् धीमान् महोत्साहश्च पुत्रो जायताम्। सर्वथा मद्वीर्यं न[2-] वृथा[-2] भवेत्, नापि मे वाग्वृथा भवेत् ॥ ४५ ॥

इत्थंवादिनं प्रति क्रुद्धा मम माता सुदुर्लभं पातिव्रत्यं सन्त्यज्य अत एव सन्तप्ता परितप्ता[3] तं प्राह ॥ ४६ ॥

---

1. T,W omit सङ्गमः 2- -2. T,W अन्यथा न 3. T,W omit

**विज०** ननु कथमेतद्दुष्टचेष्टितं किमप्यतिक्रम्य करणाद्गोप्यत्वादिति तत्राह -**इमानिति**। अवधीर्य अवज्ञाय ॥ ४१ ॥

मलिनत्वं सदृष्टान्तमाह - **गजेनेति** ॥ ४२ ॥

अमरैः अधमः गर्हितः "अधमौ गर्हितन्यूनौ" (वैज.को. 7-4-1) इति च देवयोनिषु नीच इति वा। मया कृतस्य कर्मणः सावद्यत्वे जलाग्न्यतिक्रमेण दोषापादनं स्यात् देवयोनित्वेन मम त्वत्संङ्गमोऽनुकूल एव विहितत्वादिति छलाभिसन्धिराह इतीति ॥ ४३ ॥

दिवौकसां देवानां मनुष्यासु स्त्रीषु सङ्गमोऽनुलोमोऽनुकूलः। मनुष्याणां देवस्त्रीषु सङ्गमः प्रतिलोमो विरुद्धः, शन्तन्वादीनां गङ्गादिषु सङ्गमो दृष्टचरः; अतः कथमेतदिति मन्दाशङ्कां पूर्वावस्थामपेक्ष्य दोषशङ्का नास्तीति हिशब्देन परिहरति ॥ ४४-४६ ॥

निस्सेतोर्भिन्नवृत्तस्य पापस्योन्मार्गवर्तिनः[1]।
क्रूरस्ते तनयो भूयात्साहसादिगुणोऽगुणः[2]।
नाऽनुग्राह्यो देवतानां द्विजानां च तपस्विनाम् ॥ ४७ ॥

इत्थं वदन्त्यां तस्यां सः क्रुद्धायां शापशङ्कितः।
तावकानां भवेच्छत्रुरित्युक्त्वाऽन्तरधीयत ॥ ४८ ॥

गते तस्मिन् गृहोद्यानान्माता मम[3] यशस्विनी[4]।
केनाप्यज्ञातवृत्तान्ता गृहानेवाऽभ्यपद्यत ॥ ४९ ॥

---

1. P,V °न्माद° 2- -2 M,Ma °सी निर्दयोऽघृणः ; P,V °सी निर्गुणोदयः। 3. M,Ma म° 4 M,Ma तप°

**वीर०** तदेवाह - **निस्सेतोरिति**। मर्यादातिलङ्घिनः भिन्नं निरस्तं वृत्तं सदाचारो येन तस्य पापात्मनः लोकवेदप्रतिषिद्धाचार-वर्तिनः, तव जनिष्यमाणः तनयः क्रौर्यादिगुणको भूयात् अगुणः, अक्रोधाद्यात्मगुणरहितः देवतानां तपस्विनां द्विजानां[1] निग्राह्यः ॥ ४७ ॥

इतीत्थं तस्यां मन्मातरि ब्रुवत्यां क्रुद्धायां च सत्यां स द्रमिलः शापशङ्कितः मद्यमियं शपेतेति शङ्कितः, तर्हि तावकानां त्वद्बन्धूनामेव शत्रुः भवेदित्युक्त्वाऽन्तर्हितवान् ॥ ४८ ॥

तस्मिन् द्रमिले गृहोद्यानात्[2] गते[3] सति मम माता गृहोद्याने केनाप्यज्ञातः स्ववृत्तान्तो यस्यास्तथाभूता गृहानेव अभ्यपद्यत ॥ ४९ ॥

---

1. T,W omit द्विजानां 2 K adds तस्मात् 3. T,W म°

**विज०** निस्सेतोरित्यस्य विवरणं भिन्नवृत्तस्येति, वृत्तं चरितं अस्य विवरणं उन्मार्गवर्तिन इति, निर्दयः निर्गता करुणा यस्मात्स तथा अघृणः अकृत्यजुगुप्सारहितः "घृणा जुगुप्साकृपयोः" (वैज.को. 6-2-12) इति च। 'दय दान गति शोषणादिषु' इति धातोः यजनादिधर्मशून्यः, घृणा कृपा तया रहितः। तावकानां, देवानामिति शेषः ॥ ४७-४९ ॥

ततस्सा गर्भिणी[1] काले[1] कालेनैव सुषाव माम्।
इति मे नारदः प्राह कदाचिद्भगवानृषिः ॥ ५० ॥

ततः[2] प्रभृत्यहं द्वेष्मि[3] तानेतान् बन्धुदुर्जनान्।
यूयं[4] तत्र प्रमाणं हि द्विषन्तं[5] तेऽपि मां सदा ॥ ५१ ॥

उग्रसेनं च दुर्बुद्धिं[6] देवकं[6] च दुराशयम्।
वसुदेवं च कितव मन्यांश्च तदुपाश्रयान् ॥ ५२ ॥

**हत्वा न जायते दोषो मम गन्धर्वजन्मनः।**
**तेनाऽऽदेक्ष्यामि परुषं हन्येतामिति तावहम् ॥ ५३ ॥**

**ताभ्यां हृताभ्यां बालाभ्यां कुञ्जरेण बलीयसा।**
**कृत्वा पारत्रिकीं पूजां यान्तु तत्पदवीमिमे ॥ ५४ ॥**

---

1- -1. M,Ma गर्भमालम्भ्य 2. P,V तदा 3. M,Ma वेधि 4. K,T,W अत्र 5. M,Ma °न्येतेऽपि 6- -6. M,Ma °द्विमाहुकं 7. Ma पु° 8- -8. P,V भद्रात्मिकीं

**वीर०** ततस्सा गर्भं धृत्वा प्रसवकालेनैव मां सुषाव प्रसूतवती। कथम् अयं वृत्तान्त स्त्वया विज्ञात इत्यत्राह - इतीति ॥ ५० ॥

यदा नारद आह तत आरभ्य अहं बन्धुषु तांस्तान् दुर्जनान् मत्प्रतिकूलान् द्वेष्मि, ऐतेऽपि मां सदा द्विषन्ति। तत्र यूयं प्रमाणं खलु, भवन्तो जानन्ति खल्वित्यर्थः ॥ ५१,५२ ॥

अत उग्रसेनादीन् हत्वा वर्तमानस्यापि मम दोषो न जायते, तत्र हेतुः - [1-]गन्धर्वजन्मन[-1] इति। [2-]गन्धर्वजन्मनः[-2] गन्धर्वात्, न तु उग्रसेनाजन्म उत्पत्तिर्यस्य तस्य ममेति, यतो न दोषस्तेन कारणेनाऽहं आदेक्ष्यामि आज्ञापयामि। किमिति? तौ रामकृष्णौ परुषं यथा तथा हन्येतामिति ॥ ५३ ॥

तावद्बलीयसा कुञ्जरेण कुवलयापीडेन हताभ्यां बालाभ्यां रामकृष्णाभ्यां पूजोपकरणभूताभ्यां पारत्रिकीं परलोकस्थ - वैवस्वताद्युद्देश्यकपूजां कृत्वा इमे वसुदेवादयोऽपि तयोः पदवीं यान्तु। तयोः तावल्लोकान्तरप्राप्तिरेव, वसुदेवादिभिः परत्र कर्तव्या पूजेति भावः ॥ ५४ ॥

---

1- -1. T,W omit 2- -2. K omits

**विज०** बन्धुषु दुर्जनान् बन्धुभूतान् दुर्जनान् वा ॥ ५०-५१ ॥

के ते इति तत्राह - **उग्रसेन मिति** ॥ ५२ ॥

कुतः पितृहत्यादिदोषो नास्तीति तत्राह - ममेति ॥ ५३,५४ ॥

**वसुदेवोग्रसेनौ च [1-]तथा तौ[-1] नन्ददेवकौ।**
**गोपाला यादवाश्चैव येचाऽन्ये ता ननुव्रताः ॥ ५५ ॥**

**पश्यन्तु [3]निभृतै[-3] र्नेत्रै र्हन्यमानौ स्वदारकौ।**
**आहूयन्तां जानपदाः पश्यन्तु स्वैरसंयुगम् ॥ ५६ ॥**

महामात्र त्वया भद्र रङ्गद्वार्युपनीयताम्।
द्विपः कुवलयापीडो जहि तेन ममाहितौ ॥ ५७ ॥

आरभ्यतां धनुर्यागश्चतुर्दश्यां यथाविधि।
विशसन्तु पशून्मेध्यान् भूतराजाय मीढुषे ॥ ५८ ॥

इत्याज्ञाप्याऽर्थतन्त्रज्ञ आहूय यदुपुङ्गवम्।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं तत्राऽक्रूर मुवाच ह ॥ ५९ ॥

---

1- -1. M,Ma तथाऽन्यौ 2. P,V °वनु 3. M,Ma विवृतै°; P,V विविधै° 4. M,Ma ज° 5- -5. M,Ma मम पौरुष्यम् 6. M,Ma तत्त्वज्ञ 7. G,J,K,T,W ततोऽ°

**श्रीध० महामात्रेति।** अहितौ शत्रू ॥ ५५-५७ ॥

**आरभ्यतामिति।** मीढुषे वरदाय ॥ ५८ ॥

**इतीति।** अर्थसिद्धान्तमेव जानातीत्यर्थतन्त्रज्ञः ॥ ५९ ॥

**वीर०** अतो वसुदेवादयः तदनुव्रताश्च सर्वे हन्यमानौ दारकौ बालौ निभृतैः शोकाश्रुजलपूर्णैः नेत्रैः पश्यन्तु। जानपदाः देशवासिनः आहूयन्ताम्। किमर्थम्? स्वैरसंयुगम् पश्यन्तु ॥ ५५-५६ ॥

हे महामात्र! हे भद्र! त्वया कुवलयापीडाख्यो रङ्गद्वार्युपनीयतां प्राप्यताम्। तेन कुवलयापीडेन मम शत्रू जहि घातय ॥ ५७ ॥

चतुर्दश्यां यथाविधि धनुर्याग आरभ्यताम्। मीढुषे इष्टवर्षिणे भूतराजाय रुद्राय मेध्यान् पशून् विशसन्तु ॥ ५८ ॥

इत्थमाज्ञाप्य अर्थतन्त्रज्ञः शास्त्रसिद्धान्ताभिज्ञः कंसः यदुश्रेष्ठं अक्रूरमाहूय तस्य पाणिं स्वपाणिना गृहीत्वा अक्रूरं यथा तथा उवाच ॥ ५९ ॥

---

1- -1. T,W omit.

**विज०** विशसन्तु सूदयन्तु। भूतराजाय भैरवविग्रहधारिणे रुद्राय मीढुषे समर्थाय अभीष्टदात्रे वा ॥ ५५-५८ ॥

अर्थतत्त्वज्ञं प्रयोजनयाथार्थ्यवेत्तारं यदुपुङ्गवं यदुश्रेष्ठम् ॥ ५९ ॥

भो भो दानपते[1] महचं क्रियतां मैत्र मादृतः।
नान्यस्त्वत्तो हिततमो विद्यते भोजवृष्णिषु ॥ ६० ॥

अत स्त्वामाश्रितस्सौम्य! कार्यगौरवसाधनम्[2]।
यथेन्द्रो विष्णुमाश्रित्य स्वार्थमध्यगमद्विभुः[3] ॥ ६१ ॥

गच्छ नन्दव्रजं तत्र सुतावानकदुन्दुभेः।
आसाते ताविहाऽनेन रथेनाऽऽनय मा चिरम् ॥ ६२ ॥

निसृष्टः[4] किल[5] मे[6] मृत्युर्वैवैकुण्ठसंश्रयैः[7-7]।
तावानय समं गोपैः नन्दाद्यैस्साभ्युपायनैः ॥ ६३ ॥

घातयिष्य इहाऽऽनीतौ[8] कालकल्पेन हस्तिना।
यदि मुक्तौ ततो मल्लै घातये वैद्युतोपमैः ॥ ६४ ॥

---

1. P,V दाश 2. P,V °ने। 3. V °भ्य° 4. P,V वि° 5. K °ष्टौ 6. K,T,W खलु 7- -7. K मृत्यू देवै° 8. P,V °हाऽनेन

**श्रीध०** भो भो इति। दाशपते[1]! हे अक्रूर! मैत्रं मित्रकृत्यं त्वया क्रियतां, त्वत्तोऽन्यः आदृतः सादरो हिततमश्च न विद्यत इति ॥ ६०-६२ ॥

निसृष्ट[2] इति। तौ मे मृत्युर्नितरां सृष्टः, वैकुण्ठसंश्रयैः विष्णुसंश्रयैः देवैः ॥ ६३ ॥

किं ततः तत्राऽऽह - **घातयिष्य** इति। कालकल्पेन मृत्युतुल्येन, वैद्युतोपमैः अशनितुल्यैः ॥ ६४ ॥

---

1. J,Va दान 2. P,V वि°

**वीर०** तदेवाह - भो भो इति। आदरात् सम्बोधनद्वयम्। दानपते! महोदार! महचं किञ्चित् त्वया मैत्रं मित्रकृत्यं क्रियताम्, यतस्त्वत्तोऽन्यो हिततमः भोजेषु वृष्णिषु च न विद्यते ॥ ६० ॥

अतस्त्वामेव हे सौम्य! अहमाश्रितः। कथम्भूतम्? गुरुतरकार्यसाधकं, यथा विष्णुमाश्रित्य इन्द्रः स्वार्थं स्वामीष्टम् अध्यगमत् प्राप्तवान् तथाऽहमपि त्वामाश्रितः प्राप्नवानि ॥ ६१ ॥

अतस्त्वं नन्दव्रजं गच्छ। किमर्थम्? तत्र नन्दव्रजे वसुदेवस्य पुत्रौ आसाते तावनेन रथेन इहाऽऽनय प्रापय। चिरं विलम्बं मा कार्षीः ॥ ६२ ॥

किमर्थम्? तत्राह - **निसृष्टाविति**। संश्रीयत इति संश्रयः वैकुण्ठो विष्णुः संश्रयो येषां तैः देवैः तौ मम मृत्यू निसृष्टौ कल्पितौ खलु। अतः साम्युपायनैः नन्दादिभिः गोपैस्सह तौ इहाऽऽनय आनीय दर्शयेत्यर्थः ॥ ६३॥

आनीतौ च तावनेन मृत्युतुल्येन हस्तिना घातयिष्ये। यदि ततो हस्तिना मुक्तौ भविष्यतः तर्हि अशनितुल्यैः मल्लैः चाणूरादिभिः घातये ॥ ६४ ॥

---

1- -1.*T,W omit

**विज०** दानशब्देन वदान्याः लक्ष्यन्ते तेषां पते अक्रूर, मैत्रं मित्रकर्म ॥ ६० ॥

सौम्य! सुन्दर! "सौम्यो विप्रे सोमजेऽब्दे सुन्दरे सोमदैवेते" (वैज.को. 6-5-98) इति च। कार्यगौरवसाधनं समर्थनम् ॥ ६१,६२ ॥

निसृष्टः क्वतृतः अभ्युपायनैः सहितैः ॥ ६३ ॥

वैद्युतो विद्युतो निर्गतोग्निः तस्योपमा येषां तैः ॥ ६४ ॥

**तयो र्निहतयो दृप्तान्[1] वसुदेवपुरोगमान्।**
**तद्बन्धून्निहनिष्यामि वृष्णिभोजदशार्हजान् ॥ ६५ ॥**

**उग्रसेनं मत्पितरं[3] स्थविरं राज्यकामुकम्।**
**तद्भ्रातरं देवकं च[4] ये चान्ये विद्विषो मम ॥**
**ततश्चैषा मही मित्र भवित्री नष्टकण्टका ॥ ६६॥**

**जरासन्धो मम गुरुः द्विविदो[5] दयितस्सखा।**
**शम्बरो नरको बाणो मय्येव कृतसौहृदाः॥**
**तैरहं सुरपक्षीयान् हत्वा भोक्ष्ये महीं नृपान् ॥ ६७ ॥**

**एतज्ज्ञात्वाऽऽनय क्षिप्रं रामकृष्णाविहार्भकौ।**
**धनुर्मखनिरीक्षार्थं द्रष्टुं मधुपुरश्रियम्[7] ॥ ६८ ॥**

---

1. G,J,M,Ma °स्तान् 2. P,V °कान् 3. G,J च पि° 4. P,V महयं 5. M,Ma विविदो; P,V द्विविदो 6. M,Ma °र्याग 7. G,J,M,Ma,P,V यदु

**श्रीध० उग्रसेनमिति** । नष्टकण्टका नष्टशत्रुः। ननु कतिपयाऽसुहृद्वधेन नष्टकण्टका कथं स्यात्तत्राह - जरासन्ध इति॥६५-६७॥

ए[1]तदिति। यदुपुरश्रियं द्रष्टुं[-1] चेति ॥ ६८ ॥

---

1- -1 P,V omit.

**वीर०** ततस्तयोः निहतयोः तमान् दुःखितान् वसुदेवप्रभृतीन् तद्बन्धूंश्च वृष्ण्यादीन् हनिष्यामि तथा स्थविरमप्यधुनापि राज्यमेव कामयमानं मत्पितरं उग्रसेनं तस्य भ्रातरं देवकं च तथा योऽन्ये च मम विद्विषस्तान् सर्वान् हनिष्यामि। ततश्चैवं सति हे मित्र! इयं पृथ्वी नष्टकण्टका नष्टशत्रुः भविष्यति ॥ ६५, ६६ ॥

**कुतः** त्वं सर्वान्हन्तुं प्रभुः? तत्राह - **जरासन्ध** इति। द्विविदो वानरः प्रियः[1] सखा[-1] शम्बरादयोऽसुराः मयैव सह कृतं सौहृदं यै स्तथाभूताः तै र्जरासन्धादिभिः सहितोऽहं सुरपक्षीयान् नृपान् हत्वा महीं भोक्ष्ये अनुभविष्यामि॥ ६७॥

एतत्सर्वं मया चिकीर्षितं ज्ञात्वा तौ रामकृष्णौ अर्भकाविह आनय। ननु वां हन्तुं कंसः आहूतवानित्युक्ते सति तौ पलायेतां तत्राह - धनुरिति। धनुर्मखनिरीक्षणार्थं मधुपुरश्रियं च द्रष्टुमाहूतवानिति त्वया वाच्यमित्यर्थः ॥ ६८॥

---

1- -1. T,W प्रियसखः

**विज०** मत्पितर एव एते इति शेषः। मे मित्र मवित्री भविष्यति ॥ ६५,६६ ॥

ननु त्वत्तोधिका जरासन्धादयः कण्टकाः सन्ति तत्राह - **जरासन्ध** इति ॥ ६७ ॥

आनयने निमित्तमाह - धनुरिति। धनुर्यागलक्षणोत्सवार्थम् ॥ ६८ ॥

## अक्रूर उवाच

**राजन् मनीषितं सम्यक्[-1] तव स्वावद्यमार्जनम्[2]।**
**सिध्यसिध्योः समो[3-] भूयात्[3-] दैवं हि फलभावनम्[4] ॥ ६९ ॥**

**मनोरथान् करोत्युच्चैः जनो दैवहतानपि।**
**युज्यते हर्षशोकाभ्यां तथाप्याज्ञां करोमि[5] ते ॥ ७० ॥**

## श्रीशुक उवाच[6-] [-6]

**एवमादिश्य[7-] चाऽक्रूरं[-7] मन्त्रिणश्च विसृज्य सः।**
**प्रविवेश गृहं कंसः तथाऽक्रूरः स्वमालयम् ॥ ७१ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
अक्रूरसम्प्रेषणं नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

---

1. G,J,P,V सध्र्यक् 2. M,Ma चा° 3- -3. G,J,M,Ma समं कुर्यात् 4. G,J साधनम् 5. M,Ma अथा° 6- -6. M,Ma omit 7- -7. K,T,W इत्युक्तवन्तमामन्त्र्य

**श्रीध० राजन्निति**।[1] मनीषितं विचारितं सध्र्यक् सम्यक् स्वावद्यं मरणं तन्मार्जनं, तथाऽप्येतावान् अभिनिवेशो न कार्य इति, भविष्यत् सूचयन्नाह - सिद्धयोसिद्धयोरिति ॥ ६९ ॥

पुरुषकारस्य व्यभिचारमाह[2] - **मनोरथानिति** ॥ ७०, ७१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

---

1. J,Va add तत्र स्व° 2. P,V चारिता°

**वीर०** इत्यमुक्तः प्राह अक्रूरः - **राजन्निति**। स्वावद्यं स्वमरणं तस्य मार्जनं परिहार इति यत् तव मनीषितं विचारितं तत् सम्यगेव, तथाप्यत्राऽभिनिवेशो न कार्य इति भविष्यत्सूचयन्नाह - सिद्धयोसिद्धयोरिति। हि यस्माद्दैवं फलभावनं फलदम्। अतः सिद्धयोसिद्धयोस्समः कर्म कुर्यात् ॥ ६९ ॥

पुरुषकारस्य व्यभिचारमाह - **मनोरथानिति**। दैवहतानप्युच्चैः मनोरथान् करोति, जनः स्वसुखार्थकर्मणा दुःखेन युज्यते, कदाचित् सुखेन, तथा परदुःखार्थेन स्वयमेव दुःखेन युज्यते, परस्तु सुखेनैवेति। यद्यप्येवं तथापि तव आज्ञां करोमि ॥ ७० ॥

इत्युक्तवन्तं अक्रूरं, आमन्त्र्य पृष्ट्वा अनुज्ञाप्य वा, मन्त्रिणो विसृज्य आज्ञाप्य कंसः स्वगृहं प्रविवेश। तथाऽक्रूरश्च स्वगृहं प्रविवेश ॥ ७१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

**विज०** मनीषितं मनसा कर्तुमिष्टं मरणं ज्ञात्वापि परिहारप्रयत्नो न कृत इति यत्, अत आत्महत्यालक्षणं यदवद्यं तस्य मार्जनं परिहरणं भवति। फलनिष्पत्तिमज्ञात्वा प्रयत्नो व्यर्थ इति न निरूप्यः इत्याह - सिद्धीति। फलसिद्धावसिद्धौ च हर्षशोकाभ्यां न विषमो भूत्वा कर्म कुर्यादिति विधिशास्त्रं, तर्हि फलावाप्तिः किमधीनेति तत्राह - दैवमिति। फलभावनं फलकारणम् ॥ ६९ ॥

तर्हीदं नापेक्षितं किं, नेत्याह - **मनोरथानिति**। जनेन क्रियमाणत्वात् त्वयाप्यनुष्ठेय मिति भावः, यद्यपि फलसिद्धिः हर्षधीना, तथापि ॥ ७०,७१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
टीकायां षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

(विजयध्वजरीत्या चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥)

---

# सप्तत्रिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या पञ्चत्रिंशोऽध्यायः)

-: केशिसंहारघट्टः :-

श्रीशुक उवाच

केशी तु कंसप्रहितः खुरैर्महीं महाह्रयो[1] निर्जरयन्[2]मनोजवः[3]।
सटावधूताभ्रविमानसङ्कुलं कुर्वन्नभो हेषितभीषिताखिलः ॥ १ ॥

विशालनेत्रो विकटास्यकोटरो बृहद्गलो नीलमहाचलोपमः[5-5]।
दुराशयः[6] कंसहितं चिकीर्षुः[7] व्रजं स नन्दस्य जगाम कम्पयन् ॥ २ ॥

तं त्रासयन्तं भगवान् स्वगोकुलं[8] तद्वेषितैर्वालविघूर्णिताम्बुदम्[9]।
आत्मान माजौ मृगयन्त मग्रणी रुपाह्वयत्स व्यनदन्मृगेन्द्रवत् ॥ ३ ॥

स तं निशाम्याऽभिमुखो[10] मु[11-] खेन ख[-11] पिबन्निवाऽभ्यद्रवदत्यमर्षणः।
जघान पद्भ्या मरविन्दलोचनं दुरासदश्चण्डरवो[12] दुरत्ययः ॥ ४ ॥

तद्बञ्चयित्वा तमधोक्षजो रुषा प्रगृह्य दोर्भ्यां परिपीड्य[13] पादयोः।
सावज्ञ मुत्सृज्य धनुश्शतान्तरे यथोरगं तार्क्ष्यसुतो व्यवस्थितः ॥ ५ ॥

स लब्धसंज्ञः पुनरुत्थितो रुषा[14] व्यादाय केशी तरसाऽपतद्धरिम्।
सोऽप्यस्य वक्त्रे भुजमुत्तरं स्मयन्प्रवेशयामास यथोरगं बिले ॥ ६ ॥

---

1. P,V महत्तया 2. K,T,W °र्झ°. M,Ma °र्द° 3. P,V °न्महाह्रयः 4. M,Ma हे° 5- -5. G,J,M,Ma महाम्बुदो° ; K महाघनो 6. P,V °सदः 7. P,V °र्धन् 8 T,W स गो° 9. M,Ma स्वहे° 10. J,M,Ma °श° 11- -11. M,Ma नभस्ततं 12. G,J,M,Ma °जवो 13. G,J,K,T,W विध्य 14. M,Ma मुखम्

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

सप्तत्रिंशे हते केशिन्यच्युतो भाविकर्मभिः। नारदेन स्तुतः क्रीडन् व्योमासुरमथाऽवधीत्॥

वृषवेषासुरं यद्वत् केशिनं हयवेषिणम्। कंसप्राणसमं[1] हत्वा कंसं व्यसुमिवाऽकरोत्॥

**केशीति**। प्रथमश्लोकेन य एवम्भूतः केशीत्यनूद्य तं भगवानुपाह्वयदिति तृतीयेनाऽन्वयः। महाहयस्सन् महीं निर्जरयन् स्तथयन् विदारयन्नित्यर्थः। सटाभिः केसरैः अवधूतानि इतस्ततः क्षिप्तानि अभ्राणि विमानानि च तैः सङ्कीर्णं नभः कुर्वन् हेषितैः अश्वजातिशब्दैः भीषितमखिलं विश्वं येन सः ॥ १,२ ॥

**तमिति**। तद्धेषितैः तैरतिनिष्ठुरै र्हेषितैः वालैः पुच्छरोमभिः विघूर्णिताः परिभ्रमिता अम्बुदा येन तम्। आजौ सङ्ग्रामार्थं आत्मानं कृष्णं अग्रणीः पुरतो निर्गतस्सन् उपाह्वयत् स्वसमीपमाजुहाव। स च केशी तं निशम्य मृगेन्द्रवन्नादमकरोत्॥ ३॥

**स** इति। ततः स[2] केशी तं कृष्णं दृष्ट्वा मुखेन खं पिबन्निव मुखं व्यादाय[3] विवृत्य अभिमुखम्[4-] अभ्याजगाम[-4]। किञ्च अत्यमर्षणः अतिकुपितः अत्यन्त मसहमानो वा, प्रत्यक् पद्भ्यां जघान। दुरासदः अन्यै रभिभवितुमशक्यः दुरत्यय उद्यतस्सन् दुरतिक्रमः, अत्र हेतुः चण्डरवः[5] [6] ॥ ४ ॥

**तदिति**। तत् हननं वञ्चयित्वा तञ्च हननाय प्रसारितयोः पादयोः हस्ताभ्यां गृहीत्वा परिविध्य भ्रामयित्वा व्यवस्थितः। तथैव स्थितो बभूव ॥ ५ ॥

**स** इति। व्यादाय मुखं प्रसार्य वेगेन हरिं प्रत्याद्रवत्। सोऽपि हरिर्हसन् उत्तरं सव्यं भुजम्। निर्भयत्वे दृष्टान्तः- यथोरगं बिल इति ॥ ६ ॥

---

1. J,Va सखं 2. J,Va omit सः 3. J,Va omit व्यादाय 4- -4. J,Va °खस्सन्नभिज° 5. J,Va °जवः 6. J,Va add चण्डस्तीव्रो जवो वेगो धावनं यस्य

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

"प्रतियाते तु देवर्षौ कंस आहूय केशिनम्। प्रेषयामास" (भाग. 10-36-20) इत्युक्तम्। प्रेषितस्स किमकरो-दित्यत्राऽऽह-**केशीत्वि**त्यादिना। केशी नामाऽसुरः तेन प्रेषितो महाश्वस्सन् मनस इव वेगो यस्य सः। खुरैर्महीं पृथ्वीं निर्झरयन्विदारयन् सटाभिः केसरैः अवधूतानि इतस्ततः क्षिप्तानि अभ्राणि विमानानि च, तैस्सङ्कीर्णं नभः कुर्वन् हेषितै रश्वजातिशब्दैः भीषित मखिलं विश्वं येन ॥ १ ॥

विशाले नेत्रे यस्य, विकटं विशाल मास्यबिलं यस्य, बृहत् पीनो दीर्घश्च गलो यस्य, नीलो महांश्च, घनो मेघ उपमा यस्य, दुराशयः दुष्ट आशयः कृष्णजिघांसाभिप्रायो यस्य, सः प्रसिद्धः कंसस्य हितं कर्तुमिच्छुः नन्दस्य व्रजं कम्पयञ्जगाम ॥ २ ॥

हेषितैः तत् स्वस्थं गोकुलं त्रासयन्तं भीषयन्तं[1-] [-1] वालैः पुच्छरोमभिः विघूर्णिताः[2] परिभ्रामिताः अम्बुदा येन तम्। आजौ युद्धे निमित्ते आत्मानं कृष्णं मृगयन्तं अन्वेषयन्तं, तं केशिनम् अग्रणीः अग्रे पुरतो निर्गतस्सन् भगवान् आह्वयत्, आजुहाव; स केशी रुषा मृगेन्द्रवन्नादमकरोत् ॥ ३ ॥

तत स्स केशी तमाह्वयन्तं कृष्णं निशाम्य अवलोक्य अभिमुखस्सन् मुखेन खं[4] आकाशं पिबन्निव, अत्यमर्षणः अत्यन्तक्रोधयुक्तः अभ्यद्रवत् अभ्यपतत्। किञ्च। प्रत्यक् पद्भ्यां अरविन्दलोचनं कृष्णं जघान ताडितवान्। कथम्भूतः? दुरासदः अन्यैरभिभवितु मशक्यः, चण्डः दुरतिक्रमो जवो वेगो यस्य सः ॥ ४ ॥

तद्धननं वञ्चयित्वा तं केशिनं हननाय प्रसारितयोः पादयोः हस्ताभ्यां गृहीत्वा परिविध्य भ्रामयित्वा धनुश्शतान्तरे धनुश्शतपरिमितदूरे सावज्ञं[5] सावहेलनं यथा तथा उत्सृज्य पातयित्वा व्यवस्थितः, यथा तार्क्ष्यसुतो गरुत्मान् उरगमुत्सृज्य व्यवतिष्ठते, तद्वत् ॥ ५ ॥

स केशी लब्धा संज्ञा चेतना येन सः, मूर्च्छितः पुनर्लब्धस्मृतिरित्यर्थः। पुनरुत्थितः रुषा व्यादाय, वक्त्र मिति[6] शेषः। बलेन पुनः हरिं प्रति अभ्यद्रवत्। तदा हसन् निर्भयः सोऽपि हरिरपि अस्य केशिनो वक्त्रे सव्यं भुजं प्रवेशयामास। निर्भयत्वे दृष्टान्तः, यथोरगं बिल इति। यथा सर्पविद्यावित् सर्पं बिले प्रवेशयति तद्वत्। यद्वा सर्पभोगवद्दीर्घं भुजं बिलवदुष्प्रवेशे तदास्यकुहरे प्रवेशयामासेति दृष्टान्तार्थः ॥ ६ ॥

---

1- -1. T omits 2. T,W omit अग्रणीः 3. K omits अग्रे 4. T,W omit खं 5. T,W omit सावज्ञं 6. T,W ° मित्यर्थः।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

श्रोतॄणां मन्तॄणां प्रवक्तॄणां ध्यातॄणां च बुद्धचारोहार्थं सङ्कलय्य[1] भगवद्विक्रमं वर्तमानं वर्तिष्यमाणञ्च कथयत्यस्मिन्नध्याये। तत्राऽऽदौ केशिदैत्यवधलक्षणं भगवद्विक्रमं वक्तुमाह केशीति। निर्दयन् भिन्दन्। मनोजववत् जवो यस्य स तथा। अभ्राणि च विमानानि च अभ्रविमानानि सटाभिः स्कन्धदीर्घरोमभिः अवधूतानि अभ्रविमानानि तैः सङ्कुलम्। हेषितेन अश्वजातिशब्दितेन भीषितमखिलं यस्य स तथा। "हेषा हेषा च वाजिनाम् (हला.को. 1-151) इति हलायुधः ॥ १ ॥

विकटं विस्तृतं आस्यकोटरं मुखगर्तं यस्य स तथा। दुराशयः दुष्टाभिप्रायः कृष्णहननलक्षणो यस्य स तथा॥२॥

वालेन पुच्छेन विघूर्णितो विभ्रान्तोऽम्बुदो यस्य स तथा तम्, आजौ क्षेपार्थं मात्मानं स्वं मृगयन्तं विचिन्वन्तम्। अज गतिक्षेपणयो रिति धातुः। युद्धे वा। इयमपि तादर्थ्ये सप्तमी। अग्रणी स्तस्याऽभिमुखे स्थितः ॥ ३ ॥

तं नादम् ॥ ४ ॥

तद्धननं सावज्ञं अवमानसहितमिति क्रियाविशेषणम् ॥ ५ ॥

मुखं व्यादाय विदार्य ॥ ६ ॥

---

1. Ma सङ्कल्प्य

दन्ता निपेतु र्भगवद्भुजस्पृश स्ते केशिन स्तप्तमयस्स्पृशो यथा।[1]
बाहुश्च तद्देहगतो महात्मनो यथाऽऽमयस्संववृधे हचुपेक्षितः ॥ ७ ॥

समेधमानेन स कृष्णबाहुना निरुद्धवायुश्चरणांश्च विक्षिपन्।[2]
प्रस्विन्नगात्रः परिवृत्तलोचनः पपात लण्डं विसृजन् क्षितौ व्यसुः ॥ ८ ॥

तद्देहतः कर्कटिकाफलोपमाद्व्यसो रपाकृष्य भुजं महाभुजः।[3]
अविस्मितोऽयत्नहतारि रुस्रियैः[4] प्रसूनवर्षै[5] स्मरैस्स ईडितः[6] ॥ ९ ॥

## श्रीकृष्णं प्रति नारदागमनघट्टः

देवर्षिरुपसङ्गम्य भागवत्प्रवरो[7] नृप।
कृष्णमक्लिष्टकर्माणं रहस्येतदुवाच ह[8] ॥ १० ॥

कृष्ण कृष्णाऽप्रमेयात्मन्योगेश[9] जगदीश्वर।
वासुदेवाऽखिलाऽऽवास[10] सात्त्वतां प्रवर प्रभो ॥ ११ ॥

त्वमात्मा सर्वभूतानामेको ज्योति रिवैधसाम्।
गूढो गुहाशय स्साक्षी महापुरुष ईश्वरः ॥ १२ ॥

---

1. G,J,M,Ma उ° 2. G,J लेण्डं; M,Ma लाबं 3. T,W अप° 4. M,Ma ऽयं निहतारि° 5. G,J,K,P,V ° रुत्स्मयैः 6- -6. G,J,P,V ° र्दिविषद्भिरीडितः; M,Ma वबृषद्भिरीडितः 7. ,Ma भगवत्प्रवरो; P,V भगवत्प्रवणो 8- -8. G,J °स्येतदभाषत; M,Ma °सीदमभाषत 9 T,W °गी° 10. K °SSधार

श्रीध० ततः किं, तदाह दन्ता इति। चर्वणाय भगवद्भुजं स्पृशन्तीति तथा, ते, व्यादानेन ये विवृताः अयो लोहं, स्पृशन्तीति स्पृशः। यद्वा, तप्तमयं मतितप्तं लोहादि स्पृशन्तो यथेति। आमयो जलोदरः ॥ ७ ॥

समेधमानेनेति। लण्डं पुरीष मुत्सृजन् ॥ ८ ॥

तदिति। कर्कटिकाफलं हि पक्वं सत् आद्यन्तं विदीर्णं भवति, तद्वद्विदीर्णात्तस्य देहात् व्यसोः विगतप्राणात्। अविस्मितो गर्वरहितः, अयत्नेन हतोऽरिर्येन सः। ★ कंसाय कृष्णमादिश्य तद्रहस्यादिपेशुनैः। कंसघातादि कृष्णस्य कार्य मावेदय न्मुनिः॥ ९ ॥

तदाह देवर्षिरित्यादिना। देवर्षिरिति। न चाऽयं सूचकः। किन्तु सर्वसुहृदित्याह भागवत्प्रवण इति ॥ १० ॥

अस्मद्गृहस्यं वैरिणि कंसे कथं[8] सूचितवानिति मा शङ्कीरित्याह — **कृष्ण कृष्णेति**[9]। अयं भावः — त्वमीश्वरो भूभारदैत्यसंहारायाऽवतीर्णोऽसि। अत स्तदनुरूपाऽऽचरणेन विश्वं परिपालयेति। तत्र त्वयि तावद्भयशङ्कैव नाऽस्तीत्याह — अप्रमेयात्मन्[10]! अपरिच्छिन्नस्वरूप! योगेश! अचिन्त्यप्रभाव! जगदीश्वर! विश्वनियन्तः! वासुदेव! सर्वभूतेषु वर्तमान! अखिलावास! सर्वस्याश्रय! सम्प्रति सात्त्वतां प्रवर! श्रेष्ठ! प्रभो! सर्वशक्ते ॥ ११ ॥

कथमेवं रूपोऽहमिति चेत् अत आह — **त्वमिति**। नहि त्वं जीववत्परिच्छिन्नः; किन्तु सर्वभूतानाम् अन्तः[11] एकोऽनुस्यूत आत्मा। अन्तरनुस्यूतत्वे दृष्टान्तः — एधसां काष्ठानामन्तर्ज्योतिरिवेति। भूतेषु स्थितोऽपि तै र्न दृश्यस इत्याह — गूढ इति। अत्र हेतवः — गुहाशयः बुद्धेरप्यन्तरः। किञ्च, साक्षी न हि साक्षी दृश्यत इत्यर्थः। अपि च महापुरुषः, अतः परिच्छिन्नमतिभि र्न ज्ञायस इत्यर्थः। तर्हि सर्वान्तरत्वे किं प्रमाणमत आह — ईश्वर इति। न हि ईश्वरं विना परतन्त्राणां जीवानां प्रवृत्तिर्घटत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

---

1. J,Va °स्य। 2. J,Va ते° 3 P,V अत्य° 4. P,V °शी° 5. P,V omit °यसोः * श्रीधरीयोऽयं श्लोकः 6. P,V add अनर्थ 7- -7. J,Va भागवतप्रवर 8. J,Va omit कथं 9. J,Va °त्यादिना। 10. J,Va omit त्व 11. J,Va अन्तर ए°

**वीर०** ततः किं, तदाह — **दन्ता** इति। भगवद्भुजं संस्पृशन्तीति[1] तथा ते तस्य केशिनो दन्ता निषेतुः। यथा तप्तमयः तप्तं लोहपिण्डं स्पृशन्तो निपतन्ति तद्वत्। तस्य केशिनो देहे प्रविष्टो महात्मनो भगवतो भुजस्तु ववृधे एधाम्बभूव। यथा उपेक्षितः अचिकित्सितः आमयो जलोदरो वर्धते तद्वत् ॥ ७ ॥

स केशी सम्यगेधमानेन कृष्णस्य बाहुना निरुद्धः वायु श्वासो यस्य सः, चरणान्विक्षिपन् इतस्ततश्चालयन् प्रस्विन्नं प्रस्वेदयुक्तं शरीरं यस्य, परिवृत्ते परिभ्रममाणे लोचने यस्य सः, विगतप्राणो लण्डं पुरीषं विसृजन् भूम्यां पपात ॥ ८ ॥

कर्कटीकाफलं हि पक्वं सत् आद्यन्तविदीर्णं भवति, तद्वत् विदीर्णत्तस्य केशिनो देहात् व्यसो गतप्राणात् महाभुजो भगवान् भुज माकृष्टवान्। अविस्मितो[2] गर्वरहितः अयत्नेन हतोऽरिश्शत्रुर्येन सः, प्रसूनवर्षाणि वर्षद्भिरुग्रियैः[3] देवैः ईडितः स्तुतः बभूव ॥ ९ ॥

अथेत्थं हतकेशिने भगवतेऽनन्तरं कर्तव्यमावेदयति देवर्षिरित्याह[4] — **देवर्षिरिति**। हे नृप, भागवतश्रेष्ठो देवर्षिर्नारदः उदारचेष्टितं कृष्णमुपसङ्गम्य रहसि एकान्ते[5] एतद्वक्ष्यमाण मुवाच ॥ १० ॥

तदेवाऽऽह **कृष्णेति**। सर्वज्ञं कर्तव्याभिज्ञमपि भगवन्तं त्वरयन्निवाऽऽवेदयितुं तावत्कृतं केशिवधमभिनन्दितुकामः तावत्स्वसङ्कल्पमात्रपरिकृप्तजगत्पालनार्थमवतीर्णस्य तव दुष्कृद्विनाशनमुचितमेवेत्यभिप्रयन् स्तौति — **कृष्णेति**[6] द्वाभ्याम्। यतोऽप्रमेयात्मत्वादिगुणक स्तत आत्मनैवात्माश्रय स्सृजसीति हेतुहेतुमद्भावपरतया व्याख्येयम्। कर्त्रादिनैककारकसाध्या हि सर्वा क्रिया लोके दृष्टा। जगत्सृष्ट्यादिक्रिया तु कर्त्रादिकारकषड्भावापन्नत्वदेकसाध्येत्युच्यते। पूर्वं सृष्टेः प्राक्, त्वम् आत्मना स्वेनैव कर्त्रा आत्मा स्वयमेव आश्रय आधारो यस्य तथाभूतः मायया स्वसङ्कल्पेनैव गुणान् स्वशरीरभूतप्रधानगुणकार्यभूतान्

**महदादीन् सृजसीति हि तदर्थः।** "तदात्मानं स्वय मकुरुत" (तैत्ति. उ. 2-7) "ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्" (तैत्ति.ब्रा. 2-8-9-6)। "आत्मन आकाश स्सम्भूतः" (तैत्ति.उ. 2-1-1) इत्यदिश्रुते रिति भावः। तत्रैकस्यैवानेक कारकभावोपयुक्तगुणवत्तां वदन् सम्बोधयति — **अप्रमेयात्मन्नित्यादिभिः।** कथमेकस्यानेककारकभावापत्तिरित्यतस्सम्बोधयति- **योगेशेति। विविधविचित्रानन्तशक्ते इत्यर्थः।** ननु महदादय एव सृज्या न त्वहम्, तत्राऽऽह- **अप्रमेयात्मन्!** अपरिच्छेद्यस्वरूप! **अनेन सर्वसृज्यशरीरकत्वेन सर्ववस्तुसामानाधिकरण्यार्हत्वात् स्वयमेव सृज्य इति भावः।** ननु चतुर्मुखादयस्सृष्टयादि कर्तारो न त्वहम्। तत्राऽऽह जगदीश्वर! जगन्नियन्तः! कार्यभूतजगदन्तर्भूत चतुर्मुखादि नियन्तृत्वेन तद्गतं कर्तृत्वं त्वय्येव पर्यवसन्नमिति त्वमेव कर्तेति भावः। ननु ब्रह्माण्डादिः[7] आधारो न त्वहम्, इत्यत आह वासुदेवेति। वासुदेवशब्दार्थं वदन् सम्बोधयति — **अखिलाधारेति।** अखिलस्य ब्रह्माण्डतदन्तर्गतादिवस्तुनः आधारभूत![8] अखिलमाधारो व्याप्यं यस्य तथाभूतेति चार्थः। नन्वेवम्भूतः परमात्मा नत्वहम्। इत्यत आह- सात्त्वतां प्रवर![8] सात्त्वतामिति कर्तरि षष्ठी। सात्त्वद्भिर्भक्तैः प्रकर्षेण व्रियमाणेत्यर्थः।[9] परमात्मैव सन् भक्तैस्समाश्रयणीयत्वाय एवंरूपेणाऽवतीर्ण इत्यर्थः। प्रभो! अकर्मवश्य! ॥ ११ ॥

परमात्मत्वमेवोपपादयति — **त्वमिति।** सर्वभूतानां ब्रह्मादिस्थावरान्तानां, महदादिपृथिव्यन्तानाञ्च एक स्त्वमेव आत्मा अन्तः प्रविश्य प्रशासनेन धारकः। एकस्सर्वत्रैकरूपः व्याप्यवस्तुगत विकाररहित इत्यर्थः। इदमेव हि परमात्मत्वं, यत्सर्वानुप्रवेशतद्गतधर्मास्पर्शनियमनैर्भर्तृत्वम्। एकत्वे दृष्टान्तमाह — **यथैधसां** काष्ठानामन्तर्ज्योति रेधोगतवक्रत्वादिभि र्न स्पृश्यते तद्वदित्यर्थः। यद्यहं सर्वभूताना मात्मा, तर्हि तैः दृश्येय इत्यत आह **गूढ** इति। अत्राऽपि ज्योतिरिवैधसा मित्येतत् दृष्टान्ततया योज्यम्। यथैधस्सु ज्योतिस्तन्तर्गतमपि गूढं, मथनाद्युपायमन्तरेण नतेभ्यो विविच्य दृश्यते तथा योगविशुद्धमनसा विना न दृश्यत इत्यर्थः। क्व गूढ इत्यत आह- **गुहाशयः।** गुहायां हृदयकुहरे जीवे वा शेत इति तथा कारणत्वोपयुक्तं सार्वस्त्र्यमाह — **साक्षीति।** सर्वस्य साक्षाद्द्रष्टा, सर्वज्ञ इत्यर्थः। अत एव महापुरुषः ब्रह्मादिजीवविलक्षणः पुरुषः, ईश्वरस्त्वेषा मधिपतिश्च ॥ १२ ॥

---

1. K omits सं 2. T,W अप° 3. K °रूत्स्मयैः 4. T,W °यदे° 5. T,W omit एकान्ते 6. T,W °लिवेद° 7. K adds जगत् 8. K adds इति। 9. K adds इत्यर्थः°।

**विज०** तप्तं अयोनाम लोहं स्पृशन्तः तप्तमयं तापात्मानं पदार्थं स्पृशन्तीति, तप्तमयस्पृश इति वा। उपेक्षितः आमयो व्याधिः ॥ ७ ॥

विक्षिपन्तिस्ततः प्रसारयन् लम्बं शकृत्। "तुगस्य शकृल्लम्बं तल्लाप्राकारकोशयोः" इति च, कोशं वा ॥८॥

कर्कटी कर्कन्धूलता तत्फलसदृशं उर्वारुकवत् मृदुलमित्यर्थः। कर्कट्याः फलं गर्भः तत्सदृशं, प्रसवे स्वयं म्रियते यथा तथा। भुजापकर्षेण मृत इत्यर्थः। व्यसो मृतस्य उस्रियै र्देवैः। "उस्रिया अमरा देवा स्त्रिदिवेशा दिवौकसः" इति च। **प्रसूनवर्षैः** फलपुष्पसमूहैः "प्रसूनं फलपुष्पयोः" (वैज.को. 7-3-22) इति च। बवृषद्भिरित्यत्र ताच्छीलिकः शतृप्रत्ययः। अवेत्यत्र अकारलोपश्च। तेन अयं वर्षः औत्पत्तिको गुणो लक्ष्यत इति ॥ ९,१० ॥

अप्रमेयात्मन् अपरिच्छेद्यस्वभाव। नन्वेवं चेत् "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः" (कठ.उ. 4-12) इत्यादिपरिमाणवचनस्य का गतिरिति तत्राऽऽह योगेशेति। योगिनां योगविषयत्वेन स्वेच्छाविग्रहग्रहणेन तदुपपत्तेः। योगेशत्वस्य वायुविषयत्वमिति मन्दाशङ्कां निरस्यति जगदीश्वरेति "आत्मन् एष प्राणो जायते आकाशाद्वायुः प्राणः श्रद्धा खं वायुः" इत्यादिश्रुतेः। वायोर्जगदन्तःपातित्वेन तदीशत्वं न पृथग्वक्तव्यमिति भावः। कृष्णशब्दस्य बह्वर्थविषयत्वेन उक्तविशेषणविशिष्टः क इति संशयनिवृत्तिः कथमिति तत्राऽऽह वासुदेवेति। वासुदेवशब्दस्यार्थान्तरमाह अखिलेति। नन्वेवञ्चेत् संशय स्तदवस्थ इति तत्राऽऽह-सात्त्वतामिति। नन्वनेन सात्त्वज्जातिश्चेष्ट इत्येवाऽऽयातं न तु तदाधिपत्यमित्यत उक्तं प्रभो इति — "समर्थेऽधिपतौ प्रभुः" (वैज.को. 6-4-10) इति ॥ ११ ॥

उक्तविशेषणाना मन्यत्राऽपि कथञ्चिद्वृत्तिसम्भवेनाऽपि विष्णुत्वानिश्चय इति तत्राऽऽह **त्वमिति**। प्रत्यगात्मा अन्तर्यामीत्यर्थः। ईदृशोऽन्यो नास्तीत्याह एक इति। एकस्य च बहुष्ववस्थानं कथमिति तत्राऽऽह ज्योतिरिति। मथनादिना दृग्विषयत्वेन अग्ने स्सत्ता ज्ञायते, न तवेति तत्राऽऽह गूढ इति। कथं गूढत्वमित्यत उक्तं गुहेति। हृदयगुहायां शेत इति जीववत्। तर्हि त्वं संसारी चेतनः किं न? इत्याह साक्षीति। संसारिणामुनष्ठीयमानयोः पुण्यपापयो र्द्रष्टा वायो रन्तःस्थत्वेन साक्षित्वेऽपि मुख्यसाक्षित्वं तवेत्याशयेनाऽऽह — महापुरुष इति, पुरुषोत्तम इत्यर्थः। पुरुषोत्तमस्यैव मुख्यसाक्षित्वं यतोऽत ईश्वरत्वं तस्यैव मुख्यं न पशुपतेरिति भावेनाऽऽह ईश्वर इति ॥ १२ ॥

आत्मनाऽऽत्माश्रयः पूर्वं मायया सृजसे[1] गुणान्।
तैरिदं सत्यसङ्कल्पः सृजस्यत्स्यवसीश्वर![2]! ॥ १३ ॥

स त्वं भूभारभूतानां[3] दैत्यप्रमथरक्षसाम्।
अवतीर्णो विनाशाय साधूनां[4] रक्षणाय च ॥ १४ ॥

दिष्ट्याऽद्य[5] निहतो दैत्यो लीलयाऽयं हयाकृतिः।
यस्य हेषितसन्त्रस्तास्त्यजन्त्यनिमिषा दिवम्[6] ॥ १५ ॥

चाणूरं मुष्टिकञ्चैव मल्लानन्यांश्च हस्तिनम्।
कंसञ्च निहतं द्रक्ष्ये परश्वोऽहनि ते विभो ॥ १६ ॥

तस्याऽनु[7] शङ्खयवनमुराणां नरकस्य[8] च।
पारिजातापहरणमिन्द्रस्य च पराजयम् ॥ १७ ॥

उद्वाहं वीरकन्यानां वीर्यशुल्कादिलक्षणम्।
नृगस्य मोक्षणं शापाद्द्वारकायां जगत्पते[9] ॥ १८ ॥

---

1. G,J ससृजे; P,V संसृजे 2. G,J,M,Ma,P,V °रः 3. G,J,P,V भूभर; M,Ma भूभर 4. G,J सेतूनां 5. G,J,K,M,Ma दिष्ट्या ते 6. M,Ma अस्य 7. M,Ma °तस्य ह° 8. K,T,W भवम् 9. G,J,M,Ma °पा°

**श्रीध०** अहमीश्वरः अन्यत्सर्वं मीशितव्य मित्येतदेव कुतः? अत आह — **आत्मनेति**। साधनान्तरनिरपेक्ष एव, आत्माश्रयः स्वतन्त्रः मायया शक्त्या गुणान् भवान् ससृजे सृष्टवान्। तैः सृष्टैः गुणैः इदं विश्वं सृजसि, अत्सि संहरसि, अवसि पालयसि। ननु सृष्टयादिक्रिया षट्कारकसाध्यैव दृष्टेत्यत आह — सत्यसङ्कल्प इति। न हि सङ्कल्पैकसाध्यै बहिस्साधनापेक्षेति भावः। अतस्त्वमीश्वर इत्युपसंहारः ॥ १३ ॥

प्रस्तुतमाह — **स** इति। भूधरभूतानां भुवं धरन्तीति भूधरा राजानः, तद्रूपाणाम् ॥ १४,१५ ॥

**चाणूरमिति**। परश्वः अहनीति। अद्यैव अक्रूर एष्यति, श्वो मधुरां गन्तासि, परश्वश्चाणूरादीन् त्वया निहतान् द्रक्ष्यामीति सिद्धवन्निर्देशो विज्ञापनप्रकारविशेषः ॥ १६ ॥

**तस्येति**। तस्याऽनु तदनन्तरं शङ्खादीनां शङ्खः पञ्चजनः तदादीनां[2-] वधं, द्रक्ष्यामीति शेषः। भाविनिर्देशमात्रमेतन्न त्वानन्तर्यं विवक्षितम् ॥ १७,१८ ॥

---

1- -1. J,Va °त्याऽऽह 2- -2. J,Va omit.

**वीर०** यत एवम्भूत स्ततो हे ईश्वर, सत्यसङ्कल्प स्त्वं सकलकारकभावमापन्न स्तावत् स्वसङ्कल्पेन गुणकार्यभूतान् स्वशरीरभूतान् महदादिपृथिव्यन्तान् सृजसि। ततः तै र्गुणैः इदं परिदृश्यमानं विचित्रसन्निवेशविशिष्टं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगत् सृजसि अवसि पालयसि, अत्सि संहरसि च ॥ १३ ॥

तत्र पालनं स्वावतारैः मन्वादिरूपेण च इत्यनेकविधम्। तत्र स्वावतारेण पालनं दुष्कृद्विनाशपूर्वकमित्यभिप्रेत्याऽऽह- **स त्वमिति**। स उक्तविधस्त्वं भुवो भारभूतानां दैत्यादीनां विनाशाय साधूनां रक्षणाय च अवतीर्णः।प्रमथाः रुद्रभूतानि। रक्षणाय चेति चशब्दो विनाशायेत्यनेनान्वेतव्यः। स चाऽन्वाचयद्योतकः। दुष्कृद्विनाशन मानुषङ्गिक मवताराप्रयोजनं, सङ्कल्पमात्रेणाऽपि तत्सिद्धेः। साधुपरित्राणमेव परममवताराप्रयोजनमिति बोध्यम् ॥ १४ ॥

एवंविधस्य तव अचिन्त्यप्रभावस्य[1-] इदं केशिहननं उचितमेवेति अभिनन्दति **दिष्ट्येति**। अयमश्वाकृति दैत्यः केशी लीलयैव ते त्वया हतः। दिष्ट्या, अयमस्माकं महानानन्द इत्यर्थः। लीलया हत इत्यनेन दुर्वधोऽपि लीलया हत इत्येतदद्भुतमित्यभिप्रेतम्। दुर्वधत्वमेव व्यनक्ति। यस्य केशिनो हेषितेन सन्त्रस्ता नितरां भीतास्सन्तः अनिमिषा इन्द्रादयो दिवं त्यजन्तीति ॥ १५ ॥

कर्तव्य मावेदयति — **चाणूर**मित्यादिना। अद्यैवाऽहन्यक्रूर एष्यति, श्वो मधुरां गन्तासि, परश्वश्चाणूरादीन् त्वया निहतान् द्रक्ष्यामि - इति। सिद्धवन्निर्देशो विज्ञापनप्रकारविशेषः ॥ १६ ॥

तस्य अनु तदनन्तरं, शङ्खादीनां नरकस्य च, वधमिति शेषः। द्रक्ष्ये इत्यनुषङ्गः। शङ्खः पञ्चजनः। भाविनिर्देशमात्र मेवैतत्, नत्वानन्तर्यं विवक्षितम्। यानि पारिजातापहरणादीनि। यानि द्वारकामधिवसन् भवान् वीर्याणि चेष्टितानि कर्ता करिष्यति। तानि सर्वाणि कविभिरस्मदादिभिः मेयान्यहं द्रक्ष्यामीति सम्बन्धः ॥ १७ ॥

वीर्यमेव शुल्कादिलक्षणं प्रदेयद्रव्यस्वरूपं यस्मिन् तं, वीराणां भीष्मकादीनां याः कन्याः रुक्मिण्यादयः तासां विवाहमित्यर्थः। नृगस्य शापान्मोक्षणं त्याजनमिति सम्बन्धः। हे जगत्पते! ॥ १८ ॥

---

1- -1. T,W omit 2. T,W omit यानि 3. K वीराणि

**विज०** अलौकिकस्य वस्तुनोऽसाधारणलक्षणेन निर्णेतुं शक्यते इति तत्राऽऽह - **आत्मनेति**। पूर्वं जगदादौ आत्मना परप्रेरणामन्तरेण। केनोपादानेनेत्यत उक्तं माययेति। मायया प्रकृत्या। कुलालस्य शालावधिष्ठानदर्शनादस्य किमधिष्ठान मिति तत्राऽऽह आत्माश्रय इति। स भगवान् कस्मिन् प्रतिष्ठित इति "स्वे महिम्नि" (छान्दो.उ. 7-24-1) इति श्रुतेः। गुणान्महदादीन् ॥ १३ ॥

अवनप्रकारं दर्शयति **स त्वमिति** ॥ १४ ॥

अनिमिषा देवाः। "सुरमत्स्यावनिमिषौ (अम.को. 3-374) इति च ॥ १५ ॥

स्वोक्तार्थे वचनं प्रमाणयितुं भाविनमर्थं दिव्यचक्षुषोपलक्ष्य वक्ति **चाणूरमि** त्यादिना। ते तव करेण॥ १६॥

यथेदानीं केश्यादिहननं प्रत्यक्षं भवति, एवमेव कालान्तरे क्रियमाणमपि कर्म दृष्टिषयं भविष्यतीति भावेनाऽऽह **तस्येति**। तस्य कंसस्य अनु अनन्तरं शङ्खादीनां हननमिति। शङ्खः पञ्चजनासुरः ॥ १७ ॥

आदिशब्देन लक्ष्यवेधनमाह। "लक्षणं कार्षिके चिह्ने नाम्नि मुद्राङ्कसम्पदोः" (वैज.को. 7-3-28) इति च ॥ १८ ॥

**स्यमन्तकस्य च मणे रादानं सह भार्यया।**
**मृतपुत्रप्रदानञ्च ब्राह्मणस्य स्वधामतः ॥ १९ ॥**

**पौण्ड्रकस्य वधं पश्चात्काशिपुर्याश्च[1] दीपनम्।**
**दन्तवक्त्रस्य निधनं चैद्यस्य च महाक्रतौ ॥ २० ॥**

**यानि चाऽन्यानि वीर्याणि द्वारका मावसन्भवान्।**
**कर्ता द्रक्ष्याम्यहं तानि गेयानि कविभि र्भुवि ॥ २१ ॥**

**अथ ते कालरूपस्य क्षपयिष्णो रमुष्य वै।**
**अक्षौहिणीनां निधनं द्रक्ष्याम्यर्जुनसारथे[2] ॥ २२ ॥**

**विशुद्धविज्ञानघनं स्वसंस्थया समाप्तसर्वार्थ ममोघवाञ्छितम्[3]।**
**स्वतेजसा नित्यनिवृत्तमायागुणप्रवाहं[4] भगवन्तमीमहि[5] ॥ २३ ॥**

**त्वामीश्वरं स्वाश्रयमात्ममायया विनिर्मिताशेषविशेषकल्पनम्।**
**क्रीडार्थमद्याऽऽप्त मनुष्यविग्रहं नतोऽस्मि धुर्यं यदुवृष्णिसात्त्वताम् ॥ २४ ॥**

---

1. K,P,V °शी° 2. G,J,M,Ma °थेः। 3. M,Ma वर्तिनम् 4. P,V मायया 5 T,W °हे 6- -6. G,J मद्याऽऽत्त; M,Ma माद्यन्त; P,V मध्याऽऽत्त

**श्रीध० स्यमन्तकस्येति**। भार्यया जाम्बवत्या सह स्वधामतः महाकालपुरात् ॥ १९,२० ॥

**यानीति**। द्वारकामावसन्, द्वारकायां वसन् कर्ता करिष्यति ॥ २१ ॥

**अथेति**। अमुष्य विश्वस्य, भूभारस्य वा ॥ २२ ॥

एवं विज्ञाप्य कृताभिवन्दनं भगवन्तं नमस्यति द्वयेन **विशुद्धेति**। केवलज्ञानैकमूर्तिम्। अतएव स्वसंस्थया स्वरूपसम्यक्स्थित्यैव परमानन्दरूपया, सम्यगाप्ताः प्राप्ताः सर्वे अर्था येन तम्, आप्तकामतोक्ता। सत्यसङ्कल्पतामाह अमोघवाञ्छितमिति। ननु वाञ्छा चेत्, तर्हचस्ति दुर्निवारा संसृतिः। अत आह - स्वतेजसेति। स्वतेजसा चिच्छक्त्या नित्यनिवृत्तो मायाकार्यरूपो गुणप्रवाहो यस्मात्तम्। अतो भगवन्तं निरतिशयैश्वर्यं ईमहि शरणं व्रजेमेति ॥ २३ ॥

ननु त्रिकालज्ञस्त्वं, कथमेतत्प्रपञ्चं न जानासि, जानासि चेत् कथमगुणप्रवाहं ब्रवीषीति तत्राऽऽह — **त्वामिति**। ईश्वरमन्यस्य वशयितारं, स्वाश्रयमन्यस्यावशम् अत आत्ममायया आत्माधीनमायया विनिर्मिता अशेषविशेषा महदाद्या यादवादिरूपा वा कल्पना येन तम् धुर्यं श्रेष्ठं नतोऽस्मीति ॥ २४ ॥

---

1. J,Va °न° 2. J,Va °लं 3. J,Va omit प्राप्ताः 4- -4. J,Va omit 5- -5. P,V omit 6. J,V °नया मा°

**वीर०** भार्यया जाम्बवत्या, सत्यभामया च सह द्वारकायां स्यमन्तकाख्यस्य मणे रादानं, ब्राह्मणस्य ब्राह्मणाय स्वधामतः स्वस्थानात् सङ्कर्षणलोकादित्यर्थः। आनीयेति शेषः। मृतानां पुत्रणां प्रदानम् ॥ १९ ॥

दीपनं दाहनं महाक्रतौ युधिष्ठिरराजसूये चैद्यस्य शिशुपालस्य च निधनं वधम् ॥ २०, २१ ॥

अथ, ननु अमुष्य भूभारस्येति कर्मणि षष्ठी क्षपयिष्णो रपाचिकीर्षोः कालशरीरस्य ते त्वया अक्षौहिणीनां सेनानां निधनं द्रक्ष्यामि। हे अर्जुनसारथे! अर्जुनादिप्रयोज्यकर्तृभिः क्षपयिष्णोरित्यभिप्रायेण अर्जुनसारथे! इति सम्बोधनम् ॥ २२ ॥

एवं विज्ञाप्य कृताभिनन्दनं भगवन्तं प्रपद्य नमस्करोति **विशुद्धेति** द्वाभ्याम्। विशुद्धविज्ञानघनम् अपहतपाप्मत्वादिगुणकं केवलज्ञानैकस्वरूपं स्वसंस्थया स्वनिष्ठया निरतिशयानन्दस्वात्मानुभावनिष्ठया। समाप्ताः सर्वे अर्थाः कामाः यस्य तम्। प्रयोजनान्तरानपेक्ष इत्यर्थः। यद्वा, सम्यगाप्तास्सर्वे अर्था यस्य तम्। अवाप्तसमस्तकाममित्यर्थः। सत्यसङ्कल्पता माह —

अमोघवाञ्छितमिति। अमोघवर्तिनमिति पाठे, अमोघं यथा भवति तथा कार्ये प्रवर्तमानं, स्वतेजसा पराभिभवनसामर्थ्येन[2] नित्यं निवृत्ताः मायागुणाः तेषां प्रवाहः संसारः[3] यस्य तम्, भगवन्तं षाड्गुण्यपूर्णमीश्वरं त्वा मीमहे प्रपद्येमहि ॥ २३ ॥

स्वयमेवाऽऽश्रयो यस्य तम्। "स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः" (छान्दो.उ. 7-24-1) इति श्रुत्युक्तरीत्या अनन्याधार मित्यर्थः। आत्ममायया स्वसङ्कल्पेन विनिर्मिताः अशेषास्सर्वे विशेषाः पृथिव्यादयः तेषां कल्पना देवादिरूपा सृष्टि र्येन तम्। अद्य अधुना क्रीडार्थमात्रः मनुष्यस्येव विग्रहो येन तम्। यद्वादीनां धुर्यं श्रेष्ठं त्वां नतोऽस्मि। यद्यपि सात्त्वच्छब्दो भागवतपरः तथाऽपि सात्त्वतेष्वपि भक्तत्वयोगात् प्रवर्तते। एव मन्यत्राऽपि द्रष्टव्यम् ॥ २४ ॥

---

1. T,W omit इति 2. T,W omit न 3. T,W omit संसारः

विज० वीर्याणा मवश्यज्ञेयत्वमाह गेयानीति। भुवीति विशेषणेन वीर्याणां संसारनिवृत्त्यर्थमेव कृतत्वं सूचयति ॥ १९,२०,२१ ॥

अथ भारतयुद्धे अमुष्य भूवलयस्य अवशिष्टं क्षपयिष्णोः क्षीणं कर्तुकामस्य अक्षौहिणीनाम्, अष्टादशानामिति शेषः। अर्जुनसारथेरित्यनेन भारतयुद्धे इति सूचयति ॥ २२ ॥

उपास्यरूपं विशिनष्टि- **विशुद्धेति**। भगवन्तं शरणमीमहीत्यन्वयः। कीदृशम्? विशुद्धविज्ञानघनम् अप्राकृतज्ञानमूर्तिं स्वसंस्थया स्वव्यवस्थया अपराधीनस्थित्या समाप्तसर्वार्थं समाप्ताशेषपुरुषार्थम्। के चित् हरे वृत्तिः मायामयीति सङ्गिरन्ते तत्राऽऽह — अमोघेति। कुत एतत्कथ्यत इति तत्राऽऽह - नित्येति। नित्यनिवृत्तमायागुणानां प्रकृतिगुणानां प्रवाहः परम्परा यस्मिन्स तथा। नन्वेतन्मुक्तानामप्यस्तीति तत्राऽऽह - स्वतेजसेति। स्वप्रभावेण "तेजो बले प्रभावेऽग्ने" (वैज.को. 6-3-4) इति ॥ २३ ॥

हे आद्यन्त! राक्षसनाशकर्तः! ईश्वरं, त्वां नतोऽस्मि। ईश्वरत्वं समर्थयते स्वाश्रयमित्यादिना। आत्माधीनया मायया प्रकृत्या, स्वेच्छया वा क्रीडार्थं क्रीडितुं विनिर्मिताशेषविशेषकल्पनं विरचितसमस्तदेवब्राह्मणासुरादि तत्तद्वस्तुतारतम्यलक्षणविशेष व्यवस्थानं मनुष्यविग्रह इव विग्रहो यस्य तथा तम्। मांसदृष्ट्या मनुष्याकारमित्यर्थः। मनुष्यदेहस्वीकारे कृत्यमाह धुर्यमिति। धुरं वहति यो धुर्य इत्यतो यदुवृष्णिसात्त्वतां धुरस्य वोढारम्, आद्यन्तधुर्यमितिविशेषणद्वयेन दुष्टविनिग्रहविशिष्टपालनरक्षणकार्यार्थं मनुष्यविग्रहस्वीकार इति विज्ञायते। आद्यन्तो मनुष्यविग्रहो यस्येत्यर्थाङ्गीकारे "आदिनो राक्षसाः प्रोक्ता स्तदन्तत्वा ज्जनार्दनः" (ब्राह्मे) इति वचनम् निरुणद्धि। विशुद्धविज्ञानघनमित्यादिविशेषणानि चोक्तानि व्याहतानि स्युरिति ॥ २४ ॥

## श्रीशुक उवाच

**एवं यदुपतिं कृष्णं भगवत्प्रवरो[1] मुनिः[1]**
**प्रणिपत्याऽभ्यनुज्ञातो ययौ तद्दर्शनोत्सुकः[2] ॥ २५ ॥**

भगवानपि गोविन्दो हत्वा केशिनमाहवे।
पशूनपालयद्गोपैः प्रीतैर्व्रजसुखावहः ॥ २६ ॥

व्योमासुरवधः

एकदा ते पशून्पालांश्चारयन्तोऽद्रिसानुषु।
चक्रुर्निलायनक्रीडाश्चोरपालापदेशतः ॥ २७ ॥

तत्राऽऽसन्कतिचिच्चोराः पालाश्च कतिचिन्नृप।
मेषायिताश्च तत्रैके विजहु रकुतोभयाः ॥ २८ ॥

मयपुत्रो महामायो व्योमो गोपालवेषधृत्।
मेषायितानपोवाह प्रायश्चोरायितो बहून् ॥ २९ ॥

---

1- -1. G,J,K,T,W भागवतप्र० 2. G,J,M,Ma ०त्सवः 3. P,V ०शृंङ्गपापा० 4. G,J,M,Ma यत्पालैः 5. G,J,K °न्पालाश्चा०; P,V ०न्वालाश्चा० 6. A,B,K,M,Ma, P,v,w, ०डांश्चो० 7. G,J,T,W वेषधृक्; M,Ma रूपधृक्; P,V रूपभृत्

श्रीध० नु[1] नारदेन व्योमवधो न दृष्टः, तत्कथं व्योमवधप्रसक्तिरिति तत्रोच्यते[-1]- प्रातरेव[2] केशिवधानन्तरं नारदोक्त[3] मङ्गीकृत्य पुनस्तथैव पशून् चारयन्[4] व्योमो हतः। यद्वा व्योमवधः पूर्वमेव वृत्तोऽपि वेषधारिवधप्रसङ्गादत्रोच्यत इति द्रष्टव्यम्। केचित्पुनः शङ्खचूडवधात्पूर्वमेव पठन्ति च। तमाह **एकदेति**॥ २५-२८ ॥

**मयेति**। मेषायितान्[5] मेषवदाचरितान् स्वयं चोरवदाचरितस्सन् अपोवाह अपकृष्य निनाय॥ २९ ॥

---

1- -1 P.V omit 2. P.V. °वं 3 P.V. °देनोक्त० 4 J.Va पात० 5- -5 P.V. omit

**वीर० एवमिति**। तस्य दर्शनादुत्सुकः हृष्टमनाः प्रययौ॥ २५ ॥

अथ भगवानाहवे युद्धे केशिनं हत्वा नारदेन विज्ञापितश्च व्रजस्य सुखमावहतीति तथाभूतः गोपैस्सह पशूनपालयत्॥ २६ ॥

प्रातरेव केशिवधानन्तरं नारदोक्तमङ्गीकृत्य पुनस्तथैव पशून्पालयता व्योमासुरो हतः। यद्वा, व्योमवधः पूर्वमेव वृत्तोऽपि वेषधारिवधप्रसङ्गादत्रोच्यत इति द्रष्टव्यम्। केचित्पुनः शङ्खचूडवधात्पूर्वमेव पठन्ति च। तमनुवर्णयति **एकदेति**। कदाचित्ते गोपाः पशूनद्रेस्सानुषु चारयन्तः चोरपालव्यवहारेण निलायनाख्यां क्रीडां चक्रुः॥ २७ ॥

तामेव दर्शयति — **तत्रेति**। तत्र गोपानां मध्ये कतिचिद्गोपाः चोरव्यपदेश्याः बभूवुः। हे नृप! केचित्तु पालाश्चोरेभ्यो रक्षकाः। अवशिष्टास्तु केचिन्मेषवदाचेरुः। एवं निर्भया विजहुः ॥ २८ ॥

एवं सति तदा मयस्य पुत्रो व्योमः महामायः अत एव गोपालस्येव रूपं बिभ्राणः स्वयं प्रायशः चोरवदाचरन् मेषवदाचरितान्बहून्गोपानपोवाह अपकृष्य निनाय ॥ २९ ॥

विज० तस्य दर्शनेन उत्सव उत्कृष्ट आनन्दो यस्य स तथा ॥ २५,२६ ॥

चोरपालापदेशतः वयं पशूंश्चोरयामः, वयं पालयाम इति अपदेशेन छलमनसा निलायनक्रीडां निलीनकर्मलक्षणक्रीडाम् ॥ २७,२८ ॥

चोरायितः चोरवद्वर्तमानः ॥ २९ ॥

गिरिदर्यां विनिक्षिप्य नीतं नीतं[1-1] महासुरः।
शिलया पिदधे द्वारं चतुःपञ्चावशेषिताः ॥ ३० ॥

तस्य तत्कर्म विज्ञाय कृष्णश्शरणदस्सताम्।
गोपान्नयन्तं जग्राह वृकं हरिरिवौजसा ॥ ३१ ॥

स निजं रूप मास्थाय गिरीन्द्रसदृशं बली।
इच्छन्विमोक्तु मात्मानं नाऽशक्नो द्ग्रहणातुरः ॥ ३२ ॥

तं[3] निगृह्याऽच्युतो[4] दोर्भ्यां पातयित्वा महीतले।
पश्यतां दिवि देवानां पशुमारममारयत् ॥ ३३ ॥

गुहापिधानं निर्भिद्य गोपान्निस्सार्य कृच्छ्रतः।
स्तूयमानस्सुरै र्गोपैः प्रविवेश स्वगोकुलम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
पूर्वार्धे व्योमासुरवधो नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

---

1- -1. K नीतान् नीतान् 2. M,Ma °हुल्या° 3. M,Ma स 4. K,T,W °हय ततो

श्रीध० गिरीति। पिदधे छादितवान् ॥ ३० ॥

तस्येति। शरणदः आश्रयप्रदः। हरिः सिंह इव ॥ ३१,३२ ॥

तमिति। पशुमारं पशुमारो यथा भवति तथा। अनिःश्वास[1] मित्यर्थः ॥ ३३ ॥

गुहेति। भुवि गोपैः स्तूयमानः उपरि वैमानिकैर्देवैरिति ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

---

1. P,V अविश्वा°

**वीर०** एवं नीता नीतान्गोपान् गिरिदर्यां गिरिगुहायां विनिक्षिप्य तस्याः द्वारं शिलया पिदधे छादितवान्, क्रीडायां तु चत्वारः पञ्च वा गोपा अवशेषिताः ॥ ३० ॥

तदा तस्य व्योमस्य कर्म चेष्टितं, विज्ञाय सतां शरणदः आश्रयप्रदः, हेतुगर्भं, गोपान्नयन्तं व्योमं सिंहो वृकमिव ओजसा बलेन जग्राह ॥ ३१ ॥

तदा स व्योमः पर्वतश्रेष्ठतुल्यं स्वासाधारणरूपं बिभ्रत् बली ग्रहणात्पीडितः आत्मानं विमोक्तुं इच्छु रपि नाऽशक्नोत्॥ ३२ ॥

तथा तं व्योमं नितरां गृहीत्वा भूतले पातयित्वा च दिवि देवानां पश्यतां सतां पशुमारो यथा भवति तथा यज्ञियपशुमिवेति यावत्। मारयामास ॥ ३३ ॥

ततो गुहायाः पिधानं छादनं[1-] शिलां[-1] निर्भिद्य कृच्छ्रतो दुर्गात् गिरिदरीपतनजान्निस्तार्य, गोपैः सुरैः[2] स्तूयमानश्च स्वगोकुलं विवेश ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

---

1- -1. T,W omit 2. T,W omit सुरैः

**विज०** गिरिदर्यां पर्वतगुहायाम् ॥ ३० ॥

हरिः सिंहः ॥ ३१ ॥

गुरुणा महता हरिणा, गृहीत इति शेषः ॥ ३२ ॥

पशून्मारयति त्यक्तप्राणान्करोति ॥ ३३,३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

(विजयध्वजरीत्या पञ्चत्रिंशोऽध्यायः)

---

# अष्टत्रिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या षट्त्रिंशोऽध्यायः)

-: रामकृष्णानयनार्थं अक्रूरस्य नन्दगोकुलप्रवेशघट्टः :-

श्रीशुक उवाच[1-1]

अक्रूरोऽपि च तां रात्रिं मधुपुर्यां महामतिः।
उषित्वा रथमास्थाय प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥ १ ॥

गच्छन्पथि महाभागो भगवत्यम्बुजेक्षणे।
भक्तिं परामुपगत एवमेतदचिन्तयत् ॥ २ ॥

किं मयाऽऽचरितं भद्रं किं तप्तं परमं तपः।
किं वाऽप्यथार्हते दत्तं यद्वक्ष्याम्यद्य केशवम् ॥ ३ ॥

ममैतद्दुर्लभं मन्य उत्तमश्लोकदर्शनम्।
विषयात्मनो यथा ब्रह्मकीर्तनं शूद्रजन्मनः ॥ ४ ॥

मैवं मम[2-2]माऽधमस्याऽपि[2-2] स्यादेवाच्युतदर्शनम्।
ह्रियमाणः कालनद्या[3] क्वचित्तरति कश्चन ॥ ५ ॥

ममाऽद्याऽमङ्गलं नष्टं फलवांश्चैव मे भवः।
यन्नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रिपङ्कजम् ॥ ६ ॥

---

1- -1. P,V omit 2- -2. M,Ma मामवमस्यामि 3. M,Ma °द्यां

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अष्टत्रिंशे यथा ध्यायन्नक्रूरो गोकुलं गतः। तथैव रामकृष्णाभ्यां गृहं नीत्वा सुसत्कृतः॥
प्रातः केशिवधे वृत्ते द्वादश्यां निर्गते मुनौ। ततो व्योमे हतेऽक्रूरस्सायं गोकुलमागमत्॥

तदेवं नारदेन कंसवधादिकार्ये विज्ञापिते श्रीकृष्णो मधुरां गन्तुमुद्यतो वर्तते तदा अक्रूरोऽपि गोकुलमागमदित्याह- अक्रूरोऽपीति। अपीति सम्भावनायाम् ॥ १,२ ॥

**किमिति**। अर्हते योग्याय ॥ ३ ॥

स्वस्य कृष्णदर्शने असम्भवमाशङ्क्य पुनस्सम्भावयति — **ममैतदिति** द्वाभ्याम्। विषयात्मनः विषयाविष्टचित्तस्य शूद्राजन्म यस्य तस्य ब्रह्मकीर्तनं वेदोच्चारणं यथेति ॥ ४ ॥

**मैवमिति**। यद्वा, मैवम्। किन्तु अधमस्याऽपि नीचस्यापि मम स्यादेव। कुत इत्यत आह — ह्रियमाणः कालनद्येति। अयम्भावः - यथा नद्या ह्रियमाणानां तृणादीनां मध्ये कश्चित् कदाचित् तरति, कूलं प्राप्नोति तथा कर्मवशेन कालेन ह्रियमाणानां जीवानां मध्येऽपि कश्चित्तरेदिति सम्भवतीति ॥ ५ ॥

**ममेति**। अतोऽनया प्रवृत्त्यैव ममाऽमङ्गलं ध्रुवं नष्टमेवेति ज्ञायते। भवो जन्म च सफलं जातमिति, यत् यतः नमस्ये नमस्करिष्यामि ॥ ६ ॥

---

1. J,Va अपिः 2. J,Va कृष्णस्य 3 J,Va द्वयेन 4. J,Va omit अपि 5. J,Va किञ्चित् 6- -6. P,V omit 7 J,Va omit नमस्ये

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

"तथाऽक्रूरस्स्वमालयम्" (भाग. 10-36-71) इत्युक्तम्। ततस्स किमकरोत् इत्याशङ्क्य व्रजं प्रति अक्रूरगमनं तस्य च मनोरथसिद्धिं चाऽऽह अष्टत्रिंशेन अक्रूरोऽपीति। मे महती भगवद्विषया मतिर्यस्य सः, उषित्वा स्थित्वा प्रभाते रथमधिरुह्य नन्दगोकुलं प्रति ययौ प्रतस्थे ॥ १ ॥

महाभागः दुर्लभतरभविष्यद्भगवद्दर्शनात्मकेमहाभाग्यवान् भगवति परां भक्तिं प्राप्तः, इतीत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण अचिन्तयत्॥ २ ॥

कंसकृतनिर्बन्धादलब्धभगवद्दर्शनः सम्प्रति तत्प्रेषणया भगवन्तं दिदृक्षुः तावदात्मनः तद्दर्शननिदानं बहुधा तर्कयति **किं मयेति**। अर्हते योग्याय सत्पात्रभूताय दत्तं किमित्यूहः। कुतः? यद्यस्मात् अद्य केशवं द्रक्ष्यामि, अन्यथैतन्न सम्भाव्यत इति भावः ॥ ३ ॥

पुनः "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" इति न्यायेन दर्शनासम्भवमाशङ्क्य पुनस्सम्भावयति — **ममैतदिति** द्वाभ्याम्। विषयात्मनः विषयाविष्टचित्तस्य ममैतदुत्तमैः ब्रह्मादिभिः केवलं श्लोकस्य स्तुत्यस्य वितर्क्यस्येति यावत्, न तु दृश्यस्येति भावः। तस्य दर्शनं दुर्लभं मन्ये, यथा शूद्राजन्म यस्य तस्य ब्रह्मकीर्तनं वेदप्रवचनं दुर्लभं तद्वत् ॥ ४ ॥

यद्वा, मैवम्। किन्त्वधमस्य नीचस्याऽपि ममाऽच्युतदर्शनं स्यादेव। कुत इत्यत आह — ह्रियमाण इति। **अयम्भावः** — यथा नद्या ह्रियमाणानां तृणादीनां मध्ये किञ्चित् कदाचित्तरति, तथा कर्मवशेन कालेन ह्रियमाणानां जीवानामपि मध्ये कश्चित्तरेदिति सम्भवतीति ॥ ५ ॥

अनया प्रवृत्त्यैव मम अद्य[4] अमङ्गलं नूनं नष्टं, मम भवो जन्माऽपि सफलं जातम्। कुतः, यद्यतो भगवतो योगिभिः केवलं ध्येयमेव, न तु दृश्यम्, अङ्घ्रिपङ्कजं नमस्करिष्ये ॥ ६ ॥

1- -1. T,W इत्यत्राऽऽह 2. K adds इत्यर्थः 3. T,W omit स्तुत्यस्य 4. T,W omit अद्य

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अज्ञानां भगवद्भक्तिकरणनिदर्शनार्थं गोकुलयात्राकथनच्छद्मना अक्रूरस्य भक्त्युद्रेकः प्रतिपाद्यतेऽस्मिन्नध्याये। मधुपुर्यां मधुरायां यस्यां रात्र्यां न्ययुङ्क्त तां रात्रिम् ॥ १,२ ॥

भद्रं पुण्यं सामान्योक्तं विशिनष्टि — किं तमित्यादिना। अर्हते विष्णुभक्त्यादिगुणसम्पन्नाय ॥ ३ ॥

ब्रह्मकीर्तनं वेदाध्ययनम् ॥ ४ ॥

उक्तमनुवदति — **मैवमिति**। अहमेवमच्युतदर्शनं दुर्लभमिति आत्मानं मावमंस्यामि नावजानामि। कुत इत्यत्राऽऽह-स्यादिति। कथमेतत्सम्भवति, इत्यत्राऽऽह — ह्रियमाण इति। कश्चन विष्णुभक्तिमान् ॥ ५ ॥

भवो जन्म, योगिभिः सनकादिभिः ॥ ६ ॥

कंसो बताऽद्याऽकृत मेऽत्यनुग्रहं द्रक्ष्येऽङ्घ्रिपद्मं प्रहितो[1] मुरारेः[-1]।
कृतावतारस्य दुरत्ययं तमः पूर्वेऽतरन् यन्नखमण्डलत्विषा ॥ ७ ॥

यदर्चितं ब्रह्मभवादिभिस्सुरैः श्रिया च देव्या मुनिभिस्ससात्त्वतैः[2]।
गोचारणायानुचरैश्चरद्वने यद्गोपिकानां कुचकुङ्कुमाङ्कितम्[3] ॥ ८ ॥

द्रक्ष्यामि नूनं सुकपोलनासिकं स्मितावलोकारुणकञ्जलोचनम्।
मुखं मुकुन्दस्य गुडालकावृतं प्रदक्षिणं मे प्रचरन्त्यमी[4] मृगाः[-4] ॥ ९ ॥

अप्यद्य विष्णोर्मनुजत्वमीयुषो भारावताराय भुवो निजेच्छया[5]।
लावण्यधाम्नो भवितोपलम्भनं मह्यं[6] न न स्यात्फलमञ्जसा दृशः[-6] ॥ १० ॥

य ईक्षिताहं रहितोऽप्यसत्सतोः स्वतेजसाऽपास्ततमोभिदा भ्रमः[7]।
स्वमाययाऽऽत्मन् रचितैस्तदीक्षया प्राणाक्षधीभिस्सदनेष्वभीयते[-7] ॥ ११ ॥

1- -1. G,J,M,Ma, P,V °तोऽमुना होः। 2. P,V °श्च 3. M,Ma °स्समं को 4- -4. G,J,M,Ma °रन्ति वै 5. M,Ma ननु 6. M,Ma °मद्य सन्दृशः 7- -7. M,Ma °तेषु तत्सन्प्राणादिभिर्जन्तुषु भाति चित्रधा।

**श्रीध०** अमङ्गलनाशे सूचनान्तरमाह[1] — **कंस** इति। बतेत्याश्चर्ये। अतिखलः कंसोऽपि ममाऽत्यन्तमनुग्रहं अकृत[2] कृतवान्। यतोऽमुना[3] कंसेन प्रहितो हेरङ्घ्रिपद्मं द्रक्ष्ये द्रक्ष्यामीति। पूर्वे अम्बरीषादयः तमस्संसारमतरन् तीर्णाः॥७॥

अङ्घ्रिपद्मं विभावयति **यदिति**। ब्रह्मादिभिरर्चितमिति परमैश्वर्यमाह। श्रिया चेति सौभाग्यातिशयं, मुनिभिः भक्तिसहितैः इति परमपुरुषार्थत्वं, गोचारणायेति कृपालुत्वं, यद्गोपिकानामिति प्रेममात्रसुलभत्वम् ॥ ८ ॥

मनोरथान्तरं करोति **द्रक्ष्यामीति**। शोभनौ[4] कपोलौ नासिका च यस्मिंस्तत्, स्मितसहितः अचलोको यस्मिन्, अरुणकञ्जवल्लोचने यस्मिन् तच्च तच्च मुखं, गुडालकावृतं वक्रकेशावृतं, तदानीमेव शुभसूचकं दृष्ट्वा अतिहृष्यन्नाह प्रदक्षिणमिति॥९॥

पुनरप्यन्यच्चिन्तयति — **अपीति**। ईयुषः प्राप्तवतः लावण्यस्य धाम आश्रयः तस्य विष्णोः। यद्वा विष्णोर्लावण्ययुक्तं यद्धाम वपुः, तस्योपलम्भनं दर्शनं भविता भविष्यति। अपि यद्येवं स्यात्तर्हि महच्चं मम दृशो लोचनस्य फलं न स्यादिति न, अपि तु स्यादेवेत्यर्थः ॥ १० ॥

**य ईक्षितेति**। चतुर्भिः[5] कलापकम्। तत्रैवं शङ्का - ननु[6] अस्मदादिवदेव कर्तृत्वभोक्तृत्वादिधर्मैः तत्र तत्र प्रतीयमानस्य कथं विष्णुत्वमिति, इमामाशङ्कां[7] श्लोकत्रयेणाऽपाकुर्वन्, चतुर्थेन तमहं द्रक्ष्यामीति मनोरथं करोति। तथाहि य इति। य[8-] ईक्षिता[-8] ईक्षणमात्रकर्ता, असत्सतोः कार्यकारणयोः ईक्षणादिकर्ताऽपि अहंरहितः[9-] अहङ्कारहीनः[-9]। तथा अपास्ततमोभिदा भ्रमः तमस्त्वज्ञानं[10] ततो भिदा भेदः, ततो भ्रमः, अभिनिवेशादिः अपास्ता अपाकृता स्तमआदयो यस्मिन् सः, कुत एतत्तत्राऽऽह-स्वतेजसा चिच्छक्त्या नित्यस्वरूपसाक्षात्कारेण, तथाऽपि स्वमायया स्वाधीनमायया तदीक्षया तस्यैवेक्षया प्राणाक्षधीभिः सहितैः आत्मन् आत्मनि, स्वस्मिन्नेव रचितैर्जीवैः सदनेषु बृन्दावनतरुषु, गोपीगृहेषु च लीलया कर्माणि कुर्वन् सत्त्ववत् अभीयते आभिमुख्येन प्रतीयते ॥ ११ ॥

---

1. J,Va °का° 2. J,Va omit अकृत 3. P,V omit कंसेन 4. J,Va शोभमानौ 5. P,V कुलकं 6. P,V omit ननु 7. J,Va °मां श° 8- -8. J,Va omit 9- -9. J,Va ईक्षिता परीक्षणमात्र 10. J,Va °स्त्वा°

**वीर०** अद्याऽधुना कंसो मे[1] महच्चं अत्यर्थमनुग्रहमेवाऽकृत अकरोत्। बतेत्याश्चर्ये। कुतः? यतः अमुना[2-] कंसेन[-2] प्रहितः प्रेषितोऽहं मुरारेः अङ्घ्रिपङ्कजं द्रक्ष्यामि। कथम्भूतस्य? कृतः[3] अवतारो येन तस्य, कथम्भूतम्? यस्याऽङ्घ्रिपङ्कजस्य नखमण्डलत्विषा हृदि भाव्यमानया[4] साधनभूतया पूर्वे प्रह्लादादयो दुरत्ययं तमःकार्यं संसारमतरन्। तमः पापम्। "पाप्मा वै तमः" इति श्रुतेः ॥ ७ ॥

अङ्घ्रिपद्मं विभावयति — **यदिति**। यच्छब्दयोः तदङ्घ्रिपद्मं द्रक्ष्ये इति पूर्वेण सम्बन्धः। ब्रह्मरुद्रौ आदी येषां तैः सुरैरर्चितम्। अनेन परत्वमुक्तम्। देव्या देवस्य विष्णोस्सम्बन्धिन्या श्रिया लक्ष्म्या च अर्चितम्। अनेन परमैश्वर्यमुक्तम्, श्रिया ब्रह्मादिभिः आश्रीयमाणया लक्ष्म्याऽप्यर्चितत्वोक्तेः। सात्त्वतैर्भक्तैस्सह। मुनिभिरप्यर्चितमित्यनेन सौभाग्यातिशय उक्तः।

सात्त्वन्त एव सात्त्वताः, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण्। अनुचैरस्सह वने गोचाराणार्थमनुचरदित्यनेन वात्सल्यं सौलभ्यं[5] चोक्तम्। गोपिकानां कुचकुङ्कुमैः अङ्कितमित्यनेन कमनीयत्वमुक्तम् ॥ ८ ॥

**द्रक्ष्यामीति**। नूनमहं मुकुन्दस्य मुखं द्रक्ष्यामि। तत्सूचकशुभं दृष्ट्वा ह्यभ्यन्नाह — अमी मृगाः मे मम प्रदक्षिणं यथा तथा प्रचरन्ति गच्छन्ति। कथम्भूतं मुखम्? शोभनौ कपोलौ नासिका च यस्मिन्, स्मितसहितः अवलोको यस्मिन् तच्च तच्च अरुणे कञ्जवत् (पङ्कजवत्) लोचने यस्मिन्, तच्च गुडालकैः वक्रकेशैरावृतम्[6] ॥ ९ ॥

पुनरप्यन्यच्चिन्तयति — **अप्यद्येति**। भुवो भाराताराय भारापनोदनाय, निजेच्छया न तु कर्मणा मनुजत्वमीयुषः प्राप्तवतो निरतिशयलावण्याश्रयस्य विष्णोरुपलम्भनं दर्शनं भविता[7] भविष्यति। अप्यद्य यद्यधुनैवं(व)स्यात्तर्हि महचं मम दृशो लोचनस्य अञ्जसा आशु अव्यवहितं फलं न स्यादिति न; अपि तु स्यादेवेत्यर्थः ॥ १० ॥

ननु कोऽसावस्मदादिविलक्षणो विष्णुः यो मनुजत्वमीयिवान्, यस्य च दर्शनं बहुमन्यसे? इत्याशङ्क्य आह चतुर्भिः - **य** इत्यादिभिः। यच्छब्दयोः स चाऽवतीर्णः इत्युत्तरेण सम्बन्धः। अहंरहित इत्यत्र अहंशब्देन अनात्मन्यात्माभिमानहेतुरहङ्कारो लक्ष्यते। असत्सतोः स्वशरीरभूतयोः प्रकृतिपुरुषयोः ईक्षिता द्रष्टा ज्ञाताऽपि अहंरहितः जीववत्स्वाभेदभ्रमरहितः, जीवो हि देहं पश्यन् स्वाभिन्नमनुसन्धत्ते तद्वद्यः प्रकृतिपुरुषौ पश्यन्नपि न स्वाभिन्नावनुसन्धत्ते; किन्तु स्वरूपतः स्वभावतश्च स्वरस्मादत्यन्तविलक्षणावेव पश्यतीत्यर्थः। अनेन बद्धजीववैलक्षण्यमुक्तम्। तत्र हेतुं वदन् मुक्तवैलक्षण्यमाह — स्वतेजसेति। स्वतेजसा स्वासाधारणनित्यासङ्कुचितापरिच्छिन्नज्ञानेन अपास्तं निरस्तं प्रतिक्षिप्तं तमोऽज्ञानं, तन्मूलको भिदाभ्रमः भेदभ्रमः अस्वात्मकस्वतन्त्रवस्तुभ्रमश्च यस्य सः, मुक्तो हि बद्धदशायां सङ्कुचितज्ञानेनाऽनिरस्ताज्ञानतन्मूलकाग्रह्मात्मकस्वतन्त्रवस्तुभ्रमयुक्तः। यद्वा, स्वतेजसा स्वसम्बन्धिना पराभिभवसामर्थ्येन निरस्तं तमोऽज्ञानं तन्मूलको भिदाभ्रमः स्वस्मिन्नद्वारकदेवत्वमनुष्यत्वादिभेदभ्रमश्च यस्य सः। कथमेवम्भूतो विज्ञायते इत्यत्राऽऽह — स्वमायया स्वशरीरभूतया प्रकृत्या कारणभूतया तदीक्षया तद्विषयकेन करणभूतेन स्वसङ्कल्पेन आत्मनि स्वस्मिन्नेव आधारभूते रचितैः प्राणेन्द्रियबुद्धिभिः। लिङ्व्यत्यय आर्षः। रचिताभिः प्राणेन्द्रियबुद्धिभिः कार्यभूताभिः सदनेषु भोगायतनेषु देहेषु अभीयते अभिगम्यते बुध्यते (इति) प्राणादीनां कारणतया ज्ञायते इत्यर्थः। 'प्राणादिभिर्जन्तुषु भाति चित्रधा' इति पाठे प्राणादीनामपि परमात्मशरीरत्वात् तैर्विशिष्टः चित्रधा भातीति शास्त्रवशादवगम्याऽऽह। न च प्राणादिसृष्टिः जीवकर्तृकैवेति तत्कारणतया ज्ञायमानो जीवान्नातिरिच्यत इति वक्तुं युक्तम्। स्व(स्य)स्वप्राणादिसृष्टेः स्व(स्य)स्वकर्तृकत्वासम्भवात्। न हि प्रबुद्धः स्वदुःखसाधनानि स्वयं सृजति[8]। नाऽपि सर्वप्राणादिसृष्टिकजीवकर्तृका(एव) इति युक्तिमत्, तस्यापि स्वयं प्राणादिरहितस्य कर्तृत्वासम्भवात्, प्राणादिमत एव कर्तृत्वदर्शनात्। प्राणादिमत्त्वे तु तत्सृष्टेः कर्त्रन्तरसापेक्षत्वात्। न च तावत्स्वस्य[9] प्राणादीन् सृष्ट्वा ततोऽन्येषामपि सृजतीति वक्तुं युक्तम्। तावत्प्राणादिरहितस्य प्राणादिसृष्टिकर्तृत्वासम्भवात्, अन्योन्याश्रयाच्च। परमात्मा तु करणायत्तज्ञाननिरपेक्षः सङ्कल्पमात्रेणैव प्राणादीन् स्रष्टुं शक्नोतीति तत्कारणतया ज्ञायत इति सुष्ठूक्तम् ॥ ११ ॥

---

1. T,W omit मे 2- -2. T,W omit 3. K adds (धार्यमाणया) 4. K adds (ब्रह्मादयो) 5. K adds (सौशील्यं) 6. K adds इति 7. T,W omit भविता 8. K सुखदुःख 9. K °यश्च।

**विज०** बत आश्चर्यम्। अत्र अत्यनुग्रहमधिकानुग्रहं अकृत अकरोत्। 'अति ममात्यनुग्रहम्' इति पाठे अति अत्यर्थं स मे कृतवानित्यर्थः। प्रहितः प्रेषितः। अङ्घ्रिपद्मं विशिनष्टि कृतावतारस्येति। पूर्वे ब्रह्मादयो यस्याऽङ्घ्रिपद्मस्य नखानां मण्डलस्य त्विषा तेजसा द्युत्स्वयं तमोऽज्ञानमघं वा शुचं वा अतरन् तीर्णवन्त इत्यन्वयः ॥ ७ ॥

यत्र ब्रह्मादिभिः सुरैरर्चितं ससात्त्वतैः पाञ्चरात्रिकैः सहितैः, यत्र गोचारणाय गवां तृणचरार्थं अनुचरैर्गोपैः समं वने भ्रान्तम्, यत्र वने गोपिकानां कुचकुङ्कुमेनाऽङ्कितं मुद्रितं तद्वक्ष्ये इति पूर्वत्राऽन्वयः ॥ ८ ॥

नूनं निश्चयात् स्मितावलोके अरुणे कञ्जसदृशे लोचने यस्य तत्तथा। स्मितसहितोऽवलोको ययोस्ते तथा।[1] गुडाः निबिडाः अलकाः कुन्तलाः तैरावृतम्। यद्वा, गुडः गुलिकाः तद्वद्वक्राः, यद्वा, गुडाः इक्षुविकारः तद्वत् स्निग्धा अलकाः तैरावृतम्। दर्शननिश्चये शकुनं वक्ति प्रदक्षिणमिति। वै इत्यनेन अन्ये भारद्वाजनादिपक्ष्यादयो गृह्यन्ते इति सूचयति। "गुडौ पिण्डेऽक्षुविकृती स्नुही गुलिकयोर्गुडा" (वैज.को. 6-5-27) इति च ॥ ९ ॥

ईयुषः गतवतः उपलम्भनं दर्शनं भविता भविष्यति। मह्यं मम दृशः नेत्रस्य सं समीचीनं फलं स्यान्ननु स्यादेव। "समभेदे समीचीने" (वैज.को. 8-7-8) इति च। "प्रश्नावधारणैतिह्यसमीहाऽनुमते ननु" (वैज.को. 8-7-22) इति। सन्दृश इत्येकं वा पदम्। "न सन्दृशे तिष्ठति" (कठ.उ. 6-9) इति श्रुतिः। सन्दर्शनसाधनस्य नेत्रस्य इत्यर्थः॥ १० ॥

चैतन्यैकरसस्य हेतः गोपत्वेनावभासनं न चोचमिति भावेनाऽऽह — **य** इति। यो हरिः अहंरहितः[2-2] अविद्यमानं दर्शनं आत्मनि यद्यभिमन्येत तदा हचुक्तदोषः स्यात्, न चाऽसावस्तीत्यर्थः। यज्ञदत्तवद्देहस्यस्याज्ञानादिसम्भवेन अहम्भावशून्यत्ववचनमौपचारिकं किं न स्यादिति तत्राऽऽह अपास्तेति। अपास्तः निराकृतः तमोभिदाभ्यामज्ञानाऽन्यथाज्ञानाभ्यां उत्पन्नो भ्रमः प्रवृत्तिः यस्य सः। 'भ्रमु अनवस्थाने' इति धातोः। "ष्ठा गतिनिवृत्तौ" इति अवस्थानं गत्यभावः, तदभावः कार्येषु प्रवर्तमानमित्यर्थः। वस्तुतत्त्वाज्ञानविपरीतनिमित्तप्रवृत्तियुक्तो न भवतीत्यर्थः। यद्वा, तमसा वस्तुतत्त्वाज्ञानेन जाता भिदा इदं रजतमित्यन्यथाज्ञानं, तदेव भ्रमो भ्रान्तिज्ञानं यस्य दूरोत्सारितं सः। ननु मुक्तोऽप्येतादृश इत्यत उक्तं स्वतेजसेति। सत्यं, किन्तु "बतमानन्द ओजश्च सहो ज्ञानमनाकुलम्। स्वरूपाप्येव जीवस्य व्यज्यन्ते परमाद्विभोः" इति श्रुतेरस्य परप्रभावेण तदात्मानमेव वेद। "अहं ब्रह्माऽस्मि" (बृह.उ. 1-4-10) इति स्वमायया स्वेच्छया आत्मन् आत्माधारतया रचितेषु जन्तुषु प्राणादिभिः सह चित्रधा सुरनरतिर्यगादिनानाजातिमिश्रत्वेन भाति। ननु तर्हि विकारोऽपि स्यादित्यत्राऽऽह तत्सन्निति। तथैव सन् अविकार एव अभ्यर्हितः श्रेष्ठ इत्यर्थः। सर्वैरभ्यर्हितो वा। "सन्सत्येऽभ्यर्हिते श्रेष्ठे साधीयसि भवत्यपि" (वैज.को. 8-4-16) इति च। अनेन मूलरूपी हरिर्यथा निर्विकारः तथा रूपान्तरवानिति सूचितं भवति। हेयदेहित्वेन आभासमानस्य किं कर्मेति तत्राऽऽह ईक्षितेति। असत्सतोः अशुभशुभयोः ईक्षिता द्रष्टा जन्तुभिः क्रियमाणस्य पुण्यपापलक्षणस्य कर्मणः साक्षीत्यर्थः, नत्वस्य दर्शनाभिमानलक्षणविकारः, आपन्नम् उद्दिश्येति वा ॥ ११ ॥

---

1. Ma adds इतीममर्थं सूचयति। 2- -2. Ma omits.

यस्याखिलामीवहभिस्सुमङ्गलै र्वाचो विमिश्रा गुणकर्मजन्मभिः।
प्राणन्ति शुम्भन्ति पुनन्ति वै जग द्यास्तद्विरक्ताः[1] शवशोभना मताः ॥ १२ ॥

स चाऽवतीर्णः किल सात्त्वतान्वये स्वसेतुपालामरवर्यशर्मकृत्।
यशो वितन्वन्व्रज आस्त ईश्वरो गायन्ति देवा यदशेषमङ्गलम्[2] ॥ १३ ॥

तन्त्वद्य नूनं महतां गतिं गुरुं त्रैलोक्यकान्तं दृशिमन्महोत्सवम्।
रूपं दधानं श्रिय ईप्सितास्पदं द्रक्ष्ये ममाऽऽसन्नुषसः सुदर्शनाः ॥ १४ ॥

★ अथावरूढस्सपदीशयो रथा त्प्रधानपुंसोश्चरणं स्वलब्धये।[3]
धिया धृतं योगिभिरप्यहं ध्रुवं नमस्य आभ्यां च सखीन्वनौकसः॥ १५ ॥

अप्यङ्घ्रिमूले पतितस्य मे विभुः शिरस्यधास्यन्निजहस्तपङ्कजम्।
दत्ताभयं कालभुजङ्गरंहसा प्रोद्वेजितानां शरणैषिणां नृणाम् ॥ १६ ॥

---

1. M,Ma स्युशो° 2. M,Ma °स्त° ★ अयं श्लोकः विजयध्वजतीर्थेन न स्वीकृतः न व्याख्यातश्च। 3. P,V तीर्थ°

**श्रीध०** ननु सर्वदा अहङ्काररहितस्य[1] आत्मारामस्य लीलाऽपि कुत इत्याशङ्क्य, अपरानुग्रहार्था[2] इत्याशयेनाऽऽह- **यस्येति**। अखिलानि अखिलस्य वा अमीवानि पापानि घ्नन्तीति अखिलामीवहानि तैः, तथा सुमङ्गलैः शोभनानि मङ्गलानि येभ्यस्तैः, गुणाः करुणादयः कर्माणि जन्मानि च तैर्विमिश्रा युक्ता वाचः जगत् प्राणन्ति जीवयन्ति, शुम्भन्ति शोभयन्ति, पुनन्ति पवित्रयन्ति। व्यतिरेकमाह या इति। तैर्विरक्ता रहिताः तास्तु स्वलङ्कृता अपि वस्त्राचलङ्कृतशववच्छोभमानाः मताः सतां सम्मताः ॥ १२ ॥

स इति। स्वयं रचितान् सेतून् वर्णाश्रमधर्मान् पालयतामरवर्याणां सुखकर्ता सन्नवतीर्णः। यद्यशः[3] लोका गायन्ति[3]॥ १३ ॥

**तमिति**। त्रैलोक्ये एकमेव कान्तम्। दृशिर्दृष्टिः। तद्वतां महानुत्सवो यस्मात्। यद्वा, महानुत्सव एव। अत[4] एव श्रिया[5] ईप्सितमास्पदम्। एवम्भूतं रूपं श्रीमूर्तिं दधानं तमीश्वरं द्रक्ष्यामीति। अत्र लिङ्गं उषसः प्रभातसमयाः सुदर्शनाः[6-6] शुभदर्शनाः सुखप्रभाता रजन्यः शुभसूचका बभूवुरित्यर्थः ॥ १४ ॥

**अथेति**। किञ्च, अथ दर्शनानन्तरं सपदि तत्क्षणमेव रथादवतीर्णस्सन् प्रधानयोः पुरुषयो रामकृष्णयोः चरणं योगिभिरपि आत्मलाभाय केवलं धियैव धृतं साक्षादहं नमस्यामि। आभ्यां सह अनयोस्सखीन् गोपांश्च नमस्यामीति॥ १५॥

**अपीति**। किञ्च, अधास्यत् धास्यति। तद्विभावयति दत्ताभयमिति सार्धेन ॥ १६ ॥

---

1. J,Va °रादि° 2. J,Va omit अ 3- -3. J,P,V omit 4. P,V omit अत एव 5. J,Va °यः 6- -6. P,V omit.

**वीर० यस्येति**। अखिलानां वदतां (पठतां) शृण्वताञ्च जनानां[1] अमीवं पापं घ्नन्तीति तथा। तैर्यस्य गुणकर्मजन्मभिः **सुमङ्गलैः** निरतिशयश्रेयस्करैः विमिश्रा वाचो गिरः। प्राणन्ति शुम्भन्तीति अन्तर्भावितण्यर्थनिर्देशः। जगज्जीवयन्ति, शोभयन्ति, **पुनन्ति चेत्यर्थः**। तत्र गुणाः वात्सल्यसौशील्यसौलभ्यादयः, कर्माणि जगद्व्यापारप्रभृतीनि चेष्टितानि जन्मानि रामकृष्णादीनि या वाचस्तद्विरक्ताः भगवद्गुणादिप्रतिपादनरहितास्ताः पदलावण्यार्थलावण्ययुक्ता अपि, शवशोभनाः वस्त्राचलङ्कृतशववच्छोभनाः मता ज्ञाताः, शवकल्पानामभिमता इति भावः ॥ १२ ॥

**स चेति**। य एवंविधो विष्णुरीश्वरः स एव सात्त्वतान्वये यादवकुले श्रीकृष्णरूपेणाऽवतीर्णः किल। स्वसेतुः स्वकृतमर्यादा तं पालयतीति तथा, तेषाममरवर्याणां दैवसम्पत्तिमभिजातानां[2] शर्म सुखं करोतीति तथाभूतः। यशः कीर्तिं वितन्वन् व्रजे आस्ते। यशो विशिनष्टि अशेषाण्यखिलानि मङ्गलानि यस्मात्तत्, यच्च देवा गायन्ति ॥ १३ ॥

**तमिति**। तं सात्त्वतानां कुले अवतीर्णमुक्तविधमहमद्य नूनं द्रक्ष्यामि, यतो मम उषसः लिङ्व्यत्यय आर्षः, उषांसि प्रभातसमयाः सुदर्शनाः प्रसन्नाः, सुखप्रभाता रजन्यः शुभसूचका बभूवुरित्यर्थः। कथम्भूतम्? महतां साधूनां गतिं स्वप्राप्त्युपायं गुरुं हितकरणम्। किञ्च रूपं विग्रहं दधानं बिभ्राणम्। कथम्भूतं रूपम्? त्रैलोक्यकान्तं त्रिलोकसुन्दरं दृशिमतां चक्षुष्मतां महानुत्सवो हर्षो यस्मात्तत् श्रियो लक्ष्म्याः ईप्सितमास्पदम् आश्रयभूतम् ॥ १४ ॥

किञ्च, **अथेति**। अथाऽस्य दर्शनानन्तरं सपदि रथावरूढोऽहमीश्वरयोः प्रधानपुंसोः पुरुषोत्तमयो रामकृष्णयोः चरणं नूनं ध्रुवं नमस्ये। चरणं कथम्भूतम्? योगिभिरप्यात्मलब्धये स्वसत्तासिद्ध्यै (द्वये) धिया केवलं धृतं भावितं न तु दृष्टमिति भावः। (ततः) तथा आभ्यां प्रधानपुम्भ्यां सह अनयोः सखीन् वनौकसो गोपान्नमस्ये ॥ १५ ॥

किञ्च, अथानन्तरम् अङ्घ्रिमूले पतितस्य मम शिरसि विभुः श्रीकृष्णः स्वयं हस्तपङ्कजमधास्यत् आधास्यति[3-3]। अथाऽस्य[4-4] हस्तपङ्कजं विभावयति- दत्ताभयमित्यादिना सार्धेन। काल एव भुजङ्गः। तस्य रंहसा वेगेन प्रोद्वेजितानां संसारभीरूणां शरणैषिणां रक्षणोपायत्वेन अध्यवस्यतां जनानां दत्तमभयं येन तत् ॥ १६ ॥

---

1. T omits जनानां 2. K °वी° 3- -3. T,W omit 4- -4. K omits.

**विज०** यस्य हरेः अखिलामीवहभिः अखिलानि अमीवानि पापानि घ्नन्तीति अखिलामीवहानि तैः, अत एव **सुमङ्गलैः**, गुणकर्मजन्मभिः विमिश्राः सङ्कलिता वाचः, श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्णिवृषेत्यादिलक्षणाः जगत्प्राणन्ति आह्लादयन्ति, जीवयन्ति वा, शुम्भन्ति शोभयन्ति शुभयुक्तं कुर्वन्ति। पुनन्ति पवित्रयन्ति वै गङ्गादौ प्रसिद्धमित्यन्वयः। या वाचः तैर्विष्ण्वादिभिः **विरक्ताः शून्याः वर्जिताः स्युः**, ताः सद्भिः अशोभना मताः अवबोधिता इत्यन्वयः ॥ १२ ॥

अस्त्येवंविधमाहात्म्यो भगवान्, ततः प्रकृते किम्? अत्राऽऽह — **स चेति**। **चशब्दः** एवार्थे, ईश्वर एव व्रजे आस्ते किलेत्यन्वयः। सात्त्वतामन्वये यदुकुले अवतीर्णः, किंकाययिति तत्राऽऽह स्वसेत्विति। **स्वेन** कृतः सेतुः मर्यादा तां पालयन्ति रक्षयन्तीति स्वसेतुपालाः अमराणां वर्याः अमरवर्याः, स्वसेतुपालानाममरवर्याणामिन्द्रादीनां शर्मकृत्, सुखकृत्, देवकार्यायाऽवतीर्ण इत्यर्थः। अथ किं प्रमाणमित्यत्राऽऽह — गायन्तीति। **देवाः** व्यासादयः **पुराणादिषु**। गेयसम्भवे गानं युक्तं, तत्कथमित्यत्राऽऽह यश इति। यद्यशो वितन्वत्राऽऽस्ते अशेषाणां मङ्गलं श्रेयस्करं तद्यशः ॥ १३ ॥

स्वमानसं प्रति वक्ति — **तन्त्विति**। अहमद्य तमेव द्रक्ष्ये इत्यन्वयः। दृशिमतां चक्षुष्मतां महोत्सवं त्रैलोक्यकान्तं कमनीयं रूपं दधानं "भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः, भद्रं पश्येमाऽक्षिभिर्यजत्राः" (नृ.उ.ता.उ. 1) इति श्रुतिः। ममाद्य उषसः प्रभातकालावयवाः क्षणादयः सुदर्शनाः सर्वजगत्पूज्यवस्तुदर्शनप्रदा आसन् इत्यन्वयः ॥ १४ ॥ ★

कालाख्यभुजङ्गस्य रंहसा रंहोलक्षणविशेषेण अधास्यत् धास्यति धरिष्यत्यपि किम् ॥ १६ ॥

★ १५ श्लोकस्य विजयध्वजव्याख्या नास्ति।

**समर्हणं यत्र निधाय[1] कौशिकस्तथा[2-] बलिश्चाऽऽप जगत्त्रयेन्द्रताम्[-2]।**
**यद्वा विहारे व्रजयोषितां श्रमं स्पर्शेन सौगन्धिकगन्ध्यपानुदत् ॥ १७ ॥**

**न मय्युपैष्यत्यरिबुद्धिमच्युतः कंसस्य भृत्यः[4] प्रहितोऽपि विभ्वदृक्[3]।**
**योऽन्तर्बहिश्चेतस एतदीहितं क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषा ॥ १८ ॥**

**अप्यङ्घ्रिमूलेऽवहितं[5] कृताञ्जलिं मामीक्षिता[6] सस्मितमार्द्रया[7] दृशा।**
**सपद्यपध्वस्त समस्तकिल्बिषो वोढा मुदं वीतविशङ्क ऊर्जिताम् ॥ १९ ॥**

**सुहृत्तमं ज्ञातिमनन्यदैवतं दोर्भ्यां बृहद्भ्यां परिरप्स्यतेऽथ[8] माम्।**
**आत्मा हि तीर्थीक्रियते तदैव मे बन्धश्च कर्मात्मक उच्छ्वसित्यतः[9] ॥ २० ॥**

**लब्धाङ्गसङ्गं प्रणतं कृताञ्जलिं मां वक्ष्यतेऽक्रूर ततेत्युरुश्रवाः।**
**तदा वयं जन्मभृतो महीयसा नैवाऽऽदृतो यो धिगमुष्य जन्म तत् ॥ २१ ॥**

---

1. P,V वि° 2- -2. M,Ma °को महा° 3. M,Ma °पैत्यप्रियवु° 4. G,J दूतः 5. M,Ma °ले पतितं 6. M,Ma °श्चते 7. P,V याऽऽ° 8. M,Ma °रप्यते 9. M,Ma कामा०

**श्रीध० समर्हणमिति**। बलिना तावत्पदत्रयपरिमितभूदानसमये तस्य हस्ते उदकं निहितम्। **कौशिकः** इन्द्रः, तेनापि कदाचित् किञ्चिन्निहितमिति ज्ञातव्यम्। ममुक्षूणां संसारभयनिवर्तकं सकामानामभ्युदयप्रदञ्चेत्युक्तम्। अनुक्तानां परमसुखदं चेत्याऽऽह-यद्वेति। वाशब्दो वितर्के। विहारे रासक्रीडायां, सौगन्धिकस्य गन्ध इव गन्धो यस्य तत् सौगन्धिकगन्धि ॥ १७॥

**एवं परमानुग्रहं** सम्भाव्य पुनरप्यसम्भवमाशङ्क्य परिहरति **नेति**। यद्यप्यहं कंसेन प्रहितः, अतस्तस्य दूतः। तथाऽपि मयि अरिरयमिति[1] बुद्धिं नोपैष्यति न करिष्यतीत्यर्थः। यतः विश्वदृक् सर्वज्ञः। अतो मम चेतसः अन्तश्च बहिश्च यदीहितं चेष्टितं एतत् यः क्षेत्रज्ञः अन्तर्यामी नित्यज्ञानेनेक्षते। अयं भावः — चेतसो बहिरेव कंसमनुवर्ते, अन्तस्तु कृष्णमेव, तदेव तदसौ हृदि स्थितः[2] जानातीति। यद्वा एतस्य जगत ईहितमिति, अतः[3] ॥ १८ ॥

**अपीति**। अपि यदि अङ्घ्रिमूले चरणोपान्ते अवहितं संयतं कृपामृतेन आर्द्रया दृशा मामीक्षिता द्रक्ष्यति। तर्हि, सपद्येव विनष्टाखिलकिल्बिषः[4] परां मुदं वोढा प्राप्स्यामीति ॥ १९ ॥

**सुहृदिति**। अथ मां परिरप्स्यते आलिङ्क्ष्यति यदा तदैव मे आत्मा तीर्थीक्रियते अतिपवित्रीकरिष्यते, उच्छ्वसिति श्लथो भविष्यति, अतो देहात् ॥ २० ॥

**लब्धेति**। तत! भो तातेति तदा जन्मभृतः सफलजन्मानः अन्यथा तज्जन्मैव न भवतीत्याह — महीयसेति। महीयसा श्रीकृष्णेन यो वा नाऽऽदृतः अमुष्य तस्य जन्तोः[5] तत् जन्म धिक् ॥ २१ ॥

---

1. J,Va °रे 2. P,V °स्थो 3 J,Va omit अतः 4. J,Va कल्मषः 5. P,V omit तत्

**वीर०** किञ्च यत्र यस्मिन् हस्तपङ्कजे बलिर्वैरोचनिः पदत्रयपरिमितभूदानसमये अर्हणमर्घ्यं विधाय जगन्नयेन्द्रतां जगन्नयाधिपत्यं प्राप प्राप्स्यतीति, भाविनि मन्वन्तरे इन्द्रो भविष्यतीत्यर्थः। तथा कौशिक इन्द्रोऽपि कदाचिदर्घ्यं निधाय जगन्नयेन्द्रतां[1] प्राप्तवानिति प्रसिद्धिमुपजीव्येत्थमुक्तम्। एवं मुमुक्षूणां मोक्षदं सकामानामभ्युदयप्रदश्चेत्युक्तम्, अनुरक्तानां परमसुखदश्चेत्याह- यद्वेति। वाशब्दो वितर्के, उक्तसमुच्चयद्योतको वा; निपातानामनेकार्थत्वात् यच्चेत्यर्थः। व्रजयोषितां विहारे यः श्रमः तम्, सौगन्धिकगन्धि[2] यद्धस्तपङ्कजं कर्तृ अपानुदत् दूरीचकार। सौगन्धिकस्येव गन्धो यस्य तत् सौगन्धिकगन्धि[2], सौगन्धिकं कमलजातिविशेषः ॥ १७ ॥

एवं परमानुग्रहं सम्भाव्य पुनरप्यसम्भवमाशङ्क्य परिहरति — **न मयीति**। यद्यप्यहं कंसेन प्रहितः प्रेषितः, तद्भृत्यश्च[3]। तथाऽपि मयि अरिबुद्धिम् अरेरयमिति बुद्धिं नोपैष्यति न करिष्यतीत्यर्थः: यतस्स विश्वदृक् सर्वसाक्षी। विश्वदृक्त्वमेव प्रपञ्चयति — क्षेत्रज्ञः युगपत्सर्वाणि क्षेत्राणि जानन्नीश्वरः नियन्ता च सन् एतत् अस्मच्चेतसः[4] ईहितं व्यापारं चेतसोऽन्तर्बहिश्च वसन्[5]। "यो मनसि तिष्ठन्" (बृह.उ. 3-7-28) इति श्रुतेः। यः अमलेन सङ्कोचविकासरूपविकाररहितेन चक्षुषा धर्मज्ञानेन ईक्षते सर्वं युगपत् साक्षात्करोति। अयं भावः। बहिरेवाऽहं कंसमनुवर्ते, अन्तस्तु श्रीकृष्णमेव। तदेतदसौ हृदिस्थो जानातीति॥ १८॥

**अपि तच्चरणोपान्ते** अवहितं संयतं[6] बद्धाञ्जलिञ्च मां स्मितेन सहितं यथा तथा कृपामृतेनाऽऽर्द्रया दृशा दृष्ट्या, द्रक्ष्यति। तर्हि सपद्येव विनष्टाखिलकल्मषः, विगतशङ्कश्च ऊर्जितां प्रभूतां मुदं वोढा प्राप्स्यामि ॥ १९ ॥

किञ्च सुहृत्तमं ज्ञातिं, न विद्यते तस्मादन्यद्दैवतं यस्य तं मां पृथुभ्यां दीर्घाभ्यां भुजाभ्यां परिरप्स्यते आलिङ्गिष्यति यदा तदैव मम आत्मा देहः तीर्थीक्रियते पवित्रीकरिष्यते। अतो हेतोर्मम कर्मात्मकः बन्धश्च उच्छ्वसिति शिथिलीभविष्यति॥ २०॥

किञ्च उरुश्रवाः श्रीकृष्णः लब्धोऽङ्गसङ्गः परिरम्भो येन तं, बद्धाञ्जलिश्च मां हे अक्रूर! हे तत! हे तातेति च वक्ष्यति सम्बोधयति। तदा वयं जन्मभृतः सफलजन्मानः भविष्यामः। यस्तु पुमान् महीयसा भगवता नैवाऽऽदृतः आदृतो न भवति अमुष्याऽनादृतस्य तजन्म धिक्! निन्द्यमित्यर्थः ॥ २१ ॥

---

1- -1. T,W omit 2- -2 T omits 3. K तस्य भृ० 4. K मचे° 5. T,W omit विकास 6. K °यु° 7. T,W omit प्रभूतां

**विज०** यत्र निजहस्तपद्मे समर्हणं जलपूर्वपूजां निधाय दत्वा कौशिकः इन्द्रः जगन्नयेन्द्रतामाप। महाबलिश्च तथा इन्द्रवत् यद्धस्तपङ्कजं सौगन्धिकस्य कह्लारस्य गन्ध इव गन्धोऽस्याऽस्तीति। विहारे वनक्रीडायाम् अपानुदत् निराकरोत्॥ १७॥

ननु किं तव बहुप्रलापेन यतः त्वं कंसभृत्यः तत्प्रहितश्च, अतस्त्वय्यप्रियबुद्धिं कुर्यादच्युत इति मन्दाशङ्कां परिहरन्निवाऽऽह — **न मयीति**। नोपैत्यपि नोपैत्येवेत्याह — विश्वदृगिति, विश्वदृक्त्वान्मम मनोनैर्मल्यं विजानातीत्यर्थः। एतदेव विवृणोति य इति। चेतस एतदीहितं सङ्कल्पलक्षणं चेष्टितम् अन्तर्बहिश्च स्थितमिति व्याप्तिकथनमात्रेण चेतनस्य चेष्टितसाक्षित्वं साम्यक् न विवृतं स्यादिति क्षेत्रज्ञ इत्युपादत्ते। "इदं शरीरं कौन्तेय! क्षेत्रमित्यभिधीयते" (भ.गी.13-1) इत्यादिना क्षेत्रज्ञशब्दार्थः साम्यग्विवृतः ॥ १८ ॥

दयार्द्रया दृशा मां सस्मितमीक्षते। किम् ईक्षणफलम्, आह — सपदीति। ईक्षणानन्तरमपास्तकिल्बिषः साम्यङ्निराकृताशुभोऽत एव वीता विविधा शङ्का यस्य स वीतशङ्कोऽहम् ऊर्जितामुद्रिक्तां मुदं वोढा वहिष्यामीत्यन्वयः॥ १९॥

अथ यदा परिरम्भणे हेतुमाह — **सुहृत्तममिति**। अन्यद्दैवतमिष्टप्रदं यस्य नास्ति स तथा। परिरम्भणात् किं फलमातं भवतीति तत्राऽऽह — आत्मेति। अतोऽस्मात्परिरम्भणात् आत्मा देहः तीर्थीक्रियते शुद्धजलवत्क्रियते, पात्रीक्रियते वा, ज्ञानदानाय योग्यो भवतीत्यर्थः। अन्येषां भगवद्भक्तौ बुद्धचवतारीक्रियते वा, ज्ञानोपदेशाय वाऽधिक्रियते वा। किमत इत्यत्राऽऽह बन्धश्चेति। कामात्मकः विषयतृष्णालक्षणो बन्धः उच्छ्वसिति निर्वीर्यश्छिन्नो भवतीत्यर्थः। "च उच्छेदेऽपि समुच्चये" अतो देहहेतुको वा प्रवाहरूपेण सत्यो वा ॥ २० ॥

भगवतईक्षणसमये इदमित्याशयेन वक्ति **लब्धाङ्गसङ्गमिति**। उरुश्रवाः पूर्णकीर्तिः व्याप्तश्रवणशक्तिमान्वा। हे अक्रूर! हे तात! वत्सेति सम्बोधयति च। यदि जन्मभृतः जन्मनः साफल्यं प्राप्ताः। बाधकमाह महीयसेति। महत्तमेन भगवता यो नाऽऽदृतः वागादिना सादरमर्चितो न भवति, अमुष्य पुंसो यजन्म तत् धिक् निन्दामि निष्फलत्वात् ॥ २१ ॥

न तस्य कश्चिद्दयितः सुहृत्तमो न चाऽप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा।[1] [2]
तथाऽपि भक्तान्भजते यथा तथा[3] सुरद्रुमो[4-] यद्वदुपाश्रिताऽर्थदः[-4] ॥ २२ ॥

किञ्चाग्रजो माऽवनतं यदूत्तमः[5] स्मयन्परिष्वज्य गृहीतमञ्जलौ[6]।
गृहं प्रवेश्याऽप्रसमस्तसत्कृतं[7] सम्प्रेक्ष्यते[8] कंसकृतं स्वबन्धुषु ॥ २३ ॥

श्रीशुक[9] उवाच[-9]

इति सञ्चिन्तयन्कृष्णं श्वफल्कतनयोऽध्वनि।
रथेन गोकुलं प्राप्तः सूर्यश्चाऽस्तगिरिं नृप ॥ २४ ॥

पदानि तस्याऽखिललोकपालकिरीटजुष्टाऽमलपादरेणोः[10]।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि विलक्षितान्यब्जयवाङ्कुशाद्यैः । २५ ॥

तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसम्भ्रमः प्रेम्णोर्ध्वरोमाऽश्रुकलाकुलेक्षणः[11]।
रथादवस्कन्द्य[12] स तेष्वचेष्टत[13] प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो[14] इति ॥ २६ ॥

---

1 M,Ma °वाऽ 2 M,Ma च 3. M,Ma य° 4- -4. M,Ma वनस्पतिर्य° 5 G,J °तो° 6 P,V किं वा 7. M,Ma सञ्चितौ 8 G,J,K,T,W सम्प्र° 9- -9. M,Ma,T,W omit 10 M,Ma चूडामणि पा० 11 M,Ma °त्थ 12 K,T,W °मुत्थ 13 K,T,W °वे° 14 M,Ma °रिमा°

**श्रीध०** ननु सुहृदादिषु परिष्वङ्गसम्प्रश्नादयो जीवधर्माः कथमीश्वरे सङ्गच्छन्ते, अत आह — **नेति**। दयितः प्रियः तद्विपरीतोऽप्रियः, सुहृत्तमो हितः[1], तद्विपरीतो द्वेष्यः, एतत्सर्वव्यतिरिक्तः उपेक्ष्य इति। दयितादयो न सन्तीति[2] सत्यम्। तथाऽपि भगवान् भक्तान् भजते। तत्र च ये यथा भक्ताः तान् तथा भजते। "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" (भ.गी. 4-11) इति भगवद्वचनात्। अविषमत्वेऽपि भक्तेभ्य एव फलं ददाति इत्यत्र दृष्टान्तः यद्वत्सुरद्रुमः इति ॥ २२ ॥

**किमिति**। यो मयाऽञ्जलिः करिष्यते तस्मिन्नेव अञ्जलौ[3] गृहीतं मां आप्तानि समस्तानि अर्ध्यार्चादिसत्कृतानि[4] येन तं माम् ॥ २३ ॥

**इतीति**। स तु मार्गमपि न वेद। तथाऽपि रथेन प्राप्त इति ॥ २४ ॥

**पदानीति**। अखिलैर्लोकपालैः किरीटेषु जुष्टाः अमलाः पादरेणवो यस्य तस्य क्षितिकौतुकानि क्षितेरलङ्काररूपाणि ॥ २५ ॥

**तदिति**। तद्दर्शनेन य आह्लादः तेन विवृद्धसम्भ्रमो यस्य सः प्रेम्णा ऊर्ध्वाणि रोमाणि यस्य सः। अश्रूणां कलाभिः लेशैराकुले ईक्षणे यस्य सः, अवस्कन्द्य अवप्लुत्य तेषु पदेषु[5] सोऽक्रूरः[6] अचेष्टत व्यलुण्ठत्[7], अहो इति दुर्लभतां भावयन् ॥ २६ ॥

---

1. J,Va हिततमः 2- -2. P,V omit 3. P,V omit अञ्जली 4. G,J अर्थादि 5. Va omits पदेषु 6. P,V omit सोऽक्रूरः 7. J,Va °ठत्

**वीर०** पुनरपि[1] सुहृत्तमत्वज्ञातित्वादिप्रयुक्तपरिरम्भादेरसम्भवमाशङ्क्य अनन्यदैवतत्वप्रयुक्तस्य तस्य सम्भवमाह — **न तस्येति**। यद्यपि सर्वसमस्य तस्य न दयितादयस्सन्ति, न विषमा बुद्धिरस्तीत्यर्थः। तथाऽपि यथा भक्ता आत्मानं भजन्ते तथा भक्तान्भजत एव। "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" (भ.गी. 4-11), "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं, स च मम प्रियः" (भ.गी. 7-17) इति तदुक्तेरिति भावः। अवैषम्येऽपि भक्तानेवाऽनुभजते इत्यत्र दृष्टान्तः — सुरद्रुमः कल्पतरुः। यद्वद्यथा उपाश्रितानां भजतामेव अर्थदः कामदस्तद्वत्। न ह्येतावता तस्य वैषम्यमस्तीति भावः ॥२२॥

किञ्च। यदूत्तमोऽग्रजो रामः, अवनतं प्रणतं मां स्मयन् परिष्वज्य यो मयाऽञ्जलिः क्रियते तस्मिन्नेव गृहीतं मां गृहं प्रवेश्य आप्तानि लब्धानि समस्तसत्कृतानि अर्घ्यादीनि येन तम् मां प्रति स्वबन्धुषु विषयभूतेषु कंसकृतं द्रोहं सम्प्रक्ष्यते, 'प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्'' (वाचि) ॥२३॥

इत्थं श्वफल्कतनयोऽक्रूरः पथि कृष्णमेव[2] अनुचिन्तयन् रथेन गमनसाधनेन गोकुलं प्राप्तः। हे नृप! सूर्यश्च अस्तगिरिं प्राप्तः अस्तमितो बभूव। यद्यपि गोकुलमधुपुर्योरन्तरा क्रोशत्रयमेव, अक्रूरस्तु प्रभातसमय एव रथारूढो मधुपुर्याः प्रतस्थे, तथाऽपि कृष्णानुचिन्तया परवशः तत्र तत्र विलम्बयन् सायन्तनवेलायां गोकुलं प्राप्त इति भावः ॥ २४ ॥

**पदानीति**। अखिलैः लोकपालैः किरीटेषु जुष्टाः अमलाः पादरेणवो यस्य तस्य भगवतस्साम्बन्धीनि क्षितेरलङ्काररूपाणि अब्जादिरेखाभिः विलक्षितानि चिह्नितानि पदानि गोष्ठे ददर्श ॥ २५ ॥

तेषां पदानां दर्शनेन य आह्लादः तेन विवृद्धसम्भ्रमो यस्य, प्रेम्णा ऊर्ध्वान्युद्गतानि रोमाणि यस्य, अश्रूणां हर्षजानां कलाभिः लेशैः आकुले ईक्षणे यस्य सः अक्रूरः रथादवप्लुत्य तेषु पदेषु अवेष्टत व्यलुठत्। अहो प्रभोः कृष्णस्य अमून्यङ्घ्रयो रजांसि ब्रह्मादीनामपि दुर्लभानीति भावयन्नवेष्टतेत्यन्वयः ॥ २६ ॥

---

1. T,W omit सर्व 2. A,B क्रमेण

**विज०** अयं श्रीकृष्णः क्षीराब्धिशाय्येव नाऽन्य इति तस्य लक्षणमाह — **नेति**। "वनस्पतिर्वृक्षमात्रे कल्पादौ पुष्पवर्जिते" इत्युत्पलमाला। यथा यथा स्वस्वयोग्यफलदानेन ॥ २२ ॥

इदानीं बलभद्रमुद्दिश्य अक्रूरचिन्तां वक्ति — **किञ्चेति**। गृहीतसञ्चितौ गृहीतपशुपादबन्धनरज्जौ यदूत्तमोऽग्रजोऽवनतं मानयन् स्मयन् रामः मम स्वबन्धुषु वसुदेवादिषु कंसकृतं कर्म सम्प्रेक्ष्यते विचारयिष्यति। किञ्चेत्यन्वयः। "पादबन्धनपाशन्तु

पशूनां सन्धितिं विदुः" इति वररुचिः। "गृहीतमानने अग्रजे" इति पाठे सुगमः पन्थाः। यद्वा, यदूत्तमः गृहीतानां फलदानाय शुभानां सन्धितिः सङ्ग्रहः येन स तथा। तस्मिन् सति, स्मयन् मन्दस्मितं कुर्वन् कृष्णः मां सम्प्रेक्ष्यत इति कृष्णविषयो वा ॥ २३,२४ ॥

अखिललोकपालानां किरीटेषु सत्सु चूडामणिषु पादरेणवो यस्य स तथा। तस्य क्षितिकौतुकानि भूमिमङ्गलकराणि पदानि पादतललाञ्छनानि अब्जादिभिर्विलक्षितानि लाञ्छितानि। "विवाहहस्तसूत्रे च मङ्गले कौतुकं विदुः" इति च ॥२५॥

सम्भ्रमः भक्तचुद्रेकनिमित्तव्यापारविशेषः उत्थानि रोमाणि यस्य स तथा। रोमाञ्चितगात्रश्चायं अश्रुकलयाऽऽकुलेक्षणश्च, आकुले कलिले ईक्षणे यस्य स तथा। अवस्कन्द्य अवरुह्य ॥ २६ ॥

★देहम्भृतामियानर्थो हित्वा दम्भं भियं शुचम्।[1]
सन्देशाद्यो हरेर्लिङ्ग दर्शनश्रवणादिभिः ॥ २७ ॥ △

▲ददर्श कृष्णं रामश्च व्रजे[2] गोदोहनं गतौ।
पीतनीलाम्बरधरौ शारदाम्बुरुहेक्षणौ[3] ॥ २८ ॥

किशोरौ श्यामलश्वेतौ श्रीनिकेतौ बृहद्भुजौ।
सुमुखौ सुन्दरवरौ बालद्विरदविक्रमौ ॥ २९ ॥

ध्वजवज्राङ्कुशाम्भोजैश्चिह्नितैरङ्घ्रिभिर्व्रजम्।
शोभयन्तौ[4] महात्मानौ सानुक्रोशस्मितेक्षणौ[5] ॥ ३० ॥

उदाररुचिरक्रीडौ सग्विणौ वनमालिनौ।
पुण्यगन्धानुलिप्ताङ्गौ स्नातौ विरजवाससौ ॥ ३१ ॥

प्रधानपुरुषावाद्यौ जगद्धेतू जगत्पतौ।[6]
अवतीर्णौ जगत्यर्थे स्वांशेन बलकेशवौ ॥ ३२ ॥

---

★ The verse 'देहम्भृतां' is not found in M&Ma Edns. 1. P,V भयं △ This extra verse - चिरमावेष्ट्य चोत्थाय रथमारुह्य वेगतः। क तिष्ठति गवेशानः कृष्णो राम इति ब्रुवन्। is found (after V.26) only in K,P,T,V,W without commentary ▲ This extra verse - गोष्ठमध्य इति श्रुत्वा तत्स्वैर्गोपदारकैः। कृष्णसन्दर्शनाकाङ्क्षी प्रकाशे सम्बितुस्सति॥ is found (before V 25) in P&V edns only without commentary. 2. T,W गोष्ठे 3. G,J,P,V श° 4. M,Ma °मानौ 5. G,J अनु 6. K,T,W °न्मयौ

श्रीध० ननु किमर्थमेवं व्यलुण्ठत्, नास्ति प्रेमसम्भ्रमे फलोद्देश इत्याह — **देहमिति**। देहभाजामेतावानेव पुरुषार्थः। कंसस्य सन्देशादारभ्य हरेर्लिङ्गदर्शनश्रवणादिभिः योऽयमक्रूरस्य वर्णित इति सन्देश आद्यः यस्यार्थस्य सः। यावानक्रूरस्य जात इति वा ॥ २७ ॥

**ददर्शेति**। ततः कृष्णं रामञ्च ददर्श। गावो दुह्यन्ते अस्मिन्निति गोदोहनं तत्स्थानं गतौ प्राप्तौ ॥ २८,२९॥

**ध्वजेति**। अनुक्रोशः अनुकम्पा तद्विलसितस्मितयुक्तमीक्षणं ययोस्तौ ॥ ३० ॥

**उदारेति**। उदारा रुचिरा क्रीडा ययोस्तौ। स्रग्विणौ रत्नस्रग्भिरलङ्कृतौ ॥ ३१ ॥

**प्रधानेति**। प्रधानभूतौ पुरुषौ प्रकृतिपुरुषात्मकौ वा। कुतः? आद्यौ। तदपि कुतः? जगद्धेतू, अत एव जगत्पती। विपरीतो वा चतुर्णां पदानां हेतुहेतुमद्भावः। जगत्यर्थे पृथिव्या भारापनयनाय स्वांशेन मूर्तिभेदेन बलकेशावौ सन्तौ अवतीर्णौ[2] ॥ ३२ ॥

---

1. J,Va °ळत् 2. P,V omit अवतीर्णौ

**वीर०** नन्वक्षसादवदुद्भर्षोऽपि भक्तियोगविरोधी। अतः किमित्येवमवेष्टतेत्याह — **देहम्भृतामिति**। देहभाजामेतावानेव पुरुषार्थः। कोऽसौ दम्भादीन् त्यक्त्वा हरेस्सन्देशाद्वृत्तान्तात् गुणानुकथनात् लिङ्गानां विग्रहाणां चिह्नानाञ्च दर्शनश्रवणादिभिश्च योऽवस्थाविशेषः, स एवेति प्रदर्शयितुमित्यर्थः। भक्तेः परां काष्ठां दर्शयितुमवेष्टतेति भावः ॥ २७ ॥

ततो व्रजे कृष्णं रामञ्च ददर्श। कथम्भूतौ? गावो दुह्यन्तेऽस्मिन्निति गोदोहनं तत्स्थानं गतौ प्राप्तौ, श्यामलश्च श्वेतश्च तौ, श्रियो लक्ष्म्याः शोभायाश्च आश्रयभूतौ, बृहद्भुजौ पीनवर्तुलदीर्घभुजयुक्तौ, शोभने प्रसन्ने मुखे ययोस्तौ। बालद्विरदस्य कलभस्येव पदविन्यासौ ययोः ॥ २८, २९ ॥

ध्वजादिरेखाभिः चिह्नितैरङ्घ्रिपङ्कजैः व्रजमलङ्कुर्वन्तौ महात्मानौ सुशीलौ, अनुक्रोशोऽनुकम्पा तद्विलसितं स्मितयुक्तमीक्षणं ययोः ॥ ३० ॥

उदारा रुचिरा क्रीडा ययोः, स्रजावनयोः स्त इति तौ, पुण्येन चन्दनेन अनुलिप्तान्यङ्गानि ययोः, विरजे निर्मले वाससी ययोः ॥ ३१ ॥

प्रधानपुरुषौ श्रेष्ठपुरुषौ आद्यौ सृष्टेः पूर्वं विद्यमानौ जगत्कारणभूतौ जगन्मयौ जगच्छरीरकत्वेन तत्प्रचुरौ जगत्यर्थे जगत्परिपालनार्थं अंशेन सङ्कल्पेनावतीर्णौ बलाधिक्याद्बलः, केशौ ब्रह्मरुद्रौ वाति उत्पादयतीति केशवः। "क इति ब्रह्मणो नाम ईशोऽहं सर्वदेहिनाम्। आवां तवाङ्गे सम्भूतौ तस्मात्केशवनामवान्" इति रुद्रेणैव केशवशब्दार्थस्य निरुक्तेः। बलश्च केशवश्च बलकेशावौ ॥ ३२ ॥

**विज०** गोदोहनं, स्थलमिति शेषः। गोदोहनक्रियां गताविति वा ॥ २८ ॥

श्रियो लक्ष्म्याः कान्तेर्वा निकेतौ मन्दिरायमाणौ ॥ २९ ॥

अनुक्रोशेन दयया स्मितेन सहितमीक्षणं ययोस्तौ तथा ॥ ३० ॥

उदारा महती ख्याता वा, दक्षिणा वा, रुचिरा च क्रीडा ययोस्तौ। "उदारो महति ख्याते दक्षिणे दानशौण्डके" (वैज. को. 7-4-4) इति यादवः। स्नातौ शुद्धौ ॥ ३१ ॥

जगत्यर्थे भूमेरर्थे अर्थप्रदाने। प्रधानगुणाविद्यादौ उच्यमाना गुणा बलभद्रे हेतुः सन्निधानादुच्यन्ते, न त्वौत्पत्तिकाः। तदुक्तम् — "वैन्यपार्थक्लेशादावाविष्टं पुरुषोत्तमम्। अपेक्ष्य तद्गुणास्सर्वे" (माहात्म्ये) इत्यादौ ॥ ३२ ॥

दिशो विततिमिरा राजन्कुर्वाणौ प्रभया स्वया।
यथा मारकतक्षौलो[1] रौप्यश्च कनकाचितः[2] ॥ ३३ ॥

रथात्तूर्णमवप्लुत्य सोऽक्रूरस्स्नेहविह्वलः।
पपात चरणोपान्ते दण्डवद्रामकृष्णयोः ॥ ३४ ॥

भगवद्दर्शनाह्लादबाष्पपर्याकुलेक्षणः[3]।
पुलकाङ्कित औत्कण्ठ्यात्[4] स्वाख्याने[5] नाऽशकन्नृप[6] ॥ ३५ ॥

भगवांस्तदभिप्रेत्य[7] रथाङ्गाङ्कितपाणिना।
परिरेभेऽभ्युपाकृष्य प्रीतः प्रणतवत्सलः ॥ ३६ ॥

सङ्कर्षणश्च प्रणतमुपगूह्य[8] महामनाः।
गृहीत्वा पाणिना पाणिमनयत्सानुजो गृहम्[9] ॥ ३७ ॥

---

1. M,Ma,P,T,V,W म° 2. G,J,M,Ma,P,V °तौ 3. M,Ma पूर्ण° 4. G,J,K,P,V °काचिताङ्गः 5 T,W औत्सुक्यात् 6. M,Ma व्याख्यातुं 7. G,J °म° 8. G,J,K,M,Ma गु° 9. G,J,P,V पाणी अ°

**श्रीध० दिश** इति। स्वप्रभया विगततिमिरा दिशः कुर्वाणौ कनकाचितौ सुवर्णव्याप्ताविति सालङ्कारयोः शैलसादृश्यार्थमुक्तम् ॥ ३३,३४ ॥

**भगवदिति**। भगवद्दर्शनाह्लादेन यद्बाष्पं तेन पर्याकुले ईक्षणे यस्य सः, पुलकैराचितं व्याप्तमङ्गं यस्य सः, स्वाख्याने अक्रूरोऽहं नमस्करोमीति कथने नाऽशक्नोत् ॥ ३५ ॥

**भगवानिति**। अभिप्रेत्य अक्रूरोऽयमेतदर्थमागत इति ज्ञात्वा कंसहननसामर्थ्यं द्योतयन्निव रथाङ्गेन चक्रेण अङ्कितो यः पाणिः तेनाभ्युपाकृष्य तमालिङ्गितवान् ॥ ३६ ॥

**सङ्कर्षण** इति। पाणी अञ्जलिरूपेण संहतावेव गृहीत्वा ॥ ३७ ॥

**वीर०** हे राजन्! स्वया प्रभया दिशो विततिमिराः कुर्वाणौ यथा कनकेनाऽऽचितः मध्ये उपचितः मारकतः[1] शैलः इन्द्रनीलपर्वत इति यावत्, इयं कृष्णस्योपमा। रौप्य इत्यस्य अञ्जनाचित इति शेषः। इयं रामस्योपमा। एवम्भूतौ ददर्शेति सम्बन्धः ॥ ३३ ॥

तदा सोऽक्रूरः तत्क्षणमेव रथादवप्लुत्य प्रेम्णा विह्वलः रामकृष्णयोश्चरणोपान्ते दण्डवत्पपात ॥ ३४ ॥

भगवदीर्षनजाह्लादेन यद्वाष्पं तेन परित आकुले व्याप्ते ईक्षणे यस्य सः, पुलकैराचितं व्याप्तमङ्गं यस्य तथाभूतः, हे नृप! औत्कण्ठ्यात् स्वाख्याने अक्रूरोऽहं नमस्करोमीति कथने नाऽशकत् न प्रबभूव ॥ ३५ ॥

भगवान्कृष्णः तत् अक्रूरोऽयमेतदर्थमिहाऽऽगत इत्येतज्ज्ञात्वा प्रणतवत्सलत्वाद्रथाङ्गेन चक्रेण अङ्कितो यः पाणिः तेन तमभिमुखं समीपे आकृष्य प्रीतः परिरेभे आलिङ्गितवान् ॥ ३६ ॥

ततस्सङ्कर्षणोऽपि प्रणतमक्रूरमुपगूह्य आश्लिष्य प्रीतमनाः स्वपाणिना तस्य पाणिं गृहीत्वा सानुजो गृहमनयत्॥ ३७॥

---

1. T,W मरकतशैलः

**विज०** मरकतसदृशः कृष्णः, रजतपर्वतसदृशो रामः, कनकाचितावित्युभयोस्समम्। यदेतदादित्यस्य परं कृष्णरूपमित्यत्र यथाऽऽदित्यस्य कृष्णप्रभा तिमिरापहा कृष्णमरकतश्यामप्रभाऽपि दिशो विततिमिराः करोतीति युक्तमित्यनेन कृष्णप्रभाया अन्धकारनिरासकत्वं कथमिति मन्दाशङ्का दूतो निरस्तेति ॥ ३३ ॥

अवप्लुत्य अवरुह्य ॥ ३४ ॥

आह्लाद आनन्दः ॥ ३५ ॥

रथाङ्गं चक्रं, तेनाङ्कितेन पाणिना ॥ ३६,३७ ॥

**पृष्ट्वाऽथ[1] स्वागतं तस्मै निवेद्य च[2-] वरासनम्[-2]**
**प्रक्षाल्य विधिवत्पादौ मधुपर्कमुपाहरत्[3-] ॥ ३८ ॥**

**निवेद्य गात्राऽतिथये संवाह्य श्रान्तमादृतः।**
**अन्नं बहुगुणं मेध्यं श्रद्धयोपाहरद्विभुः[4] ॥ ३९ ॥**

**तस्मै भुक्तवते प्रीत्या रामः परमधर्मवित्।**
**मुखवासैर्गन्धमाल्यैः परां प्रीतिं व्यधात्पुनः ॥ ४० ॥**

★पप्रच्छ सत्कृतं नन्दः कथं स्थ निरनुग्रहे।
कंसे जीवति दाशार्हे[5] सौनपाला इवाऽवयः ॥ ४१ ॥

योऽवधीत्स्वस्वसुस्तोकान्क्रोशन्त्या असुतुप् खलः।
किञ्चुस्वित्तत्प्रजानां वः कुशलं विमृशामहे ॥ ४२ ॥

इत्थं[6] सूनृतया वाचा नन्देन सुसभाजितः।
अक्रूरः परिपृष्टेन जहावध्वपरिश्रमम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
अक्रूरागमनं नाम अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

---

1. T,W च 2- -2 M,Ma परमासनम् 3- -3. G,J °पर्काहणमाहरत्; M,Ma,P,V °पर्काहमाहरत् 4. P,V °त्प्रभुः। ★ Three slokas numbered (४१) (४२) (४३) are not found in M,Ma Edns. 5. G,J,P,V °र्ह। 6. T,W मधुरया

**श्रीध० पृच्छेति**। मधुपर्क एव अर्हः[1] अर्हणं[2] पूजा तस्मिन् वा, यदुचितमर्हणमाहरत् आनीय समर्पितवानित्यर्थः॥ ३८-४० ॥

**पप्रच्छेति**। सत्कृतं सम्मानितं निरनुग्रहे क्रूरे कथं केन प्रकारेण, स्थ जीवथेत्यर्थः। सौनः पशुघाती स एव पालको येषाम्, अवीनां मेषाणां त इव ततुल्या इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

निरनुग्रहतामाह — **योऽवधीदिति**। तोकान् तोकानि असुतुप् असूनेव तर्पयति यः अतः खलः तस्य कंसस्य प्रजानाम् हे अक्रूर! एषां जीवनमात्रमपि दुर्लभं तेषां वः किन्न कुशलं विचारयामेति ॥ ४२ ॥

**इत्थमिति**। मधुरया वाचा इत्थं सत्कृतः तयैव वाचा परिपृष्टेन प्रश्नेन अध्वपरिश्रमं संसारश्रमम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

---

1. J,Va omit अर्हः 2. J,Va omit पूजा

**वीर०** ततस्स्वागतं पृष्ट्वा अक्रूराय श्रेष्ठमासनं समर्प्य, यथाविधि पादौ प्रक्षाल्य मधुपर्कमुपाहृत्य आनीय समर्पितवान् ॥ ३८ ॥

तत आदृतोऽतिथयेऽक्रूराय गां समर्प्य श्रान्तं तं संवाहच पादसंवाहनादिकं कारयित्वा मेध्यं विशुद्धं बहुगुणोपेतं षड्रसयुक्तमन्नं श्रद्धया समर्पयामास ॥ ३९ ॥

**तस्मै** इति। मुखवासैः कर्पूरादिभिः गन्धमाल्यताम्बूलैश्च तस्मै तस्य परां प्रीतिं व्यधात् उपापादयत् ॥ ४० ॥

ततो नन्दस्तं कुशलं पप्रच्छ। प्रश्नमेवाह — 'कथ' मित्यादिना 'विमृशामहे' इत्यन्तेन। निरनुग्रहे प्रत्युत क्रूरे च दाशार्हे कंसे जीवति सति कथं केन प्रकारेण स्थ जीवतेत्यर्थः। सौनाः पशुघातिनः पालका येषां ते, अवयो मेषा इव तत्तुल्या यूयमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

निरनुग्रहतामेवाऽऽह — **योऽवधीदिति**। स्वसुर्भगिन्याः क्रोशन्त्यास्सत्याः तोकान्[1] अपत्यानि अवधीत्, असुतृप् असून् तर्पयतीति तथा। अतः खलः तस्यैवंविधस्य कंसस्य प्रजानां वो युष्माकं कुशलं कीदृशमिति विमृशामहे। येषां जीवनमात्रमपि दुर्लभं तेषां वः कुशलं किमिति विचारयामेत्यर्थः ॥ ४२ ॥

इत्थं नन्देन सूनृतया मधुरया वाचा परिपृष्टस्सत्कृतश्च अक्रूरः अध्वश्रमं जहौ ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

---

1. T,W तोकानि

**विज०** मधुपर्काहं मधुपर्कपूजाम्। "मधुपर्कश्च सक्षौद्रं दधि प्रोक्तं मनीषिभिः" इति तान्त्रिकाः। आहरत् दत्तवान् ॥ ३८ ॥

संवाहच, पादाविति शेषः ॥ ३९ ॥

मुखवासैः कर्पूरताम्बूलादिभिः ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
टीकायां अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

(विजयध्वजरीत्या षट्त्रिंशोऽध्यायः)

# एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

(श्रीविजयध्वजरीत्या समत्रिंशोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

सुखोपविष्टः पर्यङ्के रामकृष्णोरुमानितः[1]।
तेभे मनोरथान्सर्वान्यथि यान्स चकार ह ॥ १ ॥

किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने।
तथाऽपि तत्परा राजन् नहि[2] वाञ्छन्ति किञ्चन ॥ २ ॥

सायन्तनाशनं कृत्वा भगवान्देवकीसुतः।
सुहृत्सु वृत्तिं[3] कंसस्य पप्रच्छाऽन्यच्चिकीर्षितम् ॥ ३ ॥

श्रीभगवानुवाच

★तात! सौम्याऽऽगतः कच्चित्[4] स्वागतं भद्रमस्तु वः।
अपि स्वज्ञातिबन्धूनामनमीव मनामयम् ॥ ४ ॥

किं नु नः कुशलं पृच्छे एधमाने कुलामये।
कंसे मातुलनाम्न्यङ्ग स्वानां न स्तत्प्रजासु च[5] ॥ ५ ॥

अहो अस्मदभूद्भूरि पित्रो र्वृजिनमार्ययोः।
यद्धेतोः पुत्रमरणं यद्धेतो र्बन्धनं तयोः ॥ ६ ॥

दिष्ट्याऽद्य दर्शनं स्वानां महच्च[6] वस्सौम्य काङ्क्षितम्।
सञ्जातं वर्ण्यतां तावत् तवाऽऽगमनकारणम् ॥ ७ ॥

---

1. M,Ma कृष्णानुमोदितः 2. M,Ma नैव 3. G,J, वृत्तं ★ अत आरभ्य ४,५,६,७ सांख्याकाः चत्वारः श्लोकाः विजयध्वजेन न स्वीकृताः, न व्याख्याताश्च।
4. P,V कंसात् 5. P,V वै 6. P,V मम 7. G,J,K तात!

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

नवत्रिंशे पुरीं गच्छ त्यच्युते गोपिकोक्तयः। अक्रूरेणाऽथ कालिन्द्यां विष्णुलोकस्य दर्शनम्॥

भक्तानां मनोरथाः सत्या भवन्तीति द्योतयन्नाऽऽह — **सुखोपविष्ट** इति। रामकृष्णाभ्यां उरु अधिकं मानितः॥ १-३॥

**तातेति**। हे तात! हे सौम्य! स्वागतं यथा तथा आगतः। स्वज्ञातिबन्धूनां स्वे सुहृदः, ज्ञातयस्सपिण्डाः, बन्धवः असपिण्डाः, सम्बन्धिनः तेषा मपि, किम् अनमीवमपापम्; अदुःखं सुखमिति यावत्, अनामयमारोग्यम् ॥ ४॥

एवं प्रश्नोऽपि मम नाऽतीव[1-1] सङ्कत इत्याह — **किन्त्विति**। अङ्ग! हे अक्रूर, पृच्छे पृच्छामि नः अस्माकं कुलस्य आमये रोगे नः मातुल इति नाम यस्य तस्मिन् नः स्वानां ज्ञातीनां तस्य प्रजासु च ॥ ५ ॥

**अहो** इति। अस्मत् अस्मन्निमित्तं वृजिनं दुःखं आर्ययोः निरपराधयोः यद्धेतो र्योऽहमेव हेतुः तस्मात् ॥६॥

**दिष्ट्येति**। हे सौम्य! स्वानां वो दर्शनं अद्य मम सञ्जातं[2] दिष्ट्या भद्रम् ॥ ७ ॥

---

1- -1. J,Va नाऽति 2. J,Va add तत्

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ समवाप्तमनोरथेन अक्रूरेण विज्ञापित कंसचिकीर्षस्य भगवतः प्रस्थानसमुद्योगसमवलोकन भविष्यद्भगव द्विश्लेषजतापतप्तगोपीजनमिथस्सम्भाषणं मध्येमार्ग मक्रूराय स्वासाधारणदिव्यविग्रह प्रदर्शनप्रकारञ्चाऽनुवर्णय त्येकोनचत्वारिंशेन सुखोपविष्ट इत्यादिना। भक्तानां मनोरथा स्सत्या भवन्तीति दर्शयन्नाह **सुखोपविष्ट** इति। रामकृष्णाभ्यां उर्वीधिकं सम्मानितः पर्यङ्के सुखं यथा तथा उपविष्टोऽक्रूरः पथि यान्मनोरथान् चकार तान्सर्वान् लेभे प्राप ॥ १ ॥

तथा हि - भगवति षाड्गुण्यपूर्णे श्रीनिकेतने श्रीनिवासे प्रसन्ने सति किमलभ्यम्? सर्वं सुलभमेवेत्यर्थः। तद्दैवैश्वर्य कैवल्यभगवत्प्राप्त्याद्यन्यतमं स्वसमीहितं किमिति न वृण्वते इत्यत्राऽऽह — तथाऽपि यद्यपि सर्वसुलभमेव तथाऽपि हे राजन्, तत्पराः भगवत्पराः किञ्चिदपि न वाञ्छन्ति हि, तदनुभवापेक्षया सर्वस्य तुच्छत्वादिति भावः ॥ २ ॥

तदा भगवान् देवकीसुतः सायङ्कालभोजनं कृत्वा स्वसुहृत्सु वसुदेवादिषु कंसस्य वृत्तिमन्यच्च तस्य चिकीर्षितं पप्रच्छ॥ ३ ॥

प्रश्नमेवाऽऽह — **तातेत्यदिभिश्चतुर्भिः**। हे तात! सोम्य! आगत स्त्वं कच्चित् इदमस्मदिष्टं स्वागतं निर्विघ्नमागमनं जातं किल? वो युष्माकं भद्रमस्तु, सर्वत्र सर्वदा कुशल मेव भूयात्। स्वेषा मात्मीयानां, ज्ञातीनां सपिण्डानां, बन्धूनामसपिण्डानां च अनमीवं अशुभरहितम्, अनामय मारोग्यमपि अस्ति कच्चित् ॥ ४ ॥

एवं प्रश्नोऽपि मम नाऽतीव[1-1] सङ्गच्छते इत्याह — **किन्त्विति**। अङ्ग! हे तात! मातुलनाम्नि नाममात्रेण मातुले न तु वृत्त्येति भावः। तथा च अस्माकं कुलामये कुलस्य रोगतुल्ये कंसे वर्धमाने सति नोऽस्माकं स्वानां ज्ञातीनां, तत्प्रजासु तदपत्येषु च कुशलं किन्नु किमिति पृच्छे ॥ ५ ॥

अहो! अस्मत् अस्मत्तो निमित्तात् आर्ययोः पूज्ययोः निरपराधयो र्वा मातापित्रो र्भूरि वृजिनं दुःखं प्राप्तम्। तदेव प्रपञ्चयति। यत् यस्मात् अस्मत्तो हेतोः निमित्तात्युक्तेना मस्मदग्रजानां मरणं यदस्मन्निमित्तातयोः पित्रोर्बन्धनञ्च प्राप्तम्॥ ६॥

अस्तु तावत्। हे सौम्य! चिरं वाञ्छितं स्वानां वो युष्माकं दर्शनन्त्वच सञ्जातम्, एतद्दिष्ट्या आनन्दजनक मस्माकम्। हे तात! त्वाऽऽगमनकारणं वर्ण्यताम् कथ्यताम् ॥ ७ ॥

---

1- -1. T,W omit

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

'गोचारणाये' त्यारभ्य, 'किञ्चाऽग्रज' इत्यन्तेन ग्रन्थेन, पथि यान्मनोरथान् चकार दध्यौ, तान्लेभे इत्यन्वयः। "करणं कारणे काये साधनेऽ(नुव्रतादिषु), बकादिषु स्पष्टाचुच्चारणाभेद ध्यानपद्मासनादिषु" (वैज.को. 7-3-9) इति यादवः।

ननु मुख्यमनोरथो मोक्षः, सोऽनेन न लब्धः संसारानिवृत्तेः इत्यत्राऽऽह — किमलभ्य मिति। तत्परा मुख्य-भागवताः तत्प्रसादमन्तरेणान्यं नाऽऽकांक्षन्त इति भावः ॥ २ ॥

सायन्तनाशनं रात्रिभोजनम्। (मनुस्मृतौ द्वितीयाध्याये ५२ श्लोकादनन्तरः अधिकपाठः) ★ "सायं प्रातर्द्विजातीनां भोजनं श्रुतिचोदितम्" इति याज्ञवल्क्यः? सुहृत्सु वसुदेवादिषु वृत्तिर्वर्तनम् आजीवलक्षणं "वृत्ति ग्रन्थाजीवयोश्च" (वैज.को. 6-2-36) इति च ॥ ३ ॥■

---

★ मनुस्मृतौ द्वितीयाध्याये ५२ श्लोकादनन्तरेऽऽधिकपाठः ♦ ४.५,६,७ संख्याकानां श्लोकानां (चतुर्णां) विजयध्वजीय व्याख्या नाऽस्ति॥

### श्रीशुक उवाच

पृष्टो भगवता सर्वं वर्णयामास माधवः।
वैरानुबन्धं यदुषु वसुदेववधोद्यमम् ॥ ८ ॥

यत्सन्देशो यदर्थो[1] वा दूतः सम्प्रेषितः स्वयम्।
यदुक्तं नारदेनाऽस्य स्वजन्माऽऽनकदुन्दुभेः ॥ ९ ॥

श्रुत्वाऽक्रूरवचः कृष्णो बलश्च परवीरहा।
प्रहस्य नन्दं पितरं राज्ञाऽऽदिष्टं विजज्ञतुः[2] ॥ १० ॥

गोधान्समादिशत्सोऽपि गृह्यतां सर्वगोरसः।
उपायनानि गृह्णीध्वं युज्यन्तां शकटानि च ॥ ११ ॥

**वास्याम[3]ः श्वो मधुपुरीं दास्यामो नृपते रसान्।**
**व्रजस्यामोऽत्र महासत्त्वा वान्ति जानपदाः किल।**
**एव माघोषयत्क्षन्ना नन्दगोपः स्वगोकुले ॥ १२ ॥**

---

1. M,Ma °र्थं 2. P,V राजोद्देशं 3- -3. G,J,M,Ma °मः सुमहत्पर्व; P,V °मः सुमहत् सत्त्वं

**श्रीध० पृष्ट** इति। माधवः मधोर्वंशजः ॥ ८ ॥

**यदिति**। सः धनुर्मिषच्छद्मा सन्देशो यस्य यदर्थं चाणूरादिभि घर्तनार्थं अस्य कृष्णस्य[1] स्वजन्म कृष्णजन्म आनकदुन्दुभे स्सकाशात् ॥ ९ ॥

**श्रुत्वेति**। विजज्ञतुः विशेषेण ज्ञापयामासतुः ॥ १० ॥

**गोपानिति**। सोऽपि नन्दोऽपि[2] गोपान् समादिशत्। तदेव दर्शयति - गृह्यतामित्यादिना। गोरसः क्षीरादिः। उपायनानि उत्तमवस्तूनि ॥ ११ ॥

**यास्याम** इति। रसान् घृतादीन्। शब्दच्छलेनेदं सूचयति — अचिकित्स्यस्य[3] रोगस्य चिकित्सार्थं श्रीकृष्णजन्मरसान्[4-] [-4] दास्याम इति क्षन्ना व्रजरक्षाधिकृतेन आघोषयत् सर्वतो घोषितवान् ॥ १२ ॥

---

1 J,Va add पुरतो वर्णयामास 2. J,Va omit अपि 3. P,V °त्स्यरो° 4- -4. J,Va omit.

**वीर०** इतीत्थं भगवता पृष्टो माधवो मधुवंशप्रभवोऽक्रूर स्सर्वं वर्णयामास। सर्वशब्दविवक्षितमेव प्रपञ्चयति वैरानुबन्धमिति सार्धेन। यदुषु विषयभूतेषु कंसस्य वैरानुबन्धं वैरमप्रीतिः तदनुबध्यते यदुषु[1] इत्यनुबन्धः तत्कार्यक्लेशापादनञ्च। तथा वसुदेवस्य वधोद्यमं वधार्थं यत्नम् ॥ ८ ॥

यः धनुर्यागिच्छद्मना सन्देशो यस्य सः स्वयमात्मा दूतः दूतीकृतः, यदर्थं सोपायं समानयनेन चाणूरादिभिर्घातनार्थं[2] प्रेषितः आनकदुन्दुभेः वसुदेवात्सकाशात् स्वजन्म कृष्णजन्म च यन्नारदेनाऽस्य कंसस्योक्तं, तच्चेत्येतत्सर्वं वर्णयामासेति सम्बन्धः ॥ ९ ॥

इत्थं वर्णितमक्रूरस्य वच आकर्ण्य कृष्णः परान् शत्रून्वीरान् हन्तीति तथा। बलो रामश्च प्रहस्य राज्ञा कंसेन आदिष्टं सर्वं नन्दं प्रति विजज्ञतुः विज्ञापयामासतुः ॥ १० ॥

सोऽपि नन्दोऽपि गोपान् समादिशत् आज्ञापयामास। समादेशप्रकारमाह[3] गृह्यता मित्यादिना किलेत्यन्तेन। गोरसः क्षीरादिः गृह्यताम्। तथोपायनानि उत्तमवस्तूनि गृह्णीध्वम्, शकटानि युज्यन्ताम्, वृषभैरिति शेषः ॥ ११ ॥

इव स्समनन्तरेऽह्नि मधुपुरीं प्रति गमिष्यामः नृपतेः कंसाय सम्प्रदानस्य शेषत्वविवक्षया षष्ठी। रसान् क्षीरघृतादीन्दास्यामः। अत्र मधुपुर्यां महासत्रं धनुर्यागं द्रक्ष्यामः। जानपदा देशवासिन स्तत्र यान्ति किल, तांश्च द्रक्ष्याम इत्यर्थः। इत्थं नन्दगोपः स्वस्य गोकुले क्षत्रा सूतेन प्रयोज्यकर्त्रा अघोषयत् ॥ १२ ॥

---

1. T,W omit यदु 2. K चाऽक्रूरा° 3. K °माह

विज० माधवः मधुकुलोद्भवः यस्य कंसस्य सन्देशो यस्य स तथा यस्य कंसस्यार्थे दूतः यत्प्रयोजन मुद्दिश्येति वा, तस्य कंसस्य यदुषु वैरानुबन्धं वैरेण सन्ततदोषभावं प्रकृतस्य वैरस्य अनुवर्तनं वा। ★ "अनुबन्धो दोषभावे प्रकृत्यादौ विनश्वरे। मुख्यानुयायिनि शिशौ प्रकृतस्यानुवर्तने" (अम.को. 3-255) इति ॥ ८ ॥

अस्य कंसस्य नारदेन यदुक्तं, तदपि किं तदुक्तं, तत्राऽऽह स्वजन्मेति ॥ ९ ॥

विजज्ञतुः विज्ञापयामासतुः ॥ १०,११ ॥

रसान् आज्यादीन् हेमानि वा। "रसो रागे विषे वीर्ये तिक्तादौ पारदे द्रवे। रेतस्याऽऽस्वादने हेम्नि निर्यासे रसशब्दयोः" (वैज.को. 6-1-49) इति च। पर्व उत्सवम्। "पक्षसन्धावुत्सवे च ग्रन्थौ पर्व विदुर्बुधाः" इति दत्तः। क्षत्रा यन्त्रा ॥ १२ ॥

---

★ उपलभ्यमानपाठस्तु 'दोषोत्पादेऽनुबन्धः स्यात्' इति।

गोप्य स्ता स्तदुपश्रुत्य बभूवुर्व्यथिता[1] नृप!
रामकृष्णौ पुरीं नेतु मक्रूरं व्रजमागतम् ॥ १३ ॥

काश्चि त्तत्कृतहृत्तापश्वासम्लानमुखश्रियः।
स्रंसद्दुकूलवलयकेशग्रन्थ्यश्च काश्चन[2] ॥ १४ ॥

अन्याश्च तदनुध्याननिवृत्ताशेषवृत्तयः।
नाऽभ्यजानन्निमं लोक मात्मलोकं गता इव ॥ १५ ॥

स्मरन्त्यश्चापरा श्शौरे रनुरागस्मितेरिताः।
हृदिस्पृशश्चित्रपदा गिरस्सम्मुमुहुः स्त्रियः ॥ १६ ॥

गतिं सुललितां चेष्टां स्निग्धहासावलोकनम्[3]।
शोकापहानि नर्माणि प्रोद्दामचरितानि च ॥ १७ ॥

**चिन्तयन्त्यो मुकुन्दस्य भीता विरहकातराः।**
**समेता स्सङ्घशः प्रोचु स्मुमुख्योऽच्युताशयाः ॥ १८ ॥**

---

1. G,J °ता भृशम्; M,Ma °ताऽऽशयाः 2. P,V बन्धाश्च 3. P,V क°

**श्रीध० गोप्य** इति। ताः कृष्णैकजीवना गोप्यः, तत्तदा अक्रूरमागत मुपश्रुत्येति ॥ १३ ॥

**व्यथालिङ्गान्याह पञ्चभिः काश्चिदिति।** तेन श्रवणेन कृतो यः[1] हृत्तापः[2] तेन यः श्वासः[2], तेन म्लानुना मुखश्रीः यासां ताः। बभुवुरिति। दुकूलानि च वलयानि च केशग्रन्थयश्च, स्रंसन्तो दुकूलादयो यासां तथाभूताः काश्चन बभुवुरित्यर्थः ॥ १४ ॥

**अन्या** इति। तस्य श्रीकृष्णस्यानुध्यानेन निवृत्ता अशेषाः चक्षुरादिवृत्तयो यासां ताः इमं लोकं देहमपि न जानन्ति स्म, मुक्ता इवेति ॥ १५ ॥

**स्मरन्त्य** इति। अपराः स्त्रियः शौरे र्गिरः स्मरन्त्यः सम्मुमुहुः? अनुरागेण यत् स्मितं तेन ईरिताः हृदि स्पृशन्तीति हृदिस्पृशः मनोज्ञाः चित्राणि पदानि यासु ताः ॥ १६,१७ ॥

**चिन्तयन्त्य** इति। विरहेण कातराः विह्वलाः अच्युते आशयः चित्तं यासां ताः ॥ १८ ॥

---

1. P,V omit यः 2- -2. Va omits 3. J,Va omit अर्थः

**वीर०** हे नृप! ताः गोकुलस्थाः गोप्यः तत्[1] तदा अक्रूरं रामकृष्णावानेतुं आगत मुपश्रुत्य व्यथिता बभुवुः ॥ १३ ॥

व्यथालिङ्गान्याह पञ्चभिः - **काश्चिदिति।** काश्चिद्गोप्यः तेन श्रवणेन कृतो हृत्ताप स्तेन यः श्वासः सोष्णो निःश्वासमारुत स्तेन म्लाना मुखश्री र्यासां ताः, स्रंथानि दुकूलानि वलयानि केशग्रन्थयश्च यासां तथाभूताः काश्चन बभूवुः ॥ १४ ॥

अन्यास्तु। तस्य भगवतोऽनुध्यानेन निवृत्ता अशेषाश्चक्षुरादिवृत्तयो यासां ताः, इमं लोकं देहमपि नाभ्यजानन् नाऽनुसमदधत। अत्मैव लोक स्तं गता आत्मसाक्षात्कारिणः योगारूढा इवेत्यर्थः ॥ १५ ॥

अपराः स्त्रियः शौरेः गिरः स्मरन्त्यः सम्मुमुहुः। कथम्भूता गिरः? अनुरागेण, यत् स्मितं तेन ईरिताः हृदिस्पृशन्तीति तथा मनोज्ञाः, विचित्राणि पदानि यासु ताः ॥ १६ ॥

काश्चित्तु विरहेण भाविना कातरा विह्वलाः मुकुन्दस्य सुन्दरतरां गतिं तथाभूतां चेष्टां रासक्रीडाद्यात्मिकाम्, स्निग्धो यो हास स्तद्युक्तमवलोकनञ्च शोकमपघ्नन्तीति तथा, तानि कर्माणि पूतनाशकटासुरादि वधात्मकानि कर्माणि च, प्रोद्दामानि गम्भीराणि चरितानि शयनासनभोजनादीनि च स्मरन्त्यः अच्युते एव आशयः चित्तं यासां ताः, अश्रूणि मुखेषु यासां ताः, सङ्घशः समेत्य तत्र तत्र सङ्घशो भूत्वा प्रोचुः ॥ १७,१८ ॥

---

1. T,W omit तत्

**विज०** रामकृष्णौ पुरीं नेतुमागतमक्रूरं श्रुत्वा ज्ञात्वा गोपस्त्रिय एवमापन्नाः बभूवुरित्यन्वयः। तत्कथमिति विविच्याऽऽह **काश्चिदिति**। तस्य कृष्णस्य मधुपुरीगमनश्रवणकृताभ्यां हृतापश्वासाभ्यां म्लाना मुखश्रीः यासां ता स्तथा॥ १३,१४॥

स्रंसद्दुकूलेत्यादावपि तत्कृतेति सम्बन्धयितव्यम्। यद्वा तत्कृते कृष्णकृते तदनुध्याने निवृत्ताशेषेन्द्रियवृत्तयः। इमं लोकं देहं, आत्मलोकं मोक्षम् ॥ १५ ॥

हृदिस्पृशः हृदयङ्गमाः मनोहराः अनुरागस्मितपूर्वकमीरिताः। चित्राणि पदानि यासु ताः ॥ १६ ॥

तथा गतिं यात्रां चेष्टामङ्गविषयां स्निग्धहासेन सहित मवलोकनम् ॥ १७ ॥

अच्युताशयाः अच्युतबुद्धयः ॥ १८ ॥

## गोप्य ऊचुः

अहो विधात स्तव न क्वचिद्दया संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः।
तांश्चाऽकृतार्था न्वियुनङ्क्ष्यपार्थकं[1] विक्रीडितं[2] तेऽर्भकचेष्टितं यथा ॥ १९ ॥

यस्त्वं प्रदर्शयाऽसितकुन्तलावृतं मुकुन्दवक्त्रं सुकपोलमुन्नसम्।
शोकापनोदस्मितलेशसुन्दरं करोषि पारोक्ष्य मसाधु ते कृतम् ॥ २० ॥

क्रूरस्त्वमक्रूरसमाख्यया स्म[3] न श्चक्षुर्हि दत्तं हरसे बताऽज्ञवत्।
येनैकदेशेऽखिलसर्गसौष्ठवं त्वदीयमद्राक्ष्म वयं मधुद्विषः[4] ॥ २१ ॥

न नन्दसूनुः क्षणभङ्गसौहृदः समीक्षते[5] नः स्वकृतातुरा बत[6]।
विहाय गेहान्स्वजनान्सुतान्पतीन् स्वदास्यमद्वोपगता नवप्रियः[7] ॥ २२ ॥

सुखप्रभाता रजनीय माशिषः सत्या बभूवुः पुरयोषितां ध्रुवम्।
याः सम्प्रविष्टस्य मुखं व्रजस्पतेः पास्यन्त्यपाङ्गोत्कलितस्मितासवम् ॥ २३ ॥

तासां मुकुन्दो मधुमञ्जुभाषितै र्गृहीतचित्तः परवान्मनस्व्यपि।
कथं पुन र्नः प्रतियास्यतेऽबला ग्राम्यास्सलज्जस्मितविभ्रमै[8] र्भ्रमन्[9] ॥ २४ ॥

---

1. T,W °र्थं° 2. M,Ma,P,T,V,W चेष्टितं 3. M,Ma स्मृतः 4. M,Ma त° 5. K,T,W °क्षिता 6. M,Ma अपि 7. G,J,K तद्दा° 8. M,Ma अलज्जाः 9. M,Ma °मद्भुवः

**श्रीध०** कृष्णसङ्गतिं विधाय विघटयतीति[1] विधातारं प्रति एव माक्रोशन्त्यः आहुः — **अहो** इति। मैत्र्या हिताचरणेन प्रणयेन स्नेहेन च अकृतार्थान् अप्राप्तभोगानपि तान् वियुनक्षि वियोजयसि। तस्मान्न तावद्[2]या, बालिशोऽपि त्व मित्याहुः अपार्थकमिति॥ १९॥

विगर्हितञ्च तवेदं कर्मेत्याहुः **य** इति। शोकमपनुदतीति शोकापनोदः, स चासौ स्मितलेशश्च गूढहासः, तेन सुन्दरं मुकुन्दस्य वक्त्रं सकृत्प्रदर्श्य पुन स्तस्य पारोक्ष्यमदृश्यतां करोषि। अतस्तव कृतं कर्म असाधु निन्द्यमित्यर्थः॥ २०॥

किञ्च दत्तापहारित्वेन अतिक्रूरस्त्वमित्याहुः - **क्रूर** इति। नन्वक्रूरो हरति नाऽहमिति चे दत अहुः — अक्रूरसमाख्ययेति। न ह्येवं कर्तु मन्यः प्रभवति अतो नामान्तरेण, स्म ध्रुवम्। त्वमेवाऽऽगतोऽसि। कृष्णं हरामि न युष्मच्चक्षुरिति चेत्, न, येन त्वद्दत्तेन चक्षुषा मधुद्विषः एकदेशे नेत्रवक्त्रादौ त्वदीयं समग्रं सृष्टिनैपुण्य[3] मद्राक्ष्म दृष्टवत्यो वयं तच्चक्षुः - अयं भावः — तव[4] सर्वं रहस्यमस्माभिर्ज्ञातम्[5]। अतः[6] अमर्षेणेव कृष्णं वियोजय न्नस्मा नन्धीकरोषीति ॥ २१ ॥

विधातारं विहाय परस्पर मूचुः- **न नन्दसूनुरिति**। बतेति खेदे। क्षणभङ्गं अस्थिरं सौहृदं यस्य सः। गेहादीन्[7] विहाय अद्धा साक्षात् तस्यैव दास्यमुपागताः स्वकृतातुराः तत्कृतेनैव स्मितादिना परवशा अपि नः अस्मान् न समीक्षते। नवं नवं प्रियं यस्य सः अत एनं निवारयाम इति भावः ॥ २२ ॥

सेर्ष्य मूचुः **सुखमिति**। व्रजस्पतेः श्रीकृष्णस्य मुखं पास्यन्ति आदरेण द्रक्ष्यन्ति। कथम्भूतम्? अपाङ्गेन[8] नेत्रान्तेन उत्कलितं उज्जृम्भितं स्मित मेवाऽऽसवो[9] यस्मिन् तत्। यद्वा, अपाङ्गोत्कलितस्मितेन आसवरूपं यन्मुखं ततश्च पानं मुख्यमेव सम्भावयन्ति ॥ २३ ॥

ननु द्विराणि दिनानि तथा भवतु नाम तथाऽप्यस्मत्स्नेहाकृष्टः पित्रादिभिश्च परावर्तित आगमिष्यतीत्याशङ्क्याऽऽहुः — **तासामिति**। हे अबलाः! तासां मधुवन्मञ्जुभि र्भाषितै र्वशीकृतचित्तः, तथा तासां सलज्जस्मितैः विभ्रमैर्भ्रमन् परवान् पित्रादिपरतन्त्रोऽपि। यद्वा, व्रजे परे अन्ये बन्धवः सन्ति यस्य स तथा मनस्वी धीरोऽपि, ग्राम्या अविदग्धाः नः कथं प्रतियास्यते प्रत्येष्यति, न कथञ्चिदित्यर्थः ॥ २४ ॥

---

1. J,Va इ° 2. J,Va °तव द° 3. J,Va °पुण° 4. J,Va मम 5. J,Va °माऽऽभि र्ज्ञा 6. J,Va इति 7. J,Va गृ° 8. J,Va नेत्रान्तेन 9. J,Va add रसो

वीर० उक्तिमेवाऽऽह — **अहो** इत्यादिभिः। तावच्छ्रीकृष्णसङ्कर्तिं विधाय विघटयतीति[1] विधातारं प्रत्येवाऽऽक्रोशन्त्य आहुः — **अहो** इति त्रिभिः। हे विधातः! तव क्वचिदपि दया नास्त्यहो! तथाहि - मैत्र्या हिताचरणेन प्रणयेन स्नेहेन विश्वासेन च देहिनो जनान् तावन्मिथः संयोज्य अकृतार्थानप्राप्तभोगानेव तान् वियुनक्षि वियोजयसि, तस्मान्न तव दयाऽस्ति। अत स्तव चेष्टित मपार्थकं प्रयोजनशून्यम्। यथा बालकचेष्टितं तद्वत्। मूर्खस्त्वमिति भावः ॥ १९ ॥

विगर्हितं च तव कर्मेत्याहुः — **यस्त्वमिति**। असितैः कुन्तलैः आवृतं तद्वत्। शोभनौ कपोलौ यस्मिन्, उन्नता नासिका यस्मिन् तत्, शोकमपनुदतीति शोकापनोदः स चासौ स्मितलेश स्तेन सुन्दरं मुकुन्दस्य वक्त्र मस्माकं प्रदर्श्य यस्त्वं पुनः तस्य पारोक्ष्यमदृश्यतां करोषि। अतः ते तव कृतं कर्म असाधु निन्द्यमित्यर्थः ॥ २० ॥

नन्वक्रूरस्तस्य पारोक्ष्यं करोति न त्वह मित्याशङ्क्याऽऽहुः — **क्रूरस्त्वमिति**। येन त्वया नोऽस्मभ्यं चक्षुर्दत्तं तत्पुनं स्त्वमेव अज्ञवद्दुःखानभिज्ञवत् मूर्खवत् अक्रूरसमाख्यया हसे। अक्रूर इति व्याजमात्रमेव। न स त्वत्तोऽन्यः। न ह्येवं कर्तु मन्यः प्रभवतीत्यभिप्रायेण अक्रूरसमाख्येयुक्तम्। अतो नामान्तरेण ध्रुवं त्वमेवाऽऽगतो दत्तमपहरन् क्रूर इत्यर्थः। ननु कृष्णं हरामि, न तु युष्मच्चक्षुः इत्याऽऽशङ्क्याहुः। येन त्वद्दत्तेन चक्षुषा मधुद्विषः श्रीकृष्णस्य एकदेशे नेत्रवक्त्रादौ त्वदीयं समग्रसृष्टिनैपुण्य मद्राक्ष्म दृष्टवत्यो वयम्। अयम्भावः — तव सर्वं रहस्य मस्माभिर्ज्ञात मित्यमर्षेण कृष्णं वियोजय नस्मा नन्धीकरोषीति ॥ २१ ॥

विधातारं विहाय परस्पर माहुः — **न नन्दसूनुरिति**। बतेति खेदे। क्षणभङ्गमस्थिरं, सौहृदं यस्य स नन्दसूनुः। गेहादीन्विहाय, अद्धा साक्षात् स्वस्य तस्यैव दास्य मुपगताः स्वकृतेनैव स्मितादिना आतुराः परवशा अपि नोऽस्मान् न समीक्षिता न समीक्षिष्यते। तत्र हेतुं सेर्ष्य माहुः। नवप्रियः नवः पुरस्त्रीजनः प्रियो यस्य तथाभूतः। अत एनं निवारयाम इति भावः ॥ २२ ॥

पुनस्सेर्ष्य माहुः — **सुखप्रभातेति**। पुरयोषितां मधुरापुरस्थयोषितां इयं रात्रिः सुखप्रभाता, तथा तासां आशिषः कामाश्च सत्या बभूवुः। अत्र हेतुं वदन्त्य स्ता विशिंषन्ति। याः पुरयोषितः पुर्यां प्रविष्टस्य व्रजस्पतेः श्रीकृष्णस्य। सुखागम आर्षः, पारस्करादे राकृतिगणत्वा द्वा। अपाङ्गेन नेत्रान्तेन उत्कलितमुज्जृम्भितं स्मितमेव आसवो रसो यस्य तन्मुखं पास्यन्ति। मुखकमलस्य स्मितासवं पास्यन्तीति भावः ॥ २३ ॥

मधुराङ्गतोऽपि पुन रायास्यतीत्युद्भावयन्तीः काश्चित्प्रत्याहुः **तासामिति**। हे अबलाः! तासां पुरस्त्रीणां भ्रमन् मुकुन्दः, स्वतो मनस्व्यपि धीरोऽपि परवान् परस्त्रीपरतन्त्रस्सन् ग्राम्या अविदग्धाः नोऽस्मान्प्रति कथं यास्यते न कथञ्चिदित्यर्थः ॥ २४ ॥

---

1. T.W विफल°

**विज०** हे विधातः, तव क्वचिद्दया नास्ति। कथं प्रणयेन देहिनः जन्तून् मैत्र्या मित्रभावेन संयोज्य एकीकृत्य पुनस्तान्देहिनः अकृतार्थानप्राप्तमनोरथानेव वियुनक्षि वियुक्तदेहान् करोषि, अहो! इत्यन्वयः। अत स्ते तव चेष्टितं अपार्थकं निष्फलं कथमिति, अर्भकचेष्टितं यथा तथेति ॥ १९ ॥

अत्र मया किमवद्य मकारीति तत्राऽऽह **यस्त्वमिति**। यस्त्वं सुकपोलादिविशिष्टं मुकुन्दवक्त्रं प्रदर्श्य दर्शयित्वा पुनः पारोक्ष्यं परोक्षविषयं चक्षुरगोचरं करोषि यस्मात्ते त्वया कृतमासाध्वमङ्गलमित्यन्वयः। शोकस्यापनोदो निरासो येन सः शोकापनोदः स्मितलेशः तथा तेन सुन्दरं मनोहरम्। स्मितस्य लेशः स्मितलेशः ॥ २० ॥

हे विधातः, त्वं अक्रूरसमाख्यया अनृशंसोऽयमकठिनोऽयमिति गुणसमाननाम्ना स्मृतः पूर्वम्। अधुना क्रूर इति स्मर्यसे। कुतः? येन चक्षुषा मधुद्विष एकदेशे मुखाद्येकावयवे तदीयं तस्य तव विद्यमानं अखिलस्य विश्वस्य सर्गे सृष्टौ यत्सौन्दर्यं तदद्राक्ष्म, तत् त्वया हि एवं दत्तं चक्षुरङ्गवत्कृतघ्नवत् हरसे। बत! कष्ट मित्यन्वयः। "क्रूरो भयङ्करे क्रुद्धे नृशंसे कठिनोष्णयोः (वैज.को. 6-4-4) इति च। यद्वा, तस्य मधुद्विषो विद्यमानमखिलं पूर्णसर्गं स्वाभाविक-मकृत्रिमं सौष्ठवम्। अन्यत्समम् ॥ २१ ॥

इदानीं कृष्णं कटाक्षीकृत्य वदन्ति **नेति**। स्वकृते स्वात्मानं कृष्णमुद्दिश्याऽऽतुराः क्लिष्टा अपि नोऽस्मान्न समीक्षते, न चिन्तयति। यत्तस्मान्नन्दसूनुः क्षणभङ्गसौहृदः नवप्रियः नूतनप्रियश्च। कीदृशीरस्मान् गेहादीन्विहाय स्वदास्यमद्धा प्रत्यक्षमुपागताः। अद्धा सत्यं वा। "अद्धा प्रत्यक्षसत्ययोः" (वैज.को. 8-7-12) इति च ॥ २२ ॥

सुखप्रभातत्वे निमित्तमाहुः — या इति। व्रजस्पतेः गोकुलनाथस्य। सकार श्छान्दसः। अपाङ्गेन कटाक्षनिरीक्षणेन उत्कलितमुत्पन्नं अभीष्टवर्षकीकृतं वा। स्मितमेवाऽसवममृतं यस्मिंस्तथा ॥ २३ ॥

इदानीं कृष्णमजानन्त्यो वदन्ति। मनस्वी महामनाः अपि मुकुन्दो मधुरां गतः पुनः नोस्मान्प्रति कथं प्रतियास्यते आगमिष्यते, न केनाऽपीत्यन्वयः। अनागमने निमित्तमाहुः — तासां मधुराङ्गनानां मधुमञ्जुभाषितैः, मधुवत्पुष्पसवत् मञ्जुभिः श्रुतिमनोहरैः वचनैः गृहीतचित्तो वशीकृतचेताः, अत एव परवान् पराधीनः। "परवांस्तु पराधीनो निघ्नः परवशस्तथा" (हला.को. 2-186) इति हलायुधः। तासां मधुरवचनमेव कारणं नत्वन्यदित्याशयेनाऽऽहुः अबलाः सुरतधाष्टर्यविधुराः। किञ्च ग्राम्याः अश्लीललीलाः, तदपि मुख्यं नेत्याऽऽहुः। अलज्जाः लज्जारहिताः भ्रूविलासोऽपि सुखसूचको नेत्याहुः, स्मितेन। सह विभ्रमन्ती भ्रूर्यासां ता स्तथा, "समुद्रोर्मिव दुन्नम्य भ्रूविलासेन सुन्दरी, निद्रितं मदमं या तु बोधये त्सा वराङ्गना" इति कामन्दकः। यद्वा, हे अबलाः, ता मधुराङ्गनाः ग्राम्याः नित्यसुरतकर्मोपिताः, स्मिता स्फुटीकृता विभ्रमन्ती भ्रू र्यासां ता स्तथा ॥ २४ ॥

**अद्य ध्रुवं तत्र दृशो भविष्यते दाशार्हभोजान्धक वृष्णिसात्त्वताम्।**
**महोत्सवः श्रीरमणं गुणास्पदं द्रक्ष्यन्ति ये चाऽध्वनि देवकीसुतम् ॥ २५ ॥**

**मैतद्विधस्याऽकरुणस्य नाम भूदक्रूर इत्येत दतीव दारुणः।**
**योऽसावनाश्वास्य सुदुःखितं जनं प्रियात्प्रियं नेष्यति पारमध्वनः ॥ २६ ॥**

**अनार्द्रधीरेष समास्थितो रथं तमन्वमी च त्वरयन्ति दुर्मदाः।**
**गोपा अनोभिः स्थविरैरुपेक्षितं दैवञ्च नोऽद्य प्रतिकूल मीहते ॥ २७ ॥**

**निवारयाम स्समुपेत्य माधवं किं नोऽकरिष्य त्कुलवृद्धबान्धवाः।**
**मुकुन्दसङ्गान्निमिषार्धदुस्त्यजा दैवेन विध्वंसितदीनचेतसाम् ॥ २८ ॥**

**यस्याऽनुरागललितस्मितवल्गुमन्त्रलीलावलोकपरिरम्भणरासगोष्ठ्याम्।**
**नीताः स्म नः क्षणमिव क्षणदा विना तं गोप्यः कथं न्वति तरेम तमो दुरन्तम् ॥ २९ ॥**

**योऽह्नः क्षये व्रजमनन्त सखः परीतो गोपैर्विशन्खुररजश्छुरितालकस्रक्।**
**वेणुं क्वण न्स्मितकटाक्षनिरीक्षणेन चित्तं क्षिणोति तमृते नु कथं भवेम ॥ ३० ॥**

---

1- -1. M,Ma दशां महोत्सवो 2. M,Ma °वं 3. K,T,W मैवंवि° 4. M,Ma विभ्रंशित 5. K,T,W °गवांखु° 6. G,J,K,M,Ma °त्यमुमृते 7. M,Ma तेऽन्न

**श्रीध०** किञ्च। अस्मदुत्सवभाजोऽन्या एवाऽद्य भविष्यन्तीत्याहुः — **अद्येति**। तत्र पुरे दाशार्हादीनां दृशः दृष्टेः महानुत्सवो भविष्यते भविष्यति। ये देवकीसुतं द्रक्ष्यन्ति, तथा ये चाऽन्ये अध्वनि गच्छन्तं द्रक्ष्यन्ति, तेषा मपि दृशो भविष्यतीति। यद्वा दृश इति द्वितीया। तेषां दृशो नेत्राणि महानुत्सवः भविष्यते प्राप्स्यति। प्राप्त्यर्थस्य भवते - रात्मनेपदित्वात् ॥ २५ ॥

अक्रूरं शपन्त्य आहुः — **मेति**। एषा विधा विधानं कर्म यस्य; अत एव निष्कृपस्य अक्रूर इति शोभनं नाम मा भूत्। तत्र हेतुः अतीव दारुण इत्यादि। प्रियात्प्राणादपि प्रियतरं कृष्णं अध्वनः पारं, अस्मद्दृगोचरत्वात् अतिदूरदेशं नेष्यति ॥ २६ ॥

अहो धिगस्मज्जीवित मित्याहुः — **अनार्द्रधीरिति**। अनार्द्रा कठिना धीर्यस्य सः। तावदेव कृष्णो रथमारूढः अस्याऽविनय मालक्ष्य स्थविरैश्चोपेक्षितम्, ते न निवारयन्ति इत्यर्थः। किञ्च दैवतश्चेति। अयं भावः — यद्यस्माकं दैव मनुकूलं भवे तर्हि विघ्नैः कश्चि देतेषां मध्ये प्रतिहन्येत, अकस्माद्वज्रपातो वा भवेत्। अन्यद्वा किञ्चिदनिष्टं स्यात् न तु किञ्चिदस्तीति ॥ २७ ॥

परस्परं सम्मन्त्र्य साहसमधिरूढ्याऽऽहुः — **निवारयाम इति**। अकरिष्यन्, किं करिष्यन्ति निमिषार्धदुस्त्यजा - न्मुकुन्दसङ्गात् विध्वंसितानि वियोजितानि अत एव दीनानि चेतांसि यासां तासाम्, एवम्भूतानामस्माकं न मृत्यो रपि भय मित्यर्थः ॥ २८ ॥

इतोऽपि कारणादेव[8] अवश्यं साहस मेवालम्बनीय[9] मित्याहुः — **यस्येति**। हे गोप्यः। यस्य ललितं स्मितं क्लुमन्त्रश्च लीलावलोकश्च 'परिरम्भणश्च अनुरागेणेतानि[10] यस्यां रासगोष्ठ्यां रासक्रीडासभायां नः अस्माभिः क्षणदा रात्रयः क्षणमिव नीताः तममुं कृष्णं विना दुरन्तं तमः विरहदुःखं कथन्नु अतितरेम, न कथञ्चिदित्यर्थः ॥ २९ ॥

किञ्च आस्तां तावत्[11] तमोऽतितरणं, जीवनमेव कथं स्यादित्याहुः — **य इति**। अह्नः क्षये दिनावसाने सुरस्त्रोभिः छुरिता धूसरा अलकाः स्रजश्च यस्य सः। व्रजं विशन् स्मितेन यत्कटाक्षनिरीक्षणं तेन नश्चित्तं क्षिणोति हरति। अमुं कृष्णं विना कथं भवेम जीवेमेति ॥ ३० ॥

---

1. J,Va °होत्स° 2. J,Va ह्मगो° 3. J,Va °रं दे° 4. J,Va °रितवन्तः 5. J,Va °देषां 6. J,Va add तत् 7. J,Va omit किं 8. J,Va omit एव 9. J,Va °बावल° 10. Va °ण 11. P,V omit तावत्

**वीर०** किञ्च, अस्मदुत्सवभाजोऽन्ये एवाद्य भविष्यन्तीत्याहुः — **अद्येति**। तत्र पुरे दाशार्हादीनां दशोर्हेष्टे रद्य महानुत्सवः भविष्यते भविष्यति। आत्मनेपद मार्षम्। तथा ये च जनाः अध्वनि श्रीरमणं लक्ष्मीकान्तं गुणानां कल्याणाना माश्रयं देवकीसुतं द्रक्ष्यन्ति, तेषाञ्च दशः नून मुत्सवो भविष्यति। यद्वा दश इति द्वितीयाबहुवचनान्तम्, तेषां दशो नेत्राणि महोत्सवो भविष्यते प्राप्स्यते, प्राप्त्यर्थस्य भवते रात्मनेपदित्वात् ॥ २५ ॥

अक्रूराय शपन्त्य आहुः — **मैवंविधस्येति**। एवंविधा विधानं कर्म यस्य। एतद्विधस्येतिपाठे, एषा विधा यस्य तस्य, अत एव निष्कृपस्य अक्रूर इतीदं नाम मा भूत्। तत्र हेतुरीव दारुण इत्यादि। दारुणः क्रूरः। अतः क्रूर इत्येव व्यपदेष्टव्यः इति भावः। योऽसावक्रूरः, सुतरां, दुःखितं, जनमस्मत्समुदायात्मकमनाश्वास्य, असान्त्वयित्वा, प्रियात्प्राणादपि प्रियं कृष्णं अध्वनः पारं नेष्यति अस्मदगोचरमतिदूरदेशं नेष्यतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

इत्थं ब्रुवतीनां सतीनां प्रभाते रथारूढं कृष्णमालक्ष्य शपन्त्य आहुः — **अनार्द्रधीरिति**। अनार्द्रा धीर्यस्य स एष कृष्णो रथमधिरूढः, तमनुसृत्येवाऽमी दुर्मदा गोपाश्च अनोभिश्शकटैः गमनसाधनैः स्थविरैर्वृद्धैः उपेक्षितं मूर्खत्वा-त्तैरप्युपेक्षितम्, ते न निवारितवन्त इति भावः। तं कृष्णं त्वरयन्ति। किञ्च दैवमप्यद्य नोऽस्माकं प्रतिकूलं यथा तथा ईहते चेष्टते। अयं भावः — यदि दैव मस्माक मनुकूलं भवेत् विघ्ने रयं विहन्येत। अकस्मादधुनैव व्रजे किञ्चिदरिष्टं वा स्यात्, न तु तत्किञ्चिदस्ति। अतो दैवमपि प्रतिकूलमिति ॥ २७ ॥

परस्परं सम्मन्त्र्य साहस मधिरुह्याऽऽहुः — **निवारयाम** इति। तं माधव मुपेत्य वयं निवारयेम, व्रजे वृद्धा बान्धवाश्च नोऽस्माकं किमकरिष्यन्, न किञ्चिदपि करिष्यन्ति। तत्र हेतुं वदन्त्य आत्मनो विशिंषन्ति निमिषार्ध मपि दुस्त्यजात् मुकुन्दस्य सङ्गात् दैवेन विध्वंसितानि वियोजितानि अत एव दीनानि चेतांसि यासां तासां, न इति सम्बन्धः। एवम्भूताना मस्माकं न मृत्यो रपि भय मस्तीत्यर्थः ॥ २८ ॥

इत्रोऽप्यक्ष्यं साहस मेवाऽवलम्बनीय मित्याहुः — यस्येति। हे गोप्यः! यस्य अनुरागेण ललितं स्मितञ्च वल्गुमन्त्रः, सुन्दरतरहस्सल्लापश्च लीलावलोकश्च परिरम्भणञ्च एतानि यस्यां तस्यां रासगोष्ठ्यां रासक्रीडासभायां नोऽस्माभिः क्षणदा रात्र्यः क्षणमिव नीताः क्रमिताः तमम्मुं श्रीकृष्णं विना दुरन्तं तमो विरहजं दुःखं कथन्वतितरेम, न कथञ्चिदित्यर्थः ॥ २९ ॥

आस्तां तावत्तमोऽतितरणं, जीवनमेव कथं स्या दित्याहुः — व इति। योऽनन्तस्य रामस्य सखा। तत्सहित इत्यर्थः। गोपैश्च परिवृतः अहः क्षये दिनावसाने गव्यं खुरजोभिः कुरिता धूसरिता अलकाः स्रजश्च यस्य सः, व्रजं विशन् वेणुं वादयन् स्मितेन यत्कटाक्षवीक्षणं तेन नोऽस्माकं चित्तं क्षिणोति हरति। तमम्मुं कृष्णं विना कथं भवेम जीवेम ॥ ३० ॥

---

1- -1. T,W omit

विज० तत्र मधुरायां दाशार्हादीनां दशां महोत्सवो, भवितेति शेषः। महानुत्सव आनन्दो यस्य स तथा तम्, ये दाशार्हादयः देवकीसुतं द्रक्ष्यन्तीति यत्तस्मात्, ये चाऽध्वनि द्रक्ष्यन्ति तेषां दशाश्चेति ॥ २५ ॥

इदानी मक्रूरं शपन्ति मैतदिति। एवंविधस्य अतिदारुणे कर्मणि प्रवृत्तस्यैतद्विधस्य एतादृशस्य वा ॥ २६ ॥

कृष्णस्य ईश्वरत्वं संवदन्ते अनार्द्रधीरिति। अनेन निस्सङ्गत्वं हृदेर्दीर्शितम्। दुर्मदाः उत्तरकार्यान्धाः, स्थविरैः कुलवृद्धैः ॥ २७ ॥

नः किमनिष्ट मकरिष्यन्, विभ्रंशिताना मत एव दीनचेतसाम् ॥ २८ ॥

हे गोप्यः, क्षणदा निद्रावसरदाः सुरतोत्सवप्रदा वा। रात्र्यां तमो दुःखम् ॥ २९ ॥

अहः क्षये सन्ध्यासमये तं कृष्णमृते विना कृष्णादरातिशयात् अम्बेति सखीसम्बोधनम्। भवेम, तास्विति शेषः ॥ ३० ॥

## श्रीशुक उवाच

एवं ब्रुवाणा विरहातुरा भृशं व्रजस्त्रियः कृष्णविषक्तमानसाः।
विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं गोविन्द दामोदर माधवेति ॥ ३१ ॥

स्त्रीणामेवं रुदन्तीना मुदिते सवितर्यथ।
अक्रूरश्चोदयामास कृतमैत्रादिको रथम् ॥ ३२ ॥

गोपा स्तमन्वसज्जन्त नन्दाद्या शकटै स्ततः।
आदायोपायनं भूरि कुम्भान्गोरससम्भृतान् ॥ ३३ ॥

गोप्यश्च[4] दयितं कृष्णमनुव्रज्यानुरञ्जिताः।
प्रत्यादेशं भगवतः काङ्क्षन्त्यश्चाऽवतस्थिरे ॥ ३४ ॥

तास्तथा[5] तप्यती र्वीक्ष्य स्वप्रस्थाने यदूत्तमः।
सान्त्वयामास सम्प्रेष्यै[6] रायास्य इति दौत्यकैः ॥ ३५ ॥

---

1- -1 M,Ma omit 2 M,Ma नि° 3 M,Ma °च्या° 4 T,W °स्व 5 P,V °दा 6 G,J सप्रेमै, P,V वचनै°

**श्रीध० एवमिति**। कृष्णे विषक्तानि मानसानि यासां सुस्वर मुचैः। क्रूर मक्रूरतः[*] श्रुत्वा कंसं कंसनिषूदनः। गोपीमनोरथारामस्सरामः तत्पुरं[1] ययौ ॥ ३१ ॥

**स्त्रीणामिति**। ता अनादृत्य कृतमैत्रादिकः मैत्रं मित्रदैवत्यं[2] सन्ध्योपासनं तदादिकं[3] कर्म कृतं येन सः ॥ ३२ ॥

**गोपा** इति। अन्वसज्जन्त अन्वगच्छन् ॥ ३३ ॥

**गोप्य** इति। अनुरञ्जिताः परावृत्य निरीक्षणादिभिः किञ्चिदानन्दिताः, प्रत्यादेशं प्रत्याख्यानम् ॥ ३४ ॥

**ता** इति। तप्यतीः सन्तप्यमानाः ता[4] आयास्ये शीघ्र मागमिष्यामीति दूतवाक्यैः ॥ ३५ ॥

---

★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः। 1 J,Va स्वपुरं 2 J Va °त 3 J,Va omit °क 4 J,Va omit ताः

**वीर०** इतीत्थं ब्रुवाणाः भृशं नितरां कृष्णविषक्तानि[1] मानसानि यासां ताः। अत एव तद्विरहेण भाविना आतुराः व्रजस्त्रियः लज्जां विसृज्य सुस्वर मुचैः, हे गोविन्द, दामोदर, हे माधवेति च रुरुदुः स्म ॥ ३१ ॥

इत्थं स्त्रीणां रुदतीनां[2] सतीनां सवितरि सूर्ये उदिते सति अनन्तरमक्रूरः कृतं मैत्रं मित्रस्य कृत्यं, तदादिर्यस्य तद्येन सः गोपेषु प्रदर्शितसौहृद इत्यर्थः। रथं चोदयामास। मैत्रं मित्रस्सूर्य स्तद्दैवत्यं प्रातस्सन्ध्योपासनं तदादि कर्म कृतं येनेति वा ॥ ३२ ॥

गोरसपूर्णकुम्भान् भूरि प्रभूतमुपायनञ्च आदाय ततो नन्दाद्या गोपाः शकटैः[3] तं रथ मनु पृष्ठतः समसज्जन्त सङ्कता ययुः ॥ ३३ ॥

तदा गोप्यः श्रीकृष्ण मनुव्रज्य तेनानुरञ्जिताः आश्वासिताः भगवतः प्रत्यादेशं प्रत्युत्तरं काङ्क्षन्त्यः तत्रैव अवतस्थिरे ॥ ३४ ॥

[4]तदा यदूत्तमो भगवान् स्वस्य प्रस्थाने निमित्ते तप्यतीः [5]तप्यमानाः ताः प्रत्यादेशाकाङ्क्षिणीः गोपी स्समवलोक्य शीघ्रमागमिष्यामिति दौत्यकै र्दूतद्वारा प्रेषितैः वाक्यैः सान्त्वयामास ॥ ३५ ॥

---

1 T,W °नि° 2. T,W °न्ती° 3 T,W omit शकटैः 4 K ततः 5. T,W परितप्तीः

**विज०** कृतमैत्र्यादिकः कृतसूर्यमण्डलाधिष्ठितनारायणोपासनादिक्रियः ॥ ३१-३३ ॥

प्रत्यादेशं प्रतिवचनं, तिष्ठन्तु, नाऽऽयान्त्विति गमननिषेधपरं वचनं वा ॥ ३४ ॥

समीचीनतया प्रेषयितुं योग्यै र्दौत्यकैः दूतसम्बन्धिभिः वाक्यैः ॥ ३५ ॥

**यावदालक्ष्यते केतु र्यावद्रेणू रथस्य च।**
**अनुप्रस्थापितात्मानो लेख्यानीवोपलक्षिताः[1] ॥ ३६ ॥**

**ता निराशा निववृतु र्गोविन्दविनिवर्तने।**
**★ विशोका अहनि[2] निन्यु र्गायन्त्यः प्रियचेष्टितम् ॥ ३७ ॥**

**भगवानपि सम्प्राप्तो रामाक्रूरौ[3] तथा नृप।**
**रथेन वायुवेगेन कालिन्दी मघनाशनीम् ॥ ३८ ॥**

**तत्रोपस्पृश्य पानीयं प्रीत्वा मृष्टमणिप्रभम्[4]।**
**वृक्षषण्ड मुपव्रज्य स रामो रथ माविशत् ॥ ३९ ॥**

**अक्रूरस्तावुपामन्त्र्य निवेश्य च रथोपरि।**
**कालिन्द्या ह्रद मागत्य स्नानं विधिवदाचरत् ॥ ४० ॥**

---

1. K,M,Ma तस्थिरे ★ P,V अहानि निन्युर्गायन्त्यो विशोकाः प्रियचेष्टितम्। 2. K °हा° 3. G,J,K,T,W रामोऽक्रूरयुतो नृ° 4. G,J,K,M,Ma °टं

**श्रीध० यावदिति।** कृष्ण मनुप्रस्थापिता आत्मानश्चित्तानि याभि स्ताः लेख्यानीव[1] लेख्यमयपुत्रिका इव[1] निश्चलाः ॥ ३६-३८ ॥

**तत्रेति।** वृक्षाणां षण्डं समूहमुपव्रज्य ॥ ३९ ॥

अक्रूर इति।[2] रथोपरि निवेश्य ॥ ४० ॥

---

1- -1. J,Va omit 2. J,Va add शत्रुभ्यः शङ्कितस्सन्

वीर० तदा श्रीकृष्ण मनुस्थापिताः आत्मानश्चित्तानि यामिस्ताः गोप्यः, यावत्केतुः पताका लक्ष्यते, यावच्च रथस्य रेणुः दृश्यते तावत्तत्रैव लेख्यानि चित्रस्थप्रतिमा इव उपतस्थिरे॥ ३६ ॥

ततो गोविन्दस्य विनिवर्तने दूरगमने सति निराशाः ताः गोप्यो निववृतुः न्यवर्तन्त। ततः प्रियस्य कृष्णस्यैव[1] चेष्टितं गायन्त्यः तेनैव विगतशोकाः अहानि निन्युः क्रमितवत्यः॥ ३७ ॥

हे नृप, रामाक्रूराभ्यां युक्तो भगवानपि वायोरिव वेगो यस्य तेन रथेन गमनसाधनेन अघं नाशयतीति तथा तां कालिन्दीं कालिन्दीगतं तीर्थविशेषं, प्राप्तः॥ ३८ ॥

मृष्टस्य निघर्षणेन निर्मलीकृतस्य मणे रिन्द्रनीलस्येव प्रभा यस्य तत्पानीयं जलं पीत्वा उपस्पृश्याऽऽचम्य च वृक्षाणां षण्डं समूहमुपव्रज्य सरामो रथ माविशत् आरूढवान्॥ ३९ ॥

तदा अक्रूरश्शत्रुभ्यश्शङ्कितः तौ रामकृष्णौ रथोपरि निवेश्य, आमन्त्र्य पृष्ट्वा माध्याह्निकार्थं कालिन्द्या ह्रद मागत्य तत्र यथाविधि स्नानमाचरत् कर्तुं मारेभे॥ ४० ॥

---

1 T.W omit एव

विज० केतुः ध्वजः, लेख्यानि चित्राणि॥ ३६ ॥

गोविन्दविनिवर्तने कृष्णदर्शने॥ ३७,३८ ॥

श्याममणिप्रभम्॥ ३९,४० ॥

**निमज्ज्य तस्मिन् सलिले जपन्ब्रह्म सनातनम्।**
**तावेव ददृशेऽक्रूरो रामकृष्णौ समन्वितौ॥ ४१ ॥**

**तौ रथस्थौ कथमिह सुतावानकदुन्दुभेः।**
**तर्हि स्वित्स्यन्दनेन स्त इत्युन्मज्ज्य व्यचष्ट सः ॥ ४२ ॥**

**तत्राऽपि च यथापूर्वमासीनौ पुनरेव सः ।**
**न्यमज्ज ह्रदनिं यन्मे मृषा किं सलिले तयोः ॥ ४३ ॥**

भूय स्तत्राऽपि सोऽद्राक्षीत् स्तूयमानमहीश्वरम्।
सिद्धै र्भुजङ्गपतिभिः असुरैर्नतकन्धरैः ॥ ४४ ॥

सहस्रशिरसं देवं सहस्रफणमौलिनम्।
नीलाम्बरं बिसश्वेतं शृङ्गैः श्वेतमिव स्थितम्॥ ४५ ॥

---

1- -1. P,V °वाऽपश्यदक्रूरो 2- -2. M,Ma निमज्जद° 3. J तन्मे; M,Ma मेने 4. P,V °नं महे° 5- -5. G,J सिद्धचारणगन्धर्वैः; P,V सिद्धैर्गन्धर्वपतिभिः

**श्रीध० निमज्ज्येति**। ब्रह्म वेदं जपन्, "केमौ बालौ क्व तौ मल्लाविति शङ्कितचेतसे, अक्रूराय जले रूप मत्याश्चर्यं व्यदर्शयत्" ॥ ४१-४३ ॥

**भूय** इति। सिद्धादिभिः स्तूयमानम् ॥ ४४ ॥

**सहस्रेति**। सहस्रं शिरांसि यस्य तम्, सहस्रफणेषु मौलयः यस्य[1] सन्तीति तथा तम्। नीले अम्बरे यस्य तम्। बिसवत् कमलनालवत् श्वेतं, शृङ्गैः[2] शिखरैः श्वेतं कैलासमिव स्थितम् ॥ ४५ ॥

---

★ श्रीधरीयोयं श्लेकः 1. P,V अस्य 2. P,V °कन्द°

**वीर०** तत्र जले सनातनं ब्रह्म नित्यब्रह्मस्वरूपावेदकं प्रणवं जपन् निमज्ज्य समन्वितौ सहभूतौ तावेव रामकृष्णौ ददर्श ॥ ४१ ॥

एवं दृष्ट्वा सोऽक्रूरः तावानकदुन्दुभे स्सुतौ रथस्थौ कथमिह स्तः? यदि रथादवरुह्येहाऽऽगतौ तर्हि रथे न स्तः इति वितर्क्य उन्मज्ज्य ददर्श ॥ ४२ ॥

तत्राऽपि रथेऽपि पूर्ववदासीनौ दृष्ट्वा, तयो स्सलिले मम दर्शनं मत्कर्तृकं[1] दर्शनं किं मृषा, उत सत्यम्? यदि सत्यं[2], तर्हि पुनर्द्रक्ष्यामीति चिन्तयन् पुनर्न्यमज्जत्, पुनर्निमग्नः ॥ ४३ ॥

तत्राऽपि जले तावदहीश्वरं शेषं ददर्श। कथम्भूतम्? नता कन्धरा ग्रीवा येषां तै स्सिद्धादिभिः स्तूयमानम् ॥ ४४ ॥

सहस्रं शिरांशि फणा यस्य तं, देवं दीप्यमानं सहस्रफणेषु मौलयः किरीटानि अस्य सन्ति सहस्रफणमौलिनः। पामादेराकृतिगणत्वात् मत्वर्थीयो नप्रत्ययः। तं नीलं अम्बरं यस्य तम्, बिसवत्पद्मतन्तुवत् श्वेतं, हिरण्मयै श्शृङ्गैः रजतगिरिमिव स्थितम् ॥ ४५ ॥

---

1. T,W °क° 2. T,W omit सत्यं

विज० ब्रह्म अघमर्षणसूक्तम्। "ब्रह्म वेदस्तपस्तत्त्वम्" (अम.को. 3-271) इति च ॥ ४१ ॥

स्यन्दने रथे न स्तः न विद्येते स्वित्किम् ॥ ४२ ॥

सलिले तयोः रामकृष्णयोः दर्शनं मृषा किमिति, मेने इति शेषः ॥ ४३ ॥

असुरै रसुषु रतैः, वशीकृतेन्द्रियै रित्यर्थः ॥ ४४ ॥

बिसश्वेतं श्वेतपद्मनालतन्तुवद्धवलं शिखरैस्सह श्वेतनामानं पर्वतम् ॥ ४५ ॥

**तस्योत्सङ्गे घनश्यामं पीतकौशेयवाससम्।**
**पुरुषं चतुर्भुजं शान्तं पद्मपत्रायतेक्षणम्[1] ॥ ४६ ॥**

**चारुप्रसन्नवदनं चारुहासनिरीक्षणम्।**
**सुभ्रून्नसं चारुकर्णं सुकपोलारुणाधरम् ॥ ४७ ॥**

**प्रलम्बपीवरभुजं तुङ्गांसोरःस्थलश्रियम्।**
**कम्बुकण्ठं निम्ननाभिं वलिमत्पल्लवोदरम् ॥ ४८ ॥**

**बृहत्कटितटश्रोणिकरभोरुद्वयान्वितम्[2]।**
**चारुजानुयुगं दीर्घं[3] जङ्घायुगलसंयुतम् ॥ ४९ ॥**

**तुङ्गगुल्फारुणनखव्रातदीधितिभिर्वृतम्[4]।**
**नवाङ्गुल्यङ्गुष्ठदलै र्विलसत्पादपङ्कजम् ॥ ५० ॥**

---

1. G,J,M,Ma °त्पो° 2. M,Ma श्रोणी 3. G,J,M,Ma,P,V चरु 4. K,W °र्नृप!

**श्रीध० तस्येति।** तस्योत्सङ्गे कुण्डलीकृतदेहार्धे 'विलोक्य' (भाग. 10/39/56) इत्येकादशश्लोकेनाऽन्वयः ॥ ४६ ॥

**चार्विति**। शोभने भ्रुवौ यस्य, उन्नता नासिका यस्य तच्च, तच्च। शोभनौ[2] कपोलौ यस्य, अरुणावधरौ यस्य तच्च, तच्च[-2] ॥ ४७ ॥

**प्रलम्बेति**। तुङ्गावंसौ यस्य, उरःस्थले श्रीर्यस्य, तच्च, तच्च। वलिमत्पल्लवोदरं वलयः तिर्यक् निम्ना[3] रेखा यस्य सन्ति तद्वलिमत्; तच्च तत्पल्लववत् अश्वत्थदलसदृशमुदरं यस्य तम् ॥ ४८ ॥

**बृहदिति**। कटितटश्च श्रोणिश्च करभसदृश मूरुद्वयश्च, बृहच्च तत्कटितटश्रोणिकरभोरुद्वयश्च, तेनान्वितम्। यद्वा, बृहद्भ्यां कटितटश्रोणिभ्यां करभोरुद्वयेन चाऽन्वितम् ॥ ४९ ॥

**तुङ्गेति**। तुङ्गौ ईषदुन्नतौ गुल्फौ अरुणनखव्रातश्च तेषां दीधितिभिः; तथा नवाः कोमलाः अङ्गुल्यः अङ्गुष्ठौ[4] च तान्येव दलानि तैश्च विलसच्छोभमानं पादपङ्कजं यस्य तम् ॥ ५० ॥

---

1. J,Va °शेन 2- -2. P,V omit 3. J,Va °म्न° 4. P,V °ष्ठे°

**वीर०** तस्य अहीश्वरस्य उत्सङ्गे फणप्रान्तभोगे पुरुष मद्राक्षीत्। क्वेमौ बालौ क्व मल्लौ इत्याशङ्कापजिहीर्षया प्रदर्शित मात्मान मद्राक्षीदिति भावः। कथम्भूतम्? नीलमेघवच्छ्यामं, पीते[1] कौशेये वाससी यस्य, चत्वारो भुजा यस्य तं, शान्तं प्रसन्नं, पद्मपत्रे इव आयते ईक्षणे नेत्रे यस्य ॥ ४६ ॥

चारु सुन्दरं, प्रसन्नञ्च वदनं यस्य, चारुहासेन युक्तं निरीक्षणं यस्य, शोभने भ्रुवौ उन्नता नासिका च यस्य, चारूकर्णौ शोत्रे यस्य, शोभनौ कपोलौ यस्य, अरुणः अधरो यस्य स चासौ यः[-2] तम् ॥ ४७ ॥

प्रलम्बा आजानुलम्बिनः, पीवराश्च भुजा यस्य, तुङ्गौ उन्नतौ[3] स्कन्धौ यस्य स चाऽसौ, उरसि श्री र्यस्य च तम्। कम्बुवत् शङ्खवत् रेखात्रयोपेतः नातिदीर्घो नातिह्रस्वश्च पीनश्च कण्ठो यस्य, निम्ना नाभि र्यस्य, वलिमत् वलित्रयोपेतम् अश्वत्थपल्लववदुदरं यस्य ॥ ४८ ॥

बृहता कटितटेन श्रोण्या च, करभसदृशोरुद्वयेन च अन्वितं, चारु जान्वो र्युगं यस्य, दीर्घयो र्जङ्घयो र्युगलेन संयुतम् ॥ ४९ ॥

तुङ्गावीषदुन्नतौ गुल्फौ अरुणनखव्रातश्च, तेषाम् दीधितिभिः हे नृप, तथा नवाङ्गुल्यः नवाङ्गुष्ठौ च तान्येव दलानि तैश्च शोभमाने पादपङ्कजे यस्य तम् ॥ ५० ॥

---

1. W °त° 2- -2. W omits 3. K omits पीनश्च

**विज०** उत्सङ्गे भोगे वपुरङ्गं तत्सङ्गहीनो जनार्दन इति च ॥ ४६ ॥

सुभ्रूश्च उन्नसश्च सुभ्रूनसः तम् ॥ ४७ ॥

तुङ्गांसश्च उऽस्यतश्रीश्च तुङ्गांसोऽस्यतश्रीः। तुङ्गांसौ यस्य स तथा। उऽस्यते श्रीर्यस्य स तथा तम्, वलिमच्च पल्लवञ्चाऽऽकाशवच्च उदरं यस्य स तथा तम्। "पल्लवञ्च प्रकोष्टे वाऽपि विस्तृतौ" इति वैजयन्तीमाला। (वैज.को 7-5-58) सुन्दरेखाङ्कितानन्ताण्डकोटिनिवेशनोदरमित्यर्थः॥ ४८॥

कनिष्ठिकामूलं करभः। काञ्चीपदं कटितटञ्च श्रोणी च करभवद्रुचिरं मांसलं ऊरुद्वयञ्च तानि तैरन्वितः॥ ४९,५० ॥

---

1. उपलभ्यमानपाठः "पल्लवन्त्यस्त्री प्रकोष्ठेऽप्यतिविस्तृतौ"।

महार्हमणिभिर्युक्तकिरीटकटकाङ्गदैः।
कटिसूत्रब्रह्मसूत्रहारनूपुरकुण्डलैः ॥ ५१ ॥

भ्राजमानं पद्मकरं शङ्खचक्रगदाधरम्।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम् ॥ ५२ ॥

सुनन्दनन्दप्रमुखैः पार्षदैस्सनकादिभिः।
सुरेशैर्ब्रह्मरुद्राद्यै र्नवभिश्च द्विजोत्तमैः ॥ ५३ ॥

प्रह्लादनारदवसुप्रमुखै र्भागवतोत्तमैः।
स्तूयमानं पृथग्भावै र्वचोभिरमलात्मभिः ॥ ५४ ॥

श्रिया पुष्ट्या गिरा कीर्त्या कान्त्या तुष्ट्येलयोर्जया।
विद्ययाऽविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम् ॥ ५५ ॥

विलोक्य सुभृशं प्रीतो भक्त्या परमया युतः।
हृष्यत्तनूरुहो भावपरिक्लिन्नात्मलोचनः ॥ ५६ ॥

गिरा गद्गदयाऽस्तौषी त्सत्त्वमालम्ब्य सात्त्वतः।
प्रणम्य मूर्ध्नाऽवहितः कृताञ्जलिपुटश्शनैः ॥ ५७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
अक्रूरप्रतियाने एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

---

1- -1. G,J सुमहार्हमणिव्रात; M,Ma महार्हमणिविभ्राजत्; P,V महार्हमणिकव्रात 2 K,W °मकुटा° 3. K,W कविभिश्च 4 M,Ma omit प्र 5. M,Ma °ब्धार्गै 6. M,Ma °लयोऽजया

**-श्रीध० महार्हेति।** सुमहार्हाः मणिव्राताः येषु तैः किरीटादिभिः॥ ५१-५३ ॥

**प्रह्लादेति।** पृथक् पृथक् भावोऽभिप्रायो येषां तैः तत्र पारिषदैः स्वामीति स्तूयमानं, सनकादिभिर्ब्रह्मेति, ब्रह्मादौमहिश्वर इति। मरीच्यादिभिर्द्विजोत्तमैः परः प्रजापति रिति। वसुरुपरिचरः, प्रह्लादनारदवसवः प्रमुखा मुख्या येषां तैः परं दैवतमिति च श्रेष्ठैर्वचोभिः पृथग्भावै (गैः) र्वचोभि रिति वा॥ ५४ ॥

**श्रियेति।** विद्याऽविद्ये जीवानां मुक्तिसंसृतिहेतू माया तयोः कारणं, शक्तिः ह्लादिनी, संवित् ज्ञानम्, आभि-रन्याभिश्च निषेवितम्॥ ५५ ॥

**विलोक्येति।** विलोक्य सुभृशं प्रीतः अस्मत्कृष्णोऽसावेवम्भूतः परमेश्वर इति ज्ञात्वेति॥ ५६,५७ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीध्रस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ३९॥

---

1 P.V. omit °त०

**वीर०** महार्हा मणिव्राता येषु तैः किरीटादिभिर्भ्राजमानं पद्मं करे दक्षिणे यस्य तम्, अवशिष्टैः त्रिभिः करैः शङ्खचक्रगदाः धरतीति तथा तम्, श्रीवत्सो वक्षसि यस्य तं, भ्राजन् भ्राजमानः कौस्तुभो यस्य तम्। वनमालाऽस्यास्तीति तथा तम्॥ ५१,५२ ॥

सुनन्दादिभिः पार्षदैः सनकादिभिश्च सुरश्रेष्ठैः ब्रह्मरुद्रादिभिश्च कविभिः (नवभिः) द्विजोत्तमैः मरीच्यादिभिश्च विशुद्धमानसैः क्रमेण सर्वशेषीति, पद्मह्रेति, सर्वकारणमिति, प्रजापतिरिति - एवं पृथक् पृथक् अभिप्रायवद्भिः वचोभिः स्तूयमानं शक्त्यादिभिः मूर्तिविशिष्टै श्शक्तिभिः द्वादशभिः निषेवितम्॥ ५३-५५ ॥

एवम्भूतं विलोक्य नितरां प्रीतः उत्कृष्ट्या भक्त्या च युक्तः, अत एव हृष्यन्ति उद्भितानि तनूरुहाणि लोमानि यस्य, भावेन प्रीत्यतिशयेन परिक्लिन्न आर्द्रः आत्मा चित्तं लोचने च यस्य सः सात्त्वतोऽक्रूरः, सत्त्वं धैर्य मवलम्ब्य मूर्ध्ना प्रणम्य अवनतः प्रह्वः कृतमञ्जलिपुटं येन सः गद्गदया वाचा शनै स्तुष्टाव॥ ५६,५७ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ३९ ॥

**विज०** नवभिर्द्विजोत्तमैः कश्यपादिभिः ॥ ५१-५३ ॥

**पृथग्मार्गैः** वैदिकतान्त्रिकमार्गविषयैः॥ ५४,५५ ॥

भावेन तद्भक्तिस्वभावेन परिक्लिन्ने आनन्दाश्रुजलस्नाते आत्मलोचने यस्य स तथा॥ ५६ ॥

सत्त्वं सत्त्वगुणं आत्मभावं वा॥ ५७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावत्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ३९ ॥

(श्रीविजयध्वजरीत्या सप्तत्रिंशोऽध्यायः)

---

# चत्वारिंशोऽध्यायः

(श्रीविजयध्वजरीत्या अष्टत्रिंशोऽध्यायः)

-: अक्रूरकृत श्रीकृष्णस्तुतिः :-

श्रीशुक उवाच

★एवं दृष्ट्वा तमक्रूरः प्रसन्नहृदयेन्द्रियः।
तुष्टाव पुण्डरीकाक्षं भक्त्याऽवनतकन्धरः ॥ १ ॥

अक्रूर उवाच

नतोऽस्म्यहं त्वाऽखिलहेतुहेतुं[1] नारायणं पूरुषमादिमव्ययम्[2]।
यन्नाभिजातादरविन्दकोशाद्ब्रह्माऽऽविरासीद्यत एष लोकः ॥ २ ॥

भूस्तोयमग्निः पवनः खमादिर्महानजादिर्मन इन्द्रियाणि।
सर्वेन्द्रियार्था विबुधाश्च सर्वे ये हेतवस्ते जगतोऽङ्गभूताः ॥ ३ ॥

नैते स्वरूपं विदुरात्मनस्ते हृद्यजादयोऽन्यात्मतया[4] गृहीताः[3]।
अजो नु बद्धस्स्वगुणैरजाया[5] गुणात्परं वेद न ते स्वरूपम् ॥ ४ ॥

त्वां योगिनो यजन्त्यद्धा महापुरुष मीश्वरम्।
साध्यात्मं साधिभूतश्च साधिदैवञ्च साधवः ॥ ५ ॥

त्रय्या च विद्यया केचित्त्वां वै वैतानिका द्विजाः।
यजन्ते विविधैर्[6] यज्ञै र्नानारूपाऽमराख्यया ॥ ६ ॥

---

★ It is not found in G,J,K,P,V,W edns. 1. M,Ma भूतं 2. G,J,P,V °माद्य° 3. P,M,Ma,V अ° 4 G,J,P,V ना° 5. G,J,M,Ma,P,V °स्स° 6. G,J,M,Ma वितैः

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चत्वारिंशे ततोऽक्रूरः कृष्णं मत्वेश्वरेश्वरम्। प्रणम्य भक्त्या तुष्टाव सगुणागुणभेदतः॥
(एवं दृष्ट्वेति प्रथमश्लोकस्य श्रीधरीयव्याख्या नास्ति)

श्रीकृष्णं प्रणमति **नतोऽस्मीति**। हे कृष्ण, त्वा त्वां नतोऽस्मि, त्वमस्मत्पितृव्यः कुतो मां बालं नतोऽसि? तत्राऽऽह आद्यं पुरुषं अव्ययञ्च, अनादिनिधनमित्यर्थः। कुत एतत्? अखिलहेतूनां[1-] पञ्चमहाभूतानां[-1] हेतुम्। स तु नारायणो नाऽहमिति चेत् तत्राऽऽह — नारायणं त्वां, किं नारायण इति मां स्तौषि, काऽत्र स्तुतिः? सत्यमेवेत्याह यन्नाभिजातादिति। [2-]यस्य नाभिजातात् अरविन्दकोशात् ब्रह्मा आविरासीत्[-2] यतो ब्रह्मणः ॥ २ ॥

अखिलहेतुहेतुत्वं प्रपञ्चयति **भूरिति**।[3] आदिरहङ्कारः, अजा माया, तस्या आदिः पुरुषः एते ये जगतो हेतवः ते सर्वे ते[4] तवाऽङ्गभूताः अङ्गात् श्रीमूर्ते भूताः[5] जाताः, उपसर्जनभूता वा ॥ ३ ॥

नन्वतिस्तुतिः कथं क्रियते, अहमेवाऽन्यत उत्पन्नः तत्परतन्त्रश्चेति[6-] चेत् इत्यशङ्क्य[-6], तवैषा माया त्वत्पारमार्थ्यं तु न कोऽपि वेदेत्याह — **नेति**। एते अजा[7] आदि येषां ते, आत्मनस्ते स्वरूपं न विदुः। अनात्मतया जडत्वेन कारणेन। जडत्वे हेतुः, गृहीताः प्रत्यक्षादिभिर्दृष्टाः। न ह्यजडो ह्यद्रोचर इति भावः। ननु जडाः मां मा जानन्तु जीवस्तु ज्ञास्यति इत्यत आह — अज इति। स अजो ब्रह्माऽपि अजाया गुणैः अनुबद्ध आवृतः गुणातीतं ते[8] तव स्वरूपं न वेद। अतः[9] अन्यः कुतो ज्ञास्यतीति। यद्वा प्रकृत्यादयः आत्मनः स्वरूपं तव स्वरूपं च न विदुः जडत्वादेव। जीवस्तु तान् आत्मानञ्च वेत्ति न पुन स्त्वत्स्वरूपमिति। यथोक्तं हंसगुह्ये — "देहोऽसवोऽक्षामनवो भूतमात्रा नात्मानमन्यञ्च विदुः परं यत्। सर्वं पुमान् वेद गुणांश्च तज्ज्ञो न वेद सर्वज्ञ मनन्तमीडे" इति ॥ ४ ॥

ननु यदि केऽपि न जानन्ति कथं तर्हि संसारनिवृत्ति र्जीवानामित्याशङ्क्य साक्षादगोचरत्वेऽपि येन केनाऽपि मार्गेण भजतां त्वं गम्योऽसीत्याह - **त्वामिति**। हैरण्यगर्भादयः अध्यात्माधिभूताधिदैवसाक्षिणं महापुरुषं तदन्तर्यामिस्वरूपं ईश्वरं नियन्तारञ्च यजन्ति ॥ ५ ॥

तदेवं साङ्ख्ययोगावेकीकृत्योक्त्वा[10] त्रयीमार्गं कर्मज्ञानभेदेन दर्शयति — **त्रय्या** चेति[11] द्वाभ्याम्। वैतानिकाः कर्मयोगिनः त्वां वै त्वामेव यजन्ते। ननु ते इन्द्रवरुणवाय्वादीन् यजन्ते न तु मामित्यत आह - नानेति। नाना वज्रहस्तादीनि रूपाणि येषां ते ये अमरा स्तेषामाख्यया नाम्ना त्वामेव यजन्त इति। अयं भावः - ऐन्द्रवारुणादिसूतैः[12] इन्द्रादयः सर्वैश्वर्येण प्रकाश्यन्ते, न च सर्वेश्वरा बहवस्सम्भवन्ति। अतो नामभेदेन त्वामेव यजन्त इति। तथा च श्रुतिः — "स प्रथम स्सङ्कृतिः विश्वकर्मा स प्रथमो मित्रो वरुणो अग्निः स प्रथमो बृहस्पति श्चिकित्वान् तस्मा इन्द्राय सुत माजुहोमि" इति ॥ ६ ॥

---

1- -1. J,Va omit 2- -2. J,Va omit 3. J,Va add स्वस्य 4. J,Va omit ते 5. J,Va omit जाताः 6- -6. J,Va °श्चेत्या° 7. Va omits अजा 8. P,V omit तव 9. J,Va omit अतः 10. J,Va त्रौ। 11. J,Va श्लोकद्वयेन 12. P,V इन्द्रवरुणा°

# श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अस्तौषी दित्युक्तं तां स्तुतिमेव दर्शयति चत्वारिंशेन, **नतोऽस्मीत्यादिना**। तावत्सर्वजगत्कारणत्वसर्वान्तरात्मत्वादिभिः स्तुत्वन्नमस्करोति, नतोऽस्मीत्यादि द्वाभ्याम्। अखिलहेतुहेतुं त्वामहं नतोऽस्मि। अखिलस्य व्यष्टिप्रपञ्चस्य ये हेतवो महदादयः तेषामपि हेतुं कारणमित्यर्थः। नन्वखिलहेतुहेतुः सद्ब्रह्मात्माकाशप्राणादिषु अन्यतमो, न त्वहमित्यत्राऽऽह — नारायणमिति। कृत्स्नकारणत्वस्यानेकनिष्ठत्वे "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" (श्वेता.उ. 6-8) इत्युक्तरीत्या निस्समाभ्यधिकाद्वितीयवस्त्वसिद्ध्या तस्यैकनिष्ठत्वस्य वाच्यत्वात् सदादिसामान्यशब्दघटितकारणवाक्याभिप्रेतकारणवस्तुविशेषाकाङ्क्षाशामकेन विशेषशब्दात्मकनारायण पदघटितेन "एको ह वै नारायण आसीत्" (मन्ना.उ. 1-1) इति वाक्येन नारायणेतरस्य निषेधपूर्वकं तस्यैव कारणत्वं श्रावयता कारणत्वेनाऽवगतो नारायण एव, स च त्वमेवेति भावः। नन्वस्त्वहं नारायण इति, स एवाऽखिल हेतुरिति च, तथापि ममाऽपि कारणान्तरं स्यात्, तत्राऽऽह - पूरुषमादिं आदिपूरुषं कारणत्वपराकाष्ठाभूतं स्वयं कारणान्तररहित मित्यर्थः। एवमप्यव्ययं निर्विकारं विकाराणां शरीरभूतचिदचिद्वस्तुतत्वादिति भावः। अखिलहेतुहेतुत्वमेव प्रपञ्चयति — यन्नाभीति। एष दृश्यमानो व्यष्टिप्रपञ्चः यतो बभूव स ब्रह्मा चतुर्मुखः यस्य तव नाभेः जातादरविन्दकोशादाविरासीत् उदभवत्। अनेन व्यष्टिसृष्टिश्चतुर्मुखद्वारिका समष्टिसृष्टिस्तु अद्वारिकेति दर्शिता (तम्) ॥ १,२ ॥

ननु किमिद मखिलहेतुत्वं निमित्तरूपमुतोपादानत्वरूपमित्याशङ्कायामुभयरूप(विध)त्वेत्यभिप्रेत्याऽऽह — **भूरिति**। पृथ्व्यादीन्याकाशान्तानि पञ्चभूतानि तेषामादिः कारणमहङ्कारः, तथा तस्यापि कारणं महान्, तस्याप्यादिः कारणमजा मूलप्रकृतिः। सा हि सर्वकार्याणा मादिभूता, तथा सात्त्विकाहङ्कारकार्यभूतानीन्द्रियाणि ज्ञानकर्मोभयेन्द्रियाणि मनश्च तेषा मधिष्ठातारो विबुधा देवाः दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रप्रजापतिचन्द्रमसः, इन्द्रियाणामर्था विषयाः शब्दादयश्चेति ये जगतो हेतवः ते सर्वे, ते तव अङ्गभूताः शरीरभूताः। अनेन मूलप्रकृतिविशिष्टो महदादिशरीरकतया तत्तद्रूपेण परिणत इत्युपादानत्व मुक्तम्। मूलप्रकृतेर्महदादीनाञ्च शरीरत्वकथनेन नियन्तृनियाम्यभावसिद्धेर्निमित्तत्वमप्युक्तम्। जगतो ये हेतव इति जगदन्तर्भूतज्ञानविकासात्मक कार्यावस्थजीवकारणभूतज्ञानसङ्कोचरूप कारणावस्थजीवानामपि तदङ्गत्वप्रतीत्या जीवान्त्रत्युपादान निमित्तत्वरूपोभयविध कारणत्वसिद्धिः॥ ३॥

ननु त्वमिव सर्वेऽप्येवंविधं सर्वकारणं सर्वान्तरात्मानं सर्वशरीरकञ्च मां किं विजानीयुः? तत्राऽऽह — **नैते** इति। एते त्वच्छरीरभूता अजादयः (जीवादयः) अन्तरात्मनः तव स्वरूपं न विदुः। अजादय इत्यत्र आदिशब्दः प्रकृति तत्कार्यसङ्ग्राहकः, स च दृष्टान्तार्थः। जडाः प्रकृत्यादयो यथा न तव स्वरूपं विदुः, एवं जीवा अपि न विदुरित्यर्थः। ननु जडत्वात् प्रकृत्यादयो न विदुरिति युक्तम्, अजडा जीवास्तु कुतो न विदुः, इत्यत्राऽऽह — अन्यात्मतया गृहीता इति। अन्यस्मिन् स्वस्माद्भिन्ने देहे आत्मतया आत्माभिमानेन, तथा अन्यस्मिन् स्वतन्त्रात् त्वत्तोऽन्यस्मिन् स्वात्मनि आत्मतया स्वातन्त्र्याभिमानेन च गृहीता ग्रस्ताः देहात्माभिमानस्वतन्त्रात्माभिमानाभ्यां ग्रस्ताः स्वात्मानमेव देहविलक्षणमीश्वरपरतन्त्रञ्च न जानन्ति, कथन्तु (नु) त्वां विदुरित्यर्थः। इत्थमेव ब्रह्मापि न वेद, किमुत तत्सृज्यास्तदर्वाचीना इति कैमुत्यनयेनाऽऽह - अज इति। अजो ब्रह्माऽपि स्वगुणैः स्वशरीरारम्भकसत्त्वरजस्तमोगुणैः अनुबद्धः तत्परवश इति यावत्। अजायाः प्रकृतेः गुणात्, जातावेकवचनम्। गुणेभ्यः सत्त्वादिभ्यः परं विलक्षणं, तन्नियन्तृ तव स्वरूपं न वेद, किमुताऽन्ये न विदुरिति भावः।

अनात्मतयेति पाठे जडत्वेन दृष्टाः अजादयः प्रकृत्यादयः यथा न विदुः, एव मजो ब्रह्माऽपि न वेद किमुताऽन्ये न विदुरिति योजनीयम् ॥ ४ ॥

ननु सर्वं खेचं मत्स्वरूपं शशविषाणप्रायं स्यादिति मा शङ्कीः (शङ्किष्टाः) देहात्माद्यभिमानिनां मांसचक्षुराद्यचेद्यमपि योगविशुद्धमनोवेद्यमेवेत्यभिप्रयन् तदेव नानाविधब्रह्मविद्याभिः ज्ञानयोगिनः कर्मयोगिनश्च यजन्तीत्याह - **त्वामिति**। योगिन इत्यस्य केचिदित्यादिः। केचिद्योगिनः आनन्दवल्ल्यादिविहितोपासनानिष्ठाः महापुरुषं, प्रकृतेः तत्संसृष्टाचेतनान्मुक्तान्नित्याच्च विलक्षण मीश्वरं त्वामद्धा त्वामेव। अद्धेत्यवधारणे। साक्षात्त्वामेव "सत्यं ज्ञान मनन्तम्" (तैत्ति.उ. 2-1-1) इत्याद्युक्तविधं यजन्ति आराधयन्ति। उपासत इति यावत्। केचित्साधवस्तु अन्तरादित्यप्रतर्दनादिविद्यानिष्ठास्तु साधिदैवम् आदित्यान्तःस्थमिन्द्रादि देवतान्तर्यामिण मिन्द्रादिशरीरकं त्वां, यजन्त्युपासनां कुर्वन्तीत्यर्थः। केचित्तु साध्यात्मम् आत्मनि शरीरे अध्यात्मं तेन सहितं साध्यात्मं शरीरावयवाक्षिहृदयादिषु वसन्तं त्वां यजन्ति। तथाहि — छान्दोग्ये "य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते। (छान्दो.उ.1-6-6) इत्युपक्रम्य "तस्य ऋक्सामगोष्णौ "इत्यधिदैवतम्" (छान्दो.उ. 1-6-8) "अथाध्यात्मं...य एषोऽन्तरक्षणि पुरुषो दृश्यते (छान्दा.उ. 1-7-5) इत्युक्तम्। अपरे तु योगिनः साधिभूतं सर्वभूतस्थं सर्वशरीरकं त्वां भजन्ति। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तजलान्" (छान्दो.उ. 3-14-1) इत्युक्तविधमुपासनं कुर्वन्तीत्यर्थः। तदेवमुपासनानां अद्वारकसद्वारकभेदेन द्वैविध्यं दर्शितम् ॥ ५ ॥

अथ कर्मणामपि तदाराधनात्मकानां द्वैविध्य मभिप्रयन् तावत्सद्वारककर्मराध्यत्व माह — **त्रय्या** चेति। केचि द्वैतानिकाः कर्मयोगिनो द्विजाः नानारूपामराः नानाविधत्वच्छरीरभूता इन्द्रादयो देवाः, तेषा माख्याः नामानि यस्यां तया त्रय्या विद्यया वेदपूर्व भागात्मिकया विद्यया बोधितैर्विविधै यज्ञै र्यजन्ते इन्द्रादिदेवतान्तरात्मानं, तच्छरीरकं त्वा माराधयन्तीत्यर्थः। यद्वा नानाविधानि रूपाणि वज्रहस्तत्वादीनि येषां तेषां इन्द्रादीनां आख्यया, अभिधेयमिति शेषः। आकृत्यधिकरणन्यायेन इन्द्राद्यन्तरात्मभूतत्वात्तत्पर्यन्ताभिधायिभिः इन्द्रादिनामभिः अभिधेयं तच्छरीरकं त्वां यजन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥

---

1. W °दिना द्वा° 2. W °तैको 3. °र° 4. W omits सः 5. K adds तत्त°

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अक्रूरस्तुतिव्यपदेशेन विद्वदधिकारयोग्यं भगवदुपासनाप्रकारं निरूपयत्यस्मिन्नध्याये। तत्राक्रूरो भगवन्तं दृष्ट्वोत्तरं किञ्चकारेति परीक्षितो मानसीं शङ्कां शुकः परिहरति — **एवमिति** ॥ १ ॥

नम्यस्य नम्ये[1] वैशिष्ट्यस्य ज्ञापनाय व्यावर्तकलक्षणमाह — अखिलेति। कदाचित्कारणं कदाचिन्नेति अन्यथाप्रतीतिं निवारयति भूतमिति। यदेतन्निमित्तकारणत्वं तत्कदाचि न्नापगच्छतीत्यर्थः। अखिलहेतुहेतुमिति पाठे उपादानकारणानामपि कारणमित्यर्थः। किं नामधेयोऽयमिति तत्राऽऽह नारायणमिति। अरविन्दत्वान्नाराः गुणाः तेषामयनम्। ननु तर्हि किमयं शब्दगुणाश्रयत्वेन आकाश इति चेत् तत्राऽऽह — पूरुषमति। पूर्णषड्गुणम् आकाशस्यैकगुणत्वान्महान्विशेषः। ननु, "आकाशो

वै नाम नामरूप्यो निर्विहिता" (छान्दो.उ. 8-14-1) इति श्रुतेः अविनाशित्वेनाखिलहेतुत्वम्। नरसमुदायो नारमिति नरसमुदायादि सर्वपदार्थस्यावकाशप्रदत्वेनाश्रयत्वेन नारायणशब्दवाच्यत्व माकाशस्य किं न स्यादित्यतो वाऽऽह पूरुषमिति। पूरुषस्यापि पितृपितामहादिवत् घटमृदादिवद्वा बीजपरम्परा स्यादिति तत्राऽऽह आदिमिति। वैशेषिकपक्षे यथा परमाणौ कारणत्वं पर्याप्तम्, एवमब्राऽपीत्यर्थः। एवंविधस्याऽपि सगर्भकर्कटवत् विनाशित्वं स्यात् किं नेत्याह — अव्यय मिति। न केवलं स्रष्टृत्वेनाऽस्य कारणत्वं पर्याप्तमपि तु संहर्तृत्वेनाऽपीति भावेनाऽऽह आदिमिति। 'अद भक्षणे' इति धातोः अत्तृत्वादादिमित्यर्थः। संहर्तृत्वमप्यस्मिन् पर्याप्तमिति प्रकटनायेणप्रत्ययप्रयोगः। "जीवो जीवस्य जीवनम्" इति न्यायेन अत्तुरस्याऽप्यन्योऽत्ता स्यादित्यतो वाऽऽह अव्ययमिति। सर्वकारणे विरिञ्चे जाग्रति पर्याप्तकारणत्वमस्य कथमिति तत्राऽऽह यन्नाभीति। विरिञ्चस्य कारणत्वं तर्हि कथमिति तत्राऽऽह — यत इति। यतो विरिञ्चाल्लोको, देवलोकोऽभूदिति शेषः ॥ २ ॥

आदित्वं स्पष्टयति- भूरिति। "आत्मन आकाश स्सम्भूतः" (तैत्ति.उ. 2-1-1) इति श्रुतिः। आदिर्भूतादिरहङ्कारः अजा च आदिश्च अजादिः प्रकृत्याख्यकारणमित्यर्थः। न केवलमस्य समस्ताचेतनहेतुत्वम् किन्तु चेतनराशेरित्याशयेन वाऽऽह अजादिरिति। ब्रह्मादिचेतनसङ्घः अजादिः, ये सर्वे अजादयो जगतो हेतवो यथायोग्यं कारणानि। ते सर्वे तवाऽङ्गभूता अङ्गेभ्यो जाताः - "पद्भ्यां भूमिः" इति श्रुतेः ॥ ३ ॥

त्वदङ्गजाताजाद्यविज्ञातमाहात्म्यं मर्त्येन मया न ज्ञायते इति किं वक्तव्यमित्याशयेनाऽऽह - नेति। अवेदने निमित्तमाह - अन्येति। अन्यात्मतया गृहीताः एते जीवात्मानो मत्तोऽन्ये इति भगवता गृहीताः। ईश्वरो भ्रान्तत्वात् तथा गृह्णातीति चेन्न, "अहं परो हि मद्भिन्ना जीवात्मानोऽल्पशक्तयः" (स्कान्दे.) इत्यादेः। "नहीश्वरस्य सर्वज्ञस्य भ्रान्तिरुपपद्यते" — "नहि द्रष्टुर्दृष्टे र्विपरिलोपो विद्यते" (बृह.उ. 4-3-23) इति श्रुतेः। ये तवाङ्गेभ्यो जाताः त एते अजादयः आत्मन स्तव स्वरूपं न विदुरित्यन्वयः। अजो ब्रह्मा आदि र्येषां रुद्रादीनां ते अजादय इति तद्गुणसंविज्ञाने बहुव्रीहौ ब्रह्मणोऽप्यज्ञानमापद्यते "वेदाऽह मेतं पुरुषम्" (पु.सू. 2-1) इति श्रुत्या तद्विज्ञानप्रतीतेः। अतो ब्रह्मकारणका रुद्रादयो न विदुरित्यर्थः किं न स्यादित्यत आह अज इति। अजाया गुणैः बद्ध इति हेतुगर्भं विशेषणम्। गुणात्परं दूरीभूतम्। अजादय इत्यत्र अजाशब्देन चित्प्रकृतिरपि ग्राह्या तस्या अपि सर्वात्मना तद्विषयज्ञानाभावात्; तदुक्तम् — "यथा हरिः स्वमात्मानं वेद तद्वद्ब्रमाऽपिच" (माहात्म्ये) इत्यादि। अनेन वेदाहमित्यस्याऽपि गति रुक्ता भवति। अत ईश्वरस्य दुर्ज्ञेयत्वात् साधनानुष्ठानवैयर्थ्यमित्याशङ्का परास्ता। तत्प्रसादेन यथायोग्यज्ञानसम्भवाद्यथाशक्ति स्वहितमनुष्ठेयम् ॥ ४ ॥

अत्र किं प्रमाणमित्यतो वृद्धाचार एव प्रमाणमित्याह — त्वामिति। अधिष्ठानविशेषमाह- साध्यात्ममिति। आत्मशब्दोक्तनैः सह ततोऽधिकत्वेन वर्तमानं भूतैः आकाशादिभिः सह तदुत्तमत्वेन वर्तमानं देवैर्ब्रह्मादिभिस्सह ततो विशिष्टगुणत्वेन तिष्ठन्तं तत्तदुपासनार्थं तत्तदधिष्ठानेषु तत्तद्गुणप्रवर्तकत्वेन तत्तदुत्तमत्वेन वर्तमानमित्यर्थः। तदुक्तम् "स्थितो ब्रह्मादि देवेषु खादिभूतेषु चेश्वरः" (अध्यात्मे) इत्यादि ॥ ५ ॥

योगिनो यजन्त्यद्धेति विशेषणात्केचि दन्यथा यजन्तीति ध्वनित मर्थ माह- त्रय्येति। त्रय्या विद्यया वेदविद्यया कर्मप्रधानप्रकाशिकया वैतानिकाः याज्ञिकाः यज्ञकर्मशीला इत्यर्थः। "अस्त्री वितान मुल्लोचे विस्ताराध्वरयोः क्षणे। त्रिषु

शून्ये च मन्दे च विषाण्युक्षेभशृङ्गिषु" (वैज.को. 7-5-76,77) इति। उक्तविशेषणैः अयमर्थो विज्ञायत इत्याह वितनैरिति। विस्तृतैः "इन्द्रं यजाऽग्निं यज" इत्यादिबहुदैवत्यकर्मणामेकविषयत्वं कथं सङ्गच्छत इत्यत्राऽऽह — नानारूपेति। नानाविधानि शुक्लादिरूपाणि सौन्दर्याणि वा स्वभावा वा यशांसि वा येषां ते नानारूपाः ते चाऽमराः देवाः नानारूपामराः तेषा माख्यया विशिष्टं, विष्णु मिति शेषः। "सर्वदेवेष्वपि हरिः सर्वदेवनियामकः" (अध्यात्मे) इत्यादिवचनबाहुल्यात् उपगन्तव्यम्। विष्णोः सर्वनामत्वम् अमरेति विशेषणेन वेदस्य वाच्याभावेनाऽप्रामाण्यं स्यादिति शङ्का निरस्ता। इदञ्च विष्णावेव मुख्यमिति॥ ६॥

---

1. Ma°म्य

[1]एके त्वाऽखिलकर्माणि सन्न्यस्योपशमं गताः।
ज्ञानिनो ज्ञानयज्ञेन यजन्ति[2] ज्ञानविग्रहम् ॥ ७ ॥

अन्ये च[3] संस्कृतात्मानो विधिना[4] विहितेन ते[5]।
यजन्ति त्वन्मया स्त्वां वै बहुमूर्त्यकमूर्तिकम्[6] ॥ ८ ॥

त्वामेवाऽन्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम्।
ब्रह्माचार्यविभेदेन भगवन् समुपासते ॥ ९ ॥

सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम्[7]।
ये[8] नानादेवताभक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो ॥ १० ॥

यथाऽद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिता[9] विभो।
विशन्ति सर्वतस्सिन्धुं तद्वत्त्वां गतयोऽन्ततः ॥ ११ ॥

---

1. K केचित्त्वा°; M,Ma एके त्व° 2. W °न्ते 3. M,Ma तु 4. G,J,K,W °नाऽभि° 5. K,W च; M,Ma वै 6. M,Ma,W °र्त्वं 7. M,Ma °ह° 8. G,J येऽप्यन्यदे° 9. G,J,K,W ताः प्रभो

श्रीध० एक इति। ज्ञानयज्ञेन समाधिना ॥ ७ ॥

साङ्खयोगत्रयीमार्गा उक्ताः। वैष्णवशैवमार्गावाह द्वयेन- अन्ये चेति। संस्कृतात्मानः वैष्णवशैवदीक्षया दीक्षितास्सन्तः, ते त्वया अभिहितेन पाञ्चरात्रादिविधिना त्वन्मयाः त्वन्मयत्वेनाऽऽत्मानं चिन्तयन्तः, त्वदेकप्रधानां इति वा। वासुदेवसङ्कर्षण प्रद्युम्नानिरुद्धभेदेन बहुरूपं[1] नारायणरूपेणैकमूर्तिकञ्च त्वामेव यजन्ति ॥ ८ ॥

त्वामिति। ब्रह्माचार्यविभेदेनेति नानाभेदशैवपाशुपतादिमार्गेण ॥ ९ ॥

येऽपि क्षुद्रदेवताभक्ताः तेऽपि त्वामेव यजन्तीत्याह **सर्व एवेति**। हे सर्वदेवमय! नन्वेते परस्परदेवताधिक्षेप कलहव्याकुलचित्ताः कथमेक मेव यजन्तीत्युच्यते, तत्राऽऽह — **यद्यप्यन्यधिय इति**। बुद्धिमात्रभेदो न वस्तुभेद इत्यर्थः॥ १०॥

तस्मात्सर्वे मार्गाः तव्यैव पर्यवस्यन्तीति सदृष्टान्तमाह — **यथेति**। अद्रेस्सकाशात् सर्वतः प्रभवन्ति याः **नद्यः** ताः **पुनः** पर्जन्येनाऽऽपूरिता बहुस्रोतसस्सत्यः सर्वतस्सिन्धुमेव विशन्ति यथा, तद्वत् एता गतयः मार्गाः अन्ततः त्वामेव विशन्तीति ॥ ११ ॥

---

1. J,Va मूर्ति

**वीर०** सिंहावलोकनन्यायेन पुनस्साक्षात् ज्ञानयोगविशेषाराध्यमाह — **केचित्त्विति**। केचित् त्वा इति च्छेदः। त्वा त्वां यजन्तीति सम्बन्धः। केचित्तु ज्ञानिनः भगवच्छेषतैकरसात्मयाथात्म्यज्ञानिनः, भगवच्छेषतैकरसोऽहं तदायत्तस्वरूप स्थितिप्रवृत्तिश्च। भगवांस्त्वसङ्ख्येयैः कल्याणगुणैः परतर इत्येवं ज्ञानवन्त इत्यर्थः। अखिलकर्माणि उक्तविधस्वस्वरूपविरुद्धान्यहङ्कार ममकारगर्भाणि काम्यानि कर्माणि वा, सन्न्यस्य त्यक्त्वा। यद्वा "मयि सर्वाणि कर्माणि" (भ गी. 3-30) इत्युक्तरीत्या क्रियमाणानां नित्यनैमित्तिकादीनां फलसाधनताकारपरित्यागपूर्वकं भगवदाराधनरूपतामनुसन्धायेत्यर्थः। इदमेव हि भगवति कर्मणां यत्तत्कैङ्कर्यरूपत्वानुसन्धानमिति। उपक्षमं शब्दादिविषयेषु भोग्यताबुद्धिराहित्यं, गताः प्राप्ताः ज्ञानयज्ञेन प्राप्यं प्रापकञ्चाऽऽयदपि यन्मनोरथविषयभूतं तत्सर्वं परमपुरुष एवेत्येवंविधज्ञानयोगेन ज्ञानस्वरूपं त्वां यजन्ति। यद्वा ज्ञानविग्रहं एवंविधज्ञानेन यजतामनिष्टपरिहारेष्टप्रापणोपयुक्तज्ञानाश्रयं त्वां यजन्तीत्यर्थः ॥ ७ ॥

अथाऽद्वारककर्माराध्यत्वमाह — **अन्ये चेति**। ते त्वया अभिहितेन विधिना पञ्चरात्रात्मकेन त्वदुक्त श्रीमत्पञ्चरात्रोक्तप्रकारेणेत्यर्थः। संस्कृतात्मानः तापादिभिः पञ्चभिस्संस्कारैः संस्कृता आत्मनः देहा येषां तथाभूताः त्वन्मयास्त्वज्ज्ञानप्रचुराः, अन्ये भगवच्छास्त्रनिष्ठाः साक्षत्त्वामेव व्यूहविभवरूपेण बहुमूर्तिकं पररूपेणैकमूर्तिकञ्च यजन्ति पाञ्चकालिकै र्धर्मैः आराधयन्ति ॥ ८ ॥

अथ "येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्वकम्" (भ.गी. 9-23) इत्युक्तरीत्या तत्तद्देवतामात्रपर्यवसितबुद्धिमत्कृतयजनस्य तत्तद्देवताशरीरकतदन्तरात्मभूतपरमपुरुषाराधनरूपेण कृततदाराधनतां वक्तुं तावत् प्रदर्शनार्थमाह — **त्वामेवाऽन्ये** इति। हे भगवन्, बहूनामाचार्याणां कापालिककालामुखशैवपाशुपतादिरूपाणां भेद आचारभेदो यस्मिन् तेन शिवोपदिष्टमार्गेण शैवाद्यागमोक्तप्रकारेण त्वामेव शिवरूपिणमुपासते। उपासकानां तद्बुद्धयभावोऽप्युपासना तत्रैव पर्यवस्यत्येव। किन्तु तदुपासनमविधिपूर्वकम्, अत एव अन्तवत्फलसाधनमिति भावः ॥ ९ ॥

कथ मतद्विषयकोपासनानां तत्पर्यवसानमिति, अतस्सदृष्टान्तं तदुपपादयति — **सर्व एवेति** द्वाभ्याम्। हे प्रभो! ये नानादेवताभक्ता स्ते यद्यप्यन्यधियः परमात्मेतरविषयोपासनात्मकधीमन्तस्तथाऽपि ते सर्वे त्वामेव यजन्ते। तत्र हेतुं वदन्विशिनष्टि सर्वदेवमयेश्वरम् "स आत्मा, अङ्गान्यन्या देवताः" (तैत्ति.उ. 1-5-1) इत्युक्तरीत्या सर्वदेवताशरीरकत्वेन

तत्रचुरत्वात् सर्वदेवमयः, स चाऽऽसौ, तेषामीश्वरोऽन्तःप्रविश्य नियन्ता च। तं सर्वदेवानां त्वदायत्तसत्तादिमत्त्वेन त्वदपृथक्सिद्धविशेषणत्वेन त्वत्तोऽप्यतिरेकभावात् तद्विषयकोपासनाः त्वद्विषयका एवेति भावः ॥ १० ॥

त्वय्येव पर्यवस्यन्तीत्यत्र दृष्टान्तमाह **यथेति**। अद्रेस्सकाशात्प्रभवन्त्युत्पद्यन्त इति तथा। **नद्यः पर्जन्येनाऽऽपूरिताः** बहुस्रोतसस्सत्यः सर्वतस्सिन्धुं समुद्रमेव विशन्ति। तद्वत् गतयो बुद्धयोऽपि अन्ततः पर्यवसानतः त्वामेव विशेष्यभूतं विशन्ति विषयीकुर्वन्ति ॥ ११ ॥

---

1. K adds तदुक्त ° 2. K omits स्व 3. K omits वा 4. K यत्कै° 5- -5. W omits 6. K °ष्टेन मा° 7. W omits ये

**विज०** प्रवृत्तिमार्गविहितोपासनाप्रकारमुक्त्वा अधुना निवृत्तिमार्गविषयोपास्तिविधानमाह — **एक** इति। तुशब्देन एषां मुख्यत्वं दर्शयति। उपशमं भगवन्निष्ठाम् ॥ ७ ॥

वैदिकमतमुक्त्वा तान्त्रिकमतमाह — **अन्ये त्विति**। अन्ये पाञ्चरात्रिकाः। तुशब्देन तत्राऽपि बाहुविध्यमस्तीति सूचयति। संस्कृतात्मानः शिक्षितबुद्धयः सम्प्रदायागतप्रज्ञा वा, शुद्धदेहा वा विहितेन विधिना पञ्चधा कथितेन कालेन वा 'पञ्चकालपरायणैः' इति वचनात् 'विधी तु दैवकालौ चेति' च। त्वमेव मयः सर्वोत्तम इति बुद्धिं येषां ते तथा बहुमूर्त्या वै बहुरूपेण च भक्तानुग्रहार्थं बहुत्वग्रहणम्। निजमेकमेवेत्याह एकमूर्तिकमिति, व्यष्ट्या समष्ट्या च त्वामेव यजन्तीत्यर्थः॥ ८॥

ननु शैवागमेषु शिवस्य यष्टव्यत्वेनोक्तत्वात्सर्वे त्वामेव यजन्तीति कथं युज्यते इति तत्राऽऽह **त्वामेवेति**। शिवरूपिणं पुरुषार्थमूर्तिं शिवे रुद्रे रूपं नियामकमस्यास्तीति। शिवान्तर्यामिणमित्यर्थः। दधीच्यादिब्रह्माचार्यविभेदेन शैवपाशुपताद्युपदेष्टृभेदेन वा॥ ९॥

उपसंहरति **सर्व एवेति**। सर्वेषां देवानां ईश्वराः इन्द्रादयः तेषा मीश्वरः सर्वदेवमहेश्वरः सर्व इति क इति तत्राऽऽह- य इति। ये इन्द्रादिनानादेवतानां भक्ताः। अत एव तद्भक्तिपूर्त्यर्थमन्यधियः स्वातन्त्र्यबुद्धयो यद्यपि, तथाऽपि तव सर्वस्वामित्वं जानन्तो देवाः तद्दत्तबलिं त्वयि समर्प्य तत्फलार्थं स्वयं स्वीकुर्वन्ति। अन्यथा पश्यतोहरत्वं तेषां स्यात्। अतस्तन्न कुर्वन्ति। किन्तु तत्फलमन्तवदेव तथा श्रुतत्वादिति भावः। यद्वा, विष्णोरन्या विलक्षणा धीर्येषां ते तथा यद्यपि तथाऽपि पूर्वादृष्टवशान्नानादेवताभक्ताः ये ते त्वत्सर्वोत्तमत्वज्ञानाभावात् तेषामित्यतः प्रभो! इत्युक्तम् ॥ १०॥

एतदेव विशदयति **यथेति**। अद्रिभ्यः प्रभवः उत्पत्ति र्यासां ताः अद्रिप्रभवाः। पर्जन्येन गर्जन्मेघेन आपूरिताः सिन्धुं समुद्रं त्वां गतयः पूजामार्गाः पुरुषार्थसाधनानि शास्त्राणि वा येऽन्ततः पूजावसाने ब्रह्मार्पणबुद्ध्याऽवसिता इत्यर्थः॥ ११॥

**सत्त्वं रजस्तम इति भवतः प्रकृते गुणाः।**
**तेषु हि प्राकृताः प्रोता आब्रह्मस्थावरादयः ॥ १२ ॥**

तुभ्यं नमस्तेऽस्त्वविषक्तदृष्टये सर्वात्मने सर्वधियाञ्च साक्षिणे।
गुणप्रवाहोऽय मविद्ययाऽसकृत् प्रवर्त्तते देवनृतिर्यगात्मसु ॥ १३ ॥

अग्निर्मुखन्तेऽवनिरङ्घ्रिरीक्षणं सूर्यो नभो नाभि रथो दिशः श्रुतिः।
द्यौः कं सुरेन्द्रास्तव बाहवोऽर्णवाः कुक्षिर्मरुत्प्राणबलं प्रकल्पितम् ॥ १४ ॥

रोमाणि वृक्षौषधयः शिरोरुहा मेघाः परस्यास्थिनखानि तेऽद्रयः।
निमेषणं रात्र्यहनी प्रजापति र्मेढ्रस्तु वृष्टि स्तव वीर्य मिष्यते ॥ १५ ॥

त्वय्यव्ययात्मन्पुरुषे प्रकल्पिता लोकास्सपाला बहुजीवसङ्कुलाः।
यथा जले सञ्जिहते जलौकसोऽप्युदुम्बरे वा मशका मनोमये ॥ १६ ॥

---

1. M,Ma °न्ति 2 P,V °स्तेष्ववि° 3. K,T,W °हो यदवि° 4. G,J कृतः 5. M,Ma °वः 6 M,Ma मेंढ्रन्तु

**श्रीध०** अत्र हेतुमाह — **सत्त्वमिति**। भवतश्शक्तिर्या प्रकृतिः तस्यास्सत्त्वादयो गुणाः अतः प्राकृताः प्रकृतिकार्योपाधयः ब्रह्मपर्यन्ताः स्थावरादयो जीवाः स्वोपाधिद्वारा तेषु गुणेषु प्रोताः प्रविष्टाः ते च प्रकृतौ। सा च त्वयीति। अतः क्रमेणोपाधिलयात्सर्वेऽपि त्वामेव प्रविशन्तीति। यद्वा, भवतः प्रकृते र्गुणेषु प्रोता ब्रह्मादयो भवद्व्यतिरिक्ता न सन्ति। अत स्त्वमेव सर्वदेवमय इति ॥ १२ ॥

ननु भवतः प्रकृते रिति वदन् ममापि प्रकृतिसम्बन्धं ब्रवीषि। ततश्च तेषां मम च को विशेषः स्यादित्याशङ्क्य विशेषमाह **तुभ्यमिति**। अविषक्तदृष्टये अविलिप्तबुद्धये। कुतः? सर्वात्मने स्वव्यतिरिक्ताभावादविषक्तदृष्टि स्त्वमित्यर्थः। किञ्च सर्वधियां साक्षिणे सर्वबुद्धिसाक्षित्वान्न क्वापि बुद्धिलोप इत्यर्थः। इतरे तु संसरन्तीत्याह गुणप्रवाह इति। देवनृतिर्यञ्च आत्मनो येषां तेषु देवादिशरीराभिमानिष्वित्यर्थः। त्वदविद्यया कृतोऽयं गुणप्रवाहः प्रवर्तते। अतो महान्विशेष इत्यर्थः ॥ १३ ॥

सर्वात्मन इत्यनेनोक्तं सगुणं रूपं स्तौति द्वाभ्याम् **अग्निर्मुखमिति**। अग्न्यादीननूद्य ईश्वरावयवता विधीयते योऽयमग्निः स तु तव मुखमित्यादि वचनव्यक्त्या। ईक्षणं चक्षुः श्रुतिः श्रवणेन्द्रियं कं मूर्धा, प्राणश्च बलञ्च तत् ॥ १४ ॥

**रोमाणीति**। अद्रयः परस्य ते अस्थिनखानि ॥ १५ ॥

न केवलमेतावदेव। किन्तु सर्वोप्ययं प्रपञ्चः त्वदवयवभूत एवेति वदन्, एवं सत्यपि प्रपञ्चस्य ष ड्जन्मादयो विकारास्त्वयि न प्रसज्यन्ते तस्य त्वयि कल्पितत्वादित्याह — **त्वयीति**। अव्ययात्मन् अव्ययात्मनि, पुरुषे पूर्णे लोकादयः सञ्जिहते प्रचलन्ति। हे अव्ययात्मन्निति वा। कथम्भूते त्वयि मनोमये मनःप्रधाने मनोवृत्तिव्यङ्ग्ये। "दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या" (कठ.उ. 3-12) "मनसैवानु द्रष्टव्यम्" (बृह.उ. 4-4-19) इत्यादि श्रुतेः। जले यथा जलौकसः सूक्ष्मप्राण्यण्डराशयः, यथा वा उदुम्बरान्तःकेसरेषु मशकाः परस्परवार्तानभिज्ञाः, एव मनन्तानि ब्रह्माण्डानि त्वयि चरन्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥

---

1. J,Va omit प्र 2. J,Va omit °वि° 3. J,Va omit रूपं 4. J,Va omit एव 5- -5. P,V omit 6. J,Va omit अव्ययात्मन् 7 J,Va °१° 8. J,Va च 9. J,Va add सं°

**वीर०** गतय इत्यनेन ज्ञानमात्रस्य विशेषणभूतप्रपञ्चविषयकस्य विशेष्यभूतपरमात्मपर्यन्तत्वं सूचितम्। तदेव व्यञ्जयितुं सर्वस्य चिदचिदात्मकप्रपञ्चस्य तद्विशेषणता माह — **सत्त्वमिति**। भवतः प्रकृतेः तच्छरीरभूतप्रधानस्येत्यर्थः। "यस्याऽव्यक्तं शरीरम्" (सुबा.उ. 7-1) इति श्रुतेः। ये सत्त्वादयो गुणाः तेष्वेव आब्रह्मस्थावरान्ताः प्राकृताः प्रकृतिपरिणामात्मकाः तन्तुषु पटवत्प्रोताः प्रविष्टाः ब्रह्मादिक्षेत्रज्ञाधिष्ठिता देहाः त्वदपृथक्सिद्धविशेषणभूतगुणमयप्रकृतिकार्यतया त्वदायत्तसत्तादिमन्त-स्त्वद्विशेषणभूता इत्यर्थः ॥ १२ ॥

एवमचेतनप्रपञ्चस्य त्वद्विशेषणत्वमुक्तम्। अथ ब्रह्मादिक्षेत्रज्ञानां तच्छरीरत्वेन तद्विशेषणत्वं, तदायत्तबन्धमोक्षादिमत्त्वं, तस्य बन्धापादनाद्युपयुक्तसर्वज्ञत्वं च वदन्नमस्करोति — **तुभ्यमिति**। सर्वात्मने सर्वेषां ब्रह्मादिक्षेत्रज्ञानां आत्मने। अनेन क्षेत्रज्ञानां तच्छरीरत्वेन तद्विशेषणत्वं फलितम्। यदि सर्वात्मा तर्हि जीववत्किं देहात्माभिमानी? नेत्याह — अविषक्तदृष्टये अविषक्ता देहादिष्वनभिनिविष्टा दृष्टिः यस्य तस्मै देहाभिमानरहितायेत्यर्थः। तत्र हेतुः — सर्वधियां साक्षिणे सर्वासां बुद्धीनां साक्षाद्द्रष्ट्रे। सर्वबुद्धिसाक्षित्वात् न क्वापि देहात्माद्यभिमानलेश इति भावः। किञ्च यदविद्यया यदीयया प्रकृत्या हेतुभूतया, देवनृतिर्यञ्च आत्मनो देहा येषां तेषु क्षेत्रज्ञेषु अयं परिदृश्यमानो गुणप्रवाहः गुणैः सत्त्वादिभिः निमित्तभूतैः प्रवहते प्राप्नोतीति तथा संसारः। असकृत् बहुकृत्वः प्रवर्तते तस्मै तुभ्यं ते नमः अस्तु। यदविद्ययेत्यनेन "दैवी ह्येषा गुणमयी मम" (भ.गी. 7-14) इत्यादिवचनार्थोऽभिप्रेतः ॥ १३ ॥

उक्तं चिदचिच्छरीरकत्वमेव प्रपञ्चयितुं विश्वरूपं स्तौति — **अग्निरित्यादिना**। अत्र अग्न्याद्यनुवादेन ईश्वरमुखाद्यवयवता विधीयते। योऽयमग्निस्स तव मुखमित्यादि। अवनिस्तवाङ्घ्रिः। अवनिशब्दः पातालप्रभृतिमहीतलपर्यन्तसङ्ग्राहकः। अङ्घ्रिशब्दस्तु पादमूलप्रभृतिजघनपर्यन्तावयवसङ्ग्राहकः, नाभिशब्दस्तु तत्प्रभृतीनामुरोग्रीवावदन ललाटानाम्। दिशस्तव श्रुतिश्श्रोत्रं, द्यौ स्सत्यलोकः तव कं शिरः, सुरेशा इन्द्रादयः तव बाहवः, अर्णवा स्समुद्राः तव कुक्षिः, मरुद्वायुः तव प्राणश्च बलञ्च तयो स्समाहारः तत्कल्पितं रचितं, त्वयेति शेषः। यद्वा उपासकैरिति शेषः। कल्पितं ध्यातमित्यर्थः॥ १४॥

वृक्षा ओषधयश्च तव रोमाणि। मेघास्तु शिरोरुहाः केशाः, अद्रयो गिरयः परस्य ते तव अस्थीनि नखानि च। रात्रिश्च अहश्च, ते तव निमेषणं, प्रजापतिः मेढ्रः, वृष्टिस्तव वीर्यम् इष्यते, उपासनाया मिति शेषः ॥ १५ ॥

न केवलमेतावदेव, किन्तु सर्वोऽप्ययं प्रपञ्चः त्वदवयवभूत एवेत्याह – **त्वयीति**। हे अव्ययात्मन्! अविकृतस्वरूप! विश्वशरीरकत्वेऽपि तद्गतविकारैः अस्पृष्टेति सम्बोधनाभिप्रायः। बहुभिर्जीवैः सङ्कुलाः व्याप्ताः पातकै स्सहिताः, सर्वे लोकाः मनोमये विशुद्धमनोग्राह्ये परमपुरुषे त्वयि कल्पिताः सञ्जिहते चरन्ति। जले यथा जलौकसः सूक्ष्मप्राणिराशयः, यथा वा उदुम्बरान्तःकेसरेषु मशकाः परस्परवार्ताऽनभिज्ञाः,एवमनन्तानि ब्रह्माण्डानि त्वयि सञ्जिहते चरन्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥

**विज०** ननु पूजादिकं सर्वं भगवद्विषयञ्चेत् मतभेदः **कथमुत्पद्यते इत्याशङ्क्य** सत्त्वादिगुणोपरक्तत्वा त्तदाकृष्टबुद्धित्वेन तद्भेद इत्याशयेनाऽऽह **सत्त्वमिति।** प्राकृताः प्रकृतिनिमित्ताः तेषु सत्त्वादिषु प्रोताः सम्यक् स्यूताः संवलिता इत्यर्थः। 'कार्यते ह्यवशः' इत्यादि हिशब्देन गृहीतम् ॥ १२ ॥

ननु प्राकृतपदार्थेष्ववस्थितस्य हरेस्ततो विशिष्टत्वमहिमासम्भवात् किं विशेषेण प्रणतिः प्रार्थ्यते इति तत्राऽऽह- **तुभ्यमिति।** तुभ्यं नमोऽस्तु यस्सात्त्विकादिनानाजनकृतपूजाविषयत्वेनोक्तस्तस्मै ते भूयोऽपि नमोऽस्त्वित्यन्वादिश्यते। प्रतिविशेषणमनुसन्धेयमिति द्योतनाय वा। अविषक्तदृष्टये अप्रतिहतज्ञानाय एकैकस्यैकैकप्रतिहते र्दृष्टत्वात् अस्य कथमप्रतिहतज्ञानत्व मित्याशङ्क्य सर्वस्वामित्वेन स्वातन्त्र्यप्रतीते र्ज्ञानप्रतिबन्धकाभावो युक्त इति भावेनाऽऽह सर्वात्मन इति। सर्वेषां तत्तच्छक्तिमाकृष्य वशीकृत्य तिष्ठत इत्यर्थः। तदेव विशिनष्टि सर्वेति। "स हि सर्वमनोवृत्तिप्रेरकः समुदाहृतः" इत्यादेः। यद्वा, अनेनासङ्गत्वं स्पष्टयत इति। अस्य सर्वस्वातन्त्र्य मस्तीति कथमवगन्तुं शक्यमित्याशङ्क्य संसारस्य हरीच्छाधीनत्वज्ञानादित्याह- गुणप्रवाह इति। अस्य हरेर्विधयेच्छया — "अ निषेधे पुमान्विष्णावविचित्रे स्मरे पुमान्" इति च। देवत्वोपाधिविशिष्ट आत्मनीति प्रत्येकमन्वेतव्यम् ॥ १३ ॥

नानादेवताभक्तैः क्रियमाणं यजनादिकं त्वद्विषयं कथं स्यादित्याशङ्क्य तेषां त्वदंशोद्भूतत्वेन त्वत्सम्बन्धित्वादिति भावेन तेषां त्वदङ्गजन्यत्वमाह — **अग्निर्मुखमिति।** मुखाज्जातोऽग्नि स्तव मुखमित्युच्यते — "मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च, प्राणाद्वायु रजायत" (पु.सू.6) इत्यादावितीदं त्वयैव च प्रकल्पितमहं पश्यामीत्येवं योजनीयम्। "विष्णोरङ्गसमुद्भूताः, विष्णोरङ्गानि देवताः" (अध्यात्मे) इत्यादेः। ईक्षणं नेत्रम्, कं शिरः। "पुंसि कः कं शिरोऽम्बुनोः" (अम.को. 3-160) इत्यमरः। सुरेन्द्राः लोकपालाः अर्णवं, वदन्तीति शेषः ॥ १४ ॥

निमेषणं निमेषोन्मेषौ। निमिषो मुकुलीभावो रात्रिः, उत्फुल्लता अहरुन्मेषः। प्रजापति र्दक्षः। वीर्यं रेतः ॥ १५॥

सञ्जिहते सञ्जायन्ते। जलमेवाश्रित्य तिष्ठन्तीति जलौकसः मत्स्यादयः। उदुम्बरे जन्तुफले मशकाः पिपीलिका विशेषाः, मनोमये ज्ञानस्वरूपे ॥ १६॥

**यानि यानीह रूपाणि क्रीडार्थं[1] त्वं बिभर्षि हि।**
**तैरामृष्टशुचो लोका मुदा गायन्ति ते यशः ॥ १७ ॥**

**नमः कारणमत्स्याय प्रलयाब्धिचराय च।**
**हयशीर्ष्णे नमस्तुभ्यं मधुकैटभमृत्यवे ॥ १८ ॥**

**अकूपाराय बृहते[2] नमो मन्दरधारिणे।**
**क्षित्युद्धारविहाराय नमस्सूकरमूर्तये ॥ १९ ॥**

**नमस्तेऽद्भुतसिंहाय साधुलोकभयापह।**
**वामनाय नमस्तुभ्यं क्रान्तत्रिभुवनाय च ॥ २० ॥**

**नमो भृगूणां पतये दृप्तक्षत्त्रवनच्छिदे।**
**नमस्ते रघुवर्याय रावणान्तकराय च ॥ २१ ॥**

---

1. G,J,M,Ma °डनार्थ वि° 2. P,V म° 3. P,V दुष्ट°

श्रीध० स्यादेवम्भूतं तव स्वरूपं दुरवगाहमिति त्वदवतारकथामृतमेव सन्तस्सेवन्त इत्याह — **यानीति**। आमृष्टा परिमार्जिता शुक् येषां ते ॥ १७ ॥

अतः स्वयमप्यवतारा न्नमस्यति — **नम** इति। हयशीर्ष्णे हयग्रीवाय। मधुकैटभयोर्मृत्यवे निहन्त्रे ॥ १८॥

**अकूपारायेति**। अकूपाराय कूर्माकाराय। क्षित्युद्धारो विहारो यस्य तस्मै ॥ १९,२० ॥

**नम** इति। भृगूणां पतये परशुरामाय ॥ २१ ॥

---

1. J,Va add तस्मादेव 2. J,Va omit नि 3. J,Va कूर्माय

**वीर०** तस्मादेवम्भूतं तव स्वरूपं दुरवगाहमिति त्वदवतारकथामृतमेव सेवन्त इत्याह — **यानीति**। त्वं क्रीडार्थं यानि यानि रूपाणि बिभर्षि तै रनुसंहितैः आमृष्टाः परिमार्जिताः शुचः आध्यात्मिकादितापाः येषां ते। लोका रसज्ञा जनाः मुदा तव यशो गायन्ति ॥ १६ ॥

कानि तानि रूपाणि यै रामृष्टशुच इत्यत्र कतिचित्तानि दर्शयन्नमस्करोति **नम** इत्यादिना। कारणमत्स्याय कारण पदेनाऽवतार प्रयोजनं सूच्यते। एवं मधुकैटभमृत्यवे इत्यनेन। एवमुत्तरत्राऽपि द्रष्टव्यम् ॥ १८ ॥

अकूपाराय कूर्माय क्षित्युद्धार एव विहारो यस्य तस्मा इति प्रयोजनमुच्यते ॥ १९ ॥

हे साधुलोकभयापह! इति सम्बोधनं प्रयोजन कथनाभिप्रायकम्। क्रान्तं त्रिभुवनं येन तस्मा इत्यवतारप्रयोजन मुच्यते ॥ २० ॥

दृप्तं गर्वितं प्रभूतं वा क्षत्त्रकुलमेव वनं तस्य छेत्रे इति प्रयोजनम्, दुष्टक्षेत्र, इति च पाठः। भृगूणां पतये परशुरामाय। रावणस्यान्तं नाशं कृतवानिति तथा, तस्मै इति प्रयोजनम् ॥ २१ ॥

---

1- -1. T,W omit.

**विज०** पुरुषसूक्तोक्तभगवन्मूर्तिविशेषं स्तुत्वा मत्स्याद्यवतारान् स्तोतुमुपक्रमते — **यानीति**। आमृष्टशुचः मार्जितशोकाः परिहृतदुःखाः। पूर्वं विद्यमानान्येव रूपाणि बिभर्षि, नाऽविद्यमानानीति, इममर्थं हिशब्दो वक्ति; "भूता मेव बिभर्तीशो ह्यवतार तनुं सदा" (तत्त्वनिर्णये) इत्यादेश्च ॥ १७ ॥

कारणमत्स्याय मन्वादिरक्षणं निमित्तीकृत्य मत्स्यवेषधारिणे इत्यर्थः। असुमदं स्यति नाशयतीति मत्स्यः। 'षो अन्तकर्मणि' इति धातुः। मत्स्यानामुदकमेव परं जीवनमिति सूचनाय, प्रत्यान्विचरणमन्यस्य न शक्यमिति ईश्वरत्वद्योतनाय वा। चशब्दो वक्ष्यमाणसमुच्चये वर्तते। मधुकैटभमृत्यवे केशवाय ॥ १८ ॥

अकूपाराय कूर्मरूपाय, "कूर्मेशेऽध्वाकूपारः" (वैज.को. 8-1-15) इति। बृहते नित्यवृद्धाय। किं कृत्यमित्यत उक्तं मन्दरेति ॥ १९ ॥

साधुलोकभयापह! देव जनस्य बल्यादेः प्राप्तभयमपहन्तीति। क्रान्तत्रिभुवनाय त्रिविक्रमाय ॥ २०,२१ ॥

**नमस्ते वासुदेवाय नमस्सङ्कर्षणाय च।**
**प्रद्युम्नायाऽनिरुद्धाय सात्त्वतां पतये नमः ॥ २२ ॥**

**नमश्शुद्धाय बुद्धाय दैत्यदानवमोहिने।**
**म्लेच्छप्रायक्षत्रहन्त्रे नमस्ते कल्किरूपिणे ॥ २३ ॥**

**भगवन् जीवलोकोऽयं मोहितस्तव मायया।**
**अहं ममेत्यसद्ग्राहो भ्राम्यते कर्मवर्त्मसु ॥ २४ ॥**

**अहञ्चात्मात्मजागारदारार्थस्वजनादिषु।**
**भ्रमामि स्वप्नकल्पेषु मूढस्सत्यधिया विभो ॥ २५ ॥**

**अनित्यानात्मदुःखेषु विपर्यासमतिर्ह्यहम्।**
**द्वन्द्वारामस्तमोविष्टो न जाने त्वाऽऽत्मनः प्रियम् ॥ २६ ॥**

---

1. P,V सर्व 2. M,Ma °शुद्ध° 3. G,J,M,Ma °र्यय° 4. M,Ma त्वां जगत्पते।

श्रीध० (सङ्कर्षणं रामं?) चतुर्व्यूहरूपेण प्रणमति — **नमस्ते वासुदेवायेति** ॥ २२,२३ ॥

एवं स्तुत्वा बन्धमोक्षं प्रार्थयितुमाह — **भगवन्निति**। असति देहादौ ग्राह आग्रहो यस्य सः। असन् ग्राहो यस्येति वा ॥ २४ ॥

न केवलं अयं लोकः अहमपि तथैवेत्याह-**अहञ्चेति** ॥ २५ ॥

मूढत्वमेव प्रकटयति — **अनित्येति**। विपर्यस्तमतिः अनित्ये कर्मफले नित्यमिति। अनात्मनि देहादौ आत्मेति, दुःखरूपे गृहादौ सुखमिति विपरीतमतिरित्यर्थः द्वन्द्वे सुखदुःखादिषु आरामः क्रीडा यस्य सः। ननु दुःखे कथं रति स्तत्राऽऽह — तमोविष्टः तमसा व्याप्तः, अत आत्मनः प्रियं प्रेमास्पदं त्वा त्वां न जाने इत्यर्थः ॥ २६ ॥

---

1- -1. J,Va omit 2. G,J °र्यमतिरिति 3. J,Va देहे 4- -4. J,Va आरमति क्रीडतीति तथा सः 5. J,Va कुतो 6. P,V,Va omit त्वा

**वीर०** रामकृष्णौ विभवौ वासुदेवसङ्कर्षणौ व्यूहौ च तन्त्रेणाभिप्रेत्य नमस्करोति — **नमस्ते वासुदेवायेत्यर्धेन।** प्रद्युम्नानिरुद्धौ व्यूहौ नमस्करोति प्रद्युम्नायानिरुद्धायेति। सर्वेषां प्रयोजनाभिप्रायेण विशिनष्टि सात्त्वतां पतय इति। साधुपरित्राणे इत्यर्थः। यद्वा, वासुदेवायेत्यादिभिश्चतुर्भि र्व्यूहचतुष्टयं नमस्क्रियते। सात्त्वतां पतये इत्यनेन रामकृष्णनमस्कृतिः, तेनैव प्रयोजनस्याऽभिप्रेतम् ॥ २२ ॥

वेदाप्रामाण्याद्युपदेष्टृत्वेऽपि शुद्धाय विशुद्धकर्मणे, तस्य दुष्कृन्निरसनार्थत्वात् इत्यभिप्रेत्य प्रयोजनञ्च वदन् विशिनष्टि- दैत्यदानवमोहिने इति। दैत्यान् दानवांश्च मोहयतीति तथा तस्मै, म्लेच्छप्रायं म्लेच्छतुल्यं, यत् क्षत्रकुलं तस्य हन्त्रे इति प्रयोजनमुक्तम् ॥ २३ ॥

एवं स्तुत्वा बन्धमोक्षं प्रार्थयन् (प्रार्थयमान) आह — **भगवन्निति।** हे भगवन्! सर्वो जनः तव मायया मोहितः, अत एव अनात्मन्यात्माभिमानरूपात्, अस्वस्मिन् स्वत्वाभिमानरूपाच्च, असतो दुष्टात् अनर्थकरात् ग्राहात् भ्रमात्मकज्ञानात् कर्मवर्त्मसु कर्ममार्गेषु शब्दादिविषयसाधनभूतेषु भ्राम्यते। यद्वा, अहं ममेति असति प्रकृतिपरिणामरूपदेहतदनुबन्ध्यादौ ग्राहः अभिनिवेशो यस्य तथा भूत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

भ्राम्यत्वेवं लोकः तव किम्? तत्राऽऽह **अहञ्चेति।** अहमित्यादिभिश्चतुर्भिस्तावत् आत्मनः कार्पण्य मावेद्य, सोऽहमित्येकेन प्रपद्य शरण्यगुणाविष्कारपूर्वकं गोप्ता भवेति प्रार्थयते — यथा सर्वलोकस्तथा तदन्तर्गतोऽहमपि गेहापत्यादिषु स्वप्नपदार्थतुल्येषु, अनित्येष्वित्यर्थः। सत्यधिया नित्यबुद्ध्या भ्रमामि, अतोऽहं मूढः ॥ २५ ॥

मूढत्वमेवाऽऽविष्करोति — **अनित्येति।** अहमनित्यानात्मदुःखेषु विपर्यस्ता मति र्यस्य सः। अनित्येषु वस्तुषु नित्यमतिमान्, अनात्मनि देहे आत्माभिमानी अन्ततो दुःखात्मकेषु शब्दादिविषयेषु सुखाभिमानी चेत्यर्थः, द्वन्द्वेषु सुखदुःखादिषु आरमते क्रीडतीति तथा सः वैषयिकसुखानुबन्धितया प्राप्तं दुःखमपि सुखवन्मन्यमान इत्यभिप्रायः। तत्र हेतुः तमसा गुणेन व्याप्तः आत्मनः प्रियं न जाने निरतिशयनित्यनिरुपाधिकप्रीतिविषयं त्वां न जानामीत्यर्थः ॥ २६ ॥

**विज०** सङ्कर्षणादिषु हरेस्सन्निधानविशेषात्तेषामवतारान्तर्भावं कृत्वा नमनं क्रियते, न तु साक्षादधोक्षजावतारत्वेन। तदुक्तम् — "प्रद्युम्ने चाऽनिरुद्धे च बलदेवे च केशवे" (तत्त्वनिर्णये) इत्यादौ ॥ २२ ॥

बुद्धावतारप्रयोजनं दैत्यमोहनमेव, नाऽन्यदिति द्योतयति दैत्येत्यादिना ॥ २३,२४ ॥

आत्मा देहः। आत्मजः पुत्रः, अर्थो हिरण्यादिः। स्वजनो बन्धुजनादिः। भ्रमामि भ्रान्तिं करोमि ॥२५॥

अनित्यानात्मदुःखेषु विपर्ययमतिः। अनित्येषु नित्यबुद्धिः, अनात्मन्यात्मबुद्धिः ॥ २६ ॥

**यथाऽबुधो जलं हित्वा प्रतिच्छन्नं तदुद्भवैः।**
**अभ्येति मृगतृष्णां वै हित्वाऽहं त्वा पराङ्मुखः ॥ २७ ॥**

**नोत्सहेऽहं कृपणधीः कामकर्महतं मनः।**
**रोद्धुं प्रमाथिभिश्चाक्षैर्ह्रियमाणमितस्ततः ॥ २८ ॥**

**सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं तच्चाऽप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्ये।**
**पुंसो भवेद्यर्हि संसरणापवर्गस्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात् ॥ २९ ॥**

**नमो विज्ञानमात्राय सर्वप्रत्ययहेतवे।**
**पुरुषेशप्रधानाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ॥ ३० ॥**

**नमस्ते वासुदेवाय सर्वभूतक्षयाय च।**
**हृषीकेश नमस्तुभ्यं प्रपन्नं पाहि मां प्रभो ॥ ३१ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे अक्रूरस्तुतिर्नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

---

1- -1. G,J तद्वत्त्वाऽहं 2. M,Ma °स्वाक्षै; P,V °स्साक्षैः 3. M,Ma य° 4. G,J,P,V ईश 5. P,V °षु 6. M,Ma °स्तेऽस्तु 7. P,V विभो।

**श्रीध०** तदेव सदृष्टान्तमाह — **यथेति**। तस्माज्जलात् उद्भवन्तीति तदुद्भवानि तृणादीनि, तैः तथा माया-च्छन्नं त्वा त्वामहं हित्वा पराङ्मुखो देहाद्यभिमुखो वर्ते इति ॥ २७ ॥

नन्वेवं जानतः कुतो विषयाभिमुखता, तत्राऽऽह — **नोत्सह** इति। कृपणा विषयवासनायुक्ता धीर्यस्य सः। अत एव कामकर्मभ्यां हतं क्षुभितम् इन्द्रियैश्च बलिभिर्विषयसंयुतैः इतस्तत आकृष्यमाणं मनः रोद्धुं नियन्तुं न शक्नोमीति ॥ २८ ॥

**स** इति। तदेवमस्वतन्त्रो यः सोऽहं तवाङ्घ्रिमुपगतः शरणं प्राप्तः। नन्विन्द्रियपरतन्त्रस्यैतदपि कुतस्तत्राऽऽह-तच्चापीति। हे ईश! अन्तर्यामिन्, तवाङ्घ्र्युपगमनञ्चाऽसतां दुरापम्, अतो भवतोऽनुग्रह एवेत्यहं मन्ये, अनुग्रहे सतीति वा। ननु सतां सेवयैवं भवति, किं मदनुग्रहेण इत्यत आह — **पुंस** इति। जीवस्य संसारस्य अपवर्गः समाप्तिर्यदा त्वत्कृपया भवेत्, सम्भावनास्पदं भवति। हे अब्जनाभ, तदा सदुपासना सम्पद्यते। तया तर्ह्येव त्वयि मति र्भवेत्। न त्वत्कृपां विना सत्सेवा न नितरां त्वन्मतिः; न तेषां मुक्तिरित्यर्थः ॥ २९ ॥

पादयोः पतन् प्रार्थयते द्वयेन — **नम** इति। विज्ञान मेव मात्रा मूर्ति र्यस्य तस्मै, अत एव सर्वप्रत्यय-हेतवे समस्तज्ञानकारणाय। किञ्च [7-] पुरुषेशप्रधानाय पुरुषस्य ये ईशाः सुखदुःख[8]प्रापकाः कालकर्मस्वभावादयः तेषां प्रधानाय नियन्त्रे। कुतः ब्रह्मणे परिपूर्णाय। किञ्च अनन्तशक्तये अनन्ताः शक्तयो यस्य। यद्वा अनन्ता मायाख्या शक्तिर्यस्य तस्मै। अथ वा प्रधानं प्रकृतिः पुरुषः तत्प्रवर्तकः ईशः कालः एतन्नितयात्मने ब्रह्मणे। वक्ष्यति च भगवान् — "प्रकृतिर्ह[9]र्यस्योपादान माधारः पुरुषः परः सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म[10] तन्नितयन्त्वहम् (भाग 11-24-19) इति॥ ३०॥

सर्वप्रत्ययहेतुत्वमभिव्यञ्जयन् स्तौति — **नमस्त** इति। वासुदेवाय चित्ताधिष्ठात्रे। सर्वभूतक्षयाय, क्षय आश्रयः, अहङ्कारश्च प्राणिनामाश्रयः। ततश्चाऽहङ्काराधिष्ठात्रे सङ्कर्षणायेत्यर्थः। हृषीकेशेति बुद्धिमनसोरधिष्ठात्रोः प्रद्युम्नानिरुद्धयो रेकीकृत्य ग्रहणं, शरणागतं मां पाहीति प्रार्थनम्[11] ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

---

1- -1. J,Va देहाभिमुखो ; V omits देहाद्यभिमुखो 2. J,Va त्वद° 3. J,Va येदं 4- -4. J,Va तथैव 5- -5. J,Va नतरां 6. J,Va नतमां 7- -7. J,Va omit 8. J,Va °खादिप्रा° 9 P,V °र्यदुपा° 10. P,V ब्रह्मा 11. J,Va ना

**वीर०** उक्तमेव सदृष्टान्तमाह — **यथेति**। तस्माज्जलादुद्भवन्तीति तथा, तैस्तृणादिभि श्छन्नं जलं हित्वा, अत एवाऽबुधो मृगतृष्णां जलवदवभासमानां मरीचिकामभ्येति, तथा अहमपि त्वां निरतिशयपुरुषार्थभूतं तत्साधनभूतञ्च त्वां त्यक्त्वा पराङ्मुखः देहाद्यभिमुखो वर्ते इत्यर्थः ॥ २७ ॥

नन्वेवं जानतः कुतस्तव विषयाभिमुख्यम्? तत्राऽऽह **नोत्सहे** इति। कृपणा विषयवासनायुक्ता धीर्यस्य सः, अत एवाऽन्तः कामकर्मभ्यां हतं क्षुभितं इन्द्रियैः प्रमाथिभिर्बलिभि र्विषयसंयुतैरितस्ततः आकृष्यमाणं मनो रोद्धुं नियन्तुं नोत्सहे न शक्नोमि ॥ २८ ॥

तदेवं विषयपरवश स्साधनान्तररहितोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतः अङ्घ्रिमुपगतः शरणं प्राप्तः। कथम्भूतमङ्घ्रिम्? असतां [1-] सर्पेक्षस्य अङ्घ्रिशब्दस्याऽपि अत्र समासः आष्टे[-1]। नन्विन्द्रियपरवशस्यैतदपि कुतः? तत्राऽऽह तच्चापीति। तदङ्घ्र्युपगमनं भवदनुग्रहं त्वदनुग्रहमूलकं, मन्ये। अन्तरात्मतयाऽनुजिघृक्षो स्तवाऽनुग्रहकारितं मन्ये इत्यभिप्रायेण ईशेति सम्बोधयति। अनेन शरणवरणे स्वस्वातन्त्र्यनिवृत्ति स्सूचिता। ननु प्रपित्सा सत्सेवामूलिका, न तु मदनुग्रहमूलिका, इत्यत्राऽऽह। यदा पुंसः

संसारिणः संसरणस्य अपवर्गस्समाप्तिः यस्मात्सः, अनुग्रह इति विशेष्याध्याहारः। तथाभूतस्त्वदनुग्रहो भवेत्, तदा हे अब्जनाभ, सतामुपासनया त्वयि मतिस्स्यात्। त्वत्प्रपित्सात्मिका मतिः स्यादित्यर्थः। "ईश्वरस्य च सौहार्दं यदृच्छासुकृतं तदा, विष्णोः कटाक्षः" इत्याद्युक्तरीत्या सत्सङ्गादिप्रणाडयामपि त्वदनुगृह एव निदानमिति भावः ॥ २९ ॥

विज्ञानमात्राय[2] अनुकूलात्मकज्ञानमात्रस्वरूपाय। मात्रशब्देन स्वरूपे क्वचिदपि जडत्वशङ्काव्युदासः। सर्वप्रत्ययहेतवे सर्वेषां ज्ञानप्रदाय, पुरुषो जीव स्तस्येशः स चाऽसौ प्रधानश्च। प्रधानशब्दः तच्छरीरवाचकः। प्रधानपुरुषेश्वरायेत्यर्थः। यद्वा। पुरुषस्य ईशाः सुखदुःखादिप्रापकाः कालकर्मस्वभावादयः तेषां प्रधानाय नियन्त्रे। यद्वा। ईशः ईश्वरो हरिः प्रधानो यस्य पुरुषश्चासावीशप्रधानश्च तस्मै। हरिप्रधानभूतेन पुरुषेण रूपेण स्वरूपेण चाऽवस्थितायेत्यर्थः। ब्रह्मणे स्वरूपेण गणैश्च निरतिशयबृहते, अनन्ताश्शक्तयः जगत्सर्गाद्युपयुक्तसामर्थ्यविशेषाः यस्य तस्मै ॥ ३० ॥

वासुदेवशब्दार्थमाह — सर्वभूतक्षयाय सर्वभूतनिवासाय हे हृषीकेश! तुभ्यं नमः। अहं त्वच्छेषभूतः मम न, नाऽहं मच्छेषभूतः। एवं प्रपन्नं मां पाहि त्रायस्व। अत्र विज्ञानमात्रायेत्यनेन प्राप्यत्वोपयुक्तं निरतिशयानन्दस्वरूपं विवक्षितम्। सर्वप्रत्ययहेतव इत्यनेन प्रपित्साहेतुत्वं, पुरुषेशप्रधानायेत्यनेन सर्वशेषित्वम्, ब्रह्मण इत्यनेन वात्सल्यसौशील्यसौलभ्यादिगुणपूर्णत्वम्, अनन्तशक्तये इत्यनेन बन्धमोक्षाद्यापादनोपयुक्तसामर्थ्यवत्त्वं, वासुदेवायेत्यनेन धारकत्वं, हृषीकेशेत्यनेन नियन्तृत्वम् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

---

1- -1. T,W omit 2. T omits मात्र

**विज०** तदुद्भवैः जलोद्भवैः शैवलादिभिः अबुधः मृगतृष्णां मृग्यन्त इति मृगा विषयास्तत्तृष्णाश्च ॥ २७ ॥

मनो रोद्धुं नोत्सहे ॥ २८ ॥

तथाऽपि प्रयते इत्याशयेनाऽऽह **सोऽहमिति**। यः मनस्समाधानकरणाशक्तः सोऽहम्। यच्च तवाङ्घ्र्युपगमनञ्च, अपिशब्द एवार्थे। स्वपदप्राप्तौ निमित्तं ध्वनयति — पुंस इति। यर्हि यदा संसरणात् संसारात् अपवर्गो मोक्षो भवेत्, कस्य पुंसस्तदाऽऽह - हे अब्जनाभ! सतां पुरुषाणां उपासनया सेवया हेतुना त्वयि मतिः मननबुद्धिः अवतरतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

मननविषयरूपमाह नम इति। ज्ञानस्वरूपं नाऽन्यत्। "मात्रं कात्स्न्र्येऽवधारणे' (वैज.को. 6-5-1) इति यादवः। यद्वा, विज्ञानं मात्रा मानं प्रमाणं यस्मिन् स तथा तस्मै। "मात्रा परिच्छेदेऽर्धेशे प्रवृत्तौ कर्णभूषणे, अक्षरावयवे माने" (वैज.को. 6-5-62,63) इति च। "नैषा तर्केण मतिरापनेया" (कठ.उ. 2-9) इति च श्रुतिः। सर्वेषां ज्ञानानां हेतवे कारणाय विरिञ्चशङ्करयोः प्रत्ययहेतुत्वं औपचारिकमिति भावेनाऽऽह पुरुषेति। पुरुषेश्वरयोर्विरिञ्चिशङ्करयो रपि उत्तमोत्तमाय। एवंविधस्य किं नामधेयमित्यत उक्तं ब्रह्मण इति। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"(तैत्ति.उ. 2-1-1) इति श्रुतेः। विरिञ्च्याद्युत्तमत्वे को हेतुरित्यत उक्तं अनन्तेति ॥ ३० ॥

वासुदेवमूर्तेर्मोक्षहेतुत्वमिति कृत्वा तं नमति नम इति। सर्वभूतक्षयाय सर्वभूतनिवासाय "शुद्धस्फटिकसङ्काशं वासुदेवं निरञ्जनम्" इत्यादेः। हृषीकेश! इन्द्रियेश! प्रभो! समर्थ! ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
टीकायां चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

(श्रीविजयध्वजरीत्या अष्टत्रिंशोऽध्यायः)

# एकचत्वारिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

स्तुवत स्तस्य भगवान्दर्शयित्वा जले वपुः।
भूयस्समाहरत्कृष्णो नटो नाटयमिवाऽऽत्मनः ॥ १ ॥

सोऽपि चान्तर्हितं वीक्ष्य जलादुन्मज्ज्य सत्वरः।
कृत्वा चाऽऽवश्यकं सर्वं विस्मितो रथमाविशत्[1] ॥ २ ॥

तमपृच्छद्धृषीकेशः किं ते दृष्ट मिहाऽद्भुतम्[2]।
भूमौ वियति तोये वा तथा त्वां लक्षयामहे ॥ ३ ॥

अक्रूर उवाच

[3-]अद्भुतानीह यावन्ति[-3] भूमौ वियति वा जले।
[4-]त्वयि विश्वात्मके[-4] सन्ति[5] किं मे[6] दृष्टं विपश्यतः ॥ ४ ॥

यत्राऽद्भुतानि सर्वाणि भूमौ वियति वा जले।
तंत्वाऽनुपश्यतो ब्रह्मन् किम्मे[7] दृष्ट मिहाद्भुतम् ॥ ५ ॥

---

1. G,J,P,V °गमत् 2. G,J °वा° 3- -3. T,W यत्राद्भुतानि सर्वाणि 4- -4. V तं त्वाऽनुपश्यतो 5. G,J,M,Ma,P तानि ; V ब्रह्मन् 6. G,J,M,Ma मेऽद° 7. M,Ma म्मेऽद°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एकचत्वारिंशकेऽ हन् रजकं प्रविशन्पुरीम्। ततो वरानदात्तुष्टः सुदाम्नो वायकस्य च।
सशङ्कमक्रूरमनः प्रबोध्य[1] स्वधामसन्दर्शनतः[2-] कृपालुः[-2] । स्वराजधानीं मधुरा मपश्य दलङ्कृतानन्तमहोत्सवाढ्याम्॥ १-३ ॥

**अद्भुतानीति।** भूमौ वियति जले वा यावन्त्यद्भुतानि तानि त्वय्येव सन्ति, तच्च त्वां विपश्यतो मे किमद्भुत मदृष्टम्? अपि तु सर्वं दृष्टमेवेत्यर्थः[3] ॥ ४ ॥

ननु मत्प्राप्तेः पूर्वमेव त्वं विस्मितमुखो लक्षितोऽसि, अतो भूमौ वियति जले वा किमप्यद्भुतं दृष्टं वद इत्यत आह — **यत्रेति**। अत्र त्वयि सर्वाण्यप्यद्भुतानि सन्ति। तं त्वा मिह पश्यतो मे अन्यत्र भूम्यादौ किमद्भुतं दृष्टम्? त्वां विना न तत्र किञ्चिदद्भुतमित्यर्थः। हे ब्रह्मन्! हे परमेश्वर! इत्यर्थः। **ब्रह्मे** ति वा पाठः ॥ ५ ॥

1. P,V प्रमोष 2- -2. J,Va सत्कृपातः 3. J,Va दृष्ट मित्य° 4- -4. J,Va ऐवेति चेदत° 5. P,V omit सन्ति।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं प्रदर्शिताक्रूरसंस्तुतस्वासाधारणरूपो भगवान् अथ प्राप्त मधुरोपवनोऽङ्गीकृताक्रूरप्रार्थनः प्रेषिताक्रूरः श्वः प्रविष्टमधुरो निगृहीतरजकः तन्तुवायमालाकारौ परमभागवतौ अकरोदित्याह — एकचत्वारिंशेन **स्तुवत** इत्यादिना। भगवान् कृष्णः आत्मनः स्वस्य वपुः स्तुवतस्तस्याऽक्रूरस्य दर्शयित्वा स्वासाधारणरूपं प्रदर्श्य पुनस्समाहरत् अन्तर्धापयामास। यथा नटो नाटचं नाटचार्हरूपं दर्शयित्वा अन्तर्धापयति तथा तद्वत् ॥ १ ॥

सोऽक्रूरोऽपि अन्तर्हितं वीक्ष्य ज्ञात्वा जलादुन्मज्ज्य त्वरया युक्तः आवश्यकं माध्याह्निकं नित्यकर्म सर्वं कृत्वा विस्मितस्सन् रथ माविशत् ॥ २ ॥

तमाविष्टवन्तमक्रूरं कृष्णः पप्रच्छ। प्रश्नमेवाऽऽह — किं ते इत्यादिना। इह रथे भूमौ वियत्याकाशे जले वा किमद्भुतं चित्रं त्वया दृष्टम्? न किमपि दृष्टमिति मा वोचः इत्यभिप्रेत्याह — तथा दृष्टाद्भुतं त्वां लक्षयामहे चिह्नैः अनुमिनुमः ॥ ३ ॥

इत्थमापृष्टः प्राह अक्रूरः - **अद्भुतानीति**। भूम्यादिषु यावन्त्यद्भुतानि, तानि विश्वशरीरके त्वय्येव सन्ति। तच्च त्वां पश्यतो मे मया किं दृष्टं? न किमप्यद्भुतं त्वय्यविद्यमानं दृष्टमिति काकभिप्रेतोऽर्थः ॥ ४ ॥

दृष्टं वदेत्यत आह — **यत्रेति**। हे ब्रह्मन्, "सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः" इति (वार्तिक) इति विकल्पा न्नलोपाभावः। यत्र त्वयि कर्माणि सर्वाण्यद्भुतानि, तं त्वा मिह पश्यतो मे अन्यत्र भूम्यादौ कि मद्भुतं दृष्टम्? त्वां विना न किञ्चिदद्भुत मित्यर्थः ॥ ५ ॥

1- -1. T omits 2 T,W omit तद्वत् 3. T,W omit चित्रम्।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

तस्मिन्निजजन्मनि योग्यताया अभिभवो नाऽस्ति। किन्तु सर्वत्राद्भुतत्व मेव यत्तदेतेषु द्विद्राध्यायेषु व्यनक्ति। तत्रादौ अक्रूरदृष्टभगवद्रूपस्य अन्तर्धानकारणं कृष्णाक्रूरयोः प्रश्नोत्तराभ्यां हरेः सर्वैरचिन्त्याद्भुतमाहात्म्यञ्च वक्ति - स्तुवत इति। आत्मनो वपुः नटत्वेन दर्शितं नाटचं नटनविषयं हनुमदादिरूपं यथा तिरोधत्ते तथा ॥ १ ॥

आवश्यकं नित्यकर्म ॥ २ ॥

दयालुः श्रीकृष्णः आत्मनो माहात्म्यं तेन वादयितुं अज्ञातवत्पृच्छति -**तमिति**। अद्भुत मदर्शि लक्षणैस्त्वां लक्षयामहे व्यावृत्तं पश्यामः ॥ ३ ॥

अक्रूरः परिहरति **अद्भुतानीति**। इह भूम्यादौ यावन्त्यद्भुतानि सन्ति विश्वात्मके विश्वरूपे त्वयि तानि विपश्यतो मे किमदृष्टम्? सर्वं दृष्टमेव। तानि विश्वात्मके त्वयि सन्ति। तस्मात्त्वां विपश्यतो मे किमदृष्टमिति वा ॥ ४ ॥

किं त्वयाऽद्भुतं दृष्टमिति प्रश्नस्य सर्वं दृष्टमेवेति परिहारः कथमागत इत्यत उक्तमेव स्फोरयति - यत्रेति। यत्र भूम्यादौ सन्ति सर्वाणि अद्भुतानि यत्र यस्मिन् त्वयि सन्ति तं त्वाऽनुपश्यतो मे किमद्भुत मदृष्टं? सर्वमद्भुतं दृष्टमित्यर्थः। ब्रह्मन्! पूर्ण! ॥ ५ ॥

## श्रीशुक उवाच[1-1]

इत्युक्त्वा चोदयामास स्यन्दनं गान्दिनीसुतः।
मधुरामनय द्रामं कृष्णश्चैव विनात्यये ॥ ६ ॥

मार्गे ग्रामजना राजंस्तत्र तत्रोपसङ्गताः।
वसुदेवसुतौ वीक्ष्य[2] प्रीता दृष्टिं न चाऽऽददुः ॥ ७ ॥

ताव द्व्रजौकस स्तत्र[3] नन्दगोपादयोऽग्रतः।
पुरोपवनमासाद्य प्रतीक्षन्तोऽवतस्थिरे ॥ ८ ॥

तान्समेत्याऽऽह भगवानक्रूरं जगदीश्वरः।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रश्रितं प्रहसन्निव ॥ ९ ॥

भवान्प्रविशतामग्रे[4] सहयानः पुरीं गृहम्[5]।
वयन्त्विहावमुच्याऽथ प्रातर्द्रक्ष्यामहे[6] पुरीम् ॥ १० ॥

---

1- -1. G,J,K,P,T,V,W omit 2. P,V दृष्ट्वा 3. M,Ma °स्तात! 4. P,V °द्धो 5. M,Ma व्रज 6. G,T ततो द्र°; M,Ma तावद्र°

**श्रीध० इतीति**। गान्दिनीसुतः अक्रूरः ॥ ६ ॥

**मार्ग इति**। दृष्टिं नाऽऽददुः। पश्यन्त एव स्थिता इत्यर्थः ॥ ७ ॥

**तावदिति**। रामकृष्णागमनं प्रतीक्षमाणाः स्थिताः ॥ ८ ॥

**तानिति**। प्रश्रितं विनीतम् ॥ ९ ॥

**भवानिति**। स्वगृहञ्च प्रविशतात्[1] प्रविशतु[2]। अवमुच्योत्तार्य विश्राम्येत्यर्थः ॥ १० ॥

---

1: J,Va °ताम् 2. J,Va omit प्रविशतु।

**वीर०** इतीत्थ मुक्त्वा गान्दिनीसुतः अक्रूरः स्यन्दनं रथं चोदयामास गमयामास[1-] [-1]। ततो रामं कृष्णञ्च दिनात्यये दिनावसाने मधुरां प्रापयामास ॥ ६ ॥

तदा तत्र तत्र मार्गे ग्रामेषु जनाः वसुदेवस्य सुतौ रामकृष्णावुपसङ्गतास्सन्तः तौ दृष्ट्वा प्रीताः दृष्टिं नाऽऽददुः न प्रत्याजह्रुः, पश्यन्त एव स्थिता इत्यर्थः ॥ ७ ॥

**तावदिति**। यावद्रामकृष्णौ मधुरामनयत् तावदेव ततः पूर्वमेव नन्दादयो गोपा उपवनं प्राप्य श्रीरामकृष्णागमनं प्रतीक्षमाणाः स्थिताः ॥ ८ ॥

तान्नन्दादीन् समेत्य जगदीश्वरो भगवान् स्वपाणिना विनीतमक्रूरं पाणिं गृहीत्वा प्रहसन् वक्ष्यमाणं उवाच। इवशब्देन हास्ये ईषत्त्वं द्योत्यते ॥ ९ ॥

उक्तिमेवाऽऽह — **भवानिति**। भवान् सह्यानस्सहस्थः पुरीं तत्र स्वगृहमग्रे विशताम्। वयन्तु इहोपवने अवमुच्य उत्तार्य विश्राम्येत्यर्थः। अथ प्रातः वो युष्माकं पुरीं मधुरां द्रक्ष्यामः ॥ १० ॥

---

1- -1. T,W omit

**विज०** दिनात्यये अपराह्णे ॥ ६ ॥

तयो र्वसुदेवसुतयोः लग्नाः प्रीताः प्रसन्नाः दृष्टिं नाऽददुः प्रत्यादानं न चक्रुः ॥ ७ ॥

प्रतीक्षन्तः पश्यन्तः ॥ ८,९ ॥

भवानग्रे प्रविशतां पश्चात् त्वं गृहं व्रज, अवमुच्य स्कन्धावरोहं कृत्वा ॥ १० ॥

## अक्रूर उवाच

**नाहं भवद्भ्यां रहितः प्रवेक्ष्ये मधुरापुरीम्[1]।**
**त्यक्तुं नाऽर्हसि मां नाथ! भक्तं ते भक्तवत्सल! ॥ ११ ॥**

★ त्यक्ष्ये कथं त्वत्पदपद्मयुग्मं वेक्ष्ये कथं ग्राम्यजनाग्निकुण्डम्।
वक्ष्ये कथं ग्राम्यवचो दुरन्तं द्रक्ष्ये कथं भिन्नतया जगत्पते॥

आगच्छ याम गेहान्तस्सनाथान्कुर्वधोक्षज!
सग्रजस्सह गोपालै स्सुहृद्भिश्च सुहृत्तम ॥ १२ ॥

पुनीहि पादरजसा गृहान् नो गृहमेधिनाम्।
यच्छौचेनाऽनुतृप्यन्ति पितरस्साग्नयस्सुराः ॥ १३ ॥

अवनिज्याऽङ्घ्रियुगल मासीच्छ्लोक्यो बलि महान्।
ऐश्वर्य मतुलं लेभे गतिश्चैकान्तिनां तु या ॥ १४ ॥

आपस्तेऽङ्घ्र्यवनेजन्य स्त्रीन् लोकाञ्छुचयोऽपुनन्
... शिरसाऽऽधत्त या शर्व स्स्वर्यातास्सगरात्मजाः ॥ १५ ॥

---

1. G,J,M,Ma °रां प्रभो! ★ अयं श्लोकः न क्वापि (G,J,K,M,Ma,P,V Edns) उपलभ्यते; तथाऽपि वीरराघवविदुषा व्याख्यात इति K प्रकाशे अधोज्ञापिकायां (foot note) मुद्रितः। व्याख्या च ११-१२ श्लोकव्याख्यानमध्ये योजिता अस्माभिस्तु एषश्लोकः मूले एव ११-१२ श्लोकयो र्मध्ये, क्रमसंख्यां विहाय योजितः। अस्य व्याख्या च उचिते स्थाने (११-१२) श्लोकव्याख्यामध्ये सङ्कलिता। 2 P,V गेहं न° 3- -3 G,J,P,V सहाऽग्रजः सगो० 4. K,T,W सुरोत्तम!; M,Ma सुहृत्तमः 5 K,T,W °हं नो 6. M,Ma °नाऽति° 7. M,Ma °च्छ्लाघ्यो 8 M,Ma °मंखे 9. V °स्त्रिलो°

**श्रीध० आगच्छेति**। साग्रजः सह गोपालैरित्यर्थः ॥ ११-१२ ॥

**पुनीहीति**। यच्छौचेन यस्य पादरजसः क्षालनोदकेन गृहाङ्गणस्थितेन ॥ १३ ॥

**अवनिज्येति**। श्लोक्यः पुण्यकीर्त्यर्हः। एकान्तिनां एकान्तभक्तानां या गति स्तां च लेभे ॥ १४ ॥

**आप** इति। अपुनन् पवित्रीकृतवत्यः। याभिरद्भिः स्वः स्वर्गं प्राप्ताः ॥ १५ ॥

---

1- -1. J,Va omit 2. J,Va °त्रितव°

**वीर०** एव मुक्तः प्राह अक्रूरः **नाहमिति** षड्भिः। हे विभो! भवद्भ्यां रहितो वियुक्तोऽहं पुरीं न प्रवेक्ष्ये। हे नाथ! भक्तं मां त्यक्तुं नाऽर्हसि। तत्र हेतुं वदन् सम्बोधयति - हे भक्तवत्सलेति ॥ ११ ॥

★ त्यक्ष्य इति। ग्राम्यजन एव अग्निकुण्डं तत् कथं वेक्ष्ये प्रवेक्ष्ये, दुरन्तं दुर्वचं ग्राम्यवचः ग्राम्यस्येव वचः "रामकृष्णा वानीतौ" इत्येवंविधं वाक्यं वक्ष्ये, कंसं प्रति इति शेषः। हे जगत्पते! कथं भिन्नतया द्रक्ष्ये तच्छरीरभूतत्वेन त्वदपृथक्सिद्धान् कंसादीन् त्वत्तः पृथक्सिद्धतया शत्रुभावेन कथं द्रक्ष्ये इत्यर्थः।

अतो हे अधोक्षज! त्व मागच्छ, यामः त्वयैव सह वयं गमिष्यामः। नोऽस्मान् सनाथान् सेश्वरान् कुरु साग्रजः सरामः गोपालैश्च सुहृद्भिस्सह हे सुरोत्तम! ॥ १२ ॥

पादरजसा गृहमेधिनामस्माकं गृहं पुनीहि पवित्रीकुरु। यस्य पादरजसः शैचेन क्षालनोदकेन पीतेन (गृहाङ्गणस्थितेन) शिरसि धृतेन चाऽस्माकं पितरोऽग्नयः सुराश्च तृप्यन्ति तृप्ता भवन्ति। तेन पादरजसेत्यन्वयः ॥ १३ ॥

किञ्च। तवाऽङ्घ्रियुगलमवनिज्य प्रक्षाल्य बलिर्वैरोचनिः श्लोक्यः बहुलकीर्त्यर्हः। महान्, गुणै रिति शेषः। आसीत बभूव। त्वत्सङ्गत्यात् लब्धप्रायमैश्वर्यं लेभे प्राप्तवान्। तथैकान्तिनां अनन्यप्रयोजनानां प्रपन्नानां या गतिः त्वत्प्राप्तिरूपा ताञ्च लेभे, लब्धवत्प्रायो बभूव ॥ १४ ॥

किञ्च। तवाङ्घ्रयोरवनेजन्यः क्षालन्यः[1] आपः गाङ्गाः[2] शुचयः पवित्राः त्रीन् लोकान् अपुनन् पवित्रितवत्यः किञ्च या आपः शर्वो रुद्रः शिरसा धृतवान्। किञ्च, याभिरद्भिः सगरात्मजाः स्वर्गं गता बभूवुः। एवंविधमहामहिमशालिपवित्रतमगङ्गादिरूपतीर्थाश्रय पादरजसा पुनीहीत्यन्वयः ॥ १५ ॥

---

★ अधिक पाठश्लोकव्याख्या। 1 T,W °नाः 2. A,B °ङ्घ्रयः

विज० अवनिज्य प्रक्षाल्य एकान्तिनां भक्तमुख्यानां या गतिः कृपा ताम् ॥ ११-१४ ॥

अपुनन् शुद्धां चक्रुः ॥ १५ ॥

**देवदेव जगन्नाथ पुण्यश्रवणकीर्तन!**
**यदूत्तमोत्तमश्लोक नारायण नमोऽस्तुते ॥ १६ ॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**आयास्ये भवतो गेह महमार्यसमन्वितः।**
**यदुचक्रद्रुहं[1] हत्वा वितरिष्ये सुहृत्प्रियम् ॥ १७ ॥**

## श्रीकृष्णबलरामयोः मधुरानगरप्रवेशघट्टः

### श्रीशुक उवाच

एवमुक्तो भगवता सोऽक्रूरो विमना इव।
पुरीं प्रविष्टः कंसाय कर्माऽऽवेद्य गृहं ययौ ॥ १८ ॥

अथाऽपराह्णे भगवान् कृष्णः सङ्कर्षणान्वितः।
मधुरां प्राविशद्गोपै र्दिदृक्षुः परिवारितः ॥ १९ ॥

ददर्श तां स्फाटिकतुङ्गगोपुर द्वारां बृहद्धेमकवाटतोरणाम्।
ताम्रारकोष्ठां परिखादुरासदां उद्यानरम्योपवनोपशोभिताम् ॥ २० ॥

सौवर्णशृङ्गाटकहर्म्यनिष्कुटै श्श्रेणीसभाभिर्भवनै रुपस्कृताम्।
वैदूर्यवज्रामलनीलविद्रुमैर्मुक्ताहरिद्भिर्वलभीषु वेदिषु ॥ २१ ॥

जुष्टेषु जालामुखरन्ध्रकुट्टिमेष्वाविष्टपारावतबर्हिनादिताम्।
संसिक्तरथ्याऽऽपणमार्गचत्वरां प्रकीर्णमाल्याङ्कुरलाजतण्डुलाम् ॥ २२ ॥

आपूर्णकुम्भै र्दधिचन्दनोक्षितैः प्रसूनदीपावलिभि स्सपल्लवैः।
सवृन्तरम्भाक्रमुकैस्सकेतुभि स्स्वलङ्कृतद्वारगृहां सपट्टिकैः ॥ २३ ॥

---

1. M,Ma °वर्ग 2- -2. P,V omit 3 M,Ma प्रविश्य 4. M,Ma ततोऽप° 5. M,Ma °रां 6- -6. M,Ma बृहत्स्फुरद्धेम 7 G,J,M,Ma °पा° 8. M,Ma °ष्ठा 9. P,V °षा 10. M,Ma बनालि 11. M,Ma °त्थे° 12. P,V °ड्रू° 13. G,J बृन्द 14 M,Ma °काम्।

**श्रीध०** प्रार्थयमानो नमस्करोति - देवदेवेति। अतः परमन्यच्छ्रेयो नास्तीति मत्वा बहुधा सम्बोधयति ॥ १६ ॥

**आयास्ये** इति। आदौ तावत् यदुचक्राय द्रुह्यतीति यदुचक्रधुक् तं कंसं हत्वा सुहृदां प्रियं वितरिष्ये दास्यामि ॥ १७ ॥

**एवमिति।** रामकृष्णावानीतौ इति स्वकृतं कर्माऽऽवेद्य समर्प्येति ॥ १८ ॥

**अथेति।** गोपैः परिवारितः परिवृतः प्राविशत् ॥ १९ ॥

श्रीकृष्णदृष्टां पुरीमनुवर्णयति चतुर्भिः — **ददर्शेति**। स्फाटिकानि तुङ्गानि गोपुराणि पुरद्वाराणि अन्यानि[4] गृहद्वाराणि च यस्यां ताम्। बृहन्ति हेममयानि कवाटानि[5] तोरणानि च यस्यां ताम्। ताम्रञ्च आरः आरकूटश्च तन्मयाः कोष्ठा धान्यागाराश्वशालादयश्च यस्यां ताम्। परिखाः[6] परितः खातगर्ताः ताभि र्दुरासदां दुर्गाम्। उद्यानानि दूरस्थानि वनानि, रम्याण्युपवनानि च निकटस्थानि[7] तैरुपशोभिताम् ॥ २० ॥

**सौवर्णेति**। सौवर्णाः शृङ्गाटकाः चतुष्पथाः, हर्म्याणि धनिनां गृहाणि च तेषु[8] निष्कुटा गृहोचिता आरामाश्च तैः श्रेणीनामेकरूपशिल्पोपजीविनां[9] सभाभिरुपवेशस्था[10] नैश्च भवनै रन्यगृ है रुपस्कृताम्[11] अलङ्कृताम्। अमलाः[12] स्फटिकाः[13] हरितो मरकताः। वैदूर्यादिरत्नै र्जुष्टेषु वलभ्यादिष्वाविष्टै रुपविष्टैः पारावतै र्बर्हिभिश्च नादिताम्। तत्र वलभ्यो गृहपुरोभा गस्तम्भनिहित छादनावष्टम्भवक्रद्रारूणि[14], वेदयो वलभीना मधोदेशे विरचिता अवष्टम्भवेदिकाः। जालामुखरन्ध्राणि गवाक्षच्छिद्राणि कुट्टिमानि मणिबद्धा भूमय स्तेष्विति। रथ्या राजमार्गाः, आपणाः पण्यवीथयः, मार्गा अन्ये च चत्वराणि अङ्गणानि संसिक्तानि रथ्यादीनि यस्यां ताम्। प्रकीर्णा माल्यादयो यस्यां ताम् ॥ २१, २२ ॥

**आपूर्णेति**। तथा स्वलङ्कृतानि द्वाराणि येषां ते गृहा यस्यां ताम्। कैः? आपूर्णैः[15] अ द्भिः पूर्णैः[15] कुम्भैः दध्ना चन्दनेनचोक्षितैः सितैः प्रसूनानां दीपानां चाऽऽवलयो येषु तैः। वृन्तैः[16] फलगुच्छैः उपलक्षिता रम्भाः क्रमुकाश्च तत्सहितैः। सकेतुभिः केतवो ध्वजा स्तत्सहितैः। पट्टिका वितस्तिविस्तारपट्टवस्त्राणि तत्सहितैः। अत्रेयं[17] रीतिः — द्वारेषूभयत - स्तण्डुलानामुपरि कुम्भाः। तत्परितः प्रसूनावलयः कण्ठे पट्टिका मुखे चूतादिपल्लवाः, तदुपरि पात्रान्तरे दीपावलयः, तत्सन्निधौ रम्भाः क्रमुकाः केतवस्तोरणानि चेति ॥ २३ ॥

---

1. Va °ष्यामि 2. Va omits 3. J,Va omit परिवृतः। 4. J,Va omit अन्यानि 5. J,Va °पा° 6. P,V °द्वाः 7. J,Va °टानि 8. J,Va omit तेषु 9 J,Va omit रूप 10. P,V रूपसंवेशन 11- -11. J,Va स्थानैः अन्यैश्च भवनैर्गृ° 12. P,V °लः 13. P,V °कः 14- -14. J,Va भागेषु वक्रद्वारच्छादनानि 15- -15. J,Va omit 16. J,Va वृन्दैः 17. J,Va त°

**वीर०** एवं प्रार्थयमानोऽनितरसाधारणधर्मयुक्तं सम्बोधयन्नमस्करोति — **देवदेवेति**। ब्रह्मादीनामपि देव! जगतो नाथ! पुण्यं शृण्वतां वदताञ्च पुण्यावहं यस्य श्रवणं कीर्तनञ्च तत् यस्य सः पुण्यश्रवणकीर्तनः, तस्य सम्बोधनम्। उत्तमैः ब्रह्मादिभिः श्लोक्यते ईड्यत इति तथा, उत्तमः श्लोको यशो यस्येति वा ॥ १६ ॥

इत्थं प्रार्थितः प्राह भगवान् **आयास्ये** इति। यदुचक्राय यदुवंशजसमूहाय द्रुह्यतीति यदुचक्रध्रुक् तं यदुचक्रद्रुहं कंसं हत्वा ततोऽग्रजसमन्वितोऽहं भवतो गृहं प्रत्यायास्ये आगमिष्यामि, तथाऽन्येषाञ्च सुहृदां प्रियं वितरिष्ये करिष्यामि ॥ १७ ॥

इत्थं भगवतोक्तोऽक्रूरः विमना इव किञ्चिदसन्तुष्टमना इव भूत्वा पुरीं प्रविष्टः कर्म रामकृष्णावानीता विति स्वकृतं कर्म आवेद्य स्वगृहं ययौ ॥ १८ ॥

**अथ श्वोऽपराह्णे** भगवान् कृष्णः सङ्कर्षणेनान्वितो गोपैः परिवृतो द्रष्टुमिच्छुः मथुरां प्राविशत् ॥ १९ ॥

तां मथुरां ददर्श। कथम्भूताम्? स्फाटिकानि स्फटिकमयानि तुङ्गान्युच्छ्रितानि गोपुराणि पुरद्वाराणि अन्यानि च द्वाराणि यस्यां ताम्। ताम्रम् आरम् आरकूटश्च तन्मयाः प्रकोष्ठाः धान्यादिशालादयो यस्यां तां, परिखाभिः परितः खाताभिः दुर्गमाम्, उद्यानानि दूरस्थानि वनानि, रम्याण्युपवनानि च निकटानि तै रुपशोभितां, सौवर्णाः शृङ्गाटका श्चतुष्पथाः, हर्म्याणि धनिनां गृहाणि च तेषु निष्कुटाः गृहोचिता आरामाः, तैः श्रेणीनामेकरूपशिल्पोपजीविनां सभाभि रुपवेशस्थानैः अन्यैश्च भवनैः गृहैल्पस्कृतामलङ्कृताम्, अमलः स्फटिकः हरित् मरकतः, वैदूर्यादिरत्नैः जुष्टेषु संयुक्तेषु वलभ्यादिषु आविष्टैः पारावतैः मयूरैश्च नादिताम्। तत्र वलभ्यः गृहपुरोभागस्तम्भनिहिताच्छादनोपष्टम्भवक्रदारूणि, वेदयः वलभीनामधोदेशे विरचितावष्टम्भवेदिकाः, जालामुखरन्ध्राणि गवाक्षच्छिद्राणि, कुट्टिमानि मणिबद्धाः भूमयः, रथ्या राजमार्गाः आपणाः पण्यवीथयः, मार्गा अन्ये, चत्वराणि अङ्गणानि संसिक्तानि रथ्यादीनि यस्याम्, विकीर्णाः तत्र तत्र अवकीर्णा माल्यादयो यस्यां, तत्र माल्यानि मालार्हाणि पुष्पाणि आपूर्णैः कुम्भैः, दध्ना चन्दनेन च उक्षितैः सितैः प्रसूनानां दीपानाञ्च आवलयो येषु तैः, सवृन्ताः फलगुच्छैस्सहिताः रम्भाः कदल्यः क्रमुकाश्च तैः, केतुभिश्च सहितैः, पट्टिकाः वितस्तिविस्तारपट्टवस्त्राणि तत्सहितैश्च स्वलङ्कृतानि द्वाराणि येषां ते गृहा यस्यां ताम्। तत्रेयं रीतिः - द्वारभूम्युभयतः[1-] तण्डुलाना मुपरि कुम्भाः तत्परितः प्रसूनावलयः कण्ठे सपट्टिकाः[2], मुखे चूतादिपल्लवाः, तदुपरि पात्रान्तरे दीपावलयः तत्सन्निधौ रम्भाः क्रमुकाः केतवः तोरणानि च इति॥ २०-२३॥

---

1- -1. T,W द्वार्भूम° 2. K omits स

**विज०** यदुवर्गद्रुहं कंसम् ॥ १६-१७ ॥

त्वयोक्तं कर्म मया कृतमिति ॥ १८-१९ ॥

स्फाटिकानि स्फटिकरत्ननिर्मितानि तुङ्गानि उन्नतानि च गोपुराणि पुरद्वाराणि यस्यां सा तथा बृहन्ति विशालानि स्फुरन्ति शोभमानानि हेम्ना निर्मितानि कपाटानि तोरणानि च यस्यां सा तथा। ताम्रैरारैः आरकूटैर्लोहविशेषैः निर्मितानि कोष्ठान्यन्तर्भवनानि यस्यां सा तथा "आरण्यारकूटम्" इत्यभिधानम्। यद्वा ताम्रेण विरचिते आरकोष्ठे अट्टालावयवप्रे यस्यां सा। यद्वा ताम्रकृतानि अराणि दतानि यस्मिंस्तथा, ताम्रारं कोष्ठं यस्यां सा तथा सा च। असीमा परिखा खातनदी यस्यां सा। तथा ताम्रारकोष्ठापरिखां, अत एव दुरासदां दुष्प्रवेशां, ताम्रारकोष्ठां परिखादुरासदामिति पठन्ति। उद्यानैः सर्वसाधारणवनैः रम्या रमणीया च। उपवनानामारामाणां प्रमदावनानां आलिः पङ्क्तिः तया शोभिताम् उद्यानरम्योपवनालिशोभिताम्॥ २०॥

**सौवर्णैः सुवर्णबद्धैः शृङ्गाटकैः चतुष्पथैः, हर्म्यैः** धनिनां निवासैः निष्कुटैः पथिकावासैः गृहवाटीभि र्वा। श्रेणीसभाभिः गृहपङ्क्तचन्तरालङ्कृतसभाभिः, श्रेणी वेश्यागृहपङ्क्तिः तत्पुरतः कृतसभाभिर्वा, भवनैः प्रशस्तैः गृहै रुपस्कृताम् अलङ्कृताम् वेदिषु परिष्कृतभूमिषु वलभीषु आच्छादनवक्रदारुष्षु प्रोतचित्रफलकेषु मुक्ताहारिद्भिः मुक्तावलिरश्मिभिश्चितैः वैदूर्यादिभिः ॥ २१॥

जुष्टेषु न्युप्तेषु जालानां गवाक्षाणां आमुखत्रन्ध्रं मुखच्छिद्रपर्यन्तेषु विद्यमानेषु कुट्टिमेषु बद्धभूमिकेषु स्थलेषु आविष्टै रुपविष्टैः पारावतैः कपोतैः, बर्हिभिर्मयूरैश्च नादितां शब्दितां, चन्दनादिजलैः संसिक्ता आर्दीकृता रथ्या रथमार्गः आपणः निषद्यामार्गः पण्यवीथिकामार्गः प्रतिगृहं पन्थाः चत्वरश्चतुष्पथः विस्तृतमार्गः यस्यां सा तथा ताम् प्रकीर्णानि व्याप्तानि माल्याङ्कुरलाजतन्दुलानि यस्यां सा तथा ॥ २२ ॥

आपूर्णकुम्भैः स्वलङ्कृतानि द्वाराणि येषां ते तथा स्वलङ्कृतद्वारा गृहा यस्यां सा तथा ताम्। कीदृशैः आपूर्णकुम्भैः? दधिचन्दनरसेन च उक्षितैः सिक्तैः प्रसूनानां दीपानां आवलयो येषु ते तथा तैः सपल्लवैः किसलयसहितमुखैः सवृन्तरम्भा कदली सवृन्तरम्भा तथा क्रमुकाः पूगाः तैः पट्टिकया उपर्याततवितानवस्त्रेण सहिता सपट्टिका ताम् ॥ २३ ॥

तां सम्प्रविष्टौ वसुदेवनन्दनौ वृतौ वयस्यैर्नरदेववर्त्मना।
द्रष्टुं समीयुस्त्वरिताः पुरस्त्रियो हर्म्याणि चैवाऽऽरुरुहुर्नृपोत्सुकाः ॥ २४ ॥

काश्चिद्विपर्यकृतवस्त्रभूषणा[1] विस्मृत्य चैकं युगलेष्वथाऽपराः।
कृतैकपत्रश्रवणैकनूपुरा[2] नाङ्क्त्वा द्वितीयन्त्वपरा स्स्वलोचनम्[3] ॥ २५ ॥

अश्नन्त्य एका स्तदपास्य सोत्सवा[4] अभ्यञ्ज्यमाना[4] अकृतोपमज्जनाः[5]।
स्वपन्त्य उत्थाय निशम्य निस्वनं निपाययन्त्योऽर्भमपोह्य मातरः[6] ॥ २६ ॥

मनांसि तासा मरविन्दलोचनः प्रगल्भलीलाहसितावलोकनैः[7]।
जहार मत्तद्विरदेन्द्रविक्रमो दृशां दधच्छ्रीरमणो[8] महोत्सवम्[9] ॥ २७ ॥

दृष्ट्वा मुहुश्चुतमनुद्रुतचेतसस्तं तत्प्रेक्ष णोत्स्मित[10] सुधोक्षणलब्धमानाः[10]।
आनन्दमूर्तिमुपगूह्य[11] दृशाऽऽत्मलब्धं हृष्यत्त्वचो जहुरनन्तमरिन्दमाऽऽधिम् ॥ २८ ॥

प्रासादशिखरारूढाः प्रीत्युत्फुल्लमुखाम्बुजाः।
अभ्यवर्षन्सौमनस्यैः प्रमदा बलकेशवौ ॥ २९ ॥

दध्यक्षतैस्सोदपात्रै स्स्रग्ग्रन्थै रप्युपायनैः[12]
तावानर्चुः प्रमुदिता स्तत्र तत्र द्विजातयः ॥ ३० ॥

---

1. G,J,K,P,V °भृत 2. M,Ma °वस्त्र 3. G,J °राश्च लो° 4- -4. P,V भोजनाभ्य° 5. T,W मार्जनाः 6. G,J प्र° 7. M,Ma प्रगल्भ्य 8. G,J दद° 9. G,J,P,V °मणात्मनोत्सवम् 10. M,Ma °क्षितोत्स्मित; T,W °क्षणस्मित 11. G,J,K,M,Ma गु° 12. G,J,M,Ma रम्यु।

श्रीध० तामिति। नरदेववर्त्मना राजमार्गेण तां पुरीं; सम्प्रविष्टाविति द्वितीयान्तम् ॥ २४ ॥

**औत्सुक्यमेवाऽऽह द्वयेन काश्चिदिति।** विपर्यक् विपरीतं धृतानि वस्त्राणि भूषणानि च याभिस्ताः। युगलेषु[1] युगलधार्येषु कुण्डलकङ्कणादिषु एकं विस्मृत्य समीयुः। कृतमेकमेव पत्रं ययो[2] स्ते[3] श्रवणे यासाम्। एक मेव नूपुरं चरणाभरणं यासां, ताश्च ताश्च। नाङ्क्त्वा अनङ्क्त्वा एकस्मिन्नेव लोचने अञ्जनं निधायैव ॥ २५ ॥

**अश्नन्त्य** इति। तद्भोजनं त्यक्त्वा[4] अभ्यज्यमानाः सखीभिः क्रियमाणतैलाभ्यङ्गाः अकृतोपमज्जना[5-] अकृतस्नानाः[-5] अर्भं[6-] बालकम् अपोह्य[-6] निरस्य ॥ २६ ॥

**मनांसीति।** प्रगल्भा या[7] लीलाः, ताभिर्हसितानि ईक्षणानि[8] च तैः श्रियं रमयतीति श्रीरमणः तेनाऽऽत्मना वपुषा तासां दृशा मुत्सवं दधत् मनांसि जहार ॥ २७ ॥

**दृष्ट्वेति।** मुहुः श्रुतत्वात् तद्गतचेतसः सद्यः तं दृष्ट्वा तस्य प्रेक्षणञ्च उत्स्मितञ्च तदेव सुधा तया सुधया[10] उक्षणं सेचनं तेन लब्धो मानो यभिस्ताः। दृशोद्घाटितेन नेत्रद्वारेण आत्मनि मनसि लब्धं प्राप्तं परिष्वज्य तदप्राप्तिजनित मनन्त माधिं मानसीं[11] व्यथां जहुः। हे अरिन्दम! निर्जितकामेति सम्बोधनं, शृङ्गाररसे निमग्नो मा भूदिति ॥२८॥

प्रासादेति। सौमनस्यैः कुसुमसमूहैः शोभनमनोभावै र्वा ॥ २९, ३० ॥

---

1. J युग्म; Va omits युगल 2 P,V कज्जलं 3. P,V omit एव 4 P,V हित्वा 5- -5 P,V omit 6- -6. P,V omit 7 V omit याः 8. J,Va निरीक्षणानि 9. J,Va °द° 10. J,Va omit सुधया 11 P,V omit मानसीं।

**वीर०** तामेवम्भूतां पुरीं वयस्यैः सखिभि स्सहितौ नरदेववर्त्मना राजवीथ्या प्रविष्टौ वसुदेवनन्दनौ द्रष्टुं पुरस्त्रियः त्वरिता स्समीयुः, तत्र तत्र समुदिता बभूवुः। तथा हे नृप! उत्सुका स्सत्यो हर्म्याण्यारुरुहुः ॥ २४ ॥

त्वरामौत्सुक्यञ्चाऽऽह द्वयेन **काश्चिदिति।** विपर्यक् विपरीतमयथायथं धृतानि वस्त्राणि भूषणानि च याभि स्ताः काश्चिदेवम्भूताः। अपरास्तु युगलेषु धार्येषु कुण्डलकङ्कणादिषु एकं विस्मृत्य, समीयुरित्यनुषङ्गः। अन्यास्तु धृतं निहितम् एकमेव पत्रं ताटङ्कः ययोस्ते श्रवणे श्रोत्रे यासां ताः, एकमेव नूपुरं चरणाभरणं यासां ताश्च स्वकीयमेकं लोचनं नाङ्क्त्वा एकस्मिन्नेव लोचने कज्जलं निधायेत्यर्थः ॥ २५ ॥

एका स्तु अश्नन्त्यः तद्भोजनं विहाय, काश्चित्तु अभ्यज्यमानाः सखीभिः क्रियमाणाभ्यङ्गा अकृतस्नाना एव। काश्चित्तु स्वपन्त्यो निस्वनं निशाम्योत्थाय, अपरास्तु मातरः अर्भकं पाययन्त्यः, स्तन्यमिति शेषः। तमर्भकं विहाय समीयु रिति सर्वत्र सम्बन्धः ॥ २६ ॥

मत्तगजेन्द्रस्येव विक्रमः पादविक्षेपो यस्य सः, श्रियः कान्तो भगवान् प्रगल्भा या लीला स्ताभिः हसितानीक्षणानि च तैस्तासां पुरस्त्रीणां दृशां महोत्सवं महाहर्षं विदधानः तासां मनांसि चित्तानि अपहृतवान् ॥ २७ ॥

मुहुश्श्रुतत्वात्तद्गतचेतसः तं दृष्ट्वा हे अरिन्दम! तस्य प्रेक्षणञ्च स्मितञ्च तदेव सुधा तयोः उक्षणं सेचनं तेन लब्धो[1] मानो याभिस्ताः दृशा उद्घाटितनेत्रद्वारा आत्मनि मनसि लब्धं प्राप्तम् आनन्दमूर्तिं परिष्वज्य पुलकितत्वचः तदप्राप्तिजमनन्तमनवधिकमाधिं व्याथां जहुः ॥ २८ ॥

प्रीत्योत्फुल्लानि मुखाम्बुजानि यासां ताः प्रमदाः स्त्रियः सौमनस्यैः कुसुमसमूहैः रामकृष्णा वभ्यवर्षन् ॥ २९ ॥

द्विजातयो ब्राह्मण्यः तत्र तत्र प्रमुदितास्सत्यः दध्यादिभिः तौ[2] रामकृष्णावानर्चुः ॥ ३० ॥

---

1. T,W omit अनन्तं 2. T,w omit तौ।

**विज०** या पूर्वं कर्णाकर्णितसौन्दर्या तां, नरदेववर्त्मना राजमार्गेण ॥ २४ ॥

विपर्ययकृतानि व्यत्यस्तत्वेनालङ्कृतानि वस्त्राणि भूषणानि यासां ताः। वस्त्रस्थाने भूषणानि, भूषणस्थाने वस्त्राणीति युगलेषु मध्ये एकं विस्मृत्य; एतदेव स्फोरयति कृतैकेति। वस्त्रं परिधानमात्रं एकं श्रवणभूषणं एकं नूपुरञ्च यासां ताः। एक मङ्क्त्वा एकं लोचनं नाङ्क्त्वा अञ्जितं मषीकृतमकृत्वा ॥ २५ ॥

अभ्यज्यमानाः तैललेपनं कुर्वाणाः अकृतोपमज्जनाः अकृतजलस्नानाः, अर्भं बालं अपोह्य तिर्यक्कृत्वा ॥ २६ ॥

प्रागल्भ्येन धाष्टर्येन लीलासहितहसितेन, अवलोकनेन कटाक्षनिरीक्षणेन ॥ २७ ॥

श्रुतं कृष्णरूपसौन्दर्यं स्त्रियः एकदाऽपि न दृष्टोऽय मित्याधिं मनःपीडां तद्दर्शनेन जहुरित्यन्वयः। तस्य कृष्णस्य प्रेक्षितं उत्कृष्टं स्मितञ्च तत्प्रेक्षितोत्स्मिते, ते एव सुधा[1] प्रेक्षितोत्स्मितसुधा तस्या उक्षणेन लब्धो मानो यासां ता स्तथा। आत्मनि मनसि लब्धं स्थितं हृष्यत्त्वचः रोमाञ्चाञ्चिताः ॥ २८ ॥

सौमनस्यैः सुमनसां पुष्पाणां राशिभिः ॥ २९ ॥

आनर्चुः पूजयामासुः ॥ ३० ॥

---

1. Ma °चि°।

**★ ऊचुः पौरा अहो गोप्यः तपः किं मचरन्महत्।**
**याह्येतावनुपश्यन्ति नरलोकमहोत्सवौ ॥ ३१ ॥**

**- रजकवध - वायकसुदामत्रिवक्रादीनां सम्मानघट्टः -**

**रजकं कञ्चि दायान्तं रङ्गकारं गदाग्रजः।**
**दृष्ट्वाऽयाचत वासांसि धौतान्यत्युत्तमानि च ॥ ३२ ॥**

देह्यावयो स्समुचितान्यङ्ग! वासांसि चाऽर्हतोः।
भविष्यति परं श्रेयो दातुस्ते नाऽत्र संशयः ॥ ३३ ॥

स याचितो भगवता परिपूर्णेन सर्वतः।
साक्षेपं रुषितः प्राह भृत्यो सङ्ग स्सुदुर्मदः ॥ ३४ ॥

ईदृशान्येव वासांसि नित्यं गिरिवनेचराः।
परिधत्त[2] किमुद्धृत्ता राजद्रव्याण्यभीप्सथ ॥ ३५ ॥

---

★ This verse is not found in M,Ma edns 1 T,W यर्हो° 2 M,Ma °त्थ°

श्रीध० ऊचु रिति। पौराः पुरस्त्रियः ॥ ३१ ॥

रजक मिति। रजको वस्त्रनिर्णेजकः, स एव वस्त्राणां रागमपि[1] कुर्वन् रङ्गकारः ॥ ३२, ३३ ॥

स इति। रुषितः कुपितः ॥ ३४ ॥

ईदृशानीति। हे[2] उद्धृत्तः[-2]! गिरौ वने चरथ ये ते यूयं नित्यं पूर्वं, परिधत्तेति सम्भावनायां लोट्। अभीप्सथ प्रार्थयथ[3] ॥ ३५ ॥

---

1 J,Va रङ्ग° 2- -2 P,V omit 3 J V °यध्वम्।

वीर० पौराः स्त्रियः परस्परमूचुः। उक्तिमेवाऽऽह - अहो इत्यादिना। गोप्यः किं महत्तप श्चक्रुः, अन्यथैतन्न सम्भाव्यत इत्यभिप्रेत्याऽऽहुः। या गोप्यः नरलोकस्य महानुत्सवो याभ्यां तावेती रामकृष्णावनुपश्यन्ति॥ ३१ ॥

इत्थं तासु कथयन्तीषु सतीषु[1] तदा गदाग्रजो भगवान् कञ्चिदायान्तं, रजकः वस्त्रनिर्णेजकः स एव वस्त्राणां रङ्ग मपि कुर्वन् रङ्गकारः, तं दृष्ट्वा धौतानि निर्णिक्तानि अद्भुतानि च वस्त्राण्ययाचत ॥ ३२ ॥

याच्ञाप्रकार मेवाऽऽह - देहीति। अङ्ग! हे रजक! योग्ययोरावयोः समुचितानि वासांसि देहि। दातुस्तव परमुत्कृष्टं श्रेयो भविष्यति। नाऽस्मिन्नर्थे संशयोऽस्ति ॥ ३३ ॥

इत्थं भगवता सर्वतः परिपूर्णेन पूर्णकामेन याचित स्स रजकः राज्ञः कंसस्य भृत्यः दुर्मदश्च, हेतुगर्भ मिदं विशेषणद्वयम्। अतो रुषितः क्रुद्धः साक्षेपमाटोपगर्भं यथा तथा प्राह ॥ ३४ ॥

उक्तिमेवाऽऽह - ईदृशानीति द्वाभ्याम्। हे उद्धृत्तः! उत्पथाः! गिरौ वने च चरन्ति ये ते यूयमीदृशान्येव वासांसि परिधत्त किम्? सम्भावनायां लोट्। राजद्रव्याण्यभीप्सथ, स्वाधिकारमनालोच्येति शेषः ॥ ३५ ॥

---

1 T,W omit सतीषु।

विज० रङ्गकारं वर्णकारकम् ॥ ३१-३४ ॥

साक्षेपवाक्यं विवृणोति - ईदृशानीति। परिधत्त परिधानं कुरुथ ॥ ३५ ॥

याताऽऽशु बालिशा मैवं[1] प्रार्थ्यं यदि जिजीविषा।
बध्नन्ति घ्नन्ति लुम्पन्ति दुष्टान्[2]राजकुलानि हि[3] ॥ ३६ ॥

इत्थं[4] विकत्थमानस्य कुपितो देवकीसुतः।
रजकस्य कराग्रेण शिरः काया दपाहरत्[5] ॥ ३७ ॥

तस्याऽनुजीविनस्सर्वे वासःकोशान्विसृज्य वै।
दुद्रुवुस्सर्वतो मार्गं[6] वासांसि जगृहेऽच्युतः ॥ ३८ ॥

वसित्वाऽऽत्मप्रिये वस्त्रे कृष्णस्सङ्कर्षण स्तदा[7]।
शेषाण्यदत्त[8] गोपेभ्यो विसृज्य भुवि कानि चित् ॥ ३९ ॥

ततस्तु वायकः प्रीतस्तयोर्वेषमकल्पयत्।
विचित्रवर्णै श्चैलेयै[9] राकल्पैरनुरूपतः ॥ ४० ॥

---

1. P,V मैवं 2. G,J,M,Ma दस्नं रा° 3. G,J,P,V वै; M,Ma च 4. G,J,P,V एवं 5. G,J,K,T,W °तयत् 6. M,Ma मार्गे; K मार्गान् 7. G,J,M,Ma,P,V °था 8. G,J,M,Ma °प्या° 9. M,Ma श्चैलेयैः।

श्रीध० यातेति। राजकुलानि राजकीयाः लुम्पन्ति निस्स्वं कुर्वन्ति ॥ ३६, ३७ ॥

तस्येति। वासःकोशान् वस्त्रपुटकान् ॥ ३८-३९ ॥

तत इति। वायकः तन्तुवायविशेषः। वेषमलङ्कारम्। चैलेयैः वस्त्रमयै राकल्पैः भूषणैः ॥ ४० ॥

वीर० हे बालिशाः! आशु यात। यदि जीवितुमिच्छा तर्हि मैवं प्रार्थनीयम्। यद्येवं प्रार्थ्यते, तर्हि राजकुलानि राजकीयाः दुष्टान्युष्मान् बध्नन्ति बध्नीयुः, घ्नन्ति हन्युः, लुम्पन्ति निस्स्वं कुर्युः ॥ ३६ ॥

इत्थं रजकस्य विकत्थमानस्य सतः भगवान् क्रुद्धः कराग्रेण तस्य शिरः कायादपातयत् ॥ ३७ ॥

तत स्तस्य रजकस्य अनुजीविनः सर्वे वासःकोशान् वस्त्रपुटकान् विसृज्य सर्वतोमार्गान्प्रति दुद्रुवुः पलायितवन्तः। ततो भगवान् घासांस्यादत्त ॥ ३८ ॥

तदा सङ्कर्षणः कृष्णश्च आत्मप्रिये स्वाभीष्टवस्त्रे वसित्वा परिधाय शेषाणि गोपेभ्यः अदत्त अदात्। कानिचिद्वासांसि भुवि विसृज्य त्यक्त्वा, अगादिति शेषः ॥ ३९ ॥

ततः कश्चिद्वायकः तन्तुवायकः प्रीतः प्रीतियुक्तो विचित्रवर्णैश्चैलेयैः[1] वस्त्रमयैराकल्पैः भूषणैर्यथानुरूपं तयो रामकृष्णयोः वेषमलङ्कारमकल्पयत् विदधे ॥ ४० ॥

---

1. T,W ०श्चे०

**विज०** जिजीविषा जीवितु मिच्छा। लुम्पन्ति अवच्छेदं कुर्वन्ति। राजकुलानि राज्ञां समूहाः ॥ ३६-३७॥

वासःकोशान् वस्त्राख्याराशीन्। "कोशोऽस्त्री कुड्मले दिव्ये शास्त्रेऽर्थेघे गृहे तनौ" (वैज.को. 6-5-15) इति च। वस्त्रकरण्डकान्वा ॥ ३८ ॥

वस्त्रे परिधानोत्तरीये विसृज्य ॥ ३९ ॥

वायकः तन्तुवायकः वेषम् अद्भुतालङ्कारम्। एतदेव विशदयति विचित्रेति। विरचिता नानाविधा वर्णा नीलरक्तादयो येषां ते तथा। तैः शैलेयैः धातुभिः आकल्पैराभरणैः ॥ ४० ॥

**नानालक्षणवेषाभ्यां रामकृष्णौ विरेजतुः।**
**स्वलङ्कृतौ[1] बालगजौ पर्वणीव सितेतरौ ॥ ४१ ॥**

**तस्य प्रसन्नो भगवान् प्रादात्सारूप्यमात्मनः।**
**श्रियञ्च परमां लोके बलैश्वर्यस्मृतीन्द्रियम्[2] ॥ ४२ ॥**

**तत स्सुदाम्नो भवनं मालाकारस्य जग्मतुः।**
**तौ दृष्ट्वा सहसोत्थाय[3-] ननाम[-3] शिरसा भुवि ॥ ४३ ॥**

**तयोरासनमानीय पाद्यञ्चार्घ्यार्हणादिभिः[4]।**
**पूजां सानुगयो श्चक्रे स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः ॥ ४४ ॥**

**प्राह नस्स्वार्थकं जन्म पावितश्च[5] कुलं प्रभो।**
**पितृदेवर्षयो मह्यं तुष्टा ह्यागमनेन वाम् ॥ ४५ ॥**

1. M,Ma,P,V अ° 2. M,Ma °यान् 3- -3. G,J,M,Ma स समुत्थाय 4. J,M,Ma °स्वार्थाई° 5. P,V °सि०

**श्रीध० नानेति**[1-1]। पर्वण्युत्सवे ॥ ४१ ॥

**तस्येति**। इह लोके परमां श्रियञ्च बलञ्च ऐश्वर्यञ्च स्मृतिश्चेन्द्रियं तत्पाटवञ्च प्रादात्[2] ॥ ४२-४५ ॥

1- -1 P,V omit 2. P,V omit प्रादात्।

**वीर०** तदा तौ रामकृष्णौ नानाविधवेषाभ्यां विरेजतुः यथा पर्वण्युत्सवे स्वलङ्कृतौ सितेतरौ श्वेतवर्णकृष्णवर्णौ बालगजौ, तद्वत् ॥ ४१ ॥

ततो भगवान्प्रसन्नः तस्य वायकस्य स्वसारूप्यं स्वसाधर्म्यं, मुक्ति मिति यावत्, प्रादात् देहावसाने दास्या मीति सङ्कल्पितवानित्यर्थः। श्रियमित्यादि, अस्य जीवदशायामिति शेषः। इह लोके परमां श्रियं बलमैश्वर्यं च स्वविषयकस्मृतिञ्च इन्द्रियं, तत्पाटवञ्च अदात् ॥ ४२ ॥

ततस्सुदाम्नः सुदामाख्यस्य मालाकारस्य गृहं जग्मतुः गतवन्तौ। स च तौ रामकृष्णौ दूरादेव दृष्ट्वोत्थाय अभ्येत्य शिरसा भुवि ननाम नमश्चक्रे ॥ ४३ ॥

तयोरासनमानीयाऽऽदाय समर्प्य, पाद्यञ्च, समर्प्येति शेषः। अर्घ्यार्हिणादिभिः स्रगादिभिश्च सानुगयोस्तयोः पूजां चक्रे। अर्हणशब्द उपात्तेतरपूजासाधनसङ्ग्रहार्थः ॥ ४४ ॥

तत स्तौ प्राह च। उक्तिमेवाऽऽह - 'नस्स्वार्थक' मित्यादिना 'इत्यभिप्रेत्ये' त्यतःप्राक्तनेन। वां युवयोः आगमनेन नोऽस्माकं जन्म सार्थकं जातम्। नः कुलञ्च पावितं पवित्रीकृतम्। पित्रादयश्च मह्यं तुष्टा बभूवुः ॥ ४५ ॥

**विज०** लक्षणं मुद्रा पर्वणी इव पौर्णमास्यमावास्ये इव सितेतरौ श्वेतश्यामौ ॥ ४१ ॥

बलञ्च ऐश्वर्यञ्च स्मृतिश्च इन्द्रियञ्च बलैश्वर्यस्मृतीन्द्रियाः तान्। बलं शरीरशक्तिः, रूपं सौन्दर्यं वा, ऐश्वर्यमणिमादिः स्मृतिः भगवत्स्मरणं, इन्द्रियं ज्ञानेन्द्रियम् ॥ ४२, ४३ ॥

सार्थकं सप्रयोजनम्, पावितं शुद्धीकृतम् ॥ ४४,४५ ॥

**भवन्तौ किल विश्वस्य जगतः कारणं परम्।**
**अवतीर्णाविहांशेन क्षेमाय च भवाय च ॥ ४६ ॥**

**नहि वां विषमा दृष्टि स्सुहृदो र्जगदात्मनोः।**
**समयो स्सर्वभूतेषु भजन्तं भजतो रपि ॥ ४७ ॥**

मामाज्ञापयतं[1] भृत्यं किमहं करवाणि वाम्।
पुंसस्त्वनुग्रहोह्येष[2] भवद्भि र्यन्नियुज्यते[3] ॥ ४८ ॥

श्रीशुक उवाच[4]

इत्यभिप्रेत्य राजेन्द्र सुदामा प्रीतमानसः।
शस्तै स्सुगन्धैः[5] कुसुमैर्मालां[6] विरचितां[7] ददौ ॥ ४९ ॥

ताभि स्स्वलङ्कृतौ प्रीतौ रामकृष्णौ सहानुगौ।
प्रणताय प्रपन्नाय ददतुर्वरदौ वरान् ॥ ५० ॥

सोऽपि वव्रेऽचलां भक्तिं तस्मिन्नेवाऽखिलात्मनि।
तद्भक्तेषु च सौहार्दं भूतेषु च दयां पराम् ॥ ५१ ॥

इति तस्मै वरं[8] दत्वा श्रियञ्चान्वयवृद्धिनीम्[9]।
बलमायुर्यशः कान्तिं, निर्जगाम सहाग्रजः ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥
(श्रीविजयध्वजरीत्या एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः)

---

1. G,J तावाज्ञापयत°; K साध्वाज्ञापयतं; M,Ma शाध्याज्ञापय मां 2. G,J,M,Ma पुंसोऽत्यनु°; T,W पुंसोऽनु° 3. P,V भवद्भ्यां य° 4- -4 G,J,K,M,Ma,T,W omits 5. P,V °गन्धि 6. G,J,K,P,V °ला 7. K °ताः 8. P,V वरान् 9. G,J,M,Ma,T,W वर्धिनीम्; P,V वर्धनीम्।

**श्रीध० भवन्तौ** इति। क्षेमाय अभयाय। भवाय उद्भवाय ॥ ४६ ॥

रजकवधेन वायकानुग्रहेण च युवयो विषमदृष्टितयाऽनीश्वरता नाऽऽशङ्कनीयेत्याह - **न हीति**। अत्र हेतुः समयो रिति। अत्राऽपि हेतुद्वयम्। सुहृदोरिति, जगदात्मनो रिति च ॥ ४७,४८ ॥

**इतीति**। इति एवं विज्ञापयन् अभिप्रेत्य तन्मतं ज्ञात्वा ॥ ४९-५१ ॥

**इतीति**। अन्वयवर्धनीं[3] वंशवृद्धिमती[4] मित्यर्थः। अर्थितं[5] श्रीप्रभृतिकं च दत्त्वा ततो विनिर्जगामेति[5]।

★स्वैरं चरन्मधुपुरे रजकं निकृत्य कृष्णः प्रदाय च वरा नथ वायकाय।
मालाकृतं समनुकम्प्य चकार कुब्जामृर्ज्वीं धनुश्च सहसा नमवन्चमञ्ज ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

---

1. V omits भवाय 2. P,V omit इति 3. J,Va °र्षि° 4. J,Va वंशे 5- -5. P,V omit ★ श्रीधरीयोऽयंश्लोकः।

**वीर०** कथं यादवयोरावयोरागमनमात्रेण सर्वमेतत्सम्पन्नम्? तत्राऽऽह - **भवन्ताविति।** विश्वस्य प्रपञ्चस्य भवन्तौ परं कारणं मूलकारणभूतावित्यर्थः। कथ मेवम्भूतयोः कर्मकृतं प्राकृतं जन्म? इत्यत आह - अवतीर्णाविति। अंशेन सङ्कल्पमात्रेण न तु कर्मणेति भावः। इह लोके अवतीर्णौ जन्मनस्सुखदुःखार्थत्वं वारयन् प्रयोजनमाह - क्षेमाय, साधूनामितिशेषः। क्षेमः प्राप्तश्रियः पालनम्, भवोऽलब्धसुखप्रापणम् ॥ ४६ ॥

ननु कश्चिदनुगृह्णन्तौ कश्चिचाननुगृह्णन्तावावां नेश्वरौ, किन्तु प्राकृतौ जीवावित्यत आह -नहीति। जगत आत्मनोः, अत एव सुहृदोः। न हि स्वशरीरे कस्य चिदप्यसौहार्दं दृष्टमिति भावः। युवयो र्विषमा दृष्टिर्न विद्यते। तत्र हेतुं वदन्विशिनष्टि। भजन्तं भजतोरनुगृह्णतोरपि समयोः न हि भक्तेष्वनुग्रहो वैषम्यमूलकः। न ह्युपाश्रितार्थदस्य सुरद्रुमस्य वैषम्यमस्ति। वैषम्यपरिहारार्थमेव भजनात्मकं व्याजमपेक्षाथे इति भावः ॥ ४७ ॥

स्वस्मिन्नत्यन्तपारतन्त्र्यमावेदयितुं कैङ्कर्यानुशासनं प्रार्थयते साध्विति। वां युवयो रहं किङ्करवाणि किङ्करोऽस्मीत्यर्थः। अतो भृत्यं मां साधु यथातथा आज्ञापयतम्। एतावतैवाऽहमनुगृहीतो भविष्यामीत्यभिप्रेत्याह - पुंसस्त्विति भवद्भिर्नियुज्यते अनुशिष्यते इत्येष एव पुंसो जीवस्याऽनुग्रहः त्वत्कृतानुग्रहः ॥ ४८ ॥

इति इत्थं, विज्ञापयतीति शेषः। हे राजेन्द्र! अभिप्रेत्य तयो रभिमतं ज्ञात्वा प्रीतमानसः सुदामा प्रशस्तैः सुगन्धिभिश्च कुसुमैर्विरचितां मालां ताभ्यां ददौ ॥ ४९ ॥

ताभिर्मालाभिरलङ्कृतौ वरदौ तस्मै प्रपन्नाय शरणागताय वरान् इष्टार्थान् ददतुः ॥ ५० ॥

के ते वराः तेन वृताः यान् ददतुरित्यत आह - सोऽपीति। अखिलस्य चिदचिदात्मकस्य जगतः आत्मनि तस्मिन् भगवति अचलां भक्तिं, भागवतेषु सौहार्दमानुकूल्यं, भूतेषु भगवच्छरीर चेतनाचेतनात्मकेषु दयां स्वार्थनिरपेक्षपर दुःखासहिष्णुत्वरूपां वृतवान् ॥ ५१ ॥

इतीत्थं यथावृतं तस्मै वरं दत्त्वा तेनाऽवृतामन्वयवृद्धिनीं वंशवृद्धिमतीं श्रियं तथा बलादींश्च दत्त्वा सहाग्रजः ततो निर्जगाम। तत्र बलं देहधारणसामर्थ्यम् ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

---

1- -1. T,W इत्यनेनैव 2. K °ताः 3. K ताः

विज० शाधि शिक्षस्व, कर्तव्यमनुजानीहि वा। एतत्कुर्विति नियुज्यते प्रेर्यत इति यदेषः ॥ ४६-५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

(विजयध्वजरीत्या एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः)

---

# द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या चत्वारिंशोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

अथ व्रजराजपथेन माधवः स्त्रियं गृहीताङ्गविलेपभाजनाम्।
विलोक्य कुब्जां युवतीं वराननां पप्रच्छ यान्तीं[1-] प्रहसन्[-1] रसप्रदः ॥ १ ॥

का त्वं वरोर्वेत[2]दिहानुलेपनं कस्याङ्गने वा[3-] कथयस्व साधु नः[-3]।
देहचावयोरङ्गविलेपमुत्तमं श्रेयस्ततस्ते नचिराद्भविष्यति ॥ २ ॥

सैरन्ध्र्युवाच

दास्यस्म्यहं सुन्दर[4-] कंससम्मता[-4] त्रिवक्रनाम्नी[5] हृचनुलेपकर्मणि।
मद्भावितं भोजपतेरतिप्रियं विना युवां कोऽन्यतमस्तदर्हति ॥ ३ ॥

रूपपेशलमाधुर्य हसितालापवीक्षितैः[6]।
धर्षितात्मा ददौ सान्द्रमुभयोरनुलेपनम् ॥ ४ ॥

ततस्तावङ्गरागेण स्ववर्णेतरशोभिना[7]।
सम्प्राप्तपरभागेन[8] शुशुभाते ऽनुरञ्जितौ ॥ ५ ॥

---

1- -1 M,Ma धात्रीं वचसा 2 G,J,P °तदुहा° 3- -3 M,Ma नयसि नः कथयस्व साधु 4- -4 M,Ma ते सुवर्य 5 A,B,G,J,K,P,T,V,W मा6 K,T,W वीक्षणैः 7 M,Ma सु 8 M,Ma °प्ता°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्विचत्वारिंशके कुब्जोन्नमनं, धनुषो भिदा। वधस्तद्रक्षिणां कंसारिष्ट[1] रङ्गोत्सवादि च ॥

अथेति। अङ्गविलेपाः चन्दनादयः। गृहीतान्यङ्गविलेपानां[2] भाजनानि[-2] यया ताम्। रसप्रदः सुखप्रदः ॥ १ ॥

का त्वमिति। हे अङ्गने! हे वरोरु! इति सोपहासं सम्बोध्य[3] पृच्छति - त्वं का? एतदनुलेपनं कस्य वा। उह[4] इति निपातो भ्रूविक्षेपयुक्ते वितर्के[5-]। अस्मत्सेवा[-5] सद्यः फलत्येवेत्याह नचिरादिति ॥ २ ॥

**दासीति**। तिस्रो ग्रीवोरुकटयो[6] वक्रा इति त्रिवक्रेति नाम यस्यास्सा। अनुलेपन[7 8] क्रियायां कंसस्य बहुमता दास्यस्मि ॥ ३ ॥

**रूपेति**। रूपं अङ्गसौष्ठवं पेशलं च सौकुमार्यं, माधुर्यं च रसिकता हसितं चालापश्च वीक्षितं च तैर्धर्षितात्मा मोहितचित्ता। सान्द्रं घनम् ॥ ४ ॥

**तत** इति। स्ववर्णतरशोभिना रामकृष्णयोः वर्णाभ्यामितरः पीतादिवर्णस्तेन शोभितुं शीलं यस्य तेन। सम्प्राप्तपरभागेन सम्प्राप्तः परो नाभेरुपरितनो भागो येन सः। सम्प्राप्तः परभागः शोभातिशयो येनेति वा। तेनानुरञ्जितौ ॥ ५ ॥

---

1 P,V °ष्ट० 2- -2 °लेप भा° 3 J add आ° 4 J °तौ 5- -5 P,V सचः फलदेत्याह 6 J,Va कटयो 7 J,Va omit °न 8 J,Va add साधन

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ त्रिवक्रासमर्पिताङ्गरागानुलिप्ताङ्गः ऋजुकृतत्रिवक्रो[1] निर्भिन्नचापश्चापकलघातित तत्पालकस्समुत्पादित कंसभयः पुनस्स्वनिवेशाय विवेशेत्याह - **अथेत्यादिना** द्विचत्वारिंशे। अथ मालाकारानुग्रहानन्तरं राजमार्गेण व्रजन् गृहीतानि अङ्गविलेपानां सुगन्धिचन्दनानां[2] भाजनानि पात्राणि यया, वरं सुन्दराननं यस्याः तां कुब्जां विलोक्य सुखप्रदो भगवान् प्रहसन् तां युवतीं पप्रच्छ ॥ १ ॥

प्रश्नप्रकारमेवाह - **का त्वमिति**। हे अङ्गने! हे वरोरु! इति सोपहासं सम्बोधनम्। त्वं का इहास्यां पुर्याम् एतदनुलेपनं कस्य वा कस्मै नयसीत्यर्थः। साधु यथार्थं नोऽस्मभ्यं कथयस्व। कस्मैचिद्भवतु, किन्तु उत्तममिदमङ्गलेपनमावयोरावाभ्यां[3] देहि। ततः अनुलेपनदानेन हेतुना तवाचिरादेव श्रेयो भविष्यति ॥ २ ॥

इत्थमापृष्टा याचिता च सा प्राह - **दासीति**। हे सुन्दर! अहं कंसस्य सम्मता तस्य दासी त्रिवक्रनाम्नी नित्यमनुलेपकर्मणि तेन नियुक्ताऽस्मि। तिस्रो ग्रीवोरुकटयः[4] वक्राः यस्यास्सा त्रिवक्रेत्यन्वर्थं नाम। कंससम्मतत्वे[5] हेतुमाह- मद्भावितं मया साधितमनुलेपनं भोजयतेः कंसस्यातीव प्रियम्। अतोऽहं तत्सम्मतेति भावः। अतस्तत् राज्ञः प्रियमनुलेपनं वां विना भवन्तौ विना अन्यः को वा पुमानर्हति युवामेवार्हौ इत्यर्थः ॥ ३ ॥

**रूपेति**। भगवत इत्यादिः। भगवतो रूपादिभिः मोहित आत्मा चित्तं यस्यास्सा सान्द्रं तदनुलेपनमुभयोः ददौ। तत्र रूपमङ्गसौष्ठवम्। पेशलं सौकुमार्यम्। माधुर्यं रसिकत्वम् ॥ ४ ॥

**तत** इति। स्ववर्णतरशोभिना स्वस्याङ्गरागस्य यो वर्णः वराहरुधिरवलोहितवर्णः तस्मादितरौ यौ वर्णौ तयोश्शरीरगतौ विशुद्धौ सितासितवर्णौ ताभ्यां शोभिना अत एव प्राप्तः परभागो महातिशयो येन तेन अनुरञ्जितौ तौ रामकृष्णौ शुशुभाते।

यद्वा, तौ रामकृष्णौ स्वदेहगतविशुद्धसितासितवर्णाभ्याम् इतरेणेतरवर्णेन अत एव शोभिना अत एव च सम्प्राप्तमहातिशयेन। यद्वा, सम्प्रामः परः उत्कृष्टः भागः शरीरैकदेशो येन तेनानुरञ्जितावित्यर्थः ॥ ५ ॥

---

1. T,W ऋज्वी° 2- -2. T omits 3. K मनुलेप° 4. T,W °कट्यः 5. K °त्व

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अथ निर्गमनानन्तरं धात्रीं सैरन्ध्रीं दृष्ट्वा पप्रच्छेत्यन्वयः। गृहीताङ्गविलेपभाजनां गृहीतचन्दनपात्रां कुब्जां वक्रशरीरां वयसा युवतीं तरुणीं वचसा रसप्रदः आनन्दप्रदः कामरागप्रदो वा ॥ १ ॥

हे वरोरु! साधु सत्यम्। "निर्दोषे पेशले सत्ये साधुशब्दं प्रयुञ्जते" इति ॥२॥

यच्छास्त्रविहितं ननु तदेव दासी अनुलेपकर्मणि चन्दनसौरभ्यकर्मणि सम्मता अविप्रतिपन्ना। अन्यतमः अन्येष्वपि श्रेष्ठतमः ॥ ३ ॥

धर्षितात्मा अस्ववशमनाः वशीकृतमनाः वा ॥ ४ ॥

सुवर्णादितद्रजतं तेन कर्पूरो लक्ष्यते। कर्पूरसम्पर्केण शोभा परिमतातिशयलक्षणाऽस्यास्तीति सुवर्णेतरशोभिना भगवच्छरीरकान्तिमपेक्ष्य सम्प्रामः अपरभागो गुणोत्कर्षराहित्यं येन स तथा, तेन ईषद्गुणोत्कर्षं प्राप्तेन वा। भगवदङ्गसङ्गेन सम्यगुत्कर्षं प्राप्तेन वा। अनुरञ्जितौ स्वकान्त्यनुकूलरागशोभां प्राप्तौ ॥ ५ ॥

प्रसन्नो भगवान्कुब्जां त्रिवक्रां रुचिराननाम्।
ऋज्वीं कर्तुं मनश्चक्रे दर्शयन्दर्शने फलम् ॥ ६ ॥

पद्भ्यामाक्रम्य प्रपदे द्व्यङ्गुलोत्तानपाणिना[1]।
प्रगृह्य चिबुके[2]ऽध्यात्ममुदनीनमदच्युतः[3] ॥ ७ ॥

सा तदर्जुसमानाङ्गी बृहच्छ्रोणिपयोधरा।
मुकुन्दस्पर्शनात्सद्यो बभूव प्रमदोत्तमा ॥ ८ ॥

ततो रूपगुणौदार्यसम्पन्ना प्राह केशवम्।
उत्तरीयान्तमाकृष्य[4] स्मयन्ती[5] जातह्रच्छया ॥ ९ ॥

एहि वीर गृहं यामो[6] न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे।
त्वयोन्मथितचित्तायाः प्रसीद पुरुषर्षभ! ॥ १० ॥

---

1. G,J,K °त्यु° 2. G,J,M,Ma,P,V चु° 3. M,Ma °के ह्यस्या 4. T,W °रीयं समा° 5. M,Ma सस्मयं 6. P,V यामो

**श्रीध० प्रसन्न** इति। स्वदर्शने सद्यः फलं दर्शयन् ॥ ६ ॥

**पद्भ्यामिति**। तस्याः प्रपदे पादाग्रद्वयं पद्भ्यामापीड्य द्वे अङ्गुल्यावुत्ताने उन्नते यस्मिन्पाणौ तेन चुबुके मुखस्याधोभागे [1] धृत्वा अध्यात्मं देहमुन्नमयामास ॥ ७ ॥

**सेति**। तदैव [2] ऋजु समानमङ्गं यस्याः सा। [3-] बृहत्यौ श्रोणी पयोधरौ च यस्यास्सा। मुकुन्दस्पर्शनादिति [4] मुख्यं कारणम् ॥ ८,९,१० ॥

---

1. P,V omit धृत्वा, 2. J,P,V °व 3- -3. P,V बृहत्तौ श्रोणिपयोधरौ 4 P,V °ख्य

**वीर०** "श्रेयस्तत्स्ते नचिराद्भविष्यति" (भाग. 10-42-2) इत्युक्तं श्रेयश्चकारेत्याह - **प्रसन्न इति**। स्वदर्शनफलं तस्याः दर्शयन् तां त्रिवक्रामृर्ज्वीं कर्तुम् अवक्रां कर्तुं मनश्चक्रे मनस्कारपूर्वकमृर्ज्वीं चकारेत्यर्थः ॥ ६ ॥

तत्प्रकारमेवाह - **पद्भ्यामिति**। तस्याः प्रपदे पादाग्रद्वयं [1] स्वपद्भ्यामापीड्य आक्रमणेनावष्टभ्य द्वे अङ्गुली उत्ताने उन्नते यस्मिन् तथाभूतेन पाणिना तस्याश्चिबुके मुखस्याधोभागे गृहीत्वा अध्यात्मं देहम् उदनीनमत् उन्नमयामास ॥७॥

सा तदैव ऋजु समानम् अनुरूपं चाङ्गं यस्याः बृहत्यौ श्रोणी पयोधरौ च यस्याः, तथाभूता मुकुन्दस्पर्शनान्निदानात् सद्य एव प्रमदोत्तमा बभूव ॥ ८ ॥

किञ्च रूपादिसम्पन्ना सती जातः हृच्छयः कामो यस्यास्सा। अत एव स्मयन्ती मुकुन्दमुत्तरीयाग्रमाकृष्य प्राह। तत्र रूपं सौन्दर्यम्। गुणा यौवनादयः। औदार्यं गत्यवलोकनादिश्रेष्ठत्वम् ॥ ९ ॥

उक्तिमेवाह - **एहीति**। हे वीर! अस्मद्गृहं प्रत्यागच्छ, यामः। इह त्वां त्यक्तुं नोत्सहे न शक्नोमि। त्वयोन्मथितं क्षोभितं चित्तं यस्याः तस्या मम प्रसीद। हे पुरुषर्षभ! ॥ १० ॥

---

1. T,W स

**विज०** ऋज्वीकर्तुं समीकर्तुं आत्मनो दर्शने यत्फलं तद्दर्शयन् एष्यत्कंसहननं लोकान् प्रत्याययन्निति भावः ॥६॥

कुब्जायाः प्रपदे पादाग्रे स्वपादाभ्यामाक्रम्याऽवष्टभ्य द्वे अङ्गुले उत्ताने यस्मिन् पाणौ तेन द्व्यङ्गुलोत्तानपाणिना चुबुके मुखाधःप्रदेशे आस्यं प्रगृह्य उदनीनमत् उन्नमयाञ्चकार। ऊर्ध्वमाकृष्टवानित्यर्थः ॥ ७, ८ ॥

उत्तरीयान्तम् उत्तरीयवस्त्राञ्चलं सस्मयं समदं हृच्छयः कामः ॥ ९ ॥

त्वया कारणेन उन्मथितचित्तायाः विलोलितमनसः ॥ १० ॥

एवं स्त्रिया याच्यमानः कृष्णो रामस्य पश्यतः।
मुखं वीक्ष्याऽनुगानां[1] च प्रहसंस्तामुवाच ह ॥ ११ ॥

एष्यामि ते गृहं सुभ्रु[2] पुंसामाधिविकर्शनम्।
साधितार्थोऽगृहाणां नः पान्थानां त्वं परायणम् ॥ १२ ॥

विसृज्य वाण्या माध्व्या तां व्रजन्मार्गे वणिक्पथैः[3]।
नानोपायनताम्बूल[4] स्रग्गन्धैस्साग्रजोऽर्चितः ॥ १३ ॥

★तद्दर्शनस्मरक्षोभादात्मानं नाविदन् स्त्रियः।
विस्रस्तवस्त्रकबरवलया लेख्यमूर्तयः[5] ॥ १४ ॥

ततः पौरान्पृच्छमानो धनुषः स्थानमच्युतः।
तस्मिन्प्रविष्टो ददृशे धनुरैन्द्रमिवाद्भुतम् ॥ १५ ॥

पुरुषैर्बहुभिर्गुप्तमर्चितं परमर्द्धिमत्[6]।
वार्यमाणो नृभिः कृष्णः प्रसह्य धनुराददे ॥ १६ ॥

---

1. J गोपानां 2. G,J °भ्रूः 3. G,J,M,Ma °थैः 4. G,J,K,T,W °तैः ★ This verse is not found in M,Ma edns. 5. G,J,K, °वासः 6. J °तम्

श्रीध० एष्यामीति। आधिविकर्शनं मनःपीडाशमनम्। कंसवधेन स्वयं[1] साधितोऽर्थः सुहृदां प्रयोजनं येन सः। अगृहाणा मकृतदाराणां पान्थानां प्रवासिनां परमयनमाश्रयस्त्वम् ॥ ११, १२ ॥

विसृज्येति। मधुरया गिरा तां प्रस्थाप्य व्रजन् वणिक्पथैः[2] वणिग्भिरर्चितः ॥ १३ ॥

तदिति। लेख्याः चित्रन्यस्ता इव मूर्तयो यासां ताः ॥ १४ ॥

तत इति। धनुर्मखशालां पृच्छन् ॥ १५ ॥

पुरुषैरिति। प्रसह्य बलात्कारेण[3] ॥ १६ ॥

---

1. P,V omit स्वयं 2. P,V °थैः 3. J,Va omit कारेण

**वीर०** इत्थं तथा स्त्रिया रामस्य पश्यतस्सतः याच्यमानो भगवाननुगानां गोपानां, चशब्दाद्रामस्य च मुखमवलोक्य प्रहसन् तामुवाच ॥ ११ ॥

उक्तिमेवाह - **एष्यामीति**। हे सुभ्रु! साधितः कंसवधरूपोऽर्थः प्रयोजनं येन तथाभूतः। पुंसामाधिविकर्शनं कामप्रयुक्तमनः पीडाशमनं तव गृहं प्रत्यागमिष्यामि। अगृहाणां न विद्यन्ते गृहाः अस्यां पुर्यां येषां तेषां पान्थानाम् अस्माकं त्वमेव परायणम् उपभोग्येत्यर्थः ॥ १२ ॥

एवंविधया माध्व्या मधुरया वाण्या तां विसृज्य उत्तरीयान्तं त्याजयित्वेति भावः। ततो मार्गे व्रजन् ततो वणिक्पथे प्रविष्टः तत्र नानाविधैरुपायनैः श्रेष्ठवस्तुभिः ताम्बूलादिभिश्च सरामस्समर्चितो बभूव ॥१३॥

तदा तस्य भगवतो दर्शनेन यः स्मरक्षोभस्तेन स्त्रियः आत्मानं देहं नाविदन् नानुसमदधत। वेदनाभावमेव दर्शयन्विशिनष्टि विस्रस्ताः वासःप्रभृतयो यासां ताः लेख्यवल्लिखितप्रतिमावन्निश्चला मूर्तयो यासां ताः ॥ १४ ॥

ततो धनुषः स्थानं धनुर्मखशालां पौरान् पृच्छमानोऽच्युतः तस्मिन्धनुषः स्थाने प्रविष्टः ऐन्द्रं धनुरिवाद्भुतं बहुभिः पुरुषैः गुप्तं अर्चितं परमा ऋद्धिः स्वर्णालङ्कारसम्पत्तिः अस्यास्तीति तथा तद्धनुः दृष्टवान्। तदा तत्रस्थैः पालकैः बहुधा वार्यमाणोऽपि कृष्णः प्रसह्य बलात्तद्धनुः आददे ॥ १५,१६ ॥

**विज०** हेत्यनेनाऽयमितिहासो लोके प्रवर्ततामिति सूचयन् तामाहेति ज्ञाप्यते इति ॥ ११ ॥

तरुणानां पुंसाम् आधिविकर्शनं मनःपीडापरिहारनिमित्तं गृहमागमिष्यामि, किन्तु किञ्चित्कार्यमस्तीत्याह-साधितार्थ इति। अर्थः कंसवधलक्षणः। त्वं सर्वथा परिहारार्था नेत्याह - अगृहाणामिति। अगृहाणां गृहरहितानां वनवासिनामित्यर्थः। पान्थानां पथिकानां नोऽस्माकं त्वं परायणं उत्तमाश्रयः। अनेनाऽसङ्ख्यानामीश्वराणामस्माकं भक्ता एव पूजादिनाऽऽश्रयभूता इति दर्शितम् ॥ १२ ॥

माध्व्या मधुरया वणिजां पन्थानो येषां ते तथा तैः दर्शनार्थमागतैः पण्यवीथिकास्थितैः वैश्यैश्चार्चितः नानाविधोपायनं ताम्बूलादिकं येषां ते तथा तैः ॥ १३ ॥★

पृच्छमानः पृच्छन् ॥ १४,१५,१६ ॥

---

★ As the 14th verse is not taken by Vijayadhvaja, there is no commentary for the same.

**करेण वामेन सलीलमुद्धृतं सज्यं[1] च कृत्वा निमिषेण पश्यताम्।**
**नृणां विकृष्य प्रबभञ्ज मध्यतो यथेक्षुदण्डं मदकर्युरुक्रमः ॥ १७ ॥**

**धनुषो भज्यमानस्य शब्दः खं[3] रोदसी दिशः।**
**पूरयामास यं श्रुत्वा कंसस्त्रासमुपागमत् ॥ १८ ॥**

तद्रक्षिणस्सानुचराः[4] कुपिता[5] आततायिनः।
ग्रहीतुकामा आवव्रुर्गृह्यतां बध्यतामिति ॥ १९ ॥

अथ तान्दुरभिप्रायान्विलोक्य बलकेशवौ।
क्रुद्धौ धनुष आदाय शकले तान्विजघ्नतुः ॥ २० ॥

बलश्च कंसप्रहितं हत्वा शालामुखात्ततः।
निष्क्रम्य चेरतुर्हृष्टौ निरीक्ष्य पुरसम्पदः ॥ २१ ॥

तयोस्तदद्भुतं वीर्यं निशाम्य[8] पुरवासिनः।
तेजः प्रागल्भ्यरूपञ्च[9] मेनिरे विबुधोत्तमौ[10] ॥ २२ ॥

तयोर्विचरतोस्स्वैरमादित्योऽस्तमुपेयिवान्।
कृष्णरामौ वृतौ गोपैः पुराच्छकटमीयतुः ॥ २३ ॥

---

1. P,V सज्जं 2 T,W प्र 3 T,W °सं जगाम ह। 4. T,W तं र° 5. K,T,W रुषिता 6. G,J धन्वन 7. G,J,M,Ma,P,V तांश्च ज° 8. M,Ma °श° 9 G °ल्यं 10. P,V रूपे च

श्रीध० करेणेति। निमिषेणातिशीघ्रम्। मदकरी मत्तहस्ती ॥ १७,१८ ॥

तदिति। गृह्यतां बध्यतामिति वदन्तो जिघृक्षवः आवृतवन्तः ॥ १९ ॥

अथेति। न केवलं क्रुद्धौ, किन्तु भग्नस्य धनुषः शकले गृहीत्वा जघ्नतुश्चेति ॥ २० ॥

बलमिति। परतः प्रातर्गन्तव्यमिति शालामुखादेव पुनर्निष्क्रम्य ॥ २१ ॥

तयोरिति। तेजः प्रभावम्, प्रागल्भ्यं धृष्टताम् ॥ २२ ॥

तयोरिति। शकटं शकट[1]विमोचनस्थानम् ॥ २३ ॥

---

1. J,Va टाव

वीर० उल्लम्बो भगवान्सलीलं यथा तथा, वामेन करेणोद्धृतं धनुस्सज्यं समासेपितज्याकं कृत्वा निमिषेणाऽऽशु नृणां पश्यतां सतां विकृष्य मध्यतो बभञ्ज भग्नमकरोत्, यथा मत्तगजः इक्षुदण्डं तद्वत् ॥ १७ ॥

तदा भज्यमानस्य धनुषो ध्वनिः खमाकाशं रोदसी द्यावापृथिव्यौ दिशश्च पूरयामास, यं शब्दं श्रुत्वा कंसः त्रासं भयं प्राप्तवान् ॥ १८ ॥

तस्य धनुषो रक्षिणः पालकाः सानुचराः आततायिनः जिघांसया गृहीतशस्त्राः जिघृक्षवः गृह्यतां बध्यताम् इति ब्रुवाणाः आवव्रुः आवृतवन्तः ॥ १९ ॥

तानागतान् दुरभिप्रायात् जिघांसूनवलेक्य रामकृष्णौ धनुषः शकले आदाय ताभ्यां तान् जघ्नतुः ॥ २० ॥

तदा कंसेन प्रेषितं सैन्यं हत्वा ततः शलाद्वारान्निर्गत्य तत्र तत्र पुरसम्पदो निरीक्ष्य हृष्टौ चेरतुः ॥२१॥

तयोः रामकृष्णयोः तद्धनुर्भञ्जनाद्यात्मकं कर्म निशाम्य दृष्ट्वा श्रुत्वा च, तेजःपराभिभवनसामर्थ्यं, प्रागल्भ्यं धृष्टता-रूपं तेषां समूहः, तेनानितरसाधारणेन तौ देवोत्तमौ मेनिरे अमन्यन्त ॥ २२ ॥

स्वैरं यथा तथा तयोः विचरतोस्सतोः सूर्योऽस्तं प्राप्तः , ततः तौ गोपैस्सह पुरा च्छकटं शकटावमोचनस्थानं 1- नन्दादीनां विश्रमस्थानं -1 इति यावत्, ईयतुराजग्मतुः ॥ २३ ॥

---

1- -1. T omits

विज० ज्यया मौर्व्या सहितं सज्यं निमिषपरिमितेन कालेन अनिमिषेण निमेषणरहितेन वा, स्तिमितपक्ष्मणा नेत्रेणेत्यर्थः। मदकरी नित्यमदजलस्रावी गजः, मदयुक्तो गजो वा ॥ १७ ॥

रोदसी द्यावापृथिव्यौ ॥ १८ ॥

आततायिनः आयुधान्यातत्य विस्तृत्य आगच्छन्तः ॥ १९ ॥

धनुषः द्वे शकले खण्डे आदाय ॥ २० ॥

शालामुखाद्धनुर्गृहद्वारात्॥ २१ ॥

वीर्यं पराक्रमं, तेजः बलं प्रभावं वा, प्रागल्भ्यं धार्ष्ट्यं, रूपं सौन्दर्यं एकवद्भावादेकवचनं, तेजःप्रागल्भ्ययो रूपं चक्षुर्ग्राह्यमिव स्थितमित्यर्थः ॥ २२ ॥

अस्तं अस्तगिरिं शकटमुपशल्यं स्वावस्थानम् ॥ २३ ॥

*गोप्यो मुकुन्दविगमे विरहातुरा या आशासताऽशिष ऋता मधुपुर्यभूवन्।
सम्पश्यतां पुरुषभूषणगात्रलक्ष्मीं हित्वेतरांस्तु भजत श्चकमे नु यच्छ्रीः ॥ २४ ॥

अवनिक्ताङ्घ्रियुगलौ भुक्त्वा क्षीरोपसेचनम्।
ऊषतुस्तां सुखं रात्रिं ज्ञात्वा कंसचिकीर्षितम् ॥ २५ ॥

कंसस्तु [5]भ्रनुषो भङ्गं [5]रक्षिणां स्वबलस्य च।
वधं निशम्य गोविन्दरामविक्रीडितं परम् ॥ २६ ॥

दीर्घप्रजागरो भीतो दुर्निमित्तानि दुर्मतिः।
बहून्यचष्टोभयथा मृत्योर्दौत्यकराणि च ॥ २७ ॥

अदर्शनं स्वशिरसः प्रतिरूपे च [6]सत्यपि।
असत्यपि द्वितीये च द्वैरूप्यं ज्योतिषा[7] तथा ॥ २८ ॥

छिद्रप्रतीतिश्छायायां प्राणघोषानुपश्रुतिः।
स्वर्णप्रतीतिर्वृक्षेषु स्वपदानामदर्शनम् ॥ २९ ॥

स्वप्ने प्रेतपरिष्वङ्गः खरयानं [8]बिसादनम्।
यायान्नलदमाल्येक स्तैलाभ्यक्तो दिगम्बरः ॥ ३० ॥

---

* This verse is not found in MMa edns 1 GJ °ग्लु 2 GJ °भेऽयन श्रीः PV °मे नु या श्रीः TW °मे नु य श्रीः 3 TW °सिक्त MMa °निज्या° 4 MMa °त 5 PV °तद्वनुर्भङ्ग 6 MMa TW °षु सत्स्वपि 7 K.TW °षामपि 8 GJ विषा° 9 MMa °भ्यक्तो

**श्रीध० गोप्य** इति। मुकुन्दस्य विगमे व्रजान्निर्गमनसमये या आशिष आशासत "सुख प्रभाता रजनीयम्' (भाग 10 39 23) अद्य ध्रुव तत्र दृशो भविष्यते (भाग 10 39 25) इत्यादि यदुक्तवत्यः ताः कृताः सत्या बभूवुः। पुरुषभूषणस्य श्रीकृष्णस्य गात्रस्य देहस्य लक्ष्मी शोभाम्। कथम्भूतस्य गात्रस्य नु अहो इतरान्ब्रह्मादीन् हित्वा यदयनमाश्रय श्रीः कामयामास। या गात्रलक्ष्मीमिति वा ॥ २४ ॥

**अवनिक्तेति**। अवनिक्त क्षालितमङ्घ्रियुगल ययोस्तौ। क्षीरमिश्रमन्न भुक्त्वा सुख न्यवसताम् ॥ २५ ॥

**कस** इति। पर केवल गोविन्दरामयोर्विक्रीडित तत्, न तु परक्रमः कश्चित् ॥ २६ ॥

**दीर्घेति**। उभयथा स्वप्नजागरितभेदेन प्रत्येक मृत्योर्दौत्यकराणि च। तथा च मन्त्रः- "इत्थादुलूक आपस्तत् (श्चापघ्नन्) हिरण्याक्षो अयोमुखः। रक्षसा दूत आगतः तमिहो नाशयाऽजे" इत्यादि। तथा -"यदेतद्भूतान्न्याविश्य दैवीं वाच वदसि" इत्यादिश्च ॥ २७ ॥

[3]तान्येव दर्शयति **अदर्शनमिति** श्लोकत्रयेण -, जलादौ प्रतिरूपे इयमपोऽपि कश्चिरस्य तत्रादर्शनम्। असत्यपि द्वितीये चक्षुषोऽन्तधनिऽङ्गुल्यादौ ज्योतिषा चन्द्रादीना द्वित्वम् ॥ २८ ॥

**छिद्रेति**। छायायां प्रतिबिम्बे छिद्रप्रतीतिः। पिहितकर्णपुटकयोः[4] अन्तः श्रूयमाणो ध्वनिः[5] प्राणघोष स्तस्याऽश्रवणम्। वृक्षेषु स्वर्णवर्णप्रतीतिः। रजःकर्दमादिषु स्वपदानामदर्शनम्। एतानि जागरितजानि[6] दुर्निमित्तानि ॥ २९ ॥

**स्वाप्नान्याह - स्वप्न** इति। प्रेतैः मृतैः परिष्वङ्गः खरमारुह्य यानम्। विषभक्षणम्। नलदमाली जपाकुसुममाली यायादिति यत् तदप्येकं दुर्निमित्तमिति ॥ ३० ॥

---

1. P,V omit ताः 2- -2. P,V गात्रलक्ष्मीं देहशोभाम् 3. J,Va omit एव 4 °स्य यौऽन्तः 5. J,Va add स 6. J,Va °तानि

**वीर०** मुकुन्दस्य विगमे व्रजान्निर्गमनवेलायां विरहेणाऽऽतुरा गोप्यः या या आशिषः आशासत "सुखं प्रभाता रजनीयम्" (भाग 10-39-23) "अद्य ध्रुवं तत्र दृशो भविष्यते" (भाग 10-39-25) इत्यादिकमुक्तवत्यः। तास्सर्वाः आशिषो मधुपुर्यां पुरुषभूषणस्य गात्रलक्ष्मीं पश्यतां जनानाम् ऋतास्सत्याः बभूवुः। कथम्भूतस्य गात्रस्य? भजतः सेवमानानितरान्ब्रह्मादीन् हित्वा श्रीः महालक्ष्मीः यद्गात्रमाश्रयं चकमे अचीकमत। यामिति पाठे यां गात्रलक्ष्मीमित्यर्थः। यमिति पाठे यं पुरुषभूषणमिति सम्बन्धः ॥ २४ ॥

अवनिक्तं[1] क्षालितमङ्घ्रियुगलं ययोस्तौ क्षीरमुपसेचनं यस्य तदन्नं क्षीरविमिश्रान्नमित्यर्थः। भुक्त्वा परेद्युः[2] कंसचिकीर्षितं ज्ञात्वा तौ[3] च सुखं यथा तथा तां रात्रिमूषतुः उषितवन्तौ ॥ २५ ॥

कंसस्तु रामकृष्णयोः केवलं क्रीडारूपं धनुर्भङ्गं, तद्रक्षिणां स्वबलस्य च वधं निशम्याऽऽकर्ण्य भीतो दीर्घप्रजागरः अलब्धनिद्रः दुःखितो बहूनि, उभयथा स्वाप्नजागरितभेदेन स्वाप्नानि जागरितानि च मृत्योः दौत्यकराणि दुष्टानि निमित्तानि अचष्ट ददर्श ॥ २६,२७ ॥

तान्येव कानिचिदाह त्रिभिः[4]। जागरितानि तान्याह - **अदर्शन**मिति द्वाभ्याम्। वियज्जलादौ प्रतिरूपे दृश्यमाने सति स्वशिरसः तत्रादर्शनम् असत्यपि द्वितीये ज्योतिषां चन्द्रादीनां द्वित्वम् ॥ २८ ॥

छायायां छिद्रप्रतीतिः कर्णरन्ध्रयोः[5] पिहितयोस्सतोरन्तश्श्रूयमाणो यो ध्वनिः स प्राणघोषः तस्याऽश्रवणं, वृक्षेषु स्वर्णवर्णप्रतीतिः, रजःकर्दमादिषु स्वपदानामदर्शनमित्यादीनि जागरितानि दुर्निमित्तानि ॥ २९ ॥

अथ स्वाप्नान्याह - **स्वप्न** इति। प्रेतानां मृतानां परिष्वङ्गः आलिङ्गनं, खरमारुह्य यानं, बिसभक्षणं, नलदमाली जपाकुसुममाली तैलेन अभ्यक्तः दिगम्बरश्चैकोऽसहायो यायात् गच्छेदिति यत्तदेकं दुर्निमित्तमिति ॥ ३० ॥

---

1. T,W सिक्तं, 2. T,W add अ० 3. T,W omit तौ 4. T,W add तावत् 5. T,W omit कर्ण

**विज०** क्षीरोपसेचनं क्षीरोपसेचकभूयिष्ठमन्नम् ॥ २४,२५ ॥

धनूरक्षिणां वधं प्रेषितस्वबलस्य वधं च, किंकृतमिति तत्राऽऽह - गोविन्देति। गोविन्दरामाभ्यां विक्रीडितम्॥ २६॥

दीर्घः प्रजागरः निद्राराहित्यं यस्य स तथा अचष्ट अपश्यत्। उभयथा दैहिकानि बाह्यानि च। यद्वा जाग्रति स्वप्ने च दौत्यकराणि सूचकानि ॥ २७ ॥

तान्येव व्यनक्ति - अदर्शनमित्यादिना। प्रतिरूपेषु छायालक्षणेषु सत्स्वपि स्वशिरसोऽदर्शनं, द्वितीये चन्द्रादावसति अविद्यमानेऽपि ज्योतिषां चन्द्रादीनां द्वैरूप्यं द्विमूर्तित्वं द्वौ चन्द्रावित्यादि। बहुवचनेन दीपादयो ग्राह्याः द्विशिखात्वमित्यादिना ॥ २८ ॥

छायायां छिद्रप्रतीतिः सुषिरदर्शनं, कर्णे प्रतिष्टब्धे करेण प्राणघोषस्य शरीरवायोः प्रणवमुच्चरतो मन्द्रध्वनेरनुपश्रुतिश्रवणं वृक्षेषु स्वर्णच्छायादर्शनं पृथिव्यां स्वपदानां पादलाञ्छनानामदर्शनम् ॥ २९ ॥

प्रेतपरिष्वङ्गः मृतालिङ्गनं स्वप्ने बिसादनं पद्मकन्दभक्षणलक्षणं "नलदमाली दक्षिणामुखो व्राजयति" इति श्रुतिः। "पद्ममालां शिरःकृत्वा यो गच्छेद्दक्षिणामुखः। एवं पश्यन्निशि स्वप्ने तत्क्षणान्मृत्युमेष्यति" इति स्वप्नदर्शने इति। यद्वा चक्ररक्तपुष्पं मृणालशून्यं वर्षासु जायमानं नलदं तत्कृतमालाधारी। "अभयं नलदं सेव्यममृणालं जलाशयम्" (अम.को. 2-210) ॥ ३० ॥

अन्यानि चेत्यभूतानि स्वप्नजागरितानि च।
पश्यन्मरणसन्त्रस्तो निद्रां लेभे न चिन्तया ॥ ३१ ॥

व्युष्टायां निशि कौरव्य! सूर्ये चादृश्य स्समुत्थिते।
कारयामास वै कंसो मल्लक्रीडामहोत्सवम् ॥ ३२ ॥

आनर्चुः पुरुषा रङ्गं तूर्यभेर्यश्च जघ्निरे।
मञ्चाश्चाऽलङ्कृता स्स्रग्भिः पताकाः चेलतोरणैः ॥ ३३ ॥

तेषु पौरा जानपदा ब्रह्मक्षत्रपुरोगमाः।
यथोपजोषं विविशू राजानश्च कृतासनाः ॥ ३४ ॥

कंसः परिवृतोऽमात्यै राजमञ्च उपाविशत्।
मण्डलेश्वरमध्यस्थो हृदयेन विदूयता ॥ ३५ ॥

वाद्यमानेषु तूर्येषु मल्लतालोत्तरेषु च।
मल्लास्स्वलङ्कृता दृप्ताः सोपाध्यायाः स्समाविशन् ॥ ३६॥

चाणूरो मुष्टिकः कूट श्शल स्तोसल एव च।
त आसेदुरुपस्थानं वल्गुवाद्यप्रहर्षिताः ॥ ३७ ॥

**नन्दगोपादयो गोपाः भोजराजसमाहुताः।**
**निवेदितोपायनास्ते एकस्मिन्मञ्च आविशन् ॥ ३८ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे मल्लरङ्गोपवर्णनं नाम द्विचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४२ ॥

---

1 K,T,W स्वा 2 M,Ma चाऽभिस° 3. K,T,W स्वल° 4 G,J,M,Ma चै° 5. K °वेशं 6 K,T,W मु° 7 J समासत; T,W उपाविशन् 8. G,J,M,Ma °शल 9 K,T,W तदासे°

**श्रीध० व्युष्टायामिति।** [1]व्युष्टायाम् कष्टेन कथञ्चित्प्रभातायां पुनः सूर्ये चाऽङ्गचः समुत्थित इति। तथा च श्रुतिः[2-]"अद्भ्यो वा" (छान्दो.उ. 7-10-2) इति[-2]। "य उद्गान्महतोऽर्णवात् विभ्राजमानः सरिरस्य मध्यात् समा वृषभो लोहिताक्षः सूर्यो विपश्चिन्मनसा पुनातु" इति च ॥ ३१ - ३३ ॥

**तेष्विति।** यथोपजोषं यथासुखम् ॥ ३४,३५ ॥

**वाद्यमानेष्विति।** [3]मल्लताला[4]ः उत्तरे उपरि उच्चैः श्रूयन्ते येषु तेषु तूर्येषु। उपाध्याया[6]ः मल्ला[7]चार्याः ॥ ३६ ॥

**चाणूर** इति। उपस्थानं मल्लरङ्गम् ॥ ३७॥

**नन्देति।** समाहुताः समाहूताः। निवेदितान्युपायनानि यैस्तै ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

---

1 J,Va omit व्युष्टायाम् 2- -2. P,V omit 3 J,Va लः 4. J,Va ःः 5. J,Va °ते 6 P,V °यः 7. J V °र्यः

**वीर०** [1]अथ अन्यान्यपि इत्थंभूतानि स्वाप्ननि जागरितानि च दुष्टानि निमित्तानि पश्यन् तत्सूचितमरणादतीव भीतः चिन्तया निद्रां न लेभे न प्रामवान् ॥ ३१ ॥

**हे कौरव्य! कथञ्चिन्निशि व्युष्टायां प्रभातायां सत्याम् अद्भ्यस्सकाशात् सूर्ये समुत्थिते सति "य उद्गान्महतोऽर्णवात् विभ्राजमानस्सरिरस्य मध्यात्समावृषभो लोहिताक्षः सूर्यो विपश्चिन्मनसा पुनातु" इति श्रौतीं प्रसिद्धिमुपजीव्य अद्भ्यस्सूर्ये समुत्थिते इत्युक्तम्।** मल्लानां क्रीडैव महानुत्सवः तं, यद्वा मल्लानां क्रीडार्थं यस्तेषामुत्सवः मङ्गलस्नानादिरूपः तं कंसः कारयामास ॥ ३२ ॥

पुरुषा भृत्याः रङ्गं मल्लक्रीडास्थानमानर्चुः, मार्जनचन्दनाभ्यस्सेचनादिभिरिति शेषः। तूर्याणि भेर्यो भेरीश्च जघ्निरे ताडितवन्तः। स्रग्भिः पताकाभिश्चेलैश्चित्रपटैस्तोरणैश्च मञ्चाः दिदृक्षूणामुपवेशस्थानान्युच्चानि स्वलङ्कृताः ॥ ३३ ॥

ततस्तेषु मञ्चेषु ब्राह्मण क्षत्रियादयः पौराः पुरवासिनः जानपदा देशवासिनश्च जनाः यथोपवेशं राजाज्ञामनतिक्रम्य। यथोपजोषम् इति पाठे यथासुखं, विविशुः, तथा राजानः [2]ये देशान्तरेभ्यस्समाहूताः ते राजानः कृतानि परिगृहीतान्यासनानि सिंहासनानि यैस्तथाभूताः ॥ ३४ ॥

कंसस्तु मण्डलेश्वरमध्यस्थः विदूयता तप्यमानेन हृदयेन, सहित इति शेषः, अमात्यैर्मन्त्रिभिः परिवृतो राजमञ्चमखण्डमण्डलेश्वरोपयोज्यं मञ्चमुपाविशत् ॥ ३५ ॥

तदा मल्लानां तालैः करतलैः भुजास्फालनम् उत्तरः उच्चैश्श्रूयमाणो येषु तेषु तूर्येषु वाद्यमानेषु सत्सु उपाध्यायाः मल्लाचार्याः तैस्सहितास्सर्वे मल्लास्स्वलङ्कृतास्समाविशन् ॥ ३६ ॥

तदा चाणूरादयो मल्लाः वल्गुवाचैः मधुरवाचैः प्रहर्षिताः तदुपस्थानं मल्लरङ्गम् आसेदुः आजग्मुः ॥ ३७॥

तदा नन्दादयो गोपाश्च भोजराजेन कंसेन आहूताः, निवेदितान्युपायनानि यैस्ते एकस्मिन्मञ्चे आविविशुः ॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

---

1. T,W omit अथ 2. T,W omit ये

**विज०** अन्यानि "वनभूकर्णसप्तानां पञ्चनेत्रं विनासिका। एकजिह्वेति पञ्चत्वलक्षणं विबुधा विदुः" इत्यादीनि ॥ ३१ ॥

निशि व्युष्टायां निवृत्तायां अभिसमुत्थिते, उदयपर्वतादिति शेषः ॥ ३२ ॥

पणवगोमुखादि तूर्यम् ॥ ३३ ॥

**ब्रह्माणः** ब्राह्मणाः क्षत्रा मण्डलेश्वराः पुरोगमा मुख्या येषां ते तथा **यथोपजोषं यथासुखम्।** राज्ञो विशिनष्टि-राजान इति ॥ ३४ ॥

विदूयता तप्यमानेन ॥ ३५ ॥

मल्लानां तालशब्दोत्तरेषु उच्चैः ज्ञावितातालशब्देष्वित्यर्थः। उपाध्यायाः मल्लशिक्षाचार्याः तैस्सहिताः ॥ ३६ ॥

कांश्चिन्मल्लान्नाम्ना निर्दिशति - **चाणूर** इति। ये चाणूरप्रभृतयः त एव मल्लेषु प्रधानाः, त एवमुपस्थानं रङ्गसमीपम् ॥ ३७ ॥

भोजराजेन समाहूता ये नन्दादिगोपाः ते किमकुर्वन्निति तत्राऽऽह - नन्दगोपादय इति। निवेदितोपायनाः दत्तप्राभृताः॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
टीकायां द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

(विजयध्वजरीत्या चत्वारिंशोऽध्यायः)

---

# त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या एकचत्वारिंशोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच[1] [-1]

अथ कृष्णश्च रामश्च कृतशौचौ परन्तप![2] ।
मल्लदुन्दुभिनिर्घोषं श्रुत्वा द्रष्टुमुपेयतुः॥ १ ॥

- कुवलयापीडाख्यगजतन्निषादिवधकथा -

रङ्गद्वारं[3] समासाद्य तस्मिन्नागजमवस्थितम्[4]।
अपश्यत्कुवलयापीडं[5] कृष्णोऽम्बष्ठ प्रचोदितम्॥ २ ॥

बद्ध्वा परिकरं शौरिस्समूह्य[6] कुटिलालकान्।
उवाच हस्तिपं वाचा मेघनादगभीरया॥ ३ ॥

अम्बष्ठाम्बष्ठ! मार्गं नो[7] देह्यपक्रम[8] मा चिरम्।
नो चेत्सकुञ्जरं त्वाऽद्य नयामि यमसादनम्॥ ४ ॥

एवं निर्भर्त्सितोऽम्बष्ठः कुपितः कोपितं[9] गजम्।
चोदयामास कृष्णाय कालान्तक यमोपमम्॥ ५ ॥

---

1- -1 P.V. omit 2 M.Ma ॰पौ 3 P.V. ॰त्सुपा॰ 4 G.J.K ॰नाग 5. P.V. पश्यन्कु॰ 6 G.J.M.Ma ॰मु॰ 7 G.J.M.Ma नौ 8 P.V.M.Ma ॰क्राम 9 P.V. कोपय

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

त्रिचत्वारिंशके हत्वा गजेन्द्रं रामकृष्णयोः। रङ्गप्रवेश सौभाग्यं चाणूरेणानु[1] भाषणम्॥

अथेति। पूर्वेद्युरेव कृतं शौचं शुद्धत्वं निरपराधत्वं याभ्यां तौ। एतदुक्तं भवति - धनुर्भङ्गादिनाऽऽबाभ्यां निजैश्वर्ये सूचितेऽपि पितरौ न मुञ्चति, आवां पुनः जिघांसति। अतोऽस्य मातुलस्यापि वधे नाऽवयोः दोष इत्येवं कृतापराधपरिहाराविति। मल्लानां दुन्दुभीनां च निर्घोषं[2] मल्लतालदुन्दुभिनिर्घोषं[3] वा॥ १ ॥

**रङ्गद्वारमिति**। अम्बष्ठो हस्तिपकः[4] तेन प्रचोदितम्[5]॥ २ ॥

**बद्ध्वेति**। परिकरं युद्धोचितं[6] परिधानं कृत्वा समुह्य[7] बद्ध्वा[8]॥ ३,४ ॥

**एवमिति**। अन्तको मृत्युः, कालस्तन्निमित्तं, यमस्तन्नियन्ता-तैरुपमा यस्य तम्॥ ५ ॥

---

1. J.Va ०ण च 2 P.V. omit निर् 3. P.V. omit निर् 4. P.V. ०पः 5. J.Va omit प्र 6. J.Va ०त 7 P.V. ०मू० 8. J.Va निबध्य

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

"ऊषतुस्तां सुखं रात्रिं ज्ञात्वा कंसचिकीर्षितम्" (भाग० 10-43-25) इत्युक्तम्। अथकिं परेद्युः कंसचिकीर्षितम्, किं वा तावकुरुतामित्यत्राह- **अथेत्यादिना**। हे परन्तप! अथ परेद्युः प्रातः रामः कृष्णश्च कृतशौचौ कृतं शौचं स्नानादिकर्म याभ्यां तौ मल्लानां दुन्दुभीनां च निर्घोषं श्रुत्वा द्रष्टुम् आजग्मतुः॥ १ ॥

रङ्गस्य मल्लक्रीडास्थानस्य द्वारमासाद्य तस्मिन् द्वारे अवस्थितम् अम्बष्ठेन हस्तिपेन प्रचोदितं कुवलयापीडाख्यं गजं भगवानपश्यत्॥ २ ॥

परिकरं परिधानं यथोचितं बद्ध्वा कुटिलालकान् समूह्य गर्जितवद्गभीरया वाचा हस्तिपमुवाच॥ ३ ॥

उक्तिमेवाह- **अम्बष्ठेति**। अपक्रम मार्गं परित्यज, मा चिरं विलम्बं मा कार्षीः। नो चेत् मार्गं न दास्यसि चेत् अद्य सकुञ्जरं त्वां हत्वा[1] यमलोकं प्रापयामि॥ ४ ॥

इत्थं निर्भर्त्सितो हस्तिपः क्रुद्धः कोपितं कोपं[2] प्रापितम्[-2] अन्तको मृत्युः, कालस्तन्निमित्तं, यमस्तु तन्नियन्ता तैः[3] उपमा यस्य तं गजं कृष्णाय चोदयामास। कृष्णं प्रति प्रद्रावयामासेत्यर्थः॥ ५ ॥

---

1. K omits हत्वा 2- -2 T.W. omit 3 T.W. omit तैः

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

कृष्णरामाभ्यां नन्दादिभिः सहस्थित मुत पृथगिति संशयनिरासार्थं तत्कर्म कथयति-**अथेति**। कृतशौचौ मुखप्रक्षालनादिना प्राप्तशुद्धी यद्वा कृतं पर्याप्तं पूर्णं शौचं शुचेरग्नेः सर्वदहनत्वं ययोस्तौ अग्निवत्सर्वदाहकावित्यर्थः। अत्रापि विशेषोऽस्तीत्याह- परन्तपाविति। शत्रूणामेव तापकौ न सर्वेषामित्यर्थः। मल्लदुन्दुभिनिर्घोषं मल्लयुद्धोचितं दुन्दुभिध्वनिं, मल्लयुद्धं द्रष्टुं तत्समीपमाजग्मतुः॥ १,२॥

परिकरं कक्षाख्यमुदरबन्धं कार्ष्णीं वा कुटिलालकान् समुह्य एकीकृत्य बद्ध्वा॥ ३ ॥

अपक्रम अपसर, यमसादनं यमगृहम्॥ ४ ॥

बलादाकर्षणे कालः मृत्युर्वा "कालो मृत्यौ (दिष्टे) यमे चैव (काचो) (वैज.को.6.1.15) इति। संहारे अन्तको रुद्र इव "रुद्रो माविशान्तक" इति श्रुतिः। क्लेशजनने यम इव स्थितः कालान्तकयमोपमः तम्॥ ५ ॥

करीन्द्रस्तमभिद्रुत्य करेण तरसाऽग्रहीत्।
करद्विगलितस्सोऽमुं निहत्याङ्घ्रिष्वलीयत॥ ६ ॥

संक्रुद्धस्तमचक्षाणो घ्राणदृष्टिस्स केशवम्।
परामृशत्पुष्करेण स प्रसह्य विनिर्गतः॥ ७ ॥

पुच्छे प्रगृह्यातिबलं[1] धनुषः पञ्चविंशतिम्।
विचकर्ष यथा नागं सुपर्ण इव लीलया॥ ८ ॥

स पर्यावर्तमानेन सव्यदक्षिणतोऽच्युतः।
बभ्राम भ्राम्यमाणेन गोवत्सेनेव बालकः॥ ९ ॥

ततोऽभिमुखमभ्येत्य पाणिनाऽऽहत्य वारणम्।
प्राद्रवन्पातयामास स्पृश्यमानः पदे पदे॥ १० ॥

---

1 P.V. ०लो 2 T.W. प्रद्रवन्पात०; M.Ma प्राद्रवचाप०

**श्रीध० करीन्द्र** इति। विगलितः विच्युतः। सः[1] मुष्टिना निहत्य अलीयताऽदृश्यो बभूव॥ ६ ॥

**संक्रुद्ध** इति। अचक्षाणोऽपश्यन्। घ्राणमाघ्राणं[2] तेन दृष्टिर्दर्शनं यस्य सः। लोचनागोचरमपि पशवो हि घ्राणेन जानन्तीति प्रसिद्धम्। परामृशत् धृतवान्। पुष्करेण शुण्डाग्रेण। स कृष्णः। प्रसह्य बलेन॥ ७ ॥

**पुच्छे** इति। धनुषो धनुषां पञ्चविंशतिर्यावत्तावन्तं देशं गजं[3] विचकर्ष आकृष्य नीतवान्। कं क इव विचकर्ष? यथा नागं सर्पवद्वर्तमानं गजं सुपर्ण इव[4] स्वयमिति। "आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः" (भाग.10-3-8) इतिवत्॥ ८ ॥

**स** इति। पुच्छग्राहिणं श्रीकृष्णं ग्रहीतुं यदि दक्षिणतः परिवर्तते गजस्तर्हि सव्यतो[6] भ्रामयति। यदा सव्यतः परिवर्तते तदा दक्षिणतो भ्रामयन् तेन सह बहु[5] बभ्राम। गोवत्सेन भ्राम्यमाणेन बालकः स एव कृष्णो यथाऽन्यो वा बालक इवेति॥ ९ ॥

तत इति। वारणं गजं प्राद्रवन् प्रकर्षेण आसमन्ततो धावन् पातयामास यथाऽऽपतति तथा तं वञ्चयन् प्राद्रवदित्यर्थः॥ १० ॥

---

1 J.Va omit सः 2 J.Va ॰मवग्रा॰ 3. J.Va omit गजं 4 J.Va ॰वत्स्व॰ 5 J.Va omit बहु 6 P.V. हि

वीर॰ करीन्द्रः तं कृष्णम् अभिद्रुत्य बलात्करेणाऽग्रहीत्, स कृष्णः कराद्विगलितः विच्युतः अमुं करीन्द्रं निहत्य मुष्टिना प्रताड्य तस्याङ्घ्रिषु चरणानां मध्ये अलीयत तस्याऽदृश्यो बभूवेत्यर्थः॥ ६ ॥

तं कृष्णमचक्षाणोऽपश्यन् अत एव संक्रुद्धः स करीन्द्रः घ्राणदृष्टिः हस्ताग्रे दृष्टिर्यस्य तथाभूतः केशवं पुष्करेण तुण्डाग्रेण परामृशत् अन्वेषयामास। स कृष्णः प्रसह्य बलात्करेण अङ्घ्रिमध्याद्विनिर्गतः॥ ७ ॥

तमतिबलं पुच्छे प्रगृह्य धनुषः पञ्चविंशतिर्यावत्तावन्तं देशं विचकर्ष आकृष्टवान् यथा सुपर्णः गरुडः लीलया नागं सर्पं कर्षति तद्वत्॥ ८ ॥

स इति। स भगवान् पुच्छग्राहिणमात्मानं ग्रहीतुं यदि गजो दक्षिणतः परिवर्तते तर्हि सव्यतो भ्रामयन् यदाऽपसव्यतः[1] परिवर्तते तदा दक्षिणतो भ्रामयन् एवं पर्यावर्तमानेन करिणा सह स्वयं बभ्राम। यथा बालो भ्राम्यमाणेन गोवत्सेन सह भ्राम्यति तद्वत्। अत्र बालकः श्रीकृष्ण एव। बाल्यदशावस्थो दृष्टान्ततया विवक्षितः॥ ९ ॥

ततो वारणं गजमभिमुखमभ्येत्य पाणिना आहत्य प्राद्रवन्[2] धावन्[3] पदे पदे वारणेन स्पृश्यमानः पातयामास। स यथा पतन्निव[4-] तथा तं वञ्चयन् प्राद्रवदित्यर्थः॥ १० ॥

---

1. T.W. ॰व्यः 2 T.W. प्र 3. T.W. omit धावन् 4- -4 T.W. भ्रमति

विज॰ करीन्द्रकराद्विगलितः विश्लथितः स कृष्णः अमुं करीन्द्रं निहत्य मुष्टिनाऽपहत्य करीन्द्रस्याङ्घ्रिषु पादेषु अलीयत निलीनोऽभूत्॥ ६ ॥

अचक्षाणः अपश्यन् घ्राणदृष्टिः यस्य स तथा गजो घ्राणेन पादमध्ये निलीनं केशवं ज्ञात्वा पुष्करेण शुण्डाग्रेण तं कृष्णं परामृशत् आकृष्टवान्। स कृष्णः पुष्करग्रहणात् प्रसह्य सहसा विनिर्गतः॥ ७ ॥

विनिर्गत्य किं चकारेति तत्राह-पुच्छ इति। पञ्चविंशद्धनुःपरिमितस्थलपर्यन्तं, नागं सर्पम्॥ ८ ॥

सोऽच्युतः सव्यदक्षिणतो बभ्राम पुच्छं गृहीत्वेति शेषः। परि परित आवर्तमानेन पुनः पुनः सव्यतो दक्षिणतश्च भ्रमता गजेन गृह्यत इति। कथमिव? बालको भ्राम्यमाणेन गोपुच्छेन गृहीतेन भ्रमति यथा तथेति॥ ९ ॥

ततः किमनया तीलयेति मत्वा। पुच्छं मुक्त्वा करीन्द्रस्याभिमुखं गत्वा पाणिना वारणम् आहत्य प्राद्रवदित्यन्वयः। ततः किमभूदिति तत्राह- यापयामासेति। प्राद्रवन् कृष्णः करीन्द्रं यापयामास स्वपृष्ठत आगमयामास गजोऽपि तमन्वाद्रवदित्यर्थः॥ १०॥

स धावन्क्रीडया[1] भूमौ पतित्वा[2] सहसोत्थितः।
तं मत्वा पतितं क्रुद्धो दन्ताभ्यां सोऽहनत्क्षितिम्॥ ११ ॥

स्वविक्रमे प्रतिहते कुञ्जरेन्द्रोऽत्यमर्षितः।
चोद्यमानो महामात्रैः कृष्णमभ्यद्रवद्रुषा॥ १२ ॥

तमापतन्तमासाद्य भगवान्मधुसूदनः।
प्रगृह्य[3] पाणिना हस्तं पातयामास भूतले॥ १३ ॥

पतितं[4] तं पदाऽऽक्रम्य मृगेन्द्र इव लीलया।
दन्तमुत्पाट्य[5] तेनैव[6] हस्ति पञ्चाऽहनद्धरिः॥ १४ ॥

मृतकं द्विपमुत्सृज्य दन्तपाणिस्समाविशत्[7]।
अंसन्यस्तविषाणोऽसृङ्मदबिन्दुभिरङ्कितः[8][9]॥
विरूढस्वेदकणिकं[10] वदनाम्बुरुहो बभौ॥ १५ ॥

---

1 P.V. ०न्वी 2 P.V. ०तः 3 G.J.P.V नि० 4. G.J.K.M.Ma.T.W ०तस्य 5 G.J.P.V. तेनेऽऽभं; T.W. तेनाशु; 6 G.J.P.V. ०पांश्चाह०; M.Ma ०पानाह० 7. M.Ma ०पाणी विजितुः 8 M.Ma ०णाऽ० 9. M.Ma रञ्जि(ञ्चि) तौ 10. G.J. ०का 11 M.Ma स्त्वाबुभौ

**श्रीध०** स इति। किञ्च अहनत् अहन्॥ ११-१४ ॥

**मृतकमिति।** रङ्कं समाविशत् तदा वीरश्रिया बभौ। कथम्भूतः? अंसे न्यस्तं विषाणं गजदन्तो येन सः। असृजो रक्तस्य मदस्य च बिन्दुभिः परितोऽङ्कितः। विरूढा उद्गताः स्वेदकणिकास्ताभिरुपलक्षितं वदनाम्बुरुहं यस्य सः॥ १५॥

**वीर०** यदा च गजः पतति तदा स भगवानपि क्रीडया धावन् भूमौ पतति पतितं दृष्ट्वा स यदाऽभिधावति तदा भगवानुत्थितो धावति, गजस्तु पतितं स्थितमेव मत्वा क्रुद्धः केवलं दन्ताभ्यां क्षितितलमहनत्॥ ११ ॥

इत्येवं स्वस्य गजस्य विक्रमे प्रतिहते क्षीयमाणे सति[1] कुञ्जरेन्द्रः केवलमत्यन्तं क्रोधमात्रयुक्तः हस्तिपैर्बलाच्चोद्यमानः प्रेर्यमाणः कृष्णं रुषाऽभ्यद्रवत् अभ्यधावत्॥ १२ ॥

तदा भगवानापतन्तं गजमासाद्य स्वपाणिना हस्तं तस्य शुण्डां[2] प्रगृह्य भूतले पातयामास॥ १३ ॥

पतितं गजेन्द्रं पदा पादेनाऽऽक्रम्य अवष्टभ्य सिंह इव दन्तमुत्पाट्य तेनैव दन्तेनैव हस्तिपमहनत्॥ १४ ॥

मृतं गजमुत्सृज्य दन्तः पाणौ यस्य तथाभूतः ततः अंसे न्यस्तः निहितो विषाणो गजदन्तो येन सः असृजः रुधिरस्य मदोदकस्य च बिन्दुभिः अङ्कितः विरूढाः उद्गताः स्वेदकणिका यस्मिन् तद्वदनाम्बुरुहं यस्य तथाभूतो बभौ॥ १५॥

---

1 K omits सति 2 T.W. ०शुंडं

विज० तेन दन्तेन हस्तिपान् महामात्रान्॥ ११-१४ ॥

द्विपं गजं विषाणोपरक्तेन असृजा रुधिरेण मदजलबिन्दुभिश्च विरूढा विस्तृता स्वेदजलकणिका यस्मिन् तत् विरूढस्वेदकणिकं तादृशं वदनाम्बुरुहं ययोस्तौ तथा॥ १५ ॥

वृतौ गोपैः कतिपयैर्बलदेवजनार्दनौ।
रङ्गं विविशतू राजन् गजदन्तवरायुधौ॥ १६ ॥

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरस्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोश्शिशुः
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां[1] तत्त्वं परं[2] योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति[3] विदितो रङ्गं गतस्साग्रजः॥ १७ ॥

- चाणूरमुष्टिकादिमल्लवधकथा -

हतं कुवलयापीडं दृष्ट्वा तावपि[4] दुर्जयौ।
कंसो मनस्व्यपि तदा भृशमुद्विविजे नृप॥ १८ ॥

तौ रेजतूरङ्गगतौ महाभुजौ विचित्रवेषाभरणस्रगम्बरौ।
यथा नटावुत्तमवेषधारिणौ मनःक्षिपन्तौ प्रभया निरीक्षताम्॥ १९ ॥

निरीक्ष्य तावुत्तमपूरुषौ[5] जनाः मञ्चस्थिता नागरराष्ट्रका[6] नृपाः।
प्रहर्षवेगोत्कलिते क्षणाननाः पपुर्नृपा नयनैस्तदाननम्॥ २० ॥

---

1 M.Ma भृतां 2- -2 M.Ma ०र्विधातृविहितः 3- -3 M.Ma च पतिः सदैव शुशुभे रङ्गेऽच्युत० 4 K.T.W. ०ति 5 P. तदा; V. तथा 6 G.J.M.Ma ०प!

**श्रीध०** न केवलं सग्रजः[1-] स एव रङ्गं[-1] समाविशत्, किन्तु **वृतौ गोपैरिति** ॥ १६ ॥

तत्र शृङ्गारादिसर्वरसकदम्बमूर्तिः भगवान् तत्तदभिप्रायानुसारेण बभौ, न[2] साकल्येन सर्वेषामित्याह- **मल्लानामिति**। मल्लादीनां[3] दर्शानां द्रष्टॄणामशन्यादिरूपेण दशधा विदितस्सन् साग्रजो रङ्गं गत इत्यन्वयः। मल्लादिष्वभिव्यक्तारसाः क्रमेण श्लोकेन निबध्यन्ते- "रौद्रोऽद्भुतश्च शृङ्गारो हास्यं वीरो दया तथा। भयानकश्च बीभत्सः शान्तः सप्रेम भक्तिकः"॥ अविदुषां विराट् विकलः अपर्याप्तो[4] राजत इति तथा, अनेन बीभत्सरसः उक्तः। विकलत्वं च "क्व वज्रसारसर्वाङ्गी" (भाग.10-44-8) इत्यादिना वक्ष्यति[5]॥ १७ ॥

**हतमिति**। उद्विविजे भीतो बभूव॥ १८ ॥

**तौ** इति। यथा नटाविति निर्भयत्वं दर्शितम्॥ १९ ॥

**निरीक्ष्येति**। प्रहर्षवेगेनोत्कलितानि उज्जृम्भितानि ईक्षणानि आननानि च येषां ते। तयोराननं पपुः परं, न तु तृप्ताः; निराकाङ्क्षा न बभूवुरित्यर्थः॥ २० ॥

---

1- -1 J.Va स एकः 2 Va omits न 3 J.Va नामज्ञानां 4 P.V. omit रसः 5 J.Va ०ते

**वीर०** रामकृष्णौ कतिपयैर्गोपैः परिवृतौ गजदन्तावेव वरे श्रेष्ठे आयुधे ययोस्तौ हे राजन्! रङ्गं मल्लक्रीडास्थानं विविशतुः॥ १६ ॥

तत्र शृङ्गारादिसर्वरसकदम्बैकमूर्तिः भगवान् तत्तदभिप्रायानुसारेण बभौ, न साकल्येन सर्वेषामित्याह-**मल्लानामिति**। मल्लादीनां द्रष्टॄणामशन्यादि रूपेण दशधा विदितस्सन्साग्रजो रङ्गस्थानं गत **इत्यन्वयः**। **अशनिः अशनिवद्रौद्रः**, स्त्रीणां मूर्तिमान् स्मरः विदितः, असतां दुष्टानां क्षितिभृतां शास्ता स्वपित्रोश्शिशुः, अनेन करुणरसः प्रदर्शितो भवति। भोजपतेः कंसस्य मृत्युः, अनेन भयानकरसः, अविदुषां देहात्माभिमानिनां विराट् देहमात्रबुद्धिविषयः, योगिनां परमात्मोपासनात्मकयोगनिष्ठानां परं तत्त्वमिति विदितः स्वोपास्यवस्तुत्वेन विदित इत्यर्थः॥ १७ ॥

**हतमिति**। हतं कुवलयापीडं दृष्ट्वा ततः तौ रामकृष्णौ अतिदुर्जयाविति ज्ञात्वा मनस्वी धीरोऽपि कंसः हे नृप! नितराम् उद्विविजे[1] भीतो बभूव॥ १८ ॥

**ताविति**। विचित्रो वेषः तथा आभरणानि स्रजश्च ययोस्तौ रामकृष्णौ स्वकान्त्या[2-] [-2] पश्यतां जनानां मनः क्षिपन्तौ क्षोभयन्तौ, अपहरन्तौ वा रेजतुः। यथोत्तमवेषधारिणौ नटौ तद्वत्॥ १९ ॥

**निरीक्ष्येति**। हे नृप! पौरा जानपदाश्च जनाः तौ उत्तमपूरुषौ निरीक्ष्याऽवस्थिताः निश्चलाः प्रहर्षवेगेन उत्कलितानि उज्जृम्भितानि ईक्षणान्याननानि च येषां ते नयनैः लावण्यपानपात्रभूतैस्तयोराननं पपुः आननगतं लावण्यरसं पीतवन्त इत्यर्थः। परं तु न तृप्ता, निराकाङ्क्षा न बभूवुरित्यर्थः॥ २० ॥

---

1 T.W. उद्विजते 2- -2 T.W. omit

**विज०** मल्लानामशनिरिव भासमानः, उपर्यप्येवम्। योगिनां परं तत्त्वं ब्रह्म "ब्रह्म वेदस्तपस्तत्त्वम्" (वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म) (अम.को. 3-271 इति च। भोजपतेः कंसस्य मृत्युरिव, नित्यमेवेति योज्यम्॥ १६,१७॥

मनस्वी शूरोऽपि उद्विविजे 'ओ विजी भयचलनयोः' इति धातुः भीतोऽभूत्॥ १८ ॥

देहप्रभया निरीक्षतां मनः क्षिपन्तौ आकर्षन्तौ॥ २९ ॥

नागराः नगरवासिनः राष्ट्राः जनपदवासिनः प्रहर्षवेगेन उत्कलितमुत्फुल्लमीक्षणम् आननं च येषां ते तथा॥ २०॥

**पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया।**
**जिघ्रन्त इव नासाभ्यां श्लिष्यन्त इव बाहुभिः॥ २१ ॥**

**ऊचुः परस्परं ते वै यथादृष्टं यथाश्रुतम्।**
**तद्रूपगुणमाधुर्य प्रागल्भ्यस्मारिता इव॥ २२ ॥**

**एतौ भगवतस्साक्षा द्धरेर्नारायणस्य हि।**
**अवतीर्णाविहांशेन वसुदेवस्य वेश्मनि॥ २३ ॥**

**स[1] एष किल देवक्यां जातो नीतश्च गोकुलम्[2]।**
**कालमेतं वसन्गूढो ववृधे नन्दवेश्मनि॥ २४ ॥**

**पूतनाऽनेन निहता[3] चक्रवातश्च दानवः।**
**अर्जुनौ धेनुकः केशी गुह्यकोऽन्ये च तद्विधाः॥ २५ ॥**

---

1. G.J. एष वै 2 M.Ma ०ले 3 G.J.M.Ma नीताऽन्तं

**श्रीध०** तदेवाह-**पिबन्त** इवेति। श्लिष्यन्तः परिष्वङ्गं कुर्वन्त इव लक्षिता इत्यर्थः[1]॥ २१ ॥

**ऊचुरिति**। यथादृष्टं धनुर्भङ्गादि, यथाश्रुतं गोवर्धनोद्धरणादि तत्तदनतिक्रम्य, तदनुरूपमित्यर्थः। प्रत्यक्षं च तयो रूपं गजदन्तादि युक्तं, गुणाः शौर्यादयो, माधुर्यं हसितालापादि, प्रागल्भ्यं धार्ष्ट्यं तैः, स्मारिता इव स्मरणं प्रापिता इवेत्यर्थः॥ २२ ॥

विस्मितानां वाक्यान्याह अष्टभिः **एताक्त्यादिभिः**[2]॥ २३ ॥

**स इति। किलेति सर्वत्रान्वयः॥ २४ ॥**

**पूतनेति। गुह्यकः शङ्खचूडः। अन्ये चाघासुरादयः॥ २५ ॥**

---

1 J.Va omit इत्यर्थः 2 P.V. omit आदिभिः

**वीर०** तदेवाह- **पिबन्त** इवेति। श्लिष्यन्तः परिष्वङ्गं कुर्वन्त इव इत्थं लक्षिता इत्यर्थः॥ २१ ॥

**ऊचुरिति। यथादृष्टं धनुर्भङ्गादि, यथाश्रुतं गोवर्धनोद्धरणादि तदनतिक्रम्य तदनुरूपमित्यर्थः। ते नागराङ्गनाः** परस्परमूचुः। कथम्भूताः? तयोः रूपं गजदन्तादियुक्तं गुणाः शौर्यादयः माधुर्यं हसितालापादिगतं प्रागल्भ्यं धाष्टर्यं तैः स्मारिता इव स्मरणं प्रापिता इव अनितरसाधारणतद्रूपगुणादियाथात्म्यवेदिन इव, इवशब्दोऽनतिरिक्तद्योतकः॥ २२ ॥

तदेव दर्शयन् तेषामुक्तिमाह-**एताविन्यादिभिरष्टभिः**। एतौ रामकृष्णौ नारायणस्यांशेनावतीर्णौ नारायण एव स्वसङ्कल्परूपेणांशेन रामकृष्णरूपेणावतीर्ण इत्यर्थः। यद्वा छत्रिन्यायेन अंशेनावतीर्णौ इत्युक्तम्; श्रीकृष्णस्य साक्षान्नारायणावतारत्वात्, रामस्य तदंशभूतसङ्कर्षणावतारत्वात्॥ २३ ॥

तत्र कृष्णस्य चरित्रं जन्मन आरभ्य सङ्कलन्ति-**स एष** इति। देवक्यां जातः वसुदेवादित्यध्याहारः। गोकुलं प्रति नीतः वसुदेवेनेति शेषः। किलेत्याश्चर्ये प्रसिद्धौ वा। एतावन्तं कालम् अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। नन्दगेहे **गूढः** इतरैरविज्ञातो वसन् ववृधे एधाञ्चक्रे॥ २४ ॥

अनेन श्रीकृष्णेन पूतना निहता, तथा चक्रवातस्तृणावर्तश्च दानवो निहतः, अर्जुनाविति। पातितावेति शेषः। अनेन इत्यनुषङ्गः। धेनुकादयश्च तथाविधा, अन्ये च अघासुरादयो निहताः। तत्र **गुह्यकः शङ्खचूडः**॥ २५ ॥

**विज०** तयोः कृष्णरामयोः रूपगुणः शब्दगुणः माधुर्यं च तेन। यद्वा **रूपगुणेन कान्तिगुणेन** कीर्तिगुणेन वा माधुर्येण वा। वाच इति शेषः। प्रागल्भ्येन वैशारद्येन च स्मारिताः स्मृतिं कारिताः। "रूपं शब्दे पशौ श्लोके" (वैज.को.6-3-28) इत्यादेः॥ २१,२२,२३ ॥

एतं कालम् एतावन्तं कालम्॥ २४ ॥

अन्तं नाशं नीताः। गुह्यकः शङ्खचूडः॥ २५ ॥

**गावस्स्पाला एतेन दवाग्नेः परिमोचिताः।**
**कालियो दमितस्सर्प इन्द्रश्च विमदः कृतः॥ २६ ॥**

**समाहमेकहस्तेन धृतोऽद्रिप्रवरोऽमुना।**
**वर्षवाताशनिभ्यश्च परित्रातं च गोकुलम्॥ २७ ॥**

गोप्योऽस्य नित्यमुदितं हसितप्रेक्षणं मुखम्।
पश्यन्त्यो विविधांस्तापांस्तरन्ति स्माऽश्रमं मुदा॥ २८ ॥

वदन्त्यनेन वंशोऽयं यदोस्सुबहुविश्रुतः।
श्रियं यशो महत्त्वं च लप्स्यते परिरक्षितः॥ २९ ॥

अयं चास्याग्रजः श्रीमान्रामःकमललोचनः।
प्रलम्बो निहतोऽनेन व त्सको धेनुकादयः॥ ३० ॥

---

1. G.J.M.Ma दा० 2 M.Maशक्र० 3 M Ma गोप्यश्च 4 P V ०ताः 5- -5 V धांस्तांस्तांस्त० 6 M.Maस्म श्र० 7 T.W ०स्तु 8 Kविस्तरः 9 V. प्रियं 10 G.J.K.T.W. ०तो येन 11- -11 G.J.K. वत्सको ये बकादयः; M.Ma बहवो धेनुकादयः; T.W. वत्स गो धेनुकादयः

**श्रीध० गोप्य** इति। अश्रममीषद्भ्रमयुक्तं मुखं, अश्रमं सुखमिति वा। यद्वा अश्रमं यथा भवति तथा तरन्ति स्मेति॥ २६-२८ ॥

**वदन्तीति।** अनेन परिरक्षितो यदोर्वंशः सुबहुविश्रुतस्सन् श्र्यादि लप्स्यते, इति वदन्तीति॥ २९ ॥

**अयमिति।** धेनुकबकवत्सासुरेषु विपर्ययोक्तिः जनवादेष्वनिश्चयात्॥ ३० ॥

**वीर०** एतेनैव गोपालैस्सहिता गावश्च अग्नेस्सकाशात् परिमोचिताः, कालियाख्यः सर्पश्च अनेनैव दमितः, विगतः मदो यस्य तथाभूतः इन्द्रश्च कृतः॥ २६ ॥

अद्रिप्रवरो गोवर्धनः अमुना कृष्णेन कर्त्रा एकेन हस्तेन धृतः वर्षधाराभ्योऽशनिभ्यश्च गोकुलं परित्रातं रक्षितम्[1]॥ २७॥

नित्यमुदितं हसितमीक्षणं च यस्मिन् तदस्य मुखं पश्यन्त्यः, यद्वा नित्यविकसितं हसितेनेक्षणाभ्यां च युक्तं अस्य मुखं मुदा पश्यन्त्यः विविधान् तापान् आध्यात्मिकादीन्, अश्रमं न विद्यते श्रमो यस्मिन् तद्यथा भवति तथा तरन्ति स्म अतिवर्तन्ते स्म॥ २८ ॥

अनेन परिरक्षितो यदोर्वंशः सुबहुविस्तरस्सन्। विश्रुत इति पाठे प्रसिद्धस्सन् श्रियं कीर्तिं महत्तां पूज्यतां च लप्स्यते।। २९ ॥

अथ रामस्य गुणान् सङ्ग्रहेणाहुः-**अयं चेति।** अस्य श्रीकृष्णस्याग्रजोऽयं रामः कमललोचनः श्रीमान् कल्याणगुणसमृद्धिमान्, अनेन प्रलम्बादयो निहताश्च॥ ३० ॥

---

1 T.W. omरक्षितम्

विज० शमं च तरन्ति॥ २६-२८ ॥

इति वदन्ति अनेन कृष्णेन॥ २९,३० ॥

श्रीशुक उवाच[1]

जनेष्वेवं ब्रुवाणेषु तूर्येषु निनदत्सु च।
कृष्णरामौ समाभाष्य चाणूरो वाक्यमब्रवीत्॥ ३१ ॥

हे नन्दसूनो हे राम भवन्तौ वीर्यसम्मतौ[2]।
नियुद्धकुशलौ श्रुत्वा राज्ञाऽऽहूतौ दिदृक्षुणा[3]॥ ३२ ॥

प्रियं राज्ञः प्रकुर्वत्यश्शेयो विन्दन्ति वै[4] प्रजाः[5]।
मनसा कर्मणा वाचा विपरीतमतोऽन्यथा॥ ३३ ॥

नित्यं[6] प्रमुदिता गोपा वत्सपालास्तथा स्फुटम्[7]।
वनेषु मल्लयुद्धेन क्रीडन्तश्चारयन्ति गाः॥ ३४ ॥

तस्माद्राज्ञः प्रियं यूयं वयं च करवाम हे।
भूतानि नः प्रसीदन्ति सर्वभूतमयो नृपः॥ ३५ ॥

---

1- -1 G.J.K.M.Ma T.W. omit 2 G.J.K.T.W ०र० 3 T.W. ०क्षया। 4 G.M.Ma.P.V. ०न्त्यः 5 K.T.W. हि 6 M.Ma नित्य 7 G.J. ०ला यथा

श्रीध० जनेष्विति। जनेष्वेवं ब्रुवाणेषु सत्सु तदसहमानश्चाणूरोऽब्रवीदिति॥ ३१-३४ ॥

तस्मादिति। हे कृष्ण! प्रियं करवामेति। राज्ञि प्रीते भूतानि च प्रसीदेयुः॥ ३५ ॥

वीर० इति[1] इत्थं ब्रुवाणेषु जनेषु तूर्येषु वाद्येषु वाद्यमानेषु च सत्सु चाणूरः कृष्णरामौ समाभाष्य सम्बोध्य वाक्यमुवाच॥ ३१ ॥

तदेवाह- हे नन्दसूनो! इति चतुर्भिः। भवन्तौ वीराणां सम्मतौ मल्लयुद्धे प्रवीणाविति च श्रुत्वा दिदृक्षुणा -युद्धदर्शनिच्छुना राज्ञा आहूतौ॥ ३२ ॥

मनःप्रभृतिकरणत्रयेण राज्ञः प्रियं कुर्वत्यः प्रजाः श्रेयः सुखं लभन्ते, अतोऽन्यथा अप्रियं कुर्वत्यस्तु विपरीतमश्रेयो दुःखं विन्दन्ति॥ ३३ ॥

नाऽऽवां नियुद्धे कुशलाविस्थत आह-**नित्यमिति**। वत्सपालाः वत्सपालनयोग्यात्[3] वयस आरभ्येति भावः। गोपाः यावद्गोपालनयोग्यवयसः भवन्तः वने मल्लयुद्धेन क्रीडन्त एव गाश्चारयन्ति। अतो नियुद्धकुशलावेवेति भावः॥ ३४ ॥

तस्माद्यूयं वयं च राज्ञः प्रियं करवामहै। एवं राज्ञि प्रीते सर्वाणि भूतानि नोऽस्माकं प्रसीदन्ति, कुतः? यतो राजा सर्वभूतमयः सर्वभूतात्मकः॥ ३५ ॥

---

1 T.W. omit इति 2 T.W omit अतः 3 K ०न्यव०

**विज०** वीर्येण पराक्रमेण सम्मतौ सम्यक्प्रख्यातौ नियुद्धं बाह्युद्धं मल्लयुद्धमिति यावत् तस्मिन्कुशलौ निपुणौ॥ ३१,३२,३३॥

तत्कथमवगतमिति तत्राह- **नित्येति**। नियुद्धेन क्रीडन्तः गोपालवत्सपालाश्च गोवत्सांश्च चारयन्तीति किंवदन्त्याऽवगतमित्यर्थः॥ ३४ ॥

किं कलहेन फलमिति तत्राह-भूतानीति॥ ३५ ॥

तन्निशम्याऽब्रवीत्कृष्णो देशकालोचितं वचः।
नियुद्धमात्मनोऽभीष्टं मन्यमानोऽभिनन्द्यच॥ ३६ ॥

**श्रीकृष्ण उवाच**[1]

प्रजा भोजपतेरस्य[2] वयं चापि वनेचराः।
करवाम प्रियं नित्यं तन्नः परमनुग्रहः॥ ३७ ॥

बाला वयं तुल्यबलैः क्रीडिष्यामो यथोचितम्।
भवेन्नियुद्धं माऽधर्मः स्पृशेन्मल्लसभासदः॥ ३८ ॥

**चाणूरउवाच**

न बालो न किशोरस्त्वं बलश्च बलिनां वरः।
लीलयेभो हतो येन सहस्रद्विपसत्त्वभृत्॥ ३९ ॥

तस्माद्बलिभ्यां[3] बलिभिर्योद्धव्यं नाऽनयोऽत्र वै।
मया विक्रम वार्ष्णेय बलेन सह मुष्टिकः॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४३ ॥

---

1- -1 G.J.P.V. omit; M.Ma श्रीभगवानुवाच 2 M.Ma ॰तेर्यूयं 3. G.J.M.Ma.P.V. ॰ऽवदप्यां 4 G.J.M.Ma मयि

**श्रीध० बाला** इति। यथोचितं नियुद्धं बाहुयुद्धं भवेत्। मल्लसभासदो मल्लसभाधिकृतान् जनानधर्मो[1] मा स्पृशेन्न स्पृशेदित्यर्थः[2]। हे मल्लेति वा॥ ३६-३८ ॥

**नेति**। सहस्रद्विपानां सत्त्वं बलं बिभर्तीति तथा॥ ३९ ॥

**तस्मादिति**। तथा[3] बलिभिर्मदृशैस्सह। अनयोऽधर्मः विक्रम पराक्रम कुरु। मुष्टिको विक्रमतादित्यनुषङ्गः॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४३॥

---

1 P.V. omit जनान् 2 P.V. ॰त्येतदर्थं 3 J.V.a omit तथा 4 P.V. omit अनुषङ्गः

**वीर०** तच्चाणूरवाक्यं निशम्य आकर्ण्य भगवान् नियुद्धं स्वस्याभिमतमेव मन्यमानोऽत एव तद्वचोऽभिनन्द्य देशकालोचितं वचोऽब्रवीत्॥ ३६ ॥

तदेवाह- **प्रजा इति**। अस्य भोजपतेः कंसस्य वनेचरा वयमपि प्रजा एव तद्देशवनोपजीवित्वाद्वयमपि कथञ्चित् प्रजा एवेत्यर्थः। न तु युष्माद्विधा इति भावः। अतः तस्य प्रियं करवाम। परं केवलं तत्कथञ्चित् तत्प्रतीति रित्येत न्नोऽस्माकम् अस्मद्विषयोऽनुग्रहः॥ ३७ ॥

वयं तु बालाः अतः तुल्यबलैस्सह क्रीडिष्यामः। न त्वधिकबलैः भवद्भिरिति भावः। यथोचितं नियुद्धं भवेत्, मल्लसभासदः मल्लसभाधिकृतानधर्मो मा स्पृशेत्। हे मल्लेति सम्बोधनं वा॥ ३८ ॥

एवमुक्तः प्राह चाणूरः-**न बाल इति**। बालशब्दोऽत्यन्तशैशवपरः, तच्च दृष्टान्तार्थम्। यथा नात्यन्तशिशुः तथा न किशोरोऽपि, किन्तु युवेति भावः। अथापि बलहीन इत्यत आह- बलिनां वरः, मादृशस्त्वं तादृश एव रामोऽपीत्याह-बलश्चेति। बलिनां वरत्वे लिङ्गं वदन् विशिनष्टि येन त्वया लीलयैव सहस्रद्विपानां सत्त्वं बलं बिभर्तीति तथा इभो गजः कुवलयापीडो हतः॥ ३९ ॥

तस्माद्बलिभ्यां युवाभ्यां बलवद्भिर्मादृशैस्सह[1] योद्धव्यम्। अत्र युद्धे अनयः अधर्मो न विद्यते, वै नूनम्। हे वार्ष्णेय! मया सह विक्रम पराक्रमं कुरु युध्यस्वेति यावत्। बलेन रामेण सह मुष्टिको विक्रमिष्यते॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे
श्रीवीराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४३ ॥

---

1 T.W. omit सह

**विज०** यूयं भोजपतेः प्रजाः वयं चापि। विशेषोऽस्ति- वयं वनेचराः यूयं तत्समीपचराः, अतो विशेषप्रियाश्च। तथापि वयं तस्य नित्यं प्रियं करवामो नाऽप्रियमिति यत्तस्मान्नः परमनुग्रह एव॥ ३६,३७ ॥

तत्रापि किञ्चित्कर्तव्यमस्तीत्याह-**बाला इति।** वयं बाला इति यदतः तुल्यबलैः मल्लैः समं नियुद्धमिदमित्ययं धर्मः, अधर्मो मा स्पृशेत् न स्पृशतु॥३८ ॥

चाणूरः कृष्णोक्तं परिहरति-**नेति** ॥ ३९ ॥

अनयोऽन्यायलक्षणः अधर्मः। विक्रम विक्रमस्व। मुष्टिको बलेन रामेण सह विक्रमं करोत्विति॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
टीकायां त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४३ ॥

(विजयध्वजरीत्या एकचत्वारिंशोऽध्यायः)

---

# चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या द्विचत्वारिंशोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच[1-1]

एवं चर्चितसङ्कल्पो[2] भगवान्मधुसूदनः।
आससादाऽथ[3] चाणूरं मुष्टिकं रोहिणीसुतः ॥ १ ॥

★हस्ताभ्यां हस्तयो र्बद्ध्वा पद्भ्या मेव च पादयोः।
विचकर्षतु रन्योन्यं प्रसह्य विजिगीषया ॥ २ ॥

अरत्नी द्वे अरत्निभ्यां जानुभ्याञ्चैव जानुनी।
शिरश्शीर्ष्णोरसोरस्तावन्योन्य मभिजघ्नतुः ॥ ३ ॥

परिभ्रामणविक्षेप[4] परिरम्भावपातनैः।
उत्सर्पणापसर्पैश्च[5-5] ह्यन्योन्यं[6] प्रत्यरुन्धताम् ॥ ४ ॥

उत्थापनैरुन्नयनै[7] श्चालनैः स्थापनै रपि।
परस्परं जिगीषन्ता[8-8] वपचक्रतुरात्मनः। ॥ ५ ॥

---

1- -1 P.V. omit 2. M.Ma चिन्तित 3. M.Ma °द ह ★ An extra verse is found in P & V edns. between 1& 2 verses- आस्फोट्य हस्तौ हस्ताभ्या मूरूचैव पुनः पुनः। विसृज्य भूय स्सङ्गृह्य परिक्रम्य परस्परम्॥ 4 T,W °भ्र° 5- -5 G,J सर्पणैश्चान्योन्यं; M.Ma. सर्पैश्चाप्यन्योन्यं; P.V सर्पैस्तावन्योन्यं 6. M.Ma °युध्यताम् 7. M, Ma. °मं° 8- -8 M,Ma °वन्योन्यमभिचक्रतुः।

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुश्चत्वारिंशके तु मल्लकंसादिमर्दनम्। कंसयोषित्समाश्वास स्ताभ्यां पित्रोश्च दर्शनम्[1]॥

एव मिति। चर्चितः निश्चितः एव स्वसङ्कल्पो[2] यस्य सः॥ १, २ ॥

अरत्नीति। बाहुमध्यात् कनिष्ठाङ्गुलिव्यतिरेकेण कृतमुष्टिर्हस्तोऽरत्निः॥ ३ ॥

**परिभ्रामणेति।** परिभ्रामणं हस्तादिषु गृहीत्वा परित[3] श्चालनम्। विक्षेपो नोदनम्। परिरम्भो बाहुभ्यां निष्पीडनम्। अवपातन मधःक्षेपः। उत्सर्पण मुत्सृज्य पुरतो गमनम्। अपसर्पणं अपसृज्य पृष्ठतो गमनम् - एतैः प्रत्यवरुन्धतां प्रत्यावृतवन्तौ ॥ ४ ॥

**उत्थापनैरिति।** उत्थापनं जानुनी पादौ च पिण्डीकृत्य पतितस्योत्थाटनम्। उन्नयनं हस्ताभ्या मुद्धृत्य नयनम्। चालनं कण्ठादिलग्नस्य निस्सारणम्। स्थापनं पाणिपादादिपिण्डीकरणम्[4]। एवं परस्परमात्मनो देहस्य अपचक्रतुः अपकारं कृतवन्तौ ॥ ५ ॥

---

1 P,V ०त आ० 2. J.Va omit स्व 3. J.Va omit अपसृज्य 4. J.Va omit पाणि।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ चाणूरमुष्टिककूटशलतोसलकंसवधात्मकं कर्माऽनुवर्णयति चतुश्चत्वारिंशेन। एवं[1] चर्चितः निश्चितः स्वसङ्कल्प एव यस्य सः चाणूरमाससाद अभ्यपतत्। अथ रोहिणीसुतो रामः मुष्टिकमाससाद ॥ १ ॥

तदा तौ कृष्णचाणूरौ राममुष्टिकौ च हस्तयोः हस्ताभ्यां, पादयोः पादाभ्यां च बद्ध्वा परस्परं जेतुमिच्छया अन्योन्यं विचकर्षतुः विकृष्टवन्तौ ॥ २ ॥

कनिष्ठां[2-] विना[-2] कृतमुष्टिः हस्तोऽरत्निः। अरत्निभ्यां द्वे अरत्नी मिथोऽभिजघ्नतुः। तथा जानुभ्यां जानुनी, शिरसा शिरः, उरसा उरश्च अभिजघ्नतुः ॥ ३ ॥

परिभ्रामणं[3] हस्तादिषु गृहीत्वा परितश्चालनम्। विक्षेपो नोदनम्। परिरम्भो बाहुभ्यां पीडनम्। अवपातनमधः पातनम्। उत्सर्पण मुत्सृज्य पुरतो गमनम्। अपसर्पणं पृष्ठतो गमनम् - एते स्तौ कृष्णचाणूरौ राममुष्टिकौ च अन्योन्यं प्रत्यवरुन्धतां प्रत्यावृतवन्तौ ॥ ४ ॥

उत्थापनं पादौ जानुनी च पिण्डीकृत्य पतितस्योत्थापनम्। उन्नयनं हस्ताभ्यामुद्धृत्य नयनम्। चालनं काटचादिषु लग्नस्य निस्सारणम्[4]। स्थापनं पाणिपादादेः पिण्डीकरणम्। - एभिः परस्परमात्मनो देहस्य अपचक्रतुः अपकृतवन्तौ ॥ ५ ॥

---

1. T,W इत्थं 2- -2 T,W omit 3. T,W ०भ्रा° 4. T,W० स्सा°।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

एवं चाणूरोक्तप्रकारेण चिन्तितस्सङ्कल्पो मनोरथो येन स तथा। हेति युद्धप्रारम्भे "प्रत्यारम्भे प्रसिद्धौ ह" (वैज. को. 8-7-8) इति च ॥ १ ॥

तत्र मल्लयुद्धकरणप्रकारं कथयति **हस्ताभ्यामिति**। "आस्फोट्य हस्तौ हस्ताभ्या मूरू चैव परस्परम्। विसृज्य, भूय स्सङ्गृह्य परिक्रम्य परस्परम्" इत्येकश्लोकमादित्येन केचित्पठन्ति॥ २,३ ॥

विक्षेप आकृष्य मोचनम्। अवपातन मधोमुखेन पातनम्। उत्सर्पणं उत्क्षेपः। अपसर्पः पृष्ठतो गमनम्॥ ४॥

उन्नमनमुत्तानीकरणम्। अभिचक्रतुः मुख्यनियुद्धं कृतवन्तौ। "मल्लयुद्धं नियुद्धज्ञा विंशद्भेदं प्रचक्षते। द्वात्रिंशद्भेदमपरे चत्वारिंशद्विधं तथा"॥ इति सङ्ग्रामविजयवचनात्। सर्वनियुद्धविधिदर्शनार्थं भगवतैवं क्रीडितं तत्तद्विद्यायाः साभावादय मेवाऽर्थ उपरि "तै स्तै र्नियुद्धविधिभि र्विविधै रच्युतेतरौ युयुधाते" (भाग. 10-44-19) इत्यादिना सूच्यते च

**तद्बलाबलवद्युद्धं[1] समेता स्सर्वयोषितः।**
**ऊचुः परस्परं राजन् सानुकम्पावरूथशः॥ ६ ॥**

**महानयं बताऽधर्म एषां राजसभासदाम्।**
**ये बलाबलवद्युद्धं[4] राज्ञोऽन्विच्छन्ति पश्यतः ॥ ७ ॥**

**क वज्रसारसर्वाङ्गौ मल्लौ शैलेन्द्रसन्निभौ[5]।**
**क चाऽतिसुकुमाराङ्गौ किशोरौ नाऽऽमयौवनौ॥ ८ ॥**

**धर्मव्यतिक्रमो ह्यस्य समाजस्य ध्रुवं भवेत्।**
**यत्राऽधर्मस्समुत्तिष्ठे न्नस्थेयं तत्र कर्हि चित्॥ ९ ॥**

**न सभां प्रविशेत्प्राज्ञः सभ्यदोषाननुस्मरन्।**
**अब्रुवन्विब्रुवन्नज्ञो नरः किल्बिषमश्नुते॥ १० ॥**

---

1 M, Ma तद्वा° 2 M, Ma प्रेक्ष्य 3- -3 P,V ° म्याश्च यू° 4 G,J ° बाल 5 P,V सम्मतौ॥

**श्रीध० तदिति**। तद्युद्धं बलाबलवत् एकतो बल मन्यतोऽबलम्। तद्युद्धं विषम मित्यूचु रित्यर्थः ॥६॥

तदेव दर्शयति - **महानिति**। यद्वा तत्[1] बालबलवतोः[2] युद्धं दृष्ट्वा महा नयमधर्म इत्यूचु रित्यन्वयः। बालयो र्बलवतोश्च युद्धं राजा चेत्पश्येत् स्वयं वारणीयः। एते तु राज्ञः पश्यतः स्वयमपि[3] अन्विच्छन्ति अनुमन्यन्त इति महानधर्म इत्यर्थः॥ ७॥

बलाबलवद्युद्धतांप्रपञ्चयति पञ्चभिः केति। वज्रसाराणि वज्रवत्कठिनानि सर्वाण्यङ्गानि ययो स्तौ॥ ८ ॥

**धर्मेति**। समाजस्य सभायाः॥ ९ ॥

अपरा ऊचुः- **न सभामिति**। अब्रुवन् ज्ञात्वापि तूष्णीं तिष्ठन्। विब्रुवन् विपरीतं ब्रुवन्, अज्ञो न जानामीति ब्रुवन् । अतः प्राज्ञा न सभां प्रविशेदिति ॥ १० ॥

---

1 J, Va omit तत् 2 V बलाब° 3 J, Va omit अपि।

**वीर०** तदा हे राजन्, सर्वा योषितः सङ्घशः समेतास्सहिताः सानुकम्पाः रामकृष्णविषयकानुकम्पायुक्ताः, अत एव परस्परं बलाबलवदूचुः ,एकतो बलमन्यतोऽबलं तद्युक्तं विषममित्यूचु रित्यर्थः ॥ ६ ॥

तदेव दर्शयितुं तासामुक्तिं माह- **महानयमिति**। एषां राजसभासदां राजसभाधिकृतानामयं महानधर्मः। बतेति खेदे। कोऽसावधर्म इत्यत्र विशेषणमुखेनाऽऽहुः -य इति। ये राजसभासदः बालयोश्च बलवतोश्च युद्धमन्विच्छन्ति। राजाचेत् पश्येत् स्वयं वारणीयः। एते तु राज्ञः पश्यतः स्वयमप्यन्विच्छन्ति अनुमन्यन्ते - इत्ययं महानधर्म इत्यर्थः ॥७॥

बालबलवद्युद्धमेव दर्शयन्ति पञ्चभिः **केति**। वज्रवत्कठिनानि सर्वाण्यङ्गानि ययोस्तौ शैलेन्द्रतुल्यौ मल्लौ क्व? अतिसुकुमाराण्यङ्गानि ययोः नाऽऽसमप्राप्तं यौवनं याभ्यां तावेतौ किशोरौ क्व? ॥ ८ ॥

अतोऽस्य समाजस्य सभायाः महान् धर्मव्यतिक्रमः धर्मविपर्ययः अधर्मो भवेत्। किं विधेय मिति काभिश्चिदुक्ते काश्चिदाहुः - यत्राऽधर्म इति। समुत्तिष्ठेत्प्रवर्तेत तत्र कर्हि चित् क्षणमपि न स्थेयमिति॥ ९ ॥

अपरा आहुः। **न सभामिति**। सभ्यानां दोषमनुस्मरन् प्राज्ञश्चेत्[1] सभां न प्रविशेत्। अब्रुवन् ज्ञात्वापि तूष्णीं तिष्ठन्, विब्रुवन् विपरीतं ब्रुवन्, अज्ञः अज्ञ इव तिष्ठन् ज्ञात्वाऽपि न जानामीति ब्रुवन्नित्यर्थः। एवंविधो यो नरः सः किल्बिष मश्नुते प्राप्नोति ॥ १० ॥

---

1 T, W add तां

**विज०** बालबलवतोः कृष्णचाणूरयोः युद्धं तत्प्रेक्ष्य। वरूथशः सङ्घशः ॥ ६ ॥

राजसभायां सीदन्ति उपविशन्ति इति राजसभासदः तेषां कोऽयमधर्म इत्याहुः य इति, बालस्य बलवता सह युद्धमन्विच्छन्ति अनुकूलं मन्यते। राज्ञः पश्यतस्सत इत्यनेन उभयेषामप्यधर्मः प्राप्त इति ज्ञायते॥७॥

कथमधर्म आसीदिति,तत्राऽऽहुः - **केति**। वज्रवत्सारणि बलाढ्यानि सर्वाणि अङ्गानि करचरणादीनि ययो स्तौ तथा, "सारो बले स्थिरांशेऽर्थे पुमा न्न्याये वरेऽर्थवत्" (वैज.को .6.5.97) इति च ॥ ८ ॥

समाजस्य सभ्यसमूहस्य। अर्थतो मन्वादिवाक्यं प्रतीक्षयन्ति यत्रेति॥ ९ ॥

किमित्यप्रवेश इति तत्राऽऽहुः - अब्रुवन्निति। विब्रुवन् विपरीतं ब्रुवन्। "आत्मसर्वाङ्गसम्बन्धमसं किल्बिष" मुच्यते इति च। अनपायि मलं किल्बिष मित्यर्थः॥ १०॥

वल्गत श्शत्रुमभितः कृष्णस्य वदनाम्बुजम्।
वीक्ष्यतां श्रमवार्यामं पद्मकोश मिवाम्बुभिः ॥ ११ ॥

किं न पश्यत रामस्य मुखमाताम्रलोचनम्।
मुष्टिकं प्रति सामर्षं हाससंरम्भशोभनम्॥ १२॥

पुण्या बत व्रजभुवो यदयं नृलिङ्गगूढः पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्यः।
गाः पालयन् सहबलः क्वणयन् स्म वेणुं विक्रीडयाऽऽति गिरित्रमा र्चिताङ्घ्रिः॥ १३॥

गोप्यस्ततः किमचर न्यदमुष्य रूपं लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम्।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप मेकान्तधाम यशसश्श्रिय ईश्वरस्य॥ १४॥

या दोहने ऽवहनने मथनोपलेप प्रेङ्खेङ्खनाऽर्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्तिचैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यः धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥ १५॥

---

1 G. J, P, V वार्युसं; M, Ma पर्याप्तं 2, M, Ma ०र्ष० 3- -3 G, J, संरम्भशोभितम्; T, W सम्भ्रमशोभनम् 4 T. W माली 5 M, Ma गाश्चारयन् 6. G, J, M, Ma ०यंश्चवेणुम्; P, V ०यन्स्ववेणुं 7- -7 M, Ma गिरा वमरा० 8- -8 M, Ma मथनोत्थ 9 K, T, W ०न० 10 G, J, ऐ० 11 K, T, W ०नोदवहने 12 M, Ma जल्प 13 T, W प्रेङ्खेतितार्भ० 14. M, Ma मज्ज० 15. M, Ma पुण्या 16. M, Ma ०माः

श्रीध० वल्गत इति। वल्गतः शत्रोस्सर्वतो धावतः कृष्णस्य श्रमवारिणा ०याप्त वदनाम्बुज दृश्यताम्॥ ११॥

अन्या ऊचुः - किमिति। सामर्षं सक्रोधम्। हासेन संरम्भः आवेशः तेन शोभनम्॥ १२॥

अन्या ऊचुः - पुण्या इति। नृलिङ्गेन मनुष्यदेहेन गूढः। वनस्थानि चित्राणि माल्यानि यस्य सः। अयं भावः - धिगिमां सभाम्, यस्यामयं पराभूयते। तास्तु व्रजभुवो धन्याः। यत् यासु अयं कृष्णो विविधक्रीडया अवति गच्छतीति॥ १३॥

**अहो!** कष्ट मल्पपुण्या वयं यतोऽस्माभिरनवसरे दृष्टोऽयं कृष्णः[3]। गोप्यस्तु बहुपुण्या इत्याऽहुस्त्रिभिः - **गोप्य** इति। अमुष्य श्रीकृष्णस्य रूपमङ्गं लावण्येन सारं श्रेष्ठम्। किञ्च असमोर्ध्वं न विद्यते सममूर्ध्वं अधिकञ्च यस्य तम्। तदपि नाऽन्येन आभरणादिना सिद्धम्, किन्तु स्वत एव। यशसः[4] श्रियः ऐश्वर्यस्य एकान्तधाम ऐश्वर्यस्य च अव्यभिचारि स्थानम्। पाठान्तरे अमुष्य ईश्वरस्येत्यन्वयः। एवम्भूतं अनुसवाभिनवं नित्यनवीनं रूपं या नेत्रैः पश्यन्तीति॥ १४॥

**या** इति। किञ्च, या दोहनादिध्वेनं गायन्ति, ता व्रजस्त्रियो धन्याः। प्रेङ्खेङ्खनं दोलान्दोलनम् । उक्षणं सेचनम्। कथम्भूताः? उल्लमचित्तयानाः उल्लमे चित्तं उ ल्लमचित्तं तेनैवं यानं सर्वविषयप्राप्ति र्यासां ताः। पाठान्तरे (उल्लमचिन्तयानाः इति) उल्लमं चिन्तयन्त्य इत्यर्थः कुतः? अनुरक्तधियः। तत्र लिङ्गम् - अश्रुकण्ठ्यः॥ १५॥

---

1 J, Va मुखाम्बु० 2 J, Va शोभितम् 3 J, Va omit कृष्णः 4 J, Va omit यशसः श्रियः, 5 J, Va omit 6- -6 J, Va omit 7- -7 P, Va omit.

**वीर०** अन्यास्त्वाहुः **वल्गत** इति। शत्रुमभितः शत्रोस्सर्वतः वल्गतो धावतः कृष्णस्य अम्बुकणैः पद्मकोशमिव श्रमवारिणाऽऽर्द्रं व्यासं वदनाम्बुजं दृश्यताम् ॥ ११।

अपरा ऊचुः- **किं न पश्यतेति**। आ[1] ईषत् समन्ताद्वा। ताम्रे लोचने यस्मिंस्तत्, मुष्टिकं प्रति सामर्षं सक्रोधं, हासेन संरम्भ आवेशः तेन शोभनं रामस्य मुखं किं न पश्यत॥ १२॥

अन्या ऊचुः - **पुण्या बतेति**। स्वयं पुराणपुरुषः श्रीमन्नारायणस्सन् नृलिङ्गेन मनुष्यस्येव शरीरेण गूढः तिरोधापित स्वस्वरूपगुणः वनस्थानि विचित्राणि माल्यानि यस्य सः। गिरित्रमाभ्यां रुद्रमहालक्ष्मीभ्या मर्चिताबङ्घ्री यस्य सः। गिरित्रग्रहणं चतुर्मुखादीनामप्युपलक्षणम्। सहबलः बलरामेण सहितः वेणुं वादयन् गाश्च पालयन् विक्रीडयाऽऽवति अटति। अयम्भावः - धिगिमां सभाम् यस्यामयं परिभूयते। तास्तु व्रजभुवो धन्याः यतोऽयं स्वयं कृष्णो विविधक्रीडया चरतीति॥ १३॥

अहो! अल्पपुण्या वयं यतोऽस्माभिरनवसरेऽयं **दृष्टः, गोप्यस्तु बहुपुण्या इत्याहुस्त्रिभिः - गोप्य** इति। गोप्यः किं तप स्समाचरन्, तभिराचरितं तपोऽनिर्वचनीयमित्यर्थः। कुतः? यत् यस्मात् अमुष्य श्रीकृष्णस्य रूपमङ्गं लावण्येन सारं श्रेष्ठम्। किञ्च! असमोर्ध्वं न सममूर्ध्वमधिकञ्च यस्य तत् निस्समाभ्यधिक मित्यर्थः। तदपि नाऽन्येनाऽऽभरणादिना सिद्धं, किन्तु स्वत एव अकर्मायत्तं वा। किञ्च, यशसः श्रियो लक्ष्म्याः ईश्वरस्य, भावप्रधानोऽयं निर्देशः, ऐश्वर्यस्य च एकान्तधाम अव्यभिचारस्थानं, सदा नवाभिनवं, दुरापमकृतपुण्यानां चक्षुषाऽपि प्राप्तुमशक्यम्। एवम्भूतं रूपं याः नेत्रैः अनुपिबन्ति पश्यन्तीति॥ १४॥

किञ्च, याः दोहनादिषु एनं गायन्ति ता व्रजस्त्रियो धन्याः। कथम्भूताः? उत्क्रमे चित्तं उत्क्रमचित्तं, तदेव यानं सर्वपुरुषार्थप्राप्तिस्थानं यासां ताः। पाठान्तरे (उत्क्रमचिन्तयाना इति) उत्क्रमं चिन्तयमाना इत्यर्थः। कुतः? अनुरक्तधियः। तत्र लिङ्ग मश्रुकण्ठघः आनन्दाश्रुनिरुद्धकण्ठघः तत्र दोहनं गवाम्। उदवहनं जलानयनं, मथनं दध्नः, उपलेपो गृहाणां, प्रेङ्खणं, प्रेङ्खोलनं दोलान्दोलनम्। अर्भरुदितम् रुददर्भकसान्त्वनम्, उक्षणं सेचनं, मार्जनं गृहसम्मार्जनम्॥ १५ ॥

---

1 T,W omit आ 2 K. प्रेङ्खनम्

विज० श्रमपर्यासं श्रमवारिव्यासं पद्मकोशं पद्ममुकुलम्॥ ११॥

हे सख्यः! रामस्य मुखं न पश्यत किं, पश्यतेत्यन्वयः। अमर्षेण सहितो हासः सामर्षहासः तेन संरम्भेण च शोभनं चारुतरम्॥ १२॥

नृणां लिङ्गेन लक्षणेन गूढः छन्नः अयं कृष्णनाम। पुराणपुरुषः यत् यासु व्रजभूमिषु विक्रीडया क्रीडेच्छया अञ्चति गच्छति, पादाभ्यामिति शेषः। गाश्चारयन् गिरावञ्चति च ता व्रजभुवः स गिरिश्च पुण्याः पावनाः। बत! आश्चर्यावधेः स्थितिः। किंविशिष्टः? वने विद्यमानानि विचित्राणि नानावर्णानि माल्यानि पुष्पाणि यस्य सः तथा। गिरावमरैर्देवै-रर्चिताङ्घ्रिः व्रजभुवि अमरैरमलैः शुद्धान्तःकरणै र्गोपालैरर्चितश्रीचरणः॥ १३॥

अमुष्येश्वरस्य यल्लावण्यसारमथनोत्थं शृङ्गाररसमथनादुत्पन्नम्। न चेदंकृद्रिममित्याह-अनन्यसिद्धमिति। अन्यस्मात् प्रकृतेः जातं न भवतीति, अन्येषामविद्यमानं वा। अनुसवं प्रतिक्षणे अभिनवं नूतनं, ज्ञानमन्तरेण दुष्प्रापं श्रियो यशसश्च एकान्तधाम नियतस्थानरूपं द्रव्याश्रयलक्षणगुणम्। तत् याः दृग्भिः पिबन्ति, ताः गोप्यः किं तपः अचरन् चक्रुरित्यन्वयः॥१४॥

या गोप्यः गोदोहनादौ एनं कृष्णं गायन्ति, ता गोकुलस्त्रियः पुण्या इत्यन्वयः। अवहनने व्रीहिताडन काले, दधिमन्थनवेलायां उपजल्पे मिथस्सम्भाषणसमये। उपलेप इति केचित् पठन्ति, गोमयादिना स्थललेपनकाले, प्रेङ्खेङ्खने दोला चलनकाले, अर्भरुदिते बालरोदनकाले, उक्षणे प्राङ्गणसेचनसमये, मज्जने स्नानकाले। मार्जन इति केचित्। आदिशब्देन स्खलनपतनादिकं गृह्यते। उत्क्रमचित्ते यामः कालविशेषो यासां ता स्तथा। उत्क्रमचित्तेन गतो यामो यासां ता इति वा॥ १५॥

**प्रातर्व्रजाद्व्रजत आविशतश्च सायं गोभिस्समं क्वणयतोऽस्य निशम्य वेणुम्।**
**निर्गत्य तूर्ण मबलाः पथि भूरिपुण्याः पश्यन्ति सस्मितमुखं सदयावलोकम्॥ १६॥**

एवं प्रभाषमाणासु स्त्रीषु योगेश्वरो हरिः।
शत्रुं हन्तुं मन श्चक्रे भगवान्भरतर्षभ॥१७॥

★[2-]उपश्रुत्य गिरः स्त्रीणां[-2] पुत्रस्नेह [3]शुगातुरौ।
पितरावन्वतप्येताम् [4-]अजानन्तौ तयो र्बलम्[-4]॥१८॥

तैस्तै र्नियुद्धविधिभिः [5-]विविधै रच्युतेतरौ[-5]
युयुधाते यथाऽन्योन्यं तथैव बलमुष्टिकौ॥१९॥

भगवद्गात्रनिष्पातै र्वज्रनिष्पेषनिष्ठुरैः।
चाणूरो भज्यमानाङ्गो मुहुर्ग्लानि मवाप ह॥२०॥

---

1 G, J, P, V °भ्य ★ This verse is not found in M, Ma edns. 2- -2 G,J, सभयाः स्त्रीगिरः श्रुत्वा 3 G,J,P,V, शुचाऽऽ० 4- -4 G, J,P,V पुत्रयो स्वुधौ बलम् 5- -5 p,v, उभौ चाणूरकेशवौ 6. M,Ma त०

**श्रीध०** [1]अपिच, **प्रातरिति**। या अबला अस्य वेणुं निशम्य गृहात्तूर्णं निर्गम्य पथि सस्मितमुखं पश्यन्ति ता भूरिपुण्या इति॥१६॥

**एवमिति**। एवं सभयं ब्रुवाणासु स्त्रीषु तासां भयनिवृत्तये कृष्णः शत्रुं हन्तुं मन श्चक्रे॥१७॥

**उपश्रुत्येति**। सभयाः स्त्रीणां गिरः श्रुत्वा पुत्रयोः स्नेहेन या शुक् तया आतुरौ विह्वलौ पुत्रयो र्बलमजानन्तौ पितरावनुतापं प्रापाविति॥१८, १९॥

**भगवदिति**। तदा भगवतो गात्राणामरत्निजान्वादीनां निष्पातैः प्रहारैः वज्रस्य निष्पेषः तीव्रप्रपातः[2] तद्वन्निष्ठुरैः भज्यमानाङ्गः [3]श्लथद्गात्रः॥२०॥

---

1 J,Va omit अपि च 2 P,V omit प्र 3 J,Va गात्रः।

**वीर०** अपि च **प्रातरिति**। या अबलाः गोभिस्सह प्रातः व्रजान्निर्गच्छतः ततस्सायमाविशतश्च, वेणुं क्वणयतस्तस्य वेणुरवमाकर्ण्य गृहात्तूर्णं निर्गत्य पथि तस्य सदयोऽवलोको यस्मिन् स्मितयुक्तं मुखं पश्यन्ति, ता भूरिपुण्याः ॥१६॥

इत्थं स्त्रीषु प्रभाषमाणासु सतीषु हे भरतर्षभ, योगेश्वरो भगवान् हरिः श्रीकृष्णः शुत्रुं हन्तुं मनश्चक्रे॥१७॥

तदा पितरौ देवकीवसुदेवौ नन्दवसुदेवौ वा पुत्रयोः रामकृष्णयोः बलमजानन्तौ केवलं स्त्रीणामुक्तरीत्या प्रभाषमाणानां गिरो वचांस्याकर्ण्य अन्वतप्येता मनुतप्तवन्तौ॥ १८॥

अच्युतेतरौ कृष्णचाणूरौ अन्योन्यं नानाविधै स्तै स्तैः नियुद्धविधिभिः पूर्वोक्तपरिभ्रमणविक्षेपादिभिः यथा युयुधाते तथैव बलमुष्टिकौ रामुष्टिकौ[1-1] च युयुधाते॥ १९॥

तदा भगवतो गात्रस्य निष्पातैः अरत्निजान्वाद्रिप्रहारैः वज्रस्य निष्पेषः तीव्रप्रहारः तद्वन्निष्ठुरैः भज्यमानाङ्गश्चाणूरो मुहुः ग्लानिम् आप[2] प्राप्तवान्॥ २०॥

---

1- -1 K omits 2 T,W omit अवाप।

विज० वेणुरवं निशम्य व्रजान्निर्गत्य पथि स्थित्वा॥ १६,१७॥

इतरः चाणूरः॥ १८,१९॥

ग्लानिं प्राणसन्देहक्लेशम्॥ २०॥

स श्येनवेग उत्पत्य[1] मुष्टीकृत्य[2] करा बुभौ।
भगवन्तं वासुदेवं क्रुध्दो वक्षस्यताडयत्[3]॥ २१॥

नाऽचलत्तत्प्रहारेण स्रजा[4] हत इव द्विपः
बाह्वो र्निगृह्य चाणूरं बहुशो भ्रामयन् हरिः॥ २२॥

भूपृष्ठे पोथयामास तरसा क्षीणजीवितम्[5]
विस्रस्ताकल्पकेशस्रगिन्द्रध्वज इवाऽपतत्॥ २३॥

तथैव मुष्टिकः पूर्वं स्वमुष्ट्याभिहतेन वै[6]।
बलभद्रेण बलिना तलेनाऽभिहतो भृशम्॥ २४॥

प्रवेपितस्य रुधिरमुद्वमन्मुखतोऽर्दितः ।
व्यसुः पपातोर्व्युपस्थे वाताहत इवाङ्घ्रिपः॥ २५॥

---

1 P,T,V,W उत्प्लुत्य 2 K,T,W ०त 3. G,J,P,T,V,W ०त्यताधत 4 G,J माताहत, K,T,W स्रग्भिर्हत 5 K,T,W त्यक्त 6 k ०हृद्यभि०।

**श्रीध० स** इति। श्येनस्येव वेगो यस्य सः **चाणूरः**। **अबाधत अताडयत्**॥ २१,२२,॥

**भूपृष्ठ** इति। भूपृष्ठे भुवउपरि। पोथयामास आस्फोटयत्[1]।इन्द्रध्वजो वज्रम्। यद्वा, इन्द्रध्वजो नाम[2] गौडदेशेषु[3] प्रसिद्धः कस्मिंश्चिदुत्सवे महान् स्तम्भो ध्वजपताकाद्यचलद्भूतः पुरुषाकृतिरुच्छ्रीयते स यथा पतति तद्वदपतदिति[4]॥ २३, २४॥

**प्रवेपित** इति। अर्दितः पीडितः उर्व्युपस्थे भूतले ॥२५॥

---

1 J,Va ०स्फाल० 2 J, Va omit नाम 3 J,Va गौडेषु 4 P,V,omit अपतत्।

**वीर०** स चाणूरः श्येनस्येव वेगो यस्य सः उत्पत्य क्रुद्धः उभौ मुष्टीकृतकरौ वासुदेवं वक्षस्यताडयत् मुष्टीकृतकराभ्यां वासुदेवस्य वक्षस्यताडयदित्यर्थः। मुष्टीकृत्य इति पाठे उभौ करौ मुष्टीकृत्य॥ २१।

भगवान् तत्प्रहारेण नाऽचलत्, यथा स्रग्भिः हतस्ताडितो द्विपो गजो न चलति तद्वत् किन्तु तरसा चाणूरं बाह्वोर्गृहीत्वा बहुकृत्वो भ्रामयन् तेनैव त्यक्तं जीवितं येन तं गतप्राणं भूपृष्ठे पोथयामास आस्फोटयत्। तेनैवं पातितः चाणूरः विस्रस्ता विक्षिप्ताः केशा आकल्पाः आभरणानि स्रजश्च यस्य तथाभूतो न्यपतत्। इन्द्रध्वजो नाम गौडदेशेषु प्रसिद्धः कस्मिंश्चिदुत्सवे महान् स्तम्भो ध्वजपताकाद्यचलद्भूतः पुरुषाकृतिः उच्छ्रीयते स यथा पतति तद्वदिति॥ २२,२३॥

तथा मुष्टिकोऽपि तावत् स्वमुष्टिना ताडितेन रामेण कर्त्रा भृशं करतलेनाऽभिताडितः प्रवेपितः कम्पितः अर्दितः पीडितः मुखतो रुधिरमुद्वमन् उद्गिरन् गतप्राणो, वातेन चण्डमारुतेनाऽऽहतः उन्मूलितमूलोऽद्रिपो वृक्ष इव उर्व्युपस्थे भूपृष्ठे पपात॥ २४,२५॥

**विज०** उर्व्युपस्थे भूमिपृष्ठे॥ २१-२५॥

**ततः कूट मनुप्राप्तं रामः प्रहरतां वरः।**
**अवधील्लीलया राजन् साक्षं वाममुष्टिना॥ २६॥**

**तथैव हि[1] शलः कृष्णपदाऽपहतशीर्षकः[2-2]।**
**द्विधा विदीर्णस्तोसलक[3] उभावपि निपेततुः[4]॥ २७॥**

**चाणूरे मुष्टिके कूटे शले[5-5] तोसलके हते[6]।**
**शेषाः प्रदुद्रुवुर्मल्ला स्सर्वे प्राणपरीप्सवः॥ २८॥**

**गोपान्वयस्यानाकृष्य[7] तैस्संसृज्य[8] विजह्रतुः।**
**वाद्यमानेषु तूर्येषु वल्गन्तौ चारुनूपुरौ[9]॥ २९॥**

**जनाः प्रजह्रुषु स्सर्वे कर्मणा रामकृष्णयोः।**
**ऋते कंसं विप्रमुख्या स्साधव स्साधु साध्विति॥ ३०॥**

---

1 G,J,P,V तर्ह्येव 2- -2 K प्रपदाहत; T,W, पादावहत 3 p,v कीर्ण; T,W, विशीर्ण 4 G,J,M,Ma ०श० 5- -5 G,J शले तोशलके; M,Ma तोशले शलके 6 K °या 7 P,V ०ह्यू 8 T,V ०हत्य 9 G,J,P,V स्त; M,Ma नुत।

**श्रीध० गोपानिति।** वल्गन्तौ नृत्यादि कुर्वन्तौ॥ २६-२९॥

**जना इति।** साधु साधु इति वदन्तः॥ ३०॥

**वीर०** ततो रामः अनु समनन्तरं प्राप्तं कूटाख्यं मल्लं सावज्ञं सावहेलनं यथा तथा लीलया वाममुष्टिना अवधीत्॥ २६॥

तथैव कृष्णस्य प्रपदा पादाग्रेण ताडितशिराः शलाख्यो मल्लः, तोशलस्तु द्विधा विदीर्णः विदारितः, उभौ तावेतौ शलतोसलकौ निपेततुः॥ २७॥

इत्थं चाणूरादिषु हतेषु अवशिष्टा स्सर्वे मल्लाः प्राणपरीप्सया प्राणानामुमिच्छया, जीवितुमिच्छयेति यावत्। प्रदुद्रुवुः पलायितवन्तः प्राणपरीप्सव इति पाठे जीवितुमिच्छव इत्यर्थः ॥ २८॥

ततो रामकृष्णौ वयस्यान् सखीन्गोपान् आकृष्याऽऽहूय तैस्संसृज्य सङ्गम्य तूर्येषु वाद्येषु वाद्यमानेषु सत्सु चारुणी नूपुरे ययोस्तौ, वल्गन्तौ नृत्यादिकं कुर्वन्तौ विहृतवन्तौ। २९॥

तदा कंसं विना सर्वे जनाः रामकृष्णयोः कर्मणा नियुद्धात्मकेन नितरां हृष्टवन्तः तथा साधवो विप्रश्रेष्ठाश्च साधुसाध्वित्यूचुः॥ ३०॥

**विज०** सावज्ञ मनायासम् ॥ २६-२८॥

संसृज्य सङ्गम्य वल्गन्तौ नृत्यन्तौ तौ[1] वीक्ष्य नुतनूपुरौ स्तुततुलाकोटी। नूत (नूत्न) नूपुरौ इति केचित्। "तुलाकोटिस्तु नूपुरम्" (हला; को 2- 406) इति॥ २९, ३०॥

---

1 Ma omits तौ।

**हतेषु मल्लवर्येषु विद्रुतेषु च भोजराट्।**
**न्यवारयत्स्वतूर्याणि वाक्यञ्चेदमुवाच ह॥ ३१॥**

**निस्सारयत दुर्वृत्तौ वसुदेवात्मजौ[1] पुरात्।**
**धनं हरत गोपानां नन्दं बध्नीत दुर्मतिम्॥ ३२॥**

वसुदेवस्तु दुर्मेधा हन्यता माश्वसत्तमः।
उग्रसेनः पिता चाऽपि सानुगः परपक्षगः॥ ३३॥

कंसवधघट्टः

एवं विकत्थमाने वै कंसे प्रकुपितोऽव्ययः।
लघिम्नोत्पत्य तरसा मञ्चमुत्तुङ्गमारुहत्॥ ३४॥
तमापतन्त मालोक्य मृत्युमात्मन आसनात्[2]
मनस्वी सहसोत्थाय जगृहे सोऽसिचर्मणी॥ ३५॥

---

1 T,W ०व सुतौ 2 G,J ०विशन्त०

श्रीध० एवमिति। अव्ययोऽश्रमः। लघिम्ना लाघवेन॥ ३१-३५॥

वीर० इत्थं मल्लवर्येषु चाणूरादिषु[1-] हतेतु, अवशिष्टेषु[-1] पलायितेषु[2-] च[-2] सत्सु भोजराट् कंसः तूर्याणि न्यवारयत्।[3] इदं वक्ष्यमाणं वाक्यमुवाच च ॥ ३१॥

तदेवाऽऽह - निस्सारयतेति द्वाभ्याम्। दुर्वृत्तौ वसुदेवस्याऽऽत्मजौ, द्वितीयान्तमिदम्। पुरान्निस्सारयत निष्कासयत। स्वभृत्यान् प्रति इयमुक्तिः। गोपानां धनं हरत गृह्णीत। तथा दुष्टा बुद्धि र्यस्य तं नन्दं बध्नीत बद्धं कुरुत॥ ३२॥

असत्तमो दुरात्मा वसुदेवः आशु शीघ्रं[4] हन्यताम्। तथा नोऽस्माकं पिता उग्रसेनश्च परपक्षगः शत्रुपक्षपाती, हेतुगर्भमिदम्। तत्त्वात् सानुगो हन्यताम्॥ ३३ ॥

इत्येवं कंसे विकत्थमाने विरूद्धं यथा तथा कथयति सति अव्ययो भगवान् प्रकुपितो लघिम्ना लाघवेन उत्पत्य[5] तरसा बलेन उत्तुङ्गमुन्नतं मञ्चं कंसाधिष्ठितं पीठ मारुरोह॥ ३४ ॥

तदा तात्कालिककर्तव्याभिज्ञः कंसः स्वमृत्युमिवाऽऽपतन्तं कृष्णमालोक्य सहसा त्वरया आसनादुत्थाय खड्गखेटौ जगृहे॥ ३५ ॥

---

1- -1 T omits 2- -2 T omits 3 T.w इत्थं 4 T.W omit शीघ्रं 5 T.W उत्प्लुत्य।

विज. निस्सारयत निर्गमयत॥ ३१, ३२ ॥

लघिम्ना पक्षिवत् लाघवेन। अव्ययः योगवित्। प्रधानपुरुषेश्वरः इत्यर्थः॥ ३३, ३४ ॥

मनस्वी धीरः॥ ३५ ॥

तं खड्गपाणिं विचरन्तमाशु श्येनं यथा दक्षिणसव्यमम्बरे।
समग्रहीद्दुर्विषहोग्रतेजा यथोरगं तार्क्ष्यसुतः प्रसह्य॥ ३६ ॥

[1]प्रगृह्य केशेषु चलत्किरीटं निपात्य रङ्गोपरि तुङ्गमभ्रात्।
तस्योपरिष्टात्स्वयमब्जनाभः पपात विश्वाश्रय आत्मतन्त्रः॥ ३७ ॥★

[2]कंसं परेतं विचकर्ष भूमौ हरिर्यथेभं जगतो विपश्यतः।
हा हेति शब्दस्सुमहांस्तदाऽ भूदुदीरित स्सर्वजनैर्नरेन्द्र॥ ३८ ॥

स नित्यदोद्विग्नधिया तमीश्वरं पिबन्नदन्वा [3]विचरन् [3]स्वपन् श्वसन्।
ददर्श चक्रायुधमग्रतो [4]यत [4]स्तदेव रूपं दुरवाप माप॥ ३९ ॥

तस्याऽनुगा [5]भ्रातरोऽष्टौ कङ्न्यग्रोधकादयः।
अभ्यधाव न्नति क्रुद्धा भ्रातु [6]र्निर्देश कारिणः॥ ४० ॥

---

1 M, Ma नि, ★ कंसोऽपि कृष्णेन जगन्नयैकनिवासभूतेन निपात्य सोऽधः। तेनाऽऽत्मतन्त्रेण च पीडितोऽसुं तत्याज राजन्निमिषान्तरेण ।This extra verse is found in M,Ma edns. without commentary. 2. G.J. तं सम्य० 3 G,J,K ०न्वदन् बाबि०, T.W. ०न्वदन्वाऽपि 4- -4 M ०मच्युतं यत; Ma मच्युतं यतः 5. G,J,M,Ma,P,V ०जा 6 G,J ०न्नभि 7 M ०तृनि०।

श्रीध० तमिति। दुर्विषहम[1]विषह्य मुग्रं तेजो यस्य स श्रीकृष्णः॥ ३६ ॥

प्रगृह्येति। गरिष्ठत्वाय विश्वाश्रयत्व मुक्तम्। तत्र हेतुः - अब्जनाभः। कुतः? तस्योपर्येव पपात। यत आत्मतन्त्रः [2]स्वतन्त्रः॥ ३७ - ३९ ॥

तस्येति। निर्देशो निष्कृतिरानृण्यमित्यर्थः। तत्कारिणस्सन्तः ते अभ्यधावन्॥ ४० ॥

---

1 P,V °मसह्य० 2 P,V omit स्वतन्त्रः॥

वीर० अविषह्यमुग्रं तेजो यस्य स भगवान् खड्गः पाणौ यस्य तं दक्षिणतो वामतः अम्बरे ऊर्ध्वञ्च श्येनं यथा श्येनमिव चरन्तं कंसं समग्रहीत्, यथा तार्क्ष्यसुतः कश्यपपुत्रो गरुडः प्रसह्य बलादुरगं सर्पं गृह्णाति तद्वत्॥ ३६॥

ततः केशेषु प्रगृह्य दृढं गृहीत्वा चलद्विक्षिप्तं किरीटं यस्य तं कंसम् उन्नतान्मञ्चाद्रङ्गोपरि निपात्य तस्य कंसस्योपरिष्टात् स्वयमब्जनाभो भगवान्पपात। कथम्भूतः? विश्वाधारः। अनेन गरिष्ठत्व मुक्तम्। आत्मतन्त्रः स्वतन्त्रः संहर्तेत्यर्थः॥ ३७॥

ततः जगतो जनस्य पश्यतस्सतः परेतं गतप्राणं कंसं भूमौ विचकर्ष, यथा हरिः सिंहः इभं गजं, तद्वत्। तदा हे नरेन्द्र, सर्वैर्जनैः सुमहानत्युच्चैः हा हेति शब्दः उदीरितः उद्घोषितोऽभूत्॥३८॥

यतस्सदा उद्विग्नया भीतया धिया तमीश्वरं कृष्णमेव पानभोजनाद्यवस्थासु अग्रतः चक्रायुधं ददर्श, तत स्स कंसो दुरासदमपि तदेव रूपं प्राप्तवान् तत्सारूप्यलक्षणं मुक्तिमवापेत्यर्थः॥ ३९ ॥

ततस्तस्य कंसस्य भ्रातरः कङ्कादयोऽष्टौ भ्रातु र्निर्देशं निष्कृतिमानृण्यं, तत्कारिणः अतिक्रुद्धाः अभ्यधावन्॥४०॥

विज० दुर्विषहे च उग्रे च तेजसी बलार्चिषी यस्य स तथेति॥ ३६ ॥

उत्तुङ्गमश्वादवपातनादङ्गभङ्गः कथं नाऽभूत्? तत्राऽऽह - विश्वाश्रय इति। विश्वमाश्रायो यस्येति विग्रहे उक्तचोद्यनिस्तार इत्यत उक्तम् आत्मतन्त्र इति, अपराधीनत्वात्॥३७,३८॥

स कंसः चीर्णपुण्यफलदानार्थं कंसे स्थितो वायुः संसारावस्थायां तदुद्विग्नबुद्ध्या भीतबुद्ध्या, अन्यत्र मरणा दुद्विग्नबुद्ध्या तमीश्वरं ध्यायन् नित्यदाप्यनादौ पुनः दैत्यस्य मृत्युसमये मञ्चेऽग्रतःस्थितं यदच्युतं अविनाशि नित्यं चक्रं सुदर्शनं आयुधं यस्य स तथा ददर्श हरे रूपमाप आविष्ट इत्यर्थः। अन्यस्त्वच्युतं चक्रं छद्मैवाऽऽयुधं यस्याः तमोदेवतायाः तच्चक्रायुधमन्यथाज्ञानसाध्यं यद्दर्श तदेव तमोदेवतायाः रूपं नित्यदुःखलक्षणमाप। दुरवापमित्युभयत्रसमम्। "चक्रं सैन्ये जलावर्ते रथाङ्गे चयराष्ट्रयोः, संसारे मण्डले वृत्ते छद्मभेदास्त्रभेदयोः" (वेज.को 6-3-7) इति च॥३९,४०॥

तदाऽतिरभसांस्तांस्तु[1] संयत्तान्रोहिणीसुतः।
अहन् परिघमुद्यम्य पशूनिव मृगाधिपः॥ ४१ ॥

नेदुर्दुन्दुभयो व्योम्नि ब्रह्मेशाद्या विभूतयः।
पुष्पैः किरन्तस्तम्प्रीता[2] इशांसुर्ननृतुः स्त्रियः॥ ४२ ॥

तेषां स्त्रियो[3] महाराज सुहृन्मरणदुःखिताः[4]।
तत्राऽभ्ययु र्विनिघ्नन्त्य इशीर्षाण्यश्रुविलोचनाः[5]॥ ४३ ॥

शयानान्वीरशय्यायां पतीनालिङ्ग्य शोचतीः।
विलेपुस्सुस्वरं नार्यो विसृजन्त्यो मुहुश्शुचः॥ ४४ ॥

हा नाथ प्रिय धर्मज्ञ करुणानाथ वत्सल।
त्वया हतेन निहता वयं ते सगृहप्रजाः॥ ४५ ॥

---

1 G,J,M,Ma,P,V तथा 2. K,T,W ०स्स० 3 G,J,M,Ma ०ऽभीयु० 4 M,Ma,add ०स्व० 5 M,Ma omit वि.

**श्रीध० तदेति।** तथा तादृगतिरभसो वेगो येषां तान्। संयत्तानुद्युक्तान्॥ ४१ - ४३ ॥

**शयानानिति।** शोचन्त्यो विलापांश्चक्रुः। शुचः अश्रूणि॥ ४४ ॥

**हा नाथेति।** धर्मज्ञ इत्यादिनि विलापे प्रेमसम्बोधनानि॥ ४५ ॥

**वीर०** तदा अतिमात्रो रभसो वेगो येषां तान् संयत्तान् उद्युक्तान् रामः परिघमुद्यम्य अहन् जघान। मृगाधिपः सिंहः पशूनिव॥ ४१ ॥

तदा स्वविभूतिभूता ब्रह्मरुद्रादयः पुष्पैः किरन्तः शशंसुः तुष्टुवुः। स्त्रियोऽप्सरसो ननृतुः॥ ४२ ॥

तेषा मिति। हे महाराज तेषां कंसकङ्कादीनां स्त्रियः पत्न्यः भर्तृमरणेन हेतुना दुःखिताः स्वशिरांसि विनिघ्नन्त्यः अश्रूणि लोचनयोः यासां ताः, तत्र भर्तृसन्निधावाजग्मुः॥ ४३ ॥

वीरशय्यायां युद्धभूमौ शयानान् स्वभर्तॄनालिङ्ग्य शोचन्त्यः मुहुः शुचोऽश्रूणि विसृजन्त्यः सुस्वरं यथा तथा विलेपुः विलापं चक्रुः॥ ४४ ॥

विलापनप्रकारमेवाऽऽह - हा नाथेति। नाथेत्यादीनि विलापे प्रेमसम्बोधनानि। हतेन त्वया सहैव ते त्वदीयाः सगृहास्सप्रजाश्च वय मपि निहतप्रायाः॥ ४५ ॥

**विज०** भ्रातुर्निर्देशो[1] निष्कृतिः आनृण्यं तत्कारिणः[-1]। "सिंहव्याघ्रौ मृगाधिपौ" इति च॥ ४१ ॥

विभूतयः हरिविशेषसन्निधानपात्राणि॥ ४२, ४३ ॥

वीरशय्यायां रणभूमौ विलेपुः विलापं चक्रुः विसृजन्त्यः ददत्यः। "त्यागो विहापितं दानमुत्सर्जनविसर्जने।" (अम.को 2-428) इति (हलायुधः),॥ ४४ ॥

करुणया नाथन्ते प्रार्थयन्ते इति करुणानाथाः। तेषु वत्सल, स्निग्ध! ते तव विद्यमानाः ये पुरा सनाथा स्ते वय मिति वा॥ ४५ ॥

---

1- -1 Ma omits.

त्वया विरहिता पत्या पुरीयं पुरुषर्षभ[1]।
न शोभते वयमिव निवृत्तोत्सवमङ्गला॥ ४६ ॥

अनागसां त्वं भूतानां कृतवान्द्रोहमुल्बणम्।
तेनेमां भो दशां नीतो भूतध्रुक्को लभेत शम्॥ ४७ ॥

सर्वेषामेव[2] भूताना मेष हि प्रभवाप्ययः।
गोप्ता च, तदव ध्यायी[3-] न क्वचि त्सुख[-3] मेधते॥ ४८ ॥

श्रीशुक[4-] उवाच[-4]

राजयोषित आश्वास्य भगवान् लोकभावनः[5]।
या माहुर्लौकिकीं संस्थां हतानां समकारयत्[6]॥ ४९ ॥

मातरं पितरञ्चैव मोचयित्वाऽथ बन्धनात्।
रामकृष्णौ ववन्दाते शिरसाऽऽस्पृश्य पादयोः॥ ५० ॥

देवकी वसुदेवश्च विज्ञाय जगदीश्वरौ।
कृतसंवन्दनौ पुत्रौ सस्वजाते न शङ्कितौ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसास्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
पूर्वार्धे कंसवधो नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४४ ॥

(विजयध्वजरीत्या द्विचत्वारिंशोऽध्यायः॥)

---

1. M,Ma भरत० 2. G,J,M,Ma ०मिह 3- -3 M,Ma ० ज्ञाय न तथा सु० 4- -4 T,W omit 5. P भूति०; V भूत० 6. K,T,W ता०

**श्रीध० त्वयेति।** ते[1] त्वदीया वयमिव[2] त्वया पत्या विरहिता पुरीयं न शोभते इति स्वदृष्ट्या अभिधानम्॥ ४६॥

**अनागसामिति।** अनागसामिति तु परमार्थाभिधानम्॥ ४७ ॥

**सर्वेषामिति।** एष कृष्णः। प्रभवन्त्यस्मादिति प्रभवः। अपियन्ति लीयन्ते[3] अस्मिन्नित्यप्ययः। स च स च। तस्यावध्यानं[4] अवज्ञानं[5-] कर्तुं[-5] शीलं यस्य सः॥ ४८, ४९ ॥

मातरमिति। आस्पृश्य ईषत्स्पृष्ट्वा॥ ५० ॥

देवकीति। पुत्रं भ्रान्तिं विहाय जगदीश्वराविति ज्ञात्वा शङ्कितौ सन्तौ न सस्वजाते नाऽतिष्ठितवन्तौ। किन्तु बद्धाञ्जली तस्थतुरित्यर्थः। ★ प्रसह्य हत्वा हस्तीन्द्रं मल्लेन्द्रान्मल्ललीलया। बीभत्सचरितं कंसं संबीभत्समम्रियत॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्याया
चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४४ ॥

---

1 PV omit ते 2 J,Va omit इव। 3 P,J,Va omit लीयन्ते 4 J,Va तद्व० 5- -5 तदव्या तत्क० 6 J,Va omit सन्तौ। ★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः॥

वीर० पत्या प्रभुणा त्वया विरहितेयं पुरी हे पुरुषर्षभ! यथा वयं, तद्वत् निवृत्ताः उत्सवाः मङ्गलानि सुखानि च यस्यां तथाभूता पूर्ववन्न शोभते इति कुदृष्ट्या ऊचुः॥ ४६ ॥

अथ परमार्थदृष्ट्या ऊचुः - अनागसामिति। त्वं निरपराधानां भूतानां दुस्सहं द्रोहं कृतवान्। तेन कारणेन भो भर्तः! इमां दशां प्राप्तः। भूतेभ्यो द्रुह्यतीति तथा, सः कोवा शं सुखं लभेत? किन्तु दुःखमेवेति भावः॥ ४७॥

किञ्च। एष श्रीकृष्णः सर्वेषां भूतानां प्रभवः प्रभवन्त्यस्मादिति प्रभवः, स्रष्टेत्यर्थः। अपियन्ति लीयन्तेऽस्मिन्निति अप्ययः। संहर्तेत्यर्थः। गोप्ता रक्षिता च। अत स्तदवध्यायी तस्मिन्विषये, अवज्ञानमवज्ञा, तत्कर्तुं शीलं यस्य सः। क्वचिदपि सुखं यथा तथा नैधते न वर्धते; किन्तु दुःखमेवाऽनुवन्नश्यतीत्यर्थः॥ ४८ ॥

इत्थं शोचतो राजयोषितः सान्त्वयित्वा, लोकभावनः लोकं भावयति श्रेयोयुक्तं करोतीति तथा। तत्त्वात् हतानां यां लौकिकीं स्मार्तीं संस्थां दाहादिक्रिया माहुः मनुयाज्ञवल्क्यादयः, तामकारयत्॥ ४९ ॥

ततो रामकृष्णौ मातरं पितरं देवकीं वसुदेवञ्च बन्धनात् मोचयित्वा, तयोः पादयोः शिरसा ईषत् स्पृष्ट्वा ववन्दाते॥ ५० ॥

कृतं संवन्दनं याभ्यां तौ पुत्रौ जगदीश्वरौ विज्ञाय न शङ्कितौ कंसभयशङ्कारहितौ सस्वजाते आलिङ्गितवन्तौ॥ ५१॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीविद्याधिराजविजयतीर्थविरचितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४४ ॥

---

1 T,W ०मात्म 2 T,W भूतानि।

**विज०** प्रभव उत्पादकः अप्यय स्संहारहेतुः। "प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्" (नृ पू उ 4-2) इति श्रुतिः। यथा सुखं भवति तथा नैधते न वर्धते॥ ४६-४८ ॥

संस्थां मृतसंस्कारम्॥ ४९, ५० ॥

न सस्वजाते आलिङ्गनं न कुर्वाते। किन्तु बद्धाञ्जली तस्थुरित्यर्थः॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्या संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४४ ॥

(श्रीविजयध्वजरीत्या द्विचत्वारिंशोऽध्यायः)

---

1- -1 Ma omits

---

# पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः)

## पितृसान्त्वनघट्टः

श्रीशुक उवाच[1] -1

पितरावुपलब्धार्थौ विदित्वा पुरुषोत्तमः।
मा भूदिति निजां मायां ततान जनमोहिनीम्॥ १ ॥

उवाच पितरावेत्य साग्रजस्सात्त्वतर्षभः।
प्रश्रयावनतः प्रीणन्नम्ब! तातेति सादरम्॥ २ ॥

श्रीकृष्ण उवाच[2] -2

नाऽस्मत्तो युवयो स्तात! नित्योत्कण्ठितयोरपि
बाल्यपौगण्डकैशोराः पुत्राभ्यामभवन्क्वचित्[3]॥ ३ ॥

न लब्धो दैवहतयो र्वासो नौ भवदन्तिके।
यां[4] बालाः पितृगेहस्था विन्दन्ते[5] लालिता मुदम्॥ ४ ॥

सर्वार्थसम्भवो देहो जनितः पोषितो[6] यतः।
न तयोर्याति निर्वेशं पित्रो र्मर्त्यशतायुषा॥ ५ ॥

---

1- -1 K,T,W बादरायणिरुवाच 2- -2 G,J,M,Ma,P,V omit 3 M,Ma °भगम० 4 M,Ma ये 5 M,Ma विन्दते 6, M,Ma तः पुनः

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पञ्चचत्वारिंशाकेऽथ पितृनन्दादिसान्त्वनम्। उग्रसेनाभिषेकञ्च गुरौ वासात्पुरागमः॥

**पितरावितिः** लब्धार्थौ विदित्वेति। अयमर्थः- उप समीपे आवयोः पुत्रबुद्ध्या सांसारिकपरमसुखभोगा त्वूर्ध्वमेव तत्त्वार्थौ लब्धः आवामीश्वरसंनिति प्राप्तः परमज्ञानस्त्वोऽर्थो याभ्यां तौ तथाभूतौ ज्ञात्वा, मयि प्रसन्ने सति अनयो र्ज्ञानं नाम किं दुर्लभं स्यात्? दुर्लभन्तु मयि पुत्रप्रेम[1]। अत इदानी मेव तत्त्वज्ञानं[2] मा[3] भूदिति निजां स्वाधीनां मायां तयोः प्रसारितवानिति॥ १ ॥

तदेव दर्शयति उवाचेत्यादिभिः अष्टभिः। प्रीणन् प्रीणयन् सादरमब्रवीत्॥ २ ॥

**नेति**। अस्मत्तोऽस्यनिमित्तं नित्यमुत्कण्ठितयोरपि युवयोः पुत्राभ्यामावाभ्यां[5] कृत्वा बाल्यपौगण्डकैशोराः तत्तदवस्थानुभवसुखानीत्यर्थः, नाऽभवन्निति। अस्मत्तः पुत्राभ्यामिति सामानाधिकरण्यं वा॥ ३ ॥

किञ्च।आवामेव दैवहीनावित्याह - **न लब्ध** इति। पितृगेहस्था बालाः[7] यां मुद विन्दन्ते सा च न लब्धेति॥ ४॥

एवं तावत् श्लोकद्वयेन युवयोरावयोश्च कामहानि जतित्युक्तम्। आवयोः पुनः युष्मत्परिचर्यालोपेन धर्महानि रपि जातेत्याह- **सर्वेति**। सर्वेषां धर्मार्थाना सम्भवो यस्मिन्स देहो यतो याभ्यां जनितः पोषितश्च, तयोः पित्रो र्निर्देशं निष्कृतिम्[8] आनृण्यमित्यर्थः[9]। मर्त्यः शतसंवत्सरमात्रेणाऽऽयुषा न प्राप्नोति॥ ५ ॥

---

1 J,Va पुत्रतया 2 J,Va तज्ज्ञान 3 Va नाऽभू० 4 J,Va ° मब्रुवन् 5 P,V omit आवाभ्यां 6 P V add युवयोः 7 P,V omit बालाः 8 P,V omit निष्कृतिम् 9 J,Va omit इत्यर्थः।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ पितृसान्त्वनोग्रसेनराज्याभिषेचनोपनयनगुर्वभिगमनविद्याग्रहणगुरुदक्षिणाप्रदानात्मकं चरित्रमनुवर्णयति पञ्च चत्वारिंशेन। "विज्ञाय जगदीश्वरौ" (भाग 10-44-51) इत्युक्तम्। तत्र भगवान् मयि पुत्रे सति अनयो र्मद्विषयकं ज्ञानं न दुर्लभम्। किन्तु मन्नाथात्म्यानुभवादपि मयि पुत्रप्रेमजानन्दोऽतिरिच्यते[1] इत्यालोच्य स्वविषयकयाथात्म्यज्ञानतिरोधापिनीं मायामाततानेत्याह - **पितरावितिः**। उपलब्धः विज्ञातः अर्थः निरतिशयपुरुषार्थः आत्मा याभ्यां तथाभूतौ पितरौ विदित्वा पुरुषोत्तमो भगवान् मा भूदिति अविच्छिन्नं स्वयाथात्म्यज्ञानं मा भूदिति जनमोहिनीं माया ततान विस्तृतवान् आच्छादितवानित्यर्थः॥ १ ॥

तत स्साम्राज्यः सरामस्सात्वतर्षभो भगवानात्ममायया आत्मानं केवलं पुत्रमेव मन्वानौ पितरौ उपेत्य प्रश्रयेन विनयेन अवनतो नम्रः सादरं यथातथा हे अम्ब! हे तात! इति सम्बोधनेन प्रीणन् प्रीतिं जनयन् उवाच॥ २ ॥

उक्तिमेवाऽऽह नाऽस्मत्त इति समभिः। हे तात! अस्मत्तोऽस्मन्निमित्त नित्यमुत्कण्ठितयोरपि युवयोः पुत्राभ्या पुत्रयो रावयोः बाल्यावस्थाः क्वचिद्भवन्तिके नाऽभवन्, अन्यत्र ह्यान्कालो गतः, न तु युष्मदन्तिके इत्यर्थः॥ ३॥

तदेवाऽऽह न लब्ध इति। दैवेन हतयोः हतभाग्ययोः नौ आवयोः भवदन्तिके वासो न लब्ध; आवामेव भाग्यहीना वित्यर्थः पितृगेहस्था बालाः या मुद विन्दन्ति, सा च न लब्धेति॥ ४ ॥

एव युवयोरावयोश्च कामहानिः जातेत्युक्तम्। अथ आवयोः पुनः युष्मत्परिचर्यातोपेन धर्महानिरपि जातेत्याह - सर्वार्थसम्भव इति। सर्वेषा पुरुषार्थाना धर्मादीना सम्भवो यस्मिन् स देहो यतो याभ्यां जनितः, पोषितश्च। तयो निर्वेश निष्कृतिमानृण्य मर्त्यः शतवत्सरमात्रेणाऽपि नैति न प्राप्नोति॥ ५ ॥

---

1 TW पुत्रे।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

मुरारेर्भगवतो बन्धनशक्तेः प्रकारः प्रतिपाद्यतेऽस्मिन्नध्याये। तत्र शुकः कसवधानन्तर श्रीकृष्णेन किमकारीति राज्ञो मानस प्रश्न परिहरति पितराविति। उपलब्धः सम्यक् ज्ञातोऽर्थः[1] वस्तु नित्याप्रतिहत भगवत्स्वरूप अस्मत्सुतौ नेति याभ्या तौ तथाविधौ ज्ञात्वा मा भूत् ज्ञातमत्स्वरूपौ मा भूतामिति निरूप्य निजा माया बन्धकशक्तिं ततान विस्तृतवान्॥ १॥

प्रीणयन् प्रीति मुत्पादयन् प्रश्रये प्रकृष्टसेवायाम् अवनतः मग्नः॥ २ ॥

अस्मन्निमित्त नित्योत्कण्ठितयोर्युवयोः पुत्राभ्यामावाभ्या बाल्यपौगण्डकैशोरा वयोवस्थाः पित्रोरानन्दहेतवो नागमन् युष्मत्पुरतो बाल्यायुचिता लीला न प्राप्ता इत्यर्थः॥ ३ ॥

अप्राप्तौ निमित्त माह - नेति। दैवहतयोः भाग्यहीनयोः नौ आवयोः भवत्समीपे वासो न लब्ध इति यस्मात् ये बाला स्ते पित्रो गृहे स्थिताः या मुद विन्दन्ते सापि न लब्धेत्यन्वयः। विन्दते इति छान्दसः "अस्य प्रतिष्ठा विन्दते" (तैत्ति उ 2-7) इति श्रुतिः॥ ४ ॥

सर्वेषामर्थाना मोक्षादिपुरुषार्थाना सम्भव उत्पत्तिः यस्मात् सर्वार्थसम्भवो देहो याभ्या जनितः पुनः पोषितश्च तयोः पित्रोः शतायुषा वर्षसहस्रेणाऽपि निर्वेशं निष्कृतिं न याति मर्त्यः अल्पायुः॥ ५ ॥

---

1 Ma ज्ञातमर्थः।

वस्तयोरात्मजः कल्यः[1] आत्मना च धनेन च।
वृत्तिं न दद्यात्तं प्रेत्य स्वमांसं खादयन्ति हि॥ ६ ॥

मातरं पितरं वृद्धं भार्यां साध्वीं सुतं शिशुम्।
गुरुं[2] विप्रं प्रपन्नञ्च कल्योऽबिभ्रच्छसन्मृतः[3]॥ ७ ॥

तन्नावकल्पयोः[4] कंसाद्दुरामुद्विग्नचेतसोः।
मोघमेते व्यतिक्रान्ता दिवसा वामनर्चतोः[5]॥ ८ ॥

तत्क्षन्तुमर्हथस्तात! मातर्नौ परतन्त्रयोः।
अकुर्वतोर्वां शुश्रूषां क्लिष्टयोर्दुर्हृदो[6]र्भृशम्॥ ९ ॥

श्रीशुक[8] उवाच[-8]

इति[9] मायामनुष्यस्यहरे र्विश्वात्मनो गिरा।
मोहितावङ्कमारोप्य परिष्वज्याऽऽपतुर्मुदम्॥ १० ॥

---

1 G,J,M,Ma कल्यः 2 PV गुरून् 3 G,J,M,Ma कल्योऽ 4 G,J,M,Ma कल्य० 5 G,J,M,Ma,P,V °०सान्नित्य० 6 K,T,W ° स्तत्र7 G,J,P,V °दामृ० 8- -8 M,Ma,P,V omit 9 P,V इत्थं।

श्रीध० य इति। तन्मध्ये पितु र्यः पुत्रः कल्यः[1] समर्थः सन्नपि देहेन धनेन च पित्रोर्वृत्तिं जीविकां न सम्पादयेत्, तं प्रेत्य लोकान्तरे यमदूताः स्वस्यैव मांसं खादयन्ति हि[2] [3-]स्वमांस मिति वा[-3]॥ ६ ॥

किञ्च मात्रादिशुश्रूषामकुर्वन् विफलजीवितश्च भवतीत्याह-मातरमिति। अबिभ्रत् अपुष्णन् श्वसन्नपि मृततुल्य एवेत्यर्थः[4]॥ ७॥

तदिति। तत्तस्मात् नौ आवयोः मोघं व्यर्थम्। अनर्चतोः[5] अपूजयतोः ॥ ८ ॥

तदिति। दुर्हृदा कंसेन[6] ॥ ९,१० ।

---

1 J,Va कल्यः 2 J,Va न्तीति। 3- -3 J,Va omit 4 J,Va एवेति। 5 P,V omit अपूजयतोः 6 J,Va add कृत्वा।

वीर० तन्मध्ये पितु र्यः पुत्रः कल्यस्समर्थस्सन् आत्मना देहेन धनेन च पित्रो र्वृत्तिं जीविकां न दद्यात् न कल्पयेत् तं प्रेत्य लोकान्तरे यमदूताः स्वस्यैव मांसं खादयन्ति हि॥ ६ ॥

किञ्च समर्थोऽपि मात्रादीन्यथोचितमबिभ्रदपुष्णन् असन्नपि मृतप्रायः॥ ७ ॥

तत्तस्मात् उद्विग्नं भीतं चेतो ययोस्तयोर्वां युवयोः अनर्चतोरपूजयतोः। वामिति कर्मणस्सम्बन्धविवक्षया षष्ठी। असमर्थयोर्नौ आवयोः मोघं वृथा बहव एते दिवसाः व्यतिक्रान्ताः। यद्वा वामिति द्वितीया। अनर्चतोः, तत्र हेतुः अकल्पयोः असमर्थयोः, तत्राऽपि हेतुः नित्य कंसादुद्विग्नचेतसो नौ आवयोः मोघमेते व्यतिक्रान्ता इत्यन्वयः। कंसा-दुद्विग्नचेतसोः इत्यनैश्वर्यमभिनयतोरुक्तिः॥ ८ ॥

हे मातः! परतन्त्रयोरावयोः तत्र युष्मदर्चनायां निमित्तभूतायां तद्रागः अनुरागः। कस्मात्भूतयोः? भृशं नितरां क्लिष्टयोर्वां युष्मयोः शुश्रूषामकुर्वतोः, अत एव दुर्हृदोर्दुरात्मनोः॥ ९ ॥

इतीत्थं मायया स्वसङ्कल्पेन मनुष्यस्य हरेर्गिरा मोहितौ देवकीवसुदेवौ पुत्रावङ्कमारोप्य परिष्वज्य च मुदं प्रापतुः ॥ १० ॥

---

1 K omits असमर्थयोः

विज० अल्पायुश्चेत्कथं निष्करोतीत्यतो यावदायुः पितृपरिचर्या कार्या, अन्यथाऽनर्थः स्यादिति वक्ति-यस्तयो रिति। यस्तयोः पित्रोः आत्मना प्रेषितपुरुषमन्तरेण स्वयमेव धनेनाऽलमुद्धिजनकेन च द्रव्येण च वृत्तिं जीवनं न दद्यात् तं प्रेत्य यमलोके स्वमांसं खादयन्ति, यमभटा इति शेषः। अत्मज औरसोऽपि निर्धनश्चेत् किं कुर्यादित्यत आह-कल्प इति। देहेन धनेन च कर्तुं समर्थ इत्यर्थः। हिनाऽत्र "वृद्धौ च मातापितरौ" (मनु स्मृ. 11-1 प्रक्षिप्तः) इति स्मृतिं प्रमाणयति॥ ६ ॥

सूचित स्मृतिमर्थतः प्रतीकयति - मातरमिति। मातरं सर्वावस्थासु मानयोग्यां पितरं वृद्धं जरसा ग्रस्तं, भार्यां भरणयोग्यामपि साध्वीमसतव्रता, सुतं शिशुं स्वजीवनप्रवृत्तौ असमर्थं, गुरुं ज्ञानोपदेष्टारं, विप्रं ज्ञानपूर्णं, प्रपन्नं शरणागतञ्च एतानबिभ्रत् भरणमकुर्वन् सः असन्नपि जवित्रपि मृतः मृतकल्प इत्यर्थः। कञ्चन वृद्धं काञ्चन साध्वीं, कञ्चन शिशुं प्रेङ्खायां शयानं, कञ्चन विप्रमिति पृथग्वा अन्वेतव्यमिति॥ ७ ॥

नन्वेवमस्तु, प्रकृते किमिति तत्राऽऽह- तन्नाविति। यत एवं शास्त्रार्थः, तस्मात्कंसात् 'कसि हिंसायाम्' इति धातोः सर्वहिंसाधिकरणत्वेन, तन्नाम्नो भोजपतेः नित्यमहोरात्रमुद्विग्नचित्तयोः. अत एव वामनर्चतोः अकल्पयोः शक्तिसामग्रीहीनयोः नौ आवयोः एते इतः पूर्वे दिवसाः मोघं व्यतिक्रान्ताः इत्यन्वयः॥

एतदेव विशिनष्टि-तत्स्नन्तु मिति। दुर्हृदोः दुःखयुक्तमनसोः, "दुरशोभनदुःखयोः" (वैज को 8-7-4) इति यादवः॥ ९॥

विश्वात्मनः सर्वान्तर्यामिणः॥ १० ॥

सिञ्चन्तावश्रुधाराभिः स्नेहपाशेन संवृतौ[1]।
न किञ्चिदूचतूराजन् बाष्पकण्ठौ विमोहितौ॥ ११ ॥

एवमाश्वास्य पितरौ भगवान्देवकीसुतः।
मातामहन्तूग्रसेनं यदूनामकरोन्नृपम्[2]॥ १२ ॥

अहं चाऽऽज्ञप्तो[3] महाराज! प्रजा स्त्वाज्ञप्तु[4] मर्हसि।
ययातिशापाद्यदुभिः[5] नाऽऽसितव्यं नृपासने॥ १३ ॥

मयि भृत्यउपासीने भवतो विबुधादयः।
बलिं हरन्त्यवनताः किमुताऽन्ये नराधिपाः॥ १४ ॥

★ सर्वान् स्वज्ञातिसम्बन्धान्[6-6] दिग्भ्यः कंसभयाद्गतान्[7]।
यदुवृष्ण्यन्धकमधु दाशार्हकुकुरादिकान्[8]॥ १५ ॥

---

1 G,J,P,V चा० 2 P,V °त्पतिम् 3 K T,W °भाग 4 G J K °श्च० 5 T W °चु० ★ These additional verses(2) are found in P&V editions इत्युक्त्वाऽऽङ्ख्य पवन मुग्रसेनाय भुजुने। सुधर्माख्या सभा शक्रादाहोत्याह केशवः॥ मारुतश्च तथाऽऽहेन्द्र वासुदेवस्य शासनात्। प्रायच्छदेव राजोऽपि सभा कृष्णानुभाववित्॥ 6- -6 G,J स्वाज्ञाति, M,Ma स्वजाति 7 G,J °कुलान् 8 M,Ma °र्ह०, P,V °र्य०

---

**श्रीध०** एवमिति। आश्वास्य सान्त्वयित्वा॥ ११, १२ ॥

**आहेति**। त्वमेवाऽऽज्ञापयेति मा वदेत्याह - ययातिशापादिति। तव तु यादवत्वेऽपि मदाज्ञया न दोष इति भावः॥ १३ ॥

मम तादृशी शक्तिः नास्तीति चेत्तत्राऽऽह- **मयीति**। मत्प्रसादेन सर्वं भविष्यतीत्यर्थः॥ १४ ॥

**सर्वानिति**। स्वान् ज्ञातीन् सम्बन्धिनश्च[1] दिग्भ्य आनाय्येति॥ १५ ॥

---

1 J,Va °न्यां श्च।

**वीर०** हे राजन्! विमोहितौ अतएव स्नेह धाराभिः पुत्रावभिषिञ्चन्तौ बाष्पः कण्ठयो र्ययोस्तौ किञ्चिदपि नोचतुः॥ ११ ॥

इत्थं भगवान्देवकीसुतः पितरावाश्वास्य सान्त्वयित्वा मातामहमुग्रसेनं यदूनामधिपतिमकरोत्॥ १२ ॥

तमुवाच। उक्तिं मेवाऽऽह - "अस्मान् महाभाग" इत्यादिना, "नराधिपः" इत्यन्तेन। हे महाभाग! त्वमस्मान् त्वत्प्रजाभूतान् आज्ञापयितुमर्हसि। विधेयान् कर्तुमर्हसि। अधिपतिर्भवितुमर्हसीत्यर्थः। ननु समर्थस्त्वमेव राजा भवितुं मर्हसीत्यत आह- ययातिशापादिति। नृपासने नाऽऽसितव्य नोपवेष्टव्यम्। तव तु यादवत्वेऽपि मदाज्ञया न दोषं इति भावः॥ १३॥

नन्वहमसमर्थः, कथमधिपतिं भवितुं मर्हामीत्यत आह - मयीति। त्वद्भृत्ये मयि त्वा सेवमाने सति विबुधश्रेष्ठा अपि अवनता नम्रास्सन्तो भवते नति हरन्ति समर्पयन्ति। किमुत अन्ये नराधिपा अर्पयन्तीति, मत्प्रभावा त्सर्वे भविष्यतीत्यर्थः॥ १४॥

ततो विश्वदृग्भगवान् सर्वान् स्वज्ञातीन् स्वसम्बन्धिनश्च यादवादीन् कसभयात्पलायितान् दिग्भ्य आनाय्य सान्त्वयित्वा सभाजितान् सम्मानितान् कृत्वा परदेशावासेन कृशीभूतान् वित्तैस्सन्तर्प्य स्वस्वगेहेषु न्यवासयत्॥ १५ ॥

---

1- -1 TW omit

बिज० स्वाः प्रजाः अस्मान् ज्ञापयितुम्। यद्वा प्रजास्वासु काश्चिदस्मानिति, ययातिशापात् नृपासने यदुभिर्नाऽऽसितव्य, न स्थातव्य मिति शङ्का त्यजेति शेषः॥ ११ - १३ ॥

शङ्कात्यागे कैमुत्येन निमित्तमाह-मयीति। उपासीने सेवमाने सति॥ १४ ॥

विश्व सर्वं सृजति ददातीति विश्वसृक्। दिग्भ्य आनीय॥ १५ ॥

सभाजितान् समाश्वास्य विदेशावासकर्शितान्।
न्यवासयत्स्वगेहेषु वित्तैस्सन्तर्प्य विश्वदृक्॥ १६ ॥

कृष्णसङ्कर्षणभुजै र्गुप्ता लब्धमनोरथाः।
गृहेषु रेमिरे सिद्धाः कृष्णरामगतज्वराः॥ १७ ॥

वीक्षन्तोऽहरहः प्रीता मुकुन्दवदनाम्बुजम्।
नित्यं प्रमुदितं श्रीमत्सदयस्मितवीक्षणम्॥ १८ ॥

तत्र प्रवयसोऽप्यासन् युवानोऽतिबलौजसः।
पिबन्तोऽक्षैर्मुकुन्दस्य मुखाम्बुजसुधां मुहुः॥ १९ ॥

श्रीशुक उवाच

अथ नन्दं समासाद्य भगवान् देवकीसुतः।
सङ्कर्षणश्च राजेन्द्र परिष्वज्येदमूचतुः॥ २० ॥

---

1 G,J °कृत्, M,Ma °सृक् 2 M,Ma नित्य 3 P V °भोज 4- -4 G,J K M Ma,T W omit

**श्रीध० कृष्णेति।** सिद्धाः पूर्णाः। कृष्णरामाभ्यां गतो निवृत्तो ज्वरस्तापो येषा ते॥ १६,१७ ॥

**वीक्षन्त** इति। सदयस्मितं वीक्षण यस्मिन् तत्॥ १८ ॥

**तत्रेति।** प्रवयसो वृद्धा अपि अतिशयित बलमोजश्च येषा ते॥ १९,२० ॥

**वीर०** ततः कृष्णरामाभ्या गतो निवृत्तो ज्वरस्तापो येषा, लब्धो मनोरथः यैस्ते। सिद्धाः पूर्णकामाः कृष्णसङ्कर्षणयोः भुजैर्गुप्ताः पालिताः गृहेषु रेमिरे॥ १६,१७ ॥

दयास्मिताभ्या सहिते वीक्षणे यस्मिन् श्रीमत्सौन्दर्यवत् नित्य प्रमुदित विकसित मुकुन्दस्य मुखाम्बुज महरहः पश्यन्तो रेमिरे इत्यनुषङ्गः॥ १८ ॥

तत्र तदा प्रवयसो वृद्धा अपि मुहुर्मुकुन्दस्य मुखाम्बुजसुधा नेत्रैः पिबन्तो युवानो नितरा बलीयांसश्चाऽऽसन्। "अतिबलौजसः" इति पाठे, अतिशयित बलमोजश्च येषा तेआसन्॥ १९ ॥

**अथेति।** नन्द समासाद्य समीपमेत्य हे राजेन्द्र! तमालिङ्ग्येदं वक्ष्यमाणमूचतुः॥ २० ॥

**विज०** सिद्धा इति लुप्तोपमा, मुक्ता इव। कृष्णरामाभ्या गतज्वराः नष्टसन्तापाः कृष्णे रामेण रमणेन रत्या वा॥ १६-१८ ॥

तत्र मधुरायां प्रवयसो वृद्धा अपि युवान आसन्। तत्र किमौषधमिति तत्राऽऽह - पिबन्त इति॥ १९,२०॥

पित र्युवाभ्यां स्निग्धाभ्यां पोषितौ लालितौ भृशम्।
पित्रोरभ्यधिका प्रीतिरात्मजेष्वात्मनोऽपि हि॥ २१ ॥

स पिता सा च जननी यौ पुष्णीतां स्वपुत्रवत्।
शिशून् बन्धुभिरुत्सृष्टा नकल्पैः पोषरक्षणे॥ २२ ॥

यात सुखं व्रजं तात! वयञ्च स्नेहदुःखितान्।
ज्ञातीन्वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम्॥ २३ ॥

एवं सान्त्वय्य भगवान्नन्दं सव्रजं कुप्यादिभिः।
वासोऽलङ्कारकुप्याद्यैः[5] अर्हयामास सादरम्॥ २४ ॥

इत्युक्तस्तौ परिष्वज्य नन्दः प्रणयविह्वलः।
पूरयन्नश्रुभिर्नेत्रे[6] सह गोपैर्व्रजं ययौ[6]॥ २५ ॥

---

1 P,V साऽपि 2 G,J,M,Ma °कल्पैः 3 M,Ma °ष्णो 4 K,M,Ma,T,W प्रियम् 5 M,Ma °पैः 6- -6 K,T,W सगोपो व्रजमाययौ॥

**श्रीध० पितरिति।** भृशमात्मनोऽप्याधिक्येन पोषितौ। न चाऽऽश्चर्यमेतदित्याह - पित्रोरिति। आत्मनो देहादप्यात्मजेष्वभ्यधिका हि प्रीतिरिति॥ २१ ॥

देवकीवसुदेवयोः पुत्त्रौ युवा, नाऽस्मत्पुत्त्रौ[1] इति न वाच्यमित्याह - **स पितेति**॥ २२, २३,॥

**एवमिति।** सव्रजं व्रजवासिभिस्सहितम्। कुप्यानि स्वर्णरजतातिरिक्तकांस्यपात्रादीनि, **तत्प्रभृतिभिः॥ २४,२५॥**

---

1 J,Va इत्यपि

**वीर०** उक्ति मेवाऽऽह त्रिभिः। हे पितः। स्निग्धाभ्याम् अनुरक्ताभ्यां युवाभ्यां भृशमात्मनोऽप्याधिक्येन पोषितौ लालितौ च। न च आश्चर्यमेतदित्याहतुः- पित्रोरिति। मातापित्रोः आत्मनः स्वशरीरादप्यात्मजेषु अभ्यधिका हि प्रीतिरिति॥ २१ ॥

ननु युवयोः पितरौ देवकीवसुदेवौ नाऽऽवामित्यत्राऽऽहतुः- **स पितेति।** पोषणे रक्षणे च अकल्पैरसमर्थैर्बन्धुभिः उत्पृष्टान् त्यक्तान् शिशून्यौ स्वपुत्त्रवत्[1] पुष्णीतां पोषितवन्तौ, तावेव पितरावित्यर्थः॥ २२ ॥

अस्तु, प्रकृते किम्? तत्राऽऽहतुः-यातेति। हे तात! यूयं व्रजं प्रति गच्छत। वयं तु अत्रत्यानां सुहृदां प्रियं विधाय अस्मत्स्नेहेन दुःखितान् युष्माकं ज्ञातीन् द्रष्टुमेष्यामः आगमिष्यामः॥ २३ ॥

इत्थं सभायां सव्रजं व्रजवासिभिस्सहितं नन्दं सान्त्वय्य वस्त्रादिभिः सादरं यथातथा अर्हयामास। तत्र कुप्यानि स्वर्णरजतादिव्यतिरिक्तानि कांस्यादिपात्राणि, तत्प्रभृतिभिः॥ २४ ॥

इत्थमुक्तो नन्द स्तौ रामकृष्णबालिङ्ग्य प्रणयेनाऽनुरागेण विह्वलः अश्रुभिः नेत्रे पूरयन् गोपै स्सह व्रजं प्रति ययौ॥ २५ ॥

---

1 T,W omit स्व।

**विज० आत्मनः स्वस्मादपि॥ २१ ॥**

पुष्णीतां अपुष्णातां पोषण मकुर्वताम्। पोषरक्षणे पोषणरक्षणयोः॥ २२ ॥

वयं नोऽस्माकं, ज्ञातीन् स्नेहनिमित्तेन दुःखितान् युष्मान् द्रष्टुमेष्यामोऽधुना व्रजं यात। इदानीं आगन्तुककार्य मस्ति- तत्संसाध्येत्याह - विधायेति॥ २३ ॥

सान्त्वय्य सान्त्वयित्वा सव्रज सगोपं वासोभिरलङ्कारैश्च कुप्याग्रैः रजतहेमादिव्यतिरिक्तद्रव्यश्रेष्ठैश्च। "अकुप्यं रूप्यहेमादि (हेमाख्यं) कुप्यमन्यद्धनादिकम् (मन्यद्धनं भवेत्) (हला.को.-1-81) इति हलायुधः॥ २४,२५ ॥

श्रीरामकृष्णयोरुपनयन गुरुकुलवास गुरुपुत्रानयन घट्टः।

अथ शूरसुतो राजन् पुत्रयोस्समकारयत्[1]।
पुरोधसा ब्राह्मणैश्च यथावद्द्विजसंस्कृतिम्॥ २६ ॥

तेभ्योऽदाद्दक्षिणां[2] गावो रुक्ममाला स्स्वलङ्कृताः।
स्वलङ्कृतेभ्यस्सम्पूज्य सवत्साः क्षौममालिनीः॥ २७ ॥

याः कृष्णरामजन्मर्क्षे मनोदत्ता महामतिः[3]।
ताश्चाऽददादनुस्मृत्य कंसेनाऽधर्मतो हृताः॥ २८ ॥

ततश्च लब्धसंस्कारौ द्विजत्वं प्राप्य सुव्रतौ।
गर्गाद्यदुकुलाचार्याद्गायत्रं व्रतमास्थितौ॥ २९ ॥

प्रभवौ सर्वविद्यानां सर्वज्ञौ जगदीश्वरौ।
नान्यसिद्धाऽमलं ज्ञानं गूहमानौ नरेहितैः॥ ३० ॥

---

1 PV स्साम्न० 2 G,J,P,V °णाः 3 PV °चुतिः

श्रीध० अथेति। पुरोधसा गर्गाचार्येण द्विजसंस्कृतिमुपनयनम्॥ २६ ॥

तेभ्य इति। गावो गाः, रुक्मस्य माला विद्यन्ते यासां ताः, क्षौमवस्त्रमालावतीः॥ २७ ॥

या इति। याः पूर्वं मनोदत्ता आसन् ता एवाऽददात्। ननु ताः कंसेनाऽपहृताः? सत्यम्। राजगोष्ठा दाच्छिद्य दत्ता इत्याह - कंसेनाऽधर्मत इति॥ २८ ॥

तत इति। गायत्रं व्रतं ब्रह्मचर्यम्॥ २९ ॥

प्रभवाविति। प्रकर्षेण भवन्त्याभ्यामिति प्रभवौ। अतएव सर्वज्ञौ स्वतःसिद्धममलं ज्ञानम् प्रच्छादयन्तौ नरचेष्टितैः॥ ३० ॥

**वीर०** अथाऽनन्तरं शूरसुतो वसुदेवः पुरोधसा गर्गाचार्येण ब्राह्मणैश्च यथाविधि उभयोः रामकृष्णयोः द्विजन्मसंस्कृतिं द्विजत्वाऽऽपादकसंस्कारम् उपनयनं सम्यगकारयत्॥ २६ ॥

ततः सुश्रवलङ्कृतेभ्यो ब्राह्मणेभ्य स्सम्पूज्य दक्षिणां गावो गाश्च अदात्। कथम्भूताः? रुक्मस्य सुवर्णस्य माला यासां ताः सुष्ठु अलङ्कृताः वत्सै स्सहिताः क्षौमवस्त्रमालावतीः॥ २७ ॥

रामकृष्णजन्मनक्षत्रे या गावो मनोदत्ताः ताश्चाऽनुस्मृत्य (अददात्) ददौ। ननु ताः कंसेनाऽपहृताः? सत्यम्। राजगोष्ठादाच्छिद्य दत्ता इत्याह - कंसेनाऽधर्मत इति॥ २८ ॥

**ततश्चेति।** लब्धस्संस्कार उपनयनाख्यो याभ्यां तौ द्विजत्वं प्राप्य यदुकुलस्याचार्याद्गर्गाद्गायत्रं गर्गोपदिष्टं ब्रह्मचर्यम् आस्थितौ आश्रितौ॥ २९ ॥

अथो ततः सर्वविद्यानां प्रभवौ प्रकर्षेण भवन्त्याभ्यामिति प्रभवौ, अतएव सर्वज्ञौ स्वतस्सिद्धममलं ज्ञानं नरचेष्टाभिः प्रच्छादयन्तौ गुरुकुले वासमिच्छन्तौ काश्यं काश्यपगोत्रजमवन्तीपुरवासिनं सान्दीपनाख्यं गुरुमभिजग्मतुः[1]॥ ३०॥

---

1 T,W काश्यगो०

**विज०** द्विजसंस्कृतिं ब्राह्मणसंस्कारं उपनयनलक्षणम्॥ २६ ॥

गावो गाः, रुक्मं सुवर्णं, क्षौमाणि पुष्पमालाश्च आसां सन्तीति क्षौममालिनीः॥ २७ ॥

याः कृष्णरामयोः जन्मनक्षत्रे मनसा दत्तास्सङ्कल्पिताः ताश्च अददात्। याः कंसेनाऽधर्मेण हृताः ता अपि॥२८॥

द्विजत्वमुपनीतत्वं प्राप्य, लब्धसंस्कारौ लब्धदेहशुद्धी गायत्रं व्रतं गायत्रीजपनियमं, ब्रह्मचर्यं वा॥ २९ ॥

प्रभवौ मूलकारणे, नान्येत्येकं पद, नगनाकशब्दवत्। अन्यस्य सिद्धं न भवतीति नान्यसिद्धम् औत्पत्तिकमत एवाऽऽमतं यत् ज्ञानं तन्नरेहितैः मनुष्यचेष्टाभिः छादयन्तौ॥ ३० ॥

**अथो गुरुकुले वासमिच्छन्तावुपजग्मतुः।**
**काश्यं[1] सान्दीपनं[2] नाम अवन्तीपुरवासिनम्[3]॥ ३१ ॥**

**अथोपसाद्य[5] तौ दान्तौ गुरौ वृत्तिं मविन्दताम्[4]।**
**ग्राहयन्तावुपेतौ स्म भक्त्या देवमिवाऽऽहतौ॥ ३२ ॥**

**तयोर्द्विजवरस्तुष्ट श्शुद्धभावानुवृत्तिभिः।**
**प्रोवाच वेदानखिलान् साङ्गोपनिषदो गुरुः॥ ३३ ॥**

सरहस्यं धनुर्वेदं धर्मन्यायपथांस्तथा।
तथाचाऽऽन्वीक्षिकीं विद्यां राजनीतिञ्च षड्विधाम्॥ ३४ ॥

सर्वं तदमरश्रेष्ठौ सर्वविद्याप्रवर्तकौ।
सकृन्निगदमात्रेण तौ सञ्जगृहतुर्नृप॥ ३५ ॥

---

1 P,V स्यां 2 G,J,M,Ma °पनिं 3 G,J ह्य० 4 G,J,M,Ma °न्ति० 5 G,J,M,Ma,P,V य० 6 G,J,P,V °र्मान्या० 7 K,P,T,V,W °क्ष० 8 G,J नरवर; P,V तद्विबुध

**श्रीध० यथेति।** यथा यथावत्। उपसाद्य प्राप्य। गुरौ वृत्तिमन्यान् ग्राहयन्तौ शिक्षयन्तौ, गुरूमुपेता वुपगतौ सेवितवन्तावित्यर्थः॥ ३१,३२ ॥

**तयोरिति।** शुद्धो भावो यासु ताभिरनुवृत्तिभिः। साङ्गोपनिषदः अङ्गानि षडङ्गानि[1] शिक्षादीनि तैरुपनिषद्भिश्च सहितान्॥ ३३॥

**सरहस्यमिति।** सरहस्यं मन्त्रदेवताज्ञानसहितम्। धर्मान् मन्वादिधर्मशास्त्राणि। न्यायपथान् मीमांसादीन्। आन्वीक्षिकीं तर्कविद्याम्। षड्विधां - "सन्धिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः" (अम.को 2-4-75) इत्येवं षड्विधां राजनीतिम्॥ ३४॥

**सर्वमिति।** सकृन्निगदमात्रेण एकवारं गुरोरुच्चारणमात्रेण[2]॥ ३५॥

---

1 P,V omit षडङ्गानि 2 P,V. ०रूच्चा०

**वीर०** तौ रामकृष्णौ यथावत् तमुपसाद्य दान्तौ जितेन्द्रियौ सन्तौ निर्दुष्टां गुरौ[1] वृत्तिम् अन्यान् ग्राहयन्तौ शिक्षयन्तौ आदरयुक्तौ देवमिव भक्त्या गुरूमुपेतौ सेवितवन्ता वित्यर्थः॥ ३१, ३२ ॥

शुद्धो भावो यासु ताभिः अनुवृत्तिभिः तुष्टो द्विजवरो गुरुर्वैशिक्षाकल्पादिभिः षड्भिः उपनिषद्भिश्च सहितानखिलान् वेदान् तयोः प्रोवाच॥ ३३ ॥

तथा सरहस्यं मन्त्रदेवताज्ञानसहितं धनुर्वेदं, धर्मन्यायपथान् मन्वादिधर्मशास्त्राणि मीमांसान्यायादींश्च आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यां, षड्विधां सन्धिविग्रहयानासनद्वैधीभावसमाश्रयरूपां राजनीतिञ्च प्रोवाचेत्यन्वयः॥ ३४ ॥

**सर्वमिति।** हेनृप! तावमरश्रेष्ठौ परमपुरुषौ अतएव सर्वविद्याप्रवर्तकौ, अतएव सकृन्निगदमात्रेण उक्तिमात्रेणैव तद्गुरूपदिष्टं सर्वं सञ्जगृहतुः सम्यग्गृहीतवन्तौ॥ ३५ ॥

---

1 K गुरु

विज्ञ० यस्मादथ तस्मात्काश्यं काश्यपगोत्रजातम्॥ ३१ ॥

यथावदुपासाद्य समित्पाणी उपेतौ स्म प्रापतुः। भक्त्या दैवमिवेत्यनेन "यस्य देवे पराभक्तिः यथा देवे तथा गुरौ!" (श्वेता. उ. 6-23) इति श्रुतिं सूचयति॥ ३२ ॥

अङ्गैः शिक्षादिभिः उपनिषद्भिर्वेदान्तैः तदुपयोगिभीरहस्यज्ञानै र्वा सहितान्॥ ३३ ॥

सरहस्यं प्रयोगोपसंहारसहितं धर्मपथः वर्णाश्रमधर्मलक्षणः पूर्वमीमांसालक्षणोवा, न्यायपथान् ब्रह्मतर्कादि तर्कशास्त्रलक्षणांश्च, आन्वीक्षिकीं मीमांसाशास्त्रं वेदेतिहासाद्यर्थनिर्णयकम्। "सन्धिञ्च विग्रहञ्चैव यान मासन मेव च द्वैधीभावं संश्रयञ्च षड्गुणान् कवयो विदुः" इति षड्विधाम्॥ ३४ ॥

सकृन्निगदमात्रेण एकवारं पाठमात्रेण॥ ३५ ॥

---

1 Ma क०

अहोरात्रैश्चतुष्षष्ट्या संयतौ तावतीः कलाः।
★ततश्च कृतविद्यौ तौ कृतास्त्रौ रामकेशवौ।
गुरवदक्षिणयाऽऽचार्यं छन्दयामासतु र्नृप!॥ ३६ ॥

द्विज स्तयोस्तं महिमानमद्भुतं संलक्ष्य राजन्नतिमानुषीं मतिम्।
सम्मन्त्र्य पत्न्या स महार्णवे मृतं बालं प्रभासे वरयाम्बभूव ह॥ ३७ ॥

तथेत्यथाऽऽरुह्य महारथौ रथं प्रभासमासाद्य दुरन्तविक्रमौ।
वेलामुपव्रज्य निषेदतुः क्षणं सिन्धुर्विदित्वाऽर्हणमाहरत्तयोः॥ ३८ ॥

तमाह भगवा नाशु गुरुपुत्रः प्रदीयताम्।
योऽसाविह त्वया ग्रस्तो बालको महतोर्मिणा॥ ३९॥

समुद्र उवाच

★ नाऽहार्षं तमहं देव दैत्यः पञ्चजनो महान्।
अन्तर्जलचरः कृष्ण! शङ्खरूपधरोऽसुरः॥ ४० ॥

---

1 K °त्र० 2 G,J संयतौ; M,Ma संयती ° This extra half verse is found in M,Ma editions only 3 P,V °स्तन० 4 K,T,W संलक्ष्य 5 K T W °० 6 P,V omit ह 7- -7 P,V सिन्धुस्वाच; M,Ma omit समुद्रउवाच ★ An extra half verse- तमाह वरुणो देवो विनयावनतः स्थितः is found in M,Ma editions only 8- -8 G,J नैवाऽहार्षमहं; M,Ma नचाऽहार्षं महं 9 M,Ma °नोऽहत्

**श्रीध० अहोरात्रैरिति।** तावतीश्चतुष्षष्टिकलाः ताश्च शैवतन्त्रप्रोक्ता[1] लिख्यन्ते; यथा-

1. गीतम् 2. वाद्यम्[2] 3. नृत्यम् 4. नाट्यम् 5. आलेख्यम् 6 विशेषकच्छेद्यम्[3] 7. तण्डुलकुसुमबलिविकाराः 8. पुष्पास्तरणम् 9. दशनवसनाङ्गरागाः[4-4] 10. मणिभूमिकाकर्म 11. शयनरचनम् 12 उदकवाद्यमुदकघातः 13. चित्रयोगाः 14. माल्यग्रथनविकल्पाः 15. शेखरापीडयोजनम् 16. नेपथ्ययोगाः[5] 17 कर्णपत्रभङ्गाः[6] 18. सुगन्धयुक्तिः 19. भूषणयोजनम् 20 ऐन्द्रजालम् 21. कौचुमारयोगाः[7] 22. हस्तलाघवम् 23. चित्रशाकापूपभक्ष्यविकारक्रियाः[8] 24. पानकरसरागासवयोजनम् 25. सूचीवायकर्म 26. सूत्रक्रीडा[9-9] 27. वीणाडमरुकवाद्यानि[10-10] 28. प्रहेलिका 29 प्रतिमाला[11] 30. दुर्वाचकयोगाः 31. पुस्तकवाचनम् 32 नाटकाख्यायिकादर्शनम् 33. काव्यसमस्यापूरणम् 34. पट्टिकावेत्रबाणविकल्पाः 35 तर्ककर्माणि 36 तक्षणम् 37. वास्तुविद्या 38. रूप्यरत्नपरीक्षा 39 धातुवादः 40. मणिरागज्ञानम्[12] 41. आकरज्ञानम् 42. वृक्षायुर्वेदयोगाः 43. मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः 44. शुकशारिकाप्रलापनम् 45. उत्सादनम्[13-13] 46. केशमार्जनकौशलम् 47. अक्षरमुष्टिकाकथनम् 48. म्लेच्छितकुतर्कविकल्पाः 49 देशभाषाज्ञानम् 50. पुष्पशकटिकानि[14] मितिज्ञानम्[15] 51. यन्त्रमातृका धारणमातृका 52. संवाच्यम् 53. मानसोकाव्यक्रिया 54. अभिधानकोशः 55 छन्दोज्ञानम्[16] 56. क्रियाविकल्पाः[17] 57. छलितकयोगाः[18] 58. वस्त्रगोपनानि 59. द्यूतविशेषः 60 आकर्षक्रीडा 61. बालक्रीडनकानि[19] 62 वैनायिकीनां[20] विद्यानां ज्ञानम् 63. वैजयिकीनां विद्यानां ज्ञानम् 64. वैतालिकीनां विद्यानां ज्ञानम् इति चतुष्षष्टिकलाः छन्दयामासतुः उपलोभितवन्तौ॥ ३६ ॥

**द्विज इति।** प्रभासे क्षेत्रे महार्णवे मृतं बालं वरयामास॥ ३७ ॥

**तथेति।** ईश्वराविति विदित्वा ज्ञात्वा समुद्रः तयोरर्हणमाजहारेति॥ ३८, ३९ ॥

**नेति।** पञ्चजनस्त्वसुरोऽहार्षीत्। स च महान्, मम असाध्य इत्यर्थः॥ ४० ॥

---

1 J,Va °न्त्रोक्ता 2 J,Va °त्य० 3- -3 J,Va तितकम् नानारचना, विशेषकभेद्यम् 4- -4 MI,V अदर्शनम् 5 MI,V योगाः 6 MI,V शुद्धिः 7 MI,V add °भुख० 8 MI,V वान 9- -9 MI,V सर्ववस्तुप्रतिकृतिनिर्माणम् 10- -10 MI,V स्वस्मिन्नरूपरचना 11 MI,V दुर्वाचक 12 MI,V °वु० 13- -13 MI,V °कवि० 14 MI,V निमित्त 15 MI,V omit °वि० 16 MI,V omit °क० 17 MI,V वस्तु 18 MI,V °कानां 19 MI,V °कानां 20 MI,V °कानां

**वीर०** कियता कालेन कति विद्याः सञ्गृहतुः इत्यत्राऽऽह -**अहोरात्रेति।** अहोरात्राणां चतुष्षष्ट्या चतुष्षष्टिसंख्याकैर्दिवसैः चतुष्षष्टिविद्याः सञ्गृहतुरित्यन्वयः। ततो हे नृप! गुरुदक्षिणयेति हेत्वर्थे तृतीया। गुरवे देयदक्षिणार्थं माचार्यं छन्दयामासतुः॥ ३६ ॥

**द्विज इति।** हे राजन्! द्विजस्सान्दीपनः तयोरामकृष्णयोः तं चतुष्षष्टिदिवसैः तावत्कलाग्रहणात्मकमद्भुतं महिमानम् अतिमानुषीं मनुष्येष्वसम्भावितां चेष्टां गतिञ्चाऽकलोक्य महापुरुषाविमाविति, निश्चित्येतिशेषः। पत्न्या सह आलोच्य प्रभासे क्षेत्रे महार्णवे मृतं बालं स्वपुत्रमयाचत। हेति विस्मये। मृतप्रत्यादानमसम्भावितमिति विस्मीयते॥ ३७॥

तदा तथेत्यङ्गीकृत्य महारथौ रामकृष्णौ रथमारुह्य दुरन्तोऽपारो विक्रमो ययो स्तौ प्रभासं प्राप्य तत्र वेलां तीरं, समुद्रस्येति शेषः, उपव्रज्य क्षणं निषेदतुः उपविष्टवन्तौ। तदा सिन्धुस्समुद्रो विदित्वा ईश्वराविमाविति ज्ञात्वा तयोरर्हणं पूजामाजहार समर्पयामास, चकारेति यावत्॥ ३८ ॥

भगवान् सिन्धुमाह- किमिति। इह यो बालको द्विजपुत्रस्त्वया कर्त्रा महतोर्मिणा तरङ्गेण ग्रस्तः अन्तर्धापितः सोऽस्मद्गुरुपुत्रः आशु प्रदीयता मिति॥ ३९ ॥

इत्थ मुक्तः प्राह सिन्धुः- नाऽहार्षमिति। हे देव तं द्विजपुत्रमहं नाऽहार्षं नाऽपहृतवान्। किन्तु हे कृष्ण! पञ्चजनाख्यो दैत्योऽहार्षीत्। स च महान् ममाऽसाध्य इत्यर्थः। तदेवाऽऽह- सोऽसुरः अन्तर्जलचरः शङ्खाकृतिधरश्चाऽऽस्ते विवेक्तुमशक्य इति भावः। येन पञ्चजनेन नूनमपहृत इति सिन्धोर्वचः श्रुत्वा प्रभुः श्रीकृष्णः सत्वरं यथा तथा जलमाविश्य पञ्चजनं हत्वा तस्योदरे बालं नाऽपश्यत्। किन्तु तस्य पञ्चजनस्याऽङ्गाज्जातं शङ्खं पाञ्चजन्याख्यमादाय रथ माऽरोह॥ ४०॥

विज० चतुष्षष्ट्या संख्यया सङ्ख्यातैरहोरात्रैः कालावयवैस्तावतीः तावत्सङ्ख्याः कलाः चतुष्षष्टिकलाः विद्या इत्यर्थः। संयातौ सम्यक्प्राप्तौ। छन्दयामासतुः प्रार्थयामासतुः॥ ३६ ॥

महाण्वि प्रभासे तीर्थे॥ ३७ ॥

वेलां तीरसीमाख्याम्॥ ३८ ॥

योऽसौ गुरुपुत्रः त्वया महतोर्मिणा ग्रस्तः, सः प्रदीयता मित्यन्वयः॥ ३९ ॥

तं कृष्णम्॥ ४० ॥

★आस्ते तेनाऽऽहृतो नूनं गुरुपुत्रस्तव प्रभो!
जलमाविश्य तं हत्वा गृह्यता मित्युवाच ह॥ ४१ ॥

तदसौ जलमाविश्य हत्वा तं जलवासिनम्।
विदार्यजठरं तस्य नाऽपश्यदुदरेऽर्भकम्।
तदङ्गप्रभवं शङ्खं मादाय रथ माविशत्॥ ४२ ॥

तत स्संयमनीं नाम यमस्य दयितां पुरीम्।
गत्वा जनार्दनश्शङ्खं प्रदध्मौ स हलायुधः॥ ४३ ॥

शङ्खनिर्ह्रादमाकर्ण्य प्रजासंयमनो यमः।
तयोस्सपर्यां महतीं चक्रे भक्त्युपबृंहिताम्॥ ४४ ॥

उवाचाऽवनतः कृष्णं सर्वभूताशयालयम्।
लीला मानुष हे विष्णो युवयोः करवाम किम्?।
◊इत्युक्त स्तेन देवेशो देवकीनन्दनोऽब्रवीत्॥ ४५॥

श्रीभगवानुवाच-

गुरुपुत्त्रमिहानीतं निजकर्मनिबन्धनम्।
आनयस्व महाराज मच्छासनपुरस्कृतः। ४६ ॥

तथेति तेनोपनीतं गुरुपुत्त्रं यदूत्तमौ।
दत्त्वा स्वगुरवे भूयो वृणीष्वेति तमूचतुः☆ ॥ ४७ ॥

गु रु रुवाच

सम्यक्सम्पादितो वत्सौ भवद्भ्यां गुरुनिष्क्रि।
को नु युष्मद्विधगुरोः कामानामवशिष्यते॥ ४८ ॥

गच्छतं स्वगृहं वीरौ कीर्तिर्वामस्तु पावनी।०
गुरुणैव मनुज्ञातौ रथेनाऽनिलरंहसा।
आयातौ स्वपुरं तात पर्जन्यनिनदेन वै॥ ४९ ॥

समनन्दन्प्रजा स्सर्वा दृष्ट्वा रामजनार्दनौ।
अपश्यन्त्यौ बहूहानि नष्टलब्धधना इव॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
गुरुपुत्त्रानयनं नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४५ ॥

---

☆ 'आस्ते तेनाऽऽहृतो नूनं' इति पादेनान्वयस्य, 'आदाय रथ मास्थितः' इति पादपर्यन्तस्य भागस्य स्थाने G,J,K,T,W प्रकाशेषु तम्यमानः पाठः एव मस्ति - आस्ते तेनाऽऽहृतो नूनं, तच्छ्रुत्वा सत्वरं प्रभुः। जलमाविश्य तं हत्वानाऽपश्यदुदरेऽर्भकम्। तदङ्कप्रभवं शङ्खं मादाय रथ मास्थहत्॥ (भागमत्- J) 1- -1 This half verse is not found in M,Ma editions. 2 M,Ma सः 3 M,Ma ततस्तौ 4 M,Ma°त्वाऽन्तः 5 M,Ma °भागमत् 6 M,Ma °तः 7- -7 G,J,M,Ma मनुष्य हे विष्णो; P,V मानुष्यौ विष्णोः (ष्णोः) ◊ This half Verse is found in M,Ma edns only. 8 P,V °भाग 9 G,J पानी० ☆ The following extra verse is found in M,Ma edns. ततः प्रीतमना राजन्निदं वचन मब्रवीत्। सान्दीपनि र्महा भागो रामकृष्णा वरिन्दमौ॥ 10- -10 M,Ma, T,W omit 11 M,Ma °ता 12 G,J,P,V,T,W वत्स 13 T,W निष्क्रिय्य; M,Ma निष्क्रिया

o An extra half verse छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च' is found in G,J, edns only 14 P,V °तां 15 K,T,W गृहं 16 K वा

**श्रीध० शङ्खेति।** सपर्यां पूजाम्॥ ४१-४४ ॥

**उवाचेति।** सर्वेषां भूतानामाशया अन्तःकरणानि, तानि आलयो निवासो यस्य तम्॥ ४५ ॥

**गुरुपुत्रमिति।** निजं कर्मैव निबन्धनं यस्य तम्, तथाभूतमपि मदाज्ञापुरस्कारेण आनयतस्ते न दोषइत्यर्थः॥ ४६-४७॥

**सम्यगिति।** वत्सेति प्राधान्येन एकस्य सम्बोधनम्। "गुरोर्निष्क्रियो गुरोर्दक्षिणा, युष्मद्विधगुरोः[1] मम कामानां मध्ये को नु कामोऽवशिष्यते, न कोऽपीति॥ ४८॥

**गच्छतमिति।** हे[2-] वीरौ[-2]! अनिलवद्रंहो[3] वेगो यस्य तेन। पर्जन्यो मेघः, तद्वन्निनदो यस्य तेन॥ ४९ ॥

**समनन्दन्निति।** नष्टमदृष्टं तत्पुनर्लब्धं धनं याभिस्ता इवेति॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४५ ॥

---

1 P,V omit मम 2- -2 P,V omit 3 P,V omit वेगो

**वीर०** ततो यमस्य प्रियां संयमनीं नाम पुरीं गत्वा शङ्खं पाञ्चजन्यं दध्मौ ध्वनयामास॥ ४१ - ४३ ॥

तदा प्रजानां शास्त्रातिलङ्घिनीनां शास्ता यमः शङ्खनिर्ह्रादं श्रुत्वा आगत्य भक्त्युत्कलितां तयोः पूजां चक्रे॥ ४४॥

सर्वेषां भूतानां आशया हृदयानि तान्यालयो[1] यस्य तं कृष्णम् अवनतः प्राह- किमिति? हे लीलामानुष! लीलार्थं परिगृहीतमनुष्यसंस्थान! हे विष्णो! युवयोः किं करवाम किङ्करा वयमित्यर्थः॥ ४५ ॥

इत्थमुक्तः प्राह भगवान्- **गुरुपुत्र मिति।** इह त्वत्सन्निधावानीतं, त्वद्भटैरिति शेषः। निजकर्मनिबन्धनं स्वकर्माधीनं स्वकर्मणेह प्रापितमपि[2] अस्मद्गुरुपुत्रं, हे महाराज! यम! मच्छासनपुरस्कृतस्त्वमानयस्व मदाज्ञापुरस्कारेण आनयतस्तव न दोष इति भावः॥ ४६ ॥

तथेत्यङ्गीकृत्य तेन यमेनोपनीतं गुरुपुत्रमादायाऽऽगत्य स्वगुरवे दत्त्वा पुनर्वरान्तरं वृणीष्वेत्यूचतुः॥ ४७ ॥

एवमुक्तः प्राह द्विजः - सम्यग्विदि। हे वत्सौ! भवद्भ्यां गुरुनिष्क्रियः गुरुदक्षिणा सम्यक्सम्पादितः। युष्मद्विधयो - गुरोर्मम कामानां मध्ये को नु कामोऽवशिष्यते, न कोऽपि। अतो हे वीरौ! स्वगृहं गच्छतम। वा युवयोः कीर्तिलोकं पुनाना अस्तु, विपुला भवतु॥ ४८ ॥

इत्थं गुरुणा अनुज्ञातौ हे तात! अनिलवद्रंहो वेगो यस्य, पर्जन्यो मेघः तद्वन्निनदा यस्य तेन रथेन गृह माजग्मतुः॥ ४९ ॥

तावद्वहून्यहानि। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। अपश्यन्त्यः प्रजाः मधुरास्थाः, तदा रामजनार्दनौ, नष्टमदृष्टं पुनर्लब्धं धनं याभिः तादृश्य इव समनन्दन् सञ्जहृषुः॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४५ ॥

---

1 T,W°लयाः 2 T,W omit अपि

विज० शङ्खमत्स्यरूपधरः॥ ४१-४४ ॥

सर्वभूतानामाशयो हृदयस्थानमालयो यस्य स तथा तम्॥ ४५-४७ ॥

गुरुनिष्क्रिया गुरुकृतप्रतिक्रिया। युष्मद्विधानां पुंसां गुरोः को नु कामानां मध्ये कामोऽवशिष्यते, सर्वोऽपि कामः सिद्धो भवतीत्यर्थः॥ ४८,४९ ॥

तौ अपश्यन्त्यः॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४५ ॥

(श्रीविजयध्वजरीत्या त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः)

---

# षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः)

-: गोकुलं प्रति उद्धवप्रेषणादिकथाप्रारम्भघट्टः :-

श्रीशुक उवाच[1]

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयित स्सखा।
शिष्यो बृहस्पते स्साक्षा दुद्धवो बुद्धिसत्तमः॥ १ ॥

तमाह भगवान् प्रेष्ठं[2] भक्तमेकान्तिनं क्वचित्।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्ति हरो हरिः॥ २ ॥

गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रो र्नः[3] प्रीतिमावह।
गोपीनां मद्वियोगार्धि[4] मत्सन्देशै र्विमोचय॥ ३ ॥

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
★मामेव दयितं[5] प्रेष्ठ मात्मानं मनसा[6] गताः
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम्॥ ४ ॥

मयि ताःप्रेयसां[7] प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग[8] विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविक्लबाः[9]॥ ५ ॥

धारयन्त्यति कृच्छ्रेण प्रायः प्राणान्कथञ्चन।
प्रत्यागमन सन्देशै र्बलु[10]यो मे मदात्मिकाः॥ ६ ॥

---

1- -1 K.T.W. बादरायणिरुवाच 2 K.T.W. श्रे० 3. G.J. नौ 4. K.T.W. ०र्तिं ★ This extra half verse is not found in J.edition 5. K.T.W श्रे० 6. K.T.W ०साऽगमन् 'बिभर्मि' इत्यस्य स्थाने 'बिभेमि' इति पाठान्तरम् विजयध्वजरीत्या स्यात् इति ज्ञायते। 7. K.T.W. श्रे० 8 M.Ma ०न्त्यङ्ग 9. G.J K.M.I.V. विह्वलाः 10. M.Ma र्वलन्या

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

षट्चत्वारिंशके घोष मुद्धवं प्रेष्य तद्गिरा। यशोदा नन्दयोश्चक्रे कृष्णश्शोकापनोदनम्॥

कामचारं द्विजाति स्सन्परित्यज्याति संयतः। गुरोर्ज्ञान मनुप्राप्य सख्या गोपी रुपादिशत्॥

गोपीनां सान्त्वनमतिरहस्यं सन्मन्त्रिसाध्यमिति तदर्थमुद्धवं विशिनष्टि - **वृष्णीना** मिति। प्रवरः उच्चकुलत्वात् मन्त्री विश्वासास्पदत्वात् श्रीकृष्णस्याऽतिवल्लभत्वात् यादवैर्वृष्णिभिश्चादरणीयः। बुद्धिसत्तमः बुद्धया अतिश्रेष्ठः॥ २-३ ॥

गोपीनां विशेषतस्सन्देशे कारणमाह - **ता** इति। मय्येव सङ्कल्पात्मकं मनो यासां ताः अहमेव प्राणा यासां ताः, मम प्राणभूता इति वा। मदर्थे त्यक्ता दैहिकाः पतिपुत्रादयः भोजनपानवस्त्रभूषणस्रक्ताम्बूलादयो वा याभि स्ताः। ततः किमत आह - य इति। मन्निमित्तं त्यक्ता लोक धर्मा इहाऽमुत्र सुखे तत्साधनानि च यैस्तान् बिभर्मि पुष्णामि सुखयामीत्यर्थः॥ ४ ॥

तासां वियोगार्थि दर्शयति श्लोकद्वयेन **मयीति**। विरहेणौत्कण्ठ्यं तेन विह्वलाः परवशाः॥ ५ ॥

**धारयन्तीति**। गोकुलान्निर्गमन समये शीघ्रमागमिष्यामीति ये प्रत्यागमनसन्देशा स्तैः मे मदीया वल्लभ्यो गोप्यः मदात्मिका इति, तासामात्मा स्वदेहे यदिस्यात् तर्हि विरहतापेन दह्येतैव। तस्य मयि वर्तमानत्वात्कथञ्चिज्जीवन्तीति भावः॥ ६॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथाऽध्यायत्रयेण भगवतस्स्वसखोद्धवमुखेन गोपीसान्त्वनात्मकं चरित्रमनुवर्ण्यते। गोपीसान्त्वनमतिरहस्यं सन्मिन्त्रसाध्यमित्येतदर्थमुद्धवं विशिनष्टि **वृष्णीनामिति**। दयितस्सखा प्रियसखः साक्षात् बृहस्पतेः शिष्यः। अनेन बुद्धिकौशलं सूचितम्। **बुद्धि सत्तमः** निसर्गतोऽपि **बुद्धया श्रेष्ठः**॥ १ ॥

**तमिति**। क्वचिन्निर्जने देशे। प्रपन्नार्तिहरः हेतुगर्भमिदम्; तस्मात्सन्देश प्रेषण मुचितमितिभावः॥ २ ॥

तदेवाऽऽह - **गच्छेति**। हे उद्धव। हे सौम्य। नोऽस्माकं पित्रोः नन्दयशोदयोः प्रीतिमावह हर्षं जनय, मत्सन्देशैरित्यपकर्षः। मद्वियोगाद्धेतोः य आधिर्मनः पीडा तं मोचय त्याजय॥ ३ ॥

गोपीनां विशेषतः सन्देशनयनकारणमाह - **ता** इति। मय्येव सङ्कल्पात्मकं मनो यासाम्, अहमेव प्राणो यासां ताः। मदर्थे त्यक्तदैहिकाः त्यक्तदेहपोषणाः मामेव दयितं दयाऽस्य सञ्जातेति दयितः तं दयावन्तं प्रियतमम् तत्र हेतुः - आत्मानं मनसा अगमन्। गत्यर्थाः बुद्ध्यर्थाः, अध्यवसितवत्यः सन्त्वेवं विधास्ताः किं तव इत्यत आह - ये जनाः मदर्थे त्यक्ता लोकधर्मा यैस्ते तान् बिभर्मि संवर्धयामि सुखयामीति यावत्॥ ४ ॥

तासां वियोगार्थि दर्शयति द्वयेन - **मयि ता इति** प्रेयसां प्रीतिविषयाणां मध्ये निरतिशय प्रीतिविषये दूरस्थेऽपि मयि विषय भूते स्मरन्त्यः ता गोकुलस्थाः स्त्रियः अङ्ग हे उद्धव। विरहेण यदौत्कण्ठ्यं तेन विह्वलाः परवशाः मुह्यन्ति देहधर्मान्विस्मरन्ति॥ ५ ॥

किञ्च, गोकुलान्निर्गमनसमये शीघ्रमागमिष्यामीति ये प्रत्यागमन सन्देशाः तैर्मदीया बलव्यो गोप्यः, मच्चित्ताः कथञ्चित् कृच्छ्रेण क्लेशेन प्रायः[2] प्राणान् धारयन्ति। विरहतापेन दह्यन्त एव। मच्चित्तत्वात्कथञ्चिज्जीवन्तीति भावः॥ ६॥

---

1- -1 T.W. omit 2. T.W. omit प्रायः

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भगवन्मनोवशीकरणार्थं भक्तिरेव प्रधानसाधनमिति दर्शयितुं हेरगोपीष्वनुकम्पित्वं निरूपयत्यस्मिन्नध्याये। तत्र कृष्ण उद्धवं गोकुलं गमयितुं वक्ति **वृष्णीनामिति**॥ १ ॥

य एवंविधगुणोपेत उद्धव स्तमाह क्वचिद्रहसि॥ २ ॥

मद्वियोगेन मम विरहेण य आधिस्तं मत्सन्देशैर्मदीयाज्ञावचनैः॥ ३ ॥

अहमेव प्राणो जीवनं यासां तास्तथा। त्यक्तदैहिकाः दूरीकृतदेहधर्माः दयितं इष्टस्य दातारं प्रेष्ठं स्वशरीरादेरपि प्रियतमं आत्मानं सन्ततानुगतरूपम्। स्व स्व भक्तवात्सल्यं कथयति य इति। ये ये जना मदर्थे मां निमित्तीकृत्य त्यक्तलोकधर्माः लोको देहः तद्धर्माः अशनवसनानुलेपनादि लक्षणा स्त्यक्ता यै स्ते तथा। यद्वा त्यक्ताः स्वर्गादि लोक विषयाः धर्माः यागादि सुकृत लक्षणाः मदर्थे मन्निमित्ते निवृत्तौ वर्तमाना ये ते। यद्वा मामुद्दिश्य त्यक्ता दत्ता लोकधर्माः जनविषयाः नमनाद्याचारा यै स्ते। अहं तान् बिभेमि तेभ्यो भीतोऽस्मि। बिभर्मि रक्षितास्मि। मत्सायुज्य मावहन्तीति भक्तवश्यतां दर्शयति बिभर्मि वा॥ ४ ॥

विरहेणोत्पन्नमौत्कण्ठ्यं उत्कण्ठारागित्वं तेन विक्लबाः॥ ५ ॥

प्रत्यागमनसन्देशैः आगमिष्यति युष्मत्प्रेष्ठः कृष्ण इत्यादिवाक्यैः। मयिआत्मा मति मनःशक्तिः, मतिर्बुद्धिः यासां ताः। तथा मत्स्वभावा वा॥ ६ ॥

### श्रीशुक[1] उवाच

**इत्युक्त उद्धवो राजन् सन्देशं[2] भर्तु[3] रादृतः।**
**आदाय रथमारुह्य प्रययौ नन्दगोकुलम्॥ ७ ॥**

**प्रामो नन्दव्रजं श्रीमान्[4] निम्लोचति[5] विभावसौ।**
**छन्नयानः प्रविशतां पशूनां खुररेणुभिः॥ ८ ॥**

वाशितार्थै[6] नियुध्यद्भिः नादितं शुष्मिभिर्वृषैः।
धावन्तीभिश्च वास्राभि रूधो भारैश्च वत्सकान्[7]॥ ९ ॥

इतस्ततो विलङ्घद्भिः गोवत्सै[9] र्मण्डितं सितैः[8]।
गोदोह शब्दाभिरवं[10] वेणूनां[11] निस्वनेन च॥ १० ॥

गायन्तीभिश्च कर्माणि शुभानि[12] बलकृष्णयोः।
स्वलङ्कृताभि गोपीभि र्गौ[13-] पैश्च[-13] सुविराजितम् ॥ ११ ॥

---

1- -1 M.Ma.T.W. omit 2 M.Ma ०शान् 3. M.I.V. ०रात्मनः 4. K.T.W. ०मन् 5 M.I.V. निम्नो 6. G.J.M.I.V. °र्थेऽभि० 7. M.I.V. °श्रा० 8. M.Ma भरेण व०; G,J,M,I,.V.भारैः स्व० 9- -9 M.Ma वृषद्भिः गोभिर्वत्सैश्च गुम्फितम्। 10. K.T.W. ०वैः 11. G.J.M.Ma निः 12. K.T.W. शुद्धानि 13- -13 M.Ma गोवत्सैर्मण्डितं सितैः

**श्रीध० इतीति**। सन्देशं "भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना क्वचित्" (भाग०. 10-47-29) इत्यादिकम्॥ ७॥

**प्राप्त** इति। निम्नोचति अस्तं गच्छति सति, छन्नं यानं यस्येति। तदा गोपीभि रज्ञातत्वेन नन्दसङ्क लब्धवानिति सूचयितुम्[1]॥ ८ ॥

व्रजं वर्णयति पञ्चभिः **वाशितार्थ** इति। वाशिताः पुष्पवत्यो गावः तन्निमित्तमभितो युध्यद्भिः शुष्मिभिः मत्तै र्गोवृषै र्नादितं वाश्राभिः धेनुभिः, स्ववत्सकान्प्रति॥ ९ ॥

**इतस्तत** इति। विलङ्घद्भिः उत्पतद्भिः गोदोहशब्दैः सहाभितो रवाः मुञ्च, मां मुञ्च नय, आनय, गृहाण देहि इत्यादयो यस्मिन् तत्। वेणूनां निस्वनेन च मण्डितम्[2]॥ १० ॥

**गायन्तीभिरिति**। गायन्तीभिः गोपीभिः[3] गोपैश्च सुविराजितम्॥ ११ ॥

---

1. J. ०यति ॥ ८ ॥ 2. M.I.V. omit मण्डितम् 3. V. omits गोपीभिः।

**वीर०** इत्थमुक्त उद्धवः हे राजन् आहतः भर्तुर्भगवतस्सन्देशं "भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना क्वचित्" (भाग० 10-47-29) इत्यादिना वक्ष्यमाण मादाय रथमारुह्य नन्दगोकुलं जगाम॥ ७ ॥

तदा[1-] कीदृशश्च प्राप्तः इत्यत आह[-1] **प्राप्त** इति। **विभावसौ सूर्ये निम्नोचति**[2] अस्तङ्गच्छति सति श्रीमत्सम्पत्तिमत् नन्दव्रजं प्राप्तः, अक्रूरवद्भक्त्युद्रेकात् मध्ये वितम्भ्याऽस्तमयवेलायां व्रजं प्राप्त इति भावः। कथम्भूतः? प्रविशतां पशूनां[3], खुरेणुभिः छन्नं यानं रथो यस्य सः। अनेन गोपीभिरज्ञात स्सन्नन्दसङ्कमं लब्धवानिति सूच्यते॥ ८ ॥

व्रज वर्णयति पद्मभिः। वाशिताः पुष्पिण्यो गावः, तदर्थं सयोगार्थमेमांत यावत्। परस्पर नियुध्यद्भिः शुष्मिभिः मत्तैः वृषै नंदित, तथा वास्राभिः धेनुभिः ऊधो भारैः उपलक्षिताभिरिति शेषः। वत्सान् प्रति धावन्तीभिः मण्डितम्॥ ९॥

तथा इतस्ततः विलङ्घद्भिः सितैर्मुद्धैश्च गोवत्सैश्च मण्डित गोदोहशब्दैस्सह अभिरवाः वत्स मुञ्च, मामुञ्च, नय मा नय इत्यादि विधाः तैः वेणूना स्वनेन च॥ १० ॥

रामकृष्णयोश्चेष्टितानि गायन्तीभिः गोपीभिः गोपैश्च स्वलङ्घनैरिति लिङ्ग०यत्ययेन सम्बन्धः सुविराजितम्॥ ११॥

---

1- -1 TW omit 2 K निम्लो० 3 K omits पशूना

विज० विभावसौ सूर्ये निम्लोचति अस्त गच्छति सति "सूर्यवह्नी विभावसू" (अम को 3-381) इति। दिवाकरे (पाठान्तर) इति केचित्। यान रथः॥ ७, ८ ॥

वाशितार्थे सम्भोगार्थे, वृषकामिनी वासिता वा शुष्म स्थेमा दृढ बलमेषामस्तीति शुष्मिणः तैः। ऊधोभारेण युक्ताभिः वास्राभिः वत्सलोलुपाभिः॥ ९ ॥

गोभिः वत्सैश्च गुम्फित नादित "गवा यो निनदो गुम्फा" (वैज को ) इति यादवः। "इतस्ततो ववृधद्भिः गोपैश्च सुविराजितम्" इति पाठः। ववृधद्भिः उत्पतद्भिर्नृत्यद्भिर्वा। इतस्ततो विलङ्घद्भिः" इति केचित्पठन्ति। विलङ्घन कुर्वद्भिः॥ १०, ११ ॥

अम्यर्कातिथि गोविप्र पितृदेवार्चनान्वितैः।
धूपदीपैश्च माल्यैश्च गोपावासैर्मनोरमम्॥ १२ ॥

सर्वतः पुष्पितवनं द्विजालिकुलनादितम्।
हंसकारण्डवाकीर्णैः पद्मषण्डैश्च मण्डितम्॥ १३ ॥

तमागतं समालोक्य कृष्णस्यानुचरं प्रियम्।
नन्दः प्रीतः परिष्वज्य वासुदेवधियाऽऽर्चयत्॥ १४ ॥

भोजितं परमान्नेन संविष्टं कशिपौ सुखम्।
गतश्रमं पर्यपृच्छत्पाद संवाहनादिभिः॥ १५ ॥

5- -5
नन्द उवाच

कच्चिदङ्ग महाभाग सखा न शूरनन्दनः।
आस्ते कुशल्यपत्याद्यै युक्तो मुक्तः सुहृद्वृतः॥ १६ ॥

---

1 M.Ma ०पैर्दी० 2 K.TW ०र्ण० 3 M.Ma ०ख० 4 G.J.M.V ०माल्य, K.TW ०कार्य 5- -5 G.J.M.V omit.

**श्रीध०** अग्नीति। अम्याद्यर्चनान्वितैः गोपगृहैः धूपदीपादिभिश्च मनोरमम्॥ १२ ॥

**सर्वत** इति। ष ण्डा स्समूहः॥ १३ ॥

**तमिति**। आर्चयत् पूजयामास॥ १४ - १६ ॥

---

1- -1 J षण्डै स्समूहैः

**वीर०** अम्याद्यर्चनान्वितैः गोपगृहैः धूपादिभिश्च मनोरमम्। मनोरमैरिति पाठे तै र्गोपावासै र्धूपादिभिश्च सु विराजितमिति सम्बन्धः॥ १२ ॥

परितः पुष्पितानि वनानि यस्मिन्, द्विजानां पक्षिणां भृङ्गाणाञ्च समूहै र्नादितं, हंसैः कारण्डवै र्जलकुक्कुटैश्चावकीर्णं व्याप्तं पद्मसमूहैश्च मण्डितं, हंसकारण्डवाद्याकीर्णपद्मषण्डमण्डितसरः प्रान्तवर्ति द्विजालिकुलनादित पुष्पितवन मण्डितमित्यर्थः॥ १३॥

तावत्कञ्चित्समागतं ततस्तं कृष्णस्यानुचरं प्रियश्चोद्धवमाकर्ण्य, अभ्येत्येति शेषः। प्रीतः परिष्वज्य भगवद्भद्धया पूजयामास॥ १४ ॥

ततः परमेणोत्कृष्टेन अन्नेन भोजितम्। परमान्नेनेति कर्मणः करणत्वविवक्षया तृतीया। परमान्नं भोजितमित्यर्थः। कशिपौ पर्यङ्के सुखं यथा तथा संविष्टं, गतोध्वश्रमो यस्य तम् उद्धवं पादसंवाहनादिभिः परिचरन्निति शेषः। पर्यपृच्छत्॥ २५॥

प्रश्नमेवाह - **कच्चिदित्यादिना**। अङ्ग! हे महाभाग! नोऽस्माकं सखा शूरनन्दनो वसुदेवः मुक्तः बन्धनादिति शेषः। सुहृद्भिः वृतः अपत्यादैस्सह कुशली सुखी आस्ते कचित्॥ १६॥

**विज०** कशिपौ शयनतल्पे॥ १२ - १५ ॥

मुक्तः बन्धनक्लेशात्॥ १६ ॥

**दिष्ट्या कंसो हतः पापः सानुगःस्वेन पाप्मना।**
**साधूनां धर्मशीलानां यदूनां द्वेष्टि य स्सदा॥ १७ ॥**

**अपि स्मरति नः कृष्णो मातरं सुहृदस्सखीन्।**
**गोपान्व्रजञ्चाऽऽत्मनाथं गावो वृन्दावनं गिरिम्॥ १८ ॥**

अप्यायास्यति गोविन्दः स्वजनान्सकृदीक्षितुम्[2]।
तर्हि[3] द्रक्ष्यामि[4] तद्वक्त्रं[5] सूनासं सुस्मितेक्षणम्॥ १९ ॥

दवाग्नेर्वातवर्षाच्च[6] वृषात्सर्पाच्च[7] रक्षिताः।
दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन सुमहात्मना॥ २० ॥

स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापाङ्गनिरीक्षणम्[8]।
हसितं भाषितञ्चाङ्ग! सर्वा न शिथिलाः क्रियाः॥ २१ ॥

---

1 MIV, नाथान् 2 MMa ०नं स० 3 MIV क० 4 GJMMaMIV ०म 5 GJKMMa ०न० 6 GJMMa दा० 7 GJMIV ०व्स 8 GJMIV ०क्षितम्

**श्रीध० दिष्ट्येति**। साधूनामित्यादि कर्मणि षष्टी॥ १७ ॥

**अपीति**। गावो गाः, गिरिं गोवर्धनम्॥ १८ ॥

**अपीति**। अप्यायास्यति आगमिष्यति किम्॥ १९ ॥

श्रीकृष्णोपकार स्मरणादिभिः अनुपमाऽऽनन्देन अभिभूयमान आह - **दवाग्नेरिति**। वाताद्वर्षाच्चेति। वृषात्सर्पाच्चेति। अन्येभ्यः दुरतिक्रमेभ्यो मृत्युभ्यः श्रीकृष्णेन रक्षिताः स्मः॥ २० ॥

किञ्च **स्मरता मिति**। लीलया अपाङ्गेन निरीक्षितम् अङ्ग! हे उद्धव!॥ २१ ॥

**वीर०** पापः कंसः सानुगः स्वकीयेन दुष्टेन कर्मणा निदानेन हतः, दिष्ट्या! अयं नो महानानन्द इत्यर्थः। पापमेव व्यनक्ति - साधूनामिति। कर्मणि षष्टी। यः कंसः साधून् धर्मएव शीलं येषां तान्यदून् द्वेष्टि अद्विक्षत् इत्यर्थः॥ १७॥

पित्रादिरूपान्नोऽस्मान् आत्मा स्वयं नाथो यस्य तं व्रजम्, गावो गाः, बृन्दावनं गिरिं गोवर्धनञ्च अपि स्मरति स्मरति किमित्यर्थः॥ १८ ॥

अप्यायास्यति आगमिष्यति किम्? तर्हि यदा आयास्यति तदा तस्य मुकुन्दस्य वक्त्रं द्रक्ष्यामि कथम्भूतम्? शोभना नासिका यस्मिन्, सुस्मिते शोभनस्मितयुक्ते ईक्षणे यस्मिन् तत्॥ १९ ॥

भगवत्कृतानुपकारान् अनुस्मरति **दवाग्नेरिति**। वाताद्वर्षाच्च, वृषात्सर्पाच्च, अन्येभ्यश्च दुरतिक्रमेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन वयं रक्षिताः। कथम्भूतेन? सुमहात्मना आश्रितार्तिहारि स्वभावेन॥ २० ॥

आत्मनामवस्थानप्रकारमेवाऽऽह- अङ्ग! हे उद्धव, भगवतो वीर्याणि चेष्टितानि, लीलया अपाङ्गेन निरीक्षणञ्च हसितञ्च भाषितञ्च स्मरतां[1] नोऽस्माकं, सर्वाः क्रिया व्यापाराश्शिथिलाः॥ २१ ॥

---

1 TW. omit स्मरता

**विज०** दिष्ट्या स्वकृतेन। यदूनामिति षष्ठी द्वितीयार्थे, कर्मपद मित्यध्याहार्यं वा॥ १७ ॥

मातरः मातृः, गावो गाः॥ १८ - २० ॥

क्रियाः गृहादिविषयाः॥ २१ ॥

**सरिच्छैलवनोद्देशान् मुकुन्दपदभूषितान्।**
**आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम्॥ २२ ॥**

**मन्ये कृष्णञ्च रामञ्च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ।**
**सुराणां महदर्थाय[1] गर्गस्य वचनं यथा॥ २३ ॥**

**कंसं नागायुतप्राणं मल्लान्[2] गजपतिं तथा।**
**अवधिष्टां[3] लीलयैव पशूनिव मृगाधिपः॥ २४ ॥**

**तालत्रयं महासारं धनुर्यष्टिमिवेभराट्।**
**बभञ्जैकेन हस्तेन सप्ताह मदधाद्गिरिम्॥ २५ ॥**

**प्रलम्बो[4] धेनुकोऽरिष्टः[5] तृणावर्तबकादयः[6]।**
**दैत्याः सुरासुरजितो हता ये नेह लीलया॥ २६ ॥**

---

1 K.TW ०तेऽ० 2 G.J M Ma ०ल्लौ 3 M I V ०धीत्तान् 4 M I V ०म्ब 5- -5 M I ०कारिष्ट 6 G J ०र्तो

**श्रीध०** न केवलं शिथिला एव। किन्तु, शनैरुपरमन्तीत्याह - **सरिदिति**। सरितश्च शैलाश्च वनोद्देशाश्च तान् आक्रीडान् क्रीडास्थानानि॥ २२ ॥

**मन्य** इति। सुराणामर्थाय, महद्गम्भीरं, गर्गस्य वचनं यथा॥ २३ ॥

न केवलं तद्वचनानुसारेणैव व्यवहारसम्बन्धाद्रूपीत्याह - **कंसमिति**॥ २४ ॥

**तालत्रयमिति।** इभराट् यष्टिमिव। तालत्रय प्रमाणं धनुः बभञ्ज॥ २५, २६ ॥

---

1 JVa सवादा०

**वीर०** न केवलं शिथिला एव। किन्तु शनैरुपरमन्तीत्याह - **सरिदिति।** सरितश्च **शैलाश्च, वनोद्देशाश्च** तानाक्रीडान् क्रीडास्थानानि च ईक्षमाणानां नो मनः, तदात्मतां कृष्णात्मतां कृष्णानन्यविषयकतां प्राप्नोति॥ २२ ॥

अनितरसाधारणचेष्टितैर्लिङ्गैः रामकृष्णौ भगवदवताराविति अध्यवस्यति **मन्ये** इति। रामं कृष्णञ्च सुरोत्तमौ सङ्कर्षण नारायणौ इह लोके प्राप्तावतीर्णौ मन्ये। किमर्थम्? सुराणां महते अर्थाय प्रयोजनाय। तत्र शिष्टसंवादं प्रमाणयति गर्गस्य वचनं यथेति॥ २३ ॥

तत्र लिङ्गान्यप्याह **कंसमिति** द्विभिः। नागायुतस्य गजायुतस्य प्राणो बलं यस्य तं, कंसं। बहुवचनान्तपाठे, तान् मल्लान् गजपतिं गजेन्द्रं कुवलयापीडं लीलयैव अवधिष्टां हतवन्तौ। यथा सिंहः पशून्, तद्वत्॥ २४ ॥

तालं परिमाणविशेषः, तत्त्रयपरिमितं महासारं अयोवद्दृढं धनुर्बभञ्ज। यथा गजेन्द्रो यष्टि मिक्षुदण्डं, तद्वत्। तथैकेन हस्तेन गिरिं गोवर्धनं सप्ताहम्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया अदधाद्दधार॥ २५ ॥

तथा देवदानवजयिनः, प्रलम्बादयो दैत्याः, येन कृष्णेन हताः। एतान्यमानुषाणि चेष्टितानि परत्वलिङ्गानीति भावः। येनेति प्रयोज्य प्रयोजककर्त्रो स्तन्त्रेण निर्देशः। अतः प्रलम्बो हत इत्यस्याऽविरोधः॥ २६ ॥

---

1- -1 K omits

**विज०** तदात्मतां तस्मिन्नेव०यामताम्॥ २२ ॥

महते अर्थाय प्रयोजनाय॥ २३ ॥

नागायुतवत् प्राणो बलचेष्टा यस्य स तथा तम्॥ २४ ॥

अङ्गुष्ठमध्यमे विस्तृते यत्परिमाण स ताल इत्युच्यते। एताद्दशतालत्रयपरिमाणं "प्रादेश तालगोकर्णाः" (अम को. 2-343) इति। यष्टिं इक्षुदण्डम्॥ २५ ॥

सुरासुराञ्जयन्तीति सुरासुरजितः॥ २६ ॥

## श्रीशुक उवाच

**इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः।**
**अश्रुकण्ठोऽभवत्तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः॥ २७ ॥**

यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च।
शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षी त्स्नेहस्नुत पयोधरा॥ २८ ॥

तयोरित्थं भगवति कृष्णे नन्दयशोदयोः।
वीक्ष्याऽनुरागं परमं नन्द माहोद्धवो मुदा॥ २९ ॥

उद्धव उवाच

युवां श्लाघ्यतमौ नूनं देहिना[1] मिह मानद।
नारायणेऽखिलगुरौ यत्कृता मति रीदृशी॥ ३० ॥

एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम्[3]।
अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ॥ ३१ ॥

यस्मिन्[5]जनः प्राणवियोगकाले क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम्।
निर्हृत्य[6] कर्माशय माशु याति परांगतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः॥ ३२ ॥

---

1 GJ अत्युक्त० 2 MIV रति 3- -3 MMa इमौ प्रधान पुरुषः पुराणः। 4- -4 MMa ०णेषु विज्ञाय ईशा० 5 KTW ०ञ्जनप्रा० 6 MMa निर्गृह्य

श्रीध० अखिलगुरुत्वमेव जनकत्वेन नियन्तृत्वेन चाऽऽह - एताविति। रामो मुकुन्दश्चेतौ विश्वस्य बीजयोनी निमित्तोपादाने। ननु पुरुषप्रधानयो र्बीजयोनित्वं प्रसिद्धमत आह - पुरुषः प्रधानमिति पुरुषाँऽशः प्रधानं शक्तिः, अतः प्रधानपुरुषावप्येतावेवेत्यर्थः। एवं जनकत्व मुक्तम्। किञ्च अन्वीयभूतेषु भूतेष्वनुप्रविश्य भूतानां मध्ये तदुपहितस्य विलक्षणस्य नानाभेदस्य ज्ञानस्य च जीवस्य च ईशाते ईश्वरौ नियन्तारौ भवतः। कुतः? पुराणौ अनादी अनादित्वात्कारणत्वं, ततश्च नियन्तृत्वमित्यर्थः॥ २७ - ३१ ॥

ननु सृष्ट्यादि कर्मविशात् मनुष्यादिजन्मदर्शनाच्च तस्याऽन्येभ्यः को विशेषः इत्याशङ्क्याह द्वाभ्याम् — यस्मिन्निति। कर्माशयं कर्मवासनां निर्हृत्य त्यक्त्वा ब्रह्ममयः स्वरूपज्ञानवान्, अर्कवर्णः शुद्धसत्त्वमूर्तिस्सन् परां गतिं तत्परं पदं याति॥ ३२॥

---

1 JVa. omit मध्ये 2 JVa. omit पर

वीर० इतीति। कृष्णे अनुरक्ता अनुरागयुक्ता धी र्यस्य अश्रूणि कण्ठे यस्य प्रेमसंरम्भेण प्रेमोद्रेकेण विह्वलः परवशः तूष्णीं बभूव नकिञ्चिदुवाच॥ २७ ॥

तदा यशोदा च वर्ण्यमानानि, भर्त्रेतिशेषः, पुत्रचरितानि शृण्वती स्नेहेन स्नुतौ प्रसृतस्तन्यौ पयोधरौ यस्या स्सा अश्रूण्यवास्राक्षीत् आनन्दज मेत्रजसनिन्दून् ववर्ष॥ २८ ॥

इत्थं तयोः नन्दयशोदयोः भगवति पाणु ण्यपूर्णे श्रीकृष्णे परमं सर्वोत्कृष्टं अनुरागं आवलोक्य उद्धवः मुदा नन्द माह॥ २९ ॥

उक्तिमेवाऽऽह युवामित्यादिना — एवं निशा सा इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। हे मानद, युवां दम्पती देवानामपि श्लाघ्यतमौ पूज्यतमावित्यर्थः। कुतः? यद्यस्मात् अखिलगुरौ नारायणे कृष्णे भगवति एवं विधानुरागयुक्ता मतिः कृता। अनेन कृतकृत्यत्वं सूचितम्। हितकृत्त्वेन नियन्तृत्वेन जनकत्वेन चाऽखिलगुरुत्वं विवक्षितम्॥ ३० ॥

तदेवोपपादयति एताविति। रामो मुकुन्दश्चेत्येतौ विश्वस्य बीजयोनी बीजभूतानां पृथिव्यादिनां कारणभूतौ। ननु विश्वसजातीयौ प्रकृतिपुरुषौ तस्य बीजयोनी नैतावित्यत आह पुरुषः प्रधानम्, प्रधान पुरुष शरीरका वेतावेव बीजयोनी इत्यर्थः। अनेन जनकत्वं स्पष्टीकृतम्। इमौ पुराणौ पुरुषौ विलक्षणेषु देवमनुष्यादि रूपेण नानाविधेषु भूतेषु अन्वीय अन्तः प्रविश्य ज्ञानस्य ईशाते। विलक्षणस्येति पाठे शब्दादि विषयगोचरस्य ज्ञानस्य ईशाते नियन्तारौ प्रवर्तकौ भवत इति यावत्। अनेन नियन्तृत्वमुक्तम्। यद्वा विलक्षणस्य ज्ञानस्येति सम्यग्ज्ञानस्य प्रवर्तकत्वेन हितकृत्त्वं। ईशाते इति नियन्तृत्वस्योक्तम्॥ ३१॥

यत्कृतामतिरीदृशीत्यनेन सूचितां कृतकृत्यता मेवोपपादयति यस्मिन्निति द्वाभ्याम्। यस्मिन्नित्यस्य तस्मिन्नित्युत्तरेण सम्बन्धः। क्षणं क्षणमात्रमपि विशुद्धं विषयान्तर विमुखं मनो यस्मिन् निधाय कर्माशयं कर्मवासनां निर्हृत्य दग्ध्वा ब्रह्ममयः ज्ञानप्रचुरः अर्कवर्णोऽप्राकृतरूपः परां गतिं तत्पदं याति॥ ३२ ॥

---

1 TW omit तयोः 2- -2 TW omit 3 TW omit सर्वोत्कृष्ट 4 TW omit ग्रन्थेन

बिज० प्रेमप्रसरेण प्रेमसन्दोहेन विह्वलः विवशः॥ २७ ॥

अवाप्नाशीत् निरन्तरममुञ्चत्॥ २८, २९ ॥

नून मिदानीम्॥ ३० ॥

नारायणशतावर्यौ, ऐरावतो नागराजः इतिवत् नारायणो नाम कश्चित्किं न स्यात्, अखिलगुरुश्च पाषाणवत् इति तन्नाऽऽह - एताविति। एतौ कृष्णरामौ विश्वस्य प्रपञ्चस्य बीजयोनी बीजत्वेन रतिहेतुत्वात् रेतरत्वेनोपजीव्यत्वेन वा योनित्वेन स्वमहिम्ना रेतोनिधानस्थानत्वेन कारणत्वेन वा कीर्तितावितिशेषः। "बीजं शुक्रे फलास्थ्न्यले (वैज. को. 6-3-23) इति यादवः। "योनिः स्त्रीणां भगेस्थाने कारणे ताम्रकेपणेऽप्येषण् (वैज.को. 6-5-66) इति च। यद्वा, विश्वनाम्नो हेः बीजे फले निष्पत्तरूपौ योनी गोवर्धनस्योद्धरणादि कर्मणा तत्त्वस्य योग्यौ च। "योग्यं यत्न क्षमारूप धानोपाधिषु वन्दने" (योग्यं यन्त्र क्षमापूप यानेनपायिषु चन्दने (वैज.को. 6-5-67) इति। "लाभे निष्पत्ति भागेषु बीजे फले धने फलम्" (वैज.को. 6-5-52) इति च। यद्यपि न विष्णुः, तर्हि गोवर्धनोद्धरणादि कर्म न कुर्यात् मानवतासाध्यत्वात् इत्यादि हि शब्दो वक्ति। "अजा मेकां लोहित शुक्लकृष्णां" (मना.उ. 8-4) "प्रधानं दिद मुत्पन्नम्" इत्यादिना प्रकृते बीजयोनित्व प्रतीतेः कथ मेतयो र्युज्यते इति तत्राऽऽह — इमाविति। "यस्त्वेष पुरुषः प्रकृतिः" इति श्रुतेः। प्रधानं प्रकृति

मूलकारण मित्यर्थः। अनेन विरिञ्चस्य कारणत्वबाध्यपि चित्प्रयुक्तेत्याशयेनाऽऽह पुरुष इति। "प्रकृतिं पुरुषञ्चैव प्रविश्य पुरुषोत्तमः" इत्यादेः तत्कारणत्ववाचोऽपि गति रुक्ता भवतीति। असङ्गस्य तत्प्रवेशः कथमित्यत उक्तं पुराण इति। पुरमणति प्राप्नोतीति, "तदेवाऽनुप्राविशत्" (तैत्ति उ. 2-6) इति श्रुते रसङ्गस्यापि प्रवेशो युज्यत इत्यर्थः। यद्वा, बीजयोनित्वे हेतुमाह प्रधानमिति। प्रधानत्वात्, सर्वस्मादुत्तमत्वात् "एक मेवाऽद्वितीयम्" (छान्दो उ .6-2-1) इति श्रुतिः। उत्तमत्वं कुत इत्यत्राऽऽह पुरुष इति। पुरातन पुरुषत्वात् अन्येषा मर्वाचीन पुरुषत्वा दित्यर्थः। केवलमवताराप्रयोजनं कंसादि हननं न भवति, किन्तु स्वोपदिष्टज्ञानरक्षणञ्चेति भावेनाऽऽह - अन्वीयेति। इमौ पुराणौ पूर्णानन्दौ कृष्णरामौ बिलक्षणेषु विविधलक्षणेषु नानाविध०व्यावर्तक धर्मेषु भूतेषु अन्वीय अवतीर्य विज्ञाय ०यासाद्यात्मना विशिष्टज्ञान मुत्पाद्य असुरजनप्रकृति जनेन तन्नाशं विज्ञाय तद्धननेन तिरोहित ज्ञानोपदेशेन च ज्ञानस्येशाते समर्थयेते रक्षतः इत्यन्वयः॥ ३१ ॥

जन्मादिकं श्रोतव्यं श्रीकृष्णस्यैव मोक्षहेतुत्वात् तस्येति भावेनाऽऽह **यस्मिन्निति**। कर्माशयं शरीरारम्भक कर्मसमूहं यस्मिन्मनो वा निगृह्य विनियम्य विनाश्य ब्रह्ममयः ज्ञानप्रधान इत्यर्थः। अर्कवत्स्फटिकवत् वर्णः प्रकाशो यस्य स तथा, अतिस्वच्छ इत्यर्थः॥ ३२ ॥

**तस्मिन्भवन्ता वखिलात्म हेतौ[1] नारायणे कारणमर्त्यमूर्तौ।**
**भावं व्यधत्तां[2] नितरां महात्मन् किंवावशिष्टं युवयोस्तु[3]कृत्यम्॥ ३३ ॥**

**आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः।**
**प्रियं विधास्यते पित्रो र्भगवान्सात्त्वतां पतिः॥ ३४ ॥**

**हत्वा कंसं रङ्गमध्ये प्रतीपं सर्वसात्त्वताम्।**
**यदाह वस्समागम्य कृष्णः[4] सत्यं करोति तत्॥ ३५ ॥**

**मा खिद्यतं[5] महाभागौ द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके।**
**अन्तर्हृदि समूताना मास्ते ज्योति रवैधसि॥ ३६ ॥**

**न ह्यस्या[6]ति प्रियः कश्चिन्नाऽप्रियो वाऽस्त्य[7]मानिनः।**
**नोत्तमोनाऽधमो वाऽपि समानस्य[8] समोऽपि[9] वा[10]॥ ३७ ॥**

**न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः।**
**नाऽऽत्मीयो न[11] परश्चाऽपि[12] न देहः[13] कर्मचैव वा॥ ३८ ॥**

---

1. M.Ma T.W. योनौ 2. G.J. विधात्रां; M.V. विधत्तो 3. G.J.M.Ma ०यो स्सु० 4. G.J.K.T.W. ०त्य 5. M.Ma ०खेतां 6. G.J.K. स्याऽस्ति 7. T.W. ०ह्यस्य० 8. T.W. ०ह्यच० 9. G. नाऽपि 10. G.J. ०भ्याऽऽ० 11. M.Ma. च 12. M.Ma. न परश्चास्य; M.V. नापरश्चापि 13. G.J. देहेजन्म एव च; M.Ma देहो जन्मकर्मणा; M. देहो जन्म चैव हा; V. देहो जन्म चैव वा

**श्रीध० तस्मिन्निति।** अखिलस्याऽऽत्मा च हेतुश्च तस्मिन्, कारणेन मनुष्याकृतौ, महात्मन् महात्मनि परिपूर्णे भवन्तौ भक्तिं कुरुतः, अतः कृतार्थावित्यर्थः[1]॥ ३३ ॥

प्रस्तुतमाह आगमिष्यतीति, पित्रोर्युवयोः॥ ३४ ॥

**हत्वेति।** "यात यूयं व्रजं तात, वयञ्च स्नेह दुःखितान्, ज्ञातीन्वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम्" (भाग. 10-45-23) इति यदाह कृष्णः तत्सत्यं करिष्यतीति॥ ३५ ॥

कालविलम्ब[2] मसहमानौ। प्रत्याह - **मा खिद्यतमिति।** हे महाभागौ अन्तिके इदानीमेव, समीपं[3] कृत इत्यत आह अन्तर्हृदीति। तर्हि सर्वैः किमिति न दृश्यते तत्राऽऽह ज्योतिरिवैधसीति। ज्यो[4]तिर्यथा मथनं विना न दृश्यते। तथा भक्तिं विना श्रीकृष्णोऽपीति भावः॥ ३६ ॥

अहो आस्तामेतत् तस्य त्विहाऽऽगमनं स्वस्याऽतिप्रियान् पित्रादीन् विहाय न सङ्गच्छत इति मन्ये[5] तत्राऽऽह- **नेति।** अस्य प्रियादयो नहि सन्ति। तत्र हेतुः[6] अमानिनः समानस्येति च॥ ३७,३८ ॥

---

1 JVa कृत कृत्यावि० 2 JVa ०म्बन० 3 JVa add या 4- -4 JVa तद्यथा 5 JVa मन्येत 6 JVa ०तू

**वीर०** तस्मिन्नारायणे कारणमर्त्यमूर्तौ साधुपरित्राणरूपनिमित्तात् स्वसङ्कल्पोपात्तमनुष्य विग्रहे महात्मानि अखिलस्य चिदचिदात्मकस्य जगतः आत्मनि कारणभूतेच भवन्तावत्यन्तं भाव मनुरागं व्यधत्ता मकुरुताम्। अतो युवयोः किंकृत्यमवशिष्टं न किञ्चिदित्यर्थः॥ ३३ ॥

प्रस्तुतमाह **आगमिष्यतीति।** अदीर्घेणाऽल्पेन कालेन अच्युतो व्रजं प्रत्यागमिष्यति। तदा भगवान् पित्रो र्युवयोः प्रियं विधास्यते करिष्यति॥ ३४ ॥

सर्वेषां सात्त्वतानां यादवानां भगवद्भक्तानां वा, प्रतीपं प्रतिकूलं कंसं रङ्गमध्ये हत्वा भगवान्कृष्णः वो युष्मान्प्रति यदाह - "यात यूयं व्रजंतात, वयञ्च स्नेहदुःखितान्, ज्ञातीन्वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां प्रियम्" (भाग०.10-45-23) इति यदाऽऽह तत्सत्यं करिष्यति॥ ३५ ॥

वितम्बमसहमानौ प्रत्याह - **मा खिद्यतमिति।** हे महाभागौ, मा खिद्यतं खेदं मा कुरुतम्। अन्तिके अनतिविप्रकृष्ट काले कृष्णं द्रक्ष्यथः। किञ्च न भगवान् मधुरायामेवाऽऽस्ते किन्तु अत्राऽऽपि इत्याशयेनाह अन्तर्हृदीति। तर्हि सर्वैः किमिति न दृश्यते? तत्राऽऽह ज्योतिरिवैधसीति। यथैधसि दारुणि ज्योतिरग्निः मथनाद्युपाय मन्तरेण न दृश्यते, तद्वत् भगवान् कृष्णो भक्तिं विना न दृश्यत इत्यर्थः॥ ३६ ॥

अस्मत्तोऽपि प्रियतमान् वसुदेवादीन् विहायाऽत्राऽऽगमिष्यति इत्येत दसम्भावित मित्यत्राऽऽह - **न ह्यस्येति।** अस्य भगवतः प्रियादयो न सन्ति। तत्र हेतु रमानिनः समानस्येतिच। अमानिनः ममताभिमान रहितस्य, सर्वसमानस्य॥ ३७॥

मात्रादयस्सन्त्येवेत्यत्राऽऽह - **न मातेति**। तत्र हेतु र्न देह इति। देहस्यैवाभावे कृतस्तत्सम्बन्धिनो मात्रादय इति भावः। ननूपलभ्यते तस्यापिदेहः, तत्कथं नचास्यदेह इति ब्रूषे? अत आह कर्मचैवेति। पुण्यपापात्मक कर्मारब्ध देहो नाऽस्तीत्यर्थः॥ ३८ ॥

**विज०** भावं भक्तिम्। यद्वा लीलादिकं वा। यद्विषयमन्तरेण किमपि नास्तीत्यर्थः। व्यधत्तां व्यदधातां कृतवन्ताबित्यर्थः। महात्मन् महात्मनि चेतनोत्तमे इत्यर्थः॥ ३३, ३४ ॥

प्रतीपं प्रतिकूलम्॥ ३५ ॥

अन्तिके कालक्षेपविना बालबुद्धिमन्तरेण कृष्णस्य दूरस्थत्वं नास्तीत्याऽऽह। **अन्तर्हृदीति**। एधसि काष्ठे। ज्योति रग्निः॥ ३६ ॥

प्रेष्टानां हृद्यैव वर्तते नाऽन्येषामिति नियमोनास्तीति भावेनाऽऽह- **न हीति**। अमानिनः अहम्ममाभिमानरहितस्य योग्यतानुसारेण। 'समानस्य समोऽपि च' इति पाठः॥ ३७, ३८ ॥

1- न चास्य कर्म वा लोके -1 सदसान्मिश्रयोनिषु।
2 क्रीडार्थं सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते॥ ३९ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति भजते निर्गुणो 3 गुणान्।
4- क्रीडन्नीहोऽपि -4 गुणैः सृजत्यवति हन्त्यजः॥ ४० ॥

★ यथा भ्रमरिकादृष्ट्या भ्राम्यतीव 5 महीयते।
चित्ते कर्तरि तत्रात्मा कर्तेवाऽहन्धिया स्मृतः॥ ४१ ॥

युवयोरेव नैवाऽऽयमात्मजो भगवान्हरिः।
सर्वेषामात्मजोह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः॥ ४२ ॥

6 7 8
दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत्स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च
9- -9 10
विनाऽच्युता द्वस्त्वितरं नकिञ्चित् स एव सर्वं परमात्मभूतः॥ ४३ ॥

---

1- -1 K.T.W. न चास्य जन्म वा लोके; M.Ma लोकेस्य जन्मकर्माणि 2. G.J. M.I.V. ० र्थः 3. M.Ma. महान् 4- -4 G.J. ०नतीतोऽत्र; K.T.W. ०नतीतोऽपि; M.Ma ०ननीहोऽनु ★ This verse is not found in M & Ma edns. 5. M.I.V. तथा 6. ०M.Ma स्नु च ० 7. M.Ma. ० ष्णु म ० 8. M.I.V. वा 9- -9 G.J.M.I.V. ० द्वस्तु तरं न वाच्यं०; M.Ma द्वस्तुतया न चान्यत् 10 G.J.M.I.V. मार्थभूतः; M.Ma मार्थरूपः

**श्रीध० नेति।** सोऽपि जन्मकर्मादिरहितोऽपि[1] क्रीडा प्रयत्नेन सन्[2] साधूनां परिपालनाय सदसन्मिश्रयोनिषु सात्त्विक राजस तामस मिश्रयोनिषु[3]। यद्वा, देवादि मत्स्यादि नृसिंहादि योनिषु कल्पते आविर्भवतीत्यर्थः॥ ३९ ॥

ननु जन्मकर्मादि रहितस्य कुत एतदित्यत आह **सत्त्वमिति।** क्रीडाया[4-] मनीहोऽपि[-4] क्रीडन्, तथाऽपि माया गुणै र्घटत इत्यर्थः॥ ४० ॥

अत्राऽविद्योपाधेर्जीवस्य कर्तृत्वं दृष्टान्तीकुर्वन् तस्याविद्यैव कर्तृत्वमिति सदृष्टान्तमाह - **यथेति।** भ्रमरिका परिभ्रमणं तयोपलक्षितया दृष्ट्या भूपि भ्राम्यतीव[6] यथा प्रतीयते। एवं चित्ते कर्तरि सति तत्र चित्ते अहन्धिया आत्माध्यासेन आत्माकर्ता स्मृतो यथा तद्वदिति॥ ४१ ॥

किञ्च। युवयोरेव नाऽयमात्मजः[5] किन्तु सर्वेषामपि। तत्राऽपि नाऽत्मज एव किन्तु शत्रुमित्रादि रूपोपीति सर्वात्मत्व[7] निरूपणेन मोहनिवृत्तये सम्बन्धमनैकान्तिकं[8] करोति द्वाभ्यां **युवयोरिति**॥ ४२ ॥

**हृष्टमिति।** अच्युता द्विनातरां नितरा तत्त्वतो वाच्यं निर्वचनार्हं वस्तुनास्तीति॥ ४३ ॥

---

1 Va omits अपि 2 J,Va add सः 3 J,Va omit मिश्र 4- -4 J,Va °डामतीतोऽपि 5 J,Va °ति 6 Va त० 7 MI,V omit °त्व० 8 J,Va °की०

**वीर०** ननूपलब्धा तस्याऽपि देहोत्पत्तिः तत्राऽऽह - **नचाऽस्य जन्मेति।** तस्योत्पत्तिखतारूपेति भावः। किमर्थमवतारस्तत्राऽह लोक इति। सोऽपि जन्म कर्मादि रहितोऽपि क्रीडार्थं साधूनां परित्राणरूप परमप्रयोजनाय च, लोके[1] सदसन्मिश्रयोनिषु उत्तमाधम मध्यमयोनिषु देवतिर्यङ्मनुष्ययोनिषु कल्पते आविर्भवति[2]। अनेन वितक्षण जन्मकर्मादिभिर्जीव वैलक्षण्यं सूचितम्॥ ३९ ॥

तदेव विशदयति - **सत्त्वमिति।** निर्गुणस्सत्त्वादि प्राकृतगुणेभ्यो निर्गतः पारवश्यरहित इत्यर्थः। जीवस्तु सत्त्वादि गुणवश्य इति भावः। सत्त्वादीन् गुणान् भजते। स्वलीलोपकरणतया नियाम्यतया च तान्परिगृह्णाति। जीवस्तु भोग्यतया नियमनाशक्त्या च तानुवर्तत इति भावः। गुणैरुपकरण भूतैः, क्रीडन्निति तानतीतः अतिक्रान्तः स्वरूपतस्स्वभावश्च गुणैरनभिभूत इत्यर्थः। जीवस्तु तै स्स्वभावतोऽभिभूत, इति भावः। क्रीडन्नित्यनेन जीवस्य गुणकार्य शब्दादिविषयभोगस्सूचितः। काऽसौ क्रीडेत्यतः तां दर्शयति सृजतीति। विश्वमिति कर्मपद मध्याहार्यम्। अजः स्वयं विश्वगतोत्पत्त्यादिरहितः। सृजति अवति रक्षति संहरति च। जगद्व्यापारस्तस्य क्रीडेति दर्शितं भवति। अनेन जीवस्तु सुखदुःखाद्यनुभवाय पुण्यपापात्मककर्माणि करोतीति[3] सूचितम्। अज इत्यनेन विश्वगतोत्पत्त्यादि भाग्भवति जीवः, जातोऽहं, मृतोऽहमिति देहधर्मानात्मनि मन्यत इति च॥ ४० ॥

एतदेवदृष्टान्तमुखेनोपपादयति **यथेति।** भ्रमरिका अतिवेग भ्रमणक्रिया तया उपलक्षितया दृष्ट्या यथाभूपि भ्राम्यतीव बम्भ्रम्यमाणेव ईयते प्रतीयते, तथा आत्मा कर्ता च सचेवजीवः तत्रानात्मनि अकर्तरि च चित्ते चित्तशब्दोपलक्षिते देहे

अहन्धिया स्वाभेधाभिमानेन स्मृतःमतः। स्वगत कर्तृत्वात्मत्वज्ञातृत्वादीन् विस्मृत्य देहमेव तथाविधं मन्यत इत्यर्थः यद्वा, एवं जीववित्क्षणो भगवान्कृष्णः तद्यथात्माविद्भि स्वतुल्यतया दृश्यत इति सदृष्टान्तमाह- **यथेति**। स्वयं भ्रमरिकारहितोऽपि भूर्यथा भ्रमरिकादृष्ट्या भ्राम्यतीव प्रतीयते तथाऽऽयं कृष्णः अहन्धिया स्वतुल्य बुद्ध्या कर्ता पुण्यपापात्मक कर्मकर्ता य आत्मा जीवः स इव चित्ते अकर्तरि स्मृतः करणभूते चित्तेऽनुसन्धीयत इत्यर्थः। यद्वा, कर्तरीत्येवच्छेदः कर्तरि जीवे यच्चित्तं तस्मिन्नहन्धिया। तामेव प्रपञ्चयति - तत्र चित्ते आत्मा कर्तेव पुण्यपापादिकर्ता तदायत्त देहभाग्जीव इव स्मृतः मतः॥ ४१ ॥

एवं जीववैलक्षण्य मुपपाद्य तयोस्तस्मिन् केवलं पुत्रत्वाभिमानं बारयन् तदनवगत सम्बन्धान्तराण्युपदिशन् तानि च सर्वसाधारणानीत्याह **युवयोरिति**। अयं ज्ञानादिकल्याणगुणाकरःनिरस्तनिखिल दोषः आश्रितबन्धहरः श्रीकृष्णः युवयोरेव आत्मज एव न भवति, किन्तु सर्वेषामप्यात्मजः। कुतः हि[4] यस्मात् आत्मा सर्वान्तरात्मा तत्तदात्मजाद्यन्तरात्मतया तच्छरीरकत्वेन तद्रूपत्वादिति भावः। न केवलमात्मज एव। अपितु पिता सर्वकारणत्वादिति भावः। माता च हितैककारित्वादिति भावः। यद्वा सर्वात्मकत्वात् मात्रादिरूपोऽपि स एवेति भावः। ईश्वरः स्वामी च अनेन "माता पिता भ्राता निवास शरणं सुहृद्गतिश्च नारायणः' (सुब; उ 6-2-1) इति श्रुत्यर्थोऽभिसंहितः॥ ४२ ॥

सर्वेषामात्मेत्यनेनोक्तं सर्वात्मकत्वमेव[5] प्रपञ्चयति दृष्टमिति। दृष्टाद्यन्यतमं यत्किञ्चिद्वस्तु तदच्युतं[6] विना नास्ति। सर्वमच्युतायत्तसत्तादि मत्चेन तच्छरीरत्वेन च तदात्मकमेवेत्यर्थः। कुतः? यतः, परमात्मभूतः लोकत्रयमप्यन्तःप्रविश्य प्रशासनेन तस्य भर्ता व्याप्यगत दोषास्पष्टश्च। अत स्सर्वं जगत्स एव। विशेषणबुद्धिशब्दयो राकृत्यधिकरणन्यायेन विशेष्यपर्यन्तत्व स्वाभाव्यद्विशेषणस्य च विशिष्टवत्स्वन्तर्भूतत्वेन विशिष्टात्पृथग्वस्तुत्वाच्च जगद्भूषेण स एवाऽनु सन्धेय इत्यर्थः॥ ४३ ॥

---

1 T,W omit लोके 2 T W °र्वभूव 3 K विशेषः। 4 T,W यत् 5 T,W त्यमेव 6 T W omit तत्

**विज०** नन्वेवं विधस्य हेः कथं जन्मादिक मुपपद्यते इति तत्राऽऽह - लोक इति। सदसन्मिश्रयोनिषु सुनरतिर्यग्योनिषु॥ ३९॥

अनुगुणैस्तत्तत्कर्मानुकूलैः सत्तादिभिः॥ ४०,४१ ॥

सम्यक् प्रणिहिते आत्मनि मनसि जायते प्रकाशते इत्यात्मज इत्यध्यात्मम्॥ ४२ ॥

युवयोरेकं तत्त्वं संक्षिप्य वदामीत्याह- **दृष्टमिति**। भविष्यत् भूतं भवद्वर्तमानं, स्थास्नु स्थावरं, चरिष्णुजङ्गमम्। अच्युताद्विना अन्यत् ब्रह्मादिकं वस्तुतया स्वातन्त्येण नैवास्ति। किन्तु सर्वं स एव तदधीनमेव। सकीदृशः परमार्थरूपः नित्याप्रतिहत स्वरूप इति बुध्यध्वमिति॥ ४३ ॥

श्रीशुक उवाच[1-1]

एवं निशा सा ब्रुवतो व्यतीता[2] नन्दस्य कृष्णानुचरस्य राजन्।
गोप्यस्समुत्थाय निरूप्य दीपान् वास्तून्समभ्यर्च्य दधीन्यमन्थन्॥ ४४ ॥

तादीपदीप्तैर्मणिभिर्विरेजू रज्जूर्विकर्षद्भुजकङ्कणस्रजः[3-4]।
चलन्नितम्बस्तनहारकुण्डल त्विषत्कपोलारुण कुङ्कुमाननाः॥ ४५ ॥

उद्गायतीना मरविन्दलोचनं व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद्ध्वनिः।
दध्नश्च निर्मन्थन शब्दमिश्रितो निरस्यते येन दिशाममङ्गलम्॥ ४६ ॥

भगवत्युदिते सूर्ये व्रज[5] द्वारि व्रजौकसः।
दृष्ट्वा रथं शातकौम्भं[6] कस्यायमिति चाऽब्रुवन्॥ ४७ ॥

अक्रूर आगतः किं वा यः कंस स्यार्थसाधकः।
येन नीतो मधुपुरीं कृष्णः कमल लोचनः॥ ४८ ॥

किं साधयिष्य त्यस्माभिः भर्तुः[7] प्रेतस्य[8] निष्कृतिम्।
इति[9] स्त्रीणां वदन्तीना मुद्ववोऽगा त्कृताह्निकः॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
नन्दशोकापनयन नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४६ ॥

---

1- -1 G,J,K T,W omit 2 T,W °व्य० 3 M Ma रज्ज्वा 4- -4 M,Ma °त्करकङ्कणाः स्त्रियः 5 G,J, नन्द० 6 MI,V कु० 7 MI,V °तेस्मा० 8 J,MI V प्री० 9 MI V ततः

श्रीध० एवमिति। दीपान् निरूप्य प्रज्वाल्य वास्तून् देहल्यादीन्॥ ४४ ॥

ता इति। मणिभिः काञ्च्यादिषु स्थितैः, रज्जू विकर्षत्सु भुजेषु कङ्कणानां स्रजो यासां ताः, चलन्तो नितम्बाः स्तनाहाराश्च यासां ताः, कुण्डलै स्त्विषन्तः स्फुरन्तःकपोलाः यासाम् ताः अरुणानि कुङ्कुमानि येषु तानि आननानि यासां ता एव ताश्च ताश्च॥ ४५-४७ ॥

तदा व्रजौकसो गोप्यः सक्रोधमाहुः- अक्रूर इति। अर्थं साधितवानित्यर्थ साधकः। तदाऽऽहुः येन नीत इति॥ ४८ ॥

कंसं घातयित्वा पुनः किमर्थमागत इत्याशङ्क्य स्वयमेव[1] कार्यं[2] सम्भावयन्ति। **किमिति**। तदा साधितेन कार्येण प्रीतस्य तुष्टस्य[3] भर्तुः। पाठान्तरे - प्रेतस्य मृतस्य[4] कंसस्य निष्कृतिं और्ध्व दैहिक मस्माभिः कृत्वा साधयिष्यते किम्? अस्मन्मांसैः किं पिण्डान् कृत्वा दास्यतीत्यर्थः इत्येवं वदन्तीनां स्त्रीणां, तत स्तस्मिन्नवसरे कृताह्निकः[5] कृतस्नानादिनियमः उद्धवः अगात् आगतः[6]॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
षट्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४६ ॥

---

1. MI,V omit स्वयमेव 2. J,Va कारणं 3. MI,V omit तुष्टस्य 4. MI,V omit इति 5. MI,V omit कृताह्निकः 6- -6 J,Va आगत इति

**वीर० एवमिति**। हे राजन्नित्थं कृष्णानुचरस्योद्धवस्य नन्दस्य च मिथो ब्रुवतस्सतः सा निशा व्यतिक्रान्ता बभूव। तदा निशायाः पश्चिमे यामे गोप्यस्समुत्थाय दीपान् निरूप्य प्रज्वाल्य वास्तून् देहल्यादीन् समभ्यर्च्य गन्धादिभिरिति शेषः । दधीन्यमन्थन् ममन्थुः॥ ४४ ॥

मथ्नती स्तावर्णयति - **ता** इति। ताः मथ्नत्यो गोप्यः दीपैः दीप्ताः या काञ्च्यादि स्थिता मणयः, तै र्विराजुः। कथम्भूताः? मन्थन दण्डरज्जूः विकर्षत्सु भुजेषु कङ्कणानां स्रजः यासां ताः चलन्तो नितम्बाः स्तनाहाराश्च[1] यासां कुण्डलैः त्विषन्तः स्फुरन्तः कपोलाः यासां, अरुणानि कुङ्कुमानि येषु तानि आननानि यासां ताश्च॥ ४५ ॥

तादात्विकध्वनिं लक्षयति- **उद्गायतीनामिति**। अरविन्दलोचनं कृष्णं उच्चैर्गायन्तीनां गोपीनां ध्वनिः दध्नः निर्मथन-[2]जशब्देन मिश्रितो दिवमस्पृशत् व्याप्तवान्। येन ध्वनिना दिशाममङ्गलं निरस्यते अपनुद्यते॥ ४६ ॥

तदा भगवत्यादित्ये उदिते सति व्रजौकसो गोप्यः द्वारि शातकौम्भं सुवर्णालङ्कृतं रथं दृष्ट्वा कस्याऽयमित्यूचुः। सक्रोधमिति शेषः॥ ४७ ॥

अक्रूर इति। किं वा सोऽक्रूर आगतः कोऽसौ। यः कंसस्य अर्थं[3] प्रयोजनं साधितवान्। तदाहुः येन च कृष्णो मधुपुरीं नीतः[4]प्रापितः॥ ४८ ॥

कंसं घातयित्वा पुनः किमर्थमागत इत्याशङ्क्यकार्यं सम्भावयन्ति -**किमिति**। तथा साधितेन कार्येण प्रेतस्य मृतस्य भर्तुः कंसस्य निष्कृतिं[5] और्ध्वदैहिकं अस्माभिः कृत्वा साधयिष्यति किम् अस्मन्मांसैः पिण्डान् कृत्वा दास्यति[6] किमित्यर्थः। इतीति शुकोक्तिः । इत्थं स्त्रीणां वदन्तीनां सतीनां तस्मिन्नेवाऽवसरे कृतस्नानादिनियम उद्धव अगात् आजगाम॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवत चन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां षट् चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४६ ॥

---

1 TW °न 2 K °न्य 3 T,W अर्थः 4 TW omit नीतः 5- -5 T,W omit 6 T,W omit अगात्

**विज०** निरूप्य प्रज्वाल्य वास्तून् गृहद्वारि देहल्यादिषु वास्तुदेवताः मार्जनालेपनाक्षतादिभिः सम्यगभ्यर्च्य अमन्थन् ममन्थुः॥ ४४ ॥

मथनरज्ज्वा विकर्षन्तः उल्लिखन्तः करकङ्कणा यासां ताः। यद्वा मथन रज्ज्वाऽविकर्षन्तः । चलद्भिः नितम्बादिभिः त्विषन्ति कपोलादीनि अरुण कुङ्कुमानि आननानि यासां तथा। अरुणानि कुङ्कुमानि येषु तानि तथा वा॥ ४५ ॥

येन ध्वनिना, दिशाममङ्गल मित्यनेन दिगन्तर्वासिनां जनानामशुभं नश्यतीत्युच्यते॥ ४६ ॥

शातकौम्भ शातकुम्भेन सुवर्णेन विरचितम्॥ ४७, ४८ ॥

प्रेतस्य मृतस्य भर्तुः कसस्य निष्कृतिमानृण्यमस्माभिः करिष्यति, अस्मद्दण्डेन कर्तुमिच्छति किमित्यर्थः। इति वदन्तीनां कृताह्निकः अनुष्ठित प्रातः काल क्रियः॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
षट्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४६ ॥
(श्रीविजयध्वजरीत्या चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः)

---

# सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः, षट्चत्वारिंशोऽध्यायश्च)

श्रीशुक उवाच

तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम्।
पीताम्बरं पुष्करमालिनं लसन्मुखारविन्दं परिमृष्टकुण्डलम् ॥ १ ॥

शुचिस्मिताः[2] कोऽयमपीच्यदर्शनः[3] कुतश्च कस्याच्युतवेषभूषणः[4]।
इति स्म सर्वाः परिवव्रु रुत्सुका स्तमुत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रयम् ॥ २ ॥

तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः।
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने[6] विज्ञाय सन्देशहरं रमापतेः ॥ ३ ॥

जानीमस्त्वां यदुपतेः पार्षदं[7] समुपस्थितम्[7]।
भर्त्रेह प्रेषितः पित्रोः भवान्प्रियचिकीर्षया ॥ ४ ॥

अन्यथा गोव्रजे तस्य स्मरणीयं न चक्ष्महे।
स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः ॥ ५ ॥

---

1. G.J. मणि° 2. M.Ma सुचि° 3. MI.V. °तः 4. M.Ma मतीवद° 5. MI.v. इतीव 6. M.Ma °न्यरि° 7- -7 G.J. MI.V पार्षदं समुपगतम्; M-Ma पार्षदार्थमनुव्रतम्

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

सप्तचत्वारिंशकेऽथ कृष्णादेशेन गोपिकाः।
बोधयित्वोद्धव स्तत्त्व मनुज्ञाप्याऽगमत्पुरीम् ॥

**शुचिस्मिता** इति। अपीच्यं सुन्दरं दर्शनं यस्य सः। अच्युतस्येव वेषो भूषणानि च यस्य सः। कोऽयं, कुतो वा कस्य वा[1] इति वदन्त्यः तं परिवव्रुः ॥ १-३ ॥

**जानीम** इति। पार्षदं सेवकम् ॥ ४ ॥

**अन्यथेति**। पित्रोः प्रियचिकीर्षयेत्यत्र हेतुः स्नेहानुबन्ध इति ॥ ५ ॥

---

1. J.Va च

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ तासां तेन सह संवादप्रकारं भगवति प्रेमातिशयाऽनुवर्णयति सप्तचत्वारिंशेन **तमिति**। कृष्णस्य अनुचरं भृत्यं प्रलम्बौ आजानुलम्बिनौ बाहू यस्य, नवकञ्जे सद्योविकसितपद्मदले इव लोचने यस्य, पीते पिशङ्गे अम्बरे यस्य, पुष्करमाला पद्ममाला अस्यास्तीति तथा व्रीह्यादित्वान्मत्वर्थीय इनिः। मुख मरविन्द मिव मुखारविन्दम्। "उपमितं व्याघ्रादिभिः" (अष्टा 2-1-56) इति समासः। लसत् मुखारविन्दं यस्य परिमृष्टे निर्मलीकृते कुण्डले यस्य तमुद्भवं वीक्ष्य व्रजस्त्रियः सर्वाः उत्सुकाः सत्यः, उत्तमश्लोकस्य पदाम्बुज मेवाऽऽश्रयो यस्य, तमुद्भवं परिवव्रुः परिवेष्टितवत्य इत्यन्वयः। किं कुर्वत्यः? अपीच्यं सुन्दरं दर्शनं यस्य। अच्युतस्येव वेषो भूषणानि च यस्य सः। कोऽयं, कुतो वा, कस्य वेति वदन्त्य इति शेषः। स्मेति विस्मये ॥ १, २ ॥

**तमिति**। सव्रीडेन हासेन ईक्षणेन सूनृतेन मधुरभाषणेन, आदिशब्देन अर्घ्यादिभिश्च। सत्कृतं रहसि एकान्ते आसने उपविष्टं तं रमापतेः कृष्णस्य सन्देशहरं वार्ताऽऽहर्तारं विज्ञाय ज्ञात्वा अवनताः नम्राः प्रणता इति यावत्। प्रश्रयेण विनयेन अपृच्छन् पप्रच्छुः ॥ ३ ॥

प्रश्नमेवाह **जानीम** इति। त्वां यदुपतेर्भगवतः पार्षदं भृत्य मत्र समुपस्थितं समागतं जानीमः। किमर्थं समुपस्थितोऽहमित्यत्राऽऽहुः- भर्त्रेति। भर्त्रा यदुपतिना पित्रो र्नन्दयशोदयोः प्रियं कर्तुमिच्छया अत्र भवान्प्रेषितः ॥ ४ ॥

कुतोऽयं निश्चय इत्यत्राऽऽह - **अन्यथेति**। अन्यथा पित्रोः प्रियचिकीर्षामन्तरेणेत्यर्थः । तस्याऽवाप्तसमस्त कामस्येति भावः। गोव्रजे निहीने इति भावः । स्मरणीयं स्मर्तुं योग्यं वस्तु न चक्ष्महे न पश्यामः । प्रियचिकीर्षयेत्यत्र हेतुः स्नेहानुबन्ध इति। बन्धूनां पित्रादीनां सम्बन्धी स्नेहरूपोऽनुबन्धः पाशः मुनेरपि त्यक्तुमशक्यः ॥५॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

गोपस्त्रीणां व्यामोहोक्तिभङ्ग्यापि श्रीकृष्णैकभक्तिं निरूपयत्यस्मिन्नध्याये। तत्र गोपीनामुद्भवसन्दर्शनात् हृष्टमनसां तत्त्वप्रश्नप्रकारं वक्तुमाह **तं वीक्ष्येति**। परिमृष्टकुण्डलं शाणोल्लीढवत् द्योतमानकर्णाभरणम् ॥ १ ॥

अतीव प्रशस्ततमं दर्शनमवलोकनं यस्य स तथा, अयं क इति सामान्यप्रश्नः । कुतो देशादागत इति च विशेषप्रश्नः। अच्युतस्येव वेषभूषणानि यस्य स तथा। वैष्णवलक्षणेन इतरव्यावृत्तोऽसौ कः, वैष्णवेषु किं नामधेय इति ततोऽपि विशेषप्रश्न इति। मिथोऽनुव्रज्य सामान्यतोऽस्मत्श्रेष्ठ इति स्मृत्वा तं परिवव्रुः आवेष्टितवत्य इत्यन्वयः ॥२॥

पुनस्ताभिः किं कृतमत्राऽऽह- **तमिति**। अनेन सामान्यज्ञानं विशिष्टज्ञानपर्यवसायीति निरणायि। प्रश्रयेणोपचारेण "प्रियं सत्यञ्च सूनृतम्" (हला. को. 1-141) इति च ॥ ३ ॥

पार्षदार्यं पार्षदानां समीपवर्तिनां भृत्यानां श्रेष्ठं तैः पूज्यं वा, अनुव्रतं भगवन्मनोनुकूलव्रतम् ॥ ४ ॥

अन्यथा यशोदानन्दगोपयोः प्रियकरणेच्छामन्तरेण स्मरणीयं स्मरणकारणयोग्यं न चक्ष्महे न पश्यामः । गोव्रजे भुवि गोष्ठे। सुरभिलोकव्यावृत्त्यर्थो गोशब्दः, गवां व्रज स्समूहो यस्मिन् स्थाने तत्तथा। तस्मिन्वा पशुजातियुक्तगोष्ठे वा ॥ ५ ॥

अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बना[1]।
पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत्सुमनस्स्विव षट्पदैः ॥ ६ ॥

निःस्वं त्यजति गणिका अकल्यं[2] नृपतिं प्रजाः
अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम् ॥ ७ ॥

खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चाऽतिथयो गृहम्[3]।
दग्धं मृगा स्तथाऽरण्यं जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम्[4] ॥ ८ ॥

[5]श्रीबादरायणिरुवाच[-5]

[6-]इति गोप्यो हि[-6] गोविन्दे[7] गतवाक्कायमानसाः[8-]।[-8]
कृष्णदूते[9] व्रजं याते[10] उद्धवे त्यक्तलौकिकाः[11] ॥ ९ ॥

गायन्त्यः प्रियकर्माणि रुदत्यश्च[12] गतह्रियः।
तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरबाल्ययोः ॥ १० ॥

भ्रमरगीताविकथा प्रारम्भघट्टः

काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम्।
प्रिय प्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

---

1. G.J. °नम् 2. G.J. M.Ma °त्यं 3. K.T.W. °हान् 4. M.Ma पर 5- -5 G.J. M.Ma omit; MI.V श्रीशुक उवाच 6- -6 M.Ma ददर्श गोपीः 7. MI.V °न्द 8- -8 M.Ma मनोवाग्देहचेष्टितैः 9. M.Ma °तो 10. M.Ma ° प्राप्तः 11. M.Ma ° स्त्यक्त° 12. K.M.Ma.MI.T.V.W न्त्य°

श्रीध० अन्यथा गोव्रजे तस्येत्यत्र हेतुः - अन्येष्विति। अर्थकृता कार्यनिमित्ता विडम्बनमनुकरणमात्रं न तु तात्त्विकी मैत्री। पुम्भिरिति। पुम्भिरिति दृष्टान्तः[1] ॥ ६ ॥

अस्यैवाऽन्यार्थनिदर्शनैः[2-] [-2] दृष्टान्तप्रपञ्चः[3] निस्स्वमित्यादिना अधीतिति। दत्ता दक्षिणा येन तम्[4] ॥ ७ ॥

पक्षिणो[5-] वीतफलं[-5] विगतफलं[6-] वृक्षं[-6], रतां अनुरतां अतृप्तामित्यर्थः ॥ ८ ॥

इतीति। त्यक्तलौकिकाः त्यक्तलोकव्यवहाराः ॥ ९ ॥

गायन्त्य इति। प्रियस्य कर्माणि गायन्त्यः । तथा तस्य बाल्यकैशोरयोः यानि कर्माणि तानि संस्मृत्य संस्मृत्य गतह्रियस्सत्यो रुदन्त्यश्च तमपृच्छन्निति पूर्वक्रिययैव सम्बन्धः ॥ १० ॥

काचिदिति। प्रियेण श्रीकृष्णेन मां प्रसादयितुं प्रस्थापितोऽयं दूत इति कल्पयित्वाऽब्रवीत्। यद्वा तस्मिन्[7-] अत्युद्धवे प्रियप्रस्थापितदूतमिति दूतदृष्टिं[-7] कृत्वा मधुकरापदेशेन उद्धवमेवाऽ ब्रवीत् इत्यर्थः ॥ ११ ॥

---

1. J.Va °तौ 2- -2 MI,V °वान्यार्थदर्शनि 3. J.Va omit दृष्टान्त 4. J.Va add याज्यम् । 5- -5 J.Va omit 6- -6 V omits 7- -7 MI V प्रियप्रस्थापिते उद्धवे।

वीर० अन्येषु अबन्धुषु[1] तु मैत्री अर्थकृता स्वप्रयोजनप्रयुक्ता, अतस्सा यावदर्थनिबन्धना यावत्प्रयोजनं निबन्धनं कारणं यस्या स्तथाभूतेत्यर्थः। 'यावदर्थं विडम्बना' इति पाठे यावत्प्रयोजनं विडम्ब्यतेऽनुक्रियते तथाभूतेत्यर्थः, न तु सा तात्त्विकमैत्रीति भावः । किं क्वचिदेवं दृष्टमित्यत्राऽऽहुः - पुम्भिरिति। यद्वद्यथा स्त्रीषु पुंश्चलीषु पुम्भिः कृता मैत्री। यथा च सुमनस्सु मधुभिरितेषु कुसुमेषु षट्पदैः भृङ्गैः कृता एते उदाहरणे, न तु दृष्टान्तौ ॥ ६ ॥

उदाहरणान्तरमुखेन यावदर्थनिबन्धनत्वमेव स्पष्टयन्त्यः प्राहुः - निस्स्वमिति द्वाभ्याम्। निस्स्वं निर्धनं गणिका वेश्याः त्यजन्ति। यावत्स्वमनुवृत्य ततस्तं त्यजन्तीत्यर्थः । एव मुत्तरत्राऽपि। अकल्यं प्रजापालनासमर्थं नृपं, अधीता विद्या यै स्ते, शिष्या इत्यध्याहारः । दत्ता दक्षिणा येन तं, यजमानमृत्विजः त्यजन्ति। वीतानि विगतानि फलानि यस्मात्तं वृक्षं खगाः पक्षिणः तथा दग्धमरण्यं मृगास्त्यजन्ति, तथा जाराः स्त्रियं भुक्त्वा रता मतृप्तामेव त्यजन्ति ॥ ७, ८ ॥

इतीति। इत्थं कृष्णस्य दूते उद्धवे व्रजं गते सति गोप्यो गोविन्दं गतानि निविष्टानि[2] वागादीनि तद्वचापाराश्च यासां ताः, तस्य कृष्णस्य भगवतो यानि कैशोरबाल्ययोः कर्माणि तानि पुनः पुनस्संस्मृत्य गायन्त्यः[3-] त्यक्तलज्जाः[-3] रुदन्त्यश्च त्यक्तलौकिकव्यवहारा अपृच्छन्निति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ९, १० ॥

तत्र काचित् गोपी कृष्णस्य सङ्गमं ध्यायन्ती मधुकरं भ्रमरं दृष्ट्वा, तं प्रियेण प्रस्थापितं प्रेषितं दूतं कल्पयित्वा कृष्णेन मां प्रसादयितुं प्रेषितोऽयं दूत इत्यभिमत्येत्यर्थः। इदं वक्ष्यमाण मब्रवीज्जगौ। यद्वा, तस्मिन्भ्रमरे प्रियप्रस्थापितोद्धव दृष्टिं कृत्वा मधुकरापदेशेन उद्धवमेवाऽब्रवीत् इत्यर्थः॥ ११ ॥

---

1. T.W °न्धि° 2. T.W. omit गायन्त्यः 3- -3 T.omits

**विज०** इतोऽपि स्नेहलक्षणानुग्रहं विनाऽन्यन्नास्तीति भावेनाऽऽह - **अन्येष्विति**। अन्येषु पितृव्यतिरिक्तेषु बन्धुषु मैत्री स्नेहानुवृत्तिलक्षणा मित्रभावोक्तिः अर्थकृता प्रयोजननिबद्धा इत्यन्वयः। कथमिवेति तत्राऽऽहुः— यावदर्थेति। यद्वत् यथा पुम्भिः स्त्रीषु कृता मैत्री यावदर्थं यावत्प्रयोजनसमाप्तिपर्यन्तं विडम्बनमनुकरणमात्रं यस्यास्सा तथा। यावदर्थं विडम्बयति अनुकरोतीति यावदर्थविडम्बना वा। इममर्थं दृष्टान्तान्तरेण द्रढयति सुमनस्स्विति। षट्पदैः भृङ्गैः ॥ ६ ॥

निस्स्वं वित्तहीनम् । अकल्पं रक्षणादावसमर्थम्। दत्तदक्षिणं यजमानं वा ॥ ७ ॥

वीतफलं फलरहितम् प्रणयकोपातिरेकदर्शनार्थं बहुदृष्टान्तकथनम्। जार उपपतिः ॥ ८ ॥

उत्तरकथाप्रसङ्गः क इति तत्राह ददर्शेति। गोविन्दगतमनआदिभिः त्यक्तलौकिकाः त्यक्ताः लोकाचाराः पुरुषाग्रतः श्लथितवसनादिदृढीकरणादिलक्षणा क्रिया याभि स्ता स्तथा ॥ ९ ॥

गायन्त्यः गायन्तीः , रुदन्त्यः रुदतीः[1] । कैशोरशैशवावस्थायां गतह्रिय इति लोकाचारविरुद्धाचरणं गानादिकम् ॥ १० ॥

तथा च कृष्णसङ्गमध्यानेन मुग्धा काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा प्रियेण कृष्णेन प्रस्थापितं प्रेषितं दूतं कल्पयित्वा इदं वक्ष्यमाणमब्रवीदित्यन्वयः ॥ ११ ॥

---

1. Mb रुदन्तीः

## गोप्युवाच

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं[1] सपत्न्याः
कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभि[2] र्नः ।
वहतु मधुपति स्तन्मानिनीनां[3] प्रसादं
यदुसदसि विडम्ब्यं[4] यस्य दूतस्त्वमीदृक् ॥ १२ ॥

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान्भवादृक्[5]।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं नु पद्मा
ह्यपिबत[7] हृतचेता[8] उत्तमश्लोकजल्पैः[6] ॥ १३ ॥

किमिह बहु षडङ्घ्रे गायसि त्वं यदूना-
मधिपति मगृहाणामग्रतो नः पुराणम्।
विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः[9]
क्षपित कुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः ॥ १४ ॥

दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रिय स्तदुरापाः
कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य याः स्युः ।
चरणरज उपास्ते यस्य भूति र्वयं का
ह्यपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः ॥ १५ ॥

विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारैः
अनुनय विदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात् ।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका
व्यसृज दकृतचेता किन्नु सन्धेयमस्मिन् ॥ १६ ॥

---

1 MMa °शास्मान् 2 MMa ° भित्स्वम् 3 KTW यदु° 4 MIV °भ्न 5- -5 M-Ma °चः कस्त्यजेन्मा भ° 6- -6 GJ °त्पादपद्म तु पद्मा, MMa तत्पद्म किञ्चल्कपाद 7 MMa मपि, MIV अपि 8 MMa °चिता उ°; MIV °चेता बु° 9 MMa गा° 10 G.J MMa अपि 11. M.Ma उ० 12- -12 MMa अत्ममनुनयसारै र्या हि दौत्ये मुकुन्दम् 13 MMa °पत्यास 14 M.Ma °मस्य

श्रीध० मधुपेति। हे मधुप! कितवस्य धूर्तस्य बन्धो नोऽस्माकमङ्घ्रिं मा स्पृश मा मां नमस्कारेण प्रार्थयेत्यर्थः। तत्किमित्यपेक्षायां कृष्णवर्णस्य तस्य श्मश्रूणां लोहितत्वे कारणमुत्प्रेक्षमाणाऽऽह — सपत्न्याः कुचाभ्यां विलुलितासम्मर्दिता या श्रीकृष्णस्य वनमाला अत एतस्याः कुङ्कुमं येषु तैः श्मश्रुभिः उपलक्षितः, किन्तु तासामेव मानिनीनां प्रसादं मधुपति र्वहतु किमस्मत्प्रसादेन तस्य? यदुसदसि विडम्बं उपहासास्पदम्। कुतः यस्य दूतस्त्वमीदृक् ईदृशः ॥ १२ ॥

ननु किमित्येवं तमवजानीथ? किं वस्तेनाऽपकृतम्? अत आह - सकृदिति। भवाल्क् त्वादृशो दुर्मनाः सुमनसः कुसुमानि यथा त्यजति तद्वत् तत्यजे त्यक्तवान् अहो बत! अकृतज्ञस्य तस्य पादपद्मं श्रीः कथं सेवते? विदितं मयेत्याह — अपीति। बतेति खेदे। उत्तमश्लोकस्य जल्पैः मिथ्याकथाभिः प्रायो हृतचेताः । वयन्तु न लक्ष्मीवदविचक्षणा इति भावः ॥ १३ ॥

झङ्कारान् बहुधा कुर्वन्तं अस्मत्प्रसादलाभाय कृष्णं गायतीति मत्वाऽऽह - किमिति। पुराणं पुरातनं बहुशोऽनुभूतं विजयसखस्य कृष्णस्य साम्प्रतं या स्सख्यः तासा मग्रतः तत्प्रसङ्गो गीयताम् इष्टः कृष्णस्य प्रियाः तेन पूजिता इति वा। तेनालङ्कृतेन, अनेन क्षपिता कुचरुक् यासां ताः तवेष्टमपेक्षितं दास्यन्तीति ॥ १४ ॥

भो मातः, मैवं वोचः त्वामनुस्मृत्याऽनुस्मृत्य अनङ्गविह्वलस्त्वां प्रसादयितुं मा मादिष्टवा नित्यत आह - दिवीति। दिवि भुवि रसातले च याः स्त्रियः स्युः ताः का नाम दुरापाः, न काश्चन। तद्भिन्नयमं तस्येत्यर्थः । कपटेन रुचिरेण हासेन भ्रूविजृम्भो यस्य तस्य, हे कपटेति वा। किञ्च यस्य चरणरजः श्रीः सेवते, तत्र वयं काः ? अपि च यद्यप्येवं तथाऽपि कृपणपक्षे कृपणानुकम्पिनि पुरुषे उत्तमश्लोकशब्दो गयतीति तस्या कथनीयं स्वयीति भावः ॥ १५ ॥

पादमूले प्रविशन्तं क्षमापयिष्यन्तमिव मत्वाऽऽह - **विसृजेति**। शिरसि न्यस्तं पादं विसृज। तथाप्यमुञ्चन्तमाह - **वेद्मीति**। मुकुन्दादन्यत्वे ततश्शिक्षितवेत्यर्थः। दौत्यै दूतकर्मभिः चाटुकारैः प्रियोक्तिरचनाभिः अनुनयविदुषः प्रार्थनाचतुरस्य ते तव[5] सर्वमहं वेद्मि। मुकुन्दवत् त्वमप्यविश्वसनीय इति भावः । ननु तेन ते किमपराद्धं तत्राऽऽह- स्वकृत इति। स्वकृते तदर्थमेव विसृष्टाः अपत्यपत्न्यलोकाः अपत्यानि पतयश्चेतीहलोकः अन्यलोको धर्मसाध्यश्च याभिस्ताः, नः अकृतचेताः असंयतचित्तः यो व्यसृजत् अतः अस्मिन् किलु सन्धातव्यमिति ॥ १६ ॥

---

1- -1 J.Va omit 2. J.Va अविज्ञस्य 3. V omits तस्य 4. V. omits भावः 5 Ml.V. omit तव

**वीर०** तदेवाऽऽह[1] दशभिः[1] **मधुपेति**। हे मधुप, भ्रमर! कितवस्य धूर्तस्य बन्धो! नोऽस्माकमङ्घ्रिं चरणं मा स्पृश। मा मां नमस्कुरु मा प्रार्थयस्वेत्यर्थः । तत्किमित्यपेक्षायां कृष्णवर्णस्य तस्य श्मश्रूणां लोहितत्वे कारणमुत्प्रेक्षमाणा सासूयं प्राह। सपत्न्याः कुचाभ्यां विलुलिता सम्मर्दिता या माला अत एव च तस्याः कुङ्कुमं येषु तैश्श्मश्रुभिः उपलक्षितः त्वं मा स्पृशेति सम्बन्धः। किन्तु, यदुपतिः। मधुपतिरिति पाठे मधूनां यादवविशेषाणां पतिः। तासामस्मत्सपत्नीनां मानिनीनां प्रसादं वहतु प्रसादपात्रं भवतु। न वयं प्रसादनीया इत्यर्थः। कुत इत्यत आह- यद्यस्मात्, 'उ' इत्यवधारणे। विडम्ब्यं प्रणयित्वमिति शेषः। यस्माद्यत्प्रणयित्वं सदसि विडम्ब्यम् अपहास्यं, कृष्णस्य प्रणयित्वं सभायामधिक्षेप्यमित्यर्थः। यस्माच्च यस्य भगवतो भुक्तपूर्वयोषित्त्यागिनः ईदृग्भुक्तपूर्वपुष्पत्यागशीलो दूतस्त्वमागत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

ननु किमित्येवमवजानीथ, किं वस्तेनाऽपकृतमित्यत्राऽऽह - **सकृदिति**। मोहिनीं तापत्रयविस्मारिणीं स्वां स्वासाधारणीं अधरस्य सुधां सकृत्पाययित्वा अस्मान् तत्यजे त्यक्तवान्। यथा त्वं सुमनसः पुष्पाणि पीतमधूनि त्यजसि, तद्वत्। अतस्स भवादृक्। त्वमीदृगित्युक्तम्। अत्र तु स भवादृक् इति। अयं भावः- त्वं तादृशः स तु भवादृशः, अहो युवयोरेव स्वामिभृत्यभावो विधात्रा निर्मित इति। अहो बताऽकृतज्ञस्य पादपद्मं कथं श्री स्सेवते, विदितम्मयेत्याह **अपीति**। उत्तमश्लोकस्य जल्पैः मिथ्याकथाभिः हृतं चेतो यस्याः तथाभूता तत्पादपद्मं परिचरति। बतेति खेदे। वयं तु न लक्ष्मीवदविचक्षणा इति भावः ॥ १३ ॥

झङ्कारान्बहुधा कुर्वाणं तमस्मत्प्रसादलाभाय श्रीकृष्णं गायतीति मत्वाऽऽह - **किमिहेति**। हे षडङ्घ्रे! इह अगृहाणां वनचारिणीनां नोऽस्माकमग्रतः पुरतः पुराणं बहुशोऽनुभूतं यदुपतिं किं किमर्थं गायसि न तेन[2] तव काचिदिष्टसिद्धिरिति भावः, किन्तु विजयसखस्य श्रीकृष्णस्य सखीनां पौरस्त्रीणाम् अग्रतः तस्य विजयसखस्य प्रसङ्गो गीयताम्, एवञ्चेत्तस्येष्टास्ताः तवेष्टं कल्पयन्ति, अपेक्षितं दास्यन्ति। तत्र हेतुं वदन्ती ता विशिनष्टि। क्षपिता विजयसखालिङ्गनेन निरस्ता कुचरुग्यासां ताः॥ १४ ॥

ननु यदि पौरस्त्रियः तद्वशङ्गताः तदालिङ्गनक्षपितकुचरुजो भवेयुस्तदा मदिष्टं कल्पयेयुः, तस्य ता एव दृष्प्रापा इत्यत आह - दिवीति। दिवि भुवि रसायां पाताले च याः स्त्रियः स्युः, तासां मध्ये काः स्त्रियः। तदिति पृथक्पदमव्ययम्। तस्य कृष्णस्य दुरापाः दुष्प्रापाः। सर्वा अपि स्त्रियः सुलभा एवेत्यर्थः। तत्र हेतुं ब्रुवती विशिनष्टि। कपटो रुचिरस्सुन्दरश्च हासो भ्रूविक्षेपश्च यस्य तस्य अत एव यस्य भगवतश्चरणेणुं भुतिलक्ष्मीरप्युपास्ते। कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भाभ्यां तद्वशगा तच्चरणरजस्सेवत इत्यर्थः, वयन्तु विचक्षणाः ताभ्यां न तद्वशगा इति भावः, तदाह वयं का ह्रीति। वयं तद्वशगानां न काश्चिद्वीत्यर्थः। किञ्च कृपणपक्षे कृपणानां दीनानां जनानां पक्षे कोट्यामेव ह्युत्तमश्लोकशब्दः उत्तमश्लोकप्रसङ्ग गोचरशब्दो गेय इति शेषः। नत्वदीनपक्षेऽस्मत्समुदाये इति भावः ॥ १५ ॥

एवं भ्रमणशीलं भ्रमरं स्वपादमूले चरन्तमात्मानं प्रसादयितुमिवाऽऽतक्ष्य तं प्रत्युक्तम्। अथ स्वशिरसि भ्राम्यन्तं तं श्रोत्रान्ति उपांशु प्रियोक्तीरभिधातुं चरन्तमिवाऽऽतक्ष्याऽऽह - विसृजेति। शिरसि पादं न्यस्तमिति शेषः। विसृज पादेन मच्छिरो मा स्पृशेत्यर्थः। तथाप्यमुञ्चन्तमाह — वेद्मीति। मुकुन्दादभ्येत्य ततश्शिक्षित्वेत्यर्थः। दौत्यैः दूतकर्मभिः चाटुकारैः प्रियवचनैश्च अलम्, अनुनयविदुषः प्रार्थनाचतुरस्य ते वेद्मि सर्वं विवक्षितं वेद्मीत्यर्थः। मुकुन्दवत्त्वमपि न विश्वसनीय इति भावः। ननु तेन किमपराद्धं तत्राऽऽह स्वकृत इति। स्वकृते तदर्थमेव विसृष्टानि अपत्यानि पतयेऽन्ये लोका धर्मसाध्या याभिस्ताः अस्मान्न्यसृजत् कस्ततोऽन्योऽपराध इति भावः। अतोऽसावकृतचेताः अकृतज्ञः, कृतघ्न इति यावत्। अतोऽस्मिन् सन्धेयं सन्धिना साध्यं किमस्तीत्यर्थः। नहि कृतघ्नेन सन्धिरुचितः। न वा कृतोऽपीष्टसाधनमिति भावः ॥ १६ ॥

---

1- -1 T.W omit 2. K अनेन 3. K ° न्ते

विज० हे मधुप! सपत्न्याः मधुरायां स्थितायाः समानभार्यायाः अधरमधुपानलोलोद्धवायाः तस्याः आलिङ्गनकाले दृढपीडितकुचाभ्यां विलुलितायां इतस्ततो विक्षिप्तायां मालायामनुषक्त कुचकुङ्कुमेन रूषितश्रमभ्रुभिः अङ्कितस्त्वमस्मान् मा स्पृश, प्रणयकोपात् कितवबन्धो! इति सम्बोधयति। कितवस्य नवनीतादि परद्रव्यचोरस्य कृष्णस्य बन्धो न केवलं त्वमेव मा स्पृश किन्तु स कितवो न स्पृशत्विति भावेन वक्ति बहत्विति। स मधुपतिः श्रीकृष्णः तस्यां मधुरायां विद्यमानानां मानिनीनां मानधराणां स्त्रीणां प्रसादं प्रणयकोपशान्तिलक्षणमनुग्रहं वहतु। नतमूर्ध्नोति शेषः। कीदृशम्? यदुसदसि विडम्ब्य मनुकरणयोग्यं सोत्प्रासपूर्वं वक्तव्यं "सोत्प्रास स्समनाक्स्मितम्" (अम. को. 1-216) इति। स्वकैतवं परस्मिन्नपि सङ्क्रामयितुं पटुतम इति भावेनाऽऽह यस्येति। यस्य कृष्णस्य दूतस्त्वमपीदृग्धूर्त इत्यर्थः। हे भ्रमर कितवबन्धो! उन्मत्तपुष्पबन्धो! सपत्न्या भृङ्ग्या कुचस्पर्शेन विलुलितमालायाः उद्बुद्धकाम आ समन्तात्कुङ्कुमपुष्परसमिश्रमुखरोमभिरस्मान् मा स्पृश। ईदृक्त्वं यस्य वसन्तस्य दूतस्त्वं, मधुश्चोऽयं पतिश्चेति मधुपतिः वसन्तनामा परिवृढः यत्सदसि पुष्पसमूहे विडम्ब्यं स्थिरीकर्तव्य मेतन्मानिनीनां भृङ्गीणां प्रसादं प्रसन्नभावं वहतु करोतु। कृष्णवद्वैतक्षण्यं न करोत्विति वा। "उन्मत्तः कितवो धूर्तः" (अम.को 2-123) इत्यमरः॥ १२ ॥

कृष्णस्य कितवत्वं कथमापाद्यते इत्यत एवमिति व्यनक्ति सकृदिति। भवादृक् भवानिव पूज्य इव स्थितः कः पुरुषः मां त्यजेत्, न त्यजति। मत्त्यागे हत्यादोषो भवति "ब्राह्मणं स्वयमाहूय याचमान मकिञ्चनम्। पश्चाच्चास्तीति

यो ब्रूयात्तमाहुर्ब्रह्मघातकम्" इति स्मृतिर्वदतीति भावेन कथितः। स्वामधरसुधां अधरोष्ठामृतं पाययित्वेति निषेधवचनाभावादुक्तदोषः कथं स्यादित्याशङ्क्य सकृत्पानेनाऽस्य बहुतृष्णाजननहेतुत्वात्ततोऽत्यधिक इवेति भावेनोक्तं सकृदिति। तृष्णाजनकत्वञ्च कथमित्यत उक्तं मोहनीमिति। बुद्धिमोहकरीम्। मोहिनीमिति पाठे मोहकत्वशक्तिरस्यास्तीत्यर्थः। अत्र निदर्शनमाह सुमनस इति। यथा सुमनसः पुष्पस्य गन्धमाघ्राय पुनस्तदानीमेव तत्त्यागोऽदृष्टचर स्तथेति। तस्य त्वतृष्णा नास्ति चेत्तवाऽपि मा भूदिति मा शङ्कीति भावगर्भमाह-परिचरतीति। अत्र लक्ष्मीपदममरश्रीपदञ्चाध्याहृत्य व्याख्येयम्। लक्ष्मीः मधुराङ्गना वा तस्य कृष्णस्य पद्मकिञ्जल्कवत् कोमलं पदं कथं केन प्रकारेण परिचरति शुश्रूषते इति शङ्कित्वा हेतुमाह अपीति। सापि उत्तमश्लोकजल्पैः उत्तमश्लोकस्य हरेः जल्पैः मधुरवचनविशेषैः हृतचित्तामुग्धचित्तत्वात् तृष्णया परिचरतीत्येवं निश्चेयम्। बत हर्षे। चित्ता उत्तमेति सन्ध्यकरणेन प्रियत्वातिरेकदर्शनार्थमेवं कथनं, न तु दोषापादकत्वेन निर्दोषत्वात्तस्य सर्ववैलक्षण्यप्रदर्शनार्थञ्चेति ज्ञाप्यते इति। सुमनस इव सद्य इत्यनेन शरीरदौर्गन्ध्यं कितवपाण्डित्यं प्रतीपदर्शित्वं प्रवयस्त्वञ्चेति त्यागनिमित्तानि सन्तीति सूचयति। सुमनस इव पुष्पस्य सदृशी। यथा पुष्पं सौरभ्येण घ्राणेन्द्रियतर्पकत्वेन च सेव्यं स्यात्। तथाहि सद्यः सद्यस्का यथा प्रत्यग्रवयसि वर्तमाना तरुणी तरुणैः परिहर्तुं न शक्या तथेति। किञ्च सुमनसः मालत्या लतायाः ननु त्वं यथा मम मध्ये मुष्टिग्राह्यत्वमनेनाऽऽलिङ्गने सुखोद्रेकं लभयति। यथा सुमनसो देवाः स्वसेवकं न त्यजन्ति तथा मामपि, यथा बुधाः कामकलाज्ञास्तरुणीं न मुञ्चन्तीति तथा वा। अतो भवादृगेव श्रीकृष्ण एव नृशंसत्वेन त्यक्तवानिति वा। "सुमनाः पुष्पमालत्योः स्त्री देवबुधयोः पुमान्" (वैज. को 7-5-90) इति यादवः। इतरत्समम्। परिहरतीति केचित्पठन्ति॥ १३ ॥

स्वपुरतो वर्ण्यमानया प्रियवार्तया उद्बुद्धमदनकलिका पुनरपि श्रोतुकामा असहमानेव अधिक्षिप्तं कोपनार्थमधिकं वक्तीति कृत्वा तमुद्भवमाक्षिपती वक्ति- किमिहेति। षट्सु दर्शनेषु सन्ध्यादिषु च अङ्गिरवद्गतिर्यस्य स तथा। षट्सु विषयेषु भगवद्भक्तिपरिपन्थिषु अङ्गिः पादो यस्य स तथेति वा। तस्य सम्बुद्धिः हे षडङ्गे, उद्धव 'अधिरधिलधि गत्यर्था'।' इति धातुः। त्वम् अगृहाणां गृहाश्रमरहितानां, वनचारिणामित्यर्थः। नोऽस्माकमिहाग्रतः पुराणं पुरे वर्तमानं यदूनामधिपतिं किं बहुकर्णबिलपूं गायसि, न शब्दयेत्यन्वयः। कै गै शब्दे इति धातुः। तस्य गृहान्तर्वीर्तित्वेन वनभ्ययवासिपुरतो गायनमनन्वितमित्यर्थः। तर्हीदं कस्याऽग्रतो युक्तमिति तत्राऽऽह - विजयेति। विजयोऽर्जुनस्तस्य सखा कृष्णः तस्य सखीनां मधुराङ्गनानामग्रतः तस्य कृष्णस्य प्रसङ्गः गायतां गीयतां, त्वयेति शेषः। तत्र गातुस्तव फलसिद्धिरप्यस्तीत्याह क्षपितेति। तत्प्रसङ्गेन क्षपिता निरस्ता कुचानां रुक् सन्तापलक्षणा यासां तास्तथा। इष्टाः कृष्णप्रियाः मधुराङ्गनाः उद्गात्रे ते तुभ्यम् इष्टमभीष्टं धनादिकं कल्पयन्तीत्यन्वयः। "तस्मात्तेयं धनसमयः" इति श्रुतेः। तत्प्रसङ्गमिति पाठे भवान्गायतामित्यात्मनेपदे लोट्। तत्प्रसङ्गक्षपितेति पाठे, या यदुपतिविषया गीतिस्तां त्वं गायेति परस्मैपदे लोट्। तस्य प्रसङ्गेन प्रकृष्टालिङ्गनलक्षणेनेति विजयसखसखीनामग्रतो यदुपतिं गायतां पुंसां ते कृष्णेष्टाः स्त्रीजना अभीष्टं कल्पयन्तीति वा॥ १४ ॥

ननु प्रगल्भा चेत्त्वमेव प्रतपनं विना मत्तकाशिन्या लज्जाभावात् कृष्ण आगमिष्यतीति शङ्का मा भूदिति आह - दिवीति। स्वर्गादिषु विचमाना देवस्त्रियः तस्य कृष्णस्य दुरापाः दुष्प्रापाः स्युः, किन्तु सुप्रापा एव। कर्षणमन्यमाह - कपटेति। याः स्त्रियः कपटश्च रुचिरश्च हासयुक्तो यो भ्रूविजृम्भः भ्रूभङ्गस्तस्य विषया लक्षीभूताः स्युः। अध्यात्मकमानन्दं

पटयति गमयतीति कपटां रुचिं स्पृहां राति ददातीति कपटरुचिरः, हे कपटेति वा। तत्र हेतुमाह - चरणेति। भूतिर्लक्ष्मीर्यस्य हरेश्चरणरज उपास्ते, तदनुग्रहार्थमिति शेषः। ननु भवत्योऽपि तथा कुर्वन्त्वित्यत्राह वयमिति। तत्र कथं वनचारिण्यः काः स्याम। अपि च पुनरपि शृणु कृपणस्य किम्पचानस्य अस्मद्विधस्य जनस्य पक्षे अन्तिके उत्तमश्लोकशब्द एव कर्णविषयो न तु वाच्योऽर्थश्चक्षुर्विषय इत्यर्थः। यद्वा, उत्तमश्लोकशब्दः कृपणपक्षे दीनपक्षपाती श्रुतः सोऽप्यस्मद्विषयो नाऽभूदित्यर्थः॥ १५ ॥

प्रणतकृष्णशिरःस्थितस्वपादस्मरणातिरेकविवशा स्वपादमुद्धवशिरसि स्थितं मत्वा वक्ति **विसृजेति**। तव शिरसि स्थितं मम पादं विसृज मुञ्च। अहं त्वां वेद्मि। अनुनयसारैः सान्त्वविषयैः चाटुकारैः आपातरमणीयैः प्रियवचनैः अलं पर्याप्तम्। किञ्च, दौत्ये स्थितः त्वं मुकुन्दं च याहि। किमित्येवं कोपगर्भवचनं वदसीति तत्राऽऽह -स्वकृत इति। स्वकृते स्वनिमित्तं कृष्णार्थमित्यर्थः। विसृष्टापत्यात्मलोकाः त्यक्तपुत्रभर्तृबन्धुजनाः अस्मानिह वने व्यसृजंदिति यदतोऽकृतचेताः अकृतज्ञाः कृतघ्न इत्यर्थः। दूतोऽहं त्वां सन्दधामीति तत्राऽऽह किन्चिति। अस्य कृष्णस्य अनुसन्धेयं किन्नु। न किमपीत्यन्वयः। अनुनयसारैः श्रैष्ठैर्वा "उमाप्रणामसङ्क्रान्तचरणालक्तकश्शशी, सन्ध्यारुण इवाऽऽभाति यस्य पायात्स वश्शिवः " इति वचनात् ईश्वरोप्यज्ञ जनमोहनार्थमेवंविधलीलो जयतीति॥ १६ ॥

---

1 Ma,Mb °चकत्वा० 2 Ma,Mb add न (?) 3 Ma Mb add तथा

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा[1] स्त्रिय मकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वाऽवेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद्यः[2] तदलमसितसख्यै र्दुस्त्यज स्तत्कथार्थः[-2]॥ १७ ॥

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्माविनष्टाः ।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना बहव इव विहङ्गा भिक्षुचर्यां[3] चरन्ति[4]॥ १८ ॥

वयमृतमिव[5] जिह्मव्याहृतं[6] श्रद्धधानाः कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः ।
ददृशिम सकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्र स्मररुज उपमन्त्रिन्भण्यतामन्यवार्ता[7][-8]॥ १९ ॥

प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः[9] किं[-9] वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग! ।
नयसि कथमिहाऽस्मान्दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं सततमुरसि सौम्य श्रीवधूस्साकमास्ते[10][11]॥ २० ॥

अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते स्मरति स पितृगेहान्[12] सौम्य बन्धूंश्च गोपान्।
क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां[13] गृणीते[14] भुजमगरुसुगन्धिं[15] मूर्ध्न्यधास्यत्कदा नु[16]॥ २१ ॥

---

1 M Ma यः किरातः 2- -2 M Ma बिलवास वेदविद्वर्गवन्द्यः 3 G.J M Ma इह 4 M.Ma भैक्ष 5 K.T W °ते 6. M Ma °क 7 G.J. °ग्भुस० 8- -8 M.Ma स्तनरुजपरमार्ति भण्यतामस्य 9- -9 J. प्रेषितः किं; M.Ma प्रेषितस्त्वं 10 M.Ma °जं बन्धु 11 G.J. °र्भू० 12 M.Ma °हं 13 K.T W कथां; M Ma कथ 14 M Ma गृहीतो 15 G J K.M °गु० 16 G J M.Ma °त्वं

**श्रीध०** किञ्च कृष्णस्य पूर्वाणि कर्माणि अनुसन्दधाना बिभेम्यहमस्मादित्याह- **मुगयुरिति**। मृगयुर्लुब्धक इव यः कपीन्द्रं बालिनं विव्यधे अविध्यत्। लुब्धधर्मा क्रौर्यधर्मवान्। अलुब्धधर्मीते वा। लुब्धको हि तन्मांसमत्तुकामो विध्यति, अयन्तु न तथा; अतो वृथाकठिन इत्यर्थः। तथा स्त्रियश्च शूर्पणखां स्त्रीजितः सीतापरतन्त्रः, काम एव यानं प्राप्तिसाधनं यस्या स्तां, विरूपां छिन्नकर्णनासिकामकरोद्दाशरथिरूपेण। तथा बलिमपि तद्दत्तबलिमत्त्वा भक्षयित्वा ध्वाङ्क्षवत् काकवत् अवेष्टयत् बबन्ध चामनरूपेण। 'बलिमपि बलिमत्त्वाऽधोक्षिपद्विष्टपात्'' इति पाठे बलिं पूजां गृहीत्वा विष्टपात्स्वर्गात् अधः अक्षिपदित्यर्थः। तत्तस्मात् असितस्य कृष्णस्य सख्यैरलम्। एवञ्चेत्किमिति तं नित्यं गायथ? तत्राऽऽह दुस्त्यज इति। तस्य कथारूपोऽर्थः इत्यपि च जानीम एवेति॥ १७ ॥

तत्कथापि त्रिवर्गतामूलोन्मूलिनी, तथाऽपि न त्यक्तुं शक्नुमः; किं कुर्म इत्याह-**यदिति**। यस्यानुचरितमेव लीला। तदेव कर्णपीयूषं तस्य विप्रुट् कणिका तस्याः सकृददनं सेवनं तेन विधूताः निरस्ताः द्वन्द्वधर्माः रागादयो येषां ते, अत एव विनष्टाः असत्तुल्याः दीनं दुःखितं गृहकुटुम्बं विहाय दीनाः भोगहीनाः विहङ्गा इव भिक्षुचर्यां प्राणवृत्तिमात्रं चरन्ति। अतस्त्याज्यः। तथाऽपि त्यक्तुं न शक्नुम इति निन्दापरत्वे वाचकोऽर्थः। दुस्त्यजत्वे आर्थिकोऽयमर्थः। विधूतद्वन्द्वधर्मा इत्यन्तः समासः पूर्ववत्। ततस्ते च ते अविनष्टाश्च इति समासः। इतरे पुनः द्वन्द्वधर्माणो विनष्टा एव। सपदि तत्क्षणमेव दीनं तुच्छं गृहसहितं कुटुम्बं विहाय दीना इवाऽकिञ्चनाः। धीरा इति वा पाठः। बहवः विहङ्गाः हंसा इव सारासारविवेक चतुराः भिक्षुचर्यां पारमहंस्यं चरन्ति। तस्मादेवं परमपुरुषार्थरूपत्वात् दुस्त्यज एव तत्कथार्थ इति॥ १८ ॥

ननु किमेवं ब्रूषे? पूर्वं त्वयैव साकं रहसि किमेवं नाऽवोचदित्यत आह-**वयमिति**। हे उपमन्त्रिन्! दूत! आस्तामियं वार्ता, यतः कुलिकस्य मृगयोः रुतं गीतं अज्ञा यथा ऋतं सत्यमिति श्रद्दधानाः कृष्णस्य हरिणस्य बध्वः भार्याः हरिण्यः शरैः क्षतास्सत्यो ददशुः। एवं जिह्मस्य कुटिलस्य तस्य व्याहृतं ऋतमिव श्रद्दधानाः स्पृहयन्त्यो वयं सकृदेत ददृशिम। किं तत्? तस्य नखैः स्पर्शः तेन तीव्रः स्मरः तेन रुजः पीडाः। तस्मादन्या वार्ता भण्यतां कथ्यतामिति॥ १९॥

परावृत्य गत्वा पुनरागतं प्रत्याह - **प्रियसखेति**। हे प्रियस्य सखे! प्रेयसा श्रीकृष्णेन पुनः प्रेषितः किं त्वमागतोऽसि? अङ्ग! हे दूत! मे माननीयः पूज्योऽसि। अतो भवान् किमनुरून्धे प्रामुमिच्छतीत्यर्थः। तद्वय वृणीष्व। सम्मानितं प्रत्याह- नयसीति। इह सतीः अस्मान् दुस्त्यजं द्वन्द्वं मिथुनीभावो यस्य तस्य पार्श्वं समीपं कथं नयसि नेष्यसि। तथाहि - हे सौम्य! श्रीनाम वधूः साकं सहैव सततमास्ते तत्राप्युरसि वक्षस्येव॥ २० ॥

तेन सम्मन्त्रिता सती ब्रूते - **अपीति**। बत हर्षे। हे सौम्य, गुरुकुलादागत्य आर्यपुत्रः कृष्णः अधुना किं मधुपुर्यां वर्तते? कदाचिदपि नोऽस्माकं वार्ताः किं ब्रूते? अगगरुवत्सुगन्धिं भुजं नो मूर्ध्नि कदा नु धास्यतीति॥ २१ ॥

---

1- -1 J,Va अयं तावत् श्रौतोऽर्थः। 2 J,Va add अपि 3 J, Va अगु०

**वीर०** न केवलमयमकृतज्ञ एव। अपि तु क्रौर्यकाठिन्यादियुक्तश्चेत्याह - **मृगयुरिवेति।** मृगयुरिव व्याध इव बद्धित्वा कपीन्द्रं निरपराधं वालिनं विव्यधे जघान। अतोऽयं लुब्धधर्मा लुब्धस्य ये धर्माः क्रौर्यकाठिन्यादयः, तद्युक्त इत्यर्थः। यद्वा अलुब्धधर्मेति च्छेदः, मृगयुरिवेत्यनेनैव तत्सादृश्यलाभात्। अलुब्धधर्मा लुब्धेऽप्यसम्भाविता ये धर्मा स्तद्युक्त इत्यर्थः। लुब्धको हि मांसमत्तुं मृगान् हन्ति, अयं तु न तथेति, वृथा काठिन्यादिमानिति भावः। तथा स्त्रीजितः स्त्रिया वैदेह्या जितः तद्वशं गत इत्यर्थः। कामयानां काम एव यानं प्राप्तिसाधनं यस्या स्तां, कामेन याति स्वेच्छया चरतीति तथा, तामिति वा, नन्वादित्वात्कर्तरि त्युः। स्त्रियं शूर्पणखां विरूपां अकृत च्छिन्नकर्णनासिकामकरोदित्यर्थः[1]। एवं दाशरथिरामरूपेण कृतम्[2]। तथा वामनरूपेण यो ध्वाङ्क्षवत् वायसवत् बलिं पूजां वैरोचनिसमर्पितां, अत्त्वा भुक्त्वा परिगृह्येत्यर्थः बलिं वैरोचनिम् अवेष्टयत्, पाशैरिति शेषः। बबन्धेत्यर्थः। तत् तस्मात् असितस्य श्रीकृष्णस्य सख्यै रतम्। असितेत्यनेन नैत्यं दुष्टं हीति पामरत्यायोऽभिप्रेतः एक्ष्वेनित्यं किं गायथ? इत्यत्राऽऽह दुस्त्यज इति। तस्यासितस्य कथारूपोऽर्थो दुस्त्यजः त्यक्तुमशक्यः॥ १७॥

न केवलमस्माकमेव तत्कथार्थो दुस्त्यजः, किन्त्वन्येषामपि। नाऽपि वय मेव तदर्थे विसृष्टापत्यादयः, अपि त्वन्येऽपीति स्तुतिगर्भं निन्दन्त्याह यदनुचरितेति। इह लोके बहवो जनाः यस्याऽसितस्यानुचरितमेव लीला, तदेव कर्णयोः पीयूषममृतं, तस्य विप्रुट् कणिका तस्यास्सकृददनं सेवनं तेन विधूता निरस्ता द्वन्द्वधर्मा रागद्वेषादयो येषां ते, अत एव विनष्टाः असत्तुल्या अचेतनप्राया इति यावत्। लब्धात्मस्वरूपसत्ताका इति स्तुतिरप्यभिप्रेता, समस्तत्वे अविनष्टा इति च्छेदात् सपदि तदैव दीनं दुःखितं गृहकुटुम्बं विहाय दीना विहङ्गा इव भिक्षुचर्यां चरन्ति सन्न्यासिवत्प्राणधारणमात्रं कुर्वन्ति॥ १८॥

तर्ह्येवं विचक्षणास्तावद्यूयं कथं तद्वशं गता इत्यत्राऽऽह - **वयमिति।** कृष्णस्य हरिणस्य वध्वः हरिण्यः अज्ञाः कुलिकरुतमिव मृगविश्वासकर्तुः[3] व्याधस्य गानरूपशब्दमिव वयं जिह्मस्य कुटिलस्य तस्य व्याहृतं भाषणं ऋतमिति सत्यमिति श्रद्दधानाः तस्य नखस्पर्शैः नखक्षतैः तीव्रा स्मररुक् यासां तथाभूताः सकृदेतत्प्रणयित्वं ददृशिम अद्राक्ष्म। अतो हे उपमन्त्रिन्! दूत! अन्यवार्ता मण्यतां[4] कथ्यतां, तद्वार्तया त्वलमिति भावः॥ १९॥

परावृत्य पुनरागतं प्रत्याह - **प्रियसरवेति।** प्रियस्य सखे! पुनः प्रेयसा प्रियतमेन कृष्णेन प्रेषितस्त्वं आगाः किम्, आगतोऽसि किम्? तर्हि अङ्ग! हे भ्रमर! मम त्वं माननीयोऽसि पूज्योऽसि, अतः किं यत्किञ्चिदनुरुन्ध भवान् प्राप्तु मिच्छति, तद्वय वृणीहि, इह स्थिता इति शेषः। अस्मान्कथं दुस्त्यजं द्वन्द्वं मिथुनीभावो यस्य तस्य भगवतः पार्श्वं समीपं नयसि नेष्यसि। तथाहि, हे सौम्य! श्रीर्लक्ष्मीर्नाम वधूः साकं सहैव तत्राऽप्युरसि वक्षस्येव सततमास्ते॥ २०॥

अपि बतेति हर्षे। हे सौम्य! आर्यपुत्रः श्रीकृष्णः अधुना मधुपुर्यां आस्ते किम्। पितृभ्यां गेहैश्च सहितान् बन्धून् गोपान् स्मरति किम्? क्वचिदपि कदाचिदपि किङ्करीणां नोऽस्माकं कथां वार्तां गृणीते किम्? कदा नु कदा वा अगरुवत्सुगन्धिं भुजं नो मूर्ध्नि अधास्यत् निधास्यति ॥ २१ ॥

---

1. T.W omit कर्ण 2. T.W. omit कृतम् 3. T.W. omit व्याधस्य 4. K.W. फ०

**विज०** प्रणयकोपातिरेकेण असन्धेयत्वे दोषानुत्पादयति - **मृगयुरिति।** यो रामनामा भूत्वा कपीन्द्रं वालिनं विव्यधे हिंसितवान्। क इव मृगयुर्लुब्धक इव यथा लुब्धकः उपाश्राये स्थित्वा विध्यति मृगं, तथाऽयमपीत्याक्षेपार्थः। कपेः सुग्रीवस्य ईं स्त्रियं द्रावितवानिति अपराधं दृष्ट्वेति स्तुत्यर्थः। किञ्च किरातः निषाद इव स्त्रियं विरूपां छिन्ननासिकाकर्णत्वेन सौन्दर्यहीनामकृत। परामृष्टायाः शूर्पणख्या मे पतिर्भवेति विरूपं विपरीतशब्दं श्रुत्वा विरूपामकरोत्, न तु शुद्धस्त्रियमिति निष्कृष्टोऽर्थः। किं नः परमानन्दिनो मुक्ताः रतं मित्रं यस्य स किरातः स्त्रीजितः स्त्रैणः स्त्रीर्जिता पराभूता येन स तथा। कामयानां पतिमिच्छन्तीं काम एव यानं यस्यास्सा तथा स्मरनामरथाधिरूढां दुष्टामित्यर्थः। किञ्च। वामनावतारे महावहपर्वे यज्ञे सबहुमानं बलेः त्रिपदपरिमितं भूम्युपहारमादाय कृतघ्न इवाऽयं बलिनामानं दैत्यं बिलवासं पातालवासिनं अकृत। पूजायां हेतुमाह वेदेति। वेदविदामृषीणां वर्गेण समूहेन वन्द्य इति यत्तस्मात् मुग्धाद्बलेः पूजामवाप्यापि तं बद्ध्वा पातालनिवासिन मकरोदित्यर्थः। 'बल परिवर्तने' इति धातोः बलिं इन्द्रस्य विद्यमाने त्रैलोक्ये परिवर्तं परकीयं स्वीयवत् वशं कृत्वा चरणलक्षणं चौर्यास्त्र्यापराधं दृष्ट्वा दुष्टशिक्षणं कृतवानिति आध्यात्मार्थः। बकारवकारयोः अन्योन्यात्मकमनुशासनसिद्धम्। कृष्णः कीदृशः? वेदविदां वैदिकानां वर्गो वर्जनं येषु ते वेदविद्वर्गवन्द्वादयः तैः वन्द्य इत्यनेन अविद्यमान कथननिपुणत्वेनाऽस्मन्मनोमोहनं कृत्वा हृतवानिति सूचितम्। निन्दास्तुती उपसंहरति तदिति। यतोऽयं कृष्णोऽस्मासु शोकाधानकमकरोत् तस्मादसितेन मलिनेन कृष्णेन सह सख्यैः सहासनशयनादिलक्षणैः अलं वारितम्। असितस्य मेघश्यामस्य नित्यमुक्तस्य वा षित्रबन्धन इति धातुः। ह्रेः सख्यशब्देन अर्चनादिकमुपलक्ष्यते। अर्चनादिभिः अलं भूषणम्, आत्मन इति शेषः। निर्विण्णा चेत्किमिति तत्प्रसङ्गं करोषि? इति तत्राऽऽह दुरत्यज इति। तस्य कृष्णस्य कथार्थः चरितविषयव्यवहारो दुरत्यजस्त्यक्तुमशक्यः, पारवश्यादिति शेषः। किञ्च। दुःखं त्यजतीति। यद्वा, तस्य कथानिवृत्तिः अशोभनं ददातीति॥ १७ ॥

गुणा अप्यनेन सूचिता इति प्रकटनाय उत्तरबन्धेन गुणानेव वक्ति **यदनुचरितेति।** यस्य कृष्णस्यानुवचनम् अनुयुगं वा अन्ववतारं वा चरिता लीलैव कर्णपीयूषं कर्णामृतं तस्य विप्रुट् बिन्दुस्तस्य सकृददनेन एकवाग्रवणलक्षणेन विधूताः द्वन्द्वधर्माः रागादिलक्षणा येषां ते, ते चाऽविनष्टा अनुच्छिन्नज्ञानधर्माश्च। अनुच्छित्तिर्धर्मेति श्रुतेः। विनष्टा इति पृथक्पदं वा। विगतं नष्टं नाशनं येभ्यस्ते तथा। मुक्तावपि स्वरूपभेदधर्मरहिता न भवन्तीत्यर्थः। "स वा अयमात्मा ब्रह्मविज्ञान-मयो मनोमयः" (बृह.उ. 4-4-5) इत्यादिश्रुतेः। सपदि वैराग्यज्ञानानन्तरं दीनं दारिद्र्यापादकं कुटुम्बं विसृज्य दीनाः 'दीङ् क्षये' इति धातोः दीना निर्दोषा इत्यर्थः। बहवो विहङ्गा विहायसा नाम्नाऽऽकाशेन हरिणा गच्छन्तीति विहङ्गाः सन्न्यासिनः, इह जीवराशौ भैक्षचर्यां ज्ञानलक्षणामुद्दिश्य चरन्ति, देहयात्रां कुर्वन्ति। ज्ञानार्थमिव तेषां देहधारणं नोदरपूरणार्थमित्यर्थः। "प्रव्रजन्त्येतद्ध स्म वै ते पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजां करिष्यामो येषां नौऽयमात्माऽयं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लौकैषणायाश्च व्युत्थायाऽथ भिक्षाचर्यां चरन्ति" (बृह.उ. 4-4-22) इति श्रुतेः॥ १८ ॥

कृष्णवध्वो वयं यस्य जिह्मं कुटिलं व्याहृतं वचनमृतं सत्यमिति श्रद्दधानाः, यथा अज्ञाः कृष्णमृगवध्वो हरिण्यः कुलिकस्य मृगविद्वासकर्तुः रुतं गीतं नानाप्रकारं श्रद्दधते आस्तिक्यबुद्धिं कुर्वन्ति। तथा तस्यैतस्य सकृन्नखस्पर्शेन नखस्पर्शोपतापेन उत्पन्नेन तीव्रेण स्तनानां रुजेन क्षतेन जाता या तां परमां अत्युत्कटातिसुखलक्षणां पीडां ददृशिम अनुबभूविमेति यत्ततोऽस्य वार्ता भण्यताम् श्रुतया तयाप्यानन्दमाशास्महे इति, जिह्मं मन्दमल्पमपि व्याहृतमिति यदतः श्रद्दधानाः "ईश्वराणां वचस्सत्यं तथैवाऽऽचरितं क्वचित्" इति वचनात्। "जिह्मं मन्देऽघवक्रयोः" (वैज. को. 6-5-32) इति। स्वध्वनिसादृश्यात् हरिणीनां कुलिकरुतवशत्वं न त्वसत्यं तदित्यध्यात्मं योग्यम्। अन्यवार्तेति केचित्। अन्यविषयं वचनं न त्वेतद्विषयम्। सर्वस्मादन्यस्य विलक्षणस्य भिन्नस्येति वा॥ १९ ॥

आत्मनः कृष्णैकचित्तत्वं दर्शयन्ती ग्रहाविष्टेव वक्ति प्रियेति। हे प्रियसख, प्रियस्य कृष्णस्य सखे, पुनरागाः पश्चाद्वचावृत्त्याऽगतोऽसि। "पुनरप्रथमे प्रश्ने व्यावृत्तावबधारणे" (वैज.को 8-7-24 ) इति। त्वं प्रेयसा कृष्णेन पुनः प्रेषितोऽसि। किमनुरुन्धे कमर्थमस्मत्तः स्वीकर्तुमिच्छति, तं वय। प्रेष्ठबन्धुत्वात्त्वमस्माकं माननीयोऽसि। आत्मनो नेतुमागत इति भ्रान्तबुद्धिराह -अङ्गेति। अङ्ग! भो उद्धव! इह स्थितानस्मान् दुस्त्यजं बन्धोः कृष्णस्य पार्श्वे समीपं नयसि किम्? दौर्घटचम् इत्यतः सपत्नीबुद्ध्या न शक्यमित्या। ह- सततमिति। श्रीनाम वधूः तस्योरसि सततमास्ते। सततशब्दः आपेक्षिक इति तत्राऽऽह साकमिति। अर्धाङ्गित्वेनाऽऽस्त इति सपत्न्याः लक्ष्म्याः कदाऽपि वियोगाभावात् त्वत्तीतानां तद्दर्शनमपि दुर्लभं, किं पुनः सम्भाषणं, किंतरां तच्चर्विताद्दानं, कुतस्तमां सुततलीलानुभव इत्यास्तामयं प्रसङ्ग इति॥ २० ॥

इदञ्चोन्मत्तप्रलपितसममित्याह - अपीति। अधुना आर्यस्य पूज्यस्य वसुदेवस्य पुत्रः श्रीकृष्णः मधुपुर्यां बत लोकस्य मनस्सन्तोषं विधाय आस्ते अपि किम्? किञ्च, स कृष्णः पितुर्नन्दस्य गेहं भार्यां यशोदां तञ्च पितरं स्मरत्यपि? किञ्च बन्धुभूतान् गोपांश्च स्मरति? अपि च स कृष्णः क्वचित्कञ्चन कालमादाय किङ्करीणां नोऽस्माकं गृहीतोऽपि अनुग्रहं करोति किम्? वद कोऽयमनुग्रह इति तत्राह भुजमिति। कदानु अगुरुवत् सुगन्धं भुजमस्मन्मूर्ध्नि अधास्यत् धारयिष्यति। तदपि वक्तव्यमित्यर्थः। यद्यागमिष्यत्तर्ह्यधास्यत्, न सन्देहः। तदागमनं कदा न्विति पृच्छामीति वा॥ २१ ॥

---

1 Ma, adds वा 2 Ma अग°

## श्रीशुक उवाच

अथोद्धवो निशम्यैवं[1] कृष्णदर्शनलालसाः।
सान्त्वयन्प्रियसन्देशै र्गोपीरिदमभाषत॥ २२ ॥

## उद्धव उवाच[2]

अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो[3] लोकपूजिताः।
वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं[4] मनः[5]॥ २३ ॥

दानव्रततपोहोम जपस्वाध्यायसंयमैः।
श्रेयोभि र्विविधिभिरन्यैश्च कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥ २४ ॥

भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा।
भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा॥ २५ ॥

दिष्ट्या पुत्रान्पतीन्देहान्स्वजनान्भवनानि च।
हित्वाऽवृणीत यूयं यत् कृष्णाख्यं पुरुषं परम्॥ २६ ॥

सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षजे।
विरहेण महाभागा महान्मेऽनुग्रहः कृतः॥ २७ ॥

श्रूयतां प्रियसन्देशो भवतीनां सुखावहः।
यमादायाऽऽगतो भद्रा अहं भर्तृ रहस्करः॥ २८ ॥

---

1. K.T.W °शा० 2- -2 M.Ma omit 3 M.Ma °न्त्यो 4 M.V म० 5 M.Ma °ता मतिः 6 M.V ध्यान 7- -7 G.J विविधैश्चान्यैः
8 K.T.W साध्वी 9- -9 M.V °नं च गृहांस्तथा 10 M.Ma °गतो 11 M.Ma T.W °न्वो 12 M.V ह्यहं 13 M.Ma भर्तुर्हि किङ्करः

**श्रीध० अथेति।** श्रीकृष्णदर्शनोत्सुकाः गोपीः प्रियस्य सन्देशैः सान्त्वयन् प्रथमं तावत् इदमभाषत॥ २२॥

तदाह षड्भिः **अहो** इति। स्म नूनं, यूयं पूर्णार्थाः कृतार्थाः॥ २३॥

**ध्यानेति।** श्रेयोविधिभिः श्रेयस्साधनैः॥ २४॥

**भगवतीति।** अनुत्तमा अतिश्रेष्ठा॥ २५॥

**दिष्ट्येति।** अवृणीत वृतवत्यः॥ २६ ॥

**सर्वेति।** सर्वात्मभावः एकान्तभक्तिः अधिकृतः प्राप्तः। भगवत्प्रेमदर्शनेन[1] मम[2] च महाननुग्रहः कृत इति॥ २७॥

**श्रूयता** मिति। भर्तुः कृष्णस्य रहस्करः रहस्य कार्यकर्ता॥ २८ ॥

---

1 J.Va add सुख प्र० 2 J.Va ममैव

**बीर० अथेति**। कृष्णदर्शनोत्सुकाः गोपीर्निशाम्य **दृष्ट्वा प्रियोपितैः सन्देशैः सान्त्वयिष्यन्** तावदिदं वक्ष्यमाणं अभाषत॥ २२ ॥

तदेवाऽऽह - **अहो** इत्यादिभिष्षड्भिः। नूनं यूयं **पूर्णार्थाः कृतार्थाः भवत्यो यूयं लोकेषु पूजिताः**। उभयत्र हेतुं वदंस्ता विशिनष्टि। यासां युष्माकं इतीत्थं भगवति वासुदेवे मनोऽर्पितं निहितम्॥ २३ ॥

कथं तदर्पणमात्रेण पूर्णार्थता पूजितता चेत्यत्राऽऽह- **दानेति**। दानादिभिरन्यैश्च **श्रेयस्साधनैः** नानाविधैः या भगवति भक्तिः न साध्यते न साधयितुं शक्यते सा भक्तिः अनुत्तमा उत्कृष्टा, मुनीनामपि **दुर्लभा** युष्माभिः दिष्ट्या सुखेनैव भगवति प्रवर्तिता; दिष्ट्या अयमस्माकं महानानन्द इत्यर्थः। तत्र दानं सत्पात्रे वित्तत्यागः, तपोऽनशनादि, स्वाध्यायो वेदाध्ययनम्, संयम इन्द्रियनिग्रहः। अत्र "नाहं वेदै र्न तपसा" (भगी. 11-53) इत्यादिभगवद्वचनार्थोऽभिप्रेतः। "नाऽन्यः पन्था" (पु.सू. 7) इत्यादि श्रुत्यर्थश्च। पुत्रादीन् त्यक्त्वा यत् यस्मात् यूयं कृष्णाख्यं परमपुरुषं अवृणीत वृतवत्यः। अतः पूर्णार्थाः लोकपूजिताश्चेति सम्बन्धः॥ २४-२६ ॥

भवतीभिः अहमपि कृतार्थीकृत इत्याह- **सर्वात्मभाव** इति। हे महाभागाः! विरहेण हेतुना अधुना अधोक्षजे। भवतीनां कर्तरि षष्ठी। युष्माभिः यस्सर्वात्मभावोऽधिकृतः प्रस्तुतः सर्वात्मना करणत्रयेण भावो भक्तिः सर्वोऽप्यात्मनो मनसः भावोऽभिप्रायविशेषः अधिकृतः प्रस्तुतः प्रकाशित इति वा। एष मे मह्यं महाननुग्रहः कृतः तत्स्मरणेनाऽहमपि कृतार्थीकृत इत्यर्थः॥ २७ ॥

एवं ताः प्रशस्य अथ प्रियसन्देशः श्रूयतामित्याह - **श्रूयतामिति**। हे भद्राः! भवतीनां सुखकरः प्रियस्य सन्देशः श्रूयताम्, सन्देशं विशिनष्टिया भर्तु र्भगवतः रहस्करः रहस्यप्रकाशकः अहं यं सन्देशमादायाऽऽगतः॥ २८ ॥

**विज०** पूर्णार्थाः कृतकृत्याः। इतिशब्दो हेत्वर्थः॥ २२,२३, ॥

शास्त्रतो नियमकरणं व्रतम्, संयम इन्द्रियनिग्रहः, हितसाधनानुष्ठानं श्रेयोविधिः॥ २४ ॥

दुर्लभेति वचनं भक्तैः कर्तव्यत्वपरं, न तु मुनीनां तादृशी भक्तिर्नास्तीति॥ २५ ॥

यूयं कृष्णाख्यं परमपुरुषं अवृणीतेति। यत्तद्दिष्ट्या सदैवाऽनुग्रहः ॥ २६ ॥

भवतीनां सर्वात्मनाऽखण्डस्वामिना हरिणा सहभावो लीला अधिगतः प्राप्त इति यदतो विरहेण महाननुग्रहः कृत इति मन्ये ॥ २७ ॥

इदानीं कृष्णसन्देशं वक्तुमुपक्रमते श्रूयता मिति ॥ २८ ॥

## श्रीभगवानुवाच

भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्।
यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं[1] मही॥
तथाऽहं मनःप्राणबुद्धीन्द्रियगुणाश्रयः[2] ॥ २९ ॥

आत्मन्येवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं सृजे हन्म्यनुपालये।
आत्ममायानुभावेन भूतेन्द्रियगुणात्मना॥ ३० ॥

आत्मा ज्ञानमयश्शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः।
सुषुप्तिस्वप्नजाग्रद्भिः मायावृत्तिभिरीयते ॥ ३१ ॥

येनेन्द्रियार्थान् ध्यायीत[4] मृषास्वप्नवदुत्थितः।
तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रत्यपद्यत ॥ ३२ ॥

एतदन्तः समाम्नायो योगस्साङ्ख्यो[5] मनीषिणाम्।
त्याग स्तपो दम स्सत्यं समुद्रान्ता इवाऽऽपगाः ॥ ३३ ॥

---

1. G.J.K.M.Ma Ml.V र्जलं 2. K.T.W. तथाहहं 3 G.J भूते० ★ This verse is not found in M.Ma editions 4. G.J.Ml.V ०येत 5. G.J.M. Ma ०ह्स्यं

**श्रीध०** **भवतीनामिति**। भवतीनां मे मया सह वियोगो नास्ति, कुतः? सर्वात्मना सर्वस्योपादानकारणेन अत एव सर्वेषु मनआदिकार्येषु अहमनुगतत्वेन स्थित इति सदृष्टान्तमाह - यथेति। भूतेषु चराचरेषु महाभूतानि यथा वाय्वग्निः वायुसहितोऽग्निः वायुश्चाग्निश्चेत्यर्थः। तथाहञ्चेति मनआदीनि कार्याणि गुणाः कारणं तेषामाश्रयत्वेनाऽनुगत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

ननु कारणत्वे सर्वानुगतत्वे च कार्यकारणभेदः स्यात् अत आह - **आत्मन्येवेति**। ननु नित्यसिद्धस्य कुतः सृज्यादिरूपता? अत आह - भूतेन्द्रियगुणात्मना। बुद्धीन्द्रियेति वा पाठः। तद्रूपेणेति। ननु निर्विकारस्य कुतः तद्रूपतेति तत्राऽऽह - आत्ममायानुभावेनेति ॥ ३० ॥

नन्वात्मनो भूतादिरूपत्वे तद्दोषप्रसङ्गः, तत्राह - **आत्मेति**। आत्मा तु शुद्धः। कुतः? अगुणान्वयः न गुणेष्वन्वेतीति तथा। तत्कुतः? व्यतिरिक्तः, तदपि कुतः? ज्ञानमयः ज्ञानस्वरूपः। नन्वहं प्रत्यये स्वसंवेद्यमेवाऽऽत्मनो नानावस्थत्वमिति कुत श्शुद्धतेति तत्राऽऽह - सुषुप्तीति। मायाकार्यमनोवृत्तिभि र्विश्वतैजसप्राज्ञरूपेण प्रतीयते न स्वत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

कुतः, मनोनिरोधे तदभावादिति व्यतिरेकं दर्शयितुं मनोविरोधं विधत्ते - येनेति। उत्थितः पुमान्यथा मिथ्याभूतमेव स्वप्नं ध्यायेत्। एवं बाधितानपीन्द्रियार्थान् शब्दादीन् येन मनसा ध्यायेच्चिन्तयेत्। ध्यायंश्च येनेन्द्रियाणि प्रत्यपद्यत प्राप तन्मनः विनिद्रः अनलसस्सन् निरुन्ध्यात् नियच्छेदिति ॥ ३२ ॥

तावता च कृतार्थो भवतीत्याह - एतवन्त इति। एष मनोनिरोधः अन्तः समाप्तिः।? फलं यस्य सः, समाम्नायो वेदः स तत्र पर्यवस्यतीत्यर्थः। योगोऽष्टाङ्गः, साङ्ख्यः आत्मानात्मविवेकः, त्यागः सन्न्यासः, तपः स्वधर्मः, दमः इन्द्रियदमनम्। मार्गभेदेऽप्येकत्र पर्यवसाने दृष्टान्तः - समुद्रान्ता आपगा नद्य इवेति ॥ ३३ ॥

वीर० स्वतन्त्रात्मभ्रमदेहात्मभ्रमरूप मोहशान्तये चिदचिदीश्वरतत्त्वोपदेशपरांणि प्रियसन्देशवचनान्येव सान्त्वनरूपाण्याह- भवतीनामिति नवभिः। मे मम सर्वात्मना भावप्रधानो निर्देशः, सर्वेषा मन्तरात्मतया भवतीनां वियोगो मद्विश्लेषो नाऽस्ति। न ह्यात्मानं विहाय शरीरं तिष्ठतीति भावः। सर्वकारणतयाऽपि न वियोग इति दृष्टान्तमुखेनाऽऽह - यथेति। यथा भूतेषु देवमनुष्यादिषु शरीरेषु कार्येषु आकाशादीनि महाभूतानि, वर्तन्त इति शेषः। वाय्वग्निजलमिति समाहारत्वेनैकवचननिर्देशः। यथा महाभूतानां तत्कार्याणाञ्च मिथो वियोगो नाऽस्ति, कारणतया तेषां तेषु समन्वयादित्यर्थः। तथाऽहमपि मनआदीनामाश्रयः आधारः तद्विशिष्ट इति यावत्। कृत्स्नजगदन्तर्भूतचिदचिदात्मकपदार्थेषु कारणतया समन्वितः। अत्र प्राणो जीवः, इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि, गुणाश्शब्दादयस्साक्षयाः। गुणपदेन मुख्यप्राणोऽपि सङ्गृह्यते, वायुपरिणामविशेषरूपत्वात्। अयं भावः - महदादिपृथिव्यन्ताचेतनवर्गशरीरकः कृत्स्नजगद्रूपेण परिणतोऽहम्, अतो न वियोगः, नहि कारणं विहाय कार्यं तिष्ठति। कारणस्यैवोत्तरोत्तरावस्थाविशिष्टस्य कार्यत्वादिति ॥ २९ ॥

सत्यं, कार्यं न कारणाद्वियुज्यते। मनआदिशरीरकत्वरूपविशिष्टवेषेण त्वं कृत्स्नजगदुपादानकारणं, तथाऽपि मनआदीना - मन्यकारणकत्वे तु न तव कृत्स्नजगदुपादानत्वसिद्धिः। तथाऽऽधारोपकरणकमहितुस्थितिलयकारणाना मन्यत्वेऽपि चेत्यत आह आत्मन्येवेति। आत्मन्येवेत्यनेन आधारान्तरस्य व्यावृत्तिः। आत्मनेत्यनेन उपकरणान्तरस्य, आत्मानमिति सृज्यान्तरस्य, सृजे इत्यनेन निमित्तान्तरस्य, अनुपालये, हन्मि इति पदाभ्यां स्थितिलयकारणान्तरयोः। एवं न केवलं व्यष्टिरूपेणैव सृजामि, अपि तु समष्टिरूपेणापीत्यभिप्रयेण भूतेन्द्रियगुणात्मनेत्युक्तम्। अनेन महदादिपृथिव्यन्तानामपि स्वोपादानकत्वसिद्धिः। आत्ममाया स्वसङ्कल्पः"बहुस्यां प्रजायेय" (तैति. उ. 2-6, छान्दो. उ. 6-2-3) इत्येवंरूपः तस्यानुभावेन प्रभावेन हेतुना। अनेन हेत्वन्तरव्यावृत्तिः, कारणत्वोपयुक्तसार्वज्ञ्यसर्वशक्तित्वादिगुणयुक्तिश्चाभिप्रेता। अत्र " ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्"(तैत्ति. ब्रा. 2-8-9-6) "तदाऽऽत्मानं स्वयमकुरुत"(तैत्ति. उ. 2-7) इत्यादि श्रुत्यर्थोऽभिप्रेतः। तद्वाऽऽधारत्वनिमित्तत्व स्थितिकारणत्वान्यविशिष्टब्रह्मगतानि, उपादानत्वोपकरणत्वसृज्यत्वव्यष्टिसृष्टिसंहारकरणत्वानि तु चिदचिच्छरीरक ब्रह्मगतानीति विवेकः ॥ ३० ॥

तदेवमब्रह्मात्मकस्वतन्त्रवस्तुत्वभ्रमो निरस्तः। अथ देहात्मभ्रमं निरस्यति - आत्मेति। आत्मा जीवः व्यतिरिक्तः देहेन्द्रियमनःप्राणादिभ्य इति शेषः। अत एवाऽगुणान्वयः वस्तुतः प्राकृतसत्त्वादिगुणरहितः। यद्वा, गुणान्वय इति च्छेदः। व्यतिरिक्तोऽपि कर्मनिमित्तो गुणानामन्वयो यस्मिन्निति तथाभूतः। अत एव स्वतः स्वरूपतः शुद्धः निर्मलः। अस्तु, किन्तत्स्वरूपम्?

तत्राऽऽह - ज्ञानमयः "अन्योन्तर आत्मा विज्ञानमयः" (तैत्ति. उ. 2-3) इत्यत्रेव स्वार्थिको मयट्, ज्ञानस्वरूप इत्यर्थः। यद्वा प्राचुर्ये मयट्। न च ज्ञानप्राचुर्यं मज्ञानाल्पत्वमवगमयतीति शङ्क्यम्, तत्प्राचुर्यस्य तदल्पत्वस्यैव व्यावर्तकत्वात्। व्यतिरिक्तस्य कथं न तथा प्रतीतिः। कथं वा देवोऽहं, मनुष्योऽहं, सुखोऽहं किल विललाप, सुखमहमस्वाप्स मित्यादिरूपेण प्रतितिः? तत्रऽऽह सुषुप्तीति। मायावृत्तिभिः प्रकृतिपरिणामभूतमनोव्यापारविशेषात्मिकाभिः, जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभिः देवादिशरीरात्म तादात्म्यादिविषयाभिः देवादिरूपेण प्रतीयते इत्यर्थः। तत्र जाग्रन्मायावृत्तिः बाह्येन्द्रियद्वारा बाह्यविषयगोचरान्तर सुखदुःखादिगोचरा च, न तु व्यतिरिक्तात्मत्वस्वरूपगोचरा। अतो देवोऽहं इच्छामि द्वेष्मि सुख्यहं, दुःख्यहम् इति प्रतीतिः। स्वप्नवृत्तिस्तु तद्दशायां तत्तत्स्वप्नद्रष्टृकर्मानुगुणं तदेककारणताया तत्कालमात्रावस्थायितया च परमपुरुषसृष्टचक्षुरादीन्द्रियद्वारिका अद्वारिका वा तदेकानुभाव्यतत्कालमात्रावस्थायि परमपुरुषसृष्टविषयदेहादिगोचरा, न तु व्यतिरिक्तात्मगोचरेति तदा न तथा प्रतीतिः। सुषुप्तौ तु यद्यपि न मनसोऽपि व्यापारः। अत एव न देवाद्याकारप्रतीतिः। एवञ्च व्यतिरिक्तात्मस्वरूपप्रतीतिरपि सुलभा। तथाप्याऽऽप्रबोध महमित्येव प्रकाशते। न तु देहेन्द्रियादिभ्यो व्यतिरिक्तोऽहमिति। प्रतियोगिग्राहकमनोव्यापाराभावात् प्रतियोगिन एवाऽप्रतीतेः। यद्यपि सुषुप्तावहमिति प्रतीति र्न मायावृत्तिः, तथाऽपि छन्निन्यायेन मायावृत्तिरित्युक्तम् ॥ ३१ ॥

तदेवं संसृतिहेतुभूतदेहात्मभ्रमादि र्मनःपारवश्यकृत इत्युक्तं भवति। कथं तर्हि तत्पारवश्यनिवृत्तिरित्यपेक्षायां तन्नियमेनैवेत्याह - येनेति। उत्थितः स्वप्नादिति विभक्तिपरिणामेन सन्निहितत्वात्सम्बध्यते। प्रबुद्धः स्वप्नवत् स्वप्नार्थानिव येन मायापरिणामरूपेण मनसा इन्द्रियार्थान् शब्दादिविषयान् मृषा सम्प्रत्यविद्यमानानपि पूर्वानुभूताननानुभूतानपि अनुभूत सजातीयान् दुर्लभान् ध्यायीत तन्मनो निरुन्ध्या न्निचच्छेदिति सम्बन्धः। "ध्यायतो विषयान्पुंसस्सङ्गस्तेषूपजायते, सङ्गात्सञ्जायते कामः" (भ; गी 2-62 ) इत्युक्तरीत्या विषयध्यानततसङ्गाद्यापादनद्वारा मनसो बन्धकत्वमिति येन्द्रियार्थानित्यनेनोक्तम्। येनेत्युपात्तं मनो विशिनष्टि। येन चेन्द्रियाणि बाह्यानीन्द्रियाणि प्रत्यपद्यत प्राप। कथम्भूतः? विनिद्रः अनलसः निरुन्ध्यात्। यद्वा, तन्मन इन्द्रियाणि चेति शेषः। विनिद्रदेहात्मभ्रमरहितः अन्तर्बाह्येन्द्रियाणि निरुन्ध्यात्। प्रत्यपद्यतेत्यस्य मा मित्यादिः। येन निरुद्धेन मनसा मां यथावज्जानीयादित्यर्थः। यद्वा। तदित्यव्ययम्। तत् ततः तेभ्यो विषयेभ्यो ध्यातेभ्यः इन्द्रियाणि यथेन्द्रियाणि तत्प्रावण्यरहितानि भवेयुः तथा निरुन्ध्यात् इत्यर्थः। अनेन मनसो बाह्येन्द्रियनियम उक्तः। कथम्भूतः? विनिद्रः, पूर्ववदर्थः। अनेन मनोनियमनोपयुक्तं देहात्मभ्रमराहित्यमुक्तम्। एव मन्तरिन्द्रियनियम उक्तः। कथमेतदुभयं लभ्यम्? तत्राऽऽह प्रत्यपद्यत, मामिति पूर्वच्छेषः। मां प्रत्यपद्यतेत्यर्थः। मद्विषयज्ञानेन तत्सुलभमिति भावः ॥ ३२ ॥

किं मनोनियमनेनेत्यत्राऽऽह - एतदन्त इति। समाम्नायादयः सत्यान्ताः एतदन्ताः मनोनियमनान्ताः। अन्तः फलम्। मनेनियमनफला इत्यर्थः। एतदन्त इत्येकवचनम्, समाम्नायादि प्रत्येकाभिप्रायकम्। नियमिते च मनसि मत्प्राप्तिः सुलभेति भावः। तत्र दृष्टान्तमाह - समुद्रान्ता इवापगा इति। समुद्रपर्यन्तगमनमेव नदीभिः कार्यम्। तत स्तत्प्राप्तिर्यथा सुलभा, तद्विषयान्तरेभ्यो मन आकृष्य मयि नियन्तव्यम्। ततो मत्प्राप्तिरयत्नलभ्येति तात्पर्यम्। यद्वा, प्रत्यपद्यतेतीन्द्रियनियमस्य यथावत्स्वविषयकज्ञानं फलमिति सूचितं, तदेव सदृष्टान्तं विवृणोति - एतदन्त इति। समाम्नाय उपदेशः वेदार्थः ज्ञानानुष्ठाने वा। योगः विवेकादिसाधनसप्तकानुगृहीतः साङ्गचप्रत्यगात्मयाथात्म्यावलोकनम्। त्यागो दानं, तपोऽनशनादि, दम इन्द्रियनिग्रहः, सत्यं सत्यवदनम् ॥ ३३ ॥

---

1 T.W. omit नवभिः 2 T.W ०क०

**विज०** सर्वात्मना सर्वप्रकारेण निरूप्यमाणे सति। एनमर्थं दृष्टान्तेनोपपादयति **यथेति**। यथा पञ्चभूतानि भूतेषु चराचरशरीरेषु कारणत्वेनानुगतानि तथाऽहम्। कानि तानि भूतानीत्यत आह **खमित्यादिना**। वाय्वग्निरिति छान्दसः प्रयोगः ॥ २९ ॥

सामान्यत उक्तं विशिनष्टि मन इति। नन्वत्र मुख्यकारणत्वं कस्येति तत्राऽऽह - आत्मना परप्रेरणामन्तरेण आत्मानं देहादि सर्वं सृजे हन्मि संहरामि अनुपालये रक्षामीति। ननु तर्हि भूतव त्त्वं तदभिज्ञः किमित्यत उक्तं **आत्मनीति** ॥ ३० ॥

स्वाधारत्वेनाऽऽततत्वेन आत्मनेत्युक्तं विवृणोति **आत्मेति**।आत्ममायानुभावेन स्वरूपेच्छानिश्चयेन। निश्चयं विशिनष्टि भूतेति। भूतादीन्व्याप्य वर्तमानेन। अनेन भूतादीना मवान्तरकारणत्वेन न तत्कारणत्वोक्तिविरोधः। भूतेन्द्रियगुणात्मनेत्यनेन जडरूपत्वं परमात्मनः प्राप्तं निवारयति आत्मेति। ज्ञानमयः पूर्णज्ञानः गुणानां सत्त्वादीनामन्वयो यस्य स तथा। न केवलं ज्ञानमेव गुणोऽस्य, किन्त्वन्येऽप्यानन्दादयस्सन्तीत्यतो वोक्तं गुणान्वय इति। आनन्दादिगुणानामन्वयो यस्मिन्स तथा ॥ ३१ ॥

उक्तार्थे किं प्रमाणमिति तत्राऽऽह **सुषुप्तीति**। मायया हरेरिच्छया वृत्तिः स्वरूपलाभो यासां तास्तथा। ताभिः स्वापादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद्घटवत् इत्याद्यनुमानं पक्षधर्मताबलेन ईयते ज्ञायत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

उपजीव्यप्रमाणाभावेनाऽनुमानस्य दुर्बलत्वं स्यादिति तत्राऽऽह - **एतदन्त** इति। समाम्नायः निर्दोषः आगमः एतस्यानुमानार्थस्य अन्तो निर्णयो यस्मात्स तथा। " अन्तोऽस्त्यवसिते मृत्यौ"(वैज० को० 6-5-5) इति च। न केवल मनुमानेनाऽयमर्थः सम्पद्यते, वेदादिनाऽपीति भावेन चाऽऽह एतदन्त इति। हरितत्त्वनिर्णायकः एतज्ज्ञानपर्यवसायीत्यर्थः। "वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः। वासुदेवपरा योगाः" (भाग. 1-2-28) इत्यादेः। त्यागो दुर्दर्शनाभ्यासवर्जनं, सत्यं सत्यभूतं वाक्यं, अत्र दृष्टान्तमाह- समुद्रान्ता इति ॥ ३३ ॥

**यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियादृशाम्।**
**मनसस्सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया ॥ ३४ ॥**

**यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते।**
**स्त्रीणाञ्च न तथा चेतः सन्निकृष्टेऽक्षिगोचरे ॥ ३५ ॥**

**मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्तयः।**
**अनुस्मरन्त्यो मां नित्य मचिरान्मामुपैष्यथ ॥ ३६॥**

[6]या मया क्रीडता [7]रात्र्यां वनेऽस्मिन्व्रज आस्थिताः।
[8]अलब्धरासाः कल्याण्यो माऽऽपुर्मद्वीर्यचिन्तया ॥ ३७ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं प्रियतमादेशमाकर्ण्य व्रजयोषितः।
[10]ता ऊचुरुद्धवं प्रीता स्तत्सन्देशागतस्मृतीः ॥ ३८ ॥

---

1- -[1] G.J.M.I V वर्ते प्रियो, M Ma वर्त्यपि यो 2 M Ma ०त०3 J M Ma ०क्ष० 4 G J k M Ma वृत्ति यत् 5 M Ma ०पै० 6 M Ma यन्म० 7 M.Ma रात्रीः 8- -8 M Ma अलब्धावासकल्याणाः आपुर्मा मद्वि° 9 G.J K.T W ०दिष्ट० 10 K.T W °तमूचु०

**श्रीध०** ननु किमन्यानिवाऽस्मान् आत्मविद्यया प्रलोभयसि, वयं तु सर्वसुन्दरसर्वगुणगणालङ्कृतेन त्वया विरहं नैव सहाम इति चेदत आह -**यदिति**। दृशा दूरे यद्वर्ते तन्मदनुध्यानार्थं, तच्च ध्यानं मनसः सन्निकर्षार्थमिति ॥ ३४॥

एतदुपपादयति त्रिभिः **यथेति**॥ ३५, ३६ ॥

उपैष्यथेति, माधुर्यमात्रमिति चेदत आह **या** इति। हे कल्याण्यः, स्वभर्तृभिः प्रतिबद्धाः याः वने क्रीडता मया सह अलब्धक्रीडाः ता स्तथैव मा मां आपुः प्रापुः ॥ ३७ ॥

**एवमिति**। तस्य सेन्देशेन आगता स्मृतिः यासां ताः। प्रथमार्थे द्वितीया॥ ३८ ॥

---

1 J Va त्रयेण 2 J Va ०दे°

**वीर०** यद्यप्युक्तरीत्या त्वद्वियोगो नाऽस्ति। तथापि निरतिशयसुखावहं रूप किं न दर्शयसीत्यत्राह -**यत्त्वति**। हे प्रियाः। अहं भवतीनां दृशां दूरे वर्ते इति यत्, तत्तु मदनुध्यानकाम्यया मदनुध्यानार्थम्। तच्च मनसः सन्निकर्षार्थम्॥ ३४॥

किं चक्षुर्गोचरे त्वयि अनुध्यान मनस्सन्निकर्षश्च न लभ्यते इत्यतो नेत्याह - **यथेति**। प्रेष्ठे प्रियतमे दूरचरे सति तस्मिन्यथा स्त्रीणां मन आविश्य वर्तते, स्थिरतयेति शेषः। तथा तासां चेतः सन्निकृष्टे अक्षिगोचरे च प्रियतमे न वर्तते ॥ ३५ ॥

किं त्वदनुध्यानेन मनस्सन्निकर्षेण च साध्यमित्यत आह-**मयीति**। विमुक्ता अशेषा वृत्तयः व्यापाराः यस्मात्तद्वन्मनः तन्मयि कृत्स्नं कार्त्स्न्येन निवेश्य मामेव नित्यमनुस्मरन्त्योऽचिरादेव मामुपैष्यथ प्राप्स्यथ ॥ ३६ ॥

व्यामोहनमात्र मेत दित्यतो निदर्शयति **या** इति। हे कल्याण्यः, याः स्त्रियो व्रजएवाऽऽस्थिताः भर्त्रादि प्रतिबन्धादिति भावः। वने क्रीडता मया न लब्धः रासः क्रीडा याभि स्तथाभूताः, मद्वीर्याणां मच्चेष्टिताना मनुचिन्तया मामेव आपुः खलु ॥ ३७ ॥

**एवमिति**। इत्थं प्रियतमेन भगवता आदिष्टं श्रुत्वा तस्य सन्देशेन आगता स्मृतिर्यासां ताः, व्यत्ययेन द्वितीया। प्रीता **इष्टाः** उद्धवमूचुः॥ ३८ ॥

**विज०** "कस्त्यजेन्मां भवादृक्" (भाग० 10-47-13) इति उक्तिपरिहारमिवाऽऽह **यस्त्विति**। योऽहमन्तिके वर्तमानोऽपि भवतीनां दृशां दूरे वर्तीति प्रतीयत इति यत् तन्मदनुध्यानकाम्यया निरन्तरमुपासनेच्छया मनस्सन्निकर्षार्थं कृतमित्यन्वयः॥ ३४ ॥

निदर्शनैतमर्थं मुपपादयति **यथेति**। चशब्दात्पुरुषाणामिति ग्राह्यम्। प्रेष्ठे प्रियतमे पदार्थे, पूर्वानुभूते इति शेषः। अक्षगोचरे इन्द्रियविषये॥ ३५ ॥

लोके प्रियतमस्मरणे फलसन्देहो, न तथा मत्स्मरणं, फल निश्चयादिति भावेनाऽऽह - **मयीति**। यद्विमुक्ता अशेषा वृत्तयो यस्य तत्तथा। तन्मनः मय्यावेश्य नित्यं मामनुस्मरन्त्यो यूयं शीघ्रं मां तथा उपेष्यथेत्यन्वयः॥ ३६॥

अस्मिन्नर्थे स्वानुभूतमर्थं प्रमाणयति **यन्मयेति**। यत् यथा व्रजे आस्थिता अस्मिन्वने अलब्धावासकल्याणाः अप्राप्तगृहसुखाः यूयं मया रात्रीः क्रीडिताः मद्विचिन्तया मामापुः। एवमिति शेषः॥ ३७ ॥

तत्सन्देशेनाऽऽगतभगवद्विशेषस्मरणाः॥ ३८ ॥

## गोप्य ऊचुः

दिष्ट्या[1]ऽहितो हतः कंसो यदूनां[2] सानुगोऽघकृत्।
दिष्ट्याऽऽमैर्लब्धसर्वार्थैः कुशल्याऽऽस्तेऽच्युतोऽधुना॥ ३९ ॥

कच्चिद्वदाग्रजः सौम्य! करोति पुरयोषिताम्।
प्रीतिं नः[3] स्निग्धसव्रीडहासोदारेक्षणार्चितः॥ ४० ॥

कथं रतिविशेषज्ञः प्रियश्च पुरयोषिताम्[4]।
नाऽनुबध्येत तद्वाक्यैर्विभ्रमैश्चानुभाजितः[5]॥ ४१ ॥

अपि स्मरति नस्साधो गोविन्दः[6] प्रस्तुते क्वचित्।
गोष्ठीमध्ये पुरस्त्रीणां ग्राम्यस्वैरकथान्तरे॥ ४२ ॥

ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा[7] प्रियाभि र्वृन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये।
रेमे क्वणच्चरणनूपुरारासगोष्ठ्या मस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित्॥ ४३ ॥

---

1 KTW किल 2 KTW ०नामहितोऽ० 3 MMa. सुस्नि० 4 GJ वर 5 KTW ०वि० 6 GJMIV ०ग्याः 7 MIV तथा

**श्रीध० विष्ट्येति।** यदूना महितश्शत्रुः अघकृत् दुःखदः। दिष्ट्येत्यानन्दे। आप्तैः प्राप्तैः हितैर्वा सह॥ ३९॥

**अन्या ऊचुः कच्चिदिति।** नोऽस्माकं करणीयां प्रीतिं कच्चित्पुरयोषितां करोति। स्निग्धश्च तत्सव्रीडहासेनोदार-मीक्षणश्च तेनाऽर्चितः, ताभिरस्माभि र्वा ॥ ४० ॥

**पुनरन्या ऊचुः-कथमिति।** तासां वाक्यैर्विभ्रमैश्चानुभाजितः पूजितः[1]॥ ४१ ॥

पुनरन्या ऊचुः- **अपीति।** किमनया चिन्तया ? नः[2] अस्मान् क्वचित् प्रस्तुते स्मरति किम् ? ग्राम्या अविदग्धाः॥ ४२॥

अन्या ऊचुः- **ता** इति। कुमुदैः कुन्दैः शशाङ्केन च रम्ये बृन्दावने क्वणन्ति चरणनूपुराणि यस्यां तस्यां रासगोष्ठ्यां अस्माभिः प्रियाभिः ईडिता मनोज्ञाः कथा यस्य सः। तथा यासु निशासु रेमे, ताः कदाचित् किं नु स्मरति वा न वेति॥ ४३॥

---

1 M I V omit पूजितः 2 J Va omit नः

**वीर० दिष्ट्येति।** यदूना महितश्शत्रुः अघकृद्दुःखकृत् कंसः हतः किल। एतद्दिष्ट्या। अय मस्माकं महानानन्द इत्यर्थः। लब्धास्सर्वे अर्थाः पुरुषार्था यै स्तैरात्मै मित्रैस्सह अच्युतोऽधुना कुशल्यास्ते किल ॥ ३९ ॥

**कच्चिदिति।** हे सौम्य, गदाग्रजः कृष्णः, पुरयोषितां स्निग्धश्च तत्सव्रीडहासेनोदारं ईक्षणं, तेनार्चितो बहुमतो वशीकृत इति भावः। तासां प्रीति मस्मासु कर्तव्यां करोति, कच्चित् इतीष्टप्रश्ने ॥ ४० ॥

ननु स्वतन्त्रस्सः कथं तद्वशः स्यात्, अत आहुः- **कथमिति।** तद्वाक्यैः[1-] पुरयोषिन्मधुरवाक्यैः[-1] तद्विभ्रमैश्च अनुभावितः वशीकृतः कथं नाऽनुबध्येत ? अनुबध्येतैवेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

**अपीति।** हे साधो, पुरस्त्रीणां गोष्ठीमध्ये तत्राऽपि ग्राम्यस्त्रैरकथान्तरे ग्रामेषु भवा ग्राम्यजना स्तैषां सम्बन्धि यत् यदृच्छिककथान्तरं, तस्मिन्प्रस्तुते अधिकृते सति। तदा नोऽस्मान् स्मरति किम् ? प्राधान्येन नास्मान् स्मरत्येव यदृच्छयापि स्मरति किमित्यर्थः ॥ ४२ ॥

**पुनरन्या ऊचुः- ताः किमिति।** कुमुदैः कुन्दैः शशाङ्केन च रम्ये बृन्दावने क्वणन्ति चरणनूपुराणि यस्यां रासगोष्ठ्यां अस्माभिः प्रियाभिरीडिताः मनोज्ञाः कथाः यस्य तथा यासु निशासु रेमे ताः कदाचित् किन्नु स्मरति ? ॥ ४३॥

---

1- -1 T W omit

विज० यदूनामहितः। आमजनैः ॥ ३९,४० ॥

तासां वाक्यैः कथं नाऽनुबध्येत विभ्रमैः शृङ्गारचेष्टाभिः अनुभाजितः सभाजितः ॥ ४१ ॥

ग्राम्याणा शब्दादिविषयलालसाना स्वैरकथान्तरे स्वच्छन्दविषयस्य व्यवहारविशेषे प्रस्तुते प्रसक्ते ॥ ४२ ॥

यासु निशासु ॥ ४३ ॥

अप्येष्यतीह दाशार्ह स्तमा[1] स्स्वकृतया शुचा।
सञ्जीवयिष्यन्नो गात्रैः यथेन्द्रो वन मम्बुदै[2] ॥ ४४ ॥[3]

कस्मात्कृष्ण इहाऽऽयाति प्रामराज्यो हताहितः।
नरेन्द्रकन्या उद्वाह्य प्रीतः सर्वसुहृद्वृतः ॥ ४५ ॥[4]

किमस्माभिर्वनौकोभिरन्याभिर्वा महात्मनः।
श्रीपते रामकामस्य क्रियतेऽर्थो महात्मनः ॥ ४६ ॥[5]

परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिणी प्राह पिङ्गला।
तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया ॥ ४७ ॥[6]

क उत्सहेत सन्त्यक्तुमुत्तमश्लोककसंविदम्।
अनिच्छतोऽपि यस्य श्री रङ्गान्न च्यवते क्वचित् ॥ ४८ ॥[7]

---

1 M.Ma. °स्तात स्व० 2 G.J °क्यन् नु नो, M Ma. °वयन्नज, M V °वयस्तु नो 3- -3 T W इन्द्रो वनमिवाम्बुदैः 4- -4 M.Ma विहृत्य नगरस्त्रीभिः 5- -5 G J M Ma. क्रियेतार्थः कृतात्मनः, M I V क्रियतेऽर्थः कृतात्मनः 6 M Ma सुख 7 G J.K.M.Ma. T W °च्यप्याह

श्रीध० अपीति। स्वनिमित्तेन शोकेन तप्ताः नः अस्मान् गात्रैः करस्पर्शादिभिस्सञ्जीवयन्। किन्तु इहैष्यतीति ॥ ४४ ॥

अन्या ऊचुः- कस्मादिति। अनन्यगतित्वेन पूर्वमत्राऽवसत्, सम्प्रति महदैश्वर्यं प्राप्तः कस्मादिहाऽऽगमिष्यतीति ॥ ४५ ॥

अन्यास्तु परमार्थमूचुः- किमिति। वनचरीभि रस्माभिरन्याभि र्वा राजकन्याभिः, महात्मनो धीरस्य। किञ्च। श्रीपतेः, तदप्यास्तां, स्वत एवाऽऽप्तकामस्य, अत एव कृतात्मनः पूर्णस्य, किं कोऽर्थः क्रियते? न कश्चिदिति ॥ ४६ ॥

यतः अघटमाना या कृष्णसङ्गतिः, सैवाऽस्मानाकुलयति। अतो नैराश्यमेव परमं सुखं, तच्चाऽतिं दुष्करमित्याहुः- परमिति। स्वैरिणी कामचारिणी ॥ ४७ ॥

क इति। संविद मेकान्तवार्ताम् ॥ ४८ ॥

---

1 J.Va. कोऽप्यर्थः 2- -2 V. omits कामचारिणी

वीर० अप्येष्यतीति। आगमिष्यति किम्? स्वनिमित्तेन शोकेन सन्तप्ताः नोऽस्मान् दाशार्हः कृष्णः, दाशार्हेति पाठे हे उद्धव ! स्वकरस्पर्शादिभिः सञ्जीवयिष्यति किम्? यथा वनमिन्द्रोऽम्बुदैः सञ्जीवयति तद्वत् ॥ ४४ ॥

अन्या ऊचुः कस्मादिति। अनन्यगतित्वेन पूर्वमत्रोषितवानधुना तु प्राप्तं राज्यं येन, हता अहिता श्शत्रवो येन, तथाभूतः नरेन्द्रकन्या उद्वाह्य प्रीतः सुहृद्भिश्च वृतः कस्माद्धेतोः इहाऽऽगमिष्यति ॥ ४५ ॥

अन्यास्तु परमार्थमूचुः - किमस्माभिरिति। वनवासिनीभिः [1-]अस्माभिः अन्याभिः[-1] पुरयोषिद्भिर्वा महात्मनः कृष्णस्य किं को वाऽर्थः प्रयोजनं क्रियते, न किञ्चित्प्रयोजनमित्यर्थः। तत्र हेतुं ब्रुवत्यो विशिंषन्ति। महात्मनः श्रियःपतेः, तदप्यास्ताम्, स्वत एव अवाप्तसमस्तकामस्य ॥ ४६ ॥

अन्याः पुनराहुः- परं सौख्यमिति। यत्पिङ्गलारव्या वेश्या प्राह - नैराश्यं परमं सैख्यं हीति। तज्जानतीनामपि नोऽस्माकं तथाऽपि नैराश्यस्य सुखहेतुत्वदर्शनेऽपि कृष्णे विषये आशा दुस्त्यया अपरिहार्या ॥ ४७ ॥

युक्तश्चैतदिति काश्चिदाहुः- क इति। उत्तमश्लोकस्य संविदमेकान्तवार्तां त्यक्तुं को जन उत्सहेत? न कोऽप्युत्सहेतेत्यर्थः। तत्संवित्त्यागानुत्साहमेव दृष्टान्तमुखेन दर्शयन्त्य स्तं विशिंषन्ति- अनिच्छतोऽपीति। श्री र्लक्ष्मीः अनिच्छतोऽकामयमानस्याऽपि यस्योत्तमश्लोकस्य अङ्गादुःस्थलात् क्वचित्कदाचिदपि न च्यवते ॥ ४८ ॥

---

1- -1 T.W. omit

विज० गात्रैरवयवैः॥ ४४ ॥

अदीर्घेण कालेनाऽऽगमिष्यामीति यदुक्तं तत् स्तोभनमात्रम्, आगमने निमित्ताभावादित्याह- कस्मादिति ॥ ४५॥

कृतात्मनः पूर्णरूपस्य अर्थो विषयः किं क्रियेत किं सुखं कुर्यात् ॥ ४६ ॥

कृष्णस्य पूर्णकामत्वात्तथाऽस्तु, युष्माकं सुखनिमित्तं किम्? तत्राऽऽह- परमिति। आशा अतितृष्णा ॥ ४७॥

न केवलमस्माकमेव कृष्णाशा दुस्त्यजा, अन्यस्यापीत्याहुः- क इति ॥ ४८ ॥

सरिच्छैलवनोद्देशा गावो वेणुरवा इमे।
सङ्कर्षणसहायेन कृष्णेनाऽऽचरिताः प्रभो॥ ४९ ॥

पुनः पुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं बत।
श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुमः ॥ ५० ॥

गत्या ललितयोदारहासलीलावलोकनैः।
माध्व्या गिरा हृतधियः कथं तं विस्मरामहे ॥ ५१ ॥

हे नाथ! हे रमानाथ! व्रजनाथार्तिनाशन।
मग्नं मुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात् ॥ ५२ ॥ ★

(विजयध्वजरीत्या पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः)

---

1 - - 1 M Ma ०नाऽऽचरिता विभो! 2 M Ma ०ते त० 3 M Ma ०के वि०4 M Ma.T W तद्दि० 5 K.T W ०वे

★ अनेन श्लोकेन विजयध्वजरीत्या पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः।

श्रीध० किञ्च। तद्विस्मृतौ न तावद्दुःखमस्ति। साऽपि नाऽस्माकं सम्भवतीत्याहु स्त्रिभिः- **सरिदिति**। आचरिताः सेविताः ॥ ४९, ५० ॥

**गत्येति**। हे उद्धव, कथं तं विस्मरामहे? ॥ ५१, ५२ ॥

वीर० किञ्च। तद्विस्मृतौ तु नाऽस्माकं दुःखमस्ति। साऽपि न सम्भवतीत्याहुः- त्रिभिः **सरिच्छैलेति**। प्रभो! हे उद्धव, सङ्कर्षणसहितेन कृष्णेन सरिदादय आचरिता स्सेविताः ॥ ४९ ॥

ततः किमित्यत आहुः- पुनः पुनर्नन्दगोपसुतं स्मारयन्ति। बत! कैर्लिङ्गैरित्यत आहुः- श्रीनिकेतैः श्रियस्सौन्दर्यसम्पदो निकेतैराश्रयैः, तस्य भगवतः पदकैः पदानीव पदकानि "इवे प्रतिकृतौ" (अष्टा० 5-3-96 ) इति क प्रत्ययः। तैः स्मारयन्ति इति पूर्वेण सम्बन्धः। अत स्तं विस्मर्तुं नैव शक्नुमः॥ ५० ॥

किञ्च गत्यादिभिः हृता धी र्यासां ताः। वयं कथं तं कृष्णं विस्मरामहे। ततश्च स्मारकै र्लिङ्गै स्तत्स्मृति रवर्जनीया। ततश्च दुःखमपीति भावः ॥ ५१ ॥

ततश्चेदं दुःखं स एव भगवानपुनदित्विति प्रार्थयन्ते -हे **नाथेति**। बुद्ध्या सन्निधापितस्य भगवतस्सम्बोधनानि हे नाथेत्यादीनि। वृजिनार्णवे दुःखाब्धौ मग्नं गोकुलमुद्धर। नाऽहं शक्त इत्यत्र सम्बोधयन्ति हे नाथेति। ईश्वरस्य तव किमशक्य मिति भावः। नन्वीश्वरो निगृह्णात्यपीत्यत आहुः- हे रमानाथेति। "लक्ष्म्या सह हृषीकेशो देव्या कारुण्यरूपया, रक्षकस्सर्वसिद्धान्ते" (पाञ्चरात्रे) इत्युक्तरीत्या केवलकारुण्यमूर्त्या पुरुषकारभूतया लक्ष्म्या नित्ययुक्तस्य तवानुग्रह एवोचित इति भावः। नन्वेवमपि कांश्चिन्निगृह्णन्नेव दृश्ये इत्यत्राऽऽहुः व्रजनाथेति। व्रजन्त्वनुगृह्णन्नेव दृश्यसे इत्यभिप्रायः। तमेवाऽऽविष्कुर्वन्ति हे आर्तिनाशनेति। विषजलाशय व्याप्तराक्षस वर्षमारुत प्रयुक्तपीडाहारित्वं बहुशो दृष्टमिति भावः ॥ ५२ ॥

विज० आक्रीडिताः क्रीडारङ्गीकृताः इमे सरिदादयः ॥ ४९ ॥

नन्दगोपसुतं पुनः पुनः स्मारयन्ति। बत आश्चर्यम्। ननु सरिदादिदर्शने एव श्रीकृष्णस्मरणम् अन्यदा नास्ति इत्यायातमिति तत्राऽऽह -श्रीनिकेते इति। तस्य श्रीकृष्णस्य पदके प्रशस्तपदे प्रशस्तत्वं कुत इत्यत उक्तं श्रीनिकेते इति ॥ ५० ॥

उक्तमेव द्रढयति गत्येति ॥ ५१ ॥

नित्यं स्वजाप्यं विज्ञापयन्ति- हे नाथेति। ऐश्वर्यमूर्ते! रमाया अपि आशीःप्रद! व्रजनाथानां गोपाना आर्तिनाशन! मग्नं, दुःखार्णवे इति शेषः । गवां विन्दो[1] लाभो यस्मात्स तथा गोविन्द इति ॥ ५२ ॥

॥ विजयध्वजरीत्या पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४५ ॥

---

1 Ma adds लीला

(विजयध्वजरीत्या षट् चत्वारिंशोऽध्यायः आरभ्यते)

★ श्रीशुक उवाच

ततस्ताः कृष्णसन्देशै[1] र्व्यपेतविरहज्वराः।
उद्धवं पूजयाञ्चक्रु[2] र्ज्ञात्वाऽऽत्मान मधोक्षजम्[3] ॥ ५३ ॥

उवास कतिचिन्मासान्गोपीनां विनुदन् शुचः।
कृष्णलीलाकथा गायन्रमयामास गोकुलम्[4] ॥ ५४ ॥

यावन्त्यहानि नन्दस्य व्रजेऽवात्सीत्[5] स उद्धवः।
व्रजौकसां क्षणप्रायाण्यासन्कृष्णस्य वार्तया ॥ ५५ ॥

सरिद्वनगिरिद्रोणी वीक्षन्कुसुमितद्रुमान्[7]।
कृष्णं संस्मारयन् रेमे हरिदासो[8] व्रजौकसाम्[6] ॥ ५६ ॥

दृष्ट्वैवमादिगोपीनां कृष्णावेशात्म विप्लवम्[9]।
उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ ॥ ५७ ॥

उद्धव उवाच[10]

एताः परं तनुभृतो[11] भुवि गोपवध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि[12] रूढभावाः[13]।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्मजन्मभि रनन्तकथारसस्य[14] ॥ ५८ ॥

★ विजयध्वजरीत्या षट्चत्वारिंशोऽध्यायः अत्र प्रारभ्यते। 1 M.Ma ०हाऽऽमयाः। 2 K.T.W ०मासुः 3 M.Ma. ०त्वा स्निग्धम० 4 M.Ma. ०जे 5 G.J.K.T.W ०र्यां 6 T.W ह्या० 7 G.J.M.Ma. ०तान्दु० 8- -8 M.Ma कृष्णक्रीडा० समं रेमे 9 T.W वेशितकित्विषम् 10- -10 G.J.K.M.I.T.V.W omit 11 M.Ma ०ता 12 K.T.W ननु 13-G.J नि० 14 M.Ma.०धि० 15 M.Ma. न यत्र

**श्रीध० तत** इति। कृष्णमधोक्षजं ज्ञात्वा तच्च स्वात्मानं ज्ञात्वा॥ ५३ ॥

**उवासेति**। विनुदन् अपनयन्॥ ५४, ५५ ॥

**सरिदिति**। सरिद्वनगिरिदर्यादिषु प्रत्येकं श्रीकृष्णं तल्लीलासम्प्रश्नादिभिः संस्मारयन्नेमे॥ ५६ ॥

**दृष्ट्वेति**। कृष्णावेशेनाऽऽत्मनो मनसः विह्वलं वैक्लव्यं ताः गोपीर्नमस्यन् नमस्करिष्यन् उत्तमस्यात्मनो गोपस्त्रीनमस्कृतिरपि[1] न्याय्या भवतीति दर्शयितुं तासां महत्त्वं पञ्चभिः जगौ उवाच॥ ५७ ॥

**एता** इति। एताः परं केवलं तनुभृतः सफलजन्मानः रूढभावाः परमप्रेमवत्यः। यदिति यं रुढं[2] भावं भवभियो मुमुक्षवः मुनयो मुक्ता अपि वाञ्छन्ति, वयञ्च भक्ता अपि। अतः अनन्तस्य कथासु रसो रागो यस्य तस्य ब्रह्मजन्मभिः विप्रसम्बन्धिभिः शौक्लसावित्र्याख्यैकैस्त्रिभि र्जन्मभिः किं कोऽतिशयः। यत्र तत्र जातः स एव सर्वोत्तम इत्यर्थः। यद्वा, अनन्तकथासु रसो यस्य तस्य ब्रह्मजन्मभिः चतुर्मुखजन्मभिरपि किं कोऽर्थः[3]। यद्वा अनन्तकथासु अरसस्य ब्रह्मजन्मभिः किम्[3] ॥ ५८ ॥

1 J.Va ०न्याय्या न भ° 2 M.I.V रूढ० 3- -3 J.Va इत्यर्थः।

**वीर० तत** इति। ता गोप्यः श्रीकृष्णस्य सन्देशै र्वीचिकैः व्यपेतो विरहज्वरो यासां ताः अधोक्षजं कृष्णमात्मानं सर्वान्तरात्मानं ज्ञात्वा, कृष्णसन्देशै रधोक्षज मात्मानं ज्ञात्वा। ०व्यपेतो विरहज्वरो याभिस्ता इति वा। उद्धवं पूजयामासुः॥ ५३॥

**उवासेति**। शुचः दुःखानि विनुदन्नपनयन् रमयामास सुखयामास ॥ ५४ ॥

**यावन्तीति**। उद्धवो नन्दस्वामिके व्रजे यावन्त्यहानि दिनान्यवात्सीत् उवास तावन्त्यहानि श्रीकृष्णस्य वार्तया क्षणतुल्यानि बभूवुः ॥ ५५ ॥

**सरिदिति**। सरिदादीन्पश्यन् तेषु प्रत्येकं कृष्णलीलाप्रश्नादिभिः तं संजीवकसां स्मारयन्नेमे ॥ ५६ ॥

**दृष्ट्वेति**। एवं प्रदर्शितमादि र्यस्य तद्गोपीनां कृष्णावेशेन आत्मनो मनसो विह्वलं वैक्लव्यमधार्ष्ट्यं दृष्ट्वा नितरां प्रीतः उद्धव स्ता गोपीः नमस्यन् नमस्करिष्यन् इदं वक्ष्यमाणं जगौ। उत्तमस्यात्मनो गोपस्त्रीनमस्कृतिरन्याय्या न भवतीति दर्शयितुं तासां महत्त्वं पञ्चभिर्जगावित्यर्थः ॥ ५७ ॥

एता इति। एता गोपवध्वः परं केवलं तनुभृतः सफलजन्मानः। तत्र हेतुं वदन् गोपवधूर्विशिनष्टि। एव मित्थमात्मनि सर्वान्तरात्मनि गोविन्द एव रूढः भावः प्रेमात्मको यासां ताः। कुत स्तावतैव तनुभृत्त्वमित्यत आह। यत् यस्मात् भवभियो मुमुक्षवः मुनयः शुभाश्रयमननशीलाः वय मभक्ताश्च अस्मदादयः वाञ्छन्ति। रूढभाव मिति विभक्तिविपरिणामेन सम्बन्धः। यद्वद्भावत्वमिति वा। यत एव मतः अनन्तस्य गोविन्दस्य कथासु रसोऽनुरागो यस्य तस्य ब्रह्मजन्मभिः शौक्रसावित्रयाज्ञिकैः त्रिभिः किं कोऽतिशयः? अनन्तकथासु रसोऽनुरागो यस्य, रसवत्त्वमेवाऽतिशयावहं न तु ब्रह्मजन्मनेति भावः। यद्वा अनन्तकथारसस्य ब्रह्मजन्मभिः चतुर्मुखजन्मभिरपीत्यर्थः ॥ ५८ ॥

विज० ★ भक्तिमेव निरूपयत्यस्मिन्नध्याये। तत्राऽऽदौ गोप्यः उद्धवं कृष्णनुदध्या पूजयन्ति स्मेत्याह शुक इति ॥ ५३ ॥

विनुदन् परिहरन्, कृष्णस्य लीलाः यासु ता स्तथा ॥ ५४ ॥

अवात्सीत् उवास। क्षणप्रायाणि क्षणकल्पानि ॥ ५५ ॥

पार्श्वद्वयोन्नतनिम्नानिम्नकुसुमितवृक्षनिविष्टा स्थली द्रोणी सानुविशेषः। व्रजौकसां कृष्णक्रीडास्मरणं यथा भवति तथेति क्रियाविशेषणम्। सुखं कृत्वा रेमे हरिदास उद्धवः ॥ ५६ ॥

गोपीनामेवमादि कृष्णावेशात्मविह्वलं दृष्ट्वा नमस्यन् प्रावण्यं कुर्वन् ॥ ५७ ॥

अखिलात्मनि पुर्णात्मनि गोविन्दे दृढभावाः। एवं नित्यमतिवर्धमानभक्त्या एता गोपवध्व स्तनुभृतां मध्ये परमुत्तमं शरीरभरणफलभाज इत्यन्वयः। मुन्यादिषु सत्सु किं विशिष्योच्यते इति तत्राऽऽह - वाञ्छन्तीति। भवधियः भद्रबुद्धयोऽपि मुनयः यद्भक्तितलक्षणं मुक्तिसाधनं वाञ्छन्ति, वयञ्च वाञ्छामः, नत्वित्थं प्रभवाम। तत्र को हेतु रित्यतो वोक्तं भवधिय इति। संसारोद्विग्नबुद्धित्वादित्यर्थः। भवभयादिति पाठे संसारभयं सन्दश्येति ल्यब्लोपे पञ्चमी। मुनीनां ब्रह्मकुलोत्पन्नोत्तमत्वात्किं निनिन्दिषुरिव ब्रवीषीति तत्राऽऽह किं ब्रह्मेति। यत्र येषु ब्राह्मणजननेषु अनन्तस्य हरेः कथा नास्ति। तैः किं, न किमपि प्रयोजनम् जीवन्मृतत्वादित्यर्थः ॥ ५८ ॥

★ विजयध्वजरीत्या षट्चत्वारिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते।

क्वेमाः स्त्रियो वनचरी[1] व्यभिचारशीलाः[2] कृष्णे क्वचैष[3] परमात्मनि रूढभावः।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षाच्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ॥ ५९ ॥

नाऽयं श्रियोऽङ्ग[4] उ नितान्तरतेः प्रसादः[5] स्वर्योषितां[5] नलिनगन्धरुचां[5] कुतोऽन्याः[6]।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठलब्धाशिषां य उदगाद्व्रजवल्लवीनाम् ॥ ६० ॥

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा भेजु र्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥ ६१ ॥

**या वै श्रियार्चि तमजादिभिरामकामै र्योगै[7] श्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम्।**
**कृष्णस्य तद्भगवतश्चरणारविन्दं न्यस्तं[8] स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् ॥ ६२ ॥**

**वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणु मभीक्ष्णशः।**
**यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥ ६३ ॥**

---

1 GJ०री र्व्यमि 2 GJ दुशः 3 MMa ०व 4 MMa ननु 5- -5 MMa च ललिताङ्ग 6 MMa ०न्यः 7 GJMMa. ०गै० 8 MMa न्यस्य

**श्रीध०** किञ्च। ईश्वरप्रसादो महत्त्वे कारणं, तस्य च न जातिराचारो ज्ञानं वा कारणं, किन्तु केवलं भजन मेवेत्याह- **केति**। साक्षाद्भजतः पुसः ननु अहो उपयुक्तः सेवितः अगदराजः अमृतं यथेति ॥ ५९ ॥

अत्यन्तापूर्वश्चायं गोपीषु भगवतः प्रसाद इत्याह- **नेति**। अङ्के वक्षसि उ अहो नितान्तरतेः एकान्तरतिमत्याः श्रियोऽपि नाऽय प्रसादः, अनुग्रहो नास्ति। नलिनस्येव गन्धो रुक् कान्तिश्च यासां तासां स्वर्वाङ्गनानामप्सरसामपि नास्ति। अन्याः पुनर्दूतो निरस्ताः। रासोत्सवे श्रीकृष्णभुजदण्डाभ्यां गृहीतः आलिङ्गितः कण्ठस्तेन तस्या आश्लिष्टो याभिस्तासां गोपीना य उद्गात् आविर्बभूव ॥ ६० ॥

किञ्च । आस्तां तावद्गोपीनां भाग्यं, मम त्वेतावत्प्रार्थ्यमित्याह- **आसामिति**। गोपीनां चरणरेणुभाजां गुल्मादीनां मध्ये यत्किमपि अंह स्या मित्याशासा। कथम्भूतानाम्? या इत्यादि। आर्याणां मार्गं धर्मं च हित्वा ॥ ६१ ॥

पुन स्ता एव विशिनष्टि - **या** इति। योगीश्वरैरप्यात्मन्येवार्चितं स्तनेषु न्यस्तं परिरभ्य तापं जहुरिति ॥६२॥

एवं महत्त्वं प्रतिपाद्य नमस्करोति **वन्द** इति ॥ ६३ ॥

---

1 MIV omit ननु

**वीर०** ननु वर्णाश्रमधर्मानुग्राह्यो निरूढभावः तदभावेऽपि कथमाभिर्लब्ध इत्यघटितघटनदर्शिन ईश्वर स्स्वय मेव स्वप्राप्तौ केनाऽपि व्याजेन हेतुरिति सम्भावयन्नाऽऽह- **केमा इति**। इमाः स्त्रियः जात्याऽपि निहीना इति भावः। वनचरा इत्यनेन सत्सङ्गादिसाधनाद्यभावोऽभिप्रेतः। व्यभिचारशीला इत्यनेन बाधकसद्भावः। एवंविधानां सर्वथाऽधिकाररहितानां परमात्मनि कृष्णे निरूढभावः क? दुर्घटमेतदिति भावः। यद्यप्येवं तथाऽपीश्वरः स्वात्मयाथात्म्यमजानतोऽप्यनुभजतः केनाऽपि भावेन अनुवर्तमानस्य साक्षात्स्वयमेव श्रेयस्तनोति। ननु खलु अविदुषामपि श्रेयःकार्यकरत्वे दृष्टान्त माह - अगदेति। यथा अगदराज औषधश्रेष्ठः उपयुक्तः भुक्तः आरोग्यं तनोति, तद्वत् ॥ ५९ ॥

अत्यन्तापूर्वश्चाऽयं गोपीषु भगवतः प्रसाद इत्याह- **नाऽयमिति**। अङ्गे वक्षसि उ[1] अहो नितान्तरतेः नितान्ता एकान्ता रतिर्यस्या स्तस्याः श्रियो लक्ष्म्याः नाऽयं प्रसादोऽनुग्रहोऽस्ति। नलिनस्येव गन्धो रुक् कान्तिश्च यासां तासां स्वर्योषितां स्वर्गङ्गानानां अप्सरसामपि नास्ति। अन्या इतरस्त्रियस्तु कुतः, प्रसादविषया इति शेषः, दूतो निरस्ता इति भावः। कोऽसौ प्रसादः, यः श्रिया स्वर्योषिद्भिश्च न लब्ध इत्यत्राऽऽह रासोत्सव इति। रासक्रीडायां कृष्णस्य भुजदण्डाभ्यां गृहीत आसिञ्चितः कण्ठस्तेन लब्धा आशिषो याभि स्तासां गोपीनां उदगादाविर्बभूव, वल्लवीनां मध्ये उदगाज्जगौ इति वा ॥ ६० ॥

किञ्च, आसां भाग्यं सर्वेषां दुर्लभमेव। मम चेतावत्प्रार्थ्यमित्याह **-आसामिति**। आसां गोपीनां चरणरेणुजुषां गुल्मलतौषधीनां मध्ये अहं किमपि स्याम्, केनाऽपि तृणकीटादिरूपेण तच्चरणरेणुसंस्पर्शयोग्येन[2] उद्भवेयमिति। तत्र हेतुं वदन् ता विशिनष्टि- या इति। याः गोप्यः स्वजनमार्याणां पन्थानं धर्मं च हित्वा श्रुतिभिः वेदैरपि विमृग्यां मुकुन्दस्य पदवीं भेजुः मुकुन्दस्वरूपरूपगुणानुचिन्तनपरा बभूवुरित्यर्थः॥ ६१ ॥

पुन स्ता विशिनष्टि- **या वा** इति। यद्भगवतः कृष्णस्य चरणारविन्दं रासगोष्ठ्यां स्तनेषु न्यस्तं निहितं त या गोप्यः परिरभ्य ताप मान्तरं बाह्यञ्च जहुरिति सम्बन्धः। चरणारविन्दं विशिनष्टि। श्रिया लक्ष्म्या अर्चितं तथा आप्तकामैरजादिभि श्चतुर्मुखादिभिश्च तथा योगीश्वरैरात्मनि चित्ते चाऽर्चितम् ॥ ६२ ॥

इत्थं व्रजौकसां नमस्कारार्हतां प्रतिपाद्य नमस्करोति-**वन्दे** इति। अभीक्ष्णशः पुनःपुनः नन्दव्रजस्थानां स्त्रीणां पादरजो वन्दे सेवे। कथम्भूतानाम्? यासां नन्दव्रजस्त्रीणां हरिकथोद्गीतम्, उद्गीतमिति भावे क्तः। हरिकथोद्गानं लोकत्रयं पुनाति, तथाभूतानाम् ॥ ६३ ॥

---

1. T.W. omit उ 2. T.W. omit वैदैरपि

**विज०** इमाः स्त्रियः क्व? कृष्णे एव रूढभावः क्व? अन्वयानुपपत्तेः कथमिति तत्राऽऽह **वनचरा** इति। तेऽपार्थं वनचरत्वं किं न स्यादित्यत उक्तं व्यभिचोरेति। व्यभिचारशीलाः अनैकान्तिकस्वभावाः, अनियतभर्तृभिः रतितृप्ता इत्यर्थः।"शीलं वृत्तस्वभावयोः" (वैज. को. 6-3-33) इति। कृष्णोऽपि कश्चिद्गोपः किं न स्यादित्यत उक्तं परमात्मनीति। अनन्वये किमर्थं श्रेयः प्रयच्छतीत्यतो भक्तिरेव प्रयोजिकेत्याशयेनाऽऽह- **नन्विति**। अविदुषोऽपि शास्त्रोक्तिमजानतोऽपि अनुभजतः स्वयोग्यतानुरोधेन भक्तिं कुर्वतः पुंसः ईश्वरः साक्षाच्छ्रेयस्तनोति। **नन्वित्यमेन** "भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन"(भ.गी. 11-.54) इत्यैतिह्यं दर्शयति "प्रज्ञावधारणैतिह्यसमीहानुमते ननु"(वैज. को. 8-7-22) इति। उपयुक्तस्सेवितोऽगदराजः औषधश्रेष्ठं रोगिकर्मानुकूलं फलं ददाति यथा, तथाऽत्रापीति ॥ ५९ ॥

**यः प्रसादः** व्रजवल्लवीनां गोष्ठस्थानां गोपीनां उदगात् उदितः अयं भक्त्या नितान्तरतेः श्रियः स्वर्योषिताञ्च नास्ति। नन्वस्माभिरनुज्ञातं न तु शास्त्रेणेत्यर्थः। कीदृशीनां, स्वर्गङ्गानां ललिताङ्गरुचां अखिलविलासोपेतशरीरकान्तीनां, कथम्भूतानां गोपीनाम्? रासक्रीडोत्सवे अस्य कृष्णस्य भुजदण्डेन गृहीतकण्ठाश्च लब्धाशिषश्च सुरतसुखोद्बोधकशुभवाक्यप्रबन्धाश्च

यास्तासां अन्याः अन्यासां स्त्रीणाम्। "बहुलं छन्दसि" इति विभक्तिव्यत्ययविधानात्, अन्यस्त्रियः ईदृशाप्रसादं नाऽऽपुरिति कुत इति वा ॥ ६० ॥

अह मासां गोपीनां चरणरेणुजुषां वृन्दावने प्ररूढानां गुल्मलतौषधीनां मध्ये गुल्मादिकं किमपि स्याम्, उद्भवेयम्। अहो अमीषां पूर्वजन्मार्जितपुण्यराशिः। या गोप्यः त्यक्तुमशक्यं स्वजनं भर्त्रादिकं, आर्यपथं स्मार्तमार्गं, नियतस्वभर्तृसङ्गविघ्नं हित्वा। वेदशिरोभिरपि मार्गणीयां मुकुन्दपदवीं भेजुरित्यन्वयः ॥ ६१ ॥

श्रिया अजादिभिः ब्रह्मादिभिः आप्तकामैः सत्यसङ्कल्पैः योगेश्वरैः सनाकादिभिरपि आत्मनि हृदये निधाय यदर्चितं या गोप्यः कृष्णस्य भगवतश्चरणारविन्द स्तनेषु न्यस्य परिरभ्य कामनिमित्तसन्तापं विजहुः, आसामिति पूर्वेणान्वयः ॥६२॥

वन्दे स्तौमि ॥ ६३ ॥

## श्रीशुक उवाच

**अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च।**
**गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नाऽरुरुहे रथम् ॥ ६४ ॥**

**तं निर्गतं समासाद्य नानोपायनपाणयः।**
**नन्दादयोऽनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः॥ ६५ ॥**

**मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः।**
**वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु ॥ ६६ ॥**

**कर्मभि र्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया।**
**मङ्गलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे ॥ ६७ ॥**

**एवं सभाजितो गोपैः कृष्णभक्त्या नराधिप !**
**उद्धवः पुन रागच्छन्मधुरां कृष्णपालिताम्॥ ६८ ॥**

**कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम्।**
**वासुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात् ॥ ६९ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां परमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४७ ॥

(विजयध्वजरीत्या षट्चत्वारिंशोऽध्यायः) ॥ ४६ ॥

1 M.Ma. ०च० 2 K.T.W. ०र्म

**श्रीध० अथेति।** अनुज्ञाप्य अनुज्ञां याचित्वा आमन्त्र्य पृष्ट्वा ॥ ६४, ६५ ॥

**मनस** इति। नोऽस्माकं मनसो वृत्तयः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः स्युः। अभिधायिनीः अभिधायिन्यः स्युः[1]॥ ६६ ॥

**कर्मभिरिति।** नः[2] कृष्णे रतिः स्यादिति ॥ ६७, ६८ ॥

**कृष्णायेति।** कृष्णादिभ्यो भक्त्युद्रेकमाह उपायनानि चाऽदादिति॥ ६९ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४७ ॥

1. J.Va. omit स्युः 2. J.Va. omit नः

**वीर० अथेति।** अनुज्ञाप्य अनुज्ञां याचित्वा आमन्त्र्य पृष्ट्वा, दाशार्ह उद्धवः, यास्यन्। "लक्षणहेत्वोः"(अष्टा० 3-2-126) इति शत्रादेशः। यातुं रथमारुरोह ॥ ६४ ॥

**तमिति।** निर्गतं व्रजान्निष्क्रान्तं उद्धवं समासाद्य अनुरागेण प्रोचुः। कथम्भूताः? नानाविधान्युपायनानि अर्हणवस्तूनि पाणिषु येषां, अश्रूणि लोचनयोर्येषां तथाभूताः॥ ६५ ॥

उक्तिमेवाऽऽह **मनस** इति। नोऽस्माकं मनसो वृत्तयः कृष्णपादाम्बुजविषयाः स्युः। वाचस्तु तन्नामाभिधायिन्यः स्युः। का* या देहास्तु तन्नमस्कारादिषु प्रवणाः स्युः॥ ६६ ॥

**कर्मभिरिति।** यत्र क्वचिदीश्वरेच्छया कर्मानुगुणया कर्मभिः पुण्यापुण्यात्मकैः, भ्राम्यमाणानां संसरतामस्माकं यदि मद्भक्ताचरितानि शुभकर्माणि दानानि च सन्ति, तर्हि तैर्हेतुभिः कृष्णे भगवति रतिरनुरागः स्यादिति। मद्भक्ताचरितप्रदर्शनार्थं दानैरित्युक्तम् ॥ ६७ ॥

**एवमिति।** हे नराधिप, राजन् इत्थं गोपैः कर्तृभिः कृष्णभक्त्या करणभूतया सभाजितः सम्मानितः। स इति पृथक्पदं वा। उद्धवः कृष्णेन पालिताम्। लालितामिति पाठे अनुरञ्जितां मथुरां पुनराजगाम ॥ ६८ ॥

ततः कृष्णाय नमस्कृत्य प्रीत्या हर्षेण व्रजौकसां मक्त्युत्कर्षं प्राह। वासुदेवाय कृष्णाय[1], रामाय, राज्ञे उग्रसेनाय च उपायनानि नन्दादिभि स्समर्पितान्यर्हवस्तून्यदात्समर्पितवान् ॥ ६९ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्याया सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

1 K omits कृष्णाय ★ काया इति वीरराघवादतः पाठः।

विज० नोऽस्माकं मनसो वृत्तयो व्यापाराः कृष्णपादपद्माश्रयाः स्युः। अस्माक वाचो नाम्नामभिधायिनीर्वदन्त्यः स्युः। अस्माकं कायः तस्य प्रवणादिषु नमस्कारादिषु स्यादित्यन्वयः ॥ ६४ - ६६ ॥

यत्र क्वापि देवयोनिषु अचेतनस्य कर्मणः प्रवर्तकत्वं कथ घटते इत्यत उक्तं ईश्वरेच्छयेति। रतिर्भक्तिलक्षणा ॥ ६७ - ६९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥
(विजयध्वजरीत्या षट्चत्वारिंशोऽध्यायः)

# अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच[1-1]

अथ विज्ञाय भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः।
सैरन्ध्र्याः कामतप्तायाः प्रिय[2] मिच्छन्[2] गृहं ययौ ॥ १ ॥

महार्हो[3]पस्करोपेतं कामोपायोपबृंहितम् ।
मुक्तादामपताकाभि र्वितानशयनासनैः ॥ २ ॥

धूपैस्सुरभिभि र्दीपै स्स्रग्गन्धैरपि मण्डितम्।
★ कामशास्त्रश्रुतालेख्यै र्नानावर्णै स्सुशोभनैः ॥ ३ ॥

गृहं तमायान्तमवेक्ष्य सा[4]ऽऽसनात्सद्यस्समुत्थाय हि[5] जातसम्भ्रमा।
यथोपसङ्गम्य[6] सखीभिरच्युतं सभाजयामास[7] सदासनादिभिः ॥ ४ ॥

अथो[8]द्धवस्साधु तयाऽभिपूजितो न्यषीदद्दुर्व्यामभिमृश्य चाऽऽसनम्।
कृष्णोऽपि नूनं[9] शयनं महाधनं विवेश लोकाचरितान्यनुव्रतः ॥ ५ ॥

---

1- -1 M.Ma. बादरायणिरुवाच 2- -2 M.Ma प्रीतिं यच्छन् 3 G.J.K. ०स्करैराढ्यं; M.I.V स्कराढ्यं वै ★ This half verse is not found in G.J. M.Ma. M.I.V. edna. , 4 K.T.W. चाऽऽ° 5 K.T.W. सुं° 6 M.Ma. अं° 7 M.Ma. सहा° , M.I.V. तदाऽऽ° 8. G.J M.Ma त० 9. G.J. तूर्णं; M.Ma दान्तं

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अष्टचत्वारिंशकेऽथ कृष्णः कुब्जामरीरमत्। अक्रूरस्य गृहं गत्वा तं गजाह्वयमादिशत्॥

सैरन्ध्री काममापूर्य पूरयित्वा मनोरथान्। अक्रूरस्य ततः कृष्णस्तेन पार्थानसान्त्वयत्॥

**महार्हेति।** महार्हैर्नर्घैरुपस्करैः गृहोपकरणैरन्वितम्। कामोपायैस्तदुद्दीपकैः सुरतबन्धादिलेख्यै रुपबृंहितम् ॥ १-३ ॥

**गृहमिति।** यथा यथोदितम् ॥ ४,५ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा विरचिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

पूर्वं त्रिवक्रयाऽक्रूरेण च प्रार्थितो भगवान् तयोः गृहान्प्रत्येष्यामीत्युक्त्वा नित्युक्तम्। अधुना स्वं वचस्सत्यापयितुं भगवान् तद्गृहान्गत्वा तदिष्टं चकारेत्यनुवर्णयत्यष्टचत्वारिंशेन-**अथेत्यादिना**। अथ उद्धवागमनानन्तरं विज्ञाय आगमिष्यामीत्युक्तं त्रिवक्राक्रूरयोरभिप्रेतं चानुस्मृत्य। तत्र हेतुः सर्वान्तरात्मा अत एव सर्वदर्शनः युगपत् सर्वार्थसाक्षात्कर्ता तावत्कामेन तताया: सैरन्ध्र्याः प्रियमिच्छन्, कर्तुमितिशेषः ॥ १ ॥

गृहमनुवर्णयति द्वाभ्याम्- महार्हैः अनर्घैः गृहोपकरणैराढ्यमन्वितं कामोपायैः क्रीडोपकरणै रुपबृंहितं समृद्धं वितानैः विपुलैः शयनासनैः शय्यादिभिः, वितानैः गृहोपरिगृहैः शयनादिभिः चेति वा। सुरभिभिर्धूपैर्दीपैः सुरभिभिश्च मृष्टिमलङ्कृतं तथा नानावर्णै स्सुशोभनैः सुन्दरैश्च कामशास्त्रश्रुतालेख्यैः कामशास्त्रोपदिष्टैः रतिबन्धादिभिः आलेख्यै रभिमण्डितम् ॥ २,३ ॥

**गृहमिति**। उक्तविधं गृहं प्रति आयान्तं कृष्णमवलोक्य सुजातस्सम्भ्रमो यस्यास्सा सैरन्ध्री सद्यः तदैवाऽऽसनात्समुत्थाय सखीभिस्सह यथा यथोचितम् उपसङ्गम्य अभिसमेत्य समीचीनैः आसनादिभिः आदिशब्दादर्घ्यादिभिश्च सभाजयामास पूजयामास ॥ ४ ॥

**अथेति**। अथोद्धव स्तया सैरन्ध्र्या साधु यथा तथा अभिपूजितः तथा समर्पितमासनम् अभिमृश्य संस्पृश्य उच्यमिव न्यषीदत् उपविवेश, नत्वासने, भगवता साम्यमनुचितं मन्वानः केवलमुच्यमिव उपविष्टवानित्यर्थः। कृष्णस्तु लोकानां कामुकाना चरितानि चोष्टितानि अनुव्रतः अनुसरन् नूत्नं नवीनं कैश्चिदप्यनधिरूढं महाधनमनर्घं शयनं पर्यङ्कं विवेश ॥ ५ ॥

1 TW omit धूपैः 2 वीरराघवाद्गतः पाठः

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भक्तभक्तिरमालिङ्गगात्रः श्रीनारायणः सत्सङ्गतवाञ्छितार्थसाधनार्थं अवतीर्ण इत्येतमर्थमभिप्रैति अस्मिन्नध्याये। तत्रादौ सैरन्ध्र्या अभीष्टसाधनार्थं तद्गृहागमनं वक्ति -**अथेत्यादिना**। अथ कथान्तरारम्भः, सैरन्ध्र्याः गन्धकारिकायाः कृष्णागमनकामेन तृप्तायाः यच्छन् ददत् ॥ १ ॥

**महार्हैः** महतां योग्यैरुपस्करैः उपकरणैरुपेतं कामोपायैः कामभोगसाधनैः उपबृंहितं पूर्णं, एतानेव दर्शयति मुक्तेति। वितानम् उपरिपट्टिका ॥ २,३ ॥

येन प्रकारेणोपगमनं कार्यं यथोपसङ्गम्य, सदासनादिभिः ॥ ४ ॥

साधुतया उचिततयाऽभिमृश्य परिमृज्य स्पृष्ट्वेत्यर्थः। दान्तं गजदन्तरचितं महता धनेन विक्रीयते आपाचते चेति महाधनम् ॥ ५ ॥

सा मज्जनालेपदुकूलभूषण सुगन्धताम्बूलसुधासवादिभिः।
प्रसाधितात्मोपससार माधवं सव्रीडलीलोत्स्मितविभ्रमेक्षितैः ॥ ६ ॥

आहूय कान्तां नवसङ्गमह्रिया विशङ्कितां कङ्कणभूषिते करे।
प्रगृह्य शय्यामधिवेश्य रामया रेमेऽनुलेपार्पणपुण्यलेशया ॥ ७ ॥

साऽनङ्गतप्तकुचयोरुरसस्तथाऽक्ष्णो र्जिघ्रन्त्यनन्तचरणेन रुजो मृजन्ती।
दोर्भ्यां स्तनान्तरगतं परिरभ्य कान्त मानन्दमूर्ति मजहा वतिदीर्घतापम् ॥ ८ ॥

सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम्। अङ्गरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत ॥९॥

आहोष्यतामिह प्रेष्ठ दिनानि कतिचिन्मया। रमस्व नोत्सहे त्यक्तुं सङ्गं तेऽम्बुरुहेक्षण ॥१०॥

---

1 TW ०लास्मित 2 MV ०गैन०

**श्रीध० सेति।** प्रसाधितो योग्यतामापादित आत्मा देहो यया सा। सव्रीडं यल्लीलयोद्गतं स्मित, तद्येषु विभ्रमेषु, तद्युक्तैः ईक्षितैः उपलक्षिता ॥ ६ ॥

**आहूयेति।** अनुलेपार्पणादन्यत् तस्याः पुण्यं नास्तीति दर्शयितुं पुण्यलेशयेत्युक्तं न तु पुण्यस्याल्पत्वविवक्षया ॥ ७ ॥

**सेति।** कुचादीनां रुजो मृजन्ती जिघ्रन्ती च चरणम् ॥ ८ ॥

**सैवमिति।** एनं काममेव प्राकृतदृष्ट्या अयाचत, न तु गोप्य इव सा तन्निष्ठेति, दुर्भगा इत्युक्तम्। कृतार्थत्वेतु तस्या न सन्देहः ॥ ९,१० ॥

---

1 JVa. omit एन 2 JVa. च

**वीर० सेति।** सा सैरन्ध्री मज्जनादिभिः प्रसाधितो योग्यतामापादित आत्मा देहो यया तथाभूता सती सव्रीडं यत्, लीलया उद्गतं स्मितं तत् येषु विभ्रमेषु तद्युक्तैर्वीक्षितैः उपलक्षिता माधवमुपससार उपजगाम ॥ ६ ॥

**आहूयेति।** नवसङ्गमे विषये या ह्रीर्लज्जा तया विशङ्कितां सङ्गन्तुं लज्जमानामित्यर्थः। तां कान्ताम् आहूय कङ्कणेन भूषिते हस्ते गृहीत्वा शय्यामधिवेश्य विलेपार्पणमेव पुण्यलेशो यस्या स्तया रामया सह रेमे, अनुलेपार्पणादन्यत्तस्याः पुण्यं नास्तीति दर्शयितुं तद्विशेषणम् ॥ ७ ॥

सेति। जिघ्रन्ती सन्निहितत्वादनन्तचरणमिति बिम्बितपरिणामेन सम्बन्धः, अनन्तस्य भगवतश्चरणं जिघ्रन्ती तेन अनन्तचरणेन हेतुना अनङ्गेन कामेन तप्तयोः स्तनयोरुरसोऽणोश्च रुजः पीडाः मृजन्ती अपनयन्ती कुचादिषु निधानेन तद्गताः पीडाः निराकुर्वन्तीत्यर्थः। स्तनान्तरगतं कुचमध्यगतं यथा तथा कान्तं प्रियतमम् आनन्दघनं भगवन्तं दोर्भ्यां मालिङ्ग्य अतिदीर्घं बहुकालानुवृत्तं तापमनङ्गताप मजहात् तत्याज ॥ ८ ॥

सैवमिति। सा सैरन्ध्री कैवल्यं प्रकृतिसम्बन्धराहित्यं तस्य नाथं मोक्षदं योगिभिरपि दुष्प्रापं तं भगवन्त मेवमित्थं केवलमङ्गरागार्पणेनैव हेतुभूतेन, अनुभूयेति शेषः । दुर्भगा भाग्यहीना इदं वक्ष्यमाणमयाचत अहो इति खेदे। साक्षान्निरतिशय पुरुषार्थभूतमोक्षदं प्राप्यापि केवलं तुच्छमेवायाचत दुर्भगेति मुनिः खिद्यते ॥ ९ ॥

याच्ञामेवाह- आहेति। हे अम्बुरुहेक्षण! तव सङ्गं त्यक्तुं नोत्सहे न प्रभवामि। हे श्रेष्ठ! मया सह कतिचिद्दिनानि रमस्व। अत इह महृहे उष्यतां, त्वयेति शेषः । एवमाह ॥ १० ॥

---

1- -1 TW omit 2 TW धापनै° 3 TW ०ति

विज० सुधाकल्पासवादिभिः प्रसाधितात्मा अलङ्कृतदेहा सव्रीडलीलादिभिर्युक्ता ॥ ६ ॥

रतौ निमित्तमाह - अनुलेपेति। अनुलेपार्पणेन हेतुः गन्धसमर्पणेन लब्धः पुण्यलेशः पुण्यैकदेशो यया सा, तथा, तया ॥ ७ ॥

रुजः कामज्वरान् संसारज्वरान् वा, सा स्तनान्तरगतं वक्षःस्थलगतम् ॥ ८ - १० ॥

तस्यै कामवरं दत्वा मानयित्वा च मानदः।
सहोद्धवेन सर्वेश स्स्वधामाऽमहद्धिमत् ॥ ११ ॥

दूराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम्।
याऽवृणीत मनोग्राह्य मसत्त्वा त्कुमतिर्हासौ ॥ १२ ॥

अक्रूरभवनं कृष्ण स्सहरामोद्धवः प्रभुः।
किञ्चिच्चिकीर्षयन् प्रागादक्रूरप्रियकाम्यया॥ १३ ॥

सा तान्नरवरश्रेष्ठानाराद्वीक्ष्य स्ववान्धवान्।
प्रत्युत्थाय प्रमुदितः परिष्वज्याभ्यनन्दत ॥ १४ ॥

★ ननाम कृष्णं रामं च स तैरप्यभिवादितः।
पूजयामास विधिवत्कृतासनपरिग्रहान् ॥ १५ ॥

1 - - 1 G.J. °गमदर्चितम्; K.T.W ° गात्समृद्धिमत् 2 - - 2 K.T.W. या वृणीते 3. G.J.K.T.W. मनीष्यसौ 4. M.Ma. कीर्षन् स°; T.W. ०कीर्षया 5. J. ०भिनन्द च 6 T.W. ताभ्यामभि° ★ This verse in not found in M.Ma. Edns

**श्रीध० तस्या** इति। काम एव वरस्तं दत्त्वा। मानयित्वा चालङ्कारादिदानैः ॥ ११ ॥

**दुराराध्यमिति।** मनोग्राह्यं विषयसुखम्। असत्त्वा तुच्छत्वात् ॥ १२ ॥

**अक्रूरेति।** किञ्चिच्चिकीर्षयन्। हस्तिनपुरप्रस्थानं[1] कारयितुमिच्छन्नित्यर्थः[2]। अक्रूरप्रियकाम्यया च ॥ १३ ॥

**स** इति। आरात्[3] दूरतएव च ॥ १४, १५, ॥

1. J.Va ०ना 2. J.Va ०स्थापनं° 3. J.Va दूरादेव।

**वीर०** तस्यै इत्थं याचमानायै सैरन्ध्र्यै मानयित्वा मधुरभाषणादिभिस्सम्मान्य काम एव वरस्तं दत्त्वा याचितं सफलीकर्तुं पुनरेष्यामीत्युक्त्वेत्यर्थः सर्वेशः स्वोपदिष्टहितग्रहणोपयुक्ततन्मनोनियमनशक्तः मानदः सम्मानाचरणशीलः अतस्तस्या एवं सम्मानं कामवरदानं च युक्तमिति भावः। उद्धवेन सह सर्वसम्पत्समृद्धं स्वगृहमाजगाम ॥ ११ ॥

दुर्भगेत्युक्तं तस्या दौर्भाग्यमेव स्पष्टयति। **दुराराध्यमिति।** दुराराध्यं भक्तिप्रपत्तिव्यतिरिक्तोपायेन दुष्प्रसाद्यं सर्वेश्वरो ब्रह्मा तस्यापीश्वरं भगवन्तं समाराध्य केवलमङ्करागदानेनैव प्रसाद्य या सैरन्ध्री मनोग्राह्यं शब्दादिविषयसुखम् असत्त्वा-दसाधुत्वात्तुच्छत्वात्, तद्यतोऽयाचत, ततोऽसौ सैरन्ध्री कुमनीषी कुबुद्धिर्मूर्खा दुर्भगेति भावः ॥ १२ ॥

एवं सैरन्ध्रीमनोरथं सफली चकारेत्युक्तम्। अथाऽक्रूराभिमतं सफलीकर्तुं तद्गृहं जगामेत्याह - **अक्रूरभवनमिति।** किञ्चित् हस्तिनौपुरप्रस्थानं कारयितुमिच्छन्[1] तावत् रामोद्धवाभ्यां सहितो भगवान् कृष्णः अक्रूरस्य प्रियं कर्तुमिच्छया तस्य भवनं प्रति प्रागात् ॥ १२ ॥

**स** इति। सोऽक्रूरः तावन्नरवरेभ्योऽपि श्रेष्ठान् रामकृष्णोद्धवान् आराद्दूरत एव उद्दीक्ष्य प्रत्युत्थाय नितरां मुदितः परिष्वज्य अभ्यनन्दत अभिनन्दितवान् । १४ ॥

**ननामेति।** सोऽक्रूरः कृष्णं रामञ्च ननाम ववन्दे। चकारादुद्धवं च, तथा तैः रामकृष्णोद्धवैरप्यभिवादितः, कृतः आसनपरिग्रहो यैस्ता न्विधिवत् पूजयामास ॥ १५ ॥

1 T.W. मिच्छया

**विज०** मनोग्राह्यं शब्दाद्यविषयं मनसाप्यग्राह्यं असवाद्रागदुष्टत्वात्, तत्त्वनिश्चयाभावाद्वा। अत एव कुमतिः कुत्सितशब्दादौ मतिः यस्या स्सा तथा ॥ ११ १२ ॥

महृहमागन्तव्यमिति प्रागुक्तं सत्यं कर्तुम् अक्रूरगृहगमनं कृष्णस्य वक्ति- **अक्रूरेति**। किञ्चित्[1] पाण्डववृत्तान्तज्ञानाय अक्रूरप्रेषणकार्यं कर्तुमिच्छन् ॥ १३ ॥

आरात् दूरात् तान्वीक्ष्य ॥ १४, १५ ॥

---

1 Ma किच; Mb किं

पादावनेजनीरापो धारयञ्छिरसा नृप।
अर्हणेनाम्बरैर्दिव्यै र्गन्धस्रग्भूषणोत्तमैः ॥ १६ ॥

अर्चित्वा शिरसाऽऽनम्य पादावङ्कगतौ मृजन्।
प्रश्रयावनतोऽक्रूरः कृष्णरामावभाषत ॥ १७ ॥

दिष्ट्या पापो हतः कंस स्सानुगो[1] वामिदं[1] कुलम्।
भवद्भ्यामुद्धृतं कृच्छ्राद्दुरन्ताच्च समेधितम् ॥ १८ ॥

युवां प्रधानपुरुषौ जगद्धेतू जगन्मयौ।
भवद्भ्यां न विना किञ्चि त्परमस्ति न चापरम् ॥ १९ ॥

आत्मसृष्टमिदं विश्व मन्वाविश्य[2] स्वशक्तिभिः।
ईयसे[3] बहुधा ब्रह्मन् श्रुतिप्रत्यक्षगोचरः[4] ॥ २० ॥

---

1 - - 1 M.Ma. ०गः पापितं 2 M.Ma वे० 3. G.J M Ma MI V °ते 4 G.J ०त० 5 G.J.MI.V. ०रम्।

**श्रीध०** पादेति।आ अप इति च्छेदः, उदकानि आ सर्वतो धारयन्नित्यन्वयः ॥ १६,१७ ॥

**दिष्ट्येति**। वां युवयो रिदं कुलमुद्धृतं समेधितं च ॥ १८ ॥

वामिदं कुलमित्यादि व्यवहारदृष्ट्योक्त्वा परमार्थमाह **युवामिति**। जगन्मयौ युवाम्। कुतः? जगद्धेतू। तदपि कुतः? प्रधानपुरुषौ तदात्मकौ। अतो भवद्भ्यां विना परं कारण मपरं कार्यं च नास्तीति ॥ १९ ॥

ननु प्रत्यक्षादिसिद्धं कथं नास्तीत्युच्यतेऽत आह-आत्मसृष्टमिति। हे ब्रह्मन्। परमेश्वर! ब्रह्म इति वा[1] पाठः। अजादिभिः[2] स्वशक्तिभिः आत्मनैव सृष्टमिदं विश्वमन्वाविश्य कारणत्वा दननुप्रविष्टोऽप्यनुप्रविश्येव स्थितः श्रुति[3]प्रत्यक्षगोचरं यथा भवति तथा, बहुधा भवानेव प्रतीयते ॥ २० ॥

1 Ml.V. omit वा 2 J.Va रजआदिस्व° 3 J Va ०त

**वीर० पादेति।** हे नृप! सोऽक्रूरः पादौ अवनिज्येते प्रक्ष्याल्येते याभिस्तथा ताः, आ अप इति च्छेदः विशेषणस्य द्वितीयान्तत्वात् । आ सर्वतः शिरसा धारयन् अर्हणेन अर्घ्यादिना अम्बरादिभिश्च अर्चित्वा दिव्यैरिति पूर्वोक्तान्वयि, अङ्कगतौ उत्सङ्गे निधापितौ पादौ शिरसा प्रणम्य मृजन्, स्वोत्तरीयेणेति शेषः। यद्वा संवहन् प्रश्रयेण विनयेन नम्रः कृष्णरामौ प्रत्यभाषत ॥ १६,१७ ॥

भाषितमेवाह- **दिष्ट्येत्यादिना।** दिष्ट्या अयमानन्द इत्यर्थः किम्? सानुगः सानुचरः पापात्मा कंसो हतः। वां युवयोरिदं कुलं दुरन्तादपारात्कृच्छ्रात् कंसकृताद्दुः खादुद्धृतं समेधितं सम्यग्विवर्धितं चेति ॥ १८ ॥

युवतं चैतद्युवयो रित्याह - **युवामिति।** प्रधानपुरुषौ श्रेष्ठपुरुषौ पुरुषोत्तमावित्यर्थः। जगतो हेतू कारणभूतौ अत एव जगन्मयौ स्वार्थे मयट् जगद्रूपौ। प्रधानपुरुषाविति विशेषण व्यावर्त्यं दर्शयति- भवद्भ्यां बिना परमुत्कृष्टं किञ्चिदपि नास्तीति भवन्तावेव सर्वोत्कृष्टावित्यर्थः। जगन्मयावित्यस्य व्यावर्त्यमाह - न चापरमिति। अपरमन्य दतदात्मकं नास्तीत्यर्थः। यद्वा, प्रधानपुरुषावित्यनेन प्रकृतिपुरुषशरीरकत्वं विवक्षितं, " यस्याऽव्यक्तं शरीरं यस्याक्षरं शरीरम्"(सुबा. उ. 7-1) इति प्रकृतिपुरुषयोः परमात्मशरीरत्वश्रवणात्, शरीरवाचिशब्दानां अपृथक्सिद्धविशेषणवाचिनां गवादिशब्दानां व्यक्तिपर्यन्तबोधकत्वा दात्मपर्यन्तबोधकत्वात् तत्सामानाधिकरण्योपपत्तेः । जगद्धेतू इत्यनेन प्रकृतिपुरुषशरीरकत्ववेषेण जगदुपादानत्वं, विशेष्याकारेण तन्निमित्तत्वं चाऽभिप्रेतम्। यथा विशिष्टाकारेणोपादानत्व मत एव कार्यस्य कारणादभिन्नत्वात् त्वद्व्यतिरिक्तं नास्तीत्यभिप्रायेणोक्तं जगन्मयौ..... न चापरमिति। जगन्मयावित्यन्वयमुखेन जगत्तादात्म्योक्तिः, न चापरमिति व्यतिरेकमुखेनेति विवेकः। न चास्ति परमित्यनेन निमित्तकारणान्तरव्युदासः। युवयोः जगदुदयविभवलयैककारणत्वाद्यथात्मसङ्कल्पं कंसादिसंहार-स्वकुलोद्धारश्चोचित एवेति भावः ॥ १९ ॥

ननु लोके विविधकार्यवर्गाणां विविधोपादानकत्वदर्शनात् कथं जगतोऽस्मदेककारणत्वम्? कथं वा एकस्य ममाऽनेक-देवमनुष्यादिपदार्थात्मकत्वम्? अत आह - **आत्मसृष्टमिति।** स्वशक्तिभिः स्वविशेषणभूतैः प्रकृतिपुरुषकालैः आत्मसृष्टम् आत्मनः प्रकृतिपुरुषशरीरकात् स्वस्मादुपादानभूता त्सृष्टम्, आत्मना प्रकृतिपुरुषयोः नियन्त्रा स्वेन सृष्टमित्यर्थद्वयमत्र तन्त्रेण विवक्षितम्। अनेनोपादानान्तरस्य निमित्तान्तरस्य च व्यावृत्तिः। इदं नामरूपविभागविभक्तं चिदचिदात्मकविश्व मन्वाविश्य नियन्तृतयाऽन्तरात्मतया चानुप्रविश्य हे ब्रह्मन्! बहुधा ईयसे प्रतीयसे, ईयते इति पाठे भवानित्यध्याहारः। स्वात्मन्याधारभूते स्वेनैव कर्त्रा स्वात्मानं प्रकृतिपुरुषशरीरकं जगद्रूपेण परिणमय्य तत्तन्नियन्तृतयाऽऽत्मत्वेन चानुप्रविश्य स्वपर्यन्तदेवमनुष्यादि शब्दबुद्धिविषयतया नाना प्रतीयसे इत्यर्थः। अनेन कृत्स्नं विश्वं प्रति परमपुरुषस्यैकस्यैव प्रकृतिपुरुषकालशरीरकत्ववेषेणोपादानत्वं,

स्वस्वरूपेण निमित्तत्वं तदुभयकारणत्वोपयुक्त सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वादि गुणयुक्तत्वं देवादिबुद्धिशब्दयोः आत्मभूततत्पर्यन्तत्वं चोक्तं भवति। ननु लौकिकानां देवादिबुद्धिशब्दयोः देवादिमात्रविषयत्वेनानुभवसिद्धत्वात् कथं तयोः मत्पर्यन्तता, विश्वस्य मदेकोभयकारणत्वे च किं प्रमाण मित्यतः तं विशिनष्टि- श्रुतिप्रत्यक्षगोचर इति। श्रुतिप्रत्यक्षयोः गोचरो विषयः। "तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्च कक्षीवानृषिरस्मि विप्रः" इति श्रुतिप्रसिद्धानां साक्षात्कृतब्रह्मपर्यन्त स्वात्मयाथत्म्यानां तत्पर्यन्तत्वेन गृहीत चिदचिद्वाचिशब्दशक्तीनां वामदेवादीनां प्रत्यक्षस्य "अयमात्मा ब्रह्म " (माण्डू. उ. 2. ) "तत्त्वमसि" (छान्दो. उ. 6-8-7) "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छान्दो. उ. 3-14-7) इत्यादिश्रुतीनां चोक्तविधत्वेन विषय इत्यर्थः । नहि देहात्मभ्रमस्वतन्त्रात्मभ्रमयुक्तलौकिकानुभवमात्रेण देवादिबुद्धिशब्दानां तत्पर्यन्तत्वहानिः इति भावः। श्रुतिप्रत्यक्षगोचरमिति पाठे क्रियाविशेषणम् ॥ २० ॥

**विज०** पादावनेजनीः पादप्रक्षालिनीः आ अप इति पदच्छेदः। आ इत्यास्वाद्य अपो धारयन्, अर्हणेन योग्यपूजासाधनेन ॥ १६ ॥

मृजन् परिमृजन् मृदु पीडयन् इत्यर्थः ॥ १७, १८ ॥

जगन्मयौ जगद्व्यापिनौ। एतदेव विशिनष्टि- भवद्भ्यामिति ॥ १९ ॥

अन्वावेश्य पदार्थानामणुत्वमहत्त्वानुकूलतया प्रविश्य स्वशक्तिभिः इच्छादिस्वरूपशक्तिभिः श्रुतेः प्रत्यक्षस्य च विषयः " अनृतेन हि प्रत्यूढाः, वाचारम्भणं विकारः" इत्यादिश्रुतिः। अयं घटोऽयं पट इत्यादि निर्दोषार्थेन्द्रिय सन्निकर्ष लक्षणं प्रत्यक्षम् "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इति श्रुतेः। "ऋतस्य तन्तुं वितत विवृत्य तदपश्यत्" इत्यादिश्रुतेः। ब्रह्मादि-ज्ञानि प्रत्यक्षस्य च विषयो वा ॥ २० ॥

**यथा हि भूतेषु चराचरेषु महदादयो योनिषु भान्ति नाना।**
**एवं भवान्केवल आत्मयोनिष्वात्माऽऽत्मतन्त्रो बहुधा विभाति॥ २१ ॥**

**सृजस्यथो लुम्पसि पासि विश्वं रजस्तमस्सत्त्वगुणै स्स्वशक्तिभिः।**
**न बध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वा ज्ञानात्मनस्ते क्व च बन्धहेतुः ॥ २२ ॥**

**देहाद्युपाधेरनिरूपितत्वा द्भवो न[3] साक्षाच्च[4] चिदात्मन स्स्यात्।**
**अतो न बन्धस्तव नैव मोक्ष स्स्यातां निकाम[5] त्वयि नोऽविवेकः ॥ २३ ॥**

**त्वयोदितोऽयं जगतो हिताय यदा यदा वेदपथः पुराणः।**
**बाध्येत पाषण्डपथैरसद्भि स्तदा भवान्सत्त्वगुणं बिभर्ति ॥ २४ ॥**

**स त्वं प्रभोऽद्य वसुदेवगृहेऽवतीर्ण स्त्वांशेन भारमपनेतु मिहाऽसि भूमेः।**
**अक्षौहिणीशतवधेन सुरेतराणां राज्ञाममुष्य च कुलस्य यशो वितन्वन् ॥ २५॥**

---

1 M.Ma त्वद्गुण 2. M.Ma.M.V नैव 3 M.Ma हि, M.V. ०ऽपि 4 G.J.M.V. ०च्च भिदा; M.Ma. ०च्च चिदा° T.W. ०च्च तदा° 5 G.J.M.V. ०मस्त्वयि 6 G.J.M.Ma ०स्व° 7 G.J. ०रांश

**श्रीध०** एकस्यैव बहुधा प्रतीतौ दृष्टान्तमाह- **यथेति**। योनिषु स्वस्यैव रूपान्तरेणाभिव्यक्तिस्थानेषु चराचरेषु भूतेषु यथा महीप्रमुखानि कारणान्येव नाना भान्ति। आत्मयोनिषु स्वकारणकेषु भूतभौतिकेषु। जीवोऽपि नरमृगादिशरीरेषु बालयुवाद्यवस्थासु तथा तथा प्रतीयते इति तद्वचवच्छेदार्थमात्मतन्त्रग्रहणम् ॥ २१ ॥

ननु सृष्ट्यादिकर्तृत्वेन संगुणत्वेन च मम किं जीववद्बन्ध उक्तः, न हि नहीत्याह - **सृजसीति**। तद्गुणकर्मभि र्वा तैर्गुणैः कर्मभिर्वेत्यर्थः। यतः क्व च कदाचिदपि बन्धहेतुविद्या तव नैवास्ति। कुत इत्यत आह - ज्ञानात्मन इति। मायायाः आश्रयाऽनावारकत्वादिति भावः ॥ २२ ॥

किञ्च आस्तां तावत् तव बन्धशङ्का, यतः अविद्योपाधेर्जीवात्मनोऽपि न वस्तुतो बन्धोऽस्तीत्याह- **देहाद्युपाधेरिति**। भवो जन्म तन्मूला भिदा च साक्षात् स्वरूपतो न स्यादिति। ननु मम बन्धाभावं वदता त्वया किं मोक्षोऽङ्गीकृतः? ओमिति चे तर्हि बन्धाभावे मोक्षासम्भवादापन्नो बन्धोऽपीत्याशङ्क्याह- अत इति। यतो नाऽविद्या अतो न बन्धो मोक्षश्च। एवमुभौ न स्यातामित्यर्थः। ननु उलूखले मां बद्धं श्रुतवान्। यमुनाह्रदे तु दृष्टवानसि। अतः कथमुभयं नास्त्यत आह। निकाम इति। स्वाभिप्रायानुरूपस्त्वयि नोऽस्माकमविवेक एव, परमेवम्भूत इति। यद्वा नोऽविवेकत एव तवोभौ स्यातामिति ॥ २३ ॥

ननु तर्हि ममावताराः तच्चरित्राणि च शुक्तिरजतवदविद्याकल्पितान्येव किम्? नहि, नहि, इयं तु तव लीलेत्याह द्वयेन - **त्वयोदित** इति ॥ २४ ॥

**स** इति। सुरेतरांशा ये राजानः तेषामक्षौहिणीशतानां वधेन भूमेः भारमपनेतुं स्वांशेन रामेण सहाऽवतीर्णोऽसीति ॥ २५॥

---

1. J.Va. ०ति° 2 J.Va. सदृष्टान्त०° 3 J.Va. omit भूतेषु 4 J.Va. omit सगुणत्वेन 5 J.Va ०व० 6 Va. omit तव 7 J.Va. क्रियते 8 J.Va. omit तु 9 J.Va. ०क एव 10 J.Va. omit इति।

**वीर०** उक्तमेवोपादानकारणत्वं कारणस्य तदवस्थायामेकत्वेनावस्थितस्याऽपि कार्यावस्थायां नानात्वेन भानं च सदृष्टान्तमुपपादयति - **यथा ह्रीति**। दृष्टान्ते योनिष्वित्यस्य स्वेत्यादिः, दार्ष्टान्तिके आत्मयोनिष्वित्यात्मशब्दप्रयोगात्। स्वे मह्यादयो योनयः उपादानकारणानि येषां तेषु चराचरात्मकेषु भूतेषु व्यष्टिभूतेषु मह्यादयः समष्टयः नाना भान्ति, कारणानि समष्टिभूतान्येवैकैकशोऽवस्थितान्यनेककार्यात्मना भान्तीति दृष्टान्तार्थः। एवं भवान् केवलः एकरूपः अविभक्तनामरूपप्रकृतिपुरुषकालशरीरकः आत्मा योनिः कारणं येषां तेषु व्यष्टिसमष्ट्यात्मकसर्वपदार्थेषु बहुधा विभाति। योनिषु आत्मयोनिषु इत्युभयत्र सप्तमीनिर्देशस्याऽयमभिप्रायः। अवस्थाभेदमात्रमेव, न तु कार्यं नाम कारणादतिरिक्तं वस्त्वस्तीति कार्यावस्थादशायां कारणमेव तत्तत्कार्याख्यावस्थाविशेषविशिष्टतया बहुधा प्रतिभातीति। न केवलं तव कारणतयैव कार्यतायां बहुधा भानम्। अपि त्वन्तरात्मतयाऽपीत्यभिप्रायेण विशिनष्टि - आत्मेति। अयं भावः -यथैकस्य जीवस्य क्रमेण देवमनुष्याद्यनेकशरीरविशिष्टत्वाकारेण बहुधा प्रतीतिः, यथा च सौभयदि र्युगपदनेकशरीरविशिष्टत्ववेषेण, तथा भवतः कृत्स्नचिदचिदन्तरात्मत्वात् तत्तच्चिदचिद्विशिष्टताकारेण बहुधा भानम् - इति। ननु जीवदृष्टान्तेन यच्चेकस्यानेकधा तत्तच्छरीरविशिष्टताकारेण भानम्, तर्हि तद्वदेव कर्मवश्यतापत्ति रित्यतो विशिनष्टि -आत्मतन्त्र इति। स्वतन्त्रः अकर्मवश्य इत्यर्थः। न ह्येकस्यानेकधाऽवस्थानमेव कर्मवश्यत्वापादकम्, अपि तु सुखदुःखादि भोक्तृत्वम्। तत्तु न तवास्ति। तथा च श्रूयते "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" (मुण्ड. उ. 3-1-1) इति भावः। अनेन जीववैलक्षण्यं सूचितम् ॥ २१ ॥

तदेवोपपादयति- **सृजसीति**। स्वशक्तिभिः कार्योपयुक्तस्वापृथक्सिद्धविशेषणात्मकैः रजआद्याख्यैः प्रकृतिगुणै र्विश्वं सृजसि, तुम्पसि हरसि, पासि रक्षसि, रजःप्रचुरचतुर्मुखाख्यजीवशरीरकत्ववेषेण सृजसि, तमःप्रचुररुद्राख्यजीवशरीरकत्ववेषेण तुम्पसि, सत्त्वप्रवर्तकस्वावतारेण पासीत्यर्थः। यद्यप्येव मथापि तैर्गुणैः कर्मभिः रजआदिगुणमूलकसृष्ट्यादिव्यापारैश्च न बध्यसे। गुणपारवश्याभावात्सृष्ट्यादिकर्मणां पुण्यापुण्यमूलकत्वाभावाच्च सुखदुःखादिभोक्तृत्वापादककर्मबन्धो नास्तीत्यर्थः। बन्धाभावहेतूपन्यासेन बन्धहेतुं निराकुर्वन् विशिनष्टि - ज्ञानात्मन इति। ज्ञानात्मनः स्वस्वरूपेणावस्थितस्य स्वत एव निरस्तनिखिलदोषस्य समस्तकल्याणगुणस्य गुणपारवश्यपुण्याऽपुण्यरूपकर्मान्वयरहितस्य तव बन्धहेत्वभावात्, प्रत्युत बन्धप्रतिभट धर्मयोगाच्च न बन्धसङ्गहेतुसम्भावनापीत्यर्थः। जीवस्तूक्तविधत्वाद्विपरीत इति भावः॥ २२ ॥

तदेवं स्वेन रूपेणावस्थितस्य जीववैलक्षण्यापादकगुणकर्मान्वयाभावः तत एव बन्धाभावश्चोक्तः। अथ जीवशरीरकस्यापि जीवगतबन्धमोक्षाद्यस्पर्शमाह - **देहाद्युपाधेरिति**। देवमनुष्यादि देहादिरूपोपाधेरनिरूपितत्वात् भोगार्थतया निरूपितत्वाभावात् चिदात्मनः जीवान्तरात्मनः तव भवः संसारः साक्षान्नास्ति शरीरभूतजीवस्येवेति भावः । यथा नृसिंहः श्वेत इत्यत्र श्वैत्यं देहगतम्, न त्वात्मगतम्, तद्वत्। भिदात्मनस्स्यादिति पाठान्तरम्। तदा भिदात्मन इत्यनेन दृष्टान्तोऽभिप्रेतः, यथा शरीरगता देवत्वमनुष्यत्वादिभिदा, न तदात्मनस्साक्षा त्स्यात् अपि तु शरीरद्वारा। तथा जीवगतो भवोऽपि न साक्षाद्भवत स्स्यात्। अपि तु जीवद्वारा, स्वरूपतस्तु भवान्वयरहित एव भवानित्यर्थः। यद्वा आत्मन इति हेतुगर्भमिदं विशेषणम्। आत्मनश्चिदचिदन्तरात्मत्वात्तव न शरीरभूतचिदचिद्गता भिदाऽस्ति। नहि शरीरगतबाल्यादिभिदा शरीरिणि प्रसज्जतीति भावः।

ननु शरीरगतधर्मान्वयरहितेऽपि जीवे इव भवान्वयो दुर्वार इत्यत आह - देहाद्युपाधेरनिरूपितत्वा द्भवो नेति। जीवस्य कर्ममूलक सुखदुःखादिभोगार्थतया करणकलेबराद्युपाधे र्निरूपितत्वा द्भवोऽस्ति, तव तु क्रीडार्थतयेति न भवोऽस्तीति भावः। यतो न भवोऽस्ति अतः बन्धः भवनिदानभूतः कर्मबन्धः नास्ति, तस्मान्मोक्षश्च नास्ति बन्धाभावात्तदबधिकमोक्षश्च नास्ति, अतस्तावुभौ न स्यातामिति नञावृत्त्या वाक्यभेदेनान्वयः। अतो बन्धो मोक्षश्च न स्यातामिति अन्वये तु नञन्तरवैयर्थ्यम्। प्रत्येकान्वये तु स्यातामिति द्विवचनान्वयानुपपत्तिः. यद्वा नञ्भ्यां बन्धमोक्षयोः प्रत्येकमेव निषेध्यत्वावगते र्नञोश्च प्रत्येकमेव क्रियान्वयित्वावगमस्वारस्याच्च स्यातामिति द्विवचन मतन्त्रं स्यादित्यर्थः। नन्वहमपि रामकृष्णादिमनुष्यादिरूपभाक्। अतः कर्मवश्य इत्यत आह - निकामस्त्वयीति। सः रामकृष्णादिरूपदेहाद्युपाधिः। काम्यत इति कामः केवलं स्वेच्छामूलको न तु कर्ममूलक इत्यर्थः। तर्हि तथा सर्वैः किं नावसीयते इत्यत आह - नो विवेक इति। नोऽस्माकम् अविवेकः जीवेश्वरयाथात्म्यविवेकाभावप्रयुक्त त्वद्देहाद्युपाधेः कर्ममूलत्वोद्भावनमित्यर्थः ॥ २३ ॥

ननु देहाद्युपाधेः कर्ममूलत्वम् अत एव तत्फलभूतसुखदुःखाद्यखिलभोगार्थत्वं च जीवेषु निश्चितम्। मद्देहाद्युपाधे र्मदिच्छैकमूलत्वे किं तत्प्रयोजन मित्यत आह त्वयोदित इति द्वाभ्याम्। जगतो हितार्थं यस्त्वयोपदिष्टः पुराणो वेदमार्गः त्वन्निश्वसितभूतवेदबोधितो धर्ममार्गः। स यथा असद्भिः समीहितासाधनैः प्रत्युतानर्थावहैः पाषण्डपथैः वेदपथविरोधिभिः बाध्येत, तदा भवान् सत्त्वगुणं शुद्धसत्त्वमयं विग्रहं बिभर्ति। "यदा यदा हि धर्मस्य" (भ. गी. 4-7) "परित्राणाय साधूनाम्" (भ.गी. 4-8) इति श्लोकद्वयोक्तप्रयोजनार्थमवतरसि, न तु कर्मफलभोगार्थं जीववज्जन्ममरणादिमच्छरीरद्वारा जायस इति भावः ॥ २४ ॥

स इति। यो रामादिरूपेणावतीर्णः स त्वं हे प्रभो! अधुना इह लोके वसुदेवगृहे स्वांशेन बलरामेण सह सङ्कल्परूपेण ज्ञानेन वा अवतीर्णोऽसि, किं कर्तुम्? सुरेतराणामसुरप्रकृतीनां राज्ञां कंसादीनां अक्षौहिणीनां यानि शतानि तेषां वधेन भूमेर्भारमपनेतुं निराकर्तुं अमुष्य यादवकुलस्य यशो वितन्वन् "लक्षणहेत्वोः" इति शत्रादेशः, विस्तारयितु ञेत्यर्थः ॥ २५ ॥

---

1 K. omits भाव: 2 K. पुण्यपाप 3 T.W. तं 4 K. भवतः 5 T.W. कामिति मि० 6 T.W. त 7 T.W मूल 8 T.W. र्थत्वं 9 T.W. omit कुल

विज० इममेवार्थं सदृष्टान्तं दर्शयति यथेति। योनिषु भोगस्थानेषु, उत्पत्तिमत्त्वात् भूतशब्दवाच्येषु चराचरेषु पूर्वदृष्टवशात् गमागमेषु वस्तुषु पृथिव्यादयो नाना शुक्लनीलपीताद्याकारतया भान्ति। आत्मा स्वयं योनिः कारणं येषां तानि तथा तेषु, आत्मा परमात्मा केवल आत्मतन्त्र इति विशेषणद्वयेन महान्विशेषोऽस्ति मद्भादिभ्य इति सूचयति ॥ २१ ॥

विश्वस्यात्मयोनित्वं स्पष्टयति - सृजसीति। केवलत्वं स्पष्टयति नेति। गुणैः सत्त्वादिभिः उत्पत्तिहेत्वभावादिति युक्तमिति भावेनाह - त इति। शून्यस्त्वमिति, नेत्याह ज्ञानात्मन इति। क्व च कस्मिंश्चिद्देशे काले च ॥२२॥

"जनितोऽत विष्णुः" इति जन्मप्रतीतेः, "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" (भ. गी. 2-27) इति यथाप्राप्त अवश्यम्भावात् कथं नैव हेतुरित्युच्यते इति तत्राह देहेति। देहादिरेवोपाधिः देहाद्युपाधिः तस्योत्पत्तौ कारणभूतगुणकर्मणामनिरूपितत्वात् दसम्पानित्वात् साक्षाद्भवः शुक्रशोणितसम्पर्कलक्षणं जन्म न स्यात्। हि यस्मात् अतस्तव देहवन्धो न स्यात्, देहवियोगलक्षणो मोक्षश्च नैव स्यात्, यावदन्यत्र स्यातामु, अतो नो निकामं यावद्योग्यं त्वयि विवेकः तत्त्वनिश्चायकं ज्ञानं स्यादित्यन्वयः ॥ २३ ॥

साक्षाद्भवो नास्ति चेत् तर्हि कीदृशोऽस्तीति तत्राह त्वयेति। त्वयोदितः प्रकाशितः। अयं भवो देहयोगलक्षणो जगतो हिताय ज्ञानलक्षणाय भवति, कथमिति तत्राह - यदेति ॥ २४ ॥

एतदेव विशिनष्टि - स त्वमिति। अमुष्य कुलस्य, यदूपपदस्य ॥ २५ ॥

---

1 - - 1 Ma omit

अद्येश! नो वसतयः खलु भूरिभागा[1] यस्सर्वदेव पितृभूतनृदेवमूर्तिः।
यत्पादशौचसलिलं त्रिजगत्पुनाति स त्वं जगद्गुरुरधोक्षज याः प्रविष्टः ॥ २६ ॥

कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीया द्भक्तप्रियादृत गिरस्सुहृदः कृतज्ञात्।
सर्वान्ददाति सुहृदो[2-] भजतोऽभिकामा नात्मानम प्युपचयापचयौ न यस्य ॥ २७ ॥

दिष्ट्या जनार्दन भवानिह नः प्रतीतो योगेश्वरैरपि दुरापगतिः स्सुरेशैः।
छिन्ध्याशु नस्सुतकलत्रधनामगेहदेहादिमोहरशनां[4] भवदीयमायाम् ॥ २८ ॥

श्रीशुक[5-] उवाच[-5]

इत्यर्चितस्संस्तुतश्च भक्तेन भगवान्हरिः।
अक्रूरं सस्मितं प्राह गीर्भिस्सम्मोहयन्निव ॥ २९ ॥

श्रीभगवान्[6-] उवाच[-6]

त्वं नो गुरुः पितृव्यश्च श्लाघ्यो बन्धुश्च नित्यदा।
वयं तु रक्ष्याः पोष्याश्च अनुकम्प्याः प्रजा हि वः ॥ ३० ॥

---

1 KTW भाग्या 2- -2 KTW हि भवान्य° 3 MIV °गी° 4 M.Ma °भि 5- -5 JM Ma. omit 6- -6 TW omit

श्रीध० अत एवम्भूतस्य तवागमनेन कृतार्थोऽस्मीत्याह श्लोकत्रायेण[1] - अद्येति। हे ईश! अद्य नो वसतयो गृहास्तपोवनादपि बहुपुण्याः। कुतः? या वसतीस्त्वं साक्षात्प्रविष्टः। कथम्भूतः? यस्य तव पादशौचसलिलमेव[2] गङ्गा त्रिजगत्पुनाति। यश्च त्वं पञ्चयज्ञदेवतामूर्तिः, स त्वं जगद्गुरुरिति ॥ २६ ॥

स्वमनोरथः परिपूर्णत इति तुष्यन्नाह- क इति। ऋतगिरः सत्यवाचः। त्वत्तोऽपरं शरणं कः[3] पण्डितः समीयाद्वृणीयात्। यतो भवान् भजतः सर्वानभितः कामांश्च ददात्यात्मानमपीति ॥ २७ ॥

विष्ठयेति। नोऽविवेकिनाम्। तत्रापीहं गृह एव॥ २८,२९ ॥

त्वमिति। वो युष्माकं प्रजाः पुत्रा हि वयमिति ॥ ३० ॥

---

1 J Va omit श्लोक° 2 J Va omit शौच 3 J Va omit पण्डितः

वीर० इत्थं भगवन्तं स्तुत्वा सम्प्रति तदागमनेनात्मतदनुबन्धिनां कृतार्थतामाविष्करोति - अद्येति। हे ईश! अधुना नोऽस्माकं वसतयः गुहाः भूरिभाग्याः बहुभाग्यवत्यः, तत्र हेतुं वदन् भगवन्तं वसतीश्च विशिनष्टि - हे अधोक्षज! जगद्गुरुस्त्वं याः वसतीः प्रविष्टः। कथम्भूतः? यो भवान् सर्वे देवा ब्रह्मरुद्रेन्द्राश्च पितरश्च भूतानि च नृदेवाश्च मूर्तिश्शरीरं यस्य तथाभूतः। "स आत्मा अङ्गान्यन्या देवताः" (तैत्तिः उ 1-5-1) इत्यादि श्रुत्यर्थोऽत्रऽनुसंहितः। यस्य च तव पादयोः शौचेन क्षालनेन पवित्रं सलिलं गङ्गात्मकं कर्तृ, त्रिजगत् त्रिलोकीं पुनाति। सर्वदेवपितृभूतनृदेवमूर्तिरिति देवादीनां शरीरत्वकथनेन पारतन्त्र्यमुक्तम् ॥ २६ ॥

अत एव "को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् एष ह्येवानन्दयाति" इति श्रुत्युक्तरीत्या काममोक्षप्रदः तदुपायभूतश्च त्वमेवेति वक्तुमुपायत्वोपयुक्तगुणैस्त्वामेव विशिंषन् तदन्यं शरणमिच्छुर्मूर्ख इत्याह - क इति। पण्डित इत्यस्य चेदिति शेषः। पण्डितश्चेत्को वा त्वत् त्वत्तोऽन्यं शरणं समीयात् ब्रूयात् समीहितसाधनत्वेन अध्यवस्येदित्यर्थः। योऽन्यः शरणं समीयात् स मूर्ख इति भावः । कथम्भूतात्? भक्तप्रियात् भक्तानां प्रिया यस्य, भक्तानां प्रियश्च तस्मात् "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः" (भ.गी. 7-17) इति त्वदुक्तेरिति भावः । तत्र बहुव्रीहिपक्षे भक्तानां प्रीतिविषयत्वोक्त्या तत्प्रतिपक्षिक्षपणपूर्वकं तत्सुखापादकत्वलाभा च्छरण्यत्वोपयुक्तगुणवत्त्वमभिप्रेतम्। तत्पुरुषपक्षे तु भक्तप्रीतिविषयतोक्त्या प्राप्यत्वोपयुक्तगुणवत्त्वम्। ऋता सत्या गीर्वाक् यस्य तस्मात् "पार्थ नैवेह नाऽमुत्र विनाशस्तस्य विद्यते" (भ.गी: 6-40) "अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन" इति सप्रतिज्ञं सत्यमेव ब्रुवत इत्यर्थः । अयमपि शरण्यत्वोपयुक्तगुणः, कृतज्ञात् कृतं यादृच्छिकप्रासङ्गिकानुषङ्गिकाद्यन्यतमं तत्कर्त्रीविज्ञातं, स्वतस्तु असुकृतमपि सुकृतत्वेन जानातीति तथा। तस्मात् रक्षणे व्याजमात्रापेक्षिणो न तु पुष्कलकारणापेक्षिण इति भावः। अनेन दयालुत्वं फलितम्। सुहृदः हितैकाचरणशीलात्, अनेन कंसादिशिक्षाप्यन्तत स्तद्धितार्थेवेति भावः। कुतः? यतो भवान् सुहृदः भक्तोपैककरणवर्णाश्रमोचितधर्मानुष्ठाननिष्ठस्य भजतो भक्तिं कुर्वतः पुरुषस्य अभिकामान् सर्वान् समीहितान् ददाति, कियदेतदभिकामान् ददातीति। यतो निरतिशयानन्दरूपम् अत एव निरतिशयपुरुषार्थरूपं चात्मानमपि ददाति। अनेन मोक्षप्रदत्वमुक्तं भवति। कथम्भूतमात्मानम्? यस्याऽऽत्मनस्स्वस्य उपचयापचयौ वृद्धिह्रासौ न भवतः, तम्। अनेन निर्विकारत्वं तत एव चिदचिद्वैलक्षण्यं च फलितम् ॥ २७ ॥

**अथैवम्भूतस्य दुर्दर्शस्य तस्य केवलं स्वमांसचक्षुर्विषयतापत्त्या तस्मिन् सौलभ्यं तथा स्वस्यातभ्यताभरूपमहानन्दप्राप्तिं च वदन् तन्मायानिवृत्तये तमेवोपायत्वेन प्रार्थयते - दिष्ट्येति।** हे जनार्दन ! सर्वान्तरात्मन् ! **सुरेशैः ब्रह्मद्धिभिर्योगीश्वरैस्सनकादिभिश्च** दुरापा दुष्प्रापा गन्तुमशक्या गतिः प्रकारो याथात्म्यमिति यावत्। सा यस्य स भवानिह मनुष्यलोके नोऽस्माकं केवलमज्ञानां प्रतीतः चाक्षुषसाक्षात्कारात्मकप्रतीतिविषयो जातः। दिष्ट्या अयं महानानन्दोऽस्माकमित्यर्थः। इहैत्यस्याऽस्मिन्[3] गृह एवेति वेत्यर्थः[4]। ननु महर्दानमेव किं बहुमन्यसे, न तु समीहितं याचसे इति चेदिदं याचे इत्यभिप्रायेणाह - छिन्धीति। नोऽस्माकं भवदीयमायाकार्यभूतां सुतादिषु मोह एव रशना पाशस्तामाशु छिन्धि। इदमेव मम प्रार्थनीयमित्यर्थः ॥ २८॥

**इतीति।** भक्तेनाक्रूरेणार्चितः स्तुतश्च हरिः सस्मितं स्मितेन सहितं यथा तथा, अक्रूरं प्राह । कथम्भूतः? वाग्भिरेव सम्मोहयन्निव। स्वयाथात्म्यविषयकमोहं जनयन्निव, इवशब्देनैवमपि न तस्य नित्ययुक्तस्य मोह इति सूच्यते ॥ २९ ॥

उक्तिमेवाह -**त्वमिति** सप्तभिः। त्वं नोऽस्माकं गुरुः हितकृत् पितृव्यः पितृभ्राता च। अनेन पूज्यत्वमुक्तम्। श्लाघ्यो बन्धुश्च न तु कंसादिवन्निन्द्यबन्धुः, नाप्युपेक्ष्यः। अपि तु प्रशस्यबन्धुः। अनेनान्योन्यप्रीतिविषयत्वमुक्तम्। त्वमेवंविधः, वयं तु रक्ष्यास्त्वयेति शेषः। गुरुत्वाद्धितोपदेशेनाहिताद्रक्ष्याः, पोष्याः पितृव्यत्वाद्वर्धितव्याः, अनुकम्प्याः मद्विषयकप्रीत्याश्रयत्वाहयनीयाः वो युष्माकं प्रजाः पुत्रा वयमित्यर्थः अतो न वयं पूज्याः,किन्तु त्वमेव इति भावः ॥ ३०॥

---

1 TW भागाः 2 TW omit त्रिजगत् 3 K ०त्यथाऽस्मि० 4 K वाऽर्थः

**विज०** हे अधोक्षज ! सर्वे देवादयो मूर्तयः प्रतिमा यस्य स तथा, जगद्गुरुः स त्वं या वसतीः प्रविष्टः, हे ईश। अथ ता वसतयो नोऽस्माकं गृहाः भूरिभागाः पूर्णभाग्याः अभवन् खलु। नैतच्चित्रमित्याह - यत्पादेति ॥ २६॥

"एकमेवाऽद्वितीयम्"(छान्दो. उ. 6-2-1) इति श्रुत्यर्थं गुरुमुखात् सम्यक् ज्ञातवानहं, त्वा मतः स्तौमीत्याशयेनाह क इति। भक्तप्रियात् ऋतगिर इति पदच्छेदः। भक्तप्रियाऽऽदृतगीश्चेति वा, तस्मात् भजतः सेवमानस्य सुहृदः फलापेक्षारहितस्य आत्मानमपि स्वात्मानमपि सायुज्यलक्षणं मोक्षमपि सारूप्यं वा। यस्योपचयापचयौ वृद्धिक्षयौ च न स्त इत्यनेन कृष्णस्य बाल्यवार्धकादिकं न स्वाभाविकमिति दर्शितम् ॥ २७ ॥

योगेश्वरादिभिरपि दुरापगतिः दुष्प्रापस्वरूपो भवान् नः प्रतीतः प्रतीतिविषयं गत इत्यतः इदं कर्तव्यमिति प्रार्थयते किं तदिति, तत्राह - छिन्धीति। भवदीयमायां भवदाज्ञाकरीं बन्धकशक्तिं छिन्धीत्यन्वयः । किंविधां? अत्राह सुतेति। मोहलक्षणां रशनां रज्जुम् ॥ २८ ॥

लोकविषयाभिर्गीर्भिः सम्मोहयन् तत्त्वज्ञानम् अन्यथाकुर्वन्निव, न त्वक्रूरस्येत्यन्वयः ॥ २९, ३० ॥

भवद्विधा भागवता[1] निषेव्या अर्हसत्तमाः।
श्रेयस्कामैर्नृभिर्नित्यं, देवास्स्वार्था न साधवः ॥ ३१ ॥

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥ ३२ ॥

स भवान् सुहृदां वै नः श्रेयान्[2] श्रेयश्चिकीर्षया[3]।
जिज्ञासार्थं पाण्डवानां गच्छस्व गजसाह्वयम्[3] ॥ ३३ ॥

पितर्युपरते बाला स्सह मात्रा[4] सुदुःखिताः।
आनीतास्स्वपुरं राज्ञा वसन्त इति शुश्रुम ॥ ३४ ॥

तेषु राजाऽम्बिकापुत्रो भ्रातृपुत्रेषु दीनधीः।
समो न वर्तते नूनं दुष्पुत्रवशगोऽन्धदृक् ॥ ३५ ॥

गच्छ जानीहि तद्वृत्तमधुना साध्वसाधु वा।
विज्ञाय[5] तद्विधास्यामो यथा शं सुहृदां भवेत् ॥ ३६ ॥

इत्यक्रूरं समादिश्य भगवान्हरिरीश्वरः।
सङ्कर्षणोद्धवाभ्यां वै तत स्स्वभवनं ययौ ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

---

1 G.J.M.Ma. महाभागा 2 M.Ma. किञ्चित् 3 - - 3 G.J. त्वं गजाह्व 4 K.T.W. ०त्राऽतिदुः 5. M.Ma. विचार्य

**श्रीध०** ननु नृभि र्देवाः सेव्या इति प्रसिद्धं, तत्राह - **भवदिति**। देवाः स्वार्थाः स्वकार्यसाधनपराः, साधवस्तु केवलं परानुग्रहपराः, परमार्थतस्तु साधव एव देवा इति त. एव सेव्या इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

तर्हि मृच्छिलादिमयाः[1] किं देवादयः सेव्याः[2], नैवेत्यत आह- **नहीति**। अम्मयानि तीर्थानि, मृन्मयाः शिलामयाश्च देवा न पुनन्तीति[3] न, अपि तु पुनन्त्येव। तथापि साधूनां तेषां च महदन्तरमित्याह - दर्शनादेव[5] ते पुनन्तीति ॥ ३२ ॥

"किञ्चिच्चिकीर्षयन्प्रागात्" (भाग 10-48-13) इति यदुक्तं तत्कार्यमादिशति - **स** इति। नः सुहृदां मध्ये भवान् श्रेष्ठोऽतः पाण्डवानां श्रेयश्चिकीर्षया गजसाह्वयं हस्तिनापुरं[7] गच्छस्व गच्छेति। यद्वा स्वेति पृथक् पदम्। हे स्व! आत्मीयेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

**पितरीति**। राज्ञा धृतराष्ट्रेण। वसन्ते निवसन्ति। शुश्रुम श्रुतवन्तो वयम्॥ ३४ ॥

**तेष्विति**। दृष्ट्वा ये[8] पुत्राः दुर्योधनादयः तद्वशेन गच्छतीति तथा। यतोऽन्धदृक् अन्धनेत्रः ॥ ३५- ३७॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

---

1 MIV omit किं 2 JVa omit सेव्याः 3 JVa भवन्तीति 4 JVa. भव° 5 JVa. omit दर्शनादेव 6 JVa. गजाह्वय 7- -7 JVa. omit 8 JVa add स्व०

**वीर०** न केवलमस्माकमेव यूयं पूज्याः, अपि तु सर्वेषामपीति सहेतुकमाह - **भवद्विधा** इति। भवादृशा भागवताः अत एव अर्हसत्तमाः, उत्कृष्टतमाः, अत एव आत्मविशुद्धिरूपश्रेयस्कामैस्सर्वैर्मानवैः नित्यं सन्निषेव्याः। ननु आत्मविशुद्धये नृभिः देवाः सन्निषेव्या इति प्रसिद्धं तत्राह -देवा इति। देवा इन्द्रादयः स्वार्थाः, स्वप्रयोजनपराः, न साधवः न ते परोपकारिणः। यूयं तु न स्वार्थाः किन्तु परोपकारिण एवेत्यर्थः। तस्माद्यूयमेव सन्निषेव्याः ॥ ३१ ॥

नन्वेवमपि श्रेयस्कामै र्गङ्गादिपुण्यसरितां मृच्छिलामयभगवत्प्रतिमानामेव निषेव्यता पावित्र्यावहत्वा दित्यत आह- **न हीति**। अम्मयानि जलमयानि गङ्गादीनि न तीर्थानि न भवद्विधा इव पावनकराणि, पुनन्तीत्यस्यापकर्षो वा। न तथा पुनन्तीत्यर्थः। तथा मृच्छिलामयाः देवाः भगवत्प्रतिमाश्च न, यथा भवद्विधाः पुनन्ति न तथा पुनन्ति। किन्तु प्रकारान्तरेण पुनन्तीत्यर्थः। अभिप्रेतं वैषम्यं विशदयति - ते इति। तानि च ते च ते, पुंशेष आर्षः। अम्मयानि देवाश्च, उरुकालेन स्नानपानपरिचर्यादिसहचरितेन दीर्घेण कालेन पुनन्तिः साधवो भवद्विधास्तु दर्शनादेव पुनन्ति। अत्र केचिदेवं व्याचक्षते - किं देवादयो न सेव्या इत्यत आह - न हीति। अम्मयानि तीर्थानि मृच्छिलामयाश्च देवा न भवन्तीति न, अपि तु भवन्त्येव, तथाऽपि साधूनां च तेषां च महदन्तरमित्याह - ते पुनन्तीति, तच्चिन्त्यम्। "देवा स्स्वार्था न साधवः" इत्यनेनैवासेव्यत्वस्योक्तत्वात् पुनरसेव्यत्वाशङ्कापरिहारयोरयुक्तत्वात्, सेव्यत्वापादकपवित्रत्वापादकत्वतदभावयोरेव संशयोदयात्। अत एव "ते पुनन्त्युरुकालेन" इति पवित्रतापादकत्वतारतम्योक्तिस्सङ्गच्छते। किञ्च अम्मयानां मृच्छिलामयानां चाऽतीर्थत्वाऽदेवत्वादिशङ्कायां हि "नन्वद्वयं प्रकृतमर्थं सूचयति" इति न्यायेन तीर्थत्वदेवत्वस्थिरीकरणोपपत्तिः। तदा ह्येवमाशङ्कनीयां- तर्हि किम् अम्मयानि न तीर्थान्येव, मृच्छिलामयाः किं न देवा एवेति। न च पूर्वग्रन्थादियं शङ्केदेति, अतो यथोक्त एवार्थः ॥ ३२ ॥

"किञ्चिच्चिकीर्षया[3] प्रागात्" (भ. गी. 10-48-13) इति यदुक्तं, तत्कार्यमादिशति - **स इति**। उक्तविधो भवा नोऽस्माकं ये सुहृदस्तेषां मध्ये ज्ञेयान्, अतो नः ज्ञेयः कर्तुमिच्छया पाण्डवानां जिज्ञासार्थं सुखदुःखविचारार्थं हास्तिनपुरं गच्छ ॥ ३३ ॥

पितरि पाण्डौ उपरते स्वर्गते सति बालाः, अत एव अतिदुःखिताः राज्ञा धृतराष्ट्रेण स्वपुरं प्रत्यानीताः तत्राऽधुना वसन्तीति शुश्रुम ॥ ३४ ॥

अम्बिकापुत्रो धृतराष्ट्रः राजा भ्रातृपुत्रेषु [5-]युधिष्ठिरादिषु[-5] विषयभूतेषु दीना कृपणा धीर्यस्य, तथाभूतः समो न वर्तते, नूनं निश्चितम्। तत्र हेतुः, दुष्पुत्रो दुर्योधनः तद्वशगः, तत्राऽपि[6] हेतुः अन्धदृक् अज्ञः ॥ ३५ ॥

अतस्त्वं गच्छ, साध्वसाधु वा तेषां पाण्डवानां वृत्तं वर्तनमवस्थानमिति यावत्। तज्जानीहि। तद्वृत्तं विज्ञाय ततस्सुहृदां पाण्डवानां शं सुखं यथा भवेत्तथा विधास्यामः करिष्यामः ॥ ३६ ॥

**इतीति।** समादिश्य आज्ञाप्य ततस्सङ्कर्षणोद्धवाभ्यां सह स्वगृहं गतवान् ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रिकायां
व्याख्यायां अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

---

1 T.W. ०द्ध 2 T.W. ताकरत्व 3 K. ०यन् 4 T. हस्तिना० 5- -5 T.W. omit 6 T.W. omit अपि

**विज०** अर्हाणां पूज्यानां मध्ये श्रेष्ठाः, देवाः स्वार्थाः स्वप्रयोजननिरताः, आत्मार्चकेभ्योऽर्चनादितृप्तिलक्षणं प्रायोजनं प्राप्य फलानां दातारः, न तु सर्वसमा इत्यर्थः । साधवः सर्वतुल्याः न स्वार्थपरायणाः परार्थैकनिष्ठा इत्यर्थः । "समा स्त्री वत्सरे धातु सर्वतुल्येषु वाच्यवत्" (वैज० को०) इति यादवः ॥ ३१ ॥

देवा अपि हि अम्मयादिशब्दवाच्या न भवन्ति, तत्र सन्निहितत्वात् तासां देवशब्दवाच्यत्व मिति भावेनाह - **न हीति।** अम्मयानि जलमयानि तीर्थशब्दवाच्यानि न भवन्ति। किन्तु तत्संहितानि दैवतानि। किमत इति तत्राह - त इति। ते उरुकालेन कृतया सेवया ॥ ३२ ॥

पाण्डवानां वृत्तिजिज्ञासार्थं 'किञ्चिच्छ्रेयश्चिकीर्षये' त्यस्य विवरणमेतत् । गजेन सम आह्वयो यस्य स तथा, हस्तिनापुरमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

शतशृङ्गगिरिनिवासिभिः ऋषिभिः आनीता राज्ञा सह वसन्ते वसन्ति, स्वमहिमानमाच्छाद्येति शेषः। इत्यत आत्मनेपदम्॥ ३४॥

तत्र हेतुर्हि अन्धदृगिति, तत्त्वज्ञानशून्यत्वात् ॥ ३५ ॥
तद्विधास्यामः तथा करिष्यामः, शं सुखम् ॥ ३६, ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावत्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥
(विजयध्वजरीत्या सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः)

# एकोनपञ्चाशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः)

### श्रीशुक उवाच

स गत्वा हास्तिनपुरं कौरवेन्द्रयशोङ्कितम्।
ददर्श तत्राऽऽम्बिकेयं सभीष्मं विदुरं पृथाम्॥ १ ॥

सहपुत्रं च बाह्लीकं भारद्वाजं सगौतमम्।
कर्णं सुयोधनं द्रौणिं पाण्डवान् सुहृदोऽपरान्॥ २ ॥

यथावदुपसङ्गम्य बन्धुभिर्गान्दिनीसुतः।
संपृष्टस्तैस्सुहृद्वार्तां स्वयं चाऽपृच्छदव्ययम्॥ ३ ॥

उवास कति चिन्मासान् राज्ञो वृत्तविवित्सया।
दुष्प्रजस्याल्पसारस्य खलच्छन्दानुवर्तिनः॥ ४ ॥

तेज ओजो बलं वीर्यं प्रश्रयादींश्च सद्गुणान्।
प्रजानुरागं पार्थेषु नसहद्भिश्चिकीर्षितम्॥ ५ ॥

---

1 MIV हं० 2 GJMMa पौ० 3- -3 MIV सपुत्रं चैव बाह्लीकं, TW सहपुत्रं बाह्लिकं च 4 TW दुर्यो० 5 MIV स 6 MIV दिदृक्षया 7 MMa. °ज्ञा०

### श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका।

ऊनपञ्चाशत्तमे तु गत्वाऽक्रूरो गजाह्वयम्। राज्ञः स्वभ्रातृपुत्रेषु बुद्ध्वा वैषम्यमागमत्॥

स इति। कौरवेन्द्राणां यशोभिरङ्कितम्। तत्कृतदेवब्राह्मणायतनादिभिरङ्कितम् इत्यर्थः॥ १ ॥

सहपुत्रमिति। बाह्लीकपुत्रः सोमदत्तः। भारद्वाजो द्रोणः। गौतमः कृपः॥ २ ॥

यथावदिति। अव्ययं कुशलम्॥ ३ ॥

उवासेति। दुष्प्रजस्याऽसत्पुत्रस्य अल्पसारस्य मन्दधृतेः खलानां कर्णादीनां छन्दमिच्छा मनुवर्तितुं शील यस्येति तथा तस्य॥ ४ ॥

तेज इति। तेजः प्रभावः[5]। ओजः शस्त्रादि नैपुण्यम्[6]। वीर्यं शौर्यम्। नसहद्भिःअसहमानैः। चिकीर्षितं इत उपरि कर्तुमिष्टम्[7]॥ ५ ॥

---

1 J.Va. पौ० 2 J.Va. omit अङ्कितम् 3 J.Va. omit इत्यर्थः 4 Ml.V.omit इति 5 Ml V. प्रतापः 6 J.Va. °णम् 7 Ml.V. तदुपरि

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथैवं प्रेरितोऽक्रूरः संविज्ञातसुहृद्वृत्तान्तः पुनरागतः[1] भगवतो न्यवेदयदित्याह- एकोनपञ्चाशत्तमेन सगत्वेत्यादिना। सोऽक्रूरः कौरवेन्द्राणां यशोभिः यशस्सूचकदेवब्राह्मणाद्यायतनादिभिः अङ्कितं[2] हास्तिनपुरं गत्वा तत्र भीष्मेण सहितमाम्बिकेयं धृतराष्ट्रं विदुरादींश्च ददर्शेति सम्बन्धः। तत्र पृथा कुन्ती, बाह्लीकपुत्रः सोमदत्तः, गौतमः कृपाचार्यः, भारद्वाजो द्रोणः द्रौणिरश्वत्थामा अपरान् सुहृदः ज्ञातीनित्यर्थः[3]॥ १,२ ॥

यथावदिति। गान्दिनीसुतोऽक्रूरः यथावत् यथायोग्यं बन्धुभिस्सह समुपेत्य तैः बन्धुभिः सम्पृष्टस्वकुशलः स्वयमपि सुहृदाम् अव्ययं कुशलं पप्रच्छ॥ ३ ॥

उवासेति। ततो राज्ञो धुतराष्ट्रस्य वृत्तपरिशीलनार्थं कतिचिन्मासानुषितवान्। कथम्भूतस्य? दुष्टाः प्रजाः पुत्रा यस्य। असिजभावः आर्षः। अल्पः मन्दः सारो धृतिर्यस्य, खलान् कर्णादीन् अनुवर्तितुं शीलमस्येति तथा॥ ४ ॥

तेज इत्यादि। पार्थेषु प्रजानाम् अनुरागं, तेषां तेजआदिगुणांश्चासहमानैः धार्तराष्ट्रैः दुर्योधनादिभिः यत्कृतं विषप्रदानादिक अपेशलं कठिनं दुष्टं कर्म, यच्च चिकीर्षितं तत्सर्वम् अस्मै अक्रूराय पृथा विदुरश्चाचख्यौ। तत्र तेजः पराभि भवनसामर्थ्यम्[4], ओजः परैरनभिभूतत्वम्, बलं शारीरं धानुषञ्च, वीर्यं शौर्यम्, तच्च युद्धे स्वगृह इव प्रवेशसामर्थ्यम्॥ ५॥

---

1 T.W °त्य तद्व० 2 T.W °ङ्कित० 3- -3 T.W. omit 4 T.W. °भव

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

योग्यानां भगवति हरौ स्वतएव भक्तिः प्रकाश्यत इति व्यनक्त्यस्मिन्नध्याये। तत्रादौ अक्रूरस्य धृतराष्ट्रादिदर्शनं वक्ति-स गत्वेति॥ १ ॥

बाह्लीकं कुरुवंशे कञ्चन वृद्धं राजानं शन्तनो र्भ्रातरं, भारद्वाजं भरद्वाजस्यापत्यं द्रोणं, सगौतमं सकृपम्॥ २॥

तैर्भीष्मादिभिः सुहृद्वार्तां प्रति सम्पृष्टः अभूदिति शेषः। अक्रूरः स्वयं च तेषामव्ययं अनामयं पृष्टवान्॥ ३॥

वृत्तविवित्सया स्वपुत्रेषु वृत्तं वर्तनं समं विषमञ्चेति ज्ञातुमिच्छया अल्पमन्याय्यं सारं यस्य स तथा तस्य। तत्र हेतुः खलच्छन्दानुवर्तिन इति। खलानां पुत्राणां छन्दमिच्छा मनुवर्तितुं शीलमस्यास्तीति तस्य॥ ४ ॥

तेजो ज्योतिर्लक्षणा दीप्तिः, ओजः पराभिभवलक्षणं सामर्थ्यं, बलं शारीरं रूपंवा, वीर्यं पराक्रमः॥ ५ ॥

कृतञ्च धार्तराष्ट्रैर्यत् गरदानाद्यपेशलम्[1]।
आचख्यौ सर्वमेतस्मै पृथा विदुर एव च॥ ६ ॥

पृथा तु भ्रातरं प्राप्तमक्रूरमुपसृत्य तम्।
उवाच जन्मनिलयं स्मरन्त्यश्रुकलेक्षणा[3]॥ ७ ॥

अपि स्मरन्ति नस्सौम्य पितरौ भ्रातरश्च मे[4]।
भगिन्यो[5] भ्रातृपुत्राश्च जामयस्सख्य एव च॥ ८ ॥

भ्रात्रेयो[6] भगवान् कृष्णः शरण्यो भक्तवत्सलः॥
पैतृष्वसेयान्[7] स्मरति रामश्चाम्बुरुहेक्षणः॥ ९ ॥

सपत्नमध्ये शोचन्तीं वृकाणां हरिणीमिव।
सन्त्वयिष्यति मां वाक्यैः पितृहीनांश्च बालकान्॥ १० ॥

---

1 M Ma °कौ० 2 G.J K.M I V °वा० 3 M Ma °णम् 4 K.M I V ये 5 M Ma. °न्यौ 6 M Ma °त्रौ० 7 J °स्रे०

श्रीध० कृतिमिति। गरस्य विषस्य दानादि। अपेशलमन्याय्यम्। तेज ओज इत्यादि सर्वं कथयामास॥ ६॥

तत्कथनात्पूर्वतरं[1] पृथाया वृत्तान्तमाह[2]- पृथेति। अश्रूणां कला लेशा ययोस्ते ईक्षणे नेत्रे[3] यस्यास्सा॥ ७॥

अपीति। अपि किम्। जामयः कुलस्त्रियः॥ ८॥

भ्रात्रेय इति। पैतृष्वसेयान्[4] मत्पुत्रान्[5] इत्याशयः[-5]॥ ९ ॥

सपत्नेति। शोचन्तीं मां वाक्यैः[6] सान्त्वयिष्यति किम्॥ १० ॥

---

1 J °तम 2 J Va. °तमा० 3 J Va. omit नेत्रे 4 J Va. °स्रे० 5--5 J Va. omit 6--6 M I V omit

वीर० तत्र[1] पृथाया विशेषमाह[-1]- पृथात्विति। तत्र पृथा तु तदाख्यानात्पूर्वमेव समागतं भ्रातरम् अक्रूरमुपसृत्य समुपेत्य जन्मनिलयं जननभवनं स्मरन्ती अश्रूणां कलाः लेशाः ययोस्ते ईक्षणे यस्यास्सा तमक्रूरमुवाच॥ ६,७ ॥

**उक्तिमेवाह-अपीति** षड्भिः। हे सौम्य! मे पित्रादयो नोऽस्मान् स्मरन्त्यपि स्मरन्ति किम्? तत्र जामयः कुलस्त्रियः॥ ८ ॥

**भ्रात्रेय** इति। देहसम्बन्धेनाप्यात्मनां रक्षकत्वस्थापनाय भ्रात्रेय इत्युक्तिः। भ्रातुः पुत्रो भ्रात्रेयः, शरणमुपायतामर्हतीति शरण्यः। अनेन देहसम्बन्धादिक मनादृत्य शरणागतरक्षाशीलत्वमुक्तम्। तदुपयुक्तगुणपूर्तिरुच्यते- भगवानिति। शरणगतानपि कदाचिद्दोषान्वेषणेन न रक्षेदित्याशङ्कां निराकुर्वन्याचष्टे भक्तवत्सल इति। भक्तेषु दोषादर्शीपितृष्वसुः पितृभगिन्या ममाऽपत्यरूपान् युधिष्ठिरादीन् स्मरति, अपीति शेषः अनुषङ्गो वा, स्मरति किमित्यर्थः। तथा अम्बुरुहे इव ईक्षणे यस्य स रामोऽपि स्मरति किम्? तदीक्षणप्रसारमात्रेणैव निस्तापा वयं भविष्याम इत्यभिप्रायेण तदीक्षणयोः अम्बुरुहोपमा॥ ९ ॥

**सपत्नमध्य** इति। वृकाणां मध्ये हरिणीमिव शत्रूणां मध्ये शोचन्तीं मां, पितृहीनान् बालकान् पुत्रांश्च वाक्यैः सान्त्वयिष्यति किम्॥ १० ॥

---

1- -1 TW omit

**विज०** जन्मनिलयं जन्मगृहम्॥ ६,७ ॥

जामयः भ्रातृवर्गभार्याः॥ ८ ॥

प्रितृष्वसुः पुत्रान् पाण्डवान्॥ ९ ॥

सपत्नमध्ये शत्रुमध्ये, वृकाणां मध्ये स्थिताम्॥ १० ॥

**कृष्ण कृष्ण महायोगिन् सर्वात्मन्[1] विश्वभावन[2]।**
**प्रपन्नां पाहि गोविन्द शिशुभिश्चावसीदतीम्॥ ११ ॥**

**नान्यत्तव पदाम्भोजात्पश्यामि[3] शरणं नृणाम्।**
**बिभ्यतां मृत्युसंसारादीश्वरस्यापवर्गिकात्॥ १२ ॥**

**नमः कृष्णाय शुद्धाय ब्रह्मणे परमात्मने।**
**योगेश्वराय योगाय, त्वामहं शरणं[4] गता॥ १३ ॥**

**श्रीशुक[5] उवाच[-5]**

**इत्यनुस्मृत्य स्वजनं कृष्णं च जगदीश्वरम्।**
**प्रारुदद्दुःखिता राजन् भक्ता[6] प्रपितामही॥ १४ ॥**

**समदुःखसुखोऽक्रूरो विदुरश्च महायशाः।**
**सान्त्वयामासतुः कुन्तीं तत्पुत्रोत्पत्तिहेतुभिः॥ १५ ॥**

---

1 G.J.K.M.I V विश्वात्मन् 2 M Ma पालक 3 M Ma °मः 4 M Ma °णाग० 5- -5 M Ma M I V omit 6 T W °तः

**श्रीध०** [1-]कुन्त्यपि अधिगतपरमार्था श्रीकृष्णं स्तौति [-1]**कृष्णेति**। हे महायोगिन्! महान् योग उपायो मायाख्योऽस्यास्तीति। हे विश्वात्मन्! सर्वान्तर्यामिन्! हे विश्वभावन! विश्वपालक! प्रपन्नां शरणागताम्। अवसीदतीं [2-]दुर्योधनादिकृतैरपकारैः[-2] क्लिश्यन्तीम्॥ ११ ॥

**नेति**। आपवर्गिकात् मोक्षप्रदात्॥ १२ ॥

**नम** इति। शुद्धाय धर्मात्मने। ब्रह्मणेऽपरिच्छिन्नाय परमात्मने जीवसखाय। योगेश्वराय अणिमादियुक्ताय। योगाय ज्ञानात्मने॥ १३ ॥

**इतीति**। प्रपितामही, प्रपितामहः पाण्डुः तस्य भार्या [3]प्रारुदत् [4]प्ररुरोद॥ १४ ॥

**समेति**। पृथया सह समं दुःखं सुखं च यस्य सः। तस्याः पुत्राणामुत्पत्तिहेतुभिः जनकैः धर्मानिलेन्द्रादिभिः, तत्कथनैरित्यर्थः॥ १५ ॥

---

1--1 J Va omit 2--2 J Va omit 3 J Va omit प्रारुदत् 4 J Va omit प्र

**वीर०** एवमक्रूरं प्रति परोक्षमुक्त्वा अथ सर्वान्तरात्मानं भगवन्तं बुद्ध्या सन्निधाप्य कार्पण्यावेदनपूर्वक मात्मात्मीयरक्षां प्रार्थयते- **कृष्ण कृष्णेति**। हे महायोगिन्! सर्वज्ञ! हे सर्वान्तरात्मन्! विश्वं भावयति [1-]स्वभक्तजनं[-1] सुखयुक्तं करोतीति तथा। शिशुभिः पुत्रैस्सह अवसीदतीं क्लिश्यन्तीम्, अधुना प्रपन्नां शरणागतां च मां पाहि॥ ११ ॥

ननु ब्रह्मरुद्रादिषु सत्सु किं मामेव शरणं गच्छसीत्यत्राह- **नान्यदिति**। मृत्युरूपात्संसाराद्बिभ्यतां ब्रह्मादीनामपि अपवर्गप्रदात् ईश्वरस्य तव पदाम्भोजात् अन्यत् नृणां शरणम् इष्टसाधनं न पश्यामः। ब्रह्मादीनामपि प्रपन्नतुल्ययोगक्षेमत्वात् न प्रपत्तव्यतेति भावः॥ १२ ॥

प्रपत्तिमपि यथावत् कर्तुमशक्नुवत्याः मम भगवत्प्रसादी अञ्जलिरेवेत्यभिप्रायेण प्रणमति-**नम** इति। शुद्धाय रागद्वेषादिरहिताय किञ्चित् स्वानुकूल्यमात्रापेक्षायेति यावत्, अञ्जलिरेव तं प्रसादयितुमलमिति भावः। ब्रह्मणे स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयबृहते। अनेन परिपूर्णस्य नास्माभिः विधेयमन्यदपेक्षितमित्यभिप्रेतम्। परमात्मने अन्तः [3-]प्रविश्य प्रशासनेन भर्त्रे, त्वत्प्रशासनानुरूपमेव अस्मत्प्रवृत्तिरित्यभिप्रेतम्। योगेश्वराय तत्तदधिकार्यनुरूपमनेकधावस्थितन्यासात्मकयोगनिर्वाहकाय योगाय युज्यते सर्वात्मभिरिति योगः तस्मै, निरुपाधिकसर्वविधबन्धवे एवम्भूताय कृष्णाय स्वापिवरीसंखैतेव नमः. त्वाम उक्तविधम अहं कृपणा शरणं गता शरणागतशब्दभागस्मीति भावः॥ १३ ॥

**इतीति**। इदं श्रीमच्छुकवचनम्। हे राजन्। भवतां प्रपितामहः पाण्डुः तस्य स्त्री कुन्ती इति इत्थं कृष्णं स्वजनं चानुस्मृत्य दुःखिता सती प्रारुदत् रुरोद॥ १४ ॥

तदा समं सुखं दुःखं च यस्य सः, कृन्त्या सहेति शेषः। यद्वा बन्धुजनसुखदुःखदर्शनजमनोविकाररहितः ज्ञाननिष्ठत्वात्। अक्रूरो विदुरश्च तस्याः पुत्राणामुत्पत्तिहेतुभिः जनकैः धर्मानिलेन्द्रादिभिः, तत्कथनैरित्यर्थः। सत्पुत्रेति पाठान्तरम्। तत्र सद्भिः धर्मानुवर्तिभिः पुत्रैः तदुत्पत्तिहेतुभिश्च पूर्वोक्तैः कुन्तीं सान्त्वयामासतुः, धर्मानुवर्तित्वात्, भगवदभिमानविषयत्वाच्च न तेषा मशुभमस्ती त्येवंविधैः उपदेशैरित्यर्थः॥ १५ ॥

---

1- -1 K. omits 2 T.W. प्रपतृ 3- -3 T.W. त्मकाय 4 T.W. उपारुदत्

**विज०** घुमणेरुदयादुत्फुल्लया नलिन्या यथा तथा अक्रूरस्य दर्शनादुद्रेचितया भक्त्या विवशा विशेषप्रबुद्धभगवद्गुणानित्यं तत्परा कुन्ती मनस्याऽऽविर्भूतं कृष्णं स्तौति- **कृष्णेति**। महानपरिच्छिन्नो योगो ज्ञानमुपायो वाऽस्तीति तत्सम्बुद्धिः। "महत्पूज्यविशालयोः"। (वैज.को 6-5-63) इति यादवः। सर्वमाप्नोति धारयतीति सर्वात्मा हे सर्वात्मन्! गोविन्द गवामिन्द्र!॥ ११॥

मृत्युवत् भयहेतोः संसारात् आपवर्गिकात्अपवर्गाख्यक्रियासाध्यफलप्रामेः साधकात् तदापादकाद्वा। "अपवर्गः क्रियासाध्यफलाप्तौ त्यागमोक्षयोः" इति वैजयन्ती॥ १२ ॥

'कृष्णं सीसाद्यलोहेषु' इत्यतः कृष्णशब्दस्य सीसाद्येऽपि वृत्ते स्तन्निरासार्थं शुद्धायेति। किं तत् शुद्ध मत्राह- ब्रह्मण इति। अस्याप्यनेकार्थवृत्तेः न निर्णय इत्यतः परमात्मन इति। दुर्भगाशरीरं वसतो होः कर्दम इव शुद्धत्वं कथं युज्यत इति तत्राह - योगेश्वरायेति। योगैश्वर्याद्धटत इत्यर्थः। ननु तर्हि योगैश्वर्यनिमित्तं शुद्धत्वं चेत् स्वतो नास्तीत्यायात मित्यत उक्तं योगायेति ज्ञानसंहताय ज्ञानात्मत्वेनाप्राकृतत्वा त्स्वाभाविकमित्यर्थः। ततः किमत्राह-त्वामिति॥ १३ ॥

इति, एवमादिगुणपूर्णम्॥ १४ ॥

तस्याः पुत्राणां युधिष्ठिरादीनां उत्पत्तेः हेतुभिः दुर्वाससोऽनुग्रहेण धर्मानिलेन्द्रसंयोगादिलक्षणैः॥ १५ ॥

---

1- -1 Ma. ग्रह धर्मभगवत्

**यास्यन् राजानमभ्येत्य विषमं पुत्रलालसम्।**
**अवद त्सुहृदां मध्ये बन्धुभि स्सौहृदोदितम्॥ १६ ॥**

**अक्रूर उवाच**

**भो भो वैचित्रवीर्य त्वं कुरूणां कीर्तिवर्धन।**
**भ्रातर्युपरते पाण्डौ अधुनाऽऽसनमास्थितः॥ १७ ॥**

धर्मेण पालयन्नुर्वीं प्रजाश्शीलेन रञ्जयन्।
वर्तमानः समः[4] स्वेषु श्रेयः कीर्तिं मवाप्स्यसि॥ १८ ॥

अन्यथा त्वाऽऽचरन् लोके गर्हितो यास्यसे तमः।
तस्मात्समत्वं[5] वर्तस्व पाण्डवेष्वात्मजेषु च॥ १९ ॥

नेह चात्यन्तसंवासः कस्यचि[6] त्केनचित्सह।
[7-]राजन् स्वेनापि[-7] देहेन, किमु जायात्मजादिभिः[8]॥ २० ॥

---

1 MMa प्रा० 2- -2 MMa omit 3--3 MMa बन्धुना सम० 4 MlV सम 5 MMa °स्त्व 6 GJ कर्हि० 7- -7 MlV राजन्नपि स्व 8 KTW °षु

**श्रीध० यास्यन्निति**। बन्धुभिः रामकृष्णादिभिः सौहृदेनोदितमुक्तं यत् तदवदत्[1]॥ १६ ॥

**भो भो**। इति। भ्रातर्युपरत इति। पाण्डोः पुत्रेषु सत्सु राजासनं त्वमास्थित इति कटाक्षः॥ १७ ॥

भवतु, तथाप्येवं वर्तमानः श्रेयोऽवाप्स्यसीत्याह **धर्मेणेति**॥ १८ ॥

**अन्यथेति**। तमो नरकं मिह[2] च महद्दुःखमिति भावः॥ १९ ॥

नन्वात्मजानात्मजादिषु कथं समत्वं स्यात्तत्राह-**नेति**। अत्यन्तं नित्यं संवासः सम्यक् अवस्थितिः[3]॥ २० ॥

---

1 J Va add इति 2 J Va मिहैव 3 J Va omit अव

**वीर० यास्यन्निति**। यास्यन् गमिष्यन्, मधुरां प्रतीति शेषः। पुत्रलालसं पुत्रेष्वासक्तबुद्धिम् अत एव विषमं भ्रातृपुत्रेष्विति शेषः। विषमबुद्धिं राजानं धृतराष्ट्रं अभ्येत्य बन्धुभिः कृष्णादिभिः यत् सौहृदेन सौहार्देन कथितम्, तत् सुहृदां मध्ये अवोचत्॥ १६ ॥

उक्तिमेवाह- **भो भो** इति नवभिः। हे वैचित्रवीर्य! हे कुरूणां कीर्तिवर्धन! एवंविधस्य तव इयं विषमा बुद्धिः अनुचितेति सम्बोधनद्वयाभिप्रायः। भ्रातरि पाण्डौ उपरते स्वर्गते सति अधुना त्वं नृपासनम् अधिष्ठितवान्। इतोऽप्यनुचितं नेति भावः॥ १७ ॥

तदाह - **धर्मेणेति**। शीलेन अवैषम्यादिस्वभावेन रञ्जयन् स्वस्मिन् तासामनुरागं जनयन् स्वेष्वात्मीयेषु समो वर्तमानः अविषमस्सन् **श्रेयः कीर्तिं च प्राप्स्यसि**॥ १८ ॥

अन्यथा वैषम्यमाचरन् जनैर्निन्दितः, ततः तमो नरकं यास्यसि प्राप्स्यसि, तस्मात् पाण्डवेषु [1-]युधिष्ठिरादिषु[-1] आत्मजेषु च विषये समत्वेन वर्तस्व॥ १९ ॥

ननु अनपायिष्वात्मजेषु यावत्स्वार्थमनुवर्तमानेषु भ्रातृपुत्रादिषु च कथं साम्यं स्यादित्यत्राह- **नेहेति**। इह लोके कस्यचित् केनचित् साकं अत्यन्तसंवासः नित्यं सम्यक् स्थितिः नास्ति, संयोगवियोगयोः कर्ममूलत्वेन यावत्कर्मैव तावित्यर्थः। तदेव कैमुत्न्यायेनाह- हे राजन्! धृतराष्ट्र! स्वेन स्वकीयेन देहेन सहाऽपि नात्यन्तसंवासः, भार्यापुत्रादिभिस्सह अत्यन्तसंवासो नास्तीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः॥ २० ॥

---

1--1 TW omit

**विज०** यास्यन् गन्तुमिच्छन् पुत्रलालसं पुत्रस्नेहकातरं बन्धुभिस्सहितं सौहृदोदितं सुहृद्भावेन कथितम् ॥ १६-१८॥

तमोऽघं दुःखमित्यर्थः, पुत्रनाशेनेति शेषः। "तमो राहुस्तमोऽघं च" इति च। "दुःखैनोव्यसनेष्वघम्"इति च॥ १९ ॥

सर्वस्यानित्यत्वात् क्वचित् कस्मिंश्चिदपि विशेषस्नेहो न कार्यः, योग्यतामन्तरेणेति भावेनाह- **नेहेति**। इह लोके कस्यचित् केनचित्सह अत्यन्तसंवासो नास्त्येव जायात्मजादिभिस्सह संवासनिदर्शनात्, किं विशेष्य निषिध्यते इत्यत्र कैमुत्यमाह स्वेनापीति॥ २० ॥

**एकः प्रसूयते जन्तु रेक एव प्रलीयते।**
**एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृत मेक एव च दुष्कृतम्॥ २१ ॥**

**अधर्मोपचितं वित्तं हरन्त्यन्येऽल्पमेधसः।**
**सम्भोजनीयापदेशैः जलानीव जलौकसः॥ २२ ॥**

**पुष्णाति या नधर्मेण स्वबुद्धया तमपण्डितम्।**
**तेऽकृतार्थं प्रहिण्वन्ति प्राणा राय स्सुतादयः॥ २३ ॥**

**स्वयं किल्बिषमादाय तैस्त्यक्तोऽनर्थकोविदः।**
**असिद्धार्थो विशत्यन्धं स्वधर्मविमुख स्तमः॥ २४ ॥**

**तस्माल्लोकमिमं राजन् स्वप्नमायामनोरथम्।**
**नैश्चयाऽऽसयम्याऽऽत्मनाऽऽत्मानं समदृशान्तो भव प्रभो॥ २५ ॥**

1 T W °मी० 2 M Ma चेतसः 3--3 M Ma. अन्तेऽकृतार्था हिष्वन्ति 4 G.J M Ma नार्थ० 5--5 M.Ma सम्भजन्नात्म०

**श्रीध०** तत्र तावत् उत्पत्तिमरणयोः सुखदुःखयोश्च केनापि साहित्यं नास्तीत्याह- **एक** इति॥ २१ ॥

किञ्च यदा च सह संवसन्ति[1] तदापि क्लेशोपार्जितवित्तापहारितया पुत्रा नाम शत्रव एव ज्ञेया इत्याह- **अधर्मेति।** सम्भोजनीयाः पोष्याः। पुत्रादय इति व्यपदेशैरल्पमेधसो मूढस्य वित्तं हरन्ति। जलौकसो मत्स्यस्य जीवनभूतानि जलानि यथा तत्पुत्रा हरन्ति तद्वदिति भावः[2]॥ २२ ॥

किञ्च यानेवं पुष्णाति ते धनमादाय मृता जीवन्तोऽपि वा तं परित्यजन्तीत्याह- **पुष्णातीति।** स्वबुद्ध्या स्वीया इत्यभिमानेन, रायोऽर्थाः, अकृतार्थमप्राप्तभोगम्॥ २३ ॥

स पुनः पापैकपाथेयो नरकं विशतीत्याह- **स्वयमिति।** असिद्धार्थोऽपूर्णमनोरथः॥ २४ ॥

**तस्मादिति।** स्वप्नश्च माया च मनोरथश्च तत् तेन तुल्यम्। आयम्य नियम्य शान्तस्सन् समो भवेति॥ २५॥

1 M I V omit स 2 J Va omit भावः

**वीर०** एतदेव निदर्शयति- जन्तुः शरीरी एक एव प्रसूयते, न तु जायात्मजादिभिस्सहेति भावः। तथा एक एव प्रलीयते, नहि म्रियमाणेन सह तज्जायादयो म्रियन्त इति भावः। सुकृतदुष्कृतशब्दौ तत्फलभूतस्वदैहिकसुखदुःखपरौ, न तद्भोगेऽपि केनचित् साहित्यमिति भावः॥ २१ ॥

किञ्च यदा च सह संवसन्ति, तदा क्लेशोपार्जितवित्तापहारितया पुत्रा नाम शत्रव एव ज्ञेया इत्याह- **अधर्मोपचितमिति।** सम्भोजनीयाः पोष्याःपुत्रादय इति व्यपदेशैः अल्पमेधसः मूढस्य अधर्मेण आर्जितं वित्तं हरन्ति, यथा मत्स्यस्य[1] जलौकसो जीवनभूतानि जलानि तत्पुत्रा हरन्ति, तद्वत्॥ २२ ॥

किञ्च, पुष्णातीति। स्वबुद्ध्या आत्मात्मीयबुद्ध्या यो यान् पुष्णाति, ते प्राणाः रायो धनानि सुतादयः आदिशब्दग्राह्या भार्यादयः, प्राणशब्दः शरीरोपलक्षकः, तं पुष्णन्तं अकृतार्थं अप्राप्तभोगं कामान् अभुक्त्वैव मृतं प्रहिण्वन्ति त्यजन्ति॥ २३॥

स्वयं तु अनर्थकोविदः स्वानर्थेष्वेव कुशलः न तु स्वहित इति भावः। तैः प्राणादिभिः त्यक्तः किल्बिषं तत्पोषणार्थं कृतं पापमादाय असिद्धार्थः अपरिपूर्णमनोरथः स्वधर्मविमुखः, हेतुगर्भमिदम्। तत्चात् अन्धं तमः अन्धतामिस्राख्यं नरकं प्रविशति॥ २४ ॥

उपदेशमुपसंहरति- **तस्मादिति**। हे राजन्! तस्मात् तत्त्वस्थितैर्तैवंविधत्वात् इमं देहदनुबन्ध्यादिकं सर्वं लोकं स्वप्नमायामनोरथम् आश्चर्यमनोरथमिव अनित्यं वीक्ष्य ज्ञात्वा आत्मना बुद्ध्या आत्मानम् आयम्य नियम्य हे प्रभो! समः सर्वत्र समबुद्धिः सन् शान्तः रागद्वेषादिविनिर्मुक्तो भव॥ २५ ॥

---

1 K omits मत्स्यस्य 2 TW omit वि

**विज०** इतोऽपि वैषम्यबुद्धिः न कार्येत्याह- एक इति॥ २१ ॥

अन्ये अल्पचेतसः दुर्बुद्धेः अधर्मेण उपचितं आर्जितं हरन्ति। सम्भोजनीयापदेशैः सम्भोजनीयाः सहभोजनयोग्याः बन्धवः अपदेशैः कपटवचनैः ममैतेऽपेक्षणीया इति मिथ्याहेतुभिरित्यर्थः। जलानि हरन्तो जलसम्बन्धितया जलौकसः प्राणिनो यथा हरन्ति। यद्वा, जलौकसो यादोगणस्य विद्यमानानि जलानि यथाऽन्ये हरन्ति॥ २२ ॥

यः स्वबुद्ध्या ममत्वभ्रान्तबुद्ध्या अधर्मेणान्यायेन यान् पुष्णाति स्वत्वेनाभिमतास्ते प्राणादयस्तु अन्ते मरणसमये तमपण्डितं अङ्गं हिन्वन्ति त्यजन्ति। "अग्निं वागप्येति वातं प्राणः" इति श्रुतेः। कीदृशाः? अकृतार्थाः अपूर्णस्वप्रयोजनाः यथा यो ऽधर्मेण यान् स्वीयबुद्धया पुष्णाति ते प्राणादयः तमपण्डितं हिन्वन्तीति, तं च मरणं बिदुरिति॥ २३ ॥

पुनः स्वयं किं करोतीति तत्राह- स्वयमिति। नाऽर्थकोविदः स्वप्रयोजनकुशलो न भवति॥ २४ ॥

किमन्येन बहूपन्यासेन, प्रकृते किमागतमिति तत्राह- **तस्मादिति**। लोकं शरीरं स्वप्नेति लुप्तोपमा। स्वप्नवत् मायावत् इन्द्रजालवत् मनोराज्यविजृम्भितव दन्यत्र स्वनिमित्तं स्वप्नस्य स्वाधीनत्वप्रतीतेः तदर्थं मायामनोरथमित्युक्तम्। आत्मना मनसा आत्मानं परमात्मानं भजन् शान्तो भगवदेकनिष्ठः स्वपरबुद्धिं विहायाऽऽत्मजेषु पाण्डुपुत्रेषु च च समो भवेत्यन्वयः॥ २५॥

## धृतराष्ट्र उवाच

**[1]यथा वदति कल्याणीं वाचं दानपते भवान्।**
**[2]तथाऽनया न तृप्यामि मर्त्यः प्राप्य यथाऽमृतम्॥ २६ ॥**

**तथाऽपि सूनृता सौम्य हृदि न स्थीयते चले।**
**पुत्रानुरागविषमे विद्युत्सौदामनी यथा॥ २७ ॥**

**ईश्वरस्य विधिं को नु विधुनोत्यन्यथा पुमान्।**
**भूमे र्भारावताराय योऽवतीर्णो यदोः कुले॥ २८**

**यो दुर्विमर्शपथया निजमायथेदं सृष्ट्वा गुणान्विभजते तदनु[3] प्रविष्टः।**
**तस्मै नमो दुरवबोधविहारतन्त्र संसारचक्रगतये परमेश्वराय॥ २९ ॥**

## श्रीशुक उवाच

**इत्यभिप्रेत्य नृपते रभिप्रायं स यादवः[4]।**
**सुहृद्भिस्समनुज्ञातः पुनर्यदुपुरीमगात्॥ ३० ॥**

**शशंस रामकृष्णाभ्यां धृतराष्ट्रविचेष्टितम्।**
**पाण्डवान्प्रति कौरव्य! यदर्थं प्रेषित स्स्वयम्॥ ३१ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
एकोनपञ्चाशोऽध्यायः॥ ४९ ॥

1 KTW यदा 2 KTW तदा 3 K तनुषु 4 MIV माधवः

**श्रीध० यथेति।** हे दानपते! अक्रूर! न तृप्याम्यलमिति न मन्ये॥ २६ ॥

**तथेति।** सूनृता प्रिया[1] वाक् चलेऽस्थिरे हृदि न स्थीयते न तिष्ठतीत्यर्थः। सुदामा नाम[2] पर्वतः तत्र भवा विद्युदिव। तस्मिन् स्फटिकशिलामये सहसैवातिस्फुरिता विद्यु द्यथा लीयते तद्वदित्यर्थः । यद्वा सुदामा माला तस्या इयं सौदामनी। मालाकारेत्यर्थः॥ २७ ॥

नन्वेवं जानतोऽपि कथमयं महामोह[3] इति चेत् तत्राऽऽह- **ईश्वरस्येति।** विधिं विधानम्। मायामिति यावत्। 5-कः[4] पुमान् विधुनोति, न कोऽपीत्यर्थः[5]॥ २८ ॥

अतस्तमेव नमस्यति- **य इति।** दुर्विमर्शपृथया अवितर्क्यमार्ग्या। गुणान् कर्माणि तत्फलानि च विभजते[6] विविच्य ददाति। दुरवबोधो यो विहारः[7] क्रीडा स एव तन्त्रं प्रधानं मुख्यकारणं[8] यस्य संसारचक्रस्य, अत एव तस्य गतिः यस्मात् तस्मै नम इति॥ २९ ॥

**इतीति।** अभिप्रेत्य ज्ञात्वा॥ ३०, ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्याया एकोनपञ्चाशोऽध्यायः॥ ४९ ॥

1 MIV °त्या० 2 JVa omit नाम 3 JVa. omit महा० 4 JVa अत आह 5- -5 JVa. omit 6 JVa add इति 7 MIV omit °त्र 8 JVa. मुख्य

**वीर०** इत्थं प्रतिबोधितः प्राह धृतराष्ट्रः- **यदेति**। हे दानपते! दानाधिप! अत्युदार! मूढमप्येवं ज्ञानप्रदानेन सञ्जिजीवयिषोस्तवौदार्य मनितरसाधारणमिति सम्बोधनाभिप्रायः। यदा भवान् कल्याणीं कल्याणावहां वाचं वदति, तदा अनया वाचा न तृप्यामि न तस्यामलम्बुद्धिं करोमीत्यर्थः। इदानीं न तृप्याम्येव। शृण्वन्नपि न तृप्यामीत्यभिप्रायेण यदातदाशब्दयोः प्रयोगः। यथा मर्त्यो मरणशीलः अमृतं प्राप्य अशित्वा न तृप्यति, तद्वत् निरतिशयहिता त्वद्वागिति भावः॥ २६॥

**तथापीति**। हे सौम्य! भवतो वाक् सूनृता मधुरा हिता च। तथापि तद्वचः हृदि न स्थीयते न प्रतिष्ठितं भवति। तत्र हेतुं वदन् हृद्विशिनष्टि- पुन्नानुरागेण विषमे यथा सौदामनी विद्युत् तद्वत्। सुदामा पर्वतः तेनैकदिक् सौदामनी तत्र भवेति यावत्। सुदाम्नि हि स्फटिकशिलामये स्फुरिता तटित् तदैव लीयते, तद्वदित्यर्थः। यद्वा सुदामा [1]अलातमाला, तन्मयी सौदामनी॥ २७ ॥

ननु एवं जानतोऽपि कथमयं मोह इत्यत आह- **ईश्वरस्येति**। को वा पुमान् ईश्वरस्य विधिं चिकीर्षां अन्यथा विदधाति अन्यथा करोति? कोऽसावीश्वर इत्यत आह- भूमेरिति। यो यदोः कुले भूमेः भारस्य मत्पुत्रतदनुबन्धिरूपस्य अवताराय अवतीर्णः, मत्पुत्रसञ्जिहीर्षात्मकभगवच्चिकीर्षानुगुणमेव तन्मायोन्मोहितदुर्मनीषा प्रवर्तते इति भावः॥ २८ ॥

युक्तं चैत द्रुवबोधमायत्वा त्सर्वनियन्तृत्वाच्चे त्यभिप्रयन् केवलं तमेवेश्वरं प्रणमति-**य** इति। यः ईश्वरः दुर्विमर्शपथया इतरैः ज्ञातुमशक्यप्रकारया स्वप्रकृत्या इदं ब्रह्मादितनुजालं सृष्ट्वा तनुषु चतुर्मुखादितनुषु प्रविष्टः तत्तदधिष्ठातृजीवान्तरातमतया प्रविष्टः "तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत्" इतिवत्। स्थित्यर्थोऽत्र अनुप्रवेश उक्तः, गुणान् शब्दादिविषयान् बिभजते, ब्रह्मादिभ्य इति शेषः। प्रतिनियतान् शब्दादीन् तेभ्यो विभज्य प्रयच्छतीत्यर्थः। अन्यैर्दुरवबोधः ईश्वरस्य विहारः क्रीडा तादृशविहारतन्त्रात्मिका[2] संसारचक्रगतिः यस्मात् तस्मै सर्वोत्कृष्टाय ईश्वराय नमः॥ २९ ॥

**इतीति**। स यादवोऽक्रूरः नृपतेः धृतराष्ट्रस्य अभिप्रायम् अभिप्रेत्य ज्ञात्वा सुहृद्भिः पाण्डवादिभिः सम्यगनुज्ञातः पुनः मथुरां आजगाम॥ ३० ॥

**शशंसेति**। [3]ततो हे कौरव्य! पाण्डवान् प्रति यत् धृतराष्ट्रस्य विचेष्टितं कृतं विषप्रदानादि, यस्य चेष्टितस्य विज्ञानार्थमेव स्वयं भगवता प्रेषितः, तत् सर्वं कृष्णरामाभ्यां शशंस कथयामास॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकोनपञ्चाशोऽध्यायः॥ ४९ ॥

1 T.W. अलातः 2 K. omits विहार 3 K. omits ततो

विज० अनया वाचा न तृप्यामि अतम्बुद्धिं न प्राप्नोमि। अमृतं देवाचम्। "अमृतं च्योम्नि देवाचे यज्ञाशेषे रसायने। अयाचिते जले ह्यग्नौ मोक्षणे हेम्नि गोरसे॥ क्लीबे तु ना त्वमरस्त्रीगुडूच्यामघभिक्षयोः इति च॥ २६ ॥

सूनृता वाक् सुदाम्नः पर्वताद्वचज्यमाना सौदामनी विद्युत् विद्युल्लता। यद्वा विशेषेण द्यौति प्रकाशते विद्युत् तादृशी सौदामनी क्षणप्रभा यथा अस्थिरा तथेति। विधिमाज्ञां विधुनोति अन्यथा करोति, अनेकार्थत्वात् धातूनाम्। दुर्विमर्शपथया दुर्विज्ञेयमार्गया दुरवबोधः दुर्ज्ञेयः विहारः सृष्ट्यादिव्यापारलक्षणा क्रिया, तस्य तन्त्राधीनसंसारचक्रगतिः संसारवृत्तिः प्रकारो यस्य स तथा तस्मै इत्यभिप्रेत्य इति ज्ञात्वा॥ २७-३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
एकोनपञ्चाशोऽध्यायः॥ ४९ ॥

(श्रीविजयध्वजरीत्या अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः)

# पञ्चाशोऽध्यायः

## उत्तरार्धम्

(विजयध्वजरीत्या एकोन पञ्चाशोऽध्यायः)

-: जरासन्धयुद्ध यवनागमनादिकथा :-

### श्रीशुक उवाच

[1-] अस्तिः प्राप्तिश्च [-1] कंसस्य महिष्यौ भरतर्षभ!
[2] हते भर्तरि दुःखार्ते ईयतुः [3] स्वपितु [4] र्गृहम् ॥ १ ॥

पित्रे मगधराजाय जरासन्धाय दुःखिते।
वेदयाञ्चक्रतु स्सर्वमात्मवैधव्यकारणम् ॥ २ ॥

स तदप्रियमाकर्ण्य शोकामर्षयुतो [6] नृपः।
अयादवीं [7] महीं कर्तुं चक्रे परममुद्यमम् ॥ ३ ॥

अक्षौहिणीभि [8] र्विंशत्या तिसृभिश्चाऽपि [9] संवृतः।
यदुराजधानीं [10] मधुरां न्यरुणत्सर्वतो दिशम् ॥ ४ ॥

निरीक्ष्य तद्बलं कृष्ण उद्वेल मिव सागरम्।
स्वपुरं तेन संरुद्धं स्वजनञ्च भयाकुलम् ॥ ५ ॥

[11-] चिन्तयामास भगवान् ह [-11] रिः कारण मानुषः।
तद्देशकालानुगुणं स्वावतारप्रयोजनम् ॥ ६ ॥

1- -1 B,G,J. अस्तिः प्राप्तिश्च; M,Ma. अस्तिप्राप्तीति. 2 B.G.J. मृते 3 B.G.J.K.M.I.V. स्म 4 B.G.J.K.M.Ma. ०हान् 5 M.Ma ०रूप्य 6 B.G.J.M.I.V. नृप ! 7 B.G.J.M.Ma. ०र्वीं 8 M.Ma. ०क्षिः 9 W. युतः 10. B.G.J.M.Ma. ०षु० 11 - -11 W. स हरिः कार्य

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

★ दशमस्कन्धपूर्वार्धभावार्थस्य प्रदीपिका। यस्येयं मुखतो भाति नाऽस्ति तस्याऽऽन्तरं तमः॥

ततः पश्चाशत्तमे तु जरासन्धमयादिव। कारयित्वाऽम्बुधौ दुर्गं तं निनाय निजं जनम्।

कपाटान् कपटैरेव[1] हत्वा दैत्यानयत्नतः। अजयत्त[2] जरासन्धं धर्मेणेव तु धार्मिकम्॥

**अस्तिरिति**। अस्तिप्रास्तिसंज्ञिके[3], ईयतुः जग्मतुः ॥ १,२ ॥

**स** इति। कंसे शोकः कृष्णे च अमर्षः, ताभ्यां युतः ॥ ३॥

**अक्षौहिणीभिरिति**। न्यरुणत् स्रोध ॥४॥

**निरीक्ष्येति**। तस्य बलम् सैन्यम्, उद्वेलं लङ्घितमर्यादं सागरमिव। तेन तस्य बलेन संरुद्धम् ॥५॥

**चिन्तयामासेति**। किं बलमेव हन्मि न मागधम्, मागधं वा हत्वा बलं गृह्णामि, यद्वा, समागधं सर्वं हन्मि इति चिन्तयामास। न प्रथमं, कथं जेष्यामीत्येवं चिन्तयितुं युक्तम् तत्राऽऽह - कारणमानुष इति भूभारावतारकारणेन मानुषः, न तु[4]तत्त्वतः इति ॥ ६ ॥

---

★ This verse is not found in BJ edns 1 MIV °ऽनैव 2 BJ °च 3 BJ °सि 4 MIV omit तु।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

व्याख्यातं दशमस्कन्धपूर्वार्धं मे यथाश्रुतम्। यथामतीतस्तुष्यन्तु क्षाम्यन्तु गुणवत्तमाः॥

अथ जरासन्धजयात्मकं भगवच्चेष्टितं वर्णयितुकामः तावज्जरासन्धस्य भगवता सह युयुत्साकारणं प्रस्तौति-**अस्तिः प्रास्तिश्चेति** सार्धद्वयेन। हे भरतर्षभ[1]! भरतसत्तम[1]! अस्तिः प्रास्तिश्चेति द्वे कंसस्य भार्ये ते भर्तरि कंसे हते सति, भगवतेति शेषः। दुःखार्ते दुःखपीडिते भूत्वा पितुर्जरासन्धस्य गृहान् ईयतुः जग्मतुः ॥ १ ॥

ततो मगधदेशाधिपतये जरासन्धाय स्वपित्रे दुःखिते अस्तिप्रास्ती सर्वमात्मनोः वैधव्यकारणं निवेदयाञ्चक्रतुः ज्ञापितवत्यौ ॥ २ ॥

स जरासन्धः तद्दुहितृभ्यामावेदितं अप्रिय माकर्ण्य शोकामर्षाभ्यां युतः महीं यादवाङ्कुररहितां कर्तुं परम मुद्यमं प्रयत्नं चक्रे ॥ ३ ॥

तदेवाऽऽह- **अक्षौहिणीति**। त्रयोविंशत्यक्षौहिणीबलपरिवेष्टित इत्यर्थः। यदुराजानामाश्रयभूतां मथुरां चतुर्दिक्षु निरुद्धवान् ॥ ४ ॥

[2]तदा श्रीकृष्णः उद्वेलं लङ्घितमर्यादं सागरमिव स्थितं तस्य जरासन्धस्य बलम्, तेन बलेन संरुद्धं स्वपुरं, भयेन व्याकुलं स्वजनञ्च निरीक्ष्य चिन्तयामासेति सम्बन्धः ॥ ५ ॥

हरिः कारणमानुष इति हेतुगर्भम्। यद्यपि न तस्योपद्रवः, सर्वकारणत्वेन न तद्बलसंहारे प्रयासश्च। तथाऽपि आश्रितार्तिहरत्वात्, सर्वकारणत्वेऽपि मानुषत्वात् गुह्यतमनुष्यरूप तत्सजातीयचेष्टितत्वात् मनुष्यवच्चिन्तयामास, चिन्तयित्वा निश्चितवानित्यर्थः। किं कथम्? इत्यत्राऽऽह तद्देशेति, तद्देशकालानुगुणं यथा भवति तथा स्वावतारप्रयोजनं विचार्य अध्यवास्यत् ॥ ६ ॥

---

1- -1 BTW omit 2 TW omit तदा

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदत्नावली

सच्छास्त्रस्य असच्छास्त्रेणेव कतिपयेष्वध्यायेषु श्रीकृष्णस्य जरासन्धेन सह सङ्ग्रामं वर्णयति। तत्त्वनिर्णयेन सदसतां भक्तिद्वेषाभ्यामुद्बुद्धाभ्यां विहितनिर्वाणासिर्भवति। तत्र कथां प्रसञ्चयितुमाह-अस्तीति। अस्तिप्रास्तिशब्दाभ्यां अविद्याया द्वे रूपे संशयविपरीतज्ञाननामनी उच्येते। तत्र संशये ज्ञानसत्तामात्रमस्ति, विपरीते तदपि नाऽस्ती त्यस्तिप्रास्ती। अस भुवि, भूसत्ताया मिति धातोः। यद्वा निश्चायकप्रमाणाभावेन निश्चयज्ञानाभावात् संशयविपरीतज्ञानवाचकावेतौ 'असु निरसने' इति धातोः, कंसस्य महिष्यौ। कसि हिंसायाम् इति धातोः, हिंसात्मनोऽधर्मस्य महिमबन्धकत्वेन सम्बन्धिन्यौ' षित्र् बन्धने' इति धातोः कृष्णनाम्ना धर्मेण भर्तरि स्वनिर्वाहके कंसनाम्न्यधर्मे हते विनाशिते स्वपितुः स्वपोषकस्य जरासन्धस्य 'जॄ वयो हानौ' इति धातोः वयोहानिहेतुभूता शैवी शास्त्रसंहिता जरेत्युच्यते। तस्यां सन्धा मरणापत्तावपि न मुञ्चामीति प्रतिज्ञा यस्य स तथा। तस्य गृहान् प्रमेयविशेषान् ईयतुः प्राप्य स्थिते। शब्दशक्तिविचक्षणैः पुरुषै रध्यात्मविषयतया अत्राऽर्थो ज्ञातव्य इति ग्रन्थबाहुल्यभीरुणा मया न प्रदर्श्यते इति ॥ १ ॥

आत्मवैरूप्यकारणं आत्मवैधव्यादिनिमित्तं, अन्यत्र प्रतिपादनासामर्थ्यम् ॥ २ ॥

'नॄ नये' इति धातोः नॄन् नयान् शैवशास्त्रोक्तान् पिबतीति नृपः शास्त्रज्ञः यः प्रतिसम्भूमेत्यभिधानात् यो विष्णुः स एव अदो दुष्टदण्डकस्तं वान्ति शरणं गच्छन्तीति यादवाः वैष्णवाः तद्रहिताम् ॥ ३ ॥

एकस्थानमारभ्य षोडशस्थाने या संख्या सा अक्षौहिणीत्युच्यते इति। अन्ये गजानां सप्त सहस्राणि द्विशती साप्तीतिः।एवं रथानामपि संख्या। अश्वाना मेकविंशतिसहस्री पञ्चशती विंशतिश्च। पदातीनां पञ्चत्रिंशत्सहस्रं विंशतिभिश्चेति अक्षौहिणीसंख्यां ब्रुवते। एको गज एको रथः त्रयोऽश्वाः पञ्च पदातय इति दशसंख्या पत्तिर्नाम। त्रिगुणिता पत्तिः सेना मुखमिति भिन्नं वा पदम्। सेना मुखस्त्रिगुणो गुल्मनामा, तत्त्रिगुणो गुणनामा, गुणत्रिगुणा वाहिनी नाम, वाहिनी

त्रिगुणा पृतना, तत्त्रिगुणा चमूः, तत्त्रिगुणिता चमू रनीकिनी, दशानीकिनीत्यक्षौहिणीति केचित्। "एकेभैकरथ त्र्यश्वा पत्तिः पञ्च पदातिका, पत्त्यङ्गैस्त्रिगुणैस्सर्वैः क्रमा दाख्या यथोत्तरम्। सेनामुखं गुल्मगणौ वाहिनी पृतना चमूः। अनीकिनी दशानीकि न्यक्षैहिणी (अम. को. 2-537, 538) इत्यमरः ॥ ४-६ ॥

हनिष्यामि बलंह्येत द्भुवि भारं समाहितम्।
मागधेन समानीतं पश्यतां सर्वभूभुजाम्[1][2]॥ ७ ॥

अक्षौहिणीभिस्संख्यातं भटाश्वरथकुञ्जरैः[3]।
मागधस्तु[4] न हन्तव्यो भूयः कर्ता बलोद्यमम् ॥ ८ ॥

एतदर्थोऽवतारोऽयं भूभारहरणाय मे।
संरक्षणाय साधूनां कृतोऽन्येषां वधाय च ॥ ९ ॥

अन्योऽपि धर्मरक्षायै देहः सम्प्रियते[5] मया।
विरामायाऽप्यधर्मस्य[6] काले प्रभवतः क्वचित् ॥ १० ॥

---

1 BG वश्याना, JK वश्याना 2 MMa भृताम् 3 KW सङ्कुलम्। 4 MMa ०धोऽपि 5 MMa सश्रियते 6- -6 MMa विरामाय ह्य° MIV विरमाय ह्य°

श्रीध० एवं त्रेधा[1] विचिन्त्य प्रथमं पक्षं निर्धारितवान्। तदाह चतुर्भिः - **हनिष्यामीति** ॥ ७ ॥

**अक्षौहिणीभिरिति**। बलोद्यमं[2] कर्ता करिष्यति[3]॥ ८ ॥

नन्वत एव हन्तव्य स्तत्राऽऽह - **एतदर्थ** इति। एतच्छब्दार्थं स्पष्टयति भूभारहरणायेति ॥ ९ ॥

अय मेतदर्थोऽवतार इत्युपलक्षणमित्याह - **अन्य** इति। प्रभवतः उद्भवतः ॥ १० ॥

---

1 BJ त्रि° 2 MI,V ०लायोद्यम 3 BJ add इति।

वीर० विचार्य निश्चितमेव दर्शयति - **हनिष्यामीति** चतुर्भिः। वंशे भवा वंश्याः तेषां सर्वेषां भूभृतां राज्ञा मेतत् भूमे भरिरूपं समाहितं समुदितं मागधेन जरासन्धेन आनीत मत्र प्रापितम्॥ ७ ॥

★ [1-] पदातिभिरश्वैश्च सङ्कुलं व्याप्तम्, अक्षौहिणीभिस्त्रयोविंशतिसंख्याकाभिरिति शेषः, संख्यातं बलं हनिष्यामि। मागधस्तु मया न हन्तव्यः हन्तु मनर्हः। तत्र कारणमाविष्करोति, भूयः पुनः बलायोद्यमं कर्ता करिष्यति। यद्यधुनैव मागधो हतः भूयो बलस्यानेता न स्यात्। यदि न हतः, तदा पुन र्बलं समानयन् अवतिष्ठेतैव एवञ्चेत्कृत्स्नं बलं हतं स्यात् अतस्सोऽधुना न हन्तव्य इति [-1] ॥ ८ ॥

ननु किं वृथा बलहननेन ममाऽर्थः, यो द्वेष्टि स एव हन्तव्य इत्याशङ्क्य, तर्ह्यवतरणं नाऽर्थवत्स्यात् इत्यभिप्रयन्नाऽऽह- **एतदर्थ** इति। मे मम अवतारः एतदर्थः एषोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तथाभूतः। कोऽसावर्थ इत्यपेक्षायां भूभारेत्यादिभिश्चतुर्थ्यन्तैः प्रयोजनविशेषान्निर्दिशति- भूभारहरणाद्यर्थं मयमवतारः कृत इत्यन्वयः। अन्येषा मसाधूनां वधाय च ॥ ९ ॥

नेदं प्रयोजनविशेषपरिगणनम्, अपि तु प्रदर्शनमात्रमित्यभिप्रेत्याह - **अन्योऽपीति**। अन्योऽप्यवतारस्याऽर्थः प्रयोजनम्। कोऽसौ? अत स्तं दर्शयति - धर्मरक्षायै इति। अन्योऽपीत्येकवचनं सामान्याभिप्रायकम्। काले कदाचित् त्कचित् प्रभवतः प्रकर्षेण भवतो वर्धमानस्याऽधर्मस्य विरामाय विध्वंसनाय च मया देहः सम्भ्रियते परिगृह्यते ॥ १० ॥

---

★ This extra matter is found in B edn अन्योऽपि वाराहादिदेहः। धर्मरक्षायै प्रभवतः उद्भवतः अधर्मस्य विरामाय च मया सम्भ्रियते॥ ८॥

1- - 1 B omits

**विज०** अन्योऽपि वाराहादिरपि स्वकाले प्रभवतः वर्धमानस्या[1]ऽधर्मस्य विरामाय विनाशाय ॥७ - १०॥

---

1 B omits अधर्मस्य

**विजयध्वजरीत्या अधिकपाठः।**

**एवं ध्यायति गोविन्दे मगधाधिपति र्बली।**
**मधुरां सवनोद्यानां रुरोध बहुसैनिकः॥ 1 ॥**

**कलिङ्गश्चेकितानश्च दन्तवक्त्रविदूरथौ।**
**उत्मुको वेणुदारी च शाल्वश्चैद्यश्च दुर्मतिः ॥ 2 ॥**

**पूर्वद्वारं समासाद्य रुरुधु र्मागधाज्ञया।**
**विन्दानुविन्दा वावन्त्यौ विराटो दरदस्तथा॥ 3 ॥**

एकलव्यो बाह्लिकश्च तथा पञ्चनदेश्वरः।
रुरुधु र्दक्षिणद्वारं पौण्ड्रकश्च महाबलः॥ 4 ॥

युधामन्यु र्बृहत्क्षत्रः शाल्वो भूरिश्रवास्तथा।
उत्तमौजाश्च रुक्मी च द्रुमश्चैव सुदक्षिणः ॥ 5 ॥

एते नियुक्ता राजानो जरासन्धेन भारत!
पश्चिमद्वार मासाद्य रुरुधु र्मधुरां पुरीम् ॥ 6 ॥

द्रुपदश्शिशुपालश्च त्रिगर्तोऽथ जयद्रथः।
शकुनिस्सोमदत्तश्च कुणिन्दश्च महाबलः॥ 7 ॥

जरासन्धेन सहिताः सर्वे मदबलान्विताः।
उत्तरद्वारमासाद्य रुरुधु र्भरतर्षभ !॥ 8 ॥

ते निरुध्य चतुर्द्वाराण्युद्वेलाम्भोधिसन्निभाः।
सिंहनादश्च कुर्वन्तो दध्मु श्शङ्खाननेकशः ॥ 9 ॥

क्ष्वेलन्तो युद्धसन्नद्धा जध्नु र्भेरी स्सहस्रशः ॥ 10 ॥

तद्वीरभूपालकदम्बसृम्भितं युगावसानार्णवघूर्णितोपमम्।
निशम्य कृष्णो न चचाल चेतसा सृगालघोषं मृगराडिवोद्धतः ॥ 11 ॥

'एतस्मिन्नेव काले तु गगनात्सूर्यवर्चसौ॥ 12 ॥

---

1 B सौ° 2 °द्वार

विज० मधुरां योग्यानां परमानन्ददात्रीं वेदान्तविदां, तस्याश्चतुर्द्वाराणि ऋगादीनि पाष(ल)ण्डौवर्वीरादयः लिङ्गादिशब्दिताः बहव स्सैनिकाः सेनारक्षकाः यस्य स तथा। "सेनारक्षास्तु सैनिकाः" (अम. को. 2-518) इत्यमरः। 1 - 9 ॥

क्ष्वेलन्तः अट्टहासं कुर्वन्तश्च॥ 10 ॥

कदम्बः समूहः ॥ 11, 12 ॥

[1-]एवं ध्यायति गोविन्दे आकाशात्[-1]सूर्यवर्चसौ।
रथावुपस्थितौ सद्य स्ससूतौ सपरिच्छदौ ॥ ११ ॥

आयुधानि च दिव्यानि पुराणानि यदृच्छया।
दृष्ट्वा [2]तानि हृषीकेशस्सङ्कर्षणमथाब्रवीत् ॥ १२ ॥

[विजयध्वजरीत्या अधिकपाठः]

(K.M.Ma. प्रकाशेषु दृश्यमानः)
चक्रं सुदर्शनं घोरं सहस्रारं मनोरमम्।
गदा कौमोदकी गुर्वी नाम्ना कौमोदकी शुभा॥ 13 ॥

त्रिनतं कार्मुकश्रेष्ठं शार्ङ्गसंज्ञं गुणान्वितम्।
तीक्ष्णधारः शितमुखः खड्गो नन्दकसंज्ञितः॥ 14 ॥

लघू शरार्चितौ रम्यौ तूणौ चाक्षयसायकौ।
तुरगाश्शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकाः ॥ 15 ॥

हलञ्च बलभद्रस्य मुसलञ्च दृढं गुरु।
इत्येतान्यायुधान्याजौ गगनादागतानि सः॥ 16 ॥

[3]श्रीकृष्ण उवाच[-3]
पश्यार्य! [4]व्यसनं प्राप्तं यदूनां सात्त्वतां[5] प्रभो!
एष ते रथ आयातो दयितान्यायुधानि च ॥ १३ ॥

[6]यानमास्थाय जह्येत द्व्यसनात्स्वान् समुद्धर।
एतदर्थं हि नौ जन्म साधूनामीश [7]शर्म[8]कृत् ॥ १४ ॥

[9]त्रयोविंशत्यनीकाख्यं भूमेर्भार मपाकुरु।
एवं सम्मन्त्र्य दाशार्हौ दंशितौ [10-]र थिनौ[-10] पुरात् ॥ १५ ॥

---

1- -1 M.Ma. एतस्मिन्नेव काले तु गगनात् 2 M.Ma राजन् 3 --3 B.G.J.M.Ma.M.I.V omit 4 M.I.V ०ऽद्य 5 B.G.J.M.Ma.M.I.V त्वावतां 6 K.W. एनं° 7 K.W. ०नामिह 8 M.Ma. सत्कृतम्। 9 M.Ma. ०कानां 10- -10 रथिनां वरौ॥

**श्रीध० एवमिति।** ससूतौ सारथिसहितौ परिच्छदः परिकरः, ध्वजकवचादिः तत्सहितौ ॥ ११, १२

**पश्येति।** त्वं अवन् रक्षको नाथो विचते येषां तैं त्वावन्तः, तेषाम् ॥ १३, १४ ॥

**त्रयोविंशतीति।** दंशितौ बद्धकवचौ ॥ १५ ॥

1 BJ add एव

**वीर० एवमिति।** ध्यायति विचार्य निश्चितवति सति तदैव द्वौ रथौ आकाशा दवतीर्योपस्थितौ स्तः। कथम्भूतौ? सूर्यस्येव वर्चः ययोस्तौ। सारथिसहितौ। परिच्छदः परिकरः ध्वजकवचादिः तत्सहितौ॥ ११ ॥

अथ हृषीकेशः पुराणानि पुरातनानि, दिव्यान्यमानुषाणि आयुधानि। चकारात् तैस्सहितौ रथौ च दृष्ट्वा सङ्कर्षणं प्रत्युवाच ॥ १२ ॥

उक्तिमेवाऽऽह-सार्धद्वयेन। हे आर्य। हे प्रभो! यदूनां व्यसनं प्राप्तमेत तपस्य। नैते यद्वव उपेक्ष्या इत्यभिप्रायेण तान्विशिनष्टि सात्त्वतामिति। सात्त्वतां भक्तानां, भृत्यानामिति यावत्। न हि स्वामी। भृत्यानुपेक्षितुमर्हतीति भावः। तर्हि किं विधेयमित्यत्राऽऽह- एष इति। दयितानि प्रियाणि आयुधानि। चकारात् कवचादीनि च आयातानीति लिङ्गवचन विपरिणामः ॥ १३ ॥

एनं रथ मास्थाय अधिष्ठाय एत त्वरबलं जहि नाशय। स्वान् स्वकीयान् व्यसनादापद उद्धर, एतदर्थं प्रतिपक्षनिरसनार्थं हि इह लोके नौ आवयोः जन्म अवतारः। यद्वा नौ जन्म एतत्प्रतिपक्षनिरसन मर्थः प्रयोजनं यस्य तत्तथा। साधूनां शर्मकृत् सुखकारि च ॥ १४ ॥

अतः त्रयोविंशत्यनीकाख्यं त्रयोविंशत्यक्षौहिणीसैन्यव्यपदेशं, केवलं भूमेर्भार मपाकुर्वपनय। एवमिति। इत्थं मिथः सम्मन्त्र्य आलोच्य दाशार्हौ रामकृष्णौ दशितौ कवचितौ रथिनौ रथारूढौ स्वासाधारणैरायुधैराढ्यौ युक्तौ चात्पीयसा कतिपयेन बलेन चाऽऽवृतौ च भूत्वा पुरात् मधुरया निष्क्रान्तौ॥ १५ ॥

1 B तानेव

**विज०** सपरिच्छदौ सोपस्करणौ ॥ ११,१२ ॥

सहस्रं अराणि दलानि यस्य तत्तथा। कौ मह्यां मोदको नारायणः तस्य विचमाना कौमोदकी ॥ 13 ॥

त्रिषु स्थानेषु कोटिद्वये मध्ये च नतं वक्रं नतम्। " कार्मुकन्तु चतुर्हस्तम्" (वैज०. को. 3-7-173) इति यादवः। शृङ्गविकृतं गुणेन ज्यया अन्वितं सहितम् ॥ 14 - 16 ॥

त्वावतां त्वद्भक्तानाम्। यद्वा- त्वं अवः रक्षको येषां ते त्वावन्तः तेषां त्वावतामिति पाठ श्छान्दसः। साधूनां साधुभिः सत्कृतम्। कृद्योगे षष्ठी ॥ १३,१४ ॥

त्रयोविंशत्यनीकानां त्रयोविंशदक्षौहिणीनां समुत्पन्नं भूमेर्भारम् ॥ १५ ॥

## विजयध्वजरीत्या अधिकपाठः

(B.K.M.Ma. प्रकाशेषु उपलभ्यमानाः प्रथमश्लोकः एवं ध्यायति K. प्रकाशे नास्ति।)

दंशितैश्च यदुश्रेष्ठैर्बहुभिश्च समन्वितौ।
निर्जग्मतुः पुरवरात् बलेनाऽत्यीयसा नृप ॥ 17 ॥

निर्गत्य सदनात्कृष्णो वृष्णीनाहूय सर्वशः।
आज्ञापयामास तूर्णं चतुर्द्वारस्य पालने ॥ 18 ॥

वसुदेवश्च निशठं कृतवर्माणमुद्धवम्।
कृष्णो निर्यातयामास पूर्वद्वारेण भारत! ॥ 19 ॥

उग्रसेनं सुदामानं पृथुं विपृथुमेव च।
हरिर्निर्यातयामास द्वारेणाऽनुत्तरेण वै॥ 20 ॥

सात्यकिश्च गदश्चैव प्रसेनं गान्दिनीसुतम्।
हरिः प्रतीचीद्वारेण प्रेषयमास दुर्मदान्॥ 21 ॥

गोविन्दस्तु महातेजाः स्वयं दारुकसारथिः।
आत्ताभीष्टप्रहरणः सङ्कर्षणसहायवन्॥ 22 ॥

उत्तरेण विनिर्गम्य द्वारेण जगदीश्वरः
शङ्खं दध्मौ महाप्राणं दैत्यदानवभीषणम्॥ 23 ॥

आह दारुकमासीनं रथाग्रे माधवः स्मयन् ॥ 24 ॥

### श्रीभगवानुवाच

रथं वाहय धर्मज्ञ यत्र तौ चैद्यमागधौ।
तर्पयामि नृपान् सर्वान् सायकै युद्धदुर्मदान्॥ 25 ॥

### श्री शुक उवाच

इत्युक्तो दारुक स्तेन हयांस्तूर्णमचोदयत्।
व्यनद स्सिंहनादश्च गोविन्दः परवीरहा॥ 26 ॥

शङ्खमाध्माय रामोऽपि सिंहनादं व्यनीनदत्।
ततोऽभूत्परसैन्यानां हृदिचिन्ता[6] सवेपथुः॥ 27 ॥

पूर्वद्वारि नृपै स्सार्धं यदूनां कदनं[7-] महत्।
आसीच्चतुर्भिरष्टानां[-7] तदद्भुत मिवाऽभवत्॥ 28 ॥

दक्षिणद्वार्यपि तथा गोविन्दाध्मातचेतसाम्[8]।
आसीद्यदूनां कथनं राजन्यकटकेन वै ॥ 29 ॥

अपरद्वार्यपि तथा यदूनां दृढधन्विनाम्।
आसीद्राजसमाजेन सङ्ग्रामो रोमहर्षणः ॥ 30 ॥

ते हन्यमाना यदवो राजभिश्शक्रविक्रमैः।
न चेलुस्सङ्गराद्राजन् लोकद्वयजिगीषवः॥ 31 ॥

तत्र यादव शार्दूलो विष्णुस्त्रैलोक्य वल्लभः।
आससाद महाघोरौ यत्र तौ चेद्यमागधौ ॥ 32 ॥

1 This verse (दशितैश्च ) is not found in k edn 2 ब्रह्मसूत्रादयो वसुदेवादिशब्दवाच्याः3 दुःख मन्दयन्ति अल्पीकुर्वन्तीति दुर्मदास्तान्। नुमागमाभावश्छान्दसः। 4 महाप्राण महाघोषम् 5 युद्धदुर्मदान् युद्धे दुष्टमदान्। 6 वित्रासवेपथुः 7- -7 वसुदेवादिभि श्चतुर्भिः कलिङ्गाद्यष्टानाम्। 'कद क्रद हिंसार्थौ' इति धातुः। कदन युद्धम्। 8 गोविन्देनाऽऽध्मात आश्वासित चेतो येषा ते तथा, तेषा राजन्याना कटकेन सैन्येन। "सैन्येऽपि कटकोऽस्त्रि याम्" इत्यभिधानम्। समूहेन वा।

★ निर्जग्मतुः स्वायुधाढ्यौ बलेनाल्पीयसावृतौ।
शङ्खं दध्मौ विनिर्गम्य हरि र्दारुकसारथिः ॥ १६ ॥

ततोऽभूत्परसैन्यानां हृदि वित्रासवेपथुः।
तानाह मागधो वीक्ष्य हे कृष्ण! पुरुषाधम॥ १७ ॥

☆ न त्वया योद्धु मिच्छामि बालकेनेह[1-] लज्जया[-1]।
गुप्तेन च[2] त्वया मन्द न योत्स्ये याहि बन्धुहन् ॥ १८ ॥

त्वन्तु[3] राम यदि श्रद्धा बुध्यस्व धैर्य[4] मुद्वह[-4]।
हित्वा[5] वा मच्छरै श्छिन्नं[6] देहं स्वर्याहि मां जहि ॥ १९ ॥

## श्रीभगवानुवाच।

न[7] वै शूरा विकत्थन्ते दर्शयन्त्येव पौरुषम्।
न गृह्णीमो वयं राजन्नातुरस्य मुमूर्षतः ॥ २० ॥

---

★ निर्जग्मतुः इत्यारभ्य वर्तमाना एते पञ्च श्लोकाः(16-20) M.Ma. प्रकाशयोः न विद्यन्ते। ☆ K.M.I.V.W. प्रकाशेषु अस्य श्लोकस्य पूर्वार्धोत्तरार्धयोः वैपरीत्येन पाठो वर्तते। 1- -1 B.G.J बालेनैकेन; K.W बालकेनेव 2 B.G.J.K.W हि 3 B.G.J तव 4 - - 4 M.I.V. स्थैर्य मावह 5 W. छित्वा 6 K.W. ०र्भिन्नं 7 K.W नहि

श्रीध० निर्जग्मतुरिति। स्वायुधाढ्यौ शोभनायुधसम्पन्नौ ॥ १६ ॥

तत इति। पुरुषा अधमा यस्मात् इति वास्तवोऽर्थः। हे पुरुषेत्तमेति ॥ १७ ॥

न त्वयेति। गुप्तेन दर्शितत्वात्[1--1] सर्वान्तरत्वात् दानानर्हेण हे मन्द! बध्नातीति बन्धुः अविद्या। तां हन्तीति हन्[2] हे अविद्या- निरसनेति। याहि प्राप्नुहि ॥ १८ ॥

त्वमिति। अच्छेद्यदेहोऽसाविति स्वयमेव मत्वा अपरितोषात् पक्षान्तरमाह - यद्वा मां जहि इति ॥१९॥

नेति। यथाश्रुतार्थग्रहणेन भगवत[3] उत्तरं 'न वै शूरा इति' विकत्थन्ते श्लाघन्ते ॥ २० ॥

---

1- -1 B.J. omit 2 B.J. तथा 3 M.I.V. ०वदुत°

वीर० ततो हरिः दारुकाख्यस्सारथिः यस्य तथाभूतः शङ्खं पाञ्चजन्यं दध्मौ ध्वनयामास ॥ १६ ॥

ततः शङ्खध्वानात् परसैन्यानां हृदि त्रासो भयं तेन वेपथुः गात्रकम्पो बभूव। ताविति। तौ रामकृष्णौ अवलोक्य मागधो[1] जरासन्ध आह[1]। उक्तमेवाऽऽह कृष्णेत्यादिना। गुप्तेन कर्तरि क्तः गोपयता, आत्मानमिति शेषः स्वजनेनेति वा। त्वया सह न योत्स्ये न युद्धं करोमि। याहि गच्छ। तत्र कारणं वदन् सम्बोधयति - हे मन्द! मूढ! तत्र हेतुः - हे बन्धुहन्! अत एव हे पुरुषाधम! बन्धुर्मातुलः तस्य हन्तः! न केवलं न योत्स्याम्येव। अपि तु त्वया योद्धुं नेच्छाम्यपि। यथा बालकेन सह लज्जया न युयुत्से तद्वदित्यर्थः[2] ॥ १७, १८ ॥

अथ राम माह त्वमिति। यदि श्रद्धा, युद्धार्थ मस्तीति शेषः। तर्हि हे राम[3]! युध्यस्व। स्थैर्यमावह; न तु प्राप्य पलायस्वेति भावः। एवञ्चेत् मच्छरैः भिन्नं देहं त्यक्त्वा स्वर स्वर्गं याहि यास्यसीत्यर्थः। यद्वा, समर्थश्चेत्त्वं मामेव जहि ॥ १९ ।

एव मुक्तः प्राह भगवान् - नहीति। विकत्थन्ते विविधमात्मानं न श्लघन्ते शूराः, किन्तु [4-]रिपूणामपि [-4]श्लाघ्यं पौरुष मेव दर्शयन्ति। अत स्तवाऽशूरस्य [5]मुमूर्षतः मर्तुमाशंसमानस्य, अत एवाऽऽतुरस्य वचो वयं न गृह्णीमः न [6]बहुमन्यामहे ॥ २० ॥

---

1- -1 K.T.W omit 2 K.T.W omit इत्यर्थः 3 K.T.W omit हे राम! 4- -4 K.T.W omit 5 K.T.W omit मुमूर्षतः 6 B adds इत्यर्थः

## [1]श्रीशुक उवाच

जरासुत स्ता वभि[2]सृत्य माधवौ महाबलौघेन बलीयसाऽऽवृणोत्।
ससैन्ययानध्वजवाजिसारथी [3]सूर्यानलौ वायुरिवाऽभ्रेरणुभिः ॥ २१ ॥

[4]सुपर्णतालध्वजचिह्नितौ रथौ [5]अलक्षयन्त्यो हरिरामयोर्मृधे।
स्त्रियः पुराट्टालकहर्म्यगोपुरं समाश्रितास्सम्मुमुहु [6]शुचार्दिताः ॥ २२ ॥

हरिः परानीकपयोमुचां मुहु श्शिलीमुरवात्युल्बणवर्षपीडितम्।
स्वसैन्यमालोक्य [7]सरासुरार्चितं व्यस्फूर्जयच्छार्ङ्गशरासनोत्तमम् ॥ २३ ॥

गृह्णन्निषङ्गादथ सन्दधच्छरान्विकृष्य मुञ्चन् शितबाण[8]पूगान्।
निघ्नन्रथान्कुञ्जरवाजिपत्ती[9]न्निरन्तरं यद्वदलातचक्रम् ॥ २४ ॥

---

1- -1 M.Ma omit 2 K.W ०गम्य, M, Ma वीक्ष्य 3 M.V ०थिः 4 V ०व° 5 M.Ma विलक्ष° W विलोक° 6 K.M.Ma.M.V.W चार्पिताः 7 M.Ma व्यघूर्ण० 8 M.Ma सञ्चयम् 9 M.Ma यूथपान्, M.V पतीर्निं।

[1]श्रीध० जरासुत इति। माधवौ मधुवंशसम्भवौ महता सैन्यसमूहेन आवृतत्वात् वायुरग्नेः सूर्यं रेणुभिश्च अग्निं यथेत्यदर्शनमात्रमेव [2]आवरणमिति सूचितम् ॥ २१ ॥

हरिरिति। परस्याऽनीकानि सैन्यानि तान्येव पयोमुचः मेघाः तेषां शिलीमुखा बाणाः। तेषा मत्युल्बणं वर्षं, तेन पीडितं व्यस्फूर्जयत् उज्जृम्भितवान्॥ २२,२३ ॥

तदाह गृह्णन्निति। निषङ्गादिषुधेः शरान् गृह्णन्। अथ तान्गुणे सन्दधत्, गुणमाकृष्य निशितबाणसमूहान् मुञ्चन् निघ्नन् प्रहरन् पत्तिः पदातिः, निरन्तरमिति ग्रहणादिक्रियाविशेषणम्। ज्वलत्काष्ठं भ्रमणे यथा चक्रवद्भ्रमति तद्वत् व्यस्फूर्जयदिति ॥ २४ ॥

---

1 B.J omit स 2 MIV ०नाव०3 ०त्तीः 4 MIV ०तीः

वीर० जरासुत इति। तौ सैन्यादिभिस्सहितौ। मधुवंशजत्वाद्द्वयोरपि माधवाविति निर्देशः। रामस्य माधवांशत्वाद्वा माधवव्यपदेशः। अभिसृत्य अभिमुखमागत्य बलीयसा महता सैन्यसमूहेन आवृणौत् आवृतवान्। ससैन्यइत्यस्य प्रथमैकवचनान्तपाठे जरासुतविशेषणत्वम्। यथा वायु रग्रै स्सूर्यं, रेणुभिश्चाग्निं आवृणोति तथेति दृष्टान्तार्थः। अनेनाऽदर्शनमात्र मेव नाऽऽवरण-मिति सूचितम् ॥ २१ ॥

सुपर्णेति। तदा पुरस्त्रियः पुरस्य अट्टालकादीनाञ्च समाहारः, तत्समाश्रिता अधिरूढाः। अट्टालका उपरिभूमिकाः, मृधे युद्धे सुपर्णध्वजतालध्वजाभ्यां चिह्नितौ सञ्जातचिह्नौ हरिरामयोः रथावपश्यन्त्यः, अत एव शुचा अर्पिताः व्याप्ताः सम्मुमुहुः विचित्ता बभूवुः ॥ २२ ॥

हरिरिति। परस्यानीकानि सैन्यानि तान्येव पयोमुचो मेघाः तेषां शिलीमुखा बाणाः, तेषामत्युल्बणं दुस्सह वर्षं तेन पीडित स्वसैन्यमालोक्य सुरैरसुरैश्च बहुमत शार्ङ्गाख्यं शरासनोत्तमं धनुश्श्रेष्ठं व्यस्फूर्जयत् उज्जृम्भितवान्। सघोषज्यायुक्तमकरोदिति वा॥ २३ ॥

गृह्णन्निति। निषङ्गा त्तूणात् शरान्गृह्णन्, धनुषीति शेषः। विकृष्य सन्निहितत्वाच्छरानाकृष्य निशितबाणसमूहा-न्मुञ्चन् रथादीन्निघ्नन् ध्वंसयन्, अवतस्थे इति शेषः। पत्तयः पदातयः न विद्यते अन्तरं विच्छेदो यस्यां ग्रहणादिक्रियायां तद्यथा भवति तथा, अवतस्थे इत्यर्थः। तादात्विकभगवच्छार्ङ्गस्य दृष्टान्तमाह - यद्वदलातचक्रमिति। यद्वद्यथा ज्वलत्काष्ठभ्रमणं चक्रवद्भ्राति तद्वद्धनुरासीदित्यर्थः । निरन्तरमित्यलातचक्रस्यैव वा विशेषणम्। विच्छेदरहितमलातचक्रं यथा तद्वत्। तद्धनु-र्व्यस्फूर्जय दिति पूर्वेण सम्बन्धो वा ॥ २४ ॥

---

1 K गम्य° TW कृत्य 2 KTW तथा 3 B °भवलोक्य T °लोच्य 4 B adds अत्यर्थं (अन्वर्थं), TW add अन्वर्थं

विज० माधवौ मधुकुले जातौ सैन्येन यानध्वजैः रथध्वजै र्वाजिभिः अश्वैः सारथिभिश्च सहितौ। "वाजी त्वश्वे शरे खगे" (वैज.को. 6-1-55) इति। अग्रैर्जलधरैः, रेणुभिश्च ॥ २१ ॥

सुपर्णतालध्वजाभ्यां चिह्नितौ अङ्कितौ हरिरामयोः कृष्णबलभद्रयोः स्त्रौ विलक्षयन्त्यः पश्यन्त्यः, पुरं गृहं, अट्टालकं गृहोपरीष्टकादिविरचितचतुरस्रस्थलं, हर्म्यं धनिनां वासः,गोपुरं पूरद्वारं, अल्पवयसौ अल्पसैनौ कृष्णरामौ मागधं प्रलयार्णवोपमसेनं दृष्ट्वा समुत्पन्नया शुचा ॥ २२ ॥

व्यधूर्णयत् विस्फारयामास। परानीकपयोमुचां शत्रुसेनामेघानाम् ॥ २३ ॥

श्रीकृष्णस्य हस्तलाघवं कथयति - गृह्णन्निति। निषङ्गात्तूणीरात् ग्राम्यमाण मलातचक्रम् उल्मुकमण्डलं निरन्तरं छिद्रदर्शनं दुश्शक यद्व तद्वत् ॥ २४ ॥

विजयध्वजरीत्या अधिकपाठः

ततश्शशाङ्काकृति पाञ्चजन्यं महारवं दैत्यकुलापचारम्।
मुखे निधायाऽऽशु पुपूर यादवानाश्वासयन् क्षत्रियकूटघट्टितान् ॥ 33 ॥

नृपास्तदाकर्ण्य तु कर्णनिष्ठुरं क्रमेण निर्भिन्नहृदो बभूविरे।
यदुप्रवीराश्च समुद्यतायुधा रणे नृपाञ्छ्नुरनीकसंयुताः॥ 34 ॥

ततश्चतुर्द्वारगतान्महीपतीन् यदुप्रवीराः परिभूय सर्वशः ।
चक्रुश्शरौघैः सहसैकवाहिन आप्यायिताः शार्ङ्गरवेण शौरिणा ॥ 35 ॥

ततो हरिं चैद्यपतिर्मण्डलीकृतकार्मुकः।
भर्त्सयन् कृष्ण कृष्णेति तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ 36 ॥

तमभ्यधाव द्गोविन्दो विमुञ्चन् सायकान् बहून्।
मण्डलीकृतकोदण्डस्तैलधौतान् शितान् शरान् ॥ 37 ॥

ततः पञ्चशरान् घोरान् आदाय दमघोषजः ।
चतुर्भि स्तुरगा नाशु विव्याधैकेन सारथिम् ॥ 38 ॥

भूयो दशाऽऽशु सन्धाय विव्याध मधुसूदनम्।
व्यनद त्सिंहनादञ्च तदद्भुतमिवाऽभवत्॥ 39 ॥

ततस्तमाह गोविन्दः साधु साध्विति पूजयन्।
भो भो चैद्य महेष्वास! वीरोऽसि बलवानसि॥ 40 ॥

अतो मे पश्य दुर्बुद्धे धानुष्मत्त्वं स्वयं रणे।
इति ब्रुवति गोविन्दे राजानः सर्व एव ते॥ 41 ॥

विव्यधु र्निशितै र्बाणै र्युगपद्येन माधवम्।
तांस्तान् प्रत्येकशः कृष्णो विद्ध्वा पञ्चभिराशुगैः ॥ 42 ॥

सारथिं चतुरो वाहाननयद्यमसादनम्।
बिभि स्त्रिभि श्शरै र्भूयोऽप्येकैकं नृपतीन्रणे ॥ 43 ॥

वक्षस्याऽऽस्ये ललाटे च विव्याध यदुनन्दनः।
ततश्च त्रिंशतां राज्ञां त्रिंशत्कार्मुकमाहवे॥ 44 ॥

स्सायकैराशु चिच्छेद यदुपुङ्गवः।
दमघोषसुतस्यापि धनुश्चित्त्वा त्रिभिश्शरैः ॥ 45 ॥

ध्वजञ्च मुकुटच्छत्रे चकर्त[6] प्रहसन्निव।
ततो दश हरिर्भल्लान् शार्ङ्गे सन्धाय माधवः ॥ 46 ॥

आकर्णान्तं[7] समाकृष्य चैद्यं विव्याध सङ्गरे।
तेन राजन्यकटकं विभ्रान्तं शरताडितम्॥ 47 ॥

कालान्तमारुतोद्धूत शैलद्रुमलतोपमम्।
त्रातारं नाऽध्यगच्छद्वै हताश्वरथसारथिः॥ 48 ॥

शरान्विमुञ्च ञ्जलजञ्च पूरयन् विस्फूर्जयन्[8] कार्मुक मुग्रपौरुषः।

विलोकयन्मागधसैन्यमाहवे[9] निरन्तरं यद्वदलातचक्रम्॥ 49 ॥

1 K सङ्गताम् 2 K ०ना 3 K शिलाशितान् 4 K ०क्क० 5- -5 K त्रिभिस्त्रिभिस्सायकैश्च 6 K चिच्छिदे 7 K ०न्तमिवाकृ० 8 K विष्फारयन् 9 K ०यलोड्यत् ॥

विज० दैत्यकुलस्यापचार नाशकरं, क्षत्रियाणां कूटेन समूहेन घट्टितान् संवेष्टितान् ॥ 33 ॥

क्रमेण तत्तद्योग्यतानुसारेण ॥ 34 ॥

एकवाहिनः एकवाहनगतान् पृष्ठवाहनहीनानित्यर्थः॥ 35 - 37 ॥

दमघोषजः शिशुपालः ॥ 38 ॥
सिंहनादं व्यनदत् सिंहनादं चकार ॥ 39 ॥
वीरः शूरोऽसि, बलवान् दाक्षिण्यानसि ॥ 40 ॥
धानुष्मत्त्वं धनुष्मतां माहात्म्यम् ॥ 41 ॥

आशुगैः शरैः ॥ 42, 43 ॥
यद्बन्दयति बलेन समर्थयतीति यदुनन्दनः॥ 44 - 47॥
कालान्तमारुतेन प्रलयकालवायुना ॥ 48, 49 ॥

1 Mb अस्ति।

निर्भिन्नकुम्भाः करिणो निपेतु रनेकशोऽश्वाः [1] [2]सस्रुक्षपकन्धराः।
रथा हताऽश्वध्वजसूतनायकाः पदातय श्छिन्नभुजोरुकन्धराः॥ २५ ॥

संछिद्यमानद्विपदेभवाजिना मङ्गप्रसूता श्शतशोऽसृगापगाः।
भुजाहयः पूरुषशीर्षकच्छपा हतद्विपद्वीपहग्राहाऽऽकुलाः॥ २६ ॥

करोरुमीना नरकेशशैवला धनुस्तरङ्गायुधगुल्मसङ्कुलाः।
[3]आस्थूरिकावर्तभयानका महामणिप्रवेकाभरणाश्मशर्कराः॥ २७ ॥

प्रवर्तिता भीरुभयावहा मृधे मनस्विनां [4]हर्षकरीः परस्परम्।
विनिघ्नताऽरीन् मुसलेन दुर्मदान् सङ्कर्षणेनाऽपरिमेयतेजसा ॥ २८ ॥

बलं तदङ्गार्णवदुर्गभैरवं दुरन्तपारं मगधेन्द्रपालितम्।
क्षयं प्रणीतं वसुदेवपुत्रयो र्विक्रीडितं तज्जगदीशयोः परम् ॥ २९ ॥

स्थित्युद्भवान्तं भुवनत्रयस्य यः समीहतेऽनन्तगुणः [5] स्वलीलया।
न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रहस्तथाऽपि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते ॥ ३० ॥

1 M Ma ०नी° 2 M Ma ०रुण° 3 B G J अच्छूरिका M Ma. आस्फूर्जिता० M I V अस्थूरिका० 4 M Ma ०वहाः 5 J ०ण स्स्म°

श्रीध० निर्भिन्नेति। हता अश्वा ध्वजाः सूता नायका रथिनश्च येषु ते ॥ २५ ॥

संछिद्यमानेति। सञ्छिद्यमाना द्विपदा इभा वाजिनश्च, तेषामङ्गेभ्यः प्रसूता असृगापगा रुधिरनद्यः; परस्पर प्रवर्तिता इति तृतीयेनाऽन्वयः, प्रसिद्धनदीरूपकमाह - भुजा एवाऽहयो [1]यासु ताः। पुरुषाणा शीर्षाण्येव कच्छपा [2]यासु ताः। हता द्विपा एव द्वीपा अन्तर्वर्तितटानि, हया एव ग्राहा ग्राहा स्तैश्च आकुलाः व्याप्ताः॥ २६ ॥

करेति। करा ऊरवश्च मीना यासु ताः, नराणा केशा एव शैवलं यास ताः. धनूंष्येव तरङ्गा आयुधान्येव गुल्माः तैश्च तैश्च सङ्कुलाः। अस्थूरिकाश्मर्माणि, चक्राणि वा, ता एवाऽऽवर्ताः तत्र यानका. महामणीना प्रवेका उत्तमा आभरणानि यथायथमश्मानः शर्कराश्च यासु ताः ॥ २७ ॥

भीरूणां भयावहाः, मनस्विनां धीराणां[3] हर्षकर्यः ॥ २८ ।

किञ्च। सङ्कर्षणेनाऽपि तद्बलं क्षयं प्रणीतम्। अङ्ग! हे राजन्! अर्णववत् दुर्गं दुर्गमं भैरवं भयङ्करञ्च यतः दुरन्तपारं, अन्तोऽत्र तलं, पारमवधिः । दुरशब्दो निषेधे। विक्रमेणाऽगाधं देशतश्च निरवधिकमित्यर्थः । किञ्च-मगधेन्द्रेण च पालितं बलं यदेवम्भूतं रामकृष्णयोः कर्मोक्तं तत्परं केवलं तयो र्विक्रीडितम्[4] न तु पराक्रमः ॥ २९ ॥

न चैत दाश्चर्य मित्याह-**स्थितीति**। तर्हि किमित्याश्चर्यमिव वर्णितम्? तत्राऽऽह-तथाऽपीति। मर्त्याननुविधत्तेऽनुकरोतीति मर्त्यानुविधस्तस्य ॥ ३० ॥

---

1 MI.V. यासां 2 MI V यासां 3 MI V omit धीराणां 4 MI.V. ०ङ्कं

**वीर०** तादात्विकं भगवच्छरपीडितं परसैन्यमनुवर्णयति-**निर्भिन्नेति**। निर्भिन्नाः[1] कुम्भाः कुम्भस्थलानि येषां ते, करिणो गजा निपेतुः । तथा अश्वाश्वानेकशः शरैर्भग्नाः कन्धरा ग्रीवा येषां तथाभूताः, निपेतु रित्यनुषज्यते। हता अश्वाः ध्वजाः सूता नायका रथिनश्च येषु ते रथाः, तथा पदातयश्च छिन्ना भुजा ऊरवः कन्धराश्च येषां तथाभूता निपेतुः ॥ २५ ॥

अथ भगवच्छरनिर्भिन्नपरसैन्यतनुप्रभवरुधिरनदीः प्रसिद्धनदीत्वेन निरूपयति-**सञ्छिद्यमानेति**। सञ्छिद्यमानेभ्यः पदातिगजाश्वानां अङ्गेभ्यः प्रसूता असृगापगा रुधिरनद्यः शतशः प्रवर्तिता इति तृतीयश्लोकेनाऽन्वयः । कथम्भूताः? भुजा एव अहयः सर्पा यासु, पूष्णाणां शीर्षाण्येव कच्छपा यासु तथाभूताः, हता द्विपा गजा एव द्वीपा अन्तरीपभूमयः, हया अश्वा एव ग्रहाः। तैश्चाऽऽकुला व्याप्ताः ॥ २६ ॥

करा ऊरवश्चैव मीना यासु, नराणां केशा एव शैवलं यासु ताः, धनूंष्येव तरङ्गा, आयुधान्येव गुल्मानि च तैश्च सङ्कुलाः आस्थूरिकाश्चक्राणि ता एवाऽऽवर्ताः तैर्भयानकाः महामणीना प्रवेकाः श्रेष्ठाः उत्तमाभरणानि च यथायथं शिलाश्शर्कराश्च यासु ताः॥ २७॥

भीरूणां भयावहाः मनस्विनां धीराणां मिथो हर्षकारिण्यः। विनिघ्नतेति। किञ्च-अङ्ग! हे राजन्! अपरिमेयमपरिच्छेद्यं तेजः पराभिभवसामर्थ्यं यस्य तेनाऽरीन् शत्रून् मुसलेनाऽऽयुधेन विनिघ्नता ताडयता, सङ्कर्षणेन कर्त्रा ॥ २८॥

तन्निहतावशिष्टं मगधेन्द्रेण[2] पालितं अर्णववद्दुर्गमं भैरवञ्च बलं क्षयं प्रणीतं नाशितमित्यर्थः। अद्भुतमेतत् द्वाभ्यामेव त्रयोविंशत्यनीकात्मकं बलं हतमिति विस्मयमानं राजानं प्रत्याह -वसुदेवपुत्रयोरिति। यदुक्तं रामकृष्णयोः कर्म केवलं जगदीश्वरयोस्तयोः क्रीडितं क्रीडामात्र मेव न तु पराक्रमः इति भावः ॥ २९ ॥

न चाऽत्र विस्मयः कार्य इत्याह - **स्थितीति** । स्थित्यादिनां समाहारद्वन्द्वः । यो भगवानसंख्येयकल्याणगुणः स्वलीलयैव त्रिलोक्याः स्थित्यादिकर्मैवेहते करोति। तस्य शत्रुपक्षनिग्रहो न चित्रं नाऽऽश्चर्यविषयः । तर्हि किमिति वैचित्र्येणोपवर्ण्यते

आशुगैः शौरैः ॥ 42, 43 ॥
यद्भूनन्दयति बलेन समर्थयतीति यदुनन्दनः॥ 44 - 47॥
कालान्तमारुतेन प्रलयकालवायुना ॥ 48, 49 ॥

1 Mb अस्ति।

निर्भिन्नकुम्भाः करिणो निपेतु रनेकशोऽश्वाः शरवृक्णकन्धराः।
रथा हताऽध्वध्वजसूतनायकाः पदातय श्छिन्नभुजोरुकन्धराः॥ २५ ॥

संछिद्यमानद्विपदेभवाजिना मङ्गप्रसूता श्शतशोऽसृगापगाः।
भुजाहयः पूरुषशीर्षकच्छपा हतद्विपद्वीपहयग्रहाऽऽकुलाः॥ २६ ॥

करोरुमीना नरकेशशैवला धनुस्तरङ्गायुधगुल्मसङ्कुलाः।
आस्थूरिकावर्तभयानका महामणिप्रवेकाभरणाश्मशर्कराः॥ २७ ॥

प्रवर्तिता भीरुभयावहा मृधे मनस्विनां हर्षकरीः परस्परम्।
विनिघ्नताऽरीन् मुसलेन दुर्मदान् सङ्कर्षणेनाऽपरिमेयतेजसा ॥ २८ ॥

बलं तदङ्गार्णवदुर्गभैरवं दुरन्तपारं मगधेन्द्रपालितम्।
क्षयं प्रणीतं वसुदेवपुत्रयो र्विक्रीडितं तज्जगदीशयोः परम् ॥ २९ ॥

स्थित्युद्भवान्तं भुवनत्रयस्य यः समीहतेऽनन्तगुणः स्वलीलया।
न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रहस्तथाऽपि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते ॥ ३० ॥

1 M Ma ०नी° 2 M Ma ०रुण° 3 B G.J अच्छूरिका M Ma. आस्फूर्जिता० M I V अस्थूरिका० 4 M.Ma ०वहाः 5 J ण स्स्म°

श्रीध० निर्भिन्नेति। हता अश्वा ध्वजाः सूता नायका रथिनश्च येषु ते ॥ २५ ॥

संछिद्यमानेति। सञ्छिद्यमाना द्विपदा इभा वाजिनश्च, तेषामङ्गेभ्यः प्रसूता असृगापगा रुधिरनद्यः; परस्परं प्रवर्तिता इति तृतीयेनाऽन्वयः, प्रसिद्धनदीरूपकमाह - भुजा एवाऽहयो यासु ताः। पुरुषाणा शीर्षाण्येव कच्छपा यासु ताः। हता द्विपा एव द्वीपा अन्तर्वर्तितटानि, हया एव ग्रहा ग्राहा स्तैश्च आकुलाः व्याप्ताः॥ २६ ॥

करेति। करा ऊरवश्च मीना यासु ताः, नराणा केशा एव शैवलं यासु ताः, धनूंष्येव तरङ्गा आयुधान्येव गुल्माः तैश्च तैश्च सङ्कुलाः। अस्थूरिकाश्मर्माणि, चक्राणि वा, ता एवाऽऽवर्ताः तैर्भयानका, महामणीनां प्रवेका उत्तमा आभरणानि यथायथमश्मानः शर्कराश्च यासु ताः ॥ २७ ॥

भीरूणां भयावहाः, मनस्विनां धीराणां[3] हर्षकर्यः ॥ २८ ।

किञ्च। सङ्कर्षणेनाऽपि तद्बलं क्षयं प्रणीतम्। अङ्ग! हे राजन्! अर्णववत् दुर्गं दुर्गमं भैरवं भयङ्करञ्च यतः दुरन्तपारं, अन्तोऽत्र तलं, पारमवधिः । दुरुशब्दो निषेधे। विक्रमेणाऽगाधं देशतश्च निरवधिकमित्यर्थः । किञ्च-मगधेन्द्रेण च पालितं बलं यदेवम्भूतं रामकृष्णयोः कर्मोक्तं तत्परं केवलं तयो र्विक्रीडितम्[4] न तु पराक्रमः ॥ २९ ॥

न चैत दाश्चर्य मित्याह-**स्थितीति**। तर्हि किमित्याश्चर्यमिव वर्णितम्? तत्राऽऽह-तथाऽपीति। मर्त्याननुविधत्तेऽनुकरोतीति मर्त्यानुविधस्तस्य ॥ ३० ॥

---

1 MLV यासां 2 MLV यासां 3 MLV omit धीराणा 4 MLV ०ङ्गं

**वीर०** तादात्विकं भगवच्छरपीडितं परसैन्यमनुवर्णयति-**निर्भिन्नेति**। निर्भिन्नाः[1] कुम्भाः कुम्भस्थलानि येषां ते, करिणो गजा निपेतुः । तथा अश्वाश्वानेकशः शैरर्भग्नाः कन्धरा ग्रीवा येषां तथाभूताः, निपेतु रित्यनुषज्यते। हता अश्वाः ध्वजाः सूता नायका रथिनश्च येषु ते रथाः, तथा पदातयश्च छिन्ना भुजा ऊरवः कन्धराश्च येषां तथाभूता निपेतुः ॥ २५ ॥

अथ भगवच्छरनिर्भिन्नपरसैन्यतनुप्रभवरुधिरनदीः प्रसिद्धनदीत्वेन निरूपयति-**सञ्छिद्यमानेति**। सञ्छिद्यमानेभ्यः पदातिगजाश्वानां अङ्गेभ्यः प्रसूता असृगापगा रुधिरनद्यः शतशः प्रवर्तिता इति तृतीयश्लोकेनाऽन्वयः । कथम्भूताः? भुजा एव अहयः सर्पा यासु, पूष्णाणां शीर्षाण्येव कच्छपा यासु तथाभूताः, हता द्विपा गजा एव द्वीपा अन्तरीपभूमयः, हया अश्वा एव ग्रहाः। तैश्चाऽऽकुला व्याप्ताः ॥ २६ ॥

करा ऊरवश्चैव मीना यासु, नराणां केशा एव शैवलं यासु ताः, धनूंष्येव तरङ्गा, आयुधान्येव गुल्मानि च तैश्च सङ्कुलाः आस्थूरिकाश्चक्राणि ता एवाऽऽवर्ताः तैर्भयानकाः महामणीना प्रवेकाः श्रेष्ठाः उत्तमाभरणानि च यथायथं शिलाश्शर्कराश्च यासु ताः॥ २७॥

भीरूणां भयावहाः मनस्विनां धीराणां मिथो हर्षकारिण्यः। विनिघ्नतेति। किञ्च-अङ्ग! हे राजन्! अपरिमेयमपरिच्छेद्यं तेजः पराभिभवसामर्थ्यं यस्य तेनाऽरीन् शत्रून् मुसलेनाऽऽयुधेन विनिघ्नता ताडयता, सङ्कर्षणेन कर्त्रा ॥ २८॥

तन्निहतावशिष्टं मगधेन्द्रेण[2] पालितं अर्णववद्दुर्गमं भैरवञ्च बलं क्षयं प्रणीतं नाशितमित्यर्थः। अद्भुतमेतत् द्वाभ्यामेव त्रयोविंशत्यनीकात्मकं बलं हतमिति विस्मयमानं राजानं प्रत्याह -वसुदेवपुत्रयोरिति। यदुक्तं रामकृष्णयोः कर्म केवलं जगदीश्वरयोस्तयोः क्रीडितं क्रीडामात्र मेव न तु पराक्रमः इति भावः ॥ २९ ॥

न चाऽत्र विस्मयः कार्य इत्याह - **स्थितीति** । स्थित्यादिनां समाहारद्वन्द्वः । यो भगवानसंख्येयकल्याणगुणः स्वलीलयैव त्रिलोक्याः स्थित्यादिकर्मैवेहते करोति। तस्य शत्रुपक्षनिग्रहो न चित्रं नाऽऽश्चर्यविषयः । तर्हि किमिति वैचित्र्येणोपवर्ण्यते

इत्यत आह-तथापीति। चित्रत्वाभावेऽपि मर्त्या ननुविधत्ते अनुकरोतीति तथा, तस्य वर्ण्यते, कर्मेति शेषः। मर्त्यानुविधस्य अमानुषं कर्म चित्रमेवेत्यभिप्रायेण वर्ण्यत इति भावः ॥ ३० ॥

---

1 B.T.W ०ज्ञानि कुम्भानि 2 A,B,T ०न्द्र पा°

विज० निर्भिन्नकुम्भाः विदलीकृतमूर्धानः अनीकशः राशिशः करिप्रभृतयो निर्भिन्नकुम्भादयो बभूवुरित्यन्वयः ॥ २५॥

अङ्गप्रसूताः देहोत्पन्नाः असृगापगा रुधिरनद्यः भुजा एवाऽहयो यासु तास्तथा। एव मुत्तरद्वाऽपि। कच्छपाः कूर्माः द्विपा एव द्वीपाः अन्तरद्वीपाः, हया एव ग्रहा ग्राहाः ॥ २६ ॥

धनुस्तरङ्गैः आयुधगुल्मैश्च सङ्कुलाः आस्फूर्जिताः उन्नतस्थलादधः तज्जलध्वनयः तैरावर्तैः जलभ्रमणैश्च भयानका भयप्रदा वृत्तफलकध्वनयो वा स्फूर्जितास्त एव आवर्ता, महामणिप्रवेकाः, प्रवेका उत्तमाः एवाऽऽमान आभरणान्येव शर्करा यासु तास्तथा ॥ २७ ॥

सङ्कर्षणेन एवंविधा असृगापगाः प्रवर्तिता इत्यन्वयः ॥ २८ ॥

अङ्ग! हे विष्णुरात! यन्मगधेन्द्रेण पालितम् अर्णववर्दुर्गमम्, अत एव भैरवं दुरन्तपारं चक्षुरविषयतीरान्तरम् अनवसितसमाप्ति वा तद्बलं कृष्णरामाभ्यां क्षयं प्रणीतमित्यन्वयः। जगदीश्वराभ्यामनायासेन कृतमेतद्युद्धमित्याह-वसुदेवपुत्रयोरिति। जगदीशयोः वसुदेवपुत्रयोः तद्युद्धं परं केवलं विक्रीडितं क्रीडामात्रमेव ॥ २९ ॥

योऽनन्तगुणो भुवनत्रयस्य स्वलीलया स्थित्युद्भवान्तं समीहते करोति स्थितिः उद्भवश्च अन्तश्च ततथा मिथो विरुद्धत्वादेकवद्भावः। यद्यपि तस्य हरेः परपक्षनिग्रहः चित्रं न भवति तथाऽपि मर्त्यानुविधस्य मनुष्यधर्ममनुकुर्वतो हरेस्तद्युद्धं बुद्धचवतारार्थं वर्ण्यते प्रशस्यते इत्यन्वयः ॥ ३० ॥

विजयध्वजरीत्या अधिकपाठः

**हतेषु सर्व सैन्येषु जरासन्धो महाबलः ॥ 50 ॥**

**विद्रुतेष्ववशिष्टेषु रथेनैकेन सीरिणम्।**
**तावुभौ गिरिसङ्काशौ मत्ताविव महागजौ ॥ 51 ॥**

**मागधस्तु गदां गुर्वीं मादायाऽमर्षविह्वलः**
**भ्रामयित्वा शतगुणश्चिक्षेप बलवक्षसि ॥ 52 ॥**

**तमापतन्तीं तरसा गदां शृङ्गोपमां गिरेः।**
**व्यंसयित्वा हलधरो मुधा चक्रे स्मयन्निव ॥ 53 ॥**

व्यर्थीकृत्य गदां तस्य मुसलेन हलायुधः।
पोथयित्वा रथे क्षुब्धो निहत्य रथसारथी ॥ 54 ॥

---

1 K क्षुब्धे

विज० सीरिणं बलभद्रम्, आपेति शेषः ॥ 50 ॥

व्यंसयित्वा वञ्चयित्वा ॥ 51 - 54 ॥

जग्राह विरथं रामो जरासन्धं महाबलम्।
हतानीकावशिष्टासुं सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ ३१ ॥

बध्यमानं हतारातिं पाशै वरुणमानुषैः।
वारयामास गोविन्दस्तेन कार्यचिकीर्षया ॥ ३२ ॥

स मुक्तो लोकनाथाभ्यां व्रीडितो वीरसम्मतः।
वनं विविक्षु स्तपसेवारितः पथि राजभिः ॥ ३३ ।

★ वाक्यैः पवित्रार्थपदैर्नयैश्च प्राकृतैरपि।
स्वकर्मबन्धप्रामोऽयंयदुभिस्ते पराभवः ॥ ३४ ॥

श्रीशुक उवाच

हतेषु सर्वानीकेषु नृपो बार्हद्रथस्तदा।
उपेक्षितो भगवता मगधान्दुर्मना ययौ ॥ ३५ ॥

मुकुन्दोऽप्यक्षतबलो निस्तीर्णारिबलार्णवः।
▲ गृहीत्वा मागधेन्द्रस्य धनं स्त्रीकोशवाहनम्।
विकीर्यमाणः कुसुमैः त्रिदशैरनुमोदितः ॥ ३६ ॥

माधुरै रुपसङ्गम्य विज्वरै र्मुदितात्मभिः।
उपगीयमानविजयस्सूतमागधवन्दिभिः ॥ ३७ ॥

---

1 B.G.J.M.Ma सिंहमिवौजसा 2 M Ma ०नीकं 3 - -3 B.G.J. तपसे कृतसङ्कल्पो; M.I.V विविक्षु स्तपसेऽरण्यं ★ This half verse is not found in M.Ma edns. 4 K.W निचिता° 5 B.G.J. नयनैः W न्यायैश्च 6- -6 W बन्धनप्राप्तो 7- -7 B G.J.M.Ma M I V omit 8 M Ma मागधो दु°। ▲ This half verse is found in M.Ma edition only.

**श्रीध०** किञ्च, **जग्राहेति** हतान्यनीकानि यस्य, अवशिष्टा असव एव यस्य तञ्च तञ्च॥ ३१ ॥

**बध्यमान** इति। हता बहुशोऽरातयो येन तं तथाभूतमपि जरासन्धं **बध्यमानं वारयामासेति**[1] ॥ ३२,३३॥

**वाक्यै रिति।** पवित्रार्थानि धर्मोपदेशपराणि पदानि येषु तैर्वाक्यैः[2] नयै र्नीतिभिः, प्राकृतै र्लौकिकैः। तत्र लौकिकन्याय-माहुः- स्वकर्मेति। यदुभिरल्पकैः कृत्वा ते महतः पराभवः केवलं **कर्मबन्धेनैव**[3] **प्राप्तः** । **अतस्त्वया** न लज्जितव्य मिति ॥ ३४ ॥

**हतेष्विति।** बार्हद्रथो जरासन्धः ॥ ३५ ॥

**मुकुन्द** इति। मुकुन्दोऽपि, यथावित्यनुषङ्गः । न क्षतं बलं यस्य सः। तस्यैवामृतदृष्ट्या क्षतप्रतिसन्धाना-दितिभावः। निस्तीर्णः अनायासेनैव तीर्णः अरिबलार्णवो येन सः, साधु सध्वित्यनुमोदितश्च ॥ ३६ ॥

**माधुरैरिति।** प्रत्युद्गतैर्[4]मधुरावासिभिर्जनै रुपसङ्गम्य मिलित्वा॥ ३७ ॥

1 MIV omit इति 2 BJ नयैः 3 BJ omit एव 4 J चतैः

**वीर० जग्राहेति।** हतान्यनीकानि सैन्यानि यस्य, अवशिष्टा असवः प्राणा एव यस्य स चाऽसौ सच तम्, विरथं जरासन्धं जग्राह गृहीतवान् यथा सिंहः क्षुद्रमृगं गृह्णाति तद्वत् ॥ ३१ ॥

**बध्यमान**मिति। हता अरातयो येन तं, वाक्णैर्मानुषैश्च पाशैस्साधनैर्बध्यमानं जरासन्धं, रामेणेति शेषः। गोविन्दः, दृष्टेति शेषः । वारयामास, राममिति शेषः । तत्र हेतुः- तेन जरासन्धेन सह, यत्कार्यं पुनर्युद्धात्मकं तत्कर्तु मिच्छया हेतुभूतया न्यवारयदिति सम्बन्धः ॥ ३२ ॥

स इति। लोकनाथाभ्यां रामकृष्णाभ्यां विमुक्तस्स वीरश्रेष्ठो जरासन्धः तावत्तपसे तपश्चरितुं वनं प्रवेष्टुमिच्छुः पथि राजभिश्शिशुपालादिभिः कर्तृभिः विचित्राः अर्थाः पदानि शब्दाश्च येषु तैर्वाक्यैः प्राकृतैर्नयैर्न्यायैश्च साधनैर्वारितः। अत्र लौकिकन्यायमाहुः - स्वकर्मेति। यदुभिरल्पकैः महतस्ते पराभवः केवलं स्वकर्मबन्धप्राप्तः इत्येवंविधै र्नयैरिति सम्बन्धः ॥ ३३,३४ ॥

**हतेष्विति।** सर्वेष्वनीकेषु हतेषु सत्सु बार्हद्रथो जरासन्धो राजा भगवतोपेक्षितो **दुःखितचित्तो** मगधान् जनपदान् ययौ ॥ ३५ ॥

**मुकुन्द इति।** अक्षतमविहतं बलं स्वीयं[1] यस्य, निस्तीर्णः अरीणां बलमेवार्णवो येन तथाभूतः मुकुन्दः। अपिः त्वर्थः मुकुन्दस्तु इत्यर्थः। साधुसाध्विति देवैस्तुमोदितः कुसुमैर्विकीर्यमाणश्च। विगतः ज्वरः शत्रुपीडात्मको येभ्यस्तैः। अत एव मुदितचित्तै र्माधुरैर्जनै रुपसङ्गम्य मिलित्वा सूतादिभिः उपगीयमानो विजयो यस्य तथाभूतो ययाविति सम्बन्धः। तत्र सूताः पौरुषप्रकाशकाः, मागधाः गायकाः, वन्दिनः स्तुतिपाठका इति विवेकः ॥ ३६,३७ ॥

1 B adds स्वकीयं

**विज०** हतानीकश्च हतसेनश्च अवशिष्टासुश्च अवशिष्टप्राणश्च स तथा तम्। हतानीकावशिष्टास्विति पाठे क्रियाविशेषणम् ॥ ३१ ३२ ॥

मुक्तो विसृष्टः ॥ ३३-३७ ॥

**शङ्खदुन्दुभयो नेदु र्भेरीतूर्याण्यनेकशः।**
**वीणावेणुमृदङ्गानि पुरं प्रविशति प्रभौ॥ ३८ ॥**

**सिक्तमार्गां हृष्टजनां पताकाभिरलङ्कृताम्।**
**निर्घुष्टां ब्रह्मघोषेण कौतुकाबद्धतोरणाम्॥ ३९ ॥**

**निचीयमानो नारीभि र्माल्यदध्यक्षताङ्कुरैः।**[1]
**निरीक्ष्यमाण स्सस्नेहं प्रीत्युत्कण्ठितलोचनैः॥ ४० ॥**[2]

**आयोधनाऽऽगतं वित्तमनन्तं वीरभूषणम्।**[3] [4]
**यदुराजाय तत्सर्व माहृतं प्रादिशत् प्रभुः★ ॥ ४१ ॥**[5]

1 M.V. °र्माला 2 B,G,J,M,Ma. °त्कति० 3 K.W. °नगं° 4 K. °आहृतं 5 M, V. विभुः

★ अत्र श्रीविजयध्वजरीत्या एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायस्समाप्तः॥ ४९ ॥

**श्रीध० शङ्खेति।** तदा प्रभौ[1] पुरं[1] प्रविशति सति शङ्खादयो नेदुः॥ ३८ ॥

**कथम्भूतां पुरम्?**[2] तदाह- **सिक्तेति। ब्रह्मघोषेण** वेदघोषेण निर्घुष्टां निनादितां कौतुकेनोत्सवेन आ[3] समन्तात् बद्धानि तोरणानि यस्यां ताम्॥ ३९ ॥

**निचीयमान** इति। निचीयमानः विकीर्यमाणः प्रविवेशेति, विपरिणामतोऽनुषङ्गः॥ ४०

**आयोधनेति**। आयोधनं रणभूमिः तत्रस्थं वित्तं वीराणां भूषणम्॥ ४१ ॥

1- -1 V omits 2 MIV पुरीम्?3 BJ सर्वतः 4 BJ °घताऽनु०

**वीर० शङ्खेति**। प्रभौ भगवति पुरं प्रविशति सति शङ्खादयो नेदुः दध्वनुः, भेर्यश्च तूर्याणि च तानि परवल्लिङ्गता, तथा वीणावेणुमृदङ्गानीति च॥ ३८ ॥

पुरं विशिनष्टि **सिक्तमार्गामिति**। सिक्ताश्चन्दनाम्बुभिः मार्गाः यस्यां, हृष्टा जना यस्यां तां, ब्रह्मघोषेण वेदपाठघोषेण निनादिताम्, कौतुकेनोत्सवेन आ सर्वतो बद्धानि तोरणानि यस्यां ताम्॥ ३९ ॥

**निचीयमान** इति। मालामर्हन्तीति माल्यानि कुसुमानि तत्प्रभृतिभिर्निचीयमानः विकीर्यमाणः प्रीत्या उत्कण्ठितानि भरितानि लोचनानि येषां तैः, जनैरिति शेषः। स्नेहेन सहितं यथा तथा निरिक्ष्यमाणो मुकुन्दः प्रविवेशेति विपरिणतेनाऽन्वयः॥ ४०॥

ततः किं कृतवान् तदाह **आयोधनेति**। आयोधनं रणभूमिः तत्र आ समन्तात् गतं स्थितं यत् तत् सर्वमाहृतं आनीत वीराणा भूषणं यदुराजायोग्रसेनाय प्रादिश त्समर्पितवान्॥ ४१ ॥

1 B लिङ्गवचनाः 2--2 KTW omit 3 KTW omit वि 4- -4 KTW omit 5 K omits स्थितं 6 KTW omit तत्

**विज०** पुरं प्रविशति सति दुन्दुभ्यादयो नेदुरित्यन्वयः॥ ३८ ॥

कौतुकाभिर्दण्डमालाभिराबद्धतोरणाम्॥ ३९ ॥

निचीयमानः राशीक्रियमाणः॥ ४० ॥

यदुराजाय उग्रसेनाय॥ ४१ ॥

## अधिकपाठे प्रथमोऽध्यायः

(इत आरभ्य विजयध्वजतीर्थीयपठितश्लोकाः)

### श्रीशुक उवाच

**तृतीये मासि भूयश्च राजा बार्हद्रथो बली।**
**दिवानिशं तप्यमानः स्मरन्पूर्वपराभवम्॥ 55 ॥**

**आहूय सर्वभूपालान् चकार कलहोद्यमम्।**
**स मत्स्यान् मालवांश्चेदीन् कुरुपाञ्चालकेरलान्॥ 56 ॥**

कलिन्दकुन्तलावन्ति काशीगान्धारसृञ्जयान्।[2]
कलिङ्गकेकयानान्ध्रान् दशार्णान्वङ्गसैन्धवान्॥ 57 ॥

मद्रान् त्रिगर्तान् सौवीरान् पार्वतेयांश्च सर्वशः।
आहूयाक्षौहिणिगणैः त्रयोविंशतिभिर्युतः॥ 58 ॥

स मागधानतिक्रम्य पश्चिमाभिमुखो ययौ।
आकर्षन्निव भूपालान् गजाश्वरथवल्लभान्॥ 59 ॥

आगत्य मथुरां रोद्धुं प्राविशद्यमुनातटे।
स्कन्धावारेण महता राजभिर्बहुभिर्वृतः॥ 60 ॥

उपगीयमानो न्यरमत्सूतमागधवन्दिभिः।
तदाकर्ण्य रणोद्योगं मागधस्य बलीयसः॥ 61 ॥

मन्त्रयामास शर्वर्यां कृष्णः सङ्कर्षणादिभिः।
वसुदेवोद्धवाक्रूरशैनेयाहुकसारणैः॥ 62 ॥

एभिरालोच्य शर्वर्यां सम्याङ्निर्धारितक्रियः।
उषस्यनुदिते सूर्ये समाहूय भटोत्तमान्॥ 63 ॥

त्रिधा विभज्य गोविन्दः स्वसेनां चतुरङ्गिणीम्।
न्ययोजयदमेयात्मा मागधेन्द्रबलं प्रति॥ 64 ॥

सङ्कर्षणश्च हार्दिक्यं गदं सारणमेव च।
वामेन प्रेषयामास मार्गेण मधुसूदनः॥ 65 ॥

सात्यकिं विपृथुञ्चैव पृथुमुद्धव मेव च।
दक्षिणेनैव मार्गेण प्राहिणोत्सेनया सह॥ 66 ॥

स्वयं कतिपयैर्युक्तो रथैः कमललोचनः।
अग्रे मगधराजस्य प्रविवेश महद्बलम्॥ 67 ॥

सा सेना बहुनागाश्वरथपादातिसङ्कुला।[3]
प्रसुप्ता यमुनातीरे विस्रब्धा रमते सुखम्॥ 68 ॥

उदयाद्रिं समारोह्त्यर्के तमसि नश्यति।
नीडस्थेष्वेव कूजत्सु विहङ्गेषु[4] तत स्ततः॥ 69 ॥

विकसत्सु सरोजेषु गाय त्स्वलिकुलेषु च।
प्रविवेश बलं भीमं मागधेन्द्रस्य दुर्जयम्॥ 70 ॥

1 K कदनो० 2 B,G,J,M,Ma,MI,V W काशि 3 K पादात 4 K ०गेषु

विज० स्कन्धावारेण सैन्यनिवेशार्थं वस्त्रविरचितपुरान्तःपुरादि गृहनिचयेन॥ 55-70 ॥

हयाश्वा बद्धवैराणाः[1] श्रेणीबद्धा स्समन्ततः।
कुञ्जराश्च तदा राजन्ननारोपितपञ्जराः॥ 71 ॥

अनादत्तप्रहरणा भटाश्चाबद्धमूर्धजाः।
अप्रविष्टामवर्माणः तदाऽनारूढवाहनाः॥ 72 ॥

रथाश्चाबद्धतुरगा सर्वतोऽनुद्धृतध्वजाः[2]।
सेनायां मगधेन्द्रस्य प्रवेशो पीतवाससः॥ 73 ॥

त्रिदिक्ष्वापतितं सैन्यं दृष्ट्वा तद्राजमण्डलम्।
इतिकर्तव्यतामूढं विभ्रान्तं समपद्यत॥ 74 ॥

केचिद्भटा[3] स्समापेतुर्भयात्केचिच्च दुद्रुवुः।
केचिदात्तप्रहरणा स्त्वभिससुररीन् रणे॥ 75 ॥

केचिद्विभिन्नवर्माण श्छिन्नपादोरुबाहवः।
रिपूनेवाभ्यवर्तन्त क्रोधोद्धृत्तारुणेक्षणाः॥ 76 ॥

केचिद्धयानपर्याणा[4] नारुह्य[5] दृढविक्रमाः।
मर्दयन्तो रिपून् युद्धे विमलं लेभिरे यशः॥ 77 ॥

---

1 K पत्याणाः 2 B,K °द्धत 3 K °भ्रीता० 4 K °त्या० 5 K °ह्यारूढ

विज० 'हय गतौ, इति धातुः। हयत्यनेनेति हयः, वैराणं पत्याणम् अश्वपृष्ठासनमित्यर्थः, श्रेणीबद्धाः पङ्क्तिबद्धाः। पञ्जरं गजानां पृष्ठे शत्रुमुक्तशरस्तम्भियन्त्रगृहम्॥ 71 ॥

अनादत्तप्रहरणाः अस्वीकृतायुधाः॥ 72 ॥

पीतवाससः श्रीकृष्णस्य प्रवेशे प्रवेशसमये॥ 73 ॥

विभ्रान्तमनवस्थानम्॥ 74,75 ॥

तदा जरासन्धसेनावस्थाप्रकारं कथयति- केचिदिति॥ 76 ॥

पर्याणमुभयपार्श्वावलम्बकमापदं, कविका वा॥ 77 ॥

राजान स्सहसोद्युध्य दृष्ट्वा सैनिकसंक्षयम्।
विना रणोपस्करणं चक्रुः केचन सङ्गरम्॥ 78 ॥

केचि द्विसृज्य शिबिरं विविशुर्गृहनं वनम्।
केचिन्मागध मासाद्य विजयस्वेति चाऽब्रुवन्॥ 79 ॥

रथेनैकेन गोविन्दः प्रविश्य रिपुवाहिनीम्।
जघान स बहून् वीरान् सायुधान्सरणोद्यमान्॥ 80 ॥

सङ्कर्षणोऽपि बलवान् महत्या सेनया वृतः।
बलं प्रविश्य वामेन मर्दयामास मागधम्॥ 81 ॥

शैनेयोऽ पि महाबाहु र्दक्षिणेनैव वर्त्मना।
प्रविश्य चतुरङ्गेण सैन्येन महताऽर्दयत्॥ 82 ॥

एवं सा व्यथिता सेना मागधेन्द्राभिरक्षिता।
दुद्राव क्षत्यमाना वै क्षणमात्रं दिशो दश॥ 83 ॥

तामनुद्रुत्य वार्ष्णेयः सात्यकिः पञ्चयोजनम्।
निहत्य मागधं सैन्यजयी व्यावर्तताऽऽहवात्॥ 84 ॥

मतङ्गजान्पर्वतसन्निभान्बहू न्निगृह्य सोपस्करतोमराङ्कुशान्।
रथांश्च शस्त्रध्वजवाजिसंयुता न्निनाय कृष्णो मधुरां मनोरमाम्॥ 85 ॥

छत्राणि हेमाम्बररत्नमिश्रिता न्यनेकवालव्यजनानि माधवः।
किरीटपट्टाङ्गदकुण्डलांशुका न्यवाप कृष्णोऽगणितानि संयुगे॥ 86 ॥

**हलायुधो मागधकोशवाहन प्रजावरोधायुधभूषणादिकम्।**
**नियोजितः कंसभिदा रणार्जितं यदुप्रवीराय धनं न्यवेदयत्॥ 87 ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे अधिकपाठे प्रथमोऽध्यायः॥

6- -6 K. सैकतसञ्चयम् 7 K. सयुगम् 8 K द्राव्य 9 K ततोऽनु०

**विज०** रणोपस्करणम् युद्धसाधनम्॥ 78-83 ॥

मगधस्य अधिपतिः मागधः तस्य मागधस्य विद्यमानमपि मागधं सैन्यम्; अन्यथा मागधं निहत्येत्यनन्वितं स्यात्॥ 84,85॥

हेमाम्बरादीनि छत्राणीत्यस्य विशेषणानि॥ 86,87 ॥

श्रीमद्भागते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे अधिकपाठे प्रथमोऽध्यायः।
विजयध्वजरीत्या पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५० ॥

## अधिकपाठे द्वितीयोऽध्यायः

### श्रीशुक उवाच

**मागधस्तु रणश्लाघी माधवेन पराजितः।**
**जगाम शोणितपुरं बाणं द्रष्टुं बले स्सुतम्॥ 88 ॥**

**तं तथाऽऽयान्तमाकर्ण्य वृतराजन्यमण्डलम्।**
**मित्रं पराजितं युद्धे विष्णुना दानवेश्वरः॥ 89 ॥**

**अलङ्कृतैर्गजैरश्वैर्विचित्रस्यन्दनैर्भटैः।**
**वारकान्ताकदम्बैश्च सूतमागधवन्दिभिः॥ 90 ॥**

**ध्वजैः पताकै श्छत्रैश्च माङ्गल्यैः पटहस्वनैः।**
**सुवर्णतोरणैश्चित्रै र्दीपैः कलशदर्पणैः॥ 91 ॥**

**उपतस्थे जरासन्धं बाणो बाहुसहस्रवान्।**
**तौ दृष्ट्वा परमस्निग्धौ परस्परमनोनुगौ॥ 92 ॥**

**पूजां चक्रतुरन्योन्य मन्योन्यप्रियकारिणौ।**
**ततोऽब्रवीज्जरासन्धो बाणमाभाष्य संसदि॥ 93 ॥**

दानवेन्द्र! निबोधेदं गोपेनाऽधर्मचारिणा।
रात्रौ चौर्यप्रतापेन वञ्चितोऽस्मि दुरात्मना॥ 94 ॥

गृहीता बहवस्तुङ्गा मातङ्गा मदशालिनः।
तुरङ्गमाश्च बहवो रथाश्च सचरिच्छदाः॥ 95 ॥

द्वन्द्वेन सज्जमानं मा मिमे भूपा न सेहिरे।
निरुद्धस्तैरहं भूपै रेतैस्समसुखासुखैः॥ 96 ॥

त्वत्सन्निधिमिहाऽऽयातः साहाय्यं कुरु मे प्रभो।
इत्युक्तस्तं निजपुरं प्रवेश्य बलिनन्दनः॥ 97 ॥

स राजमण्डलायाऽऽशु कारयामास सत्क्रियाम्।
भोजनस्नानशयनगन्धताम्बूलपूर्वकैः॥ 98 ॥

अर्हणै रर्हयामास सराजन्यं जरासुतम्।
तं भुक्तवन्तं विश्रान्तं दृष्टदर्शनकौतुकम्॥ 99 ॥

अलङ्कृतं सह नृपै रासीनं काञ्चनासने।
उवाच दानवपतिं नृपानाभाष्य सादरम्॥ 100 ॥

बाण उवाच

जरासन्ध! निबोधेदं न मृषा कथ्यते मया।
एते गजा इमे ह्यश्वा इदं राज्यमिमाः प्रजाः।
त्वदधीन मिदं विश्वं यच्चाऽन्यद्वस्तु विद्यते॥ 101 ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै मागधाय बलेस्सुतः
गजानां षष्टिसाहस्रं रथानां नियुतं तथा।
प्रयुतं च तुरङ्गाणां मनोमारुतरंहसाम्॥ 102 ॥

दानवानां प्रसिद्धानां मायासङ्ग्रामवेदिनाम्।
त्रिशतं स्वात्मसाम्यानां ददौ बाणो बलेस्सुतः॥ 103 ॥

विचित्रशिबिकाच्छत्रव्यजनाऽऽकल्पवाससाम्।
असङ्ख्यातं ददौ राजन् भाण्डशय्यासनादिकम्॥ 104 ॥

कुम्भाण्डं कूपकर्णञ्च मन्त्रिणौ दैत्यसत्तमौ।
आज्ञापयामास बाणः साहाय्यार्थं कुरूद्वह!॥ 105 ॥

विज० रणश्लाघी अत्युत्कटरणमाकाङ्क्षमाणः॥ 88,89 ॥

वारकान्ताकदम्बैः गणिकास्त्रीनिकरैः॥ 90 ॥

माङ्गल्यै र्मङ्गलद्योतकैः॥ 91,95 ॥

द्वन्द्वेन युद्धेन॥ 96,97 ॥

सत्क्रियां सत्कारम्॥ 98॥

राजसैन्यसहितं दृष्टं दर्शनकौतुकं स्वप्नकौतुकं येन स तथा। स्वप्ने कौतुकं दृष्ट्वा कौतूहलबुद्धि र्भवति, तथा बाणसम्पदं दृष्टवानित्यर्थः "दर्शनं चक्षुषि स्वप्ने बुद्धिशास्त्रोपलब्धिषु" (वैज.को. 7-3-17) इति॥ 99-101॥

रथानां नियुतं लक्षम्॥ 102-105 ॥

क्व सुरासुरसङ्घात संहारणपटुर्हरिः।
कुम्भाण्डकूपकर्णौ क्व वराकौ बाणमन्त्रिणौ॥ 106 ॥

अजानन्तो विष्णुशक्तिं भूपाला विनशिष्णवः।
चक्रु र्भूयो रणोद्योगं मागधेन प्रचोदिताः॥ 107 ॥

बाणेन समनुज्ञातो मागधः शोणितात्पुरात्।
निर्गत्याऽनेकभूपालचतुरङ्गबलान्वितः।
दीनैः कतिपयैर्भूयो मधुरामन्वपद्यत॥ 108 ॥

सन्निरुध्य पुरद्वारं गोपुराट्टालतोरणैः।
दीर्घिकोपवनोद्यानै रुपेतं सालभूषितम्॥ 109 ॥

कुन्तैः कुठारैः कुद्दालै र्दण्डभारैश्च भूरिभिः।
कर्षणस्थैश्च पाषाणै र्बभञ्ज परितः पुरम्॥ 110 ॥

भज्यमाने पुरे तस्मिन् श्रुत्वा मागध मागतम्।
सन्नाहभेरीस्सन्नाद्य रामकृष्णावमर्षिणौ॥ 111 ॥

रथाश्वकुञ्जरानीकै स्सायुधैस्सपरिच्छदैः।
सात्यकिं कृतवर्माण मुग्रसेनं तथा गदम्॥ 112 ॥

आहुकं वसुदेवञ्च पुरस्कृत्य महाबलौ।
निर्जग्मतुरसम्भ्रान्तौ दीप्तौ केसरिणौ यथा॥ 113 ॥

मधुराया विनिर्गत्य कृष्णः कमललोचनः।
पाञ्चजन्यं महाशङ्खं प्रदध्मौ रिपुभीषणम्॥ 114 ॥

ततः प्रववृते युद्धं यदूनां क्षत्रियै स्सह।
कुम्भाण्डकूपकर्णौ च दानवौ बाणमन्त्रिणौ॥ 115 ॥

दैत्यसैन्येन महता वृतौ मायाविशारदौ।
युयुधाते महावीर्यौ मायया वृष्णिभिस्सह॥ 116 ॥

स्वसैन्यं मायया क्लिष्टं दृष्ट्वा यादवसत्तमः।
विज्ञानास्त्रेण तन्मायामपास्य निमिषान्तरे॥
सात्यकिं कृतवर्माणं प्रोवाचाऽऽहवलालसौ॥ 117 ॥

आभ्यां[1] भवन्तौ रणदुर्मदाभ्यां रणं सुघोरं कुरुतं रणप्रियौ।
तावेवमुक्तौ कदनं भयानकं महाबलौ सम्प्रति चक्रतु र्नृप॥ 118 ॥

चापेनैकेन गोविन्दः क्षत्रियै श्शतसम्मितैः।
युयुधे नहि तच्चित्रं राजन्विश्वात्मनो हरेः॥ 119 ॥

केचिद्धतास्समापेतुः कुञ्जरा श्छिन्नपुष्कराः।
निपेतुर्बहवो राजंस्तुरङ्गाः कृत्तकन्धराः॥ 120 ॥

विशीर्णैरास्तृता पृथ्वी स्यन्दनैश्छिन्नबन्धनैः॥ 121 ॥

भटाश्च रुधिराक्ताङ्गाश्छिन्नपादोरुबाहवः।
पेतुः कृत्तमहामूलाः किंशुका इव पुष्पिताः॥ 122 ॥

शार्ङ्गमुक्ताःशरगणाः कङ्कबर्हिणवाससः।
तैलाक्ता नतपर्वाणः स्वर्णपुङ्खा अयोमुखाः।
एकैकस्मिन् दश दश भटे चाऽश्वे शतं शतम्॥ 123 ॥

रथे रथे च साहस्रमयुतञ्च गजे गजे।
अदृश्यन्त परानीके तदद्भुत मिवाऽभवत्॥ 124 ॥

**विज०** अथ जरासन्धेन सह योद्धुं श्रीकृष्णस्य अशक्यमिति मन्दाशङ्कां परिहरति- **केति**। वराकौ षण्डतितिनिस्सारौ॥106-108 ॥

सालैः प्राकारैः भूषितम्॥ 109 ॥

दण्डभारै र्दीर्घीकृतनिशितप्राग्रखर्वमयदण्डैः, कर्षणस्थैः पाषाणयन्त्रनिहितैः॥ 110-112 ॥

दीप्तौ क्रोधेन ज्वलितौ॥ 113-116 ॥

आहवलालसौ युद्धोत्सुकौ॥ 117-118 ॥

शतसम्मितैः शतसंख्यापरिमितैः॥ 119 ॥

छिन्नपुष्कराः द्विधाकृत्तहस्ताः॥ 120-122 ॥

कङ्कानां लोहपृष्ठानां बर्हिणां मयूराणां पक्षा एव वासांसि येषां ते॥ 123-124 ॥

---

1 B ताभ्यां

तथा तै रर्द्यमानेषु चतुरङ्गेषु मागधः।
रथेन क्रोडचिह्नेन बलभद्र मुपाद्रवत्॥ 125 ॥

स पूर्ववैरं नृपतिः स्मरन् रुषा रथं महाकाञ्चनतालकूबरम्।
आलक्ष्य दूरादधिगम्य रंहसा जरासुतः प्राह हलायुधं गदी॥ 126 ॥

आदत्स्व ते मुसलं राम तूर्णं येनाऽहिता निच्छसि जेतुमाहवे।
बलञ्च बाह्वोस्तव दर्शयाऽऽशु मे यावद्रदां न प्रहराम्यहं त्वयि॥ 127 ॥

इत्येव मुक्तो मगधेश्वरेण सङ्कर्षणोऽमर्षणविह्वलेक्षणः।
आदाय घोरं मुसलं तटित्प्रभं दण्डं यथा सूर्यसुतो युगक्षये॥ 128 ॥

आवर्तयित्वा मुसलं हलायुध स्सहस्रकृत्वो रिपुदर्पहारिणम्।
धूमाङ्कुरोद्गारिणमाशु तस्मै चिक्षेप राजन् व्यनदद्वरिर्यथा॥ 129 ॥

रामबाहुविमुक्तेन मुसलेन जरासुतः।
साश्वसूते रथे क्षुब्धे क्षणेन व्यंसितस्त्वयम्॥ 130 ॥

ततः कालायसीं गुर्वीं गिरिकूटोपमां गदाम्।
बिभ्रद्गुर्वीं पदा पृथ्वीं चालयन्नभ्यगाद्बलम्॥ 131 ॥

तमापतन्तमालोक्य विरथं रोहिणीसुतः।
तमेवाऽभ्यद्रवत्पद्भ्यां विसृज्य स्यन्दनं रणे॥ 132 ॥

पश्यतां सर्वभूतानां मागधः क्रोधविह्वलः।
आवर्तयन्गदां गुर्वीं मयस्सारमयीं दृढाम्।
अभ्येत्य गदया रामं प्रजहार ननाद च॥ 133 ॥

---

विज० क्रोडचिह्नेन वराहलक्षणेन ध्वजेन॥ 125 ॥

काञ्चनतालश्च कूबरः युगन्धरश्च यस्मिन् स तथा॥ 126-127 ॥

सूर्यसुतो यमः॥ 128 ॥

हरिः सिंहः॥ 129 ॥

स्वयं मागधो व्यंसितो वञ्चितः॥ 130 ॥

कालायसीं कृष्णायोमयीम्॥ 131-133 ॥

तां गदां पतितां वक्ष स्यश्मकुट्टनिभां दृढाम्।
वामेन जगृहे रामः स्वहस्तेन कुरूद्वह॥134 ॥

विसृज्य स गदां तूर्णं मुरस्याऽऽहत्य मागधम्।
जग्राहाऽऽश्लिष्य बलिनं बलवान् रोहिणीसुतः॥ 135 ॥

बबन्ध पद्भ्यां जठरं मागधस्य हलायुधः।
चकार कुक्षौ तत्कण्ठं ततस्तौ पेततु र्भुवि॥ 136 ॥

तयो र्निपततो राजन्नुपर्वासीद्बलायुधः।
तं मागधं क्षणेनाऽधश्चकाराऽमितविक्रमः॥ 137 ॥

तत उत्थाय तौ वीरौ क्रोधसंरक्तलोचनौ।
भूयो जग्राहतु र्घोरौ मत्तौ द्वाविव कुञ्जरौ॥ 138 ॥

तावुभौ परमक्रुद्धौ परस्परवधैषिणौ।
उरसोरः समाहत्य भीमौ चक्रुषतू रणे॥ 139 ॥

एवं धनुश्शतशतं तावाकृष्य परस्परम्।
निकटस्था न्द्रुमान् शैलां श्चूर्णयामासतु र्नृप॥ 140 ॥

तं विसृज्य जरासन्धो गदामादाय दुर्मदः।
उदतिष्ठदमेयात्मा रामोऽपि स महाबलः।
क्षणादादत्त मुसलं प्रहर्तुमुपचक्रमे॥ 141 ॥

तं कामपालो मुसलेन मूर्ध्नि जत्रुण्यंसे भुजयोर्नाभिदेशे।
ऊरौ च जानौ जठरे च वक्षस्यनेकशो वै प्रजहार युद्धे॥ 142 ॥

तं मागधो वक्षसि कन्धरे च मुखे ललाटे चुबुके तथांसे।
नाभौ नितम्बे च तथैव पार्श्वे समं स मानी प्रजहार रामम्॥ 143 ॥

एवं प्रहरतोस्तत्र राममागधयो र्मृधे।
राजानो रणसंविग्ना बभूवु र्भृशपीडिताः॥ 144 ॥

क्रमेण ते विमनसो निवृत्तकदनोद्यमाः।
आस न्नासन्ननिधनं मन्वाना मागधेश्वरम्॥ 145 ॥

सात्यकिस्तु महातेजास्सङ्गरे बाणमन्त्रिणा।
युध्यमान स्त्रिभिर्बाणैः कुम्भाण्डेन समर्दितः॥ 146 ॥

सोऽतिविद्धो महाबाहुः क्रुद्ध स्सर्प इव श्वसन्।
आददे पञ्च नाराचान् कुम्भाण्डं हन्तुमाहवे॥ 147 ॥

ततो हाहारवो जज्ञे सेनायां दैत्यमन्त्रिणः।
सात्यकि स्तं महाबाहुराकृष्याऽऽकर्णमाशुगैः॥ 148 ॥

विव्याध कुरुशार्दूल कुम्भाण्डं बाणमन्त्रिणम्।
नाभौ कण्ठे ललाटे च हृदि मूर्ध्न्यपि दानवम्॥ 149 ॥

अभिविद्धो रथोपस्थे निषसाद विचेतनः।
तं विचेतनमालोक्य दुर्मना स्तस्य सारथिः।
अपोवाह रणा त्तूर्णं रथेन भरतर्षभ॥ 150 ॥

कूपकर्णस्तु दैतेयः प्रसक्तः कृतवर्मणा।
गतं कुम्भाण्डमालोक्य प्राप्तञ्च प्राणसंशयम्।
विसृज्य कृतवर्माण मपाया त्समराङ्गणात्॥ 151 ॥

तौ विसृज्य रणं दैत्या वनापृच्छ्य च भूपतिम्।
अविसृष्टौ मागधेन हतशेषबलान्वितौ।
दैत्यौ तेनैव मार्गेण जग्मतु श्शोणितं पुरम्॥ 152 ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे अधिकपाठे द्वितीयोऽध्यायः।

1- -1 M,Ma समर्पितः:

विज० अश्मकुट्टनिभाम् अश्मसारसमाम्॥ 134-141 ॥

कामपालो बलभद्रः जत्रुणि वक्षस्स्कन्धयोर्मध्ये, अंसे स्कन्धमूले॥ 142-151 ॥

अनापृन्छ्य गमिष्यामी त्यनुक्त्वा॥ 152 ॥

इति अधिकपाठे द्वितीयोऽध्यायः।
विजयध्वजरीत्या एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५१ ॥

## अथ अधिकपाठे तृतीयोऽध्यायः।

### श्रीशुक उवाच

बाणसेनां गतां दृष्ट्वा शस्त्रौघेण भृशार्दिताः।
राजपुत्त्रा विमनसो बभूवु र्नृपसत्तम!॥ 153 ॥

गताञ्च दानवीं सेनां श्रान्तांश्च धरणीपतीन्।
दृष्ट्वा कृष्णञ्च युध्यन्तं रामस्च वेवृधे बलम्॥ 154 ॥

स मागधं गृहीत्वाऽऽजौ मौलौ वामेन पाणिना।
प्रहर्तुं मैच्छ च्छिरसि मुसलेन हलायुधः॥ 155 ॥

ततोऽन्तरिक्षे घनघोषघर्घरां शुश्राव वाणीं विशदाशरीरिणीम्।
न राम! वध्यो भवता जरासुतः सुखी निवर्तस्व रणादिति स्फुटम्॥ 156 ॥

वच स्तदाकर्ण्य हलायुधो बली विसृज्य चाऽऽस्थाय रथं रणाङ्गणात्।
न्यवर्तत ब्रह्मर्षिसिद्धसङ्घैरभिष्टुतो मागधसूतवन्दिभिः॥ 157 ॥

जरासुतस्सम्प्रति नम्रकन्धरो नृपैश्च युद्धाभिजितैस्समन्वितः।
हतावशिष्टाल्पबलेन संवृतो निवृत्तयुद्धः प्रययौ स्वकं पुरम्॥ 158 ॥

श्रीशुक उवाच

गोविन्दस्तु महातेजा स्सपत्नाञ्छरसञ्चयैः।
आच्छाद्य भूपान् विद्राव्य हत्वा च सुबहून्रणे॥ 159 ॥

संस्तूयमान स्सन्तुष्टै स्सूतमागधवन्दिभिः।
ब्राह्मणैश्च महाविद्यैः स्तोत्रं कुर्वद्भि रुच्चकैः॥ 160 ॥

अन्वीयमानो भगवान् प्राविशन्मधुरां पुरीम्।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णां तुङ्गप्राकारगोपुराम्॥ 161 ॥

चलत्कदलिकोपेतां दीपाङ्कुरविराजिताम्।
प्रविशन्राजमार्गेण स्त्रीभिः प्रासादसंस्थितैः॥ 162 ॥

पुष्पैश्च लाजाञ्जलिभिः कीर्यमाणो व्यराजत।
उपायनानि दिव्यानि पुष्पस्रगनुलेपनान्॥ 163 ॥

प्रियङ्करा माधवाभ्या मुपजह्रुः पुरौकसः।
एवं स राजमार्गेण गत्वा यादवसत्तमः॥ 164 ॥

सभां प्रविश्य विपुला मुपविश्य वरासने।
रामेण सहितो वीरः शैनेयेन च धीमता॥ 165 ॥

पूजितो यदुभि र्विप्रै र्दिवि शक्र इवाऽमरैः।
तत्राऽऽसीनै र्बुद्धिमद्भि र्यदुवृद्धैर्महात्मभिः॥ 166 ॥

उग्रसेनोद्धवमुखैरक्रूरप्रमुखैर्हरिः।
समाभाष्याऽभ्यनुज्ञात स्सङ्कर्षणसहायवान्॥ 167 ॥

द्रष्टुकामो महादुर्गं गोमन्तं पर्वतोत्तमम्।
निर्गत्य मधुरां प्रात र्दक्षिणाभिमुखो ययौ॥ 168 ॥

स रामानुगतः श्रीमानुत्तीर्य यमुनां हरिः।
देशान्बहू नतिक्रम्य पर्वतान् सरितो गिरौ॥ 169 ॥

गच्छन्कचिद्वनोद्देशे वृक्षमूलनिवासिनम्।
ददर्श कञ्चन मुनिं जटामण्डलमण्डितम्॥ 170 ॥

चीरकृष्णाजिनधरं कमण्डलुविराजितम्।
माधवौ समुपाविष्टं तेजसा भास्करोपमम्॥ 171 ॥

फलमूलकृताहारं वृतं शिष्यशतै र्मुनिम्।
दृष्ट्वा परमसन्तुष्टौ रामकृष्णौ जगत्पती॥ 172 ॥

प्रणामं चक्रतु र्वीरौ यथान्यायमतन्द्रितौ।
इदञ्चोवाच भगवान् कृष्ण स्तं मुनिपुङ्गवम्॥ 173 ॥

नमस्ते भार्गव श्रीमन् जामदग्न्य तपोधन!।
रामकृष्णौ स्मृतावावां क्वचि त्ते श्रवणं गतौ॥ 174 ॥

इत्युक्त स्तेन धर्मात्मा वासुदेवेन भार्गवः।
निरीक्ष्य माधवौ प्राह प्रीत्युत्फुल्लमुखेक्षणः॥ 175 ॥

स्वागतं ते यदुश्रेष्ठ! साग्रजाय महात्मने।
जाने त्वां यदुभूपन्नं भगवन्तमधोक्षजम्॥ 176 ॥

कार्याणां कारणं पूर्वं जगता मादिपूरुषम्।
नमस्ते पुण्डरीकाक्ष! विश्वलोकैककारण!॥ 177 ॥

किमर्थ मिह सम्प्राप्तौ भवन्तौ विश्ववन्दितौ।
इत्युक्तौ जामदग्न्येन प्राहतू रामकेशवौ॥ 178 ॥

गोमन्तं द्रष्टुमिच्छावो दुग्हितोरिह प्रभो।
तदाकर्ण्याऽब्रवी द्रामो जामदग्न्यो जनार्दनम्॥ 179 ॥

एव मस्तु महाबाहो! गोमन्तं गच्छ साग्रजः।
करवीरपुरं नाम तन्मूले परिपालितम्॥ 180 ॥

सृगालवासुदेवेन स युवां न सहिष्यति।
तं हत्वा समरे शैलं गोमन्तं साध्ववाप्स्यथ॥ 181 ॥

इत्युक्तौ तेन रामेण जामदग्न्येन माधवौ।
तमनुज्ञाप्य सर्वज्ञं जग्मतु र्दक्षिणामुखौ॥ 182 ॥

विज० विमनसः युद्धविरतमनसः॥ 153 ॥

(दानवीं) दानवस्य बाणस्य विद्यमानाम्॥ 154 ॥

मौलौ सयतकेशे। "मौलि स्सयतकेशेषु चूडाया मुकुटेऽप्ययम्।"(वैज को 6-5-64) इति॥ 155 ॥

घर्घरा गम्भीराम्। "गाम्भीर्ये नूपुरारावे घर्घरस्समुदाहृतः" इति। अशरीरिणीं शरीरहीना, दैवीमित्यर्थः॥ 156 - 159॥

(सन्तुष्टैः) सम्यक् प्रीतपुरुषैः महती विद्या शास्त्रविषया येषा ते तथा तैः॥ 160 - 167 ॥

मधुरा रक्षितु निर्गम्य निर्धार्य पश्चाम्यर्थे वा द्वितीया॥ 168 ॥

गिरौ बनोद्देशे, वने उन्नतप्रदेशे वृक्षमूले निवासिन कृताऽऽवास, कञ्चन लोकविलक्षणम्॥ 169 - 171॥

फल लाभः आनन्दः चेतनस्य मूल ज्ञान ते एव कृते पूर्णे आहारो यस्य स तथा, तम्॥ 172 ॥

प्रणाम चक्रतुरित्यादिना प्रतीयमानः कृष्णभार्गवरामयोः नम्यनन्तृभावो भेदाऽविनाभाव गमयति। तत्कथ मुभयोर्विष्णुत्वे सङ्गच्छत इत्याशङ्का[1]- "सर्वावताराभिन्नोऽपि सर्वशक्ति रपि स्वयम्। पूज्यपूजकनीचोच्चं मोहनाय दुरात्मनाम्। अखण्डैक रसो विष्णु र्दर्शये त्तत्र तत्र हि" (षाड्गुण्ये) इति षाड्गुण्यवचनेन परिहरणीयेति॥ 173 - 182 ॥

---

1 Mb द्रुव।

तौ तथा यदुशार्दूलौ गच्छन्तौ दक्षिणापथम्।
ददर्शतुश्च गोमन्त मभ्रङ्लघ्वमहाद्रुमम्॥ 183 ॥

करवीरपुरञ्चैव तन्मूले तुङ्गतोरणम्।
दृष्ट्वा विचित्रप्राकारं हर्म्यप्रासादगोपुरम्॥ 184 ॥

शङ्खमाध्मापयामास शङ्खचक्रगदाधरः।
तस्य शङ्खध्वनिं श्रुत्वा बभूव क्रोधविह्वलः॥ 185 ॥

सृगालो वासुदेवाख्यः प्रत्यगाद्यदुनन्दनौ।
सोऽभ्येत्य बहुपादातितुरङ्गरथकुञ्जरः॥ 186 ॥

अभ्यवर्षच्छरौघेण छादयन्निव माधवौ।
तदनीकमनाधृष्यं दृष्ट्वा यादवसत्तमौ॥ 187 ॥

योधयामासतु वीरौ द्वावेवाऽऽजौ पदातिनौ।
सैन्यञ्च बाणपूगेन व्यथितं भृशविह्वलम्॥ 188 ॥

दृष्ट्वा सृगालभूपाल स्तावधावदमर्षणः।
तमायान्तमभिप्रेक्ष्य रथिनं धृतकार्मुकम्।
न्यवारयद्वासुदेवो वेलेव वरुणालयम्॥ 189 ॥

तावुभौ परमक्रुद्धौ वासुदेवौ महाबलौ।
युयुधाते तथाऽन्योन्य मन्योन्यवधकाङ्क्षिणौ॥ 190 ॥

स तथा विद्यमानस्य वासुदेवस्य सङ्गरे।
शिरो जहार गोविन्दः क्षणेन मुकुटोज्ज्वलम्॥ 191 ॥

तत स्तत्सैनिकास्सर्वे हतशेषाः कुरूद्वह!
कृष्णेन स्वामिनि हते दुद्रुवु स्सर्वतोदिशम्॥ 192 ॥

ततस्तौ रामगोविन्दौ करवीरपुरं महत्।
प्रविश्य पूजितौ विप्रै र्वणिग्भिश्च यथा प्रियः॥ 193 ॥

तद्गजाश्वरथानीककोशादिधनसञ्चयम्।
मधुरां प्रेषयामास तदीयै र्भृत्यपूरुषैः॥ 194 ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे अधिकपाठे तृतीयोऽध्यायः।

विज० अभ्रङ्लिहा महान्तो द्रुमा यस्मिन् स तथा तम्। अभ्राणि मेघान् कम्पन्त्युल्लिखन्तीति अभ्रङ्लिहाः कथते-र्वातोरभ्रादिषूपपदेषु खश्प्रत्ययो भवति॥ 183-187 ॥

पदातिनौ पादै स्सञ्चरमाणौ रथादि रहिता वित्यर्थः॥ 188,189 ॥

वासुदेवौ वसुदेवपुत्रौ। कृष्णशृगलौ॥ 190 ॥

वासुदेवस्य शृगालनाम्नः॥ 191,192 ॥

प्रियसुहृद्यथा तथा पूजितौ॥ 193 ॥

तदीयै स्तस्य विचमानैः॥ 194 ॥

इति अधिकपाठे तृतीयोऽध्यायः
विजयध्वजरीत्या द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५२ ॥

## अधिकपाठे चतुर्थोऽध्यायः

### श्रीशुक उवाच

गोमन्तं पर्वतश्रेष्ठं तुङ्गद्रुमलतान्वितम्।
सालतालतमालाढ्यं प्रियालाशोकशोभितम्॥ 195 ॥

कदम्बनिम्बहिन्तालपूगपुन्नागशोभितम्।
आरुह्य कदलीखण्डमण्डितं मत्तकोकिलम्॥ 196 ॥

भ्रमद्भ्रमरसङ्घातप्लवङ्गाकम्पितद्रुमम्।
फलभारनतैः स्कन्धैर्नारिकेलै र्विराजितम्॥ 197 ॥

बहुप्रस्रवणोपेतं सुच्छायं निर्मलोदकम्।
रम्यं ददृशतु र्वीरौ प्रदेशं रामकेशवौ॥ 198 ॥

तत्र पवर्षणं नाम शृङ्गं पर्वतमूर्धनि।
अवापतु र्यत्र मेघा नित्यं वर्षन्त्यविह्वाः॥199 ॥

तत्राऽऽरुह्य यदुश्रेष्ठौ पश्यन्तौ हि दिशो दश।
रममाणौ यथाकाम मूषतुः पर्वतोत्तमे॥ 200 ॥

एतस्मिन्नेव काले तु क्षीरोदे सागरोत्तमे।
निवासे देवदेवस्य शङ्खचक्रगदाधृतः॥ 201 ॥

उपासीनो महाबाहुः श्रीमान्वैरोचनो बलिः।
जहार देवदेवस्य किरीटं रत्नचित्रितम्॥ 202 ॥

इन्द्रनीलसहस्राढ्यं गोमेदकशताचितम्।
पद्मरागमहानीलमुक्ताफलविराजितम्॥ 203 ॥

पुष्परागप्रवालाढ्यं दिव्यकाञ्चननिर्मितम्।
हृतं दानववीरेण विदित्वा पुरपालकः।
तमन्वधावत्त्वरितं वैनतेयो विहङ्गराट्॥ 204 ॥

तमन्तरे समासाद्य दानवेन्द्रं दुरासदम्।
कृत्वा युद्धं महाघोरं जित्वा दानवपुङ्गवम्॥ 205 ॥

गृहीत्वा रत्ननिचयं किरीटं भास्करोपमम्।
आगच्छन्ददृशे देवं देवकीनन्दनं हरिम्॥ 206 ॥

वसन्तं साग्रजं रम्ये गोमन्ते पर्वतोत्तमे।
तस्य मूर्ध्नि निधायाऽऽशु किरीटं दिव्यभूषणम्।
प्रणम्य पादयो र्मूर्ध्ना स्तोतुं तमुपचक्रमे॥ 207 ॥

गरुड उवाच

नमो नमः कारणपूरुषाय नारायणायाऽखिलवल्लभाय।
सुरारिसंहारणकारणाय नारायणायाऽखिलकर्मसाक्षिणे॥ 208 ॥

हिरण्यगर्भत्व मुपेत्य मूले सृजस्यशेषं भुवनं स एव।
नारायणात्मन् परिपासि भूयो जहार चाऽन्ते भगवन् शिवात्मन्॥ 209 ॥

तं त्वा यदो र्वंशकरं सुरेशं जानेऽवतीर्णं भुवने वृषाकपिम्।
अहं हि भृत्य स्तव वैनतेयो ब्रूहि क्रियां किं करवाणि देव॥ 210 ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वा देवदेवेशं प्रणिपत्य विहङ्गराट्।
जानुनी धरणौ कृत्वा तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः॥ 211 ॥

तं दृष्ट्वा यादवश्रेष्ठो गरुडं पक्षिपुङ्गवम्।
प्रीत्युत्फुल्लमुखो दोर्भ्यां पस्पर्शाङ्गं तदुत्तमम्॥ 212 ॥

'गच्छ भद्र! यथाकाममेहि काले मया स्मृतः।
इत्युक्त्वा तं विसृज्योभा वीश्वरौ रामकेशवौ॥ 213 ॥

फलमूलकृताहारौ पीतनिर्झरवारिणौ।
अवरुह्य गिरेः शृङ्गा त्करवीरपुरं गतौ॥ 214 ॥

तत्र तौ चतुरो मासा नुषित्वा भरतर्षभ!
महत्या सेनया सार्धं जग्मतु र्मधुरां पुरीम्॥ 215 ॥

सृगालं निहतं श्रुत्वा मागधः क्रोधविह्वलः।
आजगाम कुरुश्रेष्ठ! महत्या सेनया वृतः॥ 216 ॥

तेन सार्धं मभूद्युद्धं समाहं रामकृष्णयोः।
तदा पराजितो युद्धे मागधो बहुसैनिकः॥ 217 ॥

जगाम मगधानेव बहुभिः क्षत्रियैस्सह।
रामकृष्णौ धर्मज्ञौ सूतमागधवन्दिभिः॥ 218 ॥

स्तूयमानौ विविशतुः सानुगौ मधुरां पुरीम्॥ 219 ॥

**विज०** सालः सर्जः, तालः तृणराजः, तमालः कालस्कन्धः, प्रियालो राजादनः, अशोको वञ्जुलः "सालं सर्जं च सूर्यः" (हला.को. 2-40) तृणराजस्तालः कथ्यते। "कालस्कन्धस्तमाल स्स्यात्" (अम.को. 2-114) "राजादनः प्रियाल स्स्यात्" (अम.को 2-81) "वञ्जुलोऽशोक" (अम.को. 2-110) उच्यते॥ 195 ॥

**कदम्बो** हरिप्रियः, निम्बः पिचुमन्दः "पिचुमन्दस्तु निम्ब (०म्बोऽथ.) स्स्यात्" (अम.को. 2-108) हिन्तालो वनक्रमुकः, नागः नागकेसरः, पूगोऽतिसारो ग्रामक्रमुकः, पुन्नागः सुरवर्णिका॥ 196,197 ॥

बहुभिः प्रस्रवणैः निर्झरैरुपेतम्॥ 198-201 ॥

[1] "उपासीनो महाबाहुः" इत्यादिना मुक्तगम्ये क्षीरसागरे बलिना दानवेन्द्रेण हरेः किरीटहरणं, गरुडेन तं जित्वा किरीटमादाय आगच्छता मार्गे गोमन्ते वसन्तं श्रीकृष्णं दृष्ट्वा किरीटहीने तच्छिरसि तच्चिधानमुच्यते। तत्र संशयः- अजमनिद्रमस्वप्नम्" ('अद्वै. उ०. 36) इति श्रुतेः नित्यनिरस्तनिद्रस्य हरेः किरीटनयनं इत्यादिकं कथं सङ्गच्छते इतीय माशङ्का। "बहूनि स्थानजातानिकृष्णस्यक्षीरसागरे" (माहात्म्ये) इत्यादिमाहात्म्यवचनेनपरिहृतेति ज्ञातव्यम्॥ 202-207 ॥

नमो नम इति पुनरुक्तिः आदरार्था। पुरुषायेत्युक्ते जीवायेति शङ्का स्यात्। अतः तच्चिससार्थं कारणेति। "कारणं बन्धमोक्षयोः" इति श्रुतेः। जीवस्याऽपि कारणत्वप्रतीतेः निस्तुषत्वेन शङ्कानिवृत्तये नारायणायेति। अयं शब्दो देवदत्तादिशब्दवत् साङ्केतिको न भवति, किन्तु गुणनिबद्ध इति भावेनाऽऽह- अखिलेति। न तर्हि शौर्यादिगुणयोगोऽस्येत्यत्राऽऽह- सुरारीति। राक्षसवत्संहारी चे न कोऽप्येन माश्रयतीत्यत्राऽऽह- नारायणायेति। नारो नरसमुदायः तदाऽऽश्रयो नारायणः, तस्मै। ननु सर्वाश्रयत्वं राजवद्बहिःस्थत्वेन, उत अन्तःस्थत्वेन, आहोस्वित् वायुवदुभयरूपेण? नाऽऽद्यः "अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः" (म.ना.उ. . 9-5) इति श्रुतिव्याकोपात्। न द्वितीयः, कर्मभोगप्राप्तेः। न तृतीयः, अखण्डात्मनो द्वितीयत्वानुपपत्तेरिति तत्राऽऽह - अखिलेति॥ 208 ॥

सृष्टिसंहारयोश्चतुर्मुखपञ्चमुखहेतुत्वोक्ते रस्य अखण्डहेतुत्वं कथमिति तत्राऽऽह-हिरण्यगर्भत्वमिति। मूले आदिकाले हिरण्यगर्भं सृष्ट्वा तदन्तर्यामित्वेन तन्नामवाच्यत्वमुपेत्य भूयः पश्चात् नारायणात्मन् नारायणनामपरमात्मन्। पुनः शिवात्मानं सृष्ट्वा तदन्तर्यामित्वेन तन्नामवाच्यं, तदुक्तम्- "ब्रह्मस्थो ब्रह्मनामाऽसौ रुद्रस्थो रुद्रनामकः" (स्कान्दे) इत्यादि॥ 209

एवंविधो विष्णु स्त्वमित्याह- तं त्वेति। भुवने प्रसिद्धं वृषाकपिं विष्णुमवतीर्णं तत्सृष्टचादिहेतुञ्च जाने इत्यन्वयः। "विष्णौ रुद्रे वृषाकपिः"। इत्यतो यदोर्वशकरमित्यादि क्रियाविशेषणं कर्तव्यम्। धर्मप्रेरकत्वेन फलवर्षणादृषः। [2]अकस्य असुखस्य [-2]पातृत्वा दकपिः। यद्वा -अकादुःखात् शरणागतं जग त्पातीति वृषाकपिरिति॥ 210,211 ॥

तस्य उत्तममङ्गम् उत्तमाङ्गं शिर इत्यर्थः॥ 212-219 ॥

इति अधिकपाठे चतुर्थोऽध्यायः

विजयध्वजरीत्या त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

---

1 Ma. adds सुः 2- -2 Mb कस्य सुखस्यापातृ०

एवं सप्तदशकृत्व स्तावत्यक्षौहिणीबलः[1]।
युयुधे मागधो राजा यदुभिः कृष्णपालितैः॥ ४२ ॥

अक्षिण्व्वं स्तद्बलं[2] सर्वं कृष्णयः[3] कृष्णतेजसा।
हतेषु स्वेष्वनीकेषु त्यक्तोऽथादरिभि र्नृप[5]!॥ ४३ ॥

अष्टादशमसङ्ग्रामे[6] आगामिनि तदन्तरा।
नारदप्रेषितो वीरो यवनः प्रत्यदृश्यत[7]॥ ४४ ॥

रुरोध मधुरा मेत्य तिसृभि र्म्लेच्छकोटिभिः।
नृलोके चाऽप्रतिद्वन्द्वो वृष्णीन् श्रुत्वाऽऽत्मसम्मितान्[8]॥ ४५ ॥

तं दृष्ट्वाऽचिन्तयत्कृष्णः सङ्कर्षणसहायवान्।
अहो यदूनां वृजिनं प्राप्तं ह्युभयतो महत्॥ ४६ ॥

यवनोऽयं निरुन्धेऽस्मानद्य तावन्महाबलः[9]।
माधवोऽप्यद्य[10] वा श्वो वा परश्वो वाऽऽगमिष्यति[10]॥ ४७ ॥

1 MMa ०द० 2- -2 MMa ०ष्वत बल 3 MMa वृष्णिभिः 4 MMa ते० 5 B,G,J,K ०पः 6- -6 K अथाष्टादशमे युद्धे, MIV अष्टादशे तु सङ्ग्रामे 7 MIV ०पद्यत 8 MMa ०म्म० 9 MMa श्वो वा म० 10- -10 MMa ०प्येति दृष्टात्मा परश्वो नैव सशयः॥

**श्रीध०** तावतीति छेदः। तावति पराजये वर्तमानेऽप्यक्षौहिण्यो बल यस्य सः। सप्तदशकृत्वः सप्तदशवारान् युयुधे॥ ४२ ॥

।। अक्षिण्वन् क्षयं निन्युः॥ ४३ ॥

**अष्टादशेति**। अष्टादशमे अष्टादशे सङ्ग्रामे भाव्ये तन्मध्ये अकस्मात्कालयवनः प्राप्तः॥ ४४ ॥

**रुरोधेति**। आत्मसम्मितान् स्वतुल्यान्॥ ४५ ॥

**तमिति**। वृजिनं दुःखं उभयतो यवनाजरासन्धाच्च॥ ४६ ॥

तदाऽऽह द्वयेन **यवन** इति। निरुन्धे निरुणद्धि॥ ४७ ॥

**वीर० एवमिति**। इत्थं पुनः पुनः तावत्यः त्रयोविंशति संख्याकाः अक्षौहिण्यो बलं यस्य तथाभूतः सप्तदशवारं कृष्णपालितै र्यदुभिस्सह युयुधे॥ ४२ ॥

**अक्षिण्वन्निति**। कृष्णतेजसा हेतुभूतेन वृष्णयो यदवः तस्य जरासन्धस्य बलं सर्वं मक्षिण्वन् नाशितवन्तः। इत्थं

सर्वेष्वनीकेषु हतेषु सत्सु नृपो जरासुतोऽरिभिः रामादिभिः त्यक्तो जगाम॥ ४३ ॥

**अथाष्टादशमे युद्धे** आगामिनि भाविनि सति तदन्तरा तन्मध्ये अष्टादशसङ्ग्रामात्पूर्वं मित्यर्थः। नारदेन प्रेषितः काल यवनाख्यो वीरः प्रत्यदृश्यत, माधुरैर्जैनै रिति शेषः॥ ४४ ॥

**रुरोधेति।** मनुष्यलोके न विद्यते प्रतिद्वन्द्वः तुल्यबलो यस्य तथाभूतः कालयवनः यदून् स्वात्मना तुल्यबलसम्मितान्[1] श्रुत्वा, नारदमुखादिति शेषः। तिसृभिर्म्लेच्छानां कोटिभिः सहाऽऽगत्य मधुरां सर्वतो निरुद्धवान्॥ ४५ ॥

**तमिति।** तं कालयवनं दृष्ट्वा श्री[2]कृष्णश्चिन्तयामास। चिन्ता मेवाऽऽह - अहो इति सार्धद्वयेन। उभयतो यवना ज्जरासन्धाच्च वृजिनं दुःखं महत् यदूनां प्राप्तम्॥ ४६ ॥

तदेवाऽऽह- **यवन** इति। महद्बलं यस्य स यवनोऽधुना अस्मान्निरुन्धे निरुणद्धि। अद्याऽस्मिन्नहनि वा, श्वः परस्मिन्नहनि वा, परश्वस्तदनन्तरे अहनि वा मागधोऽप्यागमिष्यति॥ ४७ ॥

---

1- -1 KTW बलान् 2 KTW omit श्रीकृष्णः।

**विज०** अक्षिण्वत अक्षीयत॥ ४२-४५ ॥

उभयतो मागधा यवनाच्च प्राप्तं वृजिनं दुःखम्॥ ४६, ४७ ॥

आवयो र्युध्यतो[1] रस्य यद्यागन्ता[2] जरासुतः।
बन्धून्हनिष्यत्यथवा नेष्यतै स्वपुरं बली[3]॥ ४८

तस्मादथो विधास्यामो दुर्गं द्विपदुर्गमम्।
तत्र ज्ञातीन्समाधाय यवनं घातयामहे[5]॥ ४९ ॥

इति सम्मन्त्र्य भगवान् दुर्गं द्वादशयोजनम्।
अन्तःसमुद्रे नगरं कृत्स्नाद्भुत मचीकरत्[7]॥ ५० ॥

दृश्यते यत्र हि त्वाष्ट्रं विज्ञानं शिल्पनैपुणम्।
रथ्याचत्वरवीथीभि र्यथावास्तु विनिर्मितम्॥ ५१ ॥

सुरद्रुमलतोद्यान विचित्रोपवनान्वितम्।
हेमशृङ्गै र्दिविस्पृग्भिः स्फाटिकाट्टालगोपुरैः॥ ५२ ॥

राजतारकुटैः[8] कोष्ठै[9] र्हेमकुम्भै[10] र[11] लङ्कृतैः।
रत्नकूटै र्गृहै र्हैमै र्महामरकतस्थलैः॥ ५३ ॥

**वास्तोष्पतीनात्र गृहै र्वलभीभिश्च निर्मितम्।**
**चातुर्वर्ण्यजनाकीर्णं यदुदेवगृहोल्लसत्[12]। ५४ ॥**

---

1 W ०त्य 2 MMa गच्छेत् 3 BGJMMa वधिष्य० 4 MIV ०ति 5- -5 K.W मारयामहे, MIV घातयाबहे 6 MMa ०ष्णा० 7 M.Ma हृपत् 8 MMa ०पु० 9 MIV जुष्ट 10- -10 MMa जुष्ट हैमैः 11 K.MMa, MI VW ०श्वल० 12- -12 M.Ma यदूनाञ्च गृहै र्लसत्।

**श्रीध० आवयोरिति**। अस्य अनेन सः[1]॥ ४८, ४९ ॥

**इतीति**। समुद्रमध्ये दुर्गं, तन्मध्ये नगर कृत्स्नाद्भुतं सर्वाश्चर्यमयं अचीकरत् कारयामास॥ ५० ॥

**दृश्यते** इति। त्वष्टा विश्वकर्मा। तदीयं शिल्पनैपुणञ्च क्रियाकौशलम्। तदाह सार्धे स्त्रिभिः रथ्येति। रथ्या राजमार्गाः पुरतः वीथ्यः[2] उपमार्गाः पश्चिमतः उभयतोऽपि, चत्वराणि अङ्गणानि तन्मध्ये कोष्ठाः[4] ततोऽप्यन्तः सुवर्णभवनानि, तदुपरि स्फाटिकाट्टालिकाः[8] तदुपरि हेमकुम्भा इति बहुभूमिक यथावास्तु वास्तु[3] गृहादिनिर्माणस्थानं, तदनतिक्रम्य विनिर्मितम्॥ ५१ ॥

सुपणा द्रुमा[6] लताश्च येषु तान्युद्यानानि विचित्रोपवनानि च तै रन्विताः। हेममयानि शृङ्गाणि येषु[7] तैः दिविस्पृग्भिः अत्युच्चैः स्फाटिका अट्टालकाः[8] उपरितनभूमिका गोपुराणि च द्वाराणि, तै र्निर्मित मित्युत्तरेणान्वयः॥ ५२ ॥

राजताकुटैः रजतञ्च आरकुटञ्च पीत[10] लोहं ताम्र्यां निर्मितैः कोष्ठैः अश्वशालाश्च शालादिभिः। कथम्भूतैः? हे[11] मकुम्भैः अलङ्कृतैः तथा रत्नकूटैः पद्मरागादिशिखरैः हैमै स्सौवर्णैः महामरकतमयानि स्थलानि येषु तै गृहैश्च॥ ५३ ॥

किञ्च, नगरगृ[12]हादौ वास्तोष्पतीना[13] देवानाञ्च गृहैर्वलभीभिः चन्द्रशालाभिश्च[14] निर्मित यदुदेवगृहैः राजगृहैः उल्लसच्छोभमानम्॥ ५४ ॥

---

1 BJ omit सः 2 MIV ०लं० 3 MIV omit वास्तु 4 MIV ०हीना नि० 5 B omits नि 6 MIV ०णाः 7 MIV ०षा 8 BJ ०लाः 9 BJ ०रि भू० 10 V ०तल लो० 11 MIV हैमैः 12 MIV द्वारादौ 13 V omits देवाना 14 BJ शालिका०

**वीर०** आवयो र्यवनस्य च मम च मिथो युध्यतोस्सतोः जरासुतो यद्यागमिष्यति, स तर्हास्मद्बन्धून् यदून् हनिष्यति। अथवा तान् स्वपुर प्रति नेष्यति प्रापयिष्यति, यत स्स बली॥ ४८ ॥

अथ विचार्य निश्चितमाह- **तस्मादिति**। द्विपदै र्मनुष्यैः दुःखेनाऽपि गन्तुमशक्यं दुर्गं जलदुर्गं विधास्यामः करिष्यामः तत्र दुर्गे ज्ञातीन् बन्धून् यदून् समाधाय निधाय यवनं मारयामहे घातयामहे॥ ४९ ॥

इत्थं सम्मन्त्र्य विचार्य निश्चित्य भगवान्समुद्रमध्ये दुर्गं, तत्र नगरञ्चाऽचीकरत् कारयामास, विश्वकर्मणेति शेषः। नगर विशिनष्टि - द्वादशयोजनविस्तीर्णं कृत्स्नादद्भुतं सर्वाश्चर्यकरम्॥ ५० ॥

यत्र नगरे त्वाष्ट्रं विश्वकर्मणस्सम्बन्धि विज्ञानसूचकं क्रियाकौशलं दृश्यते, तदाह सार्धं स्त्रिभिः- रथ्येति। रथ्या राजमार्गाः पुरतो वीथ्यः उपमार्गाः पुरतः पश्चिमतः उभयतोऽपि चत्वराण्यङ्गणानि तन्मध्ये कोष्ठाः ततोऽप्यन्तः स्वर्णभवनानि तदुपरि स्फाटिकाट्टालकाः तदुपरि हेमकुम्भाः इति बहुभूमिकं यथावास्तु गृहादिनिर्माणस्थानं तदनतिक्रम्य निर्मितम्॥ ५१ ॥

सुराणां द्रुमा लताश्च येषु तानि उद्यानानि विचित्राण्युपवनानि च तैरन्वितम्, हेममयानि शृङ्गाणि येषां तैः, दिविस्पृग्भिः अत्युच्चैः स्फाटिकाट्टालका उपरिभूमिकाः गोपुराणि चत्वराणि तैः॥ ५२ ॥

राजता कुटैः रजतञ्चाऽऽकुटञ्च पीतलोहं पित्तलमिति यावत्। ताभ्यां निर्मितैः कोष्ठैः अश्वशालाचशालादिभिः। कथम्भूतैः? हैमैः कुम्भैः स्वलङ्कृतैः तथा रत्नकूटैः पद्मरागादिशिखरैः सौवर्णैः महान्ति मरकतस्थलानि येषु तैः गृहैश्च जुष्टं सेवितम्॥ ५३ ॥

किञ्च। नगरगृहादौ वास्तोष्पतीनां देवानाञ्च गृहै र्वलभीभिः चन्द्रशालिकाभिश्च निर्मितं यद्देवगृहै रुल्लस च्छोभमानम्॥ ५४ ॥

---

1 K ०त्स्नाह्न० 2 K omits तत्

विज० अस्येति षष्ठी तृतीयार्थे। अनेन सह चाऽऽक्यो र्युध्यतोः॥ ४८ ॥

दुःखं गच्छत्यस्मिन्निति दुर्गम् "सुदुरो रधिकरणे" (अष्टा०) इति गमेर्ड प्रत्ययः। विशिनष्टि द्विपदेति। द्वे पदे येषां ते तथा द्विपदः, पदेति निपातो विवक्षितः। मनुष्यै रगम्य मित्यर्थः॥ ४९, ५० ॥

त्वष्टु र्विश्वकर्मणो विद्यमानं त्वाष्ट्रम्। किंतद्विज्ञानमत्राह। शिल्पनैपुणमिति शिल्पविद्यापटुत्वम्। रथ्या राजमार्गाः, वीथी वणिजां मार्गः, यथावास्तु वास्तुलक्षणमनतिक्रम्य॥ ५१ ॥

दिविस्पृग्भिः "हृद्युभ्या मुपसंख्यानम्" इत्यलुक्समासः॥ ५२ ॥

राजतैः रजतमयैः, आरपुटैर्तोहविशेषैः, कृतैः कोष्ठैरन्तर्गृहैः रत्नकूटैः रत्नशृङ्गैः॥ ५३ ॥

वास्तोष्पतीनां वास्तुदेवतानाम्॥ ५४ ॥

**सुधर्मां पारिजातश्च महेन्द्रः प्राहिणो द्वरेः।**
**यत्र चाऽवस्थितो मर्त्यो मर्त्यधर्मै र्न युज्यते॥ ५५ ॥**

**★ यत्प्रियं देवदेवस्य विष्णोः क्षीरोदवासिनः।**
**श्यामैककर्णान्वरुणो हयान् शुक्लान् मनोजवान्॥** 220 ॥

△ दद्यौ सहस्रसंख्यातान् देवदेवाय तोयराट्॥ 221 ॥

अष्टौ निधिपतिः कोशान् लोकपालो[1] निजोदयान्[2]॥ ५६ ॥

○ तथाऽन्ये लोकपालाश्च ददुः स्वाधिकृतं धनम्॥ 222 ॥

यद्यद्भगवता दत्त माधिपत्यं स्वसिद्धये।
सर्वं प्रत्यर्पयामासु र्हरौ भूमिगते[3] नृप!॥ ५७ ॥

तत्र योगप्रभावेन नीत्वा सर्वजनं[4] हरिः।
प्रत्यागत्याऽथ[5] रामेण कृष्ण स्समनुमन्त्रितः।
निर्जगाम पुरद्वारा त्पद्ममाली निरायुधः॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
दुर्गनिवेशनं नाम पञ्चाशोऽध्यायः॥ ५० ॥

---

1 K,W चि० ★ This extra half verse is found in M,Ma,Mb editions and the same has been bracketted in B edn △ This additional half verse is found in M,Ma,Mb editions and the same has been bracketted in B edn. and in MI V edns this half verse is included in the text 2- -2 K,V,W लोकपाला निजोदयान्, M,Ma,Mb रत्नपूर्णनिधियान्० ○ This half verse is found in M,Ma,Mb edns and the same has been bracketted in B edn, But in MI V edns it is included in the text 3 MI V ०क्र० 4 K सर्वं जन, M Ma W स्वान् भगवान् 5- -5 B,G,J प्रजापालेन, M Ma मधुरायाश्च W मधुरामेत्य।

**श्रीध० सुधर्मामिति।** पारिजातञ्च प्राहिणोत् प्रस्थापयामासेति, शुकपरीक्षित्संवादात्पूर्वभावित्वात् भूतनिर्देशः। मर्त्यधर्मैः क्षुत्पिपासादि षड्भिर्भिः॥ ५५ ॥

निधिपतिः कुबेरः अष्टौ कोशान् निधीन् - "पद्मश्चैव महापद्मो मत्स्यकूर्मौ[1] तथौदकः। नीलो मुकुन्द-शङ्खश्च निधयोऽष्टौ प्रकीर्तिताः" इति प्रसिद्धान् निजोदयान् निजविभूतीः॥ ५६ ॥

अन्ये च सिद्धादयो भगवता स्वाधिकारसिद्धये यद्यदाधिपत्यं दत्तमासी त्तत्सर्वं प्रत्यर्पयामासुरिति॥ ५७ ॥

**तत्रेति।** यथा कालयवनो न वेत्ति, न चाऽऽसौ जनः तथा योगप्रभावेन नीत्वा, 'त्वमत्र प्रजाः पालय, अहं पलायिष्ये' इति समनुमन्त्रितः कृतानुमन्त्र इत्यर्थः॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
पञ्चाशोऽध्यायः॥ ५० ॥

1- -1 V मत्स्यं कूर्मः।

**वीर०** सुधर्मां नाम सभां पारिजातञ्च महेन्द्रो हयये प्राहिणोत् प्रस्थापयामासेति शुकपरीक्षित्संवादात् पूर्वभावित्वात् भूतनिर्देशः। सुधर्मां विशिनष्टि - यद्गेति। मर्त्योऽपि यत् सुधर्मायां स्थितो मर्त्यधर्मैः अशनायापिपासाशोकमोहजरामरणादिभिर्न युज्यते॥ ५५ ॥

वरुणस्तु श्यामः एककर्णो येषां तान् सर्वतः शुक्लान् मनोजवान् अश्वान्, प्राहिणोत् इत्यनुषङ्गः। निधिपतिः कुबेरस्तु अष्टौ कोशान् निधींन् "पद्मश्चैव महापद्मो मत्स्यः कूर्म स्तथा वरः। नीलो मुकुन्दः शङ्खश्च निधयोऽष्टौ प्रकीर्तिताः" इत्युक्तान् प्राहिणोत्॥ ५६ ॥

तथाऽन्ये च लोकपालाः निजोदयान् निजविभूतीः, तथाऽन्ये च सिद्धादयो यद्यत्स्वाधिकारसिद्धये भगवता दत्त माधिपत्यं तत्सर्वं भगवति भूमिगते भूमाववतीर्णे सति तस्मै प्रत्यर्पयामासुः॥ ५७ ॥

**तद्गेति।** यथा कालयवनो माधुराश्च जना न जानीयुस्तथा योगप्रभावेन योगमायात्मकाश्चर्यशक्तिप्रभावेन माधुरं सर्वं जनं तत्र दुर्गे नीत्वा प्रापय्य, पुन रागत्य, अथ रामेण अनुमन्त्रितः आलोचितो भगवान् पद्ममालाधरो निरायुधश्च भूत्वा पुरद्वारात् निष्क्रान्तवान्॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां पञ्चाशोऽध्यायः॥ ५० ॥

1 KTV ०र्वि 2 B ०त्मि०

**विज०** मर्त्यधर्मैः जरादिलक्षणैः॥ ५५ ॥

क्षीरोदशायिनो विष्णोर्यत्प्रियं हृद्यं तदपि ददौ। निधिपतिः कुबेरः अष्टौ कोशान्निधीन्, अविक्षयान् अव्ययान्॥ ५६ ॥

स्वाधिकृतं स्वकीयत्वेनाभिमतम् क्षीरोदधिमथने हरिणा दत्तम्॥ ५७ ॥

योगप्रभावेण मधुरास्थित पदार्थराशिर्यथा द्वारकास्थितो भवति तथा करणसामर्थ्येन, रामेण समनुमन्त्रितः सहितः॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
पञ्चाशोऽध्यायः॥ ५० ॥
(विजयध्वजरीत्या त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः)

# एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या चतुः पञ्चाशोऽध्यायः)

-: मुचुकुन्दस्य श्रीकृष्णसन्दर्शनादि कथा :-

श्रीशुक उवाच

तं विलोक्य विनिष्क्रान्त मुज्जिहानमिवोडुपम्।
दर्शनीयतमं श्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥ १ ॥

श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभाऽऽमुक्तकन्धरम्।
पृथुदीर्घचतुर्बाहुं नवकञ्जारुणेक्षणम् ॥ २ ॥

नित्यप्रमुदितं श्रीम त्सुकपोलं शुचिस्मितम्।[1]
मुखारविन्दं बिभ्राणं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ ३ ॥

वासुदेवो ह्ययमिति पुमान् श्रीवत्सलाञ्छनः।
चतुर्भुजोऽरविन्दाक्षो वनमाल्यतिसुन्दरः ॥ ४ ॥

लक्षणैर्नारदप्रोक्तै र्नान्यो भवितुमर्हति।
निरायुधश्चलन्पद्भ्यां योत्स्येऽनेन निरायुधः ॥ ५ ॥[2]

इति निश्चित्य यवनः प्राद्रवन्तं पराङ्मुखम्।
अन्वधावज्जिघृक्षुस्तं दुरापमपि योगिनाम् ॥ ६ ॥

---

1 M.v ०त्यं 2 M.Ma. ०र०

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एकपञ्चाशत्तमेऽहन्मुचुकुन्ददृशा हरिः। यवनं मुचुकुन्देन स्तुतस्सन्नन्वकम्पत ॥
यवनेन्द्रसुता त्कालयवना द्यदुभीषणात्। हरि र्हरिगिरः स्वैरं पालनायाऽपलायत ॥

**तमिति** । यदा गार्ग्यः[1] स्यालेन षण्ढ[2] इत्युक्त स्तदा यादवैस्परिहसिते कुद्धोऽसौ श्रीमद्दृशा[3] प्रसाद्य यदुभीषणं पुत्रं वरं लब्धवान्। ततश्च यवनेन्द्रेणाऽपुत्रेण स्वक्षेत्रे पुत्रोत्पादनाय प्रार्थितो[4] गार्ग्यः कालयवनमजीजनदिति पुराणप्रसिद्धम्। मुद्धाराभिष्क्रान्तम्। उज्जिहान मुद्गच्छन्तम् ॥ १,२ ॥

**नित्यमिति।** नित्यप्रमुदितमित्यादि मुखारविन्दविशेषणम्॥ ३,४ ॥

**लक्षणैरिति।** नारदोक्तैरेतैः लक्षणैरयं पुमान् वासुदेव एव नाऽन्यो भवितुमर्हति। अयं च निरायुधः। अतोऽनेन पद्भ्यामेव चल निरायुधोऽहं योत्स्यामीति निश्चित्य तं पराङ्मुखं प्राद्रवन्त मन्वधावदित्यन्वयः॥ ५,६ ॥

1 Ml.v. गर्गः 2 B.J षण्ढः 3 Ml.v. ष्कं 4 Ml.v. गर्गः5 B.Ml.v. omit आदि

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

दुष्कृन्निग्रहसाध्वनुग्रहा वेकेन भगवच्चेष्टितेन दर्शयन् कथाशेषमाह-**तमित्यादिना।** पुरद्वाराद्विनिष्क्रान्तं तं श्रीकृष्ण मवलोक्य नारदोक्तै रेतै र्लक्षणैः, अयं पुमान् वासुदेवो नान्यो भवितुमर्हति। अयं च निरायुधः। अनेन पद्भ्यामेव चलन् निरायुधश्चाहं योत्स्यामीति निश्चित्य पराङ्मुखं प्राद्रवन्तं अन्वधाव दित्यन्वयः। तं कथम्भूतम्? उज्जिहानमुद्गच्छन्तं उडुपं चन्द्रमिव स्थितम् अतीव दर्शनीयं पीते कौशेये वाससी यस्य॥ १ ॥

श्रीवत्सो वक्षसि यस्य, भ्राजता कौस्तुभेनाऽऽमुक्ता बद्धा अलङ्कृतेति यावत् सा ग्रीवा यस्य, पृथवः पीनाः दीर्घा श्चत्वारो बाहवो यस्य।, नवकञ्जे इवारुणे ईक्षणे यस्य तम्॥ २ ॥

नित्यप्रमुदितेत्यादि मुखारविन्दविशेषणम्। श्रीमत् सौन्दर्यसम्पद्वत् शोभनौ कपोलौ यस्मिन्। शुचि विशुद्धं स्मितं यस्मिन्। स्फुरन्ती मकराकारे कुण्डले यस्मिन्। तथाभूतं मुखारविन्दं बिभ्राणम्॥ ३ ॥

श्रीवत्सो लाञ्छनं चिह्नं यस्य। चत्वारो भुजा यस्य। अरविन्दे इवाक्षिणी यस्य, वनमाला अस्याऽस्तीति तथा, व्रीह्यादित्वान्मत्वर्थीय इनिः। एवंविधैः नारदप्रोक्तैः लिङ्गैः वासुदेव एव अय मित्यन्वयः॥ ४,५ ॥

**इतीति।** इत्थं निश्चित्य यवनः पलायमानं पराङ्मुखं च भगवन्तं ग्रहीतुमिच्छुः अन्वधावत् । तस्य दुष्प्राप्यतां वक्तुं विशिनष्टि - योगिनामपि दुरापं योगविशुद्धमनसामपि दुर्ग्रहम्॥ ६ ॥

1 B. दुर्ग्राह्यम्

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

उज्जिहानमुद्यन्तम् ॥ १-५ ॥

जिघृक्षु र्ग्रहणेच्छुः ॥ ६ ॥

**हस्तप्राममिवाऽऽत्मानं हरिणा स पदे पदे ।**
**नीतो दर्शयता दूरं यवनेशोऽद्रिकन्दरम् ॥ ७ ॥**

पलायनं यदुकुले जातस्य तव नोचितम् ।
इति क्षिप न्ननुगतो नैनं प्रापाऽहताशुभः ॥ ८ ॥

एवं क्षिप्तोऽपि भगवा न्प्राविशद्गिरिकन्दरम् ।
सोऽपि प्रविष्ट स्तत्रान्यं शयानं ददृशे नरम् ॥ ९ ॥

नन्वसौ दूरमानीय शेते मामिह साधुवत् ।
इति मत्वाऽच्युतं मूढ स्तं पदा समताडयत् ॥ १० ॥

स उत्थाय चिरं सुप्तः शनै रुन्मील्य लोचने ।
दिशो विलोकय न्पार्श्वे तमद्राक्षी दवस्थितम् ॥ ११ ॥

स तावत्तस्य रुष्टस्य दृष्टिपातेन भारत ।
देहजेनाग्निना दग्धो भस्मसादभव त्क्षणात् ॥ १२ ॥

**श्रीध० हस्तेति** । आत्मानं हस्तप्राप्तमिव दर्शयता दूर नीत इत्यन्वयः ॥ ७ ॥

**पलायनमिति** । अहताशुभोऽक्षीणकर्मा ॥ ८,९ ॥

**नन्विति**। तं शयानमच्युतं मत्वाऽताडयदिति ॥ १०, ११॥

**स** इति । तस्य क्रुद्धस्य दृष्टिपातेन सन्दीप्तो यः स्वदेहजोऽग्निस्तेन ॥ १२ ॥

**वीर० हस्तेति** । प्रतिपद आत्मान हस्तप्राप्तमिव दर्शयता भगवता दूरं नीतः स यवनाधीशोऽन्ततोऽद्रिकन्दरं प्रापितः[1] ॥ ७ ॥

यदुकुले जातस्य तव पलायन मनुचितमित्येवं क्षिपन् अभिभवन् आशु गतोऽपि यवन एनं भगवन्तं न प्राप। तत्र हेतुं[2] वदन् विशिनष्टि - अहताशुभः अक्षीणदुष्कृतः ॥ ८ ॥

भगवांस्त्वित्थं क्षिप्तोऽपि तूष्णीं गिरिकन्दरं प्राविशत्, स तु यवनः तत्र गिरिकन्दरे प्रविष्टः तत्राऽन्यं शयानं कञ्चित्पुरुषमद्राक्षीत्॥ ९ ॥

तं[3] शयानं पुरुष मसौ वासुदेवो मामित्थं दूरमानीय साधुव दधुना तूष्णीं शेते । नूनमसौ श्रीकृष्ण एवेति मूढस्सन् अच्युतमेव मत्वा तं पदा पादेनाताडयत् ॥ १० ॥

सः[4] ताडितः पुरुषः उत्थाय चिरं सुप्तः, हेतुगर्भमिदम् । तत्त्वा च्छनै र्लोचने उन्मील्य दिशोऽवलोकयन् पार्श्वे[5] स्थितं[6] तं यवनं ददर्श ॥ ११ ॥

हे भारत ! स यवनः रुष्टस्य क्रुद्धस्य तस्य पुंसः दृष्टिपातेन सन्दीप्तो यः स्वदेहजोऽग्निः, तेन तावत्तदैव क्षणाद्भस्मीबभूव ॥ १२ ॥

---

1 B adds इत्यर्थः 2 B करणं 3 k w omit तं 4 K,W omit सः 5 B०र्व० 6 B omits त

**विज०** दूरमद्रिकन्दरं प्रति नीतः पदे पदे हस्तप्राप्तमिव आत्मानं दर्शयित्वा इति शेषः। दर्शयता आत्मानमिति शेषः ॥ ७ ॥

अहताशुभः अनष्टपापः ॥ ८-१२ ॥

## राजोवाच

**को नाम स पुमान्ब्रह्मन् कस्य किंवीर्य एव वा[1]।**
**कस्माद्गुहां गतः शिश्ये किंतेजो यवनार्दनः[2] ॥ १३ ॥**

## श्रीशुक उवाच

**स इक्ष्वाकुकुले जातो मान्धातृतनयो महान् ।**
**मुचुकुन्द इति ख्यातो ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गरः ॥ १४ ॥**

**स याचितः सुरगणैरिन्द्राद्यै रात्मरक्षणे ।**
**असुरेभ्यः परित्रस्तै स्तद्रक्षां सोऽकरोच्चिरम् ॥ १५ ॥**

**लब्ध्वा गुहं ते स्वःपालं मुचुकुन्दमथाऽब्रुवन् ।**
**राजन्विरमतां कृच्छ्रा द्भवान्नः परिपालनात् ॥ १६ ॥**

---

1 B,G,J,K,W च 2 M,Ma °नम्

**श्रीध० क** इति । यवनमर्दयति हिनस्तीति तथा, स कस्य वंश्यः किंवीर्यः कीदृक्प्रभावान्, किंतेजः कस्य वीर्यं पुत्र इत्यर्थः। शिश्ये अशयिष्ट ॥ १३ ॥

**स** इति । सत्यः सङ्गरो युद्धं प्रतिज्ञा वा यस्य सः ॥ १४,१५ ॥

**लब्ध्वेति**। गुहं कार्तिकेयम् । स्वःपालं स्वर्गपालकं सेनान्यम् ॥ १६ ॥

**वीर०** तत्र शयानस्य पुरुषस्य कुलनामवीर्यशयनकारणादिबुभुत्सया पृच्छति राजा **को नामेति**। हे ब्रह्मन्! स यवनार्दनो यवनस्य हन्ता शयानः, को वा को नाम? किं तस्य नामधेयमित्यर्थः। कस्य सम्बन्धी? कस्य कुले जातः? किं कीदृशं वीर्यं यस्य सः। कस्मात्कारणाद्गुहां प्राप्त श्शेते स्म। किं कीदृशं तेजो यस्य तथाभूतः॥ १३॥

तत्रोत्तरमाह मुनिः- स इति नवभिः[1] । ब्रह्मणि ब्रह्मकुले साधुः ब्रह्मण्यः सत्यो धर्म्यः सङ्गरो युद्धं यस्य सः ॥ १४ ॥

स इति । स च मुचुकुन्दः असुरेभ्यः भीतैरिन्द्राद्यैः देवैरात्मनः रक्षणे निमित्ते सहायत्वेन याचित श्चिरं तेषां रक्षामकरोत् ॥ १५ ॥

तदा ते देवाः गुहं कार्त्तिकेयं स्वःपालं स्वर्गपालकं सेनान्यं लब्ध्वा अथ मुचुकुन्द मब्रुवन् उक्तिमेवाह-राजन्निति सार्धैश्चतुर्भिः। हे राजन्! नोऽस्माकं परिपालनात्मका तृच्छ्राच्छ्रमात् भवान् विरमतां विरामं प्राप्नोतु।॥ १६ ॥

1 W omits नवभिः

विज० कस्य पुत्र इति शेषः। यवनमर्दितवान् हिंसितवान् ॥ १३,१४ ॥

तेषां सुराणां रक्षाम् ॥ १५ ॥

स्वःपालं स्वर्गरक्षाकरं परिपालनाज्जातात्तृच्छ्रात् ॥ १६ ॥

नरलोकं[1] परित्यज्य राज्यं च[2] हतकण्टकम् ।
अस्मान्पालयतो वीर कामा स्ते सर्व उज्झिताः ॥ १७ ॥

सुता महिष्यो भवतो ज्ञातयोऽमात्यमन्त्रिणः[3]।
प्रजाश्च तुल्यकालीयाः[4] नाऽधुना सन्ति कालिताः ॥ १८ ॥

कालो बलीयान्बलिनां भगवानीश्वरोऽव्ययः ।
प्रजाः कालयते क्रीडन्पशुपालो यथा पशून् ॥ १९ ॥

वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्य मद्य[5] नः ।
एक एवेश्वर स्तस्य भगवान्विष्णुरव्ययः ॥ २० ॥

1 B,G,J °के 2 B,G,J,M,Ma. °नि 3 Ml,v °यो भृत्य 4 M,Ma °नाः 5 M,Ma °मात्मनः

श्रीध० नरलोक मिति। उज्झिताः त्यक्ता गता इत्यर्थः ॥ १७ ॥

किञ्च सुता इति । तुल्यकालीयाः त्वत्समानकालीनाः कालिता विचालिताः[1] ॥ १८ ।

मत्प्रजाः कोऽन्यः कालयेदिति चे दत आहुः काल इति । कालयते इतस्ततः चालयति ॥ १९ ॥

वरमिति। तस्य कैवल्यस्य ॥ २० ॥

---

1 Ml.v. °याः

वीर० हे वीर! शत्रुरहितं राज्यं नरलोकं च कत्वा केवलमस्मान्पालयत स्ते, कर्तरि शेषे षष्ठी। त्वया सर्वे कामाः भोगाः उज्झिताः त्यक्ताः ॥ १७ ॥

किञ्च तव सुतादयः त्वत्तुल्यकालीनाः प्रजाश्च कालिताः कालवशीकृताः । अधुना न सन्ति किन्तु कालवशं गताः, मृता इति यावत् ॥ १८ ॥

कोऽसौ मत्तो बलीयान् कालो नामेति शङ्कया मा[1]ब्रह्मस्तम्बपर्यन्तकृत्स्नजगतः कालवश्यतां, कालस्य बलीयस्त्वं च वक्तुं कालो नाम नेश्वरात्पृथग्भूतः, किन्तु कालशरीरक ईश्वर एव कलयतीत्याहुः काल इति । कालः कालशरीरकः, अव्ययः कालकृतनाशादिविकाररहितः, ईश्वरः सर्वनियन्ता, भगवान्स्वयं क्रीडन्प्रजाः कालयते वशीकरोति यथा पशुपालः पशून्वशीकरोति तद्वत् ॥ १९ ॥

वरमिति। अतस्त्वमद्य नोऽस्मान् प्रति वरमभिमतं वरय। तर्हि मुक्तिं प्रयच्छतेत्यत्राऽऽहुः - ऋते कैवल्यमिति। कैवल्यं प्रकृतिसम्बन्धराहित्यं मुक्तिमिति यावत् । ततोऽन्यं वरं वरयेत्यर्थः । कैवल्यस्यावरणीयत्वे हेतुमाहुः[2]-एक एवेति। तस्य कैवल्यस्य ईश्वरः अधिपतिः दातेति यावत्, भगवान्विष्णुः एक एव, अतो न वयं कैवल्यं दातुं प्रभव इति भावः ॥ २० ॥

1 K. का० 2 B. i

विज० उज्झिताः त्यक्ताः ॥ १७ ॥

तुल्यकालीन्याः तत्समानकालजाताः, कालिताः कालेन विनाशिताः ॥ १८ ॥

कालयते उभयपदी । कालः क इति । तत्राऽऽह भगवानिति । अव्ययः स्वरूपतोऽव्यवतो गुणतोऽपि नाशरहितः ॥ १९, २० ॥

एवमुक्तः स वै देवा नभिवाद्य[1] महायशाः।
★ (अयाचत गुहाविष्टो निद्रां तु बहुकालिकीम्।
तथेत्युक्तस्तु तैर्देवैः मुचुकुन्दो महामनाः ॥)

☆ अशयिष्ट गुहायिष्टो निद्रया देवदत्तया ॥ २१ ॥

+ [2]प्रतिबोधयति त्वां वै स्वपन्तं यस्त्वचेतनः[-2] ।
स त्वया [3]दृष्टिमात्रेण[-3] भस्मीभवतु तत्क्षणात् ॥ २२ ॥

यवने भस्मतां[4] नीते भगवान्सात्त्वतर्षभः ।
आत्मानं दर्शयामास मुचुकुन्दाय धीमते ॥ २३ ॥

तमालोक्य घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभेन विराजितम् ॥ २४ ॥

चतुर्भुजं रोचमानं वैजयन्त्या च मालया ।
चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ २५ ॥

---

1 B,G,J °बन्ध ★ This extra verse is found in M Ma edns only ☆ The following three extra half verses are found in B,G,J edns, only निद्रामेव ततो बध्ने स राजा शमकर्षितः। यः कश्चिन्मम निद्राया भङ्गं कुर्या त्सुरोत्तमाः । स हि भस्मीभवेदाशु,तथोक्तश्च सुरैस्तदा ॥ + This verse is not found in M Ma. Mi v edns 2--2 B G.J स्वापं यातं यस्तु मध्ये बोधयेत्त्वामचेतनः। 3--3 B G.J दृष्टमात्रस्तु 4 B,G,J M.Ma °साक्षीते

श्रीध० गुहायां प्रविष्टः शेते स्म ॥ २१-२५ ॥

वीर० एवमिति। देवैस्तर्हि बहुकालमनिद्रस्य मम शयनार्थं निर्जनं प्रदेशं प्रदर्शयतेत्युक्तै रित्यर्थसामर्थ्यादत्र शेषो बोद्धव्यः। एवं स्वपन्तं यस्त्विति वक्ष्यमाण प्रकारेणोक्तो महायशाः। स च मुचुकुन्दो देवैः प्रदर्शितायां तस्यां गुहायां प्रविष्टः देवैः दत्तया विघ्नानुपहतीकृतया निद्रया। अध्ययनेन वसतीतिवत् हेत्वर्थे तृतिया। अशयिष्ट शयितवान्, निमित्तभूतया वा ॥ २१ ॥

प्रतीति। एवंशब्दविवक्षितं प्रकारमाह-अचेतनोऽजानन् यः कश्चित्स्वपन्तं शयानं त्वां[1] प्रतिबोधयति जाग्रदवस्थां प्रापयिष्यति स पुमान् त्वया कर्त्रा दृष्टिमात्रेण करणेन त्वद्दृष्टिप्रसरमात्रेणेति फलद्वयफलितोऽर्थः। तत्क्षणात् भस्मी भवतु इति[4] ॥ २२ ॥

प्रश्नस्योत्तरमुक्त्वा प्रकृतां कथामाह- यवन इत्यादिना । भस्मतां[5-] नीते[-5] भस्मतां प्रापिते सति सात्वतर्षभः भगवान्कृष्णः धीमते मुचुकुन्दायाऽऽत्मानं दर्शयामास ॥ २३ ॥

तमिति। तस्य भगवतस्तेजसा धर्षितः अभिभूतोऽत एव ~~सङ्कितः कस्येदं तेज इत्यादि~~ शङ्कमानस्तेजसा दुर्धर्षम् अधृष्यमिव स्थितं तं भगवन्तं शनकैरवलोक्य महती विपुला बुद्धिर्यस्य स राजा मुचुकुन्दः पर्यपृच्छदिति सम्बन्धः।

तं कथम्भूतम् ? घनमिव श्यामं पीतकौशेये वाससी यस्य, श्रीवत्सो वक्षसि यस्य, तथाभूतं भ्राजता कौस्तुभेन विराजितं, वैजयन्त्या वनमालया शोभमानं च । विराजित मित्युक्तसमुच्चयार्थश्चशब्दः, अनुक्ताभरणान्तर समुच्चयार्थो वा। चारु सुन्दरं प्रसन्नं च वदनं यस्य तम् ॥ २४, २५ ॥

---

1 K.W omit त्वां2 B सरण 3 B adds एव 4 K W omit इति 5--5 K. omits 6 K W omit चारु

विज० आत्मनस्तु बहुकालिकीं बहुकालभोग्याम् ॥ २१-२५ ॥

प्रेक्षणीयं त्रिलोकस्य सानुरागस्मितेक्षणम्।
अपीच्यवयसं मत्तमृगेन्द्रोदारविक्रमम् ॥ २६ ॥

पर्यपृच्छन्महाबुद्धि स्तेजसा तस्य धर्षित ः ।
शङ्कितः शनकै राजा दुर्धर्षमिव तेजसा ॥ २७ ॥

मुचुकुन्द उवाच

को भवानिह सम्प्राप्तो विपिने गिरिगह्वरे ।
पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां विचरस्युरुकण्टके ॥ २८ ॥

किंस्वि त्तेजस्विनां तेजो भगवांस्त्वं विभावसुः।
सूर्यः सोमो महेन्द्रो वा लोकपालोऽपरोऽपि वा ॥ २९ ॥

मन्ये त्वां देवदेवानां त्रयाणां पुरुषर्षभम्।
यद्गाधसे गुहाध्वान्तं प्रदीपः प्रभया यथा ॥ ३० ॥

---

1 B,G,J, तृ 2 M.Ma. विस्मितः 3 M.v सजन् 4 B,G,J °वान्वा 5 M Ma °ग्रससे

श्रीध० पर्यपृच्छदिति। धर्षितः अभिभूतः दुर्धर्षमप्रधृष्यम् ॥ २६,२७ ॥

क इति । विपिनेऽरण्ये तत्रापि गिरिगह्वरे दुष्प्रवेशस्थाने, तत्राप्युरुकण्टके पद्मपलाशसदृशाभ्यां पद्भ्यां विचरसीति ॥ २८ ॥

किंस्विदिति । तेजोमूर्तिः प्रभावो दीप्तिर्वा ॥ २९ ॥

सर्वत्रापरितोषा दाह-मन्ये इति । पुरुषर्षभं श्रीविष्णुम् । गुहाध्वान्तमन्तस्तमः ॥ ३० ॥

---

1 M.v. omit ॥

**वीर०** त्रिलोकस्य प्रेक्षणीयं दर्शनीयं सुन्दरतममिति यावत् । अपीच्यं सुन्दरं वयो यस्य तम् । प्रादुर्भूतवयसमिति भावः । मत्तस्य सिंहस्येव उदारो विक्रमः पराक्रमः पादविक्षेपो वा यस्य तम् ॥ २६,२७ ॥

तं प्रश्नमेवाह **को भवानित्यादिना** वयं त्वित्यतः प्राक्तनेन । इह सम्प्राप्तो भवान् कः? किं देवः, उत मानुषः? इहेति विवक्षितमाह-विपिने अरण्ये तत्रापि गिरिगह्वरे दुष्प्रवेशस्थाने तत्राप्युरूणि कण्टकानि यस्मिन् तस्मिन् पद्मपलाशाभ्यां पद्भ्यां विचरसि ॥ २८ ॥

किंस्वित्? किं वा त्वं तेजस्विना यत्तेजः तदेव मूर्तीभूतः, किं वा भगवान्विभावसुः अग्निः अथवा सूर्यः। यद्वा सोमेन्द्रयोरन्यतमः उत वरुणाद्यन्यतमो लोकपालः ॥ २९ ॥

सर्वत्रापरितोषादाह-**मन्ये** इति । देवानामिन्द्रादीनामपि देवा ये ब्रह्मविष्णुरुद्रास्तेषां त्रयाणां मध्ये यः पुरुषोत्तमो भगवास्त्व त्वामहं मन्ये । कुतः ? यत् यस्मात् गुहाध्वान्तं हृदयगुहास्थमपि ध्वान्तमज्ञानं त्र बाधसे विधुनोषि । यथा दीपः स्वप्रभया अन्धं तम स्तद्वत् ॥ ३० ॥

---

1 B omits वा 2 K °त 3 W °न्यो लो० 4 K.W omit °त्रयाणा

विज० त्रिलोकस्य मध्ये दर्शनीयगुणम् ॥ २६ ॥

अतितेजसा अधिकतेजसा ॥ २७ ॥

गिरिगह्वरे प्रवेष्टुमशक्ये ॥ २८ ॥

तेजस्विनां ज्योतिष्मतां पुञ्जीभूतमेकं तेजः किंस्वित्? सामान्योक्तं विशिनष्टि - भगवानिति ॥ २९ ॥

त्रयाणां ब्रह्मविष्णुशिवानां मध्ये पुरुषर्षभं पुरुषश्रेष्ठं विष्णुं मन्ये। यद्वा त्रयाणां ब्रह्मरुद्रेन्द्राणां त्रेतासीनां वा। तत्र हेतुमाह-यदिति। गुहाध्वन्तमित्युपलक्षणं ब्रह्माण्डगुहाव्यापितिमिरमपि, प्रदीपो न गृहान्तर्वर्तिज्योतीरूपं परं न गृह्णाते, किन्तु सूर्योऽपि ॥ ३० ॥

---

1–1 B omits

**शुश्रूषतामव्यलीकमस्माकं नरपुङ्गव।**
**स्वजन्मकर्म गोत्रं वा कथ्यतां यदि रोचते॥ ३१ ॥**

**वयं तु पुरुषव्याघ्र ऐक्ष्वाकाः क्षत्रबन्धवः।**
**मुचुकुन्द इति प्रोक्तो यौवनाश्वात्मजः प्रभो॥ ३२ ॥**

चिरप्रजागरश्रान्तो[2] निद्रयाऽपहृतेन्द्रियः[3]।
शयेऽस्मि च्विपिने[4] कामं केनाऽप्युत्थापितोऽधुना॥ ३३॥

सोऽपि भस्मीकृतो नून मात्मीयेनैव पाप्मना।
अनन्तरं भवान् श्रीमाँल्लक्षितोऽमित्रशासनः[5]॥ ३४ ॥

तेजसा तेऽविषह्येण भूरि द्रष्टुं[6-] न शक्नुमः[-6]।
हतौजसो[7-] महाभाग माननीयोऽसि[-7] देहिनाम्॥ ३५ ॥

---

1 K,W. ख्यातो 2 M,Ma ॅं 3 G,K,M,Ma °योपहते०; Ml.V.W. °यापहृते 4 B,G,J,K,M,Ma,Ml. °जने 5 B,G,J शातनः; Ml, v शासन! 6- -6 M,Ma. द्रष्टुमशक्नुमः 7- -7 Ml,v ततो वै त्वं

श्रीध० वयन्त्विति। वंश्याभिप्रायेण बहुवचनम्। तेष्वहं मुचुकुन्द इति प्रोक्त[1-] इति[-1]। युवनाश्वो मान्धातुः पिता अतो मान्धाता यौवनाश्वः॥ ३१- ३५ ॥

---

1- -1 B omits

वीर० शुश्रूषतामिति। यद्यपि चतुर्भुजत्वादिलिङ्गैः परमात्मासाधारणैः पुरुषर्षभं मन्ये इति पुरुषोत्तमत्वं निश्चित्य नरपुङ्गवेति सम्बोधनानुपपत्तिः। तथाऽपि पुनस्तथैव द्विभुजत्वादिविशिष्टरूपेणाऽवस्थितं तमवलोक्य तथा सम्बोधितम्। नरशब्दस्य पुरुषमात्रपरत्वं वा। स्वस्य जन्म कर्म गोत्रं, वाशब्दः चार्थकः। श्रोतुमिच्छतामस्माकं अन्यलीकं निष्कपटं[2] यथा तथा कथ्यतां यदि रोचते, न वयं विधातुं प्रभव इति भावः॥ ३१॥

तर्हि तव जन्मादिकं कथयेत्यत आह - **वयन्त्विति**। वयन्त्विति वंश्याभिप्रायकं बहुवचनम्। हे पुरुषव्याघ्र! तावद्वयं क्षत्रबन्धवः क्षत्रेण वर्णेन बध्यन्त इति क्षत्रबन्धवः क्षत्रिया इत्यर्थः। तत्राप्यैक्ष्वाकाः इक्ष्वाकुवंश्याः "दाण्डिनायन" (आष्टा० 6-4-174) सूत्रे निपातनात्साधुः। बहुषु लुगभाव आर्षः। तत्राप्यहं यौवनाश्वात्मजः युवनाश्वस्यापत्यं यौवनाश्वो मान्धाता, तास्यात्मजः पुत्रः मुचुकुन्द इति ख्यातः॥ ३२ ॥

चिरं बहुकालं प्रजागरेण श्रान्तः अत एव निद्रयोपहतान्यभिभूतानीन्द्रियाणि यस्य सोऽहमस्मिन् निर्जने देशे कामं यथेच्छं शये शयितवानस्मि। अधुना केनापि केनचिद्[1] उत्थापितश्च॥ ३३॥

यो मा मृत्युपितवान् सोऽपि स्वीयेनैव पापेन हेतुना नूनं भस्मीकृतः। अस्मद्दृष्टिप्रसारस्तु निमित्तमात्रमिति भावः। अनन्तरं भस्मीभावनानन्तरं[3] अमित्रशासन[4] शत्रूणां शास्ता श्रीमान् भवान् लक्षितः दृष्टः, मयेति शेषः। सोढुमशक्येन त्वत्तेजसा अभिभूतदृष्टयो वयं त्वां भूरि चिरं द्रष्टुं न शक्नुमः। महाभाग! हे भगवन्! हतमोजस्सामर्थ्यं येषां तेषां कर्मसङ्कुचितज्ञानात्मकसामर्थ्यानां अज्ञानां मादृशां देहिनां माननीयोऽसि पूज्योऽसि भजनीयोऽसीति यावत्॥ ३४,३५ ॥

---

1 W. omits स्वस्य 2 K.W. निष्कपटं 3 B. adds अस्य 4 B भावादन०

विज० अव्यलीकं सत्यं शुश्रूषतां श्रोतुकामानाम्॥ ३१ ॥

ऐक्ष्वाका इक्ष्वाकुकुले जाताः ॥ ३२-३४ ॥

हतौजसः नष्टतेजसः॥ ३५ ॥

एवं सम्भाषितो[1-1] राज्ञा भगवान्भूतभावनः।
प्रत्याह प्रहसन्वाण्या मेघनादगभीरया[2]॥ ३६ ॥

श्री भगवानुवाच[3-3]

जन्मकर्माभिधानानि सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशः।
न शक्यन्तेऽनुसङ्ख्यातु[4] मनन्तत्वान्मयापि हि[5]॥ ३७ ॥

क्वचिद्रजांसि[6] विममे पार्थिवान्युरुजन्मभिः[7]।
गुणकर्माभिधानानि न मे जन्मानि कर्हिचित्॥ ३८ ॥

कालत्रयोपपन्नानि जन्मकर्माणि मे नृप।
अनुक्रमन्तो नैवान्तं गच्छन्ति परमर्षयः॥ ३९ ॥

तथाप्यद्यतनान्यङ्ग शृणुष्व गदतो मम।
विज्ञापितो विरिञ्चेन पुराऽहं धर्मगुप्तये।
भूमेर्भारायमाणाना मसुराणां[8] क्षयाय च॥ ४० ॥

अवतीर्णो यदुकुले गृह आनकदुन्दुभेः।
वदन्ति वासुदेवेति वसुदेवसुतं हि माम्॥ ४१ ॥

कालनेमिर्हतः कंसः प्रलम्बाद्याश्च सद्विषः[9]।
अयं च यवनो दग्धो राजंस्ते तिग्मचक्षुषा॥ ४२ ॥

सोऽहं तवाऽनुग्रहार्थं गुहामेतामुपागतः।
प्रार्थितः प्रचुरं पूर्वं त्वयाऽहं भक्तवत्सलः॥ ४३ ॥

वरान्वृणीष्व राजर्षे सर्वान्कामा न्ददामि ते।
मां प्रपन्नो जनः कश्चि न्न भूयोऽर्हति शोचितुम्॥ ४४ ॥

## श्रीशुक उवाच

**इत्युक्तस्तं प्रणम्याऽऽह मुचुकुन्दो मुदान्वितः।**
**ज्ञात्वा नारायणं देवं गर्गवाक्यमनुस्मरन्॥ ४५ ॥**

---

1- -1 M,Ma सुमाषितो, W सभाजितो 2 M,Ma,W ह्राद 3- -3 M,Ma श्रीकृष्ण उवाच 4 Ml,v °न्ते प्रस० 5 M,Ma Ml,v °भापि 6 M,Ma °कश्चि० 7 W °न्युरु 8 K,W °भा° 9 K,W विद्विषः

**श्रीध० क्वचिदिति।** क्वचित्कदाचित् कश्चित् यद्यपि रजांस्यपि[1] विममे गणितवान्, तथापि जन्मानि कर्माणि न विमिमीते॥ ३६,४१ ॥

**कालेनेति।** ते तिग्मचक्षुषा निमित्तेन मयैव दग्धः॥ ४२, ४३ ॥

**नरानिति।** अपूर्णोऽहमिति शोचितुम्। यद्वा अन्यैर्दत्तेषु वरेषु क्षीयमाणेषु यथा शोचति[2] नैवं मां प्रपन्नः। महत्तपंराणा मक्षय्यत्वादिति भावः॥ ४४ ॥

**इतीति।** अष्टाविंशतितमे युगे भगवानवतरिष्यतीति वृद्धगर्गवाक्यमनुस्मरन्नित्यर्थः॥ ४५ ॥

---

1 Ml,v omit °अपि 2 Ml,v °शोचन्ति

**वीर० एवमिति।** राज्ञा मुचुकुन्देनेत्थम्[1] उक्तो भगवान् प्रहसन् मेघगर्जितव द्गम्भीरया गिरा प्रत्युवाच॥ ३६॥

उक्तिमेवाह- जन्मकर्मेत्यादिना इत्युक्त इत्यतः प्राक्तनेन, यत्तावत्पृष्टं[2] स्वजन्मकर्मेत्यादि, तस्योत्तरमाह **जन्मेति।** अङ्ग! हे मुचुकुन्द! मम जन्मादीनि सहस्रशः बहुशः[3] सन्ति, अतस्तान्यत्राधुना मयाऽपि सङ्ख्यातुं एतावन्तीति परिच्छिद्य वक्तुं न शक्यन्ते। ननु किमनादिसंस्मरणशीलैरस्मदादिभिरिव विस्मृतत्वान्न शक्यन्त इत्याशङ्कावारणायानन्तत्वान्मममापीत्युक्तम्। अयं भावः -यद्यपि भवज्जन्मादीनि कर्मसङ्ख्युचितज्ञानै र्भवद्भि र्विस्मृतत्वा द्वहुत्वाच्च न सङ्ख्यातुं[4] शक्यन्ते। तथापि सर्वज्ञेन मया तु शक्यन्त एव। अस्मज्जन्मादीनि त्वनन्तत्वान्नैव शक्यन्ते, न चैवं सर्वज्ञत्वहानिः, अनन्तानामानन्त्यज्ञानमेव हि सर्वज्ञत्वावहम्। न तु तेषां परिच्छिन्नत्वज्ञानं तस्यायथार्थत्वेनाज्ञत्वावहत्वात् ॥ ३७ ॥

[5]असङ्ख्येयत्वमेवोपपादयति-**क्वचिदिति।** यद्यपि क्वचित्कदाचित्कश्चित्सूक्ष्मबुद्धिमान् बहुभिः जन्मभिः पृथिव्या स्सम्बन्धीनि रजांसि विममे गणयेत्। तथाऽपि मम गुणकर्माभिधानानि न विममे गणयितुं न शक्नुयादित्यर्थः "विष्णो र्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजाँसि" (ऋक्.सं.2-2-2-24-1) इति श्रुत्यर्थोऽत्रानुसंहितः॥ ३८ ॥

तथाहि परमर्षयः पराशरवैशम्पायनशौनकादयः कालत्रयोपपन्नानि कालत्रयोपयुक्तानि कालत्रयगोचराणीति यावत्, जन्मानि कर्माणि च अनुक्रमन्तोऽनुवर्णयन्तोऽवाप्यन्तं पारं नैव गच्छन्ति॥ ३९ ॥

यद्यप्येवं तथापि अङ्ग! हे मुचुकुन्द! अद्यतनान्याधुनिकानि मम जन्मादीनि[6] गदतो मत्तः शृणु, धर्मपरित्राणार्थं भूमेर्भारभूतानां आसुराणां[7] असुरसम्पत्याऽभिजातानां[8] क्षयाय च ब्रह्मणा प्रार्थितोऽहं यदुकुले तत्रा प्यानकदुन्दुभेः वसुदेवस्य गृहे ग्रहिष्यामीति भावः। अवतीर्णवानस्मि। ज्ञानशक्त्यादिस्वस्वभाव मजहदेव जात इत्यवतीर्णशब्दप्रयोगाभिप्रायः। एवमाधुनिकं जन्म उक्तम्[9]। अथ नामधेयमाह - वदन्तीति। वसुदेवसुत इत्यस्य हेतुत्वद्योतको हिशब्दः। वसुदेवसुतत्वाद्वासुदेव इति वदन्ति। सन्धिरार्षः। प्रातिपदिकमात्रानुवादो वा। तस्यैव नामधेयत्वेन प्रदर्शनीयत्वा द्विभक्ते स्साधुत्वार्थत्वाच्च[10]॥ ४०, ४१॥

अथाधुनिकानि कर्माण्याऽऽह - **कालनेमिरिति**। हे राजन्! तव तेजसेन तीक्ष्णेन चक्षुषा निमित्तेन मयैवाय यवनो दग्धः, धर्मगुप्तार्थं प्रार्थितत्वाद्युक्त्यैव तदुपयुक्तसार्वज्ञसर्वशक्तित्वादिगुणाना मुक्तप्रायत्वा न पृथग्गुणोक्तिः[11]॥ ४२॥

तर्हीह किमर्थमागत इत्यत आह-**सोऽहमिति**। स उक्तविधोऽहं त्वामनुग्रहीतुं इमां गुहां प्रति समुपागतः[12]। तर्हि[13] सर्वानपि जनान् किं नानुगृह्णासीत्यत आत्मानं विशिनष्टि-भक्तवत्सल इति। नाऽहं भक्त इत्यतो विशिनष्टि- पुरा जन्मनि त्वया अहं प्रचुरं यथा तथा प्रार्थितः आराधितः॥ ४३ ॥

कोऽसावनुग्रह इत्यत आह - **वरानिति**। हे राजर्षे! ते तुभ्यं सर्वान्, काम्यन्त इति कामाः, तानिष्टान् ददामि। नन्वित्थं प्रचोदितेन मया देवाः प्रत्याख्याता इति सर्वज्ञस्त्वं किं न जानासीत्यत्राह-मामिति। भूयः पुन श्शोचितुं संसर्तुं नार्हति। किन्तु मुक्तिमेवार्हतीति भावः। मुक्तिं दास्याम्येव, किन्तु ततोऽन्येऽपि यदि कामाः प्रार्थ्या स्तानपि प्रार्थयस्व इति भावः॥ ४४ ॥

**इतीति**। इति[14] इत्थं भगवतोक्तो मुचुकुन्दस्तं श्रीकृष्णं देवं तत्रापि नारायणं ज्ञात्वा, तदुक्तिभिरिति शेषः। गर्गस्य[15] वृद्धगर्गस्य ऋषेः वाक्यं अष्टाविंशति तमे युगे भगवान् वसुदेवगृहेऽवतरिष्यतीति एवं विधमनुस्मरंश्च मुदा हर्षेण युतः[16] प्रणम्योवाच॥ ४५॥

---

1 B °नैव 2 B omits यत् 3 B omits बहुशः 4 B,W आनन्त्याना० 5 B दुस्स० 6 KW जन्मानि 7 B अ० 8 B आ० 9 B प्रो 10 B,K °त्वात् 11 B सर्वज्ञत्व 12 B °त्र 13 K,W omit तर्हि 14 K,W omit इति 15 B गर्गऋषेः 16 B युक्तः

विज० ह्लादः निस्स्वनः॥ ३६ ॥

मातुं सङ्ख्यातुं न शक्यन्ते। कुतः? अनन्तत्वात्। अतोऽनन्ताना मनन्ता इत्येव परिसङ्ख्यान मन्यथाऽनन्तत्वहानिः॥ ३७॥

अनन्तत्वमाह-कश्चिदिति। कश्चित् क इव ब्रह्मेव सोऽपि मे जन्मानि गुणकर्माभिधानानि न विममे॥ ३८॥

अनुक्रमन्तः निरन्तरं पठन्तः॥ ३९॥

भारायमाणानां भारवदाचरतां, कर्तुः क्यङ् सुलोपश्च (अष्टा० 3-1-11) इति पाणिनिः॥ ४०॥

गृहे भार्यालक्षणे। निमित्तं कथयति- वसुदेवेति॥ ४१ ॥

तिग्मचक्षुषा चण्डनेत्राग्निना॥ ४२-४५ ॥

## मुचुकुन्द उवाच

विमोहितोऽयं जन ईश मायया त्वदीयया त्वां न भजत्यनर्थदृक्।
सुखाय दुःखप्रभवेषु सज्जते गृहेषु योषि त्पुरुषश्च वञ्चितः॥ ४६ ॥

लब्ध्वा जनो दुर्लभमत्र मानुषं कथञ्चिदप्यङ्ग मयत्नतोऽनघ।
पादारविन्दं न भजत्यसन्मति र्गृहान्धकूपे पतितो यथा पशुः॥ ४७ ॥

ममैष कालोऽजित निष्फलो गतो राज्यश्रियोन्नद्धमदस्य भूपतेः।
मर्त्यात्मबुद्धेः सुतदारकोशभूष्वासज्जमानस्य दुरन्तचिन्तया॥ ४८ ॥

कलेबरेऽस्मि न्घटकुड्यसन्निभे निरूढमानो नरदेव इत्यहम्।
वृतो रथेभाश्वपदात्यनीकपै र्गां पर्यटंस्त्वा मगणय्य दुर्मदः॥ ४९ ॥

प्रमत्तमुच्चैरिति कृत्यचिन्तया प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम्।
त्वमप्रमत्तः सहसाऽभिपद्यसे क्षुल्लेलिहानोऽहि रिवाऽऽखुमन्तकः॥ ५० ॥

---

1 BGJ °व्य० 2 MIVW °तस्तव। 3- -3 BGJ °स्त्वागणयन्सु०

श्रीध० त्वद्भक्तिरेव केवलं दुर्लभा, कामास्तु तुच्छा न वरणयोग्या इत्याशयेनाऽभक्तानां संसार मष्टभिः प्रपञ्चयन् स्तौति- विमोहित इति। हे ईश! योषित्पुरुषश्चेति द्विविधोऽप्ययं जनः त्वदीयया मायया विमोहितः, अतोऽनर्थदृक् अर्थे संसारे दृक् दृष्टिः यस्याऽसौ। यद्वा अर्थं परमार्थस्वरूपं त्वां न पश्यतीति तथा। अतः त्वां न भजति किन्तु परस्परं वञ्चितस्सन् सुखेच्छया दुःखानामेव प्रभवो येषु तेषु गृहेष्वेव सज्जते इति॥ ४६ ॥

किञ्च कामसुखं सूकरादिष्वपि सम्भवति भगवद्भजनं तु न मानुषजन्मव्यतिरेकेणेति मानुषत्वं प्राप्य त्वामभज न्नतिमूढ इत्याह- लब्ध्वेति। अत्र कर्मभूमौ अव्यङ्गमविकलाङ्गम्। किञ्च असति विषयसुखे मति र्यस्य सः। गृहमेवान्धकू पस्तस्मिन्नपतितः। यथा पशुः तृणलुब्धोऽन्धकूपे पततीति॥ ४७ ॥

न केवलमस्य जनस्येयं गतिः किन्तु ममापि तथैवेत्याह- ममैष इति। मर्त्ये शरीरे आत्मबुद्धिर्यस्य तस्य ममाऽत एव सुतादिष्वाऽऽसज्जमानस्य॥ ४८ ॥

उन्नद्धमदत्वं प्रपञ्चयति- कलेबर इति। घटकुड्यादिसदृशे दृश्येऽनात्मनि यत एवं सुदुर्मदोऽभव मतोऽमैष कालो निष्फलो गत इति॥ ४९ ॥

त्वामगणयन्तं[3] **त्वमाक्रमसीत्याह- प्रमत्तमिति।** प्रमत्तमनवहितम्। त्वामन्तक मक्रिणय्य देहादिष्वासक्तमिति यावत्। कुतः प्रमत्तम्? इति कृत्यचिन्तया एवमेवं करणीयमिति मनोरथपरम्परया। मनोरथे भग्नेऽपि विषयेषु लालसमुत्सुकम्। प्राप्तेऽपि पुनः प्रवृद्धो लोभः तृष्णा यस्य त मन्तकस्त्व मभिपद्यसेऽभिभवसीत्यर्थः। क्षुधा सृक्वणी[4] लेलिहानोऽहि राखुं मूषकमिवेति॥ ५०॥

---

1- -1 MIV omit 2 B °ति 3 MIV add मा 4 B °क्विं०, J °क्ति०

**वीर०** उक्तिमेवाह- **विमोहित** इत्यादिद्वयोदशश्लोकात्मिकाम्। यदुक्तं- "वरान्वृणीष्व राजर्षे सर्वान्कामान्ददामि ते" (भाग० 10-51-44) इति, तस्योत्तरोपयुक्तमाह- विमोहित इति। **विषयाभिलाषेणैव निदानेनेदृशसंसृतिरूपानर्थं प्राप्तोऽहं** भूयो विषयानेव वरयेति चोदयता त्वया वञ्चितस्स्याम्। अतो भक्तवञ्चनं तवानुचितमिति मैवं वादी रित्यभिप्रायः। हे ईश। त्वदीयया मायया मोहितो योऽयं मत्प्रभृतिः योषिच्च पुरुषश्च योषिदात्मकः पुरुषात्मकश्चेदित्यर्थः। जनस्त्वां निरतिशयपुरुषार्थभूतं न भजति, किन्तु स्वानर्थविषये दृम्बुद्धिः यस्य तथाभूतः वस्तुतोऽनर्थहेतुम प्यर्थव न्मन्यमानः प्रभवन्त्येभ्य इति प्रभवाः दुःखस्य प्रभवास्तेषु दुःखैकनिदानेषु गृहेषु सुखलेशाभासप्रभवेषु सुखाय सज्जते सक्तो भवति। सज्जनः पूर्वमेवं त्वया वञ्चित इत्यर्थः॥ ४६॥

नन्वित्थं जन वञ्चयन्नह निर्घृणो विषमश्च किमत्यत आह- **लब्ध्वेति।** हे अनघ! न विद्यते यद्भजना दघं तथाभूतेत्यर्थः। अयत्नत स्वप्रयत्नमन्तरेणापि केवलमनुजिघृक्षैकस्वभावत्वसङ्गत्पादेव हेतोः कर्मक्षेत्रे दुर्लभमपि मानुष मङ्गं शरीरं त्वदाराधनोपयुक्तं प्राप्याप्ययं जनस्त्वत्पादारविन्दं निरतिशयपुरुषार्थरूपं तत्प्राप्त्युपायभूतं च न भजति, किन्तु असन्मतिः प्रकृतिपरिणामात्मकदेह एव मतिरात्माभिमानो यस्य तथाभूतः केवलं गृहमेवान्धकूपः तस्मिन्पतितो भवति, यथा पशुः अजानन् तृणावृते कूपे जिघत्सया गतस्तत्र पतितो भवति, तद्वत्। न ह्येतावता तव वैषम्यादिकमापादयितुमुचितं केवलम नुजिघृक्षयैव स्वाराधनोपयुक्त करणकलेवरादिप्रदानादिति भावः॥ ४७॥

जनसामान्योद्देशेनोक्तमर्थं स्वस्मिन् पर्यवसाययति - **ममेति।** हे अजित! एष भूतः कालो मम निष्फलो गतः मया निष्फलो नीत इत्यर्थः। कथम्भूतस्य? राज्यश्रियोन्नद्धः प्रभूतो[1] मदो **यस्य दुष्टा विषयाभिलाषिणी** मतिर्यस्य, तत्र हेतुः[2] - मर्त्ये मरणशीले देहे आत्मेति[3] बुद्धिर्यस्य, न केवलं मर्त्यात्मबुद्धेरेव किन्तु सुतादिषु तद्रक्षणपोषणादिविषयया अपार चिन्तया आसजमानस्य आसक्तस्य अहङ्कार ममकारयुक्तस्येति पदद्वयफलितोऽर्थः। तत्र कोशो धनागारम्॥ ४८॥

उन्नद्धमदत्वमेव प्रपञ्चयति- **कलेबर** इति। घटकुड्यसदृशे जड्डे अस्मिन् कलेबरे **रूढमूलः** मानः आत्माभिमानो यस्य सोऽह नरदेव इत्यभिमन्यमान इति शेषः। रथाश्च इभा गजाश्च[4] अश्वाश्च[5] पदातयश्च तेषामनीकानि सैन्यानि तानि पान्तीति तथा तैः परिवृतो गां भूमिं पर्यटन् त्वामगणय्य तुच्छीकृत्य दुर्मद, आसमिति शेषः॥ ४९॥

त्वा मगणयन्त मित्थं दुर्मदं मां त्वं कालरूपेणक्रामसीत्याह- **प्रमत्तमिति**। इति कृत्यचिन्तया एवमेवंकर्तव्यमिति मनोत्थपरम्परया नितरां प्रवृद्धः लोभो यस्य तं, विषयेषु शब्दादिषु लालसम् आसक्तचित्तं प्रमत्तं स्वहितानभिज्ञं मां त्वमप्रमत्तः अन्तं करोतीत्यन्तकः विनाशहेतुः कालरूपो भूत्वा अभिपद्यसे आकर्षसि, ग्रससे[5] इति यावत्। यथा क्षुधा बुभुक्षया लेलिहानः आस्वदमानः क्षुधा लोलजिह्व इति यावत्, यल्लुमन्ताल्लिहेः कर्तरि लटश्शनजादेशः, अहिस्सर्पः आखुं मूषकम् आपद्यते तद्वत्॥ ५० ॥

---

1 B. °तमदः 2 B omits हेतुः 3 KW आत्मनु० 4 B omit गजाः 5 KW omit अश्वाः 6 BW °सि

**विज०** अनर्थदृक् स्वपुरुषार्थदर्शी न भवतीत्यर्थः। यद्वा अनर्थं संसारमर्थं पश्यतीति दुःखप्रभवेषु दुःखहेतुषु पुरुषेण वञ्चिता योषित् तथा पुनः पुरुषश्च वञ्चितः॥ ४६ ॥

मायया मोहितत्व मुपपादयति- **लब्ध्वेति**। अत्र कर्मभूमौ मानुषमङ्गं देहं असत्सु विषयेषु मतिर्यस्य स तथा अन्धकूपे पतितः पशुः यथा स्वरूपं न भजति तथा गृहलक्षणान्धकूपे॥ ४७ ॥

मर्त्यात्मबुद्धेः देहात्मबुद्धेः॥ ४८ ॥

देहात्मबुद्धित्वं दर्शयति- **कलेबर** इति। दुरन्तविषयचिन्तया दुष्टो मदो विद्याभिजनलक्षणो यस्य स तथा॥ ४९ ॥

धनादिनिमित्तमदस्य दुष्टत्वं कथ मत्राह- **प्रमत्तमिति**। क्षुधा जिह्वया सृक्किणी[1] लेलिहन्॥ ५० ॥

---

1 B सृक्किणी

पुरा रथै र्हेमपरिष्कृतै श्चर न्मतङ्गजैर्वा नरदेवसंज्ञितः।
स एव कालेन दुरत्ययेन ते[1] कलेबरो विट्कृमिभस्मसंज्ञितः[2]॥ ५१॥

निर्जित्य दिक्चक्रमभूतविग्रहो वरासनस्थः समराजवन्दितः।
गृहेषु मैथुन्यसुखेषु[3] योषितां क्रीडामृगः पूरुष ईश नीयते[4]॥ ५२ ॥

करोति कर्माणि तपस्सुनिष्ठितो निवृत्तभोग स्तदपेक्षया दधत्[5]।
पुनश्च भूयासमहं स्वराडिति[6] प्रवृद्धतर्षो न सुखाय कल्पते॥ ५३ ॥

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः[7]॥ ५४ ॥

**मन्ये ममानुग्रह ईश! ते कृतो राज्यानुबन्धापगमो यदृच्छया!**
**यः प्रार्थ्यते साधुभिरेकचर्यया वनं विविक्षद्भि रखण्डभूमिपैः॥ ५५ ॥**

---

1 K.W चेत्; M.Ma. वै, 2 M I V क्रिमि 3 M Ma परेषु 4 M Ma गौ० 5 B,G,J,M,Ma. ददत्; M I V सकृत् 6- -6 B,G,J भूयेयमहं स्वराडिति, M,Ma. भूयाय महीशराधसे 7 M I V प 8 W एष 9 M,Ma °क्षु०

**श्रीध०** किञ्च कालात्मना त्वयाऽभिपन्नो देह एवं भवतीत्याह- **पुरेति**। श्वसृगालादिभि र्भक्षितो विट्संज्ञितः तैरभक्षितः कृमिसंज्ञितः, दग्धो भस्मसंज्ञितो भवति। इति बुद्ध्या विचार्यैवम्भूतशरीरे ममतां कुर्वन्तो जना हरिं नाराधयन्ति च ते आत्मनि शत्रुभूता ज्ञेयाः सततम्। यतः- "योनेः सहस्राणि बहूनि गत्वा दुःखेन लब्ध्वापि च मानुषत्वम्। सुखावहं ये न भजन्ति विष्णुं ते वै मनुष्यात्मनि शत्रुभूताः" इति॥ ५१ ॥

किञ्च अन्तकप्राप्तेः प्रागपि दिग्विजयिनो राज्ञोऽपि पारतन्त्र्यदुःखं तदवश्यमेवेत्याह- **निर्जितेति**। अभूतविग्रहोऽविद्यमानसङ्ग्रामः। पूर्वं ये समाना राजान स्तै राजभि र्वन्दितोऽपि मिथुनीभावः सुरतमेव परं सुखं येषु तेषु योषितां गृहेषु क्रीडामृग इव इतस्ततो नीयते ॥ ५२ ॥

किञ्च तत्राऽतितृष्णाकुलस्य न भोगक्षणः कश्चिदस्तीत्याह **करोतीति**। तपसि अधश्शयनब्रह्मचर्यादौ सुनिष्ठितः। पुनश्च स्वराडिन्द्रः स्यामिति। यद्वा जन्मान्तरेष्वेवमेव चक्रवर्ती स्यामिति ॥ ५३ ॥

तदेव मष्टभिः श्लोकैरीशबहिर्मुखानां संसारं प्रपञ्च्य भक्त्या तन्निवृत्तिक्रममाह- **भवापवर्ग** इति। भो अच्युत! भ्रमतः संसरतः जनस्य यदा त्वदनुग्रहेण भवस्य बन्धस्यापवर्गोऽन्तो भवेत् प्राप्तकालः स्यात् तदा सतां सङ्गमो भवेत्। यदा च सत्सङ्गमो भवे त्तदा सर्वसङ्गनिवृत्त्या कार्यकारणनियन्तरि त्वयि भक्ति र्भवति ततो मुच्यत इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

मम तु सत्सङ्गमात्पूर्वमेव यो राज्यादिसङ्गविच्छेदो जातः सोऽयं त्वया महाननुग्रहः कृत इत्याह- **मन्य** इति। ते त्वया, साधुभि र्विवेकिभि स्तपसे वनं प्रवेष्टुमिच्छद्भिः स्वयं त्यक्तुमतभमानैः प्रार्थ्यत इति ॥ ५५ ॥

---

1 M I V समाः

**वीर०** नन्वतिदुर्लभकल्याणतरनरदेवशरीरं प्राप्याऽपि किमिति तन्निन्दसीत्याशङ्काया मन्ततः कालाभिपन्नस्य तस्य गतिं पश्येत्यभिप्रायेणाह- **पुरेति**। पुरा तावत्सुवर्णालङ्कारालङ्कृतैः रथै र्गजै र्वा सञ्चरन् यो नरदेवसंज्ञितः नरदेवसंज्ञाऽऽस्य सञ्जातेति तथा। तारकादित्वादितच्। स एव देहः दुरतिक्रमेण कालेनाभिपन्नश्चेत्तावच्छृगालादिभिः भक्षितो विट्संज्ञितः तैरभिक्षितश्चेत्कृमिसंज्ञितः दग्धश्चेत् भस्मसंज्ञितः भवतीत्यर्थः ॥ ५१ ॥

"सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" (बृह.उ 4-4-22) इति श्रुत्युक्तविविधसर्वस्वरूपेशस्वातन्त्र्यं त्वामवि- गणय्य स्वतन्त्रमात्मानस्य मम निहीनप्रतियोगिकपारतन्त्र्य मवर्जनीयमेवाऽऽसी दित्यभिप्रेत्याह- **निर्जितेति**। दिक्चक्रं दिङ्मण्डलं

निर्जित्याऽभूतः असम्भावितः विग्रहः विरोधो यस्य तथाभूतः असम्भावितप्रतिपक्ष इत्यर्थः। वरासनस्थः सार्वभौमासनाधिष्ठितः पूर्वं समास्तुल्या राजानस्तैरपि वन्दितः पुरुषः हे ईश! मैथुन्यमेव[9] सुखं येषु तेषु गृहेषु योषितां स्त्रीणां केवल क्रीडामृगः क्रीडार्थं पोषितो वानरादिरिव नीयते इतस्ततश्चात्यत इत्यर्थः। पुरुष इति पारोक्ष्यनिर्देशः सर्वोदिभ्यिजयि[10]पुरुषाभिप्रायकः॥ ५२॥

ननु भोग्यभोगोपकरणादि समृद्धान् राजगृहान् दुःखप्रभवेषु मैथुन्य[11]सुखेष्विति[12] च कथं निन्दसीत्यतस्तत्र सुखाभावमाह- करोतीति। पुनश्च जन्मान्तरेऽपि स्वराट् सार्वभौमो भूयासमितीत्थं प्रवृद्धः तर्षः तृष्णा यस्य तथाभूत स्तपस्सु जन्मान्तारीय सार्वभौमत्व साधनेषु तपस्सु अधश्शयन ब्रह्मचर्यादिषु निष्ठितः सञ्जातनिष्ठः अत एव निवृत्तो भोगो यस्य तथाभूतः तदपेक्षया भाविजन्मभोगापेक्षया दधत् बिभ्राणः, तपांसीति विपरिणतेनान्वयः। कर्माणि वर्तमानदेहभोगार्थानि भोजनादिकर्माणि करोति, इत्थम्भूतोऽसौ न सुखाय कल्पते न सुखी भवति, किन्तु दुःख्येवेति भावः। यद्वा एवमन्वयः - तावद्राजशरीरप्राप्ति साधनानि कर्माणि करोति, ततो दधत् राजशरीरमिति शेषः। निवृत्तभोगः तपस्सु निष्ठितः तदपेक्षया तद्धेतुभूतः स्वराट् स्यामिति प्रवृद्धः तर्षो यस्य तथाभूतो न सुखाय कल्पत इति ॥ ५३ ॥

तर्हि कदा सुखाय कल्पते इत्याह[13] भवापवर्ग इति। एवं संसृतौ भ्रमतः पुंसो भवापवर्गाः संसारान्तः भवनिवृत्तिः मुक्तिरिति यावत्, स यदा भवेदासन्नस्स्यात्तदैवार्य सुखाय कल्पते, इति पूर्वेण सम्बन्धः। कदा तर्हि भवापवार्गो भवेदित्यत आह-तर्हीति। हे अच्युत! अस्य संसरतो जनस्य यर्हि यदा यस्मिन्जन्मनि सत्समागमः सद्भिः भागवतैस्समागमः सङ्गतिस्सहवास इति यावत्। तदा भवापवर्गः न हि[15] सत्समागमः साक्षाद्भवापवर्गसाधनभूतः[16] किन्तु त्वद्भक्तिजननादि प्रणाडचेत्याह- सत्सङ्गम इति। यदा हि सत्सङ्गमस्तर्ह्येव परे इन्द्रादयः अंपरे अवमा यस्मात्तस्य चतुर्मुखस्याधीशे नियन्तरि सता गतौ त्वत्प्राप्त्युपायभूते त्वयि मतिर्भवत्यात्मिका बुद्धिः जायते उत्पद्यते ॥ ५४ ॥

यदुक्तं "सोहं तवानुग्रहार्थं गुहामेतामुपागतः" (भाग. 10-51-43) इति, तत्सत्यमेव, किन्तु पूर्वमेव[17] देहानुबन्ध्यपनयेन लिङ्गेन त्वयाऽनुगृहीतोऽहमिति मन्ये इत्यभिप्रेत्याह मन्ये इति। हे ईश! यदृच्छया त्रिदशसाहाय[18]कव्याजेन राज्यरूपो योऽनुबन्धः पाशः तस्यापगमोऽपायः[19] कृत इत्येष महान् त्वयैवानुग्रहः कृत इति मन्ये। तस्यानुग्रहप्रयुक्तत्वे हेतुं वदन् तमेव राज्यानुबन्धापगम विशिनष्टि य इति। यो राज्यानुन्धापनयस्साधुभिर्विवेकिभिः तपसे वनं प्रवेष्टमिच्छद्भिः सार्वभौमैरकचर्यया एकचर्यार्थम् एकाकित्वेन[20] सञ्चारार्थं प्रार्थ्यते ॥ ५५ ॥

---

1 B म 2 B स्वर्णा3 B क्रमणीयेन 4 B °श्च ता० 5 B शृ० 6- - 6 B omits 7 B °मानस्य 8 B °व्याबभि 9 B °न० 10 BW °य 11 B °न 12 B add इत्येव 13 B °त्यत आह 14 B adds °जनः 15 B adds किं 16 B adds (न) 17 B नयनेन 18 B °व्यकृत्य व्या० 19 B omits कृत 20 W °शि०

**विज०** किमत्र प्रमाणमित्यतः प्रत्यक्षमेवेत्याह- **पुरेति।** यो देहः पुरा नरदेव संज्ञितः स एव देहो दुरत्ययेन कालेन विट्कृमिभस्मसंज्ञितो, भवतीति शेषः। श्वादि भक्षितो विष्ठासंज्ञितो भवति। अदग्धः कृमिसंज्ञितः, दग्धः भस्मसंज्ञित इति विशेषः ॥ ५१ ॥

इदं च लजाकरमित्याह निर्जित्येति। दिक्चक्रं दिङ्मण्डलं अभूतविग्रहः अजातपुद्धः वयसा कुलेन दानेन विद्यया च समै राजभिर्वन्दितः बहिरेवंविधः पुरुषो मैथुन्यपरेषु ग्राम्यसुखमात्ररतेषु योषितां क्रीडामृगो गीयते इत्यन्वयः॥ ५२॥

त्वद्भक्तिरहितस्य पुंसः कर्मकरण गजस्नानतुल्यमिति भावेनाह- करोतीति। हे महीश! निवृत्तभोगः तदपेक्षया तेषां भोगानां सजातीयभोगेच्छया सुनिष्ठितः तद्योग्यदेवतापूजासु नितरां स्थिरो यः कर्माणि तदनुगुणं तपश्च करोति। स पुनश्च धनादि ददत् भूयाय भूयसे महते राधसे सम्पदे प्रवृद्धतर्षः अत्युद्रिक्ततृष्णः सुखाय न कल्पते इत्यन्वयः। सुखं नाम मुक्तिलक्षणम् ॥ ५३ ॥

तर्हि कदा मोक्षः स्यादत्राह- भवेति। हे अच्युत! नानायोनिषु भ्रमतो जनस्य यदा सत्सङ्गमः तर्हि तदा भवापवर्गस्स्यात्। भगवज्ज्ञानफलं मोक्षः कथमन्यतस्स्यादिति तत्राह- सत्सङ्गम इति। यर्हि यदा सत्सङ्गमः स्यात्तदैव त्वयि श्रवणादिलक्षणः सङ्गमः स्यात्, तस्मात् परावरेशे मुक्ताभुक्तस्वामिनि त्वयि मतिः त्वत्प्रसादजनकं ज्ञानं स्यात् ॥ ५४ ॥

अतो ज्ञानद्वारा सत्सङ्गमो मुक्तिसाधनमसत्सङ्गमोऽनर्थहेतुरिति गृहादिसङ्गत्यागः सत्सङ्गहेतुरित्याशयेनाह- मन्ये इति। ते त्वया राज्यानुबन्धापगमः राज्यस्य तदनुबन्धकस्य कोशादेश्चापगमः त्यागः एकचर्यया " एक एव चरेद्भिक्षुः" इति वचनात् एकाकित्वेन चरणम्। अखण्डभूमिपैः सार्वभौमैः विविक्षद्भिः प्रवेष्टुमिच्छद्भिः ॥ ५५ ॥

न कामयेऽन्यं तव पादसेवनादकिञ्चन पार्थ्यतमाद्वरं विभो।
आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे वृणीत आर्यो वरमात्मबन्धनम् ॥ ५६ ॥

तस्माद्विसृज्याशिष ईश सर्वतो[1] रजस्तमस्सत्त्वगुणानुबन्धनाः।
निरञ्जनं निर्गुणमद्वयं[2] परं त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम् ॥ ५७ ॥

चिरमिह वृजिनार्तस्तप्यमानोऽनुतापै रवितृषषडमित्रोऽलब्धशान्तिः[3] कथञ्चित्[4]।
शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्मन्नभयमृतमशोकं पाहि माऽऽपन्नमीश ॥ ५८ ॥

श्रीभगवानुवाच[5]

सार्वभौम महाराज मतिस्ते विमलोर्जिता।
वरैः प्रलोभितस्यापि न कामैर्विहता यतः ॥ ५९ ॥

प्रलोभितो वरैर्यस्त्वमप्रमादाय विद्धि तत्।
न धीर्मय्येक भक्तानामाशीर्भिर्भिद्यते क्वचित् ॥ ६० ॥

6- -6
युञ्जानानामभक्तानां प्राणायामादिभिर्मनः।
7 8
अक्षीणवासनं राजन् दृश्यते क्वचि दुत्थितम् ॥ ६१ ॥

विचरस्व महीं कामं मय्यावेशितमानसः।
9
अस्त्वेव नित्यदा तुभ्यं भक्तिर्मय्यनपायिनी ॥ ६२ ॥

10 11
क्षात्रधर्मस्थितो जन्तून् अवधीर्मृगयादिभिः।
12- -12
समाहितस्तत्तपसा जह्यघं म दुपाश्रयः ॥ ६३ ॥

जन्मन्यनन्तरे राजन्सर्वभूतसुहृत्तमः।
13
भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै मामुपैष्यसि केवलम् ॥ ६४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां उत्तरार्धे
दशमस्कन्धे मुचुकुन्दस्तुतिर्नाम एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

---

1 M.Ma °शो 2 M.Ma °मय्यं 3 K.W °जित 4--4 M.Ma उत्कृच्छ्रेत० 5--5 M.V श्रीकृष्ण उवाच 6--6 M.Ma ज्ञानिनामेक 7 M.Ma न 8 B.G.J पुनः० 9 K.W अस्त्वेव; M.V अस्त्विय 10 K.W क्षत्रधर्मे, M.Ma, M.V क्षत्रधर्म 11 B.G.J न्य० 12--12 B.G.J मदुपाश्रितः; M.M माधुपाश्रितः B.M.Ma.M °पे०

**श्रीध०** तदेवं विषयसेवामार्गं भगवत्सेवामार्गं च विविच्य वरान् वृणीष्वेति यदुक्तं तन्नोत्तरमाह- **न कामय** इति। अकिञ्चनाः निवृत्ताभिमानाः। आर्यो विवेकी ॥ ५६ ॥

**तस्मादिति**। रजस्तमस्सत्वगुणैरनु बध्यन्त इति तथा ता आशिष ऐश्वर्यादिशत्रुमारणादि धर्मादिरूपा विसृज्य परं पुरुषमीश्वरं ज्ञप्तिमात्रं ज्ञानाञ्जनम्। कुतः? निरञ्जनम्। तत्कुतः? निर्गुणम्। तदपि कुतः? अद्वयम्। अत एव अक्षरं त्वां शरणं व्रजामीति ॥ ५७ ॥

भुङ्क्ष्व तावद्भोगान् कैवल्यं तु करत्यमेवेति पुनर्वैः प्रलोभयन्तं श्रीकृष्णं पादोपसङ्ग्रहणेन प्रार्थयते-**चिरमिति**। वृजिनैः कर्मफलैरार्तः पुनस्तद्वा स्नाभिस्तप्यमानः तथाप्यवितृषषडमित्रः, तृषेन तृषा तृष्णा, न विगत तृषाः षडमित्राः शत्रवः इन्द्रियलक्षणा यस्य सः। अत एवलब्धशान्तिः कथञ्चिद्दैवक्वदोन लब्धशान्तिरिति वा। शरणं स्वज्ञानं तद्दातीति तथा, हे शरणद! समुपेतः प्राप्तोऽहम्। अशोकत्वे हेतुः अभयम्। तत्रपि हेतुः ऋतं सत्यम्। आपन्नमापदा व्याप्तं पाहीति ॥ ५८-५९ ॥

**प्रलोभित इति**। अप्रमादाय प्रमादाय न भवत्येव। कुत इत्यत आह- न धीरिति। एकान्त भक्तानां धीराशीर्भिः प्राप्ताभिरपि न भिद्यते नासज्जत इत्यर्थः ॥ ६० ॥

व्यतिरेकमाह - **युञ्जानानामिति**। उत्थितं विषयाभिमुखम् ॥ ६१ ॥

**विचरस्वेति**। तुभ्यं तव ॥ ६२ ॥

युक्त्याभासेन भीषयन् तपसि लोकसङ्ग्रहे प्रवर्तयति- **क्षात्रधर्मेति**[6] ॥ ६३,६४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

---

1 MIV म० 2 BJ °प्रा० 3 MIV omit °सत्यम् 4 MIV °भापत्राप्त 5 MIV न स० 6 MIV क्ष०

**वीर०** तदेवं प्रतिवचनोपयुक्तार्थं उक्तः, अथ साक्षात्प्रतिवचनमाह-**न कामय** इति। हे विभोः! अकिञ्चनैः अनन्यप्रयोजनैः एकान्तिभिरतितरां प्रार्थनीयात्तव पादसेवनादन्यं वरं न कामये, अन्यो मदिष्टो वरणीयोऽर्थ एव नास्तीत्यभिप्रायः। आर्यः श्रेष्ठो विवेकी चेत् को वा पुमान् साक्षान्मुक्तिप्रदं त्वामाराध्य आराधनेन प्रसन्नीकृत्य केवलमात्मा बन्ध्यते येन तदात्मबन्धनं शब्दादिविषयजालं वृणीत वृणुयात्, मूर्खश्चेद्वृणीत इत्यर्थः ॥ ५६ ॥

यस्मात् त्वत्पादारविन्द सेवनमेव प्रार्थनीयं तस्मात् हे ईश! सर्वतः सर्वाः आशिषः[1] रजस्तमस्सत्त्वगुणैः राजआदिगुणकार्यैः कामक्रोधादिभिः क्रोधाद्युत्तरफलका इत्यर्थः। आशिषः कामान् विसृज्य अहं त्वां व्रजामि। व्रज गतौ गत्यर्थाः बुद्ध्यर्थाः त्वत्प्राप्तयुपायत्वेन त्वामध्यवस्यामीत्यर्थः। शरण्यस्य तस्य जीवतुल्यत्ववारणाय तं विशिनष्टि निरञ्जनं पुण्यपापसम्बन्धरहितं प्रकृतिपारवश्यरूपाञ्जनरहितं वा। ननु किमहं मुक्तजीवः नेत्याह- निर्गुणं कदापि गुणत्रयसम्बन्धरहितम् अनेन बद्धदशायां गुणत्रयतत्कार्यरागादिसम्बन्धबन्मुक्तव्यावृत्तिः। तर्हि किं नित्यसिद्धः- नेत्याह। अद्वयं द्वित्वरहितं समाभ्यधिकरहितं तत्सत्वे हि ईश्वरद्वित्वप्रसङ्गः, अतः समाभ्यधिकराहित्यादीश्वराद्वित्वं नास्ति। नित्यसिद्धस्तु समाभ्यधिकवानिति तद्व्यावृत्तिः, अतः परं सर्वोत्कृष्टं सौलभ्याभावे केवलं परत्वं न शरण्यत्व प्रयोजकम् अतः वर्तमानमिति भावः। दिव्यात्मस्वरूपं[2] निर्दिशति- ज्ञानिमात्रमिति। मात्रशब्देन क्वचिदपि जडत्वव्यावृत्तिः, ज्ञानैकस्वरूपमित्यर्थः। अत्र पुरुषपदलभ्यं सौलभ्यमन्येषामपि वात्सल्यादिशरण्यतोपयुक्तगुणानामुपलक्षणम् ॥ ५७ ॥

इत्थं शरणं प्रतिपन्नाऽथात्मनः कार्पण्यनिवेदनपूर्वकं रक्षां प्रार्थयते- **चिरमिति**। इह संसारे उरुभिर्विपुलैस्तापैराध्यात्मिकादिभिः तप्यमानोऽत एव चिरं वृजिनेन दुःखेनाऽऽर्तः पीडितः अविजिताष्षडमित्राश्शत्रवो मनष्षष्ठानीन्द्रियाणि येन सः। अवितृष षडमित्रः इति पाठे विगता तृषा येषां ते वितृषाः अवितृषास्ते षट् अमित्रा यस्येत्यर्थः। अत एव अलब्धा शान्तिर्मनः प्रसादो येन तथाभूतोऽहं हे शरणद! कथंचित्तत्सङ्गत्यादिबलेन त्वत्पदाब्जं समुपेतः शरणं गतवान्। पदाब्जं कथम्भूतम्? न विद्यते भयं संसारो यस्मात्[3], अत एव न विद्यते शोको यस्मात्, ऋतं सत्यं नित्यं वा अनेन स्वर्गयागादि साध्यसाधन वैलक्षण्यमुक्तम्। हे परात्मन्! परमात्मन्! हे सर्वनियन्तः! इत्थमापन्न मापदा व्याप्तम् अधुना प्रपन्नं मां पाहि संसृतिभयात् त्रायस्व ॥ ५८ ॥

एवं विज्ञापितः प्राह- **सार्वभौमे** त्यादिना यावत्समाप्ति। तव मतिः विमला रागादिमलरहिता ऊर्जिता बलवती निवृत्तिधर्मे एव दृढेत्यर्थः। कुतः? यतः वैरैर्हेतुभिः प्रलोभं प्रापितस्यापि तव मतिः कामैः विषयैः न विहता न विहन्यते ॥ ५९ ॥

वैरैः प्रलोभित इति यत् तदप्रमादाय विद्धि बुद्धेरप्रमादार्थं विजानीहि। ननु प्रलोभनात्कदाचिद्बुद्धिप्रमादोऽपि स्यात् ततश्च भ्रश्येत् अत आह-न धीरिति। मय्येकभक्तानाम् अनन्यप्रयोजनभक्तानां मतिः क्वचित्कदाचिदप्याशीर्भिः कामैः न भिद्यते न विहन्यते ॥ ६० ॥

अभक्तानां तु भिद्यत एवेत्याह - **युञ्जानानामिति**। प्राणायामादिभिः उपायैः युञ्जानानां नियुञ्जानानां मनोनियमनं कुर्वतां तु मनः अक्षीणवासनम् अक्षीणा वासना यस्य तत्, हेतुगर्भमिदम्। तत्त्वात् क्वचिद्विषये कदाचिद्वा उत्थितं विषयप्रवणं दृश्यते ॥ ६१ ॥

**विचरस्वेति**। मयि आवेशितं मानसं येन तथाभूतस्त्वं महीं कामं यथेच्छं विचरस्व। मयि[4] नित्यमनपायिनी भक्तिस्तु अस्त्येवं तथाऽनुगृह्णामीति भावः ॥ ६२ ॥

ननु भक्त्येकलभ्यो भवान् तामन्तरेणाप्यधुना प्रत्यक्षितः, किमिति मुक्तिं विलम्बयसीति विदिततदभिप्रायः प्राह- क्षत्रेति। क्षत्र वर्णोचत धर्मनिष्ठो मृगयादिभिः लोकरक्षानुपयुक्त मृगयादि व्यापारैः जन्तून्हतवानसि, ततः त्वम् अहमेवोपाश्रयः संश्रयो यस्य सः मद्भक्तिनिष्ठस्सन् तपसा मत्प्राप्ति प्रतिबन्धकनिवर्तकेन भक्तियोगोत्पत्ति प्रतिबन्धक निवर्तकेन, वा तपसा जन्तुवधप्रयुक्तं[5] पापं जहि अपनय प्रत्यक्षित परमात्मनामप्यघे प्रारब्धे तपसाऽनुभवेन वा विनाशिते सत्येव परमात्मप्राप्तिरिति भावः ॥ ६३ ॥

कदा तर्हि अघक्षयः त्वत्प्राप्ति श्चेत्यत आह-**जन्मनीति**। अनन्तरे एतजन्माव्यवहितोत्तरजन्मनि त्वं द्विजश्रेष्ठो भूत्वा सर्वभूतसौहार्दवान् समः कृत्स्नं जगत् ब्रह्मात्मकं पश्यंश्च केवलं प्रकृतिमण्डलात्परतः स्थितं मामुपैष्यसि प्राप्स्यसि, वै नूनम् ॥ ६४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

---

1. K.W. omit आशिषः 2 B. W omit लभ्यं 3 B omits परात्मन् 4 B. omits मयि 5 B. adds तत्.

**विज०** फलितमाह -**नेति**। आर्यो ज्ञानी आत्मनः स्वस्य बन्धनं संसारकारणं वरम् ॥ ५६ ॥

तर्हि किं करोषीति तत्राह -**तस्मादिति**। आशिषः स्वर्गादिसम्पदः रजसा मनुष्यः तमसा राक्षसादिः सत्त्वेन देवादिः ज्ञप्तिमात्रं ज्ञानघनम् ॥ ५७ ॥

अधुना कर्त्तव्यम् किम्? तत्राह-चिरमिति। वृजिनार्तः दुःखक्लिष्टः, एतदेव विवृणोति तप्यमान इति। अवितृषः सतृष्णः उत्कृच्छ्रविषये कथञ्चिल्लब्धशान्तिः लब्धमोक्षः प्राप्तत्याग इत्यर्थः। ऋतं शब्दब्रह्मप्रकारं आपन्नं संसारकूपे पतितं उत्कृच्छ्रे वृजिनार्ते इति वा ॥ ५८, ५९ ॥

वैरः प्रलोभित इति यत्तदप्रमादाय विद्धि, नैतच्चित्रमित्याशयेनाह-नेति ॥ ६० ॥

क्षीणा दुष्कर्मवासना यस्मिन् तत्तथा। उत्थितं विषयाभिमुखम् ॥ ६१,६२,६३ ॥

केवलं मां "केवलो निर्गुणश्च" (श्वेता. उ. 6-11) इति श्रुतेः ॥ ६४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

विजयध्वजरीत्या चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

---

# द्विपञ्चाशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या पञ्चपञ्चाशोऽध्यायः

-: षट्पञ्चाशोऽध्यायः, सप्तपञ्चाशोऽध्यायश्च :-

श्रीशुक उवाच

इत्थं सोऽनुगृहीतोऽङ्ग! कृष्णेनेक्ष्वाकुनन्दनः।
तं परिक्रम्य सन्नम्य निश्चक्राम गुहामुखात् ॥ १ ॥
सवीक्ष्य क्षुल्लकान्[1] मर्त्यान् पशून्वीरुद्वनस्पतीन्।
मत्वा कलियुगं प्राप्तं जगाम दिशमुत्तराम् ॥ २ ॥
तपश्श्रद्धायुतो धीरो[2] निस्सङ्गो[3] मुक्तसंशयः।
समाधाय मनः कृष्णे प्राविश द्वन्द्वमादनम् ॥ ३ ॥
बदर्याश्रममासाद्य नरनारायणालयम्[4]।
सर्वद्वन्द्वसहः[5] शान्त स्तपसाऽऽराधयद्धरिम् ॥ ४ ॥
भगवा न्पुनराव्रज्य मधुरां[6-] यवनावृताम्[-6]।
हत्वा म्लेच्छबलं[7] निन्ये तदीयं द्वारकां धनम् ॥ ५ ॥
नीयमाने धने गोभि र्नृभिश्चाच्युतचोदितैः।
आजगाम जरासन्धस्त्रयोविंशत्यनीकपः ॥ ६ ॥

---

1 B स 2 MMa वीरो 3 W निर्मलो 4 M,Ma. °णाश्रमम्। 5 W °मः 6- -6 B,G,J पुरीं यवनवेष्टिताम्, MMa मधुरा यवनाहृताम्। 7 TW °गण

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्विपञ्चाशत्तमे धावन्भयादिव गतः पुरीम्। अन्यमोदत सन्देशं रुक्मिण्या द्विजवर्णितम् ॥

स इति। क्षुल्लकान्[1] अल्पप्रमाणान् ॥ १,२ ॥

तप इति। तपसि श्रद्धायुतः ॥ ३ ॥

बदरीति। तत्र च बदर्याश्रमम् ॥ ४ ॥

भगवानिति। निन्ये अनयत् द्वारकां, मार्गे चलतिस्म[2-2]॥ ५-६ ॥

1 B. प्राणान् 2- -2 Ml.v. प्रापितवान्

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथाऽवशिष्टं मुचुकुन्दवृत्तान्तम्, इत्थं मुचुकुन्दमनुज्ञाप्य अनुगृहीतवतो भगवतोऽनन्तरचेष्टितञ्चाऽऽह- **इत्थमिति।** अङ्ग! हे राजन्! श्रीकृष्णेनेत्थमनुगृहीतो मुचुकुन्दः तं श्रीकृष्णं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च गुहाद्वारा निर्गतवान्॥ १ ॥

स मुचुकुन्दः क्षुल्लकान् अल्पपरिमाणान् मर्त्यादीनवलोक्य कलियुगं प्राप्तं विज्ञाय उत्तरां दिशं प्रति जगाम। तपसे इति शेषः॥ २ ॥

धीरो जितेन्द्रियः देहतदनुबन्ध्यादिषु आसक्तिरहितः मुक्तसंशयः सेत्स्यामि वा न वेति एवंविधो येन सः, श्रद्धायुतः [1-]कर्तव्यविषयत्वरायुक्तः[-1] कृष्णे भगवति स्वमनः सम्यगाधाय स्थिरीकृत्य गन्धमादनं पर्वतं प्राविशत्॥ ३ ॥

तत्रापि बदर्याश्रमे नरनारायणयोः आलयं[2] स्थानं[3] प्राप्य सर्वाणि द्वन्द्वानि शीतोष्णादीनि सहत इति तथा। शान्तः जितमनाः हरिमाश्रितबन्धहरं भगवन्तं तपसाऽऽराधयामास॥ ४ ॥

अथ मुचुकुन्दानुग्रहानन्तरं[4] भगवच्चेष्टितमाह-**भगवानि**त्यादिना। यवनैरावृतां मधुरामागत्य म्लेच्छानां बलं हत्वा तदीयं म्लेच्छसम्बन्धि सर्वं धनं द्वारकां प्रति निन्ये प्रापयामास॥ ५ ॥

अच्युतेन चोदितैर्नृभिः कर्तृभिः गोभिः साधनैः धने नीयमाने सति पूर्वव त्त्रयोर्विंशत्यक्षौहिणीसेनाधिपतिः[5] जरासन्ध आजगाम॥ ६ ॥

1- -1 T omits 2. T,W आश्रमं 3 T,W omit स्थानं 4 B. °होत्तरं 5 K,T,W. सैन्याधि

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

इक्ष्वाकोः वंशं नन्दयतीति इक्ष्वाकुनन्दनः सन्नम्य सम्यक् नत्वा॥ १ ॥

क्षुल्लकान् गुणतः परिमाणतश्च अल्पमानान्॥ २ ॥

इदं तत्त्वम् उताऽतत्त्वमिद मिति संशयो मुक्तो येन स तथा॥ ३,४ ॥

प्रकृतमनुसरति-भगवानिति। यवनेन आहृतम् आनीतम्॥ ५ ॥

त्रयोविंशत्यनीकपः त्रयोविंशदक्षौहिणीपतिः ॥ ६ ॥

**(श्रीविजयध्वजीयरीत्या अधिकश्लोकाः)**

ततो राजा जरासन्धः कालान्तानलसन्निभः।
विधाय मकरव्यूहं रथनागाश्वपत्तिमत्॥
अन्तश्चकार गोविन्दं व्यूहस्य निमिषान्तरे॥ (क)

ततो विलोक्य गोविन्दो वृक्षमुत्पाट्य रंहसा।
गजान् रथान् हयान् युद्धे पोथयमास दुर्मदः॥ (ख)

कृष्णेन हन्यमाना स्ते वृक्षेण रिपुकुञ्जराः।
पेतुर्गतासवो भूमौ वज्रनुन्ना इवाद्रयः॥ (ग)

रथाश्च रथिभिर्युक्ताः सतुरङ्गास्सचोदकाः।
निष्पिष्टा इव न क्वाऽपि दृश्यन्ते कुरुसत्तम॥ (घ)

रामस्तु मुष्टिना चाऽऽजौ कुञ्जरा न्मदशालिनः।
जघान कुपितः शैलान् वज्रेणेव सुरेश्वरः॥ (ङ)

राममुष्टिप्रहारेण विकीर्णस्यन्दना नृप!।
न व्यदृश्यन्त भूपृष्ठे चूर्णिताः शीर्णपर्णवत्॥ (च)

यवनस्य धनं विश्वं गच्छन्तं द्वारकामनु।
निहत्य यादवा न्विश्वान् तद्गृहीत्वा जरासुतः॥
अभ्यवर्तत सङ्ग्रामे रामकृष्णौ कुरूद्वह! ॥ छ ॥

विज० रथनागाश्वपत्तिमदिति क्रियाविशेषणम्। रथादिमन्तमिति व्यत्ययेन वा योज्यम्॥ (क)

दुर्मदो यथा जन्तून्हन्ति तथा। लुतोपमा॥ (ख)

अद्रयो गिरयः। "अद्रयोऽर्कगिरिद्रुमाः" (वैज. को. 6-1-4) इति॥ (ग)

सतुल्काः सचोदकाः ससादिनः निष्पिष्टा हताः॥ (घ - च)

यादवैः द्वारकां गच्छन्त नीयमान यवनस्य विश्व धनं दृष्ट्वा अनुद्रुत्य यादवा भिहत्य निर्जित्य॥ (छ)

**विलोक्य वेगरभसं रिपुसैन्यस्य माधवौ।★**
**मनुष्यचेष्टामापन्नौ राजन् दुद्रुवतु र्द्रुतम्॥ ७ ॥**

**विहाय वित्तं प्रचुर मभीतौ भीरुभीतवत्।[1]**
**पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां चेरतुर्बहुयोजनम्॥ ८ ॥**

**पलायमानौ तौ दृष्ट्वा मागधः प्रहसन्बली।**
**अन्वधावद्रथानीकै रीशयोरप्रमाणवित्॥ ९ ॥**

---

★ तद्वापतन्तमालोक्य सहित सबलैर्नृपैः। कीर्यमाणो शरौघेण वृष्टयेव करिपोतकौ॥ विरथौ विग्रहणौ विवर्मणौ विसैनिकौ॥ ★ इदं श्लोकार्धत्रय विजयध्वजीयरीत्या विलोक्येत्यारभ्यस्य श्लोकस्य पूर्वार्धोत्तरार्धयो र्मध्ये तस्यते। ★ 1 K,W °त 2 B J °स०

**श्रीध० विलोक्येति।** वेगरभसं वेगोद्रेकम्॥ ७ ॥

**विहायेति।** भीरुभीतवत् भीरोरपि भीतवत् अतिशयेन[1] भीतवदित्यर्थः चेरतुः पलायेतां बहुयोजनं देशम्॥८॥

**पलायमानाविति।** अप्रमाणवित् प्रमाणमियत्ता, त न्न वेत्तीति तथा॥ ९ ॥

1 BG omit शयेन।

**वीर०** माधवौ रामकृष्णौ जरासन्धसैन्यस्य वेगरभसं वेगोद्रेकम्। अवलोक्य मनुष्यचेष्टां प्राप्तौ चिकीर्षन्तौ हेतुगर्भं वा। तत्त्वात् हे राजन्! द्रुत त्वरितं यथा तथा दुद्रुवतुः पलायितवन्तौ॥ ७ ॥

तदेवाह - **विहायेति।** प्रचुरं प्रभूतं यावनं वित्तं विहाय भीतादपि भीतवत् पद्मपत्रसदृशाभ्यां पद्भ्यां बहुयोजनं देशं चेरतुः जग्मतुः॥ ८ ॥

मागधो जरासन्धः तौ दृष्ट्वा बली स्वबलोपेतः दैहिकबलोपेतो वा, ईशयोः रामकृष्णयोः अप्रमाणवित् ईशयोः प्रमाणं स्वरूपरूपगुणानन्त्यरूपं, त[1] न्न वेत्तीति तथाभूतः रथानीकैः रथिकसैन्यैस्सह[2] अन्वधावत् अनुदुद्राव॥ ९ ॥

---

1 K,T,W omit तत् 2 K,T,W रथ

विज० वेगरभसं योगसम्भ्रमम्॥ ७,८ ॥

प्रमाणं ज्ञानवलेयत्तां न वेत्तीति अप्रमाणवित्॥ ९ ॥

(विजयध्वजीये अधिकश्लोकाः)

प्रहृत्य वीरौ विश्रान्तौ करवीरपुरे निशि।
तावारुरुहतु वीरौ गोमन्तमुदिते रवौ॥ क ॥

सिद्धचारणगन्धर्व विद्याधरनिषेवितम्।
आरुह्य शैलं गोमन्तं रामकृष्णौ त्वरान्वितौ॥ ख ॥

प्रवर्षणाख्यं तच्छृङ्गं यत्राब्दा नित्यवर्षिणः।
तत्र ता वासतू राजन् फलमूलाशनौ सुखम्॥ ग ॥

जरासन्धस्तु तुष्टात्मा तावनुद्रुत्य माधवौ।
रुरोध शैलं गोमन्तं महत्या सेनया वृतः॥ घ ॥

स भूपालान् समाहूय स्वानुगान् युद्धदुर्मदान्।
कलिङ्गं कुञ्जरपतिं सुराष्ट्राधिपतिं तथा॥ ङ ॥

जयद्रथं सिन्धुपतिं सोमदत्तञ्च कौरवम्।
गान्धारराजं शकुनिं वैदर्भं रुक्मिमेव च॥ च ॥

सुदक्षिणञ्च काम्बोजं विराटं मत्स्यभूपतिम्।
एतानाज्ञापयामास पूर्वस्यान्दिशि भूपतीन्॥ छ ॥

पाञ्चालराजं द्रुपदं दमघोषञ्च चेदिपम्।
ब्रह्मदत्तञ्च शाल्वेश मेकलव्यं निषादिपम्॥ ज ॥

बाह्लिकञ्च कुरुश्रेष्ठं युधामन्युञ्च दुर्जयम्।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ काशिराजञ्च पौण्ड्रकम्॥ झ ॥

आज्ञापयामास नृपा नेतान्वीरो जरासुतः।
गिरिं गोमन्तमारोढुं दक्षिणस्यां दिशि प्रभो॥ ञ ॥

द्रुमं किम्पुरुषाधीशं दन्तवक्त्रं सहानुजम्।
वीरं विदेहराजानं भूरिश्रवसमेव च॥ ट ॥

करूषेशं बृहच्चापं दाशार्णञ्च शतध्वजम्।
शैब्यं सुवीरराजानं दरदञ्च महारथम्॥ ठ ॥

एतान्महीपती न्राजा जरासन्धोऽमितद्युतिः।
प्राह गोमन्तमारोढुं पश्चिमस्यां दिशि द्रुतम्॥ ड ॥

त्रिगर्तञ्च सुशर्माणं बलिनं वेणुदारिणम्।
कलिन्दञ्च महासत्त्वं केकयानपि भूपतीन्॥ ढ ॥

शिशुपालञ्च भूपालं भीष्मकञ्चाऽपि दुर्जयम्।
पुरस्कृत्याऽऽरुरोहाऽऽशु कौबेर्यां मागधो दिशि॥ ण ॥

एवं गोमन्तमारुह्य सर्वर्तुफलपादपम्।
विचित्य तत्र सर्वत्राऽप्यधश्शृङ्गाप्रवर्षणात्।
चिच्छिदुः सकलान्वृक्षा न्नापश्यन्नाममाधवौ॥ त ॥

विज० गोमन्तं पर्वतमारुह्य ॥ क,ख ॥

प्रवर्षणाख्यं तस्य गोमन्तस्य[1-] [-1] शृङ्गम्, आपतुरिति शेषः। अत शृङ्गे आसतुः उपविविशतुः॥ग - त॥

---

1- -1 B omits

★प्राद्रुत्य[1] दूरं[2-] संश्रान्तौ[-2] तुङ्गमारुहतां गिरिम्।
प्रवर्षणाख्यं भगवा न्नित्यदा भत्र वर्षति॥ १० ॥

गिरौ निलीनावाज्ञाय नाऽधिगम्य[3] पदं नृप।
ददाह गिरिमेधोभिः समन्तादग्निमुत्सृजन्॥ ११ ॥

तत उत्प्लुत्य[4] तरसा दह्यमानतटा[5-] दुभौ[-5]।
दशैकयोजनोत्तुङ्गा न्निपेततुरधो भुवि॥ १२ ॥

अलक्ष्यमाणौ रिपुणा सानुगेन यदूत्तमौ।
स्वपुरं[6] पुनरायातौ समुद्रपरिखां[8] नृप॥ १३ ॥

**सोऽपि दग्धाविति मृषा मन्वानो बलकेशवौ।**
**बलमाकृष्य सुमहत् मगधो न्यागधो ययौ॥ १४ ॥**

★This verse is not found in M,Ma Edns. 1 G,J,K,W. प्र० 2- -2 Ml,v दूरमश्रान्तौ 3 K,W चाऽ० 4 B,G,J,Ml,V उत्पत्य 5--5 M,Ma. मानातु तावुभौ। 6 M,Ma. पुरीं 7 Ml,v °तान् 8 K,Ml,V,W °चां 9 W मत्वा तौ 10 Ml,v महान्

**श्रीध० प्राद्रुत्येति।** तुङ्गमेकादशयोजनोन्नतम्। प्रकर्षेण बर्षत्यस्मिन्निति प्रवर्षण इत्याख्या यस्य तं, तदाह - भगवानिति। भगवान् इन्द्रः ॥ १० ॥

**गिराविति।** तत्र विचिन्वन्नपि तयोः पदं नित्यस्थान मनधिगम्य॥ ११ ॥

**तत** इति। ततो गिरिः दशचैकञ्च यानि[1] योजनानि तावदुत्तुङ्गात् मागधसंरोधदेश मतिक्रम्य परतोऽधो निपेततुः॥ १२-१४॥

---

1 B,J omit यानि

**वीर०** तौ रामकृष्णौ प्रद्रुत्य पलाय्य[1] श्रान्तौ[2] सन्तौ तुङ्गमुन्नतं[3] प्रवर्षणाख्यं गिरिमारूढवन्तौ। आख्याया अन्वर्थतामाह 4- - भगवानिति[4]। भगवान्पर्जन्यो यत्र गिरौ नित्यदा बर्षति प्रकृष्टं नित्य मस्मिन्वर्षतीति प्रवर्षणः अधिकरणे ल्युट्॥ १०॥

स जरासन्धः हे नृप। पदं रामकृष्णयोः पादाङ्कितं तत्र तत्र भूप्रदेश मधिगम्य अवलोक्य तेन लिङ्गेन गिरौ बिलीनौ अन्तर्हितौ आज्ञाय अनुमाय। नाऽधिगम्येति पाठे तत्र विचिन्वन्नपि तयोः पदं नियतस्थान मज्ञात्वा केवलं तत्र बिलीनौ ज्ञात्वा तं गिरिं सर्वतो दशयोजनमेधोभिः काष्ठैः चितिं कारयित्वेति शेषः। तत्राऽग्निमुत्सृजन् ददाह॥ ११॥

तदा दह्यमानानि तटानि यस्य तस्माद्गिरे रुत्प्लुत्य दशैकञ्च योजनानि यानि तावदुत्तुङ्गात् गिरेः मागधसंरोधदेश मतिक्रम्य परतोऽधो निपेततुः॥ १२ ॥

ततो रिपुणा मागधेनाऽदह्यमानौ रामकृष्णौ, समुद्र एव परिखा यस्यास्तां पुरीं द्वारकां प्रति पुन राजग्मतुः॥ १३॥

सोऽपि मागधोऽपि रामकृष्णौ दग्धाविति मृषा यथा तथा मन्वानो बलं सैन्यम् आकृष्याऽऽदाय मागधान् देशान् प्रति आजगाम॥ १४ ॥

---

1 B पलायित्वा 2 B omits सन्तौ 3 K,T,W °मत्युन्नतं 4- -4 B omits

**विज० एधोभिः काष्ठैः॥** १०-१२ ॥

समुद्र एव परिखा खातं, नदी यस्यास्सा तथा॥ १३,१४ ॥

(श्रीविजयध्वजीयसीत्या सार्धं श्लोकद्वयमधिकं लभ्यते)

अष्टादशे तु सङ्ग्रामे जित्वा यादवसत्तमौ।
हत्य स्स्वराष्ट्रे न्यवस ज्जितदिङ्मण्डलो नृप॥

माधवौ तु महात्मानौ प्रविश्य द्वारकां पुरीम्।
स्तूयमानौ दिवारात्रं सूतमागधवन्दिभिः॥

वृतावानन्दबहुलै र्बन्धुभि स्सुखमूषतुः॥

इति श्रीविजयध्वजरीत्या पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५५ ॥
अथ श्रीविजयध्वजरीत्या षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः आरभ्यते

श्रीशुक उवाच

कदाचि देवकीपुत्रो रामशैनेयसंयुतः।
सेव्यमान स्सभायां वै नानादेशेश्वरै र्नृपैः॥ क ॥

पाञ्चालराजं द्रुपदं बालैः कुन्तीसुतै र्मृधे।
बद्धं शुश्राव कौरव्य ब्राह्मणैस्सत्रयाजिभिः॥ ख ॥

तच्छ्रुत्वा हृष्टहृदयः कृतवर्माण मच्युतः।
नगरं हस्तिनपुरं प्रेषयामास वेदितुम्॥ ग ॥

स गत्वा हस्तिनपुरं वृद्धं कुरुपितामहम्।
ददर्श द्रोणविदुरधृतराष्ट्रकृपै र्वृतम्॥ घ ॥

युधिष्ठिरञ्च राजानं चतुर्भिर्भ्रातृभि र्वृतम्।
सभाजयामास भृशं कुन्तीञ्च हृदिकात्मजः॥ ङ ॥

युधिष्ठिरोऽपि पप्रच्छ सानुगं कंसमर्दनम्।
हतञ्च कालयवनं जरासन्धञ्च निर्जितम्॥ च ॥

वासुदेवञ्च निहतं करवीरपुरेश्वरम्।
द्वारवत्याञ्च करणं नगर्या वरुणालये॥ छ ॥

हतौ च हंसडिभकौ ब्रह्मदत्तश्च दुर्जयम्।
श्रुत्वा हार्दिक्यवचना यथार्थेन युधिष्ठिरः॥ ज ॥

मेने त्रैलोक्यसाम्राज्यं स्वहस्तगतमक्षयम्।
सभाजितश्च हार्दिक्यः सुखसम्भाषणादिभिः॥ झ ॥

पाण्डुपुत्रैस्तथा कुन्त्या सौहार्दस्नुतबाष्पया।
हार्दिक्य स्ताननुज्ञाप्य बान्धवा न्पृथया सह॥ ञ ॥

मातृष्वसेयान्धर्मज्ञा नभिवाद्य यथावयः।
गाङ्गेयेनाऽभ्यनुज्ञातो धृतराष्ट्रेण चाऽनघ!॥ ट ॥

विदुरेणाङ्गराजेन द्रोणेन च कृपेण च।
प्राज्ञेनाचार्यपुत्रेण तथा दुर्योधनेन च॥ ठ ॥

कृतवर्माऽभ्यनुज्ञातो निर्गत्य गजसाह्वयात्।
द्वारकां वृष्णिनिलया माजगाम दिनात्यये॥ ड ॥

स प्रविश्य सभां दिव्या मनेकनृपसेविताम्।
दृष्ट्वा गोविन्दमासीनं काञ्चने परमासने॥ ढ ॥

वीजच्चामरसङ्घातसहितं वनमालिनम्।
आचचष्टेऽखिलं तस्य यथादृष्टं यथाश्रुतम्॥ ण ॥

वृत्तान्तं कौरवेयाणां नगरे गजसाह्वये।
तदाकर्ण्य हरि स्सर्वं वृत्तान्तं जगदीश्वरः॥
पौरुषं पाण्डुपुत्त्राणां बभूवाऽऽनन्दनिर्भरः॥ त ॥

(इति श्रीविजयध्वजरीत्या षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५६ ॥)

विज० "परा पूर्वेषां संख्यां वृणक्ति वितर्तुराणो अपरेभिरेति" इत्यादिश्रुत्यर्थं दीपकन्यायेन दर्शयत्यस्मिन्नध्याये। तत्र श्रीकृष्णो युद्धे कुन्तीसुतैर्बद्धं पाञ्चालभूपतिं श्रुत्वा हृष्टः तद्वृत्तान्तविचित्सया तत्समीपे कृतवर्माण प्रेषयामासेति कथयति -कदाचिदिति॥ क ॥

ब्राह्मणैस्तम्॥ ख - च ॥

वासुदेवं सृगालनामानम्। वरुणालये समुद्रे॥ छ ॥

आनन्दनिर्भरः आनन्दपूर्णो बभूवइत्यनेन पूर्णानन्दत्वं सदातनं न कादाचित्कमिति सूचयति। 'भू सत्तायाम्' इति धातोः सत्तायाः सदातनत्वादिति॥ ज-त ॥

इति श्रीविजयध्वजरीत्या षट्पञ्चाशोऽध्यायः॥५६ ॥

(अत्र विजयध्वजरीत्या सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः आरभ्यते)

आनर्ताधिपतिः श्रीमान् रैवतो रेवतीं सुताम्।
ब्रह्मणा चोदितः प्रादात् बलायेति पुरोदितम्॥ १५ ॥

(श्रीविजयध्वजीयरीत्या अधिकश्लोकाः)

राजोवाच

रेवतो नाम राजऽसौ ब्रह्मणा चोदितः कथम्।
तदहं श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण महामुने॥ क ॥

श्रीशुक उवाच

रेवतो नाम राजाऽऽसीत्पुरा धर्मार्थतत्त्ववित्।
रेवती नाम तस्यैका जज्ञे कन्या यशस्विनी॥ ख ॥

स ब्रह्माणं ययौ प्रष्टुं कस्मै दास्यामि तामिति।
अदत्त्वा याच्यमानोऽपि नानाजनपदेश्वरैः॥ ग ॥

सभायां ब्रह्मणस्तत्र गन्धर्वौ द्वौ हाहा हूहू।
तस्मिन्नगायतां काले ग्राममूर्छाविचक्षणौ॥ घ ॥

राजाऽतिष्ठद्बर्हिः किञ्चित्तद्विरामप्रतीक्षया।
गीतावसाने पप्रच्छ प्रणिपत्य पितामहम्॥ ङ ॥

एष मे भगवन्कन्या कस्मै दास्या इमामिति।
तं प्राह पद्मभूः कस्ते राजपुत्रो विरोचते॥ च ॥

तत्राऽन्यांश्च महीपाला नाचक्ष्वेति कुरूद्वह।
ततस्तान् रेवतः प्राह भूपालान्विषयेश्वरान्॥ छ ॥

स तानाकर्ण्य नृपतीन्प्रहस्योवाच रेवतम्।
युगानि तु बहून्यत्र गतानि तव भूपते॥ ज ॥

क्षणमात्रमिवाऽश्राव्यं शृण्वतो गीतमेतयोः।
केदानीं तव ते भूपाः सुतायाः सदृशावरः॥ झ ॥

इदानीं राजशार्दूल यदुवंशविवर्धनौ।
वसुदेवगृहे जातौ रामकृष्णाह्वयौ प्रभू॥ ञ ॥

तत्र सङ्कर्षणायेमां कन्यां यच्छस्व भूपते।
इत्युक्तस्तेन भूपालस्तं प्रणम्य पुरं गतः॥ ट ॥

रामाय प्रददौ कन्यां रूपिणीं बाहुशालिने।
तामादियुगसम्भूतां दीर्घदेहां महाभुजः॥
आकृष्य लाङ्गलेनांसे समां चक्रे हलायुधः॥ ठ ॥

भगवानपि गोविन्द उपयेमे कुरूद्वह।
वैदर्भीं भीष्मकसुतां श्रियो मात्रां[1] स्वयंवरे॥ १६ ॥

प्रमथ्य तरसा राज्ञः शाल्वादींश्चैद्यपक्षगान्।
पश्यतां सर्वलोकानां तार्क्ष्यपुत्रस्सुधामिव॥ १७ ॥

राजोवाच

भगवान्भीष्मकसुतां रुक्मिणीं रुचिराननाम्।
राक्षसेन विवाहेन[2] उपयेम इति श्रुतम्॥ १८ ॥

भगवन् श्रोतुमिच्छामि कृष्णस्यामिततेजसः।
★ रुक्मिण्या ग्रहणं पाणेः प्रमथ्यान्यान् स्वयंवरे॥
यथा मागधशाल्वादीन् जित्वा[3] कन्यामुपाहरत्॥ १९ ॥

ब्रह्मन्[4] कृष्णकथाः पुण्या माध्वी र्लोकमलापहाः।
को नु तृप्येत शृण्वानः[5] श्रुतज्ञो नित्यनूतनाः॥ २० ॥

---

1- -1 M,Ma इन्दिरांशां 2- -2 B,G,J,Ml,V विधानेन ★ This half verse is found in Ml,v Edns only 3--3 K,W जित्वैकः पुनरागमत्; M,Ma जित्वा तत्पारमागमत् 4 M,Ma,Ml,v विष्णु 5 K,W शृणुवान्

**श्रीध०** श्रीकृष्णस्य विवाहं[1] निरूपयितुं बलदेवविवाहं नवमस्कन्धोक्तम् अनुस्मारयति- **आनर्तेति** ॥ १५ ॥

**भगवानिति।** लक्ष्म्याः[2] मात्रां कलाम्॥ १६ ॥

**प्रमथ्येति।** गरुडो यथा देवान् प्रमथ्य सुधां अमृतं[3] अहरत्[4] तथेति॥ १७ ॥

**भगवानिति।** "राक्षसो युद्धहरणात्" (याज्ञ. स्मृ. 1-3-61) इति स्मृतेः। राज्ञः प्रमथ्येति च त्वदुक्त्या राक्षसेन विधानेन उपयेमे परिणीतवानिति श्रुतं पूर्वमेव वा॥ १८ ॥

**भगवन्निति।** सामान्यत एव श्रुतम्, विशेषन्तु श्रोतुमिच्छामि॥ १९ ॥

श्रवणौत्सुक्यमाविष्करोति- **ब्रह्मन्निति।** पुण्या महाफला माध्वीः श्रुतिसुखाः लोकस्य मलापहाश्च शृण्वानः शृण्वन्नित्यर्थः। श्रुतज्ञः श्रुतसारवित् नित्यनूतनाः प्रतिक्षणमाश्चर्यवत् प्रतीयमानाः॥ २० ॥

---

1 B,J °हान् 2 B,J omit लक्ष्म्याः 3 B,J omit अमृतं 4 M,V आ०

**वीर०** अथ श्रीकृष्णस्य विवाहान् निरूपयितुकामस्तावत् बलभद्रविवाहं नवमस्कन्धोक्तञ्च मनुस्मरति -**आनर्तेति।** स्पष्टोऽर्थः॥ १५॥

अथ भगवद्विवाहान् निरूपयितुकामस्तावत् रुक्मिणीकल्याणं तद्विस्तरबुभुत्सा मुत्थापयन्[1] सङ्ग्रहेणाऽऽह - **भगवानपीति** द्वाभ्याम्। हे कुरूद्वह! श्रियो लक्ष्म्याः मात्रामंशभूतां भीष्मकस्य राज्ञः सुतां वैदर्भीं, यथा तार्क्ष्यपुत्रो गरुडः सुधा माजहार, तद्वत् स्वयंवरे सर्वभूतानां पश्यतां सतां चैद्यपक्षपातिनः सर्वान् शाल्वादीन् राज्ञः क्षत्रियान् तरसा बलेन प्रमथ्याऽऽलोड्य अभिभूयेति यावत्। आहृतामिति शेषः, उपयेमे इत्यन्वयः॥ १६, १७ ॥

तत्र तद्विस्तरबुभुत्सया पृच्छति राजा **भगवानिति।** रुचिरं सुन्दरमाननं यस्यास्ताम्; उपयेमे विवाहितवानिति श्रुतं, मयेति शेषः। त्वन्मुखा दधुना श्रुतमिति भावः। नियुध्याऽऽनीताया विवाहो राक्षसविवाहः। "राक्षसो युद्धहरणात्" (याज्ञ; स्मृ 1-3-61) इति स्मृतेः, यद्वा युद्धे हरणमेव राक्षसविवाहः तथाऽपि[2] च राक्षसेन विवाहेन हेतुभूतेन पश्चात् यथावत् उपयेमे इत्यर्थः॥ १८ ॥

**भगवन्निति।** यथा येन प्रकारेण मागधादी नेक एव सन् जित्वा पुमरागमत्, वैदर्भीं माहायेति शेषः। त ममिततेजसः श्रीकृष्णस्य जयाऽऽगमनादिप्रकारं श्रोतुमिच्छामि॥ १९ ॥

आत्मनः श्रवणौत्सुक्यम् आविष्करोति- **ब्रह्मन्निति।** हे ब्रह्मन्! श्रीकृष्णस्य कथाः पुण्याः शृण्वतां वदताञ्च पुण्यावहाः, माध्वीः श्रुतिसुखावहाः, न केवलं पुण्या एव अपि तु शृण्वतो गदतश्च जनस्य मलापहाः पापघ्नीश्च अतः ताः श्रुतज्ञाः श्रोत्रेन्द्रियविषयसुखसारासारविवेकी चेत् को वा पुमान् शृणुवान् शृण्वन्, उवह दीर्घश्चाऽऽर्षः[3]। न सेवेत। श्रुतज्ञश्चेत् सर्वोऽपि सेवेतेत्यर्थः। सत्यं सेवेतेति, सकृच्छ्रुत्वा पुन र्न सेवेते त्यतः ता विशिनष्टि नित्यनूतना इति॥ २० ॥

---

1 K,T,W °मुत्पादयन् 2 K,T,W omit अपि 3- -3 B शृण्वान् उपधा दीर्घश्च आर्षः।

विज० अनित्यत्वात् संसारो हेयः, तदर्थं कामक्रोधादिनिलयात् देहात् संविदेवाऽऽहर्तव्येति दर्शनायोत्तराध्यायस्य प्रारम्भः। आनर्तविषयाधिपतिः॥ १५ ॥

धर्मार्थो धर्मविषयो विष्णु स्तस्य तत्त्वं वेत्तीति धर्मस्यार्थस्य तत्त्वं हरिविषयत्वलक्षणं वेत्तीति वा॥ क,ख ॥

येयं मम कन्या, तां प्रति याचकत्वसम्भवात् कुतो न दत्तेत्यत्राऽऽह-अदत्वेति। ब्रह्मणः सर्वस्य गुरुत्वात् गुर्वनुज्ञापूर्वकं क्रियमाणं सर्वं फलव दित्यभिसन्धाय याचकेभ्यो न दत्तेति भावः॥ ग ॥

तत्र तस्मिन्नवसरे ग्राममूर्छाविचक्षणौ सप्तस्वरगानविशेषविदग्धौ, स्वराणां मण्डलं ग्रामः। आरोहावरोहः मूर्छा। सप्त स्वरा स्त्रयो ग्रामा एकविंशतिः मूर्छना इति भरतः॥ घ ॥

अल्पार्थे किञ्चिदित्यव्ययम्। अल्पकालमित्यर्थः॥ ङ ॥

त्वदभीष्टवरो नास्ति तदानीन्तनकालीयाना मतीतत्वादिति ब्रह्मा वक्ति, तं प्राहेति॥ च ॥

तव ते तुभ्यं मनुष्यस्य सुबहूनि युगानि क्षणमात्रमिव गतानीति तत्र निमित्तमाह आश्राव्यमिति॥ ज,झ॥

तर्हि किं कर्तव्यमिति तत्राऽऽह इदानीमिति॥ ञ ॥

आदियुगं कृतं नाम॥ ठ ॥

तेषां पारं यथा तस्य हरेर्विवाहलक्षणं चरितं श्रोतुमिच्छामि॥ १६-१९ ॥

माध्वीः मधुराः॥ २० ॥

## -: रुक्मिणीविवाहकथारम्भः :-

### श्रीशुक उवाच

**राजाऽऽसीद्भीष्मको नाम विदर्भाधिपतिर्महान्।**
**तस्य पञ्चाभवन्पुत्राः कन्यैका च वरानना॥ २१ ॥**

**रुक्म्यग्रजो रुक्मरथो रुक्मबाहु रनन्तरः।**
**रुक्मकेशो रुक्ममाली रुक्मिण्येषां स्वसा सती॥ २२ ॥**

सा[1-] पश्यन्ती[-1] मुकुन्दस्य रूपवीर्यगुणश्रियः।
गृहागतै र्गीयमाना स्तं मेने सदृशं पतिम्॥ २३ ॥

तां बुद्धिलक्षणौदार्य रूपशीलगुणाश्रयाम्।
कृष्ण स्स्वसदृशीं भार्यां समुद्वोढुं मनो दधे॥ २४ ॥

बन्धूना मिच्छतां दातुं कृष्णाय भगिनीं नृप।
ततो निवार्य कृष्णद्विट् रुक्मी चैद्य ममन्यत॥ २५ ॥

---

1--1 K W सा पश्यन्ती 2 B,G,J M,Ma °श्च 3 M Ma रुक्मी 4--4 M Ma चैद्याय समकल्पयत्

**श्रीध०** बन्धूनामिति चैद्यममन्यत तस्या वरमित्यर्थः॥ २१-२५ ॥

**वीर०** इत्थमापृष्टो विस्तरतो वर्णयति राजाऽऽसीदिति। विदर्भाणां देशानाम् अधिपतिः महान्, गुणैरिति शेषः। तस्य भीष्मकस्य सुताः पञ्च, कन्यकात्वेकैव। सा च वरानना। आननग्रहणं सर्वावयवानां उपलक्षणम्। सर्वावयवसौन्दर्य वतीत्यर्थः॥ २१ ॥

पुत्रान् क्रमेण निर्दिशन् कन्यकाख्यानमाह[2] - रुक्मीति। अग्रजो रुक्मी ततः क्रमेण रुक्मरथादयः, एषां रुक्म्यादीनां स्वसा भगिनी रुक्मिणी सा सती सुशीला॥ २२ ॥

सा रुक्मिणी स्वगृहान् प्रति आगतैः जनैः गीयमानाः श्रीकृष्णस्य रूपसौन्दर्यवीर्यगुणाः अन्ये गम्भीर्योदार्यादयः श्री र्भोग्यभोगोपकरणादिसम्पत्तिः। एताः पश्यन्ती शृण्वती[3] तं मुकुन्दमेव आत्मनः सदृशमनुरूपं पतिं मेने॥ २३ ॥

तथा कृष्णोऽपि गृहागतजनमुखात् बुद्ध्यादिगुणैकतानां तां[4] रुक्मिणीं श्रुत्वा आत्मनोऽनुरूपां भार्यां समुद्वोढुम् उपयन्तुं मन श्चक्रे॥ २४ ॥

एवं स्थिते रुक्मी बन्धूनां, रुक्मीतरेषामिति शेषः। कृष्णायैव भगिनीं दातुमिच्छतां सतां हे नृप! ततः त निवार्य श्रीकृष्णं द्वेष्टीति तथाभूतस्सन् चैद्यं शिशुपालमेव भगिन्याः पति ममन्यत चैद्यायैव दातुं निश्चिकायेत्यर्थः॥ २५॥

---

1 B शालिनीत्यर्थः 2 K,T,W °ख्यामाह 3 B °न्ती 4 B omits °ता

**विज०** वरं मनोहरम् आननं यस्या स्सा तथा॥ २१,२२ ॥

गृहागतैः जनैः॥ २३ - २५ ॥

**तदवेत्यासितापाङ्गी वैदर्भी दुर्मना भृशम्**
**विचिन्त्यामं द्विजं कञ्चि त्कृष्णाय प्राहिणोद्रुतम्॥ २६ ॥**

द्वारकां स समभ्येत्य प्रतीहारैः[1] प्रवेशितः।
अपश्य दाढ्यं पुरुष मासीनं काञ्चनासने ॥ २७ ॥

दृष्ट्वा ब्रह्मण्यदेव स्त मवरुह्य[2] निजासनात्।
उपवेश्यार्हयाञ्चक्रे यथाऽऽत्मानं दिवौकसः॥ २८ ॥

तं भुक्तवन्तं विश्रान्तं उपगम्य सताङ्गतिः।
पाणिनाऽभिमृशन्पादा वव्यग्र स्तमपृच्छत॥ २९ ॥

श्रीभगवानुवाच[3]

कच्चि[4] द्विजवरश्रेष्ठ धर्म स्ते वृद्ध सम्मतः।
वर्तते नातिकृच्छ्रेण सन्तुष्टमनस स्सदा॥ ३० ॥

---

1 K,MI,V,W °ति 2 M,Ma, MI.V °सने 3- -3 B,G,J, M,Ma omit, MI,V श्रीकृष्ण उवाच 4 J क्वचि०

श्रीध० तदिति। अवेत्य ज्ञात्वा असितापाङ्गी सुनीलकटाक्षा[1] कृष्णाय कृष्णमानेतुं प्रेषयामास॥ २६॥

द्वारकामिति। प्रतीहारैः द्वारपालैः॥ २७ ॥

दृष्ट्वेति। आत्मानं श्रीकृष्णम्॥ २८ ॥

तमिति। अभिमृशन् शनैः[2] सम्मर्दयन्॥ २९, ३० ॥

---

1 MI,V omit सु 2 MI V add शनैः

वीर० तद्भ्रातुर्निश्चितमातल्य, असितावपाङ्गी यस्याः सा वैदर्भी दुःखितचित्ता ततो विचिन्त्याऽऽलोच्य[1] आप्तं कञ्चिद्द्विजश्रेष्ठं[2] द्रुतं त्वरितं यथा तथा श्रीकृष्णाय प्राहिणोत् कृष्णमानेतुं प्रेषयामासेत्यर्थः। "क्रियार्थोपपदस्य" (अष्टा. 2-3-14) इति चतुर्थी॥ २६ ॥

स द्विजः द्वारकां प्रति गत्वा तत्र द्वारपालैरन्तः प्रवेशितः काञ्चनमये सिंहासने स्थितं जगत्कारणं पुरुषं श्रीकृष्णं ददर्श॥ २७ ॥

किञ्च। दृष्ट्वेति[3]। तं दृष्टवन्तं द्विजमवलोक्य ब्रह्मणि कुले साधवो ब्रह्मण्याः तेषां मध्ये देवः दीप्यमानः श्रेष्ठ[4] इत्यर्थः। स भगवान् निजासनात् स्वकीयसिंहासनात् अवरुह्य[5] अवतीर्य द्विजमुपवेश्य अर्हयाञ्चक्रे[6] पूजयामास। तत्र दृष्टान्तः[7] यथा दिवौकस इन्द्रादयः आत्मानं श्रीकृष्णरूपिणं पूजयन्ति तद्वदित्यर्थः[8]॥ २८ ॥

तमिति। विश्रान्तं विगताध्वश्रमं तं द्विज मुपगम्य स्वयं सदावृत्तिः श्रेयःसमनुपापः तत्रान् सद्भिरेव मनुष्येयमिति प्रदर्शयन्निवेति भावः। अभिमृशत् शनै स्समर्दयन्, अन्यथः अनहितचित्तः, तं द्विजश्रेष्ठ मपृच्छत्॥ २९ ॥

प्रश्नमेव वर्णयति - कच्चिदिति षड्भिः। हे द्विजवरश्रेष्ठ ! द्विजश्रेष्ठानामपि श्रेष्ठ। ते तव धर्मः आर्यसम्मतो वर्तते कच्चित्? मदिष्टे इति भावः कोऽसा वार्यसम्मतः त्वदिष्टश्चेऽत्यतो विशिनष्टि। नातिकृच्छ्रेणाऽनतिक्लेशेन अयत्नलब्धेन सदा सन्तुष्टं मनो यस्य तस्य तव, धर्म इति पूर्वेण सम्बन्धः। सन्तोष एव ब्राह्मणस्य परमो धर्म आर्यसम्मतो मदिष्टश्चेति भावः॥ ३० ॥

---

1 K,T,W omit आलोच्य 2 T,W °विप्र 3- -3 K,T,W omit 4--4 K,T,W omit 5 K,T,W अवतीर्य 6--6 K,T,W omit 7--7 K,T,W यथा देवाः आत्मानं पूजयन्ति तद्वत् 8--8 K,T,W द्विजमपृच्छत। 9 K,T,W omit षड्भिः 10--10 K,T,W omit 11 K,T,W omit ते

विज० असितापाङ्गी नीलकटाक्षस्थता आप्तं विश्वस्तम्॥ २६-२८ ॥

अव्यग्रः असम्भ्रान्तः॥ २९-३० ॥

सन्तुष्टो यर्हि[1] वर्तेत ब्राह्मणो येन केन चित्।
अहीयमानः स्वाद्धर्मात् स ह्यस्याऽखिल कामधुक्॥ ३१ ॥

असन्तुष्टोऽसकृ[2] ल्लोकान्[3] नाऽऽप्नोत्यपि सुरेश्वरः।
अकिञ्चनोपि सन्तुष्टः शेते सर्वाङ्गविज्वरः॥ ३२ ॥

विप्रान् स्वलाभसन्तुष्टान् साधून् भूतसुहृत्तमान्।
निरहङ्कारिण श्शान्तान् नमस्ये शिरसाऽसकृत्॥ ३३ ॥

कच्चि द्वः कुशलं ब्रह्मन् राजतो यस्य हि प्रजाः।
सुखं वसन्ति विषये पाल्यमानाः स मे प्रियः॥ ३४ ॥

यतस्त्वमागतो दुर्गं निस्तीर्येह यदिच्छया[4]।
सर्वं नो[5] ब्रूह्यगुह्यञ्चेत् किं[6] कार्यं[7] करवाम ते ॥ ३५ ॥

श्रीशुक[8] उवाच[8]

एवं सम्पृष्टसम्प्रश्नो ब्राह्मणः परमेष्ठिना।
★ लीलागृहीतदेहेन तस्मै सर्वं मवर्णयत्॥ ३६ ॥

1 M,V यदि 2--2 M,Ma °ष्टः सुखं विप्र। 3 B,G,J,M, आ० 4 M,Ma यद० 5 K,W मे 6--6 K,W क्यं किं 7 K,W °महे, M,V °म तत् 8--8 B,G,J,M, Ma,M,V omit ★ This half verse is not found in M,Ma Edns

**श्रीध०** **सन्तुष्ट** इति। स धर्मोऽस्य ब्राह्मणस्याऽखिलकामदोग्धा भवति। यद्वा स ब्राह्मणोऽस्य विश्वस्याऽखिलकामधुगिति॥ ३१॥

**असन्तुष्ट** इति। लोकानाप्नोति। लोकाल्लोकान्तरं पर्यटति,[1] नैकत्र निर्वृत स्तिष्ठतीत्यर्थः। नाऽऽप्नोतीति पाठे सुरेश्वरोऽपि भूत्वा लोका नाऽऽप्नोति उत्तमलोका न्प्राप्तोपि अप्राप्त इव क्लिश्यतीत्यर्थः। शेते सुख मास्ते इत्यर्थः। तदेवाऽऽह सर्वेष्वङ्गेषु वाक्पाण्यादिषु विज्वर स्तापरहितः॥ ३२॥

**विप्रानिति**। स्वलाभः स्वत एव प्राप्तो लाभः आत्मलाभो वा तेन सन्तुष्टान् पूर्णान् साधून् स्वधर्मनिष्ठान्॥ ३३॥

**कचिदिति**। यस्य राज्ञो विषये देशे॥ ३४॥

**यत** इति। यतः स्थानात् यदिच्छया[2] यत्कार्येच्छया[2] दुर्गं समुद्रम्॥ ३५॥

**एवमिति**। सम्पृष्टः सम्प्रश्नः प्रष्टव्योऽर्थो यं[3] सः परमेष्ठिना परमेश्वरेण बन्धूना मनभिप्रेतं रुक्मिण श्चेष्टित मित्यादि सर्वम्॥ ३६॥

---

1 MI,V °त्र 2--2 MI,V यस्य कार्यस्येच्छया 3 MI,V यस्य

**वीर०** एतदेवोपपादयति- **सन्तुष्ट** इति। यर्हि यदा येन केनचि दयत्नलब्धेनैव देहधारणोपयुक्तेन सन्तुष्टस्सन्[1] स्वात्[2] स्वस्मात् धर्मा द्वर्णाश्रमोचिता द्धर्मा दहीयमानो वर्तेत, स हि नित्यसन्तोषरूपो धर्मः, अस्य नित्यसन्तुष्टस्य स्वधर्मा दनपतेस्य च पुंसः अखिलान् कामान् इष्टार्थान् दोग्धीति तथा। स्वादित्यत्र "पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा" (अष्टा7-1-16) इति विकल्पात्स्मादादेशाभावः। अखिलकामधुग् इत्यनेन बृहत्सम्मतत्वं फलितं, शिष्टसम्मतस्यैव धर्मस्य फलसाधनत्वाव्यभिचारात्, फलसाधनत्वाध्यवसायिना मेव शिष्टत्वात्॥ ३१॥

एवं सन्तोषस्य पारलौकिकसुखसाधनत्वमुक्तम्, अथेह लोकेऽपि सुखहेतुत्व वक्तु मसन्तोषस्योभयत्र दुःखहेतुता माह **असन्तुष्ट** इत्यर्धेन। सुरेश्वरोऽपि असन्तुष्टश्चेत् लोकाननुकूलतया लोक्यन्त इति लोका आनन्दाः सुखानीति यावत्, ता नैहिकामुष्मिकांश्च न प्राप्नोति। अकिञ्चनोऽपि सन्तुष्टश्चेत् सर्वाङ्गविज्वरः कस्मिंश्चिदङ्गेऽपि तापरहितः शेते॥ ३२॥

अथ सन्तोषस्य स्वाभिमतत्वमाह **विप्रानिति**। स्वलाभेन स्वसत्तालाभेन "स्वोज्जीवनेच्छा यदि ते स्वसत्ताया स्पृहा यदि। आत्मदास्यं हेयः स्वाम्यं स्वभावश्च सदा स्मर" (विष्णुतत्त्वम्)। इत्युक्तहरिदास्याद्यनुसन्धानप्रयुक्तात्मलाभेनेत्यर्थः। तेनैव सन्तुष्टान् साधून् परोपकारिणः देहात्माभिमानरहितान् शान्तान् जितेन्द्रियान् द्विजा नह मसकृच्छिरसा नमस्ये नमस्करोमि अतीव मदिष्टं कुर्वद्भ्यस्तेभ्यः प्रत्युपकर्तु मशतः केवलं नमस्करोमीत्यभिप्रायः॥ ३३॥

हे ब्रह्मन्! वो युष्माकं राजतः राज्ञः सकाशात् कुशलं कचित्। यस्य राज्ञो विषये देशो प्रजाः पाल्यमानाः सुखं यथा तथा वसन्ति स राजा मम प्रियः॥ ३४॥

यतो यस्माद्देशा दिह दुर्गं समुद्रजलात्मकं निस्तीर्य यदिच्छया यत्प्रयोजनेच्छया हेतुभूतया आगतः, तत्सर्वं ममुत्त्वद्वेत् नोऽस्मभ्यं ब्रूहि, वयं किङ्करवामहे किङ्करा वयमित्यर्थः ॥ ३५ ॥

एवमिति। लीलया हेतुभूतया गृहीतो देहो येन। परो मा यस्मात् तस्मिन्महिम्नि तिष्ठतीति तथाभूते- "स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः" (छान्दो० उ० 7-24-1)इति श्रुतेः। तेन भगवता इत्थं सम्पृष्टः सम्प्रश्नः प्रश्नविषये यस्य स ब्राह्मणः तस्मै श्रीकृष्णाय सर्वं पृष्टं वर्णयामास॥ ३६ ॥

---

1 K,T,W omit सन् 2 B omits स्वात् 3 B omits एव 4 K,T,W omit भूते

विज० यः स्वधर्मा दहीयमानः स्वधर्मत्यागी न स्यात्॥ ३१ ॥

सुरेश्वरोऽप्यसन्तुष्टः सुखं नाऽऽप्नोति, अकिञ्चिनो दरिद्रोऽपि सन्तुष्टः अलम्बुद्धिः॥ ३२ ॥

स्वतो लाभो यस्य धनस्य तत्तथा तेन॥ ३३ ॥

तस्य विषये राष्ट्रे, स राजा मे प्रियः॥ ३४ ॥

आगमनकारणं पृच्छति - यत इति। यतः कारणा त्तत्सर्वं कारणम्॥ ३५ ॥

परमेष्ठिना सर्वोत्तमेन॥ ३६ ॥

★ रुक्मिण्या प्रेषित स्तेऽहं सकाशं पुरुषोत्तम।
तस्या स्सन्देश माकर्ण्य क्रियतां तदनन्तरम्॥

○ निधाय लिखितं पत्रं पादयोः प्रणनाम तम्।
तदादाय जगन्नाथः स्मितसुन्दरलोचनः॥
वाचयामास धर्मात्मा सादरं स्पृहयन्निव॥

रुक्मिण्युवाच

श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते निर्विश्य कर्णविवरै हरतोऽङ्गतापम्।
रूपं दृशां दृशिमता मखिलार्थलाभं त्वय्यच्युताऽऽ विशति चित्त मपत्रपं मे॥ ३७ ॥

का त्वा मुकुन्द महती गुणशीलरूप विद्यावयोद्रविणधामभि रात्मतुल्याम्।
धीरा पतिं कुलवती न वृणीत कन्या काले नृसिंह! नरलोकमनोभिरामम्॥ ३८ ॥

☆ स त्वं मयाऽप्यभिवृतः पतिरिन्दिराया भक्तप्रियः कृपणलोकशरण्य ईशः।
मत्वैत दङ्ग तव पादसरोजदास्याः कामं कुरु प्रियतम प्रणताऽस्मि तेऽङ्घ्रिम्॥

तन्मे भवान् खलु वृतः पति रङ्ग! जाया मात्मार्पितश्च भवतेऽत्र विभो विधेहि।
मा वीरभाग मभिमर्शतु चैद्य आरा द्गोमायुवन्मृगपते र्बलि मम्बुजाक्ष॥ ३९ ॥

पूर्तेष्टदत्तनियमव्रतदेवविप्र गुर्वर्चनादिभि रल म्भगवा न्परेशः।
आराधितो यदि गदाग्रज एत्य पाणिं गृह्णातु मे, न दमघोषसुतादयोऽन्ये॥ ४० ॥

---

★ The two half verses beginning with 'रुक्मिण्या' and ending with 'तदनन्तरम्' is not found in G,J,M,Ma edns But in the place of the half verse beginning with 'रुक्मिण्या' and ending with 'पुरुषोत्तम' three extra half verses are found in MI,V edns as following, विदर्भाधिपतेः पुत्री रुक्मिणी तव किङ्करी। विज्ञापयति ते किञ्चित् प्रसुप्तोद्बाहमङ्गला॥ तया सम्प्रेषितोऽहं ते सकाश भीष्मकन्यया॥
1 MI,V य०

o The three half verses beginning with 'निधाय' and ending with 'स्पृहयन्ति' are not found in G,J, MI V edns 2 M,Ma वि० 3- -3 M,Ma सङ्गमास्ते 4 M,Ma ९ ह० 5- -5 M,Ma पर भुवनमङ्गल। मङ्गलं ते। 6 G,J,MI,V कुस 7- -7 M,Ma व्रीडावती ☆ This extra verse is found in M,Ma edns only

श्रीध० रुक्मिण्या स्वयमेकान्ते लिखित्वा दत्तपत्रिकाम्। मुद्रामुन्मुच्य[1] कृष्णाय प्रेमचिह्नमदर्शयत्॥ ब्राह्मणः श्रीकृष्णाज्ञया[2] वाचयति - श्रुत्वेति। अयमर्थः -हे अच्युत! हे भुवनसुन्दरेत्यौत्सुक्यं द्योतयति। क्व तव महिमा, क्वचाहं रूपकुलशीलादियुक्ताऽपि, तथाऽपि अपगता त्रपा यस्मात् तन्मे चित्तं त्वय्याविशति आसज्जते। तत्कुतः? तत्राऽऽह - शृण्वतां कर्णविवरै रन्तः प्रविश्य अङ्गतापम्, अङ्गेति पृथक् सम्बोधनं वा। हरत स्तव गुणान् श्रुत्वा तथा दृशिमतां चक्षुष्मतां दृशा मखिलार्थलाभात्मकं रूपञ्च श्रुत्वेति॥ ३७ ॥

अहो कुलकन्याना मिद मतिधार्ष्ट्यमिति मा शङ्किष्ठाः[4] इत्याह - का त्वेति। हे मुकुन्द! हे नृसिंह नरश्रेष्ठ! का नाम कन्या कुलवती तथा महती रूपगुणोदारा तथा धीरा धृतिमती[6] त्वा त्वां पतिं न वृणीत। मय्येव केयं दोषशङ्केति भावः। कथम्भूतं, कुलशीलादिभि रात्मनैव तुल्यं, निरुपममित्यर्थः। द्रविणं द्रव्यसम्पत् धाम प्रभावः तथा नरलोकस्य मनसा मभिरामोऽभिरमणं यस्मात्तम्। किञ्च काले विवाहावसरे॥ ३८ ॥

तन्मे इति। हे विभो! तत्तस्मान्मे मया भवा न्खलु पतिर्वृतः आत्मा च भवतोऽर्पितोऽत स्त्वम् अत्राऽऽगत्य मां भवतो जायां विधेहि। विपक्षे बाधकं द्योतयन्त्याह - मा वीरभागमिति। वीरस्य तव भागं माम् आरात् शीघ्र एत्याऽऽगत्य[8] चैद्यः[9] शिशुपालः[9] मा अभिमर्शतु मा स्पृशतु मृगपतेः[10] सिंहस्य[11] बलिं भागं[12] गोमायुवत्[12] गोमायुः सृगाल इवेति॥ ३९॥

अनेकजन्मकृतैः सुकृतै रिदमेव मे[13] भूयादिति प्रार्थयते पूर्तेति। पूर्तं कूपादि, इष्ट मग्निहोत्रादि, दत्तं हिरण्यादि दानम्। नियम स्तीर्थाटनादिः, व्रतं कृच्छ्रादि॥ ४० ॥

---

1 B,J,MI. चिह्न० 2 B,J कृष्णानुज्ञया 3 MI,V दर्शयति 4 J,MI,V शङ्कीः 5 B,J पुरु० 6 MI,V धीमती 7- -7 MI V न मय्येव केवल 8 MI,V, omit एत्य 9- -9 B,J omit 10 B,J omit सिंहस्य 11 B,J, omit भागं 12--12 MI,V omit 13 B,J, Omit मे

वीर० वर्णन मेवाऽऽह- रुक्मिण्येति। तव सकाशं समीपं प्रति प्रेषितोऽहं हे कृष्ण! हे माधव! तस्याः रुक्मिण्याः सन्देशं वाचिक माकर्ण्य अनन्तर तत् रुक्मिण्युक्तं क्रियताम्। यद्वा, तदनन्तर श्रवणानन्तरं क्रियतां, यथोचितमिति शेषः॥

एवमुक्त्वा लिखितं, रुक्मिण्येति शेषः पत्रं पादयोः, भगवत इति शेषः निधाय तं श्रीकृष्णं प्रणनाम नमस्कृतवान्, ब्राह्मण इति शेषः। तत्पत्रमादाय सादरं यथा तथा वाचयामास। ब्राह्मणमुखेनेति शेषः। कथम्भूतो भगवान्? स्मितेन सुन्दरे लोचने यस्य स धर्मात्मा याचितार्थप्रदानरूपधर्मश्रवणबुद्धिमान् इत्यर्थः। स्पृहयन्निव वाचनेनैव लिङ्गेन तद्विषयक स्पृहां व्यञ्जयन्निवेत्यर्थः।

अथ ब्राह्मणः श्रीकृष्णानुज्ञया वाचिकं वक्ति - श्रुत्वेति। हे भुवनसुन्दर! अनेनौत्सुक्यं द्योतयति। त्वद्गुणानेव शृण्वतां जनानां कर्णरन्ध्रै रन्तः प्रविश्य अङ्गताप माध्यात्मिकं तापं हरत स्ते तव गुणान् तथा दृशिमता चक्षुष्मतां दृशा मखिलार्थाना मनुकूलविषयाणा ताभो यस्मा तथाभूत तव रूपञ्च श्रुत्वा हे अच्युत। मम चित्तं निर्लज्जं यथा तथा, चित्तविशेषणं वा? त्वय्येवाऽऽविशति आसज्जते क्वच तव महिमा क्वचाहं रूपशीलादियुक्तापि? तथा प्यपत्रपं निर्विशति इत्यभिप्रायेण अपत्रप मित्युक्तम्॥ ३७ ॥

अहो कुलकन्याना मिद मतिधार्ष्ट्य मिति मा शङ्किष्ठा इत्याह - केति। हे मुकुन्द! हे नृसिंह! नरश्रेष्ठ! का नाम कन्या कुलवती तथा महती गुणोदारा तथा धीरा स्थिरचित्ता चेत् त्वा त्वाम् पतिं न वृणीत। तेन न मय्येव केवलं दोषशङ्केति भावः। कथम्भूतम्? गुणशीलादिभिः आत्मनैव तुल्यम् निरुपम मित्यर्थः। द्रविणं द्रव्यसम्पत्, धाम तेजः, प्रभाव इति यावत्। तथा नरलोकस्य मनसः अभिराम मतीवानुकूलविषयभूतम्, किञ्च काले विवाहावसरे॥ ३८ ॥

तन्मे इति। हे विभो! तत् तस्मा न्मे मया भवान् खलु पति र्वृतः आत्मा च भवते तुभ्यमर्पितः अतोऽङ्ग! हे कृष्ण! जायां भार्यां विधेहि। त्वमागत्य मामिति शेषः विपक्षे बाधकं द्योतयन्त्याह - मा वीरभागमिति। हे अम्बुजाक्ष! मृगपतेः सिंहस्य बलि गोमायुः सृगाल इव वीरस्य तव भागभूतां मां चैद्यः शिशुपालः आरात् शीघ्रमागत्य मा माऽभिमर्शतु मा स्पृशतु॥ ३९ ॥

अनेकजन्मार्जितैः सुकृतैः इहैव मे भूयादिति प्रार्थयते - पूर्तेति। पूर्तं स्मार्तं कर्म वापीकूपतटाकादानमाण्ड वा, इष्टं वैदिकं यज्ञादिकर्म। दत्तादयः प्रदर्शनार्थाः। तत्र दत्तं दानं सत्पात्रे द्रव्यत्यागात्मकं, नियम स्त्रीभोगादि, व्रतं कृच्छ्रादिः देवादीनां द्वन्द्वः तेषामर्चनम्। आदिशब्देन भूतहितत्वदयादिसङ्ग्रहः। एभि र्यदि नूनं भगवा नाराधितः स्यात्तर्हि गदाग्रजः श्रीकृष्णः श्वः आगत्य मम पाणिं गृह्णातु। नत्वन्ये दमघोषसुतादयः शिशुपालादयः गृह्णन्तु इत्यर्थः॥ ४० ॥

---

1- -1 TW omit 2- -2 K.T.W omit 3- -3 B omits 4 B omits तत् 5- -5 K.T.W omit 6 B चेति 7 K.T.W omit भगवान्। 8 K.T.W omit इत्यर्थः B 9 K.T.W omit अथ 10 K.T.W omit एव 11 B omits इत्यर्थः द्रविणं 12 B omits तत् 13- -13 B omits 14 K.T.W °त० 15 B °ति 16 K.T.W °यागादि 17 TW °त्र० 18 B K एव 19- -19 B omits 20- -20 K.T.W omit

विज० धर्मः आत्मा स्वरूपं यस्य स तथा, सुकृतविधयो वा। स्पृहयन्निव कामयमान इव।

हे भुवनसुन्दर! श्रोतॄणां कर्णविवरं निर्विश्य अङ्गतापं शरीरसन्तापं हरतः सम्यग्गमो व्याप्तिः येषां ते तथा तान् स्वरूपाभिन्नान् वा ते तव गुणान् श्रुत्वा ते तव भुवनमङ्गल! मङ्गलं पर मुत्कृष्टं रूपञ्च श्रुत्वा मे चित्तं त्वय्यपत्रप माविशति॥ ३७ ॥

महती विशाला मनो गुणेनेति शेषः। धाम तेजः कुलवती शुद्धवंशा नरलोको मुक्तामुक्तप्रपञ्च स्तस्य मनोभिरामं मनांस्यभिरमयतीति॥ ३८ ॥

अभिवृतः आभिमुख्येन वृतः, एतद्भक्तप्रियत्वादिकं पादसरोजदास्याः मम यतोऽङ्घ्रिं प्रणतास्मि।

तत्तस्मात् हे अङ्ग! हे अम्बुजाक्ष! मां जायां विधेहि। च शब्द एवार्थे। अस्या मे ममाऽऽत्मा देहः भवतोऽर्पित एव। वीरस्य तव भाग मात्मानं आरात् दूरात् स्थातुं योग्य श्चैद्यो माऽभिमर्शतु मा स्पृशतु। तत्र दृष्टान्तमाह- गोमायुवदिति। गोमायवः सृगालाः मृगपतेः सिंहस्य त्रतिमुपहरम्॥ ३९-४० ॥

श्वो भाविनि त्व मजितोद्वहने विदर्भान् गुप्त स्समेत्य पृतनापतिभिः परीतः।
निर्मथ्य चैद्यमगधेन्द्रबलं प्रसह्य मां राक्षसेन विधिनोद्वह वीर्यशुल्काम्॥ ४१ ॥

अन्तःपुरान्तरचरी मनिहत्य बन्धून् त्वा मुद्वहे कथमिति प्रब्रूया म्युपायम्।
पूर्वेद्यु रस्ति महती कुलदेवयात्रा यस्यां बहि र्नववधू र्गिरिजा मुपेयात्॥ ४२ ॥

★ तत्रैत्य मां रथपदातिगजाश्वयुक्तः सम्मथ्य शाल्वमगधान् सहचेदिभूपान्।
आदाय मां सहचरीभि रथो रमेशो गृह्णातु पाणि मुपनीय पुरीं स्वकीयाम्॥

यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजस्स्नपनं महान्तो वाञ्छ न्त्युमापति रिवाऽऽत्मतमोपहत्यै।
यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं जह्या मसून् व्रतकृशान् शतजन्मभिः स्यात्॥ ४३ ॥

श्रीशुक उवाच

▲ इति पत्रगतं विश्वं विमृश्य मधुसूदनः।
सन्देशं राजकन्याया स्तं ब्राह्मण मवैक्षत॥

ब्राह्मण उवाच

इत्येते गुह्यसन्देशा यदुदेव मयाऽऽहृताः।
विमृश्य कृत्यं यच्चाऽत्र क्रियतां तदनन्तरम्॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्री वैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
उत्तरार्धे रुक्मिण्युद्वाहप्रस्तावे द्विपञ्चाशोऽध्यायः॥ ५२ ॥

---

1 MMa गुप्त स० 2 MMa समेतैः 3 MIV °देश 4 MMa चरावि० 5 BGJ.MMa देवि 6 K याम् ★ This extra verse is found only in MMa edns 7 MMa °स्तवन 8 MMa तमो निहत्यै 9 K.MMa.W यथ० 10 K.MMa.W स्याम् ▲ This additional verse is found only in MMa edns 11 BGJ कर्तुं, MMa युक्त

श्रीध० ननु चैद्याय बन्धुभिरर्पितायां त्वयि किमधुना करणीय मित्यपेक्षायामाह- श्वो भाविनीति। हे अजित! श्वो भाविन्युद्वहने विवाहे प्रथमं गुप्तोऽलक्षित एवाऽऽगत्य पश्चात्पृतनापतिभिः परिवृतस्सन् चैद्यादिबलं निर्मथ्य प्रसह्य बलात् वीर्यं[1-] प्रभावदर्शन मेव शुल्कं[-1] वैवाहिकं देयं यस्या स्तां माम् अनेन राक्षसविधिना उद्वह - इत्युपदेशरहस्यम्॥ ४१ ॥

ननु भवतु शिशुपालादिबलप्रमथनम् अन्तःपुरमध्यगताया स्तव हरणे त्वद्बन्धुवधोऽपि प्रसज्येते त्यत आह-अन्तःपुरेति। पुराद्वहि र्वर्तमानां गिरिजा मम्बिकाम्, अम्बिकागृहादेव मम हरणं सुकर मिति भावः॥ ४२ ॥

ननु किमनेनान र्थकारिणा निर्बन्धेन, चैद्योऽपि ताव त्प्रख्यातगुणकर्मा योग्य एव वर इति तत्राऽऽह - यस्येति। हे अम्बुजाक्ष! यस्य भवतोऽङ्घ्रिपङ्कजजोभिः स्नपन मात्मन स्तमसोऽपहत्यै उमापतिरिव महान्तो वाञ्छन्ति। तस्य भवतः प्रसादं यर्ह्यहं न लभेय न प्राप्नुयां, तर्हि व्रतै रुपवासादिभिः कृशा नसून् प्राणान् जह्यां त्यजेयम्। ततः किं[2] मित्यत आह- शतजन्मभिरिति। एवमेव वारं वारं जह्यां याव च्छतजन्मभिरपि तव प्रसादः स्यादिति॥ ४३ ॥

इतीति। अत्र य[3] त्कृत्यं करणीयं तद्विमृश्य क्रियताम्, तच्चाऽनन्तरमेव क्रियतामिति॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
द्विपञ्चाशोऽध्यायः॥ ५२ ॥

---

1- -1 MIV वीर्यप्रदर्शन० 2 MIV किमत० 3 BJ य त्कर्तुं

**वीर०** ननु, बन्धुभि श्चैद्यायार्पितायां त्वयि कि मधुना मया विधेय मित्यत्राऽऽह- **श्वो भाविनीति।** हे अजित! श्वो भावि न्युद्वहने विवाहे त्वं तांव द्रुतः अलक्षित एवाऽऽगत्य ततः सेनापतिभिः परिवृतस्सन् चैद्यादिबलं निर्मथ्य पराभूय प्रसह्य हठात्, वीर्यं प्रभावदर्शनमेव शुल्कं वैवाहिकं देयं यस्या स्तां मां राक्षसेन विधिनोद्वह इत्युपदेशरहस्यम्॥ ४१॥

ननु भवतु शिशुपालादि बलप्रमथनम् अन्तःपुरगताया स्तव हरणे त्वद्बन्धुवधोऽपि प्रसज्येतेत्यत आह- **अन्तरिति।** अन्तःपुरमध्यचरीं त्वां बन्धूनहत्वा कथ मुद्वहे इति चेत्, तत्रोपायं वदामि। पूर्वेद्यु, विवाहदिनादिति शेषः। महती कुलदेवयात्राऽस्ति, यस्यां यात्रायां बहिः, पुरादिति शेषः। नववधू रहं गिरिजा मम्बिका मुपेयां गच्छेयम्, दर्शनार्थमिति शेषः। अम्बिकागृहादेव मम हरणं सुकरमिति भावः॥ ४२ ॥

ननु किमनेनानु र्थकारिणा निर्बन्धेन, चैद्योऽपि ताव त्प्रख्यातगुणकर्मा योग्य एव वर इत्यत आह- **यस्येति।** हे अम्बुजाक्ष! यस्य तव भवतोऽङ्घ्रिजोभिः स्नपन मात्मनस्तमसो पहत्यै अज्ञाननिवृत्त्यै उमापतिरिव अन्येऽपि महान्तो वाञ्छन्ति। तस्य भगवतः प्रसादं यद्यहं न लभेय न प्राप्नुयां, तर्हि व्रतै रुपवासादिभिः कृशा नसून् प्राणान् जह्यां त्यजेयम्। ततः किमि त्यत आह- शतजन्मभिरपि स्यां, तवाऽहं भार्या स्या मित्यर्थः॥ ४३ ॥

इत्थं वाचिकं पठित्वाऽथ स्ववचन मप्याह- **इतीति।** हे यदुदेव! इत्येवंविधा गुह्यतमाः सन्देशा मया आहृताः। यदत्र कर्तव्यं तद्विमृश्य क्रियतां, तच्च समनन्तरमेव क्रियता मिति॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां द्विपञ्चाशोऽध्यायः॥ ५२ ॥

---

1 K.T.W omit 2 K.T.W. मां 3 K. omits तव 4- -4 B omits 5- -5 K.T.W आह द्विजः

**विज०** उद्वहने विवाहे श्वोभाविनि श्वः प्रभाते भविष्यति सति समेतैः पृतनापतिभिः गुप्तान् विदर्भा नसमेत्य राक्षसेन विधिना बलात् कन्याहरणलक्षणेन वीर्यं शुक्लं मौल्यं यस्याः सा तथा, तां माम्॥ ४१ ॥

नववधू र्दर्शनाय॥ ४२ ॥

**यथोमापतिः** श्रीहरिचरणसरसिजस्तुतिं करोति तस्य तव यदि भवत्प्रसादं पूज्यानुग्रहं न लभेय तर्हि असून् प्राणान् जहयां त्यक्ष्यामि। किञ्च शतजन्मभिः व्रतकृशा तव भार्यैव स्या मित्यर्थः॥ ४३, ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
द्विपञ्चाशोऽध्यायः॥ ५२ ॥

(श्रीविजयध्वजरीत्या सप्त पञ्चाशोऽध्यायः)

# त्रिपञ्चाशोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

वैदर्भ्याः स तु सन्देशं निशम्य यदुनन्दनः।
प्रगृह्य पाणिना पाणिं[1] प्रहस न्द्विजमब्रवीत्[2] ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

★ यथा[3-] सा रुक्मिणी नित्यं मच्चित्ताऽऽस्ते सुशोभना[-3]।
तथाऽहमपि तच्चित्तो निद्रां[4-] च न लभे[-4] निशि ॥
वेदाऽहं रुक्मिणा[5] द्वेषा न्ममोद्वाहो निवारितः ॥ २ ॥

तामानयिष्य उन्मथ्य राजन्यापशदा[6] न्मृधे।
मत्परामनवद्याङ्गी मेधसोऽग्निशिखामिव ॥ ३ ॥

श्रीशुक[7-] उवाच[-7]

उद्वाहर्क्षं[8] रा विज्ञाय रुक्मिण्या मधुसूदनः।
रथ स्संयुज्यता माशु दारुकेत्याह सारथिम् ॥ ४ ॥

स चाश्वैः सैन्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकैः[9]।
युक्तं रथ मुपानीय तस्थौ प्राञ्जलि रग्रतः ॥ ५ ॥

1 K W पाणौ 2 B J °सिदम० ★This additional verse (3 halves) is not found in G, J, M, Ma edns 3--3 MI, V यथा विनिद्रा मच्चित्ता रुक्मिणी रुचिरानना। 4--4 M Ma नाऽध्यगमं 5 MI, V, W °णो 6 B, G, J, M, Ma °स० 7--7 M, Ma, MI, V omit 8 B G, J M, Ma च 9 B, G, J, M, Ma शैब्य

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

त्रिपञ्चाशत्तमे गत्वा विदर्भा नद्धतेहितः। रुक्मिणी मह[1]र त्कृष्णो मिषतां द्विषतां बलात्॥

**यथेति**। निद्राया अलाभे कारणान्तरं- वेदेति। उद्वाहो निवारित इति[2] तया अकथितमप्यहं जानामीति॥ १,२,॥

**तामिति**। आनयिष्ये आनेष्यामि[3]। राजन्यापशदान्[4] राजसु हीनान्। उन्मथ्याऽऽनयने दृष्टान्तः- एधस इति॥ ३॥

**उद्वाहर्क्षमिति**। परश्वो रात्रौ विवाहनक्षत्र मिति विज्ञाय[5]॥ ४ ॥★

स इति। शैब्येत्यादीनि[6] चत्त्वरि अश्वनामानि॥ ५ ॥

---

1 Ml, V °भा० 2--2 B, J omit 3 Ml, V आनयिष्यामि 4 B, J °स० 5 Ml, V ज्ञात्वा ★ The commentary of 6th verse is attached to the 4th verse in B, J edns. 6 Ml.V सैन्ये०

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

**वैदर्भ्या** इति। तत स्स भगवान् यदुनन्दनस्तु **वैदर्भ्याः** सन्देश माकर्ण्य स्वपाणिना द्विजं पाणौ गृहीत्वा प्रहसन्[1] उवाच॥ १ ॥

उक्तिमेवाह - **यथेति**। मच्चित्तेति निद्राया अलाभे हेतुः। तथा तच्चित्त इत्यपि हेत्वन्तरं चाह-वेदेति। मयि द्वेषाद्धेतोः रुक्मिणा मदुद्वाहो निवारित इत्यहं वेधि। अतश्चाहं निद्रां न लभे इत्यर्थः॥ २ ॥

अधुना तु राजन्याधमान् युद्धे उन्मथ्य अनवद्यानि निर्दुष्टानि शोभनान्यङ्गानि यस्याः। अहमेव परो यस्याः, तां मच्चित्तां वा, तां रुक्मिणीं आनयिष्यामि, उन्मथ्य आनयने दृष्टान्तः- एधसो दारुणोऽग्निशिखामिवेति॥ ३ ॥

इति ब्राह्मण मुक्त्वाऽथ सूतमाह इत्याह- **उद्वाहेति**। मधुसूदनो रुक्मिण्या[3] उद्वाहर्क्षं परश्वो रात्रौ विवाहनक्षत्रमिति विज्ञाय सारथिमाह- किमिति[2]? हे दारुक! रथ स्संयुज्यता मश्वै स्संयुक्तः क्रियताम् ॥ ४ ॥

ततो दारुकः सैन्याद्यास्यैः चतुर्भि स्स्रोष्ठैः अश्वै र्युक्तं रथ मुप समीप मानीय अग्रतः पुरतः बद्धाञ्जलिः तस्थौ॥ ५॥

---

1 B omits प्रहसन् 2- - 2B कस्मेति। 3 B adds इति।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

मम द्वेषात् रुक्मिणा विवाहो निवारित इतीम मर्थं अहं वेद वेद्मि॥ १,२ ॥

एधसः काष्ठा दग्नेः शिखां ज्वालाम्॥ ३ ॥

उद्वाहर्क्षं विवाहनक्षत्रम्॥ ४ ॥

हयै र्युक्तम्॥ ५ ॥

आरुह्य स्यन्दनं शौरि र्द्विज मारोप्य तूर्णगैः।
आनर्ता देकरात्रेण विदर्भा नगम द्वयैः॥ ६ ॥

राजा स कुण्डिनपतिः पुत्रस्नेहवशं गतः।
शिशुपालाय स्वां[1] कन्यां दास्य न्कर्माण्यकारयत्॥ ७ ॥

पुरं सम्मृष्टसंसिक्तमार्गरथ्याचतुष्पथम्।
चित्रध्वजपताकाभि स्तोरणैः समलङ्कृतम्॥ ८ ॥

स्रग्गन्धमाल्याभरणै र्विरजोऽम्बरभूषितैः[2-2 3]।
जुष्टं स्त्रीपुरुषैः श्रीमद्गृहै रगरुधूपितैः[4]॥ ९ ॥

पितृ[5] न्देवा न्समभ्यर्च्य विप्रांश्च विधिव न्नृप।
भोजयित्वा यथान्यायं[6] वाचयामास मङ्गलम्॥ १० ॥

1 MI V ता 2- -2 M, Ma, MI, V °जाऽम्बर 3 M Ma भूषणैः 4 B, G, J, M, Ma °गु० 5 MI V पितृदे० 6 MI V °य्य

श्रीध० ★ आरुह्येति। तस्यां रात्र्यां प्रस्थाय प्रातः विदर्भदेशा नगमत्। श्वोभाविनि त्वं अजित! उद्वहने विदर्भान् गुप्तः समेत्येति रुक्मिणीसन्देशात्॥ ६ ॥

राजेति। पुत्रस्य रुक्मिणः स्नेहेन तद्वशमनुगच्छतीति तथा। अनेन शिशुपाले अनभिलाषं[1] द्योतयति। कर्माणि पुरालङ्कारपितृदेवार्चनादीनि[2] ॥ ७ ॥

तान्येवाह- पुरमित्यादि चतुर्भिः। सम्मृष्टाः संसिक्ताश्च मार्गादयो यस्मिन् तत्। चित्रा ध्वजेषु पताकास्ताभिः समलङ्कृतमकारयत्॥ ८ ॥

स्रगिति। स्रग्गन्धमाल्याभरणैरित्यत्र मत्वर्थो द्रष्टव्यः। यद्वा स्रग्गन्धमाल्यानि आबिभ्रतीति तथा तैः विरजोम्बरैः[3] भूषितैश्च स्त्रीपुरुषैर्जुष्टम्। तथा श्रीमद्भि र्जगृहैश्च जुष्टम्॥ ९ ॥

**पितृनिति**। यथान्यायमन्यांश्च। कन्यां प्रति मङ्गलं वाचयामास॥ १०

★ The commentary of 6th verse is attached to the 4th verse in B. J. edns 1. Ml. V अनौद्वाहिकमि० 2 Ml. V °चता० 3 Ml. V °जै रम्बैः 4 Ml. V °व्य०।

**वीर० आरुह्येति**। तावत् द्विज मारोप्य तत स्वयमपि स्यन्दनं रथ मारुह्य आनर्तात् स्वदेशा द्विदर्भान् देशान् हयै स्तुरगै रेकरात्रेणाऽगमत्। तस्यां रात्र्यां प्रस्थाय प्रातः विदर्भदेशा नगमदित्यर्थः। "श्वोभाविनि त्व मजितोद्वहने" (भाग 10-52-4) इति। रुक्मिणीसन्देशात्॥ ६ ॥

**राजेति**। कुण्डिनपति र्भीष्मकः पुत्रस्य रुक्मिणः स्नेहवशङ्कतः पुत्रस्नेहेन तत्परतन्त्रीभूत इत्यर्थः। दास्यन् 'लक्षणहेत्वोः' (अष्टा. 3-2-126) इति शत्रादेशः, दातुमित्यर्थः। कर्माणि पुरालङ्कारपितृदेवार्चनादीनि कारयामास॥ ७ ॥

कर्माण्येवाह- **पुरमिति** चतुर्भिः। सम्मृष्टा स्संसिक्ताश्च मार्गादयो यस्मिन् तत्, चित्रध्वजेषु पताका स्ताभिः तोरणैश्च सम्यगलङ्कृत मकारयत्॥ ८ ॥

स्रग्गन्धमाल्याभरणैरित्यत्र मत्वर्थीयोऽर्श आद्यच् द्रष्टव्यः। स्रगादिभिः तथा विरजोम्बरैश्च भूषितैः स्त्रीपुरुषै र्जुष्टं तथा श्रीमद्भिः अगरुणा धूपितै गृहैश्च जुष्टम्॥ ९ ॥

पितृन्देवांश्च सम्यगभ्यर्च्य हे नृप! सविसर्गपाठे भीष्मकः, विप्रान् यथाविधि भोजयित्वा विधिव त्समभ्यर्च्येति वा। यथान्यायं भोजयित्वा रुक्मिणीं प्रति मङ्गलं वाचयामास, यथान्याय मन्याश्च कन्याः प्रति मङ्गलं वाचयामास इति वार्थः॥ १० ॥

---

1 B. °कै० 2 B. इत्यादि 3- -3 B. °काभिः

कार्याणि विवाहयोगकार्याणि अकारयत्॥ ६,७ ॥

उक्तमेव स्पष्टयति - **पुरमिति**। प्राक् सम्मृष्टा स्त्यक्तावस्कराः पश्चा त्संसिक्ताः गोमयोदकादिप्रोक्षिता मार्गादयो यस्मिन् तत्तथा॥ ८- १० ॥

**सुस्नातां सुदतीं कन्यां कृतकौतुकमङ्गलाम्।**
**अहतांशुकयुग्मेन भूषितां भूषणोत्तमैः॥ ११ ॥**

**चक्रुः सामर्ग्यजुर्मन्त्रैर्वध्वा रक्षां द्विजोत्तमाः।**
**पुरोहितोऽथर्ववि द्वै जुहाव ग्रहशान्तये॥ १२ ॥**

हिरण्यरूप्यवासांसि तिलांश्च गुडमिश्रितान्।
प्रादाद्धेनूश्च विप्रेभ्यो राजा विधिविदां वरः॥ १३ ॥

एवं चैदिपती राजा दमघोषः सुताय वै।
कारयामास मन्त्रज्ञैः सर्वमभ्युदयोचितम्॥ १४ ॥

मदच्युद्भिर्गजानीकैः स्यन्दनै र्हेममालिभिः।
पत्त्यश्वसङ्कुलैः सैन्यैः परीतः कुण्डिनं ययौ॥ १५ ॥

1- - 1 M, Ma सुस्नाता सुदती कन्या 2 M, Ma °ता 3 M, Ma °ता 4 W मन्त्रैः 5 MI, V तै० 6 M, Ma चैव 7 MI, V °वैस्स०

**श्रीध०** सुस्नातामिति। कृतं कौतुकेन विवाहसूत्रेण मङ्गलं यस्यास्ताम्। अहतं नवीनम्। भूषणोत्तमैश्च भूषिताम्॥ ११॥

चक्रुरिति। वध्वा स्तस्याः कन्यायाः, सामादिभि मंत्रैः रक्षां चक्रुः अथर्वमन्त्रैः रक्षां चक्रुः। अथर्ववित् पुरोहितः प्रतिकूलग्रहशान्त्यर्थं जुहाव॥ १२, १३ ॥

एवमिति। अभ्युदये उचितम्॥ १४ ॥

मदेति। ततः चतुरङ्गसैन्यैः परीतः परिवृतः कुण्डिनं भीष्मकस्य पुरं ययौ। मदं च्यवन्ते इति मदच्युत स्तैः। स्यन्दनैः रथैः हेमरचिता माला विद्यन्ते येषु तैः॥ १५ ॥

1- -1 J MI V अथर्ववित् आथर्वणवेदमन्त्रवित्। 2 MI V °क पु० 3 MI V omit इति

**वीर०** कथम्भूताम्? सुस्नातामिति। कृतं कौतुकेन विवाहसूत्रेण मङ्गलं यस्यास्ताम्। अहतयोः नवीनयोः अंशुकयो र्युग्मेन भूषणोत्तमैश्च अलङ्कृतां चक्रुरिति॥ ११ ॥

वध्वा स्तस्याः कन्यायाः सामादिभिः मन्त्रैः रक्षां च चक्रुः। अथर्वमन्त्रवित् पुरोहितः प्रतिकूलग्रहशान्त्यर्थं जुहाव॥ १२॥

हिरण्येति। विधिविदां विधिज्ञानां वरो राजा भीष्मकः हिरण्यादीन् धेनूश्च विप्रेभ्यः प्रादात्॥ १३ ॥

एवं यथा रुक्मिण्यै तथा दमघोषः सुताय शिशुपालाय च सर्वमभ्युदयोचितं कर्म मन्त्रज्ञैः द्विजैः कारयामास॥ १४॥

ततो मदजलानि स्रवद्भिः गजानां अनीकैः हेम्नो माला येषां सन्तीति तथा तैः रथैः पदातिभि रश्वैश्च सङ्कुलै र्व्याप्तैः सैन्यैश्च परिवृतः, चैद्य इति शेषः। कुण्डिनं पुरं ययौ॥ १५ ॥

1 B adds अथर्व रक्षा च चक्रुः 2 B omits मन्त्र

विज० सुस्नाताऽभूदिति शेषः। कृतं कौतुके कुतूहले महोत्सवे मङ्गलं यस्याः सा तथा। यद्वा कृतं कौतुकं हस्तसूत्रलक्षणं मङ्गलं यस्या स्सा तथा। "आबध्नन्ति करे सूत्रं माङ्गल्यार्थं नवस्त्रियाः" इति, "कौतुकं विषयाभोगे हस्तसूत्रे कुतूहले, कामे ख्याते मङ्गले च" (वैज:.को 7-3-10,11) इति यादवः। अहतांशुकयुग्मेन नूतनवस्त्रयुगलेन। "अंशुकं केनते वस्त्रे सूक्ष्मवस्त्रोत्तरीययोः" (वैज.को. 7-3-1) इति च॥ ११ ॥

गृहा नेतान् रक्षया विवृणोमीत्याद्यथर्ववेदोक्तवित्॥ १२ ॥

रूप्यं रजतम्॥ १३ ॥

सुताय शिशुपालाय॥ १४ ॥

पूर्वोक्तयात्राशेषं कथयति - मदच्युद्भिरिति। मदच्युद्भिः मदजलस्राविभिः॥ १५ ॥

तं[1] वै विदर्भाधिपतिः[-1] समभ्येत्य[2-] ऽभिपूज्य[-2] च।
निवेशयामास मुदा कल्पितान्यनिवेशने॥ १६ ॥

तत्र साल्वो[3] जरासन्धो दन्तवक्त्रो[4] विदूरथः।
आजग्मु श्चैद्यपक्षीयाः पौण्ड्रकाद्याः सहस्रशः॥ १७ ॥

कृष्णरामद्विषो यत्ताः कन्यां चैद्याय साधितुम्।
यद्यागत्य हरे त्कृष्णो रामाद्यै र्यदुभि र्वृतः॥ १८ ॥

योत्स्यामः सहिता[5] स्तेन इति निश्चितमानसाः।
★ आजग्मु र्भुजस्सर्वे[6] समग्रबलवाहनाः॥ १९ ॥

श्रुत्वैत[7] द्भगवा न्रामो विपक्षीयनृपोद्यमम्।
कृष्णं चैकं गतं हर्तुं कन्यां कलहशङ्कितः॥ २० ॥

बलेन महता सार्धं भ्रातृस्नेहपरिप्लुतः।
त्वरितः कुण्डिनं प्रागा[8] द्गजाश्वरथपत्तिभिः॥ २१ ॥

1- -1 Ml V तं विदर्भाधिपस्सम्यक् 2- -2 M, Ma समेत्याभि० 3 B, G, J, M, Ma सा० 4 Ml, V, W °द० 5 B, G, J, सहता०

★ This half verse is not fonud in Ml, V editions 6 K, W °बलान्ये° 7 K, W °द्वत० 8 Ml, V °या०

**श्रीध० तमिति।** कल्पितं निर्मितं यदन्यत्[1] निवेशनं तस्मिन्॥ १६, १७ ॥

**कृष्णेति।** यदि श्रीकृष्णो हरे दिति शङ्कितः। कन्यां साधयितु मित्यर्थः॥ १८-२१ ॥

1 B J °न्यनि०

**वीर०** तं चैद्यं समभ्येत्याऽभिपूज्य च कल्पितं निर्मितं यदन्य न्निवेशनं तस्मिन् मुदा निवेशयामास॥ १६ ॥

**तत्रेति।** कृष्णरामौ द्विषन्तीति तथा ते चैद्यपक्षानुवर्तिनः साल्वादयः पौण्ड्रकाद्याश्च सहस्रशः॥ १७ ॥

यत्तास्सन्तः चैद्याय कन्या साधयितु माजग्मुः। कथम्भूताः? रामाद्यै र्यदुभिः परिवृतः श्रीकृष्णः आगत्य यदि कन्यां हरेत्, तर्हि सर्वे वयं सङ्घीभूता स्तेन कृष्णेन सह योत्स्यामः। चैद्याय कन्यां साधयिष्यामः- इतीत्थं कृतः निश्चयो यै स्तथाभूताः, तथा अन्ये च भुभुजो राजानः समग्राणि बलानि वाहनानि येषां तथाभूताः आजग्मुः॥ १८-१९॥

बलवान् प्रशस्तबलसम्पन्नः रामः विपक्षीयाणां शत्रुपक्षीयाणां[1-] राज्ञां[-1] मुद्यमं प्रयत्नं श्रुत्वा[2] कन्या माहर्तुं गत मेकम सहायं श्रीकृष्णं ज्ञात्वा नूनं तत्र कलहो भविष्यतीति शङ्काऽस्य सञ्जातेति तथाभूतः, भ्रातरि कृष्णे स्नेहेन व्याप्तः महता विपुलेन[3] बलेन सह, बलमेव प्रपञ्चयति- गजाश्वरथपत्तिभिरिति। त्वरितः सञ्जातत्वरः कुण्डिनं पुरं प्रति प्रागात्॥ २०, २१ ॥

1- -1 K omits 2 B °ज्ञा समु० 3 K omits बलेन

**विज०** तदर्थं कल्पितेऽन्यस्मिन् निवेशने गृहे॥ १६ ॥

तत्र कुण्डिनपुरे॥ १७-२१ ॥

**भीष्मकन्या वरारोहा काङ्क्ष न्त्यागमनं हरेः।**
**प्रत्यापत्तिमपश्यन्ती द्विजस्याऽचिन्तयत्तदा॥ २२ ॥**

**अहो त्रियामान्तरित उद्वाहो मेऽल्पराधसः।**
**नाऽऽगच्छ त्यरविन्दाक्षो नाऽहं वेद्यत्र कारणम्।**
**सोऽपि नाऽऽवर्ततेऽद्यापि मत्सन्देशहरो द्विजः॥ २३ ॥**

**अपि मय्यनवद्यात्मा दृष्ट्वा किञ्चि ज्जुगुप्सितम्।**
**मत्पाणिग्रहणे नूनं नाऽऽयाति हि कृतोद्यमः॥ २४ ॥**

**दुर्भगाया न मे धाता नाऽनुकूलो महेश्वरः।**
**देवी वा विमुखी[1] गौरी रुद्राणी गिरिजा सती॥ २५॥**

1 B, G, J, M, Ma °खा

**श्रीध०** सूर्योदया त्पूर्वमे वौत्सुक्येन रुक्मिण्यचिन्तय दित्याह- **भीष्मकन्येति।** प्रत्यापत्तिं प्रत्यागमनम्॥ २२॥

**अहो** इति। त्रियामा रात्रिः तावन्मात्रेणान्तरितः **अल्पराधसो मन्दभाग्यायाः**॥ २३॥

**अपीति।** जुगुप्सितं धाष्टर्यादि। अपीति शङ्कायाम्। नाऽऽयाति हि कृतोद्यम इति। [1]अयमर्थः- आदौ कृतोद्यमत्वा त्तं न प्रस्थापितवान्, प्रस्थानावसरे च[2] किञ्चि न्मयि जुगुप्सितं मत्वा प्रत्याचष्ट, अतः सोऽपि द्विजो नूनं नाऽऽयातीति॥ २४॥

यद्वा ततो निर्गतोऽपि श्रीकृष्णो मद्दैववैमुख्यात् क्वचि त्प्रतिबद्धो भवेदित्याह- **दुर्भगाया** इति॥ २५॥

1. MI.V. अस्यार्थः 2 MI V वा

**वीर०** ततः पूर्वमेव रुक्मिणी औत्सुक्यादचिन्तयदित्याह- **भीष्मकन्येति।** हेरागमनमाकाङ्क्षन्ती[1] द्विजस्य प्रेषितस्य प्रत्यापत्तिं प्रत्यागमन मपश्यन्ती च अचिन्तयत्॥ २२॥

चिन्ताप्रकार[2] मेवाह- **अहो** इति चतुर्भिः। त्रियामा रात्रिः तावन्मात्रान्तरितो मन्दभाग्याया मम विवाहः। अरविन्दाक्षः कृष्णः[3] अधुनाऽपि नाऽऽगच्छति। अत्र अनागमने कारणं न वेद्मि। यत्रच मत्सन्देशहरो द्विज स्सोऽप्यद्यापि नावर्तते नागच्छति॥ २३॥

अपि किं वा अनवद्यात्मा मुकुन्दः किञ्चि न्मयि जुगुप्सितं धाष्टर्यादिकं[4] दृष्ट्वा मत्पाणिग्रहणे निमित्ते कृतः उद्यमः प्रयत्नो येन तथाभूतोऽपि[5] नूनं नाऽऽयाति नाऽऽगच्छत्येव कि मित्यर्थः॥ २४॥

किं वा धाता[6] विश्वकृत् महेश्वरो दुर्भगाया मम अननुकूल[7] एव। किं वा रुद्रस्य स्त्री मम विमुखी प्रतिकूला[8]॥ २५॥

1 B °भाणा 2 B omits प्रकार 3 B भगवान् 4 B adds अपि 5 K, T, W omit अपि 6 B adds तु 7 B नानु कू० 8 B adds एव

**विज०** वरो वरणीय आरोहो जघनप्रदेशो यस्यास्सा तथा प्रत्यापत्तिं पुनरागमनम्॥ २२॥

**त्रियामान्तरितः** रात्रिमात्रव्यवहितः **अल्पराधसः मन्दीभूतकार्यसिद्धेः**॥ २३, २४॥

"गौरोऽरुणे सिते पीते" (अम.को 3-344) इति गौरी (र) शब्दस्याऽदन्तस्य अनेकार्थवाचित्वेनाऽनिश्चय इत्यतो रुद्राणीति। सामान्यविवक्षायां गङ्गाया अपि तत्पत्नीत्वेन संशयाऽनिस्तार इत्यतो गिरिजेति। "गिरिजा मेनकात्मजा"

(हला.को 1-16) इत्यभिधानम्। नन्वभिधानस्य योगबलानुसारित्वेन प्रवृत्तेः नचा अपि गिरिजात्वा दित्येतः सतीति। "सती सती योगविसृष्ट देहा तां जन्मना (ने) शैलवधूं प्रपेदे" (कुमा.सं.) इति॥ २५ ॥

एवं चिन्तयती बाला गोविन्दहृतमानसा।
न्यमीलयत कालज्ञा नेत्रे अश्रुकलाकुले॥ २६ ॥

एवं वध्वा प्रतीक्षन्त्या गोविन्दाऽऽगमनं नृप।
वाम ऊरु भुजो नेत्र मस्फुर न्प्रियशंसिनः॥ २७ ॥

अथ कृष्णविनिर्दिष्टः स एव द्विजसत्तमः।
अन्तःपुरचरीं देवीं राजपुत्रीं ददर्श ह॥ २८ ॥

सा तं प्रहृष्टवदन मव्यग्रात्मगतिं सती।
आलक्ष्य लक्षणाभिज्ञा समपृच्छच्छुचिस्मिता॥ २९ ॥

आवेदयामास तस्यै तं प्राप्तं यदुनन्दनम्।
उक्तं च सत्यवचन मात्मोपनयनं प्रति॥ ३०॥

1 B, G, J चारु 2 M, Ma °न्द० 3 B, G J M, Ma भाषिणः 4 M Ma Ml, V °रा 5- -5 B, G, J तस्या आवेदय त्प्राप्त 6- -6 B, G, J शक्षस, K सराम, M, Ma सम्प्राप्त

**श्रीध० एवमिति।** कालज्ञा न अधुनापि गोविन्दागमनकाल इति मन्वाना किञ्चि दाश्वस्तचित्ता सती चिन्तास्तब्धे लेचने निमीलितवतीत्यर्थः॥ २६ ॥

**एवमिति।** प्रियशंसिनः प्रियसूचकाः॥ २७ ॥

**अथेति।** पुरोपवनं प्राप्तेन श्रीकृष्णेन विनिर्दिष्टः प्राप्तं मां कथयेत्यादिष्टः॥ २८ ॥

**सेति।** न व्यग्रा आत्मनो देहस्य गति र्यस्य तम्। लक्षणाभिज्ञा दूतस्य लक्षणं तत्कालकर्मभिः अभिजानातीति तथा॥ २९ ॥

**आवेदयामासेति।** तस्यै प्राप्तं यदुनन्दन मावेदितवान्। तच्च शशंस। आत्मोपनयनं प्रात आत्मना स्वय श्रीकृष्णस्याऽऽनयनं प्रति तेन द्विजेन सत्यवचनं प्रोक्तमिति। आत्मनः प्राप्तेश्वरस्येति वा। यद्वा आत्मनः तस्या उपनयनं प्रति श्रीकृष्णेन यदुक्तं सत्यवचनं "ता मानयिष्ये" इत्यादि, तच्च शशंसाऽवर्णयदित्यर्थः॥ ३० ॥

1- 1 MLV. अधुना 2 B, J भाषिणः 3- -3 B, J तत्कार्यसूचकम्

वीर० एवमिति। इत्थं चिन्तयन्ती बाला रुक्मिणी गोविन्देन हृतं मानसं यस्यास्सा। कालज्ञा नाऽधुनाऽपि गोविन्दागमनकाल इति मन्वाना अशुक्निदुभि राकुले स्तब्धे सोचने न्यमीलयत निमीलितवती॥ २६ ॥

हे नृप! इत्थं गोविन्दागमनं गोविन्दागमनवार्ताहरं द्विजं तदागमनद्वारं च प्रतीक्षन्त्याः रुक्मिण्या वामा[1] ऊर्वादयः प्रियशंसिनः कृष्णागमनरूपप्रियसूचकाः अस्फुरन् सञ्चलितवन्तः॥ २७ ॥

अथ ततः यः[2] पूर्वम् आत्मना प्रेषितः स एव द्विजः श्रीकृष्णेनाऽऽदिष्टोऽन्तःपुरचरीं रुक्मिणीं ददर्श ह॥२८॥

सा रुक्मिणी न व्यग्रा आत्मनो देहस्य गतिर्यस्य, प्रहृष्टं वदनं यस्य तं द्विजमालक्ष्य लक्षणाभिज्ञा दूतलक्षणतत्कार्यभिज्ञा अत एव शुचिस्मिता सती सम्यगपृच्छत्॥ २९ ॥

तस्यै पृच्छन्त्यै रुक्मिण्यै रामेण सहितं कृष्णं प्राप्तमागत मावेदयत् शशंस। आत्मोपनयनं प्रति आत्मनो रुक्मिण्याः उपनयनं स्वसमीपप्रापणं प्रति भगवता यत्सत्यवचन मुक्तं- "ता मानयिष्य उन्मथ्य राजन्यापशदा न्मृधे मत्परा मनवद्याङ्गी-मेधसोऽग्निशिखामिव" (भाग.10-53-3) इत्युक्तं सत्यवचनं शशंसेत्यर्थः॥ ३० ॥

---

1 T W omits वामा 2 B omits यः

विज० ध्यानकालज्ञा॥ २६ ॥

वाम ऊरु रस्फुरत् नेत्रभुजा वस्फुरताम्। प्रियभाषिणः अभीष्टकार्यशंसिनः॥ २७, २८ ॥

अव्यग्रात्मगति मसम्भ्रान्तनिजगमनम्॥ २९, ३० ॥

तमागतं समाज्ञाय वैदर्भी हृष्टमानसा।
न पश्यन्ती ब्राह्मणाय प्रियमन्य न्नमाम सा॥ ३१ ॥

प्राप्तौ श्रुत्वा स्वदुहितु रुद्वाहप्रेक्षणोत्सुकौ।
अभ्यया तूर्यघोषेण रामकृष्णौ समर्हणैः॥ ३२ ॥

मधुपर्क मुपानीय वासांसि रुचिराणि[1] सः।
उपायना न्यभीष्टानि विधिव त्समपूजयत्॥ ३३ ॥

तयो र्निवेशनं श्रीमदुपकल्प्य महामतिः।*
बाह्योद्याने कुण्डिनस्य यथायोगं सुविस्तृतम्॥
आवेश्य पूर्णं[2] नगरं जरासन्धादिभि र्नृपैः॥
ससैन्ययोः सानुगयो रातिथ्यं विदधे यथा॥ ३४ ॥

एवं राज्ञां समेतानां यथावीर्यं यथावयः।
यथाबलं यथावित्तं सर्वैः कामैः समार्हयत्॥ ३५॥

कृष्ण मागतमाकर्ण्य विदर्भपुरवासिनः।
आगत्य नेत्राञ्जलिभिः पपु स्तन्मुखपङ्कजम्॥ ३६ ॥

अस्यैव भार्या भवितुं रुक्मिण्यर्हति नापरा।
असाव प्यनवद्यात्मा भैष्म्याः समुचितः पतिः॥ ३७ ॥

किञ्चि त्सुचरितं य न्न स्तेन तुष्ट स्त्रिलोककृत्।
अनुगृह्णातु गृह्णातु वैदर्भ्याः पाणि मच्युतः॥ ३८ ॥

उवाच

एवं प्रेमकलाबद्धां वदन्ति स्म पुरौकसः।
कन्या चाऽम्तः पुरा त्यागा द्भटै र्गुप्ताऽम्बिकालयम्॥ ३९ ॥

पद्भ्यां विनिर्ययौ द्रष्टुं भवान्याः पादपल्लवम्।
☆ परिवारैः कतिपयैः युक्तो यादवनन्दनः।
सा चाऽनुध्यायती सम्य ङ्मुकुन्दचरणाम्बुजम्॥ ४०॥

1- -1 B G J MI V विजासि ★ After this half-verse, a verse beginning wit [illegible] is found in B M Ma edns only and it is commented by Vijayadhwaja 2 B पूर्ण० 3 K. W वृत्त 4 MI V °मार्प० 5- -5 G, J, K, MI, V, W omit 6 K, पङ्कजम्
☆ This additional half-verse is found in B, M, Ma edns

श्रीध० - तमिति। तं श्रीकृष्णम्। अस्मिन्काले सर्वस्वार्पणम प्यपर्याप्त मिति तदुचितं प्रिय मपश्यन्ती तदा केवलं नमाम। पश्चा द्बहु ददावित्यर्थः। यद्वा मां श्रियं ये नमन्ति ते तावत् सर्वसम्पदा [illegible] भवन्ति किं पुन र्मयि प्रणताया मिति ततोऽधिक मन्य त्रि यमपश्यन्ती नमामेति॥ ३१-३३ ॥

तयोरिति। महामति रित्यनेन श्रीकृष्णो बाढं कन्या मुद्वोढुमेवाऽऽगतः स्म [illegible] विधिना समपूजयदिति सूचितम्। यथा यथावत्॥ ३४ ॥

**एवमिति।** समेतानां राज्ञां मध्ये वीर्या ऽनतिक्रम्य तं तं समर्हितवानित्यर्थः[2]॥ ३५ ॥

श्रीकृष्णे भाविकर्मसूचकं जनानुरागं दर्शयति- **कृष्ण मागत मिति** त्रिभिः॥ ३६ ॥

**अस्येति।** अस्यैव रुक्मिण्येवाऽर्हत्येव असावेव भैष्म्या एव समुचित एवेति षडवधारणानि। तत्रैकस्मि न्व्यतिरेक प्रदर्शनाऽनुपतक्षणार्थं ना परेति। न च वाक्यभेददोषः। अनूचविधेयविधिभेदेन[3] विभिन्नाना मेकवाक्यानां[4] सहप्रयोगात् ग्रहं सम्मार्ष्टीत्यादिवदिति॥ ३७ ॥

**किञ्चिदिति।** अयमेवाऽनुग्रह इति निर्दिशन्ति- **गृह्णात्विति॥** ३८ ॥

**एवमिति।** प्रेम्णः कला लेश स्तेन **बद्धा** वदन्ति स्म। सम्पूर्णं प्रेम तेषां **हृद्येवा**ऽवर्तत इत्यर्थः॥ ३९ ॥

तस्याः[5] गमनं विशिनष्टि- **पद्भ्यामिति** द्वयेन[6]॥ ४० ॥

---

1 B, J °र्थे 2 MI, V °मर्पि° 3 B, J, omit विधि 4 B, J °मेव 5 B, J omit तस्याः 6 MI V add °आ

**वीर०** ततस्तं श्रीकृष्ण मागतं ज्ञात्वा **हृष्टं मानसं** यस्यास्सा रुक्मिणी **ब्राह्मणाय** प्रत्युपकर्तुं **प्रियं** योग्यं वस्त्वपश्यन्ती केवलं नमाम॥ ३१ ॥

**प्रामाविति।** स्वदुहितु रुद्वाहोत्सेक्षणे निमित्ते उत्सुकौ प्राप्तौ उद्वाहदिदृक्षयाऽऽगतावित्यर्थः। **श्रुत्वा** तूर्यघोषेण **समर्हणैः** पूजासाधनैश्च सह अभ्याजगाम॥ ३२ ॥

तत स्स भीष्मको मधुपर्कादीनि समर्प्य यथाविधि सम्यगपूजयत्। तद्भोपायनानि श्रेष्ठवस्तूनि॥ ३३ ॥

महामतिः भीष्मकः तयोः रामकृष्णयोः श्रीमत् भोग्यभोगोपकरणादिसमृद्धिमत् निवेशनं गृह मुपकल्प्य समभृत्ययो स्ससैन्ययोश्च तयोः यथाव दातिथ्यं चक्रे॥ ३४ ॥

**इत्थ** मन्येषामपि सर्वेषां समुदितानां राज्ञां **तत्तद्वीर्यवयःप्रभृत्यनुरूपं सर्वैः कामैः अपूजयत्॥** ३५ ॥

**कृष्णमिति।** विदर्भपुरवासिनः कुण्डिनपुरवासिनो **जनाः कृष्ण** मागतं **श्रुत्वा इतस्ततः** स्थित्वेति शेषः। तस्य कृष्णस्य मुखपङ्कजं मुखपङ्कजस्य लावण्यसुधां नेत्ररूपैरञ्जलिभिः **पपुः** पीतवन्तः॥ ३६ ॥

**किञ्च,** एवमित्थं प्रेमकलाबद्धाः प्रेमाश्रुगद्गदस्वरास्सन्तः पुरौकसः पुरवासिनो जनाः ऊचुः। किमिति? असौ कृष्णः अनवद्यात्मा सुन्दरतरतनुः अपिशब्दो भैष्म्या अप्यनवद्यात्मत्वसमुच्चयार्थः। समुचितोऽनुरूपः पतिः। अत्र अस्यैव रुक्मिण्ये वार्हत्येव, असावेव भैष्म्या एव समुचित एवेति षडवधारणानि। नोऽस्माभिः किञ्चित्सुचरितं स्वनुष्ठितं यद्यस्माकं प्राचीनं पुण्य मस्तीत्यर्थः। तेन सुचरितेन तुष्टः प्रीतः त्रिलोककृत् ब्रह्मा वैदर्भ्याः पाणि मच्युतो गृह्णात्विति अनुगृह्णात्विति॥ ३७, ३८॥

एव स्थिते तदा भैष्मी कन्या भटै र्गुप्ता सती अन्तःपुरात् अम्बिकागृह प्रति [illegible] द्रष्टु पद्भ्यामेव निर्जगाम। कथम्भूता ? सा रुक्मिणी मुकुन्दवदनाम्बुज सम्यग्ध्यायन्ती॥ ३९, ४० ॥

**विज०** किमिति नगरप्रवेशाप्रदान कृष्णरामयो रिति तत्राह- **आवेद्येति**। जरासन्धादिराजभिः नगर पूर्णं निबिड मनवकाश मित्यावेद्य विज्ञाप्य॥ ३१-४० ॥

यतवा ड्भ्रातृभिः सार्धं सखीभिः परिवारिता।
गुप्ता राजभटैश्शूरैः सन्नद्धै रुद्यतायुधैः॥ *
वेत्रझर्झरहस्तैश्च वृद्धैः कञ्चुकिभि स्तथा।
मृदङ्गशङ्खपणवाः[1] तूर्यभेर्यश्च जघ्निरे॥ ४१ ॥

नानोपहारबलिभि र्वारमुख्याः सहस्रशः।
स्रग्गन्धवस्त्राभरणै र्द्विजपत्न्यः स्वलङ्कृताः॥ ४२ ॥

गायन्तश्च स्तुवन्तश्च गायका वाद्यवादकाः।
परिवार्य वधूं जग्मुः सूतमागधवन्दिनः॥ ४३ ॥

आसाद्य[2] देवीसदनं धौतपादकराम्बुजा।
उपस्पृश्य शुचि श्शान्ता प्रविवेशाम्बिकान्तिकम्॥ ४४ ॥

तां वै प्रवयसो बालां विधिज्ञा विप्रयोषितः।
भवानीं वन्दयाञ्चक्रु र्भवपत्नीं भवान्विताम्॥ ४५ ॥

नमस्ये त्वाऽम्बिकेऽभीक्ष्णं स्वसन्तानयुतां[3] शिवाम्[3]।
भूया त्पति र्मे भगवा न्कृष्ण स्त दनुमोदताम्॥ ४६ ॥

★ इति सम्प्रार्थयन्ती सा[4] देवीं देवमुमां[5] शिवम्[5]।
पूजयामास विधिवद्द्विजपत्नीपुरस्कृता[6]॥

अद्भि र्गन्धाक्षतै र्धूपैर्वासस्स्रङ्माल्यभूषणैः।
नानोपहारबलिभिः प्रदीपावलिभिः पृथक्॥ ४७ ॥

विप्रस्त्रियः पतिमती स्तथा तैः समपूजयत्।
लवणापूपताम्बूल कण्ठसूत्रफलेक्षुभिः॥ ४८ ॥

तस्यै स्त्रियस्ताः प्रददुः [8]शेषां युयुजु राशिषः।
ताभ्यो देव्यै नमश्चक्रे [9]शेषां च जगृहे वधूः॥ ४९ ॥

[10]मुनिव्रत मथ त्यक्त्वा निश्चक्रामाऽम्बिकागृहात्।
♦ उपकण्ठे सुरेशस्य पौलोम्याश्च निकेतनम्।
तौ विदर्भप्रसूतानां नृपाणां कुलदेवते॥
तदन्तिकमुपागम्य शचीं सुरपतिप्रियाम्।
चिराराधितपादाब्जां सा प्रणम्य विनिर्ययौ॥
प्रगृह्य पाणिना [11]भृत्यां रत्नमुद्रोपशोभिताम्॥ ५०॥

---

✻ After this verse a half verse begining with 'वेत्रहस्तैः' is follows in B, M, Ma edns only 1 MI V व० 2 K, M, Ma, MI, V, W देव 3- -3 MI, V युत शिवम्।★ This verse is not found in B, G, J, M Ma edns 4 MI V ता 5- -5 MI, V °मापतिम्। 6 MI, V तम्। 7- -7 M, Ma वस्त्रमाल्यविभू० 8 M, Ma शेषाः MI, V शेषान् 9 M Ma शेषाश्च, MI V शेषाश्च 10 K. W मौन० ♦ These two additional verses are found in B, M, Ma edns only 11 M, Ma धात्रीं 12 B, G, J, MI, V °ना।

**श्रीध० यतवागिति।** अपि च मृदङ्गादयः जघ्निरे आहताः वादिता इत्यर्थः॥ ४१ ॥

**नानेति।** वारमुख्याः गणिकोत्तमाः॥ ४२, ४३ ॥

**आसाचेति।** उपस्पृश्याऽऽचम्य॥ ४४ ॥

**तामिति।** प्रवयसो वृद्धाः। भवान्विता मिति भवस्योपसर्जनत्वं स्त्रीकर्मोचित मुक्तम्॥ ४५ ॥

**नमस्ये** इति। रुक्मिण्या तदैव दृष्टोऽयं मन्त्रः स्वसन्तानयुतां[1] गणेशादिसहिताम्[2]। आत्मारामोऽसौ कथं त्वत्पति भवे दिति चे दत आह- त दनुमोदतामिति, भवती, श्रीकृष्णएव वा॥ ४६ ॥

**अद्भिरिति।** वासस्स्रग्गन्धादिभिः अम्बिकां समपूजयत्॥ ४७ ॥

**विप्रस्त्रिय** इति। तथा विप्रस्त्रियोऽपि तैर्द्रव्यै र्लवणादिभिश्च समपूजयदिति॥ ४८ ॥

**तस्यै** इति। शेषां निर्माल्यम्॥ ४९ ॥

मुनिव्रतमिति। मुनिव्रतं मौनम्[3]। भृत्यां सखीभि॥ ५० ॥

---

1 MIV °त 2 MIV °तम्। 3 MIV °नादि।

वीर० यतवाक्[1] मौनिनी मातृभिः सखीभिश्च परिवारिता उद्धतानि[2] उद्धृतान्यायुधानि यै स्तैः सन्नद्धै रायतैः शूरैः राजभटैः गुप्ता, तदा मृदङ्गादयो जघ्निरे ताडिताः[3] वादिता इत्यर्थः॥ ४१ ॥

नानाविधै रुपहारैः नैवेद्यैः बलिभिः पूजासाधनैश्च सह सुष्ठ्वलङ्कृता द्विजपत्न्यः गणिकोत्तमाश्च तथा गायका गायन्तः स्तुवन्तः सूतादयः वाद्यादीनां तूर्यादीनां वादकाः वादयन्तश्चेति शेषः। वधूं कन्यां परिवार्य परिवेष्टय जग्मुः॥ ४२, ४३ ॥

आसादेति। देवसदन मम्बिकापतिगृहम् उपगम्य तत्र धौते प्रक्षालिते पादाम्बुजे करामबुजे च यस्यास्सा। उपस्पृश्याऽऽचम्य अत एव शुचि शान्ता समाहितचित्ता च अम्बिकागृहं प्रविवेश॥ ४४ ॥

ततः प्रवयसो वृद्धाः विधिज्ञाश्च विप्रयोषितः भवस्य पत्नीं भवेनान्वितां भवानीं प्रति तां कन्यां वन्दयाञ्चक्रुः। यद्यपि भवानीमिति पुंयोगलक्षण ङीषैव भवसम्बन्धलाभः, तथाऽपि साहित्यलाभार्थं तत्रापि भवस्याप्राधान्यसूचनार्थं भवान्विता मित्युक्तम्। पुंयोगश्चात्र भर्तृभार्यासम्बन्धविशेषरूप इति द्योतयितुं भवपत्नीमिति॥ ४५ ॥

तदा[4] रुक्मिणी नमस्य इत्यादि मन्त्रमपूर्वमेव स्वयं[5] पश्यन्ती तन्मुखेन स्वमनीषितं च प्रार्थयन्ती यथाव त्पूजयामासेत्याह- नमस्य इति त्रिभिः। हे अम्बिके! स्वसन्तानयुतां गणेशादिसहितां शिवां मङ्गलरूपां त्वा मभीक्ष्णं पुनः पुनः नमस्ये नमस्करोमि। भगवान् कृष्णः मम पति र्भूयादिति यत्, तदनुमोदताम् अनुगृह्णातु, भवतीति कर्तृपदाध्याहारः। यद्वा कृष्णो मम पति र्भूयात् कृष्ण एव त दनुमोदता मिति त्व मनुगृह्णीष्वेत्यर्थः॥ ४६ ॥

इत्थं प्रार्थयन्ती सा रुक्मिणी द्विजपत्नीभिः पुरस्कृता पुरोऽवस्थापिता अबादिभि र्यथाविधि देवीम्[6] उमां देवं शिवं च पूजयामासेति[7] सम्बन्धः ॥

अद्भि श्शुद्धोदकैः गन्धैः चन्दनै रक्षतैश्च वासोभिः दिव्याम्बरै स्स्रग्भि र्माल्यै र्भूषणैश्च नानाविधै रुपहारै र्नैवेद्यै-र्बलिभिश्च। यद्यपि "वैदर्भी भीष्मकसुतां श्रियो मात्राम्"(10-52-16) इति लक्ष्म्यवतारत्वेनोक्ताया भगवन्नित्यानपायिन्या स्सर्वोत्तमाया रुक्मिण्याः केवलप्राकृतस्त्रिया इव अम्बिकावन्दनादिक मनुचितम्, तथाऽपि भगवत इव तमनुव्रताया अस्या मानव्यवतारत्वात् "यद्यदाचरति श्रेष्ठः" (भ.गी 3-21) इति न्यायेन लोकानुग्रहशीलत्वाच्च तथा कृतमि त्यवगन्तव्यम्॥ ४७ ॥

तत स्तया लवणापूपादिभिः तै रबादिभिश्च पतिमतीः जीवद्भर्तृकाः विप्रस्त्रीश्च सम्यगपूजयत्॥ ४८॥

ततस्ताः स्त्रियः[9] द्विजपत्न्यः शेषां स्वकूपोपयुक्तावशिष्टां सामग्रीं यद्वा शेषाशब्दः स्त्रीलिङ्गो देवतोपभुक्त स्रगादिनिर्माल्यवाची, तदा शेषां गौर्युपभुक्तनिर्माल्यमित्यर्थः। तस्यै रुक्मिण्यै प्रददुः, अतस्तद्राजार्थमिति शेषः। तथा आशिषो युयुजुः पेठुः। तदा वधूः रुक्मिणी ताभ्यो द्विजपत्नीभ्यो देव्यै च नमश्चक्रे। शेषां जगृहे च॥ ४९ ॥

ततो मौनव्रतं विहाय रत्नमुद्रिकाभिरुपशोभितां भृत्यां सखीं गृहीत्वा रत्नमुद्रिकोपशोभितं[10] सखीपाणिं स्वपणिना गृहीत्वेत्यर्थः। अम्बिकागृहा निर्गतवती॥ ५० ॥

---

1- -1 B omits 2- -2 K, T, W omit 3 K, T, W omit ताविताः 4 T, W तथा 5 T, W omit स्वय 6 B adds शिवा 7 K, T, W °त्यर्थः। 8 B °न प्रोक्ता० 9 K T, W omit स्त्रियः 10 B °द्रोप०

विज० वेत्राणि झर्झराश्च राजाज्ञासूचकयष्ट्यश्च हस्तेषु येषां ते तथा, तैः कञ्चुकिभिः दौवारिकैः छन्नलिङ्गैः॥ ४१-४३॥

धौतपादकराम्बुजा प्रक्षालितपादहस्तपद्मा॥ ४४ ॥

प्रवयसो वृद्धाः विधिज्ञाः स्त्रीशास्त्रकुशलाः॥ ४५-४७॥

पतिमतीः भर्तृमत्यः॥ ४८ ॥

शेषाः अक्षताः अवशिष्टा राजस्त्रियो वा॥ ४९ ॥

मुनिव्रतं मौनव्रतं, उपकण्ठे समीपे पौलोम्याः शच्याः॥ ५० ॥

★ धृतानेकाऽऽतपत्राद्यां वीजचामरसङ्कुलाम्।
तां देवमायामिव वीरमोहिनीं सुमध्यमां कुण्डलमण्डिताननाम्।
श्यामां नितम्बार्पितरत्नमेखलां व्यञ्जन्स्तनीं कुन्तलशङ्कितेक्षणाम्॥ ५१ ॥

शुचिस्मितां बिम्बफलाधररुचिभिः[1] शोणायमानद्विजकुन्दकुट्मलाम्[2]।
पदा चलन्तीं कलहंसगामिनीं शिञ्जत्कलानूपुरधामशोभिना[3]।
विलोक्य वीरा मुमुहुः समागता यशस्विन स्तत्कृतहृच्छयार्दिताः॥ ५२ ॥

यां वीक्ष्य ते नृपतय स्तदुदारहास व्रीडावलोकहृतचेतस उज्झितास्त्राः।
पेतुः क्षितौ गजरथाश्वगता विमूढा यात्राच्छलेन हरयेऽर्पयतीं स्वशोभाम्॥ ५३ ॥

सैवं शनै श्चलयती पदपद्मकोशौ[6] प्राप्तिं तदा भगवतः प्रसमीक्षमाणा।
उत्सार्य वामकरजैरलकानपाङ्गैः प्राप्तान् हियैक्षत नृपा न्दृदशोऽच्युतं च[7]॥ ५४ ॥

तां राजकन्यां रथ मारुरुक्षतीं जहार कृष्णो द्विषतां समीक्षताम्।
रथं समारोप्य सुपर्णलक्षणं राजन्यचक्रं परिभूय माधवः।
ततो ययौ रामपुरोगमः शनैः सृगालमध्याविव मागहो हरिः॥ ५५ ॥

★ तं मानिनः स्वाभिभवं वशःक्षयं परे जरासन्धमुखा न सेहिरे।
धि गस्मदाशा आत्तधन्विनां गोपै र्हृतं केसरिणां मृगैरिव॥ ५६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्रयां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५३ ॥

---

★ This extra half verse is found in B, M and Ma editions 1 B, G, J, M, Ma °ति 2 B, G, J, M, Ma °द्म० 3 K, W °० 4 B, J, M, Ma सि० 5- -5 M, Ma °ल नूपुरपादशोभिताम्। 6 B, G, J चलपद्म; MI, V चरणाब्ज 7 B, G, J, M, Ma सा 8 MI, V पुत्रीं 9 B, G, J M Ma °भैश्श० 10 B, M, Ma शृ० 11 M, Ma नाग ★ अयं श्लोकः विजयध्वजरीत्या अनन्तराध्याये प्रथमत्वेन पठ्यते। 12 K, W तन्मा० 13 B G J M, Ma वशा 14 G, J, MI V W °स्मान्यश्च 15 G, J, K, W °न्व० 16 K, W वृकै०

**श्रीध० तामिति।** तां विलोक्य वीरा मुमुहु रिति तृतीयेनान्वयः। श्यामा मजातरजस्काम्। कुन्तलेभ्यः शङ्किते इव चपले ईक्षणे यस्यास्ताम्॥ ५१ ॥

**शुचिस्मितामिति।** द्विजा एव कुन्दानां कुट्मलानि[1] मुकुलानि, बिम्बफलवत् योऽधरः तस्य द्युतिभिः शोणायमानानि तानि यस्यास्ताम्। कला शोभा तद्युक्तं नूपुरं शिञ्जच त त्कलानूपुरं च तस्य धाम दीप्ति स्तेन शोभितुं शील मस्य तेन पदा चलन्तीम्॥ ५२ ॥

न केवलं मुमुहुः पेतुश्चेत्याह- **यामिति।** यात्राभिषेण हृये स्वलावण्यं समर्पयन्तीं यां वीक्ष्य क्षितौ पेतुः सा तान्प्राप्तान् ह्रिया ऐक्षत, तदैवाऽच्युतं च ददर्श त्युत्तरेणान्वयः॥ ५३ ॥

**सैवमिति।** चलत्पद्मकोशतुल्यौ चरणौ चालयन्ती॥ ५४ ॥

**तामिति।** सुपर्णलक्षणं गरुडध्वजम्। हरिः सिंहः॥ ५५ ॥

**तमिति।** असहमानानां तेषाम् आक्रोश माह- अहो धि गस्मान्! यतोऽस्माकं वशो गोपै र्हृतमिति[3]॥ ५६॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५३ ॥

1 B, J °द्म० 2 B, J सि० 3 J °र्ह०

**वीर०** तदा तां विलोक्य समागता सर्वे प्रसिद्धा वीराः तद्दर्शनोद्दितमनोरथा मुमुहुरिति तृतीयस्तोकेनान्वयः। कथम्भूताम्? देवमायामिव सर्वविचर्यकरीं मूर्तीभूतां देवमायामिव स्थिता मित्यर्थः। वीरान् मोहयतीति तथा तां शोभनः कृष्णो मध्यप्रदेशो यस्याः, कुण्डलाभ्यां मण्डितमाननं यस्याः तां, श्यामाम् अजातस्तनकां नितम्बयोः श्रोण्यो रर्पिता निबद्धा रत्नमयी मेखला यस्याः, व्यञ्जन्ती यौवनप्रादुर्भावसूचकौ स्तनौ यस्याः, कुन्ततेमयस्राङ्गिते इव चपले ईक्षणे यस्याः॥ ५१ ॥

शुचि स्मितं यस्याः, बिम्बफलमिव योऽधरोष्ठस्तस्य द्युभिः कान्तिभिः शोणायमाना द्विजा दन्ता एव कुन्दानां कुड्मलानि[1] मुकुलानि यस्यास्तां, कलहंसव द्रच्छतीति[2] तच्छीला तथा तां कला शोभा तद्वती नूपुरे शिञ्जन्ती[3] कूजन्ती च ते कलानूपुरे च तयोः धाम दीप्तिस्तेन शोभते इति तथोक्तेन पदा पादेन पद्भ्यामित्यर्थः चलन्तीम्॥ ५२ ॥

न केवलं मुमुहुः अपि तु पेतुश्चेत्याह- यामिति। रथारूढा स्ते नृपतयो यात्राभिषेण हरये स्वलावण्यमर्पयन्तीं यां वीक्ष्य तस्या उदारहासेन व्रीडावलोकेन[4] च हृतानि चेतांसि येषां ते अत एव विमूढाः[5] अत एव च उज्झितानि त्यक्ता न्यस्ताणि यै स्ते भूमौ पेतुः[6]॥ ५३ ॥

**सैवमिति।** सा रुक्मिणी इत्थं पद्मकोशतुल्यौ चरणौ शनैश्शनै श्चालयन्ती[7], तत्र हेतुः भगवतः श्रीकृष्णस्य प्राप्तिं प्रसमीक्षमाणा वामकरनखैः अलकानुत्सार्य अपाकृत्य अपाङ्गैः तान्प्राप्तान् नृपान् ह्रिया अवैक्षत, तदैवाऽच्युतं च ददर्श॥ ५४॥

**तामिति।** तदा कृष्णः रथमारोढु मिच्छन्तीं तां राजपुत्रीं द्विषतां चैद्यादीनां समीक्षतां सतां[8] जहार। ततो माधवः सुपर्णलक्षणं गरुडध्वजं रथ मारोप्य रथोपस्थे आरोप्ये त्यर्थः। राजन्यमण्डलं परिभूय तुच्छीकृत्य रामः पुरोगमः अग्रयायी यस्य तथाभूत श्शनैर्ययौ। शनैः इत्यनेन निर्भयत्वं सूच्यते। हरिः सिंहः सृगालमध्यात्यथा स्वभागह च्छनै र्याति, तद्वत्॥ ५५॥

**तदिति।** मानिनः केवलं दुरहङ्कारिणश्शाल्वो जरासन्धादयः तत्कन्याहरणं स्वाभिभवं यशःक्षयं च न सेहिरे। असहमानानां तेषा माक्रोशमाह- अहो इति। अस्मत्कीर्तिं धिक्! कुतः? यतः आत्तधन्वनां[9] धनुर्धारिणाम्[10] अस्माकं, स्वमिति शेषः। गोपै रपहृतं केसरिणां सिंहानां भागो वृकै रिवेति॥ ५६ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां त्रिपञ्चाशत्तमोध्यायः॥ ५३ ॥

---

1 B कृ 2 B omits इति 3 K, T, W omit कूजन्ती 4 K.T.W लोकनेन 5. T.W omit वि 6 K, T, W निपेतुः 7 K ०ती 8 K omits सतां 9 B धन्विनां 10 B °र्धराणाम् 11 K, T, W °स्य०

विज० देवमायां लक्ष्मीं श्यामां द्वचष्टवर्षां कुन्तलै रावरकैः शङ्खितमिव ईक्षणं यस्याः सा तथा ताम्॥ ५१ - ५४॥

नागहृत् गजहरो, हरिः सिंहः॥ ५५ ॥

यः अरिभिः कृतः तं, के के परे इति तत्राह- जरासन्धेति॥ ५६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५३ ॥

(विजयध्वजरीत्या अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः)

---

# चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या एकोनषष्टितमोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच[1-1]

★ इति सर्वे सुसंरब्धा वाहा नारुह्य दंशिताः।
स्वैः स्वैर्बलैः परिक्रान्ता अन्वीयुर्धृतकार्मुकाः॥ १ ॥

ता नापतत आलेक्य यादवानीकयूथपाः।
तस्थु स्तत्सम्मुखा[2-2] राजन् विष्फार्य[3] स्वधनूंषि ते॥ २ ॥

अश्वपृष्ठे गजस्कन्धे रथोपस्थे च कोविदाः।
मुमुचुः शरवर्षाणि मेघा अद्रि ष्वपो यथा॥ ३ ॥

पत्यु र्बलं शरासारै श्छन्नं वीक्ष्य सुमध्यमा।
सव्रीड मैक्ष त्तद्वक्त्रं भयविह्वललोचना[4]॥ ४ ॥

प्रहस्य भगवानाह मा[5-5] स्म भै र्वामलोचने।
विनङ्क्ष्य त्यधुनैवैतत् तावकैः शात्रवं बलम्॥ ५ ॥

---

1- -1 Ml, V omit ★ अस्य श्लोकः विजयध्वजरीत्या द्वितीयः 2- -2 M, Ma °र्वै सम्मुखा 3 B, G, J, विष्फूर्ज्य; M, Ma विस्फूर्य, W विस्फूर्ज्य 4 M, Ma भाव० 5- -5 M, Ma मा भै स्त्वं वाम

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुष्पञ्चाशत्तमे तु जित्वा राज्ञोऽरिपक्षगान्। रुक्मिणं च विरूप्याऽथ भैष्म्याः पाणिं पुरेऽग्रहीत्।

इतीति। अहो धिगस्मान् इत्येवं वदन्तः सुसंरब्धाः क्रोधाविष्टाः। दंशिताः कृतसन्नाहाः। परिक्रान्ताः परिवृताः। अन्वीयुः अन्वधावन्॥ १ ॥

**तानिति।** विस्फूर्ज्य[1] टङ्कारयित्वा[2]॥ २ ॥

**अश्वेति।** परेषां शराणां बाहुल्ये यादवाना मल्पत्वे च दृष्टान्तः- मेघा इति॥ ३ ॥

**पत्युरिति।** ऐक्ष दैक्षत॥ ४ ॥

**प्रहस्येति।** मा स्म भैः मा भयं कुरु। हे वामलोचने! वराक्षि! तावकैः त्वदीयैः कृत्वा॥ ५

1 MI, V विष्फार्य 2 MI, V ॰ं कृत्वा

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ असहमानानां यदुभिस्सह सङ्ग्रामं पराजयं चाऽनुवर्णयति चतुष्पञ्चाशत्तमेन - **इतीति।** इति अहो धिगित्येवं ब्रुवाणास्सर्वे सुतरां क्रोधाविष्टा दंशिताः कवचिताश्च वाहान् अश्वादीनारुह्य स्वस्वबलैः परिक्रान्ताः परिवृताः धृतानि कार्मुकाणि धनूंषि यैस्ते अन्वीयुरन्वधावन्॥ १ ॥

ता नापतत श्शत्रून् अवलोक्य ते यादवसैन्याधिपतयः हे राजन्! स्वधनूंषि विष्फार्य[1] टङ्कारयित्वा सम्मुखा उत्तस्थुः॥ २॥

परेषां शराणां बाहुल्ये यादवाना मल्पत्वे च दृष्टान्तः - मेघा इत्यादि। मेघा यथा अद्रिषु अपो जलधारा मुञ्चन्ति, तद्व दश्वपृष्ठादिषु कोविदा श्शत्रवो यादवसैन्येषु[2] शरवर्षाणि मुमुचुः॥ ३॥

तदा सुमध्यमा रुक्मिणी शराऽऽसारैः[3] छन्नं भर्तु र्बल मवलोक्य भयेन कातरे लोचने यस्यास्सा, सव्रीडं यथा तथा तस्य पत्युः वक्त्रं मुख मैक्षत॥ ४ ॥

तदा भगवान् प्रहस्य तामाह, उक्तिमेवाह- मास्मेति। हे वामलोचने! त्वं मास्म भैः भयं मा कृथाः, अधुनैव त्वदीयैः सैन्यै श्शात्रवं बलं विनङ्क्षति नाशमेष्यति॥ ५ ॥

1 B विस्फूर्य 2 B ॰न्ये 3- -3 B शरैः

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

यादवाना मनीकानां यूथानि समूहाः तान् पान्ति रक्षन्तीति यादवानीकयूथपाः॥ १, २ ॥

अश्वपृष्ठादिषु स्थित्वा॥ ३ ॥

आसारो वेगवान् वर्ष इति। सुमध्यमा रुक्मिणी ऐक्षत्[1] ऐक्षत दृष्टवती॥ ४,५ ॥

---

1 B, M, omit ऐक्षत

तेषां तद्विक्रमं वीरा गदसङ्कर्षणादयः।
अमृष्यमाणा नाराचै र्जघ्नु र्हयगजान् रथान्॥ ६ ॥

पेतुः शिरांसि रथिना मश्विनां गजिनां भुवि।
सकुण्डलकिरीटानि सोष्णीषाणि च कोटिशः॥ ७ ॥

हस्ताः सासिगदेष्वासाः करभा ऊरुवोऽङ्घ्रयः।
अश्वाश्वतरनागोष्ट्र खरमर्त्यशिरांसि च॥ ८ ॥

हन्यमानबलानीकाः वृष्णिभि र्जयकाङ्क्षिभिः।
राजानो विमुखा जग्मुः जरासन्धपुरस्सराः॥ ९ ॥

शिशुपालं समेत्याऽथ हृतदारमिवाऽऽतुरम्।
नष्टत्विषं गतोत्साहं शुष्यद्वदन मब्रुवन्॥ १०॥

---

1- -1 W °भोरु भुजा 2 MI, V पुरोगमाः 3 B, G, J, MI, V समभ्येत्य

**श्रीध० तेषामिति।** स चासौ विक्रमश्च तम्॥ ६॥

**पेतुरिति।** उष्णीषाणि शिरोवतंसवस्त्राणि तत्सहितानि शिरांसि॥ ७ ॥

**हस्ताः** इति। करभाः प्रकोष्ठा ऊरुविशेषणं वा॥ ८,९ ॥

**शिशुपालमिति।** अप्राप्तदारमेव तं हृतदारमिवाऽऽतुरम्॥ १० ॥

**वीर०** इति तेषां चैद्यादीनां तथाविधं विक्रम मसहमाना वीरा गदादयो यादवाः नाराचै र्हयादीन् जघ्नुः॥ ६ ॥

तदा अश्विनां अश्वा एषां सन्तीति ते तेषाम्, अश्वारूढानां रथिनां गजिनां च कोटिशः शिरांसि कुण्डलकिरीटसहितानि उष्णीषसहितानि च भुवि निपेतुः। खड्गगदाधनुर्भिः सहिता हस्ताश्च करभाः प्रकोष्ठाश्च ऊरवश्च अङ्घ्रयश्च निपेतुः। करभाः तत्सदृशा ऊरव इत्यूरुविशेषणं वा। तथा अश्वादीनां शिरांसि च निपेतुः। तत्र नागा गजाः॥ ७, ८ ॥

इत्थं जयकाङ्क्षिभि र्यदुभिः हन्यमानानि बलानीकानि सैन्यसमुदायाः येषां ते जरासन्धादयो राजानो विमुखाः पराङ्मुखास्सन्तो जग्मुः॥ ९॥

तत स्ते सर्वे शिशुपाल मभ्येत्य अब्रुवन्। कथम्भूतम्? [illegible] हतमपि[illegible] नष्टत्विषं निस्तेजस्कं, मृत उत्साहो यस्मात्, शुष्यत् वदनं यस्य तम्॥ १० ॥

1 K, W [illegible]

विज० करभाः कनिष्ठिकाया मूलप्रदेशाः, गर्दभा दस्वायां जातोऽस्वतः॥ ६-८ ॥

आत्मनो जयकाङ्क्षिभिः जयप्रकाशकैः जयेच्छुभिर्वा॥ ९ ॥

हतदारं बता दपहृतभार्यं पुरुषम्॥ १० ॥

राजान ऊचुः[1-] [-1]

भो भो[2] पुरुषशार्दूल दौर्मनस्य मिदं त्यज।
न प्रियाप्रिययो राजन् निष्ठा देहिषु दृश्यते॥ ११ ॥

यथा दारुमयी योषित् नृत्यते कुहकेच्छया।
एव मीश्वरतन्त्रोऽय मीहते सुखदुःखयोः॥ १२ ॥

जरासन्ध उवाच[3-] [-3]

शौरिः सप्तदशाहं वै संयुगानि पराजितः।
त्रयोविंशतिभिः सैन्यै र्जित्य एक महं परम्॥ १३ ॥

तथाप्यहं न[4] शोचामि न प्रहृष्यामि कर्हि चित्।
कालेन दैवयुक्तेन जान न्निद्राविति जगत्॥ १४ ॥

अधुनापि वयं सर्वे वीरयूथपयूथपाः।
पराजिताः फल्गुतन्त्रै र्यदुभिः कृष्णपालितैः॥ १५॥

1- -1 G J, K, Ml, V, W omit 2 B, G J K, W भोः 3- -3 B, G J, M, Ma, Ml, V omit 4 M, Ma योगेन

श्रीध० भो भो इति। निष्ठा स्थैर्यम्॥ ११ ॥

यथेति। कुहको नर्तयिता तस्येच्छया। दुःखेऽपीहमानत्वेन पारवश्यं व्यक्तं दर्शितम्॥ १२

अत्र चाऽहमेव दृष्टान्त इत्याह जरासन्धः - शौरिरिति। शौरिः[1] कृष्णात्सकाशात्। एकं संयुगम्। परं केवल मन्तिमं वा जिग्ये जितवानहम्। १३ ॥

**तथेति।** दैव मदृष्टं तद्युक्तेन॥ १४ ॥

**अधुनेति।** फल्गुतन्त्रैः स्वल्पसैन्यैः॥ १५ ॥

---

1 B, J omit शौरिः

**वीर०** उक्तिमेवाह- भो भो इति। हे पुरुषश्रेष्ठ! दौर्मनस्यं विषादं त्यज। न हि सुखदुःखयोः देहिषु स्थैर्यं दृश्यते। किन्तु ते क्षणिके आगमापयिनी इति भावः॥ ११॥

नन्वप्रतिहतपौरुषाणा मस्माक मयं पराभवोऽविषह्य इत्यत आहुः-**यथेति।** कुहको नर्तकः तस्येच्छया इच्छानुसारमित्यर्थः। दारुमयी योषि त्प्रतिमा यथा[1] नृत्यते तथा अयं देहिवर्गोऽपि ईश्वरपरतन्त्रः सुखदुःखयो रीहते सुखदुःखयोः निमित्तभूतयो श्चेष्टते सुखदुःखार्थकर्माणि करोतीत्यर्थः। न हि सुखदुःखप्रापणे स्वात्मन स्स्वातन्त्र्यमस्ति। अपि तु सुखायै देहमानोऽयं जनः स्वस्वकर्मानुगुणेश्वरेच्छया सुखदुःखे प्राप्नोति। अतः किं विधेय मित्यर्थः॥ १२ ॥

एव मीश्वरपारतन्त्र्यमुक्तम्। तत्र चाऽहमेव दृष्टान्त इत्याह जरासन्धः-**शौरिरिति।** सप्तदश संयुगानि युद्धानि, कृत्वेति शेषः। त्रयोविंशत्यक्षौहिणीके स्सैन्यै स्सहितोऽप्यहं शौरिः श्रीकृष्णात्सकाशा त्पराजितः, सप्तदशकृत्व इति शेषः। एकं संयुगं त्वहं परं केवलं जिग्ये जितवानस्मि॥ १३ ॥

तथाऽपि सप्तदशकृत्वः पराजयकालेऽप्यहं कर्हिचि न शोचामि। नाऽपि जयकाले हृष्यामि च। किं कुर्वन्? दैवमदृष्टं तद्युक्तेन कालेन कालशरीरकेणेश्वरेण दैवमीश्वर स्तद्युक्तेन तदात्मकेन कालेनेति वा। कृत्स्नं जग द्विद्रावितम् उपद्रुतं जानन्॥ १४॥

अतोऽधुनाऽपि वयं सर्वे वीरयूथपा अपि फल्गुतन्त्रैरपि अल्पबलैरपि पराजिताः॥ १५ ॥

---

1 B, W omit यथा 2 K, W °ष्ण स०

**विज०** प्रियाप्रिययोः सुखदुःखयोः निष्ठा व्यवस्था नियतत्वं "निष्ठोत्कर्षे व्यवस्थायाम्" (वैज. को. 6-2-21) इति॥ ११ ॥

कुहकेच्छया मायिकेच्छया॥ १२ ॥

योऽहं त्रयोविंशतिभिः सैन्यैः अक्षौहिणीभिः शौरिः सप्तदशसंयुगानि सप्तदशसंयुगेषु पराजितः। परं पश्चात् सोऽहं तावतीभिः सम्भूय एकं सेनादिविकलं कृष्णं जिग्ये, तथापि उभयथाऽपि एक मष्टादशमं सङ्ग्रामं वा॥ १३, १४ ॥

[illegible]चतुरङ्गैः अत्यसेनादिपरिच्छदैः॥ १५ ॥

रिपवो जिग्यु रघुना काल आत्मानुसारिणी।
तदा वयं विजेष्यामो यदा कालः प्रदक्षिणः॥ १६ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं प्रबोधितो मित्रै श्चैद्योऽगा त्सानुगः पुरम्।
हतशेषाः पुन स्तेऽपि ययुः स्वं स्वं पुरं नृपाः॥ १७ ॥

रुक्मी तु राक्षसोद्वाहं कृष्णद्वि डसह न्स्वसुः।
पृष्ठतोऽन्वगम त्कृष्ण मक्षौहिण्या वृतो बली॥ १८ ॥

रुक्म्यमर्षी सुसंरब्धः शृण्वतां सर्वभूभुजाम्।
प्रतिजज्ञे महाबाहु र्दंशितः सशरासनः॥ १९ ॥

अहत्वा समरे कृष्ण मप्रत्यूह्य च रुक्मिणीम्।
कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि सत्य मेतद ब्रवीमि वः॥ २०॥

---

1 M Ma °तु जे०, MI V च जे० 2- -2 G J omit 3 M Ma स 4- -4 MI V स्वस्व 5 MI, V °भोच्य

श्रीध० रिपव इति। प्रदक्षिणोऽनुकूलः स्यात्॥ १६ - २० ॥

वीर० रिपवस्तु आत्मानुसारिणि स्वानुकूले काले प्राप्ते सति जिग्युः। यदा च प्रदाक्षणाऽस्मदनुकूलः कालो भावी, तदा वयमपि जेष्याम एव॥ १६ ॥

इत्थ मित्रै र्जरासन्धादिभिः बोधितः सान्त्वितः चैद्यः स्वपुर प्रति जगाम। ततो हतशेषा स्ते जरासन्धादयोऽपि नृपाः स्व स्व गृह प्रति जग्मुः॥ १७ ॥

ततः कृष्णद्विट् रुक्मी तु स्वसुर्भगिन्याः राक्षसोद्वाह मसहमानः अक्षौहिण्या सैन्येन परिवृतः कृष्ण पृष्ठतोऽन्वधावत्॥ १८॥

अनुधावनात्पूर्वं तस्य सरम्भमाह-रुक्मीति। अमर्षी क्रुद्धः सुसरब्धः सन्नद्धः। तदेव प्रपञ्चयति - दशितः कवचितः शरासनेन धनुषा सहितः सर्वभूभुजा शृण्वता सता प्रतिजज्ञे॥ १९॥

प्रतिज्ञा मेवाह- अहत्वेति। अप्रत्यूह्य अनावर्त्य॥ २० ॥

---

1- -। B स्वस्व 2 B ह्रत्य

विज० प्रदक्षिणः अनुकूलः॥ १६,१७ ॥

असहन् असहमानः॥ १८,१९ ॥

अप्रत्यूह्य अनावृत्य, अन्यस्याऽदत्वेति वा॥ २० ॥

इत्युक्त्वा रथ मारुह्य सारथिं प्राह सत्वरः।
चोदयाश्वान् यतः कृष्ण स्तेन मे संयुगा भवेत्॥ २१ ॥

अद्याहं निशितै र्बाणै र्गोपालस्य सुदुर्मतेः।
नेष्ये वीरमदं येन स्वसा मे प्रसभं हृता॥ २२ ॥

विकत्थमानः कुमति रीश्वरस्याऽप्रमाणवित्।
रथेनैकेन गोविन्दं तिष्ठ तिष्ठेत्युपाद्रवत्॥ २३॥ ★

△ धनु र्विकृष्य सुदृढं जघ्ने कृष्णं त्रिभि श्शरैः।
आह चोर क्षणं तिष्ठ यदूनां कुलपांसन॥ २४ ॥

कुत्र यासि स्वसारं मे मुषित्वा ध्वाङ्क्षव द्धविः।
हरिष्येऽद्य मदं मन्द मायिनः कूटयोधिनः॥ २५ ॥

याव न्न मे हतो बाणैः शयीथा मुञ्च दारिकाम्।
स्मय न्कृष्णो धनु श्छित्त्वा षड्भि र्विव्याध रुक्मिणम्॥ २६ ॥

अष्टाभि श्चतुरो वाहान् द्वाभ्यां सूतं ध्वजं त्रिभिः।
स चाऽन्यद्धनु रादाय कृष्णं विव्याध पञ्चभिः॥ २७ ॥

तै स्ताडितः शरौघैस्तु चिच्छेद धनु रच्युतः।
पुन स्य दुपादत्त तदप्यच्छिन दव्ययः॥ २८ ॥

परिघं पट्टशं शूलं चर्मासी शक्तितोमरौ।
यद्य दायुध मादत्त तत्सर्वं सोऽच्छिन द्धरिः॥ २९ ॥

ततो रथा दवप्लुत्य गृहीत्वा खड्गचर्मणी।
कृष्ण मभ्यद्रव त्क्रुद्धः पतङ्ग इव पावकम्॥ ३०॥

1. B.G.J.M.Ma. ०स्तस्य० 2. B.G.J.M.Ma °यं 3. B.G.J.M.Ma °र्थ०4- -4 तिष्ठ तिष्ठे त्यथाह्वयत्; M.Ma अन्वधावत इंद्रसा ★ After 23rd Verse this extra Verse is found in B.M.Ma editions. स गत्वा नर्मदां देवीं तरन्तं मधुसूदनम्। आसाद्य युद्धसन्नद्धः तिष्ठ तिष्ठेति चाऽब्रवीत्॥ △ An half Verse beginning with धनुर्विकृष्य.....त्रिभिःशरैः is repeated in B.M.Ma editions 5 B.G.J. चाऽत्र; M.Ma चाऽरे 6. W °ता 7- -7 K.W. शराग्रैस्तच्चि०; MI.V शरौघैस्तच्चि० 8- -8 K.W. °रप्यन्यदा; 9. M.Ma °दच्युतः 10. B.G.J.M.Ma पड्दिशं 11. M.Ma.°ः; W °रान् 12 MI V.W °ध० 13. MI.V. चाऽ० 14. M.Ma.MI.V. ° द्विभुः 15- -15 B.G.J.MI.v स्वरूपणि जिह्वास्यम 16. K पतत्कु०

**श्रीध० अद्येति।** गोपालस्य, वेदपालकस्येति वास्तवोऽर्थः। तथा सुदुर्मति रिति शोभनाऽनुग्रहवती दुष्टेष्वपि मति र्यस्य तस्येति॥ २१-२३ ॥

**धनुरिति।** यदूनां कुलपांसन। कुलदूषण! इति[1-] लौकिकार्थः[-1]। वास्तवार्थस्तु[2-] यदूनां[-2] कुलप[3]। हे[4-] यदुकुलपते![-4] हे अंसन! स्वयं च रिपुहननचतुर! "अंस समाघाते" इत्यस्मा द्धातोः कर्तरि ल्युट्प्रत्ययो नन्दादिविहितः॥ २४ ॥

**कुत्रेति।** ध्वाङ्क्षः काकः स यथा हवि र्मुष्णाति तद्वत्। वस्तुतस्तु अध्वाङ्क्षचदितिच्छेदः। सहग्राक्षवदित्यर्थः। हे मन्द![5] स्थिरेत्यर्थः॥ २५-३० ॥

1- -1 B.J omit 2- -2 B.J वस्तुतस्तु 3 B.J. कुलस्य पते 4- -4 B.J omit 5.MI V.add सिंहताक्ष्यवद्वा

**वीर० इतीति।** सत्वरः त्वरया सहितः, उक्तिमेवाह-चोदयेति सार्धेन। यतो यत्र कृष्णः तत्राऽश्वा नाशु चोदय गमयेत्यर्थः। तेन कृष्णेन सह मम संयुगः सङ्गामो भवेत् भवितव्यः॥ २१ ॥

सुतरां दुर्बुद्धे गोपालस्य वीरमदं वीरोऽहमेवे त्येवंविधं मदं नेष्ये, ततो नयामि, त्याजयामीत्यर्थः। तत्र हेतुं वद न्निशिनष्टि-येन कृष्णेन मम भगिनी प्रसह्य नीता अपहृता॥ २२ ॥

**विकत्थमान** इति। ईश्वरस्य श्रीकृष्णस्य प्रमाणं ज्ञानशक्तिबलादीना मनन्तपरिमाणत्व मजानन् अत एव कुमति रत एव चैवं विकत्थमानः प्रगल्भं भाषमाणः तिष्ठ तिष्ठेति वद न्निति शेषः। उपाद्रव दन्वधावत्॥ २३ ॥

**धनुरिति।** दृढं धनुर्विकृष्य शरान् सन्धायेति शेषः। कृष्ण मुरो वक्षःस्थलं जघ्ने। आह च । उक्तिमेवाह-क्षणमित्यादिना स्मय न्नित्यतः प्राक्तनेन। हे यदुकुलदूषक! क्षणं तिष्ठ, ममाग्रत इति शेषः॥ २४ ॥

ध्वाङ्क्षः काकः स यथा हविः हृत्वा याति, तथा मम स्वसारं मुषित्वा क्व यास्यसि[1] नैल्य मयोग्यत्वं च दृष्टान्ताभिप्रेतम्। हे मन्द कूटयोधिनः कूट स्समुदितो युध्यते[2], तच्छीलः तथा, तस्य एकाकितया योद्धु मसमर्थस्त्वेत्यर्थः। तव मदं हरिष्ये॥ २५ ॥

मम बाणै र्यावद्धतो न शयीथाः[3] [4] ततः पूर्वमेव दारिकां कन्यां मुञ्च। स्मयन्निति। षड्भिर्बाणै रिति शेषः। तथोत्तरत्रापि॥ २६॥

स चेति। सः रुक्मी, तैः रुक्मिप्रयुक्तैः[5] शराग्रैस्ताडितः कृष्णः तदपि धनुः चिच्छेद। एवं पुनः पुनः[6] यच्च द्धनु राददे तदप्यव्ययो भगवान् चिच्छेद॥ २७,२८ ॥

ततः परिघादिकमपि यच्च दाददे, तत्सर्वम प्यच्छिनत्॥ २९ ॥

तत इति। खड्गः पाणौ यस्य स रुक्मी रथा दवप्लुत्य हन्तुमिच्छया पतङ्गः शलभः पावकमिव कृष्ण मभ्यपतत्॥ ३०॥

---

1 K यासि 2. K.W. °ति 3. B °त 4 B adds भवान् 5 B °क्मिणा 6 K.W यद्धनु०

विज० अरे, नीचसम्बोधनं, तदेव व्यनक्ति यदूनामिति॥ २१-२५ ॥

*ततः पूर्वमेव मुञ्च॥ २६-२८ ॥

परिघं परिघातनं पट्टिशं लोहदण्डं, शक्तितोमरैः सह चिच्छेद। द्विमुख स्तोमरः॥ २९,३० ॥

**तस्य चाऽऽपततः खड्गं तिलश श्चर्म चेषुभिः।**
**छित्त्वाऽसि माददे तिग्मं[1] रुक्मिणं हन्तु मुद्यतः॥ ३१ ॥**

**दृष्ट्वा भ्रातृवधोद्योगं[2] रुक्मिणी भयविह्वला।**
**पतित्वा पादयो र्भर्तु[3] रुवाच करुणं सती॥ ३२ ॥**

**[4]रुक्मिण्युवाच[4]**

**योगेश्वराप्रमेयात्मन् देवदेव जगत्पते!।**
**हन्तुं नार्हसि कल्याण! भ्रातरं मे महाभुज॥ ३३॥***

**श्रीशुक उवाच**

**तया परित्रासविकम्पिताङ्ग्या शुचाऽवशुष्यन्मुखरुद्धकण्ठया[5]।**
**कातर्यविस्रंसितहेममालया गृहीतपादः करुणो न्यवर्तत॥ ३४ ॥**

चेलेन[6] बद्ध्वा त मसाधुकारिणं सश्मश्रुकेशं प्रवप न्व्यरूपयत्।
[7-] ताव न्ममर्दुः परसैन्य मुद्धतं यदुप्रवीरा नलिनीं यथा गजाः[-7]॥ ३५ ॥

कृष्णान्तिक मुपव्रज्य ददृशु स्तत्र रुक्मिणम्।
तथाभूतं हृतप्रायं दृष्ट्वा सङ्कर्षणो विभुः ॥
विमुच्य बद्धं करुणो भगवा न्कृष्ण मब्रवीत्[8]॥ ३६ ॥

बलभद्र उवाच

असाध्विदं त्वया कृष्ण कृत मस्मि[9] जुगुप्सितम्।
वपनं श्मश्रुकेशानां वैरूप्यं सुहृदो वधः॥ ३७ ॥

मैवास्मा न्साध्व्यसूयेथा भ्रातु र्वैरूप्यचिन्तया।
सुखदुःखप्र[10-]दो नान्यो यतः स्वकृतभुक् पुमान्[-10]॥ ३८ ॥

बन्धु र्वधार्हदोषोऽपि न बन्धु[11] र्वध मर्हति।
त्याज्य स्तेनैव[12] दोषेण हतः किं हन्यते पुनः॥ ३९ ॥

क्षत्रियाणा मयं धर्मः प्रजापतिविनिर्मितः।
भ्राताऽपि भ्रातरं हन्या द्येन घोरतर स्ततः॥ ४०॥

1 KW तीक्ष्ण 2 MIV °तुर्व° 3 MMaW °योः पत्यु° 4- -4 GJMIV omit ★ इत्युक्त्वा जगृहे पादौ कृपणा दीनभाषिणी। भ्रातर त्रातुकामा सा कृष्णस्य जगतीपतेः॥ This extra Verse is found in MMa editions between the Verses 33 and 34 5 MMa शुचा च०, MIV शुचा वि० 6 BGJMMa चै० 7- -7 BGJ तावन्ममर्दुः परसैन्यमद्भुत; MMa ताव त्समीयु र्जितशत्रुसैन्याः 8 K बन्धं 9 BGJKW°श्मज्जु० 10- -10 BGJMMa °दो नचान्योऽस्ति 11 BGJबन्धो र्वध° KW बन्धो। वध° 12 BGJMMaW स्वेनैव

**श्रीध० तयेति।** परित्रासेन विकम्पितान्यङ्गानि यस्या स्तया। शुचा शोकेन अवशुष्यत्[1] मुखं यस्याः। रुद्धः कण्ठो यस्या स्सा च। तया कातर्येण वैक्लव्येन विस्रंसिता हेममयी माला यस्या स्तया। गृहीतौ पादौ यस्य सः॥ ३१-३४॥

**चेलेनेति।** सश्मश्रुकेशं सहितानि स्थाने स्थानेऽवशिष्टानि श्मश्रूणि केशाश्च यस्य भवन्ति तथा। तेनैवासिना प्रवपन् मुण्डयन् व्यरूपयत् विरूपमकरोत्॥ ३५ ॥

**कृष्णान्तिकमिति।** तथाभूतं हतप्रायं मित्युत्तरवाक्येऽप्यनुषङ्गः॥ ३६,३७ ॥

रुक्मिणीं सान्त्वयति-**मैवास्मानिति**॥ ३८ ॥

पुनः कृष्ण माक्षिपति **बन्धुरिति**॥ ३९ ॥

पुन र्देवीं प्रत्याह-**क्षत्रियाणामिति**। येन धर्मेण भ्रातापि भ्रातरं हन्यात्। ततः तस्मा द्घोरतरोऽतिदारुणो धर्मश्च। अतः कोऽस्माक मपराध इति भावः॥ ४० ॥

---

1 MIV विशु०

**वीर०** आपततः तस्य रुक्मिणः खड्गं चर्म खेटं च इषुभि स्तिलप्रमाणश श्चिच्छेद, एवं छित्वा रुक्मिणं हन्तुं निशितं खड्ग मादत्त॥ ३१ ॥

तदा भ्रातृवधार्थ मुद्योगं प्रयत्नं दृष्ट्वा भयकम्पिता सती रुक्मिणी भर्तुः पादयोः पतित्वा करुणं यथा तथोवाच॥ ३२॥

उक्तिमेवाह-**योगेश्वरेति**। हे योगेश्वर! योगनिर्वाहक! योगीश्वरेति पाठे योगिहृत्कमलाभिव्यक्त! तन्नियन्तश्चेत्यर्थः। योगपरिशुद्धमनोग्राह्यस्य तव स्वरूपस्वभावादिकं कथम् अयं देहाभिमानी विद्यात्? ततोऽयं मूढः केवल मनुग्राह्य एवेति तत्सम्बोधनाभिप्रायः। नन्वसाधुलोकदमनार्थ मवतीर्णोऽहमेनं निगृह्णाम्येव इत्यतः सम्बोधयति- हे जगत्पते! शरणागतजगत्पालक! नाऽयं शरणागतोऽपि कृतापराध एवे त्यत आह मे शरणागताया मम भ्रातरं हन्तुं नाऽर्हसीति, शरण्यत्वोपयुक्तं वीरत्ववात्सल्यसौशील्यादिकमपि सम्बोधनेनैवाह- देवानां ब्रह्मादीनामपि देव! अप्रमेयात्मन्! अपारवात्सल्यसौशील्यादिस्वभावस्वरूप! लोकदृष्ट्या अधुना तवैतद्वधो नोचित इति सम्बोधयति- **कल्याणेति**। आरब्धे विवाहरूपकल्याणेऽपरिसमाप्त एवान्तरा मद्भ्रातृ वधोऽनुचित इत्यर्थः। अहो दृष्टं सखड्गस्य त्वद्भ्रुजस्य सौन्दर्य मिति साक्षेपं सम्बोधयति-महाभुजेति॥ ३३ ॥

**तयेति**। परित्रासेन परितो भयेन विशेषतः कम्पितान्यङ्गानि यस्याः शुचा शोकेन अवशुष्यत् मुखं यस्याः, रुद्धः कण्ठो यस्या स्सा च सा कातर्येण वैक्लव्येन विस्रंसिता हेममयी माला यस्या स्तया रुक्मिण्या गृहीतौ पादौ यस्य सः करुणः करुणावान् न्यवर्तत, रुक्मिवधा दिति शेषः॥ ३४ ॥

**चेलेनेति**। तत स्त मसाधुकारिणं रुक्मिणं चैलेन तद्वस्त्रेण बद्ध्वा सश्मश्रुकेशं सहितानि स्थाने स्थाने अवशिष्टानि श्मश्रूणि केशाश्च यथा भवन्ति तथा तेनैवासिना प्रवपन् मुण्डयन् विरूप मकरोत्। नलिनीं यथा गजा इति दृष्टान्तेनाऽनायासः खेलनमात्रं चाऽभिप्रेतम्॥ ३५ ॥

**कृष्णान्तिकमिति**। ददृशुः यदुप्रवीरा इति कर्तृपदानुषङ्गः, भगवान् सङ्कर्षणः तथाभूतं विरूपता मापन्नं हतप्रायं हततुल्यं रुक्मिणं दृष्ट्वा सकरुणो बन्धं विमुच्य कृष्ण मब्रवीत्॥ ३६ ॥

उक्तिमेवाह-**असाध्विति**। हे कृष्ण! असाध्वसमञ्जसं निन्दितं चेदं कर्म कृतम्। ननु बन्धुवध एवाऽसाधुः जुगुप्सितश्चे त्यत आह-वपनमिति। सुहृदो बन्धोः वधो नाम श्मश्रुकेशवपनं वैरूप्यकरणं चे त्येष एव॥ ३७ ॥

अथ रुक्मिणीं सान्त्वयति-**मैवाऽस्मानिति**। हे साध्वि! भ्रातृवैरूप्यप्रयुक्तया चिन्तया अस्मान् माऽसूयेथाः। ननु दुःखप्रदा यूयं मसूयितव्या एवे त्यत आह-सुखेति। सुखप्रदः[5] दुःखप्रदश्च अन्यो नास्ति, कुतः[6]? यतः पुमान् स्वकृतभुक् स्वकृतकुशलाकुशलकर्मापादितसुखदुःखभुक्, सुखग्रहणं दृष्टान्तार्थम्॥ ३८ ॥

पुनः कृष्ण माक्षिपति- **बन्धुरिति**। हे[7] बन्धो[-7]! वधायाऽर्हः उचितः दोषो यस्य सोऽपि बन्धु र्वधं नार्हति, किन्तु त्याज्य एव। स हि तेन बधार्हेण दोषेण हत एव हतप्राय एव, हतोऽपि पुन र्हन्यते कि मिति॥ ३९ ॥

भूयो रुक्मिणीं प्रत्याह- **क्षत्रियाणामिति**। प्रजापतिना ब्रह्मणा विनिर्मितोऽयं परो[8] धर्मः। कोऽसौ? येन धर्मेण भ्राताऽपि भ्रातरं हन्यात्, यश्च[9] घोरतरः अतिदारुणः। अतः को नामाऽस्माक मपराध इति भावः॥ ४० ॥

1 KTW omit मे 2 B परत्व 3 B रूपे 4 B चै० 5 B omits प्रदः 6 KTW omit कुतः 7- -7 B omits 8 B वधो 9 B यतश्च 10 B omits नाम

**विज०** परिग्रासेन परितो भयेन कम्पितमङ्गं यस्या स्सा तथा तया शुष्यन्मुखा च रुद्धकण्ठा च तया करुणः करुणाकरः॥ ३१-३४॥

प्रवपन् वपनं मुण्डनं कुर्वन् व्यरूपयत् सौन्दर्यहीन मकरोत्॥ ३५,३६ ॥

श्मश्रुकेशानां वपनलक्षणं वैरूप्यं सुहृदो बन्धो र्वधं कृतवान्॥ ३७ ॥

इदानीं रुक्मिणीं सान्त्वयति-**मैवेति**। हे साध्वि। रुक्मिणि! अस्मान्प्रति। स्वस्मा दन्यः, अत्र हेतुः यत इति॥ ३८॥

नन्वस्तु सुखादेः स्वय हेतुः अथापि बन्धोः देहवियोगकरणलक्षणो वधो लोकाचारो न भवति जुगुप्सितत्वादिति। तत्सत्यमित्याह-**बन्धुरिति**। बधार्हो दोषो यस्य स तथा। द्वितीयबन्धुशब्दो हेत्वर्थः। तत्र किं कर्तव्य मित्यत्राह-त्याज्य इति। त्यागो देशनिर्यातनादिलक्षणः। किं त्याज्य इत्यतो[1] मृतमारणदोषापत्ते रिति भावेनाह-हत इति॥ ३९ ॥

तर्हीत दीदृश कर्म किमिति क्रियते इति। अतोऽय न्यायः क्षत्रियेभ्योऽन्यत्र, न क्षत्रियाणा मित्याह- **क्षत्रियाणामिति**। कोऽसौ धर्म इत्यत्राह- भ्राताऽपीति। तत स्तस्मात् राजा येन कर्मणा घोरतर इत्युच्यते, धर्मविषयो वा अघोरतरो धर्म इति॥ ४०॥

---

1 Ma omits अतः

**राज्यस्य भूमे र्वित्तस्य श्रियो[1] मानस्य तेजसः।**
**मानिनोऽन्यस्य वा हेतोः श्रीमदान्धाः क्षिपन्ति हि॥ ४१ ॥**

★ तवेयं विषमा बुद्धिः सर्वभूतेषु दुर्हृदाम्।
यन्मन्यसे सदाऽभद्रं सुहृदां भद्र मज्ञवत्॥ ४२ ॥

आत्ममोहो नृणा मेष कल्प्यते देवमायया।
सुहृ हृर्द्दं[2] दुदासीन इति देहात्ममानिनाम्॥ ४३ ॥

एक एव परो ह्यात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्।
नानेव गृह्यते मूढै र्यथा ज्योति र्यथा नभः॥ ४४ ॥

देह आद्यन्तवा नेष द्रव्यप्राणगुणात्मकः।
आत्म न्यविद्यया क्लृप्तः[3] संसारयति देहिनम्॥ ४५॥

---

1 BGJMIV स्त्रिया ★ This Verse is not found in MMa editions 2 MMa W च्छत्रु० 3 MMa क्षिप्तः

श्रीध० पुनः श्रीकृष्णं प्रत्याह-राज्यस्येति। तथाऽप्यस्माक मेत दनुचितमिति भावः॥ ४१ ॥

पुनर्देवीं प्रत्याह-तवेयमिति। सर्वभूतेषु दुर्हृदा महितानां भ्रातॄणा मज्ञवत् य दभद्रं मन्यसे इच्छसि इयं तव विषमा असमीचीना बुद्धिः। कुतः? यत स्तदेव सुहृदा मभद्रमिति। यद्वा सर्वभूतेषु दुर्हृदामपि स्वसुहृदां भद्रमेव इदं[1] दण्डरूपं मुण्डन मभद्रं यन्मन्यसे तवेयं विषमा बुद्धिरिति। अथवा सर्वभूतेषु मध्ये दुर्हृदां शिशुपालादीना मभद्रं सुहृदां भद्रं च यन्मन्यसे, तवेयं विषमा बुद्धिः समा न भवति। अज्ञवत् अज्ञानामिव॥ ४२ ॥

कुत इत्यत आह- आत्ममोह इति॥ ४३ ॥

परमार्थमाह- एक एवेति। परः शुद्धः ज्योतिश्चन्द्रादिः यथोदकेषु। नभो यथा घटादि ष्विति॥ ४४ ॥

कुत स्तर्हि न चन्द्रादिव दात्मानम् एकं शुद्धं प्रतीम स्तत्राह- देहे इति। द्रव्य मधिभूतम्, प्राणा इन्द्रिया ण्यध्यात्मम्। गुणशब्देनाऽधिदैवं, तत्त्रितयात्मकः देहोपाधिना शुद्धो न प्रतीयते इत्यर्थः॥ ४५ ॥

---

1 B.J. omit इद

वीर० पुनः कृष्णं प्रत्याह- राज्यस्येति। श्रीमदेनैश्वर्यमदेनाऽन्धाः विवेकरहिता मानिनो दुरहङ्कारिणो जनाः राज्यादेः अन्यस्य वा हेतोः कारणात् राज्यादर्थं तेभ्योऽन्यार्थं वेत्यर्थः। क्षिपन्ति[1] हि क्षिपन्ति निरस्यन्ति, बन्धू निति शेषः। अस्माकं त्वेत दनुचितमिति भावः। तत्र मानस्य वयमेव वीरा इत्याभिमानस्य, तेजसः पराभिभवनसामर्थ्यस्य॥ ४१॥

सान्चितामपि विषण्णामेव ता मालक्ष्य अन्तरेण तत्त्वोपदेशम् असमा विषाद्दो न शाम्यतीति मत्वा तत्त्व मुपदिदिक्षुः तावत् देहानुबन्धिषु सौहार्दस्य तदभद्रत्वप्रयुक्तचित्तविकारस्य चाऽज्ञानप्रयुक्तत्व माह- तवेति द्वाभ्याम्। अज्ञवत् देहात्मस्वतंत्रात्माभिमानवत् सदा सुहृदां भद्रं दुर्हृदा महिताना मभद्रं च मन्यस इति यत्, तवेयं बुद्धि स्सर्वेषु भूतेषु विषयभूतेषु विषमा। असमा, एकरूपा न भवतीत्यर्थः॥ ४२ ॥

कुत इत्यत आह-आत्ममोह इति। नृणां एष आत्ममोहो बुद्धिमोहो भगवन्मायया अनात्म न्यात्मबुद्धि मस्वतन्त्रे स्वातन्त्र्यबुद्धिं च कल्पयन्त्या कल्पितः। कोऽसौ, यो देहात्मवादिनां सुह् दित्यादिरूपः॥ ४३ ॥

सुहृदादिविभागस्याऽज्ञानकल्पितत्व मेवोपपादयति- एक एवेति। सर्वेषामपि देहिनां जीवात्मना मात्मा अन्तरात्मा एक एव परः। गूढतयाऽवस्थाने दृष्टान्तमाह-यथा ज्योतिरिति। यथा ज्योति रग्निः काष्ठे गूढतयाऽवतिष्ठते, तथा परमात्माऽपीत्यर्थः। अवस्थितस्यापि, परस्य तत्तद्वस्तुगतदोषास्पर्शे दृष्टान्तमाह- यथा नभ इति। यथा सर्वत्र व्याप्नुवत आकाशस्य न व्याप्यगतदोषस्पर्श स्तथेत्यर्थः। एवं स्थिते एकस्य परमात्मनः कृत्स्नं जगत् शरीरभूतमिति एकशरीरभूतपाणिपादादिषु शत्रुमित्रादिविभागोऽनुपपन्नः। मूढैः परमात्मशरीरत्वानभिज्ञैस्तु नानेव शत्रुमित्रादिविभागयुक्त मिव जग द्विज्ञायते इत्यर्थः॥ ४४॥

कोऽसौ देहातिरिक्तो जीवो नाम, कीदृशश्च, देहश्च कीदृशः, कथं च देहातिरिक्तस्यात्मन स्सुखदुःखादि भोक्तृत्व मित्यतआह- देह इति। देहस्तावत् द्रव्यप्राणगुणात्मकः द्रव्यं पृथिव्यादिभूतपञ्चकम्। प्राणा इन्द्रियाणि, गुणाः पृथिव्यादिभूतपञ्चकगुणाः गन्धादयः, सत्त्वादिप्रकृतिगुणा रन्धद्रव्यादितत्त्वान्तरसमुदायरूपाः। आत्मा तु ज्ञानात्मक इति भावः। स च आद्यन्तवान् उत्पत्तिविनाशवान्। आत्मा तु नित्य इति भावः। स चाऽविद्यया प्रकृत्या आत्मनि कृप्तस्सन् देहिनं जीवात्मानं संसारयति, तस्य जन्मजरामरणादि दुःखं जनयतीत्यर्थः॥ ४५ ॥

---

1 KTW omit क्षिपन्ति 2- -2 omits 3- -3 B omits

**बिज०** ननु तर्हि सर्वः सर्वं हन्या दित्यतिप्रसङ्ग इत्यत्राह- राज्यस्येति। मानिनः देहाभिमानवन्तः अन्यस्य स्त्रीजनस्य वा क्षिपन्ति घ्नन्ति। राज्यादेः सर्वस्य हेतोः इति सम्बन्धः॥ ४१ ॥

किमत इत्यतः स्वस्य श्रीहर्यधीनत्वकल्पनामन्तरेण स्वकपोलकल्पनाबुद्धिः भ्रम एवेत्याह- आत्मेति। देह एव आत्मेति मानं ज्ञानं एषां ते तथा तेषां नृणां निरपेक्षत्वेनोपकर्त्ता सुहृत्, स्वसुखनाशकर्ता शत्रुः, तदुभयकर्तृत्वशून्य उदासीन इत्येष आत्ममोहो मनोभ्रमः देवस्य हरेः मायया बन्धकशक्त्या कल्प्यते। ततः सुहृच्छत्रू उभयो रितर उदासीन इति स्वकपोलकल्पना इत्याद्येति भावः॥ ४२,४३ ॥

देवः कीदृश इति तत्स्वरूप माह- एकएवेति। आत्मा परः परमात्मा, नियामक इति शेषः। नन्वेकत्वे "सच त्यचाऽभवत्" इति नानाभावः कथ मिति तत्राह-नानेति॥ ४४ ॥

देहात्मत्वं भ्रमनिमित्त मित्यत्र हेतुमाह-देह इति। द्रव्याणि, पञ्च भूतानि, पञ्च प्राणाः, त्रयो गुणाः, देह आत्मा न भौतिकत्वात् घटवदिति। आत्मनि जीवे अविद्यया हीच्छया अज्ञानेन वा देहिनं देहात्मदर्शनं संसारयति संसारिणं करोति "तत्करेतीत्युपसंख्यान"मिति णिच्॥ ४५ ॥

★ नात्मनोऽन्येन संयोगो वियोग श्चाऽसता[1] सति।
तद्धेतुत्वा त्तत्प्रसिद्धे र्द्रव्यूपाभ्यां यथा रवेः॥ ४६ ॥

जन्मादयस्तु देहस्य विक्रिया नाऽऽत्मनः क्वचित्।
कलाना[2] मेव नैवेन्दो र्मृति र्ह्यस्य[3] कुहूरिव॥ ४७ ॥

यथा शयान आत्मानं विषया न्फलमेव च।
अनुभुङ्क्तेऽप्यसत्यर्थे [4-]तथाऽऽप्नोत्यबुधो भवम्[-4]॥ ४८ ॥

तस्मा दज्ञानजं शोक मात्मशोषविमोहनम्[5]।
तत्त्वज्ञानेन निर्हृत्य स्वस्था भव शुचिस्मिते॥ ४९ ॥

[6-]श्रीशुक उवाच[-6]

एवं भगवता तन्वी रामेण प्रतिबोधिता।
वैमनस्यं परित्यज्य मनो बुद्ध्या समादधे॥ ५० ॥

---

★These two Verses (46,47) are not found in M Ma editions 1 B G,J ऽसतः 2 B,G,J °मिव 3 M I V स्य 4- -4 M Ma तथाऽऽत्माऽपि ध्रुवोऽध्रुवम्। 5 M.Ma बोध०, M I V शोक० 6- -6 M Ma omit

श्रीध०: ननु देहसम्बन्धेनापि संसारे सति शुद्धत्वं गतमेव, तत्राह- नात्मन इति। हे सति! अन्येनाऽधिभूतादिना आत्मनः संयोगवियोगौ न स्तः। कुतः? असतः असत्या दन्यस्येत्यर्थः। कुतोऽसत्त्वं तत्राह - तद्धेतुत्वादिति। तस्याऽन्यस्य भूतेन्द्रियादेः प्रसिद्धेः, प्रकाशस्य तद्धेतुत्वा दात्महेतुकत्वात्। ननु देवै रधिष्ठितेभ्य इन्द्रियेभ्यो भूतानां प्रतीतिः प्रसिद्धा। भूतप्रतीत्या च तत्प्रसिद्धिः, नाऽऽत्मन इत्यत आह - द्रव्यूपाभ्यां यथा रवेः। यथा प्रकाश्यप्रकाशकत्वेन वर्तमानयोरपि चक्षूरूपयोः रवेः सकाशात् प्रसिद्धि र्द्वयोरपि तैजसत्वात्, तदभेदश्च; तथा भूतेन्द्रियादीनां परस्परं सिद्धानामपि चैतन्याधीन एव प्रकाशः तत्का र्यत्वाच्च, तद्व्यतिरेकेणाऽसत्त्वं चेत्यर्थः। तथा च द्वादशे वक्ष्यति- "दीप श्चक्षुश्च रूपं च ज्योतिषो न पृथक् भवेत्। एवं धीः खानि मात्राश्च न स्यु स्तमा दतात्"॥ (भाग. 12-4-24) इति। यद्वा रवेः प्रसिद्धाभ्यामेव द्रव्यूपाभ्यां परस्परं प्रसिद्धि र्यथा भवति तद्वदिति॥ ४६ ॥

**देहसम्बन्धाभावादेव** नाऽऽत्मनो जन्मादयोऽपीति वक्तुं जन्मादीनां देहधर्मत्वमाह - **जन्मादयस्त्विति**। कथं तर्हि जातोऽहं बालोऽहं वृद्धोऽह मित्यात्मनि जन्मादिप्रतीतिः। देहजन्मादिनैवेति[3] सदृष्टान्त माह- **कलानामेवेति**[4]। इन्दोः कलानामेव जन्मादयो नैवेन्दो र्यथा तद्वत्। यथा च कलानाशादेव कुहूः अमावास्या इन्दुक्षय उच्यते। तद्व दस्यात्मनो देहनाशादेव मृतिव्यवहार इत्यर्थः॥ ४७ ॥

नन्वात्मनो देहादिसम्बन्धाभावे कथं भोक्तृभोग्यभोगप्रतीतिः? इत्याशङ्क्य स्वप्नदृष्टान्तेन समर्थयति - **यथा शयान** इति। आत्मानं भोक्तारं विषयान् भोग्यान् फलं भोग मसत्यप्यर्थेऽनुभुङ्क्ते, तथा अबुधः संसारं प्राप्नोति[5] ॥४८॥

**तस्मादिति**। आत्मानं शोषयति विमोहयति चेति तथा तम्। निर्हृत्याऽपाकृत्य[6]॥ ४९ ॥

**एवमिति**। समादधे समाहितमकरोत्॥ ५० ॥

---

1 B, J omit क 2 MI, V ९ 3- -3 MI, V अत आह नाऽऽत्मन इति 4 B, J मिवेति 5 MI, V add इति। 6 MI, V °पहत्य

**वीर०** ननु यदि देहः स्वसम्बन्धमात्रेण जीवात्मानं संसारयेत्, तर्हि परमात्मानमपि स्वसम्बन्धादेव संसारयत्वित्यत आह- **नाऽऽत्मन** इति। हे सति! आत्मनः परमात्मनः असता देहेन जीवपराभ्यामन्येन सह जीवस्येव संयोगवियोगौ उत्पत्तिमरणात्मकौ न भवतः। अनेन जीवस्योत्पत्तिविनाशौ नाम देहसंयोगवियोगात्मकावेवेत्युक्तम्। कुतः? तत्प्रसिद्धेः देहोत्पत्तेः संयोगवियोगोत्पत्ते र्वा तद्धेतुत्वा त्परमात्मसङ्कल्पहेतुकत्वात् परमात्माधीनत्वा **द्देहः** परमात्मनो न बन्धक इत्यर्थः। तदधीनेन तस्य बन्धाभावे दृष्टन्तमाह- द्व्यूषाभ्यां यथा रवे रिति। आदित्येनाऽनुग्राह्यं **चक्षुः** तेन प्रकाश्यदृश्यमादिरूपं चेत्युभाभ्याम् आदित्यस्य न संसर्गः दूरस्थत्वात्। एवं परमात्माधीनेन देहेनाऽन्तःस्थितस्यापि परमात्मनो दूरस्थस्येव न तत्कृतदोषाश्रयत्व मित्यर्थः॥ ४६॥

आद्यन्तवा नित्यनेन सूचित मात्मनो जन्माद्यभाव मुपपादयति- **जन्मादयस्त्विति**। जन्मादयो विक्रिया विकारा देहस्यैव, क्वचिदपि शरीरे स्थितस्यापि आत्मनो न सन्ति। यथा कलानामेव जन्मादयः[1], न चन्द्रस्य, तद्वत् द्रव्यादिसङ्घातात्मक देहानामेव न जीवस्येत्यर्थः। जन्मादय इत्यादिशब्देन बाल्यादिविकारसङ्ग्रहः। तर्हि " विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य स्समुत्थाय तान्येवाऽनुविनश्यति" (बृह. उ. 2-4-12) इति जीवविनाशवादिनी श्रुति र्विरुध्येत इत्यत आह - मृति र्ह्यस्य कुहू रिवेति। अस्य जीवस्य मरणं चन्द्रस्य कुहू रिवेत्यन्वयः। नष्टेन्दुकला पञ्चदशी कुहूः[1]। यथा चन्द्रस्य कलानाशादेवाऽमावास्या कुहू रिन्दुक्षय इति व्यपदिश्यते, तद्वत् अस्याऽऽत्मनो देहनाशादेव मृति रिति व्यवहारः इत्यर्थः॥ ४७ ॥

देहो देहिनं संसारयतीत्युक्तम्, तत्र यावदयं संसरति, किं वा तत्र कारणम्? देहसम्बन्ध एवेति चे न्न, परमात्मनोऽपि तदविशेषा त्संसारापत्ते रित्यतः सदृष्टान्तमाह - **यथेति**। अर्थे स्वाप्ने असत्यपि अस्थिरोऽपि शयानः पुरुषः स्थिरबुद्ध्या याव दात्मानं भोक्तारं, विषयान् स्वाप्ना न्विषयान्, फलं तद्भोगाद्यानुभुङ्क्ते, तद्व द्विषयभुक्तबुद्ध्या[2] विषया न्याव दनुभवति, तदा ताव दय मबुधोऽज्ञस्सन् भवं संसारं प्राप्नोति, न तु ततो मुच्यते; प्रबुद्धस्तु मुच्यत इति भावः। स्वप्नेपीणाऽऽत्मनो नित्यत्वेऽपि स्वप्नावस्थावैशिष्ट्यस्याऽनित्यत्वा त्तन्नित्यत्वबुद्धिः तदनुभवनिमित्ते त्यभिप्रायेणाऽऽत्मान मित्युक्तम्॥ ४८॥

उपसंहरति- **तस्मादिति**। तस्मात् तत्त्वस्थिते[3] रीदृशत्वात् आत्मानं मानसं शोषयति अभास्वरयति विमोहयति चेति तथा। तमज्ञानप्रभवं सुहृद्दुर्हृदुदासीन इत्येवंविधं मोहं तत्त्वज्ञानेन कृत्स्नस्य जगतः परमात्मशरीरकत्वज्ञानेन निर्हृत्य अपाकृत्य, हे शुचिस्मिते! स्वस्था स्वस्मिन् स्थिता ज्ञानानन्दस्वरूपात्मचिमर्शनपरा भव। सुस्थेति पाठे निर्विषादा भवेत्यर्थः॥ ४९॥

**एवमिति**। तन्वी रुक्मिणी एवं प्रतिबोधिता वैमनस्यं दुःखं[4] त्यक्त्वा बुद्ध्या तत्त्वनिर्णयात्मिकया मनः सङ्कल्पविकल्पात्मकं समाहितवती॥ ५० ॥

---

1- -1 T, W omit 2 B adds न तु जागर्ति 3 B दृशे री० 4 K, T, W omit दुःखं

**विज०** देहः स्वेतरवृत्तिनित्यनिष्ठाधिकरणं मेयत्वा द्वटवदिति, तत्राह - **यथेति**। शयानः स्वप्नं पश्यन् आत्मानं विषयान् फलं दुःखादितक्षणं यथाऽनुभुङ्क्ते वासनानुगुणं अनुभवति,[1] अर्थे विषये तदानी मसत्य प्यविद्यमानेऽपि तथा आत्मा जीवो ध्रुवोऽध्रुवा ननित्यान् देहादी ननुभुङ्क्ते इत्यन्वयः। देहः स्वस्येतरवृत्त्यनित्यनिष्ठाधिकरणमिति प्रत्यनुमानपराहतं, तदनुमानमिति सन्तोष्टव्यम्॥ ४६ - ४८॥

उपसंहरति- **तस्मादिति**। ॥ ४९ ॥

बुद्ध्या कदाऽप्यतिरोहितज्ञानेन॥ ५० ॥

---

1 B omit अनु

प्राणावशेष उत्सृष्टो द्विड्भि[1] र्हतबलप्रभः।
स्मर न्विरूपकरणं वितथात्ममनोरथः॥
★ चक्रे[2] भोजकटं नाम निवासाय[3-] महत्पुरम्[-3]॥ ५१ ॥

अहत्वा दुर्मतिं[2] कृष्ण मप्रत्यूह्य यवीयसीम्।
कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामी त्युक्त्वा तत्राऽवस द्वृषा॥ ५२ ॥

भगवान् भीष्मकसुता मेवं निर्जित्य भूमिपान्।
पुर मानीय विधिव दुपयेमे कुरूद्वह![5]॥ ५३ ॥

तदा महोत्सवो नृणां यदुपुर्यां गृहे गृहे।
अभू दनन्यभावानां कृष्णे यदुपतौ नृप॥ ५४ ॥

नरा नार्यश्च मुदिताः प्रमृष्टमणिकुण्डलाः।
पारिबर्हं मुपाजह्रु र्वरयो श्चित्रवाससोः॥ ५५ ॥

सा वृष्णिपुर्युत्तमितेन्द्रकेतुभि र्विचित्रमाल्याम्बरतोरणैः।
बभौ प्रतिद्वार्युपहृतमङ्गलै रापूर्णकुम्भागुरुधूपदीपकैः॥ ५६ ॥

सिक्तमार्गा मदच्युद्भि राहूतप्रेष्ठभूभुजाम्।
गजै द्वास्सु परामृष्टरम्भापूगोपशोभिता॥ ५७ ॥

कुरुसृञ्जयकैकेय विदर्भयदुकुन्तयः।
मिथो मुमुदिरे तस्मि न्सम्भ्रमा त्परिधावताम्॥ ५८ ॥

रुक्मिण्या हरणं श्रुत्वा गीयमानं ततस्ततः।
राजानो राजकन्याश्च बभूवु र्भृशविस्मिताः। ५९ ॥

द्वारकाया मभू द्राजन् महामोदः पुरौकसाम्।
रुक्मिण्या रमयोपेतं दृष्ट्वा कृष्णं श्रियःपतिम्॥ ६० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्या अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्याया पारमहस्या सहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५४ ॥

---

1 MI V ल्क्मी ह० ★ This half verse is printed in MI V after the half verse beginning with कुण्डिन न प्रवेक्ष्यामि (V52) 2 MI V यत्र 3- -3 MI V °याऽभवत्पु० 4 K W °तिः 5 K W यदूद्वह। 6 K W सिन्यु० 7 MI V वेक्ष्यो: 8 M Ma °ला० 9 M Ma MI V °ग० 10 K W °पै: 11 MI V °र्णा 12 MI V ताम्। 13 K W मध्ये स० 14 M, Ma °तः 15 W °नमित० 16 MI V °हान्मो० 17 M Ma °र्णी रमणोपेता

श्रीध० रुक्मिण स्त्वेव श्रुतवतो नाऽज्ञानं निवृत्तमिति दर्शय न्नाह - प्राणाबन्धेन इति॥ ५१ ॥

अहत्वेति। अहत्वा अज्ञात्वाऽदुर्मति मितिच सत्योर्थः। अप्रत्यूह्याऽनावर्त्य। अप्रतिबुध्येति तु सत्यम्। यवीयसीं स्वसारम्। यत्र विरूपित स्तत्रैवाऽवसत्। तत्र च भोजकट नाम पुर मभवत्॥ ५२ - ५४ ॥

नरा इति। वरयोः वरवध्वोः पारिबर्हं देय मुपस्करम्॥ ५५ ॥

सेति। उत्तमिभै रिन्द्रकेतुभिः ध्वजविशेषैः। उपक्लृप्तानि मङ्गलानि लाजाङ्कुरपुष्पाक्षतादीनि तैः॥ ५६ ॥

सिक्तेति। आहूताः प्रेष्ठाः भूभुज स्तेषां गजैः परामृष्टा उच्छ्रिता रम्भाश्च पूगाश्च तै रुपशोभिता। यद्वा तैरेव गजैः परामृष्टाः संस्पृष्टाः रम्भाश्च पूगाश्च तै रुपशोभिता॥ ५७ ॥

**कुर्वितिः**। सम्भ्रमा दौत्सुक्यात् परिधावतां बन्धूनां मध्ये मिथः समेत्य मुमुदिरे[7] मुदं प्रापुः॥ ५८-६० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५४॥

---

1 Ml, v omit तु 2 Ml, V यत्र 3 Ml, V वधूवरयोः 4- -4 Ml, V omit 5 Ml, V °ताम् 6 Ml, V °ताम् 7 B, J omit मुमुदिरे

**वीर०**: रुक्मिण स्त्वेवं श्रुतवतोऽपि नाऽज्ञानं निवृत्तमिति सूचयन्नाह - **प्राणेति**। रुक्मी तु द्विड्भिः शत्रुभिः हतं बलं प्रभा तेजश्च यस्य सः। अत एव प्राणमात्रावशिष्ट स्त्यक्तश्च, वितथो व्यर्थः स्वमनोरथो यस्य सः। आत्मनः स्वस्य विरूपकरणं, कृष्णकर्तृक मिति शेषः। स्मरन् भोजकटाख्यं विपुलं पुरं चक्रे॥ ५१ ॥

तत्रेत्थं सङ्कल्प्याऽवसर्च्येत्याह[1-] - **अहत्वेति**। दुर्मतिः रुक्मी यवीयसीं कनीयसीं कन्यां रुक्मिणीम् अप्रत्यूह्य अनावर्त्य कुण्डिनं पुरं न प्रवेक्ष्यामीति प्रतिज्ञाय रुषा क्रोधेन तत्र भोजकटे न्यवसत्॥ ५२ ॥[-1]

**भगवानिति**। पुरं प्रति प्रापय्य यदूद्वहो भगवान् यथाविधि विवाहितवान्॥ ५३ ॥

**तदेति**। तदा उद्वाहदिनेष्वित्यर्थः। नृणाम्[2] उत्सवो बभूव। कथम्भूतानाम्? यदुपतौ कृष्णे अनन्यभावानाम् एकान्तस्नेहानाम्॥ ५४ ॥

**नरा** इति। प्रमृष्टानि निर्मलीकृतानि मणिमयकुण्डलानि येषा यासां च ते ताश्च, वरयोः वरवध्वोः देयं पारिबर्ह मुपस्करम् आनिन्युः॥ ५५ ॥

तात्कालिकीं पुरी[3] मालक्षयति- **सेति**। उत्तम्भितै रुद्धृत्य प्रतिबद्धै रिन्द्रकेतुभिः ध्वजकेतुविशेषैः विचित्रै र्माल्यादिभिश्च गृहाणां द्वारे द्वारे उपकृतानि मङ्गलानि लाजाङ्कुरपुष्पप्रकरादीनि[4] तैश्च समन्ता त्पूर्णैः कुम्भैः अगरुधूपैः[5] दीपैश्च सा वृष्णीनां पूरी द्वारका बभौ॥ ५६ ॥

**सिक्तेति**। आहूताः ये[6] प्रेष्ठा[7] भुभुजो नृपा स्तेषां[8] सम्बन्धिभि र्मदोदकं स्रवद्भिः गजै स्सिक्ताः गजमदोदकै स्सिक्ताः इत्यर्थः। ते मार्गाः वीथयो यस्यां सा तथा द्वार्षु परामृष्टा उच्छ्रिताः रम्भाः कदल्यः ताभिः पूगै श्चोपशोभिता अलङ्कृता च बभौ॥ ५७ ॥

**कुर्वितिः**। सम्भ्रमा दौत्सुक्यात् परितो वीथिषु धावतां सञ्चरतां बन्धूनां मध्ये कुर्वादयो मिथ स्समेत्य मुदं प्रापुः[9]॥ ५८॥

**रुक्मिण्याहरणमिति।** ततस्ततः तत्र तत्र देशेषु गीयमानं रुक्मिण्यानयनात्मकं भगवच्चेष्टितं श्रुत्वा नितरां विस्मिता बभूवुः॥ ५९ ॥

**द्वारकायामिति।** हे राजन्! रमया लक्ष्म्यवतारूपया रुक्मिण्या सहितं श्रियः[10-] पतिं[-10] श्रीकृष्णं दृष्ट्वा पुरवासिनां महान् मोदो बभूव॥ ६० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५४॥

1- -1 B सङ्कल्पयामासे० 2 B omits नृणाम् 3 T, W पु० 4 B कुटकादीनि 5 B गु० 6 B adds ये 7 T, W क्षे० 8 B adds तेषा 9 B प्राप्तः 10- -10 T, W omit

**विज०** रुक्मी तत्र किं चकारेति तत्राह- **प्राणेति** ॥ ५१ ॥

अप्रत्यूह्य अनिवर्तयित्वा यवीयसी मनुजाम्॥ ५२, ५३ ॥

यदुपतौ कृष्णे अनन्यभावानां अन्यः शत्रुरिति भावरहितानां निरतिशयभक्तियुक्तानामित्यर्थः॥ ५४, ५५ ॥

उत्तभितेन्द्रकेतुभिः उत्क्षिप्तेन्द्रध्वजैः॥ ५६ ॥

आहूतप्रेष्ठभुजां गजैः, जुष्टेति शेषः। वास्तुपरामृष्टा गृहदेवतासंयुक्ता, यद्वा, वास्तुपरामृष्टा त्यक्तरजोगृहा॥ ५७॥

तस्मिन्नगरे परिधावन्तः इतस्ततो धावन्तः॥ ५८ - ६० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
टीकायां चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५४ ॥

(विजयध्वजरीत्या एकोनषष्टितमोऽध्यायः)

# पञ्चपञ्चाशोऽध्यायः

## (अय मध्यायो विजयध्वजपाठे नोपलभ्यते)

### प्रद्युम्नजनन शम्बरवधादि वृत्तान्तः

श्रीशुक उवाच

कामस्तु वासुदेवांशो दग्धः प्राग्रुद्रमन्युना।
देहोपपत्तये भूय स्तमेव प्रत्यपद्यत ॥ १ ॥

स एव जातो वैदर्भ्यां कृष्णवीर्यसमुद्भवः।
प्रद्युम्न इति विख्यातः सर्वतोऽनवमः पितुः ॥ २ ॥

तं शम्बरः कामरूपी हृत्वा तोक मनिर्दशम्।
स विदित्वाऽऽत्मन श्शत्रुं प्रास्योदन्व त्यगाद्वृहम् ॥ ३ ॥

तं निर्जगार बलवान् मीनः सोऽप्यपरै स्सह।
वृतो जालेन महता गृहीतो मत्स्यजीविभिः ॥ ४ ॥

तं शम्बराय कैवर्ता उपाजहु रुपायनम्।
सूदा महानसं नीत्वाऽवद्यन्[1] स्वधितिनाऽद्भुतम् ॥ ५ ॥

---

1 K, MI, V, W °ध्यन्

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पञ्चपञ्चाशत्तमे तु प्रद्युम्नोऽजनि कृष्णतः। शम्बरेण हृत स्सोऽथ हत्वा तं कान्तयाऽगमत् ॥
प्रद्युम्नहानिलाभाद्यैः शम्बराहरणादिना। कुटुम्बिना मपत्यादिसुखदुःख मसूचयत्[1] ॥

काम इति। जाम्बवत्यादिविवाहेभ्यः प्रागेव प्रद्युम्नजन्म, ततो विवाहा स्ततः शम्बरागारा[2] त्प्रद्युम्नप्रत्यागमनम्। अतः पुत्रकथनप्रस्तावेऽपि प्रथमं प्रद्युम्नस्य जातमात्रस्य शम्बरेण हरणं निरूप्यते। प्रत्यागमन न्तूत्तरकालिकमपि[3] कथापर्यवसानाय अत्रोक्तमिति। वासुदेवाधिष्ठितचित्तप्रभवत्वा द्वासुदेवांशः सृष्टिहेतुत्वाच्च। देहोपपत्तये देहग्रामये॥ १ ॥

स इति। अनवमोऽन्यूनः॥ २ ॥

तमिति। सः प्रसिद्धः कामशत्रुः शम्बर स्त मात्मन श्शत्रुं विदित्वा [4]हत्वा समुद्रे प्रास्य प्रक्षिप्य गृह मगादिति॥ ३॥

तमिति॥ निर्जगार गिलितवान्॥ ४ ॥

तमिति। स्वधितिना शस्त्रिकया, अवचन् [5]अवाचन् खण्डितवन्तः॥ ५ ॥

1 B, J °सुचत् 2 MI, V °गृहत् 3 B, J कातीन० 4 MI, V omit हत्वा 5 MI, V omit अवाचन्

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता

इत्थं भगवतो रुक्मिणीविवाहः सविस्तर मनुवर्णितः। अथ जाम्बवत्यादिविवाहान् विवक्षु स्तेभ्यः प्रागेव प्रद्युम्नजन्मेति तदनुवर्णयति पञ्चपञ्चाशत्तमेन काम इत्यादिना। यद्यपि शम्बरागारा[1] त्प्रत्यागमनादिकन्तु विवाहेभ्यः पाश्चात्त्यं, तथाऽपि कथापर्यवसानाय अत्रोक्तमिति द्रष्टव्यम्। कामस्त्विति। कामो मन्मथ स्तस्य च वासुदेवांश इति विशेषणेन भाविजन्मप्रभृतिसम्बन्धः कीर्तितः। वासुदेवविभूतित्वाद्वासुदेवाशः। अत एव पुन र्द्वेधोपपत्तये देहसंयोगाय तमेव वासुदेवमेव प्रत्यपद्यतेत्युक्तम्। प्रत्यपद्यत भगवत्तनु माश्रित्याऽवतस्थे इत्यर्थः। अनेन चतुर्व्यूहेषु तृतीयव्यूहविभूतित्व मुच्यते, नामसाम्यञ्च तद्विभूतित्वनिबन्धन मेव॥ १॥

स एव काम एव कृष्णस्य भगवतो वीर्यात् सङ्कल्परूपज्ञानात्मकात् समुद्भवो यस्य सः, वैदर्भ्यां रुक्मिण्यां जातः प्रद्युम्न इति [2]विख्यातोऽभिहितः, सर्वतः सर्वप्रकारेण पितुरनवमोऽन्यून स्तुल्य इत्यर्थः॥ २॥

तमिति। स प्रसिद्धः कामशत्रु श्शम्बरः तं प्रद्युम्न मात्मन स्स्वस्य शत्रुं विदित्वा, नारदमुखादिति शेषः। अनिर्दश मनतीतदशाहं तोकं शिशुं कामरूपी सन् हत्वा उदन्वति समुद्रे प्रास्य क्षिप्त्वा गृहं प्रत्यगात्॥ ३ ॥

तं शिशुं कश्चि द्बलवा न्मीनो मत्स्यो निर्जगार निगीर्णवान्। ततः कदाचि न्मत्स्यजीविभि र्दाशैः, सोऽपि मीनोऽपि अपरै र्मीनैस्सह महता जालेन वृतः आवृतो गृहीतश्च॥ ४ ॥

कैवर्ताः दाशाः, तं महामीनं शम्बरायोपायन मुपाजहुः समर्पयामासुः। ततः सूदाः पाचका श्छेत्तारो वा महानसं पाकगृहं प्रति तं मीनं [3]प्रापय्य स्वधितिना शस्त्रविशेषेण [4]अवचन् खण्डितवन्तः॥ ५ ॥

1 B omits अगारात् 2 T, W, omit वि 3 B प्राप्य 4 K, T, W °च्यन्

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

विजयध्वजतीर्थमते अयमध्याय एव नाऽस्ति अतः अस्य अध्यायस्य (५५) पदरत्नावलीव्याख्या नाऽस्ति।॥

दृष्ट्वा तदुदरे बालं मायावत्यै न्यवेदयन्।
नारदोऽकथय त्सर्वं तस्या शङ्कितचेतसः॥
बालस्य तत्त्व मुत्पत्तिंमत्स्योदर निवेशनम्॥ ६ ॥

सा च कामस्य वै पत्नी रति र्नाम यशस्विनी।
पत्यु र्निर्दग्धदेहस्य देहोत्पत्तिं [1]प्रतीक्षती॥ ७ ॥

निरूपिता शम्बरेण सा [2]सूदौदनसाधने।★
कामदेवं शिशुं बुद्ध्वा चक्रे स्नेहं तदाऽर्भके॥ ८ ॥

नातिदीर्घेण कालेन स कार्ष्णी रूढयौवनः।
जनयामास नारीणां वीक्षन्तीनाञ्च विभ्रमम्॥ ९ ॥

सा तं पतिं पद्मदलायतेक्षणं प्रलम्बबाहुं नरलोक[3]सुन्दरम्।
सव्रीडहासोत्तभितभ्रुवेक्षती प्रीत्योपतस्थे रति रङ्ग! सौरतैः॥ १० ॥

---

1 MI, V निरी० 2 B, G, J सूपौ०, MI, V स सूपौ ★ An additional half verse स च त सुन्दरवर विलोक्य मुदिताननना is found in MI, V edns only 3 MI, V °देव०

श्रीध० दृष्ट्वेति। तत्त्वं कामोऽयं, तव भर्तेति, उत्पत्तिं श्रीकृष्णा द्रुक्मिण्या मुत्पन्न इति॥ ६ ॥

सेति। यशस्विनी पतिव्रता [1]भर्तृदेहप्राप्तिं प्रतीक्षमाणा॥ ७ ॥

निरूपितेति। तं शिशुं कामदेवं बुद्ध्वा [2]विज्ञाय॥ ८ ॥

नेति। विभ्रमं सम्मोहम्॥ ९ ॥

सेति। अङ्ग! हे राजन्! सौरतैर्भावै रुपतस्थेऽभजत्॥ १० ॥

---

1 MI, V भर्तु 2 MI, V मत्वा

**वीर०** तदा तस्य मत्स्यस्योदरेऽद्भुतं बालं दृष्ट्वा तं मायावत्यै रत्यै[1] मन्मथपत्न्यै रत्याख्यायै शम्बरेण प्रसह्याऽऽहृत्य महानसे स्थापितायै न्यवेदयन्। कोऽसा वयं बाल इति मम भर्तेव स्थितः, किं वा स एवाऽय मित्येवं शङ्कितं चेतो यस्या स्तथा, मायावत्याः नारदः तत्सर्वं कथयामास। किं तत्सर्वम्, यदकथयत्? तत्राऽऽह- बालस्येति। तत्त्वं याथार्थ्यं[2], काम एवाऽयमि त्येवंविधं, मत्स्योदरनिवेशनादिकञ्चेति सर्व मकथयत्॥ ६ ॥

**सा चेति।** सा शम्बरेण सूदैः सह ओदनसाधने पाकगृहे निरूपिता सूदानां परिचारकतया स्थापिता मायावती पत्युः कामस्य देहोत्पत्तिं प्रतीक्षमाणा स्थिता सती तं शिशुं नारदमुखात्कामदेवं ज्ञात्वा तस्मि न्भके सदाऽविच्छिन्नं[3] स्नेहं चक्रे॥ ७, ८ ॥

स[4] कार्ष्णिः कृष्णस्याऽपत्यं प्रद्युम्नः नातिदीर्घेणाऽल्पेनैव कालेन रूढं प्राप्तं यौवनं यस्य सः, विभ्रमं सम्मोहं जनयामास॥ ९ ॥

**सेति।** अङ्ग! हे राजन्, सा मायावती तं प्रद्युम्नं रूढयौवनं प्रीत्या सौरतै भवै रुपतस्थे अभजत्। कथम्भूता? व्रीडया सहितो यो हासः, तेन उत्तम्भिते भ्रुवौ यस्यास्तया, दृशेति विशेष्यस्याऽध्याहारः[5]। ईक्षती ईक्षमाणा॥ १०॥

---

1 K, T, W omit रत्यै 2 B °त्यं 3 K, T, W, omit सदा 4 K, T, W, omit सः 5 K, T, W °ध्याध्या०

ता माह भगवान् कार्ष्णि र्मात स्ते मतिरन्यथा।
मातृभाव मतिक्रम्य वर्तसे कामिनी यथा॥ ११ ॥

रतिरुवाच

भवा न्नारायणसुतः शम्बरेणाऽऽहृतो[1] गृहात्।
अहं तेऽधिकृता[2] पत्नी रतिः, कामो भवा न्प्रभो॥ १२ ॥

एष त्वाऽनिर्दशं सिन्धा[3] वक्षिप च्छम्बरोऽसुरः॥
मत्स्योऽग्रसी त्तदुदरा दिह प्राप्तो[4] भवा न्प्रभो॥ १३ ॥

तमिमं जहि दुर्धर्षं दुर्जयं शत्रु मात्मनः।
मायाशतविदं त्वञ्च मायाभि र्मोहनादिभिः॥ १४ ॥

परिशोचति ते माता कुररीव[5-] गतप्रजा[-5]।
पुत्रस्नेहाकुला दीना विवत्सा गौरिवाऽऽतुरा[6]॥ १५ ॥

---

1 MI, J °णाह० 2 K, W दयिता 3 MI, V, W °धौ प्राप्ति० 4 B, J °दितः 5- -5 K, W कुरङ्गीव हत 6 K, W °र्यथाऽऽतुरा

**श्रीध० भवानिति।** अधिकृता पत्नीत्यत्र हेतुः रति रहं, भवा न्काम इति॥ ११- १३ ॥

**तमिति।** दुर्जयत्वे हेतुः - मायाशतबिदमिति। कथन्तर्हि हन्तव्यः? तत्राऽऽह - मायाभिरिति॥ १४ ॥

न चाऽत्र विलम्बः कार्य इत्याह- **परिशोचतीति।** परिशोचति रोदितीत्यर्थः॥ १५ ॥

**वीर०** तथा भगवान्कार्ष्णिः तां मायावतीमाह - उक्तिमेवाऽऽह - मातरिति। हे मातः! तव मति रन्यथा विपरीता बभूव। अन्यथात्वमेव दर्शयति मातृभावमिति। कामिनी पुंश्चली यथा तद्वत्॥ ११ ॥

एव मुक्ता प्राह रतिः - **भवानिति** चतुर्भिः[1-]। नारायणस्य श्रीकृष्णस्य सुतः। एवञ्चे त्तद्गृह एव किं न वसामि, इत्यत आह- शम्बरेणेति। गृहा न्नारायणस्य गृहात्। तवाऽहं दयिता प्रियतमा पत्नी॥ १२ ॥

एषः शम्बरोऽसुरोऽनतीतदशाहमेव त्वां समुद्रे पातयामास। हे प्रभो! समर्थ!॥ १३ ॥

त मात्मनश्शत्रुं शम्बरं जहि। दुर्जयत्वे हेतुः- मायाशतविदमिति। कथन्तर्हि हन्तव्यः? तत्राऽऽह-मायाभिरिति। मोहन मादि र्यासां ताभि र्मायाभि र्मयोपदेक्ष्यमाणाभिरिति शेषः॥ १४ ॥

न चाऽत्र विलम्बः कार्य इत्याह - **परिशोचतीति।** तव माता रुक्मिणी हता विनष्टा अदृष्टेति यावत्, प्रजा पुत्रो यस्या स्सा कुरङ्गीव हरिणीव परिशोचति। किञ्च, पुत्रस्नेहेनाऽऽतुरा विवत्सा विनष्टवत्सा अत एवाऽऽतुरा गौ र्यथा, तद्वत्॥ १५ ॥

---

1- -1 K, T, W omit 2 B, omit परि

---

प्रभाष्यैवं[1] ददौ विद्यां प्रद्युम्नाय महात्मने।
मायावती महामायां सर्वमायाविनाशनीम्[2]॥ १६ ॥

स च शम्बर मभ्येत्य संयुगाय समाह्वयत्।
अविषह्यै स्त माक्षेपैः क्षिपन् सञ्जनय न्कलिम्॥ १७ ॥

सोऽधिक्षिप्तो दुर्वचोभिः पदाहत[3] इवोरगः।
निश्चक्राम गदापाणि रमर्षा त्ताम्रलोचनः॥ १८ ॥

गदा माविध्य तरसा प्रद्युम्नाय महात्मने।
प्रक्षिप्य न्यनद न्नादं वज्रनिष्पेषनिष्ठुरम्॥ १९ ॥

ता मापतन्तीं भगवान्[4] प्रद्युम्नो[5] गदया[6] गदाम्[7]।
अपास्य शत्रवे क्रुद्धः प्राहिणो त्स्वगदां नदन्॥ २० ॥

---

1 MI, V आ० 2 B, G, J °क्षि० 3 G, K, W पा० 4 K, W गदया 5 W °म्नस्तरसा 6 MI, V °त्स्वां 7 B, G, J नृप

**श्रीध० गदेति।** वज्रस्य निष्पेषे निघति यथा निष्ठुर स्तीव्रो नादो भवति तथाभूतं नादं व्यनदत्, सामान्य विशेषतया व्याप्यव्यापकत्वभावेन ओदनपाकं पचतीतिवत्; अतिनिष्ठुरं नाद मकरोदित्यर्थः॥ १६- २० ॥

---

1 B omits ओदन

**वीर० प्रभाष्येति।** सर्वा शत्रो स्सम्बन्धिनी मायाः विनाशयतीति तथा। तां मायां मोहनादिमायात्मिकां विद्यां ददौ॥ १६॥

ततः स च प्रद्युम्नः संयुगाय युद्धार्थं समाहूतवान्। किं कुर्वन्? सोढु मशक्यै रधिक्षेपै स्तं शम्बरं क्षिपन् परिभवन् कलिं कलहं जनयंश्च॥ १७ ॥

स इति। स शम्बरः पादेन ताडित स्सर्प इव दुर्वचोभि रधिक्षेपै रधिक्षिप्तः[1] अत एव क्रोधा त्ताम्रे लोचने यस्य, गदा पाणौ यस्य सः, निश्चक्राम॥ १८ ॥

तरसा बलेन गदा माविध्य भ्रामयित्वा प्रक्षिप्य प्रयुज्य वज्रस्याऽशने निष्पेषे निघति यथा निष्ठुर स्तीव्रो नादो भवति तथाभूतं नादं व्यनद च्चकार। पाकं पचतीतिव दयं निर्देशः॥ १९ ॥

**तामिति।** प्रद्युम्नः स्वगदया तां शम्बरप्रयुक्ता माकाशे आपतन्तीं गदा मपास्य निरस्य स इव स्वयमपि नदन् शत्रवे शम्बराय स्वगदां प्रायुङ्क्त॥ २० ॥

1 B ततः

स च मायां सामाश्रित्य दैतेयीं मयदर्शिताम्।
मुमुचेऽस्त्रमयं वर्षं कार्ष्णौ वैहायसोऽसुरः॥ २१ ॥

बाध्यमानोऽस्त्रवर्षेण रौक्मिणेयो महारथः।
सत्त्वात्मिकां महाविद्यां सर्वमायोपमर्दिनीम्॥ २२ ॥

ततो गौह्यकगान्धर्व पैशाचौरगराक्षसीः।
प्रायुङ्क्त शतशो दैत्यः कार्ष्णि र्व्यधमय त्स ताः॥ २३ ॥

निशात मसि मुद्यम्य सकिरीटं सकुण्डलम्।
शम्बरस्य शिरः काया त्ताम्रश्मश्रोर्जहार तत्॥ २४ ॥

आकीर्यमाणो दिविजैः स्तुवद्भिः कुसुमोत्करैः।
भार्ययाऽम्बरचारिण्या पुरं नीतो विहायसा॥ २५ ॥

---

1 MI, V °या 2 MI, V मुमोचाऽस्त्र, K W मुमुचेस्म० 3 K, W °स्म० 4 B G, J, K, V, W चो० 5 K, W °त्स्म० 6- -6 B, G, J श्मश्रोजहाऽहरत्, MI V श्मश्रु जहार तत् 7 K, W विबुधैः 8 K W पुरीं

**श्रीध० स** इति। वैहायसः आकाशे स्थितः॥ २१ ॥

**बाध्यमान** इति। सत्त्वात्मिकां सत्त्वगुणमयीं, प्रायुङ्क्ते त्युत्तरस्याऽनुषङ्गः॥ २२ ॥

**तत** इति। ताः मायाः व्यधमयत् व्यनाशयत्॥ २३ ॥

**निशातमिति**। ताम्राणि श्मश्रूणि यस्मिंस्तत्। [1-]ओजसा बलेन[-1]॥ २४, २५ ॥

---

1 - -1 MI, V omit

**वीर०** स च शम्बरः मयेन दैत्यदानवाचार्येण दर्शिता मुपदिष्टां माया मन्तर्धानाद्यात्मिका माश्रित्य वैहायसः आकाशे स्थितः कार्ष्णौ प्रद्युम्ने शिलामयं वर्षं मुमुचे॥ २१ ॥

तदा रौक्मिणेयः प्रद्युम्नः शिलावर्षेण बाध्यमान स्ताडद्यमानः सत्त्वत्मिकां सत्त्वगुणमयीं मायां[1] महाविद्याख्यां सर्वासुरमाय्योपघातिनीं प्रायुङ्क्तेत्युत्तरस्याऽपकर्षः॥ २२ ॥

ततः पुनः दैत्यः गुह्यकानांसम्बन्धिनीं तथा गन्धर्वीद सम्बन्धिनीं च मायां प्रायुङ्क्त। कार्ष्णिस्तु तास्सर्वा मायाः व्यधमयत् व्यनाशयत्॥ २३ ॥

ततः निशितं खड्गमुद्धृत्य निर्मायस्य ताम्राणि श्मश्रूणि यस्य तस्य शम्बरस्य काया त्सकिरीटं सकुण्डलञ्च शिरो जहार पातयामासेत्यर्थः॥ २४ ॥

**आकीर्यमाण** इति। स्तुवद्भिः विबुधैः देवैः कर्तृभिः कुसुमोत्करैः कुसुमाञ्जलिभिः कुसुमजालैर्वा आकीर्यमाणः प्रद्युम्नः अम्बरे स्वयं चरति अन्यांश्च चारयति तच्छीला तथा, तया भार्यया कर्त्र्या विहायसा आकाशमार्गेण पुरीं द्वारकां प्रति नीतः॥ २५ ॥

---

1. K, T, W omit मायां

अन्तःपुरवरं राजन् [1]ललनाशतसङ्कुलम्।
विवेश पत्न्या गगना द्विद्युतेव बलाहकः॥ २६ ॥

तं दृष्ट्वा जलदश्यामं पीतकौशेयवाससम्।
प्रलम्बबाहुं ताम्राक्षं सुस्मितं रुचिराननम्॥ २७ ॥

[2]अलङ्कृतमुखाम्भोजं नीलवक्रालकालिभिः[3]।
कृष्णं मत्वा स्त्रियो ह्रीता निलिल्यु स्तत्र तत्र ह॥ २८ ॥

**अवधार्य शनै रीषद्वैलक्षण्येन योषितः।**
**उपजग्मुः प्रमुदिताः सस्त्रीरत्नं शुचिस्मिताः॥ २९ ॥**

**अथ तत्राऽसितापाङ्गी वैदर्भी वल्गुभाषिणी।**
**अस्मर त्स्वसुतं नष्टं स्नेहस्नुतपयोधरा॥ ३० ॥**

---

1 K, W रत्न 2 B, G, J, स्वत० 3 B °दि० 4 B, G, J, MI, V सुवि०

**श्रीध० अन्तःपुरेति।** विद्युता सह वलाहको मेघ इव॥ २६, २७ ॥

**अलङ्कृतेति।** नीलाश्च वक्राश्च येऽलका स्त एव अलयः तैः,ह्रीताः लज्जिताः॥ २८ ॥

**अवधार्येति।** श्रीकृष्णो न भवती त्यवधार्य स्त्रीषु रत्नं श्रेष्ठा रतिः तत्सहितम्॥ २९, ३० ॥

**वीर०** तत्र हे राजन्। ललनाः स्त्रिय एव रत्नानि तैःसङ्कुलम् अन्तःपुरश्रेष्ठं पत्न्या सह प्रविवेश, यथा विद्युता सह वलाहको नीलमेघ स्तद्वत्॥ २६ ॥

**तमिति।** प्रविष्टं प्रद्युम्नं दृष्ट्वा स्त्रियः कृष्णमेव मत्वा लज्जिता स्तत्र तत्र निलिल्युः। कृष्णं मत्वेत्यत्र हेतुं वदन् कृष्णसाधारणै धर्मैर्विशिनष्टि जलदश्याम मित्यादि। प्रलम्बौ दीर्घौ बाहू यस्य तं, नीला वक्राश्च येऽलंकाः, त एवालयः तै रलङ्कृतं मुखम्भोजं यस्य तम्॥ २७, २८ ॥

तत स्ता योषितः शनै रीषद्वैलक्षण्येन श्रीवत्साद्यभावरूपेणेति भावः। अवधार्य कृष्णो न भवत्ययमिति निश्चित्य स्त्रीरत्नेन सहितं प्रद्युम्न मुपजग्मुः समीप माजग्मुः॥ २९ ॥

**अथ तत्रेति।** वल्गु सुन्दरं यथा तथा भाषते इति तथा सा वैदर्भी रुक्मिणी नष्टं सुत मस्मरत्। स्नेहेन स्नुतौ तरलौ पयोधरौ यस्याः। इत्थं, प्राहेति शेषः॥ ३० ॥

---

1 T, W °न्नु० 2- -2 T, W omit

**कोन्वयं नरवैदूर्यः कस्य वा कमलेक्षणः।**
**धृतः कया वा जठरे केयं लब्धा त्वनेन वा॥ ३१ ॥**

**ममाऽसा वात्मजो नष्टो नीतो य स्सूतिकागृहात्।**
**एतत्तुल्यवयोरूपो यदि जीवति कुत्रचित्॥ ३२ ॥**

**कथन्त्वनेन सम्प्राप्तं सारूप्यं शार्ङ्गधन्वनः।**
**आकृत्याऽवयवै र्गत्या स्वरहासावलोकनैः॥ ३३ ॥**

**स एव वा भवे न्नूनं यो मे गर्भगतोऽर्भकः।**
**अमुष्मि न्प्रीति रधिका वामः स्फुरति मे भुजः॥ ३४ ॥**

**एवं मीमांसमानायां वैदर्भ्यां देवकीसुतः।**
**देवक्यानकदुन्दुभ्या मुत्तमश्लोक आगमत्॥ ३५ ॥**

1 MI, V °डू० 2 B, G, J केयं MI V कया 3 MI, V °ऽय केन 4- -4 B, G, J, MI, V मम चाऽप्यात्मजो 5 MI, V °ऽयं सू० 6 K, W °काऽऽत्मयात्
7- -7 K, W स एव भगवा न्नून; MI, V स एवाऽसौ भवे न्नूनं 8 B, G, J गर्भे धृ०; MI, V गर्भ धृ० 9 B °याः 10 B °र्भ्याः

**श्रीध०** सुतं स्मरन्त्याह - **को न्वयमिति**। नरवैदूर्यः[1] पुरुषश्रेष्ठः[2]॥ ३१ ॥

**ममेति**। एतेन तुल्यं वयो रूपञ्च यस्य स भवे दिति॥ ३२ ॥

तस्य स्वपुत्रत्वं सम्भावय न्याह - **कथन्त्विति**॥ ३३ ॥

तदेवाऽधिकं सम्भावयति, **स एवेति**॥ ३४ ॥

**एवमिति**। देवक्यानकदुन्दुभ्यां देवक्यानकदुन्दुभिभ्या मित्यर्थः॥ ३५ ॥

---

1 MI, V °डू० 2 MI, V नर

**वीर०** उक्तिमेवाह - **कोन्विति पञ्चभिः**। अयं नर एव वैदूर्यः पुरुषरत्न मित्यर्थः। को नु को वा कस्य वा सम्बन्धी पुत्र इति यावत्। कया स्त्रिया जठरे धृतः कस्याः पुत्र इत्यर्थः। अनेनेयं स्त्री क लभ्या॥ ३१॥

योऽसौ ममाऽऽत्मजः[1] सूतिकागृहा न्नीतो नष्टोऽदृष्टश्च स एवाऽयं किं वेत्यर्थः। एतेन तुल्यं वयो रूपञ्च यस्य सोऽस्मत्पुत्रः क्वचि च्चदि जीवति किं[2] वा जीवति[2]॥ ३२॥

तस्य स्वपुत्रत्वं सम्भाव्य न्याह - **कथमिति**॥ ३३॥

निश्चिनोति। **स एवेति**। यो भगवान् कृष्णांशमूतो मम गर्भगतस्स एवाऽयं, नूनं ध्रुवम्। स एवाऽयं, भवेदिति पाठान्तरम्। तत्र हेतुः- अमुष्मिन् अस्मिन् मम प्रीति रधिका भवति, मम वामो भुजश्च स्फुरति सञ्चलति, अन्यथैत न्न घटेतेति भावः॥ ३४॥

इत्थं वैदर्भ्यां मीमांसमानायां तर्कयन्त्यां सत्या मुत्तमश्लोको भगवा न्देवकीवसुदेवाभ्यां सह तत्राऽऽजगाम॥ ३५॥

1 B °नः 2 -- 2 B omits

विज्ञातार्थोऽपि भगवां स्तूष्णीमास जनार्दनः।
नारदोऽकथय त्सर्वं शम्बराहरणादिकम्॥ ३६ ॥

तच्छ्रुत्वा महदाश्चर्यं कृष्णान्तःपुरयोषितः।
अभ्यनन्द न्बहू नब्दा न्नष्टं पुनरिवाऽऽगतम्॥ ३७ ॥

देवकी वसुदेवश्च कृष्णरामौ तथा स्त्रियः।
दम्पती तौ परिष्वज्य रुक्मिणी च ययु र्मुदम्॥ ३८ ॥

नष्टं प्रद्युम्न मायात मार्कण्ड्य द्वारकौकसः।
अहो मृत इवाऽऽयातो बालो दिष्ट्येति चाऽब्रुवन्॥ ३९ ॥

यं वै मुहुः पितृसरूपनिजेशभावा स्तन्मातरो य दभज न्नह ऊढभावाः।
चित्रं न तत्खलु रमास्पदबिम्बबिम्बे कामे स्मरेऽक्षिविषये किमुताऽन्यनार्यः॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
प्रद्युम्नोत्पत्तिनिरूपणं नाम पञ्चपञ्चाशोऽध्यायः॥ ५५ ॥

---

1 B, G, J मृतमिवा०, MI, V पुनरिहा० 2 MI, V °त्त० 3 K, W °हाऽऽ० 4 B, G, J °हाऽ० 5 B, G, J रूढ

**श्रीध०** अतिसौन्दर्येण प्रद्युम्नं वर्णयति **यमिति**। पिता श्रीकृष्ण स्तत्सरूपे सदृशे प्रद्युम्ने निज आत्मीय ईशो भर्तेति भावो भावना यासां ताःतन्मातरः कृष्णपत्न्योऽपि रहसि ऊढभावास्तत्यः य मभज न्निति यत् त न्न खलु चित्रम्। कथं सति स्मरे स्मर्यमाणत्वेनैव क्षोभके कामेऽक्षिविषये सति। किञ्च रमास्पदं श्रीकृष्ण स्तस्य बिम्बं श्रीमूर्तिः तस्य बिम्बे प्रतिबिम्बे पुत्रे। तदा किन्नु वक्तव्य मन्यनार्यो भेजुः इति॥ ३६- ४०॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
पञ्चपञ्चाशोऽध्यायः॥ ५५ ॥

---

1 MI, V add अनु 2 MI, V omit सदृशे 3 B, J निरूढ 4 MI, V तस्मिन् 5 MI, V बिम्बः 6 MI, V किमु 7 MI, V भजेयुः

**वीर०** विज्ञातोऽध्यवसितः अर्थः इतरसंशयविषयीभूतोऽर्थो येन तथाभूतोऽपि तूष्णीमास। तदा नारदः शम्बराहरणादिकं सर्वमकथयत्॥ ३६ ॥

त नारदकथितं महदाश्चर्यं श्रुत्वा कृष्णान्तःपुरस्त्रियो देवक्यादयश्च मृतं प्रेतं[1] पुत्रं[2] पुनरागतमिव बहू नब्दान् वत्सरान् नष्टमदृष्टं[3] सम्प्रति दृष्टं[3], दृष्टेति शेषः, अभ्यनन्दन्॥ ३७ ॥

तौ दम्पती देवकीवसुदेवौ रुक्मिणी च परिष्वज्य, प्रद्युम्नमिति शेषः। नष्टं प्रद्युम्न मायात मित्यस्य अपकर्षो वा। मुदं ययुः॥ ३८ ॥

**नष्टमिति**। द्वारकौकसो द्वारकावस्थायिनो जना इत्थ मब्रुवन्। किमिति? अहो मृतो बालः पुन रिहाऽऽयातः दिष्ट्या! अय मानन्द इति॥ ३९ ॥

सौन्दर्यातिशयेन प्रद्युम्नं वर्णयति- **यमिति**। पिता श्रीकृष्णः तत्सरूपतया निज आत्मीय ईशः भर्तेति भावो भावना यासां ताः, पितृसारूप्या निजभर्तृबुद्धिसहिता इत्यर्थः। तन्मातरः श्रीकृष्णपत्न्यो रहसि निरूढभावा स्सत्यः। य मभज न्निति यत्, त न्न खलु चित्रम्।"तन्मातरो मनसिजार्द्रदृशो बभूवुः" इति पाठे ताः कृष्णपत्न्यः यं प्रद्युम्नं, दृष्ट्वेति शेषः। कामवशात् स्निग्धदृष्टयोऽभव न्निति यत् नैतच्चित्र मिति सम्बन्धः। स्मरे स्मर्यमाणत्वेनैव क्षोभके कामेऽक्षिविषये सति। किञ्च, रमाया आस्पदं श्रीकृष्णः, तस्य बिम्बं मूर्तिः तस्य बिम्बे प्रतिबिम्बे भगवद्विग्रहसदृशे पुत्रे सतीत्यर्थः। तत् किमु वक्तव्यं य दन्या नार्यो भजेयुरिति॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
व्याख्यायां पञ्चपञ्चाशोऽध्यायः॥ ५५ ॥

---

1 K, T, W omit प्रेतं 2 B omits पुत्रं 3- -3 K, T, W omit

# षट्पञ्चाशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या षष्टितमोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

सत्राजितः स्वतनयां[1-] कृष्णाय कृतकिल्बिषः[-1]।
स्यमन्तकेन मणिना स्वय मुद्यम्य दत्तवान्॥ १ ॥

राजोवाच

सत्राजितः किमकरोद्ब्रह्मन् कृष्णस्य किल्बिषम्।
स्यमन्तकः कुत स्तस्य कस्मा द्दत्ता सुता हरेः॥ २ ॥

श्रीशुक उवाच

आसी त्सत्राजित स्सूर्यं[2-] भक्तस्य[-2] परम स्सखा[3]।
प्रीत स्तस्मै मणिं प्रादा त्सूर्य स्तुष्टः स्यमन्तकम्॥ ३ ।

स तं बिभ्र न्मणिं कण्ठे भ्राजमानो यथा रविः।
प्रविष्टो द्वारकां राजन् तेजसा नोपलक्षितः॥ ४ ॥

तं विलोक्य जना दूरा त्तेजसा मुष्टदृष्टयः।
दीव्यतेऽक्षै र्भगवते शशंसु स्सूर्यशङ्किताः॥ ५ ॥

---

1- -1 M Ma °जि त्तनयां तन्वीं 2- -2 K. W र्य भक्तश्च 3 K, W °दा

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

षट्पञ्चाशत्तमे मिथ्याऽभियोगे मणि माहरत्। कन्यां जाम्बवतः प्राप कृष्णः सत्राजित स्ततः॥
पुत्रादिकामसौख्यस्य निष्ठा मुक्त्वाऽतिचञ्चलाम्। अर्भस्याऽनर्थता माह स्यमन्तहरणादिना[1]॥

सत्यभामाजाम्बवत्यो र्विवाहप्रस्तावाय स्यमन्तकाख्यान माह - **सत्राजित** इति। सत्राजित इत्यकारान्तः, क्वचिच्च तकारान्तोऽप्यन्वयानुसारेण द्रष्टव्यः। कृतापराध स्तच्छान्तये स्वय मेवोत्थमं कृत्वा मणिना सह प्रादादिति॥ १, २ ॥

**आसीदिति**। भक्तस्य सत्राजितः सूर्यः स्वाम्यपि सखेवाऽऽसी दित्यर्थः। स च तुष्टः तस्मै स्यमन्तकं नाम मणिं प्रादात्, प्रीतः स्निग्धः॥ ३ ॥

**स इति**। नोपलक्षितः सत्राजितोऽसा विति अविज्ञातः[2]॥ ४ ॥

**तमिति**। दीव्यते क्रीडते सूर्योऽय मिति शङ्किता स्सन्तः कथयामासुरिति॥ ५ ॥

---

1 MI, V °न्ता० 2 MI, V न ज्ञातः

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ सत्यभामाजाम्बवत्यो र्विवाहं वर्णयितुकाम स्तद्विस्तरपिपृच्छिषा मुत्पादयितु माह- **सत्राजित** इति। सत्राजित इत्यकारान्तः, क्वचित्तकारान्तोऽपि अन्वयानुसारेण द्रष्टव्यः। तत्राकारान्तः कर्तरि क्तान्तः सत्रेणाऽऽसमन्ता ज्जितः जितवान् सर्वोत्कर्षेण वर्तितवा निति तथा। स च ताव त्कृतं किल्बिष मपराधो येन तथाभूतः स्यमन्तकाख्येन मणिना सह स्वतनयां सत्यभामां कृष्णायोद्वम्योद्वृत्य ददौ॥ १ ॥

तत्र लब्धप्रश्नावसरः पृच्छति राजा- **सत्राजित** इति। हे ब्रह्मन्, ताव त्सत्राजि त्किं किल्बिष मपराध मकरोत्, तस्य सत्राजितस्य स्यमन्तकः कुतः कस्मा लुब्धः। कस्माद्धेतोः सुता च हरे र्हरये दत्ता॥ २ ॥

इति पृष्टः सविस्तर मनुवर्णयितुं ताव दुपोद्घात माह **आसीदिति**। सत्राजिताख्यः कश्चिद्राजा सदा परमः सूर्यभक्तः आसीत्। सूर्य स्तुष्टः, भक्त्येति शेषः। तस्मै सत्राजिताय स्यमन्तकाख्यं मणिं ददौ॥ ३ ॥

स सत्राजित स्तं मणिं कण्ठे बिभ्राणः रविरिव भ्राजमानः हे राजन्, मणितेजसा अनुपलक्षितशरीरो द्वारकां प्रविष्टः॥ ४ ॥

तं प्रविष्ट मवलोक्य जनाः दूरादेव तस्य तेजसा मुष्टा अपहृता अभिभूता दृष्टयो येषां ते सूर्योऽयमिति शङ्किता स्सन्तः अक्षै र्दीव्यते क्रीडां कुर्वाणाय भगवते श्रीकृष्णाय शशंसुः कथयामासुः॥ ५ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

त्रिविक्रमावतारस्य निरपेक्षभक्तानुकम्पिनो यदुनन्दनस्य एतज्जन्मानुष्ठितकर्मनिमित्त दुर्यशश्शमनहेतु विक्रम मनुक्रामति-अस्मिन्नध्याये। तत्र परीक्षितः प्रश्नबीज मुत्थापयति - **सत्राजिदिति**। सत्रेण हिरण्यादिदानलक्षणतपसा सूर्यस्थितं

हरिं जितवा न्वशीकृतवा नित्यतः सत्राजिदिति नाम लब्धवान्। "यज्ञभेदे सदादाने सत्र माच्छादने वने" (अम०.को 3-336) इति। कृतकिल्बिषः कृतापराधः मणिना सह स्वयमुवाम्य याचनादिपरप्रेरणामन्तरेण मत्कन्यां तुभ्यं दास्यामीति वचनादि प्रयत्नं विधाय। सत्राजितोऽन्तरात्मा सत्रविषये अजित इति वा॥ १, २ ॥

भक्तस्य सत्राजितः सखा॥ ३ ॥

तेजसाऽर्चिषा नोपलक्षितो न दृष्टः॥ ४ ॥

अक्षै र्देवनार्है र्दीव्यते द्यूतक्रीडां कुर्वते॥ ५ ॥

नारायण नमस्तेऽस्तु शङ्खचक्रगदाधर।
दामोदरारविन्दाक्ष, गोविन्द यदुनन्दन॥ ६ ॥

एष आयाति सविता त्वां दिदृक्षु र्जगत्पते।
मुष्ण न्गभस्तिचक्रेण नृणां[1] चक्षूंषि तिग्मगुः[2]॥ ७ ॥

[3-]नन्वन्विच्छन्ति[-3] ते मार्गं त्रिलोक्यां विबुधर्षभाः।
ज्ञात्वाऽद्य गूढं यदुषु व्रष्टुं त्वाऽऽया[4] त्यजः प्रभो॥ ८ ॥

श्रीशुकः (श्रीकृष्णः)

निशम्य बालवचनं प्रहस्याऽम्बुजलोचनः।
प्राह नाऽसौ रवि र्देवः सत्राजि न्मणिना ज्वलन्॥ ९ ॥

[5-]श्रीशुक उवाच[-5]

सत्राजि त्स्वगृहं श्रीम[6] त्कृतकौतुकमङ्गलम्।
प्रविश्य देवसदने मणिं विप्रै र्न्यवेशयत्॥ १० ॥

---

1 Ml, V नृ० 2 M, Ma °रूक् 3- -3 K, W अन्विच्छन्ति हि 4 G, J, M, Ma त्वां या० 5- -5 G, J, M, Ma, Ml, V omit 6 K, W °मान् कृ०

श्रीध० नारायणेति। सूर्यं नमस्कारार्थं मागतं कल्पयि त्वोद्रिक्तभक्तीनां सम्बोधनानि नारायणेत्यादीनि॥ ६॥

एष इति। गभस्तिचक्रेण रश्मिजालेन मुष्णन् प्रतिघ्नन् तिग्माः तीक्ष्णाः गावो रश्मयो यस्य सः॥ ७ ॥

न चेद मघटमान मित्याहुः- **नन्विति** अन्विच्छन्ति मृगयन्ते, अजः सूर्यः॥ ८ ॥

**निशम्येति**। बालाना मज्ञानां वचनं, ज्वलन् विद्योतमानः॥ ९ ॥

**सत्राजिदिति**। कृतानि कौतुकेन उत्सवेन मङ्गलानि यस्मिं स्तत्। विप्रैः कृत्वा॥ १० ॥

**वीर०** नमस्कर्तु मागतं सूर्यं सम्भाव्य भक्त्युद्रेकेण भगवन्तं सम्बोधयन्ति नारायणेति॥ ६ ॥

**एष** इति। एष इत्यागच्छतो रूपप्रदर्शनपरं, सविता[1] सूर्य स्त्वां द्रष्टुमिच्छुः। हे जगत्पते, आयाति। कथम्भूतः? तिग्माः[2] तीक्ष्णाः गावो रश्मयो यस्य सः गभस्तिचक्रेण रश्मिजालेन नृणां चक्षूंषि मुष्णन् प्रतिघ्नन्॥ ७ ॥

न चेत दघटमान मित्याहुः- **अन्विच्छन्तिहीति**। विबुधर्षभा देवश्रेष्ठा स्त्रिलोक्यां तव मार्ग मन्विच्छन्ति अन्वेषयन्ति, त्वं यद्गुणगुणकर्मकः तथाभूतं त्वां द्रष्टु मिच्छन्तीत्यर्थः। अतोऽधुना यदुषु गूढं गृहीतयदुवेषं त्वां ज्ञात्वा हे प्रभो, अजः सूर्यःआयाति॥ ८ ॥

**निशम्येति**। बालाना मागच्छतो याथात्म्यानभिज्ञानां वचन माकर्ण्य प्रहस्याऽऽह[3] - नासाविति। असावागच्छन्न देवो रवि स्सूर्यः, किन्तु सत्राजित्। कुत स्तस्येदृशं तेज इत्यतो विशिनष्टि मणिना स्यमन्तकेन ज्वलन् विद्योतमान आयाति॥ ९ ॥

कीदृश स्तस्य मणेः प्रभाव इति जिज्ञासुं राजानं प्रत्याह मुनिः- **सत्राजिदिति**। अस्य 'सूर्याल्लब्धमणिः' इत्यादिः। श्रीमान् भाग्यवान् सत्राजित् कृतानि कौतुकेनोत्सवेन मङ्गलानि यस्मिं स्तत् स्वगृहं प्रविश्य[4] देवसदने[4] विप्रैः प्रयोज्यकर्तृभिः मणिं न्यवेशयत्॥ १० ॥

---

1 K, T, W omit सविता 2 B तीव्राः 3 B adds उक्तिमाह 4- -4 B देवतागृहे

**विज०** गभस्तिचक्रेण रश्मिमण्डलेन तिग्मरुक् सूर्यः॥ ६, ७ ॥

विबुधर्षभाः देवश्रेष्ठाः त्रिलोक्यां ते मार्ग मन्विच्छन्ति मृगयन्ते। ननु ते ध्वज स्सूर्यः अद्य यदुषु गुह्यं ज्ञात्वा द्रष्टुं या त्यायाति ."अजाय लेकत्रयभावनाय" इति वचनात्॥ ८,९ ॥

गृहे देवसदने देवस्थाने न्यवेशयत् प्रतिष्ठितवान्। १० ॥

**दिने दिने स्वर्णभारा[1] नष्टौ स सृजति प्रभो।**
**दुर्भिक्षमार्यरिष्टानि सर्वाधिव्याधयोऽशुभाः॥**
**न सन्ति मायिन स्तत्र यत्राऽऽस्तेऽभ्यर्चितो मणिः॥ ११ ॥**

स याचितो मणिं क्वाऽपि यदुराजाय शौरिणा।
नैवार्थकामुकः प्रादा याच्ञाभङ्गं मतर्कयन्॥ १२ ॥

-: जाम्बवतः स्यमन्तकप्राप्तिः, मण्यर्थे नागरैस्सह भगवतो वनगमनञ्च :-

त मेकदा मणिं कण्ठे प्रतिमुच्य महाप्रभम्।
प्रसेनो हय मारुह्य मृगयां व्यचर द्वने॥ १३ ॥

प्रसेनं सहयं हत्वा मणि माच्छिद्य केसरी।
गिरिं विशन् जाम्बवता निहतो मणि मिच्छता॥ १४ ॥

सोऽपि चक्रे कुमारस्य मणिं क्रीडनकं बिले।
अपश्य न्भ्रातरं भ्राता सत्राजि त्पर्यतप्यत॥ १५ ॥

1 B, G, J सर्पाऽधि०; M Ma सर्पेऽपि 2- -2 M, Ma यद्राष्ट्रे 3 M, Ma मणिः 4 M, Ma °त् 5 M, Ma विलं

**श्रीध०** दिने दिन इति। भारप्रमाणञ्च- "चतुर्भि र्व्रीहिभि र्गुञ्जं गुञ्जान्पञ्च पणं पणान्। अष्टौ धरण मष्टौ च कर्षं तांश्चतुरः पलम्। तुलां पलशतं प्राहु र्भारः स्या द्विंशति स्तुलाः" इति। मारीनामाऽकालमृत्युः। अरिष्ट मभद्रम्। अशुभा दुःखहेतवः॥ ११॥

स इति। क्वाऽपि कदाचि दनेन भगव त्यसमर्प्य स्वय मग्रभोजिनः सर्वानिष्टनिवर्तकम प्यनिष्टहेतुरेव भवतीति सूचितम्॥ १२॥

तदेव दर्शयितु माह तमेकदेति। प्रतिमुच्य बद्ध्वा प्रसेनः सत्राजिद्भ्राता॥ १३ ॥

प्रसेनमिति। आच्छिद्य आकृष्य गृहीत्वा॥ १४, १५ ॥

**वीर०** स च मणिर्हि प्रभो राजन्, प्रतिदिन मष्टौ स्वर्णभारान् सृजति असूत, भारः प्रमाणविशेषः। तथा हि-"चतुर्भि र्व्रीहिभि र्गुञ्जं गुञ्जान् पञ्च पणं पणान्। अष्टौ धरण मष्टौ तान् कर्षं तांश्चतुरः पलम्। तुलां पलशतं प्राहुः भारः स्याद्विंशति स्तुलाः।" इति॥ किञ्च, दुर्भिक्षेति। मारी नाम अकालमृत्युः। अरिष्ट मभद्रम्। अशुभाः दुःखहेतवः, आधिः मनःपीडा, व्याधयो रोगाः। मायिनो वञ्चका श्चोरा इति यावत्। यस्मि न्राज्ये स मणि रर्चितः स्या त्तत्र कदाचिदपि दुर्भिक्षादयो न सन्ति स्म॥ ११ ॥

क्वाऽपि कदाचित् यदुराजाय उग्रसेनार्थं शौरिणा मणिं प्रति याचितोऽपि स सत्राजित् अर्थकामुकः, हेतुगर्भ मिदम्। तत्त्वात्, याच्ञाभङ्गं याच्ञावैयर्थ्यं अविचारयन् नैव ददौ॥ १२ ॥

एवं स्थिते, महती प्रभा दीप्ति र्यस्य तं मणि मेकदा प्रसेनः सत्राजिद्भ्राता कण्ठे प्रतिमुच्य बद्ध्वा अश्व मारुह्य वने मृगयां व्यचरत्॥ १३ ॥

तदा कश्चि त्केसरी सिंहः साश्वं प्रसेनं हत्वा मणि माच्छिद्याऽऽकृष्य गृहीत्वा गिरिं प्रविशन् आत्मानं दृष्टवता मणि मिच्छता जाम्बवता ऋक्षराजेन हतः॥ १४ ॥

सोऽपि जाम्बवानपि बिले स्वनिवासभूते गिरिबिले तं मणिं स्वकुमारस्य क्रीडनकं क्रीडासाधनं चक्रे। भ्राता सत्राजित् भ्रातरं प्रसेनं मणिञ्चाऽपश्यन् पर्यतप्यत परितप्याऽऽहेत्यर्थः॥ १५ ॥

---

1 B omits अशुभाः 2 B omits स्म 3 K, T, W omit प्रति 4- -4 K omits 5 B, T, W add एव

विज० पञ्चविंशतितुलात्मको भारः, ता नष्टौ भारान् सृजति ददाति। मारी अकालमृत्युः। अरिष्टं मृत्युचिह्नम्॥ ११॥

क्वाऽपि कदाचित्। अतर्कयत् अनिरूपयत्॥ १२॥

प्रतिमुच्य बद्ध्वा॥ १३ ॥

आच्छिद्य स्वीकृत्य॥ १४ ॥

क्रीडनकं लीलासाधनम्॥ १५ ॥

**प्रायः कृष्णेन निहतो मणिग्रीवो वनं गतः।**
**भ्राता ममेति तच्छ्रुत्वा कर्णे कर्णेऽजपन्[1]जनाः॥ १६ ॥**

**भगवां स्तदुपश्रुत्य दुर्यशो लिप्त मात्मनि।**
**मार्ष्टुं प्रसेनपदवी मन्वपद्यत नागरैः॥ १७ ॥**

**हतं प्रसेन[2-] मश्वञ्च[-2] वीक्ष्य केसरिणा वने।**
**तञ्चाऽद्रिपृष्ठे निहत मृक्षेण ददृशु र्जनाः॥ १८ ॥**

**- भगवतः स्यमन्तकार्थे जाम्बवता सह युद्धम्-**
**ऋक्षराजबिलं भीम मन्धेन तमसाऽऽवृतम्।**
**एको विवेश भगवा नवस्थाप्य बहिः प्रजाः॥ १९ ॥**

**तत्र दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं बालक्रीडनकं कृतम्।**
**हर्तुं कृतमति स्तस्मि न्नवतस्थेऽर्भकान्तिके॥ २० ॥**

---

1 K, W °पजनः 2- -2 MI, V °नं साश्वच्च

**श्रीध० प्रायः**इति। अजपन् उपांशु अवोचन्॥ १६-२० ॥

**वीर०** उक्तिमेवाऽऽह - **प्राय** इति। मणिः ग्रीवायां यस्य सः मम भ्राता वनं प्रति गतः, तत्र प्रायो बहुधा, ध्रुवमिति यावत्, श्रीकृष्णेनैव हतः। इत्येत द्वचो जनः श्रुत्वा कर्णे कर्णे अजपत् उपांश्ववोचत्॥ १६ ॥

क्रमेण भगवानपि तद्वच आकर्ण्य आत्मनि स्वस्मिन् दुर्यशोलिप्तं, भावेक्तः, दुर्यशोलेपं प्रमार्ष्टुं अपोहितुं नागरै र्जनैस्सह प्रसेनपदवी मन्वपद्यत अन्वगच्छत्॥ १७ ॥

**हतमिति**। तं[1] केसरिणश्चाऽद्रिपृष्ठे ऋक्षेण जाम्बवता निहतं ददृशुः॥ १८॥

**ऋक्षराजबिलमिति**। तत स्तत्र बिलद्वारे प्रजाः नागरा अनान् अवस्थाप्य भगवा नेकोऽसहाय एव तद्बिलं प्रविवेश॥ १९॥

**तत्रेति**। तत्र बिले क्रीडनकं क्रीडासाधनं यथा तथा कृतं मणिश्रेष्ठं दृष्ट्वा हर्तुं कृता निश्चिता मति र्येन सः, तस्मिन् अर्भकसमीपे अवतस्थे॥ २० ॥

---

1 B omits तं

**विज०** शौरे र्याच्चाभङ्गदोषा दिद मनर्थजात मभूत्, अन्यथा मणिमाहात्म्यस्तवनं व्यर्थ मिति तात्पर्यमवगन्तव्यम्। मणिः ग्रीवायां यस्य स तथा। मम भ्राता कृष्णेन निहत इति यत् तच्छ्रुत्वा॥ १६-१७ ॥

ऋक्षेण जाम्बवता॥ १८-२० ॥

**तमपूर्वं नरं दृष्ट्वा धात्री चुक्रोश भीतवत्।**
**तच्छ्रुत्वाऽभ्यद्रव त्क्रुद्धो जाम्बवा न्बलिनां वरः॥ २१ ॥**

**स वै भगवता तेन युयुधे स्वाभिनाऽऽत्मनः।**
**पुरुषं प्राकृतं मत्वा कुपितो नाऽनुभाववित्॥ २२ ॥**

**द्वन्द्वयुद्धं सुतुमल मुभयो र्विजिगीषतोः।**
**आयुधाश्मद्रुमै र्दोर्भिः क्रव्यार्थे श्येनयोरिव॥ २३ ॥**

**आसी त्तदष्टाविंशाह मितरेतरमुष्टिभिः।**
**वज्रनिष्पेषपरुषै रविश्राम महर्निशाम्॥ २४ ॥**

**[1]कृष्णस्य मुष्टिनिष्पातैः[-1] निष्पिष्टाङ्गोरुबन्धनः।**
**क्षीणसत्त्वः स्विन्नगात्र स्त माहाऽतीव विस्मितः॥ २५ ॥**

---

1- -1 B, G, J, M, Ma कृष्णमुष्टिविनिष्पात; K, W श्रीकृष्णमुष्टिनिर्घात

**श्रीध० द्वन्द्वेति।** क्रव्यार्थे आमिषार्थे॥ २१-२३ ॥

**आसीदिति।** अष्टाविंशाहम्, अष्ट च विंशतिश्च अहानि [1]दिनानि यस्मिंस्तत् अष्टाविंशाहम्[2]। विंशतिशब्दे तिलोप आर्षः। वज्रस्य निष्पेषो निर्घातः तद्व त्परुषै र्निष्ठुरैः॥ २४ ॥

**कृष्णस्येति।** श्रीकृष्णस्य मुष्टीनां [3]विनिष्पातैः आघातैः [4]निष्पिष्टानि [5]श्लथानि अङ्गाना मुरूणि बन्धनानि सन्धिस्थानानि यस्य सः॥ २५ ॥

1 Ml, V omit दिनानि 2 Ml, V °शत्यहम् 3 Ml, V omit वि 4 Ml, V add वि० 5 Ml, V add वि०

**वीर० तमिति।** त मुपस्थित मदृष्टपूर्वं नरं दृष्ट्वा भीतव द्धात्री उपमाता चुक्रोश। तच्छ्रुत्वेति तदाक्रोशनम्, अभ्यद्रवत् अभ्यधावत्॥ २१ ॥

स वै जाम्बवान् नाऽनुभावित् भगवत्प्रभाव मजानन् अत एव तं केवलं प्राकृतं लौकिकं पुरुषमेव मत्वा आत्मनः स्वस्य स्वामिनाऽपि तेन भगवता सह युयुधे अयुध्यत॥ २२ ॥

**द्वन्द्वयुद्धमिति।** विजिगीषतो र्जेतुमिच्छतो र्दोर्भि र्भुजैः यथा क्रव्यार्थे आमिषार्थे श्येनयो र्युद्धं भवति तद्वत्॥ २३ ॥

**आसीदिति।** इतरेतरयो रन्योन्ययो र्मुष्टिभि र्वज्रनिष्पेषो वज्रनिर्घात स्तद्वत् निष्ठुरै स्तद् द्वन्द्वयुद्धम्, न विद्यते विश्रमो यस्मिन् तद्यथा तथा अहर्निशा मष्टाविंशतिदिना न्यासीत्॥ २४ ॥

**श्रीकृष्णेति।** श्रीकृष्णस्य मुष्टीनां निर्घातै र्निष्पातै र्निष्पिष्टानि विश्लथा न्यङ्गानि उरूणि बन्धनानि सन्धिस्थानानि यस्य सः अत एव **क्षीणबलः** अत एव **स्विन्नं** प्रस्वेदयुक्तं गात्रं यस्य सः। कदाऽपि मद्बलविनाशो न दृष्टः। अहो! अधुना मृतप्रायोऽभव मित्येव मतीव विस्मितः॥ २५ ॥

**विज० अविश्रमम्** निरन्तरम्॥ २१- २५ ॥

: जाम्बवत्कृतकृष्णस्तुतिः; मणिना सह जाम्बवतीप्राप्तिश्च :

जाने त्वां सर्वभूतानां प्राण[1] मोज स्सहो बलम्।
विष्णुं पुराणपुरुषं प्रभविष्णु मधीश्वरम्॥ २६ ॥

त्वं हि विश्वसृजां स्रष्टा सृज्याना[2]मपि यच्च सत्
कालः कलयता मीशः परमात्मा[3] तथाऽऽत्मनाम्॥ २७ ॥

य स्येषदुत्कलितरोषकटाक्षमोक्षै
र्वर्त्माऽदिश न्क्षुभितनक्रतिमिङ्गिलोऽब्धिः।
सेतुः कृत स्स्वयशसोज्ज्वलिता[4] च लङ्का
रक्षश्शिरांसि भुवि पेतु रिषुक्षतानि॥ २८ ॥

इति विज्ञातविज्ञान मृक्षराजानमच्युतः।
व्याजहार महाराज! भगवा न्देवकीसुतः॥ २९ ॥

अभिमृश्याऽरविन्दाक्षः पाणिना शङ्खरेण[5] तम्।
कृपया[6] परया[7] भक्तं मेघगम्भीरया गिरा॥ ३० ॥

1 B, G, J, M, Ma, MI, V °ण ओ० 2- -2 M, Ma सृष्टाना मधिपो वसन् 3 B, G, J, M, Ma, MI, V पर आत्मा 4 B, G, J, M, Ma, MI, V यश उज्ज्वलिता 5 MI V तु 6- -6 MI, V तमाह कृपया 7 B, G, J प्रेम

**श्रीध०** लोके को वाऽयं मत्तो बलीया निति विस्मितस्सन् विमृश्याऽऽह - **जाने** इति। सर्वभूतानां यः प्राणः तत्र च यदोजः सहो बलञ्च इन्द्रियहृदयदेहबलानि तत्सर्वं त्व मित्यहं जाने। कथं तथा त्वमतआह- **विष्णु** मित्यादि॥ २६॥

**त्वमिति**। पुराणत्वे हेतुः **त्वं हीति**। स्रष्टा निमित्तम्। यच्च सत् उपादानम्। अतः पुराणम्[1]। प्रभविष्णुत्वे हेतुः काल इति। अधीश्वर[2] स्त्वम प्यत एवेत्याह - ईशः पर **इति**। न च तटस्थ इत्याह आत्मना मात्मेति॥ २७ ॥

यत एवम्भूतोऽतो ममेष्टदैवं[3] रघुनाथ एव त्व मित्याह **यस्येति**। ईषदुत्कलित उद्दीपितो यो रोष स्तेन ये कटाक्षमोक्षा स्तैः क्षुभिता नक्रा ग्राहा स्तिमिङ्गिला महामत्स्याश्च यस्मिन् सोऽब्धि र्वर्त्म मार्ग[4] मादिशत् दत्तवान्। तथाऽपि[5] तस्मिन्[6] येन त्वया स्व यश एव सेतुः कृतः, उज्ज्वलिता दग्धा च, यस्येषुभिः क्षतानि छिन्नानि रक्षसां दशग्रीवस्य शिरांसि भुवि पेतुः स एव त्वमिति जाने॥ २८ ॥

**इतीति।** इति विज्ञातं विज्ञानं येन तम्। विज्ञानशब्दः करणसाधनः कर्मसाधनो वा, ऋक्षराजं[7] प्रत्युक्तवान्[8][9] ॥ २९, ३० ॥

---

1 MI, V °णः 2 MI, V °त्त्वमपि 3 MI, V °वं 4 MI, V omit मार्गं 5 MI, V omit तथाऽपि 6- -6 MI, V °चेव 7 MI, V राजानं 8 MI, V omit प्रति 9 MI, V adds विज्ञायतेऽनेनेति विज्ञानम्

**वीर०** ततो विमृशन् तं कृष्ण माह - उक्ति मेवाऽऽह **जाने** इति त्रिभिः। त्वां जाने, कथम्भूतम्? ओजः प्रवृत्तिसामर्थ्यम्, सहो वेगः, बलं धारणसामर्थ्यं, प्राणादीनां निर्वाहकमित्यर्थः। पुराणपुरुषं जगत्कारणपुरुषं प्रभविष्णुं जगद्रूपेण प्रभवनशीलं, समर्थीभवनशीलं वा कारणत्वोपयुक्तसार्वज्ञ्यसार्वशक्त्यादियुक्त मित्यर्थः। अधीश्वरं सर्वान्तरात्मानम्। तत्र देवताविशेष निर्धारणाय विष्णुमिति॥ २६ ॥

पुराणपुरुषत्वे हेतुं वदन् विशिनष्टि- **त्वं हीति।** विश्वसृजां महदादिपृथिव्यन्तानां तत्त्वानां स्रष्टा। अनेन निमित्तकारणत्व मुक्तम्। उपादानत्व माह-सृज्यानां महदादीनां यत्सत् उपादानकारणं तदपि त्वमेव। उपादानत्वप्रयुक्तं सार्वात्म्य माह - काल इति। कलयतां परिच्छिन्दतां सर्वं स्ववशीकुर्वता मिति यावत्। तेषां य[1] ईशः प्रभुः कालः सोऽपि त्वमेव, तच्छरीरक इत्यर्थः तथा आत्मनां जीवानां परमात्मा अन्तः प्रविश्य प्रशासनेन धर्ता व्याप्यगतदोषै रस्पृष्टश्च जीवशरीरक श्चेत्यर्थः॥ २७ ॥

यत एवम्भूत, स्ततो ममेष्टदैवतं श्रीरघुनाथ एव त्व मित्याह - **यस्येति।** यस्य रघुपतेः ईषदुत्कलितः उद्दीपितो यो रोषः तेन ये कटाक्षमोक्षाः तैः क्षुभिताः नक्रा ग्राहाः तिमिङ्गिला महामत्स्याश्च यस्मि न्सोऽब्धिः वर्त्म मार्ग मदिशत् दत्तवान्, येन स्वयशसा, अध्ययनेन वसतीति वत् हेत्वर्थे तृतीया। स्वकीर्त्यर्थं सेतुः कृतो निर्मितः। येन च लङ्का उज्ज्वलिता दग्धा। यस्य चेषुभिः क्षतानि छिन्नानि रक्षसो दशकण्ठस्य शिरांसि भुवि पेतुः स त्व मिति जाने इत्यन्वयः॥ २८॥

**इतीति।** इत्थं विज्ञातं विज्ञानं विज्ञेयं येन, त मृक्षराजानम्, अनित्यत्वा दार्षत्वाद्वा "राजाहः" (अष्टा. 4-5-91) इति समासान्ताभावः। व्याजहारोवाच॥ २९ ॥

कथमित्यत आह- **अभिमृश्येति।** शङ्करेण[2] सुखकरेण[-2] पाणिना भक्तं त मृक्षराज मभितः संस्पृश्य परया निरतिशयया कृपयोपलक्षितः मेघध्वनिव द्गम्भीरया गिरा प्राह॥ ३० ॥

---

1. K.W. omit यः 2- -2 K.W. omit

**विज०** सर्वभूतानां प्राणादिप्रदं, प्राणः प्राणनं चेष्टाशक्तिः, ओजः अवष्टम्भशक्तिः, सह श्शरीरसामर्थ्यं, बलं स्थौल्यम्॥ २६ ॥

सृष्टाना मधिपः सृष्टेषु वसन् कालः संहर्ता आत्मनां चेतनानां परः आत्मा परमचेतनः "नित्यो नित्यानाम्" (कठ.उ 5-13) इति श्रुतिः॥ २७ ॥

उत्कलितेन उन्नतेन रोषेण जातैः कटाक्षमोक्षैः नेत्रान्तपातैः क्षोभिता नक्रा स्तिमिङ्गिलाश्च यस्मिन् स तथा। स्वयशोरूपः, उज्ज्वलिता घग्घा, इषुक्षतानि शरच्छिन्नानि॥ २८,२९ ॥

शङ्करेण सुखकरेण॥ ३० ॥

मणिहेतो रिह प्राप्ताः वयमृक्षपते बिलम्।
मिथ्याभिशापं प्रमृज न्नात्मनो मणिनाऽमुना॥ ३१ ॥

इत्युक्त स्स्वां दुहितरं कन्यां जाम्बवतीं मुदा।
अर्हणार्थं स मणिना[1-] कृष्णायोपजहार ह[2]॥ ३२ ॥

★ ततोऽन्यैश्च मणिश्रेष्ठैः[3-] पूजितो भक्तवत्सलः।
तस्मै ददौ परां मुक्तिं पुनरावृत्तिवर्जिताम्[4-]॥ ३३ ॥

अदृष्ट्वा निर्गमं शौरिः प्रविष्टस्य बिलं जनाः।
प्रतीक्ष्य द्वादशाहानि दुःखिता[5] स्ते पुरं ययुः॥ ३४ ॥

निशम्य देवकी देवी रुक्मि ण्यानकदुन्दुभिः।
सुहृदो ज्ञातयोऽशोच न्बिला त्कृष्ण मनिर्गतम्॥ ३५ ॥

सव्राजितं शपन्त स्ते दुःखिता द्वारकौकसः।
उपतस्थु र्महामायां[6-] दुर्गां कृष्णोपलब्धये॥ ३६ ॥

---

1- -1 MMa सह मणि 2 BGJMIV सः ★This Verse is not found in GJMMa editions 3- -3 MIV अन्यै स्स मणिमुख्यैश्च 4- -4 MIV प्रीत्या जाम्बवते हरिः 5 BGJ °ताः स्व० 6- -6 MIV °चन्द्रभागा

श्रीध० मणीति। वयं[1] बहवो बिलद्वारं प्राप्ता स्तत्र मिथ्याभिशाप ममुना मणिना प्रमृजन् प्रमार्ष्टु मिच्छन्[2] अह मेक[3] एव अन्तर्बिल मिह प्राप्त इत्यर्थः॥ ३१ ॥

इतीति। सह मणिना समर्पयामास॥ ३२-३५ ॥

**सव्राजितमिति।** श्रीकृष्णप्राप्तये चन्द्रभागां नाम दुर्गां भभजन्॥ ३६ ॥

1 MI V add हि 2 BJ omit इच्छन् 3 BJ omit एक एव

**वीर०** उक्तिमेवाऽऽह[1-] - **मणिहेतोरिति।** हे ऋक्षपते! मण्यर्थ मिह बिलं प्रति वय मागताः।अवाप्तसमस्त कामस्य तव किं मणिने त्यत आह-मिथ्येति। अमुना मणिना हेतुना आत्मनो मम यो मिथ्याभिशापः मिथ्यापवादः प्रसक्तः तममुना मणिनैव विमृजन्, "लक्षणहेत्वोः" (अष्टा 3-2-126) इति शत्रादेशः। विमार्ष्टु मपनेतु मिति यावत्। विमृज त्रह मागत इति शाब्दयोजना॥ ३१ ॥

**इतीति।** इत्थ मुक्तः स जाम्बवान् स[3-] मणिना[3-] मणिना सह स प्रसिद्धः जाम्बवान्[4-] मणिना सहेति[4-] वाजाम्बवती मुपायनार्थं श्रीकृष्णाय समर्पयामास॥ ३२ ॥

ततोऽन्यैश्च मणिश्रेष्ठैः पूजितो भक्तवत्सलो भगवान् तस्मै जाम्बवते परा मुत्कृष्टा पुनरावृत्तिरहितां मुक्तिं ददौ, दास्यामि इति सङ्कल्पितवा नित्यर्थः। तदैव ददाविति वा॥ ३३ ॥

**अदृष्ट्वेति।** बिलं प्रविष्टस्य शौरेः पुन र्निर्गमन मदृष्ट्वा[5] द्वाःस्थाः जना द्वादशदिनानि प्रतीक्ष्य दुःखिताः पुरं द्वारकां जग्मुः॥ ३४ ॥

**निशम्येति।** देवक्यादयो बिला दनिर्गतं कृष्णं श्रुत्वा अशोचन्॥ ३५ ॥

ते दुःखिता स्सन्तः सव्राजितं शपन्तः कृष्णप्राप्तये महामायां दुर्गाम् उपतस्थुः अभजन्॥ ३६ ॥

---

1- -1 W omits 2- -2 KW नेत्याह 3- -3 KW omit 4- -4 KW omit 5 KW °ममद०

**विज०** उपतस्थुः अभजन्॥ ३१-३६ ॥

**तेषान्तु देव्युपस्थानात् प्रत्यादिष्टाऽऽशिषा[1] स[2] च।**
**प्रादुर्बभूव सिद्धार्थः सदारो हर्षय न्हरिः॥ ३७ ॥**

**उपलभ्य हृषीकेशं मृतं पुनरिवा[3]ऽऽगतम्।**
**सह पत्न्या मणिग्रीवं सर्वे जातमहोत्सवाः॥ ३८ ॥**

**-: सव्राजिताय मणिप्रत्यर्पणं, सत्यभामाविवाहश्च :-**

**सव्राजितं समाहूय सभायां राजसन्निधौ**
**प्राप्ति श्राऽऽख्याय भगवान् मणिं तस्मै न्यवेदयत्॥ ३९ ॥**

स चाऽतिव्रीडितो रत्नं गृहीत्वाऽवाङ्मुख स्ततः[4]।
अनुतप्यमानो[5] भवन मगम त्स्वेन पाप्मना ॥ ४० ॥

सोऽनुध्यायं स्तदेवाऽघं[6] बलवद्विग्रहाकुलः।
कथं मृजा म्यात्मरजः प्रसीदे द्वाऽच्युतःकथम्॥ ४१ ॥

---

1 K.M.Ma.W °चा 2 M.ma भक्न, MI V च सः 3 M Ma °हा० 4 MI V स्थितः 5 M.Ma तप्य न्त्व भ० 6 K.W स्त मेवाऽर्थं

श्रीध० तेषामिति। स च कृष्ण स्तेषां प्रादुर्बभूव । असव इति पाठे असव इन्द्रियाणि, तेषां प्रेष्ठ इत्यर्थः। कदा देव्या उपस्थानात्, तया तान्प्रति आदिष्टा दत्ता या आशीः कृष्णं द्रक्ष्यथेति तया सहैव॥ ३७ ॥

उपलभ्येति। लोके[1] जनाः कथञ्चि[2] न्मृतं बन्धुं पुनरागत मुपलभन्ते। तद्व दुपलभ्य सर्वे जातमहोत्सवा आसन्निति॥ ३८, ३९ ॥

स इति। पाप्मना अपराधेन अनुतप्यमानः। अत्र[3-] वर्णाधिक्यमार्षम्[-3]॥ ४० ॥

स इति। अघं दोषम् आत्मनो रजो मल मपराधमिति॥ ४१

---

1 MI V add यदि 2 MI.V कथित् 3- -3 B.J omit

वीर० तेषामिति। स च कृष्ण स्तेषां प्रादुर्बभूव। कदा? तस्या देव्या उपस्थानात्, तया तान्प्रति आदिष्टा आशिषः श्रीकृष्णं द्रक्ष्यथेत्येवंविधाः येषां तेषां सताम्, कथम्भूतः? सिद्धः साधितोऽर्थः मण्यानयनरूप[1] प्रयोजनं यस्य सः। सदारः जाम्बवतीसहितः अत एव हर्षयन्॥ ३७ ॥

उपलभ्येति। यथा लोके जनाः मृतं बन्धुं पुनरागत मुपलभन्ते तद्वत् हृषीकेशं, तत्राऽपि पत्न्या सहितं मणि ग्रीवायां यस्य त मुपलभ्य सर्वे जातमहोत्सवा आसन्॥ ३८ ॥

सत्राजितमिति। राज्ञ उग्रसेनस्य सन्निधौ प्राप्तिं मणिलाभप्रकार माख्याय तस्मै सत्राजिते मणिं न्यवेदय दर्पयामास॥ ३९॥

सचेति। स्वेन पाप्मना याच्चावैकल्यकरणमिथ्यापवादापादनाद्विरूपेण अनुतप्यमानः स्वगृहं जगाम॥ ४० ॥

स सत्राजि त्तमेवार्थ मपराधरूप मनुचिन्तयन्। अघमिति च पाठः। बलवता भगवता सह यो विग्रहो विरोधः तेनाऽऽकुलश्च, चिन्तयामासेति शेषः। चिन्ताप्रकार मेवाऽऽह- कथमिति सार्धेन। आत्मरजः स्वापराधं मृजामि अपनयामि, कथं वा अच्युतः प्रसन्नो भवेत्? ॥ ४१ ॥

---

1 K.W °प

**विज०** ततः किमभूदत्राऽऽह- **तेषामिति**। हरि स्तेषां प्रादुर्बभूवे त्यन्वयः। देव्या उपस्थाना त्रिषेवणा त्प्रत्यादिष्टाशिषाम् अभ्यागताभ्युदयानां भव न्पूज्य! सिद्धार्थः नित्यलब्धप्रयोजनः 'प्रत्यादिष्टाशिष'ः इति पाठे ये प्रथमं नष्टकृष्णाख्याशिषोऽभवन्। तेषाम् , तुशब्दो हेत्वर्थः। देव्युपस्थानाद्धेतो रित्यर्थः। अनेनाऽऽपदि प्राप्तायां देवताशरणं कर्तव्य मित्युक्तं भवति॥ ३७॥

आख्यायोक्त्वा॥ ३९ ॥

स्वेन पाप्मना अनुतप्यन् पश्चात्तापं कुर्वन्॥ ४०, ४१ ॥

**किं कृत्वा साधु मह्यं स्या न्न शपेद्वा जनो यथा।**
**अदीर्घदर्शनं क्षुद्रं मूढं द्रविणलोलुपम्॥ ४२ ॥**

**दास्ये दुहितरं तस्मै स्त्रीरत्नं रत्नमेव च।**
**उपायोऽयं समीचीन स्तस्य शान्ति र्नचाऽन्यथा॥ ४३ ॥**

**एवं व्यवसितो बुद्ध्या सत्राजि त्स्वसुतां शुभाम्।**
**मणिञ्च स्वय मुद्यम्य कृष्णायोपजहार ह॥ ४४ ॥**

**तां सत्यभामां भगवा नुपयेमे यथाविधि।**
**बहुभि र्याचितां शीलरूपौदार्यगुणान्विताम्॥ ४५ ॥**

**भगवा नाह न मणिं प्रतीच्छामो वयं नृप।**
**तवाऽऽस्तां देवभक्तस्य वयञ्च फलभागिनः॥ ४६ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्यमन्तकोपाख्याने षट्पञ्चाशोऽध्यायः॥ ४६ ॥

---

1- -1 K. W मूढं मां धिक्; M. Ma धिङ्मा मूढं 2 M. Ma ताम् 3 M. Ma त्वाऽस्तु 4 k. W. °यन्तु; M. Ma यं हि

**श्रीध० किमिति**। किं कृत्वा कस्मि न्कृते इत्यर्थः। साधु भद्रम्। अदीर्घदर्शन मविचारकं मां क्षुद्रं कृपणं मूढं मन्दमतिम्॥ ४२ ॥

एवं ध्याय न्नुपायं निश्चिनोति-**दास्ये** इति। स्त्रीरत्नं दुहितरं ताव द्दास्यामि, तदनन्तरं पारिबर्हत्वेन रत्नमपीति॥ ४३,४४ ॥

**तामिति।** बहुभिः कृतवर्मादिभिः॥ ४५ ॥

**भगवानिति।** मणिं न प्रतीच्छामः न स्वीकुर्मः। देव सूर्यः तद्भक्तस्येति, कटाक्ष फलभागिन इति। तवाऽपुत्रत्वा त्त्वदीयं धन मस्माकमेवेति गूढोऽभिप्रायः॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
षट्पञ्चाशोऽध्यायः॥ ५६ ॥

---

1 MI V omit मां

**वीर०** किं कृत्वा, कस्मिन्कर्मणि कृते इत्यर्थः। साधु भद्रम् स्यात्। कथञ्च मां जनो न शपेत्। मां धिक्। अहं निन्द्यइत्यर्थः। तत्र हेतुं वदन्नात्मानं विशिनष्टि अदीर्घदर्शनं दूरविचारानभिज्ञं मूढं मन्दमतिं, वित्तैकासक्तम्॥ ४२॥

**इत्थं** विचार्य निश्चिनोति। **दास्ये** इति। स्त्रीरत्नं दुहितरं, रत्नं स्यमन्तकञ्च कृष्णाय दास्ये[1] दास्यामि। अन्यथा यदि न दास्ये इत्यर्थः, तस्य कृष्णस्य शान्ति श्चित्तसमाधिर्न भवेत्॥ ४३ ॥

**एवमिति।** बुद्ध्या व्यवसितः निश्चिन्वन् शुभां शुभलक्षणां स्वसुतां सत्यभामां मणिं स्यमन्तकञ्च उद्यम्योद्धृत्य आदाय वा कृष्णाय समर्पयामास॥ ४४ ॥

**तामिति।** उपयेमे विवाहितवान्। कथम्भूतां, बहुभिः कृतवर्मशतधन्वादिभिः याचितां, रूपादिभि रन्वितां च। तत्र रूपं सौष्ठवं, शीलं सुस्वभावः, गुणाः प्रदिमकरुणादयः॥ ४५ ॥

**भगवानिति।** उक्तिमेवाऽऽह न मणि मिति[2]। हे नृप सत्राजित! मणिं न प्रतीच्छामः[2]। न प्रतिगृह्णीमः। किन्तु स्त्रीरत्नमेव प्रतीच्छामः। देवभक्तस्य सवितृभक्तस्य तवैव मणि रास्तां तिष्ठतु, वयं तु केवलं फलभागिनः दुर्भिक्षादि शान्तिरूपफलभागिनः। यद्वा, तवाऽपुत्रत्वात् त्वदीयं धन मस्माक मेवे त्यन्ततः फलभागिन इत्यर्थः॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां षट्पञ्चाशोऽध्यायः॥ ५६ ॥

1 W omits दास्ये 2- -2 W omits

**विज०** महां मम अदीर्घदर्शिनं भविष्यज्ञानहीनम्॥ ४२ ॥

तस्य पापस्य॥ ४३-४४ ॥

फलभागिनः प्रयोजनांशमेव स्वीकुर्मः॥ ४५,४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
षट्पञ्चाशोऽध्यायः॥ ५६ ॥

(विजयध्वजरीत्या षष्टितमोऽध्यायः)

---

# सप्तपञ्चाशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या एकषष्टितमोऽध्यायः)

### श्रीशुक उवाच

विज्ञातार्थोऽपि भगवान्[1] दग्धा नाकर्ण्य पाण्डवान्।
कुन्तीञ्च कुल्यकरणे सहरामो यथौ कुरून्॥ १ ॥

भीष्मं कृपं[2] सुविदुरं गान्धारीं द्रोणमेव च।
तुल्यकष्टान्[3-] समागम्य[-3] हा[4] कष्टमिति हाचतुः[5]॥ २ ॥

लब्ध्वा[6-] तदन्तरं[-6] राजन् शतधन्वान मूचतुः।
अक्रूरकृतवर्माणौ मणिः कस्मा न्न गृह्यते॥ ३ ॥

योऽस्मभ्यं सम्प्रतिश्रुत्य कन्यारत्नं विगृह्य[7] नः।
कृष्णायाऽदा[8] न्न सत्राजित्कस्माद्भ्रातर मन्वियात्[9]॥ ४ ॥

एवं भिन्नमति स्ताभ्यां सत्राजित मसत्तमः।
शयान मवधी त्लोभा त्स पापः क्षीणजीवितः॥ ५ ॥

---

1 BGJMMa गोविन्दो 2 MMa MIV नृप 3- -3 BGJMIV तुल्यदुःखौ, MMa समदुःखौ 4 BGJ च सङ्गम्य 5 MIV शो० 6 BGJMMa लब्धैतदन्तर, KW ज्ञात्वा तदन्तर 7 BGJMMa गर्ह्य 8 MMa °यादात्स 9 MMa °त्त०

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावर्थदीपिका।

सामपञ्चाशत्तमे तु पुन श्शतधनो र्वधे। प्राप्तं स्म[1] दुर्यशो मार्ष्टि कृष्णोऽक्रूराऽऽहृतान्मणेः[2]।
अक्रूर मुरीकृत्य मणेः पात्र मथाऽच्युतः। उपामन्त्र्य त मेकान्ते स रामोऽगा द्व्रजाह्वयम्॥

सत्राजितः[3] श्रीकृष्णयाच्चाभङ्गफलं व्यक्तीकर्तुम्[4-] कथा मुपक्रमते-[-4] **विज्ञातार्थोऽपीति।** पाण्डवा बिलद्वारेण जतुगृहा न्निर्गता इत्येवं विज्ञातोऽर्थो येन सः, कुन्तीञ्च दग्धा माकर्ण्य कुल्यकरणे कुलोचितसंव्यवहारार्थम्[5]॥ १ ॥

**भीष्ममिति।** अन्येषां तद्दाहदुःखाभावा द्भीष्मादीन् समागम्येत्युक्तम्[6]॥ २,३ ॥

ननु जीव न्सत्राजि त्कथं मणिं दास्यति[7]। तत्रोचतुः- **बोऽस्मभ्यमिति**। भ्रातरं प्रसेनं मृतं कस्मा न्नान्वियात् नाऽनुगच्छेत्, प्रियता मित्यर्थः॥ ४,५ ॥

---

1 M.V स्व० 2. M.V. ग० 3. B.J ष्णाक्षा 4--4 B.J आह 5 M.V omit सं 6 B.J सक्ष्म्ये० 7 M.V add इति।

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

फलभागिन इत्युक्तं, तदेव दर्शयितुं मणिकथाशेष माह- सप्तपञ्चाशत्तमेन **विज्ञातार्थ** इत्यादिना। विज्ञातः विदितोऽर्थः पाण्डवाः बिलद्वारेण जतुगृहान्निर्गताः इत्येवंविधोऽर्थो येन तथाभूतोऽपि केवलं प्राकृतलोक इव पाण्डवान् कुन्तीञ्च दग्धान्, जतुगृहेष्विति शेषः। आकर्ण्य कुल्यकरणे कुलोचितसंव्यवहारार्थं रामेण सहितः कुरून् देशान् ययौ॥ १ ॥

**भीष्मं कृपमिति**। पाण्डवेतरेषां जतुगृहदुःखाभावात् भीष्मादी न्समागम्येत्युक्तम्। तुल्यकष्टान् आत्मना तुल्यदुःखान् हा कष्टम्! दुःखं प्राप्त मित्येवं तान् प्रत्यूचतुः सान्त्वयामासतुः॥ २ ॥

ज्ञात्वेति। तदा अक्रूरकृतवर्माणौ भगवा नधुनाऽत्र नाऽस्ति[1] अयमेवावसर इत्येव मन्तरं समयं ज्ञात्वा हे राजन्! शतधन्वान मूचतुः। उक्तिमेवाऽऽह-मणिरित्यादिना सपादेन, न गृह्णते, त्वयेति शेषः॥ ३ ॥

ग्राह्यत्वे हेतुः **य** इति। यः सत्राजित् कन्यारत्नं सत्यभामाम् अस्मभ्यं प्रतिश्रुत्य दास्यामीति प्रतिज्ञाय नोऽस्मान् विगर्ह्य[2] अनादृत्य कृष्णायादात् ददौ। अतो मणि र्ग्राह्य इति भावः। ननु, जीवन् सत्राजित् कथं मणिं दास्यतीति, अत्रोचतुः- नेत्यादि। सत्राजित् कस्मा द्धेतो र्भ्रातरं प्रसेनं नान्वियात् नाऽनुगच्छेत्, हन्तव्य एव स इत्यर्थः॥ ४ ॥

**एवमिति**। इत्थं ताभ्या मक्रूरकृतवर्मभ्यां भिन्ना भेदितामति र्यस्य सोऽसत्तमः पापात्मा शतधन्वा क्षीणजीवितः हेतुगर्भ मिदम्। तत्चात्, लोभा न्मणिलोभात् शयानं सत्राजितं हतवान्॥ ५ ॥

---

1 K.W नाऽऽस्ते 2 K.W गृह्य।

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अज्ञानिनां तमःप्राप्तिसाधनं ज्ञानिनां भगवद्भक्त्युद्रेककारणं लोकविडम्बनार्थं भगवच्चरितविशेषं पूर्वाध्यायार्थबीजं निरूपय त्यस्मि न्ध्याये। अपिना सन्देहं निवारयति-कुन्त्यं शवदहनानन्तरं तद्दुःखजिहासया तद्गृहगमनं तस्य करणे त न्निमित्तीकृत्येत्यर्थः। ॥ १,२ ॥

अन्तरमवकाशम्॥ ३ ॥

भ्रातरं प्रसेन मन्वियात् अनुगतः स्यात्, मृतोऽस्तु। तं हन्मीत्यर्थः॥ ४,५ ॥

स्त्रीणां विक्रोशमानानां क्रन्दन्तीना मनाथवत्।
हत्वा पशू न्सौनिकवत् मणि मादाय जग्मिवान्॥ ६ ॥

सत्यभामा[1] च पितरं हतं वीक्ष्य शुचाऽर्पिता।
व्यलप त्तात तातेति हा हताऽस्मीति मुह्यती॥ ७ ॥

तैलद्रोण्यां मृतं प्रास्य जगाम गजसाह्वयम्।
कृष्णाय विदितार्थाय तप्ताऽऽचख्यौ[2] पितु र्वधम्॥ ८ ॥

तदाऽऽ कर्ण्येश्वरौ राज न्ननुसृत्य नृलोकताम्।
अहो नः परमं कष्ट मित्यस्राक्षौ विलेपतुः॥ ९ ॥

आगत्य[3] भगवां स्तस्मात् सभार्य[4-] स्साऽग्रजः[-4] पुरम्।
शतधन्वान मारेभे हन्तुं हर्तुं[5-] च तं[-5] मणिम्॥ १० ॥

★ ततः पाञ्चालनगरा द्याज्ञसेन्याः स्वयंवरम्।
घुष्यता यज्ञसेनेन प्रेषितो दूत आगतः॥ ११ ॥

आहूत स्तेन गोविन्दो गत्वा पाञ्चालके पुरे।
ददर्श साग्रज स्तत्र किशोरान् पाण्डुनन्दनान्॥ १२ ॥

अदृष्टपूर्वा न्सुव्यक्तं ब्रह्मरूपधरा न्नृपान्।
तै र्विद्धलक्ष्यैः पौरुष्यप्रतिलब्धमनोरथैः॥ १३ ॥

कुम्भकारस्य शालायां समागम्याऽभिवन्द्य च।
पितृष्वसा मनुज्ञाप्य राजानञ्च युधिष्ठिरम्।
निहन्तुं शतधन्वानं तूर्णं द्वारावतीमियात्॥ १४ ॥

---

1 M I V °माऽपि 2 K W तदाऽऽ० 3 M Ma °गम्य 4- -4 M Ma भार्यया सा० 5- -5 B G J K W मणिं ततः। ★ The verses from 11th to 14th sloka found only in M.Ma editions

श्रीध०: स्त्रीणामिति। जग्मिवान् जगाम॥ ६-१४ ॥

वीर० स्त्रीणामिति। यथा सौनिकः पशुहिंसकः पशुं हन्ति, तद्वद्धत्वा अनाथवत् स्त्रीणां सव्राजिचारीणां विक्रोशन्तीनां[1-] अक्रोशन्तीनां[-1] रुदन्तीनाञ्च सतीनामेव मणिमादाय जगाम॥ ६ ॥

**सत्यभामेति**। शुचा शोकेनाऽर्पिता व्याप्ता मुह्यती मध्ये मध्ये मूर्छां प्राप्नुवती[2] व्यलपत्। विलापनप्रकार मेवाऽऽह तात तातेति, हा हताऽस्मीति॥ ७ ॥

ततो मृतं पितरं तैलद्रोण्यां तैलकटाहे प्रास्य निधाय हास्तिनपुरं[3] जगाम। तत्राऽऽगत्य विज्ञातपितृमरणरूपार्थायाऽपि[4] अजानते इव स्थिताय कृष्णाय पितु र्वधं शतधन्वकृतमाचख्यौ॥ ८ ॥

तद्वधाऽऽख्यानं श्रुत्वा हे राजन्! ईश्वरौ रामकृष्णौ नृलोकता मनुसृत्य नरचेष्टा मभिन यन्तावित्यर्थः। अम्राक्षौ अश्रुपूर्णनेत्रौ अहो! नोऽस्माकं परम मनबधिकं कष्टं दुःखं प्राप्त मित्येवं विलेपतुः विलपितवन्तौ॥ ९ ॥

ततः ससत्यभामः साग्रज स्स[5] भगवान् पुरं द्वारका मागत्य शतधन्वानं हन्तुं, ततः शतधन्वनो मणिं हन्तु ञ्चारेभे उद्युक्तवान्॥ १०-१४ ॥

---

1- -1 K. omits 2 B ०न्ती 3 B °नापुरं 4 K.W omit अपि 5 B °च०

**विज०** क्रन्दन्तीनां वैक्लव्यस्वरं कुर्वतीनां सौनिकवत् मारकवत् राक्षसव दित्यर्थः॥ ६,७ ॥

प्रास्य निक्षिप्य॥ ८ ॥

अम्राक्षौ अश्रुजलकलितेक्षणौ॥ ९,१० ॥

याज्ञसेन्याः द्रौपद्याः॥ ११,१२ ॥

ब्रह्मरूपधरान् ब्राह्मणवेषं बिभ्राणान् पौरुष्येण पराक्रमेण प्रतिलब्धो मनोरथो येषां ते तथा, तैः॥ १३

पितृष्वसां पितृष्वसारम् कुन्तीम्॥ १४ ॥

**सोऽपि कृष्णोद्यमं ज्ञात्वा भीतः प्राणपरीप्सया।**
**साहाय्यं[1] कृतवर्माण मयाचत, स चाऽब्रवीत्॥ १५ ॥**

**नाऽह मीश्वरयोः कुर्यां हेलनं रामकृष्णयोः।**
**को नु क्षेमाय कल्पेत तयो र्वृजिन माचरन्॥ १६ ॥**

**कंस स्सहानुगोऽपेतो यद्द्वेषात्त्याजितः श्रिया।**
**जरासन्धः सप्तदश संयुगा द्विरथो गतः॥ १७ ॥**

**प्रत्याख्यातः स चाऽक्रूरं पार्ष्णिग्राह मयाचत।**
**सोऽप्याह को विरुध्येत विद्वा नीश्वरयोर्बलम्॥ १८ ॥**

★ यं कैलासाश्रय इदाम्भु र्नाम शिरसा हरिम्।
यो हंसडिम्भकौ युद्धे जितवा न्वरदुर्मदौ॥
आशीविषो महानागो येन निर्वासितो ह्रदात्।
य इदं लीलया विश्वं सृजत्यवति हन्ति[4] च।
चेष्टां विश्वसृजो यस्य न विदुर्मोहिताऽजया[5]॥ १९ ॥

1 BGJMMa °ये 2 BGJ °गोऽपीतो, MMa °गो वीरो 3 BGJ °न्वि° ★ These three half Verses are found only in M.Ma editions 4 KW हन्त्यजः। 5 MMa °ता यया।

श्रीध० नेति। हेलनं प्रतिकूलम्, वृजिन मपराधम्॥ १५,१६ ॥

कंस इति। अपीतो मृतः। सप्तदशसंख्याकात्[1] संयुगात्[2]॥ १७,१८ ॥

तौ रामकृष्णा वेकमेव तत्त्व मित्यभिप्रेत्याह-य इदमिति। अजया मायया। मोहिताऽजयेति सन्धिरार्षः॥ १९॥

1 BJ °न् 2 BJ °न्

वीर० सोऽपि शतधन्वाऽपि कृष्णस्योचम मुबोग माकर्ण्य प्राणपरीप्सया प्राणरिरक्षिषया कृतवर्माणं साहाय्यं सहायार्थ मयाचत। स च कृतवर्माऽब्रवीत्॥ १५ ॥

उक्ति मेवाऽऽह नाहमिति द्वाभ्याम्। हेलनं प्रातिकूल्यम्। न कुर्याम्। तत्र हेतुमाह-कोन्विति। तयोः रामकृष्णयोः वृजिन मपराधं कुर्वन् को नु पुमान् क्षेमाय कल्पेत क्षेमं प्राप्नुया दित्यर्थः । न कोऽपीति भावः॥ १६ ॥

किं त्वयेत्थं दृष्ट मित्य व्रोदाहरणमात्र माह कंस इति। यस्मिन्[1] श्रीकृष्णे द्वेषाद्धेतोः श्रिया राज्यश्रिया, प्राणैश्चेति शेषः, त्याजितः। तथा जरासन्धोऽपि सप्तदशसंख्याकात्[2] संयुगात् विरथः शरीरमात्रावशिष्टो गतः॥ १७ ॥

इत्थ तेन प्रत्याख्यातः[3] ततोऽक्रूरं साहाय्यं अयाचत। सोऽपीति। सोऽपि अक्रूरोऽपि। उक्तिमेवाह- क इत्यादिना आत्मने नम इत्यन्तेन। ईश्वरयो रामकृष्णयो र्बलं जान न्कः[4] पुमान् विरुध्येत, ईश्वराभ्यामिति शेषः॥ १८ ॥

भगवतो बलं वक्तु तावत्तस्य कृत्स्नजगद्दुदयविभवलयलीलत्व माह- य इति। अवति रक्षति। अजः सृज्यगत जन्मादिस्पर्शरहितः। एवंविधेन को वा विरुध्येतेति भावः। सर्वेऽप्येवं किं न विदु रित्यतं आह- चेष्टामिति। यस्य भगवतोऽजया मायया मोहिता स्तस्य चेष्टां विश्वसृष्ट्यादिरूपां न विदुः। मोहिताऽजयेत्यत्र सन्धि रार्षः॥ १९॥

---

1 B यत्र 2 B सङ्ग्रामात् 3 KTW omit ततः 4 B adds वा 5 T,W भवतो ७-. -७ K,T,W तेन-वो

**विज०** वृजिन मपराधम्॥ १५, १६ ॥

अपराधकार्यत्वे निमित्तानि कथयति कंस इति॥ १७ ॥

प्रत्याख्यातो निराकृतः। कृतवर्मणेति शेषः। पार्ष्णिग्राहं पृष्ठबलम्॥ १८,१९ ॥

**य स्सप्तहायन शैलमुत्पाट्यैकेन पाणिना।**
**दधार लीलया बालः उच्छिलीन्ध्र मिवाऽर्भकः॥ २० ॥**[1]

**नम स्तस्मै भगवते कृष्णायाऽद्भुतकर्मणे।**
**अनन्तायाऽऽदिभूताय कूटस्थायाऽऽत्मने नमः॥ २१ ॥**

**प्रत्याख्यात स्स तेनाऽपि शतधन्वा महामणिम्।**
**तस्मि न्न्यस्याऽश्व मारुह्य शतयोजनगं ययौ॥ २२ ॥**

**गरुडध्वज मारुह्य रथं रामजनार्दनौ।**
**अन्वयातां महावेगै रश्वै राजन् गुरुद्रुहम्॥ २३ ॥**

**मिथिलायां**[2] **उपवने विसृज्य पतितं**[3] **हयम्।**
**पद्भ्या मधाव त्सन्त्रस्तः कृष्णोऽप्यन्वद्रव द्रुषा॥ २४ ॥**

---

1 MIV °त्सि० 2 BGJ °या मु° 3 MMa °ऽन्वभ्य°

**श्रीध० प्रत्याख्यात** इति। अन्तर्यामिकृष्णनियुक्तः तस्मि न्नक्रूरे मणिं न्यस्य ययौ अपलायत॥ २०-२२॥

**गरुड** इति। गुरुः श्वशुरः, तद्धन्तारम्॥ २३ ॥

**मिथिलाया** इति। शतयोजनमात्रगामित्वात् ततः पर गन्तुमशक्तः तत्र पतितः। तं हयं विसृज्य॥ २४ ॥

---

1 MIV omit मात्र

**वीर०** बल प्रपञ्चयति-**य** इति। यो भगवान् **बालः**, तत्राऽपि **सप्तवर्षवयास्सन्नेव शैलं गोवर्धनम्**, एकेनैव[1] पाणिना उत्पाट्य लीलया दधार, यथाऽर्भकः शिलीन्ध्र मुत्पाट्य धरति तद्वत्। शिलीन्ध्रं भूतालकुसुमम्॥ २०॥

अतः स केवलं नमस्कार्य एवेत्यभिप्रयन् **नमस्करोति- नमः इति**। भगवते **षाड्गुण्यपूर्णाय** अत एव अद्भुत ममानुष मदैवञ्च कर्म यस्य तस्मै। अनन्ताय अपरिच्छेद्यस्वरूपस्वभावाय, आदिभूताय जगत्कारणभूताय, कूटस्थाय स्वरूपतः स्वभावतश्च निर्विकाराय, आत्मने **सर्वान्तरात्मने कृष्णाय तस्मै नमो नमः**॥ २१ ॥

**प्रत्याख्यात** इति। तेन अक्रूरेणाऽप्येवं प्रत्याख्यातः स शतधन्वा महामणिं तस्मि ञ्चक्रूरे न्यस्य निधाय, अक्रूराधीनं कृत्वेत्यर्थः। शतयोजनगं शतयोजनैः गन्तव्यं देशं ययौ॥ २२ ॥

तदा गरुडो ध्वजे यस्मिन् तं रथ मारुह्य हे राजन्! महावेगै रश्वैः गमनसाधनैः गुरुद्रुहं श्वशुरहन्तारं शतधन्वान मन्वयाताम् अन्वगच्छताम्॥ २३ ॥

**मिथिलायामिति**। शतयोजनमात्रगामित्वात् ततः परं गन्तुमशक्तं पतितं हय मश्वं विसृज्य सन्त्रस्तः पद्भ्यामधावत्। एवं धावन्तं शतधन्वानं रुषा भगवान प्यन्वधावत्॥ २४ ॥

---

1 B omits एव 2- -2 B °नगन्तव्य०

विज० उच्छिलीन्ध्रं छत्राकारम्[1]॥ २०,२१ ॥

शतयोजनगं शतयोजनगमनसमर्थम्॥ २२ ॥

गरुडो ध्वजे यस्य स तथा तं रथम्॥ २३ ॥

मिथितानगर्याः॥ २४ ॥

---

1 B °कम्

पदाते धावत[1] स्तस्य पदाति स्तिग्मनेमिना।
चक्रेण शिर उत्कृत्य वाससो व्यचिनोन्मणिम्॥ २५ ॥

अलब्धमणि रागत्य कृष्ण आहाऽग्रजान्तिकम्।
वृथा हतश्शतधनु र्मणिस्तत्र न विद्यते॥ २६ ॥

तत आह बलो नूनं स मणि श्शतधन्वना।
क स्मिंश्चि त्पुरुषे न्यस्त स्तमन्वेष्टुं[2] पुरं व्रज॥ २७ ॥

-: बलदेवस्य मिथिलानिवासः तत्र दुर्योधनस्य गदाभ्यासश्च :-

अहं वैदेह[3] मिच्छामि द्रष्टुं प्रियतमं[4] मम।
इत्युक्त्वा मिथिलां राजन् विवेश यदुनन्दनः॥ २८ ॥

तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय मैथिलः[5] प्रीतमानसः।
अर्हयामास विधिव द्दर्हण्यं वै समर्हणैः॥ २९ ॥

1 BGJMIV °र्भगावा० 2 BGJ MIV °च; M Ma °न् 3 B.G.J वि० 4 M Ma °र 5 B.G.J °मीयं स०

**श्रीध० पदातेरिति।** व्यचिनोत् मृगयामास। अक्रूरे मणिरस्तीति सर्वज्ञतया विदित्वाऽपि रामवञ्चनाय तथा कृतवानिति[1-1] भावः॥ २५,२६ ॥

**तत** इति। अन्वेष अन्विच्छ॥ २७ ॥

सर्वज्ञस्यैवं विचेष्टितं[2] मद्वञ्चनायेति मत्वा गूढमन्यु राह-**अहमिति**॥ २८,२९ ॥

---

1- -1 MI.V. °नित्यर्थः। MI.V omit वि

**वीर० पदातेरिति।** तिग्मनेमिना तीक्ष्णधारेण चक्रेण तस्य शिर उत्कृत्य छित्वा[1] तस्य वाससो: अन्तरियोत्तरीययो: मणिं व्यचिनोत् मृगयामास। अक्रूरे मणिरस्तीति सर्वज्ञतया विदित्वाऽपि रामवञ्चनार्थं तथा कृतवा नित्यर्थः॥ २५ ॥

तदाह **अलब्धमणिरिति।** न लब्धो मणि र्येन तथाभूतः अग्रजान्तिक मागत्योवाच। उक्तिमेवाऽऽह वृथेति। तत्र शतधन्वनि॥ २६॥

एवं वञ्चितोऽपि स बलो बलभद्रः सर्वज्ञत्वात् तं कृष्णमाह- नूनमिति। नूनं कस्मिंश्चित् पुरुषे सः[2] मणिर्न्यस्तः अत स्तमन्वेष्टुं स्वपुरं द्वारकां गच्छेति॥ २७ ॥

ततः पुनः सर्वज्ञेनैवं चेष्टितं मद्वञ्चनायेति गूढमन्यु राह-**अहमिति।** वैदेहं जनकम्। इतीति। हे राजन्! यदुनन्दनो बलभद्रः॥ २८ ॥

मैथिलो जनकः, तं रामं दृष्ट्वा प्रीतमानसः सहसोत्थाय पूजार्हं रामम् अर्हणैः पूजासाधनैः यथाविधि पूजयामास॥ २९॥

---

1. T.W मित्वा 2. K.T.W omit सः

**विज०** पद्भ्या मतिः सततं गमनं यस्य स तथा तस्य। तिग्मनेमिना चण्डधाराग्रेण, व्यचिनोत् अन्वेषणं कृतवान्॥ २५,२६ ॥

अन्वेषन् मार्गणं कुर्वन्॥ २७,२८ ॥

अर्हण्यं पूज्यम्॥ २९ ॥

**उवास तस्यां कतिचि न्मिथिलायां समा विभुः।**
**ततोऽशिक्षद्गदां काले धार्तराष्ट्रस्सुयोधनः॥**
**मानितः प्रीतियुक्तेन जनकेन महात्मना॥ ३० ॥**

केशवो द्वारका मेत्य निधनं शतधन्वनः।
अप्राप्तिश्च मणेः प्राह प्रियायाः प्रियकृ द्विभुः॥ ३१ ॥

तत स्स कारयामास क्रिया[1] बन्धो र्हतस्य[2] वै।
साकं सुहृद्भि र्भगवान् या याः स्यु स्साम्परायिकाः॥ ३२ ॥

-: अक्रूरेण मणिप्रत्यर्पणम् :-

अक्रूरः[3-] कृतवर्मा च[-3] श्रुत्वा शतधनो र्वधम्।
व्यूषतु र्भयवित्रस्तौ द्वारकायाः प्रयोजकौ॥ ३३ ॥

अक्रूरे प्रोषितेऽरिष्टा[4-] आसन्वै[-4] द्वारकौकसाम्।
शारीरा मानसा स्तापा मुहु र्दैविकभौतिकाः॥ ३४ ॥

---

1 M.Ma °यां 2 M.Ma °र्मृ° 3- -3 M.Ma °कृतवर्मणौ 4- -4 B.G J.M.Ma °ष्टा न्यास न्वै

श्रीध० कतिचि त्समाः संवत्सरान्। प्रासङ्गिक माह- उवासेति॥ ३० ॥

सत्यभामाम प्यवञ्चय दिति सूचय न्नाऽऽह- केशव इति॥ ३१ ॥

तत इति। बन्धोः सत्राजितः। साम्परायिकाः पारलौकिक्यः[1]॥ ३२ ॥

अक्रूर इति। व्यूषतुः द्वारकायाः सकाशात् काऽपि पलायितौ। प्रयोजकौ मणिहरणे शतधन्वनः प्रवर्तकौ, तत्राऽक्रूरः कृष्णानुमतेनैव गतः। कृतवर्मा तु भक्तपक्षपातप्राकट्यभया दिवोपेक्षित इति गम्यते। कथ मन्यथा सर्वज्ञेश्वरवञ्चनं तयो स्सम्भवतीति॥ ३३॥

तदेवं श्रीवाराणस्यां दानपतिसमाख्यया मणिहस्तेऽक्रूरे स्वमवेदिकै र्महाध्वरैः यजमाने निवसति[2] सति पुनः श्रीकृष्णेनैव प्रस्थापितोऽक्रूर इति कर्णे कर्णे जपति सति[3] जने सत्यभामारामादीनाम प्यविश्वासे जनसङ्घहायाऽक्रूरं समाहूय[4] साक्षेपं श्रीकृष्णः प्राह — इदञ्च भगवन्मतं सङ्गोप्य केचन ऋषयोऽन्यत्कारण मक्रूरानयने वर्णयन्ति। त यथाश्रुतं दूषयितु मनुवदति अक्रूरे प्रोषिते इति॥ ३४ ॥

---

1. MI.V. °काः 2. B.J omit सति 3. B.J omit सति 4. MI.V omit सं

वीर० उवासेति। विभू रामः कतिचि त्समाः वत्सरा नुषितवान्। प्रासङ्गिक माह- तत इति। धृतराष्ट्रस्यापत्यं सुयोधनः तदा काले लब्धावसरे ततो रामात् गदा मशिक्षत् गदाधारणविद्यां गृहीतवा नित्यर्थः। सुयोधनं विशिनष्टि - मानित इति॥ ३०॥

सत्यभामाम प्यवश्चय दित्याह-केशव इति। एत्य आगत्य। शतधन्वनो निधनं वधं मणेरतामश्च प्रियायाः सत्यभामायाः प्राह — प्रियकृत् प्रियं कुर्वन्निव॥ ३१ ॥

अक्रूर इति। प्रयोजकौ मणिहरणार्थं शतधन्वनः प्रवर्तकौ। हेतुगर्भ मिदम्। तत्त्वात् भयेन वित्रस्तौ कृतवेपथू द्वारकायाः सकाशात् व्यूषतुः प्रोषितवन्तौ। तत्राऽक्रूरः कृष्णानुमत एव गतः। कृतवर्मा तु भक्तपक्षपातप्राकट्यभया देवोपेक्षित इति गम्यते। कथ मन्यथा सर्वज्ञेश्वरवञ्चनं तयो स्सम्भवति॥ ३३ ॥

तदेवं वाराणस्यां दानपतिसमाख्यया मणिहस्तेऽक्रूरे रुक्मवेदिकै महाध्वरैः यजमाने निवसति सति कृष्णेनैव प्रस्थापितोऽक्रूर[1] इति कर्णे कर्णे जपति सति जने सत्यभामारामादीनामपि अविश्वासे जनसङ्ग्रहाय अक्रूर माहूय साक्षेपं कृष्णः प्राह[2]- इदञ्च भगवन्मतं सङ्गोप्य केचन ऋषयोऽक्रूरानयने कारणान्तर मनुवर्णयन्ति। तदूषयितु मनुवदति मुनिः- अक्रूरे प्रोषिते इति, प्रोषिते देशान्तरं गते सति, द्वारकास्थानां जनानां शारीरा मानसा इत्याध्यात्मिकतापकीर्तनम्। तत्र शारीरा व्याधयः, मानसा आधयः, दैविका इत्याधिदैविकतापोक्तिः भौतिका इति त्वाधिभौतिकस्य॥ ३४ ॥

---

1. B °मादी० 2. B प्रार्थितवानिति

विज० काले कृष्णवियोगसमये॥ ३०,३१ ॥

बन्धोः सत्राजितः। साम्परायिकाः प्रेतविषयाः॥ ३२ ॥

व्यूषतुः[1-] प्रवासं[-1] चक्रतुः[2-] प्रयोजकौ शतधन्वनः प्रेरकौ[-2]॥ ३३,३४ ॥

---

1- -1 B omits 2- -2 Ma omits

★ ततोऽपृच्छ द्धरि र्वृद्धा नुग्रसेनपुरोगमान्[1-]। कस्मा दिहाऽरिष्टा न्यासन् महता सुचिरेण नः[-1]॥
इत्यङ्गोपदिशन्त्येके विस्मृत्य प्रागुदाहृतम्[2-]।मुनिवासनिवासे किं[-2] घटेताऽरिष्टदर्शनम्॥ ३५ ॥

देवेऽवर्षति काशीशः श्वफल्कायाऽऽगताय वै[3]।
स्वसुतां गान्दिनीं प्रादा त्ततोऽवर्षत्स्म[4] काशिषु॥ ३६ ॥

तत्सुत स्तत्प्रभावोऽसा वक्रूरो यत्र यत्र[5] ह।
देवोऽभिवर्षते तत्र नोपतापा न मारिकाः॥ ३७ ॥

इति मुनिवचः श्रुत्वा नैतावदिह कारणम्[-6]।
इति दूतै स्समानीय प्राहाऽक्रूरं[7-] जनार्दनः[-7]॥ ३८ ॥

**पूजयित्वाऽभिभाष्यैनं कथयित्वा क्रियाः कथाः।**
**विज्ञाताखिलचित्तज्ञः स्मयमान उवाच ह॥ ३९ ॥**

---

★ This extra Verse is found only in MMa editions 1- -1 MMa विस्मिता वै गदाभृतः 2- -2 MMa निवासनिकटे किं वा 3 MMa गाम्।, MIV ताम्। 4 KW °त्स 5 MMa तत्र सः।, MIV यत्र सः। 6- -6 BGJ मत्वा समानाय्य; KW दूतैः तमानीय 7- -7 MMa रामाऽक्रूरौ 8- -8 MMa अक्रूर मानय न्कृष्णः 9 MMa तत्त्वज्ञः

**श्रीध०** दूषयति- **इतीति**। अङ्ग! हे राजन्! श्रीकृष्णमाहात्म्यं विस्मृत्येति तदेवाऽऽह-मुनिवासनिवास इति। मुनीनां वासो यस्मिन् स मुनिवासः[1]। श्रीकृष्णः तस्य निवासे सति अक्रूरापगममात्रेण अरिष्टदर्शनं किं घटेत? तदिच्छां विना न घटेतेत्यर्थः॥ ३५ ॥

पुनस्तन्मतमेवाऽनुवर्णयति- **देव** इति। काशिषु काशीदेशेषु[2] देवे मघवति अवर्षति सति॥ ३६,३७ ॥

**इतीति**। इत्येवम्भूत मक्रूरमहिमप्रतिपादनपरं वृद्धानां वाक्यं श्रुत्वा सत्यमेव, तथाऽपि एतावदेव कारणं न भवति किन्तु मणेरप्यपगम इति मत्वे त्येतदन्तं परमतम्। वस्तुतस्तु[3] कृष्णलीलावशादेव इष्टाऽरिष्टादि दर्शनमिति शुकादिसम्मतमिति भावः[3]॥ ३८ ॥

**पूजयित्वेति**। विज्ञात मखिलं येन स चाऽसा वत एव चित्तज्ञश्च। अयम्भावः-महाभागवतस्याऽस्य मया दत्तेऽपि मणा वपेक्षा नाऽस्त्येव। यस्मा दाहूतो मणिना सहैवाऽऽगत इति ज्ञात्वेति॥ ३९ ॥

1 BJ omit मुनिवासः 2- -2 BJ omit काशी 3- -3 BJ omit

**वीर० इतीति**। अस्यातोऽक्रूर मानयामासेत्यादिः। एवमन्ये ऋषयः उपदिशन्ती त्यनुवादः। अथ तद्दूषयति- अङ्गेति। अङ्ग! हे राजन्! प्रागुदाहृतं श्रीकृष्णमाहात्म्यं यत्र यत्र भगवा नवसत् न तत्र तापत्रयसम्भावना इत्येवंविधं विस्मृ त्येत्थ मुपदिशन्तीत्यर्थः। तदेवाऽऽह मुनिवासनिवास इति। मुनीनां स्वनिवासदेशेषु तापत्रयनिवर्तकानां वासस्य आश्रयभूतस्य श्रीकृष्णस्य निवासे सति अरिष्टदर्शनं दुःखोत्प्रेक्षणं दुःखसम्भावनाऽपीति यावत्, किं घटेत? न घटत एवेत्यर्थः॥ ३५॥

अथाऽन्यदपि ऋषिमतं दूषयितु मनुवदति **देव** इत्यादिना श्रुत्वेत्यन्तेन। श्रुत्वेत्यनन्तर मतोऽक्रूर मानयामासेति शेषः। वृद्धवचः प्रदर्शनमेव-देव इत्यादिना इतीत्यन्तेन। पुरा किल काशिषु काशीदेशेषु देवे पर्जन्ये अवर्षति सति तद्देशाधिपतिः तत्राऽऽगताय श्वफल्काय स्वसुतां गान्दिनीं ददौ। तत स्स पर्जन्यः तद्देशेषु अवर्षत्॥ ३६ ॥

तत्सुतः श्वफल्कस्य सुतः तत्प्रभावः पितृतुल्यप्रभावोऽक्रूरो यत्र यत्र वसति तत्र तत्रोपद्रवोऽभिवर्षति, न तत्रोपतापा मारिका अपमृत्युहेतवश्च सन्ति॥ ३७ ॥

इत्येवंविधं वृद्धानां वचः आकर्ण्य अक्रूर मानयामासेति तद्दूषयति-नैतावदिति। सत्यमेवं, तथाऽपि एतावदेव, अक्रूरावस्थानमात्रमेव तत्र वृष्टा वुपतापाद्यभावे च न कारणं, किन्तु मण्यवस्थानञ्चेति, इति दूतै रिति। इत्येवं सति अक्रूरे देशान्तरस्थे सतीत्यर्थः। दूतै रक्रूरं सम्यगानीय प्राह। स्वाभिमत मानयनकारणन्तु वक्ष्यमाणेन"किन्तु माम ग्रजः सम्यक् न प्रत्येति मणिं प्रति" (भाग. 10-57-42) इति भगवद्वचनेनैव स्फुटीभविष्यतीति अत्र नोक्तम्। यद्वा, अद्भुतचेष्टितो भगवान् अक्रूरानयनार्थं व्याजेन स्वनिवासभूतायामपि द्वारकायां तापत्रय मुत्पाद्य अङ्ग! हे आर्य! हे सत्यभामे, अहो अक्रूरे प्रोषिते सति अत्र तापा उपस्थिताः। तथा ह्यन्ये जनाः प्राह्मयोदाहृतं मणिप्रभाव मविस्मृत्यैव मुपदिशन्ति। मुनिः मननशीलोऽक्रूरः, तस्य मणियुक्तस्य निवासः, तन्निवासे तत्समीपनिवासदेशेऽपि मणियुक्ताऽक्रूरनिवाससमीपदेशेऽप्यरिष्टदर्शनं न घटत एव इत्युक्त्वा तथैव, देव इत्यादिरूपं वृद्धवचनं श्रुत्वा अक्रूराऽवस्थानमात्रमेव न कारणं किन्तु, मणेरपी त्येवं रामादिविश्वासार्थं वृद्धवचश्च विमृश्य दूतै रक्रूरमानयामासेत्याह-अक्रूर इत्यादिभिः पञ्चभिः। अस्मिन्पक्षे अविस्मृत्येति छेदः। अरिष्टदर्शन मित्यस्यानन्तर मित्युक्तेति शेषः। देवोऽभिवर्षति। तत्रेत्यस्य काशीदेशेष्वित्यर्थः॥ ३८ ॥

कथ मित्यत आह- **पूजयित्वेति**। एन मक्रूर मभिभाष्य सम्बोध्य विज्ञाताखिलचित्तज्ञः सर्वाभिप्रायज्ञा ये पुरुषाः ते येन विज्ञाताः स तथा। बुद्धिमत्पुरुषान्तर्गतवेदी महाभागवतस्याऽस्य मया दत्तेऽपि मणा वपेक्षा नास्त्येव। तस्मा दाहूतो मणिना सहैवाऽऽगत इति जान न्नित्यर्थः॥ ३९ ॥

---

1 B °ानव० 2. K.T.W वचः 3 B omits मात्र 4 K T W omit पञ्चभिः।

**विज०** इतिशब्दः प्रकारवचनः। अङ्गेति सम्बोधनम्। एके केचित् पूर्वपुरुषैरुक्तं पुराणवचन मुपदिशन्ति प्रवदन्ति। कथमिति तत्राऽऽह - गदाभृत इति। श्रीकृष्णस्य निवासनिकटे अरिष्टदर्शन मशुभदर्शनं घटेत? किञ्च न घटेत॥ ३५॥

स्वराष्ट्रे देवे पर्जन्ये, अवर्षति काशीशः काशीराजः स्वराष्ट्रं प्रति आगताय श्वफल्काय अक्रूरपित्रे गां स्वविषयभूमिं, नाम्ना गान्दिनीं स्वसुताञ्च प्रादात्॥ ३६ ॥

किमनेनेति तत्राऽऽह-**तत्सुत** इति। तत्प्रभावः श्वफल्कप्रभावः, अतोऽक्रूरो यत्र देशे तत्र देवोऽभिवर्षति तस्मिन्देशे उपतापादयो न भवन्ति॥ ३७ ॥

अवर्षणादिसम्भवेऽन्यच्च निमित्त मस्तीति भावेनोच्यते-नैतावदिति। इह अवर्षणादौ एतावत् अक्रूरप्रवासनमेव कारणं न भवति, किन्तु स्यमन्तकराऽऽमनञ्च कारणमिति च वृद्धवचः श्रुत्वा अक्रूरञ्च रामञ्च समानीयाऽऽनयित्वा॥ ३८,३९ ॥

---

1. M.Ma °तेति। 2- -2 B.M °कग०

**ननु दानपते न्यस्त स्त्वय्याऽऽस्ते शतधन्वना।**
**स्यमन्तको मणिः श्रीमान् विदितः पूर्वमेव नः॥ ४० ॥**

सत्राजितोऽनपत्यत्वा द्गृह्णीयु र्दुहितुः सुताः।
दायं निनीयाऽपः पिण्डान् विमुच्यर्णञ्च शेषितम्॥ ४१ ॥

तथाऽपि दुर्धरो[4,5] ह्यन्यैस्त्वय्यास्तां सुव्रते[6] मणिः।
किन्तु मा मग्रज स्सम्यङ् न प्रत्येति मणिं प्रति॥ ४२ ॥

दर्शयस्व महाभाग बन्धूनां शान्ति मावह।
अविच्छिन्ना[7] मखास्तेऽद्य वर्तन्ते रुक्मवेदयः॥ ४३ ॥

एवं साममि रालब्धः[8] श्वफल्कतनयो मणिम्।
आदाय वाससा छन्नं ददौ सूर्यसमप्रभम्॥
स्यमन्तकं दर्शयित्वा ज्ञातिभ्यो रज आत्मनः॥ ४४ ॥

---

1 MMa °व्यसौ 2 MIV °क 3 MMa °र्णमशेषितः। 4 MIV °र्भ० 5 BGJKW °रस्त्वन्यै° 6 MMa प्रापितो 7 BGJMMa °व्यु० 8 MMa °र०

**श्रीध०** ततः किमत आह-**सत्राजित** इति। अपः पिण्डांश्च निनीय दत्वा, ऋणञ्च विमुच्याऽपाकृत्य शेषित मवशिष्टं दायं दुहितुः सत्यभामायाः सुता गृह्णीयुरिति शास्त्रम्। तथा च स्मरन्ति- "पत्नी दुहितर श्चैव पितरो भ्रातर स्तथा। तत्सुता गोत्रजा बन्धुः शिष्या स्स ब्रह्मचारिणः॥" (याज्ञ. स्मृ. 2-135) इति॥ ४०,४१ ॥

**तथेति**। अग्रजोऽपि न प्रत्येति न विश्वसितीति॥ ४२ ॥

**दर्शयस्वेति**। नास्तीति च न वक्तव्यम्। यतोऽविच्छिन्नाः[2] सन्तता मखा वर्तन्त इति॥ ४३ ॥

**एवमिति**। आलब्ध उक्तो, हृदि स्पृष्ट इति वा। स्यमन्तक इति। रजो मिथ्याभिशापम्॥ ४४ ॥

1 MIV स्मृतिः 2 BJ °व्यु०

**वीर०** उक्तिमेवाऽऽह-**नन्विति** चतुर्भिः। हे दानपते! अक्रूरस्यैव इदं नामान्तरम्। स्यमन्तकमणिः शतधन्वना त्वयि निहितः अधुना आस्ते च, नोऽस्माकं पूर्वमेव शतधन्वनो वधात् प्रागेव विदितः॥ ४० ॥

ततः किमत आह-**सत्राजित** इति। अनपत्यत्वात् अपुत्रकत्वात् तस्य दुहितुः सुता दौहित्राः तस्य अपः तिलोदकानि पिण्डांश्च निनीय दत्वा ऋणं विमुच्याऽपाकृत्य अवशेषितं सर्वं दायं रिक्थं गृह्णीयुः ऋणापाकरणे यावदपेक्षितं, तदतिरिक्तं सर्व मपुत्रस्य धनं दौहित्राः गृह्णीयु रित्ययं शास्त्रार्थ इत्यर्थः॥ ४१ ॥

**तथापीति।** तथाऽपि एवं शास्त्रार्थेऽपि मणि स्त्वय्येवाऽऽस्तां तवैव[2] तिष्ठतु न तु तद्दौहित्रै गृह्यते इत्यर्थः। तत्र हेतुं वदन् मणिमक्रूरश्च विशिनष्टि-अन्यैः धर्तुमशक्यः सुव्रते शोभनं व्रतमाचारो यस्मिन् तस्मिन् त्वयि। किन्त्वग्रजो रामः मणिं प्रति सम्यक् न प्रत्येति न विश्वसिति, मणिमहं तिरोधापितवानि त्याशङ्कते इति भावः॥ ४२ ॥

अतो हे महाभाग्यवन्! दर्शयस्व, मणिमिति शेषः। शान्तिं चित्तसमाधि मावह सम्पादय। नाऽस्तीति मा वोचः इत्याह-अविच्छिन्ना इति। यतस्ते स्वर्णवेदयः सन्तता मखा यज्ञाश्च वर्तन्ते प्रवर्तन्ते, अतोऽस्त्येवेत्यनुमिनोमीत्यर्थः॥ ५३ ॥

**एवमिति।** इत्थं सामोक्तिभिः आलब्धः हृदि स्पृष्टः ददौ, कृष्णायेति शेषः।रत्यमन्तकमिति। बिभुः श्रीकृष्णो ज्ञातिभ्यो रामादिभ्यः आत्मनः स्वस्य रजः मिथ्याभिशापम्॥ ४४ ॥

1. K.T.W omit अयं 2. T.W °थै०

**विज०** किं कृत्वा स्वीकुर्युरिति तत्राऽऽह-निनीयेति। अपः पिण्डांश्च निनीय दत्वा अशेषतः पित्रादिविषयमृणञ्च विमुच्य गृह्णीयुरिति पूर्वेणान्वयः॥ ४०,४१ ॥

तर्हि तथाऽस्त्विति, नेत्याह-किन्त्विति। प्रत्येति विश्वासं करोति। "प्रत्ययस्तु ख्यातिरन्य्र विश्वासाधीनहेतुषु॥"(वैज.को.7-1-51) इति॥ ४२ ॥

शान्तिं मङ्गलं, "शान्तिः प्रशममङ्गले" (वैज.को.6-2-39) इति वर्तन्ते। तथेति शेषः। ख्यमवेदयः सुवर्णमेखलाः॥ ४३ ॥

आरब्धः उक्तः। रजो मिथ्यावादलक्षणां धूलिम्॥ ४४॥

**★मार्जयामास लोकेश अभिभाष्य हलायुधम्।**
**दृष्ट्वा मणिं हलधर स्तदर्थं प्रोष्य आगतः॥ ४५ ॥**

**योम्योऽहमिति मन्वान श्चकमे कुरुपुङ्गव।**
**सत्यभामा पितृधनं मन्वाना स्वात्मनोचितम्॥ ४६ ॥**

**ग्रहीतु मैच्छ द्विस्रब्धं हरे श्चित्तमजानती।**
**जाम्बवत्यपि शुल्कार्थं पित्रा दत्त म्ममेति ह ॥ ४७ ॥**

**स्पृहाञ्चक्रे मणौ तस्मिन् सर्वं विज्ञाय माधवः।**
**अक्रूरस्य करे भूयो मणिं प्रत्यर्पय द्विभुः॥ ४८ ॥**

**△ विमृज्य[1] पाणिना[2] भूय स्तस्मै प्रत्यार्पय[3] त्प्रभुः॥ ४९ ॥**

**यस्त्वेतद्भगवत ईश्वरस्य विष्णोः वीर्यार्ढ्यं[4] वृजिनहरं सुमङ्गलञ्च।**
**आख्यानं पठति शृणो त्यनुस्मरे द्वा दुष्कीर्तिं दुरितमपोह्य याति शान्तिम्॥ ५० ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
सप्तपञ्चाशोऽध्यायः॥ ५७ ॥

---

★ These additional four Verses are found in M Ma editions only △ This half verse is not found in M Ma editions
1--1 KW प्रमृज्य 2 BGJ M V मणिना 3 BGJ M V W °त्य० 4 M Ma °ष्य

**श्रीध० विमृज्येति।** सम्मृज्य अन्यै र्दुर्धर इत्यादिमिषेण प्रीत्या भूय स्तस्मै प्रत्यर्पितवानिति॥ ४५-४९ ॥

**यस्त्विति।** दुष्कीर्तिं तन्मूलं दुरितञ्चेति॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
सप्तपञ्चाशोऽध्यायः॥ ५७ ॥

**वीर०** प्रमृज्य अपास्य पाणिना स्वहस्तेनैव पुन स्तस्मै अक्रूराय मणिं प्रत्यार्पयत् ददौ॥ ४५-४९ ॥

उक्ताख्यानकथनश्रवणस्मरणादिफलं वदन् निगमयति -**यस्त्विति।** विष्णो र्वीर्यिण प्रभावप्रकाशनेन आढ्यं युक्तं, वदतां शृण्वतां स्मरताञ्च पापहरम्। अनेनाऽनिष्टनिवर्तकत्वमुक्तम्। सुमङ्गलं मङ्गलावहञ्चेत्यनेन इष्टप्रापकत्वम्। यः पुमान् एवंविध माख्यानं वदेत् शृणुयात् अनुस्मरेद्वा, स दुष्कीर्तिं दुरितञ्च निरस्य मनश्शान्तिं मुक्तिसाधनभूतां याति प्राप्नोति॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां सप्तपञ्चाशोऽध्यायः॥ ५७ ॥

1 B T W °त्य०

**विज०** तदर्थं मणिनिमित्तम्॥ ४५ ॥

स्वात्मना इति तृतीया षष्ठ्यर्थे॥ ४६ ॥

स्नेहा द्विस्रब्धं विश्वस्तम्॥ ४७ ॥

फलमाह-**य** इति। शान्तिं मुक्तिम्॥ ४८-५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
सप्तपञ्चाशोऽध्यायः॥ ५७ ॥

(विजयध्वजरीत्या एकषष्टितमोऽध्यायः)

# अष्टपञ्चाशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या द्विषष्टितमोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच[1]

एकदा पाण्डवा न्द्रष्टुं प्रतीता न्पुरुषोत्तमः।
इन्द्रप्रस्थं गतः श्रीमान् युयुधानादिभि र्वृतः॥ १ ॥

दृष्ट्वा त मागतं पार्था मुकुन्द मखिलेश्वरम्।
उत्तस्थु र्युगपद्वीराः प्राणा[2] मुख्य मिवागतम्॥ २ ॥

परिष्वज्याऽच्युतं वीरा अङ्गसङ्गहतैनसः।
सानुरागस्मितं वक्त्रं वीक्ष्य तस्य मुदं ययुः॥ ३ ॥

युधिष्ठिरस्य भीमस्य कृत्वा पादाभिवन्दनम्।
फल्गुनं[3] परिरभ्याऽथ यमाभ्यां चाऽभिवन्दितः[4-4]॥ ४ ॥

परमासन[5] आसीनं कृष्णा कृष्ण मनिन्दिता।
नवोढा व्रीडिता किञ्चित् शनै रेत्याभ्यवन्दत॥ ५ ॥

---

1- -1 Ml.V. omit 2. M.Ma प्राणं 3. B.G.J M.Ma फा० 4- -4 K.W. अभिवादितः; M.Ma अभिवन्दितः; Ml.V चाभिवादितः 5. K.M.Ma Ml.V.W. ०नमा०

## श्रीधरस्वमिविरचिता भावार्थदीपिका

अष्टपञ्चाशत्तमे तु कृष्णः पञ्च करेऽग्रहीत्। कालिन्दीं मित्रविन्दां च सत्यां भद्रां च लक्ष्मणाम्॥

कालिन्दीं निजलाभाय तपः पर मुपेयुषीम्। परिणेष्यन् प्रियावासम् इन्द्रप्रस्थमथाऽगमत्॥

एकदेति। प्रतीतान् नष्टानपि द्रुपदगृहे[1] पुनः सर्वे दृष्टान्। युयुधानः सात्यकिः॥ १ ॥

**दृष्ट्वेति।** प्राणा इन्द्रियाणि मुख्यं पञ्चवृत्तिं प्राणमिव॥ २,३ ॥

**युधिष्ठिरस्येति।** ज्येष्ठयोः प्रणामं कृत्वा समेनाऽऽलिङ्गितः कनिष्ठाभ्या मभिवन्दितो बभूव॥ ४ ॥

**परमिति।** कृष्णा द्रौपदी। अनिन्दिता[2] बहुभार्या सत्यपि निन्दारहिता। पार्थै र्नव मचिरम् ऊढा परिणीता॥५॥

1 MIV गेहे 2 BJ omit अनिन्दिता

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता

अथ भगवतः कालिन्दीमित्रविन्दानाग्नजितीभद्रालक्ष्मणानां विवाहं वर्णयति अष्टपञ्चाशत्तमेन। ताव त्कालिन्दी विवाहोपोद्घात माह- **एकदेत्यादिना** अथोपयेमे इत्यतः प्राक्तनेन। प्रतीतान् नष्टा इति श्रुतानपि पुनः द्रुपदगृहे सर्वै र्दृष्टान् पाण्डवान् द्रष्टुं युयुधानः सात्यकिः आदि र्येषां तैः यदुभिः परिवृतः इन्द्रप्रस्थं ययौ॥ १ ॥

**दृष्ट्वेति।** पृथायाः कुन्त्याः अपत्यानि वीराः युधिष्ठिरादयः तमागतं कृष्णं दृष्ट्वा युगप दुत्तस्थुः यथा प्राणा इन्द्रियाणि आगतं मुख्यं पञ्चवृत्तिप्राण मनूत्तिष्ठन्ति तद्वत्॥ २ ॥

**परिष्वज्येति।** प्रीता स्त मच्युत मालिङ्ग्य अच्युतस्याऽङ्गसङ्गेन हतानि एनांसि पापानि येषां ते पार्थाः तस्यानुरागेण सहितं स्मितं यस्मिन् तत् मुख मवलोक्य मुदं हर्षं प्रापुः॥ ३ ॥

**युधिष्ठिरस्येति।** पादाभिवन्दनं कृत्वा तयो रधिकवयस्कत्वा[1] दिति भावः। फल्गुनं[2] अर्जुनं[4] परिरभ्याऽऽलिङ्ग्य तस्य तुल्यवयस्कत्वात्, यमाभ्यां[3] यमलाभ्यां नकुलसहदेवाभ्यां अभिवादितः नमस्कृतः तयो र्न्यूनवयस्कत्वा दिति भावः॥ ४॥

**परमासनमिति।** कृष्णा द्रौपदी नवोढा नव मचिर मूढा विवाहिता, अत एव किञ्चिद्रीडिता सती शनैः आगत्य कृष्ण मभ्यवन्दत ननाम॥ ५ ॥

---

1 KW °स्त्वात् 2 B फा० 3 KW °स्त्वात् 4 KW °स्त्वात्

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

तत्तदधिकारिणां तत्तद्योग्यगुणोपसंहारार्थं भक्तवात्सल्यादिविशेषं कथयति कतिपये ध्वध्यायेषु। तद्वाऽऽदौ हरे र्भक्तवात्सल्यं दर्शयितुमाह- **एकदेति।** एकदा कस्मिंश्चि दवसरे प्रतीतान् शौर्यादिगुणेन प्रख्यातान् कोविदान् वा। भगवद्भक्त्याभरणेन भूषितान्वा। "प्रतीतो भूषिते ख्याते ज्ञाते प्रत्ययिते **बुधे**" (वैज-को-7-4-16) **इति यादवः**। "प्रतीते प्रथितख्यातवित्तविज्ञात कोविदाः(विश्रुताः)" (अम.को.3-10) इत्यमरः ॥ १ ॥

मुकुन्दं मुक्तिप्रदं शरीरं प्रति आगतं प्रविष्टं मुख्यप्राणं दृष्ट्वा चक्षुरादीन्द्रियाणि यथोत्तिष्ठन्ति॥ २ ॥

अच्युतस्याङ्गसङ्गेन ॥ ३,४ ॥

कृष्णा द्रौपदी॥ ५ ॥

तथैव सात्यकिः पार्थैः पूजित श्चाभिवन्दितः।
निषसादाऽऽसनेऽन्ये च पूजिताः पर्युपासत[1]॥ ६ ॥

पृथां समागत्य[2] कृताभिवादन[3] स्तयाऽतिहार्दार्द्रदृशाभिरऽभ्मितः।
आपृष्टवांस्तां[4] कुशलं सहस्नुषां पितृष्वसारं परिपृष्टबान्धवः॥ ७ ॥

तमाह प्रेमवैक्लव्य[5] रुद्धकण्ठाश्रुलोचना।
स्मरन्ती तान्बहून्[6] क्लेशान् क्लेशापायात्मदर्शनम्॥ ८ ॥

तदैव[7] कुशलं नोऽभूत्सनाथास्ते[8] कृता वयम्।
ज्ञाती[9] न्नः स्मरता कृष्ण भ्राता मे प्रेषित स्त्वया॥ ९ ॥

★ पाञ्चालेषु स्थिता नस्मान् स्वयंवरकृते यदा।
अनुस्मृत्याऽऽगतो यस्त्वं तेन स्माऽऽसं सुखोषिता॥ क ॥

इत्युक्तायां तदा कुन्त्यां प्राह योगेश्वरः स्वयम्।
पाञ्चालेषु स्थितानेत्य सुतांस्ते च्छद्मरूपिणः॥ ख ॥

कुम्भकारस्य शालाया मुषिता न्सह भार्यया।
दृष्ट्वा गतोऽहं दिवसे तस्मिन्नेवाऽविलम्बितः॥ ग ॥

निहन्तुं शतधन्वानं सत्यभामापितु र्द्रुहम्।
शतधन्वनि दुर्बद्धौ हते सीरधरोऽग्रजः॥ घ ॥

कुपितो मा मनादृत्य विदेहा न्विमना ययौ।
एतावन्तं महाकालं तदाऽऽगमनकाङ्क्षया॥ ङ ॥

पुर एवाऽवसं क्वापि नाऽऽगच्छं कार्यतन्त्रितः।
इ त्येवंवादिनं कुन्ती प्राह स्नेहपरिप्लुता॥ च ॥

न तेऽस्ति स्वपरभ्रान्तिः[10-10] विश्वस्य सुहृदात्मनः।
तथाऽपि स्मरतां[11] शश्वत् क्लेशा न्हंसि हृदि स्थितः॥ १० ॥

---

1 MMa °ते 2 MMa °म्य 3 K.MMa W वन्दन 4 MMa °स्तत्कु० 5 MMa o °व्य० 6 MIV °हुक्ले० 7 V °दे० 8- -8 MMa ०भूवत्सनाथाः 9 MMa °तु नः ★ These six slokas from क to च are found only in MMa editions 10- -10 MMa W स्वः पर इति 11 MMa W सर्वान्

**श्रीध० पृथामिति।** अतिहार्देन स्नेहेनार्द्रे सजले दृशौ यस्या स्तया परिष्वक्तः। तया परिपृष्टा बान्धवा यस्य सः॥ ६,७ ॥

**तमिति।** प्रेम्णा वैक्लव्यं तेन रुद्धः कण्ठो यस्याः, क्लेशापाये आत्मनि दर्शनं यस्य तम्, भजतां क्लेशापाराय आत्मानं दर्शयतीति वा ॥ ८ ॥

**तदैवेति।** ज्ञातीन् बन्धून् नोऽस्मान्। यदा भ्राताऽक्रूरः प्रेषितः॥ ९ ॥

ज्ञातीनिति वचनात् प्राप्तं मोहं वारयन्ती स्तौति-**न तेऽस्तीति।** तत्र हेतुः- विश्वस्येति। सुहृच्च आत्मा च तस्य। हंसि नाशयसि॥ १० ॥

**वीर० तथैवेति।** यथा कृष्णः तथा सात्यकिश्च यथायोग्यं पूजितः बहुमतः अभिवन्दितश्च निषसाद उपविष्टवान्। तथाऽन्ये च यदवः पार्थैः पूजिताः कृष्णं परित उपासत॥ ६ ॥

**पृथामिति।** [1-]ततश्च भगवान्[-1] पृथां कुन्तीं समभ्येत्य कृत मभिवन्दनं येन सः। अतिस्नेहेनार्द्रे सजले दृशौ यस्या स्तया पृथया अभिरम्भितः परिष्वक्तः पितृभगिन्या पृथया परिपृष्टः कुशलप्रश्नविषयाः बान्धवा वसुदेवादयो यस्य सः. सहस्नुषां पुत्रभार्यासहितां तां पृथा मापृष्टवान् कुशलं पप्रच्छ॥ ७ ॥

**तमिति।** प्रेम्णा वैक्लव्य मधार्ष्टचं, तेन रुद्धः कण्ठो यस्या स्सा, अश्रु[2] लोचनयोः यस्या स्सा पृथा तान् भूतपूर्वान् क्लेशान् स्मरन्ती क्लेशापायायाऽऽत्मानं दर्शयतीति तथा तं कृष्णं प्राह॥ ८ ॥

उक्तिमेवाह- **तदैवेति।** नोऽस्माकं कुशलमभूत्, तथा वयं ते त्वया सनाथाश्च कृताः। कदा? यदा ज्ञातीन् बन्धून् नोऽस्मान् स्मरता त्वया मम भ्राता अक्रूरः प्रेषितः॥ ९ ॥

ज्ञाती नित्यनेन प्राप्तां ममतां वारयितु माह- **नेति।** ते तव स्वः पर इति च भ्रान्ति र्नास्ति। तत्र हेतुः- विश्वस्येति। जगतः सुहृच्च आत्मा अन्तरात्मा च तस्य। कथं तर्हि युष्मान् स्मरामी त्यत आह-तथाऽपीति। स्वपरभ्रान्त्यभावेऽपि स्मरतां भक्तानां हृदि स्थित स्त्वं शश्वत् सदा क्लेशान् हंसि नाशयसि॥ १० ॥

---

1- -1 KW omit 2 B अश्रूणि 3 BW आह

विज० तस्यै कृताभिवन्दनः अभिरम्भितः आलिङ्गितः परिपृष्टबान्धवः, तयेति शेषः ॥ ६,७ ॥

क्लेशापायात्मदर्शनं क्लेशनाशकरस्वरूपदर्शनं, जतुगृहादा वनुभूतान् तांश्च बहून् क्लेशान् स्मरन्ती तं कृष्ण माहे त्यन्वयः॥ ८॥

किमब्राह-तदैवेति। हे कृष्ण! यद्यदा स्मरतां नो वृत्तं ज्ञातुं त्वया यदा मे भ्राता अक्रूरः प्रेषितः तदैवास्माकं, कुशल मभूदि त्यन्वयः, कथमेत दब्राह-यदिति। यदि त्युत्तरत्रापि सम्बध्यते हेतुत्वेन, अस्मत्कुशलं स्मरता त्वया सनाथाः स्वामिवन्तः कृता इति य त्पाण्डवाना मुपद्रवो न कर्तव्यः, यत स्ते कृष्णनाथा अस्मान् घ्नन्तीति॥ ९ ॥

किञ्च, यदा स्वयंवरकृते पाञ्चालेषु स्थिता नस्मा ननुस्मृत्य यस्त्व मागतः तदा तेन त्वया त्वद्गुणानसंस्मृत्याऽहं सुखोषिता आसम् इत्यन्वयः॥ क ॥

इदानी मागमनविलम्बः किमिति कृत इति कुन्त्या हार्दशङ्कां परिहर न्नाह- इतीति। (ख,ग)

सीरधरो हलधरः बलभद्र इत्यर्थः। (घ,ङ)

कार्ययन्त्रितः कार्यवशः। ईश्वरस्य तव इदं वचनं लोकचेष्टानुसारि, न तु तथ्यमिति भावेन प्रतिवक्ति इतीति। (च)

स्वः स्वकीयः परः परकीयः शत्रुपक्षभवः, शत्रुमित्रविभागाभावे जनार्दनो मुरारिः मधुसूदनः पार्थसारथि रित्यादीनि नामानि विक्रमनिमित्तानि कथम्? अत्राह तथापीति॥ १० ॥

युधिष्ठर उवाच[1-1]

★ किं न आचरितं श्रेयो न वेदाऽहमधीश्वर[2]!!
योगेश्वराणां दुर्दर्शो य न्नो दृष्टः कुमेधसाम्॥ ११ ॥

इति वै वार्षिका न्मासान् राज्ञा सोऽभ्यर्थित[3] स्सुखम्।
जनय न्नयनानन्द मिन्द्रप्रस्थौकसां विभुः॥ १२ ॥

एकदा रथ मारुह्य विजयो वानरध्वजम्[4]।
गाण्डीवं धनु रादाय तूणौ[5] चाऽक्षयसायकौ॥ १३ ॥

साकं कृष्णेन सन्नद्धो विहर्तुं विजनं[6] वनम्[7]।
बहुव्यालमृगाकीर्णं प्राविश त्परवीरहा॥ १४ ॥

तत्राऽविध्य च्छरै र्व्याघ्रा न्सूकरा न्महिषा रुरून्।
शरभा न्गवयान्खड्गान्हरिणाञ्छशशल्यकान्॥ १५ ॥

---

1- -1 MMa omit ★ This Verse is not found in MMa editions 2 MIV °ः। 3 MMa °र्चि० 4 MIV ज्ञः। 5 MIVW तूणी 6 B गहनं, GJMMaMIV विपिन 7 MIV महत् 8 BGJ °लु०

**श्रीध० किमिति**। कुमेधसां विषयासक्तचित्तानां दृष्टोऽसि॥ ११ ॥

**इतीति**। सुख मवसदिति शेषः। सुखमभ्यर्थित इति वा क्रियासमाप्तिः॥ १२ ॥

माह- **एकदेति**। अक्षयाः सायका ययो स्तौ तूणौ[2] इषुधी॥ १३-१५ ॥

1 BJ omit स 2 MIV

**वीर०** अथ युधिष्ठिरः प्राह-**किमिति**। हे अधीश्वर! नः[1] अस्माभिः किं पुण्यम् आचरितं कृतमिति न वेद्मि, कृतं पुण्य मीदृशमिति न वेद्मि। किन्तु सामान्यतो महत्पुण्यं कृतमेवेति तु वेद्मीति भावः। **कुतः**? यत् यस्मात् योगीश्वराणामपि द्रष्टु मशक्यो भवान् कुमेधसां विषयासक्तचित्ताना मस्माकं दृष्टः॥ ११ ॥

**इतीति**। इति[2] इत्थं राज्ञा युधिष्ठिरेण अभ्यर्थितो बहुमतः स भगवान् वार्षिकान् मासान् सुखं यथा तथा, न्यवस दिति शेषः॥ १२ ॥

कालिन्दीदर्शनप्रसङ्ग माह-**एकदेति**। तदैकदा विजयोऽर्जुनः वानरो हनूमत्प्रतिकृतिः[3] ध्वजे यस्मिन् तं रथ मारुह्य अक्षया अक्षीणाः सायका ययो स्तौ तूणौ इषुधी चाऽऽदाय सन्नद्धः कवचितः कृष्णेन सहितो विहर्तुं निर्जनं वनं प्राविशत्। व्याला स्सर्पाः गजा वा, अयं वक्ष्यमाणकथायाः यदा च "यदैव कृष्ण स्सन्दिष्टः" (भाग. 10-58-24) इत्यादिकायाः पाश्चात्यवृत्तान्तः खाण्डवदहना त्पूर्वं गाण्डीवप्राप्तचनुपपत्तेः॥ १३,१४ ॥

**तत्रेति**। तत्र वने शरैः व्याघ्रादी नविध्य ज्जघान॥ १५ ॥

1 KW omit नः 2 KW omit इति 3 B हनु०

**विज०** इति संलापे वार्षिकान् वर्षाकालसम्बन्धिनः, राज्ञाऽभ्यर्चितः, उवासेति शेषः॥ ११-१३ ॥

विपिनं गम्भीरम्॥ १४ ॥

महिषान् वनमहिषान् रुरून् कृष्णमृगान् शरभान् अष्टपदान् खड्गान् मृगविशेषान् हरिणान् सामान्यमृगान् शल्यकान् शललान्॥ १५ ॥

ता निन्युः किङ्करो राज्ञे मेध्या न्यर्व ण्युपागते।
क्षुत्परीतः परिश्रान्तो बीभत्सु र्यमुना मगात्॥ १६ ॥

तत्रोपस्पृश्य विशदं पीत्वा वारि महारथौ।
कृष्णौ ददृशतुः कन्यां चरन्तीं चारुदर्शनाम्॥ १७ ॥

ता मासाद्य वरारोहां सुद्विजां रुचिराननाम्।
पप्रच्छ प्रेषितः सख्या फल्गुनः प्रमदोत्तमाम्॥ १८ ॥

का त्वं कस्याऽसि सुश्रोणि कुतो वा किं चिकीर्षसि।
मन्ये त्वां पति मिच्छन्तीं सर्वं कथय शोभने॥ १९ ॥

कालिन्द्युवाच

अहं देवस्य सवितु र्दुहिता पति मिच्छती।
विष्णुं वरेण्यं वरदं तपः परम मास्थिता॥ २० ॥

---

1- -1 K.W. ततः क्षुत्तृट्2- -2 M.Ma मृष्टमणिप्रभम्। 3. J.M.Ma ददर्शतुः 4. M.V.W लोचनाम् 5 M.Ma. सुदतीं 6 B.G.J.M.Ma फा० 7 M.V. कल्याणि 8 B.G.J °ऽसि 9. K.W कन्ये! M.Ma कन्यां

श्रीध० तानिति। राज्ञे युधिष्ठिराय, मेध्यान् कर्मार्हान्, बीभत्सु रर्जुनः॥ १६,१७ ॥

तामिति। सख्या श्रीकृष्णेन॥ १८-२० ॥

वीर० तानिति। तत्र मेध्यान् कर्मार्हान् मृगान् राज्ञे युधिष्ठिराय किङ्कराः निन्युः प्रापयामासुः। भक्षणार्थत्वशङ्कां व्युदस्यति-पर्व ण्युपागत इति। पर्वप्रयुक्तकर्म ण्युपस्थिते सतीत्यर्थः। ततः क्षुत्तृड्भ्यां अशनायापिपासाभ्यां परिश्रान्तो बीभत्सुः अर्जुनः यमुनां जगाम॥ १६ ॥

उपस्पृश्य स्नात्वा महारथौ कृष्णार्जुनौ विशदं निर्मलं वारि जलं पीत्वा चारु सुन्दरं दृश्यत इति तथा तां चरन्तीं काञ्चि त्कन्यां ददृशतुः॥ १७ ॥

तामिति। सख्या कृष्णेन प्रेषितः फल्गुनोऽर्जुनः शोभना द्विजाः दन्ताः यस्याः, रुचिराननं यस्या स्तां वरमाकाङ्क्षन्तीम् इव स्थितां प्रमदोत्तमां पप्रच्छ॥ १८ ॥

प्रश्नमेवाह- का त्वमिति। त्वं कस्याऽसि? कस्य सम्बन्धिन्यसि? किं कर्तु मिच्छसि? अहं तु पतिं मिच्छन्तीं कन्यां त्वां मन्ये, हे शोभने! कथय॥ १९ ॥

7- -7 उत्तरमाह— अहमिति त्रिभिः[8]। सवितु रादित्यस्य दुहितेति कस्याऽसीत्यस्योत्तरम्। किञ्चिकीर्षसी त्यस्योत्तरमाह-
9- पतिमित्यादि[9]। वरेण्यं वरणीयं विष्णुं पतिं कामयमाना परमं तप आस्थिता॥ २० ॥

---

1 B omits त्व 2 B omits वारि 3 B फा० 4 B °कृमाणाम् 5- -5 B omits 6 K.W omit त्व 7- -7 W omits 8 W omits त्रिभिः। 9- -9 B omits

विज० राज्ञे युधिष्ठिराय पर्वणि श्राद्धोचिते यजनकाले वा॥ १६ ॥

कृष्णौ यादवेन्द्रार्जुनौ॥ १७ ॥

सख्या कृष्णेन॥ १८ ॥

कन्यां दीप्ता मुत्पन्नरजसम् अत एव पतिं कामयमानां, 'कन दीप्तौ' इति धातुः। "अनवाप्तपतिः कन्या जातवीर्या वरार्थिनी" इत्युत्पलमाला॥ १९ ॥

वरेण्य प्रार्थनीयम्॥ २० ॥

नाऽन्यं पतिं वृणे वीर तमृते श्रीनिकेतनम्।
तुष्यतां मे स भगवान् मुकुन्दोऽनाथसंश्रयः[1]॥ २१ ॥

कालिन्दीति समाख्याता वसामि यमुनाजले।
निर्मिते भवने पित्रा यावदच्युतदर्शनम्॥ २२ ॥

तथाऽवद द्रुडाकेशो वासुदेवाय सोऽपि ताम्।
रथ मारोप्य तद्विद्वा न्धर्मराज मुपागमत्॥ २३ ॥

★ वसं स्तत्र हृषीकेशः शक्रप्रस्थे यथासुखम्।
विश्वकर्माण माहूय शिल्पविद्याविशारदम्॥ क ॥

अद्भुतं कारयामास नगरं धर्मसूनवे।
स प्रासादपुरद्वारगोपुराट्टालतोरणम्॥ ख ॥

पुरन्दरपुराख्यं स्वानां प्रियचिकीर्षया।
अथ पार्थै रनुज्ञातः सुहृद्भिः स्वजनान्वितः॥ ग ॥

• यदैव[2] कृष्णः सन्दिष्टः पार्थानां परमाद्भुतम्।
कारयामास नगरं विचित्रं विश्वकर्मणा॥ २४ ॥

भगवां स्तत्र निवस न्स्वानां प्रियचिकीर्षया।
अग्नये खाण्डवं दातु मर्जुनस्याऽऽस सारथिः॥ २५ ॥

1 M.Ma वत्सलः★ These three extra Verses are found in M.Ma only • 'यदैव कृष्णः, इत्याद्यम्, अर्जुनस्याऽऽस सारथिः' इति श्लोकपर्यन्तं M.Ma प्रकाशेषु नास्ति। 2. K.W यदा च

**श्रीध०** अयं मां कामयेतेति[1-] शङ्कया आह[-1]— **नाऽन्यमिति**॥ ॥ २१,२२ ॥

**तथेति**। आदावेव तद्विद्वान्॥ २३ ॥

प्रसङ्गात्[2] तात्कालिकं चरित्रान्तर माह- **यदैवेति**। पार्थैः यदैव सन्दिष्टो विज्ञापितः श्रीकृष्ण स्तदैव तेषां विश्वकर्मणा देवशिल्पिना नगरं कारयामास॥ २४ ॥

**भगवानिति**। किञ्च, भगवान् निरतिशयैश्वर्यगुणवानपि अर्जुनस्य धनुरादिलाभाय सारथि रास। खाण्डवं नामेन्द्रस्य वनम्॥ २५ ॥

1- -1 B.J ° येदित्याशङ्काया माह 2 B.J तत्कातीनं

**वीर०** बहुषु सत्सु किं विशेषेण विष्णुमेव कामयसे इत्यत आह-**नाऽन्यमिति**। हे वीर! तं विष्णुम् ऋते विना अन्यं न वृणे, तत्र हेतुं वदन्ती तं विशिनष्टि- श्रियो निकेतनम् आश्रयं, श्रीर्हि सर्वोत्तमं तमेवाश्रितवती। अतोऽहमपि तमेव वृणे इति भावः। दुर्लभस्स कथं त्वदिच्छामात्रेण लभ्यत इत्यत आह-तुष्यतामिति। तत्र हेतुः, अनाथाना मनन्यनाथानां संश्रयः॥ २१ ॥

अथ का त्व मित्यस्योत्तरमाह- **कालिन्दीति**। पित्रा सविद्रा याव दच्युतस्य श्रीकृष्णस्य दर्शनं ताव न्निवसामि॥ २२॥

**तथेति**। गुडाकेशोऽर्जुनः वासुदेवार्थं तां कन्यां रथ मारोप्य तद्भगवदभिप्रेतं जानन्॥ २३ ॥

अथार्जुनाय गाण्डीवादिप्रदानात्मकं भगवच्चेष्टितमाह- **यदेति**। सन्दिष्ट आदिष्टः पार्थै रिति विभक्तिविपरिणामः। कृष्णः प्रयोजककर्ता विश्वकर्मणा[1-] प्रयोज्यकर्त्रा[-1] विचित्रं नानाविधशिल्पोपेतं अत्याश्चर्यं नगरं पार्थाना मावासार्थं कारयामास॥ २४ ॥

तदा स्वानां प्रियं कर्तु मिच्छया तत्र नगरे निवसन् अग्नये खाण्ड्यं नाम वनं दातु मर्जुनस्य सारथि र्बभूव॥ २५॥

---

1- -1 W. omits

विज० अनाथवत्सलः॥ २१,२२ ॥

गुडाकेशः घनकेशः जितनिद्रो वा। यथा कालिन्दी ऊचे तथा सोऽपि वासुदेवाय॥ २३-२५ ॥

★ सोऽग्नि स्तुष्टो धनुरदात्[1] हयान् श्वेतान् रथं नृप।
अर्जुनायाऽक्षयौ तूणौ[2] वर्म चाभेद्य मस्त्रिभिः॥ २६ ॥

मयश्च मोचितो वह्नेः सभां सख्य उपाहरत्।
यस्मि न्दुर्योधनस्यासी[3] ज्जलस्थलदृशिभ्रमः॥ २७ ॥

स तेन समनुज्ञातः सुहृद्भि श्चानुमोदितः।
आययौ द्वारकां भूयः सात्यकिप्रमुखै र्वृतः॥ २८ ॥

अथोपयेमे कालिन्दीं सुपुण्यर्त्वृक्ष[4-] ऊर्जिते[-4]।
• रूपयौवनसम्पन्नां मनोनयननन्दिनीम्॥
वितन्वन्परमानन्दं स्वानां परममङ्गलम्॥ २९ ॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ दुर्योधनवशानुगौ।
स्वयंवरे स्वभगिनीं कृष्णे सक्तां[5-] न्यषेधताम्[-5]॥ ३० ॥

---

★ 'सोऽग्निरित्याख्य-स तेन' इति श्लोकार्धपर्यन्तं (सार्धश्लोकद्वयं ) M.Ma प्रकाशयोः नास्ति। 1. K.W. श्वादात् 2. Ml.V.W तूणां 3. K.W मति०
4- -4 पुण्ये नक्षत्र० • This extra half Verse is found only in M Ma editions 5--5 Ml.V. कृष्णे रक्तां; M.Ma कृष्णकमां

श्रीध० स इति। अक्षयौ अक्षयसायकौ॥ २६ ॥

मय इति। खाण्डवदाहका द्वह्नेः। सख्ये अर्जुनाय। यस्मिन्निति सामान्यतो निर्देशः यस्यामित्यर्थः। जलस्थलयो र्दृशेः दृष्टेर्भ्रमः। यद्वा जले स्थलवत् दृक् दृष्टि र्यस्मिं स्तत् जलस्थलदृक् तस्मिन् भ्रम आसीदिति। मतिभ्रम इति पाठे जले स्थलबुद्धिरूपः, स्थले जलबुद्धिरूपो भ्रम इत्यर्थः॥ २७,२८ ॥

**अथेति**। सुपुण्य ऋतुः ऋक्षं च यस्मिन्[2]॥ २९ ॥

पञ्चमं मित्रविन्दाविवाह माह- **विन्दानुविन्दाविति** द्वाभ्याम्। आवन्त्यौ अवन्त्याः[3] राजानौ॥ ३०

1- -1 BJ omit 2 MIV तस्मिन् 3 MIV अवन्ति

**वीर० स** इति। स दग्धखाण्डवोऽग्निः अत एव तुष्टः हे नृप! अर्जुनाय धनुरादीन् ददौ, अस्त्रिभिरस्त्रधारिभिः अभेद्यं वर्म कवचम्॥ २६ ॥

**मयदत्तेति**। मयः खाण्डववनवासी वह्ने स्सकाशा न्मोचितः सख्ये अर्जुनाय सभा मुपाहरत् ददौ। तां विशिनष्टि - यस्यामिति। यस्यां सभायां जलस्थलमतिभ्रमः[1] जले स्थलबुद्धिः स्थले जलबुद्धिः इत्येवंविधो यो भ्रमः स बभूव॥ २७॥

**स** इति। स कृष्णः तेनार्जुनेन समनुज्ञातः सुहृद्भिः युधिष्ठिरादिभिः अनुमोदितश्च भूयः पुनः॥ २८ ॥

**अथेति**। ऊर्जिते ग्रहबलवति सुपुण्य मनुकूल मृक्षं नक्षत्रं यस्मिन् तस्मिन् सुमुहूर्ते स्वानां द्वारकौकसां परमानन्दं[2] विस्तारयन् परमं मङ्गलं यस्य सः विवाहितवान्॥ २९ ॥

अथ पञ्चमं मित्रविन्दाविवाहं प्रस्तौति- **विन्दानुविन्दाविति**। आवन्त्यौ अवन्तिराजौ दुर्योधनवश दुर्योधनाधीनताम् अनुगच्छतः इति तथा, तौ न्यषेधतां न्यवारयताम्॥ ३० ॥

1 B दृशि 2 B परममा०

**विज०** 26 तमश्लोका दारभ्य 30 तमश्लोकपर्यन्तं विजयध्वज व्याख्या नास्ति॥ २६-३० ॥

**राजाधिदेव्यास्तनयां मित्रविन्दां[1] पितृष्वसुः।**
**प्रसह्य हृतवा न्कृष्णो राज ञ्राज्ञां प्रपश्यताम्॥ ३१ ॥**

**नग्नजि न्नाम कौसल्य[2] आसीद्राजाऽतिधार्मिकः।**
**तस्य सत्याऽभव त्कन्या देवी[3] नाग्नजिती[3] नृप॥ ३२ ॥**

**न तां शेकु र्नृपा वोढु मजित्वा सप्त गोवृषान्।**
**तीक्ष्णशृङ्गा न्सुदुर्धर्षा न्वीरगन्धासहा न्खलान्[4]॥ ३३ ॥**

**तां श्रुत्वा वृषजित्लभ्यां भगवा न्सात्त्वतां पतिः।**
**जगाम कौसल्यपुरं सैन्येन महता वृतः॥ ३४ ॥**

स कौसलपतिः[6] प्रीतः[7] प्रत्युत्थायासनादिभिः[8]।
अर्हणेनापि गुरुणा पूजयन्प्रीतिनन्दितः[9-10]॥ ३५ ॥

वरं विलोक्याऽभिमतं[11] समागतं[12] नरेन्द्रकन्या चकमे रमापतिम्।
भूया दयं मे पति राशिषोऽमलाः[13] करोतु सत्या[14] यदहं धृतव्रता[14] ॥ ३६ ॥

अर्चितं पुन रित्याह नारायण जगत्पते।
आत्मानन्देन[15] पूर्णस्य करवाणि किमल्पकः॥ ३७ ॥

यत्पादपङ्कजरजश्शिरसा बिभर्ति श्री रब्ज स्स[16] गिरिशः सह लोकपालैः।
लीलातनूः स्वकृतसेतुपरीप्सया[17] यः काले दध त्स भगवा न्मम[18] केन तुष्येत्॥ ३८

श्रीशुक उवाच

तमाह भगवान्[19] कृष्णः कृतासन परिग्रहः।
मेघगम्भीरया वाचा सस्मितं कुरुनन्दन!॥ ३९ ॥

श्रीभगवा नुवाच

★ अन्यत्र काले विदुष स्स्वयंवरा दयाचितारं वर माहु रुत्तमम्।
स हि प्रभूणां पुरुषार्थभागिनां वेलां विनाऽऽह्वाययति क्षितीश्वर!॥

नरेन्द्र याच्ञा कविभि र्विगर्हिता राजन्यबन्धो र्निजधर्मवर्तिनः।
तथाऽपि याचे तव सौहृदेच्छया कन्यां त्वदीयां न हि शुल्कदा वयम्॥ ४० ॥

1 MMa कृन्दा 2 BJMMa °श०3- -3 MMa राजन् नीलेति आह्वया 4- -4 MMa गन्धान् महाघनान्। 5 BJ °शल्म, MMa °शल 6 BJ कोश० MMa कौश० 7 KW प्राह 8 BGJ MMa °ना० 9- -9 MIV °णाऽपूजयत्प्र० 10 MMa °त्यनन्दत 11 MMa त्रि० 12 MIV धृतव्रता 13 MMa °षा पतिः 14- -14 BGJ सत्या यदि मे धृतो व्रतैः।, MIV सत्या यदिमे धृतो व्रतः, MMa सत्यो यदि मे धृतव्रतः। 15 MMa °त्मना देव 16 MMa W °श्च 17 BGJ °येशः 18 MMa °स्वकृतेन तु० 19 BGJ हृष्टः ★ This extra Verse is found only in BMMa editions.

**श्रीध०** षष्ठमाह- **नग्नजिदिति**। कौसल्यः अयोध्यापतिः[1] तस्य सत्या नाम कन्याऽभवत् आसीत्, देवी कान्तिमती नाम्नजितीति पितृनाम्ना प्रसिद्धेत्यर्थः॥ ३१,३२ ॥

**नेति**। वीरस्य गन्धमपि न सहन्त इति तथा[2] तान्। खलान् दुर्वृत्तान्॥ ३३ ॥

**तामिति।** वृषान् जयति यः तेन तभ्याम्॥ ३४ ॥

**स** इति। प्रतिनन्दितः तं प्रतिनन्दितवान्, श्रीकृष्णेन वा स प्रतिनन्दितः॥ ३५-३९ ॥

**नरेन्द्रेति।** हे नरेन्द्र! राजन्यबन्धोः क्षत्रियस्य, शुल्कदाः द्रव्यादिप्रदाः॥ ४० ॥

1 MI.V. °व्याधिपः 2 MI.V °धाविधान्

**वीर० राजाधिदेव्या** इति। तथा भगवान् पितृष्वसुः स्वपितृभगिन्याः राजाधिदेव्याः तनयां राज्ञां पश्यतां सतामेव हे राजन्! प्रसह्य हृतवान्॥ ३१ ॥

अथ षष्ठं नाग्नजितीविवाह मनुवर्णयति- **नग्नजिन्नामेति।** कौसल्यः[1] कोसलदेशाधिपतिः अयोध्याधिपतिरित्यर्थः[2]। तस्य देवी कान्तिमती सत्या नाम कन्या अभूत्। अन्वर्थं[3] नामान्तरमप्याह- नाग्नजितीति। नग्नजितोऽपत्यं स्त्री[4] इति तथा। हे नृप!॥ ३२ ।

**नेति।** ख्लान् दुर्वृत्तान् वीराणां गन्धमपि न सहन्त इति तथा तान् सोढुमशक्यान् गोवृषान् वृषभान्[5] यो[6] जयति तेन तभ्यां तां[7] नाग्नजितीं[7] तान् गोवृषान् अजित्वा गा अनुभावमानानिति गोशब्दाभिप्रायः। वोढु मुद्वोढुं न शेकुः न प्रबभूवुः॥ ३३ ॥

**तामिति।** एवं स्थिते भगवान् तां वृषजितैव तभ्यां श्रुत्वा कौसल्यपुर मयोध्यां जगाम॥ ३४ ॥

**स** इति।[8] स[8] नग्नजित् प्रत्युत्थाय आसनादिभिः महता अर्हणेन पूजासाधनेन पूजयन् अनुमोदितश्च भगवन्त माह॥ ३५॥

उक्तिं विवक्षु स्तावत् नाग्नजित्युत्साह मनुवर्णयति- **वरमिति।** नरेन्द्रकन्या चकमे अकामयत। किमिति? अयमेव मे[9] मम पतिर्भूयात्, कथम्? मदिच्छामात्रेण भूयादिति स्वयमेवाऽऽशङ्क्य कामयते मे मम आशिषः कामाः अमलाः निर्विघ्नाः सत्याः सतीश्च यथार्था श्च करोतु, भगवानिति शेषः। तत्र हेतु मुद्भावयति- यद्यहं धृतं व्रतं यया सा। कृतपुण्या भवेय मित्यर्थः॥ ३६॥

अथोक्तिमाह- **अर्चितमिति।** यद्यपि सः[10] कोसलपतिः प्राह इत्यनेनैवास्य राजोक्तित्वलाभः तथाऽपि वरमित्यादिना व्यवहितत्वात् अत्र अर्चित माहेत्युक्तम्। पुनश्शब्दो वाक्यालङ्कारे। हे नारायण! हे जगत्पते! स्वानन्देनैव पूर्णस्य तव अल्पकः क्षुद्रोऽहं किं करवाणि, न किमपि प्रियं कर्तुं शक्त इत्यर्थः। यद्वा किङ्करवाणि किङ्करोऽहम्, अत आज्ञापयेत्यर्थः। आत्मनः स्वाभाविककिङ्करतां द्योतयितुं नारायणेत्यादिसम्बोधनम्, आत्मानन्देन पूर्णस्येति विशेषणं च इत्यवगन्तव्यम्॥ ३७॥

अथ परत्वं व्यनक्ति- **यत्पादेति।** अब्जजः[11] अब्जभवः[12] ब्रह्मा, सरुद्रः लोकपालैश्च सहितः श्रीः लक्ष्मीश्च शिरसा यस्य तव पादपङ्कजरजो बिभर्ति। एकवचनं प्रत्येकाभिप्रायकम्। नाऽहं नारायणः किन्तु यदुष्वन्यतम इत्यत आह-

लीलातनू रिति। स्वेन त्वया कृताः ये धर्मसेतवो धर्ममर्यादाः तेषां परित्राणेच्छया काले धर्मज्ञानहानिकाले लीलातनूः लीलाविग्रहान्। अनेन अकर्मवश्यत्व मुक्तम्। दधत् बिभ्राणः। अनेन नारायण एव सन् धर्मपरित्राणाय यदुषु त्व मवतीर्ण इति लब्धम्। एवंविधो भगवान् मम केन कैङ्कर्येण तुष्टो भवेत्॥ ३८ ॥

**तमिति।** कृतः आसनपरिग्रहो येन स कृष्णः तं कौसल्यं, हे कुरुनन्दन! सस्मितं[13] स्मितेन सहितं यथा तथा प्राह॥ ३९ ॥

उक्तिमेवाह- **नरेन्द्रेति।** हे नरेन्द्र! यद्यपि स्वधर्मनिरतस्य राजन्यबन्धोः क्षत्रियस्य याच्ञा विगर्हिता निन्दिता, प्रतिषिद्धेति यावत्। तथापि सौहृदेच्छया त्वद्बन्धुत्वेच्छया त्वदीयां कन्यां याचे, वयं[14] शुल्कदा द्रव्यादिप्रदाः न भवामः॥ ४० ॥

1 B °श० 2 B °रिति यावत् 3 B. °र्थक० 4 KW omit इति 5- -5 w omits 6- -6 K omits 7- -7 K omits 8- -8 w omits 9 K.w omit मे 10 KW omit सः 11 B omits अब्जजः 12- -12 KW omit 13- -13 KW omit 14 KW omit वयं

**विज०** राजाधिदेव्याः राजाधिदेवीतिनामधेयायाः॥ ३१ ॥

नीलेत्याह्वयो नाम यस्यास्सा नीलेत्याह्वया "आ प्रगृह्यः स्मृतौ वाक्येप्यास्तु सन्तापकोपयोः" (वैज.को. 8-7-2) इति यादवः॥ ३२ ॥

वीरान् शूरान् गन्धयन्ति हिंसयन्तीति वीरगन्धाः तान्। "गन्धो लेशे च हिंसायां घ्राणग्राहे प्रकीर्तितः" इति। वीरस्य राहो र्गन्ध इव गन्धो येषां ते तथा तान्। "वीरो राहौ हरे शक्रे" (वैज.को.6-5-82) इति वा। महान्तो घना मेघा यथा नीला स्ते तथा तान्। यद्वा महाकठिनान् महामुद्गरानिव स्थितान्वा। "घनाः कठिनसंघाते मेघकाठिन्यमुद्गराः" (वैज.को. 6-5-30) इति॥ ३३ ॥

वृषजिल्लभ्यां लब्धुं योग्यां, सैन्येन सेनासमूहेन॥ ३४ ॥

गुरुणा बहुमानेन महित्वेन॥ ३५ ॥

अभिमत मभीष्टं वरं वरणयोग्यरूपम्। "वरो ना रूपजामात्रो र्देवादे रीप्सिते बृतौ"(वैज.को.6-5-72) इति।आशिषां भार्याभिलाषाणां पतिः साधकः, "आशी रूरगदंष्ट्रायां शुभवाक्याभिलाषयोः" (वैज.को.6-2-2) यदि मे मया व्रतः व्रतसमूहो धृतः अनुपयुक्तत्वेन निधिवत् भवत्कृतः तर्हि स सत्यः सच्चिदानन्दात्मा श्रीकृष्णः करोतु मम पाणिग्रहणं, करोत्विति शेषः। व्रतानां समूह इत्यस्मि न्नर्थे अच्प्रत्ययः। यदि सत्यो धृतो व्रतोऽस्ति तर्हि स व्रतः स्वफलत्वेन कृष्णं नः पतिं करोत्विति वा॥ ३६ ॥

आत्मना स्वलाभेन॥ ३७ ॥

स्वकृतसेतुपरीप्सया स्वकल्पितवर्णाश्रमलक्षणसेतुपालनेच्छया मयि स्थितः स्वेनैव कृतेन कर्मणा॥ ३८,३९॥

★ विदुषो विद्वांसः स्वयंवरा दन्यत्र काले अयाचितारं वर मुत्तम माहुः। पुरुषार्थभागिनां प्रयोजनांशभाजां प्रभूणां मध्ये स अर्थार्थी तां वेलां कालं विनाऽऽह्वाययति, आत्मानमिति शेषः। आह्वानमिति पाठे सा याचिता स्वयंवरकालं विनापि स्वहूतिं प्रभूणा माह्वान मर्हतीति शेषः। वेलेति पाठे प्रभूणा माह्वानं विनापि स एव वेला कालः स्वयंवरास्य इत्याहु रित्यर्थः॥

सामान्यमुक्त्वा विशिनष्टि- नरेन्द्रेति। राजन्यबन्धोः राज्ञां वंशे जातस्य निजधर्मवर्तिनः क्षात्रधर्ममनुवर्तमानस्य, शुल्कदा वेतनप्रदाः॥ ४० ॥

राजोवाच

कोऽन्य स्तेऽभ्यधिको नाथ कन्यावर[1] इहेप्सितः[1]।
गुणैकधाम्नो यस्याऽङ्गे श्री र्वस त्यनपायिनी॥ ४१ ॥

किं त्वस्माभिः कृतः पूर्वं समयः सात्त्वतर्षभ।
पुंसां वीर्यपरीक्षार्थं कन्यावरपरीप्सया[2]॥ ४२ ॥

समैते गोवृषा वीर दुर्दान्ता दुरवग्रहाः।
एतै र्भग्नाः सुबहुशो भिन्नगात्रा नृपात्मजाः[3]॥ ४३ ॥

यदीमे निगृहीता स्स्युः त्वयैव[4] यदुनन्दन।
वरो भवा नभिमतो दुहितु र्मे श्रियःपते॥ ४४ ॥

श्रीशुक उवाच[5]

एवं समय माकर्ण्य बद्ध्वा परिकरं प्रभुः[6]।
आत्मानं समधा कृत्वा न्यगृह्णा लीलयैव तान्॥ ४५ ॥

बद्ध्वा ता न्दामभिः शौरिः भग्नदर्पान्[7] हतौजसः[7]।
व्यकर्ष लीलया बद्धान्[8] बालो दारुमयान्यथा[8]॥ ४६ ॥

ततः प्रीतः सुतां राजा[9] ददौ कृष्णाय विस्मितः।
तां प्रत्यगृह्णा द्भगवान् विधिव त्सदृशीं प्रभुः॥ ४७ ॥

राजपत्न्य स्स्वदुहितुः[10] कृष्णं लब्ध्वा प्रियं पतिम्।
लेभिरे परमानन्दं जातश्च परमोत्सवः॥ ४८ ॥

शङ्खभेर्यानका नेदु र्गीतवाद्यद्विजाशिषः।
नरा नार्यः प्रमुदिताः सुवाससस्स्रगलङ्कृताः॥ ४९ ॥

[11]दशधेनुसहस्राणि [12]पारिबर्हं मदा द्विभुः।
युवतीनां त्रिसाहस्रं निष्कग्रीवसुवाससम्॥ ५० ॥

1- -1 KW °या ईप्सितो वरः। 2 MIV °क्ष० 3 BGJMIV °ह्वो 4 BGJMMa यदि मे 5- -5 BGJKMIVW omit 6 KW विभुः 7- -7 B हतदर्पान्, KW भग्नदन्तान्, M.Ma भग्नवीर्यान् 8- -8 KW व्याचकर्ष तदा वद्ध्वा 9 M.Ma राजन्। 10 BGJMIV °श्च 11- -11 MIV शत 12 MIV °णा

**श्रीध० क** इति। गुणाना मेकमेव धाम स्थानं, [1]तथाभूतस्य [2]यस्य तवाऽङ्गे॥ ४१,४२ ॥

**समेति।** दुर्दान्ता अशिक्षिताः। दुरवग्रहा अपरायत्ताः। कुत [3]स्तत्राह- एतैरिति। भग्ना भङ्गं प्रापिताः॥ ४३॥

**यदीति।** यद्यदि इमे गोवृषा [4]निगृहीता दमिता नाथिता इति यावत्॥ ४४ ॥

**एवमिति।** एतान् यो निगृह्णाति तस्य कन्येति समयः कृतः। तम् [5]आकर्ण्य [5]आत्मानं सप्तधा कृत्वेति। [6]बह्वीनामपि योषितां सम्पूर्ण एवाहं सम्भोगयोग्यः स्या मिति सत्यां प्रति, असापत्न्यप्रदर्शनार्थ मात्मनः सप्तधाकरणम्॥ ४५-४९॥

**दशेति।** निष्कग्रीवाश्च ताः सुवाससश्च तासां युवतीनां च दासीनां [7]पारिबर्हं अदात् दत्तवान्॥ ५० ॥

1 MIV add त्व 2 MIV omit यस्य 3 BJ °दाह 4- -4 MIV omit 5- -5 BJ omit 6 BJ omit अपि 7- -7 BJ omit

**वीर०** इत्यमुक्त [1]आह नग्नजित् **क इति।** हे नाथ। ते त्वत्तः अभ्यधिकः कन्याया ईप्सितो वरः को वाऽस्ति, सन्ति बहव इत्यतो [2]भावन्त [2]विशिनष्टि-गुणैक इति। गुणानां कल्याण[3]गुणानां एकमेव धाम स्थानं तथाभूतात् यस्येत्यपेक्षया षष्ठ्यन्तं वा। यस्य तवाङ्गे वक्षसि श्रीः लक्ष्मीः अनपायिनी निवसति॥ ४१ ॥

**किन्त्विति।** हे सात्त्वतर्षभ! समयः भाषाबन्धनं, किमर्थम्? पुसा [4]वरत्वेनागतानाम्। साऽपि किमर्थेत्यत्राह-कन्याया वरः अनुरूपः तत्परीप्सया हेतुभूतया॥ ४२ ॥

कोऽसौ समय इत्यत्र तं वक्तुं तावत् तत्र अन्येषा मसमर्थतामाह- **समेति।** हे वीर! दुर्दान्ताः अशिक्षिताः दुरवग्रहाः अपरायत्ताः, तत्र निदर्शनमाह-एतै रिति। एतैः गोवृषैः भिन्नानि गात्राणि येषां तथा बभूवुः, एतान् यो गृह्णाति तस्येयं कन्येति भावः॥ ४३ ॥

**यदीति।** अतो यदीमे वृषाः त्वया निगृहीता स्स्युः तर्हि भवानेव मम दुहितुः अभिमतो वरः॥ ४४ ॥

**एवमिति**। परिकर मुत्तरीयादिकम्। लीलयैवेत्यनेन श्रमाभाव उक्तः। तान्वृषान् न्यगृह्णात्॥ ४५ ॥

**बद्ध्वेति**। दामभी रज्जुभिः भग्नाः दन्ता येषाम्। अत एव हतम् ओजो बलं येषां तान् वृषान् बद्ध्वा व्याचकर्ष आकृष्टवान्। यथा बालो बद्धान् दारुमयान् वृषान् विकर्षति, तद्वत्॥ ४६ ॥

**तत** इति। ततो वृषग्रहणात् प्रीतः पूर्वमेव प्रीतः तत स्सुतरां प्रीत इत्यर्थः। विस्मितश्च राजा नग्नजित्, प्रभुः श्रीकृष्णः सदृशीम् अनुरूपां तां कन्यां यथाविधि प्रत्यगृह्णात् उपयेमे इत्यर्थः॥ ४७ ॥

**राजपत्न्य** इति। दुहितुः प्रियं पतिं लब्ध्वा राजपत्न्यः परमानन्दं प्रापुः। तदा महान् उत्सवश्चाऽऽसीत्॥ ४८॥

उत्सवमेव प्रपञ्चयति- **शङ्खेति**। नेदुः दध्वनुः। तदा गीतयुक्तानि वाद्यानि द्विजानाम् आशिष आशीर्वादाश्च नेदुः। शोभनैः वासोभिः स्रग्भिश्चालङ्कृताः, आसन्निति शेषः॥ ४९ ॥

विभु र्नग्नजित् दश धेनूनां सहस्राणि पारिबर्हं मुपायन मदात्, निष्कग्रीवाः सुवासस्सश्च तासां युवतीनां दासीनां त्रिसहस्रम्, अदादित्यनुषङ्गः॥ ५० ॥

---

1. B °क्तः प्रा० 2- -2 K.W omit 3. K.W °णानां 4 B (परीक्षार्थं) 5.B (काष्ठ) 6. B °सा०

**विज०** कन्यायाः वरपरीप्सया वरेच्छया॥ ४१,४२ ॥

दुर्दान्ताः अशक्यशिक्षाः, दुरवग्रहा ग्रहीतु मशक्याः॥ ४३,४४ ॥

परिकरं चैलोष्णीषादिलक्षणम्॥ ४५-४८ ॥

गीतवाद्यानि द्विजाशिषश्च तथा। प्रमुदिताः, अभूवन्निति शेषः॥ ४९ ॥

पारिबर्हं स्त्रीधननिकायम्॥ ५० ॥

**नवनागसहस्राणि नागा च्छतगुणा न्रथान्।**
**रथा च्छतगुणा नश्वा नश्वा च्छतगुणा न्नरान्॥ ५१**

**दम्पती रथ मारोप्य महत्या सेनया वृतौ।**
**स्नेहप्रक्लिन्नहृदयौ यापयामास कोसलः॥ ५२ ॥**

**★ श्रुत्वैत द्वुल्धु र्भूपा नयन्तं पथि कन्यकाम्।**
**भग्नवीर्याः सुदुर्मर्षा यदुभि र्गोवृषैः पुरा ॥ ५३ ॥**

ता नस्यतः शस्त्राता न्बन्धुप्रियकृ दर्जुनः।
गाण्डीवी कालयामास सिंहः क्षुद्रमृगानिव॥ ५४ ॥

पारिबर्ह[5] मुपागृह्य द्वारका मेत्य सत्यया।
रेमे यदूना मृषभो भगवा न्देवकीसुतः॥ ५५ ॥

श्रुतकीर्तेः सुतां भद्रा मुपयेमे पितृष्वसुः।
कैकेयीं भ्रातृभि र्दत्तां कृष्णः सन्तर्दनादिभिः॥ ५६ ॥

सुतां च मद्राधिपते र्लक्ष्मणां लक्षणै र्युताम्।
स्वयंवरे जहारैकः स सुपर्णः सुधामिव॥ ५७ ॥

अन्या श्चैवंविधा भार्याः कृष्णस्याऽऽसन् सहस्रशः।
भौमं हत्वा तन्निरोधा दाहृता श्चारुदर्शनाः॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५८ ॥

1. K.W वि० 2. K °यौ 3.B.J. कोशलः; K °तुस्तदा; M.Ma कौशलः★ 43 and 44 Slokas are not found in M.Ma editions 4. K.W °र्षा 5. K.W बर्हमुपानीय; M.Ma बर्हं च सकृष्ण 6. M.V. °नां वृ० 7 M.V. °न्दर्श०

**श्रीध० नवेति**। नागात् नागेभ्यः शतगुणा नव लक्षाणि रथान्[1], रथाद्रथेभ्यः शतगुणा नवकोटीः अश्वान्[2], अश्वा दश्वेभ्यः शतगुणा नवपद्मानि पदातीन्[3]॥ ५१,५२ ॥

**श्रुत्वेति**। यदुभि र्गोवृषैश्च भग्नवीर्या अपि सुदुर्मर्षा असहनशीला[4] रुरुधुः[4]॥ ५३ ॥

**तानिति**। अस्यतः क्षिपतः, प्रयुञ्जाना निति यावत्॥ ५४,५५ ॥

समं विवाह माह-**श्रुतकीर्तेरिति**। श्रुतकीर्ति र्नाम या पितृष्वसा तस्याः सुतां भद्रां नाम। कैकेयीं तद्देशजां सन्दर्शनादिभिः[5] भ्रातृभिः[5] दत्ताम्॥ ५६ ॥

अष्टमं विवाह माह-**सुतां चेति**। एक एव स श्रीकृष्णो लक्ष्मणां जहार॥ ५७ ॥

**अन्याश्चेति**। तस्य निरोधोऽन्तःपुरं तस्मात्॥ ५८ ॥

★ भैष्मी जाम्बवती भामा सत्या भद्रा च लक्ष्मणा।
कालिन्दी मित्रविन्दा चेत्यष्टौ पट्टमहास्त्रियः।

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५८ ॥

---

1 BJ omit रथान् 2 BJ omit अश्वान् 3 BJ omit पदातीन् 4- -4 MIV omit 5- -5 BJ omit ★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः।

**वीर०** नागानां गजानां नवसहस्राणि नागात्,नागेभ्यः शतगुणं शतगुणान् नवलक्षाणि रथान्,रथा द्रथेभ्यः शतगुणान् [1-] नवकोटिपरिमितान् अश्वान्.(अश्वात्) अश्वेभ्यः शतगुणान् [-1] नवपद्मसंख्याकान् [2-] [-2] नरान् भृत्यांश्च [3-] प्रादादि त्यनुषङ्गः [-3]॥ ५१॥

**दम्पती** इति। दम्पती नग्नजिद्भार्ये तदा रथ मारोप्य सभार्यं, कृष्ण मिति शेषः। स्नेहेन प्रक्लिन्न मार्द्रं हृदयं ययो स्तौ याप्यामासतुः गमयामासतुः [4-] पुरं द्वारकाम्। [-4] याप्यामास कोसल इति पाठे स्नेहप्रक्लिन्नहृदय इति पाठश्च। दम्पती नाग्नजिती श्रीकृष्णौ [5] ॥ ५२ ॥

**श्रुत्वेति।** एत द्भगवतो यानं श्रुत्वा यदुभि र्गोवृषैश्च ससभि र्भग्नं वीर्यं येषां तथाभूता अपि दुर्धर्षाः कन्यकां [7-] नाग्नजितीं [-7] नयन्तं श्रीकृष्णं पथि रुरुधुः॥ ५३ ॥

**तानिति।** शरसमूहान् अस्यतः क्षिपतः प्रयुञ्जाना निति यावत्, तान् भूपान् बन्धूनां कृष्णादीना प्रतिकृ दर्जुनः गाण्डीवी धृतगाण्डीवः [8] कालयामास पलाययाञ्चक्रे यथा क्षुद्रमृगान् सिंहः [9] तद्वत्॥ ५४ ॥

**पारिबर्हमिति।** पारिबर्हं श्वशुरदत्तं [10] एत्य आगत्य सत्यया नाग्नजित्या सह॥ ५५ ॥

अथ ससमं विवाह माह- **श्रुतकीर्तेरिति।** सन्तर्दन आदि र्येषां तैः भ्रातृभिः दत्तां कैकयस्याऽपत्यभूतां स्वपितृष्वसुः श्रुतकीर्तेः सुतां भद्रां नाम कान्या मुपयेमे॥ ५६ ॥

अष्टमं विवाह माह- **सुतामिति।** मद्रदेशाधिपतेः सुतां [11] शुभैः लक्षणैर्युक्तां लक्ष्मणां नाम कन्यां स्वयंवरे असहाय एव सन् जहार यथा सुपर्णो गरुत्मान् सुधां तद्वत्॥ ५७ ॥

**इत्थं** प्रधानपत्नीरुक्त्वा अथाऽन्या अप्याह- **अन्याश्चेति।** का स्ता इत्यत आह-भौममिति। भौमं नरकासुरं हत्वा तन्निरोधात् [12-] **अन्तःपुरात्** [-12] आनीताः॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीविराघवविद्वुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रि
व्याख्यायां अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५८ ।

1- -1 K.W omit 2- -2 K.W पद्यान् 3- -3 K.W omit 4- -4 K.W omit 5 B adds इति योज्यम् 6 B °र्भ० 7- -7 K W omit 8 B °वधनुष्कः 9 B adds कालयति 10 B adds इति शेषः। 11 BK omit शुभैः 12- -12 K W omit

विज० भौम हत्वा तस्य भौमस्य निरोधात् तत्कारागृहात् आहृताः आनीताः॥ ५१-५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
टीकाया अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५८ ॥

(विजयध्वजरीत्या द्विषष्टितमोऽध्यायः)

---

# एकोनषष्टितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या त्रिषष्टितमोऽध्यायः)

-: नरकासुरवधारम्भः :-

राजोवाच

यथा हतो भगवता भौमो येन च तत्स्त्रियः।
निरुद्धा एतदाचक्ष्व विक्रमं शार्ङ्गधन्वनः॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

★ द्वारवत्यां महाभागे निवस त्यच्युते नृप।
दीनेनोद्विग्नचित्तेन समागम्य त्रिविष्टपात्।
इन्द्रेण हृतच्छत्रेण हृतकुण्डलबन्धुना।
हृतामराद्रिस्थानेन ज्ञापितो भौमचेष्टितम्॥

● इन्द्र माश्वास्य गोविन्दः सुसम्पूज्य विसृज्य च।
सभार्यो गरुडारूढः प्राग्ज्योतिषपुरं ययौ॥ २ ॥

गिरिदुर्गैः शस्त्रदुर्गैः जलाग्न्यनिलदुर्गमम्।
मुरपाशायुतैर्घोरैः दृढैः स्सर्वत आवृतम्॥ ३ ॥

卐 स सम्प्राप्य भटैर्गुप्तं दानवेन्द्रपुरं महत्।
गदया निर्बिभेदाद्रीन् शस्त्रदुर्गाणि सायकैः॥

❀ तान्निर्भिद्य प्रविश्याऽन्तः शस्त्रदुर्गाणि सायकैः।
चक्रेणाऽग्निं जलं वायुं मुरपाशां स्तथाऽसिना॥ ४ ॥

□ चकर्त मौरवं पाशं चक्रेणाऽमन्दमच्छिनत्।
क्षुरमालां तथा घोरां निचकर्ताऽसिना हरिः॥

वायव्यास्त्रेण सलिलं वारुणास्त्रेण पावकम्।
हरि र्निमिषमात्रेण नाशयामास भारत॥

शङ्खनादेन[10-] यन्त्राणि हृदयानि[-10] मनस्विनाम्।
प्राकारं[11-] गदया गुर्व्या निर्बिभेद[-11] गदाधरः॥ ५ ।

1- -1 M.Ma नीता यथा 2 M.Ma या स्तदा॰ 3- -3 W.omits ★ This extra verse is found in B.M.Ma editions only. 4- -4 B.M.Ma हृतच्छत्रेण शक्रेण ● An extra half verse is found in B.M.Ma editions only 5- -5 B.M.Ma हिमाद्रौ तुङ्गशिखरे 6- -6 B.omits, M.Ma गिरिदुर्गै श्शस्त्रदुर्गैः मुपाशायुतै र्वृतम् 卐 An extra half verse is found in B.M.Ma editions only. 7.M.Ma °द्रिं 8- -8 M.Ma प्राकाराकारसंस्थितम् ❁ An extra half verse is found in M.Ma editions only; B G.J K.M I V.W omit 9- -9 M.Ma omit □ These four extra half verses beginning with चकर्त and ending with भारत are found only in B.M.Ma editions. 10- -10 M.Ma तीव्रेण मनांसि च 11- -11 M.Ma omit

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ऊनषष्टितमे भौमं हत्वा तेनाऽऽहृता हरिः। कन्याः सहस्रशः प्राप[1] पारिजातं दिवोऽहरत्॥

परिणीय तत स्ताभिः तन्मनोरथपूरणैः। आत्मारामोऽप्यसौ रेमे तद्गृहेषु गृहस्थवत्॥

**यथेति**। येन ताः स्त्रियो निरुद्धाः, स भौमः चकारात् येन कारणेन हत स्त दाचक्ष्वेति॥ १ ॥

**इन्द्रेणेति**। इन्द्रेण भौमविचेष्टितं विज्ञापितस्सन्[2] प्राग्ज्योतिषपुरं भौमनगरं यया दित्यन्वयः। कथम्भूतेन[3]? हृतं छत्रं यस्य तेन लोकपालप्रधानत्वा दिन्द्रस्य। वरुणच्छत्रहरणेऽपि तस्यैव मानभङ्ग इति तथोक्तम्। हृते कुण्डले यस्यास्सा अदिति र्बन्धु र्माता यस्य, तेन हृत ममराद्रौ स्थानं मणिपर्वतलक्षणं यस्य तेन, सत्यभामाया गृहे भगवन्त मिन्द्र आगत्य विज्ञापितवान्। तदा तस्याः कौतुकाय तया भार्यया सह ययाविति। यद्वा त्वदनुज्ञयैव तत्पुत्रं हनिष्यामीति इतिहासोक्तं भूम्यै वरं दत्तं सत्यं कर्तुं सत्यभामाया भूम्यंशत्वात् तया सह ययौ। यद्वा नारदानीतपारिजातैककुसुमे रुक्मिण्यै दत्ते सति कुपितां सत्यभामां सान्त्वयता तुभ्यं पारिजातमेव दास्यामीति श्रीकृष्णेन प्रतिश्रुत मिति हरिवंशे प्रसिद्धम्। तदर्थं तां नीतवा निति ज्ञेयम्[4]॥ २ ॥

**गिरिदुर्गैरिति**। गरुडेन यानेन[5] कारणम्- **गिरिदुर्गै** रित्यादि। तैरु पलक्षितम्। जलान्यर्गलैश्च सर्वतो वर्तमानैः दुर्गमम्॥ ३-५॥

1. M.I.V. प्राप्य 2. B.J. omit वि 3 B.J. किम्भू॰ 4 B.J. omit ज्ञेयम् 5. B.J. omit न

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

"भौमं हत्वा तन्निरोधा दाहृताः" (भाग. 10-58-58) इत्युक्तम्। तद्विस्तरबुभुत्सया पृच्छति राजा- **यथेति**। येन भौमेन ताः स्त्रियो निरुद्धाः स भौमः यथा येन प्रकारेण हतः, चकाराद्येन कारणेनेत्यपि बोद्धव्यम्। तदाचक्ष्वाऽऽख्याहि॥ १ ॥

आचष्टे **इन्द्रेणेति**। इन्द्रेण भौमचेष्टितं प्रति[1] ज्ञापितस्सन् प्राग्ज्योतिषपुरं ययौ इति सम्बन्धः। कथम्भूतेन? हृतं भौमेन हृतं छत्रं यस्य तेन। लोकपालप्रधानत्वा दिन्द्रस्य वरुणच्छत्रहरणेऽपि तस्यैव मानभङ्ग इति तथोक्तम्। हृते कुण्डले यस्या स्सा- बन्धु र्माता अदितिः यस्य तेन, हृत ममराद्रिस्थानं मणिपर्वतात्मकं यस्य तेन। सत्यभामागृहे भगवन्त मिन्द्र आगत्य विज्ञापितवां स्तदा तस्याः कौतुकाय तया[2] सह ययाविति। यद्वा, त्वदनुज्ञयैव त्वत्सुत हनिष्यामीति इतिहासेनोक्तं भूम्यै वरं दत्तं सत्यापयितुं सत्यभामाया भूम्यंशत्वा त्तया सह ययाविति। यद्वा नारदानीतपारिजातैककुसमे रुक्मिण्यै दत्ते सति कुपितां सत्यभामां सान्त्वयितुं, तुभ्यं पारिजाततरुमेव दास्यामीति प्रतिश्रुतमिति हरिवंशे प्रसिद्धम्। तदर्थं तां नीतवानिति। गरुडारूढ इत्यत्र हेतुं वदन् पुरं विशिनष्टि-गिरीति। गिरिदुर्गै श्शस्त्रदुर्गै श्चोपलक्षितम्। जलाग्न्यनिलैश्च परितो वर्तमानैश्च दुर्गमम्, घोरैर्दैवैश्च मुरस्य पाशैः परित आवृतम्॥ २,३ ॥

**गदयेति**। चक्रेण सुदर्शनेन अग्निजलवायून् निर्बिभेद, असिना खड्गेन॥ ४ ॥

मनस्विनां स्वैरिणां मुरादीनां हृदयानि यन्त्राणि च शङ्खनादेन॥ ५ ॥

1 KTw omit प्रति 2 TW add भार्यया 3 BTW °तकु०

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

यथाकथं पृष्टं तत्सर्वम्॥ १ ॥

हृते कुण्डले यस्य स हृतकुण्डलः हृतकुण्डलो बन्धु र्माता यस्य स तथा तेन नरकेण हृत ममराद्रौ मेरौ स्थानं यस्य स तथा। प्राग्ज्योतिषपुरं नरकस्य नगरम्॥ २ ॥

कुत्र तन्नगर मत्राह - **हिमाद्राविति**। जलेन अग्निना[1] अनिलेन वायुना दुर्गमं गन्तुमशक्यं मुरपाशानामयुतैः अनेकैः षट्सहस्रै रित्यर्थः। यद्वा मुरपाशैः अयुतैः असम्बद्धैः पृथक्कृतैः शस्त्रदुर्गैः, दुर्गमपि गिर्यादिक्रमेण॥ ३,४ ॥

**अमन्द मनलम्**॥ ० ॥ ५ ॥

1 B omits अग्निना

पाञ्चजन्यध्वनिं श्रुत्वा युगान्ताशनिभीषणम्।
मुरः शयान उत्तस्थौ दैत्यः पञ्चशिरा जलात्॥ ६ ॥

त्रिशूलं मुद्यम्य सुदुर्निरीक्षणो युगान्तसूर्यानिलरोचिरुल्बणः।
ग्रसं स्त्रिलोकीमिव पञ्चभि र्मुखै रभ्यद्रव त्तार्क्ष्यसुतं यथोरगः॥ ७ ॥

आविध्य शूलं तरसा गरुत्मते निरस्य वक्त्रै र्व्यनद त्स पञ्चभिः।
खं रोदसी सर्वदिशोन्तरं महान् आपूरय न्नण्डकटाह मावृणोत्॥ ८ ॥

★ तदापतद्वै त्रिशिखं गरुत्मते हरिः शराभ्या मभिन त्त्रिधौजसा।
मुखेषु तत्रापि शरै रताडय त्तस्मै गदां सोऽपि रुषा व्यमुञ्चत॥ ९ ॥

ता मापतन्तीं गदया गदां मृधे गदाग्रजो निर्बिभिदे सहस्रधा।
उद्यम्य बाहू नभिधावतोऽजितः शिरांसि चक्रेण जहार लीलया॥ १० ॥

1 MMa कृत्वा 2 MMa °ध्यो 3--3 MMa रुज्ज्वलः, MIV रूल्वणम् 4 MMa °कानिव 5 BGJ स 6 BKW °न्नर ★ MMa read thus- तमापतन्त त्रिशिख गरुत्मते चकर्त बाणद्वितयेन केशवः। मुखेषु तस्यापि शरा न्समर्पयन् पुन र्गदा सोऽप्यमुच न्मधुद्विषे॥ 7- -7 MIV शरौघै रभिन° W शराभ्यामहन० 8 MMa °तो दिशः

श्रीध० पाञ्चजन्येति। युगान्ताशनेः ध्वनिव द्भीषणम्। परिखाया जलात्॥ ६,७ ॥

आविध्येति। आविध्य आतोल्य स महान्नाद इत्यन्वयः॥ ८ ॥

तदिति। तस्मै श्रीकृष्णाय गदा व्यमुञ्चत् व्यक्षिपत्॥ ९,१० ॥

1 BJ °त 2 MIV omit व्यक्षिपत्

वीर० पाञ्चजन्येति। युगान्ताशने र्ध्वनिव द्भीषणं पाञ्चजन्यध्वनि माकर्ण्य॥ ६ ॥

त्रिशूलमिति। युगान्ते सूर्याग्न्योरिव रोचि र्दीप्ति र्यस्य स मुरासुरः अत एवोल्बणः दुस्सहो दुर्निरीक्षस्सन् त्रिशूल मुद्धृत्य, पञ्चभि र्मुखैः त्रिलोकीं ग्रसन्निवाऽभ्यधावत् यथोरग स्सर्पः तार्क्ष्यसुतं मरुडं, तद्वत्॥ ७ ॥

आविध्येति। स मुरः शूल माविध्याऽऽतोल्य तरसा बलेन गरुडाय प्रयुज्य पञ्चभि र्वक्त्रैः व्यनदत् ननाद। किं कुर्वन्? रोदसी द्यावापृथिव्यौ खमन्तरिक्षं लोकोपरितनमाकाशं सर्वेषां श्रोत्रबिलं (स्थानं) वा दिगन्तराऽऽपूरयन्, नादेनेति शेषः। स नादः कृत्स्नम प्यण्डकटाह मावृणोत्॥ ८ ॥

**तविति।** तिस्रः शिखाः यस्य तत् गरुडायाऽऽगच्छत् त्रिशूलम् ओजसा बलेन शराभ्यां त्रिधा चिच्छेद तं मुरश्च मुखेषु शरै[1] स्ताडयामास। सोऽपि मुरोऽपि रुषा तस्मै कृष्णाय गदां व्यमुञ्चत् प्रायुङ्क्त ॥ ९ ॥

**तामिति।** गदाग्रजो भगवान् स्वगदया तां मुग्रप्रयुक्ता मापतन्तीं गदां मृधे युद्धे सहस्रधा निर्बिभेद। ततो बाहू उद्धृत्य अभिधावतो मुरस्य पञ्च शिरांसि चक्रेणाऽजितो भगवां श्चिच्छेद॥ १० ॥

---

1 T. omits दुस्सहः 2 K °द्धं° 3- -3 K.T.W omit 4. T.W. omit शरैः

**विज०** निरस्य मुक्त्वा आपूरयन्, नादेनेति शेषः॥ ६-१० ॥

व्यसुः पपाताऽम्भसि कृत्तशीर्षो[1] निकृत्तशृङ्गोऽद्रि[2] रिवेन्द्रतेजसा।
★ पपात विष्णोः शिरसि प्रमोदिनी प्रसूनवृष्टि र्निहते मुरेऽसुरे।
तस्याऽऽत्मजा स्सप्त पितुर्वधातुराः प्रतिक्रियामर्षजुषः[3] समुद्यताः[-3]। ११ ॥

ताम्रोऽन्तरिक्षः[4-] श्रवणो विभावसु र्वसु[5-] र्नभस्वा नरुणश्च सप्तमः[-5]।
पीठं पुरस्कृत्य चमूपतिं मृधे[6-] भौमप्रयुक्ता निरगु[7-] र्धृतायुधाः[-7]॥ १२ ॥

प्रायुञ्जताऽऽसाद्य शरा नसीन् गदाः[8-] शक्त्युष्टिशूला[9] न्यजिते[10] रुषोल्बणाः[11]।
तच्छस्त्रकूटं[12] भगवा न्स्वमार्गणै[13] रमोघवीर्य स्तिलश श्चकर्त ह ॥ १३ ॥

ता[14-] न्पीठमुख्या[-14] ननय[15] द्यमक्षयं निकृत्तशीर्षोरुभुजाङ्घ्रि[16] वर्ष्मणः।
□ ततो द्रुततरं गत्वा भटा राजपुरं महत् हता न्मुरसुता न्सर्वान् नरकाय न्यवेदयन्॥

स्वानीकपा नच्युतचक्रसायकैः[17-] तथा निरस्तान्नर[-18] को धरासुतः[-18]॥ १४ ॥

निरीक्ष्य दुर्मर्षण[19-] आस्रवन्मदै[-19] र्गजैः पयोधिप्रभवै[20] र्निराक्रमत्।
○ रथै रनेकसाहस्रै र्गजैश्च बहु भि र्वृतः।
महत्या सेनया युक्त श्चाऽऽया दायोधनं बली॥

दृष्ट्वा सभार्यं गरुडोपरिस्थितं सूर्योपरिष्टात् सतडिद्घनं[21] यथा।
△ गृहीतकोदण्ड मुदारशङ्खकौमोदकीचक्रधरं चतुर्भुजम्॥

नीलजीमूतसङ्काशं दृष्ट्वा तं गजवाहनम्।
शङ्खं माध्याय गोविन्दः सिंहनादं व्यनीनदत्॥

वरूथिनी दैत्यपतेः सुघोरान् शरा न्ववर्षाऽच्युतमूर्ध्नि दुर्जया।
[22-]कृष्णं स तस्मै [-22] व्यसृज च्छतघ्नीं [23-]यो धाश्च सर्वे [-23] युगप त्प्रविव्यधुः॥ १५॥

$अनेक बाणान्निर्मुक्तान् नरकेण स्मयन्निव।
चकर्त सो बाणै र्युगपत्तदद्भुत मिवाऽभवत्॥

---

1 MMa कन्धरो, MIV शीर्षको 2 MMa पक्षो ★ This extra half verse is found in MMa editions only 3- -3 MMa विकीर्षवस्तस्य रणे प्रतिक्रियाम् 4- -4 MMa धुवश्च विष्णुः 5- -5 नभो वसुस्वा नरणश्च सप्त 6- -6 MMa रथा न्समारुह्य वृषप्रयुक्तान्। 7- -7 BGJ निरगन् धृतायुधाः, MMa भवना निरक्रमन्। 8- -8 MMa अयुञ्जतासज्य शरासनान् भटाः 9 BGJW °क्त्यृष्टि। MMa क्त्यर्षि 10 MMa °ञ० 11 MMa °णान् 12 MMa °वृ० 13 MMa °न्स० 14- -14 MMa तान् योद्धुमिच्छून०, तान् वीरमुख्यान० 15 B °चमालय 16 BGJ वर्मणः, MMa कार्मुकान् □ This extra verse is found in MMa editions only 17- -17 MMa हताभिशम्याऽऽशु, MIV मृधेहतास्ता ञ० 18- -18 MMa चुकोपभूमिजः 19 KW °र्धर्षण आ०, MMa °र्मर्षणमा० 20 MMa °ब्धि० ○ This extra verse is found in MMa editions only 21 BGJMMa °डि० △ These four extra half verses are found in MMa editions only 22- -22 MMa कृष्णे स भौमो 23- -23 MMa लोहायसीं तेन भृशा 24 BGJ तस्म विव्यधुः, MMa स विव्यधे। $ This extra verse is found in MMa editions only

**श्रीध० व्यसुरिति।** इन्द्रतेजसा वज्रेण प्रतिक्रियया हेतुभूतया अमर्षजुषः॥ ११ ॥

**ताम्र** इति। पीठं पीठनामानं निरगुः[1] निरगमन्॥ १२,१३ ॥

**तानिति।** निकृत्तानि शीर्षादीनि येषां तान्॥ १४ ॥

**वरूथिनीति।** शतघ्नीं शक्तिविशेषम्॥ १५ ॥

---

1 BJ निरगन्

**वीर० व्यसु** रिति। निकृत्तानि शीर्षाणि शिरांसि यस्य स अत एव व्यसु र्गतप्राणोऽम्भसि जले पपात। यथा इन्द्रतेजसोपलक्षितेन वज्रेण निकृत्त शृङ्गो गिरिस्तद्वत्। तस्य मुरस्य आत्मजाः सप्त पितुर्वधात् दुःखिताः प्रतिक्रियायै अमर्षजुषः क्रोधाविष्टाः भौमेन प्रेषिताः धृतान्यायुधानि यैस्ते च मृधे युद्धे निमित्ते पीठनामानं चमूपतिं पुरस्कृत्य समुद्यताः आयत्ताः निरगुः निर्गता बभूवुरिति सम्बन्धः। तानेव सप्त निर्दिशति ताम्र इति॥ ११,१२ ॥

**प्रायुञ्जतेति।** उल्बणा स्ते ताम्रादयः आसाद्य अभ्येत्य एषा क्रोधेन अजिते श्रीकृष्णे शरादीन् प्रायुञ्जत[2-] [-2] प्रयुक्तवन्तः। तदा भगवान् स्वमार्गणैः स्वशरै स्तच्छस्त्रजालं तिलप्रमाणश्च चिच्छेद। हेति विस्मये॥ १३ ॥

**तानिति।** निकृत्तानि छिन्नानि शीर्षादीनि येषां तान् ताम्रादीन् यमसदन मनयत्। बर्म्म शरीरं तच्चोपात्ततिरितप्रदेशपरम्। इदमर्धं पृथगन्वेतव्यम्। स्वानीकपानिति। स्वान् कांश्चि दनीकपान् सेनापतीन् अच्युतस्य सायकै र्हतानिति शेषः। तथा कांश्चि च्छिरस्तान् दूरतः पातितांश्च दृष्ट्वा धरासुतो नरकः दुस्सहः स्रव न्मदो येषां तैः पयोधिप्रभवैः पयोध्यन्तर्द्वीपजैः गजैस्सह निराक्रमत् निर्गतवान्। इष्वेति। यथा सूर्यस्योपरिष्टात् तटिता सहितं घनं नीलमेघं तद्वत्। सभार्यं गरुडोपरि स्थितं कृष्णम्। तत्र सूर्यस्थानीयो गरुडः, तटित्स्थानीया भार्या, घनस्थानीयस्तु कृष्ण शति विवेकः । स भौम स्तस्मै कृष्णाय शतघ्नीं शक्तिविशेषं व्यसृजत् प्रायुङ्क्त। तथा योधाश्च भौमसम्बन्धिनः युगप त्प्रविव्यधुः ताडयामासुः, स्वस्वायुधैरिति शेषः॥ १४,१५ ॥

---

1 B निरगमन् 2- -2 KTW omit 3 B °डि० 4 B °डि० 5 B शस्त्र

**विज०** प्रमोदिनी सन्तोषजननी॥ (११) ॥

भौमेन प्रयुक्ताः प्रेरिताः निराक्रम न्निर्गताः॥ १२ ॥

आसज्य ज्या मारोप्य कूटम् समूहम्॥ १३ ॥

आयोधनम् युद्धस्थानम्। सूर्योपरिष्टात् स्थितं तडिता सहितं घनं मेघम्। लोहेनायसा निर्मितां, तेन शतघ्नी प्रयोगेण विव्यथे 'व्यथ-ताडने' इति धातोः, ताडितोऽभूत्॥ १५ ॥

**तद्भौमसैन्यं भगवा न्गदाग्रजो विचित्रवाजै र्निशितै श्शिलीमुखैः।**
**निकृत्तबाहूरुशिरोध्रविग्रहं चकार तर्ह्येव हताश्व कुञ्जरम्॥ १६ ॥ ★**

इति विजयध्वजरीत्या त्रिषष्टितमोध्यः॥ ६३ ॥

## ॥ अथ विजयध्वजरीत्या चतुष्षष्टितमोध्यायः आरभ्यते॥

**○ यानि योधैः प्रयुक्तानि शस्त्रास्त्राणि कुरूद्वह।**
**हरि स्तान्यच्छिन त्तीक्ष्णैः शरै रेकैकश स्त्रिभिः॥ १७ ॥**

**उह्यमान स्सुपर्णेन पक्षाभ्यां निघ्नता गजान्।**
**गरुत्मता हन्यमानास्तुण्डपक्षनखैर्गजाः॥ १८ ॥**

**□ तुरङ्गमाश्च दुर्धर्षाः पेतु रुर्व्यां गतासवः।**
**पुरमेवाऽविश न्नार्ता नरको युध्ययुध्यत।**
**दृष्ट्वा विद्रावितं सैन्यं गरुडेनार्दितं स्वकम्॥ १९ ॥**

**तां भौमः प्राहर च्छक्त्या वज्रः प्रतिहतो यतः।**
**ना ऽकम्पत तया विद्धो मालाहत इव द्विपः॥ २० ॥**

तान्विसृज्य हरिर्देवान् स्वयमेव जगत्पतिः।
प्राविशत् भौम सदनं पुरन्दर पुरोपमम्॥

[4]तत[4]श्च भूः कृष्णमुपेत्य कुण्डले प्रतप्तजाम्बूनदरत्नभास्वरे।
□ सा [5]वैजयन्त्या वनमालयाऽऽर्पयत् प्राचेतसं छत्र मथो महामणिम्॥ २३॥

अस्तौषीदथ विश्वेशं [6]दैवी देववरार्चितम्।
प्राञ्जलिः प्रणता राजन् भक्तिप्रवणया धिया॥ २४॥

★ These 14 extra half verses are found in M.Ma editions only 1. B.G.J. °णं 2. B.G.J. बभौ 3. B.G.J M.Ma M.V. समुज्ज्व
● These 4 extra Verses are found in M.Ma editions only. 4. M.Ma ततो धरा कृ० □ This half verse reads in M.Ma editions thus पौत्रं च वीरं भगदत्तसंज्ञितं निवेद्य मालामपि वैजयन्तीम्। 5. B.G.J. स वै० 6 K.W. देव

**श्रीध० शूलमिति।** गरुडे वितथोद्यमस्सन् [1-]शूलं व्रिशूल माददे धृतवान्[-1]॥ २१,२२ ॥

**तत** इति। प्रतप्ते जाम्बूनदे यानि रत्नानि तै र्भास्वरे। मेर्वंशभूतं [2-]मन्दरशिखरं[-2] महामणिञ्च आर्पयदिति॥ २३,२४॥

1- -1 M.V omit 2- -2 B. मन्दरं

**वीर० शूलमिति।** गरुडे व्यर्थोद्यमस्सन् शूल माददे स्वीकृतवान्। तद्विसर्गात् शूलप्रयोगात् पूर्वमेव हरि र्नरकस्य शिर श्चक्रेण चिच्छेद। कथम्भूतेन? क्षुरस्येव नेमिः धारा यस्य तेन॥ २१ ॥

**सकुण्डलमिति।** कुण्डलाभ्यां सहितं सुन्दरेण किरीटेन भूषितं शिरः पृथिव्यां पतितं सत् सम्य [1]गज्वलत्। नरकसम्बन्धिनो हाहेति, ऋषयस्तु साधु साध्विति ऊचुः। सुरेश्वरास्तु कुसुमै र्विकिरन्तो मुकुन्दं तुष्टुवुः॥ २२ ॥

**ततश्चेति।** (सा) भू र्भूमिः नरकस्य माता प्रतप्ते जाम्बूनदे यानि रत्नानि तै र्भास्वरे कुण्डले तथा वैजयन्त्या वनमालया सह प्राचेतसं वारुणं छत्रं, मेर्वंशभूतं मन्दरशिखरं महामणिञ्च कृष्णायाऽर्पयामास॥ २३ ॥

**अस्तौषीदिति।** हे राजन्! देवो देववरै रर्चितश्च तं कृष्णं भक्त्या प्रवणा या धी स्तयोपलक्षिता तुष्टाव॥ २४॥

---

1. B °गुज्ज्व०

विज० आक्रष्टुकामं आकर्णपूर्णम् आकर्षणेच्छुम्॥ क-ग

नाम्ना क्षुप्रेण शरेण॥ घ-छ॥

क्षुरनेमिना निशितनेमिना॥ २१-२३ ॥

भक्त्या प्रवणया सततया धिया बुद्ध्या॥ २४ ॥

-: भूमिकृत श्रीकृष्णस्तुतिः :-

भूमि रुवाच[1-] [-1]

नमस्ते देवदेवेश शङ्खचक्रगदाधर।
भक्तेच्छोपात्तरूपाय परमात्म न्नमोऽस्तु ते॥ २५ ॥

नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने।
नमः पङ्कजनेत्राय नम स्ते पङ्कजाङ्घ्रये॥ २६ ॥

नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय विष्णवे।
पुरुषायाऽऽदिबीजाय पूर्णबोधाय ते नमः॥ २७ ॥

अजाय जनयित्रेऽस्य ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
परावरात्मन्[2-] भूतात्मन्[-2] परमात्मन्[3] नमोऽस्तु ते॥ २८ ॥

त्वं वै सिसृक्षू रज उत्कटं[4] प्रभो तमो निरोधाय बिभर्ष्यसंवृतः[5]।
स्थानाय सत्त्वं जगतो जगत्पते[6] कालः प्रधानं[7-] पुरुषो भवा न्परः[-7]॥ २९ ॥

अहं पयो ज्योतिरथाननोऽनिलो[8] मात्राणि देवा मनइन्द्रियाणि[9]।
कर्ता महानि त्यखिलं चराचरं[10] त्वय्यद्वितीये भगव न्नयं भ्रमः॥ ३० ॥

तस्यात्मजोऽयं तव पादपङ्कजं भीतः प्रपन्नार्तिहरोपसादितः[11-]।
त[12] त्पालयैनं कुरु हस्तपङ्कजं शिर स्यमुष्याऽखिलकल्मषापहम्॥ ३१ ॥

1- -1 K.W. धरोवाच; M.Ma पृथिव्युवाच 2- -2 M.Ma चराचरा०; M.V परापरा० 3. M.Ma लोकेश 4. M.Ma °त्कटः 5. M.Ma °र्षि संवृतम्। 6. M.Ma °त्प्रभो 7- -7 M.Ma ०नः पुरुषोऽस्य पाः। 8 B.G.J. M.Ma M.V. °धाऽनिलो नभो 9. M.V. add च 10. M.Ma तु कारणं 11- -11 M.Ma °तं प्रसादितुम् 12. K.W. तं पा०

श्रीध० ऐश्वर्यं ज्ञात्वा भूमिः स्तौति- नमस्त इति। परमात्मन्! देवाद्यन्तर्यामिन्! भक्तानुग्रहार्थं इच्छया स्वीकृतनानारूपाय॥ २५ ॥[-1]

येन मन्त्रेण कुन्त्याः प्रसन्नः पूर्वमासी तेन मन्त्रेण नमस्यति- **नम** इति। पङ्कजं नाभौ यस्य तस्मै जगत्कारणायेत्यर्थः। अत एव सत्कीर्तिमयी पङ्कजानां[2] माला विद्यते यस्य तस्मै। एवम्भूतं ध्यायतां पङ्कजव त्सुप्रसन्ने तापोपशमने नेत्रे यस्य तस्मै, पङ्कजवत् सुसेव्यौ पङ्कजाङ्किती वाऽङ्घ्री यस्य तस्मै नम इति॥ २६ ॥

**नम** इति। किञ्च, भगवते निरतिशयैश्वर्याय, कुतः[3]? वासुदेवाय सर्वभूताश्रयाय, अत एव विष्णवे व्यापिने। न हि सर्वभूताश्रयत्वं परिच्छिन्नस्य सम्भवतीति, कुत स्सर्वाश्रयत्वम्[4]? तत्राऽऽह - पुरुषाय सर्वस्मात्कार्या त्पूर्वमेव सते "पूर्व मेवाऽह मिहाऽऽसम्" इति, "तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम्" इति श्रुतेः। एतदपि कुतः? आदिबीजाय आदे र्जगत्कारणस्यापि कारणाय। एवंमपि न मृदादिवच्चाऽयमित्याह-पूर्णबोधायेति॥ २७ ॥

नन्वेवमपि[5] स्वस्य कारणात्पूर्वं सत्त्वं न स्या दत आह- **अजायेति**। स्वय मजाय अस्य च[6] जगतो जनयित्रे। उभयत्राऽपि क्रमेण हेतुद्वयम्। ब्रह्मणे बृहते अनन्तशक्तय इति च। बृहत्त्वा दजत्व मनन्तशक्तित्वा त्तज्जनयितृत्व मित्यर्थः।[7] ननु पित्रादयः पुत्रादीनां जनकाः, तेषाञ्च तत्पूर्वे तेषाञ्च[8] तथा भूतानि, तेषाञ्च स्वकर्मद्वारेण जीवाः, कि मत्राऽऽहम् तत्राऽऽह-परावरात्म न्नित्यादि। पित्राद्यात्मकत्वा त्त्वमेव जनक इत्यर्थः॥ २८ ॥

ननु गुणा विश्वोत्पत्त्यादिहेतवः ते च प्रधानस्यैव, तस्य च पुरुषः क्षोभकः, तत्र च कालो निमित्त मिति प्रसिद्धम्। कि मत्राऽऽहं, तत्राऽऽह **त्वं वै** इति। तमसो धारणेऽप्यसंवृत एव। स्थानाय पालनाय, जगतः सृष्टयाद्यर्थ मुत्कटं रज आदि त्वमेव बिभर्षि सृजसीत्यर्थः। कालप्रधानपुरुषाश्च त्वद्व्यतिरिक्ता न सन्ति। त्वन्तु परः सर्वव्यतिरिक्तः, अत स्त्वमेव जनयितेत्यर्थः॥ २९ ॥

कार्यकारणप्रपञ्चस्य तदव्यतिरेकं तस्य च सर्वव्यतिरेक मुपपादयति- **अहमिति**। अहं भूमिः मात्राणीति[9] देवा मन इन्द्रियाणीति च त्रिविधाहङ्कारकार्याणि, कर्ताऽहङ्कारः॥ ३० ॥

एवं स्तुत्वा प्रार्थयते - **तस्येति**। हे प्रपन्नार्तिहर! तस्य नरकस्य आत्मजः[10] अयं भगदत्तो नाम भीतोऽत एव मया तव पादपङ्कज मुपसादितः[11] अभयप्रदानार्थम्॥ ३१ ॥

---

1- -1 BJ omit 2 BJ. °जमा० 3 BJ. omit कुतः? 4- -4 MI.V. omit 5.MI.V. स्व का० 6. MI.V. omit जगतो 7. MI.V. omit तत् 8 BJ omit तथा 9. MI V omit इति 10 BJ omit आत्मजः 11- -11 BJ. omit.

**वीर०** स्तुति मेवाऽऽह- **नमस्त** इति। ताव त्परत्वभक्तानुग्रहशीलत्वसर्वान्तरात्मत्वादिविशिष्टं स्तुवन्ती नमस्करोति। देवाना मिन्द्रादीनां देवो ब्रह्मा तस्येश! भक्तेच्छया भक्तानुग्रहेच्छया उपात्तरूपाय गृहीतविग्रहाय तुभ्यं हे परमात्मन्! नमः॥ २५॥

पङ्कजनाभायेति। मन्त्रविशेषेण नमस्करोति **नम** इति। पङ्कजं चतुर्मुखोत्पत्तिस्थानभूतं नाभिः यस्य तस्मै जगत्कारणभूतायेति भावः। अत एव सत्कीर्तिमयी पङ्कजमाला यस्य तस्मै। पङ्कजनेत्राय पङ्कजवत्प्रपन्नजनतापत्रयोपशमननेत्राय पङ्कजव त्सौगन्ध्यसौकुमार्यादियुक्ताङ्घ्रये। अनेन भक्तैः ध्येयत्व मुक्तम्॥ २६॥

अथ ध्येयत्वसमनियतकारणत्वविशिष्टं नमस्करोति- **नमो भगवते** इति। भगवत इति कारणत्वोपयुक्तगुणपूर्तिरुच्यते। आदिबीजाय[2] कारणकारणाय अनेन सृष्टिकारणत्व मुक्तम्। अथ स्थितिकारणत्व माह- वासुदेवाय विष्णवे पुरुषायेति। स्थितिर्हि मन्वाद्यन्तःप्रवेशस्वावतारादिभिःतत्र वासुदेवायेत्यनेन वसुदेवपुत्रत्वादिरूप स्वावतारेण स्थितिरभिप्रेता। पुरुषायेत्यनेन मन्वादिपुरुषशरीरान्तः प्रवेशेन। विष्णवे इत्यनेन कृत्स्नजगदन्तरात्मतया च अभिप्रेता। पूर्णबोधायेत्यनेन लयकारणत्वं सूचितम्। प्रलयदशायां स्वानन्दानुभवपूर्णाय असहायत्वेन[4] स्थितायेत्यर्थः॥ २७ ॥

अथ कारणत्वप्रयुक्तविकारादिदोषप्रसङ्गं वारयन्ती नमस्करोति- **अजायेति**। अस्य जगतो जनयित्रे, अनेन निमित्तकारणत्वमुक्तम्। उपादानकारणत्वन्तु आदिबीजायेति पुरस्ता देवोक्तम्। तथऽप्यजाय कार्यगतोत्पत्त्यादिविकाररहिताय विकाराणां स्वशरीरभूतप्रकृतिपुरुषगतत्त्वा दिति भावः। न हि लोके किञ्चि देवं दृष्टमि त्येवंविधदुर्घटत्वशङ्कां व्यावर्तयति-अनन्तशक्तय इति। अनन्ताः अपरिमिताः शक्तयः स्वासाधारणाः अम्न्यादेः दाहकत्वादय इव यस्य तस्मै। ब्रह्मणे इति दृष्टान्तार्थम्। यथा स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयबृहत्त्वं त्वदसाधारणम्। तथा कारण त्वमजत्वञ्चेति। तर्हि जगदुपादानत्वं केनाऽऽकारेण त्यपेक्षायां नामरूपयो र्निर्वहिता "ते यदन्तरा तद्ब्रह्म" इति श्रुत्युक्तविधया चिदचिद्वतनामरूपनिर्वाहकत्वोपयुक्तान्तरात्मत्वेन त्यभिप्रेत्य सम्बोधयति- परावरात्मन्! उच्चावचजीवान्तरात्मन्! भूतात्मन् अचिदन्तरात्मन् अचिदन्तरात्मत्वं जीवसाधारणमिति तद्विशेषे पर्यवसाययति परमात्मन्निति। परमात्मशब्दश्च गीताचार्येण निरुक्तः"यो लोकत्रय माविश्य बिभ र्त्यव्यय ईश्वरः" (भगी. 15-17) इति। जीव आत्माऽपि स्वभावेन व्ययः त्वन्तु स्वस्वरूपतः स्वभावतश्चाऽव्ययः इत्यभिप्रेतम्॥ २८॥

उक्तनामभि रभिप्रेतमेव कारणत्वं सुव्यक्तमाह- **त्वं वा** इति। हे विभो! ताव त्त्वं स्रष्टुमिच्छुः उत्कटं रजो बिभर्षि रजोगुणप्रधानचतुर्मुखाख्यदेहानुप्रवेशेन सृजसीत्यर्थः। जगतां विनाशाय संहाराय तमःप्रधानकालाग्निरुद्रादी ननुप्रविशसि, तथात्वेन विनाशयसीत्यर्थः। स्थानाय स्थितये तु हे जगत्पते! उत्कटं सत्त्वं बिभर्षि सत्त्वप्रधानमन्वादिशरीरको भूत्वा पालयसीत्यर्थः। न केवलं सृष्ट्यादिवत् पालनमपि सद्वात्कमेव, अपि तु अद्वात्कमपी त्यभिप्रायेण विशिनष्टि। असंवृतः असंवृतोऽपि जीवादिसंवरणरहितोऽपि केवलस्वावतारस्पेणाऽपि पालयसीत्यर्थः। उपादानकारणत्वप्रयुक्तं कार्याऽनन्यत्वं वक्तुं, कारणत्वं न स्वरूपेण अपि तु प्रकृतिपुरुषकालवैशिष्ट्यरूपेणे त्यभिप्रेत्य कारणत्वावस्थायां प्रकृत्यादिशरीरकत्व माह-काल इत्यादि। इदं सामानाधिकरण्यं शरीरात्मभावनिबन्धनम्, अत एव स्वरूपतादात्म्यनिबन्धनत्वाऽऽशङ्कानिरासाय विशिनष्टि पर इति। परोऽन्यः सन्निहितत्वा त्कालादे रन्यः इत्यर्थः। "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम् स आत्मा" (छान्दो.उ 6-8-7) इतिव दयं निर्देशः॥ २९॥

अथ कार्यानन्यत्वमाह- **अहमिति**। अहं पृथिवी, पयो जलं, ज्योतिष एव प्रदर्शनार्थं मनल इत्युक्तम्, अनिल इति तत्कारणस्य आकाशस्याप्युपलक्षणम्। मात्राणि गन्धादितन्मात्राणि। देवाः इन्द्रियाधिष्ठितारः दिग्वातादयः, इन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च दश, कर्ता देहोऽहमुद्धिहेतुत्वात् कर्तेत्यहङ्कारो विवक्षितः। यद्वा महानिति तत्कार्यस्याऽहङ्कारस्याऽऽप्युपलक्षणम्। कर्ता जीवः "कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्" (ब्र.सू. 2-3-33) इति सूत्रम्। इत्येवंविधमखिलं चराचरात्मकं जगदद्वितीये स्वतुल्यवस्तन्तररहिते त्वय्येव प्रकृतिपुरुषकालशरीरके त्वय्येव मृदि घट इव वर्तते इति शेषः। अतो मृदयं घटः[5] इतिवत् त्वदभिन्नमेवेत्यर्थः। यद्वा, उपादानत्वं कालादिवैशिष्ट्यरूपेणे त्यभिप्रायेण कालादितादात्म्य माह-काल इत्यादि। तच्च तादात्म्यं न स्वरूपाभेदनिबन्धन मित्यभिप्रायेणतेभ्योऽन्यत्वमाह पर इति। तर्हि किन्निबन्धन मिति जिज्ञासायां

शरीरात्मभावनिबन्धनमि त्युपपादयति-अहमिति। त्वय्ये वान्तःप्रविश्य धारके आत्मन्यवतिष्ठत इत्यर्थः। पृथिव्यादिषु स्वतन्त्रबुद्धिस्तु भ्रमात्मिकेत्याह अयं भ्रम इति। अयं पृथिव्यादिषु भ्रमः भ्रमात्मक इत्यर्थः। व्यासार्थे स्तु "देहानां जीवाभिमाने भ्रमहेतुत्वात् पृथिव्यादितत्त्वजातं भ्रम इत्युच्यते" इति व्याख्यातम्॥ ३० ॥

एवं स्तुत्वा किञ्चि त्प्रार्थयते-तस्येति। अयं भगदत्तनामा तस्य भौमस्याऽऽत्मजः भीतस्सन् हे प्रपन्नार्तिहर! तव पादपङ्कज मुपसादितः मया प्रापितः। तं प्रपन्न मेनं पालय अमुष्य भगदत्तस्य शिरसि अखिलाशुभहन्तृ त्वत्करपङ्कजं कुरु निधेहि॥ ३१ ॥

---

1- -1 B. omits 2. K.T.W. omit कारण 3. T °ता चाऽ० 4 B °नाऽव० 5- -5 K. omits 6. T.W. omit भाव 7. B. omits भ्रम 8- -8 K.T.W. omit.

विज० भक्तेच्छया उपात्तं स्वीकृतं रूपम्॥ २५,२६ ॥

वासुदेवाय सर्वत्र स्थित्वा द्योतमानाय विष्णवे सच्चिदानन्दरूपाय पुरुषाय पूर्णषड्गुणाय आदे र्ब्रह्मणो बीजाय व्यञ्जकाय॥ २७ ॥

अस्य प्रपञ्चस्य जनयित्रे उत्पादकाय ब्रह्मणे वेदादिशब्दराशिवेधाय। सर्वशब्दवाच्यत्वे हेतुमाह-अनन्तेति, "अनन्ता वै वेदाः" इति श्रुतेः। चराचरात्मन् चराचरमात्मा देहः प्रतिमास्थानीयो यस्य स तथा। परमात्मन् प्रत्यक्स्वरूप॥ २८॥

सिसृक्षुः स्रष्टुकामः उत्कट स्त्वं रजोगुणं बिभर्षि उपादत्से। निरोधाय संहाराय संवृतं ज्ञानसंवरणकारणं तमोगुणं, स्थानाय जगत्स्थित्यै सत्त्वगुणम्। कालः प्राणिना मदृष्टपाचकः, एवंविधः क इति तत्राऽऽह प्रधान इति। प्रधानः पुरुषोऽसि पुरुषोत्तमोऽसीत्यर्थः। "उत्तमः पुरुष स्त्वन्यः" (भगी. 15-17) इति स्मृतेः। पुरुषत्वेऽपि परिच्छिन्नत्वं नास्तीत्याह-अपार इति। यद्वा, जगत्कारणं प्रधानपुरुष इति केचि त्तङ्किरन्ते, तदाशङ्कां निवारयति प्रधान इति। प्रधानशब्दवाच्यः पुरुषशब्दवाच्यश्च त्वमेव। तर्हि परिशिष्यमाणः कः, इत्यत्राऽऽह अस्येति। अस्य प्रपञ्चस्य पारः परिशिष्यमाणाः संसारनदीपारः तीरान्तरशब्दवाच्य-स्त्व मित्यर्थः॥ २९ ॥

सृष्ट्यादिकर्ता त्व मित्युक्त्वैव अखण्डकर्तृत्वप्रतीतावपि धात्रादिशब्दाभ्यां विरिञ्चादेरपि कर्तृत्वशङ्का मिदानीं निवारयति-अहमिति। अहं नाम्ना पृथिवी, मीयन्त इति मात्राणि, शब्दादिविषयाः, मानं स्वविषयज्ञानं स्वसत्त्वेन त्रायन्त इति वा, देवा इन्द्रियाभिमानिनः, कर्ता अहङ्काराभिमानी, महान् महत्तत्त्वाभिमानी विरिञ्चः, तुशब्द एवार्थे। इतिशब्दः समाप्तिवचनः। महदाद्यभिमान्यन्त मखिलकारणम् अद्वितीये च त्वय्येव। त्वमेव धारयसीत्यर्थः। आतिथ्यव त्कदाचिन्नेत्याह भगवन्निति। हे ऐश्वर्यादिगुणार्णव, अयं जगद्भ्रमः चक्रभ्रमणव द्विश्वस्य परिवर्तनं त्वन्नियत मित्यर्थः। भ्रमशब्दस्याऽऽरोपार्थत्वाङ्गीकारे अर्थक्रियानुपपत्ति रिति॥ ३० ॥

साम्प्रतं तव किं विधेय मित्यत्राऽऽह- तस्येति। अयं पुरोवर्ती तस्य नरकस्याऽऽत्मजः औरसः पुत्र इति, जानीहीति शेषः। तर्हि किमिति मत्प्रणामं न करोती त्यत्राह तवेति। तव प्रपन्नार्तिहरं पादपङ्कजं प्राप्य त्वां प्रसादयितुं भीत स्त्रस्तः इत्यन्वयः। ततः कि मत्राऽऽह- तदिति। यतो भीतः त तस्मात् तत्पालनं चैत देवेत्याह- कुर्विति।

अनेन किं फलं स्या दित्याशङ्क्य पापनिमित्तं सर्व मनर्थजातं, तन्नाशे सर्वसुखं स्यादिति भावेनाऽऽह- अखिलेति। यद्वा, प्रपन्नार्तिहरं भगवन्तं प्रसादयितुं तव पादपङ्कजं 'भीतः सञ्चलितः' प्राप्त इत्यर्थः। "भीति भयसञ्चलनयोः" इति धातुः। अतो रक्षेत्याह-तदिति॥ ३१ ॥

-: भगवतो नरकासुरान्तःपुरगतराजकन्यकाद्याहरणम् :-

## श्रीशुक उवाच

इति भूम्यार्चितो[1] वाग्भि र्भगवा न्भक्तिनम्रया।
दत्त्वाऽभयं[2] भौमगृहं प्राविश त्सकल र्द्धिमत्[2]॥ ३२ ॥

★ राज्ये नियोज्य तं वंश्ये तदमात्यांश्च तत्पदे।
भौमावरोधकान्तानां श्रेणीं सम्प्राविश द्धरिः॥

तत्र राजन्यकन्यानां षट्सहस्राधिकायुतम्।
भौमाहृतानां विक्रम्य राजभ्यो ददृशे हरिः॥ ३३ ॥

तं प्रविष्टं स्त्रियो वीक्ष्य △ नरवीरं[3] विमोहिताः।
मनसा वव्रिरेऽभीष्टं पतिं देवोपपादितम्[4]॥ ३४ ॥

भूया त्पतिं रयं मह्यं धाता तु[5] दनुमोदताम्।
इति सर्वाः[6] पृथक् कृष्णे भावेन[6] हृदयं दधुः॥ ३५ ॥

---

1. B.G.J. °र्थि 2- -2 M.Ma प्रसन्नः प्रददौ तस्मै भगदत्ताय चाभयम्। ★ This extra verse is found in M.Ma editions only △The following three quarter verses are read thus in M.Ma editions: ता स्सर्वा नवयौवनाः। स्वलङ्कृता विचित्राङ्ग्यो नरवर्यविमोहिताः। 3. K.W. वरवर्यं; M.V. नरवर्यं 4.B.G.J.W. सा० 5.M.Ma °भ 6- -6 M.Ma सर्वेश्वरे कृष्णे ता नार्यो ?

**श्रीध० इतीति।** अभयं दत्वा॥ ३२ ॥

**तत्रेति।** शताधिक मित्यपि ज्ञातव्यम्। यथाऽऽह[1] श्रीपराशरः-"कन्यापुरे स कन्यानां षोडशाऽतुलविक्रमः। शताधिकानि ददृशे सहस्राणि महामते" इति। राजभ्य इत्युपलक्षणम्, सिद्धादिभ्यश्चेति। तथा च तेनैवोक्तम्- "देवसिद्धासुरादीनां नृपाणाञ्च जनार्दन। हृत्वा हि सोऽसुरः कन्या रुरोध निजमन्दिरे" इति॥ ३३-३५ ॥

---

1. M.V. °दा०

**वीर० इतीति।** भक्त्या नम्रा प्रणता तया भूम्या कर्त्र्या वाग्भिः साधनभूताभिः अर्चितः सकला ऋद्धयः भोग्यभोगोपकरणादिसमृद्धयो यस्मि न्सन्तीति तत् भौमस्य गृहं प्राविशत्॥ ३२ ॥

-: नरकान्तःपुराहृतराजकन्यकोद्वाहाविवृत्तान्तः:-

अथो[1] मुहूर्त एकस्मि न्नानागारेषु ताः स्त्रियः।
यथोपयेमे भगवां स्तावद्रूपधरोऽव्ययः॥ ४२ ॥

गृहेषु तासा मनपाय्यतर्क्यकृ न्निरस्तसाम्यातिशयेष्ववस्थितः।
रेमे रमाभि र्निजधाम सम्प्लुतो यथेतरो गार्हकमेधिकां श्चरन्॥ ४३ ॥

★ स्वदारेषु पृथग्भावो भक्तचित्तानुवर्तिनः।
अनन्तस्याऽप्रमेयस्य किन्नु चित्रं मुरद्विषः। क ॥

योगेश्वरेश्वरः कृष्णो भक्तै रद्यापि लक्ष्यते।
अन्त र्बहि स्समन्ताच्च शतधा च सहस्रधा॥ ख ॥

इत्थं रमापति मवाप्य पतिं स्त्रि यस्ता ब्रह्मादयोपि न विदुः पदवीं यदीयाम्।
भेजु र्मुदाऽविरत मेधितयाऽनुरागहासावलोकनवसङ्गमजल्पलज्जाः॥ ४४ ॥

प्रत्युद्गमासन वार्हणपादशौचताम्बूलविश्रमणवीजनगन्धमाल्यैः।
केशप्रसाधशयनस्नपनोपहार्यै र्दासीशता अपि विभो र्विदधुः स्म दास्यम्॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
पारिजातहरणनरकवधो नाम एकोनषष्टितमोऽध्यायः॥ ५९ ॥

---

1 KW अतो 2 K त० 3 BGJ काम ★ These extra two Verses are found in BKW and also commented by Veeraraghava only 4 KW °ऽद्वितीयस्य 5 KW °ह० 6- -6 MIV °मादरभयासन 7 KW °व० 8 BGJ MIV °र० 9 KW हारै०

श्रीध० सेन्द्रान् विबुधान् निर्जित्येति इन्द्रकृष्णयोः सङ्ग्राम उक्तः। तत्र ननु कथं प्रसाधितस्वमनोरथेन श्रीकृष्णेन सहेन्द्रस्य[1] सङ्ग्राम इत्याशङ्क्याह[2] यथाच इति। अच्युत मर्थसाधनम् इति च कर्मद्वयं याचति धातोः। विगृह्णते विग्रहं करोति महानपि, तमः क्रोधं आढ्यतां धनिकतां धि[3] गिति॥ ४१ ॥

अथो इति। यथा यथावत्। अनेन देवक्यादिबन्धुजनसमागमोऽपि प्रतिगृहं यौगपद्येन सूचितः। अव्ययः सर्वत्राऽपि सम्पूर्ण[4] एव॥ ४२ ॥

अहो भाग्यं नारीणा मित्याह त्रिभिः-**गृहेष्विति**। अतर्क्याणि कर्माणि करोति तथा सः निरस्तं साम्य मतिशयश्च यैः, अन्येषां तेषु गृहे ध्वनपायी अवस्थितः रमाभि र्लक्ष्म्या अंशभूताभिः, निजकामसंप्लुतः स्वानन्दपरिपूर्णः गार्हकमेधिकान् गृहस्थधर्मान्॥ ४३ ॥

**इत्थमिति**। अनुरागहाससहित मवलोकञ्च तत्पूर्वकं नवसङ्गमञ्च तद्गतं जल्पञ्च तस्मिन् लज्जाञ्च भेजुः॥ ४४॥

**प्रत्युद्गमेति**। विश्रमणं पादसंवाहनं[5] केशप्रसारः केशप्रसाधनं दासीनां शतानि विद्यन्ते यासां तथाभूता अपि स्वयं विभो र्दास्यं विदधुः॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
एकोनषष्टितमोऽध्यायः॥ ५९ ॥

---

1. BJ महे० 2--2 BJ इत्याह 3 MI V. omit धिमिति 4. MI.V. omit एव 5 MI V omit पाद

**वीर०** नन्विन्द्रः पराजितः किमकरोत्[1] तदाह-**ययाच** इति। आनम्य इन्द्रो मूर्धानमिति कर्तृकर्मपदाध्याहारः। किरीटाग्रैः पादौ स्पृशन् अर्थसाधन माश्रितृजनाभिमत प्रयोजननिष्पादकं कल्पतरुं ययाचे। तमेवङ्कृतवन्तमिन्द्रं निन्दति- सिद्धार्थ इति। तावन्निष्फल स्वप्रयोजनः समनन्तरमेतेन[2] स्वप्रयोजनसाधकेन भगवता विगृह्यते विरुध्यते तत्समनन्तरमेव महान् याच्ञया प्राप्तकल्पतरुत्वेन आढ्यो बभूव। तस्मा दहो सुराणां तमः अहङ्कार माढ्यताञ्च धिक्, तदुभयं निन्द्यमित्यर्थः॥ ४२॥

**अत** इति। अत स्ततः एकस्मिन्नेव मुहूर्ते नाना बहुषु अगारेषु यावत्यः स्त्रियः तावत्सु गृहेषु इत्यर्थः। तथा तावन्ति रूपाणि शरीराणि धरतीति तथाभूतः ताः षोडशसहस्रसंख्याकाः स्त्रियः स्त्रीः उपयेमे उदवोढेति भगवन्महिमातिशयोक्तिः॥ ४२॥

अहो तासां भाग्य मित्याह- **गृहेष्विति**। अतर्क्याण्यचिन्त्यानि चेष्टितानि करोतीति तथा स भगवा निजधाम्ना स्वतेजसा उपात्तमनुजरूपत्वेऽपि अपरित्यक्तासाधारणप्रभावेनेत्यर्थः। सम्प्लुतो व्याप्तोऽपि स्वानन्दानुभवपूर्णोऽपि ता निरस्त साम्यातिशयेषु भोग्यादिसमृद्ध्या समाभ्यधिकरहितेषु तासां गृहेषु अनपायी विश्लेषरहितोऽवस्थितः प्राकृतजनवत् गार्हकमेधिकान्[3] (गार्हधर्मवान् गृहस्थधर्मवान्) गृहस्थधर्मान्[4] चरन् अनुतिष्ठन् रमाभिः रमणीयाभिः स्त्रीभिः सह रेमे॥ ४३ ॥

अतिचित्र मेत देक स्यानेकधा भवनमिति विस्मयमानं प्रत्याह-**स्वदारेष्विति**। अपरिच्छिन्नस्य समाभ्यधिकरहितस्य स्वभक्तचित्तानुवर्तिनो मुरारेः पृथग्भावः स्वदारेषु एकदैव तत्तद्रामिमतरूपधारणं किं चित्रं तदद्भुतचेष्टितेषु नेदं चित्र मित्यर्थः॥ (क)

भक्तचित्तानुवर्तिन इति विशेषणमभिप्रेतं व्यनक्ति। अद्यापि, न केवलं तदैव, अपि त्वधुनाऽपि योगेश्वरः[5] योगनिर्वाहकः कृष्णो अन्त र्हृदि बहि स्तत्रापि समन्ताच्च भक्तैः परिपूर्णभक्तियोगैः शतधा सहस्रधा च लक्ष्यते। (ख)

अथाऽहरहस्तासां वृत्तिक्रम माह- **इत्थमिति** द्वाभ्याम्। रमापतिं श्रीकृष्णं तं विशिनष्टि- यस्य श्रीकृष्णस्य सम्बन्धिनीं पदवीं महिमानं ब्रह्मादयोऽपि न विदुः। तं पति मवाप्य अविरह मविच्छिन्नं, सन्तत मिति यावत्। तद्यथातथा वर्धितया मुदा अनुरागसहितो हासः, तत्पूर्वकावलोकश्च तत्पूर्वको नवसङ्गमश्च तत्र जल्पाः नर्मवचनानि तेषु लज्जां भेजुः प्रापुः॥ ४४ ॥

किञ्च **प्रत्युद्गमेति**। दासीनां शतानि यासां तथाभूता अपि स्वयमेव विभो र्भर्तुः प्रत्युद्गमादिभिः दास्यं विदधु श्चक्रुः। तत्र प्रत्युद्गमः प्रत्युत्थानम्, आसनवरार्हणम् आसनश्रेष्ठसमर्पणम्, पादशौचं पादप्रक्षालनं,विश्रमणं पादसंवाहनादिना श्रमापहरणम्॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकोनषष्टितमोऽध्यायः॥ ५९ ॥

---

1 TW अत्राऽऽह 2 adds एव 3- -3 K omits 4- -4 TW omit 5 B °गी० 6 KTW दास्यः विज 41 **तमश्लोकादारब्धस्य** 45 तमश्लोकपर्यन्तस्य ग्रन्थभागस्य व्याख्या नास्ति।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
एकोनषष्टितमोऽध्यायः॥ ५९ ॥

(विजयध्वज़तीर्थरीत्या चतुष्षष्टितमोऽध्यायः)

# श्रीमद्भागवतम्

## दशमस्कन्धः

॥ अयं एकोनषष्टितमाध्यायानन्तरं योजनीयः ॥

इत आरभ्य विजयध्वजतीर्थीयः अध्यायदशकात्मकः अधिकपाठः

अथ विजयध्वजरीत्या पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

(अधिकपाठे प्रथमोऽध्यायः)

### श्रीशुक उवाच

हत्वा नरक मत्युग्रं दानवं दानवान्तकः।
आरुह्य गरुडं प्राया त्प्राग्ज्योतिष पुरा नृप॥ १॥

सगच्छन् गगने विष्णुः वन्दितुं देवमातरम्।
जगाम त्रिदशावासं सहितः सत्यभामया॥ २॥

स्वर्गद्वारं गतो विष्णु र्दध्मौ शङ्खं महास्वनम्।
उपाजग्मु स्तदाकर्ण्य सार्घ्यपाद्या दिवौकसः॥ ३ ॥

पूजित स्तै स्सुरैः कृष्णो भक्तिनम्रैर्गतज्वरैः।
सुरेन्द्रभवनं दिव्यं प्रविवेश मनोरमम्॥ ४ ॥

तत्र शक्र स्ससमं शच्या पूजयामास केशवम्।
रत्नैराभरणै र्दिव्यै र्गन्धमाल्यैश्च शोभनैः॥ ५ ॥

ततः प्राया त्पुरीं मातु रदित्या स्सह भार्यया।
दृष्ट्वोपतस्थे तं देवी पुत्रमायान्त मच्युतम्॥ ६ ॥

ववन्दे तां हरिस्तं सा पूजयामास भामिनी
आशीर्भिः परमप्रीता चिरंदृष्टं यदूत्तमम्॥ ७ ॥

सत्यभामाऽपि कौरव्य! श्वश्रूः कृष्णेन चोदिता।
पादयोः कुण्डले तस्याः निधाय प्रणनामवै॥ ८ ॥

स्नुषा माश्लिष्य सन्तुष्टा सा पुन र्लब्धकुण्डला।
आनन्द बाष्प प्रचुरा प्राहेदं कश्यप प्रिया॥ ९ ॥

न ते जरा न वैरूप्यं कान्तेन सह विप्रियम्
भूया त्कल्याणि! सुव्यक्तं मत्प्रसादा त्कदाचन॥ १० ॥

ततोनुज्ञाप्य तां देवीं त्रिदशानपिकेशवः।
आरुह्य प्रययौ तार्क्ष्यं सहितः सत्यभामया॥ ११ ॥

महात्मना गगने देवदेव्यौ गरुत्मता नीयमानौ विचित्रम्
अपश्यतां नन्दनं चारुगुप्तं शचीभर्तु र्दयितं हृद्यगन्धम्॥ १२ ॥

वनंदृष्ट्वा दिव्यगन्धं सुपुष्पं कृष्णं सत्या प्राह पाणौ गृहीत्वा।
प्रविश्याऽस्मिन् साधुचित्रं विहर्तुं मुहूर्तं मे काम्यते केशवेति॥ १३ ॥

अथाऽवरुह्य गरुडा त्तस्या वचनगौरवात्।
प्रविवेश ऋमं कृष्णः पालितं शक्रकिङ्करैः॥ १४ ॥

तत्राऽपश्यत्तरून् दिव्यान् मत्तसारङ्गनादितान्।
फलभारनतान्भूरि प्रसूनरजसाऽऽवृतान्॥ १५ ॥

चलत्किसलयोपेतान् विहङ्गध्वनिशोभितान्।
विचरन्ती तथा तत्र पारिजातं महाद्भुतम्॥ १६ ॥

दृष्ट्वा पप्रच्छ गोविन्दं विस्मयाकुललोचना।
को नामाऽयं तरुर्देव विचित्रो भुवनत्रये॥ १७ ॥

सत्य मेतस्य वृक्षस्य कृतार्थाः फलभागिनः।
प्रवालमूले विपुलो जातरूपमहातनुः॥ १८ ॥

इन्द्रनीलच्छदच्छन्नो लसद्वैदूर्यवेदिकः।
माणिक्य पुष्पो विविध मुक्ताफलफलान्वितः॥ १९ ॥

गोमेद पक्वप्रकरो वज्रकिञ्जल्करञ्जितः।
स्फुरन्मरकतस्थूल शाखाशतविराजितः॥ २० ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

गतज्वैः नष्टसन्तापैः॥ १-५ ॥

उपतस्थे समीपे तस्थौ॥ ६ ॥

भाम तेजः अस्याः अस्तीति भामिनी। चिरकालदृष्टम्॥ ७ ॥

श्वश्राः भर्तु र्मातुः॥ ८,९ ॥

सत्यभामा माशिषायोजयति - न ते जेरेति। वैरूप्यं सौन्दर्याभावः विप्रिय कलहः॥ १०,११ ॥

हृद्यगन्धं हृदयप्रियगन्धम्॥ १२ ॥

काम्यते, वनसम्पदिति शेषः। काम इति वा॥ १३, १४ ॥

सारङ्गनादितान् भृङ्गनादितान्॥ १५, १६ ॥

विविधं चित्रं मुख्यं मिश्रफल यस्मिन् स विचित्रः "चित्र मालेख्यमिश्रयोः" इति, "मिश्रमावितमुख्ययोः" इति च॥ १७ ॥

एतस्य वृक्षस्य फलभागिनः कृतार्था इति सत्यमित्यन्वयः, वैचित्र्यं कथयति - प्रवालेति। प्रवालो रत्नविशेष एव। मूलं शिफा यस्य स तथा। विपुलो विस्तृतः जातरूपं सुवर्णमिव महातनु र्यस्य स तथा॥ १८ ॥

इन्द्रनील मेव छदः पत्रं इन्द्रनीलच्छदः तेन छन्न स्संवृतः तस द्वैदूर्यरत्नमेव, वेदिः परिष्कृता भूमि र्यस्य स तसद्वैदूर्यवेदिकः, माणिक्यरत्नान्येव पुष्पाणि यस्य स माणिक्यपुष्पः विविधानि तारतम्योपेतानि मुक्ताफलान्येव फलानि विविधमुक्ताफलानि, तै रन्वितः॥ १९ ॥

गोमेदरत्नान्येव पक्वानि गोमेदपक्वानि तेषां प्रकरा यस्य सः। तथा वज्ररत्नान्येव कि[1]ञ्जल्कानि[1] वज्रकिञ्जल्कानि तैः रञ्जितोऽरुणीकृतः, स्थूलाः शाखाः तासां शतेन विराजितः॥ २० ॥

---

1--1 B. Omits

तरुरेष जगन्नाथ मनो मे हरते भृशम्।
नेतव्योऽयं पुरीं वृक्षो यत्रहं ते प्रिया प्रभो॥ २१ ॥

छायाया मुपविष्टां मा मन्यपत्न्य स्तवाऽनघ।
दृष्ट्वा मंस्यन्ति दयितां सर्वाभ्यो मां तवाऽच्युत॥ २२ ॥

इत्युक्तो देवकीपुत्रः सत्यया प्रियकान्तया।
प्राह नाऽयं तरु र्भद्रे नेतव्यो नन्दना द्वनात्॥ २३ ॥

पुराक्षीराम्बुधेर्जातो मथ्यमाना त्सुरासुरैः।
शक्राय दत्त स्सकलै स्सदा तत्फल भोक्तृभिः॥ २४ ॥

तन्नहार्य मनादृत्य मया मित्रं शतक्रतुम्।
तरुरत्नं सरोजाक्षि! धर्म मेवाऽनुतिष्ठता॥ २५ ॥

नीयमाने च वृक्षेऽस्मि न्पारिजाते शुचिस्मिते।
सङ्ग्रामो जायते घोर स्त्रिदशैर्जयकाङ्क्षिभिः॥ २६ ॥

इत्युक्तादेवदेवेन सत्यभामा पुन र्हरिम्।
प्राह भीषयसे किं मां व्यलीकैः कंसमर्दन॥ २७ ॥

नाऽभ्यनन्द दुराचारा शची मां गृहमागताम्।
हेतु र्हि वृक्ष स्तस्याऽयं भर्तृपौरुषगर्विता॥ २८ ॥

नेतव्य स्सर्वथा वृक्षः पारिजातोऽय मच्युत।
प्रियाऽहं तवचेन्नाथ नोचे द्विरम साम्प्रतम्॥ २९ ॥

इत्युक्त स्सत्यया कृष्ण स्ता ननादृत्य रक्षकान्।
उत्पाट्यारोपयामास पारिजातं गरुत्मति॥ ३० ॥

ततो निवारयामासु र्गोविन्दं वनपालकाः।
केचि द्रुततरं जग्मु र्देवेन्द्राय निवेदितुम्॥ ३१ ॥

कृष्ण कृष्ण न हर्तव्य स्तरुरेषोऽमरार्चितः।
हरसे यदि तस्य त्वं फलं सद्योऽनुभोक्ष्यसि॥ ३२ ॥

प्राप्नोषि न पुरीं कृष्ण सहाऽनेन महीरुहा।
सद्यः पश्यसि देवेन्द्रं पृष्ठतोऽभ्युद्यतायुधम्॥ ३३ ॥

सुरेन्द्रान्तिक मासाद्य द्रुतं ते वनरक्षकाः।
उपविष्टं समं शच्या शक्रं दृष्ट्वाऽब्रुवन्नृप॥ ३४ ॥

वनरक्षका ऊचुः

अवज्ञायाऽखिलान्देवा निन्द्राणीञ्च त्वया सह।
जहार कृष्णदयिता पारिजातं महाद्रुमम्॥ ३५ ॥

उक्ताऽस्माभिर्भृशं देव वारयद्भि र्हरिप्रिया।
उपालभ्याऽ हर द्वृक्षं भर्तृपौरुषगर्विता॥ ३६ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्याऽऽकर्ण्याऽप्रियं शक्रो दण्डाहत इवोरगः।
शचीं विलोक्य पार्श्वस्थां नाऽमृष्य त्तत्पराभवम्॥ ३७ ॥

सन्नाहोद्योग माधोष्य सन्निपात्य च सैनिकान्।
लोकपालान् समाहूय निश्चक्राम सुरेश्वरः॥ ३८ ॥

ऐरावतं चतुर्दन्त मारुह्य वरवारणम्।
गृहीतवज्रं गच्छन्त मनुजग्मु र्दिवौकसः॥ ३९ ॥

वैश्वानर स्तु तुरग मारुह्य रुद्रदंशितः।
घोरां शतघ्नी मादाय सुवपुच्छां ययौ रणम्॥ ४० ॥

यमस्त्वाऽऽरुह्य महिषं दण्डमादाय वीर्यवान्।
मृत्युकालादिभि र्युक्तो युद्धार्थी शक्रमन्वगात्॥ ४१ ॥

निर्ऋतिश्च महातेजा घोर मारुह्य पौरुषम्।
असि हस्तोमहाबाहु र्युद्धाय प्रययौ नृप॥ ४२ ॥

मकरं भीषणाकार मारुह्य वरुण स्त्वरन्।
पाशोद्यतकरः प्राया युद्धायाऽनुशचीपतिम्॥ ४३ ॥

वायुः कृष्णमृगारूढो दंशित स्तोमरायुधः।
सुरेश्वर मनुप्रायाद्योद्धुं चक्रभृता सह॥ ४४ ॥

ऊढांचतुर्भिः पुरुषै शिशिबिकां नरवाहनः॥
योद्धुकाम स्त्वरन्प्राया द्विष्णुना मुद्गरायुधः ॥ ४५ ॥

ईशानो वृषभं तुङ्ग मारुह्य शितशूलभृत्।
वासवेन समं प्राया द्भूतकोटिसमन्वितः॥ ४६ ॥

भेरीशङ्खमृदङ्गैश्च पणवानकगोमुखैः।
सुवर्णसुषिरै र्दिव्यैः कांस्यतालैश्च भूरिभिः॥ ४७ ॥

रथनेमि निनादैश्च हयानां खरनिस्वनैः।
क्ष्वेलिताऽऽस्फोटितै र्घोरै स्सङ्गमाह्वानगर्जनैः॥ ४८ ॥

तिष्ठ तिष्ठेति मा याहि क्व यासीति पुनः पुनः
प्रवदद्भि स्सुरगणै श्शतशोऽथ सहस्रशः॥ ४९ ॥

कम्पयद्भिश्च शस्त्रौघैः प्रेषयद्भिश्च वाहनम्।
पुरोऽह मिति गच्छद्भिः शतशोऽथ सहस्रशः॥ ५० ॥

घोरै र्ज्याघातनिर्घोषै स्सिंहनादैश्च भूरिभिः।
अभिदुद्रुवु रुद्धृत्ताः सिंहं गोमायवो यथा॥ ५१ ॥

इति श्री भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे
विजयध्वजतीर्थीयपाठे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः॥
( अधिकपाठे प्रथमोऽध्यायः) ॥ १ ॥

---

1 BM तत्रा०

## पदरत्नावली

मंस्यन्ति निरूपयन्ति॥ २१ - २३ ॥

तस्मा त्समुद्राज्जातानां फलानां भोक्तृभिः॥ २४, २५ ॥

जयकाङ्क्षिभिः जयेच्छुभिः जितयुद्धैर्वा॥ २६ ॥

व्यलीकैः कपटवचनैः॥ २७ ॥

तरुन्नयने निमित्तमाह - नेति॥ २८ ॥

विरम, प्रियभाषण मिति शेषः॥ २९ - ३५ ॥

उपालभ्य भर्त्सयित्वा॥ ३६, ३७ ॥

सन्नाहो युद्धोद्योगार्थं विद्यमानं, गोमुखं सन्निपात्य सम्मेलयित्वा, सैनिकान् सेनानायकान्॥ ३८, ३९ ॥

स्रुव पुच्छे यस्या स्सा, ताम्॥ ४० ॥

मृत्युकालादिभिः प्रभृतिभिः॥ ४१ - ४३ ॥

चक्रभृता कृष्णेन॥ ४४ ॥

नरवाहनोवैश्रवणः॥ ४५, ४६ ॥

सुवर्णसुषिरैः काहलैः॥ ४७ ॥

क्ष्वेलितैः सिंहनादैः आस्फोटितैः भुजास्फालैः॥ ४८ - ५१ ॥

इति श्रीविजयध्वजतीर्थकृत पदरत्नावल्यां पञ्चषष्टितमोऽध्यायः॥ ६५ ॥

## अथ विजयध्वजरीत्या षट्षष्टितमोऽध्यायः
## (अधिकपाठे द्वितीयोऽध्यायः)

### श्रीशुक उवाच-

सुरा नभिद्रुतान्दृष्ट्वा सत्य माह जगत्पतिः।
इमे प्राहुणिकाः प्राप्ता स्तव वृन्दारका इति॥ १ ॥

तथा ब्रुवाणे देवेशे प्रेषिता देवसैनिकाः।
नदन्तो मुमुचुः कृष्णे शरवृष्टिं कुरूद्वह॥ २ ॥

तत श्शार्ङ्गं समादाय सत्या व्यसन विह्वला।
मुक्तां श्चिच्छेद बाणौघै स्ताञ्छरान्देवसैनिकैः॥ ३ ॥

ततो वैश्रवणः श्रीमान् बहुभि र्गुह्यकै र्वृतः।
विस्फारयं स्तालमात्रं कार्मुकं कनकाटनि॥ ४ ॥

स्वर्णपुङ्खान् शरान्मुञ्चन् सिंहव व्यनदन्मुहुः।
अभिदुद्राव समरे तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्। ५ ॥

तैः पञ्चभि श्शरै स्सत्या निशितै र्मर्मभेदिभिः।
अर्पयामास वेगेन विशाले जठरे नृप॥ ६ ॥

सोऽतिविद्धो रणे बाणै स्त्रिभिर्भल्लै र्हरिप्रियाम्।
अयोधयद्धनपतिः सिंहनादं व्यनीनदत्॥ ७ ॥

तानप्राप्ता नर्धचन्द्रै स्त्रिभि श्चिच्छेद सा शरैः।
भूयोऽष्टभि श्शरै र्देवी वत्सदन्तै र्मनोजवैः॥ ८ ॥

विव्याध गुह्यकपते र्ललाटे कुरुपुङ्खव।
पीडित स्तै र्भृशं बाणैः पौलस्त्यः क्रोध विह्वलः॥ ९ ॥

सन्दधे निशिता न्बाणा नेकविंशति संयुगे।
तानन्तरे सत्यभामा सायकै स्सप्तभि र्नृप॥ १० ॥

चिच्छेद निमिषार्धेन त्रिधैकैकं हरिप्रिया।
सत्यभामा ततः क्रुद्धा पौल यस्य महद्धनुः॥ ११ ॥

अर्धचन्द्रेण चिच्छेद मुष्टिदेशे द्विधा नृप।
ततोऽन्यच्चाप मादाय सज्यं कृत्वा धनेश्वरः॥ १२ ॥

ववर्ष शरजालानि क्रोधा त्सर्प इव श्वसन्।
सर्वां स्तान् सायकान् संख्ये शरै स्सन्नतपर्वभिः॥ १३ ॥

चिच्छेद लीलयादेवी तदद्भुत मिवाऽभवत्।
ततः क्रुद्धोवैश्रवणः सत्यभामां विलोक्य च॥ १४ ॥

प्राह पश्य हनिष्यामि त्वा मद्य मम पौरुषम्।
इत्युक्त्वा तालमात्रे तु चापे गुह्यकसत्तमः॥ १५ ॥

पश्यतां सर्वदेवानां मार्ष्टुकामः पराभवम्।
सन्दधे सूदितुं देवी मर्धचन्द्रं शरोत्तमम्॥ १६ ॥

तदवेत्य मनस्तस्य क्षुरप्रेण हरिप्रिया।
चिच्छेद कार्मुकं तस्य मुष्टिदेशे कुरूद्वह॥ १७ ॥

ततो मुद्गर मादाय घोरं दानवभीषणम्।
भ्रामयित्वा शतगुणं देव्यै चिक्षेप वित्तपः॥ १८ ॥

तं मुद्गरं महाघोर मायान्तं कुरुपुङ्गव।
वामेन पाणिना कृष्णो जग्राहौच्चैर्जहास च॥ १९ ॥

ततो निवृत्तसङ्गामो विदुद्राव धनेश्वरः॥
शशंस देवीं कृष्णश्च समाश्लिष्याऽभिपूजयन्॥ २० ॥

पलायिते धनपतौ सङ्गामे कंसवैरिणा।
वरुणोऽभ्यद्रवत्कृष्णं पाशमुद्यम्य संयुगे॥ २१ ॥

तमायान्त मभिप्रेक्ष्य तार्क्ष्यो मकरवाहनम्।
अभ्यद्रवन्महासत्त्वः शार्दूल इव गोवृषम्॥ २२ ॥

तयो स्समभव द्युद्धं घोरं तार्क्ष्यजलेशयोः।
यथा देवाऽसुरे युद्धे बलिवासवयो रिव॥ २३ ॥

तत्र काश्यपपुत्रस्य कण्ठे पाशं जलेश्वरः।
क्रुद्धश्चकर्ष विन्यस्य सिंह स्सिंहमिवौजसा॥ २४ ॥

तं पक्षकोट्या गरुडः समुद्धृत्य जलेश्वरम्॥
पद्भ्यां गृहीत्वा मकरं चिक्षेप वरुणालये॥ २५ ॥

कृच्छ्रा द्गृहीतपाशस्तु वरुणो गतवाहनः।
पदाति रेव सङ्गामा द्विदुद्राव यथागतम्॥ २६ ॥

तथा गते वार्धिपतौ सङ्गमे वायु पावकौ।
सममेवाऽभ्यवर्तेतां गोविन्दं कुरुसत्तम॥ २७ ॥

पावकः पञ्चभि र्बाणै र्मरुतश्च तथा त्रिभिः।
आयोधय हृषीकेशं तदद्भुत मिवाऽभवत्॥ २८ ॥

ततः प्रहस्य गोविन्दो बाणेनैकेन पावकम्।
विव्याध सप्तभिश्चैव समीरण मरिन्दमः॥ २९ ॥

एकेनाऽग्निः क्षुरप्रेण गाढं वक्षसि ताडितः।
त मसाधारणं मत्वा विदुद्राव रणाद्भुतम्॥ ३० ॥

दृष्ट्वा समीरणो युद्धा दपयातं हुताशनम्।
सायकाचितसर्वाङ्ग मात्मानञ्चाऽतिविह्वलः॥ ३१ ॥

विदित्वा पुण्डरीकाक्षं सङ्गामे प्रत्युपस्थितम्।
न्यवर्तत कुरुश्रेष्ठ प्राणत्राणपरायणः॥ ३२ ॥

ततो महिष मारुह्य दण्ड मुद्यम्य भास्वरम्।
कृष्ण मभ्यद्रव द्युद्धे यमः क्रोधारुणेक्षणः॥ ३३ ।

तमुद्यतमहादण्डं दृष्ट्वा कमललोचनः।
गदां विसृज्य तद्धस्ता त्पातयामास भूतले॥ ३४

गदया ताडितो दण्डे त्रस्तहस्तः परेतराट्।
विदुद्राव परावृत्य महिषेण कुरूद्वह॥ ३५ ॥

वैवस्वतं गतं दृष्ट्वा निर्ऋति भयविह्वलः।
नाऽभ्यवर्तत गोविन्दं योद्धुं विदिततद्बलः॥ ३६ ॥

शङ्करस्तु महातेजा स्त्रिशूली वृषवाहनः।
अनेकभूतसङ्घातैः कृष्णमभ्यद्रवद्रणे॥ ३७ ॥

तावुभौ लोकविख्यातौ बलिनौ वीर्यशालिनौ।
चक्राते कदनं घोरं परस्परजयैषिणौ॥ ३८ ॥

ईशानो दशभि र्बाणैः कृष्णं तावद्भिश्च पञ्चभिः ॥
विव्याध समरे राजन् तिष्ठ तिष्ठेति चाऽब्रवत् ॥ ३९ ॥

तत श्शार्ङ्गं समादाय कृष्णः परपुरञ्जयः ।
त्रिंशद्भि र्युगपद्बाणै र्विव्याध वृषवाहनम् ॥ ४० ॥

गरुडः पन्नगरिपुः पद्भ्यां द्वाभ्यात्र संयुगे ।
पक्षाभ्यां चञ्चु कोट्या च मर्दयामास तं वृषम् ॥ ४१ ॥

भूयोऽपि कृष्णो नाराचैः पञ्चाशत्प्रमितै र्नृप ।
योधयामास समरे शङ्करं लोकशङ्करम् ॥ ४२ ॥

तत स्त्रिशूल माविध्य निशितं घोरदर्शनम् ।
प्राहिणो द्वासुदेवाय कुपितो धूर्जटि र्नृप ॥ ४३ ॥

दृष्ट्वा त्रिशूल मायान्तं केशव स्तं निवारितुम् ।
गदां कौमोदकीं गुर्वीं प्राहिणोद्दैत्यमर्दनीम् ॥ ४४ ॥

ते वै कौमोदकीशूले कृत्वा नभसि सङ्गरम् ।
ज्वलमाने महाघोरे पेततु स्सम मम्बुधौ ॥ ४५ ॥

निपात्याब्धौ त्रिशूलं तद्गदा कौमोदकीपुनः ।
आससाद करं विष्णो स्त्रिशूल मपि शूलिनः ॥ ४६ ॥

तत उद्यम्य निशितं खड्गं पन्नगभूषणः ।
कृष्ण मभ्यद्रव त्संख्ये पार्ष्णिभ्यां चोदय न्नृषम् ॥ ४७ ॥

तूर्णं गृहीत्वा बाहुभ्यां विषाणे तस्य नन्दिनः ।
स शूलपाणिं चिक्षेप वैनतेयो धनुश्शतम् ॥ ४८ ॥

ततो विसृज्य सङ्गमं त्रिशूलो वृषवाहनः ।
प्रमथै स्सहितः प्राया त्कुरुश्रेष्ठ यथागतम् ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे षट्षष्टितमोऽध्यायः।
(अधिकपाठे द्वितीयोऽध्यायः)

## पदरत्नावली

प्राहुणिकाः सम्भावनया भोजयितव्याः। वृन्दारका देवाः॥ १-३॥

कनकाविद्धाटनिः कोटि र्यस्य तत्तथा॥ ४,५ ॥

विशाले जठरेविस्तृतोन्नतोदरे, ओदनमिवेति शेषः॥ ६,७॥
वत्सदन्तैः शरविशेषैः॥ ८,९ ॥

अन्तरे मध्ये॥ १०-१९॥

निवृत्तसङ्ग्रामः निवृत्तयुद्धः॥ २०-२३॥

काश्यपपुत्रस्य गरुडस्य॥ २४- २६ ॥

वार्धिपतौ वरुणे॥ २७-२९ ॥

असाधारणं लोकोत्तरम्॥ ३० ॥

सायकाचितसर्वाङ्गं शरसञ्चितसर्वावयवम्॥ ३१-३४ ॥

परेतराट् यमः॥ ३५-३७ ॥

कदनं युद्धम्॥ ३८ - ४० ॥

चञ्चुकोट्या तुण्डकोट्या वृषं नन्दिकेश्वरम्॥ ४१, ४२ ॥

धूर्जटि श्शङ्करः॥ ४३-४६ ॥

पन्नगभूषणः सर्पालङ्कार श्शिवः पार्ष्णिभ्या मास्फालनेन चोदयन् प्रेरयन्॥ ४७ ॥

शूलपाणिना सहितं नन्दिनम्॥ ४८ ॥

त्रिशूलित्वं गणस्याऽपि सम्भवतीति वृषवाहन इति॥ ४९ ॥

इति श्रीविजयध्वजतीर्थकृत पदरत्नावल्यां षट्षष्टितमोऽध्यायः॥
(अधिकपाठे द्वितीयोऽध्यायः)

## अथ विजयध्वजरीत्या सप्तषष्टितमोऽध्यायः।

(अधिकपाठे तृतीयोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच-

ततस्स्वयं देवपति स्तुङ्ग मारुह्य वारणम्।
किरीटी बद्धतूणीरः प्रगृहीतशरासनः॥ १ ॥

अभ्यद्रव द्रणे कृष्णं गजः केसरिणं यथा।
पारिजातकृते राजन् पौलोम्या वचनं स्मरन्॥ २ ॥

तमायान्त मभिप्रेक्ष्य हरिः परपुरञ्जयः।
शङ्खं दध्मौ महानादं दिश स्समभिपूरयन्॥ ३ ॥

तमभिद्रुत्य देवेन्द्रो मह द्विस्फारयन्धनुः।
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन कृष्णं विव्याध सङ्गरे॥ ४ ॥

हरि र्विद्धःक्षुरप्रेण देवराजेन वक्षसि।
प्रहस्य साधु शक्रोऽसि युक्तन्त इतिचाऽब्रवीत्॥ ५ ॥

भूयोऽपिबाणान्दश देवराजः सन्धाय चापे भुजगेन्द्रकल्पे।
आकर्णपूर्णं विनिकृष्य कृष्णे मुमोच चक्रे स ह सिंहनादम्॥ ६ ॥

तानन्तरे कंसरिपु र्महात्मा छित्वा त्रिधैकेन शरेण बाणान्।
विव्याध बाणै र्दशभिः सुधौतैः पुरन्दरं भारत लीलयैव॥ ७ ॥

ते शरा देवराजस्य गात्रं निर्भिद्य सानृति।
शोणितात्ताः प्रदृश्यन्ते भूयोवेगेन निर्गताः॥ ८ ॥

पुनश्च शक्रः कोदण्डे शरान् सन्धाय षोडश।
मुमोचाऽऽकृष्य गोविन्द स्तांश्चकर्त हरे स्त्रिभिः॥ ९ ॥

भूयोऽपि बाणै स्त्रिंशद्भिः सुरराजान माहवे।
आयोधय द्धरि स्ते च ममज्जुस्तद्रथक्षितिं॥ १० ॥

ततश्चुकोप देवेन्द्रो दण्डमादत इन्द्रोरगः।
प्रेषयामास तोत्रेण तार्क्ष्यं प्रति महागजम्॥ ११ ॥

स गजः प्राप्य गरुडं पाकशासनचोदितः।
चतुर्भि र्घटयामास दन्तै र्बाहु युगान्तरे॥ १२ ॥

ततस्तुण्डेन गरुडः पक्षाभ्यान्च तथा नखैः।
अर्दयामास कौरव्य गज मैरावताह्वयम्॥ १३ ॥

शक्रस्तु वज्र मुद्यम्य घोरं दानवभीषणम्।
पश्यतां सर्वभूतानां प्रजहारवृषाकपिम्॥ १४ ॥

तमागतं मधुरिपु र्वज्रं दुश्च्यवनायुधम्।
वामेन पाणिना विष्णुर्जग्राह प्रजहास च॥ १५ ॥

निरायुध स्सुरपति र्गरुडार्दितवाहनः।
व्यावर्तत रणा द्राजन् व्रीडावनतकन्धरः॥ १६ ॥

तं दृष्ट्वा भ्रष्टसङ्कल्पं पलायनपरायणम्।
सत्यभामा सुरपतिं प्रहसन्तीद मब्रवीत्॥ १७ ॥

सत्यभामोवाच-

एहि शक्र निवर्तस्व मा याहि कुलिशायुध।
पलायन मयुक्तं हि पौलाम्या वल्लभस्यते॥ १८ ॥

ऐश्वर्यमत्ता पौलोमी भर्तृपौरुषगर्विता।
अवमंस्यति सद्य स्त्वां भार्या रणपराजितम्॥ १९ ॥

इत्थं देव्या गिरं शक्रः सोपालम्भ मुदीरिताम्।
निशम्याऽभिमुखो भूत्वा प्राह देवीं शुचिस्मिताम्॥ २० ॥

इन्द्र उवाच-

येनाऽमरासुर महोरग यक्षसिद्धा
गन्धर्वकिन्नर पिशाचनिशाचराद्याः।

सृष्टा स्त्रिलोकगुरुणा रणमूर्ध्नितेन
को वा न याति परिभूति मलं विरुध्य॥ २१ ॥

वत्सो यथा तनुबलः सकृदेत्य मातु
र्यूधस्य पानसमये कुरुते विरोधम्।

तद्वद्वयञ्च निजशैशव मप्रमेये
नाथे विरुध्य पिशिताशनि दर्शयाम॥ २२ ॥

इति सव्राजितः पुत्री मुक्त्वा भारतसत्तम।
कृताञ्जलिः प्रणम्याऽऽह वासुदेवं पुरन्दरः॥ २३ ॥

इन्द्रउवाच-

नमस्ते देवदेवेश पुण्डरीकाक्ष माधव।
क्षमस्व मत्कृतं विश्व मपराधं जगत्पते॥ २४ ॥

नमां त्वदेकशरणं शरणागतवत्सल।
भूरिबालिश मक्षान्तं परित्यक्तुं त्वमर्हसि॥ २५ ॥

ऐरावतश्च कुलिशं पारिजातश्च पादपः।
देवराज्यञ्च भगव न्नियञ्चाऽप्यमरावती॥ २६ ॥

त्वदधीन मिदं विश्व महमाज्ञाकरस्तव।
अत्र यद्रोचते नेतुं नीयतां तद्यथेच्छया॥ २७ ॥

किन्तु वक्ष्यामि गोविन्द मूलं त्वयि विरुध्यतः।
रमसे मानुषे लोके भगवंस्त्वमनन्यधीः॥ २८ ॥

तत्र नीते पारिजाते भवता कल्पपादपे।
तेन सा जायते स्वर्गा न्निर्विशेषा वसुन्धरा॥ २९ ॥

तेनाऽहं यदुशार्दूल विरोधं कृतवां स्त्वयि।
तत्क्षन्तव्यं त्वया देव कार्याकार्यं विजानता॥ ३० ॥

श्रीशुक उवाच-

इत्युक्तो देवराजेन देवदेवो जनार्दनः।
पुरन्दरं कुरुश्रेष्ठे! प्राह प्रहसिताननः॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच-

अपराध स्त्वया शक्र न कश्चिदपिचेष्टितः।
यत्कृतं तन्ममैवाऽग स्त्वमेदा दावयोः परम्॥ ३२ ॥

यत्त्वयाऽद्य सहस्राक्ष चेष्टितं साध्वसाधु वा
मयैव यत्कृतं सर्वं नाऽत्र कार्या विचारणा॥ ३३ ॥

पारिजात स्तरुश्रेष्ठो मय्यारूढे तरु र्दिवम्।
मन्निदेशात्सहस्राक्ष स्वय मेष्यति नन्दनम्॥ ३४ ॥

इत्युक्तो वासुदेवेन देवराजः कुरुद्वह।
गोविन्दं सत्यभामाञ्च प्रसाद्य गरुडं तथा॥ ३५ ॥

पुत्रो मे रक्षितव्य स्ते श्यालो बीभत्सु रित्यपि।
भूयोभूयः प्रार्थयित्वा कृतानुज्ञः पुरन्दरः॥ ३६ ॥

सार्धं सकलदिक्पालै र्लब्धवज्रः पुरं ययौ।
पुरन्दरं सदिक्पालं विसृज्य यदुनन्दनः॥ ३७ ॥

गरुडं प्राह कौरव्य! यास्यामो द्वारकामिति।
गोविन्दं सत्यभामाञ्च पारिजातञ्च पादपम्॥ ३८ ॥

गरुडः पन्नगरिपु र्लीलयैव वहन्ययौ।
सम्प्रविश्य पुरीं रम्यां द्वारतोरणभूषिताम्॥ ३९ ॥

पताकामालिनीं दिव्यां सिक्तसम्मृष्टभूतलाम्।
ऊर्ध्वोपायन ताम्बूल सुगन्धकलशाक्षतैः॥ ४० ॥

उपस्थितै र्यदुभेष्टैः पूजित श्चाऽभिनन्दितः
तूर्यमङ्गलनिर्घोषै र्वेदस्वाध्यायनिस्स्वनैः॥ ४१ ॥

प्रविवेश सभां दिव्यां सुधर्मां वृद्धसेविताम्।
आहुकं वसुदेवञ्च बलभद्रं तथाऽग्रजम्॥ ४२ ॥

अभिवाद्य यथान्यायं पूजित स्तै र्यथोचितम्।
उपविष्टस्सभामध्ये काञ्चने परमासने॥ ४३ ॥

रराज राजशार्दूल! बृहस्पति पुरोगमैः।
लोकपालै रुपासीनै र्दिवि वज्रधरो यथा॥ ४४ ॥

प्राङ्गणे सत्यभामायाः पारिजातं महाद्रुमम्।
स्थापयामास गोविन्दः सर्वतो मणिकुट्टिमे॥ ४५ ॥

आयान्तं देवकीपुत्रं योषित्सार्थेन भूरिणा।
श्रुत्वा द्रष्टु मुपाजग्मुः सकला यादव स्त्रियः॥ ४६ ॥

वसुदेवस्तु कौख्य रोहिण्याद्याः स्त्रियोऽखिलाः।
आजग्मुः केशवं द्रष्टुं जितशत्रु मनामयम्॥ ४७ ॥

स दृष्ट्वा मातरो विष्णु र्देवक्या सह सङ्गताः।
चक्रे प्रणाम माशीर्भिः ताश्च तं प्रत्यपूजयन्॥ ४८ ॥

रुक्मिण्याद्या स्तथा सप्त महिष्यः कृष्णवल्लभाः।
प्रणेमु र्देव मभ्येत्य दिव्यरूपाः स्वलङ्कृताः॥ ४९ ॥

रेवती रामदयिता त्रिवक्रा च यशस्विनी।
एकानङ्गा च तन्वङ्गी चित्रा च वरवर्णिनी॥ ५० ॥

अन्याश्च कुरुशार्दूल! भोजवृष्ण्यन्धकस्त्रियः।
आनीतप्रमदासार्थं जितशत्रुमनामयम्॥ ५१ ॥

गोविन्दं सत्यभामाञ्चाऽप्यानीत ममरद्रुमम्।
प्रीत्युत्फुल्लमुखाः सर्वे कौतुका द्रष्टु मीयमुः॥ ५२ ॥

**तं समेता यथाजोषं लाजप्रसवतण्डुलैः।**
**स्पृष्ट्वा मूर्ध्नि मुकुन्दस्य जग्मुः स्वं स्वं निवेशनम्॥ ५३ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे सप्तषष्टितमोऽध्यायः॥ ६७ ।
(अधिकपाठे तृतीयोऽध्यायः)

1 MB मातु रूधस्य 2 BM ०र्दे० 3 BM ०या०

## पदरत्नावली

ते तव युक्त न्याय्य स्त्रीजितस्येति शेषः। 'न्याय्ये सयुक्त' मिति यादवः॥ १-५॥

सः ह इति छेदः। सशक्रः युद्धप्रारम्भे॥ ६, ७ ॥

गात्र, गात्रा प्यवयवान्। सावृतीति क्रियाविशेषणम् सकवचं निर्भिद्ये॥ ८,९ ॥

आहवे युद्धे॥ १० ॥

तोत्रेण गजताडन चर्मणा॥ ११ ॥

बाहुयुगान्तरे वक्षसि॥ १२-१४ ॥

दुश्च्यवनायुधम् इन्द्रायुधम्। अजेयप्रहारार्थ मायुध समाप्त मिति दर्शयितु पुनर्वचन मिति ज्ञातव्यम्॥ १५-१७ ॥

निवर्तस्व पुन रागच्छ मा याहि मा गच्छ। प्रहसन्तीत्यस्य तात्पर्यं दर्शयति - पौलोम्येति॥ १८ ॥

अवमस्यति अवज्ञास्यति॥ १९, २० ॥

गतासुरावेश इन्द्रः प्रतिवक्ति येनेति॥ २१ ॥

तनुबलः अल्पबलः मातर्यूधस्येतिपाठः ऊधस्य मूधसि जातं क्षीर मातरि विरोध, हे पिशिताशनि "यान्नियाने च मासे च पिशित देवभोजनम्" इति॥ २२-२४ ॥

भूरिबालिशम् अधिकमूर्खम्॥ २५-२७ ॥

मूल निमित्तम्। अनन्यधीः तत्रैव निरतबुद्धिः॥ २८-३१ ॥

त्वया यत्कृत तदागः मयैव कृत विद्धि आवयोः परमत्यभेदात् त्वयिस्थित्वा त्वयैवाऽपराध कारयित्वा परिहामीत्यर्थः॥ ३२॥

एत देव विवृणोति - यत्त्वयेति॥ ३३, ४४ ॥

मणिकुट्टिमे मणिबद्धस्थाने॥ ४५ ॥

योषित्सार्थेन निरन्तरपत्न्या सहेति शेषः॥ ४६-४९ ॥

एकानङ्गा, दुर्गा सुभद्रा चित्रा तारेतिच "अनुत्पन्नरजाः श्यामा तद्दृष्ट्वा बरवर्णिनी। अप्रसूता भवेद्गौरी" इति च॥ ५०॥

आनीतः प्रमदाना सार्थो येन स तथा तम्॥ ५१-५३ ॥

इति श्रीविजयध्वजतीर्थ कृत पदरत्नावल्या सप्तषष्टितमोऽध्यायः॥ ६७ ॥
(अधिकपाठे तृतीयोऽध्यायः)

## अथ विजयध्वजरीत्या अष्टषष्टितमोऽ ध्यायः
(अधिकपाठे चतुर्थोऽध्यायः)

### श्रीशुक उवाच-

आराध्य देवदेवेशं शङ्करं लोकशङ्करम्।
तपसा तोषयित्वा तं कैलासगिरिवासिनम्॥ १ ॥

रुक्मिण्यां तनयं लेभे दग्धकामं पुन र्हरिः॥

वीरं प्रद्युम्ननामानं रूपौदार्यगुणान्वितम्॥ २ ॥

### राजोवाच-

पुत्रार्थ मीश्वरं दृष्ट्वा स्वयं लब्धवरो हरिः।
अवाप कीदृशं पुत्रं किंनामानं वदस्व मे॥ ३ ॥

श्रीशुक उवाच-

काम स्तु वासुदेवांशो दग्धः प्राग्रुद्रमन्युना।
देहोपपत्तये भूय स्तमेव प्रत्यपद्यत॥ ४ ॥

स एव जातो वैदर्भ्यां कृष्णवीर्यसमुद्भवः।
प्रद्युम्न इति विख्यातः सर्वतोऽनवमः पितुः॥ ५ ॥

तं शम्बरः कामरूपी हृत्वा तोकमनिर्दशम्।
स विदित्वाऽऽत्मन श्शत्रुं प्रास्योदन्वत्यगा द्गृहम्॥ ६ ॥

तं निर्जगार बलवान् मीनः सोऽप्यपरै स्सह।
वृतो जालेन महता गृहीतो मत्स्यजीविभिः॥ ७ ॥

तं शम्बराय कैवर्ता उपाजह्रु रुपायनम्।
सूदा महानसं नीत्वाऽवद्यन् स्वधितिनाऽद्भुतम्॥ ८ ॥

दृष्ट्वा तदुदरे बालं मायावत्यै न्यवेदयन्।
नारदोऽकथय त्सर्वं तस्या श्शङ्कितचेतसः॥ ९ ॥

बालस्य तत्त्व मुत्पत्तिं मत्स्योदरनिवेशनम्।
साच कामस्य वै पत्नी रति र्नाम यशस्विनी॥ १० ॥

पत्यु र्निदग्धदेहस्य देहोत्पत्तिं प्रतीक्षती॥ ११ ॥

निरुपिता शम्बरेण सा सूपोदनसाधने।
कामदेवं शिशुं बुध्वा चक्रे स्नेहं सदाऽर्भके॥ १२ ॥

नातिदीर्घेण कालेन स कार्ष्णी रूढयौवनः।
जनयामास नारीणां वीक्षन्तीनाञ्च विभ्रमम्॥ १३ ॥

सा तं पतिं पद्मदलायतेक्षणं प्रलम्बबाहुं नरलोकसुन्दरम्।
सव्रीडहासोत्तमविभ्रमेक्षितैः प्रीत्योपतस्थे रति रात्मनो धनैः॥ १४ ॥

तामाह भगवान्कार्ष्णि र्मति स्ते मति रन्यथा।
मातृभाव मतिक्रम्य वर्तसे कामिनी व मे॥ १५ ॥

रतिरुवाच-

भवान्नारायणसुतः शम्बरेण हृतो गृहात्।
अहं तेऽधिकृता पत्नी रतिः कामो भवान्प्रभो॥ १६ ॥

एष त्वा निर्दशं सिन्धा वक्षिपच्छम्बरोऽसुरः।
मत्स्योऽग्रसी त्तदुदरा दिह प्राप्तो भवान् प्रभो॥ १७ ॥

तमिमं जहि दुर्धर्षं दुर्नयं शत्रु मात्मनः।
मायाशतविदं त्वञ्च मायाभि र्मोहनादिभिः॥ १८ ॥

परिशोचति ते माता कुररीव मृतप्रजा।
पुत्रस्नेहाकुला दीना विवत्सा गौ रिवाऽऽतुरा॥ १९ ॥

प्रभाष्यैवं ददौ विद्यां प्रद्युम्नाय महात्मने।
मायावती महामाया सर्वमायाविनाशिनीम्॥ २० ॥

स च शम्बर मभ्येत्य संयुगाय समाह्वयत्
अवष्टभ्यौष्ठ माक्षेपैः क्षिपन् सञ्जनयन् कलिम्॥ २१ ॥

सोऽधिक्षिप्तो दुर्वचोभिः पादाहत इवोरगः।
निश्चक्राम गदापाणि रमर्षा त्ताम्रलोचनः॥ २२ ॥

गदा माविध्य तरसा प्रद्युम्नाय महात्मने।
प्रक्षिप्य व्यनद न्नादं वज्रनिष्पेषनिष्ठुरम्॥ २३ ॥

ता मापतन्तीं भगवान् प्रद्युम्नो गदया गदाम्।
अपास्य शत्रवे क्रुद्धः प्राहिणो त्स्व गदां नदन्॥ २४ ॥

स च मायां समाश्रित्य दैतेयीं मयदर्शिताम्।
निर्ममेऽश्ममयं वर्षं कार्ष्णौ वैहायसोऽसुरः॥ २५ ॥

बाध्यमानोऽश्मवर्षेण रौक्मिणेयो महारथः।
सत्त्वात्मिकां महाविद्यां सर्वमायोपमर्दिनीम्॥ २६ ॥

ततो गौह्यकगान्धर्व पैशाचोरगराक्षसीः।
प्रायुङ्क्त शतशो दैत्यः कार्ष्णि र्व्यधमय त्स ताः॥ २७ ॥

निशात मसि मुद्यम्य सकिरीटं सकुण्डलम्।
शम्बरस्य शिरः काया त्ताम्रश्मश्रु जहार तत्॥ २८ ॥

आकीर्यमाणो दिविजैः स्तुवद्भिः कुसुमोत्करैः।
भार्ययाऽम्बर चारिण्या पुरं नीतो विहायसा॥ २९ ॥

अन्तः पुरवरं राजन् ललनाशतसङ्कुलम्।
विवेश पत्न्या गगना द्विद्युतेव वलाहकः॥ ३० ॥

तं दृष्ट्वा जलदश्यामं पीतकौशेय वाससम्।
प्रलम्ब बाहुं ताम्राक्षं सुस्मितं रुचिराननम्॥ ३१ ॥

अलङ्कृतमुखाम्भोजं नीलवक्रालकालिभिः।
कृष्णं मत्वा स्त्रियो भीता निलिल्यु स्तत्र तत्र ह॥ ३२ ॥

उपधार्य शनै रीष द्वैलक्षण्येन योषितः।
उपजग्मुः प्रमुदिताः सस्त्रीरत्नं शुचिस्मिताः॥ ३३ ॥

अथ तत्राऽसितापङ्गी वैदर्भी वल्गुभाषिणी।
अस्मरत्स्वसुतं नष्टं स्नेहस्नुत पयोधरा॥ ३४ ॥

कोऽन्वयं नरवैदूर्यः कस्य वा कमलेक्षणः।
धृतः कया वा जठरे केयं लब्धाऽथ केन वा॥ ३५ ॥

ममचाऽप्यात्मजो नष्टो नीतो वा सूतिकागृहात्।
एतत्समवयो रूपो यदि जीवति कुत्रचित्॥ ३६ ॥

कथन्त्वनेन सम्प्राप्तं सारूप्यं शार्ङ्गधन्वनः।
आकृत्याऽवयवै र्गत्या स्वरहासावलोकनैः॥ ३७ ॥

स एव वा भवेन्नूनं यो मे गर्भे धृतोऽर्भकः।
अमुष्मि न्प्रीति रधिका वामः स्फुरति मे भुजः॥ ३८ ॥

एवं मीमांस्समानायां वैदर्भ्यां देवकीसुतः।
देवकीवसुदेवाभ्यां नारदेन महात्मना॥ ३९ ॥

अन्यैश्च यादवश्रेष्ठै रुत्तमश्लोक आविशत्।
विदितार्थोऽपि भगवां स्तूष्णी मास जनार्दनः॥ ४० ॥

नारदोऽकथयत्सर्वं शम्बराहरणादिकम्।
तच्छ्रुत्वा महदाश्चर्यं कृष्णान्तःपुर योषितः॥ ४१ ॥

देवकी वसुदेवश्च कृष्णरामौ तथा स्त्रियः।
दम्पती तौ परिष्वज्य रुक्मिणी च ययु र्मुदम्॥ ४२ ॥

नष्टं प्रद्युम्न मायान्त माकर्ण्य द्वारकौकसः।
अहो मृत इवाऽऽयातो बालो दिष्ट्येति चाऽब्रुवन्॥ ४३ ॥

यं वै मुहुः पितृसरूपनिजेशभावातन्मातरो मनसिजार्द्र हृदोरुभावाः।
चित्रं न तत्खलु रमास्पद बिम्बभूते कामे स्मरेऽक्षविषये किमुनाऽन्यनार्यः॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे
शाम्बरदैत्यवधो नाम अष्टषष्टितमोऽध्यायः॥ ६८ ॥
(अधिकपाठे चतुर्थोऽध्यायः)

## पदरत्नावली

"सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणजय्यः" इति श्रुति विहितसदाचारो भुव्यवतीर्णै र्देवादिभि रनुष्ठेय इति दर्शयितुं श्रीकृष्णस्य तदनुष्ठनप्रकारं शम्बरासुरवधलक्षणं विक्रमञ्च कथयत्यस्मिन्नध्याये। लोकस्य जनस्य शं सुखं करोतीति लोकशङ्करः, तं देवदेवो नारायणः ईशः स्वामी यस्य स तथा, त माराध्य, लोकदृष्ट्या इति शेषः॥ १-३ ॥

प्राग्रुद्रमन्युना दग्धो यः कामः भूय स्तमेव रुद्रमेव देहोत्पत्तये प्रत्यपद्यत॥ ४॥

स एव कामः कृष्णवीर्यसमुद्भवो वैदर्भ्यां जातः उपात्तदेहः, कीदृशः वासुदेवस्याशः प्रद्युम्ना यस्मि न्नाविष्ट स्स तथा। अतएव तदभिधान मेवाऽस्याभिधानमित्याह - प्रद्युम्न इति। सर्वतो वीर्यादिभिः पितु रनवमः कृष्णस्य पुत्रत्वे योग्यः॥ ५॥

तोकं सद्योजातं शिशुं निर्गतो दशमो दिवसो यस्मात्सनिर्दशः, तम् उदन्वति समुद्रे॥ ६ ॥

अपरै र्मत्स्यैः जालेन सिचा वृतः संस्यूतः मत्स्य जीविभि र्दशैः॥ ७ ॥

कैवर्ता मत्स्यमारकाः "कैबर्ते दाशधीवरौ" इति च। महानसं पाकस्थानम् स्वधितिना परशुना। "परश्वधः कुठारः स्या त्परशुः स्वधिति स्तथा। अवाचन् अखण्डयन्। दो अवखण्डने इति धातुः॥ ८ ॥

मायावती शम्बरस्य महानसाध्यक्षस्त्री॥ ९ ॥

किमकथय दद्राऽऽह - बालस्येति। मत्स्योदरनिवेशनं मत्स्योदर प्रवेशम्॥ १०, ११ ॥

पक्काना सूपाना मुद्गानां बाह्युपदंशाना मोदनस्य च साधने संस्कारे। यद्वा सूपादि साधने अध्यक्षतया साधने सेक साधने विध्युपायनिवृत्तिषु- "मरणे मृतसंस्कारे वाचने नून मेव च। सेनाग्रे यातनायाञ्च सेचने स्पूर्तिसेवयोः॥" इति॥ १२ ॥

कृष्णस्यापत्यं कार्ष्णिः। विभ्रमं विकारं। यद्वा, देवाद्यन्यतम इति विशिष्टभ्रमम्॥ १३ ॥

रति रात्मनो धनै स्तं पति मुपतस्थे अभिमुखेन तस्थौ। किमात्मधनानि सुवर्णादीनि नेत्याह सव्रीडेति। व्रीडया सहितो हासः सव्रीडहासः, उत्तमो विभ्रमः उत्कृष्टशृङ्गारचेष्टा ईक्षणं कटाक्षनिरीक्षणं तैः॥ १४ ॥

मातृभावं मातुःस्वभावम्। सुरतकामिनी॥ १५ ॥

अधिकृता पत्नी वधूत्तमा॥ १६ ॥

त्वा निर्दशम् इति पाठः॥ १७ ॥

मोहन शोषण द्रावणादिभिर्मायाभिः॥ १८ ॥

कुररस्य स्त्री कुररी। "उत्क्रोशः कुररो मतः" इति। मृतप्रजा नष्टापत्या॥ १९ ॥

महामाया महासामर्थ्या॥ २० ॥

ओष्ठ मवष्टभ्य दष्टा दन्तै रितिशेषः॥ २१, २२ ॥

नाद मिति क्रियाविशेषणम्। वज्रनिष्पेषः स्फूर्जथुः तद्वन्निष्ठुरो नादो यथा भवति तथा व्यनदत्। "स्फूर्जथु र्वज्रनिष्पेषः" इति हलायुधः॥ २३, २४ ॥

दैतेयीं दैत्यानां कुले देवता मिव चिद्यमानां वैहायसः विहायसि गगने स्थितः॥ २५ ॥

सत्त्वात्मिकतां बलज्ञाननिधि विष्णुदैवत्यां महाविद्यां विज्ञानास्त्रसंज्ञाम्॥ २६ ॥

गौह्यकादीन्यस्त्राणि प्रायुङ्क्त गुह्यकास्त्रं गौह्यकं, व्यधमयत् अनाशयत्॥ २७ ॥

ताम्रश्मश्रु कपिलरुचिरश्मश्रु॥ २८, २९ ॥

वलाहको मेघः॥ ३० , ३१ ॥

नितिल्युः निलीनाः॥ ३२ ॥

वैलक्षण्येन कृष्णत्वेण विपरीतलक्षण निकरेण॥ ३३ ॥

असितापाङ्गी नीलरुचिकान्तनेत्रान्ता॥ ३४ ॥

नरवैदूर्यः नरश्रेष्ठः नराकारं वैदूर्यरत्न मिव शोभमान इति वा। कस्य पुत्रः, कया स्त्रिया धृतो, गर्भे इति शेषः। इयं का केन वा लब्धा॥ ३५ ॥

प्रकारान्तरेण शङ्कते - ममेति॥ ३६ ॥

सारूप्यं सादृश्यं, सारूप्यं केनेति? तत्राऽऽह-आकृत्येति॥ ३७ ॥

नूनं निश्चयः ॥ ३८ ॥

मीमांसमानायां विचारयन्त्यात्॥ ३९-४३ ॥

नारीणां विभ्रमं जनयामासेति यदुक्तं, न तच्चित्रं मन्तव्यमित्याह - यं वा इति। यं दृष्ट्वा तस्य प्रद्युम्नस्य मातरः हरेः पत्न्यः मनसिजार्द्रहृदा कामरस क्लिन्नमनस्कत्वेन उत्भावाः बहुविधशृङ्गारचेष्टायुताः अङ्गुष्ठनखमुखमूलेन करयुगपीडनादिविकारलक्षणलक्षिता अभूव इत्यर्थः। किं विचित्रः पितृसरूपतया पितृसारूप्येण निजेशोऽस्मत्पतिरय मिति भावोऽभिप्रायो यासांतास्तथा ताः। तस्मिन् कामे मदने चित्रं न स्तु। काम्यते इति काम स्तस्मिन् कामे अक्षविषये चक्षुर्गोचरे किमु? इतोपि चित्रं नेत्याह - रमेति रमास्यदस्य लक्ष्मीमूर्तेः श्रीकृष्णस्य बिम्बात् अखण्डलक्षणोपेता देहा दुद्भूते जाते "आत्मा वै पुत्रनामाऽसि" इति श्रुतेः। श्रीकृष्णस्य बिम्बस्य लक्षणं तत्सर्वमस्य बिम्बस्य निधीयत इति श्रीकृष्णदेह प्रतिबिम्बभूत इत्यर्थः। बिम्बोऽस्त्री मण्डलसम प्रतिमामुखादर्शेषु प्रतिरूपे प्रतिकृतौ स्या द्बिम्बकापाले" इति अन्यनार्यः

तन्मातृष्यतिरिक्ताः स्त्रियः, स्मृतेऽपि विमुह्यन्ति, दृष्ट्वा किमु! तदिदं सर्वं कृष्णमाहात्म्य विलास इति समर्थविशेषं वा इत्यनेन दर्शयति॥ ४४ ॥

इति श्री विजयध्वजतीर्थकृत पदरत्नावल्यां टीकायां अष्टषष्टितमोऽध्यायः
(अधिकपाठे चतुर्थोऽध्यायः)

## अथ विजयध्वजरीत्या एकोनसप्ततितमोऽध्यायः
(अधिकपाठे पञ्चमोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच-

पौण्ड्रको नाम राजा वै तस्मिन् काले कुरूद्वह!
द्वारकां वृष्णिनिलयां निरुध्य बहुसैनिकः॥ १ ॥

अर्दयामास कृष्णेन विदित्वा रहितां निशि
तं कामपालः शैनेयो वसुदेवोद्धवादयः॥ २ ॥

उग्रसेनश्च कौरव्य! ये चान्ये यदुपुङ्गवाः।
अर्चयामासु रायान्तं कालयोग्य मिवातिथिम्॥ ३ ॥

राजो वाच-

कश्चाऽसौ पौण्ड्रको नाम कस्मिन्देशे महीपतिः।
कस्य वा तनयो ब्रह्मन् सर्वमेत द्वदस्व मे॥ ४ ॥

श्रीशुक उवाच-

अपुत्रः काशि राजो वै कन्यां सुतनुसंज्ञिताम्।
प्रायच्छ द्वसुदेवाय राज्य शुल्कां कुरूद्वह॥ ५ ॥

तन्नजज्ञे महाबाहु र्दिवाकरसमद्युतिः।
कुमारः पौण्ड्रको नाम बलवीर्यमदान्वितः॥ ६ ॥

वसुदेव सुतत्वाच्च वासुदेवेति शब्दितः।
जाते तस्मिन्महाराजो वसुदेवो महाद्युतिः॥ ७ ॥

राज्यं तस्मिन्समारोप्य स कोशबलवाहनम्।
उवाह कंसावरजां देवकीं देवतोपमाम्॥ ८ ॥

निरुद्धो भोजराजेन कंसेनाऽऽनकदुन्दुभिः।
कदाचिदपि न प्राया त्करवीरपुरी मयि॥ ९ ॥

असह्यं मातृ सापत्न्य मभ्रातृत्वं तथाऽऽत्मनः।
स्मरमाणः स काशीशो यदूनुद्विजतेऽनिशम्॥ १० ॥

सकृष्ण रहितां श्रुत्वा समेत्य द्वारकां निशि।
विमृद्य बलभद्रेण शैनेयेनाऽपि निर्जितः॥ ११ ॥

निहतानेकसाहस्र हयकुञ्जरसैनिकः।
जगाम परशर्वर्यां पुरीं वाराणसीं नृप॥ १२ ॥

प्रभातायां तु शर्वर्यां हरिर्बदरिकाश्रमात्।
आययौ तार्क्ष्य मारुह्य द्वारकां रामपालिताम्॥ १३ ॥

सपताकै स्साघ्र्यपाद्यै र्यदुवृष्ण्यन्धकादिभिः।
अभिवर्णितवृत्तान्तः प्राविशत्केशव स्सभाम्॥ १४ ॥

कदाचि त्पौण्ड्रको नाम काशिराजः प्रतापवान्।
वासुदेवोऽह मित्यज्ञो दूतं कृष्णाय प्राहिणोत्॥ १५ ॥

त्वं वासुदेवो भगवा नवतीर्णो जगत्पतिः।
इति प्रस्तोभितो बालै र्मेने स्वात्मान मच्युतम्॥ १६ ॥

दूतस्तु द्वारका मेत्य सभाया मास्थितं हरिम्।
कृष्णं कमलपत्राक्षं राजसन्देश मब्रवीत्॥ १७ ॥

वासुदेवोऽवतीर्णोऽह मेकएव नचाऽपरः।
भूताना मनुकम्पार्थं त्वन्तु मिथ्याभिधां त्यज॥ १८ ॥

यानि त्व मस्मच्चिह्नानि मौढ्या द्विभर्ष्यभीतवत्।
त्यक्त्वैहि मां त्वं शरणं नो चे देहि ममाऽऽ हवम्॥ १९ ॥

कत्थनं त दुपाकर्ण्य पौण्ड्रकस्याल्पमेधसः।
उच्चकै रुग्रसेनाद्याः सभ्याप्रजहसु स्तदा॥ २० ॥

उवाच दूत म्भगवा न्परिहासकथा मनु।
उत्प्रक्ष्ये मूढ! चिह्नानि यै स्त्व मेवं विकत्थसे॥ २१ ॥

मुखन्तवविधायाऽत्र, कङ्कगृध्रबकै र्वृतम्।
शयिष्यसे हत स्तत्र भविता शरणं शुनाम्॥ २२ ॥

इति दूत स्तदाक्षेपं स्वामिने सर्व माहरत्॥
कृष्णोऽपि रथ मारुह्य प्रायात्काशीं ससैनिकः॥ २३ ॥

पौण्ड्रकोऽपि तदुद्योग मुपलभ्य महारथः।
अक्षौहिणीभि स्सहितो निश्चक्राम पुरा द्रुतम्॥ २४ ॥

तमायान्तं रथोपस्थे सुवर्णगरुडे स्थितम्।
सुवर्णबाहुयुगल मपश्य त्पौण्ड्रकं हरिः॥ २५ ॥

शङ्खार्यसिगदाशार्ङ्गं दध च्छ्रीवत्सलक्षितम्।
बिभ्राणं कौस्तुभ मणिं बनमालाविभूषितम्॥ २६ ॥

कौशेयवाससी पीते वसानङ्गरुडध्वजम्।
आमुक्तमाल्याभरणं स्फुरन्मकरकुण्डलम्॥ २७ ॥

दृष्ट्वा त मात्मना साम्यं कृत्रिमं वेष मस्थितम्।
यथा नटं रङ्गगतं विजहास भृशं हरिः॥ २८ ॥

क्षणेन तं काशिपतेः सैनिका दृढधन्विनः।
शरै राच्छादयामासु र्मेघा श्शैल मिवाऽम्भसा॥ २९ ॥

केचि द्रजा न्रथा नश्वाना स्थाय रणमूर्धनि।
शूलै र्गदाभिः परिघै शक्त्यृष्टिप्रासतोमरैः।
असिभिः पट्टिशै र्बाणैः प्रहरन्नरयो हरिम्॥ ३० ॥

तस्य काशिपते र्मित्रं पार्ष्णिग्राहो परोनृपः।
अक्षौहिणीभि स्तिसृभि रुपायान्नृप! सङ्गरम्॥ ३१ ॥

कृष्णस्तु तत्पौण्ड्रककाशिराजयो र्बलं गजस्यन्दन वाजि पत्तिमत्।
गदासि चक्रेषुभि रार्दयद्भृशं यथा युगान्ते हुतभुग्जगाज्वलन्॥ ३२ ॥

आयोधनं तद्रथ वाजिकुञ्जर द्विषत्खरोष्ट्रै रिपुणावरञ्जितैः।
बभौ च तन्मानवहं मनस्विना माक्रीडनं भूतपते रिवोल्बणम्॥ ३३ ॥

अथाऽह पौण्ड्रकं शौरि र्भो भो पौण्ड्रक यद्भवान्
दूतवाक्येन मा माह तान्यस्त्राण्युत्सृजामि ते॥ ३४ ॥

त्याजयिष्येऽ भिधानं मे यत्त्वयाऽद्य मृषा कृतम्।
व्रजामि शरणं तेऽद्य यदि नेच्छामि संयुगम्। ३५ ॥

इति च्छित्वा शितै र्बाणै र्विरथीकृत्य पौण्ड्रकम्।
शिरोऽहर द्रथाङ्गेन वज्रेणेन्द्रो यथा गिरेः॥ ३६ ॥

तथा काशिपतेः काया च्छिर उत्कृत्य पत्रिभिः।
न्यपातय त्काशिपुर्यां पद्मकोश मिवाऽनिलः॥ ३७ ॥

एवं मत्सरिणं हत्वा पौण्ड्रकं ससखं हरिः।
द्वारका माविश त्सिद्धै र्गीयमान कथामृतः॥ ३८ ॥

श्रीशुक उवाच-

शिरः पतितमालोक्यं राजद्वारि सकुण्डलम्।
किमिदं कस्य वा वक्त्र मिति संशयिरे जनाः॥ ३९ ॥

राज्ञः काशिपते र्ज्ञात्वा महिष्यः पुत्रबान्धवाः।
पौरा श्शोकहता राजन् नाथ नाथे त्युपाद्रवन्॥ ४० ॥

सुदक्षिण स्तस्य सुतः कृत्वा संस्थाविधिं पितुः।
निहत्य पितृहन्तारं यास्या म्यपचितिं पितुः॥ ४१ ॥

इत्यात्मनाऽभिसन्धाय सोपाध्यायो महेश्वरम्।
सुदक्षिणोऽर्चयामास परमेण समाधिना॥ ४२ ॥

प्रीतोऽविमुक्ते भगवां स्तस्मै वर मदा द्रुवः।
पितृहन्तुर्वधोपायं स वव्रे वर मीप्सितम्॥ ४३ ॥

दक्षिणाग्निं परिचर ब्राह्मणैस्सह ऋत्विजः।
आभिचारविधानेन सचाऽग्निः प्रमथै र्वृतः॥ ४४ ॥

साधयिष्यति सङ्कल्प मब्रह्मण्ये प्रयोजितः।
इत्यादिष्ट स्तथाचक्रे कृष्णायाऽभिचरन्नृप॥ ४५ ॥

ततोग्नि रुत्थितः कुण्डा न्मूर्तिमा नतिभीषणः।
तप्तताम्रशिखाश्मश्रु रङ्गारोद्गारिलोचनः॥ ४६ ॥

दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीदन्त कठोरास्यः स्वजिह्वया।
आलिहन् सृक्किणी रक्ते विधुन्वन् त्रिशिखं ज्वलत्॥ ४७ ॥

पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्यां कम्पयन्धरणीतलम्।
सोऽभ्यधावद्भृतो भूतै र्द्वारकां प्रदहन्दिशः॥ ४८ ॥

तमाभिचार दहन मायान्तं द्वारकौकसः।
विलोक्य तत्रसु स्सर्वे वनदाहे यथा मृगाः॥ ४९ ॥

अक्षै स्सभायां क्रीडन्तं भगवन्तं भयातुराः।
त्राहि त्राहीति लोकेशं वह्नेः प्रदहतः पुरम्॥ ५० ॥

श्रुत्वा तज्जनवैक्लव्यं दृष्ट्वा स्वानाञ्च साध्वसम्।
धरणीशः प्रहस्याऽऽह मा भैष्ट त्यवितास्म्यहम्॥ ५१ ॥

सर्वस्यान्तर्बहिः स्सोऽथ कृत्यां माहेश्वरीं विभुः।
विज्ञाय तद्विघातार्थं पार्श्वस्थं चक्र मादिशत्॥ ५२ ॥

तत्सूर्यकोटिप्रतिमं सुदर्शनं
जाज्वल्यमानं प्रलयानलप्रभम्।
स्वतेजसा खं ककुभोऽथ रोदसी
चक्रं मुकुन्दस्य झटित्यपूरयत्॥ ५३ ॥

कृत्यानलः प्रतिहतः सरथाङ्गपाणे
रस्त्रौजसा नृप, विभग्नमुखो निवृत्तः।
वाराणसीं प्रति समेत्य सुदक्षिणं तं
सन्निर्जितं समदहत्स्वकृतोऽभिचारः॥ ५४ ॥

चक्रञ्च विष्णो स्तदनु प्रविष्टं वाराणसीं साट्टसभालयापणाम्।
सगोपुराट्टालककोष्ठतोरणां सकोशहस्त्यश्व वरूथमन्दिराम्॥ ५५ ॥

दग्ध्वा वाराणसीं सर्वां विष्णुचक्रं सुदर्शनम्।
भूयः पार्श्वं मुपातिष्ठ त्कृष्णस्याऽक्लिष्टकर्मणः॥ ५६ ॥

य एतच्छ्रावयेन्मर्त्य उत्तमश्लोक विक्रमम्।
समाहितो वा शृणुया त्सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ५७ ॥

तावुभौ सर्वपापेभ्यो ब्रह्महत्यादिभिर्नृप।
विमुच्य देहावसाने विष्णुलोकं प्रयास्यतः॥ ५८ ॥

---

1 Mb काशी

इति श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः॥ ६९ ॥
(अधिक पाठे पञ्चमोऽध्यायः)

## पदरत्नावली

न यस्य स्वः पर इतीममर्थं सत्यं कर्तुं पौण्ड्रकवधलक्षणं विक्रमं कथयितु मुत्तराध्याय प्रारम्भः॥ १ ॥

तस्मि न्काले कृष्णरहितां विदित्वा। कामपालो बलभद्रः॥ २ ॥

अर्पयामासुः, शरा नितिशेषः॥ ३,४ ॥

राज्यमेव शुल्कं यस्यां सा तथा ताम्॥ ५,६ ॥

नामान्तर माह वसुदेवेति। ७-९ ।
उद्विजते भीतिं करोति। भयकरण मात्मन एव फलतीति द्योतनाय स्मरमाण इति॥ १० ॥

द्वारकां समेत्याऽपमृच॥ ११ ॥

परशर्व्या मपरात्रे, उषःकाले॥ १२-१५ ॥

बालै रक्षैः प्रस्तोभितोऽविद्यमानगुणेन प्रस्तुतो मूढाक्षेपमुक्तो वा॥ ६-१८ ॥

अस्मच्चिह्नानि चक्रादीनि। मां शरण मेहि॥ १९ ॥

कत्थनं व्यर्थभाषणम्॥ २० ॥

अनु अनन्तरम्। उत्प्रक्ष्ये त्याजयिष्ये त्वदीयानि चिह्नानि॥ २१, २२ ॥

स्वामिने पौण्ड्रकाय॥ २३-२६ ॥

आमुक्तमाल्याभरणं बद्धमालालङ्कारम्॥ २७-२९ ॥

ऋष्टिः खड्गविशेषः। प्रहरन् प्राहरन्॥ ३० ॥

पार्ष्णिग्राहं पृष्ठतो गोप्तारम्॥ ३१ ॥

प्रभयाज्वलन्॥ ३२ ॥

यदायोधनं युद्धस्थानं, तद्वभा वित्यन्वयः। अवखण्डितै रुच्छिन्नैः "खण्डि खण्डने"। द्विपदः पदातयः मनस्विनां शूराणां मानवर्धनं भूपते राक्रीडनम् श्मशानम्॥ ३३ ॥

किमाह शौरि रिति तत्राऽऽह - यदिति। भवान् दूतत्वाद्येन 'वासुदेवोऽवतीर्णोऽहम्' इत्यादिलक्षणेन यन्मामाह, तत्पश्येति शेषः। किन्तदिति तत्राऽऽह तानीति। यान्युत्सृजेति भवानाह रणे तान्यस्त्रा ण्युत्सृजामि मुञ्चामि॥ ३४ ॥

अद्य त्वयाऽहं यदेव वासुदेवेत्यभिधानं मृषा कृतं तत्त्वां त्याजयिष्ये प्रहापयिष्यामि यदि संयुगं नेच्छामि तर्हि त्वां शरणं व्रजामीति॥ ३५-३८ ॥

संशयिरे संशयं चक्रिरे॥ ३९, ४० ॥

संस्थाविधिं प्रेतक्रियाम् अपचितिम् अनृणत्वं प्रतिक्रियां वा "अर्चनाया मपचितिः प्रेतक्षये निष्कृतौ व्यये" इति॥ ४१ ॥

आत्मना मनसा इत्यभिसन्धाय सङ्कल्प्य॥ ४२ ॥

अविमुक्ते काश्याम् अविमुक्तेश्वर नामक्षेत्रविशेषे वा प्रीतः॥ ४३ ॥

दक्षिणाग्नि मन्वाहार्यनामानं परिचर पूजय, आभिचार विधानेन क्षुद्रप्रयोगप्रकारेण॥ ४४ ॥

अब्रह्मण्ये ब्राह्मणाचारविरुद्धाचारे प्रयोजितः आदिष्टः इत्यरेणेति शेषः अभिचरन् कृत्या प्रयोगं कुर्वन्॥ ४५, ४६ ॥

त्रिशिखं शूलमितिशेषः॥ ४७, ४८ ॥

आभिचारदहनं कृत्यालक्षणाग्निम्॥ ४९ ॥

अक्षै र्दुरोदरैः॥ ५० ॥

धरणीशः भूमीशः धरणं यस्य तद्धरणि तस्य त्रैलोक्यस्य वा, अवितास्मि रक्षितास्मि॥ ५१, ५२ ॥

सुदर्शनं नाम चक्रं अस्त्रं खं बिलं व्योमवा। "स्वमिन्द्रिये दिनि व्योम्नि ताम्रे द्वाराभ्युपाययोः" इति यादवः॥ ५३ ॥

अभिचारः कृत्याग्निः॥ ५४ ॥

तदनु सुदक्षिणदहनान्तरम् अन्तः प्रतिष्ठ (प्रविष्टं) कोष्ठ मन्तर्गृहं, बरूथं त्यगुमिशालाम्॥ ५५, ५६ ॥

एतच्चरित्रश्रवणादिफलमाह——य इति॥ ५७ ॥

तावुभौ श्रोता, श्रावयिता च ब्रह्महत्यादिभि रुपलक्षितेभ्योऽशुभेभ्यः। ५८ ॥

इति विजयध्वजतीर्थकृत पदरत्नावल्यां
एकोन सप्ततितमोऽध्यायः।
(अधिकपाठे पञ्चमोऽध्यायः)

# अथ विजयध्वजरीत्या सप्तत्तितमोऽध्यायः
## (अधिकपाठे षष्ठोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच-

अथैकदा द्वारवत्यां वसतो रामकृष्णयोः।
सूर्योपरागः सुमहा नासी त्कल्पक्षये यथा॥ १ ॥

तं ज्ञात्वा मनुजा राजन् पुरस्तादेव सर्वशः
स्यमन्त पञ्चकं क्षेत्रं जग्मुः श्रेयोविधित्सया॥ २ ॥

निःक्षत्रियां महीं कुर्वन् रामः शस्त्रभृतां वरः।
नृपाणां रुधिरौघेण यत्र चक्रे महाह्रदान्॥ ३ ॥

ईजे च भगवा न्रामो यत्राऽस्पृष्टोऽपि कर्मणा।
लोकस्य सङ्ग्रहायैष यथाऽन्योऽघापनुत्तये॥ ४ ॥

महत्यां तीर्थयात्रायां तत्राऽगुर्भारतीः प्रजाः।
कृष्ण ष्षोडश साहस्र महिषीशिबिकान्वितः॥ ५ ॥

पुत्रपौत्रजनानीकै र्वारकान्ताकरेणुभिः
नगर स्त्री कदम्बैश्च प्रियासार्थैश्च संयुतः॥ ६ ॥

वृष्णयश्च तथाऽक्रूर वसुदेवगदादयः।
ययु र्भारत! तत्क्षेत्रं स्वमघं क्षपयिष्णवः॥ ७ ॥

शठ प्रद्युम्नसाम्बाश्च सुवज्रोद्धवसारणाः।
आहुकं कृतवर्माणं संस्थाप्य पुररक्षणे॥ ८ ॥

ते रथै र्देवविख्यातै र्हयैश्च तरल प्रभैः।
गजै र्बृहद्भि रभ्रामै र्नृभि र्विद्याधरद्युभिः॥ ९ ॥

व्यरोचन्त महाभागाः पथि काञ्चनमालिनः॥
वेदवादित्रनिर्घोषै श्शङ्खदुन्दुभिनिस्स्वनैः॥ १० ॥

गायन्तः कृष्णकृष्णेति गोविन्देति च सन्ततम्।
ककुभः पूरय न्नादैः जग्मु स्सर्वे कुरूद्वह॥ ११ ॥

स्यमन्तपञ्चकं प्राप्य क्षेत्रं त्रैलोक्यविश्रुतम्।
तृणैः पर्णै स्तथा काष्ठै श्चक्रिरे भवनानि च॥ १२ ॥

कम्बलाजिनवस्त्राणां शिबिराणि महीभृताम्।
आसन्विचित्ररूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः॥ १३ ॥

तत्राऽऽजग्मु र्नृपाऽनेके ब्राह्मणाश्च सहस्रशः।
वैश्या श्शूद्राश्च निस्संख्या येचाऽन्ये वर्णनिन्दिताः॥ १४

ऋषयश्च महात्मानो विख्याता श्शंसितव्रताः।
सोपाध्याया स्साग्निहोत्राः स्नातकागृहमेधिनः॥ १५ ॥

अन्धाश्च बधिराश्चैव कुब्जा वामनपण्डकाः।
व्यङ्गाजडाश्च मूकाश्च कर्मक्षयपरीप्सवः॥ १६ ॥

गोविन्दचरणाम्भोज रेणुरञ्जितमस्तकाः।
कटकाङ्गदकेयूर हारकुण्डलभूषणाः॥ १७ ॥

सगन्ध दिव्यवसनाः कलत्रैः खेचरा इव।
तत्र स्नात्वा महाभागा उपोष्य सुसमाहिताः॥ १८ ॥

ब्राह्मणेभ्योऽददु र्धेनूर्वासः स्रग्भूममालिनीः।
रामह्रदेषु विधिव त्पुन राप्लुत्य वृष्णयः॥ १९ ॥

ददुः स्वर्णं द्विजाग्रेभ्यः कृष्णे नो भक्ति रस्त्विति।
स्वयञ्च तदनुज्ञाता वृष्णयः कृष्णदेवताः॥ २० ॥

भुक्त्वोपविविशुः कामं स्निग्धच्छायाङ्घ्रिपाङ्घ्रिषु।
तत्राऽऽगतां स्ते ददृशुः सुहृत्सम्बन्धिनो नृपान्॥ २१ ॥

मत्स्योशीनर कौसल्य विदर्भकुरु सृञ्जयान्।
काम्बोजकैकया न्मद्रान् कुन्तिमान्धारकेरलान्॥ २२ ॥

अन्यांश्चैवाऽऽत्मपक्षीयान्परांश्च शतशो नृपान्।
नन्दादी न्सुहृदो गोपान्गोपीश्चोत्कण्ठिता भिरम्॥ २३ ॥

अन्योन्यसन्दर्शनहर्षरंहसा प्रोत्फुल्लहृत्पङ्कजसारोरुहश्रियः।
आश्लिष्य गाढं नयनैः स्रवज्जला हृष्य त्त्वचो रुद्धगिरो यमु र्मुहुः॥ २४ ॥

स्त्रियश्च संवीक्ष्य मिथोऽतिसौहृदाः सचापलापाङ्गदृशोऽभिरेभिरे।
स्तनैः स्तना न्कुङ्कुमपङ्करूषितान्निहत्यदोर्भ्यां प्रणयाश्रुलोचनाः॥ २५ ॥

ततोभिवाद्य ते वृद्धान्यवीयै रभिवादिताः।
स्वागतं कुशलं पृष्ट्वा चक्रुः कृष्णकथा मिथः॥ २६ ॥

पृथा भ्रातृ न्स्वसृर्वीक्ष्य तत्पुत्रान्पितरावपि।
भ्रातृपत्नी र्मुकुन्दञ्च जहौ सङ्कथया शुचः॥ २७ ॥

कुन्त्युवाच-

आर्य भ्रात रह म्मन्ये आत्मान मकृताशिषम्।
यद्वा आपत्सु मद्वार्तां नाऽनुस्मरथ सत्तमाः॥ २८ ॥

सुहृदो ज्ञातयः पुत्रा भ्रातरः पितरावपि।
नाऽनु स्मरन्ति स्वजनं यस्य दैव मवक्षिप्तम्॥ २९ ॥

वसुदेव उवाच-

अम्ब माऽस्मा नसूयेथा देव क्रीडनका न्नरान्।
ईशस्य हि वशे लोकः कुरुते कार्यतेऽथवा॥ ३० ॥

कंसप्रतापिता स्सर्वे वयं याता दिशो दश।
एतर्हीव पुनः स्थानं दैवेनाऽऽसादिताः स्वसः॥ ३१ ॥

श्रीशुक उवाच-

वसुदेवोग्रसेनाद्यै र्यदुभि स्सेविता नृपाः।
आसन्नच्युतसन्दर्श परमानन्द निर्भराः॥ ३२ ॥

भीष्मो द्रोणोऽम्बिकापुत्रो गान्धारी ससुता तथा।
सदाराः पाण्डवाः कुन्ती सञ्जयो विदुरः कृपः॥ ३३ ॥

कुन्तिभोजो विराटश्च भीष्मको नग्नजिन्महान्।
पुरुजि द्रुपदश्शैब्यो धृष्टकेतुश्च काशिराट्॥ ३४ ॥

दमघोषो विशालाक्षो मैथिलो मद्रकैकयाः।
युधामन्यु स्सुशर्मा च ससुता बाह्लिकादयः॥ ३५ ॥

राजानोऽन्ये च राजेन्द्र युधिष्ठिरपुरोगमाः।
श्रीनिकेतं वपुः शौरे स्ससस्त्रीका वीक्ष्य विस्मिताः॥ ३६ ॥

अथ ते कृष्णरामाभ्यां सम्यक्प्राप्तसमर्हणाः।
प्रशशंसुर्मुदा युक्ता स्तुष्टाः कृष्णपरिग्रहान्॥ ३७ ॥

अहो भोजपते यूयं जन्म भाजो नृणा मिह।
यत्पश्यथाऽसकृत्कृष्णं दुर्दर्श मपि योगिनाम्॥ ३८ ॥

यन्निस्सृतं वेदमयं पुनाति पादावने जनपयस्तु वचश्च शास्त्रम्।
भूः कालभर्जितभगाऽपि यदङ्घ्रिपद्मस्पर्शेद्विशक्ति रभिवर्षति नोऽखिलार्थान्॥ ३९ ॥

तद्दर्शनस्पर्शनानुपथप्रजल्प शय्यासनाशनसयौवनपिण्डबन्धाः।
येषां गृहे निरयवर्त्मनि वर्तताञ्च स्वर्गापवर्ग विरमः स्वयमास विष्णुः॥ ४० ॥

नन्द स्तत्र यदू न्प्राप्तान् श्रुत्वा कृष्णपुरोगमान्।
तत्राऽगमद्धृतो गोपै स्तरसा तद्दिदृक्षया॥ ४१ ॥

तं दृष्ट्वा वृष्णयो हृष्टा स्तन्वः प्राण मिवोत्थिताः।
परिषस्वजिरे गाढं चिरदर्शनकातराः॥ ४२ ॥

वसुदेवः परिष्वज्य सम्प्रीतः प्रेमविह्वलः।
स्मरन् कंस कृतान् क्लेशान् पुत्रन्यासञ्च गोकुले॥ ४३ ॥

कृष्णरामौ परिष्वज्य पितरा बभिवाद्य च।
न किञ्चनोचतुः प्रेम्णा साश्रुकण्ठौ कुरूद्वह॥ ४४ ॥

ता वुत्सङ्गं समारोप्य बाहुभ्यां परिरभ्य च।
यशोदा च महाभागा सुतौ विजहतुः शुचः॥ ४५ ॥

रोहिणी देवकी चैव परिष्वज्य व्रजेश्वरीम्।
स्मरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीं बाष्पकण्ठ्यौ समूचतुः॥ ४६ ॥

को विस्मरेत वां मैत्री मनुवृत्तां व्रजेश्वरि
अथ वाप्यैन्द्र मैश्वर्यं यस्या नेह प्रतिक्रिया॥ ४७ ॥

एतावदृष्टपितरौ युवयोः स्म पित्रोः
सम्प्रीणनाभ्युदय पोषणपालनानि।
प्राप्योषतु र्भवति पक्ष्म ह यद्वदक्ष्णो
र्न्यस्तावकुत्र च भयौ न सतां परस्तात्॥ ४८ ॥

गोप्यश्च कृष्ण मुपलभ्य चिरादभीष्टं
यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति।
दृग्भिर्हृदीकृत मलं परिरभ्य सद्य
स्तद्भाव मापु रपि नित्ययुजां दुरापम्॥ ४९ ॥

भगवां स्तास्तथाभूता विविक्त उपसङ्गताः।
आश्लिष्यानामयं पृष्ट्वा प्रहस्य मिद मब्रवीत्॥ ५० ॥

अपि स्मरथ न स्सख्यः स्वानामर्थाचिकीर्षवः।
गतांश्चिरायिता नन्यासङ्गात्कृपणचेतसः॥ ५१ ॥

अवबुध्य यथाऽस्मासु इदमेव विशङ्कये।
नूनं भूतानि भगवा न्युनक्ति वियुनक्ति च॥ ५२ ॥

वायुर्यथा घनानीकं तृणतूलरजांसि च।
संयोज्य क्षिपते भूय स्तथा भूतानि भूतकृत्॥ ५३ ॥

मयि भक्ति र्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।
दिष्ट्याऽऽसीन्मयि सुस्नेहो भवतीनां मुदावहः॥ ५४ ॥

अहं हि सर्वभूताना मादि रन्तोऽन्तरं बहिः।
भौतिकानां यथा खं वा र्भूर्वायुर्ज्योति रङ्गनाः॥ ५५॥

एव मेतानि भूतानि भूते ष्वात्माऽत्मना ततः।
उभयं मय्यथ परे पश्यथाऽऽततमक्षरे॥ ५६ ॥

श्रीशुक उवाच-

अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः।
तदनुस्मरणध्वस्तजीवकोशास्तमध्यगुः॥ ५७ ॥

नताः स्म ते नाथ पदारविन्दं योगेश्वरै र्हृदि विचिन्त्य मगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं गेहञ्जुषा मपि मनस्युदियात्सदा नः॥ ५८ ॥

इति श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे सप्ततितमोऽध्यायः॥ ७० ॥
(अधिकपाठे षष्ठोऽध्यायः)

## पदरत्नावली

तीर्थयात्रायां बहुविधं पुण्यं निमित्तं काले (सं) ततोऽपि विशिष्टं तत्र स्नाना त्सत्पात्रत्यागा त्सन्दर्शना त्पुण्यवतां पुण्यराशेरितरेषामप्यधक्षया च्छुद्धान्तः करणत्वेन निर्मला कृष्ण विषया भक्तिः मुक्तावानन्द विशेषं मुक्तिञ्च ददातीति कृत्वा लौकिकाचारं विडम्बयतः कृष्णस्य तीर्थयात्रादि लक्षणं चरितं कथयत्यस्मिन्नध्याये। तत्राऽदौ तीर्थयात्रायां निमित्तमाह - अथेति। कल्पक्षय इत्यनेन सर्वग्रासं लक्षयति॥ १ ॥

पुरस्ता दुपरा॰ा दिति शेषः। स्यमन्तपञ्चकं कुरुक्षेत्रं स्यमन्तानां ह्रदानां पञ्चकं यस्मिं स्तत्तथा॥ २ ॥

एत देव स्पष्टयति - निःक्षत्रियामिति। निषिद्धाः क्षत्रियाः यस्या सा तथा तां यत्र देशे यत्पञ्चमहायज्ञं [illegible] तत्स्यमन्तपञ्चकम्॥ ३॥

कर्मणा हत्यानिमित्तपापोत्पन्नेन अस्पृष्टोऽपि लोकसङ्गहायेति। विकर्मणेति केचित्पठन्ति॥ ४ ॥

भारतीः भारत खण्डे विद्यमानाः॥ ५ ॥

वारकान्ता गणिका स्तदारूढकरेणुभिः॥ ६-८ ॥

तरलानां तरङ्गाणां प्रभावत्प्रभा येषा ते तथा, अतिधवल प्रभा इत्यर्थः। तै र्विद्याधरस्तुतिभिः॥ ९-१२ ॥

कम्बलाजिनवस्त्राणां वितानै रिति शेषः॥ १३ ॥

अनेके इति पदच्छेदः, बहव इत्यर्थः। निन्दिताश्चतुर्वर्णेभ्यः पृथ कृताः॥ १४ ॥

शंसितव्रताः निर्मलव्रताः स्नातकाः दण्डसोदककमण्डलुधराः गृहमेधिनः पञ्चयज्ञाधिकारिणः॥ १५ ॥

कुब्जा वक्राङ्गाः, वामना ह्रस्वावयवाः, पण्डकाः क्लीबाः, व्यङ्गाः हस्ताद्यवयवहीनाः किंसाध्यमिति तत्राऽऽह कर्मेति॥ १६॥

कटकं वलयः॥ १७, १८ ॥

वासांसि स्रजश्च स्वर्णमालाः स्वर्णमालाः, आसा सन्तीति वासस्स्रग्वम मालिन्यः ताः॥ १९-२४ ॥

सचापला श्वाञ्चल्येनसहिताः अपाङ्गदृशः कटाक्षवीक्षणानि यासां तास्तथा। अभिरेभिरे आलिङ्गन चक्रुः॥ २५-२७ ॥

केयं कथेति तत्राऽऽह-आर्येति। आर्यभ्रात ज्येष्ठभ्रातः, वसुदेवः अकृताशिष मचीर्णपुण्यम् अस्मदापत्सु मद्वार्ता नाऽनुस्मरथेति य त्तस्मा दिति शेषः॥ २८ ॥

तत्र किं कारण मिति तत्राऽऽह - यस्येति, अदक्षिणं विपरीत वृत्ति॥ २९ ॥

देव क्रीडनकान् देवस्येश्वरस्य कीडोपकरणभूतान्, ईशस्य वशे स्थितो लोकः कर्माणि कुरुते सङ्गेन कार्यते वा "कार्यते ह्यवशः" (भ.गी. 3-5) इति स्मृतेः॥ ३० ॥

कंसेन प्रतापिताः सन्तापं प्रापिताः, एतर्हि इदानीं स्वसःभगिनि!॥ ३१ -३६॥

कृष्ण परिग्रहान् कृष्णाशयान्॥ ३७, ३८ ॥

तुशब्दोऽवधारणार्थः। च शब्दः समाहारार्थः। यस्य कृष्णस्य वदनाच्चिस्सृतं वचः वागात्मकं शास्त्रं ब्रह्मसूत्रादिलक्षणम् इदं जगत् पुनात्येव। यस्य पादावनेजनपयश्च पुनाति कालाग्निना भर्जितभगा निर्दग्धवीर्या भूः यस्याङ्घ्रिपद्मस्पर्शेन इद्धा समृद्धाशक्तिर्यस्या स या तथा साऽस्मदर्थेऽखिलार्थानभिवर्षति, तं कृष्ण मसकृत्पश्यथेति यस्मात्तस्माज्जन्म भाज इति गतेनाऽन्वयः॥ ३९ ॥

इतोऽपि यूयं जन्मभाज इत्याशयेनाऽऽह- तद्दर्शनिति। नित्यवर्त्मनि इष्टप्रद दैवविरहितमार्गे, अतएव दुःखविषये गृहे वर्त्ततां वर्तमानानां स्वर्गापवर्गविरमः दुःखासम्भिन्नप्रदेशः स्वर्गः कर्मसाध्य प्रदेशः अपवर्गो मोक्षः तयो र्विरामो यस्मात्स तथा मुक्तेरेव दातेत्यर्थः।"अपवर्गः क्रियासाध्ये फलामौ त्यागमोक्षयोः" इति। यद्वा, विशेषेण रमणं यस्मात्स तथा "ज्ञाना देव स्वर्गो ज्ञानादेवाऽपवर्गः" इति श्रुतेः। किमुत सन्न्यासिना मिति चशब्दः, एवंविधो विष्णुः स्वयमंशावेश मन्तरेण येषां युष्माकं गृहे आस्ते, यूयं तस्य हरे र्दर्शनञ्च स्पर्शनञ्च अनुपथश्च, अनुगमनञ्च प्रजल्पश्च शय्या च आसनञ्च अशनञ्च तानीमानि यस्य सः यौवनस्य पिण्डस्य देहस्य सन्ति स तथा तस्य पिण्डस्य बन्धः दृढालिङ्गनं येषां ते तथा तस्माज्जन्मसाफल्यं युष्माकमिति शेषः॥ ४० -४३॥

कृष्णरामयोर्जनमोहनविडम्बं कथयति कृष्णरामाविति॥ ४४,४५ ॥

व्रजेश्वरीं यशोदां समूचतुः सम्भाषणं चक्रतुः॥ ४६ ॥

यस्या मैत्र्याः वां युवयोः॥ ४७ ॥

एतौ कृष्णरामौ युवयोः पित्रो स्समीपे न्यस्तौ युवयोः सम्प्रीणनादीनि प्राप्य ऊषतुः। सम्प्रीणनं सम्प्रीतिः अभ्युदयो जातकाद्यभिवृद्धिकर्म रसायनादिपुष्टिकरणं पोषणम्। कीदृशौ अदृष्टपितरौ पितृशब्दास्पदास्मद्दर्शन मप्राप्तौ सतां परस्तात् सज्जनेभ्योऽन्यत्र अकुतश्चन भयौ कुत्रचित् भययुक्तौ न भवतः कुत्रचे त्युक्तं सङ्किपति नकारेण सत्सु भययुक्ता वित्यर्थः। ब्राह्मणादिसज्जनवधा द्बिभ्यतौ यद्वा, बाल्ये विडम्बनार्थं सज्जन मन्तरेण दृष्टेभ्यो नाऽकुत्र च भयौ न बिभ्यतावित्यर्थः। तत्र दृष्टान्त माह पक्ष्मेति। यद्वद्यथा समीपन्यस्तत्वात् पक्ष्मेत्येक वचनम् द्विवचनार्थे पक्ष्मणी अक्ष्णोः नेत्रयोः कुतश्चि द्भयनिवारके तथा युवामिति शेषः॥ ४८ ॥

गोप्य श्चिरकालादृष्टं कृष्ण मुपलभ्य दृष्ट्वा सद्योदृग्भिर्हृदि कृतम् अलं परिरभ्य तद्भावं तस्मिन्योग्यां भक्ति मापुरित्यन्वयः। कीदृशम् नित्ययुजां नित्यमनोयोगिनामपि दुरापम् दुराप मित्यनेन भक्ते रेव प्राधान्यं सूचयति। या गोप्यः यत्प्रेक्षणे तादर्थ्ये सप्तमी प्रेक्षणार्थं दृष्टिषु नेत्रेषु पक्ष्मणां कृतं निमेषलक्षणं कर्म शपन्ति, पक्ष्मकर्तारं विधिं चेत्यनेन भक्त्यतिशयो दर्शितः॥ ४९,५० ॥

स्वानां यदूना मर्थचिकीर्षवः अभीष्टं कर्तुकामाः अन्यासङ्गा दन्यकार्यासक्ते श्चिरायितान् चिरादनागतान् कृपयेषु चेतो यासां ता स्तथा॥ ५१ ॥

यथा यथावदवबुध्य अस्मास्विदमेव विशङ्कये किं तदिति तत्राऽऽह नूनमिति॥ ५२ ॥

एतदेव विवृणोति - वायुरिति॥ ५३ ॥

प्रेष्ठवियोगादस्माक मनुताप इति तत्राऽऽह मयीति॥ ५४ ॥

मम परिच्छिन्नत्वे मद्वियोगशङ्का तदेव नाऽस्ति सर्वगतत्वा दिति हिशब्दसूचितं हेतुं व्यनक्ति - अहं हीति। आदिः कारणम् अन्तः संहर्ता आद्यन्तकाले वर्तमानो वा। ननूत्पशङ्कायाः कः परिहार इति तत्राऽऽह - अन्तर मिति। हे अङ्गनाः! यथा खादिभूतानि, भौतिकानां घटकविवक्षयैकवचनम्॥ ५५ ॥

आत्मना परमात्मना तत इति खादीनि ततानि जीवस्तत इति योज्यम्। विध्यविध्यभावा दौपचारिको व्यपदेश इति तत्राऽऽह - उभय मिति। यत् यदुक्तं शास्त्रीय मथ तस्मादुभयं जीवभूत शब्दवाच्यं तत्त्वं परे सर्वोत्तमे अक्षरे ब्रह्मणि मय्यातत मिति पश्यथेत्यन्वयः। अनेनेदंश्रद्धेय मिति आयात मिति ज्ञायते॥ ५६ ॥

स्त्रीणा मय मुपदेशो घटपृष्ठसलिलासेकव द्व्यर्थइति तत्राऽऽह अध्यात्मेति। देह मधिकृत्यवर्तमानानां परमात्मादि तत्त्वानां शिक्षयोपदेश लक्षणया शिक्षिताः विद्योपादानं कारिताः तदनु स्मरणेन तस्य श्रीकृष्णस्य निरन्तरोपासनया जात ज्ञानाग्निना ध्वस्तोदग्धः जीवकोशः लिङ्गशरीराभिमानो यासां तास्तथा, तं कृष्ण मध्यगुः तं ज्ञात्वत्यः॥ ५७ ॥

ज्ञातकृष्णतत्त्वा इदं जगुरित्याह - नताः स्मेति। 'असभुवि' इत्यस्याऽऽशिषि प्रयोगः। नताः नता भवामेति प्रार्थयामहे जन्मान्तरेऽपि त्वत्पादाब्जनमन माशास्महे इत्यर्थः। ननु किमस्य माहात्म्यं येन तन्नमन मर्थनीय मिति तत्राऽऽह - योगेश्वरे रिति। यत्याश्रमिवत् ज्ञान दुर्बला नेत्याह - अगाधेति। किमर्थं विचिन्त्यमिति हेतुगर्भविशेषणमाह संसारेति। संसारकूपपातितानामस्मादुत्तरणावलम्बम् ऊर्ध्वगमनलक्षणाधिश्रेणिहस्ताधारम्। किञ्च गेहभुषां गेहाख्य देहपोषणनिरतानाम पि नो मनसि सदो दियात् निरन्तर मुदेतु, न्वत्स्वरूप मिति शेषः॥ ५८ ॥

इति श्री विजयध्वजतीर्थकृत पदरत्नावल्यां सप्ततितमोऽध्यायः॥ ७० ॥

(अधिकपाठे षष्ठोऽध्यायः)

# अथ विजयध्वजरीत्या एकसप्ततितमोऽध्यायः
(अधिकपाठे सप्तमोऽध्यायः)

## श्रीशुक उवाच-

तथाऽनुगृह्य भगवान् गोपीनां स मुरुर्गतिः।
युधिष्ठिर मथाऽपृच्छ त्सर्वांश्च सुहृदोऽव्ययम्॥ १ ॥

त एवं लोकनाथेन परिपृच्छ्य सुसत्कृताः।
प्रत्यूचु र्हृष्टमनसस्तत्पादेक्षाहतांहसः॥ २ ॥

कुतोऽशिवस्त्वच्चरणाम्बुजासवं महन्मनस्तो मुखनिस्सृतं क्वचित्।
पिबन्ति ये कर्णपुटै रलं प्रभो, देहम्भृतस्तत्कृत मुच्चसन्ति हि॥ ३ ॥

तं त्वात्मधाम विबुधात्मगतिं व्यवस्थ-
मानन्दसम्लव मखण्ड विकुण्ठबोधम्।
कालोपसृष्टनिगमावपनात्तयोग
मायाकृतिं परमहंसगतिं नताः स्मः॥ ४ ॥

इत्युत्तमश्लोकशिखामणिं जने ष्वभिष्टुव त्स्वच्युतकौरवस्त्रियः।
समेत्य गोविन्दकथां मिथोऽगृणन् नृलोकगीतां शृणु वर्णयामि ते॥ ५ ॥

## द्रौपद्युवाच-

हे वैदर्भ्यच्युतो भद्रे हे जाम्बवति कौशले।
हे सत्यभामे कालिन्दि शैब्ये रोहिणि लक्ष्मणे॥ ६ ॥

हे कृष्णपत्न्य एत न्नो ब्रूतवो भगवान्स्वयम्।
उपयेमे यथालोक मनुकुर्वन् स्वमायया॥ ७ ॥

रुक्मिण्युवाच-

चैद्याय माऽर्पयितु मुद्यतकार्मुकेषु
राजस्वशेषभटशेखरिताद्रिरेणुः।
निन्ये मृगेन्द्र इव भाग मजावियूथा-
त्तच्छ्रीनिकेतचरणाब्जसमर्चनाय॥ ८ ॥

सत्यभामोवाच-

यो मे सनाभिवधलम्पटदा ततेन
लिप्साभिशाप मपमार्ष्टु मुपाजहार।
जित्वर्क्षराज मथ रत्न मदा त्स तेन
नीतच्छिदादिशत मां प्रभवेऽपि दत्ताम्॥ ९ ॥

जाम्बवत्युवाच-

आज्ञाय देहविकृति निजनाथदैवं
सीतापतिं त्रिनवहा न्यमुनाऽभियुध्य।
ज्ञात्वावधीरण मुपाहर दर्हणम्मां
पादौ प्रगृह्य मणिनाऽह ममुष्य दासी॥ १० ॥

कालिन्द्युवाच-

तपश्चरन्ती माज्ञाय स्वपादस्पर्शकाम्यया।
सख्यो पेत्याग्रही त्पाणिं याऽहं तद्गृहमार्जनी॥ ११ ॥

मित्रविन्दोवाच-

यो मां स्वयंवर मुपेत्य विजित्य भूपान्
निन्ये श्वयूथ मिव चात्मबलिं द्विपारिः।
भ्रातृं श्च मेऽपकुरुतः स्वपुरं श्रियोऽगात्
तस्या स्तु मेऽनुभवमङ्घ्रिभवनेजनाम्भः॥ १२ ॥

नीलोवाच-

समीक्षणोऽति बलवीर्य सुतीक्ष्णशृङ्गान्
पित्रा कृता न्क्षितिप वीर्यपरीक्षणाय।
तान्वीरदुर्मदहन स्तरसा निगृह्य
क्रीडन्बबन्ध ह यथा शिशवोऽजतोकान्॥ १३ ॥

य इत्थं वीर्यशुल्कां मां दासीभिश्चतुरङ्गिणीम्।
पथि निर्जित्य राजन्या न्निन्ये तद्दास्य मस्तु मे॥ १४ ॥

भद्रोवाच-

पिता मे मातुलेयाय स्वय माहूय दत्तवान्।
कृष्णे कृष्णाय तच्चित्ता मक्षौहिण्या सखीजनैः॥ १५ ॥

तस्य मे पादसंस्पर्शो भवेऽजन्मनि जन्मनि।
कर्मभि र्भ्राम्यमाणाया येन तच्छ्रेय आत्मनः॥ १६ ॥

लक्ष्मणा उवाच

ममाऽपि राज्यच्युतजन्म कर्म च श्रुत्वा मुहु र्नारद गीत मास ह।
चित्तं मुकुन्दे किल पद्महस्तया वृतस्स्वयं यस्तु विहाय लोकपान्॥ १७ ॥

पदरत्नावली

श्रोत्रादीनां भक्त्यतिशयजननायाऽविस्मरणाय अतीताध्यायेषु उक्तं कृष्णविक्रमं सङ्क्षेपतोऽनुक्रामत्यस्मिन्नध्याये। तत्राऽऽदावुपोद्घातं रचयति तथेति। यथोपदिष्टं ज्ञानं सुदृढं स्या तथा ज्ञानोपदेशेनाऽनुगृह्य गतिः मुक्तिलक्षणानन्दत्वेनेत्याशयः। अव्ययमनामयं कुशलमित्यर्थः॥ १ ॥

तस्य ह्रेः, पादेक्षया चरणनिरीक्षणेन, हतांहसः निर्मूलपापाः॥ २॥

किंविधां कथा मृचुरिति तत्राऽऽह-कुत इति। ये जनाः कर्णपुटैः महन्मनस्तोमुखनिस्सृतं महतां व्यासादीना मनस्तः मनः पूर्वकं मुखकमला निस्सृतं गलितं त्वच्चरणाम्बुजासवं तव पादकमलकथामृतं क्वचि त्कस्मिंश्चि त्प्रसङ्गेऽपि अलं पिबन्ति अलम्बुद्धिराहित्येन सेवन्ते। तेषा मशिवः अशुभः पन्थाः कुतः स्यादित्यन्वयः। कीदृशोऽशिवमार्ग इति तत्राऽऽह देहम्भृत इति। देहम्भृतः उदरम्भराः तत्कृत मशिवमार्गप्राप्तं व्यसनं प्रेक्ष्य उच्छ्वसन्ति दीर्घं श्वसन्ति। यद्वा, ये देहभृतः शरीरिणः

कर्णपुटैः त्वच्चरणाम्बुजासवं पिबन्ति ततस्य तव कृतं चरित मुच्चरन्ति लोके उपदिश्य विकासयन्ति विस्तारयन्ति, तेषा मशिवः कुत इति॥ ३ ॥

ननु नारायणचरणकमलामृतपायिना ममकृतं नास्तीत्यनेन अन्येषा मस्तीत्यायातम्। तत्र भवन्तः के? इति तत्राऽऽह - तन्त्वेति। तन्त्वाऽऽनताः स्म इत्यन्वयः। यस्य पादाब्जसुधापायिना ममकृतं नास्ति त मस्य देवदत्तव दन्याधीनत्व किमेतन्ममनफल मित्यत्राऽऽहुः आत्मधाम आत्मैव धाम गृहलक्षण माश्रयो यस्य स तथा,तं स्वाश्रममित्यर्थः, स्वाश्रयत्व श्चेतोऽपि महता देवाचन्यतमेन नियतेन किं न स्या दित्यत्राऽऽहुः - विबुधेति। विबुधाना मात्मा गतिः स्वभावगमकं स्वामिन माश्रयं वा। स्वभावगमकत्वं कथ मत्राऽऽहुः - व्यवस्थ मिति। तिस्रोऽवस्थाः जाग्रदाद्या यस्मात्स तथा तम्। अनेन देवानां जाग्रल्लक्षणनिमिषस्वभावं, दैत्यानां सुप्तिलक्षणाज्ञानस्वभावं मनुष्याणां स्वप्नलक्षणमिश्रज्ञान स्वभावं गमयतीति ज्ञातव्यम्। नन्ववस्था त्रयनियन्तृत्वे तत्कृतं श्रमलक्षणं दुःख मनिवारितमापते देवदत्तवत्! अत्राऽऽहुः - आनन्देति। आनन्दानां सम्प्लवो महौघो यस्मिन् स तथा तं पूर्णानन्द मित्यर्थः। नन्वनुभवलक्षणसाधनाभावात् पाषाणाना मपि पूर्णानन्दः किं न स्यात्, अत्राऽऽहुः अखण्डेति। अखण्डः निरन्तरं विकुण्ठः अविमिश्रो बोधो यस्य स तथा तं स्वाभिन्ननिष्कल्मषज्ञान मित्यर्थः। नन्वेवंविधस्य जननं किमर्थ मत्राऽऽहुः - कालेति। कालेन गुणे नोपसृष्ट उत्सन्नो निगमो वेदादि शास्त्रनिचयः तस्याऽऽवपनाय पुन रभिव्यक्ति लक्षणाङ्कुरीकरणाय आत्ता अङ्गीकृता योगमायाऽऽकृतिः स्वरूपभूतेच्छ्यादेहो येन स तथा तं "आकारो देह आकृतिः" इति यादवः। उत्तार्थसर्वस्वे किं प्रमाणम् .अत्राऽऽहुः परमेति। परमहंसानां वेदान्तैकनिष्ठानां सन्न्यासिनां गति र्ज्ञानं यस्मिन् स तथा तं भगवत्स्वरूपविषयं परमहंसज्ञानं प्रमाण मितरेषामित्यर्थः॥ ४ ॥

अच्युतस्य कौरवाणाञ्च स्त्रिय स्समेत्य एकत्र मिलित्वा यां कथा मगृणन् तां वर्णयामि त्वं शृणु॥ ५ ॥

प्रश्नप्रतिवचनपूर्वक शृण्विति न गानव दत्रेति विवेकायाऽऽह द्रौपदीति। हे षोडशसहस्रकृष्णपत्न्यः! पृथङ्नामग्रहणं बाहुल्यान्न कृतम्। स्वेच्छया लोक मङ्गजन मनुकुर्वन् अच्युतो भगवान् स्वयं वो युष्मान् यथा येन विधिना उपयेमे तं विधिमस्माकं ब्रूतेत्यन्वयः॥ ६,७ ॥

राजसु जरासन्धादिषु मा माम्, अशेषभटानामित्युपलक्षणम्। राज्ञां शेखरितः मूर्धसु शेखर इव अङ्घ्रिरेणु र्येन स तथा यामं तदर्थत्वेन कृसांशं न ग्राम्यभोगेच्छयेत्यत्राऽऽह- श्रीनिकेतेति। श्रीत्यनेन तद्भागं सूचयति अजाना मदीनां यथा॥ ८ ॥

सनाभे स्सहोदरस्य प्रसेननाम्नो वधेन तमहृदा सन्तमहृदयेन मे ततेन तातेन पित्रा लिप्साभिशापं कथितमिथ्यादोषं अपमार्ष्टुं परिहर्तुं ऋक्षराजानं जाम्बवन्तं जित्वा रत्न मुपाजहार। अथ तेन कृष्णेन भगवतानीतच्छित्प्राप्तभेदलक्षणापराधः स मे पिता मां प्रभवे कर्तुमकर्तु मन्यथाकर्तुञ्च समर्थाय आदिशत दत्तवान्। रत्नञ्चादात्। कीदृशीम्? मां मन्यस्मै वाचा दत्तामपि। यद्वा ऋक्षराजं जित्वा रत्न माहरत्। आहृत्य च तद्रत्नं मत्पित्रे अदात्, तेन रत्नेन सह भगवतानीतच्छित्स पिता तस्मै प्रभवे आदिशत इत्यन्यत् समम्॥ ९ ॥

देहविकृतिं परिमाणतोवर्णतश्च विलक्षणदेहं कृष्णं प्रत्यक्ष दृष्ट्या आज्ञाय सम्यक् ज्ञात्वा। अनेन श्रीकृष्णेन त्रिनवाहानि सप्तविंशतिदिनानि अभिमुध्य एनं श्रीकृष्णं निजनाथदैवं स्वकुलस्वामिदेवताभूतं सीतापतिं पुन र्ज्ञात्वा मे पिता जाम्बवान् अवधीरण मवज्ञानम्, अर्हण मपराधपरिहारयोग्यं पूजासाधनं मां मणिना सह पादौ प्रगृह्योपाहरत, कृष्णायेति शेषः। यद्वा अवधिरवधानं निश्चयज्ञानं यत्तस्यरेणं प्रेरणं येन सोऽवधीरणः दशरथपुत्रोऽवतीर्णोऽयमिति विशिष्टज्ञानजनक इत्यर्थः। तं पराजित इति वा पाठः। अज्ञायेति च त्वममुष्याऽधुना कीदृशीत्यत्राऽऽह - अहमिति। "अपि माषं मषं कुर्या च्छन्दोभङ्गं न कारयेत्" इति वचनात् त्रिनवहानीति। यद्वा, "उत्ताराकारगुण स्तै र्ज्ञस्य कल्पतो र्गुण" इत्यनेन पूर्वपरस्थानयो र्गुणादेशेन रूपं सिद्धं भवति॥ १० ॥

याऽह मिदानीं तद्गृहमार्जनी तां मां स्वपादस्पर्शकाम्यया तपश्चरन्तीं विज्ञाय सख्याऽर्जुनेन सहोपेत्य मम पाणिमग्रहीत्। या कृष्णदेवता मम पाणि मग्रहीत् अहं तद्गृहमार्जनीति वा 'याय' इति व्यत्ययेनाऽन्वयो वा॥ ११ ॥

यः कृष्णः द्विपारिः सिंहः श्वयूथं विजित्य आत्मने कृसं बलि मुपहार मिव स्वयंवरे भूपानुपेत्य विजित्य भ्रातॄन् अपकुरुतोऽपकुर्वतस्सतः मां निन्ये, स्वपुरद्वाऽगात्। अनुभवं जन्मनि जन्मनि मम तस्य हे रङ्ग्रघ वनेजनाम्भोऽस्त्वित्यन्वयः, अपकरणे हेतुः श्रिय इति सम्पदो हेतोः। "श्रीः पद्मायां कान्तिसम्पदोः" इति। तस्या अंशं मा मिति वा॥ १२ ॥

अत्यधिके बलवीर्ये सुतीक्ष्णानि शृङ्गाणि च येषां ते तथा तान् बलशक्तिवीर्य विक्रम दुर्मदान् घ्नन्तीति दुर्मदहनः, अजतोकान् छागशिशून्॥ १३ ॥

ततः किमकारीति तत्राऽऽह - य इति। दासीभिस्सह मां निन्ये इति॥ १४ ॥

हे कृष्णे! द्रौपदि!॥ १५ ॥

येन पादस्पर्शेन आत्मनो मे तच्छ्रेयः स्यात् स पादस्पर्शो भवेत्॥ १६ ॥

हे राज्ञि, द्रौपदि! यस्तु लोकपा निन्द्रादीन् विहाय पद्महस्तया स्वयंवृतः तस्मि न्मुकुन्दे मम चित्त मासे त्यन्वयः॥ १७ ॥

**ज्ञात्वा मम मतं सध्रि पिता दुहितृवत्सलः।**
**बृहत्सेन इति ख्यात स्तत्रोपाय मचीकरत्॥ १८ ॥**

**यथा स्वयंवरे राज्ञि मत्स्यः पार्थेच्छया कृतः।**
**अयं तु बहि राच्छन्नो दृश्यते स जले परम्॥ १९ ॥**

श्रुत्वैत त्सर्वतोभूपा आययु र्मत्पितुः पुरम्।
सर्वास्त्रशस्त्रतत्त्वज्ञाः सोपाध्यायाः सहस्रशः॥ २० ॥

पित्रा सम्पूजिता स्सर्वे यथावीर्यं यथा वयः।
आददुः सशरं चापं वेद्धुं पार्षति, मद्वियः॥ २१ ॥

आदाय व्यसृजन् केचि न्सज्जीकर्तु मनीश्वराः।
आकोट्यां ज्यां समाकृष्य पेतु रेकेऽमुना हताः॥ २२ ॥

सज्यं कृत्वाऽपरे वीराः प्राग्ज्योतिमगधेश्वरौ।
भीमो दुर्योधनः कर्णो नाविन्दं स्तदवस्थितिम्॥ २३ ॥

मत्स्याभासं जले दृष्ट्वा ज्ञात्वा च तदवस्थितिम्।
पार्थो यत्तोऽसृज द्बाणा न्नाच्छिन त्पस्पृशे परम्॥ २४ ॥

राजन्येषु निवृत्तेषु भग्नमानेषु मानिषु।
भगवान्धनु रादाय सज्यं कृत्वाऽथ लीलया॥ २५ ॥

तस्मि न्सन्धाय विशिखं मत्स्यं वीक्ष्य सकृज्जले।
छिन्नेषुणाऽपातय त्तं सूर्ये चाभिजिति स्थिते॥ २६ ॥

दिवि दुन्दुभयो नेदु र्जयशब्दोऽपतद्भुवि।
देवाश्च कुसुमासारान् मुमुचुर्हर्षविह्वलाः॥ २७ ॥

तद्रङ्ग माविश महं कलनूपुराभ्यां
पद्भ्यां दिशो भ्रमयती चलपेशलाभ्याम्।
वृत्ते पिधाय परिधाय च कौशिकाग्र्ये
सव्रीडहासवदना कबरीधृतस्रक्॥ २८ ॥

उन्नीय वक्त्र मुरुकुण्डल कुन्तलत्वि-
ङ्कण्डस्थलं शिशिरहासकटाक्षमोक्षम्।
राज्ञो निरीक्ष्य परित श्शनकै र्मुरारे-
रंसेऽनुरक्तहृदया विदधे स्वमालाम्॥ २९ ॥

ततो मृदङ्गपटहा शङ्खभेर्यानकादयः।
निनेदुर्नटनर्तक्यो ननृतुर्गायका जगुः॥ ३० ॥

एवं वृते भगवति मायेशे नृपयूथपाः।
न सेहिरे याज्ञसेनि स्पर्धिनो हृच्छयातुराः॥ ३१ ॥

मां रथं स समारोप्य लसद्धयचतुष्टयम्।
शार्ङ्गमुद्यम्य सन्नद्ध स्तस्थावीशश्चतुर्भुजः॥ ३२ ॥

दारुकश्चोदयामास काञ्चनोपस्करं रथम्।
मिषतां द्विषतां राज्ञि, वृकाणां मृग राडिव॥ ३३ ॥

ते त्वसज्जन्त राजन्या निषेद्धुं पथि केचन।
संयत्ता उद्धृतेष्वासा ग्रामसिंहा यथा हरिम्॥ ३४ ॥

ते शार्ङ्गच्युतबाणौघैर्नुन्नबाहूरुकन्धराः।
निपेतुः प्रधने केचि देके सन्त्यज्य दुद्रुवुः॥ ३५ ॥

ततः पुरीं पतिजयभूत्यलङ्कृतां
रविच्छदध्वजपटचित्रतोरणाम्।
कुशस्थलीं दिवि भुवि चाऽभिसंस्तुतां तदा
समाविश त्तरणिरिव स्वकेतनम्॥ ३६ ॥

पिता मे पूजयामास सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान्।
महार्हवासोऽलङ्कारै श्शय्यासन परिच्छदैः॥ ३७ ॥

दासीभि स्सर्वसम्पद्भि र्भटैरथवाजिभिः।
आयुधानि महार्हाणि ददौ पूर्णस्य भक्तितः॥ ३८ ॥

आत्मारामस्य तस्येमा वयं वै गृहदासिकाः।
सर्वसङ्गनिवृत्त्याऽद्धा तपसा च बभूविम॥ ३९ ॥

महिष्य ऊचुः

भौमं निहत्य सगणं युधितेन रुद्धा
ज्ञात्वाऽथ नः क्षितिजये हृतराजकन्याः।
निर्मथ्य संसृति विमोक्ष मपि स्मरन्तीः
पादाम्बुजं परिनिनाय य आप्तकामः॥ ४० ॥

न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमप्युत।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यं वा आनन्त्यं वा हरेः पदम्॥ ४१ ॥

कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः।
कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः॥ ४२ ॥

व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति पुलिन्द स्तृणवीरुधः।
गावश्चारयतो गोपैः पादस्पर्शं महात्मनः॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे एकसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७१ ॥
अधिकपाठे सप्तमोऽध्यायः॥ ७ ॥

पदरत्नावली

द्रौपदीस्वयंवरे द्रौपद्याः पार्थवरेच्छया मत्स्यः कृतो यथा तथा मे पिता तद्रोपाय मचीकरत्। इद मुपाय मतो विशिनष्टि अयन्त्विति। तुशब्देनाऽन्याशक्यत्वं दर्शयति। अयं मत्स्यः दीर्घस्थूणशिखरेऽवलम्बितो बहि राच्छन्नः व्यवहितसर्वाङ्गः अदर्शनाद्वेधोऽसुकर इति तत्राऽऽह दृश्यत इति। स मत्स्यः परं केवलं जले दृश्यते वेणुनालं निर्गतच्छायया जले प्रतिबिम्बितत्वेन चक्षुर्विषय इत्यर्थः तदनेनाधोमुखेन जले छाया मावलोकय वेद्ध्य इति पार्थकृत तथावेधं दर्शिका सुकर मिति ज्ञायते॥ १८, १९ ॥

उपाध्याया आचार्याः पुरोहिता वा॥ २० ॥

हे पार्षति, सिद्धे कार्ये भोगार्थ मपि धियो येषां ते महियः॥ २१ ॥

व्यसृजन्मुक्तवन्तः आकोट्यां धनुरग्रपर्यन्तम्॥ २२ ॥

तस्य मत्स्यस्य स्वरूपावस्थितिं नाऽविन्दन् न ज्ञातवन्तः॥ २३ ॥

मत्स्याभासं मत्स्याकारं यत्तोऽभयेन बाणा नसृजत् नाच्छिनच्च। तर्हि किं कृतमत्राऽऽह पस्पृशे इति॥ २४, २५ ॥

अभिजिति दिनमध्यमुहूर्ते सति॥ २६ ॥

भुवि जयशब्दोऽपतत् व्याप्तोऽभूत्॥ २७ ॥

दिश इति लक्षणया दिक्षु स्थिता नृपान् भ्रमयन्ती काम विकारसूचकनानाचेष्टाकुलान् कारयन्ती तद्रङ्गं तत्स्वयंवरस्थलं चलेन पादविक्षेपेण पेशलाभ्यां सुन्दराभ्यां वृत्ते स्वरूपे स्वेतरवस्तुभ्यो व्यावृत्तरूपे कौशिकाग्रये कृमिकोशोत्थतन्तुकृत वस्त्र श्रेष्ठे। यद्वा, वृत्ते जघने परिधाय वृत्ते पीने स्तनद्वये पिधाय वा। कबर्यां धृता स्रक् माला यस्या स्सा तथा॥ २८ ॥

शिशिरवत् तुषारवत् धवलो हासः स्निग्धो वा॥ २९, ३०॥

हे याज्ञसेनि! द्रोपदि!॥ ३१ ॥

ईशः शिवो नेत्याह चतुर्भुज इति॥ ३२, ३३॥

ग्रामसिंहाः सारमेयाः। हरिं सिहंम्॥ ३४ ॥

नुन्नाः छिन्नाः बाहवश्चाङ्घ्रयश्च कन्धराश्च येषां ते तथा। प्रधने युद्धे॥ ३५ ॥

पत्युः स्वामिनः कृष्णस्य जयभूत्या जयश्रिया अलङ्कृतां यथा जयलक्ष्मी स्त्कृष्टा तथाऽलङ्कृतां वा रविच्छदध्वजपटाश्च चित्रतोरणाश्च यस्यां सा तथा ताम्। रविं छादयन्तीति रविच्छदाः आतपप्रतिष्टम्भकाः चित्राः नानावर्णा स्तोरणाः स्वकेतनम् आत्मीयोदयशिखरिशिखरम्॥ ३६, ३७ ॥

पूर्णस्य अन्यपालकरहितस्य॥ ३८ ॥

दासीत्वञ्च तपआदिपुण्यनिचयेन प्राप्तमिति ज्ञापनायोक्तं सर्वेति। अद्धा यथार्थभूतया। "अद्धा प्रत्यक्षसत्ययोः" इति॥ ३९ ॥

षोडशसहस्रस्त्रियः स्वविवाहप्रकारं कथयन्ति - भौम मिति। यः कृष्णः क्षितिजये भूमण्डलविजये राज्ञो निर्मथ्य हतराजकन्याः ज्ञात्वा सगणं भौमं निहत्य तेन नरकेण रुद्धाः निरोधलक्षणसंसृतेर्मोक्षं स्मरन्तीर्नोऽस्मान् पादाम्बुजं परिनिनाय समीपं प्रापयामास पादाम्बुजं सेवयितुमूढवान्वा न कामुकनुद्धया। कुतः? आप्तकामः॥ ४० ॥

वय मपि भगवत्पादरज स्सेवा मन्तरेण नाऽन्य दैश्वर्यपदमाशास्महे इत्याहुः - न क्यमिति। साम्राज्यं भुत्तरदेशराज्य, स्वाराज्यं पूर्वदेशराज्यं, भौज्यं दक्षिणदेशराज्यं, वैराज्यं पश्चिमदेशराज्यं, पारमेष्ठ्य चक्रवर्तिपदम्, आनन्त्यं सर्वदेशाधिपत्यं वा हरेः पदम् इन्द्रपदं वा। साम्राज्य चक्रवर्तिपदं, स्वाराज्य स्वर्गराज्यं, भौज्य मन्तरिक्षराज्यं, वैराज्यं पातालराज्यम् अणिमादिराज्यं वा, पारमेष्ठ्यं ब्रह्मपदम्, आनन्त्यं मोक्षं वा न कामयामहे। किन्तु गदाभृतो हरेः पद कामयामहे॥ ४१ ॥

किमर्थ मत्राऽऽह - एतस्येति। एतस्य गदाभृतः श्रीमत्पादरजः मूर्ध्नि वोढु कीदृशम्, श्रियो लक्ष्म्याः कुचलिप्तकुङ्कुमरजोगन्धाढ्यम्॥ ४२ ॥

व्रजस्त्रियः यत्पादरजो वाञ्छन्ति, न केवलं व्रजस्त्रिय एव वाञ्छन्ति पुलिन्द्यादयोऽपीत्याहुः - पुलिन्द्य इति। गावः गाः॥ ४३ ॥

इति श्रीविजयध्वजतीर्थ कृतपदरत्नावल्या एकसप्ततितमोऽध्यायः॥

(अधिक पाठे सप्तमोऽध्यायः)

## विजयध्वजरीत्या द्विसप्ततितमोऽध्यायः

### (अधिकपाठे अष्टमोऽध्यायः)

### श्रीशुक उवाच-

श्रुत्वा पृथा सुबलपुत्र्यथ याज्ञसेनी-
माधव्य इत्थ मनु याः परमप्रतीताः।
कृष्णेऽखिलात्मनि हरौ प्रणयानुबन्धं
सर्वा विसिस्म्यु रल मश्रुकलाऽऽकुलाक्ष्यः॥ १ ॥

इति सम्भाष्यमाणासु स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभि र्नृषु।
आययु र्मुनय स्तत्र कृष्णराम दिदृक्षया॥ २ ॥

द्वैपायनो नारदश्च च्यवनो देवलोऽसितः।
विश्वामित्र शतानन्दो भारद्वाजोऽथ गौतमः॥ ३ ॥

राम स्सशिष्यो भगवान् वसिष्ठो गालवो भृगुः।
पुलस्त्यः कश्यपोऽत्रिश्च मार्कण्डेयो बृहस्पतिः॥ ४ ॥

द्वितस्त्रितश्चैकतश्च ब्रह्मपुत्रा स्तथाङ्गिराः।
अगस्त्यो याज्ञवल्क्यश्च वामदेवादयोऽपरे॥ ५ ॥

तान्दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रागासीना नृपादयः।
पाण्डवाः कृष्णरामौ च प्रणेमुर्लोकवन्दितान्॥ ६ ॥

तानानर्चु र्यथा सर्वे सहरामोऽच्युतोऽर्चयत्।
स्वागतासन पाद्यार्घ्य माल्यधूपानुलेपनैः॥ ७ ॥

उवाच सुख मासीनान् भगवा न्धर्मगुप्तनुः।
सदस स्तस्य महतो यतवाचोऽनु शृण्वतः॥ ८ ॥

श्रीभगवा नुवाच-

अहो वयं जन्मभृतो लब्धकात्स्न्येन तत्फलम्।
देवाना मपि दुष्प्रापं यद्योगेश्वर दर्शनम्॥ ९ ॥

किं स्वल्पतपसां नृणा मर्चायां देवचक्षुषाम्।
दर्शनस्पर्शनप्रश्न प्रह्वपादार्चनादिकम्॥ १० ॥

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शना देव साधवः॥ ११ ॥

नाऽग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारकं न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया॥ १२ ॥

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिश्च जलेन कर्हिचि-
ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥ १३ ॥

श्रीशुक उवाच-

निशम्येत्थं भगवतः कृष्णस्याऽकुण्ठमेधसः।
वचो दुरन्वयं विप्रा स्तूष्णी मास न्नमन्त्रिवः॥ १४ ॥

चिरं विमृश्य मुनय ईश्वर स्येशितव्यताम्।
जनसङ्ग्रह इत्यूचुः स्मयन्तस्तं जगद्गुरुम्॥ १५ ॥

ऋषय ऊचुः

यन्मामया तत्त्वविदुत्तमा वयं विमोहिता विश्वसृजा मधीश्वरम्।
यदीशितव्यायति गूढ ईहया अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितम्॥ १६ ॥

अनीह एत द्बहुधैक आत्मना सृजत्यवत्यत्ति न बध्यते यथा।
भौमै र्हि भूमि र्बहुनामरूपिणी अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम्॥ १७ ॥

अथाऽपि काले स्वजनाभिगुप्त्यै बिभर्षि सत्त्वं खलनिग्रहाय।
स्वलीलया वेदपथं सनातनं वर्णाश्रमात्मा पुरुषः परो भवान्॥ १८ ॥

ब्रह्म ते हृदयं शुद्धं तपस्स्वाध्यायसंयमैः।
यत्रोपलब्धं सुव्यक्त मव्यक्तञ्च ततः परम्॥ १९ ॥

तस्मा द्ब्रह्मकुलं ब्रह्मन् शास्त्रयोने स्तवात्मनः।
सभाजयसि सद्धाम तद्ब्रह्मण्यगुणो भवान्॥ २० ॥

अद्य नो जन्मसाफल्यं विद्याया स्तपसो दृशः।
त्वया सङ्गम्य सङ्गत्या यत्त्वं नः श्रेयसां परः॥ २१ ॥

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाऽकुण्ठमेधसे।
स्वयोगमाययाच्छन्न महिम्ने परमात्मने॥ २२ ॥

न यं विन्द न्त्यमी भूपा एकारामाश्च वृष्णयः।
माया जवनिकाच्छन्न मात्मानं काल मीश्वरम्॥ २३ ॥

तस्याऽद्य ते दृष्टिमाऽङ्घ्रिमघौघमर्ष-
तीर्थास्पदं हृदि धृतं सुविपक्वयोगैः।
उत्सिक्तभक्त्युपहृताशयजीवकोशा
आपु र्भवद्गतिमथानु गृहाण भक्तान्॥ २४ ॥

श्रीशुक उवाच-

इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरम्।
राजर्षिवर्यां स्तान्गन्तुं मुनयो दधिरे मनः॥ २५ ॥

तद्वीक्ष्य ताननुव्रज्य वसुदेवो महायशाः।
प्रणम्य चोपसङ्गृह्य बभाषेदं सुयन्त्रितः॥ २६ ॥

वसुदेव उवाच-

नमो व स्सर्वदेवेभ्यो ऋषयः श्रोतुमर्हथ।
कर्मणा कर्मनिर्हारो यथा स्यान्न स्तदुच्यताम्॥ २७ ॥

नारद उवाच-

नाऽतिचित्रमिदं विप्रा वसुदेवो बुभुत्सया।
कृष्णं मत्वाऽर्भकं यन्नः पृच्छति श्रेय आत्मनः॥ २८ ॥

सन्निकर्षो हि मर्त्याना मनादरणकारणम्।
गाङ्गं हित्वा यथाऽन्योऽम्भ स्तत्रत्यो याति शुद्धये॥ २९ ॥

यस्यानुभूतिः कालेन लयोत्पत्त्यादिनाऽस्य वै।
स्वतोऽन्यस्माच्च गुणतो न कुतश्चन रिष्यति॥ ३० ॥

तं ज्ञेश कर्म परिपाक गुणप्रवाहै-
रव्याहतानुभव मीश्वर मद्वितीयम्।
प्राणादिभिः स्वविषयै रुपगूढमङ्गो
मेने ससूर्यमिव मेघहिमोपरागैः॥ ३१ ॥

अथोचु र्मुनयो राज न्नाऽऽभाष्याऽऽनकदुन्दुभिम्।
सर्वेषां शृण्वतां राज्ञां तथैवाऽच्युतरामयोः॥ ३२ ॥

कर्मणा कर्मनिर्हार एष साधु निरूपितः।
यच्छ्रद्धया यजे द्विष्णुं सर्वयज्ञेश्वरं मखैः॥ ३३ ॥

चित्तस्योपशमो यो वै कविभि श्शास्त्रचक्षुषा।
दर्शित स्सुगमो योगो धर्मश्चात्ममुदावहः॥ ३४ ॥

अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजाते र्गृहमेधिनः।
यच्छ्रद्धयाऽऽप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषम्।
वित्तैषणां यज्ञदानै र्गृहैर्दार सुतैषणाम्॥ ३५ ॥

आत्मलोकैषणा मेवं कालेन विसृजेद्बुधः।
ग्रामे त्यक्तैषणा स्सर्वे ययुर्धीरा स्तपोवनम्॥ ३६ ॥

ऋणै स्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षिपितृणां प्रभो।
यज्ञाध्ययनपुत्रै स्ता ननिस्तीर्य त्यज न्यतेत्॥ ३७ ॥

ब्रह्मचर्यसुताभ्यां वै ऋषिपित्रो र्महामते।
यज्ञै र्देवर्णमुन्मुच्य निर्ऋणोऽशरणो भवेत्॥ ३८ ॥

वसुदेव भवा न्नूनं भक्त्या परमया हरिम्।
जगता मीश्वरं भेजे स यज्ञां पुत्रतां गतः॥ ३९ ॥

इति श्रीभागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे द्विसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७२ ॥

(अधिकपाठे अष्टमोऽध्यायः)

## पदरत्नावली

हरे र्ज्ञानिप्रियत्व, यज्ञस्य तदेकविषयत्व, तत्प्रीतेर्मुक्तिसाधनत्व, पुत्रमित्रादिस्नेहस्य संसारमूलत्व मित्यादिक मध्यायद्वये कथयति। तत्र व्यासादिमुनीना मागमन वक्तु पृथादिस्त्रीणा सन्तोषोद्रेकं कथयति - पृथेत्यादिना। यौ माधव्यो माधवपत्न्यः तासा कृष्णे प्रणयानुबन्धं, दृष्टेति शेषः। विसिस्म्युः विस्मिता अभवन्नित्यन्वयः, सत्यादीनां भक्तिप्रवाहं दृष्ट्वा वा॥ १॥

इदानी मृषीणा मागमनप्रकार वक्ति - इतीति॥ २-४ ॥

द्वितस्त्रितैकताः सहोदराः "त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये" इति श्रुतेः॥ ५ ॥

प्रागुत्थायाऽथाऽऽनर्चुः, नमनादिनेति शेषः॥ ६,७ ॥

धर्मगुप् धर्मगोप्ता तनु र्यस्य स तथा॥ ८ ॥

तत्फलम् जन्मफलम्॥ ९ ॥

नृणां युष्मद्दर्शनादिकं दुष्प्राप मिति किं वक्तव्य मित्याह स्वल्पेति। अर्चायामिति सप्तमी प्रथमार्थे। अर्चा प्रतिमैव देव इति चक्षुर्दर्शनं येषां ते तथा। "अर्चा पूजाप्रतिष्ठयोः" इति॥ १० ॥

ननु बहि र्मुखानां नृणां तीर्थादिदर्शनादेर्जन्मनः साफल्यंस्यात् किं साधुदर्शनादिना इति तत्राऽऽह-त इति। तत्र सन्निहितास्ते देवा अपि उरुकालेन कालक्षेपं कृत्वैव पुनन्ति, न तु तदानी मेव तत्र किं कारण मित्यस्येद मेवोत्तरम्। कलनमेव कालः ज्ञानं तावदन्तः। 'कल ज्ञाने' इति धातुः। उरुणा गुरुणा उपदिष्टज्ञानेन तत्स्वरूपं तन्मन्त्रतदङ्गाचरणादिकं ज्ञात्वा समुपास्य तद्दर्शनं प्राप्य तत्प्रसादेनाऽघक्षय इत्यतो गुरूपदेशः कारणमित्यर्थः। प्रकृते किमनेनेत्यत्राऽह दर्शनादिति। साधवः स्वदर्शना दन्यथाज्ञान मपगमयन्ति। एवशब्दः गुरूपदेशं व्यवच्छिनत्ति॥ ११ ॥

नन्ववचनिमित्त मन्यथा ज्ञानं जायते तत्राम्न्यादयः स्वदर्शना दघं क्षपयित्वाऽन्यथाज्ञानं नाशयन्ति, ततो जन्म साफल्यं मिति तत्राऽऽह नेति। कस्याऽघं न हरन्ती त्यत उक्तं भेदकृतः अन्यथाज्ञानिनः पुंसः दाहकत्वादिशक्तिदर्शना दयमेवाऽग्निशब्द प्रवृत्तिहेतु रिति अन्यथाज्ञानं बहिर्मुखानां जायते। मनः मनोभिमानी देवः " मनो ब्रह्मेत्युपास्ते" इति श्रुतिः। एवकारेण कियत्कालो व्यवच्छिन्न इति तत्राऽऽह मुहूर्तेति। अत्र प्रतीतार्थ मपहाय तत्र सन्निहितदेवताकल्पनं निष्प्रमाणक मित्यादि शङ्का- "प्राकृतैः दृश्यमानन्तु न द्रवं तीर्थमुच्यते" इत्यादिना परिहर्तव्या । भेदस्य अन्यथाज्ञानत्वञ्च भिन्न स्याऽभेदतो दृष्टि रिति प्रमाण सिद्धम्। नन्वियं व्यवस्था कुतः, ऋष्यादिभ्यो देवाना मुत्तमत्वा दित्यतः- "उत्तमा अपि देवेशा अचरान्विदुषो नृणाम्। पूजायै सम्प्रयच्छन्ति परोक्षत्वप्रिया यतः॥" इत्यादेः॥ १२ ॥

इतोऽपि विद्वज्जनपूजा नृभिः कार्येत्याशयेनाऽऽह-यस्येति। यस्य पुरुषस्य त्रिधातुके प्राधान्या त्पृथिव्यप्तेजःकृते वातपित्तश्लेष्माकुले वा कुणपे शववदचेतनदेहे आत्मबुद्धिः अह मिति ज्ञानं, देहोऽह मित्यन्यथाज्ञान मित्यर्थः। यस्य च कलत्रादिषु असद्भार्यादिषु स्वधीः, मदीया एते, अहमेषां भर्ता नाऽन्य इति स्वकीयत्वबुद्धिः। विषयभोगलौल्यं तत्र निमित्तम यस्य भौमे भूविकारे शिलादौ इज्यधीः पूज्यबुद्धिः यच्चस्य जले द्रवरूपे तीर्थबुद्धिः अघक्षयबुद्धिः यस्याभिज्ञेषु शास्त्रतत्त्वज्ञेषु कर्हिचिदपि न पूज्यत्वबुद्धिः स गोखरः गवि पृथिव्यां गर्दभः नाऽपरः गोस्पर्शनादिना शुद्धिः स्यादिति गोश्चाऽसौ खरश्चेति विग्रहो न सङ्गच्छते इत्युक्त एवाऽर्थः॥ १३ ॥

अकुण्ठमेधसः अप्रतिहतज्ञानस्य दुरन्वयम् अन्वेतु मशक्यं दुर्ज्ञेय मित्यर्थः। भ्रमन्ती अनवस्था धी र्येषां ते तथा॥ १४ ॥

मुनयः किमकुर्वन् पुनरिति तत्राऽऽह - चिरमिति। ईशस्य जगन्नियन्तु रीशिताव्यतां विडम्बनान् प्रति दास्यभावं चिरं विमृश्य अयं जनसङ्घः उन्मार्गप्रवृत्ति रिवाऽऽचारलक्षण इति मत्वा तं जगद्गुरुमूचु रित्यन्वयः॥ १५ ॥

अहो हरि र्विडम्बन मिति कुतूहलादुत्पन्नमन्दस्मितं कुर्वन्तः किं स्वाश्रम गमनम्, उत बालकवाम् आहो स्वित्तत्त्वविषयां किञ्चि दृचु रित्याशङ्क्य तत्त्व विषय मेवेत्याह - यन्मायया विमोहिताः स भवानीहया लोकचेष्टया गूढः ईशितव्यायति अनीशवदाचरतीति यस्मा दहो भगवतो विचेष्टितं विचित्रम्। "लोहितादिडाज्यः क्यष्" (अष्टा० 3-1-13) इति क्यष् प्रत्ययः॥ १६ ॥

चेष्टाया मतर्क्यत्व मुपपादयति - अनीह इति। आत्मना परप्रेरणामन्तरेण यथा भूमिः भौमैः स्वविकृतैः पदार्थैर्बहुवामरूपिणी कार्यरूपेण बध्यते यथा, तथा भवान्न बध्यते इत्यन्वयः। यो भवा नीहः कूटस्थ एतज्जगद्बहुधा सृजत्यवत्यत्तीति तस्मा दहो विभूमश्चरितं कीदृशं विडम्बयतीति विडम्बनम्॥ १७ ॥

यद्यपि लोकविडम्बनशक्त्या मोहयसि तथाऽपि काले सज्जनोपप्लवसमये वेदपथञ्च बिभर्षि वर्णाश्रमात्मा वर्णाश्रमस्थापनाचार्यः॥ १८ ॥

यतो वेदमार्गप्रणेता तत स्ते तव ब्राह्मणकुलं शुक्लत्वञ्च कस्मादित्यत्राऽऽह - यत्रेति। यत्र ब्राह्मणकुले अव्यक्तं परं ब्रह्म सुव्यक्तं व्यवधानमन्तरेण उपलब्ध दृष्टं यत्तस्मात् शास्त्रयोनेः वेदप्रतिपाद्यस्य आत्मन स्तव सङ्घाम प्रशस्तं स्थानं यतः सम्भावयति य त्तस्मा द्भवान् ब्राह्मण्यगुणः ब्राह्मणप्रियत्वगुणलक्षण शिखामणिः॥ १९, २० ॥

न केवलं जन्मन एव साफल्य मासीत्, किन्तु विचादे रपीति। तत्र निमित्तं त्वया सङ्गम्येति। त्वं नः त्वत्सङ्गत्या श्रेयसां सकाशात्परः पुरुषार्थ इति यत्॥ २१,२२ ॥

एक स्त्वमेव आरामः क्रीडावनं येषां ते तथा॥ २३ ॥

अघौघं मर्षयति नाशयतीत्यघौघमर्षं तादृशस्य तीर्थस्य गङ्गाशब्दवाच्यस्याऽऽस्पदं स्थिराश्रयं सुष्ठु विपकाः परिपाक प्राप्ताः योगध्यानलक्षणाः तैः उत्सिक्तया उद्रिक्तया भक्त्या उपहृतः सम्यगुन्मूलित आशयः स्थानं यस्य स तथा स जीवकोशः जीवाख्यसन्निधानस्थानीयं लिङ्गशरीरं येषान्ते। तदुत्सिक्तभक्त्युन्मूलित स्थानलिङ्गशरीराः भवतो गतिं स्थानं वैकुण्ठलक्षणम्॥ २४, २५ ॥

उपसङ्गम्य, अनुज्ञा मिति शेषः। बभाष इदं "व्यत्ययो बहुलम्" इति सूत्रात् बभाषेदमिति छान्दसः॥ २६ ॥

सर्वे देवा येषु सन्निहिता स्ते सर्वे देवा स्तेभ्य स्सर्वत्र देवो देवनं प्रकाशनं येषां ते तथा, तेभ्य इति वा। निर्हरि मूलच्छेदः॥ २७ ॥

आत्मनः स्वस्य श्रेयः शिवं न पृच्छतीति यत्तदिदं नातिचित्रम्, मर्त्यस्वभावा दिति शेषः॥ २८ ॥

कोऽयं मर्त्यस्वभाव इति तत्राऽऽह - सन्निकर्ष इति। तत्र गङ्गातीरे स्थितोऽन्यः पृथग्जनः बालिशः शुद्धं यद्गाङ्गं गङ्गासम्बन्धि जलं हित्वाऽन्याम्भः तटाकादिस्थं जलं यथा याति तथाऽयं विचार इत्यर्थः॥ २९ ॥

यस्यानुभूतिः स्वरूपचैतन्यं कालेनाऽस्य जगतो लयोत्पत्त्यादिना तदन्तःपातित्वेन स्वतः स्वनिमित्तेनाऽन्यस्मा त्सत्त्वादिगुणाच्च कुतश्चनाऽन्यतोऽधर्मतो न रिष्यति न हिंसितं न नष्टं स्यात्,'रिष हिंसायाम्' इति धातुः॥ ३० ॥

अज्ञः अज्ञानिवद्वसुदेवः स्वविषयैः स्वेन गृह्यमाणैः प्राणादिभि रिन्द्रियादिभिः प्राकृतैर्गूढं मेने इत्यन्वयः। क्लेशै रविद्यास्मितरागद्वेषाभिनिवेशैः कर्मपरिपाकैः पुण्यापुण्यफलै स्त्याज्यानुभोगैः। परितापेति पाठे आध्यात्मिकाभिधेयै र्विकारैः भौतिकै र्गुणप्रवाहैः सृष्ट्यादिभि रध्यात्महतोऽनभिभूतोऽनुभवः, अनुभावो माहात्म्यं यस्य स तथा तम्। अत्र हेतुगर्भविशेषणद्वयमाह - ईश्वर मद्वितीयमिति। उपरागो राहुणा मेघादिभि राच्छन्नप्रकाशरूपं सूर्यमप्रकाशं मन्यते यथा, तथेति॥ ३१ ॥

प्रश्न प्रतिवचन मकृत्वा यत्किञ्चित्कथनं किं केन सङ्गतमिति मन्दाशङ्कां परिहर्तु माह - अथेति॥ ३२ ॥

साधुभिः विद्वद्भिर्निरूपितः॥ ३३ ॥

कर्मणा कर्मनिर्वापणं पङ्काम्भसा पङ्कप्रक्षालन मिव अनुपपन्न मित्याशङ्क्य ब्रह्मार्पणबुद्ध्यानुष्ठितं सत् समर्थं भवति। चिकित्सितद्रव्य मिव इत्याशयोनाऽऽह - चित्तस्येति। "कविभिः शमोपनिष्ठता बुद्धेः" इति शास्त्रचक्षुषा यश्चित्तस्योपशमो भगवदेकनिष्ठालक्षणो दर्शितः सुगमो योगः उपाय श्चिकित्सालक्षणः आत्मनः परमात्मनो मुदावहः सन्तोषजनको धर्मश्चाऽहिंसालक्षणः कर्मनिर्वापणसाधनम्॥ ३४ ॥

उक्तं निगमयति - अय मिति। अयं ब्रह्मार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठितः स्वस्तिमङ्गलस्य निष्पापस्य मोक्षस्य वा अयन माश्रयः द्विजाते स्त्रैवर्णिकस्य गृहमोधिनः गृहस्थस्य आसवित्तेन न्यायार्जितधनेन शुक्लेन निर्मलेन॥ ३५ ॥

इदानीं शुद्धान्तःकरणस्य सन्न्यासप्रकारं निरूपयति - वित्तैषणामिति। बुधः संसारस्याऽसारतां विद्वान् यज्ञादौ नानुष्ठितैः वित्तैषणां वित्तेच्छां विसृजेदिति सर्वत्र योज्यम्। गृहैर्गृहस्थाश्रमैः सहदारसुतेषणाम् आत्मन इहाऽमुत्रलोके धीरा स्त्यागशक्तिमन्तः ग्रामे ग्राम्यविषये। त्यक्तैषणा इत्यनेन ब्रह्मचारिणामपि सन्न्यासं सूचयति "यदहरेव विजेन्तदहरेव प्रव्रजेत्" इति विधिः॥ ३६॥

तत्रातिशयितवैराग्याभावे एवंविधस्य सन्न्यासानधिकार इति स्मार्तपक्ष माहुः- ऋणैरिति। त्रिभिर्ऋणै र्युक्तो जातः तानृणविशेषा ननिस्तीर्य गृहादि त्यज न्नधः पतेत् ऋणबीजमर्जनवैराग्याभ्यभावात् इति शेषः॥ ३७ ॥

तत्र ऋण निवारण प्रकारमाह - ब्रह्मचर्येति। अनेन वेदाध्ययनं सूचयति। अशरणः गृहरहितः॥ ३८ ॥

कर्मनिर्हरणप्रश्नस्य प्रतिवचन मुक्त्वा जनसङ्ग्रहणमेदं त्वया पृष्ट मस्माभि रिति तद्वक्तुमृत्य प्रोक्तं भवत स्तज्जन्मान्तरानुष्ठानशुद्धस्य नेदानीं कर्तव्य मस्तीति ममत्व ध्वनयन्तः सम्बोधयन्ति वसुदेवेति। नूनं निश्चयः, यत् यस्मात्, भेजे इत्यनेन लिटा अनद्यतनेन परोक्षवाचिना बहूनि पुरातनानि हरिभक्तिनिमित्तानि जन्मानि सूचितानि— "बहूनां जन्मना मन्ते ज्ञानवा न्मा प्रपद्यते" (भ गी 7-19) इति स्वोक्तेः॥ ३९ ॥

विजयध्वजतीर्थकृत पदरत्नावत्या द्विसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७२ ॥

( अधिकपाठे अष्टमोऽध्यायः)

## विजयध्वजरीत्या त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

### (अधिकपाठे नवमोध्यायः)

### श्रीशुक उवाच-

इति तद्वचनं श्रुत्वा वसुदेवो महामनाः।
तानृषी नृत्विजो वव्रे मूर्ध्नाऽऽनम्योपसृत्य च॥ १ ॥

त एव मृषयो राजन् वृता धर्मेण धार्मिकम्।
तस्मिन्नयाजन् क्षेत्रे मखै रुत्तमकल्पकैः॥ २ ॥

तद्दीक्षायां प्रवृत्तायां वृष्णयः पुष्करस्रजः।
स्नाताः सुवाससो राजन् राजानः सुष्ठ्वलङ्कृताः॥ ३ ॥

तन्महिष्यश्च मुदिता निष्ककण्ठ्य स्सुवाससः।
दीक्षाशाला मुपाजग्मु रालिमा वस्तुपाणयः॥ ४ ॥

नेदुर्मृदङ्गपटह शङ्खभेर्यानकादयः।
ननृतु र्नटनर्तक्य स्तुष्टुवु स्तत्र मागधाः॥ ५ ॥

जगुस्सुकण्ठयो गन्धर्वा(र्व्य)स्सुगीतं सहभर्तृकाः।
तमभ्यषिञ्च न्विधिवद्भक्त मव्यग्र मृत्विजः॥ ६ ॥

पत्नीभि रष्टादशभिः सोमराज मिवोडुभिः।
ताभि र्दुकूलवलय हारनूपुर कुण्डलैः॥
स्वलङ्कृताभि र्विभवै र्दीक्षितो जनसंवृतः॥ ७ ।

तस्यर्त्विजो महाराज नूत्नकौशेय वाससः।
सप्तवश विरेजु स्ते यथा कृष्णोऽध्वरे॥ ८ ॥

तदा रामश्च कृष्णश्च स्वैः स्वै र्बन्धुभि रन्वितौ।
रेजतुः स्वसुतै दरि र्जिविशौ स्वविभूतिभिः॥ ९ ॥

ईजेऽनुयज्ञं विधिना अग्निहोत्रादिलक्षणैः।
प्राकृतै र्वैकृतै र्यज्ञै र्द्रव्यज्ञानक्रियेश्वरम्॥ १० ॥

अथर्त्विग्योऽददा त्काले यथाऽऽम्नातं सुदक्षिणाः।
स्वलङ्कृतेभ्योऽलङ्कृत्य गोभू कन्या महाधनाः॥ ११ ॥

पत्नीसंयाजावभृथै श्चरित्वाऽथ महर्षयः।
सस्नू रामह्रदे विप्रा यजमान पुरस्सराः॥ १२ ॥

स्नातोऽलङ्कारवासांसि वन्दिभ्योऽदा त्तथा स्त्रियः।
ततः स्वलङ्कृता न्वर्णा न्नाभ्वभ्योन्नेन पूजयत्॥ १३ ॥

बन्धून् सदारान् ससुतान् पारिबर्हेण भूयसा।
विदर्भकोसलकुरून् काशिकैकेयसृञ्जयान्॥ १४ ॥

सदस्यर्त्विक्सुरगणा नृभूत सूत चारणाः।
श्रीनिकेत मनुप्राप्य शंसन्तः प्रययुः क्रतुम्॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रोऽनुजो द्रोणो भीष्मो द्रौणिः कृपस्तथा।
नारदो भगवान्व्यासः सुहृत्सम्बन्धिबान्धवाः॥ १६ ॥

बन्धू न्परिष्वज्य यदून् सौहृदक्लिन्नचेतसः।
ययुर्विरहकृच्छ्रेण स्वदेशांश्चापरे जनाः॥ १७ ॥

नन्दस्तु सह गोपालैः महत्या पूजयाऽर्चितः।
कृष्णरामोग्रसेनाद्यै र्न्यवस द्बन्धुवत्सलः॥ १८ ॥

वसुदेवोऽतिसोत्तीर्य मर्णैरथमहार्णवम्।
सुहृद्वृतः प्रीतमनाः इद माह करे स्पृशन्॥ १९ ॥

वसुदेव उवाच

भ्रात रीशकृतः पाशो नृणां यः स्नेहसंज्ञितः।
तं दुस्त्यज महं मन्ये सुराणा मपि योगिनाम्॥ २० ॥

अस्मा स्वप्रतिकल्पोऽयं यत्कृतं ज्ञानसत्तमैः।
मैत्र्यर्पिता फलावापि न निवर्तेत कर्हिचिद्॥ २१ ॥

प्रागकल्पाऽस्तु कुशलं भ्रात र्वो नाऽऽ चरेमहि।
अधुना श्रीमदान्धाक्षाः न पश्याम पुर स्सतः॥ २२ ॥

मा राज्यश्री रभू त्पुंसः श्रेयस्कामस्य मानद।
स्वजनान् भृत्यबन्धून्वा न पश्यति यथाऽन्धदृक्॥ २३ ॥

एवं सौहृद शैथिल्य चित्त आनकदुन्दुभिः।
रुरोद तत्कृतां मेत्रीं स्मर न्नश्रुविलोचनः॥ २४ ॥

नन्दस्तु सख्युः प्रियकृ त्प्रेम्णा गोविन्द रामयोः।
अद्य श्व इति मासां स्त्री न्यदुभिर्मानितोऽवसत्॥ २५ ॥

ततः कामैः पूर्यमाणः सव्रजः सहबान्धवः।
परार्ध्यभरणक्षौम नानानर्ध्य परिच्छदैः॥ २६ ॥

वसुदेवोग्रसेनाभ्यां कृष्णार्जुनबलादिभिः।
आदाय पारिबर्हं तं यापितो यदुभि र्ययौ॥ २७ ॥

तदा गोप्यश्च गोपाश्च गोविन्द चरणाम्बुजे।
मनः क्षिप्तं पुन र्हर्तु मनीशा मधुरां ययुः॥ २८ ॥

द्रोणो भीष्मोऽङ्गराजश्च बाह्लीकविदुरादयः।
सपुत्रो धृतराष्ट्रश्च जग्मुः स्वंस्वं निकेतनम्॥ २९ ॥

अन्येच सर्वराजानो देवयात्रार्थ मागताः।
गते मासत्रये भूयः स्वा नेव विषयान् ययुः॥ ३० ॥

पाण्डवाश्च महात्मानः पृथा चनृपसत्तम!
अनुज्ञाताः केशवेन भाष्पगद्गदभाषिणः॥ ३१ ॥

शक्रप्रस्थं ययु स्सर्वे स्वजनैः परिवारिताः।
बन्धुषु प्रतियातेषु वृष्णयः कृष्णदेवताः॥ ३२ ॥

परिवार्य हृषीकेशं ययु र्द्वारवतीं पुरीम्॥ ३३ ॥

इति श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७३ ॥
( अधिकपाठे नवमोऽध्यायः )

## पदरत्नावली

धर्मेण काल्पोक्तेन विधिना उत्तमकल्पकैः राजसूयसमैः "ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्य देशीयरः" इति सूत्रात्॥ १,२ ॥

"दीक्षा स्या द्व्रतसङ्ग्रहः" इति। पुष्करस्रजः कमलबीजमालाऽवलम्बिकण्ठाः॥ ३ ॥

आलिमा श्चन्दनेनेति शेषः। हिरण्यादिवस्तुपाणयः- "हिरण्यं रजतं वाऽपि गृहीत्वा क्रमुकं फलम्। शाला विशे वज्ञपत्नी शपेयु स्त्वन्यथा सुराः" इति वचनात्॥ ४, ५ ॥

अव्यग्र मव्याकुलम्॥ ६, ७ ॥

होता पोता नेष्टा प्रशास्ता अध्वर्यु स्त्रीन्नो मैत्रावरुण इत्येनमादयो ऋत्विजः षोडश, दीक्षित स्त्वेक इति सप्तदश, सदस्येन वा सह। वृत्रहणः इन्द्रस्य यज्ञे॥ ८ ॥

जीवाना मीशौ स्वरूपभूताभि र्विभूतिभिः मूर्तिमतीभिः- "अणिमा महिमा गरिमा लघिमा प्राप्ति रेव च। ईशित्वञ्च वशित्वञ्च तथा प्राकाम्य मेव च" इति समाख्याताभिः नानाविधचेतनराशिसमुदायेन ततद्योग्यतानुसारेण सभाजनसमयेऽपेक्षिताभिः॥ ९॥

द्रव्यज्ञानोपपदयोः क्रिययो र्यज्ञलक्षणयोः ईश्वरं द्रव्ययज्ञा दानयज्ञयोः स्वामिन मित्यर्थः। कथ मीजे इति तत्राऽऽह- अनुयज्ञेति। अनुशब्दो वीप्सावचनः तं तं यज्ञं प्रति विधिना कल्पोक्तप्रकारेण अग्निहोत्रादिलक्षणैः अग्निहोत्रेष्ट्यादिचिह्नैः प्राकृतैर्यज्ञैः सप्तक्रतुभिः, वैकृतै र्यज्ञैः सौत्रामण्यादिभि रुत्तरक्रतुभिः॥ १० ॥

यथाऽऽम्नातं यथाकथितं महान्ति धनानि यासां तास्तथा॥ ११ ॥

पत्नीसंयाजः पत्नीभिः क्रियमाणः काश्चनदेवता उद्दिश्य यजनम्, अवभृथः समाप्तिः, कर्मस्थान मुभयत्रेष्टिविशेषाश्च भवन्ति। तैश्चरित्वा तांश्च कृत्वेत्यर्थः॥ १२ ॥

पूजय दपूजयत् स्त्रियः स्त्रीभ्यः॥ १३ ॥

पारिबर्हेण पूजाद्रव्येण विदर्भादींश्च अपूजयदितिशेषः॥ १४ ॥

सदस्यर्त्विगादयः प्रययु रित्यन्वयः॥ १५ ॥

अनुजो विदुरः॥ १६-२० ॥

युष्माभिश्चनिन सत्तमै रस्मासु यत्कृतं सोऽयंस्नेहपाशोऽप्रतिकल्पः असदृशः या चाऽस्माभि र्युष्मास्वर्पिता मैत्री अफला वाऽपि निष्फलावाऽपि कर्हिचि दपि न निवर्तेत निवृत्यास्मत्त इति शेषः॥ २१ ॥

एत देव विवृणोति - प्रागिति। हे भ्रातः। प्राक् वः कुशलं नाऽऽचरेमहि। कुतः अकल्पा असमर्थाः कंसेनोपद्रुतत्वात् अधुना श्रीमदान्धाक्षाः वयं पुरस्सतः पुरः स्थिता न पश्याम इति यत्,अत इति शेषः॥ २२ ॥

यया राज्यश्रिया॥ २३ ॥

सौहृदेन स्नेहेन शैथिल्यं शिथिलस्वभावं प्राप्तं चित्तं यस्य स तथा॥ २४-३३ ॥

इति श्री विजयध्वजतीर्थकृत पदरत्नावल्यां त्रिसप्तति तमोऽध्यायः॥ ७३ ॥

(अधिकपाठे नवमोऽध्यायः)

## अथ विजयध्वजरीत्या चतुस्सप्ततितमोऽध्यायः॥
## (अधिकपाठे दशमोऽध्यायः)

### श्रीशुक उवाच-

अथैकदात्मजौ प्राप्तौ कृतपादाभिवन्दनौ।
वसुदेवोऽभिनन्द्याऽऽह प्रीत्या सङ्कर्षणाच्युतौ॥ १ ॥

मुनीनां वदतां श्रुत्वा पुत्रयोर्धर्मसूचकम्।
तद्वीर्यजातविस्रम्भः परिष्वज्याऽभ्यभाषत॥ २ ॥

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् सङ्कर्षण सनातन।
जाने वामस्य यत्साक्षा त्प्रधानपुरुषौ परौ॥ ३ ॥

यत्रयेन यतो यस्य यस्मै यद्य द्यथा यदा।
स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधान पुरुषेश्वरः॥ ४ ॥

एतन्नानाविधं विश्व मात्मसृष्ट मधोक्षज।
आत्मनाऽनुप्रविश्याऽऽत्मन् प्राणान् जीवो बिभर्ष्यजः॥ ५ ॥

प्राणादीनां विश्वसृजां शक्तयो याः परस्य ताः।
पारतन्त्र्या द्वैसादृश्या द्वयोःश्रेष्ठे च चेष्टितम्॥ ६ ॥

कान्ति स्तेजः प्रभा सत्ता चन्द्राग्न्यर्कसविद्युताम्।
यत्स्थैर्यं भूभृतां भूमे र्वृत्ति र्गन्धोऽर्थतो भवान्॥ ७ ॥

तर्पणं प्राणन श्चाऽपां द्रवत्वं ताश्च तद्रसः।
ओज स्सहोबलश्चेष्टा गति र्वायो स्तवेश्वर॥ ८ ॥

दिशां त्वमवकाशोऽसि शब्दस्त्वं स्फोट आश्रयः।
नादो वर्ण स्त्व मोङ्कार आकृतीनां पृथक्कृतीः॥ ९ ॥

इन्द्रिय न्त्विन्द्रियाणां त्वं देवाश्च तदनुग्रहाः।
अवबोधो भवान्बुद्धे र्जीवस्यानुस्मृतिः सती॥ १० ॥

भूताना मसि भूतादि रिन्द्रियाणाञ्च तैजसम्।
वैकारिकं विकल्पानां प्रधान मनुशायिनाम्॥ ११ ॥

नश्वरेष्विह भावेषु तदसि त्व मनश्वरः।
यथा द्रव्यविकारेषु द्रव्यमात्रं निरूपितम्॥ १२ ॥

सत्त्वं रज स्तम इति गुणा स्तद्वृत्तयश्च याः।
त्वय्यद्धा ब्रह्मणिपरे कल्पिता योगमायया॥ १३ ॥

तस्मान्न सन्त्यमी भावा यर्हि त्वय्यविकल्पिताः।
त्वञ्चामीषु विकारेषु सन् सदा व्यावहारिकः॥ १४ ॥

गुणप्रवाह एतस्मिन्नबुद्ध्वात्मविलात्मनः॥
गतिं सूक्ष्मामबोधेन संसरन्तीह कर्मभिः॥ १५ ॥

यदृच्छयानृतां प्राप्य सुकल्प मिह दुर्लभम्।
स्वार्थे प्रमत्तस्य वयो गतं त्वन्मायया विभो॥ १६ ॥

असा वहं ममैवेते देहेवास्यान्वयाविषु।
स्नेहपाशै र्निबध्नाति भवान् सर्वमिदं जगत्॥ १७ ॥

युवां न नस्सुतौ साक्षा त्प्रधानपुरुषेश्वरौ॥
भूभारदैत्यक्षपणे अवतीर्णौ तथा त्विह॥ १८ ॥

तत्ते गतोऽस्म्यरण मद्य पदारविन्द-
मापन्नसंसृतिभयापह मार्तबन्धो।
एतावताऽलमलमिन्द्रियलालसेन
मर्त्यात्मदृक्त्वयि परे यदपत्यबुद्धिः॥ १९ ॥

सूतीगृहेननुजगाद भवा नजो नौ
यद्यज्ञ इत्यनुयुगं निजधर्मगुप्त्यै।
नानातनू र्गगनव द्विदधज्जहासि
को वेद भूम्न उरुगाय विभूतिमायाम्॥ २० ॥

श्रीशुक उवाच-

आकर्ण्येत्थं पितु र्वाक्यं भगवान्सात्वतर्षभः।
प्रत्याह प्रश्रयानम्रः प्रहसन् श्लक्ष्णया गिरा॥ २१ ॥

वचो व स्समवेतार्थं तातैत दुपमन्महे।
यन्नः पुत्रा न्समुद्दिश्य तत्त्वग्राम उदाहृतः॥ २२ ॥

अहं यूय मसा वार्य इमे च द्वारकौकसः।
सर्वेष्वेव यदुश्रेष्ठ विभ्वात्म सचराचरम्॥ २३ ॥

आत्मा होकः स्वयञ्ज्योति र्नित्योऽन्यो निर्गुणो गुणैः।
आत्मसृष्टै स्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते॥ २४ ॥

खं वायुर्ज्योति रापो भू स्तत्कृतेषु यथाशयम्।
आविस्तरोऽल्पभू र्येक नानात्वं वा स्वयो विधि॥ २५ ॥

एवं भगवता राजन् वसुदेव उदाहृतम्।
श्रुत्वा विनष्टनामाधि स्तूष्णीं प्रीतमना अभूत्॥ २६ ॥

अथ तत्र कुरुश्रेष्ठ देवकी सर्वदेवता।
श्रुत्वाऽऽनीतं गुरोः पुत्रमात्मजाभ्यां शुचिस्मिता॥ २७ ॥

कृष्णरामौ समाश्राव्य पुत्रान् कंसविहिंसितान्।
स्मरन्ती कृपणा प्राह वैक्लव्या दश्रुलोचना॥ २८ ॥

देवक्युवाच-

राम रामाऽप्रमेयात्मन् कृष्ण योगेश्वरेश्वर।
वेदाऽहं वां विश्वसृजा मीश्वरा वादिपूरुषौ॥ २९ ॥

काल विध्वस्तसेतूनां राज्ञा मुच्छास्त्र वर्तिनाम्।
भूमे र्भारायमाणाना मवतीर्णौ क्षयाय मे॥ ३० ॥

यस्यांशांशांशभागेन विश्वस्थित्युदयौ लयः।
भवन्ति किल विश्वात्मन् तं त्वाऽद्याहं गतिं गता॥ ३१ ॥

चिरान्मृतसुतादाने गुरुणा किल चोदितौ।
आनिन्यथुः पितृस्थाना द्गुरवे गुरुदक्षिणाम्॥ ३२ ॥

तथा मे कुरुतां कामं युवां योगेश्वरेश्वरौ।
भोजराजहतान्पुत्रान् कामये द्रष्टुमाहृतान्॥ ३३ ॥

श्रीशुक उवाच-

एवं सञ्चोदितौ मात्रा रामकृष्णौ कुरूद्वह।
सुतलं संविविशतु र्योगमाया मुपाश्रितौ॥ ३४ ॥

तस्मिन्प्रविष्टा वुपलभ्य दैत्यराड्
विश्वात्मदेवं सुतरां तथाऽऽत्मनः।
तद्दर्शनाऽऽह्लादपरिप्लुताशयः
सद्य स्समुत्थाय ननाम सान्वयः॥ ३५ ॥

तयो स्समानीय बरासनं मुदा
निविष्टयो स्तत्र महात्मनो स्तयोः
दधार पादा ववनिज्य तज्जलं
सबृन्द आब्रह्म पुन यदम्बुभिः॥ ३६ ॥

समर्हयामास महाविभूतिभि र्महार्हवस्त्राभरणानुलेपनैः।
स्रग्धूपदीपामृतभक्षणादिभिः स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पणेन च॥ ३७ ॥

स इन्द्रसेनो भगव न्पदाम्बुजं
भ्रमन्मुहुः प्रेमविभिन्नया धिया
बभाष हाऽऽनन्दजलाकुलेक्षणः
प्रहृष्टरोमा नृप गद्गदाक्षरम्॥ ३८ ॥

बलिरुवाच-

नमोऽनन्ताय महते नमः कृष्णाय वेधसे।
साङ्ख्ययोगविताना य ब्रह्मणे परमात्मने॥ ३९ ॥

दर्शनं वां हि भूतानां दुष्प्राप मतिदुर्लभम्।
रजस्तम स्स्वभावानां यन्नः प्राप्तं यदृच्छया॥ ४० ॥

दैत्यदानवगन्धर्वसिद्धविद्याधरादयः।
यक्षरक्षः पिशाचाश्च भूतप्रमथनायकाः॥ ४१ ॥

विशुद्धसत्त्वधाम्न्यद्धा त्वयिशास्त्रशरीरिणि।
नित्यं निबद्धवैरास्ते वयञ्चाऽन्ये च तादृशाः॥ ४२ ॥

केचनोद्बद्धवैरेण भक्ताः केचन कामतः।
न तथा सत्त्वसंरब्धाः सन्निकृष्टा स्सुरादयः॥ ४३ ॥

इद मित्थ मिति प्राय स्तव योगेश्वरेश्वर।
न विदन्त्यपि योगेशा योगमायां कुतो वयम्॥ ४४ ॥

तन्नः प्रसीद निरपेक्ष विमृग्य युष्म-
त्पादारविन्दधिषणः स्वगृहान्धकूपात्।
निष्क्रम्य विश्वशरणाङ्घ्र्युपलब्धवृत्ति
श्शान्तो यथैक उत सत्त्वसखैश्चरामि॥ ४५ ॥

शाध्यस्मा नीशितव्येश निष्कामान्कुरु नः प्रभो।
पुमान्यच्छ्रद्धया तिष्ठं श्चोदनाया विमुच्यते॥ ४६ ॥

श्रीभगवा नुवाच-

आस न्मरीचेष्षट्पुत्रा ऊर्णायां प्रथमेऽन्तरे।
देवलं जहसु र्वीक्ष्य सुता ञ्छपितु मुद्यतम्॥ ४७ ॥

तेनाऽऽसुरी मगु र्योनि ममुनाऽवद्यकर्मणा।
हिरण्यकशिपो श्शापा त्पुत्त्रास्ते योगमायया॥ ४८ ॥

देवक्या जठरे जाता राजन्कंसविहिंसिताः।
सा तान् शोचत्यात्मजान् त्वां स्त इमेऽध्यासतेऽन्तिके॥ ४९ ॥

इत एता न्प्रणेष्यामो मातृशोकापनुत्तये
तत श्शापविनिर्मुक्ता लोकं यास्यन्ति विज्वराः॥ ५० ॥

स्मरोद्गीथः परिष्वङ्गः पतङ्गः क्षुद्रभृद्घृणी।
षडिमे मत्प्रसादेन पुन र्यास्यन्ति मद्गतिम्॥ ५१ ॥

इत्युक्त्वा तान्समादाय इन्द्रसेनेन पूजितौ।
पुन र्द्वारवती मेत्य मातुः पुत्त्रा नयच्छताम्॥ ५२ ॥

तान् दृष्ट्वा बालकान्देवी पुत्त्रस्नेहस्नुतस्तनी।
परिष्वज्याऽङ्क मारोप्य मूर्ध्न्यजिघ्र दभीक्ष्णशः॥ ५३ ॥

अपाययत्स्तनं प्रीता सुतस्पर्शपरिस्रुतम्।
मोहिता मायया विष्णो र्यथा सृष्टिः प्रवर्तते॥ ५४ ॥

पीत्वाऽमृतं पय स्तस्याः पीतशेषं गदाभृतः।
नारायणाङ्गसंस्पर्शप्रतिलब्धात्मदर्शनाः॥ ५५ ॥

ते नमस्कृत्य गोविन्दं देवकीं पितरं बलम्।
मिषतां सर्वभूतानां ययुर्धाम विहायसा॥ ५६ ॥

ता न्दृष्ट्वा देवकी देवी मृतागमननिर्गमम्।
मेने सुविस्मिता मायां कृष्णसंसूचितां नृप॥ ५७ ॥

एवं विधान्यद्भुतानि कृष्णस्य परमात्मनः।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य सन्त्यनन्तानि भारत॥ ५८ ॥

सूत उवाच-

य इदमनुशृणोति श्रावयेद्वा मुरारे-
श्चरितममृतकीर्तेर्वर्णितं व्यासपुत्रैः।
जगदघभिदलन्तद्भक्तसत्कर्णपूरं
भगवतिकृतचित्तो याति तत्क्षेमधाम॥ ५९ ॥

इति श्रीभागवते दशमस्कन्धे चतुस्सप्तति तमोऽध्यायः॥ ७४ ॥
(अधिकपाठे दशमोऽध्यायः)

## पदरत्नावली

सुख गुणोपसहारार्थं सम्यक्तत्त्वविज्ञाने हरौ भक्ति विधानं सुशक मिति पुन रपि हरे र्माहात्म्यं निगद्यतेऽस्मिन्नध्याये। तदर्थं वसुदेवः कृष्णरामौ सम्बोध्य वक्ति अथेति॥ १ ॥

पुत्रयोः रामकृष्णयोः धाम्नस्तेजसः माहात्म्यलक्षणस्य सूचकं वदतां मुनीनां वचःश्रुत्वा तयो र्वीर्ये माहात्म्ये जात विस्रम्भः पुन रङ्कुरितविश्वासः॥ २ ॥

अह वा प्रधानपुरुषौ जाने वां यथाऽस्य विश्वस्यसकाशात् परौ वितक्षणत्वेनोत्तमौ भवत स्तथेति, यद्वाऽस्य जगत स्तत्त्वं जाने॥ ३ ॥

तत्कथं मिति तत्राऽऽह - यत्रेति। यत्र यस्मिंस्तिष्ठति "यस्मि न्निदम्" इति श्रुतिः "यतोवा इमानि भूतानि" इति, "येन जातानि जीवन्ति" इति श्रुतिः "यस्य ब्रह्म च क्षत्र ञ्चोभे भवत ओदनः मृत्युर्यस्योपसेचनम्" इति काठकाः। यस्मा इदं क्रियत, इति "सच त्यच्चाऽभवत्" इति यथास्थितं यदा काले इदं स्यात् तथा तदाऽस्मात् "ब्रह्मैवेदविश्वम्" इति श्रुतिः। इदं जगत्साक्षात् स्पष्टं निर्विचारं प्रधान पुरुषेश्वरशब्दवाच्योभगवा नेव स्यात्, तस्मा त्सत्ताया अपि तदधीनत्वात्। यद्वा, यत्र यस्मिन्नधिष्ठाने येन साधनेन यतो मृदः यस्य सम्बन्धेन यस्मै देवदत्ताय यद्वस्तु यथाप्रकारेण यदा यस्मिन्काले॥ ४॥

तदिदं कथितमेव स्पष्टत्वाय कथयति एतदिति। आत्मना त्वया सृष्टम् आत्मना अनुपहतस्वरूपेण आत्मन्नात्मनि। प्राणा निन्द्रियाणि जीवो जीवनप्रदः॥ ५ ॥

प्राणादीनां मुख्यप्राणादीनां यादृशक्तयस्ताः परस्य हरे र्विद्यमानाः। तत्र हेतुः पारतन्त्येति। वैसादृश्या द्वैलक्षण्यात्। तदुपपादयति द्वयो रिति। द्वयोर्जीविशयोः श्रेष्ठे अतिशयेनोत्तमे हरौ चेष्टितं यस्मात्तस्मात् इत्यर्थः। यथा वायोः शक्त्यातृणपर्णादीनां चालनं यथा वा पुरुषस्य शक्त्या शराद्दीनां वेगवतीगतिः, तथा प्रकृते इति भावः॥ ६ ॥

पदार्थगुणानां तदधीनत्व माह - कान्ति रित्यादिना। चन्द्राग्न्यर्काणां सविद्युतां खद्योतादीना मध्ये चन्द्रस्य या कान्तिः अग्नेर्यत्तेजः, सूर्यस्य या प्रभा विद्युदादीनां यासत्ता भूभुतां यत्स्थैर्यं भूमे र्या वृतिः सस्यादीनां जीवनत्वं यो गन्धो गुणः, तत्सर्व मर्थतोऽभिधेयत्वं यद्वाचाऽन्यः॥ ७ ॥

किञ्च। अपां यत्तर्पणंतृप्तिः, प्राणनं चेष्टा द्रवत्वं स्यन्दनं ता आपश्च तासां रसो गुणश्च वायोः ये ओजआदयः ते सर्वे तवाधीनप्रवृत्तिनिमित्ताः। ओजोऽवष्टम्भः, सहो मर्षणं, बलं शक्तिः, चेष्टा स्पन्दनं, गतिः सर्पणम्॥ ८ ॥

यो दिशा मवकाशः "सत्त्व यश्च स्फोटो व्योमनि आश्रयः सत्त्वं निर्दोषः शब्द आगमः" इति वचनात् वर्णक्रमलक्षणोऽर्थव्यञ्जकशब्दः त्वम्। किञ्च स्फोटो वेणुदारणादौ जन्यो ध्वनि राश्रयः शङ्खादिजन्य स्त्व मित्यर्थः। "अवस्वरातिगर्गः" इति श्रुतेः। आकूतीनां ब्रह्मादिप्राणिना देवानां याः पृथक्कृतीः पृथक्क्रियाः अनिमेषादिलक्षणा स्ताश्च त्वदधीनः॥ ९ ॥

इन्द्रियाणा मिन्द्रिय मिदं द्रवणं तदनुग्राहका देवाः, सूर्यादयश्च त्वम्। बुद्ध स्त्वबोधो ज्ञानजननशक्तिः, जीवस्य सत्यनुस्मृतिः स्मरणशक्तिश्च भवान्॥ १० ॥

पञ्चभूतानां कारणं भूतादि स्तामसाहङ्कारः, चक्षुरादीन्द्रियाणां कारणं तैजसाहङ्कारः, विकल्पानां जरादिशून्यत्वेन परमात्मव्यपदेशानां विविधाः कल्पाः न्यायाः येषां तेषां वा देवानां कारणं वैकारिकाहङ्कारः सङ्कल्पविकल्पानां मनोवृत्तीनां वा अनुशायिनां जीवानां कारणं प्रधानं प्रकृति स्त्वम्, महदादीनां वा॥ ११ ॥

सर्व भावाना मादि स्त्वमिति निरूप्य, अधुना अन्तकालावस्थायित्वं च तवेति समर्थयते - नश्वरेष्विति। इह नश्वरेषु नाशशीलेषु भावेषु पदार्थेषु योऽनश्वरः अविनाशीभाव स्तद्रव्यं त्वमसि। सूक्ष्मार्थत्वात्दर्शनिनऽवगमयति।- तथाहि द्रव्यं प्रधानं

तद्विकारेषु पृथिव्यादिषु पदार्थेषु प्रत्यये नश्वरेषु द्रव्यमात्रं केवलं स्वरूपभूतं प्रधानमेव निरूपितं, तत्त्वैरिति शेषः। यद्वा द्रव्यं परमाणुरसंयुक्तेषु घटादि पदार्थेषु नश्वरं द्रव्यमात्रं परमाणुमात्रं निरूपितं, परमाणुत्वेदिभिरितिशेषः॥ १२ ॥

नन्वेवं तर्हि प्रधानादे र्नित्यत्वेन परमात्मनियतत्व माथातमिति तत्राऽऽह- सत्त्व मिति। इति शब्दो हेत्वर्थः। जगदुत्पत्त्यादिहेतवः सत्त्वादयो गुणा ये याश्च तेषां गुणानां वृत्तयोव्यापाराः ते ताश्च परे ब्रह्मणि तद्व्याप्ते तद्व्याप्ते च देशे व्याप्ते त्वयि अद्धा अनिर्वचनीयत्वेन कल्पिता स्समर्थिताः। "एतस्मिन् खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च।" इत्यादि वेदान्तवाक्यैः सत्त्वादिगुणानां प्रधानस्वरूपत्वेन तेषां तदाधारत्वकथने प्रधानस्य तदाश्रयत्वं किमु वक्तव्य मिति। परमाणुपक्षे शुक्लवर्णेन सत्त्वेनाऽऽप्याः रजसा पार्थिवा स्सतमसा आवरकेण वायवीयाः परमाणवो लक्ष्यन्ते। इति शब्देनादित्व वाचिना तैजसालक्षिता इति चतुर्विधा गुणा स्तन्तुस्थानीयाः परमाणवो या स्तद्वृत्तयः संयोगलक्षणा स्त्वयि कल्पिताः त्वत्प्रेरितत्वेन कार्यकारणक्षमत्वेन समर्थिता इत्यर्थः। किमनेन नियमेनेत्यत उक्तं योगमाययेति। योगमायया स्वसमवेतेच्छया॥ १३ ॥

व्यतिरेकं दर्शयति - तस्मा दिति। यर्हि यदाऽमीभावास्त्वय्यविकल्पिताः त्वदाधारत्वेन निरूपिताः तदा तस्मा दनाधारतया न सन्ति स्वरूपत एव नश्यन्ति। तस्मा त्तत्सत्ताऽपि त्वदधीनेत्यर्थः। तदेव विशदयति - त्वद्धेति। अमीषुविकारेषु विविधप्रकारेषु पदार्थेषु त्वद्ध त्वमेव सन् सद्भावं कुर्वन् सदा व्यावहारिकः हानादिव्यवहारनिर्वाहकः नान्य इत्यर्थः॥ १४ ॥

नन्वेव तर्हि कस्मा देतस्य संसार इति तत्राऽऽह-गुणेति। एतस्मि न्गुणप्रवाहे संसारे अखिलात्मनः अखण्डस्वामिनः तव सूक्ष्मा मतीन्द्रियां गतिं स्थितिं सर्वव्यापी सर्वनियामक इत्यादिलक्षणा मनुद्बुद्धाऽज्ञात्वा तेनाऽबोधेनाऽ ज्ञानेन इह कर्मभिः संसरन्तीत्यन्वयः। तत्त्वाज्ञाना त्तसार इति भावः॥ १५ ॥

ननु भवतु मनुष्यत्वलाभात् ज्ञान सुलभ, तस्मान्मोक्षोऽपि स्या दित्याशङ्क्य सर्वश्च त्वत्प्रसाद मन्तरेण दुर्लभ मित्याह - यदृच्छयेति। यदृच्छया भगवदिच्छया तत्रोद्बुद्धधारब्धपुण्य कर्मणा नृतां मनुष्यत्वं प्राप्य इह मनुष्यशरीरे त्वन्मायया स्वार्थे प्रमत्तस्य मम वयो गतम्, वृथेतिशेषः। अतः सुकल्पं कृतं फलप्रदं ज्ञानं दुर्लभ ममूदिति शेषः। नितरां ममत्वं त्वन्मायया॥ १६ ॥

स्वार्थे प्रमादः कीदृश इति तत्राऽऽह - असाविति। असौ देहोऽहमस्यदेहस्य अन्वयादिषु इन्द्रियकलत्रादिषु ममैवेते सन्त इति सुदृढै र्ममत्वेन बध्नाति, न केवलं मामेव किन्तु सर्वमिति भावेनोक्तं सर्व मिति॥ १७ ॥

त्वदनुग्रहान्मम किञ्चित् ज्ञान मुत्पन्न मिति भावेनाऽऽह युवा मिति। प्रधानपुरुषेश्वरौ प्रकृति जीवेश्वरौ॥ १८ ॥

अतः किं तत्राऽऽह - तत्त इति। इन्द्रियलालसेन इन्द्रियाणां शब्दविषयभोगेच्छया मर्त्ये मृत्युशिरस्के देहे आत्मदृक् अहमितिदर्शनं यत्परे परमात्मनि त्वयि अपत्यबुद्धिः पुत्रत्व ज्ञानम्॥ १९ ॥

सूतीगृह इति। अजः शुक्रशोणितसम्पर्कजन्य शरीररहितः भवान् सूतीगृहे अरिष्टे अहं यज्ञो विष्णु रिति नौ जगाद नन्विति यत्तस्मा दनुयुगं निजक्षुभधर्मरक्षायै नानातनूः सुरनराद्दिनानाविधशरीराणि विदधत्कुर्वन् त्वं पुनः रक्षावसाने तास्तनूः जहासि तिरोदधासि। कथं दधातीत्यतउक्तं गगनवदिति। यथा युगं युग्मं कार्यकारणद्वयात्मकपदार्थजातमनु अणुबृहदनुकूलत्वेन नाना भवति; पुन स्तद्गगनं तत्पदार्थजातस्य कारणावशेषे स्वयमेवैकमेव भवति, तथेत्यर्थः। हि उलगाय! भूमनः पूर्णानन्दस्य तव विभूतीनां मायां माहात्म्यं को वेद? वेद चेत् ब्रह्मैव वेत्ति वायुर्वा नाऽन्यः। अनेन गगना दस्य विशेषोदर्शितः॥ २० ॥

ब्रह्माचन्यतम मन्तरेण प्रत्यक्षं भगवता सल्लापः कस्य सुलभः! अतो वसुदेवस्य भाग्य मतिविचित्र मिति भावेन कृष्णस्य प्रतिवचनप्रकारं कथयति - आकर्ण्येत्यादिना॥ २१ ॥

समवेतार्थं श्रुतिस्मृत्युपपन्नार्थं प्रसिद्धार्थं वा॥ २२ ॥

युष्मदादि विश्वमहमेव मदधीनमेव नाऽन्याधीनम्। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म " इति श्रुतिसिद्धम्॥ २३ ॥

मत्समो नास्तीत्याह - एक इति। केवलः द्वितीयवर्जितः त्वं वा क इत्यत उक्तम् आत्मेति। आत्मशब्देन किं देह उच्यते इत्यतः स्वयञ्ज्योति र्नित्य इति। अनेन विशेषणद्वयेन जीवोऽपि व्यावृत्तः तस्य नित्यानभिभूत स्वयञ्ज्योतिष्ट्वा भावात् हरे स्तद्भावात्। "ब्रह्मवेदाऽहं ब्रह्माऽस्मि" इति श्रुतेः। बल मानन्द ओजश्चेति वा अह मेवेत्युक्त्या अभेदः किं नस्या दित्यत उक्तम् अन्य इति। अह मस्मा दन्योऽन्यविलक्षणः। कुतः? निर्गुणः सत्त्वादि गुणनिमित्तवैपरीत्याभावात्, अन्यस्य तद्भावात्। "कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजै र्गुणैः" (भ.गी.) इत्यादेः। ननु तर्हि प्राप्तनिषेधः कस्मात् इति तत्राऽऽह - इन्द्रियपूर्णेषु भूतेषु प्राणिदेहेषु बहुधेयते यथारुचिज्ञायते, जनेनेति शेषः। यथाऽऽत्मनिमित्तै र्गुणैः पञ्चभूतैः विरचितेषु शेषं समम्॥ २४ ॥

एतदेव द्रढयति - खं वायु रिति। खादीनि तत्कृतेषु वस्तुषु यथाशयं यथास्थानं स्थितानि भवन्ति। तथाऽसौ हरिरपि अत्येकल्पत्वेन भूरिषु महत्त्वेनाविस्तारः प्रकाशिताविस्तारः एकनानात्वम् एकस्य अनेकसंख्याविषयत्वं यातीत्यन्वयः। अत्राऽयं भावः। स्वसृष्टतत्तद्वस्तुनियमार्थं तत्तद्वस्तुपरिमाणभूतं गृह्णातीति तात्त्विकाः॥ २५ ॥

विनष्टं नाम कुत्सितं माधि र्यस्य स विनष्टनामाधिः "नाम कुत्सन सम्भाव्य प्रकाशेषु निगद्यते" इति॥ २६ ॥

अथ मङ्गलाचरैत मारभ्यते सर्वा देवता यस्यां सन्निहिताः सा तथा॥ २७ ॥

समाश्राव्य सम्बोध्य॥ २८, २९ ॥

मे मृत्तस्सकाशात् कालेन विध्वस्तधर्मसेतूनाम्॥ ३० ॥

भागोभजनं स्वीकारः, तेन गतिं शरणं गताऽस्मि॥ ३१ ॥

पितृस्थानात् यमलोकात्॥ ३२, ३४ ॥

तथाऽऽत्मनः स्वस्य सुतरा मिष्ट दैवम्॥ ३५ ॥

तज्जल पादावनिर्णिक्तजलं यस्य पादजलै राब्रह्म चतुर्मुखपर्यन्तं जगत्पुनन पुनाति शुध्यति छान्दसोऽयं प्रयोगः। "आदित्यः सुपथाऽकरत्" इत्यादिष्विव॥ ३६ ॥

अमृतभक्षणं रसायन भोजनम्।"अमृतं व्योम्नि देवाने यज्ञशेषे रसायने। अयाचितेजलेजग्धौ मोक्षणे हेम्नि गौरसे। क्लीबे नात्यमरे स्त्रीतु गुडूच्यां मद्यभिक्षयोः" इति यादवप्रकाशः। इन्द्रसेनो बलिः। "गोत्रं नाम्नि कुलें ऽचले" इति, "आत्मा देहे भृतौ जीवे धैर्ये" इति वा। प्रेमविभिन्नया स्नेहप्रवृद्धया धिया भगवत्पदाम्बुजं भ्रमत् शरणं गच्छन् प्रदक्षिणं कुर्वन् वा हा शुभ मिति स्मरन् "हा विषादशुगार्तिषु" इति। बभाद्वति सम्भ्रमाद्व्यस्यः। बभोरेति पाठे पादाम्बुजं बभार। गह्वदाक्षरं वचो जगादेति योज्यम्॥ ३७, ३८ ॥

वेधसे अश्वमेध कर्त्रे साङ्ख्य योगयो र्ज्ञानकर्मणोः वितानो विस्तारः येन स तथा तस्मै साङ्ख्ययोगशास्त्रकारायवा दृष्टकपिलादिभ्योव्यावर्तनायाऽऽह-ब्रह्मण इति। नन्वमुना व्यावृत्तिः, कथ मत्राऽऽह परमात्मन इति॥ ३९

अव्यक्त स्वभावयो र्युवयो र्दर्शन मनुग्रहसाध्यं, नतु प्रयत्नसाध्य मिति भावेनाऽऽह-दर्शन मिति। वां दर्शनं भूतानां दुष्प्रापं हि यस्मा त्तस्मा द्रजस्तमस्स्वभावानां नोऽतिदुर्लभयद्युष्मद्दर्शनं प्राप्तं तवदच्छया देवयो र्युवयो रनुग्रहेनमुरवीभूत्येच्छयेति मन्ये इति शेषः॥ ४० ॥

रजस्तमस्स्वभावफलं प्रकटयन् तामसत्वं नाम चूडारत्नं निर्मलीकर्तुं दर्शनं कृत मित्याशयेनाऽऽह-दैत्येति। ये दैत्यदानवास्ते बयञ्च शास्त्रं वेदाद्विग्रन्थएव शरीरं प्रतिमालक्षण मस्या स्तीति शास्त्रशरीरी तस्मिन्। "शास्त्रं ग्रन्थ निदेशयोः" इति विशुद्धसत्त्वधाम्नि केवल ज्ञाननिधाने त्वयि नित्यं निबद्धवैरः अन्ये राक्षसाश्च तादृशा निबद्धवैरा इत्यतो नतोऽप्यस्मद्भुवो, युष्मद्दर्शन इति शेषः॥ ४१ ४२ ॥

ननु, नित्यानु सन्धानलक्षणान्तः करणगुणेनाऽविर्भूतज्ञानगुणोऽस्तीति मा शङ्कि, यतः सुरादीना मपि नास्ति, कुतोऽस्माक मिति भावेनाऽऽह-केचनेति। केचन चैद्यादयः उद्बुद्धवैरेण क्वचि दुद्गत वैरेण भूतयः, केचन गोपीजनाः कामतो भक्ताः सन्निकृष्टाः सहवर्तमानाः सत्त्वसंबन्धा उद्रिक्तसत्त्वगुणाः प्राणात्ययेऽपि अनुज्झितयुष्मद्भक्तिनिश्चयाः सुमन्धर्यादयः स्तथाऽनादिद्वेषसंरम्भादिना भक्ता न भवन्ति, किन्तु निश्चलभक्तिसिन्धवः॥ ४३ ॥

अपि तथाऽपि ते योगेशाः ज्ञानोपायश्रेष्ठाः प्रायो बहुलं तव योगमायां जगत्सृष्ट्याद्यनुसंहितस्वरूप माहात्म्यं न विदन्ति कथं इद मित्थ मेवम्भूत मिति न जानन्ति, वयं कुतो हेतो र्बुध्यामहे इति॥ ४४ ॥

अधुना स्वाशयं विज्ञापयति-तत्र इति। यतो युष्मद्भक्तिज्ञानाभ्या मनुग्रह एवं प्रार्थनीयः तत्तस्मात्तस्तथा प्रसीद कथं यथा एक उत्तमपुत्रादिस्नेहलक्षणसङ्गरहित एव सत्यं श्रीनारायण एव सखा येषां ते तथा तै र्युष्मद्भक्तैः सह चरामि वर्तमानो भवामि। किङ्कृत्वा? गृहान्धकूपा निष्क्रम्य निर्गतोभूत्वा, कीदृशोहम्? शान्तः युष्मन्निष्ठा मुक्तः कथ मत्राऽह - निरपेक्षै स्सन्न्यासिभिः विमृग्ययो रन्वेषणीययो र्युष्मत्पदारविन्दयोः धिषणा धी र्यस्य स तथा धिषणा धिष्ण्यं गृहं वा, अस्तु निवासस्थानं, किञ्जीवन मत्राऽऽह - विश्वेति। विश्वस्य पक्षपातित्वेन शरणयो रक्षित्रो रङ्घ्रयोः सेवयोपलब्धा प्राप्ता वृत्तिः जीविका यस्य स तथा॥ ४५ ॥

सत्सेवन मपि युष्मच्छिक्षयैव भाव्य मिति भावेनाऽऽह शाधीति। यस्मिन् शासने श्रद्धया तिष्ठन् स्थिर स्सन् चोदनाया विधिनिषेधलक्षणायाः संसृते र्विमुच्यते॥ ४६ ॥

शाधीति वाक्यं श्रुतवान् कृष्ण स्त्वयाऽधुनेदं कर्तव्यमिति वक्तु मुपक्रमते - आसन्नित्यादिना। प्रथमे मनो रन्तरे ये पुत्रा स्ते कस्मिंश्चित्काले सुतान् शपितुं शिक्षयितु मुद्यतं देवतं वीक्ष्य जहसुः॥ ४७ ॥

अमुना अपहासलक्षणपापकर्मणा निमित्तेनतेन देवलेन आसुरीं योनि मगुः आपुः। कालनेमेः पुत्रत्वेन इति शेषः। ते कालनेमे र्जाताः पुत्रा हिरण्यकशिपो श्शापेन योगमायया देवक्या उदरे नीताः, ततो जाताः। कंसेन विहिंसिता इत्यन्वयः॥ ४८ ॥

सा देवकी, अधुना कुत्र आसते इत्यत आह-त इम इति॥ ४९ ॥

ततः किमत्राऽऽह इत इति॥ ५० ॥

अभिज्ञानार्थं तन्नामानि निर्दिशति - स्मर इत्यादिना मद्गतिं मत्स्थानम्॥ ५१ ॥

अयच्छतां दत्तवन्तौ॥ ५२ ॥

अजिघ्रत् आघ्राणं कृतवती॥ ५३ ॥

सुतानां स्पर्शेन परिस्रुतं क्षरितं स्रुत मित्यर्थः। मायया महिम्ना॥ ५४ ॥

अमृत मिव स्वादु तुसोपमं, तस्या देवक्या स्तनयस्य गदाभृतः कृष्णस्य। कृष्णोगेषष्ठी। नारायण स्याङ्गस्पर्शेन प्रतिलब्धं आत्मदर्शनम् आत्मज्ञानं येषां ते तथा॥ ५५, ५६ ॥

कृष्णस्य सं समीचीनां अबाधितां सुसूचितां, नाऽन्यस्येति कृष्णसंसूचितां मायां महियानम्॥ ५७ ॥

अनेनेन्द्रजालम्, अतिदेशे नोपसंहरति - एवमिति। कृष्णेन संसूचितेयं माया। अन्याऽपि बहवः सन्तीत्यतोऽपोपसंहरति एवमिति॥ ५८ ॥

फलमाह - य इति, अमृतव निर्मलकीर्तेः जगतोऽघं पापं दुःखं वा भिनत्तीति जगदघभित्। भक्तानां सत्प्रशस्तं कर्णपूरं कर्णाभरण तस्य हेः क्षेमधाम मोक्षलक्षणं स्थानं याति॥ ५९ ॥

इति श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
चतुस्सप्ततितमोऽध्यायः॥ ७४ ॥
(अधिकपाठे दशमोऽध्यायः)

# षष्टितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः)

## श्रीरुक्मिणीकृष्णयोः परस्परनर्मोक्तिघट्टः

• श्रीशुक उवाच

कर्हिचित्सुखमासीनं स्वतल्पस्थं जगद्गुरुम्।
पतिं पर्यचरद्भैष्मी व्यजनेन सखीजनैः॥ १ ॥

य[1] स्त्वेत लीलया विश्वं सृजत्यत्त्यवतीश्वरः।
स हि जात स्स्वसेतूनां गोपीथाय यदुध्वजः॥ २ ॥

तस्मिन्नन्तर्गृहे भ्राजन्मुक्तादामविलम्बिना।
विराजिते वितानेन दीपै र्मणिमयैरपि॥ ३ ॥

मल्लिकादामभिः धूपैः[2] द्विरेफकुलनादितैः[3]।
जालरन्ध्रप्रविष्टैश्च गोभि श्चन्द्रमसोऽरुणैः[4]॥ ४ ॥

पारिजातवनामोदवायुनोद्यानशालिना[5]।
धूपै[6] स्सुरुजै राज आलरन्ध्रविनिर्गतैः॥ ५ ॥

---

• विजयध्वजीय व्याख्या सहित ग्रन्थे, सर्गारम्भे एते चत्वारः श्लोकाः व्या ख्या परिदृश्यन्ते राजोवाच - सर्वासां महिषीणान्तु गोविन्दासक्तचेतसाम्। मय्येव प्रेमवा न्विष्णु रिति निश्चितचेतसाम्॥ १ ॥ समः सर्वासु वा कृष्ण एकस्या प्रेमवा नुत। तन्मे त्व शस तच्छ्रोतु रति रस्ति मम प्रभो॥ २ ॥ श्रीशुक उवाच - महिषीणामनु सर्वासां प्रथमा भीष्मनन्दना। प्रेम्वा नधिकं तत्वा मिति प्रख्याति रूर्जिता॥ ३ ॥ कदाचित्प्रेमकलहः केशवेन तया सम्। कृतसङ्कृष्ण कौस्य! कारस्तर्न्येन कथयामि ते॥ ४ ॥ पक्षस्तावली:- प्रेशालक्ष भयनतत्त्वविज्ञानेऽधिकार इति लक्षण कृत्या तत्पाहात्म्यं कथयत्यस्मि चध्याये। तत्र श्रुतभगव न्माहात्म्यो राजा विशेषविचित्सया शुक पृच्छति सर्वासा मिति। किमत्र सक्षयबीज मित्यत उक्त गोविन्देत्यनेन॥ १ ॥ सर्वासु प्रेमवान् मय्येव प्रेमवान् इत्युक्त ममुना॥ २ ॥ एकस्या किमतिप्रतीयते इति प्रश्नवाकाशो नास्तीति भावेन परिहरति महिषीणामिति॥ ३ ॥ कथ प्रस्थाति रिति ता वक्तु मुपक्रमते कदाचित् तत्रारित्रम्॥ ५ ॥

★ अयं श्लोकः विजयध्वजरीत्या पञ्चसप्ततितमेऽध्याये पञ्चमश्लोकः 1 M.Ma य एत०2 B.G.J पुष्पैः, M Ma.W दिव्यैः 3 G.K M W °तैः4 B.G.J °ऽरुणैः5 K.W शौभिना 6--6 K.W °गरुजै० M.Ma °गरुजै० M.V °गरुमी०

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अथ षष्टितमे कृष्णः परिहासेन रुक्मिणीम्। कोपयित्वा ततः प्रेमकलहे ता मसान्त्वयत्॥

रामारामजनानन्द महोदयविडम्बनैः। रुक्मिण्या प्रेमकलहच्छद्म वैकर्य मीर्यते॥

कृष्णस्य सं समीचीनां अबाधितां सुसूचितां,नाऽन्यस्येति कृष्णसंसूचितां मायां महियामम्॥ ५७ ॥

अनेनेन्द्रजालम् ,अतिदेशे नोपसंहरति - एवमिति। कृष्णेन संसूचितेयं माया। अन्याऽपि बहवः सन्तीत्यतोऽपोपसंहरति एवमिति॥ ५८ ॥

फलमाह - य इति, अमृतव निर्मलकीर्तेः जगतोऽघं पापं दुःखं वा भिनत्तीति जगदघभित्। भक्तानां सत्प्रशस्तं कर्णपूरं कर्णाभरणं तस्य हरेः क्षेमधाम मोक्षलक्षणं स्थानं याति॥ ५९ ॥

इति श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
चतुस्सप्ततितमोऽध्यायः॥ ७४ ॥
(अधिकपाठे दशमोऽध्यायः)

# षष्टितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः)

## श्रीरुक्मिणीकृष्णयोः परस्परनर्मोक्तिघट्टः

• श्रीशुक उवाच

कर्हिचित्सुखमासीनं स्वतल्पस्थं जगद्गुरुम्।
पतिं पर्यचरद्भैष्मी व्यजनेन सखीजनैः॥ १ ॥

य[1] स्त्वेत लीलया विश्वं सृजत्यत्त्यवतीश्वरः।
स हि जात स्स्वसेतूनां गोपीथाय यदुध्वजः॥ २ ॥

तस्मिन्नन्तर्गृहे भ्राजन्मुक्तादामबिलम्बिना।
विराजिते वितानेन दीपै र्मणिमयैरपि॥ ३ ॥

मल्लिकादामभिः धूपैः[2] द्विरेफकुलनादितैः[3]।
जालरन्ध्रप्रविष्टैश्च गोभि श्चन्द्रमसोऽरुणैः॥ ४ ॥

पारिजातवनामोदवायुनोद्यानशालिना[4]।
धूपै स्सुरुजै[5] राज जालरन्ध्रविनिर्गतैः[6]॥ ५ ॥

---

• विजयध्वजीय व्याख्या सहित ग्रन्थे, सर्गारम्भे एते चत्वारः श्लोकाः व्या ख्या परिदृश्यन्ते राजोवाच - सर्वासां महिषीणान्तु गोविन्दासक्तचेतसाम्। मध्येव प्रेमवा न्विष्णु रिति निश्चितचेतसाम्॥ १ ॥ समः सर्वासु वा कृष्ण एकस्यां प्रेमवा नुत। तन्मे त्वं शंस तच्छ्रोतुं रति रस्ति मम प्रभो॥ २ ॥ श्रीशुक उवाच - महिषीणान्तु सर्वासां प्रथमा भीष्मनन्दना। प्रेमवा नधिकं तस्या मिति प्रख्याति रूर्जिता॥ ३ ॥ कदाचित्प्रेमकलहः केशवेन तया समम्। कृतस्तच्छ्रणु कौरव्य! कात्स्न्र्येन कथयामि ते॥ ४ ॥ पञ्चत्वानवतौ :- प्रेशावता भगवत्तत्त्वविज्ञानेऽधिकार इति लक्षण कृत्या तन्माहात्म्यं कथयत्यस्मि न्ध्याये। तत्र श्रुतभगव न्माहात्म्यो राजा विशेषविचित्सया शुकं पृच्छति सर्वासा मिति। किमत्र सशयबीज मित्यत उक्त गोविन्देत्यनेन॥ १ ॥ सर्वासु प्रेमवान् मध्येव प्रेमवान् इत्युक्त ममुना॥ २ ॥ एकस्यां किमतिप्रतीयते इति प्रश्नावकाशो नास्तीति भावेन परिहरति महिषीणामिति॥ ३ ॥ कथ प्रख्याति रिति तां वक्तु मुपक्रमते कदाचित् तद्वरितम्॥ ५ ॥

★ अयं श्लोकः विजयध्वजीत्या पञ्चसप्ततितमेऽध्याये पञ्चमश्लोकः 1 M.Ma य एत०2 B.G.J पुष्पैः, M Ma.W दिव्यैः 3 G.K.M.W °तैः4 B.G.J °जमैः5 K W शोभिना 6--6 K.W °गलगै० M.Ma. °गगरै० M.V °गगरमी०

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अथ षष्टितमे कृष्णः परिहासेन रुक्मिणीम्। कोपयित्वा ततः प्रेमकलहे ता मसान्त्वयत्॥

रामारामजनानन्द महोदयविडम्बनैः। रुक्मिण्या प्रेमकलहच्छद्म वैचित्र्य मीर्यते॥

कर्हिचिदिति। स्वतल्पस्थं स्वपर्यङ्कस्थम्॥ १ ॥

वक्ष्यमाणं रुक्मिण्याः श्रियः[1] श्रीकृष्णे परमं[2] प्रेम सम्भावयितुं तस्योक्तमेव तत्त्वमनुस्मारयति-यस्त्विति॥ २ ॥

आदौ तावत् त्रिभिः श्लोकैः मन्दिर मनुवर्णयति- तस्मिन्निति । तच्छब्देनाऽतिप्रसिद्धमाह-प्राजन्ति मुक्तादामानि तेषां विलम्बाः सन्ति यस्मिं स्तेन वितानेन विराजिते। तृतीयान्तानां विराजितपदेनान्वयः॥ ३ ॥

मल्लिकेति। सुगन्धितया द्विरिफकुलै र्नादिते। प्रविशद्भिः चन्द्ररश्मिभिः॥ ४ ॥

पारिजातेति। निर्गच्छद्भिः अगुरुसम्भवै[3] धूपै[4] श्चातिमनोहरत्वं दर्शितम्॥ ५ ॥

---

1 BJ omit श्रियः2 MIV °मग्रे० 3 MIV °गं° 4 MIV °वम्°

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ भगवतो रुक्मिण्या सह प्रेमकलहं वर्णयति षष्टितमेन - कर्हिचिदिति। भैष्मी रुक्मिणी जगद्गुरुं स्वपर्यङ्कस्थं तऽत्रापि सुखं यथा तथा आसीनं सखीजनै स्सहिता व्यजनेन चामरेण पर्यचर दुपचचार॥ १ ॥

एतदेव प्रपञ्चयति-यस्त्वित्यादिना, उपासाञ्चक्रे ईश्वर मित्यन्तेन।तावत् जगद्गुरुत्वं प्रपञ्चयति-यस्त्विति। सृजति स्वाराधनोपयुक्तकरणकलेवरादिप्रदानेन हितं करोति, अत्ति संहरति संसरतां जीवानां प्रलयमुखेन विश्रान्तिरूपहितं करोति, अवति पालयति अनिष्टनिरसनेष्टप्रापणरूपहितं करोतीति भावः। किञ्च स्वसेतूनां स्वकृतधर्ममार्यादानां गोपीथाय रक्षणाय यदुषु जातः। कथम्भूतोऽपि ? अजोऽपि कर्मायत्तोत्पत्तिरहितोऽपि स्वेच्छया यदु ष्ववतीर्ण इत्यर्थः। गुरुत्वं हितैककारित्वम्। एवं जगद्गुरु रिति भावः। य एवंविधः तमीश्वर मुपतस्थे इति यच्छब्दस्य सम्बन्धः॥ २ ॥

अथ स्वतल्पस्थ मित्युक्ततत्पं वर्णयितुं तावत् तृत्तल्पाश्रयु[2] मन्तर्गृहं वर्णयति-तस्मिन्निति त्रिभिः। तच्छब्दः प्रसिद्धिपरः। तृतीयान्तानां विराजित इत्यनेनान्वयः। प्राजन्ति प्राजमानानि[3] मुक्तादामानि तेषां विलम्बो[4] यस्मिन् तेन वितानेन उल्लोचेन, मणिमयैरपि दीपै रित्यर्थः॥ ३ ॥

द्विरिफाणां भ्रमराणां कुलेन समूहेन नादितैः मल्लिकादामभिश्च विराजित इत्यन्वयः। नादिते। इति पाठान्तरम्।तदा सौरभलोभभ्रमद्भ्रमरकुलैः नादिते तत्र हेतुः मल्लिकादामभि र्धूपैश्च विराजित इति। अस्मैः औदयकालिकत्वादिति भावः। जालरन्ध्रद्वारा अन्तःप्रविष्टैः चन्द्रमसो गोभिः किरणैश्च॥ ४ ॥

उद्यानवने शोभते रोचते इति तथा तेन पारिजातवनामोदयुक्तेन वायुना अगरुजै रगरुकाष्ठजैः गवाक्षरन्ध्रविनिर्गतैः, धूपैश्च हे राजन्! ॥ ५ ॥

---

1 K.T.W omit स्व2 K.T.W omit तत्3- -3 B.omits 4 B.T.W °ध्वा

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

स्वस्या रुक्मिण्याः तल्पे तलिमे स्थितम्॥ १ ॥

राजन्! हरिचरित मतिचित्रमिति भावेन तत्स्वरूपलक्षणमाह- य इति ॥ २ ॥

यद्गृह रुक्मिण्यै कृप्त तस्मि न्तन्तगृहि पर्यङ्के दन्तविहितमध्ये कशिपूत्तमे तलिमे मृदुक्लप्तावरणास्तरणे सुखासीन पति मुपतस्थे इत्यन्वयः। मुक्तादाम्ना वितम्बोऽस्यास्तीति मुक्तादामवितम्बि तेन उपरिबद्धचित्रपटेनेत्यर्थः॥ ३ ॥

अरुणै रित्यनेन चन्द्रोदयकालभवा गावो लक्ष्यन्ते ॥ ४ ॥

पारिजातानां मन्दाराणा वनस्य काननस्याऽऽमोदेन युक्तेन वायुना शोभिते। कीदृशेन? उद्यान इव शालिना मनोहरेण पारिजातवनस्य सम्भजनीयस्य सेव्यस्याऽऽमोदस्य सम्बन्धिना वायुना वा आगरवैः अगु[1]रुसपृक्तैः॥ ५ ॥

---

1 B °ग°

पयःफेननिभे शुभ्रे पर्यङ्के कशिपूत्तमे।
उपतस्थे सुखासीनं जगता मीश्वरं पतिम्॥ ६ ॥

वालव्यजन मादाय रत्नदण्डं सखीकरात्।
तेन वीजयती देवी उपासाञ्चक्र ईश्वरम्॥ ७ ॥

सोपाच्युतं क्वणयती मणिनूपुराभ्यां रेजेऽङ्गुलीयवलयव्यजनाग्रहस्ता।
वस्त्रान्तगूढकुचकुङ्कुमशोणहारभासा नितम्बधृतया च परार्ध्यकाञ्च्या॥ ८ ॥

तां [1]रूपिणीं श्रिय मनन्यगतिं निरीक्ष्य या लीलया धृततनो स्तनरूपरूपा।
प्रीतः स्मय न्नलककुण्डलनिष्ककण्ठ चक्रीकृतस्मितसुधां हरि राबभाषे॥ ९ ॥

[2]श्रीभगवानुवाच[-2]

राजपुत्रीप्सिता भूपै र्लोकपालविभूतिभिः।
महानुभावैः श्रीमद्भी रूपौदार्यबलोर्जितैः॥१०॥

---

1 M.Ma.V रुक्मिणीं 2- -2 M V श्रीकृष्णः3 W °च्छ्रितैः

श्रीध० पय इति। पयसः क्षीरस्य फेन इव मृदुनि पर्यङ्के[1-] तत्स्थितकशिपूत्तमे[-1] हंसतूलिकायाम्। उपतस्थे असेवत॥ ६॥

तदेवाऽभिनयति- वालव्यजनमिति॥ ७॥

सेति। उपाच्युतम् अच्युतस्य समीपे सा मणिनूपुराभ्यां रेजे। कथं रेजे[2-]? क्वणयती[-2] मणिमयौ नूपुरौ कूजयन्तीति[3]। तथा। अङ्गुलीयवलयव्यजना न्यग्रहस्ते हस्ताग्रे यस्यास्सा। वस्त्रान्ते[4] गूढौ स्थगितौ कुचौ तयोः कुङ्कुमं तेन शोणो हार स्तस्य भासा, तथा नितम्बे धृतया,पार्ध्या अमूल्या काञ्ची तया च रेजे ॥ ८ ॥

तामिति । तां निरीक्ष्य प्रीतस्सन् स्मयमानो हरिः आबभाषे। कथम्भूताम्? या लीलया धृतनरतनोः[6] तस्यानुरूपरूपा[7] अनुरूपं रूपं यस्यास्सा। यथोक्तं श्रीपराशरेण- "देवत्वे देवदेहेऽयं मनुष्यत्वे च मानुषी। विष्णो र्देहानुरूपां वै करो त्येषाऽऽत्मन स्तनुम्" (वि.पु. 1-9-145) इति। किञ्च, अलकैः कुण्डलाभ्यां निष्केण पदकेनाऽलङ्कृतकण्ठेन च चतुर्दिक्षु शोभिते वक्त्रे उल्लसन्ती स्मितसुधा यस्यास्ताम् ॥ ९ ॥

सर्वगुणयुक्ताया अपि तव बुद्धिः मन्देत्याशयेनाह- राजपुत्री त्वाचेकादशभिः। हे राजपुत्रि! लोकपालानामिव विभूति रैश्वर्यं येषां तै स्तथा महाप्रभावै राढ्यै रूपादिभि रूर्जितैश्च पूर्वमीप्सिताऽसि॥ १० ॥

1- -1 BJ पर्यङ्कस्ये 2- -2 BJ omit 3 BJ omit इति 4 BJ -°न्तेन 5 B omits तथा 6 MI V Omit नर 7 MI V स्वरूपा०

वीर० अथ तत्पं वर्णयति- पयःफेनेति। दुग्धफेनवन्मृदुले धवले च पर्यङ्के यत्कशिपूत्तम मास्तरणश्रेष्ठं तस्मिन् सुखं यथा तथा आसीनं पतिम् उपतस्थे सन्निधिमवापेत्यर्थः॥ ६ ॥

रत्नमेव दण्डस्थानीयं तदाकारं च यस्य तत् वालव्यजनं चामरं सस्याः करात् हस्ता दादाय तेन वालव्यजनेन वीजयती देवी रुक्मिणी उपासाञ्चक्रे तमेव पश्यन्ती अवतस्थे इत्यर्थः॥ ७ ॥

तादात्विकीं ता मनुवर्णयति-सेति। सा रुक्मिणी उपाच्युतम् अच्युतसमीपे मणिमयनूपुराभ्यां क्वणयती ध्वनिमुत्पादयन्ती अङ्गुलीयादयोऽग्रहस्ते हस्ताग्रे यस्यास्सा, वस्त्रान्तेन गूढयोः[1-] स्थगितयोः कुचयोः कुङ्कुमेन शोणो यो हारः मुक्ताहारः तस्य भासा दीप्तया, नितम्बयोः धृतया पार्ध्यया अनर्घया[2-] काञ्च्या च रेजे ॥ ८ ॥

तामिति। तां रुक्मिणीं निरीक्ष्य प्रीतो हरिः स्मयन् ईषद्धसन् आबभाषे उवाचेति सम्बन्धः। कथम्भूताम्? रूपिणीं मनुष्यरूपधारिणीं श्रियं महालक्ष्मीं, न विद्यते अन्यः पतिः प्रत्यवतारं यस्यास्ताम् । अनन्यगतिमिति पाठान्तरम्। तदा न विद्यते अन्या गतिः प्राप्तिः यस्यास्ताम् अनन्यप्राप्यामित्यर्थः। धृततनोः उपात्तमनुष्यरूपस्य हरे र्या अनुरूपा ताम्। अलकैः[3-] कुन्तलैः[-3] कुण्डलाभ्यां निष्केण पदकाख्यभूषणेन अलङ्कृतेन कण्ठेन चतुर्दिक्षु शोभिते वक्त्रे उल्लसन्ती स्मितमेव सुधा यस्यास्तां, यद्वा अलककुण्डलनिष्काणि यथास्थानं कण्ठवक्त्रयोः यस्यास्ताम्। अनेन अनपायिनोः श्रीश्रीपत्योः वक्ष्यमाणो विवादः केवलं नृलोकविडम्बनायेति सूच्यते ॥९ ॥

भाषणमेवाह -राजपुत्रीत्यादिभिः एकादशभिः। तात्पर्यत स्ता मुपचरन्ती मभिनन्दयन्नेव शाब्दवृत्त्या[5] कोपयन्निव कूटवचांसि प्रयुङ्क्ते - हे राजपुत्रि! लोकपालानामिव विभूति रैश्वर्यं येषां, महान्प्रभावो येषां, भोग्यादिसमृद्धिमद्भिः लोकपाल विभूतिभि रित्यस्यैव प्रपञ्चः। श्रीमद्भिः रूपादिभि रुच्चिष्टैः उत्कृष्टैः भूपैः त्व मीप्सिता, रूपं सौन्दर्यम्। औदार्यं बदान्यत्वम्। बलं शत्रुपरिभवसामर्थ्यम्। इत्थं सर्वं वस्तुगत्या आत्मनिष्ठमि त्यभिप्रेतम्। शब्दत स्त्वपरित्याज्यत्वे तात्पर्यम् ॥ १० ॥

---

1- -1 K.T.W. omit 2- -2 B. omits 3- -3 B. omits 4. B. श्रियः प० 5 K श०

विज० पयःफेननिभे जलबुद्बुदवन्मसृणे॥ ६ ॥

किं कर्मेति तत्राह- वालव्यजनमिति॥ ७ ॥

उपाच्युतं अच्युतस्य समीपे उन्नमदवनमतोः पादयो र्मणिनूपुराभ्यां क्वणयती अङ्गुलीयाख्यवलयेन व्यजनेन च युक्तं हस्ताग्रं यस्या स्सा तथा। पृथक्कृते वलये हस्तमूलेति वक्तव्यं न तु हस्ताग्रेति। वस्त्रान्तेन वस्त्राञ्चलेन गूढयोः कुचयोः लिप्तकुङ्कुमचूर्णसम्बन्धेन शोणस्य रक्तस्य हारस्य मुक्तादाम्नो भासा युक्ता उपलक्षणे तृतीया। नितम्बधृतया कटिप्रदेश वेष्टितया पार्श्वकाञ्च्या अनर्घ्यशनया च युक्ता॥ ८ ॥

हरिः नीलनीरदकान्तिः श्रीकृष्णः या लीलया धृततनोः भगवतः अनुरूपरूपा अनुकूलसौन्दर्या अनुगुणवृत्ता वा तां रुक्मिणीं आबभाषे इत्यन्वयः। निष्कं ग्रैवेयकं अलककुण्डलाभ्यां निष्कालङ्कृतकण्ठेन च युक्तवक्त्रे उल्लसत् स्मितमेव सुधा यस्या स्सा तथा ताम्॥ ९ ॥

ईप्सिता प्रार्थिता श्रीमद्भिः श्रीकटाक्षविषयैः, हे राजपुत्रि! ॥ १० ॥

ता न्ग्रामा नर्थिनो हित्वा चैद्यादीन् स्मरदुर्मदान्[1]।
दत्ता भ्रात्रा स्वपित्रा च कस्मा न्नो वृषेऽसमान्[2]॥ ११ ॥

राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रु[3]! समुद्रं शरणं गतान्।
बलवद्भिः कृतद्वेषा न्नाथ स्त्यक्तनृपासनान्॥ १२ ॥

अस्पष्टवर्त्मनां पुंसा मलोकपथ मीयुषाम्।
आस्थिताः पदवीं सुभ्रु[4]! प्रायः सीदन्ति योषितः॥ १३ ॥

निष्किञ्चना वयं शश्व न्निष्किञ्चनजनप्रियाः[5]।
तस्मा त्प्रायेण नऽश्वाढया मा[6] भजन्ति सुमध्यमे॥ १४ ॥

यथो रात्मसमं वित्तं जन्मैश्वर्याकृति र्भवेत्[7]।
तथो र्विवाहो मैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित्॥ १५ ॥

---

1 K.W. भूपान् 2- -2 K.W. कस्मा न वृषे समान; M.Ma कस्माद्देवृषोपमान् 3. B.G.J. °भ्रू 4 B.G.J. °भ्रू 5 M.Ma. नो 6 M.Ma न 7 B.G.J.M.Ma °च

**श्रीध० तानिति।** तान् हित्वा नोऽस्मा नसमान् कस्मा द्वृषे वृतवती त्वम्॥ ११ ॥

**राजभ्य इति।** किञ्च प्रायशो राजभ्यो जरासन्धादिभ्यो बिभ्यतो भयं प्राप्नुवतः॥ १२ ॥

**अस्पष्टेति।** अस्पष्टवर्त्मना मविज्ञाताचाप्राणाम्। अलोकपथं अशास्त्रपारतन्त्र्यं[1-] अशीपारतन्त्र्यं[-1] वा[2]। पदवीं मार्गं आस्थिता अनुसृताः॥ १३॥

किञ्च, **निष्किञ्चना** इति॥ १४॥

**मयोरिति।** आत्मसमं परस्पर मनुरूपम्। जन्मैश्वर्याभ्यां सहिता आकृतिः रूपं जाति र्वा समा[3] ॥ १५॥

---

1- -1 BJ omit 2 BJ omit वा 3 BJ add भव आयतिः

**वीर० तानिति।** तानेवंविधा नर्थिनो याचमानान् प्राप्ता नागतान् स्मरेण कामेन दुष्टो मदो येषां तान् चैद्यादीन् त्वं पित्रा भ्रात्रा च दत्ता सती समाननुरूपान् कस्माद्धेतोः न वृषे न वृतवत्यसि। नो वृषे इति पाठे अर्थिनो हित्वेति पाठ्यम्। तान् हित्वा नोऽस्मान् कस्माद्धेतोः वृतवत्यसीत्यर्थः। अतस्त्वं मन्देति भावः। तत्र हेतुं वदन् आत्मानं विशिनष्टि- असमानिति अननुरूपानित्यर्थः। बहुवचनं कोपापादनार्थम्। अस्मासु त्वदनुरूपः कौऽधुना वा वरणीयोऽस्तीति। "न तत्समश्चाभ्यधिक श्च दृश्यते" (श्वेता उ6-8) इति श्रुत्युक्तविधया सर्वोत्तमं मां कस्माद्धेतोः वृतवत्यसि? तं हेतुं आवयोः लक्ष्मीनारायणयो रनपायित्वरूपं त्वं[1] जानास्येवेति हार्दो भावः ॥ ११ ॥

असमत्वमेव प्रपञ्चयितुं विशिनष्टि-**राजभ्य** इति। हे सुभ्रु! राजभ्यो जरासन्धादिभ्यो बिभ्यतः भीतान् अत एव समुद्र शरणं गृहं प्राप्तान्, समुद्रान्तर्द्वीपे मावासस्थानत्वेनाऽऽश्रिता नित्यर्थः। हार्दभावपक्षे तु अबिभ्यत इति च्छेदः। ममाभीतत्वं त्वदानयनकाले किं त्वया न दृष्ट मिति भावः। समुद्रं शरणं गता नित्यस्यायं भावः- त्वत्पितृक्षीरसागरगतसमुद्रत्व धर्मयोगित्वमात्रप्रयुक्तप्रेमातिशयेन तवणार्णवान्तर्द्वीपे माश्रितानां, किं पुनः साक्षा त्त्वत्पत्तरि बुधार्णवे साक्षा च्चक्षुरे अस्माकं प्रीतिः, किंतरां साक्षा त्त्वयि-इति। बलवद्भिरिति बलशालिभिः जरासन्धादिभिस्सह कृत उत्पादितो द्वेषो यै स्ता निति शाब्दोऽर्थः। पक्षान्तरे तु बलवद्भि रिति निन्दायां मतुप्। "भूमनिन्दा प्रशंसासु"(वार्तिकम् 3183 under अष्टा० 5-2-94) इत्यनुशासनात्। बलं धारणसामर्थ्यम्। तथा च बलवद्भिः निन्दितबलैः इन्द्रिया प्यात्मव्यतया धर्तु मसमर्थैः अजितेन्द्रियै रिति यावत्। कृतः द्वेषो येषु तान् अजितेन्द्रियाणा मेकमातृप्रसूतानामपि त्वद्भ्रातृणां मयि द्वेषः। तव तु जितेन्द्रियायमः अत एव मद्यथात्म्याभिज्ञाया स्त्वयि ममेव मयि प्रीतिः अभ्यधिकैवेति प्रकृतोपचारप्रशंसायां तात्पर्यम्। प्रायः प्रायशः त्यक्त नृपासनं यैस्तान् शापवशात् सिंहासनानर्हवंशप्रभवत्वादिति भावः। पक्षान्तरे तु उभयविभूतिनायकस्य परमेष्ठिनो मम केवलप्राकृतजनाधिष्ठेय नृपासनस्याऽयोग्यत्वादिति भावः। मम भर्ता नारायण श्चे दय मम्भूयमानयोगो नृपासन मधितिष्ठे देवेत्यनारायणत्वसम्भावनानिरासा येद मुक्तम्। नृपासनपरित्यागस्याऽभिनयमात्रत्वा त्तेत्यपि तात्पर्यम्॥ १२ ॥

किञ्च, सत्कुलप्रसूतानां त्वादृशीना मनिर्धारितकुलोत्पथवञ्चकमादृशानुवर्तनं दुःखहेतु रित्याह-अस्पष्टेति। वर्त्म गतिः प्रकारः जातिरिति यावत्। किमयं वसुदेवसुतः क्षत्रियः , उत नन्दात्मजः तृतीयवर्णप्रसूत इत्येव मस्पष्टं संशयविषयं वर्त्म येषां तेषां, अलोकपथं लोकविरुद्धपथं उत्पथमित्यर्थः। ईयुषा मुन्मर्यादाना मित्यर्थः । एवंविधानां मादृशां पुंसां पदवी मास्थिता अनुवृत्ताः स्त्रियः त्वद्विधाः हे सुभ्रु प्रायशः सीदन्ति क्लिश्यन्ति। पक्षान्तरे तु अस्पष्टवर्त्मनां दुर्ज्ञेयस्वरूपस्वभावानामपि अलोकपथम् ईयुषाम् अकर्मवश्याना माचारं चेष्टित मिति यावत्। प्राप्तानां कुर्वताम्पीत्यर्थः । पुंसा मस्माकं पदवीं याथात्म्य मास्थिताः मा मनुवर्तमाना एव स्त्रियः प्रायशः सीदन्ति। "वदृतृ गतौ", गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः विदन्त्येवेत्यर्थः मा मननुवर्तमानास्तु एवं विधाना म प्यस्माकं पदवीं न विदुरेव। अतः मा मनुवर्तमानायाः मद्याथात्म्याभिज्ञाया स्तव मदुपचरणं युक्तमेवेति॥ १३ ॥

किञ्च, लोके कुरूपोऽप्याढ्य एव स्त्रीणा मभिमतः , अहं त्वनाढ्यः न त्वादृश्या वरणीय इत्याह-निष्किञ्चना इति। नास्ति किञ्चन स्वं येषां ते निष्किञ्चनाः निर्धना इति यावत्, पृषोदरादित्वात् साधुः। तर्हि यूयं केषां प्रियाः के च युष्माकं प्रिया इत्यत्राह- निष्किञ्चनेति। मादृशामेव जनानां वयं प्रिया स्ते च प्रिया येषां तथाभूताश्चेत्यर्थः। तथाहि तस्मादेव हेतोः हे सुमध्यमे! नोऽस्मान् प्रायश आढ्याः सम्पन्ना न भजन्ति नानुवर्तन्ते। पक्षान्तरे तु नास्ति किञ्चनाऽनवाप्यं येषां ते निष्किञ्चनाः अवाप्तसमस्तकामा इत्यर्थः। निष्किञ्चनाना मनन्यप्रयोजनाना मेकान्तिजनानां प्रियाः तस्मा दाढ्याः अभिजनादिमदैः आढ्यम्मन्या जनाः न मां भजन्ते, अनन्यार्हशेषत्वानन्यशरण्यत्वानन्यभोग्यत्वरूपाकारत्रयशालिनी त्वं मामेव भजसे इ त्युचितमेवे त्यभिप्रेतम्॥ १४ ॥

किञ्च, "विवाहश्च तथा मैत्री समयोरेव शोभते" इति न्यायेनाऽसमयोः आवयो स्सम्बन्धो न शोभत एवे त्यभिप्रायेणाह- ययोरिति। ऐश्वर्येण सहिता आकृतिः ऐश्वर्याकृतिः , ऐश्वर्यमाकृतिश्चेत्यर्थः । तत्र जन्म कुलम्। आकृति स्सौन्दर्यम्, ययो रात्मसमं परस्परानुरूपं वित्तादिकं भवे दस्ति तयोरेव विवाहो मैत्री च, उत्तमाधमयो रस्मादृशयोस्तु क्वचि त्कदाचिदपि न, नोचित इत्यर्थः । पक्षान्तरे तु वित्तदिभि रसमयोरपि स्वभावतः शेषशेषिणो रावयो स्सम्बन्धोऽनुरूपः, न तु विषमयोः त्वच्चैद्ययोरिति॥ १५ ॥

---

1. K.T.W. omit त्वं 2- -2 B.T.W.अलौकिक 3--3 B.T.W. omit 4. B. °शानामेव 5. K. omits तथाहि ★'पक्षान्तरे तु' इत्यारभ्य 'न मां भजन्ते' इत्यन्तो भागः B प्रकाशे न लभ्यते। 6. T.W.आप्त

**विज०** वरणे गुणानाह-प्राप्तानिति। वाचा दत्ता, देववृषोपमान् देवश्रेष्ठसमानान्॥ ११ ॥

स्ववरणाङ्गीकारे दोषा नाह-राजभ्य इति। अर्थित्वादिगुणोपेतान् नृपा न्हित्वा, राजभ्य इत्यदिदोषयुक्ता नस्मान् कस्मात् प्राप्तेत्यन्वयः॥ १२ ॥

एवंविधपुरुषप्राप्तौ योषितां भयं भवतीत्याह-पुंसामिति। अलोकपथ मीयुषां लोकविलक्षणमार्गवर्तिनां पुंसां पदवी मास्थिताः योषितः प्रायः सीदन्तीत्यन्वयः॥ १३ ॥

अस्मा द्योषाच्च वयं न वरणीया इत्याह-निष्किञ्चना इति। आढ्या राजकुमार्यः॥ १४ ॥

अयं चैको हेतुः लोके विवाहे इत्याह-ययोरिति। ऐश्वर्याकृतिः ऐश्वर्ययुक्ताकारः, भवः सौन्दर्यम्॥ १५॥

वैद भर्येत दविज्ञाय त्वयाऽदीर्घसमीक्षया।
वृता वयं गुणै र्हीना भिक्षुभिः श्लाघिता मुधा[1] ॥ १६ ॥

अथाऽऽत्मनोऽनुरूपं[2-2] वै भजस्व क्षत्रियर्षभम्[3]।
येन त्व माशिषः सत्या इहाऽमुत्र च लप्स्यसे॥ १७ ॥

चैद्यसाल्वजरासन्धदन्तवक्त्रादयो[4] नृपाः।
मम द्विषन्ति[5-5] वामोरु रुक्मी चाऽपि तवाग्रजः॥ १८ ॥

तेषां वीर्यमदान्धानां दृप्तानां स्मयनुत्तये।
आनीताऽसि मया तन्वि तेजोऽपहरताऽसताम्[6-7]॥ १९ ॥

उदासीना वयं नूनं न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः।
आत्मलब्ध्याऽऽस्महे पूर्णा गेहयोर्ज्योतिरक्रियाः[8-8] ॥ २० ॥

---

1 MI.V °दा 2- -2 K. अथात्ममनोऽरूप 3 MIV पुरुषर्ष० 4 B.G.J.M.Ma शा० 5- -5 M.Ma द्विषन्ति मां वरारोहे 6 B.G.J. भद्रे, M.Ma हपत्रा, MIV त्वच 7 K.W तेजसा ह० 8- -8 M Ma नेहात्मसदृशाः क्रियाः

श्रीध० वैदर्भीति। न दीर्घा समीक्षा विचारो यस्या स्तया॥ १६ ॥

अथेति। अथ इदानीमपि॥ १७ ॥

तर्हि किमि त्यानीताऽह मिति चे त्तत्राह-चैद्येति। मम मां द्विषन्ति॥ १८ ॥

तेषामिति। स्मयनुत्तये गर्वापनयनाय॥ १९ ॥

स्त्रीणा मतिदुस्सह मौदासीन्य मकामत्वं चाह-उदासीना इति। गेहयोः देहगेहयोः उदासीना अत एव ज्योतिरक्रियाः ज्योतिः प्रदीपादि तद्वत् साक्षिमात्रतया क्रियारहिता आस्महे वर्तामहे इति॥ २० ॥

वीर० सर्व मेत द्वैषम्य मविचार्यैव त्वया वृता वयमित्याह-वैदर्भीति। हे वैदर्भि ! अदीर्घा अदूरा समीक्षा विचारो यस्या स्तया त्वया एत न्मदुपन्यस्त मनानुरूप्य मविदित्वा वयं वृताः। कथम्भूताः? गुणै र्वरणीयता हेतुभूतैः श्लाघ्यै र्गुणैः रहिताः अत एव भिक्षुभिः मुधा मिथ्या असद्गुणारोपेणेति भावः। श्लाघिताः न त्वाढ्यैः। पश्चान्तरे तु दीर्घसमीक्षयेति च्छेदः। अविज्ञाय अविचार्य जगन्मातुर्मम चैद्यादयः पुत्रस्थानीया इति तद्वतं वितजन्मादिसाम्य मविचार्य इति यावत्, दीर्घा भगवदसाधारणगुणान्वेषणपरा समीक्षा विचारो यस्याः, तया त्वया गुणैः परमात्मासाधारणैः कल्याणगुणै र्हीनाः 'ओहाङ्क्षौ' सङ्कृता इत्यर्थः। अत एव भिक्षुभिः नारदादिभिः मुधा व्यर्थं प्रयोजनान्तरनिरपेक्षं श्लाघिताः वयं वृताः॥ १६॥

किमत इत्यत आह-**अथेति**। अथ अधुनेत्यर्थः। क्षत्रियर्षभं चैद्यान्यतमं भजस्व। तं विशिनष्टि -येन सेव्यमानेन क्षत्रियर्षभेण हेतुना इहाऽमुत्र च लोके सत्याः सती राशिषः कामान् लप्स्यसे[2]। पक्षान्तरे तु क्षत्रियर्षभं क्षत्रियश्रेष्ठत्वेनावतीर्णं मामित्थं भजस्व। इह लीलाविभूतौ अमुत्र नित्यविभूतौ च येन मया सेव्यमानेन सह सत्याः आशिषः कामान् मदनुभवात्मकान् लप्स्यसे इत्यर्थः॥ १७॥

तर्हि मां किमर्थ मानीतवा नसी त्यत आह- **चैद्येति**। हे वामोरु! शोभनोरु! मम द्विषन्ति मां द्विषन्तीत्यर्थः॥ १८॥

ततः किमत आह-**तेषामिति**। वीर्यमदेनान्धानां विवेकशून्यानां गर्वितानां च तेषां चैद्यादीनां च स्मयनुत्तये गर्वापाकरणाय मया त्व मानीता। कथम्भूतेन? असतां खलानां, तेजसामिति कर्मणि षष्ठी, तेजांसि हरता। पक्षान्तरे तु यद्यपि मदनपायिनी त्वं केनाप्युपायेन मामेव प्राप्तवत्यसि, तथापि तेषां स्मयनुत्तये मयाऽऽनीताऽसीति प्रासङ्गिकोक्तिः। युक्तं चैत दित्यभिप्राये णात्मानं विशिनष्टि-असतां तेजांसीति पूर्ववत्। हरता "लक्षणहेत्वोः" (अष्ट. 3-2-126) इति शत्रादेशः, हर्तुम्, अवतीर्णेनिति शेषः॥ १९ ॥

स्त्रीणा मतिदुस्सह मौदासीन्यमकामुकत्वं चात्म न्याह-**उदासीना** इति। गेहयोः उदासीनाः गृहशब्दपर्यायो गेहशब्दोऽप्यत्र कलत्रवेश्मोभयपरः, अत एव द्विवचनान्तनिर्देशः,अत एव न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः दारेषणापुत्रेषणाधनेषणारहिताः[1]। तत्र हेतुः-आत्मलब्ध्या स्वात्मानुभवलाभेनैव पूर्णाः अलम्पटाः ज्योतिषा स्वयंप्रकाशस्वात्मस्वरूपस्फुरणेन हेतुना अक्रियाः[2] निष्क्रियाः[3] प्राकृतचेष्टारहिताः आत्महे[4] गृहे वर्तामहे इत्यर्थः। पक्षान्तरेऽर्थस्तु यथोक्त एव। तात्पर्यन्तु असतां स्मयनुत्तये अवतीर्णस्य मम गृह्यमेधिधर्मानुवर्तनं विडम्बनमात्रम्। अन्यथैवंविधस्य एत न्न घटते इति॥ २० ॥

1. B. adds एव 2. B. adds प्राप्स्यसे 3- -3 T.W.omit 4. B. omits गृहे

**विज०** एतद्गुणागुणसर्वस्वं अदीर्घसमीक्षया अल्पबुद्ध्या, मुधा वृथा॥ १६-१८ ॥

स्मयनुत्तये अहङ्कारनिरासाय असतां दुरात्मनां तेजोहरता अभिमानलक्षणप्रभावप्रणाशं कुर्वता मया नीताऽसीत्यन्वयः॥ १९॥

स्वभावं सूचयति-**उदासीना** इति। उदासीना विषयव्यापारशून्याः खपुष्पा दिव दप्रसिद्धा वा। न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः कलत्रपुत्रधनंतोतुपा न। आत्मलब्ध्या स्वरूपलाभेन पूर्णा अलम्बुद्धयः आत्महे। इह क्रियाश्च आत्मसदृशाः, कर्माणि जीवकर्मतुल्यानि न भवन्ति अतिमानुषाणीत्यर्थः॥ २०॥

**श्रीशुक उवाच**[1]

**एताव दुक्त्वा भगवा नात्मानं बलुभामिव।**
**मन्यमाना मविक्लेषात् तदर्थघ्न उपारमत्॥ २१ ॥**

**इति त्रिलोकाधिपते[2] स्तदात्मनः प्रियस्य देव्यश्रुतपूर्वमप्रियम्।**
**आश्रुत्य भीता हृदि जातवेपथुश्चिन्तां दुरन्तां रुदती जगाम ह॥ २२ ॥**

पदा सुजातेन नखारुणप्रिया भुवं लिखन्त्यश्रुभि रञ्जनाऽऽविलैः[3]।
आसिञ्चती कुङ्कुमरूषितौ[1] स्तनौ तस्था वधोमुख्यतिदुःखरुद्धवाक्॥ २३ ॥

तस्याः सुदुःखभयशोकविनष्टबुद्धे र्हस्ताच्छ्लथद्वलयतो व्यजनं पपात।
देहश्च विह्वबधियः[5-] सहसैव[5-] मुह्यन् रम्भेव[6] वातविहता प्रविकीर्य केशान्॥ २४ ॥

तद्दृष्ट्वा[7] भगवा न्कृष्णः[8] प्रियायाः प्रेमबन्धनम्।
हास्यप्रौढिं मजानन्त्याः करुणः सोऽन्वकम्पत॥ २५ ॥

---

1- -1 M.Ma omit, K.W बादरायणिरुवाच 2 B,G,J,M,Ma °केश 3 B.G.J.M Ma °ऽसितैः; M.I.V °ऽऽकृतैः 4 M I V °त 5- -5 M Ma सहसैव विभ्यत्, M I V सहसा विमुह्यन् 6 B G J वायुवि०, M I V वातनि० 7 M I V त त० 8 B.G.J M Ma.M I V W °न्त्याः

**श्रीध०** एतावदिति। अविश्लेषाद्धेतोः आत्मानमेव वल्लभा मिति, एवार्थे इवशब्दः, आत्मानमेव[1-] वल्लभाम् सर्वासु अहमेव वल्लभा नाऽन्येति मन्यमाना गर्विता इत्यर्थः[1-]॥ २१,२२ ॥

चिन्तालक्षणमाह- पदेति। नखैरुणा श्रीः कान्तिर्यस्य तेन सुजातेन[2-] सुकोमलेन[2-] पदा॥ २३ ॥

तस्या इति। सुदुःख मप्रियश्रवणात्, भय त्यागशङ्कया, शोकोऽनुतापः, तै र्विनष्टा बुद्धिः यस्या स्तस्याः। श्लथन्ति पतन्ति वलयानि यस्मात् हस्तात्। देहश्च पपात। विह्वा विवशा[3] धीः यस्या स्तस्याः॥ २४ ॥

तदिति। हास्यस्य प्रौढिं गाम्भीर्यम्। अन्वकम्पत[4-] दया कृतवान् एतस्या अबलायां परिहास मजानन्त्या किमर्थं मच्चतुरत्व मिति विरामेत्यर्थः[4-]॥ २५ ॥

---

1- -1 B J omit 2- -2 M I V omit 3 B J अ० 4- -4 B J omit

**वीर०** एतावदिति।अविश्लेषात् विश्लेषाभावाद्धेतो रात्मानमेव वल्लभाम् इतरपत्न्यपेक्षया भगवतो निरतिशयप्रीतिविषया मन्यमाना रुक्मिणीं तद्दर्पघ्न इव तस्या दर्प मपनेतुकाम इवेत्यर्थः। एताव दुक्त्वा उपारमत् तूष्णीमास। इवशब्दस्य व्यवहितेनापि दर्पघ्न इत्यनेन सम्बन्धः स्वारस्यात्, दर्पघ्न इवेत्यनेन वस्तुत स्ता मुपचरन्ती मभिनन्दितु मुक्त्वेति सूच्यते॥ २१ ॥

ततः किमासी दित्यत्राह-इतीति। देवी रुक्मिणी आत्मनः[1] स्वस्य प्रियस्य त्रिलोकाधिपतेः तदद्भुतपूर्वं कदाप्यश्रुतम् इति एवंविध मप्रियं वच आकर्ण्य भीता त्यागसम्भावनाभीता अत एव हृदि जातवेपथुः सञ्जातकम्पा रुदती च अपरां चिन्ताम् अवाप, यद्यप्यभिप्रायान्तरेणैव प्रयुक्तानि वचांसि, यद्यपि च साक्षा त्प्रभ्यवतारभूता सापि तदभिप्राय जानात्येव, तथाऽपि किमय रामावतारे इवाऽत्रापि केनापि व्याजेन मां जिहासति, किं वाऽसिनवती नोचं सर्वकोटिसम्भावनामत्रैवैव जातवेपथुः रुदती च चिन्ता मवापेति तात्पर्यम्॥ २२ ॥

चिन्तालक्षणमाह- **पदेति**। नखैः अरुणा श्रीः कान्ति र्यस्य तेन सुकोमलेन पादेन वामपादाङ्गुष्ठेन भुवं लिखन्ती अञ्जनेनाऽऽविलैः व्याप्तै स्रुभि श्चन्दनचर्चितौ स्तनौ सिञ्चती दुःखेन स्रुद्धा वा व्यस्या स्सा अधोमुखी च अवतस्थे॥ २३॥

**तस्या** इति। सुदुःखम् अप्रियश्रवणजन्यं भयं त्यागसम्भावनाजन्यं शोकश्च तै र्विनष्टा स्फुरणरहिता बुद्धि र्यस्या स्तस्याः रुक्मिण्याः श्लथन्ति तात्कालिकदुःखप्रभवकार्श्येन भ्रश्यन्ति वलयानि यस्मात् तस्मा द्धस्ता द्वधजनं पपात, भूमा विति शेषः। तथा विह्वा अधृष्टा धीर्यस्या स्तस्याः, हेतुगर्भ मिदम्। तत्त्वात् तस्याः देहः मुह्यन् मोहं प्राप्नुवन् केशा न्विकीर्य पपात केशपाशविस्रंसनपूर्वकं पपातेत्यर्थः। यथा वातेन चण्डमारुतेन विहता रम्भा कदली पतति तद्वत्॥ २४॥

**तदिति**। स भगवा न्कृष्णः हास्यप्रौढिम् चातुर्यम् अजानत्या इव लक्षितायाः प्रियायाः तत्प्रेमबन्धनं प्रेमपाश मवलोक्य करुणावान् अन्चकम्पत अनुपदमेव भीत इव अकम्पतेत्यर्थः॥ २५ ॥

---

1 BTW स्वस्याः 2 B omits न 3 K.T W omit चातुर्यम् 4 BTW °न्त्याः

**विज०** अविश्लेषात् निरन्तरसाहित्येन स्थिते आत्मानं वल्लभामिव मन्वानां प्रियतमाम्॥ २१ ॥

यदा हरिणा एतादृशं दुःखकरं वचन मुक्त्वोपरतं, तदा देवी आत्मनः प्रियस्य त्रिलोकेशपते स्रुतपूर्व मप्रियं वचन माकुल्य दुरन्तां चिन्तां जगाम। "प्रत्ययारम्भे प्रतिवचनोपक्रमे द्वौ" इति वचनात्। इति वचनोपक्रमभीता, अत एव हृदि जातवेपथुः उत्पन्नकम्पा। तल्लक्षणमाह-रुदतीति॥ २२ ॥

एतदेव विवृणोति-**पदेति**। रक्तनखप्रभया अरुणा श्री र्यस्य स तथा। तेन सुजातेन कोमलेन पदा भुवं लिखन्ती अञ्जनासितैः कृष्णैः अश्रुभिः कुङ्कुमरूषितौ स्तनौ आसिञ्चती अधोमुखी भूत्वा तस्था वित्यन्वयः॥ २३ ॥

सुखदुःखादिभि र्विनष्टा इदं कर्तव्य मित्यपश्यन्ती बुद्धि र्यस्या स्सा तथा। श्लथद्विगलत् वलयो यस्य स तथा तस्मात्। केशा न्प्रविकीर्य देहश्च पपात। कीदृशः? विभ्यत् सञ्चलन् कम्पमान इत्यर्थः। रम्भा कदली॥ २४॥

हास्यं नाम शृङ्गारादिष्वेको रसः, तस्य प्रौढिं समुद्रेकं, करुणः करुणारसं प्राप्तः, अस्य विवरण मन्वकम्पतेति॥ २५॥

---

1. B.omits सुजातेन 2 B °न्ती

**पर्यङ्का दवरुह्याऽऽशु ता मुत्थाप्य चतुर्भुजः।**
**केशा न्समूह्य तद्वक्त्रं प्रामृज त्स्वपाणिना॥ २६ ॥**

**प्रमृज्याऽश्रुकले नेत्रे स्तनौ चोपहतौ शुचा।**
**आश्लिष्य बाहुना राज न्ननन्यविषयां सतीम्॥ २७ ॥**

सान्त्वयामास सान्त्वज्ञः कृपया कृपणां प्रभुः।
हास्यप्रौढै[2] र्भ्रमच्चित्तामतदर्हां सतां गतिः॥ २८ ॥

श्रीभगवानुवाच[3-3]

मा मा वैद र्भ्यसूयेथा जाने त्वां मत्परायणाम्।
त्वद्वचः श्रोतुकामेन क्ष्वेल्या[4]ऽऽचरित मङ्गने॥ २९ ॥

मुखं च प्रेमसंरम्भस्फुरिताधर मीक्षितुम्।
कटाक्षेपारुणापाङ्गं[5] सुन्दरभ्रुकुटीतटम्[6]॥ ३० ॥

---

1 BGJ °मु० 2 BGJ °दिप्र० 3- -3 KW omit, MI श्रीकृष्णः, V श्रीकृष्ण उवाच 4 M.Ma °लाऽऽ० 5 B M.Ma °णा० 6 M Ma °ङ्ग

**श्रीध०** पर्यङ्कादिति। चतुर्भुज इति उत्थापनाऽऽश्लेषणवक्त्रपरिमार्जनार्थं माविष्कृतचतुर्भुज इत्यर्थः। समूल्य[1] निबध्य॥ २६॥

प्रमृज्येति। अश्रुकले[2] अश्रुभिः कले[3] शोभिते। शुचा शोकाश्रुभिः॥ २७॥

सान्त्वयामासेति। सान्त्वयामास अनुनीतवान्॥ २८ ॥

मेति। मा माम्। त्वद्वचः किं नु वदिष्यसीति श्रोतुकामेन श्रोतुमिच्छता क्ष्वेल्या नर्मणा एव माचरित मुक्तं, नतु तत्त्वतः। हे अङ्गने। हे सुन्दरि। ॥ २९ ॥

मुखश्रेति। प्रेमसंरम्भेण प्रणयकोपेन स्फुरितः कम्पितोऽधरो यस्मिंस्तत्। कटशब्देन कटाक्षाः तै राक्षेपैः अरुणा वपाङ्गौ यस्मिं स्तत्। अत एव सुन्दरं कुटिलं भ्रुकुटीतटं यस्मिं स्तत्॥ ३० ॥

---

1 BJ °मु० 2 MI V omit अश्रुकले 3 B J omit कले

**वीर०** चतुर्भुजः उत्थापनाऽऽश्लेषणवक्त्रपरिमार्जनार्थम् आविष्कृतचतुर्भुज इत्यर्थः। केशान् समूल्य[1] निबध्य यद्यतुल्येन पाणिना वक्त्रं प्रामृजत्॥ २६ ॥

किञ्च प्रमृज्येति। अश्रूणां कलाः बिन्दवो ययो स्ते नेत्रे तथा शुचा शोकाश्रुणा उपहते स्तनौ[2] च परिमृज्य, हे राजन्। बाहुना आलिङ्ग्य सान्त्वज्ञः सतां गतिः प्राप्यः श्रेयःप्राप्त्युपायभूतो वा विभु र्भगवान् हास्यप्रौढै[3]ः भ्रम च्चित्तं यस्या स्ताम्, अतदर्हाम्[4] इत्य मपहसितु मनर्हां, तत्र हेतु रन्यविषयां न विद्यते अन्यः [illegible] विषयः ज्ञानविषयो यस्या स्तां दीनां सतीं रुक्मिणीं सान्त्वयामास॥ २७,२८ ॥

सान्त्वनप्रकार मेवाह-मा मेति। हे वैदर्भि! मां माऽसूयेथाः मत्त्व मसूयां मा कृथा इत्यर्थः। त्वाम् अहमेव परायणं परमप्राप्यं यस्याः तथाभूतां जाने, तर्हि किमर्थ मित्थ[5] मुक्त मित्यत आह- त्वद्वच इति। तव वचः श्रोतुमिच्छता किन्तु वदिष्यति तत् शृणोमीत्येवं कामयमानेन मया, हे अङ्गने! क्ष्वेल्या नर्मणा एव माचरितं कृत मुक्त मिति यावत्॥ २९॥

किञ्च, मुखत्रेति। प्रेमसंरम्भेण प्रणयकोपेन स्फुरितः कम्पितोऽधरो यस्मिन्। कटशब्दोऽत्र अपाङ्गसामीप्या द्गण्डस्थलपरः, कट्योः गण्डस्थलयोः अधिकरणयोः आक्षेपाः कोपावेशेन चञ्चलनेत्राघाता स्तै रुणावपाङ्गौ नेत्रान्तौ यस्मिन् तत्, सुन्दरं कुटिलं भ्रुकुटीतटं यस्मिन् तत्, तव मुखवीक्षितुं द्रष्टु माचरित मिति पूर्वेण सम्बन्धः॥ ३० ॥

---

1. B. °भु० 2. B. adds प्रमृज्य 3. B. °दधा 4. B °व 5. K. omits इत्थम्

विज० चतुर्भुजः कृष्णः द्वाभ्यां भुजाभ्यां उत्थाप्य द्वाभ्यां केशा न्समूह्य[1] एकीकृत्य बद्ध्वा वक्त्रं प्रामृजत् इति द्योतनाय चतुर्भुज इति प्रत्युक्तम्॥ २६ ॥

अश्रूणां कला ययो स्ते तथा। शुचोपहतौ कृशौ स्तनौ च, अनन्यविषयाम् अन्यस्पर्शनायोग्याम्॥ २७ ॥

अतदर्हां प्रेमगर्भविषादवचनायोग्याम्॥ २८ ॥

मा मां प्रति माऽसूयेथाः गुणे दोषदर्शनं न कुरु। तस्या तव वचः श्रोतुकामेन मया क्ष्वेल्या नर्मलक्षणलीलया आचरितं कृतम्॥ २९ ॥

प्रेमसहितसंरम्भेण स्फुरिताधरं कम्पमानाधरोष्ठं कटाक्षेण तिर्यक्दर्शनिनाऽरुणापाङ्गेन स्वतनेत्रप्रान्तेन सुन्दर भ्रुकुटीतटम्॥ ३०॥

---

1. B. °भु०

अयं हि परमो लाभो गृहेषु गृहमेधिनाम्।
य न्नर्मै र्नीयते यामः प्रियया भीरु भामिनि॥ ३१ ॥

श्रीशुक[2] उवाच[2]

सैवं भगवता राजन् वैदर्भी परिसान्त्विता।
ज्ञात्वा तत्परिहासोक्तिं[3] प्रियत्यागभयं जहौ॥ ३२ ॥

बभाष[4] ऋषभं पुंसाम् ईक्षती[5] भगवन्मुखम्।
सव्रीडहासरुचिरस्निग्धापाङ्गेन भारत॥ ३३ ॥

## [6]सविमण्युवाच[6]

[7]न न्वेत देव [7]मरविन्दविलोचनाऽहं [8]यद्वै भवा [9]न्न भवत स्स्पृशो [10]विमूम्नः।
[11]क्व स्वे महिम्न्यभिरतो भगवांस्त्र्यधीशः क्वाऽहं गुणप्रकृति रज्ञगृहीतपादा॥ ३४ ॥

सत्यं भयादिव गुणेभ्य उरुक्रमान्तः शेते समुद्र उपलम्भनमात्र आत्मा।
[12]नित्यं कदिन्द्रियगुणैः कृतविग्रह स्त्वं [13]त्वत्सेवकै [14]र्नृपपदं [15]विधुतं तमोऽन्धम्॥ ३५ ॥

---

1 M Ma माधिणि 2- -2 K.M Ma.W omit 3 M Ma ता परि 4 M.Ma.W °चे 5 B.G J.M I V वीक्षन्ती 6- -6 K.W वैदर्भ्युवाच 7- -7 B G J M I V नन्वेवमेतदर० 8 B G M Ma M I V °नाऽऽह 9- -9 B G J M Ma °न् भगवतोऽस० 10 M Ma °शो 11 M.Ma °त्न्य 12- -12 M.Ma यो नित्य के० 13 B G.J.M I V गणैः 14 M Ma त्वत्सेक्या नृ० 15 B पदे

श्रीध० ननु कलहे तव[1] किं कौतुकं सुख वाऽत आह-अयं हीति। नर्मै र्नर्मभिः। यामः कालः॥ ३१,३२॥

बभाष इति। भगवत स्तस्य ऐश्वर्ययुक्तं मुखं सव्रीडेन हासेन रुचिरेण स्निग्धेन च अपाङ्गेन वीक्षमाणा॥ ३३॥

★"असमत्वं भयं दुर्गाश्रयणं प्रबलैः कलिः। अराजत्व मविज्ञात्वालौकिकेहावसादनम्॥निष्किञ्चनत्वं तत्प्रीति राढ्यानादरणीयता। अनौचित्यं निर्गुणत्वं बृथाश्लाघा च भिक्षुभिः॥ औदासीन्य मकामत्वं स्वदोषो न्मोऽशाऽसतः। अज्ञत्वादीर्घदर्शित्वे भैष्म्या राज्ञां बहू न्गुणान्। कृष्णनर्मोदितान् भैष्मी न्यषेध त्तद्गुणस्तवैः॥" भगवतः स्वनिन्दापराणीव यानि वाक्यानि[4] तानि सर्वोत्कर्षपरतया व्याचक्षाणा प्रतिभाषते स्म। तत्र यदुक्तं - "कस्मा त्तो वबृषेऽसमान्"(भाग.10-60-11) इति तत्राऽसाम्यं सत्यमेवेत्याह-नन्वेवमिति।हे अरविन्दविलोचन! त्र्यधीशः त्रयाणां ब्रह्मादीनाम त्र्यधीशो नियन्ता त्वं क्व। क्व चाऽहं गुणप्रकृति स्त्रिगुणस्वभावा प्राकृतगुणमयी प्रकृतिर्वा। ननु त्वमेवाऽधीश्वरी श्रीः सर्वै रुपास्यत्वा दिति चे दत आह-अज्ञैः सकामैः गृहीतौ पादौ अङ्घ्री यस्या स्सा॥ ३४ ॥

यदुक्तं "राजभ्यो बिभ्यतः सुप्तु[9]! समुद्रं शरणं गतान्" (भाग.10-60-12) इति तत्राह- सत्यमिति। हे उरुक्रम! इति भयाभावं दर्शयति-गुणाः शब्दादय एव राजन्त इति राजान स्तेभ्यो भयादिवेति। अन्तर्हृदये समुद्रे तद्वदगाधे विषयाकारै रपरिच्छिन्ने इत्यर्थः। शेते निश्चलतया प्रकाशते। उपलम्भनमात्र श्चैतन्यघन आत्मा भवा निति। "बलवद्भिः कृतद्वेषान्" (भाग.10-60-12) इति यदुक्तं तदपि सत्य मित्याह- नित्यमिति। कदिन्द्रियगणैः। वृत्त्यभिप्रायेण बहुवचनम्। कुत्सित इन्द्रियगणो येषामिति वा। तै स्त्वं नित्यं कृतविग्रहः, तेषु तवाऽप्रतीतेः। यदुक्तं 'त्यक्तनृपासनान्' इति, तदपि युक्तमेवेत्याह-त्वत्सेवकैरिति। नृपाणां पद मासन मन्धं गाढं तम एव तत्। अविवेकबहुत्वात्। त्वत्सेवकैरेव त त्त्यक्तं किं पुन र्वक्तव्यं त्वया त्यक्तमिति॥ ३५ ॥

---

1 B J omit तव ★ इमे श्रीधरीयाः श्लोकाः 2 B J °ज्ञाता 3 B J °ता 4 B J वचनानि 5 B.J. omit वचनानि 6 B J °ता गु० 7- -7 M.I V °दित्यत 8 B J omit अङ्घ्री 9 B J °भ्रू 10 M.I V omit अपि 11 M.I V- omit तेन्

**वीर०** ननु कलहे किं कौतुकं सुखं वा, अत आह -**अयं हीति**। कोऽसौ? हे भीरु! हे भामिनि! कोपिनि! प्रियया सह नर्मैः प्रणयकलहैः यामो नीयत इति यत् एष परमो लाभ इत्यर्थः। सुखमेवेति भावः। यामग्रहणं घटिकाद्युपलक्षणम्॥ ३१॥

**सैवमिति**। त द्भगवदुक्तं परिहासार्थोक्तिरूपमेव ज्ञात्वा प्रियकर्तृकत्यागसम्भावनाप्रयुक्तं भयं तत्याज॥ ३२ ॥

किञ्च- **बभाष** इति। हे भारत! सप्रीडहासेन रुचिरेण स्निग्धेनाऽपाङ्गेन भगवतो मुखं वीक्षमाणा तं पुंसा मृषभं पुरुशोत्तम मावभाषे उवाच॥ ३३ ॥

भाषणमेवाह- **नन्विति** पञ्चदशभिः। तत्र ताव द्यदुक्तं "कस्मा न्नो ववृषेऽसमान्" (भाग.10-60-11) इति त दनुभाष्य प्रतिभाषते- नन्विति। ननु हे अरविन्दलोचन! तिष्ठतु ताव दसाम्यं गुणान्तरैः, लोचनसौन्दर्येणैव त्वं स्वतुल्यरहित इति तत्साम्बोधनाभिप्रायः। अहं भवतः असदृशी असमानेति यद्भवानुवाचे त्यनुवादः, यद्य प्यसमानिति भगवदुक्त्या भवत्या अह मसम इति प्रतीयते, एवं च मम भवा नसम इति य दित्येव मेवाऽनुवादितव्यम्। तथापि भगवदभिप्रायक्रोडीकारोणानूदितम्। अनुवादमुखेनापि मया सह भवा नसम इति वक्तु मनुचित मित्यभिप्रायेण च, यद्भवा नुवाच त त्तात्त्विक मेवेति वाक्यशेषः। तदे वोपपादयति- भूम्नः स्वरूपस्वभावाभ्याम् अपरिच्छिन्नस्य, हेतुगर्भ मिदम्। क्वेत्यादि-भगवान् षाड्गुण्यपूर्णः त्र्यधीश स्त्रिलोकनायकः स्वे महिम्नि स्वासाधारणायां नित्यविभूता वभिरत स्त्वं क्व? गुणप्रकृतिः त्वद्गुणानुवर्तिस्वभावा त्वच्छन्दानुवर्तिनी त्वत्परतन्त्रेति यावत्। ननु त्वमपि स्वतन्त्रा ब्रह्मादिभि रुपास्यमाना तदभिमतफलप्रदा चे त्यत आत्मानं विशिनष्टि-अङ्गगृहीतपादेति। अङ्गैः मम त्वत्पारतन्त्र्यमजानद्भिः गृहीतौ उपासितौ पादौ यस्या स्साऽहं क्व? अभिज्ञा स्तु न मां स्वतन्त्रा मुपासते। किन्तु मां त्वत्परतन्त्रां पुरुषकारमात्रं कृत्वा मद्विशिष्टं त्वामे वोपासते इति भावः॥ ३४॥

यदुक्तं "राजभ्यो बिभ्यत स्सुभ्रु समुद्रं शरणं गतान्" (भाग० 10-60-12) इति, तत्र प्रतिभाषते **सत्यमिति**। हे उरुक्रम! उरवः विपुला स्त्रिलोकीसङ्ग्राहकाः क्रमाः पादविन्यासाः यस्य तथाभूत! पादक्रमैरेव त्रिलोकीं सङ्गृह्णतस्तव कथं राजभ्यो भयमिति तदभिप्रायः। भयादिवेति भगवदुक्त्यनुवादः, राजभ्यो भयात् समुद्रं शरणं गत इत्येतत्सत्यमेवेत्यर्थः। वस्तुतो भयाभावसूचकेनेवशब्देन राजभ्यो बिभ्यत इति त्वदुक्ता बबिभ्यत इति च्छेदो यावदभिमत इति सूच्यते। तर्हि कुत श्शरणं गत इत्यत्राह-गुणेभ्य इति। मत्पितृदुग्धाब्धिगतसमुद्रत्यागाधत्वादिधर्मेभ्यः, समुद्रत्वादिधर्मयोगा त्लवणार्णवं शरणं गत इत्यर्थः। तदपि किमर्थ मित्यत आह-उपलम्भनमात्रे इति। सप्तम्यन्तमिदम्। उपलम्भनमात्रे प्रदर्शनमात्रं निमित्ते मयि प्रीत्यतिशयप्रदर्शनार्थं शरणं गत इत्यर्थः। मात्रशब्देन न तु स्वपरित्राणाद्यर्थमिति सूच्यते। अन्त श्शेते समुद्र इति दृष्टान्तार्थम्। अन्त रित्यव्ययं मध्ये वर्तते। यथोपलम्भनमात्रे निमित्ते भवा नन्तस्समुद्रे क्षीराब्धिमध्ये शेते, तद्व त्लवणार्णवं शरणं गत इत्यर्थः। युक्तं चैतदि त्यभिप्रायेण विशिनष्टि-आत्मेति। ममेति शेषः। आत्मा निरतिशयप्रीतिविषयः, यो यस्य प्रियतमः, स तस्यापि तथा, तथा चोक्तं भगवता- "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थं महं, स च मम प्रियः" (भ.गी. 7-17) "ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्" (भ.गी 7-18) इति च। एवञ्च त्वत्प्रियतमाया मम प्रियतमत्वा न्नतसम्बन्धिगुणाश्रये तव प्रीति रुचितैवेति भावः। "बलवद्भिः कृतद्वेषान्" (भाग० 10-60-12) इत्यत्र प्रतिभाषते-नित्यं कदिन्द्रियगुणैः कृतविग्रह स्त्वमिति। कच्छब्देन बलवद्भि रित्यत्र मतुप् निन्दार्थकत्वेन व्याख्यातः। कदिन्द्रियाणां गुणा विषयाः शब्दादयो येषां तैः कुत्सिता

नीन्द्रियाणि गुणाः तद्विषयाः शब्दादयश्च येषा तै रिति वा, त्व नित्य कृतो विग्रहः यस्य सः कृतद्वेषः कृता प्रीति रिति यावत्। "प्राय स्त्यक्तनृपासनान्" (भाग 10-60-12) इत्यत्र प्रतिभाषते-त्वत्सेवकैरिति। नृपाणा पद मासनम् अन्ध गाढ तम एव। तमश्शब्दोऽत्र नरकपर्याय स्तद्धेतुपरः, नरकावहमित्यर्थः। हेतुगर्भमिदम्। तत्त्वात् नृपपद त्वत्सेवकैरेव विभुत तुच्छीकृत्य त्यक्तम्, किं पुन स्त्वयोभयविभूतिनायकेन त्यक्त मिति॥ ३५ ॥

---

1 B °कामणाद्यु° 2 KTW omit ननु 3 B °°की 4 -4 KTW omit

विज्ञ० कामिव ज्जनविडम्बन मयाऽकारी त्याशयेनाह- अयमिति। प्रियया सह नर्मैः स्नेहगर्भपरिहासवचनै र्यामः कालावयवो नीयत इति य दयमेव गृहस्थाना गृहेषु परमो लाभो हीत्यन्वयः॥ ३१ ॥

द्विविध वाक्य - इष्टसाधनावबोधकमेक, एक दुःखपरिहारात्मक, तत्र पश्चादुक्त दुःखविनाशकमिति भावेनाह- सैवमिति॥ ३२॥

पूर्वोक्त मभीष्टसाधनावबोधकत्वे नोपादेयमिति सूचयितुमाह-बभाष इति॥ ३३॥

देववृषोपमान् नृपान् हित्वा अस्मान् कस्मा द्भृतवती त्यत्राह-नन्विति। यद्वा, इह जीवराशौ आत्मसदृशा न सन्ति अस्माक क्रियाश्च ने त्यस्योत्तरमाह-नन्विति। वा इत्यय कृष्णोक्तवाक्यार्थारम्भे वर्तते। नन्वि त्यनुमतार्थे, भवान् यदाह समो नास्तीति एत देव ननु अनुमत, कथ तत्राह- नेति। विभूम्नः देशतः कालतो गुणतश्च अपरिच्छिन्नस्य व्याप्तस्य भवतः सदृशोऽन्यो नास्ति, किन्तु भवानेव। रामरावणयोः युद्ध मितिवत् मत्सदृशी त्वमसीति नेत्याह-क्वेति। भगवा नैश्वर्यादिगुणसामग्रीसमुद्रो भवान् क्व? राजादिव दन्याधीनत्व किं न स्यादिति तत्राह स्व इति। अनेन स्वार्था क्रिया नास्ती त्युक्त भवति। सत्त्वादिगुणप्रवर्तकत्वेन प्रकृतिशब्दवाच्याऽह क्व? तर्हि त्रिलोक्या कश्चि न्मत्समः स्यादि त्यतो नेति भावेनाह त्र्यधीश इति। त्रयाणा लोकाना त्रयाणा वेदाना त्रयाणा गुणाना वा। ईश इत्यनेन इन्द्रादिनिरासोऽमूदित्येत लोकपालविभूतिभि रित्यस्योत्तरम् ब्रह्माद्यन्यतमोऽपि नेति भावेनाह-अन्येति। अन्यैः ब्रह्मादिभिः। अनेन महानुभावै रित्यस्योत्तर, क्वाह मित्यमुना श्रीमद्भि रित्यादेः॥ ३४ ॥

"राजभ्यो बिभ्यत सुभ्रु!" (भाग 10-60-12) इति यदुक्तं तदर्थाङ्गीकारेण परिहरति-सत्यमिति। हे उरुक्रम! बाल्यादे रभिमानिजनशिरोरत्नराजिराजितमहापादन्यास! समुद्रेऽन्त शशेते इति सत्यम्। किन्तु राजभ्यो बिभ्यत इति असत्यम्। तर्हि तद्वचर्थ मुक्त, नेत्याह भयादिति। राजृ-दीप्ताविति धातोः कार्ये प्रकाशमानेभ्यः स्वशक्तितोतकेभ्यः सत्त्वादिगुणेभ्यो भयादिव, सज्जनशिक्षार्थं इवशब्दः। ससारावृत्तिहेतुभ्यो गुणेभ्यो बिभ्यज्जनः समुद्रिकतसुखार्थी समुद्रादिजलवासेन यथा तपस्यति तथाऽहमिति। यद्वा पञ्चभूतमुद्रासहितत्वात् समुद्रे शरीरेऽन्तर्हृदि शेते य तत्सत्यं तत् दीप्यद् शब्दादिगुणेभ्यो भयादिव अङ्गुष्ठमात्रः "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः" (म०ना० 16-5) इति श्रुतेः। शरीरान्तःस्थस्य जीवा दविशेषा जननादिकमपि स्यादिति

तत्राह-उक्तमनमात्र इति। केवलचिन्मयः, अतो न देहधर्मा अस्य स्युरिति भावः। एकत्र स्थितयोः जीवेशयोः विशेषः कथ मत्राह-आत्मेति। आत्मा तथाविधस्वभावः किंनामधेयो भवा नित्यतो वाऽऽह आत्मेति। आत्मा सुखमेवाऽऽददाति नाण्वपि दुःख मित्यात्मा। जीवस्तु शरीर मादाय शरीरान्तराणि निर्मिमीते इति तच्छब्दवाच्यः। "बलवद्भिः कृतद्वेषान्" (भाग. 10-60-12) इत्यस्य तात्पर्यं वक्ति य इति। यः अनित्ये केन्द्रियगुणैः कृतविग्रहः स त्वं तादृङ्माहात्म्यः "बलवा निन्द्रियग्रामः" (भार .1.APP. 114. 51A-2pr) इति स्मृतेः। बलवन्ति परिवर्तनवन्ति नानायोनि ष्वित्यतो नित्यानीन्द्रियाणि इत्युच्यन्ते। नियन्तु मशक्यत्वा द्बलवन्तीति भवत्प्रसादा दितरेषां इन्द्रियजयो भवतस्तु स्वत इति। "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः" (कठ.उ 4-1) इति श्रुतेः। 'प्राय स्त्यक्तनृपासना नित्यत्राह-त्वत्सेवयेति। तव सेवा यस्याः साऽहं त्वत्सेवा तया त्वत्सेवया मया नृपासनं नृपपदं नृपशब्दवाच्यमात्रं, न तु नॄन् पान्तीति नृपालनरक्षणार्थोपेतम्। अन्धं तमः प्रतिविधुतं तत्त्यजनं कृतमित्यर्थः। तस्मा द्भवानेव नृपशब्दमुख्यार्थत्वा तत्त्वज्ञैः सर्वै स्त्यक्तं दत्तं नृपासनं यस्मै स त्यक्तनृपासनः। शिशुपालादय एव त्यक्त मुन्मितं नृपासनं यै स्ते तथा त्वत्सेवया हेतुना वा ते त्यक्ताः॥ ३५॥

---

1- -1 Ma नेति तत्राह

त्वत्पादपद्म मकरन्दजुषां मुनीनां वर्त्माऽस्फुटं[1] नृपशुभि र्ननु दुर्विभाव्यम्।
यस्मा दलौकिक मिवेहित मीश्वरस्य[2] भूम्न स्तवेहित[3] मथो अनु[4] ये भवन्तम्॥ ३६ ॥

निष्किञ्चनो ननु भवा न्न यतोऽस्ति किञ्चि द्यस्मै बलिं बलिभुजोऽपि हरन्त्यजाद्याः।
न त्वा[5] विद न्त्यसुतृपोऽन्तक माक्रमतान्धाः[6] प्रेष्ठो[7] भवान् बलिभुजा मपि तेऽपि[8] तुभ्यम्[9]॥ ३७ ॥

त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मा यद्वाञ्छया सुमतयो विसृजन्ति कृत्स्नम्।
तेषां[10] विभो समुचितो भवत स्समाजः पुंसः स्त्रियाश्च[11] रतयोः सुखदुःखिनो र्न॥ ३८ ॥

त्वं न्यस्तदण्डमुनिभि र्गदितानुभाव आत्माऽऽत्मदश्च जगता मिति मे वृतोऽसि।
हित्वा[12] भवद्भुव उदीरितकालवेगध्वस्ताशिषोऽब्जभवनाकपती न्कुतोऽन्ये[13]॥ ३९ ॥

जाड्यं[14] वच स्तव गदाग्रज यस्तु[15] भूपा न्विद्राव्य शार्ङ्गनिनदेन जहर्थ मां त्वम्।
सिंहो यथा स्वबलि मीश[16] पशू[17] न्स्वभागं तेभ्यो भया द्य दुधिं शरणं प्रपन्नः॥ ४० ॥

---

1. M.Ma वर्त्म० 2. M.V. °मपी० 3 B.G.J M.Ma भूमं० 4- -4 M.Ma अनु मे भवन्ति; M.V. °ऽनुमये भवन्तम् 5. B. त्वां 6. M.Ma °न्ति० 7 M.Ma प्रेक्षस्ततं 8- -8 M.Ma योऽन्तरास्से 9 M.Ma °दि० 10 M.Ma °तः प्रसादस्त्वयांश्च यत्च० 11- -11 M.Ma मुक्त्वा भवद्भवदु० 12 M.Ma मत्त 13. M.Ma °ऽन्यान् 14. M.Ma सत्यं 15 M.Ma M.V. यश्च 16 M.Ma °मह्यु 17 M.Ma °शुं स्व०

श्रीध० "अस्पष्टवर्त्मनां पुंसा मलोकपथ मीयुषाम्" (भाग 10-60-13) इति यदुक्तं तदपि सर्वेश्वराह- त्वत्पादेति। नृपशुभि नराकारैः पशुभिः। किं पुन र्वक्तव्यं तव वर्त्माऽस्फुटमिति। किञ्च, यस्या वे भवन्तः मनुवर्त्तन्ते तेषा मपीहित मलौकिकमिव। अथो अतः किमु वक्तव्यं तवेश्वर स्येहित मलौकिक मित्यर्थः। "आस्थिताः पदवीं सुप्त प्रायः सीदन्ति योषितः" (भाग. 10-60-13) इत्यस्य परिहारं वक्ष्यति-यद्वाञ्छया-इति पञ्चमश्लोकेन॥ ३६ ॥

"निष्किञ्चना वयं शश्व निष्किञ्चनजनप्रियाः। तस्मा त्प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ति सुमध्यमे" (भाग. 10-60-14) इत्येतत्तच्छ्लोकोक्तं दोषत्रयं परिहरति -निष्किञ्चन इति। दरिद्रतालक्षणं निष्किञ्चनत्वं तु तव न घटत इत्याह-यस्मा इति। अन्यतो बलिभुजः पूज्या अपि ब्रह्मादयो यस्मै भवते बलिं हरन्ति तस्य सर्वेश्वरस्य भवतो दरिद्रता न घटत इत्यर्थः। 'निष्किञ्चनजनप्रियाः' इत्यत्र तत्पुरुषेण बहुव्रीहिणा वा निन्दा स्यादिति स्वयम प्युभयथा स्तौति-श्रेष्ठो भवानिति। बलिभुजां ब्रह्मादीनां लोकेश्वराणां त्वं श्रेष्ठ स्तेऽपि तुभ्यं तवेति। "तस्मा त्प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ति" (भाग 10-60-14) इति तस्योत्तरं न त्वा विदन्तीति। आढ्यतयाऽन्धाः त्वा त्वामन्तकं न विन्दन्ति । अत स्ते असुतृपः असूनेव तर्पयन्ति, न त्वां भजन्तीत्यर्थः॥ ३७ ॥

बलिभुजामपि भवा न्श्रेष्ठ इत्यत्र हेतुं वदन्ती 'ययो रात्मसमं वित्तम्' (भाग 10-60-15) इत्यनेनोक्त मनौचित्यं परिहरति-त्वं वै इति। परमात्मा परमानन्दस्वरूपः- "एतस्यैवानन्दस्याऽन्यानि भूतानि मात्रा मुपजीवन्ति" (बृह.उ.4-3-32) इति श्रुतेः। समाजः सेव्यसेवकभावलक्षणसम्बन्धो, न तु पुंसः स्त्रियाश्च मिथो रतयोः। अत एव तत्कृतसुखदुःखिनोः, तदाकुलयोरित्यर्थः॥ ३८ ॥

"भिक्षुभिः श्लाघिता मुधा" (भाग 10-60-16) इत्यस्य परिहारः-त्वमिति। भिक्षुपदव्याख्यानं न्यस्तदण्डै र्मुनिभिरिति। मुधेत्यस्य परिहारः-आत्मेति। यदर्थं सर्वं प्रियं भवति तस्य जगता मात्मन स्तव वरणं न वृथेत्यर्थः। किञ्च अत्मद इति। "वैदर्भ्ये तदविज्ञाय त्वयाऽदीर्घसमीक्षया" (भाग 10-60-16) इति स्वस्मि न्नुक्तं दोषद्वयं परिहरति-इतीति। इति ज्ञात्वैव मे मया वृतोऽसीत्यज्ञानपरिहारः, हित्वे त्यदीर्घसमीक्षा त्वपरिहारः। भवतो भुवः सकाशा द्बुद्धीरितो यः काल स्ततोस्य वेग स्तेन ध्वस्ता आशिषो येषां ता न्ब्रह्मादीनपि विहाय। कुतोऽन्ये वराका इत्यर्थः॥ ३९ ॥

स्वाज्ञनं परिहृत्य पुरुषान्तरगुणवर्णनप्रदीप्तकोपसंरम्भेण तस्मि न्नेवाज्ञान मापादयति - जाल्पमिति। सिंहो यथा पशू न्निद्राव्य स्वबलिं हरति तथा शार्ङ्गधनुर्निनदेनैव जरासन्धादी न्निद्राव्य मां स्वभागं श्रियं य स्त्वं हृतवा नसि तस्य तव राजभ्यो भया दुदधिं प्रपन्न इति य द्वचो भाषणं त ज्जाल्यं मान्धं न घटत इत्यर्थः॥ ४० ॥

---

1 MIV °भेव 2 MIV omit अर्थः3 B.J सुप्तः 4 B.J श्लोके 5 B.J add एतत् 6 MIV अ० 7 B त्वां 8 MIV add इति 9 B.J omit स्व 10 B.J omit भाव 11 B.J °र्थं 12 B.J °क्षापरि० 13- -13 MIV इति भावः

वीर० अस्पष्टवर्त्मना मित्यत्र प्रतिभाषते-त्वत्पादेति। तव पाद पद्मयोर्योगसम्बन्धः अनुभवसाम्यम्ः तं सेवमानानां मुनीनामेव तव वर्त्म याथात्म्यम् अस्फुटम्। किं पुन रितरेषा मिति भावः। तदेवाह-नृपशुभि रिति। ननु हे भगवन्!

नृपशुभिः नर एव पशुव स्तैः पशुतुल्यै र्नृभिः पशुव जिह्वोपस्थसुखमात्राभिश्चैः नृभि रित्यर्थः। दुर्विभाव्यं दुःखेनापि विभावयितुं चिन्तयितुम् अशक्यम् इति। अलोकपथ मीयुषा मित्यत्र प्रतिभाषते-यस्मादिति। यस्मात् ये त्वा मनुवर्तन्ते तेषा मपीहितं चेष्टितं अलौकिकमेव। अथो अतः किमु वक्तव्यं भूम न्स्तवेश्वरस्य ईहित मलौकिममिति अर्थः॥ ३६ ॥

"आस्थिताः पदवीम्"(भाग.10-60-13) इत्यादौ प्रतिभाषयते 'यद्वाञ्छया' इत्यष्टमेन। तावत्, निष्किञ्चनाः, इत्यत्र प्रतिभाषते- निष्किञ्चन इति। ननु हे विभो! त्वं निष्किञ्चिन इति सत्यमेव, कुतः? यतः किञ्चिद प्यनवाप्यं नास्ति यस्य, तथाभूत स्त्वं निष्किञ्चन इत्यर्थः। दरिद्रतालक्षणनिष्किञ्चनत्वं तु तव न घटत इत्याह-यस्मात् इति। बलिभुजः बलिं पूजां भुञ्जते इति तथा। अन्येभ्यः पुजार्हा अपि ब्रह्मादयो यस्मै तुभ्यं बलिं पूजां हर न्त्यर्पयन्ति कुर्वन्तीत्यर्थः। तस्य सर्वेश्वरस्य भवतः दरिद्रता न घटते इत्यर्थः। निष्किञ्चनजनप्रिया इत्यस्योत्तरं प्रेष्ठो भवानित्यादि। निष्किञ्चनजनप्रिया इत्यत्र बहुव्रीहितत्पुरुषान्यतरत् उभावपि वा, सर्वदा चेदश एव भवा नित्याह- प्रेष्ठ इति। बलिभुजां पूजार्हाणां नारदादीनाम् अकिञ्चनानाम् अनन्यप्रयोजनानां प्रेष्ठो भवान्, तथा तेऽपि बलिभुजोऽपि तुभ्यं तव प्रेष्ठाः। तस्मात् प्रायेण इत्यस्योत्तरमाह नत्वेति। आढ्यतया अभिजनादिभिराढ्यत्वाभिमानेनान्धाः विवेकशून्याः, अन्तकं अन्तं करोतीत्यन्तकः तथाविधं त्वा त्वां न विदन्ति न भजन्ते, असुतृपः असू निन्द्रियाण्येव तर्पयन्तीति तथा अन्तकमित्यस्य कालरूपेणाऽऽयुर्हरन्त मित्याशयः॥ ३७॥

प्रेष्ठः इत्यत्र हेतुं वदन्ती "ययो रात्मसमं वित्तम्" (भाग. 10-60-15) इत्यादिनोक्तम् अनौचित्यं परिहरति-त्वं वै इति। समस्तपुरुषार्थस्वरूपः फलात्मा अभीप्सितफलरूपः आत्मा च। यद्वा, अभीष्टतपःफलरूपः सर्वेषा मिष्टतमं हि फलं सुखं, त्वं तु निरवधिकानन्दरूपः। चतुर्विधपुरुषार्थनिर्वाहकत्वस्वरूपस्य निरतिशयानन्दरूपस्य च तव सुखलेशसाधनभूतवित्तादिमद्भिः साम्यं दूरापास्त मेवेति भावः। तर्हि निस्समत्वादेव मम त्वया असमया सह विवाहोऽनुचित एव जात इत्यत आह-यद्वाञ्छयेति। यस्मिन् त्वद्दास्ये वाञ्छया कृत्स्नं त्वद्दास्यव्यतिरिक्तं सर्वं विसृजन्ति त्यजन्ति नेच्छन्तीति यावत्। अत एव ते जनाः सुमतय स्तेषां तव च समाजः सङ्गति रुचित एव, न हि तारतम्येऽपि स्वभावतः शेषशेषिणो स्समन्धो नोचितः। अतः त्वद्दास्यमात्राकाङ्क्षिण्याः मम तव य सम्बन्धः सूचित एवेति भावः। ममाऽन्येन तु सम्बन्धोऽनुचित इत्यभिप्रेत्याह-पुंस इति। रतयो मिथोरतयो रत एव तत्कृतसुखदुःखिनोः पुंसः स्त्रियाश्च समाजो नोचित इत्यर्थः। यः केवलमैथुन्यतत्प्रयुक्त सुखदुःखानुभवार्थ स्समाजः स तु नोचितः। य स्त्वावयो श्शेषशेषिलक्षण स्समाजः स उचित एवेति भावः॥ ३८ ॥

"भिक्षुभिः श्लाघिता मुधा" (भाग. 10-60-16) इत्य स्योत्तरमाह- त्वमिति। भिक्षुपदव्याख्यानं न्यस्तदण्डैरिति, भिक्षुभिः सर्वभूतसुहृ त्त्वां प्रार्थयमानैः न्यस्तदण्डै रित्यस्यापि अयमेवार्थः। गदितः श्लाघितः प्रभावो यस्य तथाभूतः, तत्र हेतुं वदन्ती मुधे त्यस्योत्तरमाह-आत्मेति। त्रिजगता मात्मा आत्मदः आत्मपर्यन्तप्रदः। "य आत्मदा बलदा" (ऋक्.सं. 10-121-2) इति श्रुतेः। आत्मत्वा दात्मपर्यन्तवदान्यत्वाच्च गदित इत्यर्थः। आत्मद इत्यनेन मुक्तप्राप्यत्वं विवक्षितम्। न ह्यात्मनः प्राप्यस्य च स्लाघा प्रयोजनान्तरापेक्षा, किन्तु स्वसत्तालाभार्था प्राप्यप्राप्त्यर्था चेति। मुधेवेति सत्यमुक्त मित्यर्थः। आत्मन श्लाघासिद्धि विलक्षणतया स्तुतौ हि शरीरसत्तासिद्धिः, अथ "वैदर्भ्ये तदविज्ञाय त्वयाऽदीर्घसमीक्षया" (भाग० 10-60-16) इत्य स्योत्तरमाह- इतीति। इतीत्थम्भूतं मन्त्रं, ज्ञात्वेति शेषः। अम्बभवनाकमतीन् ब्रह्मेन्द्रादीन् भवतो भुव स्सकाशादुदीरितो यः कलत्र स्तस्य कोन भस्ता आदिशो येषां तथाभूतान् हित्वा विहाय एवंविधत्वा न्मम तेषां पुत्रस्थानीयत्वाच्च

तद्गतवित्तादिप्रयुक्त साम्य मविचार्येति भावः। एव हित्वे त्यनेन अविचारेति व्याख्यातम्। ये मया त्वं कृतोऽसि, अन्ज्योन्यादय एवाविचार्याः कुतोऽन्ये चैवादयो विचार्याः स्यु रित्यर्थः॥ ३९ ॥

पुन स्सिंहावलोकितन्यायेन "राजम्यो बिभ्यतः" (भाग.10-60-12) इत्य स्योत्तरं वक्तु मात्मानयनदृष्टान्तेन निर्भयत्वं स्थापयन्ती स्पष्ट मबिभ्यत इत्येव प्रयोक्तव्ये संशयापादकेन ' राजम्योऽ बिभ्यतः' इति पूर्वरूपात्मक सन्धिना प्रयुक्तं वचः शृण्वतां जाड्यावह मित्याह-जाड्यमिति। हे गदाग्रज! य स्त्वं शार्ङ्गिनिदेन शत्रून् भूमन् विद्राव्य पलाय्य मां जहर्थ हृतवानसि, तस्येदं वचो जाड्यं शृण्वतां सन्धिविशेष मजानतां त्वयि भयसम्भावनात्मका ज्ञानरूपजाड्यावह मित्यर्थः, हरणे दृष्टान्तः- यथा सिंहः पशून् महिषादीन् विद्राव्य स्वभागं हरति, तद्वदिति। किन्तद्वचो यजाड्यं तदाह-तेभ्य इत्यादि। तेभ्यः शत्रुभूतेभ्यो भया दुदधिं समुद्रं शरणं प्रपन्न इति यत् तत्॥ ४० ॥

---

1 B adds वर्त्म 2 B.TW omit इति 3 K.TW omit तव 4 K.TW omit भवतः 5- -5 TW omit 6 B त्वामिति। 7 K. omits अन्तक 8 K.TW omit इति 9 B omits तथा 10 K.TW प्रेष्ठम् 11 K.TW °चुक्तम् 12 TW omit त्व 13 K.TW omit असमया 14 TW भगवन्त 15 BTW पलायपित्वा 16 BTW °के ज्ञान

विज० अस्पष्टवर्त्मनाम् इत्यस्यार्थमाह-त्वत्पादेति। तव पादपद्मकरन्दसेविनां मुनीनां वर्त्म स्वरूपं स्फुटं स्पष्टं तथापि त्वदुक्तं सत्यं नृपशुभि रज्ञानिभि र्दुर्विभाव्यं दुर्ज्ञेयं तस्मात्, अस्पष्ट मित्युच्यते, यद्वा मुनीनां वर्त्म नृपशुभिः स्फुटं दुर्विभाव्यं, किमु तव वर्त्मेति। अलोकपथ मीयुषा मित्यस्या प्ययमर्थ इत्याह-यस्मादिति। हे भूमन्! ईश्वरस्य तवेहित मलौकिकमिव यस्मात् अथो तस्मात् तवेहित मनु अनुकूलानि मम ईहितानि भवन्ति, अलौकिकानीति शेषः। तवेहित मनु क्रियमाणानि ममेहिता न्यलौकिकानि यस्मा त्तस्मात् किमु तवेहित मलौकिक मिति वा॥ ३६ ॥

'निष्किञ्चना वयमिति' इदं निबोधयतः किञ्चि त्किञ्चिन्मात्रं नास्ति किन्तु सर्वमेवास्ति अतो भवान् निष्किञ्चन इत्युच्यते न त्वनाढ्यत्वं निष्किञ्चनत्वम् इत्याह- यस्मा इति। सर्वप्राणिदत्तबलिभुजो प्यजाद्या यस्मै बलिं हरन्ति स भवा निष्किञ्चन इति विदुषां परिषदि, न शोभत इति शेषः। तस्मात् प्रायेण नो हृद्याढ्या न भजन्ती त्यत्राऽ वधारयामहे न त्वेति आढ्यतान्धाः ऐश्वर्यमदान्धाः त्वा त्वां न विदन्ति न जानन्ति न लभन्ते चेत्यन्वयः। दूरस्थत्वा न्न विदन्तीति नेत्याह-अन्तिकमिति। "नेदिष्ठ मन्तिकतम"(अम.को.3-69)इत्यमरः। अत्र हेतुः असुतृप इति स्वेन्द्रियपोषणपरत्वात्। अन्तिकस्थत्वं स्पष्टयति बलिभुजामिति। य स्त्वं बलिभुजां ब्रह्मादीनाम प्यन्त रास्से तिष्ठसि किमुतेतरेषां, नियन्तृत्वेनेति शेषः। अत्र प्रमाणमाह प्रेष्ठ इति। सतां प्रियतमः। "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थं महं स च मम प्रियः" (भ० गी० 7-17) इत्यतो ज्ञानिदर्शनं प्रमाणम्। "कस्मै देवाय हविषा विधेम" (श्वेता० उ० 4-13) "इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिर" इत्यादि श्रुतिः॥ ३७ ॥

"ययो रात्म(रेव) समं वित्तम्" (भाग० 10-60-15) इत्याद्युक्त मनुवदति- त्वं वै इति। वैशब्दो हेत्वर्थः। त्वं फलात्मा सुखात्मा परमानन्दस्वरूपो वै यस्मात् तस्मात् समस्तपुरुषार्थमयोऽसि इत्यर्थः। मयट्प्रत्ययः प्राचुर्यार्थः। सर्वस्मा त्प्राधान्यस्वरूपः समस्तपुरुषै रर्थ्यमानस्वरूप इत्यर्थः। ये सुकृतिनः सम्यग्ज्ञानिनो वयं तव बालकया अनुग्रहेच्छया कृतस्नं पुत्र मित्रवित्तादिसर्वं विसृजन्ति मुञ्चन्ति त्यक्तसर्वेषणा इत्यर्थः। अनेन प्रकृतो विज्ञापित मेवाह- तेषामिति। हे

बिभो! तेषां सुमतीनां भवतश्च प्रसादः पूर्णसुखलक्षणो गुणः समुदितः सम्यगुक्तः। समानो वा नास्तीत्यस्य कोऽभिप्रायः इत्यत उक्तं यश्चेति। चोऽप्यर्थे, यश्च कोऽपि नास्तीत्यर्थः। ननु युवयोः कोऽपि गुणः समो नास्ति कि, मत्राह-त्रय्यां चेति। त्रय्यां चशब्दात् स्मृतिष्वपि च तयोः युवयोः यश्च कोऽपि गुणोऽस्ति स क इत्यतो रतयो रित्यनेन सूचितः "अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इति वेदोक्तकर्मकर्तृत्वेन सुमतीनां त्रयीरतत्वं भवतो वेदप्रतिपाद्यत्वेन च इति, एवमाकारेण समत्वम्। ननु जीवस्य चेतनत्वेन ज्ञानानन्दादिगुणोऽस्त्येव, अतः कथं समो गुणो नास्तीत्यत्राहसुखदुःखिनो रिति। सुखदुःखिनोः युवयोर्मध्ये केवलपरिपूर्णसुखो भवान्, ते सुमतयो भवज्ज्ञानपर्यन्तं दुःखिन इति। ननु पश्चात् समगुणत्व मापन्नं, "यो वानन्दा द्विमुक्तः ज्ञानानन्दी भवति" इति श्रुतेः, इतीयमाशङ्का "अल्पसम्पूर्णशक्तित्वा दल्पपूर्णसुखत्वतः" इति स्मृतिवचनेन परिहरणीया। यद्वा ये सुमतयः कृत्स्नं विसृजन्ति तेषां भवतः पुंसां भवदीयपुरुषाणां य स्त्वं फलात्मा परमानन्दमोक्षरूपः समुदितः सम्य गुक्तः। त्रय्यां त्रिवेदविहितमार्गे वर्तमानयोः सुखदुःखिनोः धर्माधर्मानुष्ठानेन तत्तत्फलभुजो विहितप्रतिषिद्धकर्त्रो र्य स्त्वं फलत्मा न समुदितः स त्वं मे वृतोऽसीत्यन्वयः॥ ३८ ॥

'भिक्षुभिः श्लाघिता मुधे'त्यस्योत्तरं शृणु- त्वमिति। न्यस्तो वाङ्मनःकायलक्षणो दण्डो यैस्ते न्यस्तदण्डाः तै र्मुनिभिः वाचंयमैः निर्जितेन्द्रियग्रामैः यतिभि रित्यर्थः। गदितानुभावः स्पष्टीकृतप्रभावस्त्वम्, अदीर्घसमीक्षयेति यदुक्तं तत्राह-आत्मेति। जगता मात्मा स्वामी भजता मात्मदः सायुज्यमुक्तिप्रदश्चेति दीर्घसमीक्षया निश्चित्य मे मया त्व मभिहितः वृतोऽसि। "हि र्हेतावववधारणे" (वैज.को. 8-7-9) इति यादवः। भवतः भव जायमान मुदीरणं प्रेरणं यस्य स भवद्भवदुदीरितः स चाऽसौ कालः भवद्भवदुदीरितकालः तस्य गन्धेन ध्वस्ताशिषः निरस्तसम्पदः, अद्भ्यो जातोऽब्जः ब्रह्मा "सोऽब्ध्य एव पुरुषं समुद्धृत्याऽमूर्छयत्" इति श्रुतेः। भवो रुद्रः नाकपति रिन्द्रः, एता न्युक्त्वा अन्यां श्चैचादीन् मुक्त्वेति कुतः किमु वक्तव्य मित्यर्थः। एषा मदीर्घसमीक्षया वृतोऽसीत्यर्थः॥ ३९ ॥

"राजभ्यो बिभ्यतः" (भाग. 10-60-12) इत्येतत् प्रकारान्तरेणाऽऽक्षिपति- सत्यमिति। हे गदाग्रज! चशब्द एवार्थे। य स्त्वमेव शार्ङ्गिनिदनेन भूपा न्निद्राव्य मां जहर्थ हृतवानसि। कथमिव? यथा सिंहः स्वभागं पशुलक्षणं स्वबलिं स्वस्य भरणे योग्यं हरति तथा तेभ्यो राजभ्यो भयात् य दुदधिं शरणं प्रपन्न इति य त्तत् तव वचः सत्यं साधुभावं त्यजतीति अस्मद्वचामोहनार्थ मुक्त मिति भावः॥ ४० ॥

**यद्वाञ्छया नृपशिखामणयोऽङ्ग वैन्यजायन्तनाहुषगयादय ऐकपत्यम्।**
**राज्यं विसृज्य विविशु र्वनमम्बुजाक्ष सीदन्ति तेऽनुपदवीं त इहाऽऽस्थिताः किम्॥ ४१॥**

**काऽन्यं श्रयेत तव पादसरोजगन्ध माघ्राय सन्मुखरितं जनताऽपवर्गम्।**
**लक्ष्म्यालयं त्वविगणय्य गुणालयस्य मर्त्यं सदोरुभय मर्थविविक्तदृष्टिः॥ ४२ ॥**

**तं त्वाऽनुरूप मभजं जगता मधीश मात्मान मत्र च परत्र च काम्पूरम्।**
**स्या न्मे तवाङ्घ्रि ररणं सृतिभि र्भ्रमन्त्या यो वै भजन्त मुपयात्यनृतापवर्गः॥ ४३ ॥**

**तस्याः स्यु रच्युत नृपा भवतोपदिष्टाः स्त्रीणां गृहेषु खरगोश्वबिडालभृत्याः।**
**यत्कर्णमूल मरिकर्शन नोपयाया द्युष्मत्कथा मृडविरिञ्चिसभासु गीता॥ ४४ ॥**

त्वक्चर्मश्रुरोमनखकेशपिनद्ध मन्तर्मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम् ।
जीवच्छवं भजति कान्तमति र्विमूढा या ते पदाब्जमकरन्द मजिघ्रती स्त्री ॥ ४५ ॥

1 M Ma °दा० 2 M.Ma ना० 3 M Ma कास्त्री 4 K श्रयीत, M.Ma.w वृणीत 5 M.Ma °याद्वम् 6 B.G.J M Ma मर्त्या० 7 M, Ma °ऽशोरु 8 K विवेक 9 M Ma रूपम्, W पूर्णम् 10 M.Ma शरण 11 M Ma शु० 12 M.Ma °त्या 13 M.Ma ये; w या 14- -14 M.Ma °न्ति उत यान्त्य० 15 M Ma °गम्० 16 M Ma क० 17 B.G.J र्षण 18 M I V हर 19 B.G.J.M Ma °च्च 20 w °ताः 21- -21 M.Ma °दभरितान्नवीतम् 22 M.Ma काम 23 M I V सा

**श्रीध०** यच्चान्यत् 'अस्पष्टवर्त्मनाम्' इत्यादिना, अर्था त्त्वां भजन्तः सीदन्ती त्यवसादनं श्रमावहत्व मुक्तं तदपि मन्द मेवेत्याह- **यद्वाञ्छयेति**। यस्य तव भजनवाञ्छया नृपोत्तमाः- अङ्गो वेनस्य पिता, वैन्यः पृथुः जायन्तो भरतः, नाहुषो ययातिः, गयश्चाऽऽदिः येषा ते। य एते तव अनुपदर्वी मार्गम् आस्थिताः आश्रिता स्ते किं सीदन्ति, न सीदन्त्येव। अपि तु त्वत्पदं प्राप्ता इत्यर्थः। एवं च कोपावेशेनाऽवसादनस्य परिहारादस्पष्ट वर्त्मना मित्येत दानन्तर्यं विहायाग्रोत्कर्षः॥ ४१॥

यच्चोक्तं "अथाऽऽत्मनोऽनुरूपम्" (भाग.10-60-17) इति तत्राह- **काऽन्यमिति** श्लोकद्वयेन। गुणाना मात्यस्य तव पादसरोजगन्धं जनताया अपवर्गं मोक्षरूपं लक्ष्म्या आलयं सत्सेव्यं सद्भि र्मुखरितं वर्णित माघ्राय त मविगणय्य मर्त्यं मरणधर्मकं सदा उरुभयं यस्य त मन्यं का स्त्री श्रयेत सेवेत। अर्थे विविक्ता दृष्टिर्यस्याः सा। गुणालयस्येत्यनेन गुणै र्हीना इति यदुक्तं त दपास्तम्॥ ४२ ॥

अत स्त्वामेवाऽभज मित्याह-**तंत्वेति**। किञ्च प्रार्थयते- स्यादिति। अरणं शरणम्। सृतिभि र्देवतिर्यगादिभि र्जन्मभिः। श्रुतिभिरिति पाठान्तरे त्वर्थवादबहुलकर्मश्रवणै रित्यर्थः। कथम्भूतस्य तव? य स्त्व मनृतस्य संसारस्याऽपवर्गो नाशो यस्मात् सः भजन्त मुपयाति आत्मसात्करोति तस्य तवाङ्घ्रिरिति। भीतस्य हि शरणमेवाऽनुरूपं भजनयोग्यं, अतः त्वाम् अह मभज मित्यर्थः॥ ४३॥

ये चोक्ता राज्ञां बहवो गुणाः "राजपुत्रीप्सिता भूपै र्लोकपालविभूतिभिः" (भाग.10-60-10) इत्यादिना, तत्र सेर्ष्यं सशापं साङ्गुलिभङ्गं चाह द्वाभ्याम्- **तस्याः स्युरिति**। खरा इव केवलं भारवाहाः, गावो बलीवर्दा इव नित्यं व्यापारक्लिष्टाः, श्वान इवाऽवमताः बिडाला इव कृपणा हिंस्राश्च, भृत्या इव किङ्करा नृपाः, तस्या दुर्भगायाः पतयः स्युः, यस्याः कर्णपथं त्वत्कथा न प्राप्नुयादिति॥ ४४ ॥

**त्वगिति**। तथाहि-ते पदाब्जमकरन्द मजिघ्रती सती या स्त्री विमूढा सा कान्तोऽय मिति मतिः यस्या स्सा कान्तमतिः जीवच्छवं भजति। त्वगादिभि र्बहिः पिनद्धं छन्नम् अन्त र्मांसास्थिय मिति॥ ४५ ॥

1 M I omits ये 2 V omits एते 3 B.J omit अनु 4 B.J omit आस्थिताः5 J.omits इति 6 B.J मर्त्या 7 B.J धर्मिका 8 M I V °दिज० 9- -9 B.J omit 10 M I V add त्वा 11 M I V omit अहम्

**वीर०** "आस्थिताः पदवीं सुभ्रु प्राय स्सीदन्ति योषितः" (भाग.10-60-13) इत्य स्योत्तरमाह- **यद्वाञ्छयेति।** यस्मिन् त्वद्दास्ये वाञ्छया ये अङ्गादयो नृपोत्तमाः ऐकपत्यं, ततो मत्वर्यीयोऽच्, तद्राज्यं त्यक्त्वा वनं विविशुः, तत्राऽङ्गो वेनस्य पिता, वैन्यः पृथुः, जायन्तो[1] भरतः, नाहुषो ययातिः ते नृपशिखामणयो हे अम्बुजाक्ष[2]! तव पदवीम् आस्थिताः इह सीदन्ति किम्? क्लिश्यन्ति किम्, अपि त्विह पदवीं याथातथ्यं सीदन्ति उपासिषते। उपासिषुः उपासनादशायामपि त्वदनुभवात्मकं सुखम् अनुबभुवुः, इह लोके आस्थिताः अवस्थिताः किं? किं तु त्वत्साधर्म्यम् अवापुरि त्यावृत्त्याऽन्वयः॥ ४१॥

"अथाऽऽत्मनोऽनुरूपम्" (भाग.10-60-17) इत्य स्योत्तरमाह-**काऽन्यमिति** श्लोकद्वयेन। गुणानां कल्याणानामाश्रयस्य तव पादसरोजयोः गन्धं, कथम्भूतम्? जनताया जनसमूहस्यापवर्गं निरतिशयफलरूपं लक्ष्म्याः ममाऽऽलयम् आश्रयं सेव्यमिति यावत्, सद्भिः मुखरित माघ्रातम् अविगणय्याऽनादृत्य मर्त्यं मरणशीलं सदा उरु भयं यस्य सः, तमन्यं पुरुषं का वा स्त्री अर्थीवेकदृष्टिः स्वहिताहितविभागपरिशीलनपरा चे दाश्रयेत? गुणाश्रयस्येत्यनेन गुणैर्हीना इत्येत त्पूर्वोक्तविधया व्याख्येय मित्यभिप्रेतम्॥ ४२॥

अत स्त्वामेवाऽहमभजमित्याह- **तमिति।** त मुक्तविधं किञ्चाऽनुरूपं शेषित्वादिति भावः। एवंविधं त्वा त्वामेव अभजम्, किञ्चि त्प्रार्थयते-स्यादिति। सुतिभिः गतिभि र्जन्म भिरिति यावत्। "राघवत्वेऽभव त्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि, देवत्वे देवदेहेयं मनुष्यत्वे[3] च मानुषी"(वि.पु.1-9-144.145) इत्युक्तावतारविशेषै रित्यर्थः। भ्रमन्त्याश्चरन्त्याः त्वत्सहचारिण्या मम तवाङ्घ्रिरेव अरणं शरणं गृह्याश्रय इति यावत्, स्यात्। कथम्भूतस्य? योऽनृतस्य पापस्य तन्मूलसंसारस्य वा अपवर्गोऽवसानं यस्मा त्तथाभूतः भजन्त मुपयाति अनुभजते, तस्य तवेति सम्बन्धः॥ ४३॥

ये राज्ञां गुणाः "राजपुत्रीप्सिता भूपैः (भाग.10-60-10) इत्यादिनोक्ता स्तत्र सेर्ष्यं सशापं साकुलिभङ्गं चाह द्वाभ्यां-**तस्या स्स्युरिति।** हे अच्युत! ये नृपाः स्त्रीणां गृहेषु स्त्रीप्रधानकेषु गृहेषु खरा इव केवलं भारवाहाः, गावो बलीवर्दा इव नित्यं व्यापारक्लिष्टाः श्वान इव अवमताः गृहपालनार्थं द्वारस्थाश्च, बिडाला इव कृपणाः पदा ताड्यमाना अपि पुनःपुनः अनुवर्तमानाश्च भृत्या आज्ञाधारकाश्च ते तस्या दुर्भगायाः पतय स्स्युः, तामेव विशिनष्टि- यदित्यादिना। हे अरिकर्शन! शत्रुहन्! त्वं यस्याः कर्णमूलं कर्णपथं नोपयायाः नोपगतवान्, तथा मृडविरिञ्चादिभिः सभायां तेषां सभायां वा गीता स्तव कथाश्च नोपाययुः, या त्वां त्वत्कथाश्च कदाऽपि न श्रुतवती, तस्याः पतय स्स्यु रिति सम्बन्धः॥ ४४॥

तथा हीत्याह- **त्वगिति।** या स्त्री तव पदाब्जमकरन्दम् अजिघ्रती नाघ्रातवती कदाप्यश्रुतत्वत्कथा अत एव विमूढा अत एव कान्तः प्रियतमोऽयं ममेति मति र्यस्या स्सा बहिः त्वगादिभिः पिनद्धं छन्नं मन्त मांसादयो यस्मिन् तत्, जीवदपि[5] शवतुल्यं कलेबरं यस्य तं पुरुषाधमं भजते, विट् मलम्, त्वगादयः प्रसिद्धाः॥ ४५॥

---

1. K.T.W omit किम्? 2- -2 K.T.W omit 3. K omits शरणं 4. K.T.W. omit अयं 5- -5 K.T.W. जीवित

**विज०** "प्रायः सीदन्ति योषितः" (भाग.10-60-13) इत्यत्र वक्ति - **यद्वाञ्छयेति।** नृपशिखामणयोऽङ्गादयो यस्य तव श्रीपादनिषेवणवाञ्छया ऐकाधिपत्यं राज्यं साम्राज्यं विसृज्य वनं विविशुः। ते राजानः सीदन्ति किम्? तवानुपदवीं नाऽऽस्थिताः किम्? आस्थाय न सीदन्तीत्यर्थः। **अम्बुजाक्ष! इत्यनेन नयनयोः स्निग्धं गुणं सूचयति॥ ४१,४२॥**

स्थिरबुद्धित्वेन पुरुषाणां विषादाभावेऽपि भीरूणां स्त्रीणां स स्यादिति मन्दाशङ्कां श्लोकद्वयेन परिहरति- केति। का स्त्री सततरमणकाङ्क्षिणी जनतायाः जनसमूहस्याऽपवर्गो मोक्षो यस्मात् स तथा तं, सद्भिः मुक्तरितं मुख्यत्वेन ईरितं दत्तमुपदिष्टं प्रधानीकृतमित्यर्थः॥ एवंविधं तव पादसरोजगन्ध माम्नाय निषेव्य पुन स्त्र पस्त्र च कामरूपं त्वा मविगणय्य मर्त्यांशिषा नाशशिरस्कसम्पदा कारणेन उरुभयं गुरुत्तरभीतिमन्तं जनं वृणीतेत्यन्वयः। कीदृशम्? त्वां लक्ष्म्याः सकलसम्पद आलयं शौर्यादिगुणाना मालयम् अत एव आढ्यं च य स्त्व मविशेषेण स्त्रीपुरुषाणा मर्थनीयगुणरत्नाकरः तं त्वा मह मभजं चैद्यादीन्, हित्वेति शेषः । कथंविधं त्वाम्? अनुरूपम् अनुकूलसौन्दर्यम् जगता मधीशं जगता मीश्वराणां ब्रह्मादीनामपि सम्पत्प्रदं अत एवाऽऽत्मानं तेषां स्वामिनं कीदृश्यहं च अर्थविविक्तदृष्टिः अर्थोऽयमिति विवेकीकृतदृष्टिः अव्यक्त ज्ञानेत्यर्थः। किं बहुनेत्याशयेनाह- स्यादिति। कीदृश्याः? भ्रमत्याः भ्रमः तिः अन्नं यस्याः सा भ्रमतिः तस्या विपरीतज्ञानिना मशिष्या इत्यर्थः। के नेय मवगम्यत इत्यत उक्तम्- श्रुतिभिरिति। श्रुतिप्रमाणेन, सिद्धाया इति शेषः। "अभ्रमा भ्रमता मन्नी। या वेदै रधिगम्यते" 'नारदीये' इत्यादिस्मृत्या च। "मुखं तु वदने मुख्ये" (वैज.को.6-3-25) इति यादवः। "तीत्यन्नम्" इति श्रुतिः। पारत्रिककामरूपत्व दर्शयति- य इति। ये त्वां भजन्ति त उत एवाऽनृतापवर्गं संसारा न्मोक्षं यान्तीत्यन्वयः। "तमेवं विद्वा नमृत इह भवति" (पु.सू.1-7) इति श्रुतिः वैराग्येन गृहीता॥ ४३ ॥

नृपाणां हेयत्वे दोषान्तरमाह- कस्या इति। हे अच्युत। स्वतः परतो वा च्युतिरहित! भवतोपदिष्टा नृपा श्चैद्यादयः कस्याः स्त्रियाः स्युः? न कस्या अपि भवन्तीत्यर्थः। सर्वदोषेष्वधिको दोषोऽयमिति भावेनाह-यत्कर्णमूलमिति। हे अरिकर्शन। मृडो रुद्रः रुद्रविरिञ्चसभासु गीता युष्मत्कथा येषां नृपाणां कर्णमूलं नोपयायात् नोपगच्छति, त इति शेषः। 'तासां' स्युरिति पाठे यासां कर्णमूलं तासां स्त्रीणां ते नृपाः स्यु रित्यर्थः॥ ४४ ॥

एतदेव स्पष्टयति-त्वक्दमश्रुरोमेति। या स्त्री तव पदाब्जमकरन्द मजिघ्रती असेवमाना सा जीवच्छवं जीवन्मृतं पुरुषं भजति। तत्र निमित्त काममति रिति। अस्य सम्पदमाह-बहिः त्वगादिभिः पिनद्धं बद्धम् अन्तर्मांसादिभिः संवृतम्। ननु विग्रहोप्येतादृशः कृष्णस्य किं न स्या दविशेषा दिति चे न्न। "आनन्दद्दमश्रु रानन्दकेशः" (माध्यन्दिनश्रुतिः) इत्यादिश्रुतेः हेतोः कालात्ययन (यादु) दिष्टत्वात्॥ ४५ ॥

---

1 Mla. भी०

अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुराग आत्मन्नतस्य मयि चानतिरिक्तदृष्टेः।
यर्ह्यस्य वृद्धय उपात्तरजोऽतिमात्रो मा मीक्षसे तदु ह नः परमानुकम्प्या॥ ४६ ॥

नैवालीक महं मन्ये वच स्ते मधुसूदन!
अम्बाया इव हि प्रायः कन्यायाः स्याद्रतिः क्वचित्॥४७॥

व्यूढाया श्चाऽपि पुंश्चल्या मनोऽभ्येति नवं नवम्।
बुधोऽसतीं न बिभृया त्तां बिभ्र दुभयच्युतः॥ ४८ ॥

## श्रीभगवानुवाच

साध्व्येत[6] च्छ्रेतुकामेन[7] राजपुत्रि[8] प्रलम्भिता।
मयोदितं य दन्वात्थ[9] सर्वं त त्सत्यमेव हि॥ ४९ ॥
या[10] न्यान्कामयसे[11] कामा[12] न्मय्यकामाय[12] मानिनि[13]।
सन्ति ह्येकान्तभक्ताया स्तव कल्याणि नित्यदा॥ ५० ॥

---

1 M.Ma अस्त्य० 2- -2 M.Ma °कं भत्येव 3. V. मे 4- -4 M.Ma °वादतिः 5 K.W. उदाया; M.Ma मुध्याया० 6. M.Ma साध्ये० 7. B-G-J.M.Ma कामै स्त्वं 8. M.V °न्नी 9. M.Ma °न्वर्थं 10 M.Ma यं यं 11. M.Ma कामं 12- -12 M.Ma मयि कामय 13. B.G.J भामिनि; M.Ma.W. कामिनि

**श्रीध०** यदुक्तं 'उदासीना वयम्' इत्यादिना[1], तत्राह - **अस्त्विति**। यद्यपि त्वं निरपेक्षः तथापि मम ते चरणानुरागोऽस्तु। मयि च मय्यपि[2] अनतिरिक्ता[3] अनतिशयवती दृष्टि र्यस्य तस्य ते। आत्मन् आत्मन्येव रतस्य। तर्हि तव तेन को लाभः। त्वच्चरणानुराग एव महान् लाभः। किञ्च यर्ह्यस्य विश्वस्य वृद्धये उपात्ता रजसोऽतिमात्रा औत्कटचं येन स तथाभूतस्सन् माम् इक्षसे[4]। उ एवार्थे। ह हर्षे। तदेव नः परमानुकम्पा अत्यनुग्रह इति॥ ४६ ॥

त देवं सर्वं तदुक्तं प्रति व्याख्याय प्रसन्नचित्ता मन्न मुपदिश न्याह द्वाभ्याम्-**नैवेति**। 'अथाऽऽत्मनोऽनुरूपम्' इत्यादि ते वचोऽलीकं मिथ्येति नैव मन्ये। यतो लोके कन्याया एव क्वचि द्रतिः भवति। यथा काशिराजकन्यानाम्[5] अम्बाम्बाल्यम्बिकानां[6] तिसृणां मध्ये अम्बायाः कन्याया एव साल्वे[7] रति र्जाता तद्वत्॥ ४७ ॥

**व्यूढाया** इति। व्यूढायाः परिणीताया अपीति, उभयस्मा दिहपरलोकद्वयात् च्युतो भ्रष्ट इति॥ ४८ ॥

**साध्विति**। प्रलम्भिता उपहसिता[8]। अन्वात्थ अन्वाख्यातवती[9]॥ ४९ ॥

**यानिति**। मयि एकान्तभक्तायाः ते कामाः सन्त्येव। अकामाय कामनिवृत्तये मोक्षपर्यवसायिने इत्यर्थः॥ ५०॥

---

1 M.V.omit ना 2. M.V. omit अपि 3- -3 B.J.न अतिरिक्ता अति० 4 M.V. समीक्षसे 5. M.V. °शी० 6 B.J °लिकाम्बि० 7. B.J शा० 8. M.V. add असि 9. B. आख्या०

**वीर०** यदुक्तम् 'उदासीना वयम्' इत्यादि, तत्राह-**अस्त्विति**। हे अम्बुजाक्ष! आत्मन् आत्मनि रतस्य आत्मारामस्येत्यर्थः। अनेन निरपेक्षत्वरूपमुदासीनत्व मनूदितम्। मय्यनतिरिक्ता अनतिशयिता दृष्टि र्यस्य , अनेनाकामुकत्वम्। तस्य तव चरणयोः अनुरागः प्रेमा अस्तु, ममेति शेषः। यद्यप्युदासीनोऽकामुकश्च सन् गृह्मेधिधर्मा नभिनयूसि, तथाऽपि मयाऽपि त्वच्चरणानुरागमात्रमेव प्रार्थनीयं न तु ततोऽधिकमिति भावः। सन्तु वा तव वचां स्यापातप्रतीतनिष्ठुरार्थपराणि

तथापि कदाचि त्समयविशेषे तव मय्यनुकम्पस्यदुर्निवारैवे त्याभिप्रेत्याह- यर्हीत्यर्धेन। यर्हि यदा अस्य विश्वस्य वृद्धये समृद्धये उपात्ता रजसः सृष्ट्युपयुक्तरजोगुणस्याऽतिमात्रा औत्कट्यं येन तथाभूतस्सन् मा मीक्षसे इति यत् तदुह तदेव परमा निरतिशया अनुकम्पा कृपा, विचित्रं जगत् सृष्ट्वा तत्र मदनुमोदनार्थं मा मीक्षसे इत्येवैव महती कृपेत्यर्थः॥ ४६॥

तदेवं सर्वं तदुक्तं प्रतिभाष्य प्रसन्नचित्ता मन्त्र मुपदिशन्ती प्राह-नैवेति द्वाभ्याम्। हे मधुसूदन! तव यद्वचः "अथाऽऽत्मनोऽनुरूपं वै" (भाग 10-60-17) इत्यादि तदलीक मनृतं इति न मन्ये नाऽसत्य मित्यर्थः। कुतः? यतो लोके कन्याया एव क्वचित्पुरुषविशेषे रति र्भवति, यथा अम्बायाः काशिराजपुत्रिकायाः अम्बाख्याः, तद्वत् अम्बाया कन्याया एव साल्वे रति र्बभूवे तीतिहासोऽत्र विवक्षितः॥ ४७ ॥

तथा ऊढायाः परिणीताया अपि पुंश्चल्या मनो नवं नवं पुरुष मभ्येति, ततः किमत आह- बुध इति। बुधो बुद्धिमान् असती मुक्तविधां स्त्रियं न बिभृयात्। विपर्यये अनर्थमाह-बिभ्रत् पुष्णन् उभयच्युतः उभयस्मा देतल्लोका त्पर लोकाच्च प्रच्युतो भवति, इहाऽमुत्र च न सुखी किन्तु दुःखी भवतीत्यर्थः॥ ४८ ॥

अथैवं क्रोडीकृतस्वाभिप्रायो भगवा निदमेव मदभिप्रेतम्, कूटवचांसि तु त्वद्वचश्शुश्रूषया प्रयुक्तानीत्याह- साध्वीति। हे साध्वि! हे राजपुत्रि! श्रोतुकामेन मया, एतद्वच इति शेषः। प्रलम्भिता इत्थ मुपहसितेत्यर्थः, य न्मयोदितं सर्व मन्वात्थ तात्पर्यक्रोडीकारेण प्रतिभाषितवत्यसि, तत्सर्वं सत्यमेव मदभिप्रेतमेव॥ ४९ ॥

अतीव तुष्टोऽनुगृह्णाति- याऽन्यानिति। हे मानिनि! याऽन्यान्कामान् "स्या न्मे तवाङ्घ्रि रणम्"(भाग.10-60-43) "अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुरागः" (भाग.10-60-46) इत्येवं काम्यमानान् अकामाय कामा निवृत्तये मदनपायित्वव्यतिक्रमनिवृत्तये कामयसे, ते कामा मय्येकान्तभक्ताया अनन्यप्रयोजनभक्तियुक्तायाः तव हे कल्याणि! नित्यदा सन्त्येव, न त्वया प्रार्थ्या मया देया श्चेत्यर्थः॥ ५० ॥

---

1 BTW °भूप 2 B adds इति 3 B omits वा 4 K °ति 5 TW यावत् 6 K.T.W omit इति 7 B adds एव

विज० अहमपि एतादृशी नेत्याह-अस्तीति। चरणयोरनुरागः परा भक्तिः अस्तीति भक्तेः सर्वदैकप्रकारत्वं कथयति। मया तव न कोऽप्यर्थ इति भावेनाह-आत्मन्निति। आत्मन् आत्मनि मम तु त्वत्तो महा नर्थोऽस्तीति भावेनाह-मयि चेति। मयि महाधिकारिण्यां भक्तेः न अतिरिक्ता दृष्टिः अनुग्रहलक्षणा यस्य स तथा भक्त्यनुकूलानुग्रह इत्यर्थः। तस्य चशब्दो भक्ते रन्वयव्यतिरेकसूचकः तत्कुत इति चे न्न। "य एष देवः परोऽक्षरोऽमर स्तं वा एनमाहुः भक्ताः" इत्यादि श्रुतिसिद्धत्वात्। अनेनैव तारतम्यं सूचयति- "अथातो भक्तिमीमांसा" इति श्रुतिविहितत्वात् अन्योन्यं हेतुहेतुमद्भावं च "मितिती वाव एतौ एतौ भक्तो यदनुग्रहश्च भक्तिश्च" इति श्रतिसिद्ध मनुवदति? मिलितावन्योन्यं हेतुहेतुमद्भावोपेतौ, भक्त्यनुकूलानुग्रहविशेष कथयति यर्हीति। यर्हि यदाऽस्य जगतोऽभिवृद्धये सृष्टिलक्षणायै उपात्तं स्वीकृतं रजोऽतिमात्रं केवलं रजो येन स तथा। यद्वा उपात्ताः प्रलये मूलरजसि अतीताः सङ्गताः मात्रा अंशा येन स तथा। मूलरजोगुणोपादानवान् इत्यर्थः। तदु तदेव मा मीक्षसे, ह विशेषत इत्यर्थः। यदा स्थितिलक्षणायै उपात्ता रजसोऽतिरिक्ता मात्रा सत्त्वलक्षणा येन स तथा। तदा मा मीक्षसे। यदाऽतिवृद्धिरहितो बर्धनं छेदनं संहारः तस्मै उपात्ता रजोऽतिक्रान्ता मात्रा तमोलक्षणा येन स तथा। अत्रेक्षणं नाम तत्तत्कार्य मनुस्मृत्य रजआदिमदधीनतत्तद्गुणाभिवर्धन मभिप्रेतम्। तदुक्तम्- "अथ त्रिगुणा ह्येव प्रकृति रगुणो वा वा विष्णुः स यदा ह्यरजा रजोऽस्या उद्धर्षयति" (चाक्रायण श्रुतिः) इत्यादि श्रुतौ नैत त्स्वप्रयोजन मुद्दिश्येति। नः अस्मा नुद्दिश्य कृता परमकृपेति भावः॥ ४६ ॥

भगवती भगवदुक्ते रेवं तात्पर्यं प्रकाश्य निगमयति- **नैवेति**। हे मधुसूदन! ते तव वचः अलीकम् असत्यलक्षणं भारं न भरति न तु बिभर्त्येव। भृञ् भरणे इति धातुः। कथमिव? अम्बायाः कन्यावादरति रिव, यथा मातुः कन्याप्रदानकथायां रतिः तात्पर्याभिनिवेशलक्षणा नाऽलीकं भवति। प्राय एवाऽयमर्थोऽनुमतो हि। "समुच्चयेऽनुमत्यां चा प्येव साम्येऽवधारणे" इति यादवः। क्वापि मातूरति रलीकं भरति तव वचः काप्यलीकं न भवत्येवैतदुक्तं क्वचिदिति। क्वचित्क्वापि॥ ४७॥

इदानीं कृष्णस्य नियतदारत्व मात्मनो नियतपातिव्रत्यं च ध्वनयन्ती देवी **पुंश्चली इममर्थं वादयति - मुग्धाया** इति। अस्यार्थ आचार्योक्तोऽत्र लिख्यते यामसतीं बुधो न बिभृयात्, याचतां **बिभ्रद्दृष्टादृष्टच्युतो भवति तस्या** अपि पुंश्चल्या स्त्वयि मनो नवं नव मभ्येतीति मूर्छया मोहिन्या मूढत्वं युवयोरपि तत्र तत्र सुलभ मुपलब्धमिति मन्दाशङ्का। "अमुग्धैव तु मुग्धेव त्वदुःखा दुःखितेव च। श्रीर्दयिये द्धरिश्चैव नैवैतौ मोहदुःखिनौ" (कापिलेये) इत्यादिस्मृत्या परिहर्तव्या॥ ४८॥

भगव त्योक्तं भगवता कि मनुमतं विमत मिति विकल्पं परिहरति- **साध्विति**। एतद्वचः प्रलम्भिता प्रस्तोभिता। अन्वर्थ मनुकूलार्थम्॥ ४९ ॥

हे ईश्वरि! यं यं कामं कामयसे सर्वे त्वयि नित्यदा सन्ति, हि यस्मात् तस्मात् कां विभूतिं कामयसे न कामपीत्यर्थः। यद्वा यं यं कामं कामयसे ता न्मयि कामयस्व तेषा मभावा द्वच्मीत्याह- सन्तीति। तस्मा त्प्रियवचनमुक्तं कामयति॥ ५०॥

उपलब्धं पतिप्रेम पातिव्रत्यं च तेऽनघे।
य द्वाक्यै श्चाल्यमानाया न धी र्मय्यपकर्षिता॥ ५१ ॥

ये मां भजन्ति दाम्पत्ये तपसा व्रतचर्यया।
कामात्मानोऽपवर्गेशं मोहिता मम मायया॥ ५२ ॥

मां प्राप्य मानि न्यपवर्गसम्पदं वाञ्छन्ति ये सम्पद एव तत्पतिम्।
ते मन्दभाग्या निरयेऽपि ये नृणां मात्मात्मकत्वा न्निरय स्सुसङ्गमः॥ ५३ ॥

दिष्ट्या गृहेश्व र्यसकृ न्मयि त्वया कृता नुवृत्ति र्भवमोचनी खलैः।
सुदुष्करोऽसौ सुतरां दुराशिषो हृषसुम्भराया निकृतिंजुषः स्त्रियाः॥ ५४ ॥

न त्वादृशीं प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु पश्यामि मानिनि यया स्वविवाहकाले।
प्राप्ता नृपा नवगणय्य रहस्करो मे प्रस्थापितो द्विज उपश्रुतसत्कथस्य॥ ५५ ॥

भ्रातु र्विरूपकरणं युधि निर्जितस्य प्रोद्वाहपर्वणि च तद्वध मक्षगोष्ठ्याम्।
दुःखं समुत्थ मसहोऽस्मदयोगभीत्या नैवाऽब्रवीः किमपि तेन वयं जिताः स्मः॥ ५६॥

दूत स्त्वयाऽऽत्मलभने सुविभक्तमन्त्रः[13] प्रस्थापितो मयि चिरायति शून्य मेतत्।
मत्वा जिहास इद मङ्ग मनन्वयोग्यं[14] तिष्ठेत तत्त्वयि[15] वयं प्रतिनन्दयामः[16]॥ ५७ ॥

## श्रीशुक उवाच

एवं सौरतसल्लापै[16] र्भगवान् देवकीसुतः[17]।
स्वरतो रमया रेमे नरलोकं विडम्बयन्॥ ५८ ॥

तथाऽन्यासामपि स्त्रीणां[19] गृहेषु गृहवानिव[18]।
आस्थितो गृहमेधीया न्धर्मान् लोकगुरु र्हरिः[20]॥ ५९ ॥[21]

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्याया पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे षष्टितमोऽध्यायः॥ ६० ॥

---

1 MMa °श्चोच० 2 MMa सत्प० 3 MMa स्युः 4 MMa °ये सु० 5- -5 MMa गृहैश्वर्य्ययुते मयि 6 M.Ma चि० 7 MMa °यः 8 MMa MIV °चि० 9- -9 BGJ रहोहरो, MMa रहोरहो, MIV रहो अहो,10 MMa °स्थित 11 MMa °हा० 12 BGJ MMa जिता स्ते। 13 BGJMMaW °चि० 14 MMa °सुदि० 15- -15 MMa तिष्ठे स्तत स्त्वयि 16 BGJMMa सलापै० 17 BGJ जगदीश्वरः। 18 MIV अ० 19 BGJMIV विभुः 20 BGJMMa धर्मालोक० 21 MMa °र्जुषन्

**श्रीध०** अनुवादेन वरान् दत्त्वा ता मभिनन्दति- **उपलब्धमिति। यद्यस्मा** न्मयि वर्तमाना धी र्नापकर्षिता नाऽन्यविषया जाता॥ ५१॥

एकान्तभक्ति मभिनन्द तामेव दृढीकर्तुं सकामान् भक्तान्निन्दति- **ये मामिति। दाम्पत्ये दम्पत्युपभोग्यसुखार्थम्**[1]॥ ५२॥

मायामोहितत्वमे वोपपादयति- **मां प्राप्येति।** अपवर्गेण सह सम्पदो यस्मिं स्तं मां प्राप्य प्रसाद्य ये केवलं सम्पद एव विषयान् वाञ्छन्ति न तु मां तत्पतिं तासां सम्पदामपि योऽहमेव पति स्तम्। **तथा**[2] **ये** विषयाः निरयेऽपि अतिनिकृष्टयोनावपि[3] स्यु स्तान्। **किञ्च** तेषां पुंसां[4] मात्रात्मकत्वा द्विषयात्मकत्वा **निरयः सुसङ्गमः** शोभनसङ्गम एव स्यात्, अतो मन्दभाग्या एव ते[5] इत्यर्थः॥ ५३ ॥

**दिष्ट्येति।** तस्मात् हे गृहेश्वरि! त्वया मयि भवमोचनी निष्कामानुवृत्तिः कृता। **एत दिष्ट्या** भद्रं! कथम्भूता? खलैः सुदुष्करा, दुराशिषो दुरभिप्रायाया अत एव असुम्भरायाः प्राणतर्पणपराया निकृतिंजुषो वञ्चनपरायाः स्त्रियाः सुतरा मसौ अनुवृत्तिः सुदुष्करेति॥ ५४ ॥

**किञ्च**, सन्ति निष्कामाः प्रेम्णैव मय्यनुवर्तमाना बह्व्यः, किन्तु त्वया सदृशीं[6] क्वापि न पश्यामीति तस्या भक्तिं बहुमानेनाऽभिनन्दति-न त्वादृशीमिति त्रिभिः। उपश्रुताः सत्यः कथा यस्य मे॥ ५५ ॥

**भ्रातुरिति**। प्रोद्वाहपर्व ण्यनिरुद्धविवाहे। अक्षगोष्ठ्यां द्यूतसभायाम्। तस्य भ्रातु र्वधम्। तस्मिन् काले कालान्तरे वा[7] त दनुस्मरणतः पुनः पुनः समुत्थं दुःखम् अस्माभि र्योगो वियोग स्तद्भीत्या असहः सोढवत्यसि। अनेनैवाऽनिरुद्धविवाहानन्तर्य मस्य ज्ञातव्यम्॥ ५६ ॥

अपि च **दूत** इति। आत्मलभने मत्प्राप्त्यर्थं मयि चिरायति 'श्वो' भाविनि विवाहे आगन्तव्य मिति कृते समये कथञ्चि द्प्राप्तवति स त्येतद्विश्वं शून्यं मत्वा इद मनन्ययोग्य मङ्गं जिहासे त्यक्तुमिच्छामि[8] इत्येवं दूतः प्रस्थापितः। तथा ह्युक्तं त्वया - "य र्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं जह्यां[10] मसून् व्रतकृशान् शतजन्मभिः स्यात्" (भाग 10-52-43) इति। यद्वा अजिहास[11] इति च्छेदः। त्यक्तुमिच्छ[12] इत्यर्थः। तत्तव कर्म त्वय्येव तिष्ठेत्[13]। न त त्प्रतिकर्तुं शक्यमित्यर्थः। किन्तु केवलं[14] वयं त्वां प्रतिनन्दयामो हर्षयाम इति॥ ५७ ॥

**एवमिति**। सौरतसँल्लापैः सुरतनर्मगोष्ठीभिः॥ ५८, ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां षष्टितमोऽध्यायः॥ ६०॥

---

1. MI.V. भोग 2. MI.V omit तथा 3. MI.V omit अति 4. MI.V omit पुंसां 5- -5 MI.V omit 6 MI adds कामपि; V adds चापि 7. MI.V. omit वा 8. B.J. add त्यक्ष्यामि 9 MI.V च० 10. B.MI.V स्याम् 11. V. भौच्छत 12 MI.V add ततः 13. B.MI.V. त 14 B.J omit वयं

**वीर०** अभिनन्दति- **उपलब्धमिति**। हे अनघे! पत्यौ मयि प्रेम्णा[1] य त्यातिव्रत्यं[2] पतिपरार्थ्यं त दुपलब्धं दृष्टं, मयेति शेषः। कुतः? य द्यतो वाक्यैः उक्तविधे र्मद्वाक्यैः चात्यमानाया अपि तव धी बुद्धिः मयि नापकर्षिता नापनीता नाऽन्यविषया जाता॥ ५१ ॥

एकान्तभक्ति मभिनन्द्य तामेव दृढीकर्तुं सकामा न्भक्ता निन्दति **-ये मामिति**। ये जनाः कामात्मानः क्षुद्रमनोरथाऽऽविलचित्ताः मोक्षाधिपतिमपि मां दाम्पत्ये दम्पत्योः कर्मणि दम्पत्युपभोग्यसुखार्थ मित्यर्थः। तपसा मनःप्रणिधानात्मकेन व्रतचर्यया अनशनादिव्रतानुष्ठानेन च भजन्ति, ते मम मायया मोहिताः॥ ५२ ॥

तदेवोपपादयति- **मामिति**। अपवर्गः मोक्षः स एव सम्पत् लक्ष्मीः यस्मा त्तं तासा मपवर्गेतरसम्पदामपि पतिं मां प्राप्य प्रसाद्य, तपआदिभिरिति शेषः। सम्पदः अपवर्गेतरकामानेव वाञ्छन्ति, ते जनाः मन्दभाग्याः। कुतः? यद्यस्मा द्ये नृणां विषयाः ते निरये नरकेऽपि स्युः। कुत श्शब्दादिविषयसुखानां केवलदुःखात्मकनरके सम्भवः? तद्राह-मात्रात्मकत्वा त्तेषां सुखलेशात्मकत्वा नरकेऽपि[4] सम्भव इति भावः। अतो निरयः सुसङ्गमः शोभनरूपतया प्रतीयमानो दम्पत्योः सङ्गमः निरयो नरकप्राय एव। अत स्ते मन्दभाग्या इत्यर्थः॥ ५३ ॥

पुनर प्यभिनन्दति- **विष्वेति**। हे गृहेश्वरि! त्वया मयि भवमोचनी निष्कामा अनुवृत्तिः कृता, एतत् दिष्ट्या। आनन्दः। वृत्तिं विशिनष्टि। - असा वनुवृत्तिः खलैः दुर्जनैः दुःखेनापि कर्तु मशक्या, दुराशिषो दुरभिप्रायाः अत एव असुम्भरायाः इन्द्रियतर्पणपराया: निकृतिंजुषः वञ्चनपराया: स्त्रियास्तु सुतरां दुष्करा॥ ५४ ॥

**न त्वामिति**। हे मानिनि! प्रणयिनीं प्रेमवर्ती न पश्यामि। तत्र निदर्शनं वदन् तां विशिनष्टि- ययेति। यया त्वया अवगणय्य अनादृत्य श्रुताः सत्कथा स्त्वदीयाः येन तस्य मे मह्यं रहस्करः रहस्यवार्तहर्ता द्विजः प्रेषितः, अत स्त्वादृशीं भार्यां न पश्यामीत्यर्थः॥ ५५ ॥

किञ्च, त्वद्गुणै रेवाऽहं वशीकृत इत्याह-**भ्रातुरिति**। युद्धे मया निर्जितस्य भ्रातुः रुक्मिणो विरूपकरणं, तथा प्रोद्वाहपर्वण्यनिरुद्ध विवाहोत्सवे तत्रा प्यक्षगोष्ठ्यां द्यूते तस्य रुक्मिणो वधम्, इदं समनन्तराध्याये स्फुटीभविष्यति। समुत्थं तद्वधश्रवणजं दुःखं च अस्मदयोगभीत्या अस्मद्विश्लेषभीत्या हेतुभूतया असहः सोढवत्यसि, किमपि नाऽब्रवीः नोक्तवत्यसि, तेनैवंविधगुणजातेन वयं जिताः स्मः वशीकृता बभूविम। यद्यप्यस्य प्रणयकलहस्याऽनिरुद्धविवाहानन्तर्यम्, अतो ज्ञायते, तथाप्यत्र व्युत्क्रमेणोक्तिः प्रश्नानुगुण्येनेत्यवगन्तव्यम्॥ ५६ ॥

किञ्च- **दूत** इति। आत्मलभने मत्प्राप्त्यर्थं सुविभक्तः "य र्हम्बुजाक्ष न लभेय तव प्रसादं जह्या मसू न्व्रतकृशान् शतजन्मभि स्स्यात्' (भाग 10-52-43) इत्येवं विविच्य ज्ञापितो मन्त्रो यस्य सः दूतः प्रेषितः, तदाऽपि मयि चिरायति ईषद्विलम्ब कुर्वति सति एतद्विश्वं शून्यं मत्वा इदमनन्यार्ह मङ्ग शरीरं जिहासे हातु मिच्छामी त्येवं भवती तिष्ठेत स्थितवतीति यत्, तत् त्वयि वयं केवलं प्रतिनन्दयामः प्रतिकर्तु मशक्नुवन्तः केवलं हर्षयाम इत्यर्थः। यद्वा जिहासे इत्येवं विभक्तमन्त्रो दूतः प्रस्थापित इति सम्बन्धः॥ ५७ ॥

**एवमिति**। नरलोकं विडम्बयन् अनुकुर्वन्, हेतुगर्भ मिदम्, तत्त्वा दित्थं सौरतसहपैः सुरतनर्मगोष्ठीभिः स्वरतः आत्मारामोऽपि रमया लक्ष्म्यवतारभूतया रुक्मिण्या सह रेमे॥ ५८ ॥

**तथेति**। अन्यासामपि पत्नीनां गृहेषु गृहाश्रमीव गृहस्थाश्रमयुक्तान् धर्मान् आस्थितस्सन्नेव रेमे॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां षष्टितमोऽध्यायः॥ ६० ॥

---

1 TW कृष्णे 2 TW omit प्रेम्णा 3 BTW भोग 4 KTW omit अपि 5 B. °त्रि 6 TW °म० 7 K. गम्यते 8 TW omit अपि 9 B omits मयि 10 TW omit तत् 11 KW अ०

**विज्ञ०** भर्तुः स्नेहः पातिव्रत्यं चाभीष्टसम्पत्प्राप्तौ निमित्तं त त्त्वाऽस्तीत्याह- उपलब्धं दृष्टं, तत्र हेतुः यद्वाक्यै रिति। मयि संलग्ना धी र्नापकर्षिता अन्यत्र न नीता, य यस्मा नित्यमुक्तत्वा दावयोः दाम्पत्यं नित्यम्॥ ५१ ॥

तत्र मुक्तिमन्तरेण दाम्पत्यापेक्षयाऽस्मद्भजन मयुक्त मित्याशयेनाह-**य इति**॥ ५२ ॥

ननु तर्हि सम्पदर्थे भगवद्भजनं युक्तं हीति तत्राह-**मामिति**। सतः सत्यस्य मोक्षस्य पतिं ये सम्पल्लक्षणभोगाः, कथं तेषां भोगानां निरये सत्त्वमिति तत्राह-मात्रात्मकत्वादिति। मात्रात्वात्तेषां भोगानां शब्दादिविषयाविनाभूतत्वात् निरये सुसङ्गमः सुलभः सङ्गमः इत्यर्थः॥ ५३ ॥

सर्वभक्तेषु त्वमेव मुख्यभक्ते त्याशयेनाह-**दिष्ट्येति**। हे गृहैश्वर्ययुते देवि! त्वया मय्यनुवृत्तिः भक्तिः कृतेति य त्त दिष्ट्या त्वदन्येषां भवमोचनी वा! असा वनुवृत्तिः खलैः सुदुष्करा, दुराशिषः दुष्टेच्छायाः पत्या सह दुर्वाक्यायाः वा। असुम्भरायाः स्वप्राणपोषणपरायाः विकृतिंजुषः जारलक्षणव्याजसेवमानायाः स्त्रियः सुतरां सुदुष्करा। दिष्ट्या गृहं मङ्गलमन्दिरं च ऐश्वर्ययुतश्च दिष्ट्या गृहैश्वर्ययुतः तस्मि न्निति वा॥ ५४ ॥

श्लोकद्वयेण देव्याः पूर्वोक्तां भक्तिं लालयति-**न त्वादृशी** मित्यादिना। उपस्थिता समीपं प्रापिता त्वत्सत्कथा यस्य स तथा, तस्य रहो रहः अतिरहसि॥ ५५ ॥

विरूपकरणं केशवपनं प्रोद्वाहपर्वणि विवाहलक्षणोत्सवदिवसे अक्षगोष्ठ्यां द्यूतविशेषक्रीडायां तस्य भ्रातु र्वधं अस्मदयोग-भीत्या अस्मद्विरहभयेन॥ ५६ ॥

आत्मलभने स्वलाभार्थं सुष्ठु विविक्तमन्त्रः स्पष्टीकृतरहोवचनः, चिरायति विलम्बनं कुर्वति सति एतत् जगत् शून्यं अस दमङ्गलं मत्वा अनन्ययोग्यं अन्यपुरुषसंयोगायोग्य मिदम् अङ्गं जिहासुः तिष्ठे रिति यावत्॥ ५७ ॥

देव्या गुणा ब्रह्मायुषापि वक्तुं न शक्या इति सङ्क्षिपतीत्याह-श्रीशुक इति। सौरतसंलापैः सुरतसम्बन्धि मिथोभाषणैः नरलोकं मनुष्यजनं विडम्बयन् अनुकुर्वन्॥ ५८ ॥

इद मन्यत्राऽतिदिशति-**तथेति**। गृहवान् गृहस्थ इव आस्थितः उद्गतश्च प्रकाशितः। "आड उद्गमने" (अष्टा 1-3-40) इति सूत्रम्॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
टीकायां षष्टितमोऽध्यायः॥ ६० ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थरीत्या पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७५ ॥

---

# श्रीमद्भागवत दशमस्कन्धस्थ द्वितीयभागस्य श्लोकपादानुक्रमणिका (29 to 60)

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **अ** | | | |
| अकल्यं नृपतिं प्रजाः | 47 | 7 | b |
| अकल्पै पोषरक्षणे | 45 | 22 | d |
| अकिञ्चन प्रार्थ्यतमाद्वरं विभो | 51 | 56 | b |
| अकिञ्चनोऽपि सन्तुष्टः | 52 | 32 | c |
| अकुर्वतो वां शुश्रूषाम् | 45 | 9 | c |
| अकूपाराय बृहते | 40 | 19 | a |
| अकृतज्ञा गुरुद्रुहः | 32 | 20 | d |
| अक्रूर आगतः किं वा | 46 | 48 | a |
| अक्रूर इत्येतदतीव दारुणः | 39 | 26 | b |
| अक्रूरकृतवर्माणौ | 57 | 3 | c |
| अक्रूरप्रियकाम्यया | 48 | 13 | d |
| अक्रूर भवनं कृष्णः | 48 | 13 | a |
| अक्रूरमुपसृत्य तम् | 49 | 7 | b |
| अक्रूरश्चोदयामास | 39 | 32 | c |
| अक्रूरस्तावुपामन्त्र्य | 39 | 40 | a |
| अक्रूरस्य करे भूयः | 57 | 48 | c |
| अक्रूरं जगदीश्वरः | 41 | 9 | b |
| अक्रूरं व्रजमागतम् | 39 | 13 | d |
| अक्रूरं सस्मितं प्राह | 48 | 29 | c |
| अक्रूरः कृतवर्मा च | 57 | 33 | a |
| अक्रूरः परिपृष्टेन | 38 | 43 | c |
| अक्रूरे प्रोषितेऽरिष्टा | 57 | 34 | a |
| अक्रूरोऽपि च तां रात्रिम् | 38 | 1 | a |
| अक्रूरो यत्र यत्र ह | 57 | 37 | b |
| अक्षिण्वंस्तद्बलं सर्वम् | 50 | 43 | a |
| अक्षिपच्छम्बरोऽसुरः | 55 | 13 | b |
| अक्षीण वासनं राजन् | 51 | 61 | c |
| अक्षौहिणीनां निधनम् | 37 | 22 | c |
| अक्षौहिणीभिर्विंशत्या | 50 | 4 | a |
| अक्षौहिणीभिस्संख्यातम् | 50 | 8 | a |
| अक्षौहिणीशतवधेन सुरेतराणाम् | 48 | 25 | c |
| अक्षौहिण्या वृतो बली | 54 | 18 | d |
| अखिलदेहिनामन्तरातमदृक् | 31 | 4 | b |
| अगमत् स्वेन पाप्मना | 56 | 40 | d |
| अग्नये खाण्डवं दातुम् | 58 | 25 | c |
| अग्निर्मुखन्तेऽवनिरङ्घ्रिरीक्षणम् | 40 | 14 | a |
| अग्न्यार्कातिथिगोविप्र | 46 | 12 | a |
| अग्रजायाऽददात्प्रीत्या | 34 | 32 | c |
| अग्रन्यस्तविषाणाग्रः | 36 | 10 | a |
| अङ्गप्रसूता शतशोऽसृगापगाः | 50 | 26 | b |
| अङ्गरागार्पणेनाऽहो | 48 | 9 | c |
| अङ्ग वासांसि चार्हतोः | 41 | 33 | b |
| अङ्गसङ्गहतैनसः | 58 | 3 | b |
| अङ्गान्न च्यवते क्वचित् | 47 | 48 | d |
| अचिरान्मा मुपैष्यथ | 47 | 36 | d |
| अचीकृपन्नासनमात्मबन्धवे | 32 | 14 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अजादयोऽनात्मतया गृहीताः | 40 | 4 | b | अथात्मनोऽनुरूपं वै | 60 | 17 | a |
| अजानन्तौ तयोर्बलम् | 44 | 18 | d | अथाऽपराह्णे भगवान् | 41 | 19 | a |
| अजानमाना साऽभ्येत्य | 36 | 36 | c | अथावरूढः सपदीशयोरथात् | 38 | 15 | a |
| अजाय जनयित्रेऽस्य | 59 | 28 | a | अथो गुरुकुले वासम् | 45 | 31 | a |
| अजित्वा सप्त गोवृषान् | 58 | 33 | b | अथोद्धवस्साधुतयाऽभिपूजितः | 48 | 5 | a |
| अजोऽनुबद्धस्स्वगुणैरजायाः | 40 | 4 | c | अथोद्धवो निशाम्यैवम् | 47 | 22 | a |
| अञ्जन्त्यः काश्चलोचने | 29 | 7 | b | अथोपयेमे कालिन्दीम् | 58 | 29 | a |
| अटति यद्भवानह्निकाननम् | 31 | 15 | a | अथो मुहूर्त एकस्मिन् | 59 | 42 | a |
| अतदर्हां सतां गतिः | 60 | 28 | d | अदर्शनं स्वशिरसः | 42 | 28 | a |
| अतप्यंस्तमचक्षाणाः | 30 | 1 | c | अदीर्घदर्शनं क्षुद्रम् | 56 | 42 | c |
| अतस्त्वामाश्रितः सौम्य! | 36 | 61 | a | अदृष्टपूर्वान्सुव्यक्तम् | 57 | 13 | a |
| अतिविलङ्घ्यते ह्यच्युतागताः | 31 | 16 | b | अदृष्ट्वा निर्गमं शौरेः | 56 | 34 | a |
| अतो न बन्धस्तव नैव मोक्षः | 48 | 23 | c | अद्भिर्गन्धाक्षतैर्धूपैः | 53 | 47 | a |
| अत्र प्रसूनापचयः | 30 | 33 | c | अद्भुतानीह यावन्ति | 41 | 4 | a |
| अत्राऽवरोपिता कान्ता | 30 | 33 | a | अद्य तावन्महाबलः | 50 | 47 | b |
| अथ कृष्णाविनिर्दिष्टः | 53 | 28 | a | अद्य ध्रुवं तत्र दृशो भविष्यते | 39 | 25 | a |
| अथ कृष्णश्च रामश्च | 43 | 1 | a | अद्याहं निशितैर्बाणैः | 54 | 22 | a |
| अथ गोपीरनुज्ञाप्य | 47 | 64 | a | अद्येश नो वसतयः खलु भूरिभागाः | 48 | 26 | a |
| अथ तत्रासितापाङ्गी | 55 | 30 | a | अधरसीधुनाऽऽप्याययस्वनः | 31 | 8 | d |
| अथ तर्ह्यागतो गोष्ठम् | 36 | 1 | a | अधर्मोपचितं वित्तम् | 49 | 22 | a |
| अथ तान् दुरभिप्रायान् | 42 | 20 | a | अधिपति मगृहाणामग्रतो नः पुराणम् | 47 | 14 | b |
| अथ ते कालरूपस्य | 37 | 22 | a | | | | |
| अथ नन्दं समासाद्य | 45 | 20 | a | अधीतविद्या आचार्यम् | 47 | 7 | c |
| अथ वा मदभिस्नेहात् | 29 | 23 | a | अधुनापि वयं सर्वे | 54 | 15 | a |
| अथ विज्ञाय भगवान् | 48 | 1 | a | अधुनाऽऽसनमास्थितः | 49 | 17 | d |
| अथ व्रजन् राजपथेन माधवः | 42 | 1 | a | अधुना साध्वसाधुवा | 48 | 36 | b |
| अथ शूरसुतो राजन् | 45 | 26 | a | अनन्तत्वान्मयाऽपि हि | 51 | 37 | d |
| अथ सोऽपि महामात्रः | 36 | 27 | a | अनन्तरं भवाञ्छ्रीमान् | 51 | 34 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अनन्तं वीरभूषणम् | 50 | 41 | b |
| अनन्तायादिभूताय | 57 | 21 | c |
| अनन्यविषयां सतीम् | 60 | 27 | d |
| अनमीवमनामयम् | 39 | 4 | d |
| अनयत्सानुजोगृहम् | 38 | 37 | d |
| अनयाऽऽराधितो नूनम् | 30 | 28 | a |
| अनागसां त्वं भूतानाम् | 44 | 47 | a |
| अनार्द्रधीरिष समास्थितोरथाम् | 39 | 27 | a |
| अनिच्छतोऽपि यस्य श्रीः | 47 | 48 | c |
| अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः | 33 | 39 | c |
| अनित्यानात्मदुःखेषु | 40 | 26 | a |
| अनुकम्प्याः प्रजा हि वः | 48 | 30 | d |
| अनुक्रमन्तो नैवन्तं | 51 | 39 | c |
| अनुक्रोशस्मितेक्षणौ | 38 | 30 | d |
| अनुगृह्णातु गृह्णातु | 53 | 38 | c |
| अनुग्रहाय भक्तानाम् | 33 | 37 | a |
| अनुचक्रुस्तदात्मिकाः | 30 | 14 | d |
| अनुचरैः समनुवर्णितवीर्य | 35 | 8 | a |
| अनुजानीहि मां कृष्ण | 34 | 16 | c |
| अनुतप्यमानो भवनम् | 56 | 40 | c |
| अनुद्वास्याऽपराययुः | 29 | 5 | d |
| अनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात् | 47 | 16 | b |
| अनुप्रस्थापितात्मानः | 39 | 36 | c |
| अनुभुङ्क्तेऽप्यसत्यर्थे | 54 | 48 | c |
| अनुरागस्मितेरिताः | 39 | 16 | b |
| अनुलोमस्तु कञ्जाक्षि | 36 | 44 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अनुव्रज्यानुरञ्जिताः | 39 | 34 | b |
| अनुसृत्य नृलोकताम् | 57 | 9 | b |
| अनुस्मरन्त्यो मां नित्यम् | 47 | 36 | c |
| अनेकशोऽश्वाः शरवृक्णकन्धराः | 50 | 25 | b |
| अनोभिरनुद्युतैः | 34 | 1 | c |
| अन्तर्गृहगताः काश्चित् | 29 | 9 | a |
| अन्तर्जलचरः कृष्ण | 45 | 40 | c |
| अन्तर्हिते भगवति | 30 | 1 | a |
| अन्तर्हृदिसभूतानाम् | 46 | 36 | c |
| अन्तस्समुद्रे नगरम् | 50 | 50 | c |
| अन्तःपुरचरीं देवीम् | 53 | 28 | c |
| अन्तः पुरवरं राजन् | 55 | 26 | a |
| अन्तः पुरान्तरचरीमनहत्य बन्धून् | 52 | 42 | a |
| अन्धेन तमसाऽऽवृतम् | 56 | 19 | b |
| अन्नं बहुगुणं मेध्यम् | 38 | 39 | c |
| अन्यथा गोव्रजे तस्य | 47 | 5 | a |
| अन्यश्च त्वाचरंल्लोके | 49 | 19 | a |
| अन्यानि चेत्यम्भूतानि | 42 | 31 | a |
| अन्याभिर्वा महात्मनः | 47 | 46 | b |
| अन्याश्च तदनुध्यान | 39 | 15 | a |
| अन्याश्चैवं विधा भार्याः | 58 | 58 | a |
| अन्यांश्च तदुपाश्रयान् | 36 | 52 | d |
| अन्याः शंसन्ति साध्विति | 30 | 18 | d |
| अन्ये च संस्कृतात्मानः | 40 | 8 | a |
| अन्योन्यार्थकृतामैत्री | 47 | 6 | a |
| अन्योन्य मभिजघ्नतुः | 44 | 3 | d |
| अन्योन्यं प्रत्यरुन्धताम् | 44 | 4 | d |
| अन्योन्यानद्धबाहुभिः | 33 | 2 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अन्योऽपि धर्मरक्षायै | 50 | 10 | a |
| अन्वगुर्भमराः स्वर्गात् | 59 | 40 | c |
| अन्वधावज्जिघृक्षुस्तम् | 51 | 6 | c |
| अन्वधावत् रथानीकैः | 52 | 9 | c |
| अन्वपद्यत नागैः | 56 | 17 | d |
| अन्वयातां महावेगैः | 57 | 23 | c |
| अन्वाविश्य स्वशक्तिभिः | 48 | 20 | b |
| अन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः | 30 | 26 | b |
| अन्विच्छन्त्यो भगवतः | 30 | 41 | a |
| अन्वीयभूतेषु विलक्षणस्य | 46 | 31 | c |
| अन्वीयमान इह वस्तवः प्रणामम् | 30 | 12 | c |
| अन्वीयुर्धृतकार्मुकाः | 54 | 1 | d |
| अपचक्रतुरात्मनः | 44 | 5 | d |
| अपराऽनिमिषदृग्भ्याम् | 32 | 8 | a |
| अपश्यत्कुवलयापीडम् | 43 | 2 | c |
| अपश्यदाद्यं पुरुषम् | 52 | 27 | c |
| अपश्यन्त्यो बहूहानि | 45 | 50 | c |
| अपश्यन् भ्रातरं भ्राता | 56 | 15 | c |
| अपास्य शत्रवे क्रुद्धः | 55 | 20 | c |
| अपाहरत् गजस्यस्य | 59 | 21 | e |
| अपिच कृपणपक्षे श्रुतमस्तोकशब्दः | 47 | 15 | d |
| अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते | 47 | 21 | a |
| अपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः | 47 | 13 | d |
| अपि मय्यनवद्यात्मा | 53 | 24 | a |
| अपि स्मरति नःकृष्णः | 46 | 18 | a |
| अपि स्मरति नस्साधो | 47 | 42 | a |
| अपि स्मरन्ति नस्सौम्य | 49 | 8 | a |
| अपि स्वज्ञातिबन्धूनाम् | 39 | 4 | c |
| अपीच्यवयसं मत्तः | 51 | 26 | c |
| अप्रत्यूह्य च रुक्मिणीम् | 54 | 20 | b |
| अप्रत्यूह्य यवीयसीम् | 54 | 52 | b |
| अप्रमादाय विद्धि तत् | 51 | 60 | b |
| अप्राप्तिं च मणेः प्राह | 57 | 31 | c |
| अप्यङ्घ्रिमूले पतितस्य मे विभुः | 38 | 16 | a |
| अप्यङ्घ्रिमूलेऽवहितं कृताञ्जलिम् | 38 | 19 | a |
| अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा | 30 | 10 | c |
| अप्यद्य विष्णोर्मनुजत्वमीयुषः | 38 | 10 | a |
| अप्यायास्यति गोविन्दः | 46 | 19 | a |
| अप्याश्लिष्टा वनस्पतेः | 30 | 13 | b |
| अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेहगात्रैः | 30 | 11 | a |
| अप्येष्यतीह दशार्हः | 47 | 44 | a |
| अब्रुवन् विब्रुवन्नज्ञः | 44 | 10 | c |
| अभयमृतमशोकं पाहि माऽऽपन्नमीश | 51 | 58 | d |
| अभिप्रायं स यादवः | 49 | 30 | b |
| अभिभाष्य हलायुधम् | 57 | 45 | b |
| अभिमृश्यारविन्दाक्षः | 56 | 30 | a |
| अभिवाद्य महायशाः | 51 | 21 | b |
| अभीतौ भीरुभीतवत् | 52 | 8 | b |
| अभूदनन्य भावानाम् | 54 | 54 | c |
| अभ्यज्यमाना अकृतोपमज्जनाः | 41 | 26 | b |
| अभ्यद्रवत्तार्क्ष्यसुतं यथोरगः | 59 | 7 | d |
| अभ्यधावन्नभिक्रुद्धाः | 44 | 40 | c |
| अभ्यनन्दन् बहून्दान् | 55 | 37 | c |
| अभ्ययात्तूर्यघोषेण | 53 | 32 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अभ्यवर्षन्सौमनस्यैः | 41 | 29 | c | अर्हयामास विधिवत् | 57 | 29 | c |
| अभ्येति मृगतृष्णां वै | 40 | 27 | c | अर्हयामास सादरम् | 45 | 24 | d |
| अमर्षात्ताम्रलोचनः | 55 | 18 | d | अलक्षयन्त्यो हरिरामयोर्मृधे | 50 | 22 | b |
| अमात्यान् हस्तिपांश्चैव | 36 | 21 | c | अलक्ष्यमाणौ रिपुणा | 52 | 13 | a |
| अमुष्मिन् प्रीतिरधिका | 55 | 34 | c | अलब्धमणिरागत्य | 57 | 26 | a |
| अमृष्यमाणा नाराचैः | 54 | 6 | c | अलब्धराज्ञाः कल्याण्यः | 47 | 37 | c |
| अमोघवीर्यस्तितशचकर्तह | 59 | 13 | d | अलातैः हन्यमानोऽपि | 34 | 8 | a |
| अम्बातेति सादरम् | 45 | 2 | d | अलिकुलैरलघुगीतमभीष्टम् | 35 | 10 | c |
| अम्बष्ठाम्बष्ठमार्गं नः | 43 | 4 | a | अलोकपथमीयुषाम् | 60 | 13 | b |
| अम्बाया इव हि प्रायः | 60 | 47 | c | अवतस्थेऽर्मकान्तिके | 56 | 20 | d |
| अयञ्च यवनो दग्धः | 51 | 42 | c | अवतीर्णाविहांशेन | 41 | 46 | c |
| अयञ्चास्याग्रजः श्रीमान् | 43 | 30 | a | अवतीर्णा विहांशेन | 43 | 23 | c |
| अयं हि परमो लाभः | 60 | 31 | a | अवतीर्णो यदुकुले | 51 | 41 | a |
| अयाचत स चाऽब्रवीत् | 57 | 15 | d | अवतीर्णो विनाशाय | 37 | 14 | c |
| अयादवां महीं कर्तुम् | 50 | 3 | c | अवतीर्णो हि भगवान् | 33 | 27 | c |
| अरत्नी द्वे अरत्निभ्याम् | 44 | 3 | a | अवतीर्णौ जगत्यर्थे | 38 | 32 | c |
| अरिष्टे निहते गोष्ठे | 36 | 16 | a | अवदत्सुहृदां मध्ये | 49 | 16 | c |
| अरिष्टो वृषभासुरः | 36 | 1 | b | अवदद्वदतां श्रेष्ठः | 29 | 17 | c |
| अर्चितं परमर्द्धिमत् | 42 | 16 | b | अवद्यन् स्वधितिनाद्भुतम् | 55 | 5 | d |
| अर्चितं पुनरित्याह | 58 | 37 | a | अवधार्य शनैरीषत् | 55 | 29 | a |
| अर्चित्वा शिरसाऽऽनम्य | 48 | 17 | a | अवधिष्टां लीलयैव | 46 | 24 | c |
| अर्जुनस्याऽऽस सारथिः | 58 | 25 | d | अवधीर्मृगयादिभिः | 51 | 63 | b |
| अर्जुनायाक्षयौ तूणौ | 58 | 26 | c | अवधीलीलया राजन् | 44 | 26 | c |
| अर्जुनौ धेनुकः केशी | 43 | 25 | c | अवनिक्ताङ्घ्रियुगलौ | 42 | 25 | a |
| अर्हणार्थं स मणिना | 56 | 32 | c | अवनिज्याङ्घ्रियुगलम् | 41 | 14 | a |
| अर्हणेनापि गुरुणा | 58 | 35 | c | अवन्तीपुरवासिनम् | 45 | 31 | d |
| अर्हणेनाऽम्बरैर्दिव्यैः | 48 | 16 | c | अवमानञ्च दौरात्म्यात् | 30 | 42 | c |
| अर्हण्यं वै समर्हणैः | 57 | 29 | d | अवरुह्य निजासनात् | 52 | 28 | b |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| अवस्थाप्य बहिः प्रजाः | 56 | 19 | d |
| अविच्छिन्ना मखास्तेऽद्य | 57 | 43 | c |
| अवितृषघटभिश्नोऽलब्धशान्तिः कथञ्चित् | 51 | 58 | b |
| अविदूर इवाभ्येत्य | 34 | 31 | a |
| अविश्रममहर्निशम् | 56 | 24 | d |
| अविषह्यैस्तमाक्षेपैः | 55 | 17 | c |
| अविस्मितोऽयत्न हतारिरुत्स्त्रियैः | 37 | 9 | c |
| अव्यग्रस्तमपृच्छत | 52 | 29 | d |
| अव्यग्रात्मगतिं सती | 53 | 29 | b |
| अव्ययस्याऽप्रमेयस्य | 29 | 14 | c |
| अशयिष्ट गुहाविष्टः | 51 | 21 | c |
| अशनन्त्य एकास्तदपास्य सोत्सवाः | 41 | 26 | a |
| अश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् | 29 | 6 | d |
| अश्रुकण्ठोऽभवत्तूष्णीम् | 46 | 27 | c |
| अश्रुमुख्योऽच्युताशयाः | 39 | 18 | d |
| अश्वपृष्ठे गजस्कन्धे | 54 | 3 | a |
| अश्वाच्छतगुणान् नरान् | 58 | 51 | d |
| अश्वाश्वतरनागोष्ट्र | 54 | 8 | c |
| अश्विनां गजिनां भुवि | 54 | 7 | b |
| अश्वै राजन् गुरुद्रुहम् | 57 | 23 | d |
| अष्टभिश्चतुरो वाहान् | 54 | 27 | a |
| अष्टादशपदानि सः | 36 | 11 | d |
| अष्टादशमसङ्ग्रामे | 50 | 44 | a |
| अष्टौ निधिपतिः केशान् | 50 | 56 | g |
| अष्टौ स सृजति प्रभो | 56 | 11 | b |
| असत्त्वात्कुमतिर्ह्यसौ | 48 | 12 | d |
| असत्यपि द्वितीये च | 42 | 28 | c |
| असन्तुष्टोऽसकृल्लोकान् | 52 | 32 | a |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| असाध्विदं त्वया कृष्ण | 54 | 37 | a |
| असाध्व्यनवद्यात्मा | 53 | 37 | c |
| असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिकाः | 30 | 3 | c |
| असिद्धार्थो विशत्यन्धम् | 49 | 24 | c |
| असुम्भराया निकृतिं जुषः स्त्रियाः | 60 | 54 | d |
| असुराणां क्षयाय च | 51 | 40 | f |
| असुरेभ्यः परित्रस्तैः | 51 | 15 | c |
| असुर्गतकन्धरैः | 39 | 44 | d |
| असृग्वमन् मूत्रशकृत्समुत्सृजन् | 36 | 14 | a |
| अस्तिः प्राप्तिश्च कंसस्य | 50 | 1 | a |
| अस्तौषीदथ विश्वेशम् | 59 | 24 | a |
| अस्त्रैरुपात्तमणिभिः कुचकुङ्कुमानि | 29 | 29 | c |
| अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुरागः | 60 | 46 | a |
| अस्त्वेव नित्यदा तुभ्यम् | 51 | 62 | c |
| अस्त्वेवमेतदुपदेशपदेत्वयीशे | 29 | 32 | c |
| अस्पृष्टवर्त्मनां पुंसाम् | 60 | 13 | a |
| अस्माभ्म तत्प्रभृतिनाऽन्यसमक्षमङ्ग! | 29 | 36 | c |
| अस्मरन् प्रियशंसिनः | 53 | 27 | d |
| अस्मरत् स्वसुतं नष्टम् | 55 | 30 | c |
| अस्माकं नरपुङ्गव | 51 | 31 | b |
| अस्मान् पालयतो वीर | 51 | 17 | c |
| अस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित् | 47 | 43 | d |
| अस्यैव भार्या भवितुम् | 53 | 37 | a |
| अस्वर्म्यमयशस्यञ्च | 29 | 26 | a |
| अहञ्चात्मात्मजागार | 40 | 25 | a |
| अहतांशुकयुग्मेन | 53 | 11 | c |
| अहत्वा दुर्मतिं कृष्णम् | 54 | 52 | a |
| अहत्वा समरे कृष्णम् | 54 | 20 | a |
| अहःपरिक्षमुद्यम्य | 44 | 41 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अहमार्यसमन्वितः | 41 | 17 | b |
| अहम्मामेत्यसद्ब्राह्मः | 40 | 24 | c |
| अहंतेऽधिकृताफत्नी | 55 | 12 | c |
| अहं देवस्य सवितुः | 58 | 20 | a |
| अहं पयो ज्योतिरथानिलो नभः | 59 | 30 | a |
| अहं भर्तू रहस्करः | 47 | 28 | d |
| अहं विद्याधरः कश्चित् | 34 | 12 | a |
| अहं वै देहमिच्छामि | 57 | 28 | a |
| अहीयमानः स्वाद्धर्मात् | 52 | 31 | c |
| अहो अस्मदभूद्भूरि | 39 | 6 | a |
| अहो त्रियामान्तरितः | 53 | 23 | a |
| अहो धिगस्मद्यशआत्तधन्विनाम् | 53 | 56 | c |
| अहो नः परमं कष्टम् | 57 | 9 | c |
| अहो मृत इवाऽऽयातः | 55 | 39 | c |
| अहो यदूनां वृजिनम् | 50 | 46 | c |
| अहो यूयं स्म पूर्णार्थाः | 47 | 23 | a |
| अहो रात्रैश्चतुर्ष्वष्टधा | 45 | 36 | a |
| अहो वराहवपुषः परिरम्भणेन | 30 | 10 | d |
| अहो विधातस्तव न क्वचिद्दया | 39 | 19 | a |
| अहो सुराणां च तमो धिगाढ्यताम् | 51 | 41 | d |
| अंशेन जगदीश्वरः | 33 | 27 | d |
| अंसन्यस्त प्रकोष्ठायाः | 30 | 27 | c |
| अंसन्यस्त विषाणोऽसृक् | 43 | 15 | c |
| अंसे चन्दनरूषितम् | 32 | 5 | d |
| **आ** | | | |
| आकर्ण्य द्वारकौकसः | 55 | 39 | b |
| आकर्ण्य व्रजयोषितः | 47 | 38 | b |
| आकल्पैरनुरूपतः | 41 | 40 | d |
| आकाशात्सूर्यवर्चसौ | 50 | 11 | b |
| आकीर्यमाणो दिविजैः | 55 | 25 | a |
| आकृत्यावयवैर्गत्या | 55 | 33 | c |
| आक्रीडानीक्षमाणानाम् | 46 | 22 | c |
| आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापतेः | 30 | 2 | c |
| आख्यानं पठति शृणोत्यनुस्मरेद्वा | 57 | 50 | c |
| आगच्छयाम गेहान्नः | 41 | 12 | a |
| आगता ह्युपपन्नं तत् | 29 | 23 | c |
| आगत्य नेत्राञ्जलिभिः | 53 | 36 | c |
| आगत्य भगवांस्तस्मात् | 57 | 10 | a |
| आगमिष्यत्यदीर्घेण | 46 | 34 | a |
| आगमिनि तदन्तरा | 50 | 44 | b |
| आघ्राय सन्मुखरितं जनतापवर्गम् | 60 | 42 | b |
| आचख्यौ सर्वमेतस्मै | 49 | 6 | c |
| आचितकोमल वालुकम् | 32 | 13 | d |
| आजगाम जरासन्धः | 52 | 6 | c |
| आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः | 29 | 4 | c |
| आजग्मुर्भुजगस्सर्वे | 53 | 19 | c |
| आजग्मुश्चैद्यपक्षीयाः | 53 | 17 | c |
| आतिथ्यं विदधे यथा | 53 | 34 | d |
| आतुरस्य मुमूर्षतः | 50 | 20 | d |
| आत्मजेष्वात्मनोऽपि हि | 45 | 21 | d |
| आत्मजो भगवान्हरिः | 46 | 42 | b |
| आत्मना च धनेन च | 45 | 6 | b |
| आत्मनाऽऽत्माश्रयः पूर्वम् | 37 | 13 | a |
| आत्मनो मणिनाऽमुना | 56 | 31 | d |
| आत्मन्यविद्यया क्लृप्तः | 54 | 45 | c |
| आत्मन्येवाऽऽत्मनाऽऽत्मानम् | 47 | 30 | a |
| आत्मव्रतस्य मयि चानतिरिक्तदृष्टेः | 60 | 46 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| आत्ममायानुभावेन | 47 | 30 | c | आत्मोपनयनं प्रति | 53 | 30 | d |
| आत्ममोहो नृणामेष | 53 | 43 | a | आददे वितथोद्यमः | 59 | 21 | b |
| आत्मलब्ध्याऽस्महे पूर्णा | 60 | 20 | c | आदात्ताम्बूलचर्वितम् | 33 | 13 | d |
| आत्मलोकं गता इव | 39 | 15 | d | आदाय रथमारुह्य | 46 | 7 | c |
| आत्मवैधव्यकारणम् | 50 | 2 | d | आदाय रथमाविशत् | 45 | 42 | f |
| आत्मशोषविमोहनम् | 54 | 49 | b | आदाय वाससाच्छन्नम् | 57 | 44 | c |
| आत्मसृष्टमिदं विश्वम् | 48 | 20 | a | आदायोपायनं भूरि | 39 | 33 | c |
| आत्मा ज्ञानमयश्शुद्धः | 47 | 31 | a | आदानं सह भार्यया | 37 | 19 | b |
| आत्माऽऽत्मतन्त्रो बहुधा विभाति | 48 | 21 | d | आदित्योऽस्तमुपेयिवान् | 42 | 23 | b |
| आत्माऽऽत्मदश्च जगतामिति मे वृतोऽसि | 60 | 39 | b | आदिपूरुष इवाऽचलभूतिः | 35 | 8 | b |
| आत्मानन्देन पूर्णस्य | 58 | 37 | c | आद्रियन् यर्हि सन्धितवेणुः | 35 | 10 | d |
| आत्मानमत्र च परत्र च कामपूरम् | 60 | 43 | b | आधिपत्यं स्वसिद्धये | 50 | 57 | d |
| आत्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य | 48 | 27 | d | आनन्दमूर्तिमजहादतिदीर्घतापम् | 48 | 8 | d |
| आत्मानमाजौ मृगयन्तमग्रणीः | 37 | 3 | c | आनन्दमूर्तिमुपगूह्य दृशाऽऽत्मलब्धम् | 41 | 28 | c |
| आत्मारामा ह्याप्तकामा | 32 | 20 | c | आनयस्व महाराज | 45 | 46 | c |
| आत्मारामोऽपि लीलया | 33 | 20 | d | आनर्चुरर्हणैर्भक्त्या | 34 | 2 | c |
| आत्मारामोऽप्यखण्डितः | 30 | 36 | b | आनर्चुः पुरुषारङ्गम् | 42 | 33 | a |
| आत्मारामोऽप्यरीरमत् | 29 | 42 | d | आनतदिकरात्रेण | 53 | 6 | c |
| आत्मापितश्च भवतोऽत्र विभो विधेहि | 52 | 39 | b | आनर्तादिपतिः श्रीमान् | 52 | 15 | a |
| आत्मा हि तीर्थीक्रियते तदैव मे | 38 | 20 | c | आनीतासि मया तन्वि | 60 | 19 | c |
| आत्मानं दर्शयामास | 51 | 23 | c | आनीताः स्वपुरं राज्ञा | 48 | 34 | c |
| आत्मानं नाविदन् स्त्रियः | 42 | 14 | b | आपतत् स्विन्नसर्वाङ्गः | 36 | 12 | c |
| आत्मानं मनसा गताः | 46 | 4 | d | आपस्तेऽङ्घ्रयवनेजन्यः | 41 | 15 | a |
| आत्मानं मेनिरे स्त्रीणाम् | 29 | 47 | c | आपीतमपि नाऽतृप्यत् | 32 | 8 | c |
| आत्मानं वल्गुभामिव | 60 | 21 | b | आपीयाऽऽपीय नाऽतृप्यन् | 32 | 4 | c |
| आत्मानं सप्तधाकृत्वा | 58 | 45 | c | आपूरयन्नण्डकटाहमावृणोत् | 59 | 8 | d |
| आत्मीयेनैव पाप्मना | 51 | 34 | b | आपूर्णकुम्भागुरुधूपदीपकैः | 54 | 56 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| आपूर्णकुम्भैर्दधिचन्दनोक्षितैः | 41 | 23 | a |
| आपृच्छे शापनिर्मुक्तः | 34 | 15 | c |
| आपृष्टवांस्तां कुशलं सहस्नुषाम् | 58 | 7 | c |
| आप्तकामो यदुपतिः | 33 | 29 | a |
| आप्नोत्यपि सुरेश्वरः | 52 | 32 | b |
| आब्रह्मस्थावरादयः | 40 | 12 | d |
| आययौ द्वारकां भूयः | 58 | 28 | c |
| आयातौ स्वपुरं तात | 45 | 49 | e |
| आयादायोधनं बली | 59 | 15 | f |
| आयास्य इति दौत्यकैः | 39 | 35 | d |
| आयास्ये भवतो गेहम् | 41 | 17 | a |
| आयुधानि च दिव्यानि | 50 | 12 | a |
| आयुधाश्मद्रुमैर्दोर्भिः | 56 | 23 | c |
| आयोधनगतं वित्तम् | 50 | 41 | a |
| आरभ्यतां धनुर्यागः | 36 | 58 | a |
| आराद्वीक्ष्य स्वबान्धवान् | 48 | 14 | b |
| आराधितो यदिगदाग्रजएत्यपाणिम् | 52 | 40 | c |
| आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरेः | 51 | 56 | c |
| आरुह्य स्यन्दनं शौरिः | 53 | 6 | a |
| आरुह्यैका पदाऽऽक्रम्य | 30 | 21 | a |
| आरोप्य सेन्द्रान् विबुधान् | 59 | 39 | c |
| आलक्ष्य लक्षणाभिज्ञा | 53 | 29 | c |
| आवयोर्युध्यतोरस्य | 50 | 48 | a |
| आविध्य शूलं तरसा गरुत्मते | 59 | 8 | a |
| आविष्टपारावतबर्हिनादिताम् | 41 | 22 | b |
| आवेदयामास तस्यै | 53 | 30 | a |
| आशासताऽऽशिषऋता मधुपुर्यभूवन् | 42 | 24 | b |
| आशांधृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र | 29 | 33 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| आशीर्भिर्मिद्यते क्वचित् | 51 | 60 | d |
| आश्रुत्य भीता हृदि जातवेपथुः | 60 | 22 | c |
| आश्लिष्य बाहुना राजन् | 60 | 27 | c |
| आसज्जमानस्य दुरन्तचिन्तया | 51 | 48 | d |
| आसन् कृष्णस्य वार्तया | 47 | 55 | d |
| आसन् वै द्वारकौकसाम् | 57 | 34 | b |
| आससादाऽथचाणूरम् | 44 | 1 | c |
| आसाते ताविहानेन | 36 | 62 | c |
| आसाद्य देवीसदनम् | 53 | 44 | a |
| आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम् | 47 | 61 | a |
| आसिञ्चती कुङ्कुमरूषितौस्तनौ | 60 | 23 | c |
| आसीच्छलोक्योबलिर्महान् | 41 | 14 | b |
| आसीत्तदष्टविंशाहम् | 56 | 24 | a |
| आसीत् राजाऽतिधार्मिकः | 58 | 32 | b |
| आसीत् सत्राजितः सूर्यः | 56 | 3 | a |
| आसीनं काञ्चनासने | 52 | 27 | d |
| आसीनौ पुनरेव सः | 39 | 43 | b |
| आसेदतुस्तं तरसा | 34 | 28 | c |
| आस्ते कुशल्यपत्यार्थैः | 46 | 16 | c |
| आस्ते ज्योतिरिवैधसि | 46 | 36 | d |
| आस्ते तेनाऽऽहृतोनूनम् | 45 | 41 | a |
| आस्थिताः पदवीं सुभ्रूः | 60 | 13 | c |
| आस्थितो गृहमेधीयान् | 60 | 59 | c |
| आस्थूरिकावर्तभयानका महा | 50 | 27 | c |
| आह चाऽस्मान्महाराज | 45 | 13 | a |
| आह चोर क्षणं तिष्ठ | 54 | 24 | c |
| आहूतप्रेष्ठभू भुजाम् | 54 | 57 | b |
| आहूतस्तेन गोविन्दः | 57 | 12 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| आहूय कान्तां नवसङ्गमह्रिया | 48 | 7 | a |
| आहूय दूरगा यद्वत् | 30 | 18 | a |
| आहूयन्तां जानपदाः | 36 | 56 | c |
| आहूय यदुपुङ्गवम् | 36 | 59 | b |
| आहृतं प्रादिशत्प्रभुः | 50 | 41 | d |
| आहृताश्चारुदर्शनाः | 58 | 58 | d |
| आहोष्यतामिहोष्ठेष्ठ | 48 | 10 | a |
| **इ** | | | |
| इच्छन्ता वुपजग्मतुः | 45 | 31 | b |
| इच्छन् विमोक्तुमात्मानम् | 37 | 32 | c |
| इतरागविस्मारणं नृणाम् | 31 | 14 | c |
| इतरेतरमुष्टिभिः | 56 | 24 | b |
| इतस्ततो विलङ्घद्भिः | 46 | 10 | a |
| इति क्षिपन्नुगतः | 51 | 8 | c |
| इति गोप्यः प्रगायन्त्यः | 32 | 1 | a |
| इति गोप्यो हि गोविन्दे | 47 | 9 | a |
| इति तस्मै वरं दत्वा | 41 | 52 | a |
| इति त्रिलोकाधिपतेस्तदाऽऽत्मनः | 60 | 22 | a |
| इति दूतैस्समानीय | 57 | 38 | c |
| इति देहात्ममानिनाम् | 54 | 43 | d |
| इति निश्चितमानसाः | 53 | 19 | b |
| इति निश्चित्य यवनः | 51 | 6 | a |
| इति ब्रुवन्तं सा भूयः | 36 | 40 | a |
| इति ब्रुवन्तीं परिसान्त्वयन्हरिः | 36 | 38 | a |
| इति ब्रुवन्तीं प्रावोच | 36 | 43 | c |
| इति भूम्यार्थितो वाग्भिः | 59 | 32 | a |
| इति मत्वाऽच्युतं मूढः | 51 | 10 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| इति मायामनुष्यस्य | 45 | 10 | a |
| इति मे नारदः प्राह | 36 | 50 | c |
| इति विक्लवितं तासाम् | 29 | 42 | a |
| इति विज्ञातविज्ञानम् | 56 | 29 | a |
| इति विप्रियमाकर्ण्य | 29 | 28 | a |
| इति वृद्धवचः श्रुत्वा | 57 | 38 | a |
| इति वै वार्षिकान् मासान् | 58 | 12 | a |
| इति सञ्चिन्तयन् कृष्णम् | 38 | 24 | a |
| इति सम्मन्त्र्य भगवान् | 50 | 50 | a |
| इति सर्वाः पृथक् कृष्णे | 59 | 35 | c |
| इति सर्वे सुसंरब्धाः | 54 | 1 | a |
| इति संस्मृत्य संस्मृत्य | 46 | 27 | a |
| इति स्त्रीणां वदन्तीनाम् | 46 | 49 | c |
| इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुकाः | 47 | 2 | c |
| इत्थं भगवतो गोप्यः | 33 | 1 | a |
| इति रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ताः | 59 | 44 | a |
| इत्थं वदन्त्यां तस्यां सः | 36 | 48 | a |
| इत्थं विकत्थमानस्य | 41 | 37 | a |
| इत्थं सूनृतया वाचा | 38 | 43 | a |
| इत्थं सोऽनुगृहीतोऽङ्ग | 52 | 1 | a |
| इत्यक्रूरं समादिश्य | 48 | 37 | a |
| इत्यङ्गोपदिशन्त्येके | 57 | 35 | a |
| इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हम् | 34 | 18 | a |
| इत्यनुस्मृत्य स्वजनम् | 49 | 14 | a |
| इत्यभिप्रेत्य नृपतेः | 49 | 30 | a |
| इत्यभिप्रेप्य राजेन्द्र | 41 | 49 | a |
| इत्यर्चितस्संस्तुतश्च | 48 | 29 | a |
| इत्यस्राक्षौ विलेपतुः | 57 | 9 | d |
| इत्याज्ञाप्यार्थतन्त्रज्ञः | 36 | 59 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| इत्यास्फोट्याऽच्युतोऽरिष्टम् | 36 | 8 | a |
| इत्युक्त उद्धवो राजन् | 46 | 7 | a |
| इत्युक्तस्तं प्रणम्याऽऽह | 51 | 45 | a |
| इत्युक्तस्तेन देवेशः | 45 | 45 | e |
| इत्युक्तस्तौ परिष्वज्य | 45 | 25 | a |
| इत्युक्तश्स्वां दुहितरम् | 56 | 32 | a |
| इत्युक्त्वा चोदयामास | 41 | 6 | a |
| इत्युक्त्वा तत्रावसत् रुषा | 54 | 52 | d |
| इत्युक्त्वाऽऽन्तरधीयत | 36 | 48 | d |
| इत्युक्त्वा मिथिलां राजन् | 57 | 28 | c |
| इत्युक्त्वा रथमारुह्य | 54 | 21 | a |
| इत्युक्त्वैकेन हस्तेन | 30 | 20 | c |
| इत्युन्मज्ज्य व्यचष्ट सः | 39 | 42 | d |
| इत्युन्मत्तवचो गोप्यः | 30 | 14 | a |
| इत्येते गुह्यसन्देशाः | 52 | 44 | a |
| इत्येवं प्रतपन्त्यस्ताः | 30 | 35 | c |
| इत्येवं वादिनं क्रुद्धा | 36 | 46 | a |
| इन्द्रध्वज इवाऽपतत् | 44 | 23 | d |
| इन्द्रप्रस्थं गतः श्रीमान् | 57 | 1 | c |
| इन्द्रप्रस्थौकसांविभुः | 58 | 12 | d |
| इन्द्रमाश्वास्य गोविन्दः | 59 | 2 | e |
| इन्द्रमुक्तोऽशनिर्यथा | 36 | 10 | d |
| इन्द्रश्च विमदः कृतः | 43 | 26 | d |
| इन्द्रस्य च पराजयम् | 37 | 17 | d |
| इन्द्राद्यै रात्मरक्षणे | 51 | 15 | b |
| इन्द्रेण हृतच्छत्रेण | 59 | 2 | a |
| इमानतिक्रम्य महीजलाग्नि | 36 | 41 | a |
| इमान्यधिकमग्नानि | 30 | 32 | a |
| इह चार्थो न विद्यते | 33 | 33 | b |
| इह प्राप्तो भवान् प्रभो | 55 | 13 | d |
| इहामुत्र च लप्स्यसे | 60 | 17 | d |
| **ई** | | | |
| ईक्षती भगवन्मुखम् | 60 | 33 | b |
| ईदृशान्येव वासांसि | 41 | 35 | a |
| ईयतुः स्वपितुर्गृहान् | 50 | 1 | d |
| ईयसे बहुधाब्रह्मन् | 48 | 20 | c |
| ईशयोरप्रमाणवित् | 52 | 9 | d |
| ईशितुश्चेशितव्यानाम् | 33 | 34 | c |
| ईश्वरस्य विधिंकोनु | 49 | 28 | a |
| ईश्वरस्यापवर्गिकात् | 49 | 12 | d |
| ईश्वरस्याप्रमाणवित् | 54 | 23 | a |
| ईश्वराणाञ्च साहसम् | 33 | 30 | b |
| ईश्वराणां वचस्सत्यम् | 33 | 32 | a |
| ईहते सुखदुःखयोः | 54 | 12 | d |
| **उ** | | | |
| उक्तं च सत्यवचनम् | 53 | 30 | c |
| उक्तं पुरस्तादेतत्ते | 29 | 13 | a |
| उग्रसेनञ्च दुर्बुद्धिम् | 36 | 52 | a |
| उग्रसेनञ्च मत्पितरम् | 36 | 66 | a |
| उग्रसेनवपुर्बिभ्रत् | 36 | 35 | c |
| उग्रसेनः पिताचाऽपि | 44 | 33 | c |
| उच्चै र्जगृहुर्नृत्यमानाः | 33 | 9 | a |
| उच्छितीन्द्रमिवाऽर्भकः | 57 | 20 | d |
| उजिहानमिवोडुपम् | 51 | 1 | b |
| उत्तमश्लोक आगमत् | 55 | 35 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| उत्तमश्लोकदर्शनम् | 38 | 4 | b |
| उत्तमश्लोकसंविदम् | 47 | 48 | b |
| उत्तम्भसन्नतिपतिं रमयाञ्चकार | 29 | 46 | d |
| उत्तरीयान्तमाकृष्य | 42 | 9 | c |
| उत्तस्थुर्युगपत् वीराः | 58 | 2 | c |
| उत्तस्थुर्युगपत्सर्वाः | 32 | 3 | c |
| उत्थापनै रुन्नयनैः | 44 | 5 | a |
| उत्पाट्यैकेन पाणिना | 57 | 20 | b |
| उत्सर्पणापसर्पणैश्च हि | 44 | 4 | c |
| उत्सवं स्मररुजास्तदृशीनाम् | 35 | 23 | a |
| उत्सार्य वामकरजैरलकानपाङ्गैः | 53 | 54 | c |
| उदनीनमदच्युतः | 42 | 7 | d |
| उदारुचिरक्रीडौ | 38 | 31 | a |
| उदारहासद्विजकुन्ददीधितिः | 29 | 43 | c |
| उदासीना वयं नूनम् | 60 | 20 | a |
| उदिते सवितुर्यथा | 39 | 32 | b |
| उदितोडुपतारकम् | 34 | 22 | b |
| उदीरितस्सर्वजनैः नरेन्द्र | 44 | 38 | d |
| उदुम्बरे वा मशका मनोमये | 40 | 16 | d |
| उद्गायतीनामरविन्दलोचनम् | 46 | 46 | a |
| उद्धवं पूजयाञ्चक्रुः | 47 | 53 | c |
| उद्धवः परमप्रीतः | 47 | 57 | c |
| उद्धवः पुनरागच्छत् | 47 | 68 | c |
| उद्धवेत्यतलौकिकाः | 47 | 9 | d |
| उद्धवोऽगात्कृताह्निकः | 46 | 49 | d |
| उद्धवो बुद्धिसत्तमः | 46 | 1 | d |
| उद्यत्पुच्छमपमेघः | 36 | 9 | c |
| उद्यम्य पुच्छं वज्राणि | 36 | 2 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| उद्यम्य बाहूनभिधावतोऽजितः | 59 | 10 | c |
| उद्यानरम्योपवनोपशोभिताम् | 41 | 20 | d |
| उद्धमन् मखतोऽर्दितः | 44 | 25 | b |
| उद्वाहप्रेक्षणोत्सुकौ | 53 | 32 | b |
| उद्वाहर्क्षं च विज्ञाय | 53 | 4 | a |
| उद्वाहं वीरकन्यानाम् | 37 | 18 | a |
| उद्वाहो मेऽल्पराधसः | 53 | 23 | b |
| उद्वेलमिव सागरम् | 50 | 5 | b |
| उन्नयन् खुररजश्छुरितस्रक् | 35 | 23 | b |
| उन्निन्ये पूजिता तेन | 33 | 10 | c |
| उन्निन्ये प्रेयसीं प्रियः | 30 | 31 | d |
| उपकल्प्य महामतिः | 53 | 34 | b |
| उपगम्य सतां गतिः | 52 | 29 | b |
| उपगीयमान उद्गायन् | 29 | 44 | a |
| उपगीयमान विजयः | 50 | 37 | c |
| उपगीयमानो ललितम् | 34 | 21 | a |
| उपगुह्य महामनाः | 38 | 37 | b |
| उपजग्मुः प्रमुदिताः | 55 | 29 | c |
| उपतस्थु र्महामायाम् | 56 | 36 | c |
| उपतस्थे सुखासीनम् | 60 | 6 | c |
| उपयेमे इति श्रुतम् | 52 | 18 | d |
| उपयेमे कुरूद्वह | 52 | 15 | b |
| उपयेमे कुरूद्वह | 54 | 53 | d |
| उपयेमे पितृष्वसुः | 58 | 56 | b |
| उपयेमे यथाविधि | 56 | 45 | b |
| उपलब्धं पतिप्रेम | 60 | 51 | a |
| उपलभ्य हृषीकेशम् | 56 | 38 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| उपविष्टमिह ध्रुवम् | 30 | 35 | b |
| उपवेश्यार्हयाञ्चक्रे | 52 | 28 | c |
| उपश्रुत्य गिरः स्त्रीणाम् | 44 | 18 | a |
| उपस्पृश्य शुचिः शान्ता | 53 | 44 | c |
| उपाजह्रुरुपायनम् | 55 | 5 | b |
| उपायनानि गृहणीध्वम् | 39 | 11 | c |
| उपायनान्यभीष्टानि | 53 | 33 | c |
| उपायोऽयं समीचीनः | 56 | 43 | c |
| उपासाञ्चक्रे ईश्वरम् | 60 | 7 | d |
| उपाह्वयत्स व्यनदन्मृगेन्द्रवत् | 37 | 3 | d |
| उपेक्षितो भगवता | 50 | 35 | c |
| उभयोरनुलेपनम् | 42 | 4 | d |
| उभयोर्विजिगीषतोः | 56 | 23 | b |
| उभावपि निपेततुः | 44 | 27 | d |
| उवाच करणं सती | 54 | 32 | d |
| उवाच कस्त्वं कितवाऽर्यगर्हितम् | 36 | 37 | c |
| उवाच जन्मनिलयम् | 49 | 7 | c |
| उवाच पितरावेत्य | 45 | 2 | a |
| उवाच भूयो वचनम् | 36 | 28 | c |
| उवाच हस्तिपं वाचा | 43 | 3 | c |
| उवाचाऽवनतः कृष्णम् | 45 | 45 | a |
| उवास कतिचिन्मासान् | 47 | 54 | a |
| उवास कतिचिन्मासान् | 49 | 4 | a |
| उवास तस्यां कतिचित् | 57 | 30 | a |
| उषित्वा रथ मास्थाय | 38 | 1 | c |
| उह्यमानः सुपर्णेन | 59 | 18 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **ऊ** | | | |
| ऊचुः परस्परं ते वै | 43 | 22 | a |
| ऊचुः परस्परं राजन् | 44 | 6 | c |
| ऊचुः पौरा अहो गोप्य | 41 | 31 | a |
| ऊधो भारेश्च वत्सकान् | 46 | 9 | d |
| ऊषतुस्तां सुखं रात्रिम् | 42 | 25 | c |
| ऊषुः सरस्वतीतीरे | 34 | 4 | a |
| **ऋ** | | | |
| ऋक्षराजबिलं भीमम् | 56 | 19 | a |
| ऋक्षराजानमच्युतः | 56 | 29 | b |
| ऋक्षेण ददृशुर्जनाः | 56 | 18 | d |
| ऋज्वीं कर्तुं मनश्चक्रे | 42 | 6 | c |
| ऋतुस्नातास्वलङ्कृता | 36 | 33 | d |
| ऋते कंस विप्रमुख्याः | 44 | 30 | c |
| ऋते कैवल्यमत्र नः | 51 | 20 | b |
| ऋत्विजो दत्तदक्षिणम् | 47 | 7 | d |
| ऋषभ ते वयं रक्षिता मुहुः | 31 | 3 | d |
| ऋषीन्भिरूपानङ्गिरसः | 34 | 13 | a |
| **ए** | | | |
| एक एतद्विपर्ययम् | 32 | 17 | b |
| एक एव च दुष्कृतम् | 49 | 21 | d |
| एक एव परो ह्यात्मा | 54 | 44 | a |

| | अध्याय | श्लोक | पाद | | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| एक एव प्रतीयते | 49 | 21 | b | एतैर्भग्नाः सुबहुशः | 58 | 43 | c |
| एक एवेश्वरस्तस्य | 51 | 20 | c | एतौ भगवतस्साक्षात् | 43 | 23 | a |
| एकदा ते पशून् पालान् | 37 | 27 | a | एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी | 46 | 31 | a |
| एकदा देवयात्रायाम् | 34 | 1 | a | एधमाने कुलामये | 39 | 5 | b |
| एकदा पाण्डवान् द्रष्टुम् | 58 | 1 | a | एधसोऽग्निशिखामिव | 53 | 3 | d |
| एकदा रथमारुह्य | 58 | 13 | a | एवमाघोषयत्क्षत्रा | 39 | 12 | e |
| एकस्मिन्नग्र आविशन् | 42 | 38 | d | एवमादिश्य चाऽक्रूरम् | 36 | 71 | a |
| एकः प्रसूयते जन्तुः | 49 | 21 | a | एवमाश्वास्य पितरौ | 45 | 12 | a |
| एका कृष्णार्भभावानाम् | 30 | 16 | b | एवमीश्वरतन्त्रोऽयम् | 54 | 12 | c |
| एका तदङ्घ्रियुगलम् | 32 | 6 | c | एवमुक्तस्स वै देवान् | 51 | 21 | a |
| एकान्तधामयशसः श्रिय ऐश्वरस्य | 44 | 14 | d | एवमुक्तः प्रियामाह | 30 | 39 | a |
| एकाऽपहृत्य गोपीनाम् | 30 | 30 | c | एवमुक्तो भगवता | 41 | 18 | a |
| एका भ्रुकुटिमाबध्य | 32 | 7 | a | एवमेतदचिन्तयत् | 38 | 2 | d |
| एके त्वाऽखिलकर्माणि | 40 | 7 | a | एवं ककुद्मिनं हत्वा | 36 | 15 | a |
| एको ज्योतिर्विवैधसाम् | 37 | 12 | b | एवं कृष्णं पृच्छमानाः | 30 | 24 | a |
| एकोऽनुभुङ्क्तेसुकृतम् | 49 | 21 | c | एवं क्षितोऽपि भगवान् | 51 | 9 | a |
| एको विवेश भगवान् | 56 | 19 | c | एवं चर्चितसङ्कल्पः | 44 | 1 | a |
| एतज्ज्ञात्वाऽऽनय क्षिप्रम् | 36 | 68 | a | एवं चिन्तयती बाला | 53 | 26 | a |
| एततुल्यवयोरूपः | 55 | 32 | c | एवं चेदिपती राजा | 53 | 14 | a |
| एतदन्तस्समाम्नायः | 47 | 33 | a | एवं दृष्ट्वा तमक्रूरः | 40 | 1 | a |
| एतदर्थं हि नौ जन्म | 50 | 14 | c | एवं ध्यायति गोविन्दे | 50 | 11 | a |
| एतदर्थोऽवतारोऽयम् | 50 | 9 | a | एवं निर्जित्य भूमिपान् | 54 | 53 | b |
| एतन्नो ब्रूहि साधु भोः | 32 | 17 | d | एवं निर्भर्त्सितोऽम्बष्ठः | 43 | 5 | a |
| एतावदुक्त्वा भगवान् | 60 | 21 | a | एवं निशा सा ह्युतोर्व्यतीता | 46 | 44 | a |
| एताः परं तनुभृतो भुविगोपवध्वः | 47 | 58 | a | एवं परिष्वङ्गकराभिमर्श | 33 | 17 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| एवं प्रबोधितो मित्रैः | 54 | 17 | a |
| एवं प्रभाषमाणासु | 44 | 17 | a |
| एवं प्रियतमाऽऽदेशम् | 47 | 38 | a |
| एवं प्रेमकलाबद्धाम् | 53 | 39 | a |
| एवं ब्रुवाणा विरहातुराभृशम् | 39 | 31 | a |
| एवं भगवतः कृष्णात् | 29 | 47 | a |
| एवं भगवता तन्वी | 54 | 50 | a |
| एवं भवान्केवल आत्मयोनिषु | 48 | 21 | c |
| एवं भिन्नमतिस्ताभ्याम् | 57 | 5 | a |
| एवं मदर्थोज्झितलोकवेद | 32 | 22 | a |
| एवं मीमांसमानायाम् | 55 | 35 | a |
| एवं यदुपतिं कृष्णम् | 37 | 25 | a |
| एवं राज्ञां समेतानाम् | 53 | 35 | a |
| एवं वध्वा प्रतीक्षन्त्या | 53 | 27 | a |
| एवं विकत्थमाने वै | 44 | 34 | a |
| एवं विक्रीडतोः स्वैरम् | 34 | 25 | a |
| एवं व्यवसितो बुद्ध्या | 56 | 44 | a |
| एवं व्रजस्त्रियो राजन् | 35 | 26 | a |
| एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः | 33 | 26 | a |
| एवं सप्तदशकृत्वः | 50 | 42 | a |
| एवं सभाजितोगोपैः | 47 | 68 | a |
| एवं समयमाकर्ण्य | 58 | 45 | a |
| एवं सम्पृष्टसम्प्रश्नः | 52 | 36 | a |
| एवं सम्भाषितो राज्ञा | 51 | 36 | a |
| एवं सम्मन्त्य दाशार्हो | 50 | 15 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| एवं सान्त्वय्य भगवान् | 45 | 24 | a |
| एवं सामभिरालब्धः | 57 | 44 | a |
| एवं सौरतसंलापैः | 60 | 58 | a |
| एवं स्त्रिया याच्यमानः | 42 | 11 | a |
| एष आयाति सविता | 56 | 7 | a |
| एष किल देवक्याम् | 43 | 24 | a |
| एष क्रीडन देहभाक् | 33 | 36 | d |
| एष ते रथ आयातः | 50 | 13 | c |
| एष त्वानिर्दशं सिन्धौ | 55 | 13 | a |
| एष हि प्रभवाप्ययः | 44 | 48 | b |
| एषां राजसभासदाम् | 44 | 7 | b |
| एष्यामि ते गृहं सुभ्रु | 42 | 12 | a |
| एहि वीर गृहं यामः | 42 | 10 | a |

**ऐ**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ऐक्यं सौहृदमेवच | 29 | 15 | b |
| ऐक्ष्वाकाः क्षत्रबन्धवः | 51 | 32 | b |
| ऐरावतकुलेभांश्च | 59 | 37 | a |
| ऐश्वर्यमतुलं लेभे | 41 | 14 | c |

**औ**

| | | | |
|---|---|---|---|
| औत्सुक्यनिभृतात्मनाम् | 33 | 4 | f |
| औपपत्यं कुलस्त्रियाः | 29 | 26 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **क** | | | |
| क उत्सहेत सन्त्यक्तुम् | 47 | 48 | a |
| ककुद्यचलशङ्कया | 36 | 4 | d |
| कङ्कन्यग्रोधकादयः | 44 | 40 | b |
| कचित्कुरबकाशोक | 30 | 6 | a |
| कचित्तुलसि कल्याणि | 30 | 7 | a |
| कचिदङ्ग महाभाग | 46 | 16 | a |
| कचिद्भद्राग्रजः सौम्य | 47 | 40 | a |
| कचिद्भद्रः कुशलं ब्रूहन् | 52 | 34 | a |
| कचिद्विद्वजवर श्रेष्ठ! | 52 | 30 | a |
| कटाक्षिप्याद्रवत्तूर्णम् | 36 | 10 | c |
| कटाक्षेपारुणापाङ्गम् | 60 | 30 | c |
| कटिसूत्रब्रह्मसूत्र | 39 | 51 | c |
| कण्ठसूत्रफलेक्षुभिः | 53 | 48 | d |
| कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः | 33 | 4 | b |
| कथञ्चिदव्यङ्गमयत्नतोऽनघ | 51 | 47 | b |
| कथयित्वा प्रियाः कथाः | 57 | 39 | b |
| कथं जुगुप्सिता मेताम् | 34 | 11 | c |
| कथं तं विस्मराहे | 47 | 51 | d |
| कथं त्वनेन सम्प्राप्तम् | 55 | 33 | a |
| कथं पुनर्नः प्रतियास्यतेऽबलाः | 39 | 24 | c |
| कथं मया निहन्तव्यम् | 36 | 27 | c |
| कथं मृजा म्यात्मरजः | 56 | 41 | c |
| कथं रति विशेषज्ञः | 47 | 41 | a |
| कथं स्थ निरनुग्रहे | 38 | 41 | b |
| कथ्यतां यदि रोचते | 51 | 31 | d |
| कदाचित्कमलेक्षणा | 36 | 30 | b |
| कदाचिदथ गोविन्दः | 34 | 20 | a |
| कदाचिद्भगवाऽनृषिः | 36 | 50 | d |
| कन्याचान्तः पुरात् प्रागात् | 53 | 39 | c |
| कन्यायाः स्यात् रतिः क्वचित् | 60 | 47 | d |
| कन्यारत्नं विगृह्य नः | 57 | 4 | b |
| कन्याबर इहेप्सितः | 58 | 41 | b |
| कन्याबर परीप्सया | 58 | 42 | d |
| कन्यां कलहशङ्कितः | 53 | 20 | d |
| कन्यां चैद्याय साधितुम् | 53 | 18 | b |
| कन्यां जाम्बवतीं मुदा | 56 | 32 | b |
| कन्यां त्वदीयां नहि शुल्कदा वयम् | 58 | 40 | d |
| कन्यैका च वरानना | 52 | 21 | d |
| कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्ययाः स्युः | 47 | 15 | b |
| कम्पयन् खुर विक्षताम् | 36 | 1 | d |
| कम्बुकण्ठं निम्ननाभिम् | 39 | 48 | c |
| करभा ऊरवोऽङ्घ्रयः | 54 | 8 | b |
| करभोरुद्वयान्वितम् | 39 | 49 | b |
| करवाणि किमल्पकः | 58 | 37 | d |
| करवाम प्रियं नित्यम् | 43 | 37 | c |
| करसरोरुहं कान्तकामदं | 31 | 5 | c |
| करस्पर्शेन माधवः | 30 | 8 | d |
| करा द्विगलित स्सोऽमुम् | 43 | 6 | c |
| करारोपितमुद्गरः | 36 | 26 | b |
| करिण्य इव यूथपम् | 30 | 1 | d |
| करीन्द्रस्त मभिद्रुत्य | 43 | 6 | a |
| करुणः सोऽन्वकम्पत | 60 | 25 | d |
| करुणानाथ वत्सल | 44 | 45 | b |
| करुणाः पितरो यथा | 32 | 19 | b |
| करेणतपसाऽग्रहीत् | 43 | 6 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| करेणवामेन सलील मुद्धृतम् | 42 | 17 | a |
| करेणोः करिणा यथा | 30 | 27 | d |
| करोति कर्माणि तपस्सु निष्ठितः | 51 | 53 | a |
| करोति पुरयोषिताम् | 47 | 40 | b |
| करोतु सत्या यदहं धृतव्रता | 58 | 36 | d |
| करोरुमीनानरकेश शैवलाः | 50 | 27 | a |
| करोषि पारोक्ष्य मसाधु ते कृतम् | 39 | 20 | d |
| कर्णं सुयोधनं द्रौणिम् | 49 | 2 | c |
| कर्णकर्णेऽजपञ्जनाः | 56 | 16 | d |
| कर्णोत्पलालकविटङ्ककपोलघर्म | 33 | 16 | a |
| कर्ता द्रक्ष्याम्यहं तानि | 37 | 21 | c |
| कर्ता महा नित्यखिलं चराचरम् | 59 | 30 | c |
| कर्तेवाऽहन्धिया स्मृतः | 46 | 41 | d |
| कर्मणा रामकृष्णयोः | 44 | 30 | b |
| कर्मभिर्भ्राम्यमाणानाम् | 47 | 67 | a |
| कर्माऽऽवेद्य गृहं ययौ | 41 | 18 | d |
| कर्षन्तीघोषनिस्वनैः | 30 | 16 | d |
| कर्हिचित्सबलआलि सगोपैः | 35 | 6 | c |
| कर्हिचि त्सुखमासीनं | 60 | 1 | a |
| कलानामेव नैवेन्दोः | 54 | 47 | c |
| कलिलतां मनः कान्त गच्छति | 31 | 11 | d |
| कलेबरेऽस्मिन्चटकुड्य सन्निभे | 51 | 49 | a |
| कलेबरोविट्कृमिभस्मसंज्ञितः | 51 | 51 | d |
| कल्पयित्वेद मब्रवीत् | 47 | 11 | d |
| कल्पितान्यनिवेशने | 53 | 16 | d |
| कल्पोऽबिभ्रच्छ्रुसन्मृतः | 45 | 7 | d |
| कल्प्यते देवमायया | 54 | 43 | b |
| कवयअआनमितकन्धरचित्ताः | 35 | 15 | c |
| कविभि रीडितं कल्मषापहम् | 31 | 9 | b |
| कश्मलं ययु रनिश्चिततत्त्वाः | 35 | 15 | d |
| कस्मलं ययु रपस्मृतनीव्यः | 35 | 3 | d |
| कश्मलेन कबरं वसनं वा | 35 | 17 | d |
| कस्मात्कृष्ण इहायाति | 47 | 45 | a |
| कस्मा द्रुहां गत श्शिश्ये | 51 | 13 | c |
| कस्मा हत्ता सुता हरेः | 56 | 2 | d |
| कस्माद्भातर मन्वियात् | 57 | 4 | d |
| कस्मान्नो ववृषेऽसमान् | 60 | 11 | d |
| कस्मिं श्चित् पुरुषेन्यस्तः | 57 | 27 | c |
| कस्य किं वीर्य एव वा | 51 | 13 | b |
| कस्यचि त्केनचित्सह | 49 | 20 | b |
| कस्य वा कमलेक्षणः | 55 | 31 | b |
| कस्याङ्गने वा कथयस्व साधु नः | 42 | 2 | b |
| कस्याश्चित्स्वभुजं न्यस्य | 30 | 19 | a |
| कस्याः पदानिचैतानि | 30 | 27 | a |
| कस्याऽऽयमिति चाऽब्रुवन् | 46 | 47 | d |
| कस्याश्चित्पूतनायन्त्याः | 30 | 15 | a |
| कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्त | 33 | 13 | a |
| कंस आहूय केशिनम् | 36 | 20 | b |
| कंस ञ्च निहतं द्रक्ष्ये | 37 | 16 | c |
| कंस स्तत्रैव दुर्मतिः | 36 | 28 | b |
| कंसस्तु धनुषोभङ्गम् | 42 | 26 | a |
| कंस स्त्रास मुपागमत् | 42 | 18 | d |
| कंसस्यभृत्यः प्रहितोऽपि विश्वदृक् | 38 | 18 | b |
| कंसं नागायुतप्राणम् | 46 | 24 | a |
| कंसं सम्परेतं विचकर्ष भूमौ | 44 | 38 | a |
| कंसः परिवृतोऽमात्यैः | 42 | 35 | a |
| कंसः सहानुगोपेतो | 57 | 17 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कंसाय प्राह भगवान् | 36 | 16 | c | कामस्तुवासुदेवांशः | 55 | 1 | a |
| कंसे जीवति दाशार्हे | 38 | 41 | c | कामं क्रोधं भयं स्नेहम् | 29 | 15 | a |
| कंसेनाधर्मतो हृताः | 45 | 28 | d | कामात्मानोऽपवर्गेशं | 60 | 52 | c |
| कंसे प्रकुपितोऽव्ययः | 44 | 34 | b | कामानामवशिष्यते | 45 | 48 | d |
| कंसे मातुलनाम्न्यङ्ग | 39 | 5 | c | कामार्दिताः शशाङ्कश्च | 33 | 19 | c |
| कंसे बताबाऽकृत मेऽत्यनुग्रहम् | 38 | 7 | a | कामास्तेसर्व उज्झिताः | 51 | 17 | d |
| कंसो मनस्व्यपि तदा | 43 | 18 | c | कामिनां दर्शयन् दैन्यम् | 30 | 36 | c |
| कः पण्डित स्त्वदपरं शरणं समीयात् | 48 | 27 | a | कामिन्याः कामिनाकृतम् | 30 | 34 | d |
| काङ्क्षन्त्यश्चावतस्थिरे | 39 | 34 | d | कामेस्मरेऽक्षिविषये किमुतान्यनार्यः | 55 | 40 | d |
| काङ्क्षन्त्यागमनं हरेः | 53 | 22 | b | कामोपायोपबृंहितम् | 48 | 2 | b |
| काचित्कराम्बुजं शौरेः | 32 | 5 | a | कायस्तत्प्रह्वणादिषु | 47 | 66 | d |
| काचित्समं मुकुन्देन | 33 | 10 | a | कारयामास नगरं | 58 | 24 | c |
| काचिदञ्जलिनाऽ गृह्णात् | 32 | 6 | a | कारयामास मन्त्रज्ञैः | 53 | 14 | c |
| काचि द्बभार तद्बाहुम् | 32 | 5 | c | कारयामासवैकंसः | 42 | 32 | c |
| काचिद्रासपरिश्रान्ता | 33 | 11 | a | कार्यगौरवसाधनम् | 36 | 61 | b |
| काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा | 47 | 11 | a | कार्ष्णिर्व्यधमयत् स ताः | 55 | 23 | d |
| कातर्यविध्रंसित हेममालया | 54 | 34 | c | कार्ष्णौ वैहायसोऽ सुरः | 55 | 21 | d |
| का त्वं कस्याऽसि सुश्रोणि | 58 | 19 | a | कालआत्मानुसारिणि | 54 | 16 | b |
| का त्वं वरोर्वेतदिहाऽनुलेपनम् | 42 | 2 | a | कालकल्पेन हस्तिना | 36 | 64 | b |
| का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूप | 52 | 38 | a | कालः कलयतामीशः | 56 | 27 | c |
| कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुम रञ्जितायाः | 30 | 11 | c | कालत्रयोपपन्नानि | 51 | 39 | a |
| कान्त्या तुष्टबेलयोर्जया | 39 | 55 | b | कालनेमि र्हतः कंसः | 51 | 42 | a |
| काऽन्यंश्रयेत तव पादसरोजगन्ध | 60 | 42 | a | कालमृत्यू इवोद्विजन् | 34 | 29 | b |
| कामकर्महतं मनः | 40 | 28 | b | कालमेतं वसन्गूढः | 43 | 24 | c |
| कामदेवं शिशुं बुध्वा | 55 | 8 | c | कालान्तकयमोपमम् | 43 | 5 | d |
| काममार्गणसमर्पितचित्ताः | 35 | 3 | c | कालिन्दीति समाख्याता | 58 | 22 | a |
| कामयानां पतिव्रताम् | 36 | 36 | b | कालिन्दीमघनाशनीम् | 39 | 38 | d |
| कामशास्त्रश्रुतालेख्यैः | 48 | 3 | c | कालिन्द्याःकृष्णभावनाः | 30 | 45 | b |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| कालिन्द्याह्रद मागत्य | 39 | 40 | c |
| कालियोदमितस्सर्पः | 43 | 26 | c |
| कालेदधत्सभगवान् मम केन तुष्येत् | 58 | 38 | d |
| कालेन दैवयुक्तेन | 54 | 14 | c |
| कालेन व्रज मच्युतः | 46 | 34 | b |
| काले नृसिह नरलोक मनोऽभिरामम् | 52 | 38 | d |
| कालेनैव सुषाव माम् | 36 | 50 | b |
| काले प्रभवतः क्वचित् | 50 | 10 | d |
| कालो बलीयान् बलिनाम् | 51 | 19 | a |
| कालः प्रधानं पुरुषोभवान् परः | 59 | 29 | d |
| कशिपुर्यश्च दीपनम् | 37 | 20 | b |
| काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः | 29 | 7 | d |
| काश्चित्तत्कृतहृत्ताप | 39 | 14 | a |
| काश्चिद्विपर्यक्कृतवसत्रभूषणाः | 41 | 25 | a |
| काश्चिन्महानीह स्तस्मिन् | 34 | 5 | a |
| काश्य सान्दीपनिं नाम | 45 | 31 | c |
| कास्त्यक्तेकलपदायत मूर्छितेन | 29 | 40 | a |
| किङ्किणीनाञ्च योषिताम् | 33 | 6 | b |
| किञ्चाऽग्रजोमावनत यदूत्तमः | 38 | 23 | a |
| किञ्चिचिकीर्षयन् प्रागात् | 48 | 13 | c |
| किञ्चित्किञ्चिच्छकृन्मुञ्चन् | 36 | 2 | e |
| किञ्चित्सुचरितं यत्नः | 53 | 38 | a |
| कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि | 31 | 16 | d |
| किन्तु मामग्रजः सम्यक् | 57 | 42 | c |
| किन्तेजो यवनार्दनः | 51 | 13 | d |
| किन्ते दृष्टमिहाद्भुतम् | 41 | 3 | b |
| किन्नुस्वित्प्रजानां वः | 38 | 42 | c |
| किमभिप्राय एतं नः | 33 | 29 | c |
| किमलभ्यं भगवति | 39 | 2 | a |
| किमस्माभिर्वनौकोभिः | 47 | 46 | a |
| किमहं करवाणि वाम् | 41 | 48 | b |
| किमिहबहुषडङ्गेगायसि त्वं यदूनां | 47 | 14 | a |
| किमु जायात्मजादिभिः | 49 | 20 | d |
| किमुताखिलसत्त्वानाम् | 33 | 34 | a |
| किमुताधोक्षजप्रियाः | 29 | 13 | d |
| किमुतान्ये नराधिपाः | 45 | 14 | d |
| किम्मे दृष्टमिहाद्भुतम् | 41 | 5 | d |
| किम्मे दृष्टं विपश्यतः | 41 | 4 | d |
| किरीटकटकाङ्गदैः | 39 | 51 | b |
| किरीटजुष्टामलपादरेणोः | 38 | 25 | b |
| किशोरान् पाण्डुनन्दनान् | 57 | 12 | d |
| किशोरौ नात्मयौवनौ | 44 | 8 | d |
| किशौरौ श्यामलश्वेतौ | 38 | 29 | a |
| किं कार्यं करवाम ते | 52 | 35 | d |
| किं कृत्वा साधुमह्यं स्यात् | 56 | 42 | a |
| किंतप्तं परमं तपः | 38 | 3 | b |
| किंतेकृतक्षितितपो बत केशवाङ्घ्रि | 30 | 10 | a |
| किंत्वस्माभिः कृतं पूर्वं | 58 | 42 | a |
| किंनआचरितं श्रेयः | 58 | 11 | a |
| किंन श्यत रामस्य | 44 | 12 | a |
| किंनु नः कुशलं पृच्छे | 39 | 5 | a |
| किंनोऽकरिष्यत्कुल वृद्धबान्धवाः | 39 | 28 | b |
| किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य | 47 | 58 | d |
| किं मयाऽऽचरितं भद्रम् | 38 | 3 | a |
| किं मां सान्त्वयसे भूयः | 36 | 40 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| किंवाऽयाऽप्यहर्ते दत्तम् | 38 | 3 | c |
| किंवाऽभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः | 30 | 12 | d |
| किंवाऽवशिष्टं युवयोस्तुकृत्यम् | 46 | 33 | d |
| किंसाधयिष्य त्यस्माभिः | 46 | 49 | a |
| किंस्वित्तेजस्विनां तेजः | 51 | 29 | a |
| कीर्तनं शूद्रजन्मनः | 38 | 4 | d |
| कीर्तिर्वामस्तु पावनी | 45 | 49 | b |
| कुशिर्मरुत्प्राणबलंप्रकल्पितम् | 40 | 14 | d |
| कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः | 47 | 12 | b |
| कुजगतिं गमिता न विदामः | 35 | 17 | c |
| कुञ्जरेणबलीयसा | 36 | 54 | b |
| कुञ्जरेन्द्रोत्यमर्षितः | 43 | 12 | b |
| कुटिल कुन्तलं श्रीमुखञ्च ते | 31 | 15 | c |
| कुण्डलत्विषमण्डितम् | 33 | 13 | b |
| कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि | 54 | 20 | c |
| कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि | 54 | 52 | c |
| कुतश्च कस्याऽच्युतवेषभूषणः | 47 | 2 | b |
| कुतो वा किं चिकीर्षसि | 58 | 19 | b |
| कुत्र यासि स्वसारं मे | 54 | 25 | a |
| कुन्तीञ्च कुल्यकरणे | 57 | 1 | c |
| कुन्ददामकृतकौतुकवेषः | 35 | 20 | a |
| कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वातिगन्धः | 30 | 11 | d |
| कुपितः कोपितं गजम् | 43 | 5 | b |
| कुपिता आततायिनः | 42 | 19 | b |
| कुपितो देवकीसुतः | 41 | 37 | b |
| कुपितो नानुभावबित् | 56 | 22 | d |
| कुमुदामोद वायुना | 29 | 45 | d |
| कुम्भकारस्य शालायाम् | 57 | 14 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| कुम्भान् गोरससम्भृतान् | 39 | 33 | d |
| कुररीव गतप्रजा | 55 | 15 | b |
| कुरुसृञ्जय कैकेय | 54 | 58 | a |
| कुरूणां कीर्तिवर्धन | 49 | 17 | b |
| कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन् | 29 | 33 | a |
| कुर्वन्नभोहेषितभीषिताखिलः | 37 | 1 | d |
| कुर्वत्युचैः पदानि यत् | 30 | 30 | b |
| कुर्वाणौ प्रभया स्वया | 38 | 33 | b |
| कुलिकलतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वोहरिण्यः | 47 | 19 | b |
| कुशलं विमृशामहे | 38 | 42 | d |
| कुशलाकुशलान्वयः | 33 | 34 | d |
| कुशलाचरितेनैषाम् | 33 | 33 | a |
| कुशल्यास्तेऽच्युतोऽधुना | 47 | 39 | d |
| कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि | 31 | 10 | d |
| कूजत्कोकिलसंयुते | 36 | 31 | d |
| कूजन्नूपुरमेखला | 33 | 14 | b |
| कूटस्थायाऽऽत्मने नमः | 57 | 21 | d |
| कूर्पादिभिर्भ्रमतिधीर्भवदायुषां नः | 31 | 19 | d |
| कृच्छ्रान्नन्दश्च मोचितः | 34 | 18 | d |
| कृणु कुचेषुनः कृन्धिहृच्छयम् | 31 | 7 | d |
| कृतकौतुकमङ्गलाम् | 53 | 11 | b |
| कृतकौतुकमङ्गलाम् | 56 | 10 | b |
| कृतञ्चधार्तराष्ट्रैर्यत् | 49 | 6 | a |
| कृत मस्मिञ्जुगुप्सितम् | 54 | 37 | b |
| कृतमैत्रादिको रथम् | 39 | 32 | d |
| कृतवान्द्रोह मुल्बणम् | 44 | 47 | b |
| कृतवान्वै जुगुप्सितम् | 33 | 29 | b |
| कृत शौचो परन्तप | 43 | 1 | b |
| कृतसंवन्दनौ पुत्रौ | 44 | 51 | c |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| कृतस्तैः करुणात्मभिः | 34 | 14 | b |
| कृताञ्जलिपुटश्शनैः | 39 | 57 | d |
| कृतानुवृत्ति र्भवमोचनी स्तवैः | 60 | 54 | b |
| कृतावतारस्य दुरत्ययं तमः | 38 | 7 | c |
| कृतासनपरिग्रहः | 58 | 39 | b |
| कृतासनपरिग्रहान् | 48 | 15 | d |
| कृता स्त्रौ रामकेशवौ | 45 | 36 | d |
| कृतैकपत्रश्रवणैक नूपुरः | 41 | 25 | c |
| कृतोऽन्येषां वधाय च | 50 | 9 | d |
| कृत्वा चावश्यकं सर्वं | 41 | 2 | c |
| कृत्वा तावन्त मात्मानम् | 33 | 20 | a |
| कृत्वा पादाभिवन्दनम् | 58 | 4 | b |
| कृत्वा पारक्रीं पूजां | 29 | 29 | a |
| कृत्वा मुखान्यवशुचः श्वसनेन शुष्यत् | 36 | 54 | c |
| कृत्वा विषाणेन जघान सोऽपतत् | 36 | 13 | d |
| कृत्वेत्थं दुष्टचेष्टितम् | 36 | 40 | d |
| कृत्स्न गोधन मुपोह्य दिनान्ते | 35 | 22 | c |
| कृत्स्नाद्भुत मचीकरत् | 50 | 50 | d |
| कृपया कृपणां प्रभुः | 60 | 28 | b |
| कृपया परया भक्तं | 56 | 30 | c |
| कृष्ण अग्रहाग्रजान्तिकम् | 57 | 26 | b |
| कृष्ण कृष्ण महानयम् | 34 | 6 | b |
| कृष्ण कृष्ण महोयोगिन् | 49 | 11 | a |
| कृष्ण कृष्णा प्रभेयात्मन् | 37 | 11 | a |
| कृष्ण कृष्णेति ते सर्वे | 36 | 5 | c |
| कृष्णदर्शनत्यलसाः | 32 | 1 | d |
| कृष्णदर्शनलालसाः | 47 | 22 | b |
| कृष्णदूते व्रजं याते | 47 | 9 | c |
| कृष्णद्विडसहन् स्वसुः | 54 | 18 | b |
| कृष्णपादाम्बुजाश्रयः | 47 | 66 | b |
| कृष्णभक्तश्च नराधिप | 47 | 68 | b |
| कृष्णमश्लिष्ट कर्माणम् | 37 | 10 | c |
| कृष्णमन्वसत कृष्ण गृहिण्यः | 35 | 19 | b |
| कृष्णमभ्यद्रवत् क्रुद्धः | 54 | 30 | c |
| कृष्णमभ्यद्रवद्रुषा | 43 | 12 | d |
| कृष्णमागत माकर्ण्य | 53 | 36 | a |
| कृष्णरामगतज्वराः | 45 | 17 | d |
| कृष्णरामद्विषो यत्ताः | 53 | 18 | a |
| कृष्णरामायिते द्वे तु | 30 | 17 | a |
| कृष्णरामा वभाषत | 48 | 17 | d |
| कृष्णरामौतथा स्त्रियः | 55 | 38 | b |
| कृष्णरामौ ववन्दाते | 44 | 50 | c |
| कृष्णरामौ वृतौ गोपैः | 42 | 23 | c |
| कृष्णरामौ समाभाष्यः | 43 | 31 | c |
| कृष्णलीलाकथां गायन् | 47 | 54 | c |
| कृष्णलीलानुगायतीः | 35 | 26 | b |
| कृष्णलीलां प्रगायन्त्यः | 35 | 1 | c |
| कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य | 33 | 19 | a |
| कृष्ण वीर्यसमुद्भवः | 55 | 2 | b |
| कृष्ण श्शरणद स्सताम् | 37 | 31 | b |
| कृष्णसङ्कर्षणभुजैः | 45 | 17 | a |
| कृष्णस्तदनुमोदताम् | 53 | 46 | d |
| कृष्णस्त मनुवर्ततीम् | 30 | 18 | b |
| कृष्णस्य तद्भगवत श्चरणारविन्दम् | 47 | 62 | c |
| कृष्णस्य दयितस्सखा | 46 | 1 | b |
| कृष्णस्य मुखलावण्य | 32 | 4 | a |
| कृष्णस्य मुष्टिनिष्पातैः | 56 | 25 | a |
| कृष्णस्य वदनाम्बुजम् | 44 | 11 | b |
| कृष्णस्यानुचरं प्रियम् | 46 | 14 | b |
| कृष्णस्यामित तेजसः | 52 | 19 | b |
| कृष्णस्याऽऽसन् सहस्रशः | 58 | 58 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| कृष्णस्योत्पत्त सौरभम् | 33 | 12 | b |
| कृष्ण स्सङ्कर्षण स्तदा | 41 | 39 | b |
| कृष्ण स्सङ्कर्षणान्वितः | 41 | 19 | b |
| कृष्णस्समनुमन्त्रितः | 50 | 58 | d |
| कृष्ण स्स्वसदृशीं भार्यां | 52 | 24 | c |
| कृष्णं च जगदीश्वरम् | 49 | 14 | b |
| कृष्णं चैव दिनात्यये | 41 | 6 | d |
| कृष्णं चैकं गतं हर्तुं | 53 | 20 | c |
| कृष्णं तदर्थविनिवर्तित सर्वकामाः | 29 | 30 | b |
| कृष्णं तद्भावनायुतः | 29 | 9 | c |
| कृष्णं मत्वा स्त्रियो ह्रीताः | 55 | 28 | c |
| कृष्णं लब्ध्वा प्रियं पतिम् | 58 | 48 | b |
| कृष्णं विदुः परं कान्तम् | 29 | 12 | a |
| कृष्णं विव्याध पञ्चभिः | 54 | 27 | d |
| कृष्णं स तस्मै व्यसृजच्छतघ्नीं | 59 | 15 | m |
| कृष्णं संस्मारयन्नेमे | 47 | 56 | c |
| कृष्णः कमललोचनः | 46 | 48 | d |
| कृष्णः सत्यं करोति तत् | 46 | 35 | d |
| कृष्णः सन्तर्दनादिभिः | 58 | 56 | d |
| कृष्णाकृष्ण मनिन्दिता | 58 | 5 | 6 |
| कृष्णाख्यं पुरुषं परम् | 47 | 26 | d |
| कृष्णान्तःपुरयोषितः | 55 | 37 | b |
| कृष्णान्तिकमुपव्रज्य | 54 | 36 | a |
| कृष्णान्वेषणकातराः | 30 | 14 | b |
| कृष्णाभिमर्शमुदिताः | 33 | 9 | c |
| कृष्णाय कृतकिल्बिषः | 56 | 1 | b |
| कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम् | 30 | 15 | b |
| कृष्णायः प्रणिपत्याह | 47 | 69 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| कृष्णाय प्राहिणोत् द्रुतम् | 52 | 26 | d |
| कृष्णाय भगिनीं नृप | 52 | 25 | b |
| कृष्णाय विदितार्थाय | 57 | 8 | c |
| कृष्णायादान्न सव्राजित् | 57 | 4 | c |
| कृष्णायाद्भुतकर्मणे | 57 | 21 | b |
| कृष्णाया हस्ततरला | 32 | 13 | c |
| कृष्णायिताघ्नतीवान्या | 30 | 17 | e |
| कृष्णायोपजहार ह | 56 | 32 | d |
| कृष्णायोपजहार ह | 56 | 44 | d |
| कृष्णायोपजहार ह | 47 | 57 | b |
| कृष्णावेशात्म विद्भ्रम | 56 | 44 | d |
| कृष्णो क्वचैष परमात्मनि रूढभावाः | 47 | 59 | b |
| कृष्णे नन्दयशोदयोः | 46 | 29 | b |
| कृष्णेन सुमहात्मना | 46 | 20 | d |
| कृष्णेनाचरिताः प्रभो | 47 | 49 | d |
| कृष्णेनाद्भुतकर्मणा | 36 | 16 | b |
| कृष्णेनेक्ष्वाकुनन्दनः | 52 | 1 | b |
| कृष्णे भक्ति र्हि साध्यते | 47 | 24 | d |
| कृष्णे यदुपतौ नृप | 54 | 54 | d |
| कृष्णे सर्वा न्यषेधताम् | 58 | 30 | d |
| कृष्णोऽपिनूनं शयन महाधनम् | 48 | 5 | c |
| कृष्णोऽप्यन्वद्रवत् रुषा | 57 | 24 | d |
| कृष्णोम्बष्ठप्रचोदितम् | 43 | 2 | d |
| कृष्णो रामस्य पश्यतः | 42 | 11 | b |
| कृष्णोऽ ह पश्यत गतिम् | 30 | 19 | c |
| कृष्णौ ददृशतुः कन्याम् | 58 | 17 | c |
| केनाप्यज्ञातवृत्तान्ता | 36 | 49 | c |
| केनाऽप्युत्थापितोऽधुना | 51 | 33 | d |
| केशग्रन्थ्यश्च काञ्चन | 39 | 14 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| केशप्रसाधनं त्वत्र | 30 | 34 | c | क्रियतां मैत्र मादृतः | 36 | 60 | b |
| केशप्रसाधशयनस्नपनोपहार्यैः | 59 | 45 | c | क्रिया बन्धो र्हतस्य वै | 57 | 32 | b |
| केशवो द्वारका मेत्य | 57 | 31 | a | क्रियेतार्थः कृतात्मनः | 47 | 46 | d |
| केशान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा | 33 | 18 | b | क्रीडन्त श्चारयन्ति माः | 43 | 34 | d |
| केशान् समूह्य तद्वक्त्रं | 60 | 26 | c | क्रीडन्नीहोऽपि गुणैः | 46 | 40 | c |
| केशी तु कंसप्रहितः खुरैर्महीम् | 37 | 1 | a | क्रीडामृगः पुरुष ईश नीयते | 51 | 52 | d |
| कैकेयीं भ्रातृभिर्दत्तां | 58 | 56 | c | क्रीडार्थमद्यात्त मनुष्य विग्रहम् | 37 | 24 | c |
| कोनाम स पुमान् ब्रह्मन् | 51 | 13 | a | क्रीडार्थं त्वं बिभर्षि हि | 40 | 17 | b |
| कोनुक्षेमाय कल्पेत | 57 | 16 | c | क्रीडार्थं सोऽपि साधूनाम् | 46 | 39 | c |
| को नु तृप्येत शृण्वानः | 52 | 20 | c | क्रीडिष्यामो यथोचितम् | 43 | 38 | b |
| को नु युष्माङ्घ्रिधगुरोः | 45 | 48 | c | क्रुद्धः कृष्णमुपाद्रवत् | 36 | 9 | d |
| कोऽन्य स्तेऽभ्यधिको नाथ | 58 | 41 | a | क्रुद्धायां शापशङ्कितः | 36 | 48 | b |
| कोन्वयं नर वैदूर्यः | 55 | 31 | a | क्रुद्धोवक्षस्यताडयत् | 44 | 21 | d |
| कोपात्प्रचलितेन्द्रियः | 36 | 18 | b | क्रुद्धौ धनुष आदाय | 42 | 20 | c |
| को भवानिह सम्प्राप्तः | 51 | 28 | a | क्रूरस्ते तनयोभूयात् | 36 | 47 | c |
| कोभवान्परया लक्ष्म्या | 34 | 11 | a | क्रूरस्त्वमक्रूरसमाख्यया स्म नः | 39 | 21 | a |
| कोमलाङ्गुलिभिराश्रित मार्गम् | 35 | 2 | c | क्रोशन्तं कालयामास | 34 | 26 | c |
| कौतुकाबद्धतोरणाम् | 50 | 39 | d | क्रोशन्तं कृष्ण रामेति | 34 | 27 | a |
| कौमोदकीचक्रधरंचतुर्भुजम् | 59 | 15 | j | क्रोशन्त्या असुतृप् खलः | 38 | 42 | b |
| कौरवेन्द्रयशोङ्कितम् | 49 | 1 | b | क्वचातिसुकुमाराङ्गौ | 44 | 8 | c |
| कौस्तुभं वनमालिनम् | 39 | 52 | d | क्वचित्तरति कश्चन | 38 | 5 | d |
| कौस्तुभामुक्तकन्धरम् | 51 | 2 | b | क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते | 47 | 21 | c |
| कौस्तुभेनविराजितम् | 51 | 24 | d | क्वचि द्व्रजांसि विममे | 51 | 38 | a |
| क्रन्दन्तिबालावत्साश्च | 29 | 22 | c | कणितवेणुरवाञ्चितचित्ताः | 35 | 19 | a |
| क्रन्दन्तीनामनाथवत् | 57 | 6 | b | कवज्रसारसर्वाङ्गौ | 44 | 8 | a |
| क्रव्यार्थे श्येनयो रिव | 56 | 23 | d | क स्वेमहिम्न्यभिरतो भगवांस्त्र्यधीशः | 60 | 34 | c |
| क्रान्तत्रिभुवनाय च | 40 | 20 | d | कासि कासि महाभुज | 30 | 40 | b |
| क्रियतां तदनन्तरम् | 52 | 44 | d | काहं गुणप्रकृतिरङ्गगृहीत चादः | 60 | 34 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| क्लेमाः स्त्रियो वनचरी व्यभिचारजुष्टाः | 47 | 59 | a |
| क्लेयं लब्धात्मनेन वा | 55 | 31 | d |
| क्लिष्टयोर्दुर्हृदो भृशम् | 45 | 9 | d |
| क्लेशान् हंसि हृदि स्थितः | 58 | 10 | d |
| क्लेशापायात्मदर्शनम् | 58 | 8 | d |
| क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम् | 46 | 32 | b |
| क्षत्रियाणा मयं धर्मः | 54 | 40 | a |
| क्षपयिष्णो रमुष्य वै | 37 | 22 | b |
| क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः | 47 | 14 | d |
| क्षयं प्रणीतं वसुदेव पुत्रयोः | 50 | 29 | c |
| क्षात्रधर्मस्थितोजन्तून् | 51 | 63 | a |
| क्षित्युद्धारविहाराय | 40 | 19 | c |
| क्षिपन् सञ्जनयन्कलिम् | 55 | 17 | d |
| क्षिपंश्चपादाननवस्थितेक्षणः | 36 | 14 | b |
| क्षीणसत्त्वः खिन्नगात्रः | 56 | 25 | c |
| क्षुल्लेलिहानेऽहिरिवाखु मन्तकः | 51 | 50 | d |
| क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषा | 38 | 18 | d |
| क्षेमाय च भवाय च | 41 | 46 | d |
| क्ष्वेल्याऽऽचरित मङ्गने | 60 | 29 | d |
| क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणाम् | 29 | 46 | c |
| **ख** | | | |
| खगावीतफलं वृक्षम् | 47 | 8 | a |
| खरमर्त्यशिरांसिच | 54 | 8 | d |
| खरयानं विषादनम् | 42 | 30 | b |
| खलच्छन्दानुवर्तिनः | 49 | 4 | d |
| खलानांननुदण्डधृत् | 30 | 21 | d |
| खं रोदसीसर्वदिक्शोन्तरं महान् | 59 | 8 | c |
| खं वाखग्निजलं मही | 47 | 29 | d |
| खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलाम् | 30 | 31 | c |
| खुरेणावनि मुल्लिखन् | 36 | 9 | b |
| खेदाबिललोचनाशाया | 36 | 37 | b |
| **ग** | | | |
| गच्छ जानीहि तद्वृत्तम् | 48 | 36 | a |
| गच्छतं स्वगृहं वीरौ | 45 | 49 | a |
| गच्छनन्दव्रजं तत्र | 36 | 62 | a |
| गच्छन् पथि महाभागः | 38 | 2 | a |
| गच्छन्तिपरमर्षयः | 51 | 39 | d |
| गच्छस्व गजसाह्वयम् | 48 | 33 | d |
| गच्छोद्धव व्रजं सौम्य | 46 | 3 | a |
| गजदन्त वरायुधौ | 43 | 16 | d |
| गजः कुवलयापीडः | 36 | 25 | c |
| गजः प्रतिगजं यथा | 36 | 11 | d |
| गजाश्वरथपत्तिभिः | 53 | 21 | d |
| गजेनेव मदान्धेन | 36 | 42 | a |
| गजै र्द्वारस्सु परामृष्ट | 54 | 57 | c |
| गजैश्च बहुभिर्वृतः | 59 | 15 | d |
| गजैः पयोधिप्रभवैर्निराक्रमत् | 59 | 15 | b |
| गण्डश्रियासुधितहास्यनिरीक्षणेन | 33 | 22 | b |
| गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम् | 29 | 39 | b |
| गण्डं गण्डे सन्दधत्या | 33 | 13 | c |
| गतवाक्कायमानसाः | 47 | 9 | b |
| गतश्रमं पर्यपृच्छत् | 46 | 15 | c |
| गतिश्चैकान्तिनां तु या | 41 | 14 | d |
| गतिविद स्तबोद्गीतमोहिताः | 31 | 16 | c |
| गति स्मित प्रेक्षण भाषणादिषु | 30 | 3 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| गतिं वा प्रापितोऽवशः | 34 | 11 | d |
| गतिं सुललितां चेष्टां | 39 | 17 | a |
| गते तस्मिन् गृहोद्यानान् | 36 | 49 | a |
| गतो दर्पहरस्मितः | 30 | 6 | d |
| गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षणैः | 30 | 2 | a |
| गत्या ललितयोदार | 47 | 51 | a |
| गत्वा जनार्दनश्शङ्खम् | 45 | 43 | c |
| गत्वा पाञ्चालके पुरे | 57 | 12 | b |
| गत्वा सरेन्द्रभवनं | 59 | 38 | a |
| गदया निर्बिभेदाद्रीन् | 59 | 4 | c |
| गदसङ्कर्षणादयः | 54 | 6 | b |
| गदाग्रजो निर्बिभिदे सहस्रधा | 59 | 10 | b |
| गदामाविध्य तरसा | 55 | 19 | a |
| गन्धर्वपतिभिरनुद्रुतआविशद्गाः | 33 | 23 | c |
| गन्धस्रग्भूषणोत्तमैः | 48 | 16 | b |
| गरदानाद्यपेशलम् | 49 | 6 | b |
| गरुडध्वजमारुह्य | 57 | 23 | a |
| गरुडेनार्दितं स्वकम् | 59 | 19 | f |
| गरुत्मता हन्यमानाः | 59 | 18 | c |
| गर्गवाक्य मनुस्मरन् | 51 | 45 | d |
| गर्गस्यवचनं यथा | 46 | 23 | d |
| गर्गा द्यदुकुलाचार्यात् | 45 | 29 | c |
| गर्हितो यास्यसे तमः | 49 | 19 | b |
| गाण्डीवं धनु रादाय | 58 | 13 | c |
| गाण्डीवीकालयामास | 58 | 54 | c |
| गान्धारीं द्रोणमेवच | 57 | 2 | b |
| गायका- वाद्यवादकाः | 53 | 43 | b |
| गायतो स्साम्पमत्तवत् | 34 | 25 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| गायत्रं व्रतमास्थितौ | 45 | 29 | d |
| गायन्तश्च स्तुवन्तश्च | 53 | 43 | a |
| गायन्तिचैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यः | 44 | 15 | c |
| गायन्ति देवा यदशेषमङ्गलम् | 38 | 13 | d |
| गायन्तीभिश्च कर्माणि | 46 | 11 | a |
| गायन्त्य उच्चै रमुमेव सङ्गताः | 30 | 4 | a |
| गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः | 33 | 8 | d |
| गायन्त्य स्तं विजहिरे | 33 | 15 | d |
| गायन्त्यः प्रियकर्माणि | 47 | 10 | a |
| गायन्त्यः प्रिय चेष्टितम् | 39 | 37 | d |
| गावस्सपाला एतेन | 43 | 26 | a |
| गावो वृन्दावनं गिरिम् | 46 | 18 | d |
| गावो वेणुरवाइमे | 47 | 49 | b |
| गावो हिरण्यं वासांसि | 34 | 3 | a |
| गा स्समाह्वयति यत्र मुकुन्दः | 35 | 6 | d |
| गां पर्यटं स्त्वा मगणय्य दुर्मदः | 51 | 49 | d |
| गाः पालयन्सहबलः क्वणयन् स्म वेणुम् | 44 | 13 | c |
| गिरः सम्मुमुहुः स्त्रियः | 39 | 16 | d |
| गिरा गद्गदयाऽस्तौषीत् | 39 | 57 | a |
| गिरिदर्यां विनिक्षिप्य | 37 | 30 | a |
| गिरिदुर्गैः शस्त्रदुर्गैः | 59 | 3 | a |
| गिरिविशङ्काम्बवता | 56 | 14 | c |
| गिरीन्द्रसदृशंबली | 37 | 32 | b |
| गिरौ निलाना वज्राय | 52 | 11 | a |
| गीतवाद्य द्विजाशिषः | 58 | 49 | b |
| गीतवेणु रनुरोडितकीर्तिः | 35 | 22 | d |
| गीयमानं तत स्ततः | 54 | 59 | b |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| गीर्भि स्सम्मोह्य जिह | 48 | 29 | d |
| गीर्वाणतुल्यामरवल्लभानुगाः | 36 | 38 | d |
| गुणकर्माभिधानानि | 51 | 38 | c |
| गुणगणार्णव मनुगम्य हरिण्यः | 35 | 19 | c |
| गुणप्रवाहं भगवन्त मीमहि | 37 | 23 | d |
| गुणप्रवाहोपरमः | 29 | 12 | c |
| गुणप्रवाहोऽयमविद्ययाऽसकृत् | 40 | 13 | c |
| गुणात्परं वेद नते स्वरूपम् | 40 | 4 | d |
| गुणैकधाम्नो यस्याऽङ्गे | 58 | 41 | c |
| गुप्तस्समेत्यपृतनापतिभिः परीतः | 52 | 41 | b |
| गुप्ता राजभटैश्शूरैः | 53 | 41 | c |
| गुप्तालब्धमनोरथाः | 45 | 17 | b |
| गुप्तेन च त्वया मन्द | 50 | 18 | c |
| गुरुणैव मनुज्ञातौ | 45 | 49 | c |
| गुरुदक्षिणयाऽऽचार्यम् | 45 | 36 | c |
| गुरुपुत्रमिहानीतम् | 45 | 46 | a |
| गुरुपुत्रस्तव प्रभो | 45 | 41 | b |
| गुरुपुत्रं यदूत्तमौ | 45 | 47 | b |
| गुरुपुत्रः प्रदीयताम् | 45 | 39 | b |
| गुरुं विप्रं प्रपन्नञ्च | 45 | 7 | c |
| गुरौ वृत्ति मविन्दताम् | 45 | 32 | b |
| गर्वर्चनादिभिरलंभगवान्परेशः | 52 | 40 | b |
| गुहापिधानं निर्भिद्य | 37 | 34 | a |
| गुहा मेता मुपागतः | 51 | 43 | b |
| गुह्यकोऽन्ये च तद्विधाः | 43 | 25 | d |
| गूढः पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्यः | 44 | 13 | b |
| गूढो गुहाशय स्साक्षी | 37 | 12 | c |
| गूहमानौ नरेहितैः | 45 | 30 | d |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| गृहआनकदुन्दुभेः | 51 | 41 | b |
| गृहं तमायान्त मवेक्ष्य साऽऽसनात् | 48 | 4 | a |
| गृहं प्रवेश्यामसमस्तसत्कृतम् | 38 | 23 | c |
| गृहागतै र्गीयमानाः | 52 | 23 | c |
| गृहानेवाऽभ्यपद्यत | 36 | 49 | d |
| गृहान्धकूपेपतितो यथा पशुः | 51 | 47 | d |
| गृहान्नो गृहमेधिनाम् | 41 | 13 | b |
| गृहीतकण्ठ्यस्तद्दोर्भ्याम् | 33 | 15 | c |
| गृहीतकोदण्डमुदारशङ्ख | 59 | 15 | c |
| गृहीतचित्तः परवान्मनस्व्यपि | 39 | 24 | b |
| गृहीतपादः करुणोन्यवर्तत | 54 | 34 | d |
| गृहीतो मत्स्यजीविभिः | 55 | 4 | d |
| गृहीत्वा खड्गचर्मणी | 54 | 30 | b |
| गृहीत्वा पाणिना पाणिम् | 36 | 59 | c |
| गृहीत्वा पाणिना पाणिम् | 41 | 9 | c |
| गृहीत्वा पाणिना पाणिम् | 46 | 2 | c |
| गृहीत्वा पाणिना पाणी | 38 | 37 | c |
| गृहीत्वा मागधेन्द्रस्य | 50 | 36 | c |
| गृहीत्वाऽवाङ्मुखस्ततः | 56 | 40 | b |
| गृहीत्वा शृङ्ग्योस्तं वा | 36 | 11 | a |
| गृहेषु गृहमेधिनाम् | 60 | 31 | b |
| गृहेषु गृहवानिव | 60 | 59 | b |
| गृहेषु तासामनपाय्यतर्क्यकृत् | 59 | 43 | a |
| गृहेषु मैथुन्य सुखेषु योषितां | 51 | 52 | c |
| गृहेषु योषि त्पुरुषश्च बञ्चितः | 51 | 46 | d |
| गृहेषु रेमिरे सिद्धाः | 45 | 17 | c |
| गृहैरगरुधूपितैः | 53 | 9 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| गृहोद्यानोपशोभनः | 59 | 40 | b |
| गृह्णन्निषङ्गादथ सन्दधच्छरान् | 50 | 24 | a |
| गृह्णातु मेनदमघोष सुतादयोऽन्ये | 52 | 40 | d |
| गृह्णीयु र्दुहितुस्सुताः | 57 | 41 | b |
| गृह्णतामित्युवाच ह | 45 | 41 | d |
| गृह्णतां बध्यतामिति | 42 | 19 | d |
| गृह्णतां सर्वगोरसः | 39 | 11 | b |
| गेयानिकविभिर्भुवि | 37 | 21 | d |
| गेहयोर्ज्योति रक्रियाः | 60 | 20 | d |
| गोकुलभयविह्वलम् | 36 | 6 | b |
| गोकुलं वृजिनार्णवात् | 47 | 52 | d |
| गोचारणायानुचरैश्चरद्भने | 38 | 8 | c |
| गोदोहशब्दाभिखम् | 46 | 10 | c |
| गोपगोधनवृतो यमुनायाम् | 35 | 20 | b |
| गोपवत्सयिताः पराः | 30 | 17 | b |
| गोपाअनोभिः स्थावरै रुपेक्षितम् | 39 | 27 | c |
| गोपानामन्त्र्य दाशार्हः | 47 | 64 | c |
| गोपाना स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां | 43 | 17 | b |
| गोपान्नयन्तं जग्राह | 37 | 31 | c |
| गोपान्निस्सार्य कृच्छ्रतः | 37 | 34 | b |
| गोपान्वयस्या नाकृष्य | 44 | 29 | a |
| गोपान्व्रजञ्चात्मनाथम् | 46 | 18 | c |
| गोपान्समादिशत्सोऽपि | 39 | 11 | a |
| गोपालस्य सुदुर्मतिः | 54 | 22 | b |
| गोपाला जात कौतुकाः | 34 | 1 | b |
| गोपाला यादवाश्चैव | 36 | 55 | c |
| गोपालास्सहसोत्थिताः | 34 | 7 | b |
| गोपावासै र्मनोरमम् | 46 | 12 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| गोपास्त मन्वसजन्त | 39 | 33 | a |
| गोपिका इव विमुक्तगृहाशाः | 35 | 19 | d |
| गोपीथाय यदुध्वजः | 60 | 2 | d |
| गोपीभिर्हैमवालुकम् | 29 | 45 | b |
| गोपीमण्डलमण्डितः | 33 | 3 | b |
| गोपीरिद मभाषत | 47 | 22 | d |
| गोपीनां तत्पतीनाञ्च | 33 | 36 | a |
| गोपीनां नयनोत्सवः | 36 | 15 | d |
| गोपीनां मद्वियोगाधिम् | 46 | 3 | c |
| गोपीनां विनुद ञ्छुचः | 47 | 54 | b |
| गोपैर्विशन्खुरजश्छुरितालकस्रक् | 39 | 30 | b |
| गोपैर्हृतं केसरिणां मृगैरिव | 53 | 56 | d |
| गोपैश्च सुविराजितम् | 46 | 11 | d |
| गोप्ता च तदवध्यायी | 44 | 48 | c |
| गोप्य ईयति यत्र मुकुन्दः | 35 | 2 | d |
| गोप्यश्च दयितं कृष्णम् | 39 | 34 | a |
| गोप्य श्चेरु र्विचेतसः | 30 | 35 | d |
| गोप्य स्ततः किमचल्यदमुष्यरूपम् | 44 | 14 | a |
| गोप्य स्तद्गीत माकर्ण्य | 34 | 24 | a |
| गोप्यस्ता स्तदुपश्रुत्य | 39 | 13 | a |
| गोप्यस्समंभगवता ननृतुस्स्वकेशा | 33 | 16 | c |
| गोप्य स्समुत्थाय निरूप्यदीपान् | 46 | 44 | c |
| गोप्यः कथन्वतितरेम तमोदुरन्तम् | 39 | 29 | d |
| गोप्यः कृष्णे वनं याते | 35 | 1 | a |
| गोप्यः पश्यत कृष्णस्य | 30 | 32 | c |
| गोप्यः स्फुरत्कनककुण्डल कुन्तलत्विट् | 33 | 22 | a |
| गोप्यो गोपाश्च तत्रसुः | 36 | 4 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| गोप्यो गोविन्दभाषितम् | 29 | 28 | b |
| गोप्यो मुकुन्दविगमेविरहातुरायाः | 42 | 24 | a |
| गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः | 29 | 9 | b |
| गोप्योलब्ध्वाऽच्युतंकान्तं | 33 | 15 | a |
| गोप्योऽस्य नित्यमुदित | 43 | 28 | a |
| गोभिश्चन्द्रमसोऽरणैः | 60 | 4 | d |
| गोभिस्समं क्वणयतोऽस्य निशम्यवेणुम् | 44 | 16 | b |
| गोमायुबन्मृगवतेर्बलि मम्बुजाक्ष | 52 | 39 | d |
| गोवत्सेनेव बालकः | 43 | 9 | d |
| गोवत्सैर्मण्डितं सितैः | 46 | 10 | b |
| गोविन्द एव मखिलात्मनि रूढभावाः | 47 | 58 | b |
| गोविन्द चरणप्रिये | 30 | 7 | b |
| गोविन्द दामोदर माधवेति | 39 | 31 | d |
| गोविन्द यदुनन्दन | 56 | 6 | d |
| गोविन्दविनिवर्तने | 39 | 37 | b |
| गोविन्दहृतमानसा | 53 | 26 | b |
| गोविन्दं शरणं ययुः | 36 | 5 | d |
| गोविन्दः प्रस्तुते क्वचित् | 47 | 42 | b |
| गोविन्दागमनं नृप | 53 | 27 | b |
| गोविन्दाङ्घ्रयब्जरेणवः | 30 | 29 | b |
| गोविन्दापहृतात्मानः | 29 | 8 | c |
| गोष्ठीमध्ये पुरस्त्रीणाम् | 47 | 42 | c |
| ग्रसंस्त्रिलोकी मिवपञ्चभिर्मुखैः | 59 | 7 | c |
| ग्रस्तश्च दृष्ट्वा सम्भ्रान्ताः | 34 | 7 | c |
| ग्रहीतुकामा आवव्रुः | 42 | 19 | c |
| ग्रहीतु मैच्छ द्विप्रबन्धम् | 57 | 47 | a |
| ग्राम्यास्स्वैरकथान्तरे | 47 | 42 | d |
| ग्राम्यास्सलज्जस्मित विभ्रमैर्भ्रमन् | 39 | 24 | d |
| ग्राह्यन्ता वुपेतौ स्म | 45 | 32 | c |
| **घ** | | | |
| घटेतारिष्टदर्शनम् | 57 | 35 | d |
| घातयिष्य इहानीतौ | 36 | 64 | a |
| घातये वैद्युतोपमैः | 36 | 64 | d |
| घुष्यता यज्ञसेनेन | 57 | 11 | c |
| घृष्टस्रजः सकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः | 33 | 23 | b |
| घोरसत्वनिषेविता | 29 | 19 | b |
| घ्नन्ती वैक्षत्कटाक्षेण | 32 | 7 | c |
| घ्राणदृष्टिस्स केशवम् | 43 | 7 | b |
| **च** | | | |
| चकमे कुरुपुङ्गव | 57 | 46 | b |
| चकार तर्ह्येव हताश्वकुञ्जरम् | 59 | 16 | d |
| चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चितः | 32 | 15 | c |
| चक्रवातश्च दानवः | 43 | 25 | b |
| चक्रुर्निलायनक्रीडाः | 37 | 27 | c |
| चक्रुः समर्म्यजुर्मन्त्रैः | 53 | 12 | a |
| चक्रेण क्षुरनेमिना | 59 | 21 | f |
| चक्रेण शिर उत्कृत्य | 57 | 25 | c |
| चक्रेणाग्निं जलं वायुं | 59 | 4 | g |
| चक्रे परममुद्यमम् | 50 | 3 | d |
| चक्रे भक्त्युपबृंहितम् | 45 | 44 | d |
| चक्रे भोजकटं नाम | 54 | 51 | e |
| चक्रे स्नेहं तदाभिके | 55 | 8 | d |
| चक्षुर्हि दत्तं हरसे बताऽज्ञवत् | 39 | 21 | b |
| चक्षूंष्याशु पिदध्वं वः | 30 | 22 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| चचार भृङ्गप्रमदागणावृतः | 33 | 25 | c |
| चतुर्दन्तां स्तरस्विनः | 59 | 37 | b |
| चतुर्दश्यां यथाविधि | 36 | 58 | b |
| चतुर्भुजं रोचमानं | 51 | 25 | a |
| चतुर्भुजोऽरविन्दाक्षः | 51 | 4 | c |
| चतुः पञ्चावशेषिताः | 37 | 30 | d |
| चन्दानालिप्त माघ्राय | 33 | 12 | c |
| चरणपङ्कजं शन्तमञ्च ते | 31 | 13 | c |
| चरणमीयुषां संसृते भयात् | 31 | 5 | b |
| चरणजउपास्ते यस्मभूति र्वयं काः | 47 | 15 | c |
| चरन्ती तत्र मे मात्रा | 36 | 33 | a |
| चरन्नन्तर्हितः काले | 36 | 34 | c |
| चरन्तीं चारुदर्शनाम् | 58 | 17 | d |
| चरामिबन्धुष्वपि तत्र कारणम् | 36 | 29 | d |
| चर्मासीशक्तितोमरौ | 54 | 29 | b |
| चलन्त्याहाऽपरा अनु | 30 | 19 | b |
| चलन्नितम्बस्तनहारकुण्डल | 46 | 45 | c |
| चलसि यद्व्रजाच्चारयन्पशून् | 31 | 11 | a |
| चाणूरं मुष्टिकञ्चैव | 37 | 16 | a |
| चाणूरे मुष्टिके कूटे | 44 | 28 | a |
| चाणूरोभज्यमानाङ्गः | 44 | 20 | c |
| चाणूरो मुष्टिकः कूटः | 42 | 37 | a |
| चणूरो वाक्यमब्रवीत् | 43 | 31 | d |
| चातुर्वर्ण्य जनाकीर्णं | 50 | 54 | c |
| चारयन्तोऽद्रिसानुषु | 37 | 27 | b |
| चारुगीतहृतचेतस एत्य | 35 | 11 | b |
| चारुजानुयुगं दीर्घं | 39 | 49 | c |
| चारुप्रसन्नवदनं | 39 | 47 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| चारुप्रसन्नवदनं | 51 | 25 | c |
| चारुहासनिरीक्षणम् | 39 | 47 | b |
| चालनैः स्थापनै रपि | 44 | 5 | b |
| चिच्छेदधनुरच्युतः | 54 | 28 | b |
| चित्तंक्षिणोति तमृते नु कथंभवेम | 39 | 30 | d |
| चित्रंनतत्खलु रमास्पदबिम्बबिम्बे | 55 | 40 | c |
| चित्तं सुखेनभवताऽहृतंगृहेषु | 29 | 34 | a |
| चित्ते कर्तरि तत्राऽऽत्मा | 46 | 41 | c |
| चित्रध्वजपताकाभिः | 53 | 8 | c |
| चिन्तयन्त्यो मुकुन्दस्य | 39 | 18 | a |
| चिन्तयामास भगवान् | 56 | 6 | a |
| चिन्तयामास सुव्रता | 36 | 33 | b |
| चिन्तामापुर्दुरत्ययाम् | 29 | 28 | d |
| चिन्तां दुरन्तां रुदती जगाम ह | 60 | 22 | d |
| चिरप्रजागरश्रान्तः | 51 | 33 | a |
| चिरमिहवृजिनार्त स्तप्यमानोऽनुतापैः | 51 | 58 | a |
| चिह्नितै रङ्किभिर्व्रजम् | 38 | 30 | b |
| चूतप्रियालपनसासनकोविदार | 30 | 9 | a |
| चेरतुर्बहुयोजनम् | 52 | 8 | d |
| चेलेन बद्ध्वा तमसाधुकारिणं | 54 | 35 | a |
| चेष्टां विश्वसृजो यस्य | 57 | 19 | c |
| चैद्यशाल्वजरासन्ध | 60 | 18 | a |
| चैद्यस्यच महाक्रतौ | 37 | 20 | d |
| चैद्य स्सिद्धिं यथागतः | 29 | 13 | b |
| चैद्यादीन् स्मर दुर्मदान् | 60 | 11 | b |
| चैद्योऽगात्सानुगः पुरम् | 54 | 17 | b |
| चोदयामास कृष्णाय | 43 | 5 | c |
| चोदयाश्वान् यतः कृष्णः | 54 | 21 | c |
| चोदितो भार्ययोत्पाट्य | 59 | 39 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| चोदयमानो महामात्रैः | 43 | 12 | c |
| चोरपालापदेशतः | 37 | 27 | d |
| **छ** | | | |
| छन्दयामासतु नृप | 45 | 36 | f |
| छन्नयानः प्रविशताम् | 46 | 8 | c |
| छन्नं वीक्ष्य सुमध्यमा | 54 | 4 | b |
| छाययाचक्रिदधत्रतपत्रम् | 35 | 13 | d |
| छित्त्वाऽसिमाददे तिग्मं | 54 | 31 | c |
| छिद्रप्रतीतिश्छायायाम् | 42 | 29 | a |
| छिन्द्याऽऽशुनस्सुतकलत्रधनानमगेह | 48 | 28 | c |
| **ज** | | | |
| जगतः कारणंपरम् | 41 | 46 | b |
| जगतामीश्वरं पतिम् | 60 | 6 | d |
| जगतुः सर्वभूतानाम् | 34 | 23 | a |
| जगद्धेतू जगत्पती | 38 | 32 | b |
| जगद्धेतूजगन्मयौ | 48 | 19 | b |
| जगाम कृच्छ्रनिर्ऋते रथक्षयम् | 36 | 14 | c |
| जगाम कौसल्यपुरं | 58 | 34 | c |
| जगाम गजसाह्वयम् | 57 | 8 | b |
| जगाम दिशमुत्तरम् | 52 | 2 | d |
| जगुर्गन्धर्वपतयः | 33 | 5 | c |
| जगृहेऽञ्जलिना मुदा | 32 | 5 | b |
| जगृहे सोऽसिचर्मणी | 44 | 35 | d |
| जगौकतं वामदृशां मनोहरम् | 29 | 3 | d |
| जग्राह बाहुना स्कन्धम् | 33 | 11 | c |
| जग्राह विरथं रामः | 50 | 31 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| जघान पद्मयामरविन्दलोचनम् | 37 | 4 | c |
| जघ्नुर्हयगजान रथान् | 54 | 6 | d |
| जघ्नेकृष्णं त्रिभिश्शरैः | 54 | 24 | b |
| जङ्घायुगलसंयुतम् | 39 | 49 | d |
| जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद्दृशाम् | 31 | 15 | d |
| जडो रोग्यधनोऽपि वा | 29 | 25 | b |
| जनकेन महात्मना | 57 | 30 | f |
| जनयन्नयनानन्दम् | 58 | 12 | c |
| जनयामास नारीणाम् | 55 | 9 | c |
| जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः | 51 | 54 | b |
| जनाः प्रजह्रुस्सर्वे | 44 | 30 | a |
| जनितः पोषितो यतः | 45 | 5 | b |
| जनेष्वेवं ब्रुवाणेषु | 43 | 31 | a |
| जनो देवहता नपि | 36 | 70 | b |
| जन्मकर्माणि मे नृप | 51 | 39 | b |
| जन्मकर्माधानानि | 51 | 37 | a |
| जन्मन्यनन्तरेराजन् | 51 | 64 | a |
| जन्मादयस्तु देहस्य | 54 | 47 | a |
| जन्मैश्वर्याकृतिर्भवेत् | 60 | 15 | b |
| जपन् ब्रह्मसनातनम् | 39 | 41 | b |
| जपस्वाध्याय संयमैः | 47 | 24 | b |
| जम्ब्वर्कबिल्वकुलाम्रक पारिजाताः | 30 | 9 | b |
| जयतितेऽधिकं जन्मना व्रजः | 31 | 1 | a |
| जरविनाशा दक्षिलाधिभागिनां नृणां | 36 | 39 | c |
| जरासन्धपुरस्सराः | 54 | 9 | d |
| जरासन्धाय दुःखिते | 50 | 2 | b |
| जरासन्धो मम गुरुः | 36 | 67 | a |
| जरासन्धं महाबलम् | 50 | 31 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| जरासन्धः सप्तदश | 57 | 17 | c |
| जरासुतस्तावभिसृत्य माधवौ | 50 | 21 | a |
| जलमाविश्य तं हत्वा | 45 | 41 | c |
| जलह्हानं चाल्दर्शय | 31 | 6 | d |
| जलस्थलदृशिभ्रमः | 58 | 27 | d |
| जलं प्राश्य धृतव्रताः | 34 | 4 | b |
| जलाग्न्यनिलदुर्गम् | 59 | 3 | b |
| जलादुन्मज्ज्य सत्वरः | 41 | 2 | b |
| जलानीव जलौकसः | 49 | 22 | d |
| जहारकृष्णो द्विषता समीक्षताम् | 53 | 55 | b |
| जहार मत्तद्विरदेन्द्रविक्रमः | 41 | 27 | c |
| जहार मुष्टिनेवाऽङ्ग | 34 | 31 | c |
| जहावध्वपरिश्रमम् | 38 | 43 | d |
| जहितेन ममाहितौ | 36 | 57 | d |
| जहु र्गुणमयं देहम् | 29 | 11 | c |
| जहुर्विरहजं तापम् | 32 | 10 | c |
| जहुर्विरहजं तापम् | 33 | 1 | c |
| जह्यघं मदुपाश्रयः | 51 | 63 | d |
| जह्यामसून् व्रतकृशाञ्छत जन्मभिः स्यात् | 52 | 43 | d |
| जाड्य वच स्तव गदाग्रज यस्तुभूपान् | 60 | 40 | a |
| जातश्च परमोत्सवः | 58 | 48 | d |
| जातस्य तव नोचितम् | 51 | 8 | b |
| जात हर्ष उपरम्भति विश्वम् | 35 | 12 | d |
| जातो नीतश्च गोकुलम् | 43 | 24 | b |
| जानन् बिद्राविवितं जगत् | 54 | 14 | d |
| जानीम स्त्वां यदुपते | 47 | 4 | a |
| जानीहि मा मनागस्कं | 36 | 45 | a |
| जानुभ्या ञ्चैव जानुनी | 44 | 3 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| जाने त्वां मत्परायणम् | 60 | 29 | b |
| जाने त्वां सर्वभूतानां | 56 | 26 | a |
| जामय स्सख्य एव च | 49 | 8 | d |
| जाम्बवत्यपि शुल्कार्थम् | 57 | 47 | c |
| जाम्बवान् बलिनां वरः | 56 | 21 | d |
| जायन्तनाहुष गयादय ऐकपत्यं | 60 | 41 | b |
| जार बुद्धयाऽपि सङ्गताः | 29 | 11 | b |
| जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम् | 47 | 8 | d |
| जालरन्ध्र प्रविष्टेश्च | 60 | 4 | c |
| जालरन्ध्रविनिर्गतैः | 60 | 5 | d |
| जिग्य एकमहं परम् | 54 | 13 | d |
| जिघ्रन्त इव नासाभ्यां | 43 | 21 | c |
| जिघ्रन्त्यनन्तचरणेन रजो मृजन्ती | 48 | 8 | b |
| जिज्ञासार्थं पाण्डवानाम् | 48 | 33 | c |
| जित्वा कन्या मुपाहरत् | 52 | 19 | d |
| जिहीर्षुस्तच्छिरोरत्नम् | 34 | 30 | c |
| जीवच्छवं भजतिकान्तमति र्विमूढा | 60 | 45 | c |
| जुगुप्सितं हि सर्वत्र | 29 | 26 | c |
| जुषाणातन्मुखाम्बुजम् | 32 | 8 | b |
| जुष्टं कुमुद वायुना | 34 | 22 | d |
| जुष्टं तत्तरलाऽसङ्गि | 29 | 45 | c |
| जुष्टं स्त्रीपुरुषैः श्रीमत् | 53 | 9 | c |
| जुष्टेषुजालामुखरन्ध्रकुट्टिमेषु | 41 | 22 | a |
| जुहाव ग्रहशान्तये | 53 | 12 | d |
| ज्ञातयो ऽमात्यमन्त्रिणः | 51 | 18 | b |
| ज्ञातिभ्यो रजआत्मनः | 57 | 44 | f |
| ज्ञातीन् नः स्मरता कृष्ण | 58 | 9 | c |
| ज्ञातीन्वो द्रष्टुमेष्यामः | 45 | 23 | c |
| ज्ञात्वा कंसचिकीर्षितम् | 42 | 25 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ज्ञात्वा तत्परि हासोक्तिम् | 60 | 32 | c |
| ज्ञात्वाऽऽत्मान मधोक्षजम् | 47 | 53 | d |
| ज्ञात्वाऽ द्य गूढं यदुषु | 56 | 8 | c |
| ज्ञात्वा नारायणं देवम् | 51 | 45 | c |
| ज्ञात्वा लोहमयैः पाशैः | 36 | 19 | c |
| ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ | 46 | 31 | d |
| ज्ञानात्मनस्ते कच बन्धहेतुः | 48 | 22 | d |
| ज्ञानिनो ज्ञानयज्ञेन | 40 | 7 | c |
| ज्ञापितो भौम चेष्टितम् | 59 | 2 | d |
| ज्योत्स्ना यावद्विभाव्यते | 30 | 43 | b |
| **त** | | | |
| तआसेदु रुपस्थानम् | 42 | 37 | c |
| तच्चाऽप्यंह भवदनुग्रहमीशमन्ये | 40 | 29 | a |
| तच्चिन्तयान्यन्निभृतो नवेद | 32 | 21 | d |
| तच्छस्त्रकूटंभगवान् स्वमार्गणैः | 59 | 13 | c |
| तच्छृत्वाऽभ्यद्रवत्क्रुद्धः | 56 | 21 | c |
| तच्छृत्वामहदाश्चर्यं | 55 | 37 | a |
| तज्जानतीनां नः कृष्णे | 47 | 47 | c |
| तञ्चाद्रिपृष्ठे निहतम् | 56 | 18 | c |
| ततआह बलो नूनम् | 57 | 27 | a |
| तत उत्सृत्य तरसा | 52 | 12 | a |
| ततश्च कृतविद्यौ तौ | 45 | 36 | c |
| ततश्चकृष्णोपवने जलस्थल | 33 | 25 | a |
| ततश्च भूः कृष्णमुपेत्यकुण्डले | 59 | 23 | a |
| ततश्चलब्धसंस्कारौ | 45 | 29 | a |
| ततश्चान्तर्दधे कृष्णः | 30 | 39 | c |
| ततश्चैषामहो मित्र | 36 | 66 | e |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तत स्ताः कृष्णसन्दर्शैः | 47 | 53 | a |
| तत स्तावक्करागेण | 42 | 5 | a |
| ततस्तु वायकः प्रीतः | 41 | 40 | a |
| ततस्संयमनीं नाम | 45 | 43 | a |
| ततस्सकारयामास | 57 | 32 | a |
| तत स्सागर्भिणीकाले | 36 | 50 | a |
| तत स्सुदाम्नो भवनम् | 41 | 43 | a |
| ततस्स्वभवनं ययौ | 48 | 37 | d |
| ततः कूट मनुप्राप्तम् | 44 | 26 | a |
| ततः पाञ्चालनगरात् | 57 | 11 | a |
| ततः पौरान् पृच्छमानः | 42 | 15 | a |
| ततः प्रभृत्यहं द्वेष्मि | 36 | 51 | a |
| ततः प्रीतस्सुतां राजा | 58 | 47 | a |
| ततान जनमोहिनीम् | 45 | 1 | d |
| ततोऽक्रूर मुवाच ह | 36 | 59 | d |
| ततो गत्वा वनोद्देशम् | 30 | 38 | a |
| ततो गौह्यकगान्धर्व | 55 | 23 | a |
| ततो दुन्दुभयोनेदुः | 33 | 5 | a |
| ततो द्रुततरं गत्वा | 59 | 14 | c |
| ततोनिववृतुः स्त्रियः | 30 | 43 | d |
| ततो निवार्य कृष्णद्विट् | 52 | 25 | c |
| ततोऽन्यैश्च मणिश्रेष्ठैः | 56 | 33 | a |
| ततोऽभिमुखमभ्येत्य | 43 | 10 | a |
| ततोऽभूत्परसैन्यानां | 50 | 17 | a |
| ततो मुष्टिकचाणूर | 36 | 21 | a |
| ततो ययौ रामपुरोगमै श्शनैः | 53 | 56 | e |
| ततोत्थादवप्लुत्य | 54 | 30 | a |
| ततो रूपगुणौदार्य | 42 | 9 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ततोऽवर्षत् स्म काशिषु | 57 | 36 | d |
| ततोऽविशन् वनं चन्द्र | 30 | 43 | a |
| ततोऽशिक्षद्वदां काले | 57 | 30 | c |
| तत्क्षन्तुमर्हथ स्तात | 45 | 9 | a |
| तत्त्वज्ञानेन निर्हृत्य | 54 | 49 | c |
| तत्पदाम्बुजरजोऽनितनीतम् | 35 | 7 | b |
| तत्पालयैन कुरु हस्तपङ्कजम् | 59 | 31 | c |
| तत्पुत्रोत्पत्तिहेतुभिः | 49 | 15 | d |
| तत्प्रेक्षणोत्स्मित सुधोक्षणलब्धमानाः | 41 | 28 | b |
| तत्रज्ञातीन् समाधाय | 50 | 49 | c |
| तत्रतत्र द्विजातयः | 41 | 30 | d |
| तत्रतत्रोपसङ्कृताः | 41 | 7 | b |
| तत्र दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठ | 56 | 20 | a |
| तत्र प्रवयसोऽप्यासन् | 45 | 19 | a |
| तत्र योगप्रभावेण | 50 | 58 | a |
| तत्र राजन्यकन्याना | 59 | 33 | a |
| तत्र साल्वो जरासन्धः | 53 | 17 | a |
| तत्रस्नात्वा सरस्वत्याम् | 34 | 2 | a |
| तत्राण विहित मया | 30 | 20 | b |
| तत्राऽपि च यथापूर्वम् | 39 | 43 | a |
| तत्राऽपि शुशुभे ताभिः | 33 | 7 | a |
| तत्राऽभ्ययु र्विनिघ्नन्त्यः | 44 | 43 | c |
| तत्राऽभत गोविन्दः | 33 | 2 | a |
| तत्राऽविध्यच्छरै र्व्याघ्रान् | 58 | 15 | a |
| तत्राऽऽसन्कतिचिच्चोराः | 37 | 28 | a |
| तत्रैका स गत बाहुम् | 33 | 12 | a |
| तत्रैका चाह हे गोपाः | 30 | 22 | a |
| तत्रैका तु बकायतीम् | 30 | 17 | f |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तत्रैवान्तरधीयत | 29 | 48 | d |
| तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरः | 32 | 15 | a |
| तत्रोपस्पृश्य पानीयम् | 39 | 39 | a |
| तत्रोपस्पृश्यविशदं | 58 | 17 | a |
| तत्सन्देशागतस्मृतीः | 47 | 38 | a |
| तत्सर्वं सोऽच्छिनद्धरिः | 54 | 29 | d |
| तत्सुत स्तत्प्रभावोऽसौ | 57 | 37 | a |
| तत्सुतौ मृत्युमात्मनः | 36 | 19 | b |
| तथाऽक्रूरः स्वमालयम् | 36 | 71 | d |
| तथा चान्वीक्षिकीं चिच्चाम् | 45 | 34 | c |
| तथाऽति रभसां स्तांस्तु | 44 | 41 | a |
| तथा तैस्समपूजयत् | 53 | 48 | b |
| तथा तौ नन्ददेवकौ | 36 | 55 | b |
| तथात्वा लक्षयामहे | 41 | 3 | d |
| तथाऽनया न तृप्यामि | 49 | 29 | c |
| तथा निरस्तान्नरको धरासुतः | 59 | 14 | b |
| तथाऽन्यासामपि स्त्रीणां | 60 | 59 | a |
| तथाऽन्ये लोकपालाश्च | 50 | 57 | a |
| तथाऽपि तत्परा राजन् | 39 | 2 | c |
| तथाऽपि दुर्धरोह्यन्यैः | 57 | 42 | a |
| तथाऽपि भक्तान् भजते यथा तथा | 38 | 22 | c |
| तथाऽपि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते | 50 | 30 | d |
| तथाऽपि याचे तव सौहृदेच्छया | 58 | 40 | c |
| तथाऽपि सूनृता सौम्य | 49 | 27 | a |
| तथाऽपि स्मरतां शश्वत् | 58 | 10 | c |
| तथाऽनोत्यबुधो भवम् | 54 | 48 | d |
| तथाऽप्यचतनान्यङ्ग | 51 | 40 | a |
| तथाऽप्यहं न शोचामि | 54 | 14 | a |
| तथाऽप्याज्ञां करोमि ते | 36 | 70 | d |
| तथाऽप्याशा दुरत्यया | 47 | 47 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तथाबलिश्चापजगन्नयेन्द्रताम् | 38 | 17 | b |
| तथामूतं हतप्रायम् | 54 | 36 | c |
| तथाऽवदत् गुडाकेशः | 58 | 23 | a |
| तथाऽहमपि तच्चितः | 53 | 2 | a |
| तथाहं च मनः प्राण | 47 | 29 | e |
| तथेति तेनोपानीतम् | 45 | 47 | a |
| तथेत्यथाऽऽरुह्य महारथौ रथम् | 45 | 38 | a |
| तथैव बलमुष्टिकौ | 44 | 19 | d |
| तथैव मुष्टिकः पूर्वम् | 44 | 24 | a |
| तथैव सात्यकिः पार्थैः | 58 | 6 | a |
| तथैवाऽऽचरितं क्वचित् | 33 | 32 | b |
| तदङ्गप्रभवं शङ्खम् | 45 | 42 | c |
| तदङ्गसङ्गप्रमदाकुलेन्द्रियाः | 33 | 18 | a |
| तदङ्गोपचितात्शिषः | 33 | 1 | d |
| तदप्यच्छिन दव्ययः | 54 | 28 | d |
| तदमात्यांश्च तत्पदे | | | |
| तदर्थं प्रोच्य आगतः | 57 | 45 | d |
| तदलमसितसल्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः | 47 | 17 | d |
| तदवेत्यासितापाङ्गी | 52 | 26 | a |
| तदसौ जलमाविश्य | 45 | 42 | a |
| तदाकर्ण्येश्वरौ राजन् | 57 | 9 | a |
| तदागमनकाङ्क्षिताः | 30 | 45 | d |
| तदापतद्वै त्रिशिखं गरुत्मते | 59 | 9 | a |
| तदा भवान् सत्त्वगुणं बिभर्ति | 48 | 24 | d |
| तदा महोत्सवो नृणाम् | 54 | 54 | a |
| तदावयं जन्मभृतोमहीयसा | 38 | 21 | c |
| तदावयं विजेष्यामः | 54 | 16 | c |
| तदीयं द्वारकां धनम् | 52 | 5 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तदेव ध्रुवमुन्निन्ये | 33 | 10 | e |
| तदेव रूपं दुरवाप माप | 44 | 39 | d |
| तदैव कश्चि द्गन्धर्वः | 36 | 34 | a |
| तदैव कुशलं नोऽभूत् | 58 | 9 | a |
| तदोडुराजः ककुभः कैरर्मुखम् | 29 | 2 | a |
| तद्गन्धासवलम्पटाः | 59 | 40 | d |
| तद्गुणानेवगायन्त्यः | 30 | 44 | c |
| तद्दर्पघ्न उपारमत् | 60 | 21 | d |
| तद्दर्शनस्मरक्षोभात् | 42 | 14 | a |
| तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजः | 32 | 14 | a |
| तद्दर्शनाह्लादविशुद्धसम्भ्रमः | 38 | 26 | a |
| तद्दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः | 60 | 25 | a |
| तद्देशकालानुगुणम् | 50 | 6 | c |
| तद्देहतः कर्कटिकाफलोपमात् | 37 | 9 | a |
| तद्धेतुत्वात्तत्प्रसिद्धेः | 54 | 46 | c |
| तद्धेषितैर्वालविघूर्णिताम्बुदम् | 37 | 3 | b |
| तद्बन्धूनाञ्च कल्याण्यः | 29 | 24 | c |
| तद्बन्धू निहनिष्यामि | 36 | 65 | c |
| तद्बलाबलव युद्धम् | 44 | 6 | a |
| तद्भक्तेषु च सौहार्दम् | 41 | 51 | c |
| तद्भौमसैन्यं भगवान्गदाग्रजः | 59 | 16 | a |
| तद्भ्रातरं देवकञ्च | 36 | 66 | c |
| तद्यात माचिरं घोषम् | 29 | 22 | a |
| तद्रक्षां सोऽकरोच्चिरम् | 51 | 15 | d |
| तद्रक्षिण स्सानुचराः | 42 | 19 | a |
| तद्रूप गुणमाधुर्य | 43 | 22 | c |
| तद्वञ्चयित्वा तमधोक्षजो रुषा | 37 | 5 | a |
| तद्वत्त्वां गतयोऽन्ततः | 40 | 11 | d |
| तद्वद्वयञ्च तव पादरजः प्रपन्नाः | 29 | 37 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तद्विचेष्टा स्तदात्मिकाः | 30 | 44 | b |
| तद्विसर्गात्पूर्वमेव | 59 | 20 | c |
| तन्त्वद्य नूनं महतां गतिं गुरुम् | 38 | 14 | a |
| तन्त्वाऽनुपश्यतो ब्रह्मन् | 41 | 5 | c |
| तन्नः पर मनुग्रहः | 43 | 37 | d |
| तन्नः पर मनुग्रहः | 43 | 37 | d |
| तन्नः प्रसीदवरदेश्वर मा स्म छिन्द्याः | 29 | 33 | c |
| तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेङ्घ्रिमूलम् | 29 | 38 | a |
| तन्नाथं प्रमदाजनम् | 34 | 26 | b |
| तन्नावकल्पयोः कंसात् | 45 | 8 | a |
| तन्निरुन्ध्या दिन्द्रियाणि | 47 | 32 | c |
| तन्निर्भिद्य प्रविश्यान्तः | 59 | 4 | e |
| तन्निशम्याऽब्रवीत्कृष्णः | 43 | 36 | a |
| तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो | 29 | 41 | c |
| तन्मनस्का महोदयाः | 35 | 26 | d |
| तन्मनस्का स्तदालापाः | 30 | 44 | a |
| तन्मातरो यदभजन् रहरूढभावाः | 55 | 40 | b |
| तन्मे भवान्वलु वृतः पतिरङ्गजाया | 52 | 39 | a |
| तन्वन्दृशांसखिसुनिर्वृतिमच्युतो वः | 30 | 11 | b |
| तन्वः प्राण मिवाऽऽगतम् | 32 | 3 | d |
| तन्वी ताम्बूलचर्वितम् | 32 | 6 | b |
| तपसाऽऽराधयद्धरिम् | 52 | 4 | d |
| तपसा व्रतचर्यया | 60 | 52 | b |
| तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम् | 29 | 41 | d |
| तप्ताऽऽचल्यौ पितुर्वधम् | 57 | 8 | d |
| तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् | 29 | 38 | d |
| तप्ता स्वकृतया शुचा | 47 | 44 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तमद्राक्षीदवस्थितम् | 51 | 11 | d |
| तमनुद्रुतचेतसः | 35 | 1 | b |
| तमन्वधाव द्गोविन्दः | 34 | 30 | a |
| तमन्वमी च त्वरयन्ति दुर्मदाः | 39 | 27 | b |
| तमन्वेष्टुं पुरं व्रज | 57 | 27 | d |
| तमपूर्वं नरं दृष्ट्वा | 56 | 21 | a |
| तमपृच्छद्धृषीकेशः | 34 | 10 | a |
| तमपृच्छद्धृषीकेशः | 41 | 3 | a |
| तमस्पृशत्पदाभ्येत्य | 34 | 8 | c |
| तमः प्रविष्ट मालक्ष्य | 30 | 43 | c |
| तमागत समाज्ञाय | 53 | 31 | a |
| तमागतं समालोक्य | 46 | 14 | a |
| तमापतन्त मालोक्य | 44 | 35 | a |
| तमापतन्त मासाद्य | 43 | 13 | a |
| तमापतन्त स निगृह्य शृङ्गयोः | 36 | 13 | a |
| तमापतन्तीं भगवान् | 55 | 20 | a |
| तमालोक्य घनश्यामं | 51 | 24 | a |
| तमाह प्रेमवैक्लव्य | 58 | 8 | a |
| तमाह भगवानाशु | 45 | 39 | a |
| तमाह भगवान् कृष्णः | 58 | 39 | a |
| तमाह भगवान् प्रेष्ठम् | 46 | 2 | a |
| तमाहातीव विस्मितः | 56 | 25 | d |
| तमिमं जहि दुर्धर्षं | 55 | 14 | a |
| तमुत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रयम् | 47 | 2 | d |
| तमृतेश्रीनिकेतनम् | 58 | 21 | b |
| तमेकदामणिं कण्ठे | 56 | 13 | a |
| तमेवपरमात्मानम् | 29 | 11 | a |
| तमेव प्रत्यपद्यत | 55 | 1 | d |
| तमोनिरोधाय विशर्ध्यसंवृतः | 59 | 29 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तया कथितमाकर्ण्य | 30 | 42 | a | तवागमनकारणम् | 39 | 7 | d |
| तयाति हार्द्राद्र दृशाभिरभिमितः | 58 | 7 | b | तवाऽऽस्तां देवभक्तस्य | 56 | 46 | c |
| तया परिष्वास विकम्पिताङ्ग्या | 54 | 34 | a | तवेयं विषमा बुद्धिः | 54 | 42 | a |
| तयो रासनमानीय | 41 | 44 | a | तस्थावधोमुख्यति दुःखरुद्धवाक् | 60 | 23 | d |
| तयो रित्थं भगवति | 46 | 29 | a | तस्थुर्मुजन्त्य उरुदुःखभराश्च तूष्णीम् | 29 | 29 | d |
| तयो र्द्विजवर स्तुष्टः | 45 | 33 | a | तस्थु स्तत्सम्मुखा राजन् | 54 | 2 | c |
| तयो र्निरीक्षतो राजन् | 34 | 26 | a | तस्थौ प्राञ्जलि रुग्रतः | 53 | 5 | d |
| तयो र्निवेशनं श्रीमत् | 53 | 34 | a | तस्थौ रक्षन् स्त्रियो बलः | 34 | 30 | d |
| तयो र्निहतयो र्दीप्तान् | 36 | 65 | a | तस्मात्ते जायतां पुत्रः | 36 | 45 | c |
| तयो र्विचरतोः स्वैरम् | 42 | 23 | a | तस्मात्प्रायेण नह्यढ्या | 60 | 14 | c |
| तयो र्विवाहो मैत्री च | 60 | 15 | c | तस्मात्समत्वे वर्तस्व | 49 | 19 | c |
| तयो र्वृजिन माचरन् | 57 | 16 | d | तस्मादज्ञानजं शोकम् | 54 | 49 | c |
| तयोर्वेष मकल्पयत् | 41 | 40 | b | तस्मादथो विधास्यामः | 50 | 49 | a |
| तयो स्तदद्भुतं वीर्यम् | 42 | 22 | a | तस्माद्बलिभ्यां बलिभिः | 43 | 40 | a |
| तयो स्सपर्यां महतीम् | 45 | 44 | c | तस्मा द्राज्ञः प्रियं यूयम् | 43 | 35 | a |
| तरन्तिस्माऽऽश्रमं मुदा | 43 | 28 | d | तस्माद्विसृज्याशिष ईश सर्वतः | 51 | 57 | a |
| तरसाक्षीणजीवितम् | 44 | 23 | b | तस्माल्लोक मिमं राजन् | 49 | 25 | a |
| तरुपल्लवशोभितम् | 29 | 21 | d | तस्मिन्नाज मवस्थितम् | 43 | 2 | b |
| तर्हिद्रक्ष्यामि तद्वक्त्रम् | 46 | 19 | c | तस्मिन्नन्तर्गृहे भ्राजन् | 60 | 3 | a |
| तर्हिभग्नगतय स्सरितो वै | 35 | 7 | a | तस्मिन्नेवाखिलात्मनि | 41 | 51 | b |
| तर्हिरिवत्स्यन्दने न स्तः | 39 | 42 | c | तस्मिन्प्रविष्टोदद्रो | 42 | 15 | c |
| तर्ह्येव हि शलः कृष्ण | 44 | 27 | a | तस्मिन्न्यस्याश्व मारुह्य | 57 | 22 | c |
| तल शब्देन कोपयन् | 36 | 8 | b | तस्मिन्भवन्ता बखिलात्म हेतौ | 46 | 33 | a |
| तलेनाभिहतो भृशम् | 44 | 24 | d | तस्मै गदां सोपि रुष्वा व्यमुञ्चत | 59 | 9 | d |
| तव कथामृतं तप्तजीवनं | 31 | 9 | a | तस्मै ददौ परां मुक्तिम् | 56 | 33 | c |
| तवकल्याणि नित्यदा बिम्बे | 60 | 50 | d | तस्मै नमो दुरवबोधविहार तन्त्र | 49 | 29 | c |
| तवसुतस्सति यदाऽधरबिम्बे | 35 | 14 | c | तस्मै प्रत्यर्पयत्प्रभुः | 57 | 49 | b |
| तवस्वावचमार्जनम् | 36 | 69 | b | तस्मै मुक्तवते प्रीत्या | 38 | 40 | a |

| | अध्याय | श्लोक | पाद | | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तस्यै सर्वमवर्णयत् | 52 | 36 | d | तप इन्द्रमुतो धीरः | 52 | 3 | a |
| तस्य चाऽऽक्रन्दितं श्रुत्वा | 34 | 7 | a | तं काचिच्चेत्रलम्भेण | 32 | 9 | a |
| तस्यचापततः खड्गम् | 54 | 31 | a | तं खड्गपाणिं विचरन्त माशु | 44 | 36 | a |
| तस्य तत्कर्म विज्ञाय | 37 | 31 | a | तं तीक्ष्णशृङ्गमुद्वीक्ष्य | 36 | 4 | c |
| तस्य पञ्चाऽभवन्पुत्राः | 52 | 21 | c | तं त्रासयन्तं भगवान्स्वगोकुलं | 37 | 3 | a |
| तस्य प्रसन्नोभगवान् | 41 | 42 | a | तं त्वानुरूप मभजं जगतमधीशम् | 60 | 43 | a |
| तस्य शान्तिर्नचान्यथा | 56 | 43 | d | तं त्वाऽहं भवभीतानाम् | 34 | 15 | a |
| तस्य सत्याऽभवत्कन्या | 58 | 32 | c | तं दृष्ट्वाऽचिन्तयत्कृष्णः | 50 | 46 | a |
| तस्थ संस्मृत्य संस्मृत्य | 47 | 10 | c | तं दृष्ट्वा जलदश्यामं | 55 | 27 | a |
| तस्य स्पृष्टः पदा हि ते | 34 | 17 | d | तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय | 57 | 29 | a |
| तस्यां अमूनि नः क्षोभम् | 30 | 30 | a | तं निगृह्यऽऽच्युतो दोर्भ्याम् | 37 | 33 | a |
| तस्यात्मजाः समपितुर्वधातुराः | 59 | 11 | e | तं निर्गतं समासाद्य | 47 | 65 | a |
| तस्यात्मजोऽयं तव पादपङ्कजं | 59 | 31 | a | तं निर्जगार बलवान् | 55 | 4 | a |
| तस्यानुगा भ्रातरोऽष्टौ | 44 | 40 | a | तं पदा समताडयत् | 51 | 10 | d |
| तस्यानुजीविनस्सर्वे | 41 | 38 | a | तं परिक्रम्य सन्नम्य | 52 | 1 | c |
| तस्यानु शङ्क यवन | 37 | 17 | a | तं प्रविष्टं स्त्रियो वीक्ष्य | 59 | 34 | a |
| तस्या नूनं तृणाङ्कुरैः | 30 | 31 | b | तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतम् | 47 | 3 | a |
| तस्याश्शङ्कितचेतसः | 55 | 6 | d | तं प्राप्तं यदुनन्दनम् | 53 | 30 | b |
| तस्या स्सुदुःखभयशोकविनष्टबुद्धेः | 60 | 24 | a | तं भुक्तवन्तं विश्रान्तं | 52 | 29 | a |
| तस्यास्सुरच्युत नृपाभवतोपदिष्टाः | 60 | 44 | a | तं मत्वा पतितं क्रुद्धः | 43 | 11 | c |
| तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्धः | 33 | 35 | d | तं मानिनः स्वाभिभवं यदुः क्षयम् | 53 | 56 | a |
| तस्यै कामवरं दत्त्वा | 48 | 11 | a | तं मेने सदृशं पतिम् | 52 | 23 | d |
| तस्यै मानञ्च बह्वदात् | 33 | 10 | f | तं विलोक्य जना दूरात् | 56 | 5 | a |
| तस्यै स्त्रियस्ताः प्रददुः | 53 | 49 | a | तं विलोक्य विनिष्क्रान्तम् | 51 | 1 | a |
| तस्योत्सङ्गे घनश्यामं | 39 | 46 | a | तं विलोक्यागतं प्रेष्ठम् | 32 | 3 | a |
| तस्योपरिष्टात्स्वय मब्जनाभः | 44 | 37 | c | तं वीक्ष्यकृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः | 47 | 1 | a |
| तपः किमचरन्महत् | 41 | 31 | b | तं वै विदर्भाधिपतिः | 53 | 16 | a |
| तपः परमास्थिता | 58 | 20 | d | तं शम्बरः कामरूपी | 55 | 3 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तं शम्बराय कैवर्ताः | 55 | 5 | a | ता मुत्थाप्य चतुर्भुजः | 60 | 26 | b |
| ता ऊचु स्ह्वं प्रीताः | 47 | 38 | c | ताम्बूलविश्रमणवीजन गन्धमाल्यैः | 59 | 45 | b |
| तात सौम्यागतः कच्चित् | 39 | 4 | a | ताम्रश्मश्रोर्जहार तत् | 55 | 24 | d |
| ता दीपदीप्तै र्मणिभिर्विरेजुः | 46 | 45 | a | ताम्रारकोष्ठां परिखा दुरासदाम् | 41 | 20 | c |
| ता दृष्ट्वाऽन्तिक मायाताः | 29 | 17 | a | ताम्रोन्तरिक्षः श्रवणो विभावसुः | 59 | 12 | a |
| ता नमस्य त्रिदं जगौ | 47 | 57 | d | तार्क्ष्यपुत्रस्सुधामिव | 52 | 17 | d |
| तानस्यतः शस्त्रातान् | 58 | 54 | a | तालत्रयं महासारम् | 46 | 25 | a |
| तानापतत आलोक्य | 54 | 2 | a | तावकानां भवेच्छत्रुः | 36 | 48 | c |
| तानि चूडयता कान्ताम् | 30 | 35 | a | तावकैः शात्रवं बलम् | 54 | 5 | d |
| ता निराशा निववृतुः | 39 | 37 | a | तावत्यक्षौहिणी बलः | 50 | 42 | b |
| तानेतान् बन्धुदुर्जनान् | 36 | 51 | b | तावद्रूपधरोऽव्ययः | 59 | 42 | d |
| तान् निन्युः किङ्करो राज्ञे | 58 | 16 | a | तावद्भजौकसस्तत्र | 41 | 8 | a |
| तान् पाययत दुह्यत | 29 | 22 | d | तावन्ममर्दुः परसैन्य मुद्धतं | 54 | 35 | c |
| तान्पीठमुख्या ननयद्यमक्षयम् | 59 | 14 | a | तावानय समं गोपैः | 36 | 63 | c |
| तान्प्रातानर्थिनो हित्वा | 60 | 11 | a | तावानर्चुः प्रमुदिताः | 41 | 30 | c |
| तान्समेत्याह भगवान् | 41 | 9 | a | तावार्यमाणाः पतिभिः | 29 | 8 | a |
| ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्गसङ्ग | 33 | 23 | a | तावाह मागधो वीक्ष्य | 50 | 17 | c |
| ताभि र्विधूतशोकाभिः | 32 | 11 | a | तावेव दद्रशेऽक्रूरः | 39 | 41 | c |
| ताभिस्स्वलङ्कृतौप्रीतौ | 41 | 50 | a | ताश्चाददा दनुस्मृत्य | 45 | 28 | c |
| ताभिस्समेताभिरुदारचेष्टितः | 29 | 43 | a | तासा माविरभू च्छौरिः | 32 | 2 | a |
| ताभ्यां हताभ्यां बालाभ्याम् | 36 | 54 | a | तासां गुणधियां कथम् | 29 | 12 | d |
| ताभ्यो देव्यै नमश्चक्रे | 53 | 49 | c | तासां तत्सौभगमदम् | 29 | 48 | a |
| ता मन्मनस्का मत्प्राणाः | 46 | 4 | a | तासां मध्ये द्वयो र्द्वयोः | 33 | 3 | d |
| तामानयिष्य उन्मथ्य | 53 | 3 | a | तासां मुकुन्दो मधुमञ्जुभाषितैः | 39 | 24 | a |
| तामापतन्तीं गदया गदां मृधे | 59 | 10 | a | तासां रतिविहारेण | 33 | 21 | a |
| ता माससाद कामार्तः | 36 | 36 | a | तास्तथा तप्यतीर्वीक्ष्य | 39 | 35 | a |
| ता मासाद्य वरारोहां | 58 | 18 | a | तास्ता विचेष्टा जगृहु स्तदात्मिकाः | 30 | 2 | d |
| ता माह भगवान् कार्ष्णिः | 55 | 11 | a | ता स्समादाय कालिन्द्याः | 32 | 12 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तां किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभिः | 47 | 43 | a |
| तां देव मायामिव वीरमोहिनीं | 53 | 51 | a |
| तां प्रत्यगृह्णाद्भगवान् | 58 | 47 | c |
| तां विप्रदुभयच्युतः | 60 | 48 | d |
| तां बुद्धिलक्षणौदार्य | 52 | 24 | a |
| तां भौमः प्राहरच्छक्तया | 59 | 20 | a |
| तां राजकन्यां रथ मारुरुक्षतीम् | 53 | 55 | a |
| तां रूपिणीं श्रियमनन्यगतिं निरीक्ष्य | 60 | 9 | a |
| तां वै प्रवयसोबालाम् | 53 | 45 | a |
| तांश्चाकृतार्थान् वियुनङ्क्ष्यपार्थकम् | 39 | 19 | c |
| तां श्रुत्वा बृषजिल्लभ्याम् | 58 | 34 | a |
| तां सत्यभामां भगवान् | 56 | 45 | a |
| तां सम्प्रविष्टौ वसुदेवनन्दनौ | 41 | 24 | a |
| ताः प्राहिणोत् द्वारवतीम् | 59 | 36 | a |
| त्वां ज्ञमिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम् | 51 | 57 | d |
| तिर्यङ्मर्त्यादिवौकसाम् | 33 | 34 | b |
| तिलिशश्मर्मचेषुभिः | 54 | 31 | b |
| तिलांश्च गुडमिश्रितान् | 53 | 13 | b |
| तिष्ठतिष्ठेत्युपाद्रवत् | 54 | 23 | d |
| तिष्ठेत तत्त्वयि वयं प्रति नन्दयामः | 60 | 57 | d |
| तिसृभिर्त्तेच्छकोटिभिः | 50 | 45 | b |
| तिसृभिश्चापि संवृतः | 50 | 4 | b |
| तीक्ष्णशृङ्गान् सुदुर्धर्षान् | 58 | 33 | c |
| तीव्रतापधुताशुभाः | 29 | 10 | b |
| तुङ्गगुल्फारुणनख | 39 | 50 | a |
| तुङ्गमारुहतां गिरिम् | 52 | 10 | b |
| तुङ्गां सारेःस्थलश्रियम् | 39 | 48 | b |
| तुण्डपक्षनखैर्गजाः | 59 | 18 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तुभ्यं नमस्तेऽस्त्वविषक्त दृष्टये | 40 | 13 | a |
| तुमुलो रासमण्डले | 33 | 6 | d |
| तुरङ्गमाश्च दुर्धर्षाः | 59 | 19 | a |
| तुल्यकष्टान् समागम्य | 57 | 2 | c |
| तुष्टाव पुण्डरीकाक्षं | 40 | 1 | c |
| तुष्टा ह्यागमनेन वाम् | 41 | 45 | d |
| तुष्यतां मे सभगवान् | 58 | 21 | c |
| तूणौ चाक्षयसायकौ | 58 | 13 | d |
| तूर्णं द्वारावतीमियात् | 57 | 14 | f |
| तूर्यभेर्यश्चजघ्निरे | 42 | 33 | b |
| तूर्यभेर्यश्चजघ्निरे | 53 | 41 | f |
| तूर्येषु निनदत्सु च | 43 | 31 | b |
| तूष्णीमास जनार्दनः | 55 | 36 | b |
| तृट्परीतः परिश्रान्तः | 58 | 16 | c |
| तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम् | 31 | 7 | b |
| तृणावर्त बकादयः | 46 | 26 | b |
| तेऽकृतार्थं प्रहिण्वन्ति | 49 | 23 | c |
| ते केशिन स्तामयस्पृशो यथा | 37 | 7 | b |
| तेज ओजोबलं वीर्यं | 49 | 5 | a |
| तेजसा तस्य धर्षितः | 51 | 27 | b |
| तेजसा ते विषह्येण | 51 | 35 | a |
| तेजसा नोपलक्षितः | 56 | 4 | d |
| तेजसा मुष्टदृष्टयः | 56 | 5 | b |
| तेजः प्रागल्भ्य रूपञ्च | 42 | 22 | c |
| तेजीयसां न दोषाय | 33 | 30 | c |
| तेजोऽपहरता सताम् | 60 | 19 | d |
| तेन कार्यचिकीर्षया | 50 | 32 | d |
| तेन तुष्ट स्त्रिलोककृत् | 53 | 38 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तेन तौ तत्र हन्तव्यौ | 36 | 26 | c |
| तेन पङ्कजगन्धिनः | 36 | 45 | b |
| तेन मे संयुगो भवेत् | 54 | 21 | d |
| तेन वीजयती देवी | 60 | 7 | c |
| तेनाऽटवीमटसि तद्वचयते न किंस्वित् | 31 | 19 | c |
| तेनाऽऽदेक्ष्यामि परुषम् | 36 | 53 | c |
| तेनेमां भो दशां नीतः | 44 | 47 | c |
| ते पुनन्त्युरु कालेन | 48 | 32 | c |
| तेभ्योऽदा दक्षिणां गावः | 45 | 27 | a |
| तेभ्यो भया चदुदधि शरण प्रपन्नः | 60 | 40 | d |
| ते मन्द भाग्या निरयेऽपि ये नृणाम् | 60 | 53 | c |
| तेषां तद्विक्रमं वीराः | 54 | 6 | a |
| तेषान्तु देव्युपस्थानात् | 56 | 37 | a |
| तेषां यत्स्ववचोयुक्तम् | 33 | 32 | c |
| तेषा विभो समुचितो भवतः समाजः | 60 | 38 | c |
| तेषीं वीर्यमदान्धानां | 60 | 19 | a |
| तेषां स्त्रियो महाराज | 44 | 43 | a |
| तेषु पौरा जानपदाः | 42 | 34 | a |
| तेषु राजाऽम्बिका पुत्रः | 48 | 35 | a |
| तेषु हि प्राकृताः प्रोताः | 40 | 12 | c |
| तैरहं सुरपक्षीयान् | 36 | 67 | e |
| तैरामृष्टशुचो लोकाः | 40 | 17 | c |
| तै रिदं सत्यसङ्कल्पः | 37 | 13 | c |
| तैरिमां प्रापितो योनिम् | 34 | 13 | c |
| तैर्विद्धतश्चैः पौरुष्य | 57 | 13 | c |
| तैलद्रोण्यां मृतं प्रास्य | 57 | 8 | a |
| तैलाभ्यक्तो दिगम्बरः | 42 | 30 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| तैस्ताडित श्शरौ घैस्तु | 54 | 28 | a |
| तैस्तै र्निर्युद्धविधिभिः | 44 | 19 | a |
| तैस्तैः पदै स्तत्पदवीम् | 30 | 26 | a |
| तै स्त्यक्तोऽनर्थ कोविदः | 49 | 24 | b |
| तैस्संसृज्य विजहतुः | 44 | 29 | b |
| तोकयित्वा स्दत्यन्या | 30 | 15 | c |
| तोरणैस्समलङ्कृतम् | 53 | 8 | d |
| तौ कल्पयन्तौ युगपत् | 34 | 23 | c |
| तौ दृष्ट्वा सहसोत्थाय | 41 | 43 | c |
| तौ रथस्थौ कथमिह | 39 | 42 | a |
| तौ रेजतू रङ्गगतौ महाभुजौ | 43 | 19 | a |
| तौ सञ्जगृहतुर्नृप! | 45 | 35 | d |
| त्यक्तु नाऽर्हसि मा नाथ! | 41 | 11 | c |
| त्यक्तोऽयादरिभिर्नृप! | 50 | 43 | d |
| त्यजन्त्यनिमिषा दिवम् | 37 | 15 | d |
| त्यजमनाक् च न स्त्वत्स्पृहात्मना | 31 | 18 | c |
| त्याग स्तपो दम स्सत्यं | 47 | 33 | c |
| त्याज्यः स्वेनैव दोषेण | 54 | 39 | c |
| त्रयाणां पुरुषर्षभम् | 51 | 30 | b |
| त्रयोविंशतिभि स्सैन्यैः | 54 | 13 | c |
| त्रयो विंशत्यनीकपः | 52 | 6 | d |
| त्रयोविंशत्यनीकाख्यं | 50 | 15 | a |
| त्रय्या च विद्यया केचित् | 40 | 6 | a |
| त्रासितैः कि मसत्तम! | 36 | 7 | 8 |
| त्रिदशैरनुमोदितः | 50 | 36 | f |
| त्रिलोक्यां विबुधर्षभाः | 56 | 8 | b |
| त्रिवक्रनामा ह्यनुलेपकर्मणि | 42 | 3 | b |
| त्रिवक्रां रुचिराननाम् | 42 | 6 | b |
| त्रिशूलमुच्चम्य सुदुर्निरीक्षण | 59 | 7 | a |
| त्रीन्लोकान्कुचयोऽपुनन् | 41 | 15 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| त्रुटियुगायते त्वा मपश्यताम् | 31 | 15 | b |
| त्रैलोक्यकान्तं दृशिमन्महोत्सवम् | 38 | 14 | b |
| त्रैलोक्यलक्ष्मैकपदं वपुर्दधत् | 32 | 15 | d |
| त्रैलोक्य सौभगमिदञ्च निरीक्ष्य रूपम् | 29 | 40 | c |
| त्वक्राश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्तः | 60 | 45 | a |
| त्वत्पादपद्मकरन्दजुषां मुनीनाम् | 60 | 36 | a |
| त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम | 29 | 38 | c |
| त्वत्सेवकैर्नृपपदंविधुतं तमोऽन्धम् | 60 | 35 | d |
| त्वदीयमद्राक्ष्म वयं मधुद्विषः | 39 | 21 | d |
| त्वदीयया त्वां नभजत्यनर्थदृक् | 51 | 46 | b |
| त्वद्वचः श्रोतुकामेन | 60 | 29 | c |
| त्वद्विधानां दुरात्मनाम् | 36 | 7 | d |
| त्वमप्रमत्तः सहसाऽभिपद्यसे | 51 | 50 | c |
| त्वमात्मा सर्वभूतानाम् | 37 | 12 | a |
| त्वयाऽदीर्घसमीक्षया | 60 | 16 | b |
| त्वया विरहिता पत्या | 44 | 46 | a |
| त्वया हतेन निहताः | 44 | 45 | c |
| त्वयाहं भक्तवत्सलः | 51 | 43 | d |
| त्वयिधृतासव स्त्वां विचिन्वते | 31 | 1 | d |
| त्वयि विश्वात्मके सन्ति | 41 | 4 | c |
| त्वयैव यदुनन्दन | 58 | 44 | b |
| त्वयोदितोऽयं जगतो हिताय | 48 | 24 | a |
| त्वयोन्मथितचित्तायाः | 42 | 10 | c |
| त्वय्यच्युताविशतिचित्तमपत्रपं मे | 52 | 37 | d |
| त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रमः | 59 | 30 | d |
| त्वय्यब्जनाभसदुपासनया मतिःस्यात् | 40 | 29 | d |
| त्वय्यव्ययात्मन् पुरुषे प्रकल्पिताः | 40 | 16 | a |
| त्वय्यास्तां सुव्रते मणिः | 57 | 42 | b |
| त्वय्यास्ते शतधन्वना | 57 | 40 | b |
| त्वरितं गुह्याकाधमम् | 34 | 28 | d |
| त्वरितः कुण्डिनं प्रागात् | 53 | 21 | c |
| त्वं तु राम यदि श्रद्धा | 50 | 19 | a |
| त्वं नो गुरुः पितृव्यश्च | 48 | 30 | a |
| त्वंन्यस्तदण्डमुनिभिर्गदितानुभावः | 60 | 39 | a |
| त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मा | 60 | 38 | a |
| त्वं वै सिसृक्षू रज उत्कटं प्रभो | 59 | 29 | a |
| त्वं हि विश्वसृजां स्रष्टा | 56 | 27 | a |
| त्वामद्योलूखले हरे | 30 | 23 | b |
| त्वामहं शरणं गता | 49 | 13 | d |
| त्वा मीश्वरं स्वाश्रय मात्ममायया | 37 | 24 | a |
| त्वा मुद्वहे कथमिति प्रवदाम्युपायम् | 52 | 42 | b |
| त्वामेवाऽन्ये शिवोक्तेन | 40 | 9 | a |
| त्वां दिदृक्षुर्जगत्पते | 56 | 7 | b |
| त्वां योगिनो यजन्त्यद्धा | 40 | 5 | a |
| त्वां वै वैतानिका द्विजाः | 40 | 6 | b |
| त्विषत्कपोलारुण कुण्डमाननाः | 46 | 45 | d |
| **द** | | | |
| दग्धं मृगा स्तथाऽरण्यम् | 47 | 8 | c |
| दग्धःप्राक् रुद्रमन्युना | 55 | 1 | b |
| दग्धानाकर्ण्य पाण्डवान् | 57 | 1 | b |
| दण्डव द्रामकृष्णयोः | 38 | 34 | d |
| दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य | 29 | 36 | b |
| दत्तवेणु रनयत् स्वरजातीः | 35 | 14 | d |
| दत्ताभयं कालभुजङ्गरंहसा | 38 | 16 | c |
| दत्ताभयञ्च भुजदण्डयुगं विलोक्य | 29 | 39 | c |
| दत्ता भ्रात्रा स्वपित्रा च | 60 | 11 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| दत्त्वादित्यै च कुण्डले | 59 | 38 | b | दन्तवक्त्रो विदूरथः | 53 | 17 | b |
| दत्त्वाऽभयं भौमगृहं | 59 | 32 | c | दन्ता निपेतुर्भगवद्भुजस्पृशः | 37 | 7 | a |
| दत्त्वा स्वगुरवे भूयः | 45 | 47 | c | दन्ताभ्यां सोऽहन स्क्षितिम् | 43 | 11 | d |
| ददतु र्वरौ वरान् | 41 | 50 | d | दमघोष स्सुताय वै | 53 | 14 | b |
| ददर्श कृष्णं रामञ्च | 38 | 28 | a | दम्पती तौ परिष्वज्य | 55 | 38 | c |
| ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि | 38 | 25 | c | दम्पती रथ मारोप्य | 58 | 52 | a |
| ददर्श चक्रायुधमग्रतो यतः | 44 | 39 | c | दयित दृश्यतां दिक्षु तावकाः | 31 | 1 | c |
| ददर्श तत्राऽम्बिकेयम् | 49 | 1 | c | दयितान्यायुधानि च | 50 | 13 | d |
| ददर्शतां स्फाटिक तुङ्ग गोपुर | 41 | 20 | a | दर्शनश्रवणादिभिः | 38 | 27 | d |
| ददर्श साग्रज स्तत्र | 57 | 12 | c | दर्शनादेव साधवः | 48 | 32 | d |
| ददाह गिरिमेधोभिः | 52 | 11 | c | दर्शनीयतमं श्यामं | 51 | 1 | c |
| ददुः स्वाधिकृतं धनम् | 50 | 57 | b | दर्शनीयतिलको वनमाला | 35 | 10 | a |
| ददृशिमसकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्र | 47 | 19 | c | दर्शयन्त्येव पौरुषम् | 50 | 20 | b |
| ददृशु स्तत्र रुक्मिणम् | 54 | 36 | b | दर्शयन्दर्शने फलम् | 42 | 6 | d |
| ददृशुः प्रियविश्लेष | 30 | 41 | c | दर्शयस्व महाभाग | 57 | 43 | a |
| ददौ कृष्णाय विस्मितः | 58 | 47 | b | दर्शयित्वा जले वपुः | 41 | 1 | b |
| ददौ सहस्रसंख्यातान् | 50 | 56 | e | दवाग्नेः परिमोचिताः | 43 | 26 | b |
| ददौ सूर्यसमप्रभम् | 57 | 44 | d | दशधेनुसहस्राणि | 58 | 50 | a |
| दधार लीलया बालः | 57 | 20 | c | दशैकयोजनोत्तुङ्गात् | 52 | 12 | c |
| दधु र्मूर्ध्न्यधनुत्तये | 30 | 29 | d | दह्यमानतटादुभौ | 52 | 12 | b |
| दध्नश्च निर्मन्थन शब्दमिश्रितः | 44 | 46 | c | दंशित स्सशरासनः | 54 | 19 | d |
| दध्यक्षतै स्सोदपात्रैः | 41 | 30 | a | दंशितौ रथिनौपुरात् | 50 | 15 | d |
| दध्युर्मीलितलोचनाः | 29 | 9 | d | दातु स्ते नाऽत्र संशयः | 41 | 33 | d |
| दन्तदष्टकबलाधृतकर्णाः | 35 | 5 | c | दानवेन्द्रपुरं महत् | 59 | 4 | b |
| दन्तग्राणि स्समाविशत् | 43 | 15 | b | दानव्रततपो होम | 47 | 24 | a |
| दन्त मुत्पाट्यतेनैव | 43 | 14 | c | दामोदरारविन्दाक्ष | 56 | 6 | c |
| दन्तवक्त्रस्य निधनम् | 37 | 20 | c | दायं निनीयापःपिण्डान् | 57 | 41 | c |
| दन्त वक्त्रादयो नृपाः | 60 | 18 | b | दारार्थस्वजनादिषु | 40 | 25 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| दारुकेत्याह सारथिम् | 53 | 4 | d |
| दावाग्निं पश्यतोल्बणम् | 30 | 22 | b |
| दावाग्ने र्वातवर्षाच्च | 46 | 20 | a |
| दाशार्ह कुकुरादिकान् | 45 | 15 | d |
| दाशार्ह भोजान्धकवृष्णि सात्त्वताम् | 39 | 25 | b |
| दासीशता अपिविभो विदधुः स्म दास्यम् | 59 | 45 | d |
| दास्यन् कर्माण्यकारयत् | 53 | 7 | d |
| दास्यस्म्यहं सुन्दर कंससम्मता | 42 | 3 | a |
| दास्यामो नृपते रसान् | 39 | 12 | b |
| दास्या स्ते कृपणाया मे | 30 | 40 | c |
| दास्ये दुहितरं तस्मै | 56 | 43 | a |
| दिक्कालधर्मश्च उभे च सन्ध्ये | 36 | 41 | a |
| दिग्भ्यः कंसभया द्रुतान् | 45 | 15 | b |
| दित्सयैति सुहृदाशिष एषः | 35 | 23 | c |
| दिदृक्षुः परिवारितः | 41 | 19 | d |
| दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैः | 31 | 12 | a |
| दिनानि कतिचिन्मया | 48 | 10 | b |
| दिने दिने स्वर्णभारान् | 56 | 11 | a |
| दिवसा वा मनर्चतोः | 45 | 8 | d |
| दिवि भुवि च रसायां काःस्त्रियस्तद्दुरापाः | 47 | 15 | a |
| दिवौकसां सदाराणां | 33 | 4 | e |
| दिव्यगन्धतुलसीमधुमत्तैः | 35 | 10 | b |
| दिशो वितिमिरा राजन् | 38 | 33 | a |
| दिशो विलोकयन् पार्श्वे | 51 | 11 | c |
| दिश्युदीच्या मशङ्कितः | 34 | 26 | d |
| दिष्ट्या कंसो हतः पापः | 46 | 17 | a |
| दिष्ट्या गृहैश्चार्य सकृन्नमयि त्वया | 60 | 54 | a |
| दिष्ट्याजनार्दन भवानिह नः प्रतीतः | 48 | 28 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| दिष्ट्याते निहतो दैत्यः | 37 | 15 | a |
| दिष्ट्याद्य दर्शनां स्वानाम् | 39 | 7 | a |
| दिष्ट्या पापो हतः कंसः | 48 | 18 | a |
| दिष्ट्या पुत्रान् पतीन्देहान् | 47 | 26 | a |
| दिष्ट्याऽऽसैर्लब्धसर्वार्थैः | 47 | 39 | c |
| दिष्ट्याहितो हतः कंसः | 47 | 39 | a |
| दीपै र्मणिमयै रपि | 60 | 3 | d |
| दीप्यमानेन वपुषा | 34 | 10 | c |
| दीर्घप्रजागरो भीतः | 42 | 27 | a |
| दीव्यतेऽक्षै र्भगवते | 56 | 5 | c |
| दुःखं समुत्थमसहोऽस्मदयाग भीत्या | 60 | 56 | c |
| दुद्रुवु स्सर्वतोमार्गम् | 41 | 38 | c |
| दुरत्ययेभ्योमृत्युभ्यः | 46 | 20 | c |
| दुरन्तपारं मगधेन्द्रपालितम् | 50 | 29 | b |
| दुरन्ताच्च समेधितम् | 48 | 18 | d |
| दुरात्मना येन कृतं त्वयेदृशम् | 36 | 37 | d |
| दुरात्मनेत्थं मलिनीकृताऽहम् | 36 | 41 | d |
| दुरापमपि योगिनाम् | 51 | 6 | d |
| दुराराध्यं समाराध्य | 48 | 12 | a |
| दुराशयः कंसहितं चिकीर्षुः | 37 | 2 | c |
| दुरासदश्चण्डखो दुरत्ययः | 37 | 4 | d |
| दुर्गं द्वादशयोजनम् | 50 | 50 | b |
| दुर्गं द्विपददुर्गमम् | 50 | 49 | b |
| दुर्गां कृष्णोपलब्धये | 56 | 36 | d |
| दुर्जयं शत्रु मात्मनः | 55 | 14 | b |
| दुर्दान्ता दुरवग्रहाः | 58 | 43 | b |
| दुर्धर्ष मिव तेजसा | 51 | 27 | d |
| दुर्निमित्तानि दुर्मतिः | 42 | 27 | b |
| दुर्भिद मयाचत | 48 | 9 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| दुर्भगाया न मे धाता | 53 | 25 | a |
| दुर्भिक्षमार्यरिष्टानि | 56 | 11 | c |
| दुर्यशो लिप्तमात्मनि | 56 | 17 | b |
| दुर्योधनवशानुगौ | 58 | 30 | b |
| दुश्शीलो दुर्भगो वृद्धः | 29 | 25 | a |
| दुष्कीर्तिं दुरितमपोह्य याति शान्तिम् | 57 | 50 | d |
| दुष्टा न्राजकुलानि हि | 41 | 36 | d |
| दुष्टाऽहे! गच्छ जातोऽहम् | 30 | 21 | c |
| दुष्युत्रवशगोऽन्धदृक् | 48 | 35 | d |
| दुष्प्रजस्यात्पसारस्य | 49 | 4 | c |
| दुस्सह प्रेष्ठविरह | 29 | 10 | a |
| दुहन्त्योऽभिययुः काश्चित् | 29 | 5 | a |
| दुहिता पति मिच्छती | 58 | 20 | b |
| दुहितु र्मे श्रियः पते | 58 | 44 | d |
| दुःखिता द्वारकौकसः | 56 | 36 | b |
| दुःखिता स्ते पुरं ययुः | 56 | 34 | d |
| दूतस्त्वयाऽऽत्मलभने सुविभृतमन्नः | 60 | 57 | a |
| दूत स्साम्प्रेषित स्स्वयम् | 39 | 9 | b |
| दूरस्थे गोकुलस्त्रियः | 46 | 5 | b |
| दूरेवर्ते प्रियादृशाम् | 47 | 34 | b |
| दृग्भिःपिबन्त्यनुसवाभिनवं दुरापम् | 44 | 14 | c |
| दृग्रूपाभ्यां यथा रवेः | 54 | 46 | d |
| दृढैः सर्वत आवृतम् | 59 | 3 | d |
| दृप्तक्षत्रवनच्छिदे | 40 | 21 | b |
| दृप्ताकेशवमब्रवीत् | 30 | 38 | b |
| दृप्तानां स्मयनुत्तये | 60 | 19 | b |
| दृशांदधच्छ्रीरमणोऽत्मनोत्सवम् | 41 | 27 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| दृश्यते पुन रुत्थितम् | 51 | 61 | d |
| दृश्यते यत्र हि त्वाष्ट्रम् | 50 | 51 | a |
| दृष्टं वनं कुसुमितम् | 29 | 21 | a |
| दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत् | 46 | 43 | a |
| दृष्ट स्तेतिप्रियोऽच्युतः | 30 | 7 | d |
| दृष्टिपाते न भारत! | 51 | 12 | b |
| दृष्टो वः कश्चिदश्वत्थ | 30 | 5 | a |
| दृष्ट्वा किञ्चिज्जुगुप्सितम् | 53 | 24 | b |
| दृष्ट्वाकुमुद्वन्तमखण्डमण्डलम् | 29 | 3 | a |
| दृष्ट्वा कृष्णं श्रियःपतिम् | 54 | 60 | d |
| दृष्ट्वा तदुदरे बालम् | 55 | 6 | a |
| दृष्ट्वा तमागतं पार्थाः | 58 | 2 | a |
| दृष्ट्वा तं गजवाहनम् | 59 | 15 | h |
| दृष्ट्वा तानि हृषीकेशः | 50 | 12 | c |
| दृष्ट्वा तामेकचारिणीम् | 36 | 34 | d |
| दृष्ट्वा तावपि दुर्जयौ | 43 | 18 | b |
| दृष्ट्वा ब्रह्मण्यदेव स्तम् | 52 | 28 | a |
| दृष्ट्वा भ्रातृवधोद्योगम् | 54 | 32 | a |
| दृष्ट्वा मणिं हलधरः | 57 | 45 | c |
| दृष्ट्वा मुहुः श्रुतमनुद्रुत चेतस स्तम् | 41 | 28 | a |
| दृष्ट्वाऽयाचत वासांसि | 41 | 32 | c |
| दृष्ट्वा रथं शातकौम्भम् | 46 | 47 | c |
| दृष्ट्वा रामजनार्दनौ | 45 | 50 | b |
| दृष्ट्वा विद्राविनं सैन्यम् | 59 | 19 | e |
| दृष्ट्वा सङ्कर्षणो विभुः | 54 | 36 | d |
| दृष्ट्वा सभार्यं गरुडोपरिस्थितम् | 59 | 15 | c |
| दृष्ट्वैवमादि गोपीनाम् | 47 | 57 | a |
| देवं पशुपतिं विभुम् | 34 | 2 | b |
| देवकञ्च दुराशयम् | 36 | 52 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| देवकीजठरभू रुद्धराजः | 35 | 23 | d | देहादिमोहरहितानां भवदीयमायाम् | 48 | 28 | d |
| देवकीनन्दनोऽब्रवीत् | 45 | 45 | f | देहाद्युपाधे रनिरूपितत्वात् | 48 | 23 | a |
| देवकी वसुदेवश्च | 44 | 51 | a | देहिना मिह मानद | 46 | 30 | b |
| देवकी वसुदेवश्च | 55 | 38 | a | देहोत्पत्तिं प्रतीक्षती | 55 | 7 | d |
| देवक्यानकदुन्दुभ्याम् | 55 | 35 | c | देहोपपत्तये भूयः | 55 | 1 | c |
| देवक्याः कृष्णमेव च | 36 | 17 | b | देह्यपक्राम मा चिरम् | 43 | 4 | b |
| देव देव जगत्पते | 54 | 33 | b | देह्यावयोरङ्गविलेप मुत्तमम् | 42 | 2 | c |
| देव देव जगन्नाथ | 41 | 16 | a | देह्यावयो स्समुचितानि | 41 | 33 | a |
| देवदेवाय तोयराट् | 50 | 56 | f | दैते र्यी मयदर्शिताम् | 55 | 21 | b |
| देवर्षिरुपसङ्गम्य | 37 | 10 | a | दैत्यदानवमोहिने | 40 | 23 | b |
| देवाः स्वार्था न साधवः | 48 | 31 | d | दैत्य प्रमथरक्षसाम् | 37 | 14 | b |
| देवीञ्च नृपतेऽम्बिकाम् | 34 | 2 | d | दैत्यः पञ्चजनो महान् | 45 | 40 | b |
| देवी देववरार्चितम् | 59 | 24 | b | दैत्यः पञ्चशिरा जलात् | 59 | 6 | d |
| देवी नाम्नजिती नृप | 58 | 32 | d | दैत्यायिता जहारान्याम् | 30 | 16 | a |
| देवी वा विमुखी गौरी | 53 | 25 | c | दैत्यास्सुरासुरजितः | 46 | 26 | c |
| देवेऽवर्षति काशीशः | 57 | 36 | a | दैवञ्च नोऽद्य प्रतिकूल मीहते | 39 | 27 | d |
| देवै र्वैकुण्ठसंश्रयैः | 36 | 63 | b | दैवं हि फलभावनम् | 36 | 69 | d |
| देवो नः प्रीयता मिति | 34 | 3 | d | दैवेन विध्वंसित दीन चेतसाम् | 39 | 28 | d |
| देवोऽभिवर्षते तत्र | 57 | 37 | c | दोर्भ्यां बृहद्भ्यां परिरप्स्यतेऽथ माम् | 38 | 20 | b |
| देवो यथाऽऽदिपुरुषस्सुलोक गोप्ता | 29 | 41 | b | दोर्भ्यां स्तनान्तरगतं परिरभ्य कान्तं | 48 | 8 | c |
| देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजतो मुमुक्षून् | 29 | 31 | d | दोहं हित्वा समुत्सुकाः | 29 | 5 | b |
| देशकालोचितं वचः | 43 | 36 | b | दौर्मनस्य मिदं त्यज | 54 | 11 | b |
| देहआद्यन्त वानेषः | 54 | 45 | a | द्यौःकं सुरेन्द्रा स्तव बाहवोऽर्णवाः | 40 | 14 | c |
| देहजेनाग्निना दग्धः | 51 | 12 | c | द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके | 46 | 36 | b |
| देहम्भृता मियानर्थः | 38 | 27 | a | द्रक्ष्यन्ति ये चाऽध्वनि देवकीसुतम् | 39 | 25 | d |
| देहश्च विक्लबधियः सहसैव मुह्यन् | 60 | 24 | c | द्रक्ष्यामि नूनं सुकपोलनासिकम् | 38 | 9 | a |
| देहस्सम्भ्रियते मया | 50 | 10 | b | द्रक्ष्या म्यर्जुन सारथेः | 37 | 22 | d |
| देहं स्वर्याहि मां जहि | 50 | 19 | d | द्रक्ष्येऽङ्घ्रिपद्मं प्रहितो मुरारेः | 38 | 7 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| द्रक्ष्ये ममास्त्रुषसः सुदर्शनाः | 38 | 14 | d |
| द्रमिलो नाम नामतः | 36 | 34 | b |
| द्रव्य प्राणगुणात्मकः | 54 | 45 | b |
| द्रष्टुं त्वाऽऽयात्यजः प्रभो | 56 | 8 | d |
| द्रष्टुं प्रियतमं मम | 57 | 28 | b |
| द्रष्टुं यदुपरस्त्रियम् | 36 | 68 | d |
| द्रष्टुं समीयुस्त्वरिता पुरस्त्रियः | 41 | 24 | c |
| द्वन्द्वयुद्धं सुतुमुलम् | 56 | 23 | a |
| द्वद्वाराम स्तमोविष्टः | 40 | 26 | c |
| द्व्यङ्गुलोत्तान पाणिना | 42 | 7 | b |
| द्वाभ्यां सूतं ध्वजंत्रिभिः | 54 | 27 | b |
| द्वारका माक्स न्भवान् | 37 | 21 | b |
| द्वारका मेत्य सत्यया | 58 | 55 | b |
| द्वारकायां जगत्पते | 37 | 18 | d |
| द्वारकायाः प्रयोजकौ | 57 | 33 | d |
| द्वारकायामभू द्राजन् | 54 | 60 | a |
| द्वारकां स समभ्येत्य | 52 | 27 | a |
| द्वारां बृहद्धेमकवाटतोरणाम् | 41 | 20 | b |
| द्विजत्वं प्राप्य सुव्रतौ | 45 | 29 | b |
| द्विजपत्न्यः स्वलङ्कृताः | 53 | 42 | d |
| द्विजमारोप्यतूर्णिः | 53 | 6 | b |
| द्विजस्तयोस्तं महिमान मद्भुतम् | 45 | 37 | a |
| द्विजस्या चिन्तय त्तदा | 53 | 22 | d |
| द्विजालिकुलनादितम् | 46 | 13 | b |
| द्विजानाञ्च तपस्विनाम् | 36 | 47 | f |
| द्विड्भिर्हतबलप्रभः | 54 | 51 | b |
| द्विधा चिदीर्णस्तोशलकः | 44 | 27 | c |
| द्वियः कुवलयापीडः | 36 | 57 | c |
| द्विरेफकुल नादिते | 60 | 4 | b |
| द्विविदो दयित स्सखा | 36 | 67 | b |
| द्विषन्ते तेऽपि मां सदा | 36 | 51 | d |
| द्विषन्नपि हृषीकेशम् | 29 | 13 | c |
| द्वैरूप्यं ज्योतिषां तथा | 42 | 28 | d |
| **ध** | | | |
| धनदानुचरोऽभ्यगात् | 34 | 25 | d |
| धनं स्त्रीकोशवाहनम् | 50 | 36 | d |
| धनं हरत गोपानाम् | 44 | 32 | c |
| धनु रैन्द्र मिवाद्भुतम् | 42 | 15 | d |
| धनुर्मख निरीक्षार्थम् | 36 | 68 | c |
| धनुर्यष्टिमिवेभराट् | 46 | 25 | b |
| धनुर्विकृष्य सुदृढं | 54 | 24 | a |
| धनुषः पञ्चविंशतिम् | 43 | 8 | b |
| धनुषः स्थान मच्युतः | 42 | 15 | b |
| धनुषो भज्यमानस्य | 42 | 18 | a |
| धनुस्तरङ्गायुध गुल्मसङ्कुलाः | 50 | 27 | b |
| धन्या अहो अमी आल्यः | 30 | 29 | a |
| धन्यावनस्त्रिय उरुक्रम चित्तयानाः | 44 | 15 | d |
| धरणिमण्डनं ध्येय मापदि | 31 | 13 | b |
| धर्मराज मुपागमत् | 58 | 23 | d |
| धर्मव्यतिक्रमो दृष्टः | 33 | 30 | a |
| धर्मव्यतिक्रमो ह्यस्य | 44 | 9 | a |
| धर्मस्ते वृद्धसम्मतः | 52 | 30 | b |
| धर्मान्न्यायपथां स्तथा | 45 | 34 | b |
| धर्माल्लोकगुरु र्हरिः | 60 | 59 | d |
| धर्मेणपालयन्नुर्वीम् | 49 | 18 | a |
| धर्मोनिरपवादोऽत्र | 32 | 19 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| धर्षितात्मा ददौ सान्द्रम् | 42 | 4 | c |
| धाता तदनुमोदताम् | 59 | 35 | b |
| धात्री चुक्रोश भीतवत् | 56 | 21 | b |
| धारय ञ्छिरसा नृप | 48 | 16 | b |
| धारयन्त्यपि कृच्छ्रेण | 46 | 6 | a |
| धार्तराष्ट्रस्सुयोधनः | 57 | 30 | d |
| धावन्तीभिश्च वास्त्राभिः | 46 | 9 | c |
| धिया धृतं योगिभिरप्यहं ध्रुवम् | 38 | 15 | c |
| धीरमतिं कुलवती न वृणीत कन्या | 52 | 38 | c |
| धूपदीपैश्च माल्यैश्च | 46 | 12 | c |
| धूपैरगरुजै राजन् | 60 | 5 | c |
| धूपै स्सुरभिभिर्दीपैः | 48 | 3 | a |
| धृतराष्ट्रविचेष्टितम् | 49 | 31 | b |
| धृतः कया वा जठरे | 55 | 31 | c |
| धृतोऽद्रिप्रवरोऽमुना | 43 | 27 | b |
| धौतपादकराम्बुजा | 53 | 43 | b |
| धौता न्यत्युत्तमानि च | 41 | 32 | d |
| ध्यान प्राप्ताच्युताश्लेष | 29 | 10 | c |
| ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते | 29 | 35 | d |
| ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम् | 47 | 11 | b |
| ध्वजवज्राङ्कुशाम्भोजैः | 38 | 30 | a |
| ध्वस्तदोषातम श्शिवम् | 32 | 13 | b |
| ध्वस्ताशिषोऽब्जभवनाकपतीन् कुतोऽन्ये | 60 | 39 | d |
| **न** | | | |
| न कामयेऽन्यं तव पादसेवनात् | 51 | 56 | a |
| न कामै र्विहता यतः | 51 | 59 | d |
| न किञ्चिदूचतू राजन् | 45 | 11 | c |
| न क्वचित्सुखमेधते | 44 | 48 | d |
| न खलु गोपिका नन्दनो भवान् | 31 | 4 | a |
| न गृह्णीमो वयं राजन् | 50 | 20 | c |
| नग्नजिन्नाम कौसल्यः | 58 | 32 | a |
| न चाऽप्रियोद्वेष्य उपेक्ष्य एव वा | 38 | 22 | b |
| न चाऽस्यकर्मवालोके | 46 | 39 | a |
| न चैवं विस्मयः कार्यः | 29 | 16 | a |
| न जाने त्वाऽऽत्मनः प्रियम् | 40 | 26 | d |
| नटो नाटचमिवात्मनः | 41 | 1 | d |
| न तथा सान्निकर्षेण | 29 | 27 | c |
| न तत्र सौहृदं धर्मः | 32 | 18 | c |
| न तयो र्याति निर्वेशम् | 45 | 5 | c |
| न तस्य कश्चिद्वयित स्सुहृत्तमः | 38 | 22 | a |
| न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रहः | 50 | 30 | c |
| न तां शेकुर्नृपा वोढुम् | 58 | 33 | a |
| न तु ब्रह्मतया मुने | 29 | 12 | b |
| न तेऽस्ति स्वपरभ्रान्तिः | 58 | 10 | a |
| नतोऽस्मि धुर्यं यदुवृष्णिसात्वताम् | 37 | 24 | d |
| नतोऽस्म्यहं त्वाऽखिलहेतुहेतुम् | 40 | 2 | a |
| न त्वया योद्धु मिच्छामि | 50 | 18 | a |
| न त्वादृशीं प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु | 60 | 55 | a |
| न त्वा विदन्त्यसु तृपोऽन्तकमादृतान्धाः | 60 | 37 | c |
| न त्वां त्यक्तु मिहोत्सहे | 42 | 10 | b |
| न देवामृच्छिला मयाः | 48 | 32 | b |
| न देहः कर्म चैव वा | 46 | 38 | d |
| नद्याः पुलिन माविश्य | 29 | 45 | a |
| न धीर्मय्यपकर्षिता | 60 | 51 | d |
| नधीर्मय्येकभक्तानाम् | 51 | 60 | c |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| नन्दसूनुः क्षणभङ्गसौहृदः | 39 | 22 | a |
| ननाम कृष्णं रामञ्च | 48 | 15 | a |
| ननाम शिरसा भुवि | 41 | 43 | d |
| ननुदानपते न्यस्तः | 57 | 40 | a |
| नन्दगोपसुतं बत | 47 | 50 | b |
| नन्दगोपः स्वगोकुले | 39 | 12 | f |
| नन्द गोपादयो गोपाः | 42 | 38 | a |
| नन्दगोपादयोऽग्रतः | 41 | 8 | 6 |
| नन्द माहोद्भवो मुदा | 46 | 29 | d |
| नन्दव्रजे किलासाते | 36 | 22 | c |
| नन्द सूनु रनघे तववत्सः | 35 | 20 | c |
| नन्दसुनु रय मार्तजनानाम् | 35 | 4 | c |
| नन्दसूनुर्गतो हत्वा | 30 | 5 | c |
| नन्दसूनो र्महात्मनः | 30 | 25 | b |
| नन्दस्य कृष्णानुचरस्य राजन् | 46 | 44 | b |
| नन्दं बध्नीत दुर्मतिम् | 44 | 32 | d |
| नन्दं सव्रज मच्युतः | 45 | 24 | b |
| नन्दः कृष्णानुरक्तधीः | 46 | 27 | b |
| नन्दः प्रणयविह्वलः | 45 | 25 | b |
| नन्दः प्रीतः परिष्वज्य | 46 | 14 | c |
| नन्दादयोऽनुरागेण | 47 | 65 | c |
| नन्दाद्या श्शकटै स्ततः | 39 | 33 | b |
| नन्दाद्यैस्साध्युपायनैः | 36 | 63 | d |
| नन्देन सुसभाजिताः | 38 | 43 | b |
| नन्यवर्तन्त काञ्चन | 29 | 8 | d |
| नन्वविच्छन्ति ते मार्गं | 56 | 8 | a |
| नन्वसौ दूरमानीय | 51 | 10 | a |
| नन्वीशोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षात् | 47 | 59 | c |
| नन्वेतदेवमरविन्द विलोचनाऽहम् | 60 | 34 | a |
| न पश्यन्तीब्राह्मणाय | 53 | 31 | c |
| न पारयेऽहं चलितुम् | 30 | 38 | c |
| न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजाम् | 32 | 23 | a |
| न प्रत्येति मणिं प्रति | 57 | 42 | d |
| न प्रियाप्रिययो राजन् | 54 | 11 | c |
| न बध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वा | 48 | 22 | c |
| न बन्धु र्वध मर्हति | 54 | 39 | b |
| न बालो न किशोरस्त्वम् | 43 | 39 | a |
| न भार्या न सुतादयः | 46 | 38 | b |
| न भूयोऽर्हति शोचितुम् | 51 | 44 | d |
| न मय्युपैष्य त्यरिबुद्धिमच्युतः | 38 | 18 | a |
| नम श्शुद्धाय बुद्धाय | 40 | 23 | a |
| नम स्तस्मै भगवते | 57 | 21 | a |
| नमस्ते कल्कि रूपिणे | 40 | 23 | d |
| नमस्ते देव देवेश | 59 | 25 | a |
| नमस्तेऽद्भुतसिंहाय | 40 | 20 | a |
| नमस्ते पङ्कजाक्ष्ये | 59 | 26 | d |
| नमस्ते रघुवर्याय | 40 | 21 | c |
| नमस्ते वासुदेवाय | 40 | 22 | a |
| नमस्ते वासुदेवाय | 40 | 31 | a |
| नमस्यआभ्याञ्च सखीन् वनौकसः | 38 | 15 | d |
| नमस्ये त्वाम्बिकेऽभीक्ष्णं | 53 | 46 | a |
| नमस्ये शिरसाऽसकृत् | 52 | 33 | d |
| नम स्सङ्कर्षणाय च | 40 | 22 | b |
| नम स्सूकरमूर्तये | 40 | 19 | d |
| नमः कारणमत्स्याय | 40 | 18 | a |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| नमः कृष्णाय शुद्धाय | 49 | 13 | a |
| नमः पङ्कजनाभाय | 59 | 26 | a |
| नमः पङ्कजनेत्राय | 59 | 26 | c |
| नमः पङ्कजमालिने | 59 | 26 | b |
| न माता न पिता तस्य | 46 | 38 | a |
| न मे जन्मनि कर्हिचिन् | 51 | 38 | d |
| न मे वाग्जायते मृषा | 36 | 45 | f |
| नमो भगवते तुभ्यम् | 59 | 27 | a |
| नमो भृगूणां पतये | 40 | 21 | a |
| नमो मन्दरधारिणे | 40 | 19 | b |
| नमो विज्ञान मात्राय | 40 | 30 | a |
| नयनैः प्राकृतै रपि | 50 | 34 | b |
| नयन्तं पथि कन्यकाम् | 58 | 53 | b |
| नय मां यत्र ते मनः | 30 | 38 | d |
| नयसि कथ मिहास्मान् दुस्त्यजद्वन्द्व पार्श्वम् | 47 | 20 | c |
| नयामि यमसादनम् | 43 | 4 | d |
| न योत्स्ये याहि बन्धुहन् | 50 | 18 | d |
| नरकस्य शिरो हरिः | 59 | 21 | d |
| नरकाय न्यवेदयन् | 59 | 14 | f |
| नरको युध्ययुध्यत | 59 | 19 | d |
| नरनारायणालयम् | 52 | 4 | b |
| नरयानै र्महाकोशान् | 59 | 36 | c |
| नरलोकमहोत्सवौ | 41 | 31 | d |
| नरलोकं परित्यज्य | 51 | 17 | a |
| नरलोक विडम्बयन् | 60 | 58 | d |
| नरवीरं विमोहिताः | 59 | 34 | b |
| नरः किल्बिषमश्नुते | 44 | 10 | d |
| नराणां देवकान्तासु | 36 | 44 | c |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| नरा नार्यः प्रमुदिताः | 58 | 49 | c |
| नरानार्यश्च मुदिताः | 54 | 55 | a |
| नरेन्द्रकन्या उद्वाह्य | 47 | 45 | c |
| नरेन्द्रकन्या चकमे रमापतिम् | 58 | 36 | b |
| नरेन्द्रयाच्ञाकविभिर्विगर्हिता | 58 | 40 | a |
| नर्मदः प्रणयिनां विजहार | 35 | 20 | d |
| नर्मदो यर्हि कूजितवेणुः | 35 | 4 | d |
| न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र | 30 | 31 | a |
| न लब्धो दैवहतयोः | 45 | 4 | a |
| नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम् | 31 | 11 | b |
| नवकञ्जारुणेक्षणम् | 51 | 2 | d |
| नवनागसहस्राणि | 58 | 51 | a |
| नवभिश्चद्विजोत्तमैः | 39 | 53 | d |
| नवाङ्कुल्यङ्कुष्ठदलैः | 39 | 50 | c |
| नविदुर्मोहिताऽजया | 57 | 19 | d |
| न वेदाऽह मधीश्वर | 58 | 11 | b |
| नवै शूराविकत्थन्ते | 50 | 20 | a |
| नवोढा व्रीडिता किञ्चित् | 58 | 5 | c |
| न शक्यन्तेऽनुसंख्यातुं | 51 | 37 | c |
| न शपेद्वा जनो यथा | 56 | 42 | b |
| न शोभते वय मिव | 44 | 46 | c |
| नश्यत्याश्वाऽऽचरन्मौढ्यात् | 33 | 31 | c |
| नष्टत्विषं गतोत्साहं | 54 | 10 | c |
| नष्टलब्धधना इव | 45 | 50 | d |
| नष्टं पुनरिवाऽऽगतम् | 55 | 37 | d |
| नष्टं प्रद्युम्न मायातम् | 55 | 39 | a |
| न सन्ति मायिन स्तत्र | 56 | 11 | a |
| न सभां प्रविशेत्प्राज्ञः | 44 | 10 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| न सहद्भिश्चिकीर्षितम् | 49 | 5 | d | नाऽनुबध्येत तद्वाक्यैः | 47 | 41 | c |
| न स्थेयं तत्र कर्हिचित् | 44 | 9 | d | नानेव गृह्यते मूढैः | 54 | 44 | c |
| न स्व्यपत्यार्थकामुकाः | 60 | 20 | b | नानोपहारबलिभिः | 53 | 42 | a |
| नहि वाञ्छन्ति किञ्चन | 39 | 2 | d | नानोपहारबलिभिः | 53 | 47 | c |
| नहि वां विषमा दृष्टिः | 41 | 47 | a | नानोपायनताम्बूल | 42 | 13 | c |
| न हि सर्वात्मना क्वचित् | 47 | 29 | b | नानोपायनपाणयः | 47 | 65 | b |
| न ह्याम्मयानि तीर्थानि | 48 | 32 | a | नाऽन्यत्तव पदाम्भोजात् | 49 | 12 | a |
| न ह्यस्यातिप्रियः कश्चित् | 46 | 37 | a | नाऽन्यसिद्धाऽमलज्ञानम् | 45 | 30 | c |
| नाऽकम्पत तया विद्धः | 59 | 20 | c | नाऽन्यस्त्वत्तो हिततमः | 36 | 60 | c |
| नाऽऽगच्छत्यरविन्दाक्षः | 53 | 23 | c | नाऽन्यं पतिं वृणे वीर | 58 | 21 | a |
| नागपुन्नागचम्पकाः | 30 | 6 | b | नाऽन्यो भवितु मर्हति | 51 | 5 | b |
| नागा च्छतगुणान् रथान् | 58 | 51 | b | नाऽपश्यदुदरेऽर्भकम् | 45 | 42 | d |
| नाङ्का द्वितीयन्त्वपरास्स्वलोचनम् | 41 | 25 | d | नाऽप्रियो वाऽस्त्यमानिनः | 46 | 37 | b |
| नाऽचलत्तत्प्रहारेण | 44 | 22 | a | नाऽऽभ्यजान न्निमं लोकम् | 39 | 15 | c |
| नाऽज्ञःप्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियः | 33 | 18 | c | नाऽमुञ्च त्त मुरङ्गमः | 34 | 8 | b |
| नातिदीर्घेण कालेन | 55 | 9 | a | नाऽयं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः | 47 | 60 | a |
| नाऽऽत्मनोऽन्येन संयोगः | 54 | 46 | a | नाऽऽयाति हि कृतोद्यमः | 53 | 24 | d |
| नाऽऽत्मागाराणि सस्मरुः | 30 | 44 | d | नारदप्रेषितो वीरः | 50 | 44 | c |
| नाऽऽत्मीयो न परश्चाऽपि | 46 | 38 | c | नारदोऽकथयत्सर्वम् | 55 | 6 | c |
| नादितं शुष्मिभिर्वृषैः | 46 | 9 | b | नारदोऽकथयत्सर्वम् | 55 | 36 | c |
| नाऽधिगम्य परं नृप | 52 | 11 | b | नारदो देवदर्शनः | 36 | 16 | d |
| नाऽधुना सन्ति कालिताः | 51 | 18 | d | नारायणजगत्पते | 58 | 37 | b |
| नानागारेषु ताः स्त्रियः | 59 | 42 | b | नारायण नमस्तेऽस्तु | 56 | 6 | a |
| नानारूपामराख्यया | 40 | 6 | d | नारायण नमोऽस्तु ते | 41 | 16 | d |
| नानालक्षणवेषाभ्याम् | 41 | 41 | a | नारायणं पूरुष मादिमव्ययम् | 40 | 2 | b |
| नानावर्णै स्सुशोभनैः | 48 | 3 | d | नारायणे कारण मर्त्यमूर्तौ | 46 | 33 | b |
| नाऽनुकूलो महेश्वरः | 53 | 25 | b | नारायणेऽखिलगुरौ | 46 | 30 | c |
| नाऽनुज्ञातो देवतानाम् | 36 | 47 | e | नाऽशक्नोद्वहणातुरः | 37 | 32 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नाऽसितव्यं नृपासने | 45 | 13 | d | निद्रां लेभे न चिन्तया | 42 | 31 | d |
| नाऽसूयन्खलु कृष्णाय | 33 | 38 | a | निद्रिता लिखितचित्र मिवाऽऽसन् | 35 | 5 | d |
| नाऽस्मत्तो युवयो स्तात | 45 | 3 | a | निधनं शतधन्वनः | 57 | 31 | b |
| नाऽहमीश्वरयोः कुर्याम् | 57 | 16 | a | निन्यु र्दुःखेन वासरान् | 35 | 1 | d |
| नाऽहन्तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् | 32 | 21 | a | निपात्य रङ्गोपरितुङ्गमञ्चात् | 44 | 37 | b |
| नाऽहं भवद्भ्यां रहितः | 41 | 11 | a | निपाययन्त्योऽर्भमपोह्यमातरः | 41 | 26 | d |
| नाहं वेद्म्यत्र कारणम् | 53 | 23 | d | निपेतत्तु रघो भुवि | 52 | 12 | d |
| निकृत्तबाहूरुशिरोध्रविग्रहम् | 59 | 16 | c | निपेतुः पुष्पवृष्ट्यः | 33 | 5 | b |
| निकृत्तशीर्षोरुभुजाङ्घ्रिचर्मणः | 59 | 14 | b | निमज्य तस्मिन् सलिले | 39 | 41 | a |
| निकृत्तशृङ्गोद्रिरिवेन्द्र तेजसा | 59 | 11 | b | निमेषणं रात्र्यहनी प्रजापतिः | 40 | 15 | c |
| निघ्नन् रथान्कुञ्जरवाजिपत्तीन् | 50 | 24 | c | निम्लोचति विभावसौ | 46 | 8 | b |
| निचीयमानो नारीभिः | 50 | 40 | a | नियुद्धकुशलौश्रुत्वा | 43 | 32 | c |
| निजकर्मनिबन्धनम् | 45 | 46 | b | नियुद्धमात्मनोऽभीष्टम् | 43 | 36 | c |
| निजजनस्मयध्वंसनस्मित | 31 | 6 | b | निरञ्जनं निर्गुण मद्वयं परम् | 51 | 57 | c |
| निजपदाब्जदलैर्ध्वजवज्र | 35 | 16 | a | निरन्तरं यद्बदलातचक्रम् | 50 | 24 | d |
| नित्यदा यत्र वर्षति | 52 | 10 | d | निरस्तसाम्यातिशयेष्ववस्थितः | 59 | 43 | b |
| नित्यप्रमुदितंश्रीमत् | 51 | 3 | a | निरस्यते येन दिशाममङ्गलम् | 46 | 46 | d |
| नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्? | 29 | 33 | b | निरस्य वक्त्रैर्व्यनदत्सपञ्चभिः | 59 | 8 | b |
| नित्यमुद्विग्नचेतसोः | 45 | 8 | b | निरहङ्कारिणः शान्तान् | 52 | 33 | c |
| नित्यं कदिन्द्रियगुणैः कृतविग्रहस्त्वम् | 60 | 35 | c | निरहङ्कारिणां प्रभो | 33 | 33 | d |
| नित्यं गिरि वनेचराः | 41 | 35 | b | निरायुधश्चलत्पद्भ्याम् | 51 | 5 | c |
| नित्यं प्रमुदितं श्रीमत् | 45 | 18 | c | निरीक्ष्यतावुत्तमपूरुषौ जनाः | 43 | 20 | a |
| नित्यं प्रमुदिता गोपाः | 43 | 34 | a | निरीक्ष्य दुर्मर्षण आस्रवन्मदैः | 59 | 15 | a |
| नित्यं हरौ विदधतः | 29 | 15 | c | निरीक्ष्यपुरसम्पदः | 42 | 21 | d |
| नित्योत्कण्ठितयो रपि | 45 | 3 | b | निरीक्ष्यमाणः सस्नेहम् | 50 | 40 | c |
| निद्रया देवदत्तया | 51 | 21 | d | निरीक्ष्य यद्धतं कृष्णः | 50 | 5 | a |
| निद्रयोप हतेन्द्रियः | 51 | 33 | b | निरुद्धवायुश्चरणांश्च विक्षिपन् | 37 | 8 | b |
| निद्राञ्चनलभेनिशि | 53 | 2 | b | निरुद्धा एत दाचक्ष्व | 59 | 1 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| निरूढमानो नारदेव इत्यहम् | 51 | 49 | b | निवेद्यगाङ्गाऽतिथये | 38 | 39 | a |
| निरूपिता शम्बरेण | 55 | 8 | a | निवेद्य च वरासनम् | 38 | 38 | b |
| निर्गत्यतूर्णं मवताः पथि भूरिपुण्याः | 44 | 16 | a | निवेशयामास मुदा | 53 | 16 | c |
| निर्गुणस्य गुणात्मनः | 29 | 14 | d | निवेश्य च रथोपरि | 39 | 40 | b |
| निर्घुष्टां ब्रह्मघोषेण | 50 | 39 | c | निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनम् | 29 | 4 | a |
| निर्जगाम पुरद्वारात् | 50 | 58 | e | निशम्य तद्भोजपतिः | 36 | 18 | a |
| निर्जगाम सहाग्रजः | 41 | 52 | d | निशम्य देवकी देवी | 56 | 35 | a |
| निर्जग्मतुः स्वायुधाढ्यौ | 50 | 16 | a | निशम्य बालवचनम् | 56 | 9 | a |
| निर्जित्य दिक्चक्रमभूतविग्रहः | 51 | 52 | a | निशम्य यदुनन्दनः | 53 | 1 | b |
| निर्जित्योपानयत् पुरम् | 59 | 39 | d | निशम्य सर्वं हृदि धारयन्तु तत् | 36 | 29 | b |
| निर्दष्ट दशनच्छदा | 32 | 7 | d | निशात मसिमादाय | 36 | 18 | c |
| निर्बिभेद गदाधरः | 59 | 5 | d | निशातमसिमुद्यम्य | 55 | 24 | a |
| निर्भिन्नकुम्भाः कारणो निपेतुः | 50 | 25 | a | निशामुखं मानयन्तौ | 34 | 22 | a |
| निर्मथ्य चैद्यमगधेन्द्रबलं प्रसह्य | 52 | 41 | c | निशाम्य कृष्णस्य तदात्मवैभवम् | 34 | 19 | a |
| निर्मिते भवने पित्रा | 58 | 22 | c | निशाम्य पुरवासिनः | 42 | 22 | b |
| निर्विश्य कर्णविवरै र्हृतोऽङ्गतापम् | 52 | 37 | b | निश्चक्राम गदापाणिः | 55 | 18 | c |
| निर्विश्य पुलिनं विभुः | 32 | 12 | b | निश्चक्राम गुहामुखात् | 52 | 1 | d |
| निर्वृत्याक्षीणमङ्गलाः | 29 | 10 | d | निश्चक्रामाम्बिका गृहात् | 53 | 50 | b |
| निर्हृत्य कर्माशय माशु याति | 46 | 32 | c | निषसादासनेऽन्ये च | 58 | 6 | c |
| निलिल्युस्तत्र तत्र ह | 55 | 28 | d | निषेव्या अर्हसत्तमाः | 48 | 31 | b |
| निवारयामस्समुपेत्य माधवम् | 39 | 28 | a | निष्कग्रीव सुवाससाम् | 58 | 50 | d |
| निवारितो नारदेन | 36 | 13 | a | निष्किञ्चन जनप्रियाः | 60 | 14 | b |
| निवासाय महत्पुरम् | 54 | 51 | f | निष्किञ्चना वयं शश्वत् | 60 | 14 | a |
| निविशन्ति घना यस्य | 36 | 4 | a | निष्किञ्चनो नु भवान् न यतोऽस्ति किञ्चित् | 60 | 37 | a |
| निवृत्तभोग स्तदपेक्षया दधत् | 51 | 53 | b | निष्क्रम्यचेरतुर्हृष्टौ | 42 | 21 | c |
| निवृत्ताशेषवृत्तयः | 39 | 15 | b | निष्ठा देहिषु दृश्यते | 54 | 11 | d |
| निवृत्तोत्सवमङ्गला | 44 | 46 | d | निष्ठुरेण गवां नृणाम् | 36 | 3 | b |
| निवेदितोपायना स्ते | 42 | 38 | c | निष्पिष्टाङ्गोरुबन्धनः | 56 | 25 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| निष्पीड्यामास यथार्द्रं मम्बरम् | 36 | 13 | c | नृपा ययुस्तत्कथयन्त आदृताः | 34 | 19 | d |
| निसृष्टः किल मे मृत्युः | 36 | 63 | a | नृपो बाहं द्रथ स्तदा | 50 | 35 | b |
| निस्तीर्णारि बलार्णवः | 50 | 36 | b | नृभिश्चाच्युत चोदितैः | 52 | 6 | b |
| निस्तीर्येह यदिच्छया | 52 | 35 | b | नृलोके चाऽप्रतिद्वन्द्वः | 50 | 45 | c |
| निस्सङ्गो मुक्तसंशयः | 52 | 3 | b | नेत्रे अश्रुकलाकुले | 53 | 26 | d |
| निस्सारयत दुर्वृत्तौ | 44 | 32 | a | नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म | 29 | 30 | c |
| निस्सेतो भिन्नवृत्तस्य | 36 | 47 | a | किञ्चित् | | | |
| निहतो मणिमिच्छता | 56 | 14 | d | नेदुर्दुन्दुभयो व्योम्नि | 44 | 42 | a |
| निहत्या ह्विष्वलीयत | 43 | 6 | d | नेष्यते स्वपुरं बली | 50 | 48 | d |
| निहन्तुं शतधन्वानम् | 57 | 14 | e | नेष्ये वीर्यमदं येन | 54 | 22 | c |
| निःश्वसन्क्रोधमूर्छितः | 36 | 12 | d | नेह चात्यन्त संवासः | 49 | 20 | a |
| निःस्वं त्यजन्ति गणिका | 47 | 7 | a | नैतत्समाचरेज्जातु | 33 | 31 | a |
| नीतं नीतं महासुरः | 37 | 30 | b | नैताव दिह कारणम् | 57 | 38 | b |
| नीताः स्म नः क्षण मिव क्षणदा विना तम् | 39 | 29 | c | नैते स्वरूपं विदुरात्मनस्तेहि | 40 | 4 | c |
| नीतो दर्शयता दूर | 51 | 7 | c | नैनं प्रापाहताशुभः | 51 | 8 | d |
| नीतो यः सूतिकागृहात् | 55 | 32 | b | नैवाहतो यो धिगमुष्य जन्म तत् | 38 | 21 | d |
| नीत्वा सर्वजनं हरिः | 50 | 58 | b | नैवाह्नवी किमपि तेनवयं जिताः स्मः | 60 | 56 | d |
| नीयमाने धने गोभिः | 52 | 6 | a | नैवार्थकामुकः प्रादात् | 56 | 12 | c |
| नीरजाङ्कुशविचित्रललामैः | 35 | 16 | b | नैवाऽलीकमहं मन्ये | 60 | 47 | a |
| नीलजीमूतसङ्काशम् | 59 | 15 | k | नैवाऽ हार्ष महं देव | 45 | 40 | a |
| नीलवक्रालकालिभिः | 55 | 28 | b | नोचेत्सकुञ्जरं त्वाऽद्य | 43 | 4 | c |
| नीलाम्बरं बिसश्वेतम् | 39 | 45 | c | नोचेद्वयं विरहजाम्युपयुक्तदेहाः | 29 | 35 | c |
| नीवीस्तनालभन नर्म नखाग्रपातैः | 29 | 46 | b | नोत्तमाधमयोः क्वचित् | 60 | 15 | d |
| नूनं तत्करज स्पर्शा | 30 | 13 | c | नोत्तमो नाऽधमो वाऽपि | 46 | 37 | c |
| नृगस्य मोक्षणं शापात् | 37 | 18 | c | नोत्सहेऽहं कृपणधीः | 40 | 28 | a |
| नृणां चक्षूंषि तिग्मगुः | 56 | 7 | d | नोपतापा न मारिकाः | 57 | 37 | d |
| नृणां निःश्रेयसार्थाय | 29 | 14 | a | नो भयांश्च भजन्त्यन्ये | 32 | 17 | c |
| नृणां विकृष्य प्रबभञ्ज मध्यतः | 42 | 17 | c | न्यगृह्णा ह्लीलयैव तान् | 58 | 45 | d |
| नृत्यच्छिखण्डिनिवहे | 36 | 32 | a | न्यमज्ज हर्षनं यन्मे | 39 | 43 | c |
| नृत्यते कुहकेच्छया | 54 | 12 | b | न्यमीलयत कालज्ञा | 53 | 26 | c |
| नृत्यन्ती गायती काचित् | 33 | 14 | a | न्यरुणत्सर्वतोदिशम् | 50 | 4 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| न्यवासयत्स्वगेहेषु | 45 | 16 | c |
| न्यवारयत्स्ववर्त्याणि | 44 | 31 | c |
| न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः | 30 | 3 | d |
| न्यषीद दर्व्या मभिमृश्य चाऽऽसनम् | 48 | 5 | b |
| न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् | 47 | 62 | d |
| न्यस्तौ स्वमित्रे नन्दे वै | 36 | 17 | e |
| **प** | | | |
| पक्षाभ्यां निघ्नता गजान् | 59 | 18 | b |
| पतङ्ग इव पावकम् | 54 | 30 | d |
| पतन्त्या कालिका गर्भाः | 36 | 3 | c |
| पताका चेलतोरणैः | 42 | 33 | d |
| पताकाभिरलङ्कृताम् | 50 | 39 | b |
| पतितं तं पदाऽऽक्रम्य | 43 | 14 | a |
| पतित्वा पादयोर्भर्तुः | 54 | 32 | c |
| पतित्वा सहसोत्थितः | 43 | 11 | b |
| पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवान् | 31 | 16 | a |
| पतिं देवोपपादितम् | 59 | 34 | d |
| पतिं पर्यचरत् भैष्मी | 60 | 1 | c |
| पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यः | 29 | 25 | c |
| पतीनालिङ्ग्य शोचतीः | 44 | 44 | b |
| पत्त्यश्वसङ्कुलैः सैन्यैः | 53 | 15 | c |
| पत्युर्निर्दग्धदेहस्य | 55 | 7 | c |
| पत्युर्बलं शरासारैः | 54 | 4 | a |
| पथि यान्स चकार ह | 39 | 1 | d |
| पदा चलन्तीं कलहंसगामिनीम् | 53 | 52 | c |
| पदा च विलिखन्महीम् | 36 | 2 | b |
| पदातयश्छिन्नभुजोरुकन्धराः | 50 | 25 | d |
| पदातिस्तिग्मनेमिना | 57 | 25 | b |
| पदातेर्धावतस्तस्य | 57 | 25 | a |
| पद्मानि तस्याखिललोकपाल | 38 | 25 | a |
| पदानि परमात्मनः | 30 | 24 | d |
| पदानि वहतो वधूम् | 30 | 32 | b |
| पदानि व्यक्तमेतानि | 30 | 25 | a |
| पदापहृतशीर्षकः | 44 | 27 | b |
| पदा समाक्रम्य निपात्य भूतले | 36 | 13 | b |
| पदा सुजातेन नखारुणश्रिया | 60 | 23 | a |
| पदा स्पृष्टो हताशुभः | 34 | 14 | d |
| पदाऽहञ्छकटायतीम् | 30 | 15 | d |
| पदाहत इवोरगः | 55 | 18 | b |
| पद्मकोशमिवाम्बुभिः | 44 | 11 | d |
| पद्मपत्रायतेक्षणम् | 39 | 46 | d |
| पद्ममाली निरायुधः | 50 | 58 | f |
| पद्मषण्डैश्च मण्डितम् | 46 | 13 | d |
| पद्भ्यामधावत् सन्त्रस्तः | 57 | 24 | c |
| पद्भ्यामाक्रम्य प्रपदे | 42 | 7 | a |
| पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्याम् | 52 | 8 | c |
| पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्याम् | 51 | 28 | c |
| पद्भ्यां विनिर्ययौ द्रष्टुम् | 53 | 40 | a |
| पद्मिनी वनमध्यगा | 36 | 42 | b |
| पपात चरणोपान्ते | 38 | 34 | c |
| पपात लण्डं विसृजन् क्षितौ व्यसुः | 37 | 8 | d |
| पपात विश्वाश्रय आत्मतन्त्रः | 44 | 37 | d |
| पपात विष्णोः शिरसि प्रमोदिनी | 59 | 11 | c |
| पपुर्न तृप्ता नयनैस्तदाननम् | 43 | 20 | d |
| पपुस्तन्मुखपङ्कजम् | 53 | 36 | d |
| पप्रच्छ प्रेषितः सख्या | 58 | 18 | c |
| पप्रच्छ यान्तीं प्रहसन् रसप्रदः | 42 | 1 | d |
| पप्रच्छ सत्कृतं नन्दः | 38 | 41 | a |
| पप्रच्छान्यच्चिकीर्षितम् | 39 | 3 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिः | 30 | 4 | c |
| पयःफेननिभे शुभ्रे | 60 | 6 | a |
| पयोऽधिश्रित्य संयावम् | 29 | 5 | c |
| परदाराभिमर्शनम् | 33 | 28 | d |
| परमस्ति न चाऽपरम् | 48 | 19 | d |
| परमात्मन् नमोऽस्तु ते | 59 | 25 | d |
| परमात्मन् नमोऽस्तु ते | 59 | 28 | d |
| परमात्मा तथाऽत्मनाम् | 56 | 27 | d |
| परमासन आसीनम् | 56 | 5 | a |
| परमोत्सवनिर्वृताः | 32 | 10 | b |
| परश्वो वाऽऽगमिष्यति | 50 | 47 | d |
| परश्वोऽहति ते विभो | 37 | 16 | d |
| परस्परं जिगीषन्तौ | 44 | 5 | c |
| परं सौख्यं हि नैराश्यम् | 47 | 47 | a |
| पराजिताः फल्गुतन्त्रैः | 54 | 15 | c |
| परामृशत्पुष्करेण | 43 | 7 | c |
| परावरात्मन् भूतात्मन् | 59 | 28 | c |
| परावरेशे त्वयि जायते मतिः | 51 | 54 | d |
| परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः | 46 | 32 | d |
| परा प्रीतिं व्यधात्पुनः | 38 | 40 | d |
| परिक्रम्याऽभिवन्द्य च | 34 | 18 | b |
| परिक्लिन्नात्मलोचनः | 39 | 56 | d |
| परिघं पट्टिशं शूलम् | 54 | 29 | a |
| परिचरति कथं तत्पादपद्मानु पद्मा हि | 47 | 13 | c |
| परित्राणाय कल्पते | 46 | 39 | d |
| परित्रातं च गोकुलम् | 43 | 27 | d |
| परिधत्त किमुद्धृताः | 41 | 35 | c |
| परिपूर्णेन सर्वतः | 41 | 34 | b |
| परिभ्रामण विक्षेप | 44 | 4 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| परिरम्भावपातैः | 44 | 4 | b |
| परिरेभेऽभ्युपाकृष्य | 38 | 36 | c |
| परिवार्य वधूं जग्मुः | 53 | 43 | c |
| परिवेक्ष्यन्त्यस्तद्धित्वा | 29 | 6 | a |
| परिशोचति ते माता | 55 | 15 | a |
| परिष्वज्याऽच्युतं वीराः | 58 | 3 | a |
| परिष्वज्याऽऽपतुर्मुदम् | 45 | 10 | d |
| परिष्वज्याऽभ्यनन्दत | 48 | 14 | d |
| परिष्वज्येदमूचतुः | 45 | 20 | d |
| परीतः कुण्डिनं ययौ | 53 | 15 | d |
| परे जरासन्धवशा न सेहिरे | 53 | 56 | b |
| परो धर्मो ह्यमायया | 29 | 24 | b |
| पर्जन्य निनदेन वै | 45 | 49 | f |
| पर्जन्यापूरिता विभो | 40 | 11 | b |
| पर्यङ्कादवरुह्याऽऽशु | 60 | 26 | a |
| पर्यङ्के कशिपूत्तमे | 60 | 6 | b |
| पर्यपृच्छन्महाबुद्धिः | 51 | 27 | a |
| पर्वणीव सितेतरौ | 41 | 41 | d |
| पलायनं यदुकुले | 51 | 8 | a |
| पलायमानौ तौ दृष्ट्वा | 52 | 9 | a |
| पशवो दुद्रुवुर्भीताः | 36 | 5 | a |
| पशुपालो यथा पशून् | 51 | 19 | d |
| पशुमार ममारयत् | 37 | 33 | d |
| पशूनपालयद्बालैः | 37 | 26 | c |
| पशून् वीरुद्वनस्पतीन् | 52 | 2 | b |
| पशूनिव मृगाधिपः | 44 | 41 | d |
| पशूनिव मृगाधिपः | 46 | 24 | d |
| पशूनां खुरेणुभिः | 46 | 8 | d |
| पश्यताऽसकले पदे | 30 | 34 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पश्यतां दिवि देवानाम् | 37 | 33 | c | पादस्पर्शहताशुभः | 34 | 9 | b |
| पश्यतां सर्वलोकानाम् | 52 | 17 | c | पादस्पर्शादमीवहन् | 34 | 15 | d |
| पश्यतेमा लता बाहून् | 30 | 13 | a | पादाभ्यामेव पादयोः | 44 | 2 | b |
| पश्यन्ति सस्मितमुखं सदयावलोकम् | 44 | 16 | d | पादारविन्दं न भजत्यसम्मतिः | 51 | 47 | c |
| पश्यन्तीनाञ्च योषिताम् | 34 | 32 | d | पादावङ्कगतौ मृजन् | 48 | 17 | b |
| पश्यन्तु निभृतैर्नेत्रैः | 36 | 56 | a | पादावनेजनीरापः | 48 | 16 | a |
| पश्यन्तु स्वैरसंयुगम् | 36 | 24 | d | पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलात् | 29 | 34 | c |
| पश्यन्तु स्वैरसंयुगम् | 36 | 56 | d | पादौ स्पृशन्नच्युतमर्थसाधनम् | 59 | 41 | b |
| पश्यन्त्यो विविधांस्तापान् | 43 | 28 | c | पाद्यश्चार्घ्यार्हणादिभिः | 41 | 44 | b |
| पश्यन्मरणसन्त्रस्तः | 42 | 31 | c | पान्थानां त्वं परायणम् | 42 | 12 | d |
| पश्यामि मानिनि यया स्वविवाहकाले | 60 | 55 | b | पापस्योन्मार्गवर्तिनः | 36 | 47 | b |
| पश्यामि शरणं नृणाम् | 49 | 12 | b | पाययन्त्यः शिशून् पयः | 29 | 6 | b |
| पश्यार्य व्यसनं प्राप्तम् | 50 | 13 | a | पारिजातवनामोद | 60 | 5 | a |
| पाणिनाऽभिमृशन् पादौ | 52 | 29 | c | पारिजातं गरुत्मति | 59 | 39 | b |
| पाणिना शङ्करेण तम् | 56 | 30 | b | पारिजातापहरणम् | 37 | 17 | c |
| पाणिनाऽऽहत्य वारणम् | 43 | 10 | b | पारिबर्हमदात् विभुः | 58 | 50 | b |
| पाण्डवान्प्रति कौरव्य | 49 | 31 | c | पारिबर्हमुपागृह्य | 58 | 55 | a |
| पाण्डवान् सुहृदोऽपरान् | 49 | 2 | d | पारिबर्हमुपाजह्रुः | 54 | 55 | c |
| पाण्डवेष्वात्मजेषुच | 49 | 19 | d | पार्थानां परमाद्भुतम् | 58 | 24 | b |
| पाण्डुरांश्च चतुष्षष्टिम् | 59 | 37 | e | पार्थिवान्पुरुजन्मभिः | 51 | 38 | b |
| पातयामास भूतले | 43 | 13 | d | पार्श्वस्थस्य गदाभृतः | 33 | 11 | b |
| पातयित्वा महीतले | 37 | 33 | b | पार्श्वस्थाच्युत हस्ताब्जम् | 33 | 14 | c |
| पातिव्रत्यं च तेऽनघे | 60 | 51 | b | पार्षदं समुपयितम् | 47 | 4 | b |
| पातिव्रत्यं सुदुर्लभम् | 36 | 46 | d | पार्षदैस्सनकादिभिः | 39 | 53 | b |
| पादन्यासै र्भुजविधु तिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासैः | 33 | 8 | a | पार्ष्णिग्राहमयाचत | 57 | 18 | b |
| | | | | पाताश्च कतिचिन्नृप | 37 | 28 | b |
| पादरेणुमभीक्ष्णशः | 47 | 63 | b | पात्यमानाः स मे प्रियः | 52 | 34 | d |
| पादसंबाहनादिभिः | 46 | 15 | d | पावितश्च कुलं प्रभो | 41 | 45 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| पाशैर्वारुणि मानुषैः | 50 | 32 | b |
| पाञ्चजन्यध्वनिं श्रुत्वा | 59 | 6 | a |
| पास्यन्त्यपाङ्गोत्कलितस्मितासवाम् | 39 | 23 | d |
| पितरस्सान्नयस्सुराः | 41 | 13 | d |
| पितरावन्वतप्येताम् | 44 | 18 | c |
| पितरावुपलब्धार्थौ | 45 | 1 | a |
| पितरौ भ्रातरश्च मे | 49 | 8 | b |
| पितर्युपरते बालाः | 48 | 34 | a |
| पितर्युबाभ्यां स्निग्धाभ्याम् | 45 | 21 | a |
| पिता माता स ईश्वरः | 46 | 42 | d |
| पितृदेवर्षयो मह्यम् | 41 | 45 | c |
| पितृदेवार्चनान्वितैः | 46 | 12 | b |
| पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः | 29 | 8 | b |
| पितृष्वसा मनुज्ञाप्य | 57 | 14 | c |
| पितृष्वसार परिपृष्टबान्धवः | 58 | 7 | d |
| पितृहीनाश्च बालकान् | 49 | 10 | d |
| पितॄन् देवान् समभ्यर्च्य | 53 | 10 | a |
| पित्रा दत्तम्ममेति ह | 57 | 47 | d |
| पित्रे मगधराजाय | 50 | 2 | a |
| पित्रो रभ्यधिका प्रीतिः | 45 | 21 | c |
| पित्रोर्नो प्रीतिमावह | 46 | 3 | b |
| पित्रोर्मर्त्यश्शतायुषा | 45 | 5 | d |
| पित्रोर्वृजिनमार्ययोः | 39 | 6 | b |
| पिबन्त इव चक्षुर्भ्याम् | 43 | 21 | a |
| पिबन्तोऽक्षैर्मुकुन्दस्य | 45 | 19 | c |
| पिबन्निवाऽभ्यद्रवदत्यमर्षणः | 37 | 4 | b |
| पिबन्वदन्वा विचरन् स्वपन् श्वसन् | 44 | 39 | b |
| पीठं पुरस्कृत्य चमूपतिं मृधे | 59 | 12 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| पीतकौशेयवाससम् | 39 | 46 | b |
| पीतकौशेयवाससम् | 51 | 1 | d |
| पीतकौशेयवाससम् | 51 | 24 | b |
| पीतकौशेयवाससम् | 55 | 27 | b |
| पीतनीलाम्बरधरौ | 38 | 28 | c |
| पीताम्बरधरः स्रग्वी | 32 | 2 | c |
| पीताम्बरं पुष्करमालिनं लसत् | 47 | 1 | c |
| पीत्वा मृष्टमपिप्रमम् | 39 | 39 | b |
| पीत्वा वारि महारथौ | 58 | 17 | b |
| पुच्छे प्रगृह्याऽतिबलम् | 43 | 8 | a |
| पुण्यगन्धानुलिप्ताङ्गौ | 38 | 31 | c |
| पुण्यश्रवणकीर्तन | 41 | 16 | b |
| पुण्यानि तत्करुहस्पर्शप्रमोदाः | 33 | 22 | d |
| पुण्या बत व्रजभुवो यदयं नृलिङ्ग | 44 | 13 | a |
| पुत्रयोस्समकारयत् | 45 | 26 | b |
| पुत्रस्नेहवशं गतः | 53 | 7 | b |
| पुत्रस्नेह शुगातुरौ | 44 | 18 | b |
| पुत्रस्नेहाकुला दीना | 55 | 15 | c |
| पुत्रस्य चरितानि च | 46 | 28 | b |
| पुत्रानुरागविषमे | 49 | 27 | c |
| पुत्राभ्यामभवन् क्वचित् | 45 | 3 | d |
| पुनरन्यदुपादत्त | 54 | 28 | c |
| पुनरावृत्ति वर्जिताम् | 56 | 33 | d |
| पुनरुत्थाय सत्वरम् | 36 | 12 | b |
| पुनर्यदुपुरीमगात् | 49 | 30 | d |
| पुनश्च भूयासमहं स्वराडिति | 51 | 53 | c |
| पुनः पुनः स्मारयन्ति | 47 | 50 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पुनः पुलिनमागत्य | 30 | 45 | a | पुष्णाति यानधर्मेण | 49 | 23 | a |
| पुनाति भुवनत्रयम् | 47 | 63 | d | पुष्पहेतोर्महात्मना | 30 | 33 | b |
| पुनीहि पादरजसा | 41 | 13 | a | पुष्पैः किरन्तस्तं प्रीताः | 44 | 42 | c |
| पुमान् श्रीवत्सलाञ्छनः | 51 | 4 | b | पुष्पैः किरन्तो हरिमीडिरे सुराः | 36 | 14 | d |
| पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत् | 47 | 6 | c | पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुखदुःखिनो र्न | 60 | 38 | d |
| पुरमानीय विधिवत् | 54 | 53 | c | पुंसामाधिविकर्शनम् | 42 | 12 | b |
| पुरमेवाविशन्नार्ता | 59 | 19 | c | पुंसां वीर्यपरीक्षार्थम् | 58 | 42 | c |
| पुरं नीतो विहायसा | 55 | 25 | d | पुंसोऽप्यनुग्रहो ह्येषः | 41 | 48 | c |
| पुरं प्रविशति प्रभौ | 50 | 38 | d | पुंसो भवेद्यर्हि संसरणापवर्गः | 40 | 29 | c |
| पुरं सम्मृष्टसंसिक्त | 53 | 8 | a | पूगपुन्नागशोभिते | 36 | 31 | b |
| पुराच्छकटमीयतुः | 42 | 23 | d | पूजयन् प्रतिनन्दितः | 58 | 35 | b |
| पुराणानि यदृच्छया | 50 | 12 | b | पूजयामास विधिवत् | 48 | 15 | c |
| पुरा रथैर्हेमपरिष्कृतैश्चरन् | 51 | 51 | a | पूजयित्वाऽभिभाष्यैनम् | 57 | 39 | a |
| पुराऽहं धर्मगुप्तये | 51 | 40 | d | पुजां सानुगयोश्चक्रे | 41 | 44 | c |
| पुरीयं पुरुषर्षभ | 44 | 46 | b | पूजितश्चाभिवन्दितः | 58 | 6 | b |
| पुरीं प्रविष्टः कंसाय | 41 | 18 | c | पूजितस्त्रिदशेन्द्रेण | 59 | 38 | c |
| पुरुषश्शक्तिभिर्यथा | 32 | 11 | d | पूजिताः पर्युपासत | 58 | 6 | d |
| पुरुषं चतुर्भुजं शान्तम् | 39 | 46 | c | पूजितो भक्तवत्सलः | 56 | 33 | b |
| पुरुषं प्राकृतं मत्वा | 56 | 22 | c | पूतनाऽनेन निहता | 43 | 25 | a |
| पुरुषं हेममालिनम् | 34 | 10 | d | पूयन्नश्रुभिर्नेत्रे | 45 | 25 | c |
| पुरुषायादि बीजाय | 59 | 26 | c | पूरयामास यं श्रुत्वा | 42 | 18 | c |
| पुरुषेशप्रधानाय | 40 | 30 | c | पूर्णबोधाय ते नमः | 59 | 27 | d |
| पुरुषैर्बहुभिर्गुप्तम् | 42 | 16 | a | पूर्तेष्टदत्तनियमव्रतदेवविप्र | 52 | 40 | a |
| पुरोधसा ब्राह्मणैश्च | 45 | 26 | c | पूर्वेतरन्यजरवमण्डलत्विषा | 38 | 7 | d |
| पुरोपवनमासाद्य | 41 | 8 | c | पूर्वेचुरस्ति महती कुलदेवि यात्रा | 52 | 42 | c |
| पुरोहितोऽथर्वविद्वै | 53 | 12 | c | पृथा तु भ्रातरं प्राप्तम् | 49 | 7 | a |
| पुलकाञ्चितऔत्कण्ठ्यात् | 38 | 35 | c | पृथा विदुर एव च | 49 | 6 | d |
| पुलकाञ्चुपगुह्याऽऽस्ते | 32 | 9 | c | पृथां समागत्य कृताभिवादनः | 58 | 7 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पृथुदीर्घचतुर्बाहुम् | 51 | 2 | c | प्रजापतिविनिर्मितः | 54 | 40 | b |
| पृष्टो भगवता सर्वम् | 39 | 8 | a | प्रजाभोजपतेरस्य | 43 | 37 | a |
| पृष्ट्वाऽथ स्वागतं तस्मै | 38 | 38 | a | प्रजाश्च तुल्यकालीयाः | 51 | 18 | c |
| पृष्टतोऽन्वगमत् कृष्णम् | 54 | 18 | c | प्रजाश्चाऽऽज्ञामुपर्हसि | 45 | 13 | b |
| पेतुरुर्व्या गतासवः | 59 | 19 | b | प्रजाश्शीलेन रञ्जयन् | 49 | 18 | b |
| पेतुःक्षितौ गजरथाश्वगता विमूढाः | 53 | 53 | c | प्रजासंयमनो यमः | 45 | 44 | b |
| पेतुः शिरांसि रथिनाम् | 54 | 7 | a | प्रजाः कालयते क्रीडन् | 51 | 19 | c |
| पैतृष्वसेयान् स्मरति | 49 | 9 | c | प्रणतकामदं पद्मजार्चितम् | 31 | 13 | a |
| पैशाचोरग राक्षसीः | 55 | 23 | b | प्रणतदेहिनां पापकर्शनम् | 31 | 7 | a |
| पोषितौ लालितौ भृशम् | 45 | 21 | b | प्रणतभारविटपा मधुधाराः | 35 | 9 | c |
| पौण्ड्रकस्य वधं पश्चात् | 37 | 20 | a | प्रणत समुपस्थितम् | 34 | 10 | b |
| पौण्ड्रकाद्याः सहस्रशः | 53 | 17 | d | प्रणताय प्रपन्नाय | 41 | 50 | c |
| पौरजानपदास्सर्वे | 36 | 24 | c | प्रणम्य मूर्ध्नाऽवहितः | 39 | 57 | c |
| प्रकीर्णमाल्याङ्कुरलाजतण्डुलाम् | 41 | 22 | d | प्रणयिनोऽनुचरस्य यदांऽसे | 35 | 18 | c |
| प्रक्षाल्य विधिवत्पादौ | 38 | 38 | c | प्रणिपत्याऽभ्यनुज्ञातौ | 37 | 25 | c |
| प्रक्षिपन् भुजमगायत यत्र | 35 | 18 | d | प्रतप्तजाम्बूनदरत्नभास्वरे | 59 | 23 | b |
| प्रक्षिप्य व्यनदन्नादम् | 55 | 19 | c | प्रतिक्रियामर्षजुषः समुद्यताः | 59 | 11 | f |
| प्रक्ष्यामोऽत्र महासत्त्रम् | 39 | 12 | c | प्रतिच्छन्न तदुद्भवैः | 40 | 27 | b |
| प्रगल्भलीलाहसितावलोकनैः | 41 | 27 | b | प्रतिजज्ञे महाबाहुः | 54 | 19 | c |
| प्रगृह्य केशेषु चलत्किरीटम् | 44 | 37 | a | प्रतिबोधयति त्वां वै | 51 | 22 | a |
| प्रगृह्य चिबुकेऽध्यात्मम् | 42 | 7 | c | प्रतिमुच्य महाप्रभम् | 56 | 13 | b |
| प्रगृह्य दोर्भ्यां परिपीड्य पादयोः | 37 | 5 | b | प्रतियात ततो गृहान् | 29 | 27 | d |
| प्रगृह्य पाणिना पाणिम् | 53 | 1 | c | प्रतियात व्रजं नेह | 29 | 19 | c |
| प्रगृह्य पणिना भृत्याम् | 53 | 50 | c | प्रतियाते तु देवर्षौ | 36 | 20 | a |
| प्रगृह्य पाणिना हस्तम् | 43 | 13 | c | प्रतिरूपे च सत्यपि | 42 | 28 | b |
| प्रगृह्य शय्यामधिवेश्य रामया | 48 | 7 | c | प्रतिलब्धमनोरथैः | 57 | 13 | d |
| प्रजानाञ्चानुपोषणम् | 29 | 24 | d | प्रतिलोमो हि सङ्गमः | 36 | 44 | d |
| प्रजानुरागं पार्थेषु | 49 | 5 | c | प्रतीक्षन्तोऽवतस्थिरे | 41 | 8 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्रतीक्ष्य द्वादशाहानि | 56 | 34 | c |
| प्रतीच्छामो वयं नृप | 56 | 46 | b |
| प्रतीतान् पुरुषोत्तमः | 58 | 1 | b |
| प्रतीपमाचरद्भक्त्या | 33 | 28 | c |
| प्रतीपं सर्वसात्त्वताम् | 46 | 35 | b |
| प्रतीहारैः प्रवेशितः | 52 | 27 | b |
| प्रत्यपोवाह भगवान् | 36 | 11 | c |
| प्रत्याख्यातः स चाऽक्रूरम् | 57 | 18 | a |
| प्रत्याख्यतः स तेनापि | 57 | 22 | a |
| प्रत्यागत्याऽथ रामेण | 50 | 58 | c |
| प्रत्यागमन सन्देशैः | 46 | 6 | c |
| प्रत्यादिष्टाऽऽशिषा स च | 56 | 37 | b |
| प्रत्यादेशं भगवतः | 39 | 34 | c |
| प्रत्यापत्तिमपश्यन्ती | 53 | 22 | c |
| प्रत्याह प्रहसन्वाण्या | 51 | 36 | c |
| प्रत्युत्थानासनादिभिः | 58 | 35 | b |
| प्रत्युत्थाय प्रमुदितः | 48 | 14 | c |
| प्रत्युद्गमासनवरार्हणपादशौच | 59 | 45 | a |
| प्रदक्षिणं मे प्रचरन्त्यमी मृगाः | 38 | 9 | d |
| प्रदध्मौ स हलायुधः | 45 | 43 | d |
| प्रदीपः प्रभया यथा | 51 | 30 | d |
| प्रदीपावलिभिः पृथक् | 53 | 47 | d |
| प्रद्युम्न इति विख्यातः | 55 | 2 | c |
| प्रद्युम्नाय महात्मने | 55 | 16 | b |
| प्रद्युम्नाय महात्मने | 55 | 19 | b |
| प्रद्युम्नायाऽनिरुद्धाय | 40 | 22 | c |
| प्रद्युम्नो गदया गदाम् | 55 | 20 | b |
| प्रधानपुरुषावाद्यौ | 38 | 32 | a |
| प्रधानपुंसोश्चरणं स्वलब्धये | 38 | 15 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्रपदाक्रमणे एते | 30 | 34 | a |
| प्रपन्नं परिमोचय | 34 | 6 | d |
| प्रपन्नं पाहि मां प्रभो | 40 | 31 | d |
| प्रपन्नार्तिहरो हरिः | 46 | 2 | d |
| प्रपन्नानां भयापहम् | 34 | 15 | b |
| प्रपन्नां पाहि गोविन्द | 49 | 11 | c |
| प्रपन्नोऽस्मि महायोगिन् | 34 | 16 | a |
| प्रभविष्णुमधीश्वरम् | 56 | 26 | d |
| प्रभवौ सर्वविद्यानाम् | 45 | 30 | a |
| प्रभाष्यैवं ददौ विद्याम् | 55 | 16 | a |
| प्रभासमासाद्य दुरन्तविक्रमौ | 45 | 38 | b |
| प्रभिन्नकरभामुखः | 36 | 25 | d |
| प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति | 38 | 26 | d |
| प्रमत्तमुच्चैरिति कृत्यचिन्तया | 51 | 50 | a |
| प्रमथ्य तरसा राज्ञः | 52 | 17 | a |
| प्रमदा बलकेशवौ | 41 | 29 | d |
| प्रमुखै र्भागवतोत्तमैः | 39 | 54 | b |
| प्रमृज्याश्रुकले नेत्रे | 60 | 27 | a |
| प्रमृष्टमणिकुण्डलाः | 54 | 55 | b |
| प्रययुस्तेऽम्बिकावनम् | 34 | 1 | d |
| प्रययौ नन्दगोकुलम् | 38 | 1 | d |
| प्रययौ नन्दगोकुलम् | 46 | 7 | d |
| प्रलपन्त्यश्च चित्रधा | 32 | 1 | b |
| प्रलब्धैः स्वेन पाप्मना | 34 | 13 | d |
| प्रलम्बपीवरभुजम् | 39 | 48 | a |
| प्रलम्बबाहुं ताम्राक्षम् | 55 | 27 | c |
| प्रलम्ब बाहु नरलोकसुन्दरम् | 55 | 10 | b |
| प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम् | 47 | 1 | b |
| प्रलम्बाद्याश्च सद्विषः | 51 | 42 | b |
| प्रलम्बो धेनुकोऽरिष्टः | 46 | 26 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्रलम्बो निहतोऽनेन | 43 | 30 | c |
| प्रलयाम्बिचराय च | 40 | 18 | b |
| प्रलोभितो वैरयत्त्वम् | 51 | 60 | a |
| प्रवर्तते देवनृतिर्यगात्मसु | 40 | 13 | d |
| प्रवर्तिता भीरुभयावहामृधे | 50 | 28 | a |
| प्रवर्षणास्यं भगवान् | 52 | 10 | c |
| प्रविवेश गृहं कंसः | 36 | 71 | c |
| प्रविवेश स्वगोकुलम् | 37 | 34 | d |
| प्रविवेशाम्बिकान्तिकम् | 53 | 44 | d |
| प्रविश्य देवसदने | 56 | 10 | c |
| प्रविष्टस्य बिलं जनाः | 56 | 34 | b |
| प्रविष्टेन गृहीतानाम् | 33 | 4 | a |
| प्रविष्टो द्वारकां राजन् | 56 | 4 | c |
| प्रवृद्धतर्षो न सुखाय कल्पते | 51 | 53 | d |
| प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम् | 51 | 50 | b |
| प्रवेक्ष्ये मधुरा पुरीम् | 41 | 11 | b |
| प्रवेपितस्य रुधिरम् | 44 | 25 | a |
| प्रवेशयामास यथोरगं बिले | 37 | 6 | d |
| प्रशमाय प्रसादाय | 29 | 48 | c |
| प्रशमायेतरस्य च | 33 | 27 | b |
| प्रश्रयादींश्च सद्गुणान् | 49 | 5 | b |
| प्रश्रयावनतः प्रीणन् | 45 | 2 | c |
| प्रश्रयावनतोऽक्रूरः | 48 | 17 | c |
| प्रश्रितं प्रहसन्निव | 41 | 9 | d |
| प्रसन्नहृदयेन्द्रियः | 40 | 1 | b |
| प्रसन्ने श्रीनिकेतने | 39 | 2 | b |
| प्रसन्नो भगवान्कुब्जाम् | 42 | 6 | a |
| प्रसह्य धनुराददे | 42 | 16 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्रसह्य विजिगीषया | 44 | 2 | d |
| प्रसह्य हतवान् कृष्णः | 58 | 31 | c |
| प्रसाधितात्मोपससार माधवम् | 48 | 6 | c |
| प्रसार्यावस्थितो हरिः | 36 | 8 | d |
| प्रसीद पुरुषर्षभ | 42 | 10 | d |
| प्रसीदेत् वाऽच्युतः कथम् | 56 | 41 | d |
| प्रसूनगन्धानिलजुष्टदिवन्तटे | 33 | 25 | b |
| प्रसूनदीपावलिभिस्सपल्लवैः | 41 | 23 | b |
| प्रसूनवर्षैरमरैस्स ईडितः | 37 | 9 | d |
| प्रसूनवृष्टिर्निहते मुरेऽसुरे | 59 | 11 | d |
| प्रसेनं सहयं हत्वा | 56 | 14 | a |
| प्रसेनो हयमारुह्य | 56 | 13 | c |
| प्रस्थापितो द्विज उपश्रुत सत्कथस्य | 60 | 55 | d |
| प्रस्थापितो मयि चिरायति शून्यमेतत् | 60 | 57 | b |
| प्रस्विन्नगात्रः परिवृत्तलोचनः | 37 | 8 | c |
| प्रहर्षवेगोत्कलितेक्षणाननाः | 43 | 20 | c |
| प्रहसन्द्विजमब्रवीत् | 53 | 1 | d |
| प्रहसंस्तामुवाच ह | 42 | 11 | d |
| प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षितम् | 31 | 10 | a |
| प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् | 31 | 17 | b |
| प्रहस्य नन्दं पितरम् | 39 | 10 | c |
| प्रहस्य भगवानाह | 54 | 5 | a |
| प्रहस्य सदयं गोपीः | 29 | 42 | c |
| प्रहस्याम्बुजलोचनः | 56 | 9 | b |
| प्रहृष्यामि कर्हिचित् | 54 | 14 | b |
| प्रह्लादनारदवसु | 39 | 54 | a |
| प्राकारं गदया गुर्व्या | 59 | 5 | c |
| प्रागल्भ्य स्मारिता इव | 43 | 22 | d |
| प्राग्ज्योतिषपुरं ययौ | 59 | 2 | h |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्राचेतसं छात्रमथो महामणिम् | 59 | 23 | d |
| प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः | 29 | 2 | b |
| प्राङ्गं प्राप्य यथा जनाः | 32 | 10 | d |
| प्राञ्जलिः प्रणता राजन् | 59 | 24 | c |
| प्राण ओजस्सहो बलम् | 59 | 26 | b |
| प्राणघोषानुपश्रुतिः | 42 | 29 | b |
| प्राणन्ति शुम्भन्ति पुनन्ति वै जगत् | 38 | 12 | c |
| प्राणाक्षधीभिः सदनेष्वभीयते | 38 | 11 | d |
| प्राणा मुख्यमिवागतम् | 58 | 2 | d |
| प्राणायामादिभिर्मनः | 51 | 61 | b |
| प्राणा रायस्सुतादयः | 49 | 23 | d |
| प्राणावशेष उत्सृष्टः | 54 | 51 | a |
| प्रातर्द्रक्ष्यामहे पुरीम् | 41 | 10 | d |
| प्रातर्व्रजाद्व्रजत आविशतश्च सायम् | 44 | 16 | a |
| प्रादात् धेनूश्च विप्रेभ्यः | 53 | 13 | c |
| प्रादात्सारूप्यमात्मनः | 41 | 42 | b |
| प्रादुर्बभूव सिद्धार्थः | 56 | 37 | c |
| प्राद्रवज्जीवितेच्छया | 34 | 29 | d |
| प्राद्रवन्तं पराङ्मुखम् | 51 | 6 | b |
| प्राद्रवन्पातयामास | 43 | 10 | c |
| प्राद्भुत्य दूरं संभ्रान्तौ | 52 | 10 | a |
| प्रामराज्यो हताहितः | 47 | 45 | b |
| प्रामान् नृपानवगणय्य रहस्करो मे | 60 | 55 | c |
| प्रामं ह्यभुभयतो महत् | 50 | 46 | d |
| प्रामान् हियैक्षत नृगान् दक्षोऽच्युतं च | 53 | 54 | d |
| प्रामा भजस्व दुरवग्रहमात्यजाऽस्मान् | 29 | 31 | c |
| प्रामा विसृज्य वसती स्वदुपासनाशाः | 29 | 38 | b |
| प्रामाविह सुरोत्तमौ | 46 | 23 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्रामिं चास्याय भगवान् | 56 | 39 | c |
| प्रामिं तदा भगवतः प्रसमीक्षमाणा | 53 | 54 | b |
| प्रामो नन्दव्रजं श्रीमान् | 46 | 8 | a |
| प्रामौ श्रुत्वा स्वदुहितुः | 53 | 32 | a |
| प्राप्य दुष्प्राप मीश्वरम् | 48 | 9 | a |
| प्रामृजत्करुणः प्रेम्णा | 33 | 21 | c |
| प्रामृजत् पद्मपाणिना | 60 | 26 | d |
| प्रायश्चोरायितो बहून् | 37 | 29 | d |
| प्रायस्त्यक्तनृपासनान् | 60 | 12 | d |
| प्रायः कृष्णेन निहतः | 56 | 16 | a |
| प्रायः प्राणान् कथञ्चन | 46 | 6 | b |
| प्रायः सीदन्ति योषितः | 60 | 13 | d |
| प्रायुङ्क्त शतशो दैत्यः | 55 | 23 | c |
| प्रायुञ्जतासाद्य शरानसीन् गदाः | 59 | 13 | a |
| प्रारुदद्दुःखिता राजन् | 49 | 14 | c |
| प्रार्थितः प्रचुरं पूर्वम् | 51 | 43 | c |
| प्रार्थ्यं यदि जिजीविषा | 41 | 36 | b |
| प्राविशद्गन्धमादनम् | 52 | 3 | d |
| प्राविशद्गिरिकन्दरम् | 51 | 9 | b |
| प्राविशत्परवीरहा | 58 | 14 | d |
| प्राविशत्सकलर्द्धिमत् | 59 | 32 | d |
| प्रावोचन्नश्रुलोचनाः | 47 | 65 | d |
| प्रासादशिखरारूढाः | 41 | 29 | a |
| प्रास्योदन्वत्यगात् गृहम् | 55 | 3 | d |
| प्राह क्रोधाकुलेन्द्रियाः | 36 | 40 | b |
| प्राह नस्सार्थकं जन्म | 41 | 45 | a |
| प्राह नाऽसौ रविर्देवः | 56 | 9 | c |
| प्राह व्याकुलमानसः | 36 | 27 | b |
| प्राह सन्त्यज्य सन्तप्ता | 36 | 46 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्राह संरूपदर्पितः | 34 | 13 | b |
| प्राहाक्रूरं जनार्दनः | 57 | 38 | d |
| प्राहिणोत् स्वगदां नदन् | 55 | 20 | d |
| प्रियत्यागभयं जहौ | 60 | 32 | d |
| प्रियप्रस्थापितं दूतम् | 47 | 11 | c |
| प्रियमन्यजनाम सा | 53 | 31 | d |
| प्रियमिच्छन्गृहं ययौ | 48 | 1 | d |
| प्रियया भीरु भामिनि | 60 | 31 | d |
| प्रियश्च वरयोषिताम् | 47 | 41 | b |
| प्रियसख पुनरगाः प्रेयसा प्रेषितः किम् | 47 | 20 | a |
| प्रियस्य देव्यश्रुतपूर्वमप्रियम् | 60 | 22 | b |
| प्रियं किं करवाणि वः | 29 | 18 | b |
| प्रियं राज्ञः प्रकुर्वत्यः | 43 | 33 | a |
| प्रियं विधास्यते पित्रोः | 46 | 34 | c |
| प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः | 29 | 2 | d |
| प्रियात्प्रियं नेष्यति पारमध्वनः | 39 | 26 | d |
| प्रियायाः प्रियकृद्विभुः | 57 | 31 | d |
| प्रियायाः प्रेमबन्धनम् | 60 | 25 | b |
| प्रियार्थे प्रेयसा कृतः | 30 | 33 | d |
| प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः | 30 | 3 | b |
| प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः | 29 | 43 | b |
| प्रीतस्तस्मै मणिं प्रादात् | 56 | 3 | c |
| प्रीतस्सर्वसुहृद्वृतः | 47 | 45 | d |
| प्रीतः प्रणतवत्सलः | 38 | 36 | d |
| प्रीतः स्मयन्नलककुण्डलनिष्ककण्ठ | 60 | 9 | c |
| प्रीता दृष्टिं न चाऽऽददुः | 41 | 7 | d |
| प्रीतिं नस्स्निग्धसब्रीड | 47 | 40 | c |
| प्रीतिं वो जनयन्यातः | 30 | 8 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्रीतैर्व्रजसुखावहः | 37 | 26 | d |
| प्रीतो यामनयद्गृहः | 30 | 28 | d |
| प्रीत्युत्कण्ठितलोचनैः | 50 | 40 | d |
| प्रीत्युत्फुल्ल दृशोऽबलाः | 32 | 3 | b |
| प्रीत्युत्फुल्लमुखाम्बुजाः | 41 | 29 | b |
| प्रीत्योपतस्थे रतिरङ्ग सौरतैः | 55 | 10 | d |
| प्रीयता साधु साध्विति | 33 | 10 | d |
| प्रीयन्ते मयि जन्तवः | 29 | 23 | d |
| प्रेक्षणीयं नृलोकस्य | 51 | 26 | a |
| प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितो क्षणमार्जनादौ | 44 | 15 | b |
| प्रेमप्रसरविह्वलः | 46 | 27 | d |
| प्रेमवेपितभुजाः स्तिमितापः | 35 | 7 | d |
| प्रेमसंरम्भविह्वला | 32 | 7 | b |
| प्रेमहासावलोकनैः | 30 | 5 | d |
| प्रेमहृष्टतनवः ससृजुःस्म | 35 | 9 | d |
| प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग। | 33 | 24 | b |
| प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः | 38 | 26 | b |
| प्रेषयामास केशवः | 59 | 37 | f |
| प्रेषयामास हन्येताम् | 36 | 20 | c |
| प्रेषितो दूत आगतः | 57 | 11 | d |
| प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणम् | 29 | 30 | a |
| प्रेष्ठो भवान् बलिभुजामपि तेऽपि तुभ्यम् | 60 | 37 | d |
| प्रेष्ठो भवास्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा | 29 | 32 | d |
| प्रोत्फुल्लाशोकवनकुल | 36 | 31 | a |
| प्रोद्दामचरितानि च | 39 | 31 | d |
| प्रोद्वाहपर्वाणि च तद्वधमक्षगोष्ट्याम् | 60 | 56 | b |
| प्रोद्वेजितानां शरणैषिणां नृणाम् | 38 | 16 | d |
| प्रोवाच वेदानखिलान् | 45 | 33 | c |
| प्रुक्षन्प्रोध नो मनः | 30 | 5 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजम् | 31 | 7 | c |
| फलवांश्चैव मे भवः | 38 | 6 | b |
| फल्गु कृच्छ्रं भयावहम् | 29 | 26 | b |
| फल्गुनं परिरम्याथ | 58 | 4 | c |
| फल्गुनः प्रमदोत्तमाम् | 58 | 18 | d |
| **ब** | | | |
| बदरपाण्डुवदनो मृदुगण्डम् | 35 | 24 | c |
| बदर्याश्रममासाद्य | 52 | 4 | a |
| बद्धमल्लपरिबर्हविडम्बः | 35 | 6 | b |
| बध्नन्त्येका स्रजा काचित् | 30 | 23 | a |
| बध्नामि भाण्डभेत्तारम् | 10 | 23 | c |
| बद्ध्वा तान् दामभिः शौरिः | 58 | 46 | a |
| बद्ध्वा परिकरं प्रभुः | 58 | 45 | b |
| बद्ध्वा परिकरं शौरिः | 43 | 3 | a |
| बध्नन्ति घ्नन्ति लुम्पन्ति | 41 | 36 | c |
| बध्यमानं हतारातिम् | 50 | 32 | a |
| बन्धश्च कर्मात्मक उच्छ्वसित्यतः | 38 | 20 | d |
| बन्धुप्रियकृद्भर्जुनः | 58 | 54 | b |
| बन्धुभिर्गान्दिनीसुतः | 49 | 3 | b |
| बन्धुभिस्सौहृदोदितम् | 49 | 16 | d |
| बन्धुर्वधार्हदोषोऽपि | 54 | 39 | a |
| बन्धूनामिच्छतां दातुम् | 52 | 25 | a |
| बन्धूनां शान्तिमावह | 57 | 43 | b |
| बन्धून्हनिष्यत्यथवा | 50 | 48 | c |
| बभञ्जैकेन हस्तेन | 46 | 25 | c |
| बबन्ध सह भार्यया | 36 | 19 | d |
| बभाष ऋषभं पुंसाम् | 60 | 33 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| बभूव प्रमदोत्तमा | 42 | 8 | d |
| बभूवुर्भृशाविस्मिताः | 54 | 59 | d |
| बभूवुर्व्यथिता नृप | 39 | 13 | b |
| बभौ प्रतिद्वार्युपकल्पनमङ्गलैः | 54 | 56 | c |
| बभ्राम भ्राम्यमाणेन | 43 | 9 | c |
| बर्हिणस्तबकधातुपलाशैः | 35 | 6 | a |
| बलञ्च कंसप्रहितम् | 42 | 21 | a |
| बलदर्पहाऽहं दुष्टानाम् | 36 | 7 | c |
| बलदेव जनार्दनौ | 43 | 16 | b |
| बलभद्रेण बलिना | 44 | 24 | c |
| बलमाकृष्य सुमहन् | 52 | 14 | c |
| बलमायुर्यशः कान्तिम् | 41 | 52 | c |
| बलवद्भिः कृतद्वेषान् | 60 | 12 | c |
| बलवद्विग्रहाकुलः | 56 | 41 | b |
| बलश्च परवीरहा | 39 | 10 | b |
| बलश्च बलिनां वरः | 43 | 39 | b |
| बलं तदङ्गार्णव दुर्गभैरवम् | 50 | 29 | a |
| बलायेति पुरोदितम् | 52 | 15 | d |
| बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयत् ध्वाङ्क्षवद्यः | 47 | 17 | c |
| बलिं हरन्त्यवनताः | 45 | 14 | c |
| बलेन महता सार्धम् | 53 | 21 | a |
| बलेन सह मुष्टिकः | 43 | 40 | d |
| बलेनाऽल्पीयसाऽऽवृतौ | 50 | 16 | b |
| बलैश्चर्यस्मृतीन्द्रियम् | 41 | 42 | d |
| बह्व इव विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति | 47 | 18 | d |
| बहुभिर्याचितां शील | 56 | 45 | c |
| बहुमूर्त्येकमूर्तिकम् | 40 | 8 | d |
| बहुव्यालमृगाकीर्णम् | 58 | 14 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| बहुशो भ्रामयन्हरिः | 44 | 22 | d |
| बहून्यचष्टोभयथा | 42 | 27 | c |
| बह्वाचार्यविभेदेन | 40 | 9 | c |
| बाध्यमानोऽस्त्रवर्षेण | 55 | 22 | a |
| बाध्येत पाषण्डपथैरसद्भिः | 48 | 24 | c |
| बालकेनेह लज्जया | 50 | 18 | b |
| बालको महतोर्मिणा | 45 | 39 | d |
| बालक्रीडनकं कृतम् | 56 | 20 | b |
| बालद्विरदविक्रमौ | 38 | 29 | d |
| बालस्य तत्त्वमुत्पत्तिम् | 55 | 6 | e |
| बालं प्रभासे वरयाम्बभूव ह | 45 | 37 | d |
| बाला वयं तुल्यबलैः | 43 | 38 | a |
| बालो दारुमयान् यथा | 58 | 46 | d |
| बालो दिष्टचेति चाऽब्रुवन् | 55 | 39 | d |
| बाल्य पौगण्डकैशोराः | 45 | 3 | c |
| बाष्पकण्ठौ विमोहितौ | 45 | 11 | d |
| बाष्पपर्याकुलेक्षणः | 38 | 35 | b |
| बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु | 29 | 46 | a |
| बाहुश्च तद्देहगतो महात्मनः | 37 | 7 | c |
| बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मः | 30 | 12 | a |
| बाह्वो र्निगृह्य चाणूरम् | 44 | 22 | c |
| बिभ्यतां मृत्युसंसारात् | 49 | 12 | c |
| बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो | 30 | 13 | d |
| बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः | 29 | 29 | b |
| बिलात् कृष्णमनिर्गतम् | 56 | 35 | d |
| बीभत्सुर्यमुनामगात् | 58 | 16 | d |
| बुद्धिमांस्तत् समाचरेत् | 33 | 32 | d |
| बुद्धीन्द्रियगुणाश्रयः | 47 | 29 | f |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण | 31 | 8 | b |
| बुधोऽसतीं न बिभृयात् | 60 | 48 | c |
| बृन्दशो व्रजवृषा मृगगावः | 35 | 5 | a |
| बृन्दावनलतास्तरून् | 30 | 24 | b |
| बृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् | 47 | 61 | b |
| बृन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये | 47 | 43 | b |
| बृहत्कटितटश्रोणि | 39 | 49 | a |
| बृहच्छ्रोणिपयोधरा | 42 | 8 | b |
| बृहद्दुःश्रियो वीक्ष्य धाम ते | 31 | 17 | c |
| बृहद्गतो नीलिमहाऽचलोपमः | 37 | 2 | b |
| ब्रह्मक्षत्रपुरोगमाः | 42 | 34 | b |
| ब्रह्मणा चोदितः प्रादात् | 52 | 15 | c |
| ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये | 40 | 30 | d |
| ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये | 59 | 28 | b |
| ब्रह्मणे परमात्मने | 49 | 13 | b |
| ब्रह्मण्यस्सत्यसङ्गरः | 51 | 14 | d |
| ब्रह्मदण्डाद्विमुक्तोऽहम् | 34 | 16 | e |
| ब्रह्मन् कृष्णकथाः पुण्याः | 52 | 20 | a |
| ब्रह्मन् कृष्णस्य किल्बिषम् | 56 | 2 | b |
| ब्रह्म रात्र उपावृत्ते | 33 | 39 | a |
| ब्रह्मरूपधरान्नृपान् | 57 | 13 | b |
| ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयम् | 59 | 44 | b |
| ब्रह्माऽऽविरासीच्चत एष लोकः | 40 | 2 | d |
| ब्रह्मेशाद्या विभूतयः | 44 | 42 | b |
| ब्राह्मणस्य स्वधामतः | 37 | 19 | d |
| ब्राह्मणः परमेष्ठिना | 52 | 36 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ब्राह्मणेभ्यो ददुस्सर्वे | 34 | 3 | c |
| ब्राह्मणो येन केनचित् | 52 | 31 | b |
| ब्रूताऽऽगमनकारणम् | 29 | 18 | d |
| **भ** | | | |
| भक्तप्रिया हतगिः सुहृदः कृतज्ञात् | 48 | 27 | b |
| भक्तमेकान्तिनं क्वचित् | 46 | 2 | b |
| भक्तस्य परमस्सखा | 56 | 3 | b |
| भक्तं ते भक्तवत्सल | 41 | 11 | d |
| भक्तिप्रवणया धिया | 59 | 24 | d |
| भक्तिर्मय्यनपायिनी | 51 | 62 | d |
| भक्तिं परामुपगतः | 38 | 2 | c |
| भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्यकामम् | 33 | 40 | c |
| भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या | 47 | 25 | c |
| भक्तेच्छोपात्तरूपाय | 59 | 25 | c |
| भक्तेन भगवान्हरिः | 48 | 29 | b |
| भक्त्या देवमिवाऽऽहतौ | 45 | 32 | d |
| भक्त्या परमया युतः | 39 | 56 | b |
| भक्त्याऽवनतकन्धरः | 40 | 1 | d |
| भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम् | 47 | 69 | b |
| भगदत्ताय दत्त्वैकम् | 59 | 37 | c |
| भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि | 52 | 19 | a |
| भगवञ्जीवलोकोऽयम् | 40 | 24 | a |
| भगवत्यम्बुजेक्षणे | 38 | 2 | b |
| भगवत्युत्तमश्लोके | 47 | 25 | a |
| भगवत्युदिते सूर्ये | 46 | 47 | a |
| भगवद्गात्रनिष्पातैः | 44 | 20 | a |
| भगवद्वर्णनाह्लाद | 38 | 35 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भगवन्तं वासुदेवम् | 44 | 21 | c |
| भगवन् समुपासते | 40 | 9 | d |
| भगवानच्युतो वृतः | 32 | 11 | a |
| भगवानथ तद्वीक्ष्य | 36 | 6 | a |
| भगवानपि गोविन्दः | 37 | 26 | a |
| भगवानपि गोविन्दः | 52 | 16 | a |
| भगवानपि ता रात्रीः | 29 | 1 | a |
| भगवानपि सम्प्राप्तः | 39 | 38 | a |
| भगवानाह न मणिम् | 56 | 46 | a |
| भगवानीश्वरोऽव्ययः | 51 | 19 | b |
| भगवान् कृष्णमब्रवीत् | 54 | 36 | f |
| भगवान्देवकीसुतः | 33 | 7 | b |
| भगवान्देवकीसुतः | 39 | 3 | b |
| भगवान्देवकीसुतः | 45 | 12 | b |
| भगवान्देवकीसुतः | 45 | 20 | b |
| भगवान्देवकीसुतः | 56 | 29 | d |
| भगवान्देवकीसुतः | 58 | 55 | d |
| भगवान्देवकीसुतः | 60 | 58 | b |
| भगवान्पुनराव्रज्य | 52 | 5 | a |
| भगवान् भक्तिनम्रया | 59 | 32 | b |
| भगवान्भरतर्षभ | 44 | 17 | d |
| भगवान् भीष्मकसुताम् | 52 | 18 | a |
| भगवान् भीष्मकसुताम् | 54 | 53 | a |
| भगवान्भूतभावनः | 51 | 36 | b |
| भगवान्मधुसूदनः | 43 | 13 | b |
| भगवान्मधुसूदनः | 44 | 1 | b |
| भगवान् लोकभावनः | 44 | 49 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भगवान्वा विभावसुः | 51 | 29 | b |
| भगवान् विष्णुरव्ययः | 51 | 20 | d |
| भगवान्व्रजयोषितः | 29 | 17 | b |
| भगवान्साात्त्वतर्षभः | 51 | 23 | b |
| भगवान्साात्त्वतां पतिः | 34 | 8 | d |
| भगवान्साात्त्वतां पतिः | 46 | 34 | d |
| भगवान् साात्त्वतां पतिः | 58 | 34 | b |
| भगवान् हरिरीश्वरः | 30 | 28 | b |
| भगवान्हरिरीश्वरः | 48 | 37 | b |
| भगवांस्तत्र निवसन् | 58 | 25 | a |
| भगवांस्तदुपश्रुत्य | 56 | 17 | a |
| भगवांस्तमभिप्रेत्य | 38 | 36 | a |
| भगिन्यो भ्रातृपुत्राश्च | 49 | 8 | c |
| भग्नदर्पान् हतौजसः | 58 | 46 | b |
| भग्नवीर्याः सुदुर्मर्षाः | 58 | 53 | c |
| भजते तादृशीः क्रीडाः | 33 | 37 | c |
| भजते निर्गुणो गुणान् | 46 | 40 | b |
| भजतोऽनुभजन्त्येके | 32 | 17 | a |
| भजतोऽपि न वै केचित् | 32 | 20 | a |
| भजन्तं भजतोरपि | 41 | 47 | d |
| भजन्त्यभजतः कुतः | 32 | 20 | b |
| भजन्त्यभजतो ये वै | 32 | 19 | a |
| भज सखे भवत्किङ्करीः स्म नः | 31 | 6 | c |
| भजस्व क्षत्रियर्षभम् | 60 | 17 | b |
| भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये | 32 | 21 | b |
| भज्यन्मध्यैश्चलत्कुचपटैः - | | | |
| कुण्डलैः गण्डलोलैः | 33 | 8 | b |
| भटा राजपुरं महत् | 59 | 14 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भटाश्वरथकुञ्जरैः | 50 | 8 | b |
| भटैर्गृहाम्बिकालयम् | 53 | 39 | d |
| भयविह्वललोचना | 54 | 4 | d |
| भर्तरि कामसन्तप्ता | 36 | 33 | c |
| भर्तुश्शुश्रूषणं स्त्रीणाम् | 29 | 24 | a |
| भर्तुः प्रेतस्य निष्कृतिम् | 46 | 49 | b |
| भर्त्रेह प्रेषितः पित्रोः | 47 | 4 | c |
| भवतः प्रकृतेर्गुणाः | 40 | 12 | b |
| भवता भगवत्यजे | 29 | 16 | b |
| भवता रामकेशवौ | 36 | 20 | d |
| भवतां प्रपितामही | 49 | 14 | d |
| भवतीनामधोक्षजे | 47 | 27 | b |
| भवतीनां वियोगो मे | 47 | 29 | a |
| भवतीनां सुखावहः | 47 | 28 | b |
| भवतीभिरनुत्तमा | 47 | 25 | b |
| भवतो विबुधादयः | 45 | 14 | b |
| भवत्यो यन्त्रिताशायाः | 29 | 23 | b |
| भवत्यो लोकपूजिताः | 47 | 23 | b |
| भवद्भिर्योजियुज्यते | 41 | 48 | d |
| भवद्भ्यामिह सम्प्राप्तौ | 36 | 23 | c |
| भवद्भ्यामुद्धृतं कृच्छ्रात् | 48 | 18 | c |
| भवद्भ्यां गुरुनिष्क्रयः | 45 | 48 | b |
| भवद्भ्यां न विना किञ्चित् | 48 | 19 | c |
| भवद्विधा भागवताः | 48 | 31 | a |
| भवन्तौ किल विश्वस्य | 41 | 46 | a |
| भवन्तौ वीर्यसम्मतौ | 43 | 32 | b |
| भवपत्नीं भवान्तिकम् | 53 | 45 | d |
| भवद्भ्रीनां मनुजाङ्गनानां जानीहि भद्रे | 36 | 39 | a |
| भवानीं वन्दयाञ्चक्रुः | 53 | 45 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भवान्नः परिपालनात् | 51 | 16 | d |
| भवान् नारायणसुतः | 55 | 12 | a |
| भवान्प्रविशतामग्रे | 41 | 10 | a |
| भवान्प्रियचिकीर्षया | 47 | 4 | d |
| भवान्याः पादपल्लवम् | 53 | 40 | b |
| भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेत् | 51 | 54 | a |
| भवित्री नष्टकण्टका | 36 | 66 | f |
| भविष्याति परं श्रेयः | 41 | 33 | c |
| भवेन्नियुद्धं माऽधर्मः | 43 | 38 | c |
| भवो न साक्षाच्च चिदात्मनः स्यात् | 48 | 23 | b |
| भस्मसादभवत् क्षणात् | 51 | 12 | d |
| भस्मीभवतु तत्क्षणात् | 51 | 22 | d |
| भागवत प्रवरो नृप | 37 | 10 | b |
| भागवत प्रवरो मुनिः | 37 | 25 | b |
| भारद्वाजं सगौतमम् | 49 | 2 | b |
| भाराक्रान्तानि कामिनः | 30 | 32 | d |
| भारावताराय भुवो निजेच्छया | 38 | 10 | b |
| भार्ययाम्बरचारिण्या | 55 | 25 | c |
| भार्यां साध्वीं सुतं शिशुम् | 45 | 7 | b |
| भावं विधत्तां नितरां महात्मन् | 46 | 33 | c |
| भावेन हृदयं दधुः | 59 | 35 | d |
| भासा नितम्बभृतया च पार्ष्ण्याकाञ्च्या | 60 | 8 | d |
| भिक्षुभिः श्लाघिता मुधा | 60 | 16 | d |
| भिन्नगात्रा नृपात्मजाः | 58 | 43 | d |
| भीतः प्रपन्नार्तिहरोपसादिताः | 59 | 31 | b |
| भीतः प्राणपरीप्सया | 57 | 15 | b |
| भीताः विरहकातराः | 39 | 18 | b |
| भीता सुदृक् पिधायाऽऽस्यम् | 30 | 23 | e |
| भीताः शनैः प्रियदधीमहि कर्कशेषु | 31 | 19 | b |
| भीष्मकन्या वरारोहा | 53 | 22 | a |
| भीष्मं कृपं सविदुरम् | 57 | 2 | a |
| भुक्त्वा क्षीरोपसेचनम् | 42 | 25 | b |
| भुक्त्वा चाऽतिथयो गृहम् | 47 | 8 | b |
| भुजमगरुगन्धिं मूर्ध्न्यधास्यत्कदा तु | 47 | 21 | d |
| भुजाहयः पुष्पशीर्षकच्छपाः | 50 | 26 | c |
| भुवं लिखन्त्यश्रुभिरञ्जनाऽऽविलैः | 60 | 23 | b |
| भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः | 31 | 9 | d |
| भुवि भारं समाहितम् | 50 | 7 | b |
| भूमध्रुक् को लभते शम् | 44 | 47 | d |
| भूनराजाय मीढुषे | 36 | 58 | d |
| भूतानि नः प्रसीदन्ति | 43 | 35 | c |
| भूतेन्द्रियगुणात्मना | 47 | 30 | d |
| भूतेषु च दयां पराम् | 41 | 51 | d |
| भूतेषु सन्तं पुरुषं बनस्पतीन् | 30 | 4 | d |
| भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै | 51 | 64 | c |
| भूपृष्ठे पोथयामास | 44 | 23 | a |
| भूभारहरणाय मे | 50 | 9 | b |
| भूमेर्भारमपाकुरु | 50 | 15 | b |
| भूमेर्भारायमाणानाम् | 51 | 40 | e |
| भूमे भारावताराय | 49 | 28 | c |
| भूमौ वियति तोये वा | 41 | 3 | c |
| भूमौ वियति वा जले | 41 | 4 | b |
| भूमौ वियति वा जले | 41 | 5 | b |
| भूम्नस्तवेहितमथोऽनु ये भवन्तम् | 60 | 36 | d |
| भूयस्तत्राऽपि सोऽद्राक्षीत् | 39 | 44 | a |
| भूयस्समाहरत्कृष्णः | 41 | 1 | c |
| भूयः कर्ता बलोद्यमम् | 50 | 8 | d |
| भूयात् पतिरयं महद्यम् | 59 | 35 | a |
| भूयात् पतिर्मे भगवान् | 53 | 46 | c |
| भूयादयं मे पतिराशिषोऽमलाः | 58 | 36 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भूरि द्रष्टुं न शक्नुमः | 51 | 35 | b |
| भूषितां भूषणोत्तमैः | 53 | 11 | d |
| भूस्तोयमग्निः पवनः खमादिः | 40 | 3 | a |
| भृत्योराज्ञः सुदुर्मदः | 41 | 34 | d |
| भृशमुद्विविजे नृप | 43 | 18 | d |
| भेजे भीतिविडम्बनम् | 30 | 23 | f |
| भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् | 47 | 61 | d |
| भेजुर्मुदाविरतमेधितयाऽनुराग | 59 | 44 | c |
| भेजे सर्पवपुर्हित्वा | 34 | 9 | c |
| भेरीतूर्याण्यनेकशः | 50 | 38 | b |
| भैष्म्याः समुचितः पतिः | 53 | 37 | b |
| भोजयित्वा यथान्यायम् | 53 | 10 | c |
| भोजराजसमाहुताः | 42 | 38 | b |
| भोजितं परमान्नेन | 46 | 15 | a |
| भो भो दानपते महच्चम् | 36 | 60 | a |
| भो भो निशम्यतामेतत् | 36 | 22 | a |
| भो भो वैचित्रवीर्यत्वम् | 49 | 17 | a |
| भो भोः पुरुषशार्दूल | 54 | 11 | a |
| भौमप्रयुक्ता निरगुर्धृतायुधाः | 59 | 12 | d |
| भौम हत्वा तन्निरोधात् | 58 | 58 | c |
| भौमाहृतानां विक्रम्य | 59 | 33 | c |
| भौमो येन च ताः स्त्रियः | 59 | 1 | b |
| भ्रमद्भमरसङ्घाते | 36 | 31 | c |
| भ्रमामि स्वप्नकल्पेषु | 40 | 25 | c |
| भ्राजमान पद्मकरम् | 39 | 52 | a |
| भ्राजमानो यथा रविः | 56 | 4 | b |
| भ्रातर मे महाभुज। | 54 | 33 | d |
| भ्रातरः पतयश्च वः | 29 | 20 | b |
| भ्रातरावन्वधावताम् | 34 | 27 | d |
| भ्रातर्युपरते पाण्डौ | 49 | 17 | c |
| भ्रातापि भ्रातरं हन्यात् | 54 | 40 | c |
| भ्राता ममेति तच्छ्रुत्वा | 56 | 16 | c |
| भ्राता मे प्रेषितस्त्वया | 58 | 9 | d |
| भ्रातुर्निर्देशकारिणः | 44 | 40 | d |
| भ्रातुर्विरूपवारणं युधि निर्जितस्य | 60 | 56 | a |
| भ्रातुर्वैरूप्य चिन्तया | 54 | 38 | b |
| भ्रातृपुत्रेषु दीनधीः | 48 | 35 | b |
| भ्रातृस्नेहपरिप्लुतः | 53 | 21 | b |
| भ्रात्रेयो भगवान्कृष्णः | 49 | 9 | a |
| भ्रामयित्वा न्यपातयत् | 30 | 17 | d |
| भ्राम्यतीव महीयते | 46 | 41 | b |
| भ्राम्यते कर्म वर्त्मसु | 40 | 24 | d |
| **म** | | | |
| मगधान् दुर्मना ययौ | 50 | 35 | d |
| मगधान् मागधो ययौ | 52 | 14 | d |
| मग्नमुद्धर गोविन्द | 47 | 52 | c |
| मङ्गलाचरितैः दानैः | 47 | 67 | c |
| मच्छासनपुरस्कृतः | 45 | 46 | d |
| मञ्चमुत्तुङ्गमारुहत् | 44 | 34 | d |
| मञ्चस्थिता नागर राष्ट्रका नृपाः | 43 | 20 | b |
| मञ्चाश्चाऽलङ्कृताः स्रग्भिः | 42 | 33 | c |
| मञ्चाः क्रियन्तां विविधा | 36 | 24 | a |
| मणिग्रीवो वनं गतः | 56 | 16 | b |
| मणिञ्च स्वयमुद्यम्य | 56 | 44 | c |
| मणिधरः क्वचिदगणयन्नाः | 35 | 18 | a |
| मणिप्रवेका भरणाद्दमशर्करः | 50 | 27 | d |
| मणिमाच्छिद्य केसरी | 56 | 14 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मणिमादाय जग्मिवान् | 57 | 6 | d | मधुपर्कमुपानीय | 53 | 33 | a |
| मणिमादाय भास्वरम् | 34 | 32 | b | मधुपर्कमुपाहरत् | 38 | 38 | d |
| मणिस्तत्र न विद्यते | 57 | 26 | d | मधुपुर्या महामतिः | 38 | 1 | b |
| मणिहेतोरिह प्राप्ताः | 56 | 31 | a | मधु मध्वन्नमादृताः | 34 | 3 | b |
| मणिं क्रीडनकं बिले | 56 | 15 | b | मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया | 31 | 8 | a |
| मणिं तस्मै न्यवेदयत् | 56 | 39 | d | मधुरामनयद्ग्रामम् | 41 | 6 | c |
| मणिं प्रत्यर्पयद्विभुः | 57 | 48 | d | मधुरां कृष्णपालिताम् | 47 | 68 | d |
| मणिं विप्रैन्यवेशयत् | 56 | 10 | d | मधुरां प्राविशद्गोपैः | 41 | 19 | c |
| मणिः कस्मान्न गृह्यते | 57 | 3 | d | मधुरां यवनावृतम् | 52 | 5 | b |
| मण्डयन्कनककुण्डललक्ष्या | 35 | 24 | d | मध्यगौ व्रजयोषिताम् | 34 | 20 | d |
| मण्डलेश्वरमध्यस्थः | 42 | 35 | c | मध्ये मणीनां हैमानम् | 33 | 7 | c |
| मतङ्गजैर्वा नरदेवसंज्ञितः | 51 | 51 | b | मन आवेश्य वर्तते | 47 | 35 | b |
| मतिस्ते विमलोर्जिता | 51 | 59 | b | मनसस्सन्निकर्षार्थम् | 47 | 34 | c |
| मत्परामनवद्याङ्गीम् | 53 | 3 | c | मनसा कर्मण वाचा | 43 | 33 | c |
| मत्पाणिग्रहणे नूनम् | 53 | 24 | c | मनसाऽपि हृषीकेशः | 33 | 31 | a |
| मत्वा कलियुगं प्राप्तम् | 52 | 2 | c | मनसा वज्रिरेऽभीष्टम् | 59 | 34 | c |
| मत्वा जिहास इदमङ्गमनन्ययोग्यम् | 60 | 57 | c | मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि | 31 | 12 | d |
| मत्सन्देशहरो द्विजः | 53 | 23 | f | मनसो वृत्तयो नः स्युः | 47 | 66 | a |
| मत्सन्देशैर्विमोचय | 46 | 3 | d | मनस्विनां हर्षकरीः परस्परम् | 50 | 28 | b |
| मत्स्योऽग्रसीत्तदुदरात् | 55 | 13 | c | मनस्वी सहसोत्थाय | 44 | 35 | c |
| मत्स्योदर निवेशनम् | 55 | 6 | f | मनः क्षिपन्तौ प्रभया निरीक्षताम् | 43 | 19 | d |
| मदच्युद्भिर्गजानीकैः | 53 | 15 | a | मनः श्रवणमङ्गलम् | 34 | 23 | b |
| मदनुध्यानकाम्यया | 47 | 34 | d | मनांसि तासामरविन्दलोचनः | 41 | 27 | a |
| मदबिन्दुभिरङ्कितः | 43 | 15 | d | मनुष्यचेष्टामापन्नौ | 52 | 7 | c |
| मदर्थे तान्बिभर्म्यहम् | 46 | 4 | f | मनुष्यासु दिवौकसाम् | 36 | 44 | b |
| मदर्थे त्यक्तदैहिकाः | 46 | 4 | b | मनोदत्ता महामतिः | 45 | 28 | b |
| मदविघूर्णितलोचन ईषत् | 35 | 24 | a | मनोनयननन्दिनीम् | 58 | 29 | d |
| मद्भावितं भोजपते रतिप्रियम् | 42 | 3 | c | मनो बुद्ध्या समादधे | 54 | 50 | d |
| मद्वीर्यं न वृथा भवेत् | 36 | 45 | d | मनोऽभ्येति नवं नवम् | 60 | 48 | b |
| मधुकैटभमृत्यवे | 40 | 18 | d | मनो याति तदात्मताम् | 46 | 22 | d |
| मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः | 47 | 12 | a | मनोरथान्करोत्युच्चैः | 36 | 70 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः | 32 | 14 | b | मयोदितं यदन्वात्थ | 60 | 49 | c |
| मनोरमातपविहारविभ्रमैः | 30 | 2 | b | मय्यकामाय भामिनि | 60 | 50 | b |
| मन्त्रिणश्च विसृज्य सः | 36 | 71 | b | मय्यावेशितमानसः | 51 | 62 | b |
| मन्द मन्दमनुगर्जति मेघः | 35 | 13 | b | मय्यावेश्य मनः कृत्स्नम् | 47 | 36 | a |
| मन्दमारुतवीजिते | 36 | 30 | d | मय्येव कृतसौहृदाः | 36 | 67 | d |
| मन्दवायु रणुवात्यनुकूलम् | 35 | 21 | a | मकेटाटोपसुन्दरे | 36 | 32 | b |
| मन्यमानामविश्लेषात् | 60 | 21 | c | मर्त्यधर्मै र्न युज्यते | 50 | 55 | d |
| मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् | 33 | 38 | c | मर्त्यः प्राप्य यथाऽमृतम् | 49 | 26 | d |
| मन्यमानोऽभिनन्द्य च | 43 | 36 | d | मर्त्यात्मबुद्धेः सुतदार कोशभूषु | 51 | 48 | c |
| मन्ये कृष्णश्च रामश्च | 46 | 23 | a | मर्त्या सदोरुभयमर्थविविक्तदृष्टिः | 60 | 42 | d |
| मन्ये त्वां देवदेवानाम् | 51 | 30 | a | मल्लक्रीडा महोत्सवम् | 42 | 32 | d |
| मन्ये त्वां पतिमिच्छन्तीम् | 58 | 19 | c | मल्लतालोत्तरेषु च | 43 | 36 | b |
| मन्ये ममाऽनुगृह ईशते कृतः | 51 | 55 | a | मल्लदुन्दुभिनिर्घोषम् | 43 | 1 | c |
| मन्वानास्वात्मनोचितम् | 57 | 46 | d | मल्लरङ्गपरिश्रिताः | 36 | 24 | b |
| मन्वानो बलकेशवौ | 52 | 14 | b | मल्लानन्यांश्च हस्तिनम् | 37 | 16 | b |
| मम गन्धर्व जन्मनः | 36 | 53 | b | मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां | 43 | 17 | a |
| मम द्विषन्ति वामोरु | 60 | 18 | c | स्मरो मूर्तिमान् | | | |
| मम माता यशस्विनी | 36 | 46 | b | मल्लाः स्वलङ्कृता दृप्ताः | 42 | 36 | c |
| ममाऽबाऽमङ्गलं नष्टम् | 38 | 6 | a | मल्लिकागन्धमत्तालि | 34 | 22 | c |
| ममाऽसावात्मजो नष्टः | 55 | 32 | a | मल्लिकादामभिः धूपैः | 60 | 4 | a |
| ममैतद्दुर्लभं मन्ये | 38 | 4 | a | मल्लिके जातियूथिके | 30 | 8 | b |
| ममैष कालोऽजित निष्फलो गतः | 51 | 48 | a | मल्लौ गजपतिं तथा | 46 | 24 | b |
| ममोद्वाहो निवारितः | 53 | 2 | d | मल्लौ शैलेन्द्रसन्निभौ | 44 | 8 | b |
| मयपुत्रो महामायः | 37 | 29 | a | महत्या सेनया युक्तश्च | 59 | 15 | e |
| मयश्च मोचितो वह्नेः | 58 | 27 | a | महत्या सेनया वृतौ | 58 | 52 | b |
| मया परोक्षं भजता तिरोहितम् | 32 | 22 | c | महदतिक्रमणशङ्कित चेताः | 35 | 13 | a |
| मया विक्रम वार्ष्णेय | 43 | 40 | c | महानजादिर्मन इन्द्रियाणि | 40 | 3 | b |
| मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे | 46 | 5 | a | महानयं बताऽधर्मः | 44 | 7 | a |
| मयि भावोऽनुकीर्तनात् | 29 | 27 | b | महानुभावैः श्रीमद्भिः | 60 | 10 | c |
| मयि भृत्य उपासीने | 45 | 14 | a | महान्मेऽनुग्रहः कृतः | 47 | 27 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| महापुरुष ईश्वरः | 37 | 12 | d | मातरं पितरं वृद्धम् | 45 | 7 | a |
| महापुरुषमीश्वरम् | 40 | 5 | b | मातरं सहृदस्सखीन् | 46 | 18 | b |
| महापुरुष सत्पते | 34 | 16 | b | मातरः पितरः पुत्राः | 29 | 20 | a |
| महाबलौघेन बलीयसाऽऽवृणोत् | 50 | 21 | b | माता मम महाभागा | 36 | 30 | a |
| महामरकतस्थलैः | 50 | 53 | d | माता मम यशस्विनी | 36 | 49 | b |
| महामरकतो यथा | 33 | 7 | d | मातामहन्तूग्रसेनम् | 45 | 12 | c |
| महामात्र त्वया भद्र | 36 | 57 | a | मातृभावमतिक्रम्य | 55 | 11 | c |
| महामात्र निबोधेदम् | 36 | 25 | a | मात्राणि देवा मन इन्द्रियाणि | 59 | 30 | b |
| महामात्रेणैव भुक्तः | 36 | 28 | a | मात्रात्मकत्वान्निरयस्सुसङ्गमः | 60 | 53 | d |
| महामोदः पुरौकसाम् | 54 | 60 | b | माथुरैरुपसङ्गम्य | 50 | 37 | a |
| महार्हमणिभिर्युक्त | 39 | 51 | a | माध्वीर्लोकमलापहाः | 52 | 20 | b |
| महार्होपस्करोपेतम् | 48 | 2 | a | माध्व्या गिरा हृतधियः | 47 | 51 | c |
| महाह्रयो निर्जरयन् मनोजवः | 37 | 1 | b | मानदः स्वसुहृदां वनमाली | 35 | 24 | b |
| महिष्यौ भरतर्षभ ! | 50 | 1 | b | माननीयोऽसि देहिनाम् | 51 | 35 | d |
| महीं महाककुत्कायः | 36 | 1 | c | मानप्राप्तिश्च माधवात् | 30 | 42 | b |
| महेन्द्रः प्राहिणोद्धेः | 50 | 55 | b | मानयन् मलयजस्पर्शैन | 35 | 21 | b |
| महेन्द्राण्या च सप्रियः | 59 | 38 | d | मानयित्वा च मानदः | 48 | 11 | b |
| महोत्सवः श्रीरमणं गुणास्पदम् | 39 | 25 | c | मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि | 33 | 22 | c |
| मह्यं न नस्यात् फलमञ्जसा दृशः | 38 | 10 | d | मानिनः प्रीतियुक्तेन | 57 | 30 | e |
| मह्यं वस्सौम्य काङ्क्षितम् | 39 | 7 | b | मानिनोऽन्यस्य वा हेतोः | 54 | 41 | c |
| मह्यादयो योनिषु भान्ति नाना | 48 | 21 | b | मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि | 29 | 47 | d |
| मा कृत्वं बन्धुसाध्वसम् | 29 | 20 | d | मानुषं देहमास्थितः | 33 | 37 | b |
| मा खिद्यतं महाभागौ | 46 | 36 | a | मान्धातृतनयो महान् | 51 | 14 | b |
| मागधस्तु न हन्तव्यः | 50 | 8 | c | नाऽऽपुर्मद्वीर्यचिन्तया | 47 | 37 | d |
| मागधः प्रहसन् बली | 52 | 9 | b | मा भूदिति निजां मायाम् | 45 | 1 | c |
| मागधेन समानीतम् | 50 | 7 | c | मा भैष्ट वातवर्षाभ्याम् | 30 | 20 | a |
| मागधोऽप्यब वा श्वो वा | 50 | 47 | c | मा भैष्टेति गिराऽऽश्वास्य | 36 | 6 | c |
| मातर्नौ परतन्त्रयोः | 45 | 9 | b | मा भैष्टेत्यभयारावौ | 34 | 28 | a |
| मातस्ते मतिरन्यथा | 55 | 11 | b | मामसौ भजते प्रियः | 30 | 37 | f |
| मातरं पितरञ्चैव | 44 | 50 | a | मामाज्ञापय तं भृत्यम् | 41 | 48 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मा मा वैदर्भ्यसूयेथा | 60 | 29 | a | मात्यैर्मुकुन्दं विकिरन्त ईडिरे | 59 | 22 | d |
| मां प्रपन्नो जनः कश्चित् | 51 | 44 | c | मा वीरभागमभिमर्शतु चैद्य आरात् | 52 | 39 | c |
| मां प्राप्य मानिन्यपवर्गसम्पदम् | 60 | 53 | a | माऽसूयितुं मार्हथ तत्प्रियं प्रियाः | 32 | 22 | d |
| मां भजन्ति सुमध्यमे | 60 | 14 | d | मा स्म भैर्वामलोचने | 54 | 5 | b |
| मामीक्षसे तदु ह नः परमानुकम्पा | 60 | 46 | d | मां वक्ष्यतेऽक्रूर, ततेत्युरुश्रवाः | 38 | 21 | b |
| मामीक्षिता सस्मितमार्द्रया दृशा | 38 | 19 | b | मासास्थितकृमिविट् कफपित्तवातम् | 60 | 45 | b |
| मामुपैष्यसि केवलम् | 51 | 64 | d | मित्रविन्दां पितृष्वसुः | 58 | 31 | b |
| मामेव दयितं प्रेष्ठम् | 46 | 4 | c | मिथिलाया उपवने | 57 | 24 | a |
| मायया च निषेवितम् | 39 | 55 | d | मिथिलायां समा विभुः | 57 | 30 | b |
| मायया सृजसे गुणान् | 37 | 13 | b | मिथो भजन्ति ये सख्यः | 32 | 18 | a |
| मयाभिर्मोहनादिभिः | 55 | 14 | d | मिथो मुमुदिरे तस्मिन् | 54 | 58 | c |
| मायावती महामायाम् | 55 | 16 | c | मिथ्याभिशापं प्रमृजन् | 56 | 31 | c |
| मायावत्यै न्यवेदयन् | 55 | 6 | b | मीनः सोऽप्यपरैस्सह | 55 | 4 | b |
| मायावृत्तिभिरीयते | 47 | 31 | d | मुकुन्दचरणाम्बुजम् | 53 | 40 | d |
| मायाशतविदं त्वं च | 55 | 14 | c | मुकुन्दपदभूषिताम् | 46 | 22 | b |
| मायिनः कूटयोधिनः | 54 | 25 | d | मुकुन्दमखिलेश्वरम् | 58 | 2 | b |
| मार्गरथ्याचतुष्पथम् | 53 | 8 | b | मुकुन्दवक्त्रं सुकपोलमुन्नसम् | 39 | 20 | b |
| मार्गं गोप्योऽविदूरतः | 30 | 41 | b | मुकुन्दवदनाम्बुजम् | 45 | 18 | b |
| मार्गे ग्रामजना राजन् | 41 | 7 | a | मुकुन्दसङ्गाज्जिमिषार्धदृस्त्यजात् | 39 | 28 | c |
| मार्गेण शिवरूपिणम् | 40 | 9 | b | मुकुन्दस्पर्शनात्सद्यः | 42 | 8 | c |
| मार्जयामास लोकेश | 57 | 45 | a | मुकुन्दोऽनाथसंश्रयः | 58 | 21 | d |
| मार्ष्टुं प्रसेनपदवीम् | 56 | 17 | c | मुकुन्दोऽप्यक्षतबलः | 50 | 36 | a |
| मा राक्षसेन विधिनोद्वह वीर्यशुल्काम् | 52 | 41 | d | मुक्तादामपताकाभिः | 48 | 2 | c |
| मालत्यदर्शि वः कश्चित् | 30 | 8 | a | मुक्तादामविलम्बिना | 60 | 3 | b |
| मालया दयितगन्धतुलस्याः | 35 | 18 | b | मुक्ता हरिद्भिर्वलभीषु वेदिषु | 41 | 21 | d |
| मालाकारस्य जग्मतुः | 41 | 43 | b | मुखञ्च प्रेमसंरम्भ | 60 | 30 | a |
| मालाहत इव द्विपः | 59 | 20 | d | मुखमाताम्रलोचनम् | 44 | 12 | b |
| मालां बिभ्रद्वैजयन्तीम् | 29 | 44 | c | मुखवासैर्गन्धमाल्यैः | 38 | 40 | c |
| माला विरचितां ददौ | 41 | 49 | d | मुखं मुकुन्दस्य गुडालकावृतम् | 38 | 9 | c |
| माल्यदध्यक्षताङ्कुरैः | 50 | 40 | b | मुखं वीक्ष्यानुगानां च | 42 | 11 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मुखाम्बुजसुधां मुहुः | 45 | 19 | d | मूत्रयन् स्तब्धलोचनः | 36 | 2 | d |
| मुखारविन्दं परिमृष्टकुण्डलम् | 47 | 1 | d | मूर्छितानाऽविदन्नृप | 34 | 24 | b |
| मुखारविन्दं बिभ्राणम् | 51 | 3 | c | मृगयां व्यचरद्वने | 56 | 13 | d |
| मुखेषु तं चापि शरैरताडयत् | 59 | 9 | c | मृगयुरिव कपोन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा | 47 | 17 | a |
| मुचुकुन्द इति ख्यातः | 51 | 14 | c | मृगेन्द्र इव लीलया | 43 | 14 | b |
| मुचुकुन्द इति प्रोक्तः | 51 | 32 | c | मृगेन्द्रो दारविक्रमम् | 51 | 26 | d |
| मुचुकुन्दामथाब्रुवन् | 51 | 16 | b | मृगेन्द्रो दारविक्रमम् | 51 | 26 | d |
| मुचुकुन्दाय धीमते | 51 | 23 | d | मृतकं द्विपमुत्सृज्य | 43 | 15 | a |
| मुचुकुन्दो मुदाऽन्वितः | 51 | 45 | b | मृतपुत्रं प्रदानञ्च | 37 | 19 | c |
| मुदा गायन्ति ते यशः | 40 | 17 | d | मृतं पुनरिवागतम् | 56 | 38 | b |
| मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तम् | 35 | 25 | c | मृतिर्ह्यस्य कुहूरिव | 54 | 47 | d |
| मुनिवासनिवासे किम् | 57 | 35 | c | मृते भर्तरि दुःखार्ते | 50 | 1 | c |
| मुनिव्रतमथ त्यक्त्वा | 53 | 50 | a | मृत्युमात्मन आसनात् | 44 | 35 | b |
| मुनीनामपि दुर्लभा | 47 | 25 | d | मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषाम् | 43 | 17 | c |
| मुनेरपि सुदुस्त्यजः | 47 | 5 | d | मृत्युः किल निदर्शितौ | 36 | 23 | b |
| ममुचुः शरवर्षाणि | 54 | 3 | c | मृत्यो र्दौत्य कराणि च | 42 | 27 | d |
| मुमुचेऽस्रमयं वर्षम् | 55 | 21 | c | मृदङ्गशङ्खपणवाः | 53 | 41 | e |
| मुरपाशायुतैर्घोरैः | 59 | 3 | c | मृषा किं सलिले तयोः | 39 | 43 | d |
| मुरपाशांस्तथाऽसिना | 59 | 4 | h | मृषा स्वप्नवदुत्थितः | 47 | 32 | d |
| मुरः शयान उत्तस्थौ | 59 | 6 | c | मेघगम्भीरया गिरा | 56 | 30 | d |
| मुराणां नरकस्य च | 37 | 17 | b | मेघगम्भीरया वाचा | 58 | 39 | c |
| मुषित्वा ध्वाङ्क्षवद्भविः | 54 | 25 | b | मेघनादगभीरया | 43 | 3 | d |
| मुष्टिकं प्रति सामर्षम् | 44 | 12 | c | मेघनादगभीरया | 51 | 36 | d |
| मुष्टिकं रोहिणीसुतः | 44 | 1 | d | मेघपुष्पबलाहकैः | 53 | 5 | b |
| मुष्टीकृत्य करावुभौ | 44 | 21 | b | मेघा अद्रिष्वपो यथा | 54 | 3 | d |
| मुष्णन् गस्तिचक्रेण | 56 | 7 | c | मेघाःपरस्याऽस्थि नखानि तेऽद्रयः | 40 | 15 | b |
| मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः | 31 | 17 | d | मेद्रस्तु वृष्टिस्तव वीर्यमिष्यते | 40 | 15 | d |
| मुहुर्म्लानिमवाप ह | 44 | 20 | d | मेघ्यान् पर्वण्युपागते | 58 | 16 | b |
| मुहुर्दैविकमौतिकाः | 57 | 34 | d | मेनिरे विबुधोत्तमौ | 42 | 22 | d |
| मूढस्सत्यधिया बिभो | 40 | 25 | d | मेषायितानपोवाह | 37 | 29 | c |
| मूढं द्रविणलोलुपम् | 56 | 42 | d | मेषायिताश्च तत्रैके | 37 | 28 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| मैतद्विधस्याऽकरुणस्य नाम भूत् | 39 | 26 | a |
| मैथिलः प्रीतमानसः | 57 | 29 | b |
| मैवं ममाधमस्याऽपि | 38 | 5 | a |
| मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसम् | 29 | 31 | a |
| मैवास्मान् साध्व्यसूयेथाः | 54 | 38 | a |
| मोघमेते व्यतिक्रान्ताः | 45 | 8 | c |
| मोचयन्व्रजगवां दिनतापम् | 35 | 25 | d |
| मोचयित्वाऽथ बन्धनात् | 44 | 50 | b |
| मोहितस्तव मायया | 40 | 24 | b |
| मोहिता मम मायया | 60 | 52 | d |
| मोहितावङ्कमारोप्य | 45 | 10 | c |
| मोहितास्तस्य मायया | 33 | 38 | b |
| मोहितां दुःखितां सतीम् | 30 | 41 | d |
| म्लेच्छप्रायक्षत्रहन्त्रे | 40 | 23 | c |
| **य** | | | |
| य इदं लीलया विश्वम् | 57 | 19 | a |
| य ईक्षिताहं रहितोऽप्यसत्सतोः | 38 | 11 | a |
| यच्छौचेनाऽनुतृप्यन्ति | 41 | 13 | c |
| यजन्ति ज्ञानविग्रहम् | 40 | 7 | d |
| यजन्ति त्वन्मया स्त्वां वै | 40 | 8 | c |
| यजन्ते विविधै र्यज्ञैः | 40 | 6 | c |
| यत एतद्विमुच्यते | 29 | 16 | d |
| यतवाङ्भ्रातृभि स्सार्धम् | 53 | 41 | a |
| यत स्त्वमागतो दुर्गम् | 52 | 35 | a |
| यत स्त्वकृतभुक् पुमान् | 54 | 38 | d |
| यत्कर्णमूलमरिकर्षण नोपयायात् | 60 | 44 | c |
| यत्कृता मतिरीदृशी | 46 | 30 | d |
| यत्पत्यपत्यसुहृदा मनुवृत्ति रङ्ग | 29 | 32 | a |
| यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ताः | 33 | 35 | a |
| यत्पादपङ्कजरजश्शिरसा बिभर्ति | 58 | 38 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| यत्पादशौचसलिलं त्रिजगत्पुनाति | 48 | 26 | c |
| यत्प्रियं देवदेवस्य | 50 | 56 | a |
| यत्सन्देशो यदर्थं वा | 39 | 9 | a |
| यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु | 31 | 19 | a |
| यन्त्वहं भवतीनां वै | 47 | 34 | a |
| यत्र क्वापीश्वरेच्छया | 47 | 67 | b |
| यत्र चावस्थितो मर्त्यः | 50 | 55 | c |
| यत्र यत्र स धावति | 34 | 30 | b |
| यत्राद्भुतानि सर्वाणि | 41 | 5 | a |
| यत्राऽधर्मं समुत्तिष्ठेत् | 44 | 9 | c |
| यत्राऽऽस्तेऽभ्यर्चितो मणिः | 56 | 11 | f |
| यथा गा दस्युना ग्रस्ताः | 34 | 27 | c |
| यथा जले सञ्जिहते जलौकसेऽपि | 40 | 16 | c |
| यथा ज्योतिर्यथा नभः | 54 | 44 | d |
| यथाऽऽत्मानं दिवौकसः | 52 | 28 | d |
| यथा दारुमयी योषित् | 54 | 12 | a |
| यथा दूरे चरे प्रेष्ठे | 47 | 35 | a |
| यथादृष्टं यथाश्रुतम् | 43 | 22 | b |
| यथाऽद्रिप्रभवा नद्यः | 40 | 11 | a |
| यथाऽधनो लब्धधने विनष्टे | 32 | 21 | c |
| यथा नटा वुत्तमवेषधारिणौ | 43 | 19 | c |
| यथा बलं यथावित्तं | 53 | 35 | c |
| यथाऽबुधो जलं हित्वा | 40 | 27 | a |
| यथा भूतानि भूतेषु | 47 | 29 | c |
| यथा भ्रमरिका दृष्ट्वा | 46 | 41 | a |
| यथा मदच्युद्भिरदः करेणुभिः | 33 | 25 | d |
| यथाऽऽमयं संववृधे ह्युपेक्षितः | 37 | 7 | d |
| यथा मागधशाल्वादीन् | 52 | 19 | c |
| यथा मारकतशैलः | 38 | 33 | c |
| यथारुद्रोऽब्धिजं विषम् | 33 | 31 | d |
| यथाऽर्भक स्स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः | 33 | 17 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यथावदति कल्याणीम् | 49 | 26 | a | यदुदेवगृहोल्लसत् | 50 | 54 | d |
| यथावदुपसङ्गम्य | 49 | 3 | a | यदुदेव मयाऽऽहृताः | 52 | 44 | b |
| यथावद्द्विजसंस्कृतिम् | 45 | 26 | d | यदुपति र्द्विरदराजविहारः | 35 | 25 | a |
| यथावास्तुविनिर्मितम् | 50 | 51 | d | यदुपुर्यां गृहे गृहे | 54 | 54 | b |
| यथावीर्यं यथावयः | 53 | 35 | b | यदुप्रवीरा नतिनीं यथा गजाः | 54 | 35 | d |
| यथा शयान आत्मानम् | 54 | 48 | a | यदुभिः कृष्ण पालितैः | 50 | 42 | d |
| यथा शं सुहृदां भवेत् | 48 | 36 | d | यदुभिः कृष्णपालितैः | 54 | 15 | d |
| यथा हतो भगवता | 59 | 1 | a | यदुभिर्गोवृषैः पुरा | 58 | 53 | d |
| यथा हि भूतेषु चराचरेषु | 48 | 21 | a | यदुभिस्ते पराभवः | 50 | 34 | d |
| यथेक्षुदण्डं मदकर्युल्लक्रमः | 42 | 17 | d | यदुराजधानीं मधुरां | 50 | 4 | c |
| यथेतरो गार्हकमेधिकांश्चरन् | 59 | 43 | d | यदुराजाय तत्सर्वम् | 50 | 41 | c |
| यथेन्द्रो वन मम्बुदैः | 47 | 44 | d | यदुराजाय शौरिणा | 56 | 12 | b |
| यथेन्द्रो विष्णु माश्रित्य | 36 | 61 | c | यदुवृष्ण्यन्धकमधु | 45 | 15 | c |
| यथोपजोषं विविशुः | 42 | 34 | c | यदुसदसि विलम्बं यस्य दूत स्त्वमीदृक् | 47 | 12 | d |
| यथोपयेमे भगवान् | 59 | 42 | c | यदूत्तमोत्तमश्लोक | 41 | 16 | c |
| यथोपसङ्गम्य सखीभि रच्युतम् | 48 | 4 | c | यदूनामकरोन्नृपम् | 45 | 12 | d |
| यथोपसाद्य तौ दान्तौ | 45 | 32 | a | यदूनां कुलपांसन | 54 | 24 | d |
| यथोरगं तार्क्ष्यसुतः प्रसह्य | 44 | 36 | d | यदूनां द्वेष्टि यस्सदा | 46 | 17 | d |
| यथोरगं तार्क्ष्यसुतो व्यवस्थितः | 37 | 5 | d | यदूनां सात्त्वतां प्रभो | 50 | 13 | b |
| यदनुचरितलीला कर्णपीयूष विप्रुट् | 47 | 18 | a | यदूनां साऽनुगोऽघकृत् | 47 | 39 | b |
| यदर्चितं ब्रह्मभवादिभि स्सुरैः | 38 | 8 | a | यदृच्छया गतो नन्दम् | 34 | 5 | c |
| यदर्थं प्रेषित स्त्वयम् | 49 | 31 | d | यदैव कृष्ण स्सन्दिष्टः | 58 | 24 | a |
| यदहं लोकगुरुणा | 34 | 14 | c | यदो स्सुबहु विश्रुतः | 43 | 29 | b |
| यदा कालः प्रदक्षिणः | 54 | 16 | d | यद्गीतेनेद मावृतम् | 33 | 9 | d |
| यदा यदा वेदपथः पुराणः | 48 | 24 | b | यद्गोद्रुमद्विजमृगाः पुलकान्यबिभ्रन् | 29 | 40 | d |
| यदाह व स्समागत्य | 46 | 35 | c | यद्गोपिकानां कुचकुङ्कुमाङ्कितम् | 38 | 8 | d |
| यदि जीवति कुत्रचित् | 55 | 32 | d | यद्वक्ष्याम्यचकेशवम् | 38 | 3 | d |
| यदि मुक्तौ तदा मल्लैः | 36 | 64 | c | यद्वेधात्याजितः श्रिया | 57 | 17 | b |
| यदीमे निगृहीताः स्युः | 58 | 44 | a | यद्धेतो र्बन्धनं तयोः | 39 | 6 | d |
| यदुक्तं नारदेनाऽस्य | 39 | 9 | c | यद्धेतोः पुन्नमरणम् | 39 | 6 | c |
| यदुचक्रद्रुहं हत्वा | 41 | 17 | c | यद्वाधसे गुह्यध्वान्तं | 51 | 30 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यद्वदायुध माधत्त | 54 | 29 | c | यर्हास्य वृक्ष्य उपात्तरजोऽतिमात्रः | 60 | 46 | c |
| यद्भगवता दत्तम् | 50 | 57 | c | यवनं घातयामहे | 50 | 49 | d |
| यद्यप्यन्यधियः प्रभो | 40 | 10 | d | यवनः प्रत्यदृश्यत | 50 | 44 | d |
| यद्यागत्य हरेत्कृष्णः | 53 | 18 | c | यवने भस्मनां नीते | 51 | 23 | a |
| यद्यागन्ता जरासुतः | 50 | 48 | b | यवनेशोऽद्रिकन्दरम् | 51 | 7 | d |
| यद्वाक्यैश्चाल्यमानायाः | 60 | 51 | c | यवनोऽयं निरुन्धेऽस्मान् | 50 | 47 | a |
| यद्वाञ्छया नृपशिखामणयोऽङ्ग वैन्य | 60 | 41 | a | यशस्विनस्तत्कृतहृच्छयार्दिताः | 53 | 52 | f |
| यद्वाञ्छयासुमतयो विसृजन्ति कृत्स्नम् | 60 | 38 | b | यशोदायास्सुतां कन्याम् | 36 | 17 | a |
| यद्वा विहारे व्रजयोषितां श्रमम् | 38 | 17 | c | यशोदा वर्ण्यमानानि | 46 | 28 | a |
| यद्वै भवान्न भवतस्सदृशी विभूम्नः | 60 | 34 | b | यशोदां नन्दमेव च | 47 | 64 | b |
| यन्नमस्ये भगवतः | 38 | 6 | c | यशो वितन्वन्व्रज आस्त ईश्वरः | 38 | 13 | c |
| यन्नर्मै र्नीयते यामः | 60 | 31 | c | यस्तयो रात्मजः कल्यः | 45 | 6 | a |
| यन्नाभिजाता दरविन्दकोशात् | 40 | 2 | c | यस्त्वं प्रदर्श्य सितकुन्तलावृतम् | 39 | 20 | a |
| यन्नाम गृह्णन्नखिलान् | 34 | 17 | a | यस्त्वेतद्भगवत ईश्वरस्य विष्णोः | 57 | 50 | a |
| यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये | 29 | 34 | b | यस्त्वेतल्लीलया विश्वम् | 60 | 2 | a |
| यन्नो दृष्टः कुमेधसाम् | 58 | 11 | d | यस्मादलौकिकमिवेहितमीश्वरस्य | 60 | 36 | c |
| यन्नो विहाय गोविन्दः | 30 | 28 | c | यस्मिञ्जनः प्राणवियोगकाले | 46 | 32 | a |
| यन्मन्यसे सदा भद्रम् | 54 | 42 | c | यस्मिन् दुर्योधनस्यासीत् | 58 | 27 | c |
| यमस्य दयितां पुरीम् | 45 | 42 | b | यस्मै बलिं बलिभुजोऽपि हरन्त्यजाद्याः | 60 | 37 | b |
| य मादायाऽऽगतो भद्राः | 47 | 28 | c | यस्य निर्हृद्धितेनाऽङ्ग | 36 | 3 | a |
| यमाभ्याञ्चाभिवन्दितः | 58 | 4 | d | यस्य हेषितसन्त्रस्ताः | 37 | 15 | c |
| यमुनानिललीलैजत् | 29 | 21 | c | यस्याखिलामीवहभिस्सुमङ्गलैः | 38 | 12 | a |
| ययाच आनम्य किरीटकोटिभिः | 59 | 41 | a | यस्याऽङ्घ्रिपङ्कजरजस्स्नपनं महान्तः | 52 | 43 | a |
| ययातिशापा द्यदुभिः | 45 | 13 | c | यस्यानुरागललितस्मितवल्गुमन्त्र | 39 | 29 | a |
| ययुः स्वं स्वं पुरं नृपाः | 54 | 17 | d | यस्यां बहिर्निवधू गिरिजा मुपेयात् | 52 | 42 | d |
| ययो रात्मसमं वित्तम् | 60 | 15 | a | यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयासः | 29 | 37 | c |
| ययौ तदर्शनोत्सुकः | 37 | 25 | d | यस्येषदुत्कलित रोषकटाक्षमोक्षैः | 56 | 25 | a |
| यर्हाम्बुजाक्ष! तव पादतलं रमायाः | 39 | 36 | a | यस्सप्तहायन श्रौतम् | 57 | 20 | a |
| यर्हाम्बुजाक्ष! न लभेय भवत्प्रसादम् | 52 | 43 | c | यस्सर्वदेवपितृभूतनृदेवमूर्तिः | 48 | 26 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यं मन्येरन् नभस्तावत् | 33 | 4 | c | या मा भजन् दुर्जरगेहशृङ्खलां | 32 | 23 | c |
| यं वै मुहुः पितृसरूपनिजेशभावाः | 55 | 40 | a | यामाहुर्लौकिकीं संस्थाम् | 44 | 49 | c |
| यः कंसस्यार्थसाधकः | 46 | 48 | b | यामिनीपति रिवैष दिनान्ते | 35 | 25 | b |
| यः प्राप्यते साधुभिरकचर्यया | 51 | 55 | c | या यामलदमाल्येकः | 42 | 30 | c |
| याच्ञाभङ्ग मतर्कयन् | 56 | 12 | d | या याः स्यु स्साम्परायिकाः | 57 | 32 | d |
| याज्ञसेन्याः स्वयंवरम् | 57 | 11 | b | या लीलया धृततनो रनु रूप रूपा | 60 | 9 | b |
| यात यूयं व्रजं तात! | 45 | 23 | a | यावती गोपयोषितः | 33 | 20 | b |
| यातायां नन्दसूनुना | 30 | 27 | b | याव दच्युतदर्शनम् | 58 | 22 | d |
| याताऽऽशु बालिशा मैवम् | 41 | 36 | a | यावदर्थविडम्बना | 47 | 6 | b |
| याते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री | 60 | 45 | d | याव दालक्ष्यते केतुः | 39 | 36 | a |
| यात्राच्छलेन हरयेऽर्पयतीं स्वशोभाम् | 53 | 53 | d | यावद्रेणू रथस्य च | 39 | 36 | b |
| यादवानीकयूथपाः | 54 | 2 | b | यावन्त्यहानि नन्दस्य | 47 | 55 | a |
| या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा | 47 | 61 | c | याव न्न मे हतो बाणैः | 54 | 26 | a |
| या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप | 44 | 15 | a | या वै श्रियार्चितमजादिभि राप्तकामैः | 47 | 62 | a |
| यान मास्थाय जह्रेतत् | 50 | 14 | a | यासा मित्यर्पितं मनः | 47 | 23 | d |
| यानि कैशोर बाल्ययोः | 47 | 10 | d | यासां हरिकथोद्गीतम् | 47 | 63 | c |
| यानि चान्यानि वीर्याणि | 37 | 21 | a | यास्तद्विरक्ताः शवशोभना मताः | 38 | 12 | d |
| यानि यानीह रूपाणि | 40 | 17 | a | यास्यन्नारुरुहे रथम् | 47 | 64 | d |
| यानि योधैः प्रयुक्तानि | 59 | 17 | a | यास्यन्नाजान मभ्येत्य | 49 | 16 | a |
| यान्ति जानपदाः किल | 39 | 12 | d | यास्यामः श्वो मधुपुरीम् | 39 | 12 | a |
| यान्ति तन्मयतां हि ते | 29 | 15 | d | यास्सम्प्रविष्टस्य मुखं व्रजस्पतेः | 39 | 23 | c |
| यान्तु तत्पदवी मिमे | 36 | 54 | d | या ह्येता ननुपश्यन्ति | 41 | 31 | c |
| यान्तु ब्रह्मेशादयो देवाः | 30 | 29 | c | यां गोपी मनय त्कृष्णः | 30 | 37 | a |
| यान् यान् कामयसे कामान् | 60 | 50 | a | यां बालाः पितृगेहस्थाः | 45 | 4 | c |
| याप्ययामास कोसलः | 58 | 52 | d | यां वीक्ष्य ते नृपतयस्तदुदारहास | 53 | 53 | a |
| याभ्यां ते पुरुषा हताः | 36 | 17 | f | याः कृष्णरामजन्मर्क्षे | 45 | 28 | a |
| या मया क्रीडता रात्र्याम् | 47 | 37 | a | याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् | 33 | 37 | d |
| याम्ः कथं व्रजं मह्यं करवाम किं वा | 29 | 34 | d | युक्तं रथ मुपानीय | 53 | 5 | c |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| युक्तो मुक्त स्सुहृद्धृतः | 46 | 16 | d |
| युगान्तसूर्यानलरोचिरुल्बणः | 59 | 7 | b |
| युगान्ताशनिभीषणम् | 59 | 6 | b |
| युज्यते हर्षशोकाभ्याम् | 36 | 70 | c |
| युज्यन्तां शकटानि च | 39 | 11 | d |
| युञ्जानानामभक्तानाम् | 51 | 61 | a |
| युधिष्ठिरस्य भीमस्य | 58 | 4 | a |
| युध्यस्व धैर्य मुद्वह | 50 | 19 | b |
| युयुधाते यथाऽन्योन्यम् | 44 | 19 | c |
| युयुधानादिभिर्वृतः | 58 | 1 | d |
| युयुधे मागधो राजा | 50 | 42 | c |
| युयुधे स्वामिनाऽऽत्मनः | 56 | 22 | b |
| युवतीनां त्रिसाहस्रम् | 58 | 50 | c |
| युवयो रेव नैवाऽ यम् | 46 | 42 | a |
| युवयोः करवाम किम् | 45 | 45 | d |
| युवानोऽति बलौजसः | 45 | 19 | b |
| युवां प्रधानपुरुषौ | 48 | 19 | a |
| युवां श्लाघ्यतमौ नूनम् | 46 | 30 | a |
| युष्मत्कथा मृडविरिञ्चि सभासु गीता | 60 | 44 | d |
| यूयं तत्र प्रमाणं हि | 36 | 51 | c |
| ये चाऽन्ये तानुव्रताः | 36 | 55 | d |
| ये चाऽन्ये विद्विषो मम | 36 | 66 | d |
| ये त्यक्त लोकधर्माश्च | 46 | 4 | e |
| येन घोरतर स्ततः | 54 | 40 | d |
| येन त्वमाशिषः सत्याः | 60 | 17 | c |
| येन नीतो मधुपुरीम् | 46 | 48 | c |
| ये नानादेवताभक्ताः | 40 | 10 | c |
| येनाऽहमेतेष्वसुहृत्व मादितः | 36 | 29 | c |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| येनाऽहं मालिनी कृता | 36 | 42 | d |
| येनेन्द्रियार्थान् ध्यायीत | 47 | 32 | a |
| येनैकदेशेऽखिलसर्गसौष्ठवम् | 39 | 21 | c |
| येऽन्ये परार्थभविकायमुनोपकूलाः | 30 | 9 | c |
| ये बलाबलवबुद्धम् | 44 | 7 | c |
| ये मां भजन्ति दाम्पत्ये | 60 | 52 | a |
| ये हेतवस्ते जगतोऽङ्गभूताः | 40 | 3 | d |
| योगप्रभाव विधुताखिल कर्मबन्धाः | 33 | 35 | b |
| योगमाया मुपाश्रितः | 29 | 1 | d |
| योगस्सांख्ये मनीषिणाम् | 47 | 33 | b |
| योगिध्येयाङ्घ्रिपङ्कजम् | 38 | 6 | d |
| योगीवानन्दनिर्भरा | 32 | 9 | d |
| योगीश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः | 32 | 15 | b |
| योगीश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम् | 47 | 62 | b |
| योगेश जगदीश्वर | 37 | 11 | b |
| योगेश्वराणां दुर्दर्शः | 58 | 11 | c |
| योगेश्वराप्रमेयात्मन् | 54 | 33 | a |
| योगेश्वराय योगाय | 49 | 13 | c |
| योगेश्वरेण कृष्णेन | 33 | 3 | c |
| योगेश्वरेश्वरे कृष्णे | 29 | 16 | c |
| योगेश्वरैरपि दुरापगतिस्सुरौघैः | 48 | 28 | b |
| योग्योऽह मिति मन्वानः | 57 | 46 | a |
| योत्स्यामः संहता स्तेन | 53 | 19 | a |
| योत्स्येनेन निरायुधः | 51 | 5 | d |
| यो दुर्विमर्शपथया निजमायये दं | 49 | 29 | a |
| योद्धव्यं नाऽनयोऽत्र वै | 43 | 40 | b |
| योधाश्च सर्वे युगपत्प्रविव्यधुः | 59 | 15 | d |
| योन्तर्बहिश्चेतस एतद्बहिहितम् | 38 | 18 | c |
| योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः | 33 | 36 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| यो मे गर्भे धृतोऽर्भकः | 55 | 34 | b |
| योऽवतीर्णो यदोः कुले | 49 | 28 | d |
| योऽऽवधीत्स्वस्वसु स्तोकान् | 38 | 42 | a |
| यो वृणीते मनोग्राह्यम् | 48 | 12 | c |
| यो वै भजन्तमुपयात्यनृतापवर्गः | 60 | 43 | d |
| योऽसावनाश्वास्य सुदुःखितं जनम् | 39 | 26 | c |
| योऽसाविह त्वया ग्रस्तः | 45 | 39 | c |
| योऽस्मभ्यं सम्प्रतिश्रुत्य | 57 | 4 | a |
| योऽह्नः क्षये व्रज मनन्तसखः परीतः | 39 | 30 | a |
| यौ पुष्णीतां स्वपुत्रवत् | 45 | 22 | b |
| यौवनाश्वात्मजः प्रभो! | 51 | 32 | d |
| **र** | | | |
| रक्तकण्ठचोरतिप्रियः | 33 | 9 | b |
| रक्षश्शिरांसि भुवि पेतुरिषुक्षतानि | 56 | 28 | d |
| रक्षिणां स्वबलस्य च | 42 | 26 | b |
| रङ्गं विविशतू राजन् | 43 | 16 | c |
| रङ्गकारं गदाग्रजः | 41 | 32 | b |
| रङ्गद्वारं समासाद्य | 43 | 2 | a |
| रङ्गद्वार्युपनीयताम् | 36 | 57 | b |
| रजकस्य कराग्रेण | 41 | 37 | c |
| रजकं कञ्चि दायान्तम् | 41 | 32 | a |
| रजनीं तां महाभागः | 34 | 4 | c |
| रजन्येषा घोररूपा | 29 | 19 | a |
| रजस्तमस्सत्त्वगुणानुबन्धनाः | 51 | 57 | b |
| रजस्तमस्सत्त्वगुणैः स्वशक्तिभिः | 48 | 22 | b |
| रज्जूर्विकर्षद्भुजकङ्कणस्रजः | 46 | 45 | b |
| रतिः कामो भवान् प्रभो! | 55 | 12 | d |
| रतिर्नः कृष्णईश्वरे | 47 | 67 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| रतिर्नाम यशस्विनी | 55 | 7 | b |
| रत्नकूटैर्गृहैर्हेमैः | 50 | 53 | c |
| रत्नदण्डं सखीकरात् | 60 | 7 | b |
| रत्नमुद्रोपशोभिना | 53 | 50 | d |
| रत्नमारोप्य तद्विद्वान् | 58 | 23 | c |
| रथस्संयुज्यता माशु | 53 | 4 | c |
| रथं रामजनार्दनौ | 57 | 23 | b |
| रथं समारोप्य सुपर्णलक्षणम् | 53 | 55 | c |
| रथाङ्गाङ्कितपाणिना | 38 | 36 | b |
| रथाच्छतगुणानश्वान् | 58 | 51 | c |
| रथात्तूर्णं मवप्लुत्य | 38 | 34 | a |
| रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत | 38 | 26 | c |
| रथावुपस्थितौ सद्यः | 50 | 11 | c |
| रथाश्वान् द्रविणं महत् | 59 | 36 | d |
| रथा हताश्च ध्वजसूतनायकाः | 50 | 25 | c |
| रथेन गोकुलं प्राप्तः | 38 | 24 | c |
| रथेन वायुवेगेन | 39 | 38 | c |
| रथेनाऽऽनय मा चिरम् | 36 | 62 | d |
| रथेनाऽनिलरंहसा | 45 | 49 | d |
| रथेनैकेन गोविन्दम् | 54 | 23 | c |
| रथै रनेक साहस्रैः | 59 | 15 | c |
| रथोपस्थे च कोविदाः | 54 | 3 | b |
| रथ्याचत्वरवीथीभिः | 50 | 51 | c |
| रमण! नः स्तनेष्वर्पयाऽऽधिहन् | 31 | 13 | d |
| रमयामास गोकुलम् | 47 | 54 | d |
| रमस्व नोत्सहेत्यक्तुम् | 48 | 10 | c |
| रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम् | 29 | 3 | b |
| रम्ममाणः स्वरतरम् | 36 | 2 | a |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| रम्भापूगोपशोभिता | 54 | 57 | d |
| रम्भेव वातविहता प्रविकीर्यकेशान् | 60 | 24 | d |
| रहसि संविदं हृच्छयोदयम् | 31 | 17 | a |
| रहसि संविदो या हृदि स्पृशः | 31 | 10 | c |
| रहस्यपृच्छन्नुपविष्ट मासने | 47 | 3 | c |
| रहस्येतदुवाच ह | 37 | 10 | d |
| रहो भुक्तेऽच्युताधरम् | 30 | 30 | d |
| राकेशकरञ्जितम् | 29 | 21 | b |
| राक्षसेन विधानेन | 52 | 18 | c |
| राजतारुकुटैः कोटैः | 50 | 53 | a |
| राजतो यस्य हि प्रजाः | 52 | 34 | b |
| राजद्रव्याण्यभीप्सथ | 41 | 35 | d |
| राजनीतिश्च षड्विधाम् | 45 | 34 | d |
| राजन् दुद्रुवतु र्द्रुतम् | 52 | 7 | d |
| राजन् मनीषितं सम्यक् | 36 | 69 | a |
| राजन्यचक्रं परिभूय माधवः | 53 | 55 | d |
| राजन्यबन्धोर्निजधर्म वर्तिनः | 58 | 40 | b |
| राजन्यापशदान्मृधे | 53 | 3 | b |
| राजन् राज्ञां प्रपश्यताम् | 58 | 31 | d |
| राजन् विरमतां कृच्छ्रात् | 51 | 16 | c |
| राजन् सन्त्यज्य गोकुलम् | 36 | 5 | b |
| राजन् स्वेनाऽपि देहेन | 49 | 20 | c |
| राजपत्न्यश्च दुहितुः | 58 | 48 | a |
| राजपुत्रि प्रलम्भिता | 60 | 49 | b |
| राजपुत्रीं ददर्श ह | 53 | 28 | d |
| राजपुत्रीप्सिता भूपैः | 60 | 10 | a |
| राजभ्यो ददृशे हरिः | 59 | 33 | d |
| राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रु | 60 | 12 | a |
| राजमञ्च उपाविशत् | 42 | 35 | b |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| राजयोषित आभास्य | 44 | 49 | a |
| राजं स्ते तिग्मचक्षुषा | 51 | 42 | d |
| राजाधिदेव्या स्तनयाम् | 58 | 31 | a |
| राजानश्च युधिष्ठिरम् | 57 | 14 | d |
| राजानश्च कृतासनाः | 42 | 34 | d |
| राजानो राजकन्याश्च | 54 | 59 | c |
| राजानो विमुखा जग्मुः | 54 | 9 | c |
| राजा विधिविदां वरः | 53 | 13 | d |
| राजा स कुण्डिनपतिः | 53 | 7 | a |
| राज्ञाऽऽदिष्टं विजज्ञतुः | 39 | 10 | d |
| राज्ञाममुष्य च कुलस्य यशो वितन्वन् | 48 | 25 | d |
| राजाऽऽसीत् भीष्मको नाम | 52 | 21 | a |
| राज्ञा सोऽभ्यर्थित स्सुखम् | 58 | 12 | b |
| राज्ञाऽऽहूतौ दिदृक्षुणा | 43 | 32 | d |
| राज्ञे चोपायनान्यदात् | 47 | 69 | d |
| राज्ञोऽन्विच्छन्ति पश्यतः | 44 | 7 | d |
| राज्ञो वृत्तविवित्सया | 49 | 4 | b |
| राज्यञ्च हतकण्ठकम् | 51 | 17 | b |
| राज्यश्रियोन्नद्धमदस्य भूपतेः | 51 | 48 | b |
| राज्यस्य भूमे र्वित्तस्य | 54 | 41 | a |
| राज्यं विसृज्य विविशुर्वन मब्जजाक्षा। | 60 | 41 | c |
| राज्यानुबन्धापगमो यदृच्छया | 51 | 55 | b |
| राज्ये नियोज्य तं वंश्ये | 32 | addl 32&33 | v |
| रामकृष्णाविहार्भकौ | 36 | 37 | b |
| रामकृष्णोरुमानितः | 39 | 1 | b |
| रामकृष्णौ तु तौ महाम् | 36 | 23 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| रामकृष्णौ पुरीं नेतुम् | 39 | 13 | c | रुक्मिणी च ययु र्मुदम् | 55 | 38 | d |
| रामकृष्णौ विरेजतुः | 41 | 41 | b | रुक्मिणीभयविह्वला | 54 | 32 | b |
| रामकृष्णौ समन्वितौ | 39 | 41 | d | रुक्मिणीं रुचिराननाम् | 52 | 18 | b |
| रामकृष्णौ समर्हणैः | 53 | 32 | d | रुक्मिण्यर्हति नाऽपरा | 53 | 37 | b |
| रामकृष्णौ सहानुगौ | 41 | 50 | b | रुक्मिण्यानकदुन्दुभिः | 56 | 35 | b |
| रामश्च रोहिणीपुत्रम् | 36 | 17 | c | रुक्मिण्या मधुसूदनः | 53 | 4 | b |
| रामविक्रीडितं परम् | 42 | 26 | d | रुक्मिण्या रमयोपेतम् | 54 | 60 | c |
| रामश्चाद्भुतविक्रमः | 34 | 20 | b | रुक्मिण्या हरणं श्रुत्वा | 54 | 59 | a |
| रामश्चाम्बुरुहेक्षणः | 49 | 9 | d | रुक्मिण्येषां स्वसा सती | 52 | 22 | d |
| रामः कमललोचनः | 43 | 30 | b | रुक्मीचाऽपि तवाऽग्रतः | 60 | 18 | d |
| रामः परमधर्मवित् | 38 | 40 | b | रुक्मी चैद्यममन्यत | 52 | 25 | d |
| रामः प्रहरतां वरः | 44 | 26 | b | रुक्मी तु राक्षसोद्वाहम् | 54 | 18 | a |
| रामाक्रूरौ तथा नृप! | 39 | 38 | b | रुक्म्यग्रजो रुक्मरथः | 52 | 22 | a |
| रामावै र्यदुभिर्वृतः | 53 | 18 | d | रुक्म्यमर्षी सुसंरब्धाः | 54 | 19 | a |
| रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः | 30 | 12 | b | रुदत्यश्च गतह्रियः | 47 | 10 | b |
| रामानुजो मानिनीनाम् | 30 | 6 | c | रुद्धकण्ठाश्रुलोचना | 58 | 8 | b |
| रामेण प्रतिबोधिता | 54 | 50 | b | रुद्राणि गिरिजा सती | 53 | 25 | d |
| रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम् | 46 | 31 | b | रुरुदुः सुस्वरं राजन् | 32 | 1 | c |
| रावणान्तकराय च | 40 | 21 | d | रुरोध मधुरामेत्य | 50 | 45 | a |
| रासक्रीडा मनुव्रतैः | 33 | 2 | b | रूपपेशलमाधुर्य | 42 | 4 | a |
| रासोत्सव स्साम्प्रवृत्तः | 33 | 3 | a | रूपयौवनसम्पन्नाम् | 58 | 29 | c |
| रासोत्सवोऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ | 47 | 60 | c | रूपवीर्यगुणश्रियः | 52 | 23 | b |
| रिङ्खयामास काऽप्यङ्गी | 30 | 16 | c | रूपशीलगुणाश्रयाम् | 52 | 24 | b |
| रिपवो जिग्युरधुना | 54 | 16 | a | रूपं दधानं श्रियईप्सितास्पदम् | 38 | 14 | c |
| रिपुसैन्यस्य माधवौ | 52 | 7 | b | रूपं दृशां दृशिमता मखिलार्थलाभम् | 52 | 37 | c |
| रुक्मकेशो रुक्ममाली | 52 | 22 | c | रूपं विद्याधरार्चितम् | 34 | 9 | d |
| रुक्मबाहु रनन्तरः | 52 | 22 | b | रूपौदार्यगुणान्विताम् | 56 | 45 | d |
| रुक्ममालाः स्वलङ्कृताः | 45 | 27 | b | रूपौदार्यबलोर्जितैः | 60 | 10 | d |
| रुक्मिणं हन्तुमुद्यतः | 54 | 31 | d | रेजेऽङ्गुलीयवलयव्यजनाग्रहस्ता | 60 | 8 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| रेमिरेऽहस्सुतचित्ताः | 35 | 26 | c |
| रेमे क्वणच्चरणनूपुरासगोष्ठ्याम् | 47 | 43 | c |
| रेमे तया चाऽऽत्मरतः | 30 | 36 | a |
| रेमे तेन समं वने | 36 | 36 | d |
| रेमेऽनुतेपार्पणपुण्यलेशया | 48 | 7 | d |
| रेमे यदूना मृषभः | 58 | 55 | c |
| रेमे रमाभिर्निजधाम सम्प्लुतः | 59 | 43 | c |
| रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिः | 33 | 17 | c |
| रेमे सभगवांस्ताभिः | 33 | 20 | c |
| रेमे स्वयं स्वरति रत्न गजेन्द्रलीलः | 33 | 24 | d |
| रैवतो रेवतीं सुताम् | 52 | 15 | b |
| रोचते शुभदर्शन | 34 | 11 | b |
| रोद्धुं प्रमाथिभिश्चाक्षैः | 40 | 28 | c |
| रोमाणि वृक्षौषधयः शिरोरुहाः | 40 | 15 | a |
| रौक्मिणेयो महारथः | 55 | 22 | b |
| रौप्यश्च कनकाचितः | 38 | 33 | d |
| **ल** | | | |
| लक्षणैर्नारदप्रोक्तैः | 51 | 5 | a |
| लक्षितोऽभिव्रशासनः | 51 | 34 | d |
| लक्ष्मणां लक्षणै र्युताम् | 58 | 57 | b |
| लक्ष्म्यालयन्त्वविगणय्य गुणालयस्य | 60 | 42 | c |
| लक्ष्यन्ते हि ध्वजाम्भोज | 30 | 25 | c |
| लघिम्नोत्पत्य तरसा | 44 | 34 | c |
| लप्स्यते परिरक्षितः | 43 | 29 | d |
| लब्धमाना महात्मनः | 29 | 47 | b |
| लब्धाशिषां य उदगा व्रजवल्लवीनाम् | 47 | 60 | d |
| लब्ध्वा गृहं ते स्वःपातम् | 51 | 16 | a |
| लब्ध्वाङ्गसङ्गं प्रणतं कृताञ्जलिम् | 38 | 21 | a |
| लब्ध्वा जनो दुर्लभमत्रमानुषम् | 51 | 47 | a |
| लब्ध्वा तदन्तरं राजन् | 57 | 3 | a |
| लब्ध्वाऽपि वक्षसिपदं कितमृत्यजुष्टम् | 29 | 37 | b |
| ललनाशतसङ्कुलम् | 55 | 26 | b |
| ललितामिति तन्मनाः | 30 | 19 | d |
| लवणापूपताम्बूल | 53 | 48 | c |
| लावण्यधाम्नो भवितोपलम्भनम् | 38 | 10 | c |
| लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम् | 44 | 14 | b |
| लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्याः | 29 | 7 | a |
| लिहन्त इव जिह्वया | 43 | 21 | b |
| लीलयाऽयं हयाकृतिः | 37 | 15 | b |
| लीलयेभो हतो येन | 43 | 39 | c |
| लीलागृहीतदेहेन | 52 | 36 | c |
| लीलातनुः स्वकृतसेतु परीप्सयाऽधः | 58 | 38 | c |
| लीलापाङ्गनिरीक्षणम् | 46 | 21 | b |
| लीला भगवत स्तास्ता हि | 30 | 14 | c |
| लीलामनुष्य हे विष्णो | 45 | 45 | c |
| लीलावलोकपरिरम्भण रासगोष्ठ्याम् | 39 | 29 | b |
| लेख्यानीवोपलक्षिताः | 39 | 36 | d |
| लेभिरे परमानन्दम् | 58 | 48 | c |
| लेभे मनोरथान् सर्वान् | 39 | 1 | c |
| लोकपालविभूतिभिः | 60 | 10 | b |
| लोकपालो निजोदयान् | 50 | 56 | d |
| लोकपालोऽपराऽपि वा | 51 | 29 | d |
| लोकाः सपाला बहुजीवसङ्कुलाः | 40 | 16 | b |
| लोकेप्सुभि रपातकी | 29 | 25 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **व** | | | |
| वक्ता कर्ताभिरक्षिता | 33 | 28 | b |
| वक्त्रोल्लसत्स्मितसुधां हरि राबभाषे | 60 | 9 | d |
| वक्त्रश्रियो वलयनूपुरघोषवाद्यैः | 33 | 16 | b |
| वक्षःश्रियैकरमणञ्च भवाम दास्यः | 29 | 39 | d |
| वच स्ते मधुसूदन | 60 | 47 | b |
| वचोभि रमलात्मभिः | 39 | 54 | d |
| वचो मम महामते | 36 | 25 | b |
| वज्रनिष्पेषनिष्ठुरम् | 55 | 19 | d |
| वज्रनिष्पेषनिष्ठुरैः | 44 | 20 | b |
| वज्रनिष्पेषपरुषैः | 56 | 24 | c |
| वज्रः प्रतिहतो यतः | 59 | 20 | b |
| वज्राङ्कुशलतादिभिः | 30 | 25 | d |
| वत्सको धेनुकादयः | 43 | 30 | d |
| वत्सपाला स्तथा स्फुटम् | 43 | 34 | b |
| वत्सतो व्रजगवां यदगध्रः | 35 | 22 | a |
| वत्सायितां गृहीत्वाऽन्या | 30 | 17 | c |
| वदनाम्बुरुहो बभौ | 43 | 15 | f |
| वदन्ति वासुदेवेति | 51 | 41 | c |
| वदन्ति स्म पुरौकसः | 53 | 39 | b |
| वदन्त्यनेन वंशोऽयम् | 43 | 29 | a |
| वधं निशम्य गोविन्द | 42 | 26 | c |
| वध्वा रक्षां द्विजोत्तमाः | 53 | 12 | b |
| वध्वाः पदै स्सुपृक्तानि | 30 | 26 | c |
| वनचरोगिरितेषु चरन्तीः | 35 | 8 | c |
| वनञ्च तत्कोमलगोभि रञ्चितम् | 29 | 3 | c |
| वनमाल्यातिसुन्दरः | 51 | 4 | d |
| वनरजस्वतं दर्शयन्मुहुः | 31 | 12 | c |
| वनरुहाननं बिभ्रदावृतम् | 31 | 12 | b |
| वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुम् | 35 | 9 | a |
| वनं विविक्षद्भिरखण्डभूमिपैः | 51 | 55 | d |
| वनं विविक्षु स्तपसे | 50 | 33 | c |
| वनिताशतयूथपः | 29 | 44 | b |
| वनेषु मल्लयुद्धेन | 43 | 34 | c |
| वनेऽस्मिन्व्रज आस्थिताः | 47 | 37 | b |
| वन्दिन स्तमुपदेवगणा ये | 35 | 21 | c |
| वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणाम् | 47 | 63 | a |
| वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः | 35 | 22 | b |
| वपनं श्मश्रुकेशानाम् | 54 | 37 | c |
| वयञ्च करवाम हे | 43 | 35 | b |
| वयञ्च फलभागिनः | 56 | 46 | d |
| वयञ्च स्नेहदुःखितान् | 45 | 23 | b |
| वयञ्चाऽपि वने चराः | 43 | 37 | b |
| वयन्तु पुरुषव्याघ्र | 51 | 32 | a |
| वयन्तु रक्ष्याः पोष्याश्च | 48 | 30 | c |
| वय न्त्विहाऽवमुच्याऽथ | 41 | 10 | c |
| वय मृक्षपते बिलम् | 56 | 31 | b |
| वय मृतमिव जिह्मव्याहृतं श्रद्दधानाः | 47 | 19 | a |
| वयन्ते सगृहव्रजाः | 44 | 45 | d |
| वयं हि गन्धर्वकुलोद्भवाः प्रिये | 36 | 38 | c |
| वरदनिघ्नतो नेह किं वधः | 31 | 2 | d |
| वय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्गः | 47 | 20 | b |
| वरयोश्चित्रवाससोः | 54 | 55 | d |
| वरं विलोक्याभिमतं समागतम् | 58 | 36 | a |
| वरं वृणीष्वभद्रन्ते | 51 | 20 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| वरान्वृणीष्व राजर्षे | 51 | 44 | a |
| वरासनस्थः समराजवन्दितः | 51 | 52 | b |
| वरिष्ठां सर्वयोषिताम् | 30 | 37 | d |
| वरूथिनी दैत्यपतेः सुघोरान् | 59 | 15 | c |
| वरैः प्रलोभितस्याऽपि | 51 | 59 | c |
| वरो भवानभिमतः | 58 | 44 | c |
| वर्णयामास माधवः | 39 | 8 | b |
| वर्तते नातिकृच्छ्रेण | 52 | 30 | c |
| वर्तन्ते स्वमवेदयः | 57 | 43 | d |
| वर्तमान स्सम स्स्वेषु | 49 | 18 | c |
| वर्तसे कामिनी यथा | 55 | 11 | d |
| वर्त्माऽऽद्रेशात् क्षुभितक्र तिमिक्षितोऽब्धिः | 56 | 28 | b |
| वर्त्माऽस्फुटं नृपशुभिर्ननु दुर्विभाव्यम् | 60 | 36 | b |
| वर्मचाऽभेद्य मस्त्रिभिः | 58 | 26 | d |
| वर्षमारुत्तात् वैद्युतानलात् | 31 | 3 | b |
| वर्षवाताशनिभ्यश्च | 43 | 27 | c |
| वर्ष्मधुर्यगति रीरितवेणुः | 35 | 16 | d |
| वलभीभिश्च निर्मितम् | 50 | 54 | b |
| वलयानां नृपुराणाम् | 33 | 6 | a |
| वलयालेख्यमूर्तयः | 42 | 14 | d |
| वलिमत्पल्लवोदरम् | 39 | 48 | d |
| वल्गतः शत्रुमभितः | 44 | 11 | a |
| वल्गन्तौ चारुनूपुरौ | 44 | 29 | d |
| वल्गितभ्रुधरार्पितवेणुम् | 35 | 2 | b |
| वल्गुवाद्यप्रहर्षिताः | 42 | 37 | d |
| वल्लव्यो मे मदात्मिकाः | 46 | 6 | d |
| ववृधे नन्दवेश्मनि | 43 | 24 | d |
| वश्यानां सर्वभूभुजाम् | 50 | 7 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| वसन्त इति शुश्रुम | 48 | 34 | d |
| वसन्त समये रम्ये | 36 | 32 | c |
| वसामि यमुनाजले | 58 | 22 | b |
| वसित्वाऽऽत्मप्रिये वस्त्रे | 41 | 39 | a |
| वसुदेवजिघांसया | 36 | 18 | d |
| वसुदेवपुरोगमान् | 36 | 65 | b |
| वसुदेववधोद्यमम् | 39 | 8 | d |
| वसुदेववसुतं हि माम् | 51 | 41 | d |
| वसुदेववसुतौ वीक्ष्य | 41 | 7 | c |
| वसुदेववस्तु दुर्मेधाः | 44 | 33 | a |
| वसुदेवस्य वेश्मनि | 43 | 23 | d |
| वसुदेवश्च कितवम् | 36 | 52 | c |
| वसुदेवात्मजौ पुरात् | 44 | 32 | b |
| वसुदेवाय रामाय | 47 | 69 | c |
| वसुदेवेन बिभ्यता | 36 | 17 | d |
| वसुदेवोग्रसेनौ च | 36 | 55 | a |
| वसुर्नभस्वानरुणश्च सप्तमः | 59 | 12 | b |
| वस्त्रान्तगूढकुचकुङ्कुमशोणहार | 60 | 8 | c |
| वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादम् | 47 | 12 | c |
| वह्नेस्सर्वभुजो यथा | 33 | 30 | d |
| वाक्यञ्चेद मुवाच ह | 44 | 31 | d |
| वाक्यैः पवित्रार्थपदैः | 50 | 34 | a |
| वाचयामास मङ्गलम् | 53 | 10 | d |
| वाचं दानपते भवान् | 49 | 26 | b |
| वाचः पेशै र्विमोहयन् | 29 | 17 | d |
| वाचोऽभिधायिनी नाम्नाम् | 47 | 66 | c |
| वाचो विमिश्रा गुणकर्मजन्मभिः | 38 | 12 | b |
| वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयञ्च | 47 | 58 | c |
| वाञ्छन्ति ये सम्पद एव तत्पतिम् | 60 | 53 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| वाञ्छन्त्युमापति रिवात्मतमोऽपहत्यै | 52 | 43 | b |
| वाताहत इवाङ्घ्रिपः | 44 | 25 | d |
| वाद्यगीतवलिभिः परिवव्रुः | 35 | 21 | d |
| वाद्यमानेषु तूर्येषु | 42 | 36 | a |
| वाद्यमानेषु तूर्येषु | 44 | 29 | c |
| वाम ऊरुर्भुजो नेत्रम् | 53 | 27 | c |
| वामनाय नम स्तुभ्यम् | 40 | 20 | c |
| वामबाहुकृतवामकपोलः | 35 | 2 | a |
| वामः स्फुरति मे भुजः | 55 | 34 | d |
| वायुनोद्यानशालिना | 60 | 5 | b |
| वारमुख्याः सहस्रशः | 53 | 42 | b |
| वारयामास गोविन्दः | 50 | 32 | c |
| वारितः पथि राजभिः | 50 | 33 | d |
| वार्यभाणो नृभिः कृष्णः | 42 | 16 | c |
| वालव्यजन मादाय | 60 | 7 | a |
| वाशितार्थे नियुध्यद्भिः | 46 | 9 | a |
| वाससो व्यचिनोन्मणिम् | 57 | 25 | d |
| वासः कोशान्विसृज्य वै | 41 | 38 | b |
| वासः स्रग्माल्यभूषणैः | 53 | 47 | b |
| वासांसि जगृहेऽच्युतः | 41 | 38 | d |
| वासांसि रुचिरणि सः | 53 | 33 | b |
| वासुदेवधियाऽऽर्चयत् | 46 | 14 | d |
| वासुदेवाऽखिताऽऽवास | 37 | 11 | c |
| वासुदेवानुमोदिताः | 33 | 39 | b |
| वासुदेवाय विष्णवे | 59 | 27 | b |
| वासुदेवाय सोऽपिताम् | 58 | 23 | b |
| वासुदेवे भगवति | 47 | 23 | c |
| वासुदेवोह्ययमिति | 51 | 4 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| वासो नौ भवदन्तिके | 45 | 4 | b |
| वासोऽलङ्कारकुप्याद्यैः | 45 | 24 | c |
| वास्तून् समभ्यर्च्य दधी न्यमन्थन् | 46 | 44 | d |
| वास्तोष्पतीनाञ्च गृहैः | 50 | 54 | a |
| वाहानारुह्य दंशिताः | 54 | 1 | b |
| विकत्थमानः कुमतिः | 54 | 23 | a |
| विकसत्कुन्दमन्दार | 32 | 12 | c |
| विकीर्यमाणः कुसुमैः | 50 | 36 | e |
| विकृष्य मुञ्चञ्छितबाणपूगान् | 50 | 24 | b |
| विक्रमं शार्ङ्गधन्वनः | 59 | 1 | d |
| विक्रियानात्मनः क्वचित् | 54 | 47 | b |
| विक्रीडयाञ्चति गिरित्रमार्चिताङ्घ्रिः | 44 | 13 | d |
| विक्रीडितं तज्जगदीशयोः परम् | 50 | 29 | d |
| विक्रीडितं तेऽर्भकचेष्टितं यथा | 39 | 19 | d |
| विक्रीडितं व्रजवधूभि रिदञ्च विष्णोः | 33 | 40 | c |
| विखनसार्थितो विश्वगुप्तये | 31 | 4 | c |
| विचकर्षतु रन्योन्यम् | 44 | 2 | c |
| विचकर्ष यथा नागम् | 43 | 8 | c |
| विचरन्ती गृहोद्याने | 36 | 30 | c |
| विचरस्युरुकण्टके | 51 | 28 | d |
| विचरस्व महीं कामम् | 51 | 62 | a |
| विचिक्युरुन्मत्तकवद्वनाद्वनम् | 30 | 4 | b |
| विचित्रमाल्याम्बररत्नतोरणैः | 54 | 56 | b |
| विचित्रवर्णैश्शैलेयैः | 41 | 40 | c |
| विचित्रवाजै र्निशितै श्शिलीमुखैः | 59 | 16 | b |
| विचित्रवेषाभरणस्रगम्बरौ | 43 | 19 | b |
| विचित्रं विश्वकर्मणा | 58 | 24 | d |
| विचित्रोपवनान्वितम् | 50 | 52 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| विचिन्त्याप्तं द्विजं कश्चित् | 52 | 26 | c |
| विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तः | 29 | 20 | c |
| विजयसख सवीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः | 47 | 14 | c |
| विजयो वानरध्वजम् | 58 | 13 | b |
| विजह्नुर्वने रात्र्याम् | 34 | 20 | c |
| विजह्रु रकुतोभयाः | 37 | 28 | d |
| विज्ञातासिलचित्तज्ञाः | 57 | 39 | c |
| विज्ञातार्थोऽपि भगवान् | 55 | 36 | a |
| विज्ञातार्थोऽपि भगवान् | 57 | 1 | a |
| विज्ञानं शिल्पनैपुणम् | 50 | 51 | b |
| विज्ञापितो विरिञ्चेन | 51 | 40 | c |
| विज्ञाय चिन्तितं तस्याः | 36 | 35 | a |
| विज्ञाय जगदीश्वरौ | 44 | 51 | b |
| विज्ञाय तद्विधास्यामः | 48 | 36 | c |
| विज्ञाय सन्देशहरं रमापतेः | 47 | 3 | d |
| विज्वरै र्मुदितात्मभिः | 50 | 37 | b |
| वितत्योन्निदधेऽम्बरम् | 30 | 20 | d |
| वितथात्ममनोरथः | 54 | 51 | d |
| वितन्वन्परमानन्दम् | 58 | 29 | e |
| वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् | 31 | 14 | d |
| वितरिष्ये सुहृत्प्रियम् | 41 | 17 | d |
| वितानशयनांशनैः | 48 | 2 | d |
| वित्तैस्सन्तर्प्य विश्वदृक् | 45 | 16 | d |
| विदतः पूर्वमेव नः | 57 | 40 | d |
| विदर्भपुर वासिनः | 53 | 36 | b |
| विदर्भयदुकुन्तयः | 54 | 58 | b |
| विदर्भाधिपति र्महान् | 52 | 21 | b |
| विदर्भानगमद्धयैः | 53 | 6 | d |
| विदार्य जठरं तस्य | 45 | 42 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| विदित्वा पुरुषोत्तमः | 45 | 1 | b |
| विदुरश्च महायशाः | 49 | 15 | b |
| विदेशावासकर्शितान् | 45 | 16 | b |
| विद्यते भोजवृष्णीषु | 36 | 60 | d |
| विद्यया ऽविद्यया शक्त्या | 39 | 55 | c |
| विद्यावयो द्रविणधामभिरात्मतुल्यम् | 52 | 38 | b |
| विद्युतेव वलाहकः | 55 | 26 | d |
| विद्युत्सौदामनी यथा | 49 | 27 | d |
| विद्राव्य शार्ङ्गनिनदेन जहर्थ मां त्वम् | 60 | 40 | b |
| विद्रुतेषु च भोजराट् | 44 | 31 | b |
| विद्वानीश्वरयोर्बलम् | 57 | 18 | d |
| विधाय सुहृदां सुखम् | 45 | 23 | d |
| विधास्ये क्षेम मञ्जसा | 30 | 22 | d |
| विधिकरी रिमा वीर मुह्यतीः | 31 | 8 | c |
| विधिज्ञा विप्रयोषितः | 53 | 45 | b |
| विधिना विहितेन ते | 40 | 8 | b |
| विधिवत् सदृशीं प्रभुः | 58 | 47 | d |
| विधिवत् समपूजयत् | 53 | 33 | d |
| विधुनोत्यन्यथा पुमान् | 49 | 28 | b |
| विनङ्क्ष्यत्यधुनैवैतत् | 54 | 5 | c |
| विनाऽच्युताद्वस्त्वितरं न किञ्चित् | 46 | 43 | c |
| विना युवां कोऽन्यतम स्तदर्हति | 42 | 3 | d |
| विनिघ्नतारीन् मुसलेन दुर्मदान् | 50 | 28 | c |
| विनिद्रः प्रत्यपद्यत | 47 | 32 | d |
| विनिर्मिताशेषविशेषकल्पनम् | 37 | 24 | b |
| विन्दन्ते ललिता मुदम् | 45 | 4 | d |
| विन्दानुविन्दा वावन्त्यौ | 58 | 30 | a |
| विपक्षीय नृपोत्तमम् | 53 | 20 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| विपिने गिरिगह्वरे | 51 | 28 | b | विलोक्य बलकेशवौ | 42 | 20 | b |
| विपिनेऽतिबुभुक्षितः | 34 | 5 | b | विलोक्य वीरा मुमुहु स्समगणताः | 53 | 52 | e |
| विपरीतमतोऽन्यथा | 43 | 33 | d | विलोक्य वेगरभसम् | 52 | 7 | ac |
| विपर्ययमतिर्ह्यहम् | 40 | 26 | b | विलोक्य सुभृशं प्रीतः | 39 | 56 | a |
| विपर्ययेण चाऽनर्थः | 33 | 33 | c | विलोक्य स्वपरिग्रहम् | 34 | 27 | b |
| विप्रस्त्रियः पतिमतीः | 53 | 48 | a | विलोक्यार्तास्समब्रुवन् | 30 | 26 | d |
| विप्रान् स्वलाभसन्तुष्टान् | 52 | 33 | a | विवत्सा गौरिवाऽऽतुरा | 55 | 15 | d |
| विप्रांश्च विधिवन्नृप | 53 | 10 | b | विविधगोपचरणेषु विदग्धः | 55 | 14 | a |
| विभ्रमैश्चाऽनुभाजितः | 47 | 41 | d | विविधै रच्युतेतरौ | 44 | 19 | b |
| विमानशतसङ्कुलम् | 33 | 4 | d | विवेश गोष्ठं सबलः | 36 | 15 | c |
| विमानेनाचरं दिशः | 34 | 12 | d | विवेश पत्न्या गगनात् | 55 | 26 | c |
| विमुक्ताशैषवृत्तयः | 47 | 36 | b | विवेश यदुनन्दनः | 57 | 28 | d |
| विमुच्य बद्धं करुणः | 54 | 36 | e | विवेश लोकाचरितान्यनुव्रतः | 48 | 5 | d |
| विमुच्यर्णञ्च शेषितम् | 57 | 41 | d | विशङ्कितां कङ्कणभूषिते करे | 48 | 7 | b |
| विमृज्य पाणिना भूयः | 57 | 49 | a | विशन्ति सर्वत स्सिन्धुम् | 40 | 11 | c |
| विमृश्य कर्तुं यच्चाऽत्र | 52 | 44 | c | विशसन्तु पशून्मेध्यान् | 36 | 58 | c |
| विमोहितोऽयं जन ईशमायया | 51 | 46 | a | विशालनेत्रे विकटास्यकोटरः | 37 | 2 | a |
| वियोगश्चासता सति | 54 | 46 | b | विशुद्धविज्ञानघनं स्वसंस्थया | 37 | 23 | a |
| विरचिताभयं वृष्णि धुर्य ते | 31 | 5 | a | विशृङ्खलेन विमला | 36 | 42 | c |
| विरजोऽम्बरभूषितैः | 53 | 9 | b | विशोका अहनी निन्युः | 39 | 37 | c |
| विरहेण महाभागाः | 47 | 27 | c | विश्वस्य सुहृदात्मनः | 58 | 10 | b |
| विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः | 46 | 5 | d | विषजलाप्ययात् व्यालराक्षसात् | 31 | 3 | a |
| विराजिते वितानेन | 60 | 3 | c | विषण्णा भग्नसङ्कल्पाः | 29 | 28 | c |
| विरामायाऽप्यधर्मस्य | 50 | 10 | c | विषमं पुत्रलालसम् | 49 | 16 | b |
| विरूढस्वेदकणिक | 43 | 15 | e | विषयात्मनो यथा ब्रह्म | 38 | 4 | c |
| विलक्षितान्यन्जयवाङ्कुशाद्यैः | 38 | 25 | d | विषयान् फलमेव च | 54 | 48 | b |
| विलसत्पादपङ्कजम् | 39 | 50 | d | विषाणाग्रेण चोद्धरन् | 36 | 2 | d |
| विलेपुः सुस्वरं नार्यः | 44 | 44 | c | विष्णुं पुराणपुरुषम् | 56 | 26 | c |
| विलोक्य कुब्जां युवतीं वराननाम् | 42 | 1 | c | विष्णुं वरेण्यं वरदम् | 58 | 20 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम् | 48 | 12 | b | वीक्ष्य केसरिणा वने | 56 | 18 | b |
| विष्णोः क्षीरोदवासिनः | 50 | 56 | b | वीक्ष्य तस्य मुदं ययुः | 58 | 3 | d |
| विसृजन्त्यो मुहुश्शुचः | 44 | 44 | d | वीक्ष्यतां श्रमवार्याप्तिम् | 44 | 11 | c |
| विसृज शिरसि पाद वेधश्चहं चाटुकारैः | 47 | 16 | a | वीक्ष्यमानश्च केशवः | 29 | 48 | b |
| विसृज्य पतितं हयम् | 57 | 24 | b | वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे | 29 | 1 | c |
| विसृज्य भुवि कानि चित् | 41 | 39 | d | वीक्ष्यानुरागं परमम् | 46 | 29 | c |
| विसृज्य लज्जां रुरुदुःस्म सुस्वरम् | 39 | 31 | c | वीक्ष्याऽऽयम्याऽत्मनाऽऽत्मानम् | 49 | 25 | c |
| विसृज्य वाण्या माध्व्या ताम् | 42 | 13 | a | वीक्ष्यालकावृतमुखं तवकुण्डलश्री | 29 | 39 | a |
| विसृज्य स्त्रीजनं मूढः | 34 | 29 | c | वीणावेणुमृदङ्गानि | 50 | 38 | c |
| विस्फार्य स्वधनूंषि ते | 54 | 2 | d | वीरगन्धासहान् खलान् | 58 | 33 | d |
| विस्मयं परमं ययुः | 30 | 42 | d | वीरचाणूर मुष्टिक | 36 | 22 | b |
| विस्मर्तुं नैव शक्नुमः | 47 | 50 | d | वीरयूथपयूथपाः | 54 | 15 | b |
| विस्मिता स्तदुपधार्य सलज्जाः | 35 | 3 | b | वीर्यशुल्कादिलक्षणम् | 37 | 18 | b |
| विस्मितो रथ माविशत् | 41 | 2 | d | वीर्याढ्यं वृजिनहरं सुमङ्गलञ्च | 57 | 50 | b |
| विस्मृत्य चैकं युगलेष्वथापराः | 41 | 25 | b | वृकं हरि रिवौजसा | 37 | 31 | d |
| विस्मृत्य प्रागुदाहृतम् | 57 | 35 | b | वृकाणां हरिणी मिव | 49 | 10 | b |
| विस्रस्तमाल्याभरणाः कुरूद्वह! | 33 | 18 | d | वृक्षषण्ड मुपव्रज्य | 39 | 39 | c |
| विस्रस्तवासः कबर | 42 | 14 | c | वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम् | 31 | 18 | b |
| विस्रस्ताकल्पकेशस्रक् | 44 | 23 | c | वृणीत आर्यो वर मात्मबन्धनम् | 51 | 56 | d |
| विहरणञ्च ते ध्यानमङ्गलम् | 31 | 10 | b | वृणीष्वेति तमूचतुः | 45 | 47 | d |
| विहर्तुं विजनं वनम् | 58 | 14 | b | वृता वयं गुणैर्हीनाः | 60 | 16 | c |
| विहाय गेहान्स्वजनान्सुतान्पतीन् | 39 | 22 | c | वृतो जालेन महता | 55 | 4 | c |
| विहाय वित्तं प्रचुरम् | 52 | 8 | a | वृतो रथेभाश्वपदात्यनीकपैः | 51 | 49 | c |
| विहायान्याः स्त्रियो वने | 30 | 37 | b | वृतो गोपैः कतिपयैः | 43 | 16 | a |
| वीक्षणार्पितमनोभववेगाः | 35 | 17 | b | वृतो त्रयस्त्रैर्नरदेववर्त्मना | 41 | 24 | b |
| वीक्षन् कुसुमितद्रुमान् | 47 | 56 | b | वृत्तिं न दद्या त्तं प्रेत्य | 45 | 6 | c |
| वीक्षन्तीनाञ्च विभ्रमम् | 55 | 9 | d | वृथा हत श्शतधनुः | 57 | 26 | c |
| विक्षन्तोऽहरहः प्रीताः | 45 | 18 | a | वृषमयात्मजात् विश्वतो भयात् | 31 | 3 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वृषात्सर्पाच्च रक्षिताः | 46 | 20 | b | वैमनस्यं परित्यज्य | 54 | 50 | c |
| वृषासुर मुपाह्वयत् | 36 | 6 | d | वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानः | 33 | 24 | c |
| वृष्णयः कृष्णतेजसा | 50 | 43 | b | वैरानुबन्धं यदुषु | 39 | 8 | c |
| वृष्णिभिर्जयकाङ्क्षिभिः | 54 | 9 | b | वैरूप्यं सुहृदो वधः | 54 | 37 | d |
| वृष्णिभोजदशार्हकान् | 36 | 65 | d | वैलक्षण्येन योषितः | 55 | 29 | b |
| वृष्णीञ्छ्रुत्वाऽऽत्मसम्मितान् | 50 | 45 | d | वोढा मुदं वीतविशङ्क ऊर्जिताम् | 38 | 19 | d |
| वृष्णीना परदेवेति विदितो रङ्ग गतस्साध्वसः | 43 | 17 | d | व्यवर्षल्लीलया बद्धान् | 58 | 46 | c |
| वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री | 46 | 1 | a | व्यक्तं भवान्व्रजजनार्तिहरोऽभिजातः | 29 | 41 | a |
| वेणुनाऽऽह्वयति गास्स यदा हि | 35 | 8 | d | व्यक्तिर्भगवतो नृप! | 29 | 14 | b |
| वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः | 35 | 14 | b | व्यचक्षत वनोद्देशे | 30 | 24 | c |
| वेणुवाद्यहृतचेतस आरात् | 35 | 5 | b | व्यचरन्मण्डयन्वनम् | 29 | 44 | d |
| वेणुं क्वणन्तीं क्रीडन्तीम् | 30 | 18 | c | व्यजनेन सखीजनैः | 60 | 1 | d |
| वेणुं क्वणन्स्मितकटाक्षनिरीक्षणेन | 39 | 30 | c | व्यञ्जन्तस्तनीं कुन्तलशङ्कितेक्षणाम् | 53 | 51 | d |
| वेणूनां निस्वनेन च | 46 | 10 | d | व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः | 35 | 9 | b |
| वेदयाञ्चक्रतु स्सर्वम् | 50 | 2 | c | व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः | 47 | 31 | b |
| वेदाऽहं रुक्मिणा द्वेषात् | 53 | 2 | c | व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः | 29 | 7 | c |
| वेला मुपव्रज्यतुनिषेदनुः क्षणम् | 45 | 38 | c | व्यपेतविरहज्वराः | 47 | 53 | b |
| वैजयन्त्या च मालया | 51 | 25 | b | व्यमुञ्चन् खेचरस्त्रियः | 33 | 19 | b |
| वैदर्भी दुर्मना भृशम् | 52 | 26 | b | व्यरोचताऽधिकं तात! | 32 | 11 | c |
| वैदर्भी परिसान्त्विता | 60 | 32 | b | व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः | 29 | 43 | d |
| वैदर्भी वल्गु भाषिणी | 55 | 30 | b | व्यलपत्तात तातेति | 57 | 7 | c |
| वैदर्भी हृष्टमानसा | 53 | 31 | b | व्यसनात् स्वान्समुद्धर | 50 | 14 | b |
| वैदर्भीं भीष्मकसुताम् | 52 | 16 | c | व्यसुः पपाताम्भसि कृत्तशीर्षः | 59 | 11 | a |
| वैदर्भ्यां दवेकीसुतः | 55 | 35 | b | व्यसुः पपातोर्व्युपस्थे | 44 | 25 | c |
| वैदर्भ्याः पाणिमच्युतः | 53 | 38 | d | व्यसृजदकृतचेताः किन्नुसन्धेयमस्मिन् | 47 | 16 | d |
| वैदर्भ्या स्स तु सन्देशम् | 53 | 1 | a | व्यसोरपकृष्य भुजं महाभुजः | 37 | 9 | b |
| वैदर्भ्येत दविज्ञाय | 60 | 16 | a | व्यस्फूर्जयच्छार्ङ्गशरासनोत्तमम् | 50 | 23 | d |
| वैदूर्यवज्रामलनीलविद्रुमैः | 41 | 21 | c | व्याजहार महाराज | 56 | 29 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| व्यादाय केशी तरसाऽपतद्धरिम् | 37 | 6 | b |
| व्युष्टायां निशि कौरव्य! | 42 | 32 | a |
| व्यूढायाश्चाऽपि पुंश्चल्याः | 60 | 48 | a |
| व्यूषतुर्मय वित्रस्तौ | 57 | 33 | c |
| व्योमयानवनितास्सह सिद्धैः | 35 | 3 | a |
| व्योमो गोपालवेषधृत् | 37 | 29 | b |
| व्रजजनार्तिहन् वीर योषिताम् | 31 | 6 | a |
| व्रजतितेन वयं सविलास | 35 | 17 | a |
| व्रजन्नरिव्रजौकसः | 46 | 47 | b |
| व्रजनाथार्तिनाशन | 47 | 52 | b |
| व्रजन्मार्गे वणिक्पथे | 42 | 13 | b |
| व्रजभुवः शमयन् खुरतोदम् | 35 | 16 | c |
| व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते | 31 | 18 | a |
| व्रजस्याऽनामयं कच्चित् | 29 | 18 | c |
| व्रज स्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः | 29 | 4 | b |
| व्रजस्त्रियः कृष्ण विषक्तमानसाः | 39 | 31 | b |
| व्रजं स नन्दस्य जगाम कम्पयन् | 37 | 2 | d |
| व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद्ध्वनिः | 46 | 46 | b |
| व्रजे गोदोहनङ्कृतौ | 38 | 28 | b |
| व्रजेऽवात्सीत्स उद्धवः | 47 | 55 | b |
| व्रजौकसां क्षणप्राणाणि | 47 | 55 | c |
| व्रजौकसो विस्मितचेतस स्ततः | 34 | 19 | b |
| व्रातदीधितिभिर्वृतम् | 39 | 50 | b |
| व्रीडावलोकहृतचेतस उज्झितास्त्राः | 53 | 53 | b |
| व्रीडितो वीरसम्मतः | 50 | 33 | b |
| **श** | | | |
| शकले तान्विजघ्नतुः | 42 | 20 | d |
| शक्त्यृष्टिशूलान्यजिते रुषोल्बणाः | 59 | 13 | b |
| शक्रशर्वपरमेष्टि पुरोगाः | 35 | 15 | b |
| शङ्कितश्शनकै राजा | 51 | 27 | c |
| शङ्खचक्रगदाधर | 56 | 6 | b |
| शङ्खचक्रगदाधर | 59 | 25 | b |
| शङ्खचक्रगदाधरम् | 39 | 52 | b |
| शङ्खचूड इति ख्यातः | 34 | 25 | c |
| शङ्खचूडं निहत्यैवम् | 34 | 32 | a |
| शङ्खनादेन यन्त्राणि | 59 | 5 | a |
| शङ्खमाध्माय गोविन्दः | 59 | bet. 14&15 | d |
| शङ्खदुन्दुभयो नेदुः | 50 | 38 | a |
| शङ्खनिर्ह्राद माकर्ण्य | 45 | 44 | a |
| शङ्खभेर्यानका नेदुः | 58 | 49 | a |
| शङ्खरूपधरोऽसुरः | 45 | 40 | d |
| शङ्खं दध्मौ विनिर्गत्य | 50 | 16 | c |
| शतधन्वान मारेभे | 57 | 10 | c |
| शतधन्वान मूचतुः | 57 | 3 | b |
| शतधन्वा महामणिम् | 57 | 22 | b |
| शतयोजनगं ययौ | 57 | 22 | d |
| शत्रुं हन्तुं मनश्चक्रे | 44 | 17 | c |
| शनैरुन्मील्य लोचने | 51 | 11 | b |
| शनैरित्याऽभ्यवन्दत | 58 | 5 | d |
| शन्तमेनाङ्घ्रपाणिना | 33 | 21 | d |
| शब्दः खं रोदसी दिशः | 42 | 18 | b |
| शम्बरस्य शिरः कायम् | 55 | 24 | c |
| शम्बराहरणादिकम् | 55 | 36 | d |
| शम्बरेणाहृतो गृहात् | 55 | 12 | b |
| शम्बरो नरको बाणः | 36 | 67 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| शयान मबधील्लोभात् | 57 | 5 | c |
| शयान मुरगोऽग्रसीत् | 34 | 5 | d |
| शयानं दहशे नरम् | 51 | 9 | d |
| शयानान् वीरशय्यायाम् | 44 | 44 | a |
| शयीथा मुच्च दारिकाम् | 54 | 26 | b |
| शयेऽस्मिन्विजये कामम् | 51 | 33 | c |
| शरच्चन्द्रांशुसन्दोह | 32 | 13 | a |
| शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्मन् | 51 | 58 | c |
| शरण्यो भक्तवत्सलः | 49 | 9 | b |
| शरदुदाशये साधुजातसत् | 31 | 2 | a |
| शरदोत्फुल्लमल्लिकाः | 29 | 1 | b |
| शरभान् गवयान् खड्गन् | 58 | 15 | c |
| शरान्ववर्षाऽच्युतमूर्ध्नि दुर्जया | 59 | bet. 14 & 15 | d |
| शरैरेकैकशस्त्रिभिः | 59 | 17 | d |
| शलतोशलकादिकान् | 36 | 21 | b |
| शलस्तोसल एव च | 42 | 37 | b |
| शलेतोशलके हते | 44 | 28 | b |
| शशंस रामकृष्णाभ्याम् | 49 | 31 | a |
| शशंसुर्नृतुः स्त्रियः | 44 | 42 | d |
| शशंसु स्सूर्यशङ्किताः | 56 | 5 | d |
| शस्त्रै स्सुगन्धैः कुसुमैः | 41 | 49 | c |
| शस्त्रदुर्गाणि सायकैः | 59 | 4 | b |
| शस्त्रास्त्राणि कुरूद्वह | 59 | 17 | b |
| शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः | 30 | 9 | d |
| शापो मेऽनुग्रहायैव | 34 | 14 | a |
| शारदाम्बुरुहेक्षणौ | 38 | 28 | d |
| शरिरा मानसा स्तापाः | 57 | 34 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| शाल्वादींश्चैद्यपक्षगान् | 52 | 17 | b |
| शिञ्जत्कलानूपरधामशोभिना | 53 | 52 | d |
| शिरश्शीर्ष्णोरसोरस्तौ | 44 | 3 | c |
| शिरसाऽऽधत्त या शर्वः | 41 | 15 | c |
| शिरसाऽऽस्पृश्य पादयोः | 44 | 50 | d |
| शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् | 31 | 5 | d |
| शिरस्तस्य दुरात्मनः | 34 | 31 | h |
| शिरस्यधास्यन्निजहस्तपङ्कजं | 38 | 16 | b |
| शिरस्यमुष्याखिलकल्मषापहम् | 59 | 31 | d |
| शिरस्याहाऽपरां नृप! | 30 | 21 | b |
| शिरः काया दपाहरत् | 41 | 37 | d |
| शिरः पृथिव्यां पतितं समुज्ज्वलत् | 59 | 22 | b |
| शिरांसि चक्रेण जहार लीलया | 59 | 10 | d |
| शिलया पिदधे द्वारम् | 37 | 30 | c |
| शिलीमुखात्युल्बणवर्षपीडितम् | 50 | 23 | b |
| शिशुपालं समभ्येत्य | 54 | 10 | a |
| शिशुपालाय स्वां कन्याम् | 53 | 7 | c |
| शिशुभिश्चावसीदतीम् | 49 | 11 | d |
| शिशून् बन्धुभि रुत्सृष्टान् | 45 | 22 | c |
| शिष्यो बृहस्पते स्साक्षात् | 46 | 1 | c |
| शीर्षाण्यश्रुविलोचनाः | 44 | 43 | d |
| शुचाऽवशुष्यन्मुखरुद्धकण्ठया | 54 | 34 | b |
| शुचिस्मितां बिम्बफलाधरद्युभिः | 53 | 52 | a |
| शुचिस्मिताः कोऽयमपीच्यदर्शनः | 47 | 2 | a |
| शुद्धभावानुवृत्तिभिः | 45 | 33 | b |
| शुभानि बलकृष्णयोः | 46 | 11 | b |
| शुशुभातेऽनुरञ्जितौ | 42 | 5 | d |
| शुश्रूषता मव्यलीकम् | 51 | 31 | a |
| शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः | 29 | 22 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| शुश्रूषन्त्यः पतीन्काश्चित् | 29 | 6 | c |
| शुष्यद्वदनमब्रुवन् | 54 | 10 | d |
| शूलं भौमोऽच्युतं हन्तुम् | 59 | 21 | a |
| शृङ्गैः श्वेत मिव स्थितम् | 39 | 45 | d |
| शृणुध्व मेतद्वचनं मयोदितम् | 36 | 29 | a |
| शृणुष्व गदतो मम | 51 | 40 | b |
| शृण्वतां सर्वभूभुजाम् | 54 | 19 | b |
| शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत् | 46 | 28 | c |
| शेते मामिह साधुवत् | 51 | 10 | b |
| शेते समुद्र उपलम्भनमात्र आत्मा | 60 | 35 | b |
| शेते सर्वाङ्गविज्वरः | 52 | 32 | d |
| शेषाण्यादत्त गोपेभ्यः | 41 | 39 | c |
| शेषाञ्च जगृहे वधूः | 53 | 49 | d |
| शेषां युयुजु राशिषः | 53 | 49 | b |
| शेषाः प्रदुद्रुवु र्मल्लाः | 44 | 28 | c |
| शोकापनोदस्मितलेशसुन्दरम् | 39 | 20 | c |
| शोकापहानि नर्माणि | 39 | 17 | c |
| शोकामर्षयुतो नृपः | 50 | 3 | b |
| शोणायमानद्विज कुन्दकुड्मलम् | 53 | 52 | b |
| शोभयन्तौ महात्मानौ | 38 | 30 | c |
| शौरिः सप्तदशाहं वै | 54 | 13 | a |
| श्रद्धयोपाहरद्विभुः | 38 | 39 | d |
| श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेच्चः | 33 | 40 | b |
| श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि | 31 | 1 | b |
| श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततम् | 31 | 9 | c |
| श्रवणाद्दर्शनाद्वन्दनात् | 29 | 27 | a |
| श्रान्ताऽधात् स्तनयोश्शिवम् | 33 | 14 | d |
| श्रान्तानां वदनानि सः | 33 | 21 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः | 33 | 23 | d |
| श्रिय एकान्तवल्लभम् | 33 | 15 | b |
| श्रियञ्च परमां लोके | 41 | 42 | c |
| श्रियञ्चान्वयवृद्धिनीम् | 41 | 52 | b |
| श्रियं यशो महत्यञ्च | 43 | 29 | c |
| श्रिया च देव्या मुनिभिस्ससात्वतैः | 38 | 8 | b |
| श्रिया पुष्ट्या गिरा कीर्त्या | 39 | 55 | a |
| श्रिया स्वरूपसम्पत्त्या | 34 | 12 | c |
| श्रियो मात्रां स्वयंवरे | 52 | 16 | d |
| श्रियो मानस्य तेजसः | 54 | 41 | b |
| श्रीनिकेतै स्तत्पदकैः | 47 | 50 | c |
| श्रीनिकेतौ बृहद्भुजौ | 38 | 29 | b |
| श्रीपते राप्तकामस्य | 47 | 46 | c |
| श्रीमदान्धाः क्षिपन्ति हि | 54 | 41 | d |
| श्रीमान् धीमान् महोत्साहः | 36 | 45 | e |
| श्रीरब्जज स्सगिरीशस्सहलोकपालैः | 58 | 38 | b |
| श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या | 29 | 37 | a |
| श्रीर्वसत्यनपायिनी | 58 | 41 | d |
| श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत् | 39 | 52 | c |
| श्रीवत्स वक्षसं भ्राजत् | 51 | 2 | a |
| श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत् | 51 | 24 | c |
| श्रुतकीर्तेस्सुतां भद्राम् | 58 | 56 | a |
| श्रुतज्ञो नित्यनूतनः | 52 | 20 | d |
| श्रुतिप्रत्यक्षगोचरः | 48 | 20 | d |
| श्रुत्वाऽक्रूरवचः कृष्णः | 39 | 10 | a |
| श्रुत्वा गुणान्भुवन सुन्दरशृण्वतां ते | 52 | 37 | a |
| श्रुत्वा द्रष्टु मुपेयतुः | 43 | 1 | d |
| श्रुत्वा योगीश्वरेश्वरः | 29 | 42 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| श्रुत्वा वाचस्सुपेशलाः | 33 | 1 | b |
| श्रुत्वा शतधनो वधम् | 57 | 33 | b |
| श्रुत्वैतद्भगवान् रामः | 53 | 20 | a |
| श्रुत्वैतत् रूरुधु र्भूपाः | 58 | 53 | a |
| श्रूयतां प्रियसन्देशः | 47 | 28 | a |
| श्रेणीसभाभिर्भवनै रुपस्कृताम् | 41 | 21 | b |
| श्रेर्णी सम्प्रविशद्भिरः | | | |
| श्रेयस्कामैर्नृभि र्नित्यम् | 48 | 31 | c |
| श्रेयस्ततस्ते नचिराद्भविष्यति | 42 | 2 | d |
| श्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः | 47 | 59 | d |
| श्रेयः कीर्तिमवाप्स्यसि | 49 | 18 | d |
| श्रेयाञ्छ्रेय श्चिकीर्षया | 48 | 33 | b |
| श्रेयोभिर्विविधिभि रन्यैश्च | 47 | 24 | c |
| श्रेयोविन्दन्ति वै प्रजाः | 43 | 33 | b |
| श्रोतृनात्मान मेव च | 34 | 17 | b |
| श्यामां नितम्बार्पितरत्नमेखलाम् | 53 | 51 | c |
| श्यामैककर्णान् वरुणः | 50 | 56 | c |
| श्येनं यथा दक्षिणसव्यमम्बरे | 44 | 36 | b |
| श्लथद्वलयमल्लिका | 33 | 11 | d |
| श्लाघ्यो बन्धुश्च नित्यदा | 48 | 30 | b |
| श्लिष्यन्त इव बाहुभिः | 43 | 21 | b |
| श्वफल्कतनयोऽध्वनि | 38 | 24 | b |
| श्वफल्कतनयो मणिम् | 57 | 44 | b |
| श्वफल्कायाऽऽगताय वै | 57 | 32 | b |
| श्वासम्तानमुखश्रियः | 39 | 14 | b |
| श्वो भामिनि त्वमजितोद्वहने विदर्भान् | 52 | 41 | a |
| **ष** | | | |
| षट्सहस्राधिकायुतम् | 59 | 33 | b |
| षड्भिर्विव्याध रुक्मिणम् | 54 | 26 | b |
| **स** | | | |
| स इक्ष्वाकुकुले जातः | 51 | 14 | a |
| स उत्थाय चिरं सुप्तः | 51 | 11 | a |
| स एव कालेन दुरत्ययेन ते | 51 | 51 | c |
| स एव जातो वैदर्भ्याम् | 55 | 2 | a |
| स एव द्विजसत्तमः | 53 | 28 | b |
| स एव वा भवेन्नूनम् | 55 | 34 | a |
| स एव सर्वं परमात्मभूतः | 46 | 43 | d |
| स कथं धर्मसेतूनाम् | 33 | 28 | a |
| स कार्ष्णी रूढयौवनः | 55 | 9 | b |
| सकिरीटं सकुण्डलम् | 55 | 24 | b |
| सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः | 47 | 3 | b |
| सकुण्डलकिरीटानि | 54 | 7 | c |
| सकुण्डलं चारुकिरीटभूषितम् | 59 | 22 | a |
| सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्माविनष्टाः | 47 | 18 | b |
| सकृद्धरसुधां स्वां मोहिनीं पायायित्वा | 47 | 13 | a |
| सकृन्निगदमात्रेण | 45 | 35 | c |
| सकोसलपतिः प्रीतः | 58 | 35 | a |
| सख उदेयिवान् सात्त्वतां कुले | 31 | 4 | d |
| सखानः शूरनन्दनः | 46 | 16 | b |
| सखीभिः परिवारिता | 53 | 41 | b |
| सखे दर्शय सन्निधिम् | 30 | 40 | d |
| सख्युरंसे भुजाभोगम् | 36 | 8 | c |
| सगणो विस्मितोऽभवत् | 33 | 19 | d |
| स गत्वा हास्तिनपुरम् | 49 | 1 | a |
| सङ्कर्षणमथाऽब्रवीत् | 50 | 12 | d |
| सङ्कर्षणश्च प्रणतम् | 38 | 37 | a |
| सङ्कर्षणश्च राजेन्द्र | 45 | 20 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सङ्कर्षणसहायवान् | 50 | 46 | b | सत्यभामा च पितरम् | 57 | 7 | a |
| सङ्कर्षणसहायेन | 47 | 49 | c | सत्यभामा पितृधनम् | 57 | 46 | c |
| सङ्कर्षणेनाऽपरिमेयतेजसा | 50 | 28 | d | सत्यमेतत् ब्रवीमि वः | 54 | 20 | d |
| सङ्कर्षणोद्धवाभ्यां वै | 48 | 37 | c | सत्यं भयादिव गुणेभ्य उरु क्रमान्त | 60 | 35 | a |
| सङ्क्रुद्ध स्तमचक्षाणः | 43 | 7 | a | सत्या बभूवुः पुरमोषितां ध्रुवम् | 39 | 23 | b |
| सङ्गन्तेम्बुरुहेक्षण ! | 48 | 10 | d | सत्राजित मसत्तमः | 57 | 5 | b |
| स च मायां समाश्रित्य | 55 | 21 | a | सत्राजितं शपन्त स्ते | 56 | 36 | a |
| स चर्षणीना मुदगाच्छुचो मृजन् | 29 | 2 | c | सत्राजितं समाहूय | 56 | 39 | a |
| स च शम्बर मभ्येत्य | 55 | 17 | a | सत्राजितः किमकरोत् | 56 | 2 | a |
| स चातिव्रीडितो रत्नम् | 56 | 40 | a | सत्राजितः स्वतनयाम् | 56 | 1 | a |
| स चाऽन्यद्धनुरादाय | 54 | 27 | c | सत्राजितोऽनपत्यत्वात् | 57 | 41 | a |
| स चाऽवतीर्णः किल सात्वतान्वये | 38 | 13 | a | सत्राजिन्मणिना ज्वलन् | 56 | 9 | d |
| स चाऽश्वै श्शैब्य सुग्रीव | 53 | 5 | a | सत्राजित्पर्यतप्यत | 56 | 15 | d |
| स चुक्रोशाहिना ग्रस्तः | 34 | 6 | a | सत्राजित्स्वगृहं श्रीमत् | 56 | 10 | a |
| सज्यश्च कृत्वा निमिषेण पश्यताम् | 42 | 17 | b | सत्राजित् स्वसुतां शुभाम् | 56 | 44 | b |
| सञ्छिद्य तद्वः प्रतियातु साधुना | 32 | 23 | d | स त्वयादृष्टमात्रेण | 51 | 22 | c |
| सञ्छिद्यमानद्विपदेभवाजिनाम् | 50 | 26 | a | स त्वं जगद्गुरुरधोक्षजयाः प्रविष्टः | 48 | 26 | d |
| सञ्जातं वर्ण्यतां तावत् | 39 | 7 | c | सत्वं प्रभोऽद्य वसुदेवगृहेऽवतीर्णः | 48 | 24 | a |
| सञ्जीवयिष्यन्नो गात्रैः | 44 | 47 | c | स त्वं भूभारभूतानाम् | 37 | 14 | a |
| सटावधूताभ्रविमानसङ्कुलं | 37 | 1 | c | स त्वं किमिति मा भूयः | 36 | 43 | a |
| सतत मुरसि सौम्य श्रीर्वधूस्साकमास्ते | 47 | 20 | d | सत्त्वमालम्ब्य सात्त्वतः | 39 | 57 | b |
| स तदप्रिय माकर्ण्य | 50 | 3 | a | सत्त्वं रजस्तम इति | 40 | 12 | a |
| सतंनिशम्याभिमुखो मुखेनस्वम् | 37 | 4 | a | सत्त्वं रजस्तम इति | 46 | 40 | a |
| स तं बिभ्रन्मणिं कण्ठे | 56 | 4 | a | सत्त्वात्मिकां महाविद्याम् | 55 | 22 | c |
| स तान्नरवरश्रेष्ठान् | 48 | 14 | a | सत्सङ्गमो यर्हि तदेव सद्गतौ | 51 | 54 | c |
| स तावत्तस्य रूष्टस्य | 51 | 12 | a | सदयस्मितवीक्षणम् | 45 | 18 | d |
| स तेन समनुज्ञातः | 58 | 28 | a | सदसन्मिश्रयोनिषु | 46 | 39 | b |
| स तैरप्यभिवादितः | 48 | 15 | b | सदारो हर्षयन् हरिः | 56 | 37 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सदीर्घबाहुर्द्रमिलोऽभ्यभाषत | 36 | 38 | b | स पिता सा च जननी | 45 | 22 | a |
| सद्यस्तेऽच्युत दर्शनात् | 34 | 16 | f | सप्ताहमदधाद्गिरिम् | 46 | 25 | d |
| सद्यस्समुत्थाय हि जातसम्भ्रमा | 48 | 4 | b | सप्ताहमेकहस्तेन | 43 | 27 | a |
| सद्यः पुनाति किं भूयः | 34 | 17 | c | सप्तैते गोवृषा वीर! | 58 | 43 | a |
| सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः | 29 | 11 | d | स प्रसह्य विनिर्गतः | 43 | 7 | d |
| स धावन् क्रीडया भूमौ | 43 | 11 | a | स प्रियाणामभूच्छब्दः | 33 | 6 | c |
| सनन्दा नन्दकादयः | 34 | 4 | d | सबालैः पशुभिर्मन्द | 36 | 7 | a |
| सनाथान्कुर्वधोक्षज | 41 | 12 | b | सभयः शापशङ्कितः | 36 | 43 | d |
| सनाथास्ते कृता वयम् | 58 | 9 | b | स भवान् सुहृदां वैनः | 48 | 33 | a |
| स निजं रूपमास्थाय | 37 | 32 | a | सभाजयामास सदासनादिभिः | 48 | 4 | d |
| स नित्यदोद्विग्नधिया तमीश्वरम् | 44 | 39 | a | सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनम् | 32 | 16 | a |
| सन्तप्तस्तनयोरधात् | 32 | 6 | d | स भाजितान्समाश्वास्य | 45 | 16 | a |
| सन्तस्तच्चरणं यथा | 32 | 4 | d | सभायां राजसन्निधौ | 56 | 39 | b |
| सन्तस्तच्चरणं यथा | 32 | 8 | d | सभार्यः साग्रजः पुरम् | 57 | 10 | b |
| सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशः | 51 | 37 | b | सभार्यो गरुडारूढः | 59 | 2 | g |
| सन्ति ह्येकान्त भक्तायाः | 60 | 50 | c | सभां सख्य उपाहरत् | 58 | 27 | b |
| सन्तुष्टमनस्सदा | 52 | 30 | d | सभीष्मं विदुरं पृथाम् | 49 | 1 | d |
| सन्तुष्टो यर्हि वर्तेत | 52 | 31 | a | सभ्यदोषाननुस्मरन् | 44 | 10 | d |
| सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् | 29 | 31 | b | समग्रबलवाहनाः | 53 | 19 | d |
| सन्देशं भर्तुरादृतः | 46 | 7 | b | समग्रहीद्दुर्विषहोग्रतेजाः | 44 | 36 | c |
| सन्देशाद्यो हरेर्लिङ्ग | 38 | 27 | c | समदुःखसुखोऽकूरः | 49 | 15 | a |
| सन्नद्धैरल्पतायुधैः | 53 | 41 | d | स मणिः शतधन्वना | 57 | 27 | b |
| सन्निकृष्टेऽक्षिगोचरे | 47 | 35 | d | समनन्दन्प्रजास्सर्वाः | 45 | 50 | a |
| सन्न्यस्योपशमं गताः | 40 | 7 | b | समन्तादग्निमुत्सृजन् | 52 | 11 | d |
| सपदिगृह्णकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीनाः | 47 | 18 | c | समपृच्चच्छुचिस्मिता | 53 | 29 | d |
| सपद्यपध्वस्तसमस्त किल्बिषः | 38 | 19 | c | समभ्येत्याभिपूज्यच | 53 | 16 | b |
| स पर्यावर्तमानेन | 43 | 9 | a | समयः सात्वतर्षभ! | 58 | 42 | b |
| स पापः क्षीणजीवितः | 57 | 5 | d | समयेस्सर्वभूतेषु | 41 | 47 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| समर्हणं यत्र विधाय कौशिकः | 38 | 17 | a | सम्पृष्टस्तैस्सुहृद्वार्ताम् | 49 | 3 | c |
| समवेता जगुः कृष्णम् | 30 | 45 | c | सम्प्रक्ष्यते कंसकृतं स्वबन्धुषु | 38 | 23 | d |
| समश्शान्तो भव प्रभो | 49 | 25 | d | सम्प्राप्त परभागेन | 42 | 5 | c |
| समागम्याऽभिनन्द च | 57 | 14 | b | सम्भोजनीयापदेशैः | 49 | 22 | c |
| समाजस्य ध्रुवं भवेत् | 44 | 9 | b | सम्भ्रमात्परिधावताम् | 54 | 58 | d |
| समाधाय मनः कृष्णे | 52 | 3 | c | सम्मन्त्र्य पत्न्या स महार्णवे मृतम् | 45 | 37 | c |
| समानस्य समोऽपि वा | 46 | 37 | d | सम्मोहितार्यचरीता न चलेन्निलोक्याम् | 29 | 40 | b |
| समाप्त सर्वार्थममोघवाञ्छितम् | 37 | 23 | b | सम्यक्सम्पादितो वत्सौ | 45 | 48 | a |
| समाप्य तस्मिन्नियमं पुनर्व्रजम् | 34 | 19 | c | स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः | 29 | 4 | d |
| समाश्रिताः सम्मुमुहुः शुचार्दिताः | 50 | 22 | d | स याचितस्सुरगणैः | 51 | 15 | a |
| समाहितस्तत्तपसा | 51 | 63 | c | स याचितो भगवता | 41 | 34 | a |
| समाहूयाऽऽह भोजराट् | 36 | 21 | d | स याचितो मणिं क्वापि | 56 | 12 | a |
| समीक्षते नः स्वकृतातुरा बत | 39 | 22 | b | सरसिजोदर श्रीमुषा दृशा | 31 | 2 | b |
| समीरणाकाश निशेशसूर्यान् | 36 | 41 | b | सरसि सारसहंसविहङ्गाः | 35 | 11 | a |
| समीहतेऽनन्तगुणः स्वलीलया | 50 | 30 | b | सररहस्यं धनुर्वेदम् | 45 | 34 | a |
| स मुक्तो लोकनाथाभ्याम् | 50 | 33 | a | सरामो रथमाविशत् | 39 | 39 | d |
| समुद्रपरिखां नृप! | 52 | 13 | d | सरिच्छैल वनोद्देशान् | 46 | 22 | a |
| समुद्रं शरणं गतान् | 60 | 12 | b | सरिच्छैलवनोद्देशाः | 47 | 49 | a |
| समुद्रान्ता इवापगाः | 47 | 33 | d | सरिद्वनगिरिद्रोणीः | 47 | 56 | a |
| समुद्वोढुं मनो दधे | 52 | 24 | d | सर्पं विव्यधुरुल्मुकैः | 34 | 7 | d |
| समूह्य कुटिलालकान् | 43 | 3 | b | सर्पो मां ग्रसते तात! | 34 | 6 | c |
| समेतान् श्रावयन्नृपः | 36 | 28 | d | सर्व एव यजन्ति त्वाम् | 40 | 10 | a |
| समेतास्सङ्कशः प्रोचुः | 39 | 18 | c | सर्वज्ञौ जगदीश्वरौ | 45 | 30 | b |
| समेता स्सर्वयोषितः | 44 | 6 | b | सर्वतः पुष्पितवनम् | 46 | 13 | a |
| समेधमानेन सकृष्णबाहुना | 37 | 8 | a | सर्वतोऽनवमः पितुः | 55 | 2 | d |
| समो न वर्तते नूनम् | 48 | 35 | c | सर्वदेवमयेश्वरम् | 40 | 10 | b |
| सम्पन्ना प्राह केशवम् | 42 | 9 | b | सर्वद्वन्द्वसहः शान्तः | 52 | 4 | c |
| सम्पश्यतां पुरुषभूषणगात्रलक्ष्मीम् | 42 | 24 | c | सर्वप्रत्ययहेतवे | 40 | 30 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सर्वभूतक्षयाय च | 40 | 31 | b | सर्वास्ताः केशवालोक | 32 | 10 | a |
| सर्वभूतमयो नृपः | 43 | 35 | d | सर्वे जातमहोत्सवाः | 56 | 38 | d |
| सर्वभूतसुहृत्तमः | 51 | 64 | b | सर्वेन्द्रियार्था बिबुधाश्च सर्वे | 40 | 3 | c |
| सर्वभूताशयालयम् | 45 | 45 | b | सर्वे प्राणपरीप्सवः | 44 | 28 | d |
| सर्वभूतेषु दुर्हृदाम् | 54 | 42 | b | सर्वेषाञ्च देहिनाम् | 33 | 36 | d |
| सर्वमभ्युदयोचितम् | 53 | 14 | d | सर्वेषामपि देहिनाम् | 54 | 44 | b |
| सर्वमायाविनाशिनीम् | 55 | 16 | d | सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा | 46 | 42 | c |
| सर्वमायोपमर्दिनीम् | 55 | 22 | d | सर्वेषामेव भूतानाम् | 44 | 48 | a |
| सर्वलोकेश्वरेश्वर! | 34 | 16 | d | सर्वैः कामैः समार्हयत् | 53 | 35 | d |
| सर्वविद्या प्रवर्तकौ | 45 | 35 | b | स लब्धसंज्ञः पुनरुत्थितो रुषा | 37 | 6 | a |
| सर्वसत्त्वाशयार्थवित् | 36 | 35 | b | सवत्साः क्षौममालिनीः | 45 | 27 | d |
| सर्वं कथय शोभने | 58 | 19 | d | सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः | 35 | 15 | a |
| सर्वं तत्सत्यमेव हि | 60 | 49 | d | स विदित्वाऽऽत्मनः शत्रुम् | 55 | 3 | c |
| सर्वं तदमरश्रेष्ठौ | 45 | 35 | a | स वीक्ष्य क्षुल्लकान् मर्त्यान् | 52 | 2 | a |
| सर्वं नो ब्रूह्यगुह्यम् | 52 | 35 | c | स वीक्ष्य तावनुप्राप्तौ | 34 | 29 | a |
| सर्वं प्रत्यर्पयामासुः | 50 | 57 | e | सवृन्तरम्भाक्रमुकैस्सकेतुभिः | 41 | 23 | c |
| सर्वं विज्ञाय माधवः | 57 | 48 | b | सवैजयन्त्या वनमालयाऽर्पयत् | 59 | 23 | c |
| सर्वात्मने सर्वधियाञ्च साक्षिणे | 40 | 13 | b | स वै भगवतः श्रीमत् | 34 | 9 | a |
| सर्वात्मन् विश्वभावन | 49 | 11 | b | स वै भगवता तेन | 56 | 22 | a |
| सर्वात्मभावोऽधिकृतः | 47 | 27 | a | सव्यदक्षिणतोऽच्युतः | 43 | 9 | b |
| सर्वात्मा सर्वदर्शनः | 48 | 1 | b | सव्रीडमैक्षद्वक्त्रम् | 54 | 4 | c |
| सर्वाधिव्याधयोऽशुभाः | 56 | 11 | d | सव्रीडलीलोत्स्मित विभ्रमेक्षितैः | 48 | 6 | d |
| सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः | 46 | 21 | d | सव्रीडहासरुचिर | 60 | 33 | c |
| सर्वान्कामान् ददामि ते | 51 | 44 | b | सव्रीडहासोत्तभित भ्रुवेक्षती | 55 | 10 | c |
| सर्वान् दद्याति सुहृदं भजतेऽभिकामान् | 48 | 27 | c | सश्मश्रुकेशं प्रवपन् व्यरूपयत् | 54 | 35 | b |
| सर्वान् स्वाज्ञातिसम्बन्धान् | 45 | 15 | a | स श्येनवेग उत्पत्य | 44 | 21 | a |
| सर्वार्थसम्भवो देहः | 45 | 5 | a | स सत्यकामोऽनुरताबलागणः | 33 | 26 | b |
| सर्वाशिशरत्काव्यकथास्साश्रयाः | 33 | 26 | d | स सम्प्राप्य भटैर्गुप्तम् | 59 | 4 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| स सुपर्णः सुधामिव | 58 | 57 | d | संयत्तौ तावतीः कलाः | 45 | 36 | b |
| ससूतौ सपरिच्छदौ | 50 | 11 | d | संयुगाद्विरथो गतः | 57 | 17 | d |
| ससैन्ययान ध्वजवाजिसारथी | 50 | 21 | c | संयुगानि पराजितः | 54 | 13 | b |
| ससैन्ययोः सानुगयोः | 53 | 34 | c | संयुगाय समाह्वयत् | 55 | 17 | b |
| सस्त्रीकास्तच्चशोऽमलम् | 33 | 5 | d | संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः | 39 | 19 | b |
| सस्त्रीरत्नं शुचिस्मिताः | 55 | 29 | d | संरक्षणाय साधूनाम् | 50 | 9 | c |
| सस्मितं कुरुनन्दन | 58 | 39 | d | संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवताऽनुरक्ताः | 29 | 30 | d |
| सस्मितालापवीक्षितम् | 36 | 35 | d | संलक्ष्य राजन्नतिमानुषीं मतिम् | 45 | 37 | b |
| सस्वजाते न शङ्कितौ | 44 | 51 | d | संवाह्य श्रान्तमादृतः | 38 | 39 | b |
| सह गोपैर्व्रजं ययौ | 45 | 25 | d | संविष्टं कशिपौ सुखम् | 46 | 15 | b |
| सह चूडामणिं विभुः | 34 | 31 | d | संशयं छिन्धि सुव्रत | 33 | 29 | d |
| सह त्वाऽलि कुलैर्बिभ्रत् | 30 | 7 | c | संसारचक्रगतये परमेश्वराय | 49 | 29 | d |
| सह पत्न्या मणिग्रीवम् | 56 | 38 | c | संसारयति देहिनम् | 54 | 45 | d |
| सहपुत्रश्च बाह्लीकम् | 49 | 2 | a | संसिक्त रथ्याऽऽपणमार्गचत्वराम् | 41 | 22 | c |
| सहबलः स्रगवतंसविलासः | 35 | 12 | a | संस्तभ्य ईषत्कुपिता बभाषिरे | 32 | 16 | d |
| सह मात्रा सुदुःखिताः | 48 | 34 | b | संस्थापनाय धर्मस्य | 33 | 27 | a |
| सहयानः पुरीं गुहम् | 41 | 10 | b | संस्थाप्यो द्वारि रङ्गस्य | 36 | 26 | a |
| सहरामोद्धवः प्रभुः | 48 | 13 | b | संस्पर्शनिनाङ्ककृताङ्गहस्तयोः | 32 | 16 | c |
| सहरामो ययौ कुरून् | 57 | 1 | d | साकं कृष्णेन सन्नद्धः | 58 | 14 | a |
| सहसैव व्रजाङ्गनाः | 30 | 1 | b | साकं सुहृद्भिः भगवान् | 57 | 32 | c |
| सहस्रद्विपसत्त्वभृत् | 43 | 39 | d | साक्षान्मन्मथमन्मथः | 32 | 2 | d |
| सहस्रफणमौलिनम् | 39 | 45 | b | साक्षेपं रुषितः प्राह | 41 | 34 | c |
| सहस्रशिरसं देवम् | 39 | 45 | a | साग्रजस्सह गोपालैः | 41 | 12 | c |
| सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा | 32 | 16 | b | साग्रजस्सात्त्वतर्षभः | 45 | 2 | b |
| स हि जातः स्वसेतूनाम् | 60 | 2 | c | साङ्गोपनिषदो गुरुः | 45 | 33 | d |
| सहोद्धवेन सर्वेशः | 48 | 11 | c | सा च कामस्य वै पत्नी | 55 | 7 | a |
| स ह्यस्याखिलकामधुक् | 52 | 31 | d | सा च मेने तदाऽऽत्मानम् | 30 | 37 | c |
| संयत्तान् रोहिणीसुतः | 44 | 41 | b | सा चानुध्यायतो सम्यक् | 53 | 40 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सा तदर्जुसमानाङ्गी | 42 | 8 | a |
| सा तं पतिं पद्मदलायतेक्षणम् | 55 | 10 | a |
| सा तं प्रहृष्टवदनम् | 53 | 29 | a |
| सा तं विदित्वा रमणेतरं सती नितान्त | 36 | 37 | a |
| सात्यकिप्रमुखैर्वृतः | 58 | 28 | d |
| सात्त्वतां पतये नमः | 40 | 22 | d |
| सात्त्वतां प्रवर प्रभो! | 37 | 11 | d |
| साधव स्साधु साध्विति | 44 | 30 | d |
| साधितार्थोऽगृहाणां नः | 42 | 12 | c |
| साधिदैवञ्च साधवः | 40 | 5 | d |
| साधुलोकभयापह | 40 | 20 | b |
| साधूनामीश शर्मकृत् | 50 | 14 | d |
| साधूनां धर्मशीलानाम् | 46 | 17 | c |
| साधून् भूतसुहृत्तमान् | 52 | 33 | b |
| साध्यात्मं साधिभूतञ्च | 40 | 5 | c |
| साध्व्ये तच्छ्रोतुकामेन | 60 | 49 | a |
| सानङ्गतप्तकुचयोरुरसस्तथाक्ष्णोः | 48 | 8 | a |
| सानुकम्पा वरूथशः | 44 | 6 | d |
| सानुगः परपक्षगः | 44 | 33 | d |
| सानुगः स्वेन पाप्मना | 46 | 17 | b |
| सानुगेन यदूत्तमौ | 52 | 13 | b |
| सानुगो वामिदं कुलम् | 48 | 18 | b |
| सानुरागस्मितं वक्त्रम् | 58 | 3 | c |
| सानुरागस्मितेक्षणम् | 51 | 26 | b |
| सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः | 35 | 12 | b |
| सान्त्वयन् प्रियसन्देशैः | 47 | 22 | c |
| सान्त्वयस्यमराधम | 36 | 43 | b |
| सान्त्वयामासतुः कुन्तीम् | 49 | 15 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सान्त्वयामास सम्प्रेम्ण्यैः | 39 | 35 | c |
| सान्त्वयामास सान्त्वज्ञः | 60 | 28 | a |
| सान्त्वयिष्यति मां वाक्यैः | 49 | 10 | c |
| सापत्नमध्ये शोचिन्तीम् | 49 | 10 | a |
| सा मज्जनालेपदुकूलभूषण | 48 | 6 | a |
| सायन्तनाशनं कृत्वा | 39 | 3 | a |
| सारथिं प्राह सत्वरः | 54 | 21 | b |
| सारूप्यं शार्ङ्गधन्वनः | 55 | 33 | b |
| सार्वभौम महाराज | 51 | 59 | a |
| सालमण्डलमण्डिते | 36 | 32 | d |
| सालहस्तौ तरस्विनौ | 34 | 28 | b |
| सावज्ञमुत्सृज्य धनुश्शतान्तरे | 37 | 5 | c |
| सावज्ञं वाममुष्टिना | 44 | 26 | d |
| सा वधू रन्वतप्यत | 30 | 39 | d |
| सा वृष्णिपुर्युत्तभितेन्द्रकेतुभिः | 54 | 56 | a |
| सा सूदौदनसाधने | 55 | 8 | b |
| साहसादि गुणोऽगुणः | 36 | 47 | d |
| साहाय्ये कृतवर्माणम् | 57 | 11 | c |
| सिक्तमार्गा मदच्युद्भिः | 54 | 57 | a |
| सिक्तमार्गा हृष्टजनाम् | 50 | 39 | a |
| सिञ्चन्तावश्रुधाराभिः | 45 | 11 | a |
| सिञ्चाऽङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण | 29 | 35 | a |
| सिद्धार्थ एतेन विगृह्यते महान् | 59 | 41 | c |
| सिद्धैर्भुजङ्गपतिभिः | 39 | 44 | c |
| सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूयात् | 36 | 69 | c |
| सिन्धुर्विदित्वाऽर्हणमाहरत्तयोः | 45 | 38 | d |
| सिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः | 31 | 11 | c |
| सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः | 33 | 26 | c |
| सिंहनादं व्यनीनदत् | 59 | bet | n |
| | | 14 & 15 | |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सिंहस्सिंहमिवौजसा | 50 | 31 | d | सुपर्णतालध्वजचिह्नितौ रथौ | 50 | 22 | a |
| सिंहः क्षुद्रमृगानिव | 58 | 54 | d | सुपुण्यर्त्वक्ष ऊर्जिते | 58 | 29 | b |
| सिहो यथा स्वबलिमीश पशून् स्वभागम् | 60 | 40 | c | सुप्रतीकं ततोऽपरान् | 59 | 37 | d |
| सीदन्ति तेऽनु पदवीं त इहास्थितः किम् | 60 | 41 | d | सुभ्रूनसं चारुकर्णम् | 39 | 47 | c |
| सुकपोलं शुचिस्मितम् | 51 | 3 | b | सुमध्यमां कुण्डलमण्डिताननाम् | 53 | 51 | b |
| सुकपोलारुणाधरम् | 39 | 47 | d | सुमनस इव सवस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक् | 47 | 13 | b |
| सुखदुःखप्रदो नान्यः | 54 | 38 | c | सुमनस्स्विव षट्पदैः | 47 | 6 | d |
| सुखं प्रभाता रजनीयमाशिषः | 39 | 23 | a | सुमुखौ सुन्दरवरो | 38 | 29 | c |
| सुखं वसन्ति विषये | 52 | 34 | c | सुमृष्टविरजोऽम्बराः | 59 | 36 | b |
| सुखाय दुःखप्रभवेषु सज्जते | 51 | 46 | c | सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिकाः | 31 | 2 | c |
| सुखोपविष्टः पर्यङ्के | 39 | 1 | a | सुरतवर्धनं शोकनाशनम् | 31 | 14 | a |
| सुता महिष्यो भवतः | 51 | 18 | a | सुरद्रुमलतोद्यान | 50 | 52 | a |
| सुता वानकदुन्दुभेः | 36 | 22 | d | सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रिताऽर्थदः | 38 | 22 | d |
| सुतावान कदुन्दुभेः | 36 | 26 | d | सुरभ्यनिलषट्पदम् | 32 | 12 | d |
| सुतावानकदुन्दुभेः | 36 | 62 | b | सुराणां महदन्तरं शुभे | 36 | 39 | d |
| सुतावानकदुन्दुभेः | 39 | 42 | b | सुराणां महदर्थाय | 46 | 23 | c |
| सुतां च मद्राधिपतेः | 58 | 57 | a | सुरेशैर्ह्यास्त्रद्राद्यैः | 39 | 53 | c |
| सुदर्शन इति श्रुतः | 34 | 12 | b | सुलभा वयं न च | 36 | 39 | b |
| सुदर्शनो दिवं यातः | 34 | 18 | c | सुवासः मगलङ्कृताः | 58 | 49 | d |
| सुदामा प्रीतिमानसः | 41 | 49 | b | सुषुप्तिस्वप्नजाग्रद्भिः | 47 | 31 | c |
| सुदुष्करासौ सुतरां दुराशिषो हि | 60 | 54 | c | सुसम्पद्य विसृज्य च | 59 | 2 | f |
| सुद्विजां रुचिराननाम् | 58 | 18 | b | सुसाधुकृत्यं विबुधायुषाऽपि वः | 32 | 22 | b |
| सुधर्मा पारिजातश्च | 50 | 55 | a | सुस्नातां सुदतीं कन्याम् | 53 | 11 | a |
| सुधां नयन भाजनैः | 32 | 4 | b | सुस्मितं रुचिराननम् | 55 | 27 | d |
| सुनन्दनन्दप्रमुखैः | 39 | 53 | a | सुहृत्तमं ज्ञातिमनन्यदैवतम् | 38 | 20 | a |
| सुनसं सुस्मितेक्षणम् | 46 | 19 | d | सुहृत्सु वृत्तिं कंसस्य | 39 | 3 | c |
| सुन्दरभ्रुकुटीतटम् | 60 | 30 | d | सुहृदमभ्यवर्षत् सुमनोभिः | 35 | 13 | c |
| सुपर्ण इव लीलया | 43 | 8 | d | सुहृदां भद्रमज्ञवत् | 54 | 42 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सुहृदो ज्ञातयोऽशोचन् | 56 | 35 | c |
| सुहृदो जगदात्मनोः | 41 | 47 | b |
| सुहृदुर्ह्युदासीनः | 54 | 43 | c |
| सुहृद्भिश्च सुहृत्तम | 41 | 12 | d |
| सुहृद्भिश्चानुमोदितः | 58 | 28 | b |
| सुहृद्भिस्समनुज्ञातः | 49 | 30 | c |
| सुहृन्मरणदुःखिताः | 44 | 43 | b |
| सूकरान् महिषान् रुरून् | 58 | 15 | b |
| सूतमागधवन्दिनः | 53 | 43 | d |
| सूतमागधवन्दिभिः | 50 | 37 | d |
| सूदा महानसं नीत्वा | 55 | 5 | c |
| सूर्यश्चास्तगिरिं नृप! | 38 | 24 | d |
| सूर्यस्तुष्टः स्यमन्तकम् | 56 | 3 | d |
| सूर्यस्सोमो महेन्द्रो वा | 51 | 29 | c |
| सूर्यानलौ वायुरिवाप्रेरणुभिः | 50 | 21 | d |
| सूर्ये चाद्भ्यस्समुत्थिते | 42 | 32 | b |
| सूर्यो नमो नाभिरथो दिशः श्रुतिः | 40 | 14 | b |
| सूर्योपरिष्टात् सतटिद्घनं यथा | 59 | 15 | h |
| सृगालमध्यादिव भागहृद्धरिः | 53 | 56 | f |
| सृजत्यत्त्यवतीश्वरः | 60 | 2 | b |
| सृजत्यवति हन्ति च | 57 | 19 | b |
| सृजत्यवति हन्त्यजः | 46 | 40 | d |
| सृजस्यत्स्यवसीश्वरः | 37 | 13 | d |
| सृजस्यथो लुम्पसि पासि विश्वम् | 48 | 22 | a |
| सृजे हन्म्यनुपालये | 47 | 30 | b |
| सृज्यानामपि यच्च सत् | 56 | 27 | b |
| सृष्ट्वा गुणान्विभजते तदनुप्रविष्टः | 49 | 29 | b |
| सेतुः कृतः स्वयशोऽवतिता च तद्वा | 56 | 28 | c |
| सेतूनां रक्षणाय च | 37 | 14 | d |
| सैन्येन महता वृतः | 58 | 34 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सैरन्ध्र्याः कामतप्तायाः | 48 | 1 | c |
| सैवं कैवल्यनाथं तम् | 48 | 9 | a |
| सैवं भगवता राजन् | 60 | 32 | a |
| सैवं शनैश्चलयती चलपद्मकोशौ | 53 | 54 | a |
| सोऽक्रूरस्स्नेहविह्वलः | 38 | 34 | b |
| सोऽक्रूरो विमना इव | 41 | 18 | b |
| सोऽग्निस्तुष्टो धनुः | 58 | 26 | a |
| सोऽधिक्षिप्तो दुर्वचोभिः | 55 | 18 | a |
| सोऽनुध्यायंस्तदेवाघम् | 56 | 41 | a |
| सोऽपविद्धो भगवता | 36 | 12 | a |
| सोपश्रुत्य मुकुन्दस्य | 52 | 23 | a |
| सोपाच्युतं क्वणयती मणिनूपुराभ्याम् | 60 | 5 | a |
| सोपाध्यायास्समाविशन् | 42 | 36 | d |
| सोऽपि कृष्णोद्यमं ज्ञात्वा | 57 | 15 | a |
| सोऽपि चक्रे कुमारस्य | 56 | 15 | d |
| सोऽपि चान्तर्हितं वीक्ष्य | 41 | 2 | a |
| सोऽपि दग्धाविति मृषा | 52 | 14 | a |
| सोऽपि नावर्ततेऽ चापि | 53 | 23 | e |
| सोऽपि प्रविष्टस्तत्राऽन्यम् | 51 | 9 | c |
| सोऽपि भस्मीकृतो नूनम् | 51 | 34 | a |
| सोऽपि वव्रेऽचलां भक्तिम् | 41 | 51 | a |
| सोऽप्यस्य वक्त्रे भुजमुत्तरं स्मयन् | 37 | 6 | c |
| सोऽप्याह को विरुध्येत | 57 | 18 | c |
| सोऽप्येवं कोपितोऽरिष्टः | 36 | 9 | a |
| सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः | 33 | 24 | a |
| सोष्णीषाणि च कोटिशः | 54 | 7 | d |
| सोऽहं तवाङ्घ्रयुपगतोऽस्म्यसतां दुरापम् | 40 | 29 | a |
| सोऽहं तवाऽनुग्रहार्थम् | 51 | 43 | a |
| सौनपाला इवावयः | 38 | 41 | d |
| सौवर्णशृङ्गाटकहर्म्यनिष्कुटैः | 41 | 21 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सौहृदञ्च सुमध्यमाः | 32 | 19 | d | स्थेयं स्त्रीभिस्सुमध्यमाः | 29 | 19 | d |
| स्कन्ध आरुह्यतामिति | 30 | 39 | b | स्नातौ विरजवाससौ | 38 | 31 | d |
| स्तनौ चोपहतौ शुचा | 60 | 27 | b | स्नानं विधिवदाचरत् | 39 | 40 | d |
| स्तब्धासृग्लोचनोऽच्युतम् | 36 | 10 | b | स्निग्धहासावलोकनम् | 39 | 17 | b |
| स्तुवतस्तस्य भगवान् | 41 | 1 | a | स्निग्धापाङ्गेन भारत! | 60 | 33 | d |
| स्तुवद्भिः कुसुमोत्करैः | 55 | 25 | b | स्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः | 33 | 17 | b |
| स्तूयमानमहीश्वरम् | 39 | 44 | b | स्नेहपाशेन संवृतौ | 45 | 11 | b |
| स्तूयमानस्सुरैर्गोपैः | 37 | 34 | c | स्नेहप्लिन्नहृदयः | 58 | 52 | c |
| स्तूयमानं पृथग्भावैः | 39 | 54 | c | स्नेहस्नुत पयोधराः | 46 | 28 | d |
| स्तूयमानः स्वजातिभिः | 36 | 15 | b | स्नेहस्नुतपयोधराः | 55 | 30 | d |
| स्त्रियमकृतविल्पाम् स्त्रीजितःकामयानाम् | 47 | 17 | b | स्नेहानुबन्धो बन्धूनाम् | 47 | 5 | c |
| स्त्रियं गृहीताङ्गविलेपभाजनाम् | 42 | 1 | b | स्पर्शेन सौगन्धिकगन्ध्यपानुदत् | 38 | 17 | d |
| स्त्रियः पुराट्टालकहर्म्यगोपुरम् | 50 | 22 | c | स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि | 30 | 10 | b |
| स्त्रीजनै र्बद्धसौहृदैः | 34 | 21 | b | स्पृशेन्मल सभासदः | 43 | 38 | d |
| स्त्रीणाञ्च न तथा चेतः | 47 | 35 | c | स्पृश्यमानः पदे पदे | 43 | 10 | d |
| स्त्रीणामेव रुदन्तीनाम् | 39 | 32 | a | स्पृहयतीर्यमिवाऽबहुपुण्याः | 35 | 7 | c |
| स्त्रीणां गृहेषु खरगोश्वबिडालभृत्याः | 60 | 44 | b | स्पृहाञ्चक्रे मणौ तस्मिन् | 57 | 48 | a |
| स्त्रीणां चापि दुरात्मताम् | 30 | 36 | d | स्फाटिकाट्टालगोपुरैः | 50 | 52 | d |
| स्त्रीणां विक्रोशमानानाम् | 57 | 6 | a | स्फुरन्मकरकुण्डलम् | 51 | 3 | d |
| स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् | 29 | 32 | b | स्फुरन्मकरकुण्डलम् | 51 | 25 | d |
| स्त्रीरत्नं रत्नमेव च | 56 | 43 | b | स्फुरिताधरमीक्षितुम् | 60 | 30 | b |
| स्त्रीरत्नै रन्वितः प्रीतैः | 33 | 2 | c | स्मयन् कृष्णो धनुश्छित्वा | 54 | 26 | c |
| स्त्रीषु योगेश्वरो हरिः | 44 | 17 | b | स्मयन्ती जातहृच्छया | 42 | 9 | d |
| स्थविर गञ्यकामुकम् | 36 | 66 | b | स्मयन् परिष्वज्य गृहीत मञ्जलौ | 38 | 23 | b |
| स्थातु त्वयाऽभिगमिता बत पारयामः | 29 | 36 | d | स्मयमान उवाच ह | 57 | 39 | d |
| स्थानाय सत्त्वं जगतो जगत्पते | 59 | 29 | c | स्मयमानमुखाम्बुजः | 32 | 2 | b |
| स्थापितः सत्यभामायाः | 59 | 40 | a | स्मरणीयं न चक्ष्महे | 47 | 5 | b |
| स्थास्नु श्वरिष्णुर्महदल्पकञ्च | 46 | 43 | b | स्मरतां कृष्णवीर्याणि | 46 | 21 | a |
| स्थित्युद्भवान्तं भुवनत्रयस्य यः | 50 | 30 | a | स्मरति स पितृगेहान् सौम्य बन्धूंश्च गोपान् | 47 | 21 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| स्मरन्ती तान् बहून् क्लेशान् | 58 | 8 | c |
| स्मरन्त्यश्चापराश्चीरैः | 39 | 16 | a |
| स्मरन्त्यश्रुकलेक्षणा | 49 | 7 | d |
| स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति | 46 | 5 | c |
| स्मरन् विरूपकरणम् | 54 | 51 | c |
| स्मरुज उपमन्त्रिन् भण्यतामन्यवार्ता | 47 | 19 | d |
| स्मितावलोकारुणकञ्जलोचनम् | 38 | 9 | b |
| स्यन्दनं गान्दिनीसुतः | 41 | 6 | b |
| स्यन्दनै र्हेममालिभिः | 53 | 15 | b |
| स्यमन्तकस्य च मणेः | 37 | 19 | a |
| स्यमन्तकं दर्शयित्वा | 57 | 44 | e |
| स्यमन्तकं कुतस्तस्य | 56 | 2 | c |
| स्यमन्तकेन मणिना | 56 | 1 | c |
| स्यमन्तको मणिः श्रीमान् | 57 | 40 | c |
| स्यातां निकामं त्वयि नोऽविवेक्रः | 48 | 23 | d |
| स्यादेवाऽच्युतदर्शनम् | 38 | 5 | b |
| स्यान्मे तवाङ्घ्रिरणं सृतिभिर्भ्रमन्त्या | 60 | 43 | c |
| स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः | 41 | 44 | d |
| स्रग्गन्धताम्बूलसुधासवादिभिः | 48 | 6 | b |
| स्रग्गन्धमाल्याभरणैः | 53 | 9 | a |
| स्रग्गन्धवस्त्राभरणैः | 53 | 42 | c |
| स्रग्गन्धैरपि मण्डितम् | 48 | 3 | b |
| स्रग्गन्धैरप्युपायनैः | 41 | 30 | b |
| स्रग्गन्धैस्साध्वजोऽर्चितः | 42 | 13 | d |
| स्रग्विणौ वनमालिनौ | 38 | 31 | b |
| स्रग्विणौ विरजोऽम्बरौ | 34 | 21 | d |
| स्रजा हत इव द्विपः | 44 | 22 | b |
| स्रवन्ति स्म भवेन वै | 36 | 3 | d |
| स्रस्तकेशस्रजं ततः | 34 | 24 | d |
| स्रस्तस्रजो भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम् | 33 | 16 | d |
| स्रंसद्दुकूलमात्मानम् | 34 | 24 | c |
| स्रंसद्दुकूलवलय | 39 | 14 | c |
| स्वकर्म बन्धप्राप्तोऽयम् | 50 | 34 | c |
| स्वकृत इह विसृष्टपत्यपत्यन्य तोका | 47 | 16 | c |
| स्वगृहान्भगवत्प्रियाः | 33 | 39 | d |
| स्वजनञ्च भयाकुलम् | 50 | 5 | d |
| स्वजन हृद्रुजां यन्निषूदनम् | 31 | 18 | d |
| स्वजनान् भवनानि च | 47 | 26 | b |
| स्वजनान् सकृदीक्षितुम् | 46 | 19 | b |
| स्वजन्म कर्म गोत्रं वा | 51 | 31 | c |
| स्वजन्माऽऽनकदुन्दुभेः | 39 | 9 | d |
| स्वतल्पस्थं जगद्गुरुम् | 60 | 1 | b |
| स्वतेजसा नित्यनिवृत्तमाया | 37 | 23 | c |
| स्वतेजसापास्ततमोभिदाभ्रमः | 38 | 11 | b |
| स्वदास्यमद्धोपगता नवप्रियः | 39 | 22 | d |
| स्वधर्मविमुखस्तमः | 49 | 24 | d |
| स्वधामागमद्वृद्धिमत् | 48 | 11 | d |
| स्वपदानामदर्शनम् | 42 | 29 | d |
| स्वपन्तं यस्त्वचेतनः | 51 | 22 | b |
| स्वपन्त्य उत्थाय निशाम्य निस्वनम् | 41 | 26 | c |
| स्वपुरं तेन संरुद्धम् | 50 | 5 | c |
| स्वपुरं पुनरायतौ | 52 | 13 | c |
| स्वप्नजागरितानि च | 42 | 31 | b |
| स्वप्नमायामनोरथम् | 49 | 25 | b |
| स्वप्ने प्रेतपरिष्वङ्गः | 42 | 30 | a |
| स्वप्रस्थाने यदूत्तमः | 39 | 35 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| स्वबुद्धया तमपण्डितम् | 49 | 23 | b |
| स्वमाययात्मन्नचितैस्तदीक्षया | 38 | 11 | c |
| स्वमासं खादयन्ति हि | 45 | 6 | d |
| स्वमुष्ठ्याभिहतेन वै | 44 | 24 | b |
| स्वयञ्चाऽपृच्छदव्ययम् | 49 | 3 | d |
| स्वयमुद्यम्य दत्तवान् | 56 | 1 | d |
| स्वयकिल्बिषमादाय | 49 | 24 | a |
| स्वयवरे जहारैकः | 58 | 57 | c |
| स्वयवरे स्वभगिनीम् | 58 | 30 | c |
| स्वरजाती रमिश्रिताः | 33 | 10 | b |
| स्वरतो रमया रेमे | 60 | 58 | c |
| स्वरमण्डलमूर्छितम् | 34 | 23 | d |
| स्वरहासावलोकनैः | 55 | 33 | d |
| स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम् | 31 | 14 | b |
| स्वर्णप्रतीतिर्वृक्षेषु | 42 | 29 | c |
| स्वर्यातास्सगरात्मजाः | 41 | 15 | d |
| स्वर्योषिता नलिनगन्धरुचा कुतोऽन्याः | 47 | 60 | b |
| स्वलङ्कृतद्वारगृहा सपट्टिकैः | 41 | 23 | d |
| स्वलङ्कृतमुखाम्भोजम् | 55 | 28 | a |
| स्वलङ्कृतानुलिप्ताङ्गौ | 34 | 21 | c |
| स्वलङ्कृताभिर्गोपीभिः | 46 | 11 | c |
| स्वलङ्कृतेभ्यस्सम्पूज्य | 45 | 27 | c |
| स्वलङ्कृतौ बालगजौ | 41 | 41 | c |
| स्ववर्णतरशोभिना | 42 | 5 | b |
| स्वविक्रमे प्रतिहते | 43 | 12 | a |
| स्वसन्तानयुता शिवाम् | 53 | 46 | b |
| स्वसा मे प्रसभं हृता | 54 | 22 | d |
| स्वसुतां गान्दिनीं प्रादात् | 57 | 36 | c |
| स्वसेतुपालामरवर्यशर्मकृत् | 38 | 13 | b |
| स्वसैन्यमालोक्य सुरासुरर्चितम् | 50 | 23 | c |
| स्वस्था भव शुचिस्मिते | 54 | 49 | d |
| स्वस्रीयौ पृथिवीपतेः | 36 | 27 | d |
| स्वाख्याने नाऽशकन्नृप | 38 | 35 | d |
| स्वागतं भद्रमस्तु वः | 39 | 4 | b |
| स्वागतं ते महाभागाः | 29 | 18 | a |
| स्वानां नस्ततप्रजासु च | 39 | 5 | d |
| स्वानां परममङ्गलम् | 58 | 29 | f |
| स्वानां प्रियचिकीर्षया | 58 | 25 | b |
| स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः | 32 | 22 | b |
| स्वानीकपानच्युतचक्रसायकैः | 59 | 14 | g |
| स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः | 33 | 38 | d |
| स्वार्थमध्यगमद्विभुः | 36 | 61 | d |
| स्वार्थार्थं तद्धि नाऽन्यथा | 32 | 18 | d |
| स्वार्थे कान्तोद्यमाहिते | 32 | 18 | b |
| स्वावताराप्रयोजनम् | 50 | 6 | d |
| स्वाशेन बलकेशनौ | 38 | 32 | d |
| स्वाशेन भारमपनेतुमिहाऽसि भूमेः | 48 | 25 | b |
| स्विद्यन्मुख्यः कबरशनाग्रन्थयः | 33 | 8 | c |
| स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमानाः | 33 | 35 | c |
| स्वैरिणी प्राह पिङ्गला | 47 | 47 | b |
| स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैः | 32 | 14 | c |
| स्वैः स्वैर्बलैः परिक्रान्ता | 54 | 1 | c |
| **ह** | | | |
| हतद्विषाद्विषड्यज्ञहाकुलाः | 50 | 26 | d |
| हतशेषाः पुनस्तैऽपि | 54 | 17 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| हतं कुवलयापीडम् | 43 | 18 | a | हन्येतामिति तावहम् | 36 | 53 | d |
| हतं प्रलेनमश्वं च | 56 | 18 | a | हन्येतां मल्ललीलया | 36 | 23 | d |
| हतं वीक्ष्य शुचाऽर्पिता | 57 | 7 | b | हयशीर्ष्णे नमस्तुभ्यम् | 40 | 18 | c |
| हतः किं हन्यते पुनः | 54 | 39 | d | हयाञ्छ्लक्ष्णान्मनोजवान् | 50 | 56 | d |
| हतानां समकारयत् | 44 | 49 | d | हयाञ्छ्वेतान् रथं नृप! | 58 | 56 | d |
| हतानीकावशिष्टासु | 50 | 31 | c | हरन्त्यन्येऽल्पमेधसः | 49 | 22 | b |
| हतान्मुरसुतान्सर्वान् | 59 | 14 | e | हरिणाञ्छदाशल्लकान् | 58 | 15 | d |
| हता येनेह लीलया | 46 | 26 | d | हरिणा स पदे पदे | 51 | 7 | b |
| हतेषु मल्लवर्येषु | 44 | 31 | a | हरिदासो व्रजौकसाम् | 47 | 56 | d |
| हतेषु सर्वानीकेषु | 50 | 35 | a | हरिमुपासत ते यतचित्ताः | 35 | 11 | c |
| हतेषु स्वेष्वनीकेषु | 50 | 43 | c | हरि र्दारुक सारथिः | 50 | 16 | d |
| हतौजसो महाभाग | 51 | 35 | c | हरिर्यथेभं जगतो विपश्यतः | 44 | 38 | b |
| हत्वा कंसं रङ्गमध्ये | 46 | 35 | a | हरिष्येऽद्य मदं मन्द | 54 | 25 | c |
| हत्वा केशिनमाहवे | 37 | 26 | b | हरिस्तान्यच्छिनत्तीक्ष्णैः | 59 | 17 | c |
| हत्वा तं जलवासिनम् | 45 | 42 | b | हरिः कारणमानुषः | 50 | 6 | b |
| हत्वा न जायते दोषाः | 36 | 53 | a | हरिः परानीकपयोमुचांमुहुः | 50 | 23 | a |
| हत्वा पशून् सौनिकवत् | 57 | 6 | c | हरिः शराभ्यामभिनत्त्रिधौजसा | 59 | 9 | b |
| हत्वा भोक्ष्ये महीं नृपान् | 36 | 67 | f | हरेर्नारायणस्य हि | 43 | 23 | b |
| हत्वा म्लेच्छबलं निन्ये | 52 | 5 | c | हरेर्विश्वात्मनो गिरा | 45 | 10 | b |
| हत्वा शालामुखात्ततः | 42 | 21 | b | हरेश्चित्तमजानती | 57 | 47 | b |
| हनिष्यामि बलं ह्येतत् | 50 | 7 | a | हरौ भूमिगते नृप | 50 | 57 | f |
| हन्त चित्रमबलाः शृणुतेदम् | 35 | 4 | a | हर्तुं कृतमतिस्तस्मिन् | 56 | 20 | c |
| हन्त मीलितदृशो धृतमौनाः | 35 | 11 | d | हर्म्याणि चैवाऽऽरुरुहुर्नृपोत्पुकाः | 41 | 24 | d |
| हन्तुं नार्हसि कल्याण | 54 | 33 | c | हर्षयन् यर्हि वेणुरवेण | 35 | 12 | c |
| हन्तुं हर्तुं च तं मणिम् | 57 | 10 | d | हसितप्रेक्षणं मुखम् | 43 | 28 | b |
| हन्यता माश्वसत्तमः | 44 | 33 | b | हसितं भासितञ्चाङ्ग! | 46 | 21 | c |
| हन्यमान बलानीकाः | 54 | 9 | a | हस्तप्राप्तमिवाऽऽत्मानम् | 51 | 7 | a |
| हन्यमानौ स्वदारकौ | 36 | 56 | b | हस्ताच्छत्रधृतयतो व्यजनं पपात | 60 | 24 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| हस्ताभ्यां हस्तयोर्बद्ध्वा | 44 | 2 | a |
| हस्ताः सासिगदेष्वासाः | 54 | 8 | a |
| हंसकारण्डवाकीर्णैः | 46 | 13 | c |
| हा कष्टमिति होचतुः | 57 | 2 | d |
| हा नाथ प्रियधर्मज्ञ | 44 | 45 | a |
| हा नाथ! रमण! प्रेष्ठ! | 30 | 40 | a |
| हारनूपुरकुण्डलैः | 39 | 51 | d |
| हास हास उरसि स्थितविद्युत् | 35 | 4 | b |
| हासलीलावलोकनैः | 47 | 51 | b |
| हाससंरम्भशोभनम् | 44 | 12 | d |
| हासावलोककलगीतज हृच्छयाग्निम् | 29 | 35 | b |
| हासावलोक नवसङ्गमजल्पलज्जाः | 59 | 44 | d |
| हासोदारेक्षणार्चितः | 47 | 40 | d |
| हस्तिपञ्चाऽहनद्धरिः | 43 | 14 | d |
| हास्यप्रौढिमजानन्त्याः | 60 | 25 | c |
| हास्यप्रौढिर्ममचित्ताम् | 60 | 28 | c |
| हा हतास्मीति मुह्यती | 57 | 7 | d |
| हा हेति शब्दस्सुमहांस्तदाऽभूत् | 44 | 38 | c |
| हाहेति साध्वित्युषयः सुरेश्वराः | 59 | 22 | c |
| हित्वा गोपीः कामयानाः | 30 | 37 | e |
| हित्वा दम्भं भियं शुचम् | 38 | 27 | b |
| हित्वा भवद्भुव उदीरित कालवेग | 60 | 39 | c |
| हित्वा वा मच्छरै श्छिलनम् | 50 | 19 | c |
| हित्वाऽवृणीत यूय यत् | 47 | 26 | c |
| हित्वाऽहं त्वा पराङ्मुखः | 40 | 27 | d |
| हित्वेतरांस्तु भजतश्चकमे नु यच्छ्रीः | 42 | 24 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| हिरण्यरूप्यवासांसि | 53 | 13 | a |
| हृतकुण्डलबन्धुना | 59 | 2 | b |
| हृतदारमिवातुरम् | 54 | 10 | b |
| हृतामराद्रिस्थानेन | 59 | 2 | c |
| हृत्वा तोकमनिर्दशम् | 55 | 3 | b |
| हृदयानि मनस्विनाम् | 59 | 5 | b |
| हृदयेन विदूयता | 42 | 35 | d |
| हृदि कृत्यनिमील्य च | 32 | 9 | b |
| हृदि न स्थीयते चले | 49 | 27 | b |
| हृदि वित्रासवेपथुः | 50 | 17 | b |
| हृदि स्पृशश्चित्रपदाः | 39 | 16 | c |
| हृद्वेगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः | 33 | 40 | d |
| हृषीकेश नमस्तुभ्यम् | 40 | 31 | c |
| हृष्टरोमा चुचुम्ब ह | 33 | 12 | d |
| हृष्यत्तनूरुहो भाव | 39 | 56 | c |
| हृष्यत्त्वचो जहुरन्तमरिन्दमाधिम् | 41 | 28 | d |
| हे कृष्ण पुरुषाधम | 50 | 17 | d |
| हे नन्दसूनो! हे राम! | 43 | 32 | a |
| हे नाथ! हे रमानाथ! | 47 | 52 | a |
| हेमकुम्भैरलङ्कृतैः | 50 | 53 | b |
| हेमशृङ्गैर्दिवि स्पृग्भिः | 50 | 52 | c |
| हेलनं रामकृष्णयोः | 57 | 16 | b |
| हैयङ्गवमुषन्त्विति | 10 | 23 | d |
| ह्रियमाणमितस्ततः | 40 | 28 | d |
| ह्रियमाणः कालनद्या | 38 | 5 | c |

# व्याख्यानोद्धृतानां प्रमाणवचनानां आकरनिर्देशनी

## दशमः स्कन्धः द्वितीयो भागः (29 अध्यायाप्रभृतिः 60 अध्यायपर्यन्तः)

| Serial No | Adhyaya No | Sloka No | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc | Page No |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | अ | | | |
| 1 | 45 | 24 | अकुप्यं रूप्यहेमादि (हेमाख्यं) | विज० | हला० को० 1-81 | 285 |
| 2 | 60 | 38 | अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत | विज० | | 611 |
| 3 | 49 | 23 | अग्निं वागप्येति वातं प्राणः | विज० | बृह० उ० 3-2-13 | 373 |
| 4 | 60 | 35 | अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः | विज० | कठ० उ० 4-12 | 606 |
| 5 | 37 | 11 | अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः | विज० | कठ० उ० 4-12 | 144 |
| 6 | 50 | 4/8-13 | अज मनिद्र मस्वप्नम् | विज० | अद्वै० उ० 36 | |
| 7 | 46 | 31 | अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां | विज | म० ना० उ० 84 | 304 |
| 8 | 56 | 8 | अजाय लोकत्रयपा (भवनाय) | विज | भार० 1-1737-3 | 523 |
| 9 | 32 | 13 | अणुस्तरङ्गो लोलः स्यात् | विज० | गोपालः | 64 |
| 10 | 60 | 46 | अथ त्रिगुणो ह्येव प्रकृति | विज | चाक्रायणश्रुतिः | 616 |
| 11 | 60 | 46 | अथाऽतो भक्तिमीमांसा | विज | | 616 |
| 12 | 60 | 42 | अथाऽऽत्मनोऽनुरूपम् | श्रीध | भाग० 10-60-17 | 612 |
| 13 | 60 | 42 | अथाऽऽत्मनोऽनुरूपम् | वीर० | भाग० 10-60-17 | 613 |
| 14 | 60 | 47 | अथाऽऽत्मनोऽनुरूपम् | वीर० | भाग० 10-60-17 | 616 |
| 15 | 40 | 5 | अथाऽध्यात्मम् य एषो० | वीर० | छान्दो० उ० 1-7-5 | 196 |
| 16 | 33 | 31 | अदर्शनं लोपः | विज० | अष्टा० 1-1-60 | 85 |
| 17 | 39 | 22 | अद्धा प्रत्यक्षसत्ययोः | विज० | वैज० को० 8-7-12 | 180 |
| 18 | 42 | 33 | अद्भ्योयो वा | श्रीध० | छान्दो० उ० 7-10-2 | 241 |
| 19 | 42 | 24 | अद्य ध्रुवं तत्र दशो भवि० | श्रीध० | भाग० 10-39-25 | 238 |
| 20 | 42 | 24 | अद्य ध्रुवं तत्र दशो भवि० | वीर० | भाग० 10-39-25 | 239 |
| 21 | 52 | before 7 | अद्रयोऽर्क गिरिद्रुमाः | विज० | वैज० को० 6-1-4 | 450 |
| 22 | 36 | 43 | अधमौ गर्हितन्यूनौ | विज० | वैज० को० 7-4-1 | 129 |
| 23 | 33 | 7 | अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य | विज | कुमारसं० 1-2 | 75 |
| 24 | 59 | 28 | अनन्ता वै वेदाः | विज | तैत्ति० यजु० का० 1-44 | 584 |
| 25 | 58 | 19 | अनवाप्तपतिः कन्या जात | विज | उत्पलमाला | 558 |
| 26 | 31 | 4 | अनश्नन्न्यो अभिचाकशीति | विज० | मुण्ड० उ० 3-1-1 | 49 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 27 | 48 | 21 | अनशनन्योभिचाकशीति | वीर० | मुण्ड० उ० 3-1-1 | 356 |
| 28 | 40 | 13 | अ निषेधे पुमान्विष्णौ | विज० | वैज० को० 8-7-10 | 203 |
| 29 | 39 | 8 | अनुबन्धे दोषभावे (दोषोत्पादेऽनुबन्धः स्यात्) | विज० | अम० को० 3-255 | 175 |
| 30 | 48 | 27 | अनृतं नोक्तपूर्वं मे | वीर | रामा० 1-58-19, 4-7-22, 4-14-14, 6-48-29 | 359 |
| 31 | 48 | 20 | अनृतेन हि प्रत्यूनः वाचा० | विज | | 354 |
| 32 | 30 | 4 | अन्तर्बहिश्चतत्सर्वं | विज० | मना० उ० 9-5 | 28 |
| 33 | 50 | 4 14v | अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं | विज | म० ना० उ० 9-5 | 417 |
| 34 | 47 | 33 | अन्तोऽस्त्र्यवसिते मृत्यौ | विज | वैज० को० 6-5-5 | 332 |
| 35 | 47 | 31 | अन्योन्तर आत्मा विज्ञान | वीर० | तैत्ति० उ० 2-3 | 331 |
| 36 | 33 | 18 | अप परीवर्जने | विज० | अष्टा० 1-4-88 | 79 |
| 37 | 49 | 12 | अपवर्गः क्रियासाध्य | विज | वैज० को० | 369 |
| 38 | 42 | 30 | अभयं नलदं सेव्यम् | विज | अम० को० 2-210 | 240 |
| 39 | 45 | 4 | अभयं प्रतिष्ठां विन्दते | विज० | तैत्ति० उ० 2-7 | 278 |
| 40 | 60 | 43 | अभ्रमा भ्रमता मत्ती | विज | नारदीये | 614 |
| 41 | 60 | 48 | अमुग्धैव तु मुग्धेव | विज० | कापिलेये | 617 |
| 42 | 49 | 26 | अमृतं व्योम्नि देवाने | विज | वैज० को० 7-5-7 | 376 |
| 43 | 48 | 20 | अय मात्मा ब्रह्म | वीर | माण्डू० उ० 2 | 354 |
| 44 | 32 | 20 | अर्श आद्यच् | वीर | अष्टा०5-2-127 | 67 |
| 45 | 33 | 18 | अलन्तु भूषणे शक्तौ | विज | वैज० को० 8-7-13 | 79 |
| 46 | 40 | 6 | अस्त्री वितान मुल्लोचे | विज० | वैज० को० 7-5-76 | 198 |
| 47 | 60 | 50 | अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते | वीर | भाग० 10-60-46 | 616 |
| 48 | 60 | 36 | अस्पष्टवर्त्मनां पुंसां | श्रीध | भाग० 10-60-13 | 608 |
| 49 | 40 | 4 | अहं परो हि मद्भिन्ना | विज | स्कान्दे | 197 |
| 50 | 38 | 11 | अहं ब्रह्माऽस्मि | विज | बृह० उ० 1-4-10 | 157 |
| 51 | 53 | 11 | अंशुकं केवले सूक्ष्म | विज | वैज० को०7-3-1 | 475 |
| | | | **आ** | | | |
| 52 | 40 | 2 | आकाशो वै नाम नामरूपयोः | विज० | छान्दो० उ० 8-14-1 | 197 |
| 53 | 60 | 59 | आङ् उद्गमने | विज० | अष्टा० 1-3-40 | 621 |
| 54 | 36 | 3 | आ चतुर्थात् भवेत्प्रावः | श्रीध | | 117 |
| 55 | 36 | 3 | आ चतुर्थात् भवेत्प्रावः | वीर० | | 177 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc | Page No |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 56 | 32 | 13 | आचितं छन्नसिक्तयोः | विज | | 64 |
| 57 | 30 | 36 | आत्मरति रात्मक्रीडः | विज० | छान्दो० उ० 7-25-2 | 42 |
| 58 | 37 | 11 | आत्मन आकाशस्सम्भूतः | वीर० | तैत्ति० उ० 2-1-1 | 143 |
| 59 | 40 | 3 | आत्मन आकाश स्सम्भूतः | विज० | तैत्ति० उ० 2-1-1 | 197 |
| 60 | 37 | 11 | आत्मन् एष प्राणो जायते | विज० | | 144 |
| 61 | 29 | 1 | आत्मन्यवरुद्धसौरतः | श्रीध | भाग० 10-33-26 | 2 |
| 62 | 44 | 10 | आत्म सर्वाङ्ग सम्बन्ध | विज० | | 262 |
| 63 | 29 | 1 | आत्मारामोऽ प्यरीरमत् | श्रीध | भाग० 10-29-42 | 2 |
| 64 | 37 | 24 | आदिनो राक्षसाः प्रोक्ताः | विज | ब्राह्मे | 148 |
| 65 | 35 | 10 | आदृतौ सादरार्चितौ | विज० | वैज० को० 7-4-2 | 106 |
| 66 | 60 | 45 | आनन्दश्मश्रु रानन्दकेशः | विज | माध्यन्दिनश्रुतिः | 614 |
| 67 | 58 | 32 | अ प्रगृह्यः स्मृतौ वाक्ये | विज | वैज० को० 8-7-2 | 564 |
| 68 | 53 | 11 | आबध्नन्ति करे सूत्रं | विज० | | 475 |
| 69 | 41 | 20 | आरण्यारकूटम् | विज | अभिधानम् | 219 |
| 70 | 30 | 29 | आलिः सेतौ सखीपङ्क्तयोः | विज० | वैज० को० 6-2-3 | 38 |
| 71 | 43 | 8 | आविरासी द्यथा प्राच्यां | श्रीध | भाग० 10-3-8 | 246 |
| 72 | 29 | 33 | आशा दिगतितृष्णयोः | विज | वैज० को० 6-2-3 | 19 |
| 73 | 58 | 36 | आशी रुरगदंष्ट्रायां | विज | वैज० को० 6-2-2 | 564 |
| 74 | 60 | 36 | आस्थिताः पदवीं सुभ्रु | श्रीध० | भाग० 10-60-13 | 608 |
| 75 | 60 | 37 | आस्थिताः पदवीं सुभ्रु | वीर० | भाग० 10-60-13 | 609 |
| 76 | 60 | 41 | आस्थिताः पदवीं सुभ्रु | वीर० | भाग० 10-60-13 | 613 |
| | | | इ | | | |
| 77 | 29 | 18 | इति विप्रियम् | वीर० | भाग० 10-29-28 | 10 |
| 78 | 42 | 27 | इत्था दुलूक आपकत् | श्रीध | तैत्ति० आ० 4-33-1a | 238 |
| 79 | 38 | 18 | इदं शरीरं कौन्तेय | बिज० | भ० गी० 13-1 | 162 |
| 80 | 40 | 6 | इन्द्रं यजाऽग्निं यज | विज | आप.श्रौ० सू० 3-16 | 198 |
| 81 | 60 | 37 | इमा रुद्राय स्थिरधन्वने | विज | ऋक्० सं० 7-46-1a | 610 |
| 82 | 47 | 50 | इवे प्रति कृतौ | वीर | अष्टा० 5-3-96 | 338 |
| | | | ई | | | |
| 83 | 40 | 28 | ईश्वरस्य च सौहार्दं | वीर | | 209 |
| 84 | 47 | 19 | ईश्वराणां वचस्सत्यं | विज | | 326 |

| Serial No | Adhyaya No | Sloka No | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc | Page No |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | उ | | | |
| 85 | 59 | 29 | उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः | विज | म० गी० 15-17 | 584 |
| 86 | 29 | 12 | उत्तिष्ठत जाग्रत | विज | कठ० उ० 3-14 | 8 |
| 87 | 38 | 31 | उदारो महति ख्याते दक्षिणे | विज० | वैज० को० 7-7-4 | 167 |
| 88 | 47 | 12 | उन्मत्तः कितवो धूर्तः | विज० | अम० को० 2-123 | 320 |
| 89 | 47 | 1 | उपमितं न्याघ्रादिभिः | वीर | अष्टा० 2-1-56 | 314 |
| 90 | 35 | 12 | उपरम्भ स्तूर्ध्वमुखे | विज | | 108 |
| 91 | 29 | 15 | उपास्यः श्वशुरत्वेन | विज | भद्रिकायाम् | 9 |
| 92 | 47 | 16 | उमाप्रणमसङ्कान्त | विज | | 322 |
| 93 | 37 | 9,10 | उस्रिया अमरा देवाः | विज | | 143 |
| | | | ऊ | | | |
| 94 | 43 | 1 | ऊषतु स्तां सुखं रात्रिं | वीर | माग० 10-42-25 | 245 |
| | | | ऋ | | | |
| 95 | 48 | 20 | ऋतस्य तन्तुं विततं विवृत्य | विज | म० ना० उ० 2-6 | 354 |
| | | | ए | | | |
| 96 | 51 | 55 | एक एव चरे द्विभुः | विज | | |
| 97 | 46 | 31 | एक मेवाऽद्वितीयम् | विज | छान्दो० उ० 6-2-1 | 305 |
| 98 | 48 | 27 | एक मेवाऽ द्वितीयम् | विज० | छान्दो० उ० 6-2-1 | 360 |
| 99 | 50 | 46 | एके भैकरथा | विज० | अम० को० 2-537 | 380 |
| 100 | 40 | 1 | एको हवै नारायण आसीत् | वीर० | मना० उ० 1-1 | 195 |
| 101 | 29 | 43 | एणः कुरङ्गो हरिणः | विज | हला० को० 2-75 | 25 |
| 102 | 60 | 38 | एत स्यैवानन्दस्यान्यानि | श्रीध | बृह० उ० 4-3-32 | 608 |
| 103 | 29 | 27 | एष भूताधिपतिः | बीर | बृह० उ० 4-4-22 | 14 |
| | | | ऐ | | | |
| 104 | 48 | 20 | ऐतदात्म्य मिदं सर्वं | वीर० | छान्दो० उ० 6-8-7 | 354 |
| 105 | 59 | 29 | ऐतदात्म्य मिदं सर्वं | वीर० | छान्दो० उ० 6-8-7 | 583 |
| | | | क | | | |
| 106 | 38 | 32 | क इति ब्रह्मणो नाम | वीर | हरिवंश | 166 |
| 107 | 59 | 33 | कन्यापुरे सकन्यानां महामते | श्रीध | | 585 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 108 | 39 | 1 | करणं कारणे काये | विज | वैज० को 7-3-9 | 173 |
| 109 | 59 | 30 | कर्ता शास्त्रार्थवत्वात् | वीर० | ब्र० सू० 2-3-33 | 583 |
| 110 | 51 | 40 | कर्तुः क्याङ् स्तोपश्च | विज | अष्टा० 3-1-11 | 436 |
| 111 | 60 | 34 | कस्मान्नो ववृषेऽसमान् | श्रीध | भाग० 10-60-11 | 604 |
| 112 | 60 | 34 | कस्मान्नो ववृषेऽसमान् | वीर० | भाग० 10-60-11 | 605 |
| 113 | 60 | 37 | कस्मै देवाय हविषा विधेम | विज | श्वेता० उ० 4-13 | 610 |
| 114 | 33 | 20 | कात्यायनि महामाये | श्रीध | भाग० 10-22-4 | 78 |
| 115 | 29 | 29 | कामबाण प्रविद्धाङ्गा | विज | | 15 |
| 116 | 29 | 15 | कामभत्त्याऽप्सरः स्त्रीणाम् | विज० | भद्रिकायाम् | 9 |
| 117 | 29 | 13 | कामस्त्वशुभकृच्चापि | विज० | स्कान्दे | 8 |
| 118 | 29 | 29 | कामस्य दहनास्त्रैस्तु | विज० | | 15 |
| 119 | 50 | 14 | कारणं बन्धमोक्षयोः | विज० | विष्णु० पु० 6-7-28 | 417 |
| 120 | 50 | 14 | कार्मुकन्तु चतुर्हस्तम् | विज० | वैज० को० 3-7-173 | 384 |
| 121 | 50 | 43 | कालकन्ध स्तमालः स्यात् | विज | अम० को० 2-114 | 416 |
| 122 | 43 | 5 | कालो मृत्यौ (दिष्टे) यमे चैव | बिज० | वैज० को० 6-1-15 | 246 |
| 123 | 48 | 33 | किर्षच्चिकीर्षयन्प्रागात् | श्रीध | भाग० 10-48-13 | 361 |
| 124 | 48 | 33 | किञ्चिच्चिकीर्षयन्प्रागात् | वीर० | भाग० 10-48-13 | 362 |
| 125 | 48 | 33 | किञ्चिच्छ्रेयश्चिकीर्षयेत् | विज० | | 363 |
| 126 | 57 | 38 | किन्तु मामग्रजस्सम्यक् | वीर० | भाग० 10-57-42 | 547 |
| 127 | 29 | 33 | किं प्रजया करिष्यामो येषां | श्रीध० | | 17 |
| 128 | 33 | 32 | कुर्या द्विद्वांस्तथा सतः | विज० | भ० गी० 3-25 | 87 |
| 129 | 40 | 19 | कूर्मेशेऽब्धावकूपारः | विज० | वैज० को० 8-1-15 | 205 |
| 130 | 33 | 34 | कृत्वा तावन्त मात्मानं | वीर० | भाग० 10-33-20 | 71 |
| 131 | 29 | 13 | कृष्णकामा स्तदा गोप्यः | विज० | स्कान्दे | 8 |
| 132 | 33 | 23 | कृष्णे स्वधामोपगते | विज | भाग० 1-3-43 | 82 |
| 133 | 51 | 64 | केवलो निर्गुणश्च | विज० | श्वेता० उ० 6-11 | 446 |
| 134 | 30 | 10 | केशा द्वोऽन्यतरस्याम् | विज० | अष्टा० 5-2-109 | 31 |
| 135 | 41 | 38 | कोशोऽस्त्रीकुद्मले दिव्ये | बिज० | वैज० को० 6-5-15 | 225 |
| 136 | 48 | 27 | को ह्येबाऽन्यात्कः प्राण्यात् | वीर० | तैत्ति० उ० 2-7 | 359 |
| 137 | 35 | 20 | कौतुकं विषयाभोगे | बिज० | वैज० को० 7-3-10 | 111 |
| 138 | 53 | 11 | कौतुकं विषयाभोगे | विज | वैज० को० 7-3-10 | 475 |
| 139 | 52 | 26 | क्रियार्थोपपदस्य | वीर० | अष्टा० 2-3-14 | 461 |
| 140 | 33 | 38 | क्रुध द्रुहेर्ष्या- | वीर० | अष्टा 1-4-37 | 89 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 141 | 33 | 38 | क्रुध द्रुह्येर्ष्या- | विज | अष्टा० 1-4-37 | 90 |
| 142 | 39 | 21 | क्रूरो भयङ्करे कन्धे | विज० | वैज० को० 6-4-4 | 180 |
| 143 | 43 | 17 | क्व वज्रसारसर्वाङ्गौ | श्रीध० | भाग० 10-44-8 | 250 |
| | | | **ख** | | | |
| 144 | 30 | 10 | खेदानुकम्पासन्तोष | विज० | अम० को० 3-399 | 30 |
| | | | **ग** | | | |
| 145 | 58 | 33 | गन्धो लेशे च हिंसायां | विज० | | 564 |
| 146 | 46 | 10 | गवां यो निनदो गुम्फा- | विज० | वैज० को | 298 |
| 147 | 53 | 25 | गिरिजा मेनकात्मजा | विज० | हला० को० 1-16 | 478 |
| 148 | 38 | 9 | गुडौ पिण्डेक्षुविकृतौ | विज० | वैज० को० 6-5-27 | 157 |
| 149 | 29 | 14 | गुणोत्कर्षज्ञातारि यादृशी | विज | | 8 |
| 150 | 29 | 15 | गुर्ब्रह्माऽस्य जगतो | विज० | बाराहे | 9 |
| 151 | 29 | 15 | गुरुः श्रीब्रह्मणो विष्णुः | विज | बाराहे | 9 |
| 152 | 29 | 13 | गोप्यः कामाद्भयात्कंसः | वीर० | भाग० 7-1-30 | 7 |
| 153 | 29 | 15 | गोप्यः कामात् | वीर० | भाग० 7-1-30 | 8 |
| 154 | 35 | 23 | गोष्ठाध्वानिवहा व्रजाः | विज० | वैज० को० 6-1-54 | 115 |
| 155 | 53 | 25 | गौरोऽरुणे सिते पीते | विज० | अम० को० 3-344 | 477 |
| | | | **घ** | | | |
| 156 | 58 | 33 | घनाः कठिनसङ्घात- | विज | वैज० को 6-5-30 | 564 |
| 157 | 36 | 47 | घृणा जुगुप्सा कृपयोः | विज० | वैज० का० 6-2-12 | 130 |
| | | | **च** | | | |
| 158 | 38 | 20 | च उच्छेदे समुच्चये | विज० | | 162 |
| 159 | 44 | 39 | चक्रं सैन्ये जलावर्ते | विज | वैज० को० 6-3-7 | 271 |
| 160 | 56 | 11 | चतुर्भिर्व्रीहिभिर्गुञ्जं | श्रीध० | | 524 |
| 161 | 56 | 11 | चतुर्भिर्व्रीहिभि गुञ्जं | वीर० | | 524 |
| 162 | 29 | 16 | चित्रे दर्पे च विस्मयः | विज० | वैज० को० 7-1-65 | 10 |
| 163 | 29 | 28 | चिन्ता च चर्चिक्ययोश्चर्या | विज० | वैज० को० 6-2-12 | 15 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | **ज** | | | |
| 164 | 36 | 27 | जगती राजप्रधानलोकेऽपि | विज० | हला० को० 5-8 | 126 |
| 165 | 48 | 23 | जनितोऽत विष्णुः | विज० | | 358 |
| 166 | 48 | 23 | जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः | विज | भ० गी० 2-27 | 358 |
| 167 | 47 | 19 | जिह्मं मन्देऽद्यक्रयोः | विज० | वैज० को० 6-5-32 | 326 |
| 168 | 40 | 2 | जीवो जीवस्य जीवनम् | विज० | | 197 |
| 169 | 29 | 40 | जुगुप्सितञ्च सर्वत्र | वीर० | भाग० 10-29-26 | 21 |
| 170 | 60 | 35 | ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम् | वीर० | भ० गी० 7-18 | 605 |
| | | | **त** | | | |
| 171 | 59 | 27 | तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम् | श्रीध | | 582 |
| 172 | 47 | 34 | तत्यजेऽस्मान् भवादृक् | विज० | भाग० 10-47-13 | 334 |
| 173 | 48 | 20 | तत्त्वमसि | वीर | छान्दो० उ० 6-8-7 | 354 |
| 174 | 48 | 20 | तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत् | विज० | तैत्ति० उ० 2-6 | 354 |
| 175 | 49 | 29 | तत्सृष्ट्वातदेवाऽनुप्राविशत् | वीर | तैत्ति० उ०2-6 | 375 |
| 176 | 38 | 1 | तथाऽक्रूरस्स्व मालयम् | वीर० | भाग० 10-36-71 | 153 |
| 177 | 37 | 11 | तदाऽऽत्मानं स्वयमकुरुत | वीर | तैत्ति० उ० 2-7 | 143 |
| 178 | 47 | 30 | तदाऽऽत्मानं स्वय मकुरुत० | वीर | तैत्ति० उ० 2-7 | 330 |
| 179 | 29 | 13 | तदेतत्प्रेयः | विज | बृह० उ० 1-4-8 | 8 |
| 180 | 29 | 33 | तदेतत्प्रीतये भूत्वा | वीर | विष्णु० पु० 2-6-48 | 17 |
| 181 | 46 | 31 | तदेवाऽनुप्राविशत् | विज० | तैत्ति० उ० 2-6 | 305 |
| 182 | 31 | 1 | तद्गुणानेव गायन्त्यः | वीर० | भाग० 10-30-44 | 47 |
| 183 | 48 | 20 | तद्धैतत्पश्यन्नृषि र्वामदेवः | वीर | बृह० उ० 1-4-10 | 354 |
| 184 | 29 | 34 | तद्यात मा चिरं गोष्ठम् | वीर० | भाग० 10-29-22 | 18 |
| 185 | 60 | 43 | तमेवं विद्वानमृत इह भवति | विज० | पु० सू० 1-7 | 614 |
| 186 | 49 | 19 | तमो राहु स्तमोऽघं (शुक्) | विज | वैज० को० 6-5-35 | 371 |
| 187 | 34 | 28 | तरसी बलरंहसी | विज० | वैज० को० 6-3-13 | 100 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 188 | 47 | 14 | तस्मात्तेयं धनसमयः | विज० | | 321 |
| 189 | 60 | 37 | तस्मात्प्रायेण न ह्याढ्याः | श्रीध | भाग० 10-60-14 | 608 |
| 190 | 29 | 33 | तस्माद्दुःखात्मकं नाऽस्ति | वीर० | विष्णु० पु० 2-6-49 | 17 |
| 191 | 40 | 50 | तस्य ऋक्सामगोष्णौ | वीर० | छान्दो० उ० 1-6-8 | 196 |
| 192 | 32 | 23 | तस्य तावदेव चिरम् | विज० | छान्दो० उ० 6-14-2 | 69 |
| 193 | 53 | 30 | तामानयिष्य उन्मथ्य | वीर० | भाग० 10-53-3 | 479 |
| 194 | 60 | 43 | तीत्यन्नम् | विज० | | 614 |
| 195 | 37 | 8 | तुरगस्य शकृल्लम्बम् | विज | | 143 |
| 196 | 44 | 29 | तुलाकोटिस्तु नूपुरम् | विज० | हला० को० 2-406 | 268 |
| 197 | 37 | 23 | तेजो बले प्रभावेऽन्ने | विज | वैज० को० 6-3-14 | 148 |
| 198 | 33 | 30 | तेजो बले प्रभावेऽन्ने | विज | वैज० को० 6-3-14 | 85 |
| 199 | 48 | 32 | ते पुनन्त्युल्कालेन | वीर | भाग० 10-48-31, 10-84-11, 12-10-23 | 362 |
| 200 | 59 | 28 | ते यदन्तरा तद्ब्रह्म | वीर | छान्दो० उ० 8-14-1 | 583 |
| 201 | 44 | 5 | तै स्तै र्नियुद्धविधिभिः | विज० | भाग० 10-44-19 | 260 |
| 202 | 44 | 44 | त्यागो विहापितं दानं | विज० | अम० को० 2-428 | 272 |
| | | | द | | | |
| 203 | 50 | 12-14 | दर्शनं चक्षुषि स्वप्ने | विज | वैज० को० 7-3-17 | 404 |
| 204 | 34 | 27 | दस्यु स्तस्करशार्दूलौ | विज० | | 100 |
| 205 | 51 | 32 | दाण्डिनायन- | वीर० | अष्टा० 6-4-174 | 433 |
| 206 | 54 | 46 | दीपश्चक्षुश्च रूपञ्च | श्रीध | भाग० 12-4-24 | 503 |
| 207 | 45 | 9 | दुरशोभनदुःखयोः | विज० | वैज० को०8-7-4 | 280 |
| 208 | 49 | 19 | दुःखैनो व्यसनेष्वघम् | विज० | ना० र० को० द्व्य० का० 47 | 371 |
| 209 | 40 | 16 | दृश्यतेऽग्र्यया बुद्ध्या | श्रीध | कठ० उ० 3-12 | 201 |
| 210 | 60 | 9 | देवत्वे देवदेहेऽयं | श्रीध | विष्णु० पु० 1-9-145 | 594 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 211 | 59 | 33 | देवसिद्धा--- निजमन्दिरे | श्रीध | | 585 |
| 212 | 48 | 32 | देवास्स्वार्था न साधवः | वीर | भाग० 10-48-30 | 362 |
| 213 | 59 | 30 | देहानां जीवाभिमानभ्रम | वीर | | 584 |
| 214 | 40 | 4 | देहोऽसवोऽक्षा मनवो | श्रीध | | 194 |
| 215 | 40 | 13 | दैवी ह्येषा गुणमयी | वीर० | भ० गी० 7-14 | 202 |
| | | | **ध** | | | |
| 216 | 35 | 9 | धाशः स्त्रांगेऽम्बुसन्तत्यां | विज० | वैज० को० 6-2-20 | 106 |
| 217 | 47 | 32 | ध्यायतो विषयान्पुंसः | वीर० | भ० गी 2-62 | 331 |
| | | | **न** | | | |
| 218 | 48 | 32 | नञद्वयं प्रकृत मर्थं सूचयति | वीर | | 362 |
| 219 | 40 | 2 | न तत्समश्चाभ्यधिकश्च | वीर० | श्वेता० उ० 6-8 | 195 |
| 220 | 60 | 11 | न तत्समश्चाभ्याधिकश्च | वीर० | श्वेता० उ० 6-8 | 596 |
| 221 | 29 | 1 | नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा | वीर० | भाग० 10-18-17 | 2 |
| 222 | 32 | 20 | नराणां क्षीणपापानाम् | विज० | | 68 |
| 223 | 42 | 30 | नलदमाली दक्षिणामुखो | विज० | | 240 |
| 224 | 29 | 33 | न वा अरे पत्युः कामाय | वीर० | बृह० उ० 2-4-5 | 17 |
| 225 | 38 | 10 | न सन्दृशे तिष्ठति रूपम् | विज० | कठ० उ० 6-9 | 157 |
| 226 | 40 | 4 | न हि द्रष्टु र्दृष्टे विपरि | विज | बृह० उ० 4-3-23 | 197 |
| 227 | 47 | 24 | नान्यः पन्थाः | वीर० | पु० सू० 7 | 328 |
| 228 | 40 | 2 | नारायण आसीत् | वीर० | महा० उ० 1-1 | 195 |
| 229 | 32 | 20 | नास्त्यकृतः कृतेन | विज० | मुण्ड० उ० 1-2-12 | 68 |
| 230 | 47 | 24 | नाहं वेदैर्न तपसा | वीर० | भ० गी० 11-53 | 328 |
| 231 | 56 | 27 | नित्यो नित्यानाम् | विज० | कठ० उ० 5-13 | 530 |
| 232 | 30 | 29 | निरपेक्षे गुणैः पूर्णो | विज० | | 38 |
| 233 | 42 | 2 | निर्दोषे पेशले सत्ये (साधुः) | विज० | | 232 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 234 | 33 | 10 | निषादर्षभगान्धार० | विज० | अम० को० 1-183 | 75 |
| 235 | 31 | 4 | निषेधे वागलङ्कारे | विज० | वैज० को० 8-7-20 | 49 |
| 236 | 60 | 37 | निष्किञ्चता वयं शश्वत् | श्रीध | भाग० 10-60-14 | 608 |
| 237 | 54 | 11 | निष्ठोत्कर्षे व्यवस्थायां | विज० | वैज० को० 6-2-21 | 493 |
| 238 | 35 | 26 | नु पृच्छायां विकल्पे च | विज० | अम० को० 3-402 | 115 |
| 239 | 60 | 37 | नेदिष्ठ मन्तिकतमम् | विज | अम० को० 3-69 | 610 |
| 240 | 40 | 30 | नैषातर्केण मति रापनेया | विज० | कठ० उ० 2-9 | 210 |
| | | | **प** | | | |
| 241 | 39 | 12 | पक्षसन्धा वुत्सवे च | विज० | दत्तः | 175 |
| 242 | 29 | 15 | पतित्वेन श्रियोपास्यो | विज० | वाराहे | 9 |
| 243 | 29 | 27 | पतिं विश्वस्य | वीर० | म० ना० उ० 9-3 | 14 |
| 244 | 57 | 40 | पत्नी दुहितरश्चैव | श्रीध | याज्ञ० स्मृ० 2-135 | 548 |
| 245 | 29 | 26 | पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो | वीर | अष्टा० 5-1-128 | 14 |
| 246 | 30 | 10 | पद्भ्या भूमिः | विज० | पु० सू० 13 | 31 |
| 247 | 42 | 30 | पद्मामालां शिरः कृत्वा | विज० | | 240 |
| 248 | 50 | 56 | पद्मश्चैव महापद्मो | श्रीध | | 422 |
| 249 | 50 | 56 | पद्मश्चैव महापद्मो | वीर | | 423 |
| 250 | 33 | 32 | परमार्थे त्यवत्सत्यम् | विज | वैज० को० 6-5-95 | 87 |
| 251 | 39 | 24 | परवांस्तु पराधीनो | विज० | हला० को० 2-186 | 180 |
| 252 | 60 | 35 | पराञ्चिखानि व्यतृणत् | विज० | कठ० उ० 4-1 | 607 |
| 253 | | | परापूर्वेषां सख्या वृणक्ति | विज | ऋक्० सं० 6-47-17a | 455 |
| 254 | 48 | 24 | परित्राणाय साधूनाम् | वीर० | भ० गी० 4-8 | 357 |
| 255 | 32 | 22 | परोक्षप्रिया इव हि देवाः | विज० | ऐत० उ० 3-14 | 69 |
| 256 | 30 | 5 | पलाशो किंशुकः पर्णः | विज० | अम० को० 2-75 | 28 |
| 257 | 34 | 48 | पल्लवञ्च प्रकोष्ठे वाऽपि | विज | वैज० को० 7-5-58 | 190 |
| 258 | 38 | 23 | पादबन्धनपाशन्तु | विज० | वररुचिः | 185 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 259 | 38 | 7 | पाप्मा वै तमः | वीर | | 155 |
| 260 | 48 | 27 | पार्थ नैवेह नाऽमुत्र | वीर | भ० गी० 6-40 | 359 |
| 261 | 50 | addl. 4, 23 | पिचुमन्दस्तु निम्बोऽथ | विज० | अम० को० 2-108 | 416 |
| 262 | 47 | 20 | पुनरप्रथमे प्रश्ने | विज० | वैज० को० 8-7-24 | 326 |
| 263 | 30 | 6 | पुन्नागे पुरुष स्तुङ्गः | विज० | अम० को० 2-82 | 30 |
| 264 | 40 | 14 | पुंसि कः कं शिरोम्बुनोः | विज० | अम० को 3-160 | 203 |
| 265 | 59 | 27 | पूर्वमेवाऽह मिहासम् | श्रीध | | 582 |
| 266 | 52 | 31 | पूर्वादिभ्योनवभ्यो वा | वीर० | अष्टा० 7-1-16 | 463 |
| 267 | 40 | 30 | प्रकृति र्ह्यस्योपादानम् | श्रीध | भाग० 11-24-19 | 208 |
| 268 | 46 | 31 | प्रकृतिं पुरुषञ्चैव | विज० | भ० गी० 13-19 | 305 |
| 269 | 29 | 28 | प्रतियात व्रजं नेह | विज० | भाग० 10-29-19 | 15 |
| 270 | 37 | 1 | प्रतियाते तु देवर्षौ | वीर० | भाग० 10-36-20 | 139 |
| 271 | 58 | 1 | प्रतीते प्रथितख्यात | विज० | अम० को० 3-10 | 552 |
| 272 | 58 | 1 | प्रतीतो भूषिते ख्यातौ | विज० | वैज० को० 7-4-16 | 552 |
| 273 | 57 | 42 | प्रत्ययस्तु ख्यातिरन्ध्र | विज | वैज० को० 7-1-51 | 549 |
| 274 | 60 | 22 | प्रत्यारम्भे प्रतिवचनोप | विज० | | 601 |
| 275 | 30 | 38 | प्रत्यारम्भे प्रसिद्धौ ह | विज० | वैज० को० 8-7-8 | 42 |
| 276 | 44 | 1 | प्रत्यारम्भे प्रसिद्धौ ह | विज | वैज० को० 8-7-8 | 259 |
| 277 | 40 | 22 | प्रद्युम्ने चाऽनिरुद्धे च | विज | तत्त्वनिर्णये | 206 |
| 278 | 46 | 31 | प्रधाना दिदमुत्पन्नम् | विज | | 304 |
| 279 | 44 | 48 | प्रभवाऽप्ययौ हि भूतानां | विज० | नृ० पू० उ० 4-2 | 275 |
| 280 | 47 | 28 | प्रव्रजन्त्येत ब्रह्म वैते | विज | बृह० उ० 4-4-22 | 325 |
| 281 | 38 | 10 | प्रश्नावधारणैतिह्य- | विज | वैज० को० 8-7-22 | 157 |
| 282 | 47 | 59 | प्रक्षावधारणैतिह्य- | विज | वैज० को० 8-7-22 | 343 |
| 283 | 30 | 3 | प्रश्ने विकल्पे तु स्विच्च | विज | वैज० को 8-7-6 | 28 |
| 284 | 37 | 9 | प्रसूनं फलपुष्पयोः | विज | वैज० को० 7-3-22 | 143 |
| 285 | 35 | 25 | प्रागयं वसुदेवस्य | श्रीध | भाग० 10-26-17 | 113 |

| Serial No | Adhyaya No | Sloka No | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc | Page No |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 286 | 32 | 10 | प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढः | वीर | बृह० उ० 4-3-35 | 61 |
| 287 | 32 | 10 | प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढः | विज | बृह० उ० 4-3-35 | 62 |
| 288 | 32 | 10 | प्राज्ञेनाऽऽत्मना सम्परिष्वक्तः | वीर | बृह० उ० 4-3-21 | 61 |
| 289 | 33 | 34 | प्राणी तु चेतनो जन्मी | वीर | अम० को० 1-139 | 87 |
| 290 | 46 | 25 | प्रादेशाताल गोकर्णाः | विज | अम० को० 2-343 | 302 |
| 291 | 60 | 35 | प्रायस्त्यक्तनृपासनान् | वीर० | भाग० 10-60-12 | 606 |
| 292 | 60 | 41 | प्रायस्सीदन्ति योषितः | विज० | भाग० 10-60-13 | 613 |
| 293 | 47 | 3 | प्रिय सत्यञ्च सूनृतम् | विज० | हलो० को० 1-141 | 314 |
| 294 | 38 | 22 | प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् | वीर० | भ० गी० 7-17 | 164 |
| 295 | 48 | 27 | प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् | वीर | भ० गी० 7-17 | 605 |
| 296 | 60 | 35 | प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् | वीर | भ० गी० 7-17 | 605 |
| 297 | 60 | 37 | प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् | विज० | भ० गी० 7-17 | 610 |
| 298 | 29 | 27 | प्रेष्ठो भवांस्तनुभृताम् | वीर० | भाग० 10-29-32 | 14 |
| | | | **ब** | | | |
| 299 | 38 | 11 | बलमानन्द ओजश्च | विज० | | 157 |
| 300 | 60 | 35 | बलवद्भिः कृतद्वेषान् | श्रीध | भाग० 10-60-12 | 604 |
| 301 | 60 | 35 | बलवद्भिः कृतद्वेषान् | वीर | भाग० 10-60-12 | 605 |
| 302 | 60 | 35 | बलवद्भिः कृतद्वेषान् | विज० | भाग० 10-60-12 | 607 |
| 303 | 60 | 35 | बलवा निन्द्रियग्रामः | विज० | भारत० 1 Add 1 114 51a | 607 |
| 304 | 47 | 30 | बहुस्यां प्रजायेय | वीर० | तैत्ति० उ० 2-6 | 330 |
| 305 | 50 | Addl 4 8-13 | बहूनि स्थानजातानि | विज० | माहात्म्ये | 417 |
| 306 | 29 | 46 | बाहुपीडनकुचग्रहणाद्यैः | विज० | शिशु० वध० 10-72 | 25 |
| 307 | 46 | 31 | बीजं शुक्रे फलास्थ्न्यन्ने | विज० | वैज० को० 6-3-23 | 304 |
| 308 | 37 | 11 | ब्रह्मवन ब्रह्म स वृक्ष० | वीर० | तैत्ति० ब्रा० 2-8-9-6 | 143 |
| 309 | 47 | 30 | ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष० | वीर० | तैत्ति० ब्रा० 2-8-9-6 | 330 |
| 310 | 39 | 41 | ब्रह्मवेद स्तप स्तत्त्वम् | विज० | अम० को० 3-271 | 188 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 311 | 43 | 16,17 | ब्रह्मवेद स्तप स्तत्त्वम् | विज० | अम० को० 3-271 | 251 |
| 312 | 50 | addl. 4, 15 | ब्रह्मस्थो ब्रह्मनामाऽसौ | विज | स्कान्दे | 417 |
| 313 | 47 | 13 | ब्राह्मणं स्वयमाहूय | विज० | | 321 |
| 314 | 29 | 23 | ब्रूताऽऽगमनकारणम् | विज० | भाग० 10-29-18 | 13 |
| | | | **भ** | | | |
| 315 | 47 | 59 | भक्त्या त्वनन्यया | विज | भ० गी० 11-54 | 343 |
| 316 | 29 | 15 | भक्त्या वा कामभक्त्या वा | विज० | भद्रिकायाम् | 9 |
| 317 | 29 | 15 | भक्त्या हि नित्यकामित्वं | विज | पाद्मे | 9 |
| 318 | 38 | 14 | भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम | विज | नृ० उ० ता० उ० 1 | 160 |
| 319 | 29 | 32 | भर्तृशुश्रूषणं स्त्रीणाम् | वीर० | भाग० 10-29-24 | 17 |
| 320 | 46 | 7 | भवतीनां वियोगो मे | श्रीध | भाग० 10-47-29 | 297 |
| 321 | 46 | 7 | भवतीनां वियोगो मे | वीर | भाग० 10-47-29 | 297 |
| 322 | 60 | 39 | भिक्षुभिः श्लाधिता मुधा | श्रीध | भाग० 10-60-16 | 608 |
| 323 | 60 | 39 | भिक्षुभिः श्लाधिता मुधा | वीर | भाग० 10-60-16 | 609 |
| 324 | 35 | 8 | भूतिः श्रीजन्मभस्मसु | विज० | वैज० को० 6-2-27 | 106 |
| 325 | 60 | 12 | भूमनिन्दाप्रशंसासु | वीर | वार्तिक० 3183 Under अष्टा० 5-2-94 | 596 |
| 326 | 31 | 9 | भूरिस्वर्णं जातरूपं | विज० | | 52 |
| 327 | 40 | 17 | भृता मेव बिभर्तीशो | विज | तत्त्वनिर्णये | 204 |
| 328 | 33 | 23 | भेदो विशेषे दलने | विज० | वैज० को०6-1-42 | 82 |
| 329 | 59 | 1 | भौमं हत्वा तन्निरोधात् | वीर० | भाग० 10-58-58 | 573 |
| | | | **म** | | | |
| 330 | 32 | 23 | मदङ्गे जीर्णता यातु | वीर० | रामा 7-40-23 | 68 |
| 331 | 32 | 2 | मदनो मन्मयो मारः | विज० | रुद्रः | 60 |
| 332 | 38 | 38 | मधुपर्कञ्च सक्षौद्रं | विज | | 170 |
| 333 | 40 | 16 | मनसैवाऽनुद्रष्टव्यम् | श्रीध | बृह० उ० 4-4-19 | 201 |

| Serial No | Adhyaya No | Sloka No | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc | Page No |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 334 | 40 | 7 | मयि सर्वाणि कर्माणि | वीर० | म० गी० 3-30 | 199 |
| 335 | 35 | 7 | मयूरो बर्हिणो बर्ही | विज० | अम० को० 2-248 | 106 |
| 336 | 29 | 1 | मयेमा रस्यथ क्षपाः | वीर० | भाग० 10-22-27 | 3 |
| 337 | 32 | 23 | मय्येव जीर्णतां यातु | वीर० | | |
| 338 | 44 | 5 | मल्लयुद्धं नियुद्धञ्चा | विज० | सङ्ग्रामविजयवचनम् | 260 |
| 339 | 49 | 11 | महत्पूज्यविशालयोः | विज | वैज० को० 6-5-63 | 369 |
| 340 | 29 | 27 | माता पिता भ्राता | वीर० | सुबा० उ० 6-2-1 | 14 |
| 341 | 46 | 42 | माता पिता भ्राता | वीर० | सुबा० उ० 6-2-1 | 309 |
| 342 | 40 | 30 | मात्र कार्त्स्नेऽवधारणे | विज० | वैज० को० 6-5-63 | 210 |
| 343 | 40 | 30 | मात्रा परिच्छदेऽर्धेशे | विज० | वैज० को० 6-5-62 | 210 |
| 344 | 35 | 24 | मानवो बदरः सिन्धुः | विज | स्कान्दे | 115 |
| 345 | 60 | 46 | मिलितौ वाव एतौ भवतो | विज० | | 616 |
| 346 | 60 | 43 | मुखन्तु वदने मुख्ये | विज | वैज० को० 6-3-25 | 614 |
| 347 | 40 | 14 | मुखादिन्द्रश्चाऽग्निश्च | विज० | पु० सू० 1-6 | 203 |
| 348 | 50 | addl 3 | मौलि स्सयतकेशेषु | | वैज० को० 6-5-64 | 412 |
| | | | **य** | | | |
| 349 | 60 | 39 | य आत्मदा बलदाः | वीर० | ऋक्० स० 10-121-2 | 609 |
| 350 | 42 | 313233 | य उदगान्महतोऽर्णवात् | श्रीध | तैत्ति० आ० 4-42-5a | 241 |
| 351 | 42 | 32 | य उदगान्महतोऽर्णवात् | वीर० | तैत्ति० आ० 4-42-5a | 241 |
| 352 | 60 | 46 | य एष देवः परो ऽक्षरो | विज० | | 616 |
| 353 | 40 | 5 | य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः | वीर० | छान्दो० उ० 1-6-6 | 196 |
| 354 | 56 | 1 | यज्ञभेदे सदा दाने सन्नम् | विज० | अम० को० 3-336 | 522 |
| 355 | 40 | 4 | यथा हरिः स्वमात्मान | विज० | माहात्म्ये | 197 |
| 356 | 58 | 13,14 | यदा च कृष्ण स्सन्दिष्टः | वीर | भाग० 10-58-24 | 556 |
| 357 | 33 | 27 | यदा यदा हि धर्मस्य | विज | म० गी० 4-7 | 84 |
| 358 | 48 | 24 | यदा यदा हि धर्मस्य | वीर | म० गी० 4-7 | 357 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 359 | 42 | 27 | यदैतद्भूतान्यन्वाविश्य | श्रीध | | 238 |
| 360 | 33 | 31 | यद्यदाचरति श्रेष्ठः | श्रीध० | भ०गी० 3-21 | 83 |
| 361 | 33 | 31 | यद्यदाचरति श्रेष्ठः | बीर० | भ०गी० 3-21 | 84 |
| 362 | 33 | 31 | यद्यदाचरति श्रेष्ठः | विज० | भ०गी० 3-21 | 85 |
| 363 | 53 | 47 | यद्यदाचरति श्रेष्ठः | वीर० | भ०गी० 3-21 | 484 |
| 364 | 32 | 21 | यमेवैष वृणुते तेन | विज | कठ० उ० 2-22 | 69 |
| 365 | 60 | 38 | ययो रात्मसमं वित्तम् | श्रीध० | भाग० 10-60-15 | 608 |
| 366 | 60 | 38 | ययो रात्मसमं वित्तम् | वीर० | भाग० 10-60-15 | 609 |
| 367 | 60 | 38 | ययो रात्मसमं वित्तम् | विज० | भाग० 10-60-15 | 610 |
| 368 | 29 | 27 | यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पाद | वीर० | भाग० 10-29-36 | 14 |
| 369 | 60 | 57 | यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय | श्रीध | भाग० 10-52-43 | 619 |
| 370 | 60 | 57 | यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय | बीर० | भाग० 10-52-43 | 620 |
| 371 | 46 | 31 | यस्त्वेष पुरुषः प्रकृतिः | विज० | | 304 |
| 372 | 45 | 32 | यस्य देवे परा भक्तिः | वीर० | श्वेता० उ० 6-23 | 288 |
| 373 | 29 | 16 | यस्य प्रासदात्परमार्ति | विज० | | |
| 374 | 40 | 12 | यस्याऽव्यक्तं शरीरम् | वीर० | सुबा० उ० 7-1 | 202 |
| 375 | 48 | 19 | यस्याऽव्यक्तं शरीरम् | वीर० | सुबा० उ० 7-1 | 353 |
| 376 | 29 | 15 | यं यं वाऽपि स्मरन्भावं | विज० | भ० गी० 8-6 | 9 |
| 377 | 46 | 35 | यात यूयं व्रजं तात | श्रीध० | भाग० 10-45-23 | 306 |
| 378 | 46 | 35 | यात यूयं व्रजं तात | वीर० | भाग० 10--45-23 | 306 |
| 379 | 29 | 1 | याताऽबला व्रजं सिद्धाः | श्रीध | भाग० 10-22-27 | 2 |
| 380 | 33 | 20 | याता बला व्रजं सिद्धाः | श्रीध० | भाग० 10-22-27 | 78 |
| 381 | 30 | 10 | युगेऽक्षपाते पर्याप्ते | विज | वैज० को० 6-5-21 | 30 |
| 382 | 40 | 9 | येऽप्यन्यदेवताभक्ताः | बीर | भ० गी० 9-23 | 199 |
| 383 | 38 | 22 | ये यथा मां प्रपद्यन्ते | श्रीध० | भ० गी० 4-1 | 163 |
| 384 | 38 | 22 | ये यथा मां प्रपद्यन्ते | वीर० | भ० गी० 4-11 | 164 |
| 385 | 46 | 31 | योऽयं यत्लक्षमारूप | विज० | वैज० को० 6-5-67 | 304 |

| Serial No | Adhyaya No | Sloka No | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc | Page No |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 386 | 29 | 15 | योग्योपासा विना नैव | विज | भद्रिकायाम् | 9 |
| 387 | 46 | 31 | योनिः स्त्रीणा भगे स्थाने | विज | वैज० को० 6-5-66 | 304 |
| 388 | 51 | 51 | योनेस्सहस्राणि बहूनि | श्रीध | | 440 |
| 389 | 38 | 18 | यो मनसि तिष्ठन् | वीर० | बृह० उ० 3-7-20 | 161 |
| 390 | 59 | 28 | यो लोकत्रयमाविश्य | वीर० | भ० गी० 15-17 | 583 |
| 391 | 60 | 38 | योवाऽऽनन्दा द्विमुक्तः | विज | | 611 |
| | | | **र** | | | |
| 392 | 39 | 12 | रसो रागे विषे वीर्ये | विज | वैज० को० 6-1-49 | 173 |
| 393 | 52 | 18 | राक्षसो युद्धहरणात् | श्रीध | याज्ञ० स्मृ० 1-3-61 | 458 |
| 394 | 52 | 18 | राक्षसो युद्धहरणात् | वीर० | याज्ञ० स्मृ० 1-3-61 | 458 |
| 395 | 60 | 43 | राघवत्वेऽभवत्सीता | वीर० | विष्णु० पु० 1-9-144 | 613 |
| 396 | 60 | 44 | राजपुत्रीप्सिता भूपैः | श्रीध | भाग० 10-60-10 | 612 |
| 397 | 60 | 44 | राजपुत्रीप्सिता भूपैः | वीर० | भाग० 10-60-10 | 613 |
| 398 | 60 | 35 | राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रु | श्रीध | भाग० 10-60-12 | 604 |
| 399 | 60 | 35 | राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रु | वीर० | भाग० 10-60-12 | 605 |
| 400 | 60 | 35 | राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रु | विज | भाग० 10-60-12 | 606 |
| 401 | 60 | 40 | राजभ्यो बिभ्यतः | वीर० | भाग० 10-60-12 | 610 |
| 402 | 60 | 40 | राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रु | विज० | भाग० 10-60-12 | 611 |
| 403 | 50 | 1 | राजादनः प्रियालः स्यात् | विज० | अम० को 2-81 | 416 |
| | | addl 4 | | | | |
| 404 | 56 | 29 | राजाहस्सखिभ्यः | वीर० | अष्टा० 4-5-91 | 529 |
| 405 | 43 | 5 | रुद्रो मा विशान्तक | विज० | तैत्ति० आ० 10-37-1 | 246 |
| 406 | 43 | 21 22 23 | रूप शब्दे पशौ श्लोके | विज | वैज० को० 6-3-28 | 252 |
| 407 | 43 | 17 | रौद्रोद्भुतश्च शृङ्गारः | श्रीध | | 250 |
| | | | **ल** | | | |
| 408 | 47 | 64 | लक्षणहेत्वोः | वीर० | अष्टा० 3-2-126 | 345 |
| 409 | 48 | 25 | लक्षणहेत्वोः | वीर० | अष्टा० 3-2-126 | 357 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 410 | 53 | 7 | लक्षणहेत्वोः | वीर | अष्टा० 3-2-126 | 473 |
| 411 | 56 | 31 | लक्षणहेत्वोः | वीर० | अष्टा० 3-2-126 | 531 |
| 412 | 60 | 19 | लक्षणहेत्वोः | वीर० | अष्टा० 3-2-126 | 599 |
| 413 | 37 | 18 | लक्षणं कर्णिके चिह्ने | विज० | वैज० को० 7-3-28 | 146 |
| 414 | 47 | 52 | लक्ष्म्या सह हृषीकेशः | वीर० | पाञ्चरात्रे | 338 |
| 415 | 35 | 16 | ललामोऽस्त्री ध्वजे श्रेष्ठे | विज० | वैज० को० 7-5-72 | 111 |
| 416 | 46 | 31 | लाभनिष्पत्तिभोगेषु | विज | वैज० को० 6-5-52 | 304 |
| 417 | 33 | 31 | लोकसङ्ग्रहमेवाऽपि | विज० | भ०गी० 3-20 | 85 |
| | | | **व** | | | |
| 418 | 50 | 1addl 4 | वञ्चुलोऽशोके | विज० | अम० को 2-110 | 416 |
| 419 | 35 | 23 | वत्सो ना कुटजे वर्षे | विज० | वैज० को० 6-5-73 | 115 |
| 420 | 42 | 31 | वन भूकर्णसमानाम् | विज० | | 242 |
| 421 | 38 | 22 | वनस्पति र्वृक्षमात्रे | विज० | उत्पलमाला | 164 |
| 422 | 35 | 9 | वनं भास्यप्सु कानने | विज० | वैज० को० 6-3-31 | 106 |
| 423 | 51 | 46 | वरान्वृणीष्व राजर्षे | वीर० | भाग० 10-51-44 | 438 |
| 424 | 58 | 36 | वरो ना रूपजामात्रोः | विज० | वैज० को० 6-5-72 | 564 |
| 425 | 50 | 21 | वाजीत्वश्वे शरे खगे | विज० | वैज० को० 6-1-55 | 389 |
| 426 | 29 | 32 | वार्तासम्भाव्ययोः किल | विज | अम० को० 3-409 | 18 |
| 427 | 47 | 33 | वासुदेवपरावेदाः | विज० | भाग० 1-2-28 | 332 |
| 428 | 54 | 47 | विज्ञानघनएवैतेभ्यः | वीर | बृह० उ० 2-4-12 | 504 |
| 429 | 45 | 1 | विज्ञाय जगदीश्वरौ | वीर | भाग० 10-44-51 | 277 |
| 430 | 35- | 7 | विपुलानेकयो र्बहुः | विज | वैज० को० 6-4-10 | 106 |
| 431 | 29 | 15 | विमुक्तावपि कामिन्यः | विज० | स्कान्दे | 9 |
| 432 | 39 | 46 | विलोक्य सुभृशं प्रीतः | श्रीध० | भाग० 10-39-56 | 188 |
| 433 | 60 | 15 | विवाहश्च तथा मैत्री | वीर० | | 597 |
| 434 | 38 | 25 | विवाहहस्तसूत्रे च मङ्गले | विज० | | 165 |

| Serial No. | Adhyaya No | Sloka No | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 435 | 31 | 14 | विश्राणनं वितरणम् | विज० | अम० को० 2-428 | 54 |
| 436 | 40 | 14 | विष्णो रङ्गसमुद्भूताः | विज० | अध्यात्मे | 203 |
| 437 | 51 | 38 | विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं | वीर० | ऋक्सं० 1-154-1 | 435 |
| 438 | 58 | 33 | वीरो राहौ हरौ शक्रे | विज० | वैज० को० 6-5-82 | 564 |
| 439 | 39 | 3 | वृत्तिर्ग्रन्थाजीवयोश्च | विज० | वैज० को० 6-2-36 | 173 |
| 440 | 45 | 6 | वृद्धौ च मातापितरौ | विज० | मनु० स्मृ० (प्रक्षिप्त श्लोकः)11-1 | 280 |
| 441 | 40 | 4 | वेदाहमेतं पुरुषम् | विज० | पु० सू० 2-1 | 197 |
| 442 | 53 | 47 | वैदर्भी भीमकसुतां | वीर० | भाग० 10-52-16 | 484 |
| 443 | 60 | 39 | वैदर्भ्येतदविज्ञाय | श्रीध० | भाग० 10-60-16 | 608 |
| 444 | 60 | 39 | वैदर्भ्येतदविज्ञाय | वीर० | भाग० 10-60-16 | 609 |
| 445 | 38 | 32 | वैन्यपार्थ बलेशादौ | विज० | माहात्म्ये | 167 |
| 446 | 44 | 41 | व्याघ्रसिंहौ मृगाधिपौ | विज० | | |
| | | | **श** | | | |
| 447 | 57 | 43 | शान्तिः प्रशममङ्गले | विज० | वैज० को० 6-2-39 | 549 |
| 448 | 47 | 59 | शीलं वृत्तस्वभावयोः | विज० | वैज० को० 6-3-33 | 343 |
| 449 | 40 | 31 | शुद्धस्फटिकसङ्काशं | विज० | | 210 |
| 450 | 29 | 27 | श्रीर्यत्पदाम्बुजरजः | वीर० | भाग० 10-29-37 | 14 |
| 451 | 42 | 6 | श्रेय स्तत स्ते न चिरात् | वीर० | भाग० 10-42-2 | 233 |
| 452 | 38 | 4 | श्रेयांसि बहुविघ्नानि | वीर० | | 153 |
| 453 | 53 | 6 | श्वो भाविनि त्व मजित | वीर | भाग० 10-52-41 | 473 |
| | | | **स** | | | |
| 454 | 40 | 10 | स आत्मा अङ्गान्यन्याः | वीर० | तैत्ति० उ० 1-5-1 | 199 |
| 455 | 48 | 26 | स आत्मा अङ्गान्यन्या | वीर० | तैत्ति० उ० 1-5-1 | 359 |
| 456 | 35 | 25 | स उदेयिवान् सात्त्वतां | श्रीध | भाग० 10-31-4 | 113 |

| Sohal No | Adhyaya No | Sloka No | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 457 | 33 | 1 | स तत्र पर्येति जक्षन् | विज० | छान्दो० उ० 8-12-3 | 72 |
| 458 | 53 | 25 | सती सतीयोग विसृष्ठदेहा | विज० | कुम्भ० सं०1- | 478 |
| 459 | 32 | 14 | सतोबन्धु मसति निरविन्दन् | विज० | नृ० पू० ता० उ० 1-1 | 64 |
| 460 | 40 | 5 | सत्यं ज्ञान मनन्तम् | वीर० | तैत्ति० उ० 2-1-1 | 196 |
| 461 | 40 | 30 | सत्यं ज्ञानमनन्तम् | विज० | तैत्ति० उ० 2-1-1 | 210 |
| 462 | 33 | 34 | सत्त्वमस्ती तु जन्तुषु | वीर० | अम० को० 3-368 | 87 |
| 463 | 33 | 34 | सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तम् | वीर० | भ० गी० 18-40 | 87 |
| 464 | 29 | 13 | सदा द्वेषिणामधरं तमः | विज | स्कान्दे | 8 |
| 465 | 45 | 34 | सन्धिश्च विग्रहश्चैव | वीर० | | 288 |
| 466 | 45 | 34 | सन्धिर्ना विग्रहो यानम् | श्रीध | अम० को० 2-475 | 287 |
| 467 | 32 | 22 | सन्निकर्षो हि मर्त्यानाम् | विज० | | 69 |
| 468 | 38 | 11 | सन् सत्येऽभ्यर्हिते श्रेष्ठे | विज० | वैज० को० 8-4-16 | 157 |
| 469 | 32 | 20 | स पिता यस्तु पोषकः | श्रीध | | 66 |
| 470 | 34 | 23 | सप्त स्वरा स्त्रयो ग्रामाः | विज० | | 98 |
| 471 | 40 | 6 | सप्रथम स्सङ्कृति र्विश्व- | श्रीध | | 194 |
| 472 | 38 | 10 | समभेदे समीचीने | विज० | वैज० को० 8-7-8 | 157 |
| 473 | 34 | 2 | समर्थेऽधिपतौ प्रभुः | विज० | वैज० को० 6-4-10 | 92 |
| 474 | 37 | 11 | समर्थेऽधिपतौ प्रभुः | विज | वैज० को० 6-4-10 | 144 |
| 475 | 33 | 8 | समस्तभावैः खलु बन्धनं | विज | | 75 |
| 476 | 48 | 31 | समा स्त्री वत्सरे धातु | विज | | 363 |
| 477 | 60 | 47 | समुच्चयेऽनुमत्या चाऽपि | विज० | | 617 |
| 478 | 39 | 24 | समुद्रोर्मिवदुन्मग्य | विज० | | 180 |
| 479 | 33 | 13 | समूहे मण्डले खण्डम् | विज० | उत्पलमाला | 77 |
| 480 | 41 | 5 | सम्बुद्धौ नपुंसकानां वा | वीर | वार्तिक under अष्टा० | 212 |
| 481 | 35 | 9 | सर्गः स्वभावनिर्मोक | विज | अम० को० 3-178 | 106 |
| 482 | 40 | 6 | सर्वदेवेष्वपि हरिः | विज० | अध्यात्मे | 198 |
| 483 | 51 | 52 | सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः | वीर० | बृह० उ० 4-4-22 | 440 |

| Serial No | Adhyaya No. | Sloka No | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 484 | 40 | 5 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान् | वीर० | छान्दो० उ० 3-14-1 | 196 |
| 485 | 48 | 20 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान् | वीर | छान्दो० उ० 3-14-1 | 354 |
| 486 | 50 | addl 3 21-30 | सर्वावतारभिन्नोऽपि | विज | पाद्मपुराणे | 412 |
| 487 | 47 | 28 | स वा अय मात्मा ब्रह्म | विज० | बृह० उ० 4-4-5 | 325 |
| 488 | 29 | 34 | स हि सर्वमनोवृत्तिप्रेरकः | विज० | | 19 |
| 489 | 40 | 13 | स हि सर्वमनोवृत्तिप्रेरकः | विज० | | 203 |
| 490 | 31 | 10 | संविद्युद्धे प्रतिज्ञायां | विज | | 52 |
| 491 | 29 | 1 | साक्षान्मन्मथमन्मथः | श्रीध | भाग० 10-32-2 | 2 |
| 492 | 39 | 3 | साय प्रात द्विजातीना | विज० | मनु० स्मृ० Addl V after 2-52 | 173 |
| 493 | 44 | 8 | सारो बले स्थिरांशेऽर्थे | विज० | वैज० को० 6-5-97 | 261 |
| 494 | 50 | 1 | साल सर्जश्च सूरयः | विज० | हला० को० 2-40 | 416 |
| 495 | 42 | 24 | सुखं प्रभाता रजनीयम् | श्रीध | भाग० 10-39-23 | 238 |
| 496 | 42 | 24 | सुखं प्रभाता रजनीयम् | वीर | भाग० 10-39-23 | 239 |
| 497 | 50 | 49,50 | सुदुरो रधिकरणे | विज० | वार्तिक under अष्टा० | 421 |
| 498 | 47 | 13 | सुमनाः पुष्यमालत्योः | विज० | वैज० को० 7-5-90 | 321 |
| 499 | 37 | 15 | सुरमत्स्यावनिमिषौ | विज० | अम० को० 3-374 | 146 |
| 500 | 46 | 8 | सूर्यवह्नी विभावसू | विज० | अम० को० 3-381 | 298 |
| 501 | 51 | before IV | सेनारक्षाश्च सैनिकाः | विज० | अम० को० 2-518 | 382 |
| 502 | 47 | 12 | सोत्प्रासस्समनाविस्मितं | विज० | अम० को० 1-216 | 320 |
| 503 | 60 | 39 | सोदृश्य एवं पुरुषं | विज० | | 611 |
| 504 | 51 | 55 | सोऽहं तवानुग्रहार्थम् | वीर० | भाग० 10-51-43 | 441 |
| 505 | 34 | 11 | सौन्दर्ये च स्वभावे च | विज | वैज० को० 6-3-28 | 95 |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text Quoted | in Commentry | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 506 | 36 | 61 | सौम्यो विप्रे सोमजेऽब्दे | विज० | वैज० को० 6-5-98 | 134 |
| 507 | 40 | 5 | स्थितो ब्रह्मादिदेवेषु | विज० | अध्यात्मे | 197 |
| 508 | 29 | 15 | स्नेह भक्तास्सदा देवाः | विज | पाद्मे | 9 |
| 509 | 29 | 26 | स्यात्कष्टं कृच्छ्रम् | विज० | अम० को० 1-235 | 15 |
| 510 | 60 | 50 | स्यान्मे तवाऽङ्घ्रिररणम् | वीर० | भाग० 10-60-43 | 616 |
| 511 | 37 | 13 | स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः | विज० | छान्दो० उ० 7-24-1 | 146 |
| 512 | 37 | 24 | स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः | वीर | छान्दो० उ० 7-24-1 | 148 |
| 513 | 52 | 36 | स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः | वीर | छान्दो० उ० 7-24-1 | 464 |
| 514 | 52 | 33 | स्वोज्जीवनेच्छा यदि ते | वीर | विष्णुतत्त्वम् | 463 |
| | | | ह | | | |
| 515 | 30 | 40 | हा विषाद शुगार्तिषु | विज० | वैज० को० 8-7-8 | 43 |
| 516 | 60 | 39 | हि र्हेतावबधारणे | विज० | वैज० को० 8-7-9 | 611 |
| 517 | 33 | 31 | हि स्या द्विशेषणे हेतौ | विज० | वैज० को० 8-7-9 | 85 |
| 518 | 50 | 52 | हृद्युभ्यामुपसंख्यानम् | विज० | वार्तिक 3885 under अष्टा० 8-3-95 | 421 |
| 519 | 37 | 1 | हेषा हेषा च वाजिनाम् | विज० | हला० को० 1-151 | 140 |

# श्रीमद्भागवतम्
## पञ्चाशाध्यायान्तर्गतानां विजयध्वजतीर्थादृतानां अधिकपाठरूपाणां श्लोकानां अकारादि क्रमेण पादानुक्रमणिका


| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **अ** | | | |
| अक्रूरप्रमुखै र्हरिः | 50 | 167 | b |
| अग्रे मगधराजस्य | 50 | 67 | c |
| अजानन्तो विष्णुशक्तिम् | 50 | 107 | a |
| अतो मे पश्य दुर्बुद्धे | 50 | 41 | a |
| अदृश्यन्त परानीके | 50 | 124 | c |
| अनयद्यमसादनम् | 50 | 43 | b |
| अनादत्तप्रहरणा | 50 | 72 | a |
| अनापृच्छ्य च भूपतिम् | 50 | 152 | b |
| अनारोपितपञ्जराः | 50 | 71 | d |
| अनेकबालव्यजनानि | 50 | 86 | b |
| अनेकशो वै प्रजहार | 50 | 142 | d |
| अन्योन्यप्रियकारिणौ | 50 | 93 | b |
| अन्योन्यवधकाङ्क्षिणौ | 50 | 190 | d |
| अन्वीयमानो भगवान् | 50 | 161 | a |
| अपरद्वार्यपि तथा | 50 | 30 | a |
| अपायात्समराङ्गणात् | 50 | 151 | d |
| अपास्य निमिषान्तरे | 50 | 117 | d |
| अपोवाह रणात्तूर्णम् | 50 | 150 | e |
| अप्रविष्टासवर्माणः | 50 | 72 | c |
| अभिविद्धो रथोपस्थे | 50 | 150 | a |
| अभिष्टुतो मागधसूत | 50 | 157 | d |
| अभ्यवर्षच्छरौघेण | 50 | 187 | a |
| अभ्येत्य गदया रामम् | 50 | 133 | e |
| अभ्रङ्लिहमहाद्रुमम् | 50 | 183 | d |
| अयस्सारमयीं दृढाम् | 50 | 133 | d |
| अयुतञ्च गजे गजे | 50 | 124 | b |
| अर्के तमसि नश्यति | 50 | 69 | b |
| अर्हणै र्हर्यामास | 50 | 99 | a |
| अलङ्कृतं सह नृपैः | 50 | 100 | a |
| अलङ्कृतै र्गजै रथैः | 50 | 90 | a |
| अवरुह्य गिरेः शृङ्गात् | 50 | 214 | c |
| अवाप कृष्णोऽगणितानि | 50 | 86 | d |
| अवापतु र्यत्र मेघाः | 50 | 199 | c |
| अविसृष्टौ मागधेन | 50 | 152 | c |
| अश्मकुट्टनिभां दृढाम् | 50 | 134 | b |
| असह्यातं ददौ राजन् | 50 | 104 | c |
| अहं हि भृत्यस्तव वैनतेयः | 50 | 210 | c |
| **आ** | | | |
| आकर्णान्तं समाकृष्य | 50 | 47 | a |
| आकर्षन्निव भूपालान् | 50 | 59 | c |
| आकृष्याकर्ण माशुगैः | 50 | 148 | d |
| आगच्छन्ददृशे देवं | 50 | 206 | c |
| आगत्य मधुरां रोद्धुम् | 50 | 60 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| आच्छाद्य भूपान् विद्राव्य | 50 | 159 | c |
| आजगाम कुरुश्रेष्ठ | 50 | 216 | c |
| आज्ञापयामास तूर्णम् | 50 | 18 | c |
| आज्ञापयामास बाणः | 50 | 105 | c |
| आत्ताभीष्टप्रहरणः | 50 | 22 | c |
| आदत्स्व ते मुसलं राम | 50 | 127 | a |
| आददे पञ्च नाराचान् | 50 | 147 | c |
| आदाय घोरं मुसलं | 50 | 128 | c |
| आदाय दमघोषजः | 50 | 38 | b |
| आदायामर्षविह्वलः | 50 | 52 | b |
| आप्यायिताः शार्ङ्गखेण | 50 | 35 | d |
| आभ्यां भवन्तौ रणदुर्म | 50 | 118 | a |
| आरुह्य कदलीकाण्ड | 50 | 196 | c |
| आरुह्य दृढविक्रमाः | 50 | 77 | b |
| आलक्ष्य दूरा दधिगम्य | 50 | 126 | c |
| आवर्तयित्वा मुसलं | 50 | 129 | a |
| आश्वासयन् क्षत्रियकूट | 50 | 33 | d |
| आसन्नासन्ननिधनम् | 50 | 145 | c |
| आससाद महाघोरौ | 50 | 32 | c |
| आसीच्चतुर्भि रष्टानां | 50 | 28 | c |
| आसीद्यदूनां कथनं | 50 | 29 | c |
| आसीनं काञ्चनासने | 50 | 100 | b |
| आह दारुक मासीनं | 50 | 24 | a |
| आहुकं बसुदेवञ्च | 50 | 113 | a |
| आहूय सर्वभूपालान् | 50 | 56 | a |
| आहूयाक्षौहिणिगणैः | 50 | 58 | c |
| **इ** | | | |
| इति कर्तव्यतामूढम् | 50 | 74 | c |
| इति ब्रुवति गोविन्दे | 50 | 41 | c |
| इत्युक्तस्तं निजपुरम् | 50 | 97 | c |
| इत्युक्त स्तेन धर्मात्मा | 50 | 175 | a |
| इत्युक्तो दारुक स्तेन | 50 | 26 | a |
| इत्युक्तौ जामदग्न्येन | 50 | 178 | c |
| इत्युक्तौ तेन रामेण | 50 | 182 | a |
| इत्युक्त्वा तं विसृज्योभौ | 50 | 213 | c |
| इत्युक्त्वा देवदेवेशं | 50 | 211 | a |
| इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै | 50 | 102 | a |
| इत्येता न्यायुधान्याजौ | 50 | 16 | c |
| इत्येव मुक्तो मगधेश्वरेण | 50 | 128 | a |
| इदञ्चोवाच भगवान् | 50 | 173 | c |
| इदं राज्य मिमाः प्रजाः | 50 | 101 | d |
| इन्द्रनीलसहस्राढ्यं | 50 | 203 | a |
| इमे भूपा न सेहिरे | 50 | 96 | b |
| **ई** | | | |
| ईश्वरौ रामकेशवौ | 50 | 213 | d |
| **उ** | | | |
| उग्रसेनं तथा गदम् | 50 | 112 | d |
| उग्रसेनं सुदामानं | 50 | 20 | a |
| उग्रसेनोद्धव मुखैः | 50 | 167 | a |
| उत्तमौजाश्च रुक्मी च | 50 | 5 | c |
| उत्तरद्वार मासाद्य | 50 | 8 | c |
| उत्तरेण विनिर्गत्य | 50 | 23 | a |
| उत्तीर्य यमुनां हरिः | 50 | 169 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| उदतिष्ठ दमेयात्मा | 50 | 141 | c |
| उदयाद्रिं समारोहत् | 50 | 69 | a |
| उद्वेलाऽभोधिसन्निभाः | 50 | 9 | b |
| उपगीयमानोन्यरमत् | 50 | 61 | a |
| उपजह्रुः पुरौकसः | 50 | 164 | b |
| उपतस्थे जरासन्धम् | 50 | 92 | a |
| उपर्यासीद्बलायुधः | 50 | 137 | b |
| उपविश्य वरासने | 50 | 165 | b |
| उपायनानि दिव्यानि | 50 | 163 | c |
| उपासीनो महाबाहुः | 50 | 202 | a |
| उपेतं सालभूषितम् | 50 | 109 | d |
| उरसोरः समाहृत्य | 50 | 139 | c |
| उरस्याहत्य मागधम् | 50 | 135 | b |
| उल्मुको वेणुदारी च | 50 | 2 | c |
| उवाच दानवपतिः | 50 | 100 | c |
| उषस्यनुदिते सूर्ये | 50 | 63 | c |
| उषित्वा भरतर्षभ | 50 | 215 | b |
| **ऊ** | | | |
| ऊरौ च जानौ जहरे च वक्षसि | 50 | 142 | c |
| ऊषतुः पर्वतोत्तमे | 50 | 200 | d |
| **ए** | | | |
| एकलव्यो बाह्लिकश्च | 50 | 4 | a |
| एकैकस्मिन् दश दश | 50 | 123 | e |
| एकैकं नृपतीन्रणे | 50 | 43 | d |
| एतस्मिन्नेव काले तु | 50 | 12 | a |
| एतस्मिन्नेव काले तु | 50 | 201 | a |
| एते नियुक्ता राजानः | 50 | 6 | a |
| एते गजा इमे ह्यश्वाः | 50 | 101 | c |
| एतैस्समसुखासुखैः | 50 | 96 | d |
| एभि रालोच्य शर्व्यर्याम् | 50 | 63 | a |
| एव मस्तु महाबाहो | 50 | 180 | a |
| एवं धनुश्शतशतम् | 50 | 140 | a |
| एवं ध्यायति गोविन्दे | 50 | 1 | a |
| एवं प्रहरतो स्तत्र | 50 | 144 | a |
| एवं स राजमार्गेण | 50 | 164 | c |
| एवं सा व्यथिता सेना | 50 | 83 | a |
| एहि काले मया स्मृतः | 50 | 213 | b |
| **क** | | | |
| कङ्कबर्हिण वाससः | 50 | 123 | b |
| कदम्ब निम्बहिन्ताल | 50 | 196 | a |
| कमण्डलुविराजितम् | 50 | 171 | b |
| करवीरपुरङ्कृतौ | 50 | 214 | d |
| करवीरपुरञ्चैव | 50 | 184 | a |
| करवीरपुरं नाम | 50 | 180 | c |
| करवीरपुरं महत् | 50 | 193 | b |
| कर्षणस्थैश्च पाषाणैः | 50 | 110 | c |
| कलिङ्ग केकया नान्ध्रान् | 50 | 57 | c |
| कलिङ्गश्चेकितानश्च | 50 | 2 | a |
| कलिन्दकुन्तलावन्ति | 50 | 57 | a |
| कारयामास सत्क्रियाम् | 50 | 98 | b |
| कार्याणां कारणं पूर्वम् | 50 | 177 | a |
| कालान्तमारुतोद्धूत | 50 | 48 | a |
| काशीगान्धारसृञ्जयान् | 50 | 57 | b |
| किमर्थं मिह सम्प्राप्तौ | 50 | 178 | a |
| किरीटपट्टाङ्गदकुण्डलां | 50 | 86 | c |
| किरीटं दिव्यभूषणम् | 50 | 207 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| किरीटं भास्करोपमम् | 50 | 206 | b |
| किरीटं रत्नचित्रितम् | 50 | 202 | d |
| किंशुका इव पुष्पिताः | 50 | 122 | d |
| कीर्यमाणो व्यराजत | 50 | 163 | b |
| कुञ्जराश्च तदा राजन् | 50 | 71 | c |
| कुञ्जराश्छिन्नपुष्कराः | 50 | 120 | b |
| कुणिन्दश्च महाबलः | 50 | 7 | d |
| कुन्तैः कुठारैः कुद्दालैः | 50 | 110 | a |
| कुम्भाण्डकूपकर्णौ क्व | 50 | 106 | c |
| कुम्भाण्डकूपकर्णौ च | 50 | 115 | c |
| कुम्भाण्डं कूपकर्णञ्च | 50 | 105 | a |
| कुम्भाण्डं गणमन्निघ्नम् | 50 | 149 | b |
| कुम्भाण्डं हन्तु माहवे | 50 | 147 | d |
| कुम्भाण्डेन समर्दितः | 50 | 146 | d |
| कुरु पाञ्चाल केरलान् | 50 | 56 | d |
| कूपकर्णस्तु दैतेयः | 50 | 151 | a |
| कृतवर्माण मुद्धवम् | 50 | 19 | b |
| कृत्वा युद्धं महाघोरं | 50 | 205 | c |
| कृष्णसङ्कर्षणादिभिः | 50 | 62 | b |
| कृष्णस्तं मुनिपुङ्गवम् | 50 | 173 | d |
| कृष्णः कमललोचनः | 50 | 114 | b |
| कृष्णेन स्वामिनि हते | 50 | 192 | c |
| कृष्णो निर्यातयामास | 50 | 19 | c |
| क्वचिदात्तप्रहरणाः | 50 | 75 | c |
| केचिद्धता स्समापेतुः | 50 | 120 | a |
| केचिद्धयानपर्याणान् | 50 | 77 | a |
| केचिद्भटा स्समापेतुः | 50 | 75 | a |
| केचिद्भिन्नवर्माणः | 50 | 76 | a |
| केचिद्विसृज्य शिबिरम् | 50 | 79 | a |
| केचिन्मागधमासाद्य | 50 | 79 | c |
| कोशादिधनसञ्चयम् | 50 | 194 | b |
| क्रमेण ते विमनसः | 50 | 145 | a |
| क्रमेण निर्भिन्नहृदो | 50 | 34 | b |
| क्रुद्ध स्सर्प इव श्वसन् | 50 | 147 | b |
| क्रोधसंरक्तलोचनौ | 50 | 138 | b |
| क्रोधोद्धृतारुणेक्षणाः | 50 | 76 | d |
| क्वचित्ते श्रवणं गतौ | 50 | 174 | d |
| क्व सुरासुरसङ्घात | 50 | 106 | a |
| क्षणमात्रं दिशो दश | 50 | 83 | d |
| क्षणा दादत्त मुसलम् | 50 | 141 | e |
| क्षणेन मुकुटोज्ज्वलम् | 50 | 191 | d |
| क्षणेन व्यंसितस्त्वयम् | 50 | 130 | d |
| क्षत्रियै श्शतसम्मितैः | 50 | 119 | b |
| क्षीरोदे सागरोत्तमे | 50 | 201 | b |
| क्ष्वेलन्तो युद्धसन्नद्धाः | 50 | 10 | a |
| **ख** | | | |
| खड्गो नन्दकसंज्ञितः | 50 | 14 | d |
| **ग** | | | |
| गगनात्सूर्यवर्चसौ | 50 | 12 | b |
| गगनादागतानि सः | 50 | 16 | d |
| गच्छन्क्वचि द्वनोद्देशे | 50 | 170 | a |
| गच्छन्तौ दक्षिणापथम् | 50 | 183 | b |
| गच्छ भद्र यथाकामं | 50 | 213 | a |
| गजानां षष्टिसाहस्रम् | 50 | 102 | c |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| गजाश्वरथसङ्कुलम् | 50 | 59 | d |
| गतं कुम्भाण्डमालोक्य | 50 | 151 | c |
| गताञ्च दानवीं सेनां | 50 | 154 | a |
| गत्वा यादवसत्तमः | 50 | 164 | d |
| गदं सारणमेव च | 50 | 65 | b |
| गदा कौमोदकी गुर्वी | 50 | 13 | c |
| गदा मादाय दुर्मदः | 50 | 141 | b |
| गदां शृङ्गोपमां गिरिः | 50 | 53 | b |
| गन्धताम्बूलपूर्वकैः | 50 | 98 | d |
| गायत्स्वलिकुलेषु च | 50 | 70 | b |
| गरुडं पक्षिपुङ्गवम् | 50 | 212 | b |
| गिरिकूटोपमां गदाम् | 50 | 131 | b |
| गृहीता बहव स्तुङ्गाः | 50 | 95 | a |
| गृहीत्वा रत्ननिचयं | 50 | 206 | a |
| गोपुराट्टालतोरणैः | 50 | 109 | b |
| गोपेनाधर्मचारिणा | 50 | 94 | b |
| गोमन्तं गच्छ साग्रजः | 50 | 180 | b |
| गोमन्त द्रष्टु मिच्छवो | 50 | 179 | a |
| गोमन्तं पर्वतश्रेष्ठं | 50 | 195 | a |
| गोमन्तं पर्वतोत्तमम् | 50 | 168 | b |
| गोमन्त साध्ववात्स्यथ | 50 | 181 | d |
| गोमन्ते पर्वतोत्तमे | 50 | 207 | b |
| गोमेदकशताचितम् | 50 | 203 | b |
| गोविन्द स्तु महातेजाः | 50 | 22 | a |
| गोविन्द स्तु महातेजाः | 50 | 159 | a |
| गोविन्दः परवीरहा | 50 | 26 | d |
| गोविन्दाध्मातचेतसाम् | 50 | 29 | b |

## च

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| चकर्त प्रहसन्निव | 50 | 46 | b |
| चकार कलहोचमम् | 50 | 56 | b |
| चकार कुक्षौ तत्कण्ठम् | 50 | 136 | c |
| चकारामितविक्रमः | 50 | 137 | d |
| चक्रं सुदर्शनं घोरं | 50 | 13 | a |
| चक्रुर्भूयो रणोद्योगं | 50 | 107 | c |
| चक्रु शरीरैस्सहस्रैक | 50 | 75 | c |
| चक्रुः केचन सङ्गहम् | 50 | 78 | d |
| चतुरङ्गचतान्वितः | 50 | 108 | d |
| चतुरङ्गेषु मागधः | 50 | 125 | b |
| चतुर्द्वारस्य पालने | 50 | 18 | d |
| चतुर्भि स्तुरगानाशु | 50 | 38 | c |
| चलत्कदलिकोपेतां | 50 | 162 | a |
| चापेनैकेन गोविन्दः | 50 | 119 | a |
| चालयन्नभ्यगाद्बलम् | 50 | 131 | d |
| चिक्षेप बलवक्षसि | 50 | 52 | d |
| चिक्षेप राजन् व्यनदत् | 50 | 129 | d |
| चिच्छेद यदुपुङ्गवः | 50 | 45 | b |
| चीरकृष्णाजिनधरं | 50 | 171 | a |
| चूर्णयामासतु र्नृप। | 50 | 140 | d |
| चैचं विव्याध सङ्गरे | 50 | 47 | b |

## छ

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| छत्राणि हेमाम्बरत्न | 50 | 86 | a |
| छादय निव माधवौ | 50 | 187 | b |
| छिन्नपादोरुबाहवः | 50 | 76 | b |
| छिन्नपादोरुबाहवः | 50 | 122 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **ज** | | | |
| जगता मादिपूरुषम् | 50 | 177 | b |
| जगाम मगधानेव | 50 | 218 | a |
| जगाम शोणितपुरम् | 50 | 88 | c |
| जग्मतु र्दक्षिणामुखौ | 50 | 182 | d |
| जग्मतु र्मथुरां पुरीम् | 50 | 215 | d |
| जग्मतु श्शोणितं पुरं | 50 | 152 | f |
| जग्राहाऽऽश्लिष्य बलिनं | 50 | 135 | c |
| जघान स बहून् वीरान् | 50 | 80 | c |
| जघ्नु र्भेरी स्सहस्रशः | 50 | 10 | b |
| जटामण्डलमण्डितम् | 50 | 170 | d |
| जत्रुण्यंसेभुजयोर्नाभि | 50 | 142 | b |
| जयी व्यावर्तताऽऽहवात् | 50 | 84 | d |
| जरासन्ध निबोधेदम् | 50 | 101 | a |
| जरासन्धेन भारत | 50 | 6 | b |
| जरासन्धेन सहिताः | 50 | 8 | a |
| जरासन्धो महाबलः | 50 | 50 | b |
| जरासुत स्सम्प्रति नग्न | 50 | 158 | a |
| जरासुतः प्राह हलायुधं | 50 | 126 | d |
| जहार चाऽन्ते भगवन् | 50 | 209 | d |
| जहार देवदेवस्य | 50 | 202 | c |
| जानुनु धरणीं कृत्वा | 50 | 211 | c |
| जाने त्वां यदुश्रुत्पन्नं | 50 | 176 | c |
| जानेऽवतीर्णं भुवने | 50 | 210 | b |
| जामदग्न्य तपोधन! | 50 | 174 | b |
| जामदग्न्येन माधवौ | 50 | 182 | f |
| जामदग्न्यो जनार्दनम् | 50 | 179 | d |
| जित्वा दानवपुङ्गवम् | 50 | 205 | d |
| **त** | | | |
| तत उत्थाय तौ वीरौ | 50 | 138 | a |
| तत श्चतुर्द्वारिगतान् | 50 | 35 | a |
| ततश्च त्रिंशतां राज्ञां | 50 | 44 | c |
| तत श्शशाङ्काकृतिणाञ्च | 50 | 33 | a |
| तत स्तत्सैनिकास्सर्वे | 50 | 192 | a |
| तत स्त माह गोविन्दः | 50 | 40 | a |
| तत स्तौ पेततुर्भुवि | 50 | 136 | d |
| तत स्तौ रामगोविन्दौ | 50 | 193 | a |
| ततः कालायसीं गुर्वीं | 50 | 131 | a |
| ततः पञ्चशरान् घोरान् | 50 | 38 | a |
| ततः प्रववृते युद्धम् | 50 | 115 | a |
| ततो दश हरि र्भल्लान् | 50 | 46 | c |
| ततोन्तरिक्षे घनघोष | 50 | 156 | a |
| ततोऽब्रवीज्जरासन्धः | 50 | 93 | c |
| ततोऽभूत्परसैन्यानां | 50 | 27 | c |
| ततो हरिं चैद्यपतिः | 50 | 36 | a |
| ततो हाहारवो जज्ञे | 50 | 148 | a |
| तत्र तौ चतुरो मासान् | 50 | 215 | a |
| तत्र प्रवर्षणं नाम | 50 | 198 | a |
| तत्र यादव शार्दूलः | 50 | 32 | a |
| तत्राऽऽरुह्य यदुश्रेष्ठौ | 50 | 200 | a |
| तत्राऽऽसीनै र्बुद्धिमद्भिः | 50 | 166 | c |
| तदा तै र्रथमानेषु | 50 | 125 | a |
| तथाऽन्ये लोकपालाश्च | 50 | 222 | a |
| तथा पञ्चनदेश्वरः | 50 | 4 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तदद्भुत मिवाऽभवत् | 50 | 28 | d | तं दृष्ट्वा यादवश्रेष्ठः | 50 | 212 | a |
| तदद्भुत मिवाऽभवत् | 50 | 39 | d | तं भुक्तवन्तं विश्रान्तम् | 50 | 99 | c |
| तदद्भुत मिवाऽभवत् | 50 | 124 | d | तं मागधं क्षणेनाऽघः | 50 | 137 | c |
| तदनीक मनाधृष्यं | 50 | 187 | c | तं मागधो वक्षसि कन्धरे च | 50 | 143 | a |
| तदाकर्ण्य रणोद्योगम् | 50 | 61 | c | तं विचेतन मालोच्य | 50 | 150 | c |
| तदाऽऽकर्ण्याऽब्रवीद्रामः | 50 | 179 | c | तं विसृज्य जरासन्धः | 50 | 141 | a |
| तदाऽनास्ढवाहनाः | 50 | 72 | d | तं हत्वा समरे शैलं | 50 | 181 | c |
| तदा पराजितो युद्धे | 50 | 217 | c | त मनुद्रुत्य वार्ष्णेयः | 50 | 84 | a |
| तदीयैर्भृत्यपूरुषैः | 50 | 194 | d | तावधाव दमर्षणः | 50 | 189 | b |
| तद्गजाश्वरथानीक | 50 | 194 | a | तावाकृष्य परस्परम् | 50 | 140 | b |
| तद्वीरभूपालकदम्ब | 50 | 11 | a | ता बुभौ गिरिसङ्काशौ | 50 | 51 | c |
| तन्मूले तुङ्ग तोरणम् | 50 | 184 | b | तावुभौ परमक्रुद्धौ | 50 | 139 | a |
| तन्मूले परिपालितम् | 50 | 180 | d | ता बुभौ परमक्रुद्धौ | 50 | 190 | a |
| तमनुज्ञाप्य सर्वज्ञं | 50 | 182 | c | तावेव मुक्तौ कदनं भया | 50 | 118 | c |
| तमन्तरे समासाद्य | 50 | 205 | a | तां गदां पतितां वक्षसि | 50 | 134 | a |
| तमन्वधावत्त्वरितं | 50 | 204 | e | तांस्तान् प्रत्येकशः कृष्णः | 50 | 42 | c |
| तमभ्यधाव द्गोविन्दः | 50 | 37 | a | तिष्ठ तिष्ठेति चाऽब्रवीत् | 50 | 36 | d |
| तमापतन्त मालोक्य | 50 | 132 | a | तीक्ष्णधारः शितमुखः | 50 | 14 | c |
| तमापतन्ती तरसा | 50 | 53 | a | तुङ्गद्रुमलतान्वितम् | 50 | 195 | b |
| तमायान्त मभिप्रेक्ष्य | 50 | 189 | c | तुङ्गप्राकार गोपुरम् | 50 | 161 | d |
| तमेवाऽभ्यद्रवत्पद्भ्याम् | 50 | 132 | c | तुरगाश्शैव्यसुग्रीव | 50 | 15 | c |
| तयो र्निपततो राजन् | 50 | 137 | a | तुरङ्गमाश्च बहवः | 50 | 95 | c |
| तर्पयामि नृपान् सर्वान् | 50 | 25 | c | तुरङ्ग रथकुञ्जराः | 50 | 186 | d |
| तस्थौ प्राञ्जलि रग्रतः | 50 | 211 | d | तुरङ्गः कृत्तकन्धरः | 50 | 120 | d |
| तस्य मूर्ध्नि निधायाऽऽशु | 50 | 207 | c | तूणौ चाक्षयसायकौ | 50 | 15 | b |
| तस्य शङ्खध्वनिं श्रुत्वा | 50 | 185 | c | तृतीये मासि भूयश्च | 50 | 55 | a |
| तं कामपालो मुसलेन | 50 | 142 | a | तेजसा भास्करोपमम् | 50 | 171 | d |
| तं तथा यान्त माकर्ण्य | 50 | 89 | a | तेन राजन्यकटकं | 50 | 47 | c |
| तं त्वा यदो र्वंशकरं | 50 | 210 | a | तेन सार्धं मगधुद्भम् | 50 | 217 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ते निरुध्य चतुर्द्वाराणि | 50 | 9 | a |
| ते हन्यमाना यदवः | 50 | 31 | a |
| तैलधौतान् शितान् शरान् | 50 | 37 | d |
| तैलाक्तानतपर्वाणः | 50 | 123 | c |
| तौ तथा यदुशार्दूलौ | 50 | 183 | a |
| तौ दृष्ट्वा परमस्निग्धौ | 50 | 92 | c |
| तौ विसृज्य रणं दैत्यौ | 50 | 152 | a |
| त्रयोविंशतिभिर्युतः | 50 | 58 | d |
| त्रातारं नाऽध्यगच्छद्वै | 50 | 48 | c |
| त्रिगर्तोऽथ जयद्रथः | 50 | 7 | b |
| त्रि दिक्ष्वाऽऽपतितं सैन्यम् | 50 | 74 | a |
| त्रिधा विभज्य गोविन्दः | 50 | 64 | a |
| त्रिनतं कार्मुकश्रेष्ठं | 50 | 14 | a |
| त्रिभिस्त्रिभिश्शरैर्भूयः | 50 | 43 | c |
| त्रिशतं स्वात्मसाम्यानां | 50 | 103 | c |
| त्रिंशत्कार्मुकमाहवे | 50 | 44 | d |
| त्रिंशद्भिस्सायकै राशु | 50 | 45 | a |
| त्वत्सन्निधिमिहायातः | 50 | 97 | a |
| त्वदधीन मिदं सर्वं | 50 | 101 | e |
| त्वभिससु रीन् रणे | 50 | 75 | d |
| **द** | | | |
| दक्षिणद्वार्यपि तथा | 50 | 29 | a |
| दक्षिणाभिमुखो ययौ | 50 | 168 | d |
| दक्षिणेनैव मार्गेण | 50 | 66 | c |
| दक्षिणेनैव वर्त्मना | 50 | 82 | b |
| दण्डभारैश्च भूरिभिः | 50 | 110 | b |
| दण्डं यथा सूर्यसुतो युग | 50 | 128 | d |
| ददर्श कञ्चन मुनिं | 50 | 170 | c |
| ददर्शतुश्च गोमन्तं | 50 | 183 | c |
| ददुः स्वाधिकृतं धनं | 50 | 222 | b |
| ददौ बाणौ बले स्सुतः | 50 | 103 | d |
| ददौ सहस्रसंख्यातान् | 50 | 221 | a |
| दध्मुस्शङ्खाननेकशः | 50 | 9 | d |
| दन्तवक्त्रविदूरथौ | 50 | 2 | b |
| दमघोषसुतस्याऽपि | 50 | 45 | c |
| दशार्णान्वङ्गसैन्धवान् | 50 | 57 | d |
| दंशितैश्च यदुश्रेष्ठैः | 50 | 17 | a |
| दानवानां प्रसिद्धानाम् | 50 | 103 | a |
| दानवेन्द्र निबोधेदम् | 50 | 94 | a |
| दानवेन्द्रं दुरासदम् | 50 | 205 | b |
| दानवौ बाणमन्त्रिणौ | 50 | 115 | d |
| दिवानिशं तप्यमानः | 50 | 55 | c |
| दिवि शक्र इवाऽमरैः | 50 | 166 | b |
| दिव्यकाञ्चन निर्मितम् | 50 | 204 | b |
| दीप्तैः कतिपयैर्भूयः | 50 | 108 | e |
| दीपाङ्कुरविराजिताम् | 50 | 162 | b |
| दीपैः कलशदर्पणैः | 50 | 91 | d |
| दीप्तौ केसरिणौ यथा | 50 | 113 | d |
| दीर्घिकोपवनोद्यानैः | 50 | 109 | c |
| दुद्राव त्रास्यमाना वै | 50 | 83 | c |
| दुद्रुवुस्सर्वतोदिशम् | 50 | 192 | d |
| दुर्हितो रिह प्रभो | 50 | 179 | b |
| दुर्मना स्तस्य सारथिः | 50 | 150 | d |
| दृष्टदर्शनकौतुकम् | 50 | 99 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| दृष्ट्वा कृष्णञ्च युध्यन्तं | 50 | 154 | c |
| दृष्ट्वा तद्व्राजमण्डलम् | 50 | 74 | b |
| दृष्ट्वा परमसन्तुष्टौ | 50 | 172 | c |
| दृष्ट्वा यादवसत्तमः | 50 | 117 | b |
| दृष्ट्वा यादवसत्तमौ | 50 | 187 | d |
| दृष्ट्वा विचित्रप्राकारं | 50 | 184 | c |
| दृष्ट्वा सृगालभूपालः | 50 | 189 | a |
| दृष्ट्वा सैनिकसंक्षयम् | 50 | 78 | b |
| देवकीनन्दनं हरिम् | 50 | 206 | d |
| देवदेवाय तोयराट् | 50 | 221 | b |
| देशान्बहूनतिक्रम्य | 50 | 169 | c |
| दैत्यदानव भीषणम् | 50 | 23 | d |
| दैत्यसैन्येन महता | 50 | 116 | a |
| दैत्यौ तेनैव मार्गेण | 50 | 152 | e |
| द्रष्टुकामो महादुर्गम् | 50 | 168 | a |
| द्रुपद शिशुपालश्च | 50 | 7 | a |
| द्रुमश्चैव सुदक्षिणः | 50 | 5 | d |
| द्वन्द्वेन सज्जमानं मां | 50 | 96 | a |
| द्वारेण जगदीश्वरः | 50 | 23 | b |
| द्वारेणाऽनुत्तरेण वै | 50 | 20 | d |
| द्वावेवाऽऽजौ पदातिनौ | 50 | 188 | b |
| **ध** | | | |
| धनुश्छित्त्वा त्रिभिश्शरैः | 50 | 45 | d |
| धनुष्मत्त्वं स्वयं रणे | 50 | 41 | b |
| धूमाङ्कुरोद्गारिणमाशु | 50 | 129 | c |
| ध्वजञ्च मुकुटच्छत्रे | 50 | 46 | a |
| ध्वजैः पताकै श्छत्रैश्च | 50 | 91 | a |
| **न** | | | |
| न चेतु स्सङ्करा द्राजन् | 50 | 31 | c |
| ननाम वध्यो भवता | 50 | 156 | c |
| नमस्ते पुण्डरीकाक्ष! | 50 | 177 | c |
| नमस्ते भार्गव श्रीमन् | 50 | 174 | a |
| नमो नमः कारणपूरुषाय | 50 | 208 | a |
| न मृषा कथ्यते मया | 50 | 101 | b |
| नाभौ कण्ठे ललाटे च | 50 | 149 | c |
| नाभौ नितम्बे च तथैव | 50 | 143 | c |
| नाम्ना कौमोदकी शुभा | 50 | 13 | d |
| नारायणात्मन् परिपासि | 50 | 209 | c |
| नारायणायाऽखिलकर्म | 50 | 208 | d |
| नारायणायाऽखिलवल्लभाय | 50 | 208 | b |
| नारिकेलैर्विसजितम् | 50 | 197 | d |
| निकटस्थान्द्रुमान् शैलान् | 50 | 140 | c |
| निगृह्य सोपस्करतोमरा | 50 | 85 | f |
| नित्यं वर्धन्त्यविक्लवाः | 50 | 199 | d |
| निनाय कृष्णो मधुरां | 50 | 85 | d |
| निपेतुर्हवो राजन् | 50 | 120 | c |
| नियोजितः कंसमिदा | 50 | 87 | c |
| निरन्तरं यद्वदलातचक्रम् | 50 | 49 | d |
| निरीक्ष्य माधवौ प्राह | 50 | 175 | c |
| निरुद्ध स्तै रहं भूपैः | 50 | 96 | c |
| निर्गत्य मधुरां प्रातः | 50 | 168 | c |
| निर्गत्य सदना त्कृष्णः | 50 | 18 | a |
| निर्गत्यानेकभूपाल | 50 | 108 | c |
| निर्जग्मतु रसम्भ्रान्तौ | 50 | 113 | c |
| निर्जग्मतुः पुरवरात् | 50 | 17 | c |
| निवासे देवदेवस्य | 50 | 201 | c |
| निवृत्तकदनोद्यमाः | 50 | 145 | b |
| निवृत्तयुद्धः प्रययौ स्वकं | 50 | 158 | d |
| निशाम्य कृष्णो न चचाल | 50 | 11 | c |
| निषसाद विचेतनः | 50 | 150 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| निहत्य मागधं सैन्य | 50 | 94 | c | पूजां चक्रतु रन्योन्यं | 50 | 93 | a |
| निहत्य रथसारथी | 50 | 54 | d | पूजितो यदुभिर्विप्रैः | 50 | 166 | a |
| नीडस्थेष्वेव कूजत्सु | 50 | 69 | c | पूर्वद्वारं समासाद्य | 50 | 3 | a |
| नृपा नाभाष्य सादरम् | 50 | 100 | d | पूर्वद्वारि नृपैस्सार्धं | 50 | 28 | a |
| नृपा स्तदाकर्ण्य तु कर्ण | 50 | 34 | a | पूर्वद्वारेण भारत। | 50 | 19 | d |
| नृपैश्च युद्धाभिजितैः | 50 | 158 | b | पृथु मुद्धव मेव च | 50 | 66 | b |
| न्ययोजय दमेयात्मा | 50 | 64 | c | पृथुं विपृथुमेव च | 50 | 20 | b |
| न्यवर्तत ब्रह्मर्षिसिद्ध | 50 | 157 | c | पेतुः कृत्तमहामूलाः | 50 | 122 | c |
| न्यवारयद्वासुदेवः | 50 | 189 | e | पोथयित्वा रथे क्षुब्धो | 50 | 54 | c |
| | | | | पौण्ड्रकश्च महाबलः | 50 | 4 | d |
| **प** | | | | प्रजहार ननाद च | 50 | 133 | f |
| पद्मरागमहानील | 50 | 203 | c | प्रजावरोधायुध भूष- | 50 | 87 | b |
| परस्परमनोनुगौ | 50 | 92 | d | प्रणम्य पादयो र्मूर्ध्ना | 50 | 207 | e |
| परस्परवधैषिणौ | 50 | 139 | b | प्रणामं चक्रतु र्वीरौ | 50 | 173 | a |
| पर्वतान् सरितो गिरौ | 50 | 169 | d | प्रणिपत्य विहङ्गराट् | 50 | 211 | b |
| पश्चिमद्वारमासाद्य | 50 | 6 | c | प्रत्यगा द्यदुनन्दनौ | 50 | 186 | b |
| पश्चिमाभिमुखो ययौ | 50 | 59 | b | प्रदध्मौ रिपुभीषणम् | 50 | 114 | d |
| पश्यतां सर्वभूताना | 50 | 133 | a | प्रदेशं रामकेशवौ | 50 | 198 | d |
| पशान्तो हि दिशो दश | 50 | 200 | b | प्रययौ चतुरङ्गाणाम् | 50 | 102 | e |
| पस्पर्शाङ्गं तदुत्तमम् | 50 | 212 | d | प्रविवेश बलं भीमम् | 50 | 70 | c |
| पाञ्चजन्यं महाशङ्खम् | 50 | 114 | c | प्रविवेश महद्बलम् | 50 | 67 | d |
| पर्वतेयांश्च सर्वशः | 50 | 58 | b | प्रविश न्राजमार्गेण | 50 | 162 | c |
| पीतनिर्झरवारिणौ | 50 | 214 | b | प्रविश्य चतुरङ्गेण | 50 | 82 | c |
| पुरस्कृत्य महाबलौ | 50 | 113 | b | प्रविश्य पूजितौ विप्रैः | 50 | 193 | c |
| पुष्परागप्रवालाढ्यं | 50 | 204 | a | प्रविश्य रिपुवाहिनीम् | 50 | 80 | b |
| पुष्पस्रगनुलेपनान् | 50 | 163 | d | प्रवेशे पीतवाससः | 50 | 73 | d |
| पुष्पैश्च लाजाञ्जलिभिः | 50 | 163 | a | प्रविश्य बलिनन्दनः | 50 | 97 | d |
| पूगपुन्नागशोभितम् | 50 | 196 | b | प्रसक्तः कृतवर्मणा | 50 | 151 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्रसुप्ता यमुनातीरे | 50 | 68 | c |
| प्रसेनं गान्दिनीसुतम् | 50 | 21 | b |
| प्रहर्तुं मुपचक्रमे | 50 | 141 | f |
| प्रहर्तुमैच्छच्छिरसि | 50 | 155 | c |
| प्राप्तश्च प्राणसंशयम् | 50 | 151 | d |
| प्राविशद्यमुनातटे | 50 | 60 | b |
| प्राविशन्मधुरां पुरीम् | 50 | 161 | b |
| प्राहतू रामकेशवौ | 50 | 178 | d |
| प्राहिणोत्सेनया सह | 50 | 66 | d |
| प्रियङ्करा माधवाभ्यां | 50 | 164 | a |
| प्रियाला शोकशेभितं | 50 | 195 | d |
| प्रीत्युत्फुल्लमुखेक्षणः | 50 | 175 | d |
| प्रीत्युत्फुल्लमुखो दोभ्यां | 50 | 212 | c |
| प्रेषयामास दुर्मदान् | 50 | 21 | d |
| प्रोवाचाऽऽहवलात्सौ | 50 | 117 | f |
| प्लवङ्गाकम्पितद्रुमम् | 50 | 197 | b |
| **फ** | | | |
| फलभारनतैः स्कन्धैः | 50 | 197 | c |
| फलमूलकृताहारम् | 50 | 172 | a |
| फलमूलकृताहारौ | 50 | 214 | a |
| **ब** | | | |
| बबन्ध पद्भ्यां जठरम् | 50 | 136 | a |
| बभञ्ज परितः पुरम् | 50 | 110 | d |
| बभूव क्रोधविह्वलः | 50 | 185 | d |
| बभूवुर्नृपसत्तम | 50 | 153 | d |
| बभ्रुवु भृशपीडिताः | 50 | 144 | d |
| बलञ्चबाहो स्तम दर्श | 50 | 127 | c |
| बलभद्रमुपाद्रवत् | 50 | 125 | d |
| बलवान् रोहिणीसुतः | 50 | 135 | d |
| बलं प्रविश्य वामेन | 50 | 81 | c |
| बलेनाल्पीयसा नृप! | 50 | 17 | d |
| बहुप्रस्रवणोपेतं | 50 | 198 | a |
| बहुभिश्च समन्वितौ | 50 | 17 | b |
| बहुभिः क्षत्रियै स्सह | 50 | 217 | b |
| बाण माभाष्य संसदि | 50 | 93 | d |
| बाणसेनां गतां दृष्ट्वा | 50 | 153 | a |
| बाणं द्रष्टुं बले स्सुतम् | 50 | 88 | d |
| बाणेन समनुज्ञातः | 50 | 108 | a |
| बाणो बाहुसहस्रवान् | 50 | 92 | b |
| बिभ्र द्भुवीं पदा पृथ्वीम् | 50 | 131 | c |
| ब्राह्मणैश्च महाविद्यैः | 50 | 160 | c |
| ब्रूहि क्रियां किं करवाणि | 50 | 210 | d |
| **भ** | | | |
| भगवन्त मधोक्षजम् | 50 | 176 | d |
| भज्यमाने पुरे तस्मिन् | 50 | 111 | a |
| भटाश्च रुधिराक्ताङ्गाः | 50 | 122 | a |
| भटाश्चाऽऽबद्धमूर्धजाः | 50 | 72 | b |
| भटे चाश्वे शतं शतम् | 50 | 123 | f |
| भया त्केचिच्च दुद्रुवुः | 50 | 75 | b |
| भर्त्सयन् कृष्ण कृष्णेति | 50 | 36 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भक्तो विश्वनन्दितौ | 50 | 178 | b |
| भाण्डशय्यासनादिकम् | 50 | 104 | a |
| भीमौ चकृषतू रणे | 50 | 139 | d |
| भूपाला विनिशिष्णवः | 50 | 107 | b |
| भूयो जग्राहतु र्घोरौ | 50 | 138 | c |
| भूयो दशाऽऽशु सन्धाय | 50 | 39 | a |
| भोजन स्नानशयन | 50 | 98 | c |
| भो भो चैद्यमहेष्वास ! | 50 | 40 | c |
| भ्रमद्भ्रमरसङ्घात | 50 | 197 | a |
| भ्रामयित्वा शतगुणम् | 50 | 52 | c |
| **म** | | | |
| मगधाधिपतिर्बली | 50 | 1 | b |
| मण्डलीकृतकार्मुकः | 50 | 36 | b |
| मण्डलीकृतकोदण्डः | 50 | 37 | c |
| मण्डितं मत्तकोकिलं | 50 | 196 | d |
| मतङ्गजात्पर्वतसन्निभान् | 50 | 85 | a |
| मत्ता विव महागजौ | 50 | 51 | d |
| मत्तौ द्वाविव कुञ्जरौ | 50 | 138 | d |
| मद्रान् त्रिगर्तान् सौवीरान् | 50 | 58 | a |
| मधुरा मन्वपद्यत | 50 | 108 | f |
| मधुराया विनिर्गत्य | 50 | 114 | a |
| मधुरां प्रेषयामास | 50 | 1 | c |
| मधुरां सवनोद्यानां | 50 | 194 | c |
| मनोमारुतरंहसाम् | 50 | 102 | f |
| मन्त्रयामास शर्वर्याम् | 50 | 62 | a |
| मन्त्रिणौ दौत्यसत्तमौ | 50 | 105 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| मन्वाना मागधेश्वरम् | 50 | 145 | d |
| मर्दयन्तो रिपून् युद्धे | 50 | 77 | c |
| मर्दयामास मागधम् | 50 | 81 | d |
| महत्या सेनया वृतः | 50 | 81 | b |
| महत्या सेनया वृतः | 50 | 216 | d |
| महत्या सेनया सार्धं | 50 | 215 | c |
| महाबलौ सम्प्रति चक्रतुः | 50 | 118 | d |
| महाखं दैत्यकुतापचारं | 50 | 33 | b |
| मागध श्शोणिता त्पुरात् | 50 | 108 | b |
| मागधस्तु गदां गुर्वीम् | 50 | 52 | a |
| मागधस्तु रणश्लाघी | 50 | 88 | a |
| मागधस्यबलीयसः | 50 | 61 | a |
| मागधस्य हलायुधः | 50 | 136 | b |
| मागधः क्रोधविह्वलः | 50 | 133 | b |
| मागधः क्रोधविह्वलः | 50 | 216 | b |
| मागधाय बले स्सुतः | 50 | 102 | b |
| मागधेन प्रचोदिताः | 50 | 107 | d |
| मागधेन्द्रबलं प्रति | 50 | 64 | d |
| मागधेन्द्रस्य दुर्जयम् | 50 | 70 | d |
| मागधेन्द्राभिरक्षिता | 50 | 83 | b |
| मागधो बहुसैनिकः | 50 | 217 | d |
| माङ्गल्यैः पटहस्वनैः | 50 | 91 | b |
| मातङ्गा मदशालिनः | 50 | 95 | b |
| माधवेन पराजितः | 50 | 88 | b |
| माधवौ समुपाविष्टं | 50 | 171 | c |
| मायया वृष्णिभिस्सह | 50 | 116 | d |
| मायासङ्ग्रामवैदिनाम् | 50 | 103 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| मार्गेण मधुसूदनः | 50 | 85 | d |
| मित्रं पराजितं युद्धे | 50 | 89 | c |
| मुक्ताफलविराजितम् | 50 | 203 | d |
| मुखे निधायाऽब्शु पुपूर | 50 | 33 | c |
| मुखे ललाटे चुबुके | 50 | 143 | b |
| मुधा चक्रे स्मयन्निव | 50 | 53 | d |
| मुसलञ्च दृढं गुरु | 50 | 16 | b |
| मुसलेन जरासुतः | 50 | 130 | b |
| मुसलेन हलायुधः | 50 | 54 | b |
| मुसलेन हलायुधः | 50 | 155 | d |
| मेघपुष्पवलाहकाः | 50 | 15 | d |
| मौलौ वामेन पाणिना | 50 | 155 | b |
| **य** | | | |
| य चाऽन्यद्वस्तु विद्यते | 50 | 101 | f |
| यत्र तौ चैद्यमागधौ | 50 | 32 | d |
| यत्प्रियं देव देवस्य | 50 | 220 | a |
| यदुप्रवीराय धनं न्यवेदयत् | 50 | 87 | d |
| यदुप्रवीराश्च समुद्यता | 50 | 34 | c |
| यदुप्रवीराः परिभूय | 50 | 35 | b |
| यदुवृद्धैर्महात्मभिः | 50 | 166 | d |
| यदूनां कदनं महत् | 50 | 28 | b |
| यदूनां क्षत्रियै स्सह | 50 | 115 | b |
| यदूनां दृढधन्विनाम् | 50 | 30 | b |
| यथान्यायमतन्द्रितौ | 50 | 173 | b |
| याव द्गदां न प्रहरामि | 50 | 127 | d |
| युगावसानार्णवघूर्णि | 50 | 11 | b |
| युधामन्युर्बृहत्क्षत्रः | 50 | 5 | a |
| युध्यमानस्त्रिभिर्बाणैः | 50 | 146 | c |
| युयुधाते तथाऽन्योन्यं | 50 | 190 | c |
| युयुधाते महावीर्यौ | 50 | 116 | c |
| युयुधे नहि तच्चित्रम् | 50 | 119 | c |
| येनाऽहिता विच्छसि जेतु | 50 | 127 | b |
| योधयामासतुर्वीरौ | 50 | 188 | a |
| यौगपद्येन माधवम् | 50 | 42 | b |
| **र** | | | |
| रणं सुघोरं कुरुतां रण | 50 | 118 | b |
| रणे नृपाञ्जघ्नुरनीक | 50 | 34 | d |
| रथ पादातिसङ्घ्रुत्ता | 50 | 68 | b |
| रथं महाकाञ्चनताल | 50 | 126 | b |
| रथं वाहय धर्मज्ञ! | 50 | 25 | a |
| रथाग्रे माधवः स्मयन् | 50 | 24 | b |
| रथानां नियुतं तथा | 50 | 102 | d |
| रथाश्च शस्त्रध्वजवाजि | 50 | 85 | c |
| रथाश्च सपरिच्छदाः | 50 | 95 | d |
| रथाश्चाऽऽबद्धतुरगाः | 50 | 73 | a |
| रथाश्वकुञ्जरानीकैः | 50 | 112 | a |
| रथिनं धृतकार्मुकम् | 50 | 189 | d |
| रथेन क्रोडचिह्नेन | 50 | 125 | c |
| रथेन भरतर्षभ! | 5 | 150 | f |
| रथेनैकेन गोविन्दः | 50 | 80 | a |
| रथेनैकेन सीरिणम् | 50 | 51 | b |
| रथे रथे च साहस्रम् | 50 | 124 | a |
| रथैः कमललोचनः | 50 | 67 | b |
| रममाणौ यथाकामं | 50 | 200 | c |
| रम्यं दहशतु र्वीरौ | 50 | 198 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| राजन्यकटकेन वै | 50 | 29 | d |
| राजन्विश्वात्मनो हरेः | 50 | 119 | d |
| राजपुत्रा विमनसः | 50 | 153 | c |
| राजभिर्बहुभिर्वृतः | 50 | 60 | d |
| राजभिश्शक्रविक्रमैः | 50 | 31 | b |
| राजान स्सर्व एव ते | 50 | 41 | d |
| राजान स्सहसोद्युध्य | 50 | 78 | a |
| राजानो रणसंविग्नाः | 50 | 144 | c |
| राजा बार्हद्रथो नती | 50 | 55 | b |
| रात्रौ चौर्यप्रतापेन | 50 | 94 | c |
| रामकृष्णावमर्षिणौ | 50 | 111 | d |
| रामकृष्णौ जगत्पती | 50 | 172 | d |
| रामकृष्णौ धर्मज्ञौ | 50 | 218 | c |
| रामकृष्णौ स्मृता वावाम् | 50 | 174 | c |
| रामबाहुविमुक्तेन | 50 | 130 | a |
| राममागधयो र्मृधे | 50 | 144 | b |
| रामस्य ववृधे बलम् | 50 | 154 | d |
| रामेण सहितो वीरः | 50 | 165 | c |
| रामोऽपि स महाबलः | 50 | 141 | d |
| रिपूनेवाऽभ्यवर्तन्त | 50 | 76 | c |
| रुरुधु र्दक्षिणद्वारं | 50 | 4 | c |
| रुरुधु र्भरतर्षभ ! | 50 | 8 | d |
| रुरुर्धु र्मधुरां पुरीम् | 50 | 6 | d |
| रुरुर्धु र्मागधाज्ञया | 50 | 3 | d |
| रुरोध बहुसैनिकः | 50 | 1 | d |
| **ल** | | | |
| लघू शरार्त्तितौ रम्यौ | 50 | 15 | a |
| लोकद्वयजिगीषवः | 50 | 31 | d |
| **व** | | | |
| वक्षस्याऽऽस्ये ललाटे च | 50 | 44 | a |
| वचस्तदाऽऽकर्ण्य हलायुधो | 50 | 157 | a |
| वञ्चितोऽस्मि दुरात्मना | 50 | 94 | d |
| वणिग्भिश्च यथा प्रियः | 50 | 193 | d |
| वराकौ बाणमन्त्रिणौ | 50 | 106 | d |
| वसन्तं साग्रजं रम्ये | 50 | 207 | a |
| वसुदेवश्च निशठं | 50 | 19 | a |
| वसुदेवोद्धवाक्रूर | 50 | 62 | c |
| वामेन जगृहे रामः | 50 | 134 | c |
| वामेन प्रेषयामास | 50 | 65 | c |
| वारकान्ता कदम्बैश्च | 50 | 90 | c |
| वासुदेवस्य सङ्गरे | 50 | 191 | b |
| वासुदेवेन भार्गवः | 50 | 175 | b |
| वासुदेवौ महाबलौ | 50 | 190 | b |
| विकसत्सु सरोजेषु | 50 | 70 | a |
| विचित्रशिबिकाच्छत्र | 50 | 104 | a |
| विचित्रस्यन्दनैर्भटैः | 50 | 90 | b |
| विजयस्वेति चाऽब्रुवन् | 50 | 79 | d |
| विज्ञानास्त्रेण तन्मायां | 50 | 117 | c |
| विदित्वा पुरपालकः | 50 | 204 | d |
| विद्ध्वा पञ्चभि राशुगैः | 50 | 42 | d |
| विद्रुतेष्ववशिष्टेषु | 50 | 51 | a |
| विना रणोपस्करणम् | 50 | 78 | c |
| विन्दानुविन्दा वानन्त्यौ | 50 | 3 | c |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| विभ्रान्तं शस्ताहितम् | 50 | 47 | d |
| विभ्रान्तं समपद्यत | 50 | 74 | d |
| विमलं लेभिरे यशः | 50 | 77 | d |
| विमुञ्चन् सायकान्बहून् | 50 | 37 | b |
| विरथं रोहिणीसुतः | 50 | 132 | b |
| विराटो दरद स्तथा | 50 | 3 | d |
| विलोकयन्नागधसैन्य | 50 | 49 | c |
| विविशुर्गहनं वनम् | 50 | 79 | b |
| विव्यधुर्निशितै र्बाणैः | 50 | 42 | a |
| विव्याध कुरुशार्दूल | 50 | 149 | a |
| विव्याध मधुसूदनम् | 50 | 39 | b |
| विव्याध यदुनन्दनः | 50 | 44 | b |
| विव्याधैकेन सारथिम् | 50 | 38 | d |
| विशीर्णे रास्तृता पृथ्वी | 50 | 121 | a |
| विश्वलोकैककारण | 50 | 177 | d |
| विष्णुना दानवेश्वरः | 50 | 89 | d |
| विष्णु स्त्रैलोक्यवल्लभः | 50 | 32 | b |
| विष्णोः क्षीरोदवासिनः | 50 | 220 | b |
| विसृज्य कृतवर्माणम् | 50 | 151 | e |
| विसृज्य चाऽऽस्थाय रथं | 50 | 157 | b |
| विसृज्य स गदा तूर्णम् | 50 | 135 | a |
| विसृज्य स्यन्दनं रणे | 50 | 132 | d |
| विस्फूर्जयन् कार्मुक | 50 | 49 | b |
| विस्रब्धा रमते सुखं | 50 | 68 | d |
| विहङ्गेषु [illegible] स्ततः | 50 | 69 | d |
| वीरोऽसि बलवानसि | 50 | 40 | d |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| वृक्षमूलनिवासिनम् | 50 | 170 | b |
| वृत राजन्यमण्डलम् | 50 | 89 | b |
| वृतं शिष्यशतैर्मुनिम् | 50 | 172 | b |
| वृतौ मायाविशारदौ | 50 | 116 | b |
| वृष्णी नाहूय सर्वशः | 50 | 18 | b |
| वेलेव वरुणालयं | 50 | 189 | d |
| वैनतेयो विहङ्गराट् | 50 | 204 | f |
| व्यजनाकल्पवाससां | 50 | 104 | b |
| व्यथितं भृशविह्वलम् | 50 | 188 | d |
| व्यनद त्सिंहनादञ्च | 50 | 26 | c |
| व्यनदत्सिंहनादञ्च | 50 | 39 | c |
| व्यर्थीकृत्य गदां तस्य | 50 | 54 | a |
| व्यंसयित्वा हलधरः | 50 | 53 | c |

## श

| | | | |
|---|---|---|---|
| शकुनिस्सोमदत्तश्च | 50 | 7 | c |
| शङ्खचक्रगदाधरः | 50 | 185 | b |
| शङ्खचक्रगदाधृतः | 50 | 201 | d |
| शङ्खमाध्मापयामास | 50 | 185 | a |
| शङ्खमाध्माय रामोऽपि | 50 | 27 | a |
| शङ्खं दध्मौ महाप्राण | 50 | 23 | c |
| शरान्चिमुञ्च अलजञ्च | 50 | 49 | a |
| शस्त्रौघेण भृशार्दिताः | 50 | 153 | b |
| शार्ङ्गमुक्ता शरगणाः | 50 | 123 | a |
| शार्ङ्गस्यंङ्गं गुणान्वितम् | 50 | 14 | b |
| शार्ङ्गे सन्धाय माधवः | 50 | 48 | d |
| शाल्वश्चैवश्च दुर्मतिः | 50 | 2 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| शाल्वो भूरिश्रवास्तथा | 50 | 5 | b | समतस्यान् मालवांश्चेदीन् | 50 | 56 | c |
| शिरो जहार गोविन्दः | 50 | 191 | c | समं समानी प्रजहार | 50 | 143 | d |
| शुश्राव वार्णी विशदाशरीरि | 50 | 156 | b | स मागधं गृहीत्वाजौ | 50 | 155 | a |
| शृगाल वासुदेवेन | 50 | 181 | a | स मागधानतिक्रम्य | 50 | 59 | a |
| शृङ्गं पर्वतमूर्धनि | 50 | 199 | b | समाभाष्याभ्यनुज्ञातः | 50 | 167 | c |
| शैनेयाऽऽहुक सारणैः | 50 | 62 | d | समाहूय भटोत्तमम् | 50 | 63 | d |
| शैनेयेन च धीमता | 50 | 165 | d | सम्यङ्निर्धारित क्रियः | 50 | 63 | b |
| शैनेयोऽपि महाबाहुः | 50 | 82 | a | स युवां न सहिष्यते | 50 | 181 | b |
| शैलद्रुमलतोपमम् | 50 | 48 | b | स राजन्यं जरासुतं | 50 | 99 | b |
| श्रान्तांश्च धरणीपतीन् | 50 | 154 | b | स राजमण्डलायाऽऽशु | 50 | 98 | a |
| श्रीमान् वैरोचनो बलिः | 50 | 202 | b | स रामानुगतः श्रीमान् | 50 | 169 | a |
| श्रुत्वा मागध मागतम् | 50 | 111 | b | सर्वतोऽनुद्धृतध्वजाः | 50 | 73 | b |
| श्रेणीबद्धा स्समन्ततः | 50 | 71 | b | सर्वे मदबलान्विताः | 50 | 8 | b |
| | | | | सहस्रकृत्वो रिपुदर्प | 50 | 129 | b |
| **स** | | | | सहस्रारं मनोरमं | 50 | 13 | b |
| सङ्कर्षणश्च हार्दिक्यम् | 50 | 65 | a | संस्तूयमान स्सन्तुष्टैः | 50 | 160 | a |
| सङ्कर्षणसहायवान् | 50 | 22 | d | संहारणपटुर्हरिः | 50 | 106 | b |
| सङ्कर्षणसहायवान् | 50 | 167 | d | साग्रजाय महात्मने | 50 | 176 | b |
| सङ्कर्षणोऽपि बलवान् | 50 | 81 | a | सात्यकिश्च गदश्चैव | 50 | 21 | a |
| सङ्कर्षणोऽमर्षणविह्वले- | 50 | 128 | b | सात्यकि स्तं महाबाहुः | 50 | 148 | c |
| सङ्करे बाणमन्त्रिणा | 50 | 146 | b | सात्यकि स्तु महातेजाः | 50 | 146 | a |
| सङ्ग्रामो रोमहर्षणः | 50 | 30 | d | सात्यकिं कृतवर्माणम् | 50 | 112 | c |
| स तथा विद्यमानस्य | 50 | 191 | a | सात्यकिं कृतवर्माणम् | 50 | 117 | e |
| सन्नाहभेरीस्सन्नाह्य | 50 | 111 | c | सात्यकिं विपृथु श्चैव | 50 | 66 | a |
| सन्निरुध्य पुरद्वारम् | 50 | 109 | a | सात्यकिः पञ्च योजनम् | 50 | 84 | b |
| सपत्नाच्छरसञ्चयैः | 50 | 159 | b | साधु साध्विति पूजयन् | 50 | 40 | b |
| स पूर्ववैरं नृपतिः स्मरन् | 50 | 126 | a | सानुगौ मधुरां पुरीम् | 50 | 219 | b |
| सप्ताहं रामकृष्णयोः | 50 | 217 | b | सायकैर्युद्ध दुर्मदान् | 50 | 25 | d |
| सभां प्रविश्य विपुलां | 50 | 165 | a | सायुधा न्सरणोद्यमान् | 50 | 80 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सायुधैस्सपरिच्छदैः | 50 | 112 | b |
| सारथिं चतुरो बाहान् | 50 | 43 | a |
| सालतालतमालाढ्यं | 50 | 195 | c |
| साश्वसूते रथे क्षुब्धौ | 50 | 130 | c |
| सा सेना बहुनागाश्व | 50 | 68 | a |
| साहाय्यं कुरु मे प्रभो | 50 | 97 | b |
| साहाय्यार्थं कुरूद्वह | 50 | 105 | d |
| सिंहनादञ्च कुर्वन्तः | 50 | 9 | c |
| सिंहनादं व्यनीनदत् | 50 | 27 | b |
| सुखी निवर्तस्व रणादिति | 50 | 156 | d |
| सच्छायं निर्मलोदकम् | 50 | 198 | b |
| सुरारिसंहारणकारणाय | 50 | 208 | c |
| सुवर्णतोरणै श्चित्रैः | 50 | 91 | c |
| सूतमागधवन्दिभिः | 50 | 61 | b |
| सूतमागधवन्दिभिः | 50 | 90 | d |
| सूतमागधवन्दिभिः | 50 | 160 | b |
| सूतमागधवन्दिभिः | 50 | 218 | d |
| सृगालघोषं मृगराडिवोद्गतः | 50 | 11 | d |
| सृगालं निहत श्रुत्वा | 50 | 216 | a |
| सृगालो वासुदेवाख्यः | 50 | 186 | a |
| सृजस्यशेषं भुवनं स एव | 50 | 209 | b |
| सेनायां दैत्यमन्त्रिणः | 50 | 148 | b |
| सेनायां मगधेन्द्रस्य | 50 | 73 | c |
| सैन्यञ्च बाणपूगेन | 50 | 188 | c |
| सैन्येन महताऽर्दयन् | 50 | 82 | d |
| सोऽतिविद्धो महाबाहुः | 50 | 147 | a |
| सोऽभ्येत्य बहुपादाति | 50 | 186 | c |
| स्कन्धावारेण महता | 50 | 60 | c |
| स्तूयमानौ विविशतुः | 50 | 219 | a |
| स्तोतुं त मुपचक्रमे | 5 | 207 | f |
| स्तोत्रं कुर्वद्भि रुच्चकैः | 50 | 160 | d |
| स्त्रीभिः प्रासादसंस्थितैः | 50 | 162 | d |
| स्मरन् पूर्वपराभवम् | 50 | 55 | d |
| स्यन्दनै श्चित्रबन्धनैः | 50 | 121 | b |
| स्वयं कतिपयै र्युक्तो | 50 | 67 | a |
| स्वयं दारुकसारथिः | 50 | 22 | b |
| स्वर्णपुङ्खा अयोमुखाः | 50 | 123 | d |
| स्व सेनां चतुरङ्गिणीम् | 50 | 64 | b |
| स्व सैन्यं मायया क्लिष्टं | 50 | 117 | a |
| स्वहस्तेन कुरूद्वह! | 50 | 134 | d |
| स्वागतं ते यदुश्रेष्ठ! | 50 | 176 | a |
| **ह** | | | |
| हतशेषबलान्वितौ | 50 | 152 | d |
| हतशेषाः कुरूद्वह | 50 | 192 | b |
| हतावशिष्टाल्पबलेन | 50 | 158 | c |
| हताश्वरथसारथिः | 50 | 48 | d |
| हतेषु सर्वसैन्येषु | 50 | 50 | a |
| हत्वा च सुबहू व्रणे | 50 | 159 | d |
| हयाश्चा बद्धवैराणाः | 50 | 71 | a |
| हयां स्तूर्णं मचोदयत् | 50 | 26 | b |
| हरि र्नियातयामास | 50 | 20 | c |
| हरिः प्रतीची द्वारेण | 50 | 21 | c |
| हर्म्यप्रासादगोपुरम् | 50 | 184 | d |
| हलञ्च बलभद्रश्च | 50 | 16 | a |
| हलायुधो मागधकोश | 50 | 87 | a |
| हिरण्यगर्भत्व मुपेत्य मूले | 50 | 209 | a |
| हतं दानववीरेण | 50 | 204 | c |
| हृदि चिन्ता सन्नेपथुः | 50 | 27 | d |
| हृदि शून्यीपं दानवम् | 50 | 149 | d |
| हृष्टपुष्टजनाकीर्णम् | 50 | 161 | c |

# विजध्वजरीत्या दशमस्कन्धस्थ (59) तमाध्याया दनन्तर मुपलभ्य - मान दशाध्यायस्थानां (अधिकपाठरूप) श्लोकपादाना मकाराद्यनुक्रमणी


| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **अ** | | | |
| अक्षिपच्छम्बरोऽसुरः | 4 | 17 | b |
| अक्षैस्सभायां क्रीडन्तम् | 5 | 50 | a |
| अक्षोहिण्या सखीजनैः | 7 | 15 | d |
| अक्षौहिणीभिस्तिसृभिः | 5 | 31 | c |
| अक्षौहिणीभि स्सहितः | 5 | 24 | c |
| अगस्त्यो याज्ञवल्क्यश्च | 8 | 5 | c |
| अग्निहोत्रायदिलक्षणैः | 9 | 10 | b |
| अङ्गारोद्गारिलोचनः | 5 | 46 | d |
| अत्र यद्रोचते नेतुम् | 3 | 27 | c |
| अथ तत्र कुरुश्रेष्ठ | 10 | 27 | a |
| अथ तत्राऽसितापाङ्गी | 4 | 34 | a |
| अथ ते कृष्णरामाभ्याम् | 6 | 37 | a |
| अथर्त्विग्भ्योऽददात्काले | 9 | 11 | a |
| अथवाऽप्यैन्द्रमैश्वर्यम् | 6 | 47 | c |
| अथाऽपि काले स्वजना० | 8 | 18 | a |
| अथाऽवरुह्य गरुडात् | 1 | 14 | a |
| अथाऽऽह पौण्ड्रकं शौरिः | 5 | 34 | a |
| अथैकजात्मजौ प्राप्तौ | 10 | 1 | a |
| अथैकदा द्वारवत्यां | 6 | 1 | a |
| अथोचु र्मुनयो राजन् | 8 | 32 | a |
| अदित्यास्सह भार्यया | 1 | 6 | b |
| अद्य नो जन्म साफल्यं | 8 | 21 | a |
| अद्य वा रति मासां स्त्रीन् | 9 | 25 | c |
| अधुना श्रीमदान्धाक्षाः | 9 | 22 | c |
| अध्यात्मशिक्षया गोप्यः | 6 | 57 | a |
| अनादरणकारणम् | 8 | 29 | b |
| अनिस्तीर्य त्यजन्पतेत् | 3 | 37 | d |
| अनीशा मधुरां ययुः | 9 | 28 | d |
| अनीह एत द्बहुधैक - | 8 | 17 | a |
| अनुकुर्वन् स्वमायया | 7 | 7 | d |
| अनुजग्मु र्दिवौकसः | 1 | 39 | d |
| अनुज्ञाताः केशवेन | 9 | 31 | c |
| अनुवृत्तां व्रजेश्वरि | 6 | 47 | b |
| अनेकभूतसङ्घातैः | 2 | 37 | c |
| अन्तःपुरवरं राजन्! | 4 | 30 | a |
| अन्धाश्च बधिराश्चैव | 6 | 16 | a |
| अन्यपत्न्य स्तवाऽनघ! | 1 | 22 | b |
| अन्याश्च कुरुशार्दूल! | 3 | 51 | a |
| अन्यांश्चैवाऽत्मपक्षीयान् | 6 | 23 | a |
| अन्ये च सर्व राजानः | 9 | 30 | a |
| अन्यैश्च यादवश्रेष्ठैः | 4 | 40 | a |
| अन्योन्यसन्दर्शन हर्ष | 6 | 24 | a |
| अपयातं हुताशनम् | 2 | 31 | b |
| अपराध स्त्वया शक्र | 3 | 32 | a |
| अपराधं जगत्पते | 3 | 24 | d |
| अपश्यतां नन्दनं चारु | 1 | 12 | c |
| अपश्यत्पौण्ड्रकं हरिः | 5 | 25 | d |
| अपाययत्स्तनं प्रीती | 10 | 54 | a |

| | अध्याय | श्लोक | पाद | | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अपास्य शत्रवे क्रुद्धः | 4 | 24 | c | अर्धचन्द्रेण चिच्छेद | 2 | 12 | a |
| अपि स्मरथ न स्सख्यः | 6 | 51 | a | अर्घयामास वेगेन | 2 | 6 | c |
| अपुत्रः काशिराजोऽसौ | 5 | 5 | a | अर्घयामासु रायान्तम् | 5 | 3 | c |
| अबुद्धात्वखिलात्मनः | 10 | 15 | b | अलङ्कृतमुखाम्भोजम् | 4 | 32 | a |
| अब्रह्मण्ये प्रयोजितः | 5 | 45 | b | अवतीर्णो जगत्पतिः | 5 | 16 | b |
| अभिचारविधानेन | 5 | 44 | c | अवतीर्णौ क्षयाय मे | 10 | 30 | d |
| अभिदुद्राव समरे | 2 | 5 | c | अवतीर्णौ तथा त्विह | 10 | 18 | d |
| अभिदुद्रुवुरुद्धृताः | 1 | 51 | 1 | अवचन् स्वधितिनाऽङ्घ्रितम् | 4 | 8 | d |
| अभिवर्णितवृत्तान्तः | 5 | 14 | c | अवबुध्य यथाऽस्मासु | 6 | 52 | a |
| अभिवाद्य यथा न्यायम् | 3 | 43 | a | अवबोधे भवान्नुद्धः | 10 | 10 | c |
| अभिष्टुवत्स्वच्युतकौर० | 7 | 5 | b | अवमस्यति सद्य स्त्वाम् | 3 | 19 | c |
| अभेदा दावयोः परम् | 3 | 32 | d | अवष्टभ्यौष्ठ माक्षेपैः | 4 | 21 | c |
| अभ्यद्रव द्रणे कृष्णम् | 3 | 2 | a | अवसायाऽखितान्देवान् | 1 | 35 | a |
| अभ्यद्रवन्महासत्त्वः | 2 | 22 | c | अवाप कीदृश पुत्रम् | 4 | 3 | c |
| अभ्रातृत्व तथाऽऽत्मनः | 5 | 10 | b | अव्यक्तञ्च ततः परम् | 8 | 19 | d |
| अमर्षा त्ताम्रलोचनः | 4 | 22 | d | अव्याहतानुभव मीश्वर० | 8 | 31 | b |
| अमुनाऽवद्यकर्मणा | 10 | 48 | b | असह्य मातृसापत्न्यम् | 5 | 10 | a |
| अमुष्मिन्प्रीति रधिका | 4 | 38 | c | असावह ममैवैते | 10 | 17 | a |
| अमृतत्वाय कल्पते | 6 | 54 | b | असिभिः पट्टिशैर्बाणैः | 5 | 30 | c |
| अम्ब माऽस्मानसूयेथाः | 6 | 30 | a | असिहस्तो महाबाहुः | 1 | 42 | c |
| अयन्तु बहिराच्छन्नः | 7 | 19 | c | अस्तौजसा नृप विभुग्र० | 5 | 54 | b |
| अय स्वस्त्ययनः पन्थाः | 8 | 35 | a | अस्मरत्स्वसुत नष्ट | 4 | 34 | c |
| अयोधयद्धनपतिः | 2 | 7 | c | अस्मा स्वप्रियकल्पोऽयम् | 9 | 21 | a |
| अयोधयद्धृषीकेश | 2 | 28 | c | अहन्तेऽधिकृता पत्नी | 4 | 16 | c |
| अर्चाया देवचक्षुषाम् | 8 | 10 | b | अहमाज्ञाकर स्तव | 3 | 27 | b |
| अर्दयामास कृष्णेन | 5 | 2 | a | अह यूय मसा वार्यः | 10 | 23 | a |
| अर्दयामास कौरव्य। | 3 | 13 | c | अह हि सर्वभूतानाम् | 6 | 55 | a |
| अर्धचन्द्र शरोत्तमम् | 2 | 16 | d | अहो भोजपते यूय | 6 | 38 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अहो मृत इवाऽऽयातः | 4 | 43 | c | आदाय पारिबर्हं तम् | 9 | 27 | c |
| अहो वयं जन्मभृतः | 8 | 9 | a | आदाय व्यसृजन्केचित् | 7 | 22 | a |
| अहो विचित्रं भगव० | 8 | 16 | d | आदि रन्तोऽन्तरं बहिः | 6 | 55 | b |
| अहो विमूढनश्चरितं० | 8 | 17 | d | आनन्त्यं वा हरेः पदम् | 7 | 41 | d |
| अंसेऽनुरक्तहृदया विदधे | 7 | 29 | d | आनन्दबाष्पप्रचुराम् | 1 | 9 | c |
| | | | | आनन्दसम्प्लवमखण्ड - | 7 | 4 | b |
| **आ** | | | | आनिन्यथुः पितृस्थानम् | 10 | 32 | c |
| आकर्णपूर्णं विनिकृष्य | 5 | 6 | c | आनीतप्रमदासार्थम् | 3 | 51 | c |
| आकर्ण्य द्वारकौकसः | 4 | 43 | b | आनीत ममर द्रुमम् | 3 | 52 | b |
| आकर्ण्येत्थं पितु र्वाक्यं | 10 | 21 | a | आपन्नसंसृतिभयापह - | 10 | 19 | b |
| आकीर्यमाणो दिविजैः | 4 | 29 | a | आपुर्भवद्गतिमथाऽनु | 8 | 24 | d |
| आकृतीनां पृथक्कृतीः | 10 | 9 | d | आभाष्यानकदुन्दुभिः | 8 | 32 | b |
| आकृत्याऽवयवै र्गत्या | 4 | 37 | c | आमुक्तमाल्याभरणम् | 5 | 27 | c |
| आकोट्यां ज्यां समाकृष्य | 7 | 22 | c | आययु र्मित्पितुः पुरम् | 7 | 20 | b |
| आक्रीडनं भूतगणै० | 5 | 33 | d | आययु र्मुनय स्तत्र | 8 | 2 | c |
| आजग्मुः केशवं द्रष्टुं | 3 | 47 | c | आययौ तार्क्ष्यमारुह्य | 5 | 13 | c |
| आज्ञाया देहविकृतिं निज० | 7 | 10 | a | आयान्तं कुरुपुङ्गव | 2 | 19 | b |
| आत्मजाभ्यां शुचिस्मिता | 10 | 27 | d | आयान्तं देवकीपुत्रम् | 3 | 46 | a |
| आत्मनाऽनुप्रविश्यात्मन् | 10 | 5 | c | आयान्तं द्वारकौकसः | 5 | 49 | b |
| आत्मलोकैषणा मेवं | 8 | 36 | a | आयुधानि महार्हाणि | 7 | 38 | c |
| आत्मसृष्टमधोक्षज | 10 | 5 | b | आयोधनं तद्रथवाजि | 5 | 33 | a |
| आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु | 10 | 24 | c | आयोधयद्धरि स्ते च | 3 | 10 | c |
| आत्मानङ्गाल मीश्वरम् | 8 | 23 | d | आराध्य देवदेवेशम् | 4 | 1 | a |
| आत्मानञ्चातिबिह्वलः | 2 | 31 | d | आरुह्य गरुडं प्रायात् | 1 | 1 | c |
| आत्मान मकृताशिषम् | 6 | 28 | b | आरुह्य दृढदंशितः | 1 | 40 | b |
| आत्मारामस्य तस्येमा० | 7 | 39 | a | आरुह्य प्रययौ तार्क्ष्यम् | 1 | 11 | c |
| आत्मा ह्येकस्स्वयञ्ज्योतिः | 10 | 24 | a | आरुह्य वरवारणम् | 1 | 39 | b |
| आददु स्सशरं चापम् | 7 | 21 | c | आरुह्य वरुणस्त्वरन् | 1 | 43 | b |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| आस्त्रा शितशूलभृत् | 1 | 46 | b |
| आर्य भ्रात रहमन्ये | 6 | 28 | b |
| आलिप्ता चसुपाणयः | 9 | 4 | d |
| आलिह्न् सृक्वणी रक्ते | 5 | 47 | c |
| आविस्तारोऽत्पमूर्येक | 10 | 25 | c |
| अशीर्भिः परमप्रीता० | 1 | 7 | c |
| आश्लिष्य गाढं नयनैः | 6 | 24 | c |
| आश्लिष्यानामयं पृष्ट्वा | 6 | 50 | c |
| आसन्न च्युतसन्दर्श | 6 | 32 | c |
| आसन्मरीचेष्वटपुनाः | 10 | 47 | a |
| आसन्विचित्ररूपाणि | 6 | 13 | c |
| आससाद करं विष्णोः | 2 | 46 | c |
| आसीत्कल्पक्षये यथा | 6 | 1 | d |
| आस्थाय रणमूर्धनि | 5 | 30 | b |
| आहुकं कृतवर्माणम् | 6 | 8 | c |
| आहुकं वसुदेवञ्च | 3 | 42 | c |
| **इ** | | | |
| इत एतान्प्रणेष्यामः | 10 | 50 | a |
| इति छित्वा शितैर्बाणैः | 5 | 36 | a |
| इति तद्वचनं श्रुत्वा | 9 | 1 | a |
| इति दूत स्तदाक्षेपं | 5 | 23 | a |
| इति प्रस्तोभितो बालैः | 5 | 16 | c |
| इति सत्राजितः पुत्री | 3 | 23 | a |
| इति सम्भाष्यमाणासु | 8 | 2 | a |
| इति संशयिरे जनाः | 5 | 39 | d |
| इत्थं देव्या गिरं शक्रः | 3 | 20 | a |
| इत्यनुज्ञाप्य दाशार्ह० | 8 | 25 | a |
| इत्यकर्ण्यप्रियं शक्रः | 1 | 37 | a |
| इत्यात्मनाऽभिसन्धाय | 5 | 42 | a |
| इत्यादिष्टस्तथाचक्रे | 5 | 45 | c |
| इत्युक्त स्सत्यया कृष्णः | 1 | 30 | a |
| इत्युक्ता देवदेवेन | 1 | 27 | a |
| इत्युक्तो देवकीपुत्रः | 1 | 23 | a |
| इत्युक्तो देवराजेन | 3 | 31 | a |
| इत्युक्तो वासुदेवेन | 3 | 35 | a |
| इत्युक्त्वा तान्समादाय | 10 | 52 | a |
| इत्युक्त्वा तालमात्रे तु | 2 | 15 | c |
| इत्युत्तमश्लोकशिखामणिं | 7 | 5 | a |
| इदमाह करे स्पृशन् | 9 | 19 | d |
| इद मित्थमिति प्रायः | 10 | 44 | a |
| इदमेव विशङ्कये | 6 | 52 | b |
| इन्द्रनीलच्छदच्छन्नः | 1 | 19 | a |
| इन्द्रसेनेन पूजितौ | 10 | 52 | b |
| इन्द्राणीञ्च त्वया सह | 1 | 35 | b |
| इन्द्रियन्त्विन्द्रियाणां त्वम् | 10 | 10 | a |
| इन्द्रियाणाञ्च तैजसः | 10 | 11 | b |
| इमे च द्वारकौकसः | 10 | 23 | b |
| इमे प्राहुणिकाः प्राप्ताः | 2 | 1 | c |
| इयञ्चाऽप्यमरावती | 3 | 26 | d |
| इह प्राप्तो भवान्प्रभो! | 4 | 17 | d |
| **ई** | | | |
| ईजे च भगवान्रामः | 6 | 4 | a |
| ईजेऽतुयज्ञं विधिना | 7 | 10 | a |
| ईशस्य हि वशो लोकः | 8 | 30 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ईशानो दशभिर्वीरैः | 2 | 39 | a |
| ईशानो वृषभं तुभ्यं | 1 | 46 | a |
| ईश्वरस्येशितव्यताम् | 8 | 15 | b |
| ईश्वरा वादिभूरुभौ | 10 | 29 | d |
| **उ** | | | |
| उक्ता स्माभि र्भृशं देव | 1 | 36 | a |
| उक्त्वा भारतसत्तम! | 3 | 23 | b |
| उग्रसेनश्च कौरव्य! | 5 | 3 | a |
| उच्चकै स्रग्रसेनाद्याः | 5 | 20 | c |
| उत्तमश्लोक आविशत् | 4 | 40 | b |
| उत्तमश्लोके चिन्त्यम् | 5 | 57 | b |
| उत्पाट्याऽऽरोपयामास | 1 | 30 | a |
| उत्सिक्तमकरयुपहृता० | 8 | 24 | c |
| उत्स्मरन्त्यै मूढचिह्नानि | 5 | 21 | c |
| उन्नीय चक्र मुरुकुण्डल - | 7 | 29 | a |
| उपजग्मुः प्रमुदिताः | 4 | 33 | c |
| उपधार्य शनै रीषत् | 4 | 33 | a |
| उपयेमे यथालोकं | 7 | 7 | c |
| उपलभ्य महारथः | 5 | 24 | b |
| उपविष्ट सभामध्ये | 3 | 43 | c |
| उपविष्टं सम शय्या | 1 | 34 | c |
| उपस्थितै र्बहुभ्रैः | 3 | 41 | a |
| उपाजग्मु स्तदाकर्ण्य | 1 | 3 | c |
| उपाजह्रु रुपायनम् | 4 | 8 | b |
| उपायाद्भूप सङ्गरम् | 5 | 31 | d |
| उपातभयाऽऽहर दृक्षम् | 1 | 36 | c |
| उपासिसा लेहकृतो० | 8 | 12 | c |
| उपोष्य सुसमाहिताः | 6 | 18 | d |
| उभयं मय्यथ परे | 6 | 56 | c |
| उवाच दूतम्भगवान् | 5 | 21 | a |
| उवाच सुखमासीनान् | 8 | 8 | a |
| उवाह कसावरजम् | 5 | 8 | c |
| **ऊ** | | | |
| ऊढा चतुर्भिः पुरुषैः | 1 | 45 | a |
| ऊढोपायनताम्बूल | 3 | 40 | c |
| ऊर्णाया प्रथमेऽन्तरे | 10 | 47 | b |
| **ऋ** | | | |
| ऋणै स्त्रिभि र्द्विजो जातः | 3 | 37 | a |
| ऋषयश्च महात्मानः | 6 | 15 | a |
| ऋषयः श्रोतुमर्हथ | 8 | 27 | b |
| ऋषिपित्रो र्महामते | 3 | 38 | b |
| **ए** | | | |
| एक एव न चाऽपरः | 5 | 18 | b |
| एकरामाश्च वृष्णयः | 8 | 23 | b |
| एकविंशति सयुगो | 2 | 10 | b |
| एकानङ्गा च तन्वङ्गी | 3 | 50 | c |
| एकेनाऽग्निः क्षुप्रेण | 2 | 30 | a |
| एके सन्त्यज्य दुद्रुवुः | 7 | 35 | d |
| एतत्समवयो रूपः | 4 | 36 | c |
| एत ज्ञानाविधं विश्वम् | 10 | 5 | a |
| एतर्हीव पुनः स्थान | 6 | 31 | c |
| एतावताऽऽत्मनिन्द्रिय - | 10 | 19 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| एतावदष्टपितरौ युवयोः | 6 | 48 | a |
| एव मेतानि भूतानि | 6 | 56 | a |
| एवं कृष्णेन शिक्षिताः | 6 | 57 | b |
| एवं भगवता राजन्! | 10 | 26 | a |
| एवं मत्सरिणं हत्वा | 5 | 38 | a |
| एवं मीमांसमानायाम् | 4 | 39 | a |
| एवंविधान्यद्भुतानि | 10 | 58 | a |
| एवं वृते भगवति | 7 | 31 | a |
| एवं सञ्चोदितौ मात्रा | 10 | 34 | a |
| एवं सौहृदशैथिल्य | 9 | 24 | a |
| एष त्वानिर्दशं सिन्धौ | 4 | 17 | a |
| एष साधु निरूपितः | 8 | 33 | b |
| एहि शक्र निवर्तस्व | 3 | 18 | a |
| **ऐ** | | | |
| ऐरावतश्च कुलिशम् | 3 | 26 | a |
| ऐरावतं चतुर्दन्तं | 1 | 39 | a |
| ऐश्वर्यमत्ता पौलोमी | 3 | 19 | a |
| **ओ** | | | |
| ओज स्सहो बलञ्चेष्टा | 10 | 8 | c |
| **क** | | | |
| ककुभः पूरयन्नादैः | 6 | 11 | c |
| कङ्कगृध्रबकैर्वृतम् | 5 | 22 | b |
| कटकाङ्गदकेयूर | 6 | 17 | c |
| कठोरास्यः स्वजिह्वया | 5 | 47 | b |
| कण्ठे पाशं जलेश्वरः | 2 | 24 | b |
| कत्थनं तदुपाकर्ण्य | 5 | 20 | a |
| कथन्त्वनेन सम्प्राप्तं | 4 | 37 | a |
| कदाचि त्पौण्ड्रको नाम | 5 | 15 | a |
| कदाचि दपि न प्रायात् | 5 | 9 | c |
| कन्यां सुतनुसंज्ञिताम् | 5 | 5 | b |
| कम्पयद्भिश्च शस्त्रौघैः | 1 | 50 | a |
| कम्पयन्धरणीतलम् | 5 | 48 | b |
| कम्बलाजिनवस्त्राणाम् | 6 | 13 | a |
| करवीरपुरीमपि | 5 | 9 | d |
| कर्मक्षयपरीप्सवः | 6 | 16 | d |
| कर्मणा कर्मनिर्हारः | 8 | 27 | c |
| कर्मणा कर्मनिर्हारः | 8 | 33 | a |
| कर्मभिर्भ्राम्यमाणायाः | 7 | 16 | c |
| कलत्रैः खेचरा इव | 6 | 18 | b |
| कल्पिता योगमायया | 10 | 13 | d |
| कविभि श्शास्त्रचक्षुषा | 8 | 34 | b |
| कश्चाऽसौ पौण्ड्रको नाम | 5 | 4 | a |
| कस्मिन् देशे महीपतिः | 5 | 4 | b |
| कस्य वा कमलेक्षणः | 4 | 35 | b |
| कस्य वा तनयो ब्रह्मन् | 5 | 4 | c |
| कंसप्रतापितास्सर्वे | 6 | 31 | a |
| कंसेनाऽऽनकदुन्दुभिः | 5 | 9 | b |
| काञ्चने परमासने | 3 | 43 | d |
| काञ्चनोपस्करं रथम् | 7 | 33 | b |
| कान्ति स्तेजः प्रभा सत्ता | 10 | 7 | a |
| कान्तेन सह विप्रियम् | 1 | 10 | b |
| कामदेवं शिशुं बुद्ध्वा | 4 | 12 | c |
| कामयामह एतस्य | 7 | 42 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| कामये द्रुत-माहृतान् | 10 | 33 | d |
| कामस्तु वासुदेवांशः | 4 | 4 | a |
| कामे स्मरेऽप्राविषये | 4 | 44 | d |
| काम्बोजकैकयान्भद्रान् | 6 | 22 | c |
| कार्मुकं कनकाटनि | 2 | 4 | d |
| कार्याकार्यं विजानता | 3 | 30 | d |
| कार्ष्णि र्व्यधमयत्स ताः | 4 | 27 | d |
| कार्ष्णी वैहायसोऽसुरः | 4 | 25 | d |
| कालयोग्य मिवातिथिम् | 5 | 3 | d |
| कालविध्वस्तसेतूनाम् | 10 | 30 | a |
| कालेन विसृजेद्बुधः | 8 | 36 | b |
| कालोपसृष्टनिगमा० | 7 | 4 | c |
| काशिराजः प्रतापवान् | 5 | 15 | b |
| काशीकैकेयसृञ्जयान् | 9 | 14 | d |
| काश्यतालैश्च भूरिभिः | 1 | 47 | d |
| किन्तु वक्ष्यामि गोविन्द | 3 | 28 | a |
| किमिदं कस्य वा वक्त्रम् | 5 | 39 | c |
| किरीटी बद्धतूणीरः | 3 | 1 | c |
| किं स्वल्पतपसां नृणाम् | 8 | 10 | a |
| किं नामानं वदस्व मे | 4 | 3 | d |
| कुङ्कुमकस्तूरीढ्याम् | 7 | 42 | c |
| कुतोऽहिव स्त्वच्चरणाम्बु० | 7 | 8 | a |
| कुन्ति गान्धारकेरलान् | 6 | 22 | d |
| कुन्तिभोजो विराटश्च | 6 | 34 | a |
| कुपितो धूर्जटिर्नृप ! | 2 | 43 | d |
| कुब्जवामनपौण्ड्रकाः | 6 | 16 | b |
| कुमारः पौण्ड्रको नाम | 5 | 8 | c |
| कुरीव मृतकाना | 4 | 19 | b |
| कुरुते कार्यतोऽथवा | 6 | 30 | d |
| कुशस्थलीं दिवि भुवि | 7 | 36 | c |
| कृच्छ्रा द्गृहीत पाशस्तु | 2 | 26 | a |
| कृत पादाभिवन्दनौ | 10 | 1 | b |
| कृताञ्जलिः प्रणम्याह | 3 | 23 | c |
| कृतानुज्ञः पुरन्दरः | 3 | 36 | d |
| कृतार्थाः फलभागिनः | 1 | 18 | b |
| कृत्यानलः प्रतिहतः सः | 5 | 54 | a |
| कृत्या माहेश्वरीं विभुः | 5 | 52 | b |
| कृत्रिमवेष मास्थितम् | 5 | 28 | b |
| कृत्वा नभसि सङ्गरम् | 2 | 45 | b |
| कृत्वा संस्थाविधिं पितुः | 3 | 41 | b |
| कृष्ण कृष्ण न हर्तव्यः | 1 | 32 | a |
| कृष्ण कृष्ण ! महायोगिन् ! | 10 | 3 | a |
| कृष्णमभ्यद्रवत्संख्ये | 2 | 47 | c |
| कृष्णमभ्यद्रव बुद्धे | 2 | 33 | c |
| कृष्णमभ्यद्रव द्रणे | 2 | 37 | d |
| कृष्ण ! योगेश्वरेश्वर ! | 10 | 29 | b |
| कृष्ण राम दिदृक्षया | 8 | 2 | d |
| कृष्णरामोग्रसेनाद्यैः | 9 | 18 | c |
| कृष्णरामौ तथा स्त्रियम् | 4 | 42 | b |
| कृष्णरामौ परिष्वज्य | 6 | 44 | a |
| कृष्णरामौ समाश्राव्य | 10 | 28 | a |
| कृष्णवीर्यसमुद्भवः | 4 | 5 | b |
| कृष्णश्चोडशसाहस्र | 6 | 5 | c |
| कृष्णसंसूचितां नृप ! | 10 | 57 | d |
| कृष्णस्तु तत्पौण्ड्रक | 5 | 32 | a |
| कृष्णस्य परमात्मनः | 10 | 58 | b |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| कृष्णस्याऽकुण्ठमेधसः | 8 | 14 | b |
| कृष्णस्याऽखिलकर्मणः | 5 | 56 | d |
| कृष्णं कमलपत्राक्षम् | 5 | 17 | c |
| कृष्णं तार्क्ष्यश्च पञ्चभिः | 2 | 39 | b |
| कृष्णं मत्वाऽर्भकं यत्नः | 8 | 28 | c |
| कृष्णं मत्वा स्त्रियो भीताः | 4 | 32 | c |
| कृष्णं विव्यध सङ्गरे | 3 | 4 | d |
| कृष्णं सत्या प्राह पाणौ | 1 | 13 | b |
| कृष्णः परपुरञ्जयः | 2 | 40 | b |
| कृष्णान्तःपुर योषितः | 4 | 41 | d |
| कृष्णायाऽकुण्ठमेधसे | 8 | 22 | b |
| कृष्णायाऽभिचरन्नृप | 5 | 45 | d |
| कृष्णार्जुनबलादिभिः | 9 | 27 | b |
| कृष्णे कृष्णाय तच्चित्ताम् | 7 | 15 | c |
| कृष्णेऽखिलात्मनि हरौ | 8 | 1 | c |
| कृष्णे नो भक्ति रस्त्विति | 6 | 20 | b |
| कृष्णोऽपि रथ मारुह्य | 5 | 23 | c |
| केचनोद्वहवैरेण | 10 | 43 | a |
| केचिद्गजान्रथानश्वान् | 5 | 30 | a |
| केचिदद्भुततरं जग्मुः | 1 | 31 | c |
| केयं लब्धाऽथ केन वा | 4 | 35 | d |
| केशवस्तं निवारितुम् | 2 | 44 | b |
| कैलासगिरिवासिनम् | 4 | 1 | d |
| को नामाऽयं तरु र्देव | 1 | 17 | c |
| कोन्वयं नरवैदूर्यः | 4 | 35 | a |
| को वा न याति परिभूतिः | 3 | 21 | d |
| को विस्मरेत वां मैत्रीम् | 6 | 47 | a |
| को वेदभून्न उत्तगाय | 10 | 20 | d |

| | अध्याय: | श्लोक: | पाद: |
|---|---|---|---|
| कौतुका द्धु मीयग्रुः | 3 | 52 | d |
| कौशेयवाससी पीते | 5 | 27 | a |
| क्रुद्धश्चकर्ष विन्यस्य | 2 | 24 | c |
| क्रोधात्सर्प इव श्वसन् | 2 | 13 | b |
| क्व यासीति पुनः पुनः | 1 | 49 | b |
| क्षणेन तं कादिपतेः | 5 | 29 | a |
| क्षमस्व मत्कृतं विश्वम् | 3 | 24 | c |
| क्षिपन् सञ्जयन् कलिम् | 4 | 21 | d |
| क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन | 3 | 4 | c |
| क्षुरप्रेण हरिष्क्रिया | 2 | 17 | b |
| क्षेत्रं त्रैलोक्यविश्रुतम् | 6 | 12 | b |
| क्ष्वेलितास्फोटितैर्वीरैः | 1 | 48 | c |

## ख

| | | | |
|---|---|---|---|
| खड्गं पन्नगभूषणः | 2 | 47 | b |

## ग

| | | | |
|---|---|---|---|
| गज मैरावताह्वयम् | 3 | 13 | d |
| गजः केसरिणं यथा | 3 | 2 | b |
| गजैर्बृहद्भिरभ्रभैः | 6 | 9 | c |
| गण्डस्थलं क्षिशिरहास | 7 | 29 | b |
| गतां श्रियायितामन्या | 6 | 51 | c |
| गतिर्वायो इवेश्वर | 10 | 8 | d |
| गतिं साक्ष्यावबोधेन | 10 | 15 | c |
| गते मासत्रये भूयः | 9 | 30 | c |
| गदया ताडितो दण्डे | 2 | 35 | a |
| गदा कौमोदकी पुनः | 2 | 46 | b |
| गदा मादिश्य तरसा | 4 | 23 | a |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| गदासिचक्रेषुभि रार्दय० | 5 | 32 | c |
| गदां कौमोदकीं गुर्वीम् | 2 | 44 | c |
| गदां विसृज्य तद्धस्तात् | 2 | 34 | c |
| गन्धमाल्यैश्च शोभनैः | 1 | 5 | d |
| गन्धर्वकिन्नरपिशाच - | 3 | 21 | b |
| गरुडं प्राह कौरव्य! | 3 | 38 | a |
| गरुडः पन्नगरिपुः | 2 | 41 | a |
| गरुडः पन्नगरिपुः | 3 | 39 | a |
| गरुडार्दितवाहनः | 3 | 16 | b |
| गरुत्मता नीयमानौ | 1 | 12 | b |
| गाङ्गं हित्वा यथाऽन्योम्भः | 8 | 29 | c |
| गाढं वक्षसि ताडितः | 2 | 30 | b |
| गात्रं निर्भिद्य सावृति | 3 | 8 | b |
| गान्धारी ससुता तथा | 6 | 33 | b |
| गायन्तः कृष्ण कृष्णेति | 6 | 11 | a |
| गावश्चारयतो गोपैः | 7 | 43 | c |
| गीयमानकथामृतः | 5 | 38 | d |
| गुणप्रवाह एतस्मिन् | 10 | 15 | a |
| गुणा स्तद्वृत्तयश्च याः | 10 | 13 | b |
| गुरुत्वे गुरुदक्षिणाम् | 10 | 32 | d |
| गुरुणा किल चोदितौ | 10 | 32 | b |
| गृहीतवज्रं गच्छन्तम् | 1 | 39 | c |
| गृहीतो मत्स्य जीविभिः | 4 | 7 | d |
| गेहशुश्रूषामपि मनसि | 6 | 58 | d |
| गोपीनाञ्च गुरु र्गीतैः | 7 | 1 | b |
| गोपीश्चोत्कण्ठिताश्चिरम् | 6 | 23 | d |
| गोप्यश्च कृष्ण मुपलभ्य | 6 | 49 | a |
| गोभूकन्याभाग्यधनाः | 9 | 11 | d |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| गोभेदपक्वप्रकरः | 1 | 20 | a |
| गोविन्दचरणाम्बुजे | 9 | 28 | b |
| गोविन्दचरणाम्भोज | 6 | 17 | a |
| गोविन्दं कुरुसत्तमम् | 2 | 27 | d |
| गोविन्दं वनपालकाः | 1 | 31 | b |
| गोविन्दं सत्यभामाञ्च | 3 | 35 | c |
| गोविन्दं सत्यभामाञ्च | 3 | 38 | c |
| गोविन्दं सत्यभामाञ्च | 3 | 52 | a |
| गोविन्देति च सन्ततम् | 6 | 11 | b |
| ग्रामसिंहा यथा हरिम् | 7 | 34 | d |
| ग्रामे त्यक्तैषणा स्सर्वे | 8 | 36 | c |
| **घ** | | | |
| घोरमाहत्य पौरुषम् | 1 | 42 | b |
| घोरं तार्क्ष्यजलेश्योः | 2 | 23 | b |
| घोरं दानवभीषणम् | 2 | 18 | b |
| घोरं दानवभीषणम् | 3 | 14 | b |
| घोरां शतघ्नी मादाय | 1 | 40 | c |
| घोरैर्ज्याघातनिर्घोषैः | 1 | 51 | a |
| **च** | | | |
| चक्रञ्च विष्णो स्तदनु | 5 | 55 | a |
| चक्र मुकुन्दस्य झटि० | 5 | 53 | d |
| चक्राते कदनं घोरम् | 2 | 38 | c |
| चक्रिरे भवनानि च | 6 | 12 | d |
| चक्रुः कृष्ण कथां मिथः | 2 | 26 | d |
| चक्रे प्रणाम मादीर्भिः | 3 | 48 | c |
| चक्रे स्नेहं सदाभिके | 4 | 12 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| चतुर्भिर्घटयामास | 3 | 12 | c |
| चन्द्राम्यर्क सबिंबुताम् | 10 | 7 | b |
| चरित ममृतकीर्तेर्वर्णित | 10 | 59 | b |
| चरित्वाऽथ महर्घ्यः | 9 | 12 | b |
| चसत्किसलयोपेतान् | 1 | 16 | a |
| चापे बुह्मकसत्तमः | 2 | 15 | d |
| चिक्षेप वरुणालये | 2 | 25 | d |
| चिच्छेद कार्मुक तस्य | 2 | 17 | c |
| चिच्छेद निमिषार्धेन | 2 | 11 | a |
| चिच्छेद लीलया देवी | 2 | 14 | a |
| चित्त आनकदुन्दुभिः | 9 | 24 | b |
| चित्तस्योपशमो यो वै | 8 | 34 | a |
| चित्त न तत्खलु रमास्पद० | 4 | 44 | c |
| चित्त मुकुन्दे किल पद्मा० | 7 | 17 | c |
| चित्रा च वरवर्णिनी | 3 | 50 | d |
| चिरदर्शनकातराः | 6 | 42 | d |
| चिर दृष्ट यदूत्तमम् | 1 | 7 | d |
| चिर विमृश्य मुनयः | 8 | 15 | a |
| चिरान्मृतसुतादाने | 10 | 32 | a |
| चेष्टित साध्वसाधु वा | 3 | 33 | b |
| चैद्याय माऽर्पयतुमुद्यत० | 7 | 8 | a |
| चोदनाया विमुच्यते | 10 | 46 | d |
| च्यवनो दवलोऽसितः | 8 | 3 | b |
| **छ** | | | |
| छायाया मुपविष्टां माम् | 1 | 22 | a |
| छित्वा त्रिभैर्बेन शरेण | 3 | 7 | b |
| छिन्नेषुणाऽवातयत्तम् | 7 | 26 | c |
| **ज** | | | |
| जगतां मीश्वरं भेजे | 3 | 59 | c |
| जगदभिदलन्तर्क | 10 | 59 | c |
| जगाम त्रिदशावास | 1 | 2 | c |
| जगाम पत्नार्यम् | 5 | 12 | c |
| जगु स्सुकण्ठ्यो गन्धर्वाः | 9 | 6 | a |
| जग्मुः श्रेयो विधित्सया | 6 | 2 | d |
| जग्मुः स्व स्व निकेतन | 9 | 29 | d |
| जग्मुः स्व स्व निवेशन | 3 | 53 | d |
| जग्मु स्सर्वे कुरुद्वह! | 6 | 11 | d |
| जग्राह प्रजहास च | 3 | 15 | d |
| जग्राहोच्चैर्जहास च | 2 | 19 | d |
| जनयामास नारीणाम् | 4 | 13 | c |
| जनसङ्घह इत्यूचुः | 8 | 15 | c |
| जनेष्वभिज्ञेषु स एव गो० | 8 | 13 | d |
| जन्मभाजो नृणा मिह | 6 | 38 | b |
| जय शब्दोऽपतद्भुवि | 7 | 27 | b |
| जहार कृष्णदयिता | 1 | 35 | c |
| जहौ सङ्घथया शुचः | 6 | 27 | d |
| जाज्वल्यमान प्रसया० | 5 | 53 | b |
| जातस्यमहातनुः | 1 | 18 | d |
| जाते तस्मिन्महाराजः | 5 | 7 | c |
| जाने कामहस यत्साक्षात् | 10 | 3 | c |
| जितशत्रुमनामयम् | 3 | 47 | d |
| जितशत्रुमनामयम् | 3 | 51 | d |
| जित्वर्राजाजय रत्न० | [illegible] | [illegible] | c |
| जीवकोशात्त मध्यगः | 6 | [illegible] | [illegible] |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| जीवशौ स्वविभूतिभिः | 9 | 9 | d |
| जीवस्यानुस्मृति स्सती | 10 | 10 | d |
| ज्ञात्वा च तदवस्थितिम् | 7 | 24 | b |
| ज्ञात्वाऽथ नः क्षितिजये | 7 | 40 | b |
| ज्ञात्वा मम मतं साध्वि! | 7 | 18 | a |
| ज्ञात्वाऽवधीरण मुपाहर० | 7 | 10 | c |
| ज्वलमाने महाघोरे | 2 | 45 | c |
| **त** | | | |
| त इमेऽध्यासतेऽन्तिके | 10 | 49 | d |
| त एव मृषयो राजन्! | 9 | 2 | a |
| त एवं लोकनाथेन | 7 | 2 | a |
| तच्छ्रुत्वा महदाश्चर्यम् | 4 | 41 | c |
| तच्छ्रीनिकेतचरणाब्ज | 7 | 8 | d |
| तत उद्यम्य निशितं | 2 | 47 | a |
| तत श्रुकोप देवेन्द्रः | 3 | 11 | a |
| तत श्शापविनिर्मुक्ताः | 10 | 50 | c |
| तत श्शार्ङ्गं समादाय | 2 | 3 | a |
| तत श्शार्ङ्गं समादाय | 2 | 40 | a |
| तत स्तुण्डेन गरुडः | 3 | 13 | a |
| तत स्त्रिशूल माविध्य | 2 | 43 | a |
| तत स्स्वयं देवपतिः | 3 | 1 | a |
| ततः कापैः पूर्यमाणः | 9 | 26 | a |
| ततः कुद्धो वैश्रवणः | 2 | 14 | c |
| ततः पुरीं पतिजय | 7 | 36 | a |
| ततः प्रहस्य गोविन्दः | 2 | 29 | a |
| ततः प्राया त्पुरीं मातुः | 1 | 6 | a |
| ततः स्वजनान् | 9 | 13 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ततो गौह्यकगान्धर्व | 4 | 27 | a |
| ततोऽग्नि रुत्थितः कुण्डा० | 5 | 46 | a |
| ततो निवारयामासुः | 1 | 31 | a |
| ततो निवृत्तसङ्ग्रामः | 2 | 20 | a |
| ततोऽनुज्ञाप्य तां देवीं | 1 | 11 | a |
| ततोऽन्यच्चाप मादाय | 2 | 12 | c |
| ततोऽभिवा द्य ते वृद्धान् | 6 | 26 | a |
| ततो महिषमारुह्य | 2 | 33 | a |
| ततो मुद्गर मादाय | 2 | 18 | a |
| ततो मृदङ्गपटहाः | 7 | 30 | a |
| ततो विसृज्य सङ्ग्रामं | 2 | 49 | a |
| ततो वैश्रवणः श्रीमान् | 2 | 4 | a |
| तत्कृतेषु यथाशयम् | 10 | 25 | b |
| तत्क्षन्तव्यं त्वया देव | 3 | 30 | c |
| तत्पादेक्षाहतांहसः | 7 | 2 | d |
| तत्पुत्रान्पितरावपि | 6 | 27 | b |
| तत्ते गतो स्मरण मद्य | 10 | 19 | a |
| तत्र काश्यपपुत्रस्य | 2 | 24 | a |
| तत्र जज्ञे महाबाहुः | 5 | 6 | a |
| तत्रत्यो याति शुद्धये | 8 | 29 | d |
| तत्र नीते पारिजाते | 3 | 29 | a |
| तत्र शक्र स्समं शच्या | 1 | 5 | a |
| तत्र स्नात्वा महाभागः | 6 | 18 | c |
| तत्राऽऽगतां स्ते ददृशुः | 6 | 21 | c |
| तत्राऽऽगम द्दूतो गोपैः | 6 | 41 | c |
| तत्रऽगुर्भारतीः प्रजाः | 6 | 5 | b |
| तत्राऽऽजग्मुर्नृपाऽनेके | 6 | 14 | a |
| तत्राऽपश्यत्तदिव्यान् | 1 | 15 | a |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| तत्रोपाय मचीकरत् | 7 | 18 | d |
| तत्रग्राम उदाहृतः | 10 | 22 | d |
| तत्सूर्यकोटिप्रतिमं | 5 | 53 | a |
| तथा काशिपतेः कायात् | 5 | 37 | a |
| तथा गते वार्धिपतौ | 2 | 27 | a |
| तथाऽनुगृह्य भगवान् | 7 | 1 | a |
| तथा ह्युवाचे देवेशे | 2 | 2 | a |
| तथा भूतानि भूतकृत् | 6 | 53 | d |
| तथा मे कुरुतां कामम् | 10 | 33 | a |
| तथैवाऽच्युतरामयोः | 8 | 32 | d |
| तदद्भुतमिवाऽभवत् | 2 | 14 | b |
| तदद्भुत मिवाऽभवत् | 2 | 28 | d |
| तदनुस्मरणध्वस्त | 6 | 57 | c |
| तदवेत्य मन स्तस्य | 2 | 17 | a |
| तदसि त्वमनश्वरः | 10 | 12 | b |
| तदा गोप्यश्च गोपाश्च | 9 | 28 | a |
| तदा रामश्च कृष्णश्च | 9 | 9 | a |
| तद्दर्शन स्पर्शनानुपथ | 6 | 40 | a |
| तद्दर्शनाह्लादपरि० | 10 | 35 | c |
| तदीक्षायां प्रवृत्तायां | 9 | 3 | a |
| तद्ब्रह्मण्यगुणो भवान् | 8 | 20 | d |
| तद्भाव मापु रपि नित्य | 6 | 49 | d |
| तद्रङ्ग माविशमहम् | 7 | 28 | a |
| तद्वद्वयश्च निजशैशव | 3 | 22 | c |
| तद्वीक्ष्य तानुवाच | 8 | 26 | a |
| तद्वीर्यजात विस्रम्भः | 10 | 2 | c |
| तन्त्वाऽवाऽहं गतिं गता | 10 | 31 | d |
| तत्र हार्य मनाहत्य | 1 | 25 | a |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| तत्रः प्रसीद निरपेक्ष | 10 | 45 | a |
| तन्मातरो मनसिजार्द्र | 4 | 44 | b |
| तन्त्रः प्राण इवोत्थितः | 6 | 42 | b |
| तपश्चरन्ती माज्ञाय | 7 | 11 | a |
| तपसा च बभूविव | 7 | 39 | d |
| तपसा तोषयित्वा तम् | 4 | 1 | c |
| तपस्स्वाध्यायसंयमैः | 8 | 19 | b |
| तप्तताम्रशिखाश्मश्रुः | 5 | 46 | c |
| तमभिद्रुत्य देवेन्द्रः | 3 | 4 | a |
| तमभ्यषिञ्चन्विधिना | 9 | 6 | c |
| तमसाधारणं मत्वा | 2 | 30 | c |
| तमागतं मधुरिपुः | 3 | 15 | a |
| तमभिचारदहनम् | 5 | 49 | a |
| तमायान्त मभिप्रेक्ष्य | 3 | 3 | a |
| तमायान्तं स्थोपस्थे | 5 | 25 | a |
| तमाह भगवा न्कार्ष्णिः | 4 | 15 | a |
| तमिमं जहि दुर्धर्षम् | 4 | 18 | a |
| तमुद्यतमहादण्डम् | 2 | 34 | a |
| तमेव प्रत्यपद्यत | 4 | 4 | d |
| तयो स्सर्वमवद्बुद्धम् | 2 | 23 | a |
| तयोस्समानीय वरासनं | 10 | 36 | a |
| तरसा तद्विक्षयां | 6 | 41 | d |
| तरुतलं सरोजाक्षि! | 1 | 25 | c |
| तरुरेष जगन्नाथ! | 1 | 21 | a |
| तरुरेषोऽमरार्चितः | 1 | 32 | b |
| तर्पणं प्राणसंधानाम् | 10 | 8 | a |
| तत्र वृन्दावना इति | 2 | 1 | d |
| तत्र योगेश्वरेश्वर ९ | 10 | 4 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तस्या वीक्षश्चतुर्भुजः | 7 | 32 | d | तं शम्बरस्य कैवर्तः | 4 | 8 | a |
| तस्माद्वृष्णिकुलं ब्रह्मन् | 8 | 20 | a | तं समेता यथाजोषम् | 3 | 53 | a |
| तस्मान्न सन्त्यमी भावाः | 10 | 14 | a | ताञ्छरान्देवसैनिकैः | 2 | 3 | d |
| तस्मिन् काले कुरूद्वह! | 5 | 1 | b | तातैदद्युपमन्महे | 10 | 22 | b |
| तस्मिन्नयाजयन्क्षत्रे | 9 | 2 | c | तानगणयत्य रक्षकान् | 1 | 30 | b |
| तस्मिन्प्रविष्टा वुपलभ्य | 10 | 35 | a | तानन्तरे कंसरिपुः | 3 | 7 | a |
| तस्मिन्सन्धाय विशिखं | 7 | 26 | a | तानन्तरे सत्यभामा | 2 | 10 | c |
| तस्मै वरमदाद्भवः | 5 | 43 | b | तानप्रामानर्घचन्द्रैः | 2 | 8 | a |
| तस्य काञ्चिपते र्मित्रं | 5 | 31 | a | तानानर्चु र्यथा सर्वे | 8 | 7 | a |
| तस्य मे पादसंस्पर्शः | 7 | 16 | a | तानृषीनृत्विजो वव्रे | 9 | 1 | c |
| तस्यार्त्विजो महाराज | 9 | 8 | a | तान्दृष्ट्वा देवकीदेवी | 10 | 57 | a |
| तस्याऽद्य ते ददर्शिम | 8 | 24 | a | तान्दृष्ट्वा बालकान्देवी | 10 | 53 | a |
| तस्या वचन गौरवात् | 1 | 14 | b | तान्दृष्ट्वा सहसोत्थाय | 8 | 6 | a |
| तस्या दृशङ्कितचेतसः | 4 | 9 | d | तान्यस्त्राण्युत्सृजामि ते | 5 | 34 | d |
| तस्यास्तु मेऽनुभव० | 7 | 12 | d | तान्वीरदुर्मदहन० | 7 | 13 | c |
| तं कामपाशः शैनेयः | 5 | 2 | c | ताभिर्वृकुलक्लय | 9 | 7 | c |
| तं क्लेशकर्मपरिपाक | 8 | 31 | a | ता मापतन्तीं भगवान् | 4 | 24 | a |
| तं ज्ञात्वा मनुजा राजन्! | 6 | 2 | a | तामायान्त मभिप्रेक्ष्य | 2 | 22 | a |
| तं त्वन्मायायेश्वर | 10 | 16 | d | ताम्रदम्भु जहार तम् | 4 | 28 | d |
| तं त्वात्मधाम्न विबुधा० | 7 | 4 | a | तार्क्ष्यं प्रति महागजम् | 3 | 11 | d |
| तं दुस्त्यज महं मन्ये | 9 | 20 | c | तार्क्ष्यो मकरवाहनम् | 2 | 22 | b |
| तं दृष्ट्वा जलदश्यामं | 4 | 31 | a | तावुत्सङ्गे समारोप्य | 6 | 45 | a |
| तं दृष्ट्वा भ्रष्टसङ्कल्पं | 3 | 17 | a | तावुभौ लोकविख्यातौ | 2 | 38 | a |
| तं दृष्ट्वा वृष्णयो हृष्टाः | 6 | 42 | a | तावुभौ सर्वपापेभ्यः | 5 | 58 | a |
| तं निर्जगार बलवान् | 4 | 7 | a | तांश्चकर्त शरै स्तिग्मैः | 3 | 9 | d |
| तं पक्षकोट्या गरुडः | 2 | 25 | a | तांश्च तं प्रत्यषूजयन् | 3 | 48 | d |
| तं मुरं महाघोरम् | 2 | 19 | a | तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् | 2 | 5 | d |
| तं शम्बरः कामरूपी | 4 | 6 | a | तिष्ठ तिष्ठेति चाऽवदत् | 2 | 39 | d |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| तिष्ठ तिष्ठेति मा याहि | 1 | 49 | a |
| तीर्थास्पदं हृदि धृतं | 8 | 24 | b |
| तुङ्ग मारुह्य वारणम् | 3 | 1 | b |
| तुष्टः कृष्णपरिग्रहान् | 6 | 37 | d |
| तुष्टुवु स्तत्र मागधाः | 9 | 5 | d |
| तूर्णं गृहीत्वा बाहुभ्यां | 2 | 48 | a |
| तूर्यमङ्गलनिर्घोषैः | 3 | 41 | c |
| तूष्णीमास जनार्दनः | 4 | 40 | d |
| तूष्णीमासन्भ्रमद्धियः | 8 | 14 | d |
| तूष्णीं प्रीतमना अभूत् | 10 | 26 | d |
| तृणतूलरजांसि च | 6 | 53 | b |
| तृणैः पूर्णं स्तथा काष्ठैः | 6 | 12 | c |
| ते त्वसज्जन्त राजन्याः | 7 | 34 | a |
| ते नमस्कृत्य गोविन्दं | 10 | 56 | a |
| तेन सा जायते स्वर्गात् | 3 | 29 | c |
| तेनाऽऽसुरी मगु र्योनिं | 10 | 48 | a |
| तेनाऽहं यदुशार्दूल | 3 | 30 | a |
| ते पुनन्त्युरुकालेन | 8 | 11 | c |
| ते वै कौमोदकीशूले | 2 | 45 | a |
| ते शरा देवराजस्य | 3 | 8 | a |
| ते शार्ङ्गच्युतबाणौघैः | 7 | 35 | a |
| ते रथै र्देवविख्यातैः | 6 | 9 | a |
| तैः पञ्चभिश्शरै स्सत्या | 2 | 6 | a |
| त्यक्त्वैहि मां त्वं शरणम् | 5 | 19 | c |
| ज्याजयिष्येऽभिधानं मे | 5 | 35 | a |
| त्रस्तहस्तः परेतराट् | 2 | 35 | b |
| त्राहि त्राहीति लोकेशाम् | 5 | 50 | c |
| त्रिदशानपि केशवः | 1 | 11 | b |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| त्रिदशैर्जयकांक्षिभिः | 1 | 26 | d |
| त्रिपैकैकं हरिप्रिया | 2 | 11 | b |
| त्रिभिर्भल्लैर्हरिप्रियाम् | 2 | 7 | b |
| त्रिभिश्चिच्छेद सा शरैः | 2 | 8 | b |
| त्रिरुक्ता च यशस्विनी | 3 | 50 | b |
| त्रिशूलमपि शूलिनः | 2 | 46 | d |
| त्रिशूली वृषवाहनः | 2 | 37 | b |
| त्रिशूली वृषवाहनः | 2 | 49 | b |
| त्रिंशद्भि र्युगपद्बाणैः | 2 | 40 | c |
| त्वच्छीमीषु विकारेषु | 10 | 14 | c |
| त्वदधीन मिदं विश्वम् | 3 | 27 | a |
| त्वन्तु मिथ्याभिधां त्यज | 5 | 18 | d |
| त्वया सङ्गम्य सङ्गत्या | 8 | 21 | c |
| त्वयि शास्त्र शरीरिणि | 10 | 42 | b |
| त्वय्यद्धा ब्रह्मणि परे | 10 | 13 | c |
| त्वं वायुर्ज्योति रापो भूः | 10 | 25 | a |
| त्वं वासुदेवो भगवान् | 5 | 16 | a |
| त्वामस्य मम चौरुषम् | 2 | 15 | b |

## द

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| दग्धकामं पुन र्हरिः | 4 | 2 | b |
| दग्धः प्राप्तुद्धमन्युना | 4 | 4 | b |
| दग्ध्वा वाराणसीं सर्वाम् | 5 | 56 | a |
| दण्ड मादाय वीर्यवान् | 1 | 41 | b |
| दण्ड मुद्यम्य भास्वरम् | 2 | 23 | b |
| दण्डाहत इवोरगः | 1 | 37 | b |
| दण्डाहत इवोरगः | 3 | 11 | b |
| ददुः स्वर्णं द्विजाग्र्येभ्यः | 6 | 20 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| दद्धौ पूर्णस्य भक्तितः | 7 | 38 | d | दुर्नयं शत्रु मात्मनः | 4 | 18 | b |
| दधच्छ्रीवत्सलक्षितम् | 5 | 26 | b | दुष्प्रापमतिदुर्दमम् | 10 | 40 | b |
| दधार पादा ववनिज्य | 10 | 36 | c | दूतवाक्येन मामाह | 5 | 34 | c |
| दध्मौ शङ्खं महास्वनम् | 1 | 3 | b | दूतस्तु द्वारका मेत्य | 5 | 17 | a |
| दन्तौ बाहुयुगान्तरे | 3 | 12 | d | दूतं कृष्णाय प्राहिणोत् | 5 | 15 | d |
| दमघोषो विशालाक्षः | 6 | 35 | a | दम्भि र्हृदीकृतफलम् | 6 | 49 | c |
| दम्पती तौ परिष्वज्य | 4 | 42 | c | दश्यते सजले परम् | 7 | 19 | d |
| दर्शन स्पर्शन प्रश्न | 8 | 10 | c | दृष्ट्वा कमललोचनः | 2 | 34 | b |
| दर्शनं वां हि भूतानाम् | 10 | 40 | a | दृष्ट्वा तदुदरे बालम् | 4 | 9 | a |
| दर्शनादेव साधवः | 8 | 11 | d | दृष्ट्वा तमात्मना साम्यम् | 5 | 28 | a |
| दर्शित स्सुगमो योगः | 8 | 34 | c | दृष्ट्वा त्रिशूल मायान्तम् | 2 | 44 | a |
| दंशित स्तोमरायुधः | 1 | 44 | b | दृष्ट्वा पप्रच्छ गोविन्दम् | 1 | 17 | a |
| दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीदन्त | 5 | 47 | a | दृष्ट्वा मंस्यन्ति दयिताम् | 1 | 22 | c |
| दाक्षिणाग्निं परिचर | 5 | 44 | a | दृष्ट्वा समीरणो युद्धात् | 2 | 31 | a |
| दानवं दानवान्तकः | 1 | 1 | b | दृष्ट्वा स्वानाञ्च साध्वसम् | 5 | 51 | b |
| दारुकश्चोदयामास | 7 | 33 | a | दृष्ट्वोपतस्थे तं देवी | 1 | 6 | c |
| दासीभिश्चतुरङ्गिणीम् | 7 | 14 | b | देवकी वसुदेवश्च | 4 | 42 | a |
| दासीभिस्सर्वसम्पद्भिः | 7 | 38 | a | देवकीवसुदेवाभ्याम् | 4 | 39 | c |
| दिवाकरसमद्युतिः | 5 | 6 | b | देवकी सर्वदेवता | 10 | 27 | b |
| दिवि दुन्दुभयो नेदुः | 7 | 27 | a | देवकीं देवतोपमाम् | 5 | 8 | d |
| दिवि वज्रधरो यथा | 3 | 44 | d | देवकीं पितरं बलम् | 10 | 56 | b |
| दिव्यरूपाः स्वलङ्कृताः | 3 | 49 | d | देवक्या जठरे जाताः | 10 | 49 | a |
| दिशस्सामभिपूरयन् | 3 | 3 | d | देवक्या सह सङ्गताः | 3 | 48 | b |
| दिशां त्वमवकाशोऽसि | 10 | 9 | a | देवक्रीडनकान्नरान् | 6 | 30 | b |
| दिष्ट्याऽऽसीन्मयि सस्नेहः | 6 | 54 | c | देवदेवो जनार्दनः | 3 | 31 | b |
| दीप्ताशालामुपाजग्मुः | 9 | 4 | c | देवयात्रार्थ मागताः | 9 | 30 | b |
| दीप्तितो जनसंवृतः | 9 | 7 | f | देवराजः कुरूद्वह! | 3 | 35 | b |
| दुर्द्धां मपि भोगिनाम् | 6 | 38 | d | देवराजेन वह्नसि | 3 | 5 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| देवराज्यञ्च भगवन्! | 3 | 26 | c |
| देवर्षिपितृणां प्रभो! | 3 | 37 | b |
| देवलं जहसुर्वीक्ष्य | 10 | 47 | c |
| देवाना मपि दुष्प्रापं | 8 | 9 | c |
| देवाश्च कुसुमासारान् | 7 | 27 | c |
| देवाश्च तदनुग्रहाः | 10 | 10 | b |
| देवेन्द्राय निवेदितुम् | 1 | 31 | d |
| देव्यै चिक्षेप चित्तपः | 2 | 18 | d |
| देहम्भृत स्तत्कृतमुच्च० | 7 | 3 | d |
| देहे वा स्यान्वयादिषु | 10 | 17 | b |
| देहोत्पत्तिं प्रतीक्षती | 4 | 11 | b |
| देहोपपत्तये भूयः | 4 | 4 | c |
| दैतेयीं मयदीक्षिताम् | 4 | 25 | b |
| दैत्यदानव गन्धर्व | 10 | 41 | a |
| दैवेनासादिताः स्वसः | 6 | 31 | d |
| द्रवत्वं ताश्च तद्रसः | 10 | 8 | b |
| द्रव्यज्ञानक्रियेश्वरम् | 9 | 10 | d |
| द्रव्यमात्रं निरूपितम् | 10 | 12 | d |
| द्रुतं ते वनरक्षकाः | 1 | 34 | b |
| द्रोणो भीष्मोऽङ्गराजश्च | 9 | 29 | a |
| द्वयोः श्रेष्ठे च चेष्टितम् | 10 | 6 | d |
| द्वारकामाविशत्सिद्धैः | 5 | 38 | c |
| द्वारकां प्रदह न्दिशः | 5 | 48 | d |
| द्वारकां रामपालिताम् | 5 | 13 | d |
| द्वारकां वृष्णिनिलयाम् | 5 | 1 | c |
| द्वारतोरणभूषिताम् | 3 | 39 | d |
| द्विजाते गृहमेधिनः | 8 | 35 | b |
| द्वितस्त्रितश्चैकतश्च | 8 | 5 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| द्विपत्क्षरेद्भि रिपुणा | 5 | 33 | b |
| द्वैपायनो नारदश्च | 8 | 3 | a |
| **ध** | | | |
| धरणीरुः ग्रहस्त्वाऽऽह | 5 | 51 | c |
| धर्ममेवाऽनुतिष्ठता | 1 | 25 | d |
| धर्मश्चात्ममुदावहः | 8 | 34 | d |
| धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरम् | 8 | 25 | b |
| धृतराष्ट्रोऽनुजो द्रोणः | 9 | 16 | a |
| धृतः कया वा जठरे | 4 | 35 | c |
| धृष्टकेतुश्च काशिराट् | 6 | 34 | d |
| **न** | | | |
| न कश्चिदपि चेष्टितः | 3 | 32 | b |
| न किञ्चनोचतुः प्रेम्णा | 6 | 44 | c |
| न कुतश्चन रिष्यति | 8 | 30 | d |
| नगरस्त्री कदम्बैश्च | 6 | 6 | c |
| न तथा सत्त्वसंरब्धाः | 10 | 43 | c |
| नताः स्म ते नाथ पदार | 6 | 58 | a |
| न ते जरा न वैरूप्यम् | 1 | 10 | a |
| नदन्तो मुमुचुः कृष्णे | 2 | 2 | c |
| न देवा मृच्छिलामयाः | 8 | 11 | b |
| न निवर्तेत कर्हिचित् | 9 | 21 | d |
| ननृतु र्गायका जगुः | 7 | 30 | d |
| ननृतु र्नटं नर्तक्यः | 9 | 5 | c |
| नन्द स्तत्र यदूद्वाहान् | 6 | 41 | a |
| नन्द स्तु सस्त्रुः प्रियकृत् | 9 | 25 | a |
| नन्द स्तु सह गोपालैः | 9 | 18 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नन्दो दीनबुद्धेः गोपान् | 6 | 23 | c | नाऽनुस्मरथ सत्तमाः | 6 | 28 | d |
| न पश्यति यथान्धदृक् | 9 | 23 | d | नाऽनु स्मरन्ति स्वजनम् | 6 | 29 | c |
| न पश्याम पुर स्सतः | 9 | 22 | d | नाऽभ्यनन्द दुराचारा | 7 | 28 | a |
| न भूर्जतं खं श्वसनो० | 8 | 12 | b | नाऽभ्यवर्तत गोविन्दम् | 2 | 36 | c |
| नम स्तस्मै भगवते | 8 | 22 | a | नाऽमृष्य त्तत्पराभवम् | 1 | 37 | d |
| नम स्ते देवदेवेश | 3 | 24 | a | नारदेन महात्मना | 4 | 39 | d |
| नमः कृष्णाय वेधसे | 10 | 39 | b | नारदोऽकथयत्सर्वम् | 4 | 9 | c |
| न मां त्वदेक शरणं | 3 | 25 | a | नारदोऽकथयत्सर्वम् | 4 | 41 | a |
| नमोऽनन्ताय महते | 10 | 39 | a | नारदो भगवान्व्यासः | 9 | 16 | c |
| नमो वरसवेदेभ्यः | 8 | 27 | a | नारायणाङ्गसंस्पर्श० | 10 | 55 | c |
| न यं विदन्त्यमी भूपाः | 8 | 23 | a | नाऽविन्दंस्तदवस्थितिम् | 7 | 23 | a |
| न वयं साध्वि साम्राज्यं | 7 | 41 | a | नाश्वभ्योऽन्नेन पूजयन् | 9 | 13 | d |
| न विदन्त्यपि योगेशाः | 10 | 44 | c | नित्यं निबद्धवैरास्ते | 10 | 42 | c |
| नश्वरेष्विहभावेषु | 10 | 12 | a | नित्योऽन्यो निर्गिणो गुणैः | 10 | 24 | b |
| नष्टं प्रद्युम्न मायान्तम् | 4 | 43 | a | निनेदुर्नटनर्तक्यः | 7 | 30 | c |
| न सेहिरे याज्ञसेनि! | 7 | 31 | c | निन्ये तद्दास्यमस्तु मे | 7 | 14 | d |
| न ह्यम्मयानि तीर्थानि | 8 | 11 | a | निन्ये मृगेन्द्र इव भाग० | 7 | 8 | c |
| नाऽग्निर्न सूर्यो न च चन्द्र० | 8 | 12 | a | निन्येऽश्वयूथ मिव चा० | 7 | 12 | b |
| नाऽच्छिनत्परमृशे परम् | 7 | 24 | d | नियात्याद्दौ त्रिशूलं तत् | 2 | 46 | a |
| नाऽतिचित्र मिदं विप्राः | 8 | 28 | a | निपेतुः प्रधने केचित् | 7 | 35 | c |
| नाऽतिदीर्घेण कालेन | 4 | 13 | a | निरायुध स्सुरपतिः | 3 | 16 | a |
| नाऽत्र कार्या विचारणा | 3 | 33 | d | निरुद्धो भोजराजेन | 5 | 9 | a |
| नाथ नाथेत्युपाद्रवत् | 5 | 40 | d | निरुध्य बहुसैनिकः | 5 | 1 | d |
| नाथे विरुध्य पिशिताशनि | 3 | 22 | d | निरूपिता शम्बरेण | 4 | 12 | a |
| नाद्धो वर्ण स्त्वमोङ्कारः | 10 | 9 | c | निर्ऋति भयविह्वलः | 2 | 36 | b |
| नानातनूर्गगनवत् | 10 | 20 | c | निर्ऋणोऽशरणो भवेत् | 3 | 38 | d |
| नानात्वं यात्यसः वपि | 10 | 25 | d | निर्ऋतिश्च महातेजाः | 1 | 42 | a |
| नानाधर्मपरिच्छदैः | 9 | 26 | d | निर्विशेषा वसुन्धरा | 3 | 29 | b |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| निर्मथ्य संसृतिनिर्मोक्ष० | 7 | 40 | c |
| निमिरेऽश्मन्मय वर्षे | 4 | 25 | c |
| नितित्यु स्तत्र तत्र ह | 4 | 32 | d |
| निविष्टयो स्तत्र महा० | 10 | 36 | - |
| निशम्याभिमुखो भूत्वा | 3 | 20 | c |
| निशम्येत्थ भगवतः | 8 | 14 | a |
| निशात मसि मुद्यम्य | 4 | 28 | a |
| निशित घोरदर्शनम् | 2 | 43 | b |
| निशितै र्मर्मभेदिभिः | 2 | 6 | b |
| निश्चक्राम गदापाणिः | 4 | 22 | c |
| निश्चक्राम पुराद्भुतम् | 5 | 24 | d |
| निश्चक्राम सुरेश्वरः | 1 | 38 | d |
| निषेदु पथि केचन | 7 | 34 | b |
| निष्ककण्ठस्स्रुवाससः | 9 | 4 | b |
| निष्क्रम्य विश्वशरणा० | 10 | 45 | c |
| निष्कामान् कुरु नः प्रभो! | 10 | 46 | b |
| निहतानेकसाहस्र | 5 | 12 | a |
| निहत्य दोर्भ्यां प्रणयाश्रु | 6 | 25 | d |
| निहत्य पितृहन्तारम् | 3 | 41 | c |
| निःक्षत्रिया महीं कुर्वन् | 6 | 3 | a |
| नीतिच्छिदादिशत माम् | 7 | 9 | d |
| नीतो वा सूतिकागृहात् | 4 | 36 | b |
| नीयता तद्यथेच्छया | 3 | 27 | d |
| नीयमाने च वृक्षेऽस्मिन् | 1 | 26 | a |
| नीलवक्रालकालिभिः | 4 | 32 | b |
| नुन्नबाह्वङ्घ्रिकन्धराः | 7 | 35 | b |
| नूत्नकौशेयवद्वाससः | 9 | 8 | b |
| नून भूतानि भगवान् | 6 | 52 | c |
| नृणा यः स्त्रैणसङ्गितः | 9 | 20 | a |
| नृणाणं रुधिरौघेण | 6 | 3 | c |
| नृभिर्विबाधरक्षुभिः | 6 | 9 | d |
| नृभूतसूतजारणः | 9 | 15 | b |
| नृलोकगीतां शृणु वर्ण० | 7 | 5 | d |
| नेतव्य स्सर्वथा वृक्षः | 1 | 29 | a |
| नेतव्यौ नन्दना द्वनात् | 1 | 23 | d |
| नेतव्यौऽय पुरीं वृक्षः | 1 | 21 | c |
| नेदुर्मृदङ्गपटह | 9 | 5 | a |
| नो चेदेहि ममाऽऽहवम् | 5 | 19 | d |
| नो चेद्विरम साम्प्रतम् | 1 | 29 | d |
| न्यपातय त्काशिपुर्याम् | 5 | 37 | c |
| न्यवर्तत कुरुश्रेष्ठ! | 2 | 32 | c |
| न्यवसद्बन्धुवत्सलः | 9 | 18 | d |
| न्यस्ता वकुम्न च भयौ | 6 | 48 | d |
| न्यावर्तत रथा द्राजन् | 3 | 16 | c |
| **प** | | | |
| पक्षाभ्याञ्चञ्चुकोट्या च | 2 | 41 | c |
| पक्षाभ्याञ्च तथा नखैः | 3 | 13 | b |
| पञ्चाशत्प्रमितैर्नृप! | 2 | 42 | b |
| पणवानकभेर्यादिभिः | 1 | 47 | b |
| पतङ्गः क्षुद्भृङ्गी | 10 | 51 | b |
| पताका मालिनीं दिव्याम् | 3 | 40 | a |
| पत्नीभि रष्टादशभिः | 9 | 7 | a |
| पत्नीसंयाजाद्यृषैः | 9 | 12 | a |
| पत्युर्निदेशवद्वेहस्य | 4 | [illegible] | a |
| पथि काञ्चनमालिनः | 6 | 10 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पथि निर्जित्य राजन्यान् | 7 | 14 | c | पाण्डवाश्च महात्मानः | 9 | 31 | a |
| पदाति रेव सङ्ग्रामात् | 2 | 26 | c | पाण्डवाः कृष्णरामौ च | 8 | 6 | c |
| पद्भ्यां गृहीत्वा मकरम् | 2 | 25 | c | पातयामास भूतले | 2 | 34 | d |
| पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्याम् | 5 | 48 | a | पादयोः कुण्डले तस्याः | 1 | 8 | c |
| पद्भ्यां दिशो भ्रमयती | 7 | 28 | b | पादस्पर्शं महात्मनः | 7 | 43 | d |
| पद्भ्यां द्वाभ्याञ्च संयुगे | 2 | 41 | b | पादाम्बुजं परिनिनाय | 7 | 40 | d |
| पद्मकोश मिवाऽनिलः | 5 | 37 | d | पादारविन्दधिषणः स्व० | 10 | 45 | b |
| परमानन्दनिर्भराः | 6 | 32 | d | पादावनेजनपयस्सु | 6 | 39 | b |
| परमेण समाधिना | 5 | 42 | d | पादाहत इवोरगः | 4 | 22 | b |
| परस्परजयैषिणौ | 2 | 38 | d | पादौ प्रगृह्य मणिना ह० | 7 | 10 | d |
| परार्ध्याभरणक्षौम० | 9 | 26 | c | पारतन्त्र्या द्वै सादृश्यात् | 10 | 6 | c |
| परांश्च शतशो नृपान् | 6 | 23 | b | पारिजातकृते राजन् | 3 | 2 | c |
| परित्यक्तुं त्वमर्हसि | 3 | 25 | d | पारिजातश्च पादपम् | 3 | 38 | d |
| परिपृच्छ्य सुसत्कृताः | 7 | 2 | b | पारिजातश्च पादपः | 3 | 26 | b |
| परिहार्य हृषीकेशम् | 9 | 33 | a | पारिजात स्तरुश्रेष्ठः | 3 | 34 | a |
| परिशोचति ते माता | 4 | 19 | a | पारिजातं गरुत्मति | 1 | 30 | d |
| परिषस्वजिरे गाढम् | 6 | 42 | c | पारिजातं महाद्भुतम् | 1 | 16 | d |
| परिष्वज्य व्रजेश्वरीम् | 6 | 46 | b | पारिजातं महाद्भुतम् | 1 | 35 | d |
| परिष्वज्याङ्कमारोप्य | 10 | 53 | c | पारिजातं महाद्भुतम् | 3 | 45 | b |
| परिष्वज्याऽभ्यभाषत | 10 | 2 | d | पारिजाते शुचिस्मिते | 1 | 26 | b |
| परिहासकथामनु | 5 | 21 | b | पारिजातोऽयमच्युत | 1 | 29 | b |
| पलायनपरायणम् | 3 | 17 | b | पारिबर्हिणभूयसा | 9 | 14 | b |
| पलायन मयुक्तं हि | 3 | 18 | c | पार्थो यत्तोऽसृजद्बाणान् | 7 | 24 | c |
| पलायिते धनपतौ | 2 | 21 | a | पार्श्वस्थं चक्रमादिशत् | 5 | 52 | d |
| पश्यतां सर्वदेवानाम् | 2 | 16 | a | पार्ष्णिग्राहोऽपरो नृपः | 5 | 31 | b |
| पश्यतां सर्वभूतानाम् | 3 | 14 | c | पार्ष्णिभ्यां चोदयन्नृषम् | 2 | 47 | d |
| पश्यन्ततमक्षरे | 6 | 56 | d | पालितं शक्रकिङ्करैः | 1 | 14 | d |
| पाकशासनचोदितः | 3 | 12 | b | पावकः पञ्चभिर्बाणैः | 2 | 28 | a |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| पाश मुद्यम्य संयुगे | 2 | 21 | d |
| पाशोद्यतकरः प्रायात् | 1 | 43 | c |
| पितराभिवाद्य च | 6 | 44 | b |
| पिता दुहितृवत्सलः | 7 | 18 | b |
| पिता मे पूजयामास | 7 | 37 | a |
| पिता मे मातुलेयाय | 7 | 15 | a |
| पितृहन्तुर्वधोपायम् | 5 | 43 | c |
| पित्रा कृता क्षितिपवीर्य० | 7 | 13 | b |
| पित्रा सम्पूजिता स्सर्वे | 7 | 21 | a |
| पिबन्ति ये कर्णपुटै रल | 7 | 3 | c |
| पीडित स्तै र्भृशं बाणैः | 2 | 9 | c |
| पीतकौशेयवाससम् | 4 | 31 | b |
| पीतशेष गदाभृतः | 10 | 55 | b |
| पुण्डरीकाक्ष माधव | 3 | 24 | b |
| पुत्रन्यासञ्च गोकुले | 6 | 43 | d |
| पुत्रपौत्रजनानीकैः | 6 | 6 | a |
| पुत्र मायान्त मच्युतम् | 1 | 6 | d |
| पुत्रयोर्धामसूचकम् | 10 | 2 | b |
| पुत्रस्नेह स्नुतस्तनी | 10 | 53 | b |
| पुत्रस्नेहाकुलादीना | 4- | 19 | c |
| पुत्रान् कसविहिंसितान् | 10 | 28 | b |
| पुत्रार्थमीश्वर दृष्ट्वा | 4 | 3 | a |
| पुत्रास्ते योगमायया | 10 | 48 | d |
| पुत्रो मे रक्षितव्य स्ते | 3 | 36 | a |
| पुन राप्तुत्य वृष्णयः | 6 | 19 | d |
| पुन र्द्वारवती मेत्य | 10 | 52 | c |
| पुन र्यास्यन्ति मद्गतिम् | 10 | 51 | d |
| पुनश्च शक्रः कोदण्डे | 3 | 9 | a |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| पुमान्मच्छ्रद्धया तिष्ठन् | 10 | 46 | c |
| पुरन्दरं कुरुश्रेष्ठ | 8 | 31 | c |
| पुरन्दरं भारत सीतयैव | 3 | 7 | d |
| पुरन्दरं स दिक्पालम् | 3 | 37 | c |
| पुरस्तो देव सर्वशः | 6 | 2 | b |
| पुर नीतो विहायसा | 4 | 29 | d |
| पुरा श्रीराम्बुधेर्जातः | 1 | 24 | a |
| पुरीं वाराणसीं नृप। | 5 | 12 | d |
| पुरुजिद्भुपदश्रैष्ठ्यः | 6 | 34 | c |
| पुरोऽहमिति गच्छद्भिः | 1 | 50 | c |
| पुलिन्द स्तृणवीरुधः | 7 | 43 | b |
| पुलस्त्यः कश्यपोऽत्रिश्च | 8 | 4 | c |
| पूजयामास केशवम् | 1 | 5 | b |
| पूजयामास भामिनी | 1 | 7 | b |
| पूजितश्चाभिवन्दितः | 3 | 41 | b |
| पूजितस्तै र्यथोचितम् | 3 | 43 | b |
| पूजितस्तै स्सुरैः कृष्णः | 1 | 4 | a |
| पृच्छति श्रेय आत्मनः | 8 | 28 | d |
| पृथा च नृपसत्तम | 9 | 31 | b |
| पृथा भ्रातॄन्स्वसुर्वीक्ष्य | 6 | 27 | a |
| पृष्ठतोऽभ्युद्यतायुधम् | 1 | 33 | d |
| पेततुस्सम मम्बुधौ | 2 | 45 | d |
| पेतुरेकेऽमुना हताः | 7 | 22 | d |
| पैशाचोरगराक्षसीः | 4 | 27 | b |
| पौण्ड्रकस्याल्पमेधसः | 5 | 20 | b |
| पौण्ड्रक स्सखं हरिः | 5 | 38 | b |
| पौण्ड्रको नाम राजा वै | 5 | 1 | a |
| पौण्ड्रकोऽपि तदुद्योगम् | 5 | 24 | a |
| पौरास्तोकहता राजन् | 5 | 40 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पौलस्त्यस्य महद्धनुः | 2 | 11 | d | प्रविवेश वनं कृष्णः | 1 | 14 | c |
| पौलस्त्यः क्रोधविह्वलः | 2 | 9 | d | प्रविवेश सभां दिव्याम् | 3 | 42 | a |
| पौलोम्या वचनं स्मरन् | 3 | 2 | d | प्रविश्यास्मिन् साधुचित्तं | 1 | 13 | c |
| पौलोम्या बल्लभस्य ते | 3 | 18 | d | प्रशशंसु र्मुदायुक्ताः | 6 | 37 | c |
| प्रक्षिप्य व्यनदन्नादं | 4 | 23 | c | प्रसाद्य गरुडं तथा | 3 | 35 | d |
| प्रगृहीतशरासनः | 3 | 1 | d | प्रसूनरजसाऽऽवृतान् | 1 | 15 | d |
| प्रजहार वृषाकपिम् | 3 | 14 | d | प्रहरन्नरयो हरिम् | 5 | 30 | f |
| प्रणम्य चोपसङ्गृह्य | 8 | 26 | c | प्रहसन्तीदमब्रवीत् | 3 | 17 | d |
| प्रणेमु र्देव मभ्येत्य | 3 | 49 | c | प्रहसन्निदमब्रवीत् | 6 | 50 | d |
| प्रणेमुर्लोकवन्दितान् | 8 | 6 | d | प्रहसन् श्लक्ष्णया गिरा | 10 | 21 | d |
| प्रतिलब्धात्मदर्शनाः | 10 | 55 | d | प्रहस्य साधु शक्नोसि | 3 | 5 | c |
| प्रत्याह प्रश्रयानम्रः | 10 | 21 | c | प्रहृष्टरोमा नृपगद्गदा० | 10 | 38 | d |
| प्रत्यूचु र्हृष्टमनसः | 7 | 2 | c | प्रह्वपादार्चनादिकम् | 8 | 10 | d |
| प्रद्युम्न इति विख्यातः | 4 | 5 | c | प्राकृतैर्वैकृतै र्यज्ञैः | 9 | 10 | c |
| प्रद्युम्नाय महात्मने | 4 | 23 | b | प्रागल्पास्तु कुशलं | 9 | 22 | a |
| प्रद्युम्नो गदया गदाम् | 4 | 24 | b | प्रागासीना नृपादयः | 8 | 6 | b |
| प्रधानपुरुषेश्वरः | 10 | 4 | d | प्राग्ज्योतिमगधेश्वरौ | 7 | 23 | b |
| प्रधानपुरुषेश्वरौ | 10 | 18 | b | प्राग्ज्योतिषपुराज्नृप ! | 1 | 1 | d |
| प्रधानपुरुषौ | 10 | 3 | d | प्राङ्गणे सत्यभामायाः | 3 | 45 | a |
| प्रधानमनुशायिनाम् | 10 | 11 | d | प्राणत्राणपरायणः | 2 | 32 | d |
| प्रभातायान्तु शर्वर्याम् | 5 | 13 | a | प्राणाञ्जीवो बिभर्त्यजः | 10 | 5 | d |
| प्रभाष्यैवं द्वदौ विद्याम् | 4 | 20 | a | प्राणादिभिः स्वविषयैः | 8 | 31 | c |
| प्रमथैस्सहितः प्रायात् | 2 | 49 | c | प्रणादीनां विश्वसृजां | 10 | 6 | a |
| प्रलम्ब बाहुं ताम्राक्षम् | 4 | 31 | c | प्राप्नोषि न पुरीं कृष्ण ! | 1 | 33 | a |
| प्रलम्बबाहुं नरलोक० | 4 | 14 | b | प्राप्योषतु र्भवति पक्ष्म ह यद्व० | 6 | 48 | c |
| प्रवृद्धाभिस्सुरगणैः | 1 | 49 | c | प्रायच्छ द्वसुदेवाय | 5 | 5 | c |
| प्रवृत्तमूलो विपुलः | 1 | 18 | c | प्रायात्कार्शी ससैनिकः | 5 | 23 | d |
| प्रविवेश महोरगम् | 1 | 4 | d | प्रायुङ्क्त शतशौ दैत्यः | 4 | 27 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्राविशत्केशवस्सभाम् | 5 | 14 | d |
| प्रास्योदन्वत्यगाद्गृहं | 4 | 6 | d |
| प्राह देवीं शुचिस्मितां | 3 | 20 | d |
| प्राह पश्य हनिष्यामि | 2 | 15 | a |
| प्राह नाऽयं तरुभद्रि! | 1 | 23 | c |
| प्राह प्रहसिताननः | 3 | 31 | d |
| प्राह भीषयसे किं माम् | 1 | 27 | c |
| प्राहिणोत्स गदां नदन् | 4 | 24 | d |
| प्राहिणोद्दैत्यमर्दनम् | 2 | 44 | d |
| प्राहिणोद्वासुदेवाय | 2 | 43 | c |
| प्राहेदं कश्यपप्रिया | 1 | 9 | d |
| प्रियासार्थेश्च संवृतः | 6 | 6 | d |
| प्रियाऽहं तव चेन्नाथ! | 1 | 29 | c |
| प्रीतो विमुक्ते भगवान् | 5 | 43 | a |
| प्रीत्या सङ्कर्षणाच्युतौ | 10 | 1 | d |
| प्रीत्युत्फुल्लमुखास्सर्वे | 3 | 52 | c |
| प्रीत्योपतस्थे रति रात्मनो० | 4 | 14 | d |
| प्रेम्णा गोविन्दरामयोः | 9 | 25 | b |
| प्रेषयद्भिश्च वाहनम् | 1 | 50 | b |
| प्रेषयामास तोत्रेण | 3 | 11 | c |
| प्रेषिता देवसैनिकाः | 2 | 2 | b |
| प्रोत्फुल्लहृद्वक्त्र सरोरुह० | 6 | 24 | b |
| **फ** | | | |
| फलभारनतान्भूरि | 1 | 15 | c |
| फलं सचोऽनु भोक्ष्यसि | 1 | 32 | d |
| **ब** | | | |
| बन्धुषु प्रतियातेषु | 9 | 32 | c |
| बन्धून्परिष्वज्य यदून् | 9 | 17 | a |
| बन्धून् सदारान् ससुतान् | 9 | 14 | a |
| बभाष हाऽऽनन्दजला० | 10 | 36 | c |
| बभेषेदं सुयन्त्रितः | 8 | 26 | d |
| बभौ च तत्रामवहं मन० | 5 | 33 | c |
| बलभद्रं तथाऽग्रजम् | 3 | 42 | d |
| बलवीर्यमदान्वितः | 5 | 6 | d |
| बलं गज स्यन्दन वाजि | 5 | 32 | b |
| बलिनौ वीर्यशालिनौ | 2 | 38 | b |
| बहुभि र्गुह्यकै र्वृतः | 2 | 4 | b |
| बाध्यमानोऽश्मवर्षेण | 4 | 26 | a |
| बाणेनैकेन पावकम् | 2 | 29 | b |
| बाल सतत्त्वमुत्पत्तिम् | 4 | 10 | a |
| बाष्पकण्ठ्यौ समूचतुः | 6 | 46 | d |
| बाष्पगद्गदभाषिणः | 9 | 31 | d |
| बाहुभ्यां परिरभ्य च | 6 | 45 | b |
| बाह्वकविदुरादयः | 9 | 29 | b |
| बिभर्षि सान्त्वं खल० | 8 | 18 | b |
| बिभ्राणं कौस्तुभमणिम् | 5 | 26 | c |
| बृहत्सेन इति ख्यातः | 7 | 18 | c |
| बृहस्पतिपुरोगमैः | 3 | 44 | b |
| ब्रह्मचर्यसुताभ्यां वै | 3 | 38 | a |
| ब्रह्मणे परमात्मने | 10 | 39 | d |
| ब्रह्म ते हृदयं शुक्रम् | 8 | 19 | a |
| ब्रह्मपुत्रस्तथाङ्गिराः | 8 | 5 | b |
| ब्रह्महत्यादिभिर्नृप | 5 | 58 | b |
| ब्राह्मणाश्च सहस्रशः | 6 | 14 | b |
| ब्राह्मणेभ्यो ददुर्धेनूः | 6 | 19 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ब्राह्मणै स्सह ऋत्विजः | 5 | 44 | b |
| ब्रूत वो भगवान्स्वयम् | 7 | 7 | b |
| **भ** | | | |
| भक्तमव्यग्रमृत्विजः | 9 | 6 | d |
| भक्ताः केचन कामतः | 10 | 43 | b |
| भक्तिन्नैर्गतज्वरैः | 1 | 4 | b |
| भक्त्या परमया हरिम् | 3 | 39 | b |
| भगवति कृतचित्तो याति | 10 | 59 | d |
| भगवन्तं भयातुराः | 5 | 50 | b |
| भगवंस्त्व मनन्यधीः | 3 | 28 | d |
| भगवान्धर्मगुप्तनुः | 8 | 8 | b |
| भगवान्पुन रादाय | 7 | 25 | c |
| भगवान्सात्वतर्षभः | 10 | 21 | b |
| भगवांस्ता स्तथाभूताः | 6 | 50 | a |
| भग्नमानेषु मानिषु | 7 | 25 | b |
| भटेभरथ वाजिभिः | 7 | 38 | b |
| भर्तृपौरुषगर्विता | 1 | 28 | d |
| भर्तृपौरुषगर्विता | 1 | 36 | d |
| भर्तृपौरुष गर्विता | 3 | 19 | b |
| भवता कल्पपादपे | 3 | 29 | b |
| भवतीनां मुदावहः | 6 | 54 | d |
| भवन्ति किल विश्वात्मन् | 10 | 31 | c |
| भवान्नारायणसुतः | 4 | 16 | a |
| भवान्सर्वमिदं जगत् | 10 | 17 | d |
| भविता शरणं शुनाम् | 5 | 22 | d |
| भवेजन्मनि जन्मनि | 7 | 16 | b |
| भारद्वाजोऽथ गौतमः | 8 | 3 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भार्ययाऽम्बरचारिण्या | 4 | 29 | c |
| भार्या रणपराजितम् | 3 | 19 | d |
| भीमो दुर्योधनः कर्णः | 7 | 23 | c |
| भीष्मको नाम्नजिन्महान् | 6 | 34 | b |
| भीष्मो द्रोणोऽम्बिकापुत्रः | 6 | 33 | a |
| भीष्मो द्रौणिः कृपस्तथा | 9 | 16 | b |
| भुक्त्वेव विविशुः कामं | 6 | 21 | a |
| भूतकोटिसमन्वितः | 1 | 46 | d |
| भूतप्रमथनायकाः | 10 | 41 | d |
| भूताना मनुकम्पार्थं | 5 | 18 | c |
| भूतानामपि भूतादिः | 10 | 11 | a |
| भूतेषु बहुधेयते | 10 | 24 | d |
| भूतेष्वात्माऽऽत्मना गतः | 6 | 56 | b |
| भूभारदैत्यक्षपणे | 10 | 18 | c |
| भूमे र्भरायमाणानां | 10 | 30 | c |
| भूयः पार्श्वमुपातिष्ठत् | 5 | 56 | c |
| भूयात्कल्याणि! सुव्यक्तं | 1 | 10 | c |
| भूयोऽपि कृष्णो नाराचैः | 2 | 42 | a |
| भूयोऽपि बाणान् दश | 3 | 6 | a |
| भूयोऽपि बाणैस्त्रिंशद्भिः | 3 | 10 | a |
| भूयो भूयः प्रार्थयित्वा | 3 | 36 | c |
| भूयो वेगेन निर्गताः | 3 | 8 | d |
| भूयोऽष्टभिश्शरै र्देवी | 2 | 8 | c |
| भूरि बालिश मक्षान्तं | 3 | 25 | c |
| भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः | 6 | 55 | d |
| भूः कालभर्जितभगाऽपि | 6 | 39 | c |
| भेरीशङ्खमृदङ्गैश्च | 1 | 47 | a |
| भोजराजहतान्पुत्रान् | 10 | 33 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भोजवृष्ण्यन्धकस्त्रियः | 3 | 51 | b |
| भो भो पौण्ड्रक! यद्भवान् | 5 | 34 | b |
| भौतिकानां यथा खं वा | 6 | 55 | c |
| भौमं निहत्य सगणं | 7 | 40 | a |
| भौमैर्हि भूमिर्बहुनाम | 8 | 17 | c |
| भ्रमन्मुहुः प्रेमविभिन्नया | 10 | 38 | b |
| भ्रातरः पितरावपि | 6 | 29 | b |
| भ्रात रीशकृतः पाशः | 9 | 20 | a |
| भ्रातर्वो नाऽऽचरेमहि | 9 | 22 | b |
| भ्रातृपत्नी र्मुकुन्दश्च | 6 | 27 | c |
| भ्रातृंश्च मेऽपकुरुत स्व० | 7 | 12 | c |
| भ्रामयित्वा शतगुणं | 2 | 18 | c |
| **म** | | | |
| मकरं भीषणाकारं | 1 | 43 | a |
| मल्लै रुत्तमकल्पकैः | 9 | 2 | d |
| मत्तसारङ्गनादितान् | 1 | 15 | b |
| मत्प्रसादात्कदाचन | 1 | 10 | d |
| मत्स्यं वीक्ष्य सकृज्जले | 7 | 26 | b |
| मत्स्यः पार्थेच्छया कृतः | 7 | 19 | b |
| मत्स्याभासं जले दृष्ट्वा | 7 | 24 | a |
| मत्स्योऽग्रसी त्तदुदरात् | 4 | 17 | c |
| मत्स्योदरनिवेशनम् | 4 | 10 | b |
| मत्स्योशीनरकौसल्य | 6 | 22 | a |
| मथ्यमानात्सुरासुरैः | 1 | 24 | b |
| मनः क्षिप्रं पुनर्हर्तुम् | 9 | 28 | c |
| मनो मे हरते भृशम् | 1 | 21 | b |
| मनोरथ महार्णवम् | 9 | 19 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| मन्निदेशात्सहस्राक्ष! | 3 | 34 | c |
| मन्महिष्यश्च मुदिताः | 9 | 4 | a |
| मम चाऽप्यात्मनो नष्टः | 4 | 36 | a |
| ममज्जुश्शक्रवक्षसि | 3 | 10 | d |
| ममाऽपि राज्यच्युतजन्म | 7 | 17 | a |
| मया मित्रं शतक्रतुम् | 1 | 25 | b |
| मयि भक्ति र्हि भूतानाम् | 6 | 54 | a |
| मयैव यत्कृतं सर्वम् | 3 | 33 | c |
| मय्यास्ढे तरुर्दिवम् | 3 | 34 | b |
| मर्त्यात्मदृक् त्वयि परे | 10 | 19 | d |
| मर्दयामास तं वृषम् | 2 | 41 | d |
| महत्या पूजयाऽर्चितः | 9 | 18 | b |
| महत्यां तीर्थयात्रायाम् | 6 | 5 | a |
| महद्विस्फारयद्धनुः | 3 | 4 | b |
| महन्मनस्तो मुखनि० | 7 | 3 | b |
| महात्मना गगने देव | 1 | 12 | a |
| महार्हवस्त्राभरणानु० | 10 | 37 | b |
| महार्हवासोऽलङ्कारैः | 7 | 37 | c |
| महिम्ने परमात्मने | 8 | 22 | d |
| महिषी शिबिकान्वितः | 6 | 5 | d |
| महिषेण कुरूद्वह | 2 | 35 | d |
| महिष्यः कृष्णवल्गुभाः | 3 | 49 | b |
| महिष्यः पुत्रबान्धवाः | 5 | 40 | b |
| माणिक्यपुष्पो विविध० | 1 | 19 | c |
| मात स्ते मति रन्यथा | 4 | 15 | b |
| मातुः पुत्रानयच्छताम् | 10 | 52 | d |
| मातृभाव मतिक्रम्य | 4 | 15 | c |
| मातृशोकापनुत्तये | 10 | 50 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| माधव्य इत्थं मनु याः | 8 | 1 | b |
| मा भैष्टेत्यवितोऽस्म्यहम् | 5 | 51 | d |
| मायाकृतिं परमहंसगतिं | 7 | 4 | d |
| मायाजवनिकाच्छन्नम् | 8 | 23 | c |
| मायाभिर्मोहनादिभिः | 4 | 18 | d |
| मायावती महामाया | 4 | 20 | c |
| मायावत्यै न्यवेदयत् | 4 | 9 | b |
| मायाशतविदं त्वञ्च | 4 | 18 | c |
| माया हि कुलिशायुध | 3 | 18 | b |
| मायेशो नृपयूथपाः | 7 | 31 | b |
| मा राज्यश्रीरभूत्पुंसः | 9 | 23 | a |
| मारुतश्च तथा त्रिभिः | 2 | 28 | b |
| मार्कण्डेयो बृहस्पतिः | 8 | 4 | d |
| मार्ष्टुकामः पराभवम् | 2 | 16 | b |
| माल्यधूपानुलेपनैः | 8 | 7 | d |
| मां रथं स समारोप्य | 7 | 32 | a |
| मिषतां द्विषतां राज्ञि! | 7 | 33 | c |
| मिषतां सर्वभूतानाम् | 10 | 56 | c |
| मीन स्सोऽप्यपरै स्सह | 4 | 7 | b |
| मुक्ताफलफलान्वितः | 1 | 19 | d |
| मुक्तांश्चिच्छेदबाणौघैः | 2 | 3 | c |
| मुखन्तव विधायाऽज्ञ! | 5 | 22 | a |
| मुनयो दधिरे मनः | 8 | 25 | d |
| मुनीनां वदतां श्रुत्वा | 10 | 2 | a |
| मुमुचु र्हर्षविह्वलाः | 7 | 27 | d |
| मुमोच चक्रे सह सिंह | 3 | 6 | d |
| मुमोचाऽऽकृष्य गोविन्दः | 3 | 9 | c |
| मुष्टिदेशे कुरुद्वह | 2 | 17 | d |
| मुष्टिदेशे द्विधा नृप | 2 | 12 | b |
| मुहूर्तं मे काम्यते केशा० | 1 | 13 | d |
| मूर्तिना नातिभूषणः | 5 | 46 | b |
| मूर्ध्नाऽऽनम्योपसृत्य च | 9 | 1 | d |
| मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः | 7 | 42 | d |
| मूर्ध्न्यजिघ्रदभीक्ष्णशः | 10 | 53 | d |
| मूलं त्वयि विरुध्यतः | 3 | 28 | b |
| मृतागमननिर्गमम् | 10 | 57 | b |
| मृत्युकालादिभिर्युक्तः | 1 | 41 | c |
| मेघा श्शैल मिवाम्भसा | 5 | 29 | d |
| मेने ससूर्यमिव मेघ | 8 | 31 | d |
| मेने सुविस्मिता मायां | 10 | 57 | c |
| मेने स्वात्मान मच्युतम् | 5 | 16 | d |
| मैत्र्यर्पिता फलावापि | 9 | 21 | c |
| मैथिलो मद्रकेकयाः | 6 | 35 | b |
| मोहिता मायया विष्णोः | 10 | 54 | c |
| मौढ्या द्विभर्ष्यभीतम् | 5 | 19 | b |


## य


| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| य इत्थं वीर्यशुल्कां मां | 7 | 14 | a |
| य इद मनुशृणोति श्राव० | 10 | 59 | a |
| य एतच्छ्रावयेन्मर्त्यः | 5 | 57 | a |
| यक्षरक्षःपिशाचाश्च | 10 | 41 | c |
| यच्छ्रद्धयाप्तवित्तेन | 8 | 35 | c |
| यच्छ्रद्धया यजेद्विष्णुम् | 8 | 33 | c |
| यज्ञाध्ययनपुत्रैस्तान् | 3 | 37 | c |
| यज्ञै र्देवर्ण मुन्मुच्य | 3 | 38 | c |
| यतवाचोऽनुशृण्वतः | 8 | 8 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यतोऽर्थबुद्धिश्च जलेन | 8 | 13 | c | यदनुद्विजतेऽनिशम् | 5 | 10 | d |
| यत्कृतं ज्ञानसत्तमैः | 9 | 21 | b | यदृच्छया नृतां प्राप्य | 10 | 16 | a |
| यत्कृतं तन्ममैवाऽस्तु | 3 | 32 | c | यद्यज्ञ इत्यनुयुगं निज० | 10 | 20 | b |
| यत्पश्यथाऽसकृत्कृष्णं | 6 | 38 | c | यद्यद्दं ते प्रिया विभो! | 1 | 21 | d |
| यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्म | 6 | 49 | b | यद्योगेश्वरदर्शनम् | 8 | 9 | d |
| यत्र चक्रे महाहृदान् | 6 | 3 | d | यद्वा आपत्सु मद्वार्ता | 6 | 28 | c |
| यत्र येन यतो यस्य | 10 | 4 | a | यन्नः पुत्रान्समुद्दिश्य | 10 | 22 | c |
| यत्राऽस्पृष्टोऽपि कर्मणा | 6 | 4 | b | यन्नः प्राप्तं यदृच्छया | 10 | 40 | d |
| यत्रोपलब्धं सुव्यक्तं | 8 | 19 | c | यन्निस्सृतं वेदमयम् | 6 | 39 | a |
| यत्त्वयाऽद्य मृषाकृतम् | 5 | 35 | b | यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा | 8 | 16 | a |
| यत्त्वं नः श्रेयसां परः | 8 | 21 | d | यम स्त्वारुह्य महिषम् | 1 | 41 | a |
| यत्स्थैर्यं भूभृतां भूमेः | 10 | 7 | c | यमः क्रोधारुणेक्षणः | 2 | 33 | d |
| यथा देवासुरे युद्धे | 2 | 23 | c | ययुर्द्वारवतीपुरम् | 9 | 33 | b |
| यथा द्रव्यविकारेषु | 10 | 12 | c | ययुर्धाम विहायसा | 10 | 56 | d |
| यथा नटं रङ्गगतम् | 5 | 28 | c | ययुर्धीरा स्तपोवनम् | 8 | 36 | d |
| यथाऽन्योऽघापनुत्तये | 6 | 4 | d | ययु र्भरत तत्क्षेत्रम् | 6 | 7 | c |
| यथा युगान्ते हुतभुग्घ्रभा | 5 | 32 | d | ययुर्विरहकृच्छ्रेण | 9 | 17 | c |
| यथावीर्यं यथावयः | 7 | 21 | b | यर्हि त्वय्यवि कल्पिताः | 10 | 14 | b |
| यथा वृत्रहणोऽध्वरे | 9 | 8 | d | यवीयै रभिवन्दिताः | 6 | 26 | b |
| यथा सृष्टिः प्रवर्तते | 10 | 54 | d | यशोदा च महाभागा | 6 | 45 | c |
| यथा स्यान्न स्तदुच्यतां | 8 | 27 | d | यस्त्वयाऽद्य सहस्राक्ष! | 3 | 33 | a |
| यथा स्वयंवरे राज्ञि! | 7 | 19 | a | यस्मै यद्य द्यथा यदा | 10 | 4 | b |
| यदि जीवति कुत्रचित् | 4 | 36 | d | यस्य दैव मदक्षिणम् | 6 | 29 | d |
| यदि नेच्छसि संयुगम् | 5 | 35 | d | यस्याऽऽत्मबुद्धिः कुणपे | 8 | 13 | a |
| यदीशितव्यायतिगूढ | 8 | 16 | c | यस्याऽनुभूतिः कालेन | 8 | 30 | a |
| यदुभि र्मानितोऽवसत् | 9 | 25 | d | यस्या नेह प्रतिक्रिया | 6 | 47 | d |
| यदुभि स्सेविता नृपाः | 6 | 32 | b | यस्यांशांशांशो भागेन | 10 | 31 | a |
| यदुवृष्ण्यन्धकादिभिः | 5 | 14 | b | यं वै मुहुः पितृसरूप० | 4 | 44 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| यानि त्व मस्मच्चिह्नानि | 5 | 19 | a |
| यापितो यदुभि र्ययौ | 9 | 27 | d |
| यास्यामो द्वारका मिति | 3 | 38 | b |
| यास्याम्यपचितिं पितुः | 3 | 41 | d |
| याऽहं तद्बृहमार्जनी | 7 | 11 | d |
| युक्तन्त इति चाऽब्रवीत् | 3 | 5 | d |
| युद्धाय प्रययौ नृप! | 1 | 42 | d |
| युद्धायाऽनुशचीपतिम् | 1 | 43 | d |
| युद्धार्थी शक्रमन्वगात् | 1 | 41 | d |
| युधामन्यु स्सुशर्मा च | 6 | 35 | c |
| युधिष्ठिरपुरोगमाः | 6 | 36 | b |
| युधिष्ठिर मथाऽपृच्छत् | 7 | 1 | c |
| युनक्ति वियुनक्ति च | 6 | 52 | d |
| युवां न न स्सुतौ साक्षात् | 10 | 18 | a |
| युवां योगेश्वरेश्वरौ | 10 | 33 | b |
| यूथस्य पानसमये | 3 | 22 | b |
| ये चाऽन्ये यदुपुङ्गवाः | 5 | 3 | b |
| ये चाऽन्ये वर्णनिन्दिताः | 6 | 14 | d |
| येन तच्छ्रेय आत्मनः | 7 | 16 | d |
| येनाऽमराऽसुरमहोरग | 3 | 21 | a |
| ये मे स नाभिवधतप्त | 7 | 9 | a |
| येषां गृहे निरयवर्त्मनि | 6 | 40 | c |
| यैस्त्वमेवं विकत्थसे | 5 | 21 | d |
| योगमाया मुपाश्रितौ | 10 | 34 | d |
| योगमायां कुतो वयम् | 10 | 44 | d |
| योगेश्वरै र्हृदि विचिन्त्य | 6 | 58 | b |
| योद्धुकामस्त्वरन्प्रायात् | 1 | 45 | c |
| योद्धुं चक्रभृता सह | 1 | 44 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| योद्धुं विदित तद्बलः | 2 | 36 | d |
| योधयामास समरे | 2 | 42 | c |
| यो मां स्वयंवरमुपेत्य | 7 | 12 | a |
| यो मे गर्भे धृतोऽर्भकः | 4 | 38 | b |
| योषित्सार्थेन भूरिणा | 3 | 46 | b |
| **र** | | | |
| रजस्तमस्स्वभावानाम् | 10 | 40 | c |
| रतिर्नाम यशस्विनी | 4 | 10 | d |
| रतिः कामो भवान्प्रभो। | 4 | 16 | d |
| रत्नै राभरणै र्दिव्यैः | 1 | 5 | c |
| रथनेमिनिनादैश्च | 1 | 48 | a |
| रमसे मानुषे लोके | 3 | 28 | c |
| रराज राजशार्दूल! | 3 | 44 | a |
| रविच्छदध्वजपटचित्र | 7 | 36 | b |
| राजद्वारिसकुण्डलम् | 5 | 39 | b |
| राजन्कंसविहिंसिताः | 10 | 49 | b |
| राजन्येषु निवृत्तेषु | 7 | 25 | a |
| राजर्षिवर्यास्तानगन्तुम् | 8 | 25 | c |
| राजसन्देश मब्रवीत् | 5 | 17 | d |
| राजस्वशेषभटशोखरिता० | 7 | 8 | b |
| राजानः सुष्ठ्वलङ्कृताः | 9 | 3 | d |
| राजानोऽन्ये च राजेन्द्र | 6 | 36 | a |
| राज्ञः काशिपते र्ज्ञात्वा | 5 | 40 | a |
| राज्ञा मुच्छास्त्रवर्तिनाम् | 10 | 30 | b |
| राज्ञो निरीक्ष्य परितः | 7 | 29 | c |
| राज्यशुल्कां कुरूद्वह | 5 | 5 | d |
| राज्यं तस्मि न्समारोप्य | 5 | 8 | a |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| रामकृष्णौ कुरुद्वह | 10 | 34 | b |
| राम रामाऽप्रमेयात्मन् | 10 | 29 | a |
| राम शस्त्रभृतां वरः | 6 | 3 | b |
| राम स्सशिष्यो भगवान् | 8 | 4 | a |
| रामह्रदेषु विधिवत् | 6 | 19 | c |
| रुक्मिणी च ययु र्मुदम् | 4 | 42 | d |
| रुक्मिण्याद्या स्तथा सप्त | 3 | 49 | a |
| रुक्मिण्यां तनयं लेभे | 4 | 2 | a |
| रुरोद तत्कृतां मैत्रीम् | 9 | 24 | c |
| रूपौदार्य गुणान्विताम् | 4 | 2 | d |
| रेजतुः स्वसुतै र्दोर्भिः | 9 | 9 | c |
| रेणुरञ्जितमस्तकाः | 6 | 17 | b |
| रेवती रामदयिता | 3 | 50 | a |
| रोहिणी देवकी चैव | 6 | 46 | a |
| रोहिण्याद्याः स्त्रियोऽखिलाः | 3 | 47 | b |
| रौक्मिणेयो महारथः | 4 | 26 | b |
| **ल** | | | |
| लब्धवज्रः पुरं ययौ | 3 | 37 | b |
| लब्धं कात्स्न्र्येन तत्फलं | 8 | 9 | b |
| लयोत्पत्त्यादिनाऽस्य वै | 8 | 30 | b |
| ललनाशतसङ्कुलम् | 4 | 30 | b |
| ललाटे कुरुपुङ्गव ! | 2 | 9 | b |
| लसद्धयचतुष्टयम् | 7 | 32 | b |
| लसद्वैदूर्यवेदिकः | 1 | 19 | b |
| लाजप्रसवतण्डुलैः | 3 | 53 | b |
| लिमाभिशाप मपमार्ष्टु० | 7 | 9 | b |
| लीलयैव वहन्ययौ | 3 | 39 | b |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| लोकपालान् समाहूय | 1 | 38 | c |
| लोकपालै रुद्रासीनैः | 3 | 44 | c |
| लोकस्य सङ्ग्रहायैणः | 6 | 4 | c |
| लोकं यास्यन्ति विज्वराः | 10 | 50 | d |
| **व** | | | |
| वचो दुरन्वयं विप्राः | 8 | 14 | c |
| वचो व स्समवेतार्थम् | 10 | 22 | a |
| वज्रकिञ्जल्करञ्जितः | 1 | 20 | b |
| वज्रनिष्पेषनिष्ठुरम् | 4 | 23 | d |
| वज्रं दुश्च्यवनायुधम् | 3 | 15 | b |
| वज्रेणेन्द्रो यथा गिरिः | 5 | 36 | d |
| वत्सदन्तै र्मनोजवैः | 2 | 8 | d |
| वत्सो यथा तनुबलः | 3 | 22 | a |
| वनदाहे यथा मृगाः | 5 | 49 | d |
| वनमालाविभूषितम् | 5 | 26 | d |
| वनं दृष्ट्वा दिव्यगन्धं | 1 | 13 | d |
| वन्दितुं देव मातरम् | 1 | 2 | b |
| वन्दिभ्योऽदात्तथा स्त्रियः | 9 | 13 | b |
| वयश्चान्ये च तादृशाः | 10 | 42 | d |
| वयं याता दिशो दश | 6 | 31 | b |
| वयं वै गृहदासिकाः | 7 | 39 | b |
| वरुणो गतवाहनः | 2 | 26 | b |
| वरुणोऽभ्यद्रवत्कृष्णम् | 2 | 21 | c |
| वर्णाश्रमात्मा पुरुषः परो० | 8 | 18 | d |
| वर्तसे कामिनीव मे | 4 | 15 | d |
| ववन्दे तां हरिस्तं सा | 1 | 7 | a |
| ववर्ष शरजालानि | 2 | 12 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वसतो रामकृष्णयोः | 6 | 1 | b | वालो दिष्ट्येति चाऽब्रुवन् | 4 | 43 | d |
| वसानकृष्णडध्वजम् | 5 | 27 | b | वासवेन समं प्रायात् | 1 | 46 | c |
| वसिष्ठो मालवो भृगुः | 8 | 4 | b | वासः स्रग्रुक्ममालिनीः | 6 | 19 | b |
| वसुदेव उदाहृतम् | 10 | 26 | b | वासुदेवं पुरन्दरः | 3 | 23 | d |
| वसुदेवगदादयः | 6 | 7 | b | वासुदेवेति शब्दितः | 5 | 7 | b |
| वसुदेवभवान्नूनम् | 3 | 39 | a | वासुदेवो महाद्युतिः | 5 | 7 | d |
| वसुदेवसुतत्वाच्च | 5 | 7 | a | वासुदेवोऽवतीर्णोऽहम् | 5 | 18 | a |
| वसुदेवस्तु कौरव्य! | 3 | 47 | a | वासुदेवोऽहमित्यज्ञः | 5 | 15 | c |
| वसुदेवः परिष्वज्य | 6 | 43 | a | विख्याता श्शंसिव्रताः | 6 | 15 | b |
| वसुदेवोग्रसेनाद्यैः | 6 | 32 | a | विचरन्ती तथा तत्र | 1 | 16 | c |
| वसुदेवोग्रसेनाभ्याम् | 9 | 27 | a | विचित्रो भुवनत्रये | 1 | 17 | d |
| वसुदेवोऽग्रसोत्तीर्य | 9 | 19 | a | विजहास भृशं हरिः | 5 | 28 | d |
| वसुदेवोद्धवादयः | 5 | 2 | d | विज्ञाय तद्विघातार्थम् | 5 | 52 | c |
| वसुदेवो बुभुत्सया | 8 | 28 | b | विदर्भकुरुसृञ्जयान् | 6 | 22 | b |
| वसुदेवोऽभिनद्याऽऽह | 10 | 1 | c | विदर्भकोसलकुरून् | 9 | 14 | c |
| वसुदेवो महात्मनः | 9 | 1 | b | विदितार्थोऽपि भगवान् | 4 | 40 | c |
| वसुदेवो महायशाः | 8 | 26 | b | विदित्वा पुण्डरीकाक्षं | 2 | 32 | a |
| वह्नेः प्रदहतः पुरम् | 5 | 50 | d | विदित्वा रहितां निशि | 5 | 2 | b |
| वामदेवादयोऽपरे | 8 | 5 | d | विदुद्राव धनेश्वरः | 2 | 20 | b |
| वामः स्फुरति मे भुजः | 4 | 38 | d | विदुद्राव परावृत्य | 2 | 35 | c |
| वामेन पाणिना कृष्णः | 2 | 19 | c | विदुद्राव यथाऽऽगतम् | 2 | 26 | d |
| वामेन पाणिना विष्णुः | 3 | 15 | c | विदुद्राव रणाद्भुतम् | 2 | 30 | d |
| वायुर्यथा घनानीकम् | 6 | 53 | a | विद्यायास्तपसो दृशः | 8 | 21 | b |
| वायुः कृष्णमृगारूढः | 1 | 44 | a | विद्युतेव बलाहकः | 4 | 30 | d |
| वारकान्ता करेणुभिः | 6 | 6 | b | विधाय प्रणनाम वै | 1 | 8 | d |
| वारयद्भिर्हरिप्रियां | 1 | 36 | b | विधुन्वन् त्रिशिखं ज्वलन् | 5 | 47 | d |
| वाराणसीं प्रति समेत्य | 5 | 54 | c | विपश्चितो ध्नन्ति मुहूर्त | 8 | 12 | d |
| वाराणसीं साद्यसभा- | 5 | 55 | b | विमुच्य देहावसाने | 5 | 58 | c |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| विमृद्य बलभद्रेण | 5 | 11 | c |
| विमोहिता विश्वसृजा० | 8 | 16 | b |
| विरथीकृत्य पौण्ड्रकम् | 5 | 36 | b |
| विरोधं कृतवां स्त्वयि | 3 | 30 | b |
| विलोक्य तत्रसुस्सर्वे | 5 | 49 | c |
| विविक्त उपसङ्गताः | 6 | 50 | b |
| विवत्सा गौरिवऽऽऽतुरा | 4 | 19 | d |
| विवेश पत्न्या गगनात् | 4 | 30 | c |
| विव्याध गुह्यकपतेः | 2 | 9 | a |
| विव्याध बाणै र्दशभिः | 3 | 7 | c |
| विव्याध वृषवाहनम् | 2 | 40 | d |
| विव्याध सप्तभिश्चैव | 2 | 29 | c |
| विव्याध समरे राजन् | 2 | 39 | c |
| विशाले जठरे नृप। | 2 | 6 | d |
| विशुद्धशुद्धधाम्न्यद्धा | 10 | 42 | a |
| विश्वश्च सचाचरम् | 10 | 23 | d |
| विश्वस्थित्युदयौ लयः | 10 | 31 | b |
| विश्वात्मदेवं सुतरां | 10 | 35 | b |
| विश्वामित्रदृशतानन्दः | 8 | 3 | c |
| विषाणे तस्य नन्दिनः | 2 | 48 | b |
| विष्णुचक्रं सुदर्शनम् | 5 | 56 | b |
| विष्णुना मुद्गरायुधः | 1 | 45 | d |
| विष्णुलोकं प्रयास्यतः | 5 | 58 | d |
| विसृज्य यदुनन्दनः | 3 | 37 | d |
| विस्फारयं स्तालमात्रं | 2 | 4 | c |
| विस्मयाकुललोचना | 1 | 17 | b |
| विहङ्गध्वनिशोभितान् | 1 | 16 | b |
| वीक्षन्तीनाञ्च विभ्रमम् | 4 | 13 | d |

| | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|
| वीरं प्रद्युम्न नामानम् | 4 | 2 | c |
| वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य | 10 | 58 | c |
| वृकाणां मृगराडिव | 7 | 33 | d |
| वृतस्स्वयं यस्तु विहाय | 7 | 17 | d |
| वृता धर्मेण धार्मिकम् | 9 | 2 | b |
| वृतो जालेन महता | 4 | 7 | c |
| वृत्ति र्गन्धोऽर्थतो भवान् | 10 | 7 | d |
| वृत्ते पिधाय परिधाय च | 7 | 28 | c |
| वृष्णयश्च तथाऽक्रूर | 6 | 7 | a |
| वृष्णयः कृष्णदेवताः | 6 | 20 | d |
| वृष्णयः कृष्णदेवताः | 9 | 32 | d |
| वृष्णयः पुष्करस्रजः | 9 | 3 | b |
| वेदवादिद्र निर्घोषैः | 6 | 10 | c |
| वदेस्वाध्याय निस्वनैः | 3 | 41 | d |
| वेदाऽहं वां विश्वसृजाम् | 10 | 29 | c |
| वेद्धुं पार्षति मद्धियः | 7 | 21 | d |
| वैकारिकं विकल्पानाम् | 10 | 11 | c |
| वैक्लव्यादश्रुलोचना | 10 | 28 | d |
| वैदर्भी वल्गुभाषिणी | 4 | 34 | b |
| वैदर्भ्यां देवकीसुतः | 4 | 39 | b |
| वैनतेयो धनुश्शतम् | 2 | 48 | d |
| वैराग्यं पारमेष्ठ्यं वा | 7 | 41 | c |
| वैलक्षण्येन योषितः | 4 | 33 | b |
| वैवस्वतं गतं दृष्ट्वा | 2 | 36 | a |
| वैश्याश्शूद्राश्च निस्संख्याः | 6 | 14 | c |
| वैश्वानरस्तु तुरगं | 1 | 40 | a |
| व्यङ्गा जड़ाश्च मूकाश्च | 6 | 16 | c |
| व्यरोचन्त महाभागाः | 6 | 10 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| व्यलोकैः कंसमर्दन | 1 | 27 | d |
| व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति | 7 | 43 | a |
| व्रजामि शरणं तेऽद्य | 5 | 35 | c |
| व्रीडन्बबन्ध ह यथा | 7 | 13 | d |
| व्रीडावनतकन्धरः | 3 | 16 | d |
| **श** | | | |
| शक्तयो याः परस्य ताः | 10 | 6 | b |
| शक्त्यृष्टिप्रासतोमरैः | 5 | 30 | d |
| शक्रप्रस्थं ययु स्सर्वे | 9 | 32 | a |
| शक्रस्तु वज्र मुद्यम्य | 3 | 14 | a |
| शक्रं दृष्ट्वाऽब्रुवन्नृप | 1 | 34 | d |
| शक्राय दत्त स्सकलैः | 1 | 24 | c |
| शङ्करस्तु महातेजाः | 2 | 37 | a |
| शङ्करं लोकशङ्करम् | 2 | 42 | d |
| शङ्करं लोकशङ्करम् | 4 | 1 | b |
| शङ्खदुन्दुभिनिस्वनैः | 6 | 10 | d |
| शङ्खभेर्यानकादयः | 7 | 30 | b |
| शङ्खभेर्यानकादयः | 9 | 5 | b |
| शङ्खं दध्मौ महानादम् | 3 | 3 | c |
| शङ्खार्यसि गदाशार्ङ्ग | 5 | 26 | a |
| शचीभर्तु र्दीयितं हृद्य० | 1 | 12 | d |
| शची मां गृह मागताम् | 1 | 28 | b |
| शचीं विलोक्य पर्श्वस्थाम् | 1 | 37 | c |
| शठप्रद्युम्नसाम्बाश्च | 6 | 8 | a |
| शतशोऽथ सहस्रशः | 1 | 49 | d |
| शतशोऽथ सहस्रशः | 1 | 50 | d |
| शतशोऽथ सहस्रशः | 6 | 13 | d |
| शब्द स्त्वं स्फोटआश्रयः | 10 | 9 | b |
| शम्बरस्य शिरः कायात् | 4 | 28 | c |
| शम्बराहरणादिकम् | 4 | 41 | b |
| शम्बरेण हृतो गृहात् | 4 | 16 | b |
| शयिष्यते हतस्तत्र | 5 | 22 | c |
| शय्यासनपरिच्छदैः | 7 | 37 | d |
| शय्यासनाशनसयौवन | 6 | 40 | b |
| शरणागतवत्सल | 3 | 25 | b |
| शरवृष्टिं कुरूद्वह | 2 | 2 | d |
| शरान् सन्धाय षोडश | 3 | 9 | b |
| शरै राच्छादयामासुः | 5 | 29 | c |
| शरैरसन्नपर्वभिः | 2 | 13 | d |
| शशंस देवीं कृष्णश्च | 2 | 20 | c |
| शंसन्तः प्रययुः क्रु | 9 | 15 | d |
| शाखाशतविराजितः | 1 | 20 | d |
| शाध्यास्मानीशितव्येश | 10 | 46 | a |
| शान्तो यथैक उतसत्त्व० | 10 | 45 | d |
| शार्ङ्ग मुद्यम्य सन्नद्धः | 7 | 32 | c |
| शार्दूल इव गोवृषम् | 2 | 22 | d |
| शास्त्रयोने स्तवात्मनः | 8 | 20 | b |
| शिबिकां नरवाहनः | 1 | 45 | b |
| शिबिराणि महीभृताम् | 6 | 13 | b |
| शिर उत्कृत्य पन्निभिः | 5 | 37 | b |
| शिरः पतित मालेक्य | 5 | 39 | a |
| शिरोऽहरद्रथाङ्गेन | 5 | 36 | c |
| शुक्लेनेज्येतदूरुषम् | 8 | 35 | d |
| शूलैर्गदाभिः परिघैः | 5 | 30 | c |
| शैनेयेनाऽपि निर्जितः | 5 | 11 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| दौन्ये रोहिणितक्ष्मणे | 7 | 6 | d |
| शोणिताक्ताः प्रदृश्यन्ते | 3 | 8 | c |
| श्यालो बीभत्सु रित्यपि | 3 | 36 | b |
| श्व श्वाः कृष्णेन चोदिता | 1 | 8 | b |
| श्रीनिकेत मनुप्राप्य | 9 | 15 | c |
| श्रीनिकेतं वपुस्तस्यैः | 6 | 36 | c |
| श्रीमत्पादरजश्श्रियः | 7 | 42 | b |
| श्रुत्वा कृष्णपुरोगमान् | 6 | 41 | b |
| श्रुत्वा तज्जन वैक्लव्यम् | 5 | 51 | a |
| श्रुत्वा द्रष्टु मुपाजग्मुः | 3 | 46 | c |
| श्रुत्वाऽनीतं गुरोः पुत्रम् | 10 | 27 | c |
| श्रुत्वा पृथा सुबलपुत्र्यथ | 8 | 1 | a |
| श्रुत्वा मुहुर्नारद गीत | 7 | 17 | b |
| श्रुत्वा विनष्टनामाधिः | 10 | 26 | c |
| श्रुत्वैतत्सर्वतो भूषाः | 7 | 20 | a |
| श्रेयस्कामस्य मानद | 9 | 23 | b |
| **ष** | | | |
| षडिमे मत्प्रसादेन | 10 | 51 | c |
| **स** | | | |
| स इन्द्रसेनो भगवत्प० | 10 | 38 | a |
| स एव जातो वैदर्भ्याम् | 4 | 5 | a |
| स एव वा भवेज्जूनम् | 4 | 38 | a |
| सकला यादवस्त्रियः | 3 | 46 | d |
| स कार्ष्णीरूढयौवनः | 4 | 13 | b |
| सकिरीटं सकुण्डलम् | 4 | 28 | b |
| स कृष्णरहितां श्रुत्वा | 5 | 11 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सकोशबलवाहनम् | 5 | 8 | b |
| सकोश हस्त्यश्वरूढ | 5 | 55 | d |
| सख्योपेत्याऽग्रहीत्पाणिम् | 7 | 11 | c |
| स गच्छन् गगने विष्णुः | 1 | 2 | a |
| स गजः प्राप्य गरुडं | 3 | 12 | a |
| सगोपुराट्टालक कोष्ठ | 5 | 55 | c |
| सङ्कर्षण सनातन | 10 | 3 | b |
| सङ्गात्कृपणचेतसः | 6 | 51 | d |
| सङ्ग्रामाह्वानगर्जनैः | 1 | 48 | d |
| सङ्ग्रामे कंसवैरिणा | 2 | 21 | b |
| सङ्ग्रामे पर्युपस्थितम् | 2 | 32 | b |
| सङ्ग्रामे वायु पावकौ | 2 | 27 | b |
| सङ्ग्रामो जयते घोरः | 1 | 26 | c |
| स च मायां समाश्रित्य | 4 | 25 | a |
| स च शम्बरमभ्येत्य | 4 | 21 | a |
| स चाऽग्निः प्रमथैर्वृतः | 5 | 44 | d |
| स चापलापाङ्गदृशो० | 6 | 25 | b |
| सज्जीकर्तुमनीश्वराः | 7 | 22 | b |
| सज्यं कृत्वाऽथ लीलया | 7 | 25 | d |
| सज्यं कृत्वा धनेश्वरः | 2 | 12 | d |
| सज्यं कृत्वा परे वीराः | 7 | 23 | a |
| सञ्जयो विदुरः कृपः | 6 | 33 | d |
| सत्यभामा ततः क्रुद्धा | 2 | 11 | c |
| सत्यभामाऽपि कौरव्य | 1 | 8 | a |
| सत्यभामा पुनर्हरिम् | 1 | 27 | b |
| सत्यभामा सुरपतिम् | 3 | 17 | c |
| सत्यभामां विलोक्य च | 2 | 14 | d |
| सत्यमाह जगत्पतिः | 2 | 1 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सत्यं मेतस्य वृक्षस्य | 1 | 18 | a | सभायामास्थितं हरिम् | 5 | 17 | b |
| सत्यया प्रियकान्तया | 1 | 23 | b | सभ्या जहसतु स्तदा | 5 | 20 | d |
| सत्या व्यसन विह्वला | 2 | 3 | b | सममेवा ऽभ्यवर्तेतां | 2 | 27 | c |
| सत्त्वं रज स्तम इति | 10 | 13 | a | समर्ह्याभास महा० | 10 | 37 | a |
| सत्त्वात्मिकां महाविद्यां | 4 | 26 | c | समाविशत्तरणिरिव | 7 | 36 | d |
| सदस स्तस्य महतः | 8 | 8 | c | समाश्लिष्याभिपूजयन् | 2 | 20 | d |
| सदस्यर्त्विक्सुरगणाः | 9 | 15 | a | समाहितो वा शृणुयात् | 5 | 57 | c |
| सदा तत्फलभोक्तृभिः | 1 | 24 | d | समीरण मरिन्दमः | 2 | 29 | d |
| सदाराः पाण्डवाः कुन्ती | 6 | 33 | c | समुद्धृत्य जलेश्वरः | 2 | 25 | b |
| स दृष्ट्वा मातरो विष्णुः | 3 | 48 | a | समेत्य गोविन्दकथां | 7 | 5 | c |
| सद्य स्समुत्थाय ननाम | 10 | 35 | d | समेत्य द्वारकां निशि | 5 | 11 | b |
| सद्यः पश्यसि देवेन्द्रम् | 1 | 33 | c | सम्प्रविश्य पुरीं रम्यां | 3 | 39 | c |
| सन्त्यनन्तानि भारत! | 10 | 58 | d | सम्प्रीणनाभ्युदयपोषण | 6 | 48 | b |
| सन्दधे निशितान्बाणान् | 2 | 10 | a | सम्प्रीतः प्रेमविह्वलः | 6 | 43 | b |
| सन्दधे सूदितुं देवीम् | 2 | 16 | c | सम्यक्प्राप्तसमर्हणः | 6 | 37 | b |
| सन्धाय चापे भुजगे० | 3 | 6 | b | स यद्वा पुत्रतां गतः | 3 | 39 | d |
| सन्नाहोचोग माघोष्य | 1 | 38 | a | सर्वतोऽनवमः पितुः | 4 | 5 | d |
| सन्निकर्षो हि मर्त्यानां | 8 | 29 | a | सर्वतो मणिकुट्टिमे | 3 | 45 | d |
| सन्निकृष्टास्सुरादयः | 10 | 43 | d | सर्वपापैः प्रमुच्यते | 5 | 57 | d |
| सन्निपात्य च सैनिकान् | 1 | 38 | b | सर्वमाया विनाशिनीम् | 4 | 20 | d |
| सन्निर्जितं समदहत्स्व० | 5 | 54 | d | सर्वमायोपमर्दिनीम् | 4 | 26 | d |
| सन्सदा व्यावहारिकः | 10 | 14 | d | सर्वमेतद्वदस्व मे | 5 | 4 | d |
| सपताकै स्सार्घ्यपाद्यैः | 5 | 14 | a | सर्वयज्ञेश्वरं मखैः | 8 | 33 | d |
| सपुत्रो धृतराष्ट्रश्च | 9 | 29 | c | सर्वसङ्गनिवृत्त्याऽद्धा | 7 | 39 | c |
| समदश विरेजुस्ते | 9 | 8 | c | सर्वस्याऽन्तर्बहिस्सोऽथ | 5 | 52 | a |
| समो क्षणोति बलवीर्य | 7 | 13 | a | सर्वाभ्यो मां तवाऽच्युत | 1 | 22 | d |
| समृद्ध आह्लादपुन० | 10 | 36 | d | सर्वा विसिस्म्यु रलमश्रु० | 8 | 1 | d |
| सभाजयन्ति सद्धाम | 8 | 20 | c | सर्वास्त्रशस्त्रतत्त्वज्ञाः | 7 | 20 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सर्वांश्च सुहृदोऽव्ययम् | 7 | 1 | d | सा तान्शोचत्यात्मजान् | 10 | 49 | c |
| सर्वांस्तान्सायकान् संख्ये | 2 | 13 | c | साधयिव्यति सङ्कल्पं | 5 | 45 | a |
| सर्वेषां शृण्वतां राज्ञाम् | 8 | 32 | c | सायकाचितसर्वाङ्गं | 2 | 31 | c |
| सर्वेष्वेव यदुश्रेष्ठ | 10 | 23 | c | सायकै स्समभिर्नृप | 2 | 10 | d |
| सवज्रोद्भव सारणाः | 6 | 8 | b | सारूप्यं शार्ङ्गधन्वनः | 4 | 37 | b |
| स वव्रे वरमीप्सितम् | 5 | 43 | d | सार्घ्यपाद्या दिवौकसः | 1 | 3 | d |
| स विदित्वाऽऽत्मनश्शुचम् | 4 | 6 | c | सार्धं सकलदिक्पालैः | 3 | 37 | a |
| सव्रजस्सह बान्धवः | 9 | 26 | b | सा पुनर्लब्धकुण्डला | 1 | 9 | b |
| सव्रीडहासवदना | 7 | 28 | d | साश्रुकण्ठौ कुरूद्वह | 6 | 44 | d |
| सव्रीडहासोत्तमविभ्रमे० | 4 | 14 | c | सा सूपोदन साधने | 4 | 12 | b |
| सशूलपाणिं चिक्षेप | 2 | 48 | c | सिक्तसम्मृष्टभूतलाम् | 3 | 40 | b |
| ससुता बाह्लिकादयः | 6 | 35 | d | सिद्धविद्याधरादयः | 10 | 41 | b |
| सस्त्रीका वीक्ष्य विस्मिताः | 6 | 36 | d | सिंहगोमायवो यथा | 1 | 51 | d |
| सस्त्रीरत्नं शुचिस्मिताः | 4 | 33 | d | सिंहनादं व्यनीनदत् | 2 | 7 | d |
| सस्नू रामह्रदे विप्राः | 9 | 12 | c | सिंहनादैश्च भूरिभिः | 1 | 51 | b |
| सहरामोऽभ्युतोर्चयन् | 8 | 7 | b | सिंहवद्व्यचदन्मुहुः | 2 | 5 | b |
| सहाऽनेन महीरुहा | 1 | 33 | b | सिंह स्सिंह मिवौजसा | 2 | 24 | d |
| सहितस्सत्यभामया | 1 | 2 | d | सीतापतिं व्रिनवहा० | 7 | 10 | b |
| सहित स्सत्यभामया | 1 | 11 | d | सुकल्पमिह दुर्लभम् | 10 | 16 | b |
| संयत्ता उद्धृतेष्वासाः | 7 | 34 | c | सुगीतं सहभर्तृकाः | 9 | 6 | b |
| संयुगाय समाह्वयत् | 4 | 21 | b | सुतलं संविविशतुः | 10 | 34 | c |
| संयोज्य क्षिपते भूयः | 6 | 53 | c | सुतस्पर्शपरिस्रुतम् | 10 | 54 | b |
| संसरन्तीह कर्मभिः | 10 | 15 | d | सुता ञ्छपितु मुद्यतम् | 10 | 47 | d |
| संसारकूपपतितोत्तरणा० | 6 | 58 | c | सुतौ विजहतु श्शुचः | 6 | 45 | d |
| संस्थाप्य पुरक्षणे | 6 | 8 | d | सुदक्षिण स्तस्य सुतः | 5 | 41 | a |
| सांख्ययोगवितानाय | 10 | 39 | c | सुदक्षिणोऽर्चयामास | 5 | 42 | c |
| सा च कामस्य वै पत्नी | 4 | 10 | c | सुधर्मां वृद्धसेविताम् | 3 | 42 | b |
| सा तं पतिं पद्मदलाय० | 4 | 14 | a | सुराजान माहवे | 3 | 10 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सुराणामपि योगिनाम् | 9 | 20 | d | सोमराज मिवोडुभिः | 9 | 7 | b |
| सुरानभिद्रुतान्दृष्ट्वा | 2 | 1 | a | सौहृदक्लिन्नचेतसः | 9 | 17 | b |
| सुरेन्द्रभवनं दिव्यम् | 1 | 4 | c | स्तनैः स्तनान् कुङ्कुम | 6 | 25 | c |
| सुरेन्द्रान्तिकमासाद्य | 1 | 34 | a | स्नुवद्भिः कुसुमोत्करैः | 4 | 29 | b |
| सुरेश्वर मनु प्रायात् | 1 | 44 | c | स्त्रियश्च संवीक्ष्य मिथो० | 6 | 25 | a |
| सुवर्णमरुडे स्थितम् | 5 | 25 | b | स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभिर्नृषु | 8 | 2 | b |
| सुवर्णबाहुयुगलम् | 5 | 25 | c | स्थापयामास गोविन्दः | 3 | 45 | c |
| सुवर्णसुषिरै र्दिव्यैः | 1 | 47 | c | स्नातका गृहमेधिनः | 6 | 15 | d |
| सुस्मितं रुचिराननम् | 4 | 31 | d | स्नाता स्सुवाससो राजन् | 9 | 3 | c |
| सुहृत्सम्बन्धिनो नृपान् | 6 | 21 | d | स्नातोऽलङ्कारवासांसि | 9 | 13 | a |
| सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान् | 7 | 37 | b | स्निग्धच्छायाङ्घ्रिपाङ्घ्रिषु | 6 | 21 | b |
| सुहृत्सम्बन्धिबान्धवाः | 9 | 16 | d | स्नुषा माश्लिष्य सन्तुष्टा | 1 | 9 | a |
| सुहृदो ज्ञातयः पुत्राः | 6 | 29 | a | स्नेहपाशै र्निबध्नाति | 10 | 17 | c |
| सुहृद्धृतः प्रीतमनाः | 9 | 19 | c | स्नेहस्नुतपयोधरां | 4 | 34 | d |
| सुतीगृहे ननुसू गाद भवा० | 10 | 20 | a | स्पर्धिनो हृच्छयातुराः | 7 | 31 | d |
| सूदा महानसं नीत्वा | 4 | 8 | c | स्पर्शेद्धशक्तिरभिवर्धति | 6 | 39 | d |
| सूर्ये चाऽभिजितिस्थिते | 7 | 26 | d | स्पृष्ट्वा मूर्ध्नि मुकुन्दस्य | 3 | 53 | c |
| सूर्योपराग स्सुमहान् | 6 | 1 | c | स्फुरन्मकरकुण्डलम् | 5 | 27 | d |
| सृजत्यवत्यत्ति न बध्यते | 8 | 17 | b | स्फुरन्तमरकतस्थूल | 1 | 20 | c |
| सृष्टास्त्रिलोकगुरुणा | 3 | 21 | c | स्मयन्तस्तं जगद्गुरुम् | 8 | 15 | d |
| सौनिका दृढधन्विनः | 5 | 29 | b | स्मरन्कंसकृतान्क्लेशान् | 6 | 43 | c |
| सोऽतिविद्धो रणे बाणैः | 2 | 7 | a | स्मरन्ती कृपणा प्राह | 10 | 28 | c |
| सोधिक्षिप्तो दुर्वचोभिः | 4 | 22 | a | स्मरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीम् | 6 | 46 | c |
| सोपाध्याया स्सहप्रशः | 7 | 20 | d | स्मरन्नश्रुविलोचनः | 9 | 24 | d |
| सोपाध्याया स्साग्निहोत्राः | 6 | 15 | c | स्मरमाणस्स काशीशः | 5 | 10 | c |
| सोपाध्यायो महेश्वरम् | 5 | 42 | b | स्मरोद्वीयः परिष्वङ्गः | 10 | 51 | a |
| सोपात्तभमुदीरितम् | 3 | 20 | b | स्यमन्तपञ्चकं क्षेत्रम् | 6 | 2 | c |
| सोऽभ्यधावद्धृतो भूतैः | 5 | 48 | c | स्यमन्तपञ्चकं प्राप्य | 6 | 12 | a |

| | अध्याय | श्लोक | पाद | | अध्याय | श्लोक | पाद |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| स्यादिदं भगवान् साक्षात् | 10 | 4 | c | स्वाना मर्थचिकीर्षया | 6 | 51 | b |
| स्रग्गन्धकलयाक्षतैः | 3 | 40 | d | स्वानेन विषयान्ययुः | 9 | 30 | d |
| स्रग्गन्ध दिव्यवसनाः | 6 | 18 | a | स्वामिने सर्वमाहरत् | 5 | 23 | b |
| स्रग्धूपदीपामृतभक्ष० | 10 | 37 | c | स्वाराज्यं भोज्यमप्युत | 7 | 41 | b |
| सुवपुच्छां ययौ रणम् | 1 | 40 | d | स्वार्थे प्रमत्तस्य वयः | 10 | 15 | c |
| स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पं | 10 | 37 | d | स्वैः स्वै र्बन्धुभिरन्वितौ | 9 | 9 | b |
| स्वजनान् भृत्यबन्धून्वा | 9 | 23 | c | | | | |
| स्वजनैः परिवारितः | 9 | 32 | b | ह | | | |
| स्वतेजसा स्वं ककुभोऽथ | 5 | 53 | c | हत्वा नरक मत्युग्रम् | 1 | 1 | a |
| स्वतोऽन्यस्माच्च गुणतः | 8 | 30 | c | हयकुञ्जरसैनिकः | 5 | 12 | b |
| स्वदेशांश्चाऽपरे जनाः | 9 | 17 | d | हयानां खरनिस्वनैः | 1 | 48 | b |
| स्वधीः कलत्रादिषु भौम० | 8 | 13 | b | हयैश्च तरलप्रभैः | 6 | 9 | b |
| स्वपादस्पर्शकाम्यया | 7 | 11 | b | हरसे यदि तस्य त्वम् | 1 | 32 | c |
| स्वमघं क्षपयिष्यवः | 6 | 7 | d | हरिर्बदरिकाश्रमात् | 5 | 13 | b |
| स्वयञ्च तदनुज्ञाताः | 6 | 20 | c | हरि र्विद्धः क्षुप्रेण | 3 | 5 | a |
| स्वयमाहूय दत्तवान् | 7 | 15 | b | हरिः परपुरञ्जयः | 3 | 3 | b |
| स्वय मेष्यति नन्दनम् | 3 | 34 | d | हारकुण्डलभूषणाः | 6 | 17 | d |
| स्वयं लब्धवरो हरिः | 4 | 3 | b | हारनूपुरकुण्डलैः | 9 | 7 | d |
| स्वयोगमाययाच्छन्न | 8 | 22 | c | हिरण्य कशिपो श्शापात् | 10 | 48 | c |
| स्वरहासावलोकनैः | 4 | 37 | d | हृत्वमनिर्दशम् | 4 | 6 | b |
| स्वर्गद्वारं गतो विष्णुः | 1 | 3 | a | हृष्यत्त्वचो रुद्धगिरो ययुर्मुदम् | 6 | 24 | d |
| स्वर्गापवर्गविरमः स्वय० | 6 | 40 | d | हे कृष्णपत्न्य एतत्तः | 7 | 7 | a |
| स्वर्णपुङ्खान् शरान्मुञ्चन् | 2 | 5 | a | हे जाम्बवति कौसले | 7 | 6 | b |
| स्वतङ्कृताभिर्विभवैः | 9 | 7 | e | हेतुर्हि वृक्षस्तस्याऽयम् | 1 | 28 | c |
| स्वतङ्कृतेभ्योऽतङ्कृत्य | 9 | 11 | c | हे वैदर्भ्यच्युते भद्रे | 7 | 6 | a |
| स्वलीलया वेदपदं सना० | 8 | 18 | c | हे सत्यामामे कालिन्दि! | 7 | 6 | c |
| स्वागतं कुशलं पृष्ट्वा | 6 | 26 | c | | | | |
| स्वागतासन पाद्यर्घ्य | 8 | 7 | c | | | | |

# ŚRĪMAD BHAGAVATA MAHAPURĀNAM

## OF MAHARSI VEDAVYASA

### SKANDHA-IV VOL. III

TIRUMALA TIRUPATI DEVASTHANAMS
TIRUPATI

Harih Om

# SRĪMAD
# BHĀGAVATA
# MAHĀPURĀNAM

*of Maharshi Vedavyasa*

## SKANDHA - X

## VOL.III

**(Adhyayas 61 to 90)**

**With the Commentaries :**
Bhavarthadipika of Sri Sridharaswami, Bhagavatachandrachandrika of Sri Vira Raghavacharya, Padaratnavali of Sri Vijayadhvaja Tirtha

**Edited by**
Brahmasri
**Mallampalli Sarabheswara Sarma**
Special Officer,
**SRI BHAGAVATA PROJECT,**
T.T. Devasthanams, Tirupati

Published by
**Executive Officer,**
Tirumala Tirupati Devasthanams,
TIRUPATI.
**2003**

SRIMAD BHAGAVATAMAHAPURANAM - SKANDHA - X, VOL.III.
*Edited by*
**Mallampalli Sarabheswara Sarma**

T.T.D. Religious Publications Series No. 590
First Edition 2003.

Price : Rs.

Copies : 1,000.

Published by :
**Sri Ajeya Kallam, I.A.S.**
Executive Officer,
Tirumala Tirupati Devasthanams,
TIRUPATI.

Printed at :
**GAYATHRI ART PRINTERS**
# 1-8-703/6/1, Nallakunta,
Adj. Shankarmutt, O.U. Road,
Hyderabad - 500 044.
Phone : 27670210

ओं नमो वेङ्कटेशाय

*श्रीवेदव्यासमहर्षिप्रणीतम्*

# श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

## दशमः स्कन्धः

### तृतीयो भागः

त्रिंशदध्यायात्मकः

श्री श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका, श्रीवीरराघवनिर्मिता श्रीभागवतचन्द्रचन्द्रिका, श्रीविजयध्वजलिखिता पदरत्नावली चेति त्रिभिः व्याख्यानैः भूषितम्


ब्रह्मश्री

**मल्लम्पल्लि शरभेश्वर शर्मणा**

परिष्कृतम्



**तिरुमल तिरुपति देवस्थान-**

**कार्यनिर्वहणाधिकारिभिः**

**प्रकाशितम्**

**२००३**

"ईशानां जगतोऽस्य वेङ्कटपते र्विष्णोः परां प्रेयसीं
तद्वक्षःस्थल नित्यवासरसिकां तत्क्षान्तिसंवर्धनीम्।
पद्मालङ्कृतपाणिपल्लवयुगां पद्मासनस्थां श्रियं
वात्सल्यादिगुणोज्ज्वलां भगवतीं वन्दे जगन्मातरम्॥"

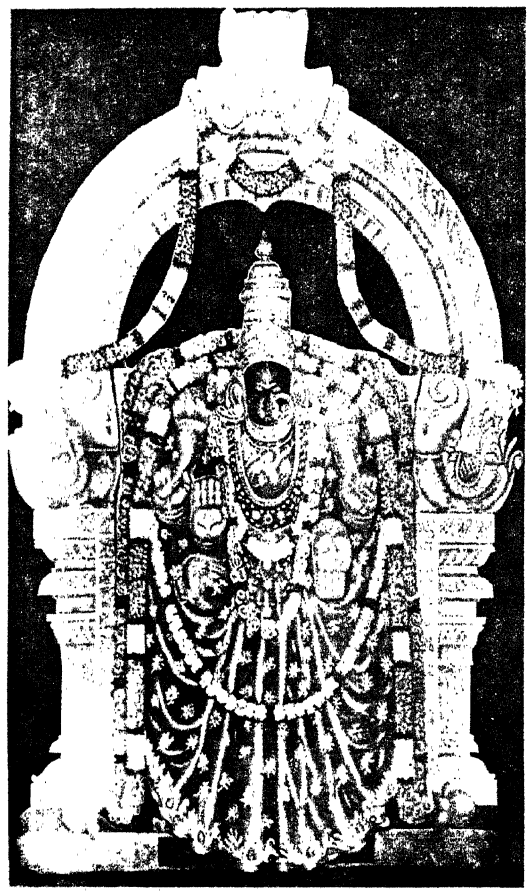

श्रीमद्वेङ्कटनायकस्य हृदये द्वेधा विधायाऽऽत्मनो
मूर्तिं शश्वदियं कृपामृतझरीस्रोतस्विनी भार्गवी।
उद्धर्तुं निखिला नगण्यविषमांहोवह्निदग्धात्मनो
जन्तून् सन्निदधाति विश्वजननी पद्मावती रक्षतात्॥

हरिः ओम्

लोकोद्धारैकदीक्षापर निगममहाहर्म्यधर्म्यप्रदीपः
स्वाङ्घ्रिद्वन्द्वप्रपन्नाखिलदुरिततमोध्वंसिपुण्यप्रदीपः।
दिङ्मूढेभ्यो नरेभ्यः प्रकटितसरणिः स्नेहदीप्रः प्रदीपः
युष्मानस्मान्समस्ता नवतु वृषगिरिस्थास्नुमङ्गल्यदीपः॥

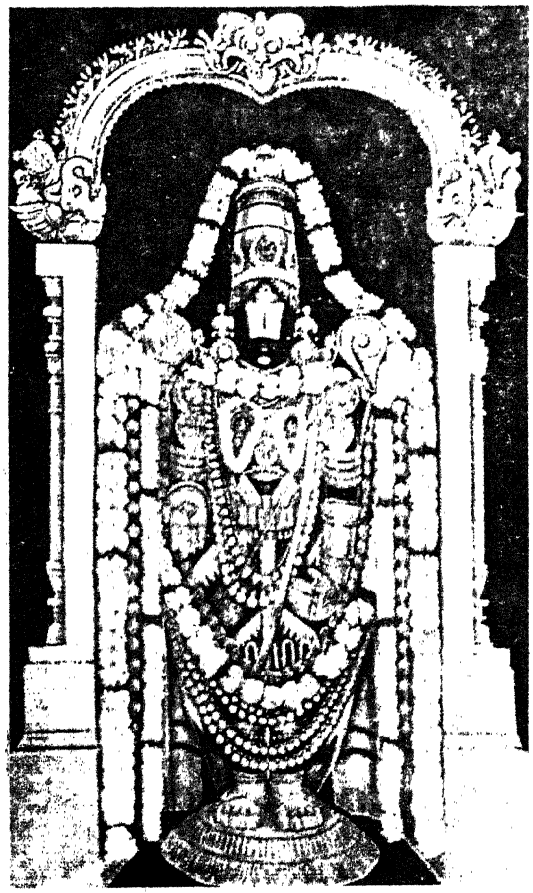

श्रीमद्भागवतं पुराण मखिलाम्नायैकसारः क्व वा?
प्रज्ञादुर्विधकिम्पचानधिषणाः शैक्षाः क्व वा मादृशाः?
भक्त्या चापलत स्तथाऽपि च परिष्कर्तुं वयं व्यापृताः,
एतत् प्राभृतयाम वेङ्कटपतेः पादाब्जयोः, स्वीक्रियात्॥

# THE CRITICAL EDITION OF SRIMAD BHAGAVATA

## THE EDITORIAL BOARD


Ex-Officio Chairman

**Sri Ajeya Kallam, I.A.S.**
Executive Officer,

**MEMBERS**

1. **Prof. Samudrala Lakshmanaiah**
   Special Officer
   Sri Bhagavatam Project.

2. **Prof. H.S. Brahmananda**
   Secretary,
   Dharma Prachara Parishad,
   T.T. Devasthanams, Tirupati.

3. **Prof. S. Sudarsana Sarma**
   Professor & Head
   Dept. of Sahitya,
   R.S. Vidyapeetha, Tirupati.

4. **Prof. K. Pratap**
   Professor
   Dept. of Sanskrit,
   S.V. University, Tirupati.

5. **Dr. G.S.R. Krishna Murthy**
   Reader
   Dept. of Sahitya,
   R.S. Vidyapeetha, Tirupati.

**Co-Ordinated Members**

6. **Prof. N.C.V. Narasimhacharya**
   Former Special Officer
   Sri Bhagavatam Project.

7. **Dr. N.S. Ramamoorthy,**
   Editor,
   T.T. Devasthanams, Tirupati.

**Convener**

8. **Dr. Medasani Mohan**
   Director
   Sri Annamacharya Project
   T.T. Devasthanams, Tirupati.

TIRUMALA TIRUPATI DEVASTHANAMS

# TRUST BOARD

## Chairman

**Sri P. Chalapathi Rao, M.L.A.**

## Members

**Dr. Smt. Gogineni Uma, M.L.A.,**

**Sri G. Srinivasulu**

**Sri K. Jayaram, B.A., LLB., M.L.A.,**

**Sri D.K. Audikesavulu**

**Dr. D. Rama Naidu, M.P.,**

**Sri Manoj Kumar Santhalia**

**Sri G. Ganga Reddy, M.P.,**

**Dr. V.R. Panchamukhi**

**Smt. Gundu Sudha Rani,**

**Sri D.S. Murthy, I.A.S.,**
Commissioner, Endowments, A.P.
Ex-Officio Member

**Sri Ajeya Kallam, I.A.S.,**
Executive Officer,
T.T.Devasthanams
Ex-Officio Member

# CONTENTS

1. Foreword ..... I
2. Introduction - English ..... II
3. Introduction - Sanskrit ..... IV
4. List of Abbreviations - (Editions) ..... VIII
5. List of Abbreviations (Texts cited) ..... IX
6. Contents of each canto (in prose) ..... X
7. Contents of each canto (in slokas) ..... XII
8. Process of Reciting Sri Bhagavata ..... X IV

| Text. | Page | Text. | Page |
|---|---|---|---|
| Canto.61 | 1 | Canto.82 | 323 |
| Canto.62 | 17 | Canto.83 | 339 |
| Canto.63 | 27 | Canto.84 | 354 |
| Canto.64 | 45 | Canto.85 | 376 |
| Canto.65 | 60 | Canto.86 | 398 |
| Canto.66 | 72 | Canto.87 | 421 |
| Canto.67 | 83 | Canto.88 | 491 |
| Canto.68 | 91 | Canto.89 | 506 |
| Canto.69 | 109 | Canto.90 | 533 |
| Canto.70 | 126 | Appendix-I Quarter Verse Index | 1 |
| Canto.71 | 147 | Appendix-II Citations Index | 107 |
| Canto.72 | 165 | | |
| Canto.73 | 184 | | |
| Canto.74 | 197 | | |
| Canto.75 | 216 | | |
| Canto.76 | 230 | | |
| Canto.77 | 242 | | |
| Canto.78 | 259 | | |
| Canto.79 | 277 | | |
| Canto.80 | 288 | | |
| Canto.81 | 307 | | |

# FOREWORD

The Tirumala Tirupati Devasthanams have undertaken the publication of religious books on a large scale, as part of propagation of Sanatana Dharma. The devotees are well aware that the TTD had published a number of books on numerous religious topics, in many languages.

Sanskrit is considered as the divine and most ancient language in the world. Holy scriptures like the Vedas, Sastras,and Puranas, owe their origin to the Sanskrit language only.

Indians regard Ramayana, Maha Bharata and Srimad Bhagavata as the most sacred books in their literature and they are considered as the essence of the Vedas.

Even amongst these three works, Bhagavata is considered as a fruit fallen from the Kalpa Vruksha of the Vedas. Bhagavata says,that Sage Vyasa, even after writing many books like Maha Bharata, did not derive peace of mind. On the advice of Sage Narada, he composed Bhagavata and obtained mental peace.

Bhagavata asserts that all the sins would get annihilated by singing the qualities, activities and the names of Lord Srimannarayana. It extolls the unique qualities, divine activities and the holy names of the Lord, in glowing terms. Especially, the sacred story of Lord Sri Krishna, is described excellently in the tenth skandha of this holy scripture.

The TTD have undertaken the onerous task of bringing out the Bhagavata in Sanskrit with three commentaries confirming to the three main systems of philosophy, in fourteen volumes. Out of these, three volumes, namely, first Skandha and first and second volumes of Dasama Skandha have been so far published.

The present volume is the third part of the Dasama Skandha. It is heartening to note that editing of the remaining ten volumes has also been completed and the printing is under progress.

Eminent scholar Sri Mallampalli Sarabheswara Sarma, editor of this volume, who has made enormous efforts to bring it out, deserves our gratitude. It is hoped that the readers would receive this volume with due devotion and respect.

**Ajeya Kallam, I.A.S.**
Executive Officer,
Tirumala Tirupati Devasthanams

Tirupati,
Dt. 5-5-2003.

# PREFACE

The Bhāgavata Puraṇa occupies a unique place among the Mahapurāṇas in many ways. It depicts the life and the great deeds of Lord Krishna, the Sampurnavatara of Lord Viṣṇu. Being a Sātvika puraṇa it is vaiṣṇava in essence. If the Bhagavadgita is the Lord's message to humanity, the Bhāgavata is the swarūpavaibhava of the Lord Himself.

The following verse from the Padmapurāṇa reveals how the Lord has set Himself in the form of the Bhagavata Purana.

"स्वकीयं यद्भवेत्तेजः तच्च भागवतेऽदधात् ||
तेनेयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तते हरेः ||"

Hence, there is no difference between the Lord and the Bhagavata Purāna. It is everlasting as the Lord and more tangible and permanent than the Lord's physical form.

The Bhāgavata is Mahāpurāṇa for it has ten characteristics, where as Puranas possess only five. These characteristics are as follows:

1. Sarga : The Subtle creation of ego, intelligence, mind, organs of sense and action, objects of sense and elements. This creation is due to the disturbance of the equilibrium of the three gunās Satva, Rajas and Tamas. This is dealt with in skandha -III.
2. Visarga : The gross creation proceeding from Brahma. This is dealt with in skandha IV.
3. Sthiti or Sthana : Maintenance of divine law and order. It is also called vritti i.e. professions men adopt to maintain themselves - skandha - V.
4. Posana : Skandha - VI
5. Uti : Jiva is the doer of actions prompted by ignorance which is the result of his past actions. He is the cause of the phenomenal world - skandha VII.
6. Manvantara : Account of the righteous path followed by Manus, who observe the duty of protecting their subjects - Skandha VIII.
7. Esanucarita : Vamsacaritam - Genealogy of the Manus accounts of the Solar and the Lunar race - skandha IX.
8. Nirodha : Destruction of wicked kings who cause the decline of Dharma - skandha X.
9. Mukti : Liberation - Skandha XI.
10. Asraya or Apasraya : The ultimate reality, the last resort of the universe - skandha XII.

The uniqueness of the Bhāgavata lies also in its depiction of human passions (Kāma, Krodha etc. which are considered great obstacles in the path of Mukti, as the very means of getting salvation, if the Lord is their sole object. It is clear, as in the case of Kamsa, Sisupala and others, how their very fear and anger against the Lord, has enabled them to reach Him. In the same way, Lord Krishna being alambana for the gopikās in their longing has made their way easy for liberation. Thus, it is well depicted in the Bhāgavata Purāna, how the human passions can become the very means of attaining salvation.

Another unique feature of the Bhāgavata Purāṇa is its quality of possession. It possesses those who come in touch with it. The readers are easily enthrolled by the spirit of Lord Krishna. Perhaps, it is this quality that makes the Bhāgavata all the more distinct from the other Mahāpurāṇas.

The captivating quality reaches its heights in the Dasama Skandha, the heart of the Bhāgavata. The awe-inspiring and miraculous deeds of Lord Krishna, depicted in this skandha, captivate the readers. The eighth characteristic of the Purāṇa, viz., Nirodha is predominent in it. It depicts the birth of the Lord, His childhood, his marriage besides the destruction of the various forms of Evil. Nirodha being the main characteristic of the Dasama Skandha, it describes how various asuras in different forms, are punished and put an end to by Lord Krishna, even from His childhood. The Dasama Skandha has a special significance as it portrays the life of Lord Krishna, who is Āsraya (the ultimate reality).

The lila of the Lord Krishna is revealed at three centres, viz., Gokula, Madhura and Dwāraka. The first volume, the first of its edition, comprises twenty eight chapters of the Dasama skandha of the Bhāgavata. It covers the Lord's sport from His Incarnation to lifting of the mount Govardhana.

The first and second volumes have been edited by an eminent scholar, Sri N.C.V. Narasimhacharya. The third volume edited by me is now ready to be published. With this volume the 10th skandha gets completed. The other volumes from second will follow. The research assistants, Sri S.B.S. Bhattacharya, Smt. S. Poornavalli, Dr. S. Dasaratha and Sri K. Rajagopalan assisted me in the editorial work.

May the Lord Venkateswara shower His choicest blessings on all those who are connected with the Bhagavata Project.

-- EDITOR

# निवेदनम्

**रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्मज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।**
**सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षात् विष्णुरध्यात्मदीपः ।।**

एवमभिष्टुतः किल देवकीदेव्याः स्वजठरात् सद्यः समवतीर्णो धरणीभारावतरणाय परिपूर्ण निजकलाभिः स्वीकृतविभवावतारो लीलामयो भगवान् श्रीकृष्णः स्वयं विष्णुः ।

शिष्टपरित्राणदुष्टनिर्वापणरूपनिजकार्यप्रणालिकया शाश्वतधर्मगोप्ता स भगवान् महाभारत समराङ्गणे यं स्वधर्मं समुपदिदेश पार्थं निमित्तीकृत्य स एष जागर्ति खलु गीतारूपेण त्रैकालिकस्यापि जगतस्तमोनिरासाय सकलश्रुतिसौधशिखरदीपायमानः कोऽप्यध्यात्मप्रदीपः ।

तस्यैव भगवतः कृष्णस्य विष्णोः स्वरूपवैभवानन्यः पुनरपि कोऽप्यनश्वरो वाङ्मयावतारो वेदव्यासोपज्ञो जागर्ति कलियुगप्रजानामलसानां अल्पायुषां आधिव्याधिनिपीडितानां जननमरणरूप संसारस्रोतोवेगेन अतिनीयमानानां समुत्तारणाय श्रीमन्महाभागवतरूपेण। तदिदं प्रमाणयति हि पाद्मपि पुराणम्-

**स्वकीयं यद्भवेत्तेजः तच्च भागवतेऽदधात्।**
**तेनेयं वाङ्मयीमूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तते हरेः।।**

अथ निर्वृत्ते निजावतारप्रयोजने स्वरूपेण तिरोदधानोऽपि भगवान् यां पुनः स्वतेजसा यत् समभिविवेश तत् सेयं प्रत्यक्षायमाणा मूर्तिरेव वाङ्मयी भगवतः श्रीमद्भागवतम्। अथ को नु खल्वेष भगवान्नाम -?

**वदन्ति तत् तत्त्वविदः तत्त्वं यत् ज्ञानमद्वयम्।**
**ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।।**

ब्रह्मेति औपनिषदैः परमात्मेति हैरण्यगर्भैः यदेव तत्त्वमद्वयज्ञानरूपं निगद्यते, तदेवात्र भगवानिति सात्त्वतैः शब्द्यमानं दर्शनमिदं प्रथयति भागवतमिति सात्त्वतमिति च।

प्रथममिदं दर्शनमनुजग्राह श्रीमन्नारायणः स्वनाभीकमलसमुदिताय चतुर्मुखाय ब्रह्मणे श्लोक चतुष्टयरूपेण यथैवम् -

**अहमेवासमेवाग्रे नान्यत् सदसतः परम्।**
**पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोप्यहम् ।।**

ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः।।

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्ठानि तथा तेषु न तेष्वहम्।।

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदा।।

एवं नारायणोपज्ञमिदं पुराणं विज्ञानम् "अणोरणीयान् महतो महीयान्" इतिवत् अग्रे श्लोक चतुष्टयमाः सूक्ष्मतमं पश्चात् अष्टादशसहस्रश्लोकरूपेण वितस्तार।

नारायणः, ब्रह्मा, नारदः, वेदव्यासः, शुकश्च इत्येते भागवतसम्प्रदायप्रवर्तकाः पुरुषाः। विषयप्रयोजनाधिकार सम्बन्धरूपमनुबन्ध चतुष्टयं निर्दिष्टमेवं द्वितीयश्लोकेन -

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तव मत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिश्शुश्रूषभिस्तत्क्षणात्।।

अन्यदेव खलु वैशिष्ट्यमितर मोक्ष शास्त्रेभ्यः श्रीमद्भागवतस्य यस्य शुश्रूषा क्षण एव ज्ञान तपो योगयज्ञादिभिरितरैरूपायैर्दुरधिगम ईश्वर स्सुकृतिनां हृदये सद्यः समवरुध्यते व्रजालिन्देपूलूखले निबद्ध इव भगवान्। परीक्षित् प्रभृतयो बहवोऽत्र निदर्शनम्। वत्सापहरणलीलायां चतुर्मुखो ब्रह्मा एवं खलु विसिस्मये -

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्।।

इदमपरमनितरसाधारणं वैलक्षण्यमस्य मोक्षदर्शनस्य ये नाम कामक्रोधादयः प्रकृतिजनिता विकाराः मोक्षपरिपन्थिनस्सम्भाव्यन्ते प्रायशः, तेऽपि पन्थानो निरूपिता गम्याधिगमाय यदि स्यात् तेषा मेकायतनं स्वयं भगवान् हरिः तथाहि -

कीटः पेशस्कृता रुद्धः कुड्यायां तदनुस्मरन्।
संरम्भभययोगेन विन्दते तत्सरूपताम्।।

**एवं कृष्णे भगवति मायामनुजविग्रहे।**
**वैरेण हतपाप्मानस्तमापुरनुचिन्तया।।**

**कामात् द्वेषात् भयात्स्नेहात् यथा भक्त्येश्वरे मनः।**
**आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्सद्गतिं गताः।।**

**गोप्यः कामाद्भयात् कंसः द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।**
**सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो।।**

(भाग-7-1-27-30)

सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, :, ईशानु कथा, निरोध, मुक्ति, आश्रय रूपैर्दशभि र्लक्षणै स्समभिलक्षितमिदं महापुराणम्। तत्र-

**सर्गो** नाम - आकाशादि महाभूतानां शब्दादि तन्मात्राणां द्विविधस्यापीन्द्रियग्रामस्य मनसश्च जन्मकथनम् (अयमेव कारणसर्गः सूक्ष्मसर्ग इति च व्यवह्रियते) सोऽयं सर्ग प्रकारोऽत्र तृतीयस्कन्धे समभिवर्णितः।

**विसर्गो** नाम - ब्रह्मणस्सर्गः स्थूलशरीर रचना (स्थूल सृष्टिः) सोऽयं विसर्गप्रकारोऽत्र चतुर्थस्कन्धे निरूपितः।

**स्थानम्** - स्थितिरेव स्थानम्। ऋतेन सत्येन च जगतो व्यवस्थाकरणम्, तदत्र पञ्चमस्कन्धे निरूपितम्।

**पोषणम्** - ईश्वरानुग्रहेण प्रजानां परिपालनम् षष्टस्कन्धे।

**ऊतिः** - "ऊतयः कर्मवासनाः" ता एव जगतो रचना हेतुः, सोऽयं सप्तमे स्कन्धे समभिवर्णितः।

**मन्वन्तरम्** - मनोः पन्थाः (मन्वन्तराणि) अष्टमस्कन्धे।

**ईशानुकथाः** - सोमसूर्य वंशक्रमानुवर्णनं नवमस्कन्धे।

**निरोधः** - दुष्टानां विध्वंसः सोऽयं श्रीकृष्णावतारविषयः दशमस्कन्धे प्रदर्शितः।

**मुक्तिः** - प्रकृतिगुणेभ्यो विमुक्तिः एकादशस्कन्धविषयः।

**आश्रयः** - आश्रय एव व्यपाश्रय इति च व्यवह्रियते।

**आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते।**
**स आश्रयः परंब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते।।**

(भाग 2-10-7)

तादृश आश्रयः परमात्मा "श्रीकृष्णः शरणं मम" इति भक्त्या आत्मनिवेदनमेव आश्रयः सोऽयं द्वादशस्कन्ध विषयः।

एवमाश्रयभूतस्य परमात्मनो विभवावतारस्य श्रीकृष्णस्य जननादि कथाः, अवतारप्रयोजनभूतायाः दुष्टसंहाररूप निरोधलीलायाश्च समभिवर्णनं दशमस्कन्ध विषयः। सोऽयमध्यायनवतिप्रमितो दशमस्कन्धो मतत्रयव्याख्यया समलङ्कृतोऽधुना तिरुमल तिरुपतिदेवस्थानाधिकृतैः भागशः प्रकाश्यते। श्रीमद्भिः प्रामाणिकैः एन्. सि. वि. नरसिंहाचार्यस्वामिभिरत्र श्रीमद्भागवतपरिष्करणरूप श्रीकार्ये विशिष्टाधिकृतैः व्याख्यात्रितय समलङ्कृतस्य दशमस्कन्धस्य प्रथमद्वितीयभागौ परिष्कृतौ। अयन्तु तत्र तृतीयोभागः।

अस्य मुद्रणप्रतिविलेखन, मुद्रणसंशोधन पर्यन्ते सकलेऽपि सम्पादनकार्यकलापे बाढमुपकृतवन्तश्चत्वारोऽपि वर्धिष्णवो विद्वांसः परिगणनामर्हन्ति। श्रीमान् एस्. वि. एस्. भट्टाचार्यः,श्रीमती एस्. पूर्णवल्ली, श्रीमान् डा. एस्. दशरथः, श्रीमान् के. राजगोपालन्, अर्चावतार विलसनेन "कलौ वेङ्कटनायकः" इति प्रसिद्ध्या निजतल्पनिर्विशेषायां शेषशैलाधित्यकायां सकल जगदनुग्रहणाय स्वलीलामातन्वानः प्रपन्न जनसन्निधिः कल्याणनिधिः श्रियःपतिः श्रीनिवासः श्रियमातनोतु निरन्तरायां निरन्तरं श्रीमद्भागवतव्यासङ्गिनां विदुषां तत्पर्यवेक्षकाणां श्रीकार्यनिर्वहणतत्पराणां सर्वेषामप्यधिकृतानाम्।

इति सर्वं शिवम्।

विदुषामनुचरः
**सम्पादकः।**

## LIST OF ABBREVIATIONS

(of the Edition of Srimad Bhagavata Mahapurana being referred to)

1. A. Edited by Sri Krishna Sankara Sastri - contains about 30 commentaries - Printed in Devanagari Script at Ahmedabad, Gujarat.

2. B. Printed in Devanagari Script at Brindavan - contains 9 commentaries.

3. G. Contains text only - Printed at Gita Press, Ghorakhpur - in Devanagari Script.

4. H. Contains Sridhara's Commentary. Edited by Sri Hayagriva Sastry. Printed in Telugu Script at Madras.

5. J. Contains Sridharacharya's Commentary - Edited by Prof. J.L.Sastri - in Devanagari Script.

6. M. Contains the commentary of Sri Vijaya Dhvaja Tirtha - printed in Devanagari Script Madhava Edition.

7. Ma. Contains the commentary of Sri Vijaya Dhvaja Tirtha - Printed in Devanagari Script - Another Madhva Edition.

8. T. Contains the commentary of Sri Veera Raghavacharya - Printed in Telugu Characters - Published by Sri Tridandi Srimannarayana Ramanuja Jeer Swami.

9. V. Contains the commentary of Sridharacharaya - Printed at Vavilla Press, Madras in Telugu Script.

10. W. Contains the commentary of Sri Veera Raghava Charya - Printed in Telugu characters - Published by the Maharaja of Wanaparti Samsthan, Andhra.

## LIST OF ABBREVIATIONS

Commentaries

1. श्रीध० श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

2. वीर० श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

3. विज० श्रीविजध्यजतीर्थकृता पदरत्नावली

## Texts cited in commentaries and their Abbreviations

| Abbreviation | Name of the Book | Abbreviation | Name of the Book |
|---|---|---|---|
| अथ . शिखा . उ . | अथर्वशिखोपनिषत् | ब्र.सू. | ब्रह्मसूत्राणि |
| अद्वै . उ . | अद्वैतोपनिषत् | - | ब्राह्मे |
| - | अध्यात्मे | - | भद्रिकायाम् |
| - | अभिधानम् | भ . गी . | भगवद्गीता |
| अम . को . | अमरकोशः | भर . सं . | भरद्वाजसंहिता |
| अष्टा . | अष्टाध्यायी | - | भागवततन्त्रे |
| - | अहिर्बुध्न्यसंहिता | भाग . | भागवतम् |
| आगम . प्रा . | आगमप्रामाण्यम् | - | भविष्यत्पुराणे |
| आप . श्रो . सू | आपस्तम्ब क्षौत सूत्रम् | भारते . आनु . | भारते आनुशासनिकपर्व |
| - | आग्नेये | भारते . आरण्य | भारते आरण्यपर्व |
| ईशा . उ . | ईशावाश्योपनिषत् | भारते . उद्योग | भारते उद्योगपर्व |
| उणा . सू . | उणादिसूत्राणि | भारते . शान्ति | भारते शान्तिपर्व |
| - | उत्पलमाला | मनु . स्मृ . | मनुस्मृतिः |
| ऋक् . सं . | ऋक् संहिता | - | महाकौर्मे |
| ऐत . उ . | ऐतरेयोपनिषत् | - | माहात्म्ये |
| कठ . उ . | कठोपनिषत् | म . ना . उ . | महानारयणोपनिषत् |
| - | कापिलेये | महा . उ . | महोपनिषत् |
| कुमार . स . | कुमारसम्भवम् | माण्डू . उ . | माण्डूक्योपनिषत् |
| कौषी . उ . | कौषीतक्युपनिषत् | - | माध्यन्दिनश्रुतिः |
| - | क्रियायोगे | मुण्ड . उ . | मुण्डकोपनिषत् |
| - | गारुडे | मैत्रा . उ . | मैत्रायण्युपनिषत् |
| - | गोपालः | याज्ञ . स्मृ . | याज्ञवल्क्यस्मृतिः |
| - | चाक्रायण श्रुतिः | रामा . | रामायणम् |
| छान्दो . उ . | छान्दोग्योपनिषत् | - | रुद्रः |
| जित . स्तो | जितन्तास्तोत्रम् | - | लक्ष्मीतन्त्रे |
| - | तत्वनिर्णये | वर . स्तवः | वरदराजस्तवः |
| - | तन्त्रभागवते | - | वामने |
| तैत्ति . आ . | तैत्तिरीय आरण्यकम् | - | वाराहे |
| तैत्ति . उ . | तैत्तिरीयोपनिषत् | - | वररुचिः |
| तैति . सं . | तैत्तिरीयसंहिता | विष्णु . ध . पु . | विष्णुधर्मोत्तरपुराणम् |
| - | दत्तः | विष्णु . पु . | विष्णुपुराणम् |
| - | नारदीये | - | विष्वक्सेनसंहिता |
| निरा . उ . | निरालम्बोपनिषत् | वे . नि . | वेदनिघण्टुः |
| - | निरुक्तम् | - | शब्दनिर्णये |
| नृ . उ . ता . उ . | नृसिंह उत्तरतापिन्युपनिषत् | शार्ङ्ग . पद्ध . | शार्ङ्गधरपद्धतिः |
| - | पञ्चतन्त्रे | - | शिशुपालवधम् |
| - | परमसंहिता | श्वेता . उ . | श्वेताश्वतरोपनिषत् |
| - | पाञ्चरात्रे | सुबा . उ . | सुबालोपनिषत् |
| - | पाद्मपुराणम् | सुभा . | सुभाषितरत्नभाण्डागारम् |
| पु . सू . | पुरुषसूक्तम् | सूर्य . उ . | सूर्योपनिषत् |
| - | प्रकाशिकायाम् | - | स्कान्दे |
| प्रश्न . उ . | प्रश्नोपनिषत् | - | षाड्गुण्ये |
| बृह . उ . | बृहदारण्यकोपनिषत् | - | हरिवंशे |
| - | ब्रह्मतर्के | हला . को . | हलायुधकोशः |
| - | ब्रह्मवैवते | - | हेमचन्द्रः |

# श्रीमद्भागवतमहापुराणदशमस्कन्धस्थानां
# एकषष्टितमारब्धानां नवतितमपर्यन्तानां अध्यायानां
## -विषयानुक्रमणी-


| अध्याय संख्या | विषयः |
|---|---|
| ६१. | श्रीकृष्ण सन्ततीनां वर्णनम्, अनिरुद्ध विवाहे रुक्मिणो वधश्च। |
| ६२. | ऊषानिरुद्ध समागमः, अनिरुद्धस्य बन्धनं च |
| ६३. | श्रीकृष्णबाणासुर सङ्ग्रामः, तत्र माहेश्वरज्वरेण महेश्वरेण च कृता भगवत्स्तुतिः। |
| ६४. | नृगस्योद्धारः। |
| ६५. | बलभद्रस्य व्रजे गमनं, कालिन्दीकर्षणं च। |
| ६६. | पौण्ड्रककाशिराजयोर्वधः, स्वप्रयुक्तेनाभिचाराग्निना सुदक्षिणस्य विनाशः, सुदर्शन तेजसा वारणाशीदहनं च। |
| ६७. | रैवतके द्विविदवधः। |
| ६८. | साम्बविवाहः, बलरामेण हस्तिनापुरकर्षणं च। |
| ६९. | देवर्षि नारदकर्तृकं भगवतो गृहचर्यादर्शनम्। |
| ७०. | श्रीकृष्णस्याह्निककृत्यवर्णनं युधिष्ठिरसन्देशमादाय नारदस्य जरासन्धकारानिबद्धनृपाणां सन्देशमादाय दूतस्य च आगमनम्। |
| ७१. | उद्धवमन्त्रणया श्रीकृष्णस्य इन्द्रप्रस्थगमनम्। |
| ७२. | राजसूयोपगमे पाण्डवानां दिग्विजयः, भीमेन जरासन्धवधश्च। |
| ७३. | जरासन्धरुद्धानां राज्ञां कारागृहान्मोचनम्। |
| ७४. | राजसूये भगवतोऽग्रपूजनं ततो रुष्टस्य दुर्वदतः शिशुपालस्य भगवत्कर्तृको वधश्च। |
| ७५. | राजसूयान्तेऽवभृथस्नानमहोत्सवः, मयनिर्मितायां युधिष्ठिरसभायां दुर्योधनस्यावमाननं च। |
| ७६. | शाल्वस्य यदुभिः सह युद्धम्। |
| ७७. | भगवता सौभसहितस्य शाल्वस्य विनाशः। |
| ७८. | दन्तवक्त्रविदूरथवधः, बलरामद्वारा सूतशिरश्छेदश्च। |

७९. पल्वलवधः सूतहत्यामार्जनाय बलभद्रस्य तीर्थेषु भ्रमणं च।

८०. सुदामोपाख्यानम् - पत्नीप्रेरणया सुदाम्नो भगवत्समीपे गमनं भगवत्कृतः तस्य सत्कारश्च।

८१. सुदाम्नः स्वपुरीं प्रत्यागमनं तत्र भगवद्दत्तमैश्वर्यमुपलभ्य भगवद्वात्सल्यगुणगानम्।

८२. कुरुक्षेत्रे सूर्योपरागपर्वणि यदुभिः सह कुरूणां नन्दादिगोपानां च समागमः।

८३. द्रौपदीं प्रति श्रीकृष्णपत्नीनां स्वस्वोद्वाहवृत्तान्तवर्णनम्।

८४. ऋषिगणकृता भगवत्स्तुतिः, वसुदेवयज्ञोत्सवः, बन्धूनां प्रस्थापनादिकं च।

८५. वसुदेवमुखेन भगवत्तत्त्वप्रतिपादनं भगवता देवकीप्रार्थनया तदीयमृतपुत्राणामानयनं च।

८६. सुभद्राहरणं, श्रीकृष्णस्य मिथिलागमनं, तत्र बहुलाश्रुतदेवयोः सद्मनि सकृदेव प्रवेशः।

८७. वदस्तुतः

८८. शिवाच्युतयोः स्वभाववैलक्षण्यं वटुरूपेण विष्णुना शम्भोर्वृकासुरभयाद्रक्षणं च।

८९. भृगुकर्तृकं त्रिदेवपरीक्षणं तत्र विष्णोः श्रैष्ठ्यं पार्थेन सह महाकालपुरं गत्वा भगवता ब्राह्मणस्य मृतपुत्राणामानयनं च

९०. श्रीकृष्णलीलानां संक्षेपतोऽनुवर्णनं तन्महिषीणां तस्मिन्ननुरागाधिक्यं यदुवंशीयानामसंख्येयत्व प्रतिपादनं च

# श्रीमद्भागवतमहापुराणदशमस्कन्धस्थानां
# एकषष्टितमारब्धानां नवतितमपर्यन्तानां अध्यायानां
## अध्यायार्थसङ्ग्रहश्लोकाः

एकषष्टितमे शौरः पुत्रपौत्रादि सन्ततिः ।
अनिरुद्धविवाहे च रुक्मिणो रामतो वधः ॥
अष्टाधिकशतद्व्यष्टसहस्रस्त्रीसमुद्भवान् ।
कोटिशः पुत्रपौत्रादीन् हरिर्दारैरयोजयत् ॥ ६१ ॥

द्वियुक्षष्टितमे प्रोक्तमनिरुद्धस्य रोधनम् ।
कन्यया रममाणस्य बाणेन बहुबाहुना ॥ ६२ ॥

त्रियुक् षष्टितमे चाथ बाणयादवसङ्गरे ।
स्तुतिर्ज्वरिणेश्वरेण बाणबाहुभिदो हरेः ॥
श्रीकृष्णश्श्रीहरं जित्वा बाणबाहूनथाच्छिनत् ।
चतुर्बाहुं विमुञ्चेमं देवदेवदयानिधे ॥
इति सम्प्रार्थितस्तेन रुद्रेण प्रीतमानसः ।
प्रह्लादाय वरो दत्तः पुरावध्योऽसुरो मया ॥
चत्वारोऽस्य भुजाश्लिष्टा भविष्यत्यजरामरः ।
पार्षदोऽयं भवतु ते हरेत्युक्त्वा ससर्ज तम् ॥ ६३ ॥

चतुष्षष्टितमे कृष्णो नृगं शापादमोचयत् ।
ब्रह्मस्वहरिदोषोक्त्या राज्ञो दृप्तानशिक्षयत् ॥
विभूति भोगभाग्यादिमदोद्धतमनोरथान् ।
अन्वशासद्यदून् कृष्णः नृगोद्धारप्रसङ्गतः ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमे रामश्चक्रे गोकुलमागतः ।
रममाणस्तु गोपीभिः कालिन्द्याः कर्षणं मदात् ॥
रामस्य चरितं चित्रं कालिन्द्याकर्षणादि यत् ।
पौंड्रकान्तादि कृष्णस्य पृथगुक्तं ततः परम् ॥ ६५ ॥

षड्युक् षष्टितमे काशीं गत्वाऽहन् पौण्ड्रकं हरिः ।
तन्मित्रं च ततो वृत्तं सुदक्षिणमथादिशत् ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमे रामो गिरौ रैवतके मदात् ।
स्वैरं युवतिभिः क्रीडन्नवधीद्विविधं बलः ॥ ६७ ॥

अष्टषष्टितमे साम्बे निबद्धे कौरवैर्युधि ।
तद्विमोक्षाय रामेण द्विजाह्वय विकर्षणम् ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमे गार्हस्थ्यं प्रतिमन्दिरम् ।
कृष्णस्य नारदो दृष्ट्वा विस्मितोऽगात्ततः स्तुवन् ॥ ६९ ॥

ततस्तु सप्ततितमे कृष्णस्याह्निककर्मणि ।
दूतनारदयोः कार्ये मन्त्रि मन्त्र विचारणम् ॥
जगन्मङ्गलचारित्रमाह्निकं जगदीशितुः ।
नारदेन क्वचित् किञ्चित् दृष्टमाह यथाक्रमम् ॥ ७० ॥

अथैक सप्ततितमे ह्युद्धवस्य तु मन्त्रतः ।
इन्द्रप्रस्थं गते कृष्णे पार्थानां परमोत्सवः ॥
राजसूयमिषं कृत्वा भीमदुर्योधनादिषु ।
कलिमुत्पाद्य तद्द्वारा भूभारमहरत्प्रभुः ॥ ७१ ॥

ततो द्विसप्ततितमे राज्ञा कार्ये निवेदिते ।
दुर्जयं मागधं बुद्ध्वा भीमेनाघातयद्धरिः ॥ ७२ ॥

ततस्त्रिसप्ततितमे मोचयित्वा नृपान् हरिः ।
राजार्हभोगैस्स्वान्देशान् प्रस्थाप्य पुनराहरत् ॥
अत्युन्नद्धजरासन्धवधात्तद्रुद्धभूपतीन् ।
विमोक्ष्य कृपया कृष्णो निजरूपमदर्शयत् ॥ ७३ ॥

चतुर्युक् सप्ततितमे राजसूयक्रियाद्विजैः ।
अग्रपूजाप्रसङ्गेन चैद्यघातादि वर्ण्यते ॥
राजसूयमुखे हत्वा जरासन्धं तदन्तरे ।
चैद्यं तदन्ते कुर्वन्तं बीजं कलिमिवावपत् ॥ ७४ ॥

पञ्चयुक्सप्ततितमे यज्ञावभृथसम्भ्रमः ।
सुयोधनस्य चाक्षन्त्या मानभङ्गो दृशिक्रमात् ॥ ७५ ।

ततष्षट् सप्ततितमे वृष्णिसाल्व महामृधे ।
द्युमद्गदा प्रहारेण रणात्प्रद्युम्न निर्गमः ॥
सम्पाद्य धर्मराजस्य राजसूय महोदयम् ।
निहत्य सौभराजादीनथोपारमदच्युतः ॥ ७६ ॥

सप्तयुक् सप्ततितमे नानामायाविचक्षणः ।
कृष्णेनागत्य साल्वस्तु हतस्सौभं च चूर्णितम् ॥७७॥

ततोऽष्टसप्ततितमे दन्तवक्र विडूरथौ ।
हत्वा हरिः पुरे रेमे रामस्सूतं ततोऽवधीत् ॥ ७८ ॥

ऊनाशीतितमे रामः पल्वलं द्विजतुष्टये ।
निहत्य तीर्थस्नानाद्यैस्सूतहत्यामपानुदत् ॥ ७९ ॥

तथाऽशीतितमे कृष्णश्श्रीदामानं गृहागतम् ।
सम्पूज्यापृच्छदर्थेप्सुं गुरुवासकथां मुदा ॥ ८० ॥

एकाशीतितमे सख्युर्जग्ध्वा पृथुकतण्डुलान् ।
श्रियं निर्मितवानिन्द्रदुर्लभां तु तदाश्रमे ॥ ८१ ॥

द्व्यशीतितम आगत्य कुरुक्षेत्रं रविग्रहे ।
वृष्टीन् दृष्ट्वा मुदा भूपाश्चक्रुः कृष्णकथा मिथः ॥
श्रीकाम सुहृदे कृष्णः प्रकल्प्येन्द्रपदं भुवि ।
नन्दादिसुहृदानन्द कुरुक्षेत्रं जगाम सः ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितम एवं च स्त्रीणां कृष्णकथोत्सवे ।
द्रौपद्यै कृष्णभार्याभिरुक्तास्स्वस्वकरग्रहाः ॥ ८३ ॥

चतुर्भिरधिकेऽशीतितमे मुनिसमागमे ।
वसुदेवमुखोत्साहबन्धुप्रस्थापनादिकम् ॥ ८४ ॥

पञ्चाशीतितमे रामकृष्णौ सम्प्रार्थितौ स्तुतौ ।
पित्रे ज्ञानमथोमात्रे मृतान्पुत्रानयच्छताम् ॥
नन्दयित्वा कुरुक्षेत्रे यात्रायां सुहृदो बहून् ।
तत्त्वज्ञानं ततः पित्रोरादिशन्मृतसूनुभिः ॥ ८५ ॥

षडशीतितमे दम्भात्सुभद्रामर्जुनोऽहरत् ।
गत्वा च मिथिलां कृष्णो नृपविप्रावनन्दयत् ॥
पित्रोस्स्वज्ञानमादिश्य सुभद्रामर्जुनाय च ।
जगाम मिथिलां कृष्णस्सभक्तप्रियकृत्ततः ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमे नारायणनारदवादतः ।
वेदैस्तुतिर्गुणालम्बा निर्गुणा च तथोच्यते ॥ ८७ ॥

अष्टाशीतितमे विष्णुभक्तः कैवल्यमश्नुते ।
ततोऽर्वाग्देवभक्तस्तु विभूतिमिति वर्ण्यते ॥ ८८ ॥

नवाशीतितमे देवः को महानिति संशये ।
परीक्ष्यविष्णोरुत्कर्षं मुनिभ्योऽवर्णयद्भृगुः ॥
मृतपुत्रं समादाय विप्रोऽरोदीद्धरेः पुरः ।
अर्जुनेन प्रतिज्ञातं विप्र पुत्रस्य रक्षणम् ॥
शिशावदर्शनं प्राप्ते फल्गुनेऽग्निसमीपगे ।
सार्जुनो हरिरानाय्य वैकुण्ठात्तत्सुतार्पणम् ॥ ८९ ॥

चरमे तु पुनः प्रोक्ता कृष्णलीला समासतः ।
यदुवंशप्रसूतानामानन्त्यं च सकारणम् ॥ ९० ॥

## श्रीमद्भागवतपाठविधिः

स्नातः शुचि र्भूत्वा प्राणा नायम्य त्रिराचम्य च मङ्गलपाठपूर्वकं भगवन्तं प्रणमेत्। तदनु सञ्चितैः षोडशोपचारै र्मानसोपचारैर्वा व्यासं शुकं वासुदेवं श्रीमद्भागवतग्रन्थं च सादरं सविनयं सभक्तिभावं सम्पूजयेत्। ततः पाठारम्भात् प्राक् 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' इति द्वादशाक्षरमन्त्रम् 'ओं क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' इति गोपालमन्त्रं वाऽष्टोत्तरशतवारं जपेत्। पश्चादेवं विनियुञ्जीत—

## विनियोगः

ओं अस्य श्रीमद्भागवताख्यस्तोत्रमन्त्रस्य नारद ऋषिः, बृहती छन्दः, श्रीकृष्णः परमात्मा देवता, बह्म बीजम्, भक्तिः शक्तिः, ज्ञानवैराग्ये कीलकम्, मम श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थं पाठे विनियोगः।

## ऋष्यादिन्यासः

'नारदर्षये नमः' शिरसि। 'बृहतीच्छन्दसे नमः' मुखे। 'श्रीकृष्णपरमात्मदेवतायै नमः' हृदि। 'ब्रह्मबीजाय नमः' गुह्ये। 'भक्तिशक्तये नमः' पादयोः। 'ज्ञानवैराग्यकीलकाय नमः' नाभौ। श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थकपाठविनियोगाय नमः सर्वाङ्गे। द्वादशाक्षरमन्तेण हृदयाद्यङ्गन्यासं करन्यासं च कुर्यात्। अथवाऽधोऽङ्कितरीत्याऽङ्गन्यासकरन्यासौ विदध्यात्—

## अङ्गन्यासः

ओं क्लां हृदयाय नमः। ओं क्लीं शिरसे स्वाहा। ओं क्लूं शिखायै वषट्। ओं क्लैं कवचाय हुम्। ओं क्लौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ओं क्लः अस्त्राय फट्।

## करन्यासः

ओं क्लां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ओं क्लीं तर्जनीभ्यां नमः। ओं क्लूं मध्यमाभ्यां नमः। ओं क्लैं अनामिकाभ्यां नमः। ओं क्लौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ओं क्लः करतलकरपृष्ठाभ्यां. नमः।

## अथ ध्यानम्

कस्तूरीतिलकं ललाटफलके वक्षःस्थले कौस्तुभं नासाग्रे नवमौक्तिकं करतले वेणुं करे कङ्कणम्।
सर्वाङ्गे हरिचन्दनं च कलयन् कण्ठे च मुक्तावलिं गोपस्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपालचूडामणिः॥
अस्ति स्वस्तरुणीकराग्रविगलत्कल्पप्रसूनाप्लुतं वस्तु प्रस्तुतवेणुनादलहरीनिर्वाणनिर्व्याकुलम्।
स्रस्तस्रस्तनिबद्धनीविविलसद्गोपीसहस्रावृतं हस्तन्यस्तनतापवर्ग मखिलोदारं किशोराकृति॥

इत्येवं ध्यात्वा पाठमारभेत।

## श्रीमद्भागवतसप्ताहपारायणस्य दैनन्दिनविश्रामस्थलानि निम्नाङ्कितपद्येषु निरूपितानि

मनुकर्दमसंवादपर्यन्तं प्रथमेऽहनि। भरताख्यानपर्यन्तं द्वितीयेऽहनि वाचयेत्॥
तृतीये दिवसे कुर्यात् सप्तमस्कन्धपूरणम्। कृष्णाविर्भावपर्यन्तं चतुर्थे दिवसे वदेत्॥
रुक्मिण्युद्वाहपर्यन्तं पञ्चमेऽहनि शस्यते। श्रीहंसाख्यानपर्यन्तं षष्ठेऽहनि वदेत्सुधीः॥
सप्तमे तु दिने कुर्यात् पूर्तिं भागवतस्य वै। एवं निर्विघ्नतासिद्धि र्विपर्यय इतोऽन्यथा॥

# श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

ओं नमो भगवते वासुदेवाय

## दशमः स्कन्धः

## एकषष्टितमोऽध्यायः

भगवतः षोडशसहस्र महिषीसम्मोहन वर्णनम्

(विजयध्वजरीत्या षट्सततितमोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

एकैकशस्ताः कृष्णस्य पुत्रान्दश दशावलाः ।
अजीजनन्ननवमान् पितुः सर्वात्मसम्पदा ॥ १ ॥

गृहादनपगं वीक्ष्य राजपुत्र्योऽच्युतं स्थितम् ।
प्रेष्ठं न्यमंसत स्वं स्वं[-1 2] न तत्तत्वविदः स्त्रियः ॥ २ ॥

चार्वब्जकोश वदनायत बाहुनेत्र सप्रेम हासरसवीक्षित वल्गुजल्पैः ।
सम्मोहिता भगवतो न मनो विजेतुं स्वैर्विभ्रमैः समशकन्वनिता विभूम्नः ॥ ३ ॥

[3]स्मायावलोकलवदर्शित भावहारि भ्रूमण्डल प्रहित सौरतमन्त्रशौण्डैः ।
पत्न्यस्तु षोडश सहस्र मनङ्गबाणै र्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न शेकुः ॥ ४ ॥

★ इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम् ।
भेजुर्मुदाऽविरत मेधितयाऽनुराग हासावलोकनवसङ्गम लालसाद्यम् ॥ ५ ॥

O याः स्वीप्सितं स्वभवनेष्वधिरूढमुच्चै र्लक्ष्म्येकधाम सरसप्लुतवीक्षणेन ।
ऐक्षन्सतामपि पतिञ्च सतीः कटाक्षैः स्थूणान्तरेण नवसङ्गम लज्जयैव ॥

1- -1 M.Ma आत्मनोऽमंसतप्रेष्ठं ; w. प्रेष्ठं न्यमंसतात्मानं 2. K.W. अत° 3. K.W. स्मेराव°

★ This verse is not found in M.Ma edns. O This extra verse is found in M.Ma edns only.

★ प्रत्युद्गमासन वरार्हण पादशौच ताम्बूल विश्रमण वीजन गन्धमाल्यैः ।
केशप्रसार[1] शयनस्नपनोपहारैः[2] दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम् ॥ ६ ॥

❖ रामागृहे विहरतः पुरतः कराभ्यां बद्धेक्षणाः स्वदयितस्य मुदा हसन्त्यः ।
गोत्रान्तराण्यभिदधुर्न[3] तु पूरुषस्य[4] क्लेशावहान्यपि तदङ्गजभङ्गभीताः ॥

## -: अष्टमहिषी पुत्र संख्या नामानुवर्णनम् :-

तासां या दशपुत्राणां कृष्णस्त्रीणां पुरोदिताः ।
अष्टौ महिष्यस्तत्पुत्रान्प्रद्युम्नादीन्गृणामि[5] ते ॥ ७ ॥

चारुदेष्णः सुदेष्णश्च चारूदेहश्च वीर्यवान् ।
सुचारुश्चारुगुप्तश्च भद्रचारुस्तथापरः ॥ ८ ॥

चारुचन्द्रो[7] विचारुश्च[8] चारुश्च दशमो हरेः ।
प्रद्युम्नप्रमुखा जाता रुक्मिण्यां नावमाः पितुः ॥ ९ ॥

भानुः सुभानुः स्वर्भानुः प्रभानुर्भानुमांस्तथा ।
चन्द्रभानुर्बृहद्भानु[9] रतिभानु स्तथाऽष्टमः ॥ १० ॥

★ This verse is not found in M.Ma edns 1.K.T.W. °ध° 2. K.W. °हार्यैः ❖ This verse is not found in G.J.K.W. edns. 3. B. M. Ma गात्रा° 4. B. M. Ma. °पि° 5.M.Ma गृणन्ति तान् 6. MI.V. °व° 7. K.M.Ma.W. °न्द्रोऽति° 8. K.M.Ma.W. °मान् 9. MI.V. °नू रवि ; K.W. °नू रति

**श्रीध० प्रत्युद्गमेति**। किन्तु प्रत्युद्गमादिभि र्विभोस्तस्य दास्यं नित्यं विदधुरिति। प्रौढभावेऽपि नवसङ्गमाद्यभिधानमगतसारत्वेनौत्सुक्येन च तथा प्रतीतेः। तेषामेव श्लोकानां प्रस्तावान्तरे पुनः पुनः आवृत्तिरिति सौन्दर्यात् ॥६॥

प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रस्तुतमाह - **तासामिति**। दश दश पुत्रा यासां तासां मध्येऽष्टौ महिष्यो याः प्रागुक्तास्त त्पुत्रानिति ॥७-१०॥

**वीर०** किन्तु प्रत्युद्गमादिभिः विभोस्तस्य दाम्यं विदधुरिति प्रौढभावेऽपि नवसङ्गमाद्यभिधानमगत सारत्वे नौत्सुक्येन च तथा प्रतीतेः, एतेषामेव श्लोकानां प्रस्तावान्तरे पुनः पुनरावृत्तिरपि सौन्दर्यात् ॥ ६ ॥

प्रासाङ्गकमुक्त्वा प्रकृतमाह-**तासामिति**। दश दश पुत्रा यासां तासां कृष्णस्य स्त्रीणां मध्ये या अष्टौ रुक्मिण्यादयः पूर्वं कथितास्तासां पुत्रान् प्रद्युम्नादीन् तुभ्यं कथयामि ॥ ७ ॥

**चारुदेष्ण** इति। प्रद्युम्नः प्रमुख आदिर्येषा मिति तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः। ते दश पितुर्हरिरनवमा स्तुल्या रुक्मिण्याः पुत्रा इति शेषः। प्रद्युम्नव्यतिरिक्तान् नवपुत्रान्निर्दिशति - चारुदेष्ण इति। वीर्यवानिति चारुदेह विशेषणम् ॥ ८, ९ ॥

अथ सत्यभामासुतानाह-**भानुरिति**। भान्वादयो दश सत्यभामायास्सुता इत्यन्वयः ॥ १० ॥

**विज०** सुरतादन्यत्र काले तासां लीला विशेषमाह-**रामा** इति। रामाः स्त्रियः गृहे विहरतः स्वदयितस्य कराभ्यां पुरतो बद्धेक्षणाः मुदा रोमाञ्चहेतुहर्षेण हसन्त्यः साट्टहासं (कुर्वन्त्यः) निजपूरुषस्य निजभर्तुः क्लेशावहानि क्लेशाकराण्यपि गात्रान्तराणि विषयेभ्यः स्पर्शयोग्येभ्यो गात्रेभ्येऽन्यत् गात्राणि अपिदधुः वस्त्रादिना पिहितानि चक्रुरित्यन्वयः। कीदृश्यः? तस्याङ्गजस्याऽश्लेषलक्षणकामस्य भङ्गे, भीता अपीति ॥ ६ ॥

इदानीं तासां पृथक् पृथक् पुत्रान्वक्तु मुपक्रमते - **तासामिति**। दश दश पुत्रा यासां ताः दशपुत्राः तासां तासां कृष्णस्त्रीणां मध्ये याः पुरोदिताः पूर्वोक्ताः अष्टौ महिष्यः तासां तान्पुत्रान् प्रद्युम्नादीन् गृणन्ति तत्रत्या इति शेषः ॥ ७ ॥

प्रद्युम्नादन्ये किं नामान इति तत्राह **चारुदेष्ण** इत्यादिना ॥ ८, ९ ॥

1-एवं क्रमेण सत्यभामादि सुताननुक्रामति **भानुरित्यादिना**। एकैः-1 शत्रुः चन्द्रस्य स्वर्भानू राहुरिव अपरः लोकस्य भानुः सूर्य इव स्वः स्वर्गपुरे स्थितः ॥ १० ॥

---

1--1 B.M. Omit

**श्रीभानुः प्रतिभानुश्च सत्यभामात्मजा दश ।**
**साम्बः सुमित्रः पुरुजिच्छतजिच्च सहस्रजित् ॥ ११ ॥**

विजयश्चित्रकेतुश्च वसुमान्[1] द्रविणः[2] क्रतुः ।
जाम्बवत्याः सुता ह्येते साम्बाद्याः पितृसन्निभाः[3] ॥ १२ ॥

भानुश्चन्द्रोऽश्वसेनश्च चित्रगुर्वेगवान्वृषः[4] ।
आमः शङ्कुर्वसुः श्रीमान् कुन्तिर्नाग्नजितेः[5] सुताः ॥ १३ ॥

श्रुतिः[6] कविर्वृषो वीरः सुबाहुर्भद्र एकलः ।
शान्तिर्दर्शः पूर्णमासः[7] कालिन्द्याः सोमकोऽवरः ॥ १४ ॥

प्रघोषो[8] गात्रवान्सिंहो[9] बलः प्रबल ऊर्ध्वगः ।
माद्र्याः सुता महाशक्तिः सह ओजोऽपराजितः ॥ १५ ॥

1.Ml.V कीर्ति° 2. B.G.J. °ड 3. B.G.J.M.Ma Ml.V सम्मताः 4. B.G.J वीर° 5. K.W. धृति° ; M.Ma. Ml.V कृति° 6. B.G.J. M. Ma.Ml.V श्रुतः 7. M.Ma °स्यः 8. K.W. प्रजङ्घो 9. M. Ma न्सिद्धो 10. B.G.J. M. Ma पुत्रा 11. Ml.v. °हस्तेजोऽ ।

**श्रीध० भानुरिति**। श्रीमानिति वसोः कुन्तेर्वा विशेषणम् ॥ ११-१३ ॥

**श्रुत** इति। भद्रो नाम एकल एकः। सोमकोऽवरः कनीयान्। एते कालिन्द्याः सुता इति ॥ १४

**प्रघोष** इति। माद्र्या लक्ष्मणायाः ॥ १५ ॥

**वीर०** जाम्बवतीसुतानाह **साम्ब** इति। एते साम्बादयः पितृतुल्याः जाम्बवत्यास्सुताः। नाग्नजितीसुतानाह भानुरिति। श्रीमानिति वसोः धृतेर्वा विशेषणम् ॥ ११-१३ ॥

कालिन्द्यास्सुतानाह --**श्रुतिरिति**। भद्रस्यैव एकल इति नामान्तरं, सोमकोऽवरः तेषां सर्वेषां कनीयान्, एते दश कालिन्द्यास्सुता इति शेषः ॥ १४ ॥

अथ लक्ष्मणायास्सुतानाह-**प्रजङ्घ** इति। माद्र्याः लक्ष्मणायाः सुताः प्रजङ्घादय इत्यन्वयः ॥ १५ ॥

**विज०** नाग्नजितेः नग्नजित्पुत्र्याः नीलायाः ॥ ११-१३ ॥

वृषविशेषणां वीर इति। अपरः सोमकोऽपि कालिन्द्यास्सुतः ॥ १४ ॥

माद्र्याः लक्ष्मणायाः ॥ १५ ॥

वृको[1-] हर्षोऽनिलो गृध्रो[-1] वर्धनोन्नाद[2-] एव च[-2] ।
महांशः[3] पवनो[4] वह्निर्मित्रविन्दात्मजाः क्षुधिः ॥ १६ ॥

सङ्ग्रामजिद्बृहत्सेनः शूरः प्रहरणोऽरिजित् ।
जयः[5] सुभद्रो भद्राया वाम आयुश्च सत्यकः ॥ १७ ।

दीप्तिमांस्ताम्रपत्राद्या[6] रोहिण्यास्तनया हरेः ।
प्रद्युम्नाद्यानिरुद्धोभूद्रुक्मवत्यां महाबलः ॥१८॥

पत्र्यां तु रुक्मिणो राजन्नान्मा भोजकटे पुरे ।
एतषां पुत्रपौत्राश्च बभूवुः कोटिशो नृप ॥

मातरः कृष्णजातानां सहस्राणि च षोडश ॥१९॥

राजोवाच

कथं रुक्म्यरिपुत्राय प्रादाद्दुहितरं युधि ।
कृष्णेन परिभूतस्तं हन्तुं रन्ध्रं प्रतीक्षते ।
एतदाख्याहि मे ब्रह्मन्[7] द्विषोर्वैवाहिकं मिथः ॥ २०

1- -1 K.Ml.v.W वृर्को ह्यर्कोऽनिलो गृध्रो ; M.Ma वृकोऽर्हकोऽनिलो नीलो 2- -2 K.M.Ma.W वह्वन्नोऽन्नाद एव च ; Ml.v. वह्वन्नो नाथ एव च । 3. G.J.K.M.Ma.Ml.V.W. महाशः 4. G.J.Ml.V. पा° 5. Ml.V. यज्ञः । 6. B.G.J. °तमा° 7. B.G.J. Ml.V. विद्वन् ।

**श्रीध० वृक** इति । क्षुधिश्च दशमः । एते मित्रविन्दात्मजाः ॥ १६ ॥

**सङ्ग्रामजिदिति** । सङ्ग्रामजित्प्रमुखाः सत्यकान्ता भद्रायाः सुताः । शैब्याऽपिनाम सैव ॥ १७ ॥

**दीप्तिमानिति** । रोहिण्याः सुतानामुक्तिरन्यासामुपलक्षणार्थम् ॥१८॥

**पुत्र्यामिति** । एतेषामपि अन्येषामपि श्रीकृष्णपुत्राणां शतसंख्यस्त्रीषु पुत्राः पौत्राश्च कोटिशो बभूवुः । तत्र हेतुत्वेन श्रीकृष्णपत्नीनां बाहुल्यमनुस्मारयति । मातरः कृष्णजातानामिति । चशब्देनाधिकाश्चेत्युक्तम् ॥१८॥

**कथमिति**। यः कृष्णं हन्तुं रन्ध्रं प्रतीक्षते स कथं प्रादादिति। वैवाहिकं विवाहनिमित्तम् ॥ २० ॥

**वीर०** मित्रविन्दायास्सुतानाह-**वृक** इति। क्षुधिः दशमः, एते मित्रविन्दात्मजाः ॥ १६ ॥

अथ भद्रायास्सुतानाह-**सङ्ग्रामजिदिति**। भद्राया इत्यस्याः। सुता इति शेषः। एवमन्यासामपि षोडशसहस्र पत्नीनां दश दश पुत्राः तथैव ॥ १७ ॥

रोहिण्यास्सुतानामुक्तिरन्यासामपि सुतप्रदर्शनार्थम्-**दीप्तिमानिति**। हरेराश्रितार्तिहरस्य बलभद्रस्य (?) रोहिण्याश्च जाताः पुत्राः इत्यर्थः। अथ विवक्षिष्यमाण कथाविषयक पिपृच्छिषामुत्पादयन् भगवतः पौत्रादीनाह -प्रद्युम्नादिति द्वाभ्याम् ॥१८॥

हे राजन् ! नाम्ना भोजकटमिति प्रसिध्दे पुरे, वसत इति शेषः। तस्य रुक्मिणः पुत्र्यां रुक्मवत्याख्यायां भार्यायां प्रद्युम्नादनिरुध्दो बभूव। एतेषां प्रद्युम्नव्यतिरिक्तानां कृष्णपुत्राणामपि पुत्राः पौत्राश्च कोटिशो बभूवुः, तत्र हेतुत्वेन श्रीकृष्णपत्नीनां बाहुल्यमनुस्मारयति मातर इति। कृष्णजातानां मातरः षोडशसहस्राणि, चशब्दात् ततोऽप्याधिक्यं सूच्यते ॥१९॥

रुक्मिणः पुत्र्यामित्युक्तम्, तत्र पृच्छति राजा **कथमिति**। अरेः कृष्णस्य पुन्नाय प्रद्युम्नाय कथं दुहितरं ददौ, किञ्च स हि रुक्मी युद्धे कृष्णेन परिभूतोऽवमानितः तं कृष्णं हन्तुं रन्ध्रमन्तरं प्रतीक्षते, स कथं प्रादादिति भावः। हे विद्वन् ! द्विषोः कृष्णरुक्मिणोः मिथो यद्वैवाहिकं विवाहनिमित्त मेतन्मह्यमाख्याहि ॥ २० ॥

1. K. omits पुन्नाय

**विज०** रोहिण्याः भद्रायाः ॥ १६-१८ ॥

भोजकटे पुरे स्थितस्य रुक्मिणः पुत्र्याम्। एतेषां मातरः कृष्णभार्याणां षोडशसहस्राणि ॥ १९ ॥

अरेः कृष्णस्य पुत्राय प्रद्युम्नाय तं कृष्णं रन्ध्रमवसरम्। द्विषोः शत्रुभूतयोः वैवाहिकीं विवाहसम्बन्धिनीम् ॥ २० ॥

**अनागतमतीतं च वर्तमानमतीन्द्रियम्।**
**विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः ॥ २१ ॥**

श्रीशुक उवाच

❖ वृतस्स्वयंवरे साक्षादनङ्गोऽङ्गयुतस्तया ।
राज्ञः समेतान्निर्जित्य जहारैकरथो युधि ॥ २२ ॥

यद्यप्यनुस्मरन्वैरं रुक्मी कृष्णावमानितः ।
व्यतरद्भागिनेयाय सुतां कुर्वन्स्वसुः प्रियम् ॥ २३ ॥

★ तदेवानुस्मरन्वैरं रुक्मी कृष्णावमानितः ।
तोषयामास तपसा श्रीशैलनिलयं हरम् ॥ 1 ॥

तपसाऽऽराधितो रुद्रो रुक्मिणं वरदर्षभः ।
वरेण च्छन्दयामास स च वव्रे दृढं धनुः ॥ 2 ॥

अजेयं शत्रुसङ्घानामच्छेद्यं त्रिदशैरपि ।
तथेति कार्मुकं दत्वा वाक्यं चोवाच शङ्करः ॥ 3 ॥

यदा विरुध्यसे विष्णौ तदेतत्कार्मुकं नृप ।
हित्वा तदा त्वां मामेव प्रतिपत्स्यति नान्यथा ॥ 4 ॥

इत्युक्त्वा कार्मुकं दत्वा शङ्करो न व्यदृश्यत ।
सोपि लब्धवरो राजा प्राप्य भोजकटं पुरम् ॥ 5 ॥

तेन चापेन सकलान्नृपान्प्रख्यात पौरुषान् ।
वशे चकार सङ्ग्रामे रुक्मी कृष्णमृते नृप ॥ 6 ॥

विरोद्धुं वासुदेवेन रुक्मी नैवाकरोन्मनः ।
धनुर्लोभान्महाराज न मैत्रीमप्यकल्मषाम् ॥ 7 ॥

यद्यप्यनुस्मरन्वैरं गिरिशस्य स्मरन्वचः ॥ 8 ॥
अनिरुद्धो रुक्मवत्यां तस्यां जज्ञे महारथः ॥ 9 ॥

जहार यं चित्रलेखा बाणपुत्र्या प्रचोदिता ।
सहस्रबाहुर्बाणश्च यत्कृते द्विभुजोऽभवत् ॥ 10 ॥

रुक्मिण्यास्तनयां राजन्कृतवर्मसुतो बली ।
उपयेमे विशालाक्षः कन्यां चारुमतीं किल ।। २४ ।।

## -: अनिरुद्ध विवाहे बलरामकृत रुक्मिवध कथारम्भः :-

दौहित्रायानिरुद्धाय पौत्रीं रुक्म्यददाद्धरेः ।
रोचनां वध्दवैरोऽपि स्वसुः प्रियचिकीर्षया ।
जानन्नधर्मं[1] तद्योगं स्नेहपाशानुबन्धनः ।।२५।।

❖ अयं श्लोकः विजयध्वजीय पाठानुसारेण ३० तम श्लोकत्वेन दृश्यते। ★ 'तदेवानुस्मरन्वैरं' इत्यारभ्य 'यत्कृते द्विभुजोऽभवत्' पर्यन्तं दश श्लोकाः विजयध्वजपाठे दृश्यन्ते। अन्येषु प्रकाशेषु नास्ति। 1. B.G.J.K.MI.V.W. तद्यौनं

**श्रीध०** रुक्मिणोऽभिप्रायं कथं जानीम इति चेदत आह-**अनागतमिति**। अतीन्द्रियमस्मदादीन्द्रियागोचरम्। विप्रकृष्टं दूरस्थम्। व्यवहितं कुड्याद्यन्तरितम् ।। २१ ।।

**वृत** इति। तत्रोत्तरम्-स्वयंवरे रुक्मवत्या वृतस्सन् राज्ञो निर्जित्य जहारेति ।। २२ ।।

**यद्यपीति**। यद्यपि श्रीकृष्णावमानितस्तथापि वैर मनुस्मरन्नपि व्यतरत्प्रादात् अन्वमोदतेत्यर्थः ।। २३ ।।

सर्वासामपि एकैका कन्या तत्सर्वविवाहोपलक्षणार्थं ज्येष्ठकन्याविवाहमाह-**रुक्मिण्या** इति ।। २४ ।।

**दौहित्रायेति**। यौनं विवाहः । तद्यौनमधर्मं जानन्निति। "द्विषदन्नं न भोक्तव्यं द्विषन्तं नैव भोजयेत्" (भार 5-409 - 1PR14PPP 4-2162 PR) इति लोक विरोधात्। "अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न तु" इति निषेधाच्चेत्यर्थः ।। २५ ।।

1- -1 MI.V इत्यादि श्लोक विचारात्

**वीर०** न जानामीति मा वोच इत्याह-**अनागतमिति**। अतीन्द्रियमस्मदादीन्द्रियागोचरं विप्रकृष्टं दूरस्थं व्यवहितमीषदन्तरितं चेत्येतत्सर्वं योगिनो भवन्तः सम्यक् यथावत्पश्यन्ति साक्षात्कुर्वन्ति अतो जानास्येवेति भावः ।।२१।।

एतदेव स्पष्टयितुं तावत्स्वयंवरे तद्दुहिता प्रद्युम्नेन हतेत्याह-**वृत** इति। एक एव रथो यस्य सः असहायः प्रद्युम्नः स्वयंवरे तथा रुक्मवत्या वृतः, स्वयं च तस्यामनुरागयुक्तः समेतान् युयुत्सया प्राप्तान् राज्ञो नृपान् युद्धे निर्जित्य तां जहार ।। २२ ।।

इत्थमापृष्टः प्राह श्रीशुकः **यद्यपीति**। यद्यपि रुक्मी कृष्णेनावमानितः तथापि वैरमनुस्मरन्नपि स्वसुः रुक्मिण्याः प्रियं कुर्वन् "लक्षणहेत्वोः" (अष्ट 3-2-126) इति शत्रादेशः, कर्तुमित्यर्थः। व्यतरत् ददौ अन्वमोदतेति भावः। न त्वाहूय कन्यां ददौ, अपि तु स्वयंवरे प्रद्युम्नेन हृतामन्वमोदतेत्युत्तरमभिप्रेतम् ॥ २३ ॥

रुक्मितनयाप्रमङ्गात् किं भगवतोऽपि दुहितरस्सन्ति ? यदि सन्ति तर्हि कस्यां कस्यां भार्यायां कति कति कन्या अजीजनदिति राज्ञो बुभुत्सां शमयन्नाह **रुक्मिण्या** इति। तनयामित्येक वचनेनान्यासामप्येकैकैव कन्येति दर्शितम्, चारुमतीं नाम कन्यां कृतवर्मणः सुतः उपयेमे ॥ २४ ॥

न केवलं रुक्मी प्रद्युम्नगृहीतां स्वसुता मेवान्वमोदत अपि तु प्रद्युम्नसुतायानिरुध्दाय स्वदौहित्राय स्वपौत्रीमपि भगिनीप्रियचिकीर्षया ददावित्याह **दौहित्रायेति**। हरेरिति तस्य पौत्रायेति शेषः। रोचनां नाम पौत्रीं ददावित्यर्थः। न केवलं बद्धवैरोऽप्येव अपि तु तद्यौनमधर्म्यं जानन्नपि युगमेश्रणं, योनिर्मिश्रणं वैवाहिकसम्बन्धः, तत्प्रयुक्तं भोजनप्रतिभोजनादिकं तदधर्म्यम् अस्वर्ग्यं लोकविरुद्धं जानन्नित्यर्थः। "द्विषदन्नं न भोक्तव्यं द्विषन्तं नैव भोजयेत्" (भारतं 5-409-1 Pr 14 App 4-2162) Pr इति शास्त्रादिति भावः। एवम्भूतोऽप्यददात्, तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि - स्नेहपाशेन स्वसरि यः स्नेह एव पाशस्तेनानुबध्यत इति तथा, अत एव तस्याः प्रियं कर्तुमिच्छया ददावित्यर्थः ॥ २५ ॥

1.B मुनिः

**विज०** अतीतकथा नेदानीं वक्तुं शक्येति नेत्याह-**अनागतमिति**। विप्रकृष्टं दूरस्थं व्यवहितं मूर्तद्रव्यान्तरितम् ॥ २१ ॥

★अनङ्गश्चेत् किमवलोक्य वृत इत्यत उक्तम् **अङ्गयुत** इति ॥ २२ ॥

अर्धाङ्गीकारेण परिहरति-**यद्यपीति**। व्यतरत् दत्तवान्। भागिनेयाय सहोदर्याः पुत्रायेति सूचितम्, प्रियम् इष्टं, स्पष्टं तदेव आचष्टे कुर्वन्निति। इदं दाने कारणम् ॥ २३ ॥

❖ननु ततः परं वैरं मुक्तवान् किं न ततोऽधिकमभूत् कथमत्राह-**तदेवेति**। श्रीशैलनिलयं श्रीपर्वतवासिनं मल्लिकार्जुन नामानमित्यर्थः ॥ 1 ॥

छन्दयामास अभीष्टं दत्तवान्। "वशाभिप्राययोश्छन्दः" वैज °को° 6-1-24 इति ॥ 2 ॥

शत्रुसङ्घानां मनसेति शेषः। अजेयाच्छेद्यत्वे तथाऽऽस्तामित्युक्त्वा तस्य कृष्णभक्तिं दर्शयितुं वक्ति - वाक्यं चेति ॥ 3-6 ॥

तर्हि बन्धुमैत्रीं निर्दुष्टात्माऽकार्षीत् किं नेत्याह-मैत्रीमिति। अपि तु बन्धु कृत्याकरणेन कल्मष मकरोत्। ।7

मैत्र्यकरणे विरोधाकारणे च निमित्तमाह-यदीति ॥8,9॥

यमनिरुद्धम् ॥10॥

कृतवर्मणः सुतः पुत्रः ॥२५॥

रुक्मी स्वदौहित्राय हरेः पौत्राय अनिरुद्धाय इति शेषः स्वपौत्रीमदात् ॥२६॥

★ This is taken as 30th sloka commentary in M. Ma. Mb Editions

❖ Commentaries for extra verses.

**तस्मिन्नभ्युदये राजन् रुक्मिणी रामकेशवौ ।**
**परं भोजकटं जग्मुः प्रद्युम्नाद्यास्तथाऽपरे[1-1] ॥२६॥**

**तस्मिन्निर्वृत्त उद्वाहे कालिङ्गप्रमुखा नृपाः ।**
**दृप्तास्ते रुक्मिणं प्रोचुर्बलमक्षै र्विनिर्जय ॥२७॥**

**अनक्षज्ञो ह्ययं राजन्नपि तद्व्यसनं[2] महत् ।**
**इत्युक्तो बलमाहूय तेनाक्षै रुक्म्यदीव्यत ॥२८॥**

**शतं सहस्रमयुतं रामस्तत्राददे पणम् ।**
**तं तु रुक्म्यजयत्तत्र कालिङ्गः प्राहसद्बलम् ॥**
**दन्तान्संदर्शयन्नुच्चैर्नामृष्यत्तद्बलायुधः ॥२९॥**

**ततो लक्षं रुक्म्यगृह्यादग्लहं तत्राजयद्बलः ॥**
**जितवानहमित्याह रुक्मी कैतवमाश्रितः ॥३०॥**

1- -1 B.G.J. M. Ma. Ml.v. साम्बप्रद्युम्नकादयः। Ma °सनी महान्

**श्रीध०** लोकविरुद्धाचरणफलं वक्तुमाह-**तस्मिन्निति** ॥२६, २७

**अनक्षज्ञ** इति। अदीव्यत् क्रीडितवान् ॥२८, २९॥

**तत** इति। निष्काणां लक्षं ग्लहं पणं कृतवान्। कैतवं कपटम् ॥ ३० ॥

**वीर०** लोकविरुद्धाचरणफलं वक्तुमाह-**तस्मिन्निति**। तस्मिन्नभ्युदये अनिरुद्धविवाहोत्सवरूप निमित्ते ॥ २६ ॥

**तस्मिन्नति**। तस्मिन्नुद्वाहे निर्वृत्ते जाते सति ये कलिङ्गप्रमुखास्ते राजानः रुक्मिणं प्रोचुः, किमिति? बलं बलभद्रम् अक्षैः देवनाक्षैः तद्व्यापरैः द्यूतैरिति यावत्, हे राजन्! रुक्मिन्! अयं बलरामः अनक्षज्ञः, द्यूतानभिज्ञः, अपि तथापि तद्व्यसनं द्यूतव्यसनं महदस्य वर्तत इति ॥ २७ ॥

इत्थमुक्तो रुक्मी बलभद्रमाहूय तेन सह अक्षैः अदीव्यत क्रीडितवान् ॥ २८ ॥

**शतमिति**। निष्काणामित्यादिः। तत्र द्यूते रामः तावन्निष्काणां शतं ततः सहस्रं ततोऽयुतं च पणं जित्वा स्वीकृतवान्। पुनस्तं राममपि रुक्मी जितवान्। तदा बलं रामं [1-] दन्तान् सन्दर्शयन् [-1] प्राहसत् अपहसितवान्, रामः तद्धसनं नामृष्यत् न सेहे ॥ २९ ॥

ततो रुक्मी लक्षं ग्लहं पणमाददे, तं च बलः अजयत्, कैतवं वञ्चनमाश्रितो रुक्मी अहं जितवानित्याह ॥ ३० ॥

1- -1 B Omits

**विज०** तस्मिन्नभ्युदये अनिरुद्धविषये विवाहे प्रवृत्ते सति ॥ २६, २७ ॥

बलं बलभद्रं तद्व्यसनी द्यूतक्रियापरः ॥ २८ ॥

पराजये पणं ग्लहम्। कलिङ्गः दन्तवक्त्रः ॥ २९ ॥

त्वां जितवान् तानशिक्षत। अग्रे इति भावः ॥ ३० ॥

**मयुना क्षुभितः श्रीमान्समुद्र इव पर्वणि ।**
**[1]जात्यारुणाक्षोऽतिरुषा [2]न्यर्बुदं ग्लहमाददे ॥ ३१ ॥**

**तं चापि जितवान्रामो धर्मेण च्छलमाश्रितः ।**
**रुक्मी जितं मयाऽत्रेमे वदन्तु [3]प्राश्निका इति ॥ ३२ ॥**

**★ तथेत्याह कलिङ्गोपि दन्तान्सन्दर्श्य सीरिणः। ततः कोपपरीतात्मा तूष्णीमासीद्धलायुधः ॥**
**[4]अथाब्रवीन्नभोवाणी बलेनैव जितो ग्लहः। धर्मतो [5]वचनेनैव रुक्मी वदति वै मृषा ॥ ३३ ॥**

**तामनादृत्य वैदर्भो दुष्टराजन्यचोदितः ।**
**सङ्कर्षणं परिहसन्बभाषे कालचोदितः ॥ ३४ ॥**

**नैवाक्षकोविदा यूयं गोपाला वनगोचराः ।**
**अक्षैर्दीव्यन्ति राजानो बाणैश्च न भवादृशाः ॥ ३५ ॥**

1 K.W. जाता° 2. K.W. पूर्ववत् 3. K.W. °न्ति ★ This extra verse is found in B. M. Ma editions only. 4. B. G. J. M. Ma. MI.V तदाऽ° 5. K.W. वञ्चनेनैवं

**श्रीध० मन्युनेति**। न्यर्बुदं दशकोटीः ग्लहं पणं क्षुभितो राम आददे ॥ ३१ ॥

**तमिति**। छलमाश्रितो रुक्मी मया जितमित्याह ॥ ३२-३५ ॥

**वीर० मन्युनेति**। यथा पर्वणि समुद्रः तद्वन्मन्युना क्षुभितोऽत एव जाते अरुणे अक्षिणी यस्य तथाभूतो रामः रुषा पूर्ववल्लक्षं ग्लहमाददे ॥ ३१ ॥

तं रुक्मिणं च धर्मेणैव अजयच्च रुक्मी तु छलमाश्रितः मया जितम्। अत्रास्मिन्विषये प्राश्निकाः प्रष्टव्याः[1] कालिङ्गादयो वदन्ति, मया जितमित्येव वदन्ति,अतस्ते प्रष्टव्या इत्याहेत्यर्थः ॥ ३२ ॥

**अथेति**। धर्मतो बलेन रामेणैव ग्लहो जितः, रुक्मी तु वञ्चनेनैवं वदति, अतः तदुक्तिः मृषेत्यशरीरवाणी प्राहेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

तां नभोवाणी मनादृत्य दुष्टराजन्यैः कालिङ्गादिभिश्चोदितो वैदर्भः रुक्मी कालचोदितोऽत एव परिहसन् बभाषे ॥ ३४ ॥

भाषणमेवाह-**नैवेति**। नाक्षकोविदा न द्यूतकुशलाः, तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि-गोपाला वनगोचराश्चेति। राजान एवाक्षैर्बाणैश्च दीव्यन्ति, न तु भवादृशाः पशुपालकाः ॥ ३५ ॥

1. K. omits प्रष्टव्याः

**विज०** अर्बुदं दशकोटिधनम् ॥ ३१, ३२ ॥

आकाशसरस्वती किमाहेति तत्राह बलेनेति ॥ ३३ ॥

तामाकाशवाणीम् ॥ ३४. ३५ ॥

रुक्मिणैवमधिक्षिप्तो राजभिश्चापहासितः ।
क्रुद्धस्त्वष्टपदेनेन जघ्ने तं नृम्णसंसदि ॥ ३६ ॥

कलिङ्गराजं तरसा गृहीत्वा दशमे पदे ।
दन्तानपातयत्क्रुद्धो योऽह सद्विवृतैर्द्विजैः ॥ ३७ ॥

अन्ये निर्भिन्नबाहूरु शिरसो रुधिरोक्षिताः ।
राजानो दुद्रुवुर्भीता बलेन परिघार्दिताः ॥ ३८ ॥

निहते रुक्मिणि श्याले नाब्रवीत्साध्वसाधु वा ।
रुक्मिणीबलयो राजन्स्नेहभङ्गभयाद्धरिः ॥ ३९ ॥

ततोऽनिरुद्धं सह सूर्यया वरं रथं समारोप्य ययुः कुशस्थलीम्
रामादयो भोजकटाद्दशार्हाः सिद्धाखिलार्था मधुसूदनाश्रयाः ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां

श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां

दशमस्कन्धे एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

1. B.G.J.M.Ma °श्चो° 2--2 B.G.J.K.V.W. क्रुद्धः परिघमुद्यम्य 3--3 M.Ma जघानोद्वाह पर्वणि ; K.W. जघ्ने तं नृपसंसदि 4. M.Ma °हो° 5. K.W. स्याले 6. K.W. °रेः 7. M.Ma अथो 8. M. Ma भार्यया 9. K.M. Ma.W. °र्हकाः

**श्रीध० रुक्मिणेति** । नृम्णसंसदि । मण्डलसभायाम् ॥ ३६, ३९ ॥

**तत** इति । सूर्यया नवोढया । सिद्धा अखिला अर्था अभ्युदयशत्रुवधादयो येषां ते ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां

एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

1. Ml.v शोभन°

**वीर० रुक्मिणेति**। रुक्मिणैवमधिक्षिप्तो रामः हे नृप! संसदि सभायां नृपाणां संसदि वा तं जघ्ने ॥ ३६ ॥

कलिङ्गराजं तु तरसा प्रसह्य दशमे पदे पादविन्यासे गृहीत्वा क्रुद्धस्सन् दन्तान् अपातयत् भग्नानकरोदित्यर्थः। तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि यः कलिङ्गः विवृतैः प्रकाशितैः द्विजैः दन्तैः अहसत्; ततो दन्तानेवापातयदित्यर्थः ॥ ३७ ॥

अन्ये तु राजानः बलेन कर्त्रा परिघेण साधनेनार्दिताः ताडिताः अत एव निर्भिन्नानि बाह्वादीनि येषां ते अत एव रुधिरेणोक्षिताः सिक्ताः भीताश्च दुद्रुवुः पलायितवन्तः ॥ ३८ ॥

**निहत** इति। हरेः कृष्णस्य स्याले रुक्मिणि निहते सति साध्वसाध्विति वा नाब्रवीत्, कुतः? बलयोः (?) रामकृष्णयोर्विषये यः स्नेहस्तस्य भङ्गभयात् बलयोरित्यत्र द्विवचन बलेन कृष्णपरिग्रहः। हरिरिति प्रथमान्त पाठे स्याले रुक्मिणि निहते सति हरिः भगवान् रुक्मिणीबलयोः रुक्मिणी बलरामयोः स्नेहभङ्ग भयात् साध्वसाधु वा नाब्रवीदित्यर्थः ॥ ३९ ॥

**तत** इति। ततो रामादयो दशार्हकाः सूर्यया नवोढया सह अनिरुद्धं श्रेष्ठं रथम् आरोप्य [1]आरोहयित्वेत्यर्थः[1]। मधुसूदन आश्रयो योषां ते, अत एव सिद्धाः सकलाः अर्थाः प्रयोजनानि येषां ते। कुशस्थलीं द्वारकां प्रति [2]ययुः जग्मुः ॥ ४० ॥

इति श्रीमभ्दागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

1--1 K.T.W. आरोह्येत्यर्थः। 2. K.T.W. Omit ययुः

**विज०** अष्टपदेन अक्षफलकेन ॥ ३६-३८ ॥

हरेः श्याले रुक्मिणि निहते सति ॥ ३९ ॥

भार्यया सह अनिरुद्धं वरं रथमारोप्य रामादयो दशार्हकाः सिद्धाखिलार्थाः सम्पन्नसमस्ताभीष्टाः। तत्र हेतुः मधुसूदनेति ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥
(विजयध्वजरीत्या षट्सप्ततितमोऽध्यायः।)

# द्विषष्टितमोऽध्यायः

(अध्यायेऽस्मिन् विजयध्वजीयव्याख्या नास्ति)

राजोवाच

★ बाणस्य तनयामूषामुपयेमे यदूत्तमः ।
तत्र युद्धमभूद्घोरं हरिशङ्करयोर्महत् ।
एतत्सर्वं महायोगिन् समाख्यातुं त्वमर्हसि ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

बाणः पुत्रशतज्येष्ठो बलेरासीन्महात्मनः ।
❖ अदायि[1-] मेदिनी येन वामनाय महात्मने[-1] ॥ २ ॥

तस्यौरसः सुतो बाणः शिवभक्तिरतः सदा ।
मान्यो वदान्यो धीमांश्च सत्यसन्धो दृढव्रतः ॥ ३ ॥

शोणिताख्ये पुरे रम्ये स राज्य मकरोत्पुरा ।
तस्य शम्भोः प्रसादेन किङ्करा इव तेऽमराः ॥

सहस्रबाहु र्वाद्येन ताण्डवेऽतोषयन्मृडम् ॥ ४ ॥

भगवान् सर्व भूतेशः शरण्यो भक्तवत्सलः ।
वरेणच्छन्दयामास स[2] तं वव्रे पुराधिपम् ॥ ५ ॥

★ This verse is not found in MI & V editions. ❖ Five half verses begining with अदायि and ending with तेऽमराः are not found in MI. & V edns. 1- -1 B.G.J.MI.v येन वामनरूपाय हरयेऽदायि मेदिनी। 2. K.T.W. स च

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

द्वियुक् षष्टितमे प्रोक्त मनिरुद्धस्य रोधनम्। कन्यया रममाणस्य बाणेन बहुबाहुना ॥
★ अनिरुध्दोद्वहेऽन्यस्मिन् बाणयादव संयुगे। श्रीकृष्णः श्रीहरं जित्वा बाणबाहूनथाच्छिनत् ॥ १-४ ॥

पुराधिपम् पुरपालकम् ॥ ५ ॥

---

★ This verse is not found in Ml. V edns.

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथानिरुद्धविवाहानन्तरं[1] तदीयमेव विवाहान्तरं समासतः श्रुतपूर्वं विस्तरबुभुत्सया पृच्छतिराजा **बाणस्येति**। उषां उषानाम तनयां यदूत्तमोऽनिरुद्धः तत्र निमित्ते हरिशङ्करयोः कृष्णशिवयोः महद्घोरं युद्धमभूदित्येतत्सर्वं मह्यम्, आख्यातु मर्हसि ॥ १ ॥

आचष्टे बाण इत्यादिना, बलेः पुत्राणां शतस्य ज्येष्ठः बाणो नामासीत्। कोऽसौ बलिरित्यत आह। येन बलिना मेदिनी भूमि रदायि दत्ता ॥ २ ॥

बाणं विशिनष्टि - **तस्येति**। तस्य बले रौरसः उरसा निर्मितः सुतः सत्ये सन्धा अभिसन्धिर्यस्य, धृतं रुद्रोपासनात्मकं व्रतं येन सः ॥ ३ ॥

**शोणिताख्य** इति। स बाणः तस्य बाणस्य शम्भोः प्रसादेन वरेण हेतुना, अमरा देवाः किङ्करा इव,किं बहुनेत्याह सहस्रबाहुरिति। सहस्रं बाहवो यस्य स बाणः "सहस्र बाहुवाद्येनेति", समस्तपाठे तु सहस्र बाहुभिः यद्वाद्यं वादनं तेन मृडं रुद्रं ताण्डवे नृत्ये अतोषयत्। मृडे ताण्डवं कुर्वति सति सहस्रबाहुभिः पञ्चशतवाद्यानि वादयन् तमतोषयदित्यर्थः ॥ ४ ॥

इत्थं तोषितः स भगवान् रुद्रः तं बाणं वरेण, अध्ययनेन वसतीतिवत् तृतीया। वरार्थं छन्दयामास[2-] चोदयामास[-2] बाणस्तं रुद्रं पुराधिपं पुरपालकं वव्रे त्वं मत्पुरीं पालयन्नास्वेति वव्रे इत्यर्थः ॥ ५ ॥

1. B.K. ह प्रसङ्गात् 2- -2 B. Omits

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

**स एकदाऽऽह गिरिशं पार्श्वस्थं वीक्ष्य दुर्मदः ।**
**किरीटेनार्कवर्णेन संस्पृशंस्तत्पदाम्बुजम् ॥ ६ ॥**

नमस्ये त्वां महादेव लोकानां गुरुमीश्वरम् ।
पुंसामपूर्णकामानां कामपूरामराङ्घ्रिपम् ॥७॥

दोस्सहस्रं त्वया दत्तं वरं भाराय मेऽभवत् ।
त्रिलोक्यां प्रतियोद्धारं न लभे त्वदृते समम् ॥८॥

कण्डूत्या निभृतैर्दोर्भिः युयुत्सुर्दिग्गजानहम् ।
अभ्ययां[2] चूर्णयन्नद्रीन् भीतास्तेऽपि प्रदुद्रुवुः ॥९॥

तच्छ्रुत्वा भगवान् क्रुध्दः केतुस्ते भज्यते यदा ।
त्वद्दर्पघ्नो भवेन्मूढ संयुगोमत्समेन ते ॥१०॥

There is no commentary of Vijayadwaja to this Chapter 1. B.G.J.K.T.W. वीर्य 2. B.G.J.MI.V. आद्याऽ या°

**श्रीध० नमस्य** इति। कामान् पूरयतीति कामपूरः स चासौ अमराङ्घ्रिपः कल्पतरुः तं त्वा ॥६,७॥

**कण्डूत्येति**। हे आद्य निभृतैः भरितैः दोर्भिः अद्रीन् चूर्णयन् आयां आगच्छम् ॥८-१०॥

**वीर० स** इति। स बाणः वीर्येण दुष्टो मदो यस्य सः, अर्क इव वर्णो यस्य तेन किरीटेन तस्य रुद्रस्य पादाम्बुजं स्पृशन् गिरिशमुवाच ॥६॥

उक्तिमेवाह - **नमस्य** इति। हे महादेव! त्वां नमस्करोमि। कथम्भूतं, न पूर्णः कामो येषां तेषां पुंसां कामान्पूरयतीति तथा स चासौ अमराङ्घ्रिपः कल्पतरुः तम् ॥७॥

त्वया दत्तं भुज सहस्रं केवलं मम भाराय भारार्थमेवाभवत्, त्वदृते त्वां विना मया प्रतियोद्धारं तुल्यं पुरुषं न पश्यामि मदिष्टदैवेन त्वया तु समेनापि न **योत्स्यामीति** भावः ॥८॥

**कण्डूत्येति**। निभृतैः भरितैः भुजैः योद्धुमिच्छुः अद्रींश्चूर्णयन् दिग्गजान् अभ्ययां अभिद्रुतवानस्मि तेऽपि दिग्गजाअपि दुद्रुवुः ॥९॥

**तदिति**। तद्बाणवचः श्रुत्वा भगवान् रुद्रः प्राहेति शेषः। उक्तिमेवाह - केतुरिति। तव केतुः ध्वजो यदा भज्यते स्वयमेव भग्नः पतेदित्यर्थः। तदा हे मूढ! तव दर्पं हन्तीति तथाभूतः भवेत् सम्भवेत् तेन अमत्समेनेति छेदः नाहं समो यस्य सः तेन मत्तोप्यधिकेन त्वद्दर्पघ्नेन संयुगश्च भवेत् ॥१०॥

इत्युक्तः कुमतिर्हृष्टस्स्वगृहं प्राविशन्नृप ।
प्रतीक्षन् गिरिशादेशं स्ववीर्यनशनं[1] कुधीः ॥ ११ ॥

## उषापरिणय कथा

तस्योषा नाम दुहिता स्वप्ने प्राद्युम्निना रतिम् ।
कन्याऽलभत कान्तेन प्रागदृष्ट श्रुतेन सा ॥ १२ ॥

सा तत्र तमपश्यन्ती क्वासि कान्तेति[2] वादिनी ।
सखीनां मध्य उत्तस्थौ विह्वला व्रीडिता भृशम् ॥ १३

बाणस्य मन्त्री कुम्भाण्ड श्चित्रलेखा च तत्सुता ।
सख्यपृच्छत्सखीं[3] चोषां[3] कौतूहलसमन्विता ॥ १४ ॥

कान्तं[4] मृगयसे सुभ्रु[4] कीदृशस्ते मनोरथः ।
हस्त ग्राहं न तेऽद्यापि राजपुत्र्युपलक्षये ॥ १५ ॥

1. K.T.W. भ्रं° 2. K. क्वासीति 3- -3 B.G.J. °खीमुषां 4- -4 B.G.J. कं त्वं मृगयसे सुभ्रूः

**श्रीध० इतीति**। स्ववीर्यनशनं नाशकं केतुभङ्गं प्रतीक्षमाणः ॥ ११ ॥

श्रीमहेशादिष्टसङ्ग्रामस्य प्रसङ्गमाह - **तस्येति** प्राद्युम्निना अनिरुध्देन तत्रापि स्वप्ने ॥१२ ॥

**सेति**। तं कान्तं अपश्यन्ती सा उत्तस्थौ ॥ १३ ॥

ततः किं वृत्तं[1] तदाह - **बाणस्येति** ॥ १४ ॥

**कान्तमिति**। हस्तग्राहं भर्तारम् ॥ १५ ॥

1. Ml.v. कृतं

**वीर० इतीति**। हे नृप! कुबुध्दिः बाणः स्ववीर्यं भ्रंशयतीति तथा तं गिरीशस्यादेशं केतुभङ्गात्मकं प्रतीक्षमाणो गृहान् प्राविशत् ॥ ११ ॥

एवं स्थिते रुद्रादिष्ट सङ्ग्राम प्रसङ्गमाह-**तस्येत्यादिना**। तस्य बाणस्य दुहिता उषा नाम कन्या प्रागदृष्टः अश्रुतश्च तेन प्राद्युम्निना अनिरुध्देन सह रतिं लेभे ॥ १२ ॥

**सेति**। सा स्वप्नोत्थिता उषा तं कान्तमपश्यन्ती क्वामि क्वासीत्येवं वदन्ती तत्तदा नितरां व्रीडिता लज्जिता च ॥ १३ ॥

ततः किमासीत्तत्राह - **बाणस्येति**। तस्य कुम्भाण्डस्य सुता चित्रलेखा इदमन्वर्थं नाम, सा कौतूहलेन युक्ता सखी° उषां अपृच्छत् ॥ १४ ॥

प्रश्नमेवाह -**कान्तमिति**। हे सभ्रु! मनोरथविषयः कीदृशः? हे राजपुत्रि! ते तव हस्तग्रहं हस्तं गृह्णतीति तथा तं भर्तारं अद्यापि नोपलक्षये इत्थंत्वेन न निश्चिनोमीत्यर्थः ॥ १५ ॥

**उषावाच**

**दृष्टः कश्चिन्नरःस्वप्ने श्यामः कमललोचनः ।**
**पीतवासाबृहद्बाहुर्योषितां हृदयङ्गमः ॥ १६ ॥**

**तमहं मृगये कान्तं पाययित्वाऽधरं मधु ।**
**क्वापि यातस्स्पृहयतीं क्षिप्त्वा मां व्यसनार्णवे[1] ॥ १७ ॥**

**चित्रलेखोवाच**

**व्यसनं तेऽपकर्षामि त्रिलोक्यां यदि भाव्यते[2] ।**
**तमानेष्ये नरं यस्ते मनोहर्ता तमादिश ॥ १८ ॥**

**इत्युक्त्वा देवगन्धर्व सिध्दचारणपन्नगान् ।**
**दैत्यान् विद्याधरान् यक्षान् मनुजांश्च यथालिखत् ॥ १९**

**मनुजेषु च सा वृष्णीन् शूर मानकदुन्दुभिम् ।**
**व्यलिखद्रामकृष्णौ च प्रद्युम्नं वीक्ष्य लज्जिता ॥ २० ॥**

1. B.G.J.Ml.v वृजिनार्णवे 2. K.T.W. °से

**श्रीध० इतीति**। स्वप्ने त्वया दृष्ट एषां मध्ये को वा भवेदिति। देवादीन् यथावत् पटे आलिखत्॥ १६-१९॥

**मनुजेष्विति**। प्रद्युम्नं लिखितं वीक्ष्य श्वशुरोऽयमिति लज्जिता ॥ २०॥

**वीर०** एवमुक्ता प्राहोषा दृष्टमिति। हृदयङ्गमः मनोहरः ॥ १६॥

**तमिति**। मृगये विचिनोमि स्पृहयतीं कांक्षन्तीं मां दुःखार्णवे क्षिप्त्वा क्वापि नूनं यातः ॥ १७॥

इत्येवमुक्ता प्राह चित्रलेखा **व्यसनमिति**। तव व्यसनं दुःखं अपनयामि, कथं, त्वया यदि त्रिलोक्यां कश्चिद्भाव्यते अयमेवेति निश्चीयते तर्हि तं नरं पुरुषमानेष्ये, अतो यस्ते मनोहर्ता तं प्रति मां आदिश आज्ञापय ॥ १८॥

**इतीति**। इत्थमुक्त्वा देवादीन् पटे यथावत् अलिखत् ॥ १९॥

यदा च मनुष्येष्वपि वृष्णीन् तत्रापि सुरादीनलिखत् तदा प्रद्युम्नं वीक्ष्य लज्जिता पुत्रतुल्यरूपत्वादिति भावः ॥ २०॥

**अनिरुध्दं विलिखितं वीक्ष्योषाऽवाङ्मुखी ह्रिया[1]।**
**सोसावसाविति प्राह स्मयमाना महीपते ॥ २१॥**

**चित्रलेखा तमाज्ञाय पौत्रं कृष्णस्य योगिनी ।**
**ययौ विहायसा राजन् द्वारकां कृष्णपालिताम् ॥ २२॥**

**तत्र सुप्तं सुपर्यङ्के प्राद्युम्निं योगमास्थिता[2] ।**
**गृहीत्वा शोणितपुरं सख्यै प्रियमदर्शयत् ॥ २३॥**

**सा च तं सुन्दरवरं विलोक्य मुदिताननना ।**
**दुष्प्रेक्षे स्वगृहे पुम्भी रेमे प्राद्युम्निना समम्[3] ॥ २४॥**

**परार्थ्यवासस्त्रक् गन्ध धूपदीपासनादिभिः ।**
**पानभोजन भक्ष्यैश्च वाक्यैश्शुश्रूषयार्चितः ॥ २५॥**

1. MI. T.V.W. स्थिता 2. K.T.W. °माश्रिता 3. K.T.W. सह

**श्रीध० अनिरुध्दमिति**। अनिरुध्दं विलिखितं वीक्ष्य उषा अवाङ्मुखी बभूव ॥ २१, २२॥

**तत्रेति**। शोणितपुरं नीत्वा ॥ २३ ॥

**सेति**। पुम्भिर्दुष्प्रेक्ष्ये प्रेक्षितु मशक्ये ॥ २४ ॥

**परार्थ्येति**। स च परार्थ्यैरमूल्यैः वासस्त्रक् गन्धादिभिः शुश्रूषणपूर्वकं अर्चितस्सन् ॥ २५ ॥

**वीर०** ततः अनिरुध्द मवलोक्य ह्रिया लज्जया अवाङ्मुखी बभूव। स स्वप्नदृष्टः असावेव असावेवेति प्राह हे महीपते! ॥ २१ ॥

तमुषया निश्चितं कृष्णस्य पौत्रं अनिरुध्दं विज्ञाय योगिनी वैहायसगमनान्तर्धान तूर्णगमनाद्यावहयोगशालिनी आकाशमार्गेण द्वारकां ययौ ॥ २२ ॥

तत्र द्वारकायां शोभने पर्यङ्के सुतं प्राद्युम्निं अनिरुध्दं गृहीत्वा शोणितपुरमागत्येति शेषः। सख्यै उषायै ॥ २३ ॥

**सा चेति**। सा उषा पुम्भिरितरैः प्रेक्षितुमशक्ये स्वगृहे प्राद्युम्निना सह अनिरुध्देन समं रेमे ॥ २४ ॥

**परार्थ्येति**। परार्थ्यैः वासःप्रभृतिभिः शुश्रूषया अर्चितो बहुमतः सोऽनिरुध्दः ॥ २५ ॥

**गूढः कन्यापुरे[1] शश्वत् प्रवृध्दस्नेहया[2] तया।**
**नाहर्गणान् स बुबुधे ह्युषयापहृतेन्द्रियः[3] ॥ २६ ॥**

**तां तथा यदुवीरेण भुज्यमानां हतव्रताम् ।**
**हेतुभि र्लक्षयाञ्चक्रुः आप्रीतां[4] दुरवच्छदैः ॥ २७ ॥**

**भटा आवेदयाञ्चक्रु[5]-[5] राजंस्ते दुहितुर्वयम्।**
**विचेष्टितं लक्षयामः कन्यायाः कुलदूषणम् ॥ २८ ॥**

**अनपायिभिरस्माभिः गुप्तायास्स्वगृहे[6] प्रभो ।**
**कन्याया दूषणं पुम्भिः दुष्प्रेक्ष्याया[7] न विद्महे ॥ २९ ॥**

**ततः प्रव्यथितो बाणो दुहितुश्श्रुत दूषणः ।**
**त्वरितः कन्यकागारं प्राप्तोऽद्राक्षीद्यदूद्वहम् ॥ ३० ॥**

1. K.T.W. चान्तःपुरे 2. K.T.W. प्ररूढ° 3. B.G.J. उ° 4. K.T.W. दूषितां 5- -5 K.T.W. निवेदयामासू° 6. B.G.J. °श्च 7. B.G.J. °क्षा°

**श्रीध० गूढ** इति। तया उषया अपहृतेन्द्रियः अहर्गणान् दिवससमूहान् न बुबुधे ॥ २६ ॥

**तामिति**। आप्रीतां अतिहृष्टां दुरवच्छदैः आच्छादयितु मशक्यैः ॥ २७ ॥

**भटा** इति। विचेष्टितं विरुध्दाचरणम् ॥ २८ ॥

**अनपायिभिरिति**। अनपायिभिः अपायः अपसर्परणं प्रमादो वा, तद्रहितैः। पाठान्तरे 1-दुष्प्रेष्यायाः-1 दुष्टा प्रेष्या सखी यस्याः तस्याः। पुम्भिः दूषणं कुतो वेति न जानीम इति ॥ २९, ३० ॥

1- -1 B.J. omit

**वीर०** उषाया गृहे गूढः शश्वन्नित्यं प्रवृध्दः स्नेहो यस्यास्तया उषयाऽपहृतं इन्द्रियं मनो यस्य सः, अहर्गणान् न बबुधे न ज्ञातवान् ॥ २६ ॥

**तामिति**। यदुवीरेणानिरुध्देन भुज्यमानमत एव क्षतं विहतं व्रतं कन्याया विहतं यस्यास्तथाभूतां वीक्ष्य दुरवच्छदैः छादयितुमशक्यैः हेतुभिः चिह्नैः दूषितां लक्षयाञ्चक्रुः ॥ २७ ॥

**भटा** इति। तत स्ते राज्ञे बाणाय आवेदयाञ्चक्रुः। आवेदनप्रकारमेवाह - 'राजन्नित्यादिना' 'न विद्महे' इत्यन्तेन। हे राजन्! कुलं दूषयतीति तथा तच्चेष्टितं लक्षयामः ॥ २८ ॥

अनपायिभिः अनुसरद्भिः अप्रमादैः अस्माभिः स्वगृहे गुप्ताया अपि दूषणं न विद्महे ॥ २९ ॥

**तत** इति। दुहितुः यत् दूषणं तच्छ्रुतं येन स बाणः अत एव प्रव्यथितः त्वरायुक्तः कन्यकागृहं प्राप्य यदूद्वहं अनिरुद्धं ददर्श ॥ ३० ॥

**कामात्मजातं[1] भुवनैकसुन्दरं श्यामं पिशङ्गाम्बर मम्बुजेक्षणम् ।**
**बृहद्भुजं कुण्डलकुन्तलत्विषा स्मितावलोकेन च मण्डिताननम् ॥ ३१ ॥**

**दीव्यन्तमक्षैः प्रिययाभिनृम्णया तदङ्गसङ्गस्तनकुङ्कुमां[2] स्रजम् ।**
**बाह्वोर्दधानं मधुमल्लिकाश्रितां तस्याग्र आसीनमवेक्ष्य विस्मितः ॥ ३२ ॥**

**स तं प्रविष्टं वृतमाततायिभिः भुजैः[3] सहस्रै रवलोक्य माधवः ।**
**उद्यम्य मौर्वं परिघं व्यवस्थितो यथान्तको दण्डधरो जिघांसया ॥ ३३ ॥**

जिघृक्षया तान् परितः प्रसर्पतः शुनो यथा सूकर यूथपोऽहनत् ।
ते हन्यमाना भवनाद्विनिर्गता निर्भिन्नमूर्धोरुभुजाः प्रदुद्रुवुः ॥ ३४ ॥

तं नागपाशैः बलिनन्दनो बली ध्नन्तं स्वसैन्यं कुपितो बबन्ध ह ।
उषा भृशं शोकविषादविह्वला बध्दं निशाम्याश्रुकलाक्ष्यरोदीत् ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

1. B.G.J. °त्मजं तं 2. B.G.J. MI.V. °म° 3. B.G.J.K.T.W. भटैरनेकैः 4. T.W. वि° ; B.G.J. क्ष्यरौदिषीत् 5. K.T.V.W. °क्ष्यरोदीत्

**श्रीध० कामात्मजातमिति** । कामस्यात्मनो देहात् जातम् ॥ ३१ ॥

**दीव्यन्तमिति** । अभिनृम्णया सर्वमङ्गलया । तस्या अग्ङसङ्गेन स्तनकुङ्कुमं यस्यां स्रजि तां बाह्वो र्मध्ये वक्षसि दधानं मधुमल्लिकाः वसन्तभवा मल्लिकाः तदाश्रिताम् । तस्याग्र इत्यार्षः सन्धिः तस्या अग्र इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

**स** इति । आततायिभिः उद्यतशस्त्रैः माधवः अनिरुध्दः, मौर्वं मुरुः लोहविशेषः तन्निर्मितम् ॥ ३३-३४ ॥

**तमिति** । शोकविषादाभ्यां विह्वला विवशा[1] अश्रूणां कलाः बिन्दवः ययो स्ते अक्षिणी यस्यास्सा ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

1. B.J. अवशाः

**वीर०** कथम्भतम्? कामस्य प्रद्युम्नस्य आत्मनो देहाज्जातम् । अत एव भुवनैकसुन्दरं कुण्डलयोः कुन्तलानां च त्विषा स्मितयुक्तेन अवलोकेन च मण्डितं आननं यस्य तम् ॥ ३१ ॥

अभिनृम्णया सर्वतो मङ्गलया प्रियया सह अक्षैर्दिव्यन्तं क्रीडन्तं तस्या अङ्गसङ्गेन स्तनकुङ्कुमं यस्यां, मधुमल्लिकाः वसन्तभवमल्लिकाः ताभिः आश्रितां स्रजं बाह्वोर्मध्ये वक्षसि दधानं तस्याग्रेपुरतः, अत्र सन्धिरार्षः । आलक्ष्य अवलोक्य विस्मितो बभूव ॥ ३२ ॥

**स** इत्यादि सार्धमेकान्वयि। स माधवो मधुवंशप्रभवोऽनिरुध्दः, अत एव आततायिभिः उद्यतायुधैः भटैः परिवृतं तं बाणमवलोक्य यथा दण्डधरोऽन्तकः तद्वत्। जिघांसया तत्र व्यवस्थितं लोहमयं परिघमुद्यम्य ग्रहीतु मिच्छया परितः परिसर्पतः[1] तानाततायिनः अहनत् जघान। यथा सूकराणां यूथं पातीति तथा सूकरश्रेष्ठः शुनो हन्ति तद्वत्। त इति, ते आततायिनः निर्भिन्नाः मूर्धादयो येषां ते। अत एव गृहात् निर्गताः दुद्रुवुः ॥ ३३,३४ ॥

**तमिति**। बली बलवान्, बलि नन्दनो बाणः स्वसैन्यं घ्नन्तं अनिरुध्दं कुपितो नागपाशैः बबन्ध ह। शोकविषादाभ्यां बाह्याभ्यन्तर दुःखाभ्यां विह्वला अवशा अश्रूणां कला बिन्दवो ययो स्ते अक्षिणी यस्याः सा रुरोद ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

---

1.B. प्रसर्पतः

# त्रिषष्टितमोऽध्यायः

(अध्यायेऽस्मिन् विजयध्वजीय व्याख्या नास्ति)

-: बाणासुर युद्धकथारम्भः :-

श्रीशुक उवाच

अपश्यतां चानिरुद्धं तद्बन्धूनां च भारत ।
चत्वारो वार्षिका मासा व्यतीयुरनुशोचताम् ॥ १ ॥

नारदात्तदुपाकर्ण्य वार्तां बद्धस्य कर्म च ।
प्रययुश्शोणितपुरं वृष्णयः कृष्णपालिताः[1] ॥ २ ॥

प्रद्युम्नो युयुधानश्च गदस्साम्बोऽथ सारणः ।
नन्दोपनन्द भद्राद्या रामकृष्णानुवर्तिनः ॥ ३ ॥

अक्षौहिणीभिर्द्वादशभिः समेतास्सर्वतोदिशम् ।
रुरुधुर्बाणनगरं समन्तात्सात्त्वतर्षभाः ॥ ४ ॥

भज्यमान पुरोद्यान प्राकाराट्टालगोपुरम् ।
प्रेक्षमाणो रुषाऽऽविष्टः तुल्यसैन्योऽभिनिर्ययौ[2] ॥ ५ ॥

1. B.G.J. देवताः 2. K.T.W. विनिर्ययौ ।

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

त्रियुक्षष्टितमे नाथ बाणयादवसङ्गरे । स्तुतिर्ज्वरेण रुद्रेण बाणबाहुभिदो हरेः ॥
अनिरुध्दोद्वहेन्यस्मिन् बाणयादवसंयुगे । श्रीकृष्णः श्रीहरं जित्वा बाणबाहूनथाच्छिनत् ॥

**नारदादिति** । तत्ततः कर्म च युद्धादिकम् ॥ १,२ ॥

**प्रद्युम्न** इति । रामकृष्णानुवर्तिन इति तौ पुरतो निर्गतावित्यर्थः ॥ ३ ॥

**अक्षौहिणीभिरिति** । सर्वतोदिशमित्यस्य उत्तरेणान्वयः ॥ ४ ॥

**भज्यमानेति** । भज्यमानानि पुरोद्यानानि द्वन्द्वैकवद्भावः, अट्टालाः प्राकारादुपरि अत्युन्नतस्थानानि, अभिनिर्ययौ बाणः ॥ ५ ॥

1- -1 B.J. Omit

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथानिरुद्धादर्शनजव्यथानां क्रमेण नारदाच्छ्रुत तद्वार्तानां प्राप्तशोणितपुराणां यदूनां बाणेन सह संग्रामं वर्णयति त्रिषष्टितमेन - **अपश्यतामिति** । अनिरुद्धमपश्यतां तस्य अनिरुद्धस्य बन्धूनां अनुशोचतां सतां वार्षिकाः आषाढाद्याश्विनान्ताः चत्वारो मासाः व्यतीयुः अतिक्रान्ताः ॥ १ ॥

**नारदादिति** । बद्धस्यानिरुद्धस्य वार्तां बन्धनात्पूर्वं तस्य कर्म च श्रुत्वा कृष्णेन पालिताः कृष्णसहिता इत्यर्थः, वृष्णयो यादवाः ॥ २ ॥

वृष्णिप्रधानानाह - **प्रद्युम्न** इति । एते सर्वे रामकृष्णावनुवर्तन्त इति तथा भूताः ययुः ॥ ३ ॥

**अक्षौहिणीभिरिति** । समेताः सहिताः ॥ ४ ॥

**भज्यमानेति** । भज्यमानानां पुरादीनां द्वन्द्वैकवद्भावौ, यद्वा बहुव्रीहिरेव । पुरमिति विशेष्याध्याहारः । रुषा आविष्टो व्याप्तो बाणः । तुल्यसैन्यः द्वादशाक्षौहिणीसैन्ययुक्तः विनिर्गतः, पुरादिति शेषः, अट्टालाः प्राकारादुपरितनानि उन्नतस्थानानि ॥ ५ ॥

अस्मिन्नध्याये विजयध्वजीय व्याख्यानं नास्ति ।

**बाणार्थे[1] भगवान् रुद्रः ससुतः[2] प्रमथैर्वृतः ।**
**आरुह्य नन्दिवृषभं युयुधे रामकृष्णयोः ॥ ६ ॥**

**आसीत्सुतुमुलं युद्धमद्भुतं रोमहर्षणम् ।**
**कृष्णशङ्करयोः राजन् प्रद्युम्नगुहयोरपि ॥ ७ ॥**

**कुम्भाण्डकूपकर्णाभ्यां बलेन सह संयुगः ।**
**साम्बस्य बाणपुत्रेण बाणेन सह सात्यकेः ॥ ८ ॥**

ब्रह्मादयस्सुराधीशा मुनयस्सिद्धचारणाः ।
गन्धर्वाप्सरसो यक्षा विमानैर्द्रष्टुमागमन् ॥९॥

शङ्करानुचरान् शौरिः भूतप्रेतान् सगुह्यकान् ।
ढाकिनीयातुधानांश्च यक्षरक्षो विनायकान् ॥१०॥

1. K.MI.T.V.W. बाणार्थं 2. B.G.J.MI.V. °तैः 3- -3 B.G.J. भेतालान् म°

**श्रीध० बाणार्थमिति**। सुतः स्कन्दः तत्सहितैः। प्रमथगणैः रामकृष्णाभ्यां युयुधे ॥६-१०॥

**वीर० बाणार्थमिति**। बाणस्य सहायार्थं ससुतः स्कन्देन सहितः नन्दिनाम वृषभमारुह्य, रामकृष्णाभ्यां युयुधे आयुध्यत[1] ॥६॥

**आसीदिति**। तुमुलं सङ्कुलं रोमहर्षणं शृण्वतां पश्यतां च रोमोद्गमावहम्, कस्य केन सहेत्यत आह कृष्णशङ्करयोरिति सार्धेन। हे राजन्! बलेन बलभद्रेण सह ॥७॥

**ब्रह्मादय** इति। सिद्धचारणानां इतरेतरयोगद्वन्द्वः, तदा गन्धर्वादयोऽपि आगमन् आजग्मुः ॥८,९॥

**शङ्करानुचरानिति** । शौरिः कृष्णः शार्ङ्गाख्यात् धनुषः च्युतैः तीक्ष्णमग्रं येषां तैः, शरैः भूतादीन् शङ्करस्यानुचरान् द्रावयामासेति सम्बन्धः ॥१०॥

1.B.K. अ°

भूतमातृपिशाचांश्च कूष्माण्डान् ब्रह्मराक्षसान्[1] ।
द्रावयामास तीक्ष्णाग्रैश्शरैः शार्ङ्गधनुश्च्युतैः[2] ॥११॥

पृथग्विधानि प्रायुङ्क्त पिनाक्यस्त्राणि शार्ङ्गिणे[3] ।
प्रत्यस्त्रैश्शमयामास शार्ङ्गपाणि रविस्मितः ॥१२॥

ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्रं वायव्यस्य च पार्वतम् ।
आग्नेयस्य च पार्जन्यं नैजं पाशुपतस्य च ॥१३॥

**मोहयित्वाऽथ गिरिशं जृम्भणास्त्रेण जृम्भितम् ।**
**बाणस्य पृतनां शौरिर्जघाना सिगदेषुभिः ॥ १४ ॥**

**स्कन्दः प्रद्युम्नबाणौघैरर्द्यमानस्समन्ततः ।**
**असृग्विमुञ्चन् गात्रेभ्यश्शिखिनाऽपाक्रमद्रणात् ॥ १५ ॥**

1. B.G.J.K. प्रेत 2. Ml.v ताडया 3. K.T.W. °णि

**श्रीध०** प्रत्यस्त्राण्येवाह - **ब्रह्मास्त्रस्येति** । नैजं नारायणास्त्रम् ॥ ११-१४ ॥

**स्कन्द** इति । शिखिना मयूरेण वाहनेन ॥ १५ ॥

**वीर० पृथग्विधानीति** । पिनाकी रुद्रः शार्ङ्गिणि कृष्णे पृथग्विधानि नानाविधान्यस्त्राणि प्रयुक्तवान्, शार्ङ्गपाणिः कृष्णः अविस्मित एव तानि प्रत्यस्त्रैः शमयामास ॥ ११,१२ ॥

तदेवाह **ब्रह्मास्त्रस्येति** । नैजं नारायणास्त्रं शामकं प्रायुङ्क्तेत्यर्थः ॥ १३ ॥

**मोहयित्वेति** । जृम्भणाख्येनास्त्रेण गिरिशं जृम्भितं जृम्भणयुक्तं यथा तथा मोहयित्वा ॥ १४ ॥

**स्कन्द इति** । स्कन्दः षण्मुखः, असृग् रुधिरं विमुञ्चन् शिखिना मयूरवाहनेन सह रणस्थानात् प्राद्रवत् ॥ १५ ॥

**कुम्भाण्डः कूपकर्णश्च पेततुर्मुसलार्दितौ ।**
**दुद्रुवुस्तदनीकानि हतनाथानि सर्वतः ॥ १६ ॥**

**विशीर्यमाणं स्वबलं दृष्ट्वा बाणोऽत्यमर्षणः ।**
**कृष्णमभ्यद्रवत्संख्ये रथी हित्वैव सात्यकिम् ॥ १७ ॥**

**धनूंष्याकृष्य युगपत् बाणः पञ्चशतानि वै ।**
**एकैकस्मिन् शरौ द्वौ द्वौ सन्दधे रणकोविदः ॥ १८ ॥**

**तानि चिच्छेद भगवान् धनूंषि युगपद्धरिः ।**
**सारथिं रथमश्वांश्च हत्वा शङ्खमपूरयत् ॥ १९ ॥**

तन्माता कोटरा नाम नग्ना मुक्तशिरोरुहा ।
पुरोऽवतस्थे कृष्णस्य पुत्रप्राणरिरक्षया ॥ २० ॥

1. K.T.W. °मर्षितः

**श्रीध० कुम्भाण्ड** इति। तयोरनीकानि [1-]हताः नाथाः[-1] येषां तानि ॥ १६-२० ॥

1- -1 B.J. हतौ नाथौ

**वीर० कुम्भाण्ड** इति। मुसलेन बलभद्रप्रयुक्तेन अर्दितौ पेततुः हतौ नाथौ येषां तानि तयोरनीकानि सर्वतो १६

**विशीर्यमाणमिति**। विशीर्यमाणं हन्यमानं दृष्ट्वा अतीव न मृष्यतीति तथा, सबाणस्सात्यकिं प्रतियोध्दारं हित्वा अनादृत्य सङ्घ्ये युद्धे रथी सन् कृष्णमभ्यद्रवत् ॥ १७ ॥

**धनूंषीति**। रणे दुष्टो मदो यस्य स बाणः एकैकस्मिन् धनुषि द्वौ द्वौ शरौ सन्दधे तानि संहितमात्रशराण्येव, न तु प्रयुक्तबाणानि, धनूंषि चिच्छेद, सायकैरिति शेषः। ततः सारथिरथाश्वान् हत्वा नाशयित्वा, शङ्खं पाञ्चजन्यमपूरयत् ॥ १८, १९ ॥

**तन्मातेति**। तस्य बाणस्य माता कोटरा नाम नग्ना, मुक्ता विस्रस्ताः केशाः यस्यास्तथाभूता च पुत्रस्य प्राणान् रक्षितुमिच्छया। कृष्णस्य पुरतः उपतस्थे अवस्थितवती ॥ २० ॥

**ततस्तिर्यङ्मुखो नग्नामनिरीक्षन् गदाग्रजः ।**
**बाणश्च तावद्विरथ श्छिन्नधन्वाऽविशत्पुरम् ॥ २१ ॥**

**विद्राविते भूतगणे ज्वरस्तु त्रिशिरास्त्रिपात् ।**
**महादेव प्रयुक्तोऽसौ घोररूपो विभीषणः ॥**
**★ अभ्यधावत[1] दाशार्हं° दहन्निव दिशो दश ॥ २२ ॥**

**❖ आविर्बभूव पुरतस्समरे शार्ङ्गधन्वनः ।**
**अथ नारायणो देवस्तं दृष्ट्वा व्यसृजज्ज्वरम् ॥ २३ ॥**

**माहेश्वरो वैष्णवश्च युयुधाते ज्वरावुभौ ।**
**माहेश्वरः समाक्रन्दत् वैष्णवेन बलार्दितः ॥ २४**

**अलब्धाऽभयमन्यत्र भीतो माहेश्वरो ज्वरः ।**
**शरणार्थी हृषीकेशं तुष्टाव प्रयताञ्जलिः ॥२५॥**

★ This half verse is not found in Ml.v editions. 1. K.T.W. पद्यत । ❖ This half verse is not found in G.J. editions

**श्रीध० तत** इति। अनिरीक्षमाणः तिर्यङ्मुखो बभूवेति ॥२१, २२॥

**आविर्बभूवेति**। ज्वरस्तु योध्दुमभ्यधावदिति नारायणश्शीतज्वरमसृजत् ॥२३,२५॥

**वीर०** तत इति। नग्नामनीक्षमाणः तिर्यङ्मुखो बभूव, तावत् तदन्तरं लब्ध्वेत्यर्थः ॥२१॥

**विद्रावित** इति। भूतगणे विद्राविते पलायिते सति शङ्करेण प्रयुक्तः घोरं रूपं यस्य सः, विशेषेण भीषयतीति तथा, त्रीणि शिरांसि यस्य, त्रयः पादा यस्य सः, तापज्वरः दश दिशो दहन्निव दाशार्हं कृष्णमभ्यपद्यत अभ्याजगाम ॥२२॥

समरे शार्ङ्गधन्वनः कृष्णस्याग्रे आविर्बभूव च अथेति। देवः कृष्णः तं ज्वरं दृष्ट्वा, ज्वरं वैष्णवं शीतज्वरं व्यसृजत् प्रायुङ्क ॥२३॥

माहेश्वरो वैष्णवश्चेत्युभौ ययुधाते युद्धं कृतवन्तौ, तदा वैष्णवेन ज्वरेण कर्त्रा बलेन साधनेनार्दितः विहतः माहेश्वरो ज्वरः समाक्रन्दत् रुरोद ॥२४॥

**अलब्ध्वेति**। अन्यत्र अन्यतः अभयमलब्ध्वा अत एव नितरां भीतः शरणं रक्षितारं तदुपायं वा। **अर्थयत** इति तथा बद्धाञ्जलिः, कृष्णं तुष्टाव ॥२५॥

**माहेश्वर ज्वर उवाच**

**नमामि त्वाऽनन्तशक्तिं परेशं सर्वात्मानं केवलं ज्ञप्तिमात्रम्।**
**विश्वोत्पत्तिस्थान संरोधहेतुं यत्तद्ब्रह्म ब्रह्मलिङ्गं प्रशान्तम् ॥२६॥**

कालो दैवं कर्मजीवस्स्वभावो द्रव्यं क्षेत्रं प्राण आत्मा विकारः ।
तत्संघातो बीजरोह प्रवाहस्त्वन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये ॥२७॥

नानाभावैर्लीलयैवोपपन्नैः देवान् साधून् लोकसेतून् बिभर्षि ।
हंस्युन्मार्गान् हिंसया[1] वर्तमानान् जन्मैतत्ते भारहाराय भूमेः ॥२८॥

तप्तोऽहं ते तेजसा दुस्सहेन शान्तोग्रेणात्युल्बणेन ज्वरेण ।
तावत्तापो देहिनां तेऽङ्घ्रिमूलं नो सेवेरन् यावदाशानुबद्धाः ॥ २९॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिशिरस्ते प्रसन्नोऽहं[2] व्येतु ते मज्ज्वराद्भयम् ।
यो नौ स्मरति संवादं तस्य त्वन्न भवेद्भयम् ॥३०॥

1. K. स्वेच्छया 2. B.G.J. °न्नोऽस्मि

**श्रीध०** आत्मानं परमशक्तं मन्यमानः श्रीकृष्णं तापयितुं प्रवृत्तः स्वयमेव तप्तस्सन्, तं परमेश्वरं ज्ञात्वा स्तुवन् नमस्करोति - **नमामीति**। त्वा त्वां अनन्तशक्तिं नमामि कुतः परेषां ब्रह्मादीनां ईशं तत्र हेतुः सर्वात्मानं सर्वस्य आत्मानं चेतयितारं, तत्कुतः केवलं शुद्धं ज्ञप्तिमात्रं चैतन्यघनं, तदेवं सर्वचेतयितृत्वेन परमेश्वरत्वमुक्तं, किञ्च विश्वसृष्ट्यादि हेतुत्वादपीत्याह - विश्वोत्पत्तीति, नन्वेवम्भूतं ब्रह्मप्रसिद्धं नाहमिति चेत् तत्राह यत्तद्ब्रह्मेति। यद्ब्रह्म तदेव त्वमित्यर्थः। किं तद्ब्रह्म इत्यत आह - ब्रह्मलिङ्गं ब्रह्मणा वेदेन लिङ्ग्यते द्योत्यत इति, तत्कुतः प्रशान्तं सर्वविक्रियारहितत्वात् न साक्षात् वाच्यमिति भावः ॥२६॥

किञ्च यत्सविशेषं वस्तु तत्र वयं प्रभवामः त्वयि तु सर्वविशेषातीते न कस्यापि प्रभुत्वं, किन्तु त्वमेव सर्वप्रभुरिति ज्ञप्तिमात्रत्वं विवृण्वन् स्तौति **काल** इति। कालः क्षोभकः कर्म निमित्तं, तदेव फलाभिमुखमभिव्यक्तं दैवं स्वभावः तत्संस्कारः जीवः तद्वान्। द्रव्यं भूतसूक्ष्माणि क्षेत्रं प्रकृतिः प्राणः सूत्रं आत्मा अहङ्कारः विकार एकादशेन्द्रियाणि महाभूतानि चेति षोडशकः तत्संघातो लिङ्गदेहः एतस्य च बीजरोहप्रवाहः रोहोङ्कुरः देहाद्बीजरूपं कर्म ततोङ्कुररूपो देहः ततः पुनरेवमिति प्रवाहः एषा त्वन्माया तस्या निषेधः अपोहो यस्मिन्निति तं त्वां निषेधावधिभूतं प्रपद्ये भज इति ॥२७॥

ननु देवकीतनयस्य कथमेवम्भूतत्वं तत्राह **नानाभावैरिति**। सर्वोपाधि विनिर्मुक्त एव त्वं यथा लीलया स्वीकृतैः मत्स्याद्यवतारैः देव बिभर्षि पालयसि तदर्थं लोकसेतून् वर्णाश्रमधर्मान् तदर्थं तदनुष्ठातॄन् साधून्। तदङ्गत्वेन उन्मार्गान् दैत्यादीन् हंसि संहरसि। एवमेतदपि तव जन्मभूमेर्भारहरणाय। लीलावतारोऽयं न कस्यापि त्वं तनय इत्यर्थः ॥२८॥

अतः अज्ञानतस्त्वदभिभवे प्रवृत्तं मां तप्तं रक्षेत्याशयेनाह-**तप्त** इति। तेजसा त्वत्सृष्टेन ज्वरेण, शान्तोग्रेण शीतज्वरेण परसन्तापकस्य युक्त एव ताप इति चेदत आह-तावदिति । त्वत्सेवायां प्रवृत्तानामनुचित इति भावः ॥२९॥

**त्रिशिर** इति। हे त्रिशिरः! व्येतु अपयातु मदाज्ञापालकस्सन् सुखं विचरका सा आज्ञा? तामाह-य इति। नौ आवयो रिमं संवादं यः स्मरति तस्य त्वत् त्वत्तः भयं न भवेत् त्वया भयं नोत्पादनीयं इत्यर्थः ॥३०॥

**वीर०** स्तुतिमेवाह-**नमामीति** चतुर्भिः। तावत्स्वरक्षणोपयुक्त परत्त्वविशिष्टं स्तौति द्वाभ्यां, परेशं त्वां नमामि परेषां ब्रह्मादीनामपीशं नियन्तारं किं प्राकृत राजादिवत् नेत्याह-सर्वात्मानमिति। सर्वेषां बह्मादीनां आत्मानं अन्तः प्रविश्य धारकत्वेन नियन्तारमित्यर्थः। कथमणुस्वरूप ब्रह्मादि जीववर्गान्तिः प्रवेश इत्यतो विशिनष्टि केवलं निरवयवं ज्ञानमात्रस्वरूपं साजात्यादन्तःप्रवेशोपपत्ति रिति भावः। मात्रशब्देन क्वचिदपि जाड्यराहित्यं विवक्षितं, ननु परेशस्तर्हि कोऽसौ जगत्कर्तेत्यत्र त्वमेवेति वक्तुं कारणत्वोपयुक्त सर्वशक्तित्वादि गुणयोगमाह अनन्तशक्तीति। कारणत्वमाह विश्वोत्पत्तीति। स्थानं स्थितिः विश्वस्योत्पत्त्यादि हेतुमित्यर्थः। ममैवंविधत्वे किं प्रमाणमत आह ब्रह्मलिङ्गं वेदप्रमाणकम् ननूक्तविधं ब्रह्म न त्वहं तत्राह यत्तद्ब्रह्मेति। यद्वेदान्तप्रसिद्धं ब्रह्म तदभिन्नं त्वां, नन्वहमपि, कदाचित् शोचामि। नेत्याह प्रशान्तं अशनायापिपासाशोकमोहजरामृत्युरूपोर्मिषट्करहितम् ॥२६॥

कालकर्मस्वभावादीनामेव जगद्धेतुत्वं न ममेत्यत आह-**काल** इति। दैवं कालाद्यभिमानि देवता। कर्म जीवादृष्टं, स्वभावः जडत्वाऽजडत्वपरिणामित्वादि तत्तद्वस्तु स्वभावः, द्रव्यं पृथिव्यादि भूतपञ्चकं, क्षेत्रं पृथिव्याद्युत्पत्तिभूमिः प्रकृतिः, प्राणः पञ्चवृत्तिः प्राणः, आत्मा मतिः, विकारः अवस्थाभेदः, तत्सङ्घातश्शरीरं, बीजरोहप्रवाहः कार्यकारणप्रवाहः, एषा एतत्सर्वं त्वन्माया त्वत्सङ्कल्परूप ज्ञानाधीनमित्यर्थः। एषेति सर्वनामत्वात्पर्यायेणोद्देश्य विधेयलिङ्ग भांक्त्वात् प्रतिनिर्दिश्यमानमायापेक्षया स्त्रीलिङ्ग निर्देशः। तं त्वां निषेधं नेति नेतीति प्रकृति प्राकृत समस्त वस्तु गत प्रकारो यस्मिन्निषिध्यते तं त्वा प्रपद्ये इत्यर्थः। निषेधं इत्यत्र अधिकरणे घञ् ॥२७॥

ननूक्तविधः परेशोऽन्य एव अहं तु यदुष्वन्यतम इत्यत आह-**नानाभावैरिति**। लीलयैव हेतुभूतया उपपन्नैः अन्यथा त्वय्यकर्मवश्ये तेषामनुपपन्नत्वादिति भावः। तैर्भावैः प्रकारभूतैः मत्स्याद्यवतारैः इति यावत्। धर्मसेतून् धर्ममर्यादाश्च बिभर्षि पुष्णासि उन्मार्गान् उत्पथान् हंसि नाशयसि उन्मर्गा नित्यस्यैव विवरणं हिंसया[2] वर्तमानानिति। यथा मत्स्यकूर्मादिजन्म तद्वदेतदपि तव जन्म अवतारः भूमेः भारहाराय भारापनयनार्थम्। अनेन वात्सल्य सौशील्य सौलभ्यादीनि सूचितानि ॥२८॥

इत्थं[3] शरण्यत्वमाविष्कृत्य स्वकीयां आर्तिं आवेदयति-**तप्त इति**। तावच्छान्ते नाप्यन्ततः उग्रेणोल्वणेन दारुणेन[4] अत एव सोढुमशक्येन त्वत्तेजसा उपबृंहितेन ज्वरेणाहं तप्तः। ततो मां प्रपन्नं पाहीति भावः, परसन्तापकस्य युक्त एव ताप इत्यत आह--तावदिति। यावदाशया रक्षकान्तरसम्भावनाशयाऽनुबद्धाः तवाऽङ्घ्रिमूलं न सेवेरन् तावदेव देहिनां तापः, सेवायां प्रवृत्तानां तु अनुचित इति भावः ॥२९॥

इत्थं संस्तुतः शरण्यो भगवान् तमनुगृह्णन् आह **त्रिशिर** इति। हे त्रिशिरः! ते तुभ्यं अहं प्रसन्नः तव मज्ज्वराद्भयं व्येतु व्यपैतु, यः पुमान् आवयोरिमं संवादं स्मरति तस्य त्वत् त्वत्तः भयं न भवेत्, तं त्वं मा भीषय इत्यर्थः ॥ ३० ॥

1. W. परतत्त्व 2. B.K. स्वेच्छया 3. B. adds तस्य 4. K.T.W. omit दारुणेन।

**इत्युक्तोऽच्युत मानम्य गतो माहेश्वरोज्वरः ।**
**बाणस्तु रथमारूढः प्रागाद्योत्स्यन्[1] जनार्दनम् ॥ ३१ ॥**

**ततो बाहुसहस्रेण नानायुधधरो बली[2] ।**
**मुमोच परमक्रुद्धो बाणांश्चक्रायुधे[3] नृप[4] ॥ ३२ ॥**

**तस्यास्यतोऽस्त्राण्यसकृच्चक्रेण[5] क्षुरनेमिना ।**
**चिच्छेद भगवान् बाहून् शाखा इव वनस्पतेः ॥ ३३ ॥**

**बाहुषु च्छिद्यमानेषु बाणस्य भगवान् भवः ।**
**भक्तानुकम्प्युपव्रज्य चक्रायुधमभाषत ॥ ३४ ॥**

श्रीरुद्र उवाच

**त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिः गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये ।**
**यं पश्यन्त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम् ॥ ३५ ॥**

1.T.W. प्रायात् 2. B.G.J.K.T.W. °सुरः 3. K.T.W. परिघं 4. K.T.W. वाण° 5. K. °णि स° ।

**श्रीध०** भक्तसंरक्षणार्थं° श्रीरुद्रो भगवन्तं स्तौति-**त्वमिति**। अयमर्थः त्वां अज्ञात्वा अयमयुध्यतेति न चित्रं यतस्त्वं वाङ्मये ब्रह्मण्यपि गूढं ब्रह्म अभिधानाविषयत्वात्। कुतः परं ज्योतिः ज्योतिषामपि प्रकाशकत्वात् अविषयः कथं तर्हि प्रतीतिः अत आह-यमिति। अमलात्मनां स्वतः प्रकाशसे इत्यर्थः ॥ ३१-३५ ॥

**वीर० इतीति** ।आनम्य प्रणम्य योत्स्यन् योद्धुं जनार्दनं कृष्णं प्रागात् अभ्यापतत् ॥ ३१ ॥

**तत** इति। नानाविधान्यायुधानि धरतीति तथा। सोऽसुरो बाणः क्रुद्धो हे नृप! चक्रायुधे कृष्णे परिघं मुमोच प्रायुङ्क ॥ ३२ ॥

**तस्येति**। अस्यतः क्षिपतः प्रयुञ्जानस्येति यावत्, तस्य बाणस्यास्त्राणि बाहूंश्च सकृद्युगपत् क्षुरस्येव नेमिर्यस्य तेन चक्रेण सुदर्शनेन चिच्छेद वनस्पतेः वृक्षस्य शाखा इव ॥ ३३ ॥

**बाहुष्विति**। च्छिद्यमानेषु सत्सु भगवान्भवो रुद्रः भक्तानुकम्पी, हेतुगर्भमिदं तत्त्वादभाषत ॥ ३४ ॥

भाषणमेवाह - **त्वं हीत्यादिभिर्द्वादशभिः**। केवलं वेदान्तैकवेद्यं योगपरिशुद्धमनोग्राह्यं त्वत्स्वरूप स्वभावादिकं कथमयं जानीयादित्यभिप्रयन् स्तौति **त्वं हीति**। वाङ्मये ब्रह्मणि वेदे उपनिषदीति यावत्। गूढं यत्परं ब्रह्म तत् त्वम्। किन्तद्ब्रह्मस्वरूपमत आह ज्योतिरिति। स्वप्रकाशं ज्ञानस्वरूपमित्यर्थः, अमलात्मानः योगविशुद्धान्तःकरणाः[1] यं पश्यन्ति स त्वमिति सम्बन्धः। अथ शरण्यत्वोपयुक्तकल्याणगुणान्विवक्षुः तावत् दृष्टान्तमुखेन निर्दोषत्वमाह, आकाशमिव केवलं निरस्तनिखिलदोषम् ॥ ३५ ॥

1. B. परिशु°

**नाभि र्नभो ऽग्नि र्मुख मम्बु रेतो द्यौश्शीर्ष माशा श्रुति रङ्घ्रि रुर्वी ।**
**चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा ह्यहं समुद्रो जठरं भुजेन्द्रः ॥ ३६ ॥**

रोमाणि यस्यौषधयोऽम्बुवाहाः केशा विरिञ्चो धिषणा विसर्गः ।
प्रजापतिर्हृदयं यस्य धर्मस्स वै भवान् पुरुषो लोककल्पः ॥ ३७ ॥

तवावतारोऽयमकुण्ठधामन् धर्मस्य गुप्त्यै जगतो भवाय ।
वयं च सर्वे भवतानुभाविता विभावयामो भुवनानि सप्त ॥ ३८ ॥

त्वमेक आद्यः पुरुषोऽद्वितीयस्तुर्यस्स्वदृग्धेतु रहेतुरीशः ।
प्रतीयसेऽथापि यथाविकारं स्वमायया सर्वगुण प्रसिद्ध्यै ॥ ३९ ॥

यथैव सूर्यः[1-] पिहितस्स्वयं घनैः[-1]छायां च रूपाणि च सञ्चकास्ति ।
एवं गुणेनापिहितो गुणांस्त्वमात्मप्रदीपो गुणिनश्च भूमन् ॥ ४० ॥

1- -1 B.G.J. °सूर्योऽ पिहितश्छायया स्वया ; K.T.W °सूर्योऽपिहित स्वच्छायया

**श्रीध०** आस्तां तावन्निर्गुणस्य तव ज्ञानं, लीलयाधिष्ठितस्त्वया यो विराड्विग्रहः सोऽपि न ज्ञायते उदुम्बुरफलान्तर्वर्ति मशकैरिवोदुम्बरफलमित्याशयेन विराड्रूपं स्तौति-द्वाभ्यां-**नाभिरिति**। यस्य नभ आदयो नाभ्याद्यवयवाः स भवान् लोककल्पः पुरुष इत्युत्तरेणान्वयः। नभो यस्य नाभिः, अग्निर्यस्य मुखं अम्बुरेतः, द्यौः शीर्षं, आशाः दिशः, श्रुतिः श्रवणेन्द्रियं, उर्वी अङ्घ्रिः, चन्द्रो मनः, अर्को दृक्, अहं शिवः, आत्मा अहङ्कारः, समुद्रो जठरं, इन्द्रो भुजा, बाहुः इन्द्रादयो लोकपालाः बाहव इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

**रोमाणीति**। ओषधयो रोमाणि यच्छब्दस्यावृत्तिः स्पष्टतार्था अम्बुवाहाः केशाः विरिञ्चो धिषणा बुद्धिः प्रजापतिः विसर्गो मेढ्रं धर्मो हृदयम्। लोकैः कल्प्यते उपकल्प्यत[1] इति लोककल्पः ॥ ३७ ॥

ननु प्रादेशिकशरीरस्य कथं नभोनाभित्वादि इत्यत आह **तवेति**। हे अकुण्ठधामन्! अप्रच्युतस्वरूपभवाय अभ्युदयाय, न केवलमेतावत्, किन्तु अस्मदनुग्रहार्थमपीत्याह वयं चेति, सर्वे लोकपाला वयं त्वया पालिताः सप्तापि भुवनानि पालयाम इति ॥ ३८ ॥

ननु यदि विभावयितारो यूयं विभाव्यानि भुवनानि च सन्ति तर्हि कथमुक्तं त्वं हि ब्रह्मेति। न हि ब्रह्मत्वे मम सजातीय विजातीयभेदः सम्भवतीत्यत आह-**त्वमिति**। एकः सजातीयभेदरहितः कुतः, आद्यः पुरुषः पुरुषाणाम् अवस्थात्रयवतामाद्यः प्रकृतिभूतः पुरुषः कुतः तुर्यः शुद्ध इत्यर्थः। तदपि कुतः? स्वदृक् स्वप्रकाशज्ञानरूपः

शुद्धादेव ह्युपाधियोगाज्जीवा जायन्ते। "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येव मेवास्मादात्मानस्सर्व एवात्मानो व्युच्चरन्ति" (बृह० उ० 2-1-26) इति श्रुतेः। अतः सजातीयरहितः किञ्च अद्वितीयः विजातीयरहितः, तदपि कुतः हेतुस्सर्वस्य तथा स्वयं अहेतुरीशश्चेति। कथं तर्हि प्रतिशरीरं जीवभेदः प्रतीयते। अतआह-प्रतीयस इति। सर्वगुणप्रसिद्ध्यै सर्वविषयप्रकाशनाय ॥३९॥

तर्हि किमहमेवं संसारीत्युच्यते? नहि नहीति सदृष्टान्तमाह-**यथेति**। हे भूमन्। स्वया छायया मेघलक्षणया परदृष्ट्या पिहितः छादितोऽपि सूर्यः छायां मेघं च रूपाणि च भवनान्तरितान् घटादीनपि सञ्चकास्ति प्रकाशयति। एवंगुणेनाऽहङ्कारेण स्वकार्येण जीवाऽऽवरकेण तद्दृष्ट्या पिहितोऽपि गुणान् सत्त्वादीन् उपाधीन् गुणिनश्च उपहितान् जीवानपि चकास्ति। आत्मप्रदीपः स्वप्रकाशः अतः सर्वसाक्षिणस्तव न संसार इत्यर्थः ॥४०॥

1. B.J. अव

**वीर०** न हि शरीरमात्मनोऽप्रियम् अतस्त्वच्छरीरभूत कृत्स्नजगदन्तर्गतोऽयं मूर्खोऽपि तवानुकम्प्य एवेत्यभिप्रयन् विराड्रूपत्वेन स्तौति-**नाभिरिति** द्वाभ्याम्। नभोऽग्न्यम्बुद्युदिक् पृथिव्यो यथाक्रमं तव नाभिमुखरेतश्शिरश्श्रोत्रपादाः, चन्द्रो मन इति कार्यकारणभावेन सामानाधिकरण्यम्। "चन्द्रमा मनसो जातः" (पु. सू. 1-6) इति श्रुतेः। भगवन् मानसात् प्रसूतस्य चन्द्रस्य सर्वदेहि मनोऽभिमानदेवतात्वाच्च। एवं दृगर्क इत्यपि "चक्षोस्सूर्योऽजायत" (पु. सू. 1-6) इति श्रुतेः। दृगभिमानि देवतात्वाच्च यस्य तवेति सर्वत्र योज्यम्। अहं रुद्रः, आत्मा अन्तःकरणभेदोऽहङ्कारः। अत्रापि पूर्ववदेव सामानाधिकरण्यं द्रष्टव्यम्। समुद्रः जठरं कुक्षिः, भुजात्मकः" इन्द्रः इन्द्रादयस्तव भुजा इत्यर्थः। यच्छब्दानां स वै भवानित्यनेन सम्बन्धः ॥३६॥

**रोमाणीति**। ओषधयो यस्य रोमाणि, अम्बुवाहाः मेघाः केशाः, विरिञ्चो धिषणा बुद्धिः, प्रजापतिः विसर्गः मेढ्रं, धर्मो हृदयं, स वै भवान्। इत्थं लोकैः कल्प्यते अवयवत्वेनेति लोककल्पः ॥३७॥

नन्वेवमप्ययं दुरात्मा निग्राह्य एवेति चेत्। यद्यप्येवं तथाप्यधुना शरणं गतोऽनुग्राह्य एव, युक्तं चैतत्। तवावतारस्य प्रपन्नलोकाभ्युदय हेतुत्वादित्यभिप्रयन्नाह **तवेति**। हे अकुण्ठधामन्![1] तेजस्स्वभावेति यावत् अवतारदशायामप्यप्रच्युत सार्वज्ञ्य सर्वशक्त्यादि स्वभावे त्यर्थः। जगतः प्रपन्नलोकस्य भवायाऽभ्युदयाय, अभवायेति वा च्छेदः। अभवाय भवप्रयुक्त तापत्रयनिवृत्तये इत्यर्थः। अनुग्राह्यश्चेत् तर्हि त्वमेवैनमनुगृह्णीष्व इत्यत आह-वयमिति। सर्वे वयं लोकपालास्तावत् त्वया सृष्टाः अनु ततः भाविताः पालिताः सप्त भुवनानि विभावयामः पालयामः। वयं त्वत्परतन्त्रा इति भावः ॥३८॥

आकाशमिव केवलमिति निरस्तनिखिलदोषत्वमुक्तम्। विराट्शरीरकत्वोक्त्या सर्वान्तरात्मत्वं फलितं, तवावतारोऽयमित्यनेन निरुपाधिकरक्षकत्व वात्सल्यसौशील्यादिकं आविष्कृतं, अथ परत्वोपयुक्त कारणत्वादि कमाह-**त्वमेक** इति। त्वमस्य जगतो हेतुः कारणं, किं चतुर्मुखादिवत्, नेत्याह-अहेतुरिति। स्वयं कारणान्तर रहितः, किं निमित्तकारणं, नेत्याह एक इति। अविभक्तनाम रूपसूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टत्वेन एकत्व व्यपदेशार्हः, आद्यः पुरुषः जगदुपादान कारणभूत पुरुषश्चेत्यर्थः। किमुपादानकारणमेव, नेत्याह अद्वितीय इति। अधिष्ठात्रन्तररहितः निमित्तकारणं चेत्यर्थः। अत एव प्रकृति पुरुष विलक्षण इत्याह स्वदृक् तुर्यश्चेति, स्वदृक् स्वयं प्रकाशज्ञान स्वरूपः, अनेन प्रकृति वैलक्षण्यमुक्तम्। तुर्यः जाग्रत्स्वप्न सुषुप्ति रूपावस्थात्रय सम्बन्धरहितः, अनेन जीववैलक्षण्यमुक्तं, आकाशमिव केवलमित्यनेन च निर्विकारत्व मुक्तं, एक आद्यः पुरुष इत्यनेन विकाराश्रयत्व रूपोपादानत्वं, कथमेतदुभयं मिथो विरुद्धमेकस्मिन्नुपपद्यते इत्याशङ्क्य परिहरति प्रतीयस इति। यद्यपीदं परस्परविरुद्ध मथापि सर्वगुणप्रसिद्ध्यै सर्वेषां गुणानां स्वापृथक् सिद्ध विशेषणानां प्रकृतिपुरुषादीनां प्रसिद्ध्यै देवमनुष्यत्वाद्याकार सिध्दये स्वमायया आत्मीय सङ्कल्पेन यथाविकारं, प्रकृतिपुरुषगत स्वरूपान्यथाभाव स्वभावान्यथाभावरूप विकारानुगुणं प्रतीयसे। तत्तदन्तरात्मतया तत्तन्नामरूप निर्वाहकत्वेन प्रतीयसे प्रमीयसे, वेदान्तजन्य प्रमाविषयो भवसीत्यर्थः, अस्मिन्विषये वेदान्तानामेव प्रामाण्यमिति भावः ॥३९॥

सर्वगुणेत्यनेन प्रकृतिसम्बन्धस्सूचितः। तर्हि जीवस्येव प्रकृत्या तिरोहितस्य यथाविकारमन्तरात्मतया प्रकाशो न स्यादित्याशङ्कां दृष्टान्तेन निराकरोति **यथैवेति**। अपिहित इति च्छेदः। दार्ष्टान्तिके गुणेन अपिहित इति दर्शनात्, अन्यथा उपध्मानीयप्रसङ्गाच्च। अपिहित इति नञ् समासः, नतु 'वष्टिवागुरिरिति' वचनविहिताकारलोपाभावपक्षे रूपम्। स्वया स्वप्रकाश्यया च्छायया मेघादिरूपया। अपिहितोऽतिरोहित स्वरूपस्वभाव एव सन्। नहि मेघादिना सूर्यतत्प्रभयोस्तिरोधिः, मेघादीन् भित्त्वा तदन्तर्बहिश्च प्रसरणात्। अन्यथा तद्व्यवहितरूपाग्रहणप्रसङ्गात्, यथैवम्भूतः सूर्यः छायां मेघादीन् रूपाणि तद्व्यवहितानि रूपाणि च सञ्चकास्ति सम्यक्प्रकाशयति। एवं हे भूमन्। गुणेन सत्त्वादिगुणेन गुणमयप्रकृत्येति यावत्। अपिहितः अतिरोहित स्वरूपस्वभाव एव त्वम्। गुणान् प्रकृति तत्कार्यगत धर्मान्गुणिनः प्रकृत्यादींश्च प्रकाशयसि आत्मप्रदीपः स्वप्रकाशश्च यद्यपि दृष्टान्ते छायासूर्ययोः न सम्बन्धः मिथस्तयोः विप्रकृष्टत्वात्। दार्ष्टान्तिके त्वपृथक्सिद्ध विशेषण विशेष्य भावसम्बन्ध इति दृष्टान्तो विषमः, तथापि विप्रकृष्टस्येव अपृथक्सिद्धाया अपि प्रकृतेः तिरोधायकत्वमन्य प्रकाश्यत्वं तिरोधानप्रतीतेः भ्रमरूपत्वं च इत्येतदेव दृष्टान्ताभिप्रेतम् ॥४०॥

1. B,K. add धाम

यन्मायामोहितधियः पुत्रदारगृहादिषु ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रसक्ता वृजिनार्णवे ॥४१॥

देवदत्तमिमं लब्ध्वा नृलोकमजितेन्द्रियः ।
यो नाद्रियेत त्वत्पादौ सशोच्यो ह्यात्मवञ्चकः ॥४२॥

यस्त्वां विसृजते मर्त्य आत्मानं प्रियमीश्वरम् ।
विपर्ययेन्द्रियार्थार्थं[1] विषमित्यमृतं त्यजन् ॥४३॥

अहं ब्रह्मा च विबुधा मुनयश्चामलाशयाः ।
सर्वात्मना प्रपन्नास्त्वां आत्मानं प्रेष्ठमीश्वरम् ॥४४॥

तं त्वा जगत्स्थित्युदयान्तहेतुं समं प्रशान्तं सुहृदात्म दैवम्[2] ।
अनन्यमेकं जगदात्मकेतं भवापवर्गाय भजाम देव ॥४५॥

अयं ममेष्टो दयितोऽनुवर्ती मयाऽभयं दत्तममुष्यदेव ।
सम्पाद्यतां तद्भवतः प्रसादो यथा हि ते दैत्यपतौ प्रसादः ॥४६॥

1--1 K.T.W °र्तो 2. K.T.W. नायकम्

**श्रीध०** किञ्च मायाश्रयस्यान्यान् मोहयतस्तव कुतः संसृतिरिति आशयेनाह --**यदिति**। पुत्रादिषु प्रसक्ताः वृजिनार्णवे दुःखसागरे उन्मज्जन्ति देवादियोनिषु, निमज्जन्ति स्थावरादियोनिषु। तदुक्तं वायवीये- "विपर्ययश्च भवति ब्रह्मत्वस्थावरत्वयोः" ॥४१॥

एवं जीवेश्वर व्यवस्थां निरूप्येदानीं अभजन्तं निन्दति --द्वाभ्यां **देवेति**। देवेन त्वया कर्माध्यक्षेण दत्तं नृदेहमिमं लब्ध्वापीति ॥४२॥

शोच्यत्वे हेतुः **य** इति। विपर्ययाः विपरीताः अनात्माऽप्रियाऽनीश्वराः ये इन्द्रियार्थाः पुत्रादयस्तदर्थम् ॥४३॥

अहमन्ये च शुद्धमनसस्त्वामेव भक्त्या प्रपन्ना इत्याह-**अहमिति** ॥४४॥

भगवतो भजनीयत्वे हेतून् वदन् तद्भक्तिं प्रार्थयते-**तमिति**। समत्वे हेतुः-प्रशान्तमिति। सुसेव्यत्वमाह-सुहृदात्मदैवं सुहृद् बुद्धि प्रवर्तकत्वात् आत्मा च सर्वात्मकत्वात्, एवम्भूतं दैवं ईश्वरं त्वाम्। न चान्यो भजनीयोऽस्तीत्याह-अनन्यमेकं समानासमानजातीयरहितम्। तत्कुतः? जगतामात्मनां च केतमधिष्ठानम् ॥४५॥

स्वयं भक्तिमाशास्य स्वभक्तस्याभीष्ट माशास्ते - **अयमिति**. दैत्यपतौ प्रह्लादे ॥ ४६ ॥

**वीर०** न केवलमयमेवाज्ञः किन्तु सर्वेऽपि त्वन्मायामोहितत्वादित्यभिप्रयन्नाह **यन्मायेति**। यस्य तव मायया मोहिता धीर्येषां ते पुत्रादिषु सक्ताः[1] वृजिनार्णवे दुःखार्णवे उन्मज्जन्ति उत्प्लवन्ते पुनर्निमज्जन्ति च ॥ ४१ ॥

ननु मोहयन् वृजिनार्णवे पातयंश्चाहं किं निर्घृणः नेत्याह-**देवदत्तमिति**। देवेन निरवधिक कृपावता त्वया दत्तं त्वदाराधनोपयुक्त° त्वन्मायातरणसाधनं चेमं मनुष्यदेहं लब्ध्वाऽपि अजितेन्द्रियः इन्द्रियपरवशस्सन् यः पुमान् त्वच्चरणौ नाद्रियेत न सेवेत स शोच्यः, अहो किमस्य दौर्भाग्यमित्येवं शोचनीयः। कुतः? हि यस्मात् अयमात्मवञ्चकः आत्मापहारी-'योन्यथा सन्त मत्मानमन्यथा प्रतिपद्यते, किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा' (भार० 1-68-26) इति वचनार्थोऽत्रानुसन्धेयः। स्वदोषेणैव स्वयं दुःख्यतीति न तव दोषप्रसङ्ग इति भावः ॥ ४२ ॥

इतोऽपि शोच्य हत्याह - **यस्त्वामिति**। स्वयं मरणशीलस्सन् आत्मानं प्रियं ईश्वरं च त्वां विसृजते त्यजति न सेवते किन्तु विपर्ययेषु अनात्मस्वप्रियेष्वनीश्वरेषु इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु आर्तः दीनः अमृतमपि त्वां अमृततुल्यां त्वत्सेवां वा विषबुद्ध्या त्यजन् आस्ते स शोच्य इति सम्बन्धः ॥ ४३ ॥

यतस्त्वत्सेवाऽमृततुल्या अत एव वयं त्वामेव प्रपन्ना इत्याह --**अहमिति**। अहं रुद्रः त्वामेवोक्तविधं सर्वभावेन उपायोपेयभावेन शरणं गताः ॥ ४४ ॥

न केवलमात्मत्वानुगुण गुणमात्रयुक्तमेव त्वां प्रपन्नाः किन्तु शरण्यत्वोपयुक्ता संख्येय गुणान्तरयुक्तं चेत्यभिप्रयन्नाह-**तमिति**। हे देव! तमुक्तविधं किञ्च जगदुत्पत्तिस्थिति कारणम्। समं वैषम्यरहितं प्रशान्तं ऊर्मिषट्करहितं भजतामपि शान्त्यावहं च सुहृच्चासावात्म नायकश्च तं अनन्यं स्वतुल्य सेव्यान्तररहितं एकं स्वाधिक प्रपदनीयान्तर रहितं आत्मकेतं आत्मनां अस्माकं केतं आश्रयमाधारमिति यावत्। आत्मैव केतं यस्य तमिति वा 'स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः' (छान्दो ०उ० 7-24-1) इति श्रुतेः। भवाभ्युदयायैहिकसुखाय अपवर्गाय मोक्षाय च भजामः ॥ ४५ ॥

प्रकृतिं विज्ञापयति-**अयमिति**। अयं बाणः मे त्वां प्रपन्नस्य मम इष्टो भक्तः। अनेन 'मम मद्भक्त भक्तेषु प्रीतिरभ्यधिका भवेत्' इति भगवद्वचनं स्मारितम्। अत एव दयितः प्रियः अनुवर्तत इति। तथा च हे देव! अमुष्य बाणस्य मया अभयम् दत्तम् -किमत इत्यत आह -तन्मया दत्तमभयं सम्पाद्यतां सफलीक्रियतां अयमेव भवतोऽनुग्रहः। यथा हि ते त्वया दैत्यपतौ प्रह्लादे प्रसादः, कृत इति शेषः। त्वद्वंशजं न हनिष्यामीति प्रह्लादमनुगृहीतवानित्यर्थः ॥ ४६ ॥

1. B. आसक्ताः

श्रीभगवानुवाच

यदात्थ भगवंस्त्वं नः करवाम प्रियं तव ।
भवतो[1] यद्व्यवसितं तन्मे साध्वनुमोदितम् ॥४७।

अवध्योऽयं ममाप्येष[2] वैरोचनि[3] सुतोऽसुरः ।
प्रह्लादाय वरो दत्तो न वध्यो मे तवान्वयः ॥४८

दर्पोपशमनायास्य प्रवृक्णा बाहवो मया ।
सूदितं[4] च बलं भूरि यच्च भारायितं भुवः ॥४९।

चत्वारोऽस्य भुजाश्शिष्टा भविष्यन्त्यजरामराः ।
पार्षदमुख्यो भवतो न कुतश्चिद्भयोऽसुरः ॥५०

1. MI.V. °ता 2. K.MI.T.V.W °या° 3. K.T.W. °न 4. K.T.W. नाशितं

**श्रीध० अवध्य** इति। वैरोचनि र्बलिर्मद्भक्तः तत्सुतत्वादयमवध्यस्तावत् किञ्च प्रह्लादायेति अन्वयो वंशः ॥४७, ४८॥

तर्हि किमत्येवं कृतं तत्राह-**दर्पोपशमनायेति** ॥४९॥

अनुगृह्णाति - **चत्वार** इति ॥५०॥

**वीर०** इत्थं संस्तुतः प्रसन्नः प्राह भगवान् - **यदात्थेति**। हे भगवन्! रुद्र! नः अस्मान्प्रति यदात्थ अवोचः यच्च तव प्रियं तन्नोऽस्माकमपि अतः तत् करवाम भवता यन्निश्चितमेतत्प्राणसंरक्षणात्मकं तन्मयाऽप्यनुमोदितम् ॥४७॥

वैरोचनिसुत इति हेतुगर्भं तत्त्वादवध्यः, तत्रापि हेत्वन्तरमाह-प्रह्लादायेति। अन्वयः वंशजः ॥४८॥

तर्हि किमर्थं बाहूनच्छिनः तत्राह-**दर्प** इति। प्रवृक्णाश्छिन्नाः, किमर्थम्? बहुसैन्यं हतवानसीत्यत आह-नाशितमिति। भूभारापनयनार्थमिति भावः ॥४९॥

रुद्रमुखेन बाणमनुगृह्णाति -**चत्वार** इति। अस्य बाणस्य चत्वारः भुजाः शिष्टाः आज्ञप्ताः अनुगृह्य अवशेषिता इत्यर्थः। अयं जरामरणरहितः भविष्यतीति, न कुतश्चित् भयं यस्य तथाभूतश्च भविष्यतीति सम्बन्धः ॥५०॥

इति लब्ध्वाऽभयं कृष्णं प्रणम्य शिरसाऽसुरः ।
प्राद्युम्निं रथमारोप्य सवध्वा[1] तमुपानयत्[2] ॥ ५१ ॥

अक्षौहिण्या परिवृतं सुवासःसमलङ्कृतम्[3] ।
सपत्नीकं पुरस्कृत्य ययौ रुद्रानुमोदितः ॥ ५२ ॥

स्वराजधानीं समलङ्कृतां ध्वजैस्सतोरणै र्भूषितमार्गचत्वराम्[4] ।
विवेश शङ्खानक दुन्दुभिस्वनैरभ्युद्यतः पौरसुहृद्द्विजातिभिः ॥ ५३

य एतत्कृष्णविजयं[5] शङ्करेण च संयुगम् ।
संस्मरेत्प्रातरुत्थाय न तस्य स्यात्पराजयः ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
स्कन्धे उत्तरार्धे त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

1. K. सह 2. K. समानयत् ;T.W. समुपानयत् 3. B.G.J. °सः 4. B.G.J.K.T.W. रुक्षितमा° 5. B.G.J. एवं कृ°

**श्रीध० इतीति**। सहवध्वा उषया कान्तया सह ॥ ५१ ॥

**अक्षौहिण्येति**। रुद्रानुमोदित इति तदभिप्रेतस्यैव बाणभुजभङ्गस्य कृतत्वात् ॥ ५२ ॥

**स्वेति**। पौरादिभिरभ्युद्यत अभिमुखमागत्य सत्कृतः ॥ ५३,५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

**वीर० इतीति**। अभयमिति च्छेदः। वध्वा उषया सह प्राद्युम्निमनिरुद्धं समानयत् द्वारकां प्रापयामासेत्यर्थः ॥ ५१ ॥

तदेवाह - **अक्षौहिण्येति**। शोभने वाससी यस्य तं, पत्न्या सहितं अनिरुद्धं पुरस्कृत्य पुरतो गमयन् रुद्रानुमोदितः स्वयमप्यनुययौ ॥ ५२ ॥

**स** इति। स बाणः कृष्णो वा। अन्यतरसहितोऽन्यतरो वा। पौरादिभिः अभ्युद्यतः अभिमुखमागत्य सत्कृतः शङ्खादिध्वनिभिः राजधानीं द्वारकां विवेश। कथम्भूतम्? उक्षिताः सिक्ताः, मार्गाः वीथयः, चत्वराण्यङ्गणानि च यस्यां ताम् ॥ ५३ ॥

उक्तकथासु संस्मरणफलमाह-**य** इति। यः पुमान् संस्मरेदिति श्रवणाख्यानादीनामप्युपलक्षणम्। तस्य स्मरतः पराजयो न स्यात् ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

# चतुष्षष्टितमोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या सप्ताशीतितमोऽध्यायः)

-: नृगोपाख्यानम् :-

श्रीशुक उवाच

★ एकदोपवनं राजञ्जग्मु र्यदुकुमारकाः ।
विहर्तुं साम्ब प्रद्युम्न चारुभानु गदादयः ॥ १ ॥

क्रीडित्वा सुचिरं तत्र विचिन्वन्तः पिपासिताः ।
[1]स्थितं निरुदके कूपे ददृशुः सत्त्वमद्भुतम् ॥ २ ॥

कृकलासं गिरिनिभं वीक्ष्य विस्मितमानसाः[2] ।
तस्य चोद्धरणे यत्नं चक्रुस्ते कृपयान्विताः ॥ ३ ॥

[3]चार्मभिस्तान्तवैः[4] पाशैर्बद्ध्वा पतितमर्भकाः ।
नाऽशक्नुवन्समुद्धर्तुं कृष्णायाऽऽचख्युरुत्सुकाः ॥ ४ ॥

[5]तत्रगत्वाऽरविन्दाक्षो भगवान्विश्वभावनः ।
वीक्ष्योज्जहार वामेन तं करेण स लीलया ॥ ५ ॥

★ श्रीविजयध्वजीय पाठानुसारेण सप्ताशीतितमाध्यायस्य त्रयोदशश्लोकादारभ्य अयमध्यायः दृश्यते। 1. B,G,J, MI,V जलं 2. M, Ma चेतसः 3. B,G,J चर्मजै° ;M,Ma चर्मभि° 4. B,G,J °स्तं तथा 5. B,G.J तत्रागत्या°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुष्षष्टितमे कृष्णो नृगं पापादमोचयत्। ब्रह्मस्वहारि दोषोक्त्या राज्ञो दृप्तानशिक्षयत् ॥
विभूतिभाग्यभोगादि मदोन्नद्धमनोरथान्। अन्वशासद्यदून्कृष्णो नृगोद्धारप्रसङ्गतः ॥

**क्रीडित्वेति**। पिपासिताः तृषिता जलं विचिन्वन्तः। सत्त्वं जीवम् ॥ १,२ ॥

**कृकलासमिति**। तं च कृकलासं वीक्ष्य ॥ ३ ॥

**चर्मजैरिति**। चार्मभिः[1] चर्ममयैः पाशैः तान्तवैः तन्तुमयैश्च ॥ ४, ५ ॥

1. B,J चर्मजैः

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ दत्तापहारप्रयुक्तदुरितनिमित्त कृकलासजन्मनो नृगस्य तज्जन्मविमोचनात्मकं भगवच्चेष्टितमनुवर्णयति चतुष्षष्टितमेन-**एकदेत्यादिना**। तावदुपोद्घातमाह - हे राजन् ! साम्बादयो यदुकुमारकाः ॥१॥

**क्रीडित्वेति**। तत्रोपवने पिपासिताः तृषिताः जलमन्वेषयन्तः क्वचिन्निरुदके निर्जले कूपे महदुन्नतं अभ्दुतं च सत्त्वं जन्तुं ददृशुः ॥ २ ॥

कृकलासं नाम गिरिनिभं गिरितुल्यं विस्मितं चेतो येषां ते तस्य कृकलासस्योद्धरणे निमित्ते यत्नं च चक्रुः ॥ ३ ॥

**चार्मभिरिति**। चर्ममयैः तन्तुमयैश्च पाशैः रज्जुभिः बद्ध्वा पतितं तमुद्धर्तुं न प्रबभूवुः ॥ ४ ॥

**तत्रेति**। विश्वं भावयति अभ्यधिकं करोतीति तथा वामेन करेण लीलयैव तमुज्जहार बहि र्निष्कासितवान् ॥ ५ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

विचिन्वन्तः अन्वेषणं कुर्वन्तः सत्त्वं प्राणिनम् ॥ १,२ ॥

कृकं लासयति नर्त्तयतीति कृकलासः, 'शिरः प्राग्रं कृकं विदुः' इति च ॥ ३-५ ॥

**स उत्तमश्लोककराभिमृष्टो विहाय सद्यः कृकलासरूपम् ।**
**सन्तप्त चामीकर चारुवर्णः स्वर्ग्यभ्दुतालङ्करणाम्बरस्त्रक्[1] ॥ ६ ॥**

**★ भूत्वा मुकुन्दस्य पदारविन्दं ननाम मूर्ध्ना पतितो धरण्याम् ॥**
**पप्रच्छ विव्दानपि तन्निदानं[2] जनेषु विख्यापयितुं मुकुन्दः ।**
**कस्त्वं[3] महाभाग वरेण्यरूपो देवोत्तमं त्वां गणयामि[4] नूनम् ॥ ७ ॥**

दशामिमां वा कतमेन कर्मणा सम्प्रापितोऽस्य[5] तदर्हः[6] सुभद्र ।
आत्मानमाख्याहि विवित्सतां नो यन्मन्यसे[7] नः क्षममत्र वक्तुम् ॥८॥

श्रीशुक उवाच

इति स्म राजा संपृष्टः कृष्णेनाऽनन्तमूर्तिना[8] ।
माधवं प्रणिपत्याह किरीटेनार्कवर्चसा[9] ॥९॥

नृग उवाच

नृगो नाम नरेन्द्रोऽहमिक्ष्वाकुतनयः प्रभो ।
दानिष्वाख्यायमानेषु यदि ते कर्णमस्पृशम्[10] ॥१०॥

किं न तेऽविदितं नाथ सर्वभूतात्मसाक्षिणः ।
कालेनाव्याहतदृशो वक्ष्येऽथापि तवाज्ञया ॥११॥

यावत्यः सिकता भूमौ[11] यावत्यो दिवि तारकाः ।
यावत्यो वर्षधाराश्च तावतीरददां च गाः ॥१२॥

पयस्विनीस्तरुणीः शीलरूप गुणोपपन्नाः कपिला हेमशृङ्गीः[12] ।
न्यायार्जिता रौप्यखुराः[13] सवत्सा दुकूलमाल्याभरणा[14] ददावहम्[15] ॥१३॥

स्वलङ्कृतेभ्यो गुणशीलवद्भ्यः सीदत्कुटुम्बेभ्य ऋतव्रतेभ्यः ।
तपःश्रुतब्रह्मवदान्यसद्भ्यः प्रादां युवभ्यो द्विजपुङ्गवेभ्यः ॥१४॥

गोभूहिरण्यायतनाश्वहस्तिनः कन्याः सदासीस्तिलरूप्यशय्याः ।
वासांसि रत्नानि परिच्छदान्रथा निष्टं च यज्ञैश्चरितं च पूर्तम्[16] ॥१५॥

1- -1 M, Ma स्वर्गोचिता ★ This additional half verse is found in M, Ma only. 2- -2 K, Ml, T, V, W तस्य दानं ;M, Ma तस्य कर्म 3. M, Ma add श्रीभगवानुवाच 4. k, T, Ml, V, W °म 5- -5 K, T, M, Ma,W तोह्यतदर्हः ;Ml, V तोऽसि ह्यतदर्हः 6. K. सुदीप्तिः ;Ml.V. सुप्रभः 7. M, Ma, W °सेऽङ्गो ;Ml, V °से तत् 8. K, Ml, T, V, W °न्द° 9. K, T, W मानुषः ;M, Ma प्रतीतः 10. K, Ml, T, V, W °ने° 11. B, G, J,M, Ma, Ml, V भूमेः 12. B, G, J, M, Ma °ङ्गीः 13. B, G, J, K, T, W रू° 14. B, G, J, M, Ma माला° 15. K, T, W ददाम्यहम् ;Ml. V °स्त्वदामहम् 16. M, Ma पूर्तेः

**श्रीध० स** इति। सन्तप्तं चामीकरं सुवर्णं तद्वच्चारु[1] वर्णो यस्य सः। अद्भुता अलङ्करणाम्बरस्रजो यस्य सः। स्वर्गी देवो बभूवेति ॥६, ७॥

**दशामिति**। यद्यदि। क्षमं योग्यम् ॥८, ९॥

**नृग** इति। यदि ते कर्णमस्पृशमित्यसन्देहे सन्देहवचनं यदि वेदाः प्रमाणं स्युः कर्णपथं नूनं प्राप्तः स्यामित्यर्थः ॥१०॥

किञ्च **किं न्विति**। सर्वेषां भूतानामात्मनो बुध्देः साक्षिणस्तेऽविदितं किं नु. न किञ्चित् ॥११ १३॥

**स्वलङ्कृतेभ्य** इति। ऋतव्रतेभ्योऽदम्भाचारेभ्यः। तपसा श्रुताः प्रख्याताश्च ते ब्रह्मणि वदान्या अत्युदारा अध्यापनशीलाश्च ते सन्तश्च तेभ्यः ॥१४॥

**गोभूहिरण्येति**। पूर्तं वापीकूपादि। चरितं कृतम् ॥१५॥

1. B, J Omit चारु

**वीर० स इति**। स उध्दृतः उत्तमश्लोकस्य करणाभिमृष्ट इति हेतुगर्भमिदम्। सन्तप्तं चामीकरं सुवर्णं तद्वद्वर्णो यस्य सः। अभ्दुता अलङ्करणादयो यस्य सः। स्वर्गी देवो बभूव ॥६॥

**पप्रच्छेति**। तस्य कृकलासस्य जन्मनो निदानं कारणं जानन्नपि मुकुन्दः तज्जनेषु ख्यापयितुं प्रसिद्धीकर्तुं पप्रच्छ। प्रश्नमेवाह-**कस्त्वमिति**। हे महाभाग! वयं तु त्वां देवोत्तमं[1] देवश्रेष्ठं गणयाम ॥७॥

कतमेन केन वा कर्मणा इमां कृकलासत्वरूपां दशाम् अवस्थां प्रापितोऽसि, तत्र हेतुः - अतदर्हा एतदवस्थानर्हा शोभना दीप्तिः यस्य सः, आत्मानमिति। विवित्सतां वेत्तुमिच्छतां नोऽस्मभ्यम् आत्मानमाख्याहि, यत् यदि तद्वक्तुं क्षमं योग्यं तर्ह्याख्याहीति सम्बन्धः ॥८॥

**इतीति**। आनन्दमूर्तिना हृद्यमूर्तिना सम्पृष्टो राजा मानुष इति च पूर्वजन्माभिप्रायेणोक्तम्, अर्कस्येव वर्णो यस्य तत् तेन किरीटेन नमस्कृत्याऽऽह ॥९॥

उक्तिमेवाह - **नृग** इत्यादिना इत्युक्त्वा तमित्यतः प्राक्तनेन। अहं नृगो नाम नरेन्द्रः राजश्रेष्ठः, हे प्रभो!

दानष्वाख्यायमानषु दानप्रशंसासु वक्तव्यास्वित्यर्थः। दानषु दानशास्त्रषु वा यदि तव कर्णमस्पृशामित्यसन्दिग्ध सन्दिग्धवचन यदि वेदाः प्रमाणं स्युः इतिवत्, कर्णपथं नूनं प्राप्तः स्यामित्यर्थः ॥ १० ॥

किञ्च, **किन्विति**। ते त्वया न विदितं किन्नु विदितमेवेत्यर्थः। तत्र हेतुत्वेन विशिनष्टि सर्वभूतानामात्मनो बुद्धेः साक्षिणः साक्षाद्द्रष्टुः कालेनाव्याहता अविप्लुता दृक् ज्ञानं यस्य तस्य अथापि यद्यप्येवं तथापि वक्ष्ये ॥ ११ ॥

**यावत्य** इति। सिकतादयो यावत्यस्तावतीः धेनूः अददां दत्तवानस्मि, मया दत्तानां गवां सङ्ख्या न विद्यत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

ता एव विशिनष्टि - **पयस्विनीरिति**। अत्र भूम्नि मत्वर्थीयः, शीलादिभिर्युक्ताः कपिलवर्णाः हेमस्वर्णालङ्कारः शृङ्गयोर्यासां ताः, न्यायतः सम्पादिताः रौप्यं रजतालङ्कारः खुरेषु यासां ताः, वत्सैस्सहिताः दुकूलादीनां द्वन्द्वः,ततो मत्वर्थीयोऽच्, ददामि अदामित्यर्थः ॥ १३ ॥

अथ सत्पात्राणि विशिनष्टि - **स्वलक्ष्कृतेभ्य** इति। सीदन् ल्किश्यन् कुटुम्बो येषां तेभ्यः ऋतव्रतेभ्यः अदम्भाचारेभ्यः तपसा श्रुताः प्रख्याताः ते ब्रह्मणि वदान्याः ब्रह्मवादिनः ते च ते सन्तः, तेभ्यः, वदान्यवद्भ्यः इति पाठे तप आदिविशिष्टेभ्यः एवंविधेभ्यो ब्राह्मणोत्तमेभ्योऽदाम् ॥ १४ ॥

न केवलं गा एवादाम्, अन्यानपीत्याह[2]-**गोभ्विति**। पुनर्गोग्रहणमितरापेक्षया तद्धयस्त्वाभिप्रायकं, गवादीनामितरेतरयोगद्वन्द्वः, तत्रायतनानि गृहाः, दासीभिस्सहिताः कन्याः, तिलादीनां द्वन्द्वः, तत्र रूप्यं रजतं, परिच्छदान् गृहोपकरणानि, न केवलं प्रादामेव, किन्तु, यज्ञैरिष्टं च पूर्तं स्मार्तं कर्म चरितं कृतं च ॥ १५ ॥

1. B adds ध्रुवं 2. B अन्यदपी°

**विज०** विवित्सतां ज्ञातुकामानां यद्यदि ॥ ६-९ ॥

तव कर्णमस्पृशं तर्हि ज्ञातुं योग्य इत्यर्थः ॥ १० ॥

अन्यथापि ज्ञातुं शक्य इत्याह-**किं त्विति** ॥ ११ ॥

सिकतारजांसि अददास्म अददाम् 'दा दाने' इति धातुः। सुडागमश्छान्दसः ॥ १२-१५ ॥

कस्यचिद्द्विजमुख्यस्य भ्रष्टा गौर्मम गोधने ।
सम्पृक्ताऽविदुषा सा च मया दत्ता द्विजातये ॥१६।

तां नीयमानां तत्स्वामी दृष्ट्वोवाच ममेति तम् ।
ममेति प्रतिग्राह्याह[1] नृगो मे दत्तवानिति ॥१७॥

विप्रौ विवदमानौ मामूचतुः स्वार्थसाधकौ ।
भवान्दाताऽपहर्तेति तच्छ्रुत्वा मेऽभवद्भ्रमः ॥१८॥

अनुनीतावुभौ विप्रौ धर्मकृच्छ्रगतेन[2] वै[3] ।
गवां लक्षं प्रगृह्णीतां[4] दास्याम्येषा प्रदीयताम् ॥१९॥

भवन्तावनुगृह्णीतां किङ्करस्याऽविजानतः ।
समुध्दरतं[5] मां कृच्छ्रात्पतन्तं निरयेऽशुचौ[6] ॥२०॥

1. Ml.v गृह्या° 2. K,M,Ma, T, W च्छं 3. M,Ma,Ml, T,V, W मे 4. B, G, J, K, Ml, T, V, W प्रकृष्टानां 5. G, K, M, Ma, T, W °रत 6. Ml, V °ऽशुभे।

**श्रीध०** एवं वर्तमानस्य मम सङ्कटं किञ्चिदापन्नं शृण्वित्याह - **कस्यचिदिति**। द्विजमुख्यस्य प्रतिग्रहनिवृत्तस्य। सम्पृक्ता मिलिता। अविदुषा ब्राह्मणस्येयमित्यजानता ॥१६,१७॥

**विप्राविति**। प्रतिग्राहिणोक्तम्-दातेति। स्वामिनोक्तमपहर्तेति। अभवद्भ्रमः, व्याकुलोऽभवमित्यर्थः ॥१८।

**अनुनीताविति**। तदोभावपि प्रत्येकमनुनीतौ प्रार्थितौ। कथं तदाह - गवामिति सार्धेन ॥१९, २०॥

1. Ml, v मिश्रिता

**वीर०** एवं वर्तमानस्य मम किञ्चित्सङ्कटमापन्नं शृण्वित्याह - **कस्यचिदिति**। द्विजमुख्यस्य गां प्रतिगृहीतवतो गौर्भ्रष्टा बलात् तद्धस्ताद्विमोचिता सती मम गोधने सम्पृक्ता मिलिता सा च अविदुषा पूर्वमेव कस्मैचित् दत्ता इत्येवमजानता मया द्विजातये अन्यस्मै ब्राह्मणाय दत्ता ॥१६॥

**तामिति**। तामन्यस्मै दत्तां गां दृष्ट्वा तस्याः गोः स्वामी पूर्वप्रतिगृहीतां तां गां मम मदीयेत्याह, प्रतिग्राही पश्चात्प्रतिग्रहीता मदीयैव अधुनैव मह्यं नृगो दत्तवानित्याह ॥१७॥

**विप्राविति**। भवान् दाता ततोऽपहर्ता चेत्येवमूचतुः। यतस्तौ स्वार्थसाधकौ स्वार्थपरौ, अत एवमूचतुरित्यर्थः। तद्विप्रयोः वचश्श्रुत्वा ममापि भ्रमो जातः ॥१८॥

तदा धर्मकृच्छ्रं धर्मसङ्कटं प्राप्तेन मया अनुनीतौ उपच्छन्दितौ, अनुनयनप्रकारमेवाह-गवामिति सार्धेन। प्रकृष्टानां श्रेष्ठानां गवां लक्षमन्यतरस्मै प्रदीयतां युवयोरन्यतरेणेत्यर्थः ॥१९॥

किञ्च **भवन्ताविति**। किङ्करस्य मम कर्मणः शेषत्वविवक्षयेयं षष्ठी, किङ्करं मामनुगृह्णीतामित्यर्थः। तत्र हेतुत्वेन विशिनष्टि - अविजानत इति। कृच्छाद्धर्मसङ्कटादशुचौ निरये पतन्तं मां समुद्धरतेति पूजार्थं बहुवचनम् ॥२०॥

**विज०** भ्रष्टा अभ्यस्तदेशं विहाय अन्यदेशङ्गता। संसृष्टा सङ्कुलिता अविदुषा अजानता ॥१६॥

तस्याः गोः स्वामी पूर्वतनो नाथः अन्यः प्रतिग्रहीता ममेति प्रतिगृह्याब्रवीत् ॥१७॥

विवदमानौ विप्रतिपद्यमानौ 'भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वद' (अष्टा० 1-3-47) इत्यतः आत्मनेपदम्, भ्रमः संभ्रमः ॥१८-२०॥

**नाहं[1] प्रतीच्छे वै राजन्नित्युक्त्वा स्वाम्यपाक्रमत् ।**
**नान्यद्रवामप्ययुत मिच्छामीत्यपरो ययौ ॥२१॥**

**★ ततश्च[2] कालयोगेन मृतः परममायया ।**
**❖ देव दैववशान्नीतस्तद्वदामि तवाऽग्रतः ॥२२॥**

**एतस्मिन्नन्तरे याम्यैर्दूतैर्नीतो यमक्षयम् ।**
**यमेन पृष्टस्तत्राहं देव देव जगत्पते ॥२३॥**

**पूर्वं त्वमशुभं भुङ्क्षे उताहो नृपते शुभम् ।**
**नान्तं दानस्य धर्मस्य[3] पश्य[4] लोकांश्च[4] भास्वतः ॥२४॥**

पूर्वं देवाशुभं भुञ्ज इति प्राह पतेति सः ।
तावदद्राक्षमात्मानं कृकलासं पतन्प्रभो! ॥२५॥

ब्रह्मण्यस्य वदान्यस्य तव दासस्य केशव ।
स्मृतिर्नाद्यापि विध्वस्ता भवत्सन्दर्शनार्थिनः ॥२६॥

1 M, Ma नान्यां ★ This verse is not found in G, J, MI, V edns. ❖ This half - verse is not found in M, Ma Edns. 3. K, MI, T, V, W भवतः 4- -4 B, G, J, K, MI, T, V, W पश्ये लोकस्य 5. M, Ma तव स°

**श्रीध० नेति**। अपरः प्रतिग्राही। दुराग्रहो यल्लक्षं त्वयोक्तमन्यदपि गवामयुतं यदि तदपीमां विहाय नेच्छामीत्युक्त्वा गां त्यक्त्वा ययौ इत्यर्थः ॥२१॥

**एतस्मिन्नन्तर** इति। इतः पूर्वं पापाभावान्नेतुमसमर्था इति भावः ॥२३॥

**पूर्वमिति**। उताहो इत्येकं पदम्। अभवा पूर्वं शुभमिति। नान्तमिति यमस्य स्वस्य वा वाक्यम्। पश्ये पश्यामि ॥२४॥

**ब्राह्मणस्येति**। हे देव! यम! पूर्वमशुभं भुञ्ज इति मयोक्ते, स यमः पतेति प्राह ॥२५, २६॥

**वीर०** एवमुक्तयोस्तयोरन्यतरः गोस्वामी हे राजन्! अहं गवां लक्षमपि न प्रतीच्छे न प्रतिगृह्णामि, किन्तु दत्तामेव नयामीत्युक्त्वा अपाक्रमत् ययौ। तथा अपरोऽपि प्रतिग्राही दुराग्रहः यल्लक्षं त्वया प्रतिश्रुतम्, अन्यदपि गवामयुतं दत्तं यदि तथाप्येनां विहाय नेच्छामीत्युक्त्वा गां त्यक्त्वा ययावित्यर्थः ॥२१॥

**तत** इति। हे परम! मायया परमस्य तव मायया वा हेतुभूतेन सङ्कल्पेन कालयोगेन निमित्तेन मृतः हे देव! दैववशाददृष्टवशात् यत्र नीताः तत्तवाग्रतो वदामि ॥२२॥

**एतस्मिन्निति**। हे देवदेव! जगत्पते! एतस्मिन्नन्तरे इतः पूर्वं पापाभावात् नेतुमसमर्थैरिति भावः। याम्यैः यमसम्बन्धिभिः यमसदनं प्रापितः तत्र यमसदने यमेनाहं पृष्टश्च ॥२३॥

प्रश्नमेवाह - **पूर्वमिति**। किं पूर्वम् अशुभं पापफलं भुङ्क्षे, उताहो किं वा शुभं पुण्यफलं भोक्ष्यसे, भवतो दानस्य यो लोकः लोक्यत इति लोकः फलं तस्य भास्वतः प्रकाशमानस्य उपस्थितस्य इति यावत्, अन्तम् अवधिं न पश्यामि ॥२४॥

पूर्वमेवाशुभं पापफलं भुञ्जे तस्यात्पीयस्त्वादिति भावः। इति मयोक्ते पत निरये इति शेषः। इतीत्थं स यमः मां प्राह, तावदिति। तावत्तदैव हे **प्रभो**! पतन् अहमात्मानं कृकलाममद्राक्षं दृष्टवानस्मि ॥२५॥

**ब्रह्मण्यस्येति**। हे केशव! ब्रह्मण्यस्येत्यादि विशेषण चतुष्टयं पूर्वजन्मस्मृत्यनपाये हेतुतयोपात्तं, ब्रह्मणि ब्राह्मणकुले साधुः ब्रह्मण्यः ॥२६॥

1. B °मक्षमैरिति

**विज०** अपाक्रमत् अपगतवान् ॥२१॥

याम्यैः यमस्य विद्यमानैः ॥२२॥

भुङ्क्ष्व भोक्षयसे ॥२३॥

तव दानस्य धर्मस्य अन्तं नास्ति तज्जन्यलोकान् पश्य इत्युक्तोऽहं प्राक् अशुभं भुञ्जे इत्युक्ते स यमः तर्हि पतेति मां प्राह ॥२४-२६॥

**★ स त्वं कथंमम विभोऽक्षिपयः[1] परात्मा योगेश्वरैः श्रुतिदृशाऽमलहृद्विभाव्यः ।**
**साक्षादधोक्षज उरुव्यसनान्धबुध्देः स्यान्मेऽनुदृश्य[2] इह यस्य भवापवर्गः ॥२७॥**

**देव देव जगन्नाथ गोविन्द! पुरुषोत्तम!**
**नारायण हृषीकेश पुण्यश्लोकाच्युताव्यय ॥२८॥**

**अनुजानीहि मां कृष्ण यान्तं[3] देवगतिं प्रभो ।**
**यत्र क्वापि सतश्चेतो भूयान्मे त्वत्पदास्पदम् ॥२९॥**

**नमस्ते सर्वभावाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।**
**कृष्णाय वासुदेवाय योगानां[4] पतये नमः ॥३०॥**

**इत्युक्त्वा तं परिक्रम्य पादौ स्पृष्ट्वा स्वमौलिना ।**
**अनुज्ञातो विमानाग्र्य मारुहत्पश्यतां नृणाम् ॥३१॥**

★ This verse is not found in M, Ma Edns. 1. K, T, W °ऽक्षिगतः ;Ml, V °ऽक्षपथः 2. K, T, W शान्तेऽनुदृश्य ;Ml, V स्यादेव दृश्य 3. K, M, Ma, T, W यातुं 4. M, Ma गोपानां

**श्रीध०** दुर्घटेन श्रीकृष्णदर्शनेन विस्मितस्सन्, आत्मनो भाग्यमभिनन्दति - स **त्वमिति**। हे विभो! स त्वं ममाक्षिपथो लोचनगोचरस्सन् कथं साक्षात्प्रत्यक्षोऽसीत्यर्थः। किमत्राश्चर्यं तदाह-पर आत्मा। अत एव योगेश्वरैरपि श्रुतिदृशा उपनिषच्चक्षुषाऽमले हृदि विभाव्यः चिन्त्यः। यतोऽधोक्षजः। अक्षजमैन्द्रियकज्ञानं तदधोऽवर्गिव यस्मात्सः। यस्येह भवापवर्गो भवेत् तस्य भवान्ननुदृश्यः स्यात्। उरुव्यसनेन कृकलासत्वभवेन[1] दुःखेनान्धबुद्धेस्तु ममैतच्चित्रमित्यर्थः ॥२७॥

उद्रिक्तभक्तिर्बहुधा सम्बोधयन्नाह **देव देवेति** ॥२८॥

अनुज्ञापयति - **अनुजानीहीति**। देवलोकेऽपि सतो वर्तमानस्यात्मनो मनसः सन्निधिंप्रार्थयते। यत्र क्वापीति। त्वत्पदमास्पदं विषयो यस्य तथाभूतं भूयादिति ॥२९॥

यास्यन्नमस्यति - **नम** इति। सर्वभावाय सर्वस्य भावो जन्म येन तस्मै। ब्रह्मणे कर्तृत्वेऽप्यविकाराय। कुतः? अनन्तशक्तये, अनन्ता मायाख्या शक्तिर्यस्य तस्मै। वासुदेवाय सर्वभूताश्रयायेत्युपादानत्वमुक्तम्। श्रीकृष्णाय सदानन्द रूपायेति पुरुषार्थत्वमुक्तम्। 'कृषिर्भूवाचकश्शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते। भारत° (5-68-5) इति स्मृतेः। किञ्च योगानामिष्टपूर्तादिकर्मणां पतये फलदात्रे। अयं भावः - एवम्भूतं त्वां विहाय गन्तुमनिच्छुरपि गमिष्यामि त्वद्दत्तकर्मफलभोगायेति ॥३०, ३१॥

1. B, J °सभवदुः° 2. MI, V omit कर्म

**वीर०** अलभ्यलाभेनाधुना कृतार्थोभूवमित्याह - **सत्वमिति**। हे विभो! सः यस्याहं सन्दर्शनार्थी सत्वं कथं ममाक्षिपथं गतः लोचनगोचरः, कथमित्यनेन दौर्लक्ष्यं[1] सूचितं, तत्र हेतुत्वेन विशिनष्टि - परमात्मा न हि परमात्मा केवलं मांस चक्षुषा वीक्ष्य इति भावः। किञ्च योगेश्वरैः श्रुतिदृशा उपनिषच्चक्षुद्वारिण निर्मले हृदये विभाव्यः केवलं चिन्त्यः, यद्यप्येवमथापि हे अधोक्षज! अभक्तेन्द्रियजन्यज्ञानाविषयः यस्य भवापवर्गः संसारनाशः तस्योरुणा व्यसनेनान्धा बुद्धिर्यस्य तथाभूतस्यापि शान्ते सति हृदये त्वं दृश्य एवेत्यर्थः ॥२७॥

हर्षातिशयेन बहुधा सम्बोधयन् किञ्चित्प्रार्थयमान श्चानुज्ञां पृच्छति - **देव देवेति** द्वाभ्याम्। देवगतिं स्वर्गलोकं प्रति यातुं गन्तुमुद्यतं मामनुजानीहि आज्ञापय, यत्र क्वापि सतो वर्तमानस्य मम चेतः त्वत्पदास्पदं त्वत्पदारविन्दसंश्रयं भूयात् तथाऽनुगृहीष्वेत्यर्थः ॥२८, २९॥

यास्यन्नमस्करोति - **नमस्ते** इति। ते तुभ्यं सर्वभावाय **सर्वः** भावः पदार्थो यस्य शरीरत्वेनेति स तथा तस्मै तत्र हेतुः ब्रह्मणे स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयबृहत्त्वाय अनन्ताश्शक्तयः कार्योपयुक्ताऽपृथक्सिद्धप्रकृतिपुरुषकाल सार्वज्ञ्य सर्वशक्तित्वादयो यस्य तस्मै। योगानां पतये निर्वाहकाय ॥ ३० ॥

**इतीति**। स्वमौलिना स्वकिरीटेन विमानाग्र्यं विमानश्रेष्ठम् आरुरोह नृणां पश्यतां सताम् ॥ ३१ ॥

1. K. दौर्लभ्यं

**विज०** देवगतिं स्वर्गम् ॥ २७ ॥

यत्र क्वापि योनिविशेषे सतः सम्भवतः ॥ २९ ॥

सर्वभावाय सम्पूर्णैश्वर्याय सर्वोत्पादनकर्त्रे वा। अखण्डलीलयेति वा ॥ ३०,३१

**कृष्णः परिजनं प्राह भगवान्देवकीसुतः ।**
**ब्रह्मण्यदेवो धर्मात्मा राजन्याननुशिक्षयन् ॥ ३२ ॥**

**दुर्जरं बत ब्रह्मस्वं भुक्तमग्नेर्मनागपि ।**
**तेजीयसोऽपि किमुत राज्ञामीश्वरमानिनाम् ॥ ३३ ॥**

**नाऽहं हालाहलं मन्ये विषं यस्य प्रतिक्रिया ।**
**ब्रह्मस्वं हि विषं प्रोक्तं नाऽस्य प्रतिविधिर्भुवि ॥ ३४ ॥**

**हिनस्ति विषमत्तारं वह्नि[1]रद्भिः प्रशाम्यति ।**
**कुलं समूलं दहति ब्रह्मस्वारणिपावकः ॥ ३५ ॥**

**ब्रह्मस्वं दुरनुज्ञातं भुक्तं हन्ति त्रिपूरुषम् ।**
**प्रसह्य[2] तु बला[3]द्भुक्तं दश पूर्वान्दशापरान् ॥ ३६ ॥**

**राजानो राजलक्ष्म्यान्धा नात्मपातं विचक्षते ।**
**निरयं[4] येऽभिमन्यन्ते ब्रह्मस्वं साधुबालिशाः ॥ ३७ ॥**

1. K, M, Ma, T, W अग्नि 2. M, Ma °ह्याति 3. K. T, W °क्ष्म्या च ;M, Ma क्ष्म्याश्च 4. M, Ma निरये।

**श्रीध० दुर्जरमिति**। मनागीषदपि भुक्तं सदग्नेरग्नि सदृशस्य तेजीयसोऽतितेजस्विनोऽपि दुर्जरम् ॥ ३२-३४॥

किञ्च विषादपि घोरमित्याह - **हिनस्तीति**। संसर्गि संसर्गेण मारकत्वादग्नितुल्यता स्यात्, तदपि नेत्याह-वह्नि रिति। अपि च समूलमिति वह्निर्मूलान्यवशेषयति, ब्रह्मस्वलक्षणारणिजः पापपावकस्तु कुलं तदपि समूलमिति ॥ ३५॥

**ब्रह्मस्वमिति**। दुरनुज्ञातं यथावदननुज्ञातम्। त्रिपूरुषं कुलं स्वं पुत्रं पौत्रं च। प्रसह्य हठात्। बलाद्राजाद्याश्रयतः॥ ३६॥

**राजान** इति। ये ब्रह्मस्वमभिमन्यन्ते इच्छन्ति ते निरयमेवाभिमन्यन्ते। अतो बालिशा अज्ञा आत्मपातं न विचक्षत इति ॥ ३७॥

**वीर० कृष्ण** इति। ब्रह्मण्यदेवो धर्मात्मेति च हेतुगर्भम्। तत्त्वात्, राजन्याननुशिक्षयन् इत्यत्र 'लक्षणहेत्वोः' (अष्टा 3-2-126) इति शत्रादेशः, अनुशिक्षयितुमित्यर्थः। परिजनं परितो विद्यमानं प्रति आह ॥ ३२॥

उक्तिमेवाह - **दुर्जरमित्यादिना** एतद्विश्राव्येत्यतः प्राक्तनेन। बतेत्याश्चर्ये। ब्रह्मस्वं मनागीषदपि भुक्तं सत् अग्नेरग्निसदृशस्य अतितेजस्विनोऽपि दुर्जरं दुःखेनापि न जीर्यतीति तथा, किं वक्तव्यम् ईश्वरम्[1]न्यानां राज्ञां दुर्जरमिति ॥ ३३॥

किञ्च **नाहमिति**। हालाहलं न विषं मन्ये, कुतः? यस्य हालाहलस्य प्रतिक्रिया प्रतीकारः, वर्तत इति शेषः। किन्तु ब्रह्मस्वमेव विषं प्रोक्तम् हि यस्मादस्य ब्रह्मस्वस्य भूमौ प्रतिक्रिया नास्ति ॥ ३४॥

किञ्च **हिनस्तीति**। विषं तु अत्तारं भक्षयितारमेव हन्ति, अग्निस्तु अद्भिर्जलैः प्रशाम्यति, अनेन संसर्गि संसर्गेण मारकत्वादग्नितुल्यता स्यात् इत्येतदपि नास्तीत्युक्तम्। अपि च समूलमिति वह्निर्हि मूलान्यवशेषयति, ब्रह्मस्वलक्षणः अरणिजः पावकस्तु कुलं तदपि समूलं दहति ॥ ३५॥

किञ्च - **ब्रह्मस्वमिति**। दुरनुज्ञातं सम्यगननुज्ञातं सत् भुक्तं स्वं पुत्रं पौत्रं चेति त्रीन् पुरुषान् दहति, बलात् राजाद्याश्रयबलात् प्रसह्य बलात्[2]कृत्य भुक्तं तु दश पूर्वान् पितृपितामहादीन् हन्ति, नरके पातयति अपरान् पुत्रपौत्रादीन् दश नाशयति ॥ ३६॥

तर्हि राजानः किमिति ब्रह्मस्वं भुञ्जत इत्यत्राह - **राजान** इति। ये राजानः साधु यथा तथा ब्रह्मस्वमभिमन्यन्ते आकाङ्क्षन्ति, ते राज्यलक्ष्म्या अन्धा इति शेषः। आत्मा पतत्यस्मिन्निति तथा तन्निरयं न प्रचक्षते न प्रतीक्षन्ते न विचारयन्ति, अतस्ते केवलं बालिशाः मूढाः ॥ ३७॥

1. B मन्यमानानां 2. B. °कृत्वा

**विज०** परिजनं परित उपासमानं जनम् ॥ ३२ ॥

अग्नेरपि दुर्जरं जीर्णीकर्तुमशक्यं मनागल्पमपि किं पुनरन्यस्येत्यर्थः ॥ ३३ ॥

प्रतिनिधिः प्रतिक्रिया नास्ति ॥ ३४ ॥

ब्रह्मस्वाख्यारणिजन्यपावकः ॥ ३५ ॥

दुरनुज्ञातम् अनुज्ञां विना भुक्तम्, अननुज्ञातं वा प्रसह्य अविचार्य ॥ ३६ ॥

राजलक्ष्म्या राजश्रियः पातं निरये आत्मपातं च न प्रचक्षते न पश्यन्ति। ये ब्रह्मस्वं साधु मन्यन्ते ते बालिशाः ॥ ३७ ॥

**श्रीशुक उवाच**

**गृह्णन्ति यावतः पांसून् क्रन्दतामश्रुबिन्दवः[1] ।**
**विप्राणां हृतवृत्तीनां[2] वदान्यानां कुटुम्बिनाम् ॥३८॥**

**राजानो राजकुल्याश्च तावतोऽब्दान्निरङ्कुशाः[3] ।**
**कुम्भीपाकेषु[4] पच्यन्ते[4] ब्रह्मदायापहारिणः ॥३९॥**

**स्वदत्तां परदत्तां वा ब्रह्मवृत्तिं हरेच्च[5] यः ।**
**षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः ॥४०॥**

**न[6] मे ब्रह्मधनं भूयाद्[7] यद्दुध्वाऽल्पायुषो[8] नृपाः ।**
**पराजिताश्च्युता[9] राज्याद्भवन्त्युद्वेगिनो[10] हि ये ॥४१॥**

विप्रं कृतागसमपि मैव[11] द्रुह्यत मामकाः ।
घ्नन्तं बहु शपन्तं वा नमस्कुरुत नित्यशः ॥४२॥
यथाऽहं प्रणमे विप्रान्[12]ननुकालं समाहितः ।
तथा नमत यूयं च योऽन्यथा मे स दण्डभाक् ॥४३॥
ब्राह्मणार्थो ह्यपहृतो हर्तारं पातयत्यधः ।
अजानन्तमपि ह्येनं नृगं ब्राह्मणगौरिव ॥४४॥
एवं[13] विश्राव्य भगवान्मुकुन्दो द्वारकौकसः[14] ।
पावनः सर्वलोकानां[15] विवेश निजमन्दिरम् ॥४५॥★

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे चतुष्षष्टितमोऽध्यायः ॥६४॥

---

★ The following extra verses belong to Vijayadhvaja are found in M, Ma edns. in between 37 & 38 slokas. सद्भिः समागमो राजन् कदाचिन्नाफलो भवेत्। विमुक्तो नरकाद्राजा नृगः साधु समागमात्॥ साधूनां दर्शनं स्पर्शं कीर्तनं स्मरणं तथा। तीर्थानामिव पुण्यानां सर्वमेव हि पावनम्॥ एतच्छ्रुत्वा त्वया सन्तः सदोपास्याः परन्तप। ब्रह्मस्वं मैव हर्तव्यं यदीच्छसि पराङ्गतिम्॥ 1. K. M, Ma, MI, T. V. W रुदता 2. K, M, Ma, MI, T, V, W वित्तानां 3. M, Ma तावन्तों° 4- -4 K, T, W कुम्भीपाकेन प° ;M, Ma नरके तु वि° 5. K, M, Ma, MI, T, V, W °त 6. MI, V मा 7. M, Ma °द्यङ्गध्वा 8. B,G, J नराः 9. K, M, Ma, T, W स्थानात् 10 B, G, J °जिनोऽहयः ;M, Ma जिता नृपाः ; K, T, W जिनो वयम् 11. B, G, J, K, M, Ma नैव 12. M, Ma °प्रान्सर्वं° 13. K, T, W एतत् 14. MI, V °रका प्रजाः 15. K. T, W भूतानां

**श्रीध०** अपि च **गृह्णन्तीति** ॥३८-४०॥

**नेति**। गृध्द्वा अभिकाङ्क्ष्य ॥४१, ४२॥

**यथेति**। प्रणमे नमामि ॥४३॥

न केवलमर्थवादविभीषिकेयं किन्तु प्रत्यक्षमित्याह - ब्राह्मणार्थ इति ॥४४, ४५॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां चतुष्षष्टितमोऽध्यायः॥ ६४॥

**वीर०** गृह्णन्तीत्यादि श्लोकद्वयमेकान्वयम्। हृतं वित्तं येषां तेषाम् अत एव रुदतां विप्राणाम् अश्रुबिन्दवः यावतः पांसून् गृह्णन्ति आर्द्रान्कुर्वन्ति तावतोऽब्दान्वत्सरान् कुम्भीपाकेन निरयेण पच्यन्ते. ब्रह्मदायापहारिणः ब्रह्मस्वापहारिणः निरङ्कुशाः दुर्निवाराः राजादिविशेषणमिदं द्वयम् ॥३८, ३९॥

**स्वदत्तामिति**। ब्रह्मवृत्तिं ब्राह्मणस्याजीविकाम् ॥४०॥

ब्रह्मस्वं न मां स्पृशेदित्याशास्ते **नम** इति। विपर्ययेऽनर्थमाह - यदिति। यद्ब्रह्मधनं गृध्द्वा अभिकाङ्क्ष्य अल्पायुषः पराजिताश्च राज्याद्भ्रष्टाश्च भवन्ति, अतो वयमुद्वेजिनः भीतिमन्तो भवेम ॥४१॥

**विप्रमिति**। मामका यदि यूयं मदीयास्तर्हि कृतापराधमपि विप्रं नैव द्रुह्यत, आर्षत्वात् 'क्रुधद्रुहं' (अष्टा°1-4-37) इति चतुर्थ्यभावः, किन्तु बहु यथा तथा शपन्तमपि नित्यं नमस्कुरुत ॥४२॥

इदमेव स्वदृष्टान्तेन द्रढयति **यथेति**। अनुकालं त्रिसन्ध्यं प्रणमे नमस्करोमि, योऽन्यथा न नमेत् स दण्डभाक् मे मत्तः ॥४३॥

न केवलमर्थवाद इति बिभीषिकेयम्, किन्तु प्रत्यक्षमित्याह - **ब्राह्मणार्थ** इति। ब्राह्मणार्थो विप्रधनं हर्तारम् अधो नरके पातयति, यथा अजानन्तमेनं नृगं ब्राह्मणस्य गौरपातयत् तद्वत्. अजानन्तमपीत्यनेन किमु वक्तव्यं जानन्तं पातयतीति कैमुत्यन्यायोऽभिप्रेतः ॥४४॥

**एतदिति**। द्वारकौकसः प्रति एतत् उक्तं श्रावयित्वा, तत्र हेतुः - सर्वलोकानां पावनः ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां चतुष्षष्टितमोऽध्यायः ॥६४॥

**विज०** यद्ब्रह्मस्वं जग्ध्वाऽल्पायुषो भवन्ति ॥३८-४१॥

द्रुह्यत द्रोहं न कुरुत ॥४२-४४॥

सर्वलोकानां पावनः शुध्दिकर्ता ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे चतुष्षष्टितमोऽध्यायः ॥६४॥

(विजयध्वजरीत्या सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥८७॥)

# पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या अष्टाशीतितमोऽध्यायः)

बलरामस्य पुनर्नन्दव्रजागमनकथा

श्रीशुक उवाच

बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ भगवान्रथमास्थितः[1] ।
उत्कण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥ १ ॥

परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठै र्गोपैर्गोपीभिरेव च ।
रामोऽभिवाद्य पितरावाशीर्भिरभिनन्दितः ॥ २ ॥

चिरं नः पाहि दाशार्ह सानुजो जगदीश्वर[2] ।
इत्यारोप्याङ्कमालिङ्ग्य नेत्रैः सिषिचतुर्जलम्[3] ॥ ३ ॥

गोपवृद्धांश्च विधि वद्यविष्ठैरभिवन्दितः[4-4] ।
यथावयो यथासख्यं यथासम्बन्धमात्मनः ॥ ४ ॥

समुपेत्याऽथ[5] गोपालान्[6] हास्यहस्तग्रहादिभिः ।
विश्रान्तं सुखमासीनं पप्रच्छुः पर्युपागताः[7] ॥ ५ ॥

1. K.T.W. °श्रितः 2. B.G.J. रः 3. B.G.J.K. M.Ma. T.W °र्जलैः 4- -4 M. Ma. T.W. °द्यविष्ठैरभिवादितः ;MI. V °द्यभिवन्द्याभिवादितः 5. M. Ma त मु° 6. M.Ma. MI.V. °लाः हास्य 7. M. Ma. °पासिताः ।

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पञ्चषष्टितमे राम श्चक्रे गोकुल मागतः। रममाणस्तु गोपीभिः कालिन्द्याः कर्षणं मदात् ॥

रामस्य चरितं चित्रं कालिन्द्याकर्षणादि यत्। पौण्ड्रकान्तादि कृष्णस्य पृथगुक्तं[1] ततः परम् ॥ १ ॥

**परिष्वक्त** इति। आशीर्भिरभिनन्दितो बभूव ॥ २ ॥

तदाह - **चिरमिति** ॥ ३ ॥

**गोपवृद्धानिति** । गोपवृद्धांश्च विधिवदभिवन्द्य यविष्ठैरभिवन्दितो बभूवेत्यर्थः । अपि च यथावय इति ॥ ४ ॥

**समुपेत्येति** । ते सर्वे स्वेषु यादवेषु तं राममनामयमारोग्यं पप्रच्छुः । ते च तेन पृष्टा इति ॥ ५ ॥

1. B.J. क गतः

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ प्रत्येकं रामकृष्णयोश्चेष्टितानि वर्णयति **बलभद्र** इति । हे कुरुश्रेष्ठ! सुहृद्दिदृक्षुरिति समस्तं पदम् । सुहृदो बन्धून् द्रष्टुमिच्छुः, तत्र हेतुरुत्कण्ठः प्रेमयुतः तद्विषयाभिलाषयुक्तो वा ॥ १ ॥

**परिष्वक्त** इति । आलिङ्गितः पितरौ यशोदानन्दगोपौ अभिवाद्य प्रणम्य ताभ्यामाशीर्भिरभिनन्दितश्च ॥ २ ॥

तदेवाह - **चिरमिति** । हे दाशार्ह! हे जगदीश्वर! इदं सम्बोधनद्वयं हेतुगर्भम् । जगदीश्वरत्वा त्वाश्रितसंरक्षणार्थं दाशार्हेष्ववतीर्णत्वाच्च मानुजस्त्वं नोऽस्मान् चिरं पाहि चिरमात्मरक्षाप्रार्थनेनैव[1] तयोर्दीर्घायुष्ट्वादिकं सर्वं प्रार्थितप्रायमेव तेन विना तदनुपपत्ते रित्याशयेन चिरं पाहीत्युक्तम्, इतीति । आदिश्याऽऽशास्य नेत्रैः नेत्रजैर्जलैः हर्षजलै स्सिषिचतुः स्नपयामासतुः

**गोपवृद्धानिति** । ततो गोपवृद्धांश्चाभिवाद्येति शेषः । यविष्ठैः न्यूनवयस्कैः अभिवन्दितः, किञ्च यथावय इति । अथ ततो हास्यादिभिः आदिशब्देन आलिङ्गनादि सङ्ग्रहः । आत्मनः स्वस्य वयस्सख्यसम्बन्धानुरूपम् ॥ ४ ॥

गोपान् समुपेत्य उपविवेशेति शेषः ॥ ५ ॥

1. T.W. °नयैव

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भगवच्छिक्षितकेशाविष्टस्य शेषावतारस्य बलभद्रस्य हरिमाहात्म्याविनाभूतं माहात्म्यं वर्णय त्यनेन प्रारिप्सितेनाऽध्यायत्रयेण् । तत्र प्रथमे यमुनामदहरणलक्षणं विक्रमं वक्तुं बलस्य गोकुलगमनं वक्ति । द्वितीये द्विविदवधलक्षणं, तृतीये कौरवगर्वनिर्वापणार्थं तत्पुराकर्षणलक्षणं वक्तुं दुर्योधनसुताहरणं वक्ति ॥ १ ॥

पितरौ यशोदानन्दौ गोपौ ॥ २ ॥

इति समाप्ताभिवादनादिकर्माणं तं राममङ्कमारोप्य नेत्रैश्चक्षुर्नाडीनिर्गतैः 'नेत्रं नाड्यांतरोः मूले' (वैज. को. 6-3-17) इति यादवः ॥ ३ ॥

यविष्ठैः कनिष्ठैः ॥ ४ ॥

हास्येन मन्दस्मितेन, हस्तग्रहेण, आदिशब्देन परिरम्भणादिकं गृह्यते ॥ ५ ॥

**[1-]पृष्टाश्चानामयं स्वेषु [-1]प्रेमगद्गदया गिरा ।**
**कृष्णे कमलपत्राक्षे सन्न्यस्ताखिलराधसः ॥ ६ ॥**

**कच्चिन्नो बान्धवा राम सर्वे कुशलमासते ।**
**कच्चित्स्मरथ नो राम यूयं दारसुतान्विताः ॥ ७ ॥**

**दिष्ट्या कंसो हतः पापो दिष्ट्या मुक्ताः सुहृज्जनाः ।**
**निहत्य निर्जित्य रिपून्दिष्ट्या दुर्गं समाश्रिताः ॥ ८ ॥**

**गोप्यो हसन्त्यः पप्रच्छू रामसन्दर्शनादृताः ।**
**कच्चिदास्ते सुखं कृष्णः पुरस्त्रीजनवल्लभः ॥ ९ ॥**

**कच्चित्स्मरति वा बन्धून्पितरं मातरं च [2]नः ।**
**★ अप्यसौ मातरं द्रष्टुं सुकृदप्यागमिष्यति ॥**
**अपि वा स्मरतेऽस्माकमनुसेवां महाभुजः ॥ १० ॥**

1- -1 K.T.W. पृष्ट्वा च अनामयं स्वेषु ;M. Ma पृष्टश्चाकथयत्स्वेषु ;Ml.V पृष्टाश्चनामयं प्रीताः 2. B.G.J.K.M. Ma. T.W. सः ★ This extra half verse is found in B.G.J. editions only.

**श्रीध० पृष्टाश्चेति** । कृष्णे कृष्णप्राप्त्यर्थं सन्न्यस्ताखिलराधस स्त्यक्तसर्वविषयाः ॥ ६-८ ॥

**[1-]गोप्य** इति । रामस्य सन्दर्शनेनादृताः [-1]सादराः ॥ ९, १० ॥

1- -1 Ml.V. Omit

**वीर० पृष्टाश्चेति**। अनामयमारोग्यं पृष्ट्वा कमलपत्राक्षे कृष्णे सन्न्यस्ताः सम्यङ्निहिताः अखिलाः सकला राधसः बुद्धयो यैस्ते कृष्णैकप्रवणचित्ता इत्यर्थः। प्रेम्णा गद्गदया गिरा परिपप्रच्छुः ॥ ६ ॥

प्रश्नमेवाह-**कच्चिदित्यादिना**। हेराम ! नोऽस्माकं सर्वे बान्धवाः कुशल मासते; कच्चिद्दारैस्सुतैरन्विताः, इदं विस्मृत्यभावसूचकं विशेषणम्। यूयं नोऽस्मान् स्मरथ कच्चित् ?॥ ७॥

दिष्ट्येत्यानन्दे, अयमस्माकमानन्द इत्यर्थः। सुहृज्जनाः वसुदेवदेवक्यादयः मुक्ताः कंसनिर्बन्धात् मोचिताः, कांश्चिद्रिपून्निहत्य कांश्चिन्निर्जित्य च दुर्गं जलदुर्गं द्वारकामित्यर्थः ॥८॥

**गोप्य** इति। रामस्य सन्दर्शने पुनः पुनर्वीक्षणे आदृताः पप्रच्छुः, प्रश्नमेवाह - कच्चिदास्त इति। पुरस्त्रीजनवल्लभ इत्यनेन ग्राम्यस्त्रीष्वात्मसु तस्य प्रीत्यभावो हेतुगर्भितः ॥९॥

स कृष्णः पितरं नन्दं मातरं यशोदां च स्मरति कच्चित् ? अपि वेति। अस्माकमनुसेवामनुवर्तनं स्मरते किं वा? न स्मरत्येवेति भावः ॥ १०॥

**विज०** सन्न्यस्ताखिलराधसः समर्पित समस्तसम्पदः ॥६-८॥

रामसन्दर्शनेनादृताः जातबहुमानाः ॥९॥

अस्माकमनुसेवां स्मरते न वा ॥ १०॥

**मातरं पितरं भ्रातॄन्पतीन्पुत्रान्स्वसॄरपि ।**
**यदर्थे जहिम दाशार्ह दुस्त्यजान्स्वजनान्प्रभो ॥ ११ ॥**

**ता नः सद्यः परित्यज्य गतः सच्छिन्नसौहृदः ।**
**कथं नु तादृशं स्त्रीभिर्न श्रद्धीयेत भाषितम् ॥ १२ ॥**

**कथं नु गृह्णन्त्यनवस्थितात्मनो वचः कृतघ्नस्य बुधाः पुरस्त्रियः ।**
**गृह्णन्ति वै चित्रकथस्य सुन्दरस्मितावलोकोच्छ्वसितस्मरातुराः ॥ १३ ॥**

**किं नस्तत्कथया गोप्यः कथाः कथयतापराः ।**
**यात्यस्माभिर्विना कालो यदि तस्य तथैव नः ॥ १४ ॥**

**इति प्रहसितं शौरेर्जल्पितं चारु वीक्षितम् ।**
**गतिं प्रेमपरिष्वङ्गं स्मरन्त्यो रुरुदुः स्त्रियः ॥१५॥**

1. K. Ml. T. V. W अत्याक्ष्म ; M. Ma. हिन्म 2. K.T.W. वाचः 3- -3 M. Ma मुधा प° 4. M. Ma कृष्णस्य

**श्रीध० ता** इति। तर्हि तद्गमने युष्माभिः प्रतिबन्धः किं न कृतः तद्वाक्यविश्वासादिति चेत्, ननु विश्वासः किमिति कृतस्तत्राहुः - कथंन्विति। वक्तृबहुत्वान्नानाविधानि वाक्यानि ॥ ११, १२॥

तत्रान्या ऊचुः - **कथं नु गृह्णन्तीति**। अन्या ऊचुः - गृह्णन्ति वा इति। चित्रकथस्य चित्रकथाकथनकोविदस्य। किञ्च सुन्दरं स्मितं यस्मिंस्तेनावलोकेनोऽच्छ्वसितः क्षुभितो यः स्मरस्तेनातुराः ॥ १३॥

तत्रान्या ऊचुः - **किं न** इति। कालस्तावत्तस्य चास्माकं च यात्येव। किन्तु तस्य सुखेन, अस्माकं तु दुःखेनेत्येतावानेव विशेष इति ध्वनितम् ॥ १४, १५॥

**वीर०** एतदेव स्पष्टयितुं तस्य सौहार्दाभावमाहुः - **मातरमिति** सार्धेन। हे दाशार्ह! हे प्रभो! मात्रादीनन्यांश्च स्वजनान् यदर्थे यन्निमित्तम् अत्याक्ष्म त्यक्तवत्यः, ताः नोऽस्मान् सद्य एव परित्यज्य गतः, अत एव सञ्छिन्नं सौहृदं येन तथाभूतः तर्हि तद्गमने युष्माभिः प्रतिबन्धः किं न कृतः, तद्वाक्यविश्वासादिति चेत् विश्वासः किमिति कृतः, तत्राऽऽहुः - कथं न्विति अर्धेन। तादृशमित्यनेन वञ्चनशीलत्वं विवक्षितम्। स्त्रीभिरित्यनेन मौढ्यमभिप्रेतम्। कथं न श्रद्धीयेत न विश्वस्येत अज्ञत्वाद्विश्वसितवत्यस्मेति भावः॥ ११,१२॥

वक्तृबहुत्वान्नानाविधानि वाक्यानि तत्रान्या ऊचुः - **कथमिति**। अनवस्थितः चञ्चलः आत्मा मनो यस्य तस्य कृतघ्नस्य च कथन्नु बुधाः कुशलाः पुरस्त्रियो गृह्णन्ति विश्वसन्ति। अन्या ऊचुः - गृह्णन्ति वा इति। विचित्राः कथाः भाषणानि यस्य तस्य, हेतुगर्भमिदम्। भाषणेनैव व्यामोहयितुरित्यर्थः। सुन्दरं स्मितं यस्मिन् तेन अवलोकनेन उच्छ्वसित उद्दीपितो यः स्मरः कामः तेनाऽऽतुराः आकुलाः, इदमपि हेतुगर्भम्। तत्वात्ताः गृह्णन्ति, वै इति निश्चये ॥ १३॥

अपरा ऊचुः - **किं न** इति। हे गोप्यः! तस्य कथया वार्तया नोऽस्माकं किं को वा पुरुषार्थः, अतोऽन्याः कथाः कथयत, तस्य श्रीकृष्णस्यास्माभिर्विना यदि कालो याति, तर्हि तथैव नोऽस्माकमपि यात्येव, किन्तु तस्य सुखेन अस्माकं तु दुःखेनेत्येतावानेव विशेष इत्यनेन ध्वनितम् ॥ १४॥

**इतीति**। प्रेम्णा परिष्वङ्गमालिङ्गनं च स्मरन्त्यः ॥ १५॥

**विज०** यस्य कृष्णस्यार्थे दृढस्नेहनिमित्तं मात्रादीन् स्वजनान् हित्वा अन्याश्च छान्दसप्रयोगः ॥ ११ ॥

स्त्रीभिस्तादृशं गुडजिह्विकालक्षणं भाषितं कथं नु न श्रद्धीयेन श्रद्धेयमेवेत्यर्थः ॥ १२ ॥

अस्मदन्यानेव श्रद्दधत इत्याहुः - **कथमिति**। परस्त्रियः अस्मदन्यस्त्रियः, अन्यत्र उत्तमस्त्रियः, अनवस्थितात्मनः चञ्चलमनसः, अन्यत्र सङ्गरहितस्य कृतघ्नस्य अनुपकारिणः, अन्यत्रकारिणः विनाशिनः कृष्णस्य पुमर्थीनस्य अन्यत्र पूर्णानन्दस्य मुधावचः कथं नु गृह्णन्ति अन्यत्र मुधा कथं न गृह्णन्ति सार्थमेव गृह्णन्तीत्यर्थः। वैचित्रा नानाविधाः कथाः वाक्यप्रबन्धा यस्य स तथा तस्य उभयत्र समं कीदृश्यः सुन्दरस्मितावलोकेन उच्छ्वसितेन उद्धतेन स्मरेण आतुराः अन्यत्र निरन्तरस्मरणपरवत्यः ॥ १३ ॥

हरये प्रेम्णा कम्पन्त्यो मिथो जल्पन्ति **किं न** इति। हे गोप्यः! अपराः कथाः कथयत तस्य कृष्णस्य कथया किं नः प्रयोजनम्? तस्य कृष्णस्य यद्यस्माभिर्विना कालो याति। तथा तर्हि तेन विना नः कालोऽपि यातीत्यन्वयः ॥ १४ ॥

शुकः स्त्रीणां धैर्यशिथिलं वचनं वज्रधारोपममिति लोकसिद्धमित्याशयेनाह -**इतीति**। इत्थमुक्त्वा शौरेः कृष्णस्य प्रहसितादि च स्मरन्त्यो रुरुदुरित्यन्वयः ॥ १५ ॥

**सङ्कर्षणस्ताः कृष्णस्य सन्देशैर्हृदयङ्गमैः ।**
**सान्त्वयामास भगवान्नानानुनय कोविदः ॥ १६ ॥**

**द्वौ मासौ तत्र चावात्सीन्मधुं माधवमेव च ।**
**रामः क्षपासु भगवान्गोपीनां रतिमावहन्[1] ॥ १७ ॥**

**पूर्णचन्द्रकलामृष्टे कौमुदीगन्धवायुना ।**
**यमुनोपवने रेमे सेविते स्त्रीगणैर्वृतः ॥ १८ ॥**

**वरुणप्रेषिता[2] देवी वारुणी वृक्षकोटरात् ।**
**पतन्ती तद्वनं सर्वं स्वगन्धेनाध्यवासयत्[3] ॥ १९ ॥**

**तं गन्धं मधुधाराया वायुनोपहृतं बलः ।**
**आघ्रायोपगतस्तत्र ललनाभिः समं[4] पपौ ॥ २० ॥**

1. T.W. मुद° 2. Mi. V. °रि° 3. M. Ma सौरभेना° 4. K.M. Ma. T. W. पपौ समम्

**श्रीध० सङ्कर्षण** इति। नानाविधेष्वनुनयेषु कोविदः ॥ १६ ॥

**द्वाविति**। मधुं चैत्रम्। माधवं वैशाखम्। गोपीनां रतिमिति श्रीकृष्ण क्रीडासमयेऽनुपन्नानामतिबालानां अन्यासामित्यभियुक्त प्रसिद्धिः ॥ १७ ॥

**पूर्णेति**। पूर्णचन्द्रस्य कलाभिः मरीचिभिरामृष्टे उज्ज्वलिते। कौमुदीगन्धवायुना कुमुद्वतीनां गन्धसहितेन सेविते। यद्वा कौमुदीशब्देन तद्विकासितानि कुमुदानि लक्ष्यन्ते कुमुदगन्धवायुनेत्यर्थः ॥ १८ ॥

**वरुणेति**। वारुणी सुधया सहोत्पन्ना मदिरा ॥ १९, २० ॥

**वीर० सङ्कर्षण** इति। नानाविधेषु अनुनयेषु सान्त्वनेषु कोविदो निपुणः ताः गोपीः सान्त्वयामास ॥ १६ ॥

**द्वाविति**। मधुं चैत्रं माधवं वैशाखं चेत्येतौ द्वौ मासाववात्सीदुषितवान्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, कथम्भूतस्सन्? तासु मधुमाधवयोस्सम्बन्धिनीषु क्षपासु रात्रिषु गोपीनां पूर्वं स्वपरिगृहीतगोपीनां व्रजान्निष्क्रमणान्तरमुत्पन्नानां वा रतिमनुरागमावहन् उद्रेचयन् ॥ १७ ॥

किञ्च **पूर्णेति**। पूर्णचन्द्रस्य कलाभिः मरीचिभिः आमृष्टे उज्ज्वले कौमुदीगन्धवायुना कुमुद्वतीनां गन्धवातेन सेविते। यद्वा कौमुदीशब्देन तद्विकासितानि कुमुदानि लक्ष्यन्ते, कुमुदगन्धवायुनेत्यर्थः यमुनायाः उपवने स्त्रीसमूहैः परिवृतो रेमे क्रीडितवान् ॥ १८ ॥

**वरुणेति**। वारुणी सुधया सह उत्पन्ना मदिरा, सा च वरुणप्रेरिता सती इदमेव तस्यां वारुणीशब्दप्रवृत्तौ निमित्तम्। वृक्षकोटरादापतन्ती अधस्स्रवन्ती स्वगन्धेन तद्वनमध्यवासयत् परिमलयाञ्चकारेत्यर्थः ॥ १९ ॥

**तमिति**। तं वायुनोपहृतं घ्राणं प्रत्यानीतं मधुधारायाः गन्धमाघ्राय तत्रागतो बलो रामः स्त्रीभिस्सह पपौ पीतवान् ॥ २० ॥

**विज०** मधुं माधवं वसन्तर्तुम् ॥ १६, १७ ॥

कौमुदी कुमुद्वती तस्याः गन्धेन संपृक्तेन वायुना सेविते ॥ १८ ॥

अध्यवासयत् - संस्कारोपेतमकरोत् ॥ १९, २० ॥

**★ उपगीयमान उद्गयन्वनिताशोभिमण्डले ।**
**रेमे करेणुयूथेषु माहेन्द्र इव वारणः ॥ २१ ॥**

नेदुर्दन्दुभयो व्योम्नि ववृषुः कुसुमैर्मुदा ।
गन्धर्वा मुनयो रामं तद्वीर्यैरीडिरे मुदा ॥ २२ ॥

उपगीयमानचरितो वनिताभिर्हलायुधः ।
वनेषु व्यचरत्क्षीवो [4]मदविह्वललोचनः[4] ॥ २३ ॥

[5]स्रग्व्येककुण्डलो मत्तो वैजयन्त्या च मालया ।
बिभ्रत्स्मितमुखाम्भोजं स्वेदप्रालेयभूषितम् ॥ २४ ॥

स [6]चाऽऽजुहाव यमुनाञ्जल क्रीडार्थमीश्वरः ।
[7]निजं वाक्यमनादृत्य मत्त इत्यापगां बलः ॥
अनागतां हलाग्रेण कुपितो विचकर्ष ह ॥ २५ ॥

पापे त्वं मामविज्ञाय यन्नायासि मयाऽऽहुता ।
नेष्ये त्वां लाङ्गलाग्रेण शतधा कामचारिणीम् ॥ २६ ॥

★ This verse is not found in G. J. M. Ma. editions. 1. Ml. V. रेजे 2. Ml. V °शो 3- -3 B. °न्द्रो वारणो यथा 4- -4 M. Ma माहेन्द्र इव वारणः 5. M. Ma. शुभैक° 6. B. G. J. K. Ml. T. V. W. आ° 7. M. Ma. T.W. निज

**श्रीध० उपगीयमानेति**। क्षीबो मत्तः ॥ २१, २२ ॥

**स्रग्वीति**। स्वेद एव प्रालेयं हिमं तेन भूषितम् ॥ २३, २४ ॥

**स** इति। मत्तोऽयमित्यनादृत्य अनागतामापगां नदीम् ॥ २५ ॥

**पापे** इति। आहुता आहूता यत् यस्मान्नागच्छसि तस्मात्। नेष्ये गमयिष्यामि ॥ २६ ॥

**वीर०** वनितानां शोभिनि मण्डले उपगीयमानः स्वयं चोद्गायन् रेमे, यथा करेणूनां इभीनां यूथेषु माहेन्द्रो वारणो गजः ऐरावतः, तद्वत् ॥ २१ ॥

**नेदुरिति**। ववृषुः देवा इत्यध्याहारः, मुदा हर्षेण तस्य रामस्य वीर्यैः वीर्यप्रकाशकैः वचोभिरीडिरे तुष्टुवुः ॥ २२ ॥

10-65-27-34

इत्थमुपगीयमानानि चरितानि यस्य सः। क्षीबो मत्तः, मदेन विह्वले चञ्चले लोचने यस्य सः वनिताभिस्सह वनेषु चचार ॥ २३ ॥

तमेव विशिनष्टि - **स्रग्वीति**। स्रगस्यास्तीति तथा एकं कुण्डलं यस्य सः। वनमालया अलङ्कृत इति शेषः। स्वेद एव प्रालेयं हिमं तेन भूषितं स्मितयुक्तं मुखाम्भोजं बिभ्राणः ॥ २४ ॥

तस्यैव चरित्रान्तरमाह-**स** इत्यादिना। ईश्वरः प्रभुः स रामः युमुनां आजुहाव आहूतवान्। ततो मत्तोऽयमित्यात्मवाक्यमनादृत्यानागतामापगां यमुनां कुपितो बलरामः हलाग्रेण विचकर्ष आकृष्टवान्। हेति विस्मये ॥ २५ ॥

**पापे** इति। आहुतेति च्छेदः, हे पापे! यद्यतो मया त्वमाहूता मामवज्ञाय अवहेल्य नागताऽसि, अतस्त्वां स्वैरचारिणीं शतधा नेष्यामि शतकुल्यावतीं करिष्ये ॥ २६ ॥

**विज०** ईडिरे तुष्टुवुः ॥ २१,२२ ॥

क्षीबः मद्यपानमत्तः ॥ २३ ॥

स्वेदप्रालेयेन धर्महिमजलेन भूषितम् ॥ २४, २५ ॥

हे पापे! आहुता आहूता ॥ २६ ॥

**एवं निर्भर्त्सिता भीता यमुना यदुनन्दनम् ।**
**उवाच चकिता वाचं पतिता[1] पादयोर्नृप ॥ २७ ॥**

**राम राम महाबाहो न जाने तव विक्रमम् ।**
**यस्यैकांशेन विधृता जगती जगतः पते ॥ २८ ॥**

**परं भावं भगवतो भगवन्मामजानतीम् ।**
**मोक्तुमर्हसि विश्वात्मन्प्रपन्नां भक्तवत्सल ॥ २९ ॥**

**ततो व्यमुञ्चद्यमुनां याचितो भगवान्बलः ।**
**विजगाह जलं स्त्रीभिः करेणुभिरिवेभराट् ॥ ३० ॥**

कामं विहृत्य सलिलादुत्तीर्णायासिताम्बरे ।
भूषणानि महार्हाणि ददौ कान्तिः शुभां स्रजम् ॥ ३१ ॥

वसित्वा वाससी नीले मालामामुच्य काञ्चनाम्
रेजे स्वलङ्कृतो लिप्तो माहेन्द्र इव वारणः ॥ ३२ ॥

अद्यापि दृश्यते राजन् यमुनाऽऽकृष्टवर्त्मना ।
बलस्यानन्तवीर्यस्य वीर्यं सूचयतीव हि ॥ ३३ ॥

एवं सर्वा निशा याता एकेव रमतो व्रजे ।
रामस्याक्षिप्तचित्तस्य माधुर्यैर्व्रजयोषिताम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
उत्तरार्धे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

1. M. Ma °त्वा 2. M. Ma विचित्राणि 3- -3 K. M. Ma. T. W कान्तिमतीं 4. M. Ma °माधाय 5. M. Ma °तस्ताभिः

**श्रीध० एवमिति**। चकिता कम्पिता ॥ २७ ॥

**रामेति**। एकांशेन शेषाख्येन ॥ २८,२९ ॥

**तत** इति। विजगाहे अवगाहनं कृतवान् ॥ ३० ॥

**काममिति**। उत्तीर्णाय निर्गतायासिताम्बरादीनि कान्तिर्ददौ। कान्तिः लक्ष्मीः। यथोक्तं वैष्णवे (पुराणे) "वरुणप्रहिता चास्मै मालामम्लान पङ्कजाम्। समुद्राभे तथा वस्त्रे नीले लक्ष्मी रयच्छत॥" (विष्णु.पु. 5-25-16) इति। हरिवंशे च बलं प्रति लक्ष्मीवाक्यम् - "जातरूपमयं चैकं कुण्डलं वज्रभूषणम्। आदिपद्मं च पद्माख्यं दिव्यं श्रवणभूषणम् ॥देवेमां प्रतिगृह्णीष्व पौराणीं भूषणक्रियाम् ॥" इत्यादि ॥ ३१ ॥

**वसित्वेति**। वसित्वा परिधाय, आमुच्य कण्ठे निधाय। चन्दनादिभिरालिप्तः ॥ ३२,३३ ॥

**एवमिति**। एकेव एकैव निशा यथा तथा। माधुर्यैः विलासैः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

**वीर०** इत्येवं निर्भर्त्सिता अत एव भीता यमुना तथैव कर्तुं अयं प्रभुरिति शङ्किता हे नृप! पादयोः पतित्वा यदुनन्दनं रामं प्रति उवाच ॥ २७॥

वाचमेवाऽऽह - **रामेति** द्वाभ्याम्। तव विक्रमं महिमानं न जाने अपारत्वादिति भावः। तदेव स्पष्टयितुमाह- यस्येति। हे जगतां पते! षष्ठ्यन्त पाठे तस्य यस्य एकांशेन सहस्रतममूर्धैकदेशेन जगती पृथ्वी विधृता विशेषेण धृता, तस्य तवेति सम्बन्धः ॥ २८॥

भगवतस्तव परं निरवधिकं भावं प्रभावं हे भगवन्! अजानतीम् अधुना प्रपन्नां च मां मोक्तुमर्हसि, तदुपयुक्तं सम्बोधयति भक्तवत्सलेति। मुञ्चेत्यस्य यथापूर्वं गमयेत्यर्थः ॥२९॥

**तत** इति। बलो रामः इत्थं याचितः तां[1] यमुनां व्यमुञ्चत्। ततः स्त्रीभिस्सह जलं विजगाहे च, यथा करेणुभिस्सह इभराट् ऐरावतः तद्वत् ॥३०॥

**काममिति**। कामं यथेच्छं विहृत्योत्तीर्णाय निर्गताय रामाय असिताम्बरे नीलाम्बरे महार्हाणि अनार्घाणि[2-2] भूषणानि कान्तिमतीमम्लानश्रियं स्रजं मालां च ददौ, यमुनेति कर्तृपदाध्याहारः। यत्तु "वरुणप्रहितां चास्मै मालामम्लानपङ्कजाम्। समुद्राभे तथा वस्त्रे नीले लक्ष्मीरयच्छत" (विष्णु. पु. 5-25-16) इति वैष्णवं वचनम्। तत्रापि लक्ष्मीः दर्शनीयरूपा मूर्तिधरा यमुनेति व्याख्येयम् ॥ ३१॥

**वसित्वेति**। वसित्वा परिधाय काञ्चनीं स्वर्णमयीं मालामामुच्य आबध्य कण्ठे निधाय काञ्चनीं माला मित्यनुक्त भूषणोपलक्षणम्। इत्थं सुष्ठु अलङ्कृतः स्त्रीभिस्सह रेजे यथा माहेन्द्रो वारणस्तद्वत् ॥ ३२॥

हलेन कृष्टा यमुनेत्येतदसम्भावितं मन्वानस्य राज्ञस्संशयनिराचिकीर्षयाऽऽह - **अद्यापीति**। हे राजन्! अनन्तं वीर्यं यस्य तस्य बलस्य रामस्य वीर्यं सूचयती "लक्षणहेत्वोः" (अष्टा 3-2-126) इति शत्रन्तात् ङीप्, सूचयितुमित्यर्थः। आकृष्टवर्त्मना हलाकृष्टमार्गेण यमुना स्यन्दमानेति शेषः ॥ ३३॥

**एवमिति**। आक्षिप्तं रिरंसाप्रवणं चित्तं यस्य तस्य व्रजे रमतो रामस्य माधुर्यैः विलासैस्सर्वा निशाः रात्रयः योषितामेकेव निशा याताः, एकनिशाप्राया बभूवुरित्यर्थः ॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५॥

विज० भावमभिप्रायं माहात्म्यं वा ॥ २७-३० ॥

असिताम्बरे नीलवस्त्रे ददौ यमुनेति शेषः ॥ ३१.३२ ॥

आकृष्टेन वर्त्मना मार्गेण दृश्यते ॥ ३३ ॥

एका निशेव व्रजस्त्रीणां माधुर्यैः सौन्दर्यैः कर्णरम्यवचनैः आक्षिप्तमाकृष्टं चित्तं यस्य स तथा तस्य ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

(विजयध्वजरीत्या अष्टाशीतितमोऽध्यायः)

# षट्षष्टितमोऽध्यायः

## (श्रीकृष्णकृत पौण्ड्रककाशिराज वधादि कथारम्भः)

श्रीशुक उवाच

नन्द व्रजं गते रामे करूशाधिपतिर्नृप[1] ।
वासुदेवोऽहमित्यज्ञो दूतं कृष्णाय प्राहिणोत् ॥१ ॥

त्वं वासुदेवो भगवानवतीर्णो जगत्पतिः ।
इति प्रस्तोभितो बालैर्मेने[2] स्वात्मानमच्युतम् ॥२ ॥

दूतं च प्राहिणोन्मन्दः कृष्णायाव्यक्त वर्त्मने ।
द्वारकायां यथा बालो नृपो बालकृतोद्यमः[3] [4] ॥३ ॥

दूतस्तु[5] द्वारकामेत्य सभायामास्थितं प्रभुम् ।
कृष्णं कमलपत्राक्षं राजसन्देशमब्रवीत् ॥४ ॥

[6-]कारूश उवाच[-6]

वासुदेवोऽवतीर्णोऽह मेक एव न चापरः ।
भूतानामनुकम्पार्थं त्वन्तु मिथ्याभिधां त्यज ॥५ ॥

1. B.G.J.T.W. °षा° 2. B.G.J. °न आ° 3. K. °लैःकृ° 4. B.G.J.K. Ml. V. °तोऽबुधः। 5. K.T.W. °स्तद्वा° 6- -6 B.G.J. K.T.W omit

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

षड्युक् षष्टितमे काशीं गत्वाहन् पौण्ड्रकं हरिः। तन्मित्रं च ततो वृत्तं सुदक्षिणवधादिकम् ॥

**त्वमिति**। प्रस्तोभितः स्तुत्या प्रोत्साहितः बालैः अज्ञैः ॥१,२ ॥

**दूतमिति**। बालकृतो नृपः बालैः नृपत्वेन क्रीडायां परिकल्पितः ॥३-५॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ कृष्णचरितं पौण्ड्रकवधकाशी पुरदहनात्मक मनुवर्णयति **नन्दव्रज** मित्यादिना। हे नृप! करूषाणां देशानां

अधिपतिः अहमेव वासुदेव इत्यभिमन्यमानः, अत एव अज्ञः श्रीकृष्णाय दूतं प्राहिणोत् प्रेषयामास। दूतमुखेन वक्ष्यमाणं वचः प्राहिणोदित्यर्थः ॥ १ ॥

तदेवाह - **त्वमिति**। इतीत्थं बालैः अज्ञैः त्वं प्रस्तोभितः स्तुत्या मुधा प्रोत्साहितः अहन्तु आत्मानमेवाच्युतं वासुदेवं मेने मनवै ॥ २ ॥

**दूतमिति**। अस्यैतद्वक्तुमित्यादि - न व्यक्तं वर्त्म याथात्म्यं यस्य तस्मै, किं वक्तु मित्यत आह - द्वारकायामिति। बालैः अज्ञैः यथा बालः क्रीडायां नृपः कृतः नृपत्वेन कल्प्यते, तथा त्वमप्यबुधेऽज्ञो द्वारकायां नृपत्वेन कल्पितः इत्यतः त्वं वासुदेव इति पूर्वोक्तं च वक्तुमित्यर्थः ॥ ३ ॥

**दूत** इति। तत् ततः राजसन्देशं राज्ञः पौण्ड्रकस्य सन्देशम् ॥ ४ ॥

तदेवाह - **वासुदेव** इति। न चापरः न त्वं वासुदेव इति भावः, किन्तु त्वं भूतानां स्वसम्बन्धविषयभूतानाम् अनुकम्पार्थं मिथ्या वासुदेवः। अतस्तामभिधामाख्यां त्यज ॥ ५ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

अयमध्यायस्य कथाभागः, एकोनषष्टितमाध्यायानन्तरं, योजनीये विजयध्वजीय अधिकपाठे पञ्चमाध्यायत्वेन दृश्यते ॥

**यानि त्वमस्मच्चिह्नानि मौढ्याद्बिभर्ष्यभीतवत् ।**
**त्यक्त्वै हि मां त्वं शरणं नो चेद्देहि ममाहवम् ॥ ६ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**विकत्थनं तदाकर्ण्य पौण्ड्रकस्याल्पमेधसः ।**
**उग्रसेनादयस्सभ्या उच्चकै र्जहसुस्तदा ॥ ७ ॥**

**उवाच दूतं भगवान् परिहास कथामनु ।**
**उत्स्रक्ष्ये मूढ चिह्नानि यैस्त्वमेवं विकत्थसे ॥ ८ ॥**

**मुखं यदापिधायाज्ञ कङ्कगृध्रवटैर्वृतः ।**
**शयिष्यसे हतस्तत्र भविता शरणं शुनाम् ॥ ९ ॥**

इति दूतस्तदा[6]ऽऽक्षेपं स्वामिने सर्वमाहरत् ।
कृष्णोऽपि रथमास्थाय काशीमुपजगाम ह ॥१०

1- -1 B.G.J. K.T.W. °र्षि सात्वत! 2. B.G.J. omit वि 3. B.G.J. तदुपा° 4. B.G.J.K.T.W तदपि 5. K. ML. T.V.W. °लै° 6. K. Ml. T.V.W. °मा°

**श्रीध० उवाचेति**। हे मूढ! उत्त्रक्ष्ये त्वयि प्रक्षेप्स्यामि यै स्सह त्वमेवं विकत्थसे तेष्वपीत्यर्थः। यद्वा यैः कृत्रिमैस्सुदर्शनादिभिः त्वमेवं श्लाघसे तानुत्त्रक्ष्ये त्याजयिष्यामि इत्यर्थः ॥६-८॥

मां शरणं एहीत्यस्योत्तरं **मुखमिति**। वटाः कङ्कादिवत् पक्षि विशेषाः। तत्र तदा शुनां शरणमाश्रयो भवितासि ॥९॥

**इतीति**। काशीमिति। पौण्ड्रकस्यापि तदा मित्रपुरे अवस्थानात् ॥१० ॥

**वीर० यानीति**। हे सात्वत ! अस्मदसाधारणानि यानि चिह्नानि शङ्खचक्रादीनि त्वं मौढ्याद्विभर्षितानि त्यक्त्वा मां शरणमेह्यागच्छ नो चेच्छरणं नाभ्येषि तर्हि आहवं युद्धं देहि युध्यस्वेत्यर्थः ॥६॥

**विकत्थनमिति**। तद्दूतोक्त मल्पबुद्धेः पौण्ड्रकस्य विकत्थनमाकर्ण्य सभ्यास्सभायां स्थिताः जहसुः हसितवन्तः ॥७॥

**उवाचेति**। परिहास कथामनु उग्रसेनादीनां परिहासकथनानन्तरं प्राह तदेवाह उत्त्रक्ष्य इति। हे मूढ! चिह्नानि त्वया धृतानि। उत्त्रक्ष्ये त्याजयिष्यामि। तत्र हेतुत्वेन विशिनष्टि यैश्चिह्नैः त्वमेवं विकत्थसे ॥८॥

मां शरणं एहीत्यस्योत्तरमाह **मुखमिति**। हे अज्ञ ! तत् येनेत्थं विकत्थितं तन्मुखमपिधाय आच्छाद्य कङ्कादिभिः वृतः शयिष्यसे वलाः कङ्कादिवत् पक्षिविशेषाः। ततस्तत्र शयनस्थले भवान् शुनां शरणं भविता भविष्यति, मया हतं शयितं च त्वां श्वसृगालादयः खादिष्यन्तीति भावः ॥९॥

**इतीति**। आक्षेपमधिक्षेपं स्वामिने पौण्ड्रकाय समाहरत् आगत्य न्यवेदयत् इत्यर्थः। कृष्णोऽपीति। रथमास्थाय अधिष्ठाय काशीमुपजगाम तत्समीपमुपजगामेत्यर्थः ॥१०॥

**पौण्ड्रकोपि तदुद्योगमुपलभ्य महारथः ।**
**अक्षौहिणीभिः[1-1] सहितो निश्चक्राम पुराद्भुतम् ॥११॥**

तस्य काशिपतिर्मित्रं पार्ष्णिग्राहोऽन्वयान्नृप ।
अक्षौहिणीभिस्तिसृभिरपश्यत्पौण्ड्रकं हरिः ॥ १२ ॥

शङ्खार्यसिगदाशार्ङ्ग श्रीवत्साद्युपलक्षितम् ।
बिभ्राणं कौस्तुभमणिं वनमालाविभूषितम् ॥ १३ ॥

कौशेय वाससी पीते वसानं गरुडध्वजम् ।
अमूल्यमौल्याभरणं स्फुरन्मकर कुण्डलम् ॥ १४ ॥

दृष्ट्वा तमात्मनस्तुल्यं[3] वेषं कृत्रिममाश्रितम् ।
यथा नटं रङ्गगतं विजहास भृशं हरिः ॥ १५ ॥

1- -1 B.G.J. Ml. V. °भ्यां संयुक्तो 2. K. T.W. हरिः 3. K.T. Ml. T.V.W. °ना तुल्यं

**श्रीध० तस्येति**। पार्ष्णिग्राहः पृष्ठप्रान्त[1] रक्षण तत्परः[1] ॥ ११-१३ ॥

**कौशेयेति**। गरुडः कृत्रिमः ध्वजे यस्य तं, अमूल्यं अनर्घं मौल्याभरणं किरीटं यस्य तम् ॥ १४,१५ ॥

1- -1 B.J. पृष्ठतो रक्षकः।

**वीर० पौण्ड्रकोपीति**। तस्य कृष्णस्योद्योग मुपगम्य उपलभ्य ज्ञात्वा, द्रुतं शीघ्रं पुरात् कारूषपुरात् निश्चक्राम यद्वा पौंड्रकस्य तदा मित्रपुरेऽवस्थानात् काशीपुरादित्यर्थः ॥ ११ ॥

**तस्येति**। तस्य पौण्ड्रकस्य मित्रं सखा काशीपतिः काशिराजः पार्ष्णिग्राहः पृष्ठतो रक्षकः सहायभूतस्सन् तिसृभिः अक्षौहिणीभिः सह अन्वयात् अनुजगाम। तदा हरिः कृष्णः पौण्ड्रकं ददर्श ॥ १२ ॥

कथम्भूतम्? शङ्खादिभिः उपालक्षितं तत्र अरि अरयुक्तं चक्रं कौस्तुभमणिं बिभ्राणं वनमालया विराजितम् ॥ १३ ॥

पीते पिशङ्गे कौशेयवस्त्रे, वसानं परिदधानं गरुडः कृत्रिमो ध्वजे यस्य, अमूल्य मनर्घं मौल्याभरणं यस्य, स्फुरन्ती मकराकारे कुण्डले यस्य ॥ १४ ॥

आत्मना कृष्णेन तुल्यो वेषो यस्य तं, अथापि कृत्रिमं वेषमास्थितमाश्रितं तत्र दृष्टान्तः। यथा नटं रङ्गगतमिति, रङ्गे नृत्यस्थले गतं नटमिव स्थितमित्यर्थः । तमेवंविधं दृष्ट्वा हरिर्भृशं प्रहसितवान् ॥ १५ ॥

**एवमिति**। ससखं सकाशिराजं मत्सरिणं शत्रुं पौण्ड्रकं हत्वा सिद्धैर्गीयमाना कथैवामृतं यस्य स हरिः द्वारकां विवेश ॥२३॥

**स** इति। सपौण्ड्रकः भगवतः श्रीकृष्णस्य ध्यानेन ध्वस्तान्यखिलानि बन्धनानि कर्मबन्धनानि यस्य सः, हेतु गर्भमिदं तथा हरेः कृष्णस्य रूपं रूपतुल्यं [1]स्वरूपं स्ववेषं बिभ्राण इत्यपि तत्त्वात्तन्मयः तदीय वेषप्रचुरो बभूव। साधर्म्यं गत इत्यर्थः। शिरच्छेदेन दोषस्य प्रायश्चित्तं कृतम्। अत भगवद्ध्यानस्य फलं तत्साधर्म्यं लब्धमिति भावः ॥२४॥

**शिर** इति। प्रथमं किमिदमिति पश्चात् सकुण्डलत्वात् शिर इति, ततः कस्येदं मुखमिति संशिश्यिरे संशयं चक्रुः ॥२५॥

1. K.T.W. omit स्व°

**राज्ञः काशीपते र्ज्ञात्वा महिष्यः पुत्र बान्धवाः ।**
**पौराश्च हा हता राजन्नाथ नाथेति [1]प्रारुदन् ॥२६॥**

**सुदक्षिणस्तस्य सुतः कृत्वा संस्थाविधिं पितुः ।**
**निहत्य पितृहन्तारं यास्याम्यपचितिं पितुः ॥२७॥**

**इत्यात्मनाभिसन्धाय सोपाध्यायो महेश्वरम् ।**
**सुदक्षिणोऽर्चयामास परमेण समाधिना ॥२८॥**

**प्रीतोऽविमुक्ते भगवान् तस्मै वरमदाद्भवः ।**
**पितृहन्तृवधोपायं स वव्रे [2-]वरमीप्सितम्[-2] ॥२९॥**

**[3-]रुद्र उवाच[-3]**

**[4]सुदक्षिणाग्निं परिचर ब्राह्मणैस्सह[5] ऋत्विजम् ।**
**अभिचार विधानेन स चाग्निः प्रमथै र्वृतः ॥**
**साधयिष्यति सङ्कल्पमब्रह्मण्ये प्रयोजितः ॥३०॥**

1. Ml. v. चा° 2--2 K. परमेश्वरम् ;Ml. V. वरमीशितुः। 3--3 B.G.J. omit 4. B.G.J. दक्षिणा° ;K.T.W. त्वं दक्षिणा° 5. B.G.J. °स्सममृ°; K.T.W. °स्सम्यगृ°

**श्रीध० सुदक्षिण** इति। संस्थाविधिं उत्तरक्रियां, अपचितिं निष्कृतिम् ॥२६, २७॥

**इतीति**। आत्मना अभिसन्धाय बुद्ध्या अध्यवस्य सुदक्षिणः अत्युदारः ॥२८॥

**प्रीत** इति। वरमदात् वृणीष्वेत्युक्तवान् इत्यर्थः ॥२९॥

**सुदक्षिणेति**। ऋत्विजं ऋत्विज मिव स्वनियोगकारिणं "यज्ञस्य देवमृत्विजम्" (तैत्ति. सं 4-3-13-3b) इति श्रुतेः। अब्रह्मण्ये प्रयोजित इति, कृष्णे प्रयोजितो विपरीतो भविष्यतीति सूचितम् ॥३०॥

**वीर० राज्ञ** इति। ततः क्रमेण काशिपतेः राज्ञ एवेदं शिरः इति ज्ञात्वा निश्चित्य महिष्यस्तस्य भार्याः पुत्रादयश्चेत्थं रुरुदुः ॥२६॥

**सुदक्षिण** इति। तस्य काशिराजस्य सुदक्षिणो नाम पुत्र आसीदिति वाक्यान्तरं, स च सुदक्षिणः पितुः संस्थाविधिमुत्तरक्रियां कृत्वा मत्पितृहन्तारं हत्वा पितुः अपचितिं ऋणापनयनात्मिकां निष्कृतिं यास्यामि ॥२७॥

इतीत्थं अभिसन्धाय उपाध्यायेन सहितः परमेण समाधिना ध्यानयोगेन महेश्वरं रुद्रं आराधयामासेति सम्बन्धः ॥२८॥

**प्रीत** इति। सुदक्षिणः प्रसन्नं परमेश्वरं रुद्रं प्रति वधोपायमेव वरं वव्रे "शास्त्र दृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत्" (ब्र. सू. 1-1-30) इति न्यायेन महेश्वरं परमेश्वरमिति च मुनिप्रयोगः, प्रीत इति विविक्ते एकान्ते प्रीतःप्रसन्नो रुद्रः तस्मै वरं ददौ ॥२९॥

वरमेवाह - **सुदक्षिणाग्निमिति**। सम्यक् ऋत्विजो यस्य तं दक्षिणाग्निमभिचारहोमेन परिचर आराधय, स च परिचरितोग्निः प्रमथैः परिवृतः अब्रह्मण्ये प्रयुक्तः सङ्कल्पं त्वदभिसन्धिं साधयिष्यति। ब्रह्मण्ये प्रयोजितस्तु स्वयमेव हन्यत इति भावः ॥३०॥

**इत्यादिष्ट स्तथा चक्रे कृष्णायाभिचरन् व्रती[1] ॥३१॥**

**ततोऽग्नि रुत्थितः कुण्डान्मूर्तिमानति भीषणः ।**
**तप्ततामृ शिखाश्मश्रु रङ्गारोद्गारिलोचनः ॥३२॥**

**दंष्ट्रोग्र भ्रुकुटीदण्ड[2] कठोरास्य स्वजिह्वया ।**
**आलिहन् सृक्वणीं[3] नग्नो विधून्वन् त्रिशिखं ज्वलन्[4] ॥३३॥**

**पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्यां कम्पयन्नवनीतलम् ।**
**सोभ्यधावद्वृतो भूतैः द्वारकां प्रदहन् दिशः ।। ३४ ।।**

**तमाभिचारदहनमायान्तं द्वारकौकसः ।**
**विलोक्य तत्रसुस्सर्वे वनदाहे यथा मृगाः ।। ३५ ।।**

1. K.T.W. कुधीः 2. K.T.W. °न्त 3. B.G.J. °क्षि ;K. °क्वि° 4. B.T.W. °त् 5. K.T.W. न्धरणी°

**श्रीध० इतीति**। अभिचरन् अभिचारं कुर्वन् व्रती गृहीतनियमः ॥ ३१ ॥

**तत** इति। तप्तं ताम्रमिव शिखाः श्मश्रूणि च यस्य सः। अङ्गारोद्गारीणि लोचनानि यस्य सः ॥ ३२ ॥

**दंष्ट्रेति**। दंष्ट्राभिः उग्रैः भ्रुकुटी दण्डैश्च कठोरं क्रूरमास्यं यस्य सः, त्रिशिखं त्रिशूलम् ॥ ३३ ॥

**पद्भ्यामिति**। दिशः प्रदहन् ॥ ३४, ३५ ॥

**वीर० इतीति**। इतीत्थं आदिष्टः कुबुद्धिः सुदक्षिणः, तथा यथोक्तं कृष्णाय अभिचरन् द्रुह्यन् चक्रे ॥ ३१ ॥

**तत** इति। कथम्भूतः अग्निः? मूर्तिमान् विग्रहधारी अतिदारुणः तप्तं यत् ताम्रं तद्वच्छिखा श्मश्रूणि च यस्य अङ्गारोद्गारिणी लोचने यस्य, दंष्ट्राभि रुग्रैश्च भ्रुकुटी दन्तैः कठोरं[1] आस्यं यस्य सः, सृक्विणीमुत्तरोष्ठोर्ध्व देश मालिहन् आस्वादयमानस्तिस्रः शिखाः यस्य तं शूलं धुन्वन् कम्पयन् ॥ ३२, ३३ ॥

**पद्भ्यामिति**। सोऽग्निः भूतैः प्रमथैः वृतः ॥ ३४ ॥

**तमिति**। आयान्तं आगच्छन्तं विलोक्य तत्रसुः वनदाहे सति यथा मृगास्त्रस्यन्ति तद्वत् ॥ ३५ ॥

1. B. adds क्रूरं

**अक्षैस्सभायां क्रीडन्तं भगवन्तं भयातुराः ।**
**त्राहि त्राहि त्रिलोकेश वह्नेः प्रदहतः पुरम् ॥ ३६ ॥**

**श्रुत्वा तज्जन वैक्लव्यं दृष्ट्वा स्वानाञ्च साध्वसम् ।**
**शरण्यस्सम्प्रहस्याह माभैष्टे त्यवितास्म्यहम् ॥ ३७ ॥**

**सर्वस्यान्तर्बहिस्साक्षी कृत्यां माहेश्वरीं विभुः ।**
**विज्ञाय तद्विघातार्थं पार्श्वस्थं चक्रमादिशत् ॥ ३८ ॥**

**तत्सूर्यकोटिप्रतिमं सुदर्शनं जाज्वल्यमानं प्रलयानल प्रभम् ।**
**स्वतेजसा खं ककुभोऽथ रोदसी चक्रं मुकुन्दास्त्रमथाग्नि मार्दयत्[1] ॥ ३९ ॥**

**कृत्यानलः प्रतिहतस्सरथाङ्ग पाणे रस्त्रौजसा[2] स[3-] नृप भग्न[-3] मुखोऽनिवृत्तः ।**
**वाराणसीं प्रतिसमेत्य सुदक्षिणं तं सर्त्विग्जनं समदहत्स्वकृतोऽभिचारः ॥ ४० ॥**

1. MI. V. °म° 2. K.T.W. स्तत्तेजसा 3- -3 K.MI.T.V.W नृप विभग्न

**श्रीध० अक्षैरिति**। त्राहि त्राहीत्याहुरिति शेषः ॥ ३६ ॥

**श्रुत्वेति**। अहमवितास्मि रक्षिष्यामि ॥ ३७, ३८ ॥

**तदिति**। रोदसी च प्रकाशयदिति शेषः, यद्वा स्वतेजसा खादीन् प्रति जाज्वल्यमानं अत्यर्थं प्रकाशमानित्यर्थः। आर्दयत् अपीडयत् ॥ ३९ ॥

अर्दितोऽग्निर्यत्कृतवान् तदाह **कृत्यानल** इति। सहर्त्विग्भिः जनैश्च वर्तमानं अभिचर्यते मार्यते अनेनेत्यभिचारः। कृत्यानलः ॥ ४० ॥

**वीर० अक्षैरिति**। पुरं द्वारकां प्रदहतो वह्नेस्सकाशात् अस्मान् त्राहीत्याहुरिति शेषः ॥ ३६ ॥

**श्रुत्वेति**। तज्जनानां वैक्लब्यमधैर्यं श्रुत्वा स्वानां साध्वसं भयं दृष्ट्वा प्रहस्योवाच - तदेवाह शरण्योहम् अविता चास्मि, भयं माकुरुत दुष्टजनात्संसाराच्च सम्भवद्भयं वो न विद्यत इति ॥ ३७ ॥

**सर्वस्येति**। सर्वस्य लोकस्यान्तर्बहिश्च साक्षाद्द्रष्टा, हेतुगर्भ मिदम्। अतो माहेश्वरीं कृत्यां विज्ञाय तद्विघातार्थं कृत्यानाशनार्थं पार्श्वस्थं चक्रं सुदर्शनमाज्ञापयामास ॥ ३८ ॥

**तदिति**। तद्भगवता आदिष्टं चक्रं कर्तृ अग्निं आर्दयत्, चक्रं कथम्भूतम्? सूर्याणां कोटिः प्रतिमा तुला यस्य तत्। सुदर्शनाख्यं अतिशयेन ज्वलत् प्रलयाग्ने रिव प्रभा यस्य तत्। स्वेतजसा खं अन्तरिक्षं रोदसी द्यावापृथिव्यौ ककुभो दिशश्च प्रकाशयदिति शेषः मुकुन्दस्यैव असाधारणमस्त्रम् ॥ ३९ ॥

अर्दितस्सन् किमकरोदित्यत आह-**कृत्यानल** इति। रथाङ्गपाणे तेन प्रसिध्देन तेजसा तेजःप्रचुरेण सुदर्शनेन भग्नं मुखं यस्य स, प्रतिहतश्च अत एव निवृत्तः सः प्रसिध्दः कृत्यानलो, हे नृप ! वाराणसीं प्रत्यागत्य स्वेन कृतः अभिचारो येन तं ऋत्विग्जनैः सहितं, प्रथमान्तपाठे ऋत्विग्भिः जनैश्च वर्तमानं अभिचरति मारयतीति तथा, स कृत्यानलः तं सुदक्षिणमदहत् ॥ ४० ॥

चक्रन्तु विष्णो स्तदनुप्रविष्टं वाराणसीं साट्ट सभालयापणाम् ।
सगोपुराट्टालक कोष्ठ[1] सङ्कुलां[1] सकोश हस्त्यश्वरथान्नशालाम् ॥४१॥
दग्ध्वा वाराणसीं सर्वां विष्णोश्चक्रं[2] सुदर्शनम् ।
भूयः पार्श्व मुपातिष्ठत्कृष्णस्या क्लिष्ट कर्मणः ॥४२॥
य एनं[3] श्रावयेन्मर्त्य उत्तम श्लोक विक्रमम्[4] ।
समाहितोऽनु[5] श्रुणुयात् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यायां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे षट् षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

1. MI. V. गोष्ठगोकुलां 2. K. MI. T.V.W. विष्णुच° 3. G.K.MI.T.V.W. °तच्छ्रा° 4. K. चेष्टितम् 5. B.G.J. MI. V. °वा श्रु°

**श्रीध० चक्रमिति**। अट्टादि सहितां, अट्टाः मञ्चाः ॥४१-४३॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां षट् षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

**वीर०** किञ्च **चक्रमिति**। तद्विष्णोश्चक्रं वाराणसीं अनु कृत्यानल मनुसृत्य प्रविष्टं सत् अदहदिति पूर्वेण सम्बन्धः। कथम्भूताम्? अट्टादिभिः सहितां तत्र सभालयाः सभा गृहाणि, सभा आलयाश्चेति वा। अट्टालकाः उपरितन प्रदेशाः, गोपुरादि सहितैः गोकुलैः[1] सङ्कुलां व्याप्तां कोशादीनां शालाभिस्सहितां, तत्र कोशो धनम् ॥४१॥

**दग्ध्वेति**। भूयः पुनः अक्लिष्ट कर्मणः उदारचेष्टितस्य श्रीकृष्णस्य पार्श्वं उपातिष्ठत् पार्श्व समीपे तस्थावित्यर्थः ॥४२॥

उक्तकथाश्रवणादि फलमाह- **य** इति। यः पुमान् एतदुत्तमश्लोकस्य चेष्टितं मर्त्यान्प्रति श्रावयेत् यद्वा समाहितः श्रुणुया त्सर्वैः पापैः मुक्तो भवेत् ॥४३॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघव विदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां षट् षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

1. K.T.W. कोष्ठैः

# सप्तषष्टितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या एकोननवतितमोऽध्यायः)

(बलरामकृत द्विविदवध कथा)

राजावाच

भूयोऽहं श्रोतुमिच्छामि रामस्याद्भुतकर्मणः ।
अनन्तस्याप्रमेयस्य यदन्यत्कृतवान् विभुः[1] ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

नरकस्य सखा कश्चित् द्विविदो नाम वानरः ।
सुग्रीवसचिवस्सोऽथ भ्राता मैन्दस्य वीर्यवान् ॥ २ ॥

सख्युस्सोपचितिं कुर्वन् वानरो राष्ट्रविप्लवम् ।
पुरग्रामाकरान् घोषानदहद्वह्निमुत्सृजन् ॥ ३ ॥

क्वचित्सशैलानुत्पाट्य तैर्देशान् समचूर्णयत् ।
आनर्तान् सुतरामेव[2] यत्रास्तेमित्रहा[3] हरिः ॥ ४ ॥

क्वचित्समुद्रमध्यस्थो दोर्भ्यामुत्क्षिप्य[4] तज्जलम् ।
देशान्नागायुतप्राणो वेलाकूलानमज्जयत्[5] ॥ ५ ॥

1. B.G.J.M.Ma प्रभुः 2. K.T.W. °वं ;M.Ma °त्य 3. M.Ma शत्रुहा 4. K.M.Ma.T.W. °मुध्दृत्य 5. K.Ml.T.V.W. कूले न्यम°

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

सप्तषष्टितमे रामो गिरौ रैवतके मदात्। स्वैरं युवतिभिः क्रीडन् अवधीत् द्विविदं खलम्[1] ॥

कालिन्दी विदारणानन्तरं रामचरितं द्विविदवधादि सङ्गतमपि अनुक्त्वा तत्पूर्वभावित्वेन पौण्ड्रकवधादिकं[2] निरूप्येदानीं तदेव प्रस्तौति - **भूय** इति। रामचरित श्रवणेच्छायां अद्भुत कर्मत्वं हेतुः तत्र च अनन्तत्वं तत्राप्यप्रमेयत्वमिति ॥ १ ॥

**नरकस्येति**। नरकस्य सखेति हरिणावैरे कारणं सुग्रीव सचिव इति तस्य मन्त्रवलं, मैन्दस्य भ्रातेति रामायणे अतिप्रसिद्धत्वेन वीर्याधिक्यमुक्तमिति ॥ २ ॥

**सख्युरिति**। सख्युर्नरकस्य अपचितिं आनृण्यं राष्ट्रस्य विप्लवो नाशो यथा भवति तथा पुरादीनदहदिति ॥ ३ ॥

किञ्च **क्वचिदिति**। कदाचित् सः द्विविदः मित्रहा 3-मित्रं सखायं नरकासुरं हन्तीति मित्रहा हरिः श्रीकृष्णः-3 ॥ ४ ॥

**क्वचिदिति**। तस्य समुद्रस्य जलं बाहुभ्यां उत्क्षिप्य वेलायाः कूले वर्तमानान् देशान् 4-न्यमज्जयत्-4 प्लावयामासेति ॥ ५ ॥

1: MI.V. बलः 2. B.J. Omit कं 3- -3 B.J. 4- -4 B.J. Omit.

## श्रीवीरराघव विदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवमन्तरागर्भिणीति न्यायेन श्रुतकृष्णचरित्रः पुनर्बलभद्र चेष्टितबुभुत्सया[1] पृच्छति राजा **भूय इति**। अद्भुतं कर्म चेष्टितं यस्य तस्यानन्तस्य अनन्तावताररूपस्य अप्रमेयस्य अपारमहिम्नो रामस्य चेष्टितं श्रोतुमिच्छामि किं पूर्वोक्तं नेत्याह यदन्यदिति। विभुः रामः यदन्यत् कृतवान् तच्चेष्टितम् ॥ १ ॥

द्विविदवधात्मकं कर्माख्यातुं तावद्विविदस्य दुश्चेष्टितमाचष्टे **नरकस्ये**त्यादिना। द्विविदो नाम कश्चिद्वानरः स च नरकस्य सखा सुग्रीवस्य सचिवो मन्त्री मैन्दस्य भ्राता च वीर्यवांश्चेति रामायणादौ प्रसिद्ध इति तात्पर्यम् ॥ २ ॥

**सख्युरिति**। सः द्विविदः सख्युर्नरकस्यापचितिमानृण्यं, कुर्वन् 'लक्षणहेत्वोः, (अष्टा. 3-2-126) इति शता कर्तुं राष्ट्रस्य विप्लवो नाशो यथा तथा पुरादीन् वह्निमुत्सृजन् ददाह ॥ ३ ॥

**क्वचिदिति**। स द्विविदः तैरुत्पाटितैः शैलैः देशान् तत्राप्यानर्तान् सुतरामचूर्णयत्। तत्र हेतुत्वेन तान्विशिनष्टि-यत्र येष्वानर्तेषु मित्रहा नरकघ्नो हरिरास्ते ॥ ४ ॥

**क्वचिदिति**। दोर्भ्यां बाहुभ्यां तत्सामुद्रं जलं उद्धृत्योत्क्षिप्य वेलायाः कूले वर्तमानान् देशानमज्जयत्। तत्र हेतुत्वेन तं विशिनष्टि, नागायुतप्राणः नागानां गजानां अयुतस्य दशसहस्रस्य प्राणो बलं यस्य सः ॥ ५ ॥

1. B. चरित्र

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अनन्तस्य शेषस्य एन विष्णुना प्रमेयस्य ज्ञेयस्य ॥ १,२ ॥

सख्युर्नरकस्य अपचितिं निष्कृतिम् ॥ ३,४ ॥

वेलया समुद्रजलाभिवृद्ध्याकूलान् नीचभूमीः समुद्रतीर निकटवर्ति देशान् अनाशयदित्यर्थः ॥ ५ ॥

**आश्रमानृषिमुख्यानां कृत्वा भग्नवनस्पतीन् ।**
**अदूषयच्छकृन्मूत्रैरग्नीन् वैतानिकान् खलः ॥६॥**

**पुरुषान् योषितो दृप्तः क्ष्माभृद्द्रोणी गुहासु सः ।**
**निक्षिप्य चाप्यधाच्छृङ्गैः[1] पेशस्कारीव कीटकम् ॥७॥**

**[2-]एवं देशान्[-2] विप्रकुर्वन् दूषयंश्च[3] कुलस्त्रियः ।**
**श्रुत्वा सुललितं गीतं गिरिं रैवतकं ययौ ॥८॥**

**तत्रापश्यद्यदुपतिं रामं पुष्करमालिनम् ।**
**सुदर्शनीय सर्वाङ्गं ललनायूथमध्यगम् ॥९॥**

**गायन्तं वारुणीं[4] पीत्वा मदविह्वललोचनम् ।**
**विभ्राजमानं वपुषा प्रभिन्नमिव वारणम् ॥१०॥**

1. B.G.J. °च्छैलैः 2- -2 M.Ma तं देशं 3. M.Ma वै धर्षयंश्च 4. M.Ma मदिरां

**श्रीध० आश्रमानिति**। आश्रमस्थान् वनस्पतीन् भुङ्क्त्वा आहवनीयाद्यग्निषु मूत्रादि कृतवानित्यर्थः ॥ ६ ॥

**पुरुषानिति**। अप्यधात् पिदधे पेशस्कारी भ्रमरः ॥७-९॥

**गायन्तमिति**। प्रभिन्नं मत्तम् ॥ १० ॥

**वीर० आश्रमानिति**। ऋषिमुख्यानां आश्रयभूतान् वनस्पतीन् भस्मसात्[1]कृत्वा दग्ध्वेत्यर्थः। भग्नवनस्पतीनिति पाठे भग्नाः वनस्पतयो येषु तथाभूतान् कृत्वा शकृन्मूत्रैः मलमूत्रैः वैतानिकान् यज्ञीयान् आहवनीयादीन् अग्नीन् अदूषयत् यतः स खलः दुरात्मा ॥ ६ ॥

**पुरुषानिति**। दुष्टो द्विविदो गिरेः कन्दरेषु गुहासु च निक्षिप्य शृङ्गैः गिरिशृङ्गैः अप्यधात् पिहितवान् पेशस्कारी भ्रमरकीटमिव ॥७॥

**एवमिति**। विप्रकुर्वन् पीडयन् तत्र तत्र कुलस्त्रीः दूषयंश्च सुललितं मधुरं गीतं श्रुत्वा रैवतकं पर्वतं ययौ ॥८॥

**तत्रेति**। तत्र रैवतकोपवने पुष्करमाला पद्ममालास्यास्तीति तथा व्रीह्यादित्वान्मत्वर्थीय इनिः सुष्ठु दर्शनीयानि सर्वाण्यङ्गानि यस्य तं योषित्समूहमध्यगतं वारुणीं मदिरां पीत्वा मदेन विह्वले घूर्णिते लोचने यस्य तं प्रभिन्नं मत्तं वारण मैरावतमिव स्थितं राममपश्यदिति सम्बन्धः ॥९,१०॥

1. K.T.W. °स्मकृ°

**विज०** वैतानिकान्यज्ञ सम्बन्धिनः ॥६॥

क्ष्माभृद्द्रोणीम् गुहासु पर्वतनितम्बगुहासु ॥७-९॥

प्रभिन्नं मदजल स्राविणम् ॥१०॥

**दुष्टश्शाखामृगश्शाखामारूढः कम्पयन् द्रुमान् ।**
**चक्रे किलकिलाशब्दमात्मानं सम्प्रदर्शयन् ॥११॥**

**तस्य धार्ष्ट्यं कपेर्वीक्ष्य तरुण्यो जाति (त) चापलाः ।**
**हास्यप्रिया विजहसुर्बलदेव परिग्रहाः ॥१२॥**

**ता हेलयामास कपिर्भूक्षेपैस्संमुखादिभिः ।**
**दर्शयन् स्वगुदं[1-1] तासां रामस्य च निरीक्षतः ॥१३॥**

**तं ग्राव्णां प्राहरत्क्रुद्धो बलः प्रहरतां वरः ।**
**स वञ्चयित्वा ग्रावाणं मदिराकलशं कपिः ।**
**गृहीत्वा हेलयामास धूर्तस्तं कोपयन् हसन्[2] ॥१४॥**

**निर्भिद्य[3-3] कलशं[3-3] दृष्टो[4] वासांस्यास्फालयद्बलम्[5-5] ।**
**कदर्थीकृत्य बलवान् विप्रचक्रे मदोद्धतः ॥१५॥**

1- -1 M.Ma सन्दर्शयन् गुदं 2. M.Ma भृशम् 3- -3 M.Ma भृशं निर्भिद्य 4. K. दृप्तः ;5- -5 M.Ma वासांस्याकृष्य योषिताम् ।

**श्रीध० तस्येति**। जात्या स्वभावेनैव चापलं यासां ताः ॥ ११,१२ ॥

**ता इति**। हेलयामास अवजज्ञे निरीक्षतः निरीक्षमाणस्य तमनादृत्येत्यर्थः ॥ १३,१४ ॥

**निर्भिद्येति**। आस्फालयत् योषितां वासांस्याकृष्य पाटितवान्। विप्रचक्रे एवमपकृतवान् ॥ १५ ॥

**वीर० दुष्ट इति**। दुष्टश्चासौ शाखामृगश्च शाखामृग इत्यनेन स्वभावत एव दौष्ट्यं व्यज्यते दुष्ट इत्यनेन तत्रापि किल किलेत्यनुकरणं आत्मानं स्वशरीरं दर्शयन् चक्रे ॥ ११ ॥

**तस्येति**। तस्य द्विविदस्य धार्ष्ट्यं दौष्ट्यं प्रागल्भ्यं दृष्ट्वा जात्या स्वभावेनैव चापलं यासां, हास्यं प्रियं यासां ताः। परिगृह्यन्ते इति परिग्रहाः, बलदेवस्य परिग्रहाः तत्परिगृहीता इत्यर्थः। हेतुगर्भाण्येतानि अतो विजहसुः प्रहसितवत्यः ॥ १२ ॥

**ता इति**। कपिः द्विविदः भ्रूविक्षेपैः सम्मुखागमनादिभिः आदिशब्देन दन्तप्रदर्शनादि सङ्ग्रहः स्वगुदं तासां दर्शयन्। रामस्य पश्यतस्स त एव ताः हेलयामास अवजज्ञे ॥ १३ ॥

**तमिति**। ग्राव्णा पाषाणेन तं कपिं प्राहरत् सः कपिः तं रामं कोपयन् हसंश्च हेलयामास अवमतवान्। किञ्च निर्भिद्येति दृप्तो गर्वितः कलशं मदिरापत्रं[1-] निर्भिद्य योषितां वासांस्याकृष्यात्मानं प्रापितवान् मदेनोद्धतो बलवांश्च कपिरेकं बलं रामं कदर्थीकृत्य तुच्छीकृत्य विप्रचक्रे अपचकार ॥ १४,१५ ॥

1--1 T.W. Omit

**विज०** कपिजति चापलं दृष्ट्वा ॥ ११,१२ ॥

हेलयामास अवज्ञाताश्चक्रे समुखादिभिः पुरः स्थित्यादिभिः ॥ १३-१५ ॥

**[1-]तं तस्याविनयं[-1] दृष्ट्वा देशांश्च तदुपद्रुतान् ।**
**क्रुद्धो मुसलमाद (ध) त्त हलं चारिजिघांसया ॥ १६ ॥**

**द्विविदोपि महावीर्य [2-]स्सालमुत्पाट्य[-2] पाणिना ।**
**अभ्येत्य तरसा तेन बलं मूर्धन्यताडयत् ॥ १७ ॥**

**तं तु सङ्कर्षणो मूर्ध्नि पतन्तमचलो[3] यथा ।**
**प्रति जग्राह [4]भगवान् [5]सुनन्देनाहनच्च[6] तम् ॥ १८ ॥**

**मुसलाहतमस्तिष्को विरेजे रक्तधारया ।**
**गिरिर्यथा गैरिकया प्रहारं नानुचिन्तयन्[7] ॥१९॥**

**पुनरन्यं समुत्क्षिप्य[8] कृत्वा निष्पत्रमोजसा ।**
**तेनाहनत् सुसङ्क्रुद्धस्तं बलश्शतधाच्छिनत्[9] ॥२०॥**

1- -1 M.Ma तस्याप्यविनयं 2- -2 B.G.J. शालमुद्यम्य ; M.Ma शैलमुत्पाट्य 3. M.Ma °ल्लं रुषा 4. B.G.J. बलवान् 5. M.Ma मुसलेना° 6. K.T.W. °नद्धरिम् 7. M.Ma °न्चचिन्तयत् 8. M.Ma समुत्पाट्य । 9. M.Ma °धारुजत्

**श्रीध० द्विविद** इति । सालं वृक्षम् ॥ १६,१७॥

**तमिति** । सुनन्देन मुसलेन अहनत् अहन्नित्यर्थः, तं[1-] वानरम्[-1] ॥१८॥

**मुसलेति** । मस्तिष्कं मस्तके अवयवविशेषः । गैरिकया लोहितधातुना नानुचिन्तयन् अगणयन् ॥१९,२०॥

1- -1 B. Omit

**वीर० तमिति** । तं कपिं तस्याविनयं धाष्ट्र्यं तेनोपद्रुतान् । देशांश्चावलोक्य क्रुद्धो रामः हलं मुसलं चाददे ॥ १६॥

**द्विविदोऽपीति** । महद्वीर्यं यस्य सः । द्विविदोऽपि सालवृक्षं उत्पाट्य बलमूर्धनि राममूर्धनि तेन सालेनाताडयत् ॥ १७॥

**तमिति** । पतन्तं तं सालं प्रतिजग्राह गृहीतवान्[1-] । तत्प्रहारमङ्गीकृतवान्[-1] इत्यर्थः । यथा पर्वतस्तद्वत् । ततस्सुनन्देन मुसलेन हरिं कपिमहनत् ताडयामास ॥१८॥

**मुसलेति** । मुसलेनाहतो मस्तिष्को मस्तकावयवविशेषो यस्य सः, अत एव रक्तधारया रेजे यथा गिरिर्गैरिकधारया राजते तद्वत् । ततः तं प्रहारमननुचिन्तयन् पुनरन्यं सालमोजसा बलेनोत्पाट्य पर्णरहितं कृत्वा तेन सालेनाहनत् तं सालं बलो रामः शतधा चिच्छेद ॥१९,२०॥

1- -1 W. Omits

**विज०** गैरिकया गिरिधातु रसधारया ॥ १६-२०॥

**ततोऽन्यं[1-] तरुमुत्पाट्य जघ्ने तं शतधाच्छिनत्[-1] ॥ २१॥**
**एवं युध्यन् भगवता भग्ने भग्ने[2] पुनः पुनः ।**
**आकृष्य सर्वतो वृक्षान्निर्वृक्षमकरोद्वनम् ॥ २२॥**

ततोऽमुञ्चच्छिलावर्षं बलस्योपर्यमर्षितः ।
तत्सर्वं चूर्णयामास लीलया मुसलायुधः ॥ २३ ॥

स[3] बाहू तालसङ्काशौ मुष्टीकृत्य कपीश्वरः ।
आसाद्य रोहिणीपुत्रं ताभ्यां[4] वक्षस्यरूरुजत् ॥ २४ ॥

यादवेन्द्रोऽपि तं दोर्भ्यां त्यक्त्वा मुसललाङ्गलौ[5] ।
जत्रावभ्यर्दयत्[6-6] क्रुद्धः सोपतद्रुधिरं वमन् ॥ २५ ॥

चकम्पे तेन पतता सटङ्कस्सवनस्पतिः[7-7] ।
पर्वतः कुरुशार्दूल[8] वायुना नौरिवाम्भसि ॥ २६ ॥

जयशब्दो नमश्शब्दः साधु साध्विति चाम्बरे ।
सुरसिद्धमुनीन्द्राणामासीत्कुसुम वर्षिणाम् ॥ २७ ॥

एवं निहत्य द्विविदं जगद्व्यतिकरावहम् ।
संस्तूयमानो भगवान् जनैस्स्वपुरमाविशत् ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयसिक्यां अष्टादशसाहस्रां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

1- -1 B.G.J. ततोऽन्येन रुषा जघ्ने तञ्चापि श° ; M. Ma. Ml.V ततोऽन्यमुत्पाट्य जघ्ने तञ्चापि श° 2. Ml.V तस्मिन् 3. K. Ml.T.V.W. स्व 4.K.M.Ma.T.V.W. दोर्भ्यां 5. B.G.J. ले 6- -6 K.T.W. वभ्यार्द्रयत्कु ; M.Ma °वताडयत्कु 7- -7 K.M.Ma T.W. सकण्टक व° 8. M.Ma नृप

**श्रीध० स्वेति**। अरूरुजत् ताडयामास ॥ २१-२४ ॥

**यादवेन्द्र इति**। यादवेन्द्रः[1-] सङ्कर्षणः क्रुद्धस्सन्[-1] जत्रौ कण्ठबाहुमूले ॥ २५ ॥

**चकम्पइति**। टङ्काः सतोयविवराणि तत्सहितः ॥ २६,२७ ॥

**एवमिति**। जगतो व्यतिकरं नाशमावहतीति तथा तम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

1- -1 Ml.V. Omit

**वीर०** ततोऽन्य प्रयुक्तं तथा चिच्छेद ॥ २१ ॥

**एवमिति**। प्रयुक्ते साले भग्ने सति सर्वतो वृक्षानाकृष्य तद्वनं वृक्षरहितं चकार ॥ २२ ॥

**तत** इति। बलस्य रामस्योपरि तच्छिलाजालम् सर्वम् ॥ २३ ॥

**स्वबाहू** इति। ताभ्यां मुष्टीकृताभ्यां बाहुभ्यां अरूरुजत् अताडयत् ॥ २४ ॥

यादवेन्द्रो रामोऽपि मुसललाङ्गलौ त्यक्त्वा दोर्भ्यामिव तं कपिं जत्रौ कण्ठबाहुमूले अभ्यर्दयत् अताडयत्। स कपी रुधिरं वमन् उद्गिरन् पपात ॥ २५ ॥

**चकम्प** इति। पतता तेन द्विविदेन कण्टकादिसहितो गिरिश्चकम्पे चचाल। हे कुरुशार्दूल! यथा वायुना नौरम्भसि कम्पते तद्वत् ॥ २६ ॥

जयशब्दः कुसुमानि वर्षन्तीति तथा तेषां सुरादीनां यथायोग्यं जयशब्दादिरासीत् ॥ २७ ॥

**एवमिति**। जगतो व्यतिकरं नाशमावहत्यापादयतीति तथाभूतं द्विविदमेवं निहत्य जनै स्संस्तूयमानो भगवान् रामः स्वपुरं द्वारकां प्रविवेश ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

**विज०** अरूरुजत्[1] चूर्णयामास ॥ २१-२४ ॥

सकण्टकाः वनस्पतयो यस्मिन् स तथा ॥ २६ ॥

जगतो व्यतिकरं नाशमावहति करोतीति जगद्व्यतिकरावहस्तम् ॥ २७,२८ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
विजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥
(विजयध्वजरीत्या एकोन नवतितमोऽध्यायः)

1. M. Ma अरुजत्

# अष्टषष्टितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या नवतितमोऽध्यायः)

बलरामकृत हास्तिनपुराकर्षणादि घट्टः

श्रीशुक उवाच

दुर्योधनसुतां राजन् लक्ष्मणां समितिञ्जयः ।
स्वयंवरस्थामहरत्[1-1] साम्बो जाम्बवती सुतः ॥ १ ॥

कौरवाः[2] कुपिता ऊचु र्दुर्विनीतोऽय मर्भकः ।
कदर्थीकृत्य नः कन्या मकामा महर द्बलात् ॥ २ ॥

बध्नीतेनं[3] दुर्विनीतं किं करिष्यन्ति वृष्णयः ।
येऽस्मत्प्रसादोपचितां[4] दत्तां नो भुञ्जते महीम् ॥ ३ ॥

निगृहीतं सुतं श्रुत्वा यद्योष्यन्तीह वृष्णयः ।
भग्नदर्पाः शमं यान्ति शीर्णदन्ता इवाहयः[5] ॥ ४ ॥

1- -1 T.W. स्वयंवरे जहारैकः 2. M.Ma कुरवः 3. B.G.J. °तेमं 4. K.T.W. °त्रतापोप° 5- -5 B.G.J.K.MI.T.V.W. प्राणा इव सुसंयताः

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अष्टषष्टितमे साम्बे निबद्धे कौरवै र्युधि। तद्विमोक्षाय रामेण गजाह्वयविकर्षणम् ॥

रामचरित्रान्तरं निरूपयितु माह- **दुर्योधनसुतामिति**। समितिञ्जयः सङ्ग्रामजित् ॥ १,२ ॥

**बध्नीतेति**। नोऽस्माकं मही मस्माभि र्दत्ताम्। न ते भूपतय इति भावः ॥ ३ ॥

**निगृहीतमिति**। यान्ति यास्यन्ति। प्राणा इन्द्रियाणीव। सुसंयताः प्राणायामादिभि र्दमिताः ॥ ४ ॥

## श्रीवीरराघव विदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

रामस्यैव चेष्टितान्तर मनुवर्णयितु मुपोद्घातमाह अष्टषष्टितमेन **दुर्योधनसुता** मित्यादिना। समितौ सङ्ग्रामे जयतीति तथा। समिति श्शत्रुः तं जयतीति वा। स जाम्बवत्यास्सुतः। साम्बो लक्ष्मणां नाम दुर्योधनस्य सुतां स्वयंवरस्थां हृतवान् ॥ १ ॥

**कौरवा** इति। उक्तिमेवाऽऽह -दुर्विनीत इत्यादिना सुसंयता इत्यन्तेन। नोऽस्मान् कदर्थीकृत्य तुच्छीकृत्य बलात् अकामयमानामपि कन्या महरत् ॥ २ ॥

अत एव दुर्विनीतं मूर्खं बध्नीत बन्धयत। वृष्णयः किं करिष्यन्ति, न किमपीत्यर्थः। तत्र हेतुः य इति। ये वृष्णयः अस्माकं प्रतापेन पराक्रमेण उपचिता मेधितां समृध्दामिति यावत्। नोऽस्माभिर्दत्ताञ्च महीं भुञ्जते अनुभवन्ति। तेन भूपतयो बभूवुरिति भावः ॥ ३ ॥

**निगृहीतमिति**। निगृहीतं बद्धं सुतं शृत्वा यदि वृष्णयः आगमिष्यन्ति, तर्हि भग्नो दर्पो [1]गर्वो येषां ते तथाभूताः, शमं शान्तिं यास्यन्ति। सुसंयताः प्राणायामादिभिः दमिताः प्राणाः इन्द्रियाणीव ॥ ४ ॥

1. B. Omits गर्वो

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

समिति शब्देन सङ्गरसभे गृह्येते। उभे अपि शस्त्रेण वाचा जयतीति समितिञ्जयः खश्प्रत्ययो मुमागमोऽनुस्वारः "समितिः सङ्गतिसभयोः" (हला. को. 5-35) इत्यभिधानम् ॥ १ ॥

अकामां कुमारकामविधुराम् ॥ २ ॥

अस्मत्प्रसादेनोपचिताः संवर्धिताः, अत एव नो महीं भुञ्जते, दत्ताम्, अस्माभिरिति शेषः ॥ ३ ॥

निगृहीतं बध्दं, शीर्णदन्ताः भग्नदन्ताः ॥ ४ ॥

**[1-]इति कर्ण श्शलो भूरि र्यज्ञकेतु स्सुयोधनः ।**
**★ सुदुश्शासन गान्धारौ दुर्मन्त्रैकान्तशीलिनौ ॥**

एतेऽतिक्रम्य विदुरं गान्धारीञ्च यशस्विनीम् ।
साम्बमारेभिरे बद्धुं कुरुवृद्धैरसङ्गताः[2-] [-2] ॥५॥

दुष्ट्वाऽनुधावतस्साम्बो धार्तराष्ट्रान् महारथान्[3] ।
प्रगृह्य रुचिरं चापं तस्थौ सिंह इवैकलः ॥६॥

तं ते जिघृक्षवः क्रुध्दा स्तिष्ठ तिष्ठेति भाषिणः[4] ।
आसाद्य धन्विनो बाणैः कर्णाग्रण्यः[5-] [-5] समाकिरन् ॥७॥

सोऽतिविध्दः[6] कुरुश्रेष्ठ कुरुभि र्यदुनन्दनः ।
नाऽमृष्य[7-] तदचिन्त्याऽर्भः[-7] सिंहः[8-] क्षुद्रमृगैरिव[-8] ॥८॥

1- -1 M.Ma इति कर्ण समालोक्य भूरिश्रवसुयोधनौ। ★ These two extra half verses are found in M and Ma editions only. 2- -2 B.G.J.K.Ml.T.V.W. °वृद्धानुमोदिताः 3. B.G.J. थः। 4. K.M.Ma.T.W. वादिनः 5- -5 M.Ma कर्णमुख्यः 6. B.G.J. °ऽप° K.T.W. °ऽभि° 7- -7 M.Ma तत्परिभवं 8- -8 M.Ma.T.W. दण्डाहत इवोरगः

**श्रीध० इतीति**। कुरुवृध्दो भीष्मः, तेनाऽनुमोदिताः तत्सहिताः षडेते इत्यर्थः ॥५॥

**दृष्ट्वेति**[1-] [-1]। एकलः एकः ॥६॥

**तमिति**। कर्णोऽग्रणी र्येषां ते ॥७॥

**स इति**। नाऽमृष्यत्[2-] असहत्[-2] अचिन्त्यस्य भगवतोऽर्भोऽर्भकः अचिन्त्यश्चाऽसावर्भश्चेति वा ॥८॥

1- -1 B.J. Omit 2- -2 Ml.V. Omit

**वीर०** इतीत्थं निश्चित्य कर्णादयः कुरुवृध्दैः धृतराष्ट्रादिभिः अनुमोदिताः साम्बं बध्दु मारेभिरे आरब्धवन्तः ॥५॥

**दृष्ट्वेति**। अनुधावतः पृष्ठतः आगन्तॄन् दृष्ट्वा एकलोऽसहायः सिंह इव तस्थौ ॥६॥

**तमिति**। ते धार्तराष्ट्राः तं साम्बं जिघृक्षवः ग्रहीतुमिच्छवः कर्णाः अग्रणीः पुरतो नायको योषां तथाभूताः आसाद्य समीपमेत्य वा समाकिरन् पिदधुः ॥७॥

स इति। हे कुरुश्रेष्ठ! कुरुभिरभितो विध्दस्ताडितः स यदुनन्दनः साम्बः अचिन्त्यस्य भगवतोऽर्भः[1] अर्भकः हेतुगर्भमिदम्। अतस्तद्वेधनं नाऽमृष्यत् न सेहे। तत्र दृष्टान्तः- क्षुद्रमृगै र्विध्दः सिंह इव ॥८॥

1. K.W. Omit अर्भः

**विज०** एते इत्यवलोक्य साम्वं बध्दु मारेभिरे। असङ्गताः विनाभूताः ॥५॥

एकलः अपुरुषद्वितीयः ॥६॥

जिघृक्षवः ग्रहीतुकामाः ॥७,८॥

**विस्फूर्ज्य रुचिरं चापं सर्वान् विव्याध सायकैः ।**
**कर्णादीन् षड्रथान्[3-] वीर[-3] स्तावद्भि र्युगपत्पृथक् ॥९॥**

**चतुर्भिश्चतुरो वाहान् एकैकेन च सारथीन् ।**
**रथिनश्च महेष्वासां[4] स्तस्य तत्तेऽभ्यपूजयन् ॥१०॥**

**तं तु ते विरथं चक्रुश्चत्वारश्चतुरो हयान् ।**
**एकस्तु सारथिं जघ्ने चिच्छ्रेदाऽन्यश्शरासनम् ॥११।**

**तं तथा विरथं चक्रुः कृच्छ्रेण कुरवो युधि ।**
**कुमारं गृह्य कन्याञ्च स्वपुरं जयिनोऽविशन् ॥१२॥**

1. Ma. Ml.V विस्फार्य 2- -2 K. M.Ma.T.W. सुमहच्चापं 3- -3 M. Ma सहयाग्रण्यां° Ml.V. षड्रथान् वीक्ष्य 4. K.M.Ma. Ml.T.V.W. सा°

**श्रीध०** तत्प्रपञ्चयति- **चतुर्भिरिति**। चतुर्भिश्चतुर इत्यत्र वीप्साऽनुसन्धेया। तत्कर्म ते सम्मानितवन्तः ॥९-११॥

**तमिति**। स्वस्य दुर्योधनस्य कन्याञ्च, नीत्वेति शेषः ॥१२॥

**वीर० विस्फूर्ज्येति**। आरोपितज्यं चापं विस्फूर्ज्य वज्रनिर्घोषवत् ध्वनयित्वा वीर स्साम्बः कर्णादीन् पूर्वोक्तान् षट् संख्याकान् तावतो रथांश्च तावद्भिस्सायकैः बाणैः युगपत्पृथक् प्रत्येकं विव्याध ॥९॥

तथा चतुर्भिश्चतुर्भिः सायकैः चतुरो वाहान् अश्वान् एकैकेन बाणेन सारथींश्च विव्याध। रथिनश्चेति ते रथिनः कर्णादयः तस्य साम्बस्य तत्कर्म अपूजयन्नभ्यनन्दन् ॥१०॥

1-तमिति। ते कर्णादयस्तं साम्बं विरथं चक्रुः। तदेवाह-चत्वार इति। आजघ्नुरिति वचनपरिणामेन चत्वार इत्यस्य सम्बन्धः। तमिति-1। एवं युध्दे तं साम्बं कृच्छ्रेण प्रयासेन विरथीकृत्य जयिनः प्राप्तजयाः कुमारं साम्बं स्वकन्यां स्वस्य दुर्योधनस्य कन्याञ्च, आदायेति शेषः। पुरं हास्तिनपुरं, आविशन् ॥ ११,१२ ॥

1- -1 W Omits

**विज०** हयानामग्रण्यं अग्रणीभवं कर्म तेन सह वर्तन्त इति सहयाग्रण्या स्तान् यावन्तः तावद्भिश्शरैः ॥९॥

एतदेव विवृणोति-**चतुर्भिरिति**। साम्बस्य तत्कर्म सन्दृश्य कुरवः किमकुर्वन् ? अत्राऽऽह-महेष्वासा इति ॥१०॥

अत्र साम्बस्य पराजयो नास्तीति भावेनाऽऽह चत्वार इति ॥ ११ ॥

गृह्य गृहीत्वा जयिनो जेतुकामा एव न तु लब्धजया इति तात्पर्यार्थः ॥ १२ ॥

**तच्छ्रुत्वा नारदेनोक्तं राजन् सञ्जातमन्यवः ।**
**कुरून्प्रत्युद्यमं चक्रु रुग्रसेन प्रचोदिताः ॥१३॥**

**सान्त्वयित्वा तु ताम्रामः संक्रुध्दान् वृष्णिपुङ्गवान्[1] ।**
**नैच्छत्कुरूणां वृष्णीनां कलिं कलिमलापहः[3] ॥१४॥**

**जगाम हास्तिनपुरं रथेनाऽऽदित्य वर्चसा ।**
**ब्राह्मणैः कुलवृध्दैश्च वृतश्चन्द्र इव ग्रहैः ॥१५॥**

**गत्वा गजाह्वयं रामो बाह्योपवन मास्थितः[4] ।**
**उध्दवं प्रेषयामास धृतराष्ट्रं बुभुत्सया[5] ॥१६॥**

1. B.G.J.K.MI.T.V.W. सन्न° 2. MI.V. °वः 3- -3 M.Ma कलहशङ्कितः 4. K.M.Ma.MI.T.V.W. °माश्रितः 5- -5 K.T.W. राजन् तेषां बुभुत्सया ;M.Ma धृतराष्ट्राय शान्तये

**श्रीध० सान्त्वयित्वेति**। यतः कलिं नैच्छत्, अतस्सान्त्वयित्वा जगामेति ॥ १३-१५॥

**गत्वेति**। धृतराष्ट्रं प्रति बुभुत्सयेति, अभिप्रायजिज्ञासयेत्यर्थः ॥ १६॥

**वीर० तदिति**। हे राजन्, नारदोक्त्या तद्वृत्तान्तं शृत्वा सञ्जातो मन्यु र्येषां ते उग्रसेनप्रचोदिताश्च [1]यदवः कुरून्प्रत्युद्यमं प्रति चिकीर्षां चक्रुः ॥ १३॥

**सान्त्वयित्वेति**। सन्नध्दान् गन्तु मायत्तानाशु सान्त्वयित्वा रामः कुरूणां वृष्णीनाञ्च मिथः कलिं कलहं नैच्छत् यत स्स कलिमलं कलहात्मकं मल मपहन्तीति तथा ॥ १४॥

किन्तु आदित्यस्यैव वर्चो यस्य तेन रथेन गमनसाधनेन ग्रहै र्गुरुशुक्रादिभिः चन्द्र इव ब्राह्मणादिभिः परिवृतो हास्तिनपुरं जगाम ॥ १५॥

**गत्वेति**। गजाह्वयं हास्तिनपुरम्। हे राजन्, तेषां कुरूणां बुभुत्सया अभिप्रायजिज्ञासया उद्धवं प्रेपयामास ॥ १६॥

1./T.W. Omit यदवः

**विज०** नारदोक्तेन नारदवचनेन ॥ १३॥

कलिम् विरोधम् १४, १५॥

**सोऽभिवन्द्याम्बिकापुत्रं भीष्मं द्रोणञ्च बाह्लिकम् ।**
**दुर्योधनञ्च विधिवत् राम मागत मब्रवीत् ॥ १७॥**
**[1]तेऽतिप्रीता स्समाकर्ण्य प्राप्तं रामं सुहृत्तमम् ।**
**तमर्चयित्वाऽभिययुः सर्वे मङ्गलपाणयः ॥ १८॥**
**तं सङ्गम्य यथान्यायं गा मर्घ्यञ्च न्यवेदयन् ।**
**तेषां ये तत्प्रभावज्ञाः प्रणेमुश्शिरसा बलम् ॥ १९॥**
**बन्धून् कुशलिनः [2]दृष्ट्वा पृष्ट्वा शिव मनामयम् ।**
**परस्पर मथो रामो बभाषेऽविक्लबं वचः ॥ २०॥**

1. K.M.Ma. पि 2. B.G.J.K.M.Ma.T.W. शृत्वा

**श्रीध० स** इति। विधिवदभिवन्द्य ॥१७॥

**त** इति। तमुध्दवमर्चयित्वा सत्कृत्य, मङ्गलपाणयः उपायनहस्ताः ॥१८

**तमिति**। वृध्दा अपि प्रणेमुः ॥१९,२०॥

1. MI.V. वाद्य

**वीर० स** इति। उध्दवः अम्बिकायाः पुत्रं, भीष्मं बाह्लीकेन सहितं दुर्योधनञ्च विधिवदभिवन्द्य ॥१७॥

**तेऽपीति**। तेऽपि भीष्मादयोऽपि राम मागतं शृत्वा प्रीताः तमुध्दवं सुहृद्भिर्वृत मर्चयित्वा सर्वे मङ्गलद्रव्याणि पाणिषु येषां तथाभूताः राम मभिजग्मुः ॥१८॥

**तमिति**। तं रामं यथान्यायं स्वस्ववयःस्थानाद्यनुरूपमालिङ्गनादिभिः आलिङ्ग्य सम्यक् गां धेनु मर्घ्यञ्च तस्मै न्यवेदयन्। तेषां मध्ये ये तत्प्रभावज्ञाः रामप्रभावविदस्ते बलं रामं शिरसा प्रणेमुः ॥१९॥

**बन्धूनिति**। रामः परस्परं बन्धून् कुशलिनः शृत्वा अनामय मारोग्यं शिवं शुभञ्च पृष्ट्वा च। अविक्लब मिति छेदः। अदीनं वचो बभाषे ॥२०॥

**विज०** परस्परं शिवं सुख मनामय मारोग्यम् अविक्लबम् धाष्टर्ययुक्तम् ॥१७-२०॥

**उग्रसेनः क्षितीशेशो यद्व आज्ञापयत्प्रभुः ।**
**तदव्यग्रधियः श्रुत्वा कुरुध्वं[1] मा विलम्बितम्[2] ॥२१॥**

**यद्यूयं बहवस्त्वेकं जित्वाऽधर्मेण धार्मिकम् ।**
**अबध्नीताऽथ तन्मृष्ये बन्धूना[3-] मैक्यकाम्यया[-3] ॥२२॥**

**श्रीशुक[4-] उवाच[-4]**

**वीर्यशौर्यबलोन्नध्द मात्मशक्ति समं वचः ।**
**कुरवो बलदेवस्य निशम्योचुः प्रकोपिताः ॥२३॥**

अहो महच्चित्र मिदं कालगत्या दुरत्ययम् ।
आरुरुक्षत्युपान द्वै शिरो मकुटसेवितम् ॥ २४ ॥

1.MI.T.V.W. °ध्वमपि 2. K. तत् 3- -3 M. Ma मिष्टकाम्यया 4- -4 B.G.J.M.Ma Omit 5- -5 B.G.J.M.Ma मुकुटसेवितम् ;K मकुटभूषितम्

**श्रीध० यदिति**। यद्यूयमिति उग्रसेनवाक्यं मृष्ये सहे, अथाऽऽह तमानीय, समर्पयतेति शेषः ॥ २१,२२ ॥

**वीर्येति**। वीर्यं प्रभावः, शौर्यमुत्साहो, बलं सत्त्वं, तैः उन्नध्दम् उच्छृङ्खलं, कथम्? आत्मनः शक्तेः सम मनुरूपम् ॥ २३ ॥

**अहो** इति। उपानत्पादरक्षा शिर आरोढुमिच्छति हीना अपि अस्मान् आज्ञापयन्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥

**वीर०** तदेवाऽऽह-**उग्रसेन** इति द्वाभ्याम्। तदाज्ञापित मव्यग्रधियः अवहितचित्तास्सन्तः श्रुत्वा कुरुध्वं, तन्मा विलम्बितम् इणन्तमिदं मा[1] विलम्बितव्य मित्यर्थः ॥ २१ ॥

किञ्च **यदीति**। एक मसहायं धार्मिकञ्च बालं बहवो यूयम् अधर्मेण जित्वा अबध्नीत बध्दवन्त इति यत्तदहं मृष्ये सोढवानस्मि। कुतः? बन्धूना मैक्यकाम्यया मिथ स्सौहार्द कामनया अथाऽऽशु तमानीय, समर्पयतेति शेषः ॥ २२ ॥

**वीर्येति**। वीर्यं युध्दे ग्लान्यभावः, शौर्यं तत्र स्वगृह इव प्रवेशसामर्थ्यं, बलं धारणसामर्थ्यं एभिरुन्नध्द मृच्छृङ्खलं बलदेवस्य वचो निशम्याऽऽकर्ण्य कुरवः प्रकोपिताः प्रोचुः ॥ २३ ॥

उक्तिमेवाह-**अहो** इति षड्भिः। (दुरन्तया)दुरत्यया दुरतिक्रमणीयया कालगत्या अहो महदिदं चित्रं जातम्। किन्तदित्यत आह-आरुरुक्षतीति। उपानत् पादरक्षा मकुटेन भूषितं शिरो मूर्धानमारोढु मिच्छति। उपानत्स्थानीया यदवः किरीटालङ्कृत शिरःस्थानीयान् अस्मान् आज्ञापयन्तीत्येतत् अतिचित्रमिति भावः ॥ २४ ॥

1- -1 W न विलम्बि

**विज०** अधर्मेण अबध्नीत बन्धन मकार्ष्ट। मृष्ये सहेयम् ॥ २१-२३ ॥

आरुरुक्षति आरोढु मिच्छति ॥ २४ ॥

एते यौनेन[1] सम्बध्दाः[2] सह शय्यासनाशनाः ।
वृष्णय स्तुल्यतां नीता अस्मद्दत्तनृपासनाः ॥२५॥

चामरव्यजनं शङ्खं मातपत्रञ्च पाण्डुरम् ।
किरीटमासनं शय्यां भुञ्जन्त्यस्मदुपेक्षया ॥२६॥

अलं यदूनां नरदेवलाञ्छनै दातुः[4-] प्रतीपैः फणिनामिवामृतम्[-4] ।
येऽस्मत्प्रसादोपचिता[5] हि यादवा आज्ञापयन्त्यद्य गतत्रपा बत ॥२७॥

कथमिन्द्रोऽपि कुरुभि र्भीष्मद्रोणार्जुनादिभिः ।
अदत्तमवरुन्धीत[-6] सिंहग्रस्त मिवोरणः ॥२८॥

1. M.Ma °य 2. K.M.Ma.T.W. सम्बन्धाः 3. K. °ण्ड° 4- -4 M.Ma दातृप्रतीपैः फणिनामिवामृतैः ; Ml.V. दातुः प्रतीपाचरितोध्दतात्मनाम् 5.K.Ml.T.V.W. नः प्र 6- -6 K.T.W मुपयुञ्जीत 7.M.Ma °स्त इवो°

**श्रीध०** अस्यैव प्रपञ्चः एत इति चतुर्भिः। यौनेन पृथाया विवाहेन ॥२५॥

किञ्च **चामरेति**। भुञ्जन्त्युपभुञ्जते इत्यर्थः। अस्मदुपेक्षया अस्माक मनाग्रहेण अस्माकमनुग्रहेणेति यावत् ॥२६॥

**अलमिति**। अतः परं तान्यपहरिष्याम इत्यर्थः ॥२७॥

**कथमिति**। अवरुन्धीत स्वीकुर्यात्, उरणो मेषः ॥२८॥

**वीर०** एतदेव प्रपञ्चयति चतुर्भिः। एते वृष्णयः यौनेन पृथाविवाहेन सम्बध्दाः सम्बन्धिनः। सम्बन्धशब्दोऽत्र अर्शाद्यजन्तः अतः सहाऽस्माभिः सह शय्यासनभोजनानि येषां ते अस्माभिर्दत्तं नृपासनं येषां ते, अत एव तुल्यतामस्माभिः साम्यं प्रापिताः, वस्तुतो न समा इति भावः ॥२५॥

किञ्च। **चामरेति**। अस्मदुपेक्षया हेतुभूतया चामरादीन् भुञ्जते उपयुञ्जत इत्यर्थः। तत्रासनं नृपासनम् ॥२६॥

**अलमिति**। यदूनां नरदेवलाञ्छनैः चामरिदिभिरलम्। अतः परं तान्यपहरिष्याम इति भावः। तत्र हेतुत्वेन तानि विशिंषन्ति दातुः प्रतीपैरिति दातॄणामस्माकमेव प्रतीपैः प्रतिकूलैः। तत्र दृष्टान्तः- फणिना मिवामृतमिति। सर्पाणां पोषणाय यद्दत्तममृतं क्षीरं दातुरेव प्रतीपं तद्वत्। एतदैव दार्ष्टान्तिकेऽनुगमयति य इति। ये यादवाः

अस्मदनुग्रहेणोपचिता एधिताः, नोऽस्मानेव अधुना आज्ञापयन्ति। अहो बत[1] एते निर्लज्जाः खलु। यद्वा गतत्रपा स्सन्तः आज्ञापयन्ति बतेत्याश्चर्ये ॥२७॥

**कथमिति**। इन्द्रोऽपि भीष्मादिभिः कुरुभिः अदत्तं कथमुपयुञ्जीत, सिंहग्रस्त मुरणो मेष इव ॥२८॥

1. B. °तेति नि° ;K. °त ते नि°

**विज०** यौनेयेन योनिनिमित्तेन सम्बन्धो येषां ते तथा। ततः किमत्राऽऽह-सह इति ॥२५॥

अस्मद्दत्तेत्युक्तं विवृणोति-**चामरेति**। मह्यं महनीय मासनं भुञ्जन्ति भजन्ति। अन्योपद्रवमन्तरेण रक्षन्ति। "भुजोऽनवने" (अष्टा० 1-3-66) इति पाणिनिः ॥२६॥

दातृणा मस्माकं प्रतीपै र्विरोधिभिः दत्तै रमृतैः क्षीरादि रसैः विषात्मना परिणतैः दातृणां मरणप्रदत्वेन प्रतीपैः ॥२७॥

अवरुन्धीत प्राप्नोति। सिंहग्रस्त उरणः अविर्यथा कवलं न गृह्णाति। सिंहग्रस्तमितिपाठे कबल मादातुं न शक्तः ॥२८॥

**श्रीशुक उवाच**

**जन्मबन्धुश्रियोन्नद्ध मदा स्ते भरतर्षभ!**[1]
**आश्राव्य रामं दुर्वाच्य मसभ्याः पुरमा[2-2] विशन् ॥२९॥**

**दृष्ट्वा कुरूणां दौश्शील्यं श्रुत्वाऽवाच्यानि[3-] चाऽच्युतः[-3]।**
**अवोच त्कोपसंरब्धो दुष्प्रेक्ष्यः प्रहसन्मुहुः ॥३०॥**

**नूनं नाना[4] मदोन्नद्धाः शान्तिं नेच्छन्त्यसाधवः।**
**तेषां हि प्रशमो दण्डः पशूनां लगुडो[5] यथा ॥३१॥**

**अहो यदून् सुसंरब्धान् कृष्णञ्च कुपितं शनैः।**
**सान्त्वयित्वाऽहमेतेषां शम मिच्छन्निहाऽऽगतः ॥३२॥**

1. K. श्रियालब्ध 2- -2 M.Ma °क्यै रटव्यां पुर आ° 3- -3 M.Ma वच्यातिवाच्यताम् 4. M.Ma नामम° 5. M.Ma लकुटः

**श्रीध० जन्मेति**। जन्मना बन्धुभिश्चेपलक्षितया श्रिया उन्नध्दः मदो येषां ते, दुर्वाच्यं परुषं वाक्यं असभ्याः दुर्जनाः ॥२९, ३०॥

**नूनमिति**। नाना धनाभिजनादिमदैरुन्नध्दा स्तेषां दण्ड एव प्रशमः प्रकर्षेण शमयतीति तथा, यथा लगुडो दण्डः ॥३१, ३२॥

**वीर० जन्मेति**। हे भरतर्षभ! अभिजनबन्धुसम्पद्भिः लब्धः मदो येषां ते। अत एव असभ्याः कुरवः इत्थं रामं प्रति दुर्वाच्यं परुषं वाक्यं श्रावयित्वा पुरं हास्तिनं विविशुः ॥२९॥

**दृष्ट्वेति**। दौश्शील्यं दौर्जन्यं दृष्ट्वाऽवाच्यानि वचांसि श्रुत्वा अच्युतः स्वासाधारणकल्याण गुणजातान्न च्यवते इत्यच्युतो रामः कोपेन संरक्तोऽत एव दुष्प्रेक्ष्यः पुनः पुनः प्रहसन्नुवाच ॥३०॥

उक्तिमेवाऽऽह **नून** मिति। नाना धनादिमदैः उन्नध्दा असाधवो दुरात्मान एते नूनं शान्तिं नेच्छन्ति। अत स्तेषां दण्ड एवं प्रशमः शान्तिकरः, यथा पशूनां उद्धृत्तानां लगुडो यष्टिविशेषः, तद्वत् ॥३१॥

**अहो** इति। सुसंरब्धान् क्रुध्दान् हरिं कृष्णञ्च सान्त्वयित्वा शमं शान्तिपूर्वकं सन्धिं इच्छन् इहाऽऽगतोऽस्मि ॥३२॥

1. B.K. संरब्धः

**विज०** अटव्या मुपवने स्थितं रामम्। ॥२९॥

वाच्यातिवाच्यता मपवादातिशयिता मपवादताम् ॥३०॥

प्रशमः शान्तिकरः लकुटः यष्टिः ॥३१, ३२॥

**त इमे मन्दमतयः कलहाभिरताः खलाः ।**
**तं मा मवज्ञाय मुहुः दुर्भाषां मानिनोऽब्रुवन् ॥३३॥**

**नोग्रसेनः किल विभुः भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः ।**
**शक्रादयो लोकपाला यस्याऽऽदेशानुवर्तिनः ॥३४॥**

**सुधर्माऽऽक्रम्यते येन पारिजातोऽमराङ्घ्रिपः ।**
**आनीय भुज्यते सोऽसौ न किलाध्यासनार्हणः ॥३५॥**

**यस्य पादयुगं साक्षाच्छ्रीरुपास्तेऽ खिलेश्वरी ।**
**न नाऽर्हति किल श्रीशो नरदेवपरिच्छदान् ॥ ३६ ॥**

1. M. Ma °ति° 2- -2 K.M.Ma.T.W. तस्मात् तं मामवज्ञाय 3.B.G.J.K.Ml.T.V.W °षान् 4. Ml.V. आहृत्य 5. M.Ma °कः

**श्रीध० त** इति। दुर्भाषान् अवाच्यशब्दान् ॥ ३३ ॥

दुर्भाषणमनुस्मरति षड्भिः-**नोग्रसेन** इति। विभुराज्ञापयितुं समर्थः ॥ ३४ ॥

अहो धृष्टा श्रीकृष्णमप्यधिक्षिपन्तीति **कुपित** आह-**सुधर्मे**त्यादिभिस्त्रिभिः ॥ ३५, ३६ ॥

**वीर० त इम** इति। खला मूर्खश्च मामवज्ञाय अवहेल्य मानिनो दुरहङ्कारिणो दुर्भाषान् दुर्वाक्यान्यूचुः ॥ ३३ ॥

दुर्भाषणमेवानुस्मरति-**नेति**। उग्रसेनो विभुर्न प्रभुः किलेति काकुः । काक्वा सूचितमनुशयमेव व्यञ्जयितुं विशिनष्टि-भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः इति। एवमग्रेऽपि इन्द्रादयो यस्य यदुराजस्य आज्ञानुवर्तिनः किल। पूर्ववद्विशिनष्टि लोकपाला इति ॥ ३४ ॥

**सुधर्मेति**। सुधर्मा नाम सभा येनाऽऽक्रम्यते अधिष्ठीयते सोऽसौ कृष्णः सिंहासनार्हो न किल ॥ ३५ ॥

पुनस्तमेव विशिंषन्नेतदेवाऽऽह-**यस्येति** द्वाभ्याम्। अखिलानां ब्रह्मादीनां ईश्वरी श्रीः लक्ष्मीः, साक्षाद्यस्य पादयुग्मं उपास्ते सोऽसौ भगवान् श्रियःपतिर्नरदेवचिह्नानि नार्हति किल। त्रीश इति पाठे त्रिलोकेशः ॥ ॥

**विज०** सोऽसौ कृष्णः ॥ ३३-३६ ॥

**यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजोऽखिललोकपाल[1]ः मौल्युत्तमैर्धृतमुपासिततीर्थतीर्थम् ।**
**ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कलाः कलाया[2]ः श्रद्धामहे[3-] सुचिरमस्य[-3] नृपासनं क्व? ॥ ३७ ॥**
**भुञ्जते[4] कुरुभिर्दत्तं भूखडं किल[5-] वृष्णयः[-5]**
**उपानहः किल वयं स्वयन्तु कुरवश्शिरः ॥ ३८ ॥**

**अहो ऐश्वर्यमत्तानां मत्तानामिव मानिनाम् ।**
**असम्बन्धागिरो रूक्षाः कस्सहेताऽनुशासिता ॥ ३९ ॥**

अद्य निष्कौरवां[6] पृथ्वीं करिष्यामीत्यमर्षितः ।
गृहीत्वा हलमुत्तस्थौ दहन्निव जगत्त्रयम् ॥४०॥

1. B.G.J.Ml.V. °लैः 2. M.Ma कलांशाः 3--3 B.G.J.K.Ml.T.V.W श्रीश्चोद्वहेम 4. M.Ma.T.W. भुज्यते 5. M.Ma.T.W. वृष्णिभिः किल 6. K.T.W. °वां

**श्रीध० यस्येति** । मौल्युत्तमैर्मौलियुक्तै रुत्तमाङ्गैः उत्तमैर्मौलिभिरिति वा । उपासितानि तीर्थानि यै र्योगिभि तेषामपि तीर्थम् । यद्वा, उपासितं सर्वैः सेवितं तीर्थं गङ्गा तस्याः तीर्थं तीर्थत्वनिमित्तम् । किञ्च ब्रह्मा भवः श्रीश्चाऽहमपि उद्वहेम । कथम्भूता वयम्? यस्य कलाया अंशस्य कला अंशा ॥३७, ३८॥

**अहो इति** । मत्तानामिव मद्यादिना रूक्षाः परुषाः । अनुशासिता स्वयं दण्डधरस्सन् ॥३९, ४०॥

**वीर० यस्येति** । अखिलैर्लोकपालैः कर्तृभिः, मौल्युत्तमैः मौलियुक्तैः उत्तमैः उत्तमाङ्गैः शिरोभिः यम्याऽङ्घ्रिरजोधृतम् । कथम्भूतम्? उपासिततीर्थ तीर्थम् । उपासितानि तीर्थानि गङ्गादीनि यैर्योगिभिः तेषामपि तीर्थं पावनम् । यद्वा, उपासितगुरूणां सतामपि पावनम्, उपासितानां गङ्गादितीर्थानामपि पावनं वा । यस्य कलायाः कला अशांशभूताः अहमनन्तः श्रीर्लक्ष्मीः, उद्वहेम बिभृम । अङ्घ्रिरज इत्यनुषज्यते । अस्यैवम्भूतस्य नृपासनं क्व कथं वा तदधिकारः इति काकुः ॥३७॥

**भुञ्जत** इति । भुञ्जते किल ॥३८॥

**अहो** इति । मत्तानां मद्यादिना प्रमत्तानां मानिनां स्वैरिणामिव एषामैश्वर्येण मत्तानामसम्बद्धाः रूक्षाः परुषाश्च गिरः को वा अनुशासिता दण्डयितुं समर्थश्चेत्सहेत? ॥३९॥

अतोऽद्य भूमिं निष्कौरवां करिष्यामीत्यभिसन्धायेति शेषः । अतिक्रुद्धो जगत्त्रयं दहन्निव हलं गृहीत्वा उदतिष्ठत् ॥४०॥

**विज०** श्रद्धामहे आकाङ्क्षामहे । सर्वैरुपासितं निषेवितं तीर्थं भागीरथी, अस्या अपि तीर्थं शुद्धिकरम् अस्य कृष्णस्य ॥३७, ३८॥

अनुशासिता शिक्षाकरः ॥३९, ४०॥

लाङ्गलाग्रेण नगरमुद्विदार्य गजाह्वयम् ।
विचकर्ष स गङ्गायां प्रहरिष्यन्नमर्षितः ॥४१॥

जलयानमिवाऽऽघूर्णं गङ्गायां नगरं पतत् ।
आकृष्यमाणमालोक्य कौरवा जातसम्भ्रमाः ॥४२॥

तमेव शरणं जग्मुः सकुटुम्बा जिजीविषवः ।
सलक्ष्मणं पुरस्कृत्य साम्बं प्राञ्जलयोऽब्रुवन्[1] ॥४३॥

राम रामाऽखिलाधार प्रभावं न विदाम[2] ते
मूढानां नः कुबुद्धीनां[3] क्षन्तुमर्हस्यतिक्रमम् ॥४४॥

1. B.G.J. यः प्रभुम् 2. M.Ma °महे 3- -3 M.Ma ां 4. K.M.Ma Ml.T.V.W. °म्यधीश्वर

**श्रीध० लाङ्गलेति**। लाङ्गलाग्रेण दक्षिणतः प्राकारमूले निखातेन उद्विदार्य उत्पाट्य ॥४१, ४२॥

**तमिति**। जिजीविषवः इत्यक्षराधिक्यं सोढव्यम् ॥४३॥

1- **रामेति**। मूढानां प्रभावानभिज्ञानाम् अतिक्रममपराधम्[-1] ॥४४॥

1- -1 Ml.V. Omit

**वीर० लाङ्गलाग्रेणेति**। स रामः गजाह्वयं नगरमुद्विदार्य दक्षिणतः प्राकारमूले निखातेनोत्पाट्य गङ्गायां प्रहरिष्यन् पातयितुमित्यर्थः। विचकर्ष आकृष्टवान्। यतोऽमर्षितः ॥४१॥

**जलयानमिवेति**। आकृष्यमाण मत एव जलयानं प्लवमिव आघूर्णं भ्रमत् गङ्गायां पतच्च नगरमालोक्य जातः सम्भ्रमः सम्यग्भ्रमः क्रम्पो येषां ते ॥४२॥

जिजीविषवः जीवितुमिच्छवः कुटुम्बै स्सहिताः तं राममेव शरणं जग्मुः ययुः। सलक्ष्मणं लक्ष्मणया सहितं साम्बं पुरस्कृत्य पुरतो निधाय बद्धाञ्जलयः प्रोचुश्च ॥४३॥

उक्तिमेवाऽऽह-**राम रामेति** पञ्चभिः। कुबुद्धीनां नोऽस्माकमपराधमिति शेषः ॥४४॥

**विज०** - कुटुम्बीनामिति दीर्घश्छान्दसः ॥ ४१-४४ ॥

स्थित्युत्पत्ति[1-] लयानां[-1] त्वमेको हेतु र्निराश्रयः ।
लोकान् क्रीडनकानीश वहतस्ते[3] वदन्ति हि ॥ ४५ ॥

त्वमेव मूर्ध्नीद मनन्तलीलया भूमण्डलं बिभर्षि सहस्रमूर्धन् ।
अन्ते च यः स्वात्मनिरुद्धविश्वः शेषेऽद्वितीयः परिशिष्यमाणः ॥ ४६ ॥

कोपस्तेऽखिल[4] शिक्षार्थं न द्वेषान्न च मत्सरात् ।
बिभ्रतो भगवन्सत्त्वं स्थितिपालनतत्पर[5]! ॥ ४७ ॥

नमस्ते सर्वभूतात्मन् सर्वशक्तिधराऽव्यय ।
विश्व कर्मन्नमस्तेऽस्तु त्वां वयं शरणं गताः ॥ ४८ ॥

1--1 B.G.J.K.MI.T.V.W. °त्यप्ययानां 2. K.T.W. °जा° 3. B.G.J.K.MI.T.V.W क्रीडत° 4. K.MI.T.V.W. वल° 5. B.J.M.Ma °रः

**श्रीध० त्वमिति**। शेषे शयनङ्करोषि शेषपर्यङ्के परिशिष्यमाणो यः स च त्वमेवेति वा ॥ ४५, ४६ ॥

अस्मासु कोपश्च तवाऽयमुचित एवेत्याहुः-**कोपस्ते** इति। स्थितिपालने[1] तत्परस्तात्पर्यवान् कोपः, पाठान्तरे सम्बोधनम् ॥ ४७ ॥

**नम** इति। विश्वं कर्म कृत्यं यस्य स त्वमिति सम्बोधनम् ॥ ४८ ॥

1. MI.V. क्षिति

**वीर० स्थितीति**। अप्ययः प्रलयः। तेषां त्वमेक एव हेतुराधारतयेति भावः। कस्तर्हि मम हेतुस्तत्राहुः-निजाश्रयः इति। निज आत्मा आधारो यस्य सः। हे ईश! क्रीडत स्ते तवेति क्रीडनकान् क्रीडोपकरणभूतान् वदन्ति त्वद्याथात्म्यविदः ॥ ४५ ॥

त्वमेको हेतुरित्येतदेव प्रपञ्चयति- **त्वमिति**। हे अनन्त! मूर्ध्नेत्यस्य सहस्रेत्यादिः सहस्रमूर्धा त्वमेक एवेदं कृत्स्नं भूमण्डलं मूर्ध्नि लीलयेव बिभर्षि। अन्ते प्रलये स्वात्मनि रुद्धं लीनं विश्वं यस्य सः। अत एव अवशिष्यमाणः, अत एव चाऽद्वितीयः, समाभ्यधिकरहितः शषे शयिष्यसे। परमात्मदृष्ट्येदमुक्तम् ॥ ४६ ॥

**कोप** इति। हे क्षितिपालनतत्पर! हे भगवन्! हे बल ! सत्वं शुद्धसत्वमयं शरीरं बिभ्रतस्तव कोपः केवलं शिक्षार्थमेव न तु द्वेषात्, नाऽपि मत्सराच्च। द्वेषोऽप्रीतिः। मत्सरः कौटिल्यम् ॥४७॥

शरण्यत्वोपयुक्तगुणैः सम्बोधयन्तः शरणं व्रजन्ति। सर्वभूतात्मन्नित्यनेन सार्वज्ञ्यं, सर्वशक्तिधरेत्यनेन सर्वशक्तित्वम्, अव्ययेत्यनेन रागद्वेषादिविकारराहित्यम् अत एव सर्वसुहृत्त्वम्, विश्वकर्मन्नित्यनेन परत्वञ्चोक्तं भवति। क्रियते इति कर्म कार्यं विश्वं यस्य कार्यं तथाभूतेत्यर्थः। सर्वमिदं परमात्मदृष्ट्योक्तम् ॥४८॥

**विज०** क्रीडनकान् क्रीडासाधनानि ॥४५॥

अन्ते जगत्संहारे परिशिष्यमाणोऽद्वितीयः शेषे ॥४६॥

जगद्बिभ्रतस्ते कोपोऽखिलशिक्षार्थं सत्त्वं स्थित्यादि तत्परः सद्भिरत्र हलधरे यथोचितं ग्राह्यम्। अनुचितमन्तर्यामि विषयमिति तात्पर्य मवगन्तव्यम्। विश्वस्य प्रपञ्चस्य अनुग्रहार्थं कर्म विक्रमलक्षणो व्यापारो यस्य स तथा। तस्य सम्बुद्धिः हे विश्वकर्मन्! ॥४७, ४८॥

**श्रीशुक उवाच**

**एवं प्रपन्नैः संविग्नै र्वेपमानै र्हलायुधः।**
**प्रसादितस्सुप्रसन्नो मा भैष्टेत्यभयं ददौ ॥ ४९ ॥**

**दुर्योधनः पारिबर्हं कुञ्जरान् षष्टिहायनान् ।**
**ददौ च द्वादशशतान्य युतानि तुरङ्गमान् ॥५०॥**

**रथानां षट्सहस्राणि रौक्माणां सूर्यवर्चसाम् ।**
**दासीनां निष्ककण्ठीनां सहस्रं दुहितृवत्सलः ॥५१॥**

**प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं भगवान्सात्त्वतर्षभः ।**
**ससुतः सस्नुषः प्रायात्सुहृद्भिरभिनन्दितः ॥५२॥**

1- -1 M.Ma Ml.V. Omit 2- -2 °नायनैर्बलः 3- -3 K. प्रसन्नोसौ M.Ma.T.W. °स्सम्प्रसन्नो 4. Ml.V. षा° 5- -5 K. द्विशतसाहस्रं नि° ;M,Ma द्विदशसाहस्रान् नि° Ml.T.V.W ददौ द्वादश साहस्रं नि° 6. G.K.T.W. प्रागात्सु° ; 7. M.Ma °व°

**श्रीध० एवमिति**। वेपमानमयनं पुरं येषां तैः ॥४९॥

**दुर्योधन** इति। तुरङ्गमांश्च द्वादशायुतानि ॥५०, ५१॥

**प्रतिगृह्येति**। सुहृद्भिः कौरवैः ॥५२॥

**वीर० एवमिति**। संविग्नैर्भीतैः अत एव कम्पमानैः, अत एव प्रपन्नैः प्रसादितः प्रसन्नश्चाऽसौ हलायुधः रामः भयं माकार्ष्टेत्येवमभयं ददौ ॥४६॥[1]

**दुर्योधन** इति। पारिबर्हमुपायनम् ददाविति सम्बन्धः। तदेव प्रपञ्चयति-द्वितीयान्तैः। षष्टिः हायनानि वत्सरा येषां तान्, द्विशतञ्च साहस्रञ्च तयोस्समाहारः तावतो गजान् ददौ। द्वादशसाहस्रमिति पाठान्तरे तु स्पष्टोऽर्थः। तुरङ्गमांश्च द्वादश नियुतानि ददौ ॥५०॥

**रथानामिति**। रौक्माणां स्वर्णालङ्कृतानां सूर्यस्येव वर्चो येषां तेषां रथानाम्। निष्कं पत (द)काख्यं भूषणं कण्ठे यासां तासां दासीनां सहस्रं ददौ। तत्र हेतुः दुहितृवत्सल इति ॥५१॥

**प्रतिगृह्येति**। तत्सर्वमुपायनं प्रतिगृह्य म्लेच्छतर्षभो रामः सतेन स्नुषया च सहितः सुहृद्भिः कौरवैरभिनन्दितो ययौ ॥५२॥

**विज०** संविग्नैर्भयसङ्घातैः वेपमानानां कम्पमानानां अङ्गोपाङ्गानाम् अयनैराश्रयैः ॥४९, ५०॥

रौक्माणि हेमचितान्याभरणानि एषां सन्तीति रौक्मिणस्तेषाम् ॥५१, ५२॥

**ततः प्रविष्टः स्वपुरं[1] हलायुधः समेत्य बन्धूननुरक्तचेतसः।**
**शशंस सर्वं यदुपुङ्गवानां मध्ये सभायां कुरुषु स्वचेष्टितम् ॥५३॥**

**अद्याऽपि वः पुरं ह्येतत्सूचयद्रामविक्रमम् ।**
**समुन्नतं दक्षिणतो गङ्गायां[2] ननु दृश्यते ॥ ५४॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥६८॥

1. K.M.Ma.T.W. °री° 2. B.G.J. °यामनु°

**श्रीध० तत** इति। मध्ये सभायाम् सभामध्ये ॥ ५३, ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

**वीर० तत** इति। स्वपुरीं द्वारकाम् अनुरक्तं चेतो येषां तान् बन्धून् यदून् समेत्य यदुपुङ्गवानां मध्ये सभाया सभाया मध्ये यत् कुरुषु स्वचेष्टितं तत्सर्वं शशंस कथयामास ॥ ५३ ॥

यद्धलेन गङ्गायां पुरपातनं तदसम्भावितं मन्वानं राजानं प्रत्याह मुनिः- **अद्यापीति**। वो युष्माकं पुरं हास्तिनं रामपराक्रमं सूचयद्वर्तते। तत्र लिङ्गमाह समुन्नतमिति। गङ्गायां दक्षिणतः समुन्नतं सत् दृश्यते ननु ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघव विदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

**विज०** रामविक्रमो जलरेखावन्नश्वरो न, किन्तु सर्व चक्षुर्विषय इत्याह-अद्यापीति। रामविक्रमं सूचयत् गङ्गायां दक्षिणतः समुन्नतं दृश्यत इत्यन्वयः ॥ ५३, ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थरीत्या नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

# एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या सप्तसप्ततितमोऽध्यायः)

### श्रीकृष्णंप्रति नारदागमनम्

श्रीशुक उवाच

नरकं निहतं श्रुत्वा तथोद्वाहं च योषिताम् ।
कृष्णेनैकेन बह्वीनां तं[1] दिदृक्षुः स्म नारदः ॥ १ ॥

चित्रं बतैतद्द्वेवेन वपुषा युगपत्पृथक् ।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत् ॥ २ ॥

इत्युत्सुको द्वारवतीं देवर्षिर्द्रष्टुमागमत् ।
पुष्पितोपवनाराम द्विजालिकुलनादिताम् ॥ ३ ॥

उत्फुल्लेन्दीवराम्भोज कह्लारकुमुदोत्पलैः ।
छुरितेषु सरस्सूच्चैः कूजितां हंससारसैः ॥ ४ ॥

प्रासादलक्षैर्नवभिर्जुष्टां स्फाटिकराजतैः ।
महामरकतप्रख्यैः स्वर्णरत्नपरिच्छदैः ॥ ५ ॥

1. B.G.J.M.Ma तत्

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एकोनसप्ततितमे गार्हस्थ्यं प्रतिमन्दिरम् । कृष्णस्य नारदो दृष्ट्वा विस्मितोऽगात्ततः स्तुवन् ॥ १ ॥

दिदृक्षामभिनयेनाह-**चित्रमिति** । द्व्यष्ट सहस्र[1] स्त्रीः उदावहत् परिणीतवान् ॥ २ ॥

**इतीति** । तां द्वारवती मनुवर्णयति-पुष्पितेति सार्धत्रयेण । पुष्पितेषूपवनेषु आरामेषूद्यानेषु च द्विजानामलीनां च कुलानि तैर्नादिताम् ॥ ३ ॥

**उत्फुल्लेति**। छुरितेषु व्याप्तेषु ॥ ४ ॥

प्रासादेति। महामरकतैः प्रख्यायन्ते प्रकाशन्त इति तथा तैः। स्वर्णरत्नमयाः परिच्छदाः परिकरा येषु तैः ॥ ५ ॥

1. MI.V. साहस्रं

## श्रीवीरराघव विदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथैको भगवानष्टाधिक (शत) षोडश सहस्रपत्नीभिस्सह कथं रमत इति दिदृक्षयाऽऽगताय नारदाय प्रदर्शितं भगवतश्चेष्टित मनुवर्णयति **नरकमित्यादिना**। एकेन कृष्णेन सह कर्त्रा वा बह्वीनां योषितां विवाहं च श्रुत्वा नारदस्तं कृष्णं दिदृक्षुरासीदिति शेषः अत्र उद्वाहशब्देन तत्पूर्वक क्रीडा च विवक्षिता ॥ १ ॥

दिदृक्षामेवाभिनयति - **चित्रमिति**। एतच्चित्रं बत अतिचित्रमित्यर्थः। किं तत् ? यदेकेन वपुषा विग्रहेण युगपदेव पृथग्गृहेषु बहुषु गृहेषु योषित्समान सङ्ख्याक गृहेष्वित्यर्थः द्व्यष्टसाहस्रं षोडश सहस्रसङ्ख्याकाः स्त्रियः स्त्रीः एक उपयेमे इत्येतत् ॥

**इतीति**। इत्थं द्रष्टुमुत्सुको देवर्षिनारदः द्वारकां ययौ। सार्धत्रयेण तामेव वर्णयति-पुष्पितेति। पुष्पितेषूपवनेष्वारामेषु उद्यानवनेषु च द्विजानां पक्षिणाम् अलीनां च कुलैर्नादिताम् ॥ ३ ॥

उत्फुल्लैरिन्दीवरादिभिः छुरितेषु व्याप्तेषु सरस्सु हंसैस्सारैश्च उच्चैर्नादिताम् ॥ ४ ॥

नवभिः प्रासादानां लक्षैर्जुष्टां युक्तामित्यर्थः। कथम्भूतैः ? स्फटिकमयैः रजतमयैश्च महामरकतस्येन्द्रनीलस्य स्वर्णश्रेष्ठस्य रत्नानां च तन्मयाः[1], परिच्छदाः उपकरणानि येषु तैः। महामरकत प्रख्यैः इति पाठे महामरकतैः प्रख्यान्ति प्रकाशन्ते इति तथा,तैः स्वर्णरत्नमयाः येषु तैः ॥ ५ ॥

1. K. Omits तन्मयाः

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

नरकं निहतं श्रुत्वा तथा एकेन कृष्णेन बह्वीनां योषितां च उद्वाहं श्रुत्वा नारदः तद्वृत्तिं दिदृक्षु रभूदित्यन्वयः ॥ १

ततः किमिति तत्राह - **चित्रमिति**। एकः एकेन वपुषा पृथक् गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एकस्मिन्मुहूर्ते उदावहदिति यत्तदिदं विचित्रमाश्चर्यमिति च ॥२॥

सन्तोषादुत्सुको भूत्वा देवर्षिः कृष्णचेष्टितं द्रष्टुं द्वारवतीमागमदित्यन्वयः। कीदृशम्? द्वारवती नाम पुरं पुष्पिता उपवनारामा यस्मिंस्तत् द्विजानामलीनां पक्षिणां कुलेन नादितम्। ॥३॥

उत्फुल्लेन्दीवरादिभिः छुरितेषु मिश्रितेषु सरस्सु हंसादिभिरुच्चैः प्लुतस्वरेण कूजितं यद्वा सामान्यत उक्तं नारदागमनं विशिनष्टि - पुष्पितेत्यादिना। प्रथमतो द्विजादिनादितं पुष्पितोपवनारामं प्राप। पश्चादुत्फुल्लेन्दीवरादिभिः छुरितेषु सरस्सु हंसादिभिः उच्चैः कूजितं स्थलमाप ॥४॥

ततः पश्चात्स्फाटिकराजतैः स्फटिकादिनिर्मितैः नवभिः नूतनैः प्रासादलक्षणैः (क्षैः!) जुष्टं स्थलमाप महामरकतप्रख्यैः इन्द्रनीलविहितसोपानैः स्वर्णरत्नानि सुवर्ण श्रेष्ठानि परिच्छदा येषां तानि यथा अत्युत्तम सुवर्णजल[1] विचित्रितानीत्यर्थः नः ॥५॥

1. B. स्थल

**विभक्तरथ्या पथचत्वरापणैः शालासभाभी रुचिरां सुरालयैः ।**
**संसिक्त मार्गाङ्गण वीथिदेहलीं[1] पतत्पताकाध्वजवारिता तपाम् ॥६**

**तस्यामन्तः पुरं श्रीमदर्चितं सर्वधिष्ण्यपैः ।**
**हरेः स्वकौशलं यत्र त्वष्ट्रा कार्त्स्न्येन दर्शितम् ॥७॥**

**तत्र षोडशभिः सद्म सहस्रैः समलङ्कृतम् ।**
**विवेशैकतमं शौरेः पत्नीनां भवनं महत् ॥८॥**

**विष्टब्धं विद्रुमस्तम्भैर्वैदूर्य फलकोत्तमैः ।**
**इन्द्रनीलमयैः जालैः[2-] स्तम्भैर्मरकतोत्तमैः[-2] ॥९॥**

**वितानैर्निर्मितैस्त्वष्ट्रा मुक्तादामविलम्बिभिः ।**
**दान्तैरासनपर्यङ्कैर्मण्युत्तम परिष्कृतैः ॥१०॥**

1. M.Ma गेहिनीं ;T.W. गेहलीं 2- -2 B.G.J. कुड्यैर्जगत्या चाहतत्विषा ; M.Ma कुड्यै र्जालैर्मरकतोत्तमैः ;Ml.v. कुड्यै र्जगत्या चाहितत्विषा

**श्रीध० विभक्तेति**। पतन्त्यः प्रचलन्त्यः पताका येषु तैर्ध्वजैर्वारित आतपो यस्यां ताम् ॥ ६ ॥

**तस्यामिति**। तस्यां द्वारकायाम्। सर्वैर्धिष्ण्यपैर्लोकपालैरर्चितम्। षोडशभिः सद्मसहस्रैः समलङ्कृतं हरेरन्तः पुरं विवेश। तत्र च तस्य शौरेः पत्नीनां भवनेष्वेकतमं विवेशेत्यन्वयः। यत्र च स्वकौशलं त्वष्ट्रा दर्शितमित्यन्तः पुरभवनयोर्विशेषणम् ॥ ७, ८ ॥

तदनुवर्णयति चतुर्भिः-**विष्टब्धमिति**। विद्रुमस्तम्भैर्विष्टब्धं विधृतम्। वैदूर्यमयानि फलकोत्तमानि स्तम्भाश्रयणानि छादनानि तैरिन्द्रनीलमयैः कुड्यादिभिश्चोपलक्षितम् जगत्या भूमिकया चेन्द्रनीलमणिमय्या। न[1] हता[-1] त्विड् यस्यास्तया ॥ ९ ॥

**वितानैरिति**। मुक्तादाम्नां विलम्बा विविधानि लम्बनानि विद्यन्ते येषु तैः। मण्युत्तमैः परिष्कृतैर्भूषितैः ॥ १० ॥

1- -1 MI.V आहिता

**वीर०** किञ्च **विभक्तेति**। विभक्तैः रथ्या पथादिभिः शालादिस्सभाभि स्सुराणां देवता प्रतिमानाम् आलयैश्च रुचिरां शोभमानां रथ्यापथाः राजवीथयः संसिक्ताः मार्गादयो यस्यां तां पतन्तीभिः चलन्तीभिः पताकादिभिः ध्वजैश्य वारित आतपो यस्यां ताम् ॥ ६ ॥

**तस्यामिति**। तस्यां द्वारकायाम् अन्तःपुरं तत्रापि शौरेरेकतमं भवनं गृहं विवेशेति सम्बन्धः, अन्तःपुरं विशिनष्टि-श्रीमद्भोग्य भोगोपकरणादि समृद्धिमत् सर्वैः धिष्ण्यपैः लोकाधिपतिभिः अर्चितं बहुमतं, किं बहुना? यत्र यस्मिन्नन्तः पुरे हरेः हरये त्वष्ट्रा स्वकौशलं स्वशिल्पनैपुण्यं कार्त्स्न्येन प्रदर्शितम्, किञ्च षोडशभिः शौरेः पत्नीनां गृहसहस्रैस्समलङ्कृतम् ॥ ७, ८ ॥

पुरं भवनं चैव (वं?) विशिनष्टि-**विष्टब्धमिति** चतुर्भिः विद्रुमस्तम्भैः वैडूर्यमयानि फलकोत्तमानि स्तम्भाश्रयाणि च्छादनानि तैश्च विष्टब्धं प्रतिबद्धम् इन्द्रनीलमयैः जालैः गवाक्षैः मरकतमयैः उत्तमैश्च स्तम्भै र्विष्टब्धं त्वष्ट्रा विश्वकर्मणा निर्मितैः मुक्तादामानि विलम्बयन्तीति तथा तैः वितानैः उल्लोचैः दान्तैः निर्मलैः मणिश्रेष्ठालङ्कृतैश्च आसनैः पर्यङ्कैश्च उपलक्षितमिति शेषः। अलङ्कृतमित्युपरिष्टात्संबन्धो वा ॥ ९, १० ॥

**विज०** किञ्च विभक्तैः विभक्त रथ्यापथैः रथ मार्गैश्चत्वरैरापणैश्च शोभितां ततःपरं शालाभिः सभाभिरतिरुचिरां सुरालयैः देवगृहैश्च मनोरमां गोमयचन्दनोदकादिना संसिक्ता मार्गाश्च अङ्गणानि च वीथयश्च गृहपङ्क्ति पुरोमार्गाश्च संसिक्तमार्गाङ्गण वीथयः ताश्च गेहानि चास्याः सन्तीति संसिक्तमार्गाङ्गण वीथिगेहिनी तां, पतन्त्यः विवरणावरणे

कुर्वन्त्यः पताका येषां ते पतत्पताकाः ते च ध्वजाः पतत्पताकाध्वजास्तैः वारितस्स्तम्भित आतपो यत्र सा तथा ताम्। एवं विधायां तस्यां कुशस्थल्यामन्तर्भागे हरेः पुरं सर्वसम्पदापूर्णं स्थानमस्तीति शेषः। सर्वधिष्ण्यपैः समस्तैः ब्रह्मादिभिरर्चितं धिष्ण्यं गृहं 1-मध्यगृहपतिर्बह्मा परितः पतय इन्द्रादयः-1 यत्र पुरे त्वष्ट्रा विश्वकर्मणा ॥ ६, ७॥

ततः परितः कृष्णस्य पत्नीनां षोडशभिः सद्मसहस्रैः गृहसहस्रैः सन्दर्शनीयतया अलङ्कृतं भवनानामेकतमं भवनम् ॥ ८॥

कीदृशम् तद्गृहम्? अत्राह-विष्टब्धमिति। मूले अग्रे च फलकोत्तमानि येषां ते तथा तैः जालैः गवाक्षैः ॥ ९॥

मुक्तादामविलम्बिभिः अवलम्बमान मौक्तिकमालैः दान्तैः गजदन्तनिर्मितैः ॥ १०॥

---

1- -1 B. M.Ma प्रकाशेषु स्वीकृतोऽयं पाठः अनन्वितः।

**दासीभिर्निष्ककण्ठीभिः सुवासोभिरलङ्कृतम्।**
**पुम्भिः सकञ्चुकोष्णीष[1] सुवस्त्रमणिकुण्डलैः ॥ ११ ॥**

**रत्नप्रदीपनिकरद्युतिभिर्निरस्त ध्वान्तं विचित्रवलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग।**
**नृत्यन्ति यत्र विहितागुरु[2] धूपमक्षै र्निर्यान्तमीक्ष्य[3] घनबुद्ध्य उन्नदन्तः ॥ १२ ॥**

**तस्मिन्समानगुणरूपवयस्सुवेष दासीसहस्रयुतयाऽनुसवं गृहिण्या।**
**विप्रो ददर्श चमरव्यजनेन रुक्म दण्डेन सात्वतपतिं परिवीजयन्त्या ॥ १३ ॥**

**तं सन्निरीक्ष्य भगवान्सहसोत्थितः श्री पर्यङ्कतः सकलधर्म भृतां वरिष्ठः।**
**आनम्य[4] पादयुगलं[5] शिरसा किरीट जुष्टेन साञ्जलिरवीविशदासने स्वे ॥ १४ ॥**

**तस्यावनिज्य चरणौ तदपः स्वमूर्ध्नाऽबिभ्रज्जगद्गुरुतरोऽपि सतां पतिर्हि।**
**ब्रह्मण्यदेव इतियद्गुणनाम युक्तं तस्यैव यच्चरण शौचमशेष तीर्थम् ॥ १५ ॥**

---

1. T.W. °षैः 2. K.T.W. °ग° 3. M.Ma °त° 4. MI.V. °गम्य 5. MI. T.V.W. °गले

**श्रीध० रत्नेति**। ईक्ष्यसमीक्ष्य। घनो मेघोऽयमिति बुद्धिर्येषां ते ॥ ११, १२॥

**तस्मिन्निति**। अनुसवं सर्वकालम्। आत्मना समानानि गुणरूपवयांसि सुवेषोऽलङ्काराश्च यस्य तेन दासीसहस्रेण युतया गृहिण्या सह ॥ १३ ॥

**तमिति**। श्रियो रुक्मिण्याः पर्यङ्कतः। अवीविशदुपवेशयामास ॥ १४ ॥

**तस्येति**। अबिभ्रत् दधारेत्यर्थः। बिभ्रदिति शत्रन्तं वा। तदा संपूज्याभिभाष्य च प्राहेत्युत्तरेणान्वयः। कथम्भूनः? यस्य चरणशौचं गङ्गा अशेषतीर्थं सः। अत एव जगद्गुरुतरोऽपि सतां धर्मभृतां पतित्वादेवमकरोदित्यर्थः। सतां पतित्वे हेतुः-ब्रह्मण्यदेव इति यद्गुणकृतं नाम तस्यैव, यतो युक्तं समञ्जसमतस्तद्धर्मप्रवर्तना यैव माचरणमित्यर्थः ॥१५॥

**वीर०** शोभनानि वासांसि याभिः ताभिर्दासीभिः शोभनानि कञ्चुकादीनि येषां तैः पुम्भिश्चालङ्कृतम् ॥११॥

रत्नप्रदीपानां ये निकरास्समूहाः तेषां द्युतिभिः निरस्तं तमो यस्मिन् तत्। किञ्च यत्रान्तःपुरे भवने च वलभीषु **स्तम्भाग्र** प्रसारित वक्रदारुविशेषेषु शिखण्डिनो मयूराः गवाक्षमार्गैः निर्यान्तं विहितं[1] कृतम् अगरुधूपं वीक्ष्य घनो नीलाम्बुदोऽयमिति बुद्धिर्येषां तथाभूताः अतएव उन्नदन्तः उच्चैर्नदन्तः नृत्यन्ति, तथाभूतं च ॥ १२ ॥

**तस्मिन्निति**। तस्मिन्नेव भवने गृहिण्या भार्यया रुक्मिण्येति भावः। समं सहितमित्यर्थः। सात्वत पतिं श्रीकृष्णं विप्रो नारदो ददर्श। कथम्भूतया? अनुसवं सर्वकालम् आत्मना समानानि गुणरूपवयांसि सुवेषः अलङ्कारश्च यस्य तेन दासीनां सहस्रेण युतया रुक्मिण्या रुक्ममयो दण्डो यस्य तेन चामरव्यजनेन वीजयन्त्या च ॥ १३ ॥

**तमिति**। तं दृष्टवन्तं नारदं सम्यक् निरीक्ष्य भगवान् श्रियः रुक्मिण्याः पर्यङ्का दाशूत्थितः, तदिष्टदैवतभूतः किमित्युत्थित इत्यतो विशिनष्टि सकलधर्मभृतां वरिष्ठः धर्मात्मभिः महत्स्वेवं वर्तितव्यमिति प्रदर्शनार्थमिति भावः। अत एव किरीटालङ्कृतेन शिरसा तस्य पादयुगलं प्रणम्य अञ्जलिना सहितः स्वकीये आसने अवीविशदुपवेशयामास इत्यर्थः ॥ १४ ॥

**तस्येति**। स भगवान् जगतां साधुजनानां गुरुतरोऽपि परमगुरुरपि हि यतस्सतां पतिरपि तस्य नारदस्य चरणाववनिज्य प्रक्षाल्य तदपः अवनेजनजलानि मूर्ध्नि बिभ्रत् बिभ्राणः आसेति शेषः। दधारेत्यर्थः अबिभ्रदिति वाच्छेदः। अबिभ्रत् अबिभ्रत् दधारेत्यर्थ। युक्तं चैतदित्याह - ब्रह्मण्येति। ब्रह्मणि ब्राह्मणकुले साधवो ब्रह्मण्याः तेषां देव इति यद्गुणनाम अन्वर्थं नाम तस्यैव यतो भगवत एवासाधारणमित्यर्थः। अतः युक्तं ब्रह्मण्यदेवत्वाद्विप्राङ्घ्रिजलधारणमित्येतदुचितमेवेत्यर्थः। अन्यथा तु न घटत इत्यभिप्रयन्विशिनष्टि - यच्चरणशौचं यस्य भगवतः चरणसम्बन्धाच्छौचं पवित्रता यस्य तथाभूतम्। अशेषं गङ्गादितीर्थम्, तस्यैवं विधस्योक्तादेव हेतोस्तदुचितमित्यर्थः ॥ १५ ॥

1. B.T.w. Omit विहितं

**विज०** अक्षैर्गवाक्षैः निर्यातं निर्गतं विहितागुरुचूर्णं धूपं दृष्ट्वा शिखण्डिनो मयूराः ॥ ११, १२ ॥

चामरव्यजनेन चामराख्यव्यजनेन तस्मिन्भवने आविवेश उपविष्टः ॥ १३, १४ ॥

भो परीक्षित्! नैतच्चित्रमित्याह - ब्रह्मण्यदेव इतीति। यस्य चरणशौचजलमशेषांस्तीर्थयति शुद्धान्करोतीति अशेषतीर्थम् यद्वाऽशेषाणि तीर्थानि यस्मिंस्तत् तस्य हरेः ब्रह्मण्यदेव इति यत्तद्गुणनाम तस्यैव युक्तमित्यवधारयेत्यर्थः ॥ १५ ॥

**संपूज्य देवऋषिवर्यमृषिः पुराणो नारायणो नरसखो विधिनोदितेन ।**
**वाण्याभिभाष्य मितयाऽमृत जुषृया[1] तं प्राह प्रभो भगवते करवाम किं[2] ते ॥ १६ ॥**

**नारद उवाच**

**नैवाद्भुतं त्वयि विभोऽखिललोकनाथे मैत्रीं[3] जनेषु दधतश्च दमं खलानाम्**
**निश्श्रेयसाय[5-] जगतां[-5] स्थितिरक्षणाभ्यां स्वैरावतार उरुगाय विदाम सुष्ठु ॥ १७ ॥**

**दृष्टं तवाङ्घ्रियुगलं जनतापवर्गं ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिन्त्यमगाध बोध[6] म् ।**
**संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं ध्यायंश्चराम्यनुगृहाण यथा स्मृतिः स्यात् ॥ १८ ॥**

**ततोऽन्यदाविशद्गेहं कृष्णपत्न्याः स नारदः ।**
**योगेश्वरेश्वरस्याङ्ग योगमायाविवित्सया ॥ १९ ॥**

**दीव्यन्त मक्षैस्तत्रापि[7] प्रियया चोद्धवेन च ।**
**पूजितः परया भक्त्या प्रत्युत्थानासनादिभिः ॥ २० ॥**

1. B.G.J. मिष्टया ; M. Ma कल्पया 2. B.G.J. हे किम्। 3. B.G.J. K.MI. T.V.W. मैत्री 4- -4 B.G.J.K.MI.T.V.W. सकलेषु दमः 5- -5 B.G.J. °य हि जगत्स्थि° ;K. MI. T.V.W. °य जगतः स्थि° 6. B.G.J. M. Ma. MI.V. °धैः 7. M.Ma मक्षभिः

**श्रीध० सम्पूज्येति**। अभिभाष्य दिष्ट्यात्र त्वदागमनमित्यादि प्रियमुक्त्वा ॥ १६ ॥

भगवता स्वस्यार्हणमनर्हं मन्यमानस्तत्सम्भावयन्नाह - **नैवेति**। सर्वमित्रत्वादेवमर्हणं न तु मम गौरवात्। तर्हि कथं कंसादिष्वमैत्री तत्राह - खलानां दमश्च नैवाद्भुतमिति। कुतः? जगतः स्थितिर्धारणं रक्षणं पालनं ताभ्यां सह

तस्य निश्श्रेयसाय तवायं स्वेच्छावतार इति वयं सुष्ठु सम्यक् विदाम विद्मः। अतः खलदमः साधु सम्माननं च युक्तमिति भावः ॥ १७॥

यदुक्तं प्रभो किं करवामेति तत्राह - **दृष्टमिति**। भक्तजनताया अपवर्गरूपम्। किञ्च अतिदुर्लभतया ब्रह्मादिभिर्योगिश्वरैरपि हृदि विचिन्त्यम्। किञ्च संसारकूपे पतितानामुत्तरणायावलम्बमाश्रयम्। एवम्भूतं तवाङ्घ्रियुगलं मया दृष्टम् अतः कृतकृत्योऽस्मि तथापि त्वत्स्मृतिर्यथा स्यात् तथा अनुगृहाण। ततः तद्ध्यायन्नेव नित्यं चरामीति ॥१८, १९॥

**दीव्यन्तमिति**। अक्षैर्दीव्यन्तमित्यादौ ददर्शेति ज्ञातव्यम् ॥ २० ॥

1--1 Ml. V. तस्यस्मृति

**वीर० संपूज्येति**। नरस्य सखा नारायणः पुराण ऋषिरपि उक्तादेव हेतोः देवऋषिवर्यं नारदं शास्त्रोक्तेन विधिना संपूज्य अमृतेन जुष्टया अमृतवर्षिण्येत्यर्थः। मितया च अल्पाक्षरया वाण्या अभिभाष्य सम्बोध्य प्राह, उक्तिमेवाह-प्रभो ! भगवते ! करवाम किं ते, हे प्रभो भगवते तुभ्यं किङ्करवाम किङ्करा वयमित्यर्थः। किमिष्टं करवामेति वा, किं यत्किञ्चिदिष्टमस्ति तत्करवामेति वा ॥ १६ ॥

इत्थमुक्तः प्राह नारदः - **नैवेति** द्वाभ्याम्। तावदात्मार्हणमनर्हणं मन्यमानस्तत्सम्भावयन्नाह - नैवेति। सर्वेषु जनेषु विषयभूतेषु मैत्रीत्येतल्लोकनाथे त्वयि नैव चित्रं सर्वं मित्रत्वादेवमर्हणं न तु गौरवादिति भावः कथं तर्हि कंसादिष्वमैत्री तत्राह-दम इत्यादि। खलानां दमश्च नेवाद्भुतमिति भावः। कुतः? हि यस्मात् उरुगाय जगतः स्थितिः धारणं रक्षणं पालनं ताभ्याम्, चतुर्थ्यन्तमिदम्। निश्श्रेयसाय मोक्षप्रदानाय च ताभ्यां सह मोक्षप्रदानायेति वा। स्वैरावतारः स्वेच्छावतारः इति वयं सुष्ठु सम्यक् विद्मः, अतः खलदमः साधुसम्माननं च युक्तमिति भावः ॥ १७॥

यदुक्तं प्रभो भगवते करवाम किं ते इति, तत्राऽऽह - **दृष्टमिति**। तावत्तवाङ्घ्रि युगलं दृष्टं मयेति शेषः। कथम्भूतम्? जनतायाः प्रपन्नजनसमूहस्य अपवर्गम् अपवर्गसाधनं फलभूतं वा किञ्चातिदुर्लभतया बह्मादिभिर्योगीश्वरैरपि हृदि विचिन्त्यम् अगाधः बोधो विज्ञानं यस्मात्तथाभूतं संसारकूपे पतितानाम् उत्तरणाय अवलम्बमाश्रयम्, एवम्भूतं दृष्ट्वा कृतार्थोऽस्मीति भावः। अतस्तदेव ध्यायन् चरामि। किन्तु तद्विषया स्मृतिर्यथास्यात्, तथा अनुगृहाण ॥ १८॥

**तत** इति। सः नारदः अन्यत् कृष्णपत्न्याः गृहमविशत्, किं कर्तुमिच्छया? अङ्ग! हे राजन्! योगीश्वरेश्वरस्य भगवतो योगमायामाश्चर्यशक्तिं वेत्तुमिच्छया ॥ १९॥

**दीव्यन्तमिति**। तत्रापि गृहे प्रिययोध्दवेन च सह अक्षैः देवनाक्षैः दीव्यन्तं क्रीडन्तं ददर्शेति शेषः। असौ नारदः प्रत्युत्थानादिभिरुत्कृष्टया भक्त्या तत्पूर्वकं पूजितः ॥ २० ॥

1- -1 K.T.W. Omit 2. B. स्वमनीषितं तत् प्रार्थयते

**विज०** शास्त्रोदितेन विधिना संपूज्य ॥ १६ ॥

तत्र नारदः प्रतिवक्ति - **नेति**। त्वयि अद्भुतं नैव मानादिदानमिति शेषः। ।रावतारः स्वच्छावतार इति सुष्ठु विदाम ॥ १७ ॥

अद्य दृष्टं तवाङ्घ्रियुगलं ध्यायंश्चरामि। यथा स्मृतिः स्यात् तथाऽनुगृहाण ॥ १८, १९ ॥

अक्षभिः अक्षैः दीव्यन्तं देवनक्रियां कुर्वन्तम् ॥ २० ॥

**पृष्टश्चाविदुषेवासौ कदाऽऽयातो भवानिति ।**
**क्रियते किं नु पूर्णानामपूर्णैरस्मदादिभिः ॥ २१ ॥**

**अथापि ब्रूहि नो ब्रह्मञ्जन्मैतच्छोभनं कुरु ।**
**स तु विस्मित उत्थाय तूष्णीमन्यदगाद्गृहम् ॥ २२ ॥**

**तत्राप्याचष्ट गोविन्दं लालयन्तं शिशून् सुतान्।**
**ततोऽन्यस्मिन्गृहेऽपश्यन्मज्जनाय कृतोद्यमम् ॥ २३ ॥**

**जुह्वन्तं च वितानाग्नीन्यजन्तं पञ्चभिर्मुखैः ॥**
**भोजयन्तं द्विजान्क्वापि भुञ्जानमवशेषितम् ॥ २४ ॥**

**क्वापि सन्ध्यामुपासीनं जपन्तं ब्रह्म वाग्यतम् ।**
**एकत्र चासि चर्मभ्यां चरन्तमसिवर्त्मसु ॥ २५ ॥**

**अश्वैर्गजैरथैः क्वापि विचरन्तं गदाग्रजम् ।**
**क्वचिच्छयानं पर्यङ्के स्तूयमानं च वन्दिभिः ॥ २६ ॥**

**मन्त्रयन्त्रं च कस्मिंचिन्मन्त्रिभिश्चोध्दवादिभिः ।**
**जलक्रीडारतं क्वापि वारमुख्याऽबलावृतम् ॥ २७ ॥**

कुत्रचिद्द्विजमुख्येभ्यो ददतं गाः स्वलङ्कृताः ।
इतिहास पुराणानि शृण्वन्तं मङ्गलानि च ॥२८॥

हसन्तं हास्यकथया कदाचित्प्रियया गृहे ।
क्वापि धर्मं सेवमानमर्थकामौ च कुत्रचित् ॥२९॥

ध्यायन्तमेक मात्मानं[2] पुरुषं प्रकृतेः परम् ।
शुश्रूषन्तं गुरून्क्वापि कामैर्भोगैः सपर्यया ॥३०॥

1. M. Ma. °न्तं शिष्यवर्त्मसु 2. B.G.J. °मासीनं

**श्रीध० जुह्वन्तमिति**। वितानाग्नीन् आहवनीयादीनग्नीन् पञ्चभिर्मखैः महायज्ञैः यजन्तम् ॥२१-३०॥

**वीर०** अविदुषा अजानतेव भगवता पृष्टश्च, प्रश्नमेवाह-**कदेत्यादिना** कुर्वित्यन्तेन। इति शब्दः कुर्वित्यनन्तरं योज्यः, इति पृष्टश्चेत्यन्वयः। आयात इति च्छेदः। अपूर्णैः आगन्तुक पूर्तिरहितैः स्वत एव परिपूर्णैः अवाप्तसमस्तकामैरिति यावत्, तैरप्यस्मदादिभिः पूर्णानां युष्माकं किंक्रियते, निरपेक्षत्वात्किमपि न क्रियत एवेति भावः ॥२१॥

यद्यप्येवमथापि हे ब्रह्मन् ! ब्रूहि ममैतज्जन्म शोभनं कुरु, सफलं कुर्वित्यर्थः। भागवतकैङ्कर्यमकुर्वतः शरीरमशुभमिति भावः। सत्विति - सतु नारदो विस्मितः तष्णीमुत्थायान्यदपि गृहमाजगाम ॥२२॥

तत्रापि गृहे गोविन्दं आचष्ट ददर्श, कथम्भूतम्? लालयन्तम् उपच्छन्दयन्तम्, तत इति - मज्जनाय स्नानाय कृतः उद्यमो यत्नो येन तथाभूतम् ॥२३॥

जुह्वन्तमित्यादि द्वितीयान्तानां कृचिदित्यादिः, ददर्शेत्यन्तः, वितानाग्नीन् यज्ञियान् आहवनीयाद्यग्नीन् पञ्चभिर्मखैः महायज्ञैः, अवशेषितं परिवेषणावशेषितम् ॥२४॥

क्वचिद्ब्रह्म स्वात्मानं जपन्तम् अवलोकयन्तमित्यर्थः। ब्रह्म प्रणवं वा, यद्वा ब्रह्म वेदं जपन्तं वेदमेव जपेन्नित्यम् इति शास्त्रात्, क्वचित् वाग्यतं मौनीभूतम्, एकस्मिन् क्वचित् असिचर्मभ्यां खड्गखेटाभ्यां सह असिवर्त्मसु खड्गभ्रामणगतिषु चरन्तं गदाग्रजं कृष्णं क्वचिच्छयानमिति, वन्दिभिः स्तुतिपाठकैः स्तूयमानं च ॥२५, २६॥

क्वचिदुद्धवादिभिः मन्त्रयन्त्रं वारमुख्याभिर्गणिका श्रेष्ठाभिरबलाभिः स्त्रीभिः, परिवृतम् ॥२७॥

सुष्ठ्वलङ्कृताः गाः धेनूः ददतं प्रयच्छन्तं मङ्गलानि मङ्गलस्तुतीश्च शृण्वन्तम् ॥२८॥

कदाचित्क्वचिद्गृहे प्रियया सह हास्यकथया हसन्तम् ॥२९॥

प्रकृतेः "भूमिरापोनलो वायुः" (भ.गी. 7-4) इत्यादि श्लोकद्वयोक्तप्रकृतिद्वयात् परं विलक्षणं परमपुरुषभूतं स्वात्मानं ध्यायन्तं अनुभवन्तं सपर्यया पूजया च गुरून् शुश्रूषन्तं परिचरन्तम् ॥३०॥

1- -1 K.T.W. Omit

**विज०** अविदुषेव पूर्वं गृहे नारदागमनमजानतेव हरिणा भवान् कदाऽऽयात इत्यसौ नारदः पृष्टः ॥२१-२३॥

क्वापि गृहे ब्राह्मणदत्तावशेषितमन्नम् ॥२४॥

असिचर्मभ्यां शिष्यवर्त्मसु चरन्तं शिष्यान् शिक्षयन्तम् ॥२५, २६॥

वारमुख्याभिरबलभिरावृतं वेष्टितम् ॥२७॥

ददतमिति पाठः। ददन्तामिति पाठे दद दान इत्यस्य धातोः शत्रादेशः ॥२८-३०॥

**कुर्वन्तं विग्रहं कैश्चित्सन्धिं चान्यत्र केशवम् ।**
**कुत्रापि सह रामेण चिन्तयन्तं सतां शिवम् ॥३१॥**

**पुत्राणां दुहितॄणां च काले विध्युपयापनम्[1] ।**
**दारैर्वरैस्तत्सदृशैः कल्पयन्तं विभूतिभिः ॥३२॥**

**प्रस्थापनोपानयनैरपत्यानां महोत्सवान् ।**
**वीक्ष्य योगेश्वरेशस्य येषां लोका विसिस्मिरे ॥३३॥**

**यजन्तं सकलान्देवान्क्वचित्क्रतुभिरूर्जितैः[2] ।**
**पूर्तयन्तं क्वचिद्धर्मं कूपारामालयादिभिः[3] ॥३४॥**

**चरन्तं मृगयां क्वापि हयमारुह्य सैन्धवम् ।**
**घ्नन्तं तीर्थे पशून्मेध्यान्परीतं यदुपुङ्गवैः[4] ॥३५॥**

. M. Ma. °नायनम् 2. B.G.J. °क्वापि क° 3. B.G.J. °भमठा° 4. B.G.J. Ml. V. ततः

**श्रीध० पुत्राणामिति**। काले तत्तत्समये विधिना उपयापनं प्रापणं विवाहमित्यर्थः। कल्पयन्तं घटयन्तम्। विभूतिभिः विभवैः ॥ ३१, ३२ ॥

**प्रस्थापनेति**। प्रस्थापनं दुहितृ जामात्रादीनां स्वगृहात्तद्गृहं प्रति नयनम्। उपानयनं तत्तद्गृहात्पुनरानयनम्। तैर्महोत्सावान्कल्पयन्तम्। योगेश्वरेशस्य तेषामपत्यानां महोत्सवान्वीक्ष्य लोकाः सर्वे विसिस्मिरे विस्मयं चक्रुः। तथाभूतान् कल्पयन्तम् ॥ ३३-३५ ॥

**वीर०** कैश्चिद्विग्रहं विरोधं कुर्वन्तम् अन्यत्र गृहे सन्धिं कुर्वन्तं केशवं सतां साधूनां शिवं योगक्षेमं चिन्तयन्तम् ॥ ३१ ॥

**पुत्राणामिति**। काले तत्तत्समये पुत्राणां तत्सदृशैदारैः दुहितृणां तु तत्सदृशैर्वरैश्च विधिना शास्त्रोक्तेन उपयापनं प्रापणं विवाहमित्यर्थः। तद्विभवैः कल्पयन्तं घटयन्तम् ॥ ३२ ॥

**प्रस्थापनेति**। प्रस्थापनं दुहितृस्नुषाजामात्रादीनां स्वगृहात्तद्गृहं प्रति नयनं तद्गृहात् पुनरानयन मुपानयनं तैः अपत्यानां पुत्राणां दुहितृणां च महोत्सवान् कल्पयन्तम्, तान्विशिनष्टि - योगेश्वरेशस्य भगवतः येषाम् अपत्यादीनां महोत्सवान् वीक्ष्य लोकास्सर्वे विसिस्मिरे विस्मयं चक्रुः। तथाभूतान् उत्सवादीन् कल्पयन्तमिति सम्बन्धः ॥ ३३ ॥

स्वकलान् स्वांशभूतान् देवान् इन्द्रादीन् ऊर्जितैः बहुदक्षिणैः क्रतुभिः यजन्तं कूपादिनिर्माणैः धर्मं पूर्तयन्तं पूर्तं स्मार्तं धर्मं कुर्वन्तमित्यर्थः। पूर्त शब्दात् 'तत्करोति' इति णिजन्तात् छता "सविशेषणानां वृत्तिर्न" इत्यादि निषेधस्य विशेष्यविषयत्वादत्र पूर्तस्य धर्मं प्रति विशेषणत्वात् सापेक्षस्यापि नामधातुवृत्तिरवगन्तव्या ॥ ३४ ॥

सैन्धवं सिन्धुदेशोद्भवं हयमश्वमारुह्य मृगयां चरन्तं मेध्यान् यागार्हान् पशून् विशसन्तं क्वचित् यदुश्रेष्ठैः परिवृतम् ॥ ३५ ॥

**विज०** काले प्राप्ते विध्युक्त प्रकारेण उपानयनं उपनयनं स्वगृहं प्रत्यानयनं ब्राह्मणी का(क)रणं कल्पयन्तं पुत्राणां दारैः सह दुहितृणां वरैस्सह योगं कल्पयन्तम् ॥ ३१, ३२ ॥

प्रस्थापनं परगृहं प्रति दुहितृ प्रेषणम् उपनयनं स्वगृहं प्रत्यानयनं येषामिति षष्ठी द्वितीयार्थे। लोकाः यानिकर्माणि वीक्ष्य विसिस्मिरे तानि कुर्वन्तं कर्मणामाचरणं वीक्ष्येति वा ॥ ३३ ॥

कूपादिभिः पूर्तयन्तं पूर्ताख्यधर्ममाचरन्तम् ॥ ३४ ॥

सैन्धवं सिन्धु देशभवं, तीर्थे शास्त्रे विहितान्पात्रे प्राप्ते वा यज्ञे वा ॥ ३५ ॥

अव्यक्तलिङ्गं[1-] प्रकृतिष्वन्तःपुर[-1] चरादिषु[2] ।
क्वचिच्चरन्तं योगेशं[3] तत्तद्भाव बुभुत्सया ॥ ३६ ॥

अथोवाच हृषीकेशं नारदः प्रहसन्निव ।
योगमायोदयं[4] वीक्ष्य मानुषीमीयुषो रतिम्[5] ॥ ३७ ॥

नारद उवाच[6-6]

विदाम योगमायां[7] ते दुर्दर्शामपि योगिनाम्[8] ।
योगेश्वरात्मन्निर्भातां[9] भवत्पादनिषेवया ॥३८॥

अनुजानीहि मां देव लोकांस्ते यशसाऽऽप्लुतान् ।
पर्यटामि तवोद्गायँ[10] ल्लीलां भुवनपावनी ॥३९॥

श्रीभगवानुवाच

ब्रह्मन्धर्मस्य वक्ताहं कर्ता तदनुमोदिता[11] ।
तच्छिक्षयँल्लोक[12] मिममास्थितः[13-] पुत्र ! मा खिदः[-13] ॥४०॥

1- -1 M. Ma. लिङ्गप्रकृतिमन्तः 2. B.G.J. गृहा° 3. Ml. V. देहेषु 4. M. Ma °या बलं 5. B.G.J.K.Ml. T.V.W. गतिम् 6- -6 B.G.J.Ml.V. Omit 7. B.G.J. °यास्ते 8. B.G.J. मायि° 9. B.G.J. °ताः 10. B.G.J.K.M.Ma नीम् 11. M.Ma °म° 12. M.Ma तः 13- -13 M.Ma शिक्षयैस्तं लोक

**श्रीध० अव्यक्तलिङ्गमिति** । अव्यक्तलिङ्गं वेषान्तरेण च्छन्नम् ॥ ३६, ३७ ॥

विदाम इति । हे योगेश्वर! आत्मन् आत्मनि मम मनसि तव स्वरूपे वा निर्भाताः प्रतीतास्तव योगमायाः केवलं विदाम विद्मः न तु त्वत्पारमार्थ्यमिति भावः ॥३८॥

त्वन्मानुष्यनाट्येन मुह्यामि अतो मां प्रस्थापयेत्याह - अनुजानीहीति ॥३९॥

ब्रह्मन्निति । तत्तस्माल्लोकं शिक्षयन् इमं धर्म मास्थितो न तु तत्त्वतः । हे पुत्र ! मा खिदः मोहं मा प्राप्नुहीति ॥४०॥

**वीर०** प्रकृतिषु अमात्यादिषु अन्तःपुर चरादिषु तत्तदभिप्रायं बोद्धुमिच्छया अव्यक्तं वेषान्तरेण च्छन्नं लिङ्ग स्वासाधारण चिह्नं यस्य तं चरन्तं ददर्श ॥ ३६ ॥

**अथेति**। मानुषीं गतिं चेष्टां तनुं वा ईयुषः प्राप्तवतः परिगृहीतवत इति यावत्, तस्य भगवतः योगमायोदयम् आश्चर्यशक्तिवैभवमवलोक्य प्रहसन्निव प्राह, अचिन्त्यविविध विचित्रशक्तावस्मिन् नैतच्चित्रमितीवशब्दाभिप्रायः ॥ ३७ ॥

उक्तिमेवाह - **विदाम** इति द्वाभ्याम् ।हे योगेश्वर! योगिनां दुर्दर्शामपि ते तव योगमायाम् आश्चर्यशक्तिं भवत्पादनिषेवाप्रभावेन आत्मन् आत्मनि मनसि निर्भातां नितरां भातां विदामः जानीमः ॥ ३८ ॥

किन्तु हे देव ! मामनुजानीहि आज्ञापय, तव यशसा व्याप्तान् लोकान् भुवनपावनीं तव लीलामुद्गायन् परितश्चरामि ॥ ३९ ॥

इत्थमुक्तः प्राह भगवान् - **ब्रह्मन्निति**। हे ब्रह्मन्! वक्ता उपदेष्टा तद्धर्मोपदेश तदनुष्ठान तदनुमोदनादिकं शिक्षयन् शिक्षयितुं जनान् प्रतीति शेषः। इमं लोकं मनुष्य देहमास्थितः परिगृहीतवानस्मि। प्राकृतचेष्टामनुवर्ते इति भावः। अतो हे पुत्र ! माखिदः स्वयमीश्वरोप्यधुनाप्राकृतो बभूवेत्येवं विधं मोहं न प्राप्नुहीत्यर्थः ॥ ४० ॥

**विज०** अव्यक्त लिङ्गप्रकृतिम् अस्पष्टलक्षण स्वभावं, तेषां तेषां भावानां पदार्थानां बुभुत्सया स्वभाव जिज्ञासया ॥ ३६ ॥

मानुषीं रतिं मनुष्यक्रीडाम् ॥ ३७ ॥

आत्मनि हृदये निर्भातस्य प्रकाशितस्य भवतः पादयोर्निषेवया ॥ ३८ ॥

आप्लुतानिति पाठे यशसा तीर्थेन स्नातानीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

लोकानुकारि चरितदर्शनेन नारदस्य अन्यथाज्ञानं निवारयन्निति तत्त्वमुपदिशति - ब्रह्मन्निति। इमं लोकमास्थितः अस्मिन्लोके स्थितः तं धर्मकर्तारम् अनुमोदकः अनुज्ञाता ॥ ४० ॥

**श्रीशुक उवाच**

**इत्याचरन्तं सद्धर्मानादिष्टा गृहमेधिनाम् ।**
**तमेव सर्वदेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह ! ॥ ४१ ॥**

**कृष्णस्यानन्तवीर्यस्य योगमायामहोदयम् ।**
**मुहुर्दृष्ट्वा मुनिरभूद्विस्मितो जातकौतुकः ॥ ४२ ॥**

इत्यर्थकामधर्मेषु कृष्णेनावहितात्मना[4] ।
सम्यक् सभाजितः प्रीतस्तमेवानुस्मरन्ययौ ॥ ४३ ॥

एवं मनुष्यपदवी मनुवर्तमानो नारायणोऽखिलभवाय गृहीतशक्तिः ।
रेमेऽङ्ग[5]! षोडश सहस्र वराङ्गनानां सव्रीडसौहृदनिरीक्षण हासजुष्टः ॥ ४४ ॥

यानीह विश्वविलयोद्भव वृत्तिहेतुः कर्माण्यनन्य विषयाणि हरिश्चकार ।
यस्तानि[6] गायति शृणोत्यनुमोदते वा भक्तिर्भवेद्भगवति ह्यपवर्गमार्गे ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

1--1 B.G.J. °न्पावनान्गृह ; T.W. न्प्रादिष्टान्गृह ; M.Ma न्प्राक्सृष्टान्गृह 2. B.G.J. M.Ma गे° 3. B.G.J.K.M.Ma ऋषिः 4. B.G.J. K.MI. T.V.W. °न श्रद्धि° 5. M. Ma च 6. B.G.J.K.M.Ma.T.W. यस्त्वङ्ग

**श्रीध० इतीति** । इत्येवमनुगृहीतः तमेकमेव सन्तं ददर्शेति ॥ ४१ ॥

**कृष्णस्येति** । मुहुर्मुहुर्दृष्ट्वा जातकौतुको मुनिर्विस्मितोऽभूदिति ॥ ४२ ॥

**इतीति** । श्रद्धितः श्रद्धया युक्त आत्मा यस्य तेन ॥ ४३ ॥

नारददृष्टां श्रीकृष्णलीलां निगमयति **एवमिति** । अखिलस्य भवाय उद्भवाय गृहीताः शक्तयो नानामूर्तयो येन सः । सव्रीडं च तत्सौहृदं च तेन निरीक्षणं हासश्च ताभ्यां जुष्टः ॥ ४४ ॥

**यानीति** । अनन्यविषयान्यसाधारणानि । अपवर्गमार्गे मोक्षप्रदे ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

**वीर०** कदाचित् मोहसम्भावनामपि निवर्तयितुं भगवता प्रदर्शितं सार्वात्म्यं ददर्श, विस्मितश्च बभूव मुनिरित्याह- **इतीति** द्वाभ्याम्। गृहमेधिनामादिष्टान् विहितान् धर्मानेवमाचरन्तं तदैव पुनस्सर्वदेहेषु एकरूपेण आत्मतया सन्तं वर्तमानं ददर्श ॥४१॥

**कृष्णस्येति**। अनन्तवीर्यस्य अपरिच्छिन्न कल्याणगुणस्य कृष्णस्याश्चर्यशक्तेर्माहात्म्यं वैभवम् उत्सुकस्सन् मुहुर्मुहुः दृष्ट्वा ऋषिर्नारदो विस्मितो बभूव ॥४२॥

**इतीति**। अर्थादिषु श्रद्धितः लोकशिक्षार्थं सञ्जात श्रद्धः आत्मा मनो यस्य तेन कृष्णेन सभाजितो बहुमतः प्रीतश्च तं कृष्णमेवानुस्मरन् ययौ ॥४३॥

नारदाय दर्शितं योगमायोदयं निगमयति **एवमिति**। स्वयं नारायणस्सन् अखिलानां भवायाभ्युदयाय गृहीता उपात्ता शक्तिः दिव्यतनुः येन सः मनुष्यचेष्टामनु वर्तमानः अङ्ग ! हे राजन्! सव्रीडं च तत्सौहृदं च तेन निरीक्षणं हासश्च ताभ्यां जुष्टः ॥४४॥

उक्तविध भगवच्चेष्टित गानादिफलमाह - **यानीति**। विश्वस्य विलयः प्रलयः उद्भवः उत्पत्तिः वृत्तिः स्थितिः आसां हेतुः हरिः यानि ईदृशेष्ववतारेषु इह लोके वा अनन्यसाधारणानि कर्माणि चकार, तानि अङ्ग हे राजन् ! यः पुमान् गायति, तस्यापवर्गमार्गे मोक्षप्रापके, 'अमृतस्यैष सेतुः' (मुण्ड उ.2-2-5) इति श्रुतेर्मार्गशब्दः प्रापकपरः, भगवति भक्तिर्भवेत् ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥६९॥

**विज०** उपसंहरति **इतीति**। इतिशब्द आदिवचनः ॥४१, ४२॥

इत्यर्थधर्मकामेषु अवहितात्मना कृष्णेन ॥४३, ४४॥

साक्षान्मोक्षहेतुत्वात् भगवच्चरितमिदं बुभूषुभिरभ्यसनीयं आश्वसनीयं न तु विटवृत्तवदुपेक्षणीय मिति भावेनाह - **यानीति**। अङ्ग ! विष्णुरात ! विश्वविलयोद्भव वृत्तिषु हेतुः हरिः यानि अनन्यविषयाणि कर्माणि चकार यस्तु तानि गायति शृणोति अनुजानीति वा, स तस्य पुंसोपवर्गमार्गे भक्तिर्भवति हि यस्मात् तस्मादवश्यं मुमुक्षुणा सेव्यानीति ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

(विजयध्वजरीत्या सप्तसप्ततितमोऽध्यायः)

# सप्ततितमोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या अष्टसप्ततितमोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

अथोषस्युपवृत्तायां कुक्कुटान् कूजतोऽशपन् ।
गृहीतकण्ठ्यः पतिभिः माधव्यो विरहातुराः ॥ १ ॥

वयांस्यरूरवन् कृष्णं बोधयन्तीव वन्दिनः ।
गायत्स्वलिष्वनिद्राणि[1-1] मन्दारवनवायुभिः ॥ २ ॥

मुहूर्तं तं तु वैदर्भी नामृष्यदतिशोभनम्[2] ।
परिरम्भण विश्लेषात् प्रियबाह्वन्तरं गता ॥ ३ ॥

ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः ।
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम् ॥ ४ ॥

एकं स्वयं[3] ज्योति रनन्यमव्ययं[4] स्वसंस्थया नित्यनिवृत्तकल्मषम्[5] ।
ब्रह्माख्यमस्योद्भवनादि[6] हेतुभिः स्वशक्तिभि[7] र्लक्षितभावनिर्वृतिम् ॥ ५ ॥

1- -1 K.T.W. °ष्वनिद्रेषु ; M.Ma °ष्वभद्रेषु 2. M.Ma.T.W. °पि 3. M.Ma परं 4. K.M.Ma मद्वयं 5. B.G.J.K.M.Ma.T.W. °रस्त 5. B.G.J.K. °नाश 6. M.Ma °लक्षणैः

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावर्थदीपिका

ततस्तु सप्ततितमे कृष्णस्याह्निककर्मणि । दूतनारदयो कार्ये मन्त्रि[1] मन्त्र विचारणम् ॥

जगन्मङ्गलचारित्र माह्निकं जगदीशितुः । नारदेन क्वचित्किञ्चित् दृष्टमाह यथाक्रमम् ॥

**अथेति** । "इत्यर्थकामधर्मेषु कृष्णेन श्रद्धितात्मना" (भाग० 10-69-43) इति प्रस्तुतस्य श्रीकृष्णस्याह्निकस्याधिकारे अथशब्दः उपवृत्तायां आसन्नायां पतिभिः श्रीकृष्णैः माधव्यो माधवस्य भार्याः वयांसीति । वन्दिन इव श्रीकृष्णं बोधयन्ति सन्ति वयांसि पक्षिणः अरूरवन् अतिशयेनाकूजन् मन्दारवनवायुभिः गायत्सु अलिषु अनिद्राणि निद्रारहितानि[2-2] वयांसि ॥ १, २ ॥

**मुहूर्तमिति**। वैदर्भीत्युपलक्षणं अन्यासामपि[3-] परिरम्भण विश्लेषात् तं मुहूर्तं[4] पर्यालोच्य ॥ ३, ४ ॥

**एकमिति**। एकं अखण्डं तत्र हेतुः अनन्यं निरुपाधिं अतएव अव्ययं नित्यं स्वयं ज्योतिः तत्र हेतुः नित्यं निवृत्तं कल्मषं अविद्या यस्मात्तं उपलक्षणमाह अस्येति। विश्वस्य लक्षितः भावश्चासौ निर्वृतिश्च। भावसत्ता निर्वृतिरानन्दः तथाहि गुणक्षोभात्पूर्वं सत्तामात्रं यः, स देवसौम्येदमग्र आसीत् (छान्दो.उ. 6-2-1) इत्यादि श्रुतेः। स एवानन्दश्च "विज्ञानमानन्दम्" (बृह.उ. 3-9-28) इत्यादि श्रुतेः तं सदानन्दमित्यर्थः ॥ ५ ॥

1. B.J. कार्य 2- -2 MI. V. Omit 3- -3 B.J. Omit 4. B.J. Omit मुहूर्तं 5. B.J. °ष्ट्वे हे°

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ भगवतो दिनचर्यात्मकं चेष्टित मनुवर्णयन् मगधविरुध्दराजसंदेशाहर्तृ संवेदित वृत्तान्त युधिष्टिराभिप्रायाभिज्ञ नारद निवेदित तद्वृत्तान्तान्यतरनिश्चिचीषाप्रयुक्तं उध्दवोद्देश्यकं भगवत्प्रश्नमाह अथेत्यादिना, अथ ननु हे राजन्! यद्वाऽत्राथशब्दो भगवद्दिनचर्याप्रस्तावद्योतकः अथ भगवद्दिनचर्या प्रारभ्यत इत्यर्थः। उषसि प्रभातवेलायां उपवृत्तायां आसन्नायां सत्यां पतिभिः कृष्णैः गृहीताः कण्ठाः यासां ताः माधव्यः श्रीकृष्णस्य स्त्रियः विरहेण भाविना आतुराः कूजतः शब्दायमानान् कुक्कुटानशपन् ॥ १ ॥

**वयांसीति**। वन्दिन इव श्रीकृष्णं बोधयन्ति सन्ति वयांसि पक्षिणः मन्दारवनवायुभिः अनिद्रेष्वलिषु गायत्सु सत्सु अरूरवन् पुनः पुनरकूजन् ॥ २ ॥

**मुहूर्तमिति**। प्रियस्य बाह्वोरन्तरं गता वैदर्भीत्यन्यासामप्युपलक्षणं परिरम्भ विश्लेषाध्देतोः तं मुहूर्तमतिशोभनमपि नामृष्यन्नसेहे असमीचीनममन्यतेत्यर्थः ॥ ३ ॥

**ब्राह्म** इति। वारि शुध्दं जलं उपस्पृश्य आचम्य प्रसन्नानि करणानीन्द्रियाणि यस्य सः। तमसः प्रकृतेः परं विलक्षणमात्मानं दध्यौ ध्यातवान् स्वात्मावलोकनपरो बभूवेत्यर्थः ॥ ४ ॥

[1-]कोऽसौ तमसः पर आत्मा? तं विशिनष्टि - एकमिति। एकं समाभ्यधिकरहितं जीवस्तु विपरीत इति भावः[-1]। स्वयंज्योतिः स्वयंप्रकाशस्वरूपं अनन्यं न विद्यत अन्यदशरीरभूतं वस्तु यस्य तं अद्वयं जात्यादि कल्पना रहितं स्वामिन्संस्था सम्यगविकृतत्वेनावस्थितिस्तया, नित्यं निरस्तं प्रतिक्षिप्तं कल्मषं पुण्यपापात्मकं हेयं यस्य तं ब्रह्मेत्याख्या

"बृहति बृंहयती" इति निरुक्ता यस्य तं अस्य जगतः उत्पत्ति नाश हेतुभिः स्वशक्तिभिः उद्भवनाशग्रहणं स्थितेरप्युपलक्षणम्। शक्तिरपृथक्सिध्दविशेषणं ततश्च उत्पत्तिकारणत्व[2] लयकारणत्व रूपैः धर्मैरित्यर्थः। भावस्सत्ता सा च मान सम्बन्धार्हत्वरूपा भावशब्दश्चात्र धर्मिपरः। लक्षितो भावः सत्ताविशिष्टं स्वरूपं निर्वृतिरानन्दात्मकं यस्य तथाभूतं अत्रास्येत्यादिना भावेत्यन्तेन प्रकृतेः परस्यात्मनो लक्षणमभिप्रेतं जगज्जन्मादिकारणत्वं हि ब्रह्मणो लक्षणं निर्वृतिपदेनानन्दवाचिना "सत्यं ज्ञान मनन्तं विज्ञानमानन्दम्"(ब्रुह.उ. 3-9-28) इति स्वरूपशोधक वाक्यार्थः स्मारितः। अत्र कोऽसौ प्रकृतेः पर आत्मेत्यतो ब्रह्माख्य मित्युक्तं, ब्रह्मशब्दस्यानेकार्थसाधारण्या त्किन्तद्ब्रह्मेत्यपेक्षायां अस्येत्यादिना जगत्कारणत्वं लक्षितमितिकारणत्वं चिदचिद्विशिष्टगतमिति विशेष्यभूत ब्रह्मस्वरूप जिज्ञासायां निर्वृतिपदं प्रयुक्तं जगत्कारणत्वस्य हिरण्यगर्भादिरिव सुकृत विशेषप्रयुक्तत्व शङ्काव्युदासाय स्वसंस्थया नित्य निरस्त कल्मष मित्युक्तम्। कारणत्वप्रयुक्त विकाराश्रयत्व शङ्काव्युदासायाव्यय मिति। अधिष्टान्त्रन्तर शङ्काव्युदासायैकमिति कारणत्व प्रयुक्त कार्यानन्यत्वं वक्तुं अनन्य मित्युक्तमिति द्रष्टव्यं सच्छब्दापरपर्याय भावशब्देनोक्तार्थे वेदान्तानां प्रमापकत्वं सूचितम् ॥ ५॥

1- -1 T.W. Omit 2. B.K. add स्थितिकारणत्व

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

राज्ञां दैनन्दिन नित्यनियम प्रकारं कथयत्यस्मिन् अध्याये। तत्रादौ माधवीनां ग्राम्यधर्म लौल्यातिशयं कथयति**अथेत्यादिना** ॥ १॥

वयांसि कोकिलादीनि वन्दिनः कृष्णं बोधयन्तीवोपतस्थुः नित्योद्बुध्दत्वादिवेति। मन्दारवनवायुभिः पारिजातवनवायुभिः सह ॥ २॥

तं मुहूर्तोपलक्षितकालं प्रियस्य कृष्णस्य बाह्वन्तरं वृक्षस्थलम् ॥ ३॥

नित्यप्रसन्नान्तः करणः आत्मानं स्वमेव ॥ ४॥

इतरवस्तुभ्यः आत्मानं व्यावर्तयति **एकमिति**। एकं मुख्यं स्वरूपभेदशून्यं वा। आदित्यादि ज्योतिभ्यः परं विलक्षणं परंज्योतिरूपं सम्पद्येति श्रुतिः। अनन्यं अन्याधीनस्वभावरहितं अन्यः स्वतन्त्रो यस्मात् स तथा तं वा।

अद्वयं असदृशं स्वसंस्थया स्व व्यवस्थया स्वमहिम्ना स्वाकारेण वा। नित्यनिरस्तदोषं किं तस्य नामधेयमत्राह- ब्रह्माख्यमिति। स्वलक्षणैः स्वरूपलक्षणैः व्यावर्तक धर्मैः अस्य जगतः उद्भवनादि हेतुभिः सृष्ट्यादि हेतुभिः लक्षिता भाव निर्वृतिःस्वरूपानन्दो यस्य स तथा तम्। 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' (तैत्ति. उ. 2-7) इति श्रुतेः ॥ ५ ॥

**अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि क्रियाकलापं परिधाय वाससी ।**
**चकार सन्ध्योपगमादिसत्तमो हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः ॥ ६ ॥**

**उपस्थायार्कमुद्यन्तं तर्पयित्वात्मनः कलाः ।**
**देवान् ऋषीन् पितॄन् वृध्दान् विप्रानभ्यर्च्य चात्मवान् ॥ ७ ॥**

**धेनूनां रुक्मशृङ्गाणां साध्वीनां मौक्तिकस्रजाम् ।**
**पयस्विनीनां गृष्टीनां सवत्सानां सुवाससाम् ॥ ८ ॥**

**ददौ रौप्य खुराग्राणां क्षौमाजिन तिलैस्सह ।**
**अलङ्कृतेभ्यो विप्रेभ्यो द्वन्द्व द्वन्द्व दिने दिने ॥ ९ ॥**

**गोविप्र देवतावृध्दान् गुरून्भूतानि सर्वशः ।**
**नमस्कृत्वात्मसम्भूती र्मङ्गलानि समस्पृशत् ॥ १० ॥**

1. B.G.J.M.Ma °ङ्गी 2- -2 G.J.M.Ma बद्वं बद्वं ;B. वध्वं ;K.T.W. पद्मं पद्मं 3. B.G.J.K.T.W. °त्या

**श्रीध० अथेति**। आप्लुतः स्नातः सन्ध्यायाः उपगमः उपासनं आदिर्यथाभवति तथा क्रियाकलापं चकार काण्वत्वादुदयात्पूर्वमेव हुतानलः ब्रह्मगायत्रीं जजाप ॥ ६ ॥

**उपस्थायेति**। कलाः अंशान् देवान् ऋषीन् पितॄंश्च तर्पयित्वा ॥ ७ ॥

**धेनुनामिति**। गृष्टीनां प्रथम प्रसूतानाम् ॥ ८ ॥

**ददाविति**। महासंख्यायुक्त सङ्ख्याभिधानम्। द्वन्द्वशो यत्र ब्राह्मणा गा विभेजिर इत्युक्ते द्वन्द्वमिति। "हिरण्येन" परिवृतान् कृष्णान् शुक्लदतो मृगान् मष्करे भरतोऽददाच्छतं द्वन्द्वानि सप्त च" (ऐत ब्रा 8-23-3a) इति श्रुत्युक्तानि सप्तोत्तर शतं द्वन्द्वान्येकीकृत्य पुराणे चतुर्दश लक्षत्वेन गणितानि - यथोक्तं - भरतमेवाधिकृत्य नवमस्कन्धे -

"मृगान् शुक्लदतः कृष्णान्सुवर्णेन परिष्कृतान्, अदात्कर्मणि मष्णारेनियुतानि चतुर्दश" (भाग 9-20-28) इति। ततश्चेयं द्वन्द्वसंख्या श्लोकेन सङ्ग्रह्यते। चतुर्दशानां लक्षाणां सप्ताधिक शतांशकः द्वन्द्वं चतुरशीत्यग्र सहस्राणि त्रयोदशेति। दिने दिने प्रतिदिनं[2-] प्रतिगृहं[-2] चेति, बध्वं, बध्वमिति च पाठान्तरम् ॥९॥

**गोविप्रेति**। आत्मसम्भूतीः स्वविभूतीः मङ्गलानि कपिलादीनि ॥१०॥

1- -1 B.J. Omit 2- -2 B.J. Omit

**वीर० अथेति**। अथ सत्तमो भगवान् अम्भसि आप्लुतः स्नातः वाससी परिधाय क्रियाकलापं चकारेति सम्बन्धः कोऽसौ क्रियाकलापं चकारेति सम्बन्धः कोऽसौ क्रियाकलाप इत्यतस्तं प्रपञ्चयति सन्ध्येत्यादिना यत्सन्ध्योपगमादि क्रियाकलापमित्यर्थः सन्ध्योपगमः सन्ध्योपासनं आदि शब्दसङ्गृह्णीतानाह हुतानल इत्यादिना। हुतः अनलः आहवनीयो येन सः, वाग्यतः वाचं यच्छतीति तथा मौनी भूत्वेत्यर्थः। ब्रह्म गायत्रीम् ॥६॥

उपस्थायेत्यादि श्लोकत्रयमेकान्वयम्। आत्मनः स्वस्य कलाः अंशभूतान् देवादीन् तर्पयित्वा वृध्दान् कुलवृध्दान् विप्रांश्च आत्मवान् श्रध्दायुक्तस्सन् अभ्यर्च्य दिने दिने अलङ्कृतेभ्यो विप्रेभ्यः क्षौमकृष्णाजिन तिलैः सह धेनूनां पद्मं पद्मं ददौ। पद्ममिति महासंख्यायुक्त संघाभिधानं कथम्भूतानां रुक्मं स्वर्णालङ्कारः शृङ्गयोः यासां मौक्तिकानां स्रजो यासां बहुक्षीराणां गृष्टीनां प्रथमप्रसूतानां शोभनो वत्सो यासां शोभनं वासो यासां, तासां रौप्यं रजतालङ्कारः खुराग्रेषु यासां तासाम् ॥७-९॥

**गोविप्रेति**। गवादीनां द्वन्द्वः तत्र वृध्दाः कुलवृध्दाः तानात्मनःस्वस्य सम्भूतीः विभूति भूतान् नमस्कृत्य मङ्गलानि कपिलादीनि मङ्गलद्रव्याणि समस्पृशत् ॥१०॥

**विज०** सन्ध्योपगमादि सन्ध्योपासनादिकं क्रियाकलापं चकार। ब्रह्म जजाप। नियतस्वाध्यायाध्ययनं कृतवान् गायत्रीं वा जप्तवान् ॥६॥

स आत्मनः कलाः स्वसन्निधानविशेषोपेतान् आत्मवान् स्वाधीनप्रयत्नः स्वाधीनमना वा ॥७॥

साध्वीनां पादबन्धनादि क्रियानपेक्षाणां गृष्टीनां प्रथम प्रसूतानाम्। ॥८॥

बद्धं बद्धं द्वयं द्वयं एकैकस्मै विप्राय ॥९॥

गोविप्रदेवताः वयोवृध्दांश्च गुरुभूतान्यश्वत्थादीनि नमस्कृत्य एतत्सर्वं कीदुश मत्राह आत्मेति। आत्मनः सम्भूतिं सन्निधेः प्रतिमां मङ्गलानि तिलादीनि ॥ १० ॥

**आत्मानं भूषयामास नरलोक विभूषणम् ।**
**वासोभिर्भूषणैः स्वीयैः दिव्यस्रग नुलेपनैः ॥ ११ ॥**

**अवेक्ष्याऽऽज्यं तथाऽऽदर्शं गोवृषद्विज देवताः ।**
**कामांश्च सर्ववर्णानां पौरान्तःपुर वासिनाम्[1] ।**
**प्रदाप्य[2-] प्रकृतीः कामैः[-2] प्रतोष्य प्रत्यनन्दत ॥ १२ ॥**

**संविभज्याग्रतो विप्रान् स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः ।**
**सुहृदः प्रकृतीर्दारान् प्रायुङ्क्त[3-] च ततः[-3] स्वयम् ॥ १३ ॥**

**तावत्सूत उपानीय स्यन्दनं परमाद्भुतम् ।**
**सुग्रीवाद्यै र्हयैर्युक्तं प्रणम्यावस्थितोऽग्रतः ॥ १४ ॥**

**गृहीत्वा पाणिना पाणिं सारथे[4-] रथमारुहत्[-4] ।**
**सात्यक्युद्धव संयुक्तः पूर्वादिमिव भास्करः ॥ १५ ॥**

1. B.G.J.K.T.W. चारिणाम् 2- -2 M.Ma प्रादात् कामान् पृथक् कामैः ; MI.V. प्रादाप्य प्राकृतैः कामैः 3- -3 B.G.J.K.MI.T.V.W. °नुपायुङ्क्त ततः 4- -4 B.G.J.MI.V. सारथेस्तमथारुहत् ; K.T.W. सारथे रथमाविशत्

**श्रीध० आत्मानमिति।** नरलोकस्य विभूषणरूपमात्मानं स्वीयैः पीताम्बर कौस्तुभादिभिः ॥११॥

**अवेक्ष्येति।** कामानभिलषितानर्थान् ॥ १२ ॥

**संविभज्येति।** विप्रान् स्रगादिभिः संविभज्य तेभ्यस्तानि दत्वेत्यर्थः। उपायुङ्क्त भोगार्थमग्रहीत् ॥ १३, १४ ॥

**गृहीत्वेति।** पाणिं कृताञ्जलिं गृहीत्वा ॥ १५ ॥

**वीर० आत्मानमिति**। नरलोकस्य भूषणरूपमात्मानं कौस्तुभपीताम्बरादिभिः भूषयामास ॥ ११ ॥

कामानभिलषितार्थान् प्रदाप्य प्रकृतीः अमात्यादीन् प्रतोष्य तोषयित्वा प्रतिनन्दितवान् ॥ १२ ॥

**संविभज्येति**। अग्रतः पुरतः उपवेशितानिति शेषः विप्रान् स्रगादिभिः संविभज्य सम्यग्विभागेन प्रीणयित्वा आज्यादीन् अवलोक्य तत्रादर्शो दर्पणं सुहृदो मित्राणि दारान् पत्नीश्च उपायुङ्क्त यथायोग्य मन्ववर्ततेत्यर्थः ॥ १३ ॥

**तावदिति**। सुग्रीवाद्यैः आदिशब्देन मेघपुष्पबलाहकसङ्ग्रहः तैरश्वैर्युक्तं स्यन्दनं रथमानीय प्रणम्य अग्रतः अवतस्थे[1] ॥ १४ ॥

गृहीत्वेति। सारथेः पाणिं स्वपाणिना गृहीत्वा पूर्वाद्रि मुदयाद्रिं भास्करस्सूर्य इव आरुरोह ॥ १५ ॥

1. B. तस्थौ

**विज०** नरलोकस्य मुक्तामुक्तस्य भूषणं अलङ्कारभूतम् ॥ ११ ॥

आदर्शं दर्पणं गवादींश्च प्रेक्ष्य देवताः प्रतिष्ठिताः कामिनामर्थिनां कामान् काम्यान् पदार्थान् किं बहुना सर्वान्कामैः पृथक् पृथक् प्रतोष्य सन्तोषं जनयित्वा स्वयमपि प्रत्यनन्दत सन्तुष्टोऽभूदित्यन्वयः ॥ १२ ॥

द्रव्यसंविभागक्रममाह - संविभज्येति। विप्रदीनुद्दिश्य स्रगादिभिः तृतीया च द्वितीयार्थे प्रायुङ्क्त स्वयं स्वीचकार ॥ १३ ॥

तावत्तदा ॥ १४, १५ ॥

**ईप्सितोऽन्तःपुरस्त्रीणां स व्रीड प्रेम वीक्षितैः[1] ।**
**कृच्छाद्विसृष्टो निरगाज्जातहासो[2] हरन्मनः ॥ १६ ॥**

**★ एवं ससर्वदाराणां गृहेभ्यो भगवान्विभुः ।**
**नानारूपो विनिर्गत्य एकरूपस्सभां ययौ ॥ १७ ॥**

**सुधर्माख्यां सभां सर्वैर्वृष्णिभिः परिवारितः ।**
**प्राविशद्यन्निविष्टानां न सन्त्यङ्गषडूर्मयः ॥ १८ ॥**

**अथोपविष्टः[3] परमासने विभु र्बभौ स्वभासा ककुभोऽवभासयन् ।**
**वृतो नृसिंहै र्यदुभिर्यदूत्तमो यथोडुराजो दिवि तारकागणैः ॥ १९ ॥**

तत्रोपमन्त्रिणो[4] राजन्नानाहास्यरसै र्विभुम् ।
उपतस्थुर्नटाचार्याः नर्तक्यस्ताण्डवैः पृथक्[5] ॥२०॥

1. B.G.J.K.MI.T.V.W. °क्षि° 2. K.MI.T.V.W. सोऽह ★ This verse is found only in MI.v edns. and it is commented by Sridhara Swami 3. B.G.J.K.M.Ma.T.W. तत्रो° 4. M.Ma तत्राऽथम° 5. M.Ma समम्

**श्रीध० ईक्षित** इति। स व्रीडप्रेमवीक्षितैः ईक्षितः क्षणं स्थितः ताभिरेव वीक्षितैः कृच्छ्रात् विसृष्टो निरगादिति ॥१६॥

**एवमिति**। एवं सर्वगृहेभ्यः पृथक् पृथक् निर्गत्य अनन्तरं एक एव सन् ॥१७॥

**सुधर्मेति**। सुधर्मां प्राविशत् यन्निविष्टानां यत्र प्रविष्टानाम् ॥१८॥

**अथेति**। नृसिंहैः नृषुश्रेष्ठैः नृसिंह इति पाठे कृष्ण एव ॥१९॥

**तत्रेति**। उपमन्त्रिणः परिहासकाः पृथक् पृथक् स्वस्वसमुदायैः ॥२०॥

**वीर० ईक्षित** इति। व्रीडा प्रेमभ्यां युक्तैः वीक्षितैः ईक्ष्यमाणः ताभिस्तैरेव वीक्षितैः कृच्छ्रात्कथञ्चिद्विसृष्टस्तासां मनो हरन् सञ्जातः हासौ यस्य तथाभूतो निर्जगाम ॥१६, १७॥

**सुधर्मामिति**। तां विशिनष्टि यद्यत्र सभायामुपविष्टानां षडूर्मयः अशनाया पिपासाशोकमोहजरामृत्यवो न सन्ति तथा भूतामित्यर्थः ॥१८॥

**तत्रेति**। तत्र सुधर्मायां स्वभासा स्वदीप्त्या ककुभो दिशः भासयन्, नृसिंहैः नरश्रेष्ठैः यदुभिः परिवृतः बभौ यथा दिवि आकाशे नक्षत्रगणैश्चन्द्रो भाति तद्वत् ॥१९॥

**तत्रेति**। तत्र तदा हे राजन्, उपमन्त्रिणः परिहासकाः हास्यरसैः विभुं श्रीकृष्णमुपतस्थुः तथा पृथक् स्व स्व समुदायै र्नटाचार्यास्ताण्डवादिभिः ॥२०॥

**विज०** स्त्रीणां मनः ॥१६, १७॥

यन्निविष्टानां यत्र सभायामुपविष्टानां अशनपानादि षडूर्मयो न सन्ति न बाधन्ते ॥१८॥

नृसिंहैः पुरुषश्रेष्ठैः ॥१९॥

नानाविधैः हास्यैः हसनविषयैः रसैः रागजनकवचनैः ॥ २० ॥

**मृदङ्गवीणामुरजवेणु तालदर स्वनैः ।**
**ननृतुर्जगुस्तुष्टुवुश्च सूत मागध वन्दिनः ॥ २१ ॥**

**तत्रस्थाः[1] ब्राह्मणाः केचिदासीना ब्रह्मवादिनः ।**
**पूर्वेषां पुण्य यशसां राज्ञां चाकथयन्कथाः ॥ २२ ॥**

**तत्रैकः पुरुषो राजन्नागतोऽ पूर्वदर्शनः ।**
**विज्ञापितो भगवते प्रतीहारैः प्रवेशितः ॥ २३ ॥**

**स नमस्कृत्य कृष्णाय परेशाय कृताञ्जलिः ।**
**राज्ञामावेदय दुःखं जरासन्धनिरोधजम् ॥ २४ ॥**

**येतु[2] दिग्विजये तस्य सन्नतिं न युयुर्नृपाः ।**
**प्रसह्य रुध्दास्ते नासन्नयुते द्वे गिरिव्रजे ॥ २५ ॥**

1. B.G.J.MI.V. तत्राहुः 2. B.G.J.K.MI.T.V.W. च

**श्रीध० मृदङ्गेति** । मृदङ्गादयः प्रसिध्दाः दरः शङ्खः सूतादयः तुष्टुवुः ॥ २१ ॥

**तत्रेति** । ब्राह्मणाः ब्रह्म वेदं आहुः मन्त्रान् व्याचख्युरित्यर्थः वादिनः वचनचतुराः[1] ॥ २२, २३ ॥

**स** इति । स पुरुषः जरासन्धेन यो निरोधः तत्प्रभवं राज्ञां दुःखमावेदयत् ॥ २४ ॥

**य** इति । गिरिव्रजे तत्संज्ञके दुर्गे रुध्दाः आसन् तेषां च दुःखमावेदयदित्यन्वयः ॥ २५ ॥

1. B. वदन ; J. वादन

**वीर०** मृदङ्गादयः प्रसिध्दाः तेषां स्वनैः ननृतुः जगुश्च सूतादयस्तुष्टुवुः तत्र मागधाः वंशावली पाठकाः ॥ २१ ॥

तत्रस्थाः सभायां स्थिताः पुण्यं यशो येषां तेषां पूर्वेषां राज्ञां कथाः कथयामासुः ॥ २२ ॥

एवमाह्निक मनुवर्णितम्। अथ जरासन्धनिरुध्द राजसंदेशहरागमनं प्रस्तौति - **तत्रेति**। इत्थं नीयमानदिनानां एकस्मिन् दिने। हे राजन्! अपूर्वदर्शनः न पूर्वं दर्शनं यस्य सः यः[2] कश्चित् पुरुषः आगतः, प्रतिहारैः द्वारपालैर्भगवते विज्ञापितः ततः प्रवेशितश्च ॥ २३ ॥

**स** इति। आगतः कृताञ्जलिः बध्दोऽञ्जलिर्येन सः जरासन्धेन, यो निरोधः तत्प्रभवं राज्ञां दुःखं, आवेदयत् ॥ २४ ॥

ये चेति तस्य जरासन्धस्य दिग्विजये ये नृपाः सन्नतिं नम्रतां न प्रापुः ते द्वे अयुते नृपाः गिरिव्रजसंज्ञिके, दुर्गे तेन जरासन्धेन बलात् निरुध्दा आसन् तेषां राज्ञामिति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ २५ ॥

1. B.K. add एकोऽसहायः 2. B.K. Omit यः

**विज०** नटादयो ननृतुः, सूतादयो जगुः ॥ २१ ॥

गानानन्तरं कः प्रसङ्ग इत्यत्राह - **तत्रस्था** इति। ष्ठा गतिनिवृत्तिवाचिना शयित्वमुपतिष्ठत्वं वा सूच्यते। अत्र तयोः को विवक्ष्यते इत्यत उक्तं आसीना इति ॥ २२ ॥

तत्र तस्यां अवस्थायाम् ॥ २३ ॥

जरासन्धेन कृतोपरोधो निरोधः तस्माज्जातम् ॥ २४ ॥

गिरिव्रजे नगरे ॥ २५ ॥

**राजान[1-] ऊचुः[-1]**

**कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन्प्रपन्नभय भञ्जन ।**
**वयं त्वां शरणं यामो भवभीताः पृथ[2]ग्धियः ॥ २६ ॥**

**लोको विकर्म निरतः कुशले प्रमत्तः कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे ।**
**यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै ॥ २७ ॥**

**काल[3-]ो भवान् जगदिदं[-3] कलयाऽवतीर्ण स्सद्रक्षणाय खलनिग्रहणाय चाद्यः[4] ।**
**कश्चित्त्वदीयमतियातिनिदेशमीश किं वा जनस्स्वकृतमृच्छति तन्न विद्मः ॥ २८ ॥**

स्वप्नायितं नृपसुखं परतन्त्रमीश शश्वद्भयेन मृतकेन धुरं वहामः ।
हित्वा [5]यदात्मनि सुखं [6]तदनीहलभ्यं क्लिश्यामहेऽतिकृपणास्तव माययेह ॥२९॥

तन्नो भवान् प्रणतशोक हराङ्घ्रियुग्मो बध्दान्वियुङ्क्ष्व मगधाह्वय कर्मपाशात् ।
यो भूभुजोऽयुतमतङ्गज वीर्यमेको बिभ्रद्रुरोध भवने मृगराडिवाऽवीः [7] ॥३०॥

1- -1 B.G.J. Omit. 2. K.MI.V. °थग्दृशः 3- -3 B.G.J. लोके भवान् जगदिनः ; MI.V. लोके भवान् भगवतः ; K.T.W. लोके त्वमीश जगतः 4. B.G.J.MI.V. चाऽन्यः 5. B.G.J.K.T.W. त° 6. B.G.J.K.MI.T.V.W. त्व° 7. MI.V. वाऽजान् ।

**श्रीध०** कृष्णकृष्णेति षट् श्लोकैः राज्ञां विज्ञप्तिः तत्र प्रथमेन शरणाश्रयणं त्रिभिर्भयानुवादः द्वाभ्यां प्रार्थनमिति कृष्णेति पृथक् दर्शिनः ॥२६॥

लोकस्य भव भयं विवृण्वन्तो नमन्ति लोक इति विकर्म निषिध्दं काम्यं च तस्मिन्नितरां रतः तस्मात् स्वे कुशले धर्मे भवतः अर्चने त्वया उदिते [1]उक्ते पाञ्चरात्रे सामान्यतश्च गीतासु — 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्' (भ. गी. 9-27) इत्यादि । प्रमत्तः अनवहितः यावदयं लोकस्तावदेवास्य लोकस्य यः सद्यो जीविताशां भिनत्ति तस्मै तुभ्यं अनिमिषाय कालात्मने नम इति ॥२७॥

सेयं लोकस्य गतिः वयं तु त्वद्भक्ताः अतोऽस्माकं कुत एतद्दुःखमापन्नमित्याश्चर्येणाहुः लोक इति । भो ईश ईश्वरं सद्रक्षणार्थं मवतीर्णोऽसि चेत् तथाप्यस्माकं दुःखं स्यात् चेत् तर्हि किमन्यः कश्चिज्जरासन्धादि स्त्वदाज्ञामतिलङ्घयति । किञ्च त्वया रक्ष्यमाणोऽपि जनः स्वकर्मजं दुःखं प्राप्नोत्येवेति न विद्मः न चैतदुभयमपि युक्तमिति भावः ॥२८॥

किं दुःखं तदाहुः स्वप्नायितमिति स्वप्नवज्ज्ञातं नृपसुखं नृपोचितं सुखं यतः परतन्त्रं विषयसाध्यं किञ्च सम्प्रति शश्वद्भयं यस्मिन् तेन मृततुल्येनशरीरेण धुरं पुत्रदारादिचिन्तारूपभरं केवलं वहामः अहो कष्टं नः ये वयमितः पूर्वमेव निष्कामास्सन्तस्त्वां नाश्रिता इत्याहुः हित्वेति तत् त्वत्तः यत् अनीहैः निष्कामैः लभ्यं आत्मनि स्वतस्सिध्दं सुखं तत् हित्वा क्लिश्यामः ॥२९॥

त्वन्मायाकृतं कर्मबन्धं त्वमेव निवर्तयेति प्रार्थयन्ते - **तदिति** । वियुङ्क्ष्व मोचय । मगधो जरासन्धः तत्संज्ञिकात् कर्म पाशात् ननु भवद्भिरेव विक्रम्य ततो निर्गम्यतामिति चेदत आहुः - य इति । [4]य एक एव अयुतमतङ्गजानां वीर्यं बिभ्रत्सन् स्वभवने भूभुजोऽस्मान् रुरोध [5]मृगराट् सिंहः [6-]अजान् मेषानिव[-6] ॥३०॥

1- -1 B.G.J. Omit. उक्ते 2- -2. MI.V. Omit 3. B.J. चिन्तां के° 4. B.J. Omit. य 5. B.J. Omit. मृगराट् 6- -6 B.J. मेषीरिव ।

**वीर०** तेषां विज्ञप्तिमेवाह पङ्क्तिभः तावच्चरण्य त्वोपयुक्त गुणविशिष्टं सम्बोधयन्त श्शरणं व्रजन्ति **कृष्णकृष्णेति**। कृषिर्भूवाचकश्शब्दः (भारत 5-68-5) इत्यादिना निरुक्तेन कृष्ण शब्देन निम्नोन्नतानादरेण सर्वलोकानन्दकरत्वम्, अत एव वैषम्य नैर्घृण्यादिराहित्यं च विवक्षितं अप्रमेयात्मन्नपरिच्छेद्य स्वरूप अनेनास्मदन्तरात्मतया अस्मद्दुःखं जानास्येवेति विवक्षितम्। अत एव सर्वज्ञत्वं च। प्रपन्न भयभञ्जनेत्यनेन वात्सल्यं विवक्षितं त्वां शरणं रक्षणोपायं यामः व्रजामः, अध्यव स्यामः यातिरत्र गत्यर्थः। प्रावण्यस्य गतिपूर्वकत्वात् गत्यर्थानां बुद्ध्यर्थत्वात्। कार्पण्यद्योतनायात्मनो विशिंषन्ति भवभीताः भवशब्दोत्र सांसरिकमरणदुःखपरः भवाद्भीताः पृथक्दृशः पृथग्दर्शिनः भिन्नमतयः अज्ञास्त द्भयनिवर्तनोपायानभिज्ञा इति यावत् ॥ २६ ॥

प्रपन्नभयभञ्जनेत्यनेन अप्रपन्नजनमरणभयाभञ्जनत्वं सूचितम्। तदेव विवृण्वन्तः प्रणमन्ति-लोक इति। तृतीये स्कन्धे ब्रह्मस्तुतौ पठितोप्ययं श्लोकविज्ञप्ति साम्यादर्थसौष्ठ वाच्चात्राऽपि पठ्यते। यो लोको जनः विकर्मणि विविधे कर्मणि वैपयिक सुखार्थे कर्मणीति यावत् निरतः त्वदुदिते पञ्चरात्र गीतादि मुखेन भवतोपदिष्टे भगवदाराधनात्मके कुशले श्रेयस्साधने। स्वानुरूपे च शरणवरणादि रूपधर्मे यावत् प्रमत्तः अनवहितस्तावत्तस्य यो जीविताशां सद्यश्छिनत्ति तस्मै अनिमिषाय कालात्मने तुभ्यं नमोस्तु ॥ २७ ॥

नह्येतावता लोकहिताचरणैक शीलस्य तव वैषम्य मस्तीत्याहुः लोक इति। भोजगत ईश्वर त्वं सतां रक्षणाय खलानां दुष्टानां विग्रहाय च कलया अंशेन बलभद्रेण सहावतीर्णः जगतः आद्यः आदौ भवः कारणभूत इति वा सम्बन्धः खलनिग्रहेण विना सद्रक्षणासम्भवात्तस्यापि तादर्थ्यात्केवल हितैककारित्वमिति भावः यद्वा खलानां निग्रहस्यापि तेषमन्ततो हितत्वे पर्यवसानात्सोपि हितमेवेति भावः तर्ह्येवं भूते सति मयि कुतः कश्चिद्दुख्यतीत्यत्र कारणद्वयं सम्भावयन्तोऽन्यन्नविद्म इत्याहुः हे ईश कश्चिज्जनस्त्वदीयं आज्ञां निदेशमतियाति अतिक्रामति किं वा स्वकृतं स्वकृतपापफलं प्राप्नोति तत् उभयव्यतिरिक्तं कारणान्तरं न विद्मः अन्यतरन्निश्चेतुं न शक्नुम इति वा कर्मानुगुणमीश्वरो नियच्छतीत्यविरोधः ॥ २८ ॥

प्रकृतं स्वदुःखं निवेदयिष्यन्तस्तावदधुनैव न क्लिश्यामः किन्तु सदापीत्यभिप्रयन्त आहुः **स्वप्नायितमिति**। हे ईश नृपसुखं यन्नृपाणां सुखं तत् स्वप्नायितं स्वाप्नसुखतुल्यं क्षणिकमतितुच्छं चेत्यर्थः। तत्र हेतुत्वेन विशिंषन्ति परतन्त्रमिति कर्मायत्तमित्यर्थः। अतोस्माकं बन्धनात्पूर्वमपि न सुखमिति भावः ननु कल्याणतरनृपदेह सम्बन्ध एव सुखरूप इत्यत आहुः शश्वदिति शश्वत्सदाभयममित्रेभ्यो यस्य तेन मृतकेन शव तुल्येन देहेन धुरं वहामः मृतकतुल्यशरीराख्य भारं वहाम इत्यर्थः मृतकेनेति कर्मणः कारणत्व विवक्षया तृतीया यद्वा लोके मृतकेनोह्यमानेन या धूर्भारः तादृशीं धुरं भारं वहाम इत्यर्थः। नहि शवं वहतां तत्सम्बन्धः सुखरूपः किन्तु भारापादकतया दुःखरूपयेव तथा नृपदेह

सम्बन्धोपीति भावः अतो हे ईश त्वत् त्वत्तः त्वदनुग्रहादित्यर्थः यत् अनीहैः निष्कामैः लभ्यं आत्मनि त्वयि विषये सुखं तत् हित्वा अत एव नितरां कृपणास्तव माययामोहिता इति शेषः इहलोके क्लिश्यामहे ॥ २९ ॥

प्रकृतमात्मदुःखं निवेदयन्तस्तन्निराकरणं प्रार्थयन्ते। **तन्न** इति। प्रणतानां शोकहरं अङ्घ्रियुग्मं यस्य तथाभूतेति सम्बोधनं तानुक्तविधानधुना बध्दांश्च नोऽस्मान् मगधाह्वयः जरासन्धव्याजरूपो यः कर्मपाशः तस्माद्वियुङ्क्ष्व वियोज़य भवद्भिरेव विक्रम्य ततो निष्क्रम्यतामित्यतो मागधं विशिंषन्ति य इति यः अयुत संख्यानां मतङ्गजानां वीर्यं बलमेक एव बिभ्राणः भूभुजोस्मान् सिंहः अवीः मेषीरिव भवने रुरोध निरुद्धवान् तथाभूत मागधाह्वय कर्म पाशादिति सम्बन्धः न वयं निर्गन्तुं शक्नुम इतिभावः ॥ ३० ॥

1. B. क्षमा

**विज०** पृथग्धियः यथार्थज्ञानशून्याः ॥ २६ ॥

अयतार्थज्ञानी किं करोति किञ्च तस्य फलमिति तत्राह-लोक इति। उक्तार्थोऽयम् ॥ २७ ॥

भगवानत्र किमर्थमवतीर्ण इति तत्राह **काल** इति। चशब्दः एवार्थे समुच्चये वा। सतां रक्षणाय खलानां दुष्टानां निग्रहाय इदं जगत् अस्मिन् जगति कलयावतीर्णो भगवानिति किं वदन्ती एतद्वयं विनान्यत् कार्यं किं न किमपि कुतः कालः तत्तत् काले तत्तत्कार्यसाधन समर्थत्वात् कः खलः को वा सन्निति विशिनष्टि- कश्चिदिति। हे ईश। कश्चिज्जनः त्वदीयं निदेशमतियाति अतिक्रामति। सः खलः किं सुकृतमृच्छति, किं स्वित् त्वदीयं निदेशमतियाति लङ्घयति स असन्किं सुकृत मृच्छतीति वयं न विद्मः एकः सुखच्छेदकं लोकं एकः सुखकरं ऋच्छतीति भवान्वेत्तीति वाक्यार्थः। "अति स्यादधिकार्योक्तौ प्रशंसायामतिक्रमे" (वैज. को. 8-7-15) इति ॥ २८ ॥

स्वर्गादि सुखस्य निर्विषयत्वेन राज्य सुखात्परं न किमपि इति केषाञ्चित् प्रवादस्तत्राह **स्वप्नायितमिति**। स्वप्नायितं स्वप्नवत् क्षणिकं तदपि न स्वाधीनमित्याह परतन्त्रमिति। तत्र तन्नित्यमित्याशयश्च तन्मरणतयोपेतेन मृतकेन शवकल्पेन शरीरेण राज्यधुरं वहाम इत्यस्यान्यत्किं सुखमस्तीति तर्हि तध्दानौ बह्वायसात्क्लेशः स्यादिति तत्राह हित्वेति। यदनीह लभ्यं निवृत्तिमार्गस्थैः साध्यमात्मनि सुखं तद्धित्वा कृपणा वयं क्लिश्यामहे एवं विधं ज्ञानमस्तिचेत् किमिति क्लेश इत्यत उक्तं तवेति ॥ २९ ॥

किमिदानीमावश्यकं तद्वद किं बहुसिध्दानुवादेनेति तत्राह-**तन्न** इति। वियुङ्क्ष्व वियोजय अयुतमतङ्गज वीर्यं अयुत गजपराक्रमं बिभ्रत् ॥ ३० ॥

यो वै त्वया द्विनवकृत्व उदात्त चक्र भग्नो मृधे खुलु भवन्तमनन्तवीर्यम् ।
जित्वा नृलोक निरतं सकृदूढदर्पो युष्मत्प्रजा रुजति[1-] नोऽजित[-1] तद्विदेहि[2] ॥ ३१ ॥

दूत[3-] उवाच[-3]

इति मागध संरुद्धा भवद्दर्शन काङ्क्षिणः ।
प्रपन्नाः पादमूलं ते दीनानां शं विधीयताम् ॥ ३२ ॥

श्रीशुक उवाच

राजदूते ब्रुवत्येवं देवर्षिः परमद्युतिः ।
बिभ्रत्पिङ्ग जटाभारं प्रादुरासीद्यथा रविः ॥ ३३ ॥

तं दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः सर्वलोकेश्वरेश्वरः ।
ववन्द उत्थितश्शीर्ष्णा स सभ्यस्सानुगो मुदा ॥ ३४ ॥

सभाजयित्वा विधिवत्कृतासन परिग्रहम् ।
बभाषे सूनृतैर्वाक्यै श्श्रद्धया तर्पयन्मुनिम्[4] ॥ ३५ ॥

1- -1 M.Ma क्षिपतिचाऽशुच 2. K.T.W. शं विदेहि 3- -3 B.K. M.Ma. Ml. T.V.W. Omit ★ Here K.T.W. reads an extra verse as follows:- प्रियस्य तस्य कृष्णस्य गायन् कर्मणि जन्म च । कृष्णं सङ्घांश्च लोकांश्च द्रावयन् रमयन् भृशम् ॥ ❖ The same verse appears in M. Ma as follows गायन् गिरन् मधुरया प्रिय कर्माणि जन्म च। द्रावयन्नघ संङ्घाश्च लोकान्निरमयन् भृशम् ॥ 4. M. Ma मधुरै°

**श्रीध०** किञ्च युष्मदीया वयमिति अस्मानधिकं बाधत इत्याहुः - **य** इति हे उदात्त चक्र उद्यत सुदर्शन यो वै द्विनवकृत्वः अष्टादश वारान् त्वया सहमृधे वर्तमाने तत्र सप्तदशकृत्त्वः त्वया खलु भग्नः पराजितः पश्चादनन्त वीर्यमपि नृलोकनिरतं नरशरीरविनोदं भगवन्तं भवन्तं सकृज्जित्वा ऊढदर्पः प्राप्तगर्वः युष्मत्प्रजाः नः अस्मान् रुजति पीडयति, तत् तत्र यत् युक्तं कार्यं तद्विधेहि जरासन्धपीडां[1-] निवारयेत्यभिप्रायः[-1] ॥ ३१ ॥

दूत आह - **इतीति** ॥ ३२-३५ ॥

1- -1 B.J. इत्यर्थः

**वीर०** किञ्च भवदीया वयमित्यस्मान् भृशं बाधत इत्याहुः **यो वा** इति। भो उदात्त चक्र! उद्यतसुदर्शन! द्विनवकृत्वः अष्टादशवारं त्वया सह मृधे युध्दे प्रवृत्ते सति तत्र सप्तदशकत्वो भग्नः पराजितः खलु पश्चादनन्तं वीर्यं यस्य तमपि नृलोकनिरतं मनुष्यचेष्टामनुवर्तमान मित्यर्थः। हेतुगर्भमिदम्। अतः त्वां सकृज्जित्वा प्राप्तदर्पः युष्मत्प्रजाः भवदीयान्नोऽस्मान् रुजति पीडयति, अतः शं सुखं विधेहि कुरु ॥ ३१ ॥

**इतीति**। श्लोको दूतवचनम्। दीनानां तेषां राज्ञां शं विधीयतां क्रियताम् ॥ ३२ ॥

अथ नारदागमनादिकं प्रस्तौति राजदूत इत्यादिना। राज्ञां दूते ब्रुवति सति परमा द्युतिर्यस्य सः बिभ्र द्विभ्राणः प्रियस्य भगवतः कर्माणि जन्म चगायन् तं कृष्णं संघान् सभ्यसंघांश्च प्रावयन् आर्द्रचित्तान् कुर्वन् भृशमितरलोकान् रमयंश्च आविरासीदिति सम्बन्धः ॥ ३३ ॥

**तमिति**। तं नारदं मृदा हर्षेण ववन्दे ॥ ३४ ॥

**सभाजयित्वेति**। यथाविधि सभाजयित्वा पूजयित्वा कृत आसनपरिग्रहो येन तं मुनिं श्रध्दया मधुरैः वाक्यैश्च तर्पयन् बभाषे ॥ ३५ ॥

**विज०** उदात्तं उन्नतं चक्रं सैन्यं यस्य स उदात्तचक्रः, आशु च आश्वेव तस्य प्रतिक्रियाम् ॥ ३१-३५ ॥

**अपिस्विदद्य लोकानां त्रयाणामकुतोभयम् ।**
**ननु भूयान्भगवतो लोकान्पर्यटतो गुणः ॥ ३६ ॥**

**नहि तेऽविदितं किञ्चित् लोकेष्वीश्वर कर्तृषु ।**
**अथ पृच्छामहे युष्मान् पाण्डवानां चिकीर्षितम् ॥ ३७ ॥**

**नारद उवाच**

**दृष्टा मया ते बहुलादुरत्यया माया विभो विश्वसृजश्च मायिनः ।**
**भूतेषु भूमं श्चरतस्स्वशक्तिभिः वह्नेरिव च्छन्नरुचो न मेऽद्भुतम् ॥३८॥**

**तवेहितं कोऽर्हति साधु वेदितुं स्वमाययेदं सृजतो नियच्छतः ।**
**यद्विद्यमानात्मतयाऽवसीयते तस्मै नमस्ते स्वविलक्षणात्मने ॥ ३९ ॥**

**जीवस्य [6]यस्संसरतो विमोक्षणं न [7]जानतोऽनर्थ वहाच्छरीरतः ।**
**लीलावतारैःस्वयशः प्रदीपकं [8-]प्राज्वालयत्त्वां तमहं[-8] प्रपद्ये ॥४०॥**

1. B.G.J.K.M.Ma.T.W. °शो 2. M.Ma शश्वच्च° 3- -3 M. Ma योऽविद्ययानात्म 4. B.G.J. MI.V. °वभासने 5. M.Ma यत्स° 6. M. Ma जायतेऽ° 7- -7 M. Ma प्रज्वालयेः त्वं तदहं

**श्रीध० अर्पीति**। भूयान् महान् गुणो लाभो [1-]यदस्माकं[-1] सर्वलोक वृत्तान्त ज्ञानमिति ॥३६॥

**नेति**। ईश्वरः कर्ता येषां तेषु ॥३७॥

एवमविदुषेव भगवता सर्वज्ञेन जरासन्धवधार्थमेव पाण्डव चिकीर्षितं पृष्टो नारदो मायेयमिति ज्ञात्वाऽऽह त्रिभिः **दृष्टा** इति। विश्वसृजश्च ब्रह्मणोपि मायिनो मोहकस्य ते स्वशक्तिभिः विद्यादिर्भूतेष्वन्तर्यामितया चरतो वर्तमानस्य यद्यहं भूतेषु वर्ते तर्हि भूतानि मां किं न पश्यन्ति तत्राह - वह्नेरिव च्छन्नरुच इति स्वशक्तिभिरेव च्छन्ना रुक् प्रकाशो यस्य तस्य अतस्तवेदं प्रश्नादि न मेऽद्भुतम् ॥३८॥

**तवेति** इदं जगत् कथंभूतं असदेव यत्तव मायया विद्यमानात्मतया अवभासते तज्जगत्सृजतः किन्तु केवलं ते तुभ्यं नमः तदेव शक्यमित्याह तस्मै नम इति कुतः स्वेन रूपेण सर्वतो विलक्षणात्मने अचिन्त्याय इत्यर्थः ॥३९॥

नन्वेवं भूतस्य किं माया चेष्टितैरित्यत आह **जीवस्येति**। अविद्या तमसा आवृतत्त्वेन अनर्थप्रापकात् शरीरात्संसरतः। तेनैव तमसा तस्माच्छरीराद्विमोक्षणोपायं अजानतः प्राज्वालयत् प्रदीपितवान्। तं त्वां यशःश्रवणादिभिः जीवस्य मोक्षार्थमित्यर्थः ॥४०॥

1- -1 B.J. अयमस्माकं

**वीर०** तदेवाह-अपिस्विदिति द्वाभ्याम्। अधुना लोकानां अकुतो भयं नकुतश्चिदपि भयं तत्रापि अपिस्वित् अभयं कच्चिदितीष्टप्रश्नः। ननु हे ब्रह्मन्! लोकान्पर्यटतो भगवत स्त्वत्तः अस्माकमयं भूयान् महान् गुणः लाभः यत्सर्व लोक वृत्तान्तज्ञानमिति वाक्यशेषः ॥३६॥

**नन्विति**। ईश्वर कर्तृषु स्वकर्तृकेषु लोकेषु किञ्चिदपि तवाविदितं न, किन्तु सर्वं विदितमवेत्यर्थः। अथातः युष्मान् प्रति पृच्छामहे ॥३७॥

इत्थं सर्वज्ञेनाप्यविदुपेव जरासन्धवधार्थमेव पाण्डवचिकीर्षितं पृष्टो नारदः केवलमिदं जनव्यामोहनमिति ज्ञात्वा आह - **दृष्टेति** त्रिभिः। हे विभो! हे भूमन्! स्वशक्तितः सर्वज्ञत्वादि स्वशक्तिभिरेव सहभूतेष्वन्तरात्मतया चरतस्तव। अनेन पाण्डवादि चिकीर्षितं तव विदितमेवेत्यभिप्रेतम्। विश्वसृजो ब्रह्मणोऽपि मायिनः व्यामोहकस्य तव पाण्डवानां चिकीर्षितं पृच्छाम इत्येतत् दुरतिक्रमणीया माया मया दृष्टा व्यामोहनमात्रमेतदिति निश्चितमित्यर्थः। बहुशो दुरत्ययेत्यनेन त्वत्प्रपन्नैः स्वत्ययैवेति सूचितम्। यद्वा बहुशो दृष्टेति सम्बन्धः। यथा मह्यं योगमायोदयः प्रदर्शितः तद्वदयं प्रश्नोऽपीति भावः। ननु भूतेषु चरामि तैः किं न दृश्य इत्यतो विशिनष्टि - भस्मना वह्नेरिति। वह्नेः च्छन्नाः गूढाः स्वप्रकाशो यस्य तवेति सम्बन्धः अतस्तवेदं प्रश्नादिकं मम नाद्भुतम् इत्यर्थः ॥३८॥

पाण्डव वृत्तान्त प्रश्न व्याजेन मागध जिघांसैवाभि प्रेतेत्यपि न निश्चेतुं शक्नुम इत्यभिप्रयन्नाह-**तवेति**। ईहित मभिप्रेतं साधु यथावद्वेदितुं[1-] कोवाऽर्हति[-1] नकोपीत्यर्थः। तत्र हेतुत्वेन तं विशिनष्टि - स्वमायया स्वसङ्कल्पेन इदं जगत्सृजतः नियच्छतोऽन्तरात्मतया प्रशासितुश्च तवेति सम्बन्धः। त्वत्सृज्यस्त्वन्नियाम्यश्च अयं जनः कथं वक्तुमर्हतीति भावः। किन्तु यद्विद्यमानात्मतया यस्मिन् त्वयि विद्यमान आत्मा भावो अभिप्राय इति यावत्, तत्त्वेन अवसीयते निश्चीयते मयेति शेषः। यस्य तवायमेवाभिप्राय इति मया निश्चीयत इत्यर्थः। स्वेन स्वसाधारणस्वभावेन सर्वस्माद्विलक्षण आत्मा स्वरूपं यस्य तस्मै तुभ्यं नमः केवलं नमस्करोमि नत्त्वीहितं निश्चेतुं शक्नोमीतिभावः ॥३९॥

यद्यप्येवम्, अथापि त्वदवतारः केवलं साधुपरित्राणाय दुष्कृद्विनाशाय च इत्येतत्तु निश्चिनोमीत्यभिप्रयन् प्रपद्यते जीवस्येति। यो भवान् संसरतः अनर्थवहात् दुःखावहाच्छरीरान्मोक्षणं मोक्षणोपाय मजानतश्च जीवस्य स्वयश एव प्रदीपस्तं लीलावतारैः प्राज्वालयन् सन्दीपितवान्, तं त्वामहं शरणं प्रपद्ये मुक्त्युपाय मजानतः संसरतो जीवस्य यथाऽन्ध तमसावृतघटपटादी न जानतः तज्ज्ञानोपाय भूत प्रदीप प्रज्वलनं तद्वत् शृण्वतोऽनुस्मरतः कथयतश्च मुक्त्युपायभूतं यशो विस्तृतवानित्यर्थः ॥४०॥

1--1 B यथा तथा तद्वे°

**विज०** अद्य त्रयाणां लोकानां अकुतोभयं अपिस्वित् कुतोपि भयं नास्ति हि। लोक कुशलाकुशल जिज्ञासया पर्यटतो भवतो महान् गुणो भवतीत्याह-नन्विति ॥३६॥

पक्षिवत्पर्यटताऽज्ञेन मया किं प्रयोजनमत्राह-न हीति। ईश्वरः कर्ता येषां ते तथा तेषु अथ तस्मात् ॥३७॥

मायामाहात्म्यानि मायिनः नित्याव्याहतमाहात्म्यस्य दारुषु च्छन्नरुचः वेद्मे रुच इव तवरुचोत्यद्भुता अचिन्त्याः ॥३८॥

वह्नेः रुचो मथनादिना व्यज्यन्ते, न तथा तव रुच इति भावेनाह - **तवेति**। कुतो निर्वेदनमिति तत्राह - य इति। यो भवानविद्ययाऽज्ञानेनात्मतया अस्वामितया अवसीयते निश्चीयते शरीरिभिरिति शेषः इति यदतो वेदनं दुःशकमित्यर्थः तर्हि तत्सत्यं किं नेत्याह - स्वेति। स्वतो विलक्षण स्वरूपाय तस्मात्स्वामित्वमेव सत्यमिति। तत्र अज्ञानमेव कारणमित्यर्थः। स्वरूपतो विरुद्ध लक्षण स्वामिने कदात्यनुपहत स्वामिन इत्यर्थः इति वा ॥ ३९ ॥

अज्ञानं मां कदापि न स्पृशेत् प्रत्युत ज्ञानमेव नित्यं प्रज्वलितं भूयादिति प्रार्थयते जीवस्येति। अज्ञानतः संसरतो जीवस्यानर्थवहाच्छरीरतो विमोक्षणं न जायत इति यत् तस्मात् एतद्देह हानाय लीलावतारैः त्वं वयशः प्रदीपकं ज्ञानं प्रज्वालयेस्तदर्थमहं शरणं प्रपद्ये इत्यन्वयः। अनेन लीलावतार विषया ज्ञानं दूरीकृत्य तत्त्वज्ञानमेव विकसितं कुरु इत्युक्तं भवति ॥ ४० ॥

**अथाप्याश्रावये ब्रह्मन् नरलोक विडम्बनम्।**[1]
**राज्ञः पैतृष्वसे यस्य भक्तस्य च चिकीर्षितम् ॥ ४१ ॥**

**यक्ष्यते त्वां मखेन्द्रेण राजसूयेन पाण्डवः।**
**नृपतिः पारमेष्ट्येऽप्सु तद्भवाननुमोदताम्** [3-] [-3] **॥ ४२ ॥**

**तस्मिन् देवक्रतुवरे भवन्तं वै सुरादयः।** [4-] [-4]
**दिदृक्षवस्समेष्यन्ति राजानश्च यशस्विनः ॥ ४३ ॥**

**श्रवणात्कीर्तनाद्ध्यानात्पूयन्तेऽन्त्यावसायिनः** [5] **।**
**तव ब्रह्म मयस्येश किमु तेक्षाभिमर्शिनः** [6] **॥ ४४ ॥**

**यस्यामलं दिवि यशः प्रथितं रसायां**
**भूमौ च ते भुवनमङ्गलदिग्वितानम्** [7-] **।**
**मन्दाकिनीति दिवि भोगवतीति चाधो**
**गङ्गेति चेह चरणाम्बु पुनाति विश्वम्** [-7] **॥ ४५ ॥**

1. M.Ma देव 2. B.G.J.K.T.W. °ति 3- -3 B.G.J.Ml.V. पारमेष्ट्यकामो नृपति ; M.Ma नृपतिः पारमेष्ट्येन 4- -4 K.T.W Omit 5. B.G.J. K.T.W. °ऽन्तेव° ; Ml. V. °ऽ न्ताव° 6. Ml.V. तत्र 7- -7 M.Ma अमल यशोऽथ दिशान्वितानम्। मन्दाकिनी च तव पादरजो वहोर्मिः श्रीमत्पदास्पद गताऽथ

**श्रीध० अथेति**। आश्रवये श्रावयिष्यामि नरलोकविडम्बनं ब्रह्मत्वां ब्रह्मन्निति पाठेऽपि हे ब्रह्मन् परमात्मन् नरलोकानुकारिणं त्वां श्रावयिष्यामीति ॥४१, ४२॥

न चात्रैवानुमोदनं कार्यं किन्तु तत्रागन्तव्यमित्याशयेनाह - **तस्मिन्निति** ॥४३॥

तत्रागताश्च सर्वे त्वद्दर्शनादिना पूता भविष्यन्तीत्याह - **श्रवणादिति**। अन्तावसायिनः श्वपचा अपि ब्रह्ममयस्य वेदमूर्तेः ईक्षा च अभिमर्शश्च स्पर्शनं ते विद्येते येषां ते ॥४४॥

कैमुत्यमतिशयेनाह - यस्येति। हे भुवनानां मङ्गलरूप दिवि पाताले भूमौ च प्रथितम्। यस्य यशः विश्वं पुनाति कथम्भूतं प्रथितं दिग्वितानन्दिशां भुवनानां वितानवदलङ्करणं तथा चरणाम्बु च प्रथितं पुनाति। कथं तत्प्रथितं दिवि मन्दाकिनीति अथश्च भोगवतीति इह च भूमौ गङ्गेति तस्य तव आगमनात्सर्वं पवित्रं मङ्गलं च भविष्यतीति भावः ॥४५॥

**वीर० अथापीति**। यद्यप्येवमथापि नरलोकं विडम्बयत्यनुवर्तत इति तथा तं त्वां प्रति राज्ञो युधिष्ठिरस्य चिकीर्षितं श्रावये ॥४१॥

किं तदित्यत आह - **यक्ष्यतीति**। पाण्डवो युधिष्ठिरः राजसूयाख्येन मुखश्रेष्ठेन त्वा माराधयिष्यति तत्तदभिप्रेतं भवाननुमोदतां त्वया निर्वर्त्यतामित्यर्थः अतः तत्र गम्यतामिति भावः, तद्व्याजेन शिशुपालादि वधोऽपि भविष्यतीत्यभिप्रयन्नाह - दिदृक्षव इति। यशश्विनः प्रसिद्धा राजानश्चैद्यादयो दिदृक्षवो राजसूयमिति शेषः। समेष्यन्ति, आगमिष्यन्ति ॥४२, ४३॥

तत किमिति आह - श्रवणादिति। अन्तेवसायिनः चण्डालादयोऽपि साक्षात् परब्रह्म भूतस्य तव नामश्रवणादि भिरपि काम क्रोध भयादि कृतैः पूयन्ते किमुत अक्ष्णा अभिमृशन्ति विषयीकुर्वन्तीति तथा ते शिशुपालादयः पूयन्त इति किमु वक्तव्यम्। त्वां पश्यन्तो हठाच मुक्ता भवन्तीति भावः ॥४४॥

कैमुत्यनयेन भङ्ग्यन्तरेणाह- **यस्येति**। हे भुवनानां मङ्गलरूप! दिवि पाताले भूमौ च प्रथितं प्रख्यातं यस्य तव यशो विश्वं पुनाति। कथं प्रथितं दिग्वितानं दिशां वितानं उल्लोचवदलङ्करणं[1] तथा चरणाम्बु पुनाति[2-] प्रथितं कथं[-2] प्रथितम्? दिवि मन्दाकिनीति, अधः पाताले भोगवतीति इहलोके गङ्गेति च ॥४५॥

1. K. चः तद्वद° 2- -2 B.Omits

**विज०** यतः त्वत्प्रसादादस्मदादेर्विज्ञानं तत्र किंचिदपि विज्ञाप्यं न पश्यामि, अथापि तथापि अशेष पुरुपार्थ प्राप्तौ भगवद्भक्तेः मुख्य हेतुत्वेऽपि नर देवानां विडम्बनं यज्ञकरणम् ॥४१॥

पारमेष्ठ्येन उत्तमकल्पेन ब्रह्मपदप्राप्ति हेतुना वा ॥४२, ४३॥

अन्त्यावसायिनः अन्त्यजातयोऽपि ईक्षा दर्शनमभिमर्शनं स्पर्शनादि लक्षणं चैषां इतीक्षाभिमर्शिनः ॥४४॥

उक्तिमेव स्फोरयति - **यस्येति**। हे अमल यशः। मङ्गलकर्त्तन! यस्य तवाथ कल्याणमत एवामलं निर्दोषं यशः विश्वं पुनाति। ननु मितत्वे यशसो विश्वपुनानत्वं कथमित्यत उक्तं दिवीत्यादि घटान्तर दीपवत् अस्पष्टस्यापि कथं इत्यत उक्तम् - दिशां वितानमिति। दिशामन्तेषु विशेषेण तानाविस्तारो यस्य तत्तथा। तथापि न चोरवदित्याह - प्रथितमिति। अथ जन्मप्रभृति श्रीमत्पादलक्षणास्पदं गता तव पादरजो वहोर्मिर्मंदाकिनी च विश्व पुनाति अतः तव माहात्मयं किं वक्ष्यामीत्यतो नमो नम इत्युपरमामीति वाक्यार्थः ॥४५॥

**श्रीशुक उवाच**

**★ तत्र त्येष्वात्मपक्षेषु विगृह्णत्सु जिगीषया ।**
**वाचः पेशैः स्मयन् भृत्यमुद्धवं प्राह केशवः ॥४६॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**त्वं हि न परमं चक्षुस्सुहृन्मन्त्रार्थ तत्त्ववित् ।**
**अथात्र ब्रूह्यनुष्ठेयं श्रद्दया करवाम तत् ॥४७॥**

**श्रीशुक उवाच**

**इत्युपामन्त्रितो भर्त्रा सर्वज्ञेनापि मुग्धवत् ।**
**निदेशं शिरसाऽऽधाय उद्धवः प्रत्यभाषत ॥४८॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे ससतितमोऽध्यायः ॥७०॥

★ इत आरभ्य त्रयः श्लोकाः M. Ma प्रकाशेषु न दृश्यन्ते। 1--1 B.G.J. तेष्वात्मपक्षेष्व ; MI. V. तेष्वात्मनः पक्षेष्व 2. B. °ण° 3--3 K. MI. T.V.W. Omit 4. K. अतो° ; B.J. तथा° 5. B.G.J.K.T.W. श्रद्धध्मः 6--6 B.G.J. MI.V. Omit 7. MI. V. सन्देशं

**श्रीध० तत्रेति**। तत्रैवं नारदेनोक्त तेषु तत्र वर्तमानेष्वात्मीय पक्षेषु यादवेषु जरासन्धस्य जिगीषया अगृह्णत्सु अननुमन्यमानेषु सत्सु वाचः पेशैः पेशल वाग्भिरित्यर्थः ॥ ४६ ॥

**त्वमिति**। चक्षुष्ट्वे हेतुः - मन्त्रार्थानां मन्त्र साध्यानां अर्थानां तत्त्ववित् परिपाकवेदिता ॥ ४७, ४८ ॥

इति श्रमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

**वीर० तत्रत्येष्विति**। इत्थं श्रुत राजवृत्तान्त युधिष्ठिर वृत्तान्तेषु[1] सभास्येष्वात्मपक्षेषु यदुषु जिगीषया प्रगृणत्सु मागधजिगीषा मुत्पादयितुं प्रगृणत्सु तावन्मागधं प्रत्येव गन्तव्यमित्येवं वदत्सु सत्स्वित्यर्थः। वाचः पेशैः मृदुवचोभिः उध्दवं प्राह ॥ ४६ ॥

तदेवाह-**त्वं हीति**। हि यस्मात् त्वं नोऽस्माकं चक्षुस्तत्स्थानीय इत्यर्थः। सुहृत् मन्त्रार्थानामालोचन साध्यानां अर्थानां तत्त्वं याथात्म्यम् वेत्तीति तथा च अतोऽत्राधुना यदनुष्ठेयं कर्तव्यं यत् तद्ब्रूहि तत् भवदुपदिष्टं कर्तव्यमर्थं श्रद्दध्मः विश्वसिमः करवाम च ॥ ४७ ॥

**इतीति**। इत्थं सर्वज्ञेनापि भर्त्रा भगवता मुग्धवदज्ञेनेव। उपामन्त्रितः मन्त्रार्थं प्रचोदितः उद्धवः सन्देशमाज्ञां शिरसा आधाय ऊढ्वा प्रत्यभाषत प्रत्युत्तरं ददावित्यर्थः ॥ ४८ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

---

1- -1 K. मन्त्रेषु

# एक सप्ततितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या एकोनाशीतितमोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

इत्युदीरितमाकर्ण्य देवर्षेरुद्धवोऽब्रवीत् ।
सभ्यानां मतमाज्ञाय कृष्णस्य च महामतिः ॥ १ ॥

उध्दव उवाच

यदुक्तमृषिणा देव साचिव्यं यक्ष्यतस्त्वया ।
कार्यं पैतृष्वसे[1] यस्य रक्षा च शरणैषिणाम् ॥ २ ॥

यष्टव्यं राजसूयेन दिक्[2-] चक्र[-2] जयिना विभो ।
★ पूर्वं गन्तव्यमस्माभिः इन्द्रप्रस्थ मितः प्रभो ॥

तत्रैव तदनु ज्ञात स्तदर्थं जहि मागधम् ।
ततो[3] जरासन्ध[4-] वध[-4] उभयार्थो मतो[5] हि नः ॥ ३ ॥

अस्माकं च महानर्थो ह्यनेनैव[6] भविष्यति ।
यशश्च तव गोविन्द राज्ञो बन्धाद्विमुञ्चतः[7] ॥ ४ ॥

स वै दुर्विषहो राजा नागायुतसमो बले[8] ।
बलिनामपि चान्येषां भीमं[9-] समबलं[-9] विना ॥ ५ ॥

1. B.J. °स्रे 2- -2 K.T.W. दिशश्च ★ These Two half verses begining with पूर्वं and ending with मागधम् are found only in KTW editions

3. B.G.J.M.Ma.T.W. अतो 4- -4 B.G.J.K.T.W. सुतजयः सुतवधः ;M.Ma. 5. B.G.J. मम ;K.M.Ma.T.W. हि मे । 6. B.G.J.K.M.Ma.T.W. °ह्येतेनैव

7. B.G.J. बध्दान्वि°, 8. M.Ma ०च्यतः 9- -9 K.T.W. भीममुग्र°, M.Ma भीमसेन°

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

अथैक सप्ततितमे ह्युद्धवस्य तु मन्त्रतः। इन्द्रप्रस्थं गते कृष्णे पार्थानां परमोत्सवः ॥

राजसूयमिषं कृत्वा भीमदुर्योधनादिषु। कलिमुत्पाद्य तद्द्वारा भूभार महरत्प्रभुः ॥

**इतीति**। देवर्षेर्मतं राजसूय गमनं सभ्यानां मतं राज रक्षा। कृष्णस्य तु उभयम् ॥ १ ॥

**यदिति**। यक्ष्यतः यागं करिष्यतः पैतृष्वसेयस्य पितृष्वसुः पुत्रस्य साचिव्यं साहाय्यं तच्च कार्यं तथा शरणार्थिनां राज्ञां रक्षा च कार्या ॥ २ ॥

तत्र प्रथम राजसूयार्थं गन्तव्यं ततो राज रक्षा च कर्तव्येत्याह अष्टभिः श्लोकैः **यष्टव्यमिति**। ततः दिग्विजयहेतोः उभयार्थः राजसूयार्थः शरणागतराजरक्षणार्थश्च ॥ ३, ४ ॥

अत्युत्सुकतया सद्य एव जरासन्धं हन्तुमिच्छतो यादवानालक्ष्याह - **स** इति। अन्येषां ततो बलिनामपि यद्यपि सम बल एव भीमः तथापि तं विना भीमादेव तस्य मृत्युर्विहित इति भावः ॥ ५ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

न,आत्मपक्षवत् भगवदभिप्रायानभिज्ञः प्राह। किन्तु तदभिप्रायं जानन्नेव प्रत्यभाषतेत्याह - **इतीति**। तावत्सभ्यानां मतम्। जरासन्ध वधार्थमेव गन्तव्यमित्येवंविधमभिमतं ज्ञात्वा ततः कृष्णस्य मतं राजसूय याजनार्थमेव गन्तव्यमित्येवं मतं ज्ञात्वा प्राह - तत्र हेतुत्वेन विशिनष्टि महती श्रेष्ठा सूक्ष्मा मतिर्यस्य सः ॥ १ ॥

उक्तिमेवाह **यदित्यादिना**। ऋषिणा नारदेन यदुक्तं यागं करिष्यतः पैतृष्वसेयस्य पितृष्वसुः पुत्रस्य साचिव्यं साहाय्यं कर्तव्यमिति तदपि कार्यं कर्तव्यमेव तथा शरणार्थिनां राज्ञां च रक्षा कर्तव्या ॥ २ ॥

तत्र तावत् राजसूयार्थं गन्तव्यं ततो राजरक्षा कर्तव्येत्याह **यष्टव्य**मित्याद्यष्टभिः। दिशश्च जयिना चशब्देन यक्ष्यमाणेन चेत्यस्य सङ्ग्रहः तेन युधिष्ठिरेण कर्त्रा राजसूयेन यष्टव्यं तावत् तत्साचिव्यमेव कार्यमिति भावः। दिशश्च जयिनेत्यनेन राजसूयस्य दिग्विजयपूर्वकत्वं तद्दशायामेव राज रक्षा च कृता भवतीत्युभयमभिप्रेतम्। पूर्वं प्रथम-मस्माभिः इतो द्वारकातः इन्द्रप्रस्थं प्रति गन्तव्यम्। दिशश्च जयिनेत्यनेनाभिप्रेतं विशदयति तत्रैवेति। तत्र इन्द्रप्रस्थे युधिष्ठिरेणानुज्ञात एव तदर्थं युधिष्ठिरप्रयोजनाय मागधं जहि घातय ततो दिग्विजय हेतोः जरासुतजयः उभयार्थः राजसूयार्थः शरणागत रक्षार्थश्चेति मया मतः बुद्धः ॥ ३ ॥

अनेनैव राजसूयार्थ गमनेनैव महान् सर्वोपि सिषाधयिषतोऽर्थो भविष्यति! हे  ड! राज्ञो नृपान् बन्धात् विमुञ्चतः विमोचयतः तव यशश्च भविष्यति ॥४॥

अत्युत्सुकतया प्रथममेव जरासन्धेन सह युयुत्सून् यदून् आलक्ष्याह-**स वा** इति। स वै जरासुतः गजानां अयुतेन तुल्यं बलं यस्य सः, उग्रं बलं यस्य तं भीमं विना अन्येषामपि बलिनां दुःखेनापि सोढुमशक्यः भीमादेव तस्य मृत्युर्विहित इति भावः ॥५॥

1. B. जयार्थ

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

एकान्तभक्तानां भक्त्यतिशयजननाय हरेः बन्धुकृत्याचरण लक्षण माहात्म्यं कथयति। तत्रादौ कृष्णकटाक्ष सूचित तत्कार्य विशेष उध्दवः स्वां नीतिं वक्ति **इतीति** ॥१॥

तद्भवाननुमोदतामिति देवर्षिणा यदुक्तं तस्यायमभिप्रायः हे देव! त्वया यक्ष्यतः यागं करिष्यतः पैतृष्वसे यस्य युधिष्ठिरस्य साचिव्यं साहाय्यं कार्यं कर्तव्यमिति किं च शरणैषिणां राज्ञां रक्षा च कार्या ॥२॥

कार्यद्वयसाधनोपायं वक्ति **यष्टव्यमिति**। तेन राज्ञा राजसूयेन यज्ञेन यष्टव्यं न ऋष्यादिनेव यागमात्रेण तथापीत्थं कृतेन भाव्यमित्याह दिक् चक्रेति। दिग्मण्डलं जितवता तद्रामृत्वा जरासन्धः करं न ददातीति यदतो जरासुतवध उभयेषामर्थः प्रयोजनम् ॥३॥

युधिष्ठिर कार्यं सिद्धवत् कृत्वा स्वकार्यमभिष्टौति **अस्माकमिति**। एतेन जरासन्धवधेन विमुच्यतः विमोचयतः ॥४॥

दुर्बलैःदुर्विषहोऽस्तु बलिनां सुविषह इत्यत उक्तं बलिनामिति। तर्हीदं दुःखसाध्यं नेत्याह भीमसेनेति ॥५॥

**द्वैरथे स[1] तु जेतव्यो न[2] शताक्षौहिणी युतः[3]।**
**ब्रह्मण्योऽभ्यर्थितो विप्रैर्न प्रत्याख्याति कर्हिचित् ॥६॥**

**ब्रह्मवेषधरो गत्वा[4] तं भिक्षेत वृकोदरः ।**
**हनिष्यति न सन्देहो द्वैरथे[5] तव सन्निधौ ॥७॥**

निमित्तं परमीशस्य विश्वसर्ग निरोधयोः ।
हिरण्य गर्भश्शर्वश्च कालस्यारूपिण स्तव ॥८॥

गायन्ति ते विशद कर्मगृहेषु देव्यो राज्ञां स्वशत्रुवधमात्म विमोक्षणं च ।
गोप्यश्च कुञ्जरपते र्जनकात्मजायाः पित्रोश्च लब्ध शरणा मुनयो वयञ्च ॥९

जरासन्धवधः कृष्ण भूर्यर्थायोपकल्प्यते ।
प्रायः पाकविपाकेन तव चाभिमतः क्रतुः ॥१०॥

1. K.T.W. न तु, 2. B.G.J. मा शता° ; K.T.W. न तथा 3. K.T.W. शतैः । 4. M.Ma भूत्वा 5. K.T.W. °थं 6. M. Ma °त्त मात्रमी° 7. M. Ma °ख्या° 8. K.T.W. कर्म ; M.Ma काल

**श्रीध०** ननु स्वबलसाम्येऽपि सेना बलं तस्याधिकमिति चेदत आह **द्वैरथ** इति । द्वैरथे द्वन्द्व युध्दे शतेनाक्षौहिणीभिर्युतो हि न जेतव्य इत्यर्थः । नन्वसौ स्वसैन्यमेव युद्धाय नियुञ्जीत कुतस्तेन द्वैरथमिति तत्राह-ब्रह्मण्य इति । न प्रत्याख्याति न निराकरोति ॥६॥

**ब्रह्मेति** । भिक्षेत द्वन्द्वयुद्धं याचतां तथापि समबलत्वात् साम्यमेव स्यादत आह - तव सन्निधाविति ॥७॥

ननु अकिञ्चित्कुर्वतो मम सन्निधानात् किं स्यात् अत आह - **निमित्तमिति** । अयमर्थः यथा तव अरूपस्य कालात्मनः विश्वसर्गे निमित्तं केवलं हिरण्यगर्भः तथा शर्वश्च तन्निरोधे तदा त्वमेव सन्निधिमात्रेण हन्ता भीमसेनो निमित्तमात्रमिति ॥८॥

अतोऽनेनोपायेन त्वया शीघ्रं हन्तव्य इत्याशयेनाह - **गायन्तीति** । जरासन्ध निरुद्धानां राज्ञां देव्यः पत्न्यः । ते विशदं कर्म स्वगृहेषु बालक लालनादौ गायन्ति । किं तत्कर्म? स्वशत्रोः जरासन्धस्य वधं, आत्मनां पतीनां विमोक्षणं च । वत्स! मा रोदीः श्रीकृष्ण एवं करिष्यातीति अत्र दृष्टान्ता गोप्यश्चेत्यादयः । यथा गोप्यः शङ्खचूडवधं स्वमोक्षं च गायन्ति अवतारान्तरगतं च कुञ्जरपतेः नक्रात् । जनकात्मजायाः रावणात्, पित्रोश्च कंस गृहात् मोक्षं, अत एवम्भूतानां तासां कृपया त्वया तथैव कर्तव्यमिति भावः ॥९॥

किञ्च **जरासन्ध वध** इति । भूर्यर्थायेति । ततः शिशुपालवधादयोऽपि सुखसाध्या भविष्यन्तीति भावः । एतच्च सर्वं भविष्यत्येवेति सम्भावयन्नाह - प्राय इति । पच्यत इति पाकः कर्म तस्य विपाकः फलं तेन राज्ञां

पुण्यविपाकेन। पापविपाकेनेति पाठान्तरे जरासन्धादीनां पापविपाकेनेति। तेनायं क्रतुस्तवाभिप्रेतः तत्र गते त्वयि सर्वं भविष्यतीत्यर्थः ॥१०॥

1. B.J. धृतानां

**वीर०** किञ्च **द्वैरथेनेति**। द्वैरथेन द्वन्द्वयुद्धेनैव स जेतव्यः, न तथा अक्षौहिणीनां शतैरपि, नन्वपरिमित सैन्यपरिवृतेन सह भीमस्य कथं द्वन्द्वयुद्धं भविष्यतीत्यत आह - ब्रह्मण्य इति। सत्त्वित्यनुषज्यते, स जरासन्धः ब्रह्मण्यः। अतो विप्रैः याचितो न प्रत्याख्याति ॥६॥

ततः किमत आह - ब्रह्मवेषधरः वृकोदरः भीमः विप्रवेषं दधत् गत्वा तं जरासुतं भिक्षेत, द्वन्द्वयुद्धमिति शेषः। ततोऽपि किमत आह हनिष्यतीति। द्वैरथं द्वन्द्वयोधिनं मागधं हनिष्यति सोप्यतिबलस्तं कथं [1] हनिष्यतीत्यत उक्तं तव सन्निधाविति। तव सान्निध्यप्रभावाद्धनिष्यति [2] [3] इति भावः ॥७॥

नन्वकिञ्चित् कुर्वतो मम सन्निधिना किं स्यादत आह - **निमित्तमिति** विश्वस्य सर्ग निरोधयोः उत्पत्तिप्रलययोः त्वं परं निमित्तं आदिकारणं अतो भीमरूपेण त्वमेव हनिष्यसीति भावः। यद्यहं परं निमित्तं किं तर्ह्यवान्तरं निमित्तमत आह हिरण्यगर्भ इति। कालस्य कालशरीरकस्य अरूपिणः प्राकृतरूप रहितस्य सर्वस्रष्टुः सर्व संहर्तुश्च तव हिरण्यगर्भः। शर्वश्च तवेत्यंशांशि भावसम्बन्धे षष्टी। विश्वसर्ग निरोधयोः, अवान्तरकारणमिति शेषः ॥८॥

कोऽसौ तद्वधादस्माकं लाभः तत्राह **गायन्तीति**। राज्ञां मगधरुद्धानां देव्यः पत्न्यः स्वगृहेषु बालकलालनादौ स्वशत्रोः जरासन्धस्य वधं आत्मनां आत्मवज्जीवन हेतुभूतानां पतीनां विमोक्षणं च इत्येवं विधं तव विशदं निर्मलं कर्म चेष्टितं गायन्ति गास्यन्ति। तत्र दृष्टन्त माह - गोप्यश्चेति। अस्य यथेत्यादिभिः यथा गोप्यः शङ्खचूडवधं स्वमोक्षणं च गायन्ति। यथा च अवतारान्तरगतं नक्रात्कुञ्जरपतेर्गजेन्द्रस्य विमोक्षणं, यथा वा रावणात् जनकात्मजायाः विमोक्षणं, "यथा च पित्रोः देवकीवसुदेवयोः कंसाद्विमोक्षणं", लब्धशरणाः प्रपन्नाः मुनयः अस्मदादयश्च गायन्ति तद्वदित्यर्थः ॥९॥

किञ्च **जरासन्धवध** इति। हे कृष्ण! भूर्यर्थाय अनेक प्रयोजनाय कल्पते ततः चैद्यादयोऽपि सुखसाध्या भविष्यन्तीति भावः, ततश्च राजसूयार्थ गमनेनैव सर्वं सम्पस्त्यत इत्यभिप्रयन्नाह - प्राय इत्यादि। कर्मविपाकेन, इत्यस्य राज्ञामित्यादिः विपच्यत इति विपाकः फलं प्रायशो जरासन्धनिरुद्धानां राज्ञां कर्मणः पुण्यस्य फलेन हेतुना। क्रतुः राजसूयस्तव च। चशब्दाद्युधिष्ठिरस्याप्यभिमतः, अतस्तावत् तत्रैव गन्तव्यमिति भावः ॥१०॥

1. B.K. add भीम एव 2. B.K. °वादेव हनि° 3. B.K. add न तु स्वबलप्रभावात् इति भावः।

**विज०** द्वैरथे द्वन्द्वयुद्धे तत्रोपायमाह ब्रह्मण्य इति ॥ ६ ॥

"तीक्ष्णश्चैव प्रचण्डश्च वृको नामानलो मतः। स पाण्डवस्य जठरे तेन भीमो वृकोदरः" इति हनन निश्चये को हेतुरित्यत उक्तं तवेति। त्वया सह गन्तव्यं तदर्थमित्यर्थः ॥ ७ ॥

तत्कुत इति तत्राह **निमित्तमात्रमिति**। काल इत्याख्या रूपं संज्ञारूपमस्यास्तीति कालाख्यरूपी तस्य ॥ ८ ॥

हे कृष्ण! तत्रेदं कर्म लोकक्षेम करमिति भावेनाह **गायन्तीति**। राज्ञां देव्यः महिष्यः चशब्दाद्देव्यः गृहेषु ते तव इदं कर्म गायन्ति। इदमिति किं तत्राह स्वशत्रिति। आत्मनः स्वामिनो निरोधात् मोक्षणं कथं गायन्ति इत्यतो लुप्तोपमामाह गोप्य इति। चशब्दो यथा वचनः गोप्यः यथा कुञ्जरपतेः गजेन्द्रस्य नक्राद्विमोक्षणं नक्राख्यवधञ्च। यद्वा कुवलयापीडस्य आत्मविमोक्षणं शरीरवियोगलक्षणं मरणं, चाणूरादिस्वशत्रुवधं च जनकात्मजायाः सीतायाः रावण बन्धाद्विमोक्षणं रावणाख्य शत्रुवधञ्च, मुनयो वाल्मीक्यादयः वयं च तथा पित्रोः देवकी वसुदेवयोः कंसविहित श्रृङ्खलायाः विमोक्षणं, कंसाख्य शत्रुवधं गायामस्तथेत्यर्थः। देव्यो देवस्त्रियो गृहेषु विमानेषु स्थित्वा मोक्षणमित्यादि वा ॥ ९ ॥

किं बहुनोक्तेनायं जरासन्धवधो अनेक प्रयोजनोपेत इत्याह - **जरासन्धेति**। भूभारहरणार्थ त्वेनावतीर्णत्वात् तत्र कालान्तरे दुर्योधनादि भारावरोपण हेतुत्वेनाभिमतः क्रतुरित्याह प्राय इति ॥ १० ॥

**श्रीशुक उवाच**

**इत्युद्धववचो राजन् सर्वतो भद्रमच्युतम्[1]।**
**देवर्षिर्यदुवृद्धाश्च कृष्णश्च[2] प्रत्यपूजयन् ॥ ११ ॥**

**अथादिशत्प्रयाणाय भगवान् देवकीसुतः ।**
**भृत्यान् दारुकजैत्रादीन् अनुज्ञाप्य गुरून् विभुः ॥ १२ ॥**

**निर्गमय्या[3]-वरोधान्[3] स्वान्[4] ससुतान्[4] सपरिच्छदान् ।**
**सङ्कर्षण मनुज्ञाप्य यदुराजं च शत्रुहन्[5]।**
**सूतोपनीतं स्वरथं आरुहद्गरुडध्वजः[6] ॥ १३ ॥**

**पुरो[7] रथद्विपभटसादि नायकैः[8] करालया परिवृत आत्मसेनया ।**
**मृदङ्ग भेर्यानकशङ्खगोमुखैः, प्रघोष[9] घोषत्[9] ककुभो निराक्रमत् ॥ १४ ॥**

10- -10
प्रियाश्च काञ्चन शिविकाभिरच्युतं, सहात्मजाः पतिमनु सुव्रता ययुः
वराम्बराभरण विलेपनस्रजस्सुसंवृता नृभिरसि चर्मपाणिभिः ॥ १५ ॥

1. K.M.Ma.T.W. °नः 2. K.M.Ma.T.W. रामश्च 3- -3 M.Ma स निर्गम्या° 4- -4 M.Ma °त् स्वात्, 5. M. Ma शत्रुहा, 6. K.T.W. आरोह° 7. B.G.J.K.M.Ma.T.W. °जम्, 8. B.G.J.K.M.Ma.T.W. ततो 9- -9 M.Ma सङ्घुष्टया वै ; B.J. प्रघोष घोषित् ; G. प्रघोष घोषितः ; T.W. प्रघोष घोषाः 10- -10 B.G.J.MI.V. नृवाजि काञ्चन ; K.T.W. स्ववाजि काञ्चन

**श्रीध० इतीति**। अच्युतं उपपत्त्या दृढं, यदुवृध्दा इत्यनेन अनिरुध्दादयस्तथा नापूजयन्निति सूचितम् ॥ ११ ॥

**अथेति**। अनुज्ञाप्य अनुज्ञां प्रार्थ्य, गुरून् वसुदेवादीन् ॥ १२ ॥

**निर्गमय्येति**। अवरोधान् दारान् निर्गमय्य प्रयाणं कारयित्वा ॥ १३ ॥

**पुर** इति। भटाः पदातयः, सादिनः अश्वारोहाः, रथादि नायकैः करालया तीव्रया आत्मसेनया परिवृतो निराक्रमत् निरगात् पुरस्सकाशात् मृदङ्गादिभिः वाद्यैः प्रघोषेण घोषितायाः ककुभः ॥ १४ ॥

**नृवाजीति**। नरयानैः अश्वैः काञ्चनशिविकाभिश्च अच्युतं पतिमनुययुः। सुव्रताः पतिव्रताः वराण्यम्बरादीनि यासां ताः ॥ १५ ॥

1. B.J. कुतस्स°

**वीर० इतीति**। सर्वतः भद्रं शुभावहं उद्धवस्य वचः श्रुत्वा अच्युतादयस्सर्वे प्रत्यपूजयन् अन्वमोदन्त ॥ ११ ॥

**अथेति**। दारुकः जैत्र एवादिः येषां तान् भृत्यान् आदिशत् आज्ञापयामास। गुरून् वसुदेवादीन् प्रति अनुज्ञाप्य अनुज्ञां प्रार्थ्य निर्गमय्येत्युत्तरेण सम्बन्धः ॥ १२ ॥

**निर्गमय्येति**। सुतैस्सहितान् परिच्छदैः परिकरैः सहितान् स्वान् अवरोधान् दारान् निर्गमय्य पुराद्बहिः गमयित्वा, हे शत्रुहन्! सूतेनोपनीतमानीतम् रथमारुरोह ॥ १३ ॥

**तत** इति। द्विपाः गजाः, भटाः पदातयः, सादिनः अश्वारूढाः तेषां नायकैः करालया परभयङ्करया स्वस्य सेनया परिवृतः मृदङ्गादिभिः वाद्यैः यः प्रघोषः तेन घोषिताः ककुभः कुर्वन्नित्यध्याहारः। निराक्रमत् निष्क्रान्तवान्। प्रघोष घोषीति पाठे दिशः मृदङ्गादिभिः यो घोषः तेन घोषयन् ॥ १४ ॥

**स्ववाजीति**। सुव्रताः पतिव्रताः वैदर्भ्यादयः पतिमच्युतं यान्तं स्वस्ववाजिकाञ्चनशिबिकादिभिः अनुययुः। कथम्भूताः? असि चर्मणी खड्गखेटौ पाण्योरेषां तैः नृभिः भृत्यैः संवृताः वराः श्रेष्ठाः अम्बराद्यो यासां ताः ॥१५॥

**विज०** सर्वतो भद्रं सर्वप्रकारेण भद्रम् ॥११-१३॥

ततः किमभूदिति तत्राह-**तत** इति। ककुभः दिशः संघुटया संघोषयन्त्या ॥१४॥

प्रियाश्चाच्युतं पतिं अनुययुः। वस्त्रैः सुसंवृताः असि चर्मपाणिभिः नृभिः परिवृताः ॥१५॥

**नरोष्ट्र गोमहिषखराश्वतर्य नः करेणुभिः परिजनवारयोषितः ।**
**स्वलङ्कृताः कटकुटिकम्बलाम्बरा[1] द्युपस्करा ययुरधियुज्य सर्वशः[2] ॥१६॥**

**बलं बृहध्वज पट छत्र चामरैः वरायुधाभरण किरीट वर्मभिः।**
**दिवांशुभिस्तुमुलरवं बभौ खेर्यथार्णवः क्षुभिततिमिङ्गिलोर्मिभिः ॥१७॥**

**अथो मुनिर्यदुपतिना सभाजितः प्रणम्य तं हृदि निरगाद्विहायसा[3]।**
**निशम्य[4] तद्व्यवसितमाहृतार्हणो मुकुन्द सन्दर्शन निर्वृतेन्द्रियः ॥१८॥**

**राजदूतमुवाचेदं भगवान् प्रीणयन्[5-] गिरा[-5]।**
**मा भैष्ट दूत भद्रं वो घातयिष्यामि मागधम् ॥१९॥**

**इत्युक्तः प्रस्थितो[6] दूतो यथावदवदन्नृपान् ।**
**तेऽपि सन्दर्शनं शौरेः प्रत्यैक्षन्त[7] मुमुक्षवः ॥२०॥**

---

1. M.Ma पट 2. B.G.J. °तः॥ 3. B.G.J. MI.V. विदधद्वि ; M.Ma निदधद्वि 4. MI.V. निशाम्य, 5- -5 K.T.W. देवकी सुतः ; M.Ma प्रेमयागिरा 6. K.T.W. प्रहितः 7. B.G.J. MI.V. °क्षन् यन्मु°

**श्रीध० नरेति**। नरोष्ट्रादिभिः यानैः अश्वतरी गर्दभाभ्यां अश्वाज्जाता, अनः शकटं, करेणुर्गजी, परिजन-योषितो वारयोषितश्च कटकुटयः उशीरादि तृण निर्मित गृहाः कम्बलाम्बरादयश्च। उपस्कराः कुड्यादिरूपा यासां ताः, अधियुज्य बलीवर्दादिषु तानुपस्करान् दृढं सन्नह्य ॥१६॥

**बलमिति**। खेरंशुभिश्च तद्बलं दिवा बभौ। कथम्भूतम्? तुमुलरवं आकुलस्वनं क्षुभितैः तिमिङ्गलैः ऊर्मिभिः ॥१७॥

**अथो** इति। मुनिर्नारदो विहायसा, ययाविति शेषः ॥१८॥

**राजेति**। मा भैष्टेति बहुत्वं राजाभिप्रायेण ॥१९॥

**इतीति**। प्रत्यैक्षन् प्रत्यैक्षन्त। यत् यस्मात् मुमुक्षवः ॥२०॥

**वीर० नरेति**। तथा परिजनयोषितः वारयोषितश्च कटकुड्यादयः उपस्कराः कुटीशिबिरादि साधनभूताः यामां नाः। अधियुज्य बलीवर्दादिषु उपस्करान् दृढं सन्नह्य नरादिभिः यानैः ययुरिति सम्बन्धः, तत्र नरो नरवाह्यं, यानं गर्दभ्यां, अश्वाज्जाता अश्वतरी, अनश्शकटं, करेणुर्गजी, कटकुटयः उशीरादि तृणनिर्मिताः गृहाः ॥१६॥

**वलमिति**। तद्वलं ध्वजादिभिः दिवा बभाविति सम्बन्धः। कथम्भूतम्? तुमुलो रवस्स्वनो यस्मिन् तत् यथा रवेः सूर्यस्यांशुभिः क्षुभिता तिमिङ्गिलादयः तैः ये महान्तः ऊर्मयः तैः अर्णवो भाति तद्वत् ॥१७॥

**अथो** इति। यदुपतिना कृष्णेन सभाजितो बहुमतो मुनिर्नारदः तं हृदि प्रणम्य मनसा प्रणम्येत्यर्थः। तस्य कृष्णस्य व्यवसितं वचो निशम्य आहृतं समर्पितमर्हणं यस्य मुकुन्दस्य सन्दर्शनेन निर्वृतानि सुखितानि इन्द्रियाणि यस्य सः। विहायसा आकाशमार्गेण निरगाद्ययौ ॥१८॥

**राजेति**। भगवान् राजदूतं उवाच। उक्तिमेवाह मा भैष्टेति ॥१९॥

**इतीति**। प्रहितः प्रेषितः नृपान् प्रति यथावत् भगवदुक्तं सर्वं अवदत् उवाच। तेऽपि नृपा अपि शौरेः दर्शनं प्रतीक्षितवन्तः। कथम्भूताः? मुमुक्षवः मागधबन्धनादिति शेषः ॥२०॥

**विज०** ततो बहिः नरोष्ट्रादिभिः परिवृताः परिजनयुत वारयोषितश्च पटकुटयः वस्त्रनिर्मितमन्दिराणि पटकुटि कम्बलाम्बराणि आदिर्येषां ते तथा। ते च उपस्कराः परिकरा येषां ते तथा। अधियुज्य संयुज्य आरोप्य वा ॥१६॥

रवेः अंशुभिः दिवा दिनं यथा भाति बृहध्वज पटादे रुदाहरणमिदं, क्षुभिततिमिङ्गिलोर्मिभिः अर्णवो यथेति। नरोष्ट्रादेर्निदर्शनम् ॥१७॥

हरेर्व्यवसितं निश्चितं निशम्यागात् ॥१८॥

प्रेम स्नेहं यातीति प्रेमया सोमपाशब्दवद्रूपं नेयम् ॥१९, २०॥

आनर्त सौवीरकुरून्[1] तीर्त्वा विनशनं हरिः ।
गिरीन्नदीरतीयाय पुर ग्राम व्रजाकरान् ॥ २१ ॥

ततो दृषद्वतीं[2] तीर्त्वा मुकुन्दोऽथ सरस्वतीम् ।
पञ्चालानथ[3] मत्स्यांश्च शक्रप्रस्थमुपागमत्[4] ॥ २२ ॥

तमुपागतमाकर्ण्य प्रीतो दुर्दर्शनं नृणाम् ।
अजातशत्रुर्निरगात्सोपाध्यायस्सुहृद्वृतः ॥ २३ ॥

गीत वादित्र घोषेण ब्रह्मघोषेण भूयसा ।
अभ्ययात्स[5] हृषीकेशं प्राणाः प्राणमिवागतम् ॥ २४ ॥

दृष्ट्वा विक्लिन्नहृदयः कृष्णं स्नेहेन पाण्डवः ।
चिराद्दृष्टं प्रियतमं सस्वजे[6] स पुनः पुनः ॥ २५ ॥

1. B.G.J.K. मरून् 2. K.T.W. वृ° 3. M.Ma.MI.V. पा° 4. B.G.J.M.Ma °मथा° 5- -5 K.T.W. प्रत्ययात्स° ; M.Ma अभ्यगात्स° 6. B.G.J. °जेऽथ ; M.Ma.MI.T.V.W. °जे स्म ।

**श्रीध० आनर्तेति** । आनर्तादयो मार्गस्थ देशाः तान् तीर्त्वा अतिक्रम्य विनशनं कुरुक्षेत्रं गिरीन्[1] रैवतकादीन्[2] अतीयाय अतिक्रम्य ययौ ॥ २१ ॥

**तत** इति । शक्रप्रस्थं इन्द्रप्रस्थम् ॥ २२, २३ ॥

**गीतेति** । प्राणाः इन्द्रियाणि प्राणं मुख्यं प्राणमिव ॥ २४ ॥

**दृष्ट्वेति** । सस्वजे परिरेभे ॥ २५ ॥

1. B.J. Omit गिरीन् 2. B.J. Omit रैवतकादीन्

**वीर० आनर्तेति** । आनर्तादयो मार्गस्था देशाः । तान् तीर्त्वा अतिक्रम्य विनशनं कुरुक्षेत्रमतीयाय अतिचक्राम ॥ २१ ॥

दृषद्वतीं[1] नदीं तथा सरस्वतीं च तीर्त्वा मत्स्यांश्च देशानतिक्रम्य शक्रप्रस्थमिन्द्रप्रस्थमुप समीपं जगाम । तत्र पुरं प्राकारयुक्तं ग्रामस्तद्रहितः व्रजः अभीराणामावासः आकरः खनिः मत्स्यांश्चेत्यनन्तर मनुषक्तस्य तीर्त्वेत्यस्यातिक्रम्य इत्यर्थः योग्यत्वात् ॥ २२ ॥

**तमिति**। नृणां दुर्लभं दर्शनं यस्य तं कृष्णमागतं श्रुत्वा अजातशत्रु युधिष्ठिरः निरगात्, पुरादिति शेषः ॥२३॥

**गीतेति**। वादित्राणि वाद्यानि तद्घोषेण ब्रह्मघोषेण च स युधिष्ठिरः कृष्णमभ्यगात्[2] प्राणः इन्द्रियगणः आगतं प्राणं पञ्चवृत्तिप्राणमिवेत्याभिमुख्ये दृष्टान्तः ॥२४॥

**दृष्ट्वेति**। कृष्णे यः स्नेहः तेन विक्लिन्नं आर्द्रं हृदयं यस्य सः सस्वजे ॥२५॥

1. K.T.W. वृ° 2. B.K. add अभिमुखं जगाम।

**विज०** विनशनं कुरुक्षेत्रं आकरं रत्नाद्युत्पत्ति स्थानम् ॥२१॥

दृषद्वतीं चक्रनदीम् ॥२२-२५॥

**दोर्भ्यां परिष्वज्य रमामलालयं[1] मुकुन्दगात्रं नृपतिर्हताशुभः।**
**लेभे परां निर्वृतिमश्रुलोचनो हृष्यत्तनुर्विस्मृत लोक विभ्रमः ॥२६॥**

**तं मातुलेयं परिरभ्य निर्वृतो भीमस्स्मयन् प्रेमजलाकुलेन्द्रियः[2]।**
**यमौ किरीटी च सुहृत्तमं मुदा प्रवृद्धबाष्पाः परिरेभिरेऽच्युतम् ॥२७॥**

**★ युधिष्ठिरस्य भीमस्य कृत्वा पादाभिवन्दनम्।**
**अर्जुनेन परिष्वक्तो यमाभ्यां[3] चाभिवादितः ॥२८॥**

**ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य वृद्धेभ्यश्च यथार्हतः।**
**मानितो[4] मानयामास कुरुसृंजय केकयान् ॥२९॥**

**सूतमागध गन्धर्वा वन्दिनश्चोपमन्त्रिणः।**
**मृदङ्गशङ्खपटह वीणा पणव वेणुभिः[5]।**
**ब्राह्मणाश्चारविन्दाक्षं तुष्टुवुर्ननृतुर्जगुः ॥३०॥**

1. M.Ma °लयालयं 2. B.G.J. °वा° ★ This half verse is not found in B.G.J. M.Ma edns. 3. B.G.J. °भ्यामभिवादितः ; Ml.v. °भ्यामभिवन्दितः
4. M-Ma °नो 5. B.G.J. गोमुखैः

**श्रीध० दोर्भ्यामिति**। रमायाः अमलं निर्दोषं आलयं विस्मृतो लोक विभ्रमः लोक व्यवहारो येन सः ॥२६. २७॥

**युधिष्ठिरस्येति**। अर्जुनेन समत्त्वात् परिष्वक्त एव केवलं यमाभ्यां नकुलसहदेवाभ्यां अभिवन्दितः नमस्कृतश्चेति ॥२८-३०॥

1--1 B.J. Omit. 2. Ml. V. व्यापारो

**वीर० दोर्भ्यामिति**। रमायाः अमलं निर्दोषं आलयं मुकुन्दस्य गात्रं भुजाभ्यामालिङ्ग्य हतमशुभं यस्य सः। परां निर्वृतिमानन्दं प्राप। तदेव वक्तुं विशिनष्टि अश्रूण्यानन्दजानि लोचनयोर्यस्य । हृष्यन्ती उदञ्चित रोमा तनुर्यस्य। विस्मितः लोकविभ्रमो लोकव्यवहारो येन सः ॥२६॥

**तमिति**। मातुलस्यापत्यं कृष्णं परिरभ्य प्रेमजलैः आनन्दाश्रुभिः आकुले व्याप्ते पिहिते इन्द्रिये लोचने यस्य सः। बभूवेति शेषः। यमौ नकुलसहदेवौ, किरीटी अर्जुनश्च मुदा हर्षेण प्रवृद्धानि बाष्पाणि आनन्दाश्रूणि येषां ते। परिरेभिरे परिष्वक्तवन्तः ॥२७॥

अर्जुनेन केवलं परिष्वक्त एव समवयस्कत्त्वात् यमाभ्यां त्वभिवादितश्च। भगवान्ब्राह्मणेभ्यो वयोवृद्धेभ्यो। युधिष्ठिरादिभ्यः यथायोग्यं नमस्कृत्य स्वयं बहुमतः, कुर्वादीन् बह्वमन्यत ॥२८, २९॥

**सूतेति**। सूतादयो ब्राह्मणाश्च मृदङ्गादिभिः तुष्टुवुः ननृतुः, जगुश्च। तत्र सूता मागधाः, ब्रह्मणाश्च उपमन्त्रिणश्च तुष्टुवुः। इतरे ननृतुर्जगुश्च। उपमन्त्रिणः परिहासकाः ॥३०॥

1--1 W. Omits

**विज०** रमा श्रीरलयाभूः तयोरालयं श्रीधराश्रयमित्यर्थः। विस्मृतः लोके विद्यमानः विविधभ्रमो येन स तथा ॥२६॥

प्रेमजलेन आनन्दाश्रु जलेनऽऽकुले नेत्रेन्द्रिये यस्य स तथा ॥२७, २८॥

उप समीपे समेत्य मन्त्रणशीलाः ॥२९, ३०॥

**एवं सुहृद्भिः पर्यस्तः पुण्यश्लोक शिखामणिः ।**
**संस्तूयमानो भगवान् विवेशालङ्कृतं पुरम् ॥३१॥**

संसिक्त वर्त्म करिणां मदगन्धतोयैः चित्रध्वजैः कनकतोरण पूर्णकुम्भैः ।
मृष्टात्मभिर्नरदुकूल[1] विभूषण स्त्रक् गन्धैर्नृभिर्युवतिभिश्च विराजमानम् ॥ ३२ ॥

उद्दीप्तदीपबलिभिः प्रतिसद्म जाल निर्यातधूप रुचिरं विलसत्पताकम् ।
मूर्धन्य हेम कलशै रजतोरुशृङ्गैः जुष्टं ददर्श भवनैः कुरु राजधाम ॥ ३३ ॥

प्राप्तं निशम्य नरलोचन पानपात्रम् औत्सुक्य विश्लथित केशदुकूलबन्धाः ।
सद्यो विसृज्य गृहकर्म पतींश्च[2] तल्पे द्रष्टुं ययुर्युवतयश्च नरेन्द्रमार्गे ॥ ३४ ॥

तस्मिन् सुसङ्कुल इभाश्वरथद्विपद्भिः कृष्णं सभार्यमुपलभ्य गृहादिरूढाः ।
नार्यो विकीर्य कुसुमैर्मनसोपगूह्य सुस्वागतं विदधुरुत्स्मय[3] वीक्षितेन ॥ ३५ ॥

1. M.Ma °र्वर 2. M.Ma पतीन् स्व° 3. M.Ma रुच्छ्रित

**श्रीध० संसिक्तेति**। चित्रध्वजादिभिः विराजमानम् ॥ ३१, ३२ ॥

**उद्दीप्तेति**। प्रतिसद्म उद्दीप्तैः दीपैः बलिभिः पुष्पादिप्रकरैश्च, जुष्टं जालेभ्यो गवाक्षेभ्यो निर्यातैर्धूपैः रुचिरं विलसन्त्यः पताकाः यस्मिन् तत्, मूर्धन्याः मूर्ध्नि भवाः हेमकलशाः येषां तैः। रजतमयानि रूप्यमयानि, उरूणि स्थूलानि श्रृङ्गाणि कलशाधस्तनभूमिकाः येषां तैः, भवनैर्जुष्टं कुरुराजस्य धाम पुरं ददर्श ॥ ३३ ॥

**प्राप्तमिति**। नराणां लोचनानि तेषां पानस्य 1 सादर वीक्षणस्य पात्रविषयं किं पुनर्नारीणामित्यर्थः। औत्सुक्येन[2-] इष्टार्थोद्युक्तत्त्वेन विश्लथिताः स्रस्ताः केशदुकूलबन्धा यासां ताः[-2] ॥ ३४ ॥

**तस्मिन्निति**। सुष्ठु स्वागतं तत्प्रश्नादिकं प्रियं उत्स्मय वीक्षितेनैव विदधुः ॥ ३५ ॥

1. MI.V. add सारसौन्दर्य 2- -2 B.J. Omit

**वीर० एवमिति**। पर्यस्तः परिवृत्तः पुण्यश्लोकश्रेष्ठः पुरं इन्द्रप्रस्थं विवेश ॥ ३१ ॥

तद्विशिनष्टि-**संसिक्त वर्त्मेति** द्वयेन। करिणां मदगन्धजलैः संसिक्तानि वर्त्मानि पुरवीथयो यस्मिन् तत्। कनकतोरणैः पूर्णकुम्भैश्च मृष्टः स्नापितः आत्मा शरीरं यैः, नवाः दुकूलादयो येषां तैः, नृभिः पुम्भिः तथा भूताभिः युवतिभिः स्त्रीभिश्च विराजमानम् ॥ ३२ ॥

किञ्च **उद्दीप्तेति**। प्रतिगृहमुद्दीप्तैः दीपैः बलिभिः पुष्पादिभिश्च जुष्टं जालेभ्यो गवाक्षेभ्यो निर्यातैः धूपैः रुचिरं विलसन्त्यः पताकाः यस्मिन् तत्। मूर्धन्याः मूर्धनि भवस्ते हेमकलशाः येषां तैः रजतमयान्युरूणि स्थूलानि श्रृङ्गाणि कलधौतस्तम्भ भूमिकाः येषां तैश्च गृहैः जुष्टं, एवम्भूतं कुरुराजधाम इन्द्रप्रस्थपुरं ददर्श ॥ ३३ ॥

**प्राप्तमिति**। नराणां लोचनानि तेषां पानस्य सादरवीक्षणस्य पात्रं विषयं किं पुनर्नारीणामित्यर्थः, तं कृष्णं प्राप्तमागतं श्रुत्वा युवतयः पौरस्त्रियः सद्य एव गृह व्यापारं तल्पे पर्यङ्के पतींश्च विसृज्य औसुक्या द्विश्लथिताः। केशानां दुकूलानां च बन्धाः ग्रन्थयो यासां ताः, द्रष्टुं नरेन्द्रमार्गं राजवीथीं ययुः ॥ ३४ ॥

**तस्मिन्निति**। गृहेषु प्रासादेष्वधिरूढाः युवतयः इभादिभिः चतुर्भिस्सेनाङ्गैस्सुसङ्कुले सङ्कीर्णे तस्मिन्नरेन्द्रमार्गे सभार्यं श्रीकृष्णमुपलभ्य दृष्ट्वा कुसुमैः विकीर्य मनसा उपगूह्यालिङ्ग्य स्मययुक्तवीक्षितेनैव सुस्वागतं स्वागत प्रश्नं विदधुश्चक्रुः तासामुत्स्मयवीक्षितं स्वागतप्रश्नं विदधदिवासेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

**विज०** पर्यस्तः परिवृतः ॥ ३१, ३२ ॥

चन्दनाम्बु संसिक्त वर्त्म कुरुराजधाम ददर्शेत्यन्वयः। प्रतिसद्म प्रतिगृहम् ॥ ३३, ३४ ॥

उच्छ्रित वीक्षितेन सम निरीक्षणेन ॥ ३५ ॥

**ऊचुस्त्रियः पथि निरीक्ष्य मुकुन्दपत्नीः तारा यथोडुपसहाः किमकार्यमूभिः ।**
**यच्चुक्षुषां पुरुषमौलिरुदारहास लीलावलोक कलयोत्सवमातनोति[1] ॥ ३६ ॥**

**तत्र तत्रोपसङ्गम्य पौरा मङ्गलपाणयः ।**
**चक्रुस्सपर्यां कृष्णाय श्रेणीमुख्या[2] हतैनसः ॥ ३७ ॥**

**अन्तः पुरजनैः प्रीत्या मुकुन्दः फुल्ललोचनैः ।**
**संसम्भ्रमैरभ्युपेतः प्राविशद्राजमन्दिरम् ॥ ३८ ॥**

**पृथा विलोक्य भ्रात्रेयं कृष्णं त्रिभुवनेश्वरम् ।**
**प्रीतात्मोत्थाय पर्यङ्कात्सस्नुषा परिषस्वजे ॥ ३९ ॥**

**गोविन्दं गृहमानीय देव देवेश मादृतः ।**
**पूजायां नाविदत्कृत्यं प्रमोदोपहतो नृपः ॥ ४० ॥**

1. MI.V. °लया सुख° 2. K. MI. V. °णि°

**श्रीध० ऊचुरिति**। उडुपसहाः चन्द्रसहचरा इत्यर्थः। अमूभिः किं पुण्यमकारीति ॥ ३६॥

**तत्रेति**। श्रेण्यः एकशिल्पोपजीविनां संघाः तेषु मुख्याश्च ॥३७॥

**अन्तः पुरेति**। अभ्युपेतः अभिगमनेन सत्कृतः ॥ ३८ ॥

**पृथेति**। सस्नुषा द्रौपदी सहिता ॥ ३९ ॥

**गोविन्दमिति**। कृत्यं प्रकारविशेषं प्रमोदेन उपहतः अभिभूतः ॥४०॥

**वीर० ऊचुरिति**। उडुपेन चन्द्रेण सहिताः ताराः इव स्थिताः कृष्णपत्नीः पथि[1] निरीक्ष्य स्त्रियः प्रोचुः उक्तिमेवाह-किमित्यादिना। अमूभिः कृष्णपत्नीभिः किमकारि किं सुकृतमाचरितं, तत्र हेतुत्वेन विशिंषन्ति यद्यासां चक्षुषां पुरुषमौलिः पुरुषोत्तमः उदारो गम्भीरो यो हासस्तद्युक्तो लीलया अवलोकस्तस्य कलया लेशेनैव सुखं वितनोति तथाभूताभिरमूभिरिति सम्बन्धः ॥३६॥

**तत्र तत्रेति**। उपसङ्गम्य समीपमागत्य पौराः श्रेणयः एकशिल्पोपजीविनां सङ्घास्तेषु मुख्याश्च मङ्गलानि गन्धपुष्पताम्बूलादि शुभद्रव्याणि पाण्यो र्येषां ते कृष्णाय पूजां चक्रुः अतो हतं निरस्तमेनः पापं येषां तथाभूताः, बभूवुरिति शेषः ॥३७॥

**अन्तरिति**। सम्भ्रमेण सहितैः अत एव फुल्ले विकसिते लोचने येषां तैः। अन्तःपुरजनैः अभ्युपेतः अभिसङ्गतः राजमन्दिरं प्रविवेश ॥३८॥

**पृथेति**। पृथा कुन्ती भ्रात्रेयं भ्रातृपुत्रं श्रीकृष्ण मवलोक्य प्रीतः आत्मा मनो यस्यास्सा पर्यङ्कात् उत्थाय स्नुषया द्रौपद्या सह; परिषस्वजे आलिङ्गितवती ॥३९॥

**गोविन्दमिति**। देवानां देवो ब्रह्मा तस्याऽपीशं गोविन्दं गृहं प्रत्यानीय नृपो युधिष्ठिरः प्रमोदेन उपहतः अभिभूतः परवशेति यावत्। पूजायां कृत्यं क्रमविशेषं नाविदत् ॥४०॥

1. T.W. Omit पथि

**विज०** उडुपसहाः उडुपेन चन्द्रेण सहिताः ताराः अमूभिः किं शुभमकारि ॥ ३६

श्रेणी मुख्याः नगरप्रधानाः ॥ ३७, ३८॥

भ्रात्रेऽयं भ्रातुः पुत्रम् ॥३९, ४०

**पितृष्वसुर्गुरुस्त्रीणां कृष्णाचक्रेऽभिवादनम् ।**
**स्वयं च कृष्णया राजन् भगिन्या चाभिवादितः[1] ॥ ४१ ॥**

**श्वश्रूश्च सञ्चोदिता कृष्णा कृष्णपत्नीस्सुवर्चशः[2] ।**
**आनर्च रुक्मिणीं सत्यां भद्रां जाम्बवतीं तथा ॥ ४२ ॥**

**कालिन्दीं मित्रविन्दां च शैब्यां नाग्नजितीं सतीम् ।**
**अन्याश्चाभ्यागतायास्तावासस्त्रङ्मण्डनादिभिः ॥ ४३ ॥**

**सुखं निवासयामास धर्मराजो जनार्दनम् ।**
**ससैन्यं सानुगामात्यं सभार्यं च नवं नवम् ॥ ४४ ॥**

**तर्पयित्वा खाण्डवेन वह्निं फल्गुनसंयुतः ।**
**मोचयित्वा मयं येन राज्ञे दिव्यासभाऽऽहृता[3] ॥ ४५ ॥**

**उवास कतिचिन्मासान् राज्ञः प्रियचिकीर्षया ।**
**विहरन् रथमारुह्य फल्गुनेन बलैर्वृतः[4] ॥ ४६ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

1. B.G.J. वन्दितः 2. B.G.J.K.T.W. °श्च सर्वशः 3. B.G.J. °भा कृता 4. B.G.J. M.Ma भटै° ; K. रथै°

**श्रीध० पितृष्वसुरिति।** गुरुस्त्रीणां च । कृष्णया द्रौपद्या, भगिन्या सुभद्रया ॥ ४१ ॥

**श्वश्रूरिति।** आनर्च अर्चितवती ॥ ४२ ॥

**कालिन्दीमिति।** अन्याश्च याः कृष्णपत्न्योऽभ्यागताः ता अपि ॥ ४३ ॥

**सुखमिति।** प्रत्यहं नवं नवं यथा भवति तथा सुखं निवासयामास ॥ ४४ ॥

कथम्भूतम्? **तर्पयित्वेति**। यः प्रेम्णा नित्यं फल्गुनेन संयुतः अत एव तस्य सहायेन खाण्डवेन वह्निं तर्पयित्वा तत्र च मयं 1-मोचयित्वा तं मयं -1प्रयुज्य युधिष्ठिराय दिव्या सभा कृता तं श्रीकृष्णं अनेन राज्ञः कृष्णोपकारानुस्मरणं, सभाया दिव्यत्वाद्यथा मनोरथं सर्वावकाश सम्पादनं च दर्शितमिति ॥ ४५, ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

1- -1 B. Omits

**वीर० पितृष्वसुरिति**। श्रीकृष्णो भगवान् पितृष्वसुः पृथायाः गुरुस्त्रीणां च अभिवादनं चक्रे स्वयं कृष्णया द्रौपद्या भगिन्या सुभद्रया च अभिवादितश्च ॥ ४१ ॥

**शश्रेति**। शश्र्वा श्वशुरस्य स्त्रिया पृथया सञ्चोदिता कृष्णा द्रौपदी कृष्णस्य पत्नीः सर्वप्रकारैः आनर्च पूजितवती। कृष्णपत्नीरेव निर्दिशति रुक्मिणी मित्यादिना। शैब्यां लक्ष्मणां अन्याश्चेति एता अन्याश्चागताः स्त्रियः वस्त्रादिभिः आनर्चेति सम्बन्धः मण्डनमलङ्कारः ॥ ४२, ४३ ॥

**सुखमिति**। प्रत्यहं नवं नवं यथाभवति तथा सुखं निवासयामास ॥ ४४ ॥

कथम्भूतम्? यः प्रेम्णा नित्यं फल्गुनेन अर्जुनेन संयुतः अत एव तस्य साहाय्येन खाण्डवेनाग्निं प्रीणयित्वा तत्र मयं मोचयित्वा तं मयं प्रयुज्य राज्ञे युधिष्ठिराय। दिव्या सभा आहृता आनीता येन तथाभूतं जनार्दनमिति सम्बन्धः ॥ ४५ ॥

**उवासेति**। मासान्, अत्यन्त संयोगे द्वितीया। राज्ञो युधिष्ठरस्य प्रियं कर्तुमिच्छया फल्गुनेन सह रथमारुह्य रथैः परिवृतो विहरन्कतिचित् मासान् उवास उषितवान् ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघव विदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

**विज०** भगिन्या सुभद्रया च ॥ ४१ ॥

श्वश्र्वा पृथया ॥ ४२-४५ ॥

येन मयेन दिव्या सभा राज्ञा आहृता भगवदाज्ञया निर्माय दत्ता ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
विजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥
(विजयध्वजरीत्या एकोनाशीतितमोऽध्यायः)

# द्विसप्ततितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या अशीतितमोऽध्यायः)

दिग्विजय जरासन्धवधादि कथा

श्रीशुक उवाच

एकदा तु सभा मध्ये आस्थितो मुनिभिर्वृतः ।
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यै र्भ्रातृभिश्च युधिष्ठिरः[1-1] ॥ १ ॥

आचार्यैः कुलवृद्धैश्च ज्ञातिसम्बन्धबान्धवैः[2] ।
शृण्वतामेव चैतेषामाभाष्येद[3] मुवाच ह ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ऋतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनीः ।
यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत्सम्पादय नः प्रभो ॥ ३ ॥

त्वत्पादुके अविरतं परि ये चरन्ति ध्यायन्त्यभद्रनशने[4] सुधियो[5] गृणन्ति ।
विन्दन्ति ते कमलनाभ भवापवर्ग माशासते यदि त आशिष ईश नान्ये ॥ ४ ॥

तद्देवदेव भवतश्चरणारविन्द सेवानुभावमिह पश्यतु लोक एषः ।
ये त्वां भजन्ति न भजन्त्युत चोभयेषां[6] निष्ठां प्रदर्शय विभो कुरुसृञ्जयानाम् ॥ ५ ॥

1--1 M.Ma समन्वितः 2. B.G.J. M.Ml. V. °न्धि 3. Ml. V. °न° 4. K.T.W. °शमने 5. B.G.J. शुचयो 6. B.G.J.M.Ma वो°

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

ततो द्विसप्ततितमे राज्ञा कार्ये निवेदिते। दुर्जयं मागधं बुदध्वा भीमेनाघातयद्धरिः ॥

**एकदेति**। आस्थितः, आसनमिति शेषः ॥ १ ॥

**आचार्यैरिति**। शृण्वतामेवेति। यत्प्रसन्नः कृष्णः करोति न तदन्यः कश्चिदपि कर्तुं समर्थ इति निश्चित्य सर्वानेव ताननादृत्य कृष्णमुवाचेत्यर्थः। आभाष्य भो भो कृष्ण ! भक्तवत्सल! इत्येवं सम्बोध्य ॥ २ ॥

**ऋतुराजेनेति**। विभूतीरंशान् ॥ ३ ॥

एष चक्रवर्तिनां मनोरथः कथं त्वया क्रियत इति चेदत आह- **त्वत्पादुके** इति। परि ये चरन्तीति यच्छब्दव्यवधानमार्षम्। ये परिचरन्ति देहेन। ध्यायन्ति मनसा। अभद्रस्य नशने नाशके। गृणन्ति वाचा। ते भवस्यापवर्गं मोक्षं विन्दन्ति। यद्याशासते तर्ह्याशिषोऽपि त एव विन्दन्ति नान्ये चक्रवर्तिनोऽपि ॥ ४ ॥

भगवतो भक्तपक्षपातमाविष्कुर्वन्नाह[1] **तद्देवदेवेति**। तत्तस्मात् पश्यतु साक्षात्। एवं निश्चितेऽपि ये कर्मादिप्रधानाः। केचित्कुरुसृञ्जयाः भगवद्भक्तिं न बहुमन्यन्ते, तेषां मोहनिवृत्तये ये त्वां भजन्ति यदि[2] वा न भजन्ति तेषा मुभयेषां निष्ठा स्थितिं प्रदर्शय प्रकटयेति[3] ॥ ५ ॥

1. B.G. °ष्कारय° 2. MI. V. ये 3. B.G.J. Omit प्रकटयेति

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ जरासन्धवधात्मकं भगवतः चेष्टितं वक्तुं प्रस्तौति - **एकदेति**। तृतीयान्तानां वृत इत्यनेनान्वयः। एतेषां मुनिप्रभृतीनां शृण्वतां सतां एवं आभाष्य सम्बोध्य, कृष्णमिति शेषः। इदं वक्ष्यमाणमुवाच ॥ १,२ ॥

तदेवाह - **ऋतुराजेनेत्यादि**[1] चतुर्भिः। पावनीस्तव विभूतीः विभूतिभूतान्देवान् यक्ष्ये आराधयिष्यामि, तत् मदभिप्रेतं यजनं नोऽस्माकं सम्पादय निर्वर्तय ॥ ३ ॥

नन्वयं चक्रवर्तिनां मनोरथः कथं त्वया क्रियत इत्यत आह - **त्वत्पादुके** इति। अभद्रं शमयतीति तथा ते तव पादुके ये जनाः परिचरन्ति देहेन, ध्यायन्ति मनसा, गृणन्ति वाचा ते शुचयः परिशुद्धान्तःकरणाः भवस्यापवर्गं नाशं[2] मोक्षमिति यावत्, विन्दन्ति, हे ईश! हे कमलनाभ! ते यद्याशिषः कामानाशंसते, तर्हि ता अपि विन्दन्ति, अन्ये परिचर्यादिरहिताश्चक्रवर्तिनोऽपि[3] न विन्दन्तीत्यर्थः। अतो भक्तपक्षपातिनस्तव चरणारविन्दं समाश्रितानां नः सर्वमनोरथपूर्तिस्सुकरैवेति भावः ॥ ४ ॥

एतदेव निदर्शयेत्याह-**तदिति**। तत्तस्मात् देवानामपि देव एष लोकस्तव भवतः[4] चरणारविन्दसेवाप्रभावं पश्यतु, भवतश्चरणारविन्दसेवाप्रभावं दृष्ट्वा त्वत्पादुके इत्यादिनोक्तमर्थं निश्चिनोत्वित्यर्थः। तन्निश्चेतुं भक्तानामभक्तानां च स्थितिं लोकस्य दर्शयेत्याह - ये इति। कुरूणां सृञ्जयानां च मध्ये ये अस्मादादयस्त्वां न भजन्ति. तेषामुभयेषां निष्ठां स्थितिं प्रदर्शय अभ्युदय तदभावौ दर्शयेत्यर्थः ॥ ५ ॥

1. K.T.W. °दिना 2. B. नाशकं 3. B. Omits अपि 4. B.T.W. Omit भवतः

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

राजसूय यज्ञार्थाय पाण्डवानां दिशां जयो जरासन्धवधश्च श्रीनारायणप्रसादायत्त इति तन्माहत्म्यत्वेन प्रतिपादयत्यस्मिन्नध्याये। तत्रादौ युधिष्ठिरः आगतं श्रीकृष्णं स्वचिकीर्षितं विज्ञापयति **एकदेति** ॥ १ ॥

आभाष्य अभिमुखीकृत्य एतेषां सर्वेषां श्रोत्रादीन्द्रियतृप्तिजनकं इदं वक्ष्यमाणं वचनमुवाच । हेत्यनेन कर्तव्यतां सूचयति ॥ २ ॥

पावनीः शुद्धिकरीः भवतः विभूतीः सन्निधान विशेषस्थानेन्द्रादिदेवताः यष्टुकामः ॥ ३ ॥

तत्कार्यं भवदनुग्रहेनैतद्दुस्साधनमित्याह[1] - **त्वत्पादुकेति**। अभद्रनशने अशुभ विध्वंसनसमर्थे परिचरन्ति नित्यं पूजयन्ति। "व्यवहिताश्च" (अष्टा° 1-4-82) इति छन्दसि व्यवधानेप्युपसर्गाणां क्रियायोगः सिद्धः "प्रद्यान्वस्य महतो महनि" इत्यादौ, अनेन भागवतस्य वेदतुल्यत्वेनाध्येयत्वादौ तात्पर्यं दर्शयति। भवापवर्गं संसारत्यागं विन्दन्ति। ननु तर्हि नानेनाभीष्ट सिद्धिरिति तत्राह आशासत इति। यदि ते सेवकाः आशासते आशिष ऐहिकसिद्धीः कामयन्ते तर्हि ता अपि विन्दन्ति। अन्ये अनुपासकाः नोभयं विन्दन्तीति भयं, विन्दन्तीति शेषः ॥ ४ ॥

यतो भवच्चरण सेवाफलमनुभवसिद्धम्, अतो लोकोपि प्रत्यक्षप्रमाणोऽस्य माहात्म्यं दृग्विषयं करोत्वित्याह **तदिति**। अपि कृष्णत्वमपि भजदभजतामुभयेषामपि जयलक्षणोत्कर्षं व्यवस्थापय इत्याह - ये त्वामिति। 'निष्ठोत्कर्षे व्यवस्थायां नाशेऽन्ते व्रतयज्ञयोः' (वैज. को. 6-2-21) इति यादवः। "अनुभावः प्रभावे स्यात्" (वैज. को. 8-1-8) इति ॥ ५ ॥

1. B. °हेणैत°

न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तवस्यात्सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः ।
संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः सेवाऽनुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र ॥ ६ ॥[1]

श्रीभगवानुवाच

सम्यग्व्यवसितं राजन् भवता शत्रुकर्शन ।
कल्याणी येन ते कीर्तिर्लोकाननुभविष्यति ॥ ७ ॥[2]

ऋषीणां पितृदेवानां सुहृदामपि नः प्रभो ।
सर्वेषामपि भूतानामीप्सितः क्रतुराडयम् ॥ ८ ॥[3]

विजित्य नृपतीन्सर्वान्कृत्वा च जगतीं वशे ।
संभृत्य सर्वसम्भारानाहरस्व महाक्रतुम् ॥ ९ ॥[4]

ऐते ते भ्रातरो राजँल्लोकपालांशसम्भवाः ।
जितोऽस्म्यात्मवता तेऽहं दुर्जयो योऽकृतात्मभिः ॥ १० ॥[5-5]

1. M. Ma. MI.V. रूप उ° 2. K.T.W. चरि° 3. M. Ma °मेव 4. K.T.W. निर्जित्य 5--5 M. Ma वशेऽस्मि तव ताताऽहं

**श्रीध०** ननु रागादिरहिते मयि कथमिदं वैषम्यं स्यात्तत्राह - **नेति**। स्वतः पर इति भेदमतिस्तव न स्यादेव। कुतः? ब्रह्मणो निरुपाधेः। किञ्च सर्वस्यात्मनोऽतः समदृशः। किञ्च स्वसुखानुभूतेः। अतो रागाद्यभावादिति भावः। तथापि संसेवमानानामेव त्वत्प्रसादो नान्येषाम्। तत्रापि सेवाऽनुरूपमुदयः फलं न त्वत्र विपर्ययोऽन्यथाभावः। यथा कल्पद्रुमस्य यागादिराहित्येऽपि सेवकेष्वेव फलजनकत्वं नान्येषु ॥ ६ ॥

सत्यं मद्भक्तानामेव कैवल्यादि नान्येषामित्यनुमोदमान आह - **सम्यगिति**। शत्रुकर्शनेति सम्बोधयन्, सर्वराजविजयशक्तिं सम्भावयति[1] अनुभविष्यति द्रक्ष्यति[2]। सर्वलोकव्याप्ता भविष्यतीत्यर्थः ॥ ७, ८ ॥

किमत्र मयाऽन्येन वा सम्पादनीयं, तव तु सुकर एव राजसूय इत्याह- **विजित्येति**। जगतीं सर्वां पृथ्वीम्। सम्भारान् यज्ञोपस्करान् सम्भृत्य सम्पाद्य आहरस्व आहर[3] अनुतिष्ठेत्यर्थः ॥ ९ ॥

ननु नृपतिविजयादि कथं शक्यं स्यादत आह-**एत** इति। किञ्च आत्मवता जितेन्द्रियेण ते त्वयाऽहं च जितोऽस्मि वशीकृतोऽस्मि अकृतात्मभिरजितेन्द्रियैः ॥ १० ॥

1. B.J. सञ्चारयति 2. MI. V. Omit द्रक्ष्यति 3. B.J. Omit आहर

**वीर०** ननु वैषम्यनैर्घृण्यादिरहितं मां किमिति विषमकृत्ये चोदयसीत्यत आह-**नेति**। ब्रह्मणः हेयप्रत्यनीककल्याण गुणगणपरिपूर्णस्य तव स्वः पर इति च भेदमतिः न स्यात् यद्यपि नास्त्येव, तत्र हेतुत्वेन विशिनष्टि - सर्वात्मनः सर्वेषामन्तरात्मनः स्वशरीरेष्वेव केषुचिदवयवेषु स्वीयमतिः केषुचित्परकीयमतिः न दृष्टेति भावः। अत एव समदृशः समा दृक् स्वशरीरेषु सर्वेष्वात्मीयत्वबुद्धिर्यस्य तस्य किञ्च वैषम्यनिमित्तं रागद्वेषादिकं तदपि तव नास्तीत्यभिप्रयन् विशिनष्टि - स्वसुखानुभूतेरिति। स्वसुखस्य स्वासाधारणापरिच्छिन्नानन्दस्यानुभूतिः अनुभवो यस्य तस्य केवलं स्वानन्दजुषो न तु रागादिजुष इत्यर्थः। तथापि संसेवमानानामेव विषयभूतानां तव प्रसादोऽनुग्रहः, तत्रापि सेवानुरूपमेव उदयः फलं यथा, सुरतरोः कल्पद्रुमस्य संसेवमानेष्वेव फलप्रदत्वं, न ह्येतावताऽत्र कल्पतरौ विपर्ययो वैषम्यमस्ति, तद्वत् ॥ ६ ॥

एवमुक्तस्तद्वचोऽनुमोदमानः प्राह श्रीभगवान् - **सम्यगिति** पञ्चभिः[1]। हे राजन्! हे शत्रुकर्शन! सम्यग्व्यवसितं निश्चितम्, कुतः? एवं व्यवसितविधानेन कल्याणी तव कीर्तिः लोकाननुचरिष्यति व्याप्ता भविष्यतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

**ऋषीणामिति**। पितॄणां देवानां च सुहृदां नोऽस्माकं किं बहुना सर्वेषामपि भूतानामयं क्रतुश्रेष्ठ ईप्सितः इष्टः ॥ ८ ॥

**निर्जित्येति**। जगतीं सर्वां पृथ्वीं वशे कृत्वा स्वाधीनां कृत्वेत्यर्थः। सर्वान् सम्भारान् यागार्थपदार्थान् सम्भृत्य सम्पाद्य महाक्रतुं राजसूयं आहरस्व अनुतिष्ठस्वेत्यर्थः ॥ ९ ॥

कथमहं जेतुं प्रभुरित्यत आह - **एते** इति। एते ते तव भ्रातरो भीमादयः लोकपालानां वाय्विन्द्रादीनां अंशसम्भवाः, अत एभिस्सर्वे नृपास्सुजया एवेति भावः। किञ्च अकृतात्मभिः अजितेन्द्रियैः दुःखेनापि जेतुं वशीकर्तुमशक्योऽहं आत्मवता मद्भक्तिप्रवणचित्तवता ते[2] त्वया जितोऽस्मि वशीकृतोऽस्मि। अतः किं तव दुस्साधमिति भावः ॥ २० ॥

1. T.W. Omit पञ्चभिः 2. B. Omits ते

**विज०** सर्वसमस्य हरेः वैषम्यं मयाऽऽपाद्यत इति बिभ्यदिव परिहरति - **नेति**। ब्रह्मणः पूर्णस्य सर्वात्मनः सर्वस्वामिनः ननु परा पूर्वेषां संख्या वृणक्तीत्यादि कथमित्यत्राह - समदृश इति। यथा वस्तुदर्शिनः स्वरूपसुखस्यानुभूतिरनुभवः पूर्णानन्दोऽहमिति यस्य स तथा तस्य अयमपि स्वपरबुद्ध्यभावे हेतुः, नन्वसुराणां दुःखोदयः सुराणां सुखोदयः इत्ययं विशेषः कस्मादत्राह संसेवयेति। उदयतीत्युदयः। अतोऽत्र जगतिविपर्ययो न विषमो नोदेति ॥ ६ ॥

येन व्यवसितेन क्रतुराजेन अनुभविष्यति स त्वयाऽनुवर्त्यते ॥ ७ ॥

न केवलं तवाभीष्टोऽयमृष्यादीनां सर्वेषामपि हृदयङ्गम इत्याह - **ऋषीणामिति** ॥ ८ ॥

तत्रेत्थंभावमाह - **विजित्येति**। सर्वसम्भारान् संभृत्य सम्पाद्य आहरस्व कुरुष्व ॥ ९ ॥

साम्प्रतं सर्वजयो दुश्शको नेति भावेनाह - **एत** इति। लोकपालांशैः सम्भवो येषां ते तथा, योऽहं अकृतात्मभिः अनुत्पादितमत्प्रसादैः ॥ १० ॥

**न कश्चिन्मत्परं लोके तेजसा यशसा श्रिया ।**
**विभूतिभिर्वाऽभिभवेद्देवोऽपि किमु पार्थिवाः ॥ ११ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**निशम्य भगवद्गीतं प्रीतः फुल्लमुखाम्बुजः ।**
**भ्रातॄन्दिग्विजयेऽयुङ्क्त विष्णुतेजोपबृंहितान् ॥ १२ ॥**

**सहदेवं दक्षिणस्यामादिशत्सहसृञ्जयैः ।**
**दिशि प्रतीच्यां नकुलमुदीच्यां सव्यसाचिनम् ।**
**प्राच्यां वृकोदरं मत्स्यैः केकयैः सह मद्रकैः ॥ १३ ॥**

**ते विजित्य नृपान्वीरान् आजह्रुर्दिग्भ्य ओजसा ।**
**अजातशत्रवे भूरि द्रविणं नृप यक्ष्यते ॥ १४ ॥**

श्रुत्वाऽजितं जरासन्धं नृपतेर्ध्यायतो हरिः ।
आहोपायं तमेवाद्य उद्धवो यमुवाच ह ॥ १५ ॥

1. M. Ma विभवैर्दे° 2. B.G.J. °वः । 3.M.Ma प्रीत्युत्फु° 4. M. Ma राजन् 5. B.G.J. °रा आ° 6- -6 M. Ma °र्दिव्य मञ्जसा

**श्रीध०** आस्तां तावदेवम्भूतस्य तव परैरभिभवशङ्का अकिञ्चनमपि[1] मत्परं कोऽपि नाभिभवितुं प्रभवतीत्याह - **न कश्चिदिति** । तेजसा प्रभावेण । विभूतिभिः सैन्यादिसामग्रीभिः ॥ ११ ॥

**निशम्येति** । आयुङ्क्त नियुक्तवान् । विष्णोस्तेजसोपबृंहितान् संवर्धितान् । तेजोपबृंहितानिति सन्धिरार्षः ॥ १२ ॥

**सहदेवमिति** । नकुलादीनां मत्स्यादिभिः सहायैर्यथासंख्येन सम्बन्धः ॥ १३ ॥

**त** इति । कथम्भूताय? यक्ष्यते यागं करिष्यते ॥ १४ ॥

**श्रुत्वेति** । आद्यो हरिः श्रीकृष्णः ॥ १५ ॥

1. Ml. V. किञ्च कमपि

**वीर०** आस्तां तावदेवम्भूतस्य तव[1] परैरभिभवशङ्का, यतोऽकिञ्चनमपि मत्परं कोऽपि नाभिभवितुं प्रभुरित्याह - **न कश्चिदिति** । मत्परं अहमेव परो यस्य तं मय्यासक्तचित्तमित्यर्थः । देवोऽपि तेजआदिभिः नाभिभवेत्, किमुत पार्थिवा नाभिभवेयुरिति,तत्र तेजः प्रभावः, श्रीः सम्पत्, विभूतयः सैन्यादिसमृद्धयः ॥ ११ ॥

**निशम्येति** । प्रीतः अत एव फुल्लं विकसितं मुखाम्बुजं यस्य सः । युधिष्ठिरः दिग्विजये निमित्ते विष्णोस्तेजसा उपबृंहितान् वर्धितान् भ्रातॄन् भीमादीन् प्रायुङ्क्त ॥ १२ ॥

**सहदेवमिति** । सृञ्जयैस्सह दक्षिणस्यां दिश्यादिशत्[2] आज्ञापयामास, सव्यसाचिनमर्जुनं वृकोदरं भीमं मत्स्यादि - भिस्सह ॥ १३ ॥

**त** इति । हे नृप ! यक्ष्यते यागं करिष्यमाणायाजातशत्रवे धर्मराजाय ते भ्रातरः भूरि बहु द्रविणं वित्तमाजह्रुः आहृत्य समर्पयामासुः ॥ १४ ॥

**श्रुत्वेति**। जरासन्धमजितं श्रुत्वा नृपतेर्युधिष्ठिरस्य ध्यायत श्चिन्तयतस्सतः हरिः यमुपायमुद्धवो [1]बलिनामपि चान्येषां भीमं समबलं विना[1] (भाग° 10-71-5) इति प्राह तमेवोपायं प्राह[3] ॥ १५

1. T.W. Omit तव 2. K.T.W. दिश्याज्ञा° 3. B. आह

**विज०** भवतो दुर्जयत्वेन किमस्माकमिति तत्राह - **नेति**। मत्परं मद्भक्तं विभूतिभिः उपस्करसम्पद्भिः ॥ ११ ॥

विष्णोस्तेजसा प्रभावेण उपबृंहितान् परिपूरितान् ॥ १२, १३ ॥

यक्ष्यते यष्टुकामाय ॥ १४ ॥

अत्र दिग्विजये जरासन्धो जितो मारितो वेति तत्प्रसङ्गो नाकर्णित इति राज्ञो हार्दां शङ्कां परिहरन्निव दिग्विजयात् प्रागेव तद्वधो वृत्त इति नात्र प्रसक्त इति वृत्तं तद्धननमनुवदति - **श्रुत्वेति**। ननु दिशां जयादनन्तरं तद्वधः किं न स्यात् यथास्थितमन्यथानूद्यते किमर्थमिति चेन्न, निर्णयग्रन्थविरोधात्। ननु पूर्वापराभावे किं प्रमाणम्? किं प्रयोजनमिति चेदुच्यते "पूर्वाः कथाः परं ब्रूयुः पराः पूर्वं तथैव च। मोहनार्थाय दुष्टानां सर्वव्यत्यास इष्यते" ॥ (शब्दनिर्णये) इत्यादिवाक्यं, किञ्च "जरासन्धं निहत्यैव पाण्डवैस्तु दिशो जिताः" (मात्स्ये) इत्यादि स्पष्टवचनम्। भगवत एव जरासन्धमजितं श्रुत्वा तज्जयः कथमिति ध्यायतो युधिष्ठिरस्य उद्धवोऽयमुपायमुवाच तमाह हरिरित्यन्वयः ॥ १५ ॥

**भीमसेनोऽर्जुनः कृष्णो ब्रह्मलिङ्गधरास्त्रयः[1] ॥**
**जग्मुर्गिरिव्रजं तात बृहद्रथसुतो यतः ॥ १६ ॥**

**ते गत्वाऽऽतिथ्यवेलायां गृहेषु गृहमेधिनम् ।**
**ब्रह्मण्यं समयाचन्त[2] राजन्या ब्रह्मलिङ्गिनः ॥ १७ ॥**

**राजन्विद्ध्यतिथीन् अस्मानर्थिनो[3] गृहमागतान्[4] ।**
**तन्नः प्रयच्छ भद्रं ते यद्वयं कामयामहे ॥ १८ ॥**

**किं दुर्मर्षं तितिक्षूणां किमकार्यमसाधुभिः ।**
**किमदेयं वदान्यानां कः परः समदर्शिनाम्[5] ॥ १९ ॥**

योऽनित्येन शरीरेण सतां गेयं यशो ध्रुवम् ।
नाचिनोति[6] स्वयंकल्पः[7] स वाच्यः शोच्य एव सः[8] ॥ २० ॥

1. K. M. Ma. Ml. V. °स्ततः 2. B.G.J. °चेरन्रा° 3. B.G.J. प्राप्ता 4. B.G.J. Ml.T.V.W. दूर 5. B.G.J.M.Ma किं न 6. K. Ml. T. V. W. न° 7. B.G.J. M. Ma °ल्पः 8. K.T.W. हि ॥

**श्रीध० भीमसेन** इति। ब्रह्मलिङ्गधरा ब्राह्मणलिङ्गधारिणः। यतो यत्र बृहद्रथसुतो जरासन्धः ॥ १६ ॥

ते इति। गृहेषु वर्तमानं समयाचन्त[1-] सम्यग्याचितवन्तः, प्रार्थयामासुः इत्यर्थः[-1] ॥ १७, १८ ॥

नन्विदं कामयामह इति विशेषो निर्दिश्यताम्, अन्यथा यस्य स्वयंकल्पः[2] पुत्रादेर्वियोगो दुस्सहः स कथं देयः,तथा राजमण्डनं किरीटाद्यदेयं यत्तद्भिक्षुभ्यः कथं देयं,तथातिरम्यं रत्नाभरणादि पुत्रादियोग्यं कथं परस्मै देयमिति चेदत आहुः - **किं दुर्मर्षमित्यादि**। अत्र[3] दृष्टान्तत्वेनार्थान्तरमाहुः - किमकार्यमिति। यथाऽसाधूनामकार्यं नास्ति तथा तितिक्षूणां दुर्मर्षं दुस्सहं नास्ति। वदानान्यानामप्युदाराणामदेयं दातुमयोग्यं[4-] नास्ति[-4]। समदर्शिनां शत्रुमित्रादीन्[5-] समं पश्यतां[-5] परश्च नास्ति। अतः किं विशेषनिर्देशेनेत्यर्थः ॥ १९ ॥

किञ्च अर्थिने धीरेण मुद्गलादिवत्प्राणा अपि न वञ्चनीया इत्याशयेनाहुः - **योऽनित्येनेति**। नाऽचिनोति[6] न सम्पादयति स वाच्यः स निन्द्यः ॥ २० ॥

1- -1 B.J. चेरन्। सम्यगयाचन्तेत्यर्थः। 2. B. Ml.V. Omit स्वयंकल्पः 3. B.J. अथ 4- -4 B.J. Omit 5- -5 B.J. Omit 6. B.J. न चि°

**वीर० भीमसेन** इति। ब्रह्मरूपधरा विप्रवेषधराः त्रयः[1] इन्द्रप्रस्थाद्गिरिव्रजं जग्मुः। हे तात! यतो यत्र बृहद्रथसुतो जरासन्ध आस्ते, तद्गिरिव्रजमिति सम्बन्धः ॥ १६ ॥

**तमिति**। ब्रह्मलिङ्गिनः विप्रवेषिणः राजन्याः भीमादयो गृहेषु वर्तमानं तं जरासन्ध मयाचन्त ॥ १७ ॥

याच्ञाप्रकारमेवाह - **राजन्निति** चतुर्भिः[2]। गृहं प्रत्यागतानस्मानर्थिनो विद्धि जानीहि, तत् नः अस्मभ्यं प्रयच्छ देहि, किं तत्? यद्वयं कामयामहे ते तुभ्यं भद्रं मङ्गलम् अस्तु ॥ १८ ॥

ननु यत्कामयामह इति सामान्यतो निर्दिष्टं, न विशेषतः, तद्यदि दुस्सहमदेयं चेत् तत्कथं कामयध्वमित्यत

आहुः- **किमिति**। दुर्मर्षं दुस्सहं किं, न किमपीत्यर्थः। किमकार्यमसाधुभिः, कः परः समदर्शिनामिति च दृष्टान्तार्थम्। यथा असाधूनामकार्यं नास्ति, तथा तितिक्षूणां दुर्मर्षं नास्ति, यथा समदर्शिनां सर्वं ब्रह्मात्मकं पश्यतां परोऽन्यः, अब्रह्मात्मकस्वतन्त्रपदार्थो नास्ति, तथा अत्युदाराणामदेयं नास्तीत्यर्थः। किं विशेषनिर्देशेनेति भावः। वदान्यानां अर्थिने देहोऽपि देय एव इत्यभिप्रेतम् ॥१९॥

तदेव सहेतुकं व्यञ्जयन्तो विपर्यये निन्द्यतामाहुः - **य** इति। सतामिति कर्तरि षष्ठी। सद्भिः गेयं ध्रुवं शाश्वतं यशो यस्स्वयं समर्थस्सन् न चिनोति न सम्पादयति, स वाच्यः निन्द्य एव। अत एव शोच्यः, अहो किमस्य दौर्भाग्यमिति कृपालुभिश्शोच्य इत्यर्थः ॥२०॥

1. B.K. ततः 2. T.w. Omit चतुर्भिः

**विज०** हेति सूचितमितिहासं स्पष्टयति - **भीमसेन** इत्यादिना। ब्रह्मलिङ्गधराः ब्राह्मणलक्षणानि बिभ्राणाः यतो यत्र ॥१६॥

आतिथ्यवेलायां आतिथ्यपूजासमये आदित्ये दिनमध्यं गाहमान इत्यर्थः ॥१७, १८॥

दुर्मर्षं दुस्सहं, परः शत्रुः 'परोऽरि परमात्मनोः' इति ॥१९॥

अचिनोति सञ्चिनोति उपार्जितं करोति वाच्यो निन्द्यः ॥२०॥

**हरिश्चन्द्रो रन्तिदेव उञ्छवृत्तिः शिबिर्बलिः ।**
**व्याधः कपोतो बहवो ह्यध्रुवेण ध्रुवं गताः ॥२१॥**

**श्रीशुक उवाच**

**स्वरैराकृतिभिस्तांस्तु प्रकोष्ठैर्ज्याऽहतैरपि ।**
**राजन्यबन्धून्विज्ञाय दृष्टपूर्वानचिन्तयत् ॥२२॥**

**राजन्यबन्धवो ह्येते ब्रह्मलिङ्गानि बिभ्रति ।**
**ददामि भिक्षितं तेभ्य आत्मानमपि दुस्त्यजम् ॥२३॥**

बलेर्नु[2] श्रूयते कीर्तिर्वितता दिक्ष्वकल्मषा ।
ऐश्वर्याद्भ्रंशितस्यापि विप्रव्याजेन विष्णुना ॥ २४ ॥

श्रियं जिहीर्षतेन्द्रस्य विष्णवे द्विजरूपिणे ।
जानन्नपि महीं प्रादाद्वार्यमाणोऽपि दैत्यराट् ॥ २५ ॥

1. MI. V. कामितं 2. K.T.W. °र्न

**श्रीध० हरिश्चन्द्र** इति। विश्वामित्रा[1]र्थानृण्याय हरिश्चन्द्रो भार्यात्मजादि सर्वं क्राय स्वय चाण्डालता प्राप्तोऽप्यनिर्विण्णः सहायोध्यावासिभिर्जनैः स्वर्गं गतः। रन्तिदेवः सकुटुम्बोऽष्टचत्वारिंशदहान्यलब्ध्वो[2]दकोऽपि कथञ्चिल्लब्धान्नोदकाद्यर्थिभ्यो दत्वा ब्रह्मलोकं गतः। उञ्छवृत्तिः मुद्गलः षण्मासं सीदत्कुटुम्बोऽप्यातिथ्यदानेन ब्रह्मलोकं गतः। शिबिः शरणागतकपोत रक्षणाय स्वमांसं श्येनाय दत्वा दिवं गतः। बलिः सर्वस्वं ब्राह्मणवेषधारिणे वामनाय[3] हरये दत्वा तमेव आत्मसाच्चकार। कपोतश्चातिथये व्याधाय कपोत्या सहात्ममांसं दत्वा विमानेन दिवं गतः। व्याधस्तयोः सत्त्वं वीक्ष्य स्वयमतिनिर्विण्णो महाप्रस्थाने वनाग्निनि[4]र्दग्ध देहो निष्कल्मषो दिवमारुरोह। एवमन्ये च बहवोऽध्रुवेण शरीरेण ध्रुवं लोकं गता इति ॥ २१ ॥

**स्वैरैरिति**। ज्याहतैर्ज्याघातकिणाङ्कितैः दृष्टपूर्वान् द्रैपदी स्वयंवरादिषु ॥ २२, २३ ॥

**बलेरिति**। इन्द्रस्य श्रियं जिहीर्षता विप्रव्याजेन विष्णुना भ्रंशितस्यापि बलेः। नु अहो। नेति पाठे न श्रूयते किं, अपि तु श्रूयत इति ॥ २४ ॥

**श्रियमिति**। तं श्लाघते - विष्णवे इति। शुक्रेण वार्यमाणोऽपि। अत एव विष्णुरिति जानन्नपि ॥ २५ ॥

1. MI.V. °त्राऽऽनृ 2. B. °ब्धान्नोद° 3. B. J. Omit वामनाय 4. B.J. Omit नि

**वीर०** अनित्यशरीरेण नित्ययशस्सम्पादनं किं क्वचित्प्रसिद्धम्? तत्राहुः - **हरिश्चन्द्र** इति। विश्वामित्रानृण्याय हरिश्चन्द्रो भार्यात्मजादि सर्वं विक्रीय स्वयं चण्डालतां प्राप्तोऽपि अनिर्विण्णः सह अयोध्यावासिभिर्जनैः स्वर्गं गतः। रन्तिदेवस्सकुटुम्बोऽष्टचत्वारिंशदहान्यलब्धान्नोदकोऽपि कथञ्चिल्लब्धान्नोदकादि अर्थिभ्यो दत्वा ब्रह्मलोकं गतः, उञ्छवृत्तिः मुद्गलषण्मासं सीदत्कुटुम्बोऽप्यातिथ्यदानेन ब्रह्मलोकं गतः। शिबिः शरणागतकपोतरक्षणार्थं स्वमांसं

श्येनाय दत्वा दिवं गतः, बलिः विप्रवेषाय विष्णवे सर्वस्वं दत्वा तमेवात्मसाच्चकार। कपोतश्चातिथये व्याधाय कपोत्या सह आत्ममांसं दत्वा विमानेन दिवं गतः। व्याधस्तयोस्सत्त्वं वीक्ष्य स्वयमतिनिर्विण्णो महाप्रस्थाने वनाग्नि निर्दग्धदेहो निष्कल्मषो दिवमारुरोह, एवमन्ये च बहवोऽध्रुवेण शरीरेण ध्रुवं यशस्सञ्चितवन्तः ॥२१॥

**स्वरैरिति**। इत्थमुक्त जरासुतः ज्याहतैः ज्याघातकिणाङ्कितैः प्रकोष्ठैः स्वरैर्लिङ्गैः आकृतिभिश्च तान् अर्थिनः राजन्यबन्धून् विज्ञाय अनुमाय दृष्टपूर्वान् पूर्वं द्रौपदीस्वयंवरादिषु दृष्टान्विज्ञाय अचिन्तयत् ॥२२॥

चिन्ताप्रकारमेवाह - **राजन्यबन्धव** इति चतुर्भिः। ब्रह्मलिङ्गानि विप्रवेषान् बिभ्रति दधति तथापि एतेभ्यः दुस्त्यजमात्मानं देहमपि भिक्षितं याचितं ददामि ॥२३॥

**बलेरिति**। इन्द्रस्येन्द्रार्थं श्रियं हर्तुमिच्छता विप्रव्याजेन विष्णुनैश्वर्याद्भ्रंशितस्य त्याजितस्यापि बले वैरोचनस्य कीर्तिर्निर्दुष्टा दिक्षु व्याप्ता च न श्रूयते किम् सा अधुनाऽपि श्रूयत एवेत्यर्थः। तं श्लाघते - विष्णव इति। जानन्नपि वार्यमाणोऽपि, शुक्रेणेति शेषः। दैत्यराट् बलिः महीं प्रादात्[1] ददौ ॥२४, २५॥

1. T.W. Omit प्रादात्

**विज०** अध्रुवेण शरीरेण ॥२१-२३॥

श्रूयते किं श्रूयते? एवं हीति योज्यं, इन्द्रस्य श्रियं बलाज्जिहीर्षता हर्तुकामेन विष्णुना ऐश्वर्याद्भ्रंशितस्य ॥२४

वार्यमाणः, शुक्रेणेति शेषः ॥२५॥

**जीवता ब्राह्मणार्थाय कोन्वर्थः क्षत्रबन्धुना ।**
**देहेन पतमानेन नेहता विपुलं[1] यशः ॥२६॥**

**इत्युदारमतिः प्राह कृष्णार्जुन वृकोदरान् ।**
**हे विप्रा! व्रियतां कामो ददाम्यात्मशिरोऽपि वः ॥२७॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**युद्धं नो देहि राजेन्द्र द्वन्द्वशो[2-2] यदि मन्यसे ।**
**युद्धार्थिनो वयं प्राप्ता राजन्या नान्नकाङ्क्षिणः[3] ॥२८॥**

**असौ वृकोदरः पार्थस्तस्य भ्राताऽर्जुनो ह्ययम् ।**
**अनयोर्मातुलेयं मां कृष्णं जानीहि ते रिपुम् ॥२९॥**

**एवमावेदितो राजा जहासोच्चैः स्म मागधः ।**
**आह चामर्षितो मन्दा युद्धं तर्हि ददामि वः ॥३०॥**

1. K. विमलं 2- -2 MI.V. द्वन्द्वं त्वं 3. MI.V. नान्य°

**श्रीध० जीवतेति**। पतमानेन पतता क्षत्रबन्धुना देहेन ब्राह्मणार्थाय विपुलं यशो नेहता नेहमानेनासम्पादयता को नु अर्थः। न कोऽपीत्यर्थः ॥२६॥

इतीति। एवं निश्चित्याह - हे विप्रा इति ॥२७, २८॥

राजन्यतामेव प्रपञ्चयति - **असाविति** ॥१९, ३०॥

**वीर० जीवतेति**। पतमानेन विनङ्क्ष्यता क्षत्रबन्धुना देहेन ब्राह्मणार्थाय विमलं, विपुलमिति पाठान्तरम्। यशः कीर्तिं नेहता नेहमानेन असम्पादयता को न्वर्थः किं प्रयोजनं, न किमपीत्यर्थः ॥२६॥

**इतीति**। उक्तिमेवाह - हे विप्रा इति। वः युष्मभ्यम् आत्मनो मम शिरोऽपि ददामि ॥२७॥

इत्थमुक्तः प्राह श्रीभगवान् **युद्धमिति**। द्वन्द्वशो युद्धं द्वन्द्वयुद्धं देहि यदि मन्यसे इच्छसि तर्हि देहीति सम्बन्धः। वयं राजन्याः युद्धार्थिनः न त्वन्नकाङ्क्षिणो ब्राह्मणाः इत्यर्थः ॥२८॥

**असाविति**। असौ पार्थः पृथायाः पुत्रः वृकोदरः[1] भीमः तस्य वृकोदरस्य भ्राता[2], (अयं अर्जुनः) अनयोः भीमार्जुनयोः मातुलस्यापत्यं मां कृष्णं तव रिपुं जानीहि ॥२९॥

**एवमिति**। उच्चैर्जहास, अमर्षितः क्रुद्धः प्राह च, उक्तिमेवाह - मन्दा इत्यादिना। हे मन्दाः! यदि यद्धं वाञ्छथ तर्हीत्यर्थः। वो युष्मभ्यं ददामि[3] ॥३०॥

1. B. Omits वृकोदरः 2. K.T.W. Omit भ्राता 3. K.T.W. Omit ददामि

**विज०** यः क्षत्रबन्धुः पतमानेन देहेन विपुलं यशो नेहता नेहते नापादयति तेन ब्राह्मणार्थाय जीवता क्षत्रबन्धुना कोऽन्वर्थो भवति, न कोपीति विचिन्त्य ॥२६, २७॥

**सहदेवं तत्तनयं भगवान्भूतभावनः ।**

**अभ्यषिञ्चदमेयात्मा मगधानां[2] पतिं प्रभुः ॥**

**मोचयामास[3] राजन्यान्संरुद्धा मागधेन ये[4] ॥ ४६ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां

श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां

उत्तरार्धे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

1. M.Ma T.W. °तन्गजः । ★ This half verse is not found in G.J.M.Ma Ml.V. Edns. It is commented by veera raghava only. 2. M.Ma माग° 3. M.Ma. Ml.V °क्ष° 4. Ml.V. सः

**श्रीध० सञ्चिन्त्येति** । विटपं शाखाम् । करेण विटपं गृहीत्वा हरिर्भीमस्य यथाहं विटपं पाटयामि तथा त्वमेनं विपाटयेति संज्ञया सङ्केतेनारिवधोपायं दर्शयामासेत्यर्थः ॥ ४१-४३ ॥

**एकपादेति** । एकैकः पादादिः ययोः ते शकले ॥ ४४, ४५ ॥

दुर्वृत्तत्वादसौ हतोः, न तु राज्याभिलाषेणेति दर्शयन्नाह - **सहदेवमिति** ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

**वीर० सञ्चिन्त्येति** । विटपं शाखान् करे गृहीत्वा हरिर्भीमस्य यथा विटपं पाटयामि, तथा त्वमेनं पाटयेति संज्ञया सङ्केतेन अरिवधोपायं दर्शयामासेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

**तदिति** । तत्साङ्केत्यं विदित्वा शत्रुं[1-] जरासन्धम्[-1] ॥ ४२ ॥

**एकमिति** । पदा पादेन आक्रम्य दृढमवष्टभ्य अन्यं पादं दोर्भ्यां हस्ताभ्यां प्रगृह्य महागजश्शाखामिव गुदत आरभ्य पाटयामास विदारयामास ॥ ४३ ॥

**एकेति** । एकैकः पादादिर्ययोः तयोस्ते शकले ददृशुः ॥ ४४ ॥

**हाहाकार** इति। मगधेश्वरे निहते सति [1-2] जयाच्युतौ भीमं परिरभ्यालिङ्ग्य पूजयामासतुः वह्वमन्येताम्, श्रीकृष्णेन परिरब्धः आलिङ्गितः हेतुगर्भमिदम्। विरुजः विगतग्लानिः बभूव ॥४५॥

दुर्वृत्तत्वादसौ मागधो हतः, न राज्याभिलाषणेति दर्शयन्नाह - **सहदेवमिति**। अमेयात्मा अपरिच्छेद्य स्वरूपस्वभावः भूतानि लोकान् भावयति अभ्युदयतीति तथा हेतुगर्भमिदम्। अतस्तत्तनयं जरासन्धतनयं सहदेवाख्यं मगधानां देशानां पतिमभ्यषिञ्चत् तेषामधिपतिं चकारेत्यर्थः। ततो मागधेन [3] ये [4] संरुद्धास्तान् राजन्यान्मोचयामास ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्री वीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥७२॥

1- -1 T.W. Omit 2. T.W. add वि 3. T.W. Omit ये 4. B. सन्निरु° ; T.W. निरु°

**विज०** भीमस्यारिवधोपायं संज्ञया दर्शयामास। केयं संज्ञयेत्याह - **विटपमिति** ॥४१-४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥७२॥

# त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या एकाशीतितमोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

अयुते द्वे शतान्यष्टौ लीलया युधि निर्जिताः ।
ते[1-] निर्गता[-1] गिरिद्रोण्यां मलिना[2] मलवाससः ॥ १ ॥

क्षुत्क्षामाः शुष्कवदनाः संरोधपरिकर्शिताः ।
ददृशुस्ते घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥ २ ॥

श्रीवत्साङ्कं चतुर्बाहुं पद्मगर्भारुणेक्षणम्[3-] ।
चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम्[-3] ॥ ३ ॥

पद्महस्तं गदाशङ्ख रथाङ्गैरुपलक्षितम् ।
किरीटहारकटककटिसूत्राङ्गदान्वितम्[4] ॥ ४ ॥

भ्राजद्वरमणिग्रीवं निवीतं[5] वनमालया ।
पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया ॥ ५ ॥

जिघ्रन्त इव नासाभ्यां रम्भन्त[6-] इव बाहुभिः[-6] ।
प्रणेमुर्हतपाप्मानो मूर्धभिः पादयोर्हरेः ॥ ६ ॥

1--1 M, Ma विनिर्गता 2.M, Ma °नो 3--3 k,M, Ma ,T,W पत्रनिभेक्षणम् ;Ml, V पत्रायतेक्षणम् 4.B,G,J °चि° 5.Ml, V वीतञ्च 6--6 M, Ma ईहन्त इव चेतसा

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ततस्त्रिसप्ततितमे मोचयित्वा नृपान्हरिः। राजार्हभोगैः स्वान्देशान् प्रस्थाप्य पुनरागमत् ॥

अत्युन्नद्धजरासन्धवधात्तद्रुद्धभूपतीन्। विमोक्ष्यकृपया कृष्णो निजरूपमदर्शयत् ॥

**अयुत** इति। ये निर्जिता जरासन्धेन निरुद्धाश्च गिरिद्रोण्यां ते ततो निर्गतास्सन्तो घनश्यामं ददृशुरित्युत्तरेणान्वयः ॥ १ ॥

**क्षुधिति**। क्षुधा क्षामाः कृशाः संरोधेन परिकर्शिताः क्लेशिताः ॥ २ - ४॥

**भ्राजदिति** भ्राजन् भ्राजमानो वरमणिः कौस्तुभो यया सा ग्रीवा यस्य तं, निवीतं[1] कण्ठलम्बितया व्याप्तं, पिबन्त इव इत्यादीनां हरेः पादयोः प्रणेमुरित्युत्तरेणान्वयः ॥ ५ ॥

जिघ्रन्त इति । रम्भन्तः परिरम्भमाणा इव ॥ ६ ॥

1. B,J वीतं

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

न केवलं मोचयामास, अपि च तैः संस्तुतस्तान्[1] बहुमानयामास चेत्याह -त्रिसप्ततितमेन अयुते इत्यादिना। द्वे **अयुते** अष्टौ शतानि च ये राजन्या युद्धे जरासन्धेन लीलया[2-] अनायासेन[-2] निर्जिताः गिरिद्रोण्यां सन्निरुद्धाश्च ते ततो निर्गतास्सन्तः घन इव श्यामं श्रीकृष्णं ददृशुरित्युत्तरेणान्वयः। कथम्भूताः? मलिनाः अभ्यङ्गोन्मर्दनस्नानाद्यभावात् मलानि[3] मलिनानि वासांसि येषां ते ॥ १ ॥

क्षुधा क्षामाः कृशाः शुष्काणि वदनानि येषां ते संरोधेन परिकर्शिताः क्लेशिताः ॥ २ ॥

कथम्भूतम्? श्रीवत्सोऽङ्कश्चिह्नं यस्य, चारु सुन्दरं प्रसन्नञ्च वदनं यस्य, स्फुरती मकराकारे कुण्डले यस्य, पद्मं रेखात्मकं हस्ते यस्य तं, तथा गदादिभिः उपलक्षिते स्वासाधारणैः[4-] धृतपद्मादिभिः चतुर्भिः बाहुभिः उपलक्षितं यथा किरिटादिभिराचितं युक्तम्[-4] ॥ ३, ४ ॥

भ्राजमानो वरमणिः कौस्तुभो ग्रीवायां यस्य तं, वनमालया निवीतं कण्ठलम्बितया व्याप्तम् ॥ ५ ॥

पिबन्त इवेत्यादीनां हरेः पादयोः प्रणेमुरित्युत्तरेणान्वयः। चेतसा रम्भन्त इव परिरम्भमाण इव, हरन्त इवेति पाठान्तरम्। इत्थं तेषां भगवति प्रेमातिशयः प्रदर्शितः ॥ ६ ॥

1. K.T.W. Omit सं 2- -2 T.W. Omit 3. T.W. मलानि 4- -4 K.T.W. Omit

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

जरासन्धरोधादिलक्षणतपसा प्रसन्नो भगवान् यज्ज्ञानसाध्यं स्वरूपं दर्शितवान् तदुपासकानां भक्त्यतिशय जननार्थ कृतमिति कृत्वा तन्माहात्म्यं कथयति अस्मिन्नध्याये। तत्रादौ तत्संख्यां निर्दिशति - अयुतेति। गिरिद्रोण्यां निरुद्धाः ततो विनिर्गताः ॥ १-४ ॥

निवीतं पर्यासितम् ॥ ५ ॥

चेतसा आलिङ्गनार्थमीहन्तः चेष्टमाना इव ॥ ६ ॥

**कृष्णसन्दर्शनाह्लादध्वस्तसंरोधनक्लमाः[1]।**
**प्रशशंसुर्हृषीकेशं गीर्भिः प्राञ्जलयो नृपाः ॥ ७ ॥**

**राजान ऊचुः**

**नमस्ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराव्यय ।**
**प्रपन्नान् पाहि नः कृष्ण निर्विण्णान् घोरसंसृतेः ॥ ८ ॥**

**नैनं[2] नाथाभ्यसूयामो[3] मागधं मधुसूदन ।**
**अनुग्रहो यद्भवतो[4] राज्ञां राज्यच्युतिर्विभो[5] ॥ ९ ॥**

**राज्यैश्वर्यमदोन्नद्धो[6] न श्रेयो विन्दते नृपः ।**
**त्वन्मायामोहितोऽनित्या[7] मन्यते[8] सम्पदोऽचलाः[9] ॥ १० ॥**

1. K श्रमाः। 2. M,Ma नैव 3. B G.J. °न्व° 4. K.T.W. °ता 5.K.T.W. °तिः प्रभो 6. M,Ma °द्धा° 7. M.Ma °ताःनि° 8. M,Ma °न्ते° 9. M,Ma °दश्चलाः

**श्रीध० कृष्णेति**। कृष्णसन्दर्शनाह्लादेन ध्वस्तः संरोधनक्लमो येषां ते ॥७॥

**नमस्ते** इति।संरोधाद्रक्षितान् अस्मान्। घोरायाः संसृतेरपि पाहि मोचय ॥८॥

ननु भवन्तो जरासन्धासूयाविष्टा इहामुत्र भोगासक्ताश्च कथं संसृतेर्मोचनीया इत्याशङ्क्य सम्प्रति न वयं तथाभूता इत्याहुः - **नैन**मित्यष्टभिः। हे नाथ! वयमेनं नान्वसूयामः,[1]अमुं दोषदृष्ट्या न पश्यामः कुत इत्यत आहुः अनुग्रह इति, यद्यस्मात् ॥९॥

एतदेव व्यतिरेकेणोपपादयन्ति - **राज्यैश्वर्येति**। राज्यैश्वर्याभ्यां उन्नद्धः उच्छृङ्खलो नित्या अचलाश्च सम्पदः मन्यते। यद्वा, अनित्यास्सतीरचलाः शाश्वतीर्मन्यते ॥ १० ॥

1. B, J अन्वनु

**वीर०** कृष्णसन्दर्शनाद्य आह्लादः तेन ध्वस्तः संरोधनजश्रमो[1] येषां ते नृपा बद्धाञ्जलयः प्रशशंसुः तुष्टुवुः ॥ ७ ॥

प्रशंसामेवाह- **नमस्त** इत्यादिभिः नवभिः। देवानां देवो ब्रह्मा, तस्यापीश, अनेन परत्वमुक्तम्। प्रपन्नार्ति हरेत्यनेन वात्सल्यम्। हे अव्यय, विकाररहितेत्यनेन रागद्वेषादिराहित्यं, समत्वं सर्वभूत सुहृत्वञ्च। कृष्णेत्यनेन भक्तानां सुखापादनायावतीर्णत्वम्। प्रपन्नान्नः[2] पाहीत्यनेन गोप्तृत्ववरणम्। ननु भवन्तो बन्धाद्विमोचिताः सुख्यन्तु, किमर्थमधुना मां प्रपद्यन्ते, इत्यत आत्मनो विशिंषन्ति, घोरसंसृतेः घोरायाः[3-] संसृतेः[-3] निर्विण्णाः, अतस्संसृतेरपि भवान् पातु इत्येतदर्थं प्रपन्ना इत्यर्थः ॥ ८॥

ननु भवन्तो जरासन्धासूयाविष्टाः विषयभोगलालसाश्च कथं संसृतेर्निर्विण्णाः, इत्याशङ्क्य अधुना न वयं तथाभूता इत्याहुः - **नैन**मित्यष्टभिः। हे नाथ! हे मधुसूदन! एनं मागधं नाभ्यसूयामः, अस्मिन्दोषान्नाविष्कुर्मः, किन्तु गुणानेवेति भावः। कुत इत्याहुः- अनुग्रह इति। हे विभो! यत् यस्मात् राज्ञामस्माकं राज्याच्च्युतिः भ्रंशः[4] भवताऽनुग्रहः जरासन्धमुखेन भवता कारितोऽनुग्रह एव इत्यर्थः ॥ ९॥

कथं राज्यच्युतेरनुग्रहरूपता इत्यत आहुः - **राज्येति**। राज्यैश्वर्याभ्यां यो मदः, तेन उन्नद्धः उच्छृङ्खलः श्रेयो न विन्दते न लभते। किन्तु तव मायया मोहितः अनित्याश्चला अपि सम्पदः भोग्यभोगोपकरणादिसमृद्धीः अचलाः शाश्वतीः मन्यते। एवं मन्यमानोऽन्ततः स्थावरतां यातीति[5] भावः ॥ १०॥

1. B omits ज: 2. K,T,N omit न्न: 3- -3. K,T,W omit 4. B. omits भ्रंश: 5. K,T,W ए°

**विज०** राज्यच्युतिः कथमनुग्रहोऽभूदित्यत्राह - **राज्येति**। कुतो न विन्दते इति तत्राह - त्वन्मायामोहिता इति। चलाः क्षणिकाः सम्पदः, नित्याश्शश्वद्रूपा मन्यन्ते, यत्तस्मात् ॥ ७-१०॥

**मृगतृष्णां यथा बाला मन्यन्त उदकाशयम् ।**
**एवं वैकारिकीं मायामयुक्ता वस्तु चक्षते॥ ११ ॥**

वयं पुरा श्रीमदनष्टदृष्टयो[1] जिगीषयाऽस्या[2] इतरेतरस्पृधः ।
घ्नन्तः प्रजाः स्वा अतिनिर्घृणाः प्रभो मृत्युं पुरस्त्वाऽविगणय्य[3] दुर्मदाः ॥ १२ ॥

त एव कृष्णाऽद्य गभीररंहसा दुरन्तवीर्येण विचालिताः श्रियः ।
कालेन तन्वा भवतोऽनुकम्पया विनष्टदर्पाश्चरणौ स्मराम[4] ते ॥ १३ ॥

अथो[5] न राज्यं मृगतृष्णिरूपितं देहेन शश्वत् पतता रुजां[6] भुवा ।
उपासितव्यं स्पृहयामहे विभो क्रियाफलं प्रेत्य च कर्णरोचनम् ॥ १४ ॥

तं नस्समादिशोपायं[7] येन ते चरणाब्जयोः ।
स्मृतिर्यथा न विरमेदपि संसरतामिह ॥ १५ ॥

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ १६ ॥

1. M, Ma, Ml, V बुद्ध° 2. M, Ma °हीर्ष° 3- -3 M, Ma मृत्युं परन्त्वामगणय्य ; K, T, W पुरस्तादविगणय्य 4. K. नमाम ते ; M, Ma स्मराम हे 5. K, T, W अतो 6. M, Ma रजो 7. Ml, V °स्त्व°

**श्रीध०** किञ्च अवस्तुवस्तुतया पश्यन्तीत्याहुः **मृगतृष्णामिति**। वैकारिकीं सृष्ट्यादि[1] विकारापन्नां अयुक्ता अविवेकिनः ॥ ११ ॥

राज्यस्य योगवियोगयोरनर्थावहत्वमस्मास्वेव[2] दृष्टमित्याहुः- **वयमिति** द्वाभ्याम्। श्रीमदेन नष्टा दृष्टिर्येषां[3] ते अस्याः पृथिव्याः इतरेतरस्पृधः परस्परं स्पर्धमानाः पुरःपुरतः त्वा त्वां मृत्युमविगणय्य पुरा ये दुर्मदा वयम् ॥ १२॥

**त** इति। हे कृष्ण! त एव वयमद्य विनष्टदर्पाः ते चरणौ स्मरामः स्मर्तुमाशास्महे। कथम्भूताः? भवतः तन्वा मूर्त्या कालेन श्रियो विचलिता विभ्रंशिताः, अतो राज्यच्युतिः भवदनुग्रह एवेत्यर्थः ॥ १३ ॥

**अथो** इति। अत एव अथोऽनन्तरं मृगतृष्णिकया[4] रूपितं सदृशं[4] राज्यं शश्वत्पतता प्रतिक्षणं क्षीयमाणेन तथा रुजां रोगाणां भुवा[5] जन्मक्षेत्रेण देहेनोपासितव्यं सेव्यं न स्पृहयामहे, प्रेत्य परलोके च क्रियाफलं स्वर्गादिभोगमुपासितव्यं न स्पृहयामहे। कथम्भूतम्? कर्णयोः रोचनं रुचिजनकमात्रं तत्र गतस्य स्पर्धाद्यनपगमेन सुखाभावादित्यर्थः ॥ १४ ॥

यद्येवम्भूता यूयं तर्हि मम चरणौ स्मरत, ततोऽनायासेन मुक्तिर्भविष्यतीति, किं मदपेक्षयेति चेदत आहुः - **तं न** इति। त्वच्चरणस्मृतिरपि त्वत्प्रसादफलमेवेत्यर्थः ॥ १५, १६ ॥

1.Ml, V शब्दादि° 2. B, J °रनर्थार्थाव° 3. Ml, V बुद्धि 4- -4 B, J मृगतृष्णिसदृशं 5. Ml, V भोज्य

**वीर०** त्वन्मायामोहितः[1]शाश्वतीर्मन्यत इत्येतदेव सदृष्टान्तमुपपादयन्ति -**मृगतृष्णामिति** मृगतृष्णा मरीचिका। तामुदकाशयं जलाशयं नदीतटाकादिरूपं मन्यन्ते। तथाऽयुक्ताः अविवेकिनो नृपाः वैकारिकीं मायां [2-]स्रक्चन्दनादि[-2] [3-]शब्दादिविकारात्मिकां[-3] प्रकृतिं वस्तु चक्षते। प्रकृतिपरिणाम[4]रूपभोग्यं [5]नित्यं मन्यन्त इत्यर्थः। अतथाभूतायाः तथात्वावभासे दृष्टान्तः ॥ ११ ॥

तदेवं राज्यादियोगवियोगात् अनर्थावहत्वमुक्तं, तदेतदस्मास्वेव दृष्टमित्याहुः - **वयमिति** द्वाभ्याम्। अस्या भूमेः जिगीषया परस्परं स्पर्धमानाः अतिनिर्घृणाः नितरां निष्कृपाः वयं पुरस्तात् पुरोवर्तिनमित्यर्थः। मृत्युमविगणय्य प्रजाः घ्नन्तः पुरा ये दुर्मदाः ॥ १२ ॥

ते वयमद्य हे कृष्ण ! गम्भीरं रंहः वेगो यस्य दुरन्तमपारं वीर्यं प्रभावो यस्य तेन भवतः तन्वा शरीरभूतेन कालेन विचलिता भ्रंशिता श्रीर्येषां ते तथाभूताः भवतोऽनुकम्पया हेतुभूतया विनष्टो दर्पो येषां ते तव चरणौ निरतिशय पुरुषार्थभूतौ नमाम नतिपूर्वकं शरणः प्राप्ताः स्मेत्यर्थः ॥ १३ ॥

**अत** इति। राज्यादियोगायोगयोः एवंविधत्वात् शश्वत्सदा रुजां रोगाणां भुवा उत्पत्तिस्थानभूतेन पतता पतिष्य[6]माणेन देहेन [7-]मृगतृष्णरूपितं[-7] मृगतृष्णात्वेन निरूपितं, तत्तुल्यमित्यर्थः। राज्यं नोपासितव्यं न सेवितव्यम्। अनेन आत्मनामैहिकविषयविरागः आविष्कृतः। तथा हे विभो ! कर्णयोः श्रोत्रयोरेव रोचनं प्रीत्यावहम् "अपामसोममममृता अभूमः स एवैनं भूतिं गमयति" (अथ.शिखा ३-२) इत्याद्यर्थवादैः श्रुतिसुखमात्रावहं न त्वनुभवदशायां पतनभयशङ्कास्पदत्वेन दुःखमिश्रत्वादिति भावः। प्रेत्य लोकान्तरं प्राप्य, अनुभूयेति शेषः। क्रियायाः श्रौतस्मार्तरूपायाः फलं स्वर्गादिरूपं न स्पृहयामहे ॥ १४ ॥

तर्हि किं स्पृहयध्वे ? इत्यत्र तदाविष्कुर्वन्तः तदनुगृहाणेति विज्ञापयन्ति तदिति। तत्तस्मात्सकलविषयविरक्त त्वात् नोऽस्माकं तम् इति च्छेदे तम् उपायं समादिश देहि। कोऽसौ ? येनोपायेन अस्माकमिह प्रकृतिमण्डले संसारतामपि यथा तव चरणाब्जयोर्विषयभूतयोः स्मृतिः न विरमेत्, न विच्छिन्ना भवति तथा अनुगृहाणेत्यर्थः ॥ १५ ॥

एवं स्वाभिप्रायमाविष्कृत्य तन्निष्पत्तिनिदानभगवत्प्रसादनोपायोऽञ्जलिरेवेत्येभिप्रयन्तः मन्त्रविशेषेण नमस्कुर्वन्ति - **कृष्णायेति**। प्रणतानां प्रणतिमात्रं कुर्वतां क्लेशं नाशयतीति तथा, तस्मै ॥ १६ ॥

1. K. अनित्या 2- -2 K,T,W omit 3--3 K omits 4.B omits रूपं 5. B omits नित्यं 6. K,T,W °ष्यता 7- -7 K,T,W omit

**विज०** एतमर्थं निदर्शयति - मृगतृष्णामिति। मृगतृष्णां अम्बरप्रदेशसंसृष्टदिवाकरकरनिकरं दृष्ट्वा उदकाशयं जलाधारं जलपूरमित्यर्थः। एवमयुक्ताः मनोयोगाकुशलाः अज्ञाः वैकारिकीं विकारोपेतां अनित्यां मायां 'गो अश्वमहिमेत्याचक्षते' इति श्रुतेर्महिमानं सम्पल्लक्षणं वस्तु प्रतिहतिरहितं नित्यं चक्षते पश्यन्ति ॥ ११ ॥

अस्याः जगत्याः ये वयं पुरःस्थितं मृत्युं त्वामगणय्य स्थिताः ॥ १२ ॥

ते च वयं कालेन श्रियो विचलिता अभूम। तत्तस्मात् भवतोऽनुकम्पया चरणौ स्मरामहे ॥ १३ ॥

रजोभुवा रजोगुणोत्पन्नेन शश्वत्पतता देहेन राज्यं नोपासितव्यमिति स्पृहयामहे। प्रेत्य यत्क्रियाफलं स्वर्गादिकं तदपि न कामयामहे । कीदृशं कर्णरोचनं श्रवणसुखजनकमापातरमणीयमित्यर्थः ॥ १४ ॥

येनोपायेन ॥ १५-१६ ॥

**श्रीशुक उवाच**

**संस्तूयमानो भगवान् राजभिर्मुक्तबन्धनैः ।**
**तानाह करुणस्तात शरण्यः श्लक्ष्णया गिरा ॥ १७ ॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**अद्य प्रभृति वो[1-] भूपाः[-1] मय्यात्मन्यखिलेश्वरे।**
**सुदृढा जायते भक्तिर्बाढमाशंसितं[2] तथा ॥ १८ ॥**

**दिष्ट्या व्यवसितं भूपा भवन्त ऋतभाषिणः[3] ।**
**श्रियैश्वर्यमदोन्नाहं पश्य उन्मादकं नृणाम् ॥ १९ ॥**

**हैहयो नहुषो वेनो रावणो नरकोऽपरे ।**
**श्रीमदाद्भ्रंशिताः स्थानाद्देवदैत्यनरेश्वराः ॥ २० ॥**

**भवन्त[4-] एतद्विज्ञाय[-4] देहाद्युत्पाद्यमन्तवत् ।**
**मां यजन्तोऽध्वरैर्युक्ताः[5] प्रजा धर्मेण रक्षथ ॥ २१ ॥**

**सन्तन्वन्तः प्रजातन्तून् सुखं दुःखं भवाभवौ ।**
**प्राप्तं प्राप्तञ्च सेवन्तो मच्चित्ता विचरिष्यथ ॥ २२ ॥**

1- -1 M, Ma भूपालाः 2. B माशा° 3 .K, T, W भूत° 4- -4 M, Ma सञ्चिन्तयत वि° 5. Ml, V भ°

**श्रीध० संस्तूयमानेति**। श्लक्ष्णया मञ्जुलया ॥ १७ ॥

**अद्येति** यथा भवद्भिराशंसितं तथा बाढं निश्चितं वो मयि भक्तिः जायते जायतामित्यर्थः ॥ १८ ॥

**दिष्ट्येति**। हे भूपाः ! मद्भजनमेव कर्तव्यमिति भवद्भिर्व्यवसितं सङ्कल्पितं दिष्ट्या भद्रं भवद्भिरुक्तञ्च सत्यमेवेत्याह- भवन्त इति। श्रीश्च ऐश्वर्यञ्च ताभ्यां मदस्तेन उन्नाहमुन्नहनम् उद्बन्धनं स्वैराचारमित्यर्थः। पश्ये पश्यामि ॥ १९ ॥

तदेवाह - **हैहय** इति। हैहयः कार्तवीर्यश्चक्रवर्ती नरेश्वरः पितुः कामधेनुहरणात् परशुरामेण सपुत्रो हतः। नहुषः देवेन्द्रतां प्राप्तः उन्मत्तः शचीसङ्गाय ब्राह्मणान् शिबिकां वाहयन् तैरेव ततो भ्रंशितोऽजगरत्वमवाप। वेनोऽप्युन्मत्तो ब्राह्मणानधिक्षिपन् तैरेव हुङ्कृतैर्हतः। रावणो राक्षसेश्वरःसीतामभिलषन् राघवेण हतः। नरको दैत्येश्वरोऽदितिकुण्डलाद्याहरणात् मयैव हतः। अपरेऽपि श्रीमदात् स्थानाद्भ्रंशिताः ॥ २० ॥

**भवन्त** इति। यदुत्पाद्यं देहादि तदन्तवत्। एवं विज्ञाय युक्ताः अप्रमत्ताः रक्षथ रक्षतेत्यर्थः ॥ २१ ॥

**सन्तन्वन्त** इति। प्रजातन्तून् पुत्रादिसन्ततीः प्राप्तं प्राप्तं समत्वेन सेवमानाः ॥ २२ ॥

---

1.B, J omit उन्नहनं 2. Ml, V हुङ्कारैः

**वीर० संस्तूयमान** इति। मुक्तं बन्धनं मागधकृतं यैः येषां वा तैः राजभिः संस्तुतः करुणः करुणायुक्तः अत एव शरण्यः श्लक्ष्णया मृद्व्या गिरा तान् राज्ञः प्राह ॥ १७ ॥

तदेवाह - **अद्येति**[1-] षड्भिः[-1]। आत्मनि अन्तःप्रविश्य धारके अखिलानामीश्वरे प्रशासितरि मयि वो युष्माकं अद्य प्रभृति सुदृढा भक्तिर्जायते भविष्यति। कथं यथा बाढं साधु यथा तथा आशंसितं समीहितं तथा सुदृढेति सम्बन्धः ॥ १८ ॥

तन्निश्चितमभिनन्दति- **दिष्ट्येति**। हे भूपाः। भूतं यथास्थितं तात्त्विकमिति यावत्, तद्भाषन्त इति तथा। तैर्भवद्भिः व्यवसितं निश्चितं तद्दिष्ट्या आनन्दस्सम्यगिति यावत्। तदेवोपपादयति[2] श्रियैश्वर्याभ्यां यो मदोन्नाहः मदेनोद्बन्धनं उद्वृत्तिः तं नृणामुन्मादनं पश्ये पश्यामीत्यर्थः[3] ॥ १९ ॥

तदेवाह - **हैहय** इति। हैहयः कार्तवीर्यः। नहुषः नरेश्वरश्चक्रवर्ती। एते श्रीमदाद्धेतोः स्थानात् राज्यात् भ्रंशिताः तावत् हैहयः पितुः कामधेनुहरणात् परशुरामेण सपुत्रो हतः। तथा नहुषो देवेन्द्रतां प्राप्तः उद्वृत्तः शचीसङ्गाय ब्राह्मणान् शिबिकां वाहयन् तैरेव ततो भ्रंशितः अजगरत्वमवाप। वेनोप्युन्मत्तो ब्राह्मणानधिक्षिपन् तैरेव हुङ्कृतैर्हतः। रावणो राक्षसेश्वरःसीतामभिलषन् राघवेण [4]सङ्ग्रामे हतः। नरकोऽ[5]पि दैत्यश्च अदितेः कुण्डलाद्याहरणात् मयैव हतः। एवमपरेऽपि श्रीमदात् स्थानाद्भ्रंशिता इत्यर्थः ॥ २० ॥

अतो भवन्तो यदुत्पाद्यं देहादि तदन्तवत् विज्ञाय युक्ताः अवहितचेतसः यज्ञैः मामाराधयन्तः धर्मेण प्रजाः रक्षथ रक्षन्तु इत्यर्थः। मध्यमपुरुष आर्षः ॥ २१ ॥

**सन्तन्वन्त** इति। प्रजातन्तून् पुत्रपौत्रादिसन्ततीः सन्तन्वन्तो विस्तारयन्तः भवः उत्पत्तिः, अभवः भवेतरः, तदन्यार्थोऽत्र नञ् मरणमित्यर्थः। सुखादिकं प्राप्तं प्राप्तं समत्वेन [6]सेवन्तः सेवमानाः मयि विषयभूते चित्तं येषां ते विचरिष्यथ, कालं नयतेत्यर्थः ॥ २२ ॥

1- -1 K,T,W °त्यादिना 2. K,T,W °तुमाह 3. K,T,W omit इत्यर्थः 4. K,T,W omit संग्रामे 5. K,T,W omit अपि 6. B omits सेवन्तः

**विज०** बाढमभिमतमाशंसितम् आकाङ्क्षितञ्च जायते। 'बाढन्त्वभिमते भृशे' इति च ॥ १८ ॥

भवतां व्यवसितं दिष्ट्या मङ्गलं, तत्र हेतुः भवन्त इति। ऋतभाषिणः ब्रह्मवादिनः यथार्थवादिनो वा। अनुभावयति श्रियेति यूयं श्रियैश्वर्यमदानाम् उन्नाहमभिवृद्धिम्, उन्मादनं बुद्धिभ्रंशकरं पश्यत ॥ १९ ॥

कान् पश्याम इति तत्राह - **हैहयेति**। ध्वंसिताः भ्रंशिताः ॥ २० ॥

शिक्षयति - सञ्चिन्तयतेति। उत्पाद्यम् उत्पत्तियोग्यम् अन्तवन्नाशवत् ॥ २१ ॥

भवाभवौ मङ्गलामङ्गले ॥ २२ ॥

**उदासीनाश्च देहादावात्मारामा [1]धृतव्रताः ।**
**मय्यावेश्य मनस्सम्यक् मामन्ते ब्रह्म यास्यथ ॥ २३ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**इत्यादिश्य नृपान् कृष्णो भगवान् भुवनेश्वरः ।**
**तेषां न्ययुङ्क पुरुषान् स्त्रियो मज्जनकर्मणि ॥ २४ ॥**

**सपर्यां कारयामास सहदेवेन भारत ।**
**नरदेवोचितैर्वस्त्रैर्भूषणैः स्रग्विलेपनैः ॥ २५ ॥**

1. K, T, W °ढ°

**श्रीध० उदासीना** इति । मां ब्रह्म यास्यथ ॥ २३ ॥

**इतीति**। स्त्रियश्च स्त्रीश्च[1] तेषां मज्जनकर्मणि अभ्यङ्गस्नानादौ न्ययुङ्क्त ॥ २४,२५

1. B,J omit स्त्रीश्च

**वीर०** देहादावित्यादिशब्देन तदनुबन्धिनां सङ्ग्रहः। उदासीना अहम्भ्रमतारहिताः इत्यर्थः[1]। आत्मारामाः स्वात्मपरमात्म याथात्म्यावलोकनपराः मयि सम्यक् मन आवेश्य अन्ते प्रारब्धावसाने ब्रह्म परब्रह्मभूतं मां यास्यथ प्राप्स्यथ[2] ॥ २३ ॥

इति इत्थम् आदिश्य अनुशिष्य तेषां नृपाणां मज्जनकर्मणि अभ्यङ्गस्नानादौ निमित्ते पुरुषान् स्त्रियः स्त्रीश्च न्ययुङ्क्त ॥२४॥

**सपर्यामिति**। हे भारत। सहदेवेन जरासन्धसुतेन प्रयोज्यकर्त्रा नरदेवानामर्हैः वस्त्रादिभिस्साधनैः सपर्यां कारयामास ॥ २५ ॥

1. B omits इत्यर्थः 2. T, W omit प्राप्स्यथ

**विज०** आत्मारामत्वं विवृणोति - मयीति॥ २३ - २५ ॥

**भोजयित्वा वरान्नेन सुस्नातान् समलङ्कृतान् ।**
**भोगैश्च विविधैर्युक्तांस्ताम्बूलाद्यैर्नृपोचितैः ॥ २६ ॥**

**ते पूजिता मुकुन्देन राजानो मृष्टकुण्डलाः ।**
**विरेजुर्मोचिताः क्लेशात्[1] प्रावृडन्ते यथा ग्रहाः ॥ २७ ॥**

**रथान् सदश्वानारोप्य मणिकाञ्चनभूषितान् ।**
**प्रीणय्य[2] सूनृतैर्वाक्यैः स्वदेशान् प्रत्ययापयत् ॥ २८ ॥**

1.Ml, V कृच्छ्रात् 2. K, T, W °णीय

**श्रीध० भोजयित्वेति**। सुस्नातान् सम्यगलङ्कृतान् भोगैश्च युक्तान् वरेणान्नेन भोजयित्वा पुनस्तेषां सपर्यां सह देवेन कारयामास [1]इति पूर्वेणान्वयः[-1] ॥ २६ ॥

**त** इति। ग्रहाश्चन्द्रादयो यथा ॥ २७ ॥

**रथानिति** । [2]प्रीणय्य नन्दयित्वा ॥ २८ ॥

1- -1 B, J omit 2. Ml, V प्रीणीय 3. Ml, V प्रीणयित्वा

**वीर० भोजयित्वेति**। वरान्नेन श्रेष्ठान्नेन भुजि कर्मणोऽन्नस्य तत्कारणत्वविवक्षायां तृतीया। ततः पुनः ताम्बूलाद्यैर्विविधैर्भोगैर्युक्तान् कारयामासे[1]त्यनुषङ्गः ॥ २६ ॥

**त** इति। ते राजानस्सहदेवेन पूजिताः कृष्णेन क्लेशान्मोचिताः विरेजुः, यथा प्रावृडन्ते शरदि ग्रहाश्चन्द्रादयः तद्वत् ॥ २७ ॥

**रथानिति**। सन्तः समीचीना अश्वाः येषान्तान् रथानारोप्य रथेषु उपवेश्य सूनृतैः मधुरैर्वाक्यैः। प्रीणीय हर्षयित्वा स्वस्वदेशान् प्रत्ययापयत् प्रस्थापयमास ॥ २८ ॥

1. K,T, W °त्यर्थः।

**विज०** भोगैःस्रक्चन्दनादिलक्षणैः धनैर्वा ॥ २६ ॥

ग्रहा आदित्यादयः ॥ २७ ॥

प्रीणय्य प्रीतिं जनयित्वा ॥ २८ ॥

**त एवं मोचिताः कृच्छ्रात् कृष्णेन सुमहात्मना ।**
**ययुस्तमेव ध्यायन्तः कृतानि च जगत्पतेः ॥ २९ ॥**

**जगदुः प्रकृतिभ्यस्ते महापुरुषचेष्टितम् ।**
**यथान्वशासद् भगवांस्तथा चक्रुरतन्द्रिताः ॥ ३० ॥**

**जरासन्धं घातयित्वा भीमसेनेन केशवः ।**
**पार्थाभ्यां संयुतः प्रायात् सहदेवेन पूजितः ॥ ३१ ॥**

**श्रीध० जगदुरिति**। जगदुः ऊचुः ॥ २९ - ३१ ॥

**वीर० त** इति । कृच्छ्रात् क्लेशान्मोचिताः तमेव श्रीकृष्णमेव । जगत्पतेः कृष्णस्य कृतानि चेष्टितानि च ध्यायन्तः जग्मुः ययुः ॥ २९ ॥

**जगदुरिति**। नृपाः महापुरुषस्य श्रीकृष्णस्य चेष्टितं , प्रकृतिभ्योऽमात्यादिभ्यो जगदुः ऊचुः । यथा भगवान् अन्वशासत् अनुशिक्षितवान् तथा निरवद्याश्चक्रुः ॥ ३० ॥

**जरासन्धमिति**। भीमसेनेन प्रयोज्यकर्त्रा घातयित्वा सहदेवेन जरासन्धसुतेन पूजितः पार्थाभ्यां भीमार्जुनाभ्यां च संयुतः प्रायाद्ययौ ॥ ३१ ॥

**विज०** कृतानि कार्याणि ॥ २९ ॥

प्रकृतिभ्यः विश्वस्तभृत्येभ्यः ॥ ३०, ३१ ॥

**[1-]गत्वा ते खाण्डव[-1]प्रस्थं शङ्खान्दध्मुर्जितारयः ।**
**हर्षयन्तः स्वसुहृदो दुर्हृदाञ्चासुखावहाः ॥ ३२ ॥**

**तच्छ्रुत्वा प्रीतमनस इन्द्रप्रस्थनिवासिनः ।**
**मेनिरे मागधं शान्तं राजा चाप्तमनोरथः ॥ ३३ ॥**

**अभि[2]वन्द्याऽथ राजानं भीमार्जुनजनार्दनाः ।**
**सर्वमाश्रावयाञ्चक्रुरात्मना यदनुष्ठितम् ॥ ३४ ॥**

**निशम्य धर्मराज[3]स्तु केशवेनानुकम्पितः ।**
**आनन्दाश्रु[4]कला मुञ्चन् प्रेम्णा नोवाच किञ्चन ॥ ३५ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे कृष्णाद्यागमने त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

1- -1 K,T,W ते गत्वाऽखण्डल° 2. M, Ma, T, W °वाद्या° 3. B, G, J °स्तत् 4. B, G, J कलां ; M, Ma, T, W कणान्

**श्रीध० गत्वेति**। खाण्डवप्रस्थमिन्द्रप्रस्थम् ॥ ३२ ॥

**तदिति**। शान्तं मृतम्। आप्तमनोरथो बभूव ॥ ३३ - ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

**वीर०**- त इति । ते कृष्ण भीमार्जुनाः आखण्डलप्रस्थम् इन्द्रप्रस्थम् गत्वा शङ्खान् दध्मुः[1] ध्वनयामासुः। तत्र हेतुः जितोऽरिः शत्रुर्यैस्ते दुर्हृदाम् अमित्राणां असुखं दुःखमावहन्तीति तथा, सुहृदो मित्राणि हर्षयन्तश्च ॥ ३२ ॥

**तदिति** । तच्छङ्खध्वननं श्रुत्वा मागधं शान्तं हतं मेनिरे अमन्यन्त । राजा युधिष्ठिरस्तु आप्तः मनोरथो येन तथाभूतश्चाऽऽसीत् ॥ ३३ ॥

अपि च **अभिवन्द्येति**। आत्मना आत्मभिः यदनुष्ठितं कृतं तत्सर्वमाश्रावयामासुः ॥ ३४ ॥

**निशम्येति**। आनन्दाश्रूणां[2] कलाः बिन्दून् मुञ्चन् किञ्चिदपि नोवाच, तूष्णीमासेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

1. B omits दध्मुः 2. K, T, W °श्रुकलाः

**विज०** खाण्डवप्रस्थम् इन्द्रप्रस्थम्। दुर्हृदां शत्रूणाम् ॥ ३२ ॥

शान्तं मृतम्। प्राप्तमनोरथः, अभूदिति शेषः ॥ ३३ - ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीवीजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

(विजयध्वजरीत्या एकाशीतितमोऽध्यायः)

# चतुस्सप्ततितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या द्व्यशीतितमोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

एवं युधिष्ठिरो राजा जरासन्धवधं[1] विभोः ।
कृष्णस्य चानुभावं तं श्रुत्वा प्रीतस्तमब्रवीत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

[2-]ये स्युस्त्रैलोक्यगुरवस्सर्वे[-2] लोकास्सहेश्वराः[3] ।
वहन्ति दुर्लभं लब्ध्वा शिरसैवाऽनुशासनम् ॥ २ ॥

स भवानरविन्दाक्ष[4-] दीनानामीशमानिनाम्[-4] ।
धत्तेऽनुशासनम् भूमन् तदत्यन्तविडम्बनम् ॥ ३ ॥

न ह्येकस्याऽद्वितीयस्य ब्रह्मणः परमात्मनः[5] ।
कर्मभिर्वर्धते तेजो ह्रसते वा[6] यथा रवेः ॥ ४ ॥

न च[7] तेऽजितभक्तानां ममाऽहमिति माधव ।
त्वं तवेति च नानाधीः पशूनामिव वैकृता ॥ ५ ॥

[8-]श्रीशुक उवाच[-8]

इत्युक्त्वा यज्ञिये[9] काले वव्रे युक्तान् स ऋत्विजः ।
कृष्णानुमोदितः पार्थो ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः ॥ ६ ॥

1. K.T.W. धं प्रभोः । ; M.Ma. °धात् प्रभो । 2- -2M.Ma यस्य त्रिलोक गुरवः सर्व 3. B.G.J.M.Ma °कमहे° 4- -4 B.G.J. °क्षो दीनानामीशः; K. °६ जनानामीशः; Ml.V. °क्ष दीनानामिह 5. K. मेष्ठिनः । 6. B.G.J..Ml.T.V.W. च 7. B.G.J. वै 8- -8 M. Ma omit 9. M.Ma. याज्ञिये

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुर्युक्सप्ततितमे राजसूयक्रियाद्विजैः। अग्रपूजाप्रसङ्गेन चैद्यघातादि वर्ण्यते ॥

राजसूयमुखे हत्वा जरासन्धं तदन्ते[1]। चैद्यं तदन्ते कुर्वन्तं बीजं कलिमिवाऽवपत् ॥

[2-]कुरूणामन्तार्थं कुरूणामन्तो यस्मात् असौ कुर्वन्तः तं कलिं इत्यर्थः। **एवमिति**। कृष्णस्य चानुभावमिति चकारात्तस्य स्वाज्ञानुविधायित्वाञ्चाऽऽलक्ष्येत्यर्थः[-2] ॥ १ ॥

तदाह - **ये स्युरिति**। ये त्रैलोक्यस्यापि गुरवः स्युः सनकादयः सर्वे च लोकाः[3] लोकपालाश्च ते शिरसैव तवाऽनुशासनं वहन्ति दुर्लभं लब्ध्वेति भाग्ये नैतल्लब्धमिति बहुमानेनेत्यर्थः ॥ २ ॥

**स** इति। सभवान्परमेश्वरोऽस्माकमनुशासनं धत्ते तदत्यन्तविडम्बनमननुरूपमनुकरणं,स्वतेजोहानि प्रसङ्गात्[4-] इति तात्पर्यार्थः[-4] ॥ ३ ॥

अथवा तव पूर्णस्य आज्ञापनाज्ञाधारणाभ्यां न तेजसे हानिवृद्धी। अतः कृपया सर्वं सङ्गच्छत इत्याह - **नेति**। एकस्य अद्वितीयस्य समानासमानरहितस्य ब्रह्मणस्तवोभयं माया परमात्मन इति सर्वजीवनियन्तुस्तव नियाम्यत्वं सुतरां न वास्तवम्, अतः परानुग्रहार्थैः एतैः कर्मभिः तव तेजो न वर्धते न च ह्रसति[5], रवेः इव उदयास्तमयादि कर्मभिरित्यर्थः। तथा च श्रुतिः - "न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्" (इतिहास उ.-२०) इति ॥ ४ ॥

नन्वेवमप्यहं परमेश्वरो सर्वस्याज्ञापकः[6-] ममेदं नीचं कर्मायोग्यमिति मनसि कथं न भवेदत आह - **न चेति**। हे अजित! तव भक्तानामेव तावदियं नानाधीर्भेदमतिः नास्ति यथा पशूनामज्ञानां वैकृता शरीरविषया, तव तु नास्तीति किम्पुनर्वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ५ ॥

**इतीति**। यज्ञिये यज्ञोचिते वसन्तादिकाले युक्तानभियुक्तान् स युधिष्ठिरः ऋत्विजो होतृप्रमुखान् वव्रे वृतवान् ॥६॥

1. B.J. °न्तं° 2- -2 B.J.omit 3. B.J. omit लोकाः 4- -4 B.J.ङ्गादित्यर्थः। 5. Ml.V. °ते 6. B.J. omit.

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ राजसूययाजन शिशुपालवधात्मकं भगवच्चेष्टितमनुवर्णयति चतुस्सप्ततितमेन - **एवमिति**। युधिष्ठिरो राजा तं तं जरासन्धघातनात्मकं कृष्णस्यानुभावं प्रभावञ्च श्रुत्वा तं श्रीकृष्णमब्रवीत् ॥ १ ॥

उक्तिमेवाह **य** इति चतुर्भिः। ये त्रैलोक्यस्याऽपि गुरवः स्युः सनकादयः, ये च सर्वे लोकाः जनास्तत्पालाश्च[1] ते यस्यानुशासनं दुर्लभं लब्ध्वा भाग्यैरेव तल्लब्धमिति बहुमानेनेत्यर्थः। शिरसा वहन्ति ॥ २ ॥

स भवान् हे अरविन्दाक्ष! ईशमात्मानं मन्यन्त इति तथा तेषां जनानामनुशासनं धत्ते करोतीति यत्तदत्यन्तविडम्बनं मनुष्यचेष्टाभिनयमात्रमन्यथा सर्वनियन्तुः सङ्कल्पमात्रक्लृप्तजगदुत्पत्तिस्थितिलयस्य तवैतत् साक्षाच्छत्रुविजयादिरूपं कर्म न घटत इति भावः ॥ ३ ॥

ननु प्रभावातिशयार्थमेवाऽहमपीतरवत्तवानुशासनं दधे इत्यत आह - **न हीति**। एकस्याविभक्तनामरूपचिदचिद्विशिष्टतया जगदुपादानकारणभूतस्याऽद्वितीयस्य निमित्तकारणस्य च ब्रह्मणस्तदुभयकारणत्वोपयुक्तस्वाभाविकसार्वज्ञ्य सर्वशक्तित्वादि कल्याणगुणबृहत्वशालिनः एवं लीलाविभूतिनायकत्वमुक्तम्। परमे नित्यविभूत्याख्ये तिष्ठतीति तथा। तस्य तव कर्मभिः प्राकृतश**त्रुज**यादिरूपैस्तेजःप्रभावो न वर्धते नाऽपि ह्रसते च, यथा रवेरुदयस्तमंयादिकर्मभिर्न वर्धते न क्षीयते च' तद्वत् ॥४॥

उक्तमेव सहेतुकं कैमुत्यनयाभिप्रायेणाऽऽह **न चेति**। हे माधव! हे अजित! ते तव भक्तानामेव पशूनामिव पशुतुल्यानां देहाभिमानिनामिव ममाऽऽहमिति त्वं तवेति च नानाधीः स्वदेहपरदेह तत्सम्बन्धिषु अनात्मभूतेषु अनात्मीयेषु आत्माभिमानात्मीयत्वाभिमानरूप नानाधी र्न चास्ति कुतः तद्धेतुक तेजोवृद्धि ह्रासौ किं पुनस्तव तौ न स्त इतीति भावः ॥ ५ ॥

**इतीति**। यज्ञिये यज्ञार्हे वसन्तादिरूपकाले सपार्थो युधिष्ठिरः कृष्णेनाऽनुमोदितः युक्तानभियुक्तान् ब्रह्मवादिनः ब्राह्मणान् ऋत्विजो वृतवान् ॥ ६ ॥

1.B.T.W. °त्परश्च

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

श्रोतृमनोहरं क्षमाजनकं वीरवीर्यवर्धनं हरेः समवृत्तिनिदर्शनं शिशुपालवधं निगदत्यस्मिन्नध्याये। तत्रादौ युधिष्ठिरो भगवन्तं स्तुत्वा तदनुज्ञया राजसूयप्रारम्भणं वक्ति एवमित्यादिना ॥ १ ॥

यस्य तव त्रिलोकगुरवः ब्रह्मादयः ॥ २ ॥

ईशमानिनाम् ईश्वरोऽहमहं भोगीत्याद्यभिमानवतां दीनानामात्मतत्त्वज्ञानाभावात् कोष्ठगत्या कृपणानां अनुशासनं दुर्मार्गप्रवृत्तित्यागेन सन्मार्गवर्तनम् ॥ ३ ॥

प्रेक्षावत इव हरेः अनुशासनादि प्रवृत्तिः स्वप्रयोजनोद्देशपूर्विका इत्यकृतार्थत्वप्रसङ्ग इति तत्राह-न हीति। तेजःप्रभाव लक्षणा प्रभा। कर्मभिः शुभाशुभलक्षणैः। "न कर्मणा वर्धता नो कनीयान्" (इतिहास उ.२०) इति श्रुतेः। एकस्यापि समाधिकसद्भावे तौ किं न स्यातामिति तत्राऽऽह अद्वितीयस्येति। अस्याऽपि परिच्छिन्नत्वे कथमिति मन्दाशङ्कां परिहरति-ब्रह्मण इति। बहिस्तस्थाऽस्तु अन्तःपरिच्छिन्न इति तत्राह - परमात्मन इति। आत्मनो जीवात्मपरत्वेन पूर्णत्वेन नीयमानस्य परमात्मन इत्यर्थः। रवेः प्रभा मन्दोष्णत्वादि विशेषः कालोपाधिको न स्वाभाविक इति भवत्येवं निदर्शनं, हरेस्तृक्तविशेषणसामर्थ्यात्सोऽपि नेत्यवगमयितव्यम् ॥ ४ ॥

हरेरद्वितीयत्वं किम्पुनर्न्यायेनाऽऽह - **न चेति**। हे अजित! माधव! लक्ष्मीपते! ते तव भक्तानां पुत्रादौ ममेति देहादावहमिति देहान्तरे त्वमिति तदीयक्षेत्रादौ तवेति नानाधीर्नास्ति। चशब्दस्सर्वत्रेश्वरसत्तां पश्यतामित्यस्मिन्नर्थे वर्तते। कीदृशी नानाधीः? यथा पशूनां संस्काररहितानां बुद्धिर्वैकृता विविधप्रकारा। स्वार्थे तद्धितः ॥ ५ ॥

याज्ञिये यज्ञकारणयोग्ये युक्तान्कल्पोक्तन्यायवेदिनः ॥ ६ ॥

**द्वैपायनो भरद्वाजः सुमन्तुर्गौतमोऽसितः ।**
**वसिष्ठश्च्यवनः कण्वो मैत्रेयः कवषस्त्रितः ॥ ७ ॥**

**विश्वामित्रो वामदेवः सुमतिर्जैमिनिः क्रतुः ।**
**पैलः पराशरो [1]गर्गो वैशम्पायन एव च ॥ ८ ॥**

**[2]अथर्वा कश्यपो धौम्यो रामो भार्गव आसुरिः ।**
**वीतिहोत्रो मधुच्छन्दा वीरसेनोऽकृतव्रणः ॥ ९ ॥**

**उपहूतास्तथा[3] चान्ये भीष्मद्रोणकृपादयः ।**
**धृतराष्ट्रस्सहसुतो विदुरश्च महामतिः ॥ १० ॥**

**ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्रा यज्ञदिदृक्षवः ।**
**तत्रेयुस्सर्वराजानो राज्ञां प्रकृतयो नृप ! ॥ ११ ॥**

**ततस्ते देवयजनं ब्राह्मणास्स्वर्णलाङ्गलैः ।**
**कृष्ट्वा तत्र यथान्[5]यायं दीक्षयाञ्चक्रिरे नृपम् ॥ १२ ॥**

1. K.T.W. अगस्त्यो 2. MI.V. दुर्वासाः 3. K.T.W. थैवान्ये 4. B.G.J. ऽऽम्नायं ; MI.V. ऽऽम्नातं

**श्रीध०** तानाह **द्वैपायन** इति त्रिभिः ॥ ७,८ ॥

अथर्वा इति। अकृतव्रणान्तानेतानृत्विगुपद्रष्टादिभेदेन वव्रे ॥ ९ ॥

**उपहूता** इति । अन्ये चोपहूता यज्ञदिदृक्षवः सर्वे[1] च तत्रेयुरित्यन्वयः ॥ १०,११ ॥

तत इति। देवयजनं यज्ञभूमिं कृष्ट्वा कर्षणादिभिस्संशोध्य दीक्षयाञ्चक्रिरे दीक्षासंस्कारयुक्तमकुर्वन् ॥ १२ ॥

1. B I omit सव च

**वीर०** तानेव निर्दिशति - द्वैपायन इति त्रिभिः। अकृतव्रणान्तान् एतान् ऋत्विगुपद्रष्टादिभेदेन वव्रे इति सम्बन्धः॥ ७-९॥

**उपहूता** इति। अन्ये च द्रोणादयः उपहूतास्संन्तो यज्ञं द्रष्टुमिच्छवः तत्रेयुः आजग्मुरित्यन्वयः ॥ १०,११ ॥

तत इति। देवयजनं देवा इज्यन्तेऽस्मिन्निति तद्यज्ञभूमिं स्वर्णमयैर्लाङ्गलैः कृष्ट्वा कर्षणादिभिस्संशोध्य नृपं युधिष्ठिरं दीक्षयाञ्चक्रिरे दीक्षासंस्कारयुक्तमकुर्वन् ॥ १२ ॥

1--1 B.omits

**विज०** उपहूता मुनयः यथान्ये अनुपहूता अपि तत्राऽऽजग्मुः तत्र द्रोणादयोऽप्युपहूताः ॥ ७-११ ॥

यत्र यज्ञकरणमभीष्टतमं तद्देवयजनं स्वर्णलाङ्गलैः [1]सुवर्णमयहलैः कृष्ट्वोल्लिख्य संशोध्य शालां कृत्वा तत्र यथान्यायं नृपं दीक्षयाक्रुरित्यन्वयः ॥ १२ ॥

1.M.Ma. add सुवर्णलाङ्गलैः

**हैमाः किलोपकरणा वरुणस्य यथापुरा ।**
**इन्द्रादयो लोकपाला विरिञ्चभवसंयुताः[1] ॥ १३ ॥**
**सगणास्सिद्धगन्धर्वविद्याधरमहोरगाः[2] ।**
**मुनयो यक्षरक्षांसि खगकिन्नरचारणाः[3] ॥ १४ ॥**

राजानश्च समाहूता राजपत्न्यश्च सर्वशः ।
राजसूयं समीयुः स्म राज्ञः पाण्डुसुतस्य वै ॥ १५ ॥

मेनिरे कृष्णभक्तस्य सूपपन्नमविस्मिताः ।
अयाजयन् महाराजं याजका देववर्चसः ॥
राजसूयेन विधिवत्प्राचेतसमिवा¯मराः ॥ १६ ॥

[4]सौत्येऽहन्यवनीपालो याजकान्सदसस्पतीन् ।
अपूजयन् महाभागान्यथावत् [5]सुसमाहितः ॥ १७ ॥

[6]सदस्य[7]ग्र्यार्हणार्हं वै विमृशन्तस्सभासदः ।
ना¯ध्यगच्छन्ननैकान्त्या त्सहदेवस्तदाऽब्रवीत् ॥ १८ ॥

1.K.T.W. °ञ्चि 2.B.G.J. °र्वा वि° 3. M.Ma. खगाः 4. B.J.Ml.V. सुत्ये°; M.Ma. सूत्ये 5.T.W. सुमहार्हणैः 6. B.G.J. स्या° 7. M.Ma.Ml.V. °ग्रा°

**श्रीध० हैमा** इति। उपकरणा उपस्काराः। वरुणस्य राजसूये यथा आसन्निति शेषः। किञ्च इन्द्रादयो देवगणाः ॥ १३,१४ ॥

**राजानश्चेति**। ये च राजादयः समाहूतास्तत्र समीयुः स्म, ते सर्वे श्रीकृष्णभक्तस्य पाण्डुसुतस्य राज्ञः [1]युधिष्ठिरस्य राजसूयमविस्मितास्सन्तः सूपपन्नं सुसम्पन्नं मेनिरे इत्यन्वयः याजकाः ऋत्विजः ॥ १५,१६ ॥

**सौत्येति**। सुत्येऽहनि सोमाभिषवदिने ॥ १७ ॥

**सदसीति**। [2]अग्र्यार्हणमग्रपूजा, तस्यार्हं योग्यम् अनैकान्त्यात् योग्यानां बहुत्वेन एकस्यानिश्चयात् ॥ १८ ॥

1.Ml.V.omit युधिष्ठिरस्य 2. Ml.V °ग्रा

**वीर०** स पुरा पूर्वकाले यथा वरुणस्य तद्वदस्यापि उपकरणा [1]हैमाः हेममया आसन्निति शेषः। तृतीयान्तपाठे हैमैर्यज्ञःप्रावर्ततेति शेषः। [2-]विरिञ्चिभवाभ्यां [-2 3-]ब्रह्मरुद्राभ्यां [-3]संयुतां इन्द्रादयो देवगणाः ॥ १३ ॥

ये च समाहूताः राजानः तेषां पत्न्यश्च समीयुः [4]स्म ॥ १४ ॥

ते सर्वे कृष्णभक्तस्यपाण्डुसुतस्य राज्ञः राजसूयं [5-]अविस्मितास्सन्तः सूपपन्नं [-5]सुसम्पन्नं मेनिरे इत्यन्वयः। अयाजयन्निति। देवानामिव

वर्चो येषां ते याजका ऋत्विजः। [6]अमराः देवाः प्रचेतसं वरुणमिव महाराजं युधिष्ठिरं यथाविधि राजसूयेनाऽयाजयन् ॥ १५,१६ ॥

**सौत्य** इति। सौत्येऽहनि सोमाभिषवदिने अवनीपालो युधिष्ठिरः अपूजयत् पूजयितुमुद्युक्तवानित्यर्थः ॥ १७ ॥

**सदसीति**। सदसि सभायाम् अग्र्यार्हणार्हं अग्रपूजार्हं विमृशन्नपि नाध्यगच्छत् न निश्चितवान्। कुतः अनैकान्त्यात् योग्यानां बहुत्वेन एकस्याप्यविशेषात्। एवं सति तदा सह देवो माद्रीसुतः। सभासदः सभ्यानब्रवीत् ॥ १८ ॥

1. B.omits हैमाः 2- -2 B. omits 3- -3 K.T.W. omit 4. B.omits स्म 5- -5 B.omits 6. B.omits अमराः

**विज०** वरुणस्य यज्ञे वरुणम् अनूक्तं समाहृत्य तात्पर्यात्पुनरुक्तं करोति इन्द्रादय इति ॥ १३-१५ ॥

प्रचेतसं वरुणम् ॥ १६ ॥

सुत्ये सोमाभिषवसम्बन्धिनि अहनि पशुसंज्ञपनदिवसे वा ॥ १७ ॥

अग्रार्हणार्हमग्रपूजास्वीकारयोग्यं विमृशन्तः विचारयन्तः अनैकान्त्यात् नानाबुद्धित्वात् सर्वेषां गुणानामेकत्वा नियमाद्वा ॥ १८ ॥

[1-]सहदेव उवाच[-1]

**अर्हति ह्यच्युतः श्रैष्ठ्यं भगवान् सात्त्वतां पतिः ।**
**एष वै देवतास्सर्वा देशकालधनादयः ॥ १९ ॥**

**यदात्मकमिदं विश्वं क्रतवश्च यदात्मकाः ।**
**अग्निराहुतयो मन्त्राः सांख्यं योगश्च यत्परः ॥ २० ॥**

**एक एवाद्वितीयोऽसावैतदात्म्यमिदं जगत् ।**
**आत्मनात्माश्रयः सभ्याः सृजत्यवति हन्त्यजः ॥ २१ ॥**

**विविधानीहकर्माणि जनयन् [2]यदपेक्षया ।**
**ईहते यदयं [3]सर्वः श्रेयो धर्मादिलक्षणम् ॥ २२ ॥**

**तस्मात्कृष्णाय महते दीयतां परमार्हणम् ।**
**एवञ्चेत्सर्वभूतानामात्मनश्चार्हणं भवेत् ॥ २३ ॥**

**सर्वभूतात्मभूताय कृष्णायाऽनन्यदर्शिने ।**
**देयं दान्ताय[1] पूर्णाय दत्तस्याऽऽनन्त्यमिच्छता ॥ २४ ॥**

1- -1 B.G.J.M.Ma.Ml.T.V.W. omit 2. B.G.J. यदेवक्षया ; M.Ma. ह्यनपेक्षया 3. K.M.Ma.T.W. सर्व° 4. B.G.J.K.M.Ma. शान्ताय

**श्रीध० यदात्मकमिति**। सांख्यं ज्ञानं योग उपासना ॥ १९,२० ॥

ननु सांख्यं केवलपरं योगः सविशेषणपरः कथमुभयो रेकपरत्वं तत्राह - **एक इति**। एक एवाद्वितीयोऽसावतः सांख्यस्यैतत्परत्वं युक्तम्। विशेषणभूतस्य सर्वप्रपञ्चस्य तन्मयत्वात्सविशेषणविषयस्य योगस्यापि युक्तमद्वितीयपरत्वमित्याह- ऐतदात्म्यमिति। एष श्रीकृष्ण आत्मा यस्य तदेतदात्मा तस्य भावः ऐतदात्म्यम्। भवितव्ये[1] च भाव निर्देशः "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" (छान्दो.उ.6-8-7)इति श्रुतेः। अत्र हेतुः आत्मनेति। हे सभ्याः! आत्माश्रयोऽन्यनिरपेक्षः स्वयमजः इदं जगत्सृजत्यवति रक्षति[2] हन्ति संहरति[3] चेति ॥ २१ ॥

किञ्च **विविधानीति**। यस्यापेक्षया[2]ऽनुग्रहेण विविधानि कर्माणि तपोयोगादीनि जनयन् कुर्वन् यद्यस्मात् अयं सर्वेऽपि जनो यदधीनानीत्यर्थः ॥ २२,२३ ॥

ननु आत्मना क्रियमाणं अर्हणं आत्मनः कथं स्यात् तत्राह - **सर्वेति**। सर्वभूतानामात्मभूताय अनन्यदर्शने निरस्त भेदमतये ॥ २४ ॥

1. B.J. °तयव 2. B.J.omit रक्षति 3. B.J. omit संहरति 4. B.J. °वे° 5- -5 B.omits

**वीर०** तदेवाह **अर्हतीति**। श्रैष्ठ्यं श्रेष्ठस्य उचितमर्हणमिति। तत्र हेतुत्वेन विशिनष्टि सात्त्वतां ब्रह्मविदां पूर्वोक्तद्वैपा यनादीनां पतिः स्वामी। किञ्च, 'एष वै सर्वा देवताः' इत्यादि। एष भगवान् इज्याः[1] सर्वदेवताःशरीरात्मभावनिबन्धनमिदं सामानाधिकरण्यं - "स आत्मा अङ्गानन्यादेवताः" (तैत्ति.उ.1-5-1) इति श्रुतेरिति भावः। देशः 'समे यजेत' इत्युक्तविधः। कालो वसन्तादिः। धनानि यज्ञोपयुक्तानि। आदिशब्दो यजमानर्त्विगादि सङ्ग्राहकः ॥ १९ ॥

**यदिति**। देशादयो धनान्ता इत्येतद्विश्वं सर्वं यदात्मकं यो भगवान् आत्मा यस्य तथाभूतम्। क्रतवश्च साङ्ख्यं प्रत्यागात्मयाथात्म्यानुचिन्तनं, योगः परमात्मोपासना, तत्सर्वं स भगवान् परो निर्वाहको यस्य तथाभूतम् ॥ २० ॥

किमम्बहुनेत्याह - **एकेति**। इदं चिदचिदात्मकं जगत् ऐतदात्म्यम् - एष भगवानात्मा अन्तरात्मा यस्य तथाभूतम्। स्वार्थे ष्यञ् । 'एक एवाऽद्वितीयोऽसौ' आसीदिति शेषः। "सदेवेदमग्र आसीत्"। (छान्दो.उ.6-2-1),एकमेवाऽद्वितीयम् ( छान्दो.उ.6-2-1) इतिवदयं निर्देशः। अविभक्तनामरूपचिदचिद्विशिष्टपरः एकशब्दः निमित्तान्तरव्युदासार्थः। अद्वितीय शब्दः एक इत्यनेन कार्यावस्थयोः एवम्भूतोऽसावात्मा स्वयमाश्रयः आधारो यस्य सः। आत्मनोपकरणभूतेन सर्वान्समष्टि व्यष्टिपदार्थान् सृजत्यवति रक्षति हन्ति संहरति। एवमप्यजः स्वशरीरभूतचिदचिद्गतोत्पत्यादिविकाररहितः। "ब्रह्मवनं ब्रह्म सवृक्ष आसीत्" (तैत्ति.ब्रा.2-8-9-6) इति श्रुत्यर्थोऽत्रानुसन्धेयः ॥ २१ ॥

एवम्भूतश्चेदसौ किमित्यस्मदादिवत् चेष्टते? अत आह - **विविधानीति**। यदपेक्षया यस्य लोकापेक्षया अनुजिघृक्षया[2-2] धर्मादिलक्षणं धर्मादिरूपम् आदिशब्दः काममोक्षसङ्ग्राहकः सर्वं श्रेयो जनयन्। लक्षणहेत्वोः इति शत्रादेशः। सम्पादयितुमित्यर्थः। विविधानि कर्माणि ईहते चेष्टते यत् यस्मात् एवं तस्मादित्युत्तरेण सम्बन्धः ॥ २२ ॥

**तस्मादिति**। महते सर्वोत्कृष्टाय कृष्णाय दीयतां क्रियतां एवञ्चेत्कृष्णाय दीयते चेत्, सर्वभूतानामात्मानो दातुश्चार्हणं बहुमानं कृतं भवेत्, सर्वान्तरात्मत्वादिति भावः ॥ २३ ॥

एतदेव व्यञ्जयन् पुनर्हेतुतया विशिंषन्नाह - **सर्वभूतेति**। सर्वभूतानामन्तरात्मभूताय अत एवानन्यदर्शिने अन्यत् स्वस्मात्पृथग्भूतं पश्यतीति अन्यदर्शी, ततो नञ् समासः तस्मै सर्वशरीरकायेत्यर्थः। इतरेत्वन्यदर्शिनः। न हि तेषामन्यतमाय दत्तमितरेभ्यो दत्तं भवतीति भावः। शान्ताय रागद्वेषादिरहिताय। इतरे त्वशान्ताः, न हि तेषां दत्तमन्यतमाय[3] दत्तमितरे सहन्त इति भावः। पूर्णाय स्वभावतोऽवाप्तसमस्तकामाय, नित्यसन्तोषिणे इति यावत्। न हि असन्तोषिणे दत्त मनन्तं भवतीति भावः। अतो दत्तस्य दानस्याऽऽनन्त्यं फलानन्त्यं इच्छता कामयमानेन उक्तविधाय कृष्णायैव देयम् ॥ २४ ॥

1. K.omits इज्याः 2- -2 K.T.W. omit 3. K.T.W. omit दत्तं

**विज०** अच्युतः गुणतः स्वरूपतो वा न क्षीणः श्रैष्ठ्यं गुणज्येष्ठयोग्याग्रपूजनं "गुणाः श्रुताः सुविरुद्धाश्च देवे सन्ति" इत्यादि श्रुतिवाक्यं हिना सूचयति। सात्वतः तन्त्रप्रणेतारः एतेषां पतिः स्वामी गतिश्च। इदञ्चाग्रपूजायोग्यत्वे लिङ्गम्। "इन्द्रो वै सर्वेषां श्रेष्ठः", "अग्निर्वै देवानां मुखम्" इत्यादेः इन्द्रादिषु सत्स्वस्य कथं सम्भवो भवतीति तत्राऽऽह एष वा इति। "यो देवानाम्" इति श्रुतिं वा इत्यनेन गृह्णाति अचेतनमपि तदधीन सत्ताकमित्याह देशेति ॥ १९ ॥

किम्बहुना, सर्वमपि तद्व्याप्तमित्याह **यदात्मकमिति**। तात्पर्यात्पुनरुक्तं करोति क्रतव इति। साङ्ख्यं यथार्थज्ञानं योगः कर्मलक्षणः यः परो विषयो यस्य स तथा ॥ २० ॥

उपसंहरति **एक** इति। एतदात्माधीनं हे सभ्याः! ऐतदात्म्य विवरणमात्मेति, उक्तार्थसमर्थनं सृजतीत्यादि ॥ २१ ॥

फलहेतुत्वाच्चाऽयमेवाऽत्र योग्यतम इत्याह- यदयमिति ॥ २२ ॥

एतत्तृप्तौ सर्वं तृप्तं स्यादिति भावेनाह एवञ्चेति। स्वस्मादन्यस्य स्वातन्त्रं न पश्यतीति अनन्यदर्शी तस्मै देवैस्सह वर्तत इति सहदेवो देवव्रतोऽपि ग्राह्यः भारते तद्वचनादग्रपूजादानाद्युक्तेः ॥ २३,२४ ॥

**श्रीशुक उवाच**[1-1]

**इत्युक्त्वा सहदेवोऽभूत्तूष्णीं कृष्णानुभाववित् ।**
**तच्छ्रुत्वा तुष्टुवुस्सर्वे साधु साध्विति सत्तमाः ॥ २५ ॥**

**श्रुत्वा[2] द्विजेरितं राजा ज्ञात्वा[3] हार्दं सभासदाम् ।**
**समार्हयद्[4] धृषीकेशं प्रीतः प्रणयविह्वलः ॥ २६ ॥**

**तत्पादाववनिज्याऽपशिरसा लोकपावनीः**
**सभार्यस्सानुजामात्यः सकुटुम्बोऽवहन्मुदा ॥ २७ ॥**

**वासोभिः पीतकौशेयैः भूषणैश्च महाधनैः ।**
**अर्हयित्वाऽश्रुपूर्णाक्षो[5] नाऽशकत्समवेक्षितुम् ॥ २८ ॥**

**इत्थं सभाजितं वीक्ष्य सर्वे प्राञ्जलयो जनाः[6] ।**
**नमो जयेति नेमुस्तं निपेतुः[7] पुष्पवृष्टयः ॥ २९॥**

**इत्थं निशम्य दमघोषसुतः स्वपीठादुत्थाय कृष्णगुणवर्णनजातमन्युः ।**
**उत्क्षिप्य बाहुमिदमाह सदस्यमर्षी[8] संश्रावयन्भगवते परुषाण्यभीतः ॥ ३० ॥**

1- -1.B.G.J.K.Ml.T.V.W. omit 2. M.Ma. °ऽनु° 3. K.T.W. जात 4. K °मार्च° 5. Ml.V. भूषयित्वा° 6. Ml.V. नृपाः 7. M.Ma. खात्पेतुः 8. M.Ma. °मर्षात्

**श्रीध० इतीति**। श्रीकृष्णानुभाववित् सहदेव इत्युक्त्वा तूष्णीमभूत् ॥ २५ ॥

**श्रुत्वेति**। द्विजेरितं साधुसाध्विति घोषं श्रुत्वा , हार्दमभिप्रायम् ॥ २६-३० ॥

**वीर०** कृष्णप्रभाववित् सहदेवस्तूष्णीं बभूव। तत्सहदेवोक्तं श्रुत्वा सर्वे सत्तमा द्वैपायनादयः साधु साध्विति तुष्टुवुः ॥ २५ ॥

**श्रुत्वेति**। द्विजेरितं साधु साध्विति घोषं श्रुत्वा सभासदां सभ्यानां जातं हार्दमभिप्रायं, ज्ञात्वा चेति शेषः। यद्वा, जातमभिव्यक्तं हार्दमभिप्रायो यस्मात्तद्द्विजेरितं श्रुत्वेत्यर्थः। राजा युधिष्ठिरः प्रीतः प्रीतियुक्तः प्रणयेन स्नेहेन विह्वलः परवशः समार्चयत् ॥ २६ ॥

अर्चनप्रकारमेवाऽऽह द्वाभ्याम् - **तत्पादाविति**। तस्य भगवतः पादाववनिज्य प्रक्षाल्य लोकान्पावयन्ति पुनन्तीति तथा, ता अपः भार्यादिसहितः शिरसा वहन् ॥ २७ ॥

पीतैः कौशेयैश्च वासोभिर्महाधनैर्बहुमूल्यैरनर्घ्यैरिति यावत्। भूषणैश्चार्हयित्वा अश्रुभिरानन्दाश्रुभिः, पूर्णे अक्षिणी यस्य सः तं भगवन्तमवेक्षितुं ना¯लं न प्रबभूव ॥ २८ ॥

**इत्थमिति**। इत्येवं सभाजितं सम्पूजितं भगवन्तमवलोक्य नमो जयेति, वदन्त इति शेषः। तं श्रीकृष्णं नेमुः नमश्चक्रुः ॥ २९ ॥

इत्थमेवम्भूतं श्रीकृष्णस्य गुणवर्णनं श्रुत्वा दमघोषसुतः शिशुपालः जातो मन्युर्यस्य सः स्वासनादुत्थाय बाहुमुत्क्षिप्य उद्धृत्य अमर्षी क्रुद्धोऽभीतश्च भगवते परुषाणि वचांसि संश्रावयन् संश्रावयितुं इदं वक्ष्यमाणमाह इत्यर्थः ॥ ३० ॥

**विज०** सत्तमाः सतां श्रेष्ठाः ॥ २५-३० ॥

**ईशो दुरत्ययः काल इति सत्यवती श्रुतिः ।**
**वृद्धानामपि यद्बुद्धिर्बालवाक्यैर्विभिद्यते ॥ ३१ ॥**

**यूयं पात्रविद्रां श्रेष्ठा मा मन्ध्वं बालभाषितम् ।**
**सदसस्पतयस्सर्वे कृष्णो यत्सम्मतोऽर्हणे ॥ ३२ ॥**

**तपोविद्याव्रतधरान् ज्ञानविध्वस्तकल्मषान् ।**
**परमर्षीन् ब्रह्मनिष्ठान् लोकपालैश्च पूजितान् ॥ ३३ ॥**

**[1]सदसस्पतीनतिक्रम्य [2]गोपोऽयं कुलपांसनः ।**
**यथा काकः पुरोडाशं सपर्यां कथमर्हति ॥ ३४ ॥**

**वर्णाश्रमकुलापेतः सर्वधर्मबहिष्कृतः ।**
**स्वैरवर्ती गुणैर्हीनः सपर्यां कथमर्हति ॥ ३५ ॥**
**ययातिनैषां हि[3] कुलं शप्तं सद्भिर्बहिष्कृतम्[4] ।**
**वृथा पानरतं[5] मत्तं[6] सपर्यां कथमर्हति ॥ ३६ ॥**

1. B.G.J. °दस्य° 2. K.M.Ma.Ml.T.V.W. गोपालः 3. K.T.W. च 4. M.Ma. °विगर्हितम्। 5. K.T.W. °प° 6. B.G.J.K.Ml.V. शश्वत् ; T.W. मत्तः

**श्रीध० यूयमिति**। हे सदसस्पतयः, यूयं सर्वे बालस्य भाषितं मा मङ्ध्वं[1] मा जानीत, मा गृह्णीत, किं तत्? यद्यतः कृष्णोऽर्हणे अग्रपूजायां[2] सम्मतस्तत् ॥ ३१ - ३३ ॥

**सदसस्पतीनिति**। अस्यैव वास्तवोऽर्थः पूर्ववदुन्नेयः, गोपाल इति वेदपृथिव्यादि पालक इत्यर्थः। कुत्सितं वेदविपरीतं लपन्तीति कुलपाः पाषण्डाः तान् अंसते समाघातयतीति कुलपांसनः[3] तथा सः अकाकः कञ्च अकञ्च काके सुखदुःखे ते न विद्येते यस्य सोऽकाकः आप्तकाम इत्यर्थः। स यथा आप्तकामो देवयोग्यं केवलं पुरोडाशमात्रं नार्हति, अपि तु सर्वस्वमपि तथाऽयं श्रीकृष्णोऽपि ब्रह्मर्षियोग्यं सपर्यामात्रं कथमर्हति, किन्तु स्वात्मसमर्पणमप्यर्हतीत्यर्थः[4] ॥ ३४ ॥

**वर्णेति**। वर्णाश्रमकुलेभ्योऽपेतो ब्रह्मत्त्वात्। "अनाम गोत्रम्" इति श्रुतेः। अत एवाऽनधिकारित्वात्। सर्वैर्धर्मैर्बहिष्कृतः स्वैरवर्ती परमेश्वरत्वात्, अत एव निर्गुणस्तम आदिरहितः। एवम्भूतो जीवानां योग्यं तुच्छं सपर्यामात्रं कथमर्हतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

**ययातिनेति**। अपि च कथं वर्णनीयो मादृशैः एषां यदूनां महिमा यस्मादेषां कुलं ययातिना शप्तमपि किं सद्भिर्बहिष्कृतमपि तु शिरसा धृतम् ,किञ्च अस्मदादि कुलवत् किं वृथा पानरतम्, अपि तु अतिनियताचारमित्यर्थः। अहो यदूनामेव तावदीदृशं माहात्म्यम्, यदुकुलवृद्धस्य ययातेश्शापो न प्राभूदित्यादि[5]। अयन्तु साक्षादीश्वरोऽतः सपर्यामात्रं कथमर्हतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

1. B.J. मन्यध्वं 2.Ml.V. omit अग्रपूजायां 3. B.J. omit ग: 4. B.J. आत्म 5. Ml.V. प्रादुर्भूयादि°

**वीर०** तदेवाऽऽह **ईश** (इत्यादि) सप्तभिः। ईशः ब्रह्मादीनामपि प्रभुः कालो दुरत्ययः दुरतिक्रमणीयः इत्येवं विधा श्रुतिः किंवदन्ती सत्यवत् यथार्था। कुतः? यत् यस्मात् वृद्धानामपि बुद्धिः बालस्य सहदेवस्य वाक्यैः भिद्यते विपरीता क्रियते इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

**यूयमिति**। हे सदसस्पतयः! बालभाषितं मा मङ्ध्वम् मा गृह्णीत। किन्तत् यदर्हणे कृष्णसम्मत इति तत् ॥ ३२ ॥

**तप** इत्यादि। तपोऽनशनादि, विद्या शास्त्रजन्यं ज्ञानं, व्रतं कृच्छ्रादि, एतानि धरन्तीति तथा तान्, ज्ञानं परमात्मोपासनात्मकं, तेन विध्वस्तं कल्मषं पापं येषां तान्, ब्रह्मणि, परस्मिन् निष्ठा येषां तान् साक्षात्कृतब्रह्मस्वरूपान् इति यावत्। एवम्भूतान् परमर्षीनतिक्रम्य अनादृत्य कुलाधमोऽसौ गोपालः काकः पुरोडाशमिव सपर्यां प्रति कथमर्हति ? ॥ ३३, ३४ ॥

किञ्च। **वर्णेति**। वर्णादिभ्योऽपेतः भ्रष्टः सर्वस्माद्वर्णादिप्रयुक्तधर्मात् बहिष्कृतश्च स्वैरं स्वच्छन्दं वर्तत इति तथा गुणैः निरवद्यैर्हीनो रहितः ॥ ३५ ॥

**ययातिनेति** । एषां यदूनां कुलं ययातिना तत्कूटस्थेन शप्तं सद्भिः कुलीनैः बहिष्कृतश्च शश्वत् सदा वृथा पापे रतं तत्परम् ॥ ३६ ॥

1. B. इत्यर्थः 2. B. स्वेच्छं

विज० "ईशः कालो दुरत्ययः" इति श्रुतिः। सत्यवती अबाधितार्था। तदुपपादयति वृद्धानामिति ॥ ३१ ॥

मामन्ध्वम् । हे सर्वे सदसस्पतयः। किं बालभाषितं तदाह - कृष्ण इति ॥ ३२,३३ ॥

अतिव्रज्यातिक्रम्य कुलकर्मणि एते इत्याह - गोप इति ॥ ३४ ॥

एतदेव विवृणोति **वर्णेति** ॥ ३५ ॥

यदोर्वंशे जातत्वात् कथं कुलाभाव इति । तत्राऽऽह - **ययातिनेति** ॥ ३६ ॥

**ब्रह्मर्षिसेवितान् देशान् हित्वा[1] तत्ब्रह्मवर्चसम्[2] ।**
**समुद्रं दुर्गमाश्रित्य बाधन्ते दस्यवः प्रजाः। ॥ ३७ ॥***

**एवमादीन्यभद्राणि बभाषे नष्टमङ्गलः ।**
**नोवाच किञ्चिद्भगवान् यथा सिंहशिवारुतम् ॥ ३८ ॥**

**भगवन्निन्दनं श्रुत्वा दुस्सहं तत्सभासदः[3] ।**
**कर्णौ पिधाय निर्जग्मुः शपन्तश्चेदिपं रुषा ॥ ३९ ॥**

निन्दां भगवतः श्रुण्वन् तत्परस्य जनस्य वा ।
ततो नापैति यस्सोऽपि यात्यधस्सुकृताच्च्युतः ॥ ४० ॥

ततः पाण्डुसुताः क्रुद्धा मत्स्याः[5] केकयसृञ्जयाः ।
उदायुधास्समुत्तस्थुः शिशुपालजिघांसवः ॥ ४१ ॥

ततश्चैद्यस्त्वसम्भ्रान्तो जगृहे खड्गचर्मणी ।
भर्त्सयन् कृष्णपक्षीयान् राज्ञस्सदसि भारत! ॥ ४२ ॥

1. B.G.J.M.Ma.Ml.V. °त्वैतेऽब्र° 2. M.Ma. सः। *Ml.V. add श्रीशुक उवाच 3.K.T.W. ते स° 4. M.Ma. च 5. B.G.J.M.Ma.Ml.V. मत्स्यकै°

**श्रीध० ब्रह्मर्षिरिति**। किञ्च ये राजानो। दुष्टानुच्चाटयन्ति, तदर्थं कीकटादि देशानप्याश्रयन्ति, एते तु ब्रह्मर्षिसेवितानेव देशानाश्रित्य अब्रह्मवर्चसं समुद्रं दुर्गमपि हित्वा हापयित्वेत्यर्थः। बाधन्ते, तथा याः दस्यवः प्रजाः ताश्च अयमर्थः- वेदतदर्थाभियोगो ब्रह्मवर्चसं, तदविरुद्धमब्रह्मवर्चसं समुद्रं, मुद्राऽत्र[1] लिङ्गं तत्सहितं समुद्रं वेदविरुद्धलिङ्गधारिणं पाषण्डमित्यर्थः। तल्लिङ्गं त्याजयित्वा बाधन्ते दण्डयन्ति। कथम्भूतम् दुर्गम्? धर्मवत्प्रतीतेरधर्मतया दुर्ज्ञेयमित्यर्थः। तथा दस्यवो दस्यूनपि प्रजावेषेण वर्तमानान् दण्डयन्ति। अतो यदुभ्योऽन्यः को नाम धार्मिकोऽस्तीति पारुष्यं[2] तत्वार्थमेव ॥ ३७ ॥

**एवमिति**। शिवा फेरुः तस्या रुतं श्रुत्वा यथा सिंहो न किञ्चिद्ब्रूते, तद्वत् ॥ ३८-४२ ॥

1. Ml.V. omit अत्र 2. B.J. °ष्यन्तूक्तार्थ

**वीर०** ब्रह्मर्षिसेवितार्यावर्तादीन् देशान् हित्वा तपोब्रह्मवर्चसञ्च त्यक्त्वा समुद्रं तन्मध्यस्थं दुर्गं निषिद्धञ्च देशमाश्रित्य दस्युवत् दुष्टसत्त्ववत् प्रजाः जनान् बाधन्ते ॥ ३७ ॥

**एवमिति**। नष्टं मङ्गलं यस्य सः, हेतुगर्भमिदम्। एवमादीन्यभद्राणि परुषाणि बभाषे। भगवांस्तु यथा सिंहः शिवा-रुतं, शिवा फेरुः तस्याः रुतं ध्वनिं[1] श्रुत्वा तूष्णीमासीत्तथा किञ्चिदपि नोवाच, तूष्णीं बभूवेत्यर्थः ॥ ३८ ॥

**भगवन्निन्दनमिति**। कर्णौ पिधायऽऽच्छाद्य रुषा चेदिपं चैद्यं शिशुपालं शपन्तो जग्मुः ॥ ३९ ॥

कुतो विनिर्जग्मुरिति, अत्र अनिर्गमने प्रत्यवायमाह - **निन्दामिति**। तत्परस्य भगवत्परस्य च जनस्य निन्दां श्रुत्वा यो जनः पुमान् ततो नापेति न निर्गच्छति, सोऽपि श्रोताऽपि, अपि शब्दान्निन्दकोऽपि कादपि सुकृतात् च्युतः भ्रष्टः अधः नरके पततीत्यर्थः ॥ ४०॥

ततः सभासदां निर्गमनानन्तरं मत्स्यादयश्च उत्थाय क्रुद्धाः[2] शिशुपालं हन्तुमिच्छवः उदायुधाः उद्धृतान्यायुधानि यैस्ते, उत्तस्थुः ॥ ४१ ॥

**तत** इति। असम्भ्रान्तोऽवहितः। हे भारत! कृष्णपक्षीयान्राज्ञो भूपान् भर्त्सयन् खड्गखेटौ जग्राह ॥ ४२ ॥

1. B. शब्द 2. T.W. omit क्रुद्धाः

**विज०** अब्रह्मवर्चसः गायत्रीजपसम्बन्धतेजोरहिताः ब्रह्म वेदः तत्सम्बन्धवचोयुक्तान् देशान्वा। समुद्रमित्यादिना दाशसाम्यमापादयति ॥ ३७ ॥

शिवारुतम् सृगालशब्दितम् ॥ ३८,३९ ॥

कुतो निर्गमनमिति तत्राऽऽह - **निन्दामिति** ॥ ४० -४२ ॥

**तावदुत्थाय भगवान् स्वान्निवार्य[1] स्वयं रुषा ।**
**शिरः क्षुरान्तचक्रेण जहाराऽऽपततो रिपोः ॥ ४३ ॥**

**शब्दः कोलाहलोऽप्यासीच्छिशुपाले[2] हते महान् ।**
**तस्यानुयायिनो[3] भूपा दुद्रुवुर्जीवितैषिणः ॥ ४४ ॥**

**चैद्यदेहोत्थितं[4] ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत् ।**
**पश्यतां सर्वभूतानामुल्केव भुवि खाच्च्युता ॥ ४५ ॥**

**जन्मत्रयानुगुणितवैरसंरब्धया धिया ।**
**ध्यायंस्तन्मयतां यातो[5] भावो हि भवकारणम् ॥ ४६ ॥**

**ऋत्विग्भ्यस्स सदस्येभ्यो दक्षिणां विपुलामदात् ।**
**सर्वान्संपूज्य विधिवच्चक्रेऽवभृथमेकराट् ॥ ४७ ॥**

**साधयित्वा क्रतुं राज्ञः कृष्णो योगेश्वरेश्वरः[6] ।**
**[7-]उवास कतिचिन्मासान् सुहृद्भिरभियाचितः[-7] ॥ ४८ ॥**

1. M.Ma.T.W. ता° 2. K.Ml.V. °लो ह्या° 3. M.Ma.. तत्राततायि° 4. M.Ma. °हस्थि° 5. Ml.V. नीतः 6. K.T.W. °गी° 7- -7. M.Ma. हत्वा च चेदिपं तत्र विजहार यथा सुखम् ॥

**श्रीध० तावदिति**। तावदुत्थायेत्यस्य अयं अभिप्रायः, एष मत्पार्षदो मत्तुल्यबलः सर्वानेतान्हन्यात्। अतो मयैव शीघ्रं हन्तव्य इति तत्क्षणमेव उत्थाय शिरो जहारेति ॥ ४३-४५ ॥

नन्वेवं निन्दकस्य कथं वासुदेवे प्रवेशः ? तत्राह - **जन्मत्रयेति**। जन्मत्रयेऽनुगुणितमनुवर्तिनं यद्वैरं तेन संरब्धयाऽऽविष्टया तन्मयतां तत्स्वरूपतां यातः पुनः पार्षदो बभूवेत्यर्थः। अत्र हेतुः भावो हीति। भावो भावना अनुध्यानं भवस्य ध्येयाकारजन्मनः कारणं पेशस्कारिध्यानेन कीटादौ तथा दृष्टत्वादित्यर्थः ॥ ४६-४८ ॥

**वीर० तावदिति**। तावत् तत्क्षण मेव उत्थाय स्वान् स्वकीयान्[1]निवार्य रुषा क्षुरस्येवान्तो धारा यस्य तेन चक्रेणऽऽपततो रिपोः शिरो जहार चिच्छेद ॥ ४३ ॥

**शब्द** इति। शिशुपाले हते सति महानुच्चैः कोलाहलः कलकलशब्दः आसीत्। तस्य चैद्यस्यानुयायायिनोऽनुवर्तिनो भूपाः जीवितेच्छवः दुद्रुवुः ॥ ४४ ॥

**चैद्येति**। सर्वभूतानां पश्यतां सतां खात् आकाशात् च्युता उल्का भुवीव चैद्यस्य देहादुत्थितं तेजो जीवात्मकं वासुदेवं श्रीकृष्णम् उपाविशत् तावत् प्रविश्य ततः तत् साधर्म्यमवाप[2] इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

तदेव व्यञ्जयन् कथं तन्निन्दकस्य तत्साधर्म्य प्राप्तिरिति शङ्काञ्च निराकुर्वन्नाह - **जन्मत्रय** इति। जन्मत्रयेनानुगुणितमनुवर्तितं यद्वैरं तेन संरब्धया आविष्टया धिया ध्यायंस्तन्मयतां तत्प्रचुरतां तत्साधर्म्यमिति यावत्। यातः प्राप्तःपार्षदो बभूवेत्यर्थः। हि यस्मात् भावः चित्तवृत्तिः भवकारणं शुभाशुभजन्मनोः निदानम् । अतः शुभाश्रयविषयो भावः शुभभव कारणं बभूवेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

**ऋत्विग्भ्य** इति। एकराट् युधिष्ठिरः, सदसि भवाः सदस्याः तैः सहितेभ्यः [3-]ऋत्विग्भ्यः[-3] विपुलां महतीं दक्षिणां ददौ। ततो विधिवदवभृथं नाम स्नानं चक्रे ॥ ४७ ॥

**साधयित्वेति**। राज्ञो युधिष्ठिरस्य क्रतुं राजसूयं साधयित्वा सुहृद्भिः पृथादिभिः याचितः प्रार्थितः कतिचिन्मासानुवास उषितवान्। मासानित्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया ॥ ४८ ॥

1. K.T.W. स्वपक्षीयान्नि° 2. K.T.W. °माप 3- -3 T.W. omit

**विज०** स्ववचनं सत्यं कर्तुं तावत्ततः पूर्वमेव कृष्णः क्षुरान्तचक्रेण क्षुरधारसुदर्शनेन रिपोः शिरो जहार इत्यन्वयः ॥ ४३, ४४ ॥

ज्योतिर्जयचैतन्यात्मकं खादाकाशात् च्युतोल्का भुवीव ॥ ४५ ॥

जन्मत्रयेऽनुगुणितेन संवर्धितेन वैरेण शत्रुभावेन विशिष्टेन इतरेण ज्ञानेन संरब्धया समुद्रिक्तया धिया ध्यायं स्तन्मयता द्वेषमयतां असुरो भगवत्प्रधानतां जयो यातः तथा हि भावो भक्तिर्भावकारणं माङ्गल्यकारणं भवति ॥ ४६॥

भगवतेऽग्रपूजासमर्पणेन युधिष्ठिरः कृतकृत्यः, किमुत ऋत्विगादिभ्योऽपि यथार्विहितदक्षिणामदादिति तत्राऽऽह - ऋत्विग्भ्य इत्यादिना। एकराट् चक्रवर्ती ॥ ४७ ,४८ ॥

* ततोऽनुज्ञाप्य राजानमनिच्छन्तमपीश्वरः ।
ययौ सभार्यस्सामात्यः स्वपुरं देवकीसुतः ॥ ४९ ॥

○ वर्णितं तदुपाख्यानं मया ते बहुविस्तरम् ।
वैकुण्ठवासिनोर्जन्म विप्रशापात् पुनः पुनः ॥ ५० ॥

राजासूयावभृथ्येन स्नातो राजा युधिष्ठिरः ।
ब्रह्मक्षत्रसभामध्ये शुशुभे सुरराडिव[1] ॥ ५१ ॥

राज्ञा सभाजितास्सर्वे सुरमानवखेचराः ।
कृष्णं क्रतुञ्च शंसन्तः स्वधामानि मुदा ययुः ॥ ५२ ॥

★ दुर्योधनमृते पापं कलिं कुरुकुलामयम् ।
यो न सेहे श्रियं स्फीतां दृष्ट्वा पाण्डुसुतस्य ताम् ॥ ५३ ॥

य इदं कीर्तयेद्विष्णोः कर्म चैद्यवधादिकम् ।
राजमोक्षं वितानञ्च[2] सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे चतुस्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

* This verse is not found in M.Ma. Edns. only. ○ अयं श्लोकः M.Ma. प्रकाशेषु 'भवकारणम्' इति श्लोकादनन्तरं दृश्यते । 1. Ml.V. देव° ★अयं श्लोकः M.Ma. प्रकाशेषु न दृश्यते। 2. K.T.W. °ज्ञां

**श्रीध० ब्रह्मेति**। सुरा मानवाः खेचराः प्रमथाश्च ॥ ४९-५२ ॥

**दुर्योधनमिति**। पापं धर्मद्विषम्। अत्र हेतुः कलिं कलेरंशं अत एव कुरुकुलस्याऽऽमयं व्याधिवत्[1] नाशकम् ॥ ५३ ॥

**य इति** । वितानं यज्ञञ्च ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां चतुस्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

1. Ml.V. धि° ना°

**वीर० तत** इति। ईश्वरो भगवान् स्वगमनमनिच्छन्तमपि [1-]राजानं युधिष्ठिरमनुज्ञाप्य राजानं प्रत्यनुज्ञां प्राप्येत्यर्थः[-1]। स्वपुरं द्वारकां प्रति ययौ ॥ ४९ ॥

जन्मत्रयानुगुणितवैरविस्तरबभुत्सुमालक्ष्याऽऽह - **वर्णितमिति**। वैकुण्ठवासिनोः जयविजययोः विप्राणां सनकादीनां शापाद्धेतोः पुनः पुनः जन्म तद्विषयं यदुपाख्यानं तन्मया तुभ्यं बहुविस्तरं यथा तथा वर्णितम् ॥ ५० ॥

**राजसूयेति**। राजसूयसम्बन्धिना अवभृथेन स्नातः सुरराडिन्द्र इव शुशुभे ॥ ५१ ॥

**राज्ञेति**। राज्ञा युधिष्ठिरेण सम्पूजिताः सर्वे सुरा मानवाः खेचरा अमराश्च शंसन्तः स्तुवन्तः मुदा हर्षेण स्वधामानि स्वस्थानानि [2]प्रति ययुः ॥ ५२ ॥

किं सर्वे मुदा ययुः? नेत्याह - **दुर्योधनमिति**। दुर्योधनमेकं विना सर्वे मुदा ययुः। तत्र हेतुत्वेन [3]तं विशिनष्टि पापः अत एव कलिं धर्मद्विषं कुरुकुलस्याऽऽमयं रोगवन्नाशनिदानम्। किञ्च [4]यो दुर्योधनः समृद्धां पाण्डुसुतस्य श्रियं सम्पदं दृष्ट्वा न सेहे न सोढवान् ॥ ५३ ॥

उपवर्णितोपाख्यानकीर्तनफलमाह - **य** इति। राज्ञां जरासन्धबन्धीकृतानां मोक्षणं ततस्त्याजनं, वितानं यज्ञं च य कीर्तयेदनुवर्णयेत्सः सर्वैः पापैः प्रमुच्यते ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां चतुस्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

1- -1 K.T.W. omit 2. K.T.W. omit प्रति 3. K.T.W. omit तं 4. B. omits यो

**विज०** तयोरुपाख्यानं वैकुण्ठवासिनोर्जयविजययोः विप्रशापात् पुनः पुनः जन्म ॥ ५० ॥

राजसूयावभृथविहितकर्मणा ब्रह्मणां विप्राणां क्षत्राणां मण्डलेश्वराणां सभामध्ये स्वराडिन्द्रः ॥ ५१-५३ ॥

बन्धुभूत शिशुपालवधलक्षणं हरेः कर्म न पुण्यसाधनं, किन्तुतद्विपरीतकारणमिति मन्दाशङ्कां परिहरन् फलमाह-इदमिति ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे चतुस्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

(विजयध्वजरीत्या द्व्यशीतितमोऽध्यायः)

# पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या त्र्यशीतितमोध्यायः)

राजोवाच

अजातशत्रोस्तं दृष्ट्वा राजसूय महोदयम् ।
सर्वे मुमुदिरे ब्रह्मन्[1-] नृ देवा[-1] ये समागताः ॥ १ ॥

दुर्योधनं वर्जयित्वा राजान[2]मृषयस्सुराः ।
इति श्रुतं नो भगव[3]न्नत्र कारणमुच्यताम् ॥ २ ॥

श्री[4-]शुक उवा[-4]च

पितामहस्य ते यज्ञे राजसूये महात्मनः ।
बान्धवाः परिचर्यायां तस्यासन् प्रेमबन्धनाः ॥ ३ ॥

भीमो महानसाध्यक्षो धनाध्यक्षस्सुयोधनः ।
सहदेवस्तु पूजायां नकुलो द्रव्यसाधने ॥ ४ ॥

[5]सतां शुश्रूषणे जिष्णुः कृष्णः पादावने जने ।
परिवेषणे द्रुपदजः कर्णो दाने महामनाः ॥ ५ ॥

1- -1 M, Ma देवा ये च 2. B, G, J °नः सर्षयः° ; M, Ma °नः ऋषय° 3. B, G, J, K, M, MA , T, W °वस्त° 4- -4 B, G, J ऋषिरुवाच 5. B, G, J. गुरु

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पञ्चयुक्सप्ततितमे यज्ञावभृथसम्भ्रमः। सुयोधनस्य चाक्षान्त्या मानभङ्गो दृशि भ्रमात् ॥

दुर्योधनस्य एकस्यैव दुःखे कारणं प्रष्टुमुक्तमनुवदति **अजातशत्रोरिति** ॥ १ ॥

**दुर्योधनमिति**। इति श्रुतं त्वन्मुखादेवेत्यर्थः ॥ २ ॥

दुर्योधनस्य असहनकारणत्वेन यागमहोत्सवमेव पुनः सिंहावलोकनेन निरूपयति - **पितामहस्येत्यादिना** 'एकदान्तःपुरे तस्ये' त्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन, प्रेमबन्धनाः प्रेमयन्त्रिताः ॥ ३ ॥

**भीम** इति। पूजायां सम्मानने[1] द्रव्यसाधने नानावस्तुसम्पादने ॥ ४ ॥

**सतामिति**। गुरूणां[2] शुश्रूषणे चन्दनाऽऽलेपनादौ ॥ ५ ॥

1. Ml, V सम्माने 2. Ml, V omit गुरूणां

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

"दुर्योधनमृते पापम्" (भाग. 10-74-53) इत्यस्यैव विस्तरबुभुत्सया प्रष्टुमुक्तमनुवदति राजा **अजातशत्रोरिति** द्वाभ्याम्। राजसूयस्य[1] महोदयं महोत्सवं दृष्ट्वा मुमुदिरे सन्तुतुषुरिति नोऽस्माभिः श्रुतम् त्वन्मुखादेवेत्यर्थः। हे भगवन्! तत्र दुर्योधनसन्तोषे कारणमुच्यताम् ॥ १,२॥

तद्वक्तुं प्रस्तौति - **पितामहस्येति**। ते तव पितामहस्य महात्मनो राज्ञो युधिष्ठिरस्य राजसूये तस्य राज्ञो बान्धवाः प्रेमबन्धनाः प्रेमयन्त्रिताः परिचर्यायामासन् परिचेरुरित्यर्थः ॥ ३ ॥

तदेव प्रपञ्चयति - **भीम** इति। महानसाध्यक्षः पाकशालाध्यक्षो बभूव। सुयोधनो दुर्योधनः[2] धनाध्यक्ष आस, पूजायां सम्मानने सहदेवः[3], द्रव्यसाधने नानावस्तुसम्पादने नकुलोऽभवदित्यर्थः[4-4] ॥ ४ ॥

जिष्णुरर्जुनः सतां शुश्रूषणे चन्दनलेपनादौ, कृष्णप्रादावनेजने पादप्रक्षालने, द्रुपदजः धृष्टद्युम्नः परिवेषणे भक्ष्यभोज्यादि विनियोगे कर्णस्तु दाने निरूपितः इति वचनपरिणामेन उत्तरत्र सम्बन्धः ॥ ५ ॥

1. T, W. °य महोत्सवं 2. B omits दुर्योधनः 3. T, W omit सहदेवः 4- -4 T, W omit

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

अनेनान्तरातीताध्यायोक्तमेव प्रश्नपूर्वकं विस्तृत्य कथयति **अजातशत्रोरित्यदिना** ॥ १ -५ ॥

युयुधानो विकर्णश्च हार्दिक्य[1] विदुरादयः ।
बाह्लीकपुत्रा भूर्याद्या ये च सन्तर्दनादयः ॥ ६ ॥

निरूपिता महायज्ञे नानाकर्मसु[2-] ते तदा[-2] ।
प्रवर्तन्ते स्म राजेन्द्र! राज्ञः प्रिय चिकीर्षवः[3] ॥ ७ ॥

ऋत्विक्सदस्य बहुवित्सु सुहृत्तमेषु स्विष्टेषु सूनृत समर्हण[4] दक्षिणाभिः ।
चैद्ये च साच्वतपतेश्चरणं प्रविष्टे चक्रुस्ततस्त्ववभृथस्नपनं द्युनद्याम् ॥ ८॥

मृदङ्ग शङ्खपणवास्तूर्याश्छानक[5-] गो मुखाः[-5] ।
वादित्राणि विचित्राणि नेदुरावभृथोत्सवे[6-] ॥ ९ ॥

नर्तक्यो ननृतुर्हृष्टा गायका यूथशो जगुः ।
वीणा वेणुतलोन्नादस्तेषां सदिवमस्पृशत् ॥ १० ॥

1. B,G,J,M,Ma °क्यो 2- -2 M, Ma विशारदा: 3. M, Ma °या 4. M, Ma महार्हण 5- -5 B, G, J °व धुन्धुर्यानक° ; K, T, W °व दुन्दुभ्यानक° ; M, Ma °व स तूर्यानक° 6- -6 M, Ma °रारान्महो°

**श्रीध० निरूपिता** इति। निरूपिताः नियुक्तास्सन्तः नानाकर्मसु प्रवर्तन्ते स्म ॥ ६,७ ॥

**ऋत्विगिति**। ऋत्विजश्च सदस्याश्च सभासदः बहुविदश्च ऋत्विजश्च तेषु स्विष्टेषु सम्यक् पूजितेषु सूनृतम् प्रियवाक्। समर्हणमलङ्कारादि दक्षिणाश्च प्रसिद्धाः[1] ताभिः द्युनद्यां गङ्गायाम् ॥ ८ -१० ॥

1. MI . V . omit प्रसिद्धाः

**वीर०** युयुधानस्सत्यकिः तत्प्रभृतयः महायज्ञे नानाकर्मसु निरूपितास्सन्तः राज्ञो युधिष्ठिरस्य प्रियं कर्तुमिच्छवः यथा नियोगं प्रवर्तन्ते स्म प्रावर्तन्त ॥ ६, ७ ॥

**ऋत्विगिति**। ऋत्विजश्च सदस्याश्च बहुविदश्च तेषु सुहृत्तमेषु च सूनृतादिभिः स्विष्टेषु, सम्यक् पूजितेषु सत्सु तत्र सूनृतं प्रियवाक्यं, अर्हणमलङ्कारादि, सात्वतपतेः श्रीकृष्णस्य चरणं प्रविष्टे सति च द्युनद्यां गङ्गायां अवभृथस्नपनं चक्रुः ॥ ८ ॥

तदेव प्रपञ्चयितुं तावद्गङ्गां प्रति गमनारम्भं प्रस्तौति - **मृदङ्गेति**। अवभृथे अवभृथसम्बन्धिनि उत्सवे मृदङ्गादयः। अन्यानि वादित्राणि वाद्यानि च विचित्राणि नेदुः दध्वनुः ॥ ९ ॥

**नर्तक्य** इति । तेषां च तासां च तेषां "पुमान्स्त्रियां इत्येक शेषः"। गायकानां नर्तकीनां चेत्यर्थः। वीणादीनां नादः, यद्वा तेषां मृदङ्गादीनां वीणादीनां च स प्रसिद्धो नादः दिवमन्तरिक्षमस्पृशत् व्याप्तवान्[1] ॥ १० ॥

1. T, W व्याप्तम् ।

**विज०** ऋत्विजश्च सदस्याश्च बहुविदश्च ते तथा तेषु सुहृत्तमेषु स्विष्टेषु सुष्ठु पूजितेषु सत्सु ततः कालव्यवधानमन्तरेण ॥ ६-८॥

आरादूरे समीपे च ॥ ९, १० ॥

**चित्रध्वजपताकाग्रैरिभेन्द्रस्यन्दनार्वभिः[1] ।**
**स्वलङ्कृतैर्भटैः भूपाः निर्ययू रुक्ममालिनः ॥ ११ ॥**

**यदुसृञ्जयकाम्भोजकुरुकेकयकोसलाः[3] ।**
**कम्पयन्तो भुवं सैन्यैर्यजमान पुरस्सराः[4] ॥ १२ ॥**

**सदस्यार्त्वग्द्विजश्रेष्ठा ब्रह्मघोषेण भूयसा ।**
**देवर्षि पितृगन्धर्वास्तुष्टुवुः पुष्पवर्षिणः ॥ १३ ॥**

**स्वलङ्कृता नरा नार्यो गन्धस्रग्भूषणाम्बरैः ।**
**विलिम्पन्त्योऽभिषिञ्चन्त्यो[5] विजह्रुर्विविधै रसैः[6] ॥ १४ ॥**

**तैलगोरस गन्धोदहरिद्रासान्द्रकुङ्कुमैः ।**
**पुम्भिर्लिप्ताः प्रलिम्पन्त्यो विजह्रुर्वीरयोषितः ॥ १५ ॥**

1. M. Ma °द्यै° 2. M, Ma °दि° 3. B, G, J, M, Ma °म्बो° 4. M, Ma °रैः 5. K.T.M.Ma W. °न्तो 6. K.T.M, Ma.W °न्तो

**श्रीध० चित्रेति**। चित्राणि ध्वजपताकाग्राणि येषु तैः इभेन्द्रैः स्यन्दनैः अर्वभिः अश्वैर्भटैश्च एवं चतुरङ्गसैन्यैः[1] निर्ययुः ॥ ११ ॥

**यदुसृञ्जयेति**। यजमानो युधिष्ठिरः पुरस्सरो येषां ते ॥ १२ ॥

**सदस्येति**। सदस्या ऋत्विजः अन्ये च द्विजश्रेष्ठाः निर्ययुः ॥ १३ ॥

**स्वलङ्कृता** इति। किञ्च गन्धादिभिः स्वलङ्कृताः नरा नार्यश्च रसैः[2] मिथो विजह्रुः ॥ १४ ॥

रसानेवाह-**तैलेति**। किञ्च सान्द्रकुङ्कुमादिभिः पुम्भिर्लिप्तास्तान् प्रलिम्पन्त्यो वारयोषितश्च विजह्रुः ॥ १५ ॥

1. B, J °ङ्गै : 2. B, J omit रसैः

**वीर० चित्रेति**। रुक्ममालाः स्वर्णमालाः एषां सन्तीति तथा, व्रीह्यादित्वात् मत्वर्थीय इनिः। ते भूपाः चित्राः ध्वजादयो येषां तैः इभेन्द्रादिभिः स्वलङ्कृतैः भटैश्च सह निर्जग्मुः ॥ ११ ॥

**यद्विति**। यजमानो युधिष्ठिरः पुरस्सरः पुरो यायी येषां ते यद्वादयः सैन्यैः भुवं कम्पयन्तो निर्ययुरिति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ १२ ॥

**सदस्येति**। सदस्यादयो भूयसा ब्रह्मघोषेण निर्ययुः तदा देवादयः पुष्पवर्षिणः तुष्टुवुश्च ॥१३ ॥

किञ्च गन्धादिभिः स्वलङ्कृताः नराः नार्यश्च विविधैः रसै विलिम्पन्तोऽभिषिञ्चन्तश्च मिथो विजह्रुः ॥ १४ ॥

रसानेवाह - **तैलेति**। पुम्भिः कर्तृभिः तैलादिभिः लिप्ताः वारयोषितः पुनस्तै र्विलिम्पन्त्यः विजह्रुः गोरसो दधिक्षीरादिः गन्धोदिकं चन्दनोदकम् ॥ १५ ॥

**विज०** रसैश्च हरिद्रादिरागजलैः ॥ ११ -१४ ॥

एतदेवाह - **तैलेत्यादिना** ॥ १५ ॥

**गुप्ता नृभिर्निरगमन्नुपलब्धुमेतद्देव्यो यथा दिवि विमानवरैर्नृदेव्यः ।**
**ता मातुलेय सखिभिः परिसिच्यमान स्सव्रीडहासविकसद्वदना विरेजुः ॥ १६ ॥**

**ता देवरानुत सखीन् सिषिचुर्दृतीभिः क्लिन्नाम्बरा विवृतगात्रकुचोरुमध्याः ।**
**औत्सुक्यमुक्तकबरच्यवमानमाल्याः क्षोभं दधुर्मलधियां रुचिरैर्विहारैः ॥ १७ ॥**

**स सम्राड्रथमारूढः सदश्वं रुक्ममालिनम् ।**
**व्यरोचत स्वपत्नीभिः क्रियाभिः क्रतुराडिव ॥ १८ ॥**

**पत्नीसंयाजावभृथैश्चरित्वा ते तमृत्विजः ।**
**आचान्तं स्नापयाञ्चक्रुर्गङ्गायां सह कृष्णया ॥ १९ ॥**
**देवदुन्दुभयोर्नेदुः नरदुन्दुभिभिस्सह ।**
**मुमुचुः पुष्पवर्षाणि देवर्षि पितृमानवाः ॥ २० ॥**

1. Ml, V किल 2. B, G, J, राज्ञ्य° 3. M, Ma स्समेताः 4. Ml, V °रुह्य° 5.M, Ma दिवि

**श्रीध० गुप्ता** इति। नृभिर्गुप्ताः रथादियानैः नृदेव्यः राजपत्न्यो निरगमन् निर्गताः[1] , एतदुपलब्धुं विमानवरैः देव्यो यथा, तद्वत् मातुलेयैस्सखिभिश्च परितः सिच्यमानाः सव्रीडेन हासेन विकसन्ति वदनानि यासां ताः ॥ १६ ॥

**ता** इति। देवरान् पतिभ्रातॄन् उत सखीन् सखीनपि दृतीभिः उदकनोदनचर्मयन्त्रैः सेचन पात्रैश्च, मलधियां कामिनाम् ॥ १७ ॥

**स** इति। क्रियाभिः अङ्गक्रियाभिः[2] क्रतुराट् सशरीरो राजसूय इव ॥ १८ ॥

**पत्नीति**। पत्नीसंयाजाः[3] यागविशेषाः[4] अवभृथसम्बन्धि आवभृथ्यं च तैश्चरित्वा तान्यनुष्ठायेत्यर्थः ॥ १९, २० ॥

1. B, J. निरगुः 2. Ml, V अङ्गेष्टिभिः 3. B, J. °ज: 4. B, J. °ष:

**वीर० गुप्ता** इति। दिवि यथा विमानश्रेष्ठैः देव्यो देवपत्न्यः[1] देवस्त्रियः तथा नृदेव्यः राज्ञां स्त्रियः नृभिः भटैः गुप्ताः रथादि यानैः एतदवभृथस्नपनमुपलब्धुं द्रष्टुं निरगमन् निर्जग्मुः ताः नृदेव्यः मातुलेयैः सखिभिश्च सिच्यमानाः सव्रीडेन हासेन विकसन्ति वदनानि यासां ताः विरेजुः ॥ १६ ॥

**ता** इति। ताः नृदेव्यः दृतीभिः उदकनोदनचर्मयन्त्रैः। देवरान् पतिभ्रातॄन् उत सखीन् सखीनपि सिषिचुः। स्वयं च तैः सिक्ताः क्लिष्टानि सिक्तानि अम्बराणि यासां ताः, अत एव विवृतं व्यक्तं गात्रं शरीरम्। कुचौ ऊरू मध्यप्रदेशश्च यासां ताः, औत्सुक्यात् तत् प्रयुक्त जलक्रीडातिशयात् मुक्तेभ्यः श्लथेभ्यः कबरेभ्यः केशबन्धेभ्यः[2-2] च्यव मानानि गलन्ति माल्यानि पुष्पाणि यासां ताः, रुचिरैः विहारैः मलधियां कामिनां क्षोभं चित्तचाञ्चल्यं कामोद्रेकमिति यावत् दधुश्चक्रुः ॥ १७ ॥

**स** इति। सन्तस्समीचीनाः अश्वाः यस्य रुक्ममाला अस्य सन्तीति तथा तं रथमारूढः सम्राड्युधिष्ठिरः क्रियाभिः अङ्गक्रियाभिः प्रयाजादिभिः क्रतुराट् राजसूय इव स्वपत्नीभिः व्यरोचत रराज ॥ १८ ॥

**पत्नीति**। पत्नीसंयाजाः यागविशेषाः अवभृथस्य सम्बन्धि आवभृथ्यं तच्च कर्म चरित्वा अनुष्ठाय ते[3] ऋत्विजः तं सम्राजमाचान्तं कृताचमनं कृष्णया द्रौपद्या च सहितं स्नापयाञ्चक्रुः ॥ १९ ॥

**देवदुन्दुभय इति**। नराणां दुन्दुभिभिः समं सह देवानां दुन्दुभयो नेदुः, देवादयः पुष्पवर्षाणि मुमुचुः॥ २० ॥

---

1. K.T, W. omit देवपत्न्यः 2- -2 B omits 3. K.T,W omit ते

**विज०** नृदेव्यः राज्ञ्यः एतदुपालब्धुं चक्षुर्विषयं स्थलं निरगमन् इत्यन्वयः। देव्यः देवस्त्रियः मातुलेयैः सखिभिश्च ॥ १६॥

दृतीभिः जलसेचनपात्रैः मलधियां विषयाविष्टानां रुचिरैः भूषणैः समेताः ॥ १७, १८ ॥

पत्नी संयाजावभृथ्याख्येष्टिभिः चरित्वा कृत्वा ॥ १९, २० ॥

**सस्नुस्तत्र ततस्सर्वे वर्णाश्रमयुता जनाः[1] ।**
*** महापातक्यपि यतस्सद्यो मुच्येत किल्बिषात् ॥ २१ ॥**

**अथ राजाऽहते क्षौमे परिधाय स्वलङ्कृतः ।**
**ऋत्विक्सदस्य विप्रादीनानर्चाभरणाम्बरैः ॥ २२ ॥**

**बन्धुज्ञाति[2-] नृपान् मित्रसुहृदोऽन्यांश्च[-2] सर्वशः ।**
**अभीक्ष्णं पूजयामास नारायणपरो नृपः ॥ २३ ॥**

**सर्वे जनास्सुररुचो मणिकुण्डलस्रगुष्णीषकञ्चुकदुकूलमहार्घ[3]हाराः ।**
**नार्यश्च कुण्डलयुगालकबृन्दजुष्टवक्त्रश्रियःकनकमेखलया विरेजुः॥ २४॥**

**अथर्त्विजो महाशीलाः[4] सदस्या ब्रह्मवादिनः ।**
**विप्रक्षत्रियविट्[5]च्छूद्रा राजानो ये समागताः ॥ २५ ॥**

1. B. G. J. नराः * This half verse is not found in M . Ma. Edns. 2- -2 K,M,Ma, T. W. बन्धून् ज्ञातीन् नृपान् मित्रान् 3. B. G. J. M. Ma. °र्घ्य°
4. M. Ma. °शिक्षाः :Ml. V. °त्मानः 5. B. G. J. ब्रह्म°

**श्रीध० अथेति**। अहते नूतने आनर्च अर्चितवान् ॥ २१-२३ ॥

**सर्व** इति। सुराणामिव रुक् कान्तिः येषां ते, मणिकुण्डलैः सहिताः स्रग्भूषादयो येषां ते, कुण्डलयुगेन अलकबृन्देन च जुष्टा वक्त्रश्रीः यासां ताः ॥ २४-२५ ॥

**वीर० सस्नुरिति**। ततः स्नापनानन्तरं चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्य व्यवस्थयाऽवस्थितास्सर्वे जनाःसस्नुः स्नानं चक्रुः। तत्र कारणमाह- महापातकीति। यतः स्नानात् महा पातक्यापि किल्बिषात् ब्रह्महत्यादिपातकात् मुच्येत किंपुनरितरे पातकिनस्ततो मुच्येरन्निति कैमुत्यनयद्योतनार्थोऽपिशब्दः पापनिवृत्तये सस्नुरिति भावः ॥ २१॥

**अथेति**। राजा युधिष्ठिरः अहते नूतने क्षौमे दुकूले परिधायाभरणादिभिः ऋत्विगादीन् आनर्च अर्चितवान् ॥ २२॥

बन्धूनिति। मित्रानिति पुंस्त्वमार्षम्। तत् नृपानित्यस्य विशेषणम्। अभीक्ष्णं पुनः पुनः पूजयामास। तत्र हेतुत्वेन विशिनष्टि नारायणः परो यस्य स सर्वस्य नारायणात्मकत्व बुद्धियुक्त इत्यर्थः ॥ २३॥

**सर्व** इति। सर्वे जनाः नराः सुराणामिव ऋक्कान्तिर्येषां ते मणिकुण्डलादीनां द्वन्द्वः ततो मत्वर्थीयोऽच् मणि कुण्डलाभ्यां सहिताः स्रगादयो येषामिति वा तथा भूताः विरेजुः। नार्यस्तु कुण्डलयुगेनालकबृन्देन च जुष्टा वक्त्रस्य श्रीर्यासां तथाभूताः कनकमेखलयोपलक्षिताश्च विरेजुः ॥ २४ ॥

**अथेति**। महच्छीलं सुस्वभावः सद्वृत्तिर्वा येषां ते ऋत्विगादयः पूजितास्सन्तः, हे नृप! तमनुज्ञाप्य तदनुज्ञामु पादायेत्यर्थः। स्वधामानि स्वगृहाणि ययुः ॥ २५ ॥

**विज०** अहते अधौते ॥ २१- २५ ॥

**देवर्षि पितृभूतानि लोकपालास्सहानुगाः ।**
**पूजितास्तमनुज्ञाप्य स्वधामानि ययुर्मुदा[1] ॥ २६ ॥**

**हरिदासस्य राजर्षे राजसूयमहोदयम् ।**
**नैवातृप्यन् प्रशंसन्तः पिबन् मर्त्योऽमृतं यथा ॥ २७ ॥**

**ततो युधिष्ठिरो राजा सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान् ।**
**प्रेम्णा निवारयामास[2] कृष्णं च त्यागकातरः ॥ २८ ॥**

भगवानपि तत्राब्दं[3] न्यवात्सीत्तत्प्रियङ्करः ।
प्रस्थाप्य यदुवीरान्स्वान् साम्बादींश्च[5] कुशस्थलीम् ॥ २९ ॥

इत्थं धर्मसुतो राजा मनोरथ महार्णवम् ।
सुदुस्तरं[6] समुत्तीर्य कृष्णेनासीद्गतज्वरः ॥ ३० ॥

1. B, G, J, K, T, W °नृप। 2. B, G, J, M, Ma, Ml, V °स° 3. B, G, J, K, M, Ma T, W, °ङ्ग 4. B, G, J, M, Ma, Ml, T,V,W. °रांश्च 5. K,T,W, °दीन्वै 6. M, Ma सुसमृद्धं

**श्रीध० इत्थमिति**। गतज्वरः निश्चिन्तः आसीत् ॥ २६ - ३० ॥

**वीर० हरिदासस्येति**। राजसूयमहोत्सवं प्रशंसन्तो नातृप्यन् यथा मर्त्यःअमृतं पिबन्नतृप्यति तद्वत् ॥२६,२७॥

**तत** इति। सुहृदश्च सम्बन्धिनो ज्ञातींश्च बान्धवांश्च जिगमिषून् प्रेम्णा निवारयामास त्यागाद्विश्लेषात् कातरः प्रेम्णा च कृष्णं वारयामास ॥ २८ ॥

**भगवानिति**। तस्य युधिष्ठिरस्य प्रियङ्करः प्रियं चिकीर्षुरिति यावत् कुशस्थलीं द्वारकां प्रति साम्बादीन् यदुवीरान् प्रस्थाप्य प्रयाप्य स्वयं तत्रैव अन्यानि कतिचिद्दिनानि अवात्सीत् उषितवान् ॥ २९ ॥

**इत्थमिति**। सुदुस्तरं मनोरथं राजसूयचिकीर्षारूपं महार्णवं कृष्णेन कर्णधारस्थानीयेन समुत्तीर्य गतज्वरो निश्चिन्त आसीत् ॥ ३० ॥

**विज० देवर्षिरिति** ॥ २६ - ३० ॥

एकदान्तःपुरे तस्य वीक्ष्य दुर्योधनः श्रियम् ।
अतप्यद्राजसूयस्य महत्त्वं[1] चाच्युतात्मनः ॥ ३१ ॥

यस्मिन् नरेन्द्रदितिजेन्द्र सुरेन्द्रलक्ष्म्यः[2] नानाविभान्ति किल विश्वसृजोपकृप्ताः।
ताभिःपतीन्[3] द्रुपदराजसुतोपतस्थे यस्यां विषक्तहृदयः कुरुराडतप्यत् ॥ ३२ ॥

**यस्मिंस्तदा मधुपतेर्महिषी[4] सहस्रं श्रोणीभरेण शनकैः क्वणदङ्घ्रिशोभम् ।**

**मध्ये सुचारुकुचकुङ्कुमशोणहारं श्रीमन्मुखं च[5] चलकुण्डल कुन्तलाढ्यम् ॥३३ ॥**

**सभायां मयक्लृप्तायां[6] क्वापि धर्मसुतोऽधिराट्[7] वृतोऽनुजैर्बन्धुभिश्च कृष्णेनापि स्वचक्षुषा ॥३४ ॥**

**आसीनः काञ्चने साक्षादासने मघवानिव ।**

**पारमेष्ठ्यश्रिया जुष्टः स्तूयमानश्च वन्दिभिः ॥ ३५ ॥**

1. B.G.J. M. Ma °हि° 2. B.G.J Ml.V °क्ष्मीर्ना° 3. K.M.Ma.T.W °तिं 4. M. Ma °रिपो° 5. B.G.J प्रचल ; K.T.W चपल 6. Ml.V. °विद्यायां 7.K.M. Ma. Ml.V. विराट् ।

**श्रीध० एकदेति**। अच्युते श्रीकृष्णे[1] आत्मा मनः[2] यस्य तस्य ॥ ३१॥

**यस्मिन्निति**। नरेन्द्रादीनां लक्ष्मीः लक्ष्म्यः विभूतयः, विश्वसृजा मयेन उपक्लृप्ताः विरचिताः ताभिस्सह, कुरुराट् दुर्योधनः अतप्यत् ॥ ३२॥

**यस्मिन्निति**। महिषी सहस्रमिति बहुत्वोपलक्षणं, क्वणद्भिः अङ्घ्रिभिः शोभा यस्य, मध्ये सुचारु चारुमध्यमित्यर्थः। कुचकुङ्कमैः शोणा हाराः यस्य तत्। श्रीमन्ति मुखानि यस्य तत्, चलैः कुण्डलैः कुन्तलैश्च, आढ्यं सम्पन्नं, अशोभतेति शेषः ॥ ३३॥

**सभायामिति**। क्वापि कदाचित् स[3] विरेज इति शेषः। स्वस्य चक्षुषा हिताहितज्ञापकेन॥ ३४,३५॥

1. B.J.omit श्रीकृष्णे 2. B.J.omit मनः 3. Ml.V.omit सः

**वीर० एकदेति**। अच्युते भगवती आत्मा मनो यस्य तस्य युधिष्ठिरस्यान्तःपुरे, श्रियं सम्पदं राजसूयस्य महत्वं च अवलोक्य[1] दुर्योधनो अतप्यत् ॥ ३१॥

श्रियमेव प्रपञ्चयन् तत्परितापमाह- **यस्मिन्निति** द्वाभ्याम्। यस्मिन्नन्तःपुरे विश्वसृजा विश्वकर्मणा उपकल्पाः रचिताः नानाविधाः नरेन्द्रादीनां लक्ष्म्यः भोग्यभोगोपकरणभोगस्थानादिलक्ष्म्यः भान्ति, द्रुपदराजसुता द्रौपदी ताभिः लक्ष्मीभिः पतिमुपतस्थे[2] पर्यचरत् यस्यां द्रुपदराजसुतायां विषक्तं आसक्तं हृदयं यस्य सः, कुरुराट् दुर्योधनः अतप्यत् ॥ ३२॥

**यस्मिन्निति**। तदा दुर्योधनपरितापकाले यस्मिन्नन्तःपुरे यदुपतेः कृष्णस्य महिषीसहस्रं पत्नीसहस्रं, परितापावहत्वेनासेति शेषः। सहस्रमिति बहुत्वोपलक्षणम्। कथम्भूतम्? श्रोणीभरेण नितम्बभरेण शनकैः क्वणद्भिः चरणाभरणध्वननपूर्वकं चलद्भिः अङ्घ्रिभिः शोभा यस्य तत् मध्ये सुचारु चारुमध्यमित्यर्थः। कुचकुङ्कुमैः शोणाः [3]हाराः यस्य तत्, श्रीमन्ति [4]शोभायुक्तानि यस्य तत्। चपलैः कुण्डलैः कुन्तलैश्च आढ्यं सम्पन्नम् ॥३३॥

**सभायामिति**। क्वापि कदाचित् मयेन दत्तायां, मयविद्यायामिति पाठे विद्याप्रभावरचितायामित्यर्थः। स्वचक्षुषा हिताहितज्ञापकेन कृष्णेन परिवृतो, रेजे इति शेषः ॥ ३४॥

किञ्च **आसीन** इति। पारमेष्ठ्यश्रिया चतुर्मुखसम्पत्सदृशा श्रिया जुष्टः सेवितः इन्द्र इव आसीनः उपविष्टवान् ॥ ३५ ॥

1. B, आलोक्य 2. B पतीन् युधिष्ठिरादीन् 3. B adds रक्ताः 4. T, W omit शोभायुक्तानि

**विज०** यस्मिन् पुरे विश्वसृजा कृष्णेन तस्मिन् ताभिः श्रीभिः सह द्रुपदराजसुता पतिमुपतस्थ इत्यन्वयः ॥ ३१-३३ ॥

स्वचक्षुषा स्वदृष्टिभूतेन ॥ ३४, ३५ ॥

**☆ उपास्यमानो विप्रेन्द्रैः नानादेश समागतैः ।**
**दोधूयमानो धवलैर्वालव्यजनसङ्कुलैः ॥**
**रराज राजशार्दूलो दिवि देवपतिर्यथा ॥ ३६ ॥ ★**

**तत्र दुर्योधनो [2]मानी सहितो भ्रातृभिर्[3]नृप ।**
**किरीटमाली न्यविशदसिहस्तः क्षिपन् [4]रुषा ॥ ३७ ॥**

**स्थले[5]ऽप्यगृह्णाद्वस्त्रान्तं [6-]जलं मत्वा स्थलेऽपतत् ।**
**जले च स्थलवत् भ्रान्त्या मयमायाविमोहित[-6]ः ॥ ३८ ॥**

**❖ आगच्छन्नेवमुर्वीशः पुरः पुष्करिणीं क्वचित् ।**
**विलोक्य स्फटिकां भूमिं मन्वानो न्यपतज्जले ॥ ३९ ॥**

**जहास भीमस्तं दृष्ट्वा स्त्रियो [7-]नृपतयो[-7]ऽपरे ।**
**निवार्यमाणा अप्यङ्ग राज्ञा कृष्णानुमोदिताः ॥ ४० ॥**

☆ अजातशत्रुराकर्ण्य वस्त्रस्रग्भूषणादिकम् ।
संप्रेष्याह्वापयामास साम्ना योगेश्वरेण च ॥ ४१ ॥

तदनादृत्य सत्कारं व्रीडावनतकन्धरः ।
जाज्वल्यमानहृदयो न जगाम तदन्तिकम् ॥ ४२ ॥

सव्रीडितोऽवाग्वदनो रुषा ज्वलन् निष्क्रम्य तूष्णीं प्रययौ गजाह्वयम् ।
हाहेति शब्दः सुमहान[8]भूत्सतामजातशत्रुर्विमना इवाभवत् ॥

◆ बभूव तूष्णीं भगवान् भुवो भरं [9-]समुज्जिहीर्षु[-9]र्भ्रमति स्म यदृशा ॥ ४३ ॥

❁ एतत्तेऽभिहितं राजन् [10-]यत् पृष्टोऽहमि[-10]ह त्वया ।
[11]सुयोधनस्य दौरात्म्यं राजसूये महाक्रतौ ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

0 These three half verses are found only in M, Ma editions *अत्र विजयध्वजरीत्या त्र्यशीतितमोऽध्यायः समाप्तः 1. अत्र विजयध्वजरीत्या चतुरशीतितमोऽध्यायः प्रारभ्यते। * Here M, Ma add श्रीशुक उवाच 2. M, Ma राजा 3. M, Ma °प्रियैः 4. K नृपान् 5. B, G, J, K, Ml, T, V, W °भ्य° 6--6 M, Ma हरिनीलोपलाचिते। स्थलं पुष्करिणीं मत्वा सर्वे तं जहसुर्जनाः॥ ▲ This additional verse is found in M,Ma edns only 7--7 M, Ma भूपाश्च केचन ✠ These two additional verses are found in M, Ma edns only 8. K, M, Ma, T, W °भूत्तदा अजा° ✻ This half verse is not found in T, W editions 9--9 M, Ma जिहीर्षुरात्मेहितमात्मनि स्मरन्। ; Ml, V जिहीर्षुरेष भ्रमति स्म यद्दृशा। ❖ This verse is not found in M, Ma edns 10--10 Ml.V. पृष्टोऽहमिति यत् 11. K, T, W दुर्यो°

**श्रीध० तत्रेति**। मानी साहङ्कारः किरीटं च माला च विद्येते यस्य सः, न्यविशत् विवेश क्षिपन् द्वार्स्थादीन् अपक्षिपन् ॥३६ ,३७॥

**स्थल** इति। तत्र [1]शुद्धान्ते स्थले वस्त्रान्तमभ्यगृह्णात् आकुञ्चितवान्। कुतः? तस्मिन् स्थल एव भ्रान्त्या जलं मत्वा जले च अपतत् , कुतः स्थलवद्भ्रान्त्या ॥ ३८ - ४२ ॥

**स** इति। भुवो भरं भारं जिहीर्षुरिति अद्य सम्पादितेन कलहबीजेन कुरूणां संहारं करिष्यामीति मत्वा किञ्च यस्य दृशा दृष्टिमात्रेण दुर्योधनो भ्रमति स्म भ्रान्तिं प्राप मयमया तु निमित्तमात्रं सः भूभारहरणबीजं दुर्योधनस्य भ्रमं भीमादि हास्येन तस्य पराभवं च विधाय तूष्णीमासीदित्यर्थः ॥ ४३ , ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

1 . B . J . omit शुद्धान्ते 2 . Ml . V omit मत्वा

**वीर० तत्रेति**। किरीटमाले अस्य स्त इति तथा मानी साहङ्कारः असिः खड्गो हस्ते यस्य सः। भ्रातृभिः दुश्शासनादिभिः परीतः परिवृतः नृपान् क्षिपन् निन्दन्, तत्र सभायां न्यविशत् विवेश। रुषेति पाठे द्वारपालान् क्षिपन्नित्यर्थः ॥ ३६, ३७ ॥

**स्थल** इति। शत्रूणां जलस्थलबुद्धिं विपर्यासकारिणीं सभामाविशन् दुर्योधनस्तावत्स्थले जलभ्रान्त्येति शेषः। वस्त्रान्तमभ्यगृह्णात् उद्धृतवान् तथा क्वचित् स्थले जलं मत्वा न्यपतत्। तथा जले च स्थलवद्भ्रान्त्या न्यपतत्। जलविषयक ज्ञानस्य स्थलविषयकज्ञान सारूप्य ज्ञापनाय वत्करणम्। तदात्मिकया भ्रान्त्येत्यर्थः। भ्रान्तौ कारणं वदन् विशिनष्टि मयस्य मायया विमोहित इति ॥३८,३९॥

**जहासेति**। तं एवम्भूतं दुर्योधनं दृष्ट्वा भीमः जहास हसितवान्। तथा अन्ये नृपाश्च राज्ञा युधिष्ठिरेण निवार्यमाणा अपि भगवता अनुमोदिताः तं पश्यतेत्येवं प्रबोधिताः जहसुः ॥ ४०-४२ ॥

**स** इति। स दुर्योधनः लज्जतोऽधोमुखः गजाह्वयं हास्तिनपुरं ययौ तदा सुमहानुच्चैः हा हा दुर्योधनोऽवमानित इति शेषः, इत्येवं विधः शब्दो बभूव विमना इव अभवत्, इवशब्दो अनतिरिक्तार्थकः ॥४३॥

प्रश्नस्योत्तरमुक्तं निगमयति - **एतदिति**। हे राजन्! यत् अहं त्वया पृष्टः तस्य एतदुत्तरं तुभ्यं इतीत्थं अभिहितं किं तत्? यत् दुर्योधनस्य दौरात्म्यं युधिष्ठिर सम्पदमवलोकनज परितापरूपं दौर्जन्यम् ॥४४॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५॥

1. K.T.W. omit परीतः

**विज०** वालव्यजनसङ्कुलैः चामर स्तिमित वायुभिः दोधूयमानः वीज्यमानः ॥ ३६ ॥

द्वित्रेष्वध्यायेषु शाल्ववधमाहात्म्यं कथयति । तत्रादौ भूभारहरण हेतु दुर्योधनस्य तेजः क्षतिं च वक्ति - **तत्रेत्यादिना।** तत्र सभायाम् ॥ ३७ ॥

"आचितं निचितं व्याप्तम्" (हला.को. 4-7) इति हलायुधः ॥ ३८ ॥

पुरः अग्रतः स्फटिकमणिनिबद्धाम् ॥ ३९-४४ ॥

योगेश्वरेण श्रीकृष्णेनानुज्ञातः साम्ना सान्त्ववचनेन ॥

आत्मना स्वेनैव ईहितं चेष्टितं आत्मनि मनसि स्मरन्भद्रमिति शेषः, तत्र कथान्तरं वक्तुं तन्नारदागमनमाह तदेति ॥

उपेत्य नारदस्सर्वे सदस्यैरभिपूजितः। कृष्णेनाभ्यर्चितः सम्यगुपविष्टो नृपान्तिके ॥
उवाच धर्मराजस्तं प्रणिपत्य यथाविधि। भवान् सर्वत्र गो ब्रह्मन् सर्वकालेष्वसङ्गतः ॥

नृपाणां शौर्ययुक्तानां सर्वमण्डल वासिनाम्। इदानीं कतमः शूरो नित्योद्योगेन वर्तते ॥
इति तेनोदितां वाणीमाकर्ण्य मुनिरब्रवीत् ॥

**नारद उवाच**

भग्नदर्पा नृपाः सर्वे कृष्णेनाप्रतिमौजसा। वसन्ति विषये स्वे स्वे नष्ट चेष्टागतश्रियः ॥
एक एव महोत्साहः क्षत्रियाणां दुराग्रही। जातः शाल्वेषु नृपतिः बहुपादातिवाहनः ॥

भ्रातर्युपरते युद्धे विष्णुना लोक जिष्णुना। ब्रह्मदत्त सुते हंसे यमुनायां महात्मना ॥
कृष्ण द्विडेत्यराज्ञो सौरुक्म्यादीन्कुण्डिने पुरे। समाजं कारयामासश्चातुरानृण्य काङ्क्षया ॥

शिशुपाल द्रुममुखैर्दन्तवक्त्रपुरस्सरैः। पराजितेषु संग्रामे जरासन्धादिषु प्रभो ॥

रुक्म्यादीन् राज्ञः समाजं सम्मेलनं आनृण्यं ऋणाभावकरणम् ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां टीकायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥
(विजयध्वजतीर्थरीत्या त्र्यशीतितमोध्यायः)

# षट्सप्ततितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या पञ्चाशीतितमोऽधयायः)

श्रीशुक उवाच

* अथान्यदपि कृष्णस्य शृणु कर्माद्भुतं नृप ।
क्रीडा नरशरीरस्य यथा सौभपतिर्हतः ॥ १ ॥

शिशुपालसखस्साल्वो रुक्मिण्युद्वाह आगतः[1] ।
यदुभिः निर्जितस्संख्ये जरासन्धादयस्तथा ॥ २ ॥

साल्वः प्रतिज्ञामकरोच्छृण्वतां सर्वभूभुजाम् ।
अयादवीं[2] करिष्ये क्ष्मां पौरुषं[3-] मम पश्यत[-3] ॥ ३ ॥

इति मूढः प्रतिज्ञाय देवं[4-] पशुपतिं प्रभुम्[-4] ।
▲ गते तस्मिन् बहून् वर्षान् प्रतीक्ष्य तदुपागमम् ॥

तदनन्तरजोऽमात्यैरभिषिक्तो नृपार्थिभिः ।
तपस्तप्त्वा स नृपतिर्देवं पशुपतिं प्रभुम्
आराधयामास नृपः पांसुमुष्टिं[5] सकृद्ग्रसन् ॥ ४ ॥

संवत्सरान्ते भगवनाशु[6-] तोष[-6] उमापतिः ।
वरेणच्छन्दयामास साल्वं[7] शरणमागतम्[8] ॥ ५ ॥

* These two verses are not found in M, Ma editions 1. Ml, V तै: 2. K, Ml, T, V, ङ्ग वां 3--3 M, Ma पश्यन्तु मम पौरुषम् 4- -4 M, Ma तपसे प्राविशद्वनम् ▲ These three extra half verses are found in M, Ma editions 5. M,Ma वने 6--6 M, Ma न्सन्तुष्टस्य 7. K, T, W, add स 8.K, T, W णाग

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

ततः षट्सप्ततितमे वृष्णिसाल्वमहामृधे द्युमद्गदाप्रहारेण रणात्प्रद्युम्ननिर्गमः ॥

सम्पाद्य धर्मराजस्य राजसूयमहोदयम् निहत्य सौभराजादीनधोपारमदच्युतः ॥ २-३ ॥

**इतीति**। प्रत्यहंसकृत्। पांसुमुष्टिं एकां ग्रसन् भक्षयन् ॥ ४ ॥

**संवत्सरान्त** इति। आशुतोषोऽपि भगवानुमापतिः श्रीकृष्ण विद्विषि साल्वे वरस्य वैफल्यं मन्यमानो न शीघ्रं प्रादुरभूत्। तस्यातिनिर्बन्धमालक्ष्य संवत्सरांते वरेण च्छन्दयामास इच्छां कारितवान् वरं वृणीष्वेत्युवाचेत्यर्थः ॥५॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ साल्व वधात्मकं भगवतश्चेष्टितमनुवर्णयितुं प्रस्तौति षट्सप्ततितमेन **अथेति**। क्रीडार्थं नरस्येव शरीरं यस्य तस्य कृष्णस्याद्भुतमन्यदपि चेष्टितं शृणु, किं तत् सौभपतिः सौभं नाम पुरं तस्य पतिस्साल्वो यथा येन प्रकारेण हतः तथा तस्य हननमित्यर्थः ॥१॥

**शिशुपालसख** इति। यदा साल्वो रुक्मिणी विवाहे आगतः संख्ये यु निर्जितः जरासन्धादयश्च जिताः स तदा। सर्वभूतानां शृण्वतां सतां प्रतिज्ञामकरोदिति सम्बन्धः। प्रतिज्ञामेव दर्शयति - अयादवामिति[1] यादवरहितानां क्ष्मां भूमिम् करिष्यामि[2-] मे पराक्रमं पश्यत[-2] ॥२,३॥

**इतीति**। इत्थं प्रतिज्ञाय अतएव मूढः पशुपतिं रुद्रं आराधयामास। किं[3-] कुर्वन्[-3]? प्रत्यहं सकृत् पांसुमुष्टि मेकां ग्रसन् भक्षयन् आराधयामासेति सम्बन्धः ॥४॥

**संवत्सरान्त** इति। आशु तोषः ईषत् सन्तुष्टवान् भगवद्विद्वेषित्वादिति भावः वरेणेति हेत्वर्थे तृतीया वरार्थं च्छन्दयामास वरं वरयेतेत्युवाचेत्यर्थः ॥५॥

1. B.J. °वी° 2- -2 T.W. omit 3- -3 T.w. omit

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

शिशुपाल द्रुम दुर्मुखैः सह जरासन्धादिषु सत्सु ॥१-४॥

तस्य साल्वस्यानन्तरज अनुजः च्छन्दयामास तृप्तमकरोत् ॥५॥

1. M.Ma शा° 2. B. द्द°

**देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।**
**अभेद्यं कामगं वव्रे स यानं वृष्णिभीषणम् ॥६॥**

तथेति गिरिशादिष्टो मयः परपुरञ्जयः ।
पुरं निर्माय साल्वाय प्रादात्सौभमयोमयम् ॥७॥

सलब्ध्वा कामगं यानं तमोधाम दुरासदम् ।
❖ आययौ स्वं जनपदं समग्र बलवाहनम् ।
इदानीं राजपुत्राणां स एवोद्योगवान् नृप!॥

इति धर्मसुतः श्रीमान् श्रुत्वा तन्नारदोदितम् ।
पार्श्वे भगवतः शौरेः शनैर्मुखमवैक्षत ॥

निशम्य तद्वासुदेवो धैर्यसारो निराकुलः ।
किञ्चित्प्रहस्यास्तुनामेत्याह साहि महात्मता ॥

पूजयित्वा ऋषिं सम्यक् सूनृतैर्गीभिरच्युतः ।
चिराभिलषितः सोऽपि प्राप्तः साध्वित्यचिन्तयत् ।

उग्रसेनं यदुपतिं युयुधानञ्च माधवः ।
अक्रूरं कृतवर्माणमन्यांश्च यदुपुङ्गवान् ॥
प्रेषयामास रक्षायै द्वारवत्याः स्वसैनिकान् । ❖

श्रीशुक उवाच

तथा वसति गोविन्दे शक्रप्रस्थे महात्मनि।
ससानुजे चैव नृपे कृतकृत्ये युधिष्ठिरे ॥

आकर्ण्य शाल्वः संक्रुद्धो दमघोषसुतं हतम् ।
जरासन्धं च सुहृदं राजसूयं क्रतुं कृतम् ॥
ययौ द्वारवतीं साल्वो वैरं कृष्णकृतं स्मरन् ॥ ८॥

3- -3
निरुध्य सेनया साल्वो महत्या भरतर्षभ ।
तमावसन्नन्तरिक्षे युयुधे भरतर्षभ।
पुरीं बभञ्जोपवनान्युद्यानानि च सर्वशः ॥९॥

स गोपुराणि द्वाराणि प्रसादाट्टालतोलिकाः ।
विहारान् स विमानाग्र्यान्निपेतुश्शस्त्रवृष्णयः ॥१०॥

1 . B. G. J. M. Ma. Ml. V. ॰मयस्म॰ ※ These extra verses beginning with आययौ स्व जनपदं and ending with राजसूयं क्रतुं कृतम्॰ are found in M.Ma editions only. ❖ According to M. Ma. editions 84th chapter ends here and 85th chapter begins immediately. 2. B. G. J. K. M. MA. T. W. वृष्णि 3- -3 This half verse is not found in M, Ma. editions. ☆ This extra half verse is found in M.Ma editions only.

**श्रीध० तथेति**। तथेति प्रतिज्ञाय गिरिशेनाधिष्ठो मयः अयस्मयं लोहमयं पुरं सौभसंज्ञं निर्माय रचयित्वा प्रादात् ॥ ६, ७ ॥

**स इति**। तमसोन्धकारस्य धाम आश्रयं अन्यैर्दुरासदं दुष्प्रापम्। स गोपुराणीति। प्रासादाः गृहाः आट्टालास्तदुपरिगृहाः तोलिकास्तत्पर्यन्त कुड्यानि ताः विहारान् क्रीडास्थानानि च स बभञ्ज, किञ्च विमानाग्र्यात्तस्मा च्छस्त्र वृष्ट्यादयः पेतुः ॥ ८-१०॥

**वीर० देवेति**। स साल्वः यानं वव्रे वृतवान् कथम्भूतं देवादीनां भेत्तुमशक्यं कामं यथेष्टं गच्छतीति तथा तद्वृष्णीनां यदूनां भीषणं भयङ्करम् ॥६॥

**तथेतीति**। तथेत्यङ्गीकृत्य गिरिशेनादिष्टो मयः सौभं नाम अयोमयं लोहमयं पुरं निर्माय ददौ ॥७॥

**सलब्ध्वेति**। स साल्वः तमसोऽन्धकारस्य धामाश्रयं यानं लब्ध्वा अधिष्ठायेत्यर्थः वृष्णिकृतं वैरं स्मरन् द्वारवतीं ययौ ॥८॥

**निरुध्येति**। हे भरतर्षभ, पुरीं द्वारवतीं निरुध्य उपवनादीन् बभञ्ज ॥९॥

तत्र अट्टालाः प्राकारोपरिगृहाः तोरणाः बहिर्द्वाराणि विहाराः क्रीडास्थानानि। किञ्च विमानाग्र्यात्तस्मात्सौभात् शस्त्र वृष्टयः शिलादयश्च निपेतुः ॥१०॥

1. B. कृष्णस्य

**विज०** अयस्मयं अयोमयं अयस्मयादीनि च्छन्दसीति पाणिनिः। नीलरश्मिपुञ्जात्मकत्वात् तमो धामेत्युच्यते ॥६,७॥

सूनृतैः सूनृताभिः ॥

स्वसैनिकान् स्वसेनानायकान् ॥

तथा महोत्सवसमेतत्वेन शाल्वः संक्रुद्धोऽभूदिति शेषः॥

आगत्य च अन्तरिक्षे तं विमानं आवसन् तस्मिन् विमाने स्थितः युयुधे इत्यन्वयः। संप्रहार प्रकारमाह पुरीमिति। अट्टालोऽट्टः तोलिकावीथिका गृह पङ्क्तिमध्य पद्धतिरित्यर्थः ॥ ८-१० ॥

**शिलाद्रुमाश्चाशनयस्सर्वा[1] आसारशर्कराः[2]।**
**प्रचण्डश्चक्रवातोऽभूद्रजसाच्छादिता दिशः ॥ ११ ॥**

**इत्यर्द्यमाना सौभेन कृष्णस्य नगरी भृशम् ।**
**नाभ्यपद्यत शं राजंस्त्रिपुरेण यथा मही ॥ १२ ॥**

**प्रद्युम्नो भगवान् वीक्ष्य बाध्यमाना[3] निजा प्रजाः ।**
**माभैष्टेत्यभ्ययाद्वीरो[4] रथारूढो[5-] महायशाः[-5] ॥ १३ ॥**

**सात्यकिश्चारुधेष्णश्च साम्बोऽक्रूरस्सहानुजैः[6] ।**
**हार्दिक्यो भानुविन्दश्च गदश्च शुकसारणौ ॥ १४ ॥**

**अपरे च महेष्वासा रथयूथपयूथपाः ।**
**निर्ययुर्दंशितागुप्ता रथेभाश्वपदादिभिः[7-] ॥ १५ ॥**

---

1. M.Ma शैला° 2. B.G.J.K.M.Ma.T.W. °स्सर्पा 3. M.Ma.मथ्य° 4. B.G.J. M.Ma °धा° 5- - 5 M.Ma वाचः पित्रोरनुस्मरन्; K. Ml. T. V. W. रथारूढो महारथः 6. B. G. J. भुजः 7- -7 M. Ma रथ नागाश्वपत्तिभिः ॥

**श्रीध०** शिला इति। आसारशर्कराः धारासम्पातवज्रवलोपलाः ॥ ११ ॥

**इतीति**। शं सुखं नाभ्यपद्यत ॥ १२ - १५ ॥

**वीर०** तत्रासारो धारासम्पातः शर्कराः सूक्ष्मशिलाः प्रचण्डो निष्ठुरश्चक्रवातो बभूव दिशश्च रजसा रेणुना[1]च्छादिताः बभूवुः॥ ११ ॥

**इतीति**। इत्थं सौभेन [2]भृशं अर्द्यमाना पीड्यमाना कृष्णस्य नगरी द्वारका हे राजन् शं सुखं नाभ्यपद्यत न प्राप यथा त्रिपुरेण [3-]अर्द्यमाना[-3] मही शं नाभ्यपद्यत तद्वत् ॥ १२

**प्रद्युम्न इति**। भगवान् षड्गुणसम्पन्नः प्रद्युम्नः[-4] [5]बाध्यमानाः पीड्यमानाः निजाः स्वकीयाः प्रजाः प्रेक्ष्य, इतीत्यनन्तर मुक्त्वेति शेषः अभ्ययादभ्यद्रवत् ॥ १३ ॥

तथा सात्यकि प्रभृतयोऽपरे च यदुवीराः महान्त इष्वासाः धनूंषि येषां ते रथयूथपानामपि यूथपाः दंशिताः क्वचिताः रथादिभिश्चतुर्भिरङ्गैरुत्ताश्च निर्ययुः द्वारकाया इति शेषः ॥ १४, १५ ॥

1. B. धूलिताः 2. B. K. add यानेन 3- -3. K. T. W. omit 4- -4 T. W. omit 5. T. W. वं 6- -6 T. W. omit 7- -7 T. W. omit.

**विज०** विहायस आकाशादासारो वेगवान् वर्षः तत्सहिताः शर्कराः क्षुद्र पाषाणाः चक्रवातो मण्डल वायुः ॥ १२ ॥

शं सुखम् ॥ १२-१५ ॥

**ततः प्रववृते युद्धं साल्वाना यदुभिस्सह।**
**यथासुराणां विबुधैस्तुमुलं रोमहर्षणम् ॥ १६ ॥**

**[1]ताश्च सौभपतेर्माया[2] दिव्यास्त्रै रुक्मिणीसुतः ।**
**क्षणेन नाशयामास नैशं तम इवोष्णगुः ॥ १७ ॥**

**[3]विव्याथ पञ्चविंशत्या स्वर्णपुङ्खैरयोमुखैः ।**
**साल्वस्य ध्वजनीपालं शरैस्सन्नत पर्वभिः ॥ १८ ॥**

**शतेनाताडयत्साल्वमेकैकेनास्य सैनिकान् ।**
**दशभिर्दशभिर्नेत्रून्वाहनानि त्रिभिस्त्रिभिः ॥ १९ ॥**

**तदद्भुतं महत्कर्म प्रद्युम्नस्य महात्मनः ।**
**दृष्ट्वा तं पूजयामासुस्सर्वे स्वपरसैनिकाः ॥ २० ॥**

1. M.Ma ताञ्च 2. M.Ma व्यां 3. M.Ma विव्याधद°

**श्रीध० तत इति**। तुमुलं व्याकुलं रोमहर्षणं रौद्रम् ॥ १६ ॥

**ता इति**। नैशं निशिभवं तमः उष्णगुः सूर्य इव ॥ १७ ॥

किञ्च **विव्याधेति**। स्वर्णमयानि पुंखानि पृष्टप्रान्तानि येषां तैः अयो लोहं तन्मयानि मुखान्यग्राणि येषां तैः ध्वजनीपालं सेनान्यं सन्नतानि निम्नानि पर्वाणि ग्रन्थयो येषां तैः ॥ १८ ॥

**शतेनेति**। सैनिकान् भटान् नेतृन् सारथीन् ॥ १९ ॥

**तदिति**। [1]स्वपरसैनिका[2]ः स्वपरसेनयोर्वर्तमानास्सर्वे पूजयामासुः सम्मानितवन्तः ॥ २० ॥

1- -1 B.J. omit

**वीर० तत इति**। युद्धं प्रवृत्तमभूत् यथा विबुधैः देवैस्सह, असुराणां तद्वत् कथम्भूतं तुमुलं व्याकुलं रोमहर्षणं शृण्वतामपि रोमोद्गमकरम् ॥ १६ ॥

**ताश्चेति**। याः शस्त्रवृष्ट्यादयो माया स्ताः क्षणेन नाशयामास उष्णाः गावः किरणाः यस्य सः सूर्यो नैशं निशासम्बन्धि तमोऽन्धकारं नाशयति तद्वत् ॥ १७ ॥

**विव्याधेति**। स्वर्णमयाः पुङ्खाः पृष्टप्रान्ताः येषां तैः अयो लोहं तन्मयानि मुखान्यग्राणि येषां तैः सन्नतानि निमग्नानि पर्वाणि येषां तैः पञ्चविंशत्या शरैः साल्वस्य ध्वजनीपालं सेनान्यं विव्याथ ॥ १८ ॥

साल्वन्तु शतेन शराणामीति शेषः। अताडयत् सैनिकान्भटान् एकैकेन शरेणाताडयत् नेतृनवान्तर सेनानायकान् सारथीन् वा दशभिर्दशभिः शरैः वाहनानि गजाश्वरथादीनि त्रिभिस्त्रिभिः शरैः अताडयत् ॥ १९ ॥

**तदिति**। तत्प्रद्युम्नविक्रमात्मकं महदतिकौशलं कर्म दृष्ट्वा स्वपरसेनयोः वर्तमानास्सर्वे तं प्रद्युम्नं पूजयामासुः बहूमेनिरे ॥ २० ॥

1. B. बाणाना°

**विज०** उष्णा गावो यस्य स उष्णगुः सूर्यः ॥ १६-१८ ॥

अस्य प्रद्युम्नस्य ॥ १९-२० ॥

बहुरूपैकरूपं तद्दृश्यते न च दृश्यते ।
मायामयं मयकृतं[1-1] दुर्विभाव्यं परैरभूत्[2] ॥ २१ ॥

क्वचिद्धूमौ क्वचिद्वयोम्नि गिरिमूर्ध्नि जले क्वचित् ।
अलातचक्रवत् भ्राम्यत्सौभं तद्दुरवस्थितम् ॥ २२ ॥

यत्र यत्रोपलक्ष्येत ससौभस्सह[4-4] सैनिकः ।
साल्वस्ततस्ततोऽमुञ्चन् शरान् सात्वतयूथपाः ॥ २३ ॥

शरैरग्न्यर्क संस्पर्शैः[5] आशीविषदुरासदैः ।
पीड्यमान[6] पुरानीकस्साल्वोऽमुह्यत्परेरितैः ॥ २४ ॥

साल्वानीकपशस्त्रास्त्रैर्वृष्णिवीरा[7] भृशार्दिताः।
न तत्यजू रणं स्वं स्वं लोकद्वयजिगीषवः ॥ २५॥

1- -1 M.Ma मयमाया कृतं यानं 2. M.Ma जनै° 3- -3 M.Ma क्वचित्सिन्धौ क्वचिद्गिरौ। 4- -4 M.Ma तस्य सौभस्य 5. M.Ma सङ्काशैः 6. T.W. पाट्य° 7. B.G.J.K.M.Ma.T.W. स्त्रौघैः

**श्रीध० बहुरूपेति**। कदाचित् बहुरूपं कदाचिदेकरूपं क्वचिद्दृश्यते क्वचिन्नदृश्यते एवं दुर्विभाव्यं दुर्वितर्क्य मभूत् ॥ २१ ॥

किञ्च क्वचिदिति एवं तत् दुःखस्थितं अनवस्थतं च अभूत् ॥ २२-२३ ॥

शरैरिति। अग्निवद्दाहकः अर्कवत्संशोषकः युगपत् सर्वतस्संस्पर्शो येषां तैः आशीविषवदेकदेशस्पर्शमात्रेण मारकत्वाद्दुरासदैः दुस्सहैः पाट्यमानं[2] पुरमनीकानि च यस्य सः परैर्यदुभिः ईरितैः मुक्तैः ॥ २४ ॥

**साल्वेति**। भृशार्दिता अपि स्वं स्वं रणं स्वां युद्ध भूमिम् ॥ २५ ॥

1- -1. Ml. V. अतर्क्य 2. B. J. पीड्य

**वीर० बह्विति**। तन्मयकृतं सौभं क्वचिद्बहुरूपं क्वचिच्चैकरूपं क्वचिच्च दृश्यते क्वचित्तु न दृश्यते एवं परैः दुर्विभाव्य मवितर्क्यमभवत् ॥ २१ ॥

किञ्च - क्वचिदिति। एवं दुरवस्थितं अनवस्थितं च अभूत् ॥ २२ ॥

**यत्रयत्रेति**। उपलक्ष्येत दृश्येत सात्वत यूथपाः यदुवीराः ॥ २३ ॥

शरैरिति। अग्निवद्दाहको अर्कवत्संशोषकः युगपत् सर्वत संस्पर्शो येषां तैः आशीविषवदेकस्पर्शमात्रेण मारकत्वाद्दुरासदैः, दुस्सहैः परेरितैः यदुवीरप्रयुक्तैः शरैः पीड्यमानं पुरमनीकानि च यस्य सः साल्वोऽमुह्यत् मुमोह ॥ २४ ॥

**साल्वेति**। साल्वसैन्यपानां शस्त्रौघैः भृशं पीडिता अपि यदुवीराः स्वं स्वं रणं रणभूमिं न तत्यजुः न त्यक्तवन्तः तत्र हेतुत्वेन विशिनष्टि लोकत्रयमपि जेतुमिच्छवः ॥ २५ ॥

1. T.W पाठ्य

**विज०** दुरवस्थितं नैकत्र स्थितमभूत् इति शेषः ॥ २१, २२ ॥

तस्य सौभस्य सैनिकः सेनासहितः शाल्वः यत्रयत्रोपलक्ष्येत सात्वतयूथपाः ततश्शरानमुञ्चन्नित्यन्वयः॥ २३ ॥

इति परैः शरैः प्रपीड्यमानः पुरस्थितानीकः ॥ २४ ॥

शाल्वस्यानीकपाः सेनानायकाः तेषां शस्त्राणामोघैः ॥ २५ ॥

**साल्वामात्यो द्युमान्नाम प्रद्युम्नं प्राक्प्रपीडितः ।**
**आसाद्य गदया मौर्व्या व्याहत्य व्यनदद्बली ॥ २६ ॥**

**प्रद्युम्नं[1] गदया शीर्ण वक्षस्थलमरिन्दमम् ।**
**अपोवाह रणात्सूतो धर्मविद्दारुकात्मजः ॥ २७ ॥**

**लब्धसंज्ञो मुहूर्तेन कार्ष्णिस्सारथिमब्रवीत् ।**
**अहो असाध्विदं सूत यद्रणान्मेऽवकर्षणम्[2] ॥ २८ ॥**

**न यदूनां कुले जातश्श्रूयते रणविच्युतः ।**
**विनामत्क्लीबचित्तेन सूतेन प्राप्तकिल्बिषात् ॥ २९ ॥**

**किन्नु वक्ष्येऽभिसङ्गम्य पितरौ रामकेशवौ ।**
**युद्धात् सम्यगपक्रान्तः पृष्टस्तत्रात्मनः क्षमम् ॥ ३० ॥**

.Ml.V - तं द्युमद्रदया 2. B. G. J. K.M.Ma. T.W. °ऽपसर्पणम् 3. K. Ml. T.V.W. कल्मषात् 4. K. M. Ma. Ml. T.V.W. र्म्यादप° 5. M. Ma °ना

**श्रीध० साल्वेति**। मौर्व्या कार्ष्णायसमय्या व्याहत्य प्रहत्य ॥ २६॥

**प्रद्युम्नमिति**। तं प्रद्युम्नं अपोवाह अन्यतो निनाय ॥ २७,२८ ॥

**नेति**। मत् मत्तो विना क्लीबं चित्तं यस्य तेन त्वया सूतेन ॥ २९ ॥

**किन्त्विति**। पितरौ रामकृष्णौ अभिसङ्गम्य तत्पार्श्वं गत्वा ताभ्यां पुष्टः स्वयोग्यं किं नु वक्ष्यामीति ॥ ३० ॥

1. Ml. V. केशवौ

**वीर० साल्वामात्य** इति। द्युमान्नाम द्युमदाख्यः बली मौर्व्या कार्ष्णायसमय्या गुर्वेति पाठान्तरम्। व्याहत्य प्रताड्य व्यनदत् ॥ २६ ॥

**प्रद्युम्नमिति**। गदया तत्प्रहारेण विशीर्णं वक्षस्थलं यस्य तं प्रद्युम्नं रणाद्रणस्थानादपोवाह अपसारयामास, तत्र हेतुत्वन सूतं विशिनष्टि 'धर्मवित्, सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेद्रथिनम्' (भाग० 10-76-32) इत्येवं विध धर्मवित्त-दारुकस्य कृष्णसारथेः आत्मजश्च ॥ २७ ॥

**लब्धसंज्ञ** इति। तावन्मूर्छितः ततो मुहूर्तेन लब्धा संज्ञा चेतना येन सः कार्ष्णिः प्रद्युम्नः सारथिं उवाच। उक्तिमेवाह अहो इति सार्थैः चतुर्भिः। हे सूत। इद मसाधुं किं तत् मम रणादपसर्पणमिति ॥ २८ ॥

कुतस्तस्यसाधुत्वमत्र आह - **नेति**। यदूनां कुले जातः कोऽपि रणाव्दिच्युतः पलायितो न श्रूयते किं पुनर्दृश्यत इति भावः क्लीबमधृष्टं चित्तं यस्य तेन त्वया सूतेन हेतुना प्राप्तं कल्मषमयशो येन तस्मात् मत् मत्तः विना अन्यः कोऽपि रणविच्युतो न श्रूयत इति सम्बन्धः ॥ २९ ॥

किञ्च **किन्विति**। रामकेशवाभिसङ्गम्य तत्पार्श्वं गत्वेत्यर्थः, ताभ्यां पृष्टः न्याय्या द्युध्दादपक्रान्तः पलायितोऽहमात्मनः क्षमं योग्यं किन्नुवक्ष्यामि ॥ ३० ॥

**विज०** "रथिनि प्राणसन्दिग्धे सारथीरथमाहरेत्। जीवयेद्युद्धतः साधु युद्धकर्म विशारदः" इति युद्धधर्मवित् ॥२६,२७॥

अपसर्पणं अपसरणम् ॥ २८ ॥

कुतोऽसाध्वित्यतस्तदाह - **नेति मद्विना** ॥ २९ ॥

धर्मसाधनाद्युद्धादपगतोऽहं पितृभ्यां पृष्टः तत्रपित्रोरात्मना मयाकृत मक्षमं किंनु कथंनु वक्ष्ये इत्यन्वयः ॥ ३० ॥

**व्यक्तं मे कथयिष्यन्ति हसन्त्यो भ्रातृजामयः ।**
**क्लैब्यं कथं गतो वीर तथान्यैः कथ्यतां मृधे ॥ ३१ ॥**

**सूत उवाच**

**धर्मं विजानता युष्मान् कृतमेतन्मया विभो ।**
**सूतः कृच्छ्गतं रक्षेद्रथिनं सारथिं रथी ॥ ३२ ॥**

**एतद्विदित्वा तु भवान् मयाऽपोवाहितो रणात् ।**
**उपसृष्टः परेणेति मूर्च्छितो गदयाऽऽहतः॥ ३३ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयाशिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥
(विजयध्वजरीत्या पञ्चाशीतितमोऽध्यायः)

1. B.G.J.K.Ml.T.V.W. कथं 2. B.G.J.Ml.V. तवा° ;M.Ma सहा° 3- -3 B.G.J.K.T.W. सारथिरुवाच।

**श्रीध० व्यक्तमिति**। भ्रातृ जामयो भ्रातृभार्याः व्यक्तं निश्चितं यत्क्लैब्यं कथयिष्यति तत्कथनमनुकरोति - कथं कथमिति ॥ ३१ ॥

**धर्ममिति**। विभो! हे समर्थ! एतदपसर्पणं धर्ममाह - सूत इति ॥ ३२ ॥

**एतदिति**। अपोवाहितः अपनीतः उपसृष्टः उपसर्गं पीडां प्राप्त इति कृत्वा। यतः परेण शत्रुणा गदया हतस्सन् मूर्च्छितो निस्संज्ञतां गतो भवानिति ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां

षट् सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

**वीर०** किञ्च **व्यक्तमिति**। मे मम। भ्रातृजामयो भ्रातृभार्याः मृधे युद्धे प्राप्तं क्लैब्यं कथंकथमिति। हसन्त्यः कथयिष्यन्ति व्यक्तं नूनं हे वीर तथा अन्यैरपि कथं कथ्यतां सम्भावनायां लोट् ॥ ३१ ॥

इत्थमुक्तः प्राह सूतः - **धर्ममिति**। हे प्रभो धर्मं विजानतेति हेतुगर्भं,अतो मया एत दपसारणं कृतं कोऽसौ धर्म स्तत्राह सूत इति। कृच्छ्रगतिं विपत्तिं गतं रथिनं रक्षे द्रथीतु तथाभूतं सारथिमिति ॥ ३२ ॥

अस्त्वयं धर्मः किम्म याधुना प्राप्तं कृच्छं? यतो मामपो हितवान् तत्राह - एतदिति। परेण शत्रुणा कर्त्रा गदया आहतस्ताडितः उपसृष्टः पीडां पीडां प्राप्तः मूर्च्छितश्चेत्येत द्विदित्वा उपसृष्ट इति पादे परेणापह्रियेतेत्येतत् विदित्वेत्यर्थः मया भवान् रणादपोवाहितः ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

**विज०** किञ्चेदं दुःसहमित्याह - **व्यक्तमिति**। जामयः सहोदर्यः कथं कथयन्तीति तत्राह क्लैब्यमिति। हे वीर मृधे अन्यैः सह कथं क्लैब्यं गतः तत् कथ्यतामिति ॥ ३१ ॥

कोऽयं धर्म इति । तत्राह - सूत इति ॥ ३२ ॥

उपस्पृष्टः उपद्रुतः ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

( विजयध्वजरीत्या पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥ )

# सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या षडशीतितमोऽध्यायः)

* इति सूतोदितां वाणीमाकर्ण्य यदुनन्दनः ।
पुनरात्त प्रहरणः सूतमाह रणाङ्गणे ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

1- स तूपस्पृश्य सलिलं -1 दंशितो धृतकार्मुकः ।
नय मां द्युमतः पार्श्वं वीरस्येत्याह सारथिम् ॥ २ ॥

2 विधमन्तं स्वसैन्यानि द्युमन्तं रुक्मिणीसुतः ।
3 प्रतिरुध्य प्रत्यविध्यन्नाराचैरष्टभिः स्मयन् ॥ ३ ॥

चतुर्भिश्चतुरो वाहान् सूतमेकेन चाहनत् ।
द्वाभ्यां 4- धनुश्च केतुं -4 च 5 शरेणाऽन्येन वै शिरः ॥ ४ ॥

6- गदसात्यकिसाम्बाद्या जघ्नुः सौभपतेर्बलम् -6 ।△
पेतुः समुद्रे 7- सौभेयाः सर्वे सञ्छिन्नकन्धराः -7 ॥ ५ ॥

एवं यदूनां 8 साल्वानां 9 निघ्नतामितरेतरम् ।
10 युद्धं त्रिनवरात्रं 11- तदभूत्तुमुलमुल्बणम् -11 ॥ ६ ॥

* This verse is not found in G. J. K. Ml. T. V. W. editions. 1- -1 B. J. K. स उपस्पृश्य सलिलं ; M. Ma. पश्य सूत द्युमान् एष 2. M. Ma. आद्रवन्तं 3. B. G. J. M. Ma. T. W. °हत्य ; Ml.V °हृत्य 4- -4 M. Ma. °च केतुः धनुषी° 5. K. M. Ma. Ml. T. V. W. द्युमतोऽन्येन 6- -6 M. Ma. गदासात्यकिरक्रूरः साम्बश्च शुकसारणौ। △ Here an additional half verse is found in M. Ma. editions as follows वसुदेवोग्रसेनौ च जघ्नुः सौभपतेर्बलम् 7- -7 M. Ma. बहवः शाल्वेयाभिन्न° 8. B. G. J. M. Ma. शा° 9 Ml. V. जघ्नता 10. M. Ma. रणं 11- -11. M. Ma. तु तुमुलं रोमहर्षणम्।

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

सप्तयुक्सप्ततितमे नानामायाविचक्षणः। कृष्णेनागत्य साल्वस्तु हतः सौभं च चूर्णितम् ॥

**स** इति। दंशितः सन्नद्धः ॥ १, २ ॥

**विधमन्तमिति**। विधमन्तं क्षपयन्तम् । प्रतिहत्य प्रतिरुध्य ॥ ३ ॥

अष्टानां विनियोगमाह - **चतुर्भिरिति** ॥ ४ ॥

**गदेति**। सौभेयाः सौभस्थाः ॥ ५॥

**एवमिति**। नवानां रात्रीणां समाहारो नवरात्रम्। त्रयाणां नवरात्राणां समाहारः त्रिणव रात्रम्। सप्तविंशति महोरात्राणीत्यर्थः। तुमुलमाकुलम्। उल्बणं घोरम् ॥ ६ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ पुनस्सन्नद्धेन प्रद्युम्न द्युमति हते सति यदुषु च युध्यमानेषु भगवानागत्य साल्वं जघानेत्याह सप्तसप्तति तमेन- **स त्विति**। स तु प्रद्युम्नः सलिलमुपस्पृश्य आचम्य मूर्च्छात उत्थितत्वादिति भावः, दंशितः सन्नद्धः धृतं कार्मुकं धनुः येन सः। सारथिमाह किमिति? वीरस्य द्युमतः पार्श्वं समीपं मां नय प्रापयेति ॥ १, २ ॥

**विधमन्तमिति**। रुक्मिणीसुत इत्यस्य द्युमत्पार्श्वं गत इत्यादिः स्वसैन्यानि विधमन्तं ताडयन्तं द्युमन्तं प्रतिरुध्य सन्निरुध्य स्मयन् अनेनानायासस्सूच्यते, अष्टभिः शरैः प्रत्यविध्यत् प्रत्यताडयत् ॥ ३ ॥

तत्राष्टानां विनियोगमाह - **चतुर्भिरिति**। (चतुरो) वाहानश्वान् एकेन कार्मुकम् एकेन सूतं एकेन ध्वजमेकेन तु द्युमतश्शिरोऽहनत् ॥ ४ ॥

**गदेति**। गदप्रभृतयः यदवः सौभपतेः बलं जघ्नुः। सोभेयाः सौभस्थाः सर्वे सञ्छिन्नाः कन्धरा येषां ते समुद्रे पेतुः पतितवन्तः ॥ ५. ॥

**एवमिति**। इतरेतरं परस्परं निघ्नतां सम्बन्धि तद्युद्धं त्रिनवरात्रमभूत् । नवानां रात्रीणां समाहारः नवरात्रं, त्रयाणां नवरात्राणां समाहारः त्रिनवरात्रं सप्तविंशत्यहोरात्राणि इत्यर्थः। तुमुलमाकुलम् उल्बणं घोरम् ॥ ६ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

यदून्नन्दयतीति यदुनन्दनः। एष द्युमान् दंशितः रणाङ्गणे आस्ते इति शेषः। ततः किं तत्राह - नयेति ॥ १-५

त्रिनवरात्रम् सप्तविंशद्रात्रम् ॥ ६ ॥

**अलक्षयद्दुश्शकुनान्घोरान् सङ्ग्रामशंसिनः ।**
**अन्वीयमानः सामात्यैः पाण्डवैः निर्ययौ पुरात् ॥ क**

**स गत्वा किञ्चिदध्वानं स्थापयित्वा पुरौकसः ।**
**पृथासुताननुज्ञाप्य प्रणतानश्रुलोचनान् ॥ ख ॥**

**सुवर्णशिबिकारूढै रवरोधवधूजनैः ।**
**गजाश्वरथपादाति सहस्त्रैरपि संयुतः ।**
**अन्वीत राज कटकः प्रतस्थे पश्चिमामुखः ॥ ग ॥**

**शाल्वोऽपि कुरुशार्दूल विमानेन खचारिणा ।**
**अपावृत्य रणाद्राष्ट्रं स्वमेवाभ्यर्दितो ययौ ॥ घ ॥**

**गच्छमानस्य शाल्वस्य साम्बोऽभिद्रुत्य पृष्ठतः ।**
**शाल्वामात्यं क्षेमधूर्तिं बाणैर्निन्ये यमक्षयम् ॥ ङ ॥**

**सेनापतिं विविन्दाख्यं शाल्वस्याखिल वल्लभम् ।**
**निरुध्य पथि गच्छन्तं प्रद्युम्नः प्राहरच्छरैः ॥ च ॥**

अखिलात्समस्त प्रकृति जनात् वल्लभं प्रियतम् ॥

**प्रद्युम्नेन नातिविद्धोऽसौ गृहीत्वा खड्गचर्मणी ।**
**ससञ्ज रौक्मिणेयेन तदभूद्रणमद्भुतम् ॥ छ ॥**

**ससञ्ज सङ्गतः ।**

**मण्डलानि विचित्राणि चरितस्तस्य सङ्गरे ।**
**कृपाणेन यदुश्रेष्ठः शिरः कायादपाहरत् ॥ ज॥**

विभ्रष्टमार्गा सा सेना हतप्रवर यूथपा ।
विदुद्राव यथाकामं प्राणत्राणपरायणा ॥ झ ॥

देवोऽपि द्वारकामेत्य वेगेन गरुडध्वजः ।
ददर्श नगरीं भग्न प्रासादाट्टालगोपुरम् ॥ ञ ॥

विशीर्ण तोरणां रुग्ण तुङ्गसालप्रतोलिकाम् ।
विश्वस्तोपवनोद्यानां प्रस्तरापूर्णदीर्घिकाम् ॥ ट ॥

सालः प्राकारः "रथ्या प्रतोली विशिखा" (वैज.को.4-3-16) इति हलायुधः। प्रतोलिरेव प्रतोलिका। प्रस्तरापूर्ण दीर्घिकां, पाषाणपूरित परिखां गन्तुमिति शेषः ॥

निस्स्वाध्याय वषट्कारामालोक्य द्वारकां पुरीम् ।
आपृच्छत्कृतवर्माणं किमेतदिति दुर्मनाः ॥ ठ ॥

तेनोक्तं सर्वमाकर्ण्य शाल्वराज विचेष्टितम् ।
प्रतिजज्ञे यदुपतिः शृण्वतां सर्वसात्वताम् ॥ ड ॥

अनुद्रुत्य तमद्यैव सौभं हत्वा दुरात्मकम् ।
सौभं निपात्य जलधौ प्रवेक्ष्ये द्वारकामिति ॥ ढ ॥

सरथं शैब्यसुग्रीव मेघपुष्प वलाहकैः ।
युक्तं बहुप्रहरणमग्रावास्थित दारुकम् ॥ ण ॥

आरुह्य भगवान्विष्णुः गरुडध्वजमुत्तमम् ।
प्रययौ सौभपदवीं मनो मारुतरंहसा ॥ त ॥

तथा गत्वा सुदूरं तमम्भोधेः कुक्षिमाश्रितम् ।
ददर्श सौभं तन्मध्ये शाल्वं च समलङ्कृतम् ॥ थ ॥

इन्द्रप्रस्थगतकृष्ण आहूतो धर्मसूनुना ।
राजसूयेऽथ निर्वृत्ते शिशुपाले च संस्थिते ॥ ७ ॥

कुरुवृद्धानमनुज्ञाप्य मुनींश्च ससुतां पृथाम् ।
निमित्तान्यतिघोराणि पश्यन्द्वारवतीं ययौ ॥ ८ ॥

★ आह चाहमिहायात आर्यमिश्राभिसङ्गतः ।
राजन्याश्चैद्यपक्षीया नूनं हन्युः पुरीं मम ॥ ९ ॥

वीक्ष्य तत्कदनं रामं निरूप्य पुररक्षणम् ।
सौभं च साल्वराजं च दारुकं प्राहकेशवः ॥ १० ॥

रथं प्रापय मे सूत साल्वस्यान्तिकमाशु वै ।
सम्भ्रमस्ते न कर्तव्यो मायावी सौभराडयम् ॥ ११ ॥

इत्युक्त श्चोदयामास रथमास्थाय दारुकः ।
विशन्तं ददृशुस्सर्वे स्वे परे चारुणानुजम् ॥ १२ ॥

1. B. G. J. M. Ma. Ml. V. °स्थं 2. K. T. W. च 3--3 M. Ma. रणे हते 4. K. T. W. °नुपामन्त्र्य 5--5. M. Ma. ब्राह्मणैस्सह 6--6 M. Ma. omit ★from 9th to 12th verses are not found in M . Ma. editions 7. B. G. J. Ml. V. स्वानां 8. K. T. W. °णे

**श्रीध०** परमतमुपन्यस्यति - **इन्द्रप्रस्थगत** इत्यादिना ॥ ७ ॥

**आह चेति**। स्वगतमेव पथि चिन्ताविजृम्भित भाषणम्। आर्यमिश्राभिसङ्गतो बलभद्रसहितः ॥ ८,९ ॥

**वीक्ष्येति**। दुर्निमित्तदर्शनाकुलचित्त एवं चिन्तयन् द्वारकामागत्य स्वानां कदनं वीक्ष्य, सौभं च शाल्वराजं च वीक्ष्य, रामं पुररक्षणं प्रति निरूप्य नियुज्य दारुकं प्राहेत्यन्वयः ॥ १० ॥

**रथमिति**। ते त्वया ॥ ११ ॥

**इत्युक्त** इति। आस्थाय सम्यगधिष्ठाय, अरुणानुजं ध्वजे वर्तमानं गरुडम् ॥ १२ ॥

**वीर०** अत्र कैश्चिदृषिभिरुक्तं दूषयितुमनुवदति शुकः – 'इन्द्रप्रस्थगतः' इत्यादिना 'एवं वदन्ति राजर्षे ऋषयः' इत्यतः प्राक्तनेन। धर्मसूनुना युधिष्ठिरेणाहूतः कृष्णः राजसूये संवृत्ते परिसमाप्ते सति शिशुपाले संस्थिते मृते च सति तत्रैव कतिचिद्दिनानि स्थितः ॥ ७ ॥

अतिघोराणि निमित्तानि पश्यन् कुरुवृद्धादीन् भीष्मादीन् ससुतां पृथां कुन्तीं मुनींश्च आमन्त्र्य पृष्ट्वा द्वारावतीं ययौ। आह च इत्युत्तरेण सम्बन्धः ॥ ८ ॥

उक्तिमेवाह - **आह चाह**मित्यादिना। आर्यमिश्रो बलभद्रः तेनाभिसङ्गतः सहितोऽहमिहागतः चैद्यपक्षीया राजन्या मम पुरीं हन्युः नाशयेयुः। अतोऽहं गमिष्यामीति शेषः ॥ ९ ॥

**वीक्ष्येति**। अस्यागमनानन्तरम् इत्यादिः स्वानां तत्कदनंयुद्धंसौभं साल्वं च वीक्ष्य रामं पुररक्षणम् प्रति निरूप्य नियुज्य दारुकंप्राहेत्यन्वयः ॥ १० ॥

उक्तिमेवाह - **रथमिति**। हे सूतः! साल्वस्यान्तिकं प्रति आशु रथं प्रापय। तेन साल्वेन सह सङ्गामः कर्तव्यः। अयं साल्वो मायावी सौभराट् च ॥ ११ ॥

**इतीति**। आस्थायसम्यगधिष्ठाय चोदयामास गमयामास, अश्वानिति शेषः। विशन्तमिति अरुणस्यानुजो यस्मिन् तं गरुडध्वजं रथं विशन्तं रणभूमाविति शेषः। स्वे यदवः परे साल्वपक्षीयाश्च ददृशुः ॥ १२ ॥

**विज०** अस्मिन्नवसरे कृष्णागमनं वक्ति इन्द्रप्रस्थ इति ॥ ७-१२ ॥

**साल्वश्च कृष्णमालोक्य हतप्रायबलेश्वरः ।**
**प्राहरत्[1]कृष्णसूताय शक्तिं भीमरवां[2] मृधे ॥ १३ ॥**

**तामापतन्तीं नभसि महोल्कामिव रंहसा ।**
**भासयन्तीं दिशश्शौरिस्सायकैश्शतधाऽऽच्छिनत् ॥ १४ ॥**

**तं च षोडशभिर्बाणै र्विध्वा सौभं च खे[3] भ्रमत् ।**
**अविध्यच्छरसंदोहैः खं सूर्य इव रश्मिभिः ॥ १५ ॥**

**साल्वंश्शारैस्तु[4-] दोस्सव्यं[-4] सशार्ङ्गं शार्ङ्गधन्वनः ।**
**बिभेदन्यपतद्धस्ता च्छार्ङ्गमासीत्तदद्भुतम् ॥ १६ ॥**

**हाहाकारोमहानासीद्भूतानां तत्र पश्यताम् ।**
**विनद्य सौभराडुच्चैरिदमाह जनार्दनम् ॥ १७ ॥***

1. Ml. प्राहिणोत्कृ° 2. M.Ma भीमां दृढां 3. M.Ma खेचरम् 4- -4 M.Ma °शौरेस्ततस्स° 5. M.Ma द्यदूनां * The following extra verse is found in M.Ma editions only - यत्त्वया युधि दुर्बुद्धे भ्रातरौ मे महाबलौ। निहतौ हंसडिभकौ यमुनायां दुरात्मना ॥

**श्रीध० साल्वश्चेति**। हतप्रायस्य बलस्य सैन्यस्येश्वरः ॥ १३, १४ ॥

**तमिति**। तं च साल्वम्। शरसन्दोहैः शरजालैः। खं सूर्य इव रश्मिभिरिति सुनीलत्व विपुलत्वादिभिः आकाशोपमा सौभस्य। अचिन्त्यवेगत्व[2] बाहुल्यादिभिः शराणां रश्मिसादृश्यम्। अयत्नेनैव रश्मिवच्छरजालप्रसर णात्सूर्यतुल्यः श्रीकृष्ण इति ॥ १५ ॥

**साल्व** इति। दोर्बाहुम् ॥ १६, १७ ॥

1. MI.V omit सैन्यस्य 2. B.J वेगबाहुः

**वीर० साल्व** इति। हतप्रायस्य बलस्येश्वरः साल्वः युद्धे कृष्णमवलोक्य भीमो रवो ध्वनिः यस्यास्तां शक्तिं कृष्णस्य सूताय प्राहरत्प्रयुङ्क्ते ॥ १३ ॥

**तामिति**। रंहसा वेगेन नभस्यापतन्तीम् उल्कामिव सर्वाः दिशो भासयन्तीं तां शक्तिं शतधा चिच्छेद ॥ १४ ॥

**तमिति**। खे आकाशे भ्रमद्भ्राम्यमाणं सौभं तं सौभपतिं च विद्ध्वा खमाकाशं रश्मिभिस्सूर्य इव शरजालैः पुनः सौभमाविध्यत्। सुनीलत्वविपुलत्वादिभिः आकाशोपमा सौभस्य अचिन्त्यवेगत्वबाहुल्यादिभिः शराणां रश्मि सादृश्यं अयत्नेनैव रश्मिवत् शरजालप्रसारात् सूर्यतुल्यः श्रीकृष्ण इत्यवगन्तव्यम् ॥ १५ ॥

**साल्व** इति। शार्ङ्गधन्वनः कृष्णस्य शार्ङ्गं सहितं दोर्भुजं बिभेद विव्याध,हस्तात् शार्ङ्गं न्यपतत्। तदद्भुतमभूत् अभूतपूर्वत्वादिति भावः ॥ १६ ॥

अत एवाह - **हाहाकार** इति। महानुच्चैः विनद्येति अस्य शार्ङ्गपातजसन्तोषातिशयादित्यादिः, उच्चैः विनद्य इदं वक्ष्यमाणमाह ॥ १७ ॥

**विज०** सव्यं हस्तम् ॥ १३-१७ ॥

**यत्त्वया[1] मूढ! नस्सख्युर्भार्या चापहृतेक्षताम्[2] ।**
**प्रमत्तस्स[3] सभामध्ये त्वया व्यापादितस्सखा[3] ॥ १८ ॥ ★**

**तं त्वाद्य निशितैर्बाणैरपराजितमानिनाम् ।**
**नयाम्यपुनरावृत्तं यदि तिष्ठेर्ममाग्रतः ॥ १९ ॥ ▲**

श्रीभगवानुवाच[4-][-4]

वृथा त्वं कत्थसे मन्द न पश्यस्यन्तिकेऽन्तकम्[5-][-5] ।
पौरुषं दर्शयन्ति स्म शूरा न बहुभाषिणः[6-][-6] ॥ २० ॥

इत्युक्त्वा गदया साल्वं भगवान्भीमवेगया ।
तताड जत्रौ संक्रुद्धस्स चकम्पे वमन्नसृक् ॥ २१ ॥

1.M.Ma यद्भूयो 2- -2 M.Ma °प्यपहृता त्वया। 3- -3 M.Ma यच्च मन्द सभामध्ये दमघोषस्सुतस्सखा। ★ Here the following extra half verse is found in M.Ma editions only. व्यापादितः क्षत्रयाणां पश्यतां हतचेतसाम् ▲ Here the following extra verse is found in M.Ma only इति तेनोदितं वाणीमाकर्ण्य मधुसूदनः। प्राहादितो बाणगणैः पुनरात्त शरासनः 4- -4 M.Ma omit 5- -5 M.Ma यस्यास्त्यतिकौतुकम् 6- -6 M.Ma दर्शय त्वं नः शूराणां फल्गुभाषणम् 7. M.Ma संरब्धः

**श्रीध० यदिति**। सख्युः शिशुपालस्य ईक्षतामस्माकम्। प्रमत्तोऽनवहितः। व्यापादितः निहतः ॥ १७ ॥

**तमिति**। अपराजितोऽहमिति मानिनं मानवन्तम्। अपुनरावृत्तिं मृत्युम्। तिष्ठेः स्थास्यसि ॥ १९ -२१ ॥

**वीर०** तदेवाह - **यदिति** द्वाभ्याम्।यत् यस्मात् हे मूढ! नोऽस्माकं सख्युश्चैद्यस्य भार्यात्वेन सङ्कल्पिता रुक्मिणी त्वया अस्माकमीक्षतां पश्यतां सताम् अपहृता, तथा नस्सखा सभामध्ये व्यापादितः हतः, तत्र हेतुत्वेन सखायं विशिनष्टि- प्रमत्तः तदाऽनवहितः इत्यर्थः ॥ १८ ॥

**तमिति**। तुशब्दोऽत्र हेत्वर्थः। तस्मात्तं सख्युः भार्यापहर्तारं च अपराजितमात्मानं मन्यमानं त्वमपुनरावृत्तं मृत्युं नयामि, अतो युद्धे ममाग्रतास्तिष्ठ ॥ १९ ॥

इत्थमुक्तः प्राह श्रीभगवान् - **वृथेति**। हे मन्द! विकत्थसे प्रगल्भं भाषसे, अन्तिके समनन्तरे प्राप्तं मृत्युं न पश्यसि नालोकयसीत्यर्थः। किञ्च शूराः केवलं पौरुषमेव दर्शयन्ति, न तु बहु यथा तथा भाषन्त इति ॥ २० ॥

**इतीति**। भीमो भयङ्करो वेगः यस्यास्तया गदया जत्रौ स्कन्धमूले तताड ताडयामास, स च साल्वः असृक् रुधिरं वमन् उद्गिरन् चकम्पे कम्पितवान् ॥ २१ ॥

**विज०** सख्युर्भार्या शिशुपालस्य संक्लृप्ता जाया रुक्मिणी ॥ १८ ॥

अपुनरावृत्तिं मरणं यमगृहं वा ॥ १९ ॥

यस्य तवातिकौतुकमिति व्याख्यातं वीर्यं नास्ति स त्वं वृथा कत्थसे पौरुषम् अस्ति चेद्दर्शय शूराणाञ्च भाषणं फल्गुमितं वीर्यप्रकटनं बह्वित्यर्थः। यद्वा शूराणां पौरुषं दर्शय भाषणं फल्गु तुच्छं विकत्थनमित्यर्थः ॥ २०,२१ ॥

**★ गदायां सन्निवृत्तायां साल्वस्त्वन्तरधीयत ।**
**ततो मुहूर्तं आगत्य पुरुषश्शिरसाऽच्युतम् ॥**
**देवक्या प्रहितोऽस्मीति नत्वा प्राह वचो रुदन् ॥ २२ ॥**

**कृष्ण कृष्ण महाबाहो पिता ते पितृवत्सल ।**
**बद्ध्वाऽपनीतस्साल्वेन सौनिकेन यथापशुः ॥ २३ ॥**

**निशम्य विप्रियं कृष्णो मानुषीं प्रकृतिं गतः ।**
**विमनस्को घृणी स्नेहाद्बभाषे प्राकृतो यथा ॥ २४ ॥**

**कथं राममसभ्रान्तं[2] जित्वाजेयं सुरासुरैः ।**
**साल्वेनाल्पीयसाऽऽनीतः पिता मे बलवान्विधिः ॥ २५ ॥**

**इति ब्रुवाणे गोविन्दे सौभराट् प्रत्युपस्थितः ।**
**वसुदेवमिवानीय कृष्णं चेदमुवाच ह[3] ॥ २६ ॥**

**एष ते जनिता नीतो[4] यदर्थमिह जीवसि ।**
**वधिष्ये वीक्षतस्तेऽमुमीशश्चेत्पाहि बालिश ॥ २७ ॥**

★ From 22 to 27, 6 verses are not found in M.Ma editions 1.MI.V. प्रेषितोऽ° 2. MI.V. °मसम्मतं 3. B.G.J.स: 4. B.G.J.K.T.W. तातो

**श्रीध० निशम्येति**। घृणी दयावान् ॥ २२-२६ ॥

**एष** इति। जनिता जनयिता। ईशश्चेच्छक्तश्चेत् ॥ २७ ॥

**वीर० गदायामिति**। सन्निवृत्तायां कृष्णेनापनीतायां सत्यामित्यर्थः। अन्तरधीयत अन्तर्हितवान्। ततः अन्तर्धानानन्तरं कश्चित्साल्वप्रेषितः पुरुष आगत्य अच्युतं शिरसा नत्वा प्रणम्य रुदन् वचो वाक्यं प्राह किमिति? देवक्या प्रहितः प्रेषितोऽस्मीति ॥ २२ ॥

किञ्च हे पितृवत्सल! ते तव पिता वसुदेवः बद्ध्वा अपनीतः, यथा सौनिकेन पशुमारकेण पशुरपनीयते, तद्वत् ॥ २३ ॥

**निशम्येति**। मानुषीं प्रकृतिं स्वभावम् अनुगतः प्राप्तः घृणी दयावान् अत एव विमनस्को दुःखितमनाः स्नेहात्पितृविषयकात् बभाषे, यथा प्राकृतः पुरुषः, तद्वत् ॥ २४ ॥

भाषणमेवाह - **कथमिति**। सुरासुरैरपि जेतुमशक्यं तं प्रसिद्धं रामं कथं जित्वा क्षुद्रेण साल्वेन मम पिता आनीतः, विधिः दैवं बलवान् अहो! ॥ २५ ॥

इति ब्रुवाणे सति वसुदेवमिवेति। इति इवशब्देन वस्तुतोऽवसुदेवमिति सूच्यते ॥ २६॥

उक्तिमेवाह - **एष** इति। ते तव एष जनिता जनकः तातः [illegible] तृत्तये जनितेत्युक्तम्। यदर्थं किमर्थमित्यर्थः। ते तव वीक्षितः पश्यतस्सतः अमुं वसुदेवं वधिष्ये, हे बालिश! मूढ! ईशस्समर्थश्चेत् अमुं पाहि ॥ २७ ॥

**विज्ञ**[illegible] No commentary for this unit.

1-
**एवं निर्भर्त्स्य मायावी खड्गेनानकदुन्दुभेः ।**
**उत्कृत्य शिर आदाय खस्थं सौभं समाविशत् ॥ २८ ॥**

**ततो मुहूर्तं प्रकृतावुपप्लुतः स्वबोध आस्ते स्वजनानुसङ्गतः ।**
**महानुभावस्तदबुध्यतासुरीं मायां स साल्वप्रहितां मयोदिताम् ॥ २९ ॥**

**न तत्र दूतं न पितुः कलेबरं प्रबुद्ध आजौ समपश्यदच्युतः ।**
**स्वाप्नं यया चाम्बरचारिणं रिपुं सौभस्थमालोक्य निहन्तुमुद्यतः ॥ ३० ॥**

**एवं वदन्ति राजर्षे ऋषयः केचनान्विताः ।**
**यत्स्ववाचो विरुध्येरन्ननूनं ते स्मरन्त्युत ॥ ३१ ॥**

**क्व शोकमोहौ स्नेहो वा भयं वायेऽज्ञसम्भवाः**
**क्व चाखण्डितविज्ञान ज्ञानैश्वर्यस्य हाऽऽत्मनः ॥ ३२ ॥**

**यत्पादसेवोर्जितयाऽऽत्मविद्यया हिन्वन्त्यनाद्यात्मविपर्ययग्रहम् ।**
**लभन्त आत्मीयमनन्तमैश्वरं कुतो नु मोहः परमस्य सद्गतेः ॥ ३३ ॥**

1- -1. M. MA. ततः शाल्वः समुत्पत्य 2- -2 M. M a. °हूर्तात् प्रकृतावुपस्थितः तत्रानुतिष्ठत्स्व° 3. B. Ml. V. षङ्गः ;T. W. षङ्गतः 4. B.G. J. प्रसृतां ;M. Ma . प्रकृतां 5. M. Ma. दैत्यं 6. M. Ma. तदप° ; Ml. V. यदप° 7. M.Ma. स्वप्ने 8- - 8 B. G. J. °र्यस्त्व खण्डितः M. Ma. °र्येश्वरोऽजितः ; Ml. V. °र्यस्सुरेडितः 9 M. Ma. °वा°

**श्रीध० तत** इति। स्वबोधः स्वतस्सिद्धज्ञानवानपि स्वजनस्नेहतः प्रकृतौ मनुष्य स्वभावे उपप्लुतो निमग्न आस्ते अतिष्ठत्। ततः तत्सर्वमासुरीं मायामबुध्यत् मायेयमिति ज्ञातवान् ॥ २८ , २९ ॥

**नेति**। स्वाप्नं स्वप्नप्रपञ्चं यथा ॥ ३० ॥

एवं परमतमुपन्यस्तं निराकरोति - **एवमिति**। के च केचन नान्विता अनन्विताः पूर्वापरानुसन्धानरहिताः। तदाह यत्स्ववाच इति। तत्रानुस्मरन्तीत्यर्थः। अयमाभिप्रायः - न तावत् राजसूयार्थं, रामेण सह गतः श्रीकृष्णः, सङ्कर्षणमनुज्ञाप्येति पूर्वमुक्तत्वात् ॥ ३१ ॥

असम्भावितं चेत्याह - **क्व शोकमोहाविति**। भयं वा दुर्निमित्तदर्शनकृतं, नूनं हन्युः पुरीं ममेति, यदुक्तं - यच्च हस्ताच्छार्ङ्गं न्यपतदित्युक्तं, तद्भयं वा क्वेति। अज्ञेषु सम्भवो येषां ते। अखण्डितानि विज्ञानज्ञानैश्वर्याणि यस्य सः। तत्र विज्ञानं स्वरूपविषयम्। ज्ञानं बाह्यविषयम् ॥ ३२ ॥

**यदिति**। किञ्च यस्य पादसेवया ऊर्जिता पुष्कला या आत्मविद्या तया अनादितश्चासौ आत्मविपर्ययग्रहश्च, अहं कृशः सुखी दुःखीत्यादि लक्षणस्तं हिन्वन्ति, नाशयन्ति सन्तः ऐश्वरं पदं च। तस्य सतां गतेः कुतो नु मोह इति। अतो नैतद्वचनं सत्यमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

**वीर० एवमिति**। आनकदुन्दुभेः वसुदेवस्य शिर उत्कृत्य छित्वा आदाय खस्थम् आकाशे स्थितं सौभमाविशत् ॥ २८ ॥

**तत** इति। प्रकृतौ मानुषस्वभावे उपप्लुते मग्नः स्वबोधः स्वासाधारणं सार्वज्ञ्यं यस्य सः। तत्र हेतुः - स्वजनानुसङ्गतः स्वजनासक्तः महानुभावः, हेतुगर्भमिदम्। तत्त्वात् स भगवान् मयोदितां साल्वं प्रति मयेनैवं कुर्वित्युपदिष्टामित्यर्थः। साल्वेन प्रेषिताम् आसुरीं मायाम् अबुध्यत ज्ञातवान् इत्यर्थः॥ २९ ॥

ततः किं कृतवान्? तदाह - **नेति**। यदैवं प्रबुद्धोऽबुध्यत य तत्र तदैव आजौ युद्धाङ्गणे दूतं नापश्यत्, नापि पितुः कलेबरं, यथा स्वप्नादुद्बुद्धस्स्वाप्नमर्थं न पश्यति, तद्वत्। किन्तु अम्बरचारिणं सौभे स्थितं तं रिपुं साल्वमवलोक्य निहन्तुमुद्युक्तो बभूव ॥ ३० ॥

इत्थमुपन्यस्तं परमतं निराकरोति **एवमिति**। हे राजर्षे! केचिदृषयः नान्विताः अनान्विताः पूर्वापरसन्धान रहिताः इत्यर्थः। इत्थं वदन्ति, तदेवाह - यत्स्ववाच इति। स्ववाचो विरुध्येरन् विरोधं प्राप्नुयुरिति यत्, तन्नानुस्मरन्ति नानुसन्दधते, नूनं ध्रुवम्, अयमभिप्रायः न तावद्राजसूयार्थं रामेण सह आगतः श्रीकृष्णः 'सङ्कर्षणमनुज्ञाप्य'(भाग. 10-77-23)इति पूर्वमुक्तत्वात्,न च इन्द्रप्रस्थं गते कृष्णे साल्वागमनं साल्वसङ्गामव्यासक्तेन मया युष्मद्द्यूतं न ज्ञातमिति काम्यकवनस्थान्पाण्डवान् सान्त्वयता कृष्णेनोक्तमिति व्यासोक्तेरिति ॥ ३१ ॥

असम्भावितं चैतदित्याह - **क्व शोकमोहाविति**। विमनस्कः इत्यनेनोक्ताः शोकाः 'मानुषीं प्रकृतिं गतः' भाग. 10-77-23 इत्यनेनोक्तो मोहश्च 'घृणी स्नेहात्' इत्यनेनोक्तः स्नेहः भयं वा दुर्निमित्त दर्शनजं 'नूनं हन्युः पुरीं मम' इत्युक्तं, यच्च हस्ताच्छार्ङ्गं न्यपतदिति, तच्चाज्ञानसम्भवं न विद्यते ज्ञानं येषां तेषु सम्भवं सम्भवेत्। भयं वा क्वेत्येसम्भावना द्योत्यते।तद्धेतुत्वेन भगवन्तं विशिनष्टि अखण्डितेति। ज्ञानविज्ञानशब्दौ प्रकारप्रकारिविषयज्ञानपरौ अखण्डिते ज्ञानविज्ञाने सर्वपदार्थ तद्याथात्म्यविषयके ऐश्वर्यं च यस्य तस्य ईश्वरस्य सर्वान्तर्यामिणः शोकादिः क्वेति सम्बन्धः, हेत्येवं विधस्य भगवतश्शोकादिकं वदतः प्रति विस्मयते ॥ ३२ ॥

शोकाद्यभावं कैमुत्यनयाभिप्रायेणाह - **यत्पादेति**। यस्य भगवतः पादयोः सेवया परिचर्यादिरूपसेवया श्रवणकीर्तनादि रूपया वा ऊर्जिता पुष्कला परिनिष्पन्नेति यावत् तया आत्मविद्यया आत्मनः तस्य परमात्मनः विद्यया उपासनया अनाद्यात्मविपर्ययग्रहं हिन्वन्ति अपनयन्ति अनादिश्चासावात्मनो विपर्ययः देहाद्विलक्षणस्यात्मनो देहतादात्म्यभ्रमः अस्वतन्त्रस्यात्मनः स्वातन्त्र्यभ्रमश्चेत्येवं विपर्ययः स एव ग्रहः पिशाचः तं, किञ्चानन्तम् असङ्कुचितम् आत्मीयमैश्वर्यम् अपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकलक्षणं लभन्ते निरस्तनिश्शेषाज्ञानतत्कार्याः गुणाष्टकप्रादुर्भावरूपमुक्तिं लभन्त इत्यर्थः। सताङ्गतेः परमपुरुषस्य मोहः कुतोऽनु? तत्पाद सेवकानामेव न मोहः, किं पुनस्तस्य मोहाभाव इति वक्तव्यमित्यर्थः ॥३३॥

**विज०** साल्वस्य शक्तिप्रकटनाय तन्मायाप्रकारमाह -**तत** इति ॥ २८ ॥

श्रीकृष्णः साल्वसृष्टां मायामवलोक्य किमकरोदत्राह - **तत** इति। ततो वसुदेवशिरोहरणानन्तरं मुहूर्तकालं तत्र युद्धे अनुतिष्ठत् अन्वतिष्ठत् अन्ववर्तत। कीदृशः? प्रकृतौ चिदानन्दघनस्वभावे उपस्थितोपि साल्वमायां जानन्नपि प्रकृतावृप प्रकृतिसमीपे स्थितः अजानन्निव पुनः किं चकारेति तत्राह - ततो मुहूर्तान्महानुभावः अपरिमितप्रभावः स हरिः स्वजनस्य

स्वभक्तजनस्यानुकूलात्सङ्गतः वचनप्रसङ्गात् तद्वसुदेवशिरोहरणमबध्यत कथं तदत्राह - आसुरी मिति। साल्वेन प्रकृतां प्रयुक्तां मूलबलमाह मय इति। मयेनासुररक्षणोदितामुपदिष्टामित्यर्थः। तदुक्तं 'जानन् शाल्वकृतां मायामजानन्निव केशवः। अन्ववर्तत किञ्चत्' (ब्रह्माण्डे) इति बुद्ध्वा किं कृतमत्राह - प्रकृताविति, कृती च्छेदन इति धातोः बुद्ध्वा मायाः प्रकृतौ निर्मूलने सम्यक् स्थितोऽभूदिति शेषः। ततः 'तामाहरद्विभुः' इति वचनात् अज्ञानप्रकटनं कस्मादत्राह प्रकृताविति। प्रकृतिनिर्मित शरीरस्थत्वादसुरजनमोहनार्थत्वाच्च। "एवमेव तु सर्वत्र परमात्मा सनातनः। विश्व रुधिरस्रावी कथञ्चिदजयत्परम्" (ब्रह्माण्डे) "इत्यादि दर्शयेत् विष्णुर्मोहयान्मायया जगत्" (ब्रह्माण्डे) इति। चिदानन्दघनस्वभाव इत्येतत्कुत इति चेन्न। चिदानन्दघनस्यास्य कुतो वेधादिसद्गतेःसम्भवेत् (ब्रह्माण्डे) इत्यस्मात् स्वजनानुसङ्गत इतीदमपि सद्गतेः इति सिद्धम्। 'यदचरस्तन्वावावृधनो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु मायेत्सा ते, यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से' इत्यादि श्रुति सिद्धोऽयमित्यर्थः। तथाहि हे इन्द्र! तन्वावावृधानः स्वरूपेण भृशं वर्धमानस्त्वं बलानि वीर्याणि विक्रमलक्षणानि अचरः अकृतेति यत्स्वजनेषु प्रब्रुवाणः व्याकुर्वाणो' वर्तसे इति शेषः। तस्मात् स्वभावरहस्यं स्वजना जानन्तीत्यर्थः साल्वादिशत्रुणा क्रियमाणानि यानि युद्धान्याहुः पुराणादौ एतानि त्वामुद्दिश्य सा मयोदिता माया इत् इन्द्रजाललक्षणैव त्वं पुरा प्रथमतो मुहूर्तं शत्रुसुखत्रोटनान्मायां न विवित्से न ज्ञातवानसि, अद्याधुना विवित्से ननु पश्चात् सा सिद्धाऽभूदित्यर्थः ॥ २९ ॥

एतदेव स्पष्टयति - **नेति**। अच्युतः ज्ञानच्युति रहितः तत्पितुः कलेबरं च नापश्यत् प्रबुद्धः मायामिति शेषः। आत्मा परमात्मा निदर्शयति स्वप्न इति। यथा स्वप्ने करितुरगादीन् पश्यति ततः प्रबुद्धः तान् पदार्थान्न पश्यति बद्ध्वा किं कृतमत्राह - अम्बरचारिणमिति ॥ ३० ॥

तद्दृष्टृणामृष्यादीनामपि ज्ञानलोपो नास्ति किं पुनः हरेरिति भावेनाह - **एवमिति**। कथं वदन्तीत्यत्राह - यतत्स्ववाच इति। स्वस्य स्वतन्त्रस्य हरेः वाचो वेदलक्षणा यन्मोहादिकं हरिविषयं प्रति विरुध्यन्ते विरोधवन्त्यो भवन्ति हरेर्मोहादिकं न सहन्त इत्यर्थः। "अजस्यावक्र चेतसः" (कठ. उ. 5. 1) इति श्रुतेः। नूनं तार्किका उपक्रमादिवेदतात्पर्यलिङ्गकोविदास्ते वैदिकाः तन्महादिकं स्मरन्ति नु किं नैव स्मरन्तीत्यर्थः। येषां स्ववाचो विरुध्यन्ते हरेर्मोहादिवादिन्यः। परस्परविरोधिन्यः स्युः ते शास्त्रप्रणेतारः, तादृशीर्वाचः स्मरन्ति पुराणादौ नैव इति वा ॥ ३१ ॥

प्रत्युत विपरीतमेव वदन्तीत्याह **क्वेति**। ये शोकादयोऽज्ञानतः सम्भवो येषां ते तथा ॥ ३२ ॥

तदेव द्रढयति - **यत्पादेति**। आत्मविद्यया परमात्मज्ञानेन अनादिकालेन आत्मविपर्यायग्रहं मनसि स्थितमन्यथाज्ञानं हिन्वन्ति नाशयन्ति। न तावदेव, किन्तु हरितत्त्वं च जानन्तीत्याह - लभन्ते इति। आत्मीयमात्मनः परमात्मनो विद्यमानमनन्तमैश्वर्यमीश्वरत्वं लभन्ते जानन्ति। यद्वा स्वयोग्य मैश्वर्यरमीश्वरानु गृहीतमनन्तं मोक्षं लभन्ते प्राप्नुवन्ति ॥ ३३ ॥

इति तैरुदितां वाणीमाकर्ण्य कमलेक्षणः ।
ससौभं हन्तुमारेभे शाल्वं कुरु कुलोद्वह ॥

ततो निशातमादाय चक्रं कृष्णः सुदर्शनम् ।
आग्नेयास्त्रेणाभिमन्त्र्य प्राहिणोत्सौभनाशनम् ॥

तन्नारायणहस्ताग्र्यान्मुक्तमाग्नेयमन्त्रितम् ।
जज्वालाऽब्रह्मसदनं ज्वालामालातिभीषणम् ॥
ततो वैमानिकास्सर्वे ते विहाय विहायसम् ॥

सुदर्शनोष्मणा तप्ता दुद्रुवुः सर्वतो दिशम् ।
तदर्कशतसङ्काशं सौभं भित्वा द्विधा पुरम् ॥

भूयो नारायणकरं प्राप भूपसुदर्शनम् ।
ततः समुद्रे न्यपतत्पुरं विच्छिन्नबन्धनम् ॥

गदापाणिर्दुराधर्षः शाल्वोऽपि प्रत्यदृश्यत ॥
तां प्रेषयामास गदां कृष्णमुद्दिश्य दुर्मतिः ॥

ततो रथं दैत्यबलोपनीतं संस्थाय शाल्वो बहुशस्त्र सञ्चयम्
अवाकिरत्कृष्णाशिरस्यनन्तैर्महायुधैश्च व्यनद द्धरिर्यथा ॥

तां गदां प्रेषितां तेन छित्वा बाणैस्त्रिधा हरिः ।
पाञ्चजन्यमुपाध्माय सिंहनादं व्यनीनदत् ॥

आब्रह्मसदनं ब्रह्मसदनं ब्रह्मलोक पर्यन्तम् ॥

सौभं नाम पुरम् ॥

अनन्तैः अनेकसङ्ख्यैः हरिः सिंहः ॥

**तं शस्त्रपूगैः प्रहरन्तमोजसा साल्वं शरैश्शौरिरमोघविक्रमः ।**
**विद्ध्वाऽच्छिनद्वर्मधनुश्शिरोमणिं सौभं च शत्रोर्गदया रुरोज ह ॥ ३४ ॥**

तत्कृष्णहस्तेरितया विचूर्णितं पपात तोये गदया सहस्रधा ।
विसृज्य तद्भूतलमास्थितो गदामुद्यम्य साल्वोऽच्युतमभ्यगद्भुतम् ॥ ३५ ॥

आधावतः सगदं तस्य बाहुं भल्लेन छित्वाऽथ रथाङ्गमद्भुतम् ।
वधाय साल्वस्य लयार्कसन्निभं बिभ्रद्बभौ सार्क इवोदयाचलः ॥ ३६ ॥

जहार तेनैव शिरस्सकुण्डलं किरीटयुक्तं पुरुमायिनो हरिः ।
वज्रेण वृत्रस्य यथा पुरन्दरो बभूव हाहेति वचस्तदा नृणाम् ॥ ३७ ॥

तस्मिन्निपतिते पापे सौभे च गदया हते ।
नेदुर्दुन्दुभयो राजन् दिवि देवगणेरिताः ।
सखीनामपचितिं कुर्वन्दन्तवक्त्रो रुषाऽभ्यगात् ॥ ३८ ॥

1. K. T. W. यु° 2. Ml. V. °मादाय 3. Ml. V. हरिम° 4. K. T. W. साङ्गदमस्य बा° ; M. Ma. भीमगदस्य बा°

इति श्रीमद्भगवते महापुराणे श्रीवैय्यासिक्यां अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥७७ ॥

**श्रीध०** किं तर्हि सत्यं, तदाह - **तं शस्त्रपूगैरिति**। वर्म कवचम्। रुरोज बभञ्ज ॥ ३४, ३५॥

**आधावत** इति। लयार्क सन्निभं प्रलयकालीनसूर्यसदृशम् ॥ ३६, ३७ ॥

**तस्मिन्निति**। देवगणैरीरिता वादिताः। [1-] किञ्च सखीनामिति [-1] ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
सप्तसप्ततितमो अध्यायः ॥ ७७ ॥

1 - -1. Ml. V. omit

**वीर०** इत्थं परमते निरस्ते किं तर्हि तात्त्विकमित्यत आह - **तमिति**। शौरिरित्यस्येन्द्रप्रस्थादागत इत्यादिः यद्वा भगवतः शोकमोहादिप्रतिपादकमिव स्थितमनूदितं परमतमुद्धरति एवं वदन्तीति त्रिभिः। अन्विता युक्ता इति यावत्, केचनैवं वदन्तीत्यर्थः। ननु निरस्तनिखिलदोषस्य भगवतोऽज्ञानशोकादि दोषान्वदन्तः कथमाभियुक्ता इत्यत आह - यदिति। यत् यस्मात् स्ववाच इति षष्ठ्यन्तं स्ववाचः "वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन" (भ.गी.7-26) "तान्यहं वेद सर्वाणि" (भ.गी.4-5) इति सार्वज्ञ्यविषय भगवद्वचसः ये विरुध्येरन् अज्ञानादयो दोषाः तान् ते ऋषयः नानुस्मरन्त्येव, किन्तु मनुष्य भावानुकारमात्र तात्पर्यकत्वेन, तथा ऊचुः इति भावः। त इति बहुवचनम्, सर्वाभिप्रायकम्, एवं च 'मानुषीं प्रकृतिं गतः' (भागः 10-77-23) इत्यस्य प्रकृतिं स्वभावं गतोऽनुगतः अनुकुर्वन्नित्यर्थः। अन्यथा प्राकृतो यथेति दृष्टान्ता सङ्गतिः, हस्तात् शार्ङ्गं न्यपतदित्युक्तेरपि मनुष्य भावानुकारे तात्पर्यम् अन्यथा निरस्तनिखिलदोषस्य क्वावद्यसम्भावनापीत्यभिप्रायेणाह - क्व शोकेति द्वाभ्याम्। अनन्योः यथोक्त एवार्थः। अस्मिन्पक्षे आर्यमिश्राभि सङ्गत इत्यस्य अयमर्थः आर्यमिश्राः वृद्धाः भीष्मादयः तैः अभिसङ्गतः अभितः सङ्गतः सुखमासमिति। आर्यमिश्रैश्च सङ्गतः इति पाठान्तरमपि क्वचिदृश्यते। आर्यैः मुनिभिः मिश्रैः भवद्भिश्च सङ्गतः इत्यर्थः। न तु बलभद्रसहितत्वमनेनोच्यते। अस्मिन्पक्षे काम्यकवनस्थपाण्डवसान्त्वनमुपपन्नमेव, अन्यथा परमतं दूषयन् भगवान्बादरायणः स्ववचसोः पूर्वपरयोः विरोधं परमतेनापादयितुमर्हति "ततो मुहूर्ते" (भा. 10-77-21) इत्यादेस्तु अयमर्थः - उपप्लुतः स्वबोध इत्यसमस्तं पदद्वयम् । स्वबोधः स्वः स्वभाविकः स्वासाधारणश्च बोधः सार्वज्ञ्यरूपो यस्य तथाभूतोऽपि प्रकृता वुपप्लुतो मग्नः प्रकृतिवश्याज्ञसंसारीव आस्ते आस इत्यर्थः। तत्र हेतुः - स्वजनान् यदून् अनुसङ्गतः अनुवर्तमानः स्वयमपि कश्चिद्यादव इवानुकुर्वन् इत्यर्थः। तत्ततोऽबुध्यत प्रबुद्धवानभूत्। नित्यसर्वज्ञोऽपि प्राकृतवत् क्रमेणाबुध्यतेति, किञ्च आद्यव्याख्याने इन्द्रप्रस्थाद्भगवदागमनस्यानुक्तत्वात्, 'तं शस्त्र पूगैः' इत्यादेः पूर्वग्रन्थसंदर्भवैघट्यं शौरिरित्यस्येन्द्रप्रस्थादागत इत्यादि पूर्णत्वे स्वारस्यमित्यवगन्तव्यमित्यलं विस्तरेण। अमोघोऽप्रतिहतो विक्रमो यस्य स शौरिः ओजसा बलेन शस्त्रजातैः प्रहरन्तं साल्वं शरैर्विद्ध्वा ताडयित्वा वर्म कवचं धनुश्च शिरोमणिं च अच्छिनत्, सौभं तु गदया रुरोज बभञ्ज, हेत्याश्चर्ये ॥ ३४ ॥

**तदिति**। कृष्णहस्तेनेरितया प्रयुक्तया गदया सहस्रधा विचूर्णितं तत्सौभं तोये समुद्रजले पपात, ततस्साल्वः भूतलमास्थितः गदामुद्यम्य द्रुतं यथा तथा तं कृष्णम् अभ्यद्रवत् ॥ ३५ ॥

**आधावत** इति। अभ्यापततोऽस्य साल्वस्य अङ्गदेन सहितं बाहुं भल्लेन बाणविशेषेण छित्वा अथ साल्वस्य वधार्थं प्रलयतुल्यं रथाङ्गं चक्रं बिभ्राणो बभौ, यथा सार्कः सूर्यसहित उदयाचलः तद्वत् ॥ ३६ ॥

**जहारेति**। पुरुमायिनः बहुविध मायिनः साल्वस्य शिरः तेनैव चक्रेणैव जहार हतवान् ययेन्द्रो वज्रेण वृत्रस्य शिरः तद्वत् तदा नृणां हाहेति शब्दो बभूव ॥ ३७ ॥

अथ सानुजदन्तवक्त्र वधात्मकं हरेश्चेष्टितं वक्तुं तावत्प्रौस्तौति सार्धेन - **तस्मिन्निति**। तस्मिन् साल्वे पतिते हते च सति सखीनां साल्वादीनां अपचितिं पारोक्ष्येणोपकृतिं कुर्वन् कर्तुमित्यर्थः। वर्णाधिक्य मार्षम् ॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥७७॥

**विज०** शिरोमणिं किरीटं रुरोज बिभेद ह प्रसिद्धम् शतं सहस्रमयुतं नियुतं प्रयुतार्बुदे 'न्यर्बुदं शङ्खवृन्दे च निखर्वं खर्व मर्बुदम्' (न्यर्बुदं बृन्दखर्वे च निखर्वं खर्व मम्बुजम् इति पाठःवैज.को. 5-1-28) इति यादवः ॥ ३४-३६ ॥

पुरुमायिनः अनेकशतमायावतः ॥ ३७,३८ ॥

**स्तूयमानो मुनिगणैः सूतमागध वन्दिभिः ।**
**आजगाम वृतस्सैन्यैः पुरीं द्वारवतीं हरिः ॥**

**सम्प्रविश्य पुरीं रम्यां पताखाखण्डमण्डिताम् ।**
**अलङ्कृतामलङ्कारैः सिक्तसम्मृष्ट चत्त्वरम् ॥**

**पूजितो यदुभिर्वृद्धैः पौरजान पदैस्तथा ।**
**रमयन्द्व्यष्टसाहस्र महिषीः प्रेमविह्वलाः ॥**
**उवास देवकीपुत्रः सानन्दं कुरुनन्दन ॥**

सानन्दं आनन्दसहितं इत्यर्थे विषयानन्दः न स्वरूपानन्द इत्यर्थः। स्यात् सोनुपपन्नः 'विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म '(बृ ह. उ 3-9-28) इति श्रुतेः ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥७७॥

(विजयध्वजरीत्या षडशीतितमोध्यायः )

# अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या एकाधिकशततमोऽध्यायः)

[1-]शिशुपालस्य साल्वस्य पौण्ड्रकस्याऽपि[-1] दुर्मतेः[2] ।
परलोक गतानाञ्च कुर्वन्पारोक्ष्य सौहृदम् ॥ १ ॥

एकः पदातिः[3] सङ्क्रुद्धो[4] गदापाणिः प्रकम्पयन् ।
पद्भ्यां[5] महीं महाराज महासत्त्वो अभ्यवर्तत[6] ॥ २ ॥

तं तथाऽऽभान्त मालोक्य गदामादाय सत्वरः ।
अवप्लुत्य रथात्कृष्णः सिन्धुं वेलेव प्रत्यधात्[7] ॥ ३ ॥

गदामुद्यम्य कारूषो[8] मुकुन्दं प्राह दुर्मदः ।
दिष्ट्या दिष्ट्या[9] भवानद्य मम दृष्टिपथं गतः ॥ ४ ॥

1--1 M.Ma रुक्मिणः शिशुपासस्य पौण्ड्रकस्य च 2. B.G.J °तिः 3. M.Ma पदातिः पथि 4. M.Ma संरोद्धुं ; Ml.V सन्नद्धो 5. B.G.J. पद्भ्यामिमां 6. B.G.J.M.Ma व्यदृश्यत; Ml.v अभ्यदृश्यत 7. M.Ma °गात् 8. K.Ml.V कारूशो; M.Ma कालिङ्गो 9. M.Ma कृष्ण

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

ततोऽष्टसप्ततितमे दन्तवक्त्रविदूरथौ। हत्वा हरिः पुरे रेमे रामस्सूतं ततोऽवधीत् ॥

सखीनां अपचितिं कुर्वन्नित्युक्तं, तदेवाह - **शिशुपालस्येति**। पारोक्ष्य सौहृदं परोक्षे करणीयं सुहृत्कृत्यम् ॥१,२॥

**तमिति**। प्रत्यधात् प्रतिरुरोध ॥ ३ ॥

**गदामिति**। 'मुकुन्दं प्राह दुर्मदः' इत्यादे रधिक्षेप परता स्फुटैव। परमार्थस्तु दुर्मदो गतमदः प्राह मुकुन्दं तृतीये जन्मनि मुक्तिदानार्थमागतम्। अद्येति। जन्मत्रयेऽन्विष्यमाणोऽद्य ब्रह्मशापावसाने भवान्मम स्वामी दृष्टिपथं गतः प्राप्तः। एतद्दिष्ट्या, भद्रं भद्रम्। अतिहर्षे वीप्सा ॥ ४ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषालिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

सखीनामपचितिं कुर्वन्नित्युक्तं विस्तरेणाऽऽह - **शिशुपालस्येत्यादिना**। पारोक्ष्यसौहृदम् परोक्षेण कर्तव्यं सुहृत्कृत्यं कुर्वन् "लक्षणहेत्वोः" [अष्टा 3-2-126] इति शत्रादेशः, कर्तुमित्यर्थः। व्यदृश्यत इत्युत्तरत्र सम्बन्धः। कथम्भूतः? एकोऽसहायः गदा पाणौ यस्य सः। पद्भ्यां महीं प्रकम्पयन् महत्सत्त्वं बलं यस्य सः। हे महाराज! ॥ १.२ ॥

तदा कृष्णः किमकरोत् तदाह - **तमिति**। तं दन्तवक्त्रं अवलोक्य त्वरया सहितः सिन्धुं समुद्रं वेलेव प्रत्यधात् प्रतिरुरोध इत्यर्थः ॥ ३ ॥

**गदामिति**। कारूषो[1] दन्तवक्त्रः प्राह। तदेवाऽऽह दिष्ट्येति। दिष्ट्या अयमानन्दो जात इत्यर्थः। कोऽसौ अद्यदृष्टिपथं भवान् प्राप्त इत्येषः ॥ ४ ॥

1. k. कारूशो

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

**उद्वापनस्नानहेतो र्यमुनातीरमागतम् ।**
**श्रुत्वा तूर्णं कलिङ्गेशो दन्तवक्त्रस्सहानुजः ॥ क ॥**

**महत्या सेनया युक्तो गजानीकसमन्वितः ।**
**गच्छन्तं द्वारकां कृष्णं पथि रोद्धुं समाययौ ॥ ख ॥**

**सोऽभ्येत्य पथि गच्छन्तं वृतं यदुकुमारकैः ।**
**कान्ताषोडश साहस्र शिबिका परिवारितम् ॥ ग ॥**

**राजसङ्घानुगच्छन्तं महर्षिगणसेवितम् ।**
**ऋत्विक्पुरोहिताचार्य ब्राह्मणैश्च समन्वितम् ॥**
**दन्तवक्त्रोऽरुणन्मूढो मृगेन्द्रं जम्बुको यथा ॥ घ ॥**

हरेरवशिष्ट भूभार दन्तवक्त्रविदूरथ वधलक्षणं यच्चरितं तत्कथयत्यस्मिन्नध्याये। तत्र तद्घटनप्रकारमाह **उद्वापनेति**। उद्वापनेस्नानहेतोः अवभृथस्नानहेतोः ॥ क ॥

अरुणत् रुरोध। जम्बुकः सृगालः ॥ ख - घ ॥

पारोक्ष्यसौहृदं मृतिलक्षणाप्रत्यक्षत्वेऽपि बन्धुना यत्कर्तव्यं सौहृदं प्रेम तत् कुर्वन् कर्तुकामः ताच्छीलिकः शतृप्रत्ययः ॥ १,२ ॥

वेला जलवृद्धिः । सिन्धुं नदीम् ॥ ३ ॥

कालिङ्गः कलिङ्गविषयनाथः ॥ ४ ॥

*** त्वं मातुलेयो नः कृष्ण मित्रध्रुङ्[1]मां जिघांससि ।**
**अतस्त्वां गदया मन्द हनिष्ये वज्रकल्पया ॥ ५ ॥**

**[2]तेनानृण्य मुपैम्यज्ञ मित्राणां मित्रवत्सलः ।**
**बन्धुरूपमरिं हत्वा व्याधिं देहचरं यथा ॥ ६ ॥**

**इतिलोकप्रवादोऽस्ति तेन दोषोऽपि नास्ति मे ।**
**एवं रूक्षैस्तुद[3]न्वाक्यैः कृष्णं तोत्रैरिव द्विपम् ।**
**गदयाऽताडयन्मू[4]र्ध्नि सिंहवद्व्यनदच्च सः ॥ ७ ॥**

**गदयाऽभिहतेऽप्याजौ न चचाल यदू[5]द्वहः ।**
**[6-]कृष्णोऽपि तमहन्[-6] गुर्व्या कौमोदक्या स्तनान्तरे ॥ ८ ॥**

* त्वामद्य द्वन्द्वयुद्धेन हनिष्याम्यविलम्बितम्। 1. M.Ma ध्रुक् पारदारिकः 2. B.G.J K.Ml. T.V.W तर्ह्या° 3. M.Ma °श्च वचनैः 4. M.Ma त्कृष्णं 5. M.Ma °त्तमः 6- -6 M.Ma गदया व्यहनत्

**श्रीध०** किञ्च ! हे कृष्ण ! त्वमस्माकं मातुलेयो बन्धुः। एवमपि मित्रध्रुक् मित्राणि घातितवान्। माञ्च जिघांससि। तस्मादस्माकं त्वत्तो मृत्युः सनकाद्यनुग्रह प्राप्तो नूनं दुर्वारः। अतः त्वां एतावन्मात्रमहं याचे। किन्तदाह - हे अमन्द ! सर्वसहनसमर्थ ! क्षात्रधर्मेण सेवितुं गदया त्वां हनिष्ये प्रहरिष्यामि. तां एकवारं सहस्व इति। ननु वज्रतुल्या त्वद्गदां को वा सहेत नैवमित्याह अवज्रकल्पया उत्पलमालावत् अतिकोमलयेत्यर्थः ॥ ५ ॥

नन्वेवं हनने कः तव पुरुषार्थः तमाह **तर्हीति**। अज्ञ ! न विद्यते ज्ञो यस्मात्[1], हे सर्वज्ञेत्यर्थः। परमार्थतः स्वामिनमेतद्देह सम्बन्धेन बन्धुरूपमरिं ब्रह्मशापेन शत्रुत्वेन प्रतीतं त्वां हत्वा मित्राणामानृण्य मुपैष्यामि। विशेषेणाऽऽधीयते मनसि चिन्त्यत इति व्याधिः देहेऽन्तर्यामितया चरतीति तथा तम्। ईश्वरं हत्वा क्षात्रधर्मेणाराध्य हन्ते र्गत्यर्थस्य ज्ञानार्थत्वात् ज्ञात्वेति वा तेन यथा पित्रा दीनामानृण्य मुपयन्ति तद्वदिति ॥ ६ ॥

रूक्षैरित्यादि प्रतीत्यभिप्रायेण, तोत्रैरङ्कुशादिभिः ॥ ७,८ ॥

1 Ml.V. add तस्य सम्बुद्धिः 2 Ml.V. omit अरिं

**वीर०** हे कृष्ण! त्वमस्माकं मातुलेयः मातुलस्य पुत्रः, सहजमित्रमिति तात्पर्यम्। तथाऽपि मित्राण्येव द्रुह्यतीति तथा। माञ्च हन्तुमिच्छसि। यत एवम्भूतः ततः त्वां वज्रतुल्यया बृहत्या गदया हनिष्ये ताडयिष्यामित्यर्थः ॥ ५ ॥

तर्ह्येवञ्चेत् मित्रवत्सलोऽहं देहगतं व्याधिमिव मृत्युसंपादकं बन्धुरूपमरिं त्वां हत्वा मित्राणामानृण्यं ऋणाभावं प्राप्स्यामि ॥ ६ ॥

**एवमिति**। तोत्रैः अङ्कुशादिभिः द्विपं गजमिवेत्थं रूक्षैः परुषैः वाक्यैः कृष्णं तुदन् व्यथयन्निव मूर्ध्नि गदया अताडयत्[1] ततः स दन्तवक्त्रः सिंहवत् व्यनदत् ॥ ७ ॥

**गदयेति**। यदूद्वहः कृष्णः आजौ युद्धेगदया ताडितोऽपि न चचाल। अपि तु कृष्णःतं दन्तवक्त्रं स्तनान्तरे स्तन मध्ये कौमोदक्या[2] स्वगदया गाढं यथा तथा, अताडयदित्यनुषङ्गः ॥ ८ ॥

1. B. तताड 2 \. B. क्याख्यया

**विज०** मातुलो वसुदेवः तत्पुत्रः पारदारिकः परस्त्रीरतिसमुत्सुकः ॥ ५ ॥

विश्वासघाती बन्धुघ्नः सततं कलहप्रियः ।

पौण्ड्रकं मातुलेयं मे सङ्ख्ये सूदितवानसि ।

रुक्मी च शिशुपालश्च भ्रातरौ मे त्वया हतौ ॥ क ॥

भ्रातरौ मातृसोदरी पुत्रत्वेन ॥ क ॥

आनृण्यम् ऋणाभावम् । देहचरं देहगतम् ॥ ६ ॥

रूक्षैर्वचनैः, व्यथयित्वेति शेषः ॥ ७, ८ ॥

[1]गदानिर्भिन्न हृदय उद्वमन् रुदिरं मुखात्
प्रसार्य केशबाह्वङ्घ्रीन्[2] धरण्यां न्यपतद्व्यसुः[-2] ॥ ९ ॥

ततस्सूक्ष्मतरं[3] ज्योतिः कृष्णमाविशदद्भुतम् ।
पश्यतां सर्वभूतानां यथा चैद्यवधे[4] नृप ॥ १० ॥

☆ विदूरथस्तु तद्भ्राता भ्रातृशोकपरिप्लुतः ।
आगच्छदसिचर्मभ्यां उच्छ्वसंस्तज्जिघांसया ॥ ११ ॥

तस्य चाऽऽपततः कृष्णश्चक्रेण क्षुरनेमिना ।
शिरो जहार राजेन्द्र! सकिरीटं सकुण्डलम् ॥ १२ ॥

1. K.M. Ma.T.W. गाढं ;Ml. V. गाढं 2- -2 M. Ma. ङ्घ्रि गतासु न्यपतत् भुवि 3. Ml.V. मं 4. M.Ma. °द्यस्य सङ्गरे; Ml.V. °द्यपतेर्नपः! M. Ma. reads this भ्रातरं निहतं दृष्ट्वा दन्तवक्त्रं विदूरथः मूर्धितो भ्रातृशोकेनाऽप्यसि चर्म समाददे ॥

श्रीधरीय व्याख्या नास्ति।

**वीर०** एवं ताडितो निर्भिन्नं हृदयं यस्य सः। मुखा द्रुधिरम् उद्वमन् केशादीन् प्रसार्य व्यसुर्गतप्राणो धरण्यां न्यपतत् ॥९॥

ततो दन्तवक्त्र शरीरात् सूक्ष्म मणु स्वरूपं (परं) परित्यक्त प्रकृतिसम्बन्धं ज्योतिः स्वप्रकाशं जीवस्वरूपं श्रीकृष्णमविशत्। तावदाविश्य ततः तत्साधर्म्य युक्त : तत्पार्षदतां प्राप्त इत्यर्थः। यथा सर्वभूतानां पश्यतां सतां हे नृप! चैद्यवधे कृते तद्देहादाविशत् तद्वदित्यर्थः। यद्यप्यात्म ज्योतिषः अतिसूक्ष्मत्वात् सर्वभूतैर्द्रष्टुमशक्यं अतीन्द्रियञ्च तथापि र्स्वस्य परमापुरुषत्वं तयोस्तु शापान्ते स्वस्मिन् प्रवेशश्च सर्वभूतेभ्यःप्रख्यापयितुमचिन्त्य[1] शक्तिः भगवान् तथा प्रवेशयामासेति विभावयन्तु ॥ १० ॥

**विदूरथ** इति। तस्य दन्तवक्त्रस्य भ्राता विदूरथः भ्रातृविषयकशोकेन परिप्लुतो[2] व्याप्तः उच्छ्वसन् तज्जिघांसया कृष्णं हन्तुमिच्छयाऽसिचर्मभ्यां खड्गखेटाभ्यां युक्त इति शेषः। आगच्छदभ्यपतत् ॥ ११ ॥

**तस्येति**। क्षुरस्येव नेमिर्धारा यस्य तेन चक्रेण हे राजेन्द्र! किरीटादि सहितमापततः तस्य विदूरथस्य शिरो जहार चिच्छेदेत्यर्थः ॥ १२ ॥

1. B. तुं शक्तो भग° 2. T. W. omit परिप्लुतः

**विज०** दन्तवक्त्र गतासुरः कृष्णं ध्वान्तापरपर्यायं तमोऽविशत्। अन्यस्तु द्वारपालः कृष्णम् उत्कृष्टानन्द रूपश्रीहरिम् ॥ १० ॥

**सोऽवप्लुत्य रथात्तूर्णं विधुन्वन् खड्गमुत्तमम् ।**
**अभिदुद्राव गोविन्दं पद्भ्या मुर्वीं प्रकम्पयन् ॥ क ॥**

**तस्य बाणेन चिच्छेद खड्गं यादवनन्दनः ।**
**ततो जग्राह निरतां शक्तिं घोरां विदूरथः ॥ ख ॥**

**तया प्रहर्तुं गोविंद मभिनिश्चित्य सङ्गरे ।**
**क्षणेनाभिससाराऽज्ञः चापमुक्तो यथाशरः ॥ ग ॥**

असि युक्तं चर्म ॥ क-ग ॥

विदूरथेति ॥ ११-१२ ॥

**एवं सौभञ्च साल्वञ्च दन्तवक्त्रं महानुजम् ।**
**हत्वा दुर्विषहान[1]न्यानीडितः सुरमानवैः ॥ १३ ॥**

**मुनिभिः सिद्धगन्धर्वैः विद्याधरमहोरगैः ।**
**अप्सरोभिः पितृगणै र्यक्षैः किन्नरचारणैः ॥ १४ ॥**

**[2]उद्गीयमानविजयः कुसुमैरभिवर्षितः ।**
**वृतश्च विष्णुप्रवरैः विवेशालङ्कृ[3]तां पुरीम् ॥ १५ ॥**

**एवं योगेश्वरः कृष्णो भगवा[4]ञ्जगदीश्वरः ।**
**ईयते पशुदृष्टीनां निर्जि[5]तो जयतीति सः ॥ १६ ॥**

1. B. G. J. नन्यै री° 2. B. G. J. M. Ma. Ml. V. उपगीय° 3. M. Ma. °तं 4. M. Ma. °वा न्देवकीसुतः 5. M. Ma. जीयते

**श्रीध०** एवं श्रीकृष्णे महाबलानपि लीलया जयत्येवेति कृत्वा स [illegible]चिज्जरासन्धादिभि र्निर्जित इति पशुदृष्टीनामीयते [1]नित्यजये हेतवः भोगेश्वरो भगवान् जगदीश्वर इति ॥ ११-१६ ॥

1. Ml. V. विजये

**वीर० एवमिति**। अन्यानपि दुर्विषहान् सोढुमशक्यान् शत्रून् सौभादीन्[1] हत्वा सुरादिभि रीडितः उपगीयमानः विजयो यस्य सः। वृष्णिप्रवरैः यदूत्तमैः परिवृतश्च पुरीं द्वारकां विवेश ॥ १३ - १५ ॥

इत्थं सर्वत्र सर्वदा[2] विजयिनो भगवतः क्वचित्पराजयं वदन्तो मूढा इत्याह - **एवमिति**। भगवान् षाड्गुण्यपूर्णः जगतः कृत्स्नस्येश्वरः प्रशासिता च अनेन पराजय सम्भावना दूरत एवाऽपास्तेति सूचितम्। निर्जितः, जरासन्धादिभिरिति शेषः। क्वचिच्च जयतीत्येवं पशुदृष्टीनां मूढानां ईयते प्रतीयते[3]। निर्जितो जयति इति भ्रान्तिः। अजित एव जयतीत्यार्थः ॥ १६ ॥

1. K. T. W. omit सौभादीन् 2. T. W. omit सर्वदा 3. T. W. omit प्रतीयते ।

**विज०** पशुदृष्टीनां अज्ञजन बुद्धीनां पक्षे जयतीति ईयते ज्ञायते ॥ १३ - १६ ॥

**एवं निहत्य समरे दन्तवक्त्र विदूरथौ ।**
**कालयामास तत्सैन्यं जगृहे वारणादिकम् ॥ क ॥**

**भूयः पुष्परथं दिव्यमारुह्य समलङ्कृतम् ।**
**सहितः सात्त्वतगणैः ईडितस्सुरमानवैः ॥ ख ॥**

**तस्यकर्माण्युदाराणि पुण्यश्लोकस्य भारत!**
**शक्यन्ते कथितुं नैव वर्षाणामयुतैरपि ॥ ग ॥**

**एवमारभ्य राक्षस्याः पूतनायाः परन्तप!**
**भूभारभूतानसुरान् जघानमधुसूदनः ॥ घ ॥**

कालयामास द्रावयामास वारणादिकम् इत्यत्र गजाश्वरथादिकं गृह्यते ॥ क ॥

पुष्परथम् विवाहयोग्यरथम् ॥ ख ॥

ब्रह्माद्यन्यतमेनाऽपि तत्कर्मसमाप्तिं कर्तुं न शक्यते किं पुनर्मयेति भावेनाऽऽह तस्येति ॥ ग ॥

स्कन्धमारभ्य यद्दैत्यहननं तदादितः उपसंहरति एवमिति ॥ घ ॥

अत्र विजयध्वजरीत्या एकाधिकशततमोऽध्यायः समाप्यते।

राजोवाच

❖ अष्टादशाक्षौहिणीनां तावद्भिर्मायया दिनैः ।
व्यापादनं येन कृतं तस्मै विश्वात्मने नमः ॥ ङ ॥

श्रृण्वतो मे कथास्तस्य चरितानि च सङ्घशः ।
वैक्लव्यं विस्मयो भीतिर्वर्धते मे पुनः पुनः ॥ च ॥

मन्ये प्रायेण पाप्मानं जीर्णं मम दुरत्ययम् ।
इन्द्रियाणि प्रबुद्धानि प्रसन्नञ्च मनोभृशम् ॥ छ ॥

क्षुत्तृष्णे च प्रशान्ते मे आत्मा चाऽऽनन्द निर्भरः ।
प्रसादात्तव धर्मज्ञ कृतार्थोऽहमिहाऽभवम् ॥ ज ॥

अपि च श्रोतुमिच्छामि किञ्चिदर्थं तपोधन ।
युध्यतस्सुहृदो दृष्ट्वा निवारितुमशक्नुवन् ।
तीर्थं स्नातुं गतो रामः किञ्चकार तपोधन ! ॥ झ ॥

❖ विजयध्वजरीत्या षण्णवतितमोध्यायः आरभ्यते ।

सितकेशावेशिनो बलभद्रस्य चरितं कृष्णमाहात्म्यानुस्यूतमेव,अतस्तदपि पुरुषार्थोपयोगिभवतीत्यनेन अध्याय द्वयेन निरूपयति। तत्रादौ श्रुतकृष्णवैभवो विस्मितमना राजा भगवन्तं नमति - अष्टादशेति। मायया महिम्ना व्यपादनं निधनं विश्वात्मने सर्वान्तार्यामिणे ॥ ङ ॥

हरिकथाश्रवणस्य प्रत्यक्षफलमाह - शृण्वत इति। वैक्लव्यं पारवश्यं कथाश्रवणतात्पर्यम्, विस्मयः स्मयभावः, भीतिः विहिताकरणे प्रत्यवाय बुद्धिः ॥ च ॥

प्रबुद्धानि प्रफुल्लानि, स्वविषय इति शेषः ॥ छ ॥

आत्मा भोगायतनं, आनन्दनिर्भरः पूर्णानन्दः ॥ ज ॥

कृतार्थश्चेत्तूष्णीम्भवेति तत्राऽह - अपि चेति। किञ्चिदित्यव्ययं शब्दतोल्प मर्थतो महान्तमित्यतो वा व्यत्ययः ॥ झ ॥

॥ बलरामकृत तीर्थयात्रा सूतवधादि कथारम्भः ॥

[1-]श्रुत्वा युद्धोद्यमं रामः कुरूणां सह पाण्डवैः[-1] ।
तीर्थाभिषेकव्याजेन मध्यस्थः प्रययौ किल ॥ १७ ॥

स्नात्वा प्रभासे[2] सन्तर्प्य देवर्षिपितृमानवान् ।
सरस्वतीं प्रतिस्रोतां[3] ययौ ब्राह्मणसंवृतः ॥ १८ ॥

[4]पृथूदकं बिन्दुसरस्त्रिकूटं[5] सुदर्शनम् ।
विशालं ब्रह्म तीर्थश्च चक्रं प्राचीं सरस्वतीम् ॥ १९ ॥

यमुनामनुयान्येव गङ्गामनु च भारत!
जगाम नैमिषं यत्र ऋषयस्सत्रमासते ॥ २० ॥

तमागतमभिप्रेत्य मुनयो दीर्घसत्रिणः ।
अभिनन्द्य[6] यथान्यायं प्रणम्योत्थाय चाऽर्चयन् ॥ २१ ॥

सोऽर्चितस्सपरीवारः कृतासनपरिग्रहः।
रोमहर्षणमासीनं [7-]महर्षेश्शिष्यमैक्षत[-7] ॥ २२ ॥

1--1 It is not found in M. Ma. Edns. 2. M. Ma. °सं 3. B. G. J. M. Ma. °स्रोतं 4. Ml. V. मधू° 5. B. G. J. M. Ma. स्त्रितकूपं ; Ml. V. स्त्रिणकूपं 6. M. Ma. °वन्द्या; Ml. V. °गम्य 7--7 M. Ma. शिष्यमैक्षन्महामुनेः

**श्रीध०** ☆ विदूरथान्त मामथ्य[1] पूतनादि दनोः कुलम्। कृष्णस्तूपारमन्नाराद्रामोऽहन् सूतपल्वलौ ॥

तत्प्रसङ्गमाह - **श्रुत्वेति** ॥ १७ ॥

**स्नात्वेति**। प्रतिस्रोतां[2] प्रतिलोमम्[3] ॥ १८ ॥

**पृथूदकमिति**। सुदर्शनं तीर्थं, चक्रं चक्रतीर्थम् ॥ १९ ॥

**यमुनामिति**। यमुनामनु यानि तीर्थानि गङ्गा मनु च यानि तानि सर्वाणि गत्वा नैमिशमरण्यं जगाम ॥ २० ॥

**तमिति**। अभप्रेत्य श्रीराम इति ज्ञात्वा ॥ २१ ॥

**स** इति। महर्षेर्व्यासस्य ॥ २२ ॥

---

★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः 1. Ml. V. उन्मथ्य 2. B. J. स्रोतं 3. B. J. लोमम् ।

**वीर०** अथ पुनः कानिचिद्बलभद्रचेष्टितानि अनुवर्णयति - 'श्रुत्वेत्यादिना यावदेकोनाशीति तमाध्याय समाप्ति'। कुरूणां पाण्डवैः सह युद्धोद्यमं युद्धाय यत्नं श्रुत्वा मध्यस्थः उभयेषामपि बान्धवताऽविशेषात् उभयमध्यस्थः तटस्थ इति यावत्। हेतुगर्भमिदम्। अतः पुण्यतीर्थस्नान यात्राव्याजेन प्रययौ ॥ १७ ॥

**स्नात्वेति**। प्रति प्रत्यक् स्रोतः प्रवाहो यस्यास्तां सरस्वतीं प्रत्यक्सरस्वतीं ययौ इत्यर्थः ॥ १८ ॥

ततः पृथूदकादीनि तीर्थविशेषाणि ययाविति सम्बन्धः। तत्र चक्रं चक्रतीर्थं प्राचीं सरस्वतीं त्रिवेणीमित्यर्थः ॥ १९ ॥

ततो यमुना मनु यानि तीर्थानि गङ्गामनु च यानि तीर्थानि तानि सर्वाणि सादरं यथा तथा। नारदमिति पाठे तदाख्यं तीर्थं, नैमिशञ्च जगामेति सम्बन्धः। नैमिशं विशिनष्टि यत्रेति। यत्र नैमिशे ऋषयः शौनकादयः सत्रमासतेऽनु तिष्ठन्ति ॥ २० ॥

तत्र यदभूत्तदेवाऽऽह - तमित्यादिना। तं बलभद्रमागतमभिप्रेत्य दृष्ट्वेत्यर्थः। दीर्घं सहस्रसमं सत्रमेषामस्तीति तथा ते मुनयः यथान्यायमभिनन्द्याऽर्चयन्नर्चितवन्तः ॥ २१ ॥

**स** इति। कृतशासनपरिग्रहो येन सः रामः रोमहर्षणमैक्षतेति सम्बन्धः। कथम्भूतम्? आसीनम् उपविष्टं महर्षेर्बादरायणस्य शिष्यम् ॥ २२ ॥

1. K. T. W. omit अभिनन्द्य 2. T. W. महामुने°

**विज०** भोजनादिना मानवसन्तर्पणं, प्रतिस्रोतं प्रवाहाभिमुखम् ॥ १७, १८ ॥

पृथूदकं नाम तीर्थं त्रितस्य मुनेः कूपं विशलमप्येकं तीर्थम् ॥ १९, २० ॥

अभिप्रेत्य अभिगम्य ॥ २१, २२ ॥

**अप्रत्युत्थायिनं सूत[1]मकृत[-1] प्रह्वणाञ्जलिम् ।**
**अध्यासीनञ्च तान्विप्रां श्चुकोपोद्वीक्ष्य माधवः ॥ २३ ॥**

कस्मादसाविमान् विप्रानध्यास्ते प्रतिलोमजः ।
धर्मपालां स्तथैवाऽस्मान् वधमर्हति दुर्मतिः ॥ २४ ॥

ऋषेर्भगवतो भूत्वा शिष्यो धीत्य बहूनि च ।
सेतिहासपुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः ॥ २५ ॥

अदान्तस्याऽविनीतस्य वृथापण्डितमानिनः ।
न गुणाय भवन्त्यस्य नटस्येवाऽजितात्मनः ॥ २६ ॥

एतदर्थो हि लोकेस्मिन्नवतारो मया कृतः ।
वध्या हि धर्मध्वजिनः ते हि पातकिनोऽधिकाः । २७ ॥

एतावदुक्त्वा भगवन्निवृत्तोऽसद्वधादपि ।
भावित्वा तं कुशाग्रेण करस्थेनाऽहनत्प्रभुः ॥ २८ ॥

1- -1 M . Ma. प्रत्यवस्थायिनं 2. J. यस्मा° 3. B. G. J. K. Ml. T. V. W. °न्ति स्म 4. B. G. J. मे

**श्रीध०** अप्रत्युत्थायिनमिति। सूतं प्रतिलोमजं न कृतं प्रह्वणमञ्जलिश्च येन तम् अध्यासीनञ्च तान् तेभ्योऽप्युच्चैरासीनमित्यर्थः ॥ २३, २४ ॥

अजानन्नध्यास्त इति चेत्, नैवमित्यह - **ऋषेरिति** ॥ २५ ॥

ननु बहुज्ञः कथमेवं कः[1] कुर्यात्? तत्राह - **अदान्तस्येति**। गुणाय ङ्थो चितानुष्ठानाय ॥ २६ ॥

ननु[2], विप्रानध्यास्तान् अन्यद्वा किञ्चित्करोतु किन्तवेति चेत् तत्राह[3] - एतदर्थ इति। धर्मध्वजिनः उत्तम लिङ्गधारिणः ॥ २७ ॥

**एतावदिति**। भावित्वादिति। न हि भवितव्यं केनापि परिहर्तुं शक्यते इत्यर्थः। अहनत् अहन्[4] ॥ २८ ॥

1. B. J. omit कः 2. B. J. omit ननु 3. Ml. V. अत्राऽऽह 4. Ml V. हतवान्

**वीर०** अप्रत्युत्थायिनं प्रत्युत्थानमकृतवन्तं तं सूतं प्रतिलोमजं न कृतं प्रह्वणं प्रणामोऽञ्जलिश्च येन तम्। तान् विप्रान् अध्यासीनं विप्रेभ्योऽप्युच्चासनासीनमित्यर्थः। माधवो रामश्चुकोप सकोपं प्राहेत्यर्थः ॥ २३ ॥

तदेवाऽऽह **कस्मादिति** चतुर्भिः। विप्रान् अध्यास्ते, विप्रेषूच्चैरासनमधितिष्ठतीत्यर्थः। प्रतिलोमज इत्यनेन तदनर्हत्वाविष्कारः। तथा धर्मं पालयन्तीति तथा। तानस्मानप्यध्यास्ते, अतोऽयं दुर्मतिर्वधमर्हति ॥ २४ ॥

अजानन्नध्यास्त इत्यत आह - **ऋषेरिति**। ऋषेर्भगवतो बादरायणस्य शिष्यो भूत्वा बहूनि इतिहासादीनि सर्वशः **कार्त्स्न्येन अधीत्य च** ॥ २५ ॥

अदान्तस्य दमविनयादि रहितस्य वृथा पण्डितमात्मानं मन्यमानस्य गुणाय न भवन्ति। इतिहासाद्यध्ययनादीनीति शेषः। किन्तु दोषायैवेति भावः। अदान्तस्य इत्यादि विशेषणैः, नास्याज्ञानकृतमध्यासनाधिष्ठानम्, अपि तु अहङ्कारप्रयुक्तमिति सूच्यते ॥ २६ ॥

विप्रानध्यास्ताम्, अन्यद्वा करोतु, किं तवेप्यत आह, **एतदर्थ** इति। कोऽसावर्थः? धर्मध्वजिनः उत्तमवेषधारिणो मे वध्या इत्येषः कुतः? हि यस्मात् ते धर्मध्वजिनः अधिकाः पातकिनः। अतो दुष्कृद्विनाशार्थं अवतीर्णेन मयैवंविधाः अवश्यं वध्या इत्यर्थः ॥ २७ ॥

**एतावदिति**। असतां वधान् निवृत्तोऽपि भगवान् रामः भावित्वाद्भवितव्यस्य केनाऽप्यपरिहार्यत्वात्तं रोमहर्षणं कुशाग्रेण अहनत् ॥ २८ ॥

1. K. T. W. सर्वतः 2. K. T. W. omit मे

**विज०** प्रत्यवस्थायिनम् आभिमुख्येन स्थितम्। प्रह्वणं नमनम्। तान्विप्रानध्यासीनं, तेषां मध्ये उच्चासने स्थितं, माधवो मधुकुलोद्भवः ॥ २३ ॥

प्रतिलोमजः विपरीतजन्मा। अस्मानिति द्वितीया पञ्चम्यर्थे ॥ २४ ॥

सेतिहासपुराणान्यधीत्य सुदुष्टस्य प्रतिजन्मनः ॥ २५ ॥

गुणाय पुण्यफलदानलक्षणाय न भवन्ति ॥ २६ ॥

एतदर्थः दुष्टनिग्रहार्थः ॥ २७ ॥

असद्वधान्निवृत्तोऽपि मरणस्यावश्यं भावित्वात् ॥ २८ ॥

हाहेति वादिनस्सर्वे मुनयः[1] खिन्नमानसाः ।
ऊचुस्सङ्कर्षणं देव मधर्मस्ते कृतः प्रभो ॥ २९ ॥

अस्य ब्रह्मासनं दत्तमस्माभिर्यदुनन्दन ।
आयुश्चात्माऽक्लमं[2] तावद्यावत्सत्रं समाप्यते ॥ ३० ॥

अजानतैवाऽऽचरितः[3] त्वया ब्रह्मवधो यथा ।
योगेश्वरस्य भवतो नाम्नायोऽपि नियामकः ॥ ३१ ॥

यदेतद्ब्रह्महत्यायाः पावनं लोकपावन!
चरिष्यति भवान् लोकसङ्ग्रहोऽनन्यचोदितः[4] ॥ ३२ ॥

1. M. Ma. ऋषयः 2. M. Ma. °श्चास्याक्षयं 3. K. T. W. °तेवा° 4. K. T. W. °हो नान्य° ; Ml. V. M. Ma. °हं नान्य° ; Ml . V. °हे नान्य°

**श्रीध० हाहेति**। ते त्वया ॥ २९ ॥

अधार्मिक प्रतिलोमजवधः कोऽयमधर्म इति चे त्तत्राहुः - **अस्येति**। पुराणप्रवचनाय आत्मनः शरीरस्य नास्ति क्लमो यस्मिन् तदायुश्च दत्तमिति ॥ ३० ॥

**अजानतेति**। ब्रह्मवधेऽपि किं ममेश्वरस्येति चेत्। सत्यमेव। तथाऽपि प्रायश्चित्तं कर्तव्यमित्याशयेनाऽऽहुः- योगेश्वरस्येति सार्धेन। आम्नायो "ब्राह्मणो न हन्तव्यः"—— इत्यादि लक्षणः ॥ ३१ ॥

**यदीति**। तथाऽप्येतस्याः ब्रह्महत्यायाः पावनं प्रायश्चित्तं, हे लोकपावन! अनन्यचोदितः स्वयमेव भवान्यदि करिष्यति तर्हि लोकसङ्ग्रहो भविष्यति, नान्यथेति ॥ ३२ ॥

**वीर० हाहेति**। खिन्नं मानसं येषां ते ऊचुः। उक्तिमेवाऽऽह - अधर्म इत्यादिना सपादत्रयेण। ते त्वया अधर्मः कृतः ॥ २९ ॥

अधार्मिक प्रतिलोमज वधः कोऽयमधर्मः? इत्यत आह _ **अस्येति** सार्धेन। हे यदुनन्दन! अस्य रोमहर्षणस्य अस्माभिर्ब्रह्मासनं यावत् यावताकालेन सत्रं समाप्यते तावदात्मनो देहस्य न क्लमः श्रमो यस्मिन् तदायुश्च दत्तम्। पुराण वक्त्रे ब्राह्मणय देयं यस्मान्न प्रत्युत्थायिते तद्ब्रह्मासनमित्यर्थः ॥ ३० ॥

**अजानतेति**। अतस्त्वयाऽजानतैव आचरितं कृतं यथा ब्रह्मवधः ब्रह्महत्या तद्वत्। ब्रह्महत्यासदृशं पापं कृतमित्यर्थः। ननु ब्रह्मवधादपि किं ममेश्वरस्येत्यत आहुः - योगेश्वरस्येतिसार्धेन। यद्यपि योगेश्वरस्य अवद्याऽस्पर्शोपयुक्त योगनिर्वाहकश्य अकर्मवस्यं तव 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'— इत्यादिलक्षण आम्नायोऽपि न नियामकः यद्यपि त्वं न विधिवस्य इत्यर्थः ॥ ३१॥

तथापि हे लोकपावन! ब्रह्महत्यायाः पावनं प्रायश्चित्तं चरिष्यति, चरतु अनुतिष्ठत्वित्यर्थः। किमर्थमित्यताऽऽहुः- नान्यैश्चोदितः। स्वयमेव यदि भवांश्चरिष्यति तर्हि लोकसङ्ग्रहः स्यादित्यर्थः। 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः' (भ.गी.३-२१) इत्युक्तरीत्या लोकाननुशिक्षितुं चरेति भावः ॥ ३२ ॥

**विज०** ब्रह्मासनं ब्राह्मणमध्ये ब्राह्मणयोग्यासनम् ॥ २९, ३० ॥

अस्य निधनं त्वया अजानतेव, यद्वा अजानता वा ब्राह्मणवधसमानदोषोऽयमित्यशयेनाह - ब्रह्मेति। भवत आम्नायो विधिनिषेध शासि शास्त्रं नियामकं इदं कुरु, नेदमिति नियन्ता नास्ति। कुत इत्यत्राऽऽह योगेश्वरस्येति ॥ ३१ ॥

विध्यागोचरत्वा दृषयः स्वहार्दं विज्ञापयन्ति **यदीति**। यदि भवान् त्वं ब्रह्महत्यायाः एतत्पावनं शुद्धि लक्षणं परिहारं चरिष्यति, तर्हि लोकसङ्ग्रहं करिष्यति। कुतोऽत्राऽऽह नेति ॥ ३२ ॥

**श्रीभगवानुवाच**[1-1]

**चरिष्ये वधनिर्वेशं लोकानुग्रहकाम्यया।**[2]
**नियमः प्रथमे कल्पे यावान् स तु विधीयताम् ॥ ३३ ॥**

**दीर्घमायुर्बतैतस्य सत्वमिन्द्रियमेव च ।**[3]
**आशासितं यत्तद्भूत साधये योगमायया ॥ ३४ ॥**[4]

**ऋषय ऊचुः**

**अस्त्रस्य तव वीर्यस्य मृत्योरस्माकमेव च ।**[5]
**यथा भवेद्वचस्सत्यं तथा राम विधीयताम् ॥ ३५ ॥**

6- -6
**श्रीभगवानुवाच**

**आत्मा वै पुत्र उत्पन्न इति वेदानुशासनम् ।**
**तस्मादस्य भवेद्वक्ता आयुरिन्द्रियसत्त्ववान्[7] ॥ ३६ ॥**

1- -1 K.T.W. श्रीराम उवाच ; M.Ma. बलभद्र उवाच 2. B.G.J. करिष्ये 3. K.T.W. किलैतस्य ; M. Ma. व्रतं तस्य 4. M. Ma. यद्यदुत ;T.W. यद्युगपत् 5. K.T.W. शस्त्रस्य 6- -6. K.Ml.T.V.W. राम उवाच M.Ma बलभद्र उवाच 7. M. Ma वीर्यवान्

**श्रीध० चरिष्य इति**। वधस्य निर्वेशं प्रायश्चित्तम्। प्रथमेकल्पे मुख्यपक्षे[1] विधीयतामुपदिश्यताम् ॥ ३३ ॥

**दीर्घमिति**। किञ्च। बत हे मुनयः! एतस्य दीर्घमायुः सत्त्वं बलमिन्द्रियं तत्पाटवञ्च यद्भवद्भिराशासितमपेक्षितं तन्नो ब्रूत सर्वम् ॥ ३४ ॥

**अस्त्रस्येति**। अस्त्रादीनां सत्यता यथा भवेदस्माकञ्च वचस्सत्यं यथाभवेत्तथा विधीयतामित्यर्थः ॥ ३५ ॥

तथा सम्पादयन्नाह - **आत्मेति**। "अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे" (बृह.उ.6-4-9) "आत्मा वै पुत्र नामासि" (कौषी.उ.2-11) "स जीव शरदः शतम्" (कौषी.उ.2-10) इत्यादि वेदानुशासनम् वेदवचनम्। तस्मादस्य रोमहर्षणस्य पुत्रः उग्रश्रवाः भवतां पुराणप्रवक्ता भवेत् स च आयुरादिमांश्च भवेत्। अतः साक्षादजीवनात् अस्त्रस्य मृत्योश्च सव्यता पुत्ररूपेण चायुरादिसिद्धे युष्मद्वचनस्यापि सत्यता स्यादिति भावः ॥ ३६ ॥

1. B.J. कल्पे 2. Ml.V. तद्भूतं

**वीर०** - एवमुक्तः प्राह रामः- **चरिष्य** इति द्वाभ्याम्। लोकानुग्रहकाम्यया लोकानुग्रहजिघृक्षया वधस्य निर्वेशं प्रायश्चित्तं चरिष्ये प्रथमे कल्पे मुख्यपक्षे यावान्नियमः स तु विधीयताम्; मुख्यप्रायश्चित्तमुपदिश्यतामित्यर्थः ॥ ३३ ॥

किञ्च। **दीर्घमिति**। अस्य रोमहर्षणस्य दीर्घमायुः, सत्त्वं, बलं, इन्द्रियं इन्द्रियपाटवात्मकम् अन्यच्च यद्भवद्भिराशासितम् अपेक्षितं तत्सर्वं ब्रूत, योगमायया आश्चर्यशक्त्या अहं तत्सर्वं साधये ॥ ३४ ॥

इत्थमुक्ताः प्राहुर्मुनयः **अस्त्रस्येति**। अस्त्रस्य त्वत्प्रयुक्त कुशाग्ररूपस्य तव वीर्यस्य च मृत्योः रोमहर्षणमरणस्य[1] च यथा सत्यत्वं यथा चास्माकं वचः-~~यावत्~~ सत्त्रं त्वं दीर्घायुष्मान् पुराणवक्ता भवेत्येवंविधं वचः सत्यं भवेत्तथा हे राम! विधीयतां क्रियतामित्यर्थः ॥ ३५ ॥

अस्त्रादीनां सत्यत्वं सम्पादयन्प्राह रामः -(बृह.उ 6-4-9) **आत्मा वा** इति। "अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे" (बृह.उ 6-4-9) "आत्मा वै पुत्र नामाऽसि" (कौषी.उ.2-11) "सजीव शरदः शतम्" (कौषि. उ.2-11) इत्यादि वेदानुशासनम् वेदवाक्यम्। तस्मादस्य पुत्रः उग्रश्रवाः भवतां पुराणवक्ता भवेत्, आयुरादिमांश्च भवेत् इत्यर्थः। अतः साक्षात् रोमहर्षणस्याऽऽजीवनादस्त्रस्य मृत्योश्च सत्यता पुत्ररूपेण च आयुरादि सिद्धेः भवद्वचनस्यापि सत्यता स्यादिति भावः ॥ ३६ ॥

1. B. omits मरणस्य

**विज०** प्रथमे कल्पे उत्तमकल्पे यावान्नियमोविधिः सत्वेव विधिः भवद्भिर्विधीयताम् ॥ ३३ ॥

तस्य व्रतं दीर्घमायुः सत्त्वमिन्द्रियं दूरश्रवण दूरदर्शनादि शक्तिमत्साधये। किं बहुना, यद्य दाशासितं कामितं तत्तत्साधय इत्याह - आशासितमिति ॥ ३४ ॥

अस्त्रवीर्ययोरमोघत्वं मृत्योरनावृत्तित्वमस्मद्वचसश्च अवन्ध्यफलत्वं यथास्यात्तथा विधीयताम् ॥ ३५ ॥

पुराणानां वक्ता पुत्रः स्यात् ॥ ३६ ॥

**किं वः कामो मुनि श्रेष्ठाः ब्रूताऽहं[1] करवाण्यथ[2]।**
**अजानन्त[3] स्त्वपचितिं यथा मे चिन्त्यतां[4] बुधाः ॥ ३७ ॥**

**ऋषय[5-] ऊचुः[-5]**

**इल्वलस्य सुतो घोरो बल्वलो नाम दानवः ।**
**स दूषयति नः सत्रमेत्य[6-] पर्वणि[-6] पर्वणि ॥ ३८ ॥**

**तं पापं जहि दाशार्ह तन्नश्शुश्रूषणं परम् ।**
**पूयशोणितविण्मूत्र सुरामांसाभिवर्षिणम् ॥ ३९ ॥**

**ततश्च भारतं वर्षं परीत्य सुसमाहितः ।**
**चरित्वा द्वादशान्मासां[7] स्तीर्थस्नायी विशुध्यसे ॥ ४० ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादश साहस्र्यां

श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

बलदेवचरित्रे बल्वलवधोपक्रमो नाम अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

---

1. Ml. V. बूत मां 2. M. Ma. करवाणि तत् ; T. W. करवाण्युत 3. M. Ma. Ml. V. °तश्चा° 4. M. Ma. बुध्यतां 5- -5. T. W. omit 6- -6. M. Ma. सर्वान् सत्रमेत्य च 7. B. G. J. °श मा°

**श्रीध०** प्रथमं तावदपेक्षितं कथयत तदहं करिष्यामीत्याह - **किं वः काम** इति। किं विषयो वः कामो वर्तते तद्ब्रूतेति। अथानन्तरं ब्रह्मदण्डं गृहीत्वा अपचितिं निष्कृतिमजानतो मे हे बुधाः। यथा वच्चिन्त्यता मपचितिरिति ॥ ३७ ॥

प्रथमं तावदपेक्षितं कर्तव्यं कथयन्ति **इल्वलस्येति** द्वाभ्याम् ॥ ३८, ३९ ॥

प्रायश्चित्तमाहुः - **ततश्चेति**। परीत्य प्रदक्षिणी कृत्य सुसमाधानादि गुणविशेषादेकाब्दमात्रमुक्तमिति अविरोधः । सुसमाहितः कामक्रोधादि रहितः चरित्वा कृच्छ्राणि ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां

अष्टसप्ततितमोध्यायः ॥ ७८ ॥

**वीर०** किञ्च। ब्रह्मदण्डार्थं युष्मदपेक्षितं कथयत तदहं करिष्यामीत्यत आह - **किं वः काम** इति। हे मुनि श्रेष्ठाः ! वो युष्माकं किं कामः यद्विषयः कामो वर्तते तं ब्रूत। अथानन्तरं ब्रह्मदण्डं गृहीत्वा अपचितिं निष्कृतिं अजानतो मम गृहे बुधाः ! यथावत् वेदशास्त्रानुसारतः अपचितिः चिन्त्यतां विधीयतामित्यर्थः ॥ ३७ ॥

इत्थमुक्ताः तावदपेक्षितं - **इल्वलस्येति**। दानवो, वर्तत इति शेषः। सपल्वलः प्रतिपर्वाऽऽगत्य स' दूषयति ॥ ३८ ॥

तं पल्वलं जहि मारय , तदेव नोऽस्माकं परमुत्कृष्टं शश्रूषणम् तं कथम्भूतम्? पूयादी न्यभिवर्षतीति तथाभूतम्। तत्र पूयम् हेयम् ॥ ३९ ॥

ततः तद्वधानन्तरं भारतं वर्षं परीत्य प्रदक्षिणी कृत्य सुसमाहितो रागद्वेषादिरहितः तीर्थस्नानशीलो द्वादशमासां श्चरित्वा विशुध्यसे शुद्धो भविष्यसि। चरित्वेत्यस्य कृच्छ्राणीत्यादिर्वा ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रिकायां व्याख्यायां

अष्टसप्ततितमोऽध्यः ॥ ७८ ॥

1. I. T.W. omit 2. B. °नभि°

**विज०** हे बुधाः! युष्माभिर्वरो दत्त इत्यजानतो मे अपचिति परिहारं बुध्यताम् ॥ ३७ ॥

प्रायश्चित्तं विधातुमाहुः - **इल्वलस्येति** ॥ ३८-४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां हितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

विजयध्वजरीत्या षण्णवतितमोध्यायः ॥ ९६ ॥

अस्मिन्नध्याये 'विज' रीत्या षोडश श्लोक पर्यन्तं एकाधिक शततमोऽध्यायः।

सप्तदशश्लोकादारभ्य समापन पर्यंतं षण्णवति तमोऽध्यायः ॥

# एकोनाशीतितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या सप्तनवतितमोऽधयायः)

## श्रीशुक अवाच

अथ[1] पर्वण्युपावृत्ते प्रचण्डः पांसुवर्षणः ।
भीमोवायुरभूद्राजन्पूयगन्धश्च[2]सर्वशः ॥ १ ॥

ततोऽमेध्यमयं वर्षं पल्वलेन[3] विनिर्मितम् ।
अभवद्यज्ञशालायां सोऽन्वदृश्यत[4] शूलधृत्[5] ॥ २ ॥

तं विलोक्य बृहत्कायं भिन्नाञ्जनचयोपमम् ।
तप्तताम्रशिखाश्मश्रुं[6] दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीमुखम् ॥ ३ ॥

सस्मार मुसलं रामः परसैन्यविदारणम्[7] ।
हलं च दैत्यदमनं ते[8] तूर्णमुपतस्थतुः ॥ ४ ॥

तमाकृष्य हलाग्रेण पल्वलं[9] गगने चरम् ।
मुसलेनाहनत्क्रुद्धो मूर्ध्नि[1] ब्रह्मद्रुहं बलः ॥ ५ ॥

1. B. G. J. K. M. Ma. MI . V. ततः 2. Ml. V. °ति° 3.B. G. J. M. Ma. °ब° 4. Ml. V. °प्य° 5. B. G. J. M. Ma. °धृक् ; Ml. V. °भृत् 6. K. M. Ma.T. W. °श्रु° 7. M. Ma. °विमर्दनम् 8. M. Ma. °तौ° 9. B. G. J. M. Ma. ब°

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

ऊनाशीतितमे रामो बल्वलं द्विजतुष्टये। निहत्य तीर्थ स्नानाद्यैः सूतहत्यामपानुदत् ॥

**अथ** इति। उपावृत्ते प्राप्ते ॥ १,२ ॥

**तमिति**। भिन्नो विदीर्णोऽञ्जनचय उपमा यस्य तमतिकृष्णमित्यर्थः। तप्तताम्रवत् शिखा श्मश्रूणि च यस्य तम्। दंष्ट्राभिरुग्रं भ्रुकुटीयुतं[1] मुखं यस्य तम् ॥ ३-५ ॥

---

1. B. °टीमुखं

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ पल्वलवधं वक्तुं तद्दुश्चेष्टितं प्रस्तौति - **तत इति**। पर्वण्युपावृत्ते प्राप्ते सति प्रचण्डो निष्ठुरः पांसून् वर्षतीति तथा भयङ्करो दुर्गन्धो वायुः अभूत् उदभूत् ॥ १ ॥

ततः अमेध्यमयमिति च्छेदः स पल्वलः शूलं धरतीति तथा अन्वदृश्यत ॥ २.॥

**तमिति**। तं पल्वलमवलोक्य रामः परसैन्यं विदारयतीति तथा तं मुसलं दैत्यान् दमयति नाशयतीति तथा तद्बलं च सस्मारेति सम्बन्धः। तं कथम्भूतम्? बृहत् कायः शरीरं यस्य तं, भिन्नोविदीर्णोऽञ्जनचयःउपमा यस्य तम्, अतिकृष्णमित्यर्थः। तप्तताम्रवच्छिखा श्मश्रूणि च यस्य तं, दंष्ट्राभिरुग्रं भ्रुकुटीयुतं मुखं यस्य तं, तौ[1] हलमुसलौ[2] तूर्णं तदैव उपतस्थतुः सन्निहितौ[3] बभूवतुः ॥ ३,४ ॥

**तमिति**। गगने चरं तं पल्वलं हलाग्रेणाकृष्य बलो रामः क्रुद्धो मूर्ध्नि मुसलेनाहनत् ताडयामास, तत्र हेतुत्वेन पल्वलं विशिनष्टि - ब्रह्मद्रुहं ब्रह्मा ब्रह्मकुलं[4] तस्मै द्रुह्यतीति तथा तम् ॥ ५ ॥

1. K. ते 2. K .ले 3. K. ते 4. B.K. ब्राह्मण

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

तप्तताम्रवत प्रकाशमानाभिः शिखाश्मश्रुदंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीभिः युक्तं मुखं यस्य सः तथा तम् । शिखा च श्मश्रूणि च दंष्ट्रे च उग्रभ्रुकुटी च शिखाश्मश्रुदंष्ट्रोग्रभ्रुकुट्यः उग्रा भ्रुकुटी उग्रभ्रुकुटी ॥ १ -५ ॥

**सोऽपतद्भुवि[1] निर्भिन्नललाटोऽसृक्समुत्सृजन् ।**
**मुञ्चन्नार्तस्वरं शैलो यथा वज्रहतोऽरुणः[2] ॥ ६ ॥**

**संस्तुत्य मुनयो रामं प्रयुज्यावितथाशिषः ।**
**अभ्यषिञ्चन्महाभागा[3] वृत्रघ्नं विबुधा यथा ॥ ७ ॥**

**वैजयन्तीं ददुर्मालां श्रीधामाम्लानपङ्कजाम् ।**
**रामाय वाससी दिव्ये दिव्यान्याभरणानि च ॥ ८ ॥**

**अथ तैरभ्यनुज्ञातः कौशिकीमेत्य ब्राह्मणैः ।**
**स्नाता सरोवरमगाद्यतस्सरयुरास्रवत् ॥ ९ ॥**
**अनुस्रोतेन सरयूं प्रयागमुपगम्य सः ।**
**स्नात्वा सन्तर्प्य देवादीञ्जगाम पुलहाश्रमम् ॥ १० ॥**

1. M. Ma. °द्वल 2. M.Ma. °ऽसुरः 3. K.T.W. भाग ; M.Ma. °र्हाभिः 4- -4. M. Ma. स्रोतेन सरयूं पायात्

**श्रीध० स इति**। अरुणो रुधिरेण दैत्यः शैलो धातुभिर्यथेति ॥ ७ ॥

**वैजयन्तीमिति**। श्रियो धामानि अम्लानानि पङ्कजानि यस्यां ताम् ॥ ८ ॥

**अथेति**। किं तत्सरः तदाह- यत इति। आस्रवदुदगात् ॥ ९॥

**अनुस्रोतेनेति**। अनुस्रोतेन अनुलोमतः। पुलहाश्रमं हरिक्षेत्रम् ॥ २० ॥

1. B.J. omit तदाह

**वीर० स** इति। निर्भिन्नं ललाटं यस्य सः पल्वलः असृक् रुधिरम् उत्सृजन् उद्गिरन् आर्तस्वरं मुञ्चंश्च भुवि भूमौ अपतत्, यथा अरुणः गैरिकादि धातुभिरिति शेषः। उपमेये तु रुधिरेणारुणः वज्रेणाहतः पर्वतः अपतत्,तद्वत् ॥ ६ ॥

**संस्तुत्येति**। अवितथाः सत्याः ताः आशिषः प्रयुज्य आशीर्वादान् कृत्वेत्यर्थः। हे महाभाग! अभ्यषिञ्चन् स्नापयामासुः। यथा विबुधाः देवाः वृत्रघ्नम् इन्द्रं तद्वत् ॥ ७ ॥

**वैजयन्तीमिति**। श्रियो धामानि अम्लानि पङ्कजानि यस्यां तां वैजयन्तीं नाम मालां दिव्ये वस्त्रे दिव्यान्याभरणानि च ददुः ॥ ८ ॥

**अथेति**। तैर्मुनिभिः ब्राह्मणैस्सह कौशिकीं नदीमागत्य तत्र स्नात्वा ततस्सरोवरमगात्। किं तत्सरस्तत्राह यतस्सरसः सरयूः आस्रवत् उदगात् ॥ ९ ॥

सरयूमनुस्रोतेन अनुलोमेन स बलभद्रः पुलहाश्रमं सालग्रामक्षेत्रम् ॥ १० ॥

1.T.W. Omit उद्गिरन् 2. K. पतति

**विज०** श्रियो धामानि अम्लानानि च पङ्कजानि यस्यां सा, तथा ताम् ॥ ६-८॥

यतः सरोवरात् आस्रवत् अस्यन्दत् ॥९॥

स्रोतेन प्रवाहेण ॥१०॥

**गोमतीं गण्डकीं स्नात्वा विपाशां शोण आप्लुतः ।**
**गयां गत्वा पितॄनिष्ट्वा गङ्गासागरसङ्गमम्[1] ॥ ११ ॥**

**उपस्पृश्य महेन्द्रादौ सामं दृष्ट्वाऽभिवाद्य च ।**
**सप्तगोदावरीं वेणीं[2] पम्पां भीमरथीं ततः ॥ १२ ॥**

**स्कन्दं दृष्ट्वा ययौ रामश्श्रीशैलं गिरिशालयम् ।**
**द्रविडेषु[3] महापुण्यं दृष्ट्वाद्रिं वेङ्कटं[4] प्रभुः ॥ १३ ॥**

**कामकोटीं[5] पुरीं काञ्चीं कावेरीं च सरिद्वराम् ।**
**श्रीरङ्गाख्यं महापुण्यं यत्र सन्निहितो हरिः ॥ १४ ॥**

**ऋषभाद्रिं हरेः क्षेत्रं दक्षिणां मधुरां तथा ।**
**समुद्रसेतुमगमन्महापातकनाशनम्[6] ॥ १५ ॥**

1. B.G.J. °सङ्गमे 2. B.G.J. वेणां 3. M.Ma द्रुमिलेषु 4.T.W. वेङ्कटाचलम् 5. B.G.J. °कोष्णीं; M.Ma कोष्टीं 6. B.G.J. समुद्रं

**श्रीध० गोमतीमिति**। गोमत्यां गण्डक्यां विपाशायां च स्नात्वा शोणे च आप्लुतः। इष्ट्वा सम्पूज्य ॥ ११,१२ ॥

**स्कन्दमिति**। **श्रीशैलं** श्रीपर्वतम् ॥ १३ ॥

**कामकोटिमिति**। **काञ्चीं** पुरीम् ॥ १४,१५ ॥

**वीर०** गोमत्यां **गण्डक्यां** विपाशायां च स्नात्वा शोणे च नदे आप्लुतः स्नातः पितॄन् पितामहादीन् इष्ट्वा सम्पूज्य मनसा आराध्येत्यर्थः **जीवत्पितृकत्वात्** श्राद्धाधिकाराभावात्, यद्यपि जीवत्पितृकैः गया न गन्तव्येति वदन्ति, तथाप्यत एव वचनात्तीर्थयात्राव्याजेन **गन्तव्या**, **न** तु श्राद्धार्थमित्यवगम्यते, गङ्गासागरसङ्गमं गत्वा उपस्पृश्य तत्र स्नात्वा, क्त्वाप्रत्ययान्तानां

समुद्रसेतुमगमदित्युपरिष्टादन्वयः। गिरिशस्य रुद्रस्य आलयं श्रीशैलं श्रीपर्वतं काञ्चीपुरीं सरिद्वरां कावेरीं यत्र हरिः सन्निहितः तच्छ्रीरङ्गाख्यं महापुण्यावहं क्षेत्रम्, ऋषभाद्रिं वनगिरिं, तद्विशेषणं हरेः क्षेत्रमिति, तत्रेति ॥ ११-१५ ॥

**विज०** शोणं नदम् ॥ ११ ॥

सप्तशाखाभेदेन समुद्रं गता सप्तगोदावरी तां वेणीं कृष्णवेणीम् ॥ १२-१५ ॥

**तत्रायुतमदाद्धेनू र्ब्राह्मणेभ्यो हलायुधः ।**
**कृतमालां ताम्रपर्णीं मलयां च कुलाचलम् ॥ १६ ॥**
**तत्रागस्त्यां[1] समासीनं नमस्कृत्याभिवाद्य च ।**
**योजितस्तेन चाशीर्भिरनुज्ञातो गतोऽर्णवम् ॥**
**दक्षिणं तत्र कन्याख्यां दुर्गां देवीं ददर्श सः ॥ १७ ॥**
**ततः फाल्गुनमासाद्य[2] पञ्चाप्सरसमुत्तमम् ।**
**विष्णुस्सन्निहितो यत्र स्नात्वाऽस्पशद्भवायुतम् ॥ १८ ॥**
**स्थानं दूरं हरेः स्थानं यत्र सन्निहितो हरिः ।**
*** ततोऽतिव्रज्य[3] भगवान् केरलांस्तुत्रिगर्तकान्[4] ॥**
**गोकर्णाख्यं शिवक्षेत्रं सान्निध्यं यत्र धूर्जटेः ॥ १९ ॥**
**आर्यां[5] द्वैपायनीं[6] दृष्ट्वा शूर्पारकमगाद्बलः ।**
**तापीं पयोष्णीं निर्विन्ध्यामुपस्पृश्याथ दण्डकम्[7] ॥ २० ॥**

1. M. Ma तथा° 2. K. M. Ma. T.W. फ° * This half verse is found only in M.Ma editions. 3. B.G.J. °ऽभि 4. K.T.W. °रलाञ्छत ; M.Ma °रलादींस्त्रि° 5. M. Ma तत्र 6. M.Ma °नं 7.K. °काम् ;T.W. कान्

**श्रीध० तत्रेति**। दक्षिणमर्णवम् ॥ १६-१७ ॥

**तत इति**। फाल्गुनमनन्तपुरम्। **पञ्चाप्सरसं** सरः। **अस्पर्शदस्पृशत्** ॥ १८ ॥

**तत इति**। केरलादीन् देशान् ॥ १९ ॥

**आर्यामिति**। द्वीपमयनं यस्यास्ताम् ॥ २० ॥

**वीर०** तत्र समुद्रसेतौ [1-]हलायुधः राम[-1]ः अयुतं धेनूः ददौ। कृतमालामिति। अगमदित्यनुषङ्गः, शेषो वा ॥ १६ ॥

तत्र मलयपर्वते तेनागस्त्येन आशीर्भिः योजित[2]ः दक्षिणमर्णवं गतः। तत्रार्णवसमीपे [3]कन्याख्यां कन्यां कुमार्याख्यां दुर्गां देवीं ददर्श स बलरामः ॥ १७ ॥

**तत इति**। [4]फाल्गुनमनन्तपुरं प्राप्य उत्तमं पञ्चाप्सरसं नाम सरः समासाद्य, तद्विशिनष्टि - यत्र पञ्चाप्सरसेविष्णुस्सन्निहित. तत्र स्नात्वा गवामयुतम् अस्पर्शत् [5-]अदादित्यर्थः[-5] ॥ १८ ॥

भगवान् रामः केरलादीन् देशान् यत्र धूर्जटे शिवस्य सान्निध्यं तद्गोकर्णाख्यं शिवाभिमानिक्षेत्रम् ॥ १९ ॥

द्वीपमयनं यस्यास्तामार्यामम्बिकां दृष्ट्वा शूर्पारकं क्षेत्रं जगाम। तापीमिति। उपस्पृश्य ताप्यादिषु स्नात्वा अथ दण्डकं दण्डकाख्यमरण्यं प्रविश्य ॥ २० ॥

1- -1. K.T.W.Omit 2. B.adds चोदितश्च ; K. adds चोदितश्च 3. K. कन्यां 4. T.W. फ° 5. B. ददावित्यर्थः

**विज०** अस्पृशत् ददौ। स्थानं दूरम् अनन्तक्षेत्रम् ॥ १६-१९ ॥

धूर्जटेः शिवस्य ॥ २० ॥

**प्रविश्य रेवामगमद्यत्र माहिष्मती पुरी ।**
**[1]मनुतीर्थमुपस्पृश्य प्रभासं पुनरागमत् ॥ २१ ॥**
**श्रुत्वा द्विजैः [2-]कथ्यमान[-2] कुरुपाण्डवसंयुगे ।**
**सर्वराजन्य निधनं [3-]भारं मेने ह[-3]तं भुवः ॥ २२ ॥**
**सभीमदुर्योधनयोर्गदाभ्यां युध्यतो[4]र्मृधे ।**
**वारयिष्यन्विनशनं[5] जगाम यदुनन्दनः ॥ २३ ॥**
**युधि[6]ष्ठिरस्तु तं दृष्ट्वा यमौ कृष्णार्जुनावपि ।**
**अभिवाद्याभवं स्तूष्णीं किं विवक्षुरिहागतः ॥ २४ ॥**

**गदापाणी उभौ दृष्ट्वा संरब्धौ विजयैषिणौ ।**
**मण्डलानि विचित्राणि चरन्ताविदमब्रवीत् ॥ २५ ॥**

1. M.Ma अनु° 2- -2 M. Ma तु कथितं 3- -3 भारमेतद्धृतं 4. M. Ma °तोरणम् 5. M.Ma °शसनं 6. M.Ma °वोरस्तु

**श्रीध०** स इति विनशनं कुरुक्षेत्रम् ॥ २१-२३ ॥

**युधिष्ठिरस्त्विति**॥ विवक्षुः वक्तुमिच्छुः। किं वदिष्यतीति भिया तूष्णीमासन्निति ॥ २४-२५ ॥

**वीर०** ततो रेवां नर्मदामगमत्, यत्र रेवातीरे माहिष्मतीं पुरी वर्तते, तां रेवामित्यर्थः ॥ २१ ॥

**श्रुत्वेति**। तत्र द्विजैः कथ्यमानं सर्वेषां बहूनां राजन्यानां राज्ञां निधनं नाशं शृत्वा भुवो भारं हृतं भगवतेति शेषः। मेने अमन्यत ॥ २२ ॥

**स इति**। स यदुनन्दनो रामः मृथे युद्धे युध्यतोस्सतोः तौ वारयिष्यन् वारयितुं विनशनं कुरुक्षेत्रं जगाम ॥ २३ ॥

**युधिष्ठिर इति**। तं रामं दृष्ट्वा ययौ तत्समीपमिति शेषः। तथा कृष्णार्जुनावपि ययतुः ते तमभिवाद्य किं वक्तुमिच्छुरिहागत इति संशयानाः तूष्णीमभवन् ॥ २४ ॥

उभौ भीमदुर्योधनौ दृष्ट्वा इदं वक्ष्यमाणं अब्रवीत्, कथम्भूतौ? संरब्धौ क्रुद्धौ विजयमाकाङ्क्षन्तौ[1] विचित्राणि मण्डलानि गतिभेदान् चरन्तौ कुर्वन्तौ ॥ २५ ॥

1. B. काङ्क्षमाणै

**विज०** अनुतीर्थं नाम तीर्थम् ॥ २१ ॥

भुव एतत् एतं भारं हृतं श्रुत्वा एतत् एतर्हि भुवो भारं हृतं मेने इति शेष इति वा ॥ २२ ॥

विशसनं युद्धम् ॥ २३ ॥

किं वक्तुकाम आगत इति मत्वा ॥ २४-२५ ॥

युवां तुल्यबलौ वीरौ हे राजन् हे वृकोदर ।
एकं प्राणाधिकं मन्ये उतैकं शिक्षयाऽधिकम् ॥ २६ ॥

तस्मादेकतरस्येह युवयोस्समवीर्ययोः ।
न लक्ष्यते जयोऽन्यो वा विरमत्वफलो रणः ॥ २७ ॥

न तद्वाक्यं जगृहतुर्बद्धवैरौ नृपार्थवत्[1] ।
अनुस्मरन्तावन्योन्यं दुरुक्तं दुष्कृतानि च ॥ २८ ॥

दिष्टं तदनुमन्वानो रामो द्वारवतीं ययौ ।
उग्रसेनादिभिः प्रीतैः[2] ज्ञातिभिः समुपागतः[3] ॥ २९ ॥

★ तं पुनर्नैमिशं प्राप्तमृषयोऽयाजयन्मुदा[1] ।
क्रत्वङ्गं[4] क्रतुभिस्सर्वैर्[5]निवृत्ताखिलविग्रहम् ॥ ३० ॥

1. K.T.W. °त्मजौ 2. K.T.W. °स्फतैः 3. B. तैः ★ This verse is not found in M.Ma editions only. 4. K. °ङ्गैः 5. Ml.T.V.W. °र्वे°

**श्रीध० तस्मादिति**। अन्यः पराजयो वा। रणः सङ्ग्रामः ॥ २६-२७ ॥

**नेति**। अर्थवद्वाक्यम् ॥ २८ ॥

**दिष्टमिति**। दिष्टं प्राचीनं कर्म। समुपागतः सङ्गतः ॥ २९ ॥

**तमिति**। तं बलरामं क्रत्वङ्गं यज्ञमूर्तिम् ॥ ३० ॥

**वीर०** उक्तिमेवाह - **युवामिति**। हे राजन्! दुर्योधन! हे वृकोदर! भीम! एकं भीमं प्राणाधिकं बलाधिकं मन्ये, उतैकम् एकं तु दुर्योधनं शिक्षयाऽधिकं मन्ये ॥ २६ ॥

तस्मात् हेतोः तुल्यवीर्ययोः युवयोः अन्यतरस्य विजयः अन्यः पराजयो वा भविष्यतीति न लक्ष्यते, अतो निष्फलो रणः सङ्ग्रामः विरमतु शाम्यतु ।। २७ ।।

**नेति**। नृपात्मजौ भीमदुर्योधनौ इत्थमुक्तावपि तस्य रामस्य वाक्यं न जगृहतुः, तत्र हेतुत्वेन तौ विशिनष्टि-बद्धवैरौ, तत्रापि हेतुः - अन्योन्यं दुरुक्तं दुश्चेष्टितानि[1-1] च स्मरन्तौ ॥ २८॥

**दिष्टमिति**। रामः तत् स्ववाक्याग्रहणं दिष्टं तयोः प्रचीनकर्मप्रयुक्तं मन्वानः तूष्णीं द्वारवतीं पुरीं ययौ, तत्र च स्फीतैस्सर्वसम्पत्समृद्धैः उग्रसेनादिभिस्सङ्गतो बभूव ॥ २९ ॥

तमिति। तं बलभद्रं निवृत्ताखिलविरोधं क्रत्वङ्गैस्सह क्रतुभिः अयाजयन्। क्रत्वङ्गमिति पाठे यज्ञशरीरकं परमात्मानम् ॥ ३० ॥

1--1 B. दुष्कृतानि

**विज०** प्राणाधिकं बलाधिकम् ॥ २६ ॥

अन्यः पराजयो वा विरमतु शान्तो भवतु ॥ २७ ॥

दुष्कुतानि जतुगृहदाहादीनि ॥ २८ ॥

तद्युद्धं दिष्टं दैवकृतम् ॥ २९,३० ॥

**▲ तेभ्यो विशुद्धविज्ञानं[1] भगवान्व्यतरद्विभुः ।**
**येनैवात्मन्यदो विश्वमात्मानं विश्वगं विदुः ॥ ३१ ॥**

**स्वपत्याऽवभृथस्नातो ज्ञातिबन्धुसुहृद्वृतः ।**
**रेजे स्वज्योत्स्नयेवेन्दु स्सुवासास्सुष्ठ्वलङ्कृतः ॥ ३२ ॥**

**ईदृग्विधान्यसंख्यानि[2] बलस्य बलशालिनः ।**
**अनन्तस्याप्रमेयस्य मायामर्त्यस्य[3-] सन्ति हि[-3] ॥ ३३ ॥**

4-
**योऽनुस्मरेत रामस्य कर्माण्यद्भुतकर्मणः ।**

**सायं प्रातरनन्तस्य विष्णोस्सदयितो भवेत् ॥ ३४ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

▲ These two verses are not found in M.Ma editions only. 1. Ml.V. द्धं 2. K.T.W. नेकानि 3- -3 M. Ma Omit 4- -4 M.Ma Omit 5. K.T.W. शृण्वन् गृणन्न°

**श्रीध० तेभ्य** इति। आत्मन्यधिष्ठाने विश्वगं सर्वानुस्यूतं येनैव विदुः पश्यन्ति तद्विशुद्धं विज्ञानं व्यतरददात् ॥ ३१-३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां

एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

**वीर०** भगवान् रामः तेभ्यः ऋषिभ्यः विशुद्धं विपर्यय संशयादिरहितं विज्ञानं व्यतरत् अदात् उपदिदेशेत्यर्थः। किं तत्ज्ञानम्? यद्व्यतरदित्यत आह-येनैवेति। येन ज्ञानेन आत्मनि परमात्मन्याधारभूते विश्वमात्मानं च विश्वगं विस्वं गच्छति व्याप्य तिष्ठतीति तथाभूतं विदुः साक्षात् कुर्युः, तथाविधं ज्ञानं व्यतरदित्यर्थः। (ज्ञानप्रदानं दक्षिणास्थानीयमिति बोध्यम्) ॥ ३१ ॥

1-
स्वपत्न्येति। रेवत्याख्यया स्वपत्न्या सह अवभृथस्नातः कृतावभृथस्नान इत्यर्थः। स्वज्योत्स्नया चन्द्र इव रेजे, ज्योत्स्नास्थानीया स्वपत्नी, चन्द्रस्थानीयस्तु रामः, अनपायित्वाच्छुभ्रवर्णत्वाच्च ॥ ३२ ॥

रामस्य चेष्टितानि साकल्येन वक्तुं न शक्यानीत्यभिप्रयन्नाह — **ईदृग्विधानीति**। अनन्तस्य अनन्तावताररूपस्य अप्रमेयस्य असङ्ख्यातकल्याणगुणस्य मायामर्त्यस्य स्वसङ्कल्पपरिगृहीतमनुष्यजन्मनः ॥ ३३ ॥

उपवर्णितबलभद्रचेष्टितश्रवणादि फलमाह **य** इति। अद्भुतानि कर्माणि यस्य तस्यानन्तस्य तदवताररूपस्य बलदेवस्य कर्माणि यः पुमान् शृण्वन्, सति वक्तरि गृणन् कथयन् सति श्रोतरि कीर्तयन् उभयोरभावे अनुस्मरेच्च[2-2], स विष्णोर्दयितो निरतिशयप्रियो भवेत् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां व्याख्यायां

एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

---

1- -1W. Omits 2- -2 B. Omits

**विज०** बलभद्ररामस्य[1-] विक्रमश्रवणादिना किं फलं भवतीति तत्राह – ईदृग्विधानीति[-1] ॥ ३१-३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

(विजयध्वजरीत्या सप्तनवतितमोऽध्यायः)

---

1- -1B. Omits.

# अशीतितमोऽध्यायः

(श्रीविजयध्वजरीत्या अष्टनवतितमोऽध्यायः)

## कुचेलोपाख्यानम्

★ राजोवाच

भगवन्यानि चाऽन्यानि मुकुन्दस्य महात्मनः ।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य श्रोतुमिच्छामि हे प्रभो! ॥ १ ॥

को नु श्रुत्वा सकृद्ब्रह्मन् उत्तमश्लोकसत्कथाः ।
विरमेत विशेषज्ञो विषण्णः काममार्गणैः ॥ २ ॥

सा [1-]वागनन्तस्य[-1] गुणान् गृणीत करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च ।
स्मरेद्वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः ॥ ३ ॥

शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानमेत्तदेव यत्पश्यति तद्धि चक्षुः ।
अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम् ॥ ४ ॥

सूत उवाच

विष्णुरातेन सम्पृष्टो भगवान्बादरायणिः ।
वासुदेवे भगवति निमग्नहृदयोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥

श्रीशुक उवाच

कृष्णस्याऽऽसीत्सखा कश्चित् ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः ।
विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ॥
यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानो गृहाश्रमी ॥ ६ ॥

---

★ विजयध्वजरीत्या अयमध्यायः सप्तदशश्लोकादारभ्यते। 1- -1 B.G.J °ग्यया तस्य

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अथाऽशीतितमे कृष्णः श्रीदामानं गृहागतम्। सम्पूज्याऽपृच्छदर्थेप्सुं गुरुवासकथां मुदा ॥

सुरारिमारको हरिः पुरा चकार शं सताम्। अतःपरं विनैव तन्निजोपकारमाचरत् ॥

श्रीरामचरितानि श्रुत्वा पुनर्मुकुन्दवीर्याणि पृच्छति - **भगवन्निति**। हे भगवन्! श्रोतुमिच्छामि इत्यन्वयः॥ १ ॥

**क** इति। उत्तमश्लोकस्य श्रीकृष्णस्य सत्या मनोहराः विषयवैतृष्ण्यजनिकाः कथाः विशेषज्ञः सारवित्, विषण्णो विषादं प्राप्तः ॥ २ ॥

कथाश्रवणं स्तुवन् दृष्टान्ततया अन्यार्थानाह **या वागिति**। तावेव करौ यौ तत्कर्मकर्तारौ, तदेव मनो यत् स्थिरजङ्गमेषु वसन्तं स्मरेत्, यस्तस्य पुण्याः कथाः शृणोति। स एव कर्णः ॥ ३ ॥

**शिर** इति। उभयलिङ्गमिति मत्वा आनमेत्तदेव शिरः तदेव तस्य लिङ्गं स्थिरं जङ्गमश्च तस्यैव लिङ्गमित्येव यत्पश्यति तदेव चक्षुः तान्येव अङ्गानि यानि पादोदकं भजन्तीति ॥ ४-६ ॥

1. B महे

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ भगवतो भक्तानुग्रहं ब्रह्मण्यत्वाद्यात्मकं कुचेलवृत्तान्तं प्रस्तोष्यंस्तावत् तद्विषयकं राज्ञः प्रश्नमाह सूतः **भगवन्निति**। हे भगवन्! शुक! अनन्तस्य अपरिच्छिन्नस्वरूपस्वभावस्य महात्मनो भक्तानुकम्पिनो मुकुन्दस्य यानि वीर्याणि प्रभावसूचकानि कर्माणि तानि श्रोतुं इच्छाम हे प्रभो! वक्तुं समर्थेति भावः ॥ १ ॥

बहुधा श्रुतवतोऽपि कुतस्तव न विरक्तिरुदेतीत्यत आह **कोन्विति**। हे ब्रह्मन्! उत्तमश्लोकस्य सत्कथाः असकृदपि श्रुत्वा काममार्गणैः विषयान्वेषणैः अविषण्णः विषादमप्राप्तः विशेषज्ञो रसज्ञश्च को वा पुमान् विरमेत, भगवत्कथाश्रवणादिति शेषः। सारज्ञश्चेन्न कोऽपि विरमेतेत्यर्थः। यद्वा काममार्गणैः विषण्णः निर्वेदं प्राप्तः ॥ २ ॥

भगवद्गुणवर्णनादिषु उपयुक्तानामेव वागादीन्द्रियाणां साफल्यम्, अन्यथा वैयर्थ्यमेवेत्याह - सेति द्वाभ्याम्। या अनन्तस्य गुणान् गृणीते वर्णयति सैव वाक् सफलेत्यर्थः। विपर्यये 'जिह्वाऽसति दार्दुरकीव' (भाग.1-3-10) इत्यादि द्वितीयस्कन्धोक्तोऽर्थोऽनुसन्धेयः। तस्य भगवतः कर्माऽऽराधनात्मकं कुरुत इति तथा। तावेव करौ हस्तौ। स्थावरेषु जङ्गमेषु[1] चाऽन्तरात्मतया वसन्तं भगवन्तं यत्स्मरेत् तदेव मनः। यस्तस्य पुण्याः कथाः शृणोति स एव कर्णः श्रोत्रम् ॥ ३ ॥

उभयं चराचरात्मकं लिङ्गं शरीरं यस्य तम्। विभवावताररूपमर्चावतारररूपञ्चेति वा।यत् आनमेत् प्रणमेत् तदेव शिरः। यत्तं पश्यति तदेव चक्षुः। विष्णोः तज्जनानां तद्भक्तानां वा (उदकं) पादोदकं नित्यं यानि भजन्ति सेवन्ते तान्येवाऽङ्गनि गात्राणि ॥ ४ ॥

इत्थमापृष्टः प्राह मुनिरित्याह सूतः **विष्णुरातेनेति**। विष्णुरातेन परीक्षिता निमग्नमासक्तं मानसं हृदयं यस्य सः ॥५॥

उक्तिमेवाऽऽह **कृष्णस्येत्यादिना** यावदध्यायसमाप्ति। ब्रह्मवित्तमः ब्रह्मविदां श्रेष्ठः इन्द्रियार्थेषु शाब्दादिविषयेषु विरक्तः। तत्र हेतुः प्रशान्तः आत्मा मनो यस्य, जितानीन्द्रियाणि बाह्यानि येन सः यदृच्छयोपपन्नेन दैवाल्लब्धेनान्नादिना वर्तमानःजीवन्। एवम्भूतः कृष्णस्य सखा आसीदिति सम्बन्धः ॥ ६ ॥

1.B चरेषु

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

भगवानपि गोविन्दः साधयित्वा स्ववाञ्छितम्। सुयोधने महाबाहौ निहते गदया रणे ॥ क ॥

विसृज्यायोधनं शून्यं प्रयातुमुपचक्रमे। कृपश्च कृतवर्मा च द्रौणिश्च रथिनां वरः ॥ ख ॥

अवशिष्टा महात्मानः सुयोधनबले त्रयः। पञ्चपाण्डुसुता वीराः सात्यकिश्च महाबलः॥ ग ॥

वैश्यपुत्रो युयुत्सुश्च शिष्टाः कृष्णपुरोगमाः। तान् पुरस्कृत्य गोविन्दो मुनिबृन्दसमन्वितः ॥ घ ॥

जगाम हास्तिनपुरं धृतराष्ट्रं प्रसादितुम्। गान्धारीं धृतराष्ट्रञ्च विदुरञ्च महामतिम् ॥ ङ ॥

प्रसाद्य पाण्डवान् स्वे स्वे राज्ये संस्थाप्य यत्नतः। स्तूयमानो मुनिगणैः सूतमागधवन्दिभिः ॥ च

अनुयातः पाण्डुपुत्रैः प्रेमबाष्पाविलेक्षणैः। ताननुज्ञाप्य सोत्कण्ठान्रथेनादित्यवर्चसा ॥ छ ॥

शङ्खदुन्दुभि निर्घोषैः वेदमङ्गल निःस्वनैः। पुण्याहमन्त्रघोषैश्च द्वारकां प्रययौ हरिः ॥ ज ॥

विचित्रतोरणरम्यां चलत्कजलिकाकुलाम्। अलङ्कृतां पौरजनैः सिक्तसम्मृष्टभूतलाम् ॥ झ ॥

उपस्थितः पौरजनैः पालिकाङ्कुरधारिभिः। योषिद्भिर्वारमुख्याभि र्भूषिताभिश्च भूषणैः ॥ ञ ॥

वहद्भिर्दीपमुकुरकलशस्रक्फलाक्षतान्। उपस्थितो ब्राह्मणैश्च पुत्रैः पौत्रैस्सहानुजैः ॥ ट ॥

प्रविवेश पुरीं दिव्यां दिवसे पूजितो हरिः। स प्रविश्य सभां दिव्यां सुधर्मां लोकविश्रुताम् ॥ ठ ॥

आहुकं वासुदेवञ्च रामञ्चैवाऽभ्यवायवत्। प्रणम्य मातरो विश्वाः काञ्चने परमासने ॥ ड ॥

उपविश्य यथाजोषं पूजितो यदुपुङ्गवैः। रराज रजनीनाथो यथा ग्रहगणै र्दिवि ॥ ढ ॥

हतावशिष्टै र्भूपालैस्तत्पुत्रैश्च महाबलैः। अभिषिक्तैर्यथा स्थानं सेव्यमानो दिवा निशम् ॥ ण ॥

अवतीर्णमहाभारां विश्वां विश्वम्भरो हरिः। धर्मराजं पुरस्कृत्य धर्मेणैवान्वशासत ॥ त ॥

राजा एतदेव इन्द्रियकृत्यमिति वक्ति **सा वागिति**। या अनन्तस्य गुणान् गृणीते सैव वाक्। यौ तत्कर्मकरौ तावेव करौ। अनेन करोतीति करः इति कर्तर्यच् प्रत्ययः सफल इति सूचितं यत्स्थिरजङ्गमेषु वसन्तं हरिं स्मरेत् तदेव मनः 'मन ज्ञाने' इति धातोः स्मरणलक्षणं ज्ञानं यस्तस्य हरेः कथा शृणोति स कर्णः। 'कृणआकर्णने' इति धातुः ॥ १-३ ॥

चराचरभेदेनोभयलिङ्गं उभयप्रतिमाम् आनमेद्यत्तदेव शिरः। श्रयत इति शिरः 'श्रिञ्सेवायाम्' इति धातोः नमनलक्षणसेवायां शिर इति निपात्यते। यदुभयलिङ्गं पश्यति तदेव चक्षुः 1-चेष्टे पश्यतीति चक्षुः-1। 'चक्षुर्दर्शने' इति धातुः। तस्य हरेः जनानां यानि विष्णोः पादोदकं **नित्यं** भजन्ति। पानस्नानलक्षणां सेवां कुर्वन्ति अथ मङ्गलानि तान्येवाऽङ्गानि, नान्यानि ॥ ४-६॥

1- -1 B Omits

अनेनाऽध्यायद्वयेन कृपणब्राह्मणकृपातिशयकथनेन हरिभक्तस्य केवलं न पारत्रिकमेव फलम्, अपि तु ऐहिकमप्यति विस्मयकरं स्यादितीदृशं माहात्म्यं वक्ति। तत्र प्रथमतो भारतयुद्धं समाप्य कृष्णस्य हस्तिनापुरप्रयाणप्रकारं प्रख्यापयति **भगवानपीति** ॥ क ॥

शून्यं शवादिनाऽपि रहितं; प्रयातुं गन्तुम्। अष्टादशाक्षौहिणीभ्यः शिष्टानाह - कृपश्चेति ॥ ख-ङ ॥

भगवत्सेवामन्तरेण राज्यानिच्छून् इत्यतो यत्नत इति युक्त्या प्रतिपाद्येत्यर्थः ॥ च,छ। ।

वेदे ये मङ्गलनिस्वनाः मङ्गलवचनानि, तैः ॥ ज,झ ॥

उपस्थितोऽभिगतः। अङ्कुरपूरितपालिका पात्रविशेषः ॥ ञ-ठ ॥

मातरो मातृः॥ ड ॥

यथाजोषं यथासुखम् ॥ ढ-त ॥

तस्य भार्या कु(चे)चैलस्य क्षुत्क्षामा च तथाविधा ।
पतिव्रता पतिं प्राह म्लायता वदनेन सा ॥ ७ ॥

1-दरिद्रा सीदमाना सा -1वेपमानाऽभिगम्य च ।
ननु ब्रह्मन् भगवतः सखा साक्षाच्छ्रियः पतिः ॥ ८ ॥

ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च भगवान् सात्वतर्षभः[3] ।
तमुपैहि महाभाग साधूनाञ्च परायणम् ॥ ९ ॥

दास्यति द्रविणं भूरि सीदते ते कुटुम्बिने ।
आस्तेऽधुना द्वारवत्यां भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः ॥ १० ॥

स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति ।
किन्त्वर्थ कामान् भजतो 5-नात्यभीष्टाञ्-5जगद्गुरुः ॥ ११ ॥

स एव भार्यया विप्रो बहुशः प्रार्थितो मृदु[6] (दुः) ।
अयं हि परमो लाभः उत्तमश्लोकदर्शनम् ॥ १२ ॥

1--1 K.Ml.T.V.W दारिद्र्यात् सीदमाना सा ; M.ma दरिद्रं साध्व्यशनाया 2. Ml,T,V,W ते: 3. Ml,T,V,W तां पति: 4. K.Ml.T.V.W किमर्थं 5--5 M.Ma नान्यमिष्टञ्च 6. M.Ma विभु:

**श्रीध० तस्येति**। तथाविधा कुचैला किञ्च क्षुत्क्षामा यत्किञ्चित्सम्पन्नमन्नं तस्मै परिविष्य स्वयं क्षुधा जीर्णा ॥ ७॥

**पतिव्रतेति**। पतिव्रता सती म्लायता शुष्यता वदनेन सीदमाना भर्तुर्भोगसम्पादनशक्त्याऽवसीदन्ती वेपमाना भयेन कम्पमाना ॥ ८,९ ॥

**दास्यतीति**। भोजवृष्ण्यन्धकेश्वर इति तत्स्वीकारमात्रेण सर्वे ते दास्यन्तीति भावः। नात्यभीष्टान् परिपाकविरसत्वात् ॥ १०-१२ ॥

**वीर०** तस्य ब्राह्मणस्य कुचेलाख्यस्य कुत्सितं चेलमस्य - इतीदमन्वर्थ नाम। भार्या क्षुत्क्षामा यदृच्छया लब्धं तस्मै परिविष्य स्वयं क्षुधा जीर्णा। तत्र हेतुः। तथाविधा पतिवत् जितेन्द्रिया। अत एव पतिव्रता एवम्भूता सा म्लायता शुष्यता वदनेन पतिं प्राह ॥ ७ ॥

**दरिद्रा** इति। तदेवाऽऽह - नन्विति सार्धैस्त्रिभिः। हे ब्रह्मन्! भगवतः पूज्यस्य तव यस्सखा कृष्णः तमुपैहि समीपं गच्छ। कथम्भूतः? साक्षात् श्रियो लक्ष्म्याः पतिः तव दारिद्र्यापनयनं तस्य कियदिति भावः। ननु श्रियः पतिश्चेत् मां नाऽवलोकयेदपि इत्यत आह - ब्रह्मण्य इति। ब्रह्मणि ब्राह्मणकुले साधुः। तस्मात्वामादरिष्यत इति भावः। अथाऽपि श्रियः पतिश्चेत् मोक्षदो न तु वित्तद इत्यत आह - शरण्यः। चतुर्विधपुरुषार्थार्थिनां शरणार्हः। अथाऽपि न मदभिप्रेतं जानीयात् इत्यत आह - भगवान् ज्ञानशक्त्यादिषाड्गुण्यपूर्णः. अथाऽपि परत्वेन न मामाद्रियेतेत्यत आह - सात्त्वतर्षभः निरतिशयसौशील्यादेव सात्त्वतश्रेष्ठतयाऽवतीर्ण इति भावः। तमेव किं विशिष्योपैहीति ब्रूषे इत्यत आह-साधूनां भवादृशां परमयनं प्राप्यम् ॥ ८-९ ॥

उपेताय किं दास्यतीत्यत आह - **दास्यतीति**। भूरि पुष्कलं द्रविणं धनं सीदते क्लिश्यमानाय कुटुम्बिने च तुभ्यं दास्यति। क्वाऽऽस्त इत्यत आह - आस्ते इति। द्वारकायामेवाऽधुनाऽऽस्ते, न तु शत्रुविजयाद्यर्थं क्वापि गत इति भावः ॥ १० ॥

दास्यति वा नवा इति संशयानं प्रत्याऽऽह - **स्मरत** इति। स्मरत एवाऽऽत्मानमपि यच्छति ददाति, किम्पुनः सुदूरं गत्वा भजतो याचमानस्य अर्थकामान् ददातीति वक्तव्यमित्यर्थः। तान्विशिनष्टि **नात्यभीष्टानीति**। परिपाकविरसत्वादिति भावः। भर्तुर्भोगसम्पादनार्थमेवं प्रचोदितमिति न पूर्वोक्तजितेन्द्रियत्व पातिव्रत्यादिविरोधः ॥ ११ ॥

**स** इति। स विप्रः कुचेलः मृदुः मृदुस्वभावत्वात् ओमिति वदन्निति भावः। उत्तमश्लोकस्य भगवतो दर्शनमित्यतं परमो लाभः ॥ १२ ॥

**विज०** तथाविधा भर्तृवन्मलिनवस्त्रा ॥ ७ ॥

म्लायता म्लानिं गच्छता अशनायावेपमानेत्येकं पदम् । अशनायया अशनेच्छया कम्पमाना ॥ ८.९ ॥

सीदते अवसन्नाय दरिद्राय ॥ १० ॥

अर्थकामान् यच्छतीति किन्नु वक्तव्यम्। किञ्च जगद्गुरुः अन्यम् उक्तेभ्योऽन्यमिष्टं न यच्छति। किन्तु भजतः पुरुषस्य यच्छत्येवेत्यर्थः। यद्वा, ना परमपुरुषः अन्यमभीष्टं यच्छतीत्यतः तमुपैहीत्यन्वयः ॥ ११-१२ ॥

**इति सञ्चिन्त्य मनसा गमनाय मतिं[1] दधे।**
**अप्यस्त्युपायनं किञ्चिद्गृहे कल्याणि दीयताम्[2] ॥ १३ ॥**

याचित्वा चतुरो मुष्टीन् विप्रान्पृथुकतण्डुलान्[3] ।
चेलखण्डेन[4] तान्बद्ध्वा भर्त्रे प्रादादुपायनम् ॥ १४ ॥

स तानादाय विप्राग्र्यः प्रययौ द्वारकां किल ।
कृष्णसन्दर्शनं मह्यं कथं स्यादिति चिन्तयन् ॥ १५ ॥

त्रीणि गुल्मान्यतीताय तिस्रः कक्षाश्च स द्विजः ।
विप्रोऽगम्यान्ध(क)वृष्णीनां गृहेष्वच्युत धर्मिणाम्[5] ॥ १६ ॥

गृहं द्व्यष्टसहस्राणां महिषीणां हरेर्द्विजः ।
विवेशैकतमं श्रीमद्ब्रह्मानन्दं[6] गतो यथा ॥ १७ ॥

तं विलोक्याच्युतो दूरात्प्रियापर्यङ्कमास्थितः[7-] ।
सहसोत्थाय चाऽभ्येत्य दोर्भ्यां पर्यग्रहीन्मुदा ॥ १८ ॥

1. M,Ma मनो 2. M,Ma अथा 3. M,Ma तंदु 4. B,G,J,M,Ma चैल 5. M,Ma गेहे 6. Ml,T,V,W न्द 7- -7 K,T,W ङ्क आस्थितः ; M,Ma ङ्क आश्रितः

**श्रीध० इतीति**। अप्यस्ति किमस्तीति प्रश्नः ॥ १३,१४ ॥

**स** इति। मह्यं मम ॥ १५ ॥

**त्रीणीति**। गुल्मानि रक्षार्थं सैन्यस्थानानि कक्षाः प्रतोलीः अतीयाय अतिक्रम्य जगाम। सद्विजः द्विजैस्सहितः ततश्च अगम्याः दुर्गमाः अच्युतधर्मिणः येऽन्धका वृष्णयश्च तेषां गृहेषु ॥ १६ ॥

**गृहमिति**। तथा हरे र्द्व्यष्टसहस्राणां महिषीणाञ्च ये गृहास्तेषु मध्ये श्रीमदेकतमं गृहं विवेश। तदा च स द्विजो ब्रह्मानन्दङ्गतो यथा ता बभूवेति शेषः॥ १७ ॥

**तमिति**। पर्यग्रहीत् पर्यरम्भत[1] ॥ १८ ॥

1. Ml,V आलिङ्गितवान्

**वीर०** इति मनसा सञ्चिन्त्य चिन्तापूर्वकं निश्चित्येत्यर्थः। वित्तलाभस्त्वानुषङ्गिक इत्यभिप्रेत्येति भावः। मतिं बुद्धिं दधे चक्रे। विधाय प्राहेत्यर्थः। तदेवाऽऽह अपीति। हे कल्याणि! उपायनं भगवते समर्पणीयं योग्यं वस्तु गृहे किमस्तीति प्रश्नः॥ १३ ॥

इत्थमापृष्टा सा पृथुकतण्डुलान्, तानपि चतुरो मुष्टीन् ग्रामस्थान् विप्रान् प्रति याचित्वा चेलखण्डेन छिद्रपटशकलेन बद्ध्वा भगवत उपायनं भर्त्रे ददौ, तद्धस्ते ददौ इत्यर्थः ॥ १४ ॥

**स** इति। स विप्राग्र्यः कुचेलः तान् पृथुकतण्डुलान् ॥ १५ ॥

**त्रीणीति**। स द्विजः कुचेलः गुल्मानि रक्षार्थसैन्यस्थानानि ततः कक्ष्याः प्रतोलयः,ताश्च अतीयाय अतिक्रान्तवानित्यर्धस्यान्वयः। अच्युतस्येव धर्माः सम्पत्त्यदिगुणाःयेषां तेषामगम्यानां दुर्गमानामन्धकानां वृष्णीनाञ्च गृहेषु मध्ये ॥ १६ ॥

द्व्यष्टसहस्राणि हरेर्महिषीणां गृहान्, तत्राऽपि श्रीमदेकतमं गृहं निवेशेति सम्बन्धः। द्विजशब्दस्य त्रैवर्णिक साधारणत्वात् अग्रजात्यवगमाय विप्र इति चोक्तमिति अतो न पौनरुक्त्यम्। यथा ब्रह्मानन्दं मोक्षसुखं प्राप्तो वैकुण्ठे हरेर्मन्दिरं विशति, तद्वत् ॥ १७ ॥

**तमिति**। प्रियाया रुक्मिण्याः पर्यङ्के आस्थितो भगवांस्तं कुचेलं दूरादेव दृष्ट्वा दोर्भ्यां बाहुभ्यां पर्यग्रहीत् आलिङ्गितवान् ॥ १८॥

**विज०** तैलखण्डेन जीर्णवस्त्रखण्डेन ॥ १४,१५ ॥

गुल्मानि शिबिराणि। कक्ष्याः पुरप्रकोष्ठानि। 'कक्ष्या कच्छे वरत्रायां काञ्च्यां गेहप्रकोष्ठके' (वैज्ञ.को.6-2-7) इति यादवः। अन्धवृष्णीनां गृहेषु मध्ये यानि द्व्यष्टसाहस्रमहिषीणां गृहाणि गम्य गत्वा तेष्वेकतमं गृहं विवेशेत्यन्वयः। द्विजत्वं क्षत्रियस्याऽप्यस्तीति विप्र इति। आनन्दं गतो मुक्तो ब्रह्म विशति यथा तथा ॥ १६,१७ ॥

पर्यग्रहीत् आश्लिष्टवान् ॥ १८ ॥

**सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः ।**
**प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून्नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः॥ १९ ॥**

**अथोपवेश्य पर्यङ्के स्वयं सख्युस्समर्हणम् ।**
**उपाहृत्याऽवनिज्याऽस्य पादौ पादावने जनीः ॥ २० ॥**

**अग्रहीच्छिरसा राजन् भगवान् लोकपावनः ।**
**व्यलिम्पद्दिव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुङ्कुमैः ॥ २१ ॥**

**धूपैस्सुरभिभिर्मित्रं प्रदीपावलिभिर्मुदा ।**
**अर्चित्वाऽऽवेद्य ताम्बूलं गाञ्च स्वागतमब्रवीत् ॥ २२ ॥**

कुचेलं मलिनं क्षामं द्विजं धमनिसन्ततम् ।
देवी[3] पर्यचरत्साक्षात् चामरव्यजनेन वै ॥ २३ ॥

अन्तः पुरजनो दृष्ट्वा कृष्णेनाऽमलकीर्तिना ।
विस्मितोऽभूदति[4-] प्रीत्या[-4] अवधूतं सभाजितम् ॥ २४ ॥

1. K,T,W गरु 2. K,T,W पैर्बलि 3. K,Ml,T,V,W भैष्मी 4-4 M,Ma भूत्सविप्राग्र्यं

**श्रीध०** सख्युरिति। अब्बिन्दून् आनन्दाश्रूणि ॥ १९ ॥

**अथेति**। समर्हण मुपायनमुपहृत्य समर्प्य पादावने जनीरपः ॥ २०-२२ ॥

**कुचेलमिति**। धमनिभिः सिराभिः सन्ततं व्याप्तम् ॥ २३ ॥

**अन्तःपुरेति**। अवधूतं मलिनम् ॥ २४ ॥

**वीर० सख्युरिति** । अङ्गसङ्गेनाऽऽलिङ्गनेन अतीव निर्वृतः सुखितः प्रीतश्च पुष्करेक्षणः भगवान् नेत्राभ्याम् आनन्दाश्रुबिन्दून् अभ्यमुञ्चत् ॥ १९ ॥

**अथेति**। उपविष्टं कृत्वा तस्य सख्युः स्वयमेवोपायनमुपहृत्य समर्प्य पादाववनिज्य प्रक्षाल्य पादावनेजनीः अपः शिरसा अग्रहीद्दधार। व्यलिम्पदिति। चन्दनादिभिः साधितेन दिव्यगन्धेन मित्रं सखायं व्यलिम्पत् ॥ २०,२१ ॥

सुरभिभिः धूपैः दीपैर्बलिभिरन्यैश्च पूजासाधनैरर्चित्वा गां धेनुं ताम्बूलञ्च निवेद्य स्वागतमब्रवीत् पप्रच्छ ॥ २२ ॥

**कुचेलमिति**। मलिनमभ्यङ्गोद्वर्तनाद्यभावात् धमनिभिः सिराभिस्सन्ततं व्याप्तं मेदोमांसादि रहितकेवल त्वङ्मात्रावशिष्टा शरीरमित्यर्थः। तत्र हेतुः क्षामं क्षुधा कर्शितं भैष्मी रुक्मिणी चामरव्यजनेन पर्यचरत् वीजयामासेत्यर्थः ॥ २३ ॥

**अन्तःपुरजन** इति। कीर्तिर्यस्य तेन कृष्णेन प्रीत्या सभाजितं सम्यक् पूजितं तमवधूतं मलिनं वीक्ष्य विस्मितो बभूव ॥ २४ ॥

1. B.Omits भगवान् 2. K,T,W मभ्यङ्गोन्मर्दना 3. B त्वङ्नाडीमात्रा

**विज०** पादावनेजनीरपः पादप्रक्षालनजलानि ॥ १९-२२ ॥

धमनिसन्ततं सिरासहस्राचितगात्रम् ॥ २३-२४ ॥

किमनेन कृतं पुण्यमवधूतेन भिक्षुणा ।
श्रिया हीनेन लोकेऽस्मिन् गर्हितेनाधमेन च ॥ २५ ॥

योऽसौ त्रिलोकगुरुणा श्रीनिवासेन सम्भृतः ।
पर्यङ्कस्थां श्रियं हित्वापरिष्वक्तोऽग्रजो यथा ॥ २६ ॥

कथयाञ्चक्रतुर्गाथाः पूर्वा गुरुकुले सतोः ।
आत्मनो[1] ललिता राजन् करौ गृह्य परस्परम् ॥ २७ ॥

[2-] श्रीभगवानुवाच [-2]

अपि ब्रह्मन् गुरुकुलात् भवता लब्धदक्षिणात् .
समावृत्तेन धर्मज्ञ भार्योढा सदृशी न वा ॥ २८ ॥

प्रायो गृहेषु ते चित्तमकाम[3] विहतं तथा ।
नैवाति प्रीयसे[4-] विद्वन्[-4] धनेषु विदितं हि मे ॥ २९ ॥

केचित्कुर्वन्ति कर्माणि कामैरहतचेतसः ।
त्यजन्तः प्रकृतीर्दैवीर्यथाऽहं लोकसङ्ग्रहम् ॥ ३० ॥

1. K,Ml,T,V,W नोर्ललिता; M,Ma नोल्लसिता 2- -2 M,Ma Omit 3. Ml,V त्तं न 4- -4 M,Ma ते तद्वत् 5. K,M,Ma,T,W ति देवीं

**श्रीध०** विस्मयमाह - **किमनेनेति** द्वाभ्याम् ॥ २५ ॥

**य** इति। सम्भृतस्सम्मानितः ॥ २६ ॥

**कथयाञ्चक्रतुरिति**। सतोर्वसतोः, करौ गृह्य गृहीत्वा ॥ २७ ॥

**अपीति**। भार्या ऊढा परिणीता नवेति गृहस्थलिङ्गदर्शनात् भोगादर्शनाच्च संशयादिव प्रश्नः ॥ २८ ॥

अप्रतिषेधात् उद्वाहमनुमतं मत्वाऽऽह **प्राय** इति। तर्हि ते चित्तं नूनमकाम विहतं कामैर्विहतं न भवतीति मे विदितम्। तथा हि धनेषु वस्त्रादिषु नैवाऽतिप्रीयसे हे विद्वन्निति, विदुषस्तव एतद्युक्तमिति भावः ॥ २९ ॥

कामहतत्वाभावे किं गृहधर्मक्लेशेन इत्याशङ्क्याऽऽह - **केचिदिति**। दैवीरीश्वरमायारचिताः प्रकृतीः विषयवासनाः त्यजन्तः कामैः अनाकृष्टचेतसामपि कर्मकरणे दृष्टान्तः - यथाऽहमिति। लोकसङ्ग्रहं लोकस्य सङ्ग्रहो ग्रहणं यथा भवति तथाऽहमीश्वरोऽपि कर्माणि यथा करोमि तद्वत् ॥ ३० ॥

1. B, J Omit करौ

**वीर०** विस्मितवाक्यमेवाऽऽह - **किमिति** द्वाभ्याम्। पुरा पूर्वजन्मनि किं पुण्यमनेन कृतमित्यर्थः। अन्यथैवं पूजितो न स्यात् इत्यभिप्रयन् तं विशिनष्टि। अवधूतेन मलिनेन श्रिया हीनेन दरिद्रेण, अत एव अस्मिन् लोके गर्हितेन अनादरणीयेन। अस्मिन् लोके इत्यनेन अमुष्मिंस्त्वादरणीय एवेति सूच्यते। अधमेन न ह्यधमः पूज्यते, किन्तु पूजकापेक्षयोत्तम एव पूज्यते इति ॥ २५ ॥

योऽसावुक्तविधोऽप्ययं द्विजः त्रिलोकगुरुणा श्रीनिवासेन सम्भृतः सम्मानितः परिष्वक्तः आलिङ्गितश्च यथाऽग्रजो रामस्तद्वत् ॥ २६ ॥

**कथयाञ्चक्रतुरिति**। अस्य कृष्णकुचेलाविति शेषः। पुरा गुरुकुले सतोर्वर्तमानयोः आत्मनोर्याः सुन्दरा गाथाः कथाः ताः परस्परं करौ हस्तौ गृह्य गृहीत्वा ल्यबार्षः। हे राजन्! कथयाञ्चक्रतुः ॥ २७ ॥

तदेवाह - **अपीति**। हे ब्रह्मन्! लब्धा दक्षिणा येन तस्माद्गुरुकुलात्समावृत्तेन कृतसमावर्तनाख्य कर्मणा भवता 'वेदमधीत्याभिसमावृत्य' इत्यधीतसाङ्गसशिरस्कस्वाध्यायैरनुष्ठेयं समावर्तनाख्यं कर्मविहितं हे धर्मज्ञ! सदृशी अनुरूपा भार्या ऊढा परिणीता न वा? अपिशब्दः प्रश्नद्योतकः ॥ २८ ॥

नोढैवेत्यहन्तु सम्भावयामीत्यभिप्रयन्आह - **प्राय** इति। अकामविहतं कामैः अविहतं तव चित्तं प्रायशः गृहेषु गृहस्थाश्रमेषु न रमत इत्यध्याहारः। यद्वा, तव चित्तं गृहेषु कामैः अविहतं विहतं न भवति तथा हे विद्वन्! तत्त्वत्रययाथात्म्यज्ञानिन्! धनेष्वपि विषयभूतेषु नातीव प्रीयसे प्रीतियुक्तो भवसीति मे मया विदितम् ॥ २९ ॥

गृहस्थलिङ्गदर्शनादूढैवेति पुनर्निश्चित्य कामहतत्वाभावे किं गृहाश्रमेण इत्याशङ्कामपनुदन् तत्प्रयोजनमाह - **केचिदिति**। कामैरहतं चेतो येषां तथाभूता अपि केचिन्मुमुक्षवः दैवीं देवस्य विष्णोः सम्बन्धिनीं प्रकृतिं मायां 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया' (भगी.7-14) इत्युक्तविधां त्यजन्तः 'लक्षणहेत्वोः' (अष्टा 3-2-126) इति शत्रादेशः त्यक्तुं, प्रकृतिसम्बन्धान्मोक्तुमिति यावत्, कर्माणि गृहस्थाश्रमप्रयुक्तानि अनभिसंहितफलानि नित्यनैमित्तिकादिरूपाणि कुर्वन्ति, ब्रह्मविद्याङ्गत्वेनाऽनुतिष्ठन्तीत्यर्थः। ब्रह्मविद्याङ्गतया कर्मणामनुष्ठानार्थं गृहाश्रमपरिग्रह इति भावः। ननु कामैश्चेतसोऽविहतय एव हि कर्माणि कर्तव्यानि, कर्मणां विद्याङ्गत्वमपि चित्तशुद्धिजननद्वारैव । तथा च सति कामैरविहतचेतसां किं कर्मानुष्ठानेन इत्यत आह - यथाऽहं लोकसङ्ग्रहमिति।

लोकस्य सङ्ग्रहो यस्मिंस्तद्यथा भवति तथा अहं करोमि तद्वत्। अयं भावः - कामैर्विहतचेतोभिस्तद्विदृतिद्वाराविद्यानिष्पत्तये कर्माणि कर्तव्यानि। अविहतचेतोभिस्तु लोकसङ्ग्रहार्थमिति भावः ॥ ३० ॥

1- -1 B Omits

**विज०** सम्भृतः सभाजितः सङ्गृहीतो वा ॥ २५,२६ ॥

गुरुकुले सतां स्वेषां काले पूर्वस्मिन् या गाथा वृत्ताः ताः कथयाञ्चक्रतुः ॥ २७ ॥

स भवान् (तेन भवता) सदृशी भार्या लब्धापि किं न वा। यथा प्राकृतस्य चित्तं गृहेषु कामविहतं भवति तथा प्रायस्ते चित्तं गृहेषु भार्यादिषु अकामविहतं काम (मे)नाविषयेच्छया विहतं न स्यात्, तद्वत् तव चित्तं धनेष्वपि नैवातिप्रीयते, कथमेतदत्राऽऽह - विदितमिति ॥ २८-२९ ॥

केचिन्निवृत्तिमार्गस्थाः प्रकृतिं देहाभिमानलक्षणां दैवीं देवाधीनाम् ॥ ३०॥

**कश्चिद्गुरुकुले[1] वासं ब्रह्मन् स्मरसि नौ यतः ।**
**द्विजो विज्ञाय विज्ञेयं तमसः परमश्नुते ॥ ३१ ॥**

**स वै सत्कर्मणां साक्षात् द्विजातेरिह सम्भवः ।**
**आद्योऽङ्ग[2-] यत्राऽश्रमिणां[-2] यथाऽहं ज्ञानदो गुरुः ॥ ३२ ॥**

**नन्वर्थकोविदा[3] ब्रह्मन् वर्णाश्रमवतामिह ।**
**ये मया गुरुणा वाचा तरन्त्यञ्जो भवार्णवम्[4] ॥ ३३ ॥**

**नाऽहमिज्या प्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा ।**
**तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा ॥ ३४ ॥**

**अपि नः[5] स्मर्यते[6] ब्रह्मन् वृत्तं निवसतां गुरौ ।**
**गुरुदारैश्चोदितानामिन्धनानयने क्वचित् ॥ ३५ ॥**

**प्रविष्टानां महारण्यमपर्तौ सुमहद्द्विज ।**
**वातवर्षमभूत्तीव्रं निष्ठुराः स्तनयित्नवः ॥ ३६ ॥**

1. M. Ma. लावासं 2- -2. M.Ma. गुरुर्ह्याश्र 3. M.Ma. ते त्वर्थ 4. K.T.W महार्ण 5. T.W. न 6. M.Ma. तां

**श्रीध० कच्चिदिति**। नौ आवयोः यतो गुरोः विज्ञेयं परमात्मत्वं तमसः संसारस्य ॥ ३१ ॥

तत्राऽऽत्मज्ञनप्रदस्य गुरोरत्यन्तं पूज्यत्वं वक्तुं पुरुषस्य त्रीन् गुणानाह - **स वा** इति। इह संसारे यत्र सम्भवो जन्म मात्रं स पिता। तावदाद्यः प्रथमो गुरुः पूज्यः। कर्मविद्याप्रदं गुरुमाह - द्विजातेस्सतः पुंसः सत्कर्मणां यत्र सम्भवः, उपनीय वेदाध्यापक इत्यर्थः। स द्वितीयो गुरुः यथाऽहमीश्वरः तथा प्रथमादपि पूज्य इत्यर्थः। ब्रह्मविद्याप्रदं गुरुमाह - आश्रमिणां सर्वेषामपि ज्ञानदो यः स तु साक्षादहमेवेति ॥ ३२ ॥

अतो ज्ञानप्रदं गुरुरूपं मामाश्रित्य ये संसारं तरन्ति ते बुद्धिमन्त इत्याह **नन्विति**। हे ब्रह्मन्! ते ननु वर्णाश्रमवतां मध्ये अर्थकोविदाः इह मनुष्यजन्मनि तत्राऽपि वर्णाश्रमवत्त्वे सति ये मया गुरुणागुरुरूपेण वक्त्रा वाचा उपदेशमात्रेण अञ्जः सुखेनैव भवार्णवं तरन्तीति ज्ञानप्रदाद्गुरोरधिकः सेव्यो नास्तीत्युक्तम् ॥ ३३ ॥

अत एव तद्भजनादधिको धर्मश्च नास्तीत्याह **नाऽहमिति**। इज्या गृहस्थधर्मः। प्रजातिः प्रकृष्टं जन्म,उपनयनं ते न ब्रह्मचारिधर्मः उपलक्ष्यते। ताभ्यां तथा तपसा वनस्थधर्मेण उपशमेन यतिधर्मेण वा अहं परमेश्वरः तथा न तुष्येयं यथा सर्वभृतात्माऽपि गुरुशुश्रूषयेति ॥ ३४ ॥

किञ्च अस्माकं गुरुशुश्रूषणं किमपि दैवादेव सम्पन्नम् तत्किं त्वया स्मर्यत इति पृच्छति अपि न इति। गुरौ निवसतां अस्माकं यत्किमपि वृत्तं तत् क्वचित् कदाचित् ॥ ३५ ॥

**प्रविष्टानामिति**। अपर्तौ अपगते ऋतौ, अकाले इत्यर्थः। वातश्च वर्षञ्च तयोः समाहारः। स्तनयित्नवो गर्जितानि चाऽभवन्[1] ॥ ३६ ॥

1. Ml,v ऽभूवन्

**वीर० कच्चिदिति**। हे ब्रह्मन्! नौ आवयोः गुरुकुले वासं स्मरसि कच्चित्? तं विशिनष्टि। यतो गुरुकुलवासाद्विज्ञेयं स्वपराऽऽत्मयाथात्म्यं विज्ञाय तमसः पारमज्ञानस्य पारं मुक्तिमिति यावत्। अश्नुते प्राप्नोति ॥ ३१॥

**किञ्चसवा** इति। सवै गुरुकुलवासः द्विजातेस्त्रैवर्णिकस्य सतां कर्मणां सम्भवोऽनुष्ठानहेतुः, तद्धेतुभूत ज्ञानोत्पादकत्वादित्यभिप्रायः। यद्वा, सत्कर्मणां पुंसां द्वितीयजन्मसम्भवेन गुरुकुलावासरूपो ह्याश्रम इत्यर्थः। यस्मिन्नाश्रामे गुरुरहमिव ज्ञानदस्य इत्यन्वयः। यद्वा ज्ञानप्रदस्य गुरोरत्यन्तपूज्यतां वक्तुं पुरुषस्य त्रीन् गुरूनाहस वा इति। अङ्ग ! हे

ब्रह्मन्! इहसंसारे यतस्सम्भवो जन्ममात्रं स पिता तावदाद्यः प्रभमो गुरुः। द्विजातेस्सतः पुंसः यत्कर्मणां यत्र सम्भवः उपनीय वेदाध्यापकः स द्वितीयो गुरुः। यथाऽहमीश्वरस्तथा प्रथमादपि पूज्य इत्यर्थः। ब्रह्मविद्याप्रदं गुरुमाह - आश्रमिणां सर्वेषामपि ज्ञानदो यो गुरुः स तु साक्षादहमेवेति ॥ ३२ ॥

अतो ज्ञानप्रदं गुरुमाश्रित्य ये संसारं तरन्ति ते बुद्धिमन्त इत्याह **नन्विति**। ननु हे ब्रह्मन्! इह लोके सर्वेषां वर्णानामाश्रमिणाञ्च मध्ये त एवार्थकोविदाः पुरुषार्थकुशलाः के? ये मया गुरुणा गुरुरूपेण वक्त्रा वाचा उपदेशमात्रेण अञ्जस्सुखेन संसाररूपं महार्णवं तरन्ति ॥ ३३ ॥

एवं महोपकर्तुर्गुरोरधिकस्सेव्यो नास्तीत्युक्तम् । अत एव तद्भजनादधिको धर्मश्चनाऽस्तीत्याह - नाऽहमिति। इज्या महायज्ञपञ्चकं, प्रजातिः प्रकृष्टं जन्म, तपोऽनशनादिरूपं, शम इन्द्रियनिग्रहः। यथाऽहं गुरुशुश्रूषया तुष्येयं प्रीतस्स्यां न तथा इज्यादिभिस्तुष्येयम्। आत्मानं विशिनष्टि - सर्वभूतानामन्तरात्मा ॥ ३४ ॥

किञ्च अस्माकं गुरुशुश्रूषणे किमपि दैवादेव सम्पन्नं तत्किं त्वया न स्मर्यत इति पृच्छति अपिन इति। गुरौ तत्सन्निधौ निवसतामस्माकं वृत्तं न स्मर्यते किम्? किं तदित्यत आह गुरुदारैरित्यादिना । इन्धनानयने निमित्ते चोदितानामस्माकम्। क्वचित् कदाचित् ॥ ३५ ॥

अपर्तौ अपगते ऋतौ, अकाल इत्यर्थः। महारण्यं प्रविष्टानां सतां वातो वर्षञ्च तयोस्समाहारः,तदभूत् । तथा निष्ठुरा स्तनयित्नवः स्तनयित्नुशब्दोऽत्र तद्गर्जिते लाक्षणिकः, गर्जितानि चाऽभवन् ॥३६॥

**विज०** तात्पर्यात्पुनरुक्तं करोति **कच्चिदिति**। यतो यस्मिन् गुरुकुलवासे विज्ञेयं विज्ञाय तमसः अज्ञानस्य पारम्, प्रकृतेर्वा। वैकुण्ठमश्नुते ॥ ३१ ॥

इतोऽपि गुरुकुलवासः कर्तव्य इत्याह **स वा** इति। यस्मात् द्विजातेः साक्षात् सत्कर्मणां सम्भवो जन्म स गुरुकुले वासो वा इत्यन्वयः। अत्र हेतुमाह आद्य इति। ज्ञानदो गुरुः आश्रमिणां आद्यः हि यस्मात्तस्मात् यथाऽहम् इति ॥ ३२॥

ज्ञानमपि यन्मुक्तिसाधनं तद्वदेव गुरुरित्याह **तेत्विति**। गुरुणा गुरुस्थेन मयाऽप्युक्तया वाचा अञ्जः शिक्षिता ये पुरुषाः भवार्णवं तरन्ति ते त्विह वर्णाश्रमवतां मध्ये अर्थकोविदाः स्वप्रयोजनसम्पादनपटव इत्यन्वयः॥ ३३ ॥

सर्वेषु साधनेष्वयमेव भगवदनुग्रहान्तरङ्गमित्याह **नेति**। इज्या यजनं प्रजनं प्रजातिः सन्ततिजननं 'नाऽपुत्रस्य लोकोऽस्ति' (ऐत. ब्रा. 7-13-12-a) इति श्रुतिः ॥ ३४ ॥

अनुग्रहविशेषस्मरणार्थम् उभयोरनुभूतविशेषं स्मारयति **अपीति**। गुरौ निवसतां नौ यत्कर्म तत् स्मर्यताम् । अपि स्मर्यते किम् ॥ ३५ ॥

अपर्तौ वर्षाकालमन्तरेण वातयुतवर्षम् ॥ ३६ ॥

1- -1Ma गुर्वन्तर्याम्युक्तया

**सूर्यश्चास्तङ्गतस्तावत्तमसा चाऽऽवृता दिशः।**
**निम्नं कूलं जलमयं न प्रज्ञायत किञ्चन ॥ ३७ ॥**
**वयं भृशं तत्र महानिलाम्बुभिर्निहन्यमाना मुहुरम्बुसम्प्लवे।**
**दिशोऽविदन्तोऽथ परस्परं वने गृहीतहस्ताः परिबभ्रिमाऽऽतुराः ॥ ३८ ॥**
**एतद्विदित्वा उदिते रवौ सान्दीपनिर्गुरुः ।**
**अन्वेषमाणो नश्शिष्यानाचार्योऽपश्यदातुरान् ॥ ३९ ॥**

**आचार्य उवाच**

**अहो मे पुत्रका यूयमस्मदर्थेऽतिदुःखिताः ।**
**आत्मा वै प्राणिनां प्रेष्ठस्तमनादृत्य मत्पराः ॥ ४० ॥**
**इयदेव हि सच्छिष्यैः कर्तव्यं गुरुनिष्कृतम् ।**
**यद्वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मार्पणं गुरौ ॥ ४१ ॥**
**तुष्टोऽहं भो द्विजश्रेष्ठाः सत्यास्सन्तु मनोरथाः ।**
**छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च ॥ ४२ ॥**

1.M,ma संवृता; T,w ऽऽच्छादिता 2. M,Ma जलौघेन 3.T,W ना नि 4- -4 M,Ma नार्यः पश्यन् अरूरुदत् 5- -5 B,G,J,K,M,Ma,T,W omit 6. B,G, J,Ml,V हे 7. B,G,J, एतदेव 8. Ml,V व्या 9. K,T.w निष्क्रियम् ;Ml, V निष्कृतिः 10- -10 K,Ml,T,V,W तुष्टोऽहं वो ;M,Ma सन्तुष्टोऽहं

**श्रीध० सूर्य** इति । निम्नं कूलं नतमुन्नतञ्च स्थानम् ॥३७॥

वयमिति। अम्बूनां सम्प्लवे व्यामिश्रणं यस्मिन्नेकोदके तस्मिन्वने इत्यर्थः। परिबभ्रिम, 'भृञ् भरणे' इति धातो रूपम्। परि परितो बभ्रिम, इडागमश्छान्दसः। भारान् धृतवन्त इत्यर्थः ॥ ३८,३९ ॥

उवाच कृपया श्लोकत्रयीम्, यया वयं कृतार्था इत्याह अहो इति। आत्मा देहः ॥ ४० ॥

इयदिति। गुरोर्निष्कृतं प्रत्युपकारः। सर्वे अर्थाः यस्मात्स आत्मा देहः तस्यार्पणं विनियोगः ॥४१॥

तुष्ट इति। अयातयामानि यातो यामो यस्य, पक्वस्यान्नस्य तद्वतसारं भवति तद्वत् अन्यदपि गतसारम्। गौण्यावृत्त्या यातयाममित्युच्यते,अगतसाराणि छन्दांसि मत्तोऽधीयमानानि भवन्त्वित्यर्थः ॥ ४२ ॥

**वीर०** तावत्तथैव[1] सूर्योऽस्तङ्गतश्च। अत एव दिशस्तमसा व्याप्ताः निम्नं नतं कूलमुन्नतञ्च स्थलं जलमयं, हेतुगर्भम्, अतो न प्रज्ञायत न ज्ञातमभूत् ॥ ३७ ॥

**वयमिति**। अम्बूनां सम्प्लवे प्रवाहे महानिलैरम्बुभिश्च हन्यमानाः पीड्यमानाः दिशोऽविदन्तः अजानन्तः अत एवाऽऽतुराः परस्परं गृहीताः हस्ता यैस्ते वयं वने परिबभ्रिम परितो बभ्रिम। इन्धनभारान् धृतवन्त इत्यर्थः। पर्यचरामेति वा। उपसर्गवशात् भृञः चरत्यर्थत्वम्। इडार्षः ॥ ३८ ॥

**एतदिति**। एतदस्माकं कृच्छ्रं विदित्वा सूर्ये उदिते सति अन्वेषमाणो नोऽस्मान् अपश्यत्, दृष्ट्वाऽब्रवीदित्यर्थः ॥ ३९ ॥

तदेवाऽऽह **अहो** इति त्रिभिः। हे पुत्रकाः! देहिनामात्मा देहः प्रेष्ठः प्रियतमः, तथाऽपि तमात्मानमनादृत्य मत्पराः मत्सेवापराः मत्प्रयोजनाय अतीव दुःखिता इत्यर्थः ॥ ४० ॥

**इयदेवेति**। सच्छिष्यैः गुरोः कर्तव्यं निष्क्रियं प्रत्युपकारः इयदेव एतावदेव। कियत् यद्विशुद्धभावेन निष्कपटभावेन सर्वथा सर्वप्रकारेण आत्मार्पणं देहसमर्पणमित्येतावत् 'शरीरमर्थं प्राणांश्च सद्गुरुभ्यो निवेदयेत्' (विहगेश्वरसंहिता) इत्युक्तेरिति भावः ॥ ४१ ॥

**तुष्ट** इति। हे द्विजश्रेष्ठाः! द्विजशब्दस्य त्रैवर्णिकपरत्वात् एवं सम्बोधनम्। वो युष्मभ्यमहं गुरुः सन्तुष्टः अतो युष्माकं मनोरथाः अपेक्षाः सफलाः सन्तु। किञ्च, छन्दांसि मत्तोऽधीता वेदाः इह परत्र च लोके अयातयामानि अगतसाराणि, सफलानि ऐहिकामुष्मिकापेक्षितफलजननसमर्थानि भवन्तु इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

---

1. K °त्तदैव

**विज०** इदं निम्नमिदं कूलमिति किञ्चन स्थूलजलप्रवाहेण न प्राज्ञायत न ज्ञातमभूत् ॥ ३७ ॥

अम्बुसम्प्लवे जलप्रवाहे दिशोऽविदन्तः अजानन्तः परिबभ्रिम परितो भ्रान्ता बभूविम ॥ ३८ ॥

विदित्वा उदित इत्यनेन दुःखातिशयं दर्शयति - कथमेतदत्राह - अरूरुददिति ॥ ३९ ॥

आत्मा देहः ॥ ४० ॥

गुरुनिष्कृतं गुरुप्रत्युपकारः सर्वोऽर्थो यस्मात्सः तथा सर्वार्थ आत्मा शरीरं तस्यार्पणं यत्तत् ॥ ४१,४२ ॥

**इत्थं विधान्यनेकानि वसतां गुरुवेश्मसु[1] ।**
**गुरोरनुग्रहेणैव पुमान् पूर्णः प्रशान्तये[2] ॥ ४३ ॥**

**कुचेल[3-] उवाच[-3]**

**किमस्माभिरनिर्वृत्तं[4] देव देव जगद्गुरो ।**
**भवता सत्यकामेन येषां वासो गुरावभूत् ॥ ४४ ॥**

**यस्य छन्दोमयं ब्रह्म देह आवपनं विभौ ।**
**श्रेयसां[5] तस्य गुरुषु वासोऽत्यन्तविडम्बनम् ॥ ४५ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे श्रीदामचरितं नाम अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

1. K,T,W नि। 2. Ml,V प्रजायते। 3- -3 B,G,J,K,M,Ma,T,W ब्राह्मण उवाच 4. K,T,W किम्न्व 5. M,Ma योऽयं स

**श्रीध० इत्थमिति**। इत्थंविधानि एवम्प्रकाराणि अनेकानि वृत्तानि किं त्वया स्मर्यन्त इति शेषः। फलतमुपसंहरति **गुरोरिति** ॥ ४३ ॥

**किमिति**। अस्माभिः किमनिर्वृत्तमसम्पन्नं येषामस्माकं भवता सह वासोऽभूत् ॥ ४४ ॥

भवतस्तु सर्वमेतद्विडम्बनमात्रमित्याह **यस्येति**। छन्दोमयं वेदाख्यं ब्रह्म तथा श्रेयसामावपनं तदुद्भवस्थानं देहो मूर्तिर्यस्य तस्य तव ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

॥ऽध्यायः ॥ ८० ॥

**वीर० इत्थमिति**। गुरुवेश्मनि स्वाचार्यगृहेषु वसतामस्माकम् एवंविधान्यनेकानि वृत्तानि किं त्वया न स्मर्यन्त इति शेषः। फलितमाह - गुरोरिति। अनुग्रहेणैव इत्येवकारेण उपायान्तरव्यावृत्तिः। पूर्णः पूर्णमनोरथः स्यादिति [1]लक्षयन् इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

इत्थमुक्तः प्राह कुचेलः **किन्नविति**। हे देवदेव! हे जगद्गुरो! अस्माभिरनिर्वृत्तमसम्पन्नम् अस्माकं दुर्लभं किन्वस्ति न किमपीत्यर्थः। तत्र हेतुं वदन् आत्मनो विशिनष्टि। येषामस्माकं सत्यकामेन भवता सह गुरुकुले वासो बभूव, तैरस्माभिरिति सम्बन्धः। सत्यकामस्य तव गुरुकुलवासः केवलमस्मन् मनोरथपूरणार्थ एवेति भावः ॥ ४४ ॥

अन्यथा न घटत इत्यभिप्रयन्नाह **यस्येति**। छन्दोमयं वेदरूपं ब्रह्म, यस्य देहः विग्रहः [2-]यस्य च देहः[-2] श्रेयसां पुरुषार्थानाम् आवपनं उत्पत्तिभूमिः। तस्य तव गुरुषु गुरुगृहेषु वासोऽत्यन्तविडम्बनमभिनयमात्रं विडम्बनेनाऽस्मान् मनोरथपूरणार्थः अन्यथा सर्वविद्यास्थान तदवबोध्यपुरुषार्थचतुष्टय वर्षुकशीलशरीरस्यतव न घटते इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां ॥ऽध्यायः ॥ ८० ॥

1. K omits लक्षयन् 2- -2 B,K omit

**विज०** उक्तमतिदिशति **इत्थमिति**। इत्थंविधान्यनेकानि व्यसनान्यासन्निति शैषः। तानि व्यसनानि गुरोरनुग्रहेण निस्तीर्य पुमान् प्रशान्तये प्रकृष्टसुखवृत्तये पूर्णः कृतार्थः स्यात् ॥ ४३ ॥

अस्माभिर्गुरुकुलवासे इदं कृतमिति विशे(शि)ष्य किं वक्तव्यं सर्वमप्यनुष्ठितमिति ब्राह्मण आह - किमिति । सत्यकामेन भवता सह येषां नो गुरुकुलवासोऽभूत्, तैरस्माभिः गुरुकुलवासे किमनिर्वृत्तं न कृतं किं सर्वं मया चीर्णमेव ॥ ४४ ॥

किन्त्विदमस्माकं युक्तं, तव तु अत्यन्तविडम्बनमित्याह - यस्येति। छन्दोमयं वेदमुख्यप्रतिपाद्यम् आवपनं जगदुत्पत्तिक्षेत्रं ब्रह्म यस्य तव देहः स्वरूपं तस्य तव योऽयं गुरुषु वासः, सोऽयमत्यन्त विडम्बनम् अनुकार इति ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहियायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे अशीतितमोऽऽध्यायः ॥ ८०॥

(विजयध्वजरीत्या अष्टनवतितमोऽध्यायः)

# एकाशीतितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या एकोनशततमोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

स इत्थं द्विजमुख्येन[1] सह सङ्कथयन् हरिः ।
सर्वभूतमनोऽभिज्ञः स्मयमान उवाच तम् ॥ १ ॥

*ब्रह्मण्यो ब्राह्मणं कृष्णो भगवान्प्रहसन्[2] प्रियम् ।
प्रेम्णा निरीक्षणेनैव प्रेक्षन् खलु सतां गतिः[3] ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

किमुपायनमानीतं ब्रह्मन्मे भवता गृहात् ।
अण्वप्युपाहृतं[4-4] भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत् ।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥ ३ ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ ४ ॥

इत्युक्तोपि द्विजस्तस्मै व्रीडितः पतये श्रियः ।
पृथुकप्रसृतिं राजन्न प्रायच्छ दवाङ्मुखः ॥ ५ ॥

सर्वभूतात्मदृक्साक्षा त्तस्याऽऽगमन कारणम् ।
विज्ञायाऽचिन्तयन्नाऽयं श्रीकामो माऽभजत्पुरा ॥ ६ ॥

1. M.Ma वर्येण *This verse is not found in K.T.W. editions 2. M.Ma न्निव। 3. M.Ma पतिः 4- -4 M.Ma अल्पमप्याहृतं ;Ml,V. अण्वप्युपहृतं

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

एकाशीति तमे सख्यु र्जग्ध्वा पृथुकतण्डुलान्। श्रियं निर्मितवानिन्द्र दुर्लभान्तु तदाश्रमे ॥

**स** इति। सङ्कथयन् सुखगोष्ठीः कुर्वन् सर्वभूतानां मनसोऽभिज्ञः मदर्थं पृथुका नानीय दातुं लज्जित इति जानन्नित्यर्थः ॥ १ ॥

**ब्रह्मण्य** इति। प्रहसन् क्ष्वेलीं कुर्वन् ॥ २ ॥

लज्जया त्व कथयत स्ता मपनुदन्नाऽऽह अण्वपीति द्वाभ्याम् ॥ ३-५ ॥

**सर्वेति**। सर्वभूताना मात्मदृक् अन्तःकरणसाक्षी ॥ ६ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ततः किं जातं तदाह **स** इति। स हरिरित्थं द्विजमुखेन कुचेलेन सह सङ्कथयन् सुखगोष्ठीं कुर्वन् सर्वभूतानां मनसोऽभिज्ञः मदर्थं पृथुकानानीय दातुं लज्जित इति जानन्नित्यर्थः। तं विप्र मुवाच ॥ १,२ ॥

तदेवाऽऽह **किमिति** सार्ध द्वयेन। हे ब्रह्मन्! भवता गृहात् मे मह्यं उपायनं किमानीतम्? लज्जया तूष्णीं स्थितस्य तमपनुदन्नाह - अण्विति द्वाभ्याम्। यद्भक्तैः प्रेम्णोपहृतं समर्पितं तदणु अत्यल्पमपि मे भूर्येव भवेत्, यद्भूर्यपि अभक्तेनोपहृतं तन्मम सन्तोषाय न कल्पते इत्यर्थः ॥ ३ ॥

अतः पत्रादीना मन्यतमं यः पुमान्मह्यं प्रयच्छति ददाति समर्पयतीति यावत् । प्रयतः नियतः विशुद्ध आत्मा मनो यस्य तस्य सम्बन्धि भक्त्या समर्पित मह मश्नामि ॥ ४ ॥

**इतीति**। व्रीडाऽस्य सञ्जाता इति तथा अत एवाऽवाङ्मुखः हे राजन्! तस्मै श्रियःपतये भगवते पृथुकप्रसृतिं न प्रायच्छत् न ददौ ॥ ५ ॥

सर्वभूताना मात्मानम् अन्तःकरणं पश्यतीति तथा। अत एव [1]साक्षी साक्षाद्द्रष्टा भगवान् सर्वभूतमनोऽभिप्रायसाक्षात्कर्ता वा तस्य द्विजस्य आगमन कारणं विज्ञाय कार्य मात्मना कर्तव्यमचिन्तयत्। किमिति विज्ञाय? इत्यत्राह श्रीकाम इत्यादिना मामित्यन्तेन। श्रीकामो नाऽभजत् मां इति शेषः। किन्तु मोक्षार्थकाम इत्यर्थः॥ ६ ॥

1.B.omits साक्षी

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

सङ्कथयन् संलापं कुर्वन् ॥ १,२ ॥

दरिद्रत्वेन भूरिद्रव्याभावात् भवतो महतोऽल्पं मन स्तुष्टिकरं न स्यदिति नाऽऽनीतमिति शङ्का माभूदित्याह - अल्पमिति। आहृतमानीत द्रव्यभूरित्वाभूरित्वे अप्रयोजके, किन्तु भक्तिरेवेत्यनेनादर्शि ॥ ३-५ ॥

सर्वभूतानामात्मदृक् स्वभावज्ञः, 'आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि' (वैज को.6-1-6) इति यादवः ॥ ६ ॥

**पत्याः पतिव्रतायास्तु[1] सखा प्रियचिकीर्षया ।**
**प्राप्तो मामस्य दास्यामि सम्पदोऽमर्त्यदुर्लभाः ॥ ७ ॥**

**इत्थं विचिन्त्य वसना क्षीरबद्धान् द्विजन्मनः ।**
**स्वयं जहार किमिद मिति पृथुकतण्डुलान् ॥ ८ ॥**

**★ नन्वेतदुपनीतं मे परम प्रीणनं सखे ।**
**तर्पयत्यङ्ग मां विश्व मेते पृथुक तण्डुलाः ॥ ९ ॥**

**इति[2] मुष्टिं सकृज्जग्ध्वा द्वितीयां[3] जग्धु माददे ।**
**तावच्छ्रीर्जगृहे हस्तं सत्वरा परमेष्ठिनः ॥ १० ॥**

**एतावताऽलं विश्वात्मन् ! सर्वसम्पत्समृद्धये ।**
**अस्मिन् लोकेऽथवाऽमुष्मिन् पुंसस्त्वत्तोषकारणम् ॥ ११ ॥**

**ब्राह्मण स्तान्तु रजनी मुषित्वाऽच्युतमन्दिरे ।**
**भुक्त्वा पीत्वा सुखं[4] मेने ह्यात्मानं स्वर्गतं यथा[4] ॥ १२ ॥**

1. Ml,V. मे ★ This verse is not found in M,Ma editions. 2. M,Ma एक 3. K,T,W, यं मुष्टि 4- -4 M,Ma सुखं सुत्वा मेन आत्मानमिन्द्रवत्

**श्रीध० पत्या** इति।अमर्त्यानां देवानामपि दुर्लभाः ॥ ७ ॥

**इत्थमिति**। अतिजीर्णत्वा द्वसनस्य पुनस्तन्मध्ये चीरेण बद्धान् ॥ ८ ॥

**नन्विति**। अङ्ग ! हे सखे ! मां विश्वं, विश्वात्मानं माम् ॥ ९ ॥

**इतीति**। इति वदन्नेकां मुष्टिं जग्ध्वा, तत्परेति। अयं भावः - एतावता पुंस इहाऽमुत्र च मत्कटाक्षविलासभूतानां सर्वसम्पदां समृद्धयेऽलम्, अतः परं द्वितीयमुष्ट्यदनेन मा मा मेतदधीनां कुर्विति ॥ १० ॥

**एतावतेति**। त्वत्तोषकारणं तव तोषस्य कारणं यथा भवेत्तथा सर्वसम्पत्समृद्धये, यां भक्तस्य समृद्धिं दृष्ट्वा त्वं तुष्ये रित्यर्थः ॥ ११ ॥

**ब्राह्मण** इति। स्वर्गतम् स्वर्गवासिनम् ॥ १२ ॥

**वीर०** अधुना तु पतिव्रतायाः पत्न्याः प्रियं कर्तुमिच्छया मां प्राप्त इति कार्यचिन्ताप्रकार मेवाह अस्येत्यादिना। अमर्त्यानां देवानामपि दुर्लभा स्सम्पदः भोग्यभोगोपकरण भोगस्थानादि समृद्धीरस्य द्विजस्य दास्यामि ॥ ७ ॥

**इत्थमिति**। अतिजीर्णत्वा द्वस्त्रस्य पुनः तन्मध्ये चीरेण बद्धान्पृथुकतण्डुलान् किमिदमिति पृच्छन् स्वयमेव जहार आददे, आदाय उवाचेत्यर्थः ॥ ८ ॥

उक्तिमेवाह - **नन्विति**। ननु हे सखे! मह्यमेतत्पृथुक तण्डुलरूपमुपायनमानीतमेतदेव मम परमप्रीणनं नितरां प्रीतिकृत्। अङ्ग! हे सखे! एते पृथुकतण्डुलाः विश्वं[1] विश्वशरीरकं मां तर्पयन्ति तृप्तं कुर्वन्ति ॥ ९ ॥

इतीत्यनन्तरमुक्त्वेति शेषः। एकं मुष्टिं जग्ध्वा द्वितीयं मुष्टिं जग्धु मत्तु मुपाददे, तावददनात्पूर्वमेव श्रीः रुक्मिणी सत्वरा त्वरयायुक्ता परमेष्ठिनःश्रीकृष्णस्य हस्तं जगृहे गृहीत्वा वारयन्ती प्राहेत्यर्थः ॥ १० ॥

तदेवाऽऽह - **एतावतेति**। हे विश्वात्मन्! विश्वात्मना त्वया एकमुष्ट्यदनेनैव कृत्स्नं विश्वं तर्पितमिति सम्बोधनाभिप्रायः। एतावता एकमुष्ट्यदनमात्रेणैव पुंसः अस्मिन्नमुष्मिन्वा लोके सर्वसम्पदां समृद्धय अलं पर्याप्तम् इतःपरं द्वितीयमुष्ट्यदनेन किं मामपि द्विजाधीनां कर्तु मुद्युङ्क्ते इति भावः। तव तोषस्य कारणं यथा भवे त्तथा सर्वसम्पत्समृद्धये इति सम्बन्धः ॥ ११ ॥

**ब्रह्मण** इति। अच्युतस्य मन्दिरे भुक्त्वा पीत्वा तां रात्रिं सुखं यथा तथोषित्वा चाऽऽत्मानं स्वर्गतं स्वर्गवासिनमिव अमन्यतेत्यर्थः ॥ १२ ॥

1. B.W. Omit विश्वं

**विज०** चीरं पटच्चरं जीर्णवस्त्रमित्यर्थः। इदं चीरबद्धं किमित्युक्त्वा द्विजन्मनःपृथुकतण्डुलान् स्वयमाजहार ॥ ८-१२

श्वो भूते विश्वभावेन स्वसुखेनाभिवन्दितः ।
जगाम स्वालयं तात! पथ्यनुव्रज्य नन्दितः ॥ १३ ॥

स चाऽलब्ध्वा धनं सख्यु र्न तु याचितवान्स्वयम् ।
स्वगृहान्व्रीडितोऽगच्छ न्महद्दर्शन निर्वृतः ॥ १४ ॥

अहो ब्रह्मण्यदेवस्य दृष्टा ब्रह्मण्यता मया ।
यद्दरिद्रतमो लक्ष्मी माश्लिष्टो बिभ्रतोरसि ॥ १५ ॥

क्वाहं दरिद्रः पापीयान् क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः ।
ब्रह्मबन्धुरिति स्माऽहं बाहुभ्यां परिरम्भितः ॥ १६ ॥

निवेशितः[1] प्रियाजुष्टे पर्यङ्के भ्रातरो यथा ।
महिष्या वीजितः श्रान्तो वालव्यजनहस्तया ॥ १७ ॥

शुश्रूषया परमया पादसंवाहनादिभिः ।
पूजितो देवदेवेन विप्रदेवेन देववत् ॥ १८ ॥

1. B.G.J.M.Ma. Ml.V निवासितः

**श्रीध० श्वोभूत** इति। श्वो भूते उदिते रवौ विश्वं भावयतीति विश्वभावः तेनेति पुरतो भाविन मिन्द्र दुर्लभं सूचयति स्वसुखेन स्वानन्दपूर्णेनेति दानेऽदीनतां दर्शयति - नन्दितो विनयोक्तिभिः ॥ १३ ॥

**स** इति। व्रीडितः स्वचित्तकार्पण्येन लज्जितः महतः श्रीकृष्णस्य दर्शनेन निर्वृतः सुखं प्राप्तः॥ १४॥

निर्वृतिमेवाऽऽह - **अहो** इति चतुर्भिः। यद्यतः लक्ष्मीमुरसि बिभ्रता आश्लिष्टोऽहम् ॥ १५ ॥

**क्वेति**। पापीयान्नीचः ॥ १६,१७ ॥

**शुश्रूषयेति**। पूजितश्चन्दन लेपनादिभिः॥ १८ ॥

**वीर०** ततः श्वो भूते उदिते रवौ विश्वं भावयति अभ्युदययुक्तं करोतीति तथा। तेन स्वसुखेन श्रीकृष्णेनाऽभिनन्दितः अभिनन्दनपूर्वकमनुज्ञात इत्यर्थः। तथा हे तात! तेन पथि अनुव्रज्य अनुगम्य वन्दितश्च स्वालयं स्वगृहं प्रति जगाम ॥ १३ ॥

**स चेति** । स ब्राह्मणः सख्युस्सकाशाद्धन मलब्ध्वा स्वयं व्रीडितः कार्पण्येन लज्जितः न याचितवान् । भगवानयाचितो न ददौ। स्वयन्तु न याचित्वाऽपि लब्धानित्यर्थः। किन्तु महतो भगवतो दर्शनेनैव निर्वृतः सुखितः स्वगृहान्प्रति जगाम ॥ १४ ॥

निर्वृति मेवाऽऽह - **अहो** इति चतुर्भिः। ब्रह्मण्यदेवस्य ब्राह्मणश्रेष्ठस्य ब्रह्मण्यता ब्रह्मकुले साधुता दृष्टा। काऽसौ उरसि वक्षसि लक्ष्मीं बिभ्रता भगवता अहं दरिद्रोऽप्याश्लिष्ट आलिङ्गितः इति यदेषा ॥ १५ ॥

अय मलभ्यलाभ इत्याह - **क्वाऽहं** मिति। पापीयान्नीचः, अथाऽपि ब्रह्मबन्धुरयमित्यभिप्रेत्य बाहुभ्या मालिङ्गितः ॥१६॥

किञ्च श्रिया लक्ष्म्यवताररूपया रुक्मिण्या जुष्टे सेविते पर्यङ्के अहं निवेशितः[1] उपवेशितः[2] यथा भ्रातर स्तद्वत्। किञ्चाऽध्वनिश्रान्तोऽहं वालव्यजनं हस्ते यस्या स्तस्या महिष्या भार्यया वीजितश्च ॥ १७ ॥

किञ्च, **शुश्रूषयेति**। पादसंवाहनं पादपीडनम् आदि येषां आदि शब्देन चन्दनलेपनादि सङ्ग्रहः देवानां ब्रह्मादीनां देवेन। तथाऽपि सौशील्यातिशयेन विप्राणां देवेन कर्त्रा देववदहं पूजितः ॥ १८ ॥

1. B.T.W. निवासितः 2. B.Omits उपवेशितः

**विज०** अनुव्रज्य अनुगम्य नन्दितः, कृष्णेनेति शेषः ॥ १३ ॥

महतः कृष्णस्य दर्शनेन निर्वृतः ॥ १४,१५ ॥

अहं ब्राह्मणानां विप्राणां बन्धुरिति स्मृत्वा ॥ १६ ॥

भ्रातरो यथा, भ्रातरमिति शेषः ॥ १७,१८ ॥

**स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि[1] सम्पदाम्।**
**सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम् ॥ १९ ॥**

**अधनोऽयं[2] धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चै र्न मां स्मरेत् ।**
**इति कारुणिको नूनं धनं मे भूरि नाऽददात् ॥ २० ॥**

**इति तच्चिन्तयन्नन्तः[3] प्राप्तो निजगृहान्तिकम् ।**
**सूर्यानलेन्दुसङ्काशै र्विमानै स्सर्वतो वृतम् ॥ २१ ॥**

**विचित्रोपवनाद्यानैः कूजद्द्विजकुलाकुलैः ।**
**प्रोत्फुल्ल कुमुदाम्भोज कह्लरोत्पलवारिभिः ॥ २२ ॥**

**जुष्टं स्वलङ्कृतैः पुम्भिः स्त्रीभिश्च हरिणाक्षिभिः ।**
**किमिदं कस्य वा स्थानं कथं तदिदमित्यभूत् ॥ २३ ॥**

**एवं मिमांसमानं तं नरा नार्योऽमरप्रभाः ।**
**प्रत्यगृह्णन् महाभागं गीतवाद्येन भूयसा ॥ २४ ॥**

1. M.Ma दिवि 2. M.Ma नो यद्ध 3- -3 K.T.W. तञ्चिन्तयाहृष्टः ; M.Ma तञ्चित्तगत्यान्तः ; MI,V. सञ्चिन्त्य ॅयन्विप्रः

**श्रीध०** एवं सम्पूज्याऽपि धनस्यादाने कारणं कल्पयति - **स्वर्गापवर्गयोरिति** द्वाभ्याम् । स्वर्गादीनां यद्यपि तस्य चरणार्चनमेव कारणं, तथाऽपि कारुणिकत्वादभूर्यपि स्वल्पमपि धनं मह्यं नाऽददात् ॥ १९,२० ॥

**इतीति**। इत्येवं चिन्तयन् निजगृहस्यान्तिकं तत्प्रान्तम्। तस्य विशेषणं सूर्येति ॥ २१ ॥

**विचित्रेति**। विचित्रोपवनादिभि र्वृतम्। कथम्भूतैः? कूजद्भिः द्विजकुलैः पक्षिसमूहैः आकुलैः व्याप्तैः। तथा प्रोत्फुल्लानि कुमुदादीनि येषु तानि वारीणि येषु तानि तथा तैः ॥ २२ ॥

किञ्च, **जुष्टमिति**। हरिणीनामिवाक्षीणि यासां ताभिः तदैश्वर्यं दृष्ट्वा वितर्कितवां स्तदाह - किमिदमिति। प्रथमं तेजःपुञ्जं दृष्ट्वा किमिदमिति पश्चाद्विमानानि दृष्ट्वा कस्य वेति स्थानं स्वीयमिति ज्ञात्वा कथं तदिदं स्थान मित्येवं रूप मभूदिति ॥ २३ ॥

**एवमिति**। अमरप्रभा स्तत्तुल्यकान्तयः प्रत्यगृह्णन्नुपायनादिभि राद्दतवन्तः ॥ २४ ॥

**वीर०** इत्थं सम्पूज्याऽपि धनस्य अदाने कारणं कल्पयति - **स्वर्गापवर्गयोरिति** द्वाभ्याम्। यद्यपि रसायां पाताले भुवि च सम्पदां सर्वासां सिद्धीनां अणिमादीनाञ्च स्वर्गापवर्गयोः स्वर्गमोक्षयोश्च कारणं तस्य भगवत श्चरणार्चनमेव ॥ १९ ॥

तथाऽप्ययं भगवान् कारुणिकः, हेतुगर्भमिदम्। अतो निर्धनो मादृशो धनं लब्ध्वा नितरां माद्यन् गर्वितो मां न स्मरेत् इत्यभिप्रेत्य मे मह्यं भूरि बहुधनं नाऽददात् न ददौ ॥ २० ॥

**इतीति**। तच्चिन्तया भगवद्गुणानुचिन्तयैव हृष्टः स्वगृहसमीपं प्राप्तः। तस्य विशेषणं सूर्येति। सूर्यादिव दीप्यमानै रित्यर्थः। सर्वतः परितः वृतम् ॥२१॥

किञ्च, **विचित्रेति**। कूजतां द्विजानां पक्षिणां कुलानि तै राकुलैर्व्याप्तैः विचित्रै रुपवनै रुद्यानैश्चावृतं, तथा प्रोत्फुल्लानि कुमुदादीनि येषु तानि वारीणि येषु तैः, सरोभिरिति विशेष्य मध्याहार्यम्। जुष्टं युक्तमित्यर्थः ॥२२॥

पुम्भिः हरिणानामिव अक्षीणि यासां ताभिः स्त्रीभिश्च जुष्ट तपाचय दृष्ट्वा वितर्कितवानित्याह - **किमिति**। प्रथमं तेजः पुञ्जं दृष्ट्वा किमिदमिति, पश्चात् विमानानि दृष्ट्वा कस्य वेदं स्थानमिति, स्वीयमिति ज्ञात्वा कथं तदिदं स्थानम् इत्येवं रूपमभूत् ॥२३॥

इतीत्थं मीमांसमानं वितर्कयन्तं द्विजं नरा नायश्च हे महाभाग! भूयसोच्चैर्गीतवाद्येन प्रत्यगृह्णन् उपायनादिभि राहृतवन्त इति सम्बन्धः। अमरप्रभाः देवतुल्यकान्तयः इति नरनारीविशेषणम् ॥२४॥

I- -I T.W. Omit

**विज०** दिवि आकाशे॥ १९ ॥

माद्यन् मदं गच्छन् ॥ २० ॥

अन्तर्हृदय इति तस्मिन् कृष्णे स्थितचित्तगत्या स्वगृहान्तिकं प्राप्तः॥ २१,२२॥

स्वमन्दिरं दृष्ट्वा इदं किं, कस्यचेदं स्थानम्, इदं तदिति तत् द्वारकाविधं कथमभूत्॥ २३ ॥

एवं मीमांसमानं जिज्ञासमानं तं नरादयः प्रत्यगृह्णन् अभ्याययु रित्यन्वयः ॥ २४ ॥

**पतिमागत माकर्ण्य पत्युद्धर्षाऽति सम्भ्रमा।**
**निश्चक्राम गृहात्तूर्णं रूपिणी श्रीरिवा लयात् ॥ २५ ॥**

**पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा प्रेमोत्कण्ठाश्रुलोचना ।**
**मीलिताक्ष्यनमद्बुद्ध्या मनसा परिषस्वजे ॥ २६ ॥**

**पत्नीं वीक्ष्य प्रस्फुरन्तीं देवीं वैमानिकीमिव ।**
**दासीनां निष्ककण्ठीनां मध्ये भान्तीं सुविस्मितः ॥ २७ ॥**

5
**प्रीतः स्वयं तथा युक्तः प्रविष्टो निजमन्दिरम्।**
**मणिस्तम्भशतोपेतं महेन्द्रभवनं यथा ॥ २८ ॥**

**पयः फेननिभाश्शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः ।**
**पर्यङ्का हेमदण्डानि चामरव्यजनानि च ॥ २९ ॥**

**आसनानि च हैमानि मृदूपस्तरणानि च ।**
**मुक्तादामविलम्बीनि वितानानि द्युमन्ति च ॥ ३० ॥**

1. K.T.W प्रीत्युद्धर्ष ; Ml.V. भक्त्युद्धर्ष 2. K.T.W प्रेम्नो 3. B.G.J विस्फुरन्तीं ; M.Ma प्रस्फुरन्तीं 4. B.G.J.K.Ml.V. स वि॰5.M.Ma प्रीतां

**श्रीध० पतिमिति**। उद्भूतो हर्षो यस्या स्सा अतिसम्भ्रमः आदरो यस्या स्सा आलयात् कमलवनात् रूपधारिणी श्रीरिव[1] स्वर्गस्य तत्र भगवता आनीतत्वात् स्वर्गिणामिव तयो रूपञ्च बभूवेति भावः ॥२५॥

बुद्ध्या अयमेव वन्द्य इति निश्चयेन मनसा सङ्कल्पेन ॥ २६-२८ ॥

**पय** इति। यत्र मन्दिरे पयःफेननिभाः शय्याः आस्तरणानीत्यादि सम्पदः तत्र सर्वसम्पदां समृद्धीः विलोक्य तर्कयामासेति चतुर्थेनाऽन्वयः यत्र च दान्ताः गजदन्तमयाः पर्यङ्काः॥ २९ ॥

**असनानीति**। यत्राऽऽसनानि च मृदून्युपस्तरणानि तूलादिमयानि येषु तानि यत्र च मुक्तादामविलम्बवन्ति द्युमन्ति च वितानानि ॥ ३० ॥

1. B. श्रीरेव

**वीर० पतिमिति**। आलयात् कमलवनात्, श्रीर्लक्ष्मीरिव स्वगृहात् तूर्णं निश्चक्राम निश्चक्रवती ॥ २५ ॥

**पतिव्रतेति**। उत्कण्ठया प्रेमपूर्वकानुध्यानेन, अश्रूणि आनन्दजलबिन्दवो लोचनयो र्यस्या स्सा, प्रेम्णा पतिं दृष्ट्वा मीलिते अक्षिणी यया सा बुद्ध्या आनम न्नमश्चक्रे, मनसा परिषस्वजे आलिङ्गितवती च ॥ २६ ॥

**पत्नीमिति**। स ब्राह्मणः वैमानिकीं विमानारूढां दैवीं देवतास्त्रियमिव प्रस्फुरन्तीं तां, निष्कः पदकाख्यभूषणं कण्ठे यासां तासां दासीनां मध्ये भान्तीं दीप्यमानां पत्निं वीक्ष्य विस्मितो बभूव ॥ २७ ॥

**प्रीत** इति। तया पत्न्या युक्तः सहितः निजमन्दिरं विशिनष्टि मणिस्तम्भेत्यादिना । यथा महेन्द्रभवनं तद्वत् स्थितम् ॥ २८ ॥

**पय** इति। पयःफेनेत्यादेः मन्दिरः इत्यादिः। पयः फेननिभाः दुग्धफेनवन्मृदुलाः शुभ्राश्च दान्ता धौताः परिच्छदाः रुक्ममयाः परिकराः यासां ताः। शय्या इति द्वितीयान्तानां विलोक्येत्युपरिष्टात् सम्बन्धः। प्रथमान्तपाठे तु यत्र मन्दिरे पयः फेननिभाः शय्यादयः तत्र सर्वसम्पदां समृद्धिमवलोक्य तर्कयामासेति सम्बन्धः। अस्मिन्पक्षे दान्ताः दन्तमयाः रुक्म परिच्छदा इति च पर्यङ्कविशेषणम्। हेममयो दण्डो येषां तानि चामरव्यजनानि च ॥ २९ ॥

**आसनानीति**। मृदून्युपस्तरणानि तूलादिमयानि येषु तानि आसनानि मुक्तादाम्नां मुक्तासराणां विलम्बा येषु सन्तीति तथाभूतानि तानि वितानानि उल्लोचाः द्युमन्ति कान्तियुक्तानि च ॥ ३० ॥

**विज०** स निजमन्दिरं प्रविष्टोऽभूत् ॥ २५-२९ ॥

द्युमन्ति द्युतिमन्ति ॥ ३० ॥

**स्वच्छस्फटिककुड्येषु महामरकतेषु च ।**
**रत्नदीपान्भ्राजमानान्[2] ललनारत्नसंयुतान् ॥ ३१ ॥**

**विलोक्य ब्राह्मणस्तत्र समृद्धीस्सर्वसम्पदाम्[4] ।**
**तर्कयामास निर्व्यग्रः स्वसमृद्धिमहैतुकीम् ॥ ३२ ॥**

**नूनं बतैतन्मम दुर्भगस्य[5] शश्वद्दरिद्रस्य समृद्धिहेतुः ।**
**महाविभूतेरवलोकतोऽन्यो[6] नैवोपपद्येत यदूत्तमस्य ॥ ३३ ॥**

**नन्वब्रुवाणो दिशते समक्षं याचिष्णवे भूर्यपि भूरिभोगः[8] ।**
**पर्जन्यवत्स्वयमीक्षमाणो[9] दाशार्हकाणामृषभःसखा मे ॥ ३४ ॥**

**किञ्चित्करोत्युर्वपि यत्स्वदत्तं सुहृत्कृतं फल्ग्वपि भूरिकारी ।**
**मयोपनीतां[10] पृथुकैकमुष्टिं प्रत्यग्रहीत्प्रीतियुतो महात्मा ॥ ३५ ॥**

**तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्री दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात्**
**महानुभावेन गुणालयेन विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्गः ॥ ३६ ॥**

1. G.Ml.V. पा 2. G.Ml.V. ना 3. G.Ml.V. ता 4. M.Ma. °द्धि 5. K.T.W. चतेदं मम 6. M.Ma. ऽन्यन्ने 7. M.Ma. यो वि 8. B.G.I. भोजः 9. M.Ma. तेजाः 9. K.T.W. स कामे 10. K.T.W. नीतं

**श्रीध० विलोक्येति**। स ब्राह्मणो निर्व्यग्रस्सन् स्थिरस्सन् अहैतुकीमाकस्मिकीं स्वस्य समृद्धिं तर्कयामास। कुत एषा समृद्धिरागतेति ॥ ३१,३२ ॥

निश्चिनोति **नूनमिति**। एतन्ममेति एष चाऽसावहञ्च तस्यै तन्मम महतीविभूतिर्यस्य तस्यावलोकादन्यस्तु न सम्भवेत् ॥ ३३ ॥

ननु स चेदवलोकनमात्रेण महदैश्वर्यं दत्तवान् , तर्हीदं तुभ्यं मया दत्तमिति किं नाऽवोचत्, अत आह नन्विति। ननु मे सखा समक्षमब्रुवाण एव याचिष्णवे याचकाय भूरि बह्वपि दिशति ददाति। अत्र हेतुः भूरिभोगः[1] स्वयं तद्देयं पर्जन्यव दीक्षमाण इति, अयमर्थः - स्वयं तावद्भूरिभोजो बहुभोज आप्तकामत्वात् लक्ष्मीपतित्वाच्च अतो यथा पारावारपरिपूरकोऽतिवदान्यः पर्जन्यः कदाचिद्बह्वपि वर्षमल्पमेव च मन्यमानो लज्जयैव समक्षमवर्षन् रात्रौ निद्राणे कर्षके तत्क्षेत्रमाप्लावयति, एवं श्रीकृष्णोऽपि स्वभोगापेक्षया तद्देयमिन्द्रादिपदमप्यतितुच्छं मन्वानः तस्यैव भजनं बहुमन्यमानः समक्षं अब्रुवाणः एव ददातीति ॥ ३४ ॥

तदेवाऽऽह - **किञ्चिदिति**। उरु बह्वपि स्वदत्तं यत् तत् किञ्चित्करोति अल्पं मन्यते । सुहृत्कृतं फल्गु अतितुच्छमपि भूरिकारी बहु मन्यत इत्यर्थः। अत एव मयोपनीतां समीपं नीतां प्रीतियुतः स्वयमेव प्रतिगृहीतवान् ॥ ३५ ॥

श्रीकृष्णस्य भक्तवात्सल्यं दृष्ट्वा तद्भक्तिं प्रार्थयते - **तस्येति**। सौहृदं प्रेम सख्यं हिताशंसवश्च मैत्री उपकारित्वञ्च दास्यं सेवकत्वम्, तत्समाहारैकवचनम्। तस्य तत्सम्बन्धिनो मे मम स्यात् न तु विभूतिः। किञ्च महानुभावेन तेनैव विषज्जतो विशेषेण सङ्गं प्राप्नुवतः तद्भक्तेषु प्रकृष्टः सङ्गः स्यादिति ॥ ३६ ॥

1. B.J.V. जः

**वीर०** महान्तो मरकता इन्द्रनीलमणयः येषु तेषु स्वच्छेषु स्फटिकमयकुड्येषु रत्नान्येव दीपाः स्त्रीरत्नैस्संवृताः भ्राजमानाः। औज्ज्वल्यातिशयाद्रत्नानां दीपत्वरूपणम् ॥ ३१ ॥

**विलोक्येति।** निर्मग्नः निश्चलः अहैतुकीं स्वस्य समृद्धिं तर्कयामास। कुतः? एषा समृद्धिरागतेति तावच्चिन्तितवानित्यर्थः ॥ ३२ ॥

निश्चिनोति **नूनमिति**। दुर्भगस्य अस्मिञ्जन्मनि निर्भगस्य शश्वत्सदा जन्मान्तरेषु अपीत्यर्थः। दरिद्रस्य मम समृद्धिहेतुः सम्पद्धेतुः महाविभूतेः विभूतिद्वयनाशकस्य यदूत्तमस्य भगवतो अवलोकनादन्यो नैवोपपद्येत न सम्भाव्येत। नूनं ध्रुवं अहो बत एतदाश्चर्यं इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

एवं तर्हि समक्षमेव मह्यं दास्यामीति ब्रुवन् किं न ददौ इत्याशङ्क्याऽऽह - **नन्विति**। भूरिभोगो बहुभोगो भगवान्। हेतुगर्भमिदम्। अतः याचिष्णवे याचकाय भूर्यपि बहुभाग्यमपि अब्रुवाणः 'दास्यामि प्रतिगृह्णीष्व' इत्येवमवदन् असमक्षमेव दिशते यच्छति। विरिञ्चिभोगपर्यन्तमपि याचकाय दीयमानं स्वभोगापेक्षया अतितुच्छमेवेत्यभिप्रेत्य लज्जया तत्समक्षं न यच्छति, किन्तु असमक्षमेवेत्यर्थः। एतदेव दृष्टान्तमुखेन वदन् कृतज्ञतामप्याह - पर्जन्यवदिति। यथा पर्जन्यः कदाचित् बह्वपि वर्षमल्पमेव मन्यमानः शयाने सति जनेरात्रावगर्जन् असमक्षमेव वर्षति तद्वदयं दाशार्हकाणामृषभो यदुपतिः तत्सेवकसमर्पितमत्यल्पमपि समीक्षमाणे बहुमन्यमानः सकामे कामनया युक्ते पुंसि अभिलषितानर्थानसमक्षं वर्षतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

तत्स्वयमीक्षमाण इत्येतदेव स्वदृष्टान्तेन द्रढयति - **किञ्चिदिति**। यत्स्वदत्तमात्मना दत्तमैश्वर्यमुरु भूर्यपि तत्किञ्चित्करोति, अत्यल्पं मन्यते इत्यर्थः। यत्सुहृदा भक्तेन कृतं समर्पितं फल्गु अत्यल्पमपि तद्भूरि बहु करोतीति तथा। तथाहि- मयोपनीतं समीप आनीतं पृथुकानां एकं मुष्टिं स्वयं महात्मा उभयविभूत्यधिपतिरपि प्रीति.युक्तः प्रत्यग्रहीत्। महात्मेत्यस्य सर्वभूताभिप्रायज्ञ इति वाऽर्थः ॥ ३५ ॥

अतः कृतज्ञतामस्य भगवतः सख्यादिकमेव मम प्रतिजन्मनि स्यादिति प्रार्थयते - **तस्यैवेति**। भगवत एव सौहृदं हितैषित्वं प्रेम वा सख्यं प्रियत्वं हिताशंसनं वा मित्रत्रायकत्वं वा मैत्री उपकारस्मरणेन[2] किञ्चित्करत्वं दास्यं भृत्यत्वं तेषां द्वन्द्वैकवद्भावः। तन्मम जन्मनि जन्मनि। वीप्सायां द्विर्भावः स्यादस्तु, न तु विभूतिरिति भावः। किञ्च गुणालयेन अनन्तकल्याणगुणाश्रयेण महानुभावेन भगवता विषञ्जतः विशेषेण सङ्गतिं प्राप्तवतो मम तत्पुरुषाणां तद्भक्तानां प्रसङ्गः प्रकृष्टसङ्गः स्यात् ॥ ३६ ॥

1. B. स्पष्टं 2. B. करणेन

**विज०** निर्व्यग्रः निस्सम्भ्रमः ॥ ३१, ३२ ॥

ममैतदेव समृद्धिहेतुः महाविभूतेः यदृत्तमस्य अवलोकतोऽन्यान्निमित्तं नैवोपपद्येत । स एव हेतुरित्यन्वयः ॥ ३३ ॥

यः स्वयमब्रुवाणः तूष्णीकः पर्जन्यवत् नः अक्षयं शं दिशते ददाति यो यस्मै विष्णवे अभूर्यपि धनं ददाति भूरितेजाः अनल्पप्रभावो भवति। स एतादृशमहिमा दाशार्हकाणामृषभः श्रीकृष्णः मे सखा नन्वनुमतं, लोकेनेति शेषः ॥ ३४ ॥

भक्तदत्तमेव हरेः तृप्तिजनकत्वेन अनन्तफलत्वेन परिणमति, नाऽभक्तदत्तमित्याह - **किञ्चिदिति**। यत्सुष्ठु भक्तिपूर्वमदत्तं तदुर्वपि किञ्चित्करोति फलत इति शेषः। 'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापायज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिम्' (भ.गी. 9-20) इत्यादेः। सुहृत्कृतं पूजनं फल्गु अपि अल्पमपि भूरिकारि। एतत्कुतो दृष्टमत्राह मयेति, हेतुगर्भविशेषणम् एतत् ॥ ३५ ॥

यतोऽत्र भक्तिरेव प्रधानकारणम् अतः सैव सम्पाद्येति भावेनाऽऽह - तस्यैवेति। योऽहनादिकालमारभ्य तच्चरणैकशरणः तस्यैव मे सौहृदादि स्यादित्यन्वयः। न केवलमस्य हरेः भक्तिलक्षणसङ्गेन पूर्यते, अपि तु तद्भक्तसङ्गोऽपि स्यादिति प्रार्थयते। महानुभावेनेति। भगवता सह विषज्जतः विशेषेण सङ्गं कुर्वतः मे तत्पुरुषप्रसङ्गः तस्य हरेः पुरुषेषु ब्रह्मादिष्वपि प्रकृष्टसङ्गश्च स्यादित्यन्वयः ॥ ३६ ॥

**भक्ताय चित्रं[1] भगवान् हिसम्पदो राज्यं विभूतिर्न समर्थयत्यजः ।**
**अदीर्घबोधाय विचक्षणः स्वयं पश्यन्निपातं धनिनां मदोद्भवम् ॥ ३७ ॥**

**इत्थं व्यवसितो बुद्ध्या भक्तोऽतीव[2]जनार्दने ।**
**विषयाञ्जाययात्यक्ष्यन्[3] बुभुजे नाऽतिलम्पटः ॥ ३८ ॥**

**तस्य वै देवदेवस्य हरेर्यज्ञपतेः प्रभोः ।**
**ब्राह्मणाः प्रभवो दैवं न तेभ्यो विद्यते परम् ॥ ३९ ॥**

**श्रीशुक[4-] उवाच[-4]**

**एवं सविप्रो भगवत्सुहृत्तदा[5] दृष्ट्वा स्वभक्तैरजितं[6] पराजितम् ।**
**तद्ध्यानवेगोद्ग्रथितात्मबन्धनः तद्धाम लेभेऽचिरतः[7] सतां गतिम् ॥ ४० ॥**

**एतद्ब्रह्मण्यदेवस्य श्रुत्वा ब्रह्मण्यतां नरः ।**
**लब्धभावो भगवति कर्मबन्धाद्विमुच्यते ॥ ४१ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

---

1. B.G.J.M.Ma.Ml.V. चित्रा 2. M.Ma. भक्त्या 3. M.Ma. त्यक्त्वा 4- -4 B.G.J.M.Ma.Ml.V.omit 5. K.Ml.T.V.W. °त्तमो 6. B.G.J.K.Ml.T.V.W. भृत्यै° 7. K.T.W. चरितैः 8. M.Ma.Ml.V. °न्धात्प्र°

**श्रीध०** ननु, भक्तेः फलं सम्पदं प्राप्य पुनर्भक्तिं किमिति प्रार्थयते? अत आह - भक्तायेति। सम्पदः केशादीन्, राज्यमैश्वर्यं विभूतीः कलत्रपुत्रीदीन् न समर्थयति न ददाति, अपि तु दृढां भक्तिमेव, कुतः अदीर्घबोधाय, अविवेकिने, मम तु भक्त्या भावा देवं जातम् अतः तद्भक्तिरेव मम स्यादिति भावः ॥ ३७ ॥

**इत्थमिति** । त्यक्ष्यन् शनैः शनैः त्यागमभ्यस्यन् जायया सह बुभुजे ॥ ३८ ॥

श्रीकृष्णस्यैवं ब्रह्मण्यता नातिचित्रमित्याह - **तस्येति** ॥ ३९ ॥

**एवमिति**। अन्यैरजितमपि स्वभृत्यैः पराजितं दृष्ट्वा तस्य ध्यानं तस्य वेगः तेनोद्ग्रथितमात्मबन्धनमहङ्कारो यस्य सः, गतिमित्यविवक्षितलिङ्गं[1] धाम विशेषणम्। सतां ब्रह्मविदां प्राप्यमित्यर्थः ॥ ४० ॥

एतत् पृथुकोपाख्यानं श्रुत्वा तत्र ब्रह्मण्यतां विशेषतः श्रुत्वेति ॥ ४१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां

एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

1. B. J. °विष्ट लि°

**वीर०** ननु भक्तस्सन्नेव किमिति पुनः तद्भक्तिं प्रार्थयसे? इत्यत आह - **भक्तायेति**। चित्रं यद्यहं भक्तस्तर्हि मह्यमैश्वर्यप्रदानमतिचित्रमित्यर्थः। इत्थमैश्वर्यदानेन मामभक्तमेव सम्भावयामीति भावः। कुतः? हि यस्मादजो भगवान् भक्ताय सम्पदो राज्यं विभूतीश्च न समर्थयति, न वर्धयति न यच्छतीत्यर्थः। तत्र सम्पदो भोग्यभोगोपकरणं[1] भोगस्थानादि समृद्धयः, विभूतयः, पुत्रपशुवित्तादिसमृद्धयः। अदाने हेतुं वदन् भगवन्तं विशिनष्टि - धनिनां मदस्योद्भवो यस्मात् तदैश्वर्यनिपातं निपतन्त्यनेन नरके इति तथाभूतम्। अदीर्घबोधाय अविवेकाय च भवेदिति पश्यन् जानन् विचक्षणः, हेतुगर्भमिदम्। अतस्तावन्न समर्थयत्येवेति सम्बन्धः। अतः किं वाऽऽहमभक्तः तस्मात्तद्भक्तिं प्रार्थये इति भावः ॥ ३७॥

**इत्थमिति**। बुध्या विवेकात्मिकया व्यवसितः निश्चिन्वन् नितरां भगवति भक्तियुक्तस्सन् विषयांस्त्यक्ष्यन् शनैश्शनै विषयत्यागमभ्यस्यन्नातिलम्पटः तेषु अतीव आदररहितः तान् जायया सह बुभुजे अनुबभूव ॥ ३८ ॥

स्वयं निस्समाभ्यधिको भगवान् कथमेवमकिञ्चनं द्विजमाहृतवानिति स्मयमानं राजानमालक्ष्याऽऽह - तस्य वै इति। हे प्रभो! यज्ञपतेः यज्ञनिर्वाकस्य देवानां ब्रह्मादीनामपि देवस्य हरेः प्रभवो दैवञ्च ब्राह्मणा एव। तेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः परमन्यद्दैवं न तस्य विद्यते इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

ततो ब्राह्मणः किमभूदित्यत आह - **एवमिति**। भगवत्सखः स ब्राह्मणः अन्यैरजितमपि (स्वभक्तैः) स्वभृत्यैः पराजितं वशीकृतं दृष्ट्वा तस्य भगवतो ध्यानेनोद्ग्रथितम् उन्मोचितमात्मनः स्वस्य बन्धनं संसृतिबन्धो यस्य सः। चरितैः तद्ध्यानाङ्गतयाऽनुष्ठितैर्वर्णाश्रमानुगुणैः पञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानैः ध्यानद्वारा साधनैः सतां मुक्तानां गतिं प्राप्यं तस्य भगवतो धाम स्थानं वैकुण्ठाख्यं लेभे प्राप्तवान्। स्वभृत्यैः पराजितं सताङ्गतिं उपायभूतं दृष्ट्वेति वा सम्बन्धः ॥ ४० ॥

अथ उपवर्णितभगवच्चेष्टितश्रवणफलमाह[2] - **एतदिति**। ब्रह्मण्यश्रेष्ठस्य भगवतो ब्रह्मण्यतां श्रुत्वा लब्धः भावो भक्तिः येन सः कर्मबन्धात् प्राचीनकर्मरूपाद्बन्धनात् मुक्तो[3] भवति ॥ ४१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

1- -1 B. omits 2. B.omits श्रवण 3. T.W. °क्तोऽभवत्

**विज०** हरिरैहिकमैश्वर्यं न ददातीति मन्दजनानुमितदोषापमार्जनयेयं सम्पादितेति भावेनाह - भक्तायेति ॥ ३७ ॥

त्यक्त्वाऽहम्ममतामिति शेषः ॥ ३८ ॥

देवदेवस्येत्यनेन सर्वप्रभुत्वं, यज्ञपतेरित्यनेन सर्वदेवत्वञ्च हरेरेव मुख्यमिति सूचितम्। अनेन इतरैर्ब्राह्मणभक्तिरेवावश्यं कर्तव्येति तात्पर्यं विधीयते न तु तस्य वै इति ॥ ३९ ॥

तस्य विप्रस्य का सिद्धिरभूत्तत्राह - एवमिति। अजितं नाम भगवन्तं स्वभक्तैः पराजितं दृष्ट्वा तस्य हरेर्ध्यानवेगेन उद्ग्रथितमुन्मुक्तम् आत्मबन्धनं यस्य तथा तद्भक्तैरेव प्राप्यं तद्धाम वैकुण्ठादिलक्षणम् ॥ ४० ॥

एतच्चरितोपासकस्य फलमाह - **एवमिति**। लब्धभावो लब्धभक्तिः, अनेनास्य विप्रस्येतरभक्तवैलक्षण्यमुक्तं स्यादिति तात्पर्यमवगन्तव्यम् ॥ ४१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे एकाशीतितमोऽऽध्यायः ॥ ८१ ॥
(विजयध्वजरीत्या एकोनशततमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥ )

# द्व्यशीतितमोऽध्यायः

सूर्योपरागे कुरुक्षेत्रं प्रति श्रीकृष्णादीनां गमनकथा

श्रीशुक उवाच

अथैकदा द्वारवत्यां वसतो रामकृष्णयोः ।
सूर्योपरागः सुमहानासीत्कल्पक्षये यथा ॥ १ ॥

तं ज्ञात्वा मनुजा[1] राजन् पुरस्तादेव सर्वतः ।
स्यमन्तपञ्चकं[2] क्षेत्रं ययुः श्रेयोविधित्सया ॥ २ ॥

निःक्षत्रियां महीं कुर्वन्नामः शस्त्रभृतां वरः ।
नृपाणां रुधिरौघेण यत्र चक्रे महाह्रदान् ॥ ३ ॥

ईजे स[3] भगवान्रामो यत्राऽस्पृष्टोऽपि कर्मणा ।
लोकस्य ग्राहयन्नीशो[4] यथाऽन्योऽघापनुत्तये ॥ ४ ॥

महत्यां तीर्थयात्रायां तत्राऽगन् भारतीः प्रजाः ।
वृष्णयश्च तथाऽक्रूरवसुदेवाहुकादयः ॥ ५ ॥

ययुर्भारत तत्क्षेत्रं स्वमघं क्षपयिष्णवः ।
गदप्रद्युम्नसाम्बाद्याः[5] सुचन्द्रशुकसारणैः ॥ ६ ॥

आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायां कृतवर्मा च यूथपः ।
ते रथैर्देवधिष्ण्याभैर्हयैश्च तरलप्लवैः ॥ ७ ॥

1. K.T.W. सत्तमाः; Ml.V. पुरुषाः 2. G. स° 3. B.G.J.K.T.W. च 4. K.T.W. °न्नार्यो° 5. K.T.W. °श्च

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थ दीपिका

द्व्यशीतितम आगत्य कुरुक्षेत्रं रविग्रहे। वृष्णीन् दृष्ट्वा मुदा भूपाश्चक्रुः कृष्णकथामिथः ॥
श्रीदाम[1] सुहृदे कृष्णः प्रकल्प्यैन्द्रं[2] पदं भुवि। नन्दादि सुहृदानन्दी कुरुक्षेत्रं जगाम सः ।

**अथेति**। कल्पक्षये यथा सर्वग्रास इत्यर्थः ॥ १ ॥

**तमिति**। ज्योतिर्विद्भिः कथ्यमानमादावेव ज्ञात्वा स्यमन्तकपञ्चकं क्षेत्रं कुरुक्षेत्रम् ॥ २ ॥

अब्रह्मण्य क्षत्रियवधस्थानत्वेन, परशुरामस्य अघापनुत्ति स्थानत्वेन च क्षेत्रस्य पापनिरासकत्वमाह - **निःक्षत्रिया**मिति द्वाभ्याम् ॥ ३ ॥

**ईजे** इति। अन्योऽविद्वान् यथा ॥ ४ ॥

**महत्यामिति**। आगन् आजग्मुः। भारतीर्भारत्यः ॥ ५,६ ॥

**आस्ते** इति। सुचन्द्रशुकसारणैस्सह अनिरुद्धो द्वारकारक्षायामास्ते तथा कृतवर्मा च यूथपतिः सेनानीः देवधिष्ण्याभैर्विमानसङ्काशैः। तरलास्तरङ्गाः तद्वत् प्लवो गतिर्येषां तैः ॥ ७ ॥

1. Ml.V श्रीकाम 2.Ml.V. °ल्प्य इन्द्रपदं

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ भागवतः सबान्धवस्य तीर्थयात्रा व्याजेन सुहृत्सङ्गमतत्सल्लापाद्यात्मकं चेष्टितमनुवर्णयति त्रिभिरध्यायैः- **अथेति**। रामकृष्णयोर्द्वारकायां वसतोस्सतोः सुमहान् सर्वग्रासः। तत्र दृष्टान्तः कल्पक्षये यथेति। यथा कल्पावसाने सूर्यो न दृश्यते, तद्वदित्यर्थः ॥ १ ॥

**तमिति**। हे राजन्! तं सूर्योपरागं ज्योतिर्विद्भिः कथ्यमानम् आदावेव ज्ञात्वा सत्तमाः शिष्टाः सर्वे श्रेयोविधित्सया पुण्यार्जनेच्छया स्यमन्तपञ्चकं नाम क्षेत्रं कुरुक्षेत्रमित्यर्थः। ययुः जग्मुः ॥ २ ॥

अब्रह्मण्य क्षत्रिय वधस्थानत्वेन, परशुरामस्य अघापनुत्तिस्थानत्वेन च क्षेत्रस्य पापनिरासकत्वमाह - **निः क्षत्रियामिति** द्वाभ्याम्। रामो भार्गवः रुधिरौघेण रुधिरधारया यत्र क्षेत्रे महाह्रदान् पञ्च चक्रे ॥ ३ ॥

**ईजे** इति। कर्मणा नृपवधप्रयुक्तपापेनाऽस्पृष्टोऽपि रामो भार्गवःलोकस्य ग्राहयन्नन्योऽपि मत्तोऽर्वाचीनाः शिष्टा एवं कुर्युरिति तान् ग्राहयितुमित्यर्थः। तथाऽन्येषामविदुषामघापनुत्तये पापापनोदनाय च यत्र क्षेत्रे ईजे इयाज तत् क्षेत्रं ययुरिति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ४ ॥

**महत्यामिति**। महत्यां अतिशयितपुण्यावहायां भारतीः भारत्यः भारतवर्षस्थाः प्रजाः तत्र क्षेत्रे आगन्नाजग्मुः। तथा अक्रूरादयो वृष्णयश्च आगमन् ॥ ५ ॥

किमर्थमित्यत आह - **ययुरिति**। हे भारत! स्वं स्वकीयमघं पापं क्षपयिष्णवः निरसितुमिच्छवः इत्यर्थः। गदेति। गदादिभिस्सह ॥ ६ ॥

अनिरुद्धः रक्षायां निमित्तभूतायां द्वारकारक्षणार्थमित्यर्थः। तत्रैवाऽस्ते स्थितवानित्यर्थः। एतैर्विशेषणैस्सर्वे भगवदादयो जग्मुरित्यभिप्रायः। तत्र श्रीकृष्णस्तु लोकं तीर्थयात्रायां प्रवर्तयितुं गत इति बोध्यम्। तेऽक्रूरादयः देवधिष्ण्याभैः देवविमानसङ्काशैरिति रथविशेषणम्। तरलाः तरङ्गाः तद्वत् प्लवो गतिः येषां तैः इति हयविशेषणम् ॥ ७ ॥

1- -1 T.W. omit

**गजैर्नदद्भिरभ्राभैर्नृभिर्विद्याधरद्युभिः ।**
**व्यरोचन्त महातेजाः पथिकाञ्जनमालिनः ॥ ८ ॥**

**दिव्यस्रग्वस्त्रसन्नाहाः कलत्रैः खेचरा इव ।**
**तत्र स्नात्वा महाभागा उपेष्य सुसमाहिताः ॥ ९ ॥**

**ब्राह्मणेभ्यो ददुर्धेनूर्वासस्स्रग्गुक्ममालिनीः ।**
**रामह्रदेषु विधिवत्पुनराप्लुत्य वृष्णयः ॥ १० ॥**

**ददुः स्वन्नं द्विजाग्र्येभ्यः कृष्णे नो भक्तिरस्त्विति ।**
**स्वयञ्च तदनुज्ञाता वृष्णयः कृष्णदेवताः ॥ ११ ॥**

**भुक्त्वोपविविशुः कामं स्निग्धच्छायाङ्घ्रिपाङ्घ्रिषु ।**
**तत्राऽऽगतांस्ते ददृशुस्सुहृत्सम्बन्धिनो नृपान् ॥ १२ ॥**

**श्रीध० गजैरिति**। विद्याधरद्युभिः विद्याधराणामिव द्युतिर्येषां तैः महातेजाः महातेजसाः ॥ ८ ॥

**दिव्येति**। दिव्या अत्युत्तमाः स्रग्वस्त्रसन्नाहा येषाम् ॥ ९ ॥

**ब्राह्मणेभ्य** इति। पुनरन्येद्युराप्लुत्य, यद्वा तस्मिन्नेवाऽहनि मुक्तिस्थानं कृत्वा ॥ १०,११ ॥

**भुक्त्वेति**। स्निग्धा शीतला छाया येषामङ्घ्रिपानामङ्घ्रिषु मूलेषु ॥ १२ ॥

**वीर०** नदद्भिः अभ्राभैः नीलमेघसङ्काशैः इति च गजविशेषणम्। महाभागाः महाभाग्यवन्तः सर्वे काञ्चनमालायुक्ताः ॥ ८ ॥

दिव्याः स्रगादयो येषां ते। सन्नाहः कवचादिपरिकरबन्धः खेचरा देवा इव कलत्रैस्सह व्यरोचन्त। तत्रेति। वासस्स्रगादयो आसां सन्तीति तथा ताः धेनूर्ददुः। रामह्रदेषु भार्गवनिर्मितेषु ह्रदेषु आप्लुत्य स्नात्वा कृष्णे भगवति नोऽस्माकं भक्तिरस्त्विति प्रार्थयमाना ददुः। तथा स्वयं भगवानपि तत्राऽऽप्लुत्य ददौ इत्यर्थः। कृष्णो देवता येषां ते ॥ ९-११ ॥

अत एव तेन कृष्णेन अनुज्ञाता वृष्णयः कामं यथेष्टं भुक्त्वा स्निग्धा सान्द्रा छाया येषां तेषामङ्घ्रिपाणां वृक्षाणामङ्घ्रिषु मूलेषु उपविविशुः। तत्रेति। ते वृष्णयस्तत्र स्यमन्तपञ्चके आगतान् सुहृदादीन् ददृशुः सुहृदश्च सम्बन्धिनश्च तान् ॥ १२ ॥

**मत्स्योशीनरकौसल्यविदर्भकुरुसृञ्जयान् ।**
**काम्भोजकैकयान्[1] मद्रान् कुन्तीनारट्टकेरलान्[2] ॥ १३ ॥**

**अन्यांश्चैवाऽऽत्मपक्षीयान् परांश्च शतशो नृप ।**
**नन्दादीन् सुहृदो गोपान् गोपीश्चोत्कण्ठिताश्चिरम् ॥ १४ ॥**

**अन्योन्यसन्दर्शनहर्षरंहसा प्रोत्फुल्लहृद्वक्त्रसरोरुहश्रियः ।**
**आश्लिष्य गाढं नयनैः स्रवज्जलाहृष्यत्त्वचो रुद्धगिरो ययुर्मुदम् ॥ १५ ॥**

**स्त्रियश्च संवीक्ष्य मिथोऽतिसौहृदस्मितामलापाङ्गदृशोऽभिरेभिरे[3] ।**
**स्तनैः स्तनान्कुङ्कुमपङ्करूषितान्निहत्य दोर्भिः प्रणयाश्रुलोचनाः ॥ १६ ॥**

**ततोऽभिवाद्य ते वृद्धान् यविष्ठैरभिवादिताः।**
**स्वागतं कुशलं पृष्ट्वा चक्रुः कृष्णकथामिथः ॥ १७ ॥**

**पृथा भ्रातॄन् स्वसॄर्वीक्ष्य तत्पुत्रान्पितरावपि ।**
**भ्रातृपत्नीर्मुकुन्दञ्च जहौ सङ्कथया शुचः ॥ १८ ॥**

1. B.G.J. काम्बोज, K. कम्बोज ; T.W. कम्भोज 2. B.G.J. °नर्त 3. MI.T.V.W. °मिरे

**श्रीध० अन्य** इति। हृद्वक्त्रसरारुहः श्रीः शोभा यषा त ॥ १३-१५

**स्त्रिय** इति। अति सौहृदेन यत् स्मितं तेनाऽमलाः अपाङ्गैर्दृशो दृष्टयो यासां ताः, मिथः परस्परं संवीक्ष्य दोर्भिरभिरेभिरे आलिङ्गनं कृतवत्यः॥ १६-१७ ॥

**पृथेति**। सङ्कथया मिथस्सप्रेमगोष्ठ्या ॥ १८ ॥

**वीर०** मत्स्यादयश्शब्दाः जनपदतद्राजसाधारणाः अन्यान्मत्स्यादिभ्योऽन्यानात्मपक्षीयान् स्वपक्षपातिनः, तथा परान् शत्रूंश्च सुहृदो नन्दादीन् गोपांश्चिरमुत्कण्ठा प्रीतिपूर्वकानुध्यानं आसां सञ्जातेति तथा ता गोपीश्च ददृशुरिति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ १३,१४॥

**अन्योन्येति**। अन्योन्यस्य सन्दर्शनेन यो हर्षस्तस्य रंहसा वेगेन, अतिशयेनेति यावत्। प्रोत्फुल्लैः, हृद्वक्त्राण्येव सरोरुहाणि तैः श्रीः शोभा येषां ते, गाढं यथा तथा आलिङ्ग्य नयनैः स्रवन्ति जलानि येषां ते, हृष्यन्त्यः उदञ्चितरोमाणः (तनवः) त्वचो येषाम् रुद्धः गद्गदाः गिरो येषां ते मुदं हर्षं ययुः प्रापुः ॥ १५ ॥

**स्त्रियश्चेति**। अतिसौहृदेन स्मितं तेनाऽमलाः अपाङ्गैर्नेत्रान्तैः दृशो दृष्टयो यासां ताः कुङ्कुमपङ्केन रूषितान् लिप्तान् तादृशैः स्तनैः निहत्य सम्पीड्य मिथोऽभिरेभिरे परिषस्वजिरे। प्रणयेन प्रीत्या अश्रूणि लोचनयोः यासां ताः ॥ १६ ॥

**तत** इति। ते यदवो मत्स्यादयश्च वृद्धान् वयसा अधिकानभिवन्द्य यविष्ठैः न्यूनवयस्कैः अभिवन्दिताश्च स्वागतं कुशलञ्च पृष्ट्वा तत्र परस्परं कथाश्चक्रुः कथयामासुः ॥ १७ ॥

तावत् पृथा कुन्ती भ्रातॄन् स्वसॄर्भगिनीश्च तत्पुत्रान् भ्रातृपुत्रान् स्वसृपुत्रांश्च वीक्ष्य सङ्कथया मिथः सप्रेमगोष्ठ्या शुचः क्लेशान् जहौ तत्याज ॥ १८ ॥

**कुन्त्युवाच**

**आर्य भ्रातरहं मन्ये आत्मानमकृताशिषम् ।**
**यद्वा आपत्सु मद्वार्तां नाऽनुस्मरथ सत्तमाः ॥ १९ ॥**

सुहृदो ज्ञातयः पुत्रा भ्रातरः पितरावपि ।
नानुस्मरन्ति स्वजनं यस्य दैवमदक्षिणम्॥ २० ॥

वसुदेव उवाच

अम्ब माऽस्मानसूयेथाः दैवक्रीडनकान्नरान् ।
ईशस्य हि वशे लोकः कुरुते[2] कार्यतेऽथवा ॥ २१ ॥

कंसप्रतापितास्सर्वे वयं यातादिशं[1] दिशम् ।
एतर्ह्येव पुनः स्थानं दैवेनाऽऽसादिताः स्वसः॥ २२

श्रीशुक उवाच

वसुदेवोग्रसेनाद्यैर्यदुभिस्तेऽर्चिता नृपाः ।
आसन्नच्युत सन्दर्श परमानन्द निर्वृताः॥ २३ ॥

1. K.Ml.T.V.W. °त 2. K.T.W. क्रियते

**श्रीध०** तामेव वसुदेवपृथयोः सङ्कथामाह - **आर्येत्यादि** चतुर्भिः। अकृताशिषमपूर्णमनोरथम् ॥ १९ ॥

**सुहृद** इति। यस्य दैवमदक्षिणम् अननुकूलं तं स्वजनमपि सन्तं सुहृदादयो नाऽनुस्मरन्ति। अतो मम[1] दैवं प्रतिकूलं युष्माकं कोऽपराधः इति भावः ॥ २०,२१ ॥

ईशवशत्वमेवाऽऽह - **कंसप्रतापिता** इति। हे स्वसः! एतर्ह्येव सम्प्रत्येव ॥ २२,२३ ॥

1. Ml.V. ममैव

**वीर०** तावत् पृथावसुदेवयोः सङ्कथामाह - आर्येत्यादिभिः[1] चतुर्भिः। हे आर्य! हे भ्रातः! अहमात्मानमकृताशिष मप्राप्तमनोरथं मन्ये, मम मनोरथपूर्तिरजातेत्यर्थः। कुतः? यद्यस्मात् हे सत्तमाः! मद्वार्तां नानुस्मरत न स्मृतवन्तः। अडभाव आर्षः ॥ १९ ॥

युक्तश्चैतदित्याह - **सुहृद** इति । यस्य दैवमदक्षिणम् प्रतिकूलं तं स्वजनमपि सुहृदो नानुस्मरन्त्येव । अतो मम दैवं प्रतिकूलमिति भवतां कोऽपराध इति भावः ॥ २० ॥

एवमुक्तः प्राह वसुदेवः - **अम्बेति**। हे अम्ब, दैवस्य क्रीडनकान् क्रीडासाधनभूतान्नरानस्मान् प्रति माऽसूयेथाः असूयां मा कार्षीः। कुतः? हि यस्मात् लोकः जनः ईशस्य ईश्वरेण इत्यर्थः। वशे क्रियते वशीक्रियत इत्यर्थः। यथा ईशस्य यथारुचि कार्यते व्यापार्यते च ॥ २१ ॥

ईशवशत्वमेवाऽऽह - **कंसप्रतापिता** इति। कंसेन प्रतापिताः क्लेशिताः सर्वे वयं दिशं दिशं याताः गताः हे स्वसः॥ एतर्ह्येव सम्प्रत्येव दैवेन स्थानमासादिताः प्रापिताः ॥ २२ ॥

**वसुदेवेति**। ते मत्स्यादयो नृपाः वसुदेवादिभिः यदुभिः अर्चिताः अच्युतसन्दर्शनजपरमानन्देन सुखिताश्चाऽऽसन् बभूवुः ॥ २३ ॥

1. B. °ति च°

**भीष्मो द्रोणोऽम्बिकापुत्रो गान्धारी ससुता तथा ।**
**सदाराः पाण्डवाः कुन्ती सञ्जयो[1] विदुरः कृपः ॥ २४ ॥**

**कुन्तिभोजो विराटश्च भीष्मको नग्नजिन्महान् ।**
**पुरुजिद्द्रुपदश्शैब्यः[2] धृष्टकेतुस्ससकाशिराट्[3] ॥ २५ ॥**

**दमघोषो विशालाक्षो मैथिलो मद्रकेकयौ ।**
**युधामन्युस्सुशर्मा च ससुता बाह्लिकादयः ॥ २६ ॥**

**राजानोऽन्ये[4] च राजेन्द्र युधिष्ठिरमनुव्रताः ।**
**श्रीनिकेतं वपुश्शौरेः सस्त्रीका[5] वीक्ष्य विस्मिताः ॥ २७ ॥**

**अथ ते रामकृष्णाभ्यां सम्यक्प्राप्तसमर्हणाः ।**
**प्रशशंसुर्मुदा युक्ता वृष्णीन् कृष्णपरिग्रहान् ॥ २८ ॥**

1. B.G.J. सृ° 2. Ml.T.V.W. °शल्यो 3. K.Ml.T.V.W. °तुश्च 4. B.G.J. ये च 5. B.G.J. °कं

**श्रीध० राजान** इति। युधिष्ठिरं येऽनुव्रतास्ते, राजसूये जितत्वात् ॥ २४-२८ ॥

**वीर०** भीष्मादयोऽन्ये च ये युधिष्ठिरमनुव्रताः ते सर्वे सस्त्रीकाः श्रियो लक्ष्म्याः श्रीनिकेतनमाश्रयं शौरेः 1-श्रीकृष्णस्य-1 वपुः शरीरं 2वीक्ष्य विस्मिता बभूवुरिति 3-चतुर्णामन्वयः-3। 4-तत्राऽम्बिकापुत्रो धृतराष्ट्रः ससुता दुर्योधनादिसहिता गान्धारी-4 ॥ २४-२७ ॥

**अथेति**। ते भीष्मादयः कृष्णरामाभ्यां कर्तृभ्यां सम्यग्यथातथा प्राप्तं समर्हणं यैस्ते। कृष्णेन परिगृह्यन्त इति तथा तान् वृष्णीन् प्रशशंसुः ॥ २८ ॥

1- -1 K.T.W. omit 2. K.T.W. अवलोक्य 3- -3. K.T.W. सम्बन्धः। 4- -4 K.T.W. omit.

**अहो! भोजपते! यूयं जन्मभाजो नृणामिह ।**
**यत्पश्यथाऽसकृत्कृष्णं दुर्दर्शमपि योगिनाम् ॥ २९ ॥**

**यद्विश्रुतिः श्रुतिनुतेदमलं पुनाति पादावनेजनपयश्च वचश्च शास्त्रम् ।**
**भूः कालभर्जित 1भगाऽपि यदङ्घ्रिपद्म स्पर्शोत्थ शक्तिरभिवर्षति नोऽखिलार्थान् ॥ ३०**

**2यद्दर्शनस्पर्शनानुपथप्रजल्प शय्यासनाशनसयौनसपिण्डबन्धः ।**
**येषां गृहे निरयवर्त्मनि वर्ततां वः स्वर्गापवर्गविगमः स्वयमास विष्णुः ॥ ३१ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**नन्दस्तत्र यदून्प्राप्तान् ज्ञात्वा कृष्णपुरोगमान् ।**
**तत्राऽगमद्वृतो गोपैरनस्स्थार्थैर्3दिदृक्षया ॥ ३२ ॥**

1. T.W. °गुणापि 2. B.G.JMl.v त° 3. K°नोभिः; °नस्साध°

**श्रीध० अहो**! इति। जन्मभाजो नृणां मध्ये सफलजन्मानः ॥ २९ ॥

किञ्च, न केवलं तस्य दर्शनमेव अपि तु, अत्यन्तदुर्लभं बहु युष्माकं स्वतस्सम्पन्नमित्याहुः-यद्विश्रुतिरिति द्वाभ्याम् - यदिति पृथक् पदम्, यस्येत्यर्थः। विश्रुतिः कीर्तिः श्रुतिभिर्नुता वेदैः स्तुता इदं विश्वम् अलमप्यर्थं पुनाति। 'यद्विश्रुति

श्रुति रमीव मलम् 'इति पाठे श्रुतिः श्रवणम्, अमीवं पापमिति। यस्य पादावनेजनपयो गङ्गा च यस्य वचो वाक्यरूपं शास्त्रञ्च वेदाख्यं विश्वं पुनाति। किञ्च, कालेन भर्जितं दग्धं भागं माहात्म्यं यस्या स्सा, तथा विधाऽपि भूः यस्याङ्घ्रिपद्मस्पर्शेन उत्था आविर्भूता शक्तिर्यस्या स्सा नोऽस्माक मखिलानर्थान् अभितो वर्षति ॥ ३० ॥

**यदिति**। दर्शनञ्च स्पर्शनञ्च अनुपथोऽनुगतिश्च प्रजल्पो गोष्ठी च शय्या शयनञ्चाऽऽसनञ्चाऽशनं भोजनञ्च यौनं विवाहसम्बन्धस्तेन सह वर्तमानः सपिण्डबन्धो दैहिकसम्बन्धः तेन श्रीकृष्णेन सह दर्शनाद्युपलक्षितः स यौनः सपिण्डबन्धो येषां वोऽस्ति। किञ्च येषां वर्तमानानां स्वर्गापवर्गाभ्यां विरमयति वितृष्णान् करोतीति तथा। सः ते यूयं जन्मभाज इति। यद्वा तदिति सामान्यनिर्देशः स इत्यर्थः। स विष्णुः स्वयं येषां वो निरयवर्त्मनि संसारकारणे गृहे वर्तमानानामपि बध्यते सम्बध्यत इति बन्धोः दर्शनादिभिः सम्बन्धस्सन् स्वर्गापवर्गविरम आस परमसुखप्रदो बभूवेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

**नन्द** इति। अनस्स्थार्थैरिति। तत्रैव वासचिकीर्षया शकटेषु स्थापितैः अर्थैः सहाऽऽगत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

1--1 Ml.V. °तः दग्धः भगः

**वीर०** प्रशंसामेवाऽऽह - **अहो**! इति त्रिभिः। भोजपतिरुग्रसेनः। हे भोजपते! इह लोके नृणां मध्ये यूयमेव जन्मभाजः सफलजन्मनः। कुतः? यद्यस्मात्, योगिनामपि दुर्दर्शं श्रीकृष्णमसकृत् पश्यथ ॥ २९ ॥

किञ्च, न केवलं तस्य दर्शनमेव, अपि तु दुर्लभं बहु युष्माकं सम्पन्नमित्याहुः - **यद्विश्रुतिरिति** द्वाभ्याम्। यदिति पृथक्पदमव्ययम् यस्येत्यर्थकं विश्रुति पदावनेजनपादाभ्यां पृथक् सम्बध्यते। यद्वा, पादेत्यस्य यस्येत्यादिः यस्य भगवतो विश्रुतिः कीर्तिः श्रुतिभिः वेदैः नुता इदं कथयत्सर्वमाश्वपाकं जगत्पुनाति यस्य पादावनेजनपयःपादप्रक्षालनजलं तदात्मिका गङ्गा च जगत्पुनातीत्यर्थः। वचः काव्यपुराणादिरूपं शास्त्रं शासनात्मकवेदाश्च विश्वं पुनाति। किञ्च कालेन भर्जितं दग्धं भगवन्माहाँत्म्यं यस्यास्तथाविधाऽपि भूः पृथ्वी यस्याङ्घ्रिपद्मस्पर्शेन उत्था आविर्भूता शक्तिर्माहात्म्यमैश्वर्यम् इति यावत्। सा यस्यास्ताथाभूता नोऽस्माकमखिलानर्थान् सर्वान् अभीष्टान् अर्थान् अभिवर्षतीति। 1-श्रुतेरिति पाठे श्रुतेर्यस्य विश्रवणं विश्रुतिः-1। विश्रुतमिति पाठे "इमम्मे गङ्गे यमुने सरस्वति" (म.ना.उ.5.21) इत्यादिषु विविध श्रुतिषु श्रुतिमिति पयोविशेषणम्। वचः गीतात्मकं शास्त्रं यत्कीर्तनं जगदलं सकलमितिपाठे अलं पुनातीत्यन्वयः। जगदमीवमलं पुनातीति पाठे अमीवं पापं तदेव मलं यस्य तज्जगत्पुनातीत्यर्थः। गङ्गाजलं गीताशास्त्रञ्च जगत्सकलं पुनातीत्यर्थः ॥ ३० ॥

किञ्च, **यद्दर्शनमिति**। यस्य दर्शनञ्च स्पर्शनञ्च अनुपथः अनुगतिश्च प्रजल्पो गोष्ठी च शय्या शयनम्, आसनञ्च, अशनं भोजनञ्चेति इतरेतरयोगद्वन्द्वः सयौन सपिण्डाभ्यां विवाहैकगोत्रत्वाभ्यां बन्धस्सम्बन्धः दर्शनादिभिः सहितः, सयौन सपिण्डबन्धः स येषां भवतामस्ति। किञ्च येषां गृहे श्रीकृष्णः स्वयमास आविर्बभूव, येषां वो निरयवर्त्मनि प्रवृत्तिमार्गे वर्ततां वर्तमानानामपि स्वर्गापवर्गवैतृष्ण्यञ्च आस अभूत् ॥ ३१ ॥

**नन्द** इति। कृष्णपुरोगमान् कृष्णप्रभृतीन् ज्ञात्वा आकर्ण्य तद्दिदृक्षया कृष्णादिदर्शनेच्छया गोपैः परिवृतः अनोभिश्शकटैः गमनसाधनैः तत्र कृष्णसन्निधौ आजगाम ॥ ३२ ॥

1--1 K.T.W. omit

**तं दृष्ट्वा वृष्णयो दृष्टा स्तन्वः प्राणमिवोत्थिताः ।**
**परिषस्वजिरे गाढं चिरदर्शनकातराः ॥ ३३ ॥**

**वसुदेवः परिष्वज्य सम्प्रीतः प्रेमविह्वलः ।**
**स्मरन् कंसकृतान् क्लेशान् पुत्रन्यासञ्च गोकुले ॥ ३४ ॥**

**कृष्णरामौ परिष्वज्य पितरावभिवाद्य च ।**
**न किञ्च नोचतुः प्रेम्णा साश्रुकण्ठौ कुरुद्वह ॥ ३५ ॥**

**1-ता उत्सङ्गं -1समारोप्य बाहुभ्यां परिरभ्य च ।**
**यशोदा च महाभागासुतौ विजहतुश्शुचः ॥ ३६ ॥**

1--1 K. तावात्मोत्सङ्ग° ; B.G.J. तावात्मासन° ;Ml.V. तावात्माङ्के स°

**श्रीध० वसुदेव** इति। वसुदेवस्तं परिष्वज्य प्रेमविह्वलो बभूवेति शेषः ॥ ३३-३५ ॥

**ताविति**। तौ सुतौ परिरभ्य नन्दो यशोदा च विरहशोकान् विजहतुः तत्यजुः। यद्वा, शुचोऽश्रूणि विजहतुः मुमुचतुः इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

**वीर० तमिति**। तं नन्दं प्राणं मुख्यप्राणं प्रति तन्वः शरीराणीव तावद्विनिर्गते पुनरागते सति मुख्यप्राणे यथा शरीराण्युत्तिष्ठन्ते तद्वदित्यर्थः। उत्थिताः सन्तः चिरं दर्शने निमित्ते कातराः लम्पटाः अतो गाढं यथा तथा परिषस्वजिरे आलिङ्गितवन्तः ॥ ३३ ॥

**वसुदेव** इति। परिष्वज्य, नन्दमिति शेषः। प्रणयेन स्नेहातिशयेन विह्वलः परवशः गोकुले पुत्रयोः रामकृष्णयोर्न्यासम्, अवस्थापनञ्च, स्मरन्नास्ते इत्यध्याहारः ॥ ३४ ॥

कृष्णरामाविति प्रथमान्तम्। पिता च माता च पितरौ 'पिता मात्रा (अष्टा.1.2.70) इत्येकशेषः। तौ यशोदानन्दौ अभिवाद्य आलिङ्ग्य च हे कुरूद्वह! प्रेम्णा साश्रुः कण्ठो ययोस्तौ, किञ्चिदपि नोचतुः तूष्णीमासतुरित्यर्थः ॥ ३५ ॥

**ताविति**। यशोदा चेति, चशब्दान्नन्दः तौ सुतौ रामकृष्णावात्मनः उत्सङ्गमारोप्य तस्मिन्नुपवेश्येत्यर्थः। बाहुभ्यां परिरभ्य च शुचः पुत्रविश्लेषजशोकान् विजहतुः ॥ ३६ ॥

**रोहिणी देवकी चाऽथ परिष्वज्य व्रजेश्वरीम् ।**
**स्मरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीं बाष्पकण्ठ्यौ समूचतुः ॥ ३७ ॥**

**का विस्मरेत वां मैत्रीमनिवृत्तां व्रजेश्वरि !**
**अवाप्याऽप्यैन्द्रमैश्वर्यं यस्या नेह प्रतिक्रिया ॥ ३८ ॥**

**एतावदृष्टपितरौ युवयोः स्म पित्रोः सम्प्रीणनाभ्युदयपोषणपालनानि ।**
**प्राप्योषतुर्भवति पक्ष्म हि[1] यद्वदक्ष्णो न्यस्तावकुत्र च भयौ न सतां परः स्वः ॥ ३९ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं यत्प्रेक्षणे[2] दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति[3] ।**
**दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वा स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम् ॥ ४० ॥**

1. B.G.J. ह 2.T.W. तं° 3. K.Ml.T.V.W. °न्त्यः

**श्रीध० रोहिणीति** । व्रजेश्वरीं यशोदाम् ॥ ३७ ॥

**केति**। अनिवृत्तां निवृत्तिकारणे सत्यप्यनुवर्तमानाम् ऐन्द्रमैश्वर्यं प्राप्याऽपि यस्याः प्रतिक्रिया कर्तुं न शक्यत इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

तत्कृतां मैत्रीमाहतुः - **एताविति** । न दृष्टौ पितरौ याभ्यां तौ। वस्तुतस्तु, अजन्मत्वादेव अदृष्टपितरौ, हे भवति! युवयोः पित्रोन्यस्तावेतौ सम्प्रीणनादीनि प्राप्य अकुत्रचभयौ क्वचिदपि भयरहितौ भूत्वा ऊषतुः वासं

चक्रतुः। कथम्भूतयोः अक्ष्णोर्नेत्रयोः? रक्षकं पक्ष्म यद्वत्तथा रक्षकयोः युक्तं युवयोरेतत्, यतः सतां परः, स्वः इति नास्ति वैषम्यम् ॥ ३९ ॥

**गोप्य** इति। अभीष्टत्वे लिङ्गम्। यद्यस्य श्रीकृष्णस्य प्रेक्षणे दृशिषु नेत्रेषु व्यवधायक[1]पक्ष्मकृतं विधातारं शपन्ति। दृग्भिर्नेत्रद्वारैः हृदि कृतं हृदये प्रवेशितं परिरभ्य तद्भावं तदात्मतां प्रापुः। अपि नित्य युजामारूढयोगिनामपि ॥ ४० ॥

1. B.J. °कं

**वीर० देवकीति**। व्रजेश्वरीं यशोदां परिष्वज्य तत्कृतां व्रजेश्वरीकृतां मैत्रीं स्मरन्त्यौ बाष्पमानन्दाश्रुकण्ठे ययोस्ते समूचतुः ॥ ३७ ॥

उक्तिमेवाऽऽह - **केति**। हे व्रजेश्वरि! वां युवयोः मैत्रीं अनिवृत्तां यावद्देहमनुवृत्तमित्यर्थः। का वा स्त्री विस्मरेत। न कापीत्यर्थः। अत्र हेतुत्वेन तां विशिनष्टि - ऐन्द्रमैश्वर्यं दत्त्वाऽपि यस्याः मैत्र्याः प्रतिक्रिया प्रत्युपकृतिरिह लोके नास्ति ॥ ३८ ॥

मैत्रीं प्रपञ्चयतः - **एताविति**। न दृष्टौ पितरौ याभ्यां तौ हे भवति! युवयोः पित्रोर्न्यस्तावेतौ सम्प्रीणनादीनि प्राप्य अकुत्रचभयौ क्वचिदपि भयरहितौ भूत्वा ऊषतुः वासं चक्रतुः। कथम्भूतयोः? अक्ष्णोः नेत्रयोः पक्षकं पक्ष्म यद्वत्तथा रक्षकयोः युवयोः इति सम्बन्धः। रक्षकयोरित्यस्याध्याहारः। सु[1]प्रीणनमपेक्षितप्रदानेन तर्पणम्, अभ्युदयो महोत्सवः। युक्तश्चैतदित्यूचतुः। न सतां परोऽस्तीति। परः स्वः इति पाठे परः स्वकः इति च न वैषम्यमस्तीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

**गोप्यश्चेति**। अभीष्टं प्रियतमं कृष्णं उपलभ्य दृष्ट्वा यस्य श्रीकृष्णस्य प्रेक्षणे प्रवृत्तासु दृशिषु स्वनेत्रेषु व्यवधायकपक्ष्मकृतं विधातारं शपन्त्यः दृग्भिर्नेत्रद्वारैः हृदिकृतं हृदये प्रवेशितमाश्लिष्य नित्ययुजां नित्यं मनो युञ्जानानां योगिनामपि दुरापं दुर्लभं तद्भावं कार्त्स्न्येन तद्विग्रहावगाहनात्मकमभिप्रायं प्रापुः ॥ ४० ॥

1. K. सम्प्री

**भगवांस्तास्तथाभूता विविक्त उपसङ्गतः ।**
**आश्लिष्यानामयं पृष्ट्वा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ ४१ ॥**

अपि स्मरथ नस्सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया ।
गतांश्चिरायिताञ्शत्रुपक्षक्षपणचेतसः ॥ ४२ ॥

अप्यवध्यायथाऽस्मान् स्विदकृतज्ञा विशङ्कया ।
नूनं भूतानि भगवान् युनक्ति वियुनक्ति च ॥ ४३ ॥

वायुर्यथा घनानीकं तृणतूलं[1] रजांसि च ।
संयोज्याऽऽक्षिपते भूयस्तथाभूतानि भूतकृत् ॥ ४४ ॥

1. B.G.J. °णं तूलं

**श्रीध० अपीति**। चिरायितान् विलम्बितान्। अत्र हेतुः शत्रूणां पक्षस्य क्षपणे चेतो येषां तान् ॥ ४१,४२ ॥

**अपीति**। अपिस्वित् अस्मान् अवध्यायथा अवजानीथ, अकृतज्ञा एत इत्याऽऽविशङ्कया ईषच्छङ्कया न शङ्कामात्रं निश्चितमेवैतत् परित्यज्य गतत्वादित्यत आह - नूनमिति ॥ ४३ ॥

एतत्सदृष्टान्तमाह - **वायुरिति**। आक्षिपते [1-]आक्षिपति[-1] पृथक्करोतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

1- -1. B.J. omit

**वीर० भगवानिति**। तथाभूता आत्मभावमापन्नाः ता गोपीर्विविक्ते एकान्ते उपसङ्गतः अनामयमारोग्यं पृष्ट्वा इदं वक्ष्यमाणमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

तदेवाऽऽह - **अपीति** षड्भिः। हे सख्यः! नोऽस्मानपि स्मरथ, स्मरथ किम्? इत्यर्थः। क्षणसौहृदान् युष्मान्नानुस्मरामेत्यत आत्मनो विशिनष्टि - सतां साधूनां स्वानामर्थं प्रयोजनं कर्तुमिच्छया चिरायितान् विलम्बितान्। तत्र हेतुः - शत्रु पक्षक्षपणे चेतो येषां तानस्मान् ॥ ४२ ॥

अकृतज्ञविशङ्कया अकृतज्ञः कृतज्ञादन्यः तद्विशङ्कया कृतघ्ना एवैते इति बुद्ध्येत्यर्थः। अवध्यायथापिस्वित् अवजानीथ किमित्यर्थः। अवपूर्वाद्ध्यायतेः लोण्मध्यमपुरुषबहुवचनम् । न शङ्कामात्रं निश्चितमेतत्, परित्यज्य गतत्वादित्यत आह- नूनमिति। भूतानीति द्वितीयान्तम् ॥ ४३ ॥

एतत्सदृष्टान्तमाह - **वायुरिति**। घनानीकं मेघसमुदायं तृणादीनि च वायुर्यथा युनक्ति वियुनक्ति वियोजयति च तद्वत् भूतकृत् भूतस्रष्टा भगवान् क्वचिद्भूतानि संयोज्य पुनराक्षिपते वियोजयति च ॥ ४४ ॥

**मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।**
**दिष्ट्या यदाऽऽसीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ॥ ४५ ॥**

**अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः ।**
**भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः ॥ ४६ ॥**

**एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्माऽऽत्मना तत ।**
**उभयं मय्यथपरे पश्यताऽऽभातमक्षरे[1] ॥ ४७ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः ।**
**तदनुस्मरणध्वस्तजीवकोशास्तमध्यगन् ॥ ४८ ॥**

**आहुश्च ते नलिन नाभपदारविन्दं योगेश्वरैर्हृदि[2] विचिन्त्यमगाधबोधैः ।**
**संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं गेहञ्जुषामपि मनस्युदियात्सदा नः ॥ ४९ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे वृष्णिगोपसङ्गमो नाम द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

1. M.I.V. °न्त 2. K.T.W. °गी°

**श्रीध०** अपि च, अतिभद्रमिदं यदुत भवतीनां मद्वियोगेन मत्प्रेमातिशयो जात इत्याह - **मयीति**। मयि भक्तिमात्रमेव तावदमृतत्वाय कल्पत इति यदुत भवतीनां मत्स्नेह आसीत् तद्दिष्ट्या अतिभद्रं कुतः मदापनो मत्प्रापण इति ॥ ४५ ॥

कीदृशस्त्वं, यं वयं स्नेहेन प्राप्स्याम इत्यपेक्षायामात्मस्वरूपमाह - **अहं हीति**। हे अङ्गनाः ! भौतिकानां शरावसैन्धवादीनां यथाऽकाशादीनि पञ्चमहाभूतान्याद्यन्तादिरूपाणि एवं सर्वभूतानां जरायुजादीनामहं, अतो व्यापकं मां भवत्यः प्राप्ता एवेति ॥ ४६ ॥

ननु चतुर्विधभूतग्रामाणां तद्भोक्ता आत्मैव आद्यन्तादिरूपः तस्मिंश्च सर्वव्यापके सर्वभूतानि वर्तन्त इति कुतस्त्वत्प्राप्तिरस्माकमित्यत आह - **एवं हीति**। अयमर्थः - शरावादीनां यथा भौतिकानां महाभूतान्याद्यन्तादिरूपाणि एवमैवेतानि चतुर्विधानि भूतान्यपि भौतिकत्वाविशेषात् स्वकारणेषु भूतेष्वेव वर्तन्ते। ननु "भोक्तर्यात्मनि, आत्मा तु तेषु भूतेषु आत्मना भोक्तृरूपेण ततो व्याप्तो न कारणत्वेन। अथैतदुभयं भूतभौतिकरूपं भोग्यञ्च भोक्तारञ्चाऽऽत्मानं मय्यक्षरे परिपूर्णे आभातं, पश्यतेति" ॥ ४७ ॥

**अध्यात्मेति**। अध्यात्मशिक्षया स्वरूपोपदेशेन शिक्षिताः बोधिताः तस्यानुस्मरणेन ध्वस्तो जीवकोशो लिङ्गं यासां ताः तमेवाऽध्यगन् प्रापुः ॥ ४८ ॥

एवं प्राप्तोऽपि कृष्णः पुनर्गृहव्यासङ्गेन माऽपयात्विति तच्चरणस्मरणं प्रार्थयामासुरित्याह - **आहश्चेति**। हे नलिननाभ ! ते पदारविन्दं योगेश्वरैः हृदि विचिन्त्यं[1-] गेहञ्जुषां गृहसेविनीनामपि नो[2-] मनसि[-2] सदा उदियात् आविर्भवेत् ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां

द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

1- -1. B.J. omit 2- -2 Ml.v omit

**वीर०** किञ्चाऽतिभद्रमिदं यद्भवतीनां मद्वियोगेन मत्प्रेमातिशयोऽभूदित्याह - **मयीति**। मयि भक्तिमात्रमेव तावदमृतत्वाय मुक्तये कल्पते। यत्तु भवतीनां मयि स्नेहः आसीत् तद्दिष्ट्याऽतिभद्रम्। कुतः ? मदापनः मत्प्रापणः ॥४५॥

कीदृशस्त्वम् ? यं वयं स्नेहेन प्राप्स्यामहे इत्यपेक्षायामात्मनो याथात्म्यमाह - **अहमिति**। आदिः सृष्टिकारणम्, अन्तः लयकारणम्, अन्तरमन्तरात्मा बहिश्च व्याप्य स्थितः इत्यर्थः। अन्तर्बहिश्च सद्भावे दृष्टान्तार्थमाह - भौतिकानामिति। हे अङ्गनाः ! खमाकाशः, वाः जलम्, भूः पृथ्वी, खादीनि यथा भौतिकानां भूतपरिणामात्मकानां देवमनुष्यादिशरीराणामन्तर्बहिश्च वर्तन्ते ॥ ४६ ॥

एवं दृष्टान्तमुखेन शिक्षितमर्थं दार्ष्टान्तिके सङ्गमयति - **एवमिति**। एतान्याकाशादीनि तत्कार्यरूपाणि देवादि शरीरात्मकानि च भूतानि भूतेषु आत्मा तेषु भूतेषु स्थित आत्मा जीवात्मा च आत्मना मया अन्तर्बहिश्च, व्याप्यन्त इति

शेषः। ततः तस्मादुभयं चेतन मचेतनञ्च वस्तुजातं अक्षरेऽन्तर्बहिश्च व्याप्य वर्तमानेऽपि व्याप्यगत विकाररहिते मय्याभातं प्रमितं पश्यत। मयीत्यनेन धारकत्वमुक्तम्। आत्मनेत्यनेन अन्तःप्रविश्यप्रशासितृत्वञ्च अन्तः प्रविश्य नियमनं हि आत्म शब्दप्रवृत्तिनिमित्तम् ॥ ४७ ॥

**अध्यात्मशिक्षयेति**। आत्मनि अध्यात्मम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। स्वात्मपरमात्म याथात्म्यविषयज्ञानमित्यर्थः। तस्य शिक्षया सम्यगुपदेशेन साधनेन इत्थं कृष्णेन कर्त्रा शिक्षिता गोप्यः तस्य भगवदुपदिष्टात्मयाथात्म्यस्य अनुस्मरणेन मननपूर्वकनिदिध्यासनेन ध्वस्तः जीवकोशः कोशवदावरकं कर्म मूलमज्ञानं यासां ताः, तं भगवन्तम् अध्यगन् प्रापुः क्रमेण मुक्ता बभूवुरित्यर्थः ॥ ४८ ॥

तदा तदुपदिष्टाध्यात्मानुस्मरणविरोधिमोहोपशमनाय मनसः तदङ्घ्रिप्रावण्यं प्रार्थयमानाः प्राहुः च इत्याह - **आहुश्चेति**। उक्तिमेवाह - त इत्यादिना। हे नलिननाभ! अगाधोऽपारो बोधः ज्ञानं येषां तैः योगेश्वरैः हृदि विचिन्त्यं केवलं चिन्त्यमेव, न तु दृश्यम्। संसारकूपे पतितानां उत्तरणाय[1] अवलम्बमालम्बनभूतं ते तव पदाम्बुजं देहधारिणां नोऽस्माकं मनसि सदा उदियात् आविर्भवेत् यथावत् विषयीभवेत् इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

**इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे**

**श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां**

**व्याख्यायां द्व्यशीतितमोऽऽध्यायः ॥ ८२ ॥**

1. B. उत्ता°

# त्र्यशीतितमोध्यायः

श्रीशुक उवाच

[1]तथाऽनुगृह्य भगवान् गोपीनां स[2-] गुरुर्गतिः[-2] ।
युधिष्ठिरमथाऽपृच्छ त्सर्वांश्च सुहृदोऽव्ययम् ॥१॥

त एवं लोकनाथेन परिपृष्टास्सुसत्कृताः ।
[3-]प्रोचुः प्रहृष्ट[-3]मनस स्तत्पादेक्षाहतांहसः ॥२॥

कुतोऽशिवं त्वच्चरणाम्बुजासवं [4-]महन्मनस्तो मुखनिस्सृतं[-4] क्वचित् ।
पिबन्ति ये कर्णपुटै रलं प्रभो! देहम्भृतां देहकृदस्मृतिच्छिदम् ॥ ३ ॥

हित्वाऽऽत्मधाम विधुतात्मकृतत्र्यवस्थ मानन्द सम्प्लव मखण्डमकुण्ठ बोधम्
कालोपसृष्ट निगमावन आत्तयोग मायाकृतिं परमहंसगतिं नताः स्मः ॥४॥

1. K.T.W. अथाऽ; Ml.V. ततोऽ 2- -2 K.T.W. सङ्गतिं गुरुः 3- -3 B.G.J.K.Ml.V. प्रत्यूचुर्हृष्ट 4- -4 K.T.W. महात्मनां सम्मुखनिर्वृतं

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

त्र्यशीतितम एवञ्च स्त्रीणां कृष्णकथोत्सवे। द्रौपद्यै कृष्णभार्याभि रुक्ताः स्वस्वकरग्रहाः ॥

**तथेति**। अव्ययम् कुशलम् ॥ १ ॥

**त** इति। तत्पादेक्षया हत मंहो येषां ते ॥ २ ॥

**कुत** इति। महतां मनस्तः [1]मनसस्सकाशा न्मुखद्वारतो निस्सृतं क्वचित्कदाचित् देहम्भृतां देहधारिणां देहकृच्चाऽसावस्मृतिश्चाविद्यां तां छिनत्तीति तथा तं देहकृदीश्वरः तद्विषयाज्ञानच्छिदं वा ॥३॥

हि, त्वा इति पदद्वयम्। त्वा त्वां हि एव त्वामेव नताः स्मेत्यर्थः। कथम्भूतम्? आत्मधाम्ना स्वरूपप्रकाशेन विधुता निरस्ताः आत्मकृताः बुद्धिनिमित्ता स्तिस्रोऽवस्थाः यस्मिंस्तम्। अत एवाऽनन्दसम्प्लवं सर्वानन्दकदम्बरूपम् अखण्डञ्चापरिच्छिन्नं यतो न कुण्ठः कुण्ठितो बोध श्चिच्छक्ति र्यस्य तम्। ननु एवं रूपता श्रीकृष्णस्य कुतः? अस्मदादिवद्देहप्रतीते रत आहुः

कालोपसृष्टेति। कालेनोपसृष्टा विप्लुताश्च ते निगमाश्च तेषा मवने रक्षार्थ मात्ता उपात्ता योगमायया आकृति र्नराकारमूर्ति र्येन तम्। परमहंसानां गतिं त्वाम्। अत स्तवैवंरूपत्वा दस्माकञ्च त्वन्माययैतत्सर्व वैपरीत्या त्त्वामेव नताः स्मेति। यद्वा, त्वामिति प्रकरणात् ज्ञातव्यम्। त्वां नताः स्म। किं कृत्वा, हित्वा, किम्, आत्मधाम आत्माशरीरं धाम गृहम् तञ्च तञ्च देहदैहिकसङ्गं परित्यज्येत्यर्थः। समान मन्यत् ॥४॥

1. B.J.Omit मनसः 2. B.Omits देह

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवत चन्द्रचन्द्रिका

**अथेति**। गुरुस्तत्वोपदेष्टा। भगवान्गोपीनां सङ्गतिं स्वपादारविन्दासक्तिं तथाऽस्त्वित्यनुगृह्य अथ युधिष्ठरं सर्वान् सुहृदश्च प्रति अव्ययमारोग्यमपृच्छत् ॥ १ ॥

त इति। ते युधिष्ठिरादयः तस्य भगवतः पादयोरीक्षया दर्शनेन हतं निरस्तं अंहः पाप ममङ्गलञ्च येषां ते। अत एव हृष्टं मनो येषां ते प्रत्यूचुः ॥ २ ॥

उक्तिमेवाह - कुत इति द्वाभ्याम्। त्वच्चरणाम्बुजासवं त्वत्पादाब्ज कथामृतमित्यर्थः। आसववन्मधुरं विषयविस्मापनञ्च ये कर्णपुटैः श्रोत्रचषकैः पिबन्ति त्वच्चरणाम्बुजं ये ध्यायन्तीत्यर्थः। तेषामशिवममङ्गलं कुतः? नास्त्येवेत्यर्थः। आसवत्वरूपणात्पिबन्तीत्युक्तम्। प्रसिद्धासवा दौत्कृष्ट्यम् वक्तुं विशिंषन्ति। महात्मनां सतः परिशुद्धान् मुखमेव पद्मं तस्मान्निस्सृतं देहसम्पादक मनादि अज्ञानं तां छिनत्तीति तथा तम्। प्रसिद्धामृतन्तु नैवंविधमिति भावः ॥ ३ ॥

**तमिति**। यस्य चरणाम्बुजामृत मेवंविधं तं त्वां नताः स्मः प्रणमामः। कथम्भूतम्? परमहंसानां गतिं प्राप्यं मुक्त्युपायभूतञ्च तदुपयुक्तं सौशील्यं वात्सल्यञ्चाहुः। कालेनोपसृष्टो विप्लुतो निगमो वेदः तस्यावने निमित्ते रक्षणार्थं वैदिकधर्ममर्यादापालनार्थमित्यर्थः। आत्ता परिगृहीता योगमाया स्वाश्चर्यशक्तियोगेन आकृति विग्रहो यस्य तम्। योगमायेत्यनेन आकृतेरकर्मायत्तत्वमुक्तम्। आत्मेत्यनेन स्वेच्छयैवोपात्तत्वम्। यद्यपि सङ्कल्पमात्रेणाऽपि निगमविरोधि दुष्कृद्विनाशसम्भवः, तथापि आश्रितवात्सल्यात् सौशील्याच्च आत्तयोगमायाकृतिरिति भावः। आश्रितकार्यापदकज्ञानगुणयोगमाहुः। अखण्डः अविच्छन्नः अप्रतिहतः बोधः अनिष्टपरिहारेष्टप्रापणाद्युपयुक्तज्ञानं यस्य तम्। प्राप्यत्वोपयुक्तं गुणमाहुः आनन्दसम्प्लवमानन्दप्रवाहरूपम्। प्राप्यवैलक्ष्ण्य माहुः - तिस्रः अवस्थाः उत्पत्तिस्थितिसंहृतयः आत्मधाम्ना स्वतेजसा विधुता निर्धूताः आत्मकृताः स्वकृताः तिस्रः अवस्थाः यस्य तम्। अन्येषां सृष्ट्यादिकृत् स्वयं सृष्ट्याद्यविषयश्चेत्यर्थः ॥ ४ ॥

श्रीशुक उवाच[1-]

इत्युत्तमश्लोकशिखामणिं जनेष्वभिष्टुवत्स्वन्धककैरवस्त्रियः ।
समेत्य गोविन्दकथामिथोऽगृणं त्रिलोकगीताः श्रुणु वर्णयामि[2] ते ॥ ५ ॥

द्रौपद्युवाच

हे वैदर्भ्यच्युतो[3] भद्रे हे जाम्बवति कौसले ।
हे सत्यभामे कालिन्दि शैब्ये रोहिणि लक्ष्मणे ॥ ६ ॥

हे कृष्णपत्न्य एतन्नो ब्रूत वो भगवान्स्वयम् ।
उपयेमे यथालोकमनुकुर्वन् स्वमायया ॥ ७ ॥

रुक्मिण्युवाच

चैद्याय माऽर्पयितुमुद्यत कार्मुकेषु राजस्वजेय भट शेखरिताङ्घ्रि रेणुः ।
निन्ये मृगेन्द्र इव भाग मजावियूथा[4-] त्तच्छ्रीनिकेतचरणोऽस्तु ममार्चनाय ॥ ८ ॥

1- -1 B.G.J. ऋषिरुवाच 2. K. यामहे 3. K.Ml.T.V.W. °च्युते 4- -4 Ml.V. मजोऽपि यद्धा

**श्रीध० इतीति**। त्रिषु लोकेषु गीताः ॥ ५ ॥

**हे वैदर्भीति**। कौसले हे सत्ये! शैब्ये हे मित्रविन्दे! रोहिणी नाम काचित्पट्टमहिषी तुल्या ॥ ६ ॥

**हे कृष्णपत्न्य** इति। हे अन्याः श्रीकृष्णस्य पत्न्यः ॥ ७ ॥

**चैद्याय** इति। मा माम्, अर्पयितुं सम्पादयितुं राजसु जरासन्धादिषु उद्यतकार्मुकेषु सत्सु अजेया ये भटास्तेषां शेखरिताः मुकुटवत्कृताः[1] अङ्घ्रिरेणवो येन तेषां मूर्ध्नि पदं दधतीत्यर्थः। तस्य श्रीनिकेतस्य चरणो ममाऽर्चनायास्तु ॥ ८ ॥

1. Ml.V. मकुट

**वीर० इतीति**। उत्तमश्लोकानां[1-] पुण्यकीर्तीनाम् उत्तमं[-1] श्रीकृष्णं इत्थं जनेष्वभिष्टुवत्सु सत्सु परितः स्तोत्रं कुर्वत्सु सत्सु अन्धकानां कौरवाणाञ्च स्त्रियः समेत्य सङ्घीभूय मिथो गोविन्दस्य कथा अगृणन् कथयामासुः। ताः त्रिषु लोकेषु गीताः कथा वयं वर्णयामहे। त्वं श्रुण्विति शुकोक्तिः ॥ ५ ॥

इत्थं प्रतिज्ञाय तावत्ताः प्रस्तोतुं श्रीकृष्णपत्नीः प्रति द्रौपदीप्रश्नमाह - वैदर्भीत्यादि द्वाभ्याम्। अच्युते इति वैदर्भी विशेषणम्। नित्यानपायिनीत्यर्थः। हे कौसल्ये सत्ये हे शैब्ये! मित्रविन्दे! रोहिणीनाम काचित्पट्टमहिषी तुल्या ॥ ६ ॥

अन्याः कृष्णपत्नीः युगपत्सम्बोधयति - हे कृष्णपत्न्य इति। एतत् नोऽस्मभ्यं ब्रूत इति। यदयं भगवान् श्रीकृष्णः स्वमायया स्वसङ्कल्पेन लोकमनुकुर्वन् यथा भवतीरुपयेमे उदूढवानित्येतत् ॥ ७ ॥

एवमापृष्टासु तावद्रुक्मिणी प्राह - चैद्यायेति। मां **चैद्याय** शिशुपालाय अर्पयितुं दापयितुं राजसु चैद्यपक्षीयेषु उद्यतकार्मुकेषु उद्धृतचापेषु सत्सु अजेया भटास्तेषां शेखरिताः मुकुटवत्कृताः अङ्घ्रिरेणवो येन सः तेषां मूर्ध्नि पदं निदधदित्यर्थः। स भगवान् मृगेन्द्रः सिंहः अजानामवीनाञ्च यूथात् स्वभागमिव मां नित्ये आनीतवान्। अत्र उद्यतकार्मुक राजन्य यूथस्य अजावियूथतुल्यताऽभिप्रेता। तस्य भगवतः श्रीनिकेतचरणः श्रीमत्पादारविन्दं ममार्चनाय परिचर्यार्थमस्तु। तच्छ्रीनिकेतचरणं सदाऽहं परिचरेयमिति प्रार्थना ॥ ८ ॥

1- - 1. K.T.W. श्लोकोत्तमं°

**सत्यभामोवाच**

**यो मे सनाभिवधतप्तहृदा ततेन लिप्ताभिशापमपमार्ष्टुमुपाजहार ।**
**जित्वर्क्षराजमथ रत्नमदा त्सतेन भीतः पिताऽदिशत मां प्रभवोऽपि दत्ताम् ॥ ९ ॥**

**जाम्बवत्युवाच**

**प्राज्ञाय[1] देहकृदमुं निजनाथदेवं सीतापतिं त्रिनवहान्यमुनाऽभ्ययुध्यत् ।**
**ज्ञात्वा परीक्षित[2] उपहरदर्हणं मां पादौ प्रगृह्य मणिनाऽह ममुष्य दासी ॥ १० ॥**

**कालिन्द्युवाच**

**तपश्चरन्ती माज्ञाय स्वपादस्पर्शनेच्छया[3] ।**
**सख्योपेत्याऽग्रहीत्पाणिं योऽहं[4] तद्गृहमार्जनी ॥ ११ ॥**

भद्रोवाच

**यो मां स्वयंवर उपेत्य विजित्य भूपान् निन्ये श्वयूथगमिवात्मबलिं द्विपारिः ।**
**भ्रातृंश्च मेऽपकुरुतः स्वपुरं श्रियैका स्तस्यास्तु मेऽनुभवमङ्घ्र्यवनेजनीत्वम्[5] ॥ १२ ॥**

1. G. प्र° ; K. अ° 2. Ml.V. तं 3. B.G.J. नाशया ;K.T.W. काम्यया 4. Ml.V. साऽहं 5. B.G.J. जन° ;Ml.V. जनि°

**श्रीध० य** इति। सनाभे भ्रातुर्वधेन सिंहकृतेन तप्तं हृद्यस्य तेन मे ततेन तातेन लिप्तमभिशापं दुर्यशोऽपमार्ष्टुं परिहर्तुमृक्षराजं जित्वा रत्नं स्यमन्तकमुपाजहार आनीतवान्। अथानन्तरं मत्पित्रे रत्नमदात्। तेन स्वापराधेन भीतस्सं मे पिता प्रभवे श्रीकृष्णाय मामदिशत [1]अदिशत् ददौ, दत्तामक्रूरादिभ्यः प्रतिश्रुतामपीत्यर्थः ॥ ९ ॥

**प्राज्ञायेति**। देहकृत् पिता अमुं श्रीकृष्णं निजनाथं स्वामिनं देवमीश्वरं सीतापतिं प्राज्ञाय अविज्ञाय त्रिनवहानि। ह्रस्वश्चन्दोनुरोधेन सप्तविंशतिदिनानि अमुना अभ्ययुध्यत् परीक्षितः सञ्जाता परीक्षा यस्य स परीक्षितः तं साक्षात्सीतापति रेवाऽसाविति ज्ञात्वा पादौ प्रगृह्य मणिना सह मामर्हणमुपाहरत् अर्हणतया समर्पितवान्। अहो! तर्हि त्वमतिश्रेष्ठाऽसि? नेत्याह - अमुष्य अहं दासीति ॥ १० ॥

**तप** इति। सख्या अर्जुनेन तस्य गृहमार्जनी गृहेसम्मार्जनकर्त्री ॥ ११ ॥

**य** इति। शुनां यूथगतं स्वबलिं द्विपारिः सिंह इवेति मे भ्रातुश्च अपकुरुतोऽपकारं कुर्वतो विजित्य श्रियैको लक्ष्मीनिवासः तस्य अङ्घ्र्यवनेजनत्वं चरणश्चालनकर्तृत्वमनुभवं प्रति जन्म मेऽस्तु ॥ १२ ॥

1. B.J. omit अदिशत्

**वीर०** अथ सत्यभामोक्तिमाह - य इति। सनाभेर्भ्रातुः प्रसेनस्य वधेन सिंहकर्तृकेण तप्तं हृदयं यस्य तेन ततेन अस्मत्पित्रा लिप्तमापादितमभिशापं दुर्यशोऽपमार्ष्टुमपनेतुम्, ऋक्षराजं जाम्बवन्तं जित्वा रत्नं शमन्तकाख्यमुपाजहार आनीतवान्। अथ अनन्तरं मत्पित्रे रत्नमदाद्दौ। तेन स्वापराधेन भीतः स मे पिता प्रभवेऽस्मत्स्वामिने श्रीकृष्णाय , दत्तामक्रूरादिभ्यः प्रतिश्रुतामपि माम् अपि शब्दाद्रत्नमपि अदिशद्दौ इत्यर्थः ॥ ९ ॥

अथ जाम्बवती जगौ - अज्ञायेति। देहकृन्मम पिता जाम्बवान् अमुं श्रीकृष्णं निजनाथं स्वस्वामिनं स्वकुलदैवतञ्च सीतापतिमज्ञाय, अज्ञात्वेत्यर्थः। ल्यबार्षः। अमुना श्रीकृष्णेन सह त्रिनवहानि सप्तविंशत्यहानि। अत्यन्तसंयोगे

द्वितीया। छन्दोभङ्गाभावाय ह्रस्व आर्षः। शकन्ध्वादित्वात्पररूपं वा। अयुध्यत् युयोध। ततः परीक्षितः परीक्षाऽस्य सञ्जातेति तथा स मम पिता ज्ञात्वा सीतापतिरेवाऽसा वधुना यदुष्ववतीर्ण इति ज्ञात्वेत्यर्थः। पादौ प्रगृह्य पादग्रहणपूर्वकं प्रसाद्य मणिना सह मामर्हण मुपायनमुपाहरत् समर्पितवान्। अहममुष्य भगवतो दासी यावदात्मभावि दास्यं कुर्यामिति प्रार्थना ज्ञेया ॥ १० ॥

अथ कालिन्दी जगौ - तपश्चरन्तीमिति। स्वस्य भगवतः पादस्पर्शकाम्यया[1] पादसंवाहनादिपरिचर्या चिकीर्षया तपः कुर्वतीं मां ज्ञात्वा सख्या अर्जुनेन सहाऽऽगत्य मम पाणिमग्रहीत्। इत्थं गृहीताऽहं तस्य भगवतो गृहमार्जनी गृहान्मार्जयतीति तथाभूता भवेयम् ॥ ११ ॥

अथ भद्रागीतिमाह - **य** इति। शुनां यूथगतं स्वबलिं द्विपारिस्सिंह इव नृपानपकुर्वतः मे भ्रातॄंश्च विजित्य यः श्रियौकाः श्रीनिवासः मां पुरं द्वारकां प्रति निन्ये आनीतवान् तस्य श्रियौकसः अङ्घ्र्यवनेजनीत्वं चरणक्षालनकर्तृत्वं ममाऽनुभवं प्रतिजन्म अस्तु स्यात् ॥ १२ ॥

1. B. °नाशया

**सत्योवाच** (नाग्नजिति )

**सप्तोक्षणोऽतिबलवीर्यसुतीक्ष्णशृङ्गान् पित्रा कृतान् क्षितिप वीर्यपरीक्षणाय ।**
**तान्वीर दुर्मदहनस्तरसा निगृह्य क्रीडान्बबन्ध ह यथा शिशवोऽजतोकान् ॥ १३ ॥**

**य इत्थं वीर्यशुल्कां मां दासीभिश्चतुरङ्गिणीम्।**
**पथि[1] निर्जित्य राजन्यान्निन्ये तद् द्वास्यमस्तु मे ॥ १४ ॥**

**मित्रविन्दोवाच**

**पिता मे मातुलेयाय स्वयमाहूय दत्तवान् ।**
**कृष्णे कृष्णाय तच्चित्तामक्षौहिण्या सखीजनैः ॥ १५ ॥**

**अस्य मे पादसंस्पर्शो भवेज्जन्मनि जन्मनि ।**
**कर्मभिर्भ्राम्यमाणाया येन तच्छ्रेय आत्मनः ॥ १६ ॥**

1. B. युथि

**श्रीध० सप्त** इति। सप्तोक्ष्णो वृषभान्, बलञ्च वीर्यञ्च सुतीक्ष्णश्रुङ्गाणि चाऽतिशयितानि येषां तान् मे पित्रा कृतान् सम्पादितान् बलीयसे परीक्षणाय तानतिप्रसिद्धान् वीराणां दुर्मदं घ्नन्ति ये तां स्तरसा शीघ्रमेव निगृह्य दमयित्वा क्रीडन् अनायासेनैव बबन्ध अजतोकान् अजापत्यानि ॥ १३ ॥

**य** इति। वीर्यमेव शुल्कं देयं यस्यास्तां दासीभिस्सह चतुरङ्गिणीं गजाश्वादिसेनायुक्तां मां पुरं निन्ये ॥ १४ ॥

**पितेति**। हे कृष्णे! हे द्रौपदि! तस्मिन्नेव चित्तं यस्यास्तां मामक्षौहिण्या सेनया सह सखीजनैश्च सह ॥ १५ ॥

**अस्येति**। पादसंस्पर्शेन आत्मनो मे तत्कैवल्याख्यं श्रेयो भवेत् सः यद्वा, येन कारणेनाऽत्मनो जीवस्य तच्छ्रेयः, स एव पुरुषार्थः इति ॥ १६ ॥

**वीर०** अथ नाग्नजिती गायति - **सप्तेति**। क्षितिपानां राज्ञां वीर्यस्य परीक्षणाय परीक्षार्थं मम पित्रा नग्नजिता कृतान् सम्पादितान् बलं वीर्यं प्रभावश्च सुतीक्ष्णश्रुङ्गाणि च तान्यतिशयितानि येषां तान् वीराणां दुष्टं मदं घ्नन्ति इति तथा तान् प्रसिद्धान् सप्त उक्ष्णः वृषभान् यथा शिशवो बालाः अजतोकान् अजापत्यानि तथा तरसा आशु निगृह्य दमयित्वा क्रीडन् अनायासेनैव बबन्ध ॥ १३ ॥

यो भगवान् युद्धे राजन्यान्निर्जित्य वीर्यमेव शुल्कं देयं द्रव्यं यस्यास्तां दासीभिस्सह चतुरङ्गिणीं गजाश्वादिसेनायुक्तां मां निन्ये तस्य भगवतो दास्यं ममाऽस्तु इति प्रार्थना ॥ १४ ॥

अथ मित्रविन्दा गायनमाह - पितेति द्वाभ्याम्। हे कृष्णे! द्रौपदि! मे इति पूर्वोत्तरान्वयिपदम्। मम पिता स्वय माहूय मम मातुलसुताय श्रीकृष्णाय। तस्मिन् श्रीकृष्णे एव चित्तं यस्यास्तां मामक्षौहिण्या सखीजनैश्च सह दत्तवान् ॥ १५ ॥

अस्य श्रीकृष्णस्य पादसंस्पर्शः पादसंवाहनादिपरिचर्या मम प्रतिजन्म भवेत् अस्तु। इत्थं प्रार्थनायां हेतुत्वेन पादसंस्पर्शं येन विशिनष्टि येन तत्पादसंस्पर्शनेन आत्मनो मम कर्मभिः पुण्यपापात्मकैः भ्राम्यमाणायाः संसरन्त्याः श्रेयो निःश्रेयसं भवेत् ॥ १६ ॥

**लक्ष्मणोवाच**

**ममापि राज्यच्युतजन्मकर्म श्रुत्वा मुहुर्नारदगीतमास ह ।**
**चित्तं मुकुन्दे किल पद्महस्तया वृतः सुसम्मृश्य विहाय लोकपान् ॥ १७ ॥**

**ज्ञात्वा मम मतं साध्वि पिता दुहितृवत्सलः ।**

**बृहत्सेन इति ख्यातस्तत्रोपायमचीकरत् ॥ १८ ॥**

**यथा स्वयंवरे राज्ञि ! मत्स्यः पार्थेप्सया कृतः ।**

**अयन्तु बहिराच्छन्नो दृश्यते स जले परम् ॥ १९ ॥**

**श्रुत्वैतत्सर्वतो भूपा आययुर्मत्पितुः पुरम् ।**

**सर्वास्त्रशस्त्रतत्वज्ञाः सोपाध्यायाः सहस्रशः ॥ २० ॥**

1. MI.V. मासीत् 2. MI.V. उपेयुः

**श्रीध० ममेति**। राज्ञि! हे द्रौपदि! यथा मित्रविन्दायास्तथैव ममाऽपि चित्तं मुकुन्दविषयमासीत्। सुसम्मृश्य सुष्ठु विचार्य पद्महस्तया श्रिया वृतः किल। अतो ममाऽपि चित्तं श्रीमुकुन्दे आसेति ॥ १७ ॥

**ज्ञात्वेति**। तत्र श्रीकृष्णप्राप्तावुपायमचीकरत् कारयामास ॥ १८ ॥

**यथेति**। यथा राज्ञि! तव स्वयंवरे पार्थस्येप्सया आप्तुमिच्छया कृतः तथा मत्स्यं कारितवान्। पाठान्तरे पार्थस्येषुणाऽपाकृतः, तर्हि इममप्यर्जुन एव किं नाऽध्यत्तत्राह - अयन्त्विति। समस्त्यो बहिरेवाच्छन्नो नाऽन्तः अतः, स्तम्भलग्नयोर्ध्वदृष्ट्या संलक्ष्यते, अयन्तु न तथा । किन्तु स्तम्भमूले निहितकलशजले केवलं दृश्यते। अतः दृष्टिरधस्तादुपरि च लक्ष्यमिति श्रीकृष्णव्यतिरेकेण न कस्यापि भेद्य इति भावः ॥ १९,२० ॥

**वीर०** अथ लक्ष्मणागीतिं प्रपञ्चयति - ममाऽपीत्यादिना। हे राज्ञि! नारदेन गीतमच्युतस्य जन्मादिकं श्रुत्वा ममाऽपि यथा मित्रविन्दायास्तथा ममाऽपि चित्तं मुकुन्दे आसीदित्यर्थः। पद्महस्तया श्रिया तदवताररूपया रुक्मिण्येत्यर्थः। वृतः किल। अतोऽपि सुष्ठु विचार्य मम चित्तं मुकुन्दे आसेति सम्बन्धः ॥ १७ ॥

**ज्ञात्वेति**। हे साध्वि! मम तमभिप्रायं ज्ञात्वा मम पिता बृहत्सेनोनाम दुहितृवत्सलः। अतस्तत्र श्रीकृष्णप्राप्तावुपायमचीकरत् कारयामास ॥ १८ ॥

कोऽसावित्यतः तं प्रपञ्चयति - **यथेति**। हे राज्ञि! यथा तव स्वयंवरे पार्थेप्सया अर्जुनप्राप्तेच्छया त्वत्पित्रा मत्स्यः कृतः तथा अस्मत्पित्राऽपि कृत इत्यर्थः। तर्ह्यर्जुन एव किं नाऽविध्यत्? तत्राऽऽह -अयन्त्विति। स मत्स्यो बहिरेवाऽऽच्छन्नो नान्तः स्तम्भसंलग्नयोर्ध्वदृष्ट्या दृश्यते अयन्तु न तथा, किन्तु स्तम्भमूलनिहितकलशजले केवलं दृश्यते।

अतः दृष्टिरधस्तात् उपरि च लक्ष्यमिति कृष्णमन्तरेण न कस्यापि भेद्य इति भावः। बहिराच्छन्नः प्रतिबिम्बस्य बिम्बभूतो मत्स्यस्तिरोहितः स मत्स्यप्रतिबिम्ब एव जले दृश्यते, प्रतिबिम्बेन बिम्बभूतमत्स्यस्यावस्थानं निरूप्य तत्र वेधो दुष्कर इति व्याख्यानान्तरम् ॥ १९ ॥

**श्रुत्वेति**। एतन्मत्स्ययन्त्रनिर्माणं श्रुत्वा सर्वतो दिग्भ्यः मत्पितुः पुरमाजग्मुः। कथम्भूताः? सर्वेषां शस्त्राणा मस्त्राणाञ्च तत्त्व याथात्म्य प्रयागापसहारा जानन्त इति तथा। उपाध्यायैस्सहिताश्च ॥ २० ॥

**पित्रा सम्पूजितास्सर्वे यथा वीर्यं यथा वयः ।**
**आददुस्सशरं चापं वेद्धुं पर्षदि मद्धियः ॥ २१ ॥**

**आदाय व्यसृजन् केचित् सज्यं[1] कर्तुमनीश्वराः ।**
**आकोटि[2] ज्यां समुत्कृष्य[3] पेतुरोकोऽमुना हताः ॥ २२ ॥**

**सज्यां[4-] कृत्वाऽपरे[-4] वीराः मागधाम्बष्ठचेदिपाः[5] ।**
**भीमो दुर्योधनः कर्णो नाविन्दंस्तदवस्थितम्[6] ॥ २३ ॥**

**मत्स्याभासं जले वीक्ष्य ज्ञात्वा च तदवस्थितम् ।**
**पार्थो यत्तोऽसृजद्बाणं नाऽच्छिनत्पस्पृशे परम् ॥ २४ ॥**

1. K. Ml.T.V.W. सज्यी 2. B.G.J. आकोष्टं 3. Ml.V. समाकृष्य 4- -4. Ml.V. सज्ञं धृत्वा 5. Ml.V. धावन्ति चे° 6. Ml.V. माविदं

**श्रीध०** पित्रेति। मत्स्यं वेद्धुं पर्षदि संसदि मद्धियो धीर्येषामिति, अन्यचित्ता न वेद्धुशक्ता इति ॥ २१ ॥

तदेवाऽऽह - **आदायेति**। अमुना चापेन ॥ २२ ॥

**सज्यमिति**। नाऽविन्दं स्तदवस्थितिमिति मागधादीनां क्रियाशक्तिरेव न तु लक्ष्याभिज्ञतेत्यर्थः ॥ २३ ॥

**मत्स्येति**। यत्तो यत्नवान् असृजत् मुमोच। स बाणो मत्स्यं नाऽच्छिनत् परं केवलं पस्पर्श, ज्ञानवानप्यर्जुनो बलेनाऽपूर्ण इत्यर्थः ॥ २४ ॥

**वीर० पित्रेति**। मम पित्रा वीर्यवयःस्थानाधनुरूपं सर्वे सम्पूजिताः। मय्येव धीर्येषां ते मत्स्यं वेद्धुं पर्षदि सभायां सशरं चापमाददुः मद्धिय इत्यस्य अन्यच्चित्तत्वाच्च वेद्धुं नाऽशक्नुवन्निति भावः ॥ २१ ॥

तदेवाह - **आदायेति**। केचिद्वसृजन् लक्ष्यादन्यत्र प्रयुक्तवन्त इत्यर्थः। केचित्तु आकोटिधनुषः कोटिपर्यन्तं ज्यां समाकृष्य सज्यीकर्तुं ज्यासहितं कर्तुम् , आरोपितज्याकं कर्तुमित्यर्थः। अनीश्वराः असमर्थाः अमुना चापेन हतास्ताडिताः निपेतुः ॥ २२ ॥

**सज्यमिति**। अपरे जरासन्धादयस्तु वीराः सज्यं कृत्वाऽपि लक्ष्यावस्थितिं नाऽविन्दन्। मागधादीनां क्रियाशक्तिरेव न तु लक्ष्याभिज्ञतेति भावः ॥ २३ ॥

मत्स्येति। पार्थोऽर्जुनस्तु जले मत्स्याभासं मत्स्यप्रतिबिम्बं वीक्ष्य तदवस्थितिं मत्स्ययन्त्रावस्थानदेशं ज्ञात्वा यत्तो यत्नवान् बाणं व्यसृजत् मुमोच। स बाणो मत्स्यं नाऽच्छिनत् परं केवलं पस्पर्श। ज्ञानवानप्यर्जुनो न वेद्धुं प्रबभूवेत्यर्थः ॥ २४ ॥

**राजन्येषु निवृत्तेषु भग्नमानेषु मानिषु ।**
**भगवान्धनुरादाय सज्यं[1] कृत्वाऽथ लीलया ॥ २५ ॥**

**तस्मिन्सन्धाय विशिखं मत्स्यं वीक्ष्य सकृज्जले ।**
**छित्वेषुणाऽपातयत्तं सूर्येचाऽभिजिति स्थिते ॥ २६ ॥**

**दिवि दुन्दुभयो नेदुर्जयशब्दयुता[2] भुवि ।**
**देवाश्च कुसुमासारान् मुमुचुर्हर विह्वलाः ॥ २७ ॥**

**तद्रङ्गमाविशमहं कलनूपुराभ्यां पद्भ्यां प्रगृह्य कनकोज्ज्वलरत्नमालाम् ।**
**नूत्ने निषीय परिधाय च कौशिकाग्र्ये स व्रीड हास वदना कबरी धृतस्त्रक् ॥ २८ ॥**

1. MI.V. सज्ञं 2. MI.V. पुनर्भुवि।

**श्रीध० तस्मिन्निति**। अभिजिति सर्वार्थसाधके मुहूर्ते ॥ २६, २७ ॥

भगवत्प्राप्तिहर्षनिर्भरेण आत्मानमेवाऽनुवर्णयन्त्याह द्वाभ्यां **तद्रङ्गमिति**। तत्तदा कलौ कलस्वनौ नूपुरौ ययोस्ताभ्यां पद्भ्यां रङ्गं प्राविशं कनकेनोज्ज्वलां रत्नमालां निवीय प्रावृत्य परिधाय च नीवीबन्धेन च कौशिकाग्र्ये उत्तमकौशेयवस्त्रे सव्रीडो हासो यस्मिंस्तद्वदनं यस्यास्सा कबर्यां धृताः स्रजो यया सा ॥ २८ ॥

**वीर०** भगवांस्तु विव्याधेत्याह - राजन्येष्विति। मानिषु साहङ्कारेषु राजन्येषु भग्नमानेषु अत एव निवृत्तेषु च सत्सु सूर्ये अभिजितिस्थिते सर्वार्थसाधके मध्याह्ने इत्यर्थः। लीलया अनायासेनैव तस्मिन् धनुषि विशिखं बाणं सन्धाय सकृदेव जले वीक्ष्य इषुणा मत्स्यं छित्वा न्यपातयत् ॥ २५,२६ ॥

भुविजयशब्देन युताः (दुन्दुभयो) देवदुन्दुभयो नेदुः। यदा दिवि दुन्दुभयो नेदुस्तदैव भुवि जयशब्दा बभूवुरित्यर्थः ॥२७॥

भगवत्प्राप्तिजहर्षनिर्भरेण आत्मानमेवाऽनुवर्णयन्त्याह - तदिति द्वाभ्याम्। तत् तदा नूत्ने नवीने कौशिकाग्र्ये उत्तम कौशिकेये वस्त्रे परिधाय सव्रीडो हासो यस्मिं स्तद्वदनं यस्याः कबर्यां धृताः स्रजो यया सा अहं कनकेनोज्ज्वलां रत्नमालां निवीय प्रगृह्य कलौ कलस्वनौ नूपुरौ ययो स्ताभ्यां पद्भ्यां रङ्गं प्राविशं प्रविष्टवत्यस्मि ॥ २८ ॥

**उन्नीयवक्त्रमुरुकुन्तलकुण्डलत्वि ङ्गण्डस्थलं शिशिरहास कटाक्षमोक्षैः ।**
**राज्ञो निरीक्ष्य परितः शनकैर्मुरारे रंसोनुरक्त हृदया निदधे स्म[1] मालाम् ॥ २९ ॥**

**तावन्मृदङ्गपटहाः शङ्खभेर्यानकादयः ।**
**निनेदुर्नटनर्तक्यो ननृतुर्गायका जगुः॥ ३० ॥**

**एवं वृते भगवति[2] मयेशे नृपयूथपाः ।**
**न सेहिरे याज्ञसेनि ! स्पर्धन्तो हृच्छयातुराः ॥ ३१ ॥**

**मां तवद्रथमारोप्य हयरत्नचतुष्टयम् ।**
**शार्ङ्गमुद्यम्य सन्नद्धस्तथा वाजौ चतुर्भुजः ॥ ३२ ॥**

**दारुकश्चोदयामास काञ्चनोपस्करं रथम् ।**
**मिषतां भूभुजां राज्ञि! मृगाणां मृगराडिव ॥ ३३ ॥**

**तेऽन्वसज्जन्त राजन्या निषेद्धुं पथि केचन ।**
**संयत्ता उद्धृतेष्वासा[3] ग्रामसिंहा यथा हरिम् ॥ ३४ ॥**

1. Ml.V. स्व° 2. K.T.W. यदुपतौ 3. K.T.W. उद्यते°

**श्रीध० उन्नियेति**। उरवः कुन्तला यस्मिन् कुण्डलयोस्त्विषो ययोस्ते गण्डस्थले यस्मिंस्तच्च तच्च शिशरः सन्तापहरो हासो येषु तैः कटाक्षमोक्षैरपाङ्गमोक्षणविलासैः[1] अनुरक्तं हृदयं यस्यास्सा अहम् ॥ २९, ३० ॥

याज्ञसेनि! हे द्रौपदि! ईशे श्रीकृष्णे मया वृते सति स्पर्धन्तः स्पर्धमानाः। नन्वेवं परमैश्वर्यं दृष्टवतां कुतः स्पर्धावसरः, तत्राह - हृच्छयातुरा इति। हृच्छयेन कामेन आतुरा विवशाः। कामविजृम्भिता स्पर्धेति[2] भावः ॥ ३१ ॥

**मामिति** । हयरत्नानां चतुष्टयं यस्मिंस्तं रथम्। द्वाभ्यां भुजाभ्यां मामालिङ्ग्य द्वाभ्यां धनुर्बाणौ गृहीत्वा चतुर्भुजस्तस्थौ ॥ ३२ ॥

**दारुक** इति। मृगाणां मिषतां मृगराडिव तदा हरिर्जगामेति शेषो ज्ञातव्यः। दारुकस्यैव वा मृगराजोपमा ॥३३ ॥

**त** इति। अन्वसज्जन्त। पृष्ठतस्सक्ता बभूवुः। निषेद्धुं प्रतिबन्धं कर्तुं केचन पुरतो गत्वा पथि संयत्ता बभूवुरित्यर्थः। उद्धृतेष्वासाः ऊर्ध्वकृतचापाः[3] ग्रामसिंहाः श्वानो हरिं सिंहं यथेति ॥ ३४ ॥

1. Ml.V. वीक्षण 2. Ml.V. स्पर्धन्ते 3. Ml.V. ऊर्ध्वी

**वीर० उन्नीयेति**। उरवः कुन्तलाः यस्मिन् कुण्डलयोस्त्विस्त्वषो ययोस्ते गण्डस्थले यस्मिन् तच्च वक्त्रम् उन्नीय परितश्शनै राज्ञो राजन्यान्निरीक्ष्य मुरारेः श्रीकृष्णस्य शिशिरः सन्तापहरः हासो येषु तैः कटाक्षमोक्षैरपाङ्गवीक्षणविलासैरनुरक्तं हृदयं चित्तं यस्याः साऽहं तस्य अंसे स्कन्धे मालां निदधे स्म निहितवत्यस्मि ॥ २९ ॥

**तावदिति**। तदैव नटा नर्तक्यश्च ननृतुः ॥ ३० ॥

**एवमिति**। इत्थं ईश्वरे भगवति मया वृते सति हे याज्ञसेनि! द्रौपदि! नृपयूथपाः हृच्छयेन कामेनाऽऽतुराः स्पर्धमाना न सेहिरे ॥ ३१ ॥

**मामिति**। हयरत्नाना मश्वश्रेष्ठानां चतुष्टयं यस्मिंस्तं रथ मारोप्य तस्मिन्निधाप्येत्यर्थः द्वाभ्यां भुजाभ्यां आलिङ्ग्य द्वाभ्यां धनुर्बाणान् गृहीत्वा चतुर्भुजो युद्धे तस्थावित्यर्थः ।। ३२ ।।

**दारुक** इति। काञ्चनेनोपस्कृतं रथं गमयामास। हे राज्ञि! मृगाणां क्षुद्राणां पश्यतां (सतां) मृगाधिपस्सिंह इव भूभुजां मिषतां सतां हरिर्जगामेति शेषोऽवगन्तव्यः ॥ ३३ ॥

**त इति**। केचन राजन्याः सन्नद्धा आयत्ताः उद्यताः इष्वासाश्चापा यैस्ते पथि निषेद्धुं वारयितुं अन्वसज्जन्त पृष्ठतोऽन्वधावन् यथा ग्रामसिंहाः श्वानः हरिं सिंहं तद्वत् ॥ ३४ ॥

**ते शार्ङ्गच्युतबाणौघैः कृत्तबाह्वङ्घ्रिकन्धराः ।**
**निपेतुः प्रथने केचिदेके सन्त्यज्य दुद्रुवुः ॥ ३५ ॥**

ततः पुरीं यदुपतिरत्यलङ्कृतां रविच्छदध्वजपटचित्रतोरणम् ।
कुशस्थलीं दिवि भुविचाऽभिसंस्तुतां[2] समाविशत्तरणिरिव स्वकेतनम् ॥ ३६ ॥

पिता मे पूजयामास सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान् ।
महार्हवासोऽलङ्कारैश्शय्यासनपरिच्छदैः ॥ ३७ ॥

दासीभिस्सर्वसम्पद्भिर्भटेभरथवाजिभिः ।
आयुधानि महार्हाणि ददौ पूर्णस्य[3] भक्तितः ॥ ३८ ॥

आत्मारामस्य तस्येमा वयं वै गृहदासिकाः ।
सर्वसङ्गनिवृत्त्याद्धा तपसा च बभूविम ॥ ३९ ॥

1.K.T.W. कदने 2.K.T.W. ऽनिशं; Ml.V. ऽपिसं 3.K.T.W. पूर्णाय

**श्रीध० तत** इति। रविं छादयन्ति ते रविच्छदा ध्वजेषु पटा यस्यां चित्राणि तोरणानि यस्यां सैव सा च तां कुशस्थलीं द्वारकापुरीं यदुपतिः समाविशत् स्वकेतनं मण्डलमस्ताचलं वा ॥ ३५,३६ ॥

**पितेति**। महार्हवासःप्रभृतिभिः सुहृदादीन् पूजयामास ॥ ३७ ॥

**दासीभिरिति**। दास्यादिभिस्सह आयुधानि पूर्णायापि ददौ ॥ ३८ ॥

**आत्मारामस्येति** । इमाः अष्टौ वयं सर्वसङ्गनिवृत्या तपसा स्वधर्मेण अद्धा साक्षात् तस्य गृहदासिका बभूविम ॥ ३४ ॥

**वीर०** ते नृपाः कृत्ताश्छिन्नाः बाह्वादयो येषां ते केचित् प्रधने युद्धदेशे निपेतुः, केचित्तु सन्त्यज्य दुद्रुवुः ॥३५ ॥

**तत** इति। यदुपतिः श्रीकृष्णः पुरीं तत्राऽपि स्वगृहं समाविशदिति सम्बन्धः। यथा सूर्यः स्वकेतनं मण्डलमस्ताचलं वा, तद्वत्। कथम्भूतम्? परितोऽलङ्कृतां रविं छादयन्तीति तथा तेषु ध्वजेषु पटा यस्यां (पटानि) चित्राणि तोरणानि यस्यां सा चाऽसौ सा च ताम् ॥ ३६ ॥

**पितेति**। अनर्घ्यवस्त्रादिभिः[1] सुहृत्प्रभृतीन् पूजयामास ॥ ३७ ॥

**दासीभिरिति**। सर्वसम्पद्भिः सर्वाभरणभूषिताभिरित्यर्थः। हे राज्ञि! दास्यादिभिस्सह पारिबर्हम् उपायनं, पूर्णस्य अवाप्तसमस्तकामस्याऽपि भगवतो भक्तितो ददौ। पूर्णायेति पाठान्तरम् ॥ ३८ ॥

**आत्मारामस्येति**। इमाः अष्टौ वयं सर्वसङ्गनिवृत्त्या वैराग्येण तपसा च हेतुना तस्य भगवतः आत्मारामस्य निरवधिक स्वानन्दानुभवशीलस्य अद्धा साक्षात् गृहदासिका बभूविम ॥ ३९ ॥

K.T.W. अनघ

**षोडशसहस्रमहिष्य ऊचुः**

**भौमं निहत्य सगणं युधि तेन रुद्धा ज्ञात्वाऽथ नःक्षिति जये जितराज कन्याः ।**
**निर्मुच्य संसृतिविमोक्षमनुस्मरन्तीः पादाम्बुजं परिणिनाय य[1] आप्तकामः ॥ ४० ॥**

**न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भोज्यमप्युत ।**
**वैराज्यं पारमेष्ठ्यञ्च आनन्त्यं वा हरेः पदम् ॥ ४१ ॥**

**कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः ।**
**कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः ॥ ४२ ॥**

**व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति पुलिन्द्यस्तृणवीरुधः ।**
**गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्शं महात्मनः ॥ ४३ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्याया पारमहस्या संहिताया दशमस्कन्धे
उत्तरार्धे तीर्थयात्रानुवर्णनं नाम त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३

1. Ml.V. स

**श्रीध० भौममिति**। क्षितिजये दिग्विजये जितानां राज्ञां कन्याः नोऽस्मान् तेन रुद्धाः ज्ञात्वा ततो निर्मुच्य संसृतेर्विमोक्षो यस्मात् तत्पादाम्बुजमनुस्मरतीर्नः परिणिनाय उदवहत् आप्तकामोऽपि यः ॥ ४० ॥

**न वयमिति**। साम्राज्यादि न कामयामहे किन्तु एतस्य श्रीमत्पादरजो मूर्ध्ना वोढुं कामयामह इति। ननु तस्य गृहिण्यो यूयं सर्वसम्पद्भाजः किमेवं कामयध्वम्? अत आहुः - हे साध्वि! साम्राज्यं सार्वभौमपदं, स्वाराज्यमैन्द्रं पदं भोज्यं तदुभयभोगभाक्त्वं, विविधं राजत इति विराट् तस्य भावो वैराज्यम् अणिमादिसिद्धिभाक्त्वमित्यर्थः। पारमेष्ठ्यं

ब्रह्मपदं अनन्यं मोक्षं हरेः पदं तत्सालोक्यादि न तु कामयामह इति। यद्वा बह्वृचब्राह्मणोक्तक्रमेण प्रागादिदिक्चतुष्टयाधिपत्यानि साम्राज्य भौज्य स्वाराज्यवैराज्यानि व्याख्येयानि ॥ ४१ ॥

कामयामह इति। तत्किं तत्पादरज एव काम्यते, अत आहुः - श्रियः कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यमिति ब्रह्मादि सेव्यया लक्ष्म्याऽपि सेवितत्वादिति भावः ॥ ४२ ॥

ननु, तर्ह्यतिदुर्लभत्वात्किं तद्वाञ्छया? अत आहुः - **व्रजस्त्रिय** इति। यद्यथा गावो गाः महात्मनोऽपि गाश्चारयतः पादस्पर्शञ्च गोपा यथा वाञ्छन्ति तद्वत् तत्पराणां सुलभ इति भावः ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

**वीर०** अथ षोडशसहस्रपत्नीनां गीतिमाह चतुर्भिः - **भौममिति**। सगणं ससैन्यं भौमं नरकं निहत्य क्षितिजये दिग्विजये जितानां राज्ञां कन्याः अस्मान् तेन नरकेन रुद्धाः ज्ञात्वा ततो मोचयित्वा संसृतेर्विमोक्षो यस्मात् तत्पदाम्बुज मनुस्मरन्तीरस्मान् आप्तकामोऽपि परिणिनाय उपयेमे ॥ ४० ॥

**नेति**। हे साध्वि! वयं साम्राज्यादीनि न कामयामहे तत्र साम्राज्यं सार्वभौमपदं, स्वाराज्यं ऐन्द्रपदं कैवल्यं वा, भोज्यं तदुभयभोगभाक्त्वमित्यर्थः। पारमेष्ठ्यं ब्रह्मपदं आनन्त्यमिति स्वार्थेष्यञ्। अनन्तं हरेः पदमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

तर्हि किं कामयध्वम्? तत्राऽऽहुः - एतस्य गदाभृतः, श्रियो लक्ष्म्याः कुचकुङ्कुमस्य गन्धेनाऽढ्यं श्रीमत्पादरजोमूर्ध्ना वोढुं कामयामह इति सम्बन्धः। श्रियः कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यमित्यनेन ब्रह्मादिसेवितया श्रियाऽपि सेव्यमानत्वात् पादरज एव कामयामह इति सूचितम् ॥ ४२ ॥

**नन्विति**। दुर्लभत्वात्किं तद्वाञ्छया? इत्यत आहुः व्रजस्त्रिय इति। महात्मनः निरवधिक सौशील्ययुक्तात्मनः अत एव गावः गाः चारयतो भगवतः यत् यथा व्रजस्त्रियः पुलिन्द्यः आरण्यकस्त्रियः तृणानि वीरुधश्च पादस्पर्शं वाञ्छन्ति, तद्वत् वयमपि कामयामह इत्यर्थः। सौशील्यसौलभ्याद्यनन्तकल्याणगुणाकरस्य भगवतः पादरजः तद्दासानां सुलभमेवेति भावः। तृणवीरुधो वाञ्छन्तीत्यनेन तृणादीनामपि भगवत्सान्निध्यातिशयहितचैतन्यानां तदिच्छावत्वं सूचितम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

# चतुरशीतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

श्रुत्वा पृथा सुबलपुत्र्यथ याज्ञसेनी माधव्यथ क्षितिपपत्न्य उत स्वगोप्यः ।
कृष्णेऽखिलात्मनि हरौ प्रणयानुबन्धं सर्वा विसिस्मुरलमश्रुकलाऽऽकुलाक्ष्यः[1] ॥ १ ॥

इति सम्भाषमाणासु स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभिर्नृषु ।
आययुर्मुनयस्तत्र कृष्णरामदिदृक्षया ॥ २ ॥

द्वैपायनो नारदश्च च्यवनो देवलोऽसितः ।
विश्वामित्रश्शतानन्दो भरद्वाजोऽथ गौतमः ॥ ३ ॥

रामस्सशिष्यो भगवान् वसिष्ठो गालवो भृगुः ।
पुलस्त्यः कश्यपोऽत्रिश्च[2] मार्कण्डेयो बृहस्पतिः ॥ ४ ॥

द्वितास्त्रिताश्चैकतश्च ब्रह्मपुत्रास्[3]तथाऽङ्गिराः ।
अगस्त्यो याज्ञवल्क्यश्च वामदेवादयोऽपरे ॥ ५ ॥

तान् दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रागासीना नृपादयः ।
पाण्डवाः कृष्णरामौ च प्रणेमुर्विश्ववन्दितम्[4] ॥ ६ ॥

1. B.G.J. °स्म्यु 2. MI.V. पुलगोऽ° 3. B.G.J. °त्रा° 4. K.T.W. °र्लोक

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुर्भिरधिकाशीतितमे मुनिसमागमे। वसुदेवमखोत्साहबन्धुप्रस्थापनादिकम् ॥

**श्रुत्वेति**। सुबलपुत्री गान्धारी, माधवी सुभद्रा, क्षितिपानां राज्ञां पत्न्यः स्वगोप्यः कृष्णभक्ता गोप्यः विसिस्म्युः विस्मयं चक्रुः ॥ १-६ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

**श्रुत्वेति**। सबलपुत्री गान्धारी, याज्ञसेनी द्रौपदी, माधवी सुभद्रा, अथ तथा क्षितिपानां राज्ञां पत्न्यश्च उतापि च गोप्यः कृष्णभक्ता गोप्यश्च रुक्मिण्यादीनामखिलान्तरात्मनि भगवति कृष्णे हरौ अमलं निष्कपटं प्रणयानुबन्धं प्रेमपारतन्त्र्य युक्तं वच इति यावत्। श्रुत्वा सर्वाः पृथादयः अश्रुकलाभिः आनन्दाश्रुबिन्दुभिः आकुले व्याप्ते अक्षिणी यासां ताः, विसिस्म्युः विस्मयं चक्रुः ॥ १ ॥

**इतीति**। स्त्रीषु स्त्रीभिस्सह सम्भाषमाणासु सतीषु तथा नृषु पुरुषेषु तैस्सह सम्भाषमाणेषु सत्सु ॥ २ ॥

आगतान्मुनीन्निर्दिशति - **द्वैपायन** इति त्रिभिः ॥ ३ ॥

तत्र रामः [1-]परशुरामः ॥ ४ ॥

ब्रह्मपुत्र इत्यङ्गिरसो विशेषम् । अपरे निर्दिष्टेभ्योऽन्ये च ॥ ५ ॥

विश्ववन्दितान् कृत्स्नजगद्वन्द्यानित्यर्थः[-1] ॥ ६ ॥

1- -1.T.W. omit

**तानानर्चुर्[1]तथा सर्वे सहरामोऽच्युतोऽर्चयत् ।**
**स्वागतासनपाद्यार्घ्यमाल्यधूपानुलेपनैः ॥ ७ ॥**

**उवाच सुखमासीनान् भगवान्धर्मगुप्तनुः ।**
**सदसस्तस्य महतो यतवाचोऽनुश्रुण्वतः ॥ ८ ॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**अहो वयं जन्मभृतो लब्धं कार्त्स्न्ये न तत्फलम् ।**
**देवानामपि दुष्प्रापं यद्योगेश्वरदर्शनम् ॥ ९ ॥**

**किं न्वल्प[2]तपसां नृणामर्चायां देवचक्षुषाम् ।**
**दर्शनस्पर्शनप्रश्नप्रह्वपादार्चनादिकम् ॥ १० ॥**

1. B.G.J. MI.V. °र्यथा 2. B.G.J.MI.V. स्वल्प

**श्रीध० तानिति**। आनर्चुः अर्चितवन्तः ॥ ७ ॥

**उवाचेति**। धर्मगोप्त्री तनुर्यस्य स धर्मगुप्तनुः, यता नियता वाक् यस्य तस्य सदसः ॥ ८ ॥

**अहो** इति। जन्मभृतः सफलजन्मानः तत्फलं जन्मफलं किं तत्? यद्योगेश्वरदर्शनम् ॥ ९ ॥

किञ्च युष्माकं दर्शनमेव तावद्देवानामपि दुष्प्रापमस्माकन्तु स्पर्शनादिकमपि कथन्नु घटितमिति विस्मयेनाऽऽह - **किमिति**। स्वल्पतपसां तीर्थस्नानादिमात्रे तपोबुद्धिर्येषां तथाऽर्चायां प्रतिमायां देव इति चक्षुर्दृष्टिर्येषां तेषां योगेश्वरदर्शनस्[1]पर्शनादिकमिदं [2-]किं सम्भावितं न सम्भावितमित्यर्थः[-2] ॥ १० ॥

1. B.J. omit स्पर्शन 2.- -2 B.J. किमसम्भावितमित्यर्थः।

**वीर० [1-]तानिति**। यदा सर्वे आनर्चुः अर्चितवन्तः तदा सरामोऽच्युतः[-1] कृष्णोऽपि तान् स्वागतप्रश्नादिभिरर्चितवान् ॥७॥

**उवाचेति**। धर्मगोप्त्री तनुर्यस्य भगवान् यतवाचो मौनीभूतस्य महतो विपुलस्य तस्य सदसि सभायां अनुश्रुण्वतः सतः सुखमासीनान् तान् द्वैपायनादीनुवाच ॥ ८ ॥

तदेवाऽऽह -**अहो** इति [2]पञ्चभिः। हे मुनयः! वयं जन्मभृतः सफलजन्मानो बभूविम तत्फलं जन्मफलं कार्त्स्न्येनाऽस्माभिर्लब्धञ्च। किं तत्? यद्देवानामपि दुर्लभं योगिनां वो दर्शनमिति ॥ ९ ॥

कथन्त्वेतद्घटितमिति विस्मयेनाऽऽह - **किन्विति**। अल्पं तपः पुण्यं येषां ते अर्चायां प्रतिमायामेव देवचक्षुर्देवताबुद्धिः येषां तेषामस्माकं वो दर्शनादिकं किन्नु कथं बभूवेत्यर्थः। प्रह्वशब्दः प्रणामपरः, प्रश्नःस्वागतप्रश्नः ॥ १० ॥

1- -1 T.W. omit 2. K.T.W. omit पञ्चभिः

**न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।**
**ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥ ११ ॥**

**नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारका न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः ।**
**उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया ॥ १२ ॥**

**यस्याऽऽत्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।**
**यस्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥ १३ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**निशम्येत्थं भगवतः कृष्णस्याऽकुण्ठमेधसः ।**
**वचो दुरन्वयं विप्रास्तूष्णीमासन् भ्रमद्धियः ॥ १४ ॥**

1--1 K.T.W. °द्धिस्तु जले

**श्रीध०** एतत्प्रपञ्चयति - न **ह्यम्मयानीति** त्रिभिः ॥ ११ ॥

**नेति**। वाङ्मनसयोरप्युपासनाविषयत्वं यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते (छान्दो.उ.7-2-2) इति श्रुतेः। अघं तन्मूलमज्ञानं च अग्न्यादयो न हरन्ति। अत्र हेतुः - भेदकृतो भेदकर्तारः। यद्वा भेदबुद्धिं कुर्वतः पुंसः विपश्चितो निरस्तभेदाः ते तु मुहूर्तमात्रसेवयैवाऽघं घ्नन्तीति ॥ १२ ॥

अतः साधून्विहाय अन्यत्राऽऽत्मादिबुद्धया सज्जमानोऽतीवमन्द इत्याह - **यस्येति**। आत्मबुद्धिरहमिति बुद्धिः। त्रयो धातवो वातपित्तश्लेष्माणः प्रकृतयो यस्य तस्मिन् कुणपे शरीरे स्वधीः स्वीया इति बुद्धिः भौमे भूमिविकारे मृच्छिलादौ इज्यधीः देवताबुद्धिः, यद्यस्य तीर्थबुद्धि तीर्थमिति बुद्धिः अभिज्ञेषु तत्त्ववित्सु यस्य एताः बुद्धयो न सन्ति स एव गोष्वपि खरो दारुणोऽत्यविवेकी। यद्वा, गवां तृणादिभार वहः खरो गर्दभ इति ॥ १३ ॥

**निशम्येति**। दुरन्वयम् अननुरूपं भ्रमन्त्यनवस्थिता धीः बुद्धिर्येषां ते ॥ १४ ॥

**वीर०** नन्वर्चायां देवचक्षुः पवित्रावहमपि किमिति तत्तुच्छीकरोषीत्यत्राऽऽह - **न हीति**। अम्मयानि तीर्थानि मृण्मयाः शिलामयाश्च देवाश्च दर्शनादेव न पुनन्ति, किन्तु उरुकालेन। साधवस्तु दर्शनादेव पुनन्तीत्यर्थः। तीर्थानीति दृष्टान्तार्थम् ॥ ११ ॥

देवा उरुकालेनैव पुनन्तीत्येतत् प्रपञ्चयति - **नाग्निरिति**। भूजलादिशब्दैः तदभिमानिदेवताः लक्ष्यन्ते, ता अग्न्यादयश्चोपासिता भेदकृतः आत्मनि देहगतभेदं कुर्वाणस्याऽघं हरन्ति, उरुकालसेवया हरन्तीत्यर्थः। विपश्चितः साधवस्तु मुहूर्तसेवयैव हरन्ति इति। अघशब्देन तन्मूलमज्ञानञ्च विवक्षितम् ॥ १२॥

यत एवमतोऽर्चादेव चक्षुषं क्षिपन् अर्थान्तरमप्याह - **यस्येति**। यस्य पुंसः त्रिधातुके वातपित्तश्लेष्ममये कुणपे शवप्राये शरीरे आत्मबुद्धिः आत्माभिमानः कलत्रेषु दारेषु स्वधीः स्वकीयबुद्धिः, एवम् अहम्ममाभिमानौ उक्तौ पार्थिवप्रतिमादौ इज्यधीः देवताबुद्धिः जले गङ्गादिजले एव तीर्थबुद्धिः कर्हिचिदप्यभिज्ञेषु स्वात्मपरमात्मयाथात्म्याभिज्ञेषु भवादृशेषु नेज्यधीः न तीर्थबुद्धिश्च स पुमान् गोखर एव गोप्रायः खरप्रायश्च। यद्वा, गवां सम्बन्धी खरः तदर्थतृणभारार्थखरसदृशः, अतीव अज्ञ इत्यर्थः। न हि निन्दान्यायेनेयं साधुजनप्रशंसा ॥ १३ ॥

**निशम्येति**। अकुण्ठा प्रतिहतिरहिता मेधा यस्य तस्य भगवतः कृष्णस्य दुरन्वयम् अननुरूपं वचो निशम्य भ्रमन्ती अनवस्थिता धीर्येषां तथाभूताः तूष्णीमासन् अहो स्वभजनाऽऽहितमाहात्म्यान् अस्मानयं स्वस्मादुत्कृष्टतमान् वदति अतो विपरीतमेतद्वच इत्येवं तावत् भ्रमद्धियः इत्यर्थः ॥ १४ ॥

1. B omits तत्

**चिरं विमृश्य मुनय ईश्वरस्येशितव्यताम् ।**
**जनसङ्ग्रह[1] इत्यूचुः स्मयन्त स्तं जगद्गुरुम् ॥ १५ ॥**

**मुनय ऊचुः**

**यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा वयं विमोहिता विश्वसृजामधीश्वरा[2] ।**
**यदीशतव्यायति गूढ ईहया अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितम् ॥ १६ ॥**

**अनीह एतद्बहुधैक आत्मना सृजत्यवत्यत्ति न तत्र[3-] बध्यते[-3] ।**
**भौमैर्हि भूमिर्बहुमानरूपिणी अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ॥ १७ ॥**

**अथाऽपि काले स्वजनाभिगुप्तये बिभर्षि सत्त्वं खलनिग्रहाय च[4] ।**
**स्वलीलया वेदपथं सनातनं वर्णाश्रमात्मा पुरुषः परो भवान् ॥ १८ ॥**

1. K.T.W. °हमि° 2. B.G.J.MI.V. °रा: 3- -3. B.G.J. बध्यते यथा ;K.T.W. सज्यते यथा 4. MI.V.Omit च

**श्रीध० चिरमिति**। ईशितव्यतामनीश्वरतां कर्माधिकारितां जनसङ्ग्रहमात्रमेतदित्यूचुः, स्मयन्तो स्मयमाना[1-]:[-1] हसन्तः ॥ १५ ॥

दुरन्वयं विवृण्वन्त आहु र्द्वाभ्यां **यन्माययेति**। तत्त्वविदुत्तमा अपि वयं काऽसौ माया यया विमोहिता इति तामाहुः- यदिति। यद्यस्मात् ईहया नरचेष्टितेन गूढस्सन् ईशितव्यायति अनीश्वरवदाचरति भवान्। नन्वहमीश्वरश्चेत् किमित्येवमाचरेयम्? तत्राऽऽहुः - अहो इति। भगवतः तव विचेष्टितं विचित्रमविचक्र्यमेव ॥ १६ ॥

भगवत्त्वमेवाऽऽहुः - **अनीह** इति। अनीहोऽक्रिय एव आत्मना स्वरूपमात्रेण। बहुधेत्यत्र दृष्टान्तः यथा भौमैरिति। भौमैः घटादिविकारैः उपलक्षिता 'वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छान्दो.उ.6-1-5) इति श्रुतेः। ननु कथमहं जगत्सृष्ट्यादिकर्ता देवकीवसुदेवपुत्रत्वादिति तत्राऽऽहुः - अहो इति। विभूम्नः परिपूर्णस्य तवेदं जन्मादिचरितं विडम्बनमनुकरणमात्रं, न तु तत्त्वमिति ॥ १७ ॥

जनसङ्ग्रहमाहुः - **अथापीति** त्रिभिः। सत्त्वं शुद्धसत्त्वात्मकं रूपं बिभर्षि स्वलीलया आचारेण वेदपथञ्च बिभर्षि ॥१८॥

1- -1 B.J. omit 2. B.J. °मतर्क्य° 3. B.J. omit देवकी

**वीर० चिरमिति**। जनसङ्ग्रहम् अकृत्स्नविदो जनाः इत्थं साधून् भजेयुः इत्येवंविधजनानुग्रहरूपम् ईश्वरस्य भगवतः ईशितव्यतां (कर्माधिकारितां) चिरमालोच्य स्मयन्त ईषद्धसन्तः जगद्गुरुं कृष्णं प्रति इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण ऊचुरित्यन्वयः ॥ १५ ॥

तमेवाऽऽह - **यदिति**। हे विश्वसृजां ब्रह्मादीनामधीश्वर! तत्त्वविच्छ्रेष्ठा अपि वयं त्वन्मायया विमोहितास्ताव त्त्वदभिप्रायं जनसङ्ग्रहात्मकमवगन्तुमसमर्था बभूविमेत्यर्थः। कोऽसावभिप्रायः इत्यतस्तं निर्दिशन्ति, यदिति। गूढ ईहयेति सर्वेश्वरोऽपि भगवानीहया गूढः मनुष्यचेष्टया छन्नः ईशितव्ययति ईशितव्यवत् कर्मवश्यवत् आचरतीत्यर्थः। यत एवं तस्मादहो भगवतस्तव चेष्टितमहो विचित्रमतिविचित्रमित्यर्थः। यद्वा, तत्वविदुत्तमा अपि तावत्त्वन्मायया मोहिता इति चित्रम्। ईश्वरोऽपि ईहया गूढस्सन् ईशितव्यायति इति यत् तद्भगवतस्तव चेष्टितमहो विचित्रमित्यर्थः। 'यदीशतव्याः स तु गूढ ईहया 'इति पाठे तु यस्येशितव्या वयं स ईश्वरो मनुष्यचेष्टया छन्न इत्यर्थः ॥ १६ ॥

विश्वसृजामधीश्वरत्वे सम्बोधनाभिप्रेतं कृत्स्नजगत्स्रष्टुत्वं व्यञ्जयन्तो विस्मयन्ते - **अनीह** इति। अनीहः कर्मायत्त चेष्टारहितः भवानेकः कारणावस्थायामेक एव सन् आत्मनैतज्जगत् बहुधा सृजति । बहुधेत्यनेन नामरूपविभागनिबन्धनं बहुत्वविवक्षितम्। एक इत्यनेन तु तत्प्रतिसम्बन्ध्येकत्वम् तदयमर्थः - व्याकरिष्यमाणकार्यावस्थचिदचिद्गतनामरूप विभाग निबन्धनबहुत्वप्रतिसम्बन्धितदविभागनिबन्धनैकत्वापन्नचिदचिच्छरीरकतया एकत्वव्यपदेशार्होपादानकारणतया तावदवस्थितो बहुधैतज्जगत्सृजतीति। एवञ्च, एक इत्यनेनोपादानत्वं फलितं सृजतीति। कर्तृत्वनिर्देशान्निमित्तत्वम् आत्मनेत्यनेन

स्वस्यैवोपकरणत्वं वदतोपकरणान्तरनिरपेक्षत्वम् अवति रक्षति, अत्ति संहरते च। अथाऽपि न सज्जते। सृज्यचिदचिद्गतैर्दोषैर्न स्पृश्यते इत्यर्थः। अनेनोपादानत्वप्रयुक्तविकाराश्रयत्वप्रसङ्गः परिहृतः। विकाराणां चिदचिद्द्वारकत्वेन स्वतो न सृज्यत इति भावः। एकस्यैव सतोऽनेकधापत्तौ दृष्टान्तः - यथा भौमैः भूमिः बहुनामरूपिणीति यथा एकैव मृत् भौमैस्तदविकारैः घटशरावमणिकादिभिः बहूनि रूपाण्यवस्थास्सन्तीति तथाभूता। तथैकोऽपि भगवान् बहुरूपो बभूवेत्यर्थः। विभूम्नो भगवतः तवेदं चरितं विडम्बनमनुकरणम् अहो अति विचित्रमित्यर्थः ॥ १७ ॥

ननु, नाऽहं विश्वसृजामधीश्वरः, अपि तु वसुदेवसुतः, अन्यथा सर्वेश्वरस्यैवं मनुष्यतापत्तिर्न घटत इत्यत आहुः - **अथापीति**। यद्यपि ईश्वरः, तथाऽपि स्वजनानां स्वभक्तानां साधूनामभिगुप्तये परित्राणाय खलानां दुष्कृतां निग्रहाय च सत्त्वं शुद्धसत्त्वमयं रूपं बिभर्षि स्वलीलारूपेण आचारेण सनातनं वेदपथं च बिभर्षि पुष्णासि। कथम्भूतः? परः प्रकृतिपुरुषविलक्षणः पुरुषोऽपि वर्णाश्रमात्मा वर्णाश्रमोपलक्षितजीवात्मेव सन्नित्यर्थः। यद्वा एवं वर्णाश्रमात्मा वर्णाश्रमयुक्त जीवात्मा इव प्रतीयमानोऽपि भवान् परः पुरुषः परमपुरुष एवेत्यर्थः ॥ १८ ॥

**ब्रह्म ते हृदयं शुक्लं तपस्स्वाध्यायसंयमैः ।**
**यत्रोपलब्धं सद्व्यक्तमव्यक्तञ्च ततः परम् ॥ १९ ॥**

**तस्माद्ब्रह्मकुलं ब्रह्मन् शास्त्रयोनेस्तवात्मनः[1] ।**
**सभाजयसि सद्धाम[2] तद्ब्रह्मण्यग्रणीर्भवान् ॥ २० ॥**

**अद्य नो जन्मसाफल्यं विद्यायास्तपसो दृशः ।**
**त्वया सङ्गम्य सद्गत्या यदेतत्[3] श्रेयसां परम्[4] ॥ २१ ॥**

**नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाऽकुण्ठमेधसे ।**
**स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्ने परमात्मने ॥ २२ ॥**

1. B.G.J. °स्त्वमा° ;K.T.W. °र्महा° 2. K त° 3. B.G.J. यदन्तः ;Ml.V. यत्त्वं निश्श्रे° 4. B.G.J.Ml.V. परः।

**श्रीध०** अत एव ब्राह्मणेषु बहुमानमपि करोषीति सहेतुकमाहुः - **ब्रह्मेति**। ब्रह्म वेदाख्यं शुक्लं शुद्धं ते हृदयमन्तरङ्गं रूपं कुतः इत्यत आहुः - यत्रेति। यत्र ब्रह्मणि व्यक्तं कार्यम्, अव्यक्तं कारणं ततः परं सत् सन्मात्रं ब्रह्म च तप आदिभिरुपलब्धं तद्ब्रह्म ॥ १९ ॥

**तस्मादिति**। तस्माद्वेद हृदयत्वात् वेदप्रवर्तकं ब्राह्मणकुलं शास्त्रयोनेः वेदप्रमाणकस्य तव सद्धाम श्रेष्ठमुपलब्धि स्थानं सभाजयसि सम्पूजयसि। तत् तस्मादेव कारणात् त्वं ब्रह्मण्यानामग्रणीः मुख्यः तत्प्रवर्तकस्सन् कर्माचरसीत्यर्थः ॥ २० ॥

तस्मादीश्वरस्य तवेदं जनसङ्ग्रहमात्रं वयं तु तव सङ्गत्या कृतार्था इत्याहुः - **अथेति** षड्भिः। सतां गत्या त्वया सङ्गम्य सङ्गं प्राप्य यत् यस्मात् त्वं श्रेयसां[1] परोऽवधिः ॥ २१,२२ ॥

1. MI.V. निश्श्रे°

**वीर०** यतो वेद (मयं) पथं बिभर्षि अत एव ब्राह्मणान् बहुमन्यसे इत्याहुः - ब्रह्मेति द्वाभ्याम्। शुद्धं भ्रमविप्रलिप्सादि पुरुषदोषासंस्पृष्टं ब्रह्म वेदः ते तव हृदयम् अन्तरङ्गं तद्ब्रह्म विशिंषन्ति तप इत्यादिना। यत्र यतो वेदा तपादिभिस्सह सत् परमार्थं व्यक्तं कार्यम् अव्यक्तं कारणम्। यद्वा, व्यक्तं शरीरम्, अव्यक्तं आत्मस्वरूपं ततस्ताभ्यां परं विलक्षणं परमात्मस्वरूपञ्च उपलब्धं यथावदवगतं यत्तत्त्वत्रय तप आदि याथात्म्यावेदकं ब्रह्म तत्तव हृदयमित्यर्थः। तत्र तपोऽनशनादिरूपं,स्वाध्यायोऽध्ययनं,संयमः वर्णाश्रमानुरूपो धर्मः ॥ १९ ॥

**तस्मादिति**। यस्मादुक्तविधं ब्रह्म तव हृदयं तस्मादित्यर्थः। शास्त्रं वेदः योनिः स्वप्रमितिकारणं यस्य तस्य सर्वान्तरात्मनस्तव ब्रह्मकुलं स्थानम् उपलब्धिस्थानं त्वद् याथात्म्यावबोधकवेदाधारभूतमित्यर्थः। एवं हेतुनिर्देशः तस्मात्तद्धाम ब्राह्मणकुलरूपं धाम सभाजयसि बहुमन्यसे। किञ्च ब्रह्मण्यानां ब्राह्मणान् बहुमन्यमानानां अग्रणीः श्रेष्ठश्च भवान् अतोऽपि सभाजयसीति भावः ॥ २०॥

आत्मनां कृतार्थतामाविष्कुर्वन्ति - **अद्येति**। सतां साधूनां गत्या प्राप्यप्रापकभूतेन त्वया सङ्गम्य नोऽस्माकम् अद्य जन्मसाफल्यं जातं तथा विद्यायाः तपसो दृशोर्नेत्रयोश्च साफल्यमित्यन्वयः। कुतः? यत् यतः एतत्त्वत्सङ्गमनं श्रेयसामपि परमुत्कृष्टं श्रेयः ॥ २१ ॥

किञ्च, यथावद्विज्ञातुं न शक्नुम इत्यभिप्रायेण प्रणेमुः - **तस्मा** इति। स्वयोगमायया स्वासाधारणाश्चर्यशक्त्या छन्नो गूढो महिमा ऐश्वर्यं यस्य तस्मै परमात्मनेऽन्तःप्रविश्य प्रशासनेन भर्त्रे ॥ २२ ॥

**न यं विदन्त्यमी भूपा एकारामाश्च वृष्णयः ।**
**मायायवनिकाच्छन्नमात्मानं कालमीश्वरम्[1] ॥ २३ ॥**

**यथा शयानः पुरुष आत्मानं गुणतत्त्वदृक् ।**
**नाममात्रेन्द्रियाभातं न वेद रहितं परम् ॥ २४ ॥**

**एवं त्वा नाममात्रेषु विषयेष्विन्द्रियेहया ।**
**मायया विभ्रमच्चित्तो न वेद स्मृत्युपप्लवात् ॥ २५ ॥**

**तस्याऽद्य ते ददृशिमाङ्घ्रिमघौघमर्ष तीर्थास्पदं हृदिकृतं सुविपक्वयोगैः ।**
**उत्सिक्तभक्त्युपहताशयजीवकोशा आपुर्भवद्गतिमतः अनुगृहाण भक्तान् ॥ २६ ॥**

1. G.J. ज° 2- -2. K.T.W. त्वामाश्रितं ब्रह्मन् नाममात्रेन्द्रिये° ;Ml.V. त्वाऽयं जनो ब्रह्मन् नाममात्रेन्द्रिये° 3. K.T.W. °क्त्युपहता° ; Ml.V. °क्त्यपहतां° 4. B.G.J. °थोऽनु ;T.W. °थाऽनु

**श्रीध० नेति**। एकस्मिन्नेव स्थाने आरामो येषां तेऽपि कालं सृष्ट्यादिकारणम् ईश्वरं नियन्तारम् ॥ २३ ॥

एतत्सदृष्टान्तमाह - **यथेति**। शयानः स्वप्नान् पश्यन् गुणतत्त्वदृक् स्वप्नविषयेषु तत्त्वदृष्टिः नाममात्रमिन्द्रियेण मनसा आभातं सिंहव्याघ्रादिरूपमात्मानं वेद तद्रहितं देवदत्तादिरूपमात्मानं न वेद यथा ॥ २४ ॥

**एवमिति**। एवं त्वा त्वां नाममात्रेषु स्वप्नादितुल्येषु विषयेष्विन्द्रियैर्वा ईहा प्रवृत्तिः सैव माया तथा विभ्रमच्चित्तो न वेद, स्मृतेः विवेकस्य उपप्लवान्नाशात् ॥ २५ ॥

**तस्येति**। अघौघस्य मर्ष नाशं करोति यद्गङ्गाख्यं तीर्थं तस्याऽऽस्पदमाश्रयं तेऽङ्घ्रिं सुविपक्वयोगैरपि हृदि कृते केवलं न तु दृष्टं, तस्य तेऽङ्घ्रिं ददृशिम दृष्टवन्तो वयं बहुभिः पुण्यैः, अतोऽस्मान् भक्ता ननु गृहाण भक्तान् कृत्वाऽनुग्रहं कुर्वित्यर्थः। ननु किं भक्त्या, यथापूर्वं तप एव तप्यतामिति नेत्याहुः, उत्सिक्ता उद्रिक्ता या भक्तिः तयोपहत आशयलक्षणो जीवकोशो येषां त एव पूर्वे भवद्गतिमापुर्नाऽन्य इति ॥ २६ ॥

1. Ml.V. भगवद्गतिमापु°

**वीर०** केवलं वयमेव न शक्नुमः, अपि तु शश्वत्सहचरा वृष्णयोऽपीत्यभिप्रेत्याहुः - **नेति**। एकस्मिन् स्वात्मन्ये वाऽऽरमन्त इति तथा ते केवलप्रत्यगात्मानुभवपराश्च यं त्वां न विदन्ति यथावन्न जानन्ति। कथम्भूतम्? सर्वजीवमोहिनी मायैव यवनिका तिरस्कारिणी तथा छन्नं भूपादिज्ञानविषयम् आत्मानमीश्वरमन्तरात्मतया सन्तमपि कालं बहिः कालरूपेण परिच्छन्दन्तम् ॥ २३ ॥

एतत्सदृष्टान्तमाहुः - **यथेति**। गुणतत्त्वदृक् गुणेषु सत्त्वादिगुणकार्येषु शब्दादिविषयेषु तत्त्वदृक् पुरुषार्थदर्शी। यद्वा,

गुणतत्त्वं गुणपरिणामरूपं तत्त्वं देहमात्मतया पश्यतीति तथा स शयानः पुरुषो यथा नाममात्रेन्द्रियाभानं, मात्रा शब्देन रूपं विवक्षितम्। स्वाप्ननामरूपेन्द्रियैरवभातमुपलक्षितं युक्तमित्यर्थः। तमात्मानं वेद, न तु स्वतो नामादिरहितं परं देहाद्विलक्षण मात्मानं वेद ॥ २४ ॥

एवं जाग्रत्पुरुषोऽपि हे ब्रह्मन्! मायया त्वन्मायामूलया नाममात्रेन्द्रियेहया नाममात्रेन्द्रियानुगुणया[1] चेष्टया यः स्मृत्युप प्लवः स्वात्मपरमात्मयाथात्म्यविषयः स्मृतेः प्रमोषः तस्माद्विभ्रमत् अनात्मानं देहमात्मतया पारतन्त्रं स्वतन्त्रतया च गृह्णञ्चित्तं यस्य सः, त्वामात्माश्रितम्, कर्तरि क्तः। तं प्रत्यगात्मानमेव न वेद प्रत्यगात्मनः परमात्मानं त्वां न वेदैवेति कैमुत्यसिद्ध मित्यर्थः ॥ २५ ॥

तर्हि कैरप्यविज्ञेयोऽहमनुपास्योऽमोक्षदश्चेत्यत आहुः - **तस्येति**। अघौघस्य मर्षं शुद्धिं करोति यद्गङ्गादितीर्थं तस्याऽऽश्रयमास्पदं ते तवाङ्घ्रिं सुविपक्को योगो भक्तियोगो येषां तैर्हृदिकृतं साक्षात्कृतं वयमधुना ददृशिम। सुविपक्क योगै र्हृदिकृतमित्यनेन योगपरिशुद्धमनुपास्यत्वञ्च निरस्तम्। उत्सिक्तया उद्रिक्तया भक्त्या अपहृतः आशया वासना जीवकोशः अज्ञानरूपः कोशश्च येषां ते । कोशवदावारकत्वात् कोशत्वरूपणम् । भवद्गतिं प्रापुः। अनेन मुक्तप्राप्यत्वमुक्तम्। यत एवमतो भक्तानस्मान् अनुगृहाण ॥ २६ ॥

1. B. °णचे°

**श्रीशुक उवाच**

**इत्यनुज्ञाप्य[1-] दाशार्हं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरम् ।**
**राजर्षे[2] स्वाश्रमान् गन्तुं मुनयो दधिरे मनः ॥ २७ ॥**

**तद्वीक्ष्य तानुपव्रज्य[3] वसुदेवो महायशाः ।**
**प्रणम्य चोपसङ्गृह्य बभाषेदं सुयन्त्रितः ॥ २८ ॥**

**वसुदेव उवाच**

**नमो वस्सर्वदेवेभ्य ऋषयः श्रोतुमर्हथ ।**
**कर्मणा कर्मनिर्हारो यथा स्यान्नस्तदुच्यताम् ॥ २९ ॥**

**श्रीनारद उवाच**

**नातिचित्रमिदं विप्रा वसुदेवो बुभुत्सया ।**
**कृष्णं मत्वाऽर्भकं यन्नः पृच्छति श्रेय आत्मनः ॥ ३० ॥**

1--1. K.T.W. इतीदमुक्त्वा 2. Ml.V. राजंस्ते 3.Ml.V. °ननु°

**श्रीध० तदिति**। उपसङ्गृह्य चरणौ पाणिभ्यां धृत्वा बभाषे। बभाषेदमिति सन्धिरार्षः ॥ २७,२८ ॥

**नम** इति। सर्वे देवा येषु तेभ्यः "यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति" (सह.वा.उ.19) इति श्रुतेः। येन कर्मणा यथाकृतेन वा। कर्मणां निर्हारो निरासो भवति तदच्युताम् ॥ २९ ॥

श्रीकृष्णं हित्वा अस्मान् पृच्छतीति विस्मितान्प्रत्याह - **नातीति**। बुभुत्सया बोद्धुमिच्छया ॥ ३० ॥

**वीर० इतीति** दाशार्हं श्रीकृष्णम्। इदमुक्त्वा अनुज्ञां पृष्ट्वेत्यर्थः। हे राजर्षे! मनो दधिरे मनश्चक्रुः ॥ २७ ॥

**तदिति**। तन्मनोधानं वीक्ष्य तान्मुनीनुपव्रज्य समीपमेत्य प्रणम्योपसङ्गम्य चरणौ पाणिभ्यां धृत्वा सुयन्त्रितोऽवहितचित्तः इदं वक्ष्यमाणं बभाषे ॥ २८ ॥

सर्वे देवा येषु तेभ्यः युष्मभ्यं नमः। हे ऋषयः! श्रोतुं मद्वच इति शेषः। 'यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति' (सह.वा.उ.19) इति श्रुतिप्रसिद्ध्यभिप्रायेण सर्वदेवेभ्य इत्युक्तम्। किं तद्वच इत्यत आह - कर्मणेति। यथा यथाऽनुष्ठितेन कर्मणा वर्णाश्रमानुगुणेन कर्मणां भगवद्भक्तियोगोत्पत्तिप्रतिबन्धकानां प्राचीनपुण्यापुण्यात्मकानां निर्हारः स्यादिति तदुच्यतां तत्रोत्तरमुच्यतामित्यर्थः ॥ २९ ॥

इत्थं पृष्टेषु मुनिषु किं सर्वज्ञं कृष्णं हित्वा अस्मान् पृच्छतीत्येवं संशयितवत्सु तान्प्रतिप्रश्नकारणमुत्थापयन्नाह नारदः **नातिचित्रमिति** चतुर्भिः। हे विप्राः। वसुदेवः आत्मनः स्वस्य श्रेयस्साधनं बोद्धुमिच्छया नोऽस्मान् पृच्छतीत्येतन्नाति चित्रम्। तत्र हेतुः - कृष्णमर्भकं मत्वेति। मत्वा नः पृच्छतीति सम्बन्धः ॥ ३० ॥

**सन्निकर्षो[1] हि मर्त्यानामनादरणकारणम् ।**
**गाङ्गं हित्वा यथाऽन्याम्भस्तत्रत्यो याति शुद्धये ॥ ३१ ॥**

**यस्यानुभूतिः कालेन लयोत्पत्त्यादिनाऽस्य वै ।**
**स्वतोऽन्यस्माच्च गुणतो न कुतश्चन[2] रिष्यति ॥ ३२ ॥**

**तं क्लेशकर्मपरिपाकगुणप्रवाहै रव्याहतानुभवमीश्वरमद्वितीयम् ।**
**प्राणादिभिः स्वविभवैरुपगूढमज्ञो[3] मन्येत सूर्यमिव मेघहिमोपरागैः ॥ ३३ ॥**

**अथोचुर्मुनये राजन् आभाष्यानकदुन्दुभिम् ।**
**सर्वेषां श्रुण्वतां राज्ञां तथैवाऽच्युतरामयोः ॥ ३४ ॥**

1. J.Ml.V. °र्षोऽत्र 2. Ml.V. °श्चिन्न 3. B.G.J.Ml.V. °न्यो

**श्रीध० सन्निकर्ष** इति। तत्रत्यो गङ्गातीरवासी ॥ ३१ ॥

श्रीकृष्णेऽर्भकत्वं मन्यमानोऽविद्याविजृम्भित इत्याह - **यस्येति** द्वाभ्याम्। अनुभूतिर्ज्ञानम् कुतश्चिदपि न रिष्यति न नश्यति तदेवाऽऽह - कालेन कर्कटिका फलवत् अस्य विश्वस्य लयोत्पत्त्यादिनाऽपि स्वतश्च[1] विद्युदादिवत् अन्यस्माच्च मुद्गरादेर्घटादिवत् गुणतो रूपाद्यन्तरोत्पत्तेः पूर्वरूपादिना देहादिवत् ॥ ३२ ॥

**तमिति**। तमेव कुतश्चिदप्यव्याहतानुभवमत एवेश्वरं किञ्च अद्वितीयं कृष्णम् अन्यः प्राकृतः उपगूढमाच्छन्नं मनुष्यं मन्येत? कैः क्लेशकर्मादिभिः तत्र क्लेशाः रागादयश्च तत्पूर्वकाणि कर्माणि च तत्परिपाके सुखदुःखे च सत्वादीनां गुणानां पुनःपुनः प्रवाहश्च तैः प्राणादिभिश्च स्वैर्विभवैः स्वकार्यैः। अत्र दृष्टान्तः मेघहिमोपरागैः अभ्रतुषारराहुभिः स्वविभवैः सूर्यमिवेति ॥ ३३, ३४ ॥

1. Ml. V. एव

**वीर०** तत्कृत इत्यत आह - **सन्निकर्ष** इति। हि यस्मात् सन्निकर्षः निरन्तरसान्निध्यमनादरणकारणम्। ततः कृष्णमर्भकं मत्वेत्यर्थः। सन्निकर्षस्य अनादरणकारणत्वे दृष्टान्तः -गाङ्गमिति। यथा तत्रत्यो गङ्गातीरस्थो गाङ्गमम्भो हित्वा अनादृत्य आत्मनो विशुद्धये विशुद्ध्यर्थं अन्याम्भः प्रति याति पुण्यजलान्तरं याति तद्वत् ॥ ३१ ॥

एवं सन्निकर्षस्य अनादरकारणत्वमुक्त्वा सर्वज्ञत्वानभिज्ञानमपि तत्कारणमिति वक्तुं तावत्कृष्णस्य नित्यसर्वज्ञतामाह-

**रस्येति**। यस्य कृष्णस्यानुभूतिः ज्ञानं कालादिभिः न रिष्यति न नङ्क्ष्यति तं श्रीकृष्णमित्युत्तरेण सम्बन्धः यथा अस्मदादीनामनुभूतेः कालादिभिः प्रमोषः तथा नेश्वरस्येति भावः। अस्य जगत उत्पत्यादिनेत्यादिशब्देन प्रलयः, गुणाः सत्वादयः त्रयः, कुतश्चन उक्तातिरिक्तादन्यस्मादपि कालादयो ह्यन्येषां ज्ञानलोपहेतवः तैस्सङ्कुचितज्ञान इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

तदेव सदृष्टान्तमुपपादयति - **तमिति**। क्लेशाः कर्माणि च पुण्यापुण्यात्मकानि च तेषां परिपाकः सुखदुःखे च गुणानां सत्त्वादीनां पुनः[1]पुनः प्रवाहश्च तैरव्याहतोऽनुभवो [2]महिमा यस्य तमद्वितीयं स्वतुल्यरहितमीश्वरं श्रीकृष्णं स्वविभवैः प्राणादिभिः इन्द्रियादिभिः उपगूढमावृतं प्राकृतेन्द्रियतद्व्यापारैः तिरोहितानुभवं मन्येत मन्यते। अज्ञेति हेतुगर्भं स्वयमज्ञत्वादेवम्भूतमपीश्वरं स्वतुल्यं मन्यत इत्यर्थः। अत्र दृष्टान्तः मेघहिमोपरागैः अभ्रतुषारराहुभिः स्वविभवैः सूर्यमिवेति ॥ ३३ ॥

एवमुक्त्वा सर्वे मुनयः सम्भूयोचुरित्याह - **अथेति**। आभाष्य सम्बोध्य सर्वेषां राज्ञां श्रुण्वतां सतां तथैवाऽच्युतराम योरपि श्रुण्वतोस्सतोः (मुनय ऊचुः आभाष्य सम्बोध्य हे राजन्! परीक्षित!) ॥ ३४॥

1. B. omits पुनः 2. T.W. omit महिमा

**कर्मणा कर्मनिर्हार एष साधु निरूपितः ।**
**यदृच्छया यजेद्विष्णुं सर्वयज्ञेश्वरं मखैः ॥ ३५ ॥**

**चित्तस्योपशमोऽयं वै कविभिश्शास्त्रचक्षुषा ।**
**दर्शितस्सुगमो योगो धर्मश्चाऽऽत्ममुदावहः ॥ ३६ ॥**

**अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः ।**
**यच्छ्रद्धयाऽऽप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषः ॥ ३७ ॥**

**वित्तैषणां यज्ञदानैर्गृहैर्दारसुतैषणाम् ।**
**आत्मलोकैषणां देवकालेन विसृजेद्बुधः ।**
**ग्रामेत्यक्तैषणा स्सर्वे ययु र्धीरास्तपोवनम् ॥ ३८ ॥**

1- -1. K.T.W. °श्चात्र सुखा° 2. K.T.W. °त्ते 3. K.T.W. °ते° 4. K.T.W. °के° 5. K.T.W. °क्ते°

**श्रीध०** चित्तस्योपशमः उपशमहेतुः योगो मोक्षोपायश्च शनैरात्ममुदमावहतीति तथा सुगमः प्रवृत्याश्रयत्वात् धर्मश्चाऽऽवश्यकः। अन्यथा विहिताकरणेन मालिन्यप्रसङ्गात् ॥३५,३६॥

ननु, 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' (म.ना.उ.८-१४) इत्यादिना आदावेव त्यागस्य अशक्यत्वादित्याशयेनाऽऽहुः **अयमिति** सार्धचतुर्भिः। स्वस्त्ययनः स्वस्ति क्षेममीयतेऽनेनेति तथा। श्रद्धया निष्कामतया शुक्लेन शुध्देनाऽऽप्तेन वित्तेन पूरुष ईश्वर इज्येतेति यदेष पन्थाः ॥३७॥

स्वस्त्ययनमाहुः - **वित्तैषणामिति**। वित्तफलभूतैर्यज्ञैः दानैश्च वित्तेषणां वित्तेच्छां विसृजेत्। गृहैः गृहोचितैः भोगैः दारसुतेषणां विसृजेत्, तदनुभवेनैव तदौत्सुक्यनिवृत्तेः। देहे मृते आत्मनः स्वर्गादिलोकेषणां कालेन क्षयानुसन्धानेन विसृजेत्। देव हे वसुदेव! यद्वा, देवकालेन देवानामपि मृत्युना मृत्युहेतुभूतेनेत्यर्थः। अत्राऽऽचारं प्रमाणयति - ग्राम इति ॥३८॥

**वीर०** उक्तिमेवाऽऽह - **कर्मणेति**। साधु यथा तथा एष एवेति निरूपितः। कोऽसौ? यत्सर्वेषां यज्ञानामीश्वरं निर्वाहकं विष्णुं श्रद्धया मखैः यज्ञैः यजेदाराधयेदित्येषः ॥ ३५ ॥

**चित्तस्येति**। अयं विष्ण्वाराधनरूपो धर्मः अत्र लोके चित्तस्योपशमः शान्त्यावहः सुखावहःनिरतिशयमोक्षसुखावहश्च अतोऽयमेव सुगमोपाय इति मुनिभिः शास्त्रमेव चक्षुस्तेन दर्शितः। ण्यन्तात् दृशेर्निवृत्ते प्रेरणात् कर्मणि क्तः, दृष्ट इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

**अयमिति**। द्विजातेस्त्रैवर्णिकस्य गृहाश्रमिणः श्रेयः प्रापकोऽयमेव पन्थाः। कोऽसौ? शुक्लेन शुद्धेन आप्तवित्तेन परपीडादिकमन्तरेणलब्धेन धनेन पुरुषः परमपुरुषः श्रद्धया इज्यतेति अयं भक्तियोगोत्पत्ति प्रतिबन्धनिरसनद्वारा मोक्षसुखावहः पन्थाः केवलमीश्वराराधनात्मक यज्ञ एवेत्यर्थः ॥ ३७ ॥

आप्तवित्तेन इज्यतेत्युक्तं सम्यग्व्यय एव वित्तस्य प्रयोजनमिति वदन्तः प्रसङ्गात् अन्यदप्याहुः - **वित्तैषणामिति**। यज्ञैर्दानैश्च वित्तैषिणां वित्तेच्छां विसृजेत्। अर्थस्य सम्यग्व्ययेन तद्रक्षणदुःखं परिहरेदित्यर्थः। गृहैर्गृहोचितैः भोगैः दारसुतैषणां विसृजेत्, तदनुभवे सत्येव एतावताऽलमिति तदौत्सुक्यनिवृत्तेः। मृते देहे आत्मनः स्वर्गादिलोकेषणां कालेन स्वर्गादीनामपि कालवशात् क्षयिष्णुत्वनिरूपणेन त्यजेदित्यर्थः। तथाहि धीराः तावत् ग्रामे त्यक्ताः ईषणाः पूर्वोक्तास्तिस्रः यैस्ते ततः तपोवनं ययुः ॥ ३८ ॥

**ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षि पितृणां प्रभो ।**
**यज्ञाध्ययनपुत्रैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन्पतेत् ॥ ३९ ॥**

त्वन्त्वद्य मुक्तो द्वाभ्यां वै ऋषिपित्रोर्महामते! ।
यज्ञैर्देवर्णमुन्मुच्य निर्ऋणोऽशरणो भव ॥ ४० ॥

वसुदेव भवान्नूनं भक्त्या परमया परिम् ।
जगतामीश्वरं प्रार्चः[1] स यद्वां पुत्रत्वां गतः ॥ ४१ ॥

श्रीशुक उवाच

इति तद्वचनं श्रुत्वा वसुदेवो महामनाः ।
तानृषीनृत्विजो वव्रे मूर्ध्नाऽऽनम्य प्रसाद्य च ॥ ४२ ॥

1. Ml.V. प्राचत्

**श्रीध०** किञ्च, **ऋणैरिति**। तथा च श्रुतिः 'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः' (तैत्ति.सं.6-3-10) इत्यादि तान्यनिस्तीर्य तेषामृणान्यनपाकृत्य। तथा च मनुः- 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्। अनापाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः' (मनु.स्मृ.6-35) इति ॥ ३९ ॥

निर्ऋणो निर्मुक्तऋणः अशरणो भव गृहात्प्रव्रज ॥ ४० ॥

किञ्च, अविशुद्धचित्तानामयं क्रमः। त्वन्तु कृतार्थ एवेत्याहुः - **वसुदेवेति**। भवान्नूनं[1-1] निश्चितं परमया प्रेमलक्षणया भक्त्या हरिं[1-1] प्रार्चोऽर्चितवान्[2], यद्यस्मात् वां युवयोः ॥ ४१,४२ ॥

1- -1. Ml.V. omit 2. Ml.V. प्रार्चत् अर्चि°

**वीर०** इतोऽपि विष्णुर्यष्टव्य इत्याहुः - **ऋणैरिति**। हे विभो! देवानाम् ऋषीणां पितॄणाञ्च ऋणैस्त्रिभिः द्विजः त्रैवर्णिको जातः जायते। अतस्तानि देवर्षिपितृऋणानि क्रमेण यज्ञाध्ययनपुत्रैरनिस्तीर्य अनपाकृत्य चरन् पतेत्, नरक इति शेषः। अत्र 'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो, यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः' (म.ना.उ.6-3-10) इति श्रुतिः। 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्। अनापाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः' (मनु.6-35) इति स्मृतिश्च अनुसन्धेया। श्रुतौ ब्रह्मचर्यशब्दः तत्पूर्वकाध्ययनपरः ॥ ३९ ॥

अतस्त्वयाऽधुना देवऋणमेवाऽपाकर्तव्यम्, ऋषिपितृऋणाभ्यान्तु मुक्त एवेत्याहुः - **त्वन्त्विति**। हे महामते! उन्मुच्य अपाकृत्य निर्ऋणः ऋणत्रयरहितः अशरणः गृहसङ्गरहितो भव ॥ ४० ॥

हे वसुदेव! भवान् नूनं हरिम् आराधितवान्। ततः? यद्यस्मात् स भगवान् स्वयं वां युवयोः पुत्रतां गतः ॥ ४१ ॥

**इतीति**। तद्वचनं तेषां वचः श्रुत्वा आनम्य प्रणम्य प्रसाद्य प्रसन्नान् कृत्वा ऋत्विजो वव्रे वृतवान् ॥ ४२ ॥

**त एनमृषयो[1] राजन् वृता धर्मेण धार्मिकम्।**
**तस्मिन्नयाजयन् क्षत्रे मखैरुत्तमकल्पकैः ॥ ४३ ॥**

**तद्दीक्षायां प्रवृत्तायां वृष्णयः पुष्करस्रजः ।**
**स्नातास्सुवाससो[2] राजन् राजानः[3] सुष्ठ्वलङ्कृताः ॥ ४४ ॥**

**तन्महिष्यश्च मुदिता निष्ककण्ठ्यस्सुवाससः ।**
**दीक्षाशालामुपाजग्मुरालिप्ता[4] वस्तुपाणयः ॥ ४५ ॥**

**नेदुर्मृदङ्गपटहशङ्खभेर्यानकादयः ।**
**ननृतुर्नटनर्तक्यस्तुष्टुवुस्सूतमागधाः ॥**
**जगुस्सुकण्ठ्यो गन्धर्व्यः सङ्गीतं सहभर्तृकाः ॥ ४६ ॥**

**तमभ्यषिञ्चन्विधिवदक्तमभ्यक्तमृत्विजः ।**
**पत्नीभिरष्टादशभिः सोमराजमिवोडुभिः ॥ ४७ ॥**

**ताभिर्दुकूलवलयैर्हारनूपुरकुण्डलैः ।**
**स्वलङ्कृताभिर्विबभौ[5] दीक्षितोऽजिनसंवृतः[6] ॥ ४८ ॥**

1. Ml.V. °व° 2. Ml.V. °त्वा° 3. Ml.V. °नश्च स्व° 4. Ml.V. °जग्मुस्सवलि° 5. Ml.V. °भवैः 6. Ml.V. जनसंवृतः॥

**श्रीध० तदिति**। आलिप्ताः कुङ्कुमादिभिः वस्तुपाणयो गृहीतार्हणहस्ताः ॥ ४३-४६ ॥

**तमिति**। अक्तं नेत्रयो रञ्जनेन, अभ्यक्तं सर्वाङ्गेषु नवनीतेन ॥ ४७ ॥

**ताभिरिति**। ताभिः पत्नीभिः सहितो दीक्षितो विरेजे ॥ ४८॥

**वीर० त** इति। एवं धर्मेण यथाविधि वृतास्ते ऋषयस्तस्मिन् स्यमन्तपञ्चके क्षेत्रे उत्तमकल्पकैः मन्त्रतन्त्रद्रव्यादि लोपरहितैः मखैर्यज्ञैः तं वसुदेवमयाजयन् ॥ ४३ ॥

एतदेव प्रपञ्चयति - **तद्दीक्षायामित्यादिना**। तद्दीक्षायां यज्ञदीक्षायां पुष्कराणां स्रजो येषां ते ॥ ४४ ॥

तस्य वसुदेवस्य महिष्यः पत्न्यः आलिप्ताः कुङ्कुमादिभिः, वस्तून्यर्हणानि पाण्योः यासां ताः ॥ ४५ ॥

सूताः पुराणपाठकाः, मागधाः वंशावलिपाठकाः, सहभर्तृकाः ॥ ४६ ॥

**तमिति**। अक्तं नेत्रयोरञ्जनेन, अभ्यक्तं सर्वाङ्गेषु नवनीतेन अक्तं तं वसुदेवम् उडुभिः नक्षत्रैः सहितं सोमराजं चन्द्रमिव अष्टादशाभिःपत्नीभिस्सहितम् अभ्यषिञ्चन् ॥ ४७ ॥

**ताभिरिति**। दुकूलादिभिरन्यैश्च विविधैर्विपुलालङ्कारैः सुष्ठु अलङ्कृताभिः पत्नीभिस्सह दीक्षितः अजिनेन संवृतः विरेजे ॥ ४८ ॥

**तस्यर्त्विजो महाराज नूत्नकौशेयवाससः ।**[1]

**ससदस्या विरेजुस्ते यथा वृत्रहणोऽध्वरे ॥ ४९ ॥**

**तदा रामश्च कृष्णश्च स्वैः स्वैर्बन्धुभिरन्वितौ ।**[2]

**विरेजतुः सुतैर्दारैर्जीवेशौ स्वविभूतिभिः ॥ ५० ॥**[3-3][4]

**ईजेऽनुयज्ञं विधिना अग्निहोत्रादिलक्षणैः ।**

**प्राकृतैर्वैकृतैर्यज्ञैर्द्रव्यज्ञानक्रियेश्वरम् ॥ ५१ ॥**

**अथर्त्विग्भ्योऽददात्काले यथाऽऽम्नातं सदक्षिणाः ।**

**स्वलङ्कृतेभ्योऽलङ्कृत्य गोभूकन्या महाधनाः ॥ ५२ ॥**[5]

**पत्नीसंयाजवभृथ्यैश्चरित्वा ते महर्षयः ।**[6][7]

**सस्नू रामह्रदे विप्रा यजमानपुरस्सराः ॥ ५३ ॥**

**स्नातोऽलङ्कारवासांसि वन्दिभ्योऽदात्तथा स्त्रियः ।**[8]

**ततः अलङ्कृतान्वर्णानाश्वभ्योऽन्नेन पूजयत् ॥ ५४ ॥**[9-9]

1. B.G.J. र° 2. Ml.V. °था 3--3. ABGJ रेजतुः स्वसु° 4. K. दें° 5. K विप्रेभ्यो 6. Ml.V. °थै° 7. Ml.V. °त्वाऽथ 8. K.T.W. °ना° ;Ml.V. °त्वा° 9--9. B.G.J. स्वलङ्कृतो व°

**श्रीध० तथेति**। जीवेशौ सर्वजीवानामीशौ ॥ ४९, ५० ॥

**ईजे** इति। अनुयज्ञं प्रतियज्ञम्। आम्नातसर्वाङ्गाः प्राकृताः ज्योतिष्टोमदर्शपूर्णमासादयः, तेभ्यश्चोदनालिङ्गादिभिरति देशप्राप्ताङ्गाः वैकृताः सौरसत्रादयः तैस्सर्वैः। द्रव्यं पुरोडाशादि, ज्ञानं मन्त्रः, क्रिया कर्म तेषामीश्वरम् ॥ ५१,५२ ॥

**पत्नीति**। सस्नुः स्नानञ्चक्रुः ॥ ५३ ॥

**स्नात्वेति**। आश्वभ्यः शुनोऽभिव्याप्य, अन्नेन पूजयदपूजयत् ॥ ५४ ॥

**वीर०** तस्य वासुदेवस्य सम्बन्धिनः ऋत्विजः नूत्नानि नवानि कौशेयानि वासांसि येषां ते, सदस्यैस्सभ्यैः सहिता विरेजुः यथा वृत्रहणः इन्द्रस्य अध्वरे, तद्वत् ॥ ४९ ॥

**तदेति**। देवानां ब्रह्मादीनामपि ईशौ इति रामकृष्णयोर्विशेषणम्। जीवेशौ इति पाठान्तरम्। तदा जीवानामीश्वरौ इत्यर्थः। देवेशैः स्वविभूतिरिति च पाठः। तदा स्वाः विभूतयो येषान्तैः देवेशैः देवश्रेष्ठांशसम्भूतैः इति स्वसुत विशेषणम् ॥ ५० ॥

**ईजे** इति। अनुयज्ञं प्रतियज्ञम्। ईजे इष्टवान्। तदेवाऽऽह - विधिनेति। आम्नात सर्वाङ्गा- प्राकृताः ज्योतिष्टोम दर्शपूर्णमासादयः तेभ्यश्चोदनालिङ्गादिभिः अतिदेशप्राप्ताङ्गाः वैकृताः सौर्यसत्रादयः सर्वैरग्निहोत्रादिनामकैस्तैः होमैश्च द्रव्यज्ञानक्रियेश्वरं भूतपञ्चकज्ञानेन्द्रियपञ्चककर्मेन्द्रियपञ्चकनिर्वाहकं भगवन्तं ईजे। यद्वा, पुरोडाशादिद्रव्यसाङ्गकर्मविषयज्ञानतदनुष्ठानानां प्रभुम् ॥ ५१ ॥

**अथेति**। वसुदेवः काले विहितकाले यथाऽऽम्नातं यथोक्तं दक्षिणाः ऋत्विग्भ्यः स्वयमप्यलङ्कृत्य तावत् ततो महाधना अनर्घा गोभूकन्याश्च ददौ ॥ ५२ ॥

पत्नीसंयाजा आवभृथ्याश्च यागविशेषाः तैश्चरित्वा इष्ट्वा रामह्रदे परशुरामनिर्मिते ह्रदे सस्नुः स्नानं चक्रुः ॥ ५३ ॥

**स्नानेति**। स्नानादीनि ददौ स्नपयामास। तेभ्योऽलङ्कारवासांसि च ददौ इत्यर्थः। तत्र स्त्रियश्च सस्नुः सुष्ठ्वलङ्कृतश्चेति सम्बन्धः। आश्वभ्यः शुनोऽभिव्याप्य सर्वान् वर्णान् अन्नेन पूजयत् अपूजयत्। अडभाव आर्षः। आगमशास्त्रस्यानित्यत्वाद्वा ॥ ५४ ॥

**बन्धून् सदारान् ससुतान् पारिबर्हेण भूयसा ।**
**विदर्भकोसलकुरून् काशिकेकयसृञ्जयान् ॥ ५५ ॥**

**सदस्यर्त्विक्सुरगणान् नृभूतपितृचारणान्[1] ।**
**श्रीनिकेतमनुज्ञाप्य शंसन्तः प्रययुः क्रतुम् ॥ ५६ ॥**

**धृतराष्ट्रोऽनुजः पार्थाः भीष्मो द्रोणः पृथा यमौ ।**
**नारदो भगवान् व्यासः सुहृत्सम्बन्धि बान्धवाः ॥ ५७ ॥**

**बन्धून्परिष्वज्य यदून् सौहृदाऽऽक्लिन्नचेतसः।**
**ययुर्विरहकृच्छ्रेण स्वदेशांश्चापरे जनाः ॥ ५८ ॥**

**नन्दस्तु सह गोपालैर्बृहत्या पूजयार्चितः ।**
**कृष्णरामोग्रसेनाद्यैर्न्यवात्सीद्बन्धुवत्सलः ॥ ५९ ॥**

**वसुदेवोऽञ्जसोत्तीर्य मनोरथमहार्णवम् ।**
**सुहृद्वृतः प्रीतमना नन्दमाह करे स्पृशन् ॥ ६० ॥**

1. K.T.W. °णा 2- -2. Ml. V °श्चामरप्रभाः

**श्रीध० बन्धूनिति**। बन्ध्वादि चारणान्तान् पारिबर्हेण प्रीतिदानेन चाऽपूजयत्। ते च सर्वे प्रययुः ॥ ५५, ५६ ॥

प्रयाणे केषाञ्चिद्विशेषमाह-**धृतराष्ट्र** इति द्वाभ्याम्। अनुजो विदुरः, पार्था युधिष्ठिरभीमार्जुनाः, यमौ नकुलसहदेवौ ॥ ५७॥

**बन्धूनिति**। सौहृदेनाऽऽक्लिन्नानि चेतांसि येषां ते ॥ ५८,५९ ॥

**वसुदेव** इति। मनोरथो यज्ञविषयः तमेव महार्णवम् ॥ ६० ॥

**वीर०** बन्ध्वादीन् पारिबर्हेण बहुमानार्थं देयद्रव्येण पूजयदिति सम्बन्धः ॥ ५५ ॥

स दस्येति। सदस्यादयः श्रीनिकेतं कृष्णमनुज्ञाप्य अनुज्ञां पृष्ट्वा क्रतुं प्रशंसन्तो ययुः ॥ ५६ ॥

**धतराष्ट्र** इति। अनुजो विदुरः, पृथा कुन्ती, यमौ नकुलसहदेवौ, सुहृदश्च सम्बन्धिनश्च बान्धवाश्च ते सौहृदेन सौहार्देन क्लिन्नमार्द्रं चेतो येषां ते विरहकृच्छ्रेण विश्लेषयुक्तक्लेशेन उपलक्षिताः ययुः, तथा अपरे जनाश्च ययुः ॥ ५७,५८ ॥

**नन्दस्त्विति**। बृहत्या महत्या पूजया समर्चितः गोपैस्सह न्यवात्सीत् उषितवान्। तत्र हेतुत्वेन विशिनष्टि बन्धुवत्सल इति ॥ ५९ ॥

**वसुदेव** इति। मनोरथः यज्ञविषयः स एव महार्णवः अञ्जसा सुखेन उत्तीर्य निस्तीर्य ॥ ६० ॥

वसुदेव उवाच

भ्रातरीशकृतः पाशो नृणां यः स्नेहसंज्ञितः ।
तं दुस्त्यजमहं मन्ये शूराणामपि योगिनाम् ॥ ६१ ॥

अस्मास्वप्रतिकल्पेयं यत्कृताज्ञेषु सत्तमैः ।
मैत्र्यर्पिताऽफला वाऽपि[1] न निवर्तेत कर्हिचित् ॥ ६२ ॥

प्रागकल्पाच्च[2] कुशलं भ्रातर्वो नाचराम हि ।
अधुना श्रीमदान्धाक्षा न पश्यामः पुराकृतम्[3] ॥ ६३ ॥

मा राज्यश्रीरभूत्पुंसः श्रेयस्कामस्य मानद! ।
स्वजनानुत बन्धून्वा न पश्यति यथाऽन्धदृक्[4] ॥ ६४ ॥

श्रीशुक उवाच[5]

एवं सौहृदशैथिल्यचित्त आनकदुन्दुभिः ।
रुरोद तत्कृतां मैत्रीं स्मरन्नश्रुविलोचनः ॥ ६५ ॥

नन्दस्तु सख्युः प्रियकृत्प्रेम्णा गोविन्दरामयोः ।
अद्य श्व इति मासांस्त्रीन् यदुभिर्वारितोऽवसत्[6] ॥ ६६ ॥

1. K. Ml.T.V.W. °चा° 2. K. Ml.T.V.W. °ल्या° 3. B.G.J. पुरस्सतः ;Ml.V. पुरस्थितावान् 4. K.T.W. मदान्ध 5- -5. Ml.T.V.W. omit 6. B.G.J. Ml.V. °र्मानितो

**श्रीध० भ्रातरिति**। शूराणां बलेन, योगिनां ज्ञानिनाऽपीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

तत्कुतस्तत्राऽऽह - **अस्मास्विति**। कृताज्ञेषु कृतमुपकारमजानत्सु सत्तमैर्भवद्भिः अप्रतिकल्पा अनुपमा मैत्री इयमर्पिता अफलाऽपि प्रत्युपकारशून्याऽपि कर्हिचित् यद्यस्मात् न निवर्तेत तस्मात् ईश्वरकृतः पाशोऽयं भवतामिति गम्यते इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

अफलत्वमेवाऽऽह - **प्रागिति**। हे भ्रातः! अकल्पात् असामर्थ्यात् वः कुशलं प्रियं न ह्याचराम न कृतवन्तो वयं अधुना[2] श्रीमदेन अन्धानि अक्षीणि येषां ते ॥ ६३ ॥

मा इति! राज्यश्रीर्माभूत्। छान्दसोऽडागमः ।, ६४,६५ ॥

**अद्यश्व** इति। प्रातर्निर्गमे अद्यैव अपराह्णे गम्यताम्। अपराह्णे निर्गमे श्वो गम्यतामिति पुनः पुनः एवं मानितः ॥ ६६

1. Ml.V. °मपि 2. B.J. omit अधुना

**वीर०** उक्तिमेवाह - **भ्रातरिति**। हे भ्रातः! य ईशेन भगवता कृष्णेन कृतः निर्मितः स्नेहलक्षणः पाशः, तं शूराणां बलेन, योगिनां ज्ञानेनाऽपि दुस्त्यज्यं मन्ये इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

कुत इत्यतआह - **अस्मास्विति**। यद्यस्मात् कृतमुपकारं न जानन्तीति तथा तेषु अस्मासु सत्तमैर्भवद्भिः अयमप्रतिकल्पा अनुपमा मैत्री अर्पिता निहिता अफला प्रत्युपकारशून्याऽपि अधुनाऽपि न निवर्तते ॥ ६२ ॥

अफलत्वमेवाऽऽह - **प्रागिति**। हे भ्रातः! प्राक् कंसकृतनिर्बन्धदशायाम् अकल्पाः असमर्थाः। हेतुगर्भमिदम्। अतो वो युष्माकं कुशलं प्रियं नाऽऽचरेमहि न कृतवन्तः। अधुना तु श्रीमदेन ऐश्वर्यमदेन अन्धे अक्षिणी येषां ते वयं पुराकृतमुपकारं न पश्यामः ॥ ६३ ॥

अतो हे मानद! श्रेयस्कामस्य पुंसो राज्यश्रीर्माभूदिति प्रार्थना। कुतः? यतो मदान्धदृक् पुमान् सुजनान् साधून् उताऽपि च बन्धून् न पश्यति ॥ ६४ ॥

**एवमिति**। शुकोक्तिः। सौहृदेन शैथिल्यं, स्वार्थे ष्यञ्। शिथिलं चित्तं यस्य सः, तत्कृतां नन्दकृतां मैत्रीं स्मरन् अश्रूणि विलोचनयोः यस्य सः रुरोद ॥ ६५ ॥

**नन्दस्त्विति**। सख्युर्वसुदेवस्य रामकृष्णयोश्च प्रियकृत् अत एव (लक्षणहेत्वोरिति शत्रा प्रियङ्कर्तुमित्यर्थः) अद्य श्वः इति, प्रातर्निर्गमे अपराह्णे गम्यताम् इति, अपराह्णे निर्गमे श्वो गम्यताम् इत्येवं यदुभिः निवारितश्च। मानित इति पाठान्तरम्। त्रीन् मासान् अवसत्, मासानिति अत्यन्तसंयोगे द्वितीया ॥ ६६ ॥

**ततः कामैः पूर्यमाणः सव्रजः सह बान्धवः ।**
**पराध्र्याभरणक्षौम नानार्घ्यपरिच्छदैः ॥ ६७ ॥**

**वसुदेवोग्रसेनाभ्यां कृष्णोद्धवबलादिभिः ।**
**दत्तमादाय पारिबर्हं यापितो यदुभिर्ययौ ॥ ६८ ॥**

**नन्दो गोपाश्च गोप्यश्च गोविन्दचरणाम्बुजे ।**
**मनः क्षिप्तं पुनर्हर्तुमनीशा मथुरां ययुः ॥ ६९ ॥ ★**

**बन्धुषु प्रतियातेषु वृष्णयः कृष्णदेवताः ।**
**वीक्ष्य प्रावृषमासन्नां ययुर्द्वारवतीं पुनः ॥ ७० ॥**

**जनेभ्यः कथयाञ्चक्रुर्यदुदेवमहोत्सवम् ।**
**यदासीत्तीर्थयात्रायां सुहृत्सन्दर्शनादिकम् ॥ ७१ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
तीर्थयात्रानुवर्णनं नाम चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

1. K. °नर्घै° ; T.W. °रत्न ★ The following three half verses are found only in Ml.V. editions पाण्डवाश्च महात्मानः सर्वे च मुनिसत्तमाः। अनुज्ञाताः केशवेन बाष्पगद्गदभाषिणः। शक्रप्रस्थं ययुस्सर्वे स्वजनैः परिवारिताः ॥

**श्रीध० वसुदेवेति**। यापितो महासैन्येन प्रस्थापितः ॥ ६७ - ७० ॥

**जनेभ्य** इति। यदुदेवस्य वसुदेवस्य महोत्सवं यज्ञादिलक्षणं सुहृत्सन्दर्शनादिकञ्चेति ॥ ७१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

**वीर० तत** इति। सव्रजः गोपैस्सहितः सबान्धवश्च परार्थ्यैः श्रेष्ठैः आभरणैः क्षौमैः दुकूलैः नानाविधैरनर्घैः परिच्छदैः भोगोपकरणैः इत्येवंविधैः कामैः पूर्यमाणः दत्तान् पारिबर्हानादाय यदुभिर्यापितः महता सैन्येन प्रस्थापितो ययौ ॥ ६७, ६८॥

**नन्दो** गोप्यश्चेति। गोविन्दस्य चरणाम्बुजे क्षिप्तं निहितं चित्तं पुनर्हर्तुमसमर्थास्सन्तः ययुः ॥ ६९ ॥

**बन्धुष्विति**। बन्धुषु नन्दादिषु प्रतियातेषु प्रस्थितवत्सुकृष्ण एव देवता येषां ते वृष्णयः प्रावृषं वर्षर्तुमासन्नां सन्निहितां वीक्ष्य ज्ञात्वा ॥ ७० ॥

**जनेभ्य** इति। यदुदेवस्य महोत्सवं यज्ञादिलक्षणं यच्च सुहृत्सन्दर्शनादिकं तत्सर्वं जनेभ्यो द्वारकास्थेभ्यः कथयामासुः ॥ ७१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्दिकायां
व्याख्यायां चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

# पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच[1-1]

अथैकदाऽऽत्मजौ प्राप्तौ कृतपादाभिवन्दनौ ।
वसुदेवोऽभिनन्द्याऽऽह प्रीत्या सङ्कर्षणाच्युतौ ॥ १ ॥

मुनीनां स वचः श्रुत्वा पुत्रयोर्धामसूचकम् ।
तद्वीर्ये जातविस्रम्भः परिभाष्याऽभ्यभाषत ॥ २ ॥

वसुदेव उवाच

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् सङ्कर्षण सनातन !
जाने वा मस्य यत्साक्षात् प्रधानपुरुषौ परौ ॥ ३ ॥

यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यथा ।
स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषौ वरः ॥ ४ ॥

एवं[2] नानाविधं विश्व मात्मसृष्ट मधोक्षज !
आत्मनाऽनु प्रविश्याऽऽत्मन् प्राणो जीवो बिभर्त्यजः[3] ॥ ५

1--1 B.G.J. श्रीबादरायणिरुवाच 2. B.G.J.K. एतन्ना° 3. B. G. J. K. MI.T.V.W. र्त्यजः

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

पञ्चाशीति तमे रामकृष्णौ सम्प्रार्थितौ सुतौ। पित्रे ज्ञान मथो मात्रे मृतान्पुत्रा नयच्छताम् ॥
नन्दयित्वा कुरुक्षेत्रयात्रायां सुहृदो बहून्। तत्वज्ञानं ततः पित्रो रादिशन्मृतसूनुभिः ॥ १ ॥

**मुनीनामिति**। धाम प्रभावः, तत्सूचकम् जातविस्रम्भः उत्पन्नविश्वासः परिभाष्य सम्बोध्य ॥ २ ॥

**कृष्णेति**। अस्य विश्वस्य यत्साक्षात्स्वरूपभूतं कारणं प्रधानपुरुषौ नाम परौ तयोरपि कारणत्वेन ईश्वरौ च साक्षाद्वां युवामिति जाने ॥ ३ ॥

नन्विदं विश्व मनेकैः कारकैः जायमानं कुतः प्रधानपुरुषात्मकं, कुतस्तरा मावयो स्तत्कारणत्वेन ईश्वरत्वम् तत्राऽऽह -**यत्रेति**। यत्र अधिकरणे, येन कर्ता करणेन च, यतः अपादानात् यस्य सम्बन्धेन, षष्ठ्यर्थस्याकारत्वेऽपि निमित्तत्तोक्ता। यस्मै सम्प्रदानाय, यद्यदिति प्रयोज्य [2]प्रयोजक कर्तृकर्मकारके दर्शिते। ननु तयो र्नास्ति भेदः, यथोक्तम् 'करोति क्रियमाणेन न कश्चित्कर्मणा विना। भवत्यर्थस्य कर्ता च करोतेः कर्मजायते'॥ इति। तथा 'करोत्यर्थस्य यः कर्ता भवितुः सप्रयोजकः, भविता तमपेक्ष्याऽथ प्रयोज्यत्वं प्रपद्यते' इति च। सत्यम्। तथाऽप्यवस्थाभेदन भेदो विवक्षितः। दृश्यते चाऽवस्थाभेदः। तण्डुला नोदनं पचति, मृदं घटं करोतीति। तदेवं सप्तविभक्त्यर्था दर्शिताः। यथेति यदेति च क्रियाविशेषणभूताना मन्येषाञ्च अव्ययाना मर्थाः स्यादिति क्रियापदार्थोपलक्षणम्। एवं [3]सर्वं प्रपञ्चमनूद्य तत्कारण[4]स्य भगवद्रूपतां विधत्ते इदं साक्षादिति तयो रैक्य मभिप्रेत्यैकवचनम् ॥ ४ ॥

किञ्च, धारणपोषणकर्ताऽपि त्वमेवेत्याह - **एतदिति**। हे आत्मन्! प्राणः क्रियाशक्तिः जीवो ज्ञानशक्तिश्च सन् त्वमेव बिभर्षि ॥ ५ ॥

1. V. °णैः 2. B.J.Omit प्रयोजक 3. Ml.V. सर्वं 4. Ml.V. °णभ

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ कदाचिद्वसुदेव देवक्यावेदित याथात्म्यस्य भगवतः प्रेताग्रजादानात्मकं चेष्टितमनुवर्णयति - अथेत्यादिना पञ्चाशीतितमेन। कृतं पादाभिवन्दनं याभ्यां तौ रामकृष्णावभिनन्द्य प्राह ॥ १ ॥

किञ्च, **मुनीनामिति**। स वसुदेवः पुत्रयोः प्रभावसूचकं मुनीनां वचः 'वसुदेव भवान्नूनं भक्त्या परमया' इत्याद्युक्तं वचः स्मृत्वा तथा तयोः [1]रामकृष्णयो[-1]र्वीर्यं जातो विस्रम्भो जगदीश्वरत्वविषयविश्वासो यस्य सः परिभाष्य सम्बोध्य अभाषत ॥ २ ॥

तदेवाऽऽह - **कृष्णेति**। प्राकृतौ आवां किमित्येवं सम्बोधयसि इत्यत आह - जान इति। वामिति। 'युष्मदस्मदोः षष्ठी चतुर्थीद्वितीयास्थयो र्वा नावौ' (अष्टा 8-1-20) इति वामादेशे सति रूपम्। यद्यस्मात् अस्य जगतः साक्षात्प्रधानपुरुषौ कारणभूतौ प्रकृतिपुरुषौ परौ ताभ्यां विलक्षणौ च वां युवां जाने। कार्यावस्थचिदचिदात्मकस्याऽस्य जगतः कारणावस्थौ प्रधानपुरुषौ प्रकृतिपुरुषशरीरकौ अत एव तदात्मभूतौ तद्विलक्षणौ पुरुषौ जाने इत्यर्थः ॥ ३ ॥

एवं जगतस्तत्कार्यत्वं प्रतिज्ञातम्। ननु जगत्कार्यञ्चेत् कारकषट्कसाध्यं कस्यचित्सम्बन्धि केनचित्प्रकारेण युक्तं काल सह चरितञ्चेति कथं मदेककार्यमित्यत आह - **यत्रेति**। कारकषट्कसम्बन्धिप्रकारकालानां त्वच्छरीरत्वेन त्वदात्मकत्वात्

कृत्स्नं जगत् त्वत्कार्यमेवेत्यभिप्रायः यत्राऽधिकरणे, येन कर्त्ता, यतः उपादानात् यस्य सम्बन्धिनः यस्मै सम्प्रदानाय यत्प्रयोजकं कर्तृ यदा यस्मिन्काले यथा यः प्रकारः। एवं कारकषट्कादीनां निर्देशः यथा स्यादित्येतदिदं विश्वमधिकरणादिकं सर्वं साक्षात् प्रधानपुरुषयोः प्रकृतिपुरुषयोः ईश्वरो भगवांत्स्वमेवेति सम्बन्धः। वक्ष्यमाण कान्त्यादि सामानाधिकरण्योपयुक्तत्वेन एतत्प्रपञ्चयति हे अधोक्षज! आत्मन् आत्मनि आत्मना सृष्टम्। अनेन अधिकरणान्तर कर्त्रन्तरव्युदासः। नानाविधं देवनर पशु पादपभिन्नमेतत् जगदात्मना स्वशरीरभूतेन जीवेनाऽनुप्रविश्य रक्षणोपयुक्त मनुप्रवेशं कृत्वा प्राणः प्राणशरीरको जीवः स्तच्छरीरकश्च एवमप्यजः प्राणजीवगतदोषास्पृष्टः बिभर्षि प्राणशरीरकत्वं जीवशरीरकत्वञ्च श्रूयते - 'मनोमयः प्राणशरीरनेता' (मुण्ड.उ.2-2-7) 'यस्यात्मा शरीरम्' (बृह.उ.3-7-22) इति ॥ ४,५ ॥

1- -1 K.T.W. Omit

**प्राणादीनां विश्वसृजां शक्तयो याः परस्य ताः ।**
**पारतन्त्र्याद्वैसादृश्या द्द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम् ॥ ६ ॥**

**कान्ति स्तेजः प्रभा सत्ता चन्द्राग्न्यर्कर्क्षविद्युताम् ।**
**यत्स्थैर्यं भूभृतां भूमे र्वृत्ति र्गन्धोऽर्थतो भवान् ॥ ७ ॥**

**तर्पणं प्राणन मपां देवत्वं ताश्च तद्रसः ।**
**ओज स्सहो बलञ्चेष्टा गति र्वायो स्तवेश्वर ॥ ८ ॥**

**दिशां त्व मवकाशोऽसि दिशः खं स्फोट आश्रयः ।**
**नादो वर्ण स्त्व मोङ्कार आकृतीनां पृथक्कृतिः ॥ ९ ॥**

**इन्द्रियन्त्विन्द्रियाणां[1] त्वं देवाश्च तदनुग्रहः[2] ।**
**अवबोधो भवान् बुद्धे र्जीवस्यानुस्मृतिः सती ॥ १० ॥**

**भूताना मसि[3] भूतादि रिन्द्रियाणाञ्च तैजसः[4] ।**
**वैकारिको विकल्पानां प्रधाना[5] मनुशायिनाम् ॥ ११ ॥**

**नश्वरे ष्विहभावेषु तदसि त्वमनश्वरम् ।**
**यथा द्रव्यविकारेषु द्रव्यमात्रं अनश्वरम्[6] ॥ १२ ॥**

1- -1 K.T.W. यत्वानीन्द्रियाणां 2. K.T.W. °हाः 3. K.T.W. °पि 4. K.T.W °सम् 5. L. °दा° 6. B.G.J.M.I.V. निरूपितम् ।

श्रीध० ननु प्राणादीनां विचित्रशक्तीनां कारणत्वावगमात् कथं परमेश्वरस्यैव कारणत्वेन सर्वात्मकत्वमुच्यते इत्याशङ्क्य प्राणदिशक्तयोऽपि तस्यैवेत्याह - **प्राणादीनामिति**। प्राणः प्रकृतिभूतं सूत्रं तदादीनां विश्वसृजां विश्वकारणानां यश्शक्तयः ताः परस्य परमकारणस्येश्वरस्यैव कृतः पारतन्त्र्यात् यथा वेधशक्ति र्न बाणस्य अपितु पुरुषस्य तद्वदित्यर्थः। ननु भगवतः प्राणादिवर्गस्य च स्वातन्त्र्यमेव किं न स्यात्? अत आह - वैसादृश्यात् द्वयोरिति। चेतनाचेतनत्वेन विसदृशत्वा द्द्वयोः अचेतन प्राणादिवर्गस्य चेतनपारतन्त्र्यमेव युक्तमित्यर्थः यद्वा प्राणादिषु द्वयोर्द्वयोरेव तावद्विसदृशत्वं विरुद्धक्रियकारित्वात्, किं पुनर्बहुनाम्? तस्मा देकेन सर्वज्ञेन सर्वशक्तिनाऽधिष्ठितानामेव विशिष्टकार्यरम्भकत्वं युक्तं न स्वतन्त्राणामिति, तथाचोक्तम् - 'यदैते संहता भावा भूतेन्द्रिय मनोगुणाः। यदायतननिर्माणे न शेकुर्ब्रह्मवित्तम। तथा संहत्यचाऽन्योन्य भगवच्छक्तिचोदिताः। सदसत्त्वमुपादाय चोभयं ससृजुर्ह्यदः' (भाग 2-5-32,33) इति तथा 'नानात्वात्स्व क्रियाऽनीशाः प्रोचुः प्राञ्जलयो विभुम्' (भाग.3-5-37) इत्यादि। ननु प्राणादीनां क्रियाकारित्वं शक्त्यभावे कुतः स्यात् अत आह - चेष्टेव चेष्टैतामिति। चेष्टमाना मेषां चेष्टैव न तु शक्तिः। यथा वायो श्शक्त्या तृणादीनां चलनं, यथा वा पुरुषस्य शक्त्या शराणां वेग इति ॥ ६ ॥

पारतन्त्र्यमेव प्रपञ्चयति कान्तिरिति पञ्चभिः। चन्द्रस्य कान्तिः, अग्ने स्तेजः, अर्कस्य प्रभा, ऋक्षविद्युतां सत्ता, स्फुरणमात्रेण सत्त्वम अर्थतो वस्तुतो भवान्। तथा च श्रुतिः - 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः, तमेव भान्त मनुभाति सर्वं तस्यभासा सर्व मिदं विभाति' (कठ.उ.5-15) इति स्मृतिश्च - 'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चान्द्रमसि यत्ताग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्' (भघी.15-12) इति. भूमे र्वृत्तिः प्रणिना माधारत्वेन वर्तनं गन्धश्च भवान् तवैव शक्ति रित्यर्थः ॥ ७ ॥

**तर्पणमिति**। किञ्च, हे देव! अपां तर्पणं तृप्तिजनकत्वं प्राणनं जीवनहेतुत्वं ता आपश्च तासां रसश्च त्वमेव। किञ्च वायो रोजः, सह आदि तवैव शक्तिः ॥ ८ ॥

**दिशामिति**। दिशा मुपाधिकृताऽऽकाश प्रदेशानां अवकाशो दिशश्च त्वम्। खं सामान्याकाशः तदाश्रयः स्फोटश्च शब्दतन्मात्रं परावस्था वाक् इत्यर्थः। नादः पश्यन्ती ओङ्कारो मध्यमा, वर्णश्चाऽऽकृतीनां पदार्थातनां पृथक्कृतिः पृथक्करण मभिधानां यश्मात्तत्पदं वर्णपदाद्यात्मिका वैखरी चत्वमित्यर्थः ॥ ९ ॥

**इन्द्रियमिति**। इन्द्रियाणामिन्द्रियं विषयप्रकाशन शक्तिः, देवाश्चेन्द्रियाधिष्ठातारः, तदनुग्रह स्तेषां अधिष्ठानशक्तिश्च त्वम्। अवबोधोऽध्यवसायशक्तिः अनुस्मृतिः प्रतिसन्धानशक्तिः ॥ १० ॥

**भूतानामिति**। भूतानां कारणं भूतादिः तामसोऽहङ्कार स्त्वमसि इन्द्रियाणां कारणं तैजसो राजसोऽहङ्कार स्त्वं विविध मधिदैवाध्यात्माधिभूतभेदेन कल्प्यन्त इति विकल्पा देवा स्तेषां कारणं वैकारिकः सात्त्विकोऽहङ्कारश्च त्वम्, अनुशायिनां जीवानां संसारकारणं प्रधानं त्वम् ॥ ११ ॥

अपि च नश्वरेषु नाशशीलेषु इह एतेषु भावेषु यदनश्वर मवशिष्यमाणं रूपं तत्त्वमसि द्रव्यविकारेषु मृत्सुवर्णादिकार्येषु घटकुण्डलादिषुव नश्वरेषु च द्रव्यमात्रं मृत्सुवर्णादिमात्र मनश्वरं यथा तद्वत् ॥ १२ ॥

1. Ml.V. 2. Ml.V. वेधः

**वीर०** एवं भगवत श्चिदचित्सामानाधिकरण्यं शरीरात्मभावनिबन्धमिति शिक्षा कृता। अथ चिदचिदसाधारण धर्मसामनाधिकरण्यं तन्निर्वाहकत्वनिबन्धनमिति शिक्षयति - प्राणादीनामिति। विश्वसृजां विश्वशरीरसृष्टि हेतुभूतानां प्राणादीनां, आदिशब्देन भूतपञ्चकैकादशेन्द्रिय महदहङ्कारसङ्ग्रहः। एतै र्हि विश्वसृष्टिः तेषां या श्शक्तयः कार्योपयोग्यपृथक्सिद्धधर्माः ताः परस्य परमात्मनः तवैव शक्तयः त्वन्निर्वाह्या एवेत्यर्थः। कुतः? पारतन्त्र्यात् शक्त्याश्रयाणां प्राणादीनां पारतन्त्र्यस्वाभाव्यात्। एवञ्च तच्छक्तीनां पारतन्त्र्यं किम्पुनर्न्यायसिद्धमितिभावः। ननु प्राणादीनां शक्तयः मिथः प्राणादिभिनिर्वाह्याः कुतो न स्युः इत्यत आह - वैसादृश्यादिति। अन्योन्य प्रतिनियतशक्तित्वेन वैधर्म्यान्न मिथो निर्वाह्यतेत्यर्थः। किमुताचेतनानां पारतन्त्र्यस्वभावतेति। कुतश्चेतनस्यैव तत्स्वभावत्वादित्यभिप्रेत्याह- द्वयोश्चेष्टैव चेष्टतामिति। चेष्टतां चेष्टमानानां देहानां चेष्टाद्वयोश्चैव जीवपरयो श्चेष्टैव न केवलं जीव एव स्वतन्त्रः प्रवर्तते अपि तु परमात्मानुमान्यः प्रवर्तत इत्यर्थः।

सर्ववस्तुशक्तीनां तन्निर्वाह्यत्वनिबन्धनं सामानाधिकरण्य माह - कान्तिरित्यादिना। चन्द्रस्य कान्तिः, अग्ने स्तेजः, अर्कस्य प्रभा, ऋक्षाणां नक्षत्राणां विद्युताञ्च सत्ता प्रकाशसत्ता भूभृतां पर्वतानां यत्स्थैर्यं, भूमिवृत्ति र्गन्धः, यद्वा वृत्तिः प्राणिनामाधारत्वेन वर्तनं गन्धश्चेत्येतत्सर्वम् अर्थतः वस्तुतः भवान् त्वन्निर्वाह्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥

**तर्पणमिति**। अपां तर्पणं लोकवृत्तिहेतुत्वं जीवनं जीवनहेतुत्वम्। प्राणनमिति पाठे स एवार्थः, क्लेदन मार्दीकरणं देवत्वमितिपाठे देवताधिष्ठितत्वं ता आपः तासां रसो माधुर्यं च सर्वं भवान् त्वदधीन मित्यर्थः। या वायो श्शक्तयः ओजः प्रभृतयः ताः ईश्वर स्त्वमेवेति पूर्ववत्। तत्र ओजः प्रवृत्तिसामर्थ्यं सहो वेगः बलं धारणसामर्थ्यं, चेष्टा व्यापारः, गति र्गमनम् ॥ ८ ॥

**दिशामिति**। दिशां सम्बन्धी अवकाशः दिशश्च त्वमेव स्फोटः शब्दः आश्रयः तदाश्रयभूतं खं त्वमेवेत्यन्वयः।

नादः शब्दभिव्यञ्जकः वर्णः आकाशादिः ओङ्कारः आकृतीनां शब्दवाच्याना माकृतीनां पृथक्कृतिः द्वैविध्यञ्च त्वमेव। स्फोटनादोङ्कारशब्दैः परा पश्यन्ती मध्यमाख्या वाग्भेदा उच्यन्ते आकृतीनां पदार्थनां पृथक्करण मभिधानं यस्मात्तत्पदं वर्णपदाद्यात्मिका वैखरी त्वमित्यर्थः। इति केचित् ॥ ९ ॥

**इन्द्रियत्वानीति**। इन्द्रियाणा मिन्द्रियत्वानि विषय प्रकाशन सामर्थ्यानि तदनुग्रहा स्तेषाम् इन्द्रियाणां अनुग्राहकाः विषयप्रकाशनरूप सामर्थ्यापादका इति यावत्। ते देवाः दिग्वातार्कादयः इन्द्रियाभिमानिदेवाश्च त्वम् इन्द्रियाणा मिन्द्रियत्वं देवाश्च त्वदनुग्रहाः इति पाठे अनुग्रहाः अनुग्रहशब्दवाच्याः इन्द्रियाद्यभिमानिदेवाश्चेतत्सर्वं त्वत्त्वत्तः जातं त्वदनुग्रह प्रभवा देवा इत्यर्थः। अनुग्रह इत्येकवचनान्तपाठे - तदनुग्रहः तेषामधिष्ठानशक्तिश्च त्वमेवेत्यर्थः। बुद्धेरवबोधोऽध्यवसायः सत्यबाधिता जीवस्थानुस्मृतिः संस्कारजन्यं ज्ञानं च भवान् ॥ १० ॥

**भूतानामिति**। भूताना माकाशादीनां कारणं भूतादि स्तामसाहङ्कारः इन्द्रियाणा मनुग्राहक स्तैजसः राजसाहङ्कारः विकल्पा ना मनुग्राहको वैकारिकः सात्त्विकाहङ्कारः विविधं कल्पनं ज्ञान मनेनेति विकल्पः इन्द्रियं तत्कारणम् - इति वार्थः। अनुशयिना मनुशयवतां कर्मिणां (कर्मणां) भुक्तावशिष्टं कर्मानुशयशब्दार्थः। प्रधानं फलदं कर्म च त्वमेवेत्यर्थः ॥ ११ ॥

एवं सर्वकारणत्व निर्वाहकत्वप्रयुक्त सार्वात्म्य मभिधाय अथ सार्वात्म्य प्रयुक्तानित्यत्वादि दोषपरि जिहीर्षयाऽऽह नश्वरेष्विति। भावेष्ववस्थासु नश्वरेषु आगमापायिषु सत्सु यद्भवाश्रयमनश्वरं स्थिर मवस्थारहित माधारभूतञ्च तत्त्वमसि। एतदेव दृष्टान्तमुखेन विवृणोति - यथेति। द्रव्यस्य मृत्सुवर्णादे र्विकारेषु पिण्डत्वघटत्वकुण्डलत्वकटकत्वादिविकारेषु नश्वरेष्वपि द्रव्यमात्रं मृत्सुवर्णादिरूप मनश्वरं सर्वावस्थानुवृत्तं, तद्वत् वस्तुतो यद्यपि मृत्सुवर्णादिद्रव्यमपि नश्वरमेव। तथाऽपि यावत्स्वविकार मनश्वरत्वमात्राभिप्रायेण दृष्टान्तः ॥ १२ ॥

B. यत

**सत्त्वं रजस्तम इति गुणा स्तद्वृत्तयश्च याः ।**
**त्वय्यद्धा ब्रह्मणि परे कल्पिता योगमायया ॥ १३ ॥**

**तस्मा न्न सन्त्यमीभावा यर्हि त्वय्येव[1] कल्पिताः ।**
**त्वञ्चामीषु विकारेषु ह्यन्यदा[2] व्यावहारि कः ॥ १४ ॥**

**गुणप्रवाह एतस्मिन्नबुधा स्त्वखिलात्मनः[3] ।**
**गतिं सूक्ष्मा मबोधेन संसरन्तीह कर्मभिः ॥ १५ ॥**

**यदुच्छया नृतां प्राप्य सुकल्या[4] मिह दुर्लभाम्**
**स्वार्थे प्रमत्तस्य वयो गतं त्वन्माययेश्वर ! ॥ १६ ॥**

1. B.G.J.Ml.V. त्वयि वि° 2. K.T.W. सन्सदा 3. Ml.V. नि। 4. B.G.J. °ल्पा

**श्रीध०** ननु त्रिगुणात्मक कार्यरूपोऽपि त्वमित्युक्तत्वात् कथमनश्वरत्वं? तत्राऽऽह - **सत्त्वमिति**। तद्वृत्तय स्तत्परिणामाश्च महदादयः अद्धा साक्षात् त्वयि परे ब्रह्मणि कल्पिताः ॥ १३ ॥

**तस्मादिति**। तस्मान्नसन्तीति नन्वसतां कथं प्रतीतिः? अत आह - यर्हीति। यदा विकल्पिता स्तदैव प्रतीतिमात्रेण त्वयि सन्ति। त्वञ्चामीषुतदैव कारणतयाऽनुगतः अन्यदात्वव्यावहारिको निर्विकल्पकस्त्वमेवाऽवशिष्यसे इत्यर्थः[1] ॥ १४ ॥

एवं रूपत्वादज्ञान निबन्धनश्च संसार इत्याह -**गुणप्रवाह** इति सूक्ष्मां निष्प्रपञ्चां गति मबुधा अविद्वांसः। अबुदध्वेति वा पाठः। अतोऽबोधेन देहाभिमानेन कृतैः कर्मभिः संसरन्तीति ॥ १५ ॥

एवं तयो स्तत्त्वं निरूप्य तदप्राप्त्या शोचति - यदृच्छयेति। नृतां मनुष्यतां सुकल्पां पटुतरेन्द्रियाम् ॥ १६ ॥

1. B.J. विकल्पकः

**वीर०** एवमप्यविकारिणो मम विकारित्वं दुर्वार मित्यत आह - **सत्त्वमिति** द्वाभ्याम्। सत्त्वादयः प्रकृतिगुणाः, तेषां वृत्तयः परिणामरूपा महदादयश्च परे ब्रह्मणि त्वय्यद्धा त्वय्येव योगमायया सङ्कल्परूप ज्ञानेन योगेन कल्पिता स्त्वयि कृता इत्यर्थः। ब्रह्मणि परे इत्यस्य प्रधानपुरुषेश्वर इत्यादिः प्रधानपुरुषौ परौ प्रधानपुरुषेश्वर इत्युपक्रमात्। एवञ्च सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टे त्वयि कल्पिता इत्यर्थः ॥ १३ ॥

यत एवं यस्मात्कल्पिताः सृष्टा अमीभावाः महदादयः त्वयि चिदचिद्भ्यां निष्कृष्टे त्वयि न सन्त्येव साक्षान्न सन्त्येव। महदादिभावानां प्रकृत्यादिष्वेव साक्षात्सम्भवः, त्वयि तु प्रकृत्यादिद्वारेति न विकारित्व मितिभावः। यर्हि यदा त्वयि न सन्त्येव तदा विकारेष्वन्तः प्रविश्य सदा सन्निति व्यावहारिकः शास्त्रै र्व्यवह्रियत इत्यर्थः। अस्मदुक्तेष्वर्थेषु शास्त्रमेव प्रमाणमिति तात्पर्यम् ॥ १४ ॥

सर्वेऽपीत्थं किं न विदुरित्यत आह - गुणप्रवाह इति। सत्त्वादिगुणप्रवाहरूपे एतस्मिन् संसारे पतिता इति शेषः। सर्वान्तरात्मन स्तव सूक्ष्मां दुर्ज्ञेयां गतिं याथात्म्य मबुधाः अजानन्तः अबोधेन तेनैवाऽज्ञानेन तन्मूलैः कर्मभिः पुण्यापुण्यात्मभिर्हेतुभिः संसरन्ति ॥ १५ ॥

इत्थं भगवद्याथात्म्य मजानन्त मनुशोचति - यदृच्छयेति। इह लोके दुर्लभां सुकल्यां पटुतरेन्द्रियां नृतां नरत्वं प्राप्याऽपि हे ईश्वर! त्वन्मायया स्वार्थे स्वश्रेयस्साधने त्वद्याथात्म्यज्ञाने प्रमत्तस्याऽनवहितस्य पुंसो वयः आयु र्गतम् अहो! वृथा गत मित्यर्थः ॥ १६ ॥

**असावहं ममैवैते देहे चास्यान्वयादिषु ।**
**स्नेहपाशै र्निबध्नान्नि भवान्सर्वमिदं जगत् ॥ १७ ॥**

**युवां न न स्सुतौ साक्षात्प्रधानपुरूषेश्वरौ ।**
**भूभारक्षत्रक्षपण[1-] अवतीर्णौ[-1] तथाऽऽत्थ ह[2] ॥ १८ ॥**

**तत्ते गतोऽस्म्यरण मद्य पदारविन्द मापन्नसंसृति भयापह मार्तबन्धो ।**
**एतावताऽल मलमिन्द्रियलालसेन मर्त्यात्मदृक्त्वयि परे यदपत्य बुद्धिः ॥ १९ ॥**

**सूतीगृहे ननु जगाद भवा नजो नौ सञ्जज्ञ इत्यनुयुगं निजधर्मगुप्त्यै ।**
**नानातनू र्गगनव द्विदध ज्जहासि को वेद भूम्न उरुगाय विभूति मायाम्[3] ॥ २० ॥**

1- -1 K. Ml.T.V.W. °णायाव° 2. K.Ml.T.V.W. हि। 3. Ml.V. मायाः

**श्रीध०** अहो किमिति प्रमत्तोऽसि त्वया बहुभिः पाशै र्निबद्धत्वा दित्याह - **असावह** मिति। देहे अस्य देहस्यान्वयादिषु पुत्रादिषु च ममैवेत इति ॥ १७ ॥

अहो! त्वत्पुत्रयो रावयोः किमिद मारोप्यते? अत आह - युवामिति। भूभारक्षत्रक्षपणार्थ मवतीर्णौ तथा ह निश्चित मात्थ कथयसि ॥ १८ ॥

**तदिति**। तत्तस्मादरणं शरण मापन्नानां संसृतिभय मपहन्तीति तथा तत् ननु त्वमतिसुखी वृथा किं निर्विद्यसेऽत आह - एतावतेति। इन्द्रियलालसेन इन्द्रियार्थतृष्णया यद्येन इन्द्रियलालसेन मर्त्ये शरीरे आत्मदृक् आत्मबुद्धि रहं, त्वयि च परमेश्वरे अपत्यबुद्धि रस्मि। तेनाऽलमलं पर्याप्तमिति ॥ १९ ॥

ननु कुत एतत् अहं परमेश्वर इति। तत्राऽऽह - **सूतीगृहे** इति। नौ आवयोः अनुयुगं प्रतियुग्मं यदा सुतपाः पृश्निरिति युग्मम्, यदा कश्यपो दितिश्चेति युग्मम्, अधुना वसुदेवो देवकीति युग्मम् एवं हि प्रतियुग्मम् अज एवाऽहं सञ्जज्ञे अवतीर्ण इति भवान्ननु जगाद। नन्वन्योऽसौ चतुर्भुजो देव इति तत्राऽऽह - नानातनूरिति। गगनवदसङ्ग एव त्वं भूम्नः सर्वगतस्य विभूतिरूपां मायां को वेदेति ॥ २० ॥

1- -1. Ml.V. रूपाः मायां

**वीर०** किञ्च, असाविति। देहे, अस्य देहस्यान्वयादिषु अनुबन्ध्यादिषु पुत्रदारादिष्वसौ देहोऽहं, इमे पुत्रादयो ममेत्येवंरूपैः स्नेहपाशैः सर्वमिद माब्रह्म पश्वादिपर्यन्तं जगत् भवान् बध्नाति बद्धं करोति ॥ १७ ॥

यदुपक्रान्तं 'जाने वामस्य यत्साक्षात् प्रधानपुरुषौ परौ' (भाग.10-85-3) इति, तदुपसंस्मारयति - युवामिति। भूमे र्भारभूतक्षत्रियनिरसनार्थ मवतीर्णोऽह मित्येत दात्थ सूतिकागृहे कथितवानसि हीत्यर्थः ॥ १८ ॥

तस्मादशरणः उपायान्तर शून्योऽहं हे आर्त्तबन्धो! आपन्नानां संसृतिभय मपहन्तीति तथा तत्तव पदारविन्दं शरणङ्गतोऽस्मि। ननु त्वमतिसुखी, वृथा किमिति निर्विद्यस इत्यत आह - एतावतेति। यत् यस्मात् मर्त्ये शरीरे आत्मदृक् आत्मबुद्धि रहं त्वयि च प्रधानपुरुषेश्वरे अपत्यबुद्धि रस्मि अतः इन्द्रियार्थ तृष्णया अलमलं पर्याप्त मित्यर्थः ॥ १९ ॥

ननु कुत एतदहं परमेश्वर इति, तत्राऽऽह - सूतीगृह इति। ननु हे भगवन् भवन् सूतीगृहे जगाद, किं तत्? यत् अजः कर्मायत्तोत्पत्तिरहितोऽप्यहं निजधर्मणां स्वकृतधर्ममर्यादानां गुप्त्यै रक्षणाय अनुयुगं प्रतियुगं जज्ञे अवतरामीत्येतत्। नन्वन्योऽसौ चतुर्भुजो देव इत्यत आह - नानेति। नानातनूर्विदधत्तावद्विभ्राणोजहासि गगनवत् यथा गगनं सर्वत्र व्याप्नुवदपि अजहत्स्वभावं तथा भवानपि नानातनूष्ववस्थितोऽपि अजहत्स्वभाव इति दृष्टान्तार्थः। इत्थमहं सम्भावयामि, तत्वत स्तव माहात्म्यं को वेदेत्याह। हे उरुगाय! भूम्नस्सर्वगतस्य तवविभूतीः मायाः आश्चर्य शक्तीश्च को वेद? न कोऽपि वेदेत्यर्थः ॥ २० ॥

1. B.Omis भवान् 2. B. ततः

**श्रीशुक उवाच**

**आकर्ण्येत्थं[1] पितुर्वाक्यं भगवान्सात्वतर्षभः ।**
**प्रत्याह प्रश्रयाऽऽनम्रः प्रहसन् श्लक्ष्णया गिरा ॥ २१ ॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**वचो वस्समवेतार्थं तातैत दुपमन्महे ।**
**यन्नः पुत्रा न्समुद्दिश्य तत्त्वग्राम उदाहृतः ॥ २२ ॥**

**अहं यूय मसावार्य इमे[2] च द्वारकौकसः ।**
**सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृश्याः[3] सचराचरम् ॥ २३ ॥**

**आत्मा ह्येकः स्वयञ्ज्योति र्नित्योऽन्यो प्राकृतै[4] र्गुणैः ।**
**आत्मसृष्टै स्तत्कृतेषु देहेषु बहुधेयते ॥ २४ ॥**

1. K.T.W. निशम्ये° 2. K.T.W. य इमे 3. T.W. विश्वमेवं 4. B.G.J. निर्गुणे 5. B.G.J. भूतेषु

**श्रीध० वच** इति। उपमन्महे[1] उपमन्यामहे[-1] समुद्दिश्य विषयीकृत्य तत्त्वग्राम स्तत्त्वसमूहः उदाहृतः सम्यङ्निरूपितः ॥ २१,२२ ॥

इमामेव दृष्टिं सर्वत्र विधत्स्वेत्याह - अहमिति। एवं विमृश्या ब्रह्मत्वेनैवाऽन्वेषणीयाः। किञ्च सचराचरं जगदपि ॥ २३ ॥

ननु, नानाविकारवतां कुतो ब्रह्मत्वमिति चेत् न, ब्रह्मण एवोपाधि धर्मै र्बहुधा प्रतीतेरिति सदृष्टान्त माह द्वाभ्याम् - आत्मा हीति। यथा खादिभूतानि तत्कृतेषु घटादिषु आविस्तिरोभावादिकं यान्ति, एवं असावात्माऽप्यात्मसृष्टैर्गुणैः कृत्वा तत्कृतेषु देहेषु बहुधा ईयते पुनश्च यथाऽशयं यथोपाध्याविर्भाव तिरोभावादि रूपेण प्रतीयते न वस्तुतः कुतः ऐको बहुधा स्वयञ्ज्योति र्दृश्यत्वेन नित्योऽनित्यत्वेन, अनन्योऽन्यत्वेन निर्गुणः सगुणत्वेन इत्यादि बहुधात्वं प्रपञ्चनीयम् ॥ २४ ॥

1--1 Ml.V. उपपन्नं मन्यामहे

**वीर०** निशम्येति। प्रश्रयेण विनयेन आनम्रः श्लक्ष्णया मृद्व्या गिरा प्रत्याह ॥ २१ ॥

तदेवाऽऽह वच इति चतुर्भिः। आत्मनः परमात्मत्वं गोपयन्नाह - हे तात! वो युष्माक मेतद्वचो वाक्यं समवेतार्थ

मुपपन्नार्थम् उपमन्महे उपमन्यामहे, अभ्युपगच्छाम इति यावत्। यद्वा, समवेतार्थं समवेतः अस्मच्छिक्षागर्भितः अर्थो यस्य तथाभूत मुपलभामह इत्यर्थः। कुतः किञ्च तद्वच इत्यत आह यदिति। यद्यतः पुत्रानस्मान् समुद्दिश्य विषयीकृत्य, लक्ष्यीकृत्येति यावत्। तत्त्वग्रामः तत्त्वसमुदायः उदाहृतः सम्यक् निरूपितो येनेत्येतद्वचः सर्वं ब्रह्मात्मकं इत्येव मस्मान् ग्राहयितु मस्मानेव विषयीकृत्य उक्तमिति भावः ॥ २२ ॥

तदेवाऽऽह अहमिति। असावार्योऽग्रजः सर्वे द्वारकौकसः किं बहुना हे यदुश्रेष्ठ! सचराचरं विश्वं कृत्स्नं जगच्चैवं परमात्मात्मकं तत्कारणकं तन्निर्वाह्यञ्चेत्यर्थः ॥ २३ ॥

कुत इत्यत आह - आत्मेति। हि यस्मा दात्मा परमात्मा तावदात्मना स्वेनैव सृष्टैः प्राकृतै र्गुणै र्गुणपरिणामात्मकै र्महदादिभिः तत्कृतेषु महदादिभिः सृष्टेषु भूतेषु देवमनुष्यादिषु बहुधा ईयते व्याप्त इति प्रमाणतो ज्ञायते। कथम्भूतः स्वयञ्ज्योतिः स्वयंप्रकाशस्वरूपैः अन्यः देवादिशरीर तदभिमानिजीवेभ्योऽन्यः ॥ २४ ॥

**खं वायुर्ज्योति रापो भू स्तत्कृतेषु यथाशयम्।**
**आविस्तिरोऽल्पभूर्येक नानात्वं यात्यसावपि ॥ २५ ॥**

## -:स्मरोद्गीथादि नामक देवकी षड्गर्भानयन कथाः-

**श्रीशुक उवाच**

**एवं भगवता राजन् वसुदेव उदाहृतम् ।**
**श्रुत्वा विनष्टनानाधी स्तूष्णीं प्रीतमना अभूत् ॥ २६ ॥**
**अथ तत्र कुरुश्रेष्ठ देवकी सर्वदेवता ।**
**श्रुत्वाऽऽनीतं गुरोः पुत्र मात्मजाभ्यां सुविस्मिता ॥ २७ ॥**
**कृष्णरामौ समाश्राव्य पुत्रान् कंसविहिंसितान् ।**
**स्मरन्ती कृपणं प्राह वैक्लव्या दश्रुलोचना ॥ २८ ॥**

1--1 K.T.W. आविष्कृताऽल्प 2. B.G.J. °को 3. B.J.K.T.W. °तः *4.K.T.W. नादृश्यभूत् 5. Ml.V.add स्व 6. Ml.V.Omit °वि° 7. B.G.J. °व्या°

**श्रीध०** सुविस्मिता सती ॥ २५-२७ ॥

सामाश्राव्य सम्बोध्य ॥ २८ ॥

**वीर०** तत्र दृष्टान्त माह खमिति। यथा खादयः तत्कृतेषु आकाशादिभिः कृतेषु यथाशयं व्याप्यानुरूपं आविष्कृताल्पभूर्येकनानात्वं यान्ति। तद्वदसौ परमात्माऽपि क्वचिदाविष्कृतत्वं क्वचिदल्पत्वं क्वचिद्भूरित्वं विपुलत्वं स्वत स्तस्येकत्वं व्याप्य बहुत्वप्रयुक्तं नानात्वं च यातीत्यर्थः। एकस्यानेकेषु व्याप्तौ तत्प्रयुक्तनानात्ववस्तुत्वैकत्वेचाऽयं दृष्टान्तः न वस्तुतो व्याप्य व्यापकयो रेक द्रव्यत्वे ज्ञेयम् ॥ २५ ॥

एवमिति। उदाहृतः उक्तः उदाहृतमिति पाठे तूक्तं वचः श्रुत्वेत्यर्थः। विनष्टनानाधीः अब्रह्मात्मक भेदबुद्धिरहितः अत एव प्रीतमना स्तूष्णीं बभूव ॥ २६ ॥

अथेति। हे कुरुश्रेष्ठ! सर्वदेवतात्मक भगवदवतारस्थानत्वात्तथाभूता देवकी आत्मजाभ्यां रामकृष्णाभ्यां गुरोस्सान्दीपनेः पुत्रमानीतं श्रुत्वा अतीव विस्मिता सती ॥ २७ ॥

समाश्राव्य सम्बोध्य वैक्लव्या[1] दैन्यादश्रूणि लोचनयो र्यस्या सा प्राह ॥ २८ ॥

---

1. B.Omits दैन्यात्

**देवक्युवाच**

**रामरामाऽप्रमेयात्मन् कृष्ण योगेश्वरेश्वर ।**
**वेदाऽहं वां विश्वसृजा मीश्वरा वादिपूरुषौ ॥ २९ ॥**

**कालवध्वस्तसत्त्वानां राज्ञामुच्छास्त्रवर्तिनाम् ।**
**भूमेर्भारायमाणाना मवतीर्णौ किलाऽद्य मे[2] ॥ ३० ॥**

**यस्यांशांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयादयाः ।**
**भवन्ति किल विश्वात्मन् तं त्वाऽद्याहं गतिंगता ॥ ३१**

**चिरान्मृतसुतादाने गुरुणा किलचोदितौ[3] ।**
**आनिन्यथुः पितृस्थाना द्गुरवेगुरुदक्षिणाम्[4] ॥ ३२ ॥**

1. K.T.W. °गी° 2. K.T.W. क्षयाय 3. B.G.J. काल 4. K.T.W. °णाः

**श्रीध०** भूमेर्भारायमाणानां राज्ञामर्थे तेषां निधनार्थं मे मयि किलावतीर्णौ ॥ ३० ॥

हे आद्य ! यस्यांशः पुरुष स्तस्यांशो माया, तस्या अंशा गुणाः तेषां भागेन परमाणुमात्रलेशेन विश्वेत्पत्त्यादयो भवन्ति तं त्वा त्वां गतिं शरणं गतास्मि ॥ ३१ ॥

आनिन्यथु रानीतवन्तौ पितृस्थानाद्यात्मसमम् ॥ ३२-३४ ॥

**वीर०** तदेवाऽऽह रामेति पञ्चभिः। हे अप्रमेयात्मन् ! अपरिच्छेद्यस्वरूप ! योगेश्वराणा माश्चर्यशक्तिमता मपीश्वरौ वां युवां विश्वसृजां ब्रह्मादीना मीश्वरावादिपूरुषौ जगत्कारणपुरुषावहं वेद वेद्मि ॥ २९ ॥

तर्ह्येवम्भूतयो रावयोः किमर्थं यदुषु जन्मेत्यत आह - कालेति। कालवशेन विध्वस्तं सत्त्वं सत्त्वगुणो येषां उच्छास्त्रवर्तिनां शास्त्रीयमर्यादातिलङ्घिना मत एव भूमे र्भारायमाणानां राज्ञां क्षयाय मे मयि अस्मत्तो वाऽवतीर्णौ ॥ ३०॥

यस्य तव अंशांशांशभागेन अयुतायुतशतैककलांशकांशेन विश्वस्योत्पत्त्यादयो भवन्ति किलेति शास्त्रप्रसिद्धिः तं पूर्णब्रह्मरूपं त्वा मधुनाऽहं गतिं शरणं गताऽस्मि ॥ ३१ ॥

स्वाभिप्रायमावेदयति - चिरादिति द्वाभ्याम्। मृतसुतादाने निमित्ते गुरुणा सान्दीपनिना चोदितौ भवन्तौ पितृस्थानाद्यमसमदना दानिन्यतुः आनीतवन्तौ किल गुरुदक्षिणाः विपुलदक्षिणारूपान् पुत्रान् आनिन्यतुरिति सम्बन्धः। दक्षिणाः इति पाठे अर्पयितुमिति शेषः ॥ ३२ ॥

1. B.omits वेद

**तथा मे कुरुतं कामं युवां योगेश्वरेश्वरौ ।**
**भोजराजहतान्पुत्रान् कामये द्रष्टुमाहृतान् ॥ ३३ ॥**

**ऋषिरुवाच**

**एवं सञ्चोदितो मात्रा रामः कृष्णश्च भारत ।**
**सुतलं संविविशतु र्योगमाया मुपाश्रितौ ॥ ३४ ॥**

**तस्मिन् प्रविष्टा वुपलभ्य दैत्यराड्विश्वात्मदैवं सुतरां तथाऽऽत्मनः ।**
**तद्दर्शनाह्लाद परिप्लुताशयः सद्यसमुत्थाय ननाम सान्वयः ॥ ३५ ॥**

**तयोस्समानीय वरासनं मुदा निविष्टयो स्तत्र महात्मनोस्तयोः ।**
**दधार पादाववनिज्य तज्जलं सबृन्द आब्रह्म पुनद्यदम्बु ह ॥ ३६ ॥**

1- -K.T.W. कृष्णौ कुरूद्वह! 2- -2 K.T.W. रसातलं 3- -3 K.T.W. पुनात्यदोऽम्बु हि

**श्रीध०** दैत्यराट् बलिः कथम्भूतो विश्वस्याऽऽत्मभूतं दैवं सान्वयः सपरिवारः ॥ ३३-३५ ॥

सबृन्दः सपरिजनः कथम्भूतौ पादाववनिज्य यदम्बु ययो रवनेजनोदक माब्रह्म ब्रह्माणमभिव्याप्य जगत् पुनत् पवित्रयत् वर्तते, तौ ॥ ३६ ॥

**वीर० तथेति** [1]यथा गुरोः कामं कृतवन्तौ तथा ममाऽपि कामं इष्टं कुरुतं नाऽऽवां शक्तौ इति मा वोचत मित्यभिप्रायेण विशिनष्टियोगीश्वरेश्वरौ निरतिशयाश्चर्यशक्तिमन्तौ। कोऽसौ काम इत्यत आह-भोजेति भोजराजः कंसः, तेन हतान् ॥ ३३ ॥

**एवमिति**। योगमाया माश्चर्यशक्तिम् उपाश्रितौ रसातलं (सुतलं) बलिचक्रवर्तिनो लोकं विविशतुः ॥ ३४ ॥

**तस्मिन्निति**। दैत्यराट् बलिः विश्वेषा मात्मनं दैवं दैवभूतं तथा नितरा मात्मनो दैवतभूतौ तस्मिन् सुतले प्रविष्टौ उपलभ्य दृष्ट्वा तयो र्दर्शनेन य आह्लाद स्तेन परिप्लुतः व्याप्तः आशयो मनो यस्य स सान्वयः संपरिवारः सद्य स्तदैव उत्थाय ननाम ॥ ३५ ॥

**तयोरिति**। तयो रामकृष्णयोः श्रेष्ठमासन मानीयाऽऽदाय समर्प्य तत्र वरासने पादाववनिज्य प्रक्षाल्य तज्जलं सपरिवार श्शिरसा दधार। कुतः? हि यस्मात्, अदः अम्बुजलं आब्रह्मब्रह्माण मभिव्याप्य कृत्स्नं जगत् पुनाति पुनद्यदिति पाठे यदम्बु पवित्रयत् वर्तत इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

**समर्हयामास स तौ विभूतिभिः महार्हवस्त्राभरणानुलेपनैः ।**
**ताम्बूलदीपामृतभक्षणादिभिः स्वगोत्रवित्तात्म समर्पणेन च ॥ ३७ ॥**

**स इन्द्रसेनो भगवत्पदाम्बुजं बिभ्रन्मुहुः प्रेमविभिन्नयाधिया ।**
**उवाच हाऽऽनन्दजलाकुलेक्षणः प्रहृष्टरोमा नृप गद्गदाक्षरः ॥ ३८ ॥**

**बलिरुवाच**

**नमोऽनन्ताय बृहते नमः कृष्णाय वेधसे ।**
**साङ्ख्ययोगवितानाय[4] ब्रह्मणे परमात्मने ॥ ३९ ॥**

**दर्शनं वां हि भूतानां दुष्प्रापं चाप्यदुर्लभम् ।**
**रजस्तमस्स्वभावानां यन्नः प्राप्तं[5] यदृच्छया ॥ ४० ॥**

1. K.T.W स्नग्धूप 2. K.T.W. चा° 3. B.G.J. रम्। 4. K.T.W. °धा° 5. B.G.J. प्राप्तौ

**श्रीध०** इन्द्रसेनो बलिः प्रेमविभिन्नया प्रेमार्द्रया धिया बिभ्रद्धारयन् ॥ ३७-३८ ॥

अनन्ताय शेषाय बृहते फणैकदेशे विश्वधारणाद्बृहत् तस्मै कृष्णाय सदानन्दरूपाय च वेधसे जगद्विधात्रे सांख्ययोगवितानायेत्यदि पदत्रयमैक्य विवक्षया ॥ ३९ ॥

योगेश्वराणा मपि दुर्दर्शौ युवामस्माभिः दृष्टावित्येतन्नातिचित्रमित्याह - **दर्शनमिति** । दुष्प्रापमपि युष्मत्कृपया केषाञ्चिददुर्लभं सुलभमपिभवति, तदाह - रजस्तमस्स्वभावानामिति। नो दर्शनं प्राप्तौ ॥ ४० ॥

**वीर०** समर्हयामासेति। स बलिः तौ समर्हयामास विभूतिभिः पुष्कलैः अमृतभक्षणममृततुल्य भक्ष्यद्रव्यं स्वगोत्रं स्वकुलं वित्तमात्मा च तेषांसमर्पणेन च समर्हयामासेति सम्बन्धः ॥ ३७ ॥

**स** इति। इन्द्रसेनो बलिः प्रेमविभिन्नया प्रेमार्द्रया धिया भगवत्पदाम्बुजं धारयन् आनन्दजलैः आकुले व्याप्ते अक्षिणी यस्य प्रहृष्टान्युदञ्चितानि रोमाणि यस्य गङ्गादीनि कुण्ठितानि अक्षराणि यस्य सः। हे नृप! उवाच ॥ ३८ ॥

तदेवाऽऽह - नम इत्यादिना विमुच्यत इत्यन्तेन ग्रन्थेन [1]अनन्ताय शेषाय बृहते फणैकदेशेन विश्वधारकाय वेधसे जगद्विधात्रे साङ्ख्ययोग विधानाय साङ्ख्ययोग प्रवर्तकाय [1]थ वितानायेति पाठे मत्वर्थीयोऽच् द्रष्टव्यः। वितानो यज्ञः सच कर्मयोगोपलक्षकः योगो भक्तियोगः, साङ्ख्यं ज्ञानयोगः ते अस्याराधन रूपतया सन्तीति तथा तस्मै कर्मज्ञानयोगानु गृहीत भक्तियोगाराध्यायेत्यर्थः। ब्रह्मणे स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशय बृहते परमात्मनेऽन्तः प्रवेश नियमनाभ्यां लोकत्रयस्य भर्त्रे व्याप्यगतदोषास्पृष्टाय च ॥ ३९ ॥

युवामस्माभिर्दृष्टावित्येतन्नातिचित्रमिति अभिप्रेत्याह - **दर्शनमिति**। वां युवयोः दर्शनं केषाञ्चित् भूतानां दुष्प्रापं दुर्लभञ्चाऽपि केषाञ्चित् युष्मत् कृपया तु सुलभमेव। तदुपपादयति रजस्तमः स्वभावानामिति। यद्यस्मात् रजस्तमः प्रचुर स्वभावानामपि नोऽस्माकं युष्मद्दर्शनं प्राप्तम्। अतो भवत्कृपैव तत्र निदानमिति भावः ॥ ४० ॥

दैत्यदानवगन्धर्वसिद्ध[1] विद्याधरोरगाः[2] ।
यक्षरक्षःपिशाचाश्च भूतप्रमथनायकाः ॥ ४१ ॥

विशुद्धसत्त्वधाम्न्यद्धा त्वयि शास्त्रशरीरिणि ।
नित्यं निबद्धवैरास्ते वयंचान्ये च तादृशाः ॥ ४२ ॥

★ प्राप्ताः सालोक्य सामीप्यं सारूप्यमथसात्मताम् ।
ते सर्वे पुण्डरीकाक्ष भावोहि भवकारणम् ॥ ४३ ॥

केचनोद्बद्धवैरेण[3] भक्त्या केचन कामतः ।
न तथा सत्त्वसंरब्धाः सन्निकृष्टा स्सुरादयः ॥ ४४ ॥

इदमित्थमिति प्रायस्तव योगेश्वरेश्वर ।
न विदन्त्यपि योगेशा[4] योगमायां कुतो वयम् ॥ ४५ ॥

1. B.G.J. °र्वा: 2. B.G.J. °श्चारणा: ;K.T.W. धराऽपि। *This verse is found only in K.T.W. edns. 3. Ml.V. °दुद्बुद्ध° 4. K..T.W. °गी°

**श्रीध०** अहो विद्विषो वयं सात्त्विकभक्तेभ्योऽपि स भाग्या इत्याह - दैत्याद्यादिभिस्त्रिभिः ॥ ४१,४२ ॥

उद्बद्धवैरेण या भक्तिः तया केचनेति चैद्यादयः। कामतो भक्त्या गोप्यादयो यथा सन्निकृष्टाः त्वदात्मतां प्राप्ताः। तथा च सत्त्वसंरब्धाः सत्त्वाविष्टा अपि सुरादयो न सन्निकृष्टा इति ॥ ४३ ॥

ननु सात्त्विकेभ्योऽपि राजसादयः सन्निकृष्टा इति चित्रम्। तदाह - इदमित्थमिति। इदमिति स्वरूपतः, इत्थमिति विशेषतश्च ॥ ४४, ४५ ॥

**वीर०** अहो विद्विषोऽपि वयं सात्त्विक भक्तेभ्योऽपि स भाग्या इत्याह - दैत्येति त्रिभिः। दैत्यादयस्त्वयि नित्यं निबद्धं वैरं येषां तथाभूताः कथम्भूते त्वयि? विशुद्धस्य रजस्तमोभ्यामननुविद्धस्य सत्त्वस्य धाम्नि आश्रये। अनेन कामक्रोधादि प्राकृतदोष प्रतिभटत्वमभिप्रैतम्। अद्धा साक्षात् शास्त्र शरीरिणि शास्त्रवेद्यं शरीरं स्वरूप मस्यास्तीति तथा। तस्मिन् ते वयमित्थम्भूतावयमित्यर्थः तथाचाऽन्ये कंसादयश्य तादृशा नित्यं निबद्धवैरा इत्यर्थः ॥ ४१,४२ ॥

प्राप्त इति त एते सर्वे सालोक्यादिरूपां मुक्तिं प्राप्ताः। तत्र सालोक्यं नाम भगवता सह समान लोकावस्थायित्वं, सामीप्यं सान्निध्यम्, सारूप्यम् समानवेषता, सात्मता समानात्मगुणत्वं सायुज्यमिति यावत्। गुणाष्टकाविर्भाव साम्यं हि सायुज्यम्। सार्ष्टि त्वमथसात्मताम् इति पाठे सार्ष्टित्वं समानसमृद्धित्वम् सालोक्यादीनि त्रीणि सायुज्य प्रयुक्तानीति न मुक्ति तारतम्य शङ्कावकाशः। विबद्धवैराणामपि सालोक्यादि प्राप्तिः कुतः इत्यत आह - भाव इति। हि यस्मात् भावः चित्तवृत्ति विशेषः भवकारणं फलोदय कारणं त्वयि कोऽपि वा निरन्तर चित्तवृत्ति विशेषो मुक्तिकारणमित्यर्थः ॥

निदर्शयति - केचनेति। केचन कंसादयः उद्बद्धवैरेण त्वयि निबद्धवैरेण, प्राप्ता इत्यनुषज्यते। केचन भक्त्या, केचन गोपीजनाः कामतः कामात्प्राप्ताः। किञ्च यथा सन्निकृष्टाः त्वत्सात्मतां प्राप्ताः तथा सत्त्वसंख्याः सत्त्वाविष्टा अपि सुरादयो न प्राप्ताः यद्वा, यथोद्बद्धवैरादिना प्राप्ताः तथा सन्निकृष्ट अपि सत्त्वप्रधाना अपि नाऽनु प्राप्ता इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

त्वत्कृपासनाथो भाव एव भवकारणम्, अन्यथा त्वन्माया याथात्म्यवेदिनां कृतस्ततो निस्तार इत्यभिप्रयन्नात्मनः कैमुत्यनयेन तस्यादुर्ज्ञेयतामाह - इदमिति। हे योगीश्वरेश्वर! योगीश्वरा अपि प्रायशः तव योगमायया इदमित्थमिति स्वरूपतः स्वभावतश्च न विदन्ति। कुतो वयं विद्मः ॥ ४४,४५ ॥

**तन्नः प्रसीदनिरपेक्ष विमृग्ययुष्मत् पादारविन्दधिषणोघगृहान्धकूपात् ।**
**निष्क्रम्य निश्वशरणाङ्घ्र्युपलब्धवृत्तिः शान्तो यथैक उत सर्वसखश्चरामि ॥ ४६ ॥**

**शाध्यस्मानीशितव्येश निष्पापान् कुरु नः प्रभो ।**
**पुमान्यदृच्छयाऽऽतिष्ठं श्चोदनाया विमुच्यते ॥ ४७ ॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**आसन्मरीचेः षट्पुत्रा ऊर्णायां प्रथमेऽन्तरे ।**
**देवाः कं जहसुर्वीक्ष्य सुतां यभितुमुद्यतम् ॥ ४८ ॥**

**तेनाऽऽसुरी मगन् योनि मधुनाऽवद्यकर्मणा ।**
**हिरण्यकशिपोर्जाता नीतास्ते योगमायया ॥ ४९ ॥**

**देवक्या उदरे जाता राजन् कंसविहिंसिताः ।**

**सा तान्शोचत्यात्मजान्स्वान् त इमेऽध्यासतेऽन्तिके ॥ ५० ॥**

1. B.G.J.Ml.V. °णान्य 2. B.G.J.Ml.V. °खै° 3. Ml.V. °जांस्तुत

**श्रीध०** तदेवं यद्यपि वैरभावेन त्वत्प्राप्तिर्भवे त्तथापि मां सात्त्विकं कुर्विति प्रार्थयते - तदिति। तत्तथा नः प्रसीद, यथा निरपेक्षैः आप्तकामैः अपि विमृग्यं युष्मत्पादारविन्दं तदेव धिषणमाश्रयः तस्मादन्यत् गृहं तदेवाऽन्धकूपः तस्मान्निष्क्रम्य निर्गत्य विश्वस्य शरणं रक्षितारो वृक्षाः तेषामङ्घ्रिमूलेषु स्वत एव गलितैः फलादिभिः उपलब्धा प्राप्ता वृत्तिर्जीविका येन सोऽहं शान्तस्सन्नेक एव चरामि, उत अथवा सर्वेषां सखायो महान्तस्तैस्सह यथा चरामीति ॥ ४६ ॥

कथमल्पपुण्यानामेवम् भावः सम्भवतीति चेत्तर्हि यथैतद्भवेत्तथाऽस्माननुशिक्षयेत्याह-शाधीति हे प्रभो ! ईशितव्याः सर्वेजीवाः तेषामीश। यत् तवाऽनुशासनमातिष्ठन्नाश्रयंश्चोदनायाः विधि निषेध लक्षणायाः सकाशाद्विमुच्यते न खलु त्वद्भक्तो विधिकिङ्करः स्यादिति भावः ॥ ४७ ॥

तदुक्तं सर्वमनुमोद्य स्वागमन कारणं सप्रपञ्चं कथयति आसन्निति पञ्चभिः। ऊर्णायां भार्यायां प्रथमेऽन्तरे स्वायम्भुव मन्वन्तरे ते देवाः सुतां वाचं यभितुं यब्धुं मैथुनेन रमयितुम् उद्यतमुद्युक्तं कं प्रजापतिं जहसुः उपहसितवन्तः ॥ ४८ ॥

तेनावद्यकर्मणा पापेनाऽसुरीं योनिमगन्, अधुना तत्क्षणमेव हिरण्यकशिपो र्जाता इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

तेच योगमायया ततो नीतास्सन्तो देवक्या उदरे जाताः। हे राजन् बले! ते च कंसेन विहिंसिताः। साच तान् आत्मजान् मत्वा शोचति। ते च इमे तवान्तिकेऽध्यासते ॥ ५० ॥

**वीर०** तन्न इति। तत्तस्मात् त्वन्मायास्वरूपस्वभाव वेदनतरणयोः दुष्करत्वात्, केवलं प्रसीदप्रसन्नो भव, अस्माननुगृहाणेत्यर्थः। कथं यथा निरपेक्षैः निष्कामैः विमृग्ये युष्मत्पादारविन्दे धिषणा बुद्धिर्यस्य अघयुक्तं गृहमेवाऽन्धकूपः तस्मान्निष्क्रम्य विश्वस्य शरणं रक्षितारो वृक्षाः तेषामङ्घ्रिषु मूलेषु उपलब्धै स्वत एव गलितैः फलादिभिः वृत्तिः जीवनं यस्य सोऽहं शान्तः सन्नेक एव उत अथवा सर्वेषां सखायो ये महान्तः तैः सहितश्चरामि तथाऽनुगृहाणेत्यर्थः। सर्व सह पाठे शीतोष्णादि द्वन्द्वसहः ॥ ४६ ॥

प्रकृतागमनप्रयोजनबुभुत्सया स्वविषयकं शासनं प्रार्थयते। शाधीति। हे ईशितव्येश। ईशितव्या नियम्याः तेषाम् ईश! नोऽस्मान् शाधि कैङ्कर्याऽज्ञापनेन शिक्षयेत्यर्थः। किं तदित्यत आह - निष्पापानिति। हे प्रभो! ततोऽपि किमत आह - पुमानिति। तिष्ठन् त्वच्छासनमाश्रयन् चोदनायाः कर्मबन्धाद्विमुच्यते ॥ ४७ ॥

इत्थं प्रार्थितः प्राह भगवान् - आसन्निति। प्रथमान्तरे स्वायम्भुवमन्वन्तरे मरीचेः प्रजापतेः ऊर्णायां भार्यायां षट्सुताः आसन् ते देवाः सुतां सरस्वतीं यभितुं मैथुनम् कर्तुम् उद्युक्तं कं ब्रह्माणं वीक्ष्य जहसु र्हसित वन्त इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

तेन परिहासात्मकेन दुष्टेन कर्मणा आसुरीं योनिं प्रापुः। तदैव[1] हिरण्यकशिपोर्जाताः। ते च योगमायया शक्त्या ततो नीतास्सन्तः देवक्या उदरे जाताः। हे राजन् तेन कंसेन विहिंसिताः देवकीसुतान् आत्मजान् मत्वा शोचति। ते चेमे तवान्तिकमन्तिके अध्यासते। 'अधि शीङ् स्थासां कर्म' (अष्टा.1-4-46) इत्याधारस्य कर्मत्वम् ॥ ४९, ५० ॥

1. B. तथैव

**इत एतान्प्रणेष्यामो मातृशोकापनुत्तये ।**
**ततः पाप विनिर्मुक्ताः लोकं यास्यन्ति विज्वराः ॥ ५१ ॥**

**स्मरोग्दीथः परिष्वङ्गः पतङ्गः क्षुद्रभृद्[2] घृणी ।**
**षडिमे मत्प्रसादेन पुनर्यास्यन्ति सद्गतिम् ॥५२॥**

**इत्युक्त्वा तान् समादाय इन्द्रसेनेन पूजितौ ।**
**पुनर्द्वारवतीमेत्य मातुः पुत्रा नयच्छताम् ॥ ५३ ॥**

**तान्दृष्ट्वा बालकान्देवी पुत्रस्नेह स्नुतस्तनी ।**
**परिष्वज्याऽङ्क मारोप्य मूर्ध्न्यजिघ्र दभीक्ष्णशः ॥ ५४ ॥**

**अपाययत्स्तनं प्रीता[3] सुतस्पर्शपरिस्नुतम्[4] ।**
**मोहिता मायया विष्णोर्यया सृष्टिः प्रवर्तते ॥ ५५ ॥**

**पीत्वाऽमृतं पयस्तस्याः पीतशेषं गदाभृतः ।**
**नारायणाङ्गसंस्पर्शप्रतिलब्धात्मदर्शनाः ॥ ५६ ॥**

**ते नमस्कृत्य गोविन्दं देवकीं पितरं बलम् ।**
**मिषतां सर्वभूतानां ययुर्धाम दिवौकसाम्[5] ॥ ५७ ॥**

1--1. B.G.J.MI.V. ततः शापाद्वि 2. MI.V. भूः घृणिः 3. K.T.W. प्रात्या 4. B.G.J. °पुता। 5. K.MI.T.V.W. विहायसाम्

**श्रीध०** इत इति। लोकं देवलोकम् ॥ ५२ ॥

स्मरोद्गीथः स्मरसहित उद्गीथः सद्गतिं मोक्षम्। स्मरस्यैव पूर्वकीर्तिमानिति नाम। अतः 'कीर्तिमन्तं प्रथमजं कंसायानकदुन्दुभिः अर्पयामास' (भाग.10-1-57) इत्युक्तम् ॥ ५२ ॥

इतीति। अयच्छताम् अर्पयामासतुः ॥ ५३,५४ ॥

अमृतत्वे हेतुः गदाभृतः पीतशेषमिति। नारायणाङ्गसंस्पर्शनः प्रतिलब्धम्। देवा वयमिति आत्मदर्शनम् यैस्ते ॥ ५५ ॥

धाम देवलोकम् ॥ ५६ ॥

**वीर०** तत इति। मातुर्देवक्याः शोकापहरणाय इत एतान्प्रणेष्यामः। ततः शोकापनोदननान्तरं पापात् प्रजापत्यपहासात्मकात् विनिर्मुक्ताः, अत एव विज्वराः निर्दुःखाः लोकं तावत् पुण्यलोकं यास्यन्ति। ततो मत्प्रसादेन मदनुग्रहेण हेतुना इमे स्मरादयः षट् सद्गतिं मुक्तिं यास्यन्ति ॥ ५० ॥

स्मरोद्गीथ इति सन्धिरार्षः। स्मरसहित उद्गीथ इति मध्यमपदलोपी समासे वा ॥ ५१ ॥

इतीति। अयच्छतामर्पयामासतुः ॥ ५२ ॥

तानिति। पुत्रस्नेहेन स्नुतौ स्रवन्तौ स्तनौ यस्यास्सा अभीक्ष्णवाः पुनः पुनः मूर्ध्नि अजिघ्रत् ॥ ५३ ॥

सुतानां संस्पर्शेन स्नुसं क्षरन्तं स्तनमपाययत्। तत्र हेतुः विष्णोः मायया मोहिता। मायां विशिनष्टि यथा सृष्टिः प्रवर्तते। सृष्टिः इत्यस्य विश्वेत्यादिः ॥ ५४ ॥

पीत्वेति। तस्या देवक्याः अमृततुल्यं पयः स्यन्यं तत्र हेतुः गदाभृतः श्रीकृष्णस्य पीतशेषं पीत्वा नारायणस्य

श्रीकृष्णस्य अङ्गसंस्पर्शात् प्रतिलब्धम् आत्मदर्शनं स्वात्मपरमात्म याथात्म्यज्ञानं यैस्ते, बलं बलभद्रञ्च नमस्कृत्य सर्वभूतानां [1]मिषतां पश्यतां सतां विहायसा धाम देवलोकं ययुः ॥ ५५,५६ ॥

.B. omits मिषतां

**तं दृष्ट्वा देवकी देवी मृतागमननिर्गमम् ।**
**मेने सुविस्मिता मायां कृष्णस्य [1]रचितां नृप ॥ ५८ ॥**

**एवं विधान्यद्भुतानि कृष्णस्य परमात्मनः ।**
**वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य सन्त्यनन्तानि भारत ॥ ५९ ॥**

**सूत उवाच**

**य इदमनुश्रुणोति श्रावयेद्वा मुरारेः चरितममृतकीर्तेर्वर्णितं व्यासपुत्रैः ।**
**जगदघभिदलं तद्भक्तसत्कर्णपूरं भगवति कृतचित्तो याति तत्क्षेमधाम ॥ ६० ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
मृताग्रजानयनं नाम पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

1. K.T.W. चरितां 2. K.T.W. मल

**श्रीध० तमिति**। मृतानां आगमनं निर्गमनञ्च श्रीकृष्णस्य मायां मेने तेनैव अपत्यादि रूपेण रचिताम् ॥५७,५८॥

अमृतं कीर्तिर्यस्य तस्य। व्यासपुत्रैः इति बहुवचनं पूजार्थम्। जगतामघं भिनत्तीति तथा तत् अलं निश्शेषं यथा भवति तथा न कृच्छ्रादिवदति। तदेवं मोक्षहेतुत्वञ्चोक्तं तद्भक्तानान्तु सत्कर्णपूरं परमसुखावहं कर्णाभरणमिति सुखारूपता माह। किञ्च भगवति कृतम् आवेशितं चित्तं येन स तथाभूत्वा तस्य क्षेमधाम कालादिभयरहितं लोकं यातीति ॥ ५९,६० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

**वीर०** तमिति। तं मृतानां आगमनपूर्वकं निर्गममवलोक्य सुतरां विस्मिता सती श्रीकृष्णस्य मायां मेने सर्वं तन्मायया कृतममन्यत। माया आश्चर्यशक्तिः ॥ ५७ ॥

एवमिति। हे भारत! अनन्तवीर्यस्य अनन्तकल्याणवीर्यसूचकगुणाकरस्य भगवतः इत्थम्भूतानि वीर्याणि प्रभावसूचकचेष्टितानि अनन्तानि सन्ति, न साकल्येन वक्तुं श्रोतुं वा शक्यानीति भावः ॥ ५८ ॥

उपवर्णितध्यानश्रवणादिफलमाह सूतः - य इति। व्यासपुत्रैरिति बहुवचनं गुरुत्वाभिप्रायम्। अमला कीर्तिर्यस्य मुरारेः चरितमलं निश्शेषं यथा तथा। जगतोऽघं भिनत्तीति तथा न कृच्छ्रादिवत्। यत्किञ्चिदघभिदिति भावः। तदेवं पापक्षयहेतुत्वं, अत एव मोक्षहेतुत्वञ्च उक्तम्। किञ्च तद्भक्तानां सत्कर्णपूरं परमसुखावह कर्णाभरणरूपम् इत्थम्भूतं इदं चरितं यः पुमाननुश्रुणोति श्रावयेत् वा, सः भगवति कृतं निहितं चित्तंयेन तथाभूतः तद्भगवत्सम्बन्धि क्षेमं कालादि भयरहितं धाम स्थानं याति प्राप्नोति ॥ ५९,६० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

# षडशीतितमोऽध्यायः

## (श्रीविजयध्वजतीर्थरीत्या एकनवतितमोध्यायः)★

-सुभद्राहरणकथा -

1- -1
**राजोवाच**

**ब्रह्मन् वेदितुमिच्छामि[2] स्वसारं रामकृष्णयोः ।**
**यथोपयेमे विजयो या ममाऽसीत्पितामही ॥ १ ॥**

3-
**श्रीशुक उवाच**

**अर्जुनस्तीर्थयात्रायां पर्यटन्नवनीं प्रभुः ।**
**गतः प्रभास मशृणोन्मातुलेयीं स आत्मनः ॥२॥**

**दुर्योधनाय राम स्तां दास्यतीति न चाऽपरे ।**
**तल्लिप्सु स्स यति र्भूत्वा त्रिदण्डी द्वारका मगात् ॥३॥**

4- -4 5
**तत्र वै वार्षिकान् मासा नवात्सीत् स्वार्थसाधकः ।**
**पौरै स्सभाजितोऽभीक्षणं[6] रामेणाऽजानता च सः ॥४॥**

★ अयमध्यायः विजयध्वजतीर्थपाठानुसारेण त्रयोदश श्लोकादारभ्यते। 1- -1 श्रीविष्णुरात उवाच 2. B.G.J °मः 3- -3 श्रीब्रह्मरात उवाच 4. K.T.W स तत्र 5. K.MI.V. नः 6. T.W. भिक्षू

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

षडशीतितमे दम्भा त्सुभद्रा मर्जुनोऽहरत्। गत्वा च मिथिलां कृष्णो नृपविप्रावनन्दयत् । पित्रोः स्वज्ञान मादिश्य सुभद्रां फाल्गुनाय च। जगाम मिथिलां कृष्णः स्वभक्तप्रियकृत्ततः ॥

देवक्या मृत पुत्रलाभवदर्जुनस्य सुभद्रालाभोऽपि रामप्रातिकूल्यात् दुर्घट इति मन्यमानः प्रसङ्गात्पृच्छति - **ब्रह्मन्निति** ॥ १,२॥

कथमशृणोत् तदाह - **दुर्योधनायेति**। अपरे वासुदेवादयो न दास्यन्तीति, तल्लिप्सु स्तस्या मातुलेय्या लिप्सुः रामं वञ्चयितुं पूज्यतमं त्रिदण्डिवेषं विधाय गत इत्याह स यति रिति ॥ ३ ॥

**तत्रेति**। स्वार्थसाधकः कन्यां प्रेप्सुः ॥ ४ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्र चन्द्रिका

वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य सन्तीत्युक्तं तत्राऽर्जुनाय सुभद्रा प्रदापनात्मकं भगवतश्चेष्टितं श्रोतुकामः पृच्छति राजा - **ब्रह्मन्निति**। विजयः अर्जुनः रामकृष्णयोः स्वसारं भगिनीं यथा येन प्रकारेण उपयेमे तं प्रकारं वेदितुमिच्छामि। तां विशिनष्टि - या तयोः स्वसा मम पितामही बभूव ॥१॥

तं प्रस्तौति मुनिः - **अर्जुन** इत्यादिना। अथाऽन्यदपि कृष्णस्येत्यतः प्राक्तनेन। अवनीं पृथ्वीं पर्यटन् प्रभासं नाम तीर्थं प्रति गतः तत्र सोऽर्जुनः आत्मनः स्वस्य मातुलेयीं मातुलस्य सुतां तां सुभद्रां रामो दुर्योधनाय दास्यति अपरे वसुदेवादयस्तु न च दास्यन्तीत्यशृणोत् वसुदेवाद्यनुमतिमन्तरेणाऽपि रामो दातुमुद्युक्तवानिति अशृणोदित्यर्थः ॥ २ ॥

तल्लिप्सु रिति। तां मातुलेयीं लिप्सुः तां जीहीर्षुः इत्यर्थः। सोऽर्जुनः त्रिदण्डी यति र्भूत्वा रामं वञ्चयितुं त्रिदण्डियति वेषं धृत्वा॥ ३ ॥

**तत्रेति**। वार्षिकान् आषाढाद्याश्विनान्तान् चतुरो मासान् उषितवान्, तत्र हेतुः स्वार्थसाधनः स्वप्रयोजनं साधयतीति तथा। नन्द्यादित्वा त्कर्तरिल्युः। पौरै र्महात्मना रामेण चाऽभीक्ष्णं पुनः पुनः सम्मानितोऽवात्सीदिति सम्बन्धः ॥ ४ ॥

## विजयध्वजीय पदरत्नावली व्याख्या एषां श्लोकानां नोपलब्धा

**एकदा गृह मानीय आतिथ्येन निमन्त्र्यतम् ।**
**श्रध्दयोपहृतं भैक्ष्यं बलेन बुभुजे किल ॥५॥**

**सोऽपश्यत्तत्र महतीं[1-] कन्यां वीरमनोहराम्[-1] ।**
**प्रात्युत्फुल्लेक्षणस्तस्यां भावक्षुब्धं मनो दधे ॥६॥**

**साऽपि तं चकमे वीक्ष्य नारीणां हृदयङ्गमम् ।**
**हसन्ती व्रीडितापाङ्गा[2] तन्न्यस्तहृदयेक्षणा ॥७॥**

**तां परं[3] समनुध्याय न्नन्तरं प्रेप्सु रर्जुनः ।**
**न लेभे शं भ्रमच्चित्तः कामेनातिबलीयसा ॥८॥**

**महत्यां देवयात्रायां रथस्थां दुर्गनिर्गताम् ।**
**जहाराऽनुमतः पित्रोः कृष्णस्य च महारथः[4] ॥९॥**

1- -1 MI.V. तन्वीं यतिः कन्यां मनोहरम् ; T.W. तन्वीं कन्यां वीरमनोरमाम् ; K. महतीं कन्यां वीरमनोरमाम् 2. B.G.J. °ङ्गी 3.T.W. सदा 4.T.W. °त्मनः

**श्रीध० एकदेति**। तमातिथ्येन निमन्त्र्य गृहमानीय बलेन यच्छ्रद्धयोपहृतं परिविष्टं तद्भैक्ष्यं किल अर्जुनो बुभुजे इत्यन्वयः ॥ ५ ॥

**स** इति। भावेन रत्यभिप्रायेण क्षुभितं मनोदधे ॥ ६ ॥

**सेति**। व्रीडितापाङ्गा[1] सव्रीडकटक्षा तस्मिन्नेव न्यस्तं हृदय मीक्षणे[2] च यया सा ॥ ७ ॥

**तामिति**। अन्तरं हर्तु मवसरं प्रेप्सुः प्राप्तुमिच्छुः,कामेन भ्रमच्चित्तं यस्य सः, शं रामादि सम्माननिमित्तं सुखम् ॥ ८,९॥

1. B.J. °ङ्गा 2. B.J. °णञ्च

**वीर० एकदेति**। बलेन रामेणैकदा आतिथ्येन हेत्वर्थे तृतीया आतिथ्यार्थं निमन्त्रितः श्रद्धयोपहृतं परिविष्टं भैक्षमन्नं बुभुजे ॥ ५ ॥

**स** इति। सोऽर्जुनः महती मद्भुतां वीराणां मनो हरतीति तथा तां प्रीत्या उत्फुल्ले विकसिते ईक्षणे यस्य सः तस्यां कन्यायां रत्यभिप्रायेण क्षुभितं मनो दधे निहितवान्। स्मरक्षुब्धमिति पाठान्तरम् ॥ ६ ॥

**सापीति**। साऽपि कन्यापि तमर्जुनं वीक्ष्य व्रीडितौ व्रीडायुक्तौ अपाङ्गौ नेत्रान्तौ यस्या स्सा तस्मिन्नेव न्यस्तं हृदय मीक्षणे च यया सा, चकमे अकामयत ॥ ७ ॥

**तामिति**। परं केवलं तां कन्यामेव ध्यायन्नन्तरं हर्तु मवसरं प्राप्तु मिच्छुः अतिबलीयसा कामेन भ्रमत् चित्तं यस्य सः शं रामादिसम्मानजं सुखं न लेभे ॥ ८ ॥

एवं स्थिते कदा चिन्महारथोऽर्जुनः पित्रोः कृष्णस्येति च कर्तरि षष्ठी, देवकीवसुदेवाभ्यां कृष्णेन चाऽनुमतः दुर्गात्प्राकारात् बहिर्निर्गतां रथस्थां कन्यां जहार ॥९॥

**रथस्थो धनुरादाय शूरांश्चारुन्धतोभटान् ।**
**विद्राव्य क्रोशतां स्वानां स्वभागं[1] मृगराडिव ॥ १० ॥**

**तच्छ्रुत्वा क्षुभितो रामः पर्वणीव महार्णवः ।**
**गृहीतपादः कृष्णेन सुहृद्भिश्चाऽन्वशाम्यत ॥ ११ ॥**

**प्राहिणोत्पारिबर्हाणि वरवध्वोर्मुदा बलः ।**
**महाधनोपस्करेभ रथाश्व वरयोषितः[2] ॥ १२ ॥**

**★ अभवन् प्रीतिसंहृष्टाः बान्धवा यदुपाण्डवाः ।**
**अथाऽन्यदपि कृष्णस्य वात्सल्यं भक्तयोः शृणु ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**[3-]कृष्णस्याऽऽसीद् द्विजश्रेष्ठः[-3] श्रुतदेव इति श्रुतः ।**
**कृष्णैकभक्त्या पूर्णार्थः शान्तः कविरलम्पटः ॥ १३ ॥**

**स उवास विदेहेषु मिथिलायां गृहाश्रमी[4] ।**
**अनीहयाऽऽगताऽहार्य[5] निर्वर्तित निजक्रियः[6] ॥ १४ ॥**

1. K.T.W. बलिं 2. B.G.J. नर ★ This verse is not found in B.G.J. 3- -3. M.Ma. वृष्णिष्वासीद्यदुश्रेष्ठः ; MI.T.V.W. कृष्णस्यासीत्सखाकश्चित्
4. M. Ma °मे 5. M. Ma °र्यो 6. M.Ma जप

**श्रीध० रथस्थ** इति। आ समन्ताद्रुन्धतः, आवरणं कुर्वतः ॥ १०,११ ॥

**प्राहिणोदिति**। पारिबर्हाणि वरवध्वोः प्रीतिदेयानि ॥ १२,१३ ॥

**स** इति। अनीहया अनुद्यमेनैव आगतं यदाहार्यं भोज्यं तेन निर्वर्तिताः निजाः क्रियाः येन सः ॥ १४ ॥

**वीर०** ततो रथस्थः धनुर्गाण्डीव मादाय आसमन्ता द्रुन्धतः शूरान् भटान् विद्राव्य पलायितान् कृत्वा स्वानां यदूनां क्रोशतामाक्रोशतां सतां जहारेति पूर्वेण सम्बन्धः। यथा मृगराट् सिंहः स्वबलिं स्वभागं हरति तद्वत् ॥ १० ॥

**तदिति**। तद्धरणं श्रुत्वा तावत् पर्वणि महार्णव इव क्षुभितः क्रुद्ध इत्यर्थः। ततः कृष्णेन सुहृद्भिश्च गृहीतौ पादौ यस्य सः अशाम्यत शान्तो बभूव ॥ ११ ॥

किञ्च **प्राहिणोदिति**। बलो रामः परिबर्हाणि प्रीत्यादेयानि श्रेष्ठवस्तूनि प्राहिणोत् प्रददौ। महाधना अनर्घाः उपस्कारा अलङ्काराः येषां, तान् इभान् गजान् रथानश्वान् पराः श्रेष्ठाः योषितो दासीश्च प्राहिणोदिति सम्बन्धः ॥ १२ ॥

तदा यादवः पाण्डवाश्च बान्धवाः प्रीतिसंहृष्टाः प्रीतिरानन्दः, तेन संहृष्टाः विकसित मुखाः बभूवुः। अथ भक्तवात्सल्य प्रयुक्तं भगवतः चेष्टितं प्रस्तोतुं प्रतिजानीते-अथेति। भक्तयो र्विषयभूतयोः यद्वात्सल्यं तच्छृणु। कावमूभक्तौ? कीदृशं वा तयो र्वात्सल्यम्? इत्यतः प्रस्तोति - कृष्णस्येत्यादिना यावदध्यायसमाप्ति। श्रुतदेव इति श्रुतः विश्रुतः कृष्णस्य भक्त आसीत्। स च कृष्णे भगवति एकया एकान्तया अनन्यप्रयोजनयेतियावत्। तया भक्त्या पूर्णार्थः पूर्णमनोरथः अत एव शान्तः कविर्विद्वान् अलम्पटः चित्तविक्षेप रहितः ॥ १३ ॥

स श्रुतदेवः विदेहेषु देशेषु तत्राऽपि मिथिलायां पुरि गृहाश्रमी सन्नुषितवान्। अनीहया अनुद्यमेनैव आगतं यदाहार्यं भोज्यं तेन निर्वर्तिताः निजाः क्रियाः 1-अतिथिपूजनादिका-1ः येन सः ॥ १४ ॥

1- -1 T.W. Omit

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

'यमेवैषवृणुते तेन लभ्यः, इत्यादि श्रुत्यर्थ दृढीकरणाय हरेः भक्तिप्रियत्व माहात्म्यं वक्ति। तत्र श्रुतदेव बहुलाश्वविषय मितिहासं शुकोवदति। वृष्णिष्विति। भक्तिमन्तरेण अन्यमर्थ मनाकाङ्क्षमाणः पूर्णार्थ इत्युच्यते। कृष्ण विषयगाथारचनात् कविः, अलम्पटः शब्दादि विषयेच्छारहितः ॥ १३ ॥

मिथिलायां नगर्यां गृहाश्रमे स्थितः, सभार्य इत्यर्थः। अनीहया अप्रयत्नेन आगताहार्यः प्राप्तप्राप्तव्यः प्राप्तभोज्यो वा नितरां वर्तिता सहस्रनामादि जपक्रिया येन स तथा। 'नित्यं नाम निकामयोः' (वै.ज.को.) इति यादवः ॥ १४ ॥

**1यात्रामात्र न्त्वहरह र्दैवा 2दुपनमत्युत ।**
**नाऽधिकं तावता तुष्टः क्रियाश्चक्रे 3यथोचिताः ॥ १५ ॥**

तथा तद्राष्ट्रपालोऽङ्ग[4] बहुलाश्व इति श्रुतः ।
मैथिलो निरहम्मान उभावप्यच्युतप्रियौ ॥ १६ ॥

तयोः प्रसन्नो भगवान् दारुकेणाऽऽहृतं रथम् ।
आरुह्य [5-]साकं मुनिभिर्विदेहान् प्रययौ प्रभु[-5]ः॥ १७ ॥

नारदो वामदेवोऽत्रिः कृष्णो रामोऽसितोऽरुण[6]ः ।
अहं बृहस्पतिः कण्वो मैत्रेय [7-]श्च्यवनादय[-7]ः ॥ १८ ॥

तत्र तत्र तमायान्तं पौरा जानपदा नृप ।
उपतस्थु स्सार्घ्य[8]हस्ता [9-]ग्रहै स्सूर्य[-9] मिवोदितम् ॥ १९ ॥

आनर्तधन्व कुरु जाङ्गल वङ्ग[10]मत्स्य पाञ्चाल कुन्ति मधुकेकय कोसलार्णाः ।
अन्ये च तन्मुख सरोज मुदारहास स्निग्धेक्षणं नृप! पपु र्दृशिभिर्नृनार्यः ॥ २० ॥

1. M.Ma यावन्मा° 2. K.T.W. नयत्युत ;M.Ma नमत्ययं ; Ml.V. नतं च यत् 3. Ml.V. °दिताः 4. M.Ma °भूत् 5- -5. सहितो विप्रै नीतैर्ब्रह्मवादिभिः ॥
6. B. G. J. K. M. Ma.T.W. णिः 7- -7 M. Ma. यश्च पराशरः *Following extra half verse is found in M.Ma. वशिष्ठः कश्यपश्चैव भरद्वाजोऽथ गौतमः ।
8. M.Ma. °र्घ 9- -9 M.Ma.Ml.V. लोकाः सूर्य° 10. B.G.J. कङ्क ; M.Ma टङ्क

**श्रीध० यात्रामात्रमिति**। यात्रामात्रं शरीरादि निर्वाहमात्रं भोज्य मुपनमति तं प्रत्यागच्छति ॥ १५ ॥

**तथेति**। मिथिलस्य जनकस्य वंश्यो मैथिलः ॥ १६ ॥

**तयोरिति**। प्रभुरेव स्वयं विदेहान् देशान् प्रययौ ॥ १७ ॥

**नारद** इति। कृष्णो व्यासः, रामो भार्गवः, अहं शुकः एव मादिभिस्सह ॥ १८,१९ ॥

**आनर्तेति**। आनर्ताद्यर्णान्ता स्तद्देश वर्तिनो नृनार्यः [1-]पुरुषाः नार्यश्च[-1] उदारहासं स्निग्धमीक्षणं यस्मिं स्तत्। दृशिभिः नेत्रैः ॥ २० ॥

1- -1 B.J. Omit.

**वीर०** एतदेव प्रपञ्चयति - **यात्रामात्र मिति**। अयं श्रुतदेवः यात्रामात्रं शरीर निर्वाहमात्रोपयुक्त माहार्य महरहः दैवादुपनयति उपनयन्तं प्रतीक्षत इत्यर्थः। अधिकं यात्रा मात्रादधिकं नोपनयति। तावता यात्रामात्रेणैव तुष्टः उचिताः वर्णाश्रमोचिताः क्रियाः पञ्च महायज्ञादि रूपक्रियाः यथावच्चक्रे ॥ १५ ॥

**तथेति**। अङ्ग! हे राजन्! यथाऽयं श्रुतदेवः तथा तद्राष्ट्रपालः विदेहदेशाधिपः बहुलाश्व इति श्रुतः, विश्रुतः स मैथिलो जनकवंश्यः निरहम्मानः देहात्माभिमानरहितः। उभौ श्रुतदेव बहुलाश्वौ अच्युतस्य प्रियौ भक्तौ ॥ १६ ॥

**तयोरिति**। प्रसन्नः प्रसन्नो भवितुमित्यर्थः आहूत मानीतं मुनिभिः साकं मुनिभिस्सह ॥ १७ ॥

केऽमी मुनय इत्यत आह - **नारद** इति। कृष्णो द्वैपायनः रामो भार्गवः, अहं शुकः ॥ १८ ॥

**तत्र तत्रेति**। पुरेषु भवाः पौराः जन पदेषु देशेषु भवाः जानपदाः सार्घ्या हस्ता येषां ते ग्रहै र्गुरुशुक्रादिभिः सहोदितं सूर्यमिव समायान्तं तं भगवन्तमुपतस्थुः। अभूतोपमेयम् ॥ १९ ॥

**आनर्तेति**। हे नृप! आनर्तादिदेशवर्तिनो जनाः तथा अन्ये च नराः नार्यश्य उदारो हासः स्निग्धे ईक्षणे च यस्मिंस्तत्तस्य भगवतो मुखसरोजं पपुः मुखसरोजलावण्यरूपं मकरन्दं नेत्र चषकैः पपुरित्यर्थः ॥ २० ॥

**विज०** ननु प्रयत्नाभावे कथं शरीरयात्राऽस्ये त्यत्राऽह - यावदिति। अनुदिनं यावन्मात्र मुपनमति दैवात्प्राप्तं भवति, अयं ततोऽधिकं नाऽऽकाङ्क्षते। तर्हि केनाप्यलम्बुद्धि रत्राऽऽह - तपसेति ॥ १५ ॥

यथा श्रुतदेवः ॥ १६ ॥

ततः किमायातमत्राऽऽह - **तयोरिति**। नियतैरेकान्तभक्तैः ॥ १७ ॥

मुनीनां नामानि निर्दिशति - नारद इत्यादिना ॥ १८ ॥

त उपतस्थुः निषेवयाञ्चक्रुः ॥ १९,२० ॥

**तेभ्यः स्ववीक्षण विनष्टतमिस्रदृग्भ्यः क्षेमं त्रिलोकगुरु रर्थदृशं च यच्छन् ।**
**शृण्वन्दिगन्त धवलं स्वयशोऽशुभघ्नं गीतं सुरै र्नृभि रगाच्छनकै र्विदेहान् ॥ २१ ॥**

**तेऽच्युतं प्राप्त माकर्ण्य पौरा जानपदा नृप ।**
**अभीयु र्मुदिता स्तस्मै गृहीतार्हणपाणयः ॥ २२ ॥**

दृष्ट्वा तमुत्तमश्लोकं प्रीत्युत्फुल्लाननाशयाः ।
कैर्धृताञ्जलिभि र्नेमुः श्रुतपूर्वां स्तथा मुनीन् ॥ २३ ॥

स्वानुग्रहाय सम्प्राप्तं मन्वानौ तं जगद्गुरुम् ।
मैथिलः श्रुतदेवश्च पादयोः पेततुः प्रभो ॥ २४ ॥

न्यमन्त्रयेतां दाशार्हमातिथ्येन सहद्विजैः ।
मैथिलः श्रुतदेवश्च युगपत् संहताञ्जली ॥ २५ ॥

भगवां स्तदभिप्रेत्य द्वयोः प्रियचिकीर्षया ।
उभयो राविशद्गेह मुभाभ्यां तदलक्षितः ॥ २६ ॥

1. Ml.V.नृपाः 2. G.J. त उ° 3. M.Ma °मला° 4. M.Ma उधृता° 5. M.Ma पूर्वयथा 6--6 M. Ma सत्यभूतं 7. K.M.Ma.T.W. सन्न° 8. M.Ma.Ml.V. तयोः

**श्रीध० तेभ्य** इति। स्ववीक्षणेनैव विनष्टतमिस्रा दृग्येषां तेभ्यः क्षेममभयमर्थदृशं तत्त्वज्ञानञ्च ॥ ११ ॥

**त** इति। अभीयुः प्रत्युज्जग्मुः ॥ १२ ॥

**दृष्ट्वेति**। प्रीत्या उत्फुल्लानि आननानि आशयाः अन्तः करणानि येषां ते, कैः शिरोभिः ॥ १३-१५ ॥

**भगवानिति**। तदभिप्रेत्याङ्गीकृत्य तत्तदा उभाभ्या मपि ताभ्यां मद्गृहादन्यस्य गेहं याती त्यलक्षितोऽविदितः। यद्वा उभाभ्यां रूपाभ्यां तदलक्षितः ताभ्यामलक्षित इति ॥ १६ ॥

**वीर० तेभ्य** इति त्रिलोक गुरुर्भगवान् स्वदर्शनेन विनष्टा तमिस्रादृक् येषां तेभ्यः स्ववीक्षणमात्र निरस्ताज्ञानेभ्य इत्यर्थः। क्षेमं श्रेयो यथा भवति तथा अर्धदृशं प्रयच्छन् अपाङ्गदृष्ट्या तानवलोकयन्नित्यर्थः। अतिशुभ्रं निर्मलं दिगन्त धवलं दिगन्त व्याप्तं स्वयशः सुरै र्नृभिश्च गीतं शृण्वन् शनै र्विदेहान् देशान् अगाद्ययौ ॥ २१ ॥

**त** इति। ते वैदेहाः पौरा जानपदाश्च गृहीत मर्हणं ये स्ते पाणयो येषां ते तस्मै भगवतेऽभीयुः प्रत्युज्जग्मुः। तमभिययुरित्यर्थः। यद्वा तस्मै इत्यनेन सापेक्षस्याऽपि गृहीतार्हणेत्यस्य आर्षत्वा त्समासः। तं वा इति पाठान्तरम् ॥ २२ ॥

दृष्ट्वेति। प्रीत्या उत्फुल्ल माननमाशयश्च येषां ते विदेहदेशवासिनो जना स्तं कृष्णं तथा श्रुतपूर्वान्मुनींश्च, नतु दृष्टपूर्वान्, निबद्धाञ्जलिभिर्नेमुः 'कैर्धृताञ्जलिभि' रिति पाठे न्यस्ताञ्जलिभिः शिरोभिः इत्यर्थः ॥ २३ ॥

स्वानुग्रहायेति। मैथिलः श्रुतदेवश्च जगद्गुरुं भगवन्तं स्वानुग्रहार्थमागतं मन्वानौ प्रभोः श्रीकृष्णस्य पादयोः निष्पेततुः ॥ २४ ॥

**न्यमन्त्रयेतामिति**। सन्नतौ नमस्कुर्वन्ता वञ्जली ययो स्तौ द्विजै र्मुनिभिः सह सहितमित्यर्थः। दाशार्हं भगवन्तं आतिथ्येन आतिथ्यार्थं युगपदेव न्यमन्त्रयेतां निमन्त्रितवन्तौ ॥ २५ ॥

**भगवांस्त्विति**। तन्निमन्त्रण मभिप्रेत्य अङ्गीकृत्य द्वयोरपि प्रियं कर्तुमिच्छया तत्तदा उभाभ्या मपि ताभ्यां मद्गृहा दन्यस्य गेहं समायातीत्यलक्षितः अविदितः उभयोरपि गृहान् अविशत् ॥ १६ ॥

**विज०** सेवाफलमाह - **तेभ्य** इति। स्ववीक्षणेन दर्शनेन विनष्टं तामिस्रं यस्या सा तथा विनष्टतामिस्रा निरस्ताज्ञाना दृक् ज्ञानं येषां ते तथा तेभ्यः, तेभ्यः पौरेभ्यः क्षेमं यच्छन् अर्थदृश मपरोक्ष ज्ञानं च ददन् एकस्मिन् दिगन्तेऽपि अनन्यथा गीयमानत्वात् दिगन्तधवलम् ॥ २१,२२ ॥

'स्वधृताञ्जलिरिति' रिति पाठे के मूर्ध्नि धृताञ्जलि पुटै रित्यर्थः ॥ २३ ॥

सत्यभूतं निर्दोषानन्द ज्ञानघनम् ॥ २४ ॥

निमन्त्रयेताम् भोजनार्थक्षणं कृतवन्तौ आतिथ्येन अतिथियोग्येन कर्मणा ॥ २५ ॥

तदलक्षितः ताभ्यां रूपाभ्या मलक्षितः अज्ञातरूपद्वय इत्यर्थः ॥ २६ ॥

**श्रोतु मप्यसतां दूरान् जनकः स्वगृहागतान् ।**
**आनीतेष्वासनाग्र्येषु सुखासीनान्महामनाः ॥ २७ ॥**

**प्रवृद्धभक्त्या उद्धर्ष हृदयास्रा विलेक्षणः ।**
**न त्वा तदङ्घ्रीन् प्रक्षाल्य तदपो लोकपावनीः ॥ २८ ॥**

**सकुटुम्बोऽवहन्मूर्ध्ना पूजयाञ्चक्र ईश्वरान् ।**
**गन्धमाल्याम्बराकल्प धूपदीपार्घ्य गोवृषैः ॥ २९ ॥**

**वाचा मधुरया प्रीणन्निदमाहाऽऽतर्पितान् ।**
**पादावङ्कगतौ विष्णोः संस्पृशन् शनकैर्मुदा ॥ ३० ॥**

बहुलाश्व उवाच

भवान्हि[6] सर्वभूताना मात्मा साक्षी स्वदृग्विभो[7] ।
अद्यनस्त्वत्पदाम्भोजं स्मरतां दर्शनं गतः[8] ॥ ३१ ॥

स्ववचस्तदृतं कर्तु मस्म दृग्गोचरो भवान् ।
यदाऽऽत्थैकान्त भक्तान्मे[9-] नाऽनन्तः श्रीरजः[-9] प्रियः ॥३२॥

1. K.T.W. °यशा: 2- -2 M.Ma भक्त्यु-त्कर्ष ; Ml.V. भक्तिरुद्धर्ष 3. Ml.V. °यो° 4. Ml.V. वाण्या 5- -5 M.Ma 6. M.Ma. °न्वै 7. M.Ma °ग्विभु: ; Ml.V. °ग्प्रभो 8. B.G.J.M.Ma, Ml.V. अथ 9- -9 M.Ma भक्तानामात्मानान्तोऽरजा: ।

**श्रीध० प्रवृद्धेति**। उद्धर्ष मुद्गतहर्षं हृदयं यस्य अस्रै राविले क्लिन्ने ईक्षणे यस्य सः। स च स च ॥ २७,२८ ॥

**सकुटुम्ब** इति। ईश्वरान्, ईश्वरं, तत्तुल्यांश्चेत्यर्थः ॥ २९ ॥

**वाचेति**। प्रीणन् प्रीणयन्, संस्पृशन् सम्मर्दयन् ॥ ३०॥

**भवानिति**। आत्मा चेतयिता साक्षी प्रकाशकः स्वदृक् स्वप्रकाशः अथातः कारणात् ॥ ३१ ॥

**स्ववचेति**। अनन्तो बन्धुरपि श्रीःभार्याऽपि अजः पुत्रोऽपि ॥ ३२ ॥

**वीर० श्रोतुमिति**। असतां श्रोतुमपि दूरान् स्वगृहागतान् आनीय समर्पितेषु श्रेष्ठेष्वासनेषु सुखासीनान् नत्वेत्युपरिष्टा त्सम्बन्धः। कथम्भूतः प्रवृद्धभक्त्या उद्धर्ष मुद्गतहर्षं हृदयं यस्य अस्रैरानन्दाश्रुभिः अविले व्याप्ते ईक्षणे यस्य स चाऽसौ स च। तेषामङ्घ्रीं पादौ प्रक्षाल्य ताः लोकपावनी रपः मूर्ध्नावहन् गन्धादिभिः ईश्वरान् पूजयामास। आकल्पोऽलङ्कारः तत्र ईश्वरशब्दः ईश्वरात्मक-परः ॥ २७-२९ ॥

**वाचेति**। ततोऽन्नेन तर्पितान् मधुरया वाचा प्रीणयन् अङ्कगतौ विष्णोः कृष्णस्य पादौ संस्पृशन् पादा वङ्के निधाप्य संस्पृशन् इत्यर्थः। मुदा हर्षेण इदं वक्ष्यमाणमाह ॥ ३०॥

तदेवाऽऽह - **भवानिति** षड्भिः। हे विभो! हि यस्मात् भवानात्मा अन्तरात्मा साक्षाद्रष्टा स्वदृक् अनन्याधीन प्रकाशश्च अथातो मदभिप्रायं जानन् त्वत्पदाम्भोजं स्मरतां नोऽस्माकं दर्शनं प्राप्तः ॥ ३२ ॥

किञ्च **स्ववच** इति। यस्मात् एकान्त भक्ता दनन्यप्रयोजन भक्तियुक्तात् ममाऽनन्तः शेषः सखाऽपि श्रीर्लक्ष्मी र्भार्याऽपि अजो ब्रह्मा पुत्रोऽपि न प्रिय इति यत् आत्थ उक्तवा नसि तत् स्ववचो दृढीकर्तुं भवानस्माकं दृग्गोचरो दृग्विषयो बभूव ॥ ३१ ॥

**विज०** अथ बहुलाश्वः ईश्वरं पूजयाञ्चक्रे इत्यन्वयः। तान्नत्वा कीदृशान् श्रोतु मपि दूरान् कर्णाविषयान् ॥ २७ ॥

अति वृद्धभक्त्युत्कर्ष हृदयश्चास्राविलेक्षणश्च स तथा अस्रं नेत्रजलम् ॥ २८ ॥

कैस्साधनैरत्राऽऽह - गन्धेति ॥ २९ ॥

आमृजन् संवाहनं कुर्वन् ॥ ३० ॥

यदथ तस्मात् ॥ ३१ ॥

दर्शन हेतुमाह - **स्ववच** इति। भवान् 'प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थ महं स च मम प्रियः' (भ.गी. 7-17) इति यत्स्ववचः, तदृतं कर्तुं अस्मद्दृग्गोचरोऽभूदित्यन्वयः। भक्तेनाऽपि कृतज्ञेन भाव्यमिति भावेनाऽऽह - यदेति। आत्मा स्वामी अनन्तः अन्तत्रयहीनः अरजाः सात्त्विकः त्वमेकान्त भक्तानां प्रिय इति यदा यस्मात्तस्मात् ॥ ३२ ॥

**कोनुत्वच्चरणाम्भोज मेवं विद्विसृजेत्पुमान् ।**
**निष्किञ्चनानां शान्तानां मुनीनां यस्त्वमात्मदः ॥ ३३ ॥**

**योऽवतीर्य यदो र्वंशे नृणां संसरतामिह ।**
**यशो वितेने तच्छान्त्यै त्रैलोक्यवृजिनापहम् ॥ ३४ ॥**

**नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाऽकुण्ठमेधसे ।**
**नारायणाय ऋषये सुशान्तं तप ईयुषे ॥ ३५ ॥**

**दिनानि कतिचित्भूमन् गृहान्नो निवसन्द्विजैः ।**
**समेतः पादरजसा पुनीहीदं निमेः कुलम् ॥ ३६ ॥**

**इत्युपामन्त्रितो राज्ञा भगवान् लोकभावनः ।**
**उवास कुर्वन्कल्याणं मिथिला नरयोषिताम् ॥ ३७ ॥**

श्रुतदेवोच्युतं प्राप्तं स्वगृहाञ्जनको यथा ।
नत्वा मुनींश्च संहृष्टो धुन्वन् वासो ननर्त ह ॥ ३८ ॥

1. K.T.W. किं नु 2. M.Ma °त्प्रभो। 3- -3 K. अचिनोत्स्वं 4. M.Ma विकृतापहः॥ 5. M. Ma स्वशान्तं ; K.T.W. सशान्तं 6. B.G.J. °स द्वि ; M.Ma °सन्नि° 7. K.पा° 8. M.Ma. मत्वा 9- -9 B.G.J. मनीन् सु संहृष्टो ; M.Ma.T.W. मुनींश्च संतु°

**श्रीध० य** इति। तच्छान्त्यै संसारोपशमाय ।। ३३-३५ ।।

**दिनानीति**। गृहान् गृहेष्वित्यर्थः ।। ३६,३७ ।।

**श्रुतदेवेति**। धुन्वन् परिभ्रमयन् ।। ३८ ।।

**वीर०** तस्मादेवं विधं त्वच्चरणाम्भोजं पुमान्विसृजेत् किन्नु! न त्यजत्येवेत्यर्थः। किञ्च यद्यस्मात् निष्किञ्चिनानां नास्ति किञ्चन प्रार्थनीयं येषां तेषां शान्तानां जितान्तःकरणानां मुनीनां त्वमात्मदः निरतिशयपुरुषार्थभूतमात्मानं ददाति स्ववशीकरोतीति तथा। तस्माच्च विसृजेत्किन्विति सम्बन्धः ॥ ३३ ॥

सत्यम्। इत्थम्भूतस्तु ईश्वरो, न त्वहमित्यत आह - **य** इति। इह प्रकृतिमण्डले संसरतां जीवानां तच्छान्त्यै सांसारिकतापत्रयोपशमनाय यदोर्वंशे अवतीर्य य स्त्रिलोकवृजिनापहं त्रैलोक्यपापहरं स्वं स्वासाधारणं यशोऽचिनोत् सम्पादितवान् तस्मै भगवते तुभ्यं नमः इत्यन्वयः। सर्वेश्वर एव त्वं लोकोज्झिजीविषया अवतीर्ण इति भावः ॥ ३४ ॥

एवं विधाय तुभ्यं न प्रतिकर्तुं शक्नुमः, किन्तु केवलं नमस्कुर्म इत्यभिप्रेत्य नमस्करोति **नम** इति। कृष्णाय लोकसुखकराय अकुण्ठ मेधसे कृतज्ञतमाय सं शान्तिं शान्तिकरं लोकक्षेमावहं तप ईयुषे प्राप्ताय अधिकुर्वत इति यावत्। नारायणाय ऋषये तद्रूपेणावस्थिताय तस्मै पूर्वोक्तविधाय भगवते तुभ्यं नमः ॥ ३५ ॥

अभिप्रेतं निवेदयति - **दिनानीति**। हे भूमन्! द्विजैर्मुनिभिः समेत स्सहित स्त्वं नोऽस्माकं गृहे कतिचिद्दिनानि निवसन् पादरजसा इदं निमेः कुलं पुनीहि पवित्रीकुरु ॥ ३६ ॥

**इतीति**। उपामन्त्रितः प्रार्थितः लोक पावन इति हेतुगर्भम्। अतो मिथिलायां पुरि नराणां योषिताञ्च कल्याणं कुर्वन् कर्तुमित्यर्थः। उवास उषितवान् ॥ ३७ ॥

**श्रुतदेव** इति। जनको जनकवंश्यत्वात् बहुलाश्वो यथा तथा श्रुतदेवोऽपि स्वगृहं (प्रति) प्राप्तमच्युतं मुनींश्च नत्वा नितरां हृष्टः, अत एव वासः उत्तरीयं धुन्वन् उत्क्षिपन् ननर्त हेति हर्षे ॥ ३८ ॥

**विज०** एवंवित् उक्तार्थज्ञः कोनु पुरुषः त्वच्चरणाम्भोजं विसृजेत् कृतज्ञश्चेन्न मुञ्चतीत्यर्थः। एकान्तभक्तप्रियोऽयं किं ददातीति तत्राऽऽह - निष्किञ्चनानामिति ॥ ३३॥

लोकोपकारायाऽवतारो न तु स्वार्थायेत्याह - य इति। तच्छान्त्यै संसारोन्मूलनाय त्रैलोक्यस्य विकृतान् विरोधिनोऽपहन्तीति त्रैलोक्य विकृतापहः। विकृतं दुष्कृतम् ॥ ३४॥

शान्तं सुखपूर्तिः तपः ज्ञानं निर्दोषपूर्णानन्दज्ञानम्, ईयुषे प्राप्तवते ॥ ३५॥

राजा स्वगृहनिवासाय भगवन्तं प्रार्थयते - **दिनानीत्यादिना** ॥ ३६॥

मिथिलायां विद्यमानानां नरयोषिताम् ॥ ३७॥

तत्र श्रुतदेवेन किन्नु कृत मत्राऽऽह - **श्रुतदेव** इति। स्वगृहान् प्राप्त मच्युतं मत्वा ज्ञात्वा ॥ ३८॥

**तृणपीठ[1] बृसीष्वेता नानीतेषूपवेश्य सः ।**
**स्वागते नाभिनन्द्याङ्घ्रीन् सभार्योऽवनिजेमुदा ॥ ३९॥**

**तदम्भसा महाभाग आत्मानं सगृहान्वयम् ।**
**स्नापयाञ्चक्र उद्धर्षो लब्धसर्वमनोरथः ॥ ४०॥**

**फलार्हणोशीरशिवामृताम्बुभिः[2] मुदा[3] सुरभ्या तुलसी कुशाम्बुजैः ।**
**आराधयामास यथोपपन्नया सपर्यया सत्त्व विवर्धनान्धसा ॥ ४१॥**

**सतर्कयामास कुतो ममान्वभू[5] द्गृहान्धकूपे पतितस्य सङ्गमः ।**
**यस्सर्वतीर्थास्पदपादरेणुभिः कृष्णेन चास्यात्मनिकेत[6] भूसुरैः ॥ ४२॥**

**सूपविष्टान्कृतातिथ्यान् श्रुतदेव उपस्थितः ।**
**सभार्य स्वजनापत्य उवाचाङ्घ्र्यभिमर्शनः[7] ॥ ४३॥**

## श्रुतदेव उवाच

**सोऽद्य नो दर्शनं प्राप्तः परं परम पूरुषः ।**
**य इदं शक्तिभिः सृष्ट्वा प्रविष्टोन्वात्मसत्तया ॥ ४४॥**

1- -1 M. Ma °ठे सशिष्यांस्तानास्तृतेषू ; Ml.V. °ठ बृसीष्वेतानासनेषु 2. M.Ma. सिद्धा 3. M.Ma °म्भसा° 4. M.Ma °मानया ॥ 5. M.Ma °पतत्रृ° 6. M. Ma °ध्या° 7. M. Ma °नम् ॥ 8. B.G.J. नाद्य ; M. Ma अद्य 9. B.G.J. यर्हीदं 10- -10 B.G.J. प्रविष्टोह्यात्म° ; M. Ma विभजत्यात्म°

**श्रीध० तृणेति**। अवनिजे अवनि निजे प्रक्षालितवान् ॥ ३९,४० ॥

फलेति। फलै रामलकादिभिः अर्हणेन उशीरैः तृणविशेषमूलैः सुवासितैः शिवै रमृतवत्स्वादुभि रम्बुभिः सुरभ्या मृदा कस्तूरी प्रमुखया सपर्यया पूजया यथोपपन्नयाऽनायासेन सम्पन्नया भूतानुपद्रवलब्धत्वात् सत्त्वविवर्धनं यदन्धोऽन्नं तेन च ॥ ४१ ॥

**स** इति। यस्य श्रीकृष्णस्य आत्मा मूर्तिः तस्य निकेतैः स्थान विशेषैः भूसुरैश्च सर्वतीर्थास्पदपादरेणुभिः कृष्णादिभिः यः सङ्गमः स मम कुतोन्वभूदिति। अनु इति विस्मये। यद्वा, आ इति वितर्के तु इति विस्मये ॥ ४२ ॥

**सूपविष्टानिति**। उपस्थितः समीप उपविष्टः भार्या भर्तव्याः स्वजनाः अपत्यानि च तैस्सहितः श्रीकृष्णस्याङ्घ्रि मभिमृशति सम्मर्दयतीति अङ्घ्र्यभिमर्शनः ॥ ४३ ॥

**स** इति। यर्हीदं प्रविष्ट स्तदैव दर्शनं प्राप्त इति स एव सन्मात्रोनाद्यातनीभूत स्त्वमित्यर्थः। यद्वा नोऽस्मा नद्यैव प्राप्त इति न किन्तु तदैव प्राप्तो यर्हीदं विश्वं स्वशक्तिभिः सत्वादिभिः सृष्ट्वा स्वसत्तया अनुप्रविष्ट स्त्वम् त्वद्दर्शनन्तु परं केवलमद्यैव प्राप्तम् ॥ ४४ ॥

**वीर० तृणेति**। स श्रुतदेवः आनीतेषु तृणमयेषु पीठेषु चाऽऽसनेषु च ता नुपवेश्य स्वागतप्रश्नपूर्वक मभिवन्द्य सभार्यो मुदा हर्षेण अङ्घ्री नवनिजे अवनिनिजे प्रक्षालितवान्। अभ्यास लोप आर्षः ॥ ३९ ॥

**तदम्भसेति**! हे महाभाग! तदम्भसा अङ्घ्रिजलेन स्वयमेवाऽऽत्मानं देहं स्वगृहांश्च स्नपयामास कथम्भूतः? उद्धर्षः उत्कटो हर्षः यस्य सः लब्धः सर्वमनोरथो येन सः ॥ ४० ॥

**फलेति**। फलानि चार्हणानि च गन्ध पुष्पधूपदीपादीनि उशीराणि सुगन्धितृण विशेषमूलानि च शिवानि निर्मलानि अमृत

तुल्यान्यम्बूनि च तैः सुरभ्या मृदा कस्तूर्या तुलस्या कुशै रम्बुजैश्च सत्त्वविवर्धनान्धसा सत्त्ववर्धकान्नेन जात्याश्रयनिमित्ता दुष्टान्नेन च इत्यर्थः। एभिः कृत्वा यथोपपन्नया अनायासेन सम्पन्नया सपर्यया पूजया आराधयामास ॥ ४१ ॥

**स** इति। स श्रुतदेव तर्कयामास। तर्कमेव दर्शयति - कुत इति गृहमेवान्धकूपः तस्मिन् पतितस्य मम कृष्णेन तथा अस्य कृष्णस्य आत्मनो मूर्तेः निकेतैः स्थानभूतैः भूसुरैश्च कथम्भूतैः सर्वतीर्थानामास्पदान्याश्रयाः पादरेणवो येषां तथाभूतैः सः यः सङ्गमः स कुतोऽन्वभूत्। अन्विति विस्मये ॥ ४२ ॥

**सूपविष्टा** निति। कृत मातिथ्यं यैः तानुपस्थितः समीप उपविष्टः स्वगृहा नापन्नं प्राप्तं भगवन्तं अङ्घ्र्याभिमर्शनः अङ्घ्री अभिमृशन्नाह उवाच ॥ ४३ ॥

उक्तिमेवाह-**सोऽद्येत्यादिना**। तावत् तद्दर्शनेनाऽऽत्मनः कृतार्थता मभिप्रयन्नाह स इति। स तादृशः परः प्रकृतिपुरुष विलक्षणः, अतएव परमः पर उत्कृष्टो मा यस्मात् सचाऽसौ पुरुषस्त्वं नोऽस्माकं दर्शनं प्राप्तः। कीदृशः यो मायया आत्मसङ्कल्पेन इदं जगत्सृष्ट्वा आत्मसत्तया, आत्मन स्सत्ता सदैकरूपता सदैकरूपेणात्मस्वरूपेणाऽनु प्रविष्टः ॥ ४४ ॥

I. B. स्त्रा°

**विज०** तृणपीठे कटे अवनिजे प्रक्षालयामास ॥ ३९,४० ॥

सिद्धार्हणं सर्षपः उशीरं वालव्यजनं जया वा, शिवा श्रेयसी अमृता प्रसिद्धा एताभिर्युक्तेन जलेन सुरभ्या सुगन्धया मृदा सत्त्वेनाऽऽत्मशक्त्या विवर्धमानया ॥ ४१ ॥

सर्वतीर्थाना मास्पदपादरेणुभिः आश्रय चरणरेणुभिः सह कृष्णेन आध्यात्मा परमात्मा निकेतो निलयः आश्रयो येषां ते अध्यात्म निकेताः तैः भूसुरैः ब्राह्मणैश्च यः सङ्गमः स गृहान्धकूपे पतितस्य मम कुतोऽपतत् तस्मात्त्वत्पुण्या दभूदिति तर्कयामास अचिन्तयत् इत्यन्वयः ॥ ४२ ॥

अङ्घ्र्यभिमर्शनं पादसम्मर्दनं कुर्वन् ॥ ४३ ॥

किमाहेत्याशङ्क्य कृष्णनामा वेदान्तप्रतिपाद्यः साक्षात् श्रीनारायण एव न देवदत्तादिषु एक इति भावेनाऽऽह अद्येति। यः सत्त्वादिगुणसृष्टाभिः शक्तिभिः महदादिभिः इदं जगत् सृष्ट्वा आत्मसत्तया ब्रह्मव्यतिरिक्तेन विविधाकारेण विभजति 'तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनु प्राविशत्' (तैत्ति.उ.2-6) इति श्रुतेः। स एवं परमपुरुषः श्रीकृष्णः अद्यनो दर्शनं प्राप्तो नाऽन्य इति शेषः ॥ ४४ ॥

यथा शयानः पुरुषो मनसैवात्ममायया ।
सृष्ट्वा लोकं परं स्वाप्नमनुविश्याऽवभासते ॥ ४५ ॥

शृण्वतां गदतां शश्वदर्चतां त्वाऽभिवन्दताम् ।
नृणां संवदतामन्तर्हृदि भास्यमलात्मनाम् ॥ ४६ ॥

हृदिस्थोऽप्यति दूरस्थः कर्मविक्षिप्तचेतसाम् ।
आत्मशक्तिभिरग्राह्योऽप्यन्त्युपेत गुणात्मनाम् ॥ ४७ ॥

नमोऽस्तुतेऽध्यात्मविदां परात्मने ह्यनात्मने स्वात्मविभक्तमृत्यवे ।
सकारणाकारणलिङ्गमीयुषे स्वमायया संवृतरुद्धदृष्टये ॥ ४८ ॥

1- -1 M. Ma °वरुध्याऽव° 2- -2 M. Ma °दर्शिनामभिनन्द° 3- -3 M. Ma संवसतां नित्यं हृदिस्थोयोऽ° 4. M. Ma °थ° 5- -5 M. Ma ह्यो हि अर्थाकारो गुणात्मकः ॥ 6. M.Ma सर्वात्मने 7. M.Ma मूर्तये 8- -8 M. Ma दृष्टये नमः ॥

**श्रीध०** मायासृष्टि प्रवेशयोरविद्या सृष्टि प्रवेशौ दृष्टान्ततया आह - **यथेति**। आत्ममायया स्वाविद्यया यद्वा - अत्मनस्तव माययेति ॥ ४५ ॥

किञ्च शृण्वतामिति। नित्यं श्रवणकीर्तनादि पराणाम् अमलात्मनामपि हृद्येव त्वं भासि। मम तु लोचनगोचरः त्वमहोभाग्यमिति भावः ॥ ४६ ॥

ननु सर्वेषां हृदि स्थितः कथं केषाञ्चिदेव हृदि भासि मेघैः सूर्यवज्जीवोपाधिभिः आवृतत्वादिति यद्युच्यते तर्हि न कस्याऽपि भयादित्यत आह - हृदिस्थोऽपीति। कर्मभिर्विक्षिप्तं चेतो येषां तेषां आत्मशक्तिभिः अहङ्कारादिभिः अग्राह्योऽप्यवहितोऽप्युपेत गुणः प्राप्तश्रवणकीर्तनादि संस्काराऽत्मा अन्तः करणं येषां तेषां अन्ति समीपे अव्यवहितः त्वं इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

**एतदेव** प्रपञ्चयन् नमस्यति **नम** इति। तुभ्यं नमोऽस्तु। अध्यात्मविदां निवृत्तदेहाद्यहङ्काराणां परात्मने परमात्मत्वेन प्रकाशमानाय मोक्षप्रदायेत्यर्थः। अनात्मने देहाद्यभिमानिने जीवाय परत्वेनाऽप्रकाशमानत्वात् स्वात्मनस्सकाशाद्विभक्तः समर्पितो मृत्युः संसारो येन तस्मै। कुतएतत्तत्राऽऽह - सकारणं महदादिकार्यम् अकारणं प्रकृतिस्तदुभयलिङ्गमुपाधिं नियन्तृनियम्यतया ईयुषे प्राप्तवते अत उभयनियन्तुः स्वस्मात्सकाशात् उभयवश्याय जीवाय विभक्तमृत्यव इत्यर्थः।

नियन्तृनियम्यत्वे कारणं वदन्नाह - हे स्वमायया संवृतेति। अतोऽलुप्तैस्वर्यत्त्वा तन्नियन्त्रे तुभ्यं नमः। किञ्च रुद्ध दृष्टये मायावित्वादेव अन्येषां रुद्धा आवृता दृष्टिर्येन तस्मै। यद्वा - स्वमायया स्वस्याऽसंवृता अन्येषां रुद्धा दृष्टिर्येन तस्मै इत्येकं पदम् ॥ ४८ ॥

1. B.J. Omit नियन्तृ

**वीर०** तत्र दृष्टान्तः **यथेति**। अत्र पुरुषशब्दो जीवशरीरक परमात्मपरः जीवस्य स्वप्नार्थस्रष्टृत्वा योगात्। तदयमर्थः - यथा शयानः पुरुषः पुरुषशरीरकः परमात्मा मनसा स्वशरीर भूत जीवमनोरथानुसारिण्या अत्मनः स्वस्य मायया सङ्कल्पेन परं शयानदेहादन्यं स्वाप्नं सुषुप्तजीवकर्मानुगुणं तदेकानु भाव्यं तत्कालमात्रावस्थायिनं च लोकं देहमनुप्रविश्य तज्जीवमनोरथानुगुणेन सङ्कल्पेन अनुप्रविश्य अवभासते जीवानुभाव्य देशान्तर गमन राज्याभिषेक शिरश्छेदनादिभिः साक्षादस्पृष्ट एव प्रकाशते जगत्सर्ग तदनुप्रवेशयोः स्वाप्नसर्गतदनुप्रवेशौ। दृष्टान्तौ उभयत्र जीवद्वारकोऽनु प्रवेशो व्याप्यगत दोषास्पर्शश्च तुल्यः ॥ ४५ ॥

ननु मद्दर्शनं दुर्लभं किमिति मन्यसे इत्यत आह -शृण्वतामिति। शश्वत्सदाश्रवणादिकं कुर्वता मतएवाऽमलात्मनां परिशुद्धान्तः करणानां नृणां अन्तः हृद्येव भासि, नतु चक्षुर्विषयो भवसीति ॥ ४६ ॥

हृदिस्थ इति। कर्मणा विक्षिप्तं चेतो येषां तेषान्तु हृदिस्थोऽप्यतीव दूरस्थः। एवं कस्यापि अचक्षुर्विषयस्त्वं मद्दृग्विषयोऽसि अतो दुर्लभं त्वद्दर्शनं मया लब्धमिति भावः। ननु हृदिस्थत्व मतिदूरस्थत्वञ्च परस्परविरुद्धं कथमिव घटते इत्यत आह - आत्मशक्तिभिरिति। उपेताः गुणाः रजस्तमस्तत्कार्यकाम क्रोधमोहादयो येन सः आत्मा मनो येषां तेषामन्ति समीपस्थोऽपि आत्मशक्तिभिः देहात्माभिमान स्वतन्त्रात्माभिमानाद्यापादनद्वारा त्वद्याथात्म्यानापादकमायादिशक्तिभिः हेतुभिः अग्राह्यः। एतदेवाऽतिदूरस्थमिति न विरोधइति भावः ॥ ४७ ॥

न केवलम् अमलात्मनामन्त र्हृदि भासमान एव कर्मविक्षिप्त चेतसामग्राह्य एव, अपितु मोचको बन्धकश्चेति वदन्प्रणमति - नमोऽस्तु ते इति अध्यात्मविदां त्वद्याथात्म्यवेदिनां परात्मने प्राप्यायात्मने न विद्यते युक्तस्त्वयि निवेशित आत्मा येषां तेषां स्वात्मविभक्तमृत्यवे स्वात्मना स्वसङ्कल्पेन विभक्त स्समर्पितः मृत्युर्येन तस्मै। अनात्मने इति पाठे व्यापकान्तरशून्यायेत्यर्थः। ननु बन्धमोक्षहेतुत्वं वदन् मयि किं वैषम्यमापादयसीत्यतो विशिनष्टि-सकारणेति। सकारणमनुग्रह हेतुकं अकारणं अकर्महेतुकं लिङ्गं शरीर मीयुषे प्राप्तवते सर्व लोकोज्जिजीविषया स्वेच्छोपात्ताकर्ममूलदिव्य मङ्गल विग्रहाय, अतो न वैषम्य मस्तीति भावः। तर्हि सर्वान् किं न मोचयसीत्यतो विशिनष्टि - स्वमायया संवृता मोहिताः येषां

रुद्धा दृष्टिर्ज्ञानं यस्मिन् विषयभूते तस्मै त्वन्मायामोहितानां त्वद्याथात्म्यावेदिनां मुक्तिं अप्रयच्छन्नत्वं विषमः न ह्यभजतां कामा न प्रयच्छन् सुरद्रुमो विषम इति भावः ॥ ४८ ॥

**विज०** ननु सन्घटः सन्पट इति सदनु विद्धतया प्रतीतेः ब्रह्मव्यतिरिक्तं जगन्नास्तीत्याशङ्क्य सदृष्टान्तं परिहरति यथेति। यथा शयानः स्वपन् पुरुषः आत्मनः परमात्मनः मायया इच्छया प्रबोधितेन स्वमनोगत करि तुरगादि संस्कारेणैव परं स्वव्यतिरिक्तं स्वाप्नं लोकं सृष्ट्वा अवरुध्य स्वविषयी कृत्य अवभासते पृथक् प्रकाशते तथा भगवान् जगति स्थितोऽपि ततो व्यतिरिक्तमात्मानं प्रकाश्य तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ४५ ॥

अलौकिक सिद्धवस्तुसत्तायां किं प्रमाणमिति तत्राऽऽह - शृण्वतामिति। यः स्वकथां शृण्वतां गदतां हृदिस्थ इत्यनेन श्रवणवचने प्रमाणत्वेन ज्ञातव्य इति दर्शितं शश्वद्दर्शिनां अभिनन्दतां संवसतां अमलात्मनां नृणां नित्यं हृदिस्थ इत्यनेन प्रत्यक्षप्रमाणं दर्शितमिति ॥ ४६ ॥

नन्वेवं तर्हि कस्मान् मादृशानां तज्ज्ञानाभाव इत्याशङ्क्य उपासनाभावात् उपासनञ्च कर्म प्रतिबद्धमिति भावेनाऽऽह - हृदिस्थ इति। उपासकैरपि न स्वप्रयत्नेन ज्ञेयः किन्तु स्वप्रसादेनैवेत्याशयेनाऽह आत्मेति। आत्मनां जीवानां शक्तिभिः प्रयत्नादिलक्षणाभिः अग्राह्यो न ज्ञेयः मुह्यन्ति यं सूरय इत्यादिस्वोक्तिं स्मारयति। हि शब्देन देवदत्त वच्छरीरीचेत् कथम ग्राह्य इत्यत्राऽऽह - अर्थाकार इति। अर्थ्यत इत्यर्थः। आनन्दः। ऋगतौ इति धातुः यद्वा अर्थशब्देन ज्ञानञ्च ज्ञानानन्ददेह इत्यर्थः। अर्थो वस्तु अप्रतिहतं तदाकार इति वा। कुत एव अङ्गीकारइत्यत्राऽऽह अगुणात्मकं इति सत्त्वादि गुणनिर्मित देहवान्नभवति। एवंविधस्त्वमस्माकं दर्शनं प्राप्त इति पूर्वेणान्वयः ॥ ४७ ॥

एवं विधत्वान्मम नमनमन्तरेण त्वदुपासनं दुस्साध्य मिति भावेनाऽऽह - **नम** इति। अध्यात्मविदां परमात्मादि तत्त्वज्ञानिनां परमात्मने अशेष पुरुषार्थ दात्रे सर्वात्मने सर्व व्यापिने स्वात्मविभक्त मूर्तये स्वात्मनैव विभक्तस्वरूपाय सकारणं जगदकारणलिङ्गम् अकारणं कारणन्तरशून्यस्वरूपं प्रधानमेवं द्वे ईयुषे व्याप्तवते स्वमायया स्व सामर्थ्येन असंवृतदृष्टये अव्यवहित ज्ञानाय ॥ ४८ ॥

**सत्वं शाधि स्वभृत्यान्नः किन्वीश[1] करवाम[2] ते ।**
**एतदन्तो[3] नृणां क्लेशो यद्भवानक्षिगोचरः ॥ ४९ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**तदुक्तमित्युपाकर्ण्य भगवान् प्रणतार्तिहा ।**
**गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रहसंस्त मुवाच ह ॥ ५० ॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**ब्रह्मं स्तेऽनुग्रहार्थाय सम्प्राप्तान् विद्ध्यमून्मुनीन् ।**
**सञ्चरन्ति मयालोकान् पुनन्तः पादरेणुभिः ॥ ५१ ॥**

**देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि दर्शनस्पर्शनार्चनैः ।**
**शनैः पुनन्ति कालेन तदप्यर्हत्तमेक्षया ॥ ५२ ॥**

1. B.G.J.K.T.W किं देव ; M.Ma किञ्चेष 2. B.G.J °महे। 3. J.M.Ma °क्ष 4- -4 K.T.W.Omit 5. Ml.V. द्विजान् 6- -6 K.T.W पुनन्ति चिर : M.Ma लोकान् पुनन्ति

**श्रीध० स** इति स एवम्भूतः परमेश्वरस्त्वं नोऽस्मान् स्वभृत्यान् शाधि अनुशिक्षय ॥ ४९,५० ॥

स्वस्मिन्नादरमित्यधिकं बाह्मणेषु मन्दमिव आलक्ष्य लोकसङ्ग्रहपरो भगवान् मत्तोऽपि ब्राह्मणेषु श्रद्धातिरेकं कुर्वित्येवं तमनुशास्ति ब्रह्मन्निति। सप्तभिः मया हृदि स्थितेन ॥ ५१ ॥

देवादिभ्योऽपि ब्राह्मणाः श्रेष्ठा इत्याह - **देवा** इति। ते शनैः पुनन्ति, एते तु सद्यः। किञ्च देवादीनि यत्पुनन्ति तदप्यर्हत्तमानामीक्षया ॥ ५२ ॥

**वीर०** इत्थं प्रणम्य तत्कैङ्कर्यं प्रार्थयते - स त्वमिति। स उक्तविधस्त्वं स्वभृत्यान्नोऽस्मान् शाधि। हे देव किङ्करवाम किञ्चिदिष्टंकरवामेति प्रार्थनायां लोट्। ननु मुक्तिं अयाचित्वा कैङ्कर्यमेव किमिति प्रार्थयसे इत्यत आह एतदिति। नृणां क्लेशस्ताप त्रयरूपः एतदन्तः एतत् अन्तोऽवधिर्यस्य तथाभूतः। किं तत्? यत् भवानक्षिगोचर इत्येतत् ॥ ४९ ॥

तदुक्तमिति। इतीत्थं तदुक्तं श्रुतदेवोक्तं उपाकर्ण्य प्रणतार्तिहा आश्रितार्तिहरः ॥ ५० ॥

उक्तिमेवाऽऽह - ब्रह्मन्नित्यादिभिः सप्तभिः इत्थं स्वाम्यभीष्ट करणानुरूप कैङ्कर्यं प्रार्थयमानं श्रुतदेवं प्रति मद्भक्तानां आराधनमेव निरतिशयं मत्कैङ्कर्यमिति वक्तुं तावद्भक्तान् प्रशंसति ब्रह्मन्निति षड्भिः हृदिस्थेन मया पादरेणुभिः लोकान् पुनन्तः पवित्रीकुर्वन्तः सञ्चरन्ति ॥ ५२ ॥

ननु देवादयोऽपि पुनन्त्येवेति किं विशेषेणैत एव पुनन्ति? इत्यत आह - **देवा** इति। देवा भगवत् प्रतिमाः, क्षेत्राणि अयोध्यामधुरादीनि, तीर्थानि गङ्गादीनि, चिरकालेन दीर्घकालेन पुनन्ति। किञ्च देवादीनि यत्पुनन्तीति तदपि अर्हत्तमानाम् ईक्षणात् मद्भक्तकर्तृकेक्षा प्रयुक्तमाहात्म्यादित्यर्थः ॥ ५२ ॥

**विज०** यद्यदा भवानक्षगोचरः स्यात् एतदन्तोऽयमवधिर्यस्य स तथा। नृणां क्लेशः परिश्रमः ॥ ४९,५० ॥

बह्मन् तपस्विन् ॥ ५१ ॥

देवादिभ्यो यच्छुद्धत्वं तदर्हत्तमानां पूज्यानां बाह्मणादीनां ईक्षया दर्शनेन। अपिशब्दोऽवधारणार्थः ॥ ५२,५३ ॥

**ब्राह्मणो जन्मतः[2] श्रेयान्[3] सर्वेषां प्राणिनामिह ।**
**तपसा विद्यया तुष्ट्या किमु मत्कलया[4-] युतः[-4] ॥ ५३ ॥**

**न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम् ।**
**सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयोह्यहम् ॥ ५४ ॥**

**दुष्प्रज्ञा अविदित्वैव मवजानन्त्यसूयवः ।**
**गुरुं मां विप्रमात्मान मर्चादाविज्यदृष्टयः[5] ॥ ५५ ॥**

**चराचरमिदं विश्वं भावा[6] ये चाऽस्य हेतवः[7] ।**
**मद्रूपाणीति चेतस्या धत्ते विप्रो मदीक्षया ॥ ५६ ॥**

1. M. Ma °णाः 2. B.G.J. °ना 3. M.Ma श्रेष्ठाः 4- -4 M. Ma यथापुनः। 5. M. Ma °विति 6. M. Ma °व 7. M. Ma दैवतम्

**श्रीध० ब्राह्मण** इति। मम कला परिकलनं उपास्तिस्तया युतः ॥ ५३ ॥

किञ्च बाह्मणाराधनमेव मम प्रेष्ठमित्याह-नेति। हेतुमाह सर्ववेदमयो विप्र इति। प्रमाणाधीनत्वात् प्रमेयस्य। वेदमयो विप्रो देवमयादस्मद्रूपात् प्रेष्ठ इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

**दुष्प्रज्ञा** इति। असूयवो दोषदृष्टयः। इज्य दृष्टयः पूज्य बुद्धयः ॥ ५५ ॥

**चराचरमिति**। अस्य विश्वस्य हेतवो भावाः महदादयः मदीक्षया ममैव सर्वत्रेक्षया ॥ ५६ ॥

**वीर०** मद्भक्तान् श्रेष्ठो नास्तीत्याह - ब्राह्मण इति। सर्वेषां प्राणिनां मध्ये इह श्रेष्ठेषु नरेषु ब्राह्मणो जन्मतः श्रेयान्। ब्राह्मणेष्वपि तपसा युतः युक्तः श्रेयान्। ततोऽपि विद्यया वेदान्तविद्यया युतः। ततोऽपि तुष्ट्या नित्य[1] सन्तोषेण युतः श्रेयान्। मत्कलया कला विद्या (मम) मदुपासनेति यावत्। तया युतस्तु श्रेयानिति, किमुवक्तव्यमित्यर्थः ॥ ५३ ॥

किम्बहुनेत्याह - नैतदिति। एतद्द्विभुजं चतुर्भुजं वा मम रूपं ब्राह्मणात् मत्कलया युतात् न दयितं न प्रियम्। तत्र हेतुः - सर्वेति। ब्राह्मणाधीनत्वात् प्रमेयसिद्धेः प्रमाणभूत वेदप्रचुराद्विप्राद्देवमयं वपुर्न मे दयितमित्यर्थः ॥ ५४ ॥

एवं केचित् त्वद्भक्तान् कुतोऽवमन्यन्ते, कुतो वा देवादीन् भजन्ते इत्यत आह - दुष्प्रज्ञा इति। एवमित्थम्भूतान् मद्भक्तान् अविदित्वा। तत्र हेतुः दुष्प्रज्ञाः दुरहङ्काराः, देहात्माभिमानिन इति यावत्। अत एव असूयवः सत्स्वपि गुणेषु दोषाविष्करणैक शीलाः अत एव अर्चादावेव इज्यदृष्टयः पूज्यता बुद्धिमन्तो मां मदात्मकं गुरुमात्मानं विप्रं "ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्" इत्युक्तविधं ज्ञानिनं विप्रं च अवजानन्ति ॥ ५५ ॥

ज्ञानिनो दृष्टिस्त्वन्यादृशीत्याह - चराचरमिति। चराचरात्मकमिदं विश्वं तथाऽस्य विश्वस्य हेतवो ये भावाः पदार्थाः महदादयः तान्येतानि सर्वाणि विप्रो मदीक्षया मद्विषयकज्ञानेन मदात्मकत्व बुद्ध्येत्यर्थः। धत्ते विषयीकरोति ॥ ५६ ॥

1. B. अनायासेन यत्किञ्चित्प्राप्त सन्तो°

**विज०** ब्राह्मणभक्तिजननार्थं अर्थवादमाह - **न ब्राह्मणादिति**। ब्राह्मणस्योत्तमत्वे हेतुमाह - सर्वेति। एवमप्यावयोः विशेषोऽस्तीति हि शब्देनाऽऽह ॥ ५४ ॥

असूयवः गुणेषु दोषाविष्करणशीलाः दुष्प्रज्ञा एवं गुरुं विप्रं मत्सन्निधानपात्रं अविदित्वा अवजानन्ति आत्मानं मामर्चादौ अवजानन्ति। कथम्? अर्चैव हरिरिति दृष्टयः ॥ ५५ ॥

ब्राह्मणपूजया सर्वमपि पूजितं स्यादिति भावेनाऽऽह - चराचरमिति। इदं चराचरं विश्वं भावये कल्पये, ब्रह्मणीति शेषः। अस्य ब्राह्मणस्य दैवतमहमिति शेषः। विप्रस्य सर्ववेदमयत्वमुक्तं स्पष्टयति। मद्रूपाणीति विप्रो मदीक्षया मत्प्रतिपादकत्वज्ञानेन एतस्यां 'सर्वेवेदा यत्पदमामनन्ति' (कठ.उ.2-15) इत्यादि श्रुत्या वायुना वै गौतमसूत्रेणाऽयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दब्धानि भवन्तीति श्रुतिसिद्धैः एभिः चराचरैस्सह मद्रूपाणि धत्ते ॥ ५६ ॥

तस्माद्ब्रह्मऋषीनेतान् ब्रह्मन्मच्छ्रद्धयाऽर्चय[1-1] ।
एवञ्चेदर्चितोऽस्म्यद्धा नान्यथा भूरिभूतिभिः[2-2] ॥ ५७ ॥

श्रीशुक उवाच

स इत्थं प्रभुणाऽऽदिष्टः सह कृष्णान् द्विजोत्तमान् ।
आराध्यैकात्म्यभावेन मैथिलश्चाऽऽप सद्गतिम् ॥ ५८ ॥

एवं स्वभक्तयो राजन् भगावान् भक्तभक्तिमान् ।
उषित्वाऽऽदिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात् ॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

1- -1. K.T.W. ब्रह्मन्संश्रद्धयार्चय ; M. Ma. ब्रह्मज्ञान्श्रद्धयार्चय ; Ml.V. श्रद्धयार्चय नित्यशः 2- -2. K.M.Ma.T.W. सुविभूतिभिः 3. M.Ma. °कान्त°

**श्रीध०** सतां वेदानां त्रिकाण्डविषयाणां प्रवृत्तप्रकारमादिश्य ॥ ५७- ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां

षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

**वीर०** अस्त्वेवं, ततः किं अत आह - **तस्मादिति**। तस्मान्मद्भक्तानाम् इत्थम्भूतत्वात्, हे ब्रह्मन्! एतान्ब्रह्मर्षीन् श्रद्धयाऽत्यादरेणाऽर्चय एवञ्चेदित्थमर्चयसि चेत् अद्धा साक्षादहमेवाऽर्चितोऽस्मि। अन्यथा मद्भक्तार्चनं विना सुविभूतिभिः पुष्कलोपचारैरर्चितोऽप्यहं नाऽर्चितः। ऋषीनेतानिति स्वभक्तमात्रोप लक्षणम् ॥ ५७ ॥

**इत्थमिति**। प्रभुणा भगवता आदिष्टः स श्रुतदेवः ऐकात्म्यभावेन परमात्मबुद्ध्या आराध्य सतां गतिं मुक्तिमवाप ॥ ५८ ॥

**एवमिति**। भक्तेषु भक्तिः प्रीतिः सा अस्यास्तीति तथा स भगवान् हे राजन्! स्वभक्तयोः श्रुतदेव बहुलाश्वयोः सन्मार्गं सतां साधूनां मार्गं अनुष्ठेयधर्मप्रकारमादिश्योपदिश्य कतिपयदिनान्युषित्वा च पुनर्द्वारवतीं ययौ ॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां व्याख्यायां

षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

**विज०** प्रतिपादनच्छलेन फलितमाह - तस्मादिति ॥ ५७,५८ ॥

भक्तेषु प्रसादलक्षणस्नेहवान् ॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

# सप्ताशीतितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या चतुर्णवतितमोऽध्यायः)

राजोवाच[1]

ब्रह्मन्ब्रह्मण्य निर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः ।
कथं चरन्ति श्रुतयस्साक्षत्सदसतः परे ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

बुद्धीन्द्रियमनः प्राणाञ्जनानामसृजत्प्रभुः ।
मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मने[2] कल्पनाय च ॥ २ ॥

सैषा ह्युपनिषद्ब्राह्मी पूर्वेषां पूर्वजैर्धृता ।
श्रद्धया धारयेद्यस्तां क्षेमं गच्छेदकिञ्चनः[3] ॥ ३ ॥

अत्र ते वर्णयिष्यमि गाथां नारायणान्विताम्[4] ।
नारदस्य च संवादमृषेर्नारायणस्य च ॥ ४ ॥

एकदा नारदो लोकान् पर्यटन्भगवत्प्रियः ।
सनातनमृषिं द्रष्टुं ययौ नारायणाश्रमम् ॥ ५ ॥

B.G.J परीक्षिदुवाच 2. G.J. °नेऽक° 3. K. गच्छत्य° 4. M.Ma °णोदि°

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावर्थदीपिका

सप्ताशीतितमे नारायणनारदवादतः। वेदैः स्तुतिर्गुणालम्बा निर्गुणावधि वर्ण्यते ॥
वागीशा यस्य वदने लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि। यस्याऽऽस्ते हृदये संवित्तं नृसिंहमहं भजे ॥
सम्प्रदाय विशुद्ध्यर्थं स्वीय निर्बन्धयन्त्रितः। श्रुतिस्तुतिमितव्याख्यां करिष्यामि यथामति ॥
श्रीमद्भागवतं पूर्वैः सारतः सन्निषेवितम्। मयातु तदुपस्पृष्टमुच्छिष्टमुपचीयते ॥

पूर्वाध्यायान्ते - 'एवं स्वभक्तयोराजन् भगवान्भक्त भक्तिमान्। उषित्वाऽऽदिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात्' (भाग. 10-86-59) इत्यत्र सन्मार्गं सतां स्वतः प्रमाणभूतानामप्रामाण्य कारणरहितानां वेदानां मार्गं ब्रह्मपरत्वमुपदिश्य भगवान् अगादित्युक्तं तत्र वेदानां ब्रह्मपरत्वमघटमानं मन्वानः पृच्छति - ब्रह्मन्निति। तत्र तावत् मुख्यालक्षणा गुणभेदेन त्रिधा शब्दप्रवृत्तिः। यथा मुख्यापि रूढि - योगभेदेन द्विधा। रूढिश्च स्वरूपेण जात्या गुणेन वा निर्देशार्हे वस्तुनि संज्ञासंज्ञि सङ्केतेन प्रवर्तते यथा - डित्थो गौः शुक्ल इति। लक्षणा च तेनैव सङ्केतेनाभिहितार्थ सम्बन्धिनि[2] यथा गङ्गायां घोष इति। गौणी चभिहितार्थ लक्षितगुणयुक्ते तत्सदृशे, यथा - सिंहो देवदत्त इति। यथाऽऽहुः -'अभिधेयाविनाभूत[3] प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते। लक्ष्यमाणगुणैर्योगात् वृत्तेरिष्टा तु गौणता' इति। योगवृत्तिस्तु एतत् त्रिविधवृत्तिप्रतिपादित पदार्थयोः प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः वा योगेन। यथा पङ्कजमौपगवः पाचक इत्यादि। तत्र तावद्ब्रह्मणि रूढवृत्तिर्न सम्भवतीत्याह - साक्षात् कथं चरन्तीति। तत्र हेतुः - अनिर्देश्ये इति। अनिर्देश्यत्वेऽपि हेतुं वदन् गुणवृत्तिं निराकरोति - निर्गुणे गुणवृत्तय इति। गुणैर्वर्तमानाअपि निर्गुणे कथं चरन्तीत्यर्थः। निर्गुणत्वे च हेतुं वदन् लक्षणां योगं च निराकरोति - सदसतः पर इति। कार्यकारणाभ्यां परस्मिन्नसङ्गे केनचिदपि सम्बन्धाभावान्न लक्षणायोगवृत्ती सम्भवत इत्यर्थः। एवं पदार्थत्वायोगादपदार्थस्य च वाक्यार्थत्वायोगान्न श्रुतिगोचरत्वं ब्रह्मण इत्यभिप्रायः ॥ १ ॥

उत्तरमाह - बुद्धीन्द्रियेति। बुद्ध्यादीनुपाधीन् जन्नानामनुशायिनां जीवानां मात्राद्यर्थं प्रभूरीश्वरोऽसृजत्। मीयन्ते इति मात्रा विषयास्तदर्थम्। भवार्थं भवो जन्म लक्षणं कर्म, तत्प्रभृति कर्मकरणार्थमित्यर्थः। आत्मने लोकान्तरगामिने, आत्मनः तत्तल्लोकभोगायेत्यर्थः। अकल्पनाय कल्पनानिवृत्तये, मुक्तय इत्यर्थः। अर्थधर्मकाममोक्षार्थमिति क्रमेण पदचतुष्टयस्यार्थः। जनानामिति वदन् जीवार्थमीश्वरस्य सृष्ट्यादिषु प्रवृत्तिरिति दर्शयति। प्रभुरिति ईश्वरस्योपाधिवश्यताभावेन नित्यमुक्ततां दर्शयति। अयम् अभिप्रायः - यद्यप्युक्तरीत्या[4-] कापि प्रवृत्तिः न सम्भवति, तथापि परम्परया साक्षाद्वा सर्वासां श्रुतीनां ब्रह्मणि पर्यवसानम्। किञ्च, ईश्वरो जीवानां मोक्षार्थमेव सृष्टिं करोति, न च स्वरूपोप पादनमन्तरेणोपपद्यते - अतो योग्या काचन वृत्तिः विचारणीयेत्युत्तरम्[-4]। सगुणमेव गुणैरनभिभूतं सर्वज्ञं सर्वशक्तिं सर्वेश्वरं सर्वनियन्तारं सर्वोपास्यं सर्वकर्मफलप्रदातारं समस्तकल्याणगुणनिलयं सच्चिदानन्दं भगवन्तं श्रुतयः प्रतिपादयन्ति। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुण्ड. उ. 2-2-7) 'यस्य ज्ञानमयं तपः' (मुण्ड.उ. 1-1-6) 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' (बृह. उ. 4-4-22) 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या आन्तरः' (बृह. उ. 3-7-3) 'सोऽकामयत बहुस्याम्' (तैति. उ. 2-6) 'स ऐक्षत, तत्तेजोऽसृजत' (छान्दो. उ. 6-2-3) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै.ति.उ 2-1-1) इत्याद्याः। तथाभूतेश्वरतां तावत् संसारिणो जीवस्य तन्निवृत्तये 'तत्त्वमसि' (छान्दो.उ. 6-7-8) इत्यादि वाक्यानि बोधयन्ति। तत्र च तत्त्वम्पदयोः सामानाधिकरण्यं प्रतीयते। तच्च प्रकारान्तरेणघटमानं ब्रह्मणि पर्यवसानं गमयति। तथाहि -न तावद्वैश्वदेव्याऽऽमिक्षेति वदुभयोः एकार्थाभिधानेन सामानाधिकरण्यम् घटते। यथोक्तम्

- 'आमिक्षां देवता युक्तां वदत्येवैष तद्धितः। आमिक्षापदसान्निध्यात् तस्यैव विषयार्पणम्'॥ इति कुतः? भिन्नार्थत्वात् न च अजहत्स्वार्थया निरूढलक्षणया विशेषण विशेष्यभावेन नीलमुत्पलमितिवत्। यथोक्तम् 'स्वबुद्ध्या रज्यते येन विशेष्यं तद्विशेषणम्' इत्यादि। कुतः? विरुद्धार्थत्वेन तदयोगात् न च जहत्स्वार्थत्वेन सम्बन्धलक्षणया कुसुमित द्रुमा गङ्गेतिवत्। कुतः? एकार्थत्वस्य विवक्षितत्वात्। अतो जहदजहत्स्वार्थलक्षणया सोऽयं देवदत्त इतिवत् विरुद्धांशत्यागेनानुगतचिदंशेनैकार्थेन[5] सामानाधिकरण्येन निर्गुणे पर्यवसानम्। अस्थूलादि वाक्यानां तु साक्षादुपाधिनिषेधेन तत्पदार्थ शोधने उपयोगात् निर्गुण एव पर्यवसानम्। तथा च अत्रैवोपक्रमे 'स्वसृष्टमिदमापीय' (भाग 10-87-12) इत्यादिना विशिष्टमालम्बनं वक्ष्यति। अन्तेच 'श्रुतयः त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः' (भाग. 10-87-41) इत्युपसंहरिष्यति। उपासनादिवाक्यानां अन्यार्थ[6-] प्रवृत्त्या[-6] सृष्ट्यादि अवलम्बनत्वेन[7] ज्ञानसाधन विधानेन तत् परत्वमित्येषा दिक् ॥ २ ॥

अत्र च अनादि शिष्टपरम्परागतत्वान्न सन्देहो युक्त इत्याह - सैषेति। सैषा यथोक्तलक्षणा[8-] यथोक्तालम्बना[-8] वा[9] ब्राह्मी ब्रह्मपरा। श्रद्धया आदरेण वैतण्डिकतर्कानभिनिवेशेन यः श्रवणादिना धारयेत् स अकिञ्चनो निरस्तदेहाद्युपाधिः सन् ततः परं पदं प्राप्नुयादिति ॥ ३ ॥

एतदेव सर्वश्रुत्यर्थनिरूपणेन प्रपञ्चयितुमितिहासमवतारयति - अत्रेति। नारायणान्वितां नारायणः प्रवक्तृत्वेनान्वितो यस्यां ताम्। गाथामितिहासम् ॥ ४ ॥

1. Ml.V. °मितां व्यां° 2. Ml.V. नी 3. Ml.V. ते 4- - 4 B.J Omit 5. Ml.V. °नैकार्थसामा° 6- -6 B.J क्रियार्थप्रवृत्त 7. B. J °लम्बनेन 8- -8 B.J Omit 9. B.J Omit वा 10. B. j Omit ततः

## श्रीवीरराघव विदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

'सर्ववेदमयो विप्रस्सर्वदेवमयोऽस्म्यहम्' (भाग. 7-11-20) इति वेदानां ब्रह्मप्रमापकत्वं भगवदुक्त्यैवावगतम्, तत्पुर्वध्यायेऽपि 'विशुद्ध सत्त्वधाम्न्यद्धा त्वयि शास्त्र शरीरिणि' (भाग. 10-85-42) इति बलिवचनेनाप्यवगतम्, 'तत्पूर्वध्यायेऽपि ब्रह्म ते हृदयं शुद्धम्' (भाग.10-84-19) इत्यादिना 'शास्त्रयोने स्तवात्मनः (भाग. 10-84-20) इत्यन्तेन मुनिवचसाऽप्यवगतम्, श्रूयते चैवं 'सर्वेवेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति' (कठ.उ. 2-15) इति, स्मर्यते च 'वैदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः' (भ.गी.15-15) इति। ब्रह्मणश्चिदचिद्वैलक्षण्यं बहुशः प्रतिपादितं, तत्र चिदचिद्विलक्षण ब्रह्मस्वरूप स्वभावपराणां 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' (तैत्ति.उ.2-1-1) यस्सर्ज्ञःसर्ववित्' (मुण्ड.उ.2-2- 7) इत्यादि श्रुतिवचसां तत्प्रमापकत्वेऽपि 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृह.उ.2-5-19) 'तत्त्वमसि' (छन्दो.उ.6-8-7) 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' (छान्दो.उ.3-14-1) इत्यादिना

परमात्म शब्दसमानाधिकरणतया श्रुतानां चिदचिद्वाचिशब्दानां कथं परमात्म प्रमापकत्वमिति पृच्छति राजा-ब्रह्मन्निति। हे ब्रह्मन्! गुणवृत्तय इत्यत्र गुणशब्दो विशेषणपरः, गुणेन जातिगुणक्रियान्यतमेन द्वारभूतेन वृत्तिर्बोधनं यासां ताः जात्यादिकं प्रवृत्तिनिमित्ती कृत्य तद्विशिष्टाभिधायिन्यः श्रुतयः चिदचित्पराः कथं ब्रह्मणि साक्षाच्चरन्ति प्रवर्तन्ते, न हि प्रवृत्ति निमित्त प्रहाणेन शब्दः प्रतिपादयितुमलमिति प्रश्नार्थः। न च लक्षणया चरन्तीति वक्तुं युक्तम्। उदाहृतश्रुतिस्मृतिआदिभ्योऽभि धावृत्तेरेवावगमात्। न च कतिपयश्रुतीनां तत्र मुख्यवृत्तिः, चिदचिदादिपराणां तु लक्षणा वृत्तिरिति युक्तं, सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति (कठ. उ. 2-15) 'वैदैश्च सर्वैरहम्' (भगी. 15-15) इति सर्वशब्द स्वारस्यात् सर्वासामपि तस्मिन् अभिधावृत्ते रेवावगमात्। अत एव साक्षादित्युक्तं, तावत् जातिशब्दानां वृत्त्यसम्भवं व्यञ्जयन् विशिनष्टिअनिर्देश्ये चेतनाचेतनसजातीयतया निर्देष्टुमशक्ये, तत्र हेतुः - सदसतः परे सच्चासच्च तयोः समाहारः तस्मात्परे चिदचिद्भ्यां परे विलक्षणे अन्यस्मिन्निति यावत्, न हि चिदचिद्गतजातिप्रवृत्तिनिमित्तकशब्दानां चिदचिद्भ्यामन्यस्मिन् मुख्यवृत्तस्सम्भवतीति भावः। अथ गुणशब्दानां वृत्त्यसम्भवं द्योतयितुं विशिनष्टि - निर्गुण इति । निर्गतत्रैगुण्ये त्रैगुण्यप्रत्यनीके यद्वा गुणशब्दानां ये ये प्रवृत्तिनिमित्तभूताः गुणाः तेभ्यः सर्वेभ्यो निर्गते निर्गुण इति निष्क्रियत्वस्यापि उपलक्षणम् ॥ १ ॥

अत्र 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा.दो.उ. 6-3-2) 'नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते' (पु.सू.7) 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्चत्यच्चाभवत्' (तैत्ति.उ. 2-6) इत्यदि श्रुतयः स्वपर्यन्त नामरूपव्याकरणेन तत्तच्चिदचिद्वस्तुशरीरकतया तत्तच्छब्द वाच्योऽभूदिति प्रतिपादयन्त्यः परिहारमाहुरित्यभिप्रेत्य तत्र तत्र बहुशो जगत्सर्ग प्रकार वर्णनयैव प्रकृतप्रश्नस्य उत्तरं उक्तप्रायमिति च अभिप्रेत्य केवलं सृष्टिमात्रं स्मारयति बुद्धीन्द्रियेति। जनानां जीवानां बुद्ध्यादीनसृजत्, प्रभुरध्यक्षः निर्वाहक इति यावत्, अयमभिप्रायः - स्वयमन्तरात्मतया नामरूपनिर्वाहको भवितुं बुद्ध्यादि शब्दोपलक्षित समष्टिपरम्परया महाभूतपर्यन्तमात्मानं तत्तच्छरीरकं परिणमय्य तन्मयः पुनः सदसच्छब्दवाच्यचिदचिन्मिश्रदेवादि स्थावरान्त जगद्रूपतत्तच्छ ब्दवाच्यश्चाभवदिति। एवं चिदचित् पदार्थानां सर्वेषां परमात्मशरीर तैकस्वभाव्यत्तत्वेनैव तैषां वस्तुत्वादपृथक्सिद्धविशेषणत्वाच्य अपृक्सिद्ध विशेषणवाचि शब्दानामाकृत्यधिकरण न्यायेन विशेष्यपर्यन्ताभिधान स्वाभाव्यात् गवादि शब्दानां गोत्वादिकं प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य व्यक्तिपर्यन्ताभिधानस्य मुख्यत्ववत् सर्वेषां लोकव्युत्पत्तिसिद्ध स्वस्वार्थाभिधायिनां स्वस्वार्थान् परमात्मापृथक्सिद्धविशेषणभूतान् प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य परमात्माभिधानं मुख्यमेवेति, विस्तरस्तु भाष्यादिष्वनुसन्धेयः, परम कारुणिकस्यावाप्तसमस्त कामस्य स्वपरप्रयोजन निरपेक्षस्य ब्रह्मणो जगत्सर्गेण प्रयोजनं किं इत्यत आह - मात्रार्थमिति। आत्मने कल्पनाय चेति तादर्थ्यचतुर्थ्यन्तम्, मात्रार्थं देहार्थं तदुत्पादनार्थमित्यर्थः। असत्प्रायाणां जीवानां स्वाराधनोपयुक्तकरण कलेबरादिप्रदानेनोज्जीवनार्थं जगत् सर्गे प्रवृत्तिरिति परिपूर्णस्यापि परानुजिघृक्षा सङ्गतैवेति भावः। अत एव गर्भजन्मजरामरणाद्यनेक

दुःखावहजगत्सर्ग प्रयक्तनैर्घृण्यशङ्काऽपि निरस्ता, दुःखंस्य तत्तज्जीवनादिकर्मप्रयुक्तत्वात् मीयन्त इति मात्राः देहाः, भवार्थमभ्युदयार्थम् आराधयितृभ्यो निश्रेयसरूपाभ्युदयप्रदानार्थं इत्यर्थः। अनेन देहोत्पादनस्यापि प्रयोजनमुक्तं, यद्वा भावार्थं त्रैवर्गिकरूपश्रेयः प्रदानार्थम्, आत्मने अध्यात्म ज्ञानर्थं मुक्तिसाधनोपासननिष्पत्तय इत्यर्थः। यद्वा आत्मार्थं जीवात्मस्वरूपसत्तालाभार्थं प्रलयावस्थायामसत्प्रायाणां जीवानां परमात्मन आत्मत्वं शेषशेषि भावज्ञानेनैव ह्यात्मसत्तालाभः अकल्पनाय कल्पनं ज्ञानैकाकारेष्वात्मसु देवमनुष्यादि कल्पनं भेद इति यावत्, तदभावाय मुक्तये उपायानुष्ठानेन देवादि भेदनिवृत्ति वृत्तिपूर्वकमुक्त्यर्थं चेत्यर्थः। यद्वा सर्वमिदं सङ्कल्पमात्रेणैवोपपद्यतामित्यत आह - कल्पनाय चेति। कल्पनं क्रीडनं तस्मै, परिपूर्णस्यापि क्रीडार्थं जगद्व्यापार इति भावः ॥ २ ॥

नन्वित्यं सर्वशब्दानां ब्रह्मणि मुख्यवृत्तिः न लौकिकैः गृहीता, अपितु तत्तदर्थेष्वेव तत्कथं सार्वजनीनव्युत्पत्ति भञ्जनेन ब्रह्मणि व्युत्पत्तिः साध्यत इत्यत आह - सैषेति। सैषा उपपादिता ब्राह्मी ब्रह्मसम्बन्धिनी सर्वशब्दानां ब्रह्मण्यभिधावृत्तिः इत्यर्थः। उपनिषत् रहस्यतमा उपनिष्दर्थविचारेणावगन्तव्येति वाऽर्थः। अनधीतवेदान्तशास्त्राणां तत्तदर्थमात्रपर्यवसि तव्युत्पत्तावप्यधिगतवेदान्तार्थतदनुष्ठान निष्ठैर्ब्रह्मण्येवं व्युत्पत्तिर्गृहीता, न हि धटशब्दव्युत्पत्तिमगृहीतवतः। कस्यचित्पुंसो घटशब्दात्रदर्थानवगतावणि तस्म तद्बोधकशक्तिः विहतेति भावः। तथाहि पूर्वेषामपि पूर्वजैः वामदेवादिभिध एषा व्युत्पत्तिः धृता अवधृता निश्चितेति यावत्, वामदेव प्रह्लादादयो हि परस्य ब्रह्मणः सर्वान्तरात्मत्वं सर्वस्य तच्छरीरत्वं शरीरवाचिनां शब्दानां शरीरिणि पर्यवसानं च पश्यन्तः सोऽहमिति स्वात्मशरीरकं परं ब्रह्म निर्दिश्य तत्सामानाधिकरण्येन मननुसूर्यादीन् 'अहंमनुरभवं सूर्यस्य कक्षीवानृषिरस्मि विप्रः' (बृह.उ. 1-4-10) इति। 'सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाह मवस्थितः। मत्तस्सर्वमहं सर्वं मयि सर्वं सनातने' (विष्णु.पु 1-19-85) इति निर्दिशन्तस्सर्वबुद्धिशब्दान् परमात्मपर्यन्तान् प्रदर्शयन्तस्सर्वशब्दानां परमात्मन्येव व्युत्पत्तिमध्यवसितवन्त इति भावः। इत्थं गृह्यमाणाया व्युत्पत्तेः फलमाह - श्रद्धयेति। तां उक्तविधां व्युत्पत्तिं यः पुमान् श्रद्धया धारयेत्, सोऽकिञ्चनः नास्ति किञ्चन प्रार्थनीयं यस्य सः क्षेमं मुक्तिं गच्छति प्राप्नोति ॥ ३ ॥

इत्थं परस्य ब्रह्मणस्सर्वपर्यन्तसर्व बुद्धिशब्दत्वं सर्वान्तरात्मत्वं जगत्कारणत्वं परम कारुणिकत्वं मोक्षप्रदत्वं चोक्तम्, अथउक्तार्थस्य स्वमनीषोत्प्रेक्षितत्वशङ्कानिरासाय मूर्तिधरा वेदा एवोक्तानुक्तगुणविशिष्टं भगवन्तं तुष्टुवुरिति वक्तुं तावत्स्वप्रश्नपरिहारानितिहासान्तरेण संवादयति - अत्रेति। अत्र त्वत्पश्ने मदुत्तरे च संवादरूपां नारायणेन प्रवर्तकेन अन्वितां गाथां ते तुभ्यं वर्णयिष्यामि, शृण्वितिशेषः। कोऽसौ नारायणः? किं परमव्योमनिलयः? किं वा अवतारविशेषः? कश्च तस्या श्रोतेत्यत आह नारदस्येति। ऋषेः ऋषिवेषधरस्य बदर्याश्रम वासिनो नारायणस्य च संवादं प्रश्नोत्तररूपमितिहासं कथयिष्यामिति सम्बन्धः ॥ ४ ॥

संवादमेव प्रस्तोतुं तावत् नारदस्य नारायणोपसत्तिमाह - एकदेति। सनातनंपुराणम् ऋषिं नारायणं द्रष्टुं तस्याश्रमं बदर्याख्यं ययौ ॥ ५ ॥

1. B. °द्वाचिनां 2. B.T.W. Omit सः

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

यदनन्त निगमनिकरनिरूपितगुणगणाकरं ब्रह्म तदेव कृष्णनाम्नाऽवतीर्णं नान्यदित्यतो मुमुक्षुभिरत्र भक्तिः इतरत्र विरक्तिमूला कर्तव्येति विधीयतेऽस्मिन्नध्याये। तत्र नारद नारायण संवाद लक्षणमितिहासमुत्थापयितुं शुकं परीक्षित्पृच्छतिब्रह्मन् इत्यादिना। हे ब्रह्मन्! पूर्णकाम! 'सर्वेवेदा यत्पदमामनन्ति' (कठ.उ 2-15) इति श्रूयते। तत्र श्रुतयः साक्षादमनन्त्युत लक्षणया वा तत्र न प्रथम इत्याह - कथमिति। साक्षात् चरन्ति वर्तन्ते वाचकत्वेनेति शेषः। तस्य काऽनुपपत्तिरत्राह - अनिर्देश्य इति। 'यत्तदद्रेश्यम्' (मुण्ड.उ. 1-6) इति श्रुतेः। न द्वितीय इत्याह निर्गुण इति। 'केवलो निर्गुणश्च' (श्वेता.उ.6-11) इति श्रुतेः। गुणैः प्रवर्तमानस्य कथं निर्गुणत्वमुपपद्यत इत्यत्राह सदसत इति। निर्गुणे गुणसमर्पकत्वेन श्रुतीनां सञ्चरणं कथमिति दौर्घट्यमापादयितुं शक्यते यादृग्वस्तु तादृशा वेदकत्वे न कोपि विरोधः इति तत्राह -गुणवृत्तय इति। गुणार्पकत्वेन गुणवृत्तिर्यासां तास्तथा। 'तु विग्रीवो वपोदरः सबाहुरन्धसोमदे गुणाः श्रुताः सुविरुद्धाश्च देवे' (ऋग्वे 8-17-8-a) इत्यादि श्रुतेः। अत एव नः संशयं छिन्धीति वाक्यशेषः ॥ २ ॥

श्रुतयः सत्त्वादिगुणराहित्येन निर्गुणे ज्ञानानन्दादि गुणगणमणिमालाङ्कृत विग्रहे ब्रह्मणि साक्षाद्वर्तन्त इति परिहारमभिप्रेत्य पीठिकामारचयति - बुद्धीति। बुद्ध्यादि सर्जनेन किं प्रयोजनमत्राह - मात्रार्थमिति। 'मात्रापरिच्छेदेऽर्थेशे प्रवृत्तौ कर्णभूषणे' (वैज.को. 6-5-62)इत्यतो मात्रा प्रवृत्तिः शब्दानामिति शेषः। तदर्थं 'मनसा अग्रे सङ्कल्पयत्यथ वाचा व्याहरति' (ऐत.उ.1-1-2) इति श्रुतेः। किमतोऽत्राह - भवार्थंचेति'। भवो भद्रे कल्याणं पुण्यमिति यावत् तदर्थम्। 'स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः तद्धि तपः तद्धि तपः' (तैत्ति उ.1-9-1) इति श्रुतिः। च शब्दौ बुद्ध्यादीनिन्द्रियपूर्विका शाब्दी प्रवृत्तिरपि न स्वर्गादिविषया किन्तु परमात्मविषयैव पुण्यसाधनमित्यभिप्रायेणाह - आत्मन इति। सन्ध्यकरणात् सदसद्विलक्षण एवात्मा तमात्मानमुद्दिश्य शब्दराशेः प्रवृत्तिरिति भावः। ततः परमप्रयोजनमाह - कल्पनायेति। कल्पनाय परमात्मज्ञानाय 'सत्येन लभ्यस्तपसाह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्' (मुण्ड.उ.3-1-5) इति श्रुतेः। अनेन वक्तृविवक्षा पूर्विकाशब्दप्रवृत्तिः इत्यतो बुद्धीन्द्रियादिमत एव सुप्रयुक्त शब्देन ज्ञातपरब्रह्म तत्त्वगुणोपसंहार ज्ञानप्रसन्न भगवत्सारूप्यादिमोक्षप्राप्तेः शब्दानां श्रीहरिविषयत्वं साक्षादङ्गीकर्तव्यमित्युक्तं भवति ॥ २ ॥

शब्दमात्रस्य हर्येकविषयत्वमुक्त्वा अधुना 'वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः' (म.ना.उ.8-15) इति वचनात् उपनिषद्भागस्य तद्गुणगणावेदकत्वेन मुख्यवृत्त्या विषयत्वमिति भावेनाह - सैषेति। हि शब्दो हेतौ। 'ईशबुद्धिस्थिताः सदा' इति वचनात् या श्रीमन्नारायण बुद्धिस्थिता सैषा उपनिषद्वेदान्तपरपर्याया पूर्वेषां पूर्वजैः ब्रह्मादिभिः धृता अध्ययन रूपेण न तु कृता नित्यवाक्यत्वात् 'नित्यया नित्यया स्तौमि' इत्यादेः। हि यस्मात् तस्मात् यस्तां श्रद्धया धारयेत् स क्षेमं मोक्षं गच्छेत् ब्रह्मज्ञानलभ्यस्य मोक्षस्य कथं श्रुतिधारणया मोक्षः स्यादित्यत्र ब्राह्मीति। अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेति 'बृंहतो ह्यस्मिन् गुणाः' इति श्रुतेः। ब्रह्मगुणावेदकत्वेन तज्ज्ञान द्वारमुक्तिहेतुत्वोपपत्तेः। ज्ञानं च विरक्त्यादिमत एव स्यादितिभावेनाह - अकिञ्चन इति ॥ ३ ॥

भवच्छिष्यत्वेन मम भवदुक्तिः प्रमाणमस्तु। इतरेषां कथमिति शङ्का माभूदिति भावेनाह - अत्रेति। अत्र श्रुतयः कथं चरन्तीति अस्मिन्नर्थे गाथां त्रिषट्पादलक्षणप्रबद्धां कथां नारायणोदितां नारायणेन कथिताम् ॥४॥

नारायणस्य सङ्गमः कथमभूत् नारदस्येत्यत्राह -एकदेति ॥ ५ ॥

**[1]यो वै भारतवर्षेऽस्मिन् क्षेमाय स्वस्तये नृणाम् ।**
**धर्मज्ञानशमोपेत[2-] आकल्पादा[-2]स्थितस्तपः ॥ ६ ॥**

**तत्रोपविष्टमृषिभिः कलापग्रामवासिभिः ।**
**परीतं प्रणतोऽपृच्छदिदमेव कुरूद्वह ॥ ७ ॥**

**[3-]तस्मा अ[-3]वोचद्भगवानृषीणां शृण्वतामि[4]मम् ।**
**यो ब्रह्मवादः पूर्वेषां जनलोकनिवासिनाम् ॥ ८ ॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**स्वायम्भु[5]वब्रह्मसत्रं जनलोकेऽभवत्पुरा ।**
**तत्र[6]त्यानां मानसानां मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ॥ ९ ॥**

**श्वेतद्वीपं गतवति त्वयि द्रष्टुं तदी[7]श्वरम् ।**
**ब्रह्मवादस्स[8-]म्प्र[-8]वृत्त श्श्रुतयो यत्रशेरते ॥ १० ॥**

---

1. M.Ma. योऽसौ 2--2 B.G.J. °तमाकल्पदा° ;M.Ma. त साकल्यदा° 3--3 B.G.J. तस्मै ह्यवो° 4. B.G.J. °दम् ; M.Ma °माम् 5. M.Ma °वं 6. B.G.J. °स्था° 7. M.Ma. °मी° 8--8. B.G.J. °दः सुसं°

**श्रीध० स्वायम्भुवेति**। ब्रह्मसत्रमिति। यथा यजमाना एव समाना ऋत्विगादिरूपेण यत्र कर्म कुर्वन्ति तत्कर्म सत्रं प्रसिद्धम्। तथा यत्र समाना एव वक्तृश्रोतृभावेन ब्रह्म मीमांसन्ते तद्ब्रह्मसत्रम् ॥ ६-९ ॥

अहे तर्हि मया कथं तन्नज्ञातमित्यत आह - **श्वेतद्वीपमिति**। तदीश्वरं तत्रस्थं मामेवानिरुद्धमूर्तिम् ॥ १० ॥

**वीर०** ऋषिं विशिनष्टि - **य** इति। नृणां क्षेमाय अभयरूपाय स्वस्तये मोक्षाय च आकल्पात् कल्पावधि तमः स्वात्मोपासनात्मकम् आस्थितः अधिकृतवानित्यर्थः। कथम्भूतः? धर्मः वर्णोचितः ज्ञानम् आत्मनः प्रकृतिपुरुषाभ्यां विलक्षणत्वेनावलोकनम्, शमो रागद्वेषादिराहित्यम् एभिरुपेतः ॥ ६ ॥

**तत्रेति**। तत्र नारायणाश्रमे कलापग्रामवासिभि - परमात्मस्वरूपध्याननिष्ठैः ऋषिभिः परीतं परिवृतं नारायणम् इदमेव त्वत्पृष्टमेव अपृच्छत् ॥ ७ ॥

तस्मा इति। तस्मै पृष्टवते नारदाय ऋषीणां शृण्वतां सतामिमं मदुक्तपरिहारगर्भं परिहारमवोचत्। तदुक्तपरिहारस्यापि साम्प्रदायिकत्वं वदन् तं विशिनष्टि - **य** इति। जनलोकनिवासिनां पूर्वेषामग्रजानां सनन्दनादीनां यस्संवादः प्रश्नोत्तररूपस्तमिममवोचदिति सम्बन्धः ॥ ८ ॥

उक्तिमेवाह - स्वायम्भुवेति। स्वायम्भुवः नारदः तस्य स्वयम्भुवः पुत्रत्वादेवं सम्बोधनम्। पुरा जनलोके तत्रत्यानां जनलोकस्थानां मानसानां ब्रह्ममानसपुत्राणाम् ऊर्ध्वरेतसां जन्मप्रभृति जितेन्द्रियाणां मुनीनां सनकादीनां सम्बन्धि ब्रह्मसत्रं परब्रह्मगुणानुभवात्मकं सत्रमभूत् ॥ ९ ॥

तर्हि, तदाऽहं क्व गतः? कथं[2-] मया न श्रुतम्[-2]? इत्यत आह - श्वेतद्वीपमिति। तं श्वेतद्वीपवासिनमीश्वरं तत्रस्थं[3-] मामेव अनिरुद्धमूर्तिमित्यर्थः। द्रष्टुं त्वयि गतवति सति तदा ब्रह्मवादः ब्रह्मणां वादः, संवृत्तः, तं विशिनष्टि - यत्र ब्रह्मवादे श्रुतयश्शेरते प्रतारणभयरहिता ऐककण्ठ्यं प्राप्ताः सुखमासत इत्यर्थः ॥ १० ॥

1- -1 T.W. Omit 2- -2 T.W. Omit 3- -3 T.W. Omit

**विज०** कस्मिन् खण्डे नारायणाश्रमः? तत्र किं कुर्वन् किं प्रयोजन आस्त इति तत्राह - योसाविति। तपसोङ्गवैकल्यपरिहासाय साकल्या दित्युक्तं, धर्मः सुकुतं विहिताचारो वा। ज्ञानं स्वपर पदार्थावगाहि। शमोनिष्ठा। एतैः उपेतः लोक दृष्ट्यैतदुक्तम् ॥ ६ ॥

तत्राश्रमे उपविष्टं तम् ॥ ७ ॥

तस्मै नारदायेमां गाथामवोचत्। गाथां विशिनष्टि - य इति। ब्रह्मवादः ब्रह्मविषया गाथा ॥ ८ ॥

पुरा तत्रात्यानां जनलोकस्थितानां मानसानामूर्ध्वरेतसां मुनीनां स्वायम्भुवं स्वयम्भूपुत्रैः क्रियमाणं ब्रह्मसत्रं ब्रह्मयज्ञं ब्रह्मविचारलक्षणो यज्ञो जनलोकेऽभवदित्यर्थः ॥ ९ ॥

यत्र श्वेतव्दीपे ब्रह्मणिश्रुतयः शेरते अन्यबोधकत्व व्यपारमन्तरेण तद्गुण बोधनपरा एव सन्ति तं श्वेतद्वीपं त्वयि गतवति ब्रह्मवादः सम्प्रवृत्त इत्यन्वयः ॥ १० ॥

**[1]तत्र हायमभूत्प्रश्नस्त्वं मां यमनुपृच्छसि। ★ परिहारांश्च तान्सर्वान् वक्ष्येऽहं शृणुतेऽनघ ॥**

**तुल्यश्रुततपश्शीलास्तुल्यस्वीयारिमध्यमाः। अपि चक्रुः प्रवचनमेकं[2] शुश्रूषवोऽपरे ॥ ११ ॥**

**सनन्दन उवाच**

**स्वसृष्टमिदमापीयशयानं सह शक्तिभिः ।**

**तदन्ते बोधयाञ्चक्रुस्तल्लिङ्गैश्श्रुतयः परम् ॥ १२ ॥**

**यथा शयानं सम्राजं वन्दिनस्तत्पराक्रमैः ।**

**प्रत्यूषेऽभ्येत्यसुश्लोकै र्बोधयन्त्यनुजीविनः ॥ १३ ॥**

**श्रुतय ऊचुः**

**जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुण[3] त्वमसि यदत्मना समवरुद्धसमस्तभगः ।**

**[4]अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते क्वचिदजयाऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः ॥ १४ ॥**

**बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया यत् [6-]उदयास्तमयौ विकृतेर्मृति वाऽविकृतात्[-6] ।**

**अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरतं कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम् ॥ १५ ॥**

1 M.Ma. तत्रात्यय° ★ This half verse is not found in G.J.M.Ma. Edns. 2 .K.Ml.V. न रा° 3. B.G.J.Ml.V. गुणां 4. M.Ma. अज° 5- -5 M.Ma. °नानुचर° 6- -6 M. Ma. उदगास्तमस्यविकृते विकृतः।

**श्रीध०** ननु सर्वज्ञास्ते, कस्तत्र वक्ता प्रष्टा वा तत्राह - तुल्यश्रुतेति। तुल्यश्रुतादिभिः अविशेषा अरिमित्रोदासीन तुल्यत्वेन निरुपमकरुणाः, अतः सर्वे प्रवचनयोग्या अपि केनापि कौतुकेनैकं प्रवक्तारं कृत्वाऽन्ये पप्रच्छुरित्यर्थः ॥ ११॥

स्वसृष्टमिति। स्वयं निर्मितमिदं विश्वं प्रलयसमये आपीय संहृत्य शयानं योगेन निद्राणमिव वर्तमानं तदन्ते प्रलयान्ते तल्लिङ्गैः तत्प्रतिपादकैः वाक्यैः परमीश्वरं सृष्टिसमये प्रथमनिश्वासभूताः श्रुतयः प्रबोधयामासुः ॥ १२ ॥

यथेति। सुश्लोकैः शोभनाः श्लोकाः कीर्तयो येषु तैः पराक्रमैः ॥ १३ ॥

जयजयेति। भो अजित! जय जय उत्कर्ष माविष्कुरु। आदरे वीप्सा। केन व्यापारेण? अगजदोकसां, अगानि स्थावराणि जगन्ति जङ्गमानि च ओकांसि शरीराणि येषां जीवानां तेषामजामविद्यां जहि नाशय। ननु किमिति गुणवती हन्तव्येत्यत आह - दोषगृभीतगुणाम्। दोषाय आनन्दाद्यावरणाय गृभीता[3] गृहीता गुणा यया ताम्। 'हग्रहोर्भश्छन्दसि' (अष्टा. 3-1-84) इति भकारः। इयं हि स्वैरिणीव पर प्रतारणाय गुणान् गृह्णात्यतो हन्तव्येति। तर्हि मय्यपि दोषमावहेदिति ममापि अविद्यादमने[4-4] का शक्तिः स्यादत आह - त्वमिति। यद्यस्मात्त्वमात्मना स्वरूपेणैव समवरुद्धसमस्तभगः सम्प्राप्त समस्तैश्वर्योऽसि। वशीकृतमायत्वादिति भावः। ननु स्वयमेव ते ज्ञानवैराग्यदिना किं न हन्युरित्यत[5] आह - अखिलशक्त्यवबोधकेति। तेषां त्वमेवान्तर्यामी सर्वशक्त्युद्बोधकः। अतो न ते ज्ञानादौ स्वतन्त्रा इति भावः। नन्वहमकुण्ठ ज्ञानैश्वर्यादि गुणो जीवानां कर्मज्ञानादिशक्त्यवबोधनेनाविद्यां हन्मीत्यत्र किं प्रमाणमिति चेत्, अहमेव प्रमाणमित्याह - निगमो वेदः। नन्वेवम्भूते मयि कथं श्रुतीनां प्रवृत्तिः तत्राह - क्वचिदिति। क्वचित् कदाचित्सृष्ट्यादि समयेऽजया मायया चरतः क्रीडतो नित्यं चालुप्तभगतया सत्यज्ञानानन्तानन्दैकरसेनात्मना च चरतो वर्तमानस्य तव[9] निगमोऽनुचरेत्प्रतिपादयेत्। कर्मणि षष्ठी। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्ति.उ 3-1) 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। 'तमुह देवमात्मबुद्धि प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' (श्वेता.उ. 6-18) 'य आत्मनि तिष्ठन्' (बृह.उ.3-7-22) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्ति.उ 2-1-1) 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुण्ड.उ.1-1-9) इत्यादि निगम कदम्बस्त्वामेवम्भूतं प्रतिपादयतीत्यर्थः। 'जय जयाजित जह्यगजङ्गमावृत्तिमजामुपनीतमृषागुणाम्। न हि भवन्तमृते प्रभवन्त्यमी निगमगीतगुणार्णवता तव' ॥१॥ ॥ १४ ॥

ननु कथं मामेवं प्रतिपादयन्ति यत 'इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा'(ऋग्वे.1-32-15A) इत्यादिभिः इन्द्रो यातो जङ्गमस्यवसितस्य स्थावरस्य च राजेति प्रतिपाद्यते, तथा 'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुद्' (ऋग्वे.8-44-15A) इत्यादिभिः च एवम्भूतत्वेनाग्न्यादयः

प्रतिपाद्यन्ते, तत्राह - बृहदुपलब्धमेतदिति। अयमर्थः - एतदुपलब्धं दृष्टमिन्द्रादिसर्वं बृहद्ब्रह्म त्वमित्ये[11] वावयन्ति जानन्ति। कथम्? बृहत एवावशेषतयाऽवशिष्यमाणत्वेन। कुतः - यतो बृहतः सर्वस्यो दयास्तमयावुत्पत्तिलयौ, सर्वोपादानत्वात्। तर्हि किं विकारित्वं बृहतः। न अविकृतात् । विवर्ताधिष्ठान त्वेनाविकारादित्यर्थः वा शब्दः उपमार्थः। यथा घटादेर्विकृतेर्मृदि उदयास्तमयौ तद्वत्। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छन्दो. उ. 6-14-1) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छन्दो.उ. 3-16-1) इत्यादिभिस्तथा प्रति पादनादित्यर्थः। अतः कारणादृषयो मन्त्रास्त द्वष्टारो वा त्वय्येव मनोवचनाचरितं दधुः, मनसा आचरितं तात्पर्यं वचनाचरितमभिधानं च धृतवन्तः। [12-]मनसा त्वामेव ध्यायन्ती, वचसा त्वामेव निरूपयन्तीत्यर्थः[-12]। न पृथग्विकारेष्विति भावः। अत्र निदर्शनम् - कथमयथेति। नृणां भूचराणां यत्र कुत्रापि दत्तानि निक्षिप्तानि पदानि भुवि कथमयथा भवन्त्यदत्तानि भवन्दि। अतो यथा मृत्पाषाणेष्टकादिषु दत्तानि पदानि भुवं न व्याभिचरन्ति तथा यत्किमपि विकारजातं वदन्तो वेदास्त्वामेव सर्वकारणं परमार्थभूतं प्रतिपादयन्तीत्यर्थः। 'द्रुहिणवद्धिरवीन्द्रमुखामरा जगदिदं न भवेत्पृथगुत्थितम्। बहुमुखैरपि मन्त्रगणैरजस्त्वमुरुमूर्तिरतो विनिगद्यसे'॥ २ ॥ ॥ १५ ॥

1. B.J. हीनत्वेन 2. Ml.V. प्रसूताः 3. B.J Omit गृभिता 4- -4 B.J. तत्र 5. Ml.V. °रिति तत्राऽऽह। 6. B.J. द्या हन्तत्यत्र 7. B.J. Omit किंचित् 8. Ml.V. °नानन्दैक° 9. B.J.Omit तव 10- -10 Ml.V. °दीनां प्रतिपादनाच्य इति। 11. Ml.V.Omit त्वम् 12- -2 B.J.Omit 13. B.J. °त्यर्थः।

**वीर०** तत्रेति। हेति हर्षे आश्चर्ये वा, ऋषिभिः कृत एव प्रश्नस्त्वया कृतः, अहो तव बुद्धिकौशलमिति मां प्रति यं प्रष्टव्यमर्थमनुपृच्छसि स तदर्थ विषयकः प्रश्नः अभूत् प्रवृत्तः तथा परिहारश्च, तान् तत्र प्रवृत्तान् प्रश्नपरिहारान् सर्वानहं हे अनघ! ते तुभ्यं वक्ष्ये, शृणु। ननु कस्तत्र वक्ता बभूव? के वा श्रोतारः? किं वा ब्रह्मसत्रस्य लक्षणम्? इत्यत आह - तुल्येति। यद्यपि सर्वे श्रुतं शास्त्रजन्यं ज्ञानं तपः अनशनादि, यद्वा 'तपआलोचने' इति धातोः रूपं तप इति ब्रह्मोपासनात्मकं ज्ञानमित्यर्थः। शीलं तदुपयुक्ता सद्वृत्तिः आराधनाद्यात्मक स्वभावश्च, तुल्यान्येतानि येषां ते, तुल्याः, स्वीयाः अरयो मध्यमाः उपेक्ष्याश्च येषां ते, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति शान्त उपासीत' (छान्दो. उ. 3-14-1) इत्युक्त विधसर्वात्म ब्रह्मोपसननिष्ठत्वात् स्वीयादिरहिता इत्यर्थः। अनेन सर्वेषामपि प्रवचनसामर्थ्यं सूच्यते,अपि तथापि प्रवचने एकं चक्रुः सनन्दनं प्रतिवक्तारं चक्रुः इत्यर्थः। अपरे सनकादयस्सर्वे शुश्रूषवो बभूवुरिति शेषः। एतदेव ब्रह्मसत्रं नाम, यत् सर्वेऽप्यधिगत परमात्मयाथात्म्या अपि एकं प्रवक्तारं कृत्वा अन्ये तु तूष्णीं शुणुयुरिति भावः ॥ ११ ॥

प्रश्नस्तु त्वत्कृत एवेत्यभिप्रेत्य तमनु क्त्वैव सनन्दनोक्तमुत्तरमाह - स्वसृष्टमित्यादिभिः। अत्र स्वविवक्षितमुत्तरं श्रुतिगीत्या संवादयितुं प्रस्तौति सनन्दनः स्वसृष्टमिति द्वाभ्याम् स्वेन आत्मना सृष्टमिदं चिदचिदात्मकं जगदापीय संहृत्य शक्तिभिः

सूक्ष्मावस्थामापन्नाभिः प्रकृतिपुरुष कालत्मिकाभिस्सह शयानं निद्राणमिव वर्तमानं प्रकृति पुरुषादीन् स्वस्मिन्विभागानर्हान् कृत्वा निरवधिक स्वानन्दानुभवपरं परमपुरुषं तदन्ते प्रलयान्ते सृष्ट्यादौ इत्यर्थः। श्रुतयः तन्निश्वासरूपाः मूर्तिधराः वेदाः, यद्वा वेदाभिमानिनो देवाः, तल्लिङ्गैः परमपुरुषासाधारण धर्मप्रकाशकैः वचोभिः बोधयाञ्चक्रुः प्रबोधयन्त्य इव तुष्टुवुरित्यर्थः ॥ १२ ॥

तत्र दृष्टान्तमाह - **यथेति**। अनुजीविनो भृत्याः वन्दिनः स्तुतिपाठकाः प्रत्यूषे प्रभाते अभ्येत्य आगत्य शोभनाः श्लोकाः येषु तैः तस्य सम्राजः पराक्रमैः पराक्रमप्रकाशकैः स्तोत्रैःबोधयन्ति, तद्वत् ॥ १३ ॥

वेदपुरुषमुखनिर्गलितानष्टाविंशति सङ्ख्याकान् श्लोकानाह - जयजयेत्यादि। जयजयेत्यादरेद्विर्भावः। जय उत्कर्षं प्राप्नुहीत्यर्थः। ननु स्वभावत एव निस्समाभ्यधिकस्यानवाप्तः को वा प्राप्य उत्कर्ष इत्यत आहुः। अजामिति। अजां प्रकृतिं जहि नाशय त्याजयेत्यर्थः। त्वयिप्रलीनानां सर्वेषां जीवानां संसृतिनिदान भूतप्रकृति सम्बन्धं त्याजयता त्वया कारुण्यातिशयावहः कश्चिदुत्कर्षः अभूतपूर्व एव प्राप्यत इति भावः। नन्वहमपि प्रकृतिवश्यः, तत्कथमजां त्याजयामीत्यतस्सम्बोधयन्ति - अजितेति। सर्वान् जितवत्या प्रकृत्याप्यजित वशीकृतप्रकृते इत्यर्थः। नन्वनादितया सा अपराधिनां जीवानां कथं त्याजयितव्येत्यतस्सम्बोधयन्ति - दोषगृभीत गुणेति। सत्स्वपि दोषेषु गृभीतो गृहीतो गुणो यादृच्छिक प्रासङ्गिकानुषङ्गिकाद्यन्यतमो येन तथाभूत, सापराधजनेष्वपि कस्यचित् गुणलेशोऽस्ति चेत् तमपेक्ष्यानुग्रहशीलः त्वम् इत्यर्थः। गृभीतेत्यत्र 'गृहेर्भश्छन्दसि' इति भकारादेशः। दोषगृभीतगुणामिति पाठान्तरम्। तदा ननु कुतः प्रकृतेः भोग्यभोगोपकरणादि रूपायाः महागुणवत्त्याः त्याजनं प्रार्थ्यत इत्यतः तां विशिंषन्ति - दोषाः जीवानां दोषावहाः गृभीताः गुणाः सत्त्वरजस्तमोरूपाः यया तां, निष्ठान्तस्य पूर्वनिपाताभाव आर्षः। जीवानां संसृतिनिदान भूत गुणाश्रयत्वात्तां जहीत्यर्थः। ननु त्यजनोप युक्त ज्ञान शक्त्यादि रहितोऽहं कथं हापयेयम् इत्यत आहुः - यद्यस्मात्त्वमात्मना स्वत एव समवरुद्धः स्वीकृतः अशेषः भगो येन सः तस्माज्जहीत्यर्थः। 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसश्श्रियः। ज्ञानवैराग्यौश्चैव षण्णां भग इतीरणा' (विष्णु.पु. 6-5-74) इति विष्णुपुराण वचनात् - भग शब्दार्थोऽवगन्तव्यः। असंकुचित ज्ञानैश्वर्यशक्तिमत्वात् वात्सल्यसागरत्वाच्य मोचयितुं क्षमः, अतो जहीति भावः। ननु य एव प्रकृतिसम्बन्धापादकः स एव त्याजयितुं प्रभुः। नत्वहमित्याशङ्कायां त्वमेव प्रकृतिपुरुषकाल शरीरकत्ववेषेण सर्वकारणतया तत्सम्बन्धापादक इति द्योतयितुमनुद्बुद्धसामर्थ्यानां प्रकृत्यादीनां परमात्म विशेषणतावेषेणापि कार्याक्षमत्वादन्यथा प्रलयानापत्तेश्च तेषां स्वस्वकार्योन्मुख्य सामर्थ्योद्बोधकः त्वमेवेत्यभिप्रेत्य सम्बोधयन्ति-अगजगदोकसामखिल शक्त्यवबोधकेति। अगानां स्थावराणां जगतां जङ्गमानां शरीराणां चराचरात्मकशरीररूपेण करिष्यमाणानां प्रकृतिगुणानामित्यर्थः। ओकसां तादृशशरीराश्रयीभविष्णूनां जीवानां च अखिलश्शक्तयः स्वस्वकार्योन्मुख्यरूपाः तासामवबोधक उद्बोधक तत्र

जीवशक्तुद्बोदकत्वं नाम चिच्छक्त्युद्बोधकत्वं, तेषां प्रलयदशायां अनुद्बुद्धचिच्छक्तिकत्वात्। अत एव सर्वकारणतया सर्वकार्यानन्यं त्वामेव वेदोऽभिदधातीत्याहुः - क्वचिदिति। अजया आत्मना चेति सहार्थे तृतीया, साहित्यं च विशेष्य विशेषणभावेन, तदयमर्थः - अजया आत्मना च प्रकृति पुरुषाभ्यां विशिष्टस्य त इति कर्मणश्शेषत्व विवक्षया षष्ठी। चरतः जगदाकारेण परिणम्यमानस्य तावदधितिष्ठितश्चेत्यपि विवक्षितं, निगमः चिदचिद्वाचिराब्दसमुदायात्मको वेदभागः अनुचरेत् अनुवर्तेत, त्वामेवाभिदध्यादित्यर्थः। अनेन 'कथं चरन्ति श्रुतयः' इति प्रश्नस्योत्तरमुक्तं भवति। कारणत्वं चिदचिद्विशिष्टताकारेणेति च। तथा मोक्ष प्रदत्वं तदौपयिकगुणपूर्णत्वं शास्त्रप्रमाणकत्वं च। अगजगतोकसां स्थावरजङ्गमशरीराश्रयाणां सर्वेषां जीवानाम् अजां जहीति वा सम्बन्धः, जीवानामित्यनुक्त्वा अगजगदोकसामित्युक्तिरासन्नसृष्ट्यभिप्रायिका। एतत्स्तुति प्रवृत्तिकाले स्थावरजङ्गमात्मक शरीराणामभावात्, निगमोऽनुचरेदिति पारोक्ष्यनिर्देश्यः स्तुतेस्संसारिजीवगतत्वाभिप्रायकः, क्वचिदजयाऽऽत्मना च चरतोनुचरेन्निगमः इत्यनेन प्रकृति सम्बन्ध मोचकत्व नियततत्सम्बन्धापादकत्वज्ञापनाय सर्वकारणत्वं तस्य निर्विकारेऽनुपपन्नत्वात्तस्मिन् चिदचिद्वैशिष्ट्यं विशिष्ट कारणत्वादेव विशिष्टकारणानन्यत्वा च्छरीरात्म भावाच्च कार्यशरीरभूतचिदचिद्वाचि शब्दानां विशेष्यात्मपर्यन्ताभिधायकत्वं चोक्तम् ॥ १४ ॥

अथ कार्यकारणयो रनन्यत्वं दृष्टान्त मुखेनोपपाद्य कारणत्वनियतमुमुक्षूपास्यत्वमाहुः - बृहदिति। अवशेषतया ब्रह्मणस्सर्वोपसंहारेण व्यवस्थिततया जगत्कारणत्वादुपलब्धं सृष्टिकाले आविर्भूतमुत्पन्नमेतज्जगत् बृहत् ब्रह्मेत्यवयन्ति आमनन्ति। 'सन्मूलास्सोम्येमास्सर्वाः प्रजास्सदायतना स्सत्प्रतिष्ठाः' 'एतदात्म्यमिदंसर्वम्' (छान्दो.उ. 6-8-7) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दो.उ. 3-14-1) इत्यादयो वेदान्ता अवगमयंतीत्यर्थः। अवत्यत्त्यवशेषतयेति पाठान्तरं, तदा उपलब्धमुत्पन्न मेतज्जगत्स्थितिकाले अवति रक्षति, अन्तकाले अत्ति संहरति, ततोऽवशेषतया कारणत्वाद्बृहदेवेदं जगदिति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' (छान्दो.उ. 3-14-1) इतिवत् सहेतुको निर्देशः, एतदुपपादयन्ति - यस्य विकृतेः कार्यस्य यत इति पञ्चमीसप्तम्यर्थयोः सार्वविभक्तिकस्तसिः। यत उदय उत्पत्तिः यस्मिंश्च लयः सा विकृतिः तत् कारणात्मिका ततोऽनन्या मृदिवाविकृता, यथा तावदविकृता पिण्डाकारा मृत् घटशरावादिरूपविकृता तदनन्या तद्वत्, अविकृतादिति पाठान्तरम्। तदा अविकृताद्यतो यस्माद्विकृतेः कार्यस्योदयास्तमयौ सा विकृतिस्तदनन्या मृदिव यथा तावदविकृतान्मृत्पिण्डादुदिता घटशरावादिरूपा मृत् तदनन्या तद्वदित्यर्थः। 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्' (छान्दो.उ. 6-1-4) इत्यादिका श्रुतिरिहानुसन्धेया। तत्र हि घटेन जलमाहरेत्यादि वाग्व्यवहारपूर्वकजलाहरणादि कार्यार्थं मृत्पिण्डस्य घटादिनाम कम्बुग्रीवादिरूपविकार संस्पर्शमभिधाय मृत्पिण्डस्य तद्विकारघटादेश्च अनन्यत्वमुक्तम् अतः सर्वकारणत्वात् त्वयि ऋषयो मनोवचनाचरितानि

ध्यानस्तुतिचेष्टितानि अदधुः। त्वामेव निदध्युः तुष्टुवुः त्वदर्थम्[4] अचेष्टन्त चेत्यर्थः। तत्र सदृष्टान्तं हेतुमाहुः - कथमिति? आकाशे विहितानि पदानि यथा मोघानि भवन्ति, पतनस्यावर्जनीत्वात् भुवि निहितानि नृणां पदानि तु कथमयथा भवन्ति, कथं मोघानि भवन्ति? मोघानि न भवन्त्येव पश्चात्पतनाभावात्। एवं मनोवाक्कायचेष्टितानि त्वदाराधनरूपाणि अमोघानि संसारिक तापनिवारकाणि, अन्यविषयाणि, ध्यानादीनि तु न तन्निवारकाणि, प्रत्युत पतनावहानि, अतः त्वय्येव दधुरित्यर्थः। यद्वा-एवं जगत्कारणत्वेन त्वदनन्यत्वाज्जगद्विषयास्सर्वे वैदिकाश्शब्दाः तात्पर्यतश्शक्त्या च त्वय्येव वर्तन्त इत्याहुः- अत इति। ऋषयो वेदाः 'तदुक्तमृषिणा' (एत.उ. 4-5) इत्यादौ ऋषिशब्दस्य वेदे प्रयोगात्, मनोवचना चरितं मनस आचरितं तात्पर्यं वचनाचरित मभिधानं च त्वय्येव दधुः धृतवन्तः। ननु तत्तदर्थविषयाणां कथमभिधायकत्व मित्याशङ्कायां दृष्टान्त मुखेन तदुपपादयन्ति - कथमिति? प्रसाद पर्यङ्कादिषु दत्तानि विहितानि नृणां पदानि कथं भुवि अयथा अदत्तानि भवन्ति प्रासादपर्यङ्कादिधारकत्वात् तस्यामेव यथा दत्तानि भवन्ति। एवं प्रतिपुरुषान्तरात्मतया तद्गतनामरूपनिर्वाहकत्वात् त्वयेव तत्तदर्थशरीरके निर्वाहके च वेदा वर्तन्त इत्यर्थः। अपृथक्सिद्धविशेषण वाचिशब्दानामकृत्यधिकरणन्यायेन विशेष्यपर्यन्तभिधानं मुख्यमेवेत्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

1. K.T.W Omit वचोभिः 2. K.T.W. करण° 3. K.W. °त्कारणिका 4. B.T.W. °दर्थे

**विज०** कथमत्राह - **तत्रेति**। मुनयः कीदृशा इत्यत्राह - तुल्येति। अरिः शत्रुः। एकं प्रवचनं प्रकृष्टं वचनं यस्य स तथा प्रवक्ता व्याख्यातेत्यर्थः। तम् अपरे शुश्रूषवः श्रोतारः योऽत्र प्रवर्तता स श्रेष्ठ इत्यत्र तात्पर्यं ज्ञातव्यम्। 'सनकाद्याः समाः सर्वे तत्र श्रेष्ठः कुमारकः' (ऋक्संहितायाम्) इति वचनात् ॥ ११ ॥

स एकः कथं प्रवोचदत्राह स्वसृष्टमिति। ब्रह्मलये स्वसृष्टमिदं जगदापीय संहृत्य शक्तिभिः श्रीभूदुर्गाख्याभिर्विभक्त प्रकृति मूर्तिभिः सह शयानं योगनिद्रां कुर्वाणं परं परमात्मानं तदन्ते ब्रह्म प्रलयावसाने श्रुतयस्तल्लिङ्गैः संसार निर्मूलनादि ब्रह्मलक्षणैः बोधयाञ्चक्रुरित्यन्वयः। अत्र इदं तात्पर्यम् - मूलप्रकृतिः श्री भूरूपाभ्यां विष्णुना सह शेते। श्रुतिनाम्ना दुर्गारूपेण विष्णुं स्तौति - जय जयेति। पुंशक्तिविषयबोधनवचनं दुर्गाख्याया अपि, तादृक्शक्तिमत्वात् तदर्थत्वेन भगवदाज्ञया गृहीतविग्रहत्वाच्च श्रुतीनामनन्तत्वे नाधिगन्तुं अशक्यत्वात् दुर्गानाम्नोपि तथात्वाच्च। कालीभद्रेत्यादि बहुरूपत्वप्रतीतेश्च श्रुतेश्चा नन्तत्वेन वाक्ये भेदा च्छ्रुतय इति बहुवचनं च युज्यते। तदुक्तम् - 'श्रीर्भूर्मीरिति रूपाभ्यां प्रकृतिर्विष्णुना सह। शेते

श्रुति स्वरूपेण स्तौति ब्रह्मलये हरिम्'। एकाप्यनन्तरूपा सा वाक्यभेदात् सरस्वती। अनादि निधना नित्या स्तौति नारायणं प्रभुम्॥ (ज्योतिस्संहितायाम्) इति। अनेन इदं पौरुषेयं वाक्यत्वादितर वाक्यवदिति प्रयुक्तम्। 'यावद्ब्रह्मविष्ठितं तावतीवाक्' इति श्रुतेः। त्रिरूपायाः रमायाः शक्तिशब्दाभिधेयत्वं वैदापरपर्यायाः शक्तेश्चेतनाभिधेयत्वं विष्णोः स्वरूपभूतशक्तेः शक्यत्वगुणयोगेन युज्यते। नित्याव्यधानात् इति विशेषशक्तित्वाच्य 'विष्णोः स्वरूपशक्तेः सा शक्यत्वाच्छक्तिरेव तु नित्या। व्यवहितत्त्वात्तु विशेषा च्छक्तिनामिका' (तन्त्रभागवते) इति वचनात् सामान्य वाचिनोऽपि शक्ति शब्दस्य विशेषनिष्ठत्वं पङ्कजादि शब्दवद्युज्यते पङ्काज्जातं पङ्कजमिति शैवलादिषु वृत्तिसम्भवेऽपि पद्मे एव वर्तते। विप्रादावपि ब्रह्मशब्दस्य वृत्तियोगेपि चतुर्मुख एव। रुद्रशब्दस्य रौद्रगुणयोगे नातपे वृत्तावपि शङ्कर एव। आदित्य शब्दस्य अदितिपुत्रसामान्य वाचित्व सम्भवेऽपि सूर्यएव इत्याद्यूह्यम्। 'यथैव पङ्कजं ब्रह्मा रुद्र इत्यादिकं पदम्' (तन्त्रभागवते) इति वचनात्। उमादीनामपि प्रकृतिशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्धेः कथम् उच्यते अपर प्रकृतित्वं तासां लक्ष्म्या एव परम प्रकृतित्वं, तदुक्तम् - 'श्रीः परा प्रकृतिः प्रोक्ता ब्रह्माणीत्ववरा ततः। उमा शचीमुखास्तस्याः अवराः सम्प्रकीर्तिताः' (महातत्त्वविवेके) इति ॥ ११ ॥

नित्यबुद्धस्य हरेः कादाचित्कबोधनं विडम्बनमात्रं न तु सत्यमिति हृदि कृत्वा लौकिक मतमनुसरति -यथेति। अनुजीविन इत्यनेन वेदान्तानां तदेकनिष्ठत्वं सूच्यते। राजवज्जय शब्दाद्या नित्यबुद्धस्य बोधनं विडम्बमात्रं केवास्य निद्रा विद्यापतेर्हरेरिति च ॥ १२,१३ ॥

श्रुतयोऽपि लक्ष्मीविभूतयः पुराणस्य स्त्री शूद्रादिश्रुतिगोचरत्वेन श्रुत्यर्थ एव गृह्यते न तु शब्द इत्यभिप्रेत्य कथितं श्रुतय ऊचुरिति - जय जयेति। नित्यविजयाधिकरणस्य हरेर्लोटैष्यत्काल विजयो नाशास्यते किन्तु विजयप्रकाशनं भक्तानुकम्पित्वेन जयं प्रकाशयेत्यर्थः सर्वदा जयतो विष्णोर्जयस्तस्य प्रकाशनमित्यादि अत्र राजवद्विशां जयो न प्रार्थ्यते। किन्तु दुस्तरं प्रकृत्यादेः इति आशयेनाह - जहीति। हे अजित। दोषैः जन्म दुखाज्ञानादिभिरानन्दज्ञानादयो जीवगुणा गृहीताः संवृता यथा सा दोषगृहीतगुणा तामजां 'अजगतिक्षेपणयो' इति धातोः जीवगुणाक्षेपिकां जहि हन तथा परमाच्छादिकां जहि गमय अपसारयेति यावत्। एते अपि प्रकृतिशब्दवाच्ये 'अथान्ये प्रकृती दुष्टे नृषु प्रातिस्विकं स्थितम्' (महातत्त्वविवेके) इत्यादेः। एतेन "जयजयेत्यारभ्य संवृताधिसंवृता" (शण्डिल्यश्रुतिः) इत्यन्ता श्रुतिर्गृहीता। अरतिं तन्द्रीं प्रकृत्याच्छन्नत्वाविशेषाज्जीवात्मनोः को विशेष इति तत्राह - त्वमसीति। त्वं यद्यस्मादात्मना स्वत एव सं अभिन्नोऽत एवावरुद्धः अनपगतः समस्तः पूर्णो भग ऐश्वर्यादिगुणो यस्य स तथा अनपगतपूर्णैश्वर्यादिगुणोऽसीत्यर्थः। 'भगो योन्यां भगोयत्ने यशोवीर्यार्कभूतिषु। कान्तीच्छाज्ञानवैराग्यधनैश्वर्य तपस्सु च' (वैज. को.6-5-58) इति यादवः। अतः

त्वत्प्रतिबिम्बभूतस्य जीवस्य प्रकृत्याच्छादितत्वात् त्वत् प्रसादमन्तरेणैश्वर्याद्या गुणाः न प्रकाशन्ते। अनेन ह्येषहि आनन्द इत्यारभ्य स्वतोसि त्वमित्यन्ता गृहीता। इतोऽपि विशेषोऽस्तीत्याह - अजेति। अज हे विष्णो जगदोकसां जगदाश्रयभूतानां श्रीब्रह्मादीनां सृष्ट्याद्यखिलशक्त्यबोधक रमाया इत्यारभ्य अनन्तोसीत्यन्ता अनेन सूचिता। इदानीं गुणवृत्तयः श्रुतयः निर्गुणे ब्रह्मणि कथं चरन्तीत्यस्य परिहारमाह - क्वचिदजयेति। विगमः तत्त्वनिश्चायके वेदः क्वचित्सृष्टिकाले आत्मना जीवेन अजया प्रकृत्या च अनुचरतः प्रवर्तमानस्य ते तवानुचरेत् चित्तानुवर्तित्वेन विधिनिषेधरूपेण वर्तते हरेस्तदगोचरत्वाल्लये केवलं स्तुतिरूपेण जीवानां निर्देहकत्वेन तत्प्रयोजनको नेति शेषः। 'लयस्य त्वष्टमो भागः सृष्टिकाल उदाहृतः। 'तत्रैव वेदसञ्चारो ह्यन्यदा स्तुतिमात्रकाः' (नारदीये) इति स्मृतिः। यस्माद्विधिनिषेध विषयो जीवः तस्मात् सृष्टिं कृत्वा वेदैः जीवान्बोधयित्वा तदुक्तमनुष्ठाय स्वज्ञानमुत्पाद्य त्वं प्रसन्नः तत्स्थां पिशाचवद्वर्तमानां अजां प्रकृतिं जहीति। अनेन सृष्टिकाल एव गुणमये जगति वर्तमानाः सदा निर्गुणे परमेश्वर एव वर्तन्त इति प्रश्नपरिहारो दर्शितः। यजेत न हन्तव्य इत्यादि विधिनिषेधानां स्तुतिपरत्वं युक्तम्। कथं यत्प्राप्त्यर्थं यत् नियमाद्विधिनिषेधा वर्तन्ते। सत्वमजां जहीति योजनोपपत्तेः। 'विध्यादीनां नियन्ता यः पूज्यः प्राप्यश्च तद्वताम्' (श्रुतिनिर्णये) इत्यादि स्तुति रूपेण विध्यादिश्रुतयोऽपि तु 'हरिं वदन्ति सर्वेषां तन्नामत्वादथापि च' (श्रुतिनिर्णये) इति स्मृतेः। अस्य सृजतो हि त इति प्रभृति माते क्षणोऽत्यागात् इति पर्यन्तं मूलश्रुतिरियम्। हन हिंसायाम् इति धातुः। पृथक्श्रुतित्वान्न पूर्वापरसम्बन्धः उपलक्षणत्वा दनन्तत्वात् श्रुतीनां सर्वश्रुत्यर्थोपबृंहितत्वाच्य तेषां श्लोकानां न सर्वश्रुतीनां पृथगुक्तिः। 'सर्वश्रुत्यर्थ सम्पन्नान् श्लोकान् सत्यवतीसुतः एकैकशाखा श्रुत्यर्थान् जगौ सर्वोपलक्षणान् बबन्ध तान् भागवते प्रतिश्लोकं पृथक् श्रुतिः' (तन्त्रभागवते) इत्याचार्यैरवोक्तत्वान्नास्माभिः मिथः सम्बन्धार्थं प्रपञ्च्यते ॥ २॥१४ ॥

'बृहद्धि दृष्टमवशेषितं यत्स्वरूपमीशस्य तमोधिकस्य सर्वाधिकत्वेन तमो हि दुर्गा ततस्तथैनं विबुधा यथाऽगुरिति (औद्दालकायनश्रुतिः) औद्दालिकाय न श्रुत्यर्थनिबद्धोऽयं श्लोकः - बृहदुपलब्धमिति। तथाहि अविकृते तमसि 'तम आसीत्तमसागूहमग्र' (यजु. 2-8-9) इति श्रुतेः। नित्यतमो विषये त्वमुदगा उत्कृष्टत्वं गतः मूलप्रकृतेरपि त्वमधिकोऽसि यतः अतो बृहत्त्वेन बृह वृद्धाविति धातोः पूर्णत्वेन एतत्स्वरूपमुपलब्धम्। वेदेषु दृष्टं कथमत्राह - अवशेषतयेति। इत इदमधिकमितोपि इदमधिकतमिति सर्वाधिकत्वेन ततोऽधिकाभावेनावशेषितत्वेन परिशेष प्रमाणसिद्धित्वेनेत्यर्थः। 'स एष रसानां रसतमः परमपरार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथ' (छन्दो.उ.1-1-3) इति श्रुतिः। 'द्वितीयार्थे तृतीयार्थे पञ्चम्यर्थे च सप्तमी। चतुर्थ्यर्थे च संप्रोक्ताविषयेऽपि च तां विदुः'॥ (महाव्याकरणे) इति महाव्याकरणवचनात्। विषयपञ्चम्यौ युज्येते। कीदृशस्त्वम्? अविकृतः विकाररहितः अत ऋषयो ब्रह्मादि ज्ञानिनस्त्वं सर्वोत्तम इत्येतदर्थं पराणि त्वयि मनोवचनाचरितमित्येकवद्भावविवक्षयैकवचनम्। मनोवचनाचरितानि दधतामिति दधुः शिक्षां धृतवन्तः। पुंसां त्वयि तानि मन आदीनि कथ मयथा अतद्विषयाणि भवन्तीति दधुः। तत्र दृष्टान्तःनृणां पदं भूमौ निक्षिपामीति प्रवर्तमानानां दत्तानि

निहितानि पदानि यथा भूमेरन्यत्र न भवन्ति तथेत्यर्थः। जलवृक्षादेराधारशक्तिमत्त्वेऽपि भूम्यन्तर्भावान्न पृथगुक्तिः। अतः तथा बृहत्त्वेन दधुरिति वा। 'अतश्शब्दश्च हेत्वर्थे तथेत्यर्थे च वर्तते। उभयार्थे च भवति यथाशब्दविदो विदुः (शब्दनिर्णये) इति वचनात्। अनिर्देश्यमप्येकदेशेन निर्दिष्टं भवतीत्युक्तं कथमयथा भवन्तीत्यनेन यथा सर्वां भूमिमसञ्चरन्नत्येकदेश सञ्चारेण भूसञ्चारी भवति तथेति। 'निरपेक्ष बृहत्त्वस्य ज्ञानाज्ज्ञानं भवेत्परं बृहत्वमेव तु गुणैः सर्वैरुद्दिश्यते यतः' (मान्यसंहिताम्) इति मान्यसंहितायाम् ॥ १५ ॥

**इति तव सूरयस्त्वधिपतेऽखिललोकमल**
**क्षपणकथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः ।**
**किमुत पुनस्स्वधाम विधुताशय कालगुणाः**
**परमभजन्ति ये पदमजस्रसुखानुभवम् ॥ १६ ॥**

**दृतय इव श्वसन्तससुभृपो यदितेऽनुविधा**
**महदहमादयोऽण्यमसृजन्यदनुग्रहतः।**
**पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोन्नमयादिषु य**
**स्सदसदतः परं त्वमथयदेष्वशेषमृतम् ॥ १७ ॥**

**उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः**
**परिसर पद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम् ।**
**तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं**
**पुनरिह यत्समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥ १८ ॥**

**स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया।**
**तरतमश्चकास्स्यनलवत्स्वकृतानुकृतिः ।**
**अथ वितथास्वमूष्ववितथं तवधाम समं**
**विरजधियोऽन्वयन्त्यभिविपन्यव एकरसम् ॥ १९ ॥**

**स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं**
**तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंशकृतम्।**
**इति नृगतिं विविच्य कवयोनिगमावपनं**
**भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि निश्वसिताः ॥२०॥**

1--1. M.Ma. °वोच्छस° 2. K.Ml.T.V.W. °तृपो ; M. Ma हृदो 3. M.Ma धा 4--4 M. Ma. मोत्तममध्यमादिषु यस्तव सदसतः 5--5 M. Ma प्रथयेदवि° 6--6 M. Ma यर्हि वर्त्मनि सूक्ष्म 7--7 M. Ma °गाञ्च नन्दन पथाय 8. M. Ma भ 9. M.Ma अपि 10--10 M. Ma वितथोरु विधं मनसि निकट धियो नयन्त्यभिविपत्यतव 11. M. Ma धृतः स्व 12--12 M.Ma विमृशन्ति कवयो निगमावपनं यजन्त उपासते भव मध्यविनि°

**श्रीध०** त्वमेव सर्वनिगमगोचर इति सतां प्रवृत्त्या द्रढयति - इति तवेति। त्वमेव सर्वकारणत्वेन परमार्थ इति कृत्वा भोस्त्र्यधिपते त्रिगुणमायानटीनर्तक, सूरयो विवेकिनः तवाखिललोकमलक्षपणकथामृताब्धिं सकलजनवृजिननिरसनहेतुं कीर्तिसुधासिन्धुमवगाह्य निषेव्य तपांसि तपन्तीति तपांसि पापानि दुःखानि वा जहुस्त्यक्तवन्तः। त्वदीय कथामात्रेण यदा पापत्यागस्तदा किमु वक्तव्यं, ये पुनः स्वधामविधुताशयकालगुणाः स्वधाम्ना स्वरूपस्फुरणेनैव विधुतास्त्यक्ता आशयगुणा अन्तःकरणधर्मा रागादयः कालगुणा जरादयश्च यैस्ते, तथा हे परम! तवाजस्रसुखानुभवमखण्डानन्दानुभवं पदं स्वरूपं भजन्ति सेवन्ते तथाभूता दुःखानि त्यजन्तीति। 'तद्यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेतंविधुत पापं कर्म न श्लिष्यते' 'न कर्मणा लिप्यते पापकेन' 'तत्सुकृत दुष्कृते विधुनुते' 'एतदं ह वाव न तपति । 'किमहं साधु नाकरवम्' 'किमहं पापमकरवम्' (तैत्ति.उ.2-9) इत्यादि श्रुतेरित्यर्थः। 'सकलवेदगणेरित सद्गणस्त्वमिति सर्वमनीषिजना रताः। त्वयि सुभद्रश्रवणादिभिस्तव पदस्मरणेन गतक्लमाः' (श्रीधरीयश्लोकः) ॥ ३॥१६ ॥

'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये केचात्महनो जनाः' (ईश.उ.3) तथा 'न चेदवेदीर्महती विनष्टिः।' ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवोपयन्ति' (बृह.उ.4-4-14) इत्याद्याः श्रुतयः। असुर्येति श्रुतेरर्थः। ते प्रसिद्धाः लोकाः कर्मफलभूतदेवतिर्यङनरादिदेहाः असुर्याः असुषु रमन्त इति व्युत्पत्या असुराणां देहाभिमानिनां सम्बन्धिनः प्राप्या इत्यर्थः। ते कीदृशाः अन्धेन दृढेन तमसा आच्छादिताः ये के च ये केचित् आत्मानं ततस्वरूपभूत सत्यज्ञानानन्दतिरस्कारेण दुःखित्वाद्यारोपणेन च घ्नन्ति हिंसन्तीत्यात्महनः अविद्वांसः जनाः तान् लोकान् अभिगच्छन्ति प्राप्नुवन्ति। कर्मानुसारेण चेद्यादि इह मनुष्यजन्मनि पुरुषः नावेदीत् न विदितवान् तर्हि महती विनष्टिः विनाशः जन्ममरणपरम्परा अविच्छेदलक्षणा संसारगतिः इत्याद्याः श्रुतयः। पूर्वश्लोकोक्तोभयविधभजनहीनान्निन्दन्ति - दृतय इवेति। असुरभृतो नरा

यदि ते अनुविधा अनुविदधतीत्यनुविधा अनुवर्तिनो भक्ता इति यावत्। तर्हि श्वसन्ति जीवन्ति सफलजीवना भवन्ति। इतरथा दृतय इव भस्त्रा इव, वृथाश्वासा इत्यर्थः। नन्वभक्तानामपि कामादिफलमस्त्येव। नः कार्यकारणानुग्राहकत्वेन जीवनहेतोस्तवाभजने कृतघ्नानां तदपि न सिध्येदित्याशयेनाह-महदहमादय इति। महानहङ्कारश्चादिर्येषां ते। यदनुग्रहतो यस्य तवाऽनुप्रवेशेन लब्धसामर्थ्याः सन्तोऽण्डं देहंसमष्टिव्यष्टिरूपं सृष्टवन्तः। तत्र च पञ्चापि कोशानन्नमयादीनाविश्य[8] तत्तदाकारस्सन् यश्चेतयते स त्वं तदाह - पुरुषविध इति। पुरुषस्यान्नमयादेर्विधेव विधा आकारो यस्य स तथा। ननु चिदेकरसस्य कथं तत्तदाकारताऽत आह - अन्वयोऽत्रेति। अत्र एषु अन्नमयादिष्वन्वेतीत्यन्वयः। अतस्तत्तदाकारतेति। एवं तर्हि सत्यत्वमसङ्गत्वं च कथं तत्राह - चरमोऽन्नमयादिषु य इति। अन्नमयादिषूपदिश्यमानेषु यश्चरमो 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' (तैत्ति.उ.2-5) इति पुच्छत्वेनोक्तः स त्वमिति सम्बन्धः। ननु तथाप्यन्नमयादिष्वन्वितत्वेऽसङ्गत्वव्याहतिरेव स्यात् तत्राह - सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृषमृतमिति। सदसतः स्थूलसूक्ष्मादन्नमयादेः परं व्यतिरिक्तं तत्साक्षिभूतम्। अवशेषमवशिष्यति इत्यवशेषमबाध्यम्। अथात एव ऋतं सत्यम्। तर्हि किमर्थं तेष्वन्वय उक्तः, शाखाचन्द्रवच्छुद्धस्वरूपलक्षणार्थम्। तथा हि - 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयस्तस्येदमेव शिरः' (तैत्ति.उ.2-1-1) इत्यादिना स्थुलसूक्ष्मक्रमेण पञ्चकोशानुपदिश्य 'तस्य पुरुषविधताम् अन्वयं पुरुषविधः' (तैत्ति.उ.2-2) इति पुनः पुनः तत्तदन्वितत्वेनालक्ष्य 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' (तैत्ति.उ.2-5) इति सर्वसाक्षिणःशुद्धसत्त्वस्वरूपनिरूपणमित्यनवद्यम्। 'नरवपुः प्रतिपद्य यदि त्वयि श्रवणवर्णनसंस्मरणादिभिः। नरहरे न भजन्ति नृणामिदं दृतिवदुच्छ्वसितं विफलं ततः' ॥ ४ ॥१७ ॥

एवं तावत् सर्वात्मके परमेश्वरे सर्वश्रुतिसमन्वयेन सद्भजनीयत्वमुक्त्वा अभक्तनिन्दया च तदेव दृढीकृत्येदानीमनवगाह्यमहिमनि[12] प्रथमं तावदुपाध्यालम्बनमुपासनं 'उदरं ब्रह्मेति शार्कराक्षा उपासते हृदयं ब्रह्मेत्यारुणयो ब्रह्म हैवैत इत ऊर्ध्वं त्वेवोदसर्पत्तच्छिरोऽश्रयत'(ऐत.उ.1-4-1) इत्याद्याः श्रुतयो विदधतीत्याह - उदरमुपासत इति। ऋषिवर्त्मसु ऋषीणां सम्प्रदायमार्गेषु ये कूर्पदृशस्ते उदरालम्बनं मणिपूरकस्थं ब्रह्मोपासते ध्यायन्ति। शार्कराक्षा इति श्रुतिपदस्य प्रतिपदं कूर्पदृश इति। कूर्पं शर्करारणो विद्यते दृक्ष्वक्षिषु येषां ते तथा रजः पिहितदृष्टयः, स्थूलदृष्टय इति यावत्। उदरस्य हृदयापेक्षया स्थूलत्वात्। यद्वा कूर्पं सूक्ष्मम्। सूक्ष्मदृश इत्यर्थः। तदा हृदयस्थं सूक्ष्मेवालक्ष्य तत्प्रवेशाय प्रथममुदरस्थमुपासत इति भावः। आरुणयस्तु साक्षाद्धृदयस्थं दहरं सूक्ष्म अनाहत[13-] चक्रस्थ[-13] मेवोपासते। हृदयविशेषणं परिसरपद्धतिमिति। परितः सरन्ति प्रसर्पन्तीति परिसरा नाड्यस्तासां पद्दतिं मार्गं प्रसरणस्थानमित्यर्थः। विशेषणस्य फलमाह - तत इति। ततो[14] हृदयात् भो अनन्त, तव धामोपलब्धिस्थानं सुषुम्नाख्यं परमं श्रेष्ठं ज्योतिर्मयं शिरो मूर्धानं प्रत्युदगात् उदसर्पत्। मूलाधारादारभ्य हृदयमध्याद्ब्रह्मरन्ध्रं प्रत्युद्गतमित्यर्थः। कथम्भूतं धाम? यत्समेत्य प्राप्य पुनरिह कृतान्तमुखे मृत्युमुखे संसारे न पतन्ति। तथा च श्रुतिः - 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिस्सृतैका।

तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' [15-] अस्या श्रुतेरर्थः, शतं शतसंख्याकाः एका च सुषुम्ना नाम पुरुषस्यहृदयाद्विनिस्सृताः नाड्यः सिराः तासां मध्ये मूर्धानं भित्वा अभिनिस्सृता सुषुम्नानाम तया अन्तकाले आत्मानं वशीकृत्य यो जपेत् तया नाड्या ऊर्ध्वमुपरि आयन् गच्छन् आदित्यद्वारेण अमृतत्वं एति प्राप्नोति, विष्वङ् नानाविधगतयः अन्या नाड्यः उत्क्रमणे निमित्तं भवन्ति [-15] (कठ.उ.6-16) इति। उदरादिषु यः पुंसां चिन्तितो मुनिवर्त्मभिः। हन्ति मृत्युभयं देवो हृद्गतं तमुपास्महे ॥ ५॥ १८॥

नन्वीश्वरस्यापि तर्हि जीववदुदरहृदयादि सम्बन्धे तदनुप्रविष्टस्य च तारतम्ये सति केन विशेषेणोपास्यत्वमिति इमामाशङ्कां परिहरन्त्यः 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वेता.उ. 6-11) इत्याद्याः श्रुतयः स्तुवन्तीत्याह - स्वकृतेति। स्वयं कृतासु विचित्रासु उच्चनीचमध्यमासु योनिष्वभिव्यक्तिस्थानेषु कार्येषु देहादिषु हेतुतयोपादानतया प्रागेव विद्यामानत्वेन मुख्यप्रवेशासम्भवाद्विशन्निव वर्तमान स्तरतमतो न्यूनाधिकभावेन चकास्सि अवभाससे स्वकृता योनीरनुकरोतीति स्वकृतानुकृतिरनलवत्। अग्निर्यथा स्वतस्तारतम्यहीनोऽपि काष्ठानुसारेण [16-] न्यूनाधिक [-16] इव तथा तथा [17-] यथा उत्तमप्रकाशस्सविता द्युमण्डलमेकरूपेण प्रकाशेनापूरयन्नपि वर्षासु निकृष्ट प्रकाशइव प्रतीयते शरदि प्रकृष्ट [-17] प्रकाश इव तद्वत्। अथातो वितथासु मिथ्याभूतास्वमूषु योनिष्ववितथं सत्यं यतः सममविशेषमतः सत्यं तव धाम स्वरूपं विरजधियो निर्मलमतयोऽन्वयन्ति जानन्ति। अनु इति पृथक् पदं वा। अत्र हेतुः - अभिविपण्यव इति। अभितो विगतव्यवहारः। पण व्यवहार इत्यस्य रूपं पण्युरिति। ऐहिकामुष्मिककर्मफलरहिता इत्यर्थः। अविशेषत्वादेवैकरसं सन्मात्रमतस्तवोपाधिकृत तारतम्याभावादप्रच्युतैश्वर्यस्योपास्यत्वमिति भावः। 'स्वनिर्मितेषु कार्येषु तारतम्यविवर्जितम्। सर्वानुस्यूतसन्मात्रं भगवन्तं भजामहे' ॥ ६ ॥ १९ ॥

अपि च कुतो न्वियमाशङ्का स्यात् भगवतो देहाद्युपाधिकृतदोषप्रसङ्ग इति, यतोऽविद्याकामकर्मभिः संसरतो जीवस्यापि भगवद्भावं लक्षणया बोधयन्त्यस्तं दोषं निषेधयन्ति 'स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये'। स एकः। (तैत्ति.उ. 2-8) 'तत्त्वमसि' (छान्दो.उ. 6-8) इत्याद्याः श्रुतयः। ननु क्रत्वर्थस्यात्मनः स्तुतिरियमीश्वरत्वेन क्रियते, नतु तस्येश्वरत्वं बोध्यते, नैतद्युज्यते, यतस्तत्र 'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥' (श्वेता.उ.6-23) इत्याद्याः श्रुतयः, कृतावतारस्य भगवतश्चरणाम्भोजभजनोपायं वदन्तीत्याह - स्वकृतपुरेष्विति। स्वकर्मोपार्जितेषु पुरेषु देहेष्वमीषु नरादिषु भोक्तृत्वेन वर्तमानं पुरुषमखिलशक्तिधृतः सर्वशक्त्याश्रयस्य पूर्णस्य तवांशकृतं वदन्ति । अंश इवांशः, कृत इव कृतः। त्वद्रूपं वदन्तीत्यर्थः। ननु कार्यकारणसंवृतस्य कुत एवम्भूतत्वं तत्राह - अबहिरन्तरसंवरणमिति। बहिः कार्यम्। अन्तरं कारणम्। वस्तुतस्तदावरणशून्यम्। तयोः लिङ्गस्थूलयोः असत्त्वादित्यर्थः इत्येवं नृगतिं

नुर्जीवस्य गतिं तत्त्वं विविच्य विशोध्य कवयो भजनं विना इदं न प्राप्यत इति जानन्तो निगमावपनं निगमोक्त - कर्मणामावपनं आसमन्तादुप्यन्तेऽस्मिन् इत्यावपनं क्षेत्रं सर्वकर्मार्पणविषयमित्यर्थः। यत्रार्पितानि कर्माणि मुक्तिफलं फलन्ति तं भवतोऽङ्घ्रिमभवं भवनिवर्तकं विश्वसिताः कृतविश्वासाः उपासतेऽर्चनवन्दनादिभिः सेवन्ते। भुवीति मर्त्यलेके। इदमेवोचितमिति दर्शयन्ति - त्वदंशस्य ममेशान त्वन्मायाकृतबन्धनम्। त्वदङ्घ्रिसेवामादिश्य परानन्द! निवर्तय ॥ ७॥ २० ॥

1. B.J. मृगी 2. Ml.V. मुहुः 3. Ml.V. रमन्ति 4- -4 Ml.V. Omit 5- -5 B.J. Omit 6. Ml.v. °तृपः 7. B. J. Omit तव 8. Ml.V. add यप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया 9. B.J.Omit स्यात् 10. Ml.V. °वेद्य 11- -11 B.J. साक्षिशुद्धस्व° 12. Ml.V. म्र 13- -13 B.J. Omit 14. B.J. Omit ततः 15- -15 B.J. Omit 16- -16 B.J.Omit 17- -17 B.J. Omit 18- -18 B.J.Omit 19. B. J. °न्यथेदं

**वीर०** 'अत ऋषयः' इत्यादेः पूर्वयोजना। कैमुत्यन्यायेन भगवद्ध्यानस्य सांसारिकतापनिवर्तकत्वमाहुः - **इति तव सूरय** इति। द्वितीययोजनायां तु कारणत्वसमनियतमुमुक्षूपास्यत्वं कैमुत्यन्यायेनाहुः - इतीति। त्र्यधिपते! इति सम्बोधनम्। जगज्जन्मस्थितिविनाशनिर्वाहक, इतिर्हेतौ, अतस्सूरयो विवेकिनः तवाखिललोकमलक्षपणकथामृताब्धिम् अखिलानां लोकानां जनानां शृण्वतां वदतां च मलं पापं क्षपयति नाशयतीति तथा सा कथैवामृतं तस्याब्धिमवगाह्यैव तपांसि आध्यात्मिकादितापान् जहुः तत्यजुः किं पुनर्ध्यानपरा इत्याहुः - किमुतेति। हे परम! ये स्वधाम! स्वतेजः स्वविषयकं ज्ञानं, स्वशब्दः परमात्मपरः तेन विधुताः आशयगुणाः रागादिमनोवृत्तयः कालगुणाः जरामरणादयश्च यैस्ते अजस्रसुखानुभवं नित्यज्ञानानन्दात्मकं पद्यत इति पदं स्वरूपं भजन्ति समाधिना साक्षात्कुर्वन्ति, ते तपांसि जहतीति किंपुनर्वक्तव्यमित्यर्थः ॥ १६ ॥

अथ भगवद्भजनविमुखानां जन्मवैयर्थ्यमाहुः - **दृतय** इति। ते तव अनुविधाः अनुविधायिनः त्वदाश्रयणयोग्य जन्मभाजोऽपि इत्यर्थः। असुतृपस्त्वां विहाय केवलं यदि प्राणेन्द्रियतर्पणपराः शब्दादिविषयचपलाश्चेत् तर्हि दृतय इव उच्छ्वसन्ति दृतयश्चर्मभास्त्रिकाः, ता यथा वायुपूरिता उच्छ्वसन्ति तद्वत् कृतोच्छ्वासा इत्यर्थः। अनेन 'अत ऋषयो दधुः' इति आद्ययोजनायां 'कथमयथा भवन्ति' इत्यादिसूचितमन्यविषयध्यानादिमोघत्वं स्पष्टीकृतम्। ननु सति मम कारणत्वे तत्समनियतमुमुक्षूपास्यत्वसिद्धिः। कारणत्वमेव त्वनुपपन्नम्। अचेतनस्य प्रधानस्यैव महदहङ्कारादिरूपेण परिणामस्वभावस्य कारणत्वात्, तथाहि चेतनभोग्यभूतस्य सत्त्वरजस्तमोमयस्य वियदादिनामरूपविकारावस्थितस्य जगद्रूपस्य वस्तुनः कारणभूतं वस्तु तत्स्वभावमेवेति युक्तं गुणसाम्यावस्थं प्रधानमेव कारणमिति। अत एव कार्यकारणयोरनन्यत्वोपपादकमृदादिदृष्टान्तोपपत्तिरिति ईक्षत्यधिकरणपूर्वपक्षानुसारिणीं आशङ्कामभिप्रेत्य परिहारमाहुः - महदित्यादिना यदनुग्रहत इत्यन्तेन। यस्य तव अनुग्रहतः 'तदैक्षत बहुस्याम्' (छान्दो.उ. 6-2-3) इति ईक्षात्मकसङ्कल्पाल्लब्धसत्ताकाः येनानुप्रविष्टाश्च महदहङ्कारादयः अण्डमसृजन,

अचेतनस्य ईक्षात्मकानुग्रहासम्भवान्न तस्य कारणत्वमिति भावः। न च वृष्टिप्रतीक्षाश्शालय इतिवत् गौणानुग्रहसम्भवः। 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा' (छान्दो.उ.6-8-8) इति कारणस्यात्मत्वश्रवणात् स्यादेतत्, मा भूत्प्रधानं कारणं जीवस्तु भुवितुमर्हति, तस्येक्षासङ्कल्पानुग्रहापरपर्यायानुग्रह सम्भवात्, तथाहि - 'आत्मन आकाशस्सम्भूतः' (तैत्ति.उ. 2-1-1) इत्यात्मशब्देन कारणत्वं प्रकाम्य तस्य आत्मशब्दवाच्यस्य जीवातिरिक्तत्वशङ्काव्युदासाय प्रतिपर्यायं 'तस्यैष एव शरीर आत्मा' (तैत्ति.उ.2-3) इति शरीरसम्बन्ध मभिधाय आनन्दमयशब्देन स्वार्थकामयडन्तेन तस्यानन्दरूपतां चाभिधाय 'सोऽकामयत' (तैत्ति.उ.3-2-6) इति तस्येक्षापूर्वकसृष्टिराम्नायत इत्यानन्दमयाधिकरणपूर्वपक्षानुसारिणीं आशङ्कामभिप्रेत्य परिजहुः - पुरुषविध इत्यादिना। आनन्दवल्ल्यामन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयेषु यश्चरम आनन्दमयः पुरुषविधः 'स वा एष पुरुषविध एव' (तैत्ति.उ.2-2) इत्यादिना पुरुषाकारत्वेन निरूपितः। अन्वयः - 'तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तर पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' (तैत्ति.उ.2-5) इत्युक्तशिरःपक्षपुच्छादिरूपपुरुषप्रकारान्वयवान् स त्वमेव नतु प्रत्यगामेत्यर्थः। कुत इत्यतो विशिंषन्ति यत्सदसदिति। सदसच्चिदचिदात्मक प्रपञ्चाकारं यदित्यर्थः। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्रविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्चोत्यच्चाभवत्' (तैत्ति.उ.2-6) इति स्वसृष्टचिदिदनुप्रवेशेन तदुभयात्मक जगद्रूपेण भवनस्य चिदचिद्वाचि शब्दाभिधेयत्वस्य च श्रूयमाणस्य बद्धमुक्तोभयावस्थजीवासम्भावितस्य त्वय्येव सम्भवादिति भावः। किञ्च यदतः चिदचिदात्मकप्रपञ्चात्परं विलक्षणं निरुक्तानिरुक्तनिलयनानिलयन विज्ञानाविज्ञानसत्यानृत शब्दैः प्रकृतिपुरुषौ निर्दिश्य तदन्तरात्मतया तदनुप्रवेष्टृतया श्रूयमाणं यत्तज्जीवातिरिक्तस्त्वमेव। अथ यच्च एषु अन्नमयादिषु चतुर्षु संहृतेष्वपि अवशेषमवस्थितमानन्दमयरूपम् ऋतं निर्विकारं तत्त्वमेव, एवमुक्तधर्मसमानाधिकरणतया श्रूयमाणं ईक्षितृत्वात्मकानुगृहीतृत्वं जीवासम्भावितं त्वय्येवोपपन्नमिति समुदायाभिप्रायः, शारीरात्मत्वं च सर्वशरीरके त्वय्येवोपपन्नमिति च भावः। अत्र केचित् - अन्नमयादिषूपदिश्यमानेषु यश्चरमो 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (तैत्ति.उ.2-5) इति पुच्छत्वे नोक्तः। स त्वमिति सम्बन्धमाहुः, तथा हि -

तस्येदं ब्रह्मपुच्छं स्यात्प्रतिष्ठा हेतुरित्यतः। व्यतिरेकश्रुतेर्ब्रह्म विषयत्व प्रतीतितः ॥
श्लोकस्य वक्ष्यमाणस्य ब्रह्मप्राधान्यनिश्चयात्। प्रियमोदादिरूपेण विदितस्य जनैस्समैः ॥

इहानन्दमयस्यास्य शङ्कायाश्चात्र सङ्गतेः। सदसद्भावयोर्ज्ञानाज्ञानयोश्च निरंशिनः ॥
अंशित्वासङ्गतेर्निर्विकारस्य मयटाऽत्र वै। विकारित्वावबोधाच्च मयटो ह्यत्र सङ्गतेः ॥

तस्यैष एव शरीर आत्मेति च तदन्तरम्। आत्मान्तरं कीर्त्यमानमानन्दमयवस्तुनः ॥
ब्रह्मत्वं नावगमयेदित्यतः पुनरस्य हि। परे तस्मिन्नित्यशुद्धे शोध्यत्वानुपपत्तितः ॥
नानन्दमयशब्देन वाच्यं ब्रह्मेति निश्चितम्। पुच्छत्वेनैव यत्तत्र रूपितं तु तदिष्यते ॥

इति, तत्तुच्छम्

कृत्स्ने प्रकरणेह्यत्र पूर्वमन्नमयादिषु। स्वस्मादनतिरिक्तैस्स्ववयवैस्सुनिरूपणात् ॥
शिरः पक्षादिरूपेण पुरुषत्वस्य निश्चितम्। प्रियमोदादिभिस्स्वस्मादभिन्नैरेव रूपितः ॥

न भिद्यते ब्रह्मणोऽत्र ह्यानन्दमयशब्दितः। तत्तदन्तरभूतस्य वस्तुनो बोधकस्य वै ॥
तस्यैष एव शरीर आत्मेत्यात्मपदस्य हि। व्याख्यानन्दमये पर्यवसन्नाकीर्तनात्पुनः ॥

अन्यस्य ब्रह्मपर्यायस्यानन्दमयतस्ततः। अन्नादिमयपर्यायेषूक्तानां श्लोकरूपिणाम् ॥
वाक्यानां पक्षपुच्छादि मदर्थपरतः पुनः। पुच्छमात्र परस्यास्य श्लोकस्यास्याप्यसङ्गतेः ॥
अनन्तरे शोऽकामयतेति वाक्यश्रुतेन सः ॥

इति शब्देन पुंवस्तुबोधकेन तथा पुनः। प्रधानप्रकृतार्थस्य परामर्शनसाधुना ॥
अनन्तरस्यानन्दमयस्यत्राबोधसङ्गतेः। ब्रह्मणो व्यवधानेन तदुपस्थापन क्षतेः ॥

ब्रह्मण्यानन्दशब्दस्य ह्यानन्दो ब्रह्म इत्यतः। श्रुतेस्सम्प्रतिपन्नत्वादानन्द स्थापने क्षमात् ॥
आनन्दमयमात्मानमुपसङ्गम्य वाक्यतः। आनन्दानन्दमययोरैकार्थ्यस्य प्रतीतितः ॥

आनन्दमयशब्देन परब्रह्मावबोधनात्। आनन्दोब्रह्मेति व्यजानादिति पर्यायतुल्यतः ॥
आनन्दमयतुल्यार्थाच्छब्दादानन्दतः परम्। प्रतीतार्थश्रुतेः पश्चादुपपत्तेरभावतः ॥

न पुच्छमेव ब्रह्मेति किन्तु पुच्छवदिष्यते। स्वभिन्नपक्षपुच्छादि पर प्रकरणस्य वै ॥
आनुगुण्येन षष्ठ्या च निर्देशस्य तथा पुनः। अंशांशित्वेनोपपत्तेर्व्यतिरेकस्य निश्चयात् ॥

आत्माब्रह्मानन्दमयशब्दैरेकार्थ बोधनात्। तेषामन्यतमेनापि श्लोकस्य ह्युपपत्तितः ॥
आनन्दमयस्यापरिच्छित्तेः पुच्छब्रह्मपदस्य हि। आनन्दमयवाच्यस्य प्रसिद्धेरप्यभावतः॥

सदसद्भावयोर्ज्ञानाज्ञानयोश्च तथा पुनः। शङ्कायास्सम्भवादस्यरूपणस्योपपत्तितः ॥
अंशांशिभ्यां तथानन्दमयशब्दगतस्य वै। मयटस्स्वार्थिकत्वेन प्राचुर्यार्थेऽपि वा पुनः॥

उपपत्तेर्विकारार्थकत्वाभावाच्च ब्रह्मणः। निर्विकारत्वानिर्वाहादनन्यात्मत्ववादिनः॥
तस्यैष एव शारीर आत्मेत्यस्याविरोधतः। तद्वस्त्वनुगुणत्वेन शोधनस्य विधेः पुनः॥

प्रत्यगर्थस्य शोध्यत्वं संसृतेर्निर्हृतेः तथा। आनन्दमयशब्देन वाच्यस्य ब्रह्मणस्तथा ॥
शोध्यत्वस्य प्रपत्त्या च साध्यस्य ह्युपपत्तितः। कालुष्यशान्तिरूपस्य न पुच्छं ब्रह्म वै मतम्॥
अन्यथाऽऽनन्दमयतस्य एव ब्रह्म तु स्थितम्। इतिपुच्छब्रह्मवादिदूषणोद्धार इष्यते ॥ १७ ॥

अस्तु कारणत्वेनोपास्यत्वं, के के कुत्र कुत्र कथं कथमुपासते, कीदृशं च फलमित्यपेक्षायां उपासनभेदानभिधाय सर्वेषामप्युपासनानां मोक्षैकफलत्वमाहुः - उदरमिति। ऋषिवर्त्मसु वेदान्तविहितेषु उपासनमार्गेषु ये कूर्पदृशः सूक्ष्ममतयः तत्र केचिदारुणयः अरुणवंश्याः तदनुयायिनः दहरविद्यानिष्ठा इति यावत्, हृदयं हृद्गतं दहरं दहरशब्दवाच्यं हृदयपुण्डरीकान्तर्गताकाशरूपं त्वामुपासते केचित्तु वैश्वानरविद्यानिष्ठाः उदरम् उदरस्थजाठराग्निशरीरकं त्वामुपासते। केचित्तु परिसरपद्धतिं परितस्सरति व्याप्नोतीति तथा। सुषुम्नाख्या नाडी सैव पद्धतिर्मार्गः तं सुषुम्नामार्गस्थं त्वामुपासत इत्यर्थः। सुषुम्नायाः हृदयादारभ्य शिरःपर्यन्तव्याप्ते तदभिप्रायेण परिसरपद्धतिमित्युक्तं, तदेव स्पष्टयितुं परिसरवर्त्म विशिंषन्ति - ततः हृदयादारभ्येत्यर्थः। हे अनन्त! यत्तव परमं धाम उपासनस्थानं शिरो भ्रूमध्यं तत्पर्यन्तं यदुदगादूर्ध्वमाक्रामत् 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिस्सृतैका' (कठ.उ. 6-16) इति श्रुत्यर्थोऽत्राभिसंहितः। तव धाम शिरः परमित्यनेन शिरोऽपि त्वदुपासनस्थानमित्युक्तं भवति। 'एष देवपथो ब्रह्मपथः' (छान्दो.उ. 4-15-6) 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (कठ.उ.6-16) एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते इत्यादि श्रुत्यर्थमभिप्रेत्य विशिंषन्ति - यत् मध्यनाडीवर्त्म शिरो वा सर्वेऽप्युपासकाः समेत्य प्राप्य पुनरिह प्रकृतिमण्डले कृतान्तमुखे मृत्युमुखे संसारे न पतन्ति, यदिति वर्त्माभिप्रायको नपुंसकनिर्देशः ॥ १८ ॥

एवमुपासनस्थानप्रसङ्गात्परमात्मनोऽशुचिदेहसम्बन्ध उक्तः। अथ कार्यान्तः प्रविष्टस्यापि तस्य निर्दोषतया परमप्राप्यत्वमाहुः - स्वकृतेति। हेतुतया सर्वोपादानत्वेन स्वेन त्वया कृताः निर्मिताः विचित्राः योनयो देहाः येषां तेषु देवमनुष्यादि विचित्रभवत्कृत शरीरकेषु जीवेष्वित्यर्थः। विशन् अन्तरात्मतया प्रविशन् यद्वा देवादिशरीष्वेवोपासकानुग्रहणोपासानार्थं विशन् तिष्ठन्, इवशब्दोऽनतिरिक्तार्थकः, विशन्नेवेत्यर्थः। तरतमतः ज्ञानाल्पत्वमहत्त्वादिभावेन स्वकृतानुकृतिः स्वकृताः योनीरनुकरोतीति तथा हृदयादिकार्यपरिमाणोत्पत्तिविनाशाद्यनुकारी चकास्सीत्यर्थः। अनलवत् यथा अग्निः स्वतस्तारतम्यहीनोऽपि तृणकाष्ठाद्यनुसारेण तथा प्रकाशते, तद्वत्। अथ यद्यप्येवमथापीत्यर्थः। अमुषु योनिषु वितथासु अविद्यमानासूपसंहृतास्वित्यर्थः। अवितथमनुपसंहृतं, कुतः? सममेकरूपं कार्यनुप्रवेशकृतकार्यगतदोषस्पर्शरहितं, तत्कुतः? एकरसं अविच्छिन्नानन्दं तव धाम स्वरूपं विरजधियो निर्मलमतयः अनुनयन्त्युपासते, अभियन्ति प्राप्नुवन्ति चेत्यर्थः। अन्वयन्त्यभिविपन्यव एकरसम्

इति पाठान्तरम्। तदा अभिविपन्यवः विविध त्वद्गुणवादात्मक स्तुतियुक्ताः अन्वयन्ति अन्विता गच्छन्ति प्राप्नुवन्तीति यावत्। अत्र 'सर्वज्ञस्सर्वदृक्सर्वज्ञानशक्तिबलर्द्धिमान्। अन्यूनश्चाप्यवृद्धिश्च स्वाधीनोऽनादिमान् वशी। क्लमतन्द्रीभयक्रोधकामादिभि रसंयुतः। निरवद्यः परः प्राप्तिर्निरधिष्ठोऽक्षरक्रमः' (विष्णु.पु.5-46-48) इत्यादि स्मृत्यर्थोऽनुसन्धेयः ॥ १९ ॥

परम भजन्ति ये पदमजस्रसुखानुभवम् उदरमुपासते अवितथं तव धाम समम् एकरसम् इत्युदरादि स्थानविशेषाधिष्ठानक दिव्यात्मस्वरूपोपासकानां तत्प्राप्तिरुक्ता। अथ दिव्यविग्रहोपासकानामपि तत्सारूप्यापत्तिरूपं फलमित्यभिप्रेत्य तदुपासकाश्च केचित्सन्तीत्याहुः - स्वकृतपुरेष्विति। अमूषु देवमनुष्यादिषु स्वेन त्वया कृतेषु पुरेषु त्वन्निवासभूतेषु देहेषु सन्तमिति शेषः। अखिलशक्तिधृतः अखिलाश्शक्तीः आश्चर्यशक्तीः धरतीति तथा तस्य तवांशकृतम् अंशेन सङ्कल्पात्मकज्ञानेन कृतं कल्पितम् उपात्तम् अबहिरन्तः अन्तर्बहिर्देशरहितम् अन्तर्बहिश्च व्याप्तिक्षममित्यर्थः। अनेन विग्रहस्यापि पुरान्तरवस्थानप्रयुक्त परिच्छिन्नत्वशङ्काव्यावृत्तिः, अंसवरणं सङ्कोचहेतुरहितं पुरुषं पुरुषाकारं विग्रहं वदन्ति, वेदान्ता इति शेषः। 'अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः (श्वेता.उ.5-8) 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति' (कठ.उ.4-12) 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः' (कुठ.उ.6-17) इत्याद्याः वेदान्ताः प्रतिपादयन्तीत्यर्थः। इतीत्थम्भूतं तव पुरुषं तथा नृगतिं नरजन्म त्वदाराधनोपयुक्तमिदं नृजन्मेति च विचिन्त्य विचारपूर्वकं निश्चित्य भुवि भूमौ केचित्कवयो विवेकिनः निश्श्वसिताः प्राणायामपराः जितप्राणेन्द्रिया इत्यर्थः तवाङ्घ्रिमुपासते, कथम्भूतम्? निगमावपनं निगमानां वेदानामावपनं क्षेत्रं प्रतिपादनविषयमिति यावत्, यद्वा निगमस्य ज्ञानस्यापवनम् आ समन्तादुप्यतेऽनेनेत्यापवनम् उत्पादकं 'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगम्' (भगी 10-10) इति भगवदुक्तेः। अभवं न भवस्संसारो यस्मात् सेव्यमानात् तं भुवि विश्वसिताः इति पाठान्तरं, तदा मोक्षयिष्यतीति दृढविश्वासयुक्ताः उपासत इत्यर्थः ॥ २० ॥

1. B. विजहुरिति 2- -2 B.Omits 3. K. श्रुति

**विज०** त्यजन्ति तापं य उ ते भवत्कथा इति स्म मुक्ताः किमुते स्वरूपगाः परावरेशेशपदं भजन्तः परम्परानन्दमनारतन्ते इति इन्द्रद्युम्नश्रुति ग्रथितस्य इति श्लोकस्यायमर्थः। इति शब्दो हेत्वर्थः। पुनरवधारणार्थः। 'पुनरप्रथमे प्रश्ने व्यावृत्तावववधारणे' (वैज.को 8-7-24) इति। हे परमपरावरेशेश! ते तव अजस्रसुखानुभवं अनारतमजस्रं सुखं परमानन्दः अनुभवः ज्ञानं यस्य तत्तथा। तत्पदं स्वरूपं भजन्ति। अनन्याश्रयत्वात् स्वधामा परमः तेन विधुताः आशयगुणाः दुःख[illegible]ः कालगुणाः उत्पत्त्यादयो यैस्ते मुक्ताः तपांसि तापान् जहुरिति किमुत पुनः वक्तव्यमेव। हे त्र्यधिपते! त्रिलोकीनाथ! सूरयः दर्शनादिभाषाविचक्षणाः अखिललोकस्य मलं क्षपयतीति अखिललोकमलक्षपणः तं तव कथामृताब्धिम् अवगाह्यापि तपांसि जहुरिति यस्मादिति शेषः ॥ ३॥ १६॥

अनिशमनुश्वसन्त्यसुखोद्धरिताः तव रिपवो दृतिवत्तमसि प्रविष्टाः तव गुणप्रथनाः परिहाय 'तमःपर्यान्ति ते पदमजस्रमनन्तसुख'मिति (पैङ्गिश्रुतिः) पैङ्गिश्रुत्यर्थरूपस्य दृतय इवेत्यस्य श्लोकस्यायम्भावः। महदहमादयः ब्रह्मरुद्राद्यभिमन्यमानानि महदहङ्कारादितत्त्वानि यस्यानुप्रवेशलक्षणानुग्रहतो ब्रह्माण्डमसृजन् तस्यात्यन्तोपकारकस्य ते तव यद्यसुहृदः सर्वमिथ्यात्ववादिनः तर्हि ते दृतयः कारुशालायामग्निधमननिर्मितचर्मविशेषा इव उच्छ्वसन्ति तमसि प्रविष्टाः दुःखभराक्रान्तत्वाद्विनष्टप्राणबला दीर्घश्वासं कुर्वन्ति। अत्र चरमोत्तममध्यमादिषु चरमा मनुष्योत्तमाः उत्तमा इन्द्रादिदेवाः मध्यमा ऋषिगन्धर्वाः आदिः मुक्तसमुदाये प्रथमो ब्रह्मा एषु पुरुषेषु यस्तवाजस्रं ऋतमेकप्रकारं नित्यम् इति यावत्। अनन्तसुखं अविशेषं विषयविशेषनिमित्तक्षणभङ्गुर सुखमन्तरेण स्वरूपभूतापरिमितानन्दपूर्णं सदसतः परं प्रथयेत् जानाति। शिष्यादिषूपदिश्य प्रख्यापयति च सः पुरुषविधस्य जीवदेहगतत्वेन तदाकारस्य तवान्वयः। अनुकूलप्राप्तिः यस्य तथा। 'असक्तो देहपूर्येषजीववद्देहगोऽपियत्, अथवा पुंविधातृत्वात् पुंविधः पुरुषोत्तमः' (पुरुषोत्तमतन्त्रे) इति वचनात्। तादृशं त्वामाप्नोतीत्यर्थः। प्रथयतीति प्रथनः ॥ ४॥ १७॥

'तं प्रपदाभ्यां प्रापद्यत ब्रह्मेमं पुरुषं यत्प्रपदाभ्यां प्रापद्यत ब्रह्मेमं पुरुषं तस्मात् प्रपदे तस्मात्प्रपदे इत्याचक्षते। शफाः खुरा इत्यन्येषां पशूनां तदूर्ध्वमुदसर्पत् ता ऊरु अभवतामुरु गृणीहित्यब्रवीत्। तदुदरमभवदुर्वेव मे कुर्वित्यब्रवीत्तदुदरो भवदुदरं ब्रह्मेति शार्कराक्षा उपासते हृदयं ब्रह्मेत्यारुणयो ब्रह्मा हैवताई ऊर्ध्वं त्वेवोदसर्पत्तच्छिरो श्रयत यच्छिरोऽश्रयत तच्छरोऽभवत्तच्छिरसः शिरस्त्वं ता एताः शीर्षञ्छ्रियः श्रिताश्चक्षुः श्रोत्रं मनोवाक्प्राणः श्रयन्तेऽस्मिञ्छ्रियो य एवमेतच्छिरसः शिरस्त्वं वेद' (ऐत.उ.1-3,4) इत्यादिश्रुतेः। कस्मिन्वहमुत्क्रान्ते उत्कान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते 'प्रतिष्ठास्यामीति सप्राणमसृजत' इति श्रुते। 'प्राण एवैनमनुप्रविशति प्राणमितरा देवता न प्राणादपरः परमनुप्रविशति। प्राण एवैनमनुभुङ्क्ते प्रविशति प्राणमितरा देवता न प्राणादपरः परमनुभुङ्क्ते प्राणमितरादेवता प्राणादपरः परमनुप्रविशति प्राण एवैनमनुप्रविशति। प्राण एवैनमन्वान्दीभवति। प्राणमितरा देवता न प्राणादपरः परमन्वानन्दीभवति तस्मादाहुः प्राणः पद्धति' (हिरण्यनाभश्रुतिः) इति हिरण्यनाभश्रुतेश्चार्थप्रतिनिधिरुदरमुपासत इति तस्याभिप्रायः। 'शर्करक्षुद्रपाषाणे सुसूक्ष्मे खण्डिते गुडे' इति। 'शर्करातु शिलाभेदे ऋग्भेदाल्पकपालयोः। शर्करं तत्र देशेषु सितायां शकले गुडे' (वैज.को.7-2-26) इति च। अतः शर्कराक्षाः सूक्ष्मदृष्टयः तेषु ख्याताः शार्कराक्षाः त एव वर्त्मनि ब्रह्मणि सूक्ष्मदृष्टयः हरेरशेषविशेषान् विजानन्तो यर्हि 'यस्मात्प्राणं प्रत्युरु गृणीहि इत्यब्रवीत्' इति वचनात् उदरनामकं ब्रह्मोपासते उदरं पूर्णं ब्रह्म उद्गतः अरः परिच्छेदो यस्मात् तदुदरं पूर्णमित्येकार्थत्वात्। यस्माच्चारुणयो हृद्ययनात् हृदयनामकं ब्रह्मोपासते यस्माच्चेतरे माण्डूकेयादयो दहरमाकाशादप्यतिसूक्ष्मं परिसरो मुख्यप्राणः पद्धतिर्मार्गो यस्य यस्य स तथा परिसरस्य पद्धतिर्वा । तदुपासते तद्ब्रह्म ततः हृदः नन्दनपथा ब्रह्मनाडीद्वारा शिरः प्रत्युदगात्। अथ यत्परमं ब्रह्म पुनरिह हृदयादिषु स्थितं उपास्य तत्समीपमुपेत्य कृतान्तमुखे संसारे न पतन्तीन्वयः ॥ ५॥ १८॥

'यो जीववद्योनिषु भात्यनन्तो मूढैस्तमोगैर्भरताधिगम्यः निचाय्य तं शाश्वतमात्मसंस्थं तदिच्छवोऽऽत्म महान्तः' (कमठश्रुतिः) इति कमठश्रुत्यर्थग्राहिणः स्वकृतविचित्रेति श्लोकस्यार्थउच्यतो। स्वकृतविचित्रयोनिषु स्वनिर्मित सुरनरादिनानाविधशरीरेषु विशन्निव विशन् जीवः तद्वदज्ञानां यस्त्वं चकास्सि कथमिव? अनवत्स्वकृतानुकृतिः यथाऽनलः स्वकृतस्यानुकृतिर्यस्य स तथा। स्वकृतदार्वादेरपनयने गच्छन् तत्स्थापने तिष्ठन् अनुवर्तते। एवं स्वकृतशरीरादिएवनुवर्तसे तद्गतः सन्नित्यर्थः। ज्ञानिमतमाह - हेतुतयेति। सर्वहेतुतया भरतेन भेदज्ञानात्मके विष्णौ रतेन वायुना मतः ज्ञातः 'रतत्वाद्भात्मके विष्णौ अथवापि जगद्भृतेः। भरतोवायुरुद्दिष्टो भारती तत्सरस्वती' (नामसंहितायाम्) इति स्मृतेः। वितथासु अन्यथाभवन्तीषु अशाश्वतीष्वपि सम्भावितासु असम्भावितास्वपि अमूषु योनिषु अवितथात्वेन अनन्यथाभूत्वैव शाश्वतत्वेन ऊरुविधं बहुविधं तिष्ठन्तं निकटधियः त्वत्समीपस्थबुद्धयः महान्तस्ते तव त्वामभिविपत्य मनसाऽभिगम्य मनसि नयन्ति ध्यायन्तीत्यर्थः। 'यो निवेश्याह्वयो जीवस्त्वज्ञानां तद्वदेव तु। प्रकाशते परो देवः तेन यान्त्यधरं तमः। सर्वहेतुतयैवेशं प्राणो जानाति तत्वतः। तेन चासौ परो देवः तत्परं याति केशवम्। इन्धनानयने त्वग्निर्ययैवानीयते सह। एवं देहगतो विष्णुः सहगच्छेन्निजेच्छया। अशाश्वतेषु देहेषु शाश्वतं बहुधा स्थितम्। निचाय्य मनसा सन्तो जानन्ति निकटेच्छवः' (तन्त्रभागवते) इत्यादि तन्त्रभागवते सिद्धोऽयमर्थः ॥ ६॥ १९॥

प्रक्रमवत्स्वसत्कृतं सर्वेषु पुरुषेषु सर्वासु सुधीषु स्थित्वा त्वां तु बहिरन्तरसञ्चरणेपि। 'निषुसीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम्। ना ऋते त्वत्क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवन् चित्रमर्चा' इत्यादिश्रुत्यभिप्रायगर्भस्य प्रक्रमवदित्यस्य श्लोकस्यायमर्थः। सर्वेषु पुरुषेषु सर्वधीषुसर्वेन्द्रियेषु च स्थित्वा श्रीब्रह्मादिषु प्रक्रमवत् प्रकृष्टप्रमयुक्तत्वेन स्वसत्कृतं स्वात्मनैव सत्कृतं त्वां वदन्ति किञ्च हे पुरुष! बहिरन्तः अण्डाद्यान्तर्बहिश्च असञ्चरणे असदमङ्गलं चरणं कर्म यस्यासौ असञ्चरणः तस्मिन्पापाचारे स्थित्वा पापाचारमपि स्वात्मनः पूजात्वेनैव कारयन्तं त्वां वदन्ति। तुशब्द यथाकरण तस्याधोगत्यर्थमिति सूचयति। किं बहुना? तत्सर्वं तव स्वकृतं अनन्यापेक्षया त्वयैव कृतं वदन्ति। कुत इति तत्राह - अखलेति। सर्वपुरुषेन्द्रियशक्तिप्रेरकत्वात् श्रुतिश्लोकयोः सर्वत्रैकार्थत्वभावे नैकतन्नियतत्वद्योतनाय ज्ञायते 'श्रीब्रह्मरुद्रपूर्वेषु क्रमात्स्थित्वा जनार्दनः स्वात्मानमर्चयत्यद्धा बहिरन्तरसत्सु च असतामधमाचारो हरिवृष्ट्यात्मपूजनं तस्याऽधोगमनायेति श्रुतिराहाखिलक्रियाम्' (तन्त्रभागवते) इत्यादिना। त्रिपादोऽयं श्लोकः ॥ ७॥ २०॥

1. Ma °षं

दुरधिगमात्मतत्त्वनिगमाय तवाततनो श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्त पुरिश्रमणाः ।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥ २१ ॥

त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियवञ्चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च ।
न बत रमन्त्यहो असदुपासनयाऽऽत्महनो यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः ॥ २२ ॥

निभृतमरुन्मनोक्षदृढयोगयुजो हृदि यत् मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुस्स्मरणात् ।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो वयमपि ते समास्समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥ २३ ॥

क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं यत उदगादृषिर्यमनु वेदगणा उभये ।
तर्हि न सन्नचासदुभयं न च कालजीवः किमपि न तत्र शास्त्रमपकृष्य शयीत यदा ॥ २४ ॥

जनिमसतस्सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः ।
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे ॥ २५ ॥

1. B.G.J.M.Ma. °व° 2. M.Ma. °यतवाङ्मनस° 3. M.Ma. °न्ति 4. M. Ma. °खास्त्वयि 5--5 M. Ma. चरम 6. M.Ma. °न्त्यभवा 7--7 M. Ma मोक्षहृदय योगयुजो हृदयं 8--8 स्वनुराग तद्भवानुरगेन्द्रभोग 9. M. Ma. मास° 10. M.Ma सुधाम् 11--11. M. Ma वेद नु वक्तुमपेत 12. M. Ma °मजा° 13.M.Ma ते 14--14 विशध्वनिमारुवतः 15. M. Ma Omit भिदा 16--16. M. Ma न तु भवेत्तदव°

**श्रीध०** भक्तिरत्यन्तसाधनमिति वचनमुचितमिव मन्वानो भक्तिं गुरूकरोति - दुरधिगमेति। भो हे ईश्वर ! दुरवगमं दुर्बोधं यदात्मतत्त्वं तस्य निगमाय ज्ञापनाय तवाततनोराविष्कृतमूर्तेः चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः, चरितमेव महानमृताब्धिः तस्मिन्परिवर्तो अवगाहस्तेन परिश्रमणाः परिवर्जनार्थः। श्रमणं श्रमः गतश्रमा इत्यर्थः। अपवर्गमपि केचिन्नपरिलषन्ति नेच्छन्ति, कुतोऽन्यत् इन्द्रपदादि। केचिदित्येवम्भूता भक्तिरसिका विरला इति दर्शयन्ति। न केवलं अन्यन्नेच्छन्ति किन्तु तेनैव सुखेन पूर्णास्सन्तः पूर्वसिद्धं गृहादिसुखमप्युपेक्षन्त इत्याह - तव चरणसरोजहंसकुलसङ्ग विसृष्टगृहा इति। तव चरणसरोजे हंसा इव रममाणा ये भक्तास्तेषां कुलं तेन सङ्गस्तेन विसृष्टा गृहा यैस्ते तथा। अनेन श्रवणकीर्तने दर्शिते। श्रुतिश्च मुक्तेरप्याधिक्यं भक्तेर्दर्शयति। यथाह - 'यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च' इति। व्याख्यातं च सर्वज्ञैर्भाष्यकृद्भिः, मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भजन्ते इति । त्वत्कथामृतपायोधौ विहरन्तो महामुदः। कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम् ॥ ८ ॥ १२ ॥

'आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन' (बृह. उ. 4-3-14) 'न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ॥ नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति' इत्याद्याः श्रुतयोऽनुक्रोशन्त्यो जगदात्मनि ईश्वरे रतिमुपदिशन्तीत्याह - त्वदनुपथमिति। त्वदनुवर्तित्वात्त्वत्सेवौपयिकमिदं कुलायं कौ पृथिव्यां लीयते इति कुलायं शरीरम् आत्मसृहृत् प्रियवत् आत्मा च सुहृच्च प्रयश्च तद्वच्चरति। स्वाधीनतया वर्तते इत्यर्थः। तथापि त्वयि उन्मुखे हिते प्रिये आत्मनि च अप्यर्थे चकारः। एवम्भूते सुसेव्येऽपि त्वयि बताहो कष्टं न समन्ति न सख्यादिना भजन्ति। असदुपासनया देहाद्युपलालनेनात्महनः प्रमादिनः। कुतः यदनुशयाः यस्यां असदुपासनायामनुशयो वासना येषां ते कुशरीरभृतः सन्त उरुभये संसारे भ्रमन्ति परिवर्तन्ते। अत आत्महन इति भावः। 'त्वय्यात्मनि जगन्नाथे मन्मनो रमतामिह। कदा ममेदृशं जन्म मानुषं सम्भविष्यति' ॥ ९॥ २२॥

इदानीं 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः (बृह.उ.2-4-5) 'इत्याद्याः श्रुतयो ध्यानमङ्गत्वेनोपदिशन्तीत्याह - निभृतेति। मरुत्प्राणो मनश्चाक्षाणीन्द्रियाणि च निभृतानि संयमितानि यैस्ते च ते दृढं योगं युञ्जन्ति ते दृढयोगयुजस्ते तथाभूता मुनयो हृदि यत्तत्त्वमुपासते तदेवारयोऽपि तव स्मरणाद्ययुः प्रापुः। स्त्रियोऽपि कामत उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियः अहीन्द्रदेहसदृशयोर्भुजदण्डयोर्विषक्ता धीर्यासां ताः परिच्छिन्नदृष्टयः समदृशः सममपरिच्छिन्नं त्वां पश्यन्त्यो वयं श्रुत्यभिमानिन्यो देवता अपि ते समा एव कृपाविषयतया। अङ्घ्रिसरोजसुधाः अङ्घ्रिसरोजं सुष्ठु धयन्त्यः। अयम्भाव :- इत्थम्भूतस्तव स्मरणानुभावो, ये योगिनस्त्वां हृद्यालम्बनमुपासते, याश्च वयं त्वां समं पश्यामो, याश्च स्त्रियः कामतः परिच्छिन्नं ध्यायन्ति ये च द्वेषेण सर्वानपि तांस्त्वामेव प्रापयतीति। 'चरणस्मरणं प्रेम्णा तव देव सुदुर्लभम्। यथाकथञ्चिन्नृहरे मम भूयादहर्निशम् ॥ १०॥ २३॥

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तैत्ति.उ. 2-9) 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः। अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव'.(बाष्कलमन्त्रा.उ.10) 'अनेजदेकं मनसो जवीयो नैतद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् । तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' (ईशा.4) इत्याद्याः श्रुतयो भगवत्तत्वं दुर्ज्ञेयं वदन्त्यो भक्तिमेवोररीकृत्य स्तुवन्तीत्याह - क इह नु वेदेति। बत अहो हे भगवन्निह जगत्यग्रसरं पूर्वमेवसिद्धं त्वामवरजन्मलयोऽर्वाचीनोत्पत्तिनाशवान् को नु पुमान् वेद जानाति। ईश्वरस्य पूर्वसिद्धावन्यस्य च अर्वाचीनत्वे प्रमाणं वदन् ज्ञानकारणाभावमाह - यत उदगादिति। यतस्त्वत्त ऋषिर्ब्रह्मा उत्पन्नो यं ब्रह्मणमनु उभये आध्यात्मिकाधिदैविका देवगणा उत्पन्नास्ततोऽप्यर्वाचीनाः सर्वे। यदा तु भवान्सर्वमवकृष्योपसंहृत्य शयीत तर्हि तदा अनुशायिनां जीवानां ज्ञानसाधनं नास्ति, यतस्तदा न सत्स्थूलमाकाशादि। न चासत्सूक्ष्मं महदादि। न चोभयं सदसद्भ्यामारब्धं शरीरम्। न

च कालजवस्तन्निमित्तभूतं कालवैषम्यम्। एवं सति तत्र तदा न किमपीन्द्रियप्राणाद्यपि। न च ज्ञापकं शास्त्रमपि। अयमभिप्रायः- अर्वाक्सृष्टिगतानां देहाद्युपाधिकृतान्तराणां कालवशेन च मलिनसत्त्वानां न तावद्भगवज्ज्ञान सामर्थ्यम्. तथा च श्रुतिः - 'न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माक मन्तरं बभूव' इत्याद्याः। यदा तु प्रलयसमये न बह्वन्तरमस्ति तदापि साधनभावान्न भगवज्ज्ञा न् सामर्थ्यम्। अतस्त्वदेक शरणतया श्रवणकीर्तनादि भक्तिरेव सुकरेति। 'क्वाहं बुद्ध्यादिसंरुद्धः क्व च भूमन्महस्तव। दीनबन्धो! दयासिन्धो! भक्तिं मे नृहरे दिश' ॥ ११ ॥ २४ ॥

इतोऽपि न ज्ञानं सुशकम्,उपदिशतामपि भ्रमबाहुल्यादित्याह - जनिमसत इति। असतो जगतो जनिमुत्पत्तिं ये वैशेषिकादयो वदन्ति। सत एव ब्रह्मतत्त्वस्योत्पत्तिं वदन्ति ये च पातञ्जलादयः। सत एवैकविंशतिप्रकारस्य दुःखस्य नाशं मृतिं मोक्षं वदन्ति ये नैयायिकाः। उतापि ये च साङ्ख्यादय आत्मनि भिदां भेदं च। ये च मीमांसका विपणं कर्मफलव्यवहारं ऋतं सत्यं स्मरन्ति वदन्ति ते सर्वे आरूपितैरारोपितैः भ्रमैरेवोपदिशन्ति न तत्त्वदृष्ट्या। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छान्दो.उ.6-2-1) 'ब्रह्मैव सब्रह्मात्येति' (बृह.उ.4-4-6) 'अनीशया शोचति मुह्यमानः'(मुण्डं. उ. 3-1-2) 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः। जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः॥' (कठ.उ.2-5) 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म (छान्दो.उ.6-2-1)' एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ '(त्रिपुर-तापि.उ.5-12) इत्यादिश्रुतिविरोधात्। किञ्च वस्तुतः पुरुषस्य त्रिगुणमयत्वे सर्वमिदं सङ्गच्छेत, नतु तदस्तीत्याह - त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता त्वयीति। त्रिगुणमयः पुमानित्यनेन हेतुना या भिदा। उपलक्षणमेतद्भिदादि। सा यस्मात्त्वयि विषये अबोधकृता त्वद्विषयाज्ञानविजृम्भिता। तर्हि किमज्ञानमस्ति, वस्तुतः पुंसि नैवेत्याह - ततः अबोधात्परत्र परेऽसङ्गेऽवबोधरसे ज्ञानघने स अबोधो न भवेन्न सम्भवतित्यर्थः'। मिथ्यातर्कसुकर्कशेरित महावादान्धकारान्तर भ्राम्यन्मन्दमतेरमन्दमहिमंस्त्वज्ज्ञानवर्त्मस्फुटम् । श्रीमन्माधव वामन त्रिनयन श्रीशङ्कर श्रीपते गोविन्देति मुदा वदन् यदुपते मुक्तः कदास्यामहम् ॥ १२॥ २५॥

1. B.J. °रल्प° 2. B.J °नमनु° 3. B.J. °विगा° 4. Ml.V. Omit इन्द्रपदादि 5- -5 Ml.V.Omit 6. B.J. धारयन्त्यः 7. Ml.V. °म्बोनोपा 8- -8 Ml.V. मतां नराणां 9. Ml.V. adds

**वीर०** केचिदुभयविधमप्युपासनं विहाय केवलं त्वद्गुणामृतपानसुखिता मोक्षमपि नेच्छन्तीत्याहुः-दुरधिगमेति। दुरधिगमं दुःखेनाप्यवगन्तुमशक्यं यत् आत्मनस्तव तत्त्वं याथात्म्यं तस्य निगमाय प्रकाशनायात्ता उपात्ता तनुः रामकृष्णादिरूपा

येन तस्य तव चरितमेव महान् अमृताब्धिस्तस्मिन् परिवर्तेन अवगाहनेन परिश्रमणाः, परिरत्रवर्जने, परिविधूताः श्रमाः आध्यात्मिकादितापाः येषां ते। हे ईश्वर! ते तव चरणसरोजसम्बन्धिनो हंसा भागवताः तत्कुलसङ्गेन विसृष्टास्त्यक्ताः गृहाः गेहदेहाद्यानुरागा यैस्ते अपवर्गं मोक्षसुखमपि न परिलषन्ति न काङ्क्षन्ति ॥ २१ ॥

नृगतिं विचिन्त्येत्यनेन देहस्य भगवत्सेवोपयुक्तत्वमभिप्रेतम्। तदेव स्पष्टयन्त्यः तथैव सति तस्य साफल्यमन्यथा तु न साफल्यं, प्रत्युतानर्थहेतुत्वं चेत्याहुः - त्वदनुपथमिति। कुलायं नीडतुल्यमिदं नृशरीरम् त्वदनुपथं त्वदनुवर्ति त्वदाराधनप्रवणं चेदित्यर्थः। तर्ह्यात्मादिवच्चरति, आत्मादिभिस्तुल्यं स्यादित्यर्थः। तथाप्यसदप्युपासनया शब्दादि विषयसेवया हेतुभूतया आत्महनः आत्मघातिनः विषयसेवायाः अन्ततः स्थावरत्वापादकतया आत्मनोऽसत्प्रायतापादकत्वात्तत्सेवापरा आत्मघातिन एवेति भावः। त्वय्यहो न रमन्ते, अहो निरतिशयगुणवदिदं शरीरं प्राप्यापि त्वां न भजन्त इति खेदः, कथम्भूते? यथोत्सुके यथावस्थितोत्कूलानन्दे अत एव प्रिये अत एव च हिते उन्मुख इति पाठे ईषदानुकूल्येनाप्यभिमुखीभवितुमुद्युक्त इत्यर्थः। कुतस्तान्प्रति खिध्यध्वे इत्यत आहुः - यद्यस्मादनुशयाः प्रतिजन्मभुक्तावशिष्टोत्तरोत्तर देहनिमित्त कर्मयुक्ताः उरु बहु भयं यस्मिन् तस्मिन् संसारे भ्रमन्ति। अतः ते कुशरीरभृतः कुत्सितदेहभाजः केवलं शोच्या एवेति भावः। भुक्तावशिष्टं कर्मानुशयः, स एषामस्तीत्यर्श आद्यच् ॥ २२ ॥

आस्तां त्वयि न रमन्त इति, अहो बत त्वयि द्वेषादिकमपि न कुर्युः, यतस्त्वयि विलक्षणविषये तस्यापि त्वत्प्राप्तिसाधनत्वमिति सदृष्टान्तं सोदाहरणं सोपपादनं चाहुः - निभृतेति। मरुतः प्राणाः मनश्चाक्षाणीन्द्रियाणि च निभृतानि संयमितानि मरुदादीनि यैस्ते च दृढम् अविचाल्यं योगमुपासनात्मकं युञ्जत इति तथा ते मुनयः हृदि यत्त्वत्स्वरूपमुपासते तदेवारयः शत्रवोऽपि स्मरणात् अप्रीतिपूर्वकस्मरणात् ययुः प्रापुः। तथा स्त्रियः गोप्योऽपि उरगेन्द्रस्याहीन्द्रस्य देहसदृशयोर्भुजदण्डयोर्विशेषण सक्ता धीर्यासां ताः तदेव ययुरित्यन्वयः। विषयस्य विलक्षणत्वादिति भावः। किं बहुना? वयं वेदाभिमानिनो देवा अपि अङ्घ्रिसरोजमेव सुधा तद्वद्भोग्यं येषां ते त्वच्चरणसरोजप्रकाशका वयमपीत्यर्थः। यद्वा अङ्घ्रिसरोजं सुष्ठु धयन्ति पिबन्ति अनुभवन्तीति यावत्। 'धेट्पाने' धातो रूपमिदम्। त्वयि प्रमाणतया त्वदन्तरङ्गभूता स्त्वत्स्वरूपादिप्रकाशका वयमपीत्यर्थः। ते तव समास्तुल्याः मुनिप्रभृतय इव त्वामेव विषयभूतं तात्पर्यतोर्थतश्च प्राप्नुम इत्यर्थः। तत्र हेतुत्वेन विशिंषन्ति समदृश इति। समा दृक् यस्य अनादृतनिम्नोन्नतभावस्य वैषम्यनैर्घृण्यादिपरिहाराय व्याजमात्रावलम्बिनस्सर्वानुजिघृक्षोस्तव सर्वेऽपि तुल्यकक्ष्या इति भावः ॥ २३ ॥

अङ्घ्रिसरोजसुधा इत्यनेन भगवत्स्वरूपस्वभावादिप्रकाशकं वेदाख्यं शास्त्रमेवेत्यभिप्रेतम्। अतस्तेन विना भगवतो दुरवगमत्वं सहेतुकमाहुः - क इहेति। अवरजन्मलयः अर्वाचीनोत्पत्तिनाशवान् इह लोके को नु पुमान् अग्रसरं सृष्टेः पूर्वभाविनं

सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टत्वेन कारणतयाऽवस्थितं त्वां वेद? शास्त्रेण विना न कोऽपि वेदेत्यर्थः बर्तेति विस्मये। 'यतो वाचोनिवर्तन्ते' (तैत्ति.उ.2-4) इत्युक्तरीत्या वाङ्मनसापरिच्छेद्यस्वरूपस्वभावं तं वेत्तुमुद्युक्तोऽविस्मीयते, सर्वेषामवरजन्मलयत्वमुपपादयन्तियतस्त्वतः ऋषिर्ब्रह्मा उदगादुद्बभूव, यमनु पश्चाच्चतुर्मुखोत्पत्त्यनन्तरमित्यर्थः। उभये निवृत्तिनिष्ठास्सनकादयः प्रवृत्तिनिष्ठाः मरीच्यादयश्च देवा उदगुः। मनुजादयस्तेभ्योऽप्यर्वाचीना इति किमु वक्तव्यमिति भावः। अग्रसरत्वमुपपादयन्ति - तर्हीति। यदा भवान् शास्त्रमपकृष्य स्वहृदये निधाय शयीत शयितवान् तर्हि तदा सृष्टेः पूर्वकाले सत्कार्यावस्थं चिद्वस्तु असत्कार्यावस्थमचिद्वस्तु उभयं मिश्ररूपं कार्यं च कालजवः कालप्रवृत्तिः सर्गादिविषया नासीत्, किं बहुना? तत्र तदा न किमप्यासीदित्यर्थः। अत्र 'नासदासीन्नोसदासीत्' (यजु.आर 2-8-9) 'एको ह वै नारयण आसीन्न ब्रह्म नेशानो नेमे द्यावापृथिवी' (म.ना.उ.1-1) इत्यादिश्रुत्यर्थो अनुसंहितः। अवरजन्मलयोऽग्रसरमिति च हेतुगर्भम्। यद्यप्यवरजन्मा पुत्रादिरग्रसरं पित्रादिकम् अयमित्थम्भूत इति जानात्येव। तथाप्यत्र भगवतो वाङ्मनसापरिच्छेद्यस्वरूपस्वभावत्वे अवरजन्मलयानां तन्मायामोहितत्वेन तदनुग्राह्यज्ञानत्वेन च तद्वेदनाऽक्षमत्वे च तात्पर्यम्। तर्हि न सन्नचासत् इति सृष्टेः पूर्वं सच्छब्दवाच्यकार्यावस्थचिदचिन्निषेधेन नामरूपविभागानर्हकारणावस्थचिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मणोऽग्रसरत्वोक्त्या सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मात्मकस्य सत एव द्रव्यस्य स्थूलचिदचिद्विशिष्टतारूपकार्यावस्थायोगित्वलाभात् सत्कार्यवादः फलितः ॥ २४ ॥

अथ तद्विरुद्धमसत्कार्यवादं विरुद्धवादप्रसङ्गान्मतान्तराणि चानूद्य दूषयन्ति - जनिमिति। असतो द्रव्यस्य जनिमुत्पत्तिं सत्तायोगमिति यावत्, सतश्च द्रव्यस्य पश्चान्मृतिं नाशं च ये तार्किकाः स्मरन्तीत्यसत्कार्यवादोऽनूदितः। उतेति पक्षान्तरे। आत्मनि भिदां स्थूलत्वकृशत्वमनुष्यत्वमृगत्वादिरूपां भिदां ये केचित् स्मरन्तीति चार्वाकमतानुवादः। ते हि देहमेवात्मानं मन्यन्ते। विपणं देवमनुष्ययोरन्योन्योपकार भावजनितं वाणिज्यफलतुल्यं स्वर्गादिफलम् ऋतं सत्यं ये मीमांसकाः स्मरन्तीति कर्मफलनित्यत्ववादानुवादः, न केवलं स्मरन्ति किन्तु ते तार्किकादयः आरूपितैरारोपितैर्युक्त्याभासैः उपदिशन्ति च। तमारुपितैरिति पाठे तं स्वमतसिद्धं युक्त्याभासैरुपदिशन्ति चेत्यर्थः। तथा पुमान् त्रिगुणमयः सत्त्वादिगुणत्रयप्रचुरो जीव एव न तु तदतिरिक्त ईश्वराख्य इति निरीश्वरसांख्यमतानुवादः तत्र साधारणं दूषणमाहुः - इतीत्यादिना। इति भिदा इत्थम्भूतो मतभेद इत्यर्थः। यदबोधकृता यस्य तवाबोधकृता याथात्म्याज्ञानप्रयुक्ता चिदचिद्विशिष्टत्वद्रूपस्य सत एव द्रव्यस्य जगदात्मकस्थूलावस्थारूपकार्यता योगित्वं पूर्वपूर्वसंस्थानत्यागात्मिकां मृतिमावृत्ति विधादिभिः कर्मफलस्य तारतम्यम् अत एव अनित्यत्व ब्रह्मज्ञानफलस्य नित्यत्वं जीवासम्भावितसावज्यसत्यसङ्कल्पत्व करणाधिपत्वादिस्वभावं परमात्मान देवमनुष्यादिदेहविलक्षण प्रत्यगात्मानं चाजानतामित्थं मतभेदः प्रवृत्त इत्यर्थः। ननु बुद्धिशब्दान्तरादिभेदात् कार्यकारणयोर्भेदः। अत एवासदेव कार्यपूर्वमुत्पद्यत इति युक्तम्। किञ्च कारणमेव चेत्कार्यं, कारकव्यापारवैयर्थ्यं, सर्वस्य सर्वदा सत्त्वेन कार्यस्य नित्यानित्यविभागश्च न स्यात्। अथ कार्यं सदेव पूर्वमनभिव्यक्तं कारकव्यापारेणाभिव्यज्यते। अतः कारकव्यापारार्थवत्त्वं नित्यानित्यविभागश्चोच्येत, तदसत्-

अभिव्यक्तेरभिव्यक्त्यन्तरापेक्षत्वेऽनवस्थानात्। अनपेक्षत्वे कार्यस्य नित्योपलब्धिप्रसङ्गात्। तदुत्पत्त्यभ्युपगमेऽसत्कार्यवादप्रसङ्गात्। अतोऽसतः कार्यस्योत्पत्तिहेतुत्वेनैव कारकव्यापारार्थवत्त्वम्। अतश्च सत्कार्यवादासिद्धिः। नन्वसत्कार्यवादिनोऽपि कारकव्यापारो नोपपद्यते, प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासत्वात्, कार्यादन्यत्र कारकव्यापारेण भवितव्यं, तत्रान्यत्वाविशेषात्तन्तुगतकारकव्यापारेण घटोत्पत्तिरपि प्रसज्येत, नैवं - यत्कार्योत्पादनशक्तं यत्कारणं तद्गतकारकव्यापारेण तत्कार्योत्पत्तिसिद्धेः। अत्रोच्यते - सत एव मृद्धिरण्यादेर्द्रव्यस्य संस्थानान्तरभाक्त्वमात्रेण बुद्धिशब्दान्तराद्युपपत्तेर्न तावन्मात्रेणासत्कार्यवादप्रसङ्गः, तत्तदवस्थस्य तस्यैव द्रव्यस्य ते ते शब्दाः तानि तानि च कार्याणीति द्रव्यस्य तत्तदवस्थतायाः कारकव्यापारायत्तत्वेन तस्यार्थवत्त्वोपपत्तिः, अभिव्यक्त्यनुबन्धीति चोद्यानि तस्या अनभ्युपगमादेव परिहृतानि, उत्पत्त्यभ्युपगमेऽपि सत्कार्यवादो न विरुध्यते। सत एवोत्पत्तेः। ननु विप्रतिषिद्धमिदमभिधीयते-पूर्वमेव सत् तदुत्पद्यते चेतीति चेत् न, द्रव्यस्योत्तरोत्तरसंस्थानयोगो हि पूर्वपूर्वसंस्थानसंस्थितस्य विनाशः। स्वावस्थितस्य तु उत्पत्तिः, अतः सर्वावस्थस्य द्रव्यस्य सत्वात् सत्कार्यवादो न विरुध्यते, संस्थानस्यासत उत्पत्तावसत्कार्यवादप्रसङ्ग इति चेत् - असत्कार्यवादिनोऽपि उत्पत्तेरनुत्पत्तिमत्वे सत्कार्यवादप्रसङ्गः। उत्पत्तिमत्वे च अनवस्था, अस्माकं तु अवस्थानामुत्पत्तिस्थानीयानां पृथक् प्रतिपत्तिकार्ययोगानर्हत्वात् अवस्थावत एवोत्पत्त्यादिकं सर्वं निरवद्यमिति। एवं ममायं देहः, शिरसि मे दुःखं, पादे मे वेदनेत्यपरोक्षमेव देहात्मनोर्व्यतिरेकप्रतीतेः[2]। 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' (कठ.उ.5-13) इत्यादि शास्त्राच्च तदवगतेः। 'पुमान्न देवो न नरः' इत्यादिना देवत्वादिप्रतिषेधाच्चात्मनां भिदावादोऽज्ञानमूलः। 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते। एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते। नास्त्यकृतः कृतेन' (छान्दो.उ. 8-1-6) इत्यादिश्रुतेः। 'दाक्षायणयज्ञेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यावृत्तिविधानाच्च कर्मफलानित्यत्वावगतेः तन्नित्यत्ववादोऽप्यज्ञानमूलः। "यस्सर्वज्ञस्सर्ववित्" (मुण्ड.उ.2-2-7) 'सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः' (छान्दो.उ.8-1-5) 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते। स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'(श्वेता.उ.6-8) 'करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वेता. उ. 6-9) इत्यादीनि बहुप्रमाणानि ईश्वरेऽवगन्तव्यानि, इत्थमेषां वादानामज्ञानमूलत्वमुक्तम्। अथ भगवज्ज्ञानवतां तादृशभ्रमाभावमाहुः - त्वयीति। ततः पूर्वप्रस्तुतसदसच्छब्दवाच्यप्रकृतिपुरुषाभ्यां परत्र परस्मिन् विलक्षण इति यावत्। अवबोधरसे ज्ञानस्वरूपे त्वयि यथावद्विज्ञाते यातीति शेषः। सः अबोधः तन्मूलो वादभेदश्च नास्तीत्यर्थः ॥ २५ ॥

1. B. यथोन्मुखे 2.T.W. °कर

**विज०** हे दुरवगम! आत्मतत्त्व! दुर्ज्ञेयनिजस्वरूप! चरितलक्षणमहामृताब्धेः परिवर्तनेन मथनेन परिश्रमणाः चरगतिभक्षणयोः इत्यतः त्वत्तत्त्वावगतिहेतुर्वेदश्चरितशब्देनोच्यते। स एव महासमुद्रः तस्य परिवर्तनं परिलोडनं मथनमिति यावत्। तेन परिश्रान्ता इति यतः अतो भवमध्याद्विनिश्वसिताः मुक्ताः निगमानामावपनं स्थानं निगमानां ततोऽभिव्यक्ते तत

एव फलप्रदत्वाद्विषयत्वाच्च निगमावपनं त्वां विमृश्य यज्ञादिभिः यजन्ते उपासते सजातीयविजातीयप्रत्ययानन्तरितत्वेन ध्यायन्ति। कीदृशः? निगमविषयेषु आयतवाङ्मनसः विस्तृतवाङ्मनोव्यापारा इत्यनेन विज्ञातभगवत्तत्त्वा इत्युक्त भवति। 'न किञ्चिदभिवाञ्छन्ति यतयः सुसदाश्रयाः प्रेष्ठस्य रमणस्याप्यै प्रियवद्देहदृष्टयः' (विमदश्रुतिः) इत्यर्थद्योतकस्य न परिलषन्तीत्यस्यायम्भावः - ईश्वरेत्यनेन श्रुत्यन्तरमत्राप्यनुकूलं लक्षयति केचिद्यतयः किञ्चिदपवर्गलक्षणमुपासनाफलमपि न परिलषन्ति न वाञ्छन्ति। तत्र निमित्तमाह - चरणेति। चरणसरोजसेविनां हंसानां सन्न्यासिनां कुलस्य समूहस्य सङ्गेन सेवालक्षणेन विसृष्टगृहाः गृह्यन्ति त्यक्तुं न मुञ्चन्तीति गृहाः भार्यापुत्रादयो विसृष्टाः संत्यक्ता यैस्ते। अनेन सुसदाश्रया इति विवृतम् ॥ ८॥ २१ ॥

किञ्च त्वदनुपथं त्वन्मार्गानुकूलमार्गं त्वत्प्राप्त्यनुसारित्वादिदमात्मनः स्वस्य सुहृदनिमित्तबन्धुभूतं कुलायं शरीरं, प्रियवच्छरीरवच्चरन्ति पश्यन्ति। प्रिये सर्वतः प्रियतमे आत्मनि सर्वदानकर्तरि त्वयि तथाहि ते तत्तत् प्राप्ताऽऽपत्परिहारेण उन्मुखाः अभिमुखाः। 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः' (ईशा.उ.3) इति श्रुतिसूचिताभिप्रायस्य न च रमन्त्यस्यायमर्थः। असदुपासनयाऽन्यथोपसनया ब्रह्माहमित्याद्युपासनया आत्महनः आत्मानं घ्नन्तो जनाः असुर्यान् सुष्ठ्वारमणरूपत्वादसुरप्राप्तत्वाच्च नित्यनिरतिशयदुःखान्निरस्तसमस्तसुखान् लोकानाप्नुवन्तीत्येतन्न च रमन्त्यहो इत्यनेन लक्ष्यते। सुखलक्षणारतिरेव नास्तीति न, किन्तु नित्यदुःखमनुभवन्ति च। अहो आश्चर्यं, अन्यथोपासकानां अनर्थपरम्परा। किञ्च सदनुशयाः यस्मिन्ननुशयो येषां ते तथा। यत्रानुशयानाः तमस्येव भ्रमन्तीत्यर्थः। कुतोऽत्राह - अभवा इति। तत उत्थाय पुनर्जन्मवर्जिताः जन्माभावेन देहाभावे दुःखभोगाभाव इति तत्राह - कुशरीरभृत इति। नित्यदुःखभोगसाधनं कुत्सितं निन्द्यं शरीरं बिभ्रतीति ॥ ९॥ २२ ॥

न केवलं भगवद्द्वेषिणामेतादृशलोकप्राप्तिः अपि तु तद्भक्तद्वेषिणामपि तल्लोकावाप्तिरिति भावेनाह- निभृतेत्यादिना। निभृतं परिपूर्णं मोक्षार्थं हृदयं ज्ञानं यस्य स निभृतमोक्षहृदयो वायुः तेन योगेन नियोगेन युजो युक्ताः नियमितास्सन्तः ये मुनयो ज्ञानिनःहृद्यनात् हृदयं भगवन्तमुपासते तेषां मुनीनामरयो द्वेषिणोपि तदेव श्रीनारायणद्वेषिप्राप्यं तमो ययुरित्यन्वयः। 'नित्यदुःखसुसम्पूर्णं निरस्तानन्दमव्ययं तमो यान्त्यन्यथा ज्ञानद्वेषाद्वा हरिसंश्रये' (प्रमाणसंहतायाम्) हरिभक्तजने - 'निभृतो मोक्षवित्प्राणः तद्योगात्तत्प्रसादतः। जानन्ति परमं देवं नान्यथा तु कथञ्चन' (भागवत संहितायाम्) इति स्मरणात् इत्युत्तरश्लोकान्वयि। 'त्वं वेत्थ नापरस्ते स्वरूपं न नित्यवाङ्नागभोगप्रियस्य कुतो ब्रह्मा प्राप्तलोकश्च देवास्तथा प्राप्ता जनिमन्तो यतोऽस्मात्' (साङ्कृतिश्रुतिः) इति साङ्कृतिश्रुत्यर्थभूतस्यायमर्थः। हे स्मरणात्, स्वनुरागः सुष्ठु अनुरागः स्नेहो यस्य स तथा तस्य सम्बुद्धिः स्वनुरागेति। स्मरणादेव अनुरक्त इत्यर्थः। यत्तव सच्चिदानन्दलक्षणं तत्ते स्वरूपं भवान् वेद नान्यो वेत्ति। अनेन त्वं वेत्थ नापरस्ते स्वरूपमिति विवृतम्। भवत्यो मत्स्वरूपं विदन्ती हीति तत्राहुः - उरगेन्द्रेति। उरसा गच्छन्तीति उरगाः तेषामिन्द्र

उरगेन्द्रः तस्य भोग एव दण्डः तस्मिन् विषक्ता धीर्यस्य स तथा तस्य ते तव अङ्घ्रिसरोजसुधामुद्दिश्य वयं नित्यवाचोपि समा समदृशः सर्वमाहात्म्यस्य वेदैरपि वक्तुमशक्यत्वादसमदृशः माहात्म्योपमितज्ञानाभावाः। वेदागम्यमाहात्म्यस्यापि वेदैरेव गम्यत्वात् समदृशः तुल्यज्ञानाः ॥ १०॥ २३॥

अत इह जगति अन्यः को नु पुमान् माहात्म्यं वक्तुं वेद। अमुना नित्यवाङ्नागभोगप्रियस्य कुत इत्येतद्विवृतं को ह्यस्मान् वेदान् त्वां च ऋते अपेतजन्मलयः उत्पत्तिनाशरहितः यतस्त्वत्तः ऋषिर्ब्रह्मा उदगादुत्पन्नः। अतो जन्मादिरहितो न भवति। देवगणा अपि उक्तगुणा नेत्याहुः - ब्रह्मणोन्वनन्तरं उभये प्राप्तपदाः प्राप्यपदाश्च देवगणाः। अनेन कुतो न 'ब्रह्माप्राप्तलोकाश्च देवास्तथाप्राप्ताजनिमन्तो यतोऽस्मात्' (साङ्कृतिश्रुतिः) इति श्रुतिर्व्याख्याता। महिम्नः सर्वशोनुक्तेः वेदाश्चसमदर्शिनः तस्यापि वेदगम्यत्वात् तथैव समदर्शिन इति वाक्यं चानुगृहीतम्। 'नासदासीन्नोसदासीत्तदानीन्नासीद्रजोनो व्योमापरो यत्। किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्' (यजु.आर.2-8-9) इत्यादिश्रुत्यर्थानुरूपस्य तर्हिन सन्न चासत इत्यस्य श्लोकस्य भावः कथ्यते। यदा भवान्प्रलये शास्त्रं अध्यापकपरम्पराप्राप्तं वेदमपकृष्य आत्मनि निधाय शयीत अध्येत्रभावे शास्त्रप्रवृत्त्यभावात् तर्हि तदा सत्स्थूलमण्डादिकं नासीत्। असत्सूक्ष्मं महदादिकं च नासीत्। उभयम् अग्निरापश्च न च कालजवः जराद्यापादक लक्षणः किं बहुना? तत्र किमपि वस्तु नासीदित्यर्थः ॥ ११॥ २४॥

हे अज! असतः सूक्ष्मरूपात् त्वत्तः सतः स्थूलरूपस्य जगतः परमेश्वरपर्यन्तं यथाक्रमं जनिं मृतिं च सर्वस्मात्परमात्मनि भिदां भेदं च विपणो व्यवहारः। त्वत्सेवालक्षणधने दत्ते सुखपदार्थलक्षणफलं देयमिति सङ्कल्पलक्षण, इत्यतः फलं लक्ष्यते विशिष्टफलापेक्षामृते ये स्मरन्ति तेषां ध्वनिं उपाविश वाचि सन्निहितत्वेन तदुक्तविद्यया ज्ञातुं शक्योऽसीत्यर्थः. तत्रेत्थम्भावमाहुः - आरुवतः वेदादिभिः स्तुवतो वायोः प्रसादात् तथा स्मरन्ति नान्यथेत्यर्थः। सर्ववेदादिरूपेण प्राणस्यारुवतः सदा प्रसादाद्ये विजानन्ति सूक्ष्मात्स्थूलजनिं क्रमाति मृतिं च सर्वजीवादेरीशस्य व्यतिरिक्ततां जानन्ति। ये निराकाङ्क्षास्तेषां वाचि जनार्दन इति सूक्ष्माणि महदादीनि स्थूलान्यण्डादिकानि च, 'उभयं त्वग्निरापश्च न किञ्चित्प्रलयोऽभवत्' (प्रकाशिकायाम्) इति वचनादस्य श्लोकस्यायमेवार्थः। न सदसद्वैलक्षण्यार्थ इति। 'सत्त्वादिकं देहमथो मनश्च सत्त्वादिबद्धं च वदन्त्यसन्तः। परं पुमांसं न सुरास्तु तैर्हि जीवाः सुदृष्टाः परमार्थरूपाः' (सुरायणश्रुतिः) इति श्रुत्यर्थोपिनिबद्धस्य त्रिगुणमय इत्यस्यायमर्थः -पुमान् जीवः त्रिगुणमयः सत्त्वादिगुणबद्ध इति जीवस्यापि त्रिगुणबद्धता अबोधकृता अज्ञानकृता यतस्तस्मादवबोधरसे त्वयीति सप्तमी षष्ठ्यर्थे ॥ १२॥ २५॥

1- -1 B. omits

सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजा त्सदभिमृषन्त्यशेषमिदमात्मतयाऽऽत्मविदः ।
न हि विकृतिं[3] त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयाऽवसितम्[4] ॥ २६ ॥

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्व[5] निकेततया त[6-] उत[-6] पदाक्रमन्त्यविगणय्य शिरोनिर्ऋतेः ।
परिवयसे पशूनिव गिराऽविबुधानपि तां स्त्वयि कृत[7] सौहृदाः खलु[8] पुनन्ति[9] न ये विमुखाः ॥ २७ ॥

त्वमकरण[10-]स्वराडखिलकारक[-10] शक्तधर स्तव बलिमुद्वहन्ति समुदन्त्यजया[11-]निमिषाः[-11] ।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः ॥ २८ ॥

स्थिरचरजातयस्स्युर जयोत्थ[12]निमित्तयुजो विहर[13] उदीक्षया[14] यदि परस्य विमुक्त[15] ततः ।
न हि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवे द्वियत इवापदस्य[16] तव शून्यतुलां[17] दधतः ॥ २९ ॥

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता[18-] स्तर्हि[-18] न शास्यतेति नियमो ध्रुव[19-] नेतरथा[-19] ।
अजनि[20-] च यन्मयं तदविमुच्यनियन्तृभवे[-20] त्सममनुजानतां[21] यदमतं[22-] मतदुष्टतया[-22] ॥ ३० ॥

1- -1 M. Ma भवत्यसतामनुजादभो विमृ° 2. M. Ma °र्त° 3. M.Ma °तं 4. M. Ma °रसितम्° 5. M. Ma °त्त° 6- -6 M. Ma ननु ते 7. M.Ma दृढ 8. M.Ma ननु 9. M.Ma ते 10- -10 K.T.W. त्वमकरण° ; M. Ma त्वमेकः 11- -11 M. Ma दन्ति च ये 12. M. Ma °येत्व° 13. M.Ma विरह 14. M.Ma °येद्यदि 15. M.Ma सतः 16. M .Ma °त्रय° 17. M. Ma °ल संद° 18- -18 M. Ma °ततो नहि न 19- -19 धृवते च तथा 20- -20 M. Ma अजनपरिमुच्यतेऽत्र भवात्सततात् 21. K.T.W. °वि° 22- -22 M. Ma °ता ततमनन्तम°

**श्रीध०** ननु यद्यसन्नोत्पद्यते, यदि च त्रिगुणमयः पुरुषो न भवति, तर्हीदं प्रपञ्चजातं पुरुषश्च पृथङ्नास्तीत्युक्तं स्यात्। कथं तर्हि तयोः सत्वेन प्रतीतिरत आह - सदिव मन इति। मनो मनोमात्रविलसितमिदं त्रिवृत् त्रिगुणात्मकं प्रपञ्चजातमसदेव सदिव विभाति। कथमिति चेत् तत्राह - त्वयीति । त्वय्यधिष्ठाने अधिष्ठानसत्तया सद्वत्प्रतीयत इत्यर्थः। न केवलमिदमहङ्कारास्पदं किन्तु आमनुजात्। मनुजः पुरुषः। अभिविधावाकारः पुरुषमभिव्याप्येति। पुरुषस्यापि पृथक्सत्वप्रतीतिः मनोमात्रविलसितेत्यर्थः। तथा च श्रुतिः - 'असतोऽधिमनोऽसृजत' "मनः प्रजापतिमसृजत। प्रजापतिः प्रजा असृजत। तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठितं यदिदं किञ्च" इति। नन्वात्मविदामपि विश्वं सदेव स्फुरत्यतः कथमसत्स्यादत आह सदभिमृशन्तीति। आत्मविदस्त्वशेषमिदं भोक्तृभोग्यात्मकं विश्वमात्मतयैव सदभिमृशन्ति सदिति जानान्ति। आत्मकार्यत्वान्न पृथगित्यर्थः। तथाहि यदुपादानकं यत्कार्यं भवति तत्तेनैव रूपेण प्रतीयते उपादीयते चेति। लोकाचारेण

दर्शयति - न हि विकृतिमिति। कनकस्य विकृतिं कुण्डलादिकं कनकार्थिनो न त्यजन्ति। अत्र हेतुः - तदात्मतया कनक रूपत्वेनेत्यर्थः। अतः स्वकृतमिदं विश्वमनुप्रविष्टं च पुरुषरूपात्मतयैवावसितं निश्चितम्। 'यत्सत्तयाः सदाऽऽभाति जगदेतदसत्स्वतः। सदाभासमसत्यस्मिन्भगवन्तं भजाम तम्" ॥ १३॥ २६॥

ननु 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्ति.उ.2-1-1) 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृह.उ.4-4-9) "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (कठ.उ.4-10) इत्यादिश्रुतिभिरेवम्भूतस्य भगवतः प्रतिपादनात्तज्ज्ञानं सुकरमेवेति कृतं भक्त्या अत आह - तव परि ये चरन्तीति। तवेति कर्मणि षष्ठी। त्वां ये परिचरन्ति छन्दसि व्यवहिताश्चेति यच्छब्देन व्यवधान मदोषः। केन रूपेण? अखिल सत्त्वनिकेततया अखिलानि सत्त्वानि निकेतो यस्य स तथा तस्य भावस्तत्ता तया सर्वभूतावासतयेत्यर्थः। उत अत एव अविगणय्य तिरस्कृत्य त एव निर्ऋतेः मृत्योः शिरो मूर्धानं पदा पादेनाक्रमन्ति मृत्योर्मूर्ध्नि पदं दधति। ते तरन्ति मुच्यन्त इत्यर्थः। ये पुनर्विमुखा अभक्तास्तान् गिरा वाचा पशूनिव विबुधान् विदुषोऽपि परिवयसे बध्नासि। कुतः? त्वयि कृतसौहृदाः त्वयि कृतं सौहृदं प्रेम यैस्ते खलु निश्चितं पुनन्ति पवित्रयन्ति। आत्मानमन्यानपीति शेषः। नेतरे। तथा च श्रुतिः - "तस्य वाक्तन्तिर्नामानि दामानि। तस्येदं वाचा तन्त्या नामाभिर्दामभिः सर्वं सितम्" इति। अयमभिप्रायः - सत्यमेवम्भूतमात्मानं श्रुतयः प्रतिपादयन्ति तत्र च यद्यपि वस्तुनोऽपरोक्षत्वादपरोक्षमेव ज्ञानमुत्पद्यते। तथा प्यसम्भावना विपरीतभावनातिरस्कृतत्वात् मलिनचित्तेषु परोक्षमिव भवतीति नापरोक्षसंसारभ्रम निवृत्तिसामर्थ्यम्। भगवत्परिचर्यया तु सम्यगमलचित्तानां तत्प्रसादेन लब्धापरोक्षज्ञानानामयत्नत एव करकलितो मोक्ष इति च। तथा श्रुतयः -'देहान्ते देवः परं ब्रह्म तारकं व्याचष्ट' 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' (कठ.उ.2-22) 'यस्य देवे परा भक्तिः' (श्वेता.उ.6-23) इत्यादयः। 'तपन्तु तापैः प्रपतन्तु पर्वतादटन्तु तीर्थानि पठन्तु चागमन्। यजन्तु यागैर्विनयन्तु योगैर्हरिं विना नैव मृतिं तरन्ति" ॥ १४॥ २७॥

ननु यद्यखिलसत्त्वे निकेतत्वेन भगवतः सेव्यत्वमुच्यते तर्हि तत्करणसम्बन्धात् कर्तृ भोक्तृत्वे प्रसज्येयाताम्, न वस्तुतस्तथा त्वमिति चेत् तर्हि जीवानामपि तत्तुल्यत्वमिति केन विशेषेण पुनः सेव्यसेवकत्वमिति इमामाशङ्कां परिहरन्त्यः "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकीज्ञानबलक्रिया च' (श्वेता.उ.6-8) "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्" (श्वेता.उ.3-19) इत्याद्याः श्रुतयः स्तुवन्तीत्याह - त्वमकरण इति। करणसम्बन्धरहित एव अखिलकारकशक्तिधरः अखिलानां प्राणिनां यानि कारकाणीन्द्रियाणि तेषां शक्तीः धारयति प्रवर्तयतीति तथा। कुतः? स्वराट् यतः स्वेनैव राजसे दीप्यसे। न हि स्वतस्सिद्धज्ञानशक्तेरिन्द्रिया पेक्षेत्यर्थः। अतस्तव बलिमुद्वहन्ति पूजां कुर्वन्ति। अजयाऽविद्यया सहितास्तया वृता इत्यर्थः। अनिमिषा देवा इन्द्रादयस्तत्पूज्या विश्वसृजो ब्रह्मादयोऽपि। यथा सस्त्रीका एव किङ्कराः स्वामिनं सेवन्ते

तथा अविद्यायुक्ता देवादयस्त्वामिति लोकोक्तिः। समदन्ति च मनुष्यैर्दत्तं हव्यकव्यादिलक्षणं बलिं भक्षयन्ति। अत्र दृष्टान्तः - वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिवेति। यथा वर्षभुजः खण्डमण्डलपतयोऽखिलक्षितिपतेर्महा मण्डलेश्वरस्य स्वप्रजादत्तबलिभुजो बलिमुद्वहन्ति तद्वदिति। कथं बलिं वदन्ति तदाह - विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिता इति। त्वत्तो भीताः सन्तो यस्मिन् कर्मणि ये नियुक्तास्ते तत्तत्कुर्वन्तीति। त्वदाज्ञापालनमेव बल्युद्वहनमित्यर्थः। तथा च श्रुतिः - "भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चमः"। (तैत्ति.उ.1-8) इति। "अनिन्द्रियोऽपि यो देवः सर्वकारकशक्तिधृक्। सर्वज्ञः सर्वकर्ता च सर्वसेव्यं नमामि तम्" ॥ १५॥ २८॥

तदेवं करणप्रवर्तकमीश्वरं करणपरतन्त्रा नरा भजन्तीत्युक्तम्, न केवलमियदेव कारणं तत उत्पन्नत्वेनापि तत्परतन्त्रत्वात् इति वदन्ति "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे श्लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति" (बृह.उ.2-1-20) इत्याद्याः श्रुतय इत्याह- स्थिरचरजातय इति। हे विमुक्त! नित्यमुक्त! यदि तवाऽजया मायया विहरो विहारः क्रीडा भवति तदा स्थिरचरजातयः स्थिराश्च चराश्च जातयो जात्यालिङ्गिता देहा येषां ते जीवाः स्युः भवेयुः। कथम्भूतस्य ? ततोऽजातः परस्य दूरे वर्तमानस्यासङ्गस्येत्यर्थः। कथं विहारः उदीक्षया ईक्षणलेशेन । ननु मयि लीनानां जीवानां कथं जन्म स्यात्तत्राह - उत्थनिमित्तयुज इति। ईक्षयैवोत्थान्युत्थितान्याविर्भूतानि निमित्तानि कर्माणि तद्युक्तानि लिङ्गशरीराणि वा तैर्युज्यन्त इति ते तथा। ननु किं निमित्तोत्थानेन मदिच्छयैव भवन्तु, न त्वयि वैषम्याभावाविष्टमसृष्टेरयोगादित्याह - परमस्येति। तव परमस्योत्तमस्य परमकारुणिकस्य वियत इवाकाशसदृशस्य, समस्येत्यर्थः। कश्चिदपरः स्वीयः परोऽस्वीयश्च न भवेत्। न सम्भवतीत्यर्थः। "असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत" (तैत्ति.उ.2-7) इत्यादिश्रुत्या शून्य पूर्वकत्वमिव प्रतीयते तदर्थं पुनर्विशिनष्टि। शून्यतुलां दधतः शून्यसाम्यं भजतः। तदेव दर्शयितुं पुनर्विशिनष्टि - अपदस्येति। न पद्यत इत्यपदस्तस्य वाङ्मनसयोरगोचरस्येत्यर्थः। "तदीक्षणवशक्षोभमायाबोधित कर्मभिः। जातान्संसरतः खिन्नान्नृहरे पाहि नः पितः" ॥ १६ ॥ २९॥

एवं तावत्परमात्मनः सकाशात् अविद्याकृतकार्योपाधयस्तदंशा एव जीवा जाताः संसरन्तो भवन्तीत्युक्तम्। तत्र यद्येकाऽविद्या तदा सर्वजीवस्याप्येकत्वादेकमुक्तौ सर्वमुक्ति प्रसङ्गः। अथ नानाऽविद्यास्तर्हि तस्यैवांशान्तरेण संसारानपगमादनिर्मोक्ष इत्यादि वितर्कबलेन वस्तुत एव जीवाः जात्यानानात्मानस्तत्र च तेषामणुत्वे देहव्यापि चैतन्यं न स्यात्। देहपरिमाणत्वे च मध्यमपरिमाणानां सावयवत्वेनानित्यत्वं स्यात् । अतः सर्वगता नित्याश्चेति केचन मन्यन्ते। तत्र न तावदुक्तदोषप्रसङ्गः। अविद्याभेदेन तच्छक्तिभेदेन वा बद्धमुक्तव्यवस्था सम्भवात्। ईश्वरस्य तु न केनाप्यंशेन

संसारशङ्केत्युक्तमेव। प्रसिद्धं चात्मैक्यं सर्वश्रुतिषु। किञ्च इमं पक्षमन्तर्यामि ब्राह्मणमपि न सहत इत्याह - अपरिमिता इति। वस्तुत एवानन्ता ध्रुवास्तेनैव रूपेण नित्याः सर्वगताश्च तनुभृतो जीवा यदि स्युः तर्हि तेषां समत्वाच्छास्यता न घटत इति कृत्वा हे ध्रुव! नियमो नियमनं त्वया न स्यात् इतरथा तु घटेत। कथम्? यन्मयमुपाधितो यद्विकारप्रायं यज्जीवाख्यमजनि जातं तत्तस्य स्वविकारस्य नियन्तृ नियामकं भवेत्। अविमुच्य कारणतयाऽपरित्यज्य। किं तत्? सममनुस्यूतम्। ननु किं यत्तच्छब्दैर्ज्ञायते चेत् उच्यतामिदं तदित्यत आह - अनुजानतां यदमतमिति। जानीम इति वदतां यदमतमविज्ञातप्रायम्। अविषयत्वात्। तथा च श्रुतिः - 'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञात मविजानताम्' (केन.उ. 2-3) 'अवचेनैनैव प्रोवाच' सह तूष्णीं बभूव इत्यादिः। किञ्च मतस्य ज्ञातस्य दुष्टतया दोषश्रवणात्। तथा च श्रुतिः - "यदि मन्यसे सुवेदेति दहमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य देवेषु' (केन.उ.2-1) इत्यादि। तस्माद्यत्तच्छब्दानवद्योत्यम तर्क्यं किमपि सर्वानुस्यूतत्वेन समं नियन्तृ भवेदित्यर्थः 'अन्तर्यन्ता सर्वलोकस्य गीतः श्रुत्या युक्त्या चैवमेवावसेयः। यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्नृसिंहः श्रीमन्तं तं चेतसैवावलम्बे' ॥ १७ ॥ ३०॥

1. B .J. सत्त्वतः 2- -2 वादैः 3- -3 B. J. Omit 4. Ml.V. परिपा° 5. Ml.V. बलिवह° 6- -6 B. J. Omit 7- -7 Ml. V. °ब्दाबोध्यम°

**वीर०** किमबोधनिदानमित्यपेक्षायां मनोदोष एवेति। किं तन्निवृत्तिनिदानमित्यपेक्षायां भगवदुपासनात्मकयोग एवेति, विशुद्धान्तःकरणास्तु सर्वमिदं जगत् भगवदात्मकतया सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्टभगवत्कार्यतया च तदन्यदेव पश्यन्तीति वदन्त्यः सत्कारणवादरूपदूषण परिहारपूर्वकमसत्कारणवादासाधारणानुपपत्तिमाहुः-**सदिवेति**। आमनुजात् मनुजपर्यन्तात् मनुष्य पर्यन्तानां देहिनामित्यर्थः। त्रि-वृत् त्रिगुणात्मकं मनस्सदिव सत्त्वमर्थक्रियाकारित्वं कार्यकरमिव प्रतीयमानमपि त्वय्यसद्भाति कार्यकरं न भवति। चिदचिदात्मक जगद्विशिष्टं तदात्मानं त्वां न प्रकाशयतीत्यर्थः। आत्मानं त्वां विदन्त्युपासत इत्यात्मविदः त्वदुपासनात्मक योगपरिशुद्धान्तःकरणास्तु अशेषं कृत्स्नमिदं जगत् आत्मतया आत्मशब्दः परमात्मपरः 'अजयाऽऽत्मना च चरतः' इत्युक्तप्रकारेण सदभिमृशन्ति, सच्छब्दवाच्यसूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं कारणं ब्रह्मैव कार्यजगद्रूपेणावस्थितम्। अतः ततोऽनन्य दित्येवमुपास्य परब्रह्मविशेषणतया उपास्य कोट्यन्तर्गतत्वाज्जगदुपादेयमेव पश्यन्तीत्यर्थः। ब्रह्मात्मकत्वेन जगतो हेयत्वाभावे दृष्टान्तमाहुः नहीति। कनकस्य विकृतिं विकारं कटक मकुटादिकं न हि त्यजन्ति। किन्तु तदात्मतया प्रकृतिभूतकनकानन्यतया उपाददत एवेति शेषः। कार्यावस्थायामपि कनकाव्यतिरेकादिति भावः। यदि कार्यं कारणादन्यत्, तदा कनकस्य विकृतिं त्यजेयुरित्यसत्कार्यवादेऽनुपपत्तिरभिसंहिता। एवं जगदुपादेयमेवेत्याहुः

- स्वकृतमिति। स्वरूपपरिणामशङ्काव्यावृत्त्यर्थमनु प्रवेशोक्तिः। अनेन स्वपक्षे दूषणोद्धारः, स्वशब्दः परमात्मपरः, स्वकृतं जगत् तेन परमात्मना अनुप्रविष्टं व्याप्तम्। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तैत्ति.उ.2-6) इति हि श्रुतिः। अत इदं जगदात्मतया अवसितम् उपास्य परमात्मशब्दवाच्यवस्त्वन्तर्गततया सुखरूपं निश्चितमित्यर्थः। 'तदात्मानं स्वयमकुरुता' (तैत्ति.उ.2-7) यद्वै तत्सुकृतम्। "रसो वै रसः" (तैत्ति.उ.2-7) इति हि श्रुतिः। यद्वा आत्मतया अन्तः प्रविश्य धारकतया अन्तः प्रविश्य धारकत्वं ह्यात्मशब्दार्थः। तेन अवसितं व्याप्तम्। अनेन आकाशादिवन्न तृष्णीं व्याप्तिः। किन्तु धारकतयेत्युक्तम्। अनेनेदं सदभिमृशन्तीत्युक्तं सामानाधिकरण्यं शरीरात्मभाव निबन्धनमिति फलितम् ॥ २६ ॥

नन्विदमात्मविदस्सदभिमृशन्तु, ततः किमत आहुः - **तवेति**। इत्थमिदं सदभिमृशन्त एव मृत्युं तरन्तीति भावः। तथाहि - अखिलसत्त्वानां सर्वेषां जन्तूनां निकेततया धारकतया ये तव परिचरन्ति अखिलान्तरात्मत्वेन त्वां सेवन्ते उपासत इति यावत् त उत त एव निर्ऋतेः मृत्योः शिरो मूर्धानमविगणय्य अनादृत्य पदा पादेन आक्रामन्ति मृत्योर्मूर्ध्नि पदं दधति ततो मुच्यन्त इत्यर्थः। तर्हि इत्थमनभिमृशतां का गतिरित्यत आहुः - परिवयस इति। अविबुधानिति च्छेदः, अविदुषः सार्वात्म्य ब्रह्मोपासनरहितान् गिरा शास्त्रात्मकसम्यगुपदेशेन परिवयसे अय पय इत्यादिदण्डकपठितस्य वयतेः' वी गति व्याप्ति' इत्यस्य ण्यन्तस्य वा इदं रूपम्। अस्य गत्यर्थकस्य ज्ञानार्थकत्वात् बोधयसीत्यर्थः। यद्वा - परिवयसे गमयसि सन्मार्गं नयसीत्यर्थः। पशूनिव यथा दुर्दमान् पशून् नासिकासूत्रादिभिः सम्यक् शिक्षयन्ति, तद्वत्, शास्त्रात् त्वामित्थम्भूतं ज्ञात्वा क्रमेणोपासीना मुच्यन्त इति भावः। परिवयस इति लण्मध्यमपुरुषेण निरतिशयकृपावत्त्वं सर्वानुजिघृक्षुत्त्वं च सूचितम्। तर्हि शास्त्रानधिकारिणां का गति रित्यत आहुः - तानिति। ये त्वयि न विमुखाः वैमुख्यरहिताः अत एव कृतं सौहृदं यैस्ते त्वद्भक्ताः तानज्ञान् शास्त्राधिकाररहितानपि पुनन्ति खलु, भागवतसेवया तेऽपि मुच्यन्त इति भावः। येषां सत्सेवाऽपि न रोचते, तेषामधोगतिरेवेति तात्पर्यम् ॥२७॥

ननु सर्वकारणत्वान्मदनन्यत्वेन अभिमृशन्त एव मृत्योश्शिरः पादेनाक्रमन्तीति सत्यं, यदि कारणत्वोपास्य त्वनियतसार्वज्ञ्यसर्वशक्तित्व परत्वादि गुणपौष्कल्यं स्यादित्यपेक्षायां तत्पौष्कल्य माहुः - त्वामिति। अरं शीघ्रं सङ्कल्पमात्रेण करोतीत्यरकरः सङ्कल्पमात्रपरिक्लृप्त विश्वः जगत्सर्गापादकसङ्कल्पात्मकज्ञानाश्रय इति यावत्। अनेन सार्वज्ञ्यं फलितम्। त्वमकरण इति पाठान्तरम्। तदा करणायत्त ज्ञानरहितः 'पश्यत्यचक्षुस्सशृणोत्यकर्णः' (श्वेता.उ.3-19) "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" (श्वेता.उ.6-8) इति हि श्रुतिः। कार्यं शरीरं करणमिन्द्रियं च न विद्यते, प्राकृत शरीरेन्द्रियतदायत्तज्ञानरहितः नित्यनिरूपाधिक सार्वज्ञ्याश्रय इति तदर्थः। सार्वज्ञ्यस्य निरुपाधिकत्वस्फोरणाय स्वराडित्युक्तम्। स्वराट् स्वतन्त्रः अकर्मवश्यः कर्मवश्यानां प्रेरकश्च स्वातन्त्र्यस्य सप्रतियोगिकत्वात्, अखिलकारकशक्तिधरः निमित्तोपादानकारणसम्प्रदानापादानाधिकरणाद्यात्मकानि

कारकाणि तच्छक्तीश्च धरतीति तथा सकलकारक तच्छक्तिनिर्वाहक इत्यर्थः। अथ परत्वमाहुः - तवेत्यादिना। अजया अजाशब्दाभिधया प्रकृत्या सहिता इति शेषः। प्रकृति परतन्त्राः अनिमिषा देवाः वायुसूर्याग्नीन्द्रादयः विश्वसृजः प्रजापतयश्च ये ये यत्र यत्र व्यापारे अधिकृतास्ते सर्वे भवतश्चकिताः भीतास्सन्तः तव बलिं स्वस्वाधिकारानुवर्तनात्मिकां पूजाम् उद्वहन्ति विदधति, समदन्ति त्वया दत्तान् भोगाननुभवन्ति च। यथा वर्षभुजो भारतादिवर्षभोक्तारः अखिलक्षितिपतेस्सार्वभौमस्य बलिं विदधति, तद्वत्। अत्र 'भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चमः (तैत्ति.उ.1-8) इति। "भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः" (तैत्ति.उ.1-8) "यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निस्सृतम्। महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति" (कठ.उ.6-2) इति श्रुत्यर्थोऽनुसन्धेयः। प्राणशब्दनिर्दिष्टे परमात्मनि स्थितानां सर्वेषां ततो निस्सृतानां तस्मात्सञ्जातमहाभयनिमित्तमेजनं कम्पनमस्ति। तच्छासनाति वृत्तौ किं भविष्यतीति महतो भयाद्वज्रादिवोद्यतात् कृत्स्नं जगत्कम्पत इति तदर्थः। महद्भयं वज्रमुद्यतमिति पञ्चम्यर्थे प्रथमा ॥ २८ ॥

इत्थं कल्याणगुणपौष्कल्यमुक्तं तर्हि किं हेया अपि गुणास्सन्तीत्यपेक्षायां ते न सन्तीति वदन्त्यः कथमवर्जनीयप्रकृतिसम्बन्ध निवृत्तिरित्यपेक्षायां हेय प्रत्यनीकभगवत्कटाक्षादेवेत्याहुः - **स्थिरेति**। स्थावरजङ्गम संस्थानास्सर्वे प्राणिनः अजयोत्थनिमित्तयुजः प्रकृतिकार्यदुःखनिमित्तशरीरयुक्तास्स्युः सर्वेषामजासम्बन्धोऽवर्जनीय इति भावः। ततस्तत्र केषाञ्चिदेवम्भूतानां विरहो यदि कदाचित्प्रकृतिमोक्षस्सम्भवति चेत् परस्य तव उदीक्षया कटाक्षादेव मोक्षः स्यादित्यर्थः। उपायनिष्पत्तिस्त्वत्कटाक्षमूलैवेति भावः। नन्ववर्जनीय प्रकृतिसम्बन्धेषु कांश्चित्ततस्त्याजयन्नहं किं वैषम्यनैर्घृण्यादिहेयगुण इत्यतस्सम्बोधयन्ति - विमुक्तेति। हेयाद्विशेषेण मुक्त हेयप्रतिभटेत्यर्थः। एतदेव विशदीकुर्वन्ति - न हीति। परमस्य परः उत्कृष्टः कारुणिकः मा न विद्यते यस्मात् तस्य परमकारुणिकस्य तव कश्चिदपरः करुणाविषयः परस्तदविषयश्च नास्ति सर्वात्मनां शरीरभूतत्वादरक्षणीयो नास्ति, अतस्सर्वरक्षकस्त्वम् अतो न वैषम्यादि हेय सम्भावनाऽपि। तथापि व्याजमात्रावलम्बित्वान्न सर्वान् रूपमोचयसीति भावः। न केवलं वैषम्यनैर्घृण्यरूपहेयाभाव एव, अपि तु सर्वे हेयगुणा न सन्तीत्यभिप्रायेण सदृष्टान्तं विशिंषन्ति - वियत इत्यादिना। वियत इव आकाशस्येव अपदस्यास्थानस्य हेयानाश्रयस्य यथा सर्वत्र व्याप्य स्थितस्याप्याकाशस्य व्याप्यगतदोषानाश्रयत्वं, तद्वद्धेयानाश्रयस्योत्यर्थः। अत एव शून्यतुलां शून्योपमां दधतः सर्वव्यापिनोऽपि व्याप्यगतदोषस्पर्शाभावेनाविद्यमानतुलस्येत्यर्थः। विहर उदीक्षयेति पाठान्तरम्। तदाऽयमर्थः। ननु यद्यहमकरणः तर्हि जगत्स्रष्टृत्वाद्यनुपपत्तिः, स्वराजो जगद्व्यापारानुपपत्तिश्च। सकरणानां कर्मवश्यानां चैव कर्तृत्वव्यापारवत्त्वादि दर्शनादित्यत आहुः - स्थिरेति। यदि यदा विहरः विहारः, चिक्रीडिषोदेतीत्यर्थः। तदा परस्य प्रकृतिपुरुषाभ्यां विलक्षणस्य तव उदीक्षया 'बहु स्याम्' (तैत्ति.उ.2-6) इत्युक्त सङ्कल्पमात्रेणैव अजायाः

प्रकृतेस्सकाशादुत्थान्युदितानि तैर्युज्यन्त इति तथा। स्थिरचरजातयः स्थावरजङ्गमसंस्थानास्सर्वे प्राणिनस्स्युः उदीक्षयेत्यनेन कारणायत्तकर्तृत्व व्युदासः, विहर इत्यनेन कर्मायत्तव्यापारवत्त्वव्युदासः। अत एव जगत्सर्गरूप व्यापारस्य जीवव्यापारवत्सुखदुःखनिमित्तार्थत्त्वव्युदासश्च फलितः। तत्र हेतुत्वेन सम्बोधयन्ति विमुक्तेति। अस्य यथोक्त एवार्थः। जीवानां तु असर्वज्ञत्वासर्वशक्तित्वासत्यसङ्कल्पत्वादिहेयास्पदत्वान्न सङ्कल्पमात्रेण घटादि कर्तृत्वमिति भावः। कस्तर्हि ममोदीक्षितेत्यत आहुः - ततः यत एवं ततः परमस्य सर्वोत्कृष्टस्य परः पूर्वभावी उदीक्षिता नास्ति। परमकारणत्वादिति भावः। अत एव अपरः आकार्यभूतः कश्चिदपि नास्ति। सर्वस्य त्वदात्मकत्वादिति भावः। यद्वा अपरः अन्यः अशरीरभूतः कश्चिदपि नास्ति, सर्वस्य त्वदात्मकत्वादिति भावः। तर्हि व्याप्यगतदोषप्रसक्तिरित्यतस्सदृष्टान्तं विशिंषन्ति-वियत इवेत्यादि। यथोक्त एवार्थः ॥ २९ ॥

"स्थिरचरजातयस्स्युः इत्यनेन चराचरात्मक स्थूलसूक्ष्मशरीरान्तः प्रवेशयोग्यं जीवानां स्वाभाविकमणुस्वरूपत्वं सूचितं, तद्विरुद्धं जीवस्वरूप विभुत्ववादं दूषयन्ति - अपरिमिता इति। हे ध्रुव! तनुभृतो जीवाः अपरिमिता असङ्ख्येयाः ध्रुवाः नित्याश्च ते यदि सर्वगताः, तर्हि न शास्यता, सर्वेषां तुल्यत्वात्परमात्मना जीवान्तरेण वा शास्यता नियाम्यता नोपपद्यते, इतीत्थं नियमः उत्क्रान्तिगत्यादिविषयः नित्यं श्रूयमाणो नोपपद्यते, उत्क्रान्तिस्तावच्छ्रूयते - 'तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' (बृह.उ.6-4-2) इति। गतिरपि 'ये वै केचास्मल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छान्ति' (कौषि.उ. 1-2) इति। आगतिरपि 'तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' (बृह.उ. 4-4-6) इति। इतरथा अणुत्वे तु शास्यतानियमादय उपपद्यन्त इत्यर्थः। यद्यपि शरीरवियोगरूप त्वेनोत्क्रान्तिशरीरस्थितस्याप्यात्मनः कथञ्चिदुपपद्यते। गत्यागती तु न कथञ्चिदुपपद्येते। अतस्ते स्वात्मनैव सम्पाद्ये इत्यभिप्रायेण नियमशब्दः प्रयुक्तः। तथा च शारीरकं सूत्रं 'स्वात्मना चोत्तरयोः' (ब्र.सू.2-3-20) इति। चशब्दोऽवधारणे। तनुभृत इत्यनेन सर्वेषां सर्व शरीरसम्बन्धाविशेषा त्सर्वशरीरानुचरपुण्यपापानां सर्वसाधारणत्वेन व्यवस्थितफलदानायोगाच्छासनं नोपपद्यत इत्यात्मविभुत्ववादेऽनुपपत्तिरुद्घाटिता। अपरिमिता इत्यनेन जीवैक्यवादव्युदासः। तत्र बन्धमोक्षशिष्याचार्य ज्ञत्वाज्ञत्वादि व्यवस्थानुपपत्तिः दूषणमभिप्रेतम्। नन्वणुत्वपक्षेऽपि जीवानां परमात्मशास्यत्ता किं भृत्यानां राजशास्यतेवेत्यपेक्षायामन्तः प्रविश्यैवेत्याह - अजनि चेति। यन्मयमजनि व्यापकेन येन प्रचुरं जगदजनि जातं तद्ब्रह्म अविमुच्य अन्तस्स्थित्वैव नियन्तृ इति सम्यगजानतां यन्मतं तस्य मतस्य दुष्टत्वात् अमतम् अनभिमतं प्रामाणिकानामिति शेषः। सममनुजानताम् इति पाठान्तरम्। तदा समशब्दः सर्वपर्यायः समं सर्वं तत् जगत् अविमुच्य अन्तस्स्थित्वैव नियन्तृ इत्यनुजानतां प्रामाणिकानां यदमतमनभिमतं तदनादरणीयमित्य ध्याहारः। कुतः? तस्य मतस्य दुष्टतया प्रमाणविरुद्धतयेत्यर्थः। जगदजनीति प्रकृतिपुरुषात्मक जगत उत्पत्तिः उक्ता ॥३०॥

**विज०** त्रिवृत् त्रिगुणात्मकं मनः त्वयि तवापि सदिव विद्यत इत्यर्थः। असतां पक्षो भवति न तु सतां - 'सतां पक्षस्त्वयम्' इत्याहुः मनुजादय इति। आत्मविदः सम्यक् परमात्मतत्त्वज्ञानिनः मनुजानामादयो देवाः। भवतः त्रिगुणातीतत्वाद्भवानेव परमानन्दः त्वदन्यदिदमशेषं जीवजातम् आर्ततया स्थितमित्येव विमृशन्ति जानन्ति।

त्रैगुण्यदेहेन्द्रियकमासुरा जानते हरिम्। 'त्रिगुणातीतमीशेशमतः पूर्णसुखंसुराः। जानन्ति गुणबुद्धत्वात् जीवानार्तांश्च कृत्स्नशः। अनार्तस्य प्रसादेन तेषामार्तिविनाशनम्' इति चैतन्यविवेके। 'सर्वगं ये प्रपश्यन्ति ब्रह्मानन्दमजक्षरम्। एकमेवाद्वयं नित्यं निर्ऋते स्ते शिरोगताः'(सौकरायनश्रुतिः) इति श्रुत्यर्थेन ग्रथितस्य न हि विकृतमित्यस्य श्लोकस्यायम्भावः - यथा कनकस्य विकृतिं विविधकृतं कुण्डलादि रूपं कनकं विना परित्यक्तुं न शक्यते। नेदं कनकं सर्वमिति । तत्र हेतुः - तदात्मतयेति। कनकस्वरूपत्वेन प्रमाणसिद्धत्वात् तथा स्वकृतमिदं जगदनुप्रविष्टो भवान् मूलरूपं विना परित्यक्तुं न शक्यः। तत्र हेतुरात्मतयेति। एकस्वरूपत्वात् कीदृशं जगत्प्रविष्टः रसितं लसितं, आत्मना प्रकाशितं जगत्प्रविष्टः तस्मात्सर्वगतो विष्णुरिति ज्ञातव्य इति तात्पर्यार्थः ॥ १३ ॥ २६ ॥

एवं विधज्ञानेन किं प्रयोजनं तदह - **तवेति**। ये तव अखिलतत्त्वानि सर्वपदार्थाः अधिष्ठानतया निकेतानि अधिष्टानतया आश्रयो यस्य स तथा तस्य भावः तत् ता तया, स्वरूपं ज्ञात्वा परिचरन्ति पूजयान्ति। यद्वा अखिलतत्त्वानां निकेततया ते ज्ञानिनः ऋतात्मकब्रह्मप्राप्तिविरुद्धत्वान्निर्ऋताख्यस्य संसारस्य शिरः स्फुटं पदाक्रमन्ति। ननु किं कृत्वा? अविगणय्य संसारमितिशेषः। आचार्यैरत्र या याः श्रुतयोऽध्येतृपरम्परासिद्धाः तास्ता एवोदाह्रियन्ते न त्वन्याः लोकप्रत्ययार्थं तत्र श्रुत्युक्ताधिकार्थे पुराणानि चोपात्तानि। 'यथैव कुण्डलं त्यक्त्वा नादातुं कनकांशकं, तस्यैव तदवस्थत्वात् केवलाभेदतः स्फुटम्। एवं सुरासुरनरेष्वास्थितो भगवान् हरिः। नैव भेदेन मन्तव्यो जीवभेदे तु सत्यपि। ये तथाभिन्नंमीशेशं पश्यन्ति परमर्षयः। ऋतप्राप्ति विरुद्धत्वात्संसारनिऋतेः शिरः 'अगणय्य पदाक्रम्य वैष्णवं निलियं ययुः' इति गारुडे। परिवयस इति श्लोकस्यायम्भावः - ये ते देवाः त्वत्पादैकाश्रयाः तान्विबुधानपि गिरा वैदिकवाचा परिवयसे परितो बध्नासि। वेदोक्त कर्मानुष्ठानेन प्रवर्तयस इत्यर्थः। वय बन्धन इति धातोः कानिव दाम्ना पशूनिव त्वयि दृढसौहृदाः गाढबद्धस्नेहपाशाः पुरुषाः पुनन्ति। ननु जगदिति शेषः। ते तव विमुखाः द्वेषिणो न पुनन्ति प्रत्युतमलीमसं कुर्वन्तीति शेषः। अनेन - 'वयति, गा इव यः सुरादिकांस्तन्मनसो जगदपुनन् शुचयो न परे' (आरुणिश्रुतिः) इति विवृतम् ॥ १४ ॥ २८ ॥

कुतः? शुद्धिरपि त्वन्नियतेत्यत्राहुः **त्वमिति**। अखिलकारकशक्तिधरः त्वमेक एव नान्यः। कुतः? स्वराट् चक्रवर्ती अस्मत्स्वामी किमस्मानाज्ञापयसीति प्रतीक्ष्य सर्वदा विवृतनयनत्वात् ये अनिमिषाः देवाः ते तव बलिमुद्वहन्ति मनुजैः दीयमानं सम्यगदन्ति च। अनेन - "स एक ईशः परिपूर्णशक्तिः बलिहरा इतरे स्युः सुराः सुखिनः" (आरुणि श्रुतिः) इत्येतत् व्याख्यातम्। "समभेदे समीचीने सुष्ठु पूजा सुखेषु सु"(वैज.को. 8-7-8) इति यादवः। तत्र तत्र पुराणवाक्योदाहरणेनै तच्छ्रुत्यर्थत्वेन श्लोको ग्रथित इति निश्चीयते। सा श्रुतिरपि प्रमाणी क्रियते। वर्षभुज इत्यस्य श्लोकस्यायम्भावः - ये यत्र यस्मिन्पदे त्वधिकृताः अधिकारं प्राप्ताः विश्वसृजस्ते भवतश्चकिताः भीताः तत्र स्थित्वा भवतो विदधति बलिमिति शेषः। कस्मै? के इव वर्षभुजः खण्डेशाः अखिलक्षितिपतेः चक्रवर्तिन इव ॥ १५ ॥ २८॥

यदि पुरुषो विमुक्तास्सन्तो यस्मात् सविमुक्तस्सन् तस्य विमुक्तसतः परस्य सकाशात् विरहे मुक्तौ उदीक्षयेत्। परमात्मन एव मुक्तिरिति पश्येत्। "तमेवं विद्वानमृत इह भवति। नान्यः पन्थाऽयनाय विद्यते' (पु.सू.1-7) इति श्रुतेः। हे अज! तर्हि ये स्थिरचरजातयः स्थिरत्वं चरत्वं च जातिर्येषां ते तथा ते अनिमित्तयुजः स्युः। अः परमात्मानिमित्तं युक् योगो संसारस्य येषां ते तथा भगवन्नियोगदेव संसारभाज इत्यर्थः। मुक्तेस्तन्नियतत्त्वात्। बन्धोपि तदधीन इति भावः। 'खण्डाधीशाः सार्वभौमस्य यद्वद्ब्रह्मेशाद्याः कुर्वते तेऽनुशास्तिं। त्वं मक्तिदो बन्धदोऽतोमतो नस्त्वं ज्ञानदोऽज्ञानदश्चासि विष्णोः' इति शाण्डिल्यश्रुतेः। 'आत्मानं मुक्तिदं विष्णुं यदि पुंस उदीक्षयेत्। सुप्रसन्नस्तथा बन्धस्तत एवेति सेत्स्यति' (ब्राह्मे) इति स्मृत्यनुगृहीतश्लोकस्यार्थमनुवदतीति। न हि परमस्येति श्लोकस्यायम्भावः - अनात्प्राणात् परस्योत्तमस्य सर्वं सन्दधतः यस्य परमस्य ते तव काश्चिदपरः स्वतन्त्रो न भवेत्। हे शून्यतुल! समानवर्जित! यस्य अत्र जीवसमुदाये व्ययतः सर्वं जानतः सर्वज्ञस्येत्यर्थः। अय गताविति धातोः गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात्। इव यथा प्राणस्य नापरः स्वतन्त्रा तद्वत्प्राणश्रीरन्यो वा त्वां विना स्वतन्त्रो[1] नास्ति। त्वमेव स्वतन्त्रः ॥ १६॥ २९॥

हे सर्वपूर्ण! यदि ततः तस्मात् प्राणात्तनुभृतो जीवाः ध्रुवाः प्राणाधीनाः जीवाः कियन्तः सन्तीत्यर्थः। तर्हि सत्यम्। ते अपरिमिताः असंख्याताः। नन्वेवं चेत् 'एकमेवाद्वितीयम्' (छन्दो.उ.6-2-1) इत्यादि श्रुतिवाक्यविरोध इति तत्राह - न हीति। श्रुतेरयं नियमोऽर्थो जीवानां शास्यता अधीनता नेत्यत्रार्थे न हि किन्तु स्वगतभेदस्य ईश्वरान्तरस्य तत्तन्त्रस्य च निषेधो नियमः। तत्र किं प्रमाणमत्राह - ब्रुवत इति। अतोऽन्यदार्तं 'नेह नानास्ति किञ्चन'। (बृह.उ.4-4-9) न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते'। (श्वेता.उ.6-8) इत्यादि श्रुतिस्मृतयः तथा ब्रुवते च। तव स्वतन्त्रो नापरो यद्वदत्रप्राणान्नान्यस्तुल्यशून्यस्य सन्धिन् प्राणाधीना अमिता जीवसङ्घाः 'प्राणोवशे ते प्रकृतिश्च भूमन्' (महाशालीन श्रुतिः) इति श्रुतिरनेन गृहीता। 'स्वतन्त्रो नापरः कश्चिद्विष्णोः प्राणपतेः प्रभोः' (तन्त्रभागवते) इत्यादि स्मृतेः। श्रुतिरपि सत्यार्थेत्यर्थः। "मुच्यते तत्त्वसम्बुद्धा दाचार्यत्पुरुषो भवात् एतावेव स्वतोऽबुद्धौ परमः प्रकृतिस्तथा"। (वामने) इति कलापश्रुत्यर्थतया 'देशतः कालतश्चैव समव्याप्तावजावुभौ। ताभ्यामुभययोगाभ्यां जायन्ते पुरुषाः परे' (कौटरव्यश्रुतिः) इति कौटरव्यश्रुत्यर्थतया च ग्रथितस्य अजन परिमुच्यते इत्यस्यायम्भावः - हे अजन! लोकविलक्षण! जन्मरहितेति वा। समं एकप्रकारतया ततं व्याप्तम्। अनन्त मदुष्टतया निर्दोषत्वेन अनुजानता सम्यक् ज्ञानावताचार्येण उपदिष्टमार्गेण। अत्र जगति ज्ञानवान् पुरुषः सततात्सन्ततमज्ञानकल्पिताद्भवात् संसारात् परिमुच्यते सम्यक् मुक्तो भवति ॥ २८॥ ३०॥

1- -1B. Omits.

न घटत उद्भवः प्रकृति पूरुषयोर जयो रुभय युजा[1] भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत् ।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः[2] परमे[3] सरित[4] इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ॥ ३१ ॥

नृषु तव मायया भ्रमममीष्ववगत्य भृशं[5]त्वयि सुधियोऽभवे[6] दधति भावमनुप्रभवम् ।
कथमनुवर्ततां[7] भवभयं तव यद्भ्रुकुटिः[8] सृजति मुहुस्त्रिणेमिरभवच्छरणेषु भयम् ॥ ३२ ॥

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरङ्गं य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः ।
व्यसन शतान्विता स्समपहाय[10] गुरोश्चरणं वणिज इवविशन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥ ३३ ॥

स्वजनसुतात्मदार धनधामधरासुरथै स्त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे ।
इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां सुखयति कोन्विह स्वविहते[12] स्वनिरस्तभगे ॥ ३४ ॥

भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनान्यृषयो विमदा स्त उत भवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रि जलाः ।
दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान् ॥ ३५ ॥

सत इदमुत्थितं सदिति चेन्न तु तर्कहतं व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक् ।
व्यवहतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया भ्रमयति भारतीत ऊरुवृत्तिभिरुक्थजडान् ॥ ३६ ॥

1. M. Ma °जो: 2. M. Ma °बु° 3. M. Ma °णा:° 4. M. Ma अमृत 5--5 M. Ma स्वगतया कुशलं 6--6 M. Ma °योऽङ्गभेद मनुधातु मनुप्रभवः। 7. M. Ma °र्तिनां 8. M. Ma भ्रुकुटी 9--9 M. Ma मुहुः नृणाम्। अत्र विजयध्वजानुसारि पाठः 33 तम श्लोकादारभ्य 36 श्लोक पर्यन्तं एवं विधा व्यत्यस्ता दृस्यते - इहभवञ्चरणेषु सुजातभुवोजितहृषीक वायुभि रुदात्तमहत्तुरगैः। य इहं यतंत्यनतिलोलमुपायविदो व्यसनशताब्धि तारमपहायगुरोश्चरणम्॥ वणिज इवोच्छ्वसंत्यकृतकर्णधरा जलधौ स्वजन सुतात्मदारधनधामधराः। सुखशान्ति मतित्वयिहि सन्ति न तानि नृणां विभव उद्यतिश्रयत आत्मनिसर्वरसे॥ इति सदजानतां मिथुनतोरतयेचरतां सुखयतिकोन्विहाद्यविजनेस्वनिरस्तभणे। भुविपुण्यतीर्थसदनाह्यृषयोनिविशंत्यतस्त्वानु भवतः पदाम्बुजं हृदाघभिदं दधति। सकृम्नमनस्त्वयिचिदात्मनि नित्यरवेन पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथम्॥ इदमप्यथो वदन्ति चेन्ननुतर्काव्यभिचरन्ति क्वचिन्मृषाच। ततोभयहग्व्यवहितये विकल्प उषितोन्वहमन्ध परम्परया भ्रमति भारती च तवोरुवृत्तिभिरन्दजवा॥ 10. B. G. J. °मव° ;Ml.V. °मुप° 11--11 °वाज सन्त्य° 12. K. °पिहि°

**श्रीध०** ननु यदि च परमात्मनो जीवा जायन्त इति नियन्तृनियम्यभाव उच्यते तथा सति जीवानामनित्यत्वप्रसङ्गेन प्रतिदिनं कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गः स्यात्। किञ्च तदा मोक्षो नाम जीवस्य स्वरूपहानिरेव स्यात्। न चैतद्युक्तम्।

स्वप्रकाशानन्दात्मनोऽविद्याकृतानर्थनिवृत्तिमात्रस्य मोक्षत्वाभ्युपगमादित्याशङ्क्योपाधि जन्मनैव जीवानां जन्मोच्यते न स्वतः अघटनादित्याह - **न घटत** इति। तत्र किं प्रकृतेर्जीव रूपेणोद्भवः स्यात् पुरुषस्य वा उभयोर्वा। आद्ये जीवानां जडत्वापत्तिः। द्वितीये पुरुषस्य विकारित्वप्रसङ्गः। अत एव तृतीय इत्याशयेनोक्तं प्रकृतिपुरुषयोरुद्भवो न घटत इति श्रुत्याऽजत्वप्रतिपादनादपीत्याह - अजयोरिति। तथा च श्रुतिः- 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम्। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' (म.ना.उ.8-4) इति। उभययुजा तु भवन्ति, उभयं च तद्युज्यत इति युक् सम्बद्धम्। परस्पराध्यस्तमिति यावत्। तेनासुभृतः प्राणाद्युपाधयो जीवा जायन्त इत्यर्थः। तत्र[1] च प्रकृति पारतन्त्र्यापारतन्त्र्याभ्यां जीवेश्वरविभागः[1] जलबुद्बुदवदिति। यथा केवलेन जलेनानिलेन वा जलबुद्बुदा[2] न भवन्ति, किन्तु मिलिताभ्यां तद्वत्। तत्र यथाऽनिलो निमित्तं जल मुपादानमेवमत्रापि प्रकृतिर्निमित्तं पुरुष उपादानम्। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तैत्ति.उ. 2-1) 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (छान्दो.उ.6-2-3) इति। "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मदात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्व एवात्मानो व्युच्चरन्ति" (बृह.उ.2-1-20) इत्यादि श्रुतिषु चेतनाचेतनप्रपञ्चस्य परमात्मोपादानकत्वश्रवणात्[3]। न च विकारित्वम्, परिणामानङ्गीकारता केचित्पुनः परिणाममङ्गीकृत्यात्मनो विकारभिया विपरीतं निमित्तोपादानभावमिच्छन्ति। सर्वथा तावत्प्रकृतिपुरुषैक्याद्भवतीति सिद्धम्। तत्र 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' (छान्दो.उ.6-2-1) 'अजामेकाम्' (बृह. उ. 4-5-14) इत्यादिश्रुतिबलादनुत्पत्ति श्रवणाच्च जीवानामौपाधिकमेव जन्म न वस्तुत इत्युक्तम्। उपाधिलयेन परमात्मनि पुनर्लयश्रवणादपि न वास्तवं जन्मेत्याह त्वयि त इति। यतो वास्तवं जन्म तस्माद्विविधनामगुणैरनेकप्रकारकारण[4] कार्योपाधिभिः सह लिल्युर्लीना बभूवुः। तत्र सुषुप्तिप्रलययोर्मधुन्यशेषरसा इव लीयन्ते। यथा मधुनि सकल कुसुमरसा विशेषतोऽनुपलक्ष्यमाणा अपि सामान्येनोपलक्ष्यन्ते। एवं स्वप्नादौ विशेषमात्रलया त्कारणस्य विद्यमानत्वात् सामान्यतो वर्तन्ते। मुक्तौ तु कारणस्यापि लयात् त्वयि परमे निरुपाधौ सरित इवार्णवे लीयन्त इति विवेकः। तथा च श्रुतयः- 'यथा सौम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहारमेकतां सङ्गमयन्ति' (छान्दो.उ.6-9-1) 'ते यथा तत्र न विवेकं लभन्ते अमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्य मुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे' (छान्दो.उ.6-9-2) इति। 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् '(मुण्ड.उ.3-2-8) इत्याद्याः।' यस्मिन्नुद्यद्विलयमपि यद्भाति विश्वं लयादौ जीवोपेतं गुरुकरुणया केवलात्मावबोधे। अत्यन्तान्तं व्रजति सहसा सिन्धुवत् सिन्धुमध्ये मध्ये चित्तं त्रिभुवनगुरुं भावये तं नृसिंहम् ॥ १८॥ ३१॥

नन्वेवं तावत् परमेश्वराज्जीवा जायन्ते तद्वशेन च कर्माणि कुर्वन्ति, पुनस्तत्र लीयन्त इति संसार चक्रे परिभ्रमणमुक्तम्। इदानीं तन्निवृत्तये 'परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च' (म.ना.उ. 2-7)

उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश इत्याद्याः भगवदनुवृत्तिं विदधतीत्याह - नृषु तव माययेति। नृषु जीवेष्वमीषु तव मायया भ्रममुक्तलक्षणमवगत्य ज्ञात्वा सुधियो भृशं त्वय्यभवे भवनिवर्तके भावं स्वभावमनुवृत्तिं दधति कुर्वन्ति। कीदृशं भ्रमम्? अनुप्रभवं अन्वनु प्रभवो यस्मिन् तं भ्रमम्। ततः किमत आह - कथमिति। अनुवर्ततामनुवर्तमानानां त्वामेव शरणं भजतां भवभयं संसारभयं कथं भवेत्। न कथञ्चिदित्यर्थः। कुतः? यद्यस्मात्तव भ्रुकुटिः भ्रूभङ्गरूपस्त्रिणेमिस्तिस्रो नेमय इवावच्छेदाः शीतोष्णवर्षाकाला यस्य संवत्सरात्म कस्य कालस्य सः। अभवच्छरणेषु न भवान् शरणं रक्षिता येषां तेष्वेव भयं जन्ममरणादि लक्षणं सृजति करोति। अत एवम्भूतं संसारमाकलय्य तन्निवृत्तये सुधियस्त्वयि भावं दधतीति। "संसारचक्र क्रकचैः विदीर्णमुदीर्णना नाभवतापतप्तम्। कथञ्चिदापन्नमिह प्रपन्नं त्वमुद्धर श्रीनृहरे नृलोकम्" ॥ १९ ॥ ३२ ॥

स च भगवति भावो मनो नियमेसति भवति। सोऽपि गुरूपसदनादिति गुरूपसदनं विदधति 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मुण्ड.उ.1-2-2) 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' (छान्दो.उ.6-14-2) 'नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठा' (कठ.उ.2-9) इत्याद्याः श्रुतय इत्याह- **विजितेति**। विजितानि हृषीकाणि इन्द्रियाणि वायुः प्राणाश्च यैस्तैरप्यदान्तमनस्तुरगमदान्तमदमितं मन एव तुरगो दुर्दमत्वसाम्यात्तं ये यन्तुं नियन्तुं यतन्ति प्रयतन्ते। अतिलोलमतिचञ्चलम् गुरोश्चरणं समपहायाऽनाश्रित्य ते उपायेषु खिद्यन्ते क्लिश्यन्तीत्युपायखिदः सन्तो व्यसनशतान्विता बहुव्यसनाकुला इह संसारसमुद्रे आविशन्ति[5-] सन्तिष्ठन्ति[5-]। दुःखमेव प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। हे अज! अकृत कर्णधारा अस्वीकृतनाविका वणिजो यथा तद्वत्। उक्तं[6-] च - 'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्। मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान्भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा' (भाग. 11-20-17) इति। प्राकृतैः संस्कृतैश्चैव गद्यपद्याक्षरैस्तथा। देशभाषादिभिः शिष्यं बोधयेत्स गुरुः स्मृतः"। गुरुणोपदर्शित भगवद्भाजन सुखानुभूतौ तु स्वत एव मनो निश्चलं भवति नान्यथेति भावः। यदा 'परानन्दगुरो भवत्पदे पदं मनो मे भगवँल्लभेत। तदा निरस्ताखिलसाधनश्रमः श्रयेय सौख्यं भवतः कृपावशात् ॥ २०॥ ३३॥

"परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन" (मुण्ड.उ.1-2-12) तथा "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः[7]। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" (कठ.उ.6-14) इत्याद्या वैराग्यमङ्गं विदधतीत्याह - स्वजन सुतेति। आत्मा देहः। धाम गृहम्। असुः प्राणः। स्वजनादिभिः द्वन्द्वनिर्दिष्टैः किम् सर्वरसे सर्वे रसाः सुखानि विद्यन्ते यस्मिंस्तस्मिंस्त्वयि परमानन्दे 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृह.उ.4-3-32) इति श्रुतेः। श्रयतस्त्वां सेवमानस्य पुंस आत्मनि सति नृणां तुच्छैरेतैः किं क उपयोग इति सत् सत्यं परमार्थसुखमजानतामत एव मिथुनतः स्त्रिया। मिथुनीभूय रतये मायासुखाय चरतां प्रवर्तमानानाम् कर्मणि षष्ठी। अजानतश्चरतः पुरुषान् कोन्वर्थः सुखयत्यानन्दयति। न कोऽपीत्यर्थः। इह संसारे। कथम्भूते स्वविहते? स्वत एव नश्वरे। स्वनिरस्तभगे स्वत एव

गतसारे। पाठान्तरे तु को न्वित्यस्यैतद्विशेषणद्वयम्। अतः त्वद्भजनमेवोचितमित्यर्थः। भजतो हि भवान्साक्षात्परमानन्दचिद्घनः। आत्मैव किमतः कृत्यं तुच्छदारसुतादिभिः ॥ २१॥ ३४॥

एवं गुरूपदेशेन तत्त्वमवगम्य सारासारविवेकेन च सर्वतो निर्विद्य तदेव महत्सङ्गेनोपत्तिभिः सम्यगवधारयितुं तीर्थसदनानि सत्पुरुषदर्शनाय[8-] मुनयः[-8] पर्यटन्तीति 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' (बृह.उ.6-5-6) इत्यादि श्रुत्यर्थमाह - भुवीति। ते उक्तलक्षणा ऋषयो विमदा निरहङ्कारा यतो भवत्पदाम्बुजहृदः भवतः पदाम्बुजं हृदि येषां ते। अतः स्वयमेवाघभिदङ्घ्रिजलं येषां ते उत अपि तथाविधा अपि भुवि[9-] पृथिव्यां पुरूणि बहनि पुण्यानि तीर्थानि सदनानि च क्षेत्राणि तान्येवोपासते सेवन्ते प्राय स्तत्रैव महत्सङ्गो भवतीति। अथवा पुरु अधिकं भगवद्भजनलक्षणं पुण्यं येषां तानि च तानि तीर्थानि च गुरवो महान्त इत्यर्थः। तेषां सदनान्याश्रमान् यथाऽऽह अमरसिंहः - 'निपानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टजले गुरौ' (अम.को.शे 3-243) इति। न पुनः पुरुषसारहरावसथानुपासते। पुरुषाणां सारं विवेकस्थैर्यधैर्यक्षमाशान्तिप्रमुखं हरन्तीति तथा, ने च ते आवसथा गृहास्तान्। न च तेषां गृहादिभव कुत्सितसुखापेक्षेत्याह - दधति सकृन्मन स्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे इति। सकृदपि त्वयि ये मनो दधतीति तेऽपि गृहाद्यासक्ता न भवन्ति। किं पुनरेवम्भूता इत्यर्थः। 'मुञ्चन्नङ्गतदङ्गसङ्गमनिशं त्वामेव सञ्चिन्तयन् सन्तः सन्ति यतो यतो गतमदास्तानाश्रमानावसन्। नित्यं तन्मुखपङ्कजाद्विगलितत्वत्पुण्यगाथामृतस्रोतः संप्लवसंप्लुतो नरहरे न स्यामहं देहभृत् ॥ २२॥ ३५॥

ननु 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समन्वयः' (जैमिनी. सू. 1-1-20) इति। तत्र तत्र जैमिनिना वेदस्य क्रियापरत्वाभिधानादुपनिषदामपि तदेव युक्तम्। यथोक्तं तन्त्रवार्तिकृता - "एतेन क्रत्वर्थकर्तृ प्रतिपादनेनोपनिषदां[10] नैराकाङ्क्ष्यं व्याख्यातम्" इति चेत् न। "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" (छान्दो.उ. 6-2-1) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृह.उ. 3-9-28) 'अचक्षुरश्रोत्रम्' (मुण्ड.उ. 1-1-6) इत्येवं तद्विपरीतात्मप्रतिपादनात्। न हि अद्वितीय परमानन्दरूपस्य कर्माङ्गत्वं युज्यते। अनुनमतं चैतद्वार्तिककृतः। कथम् "सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते। पराङ्गं चात्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधार्यताम्'॥ इति तेनैवोक्तत्वात्। एतदर्थमेव मननाय मुनयः पर्यटन्तीत्युक्तम्। तत्र तावद्द्वैतस्य सत्यत्वे भवेदप्येवं तदेव तु न सम्भवतीति प्रश्नोत्तराभ्यां मननेन तत्त्वावधारण प्रकारमाह - सत इति। इदं विश्वं धर्मि। सदिति साध्यो धर्मः। सत उत्पन्नत्त्वाद्धेतुः। यद्यत उत्पन्नं तत्तदात्मकमेव दृष्टम्। यथा कनकादुत्पन्नं कुण्डलादि, तदात्मकं तद्वदिति। तत्र यदि सदभेदः साध्यते तदाऽपादानत्व[11] निर्देशेनैव भेद प्रतीतेर्विरुद्धो हेतुरित्याह ननु तर्कहतमिति। ननु नाभेदं साधयामः किन्तु तदुत्पन्नत्वेन कुण्डलादिवद्भेदं प्रतिषेधयामः। तत्राभेद एव स्यात् इत्याशङ्क्यानैकान्तिकत्वेन दूषयति - व्यभिचरति क्व चेति। पितृपुत्रादिषु मुद्गरघटप्रध्वंसादिषु च तथा दर्शनादिति भावः। ननु तदुत्पन्नत्वं नाम तदुपादानत्वं, न तु तन्निमित्तत्वमतो नानैकान्तिकत्वमित्याशङ्क्य दूषयति क्व च मृषेति। गुणोपादानस्यापि फणिनो न

गुणत्वं, किन्तु मिथ्यात्वम्। अन्यथा कुण्डलादिवदबाधप्रसङ्गात्। अतः पुनरप्यनैकान्तिकत्वमेवेति भावः। ननु न तत्र केवलं गुणमात्रं फणिन उपादानं, किन्त्वविद्यायुक्तम्। तथाभूतस्यावस्तुत्वाद्युक्तं फणिनो मिथ्यात्वमित्याशङ्क्य तत्तुल्यमत्रापीति दूषयति। न तथोभयमुगिति अयमर्थः - अत्राप्यविद्यायुक्तस्यैव सत उपादानत्वम्। एवम्भूतस्य च न वस्तुसत्त्वम्[12]। प्रपञ्चस्येति। ननु मा भूदनेन हेतुना प्रपञ्चस्य सत्त्वं, हेत्वन्तरेण तु साधयामः। तथाहि - सदिदमर्थक्रियाकारित्वात् यदर्थक्रियाकारि तत् सत्। न यदेवं न तदेवं, यथा शुक्तिरजतमिति तत्राह - व्यवहृतये विकल्प इषित इति। व्यवहारायार्थक्रियार्थं विकल्पो भ्रम इषित इष्ट एव, कूटकार्षापणादिनापि क्वचिद्व्यवहारदर्शनात्। नन्वेकत्र सतोऽन्यत्रारोपो भ्रमः प्रसिद्धोऽत्यन्तासत्त्वे कथं प्रपञ्चः भ्रमः स्यात् सत्त्वे वा नाद्वैतसिद्धिः। उक्तं च भट्टैः - 'अध्यस्यते खपुष्पत्वमसत्कथमवस्तुनि। प्रज्ञातगुणसत्ताकमध्यारोप्येत वा न वा' इति। नेत्याह - अन्धपरम्परयेति। अन्धपरम्परया यो विकल्प इत्यन्वयः। अयम्भावः - संस्कारजन्यो भ्रमः संस्कारसिद्धये पूर्वप्रतीतिमात्रमपेक्षते, न वस्तुसत्त्वम्[14]। प्रतीतौ सत्यां वस्तुसत्त्वाभावेन[15] ब्रह्मव्यतिरेकादर्शनात्[16]। अतोऽनादित्वात् पूर्वपूर्वभ्रम दृष्टस्योत्तरोत्तर आरोपो भविष्यति। अन्धपरम्परा न्यायेन तेन[17-] च वस्तुव्यवहारः[-17] सेत्स्यतीत्यप्रयोजको हेतुरिति। ननु 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' 'अपाम सोमममृता अभूम' (अथ. शिख. उ. 3-2) इत्यादिभिः कर्मफलस्य नित्यत्व प्रतिपादनादसत्त्वं न घटते न हि नित्यं वस्त्वसद्भवति, तस्माद्वेदप्रतिपादितत्त्वाद्द्वैतं सदेवेत्याशङ्क्याह - भ्रमयतीति। हे भगवन्! ते तव भारती वेदलक्षणा[18] ऊरुवृत्तिभिर्बह्वीभिर्गौणलक्षणादिवृत्तिभिरुक्थजडान् कर्मश्रद्धाभराक्रान्तमन्दमतीन् भ्रमयति मोहयति। अयम्भावः - न हि वेदः कर्मफलं नित्यमभिप्रैति, किन्तु लक्षणया प्राशस्त्यमात्रम् विध्येकवाक्यत्वात्, अन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गात्। 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छान्दो.उ.8-1-6) इति न्यायोपबृंहितश्रुत्यन्तरविरोधाच्च। अतः कर्मजडानामिदं भ्रममात्रमिति। एतेनैव 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तैत्ति.उ.2-1-1) इत्यादीना मप्यन्यपरत्वं दर्शितं भवति। उद्भूतं भवतः सतोऽपि भुवनं सन्नैव सर्पः स्रजः कुर्वत्कार्यमपीह कूटकनकं वेदोऽपि नैवं परः। अद्वैतं तव सत्परं तु परमानन्दं पदं तन्मुदा वन्दे सुन्दरमिन्दिरानुत हरे मा मुञ्च मामानतम् ॥ २३ ॥ ३६ ॥

1- -1 B. J. Omit 2. Ml. V. °दानि 3. B. J. Omit क 4. B. J.Omit कारण 5- -5 B.J. सन्ति ति° 6- -6 B. Ml. V. Omit 7. B. J. श्रिताः 8- -8 B. J. Omit 9. B. J. Omit भुवि पृथिव्यां 10. Ml. V. °नात् अनेन 11. Ml. V. उपा 12. Ml. V. वस्तुत्वं 13. Ml. V. तत्राह 14. Ml. V. सत्यत्वम् 15. Ml. V. सत्यत्वा° 16. Ml. V. भ्रम 17- -17 B. J. Omit तेन च वस्तु 18. Ml. V. °वाक्

**वीर०** ननु प्रकृतिपुरुषयोः नित्ययोरुत्पत्त्यनुपपत्तिः? अत आहुः - न घटत इति। यद्यप्यजत्वात्प्रकृतेः पुरुषस्य च नोत्पत्तिः तथाऽपि विद्यमानानामेवाऽप्यानामवयवानां वायुप्रेरितानां परस्परसंयोगाज्जले बुद्बुदोत्पत्तिवत्, उभययुजा प्रकृतिपुरुषयोस्संयोगेन असुभृतो प्राणिनः विविधैर्नामभिः रूपैश्चोपलक्षिताः त्वय्याधारभूते भवन्ति, दैवमनुष्यादिशरीरविशिष्टरूपेणोत्पत्तिः युज्यत इत्यर्थः। ततः त इमे असुभृतः परमे त्वयि निलिल्युः प्रलयदशायां नामरूपं विहाय त्वय्यविभक्ततामापुरित्यर्थः। यथा सरितोऽर्णवे यथा च मधुनि माक्षिके अशेषाः रसाः मकरन्दाः तद्वत्। द्रव्यस्योत्तरोत्तरसंस्थानयोगो हि पूर्वपूर्वसंस्थानसंस्थितस्य विनाशः। स्वावस्थावस्थितस्य तूत्पत्तिः। अतः अवस्थानामनित्यत्वेऽप्यवस्थाश्रयस्य द्रव्यस्य नित्यत्वात्तस्य पूर्वोत्तरावस्थात्यागोपादानात्मकविनाशोत्पत्त्यविरोध इति भावः, अत्रार्णवादिस्थानीयं चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म ॥ ३१ ॥

तर्हि उत्पत्तिविनाशाद्यात्मकसंसारनिवृत्यनुवृत्त्योः किं निदानमित्यपेक्षायां त्वद्भक्तितदभावौ एवेत्याहुः - **नृष्विति**। अनु पृष्ठतः प्रभवः संसारो यस्मात्तम्, अमीषु नृषु तव मायया त्वदीयया प्रकृत्या भ्रमं देहात्माभिमानस्वतन्त्रात्माभिमानादि रूपम् अवमृश्य अयमेव संसृतिहेतुरिति निश्चित्य सुधियः त्वयि भृशं भक्तिं दधति, अनुवर्ततां त्वां भजतां भवभयं संसृतिभयं कथं भवेत्? न भवेदेवेत्यर्थः। कुतः? यद्यस्मादभवच्छरणेषु, न भवान् शरणं येषां तेष्वेव तव भ्रुकुटिः भ्रूभङ्गरूपः त्रिणेमिः तिस्रो नेमयः शीतोष्णवर्षकालात्मिकाः यस्य सः। संवत्सरात्मकः कालः इत्यर्थः। भयं संसृतिभयं सृजति। अभवच्चरणेष्विति पाठे न भवतः चरणं येषां तेषु उपायोपेयभावेन भवतश्चरणमनाश्रितेषु इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

कुतस्तर्हि मयि भाव इत्यपेक्षायां मनोनिग्रहादेव वैराग्यात्मकात्, स च गुरूपासनादेव, न तु उपायान्तरेभ्य इत्यभिप्रेत्याहुः - **विजितेति**। अतिचञ्चलम् अत एव विजितानि हृषीकाणि इन्द्रियाणि वायवः प्राणाश्च यैः तैरप्यदान्तं दुर्निग्रहं मन एव तुरगमश्वं, ये पुरुषाः यन्तुं नियन्तुं गुरोश्चरणं विहाय उपायान्तरेषु क्लिश्यन्तो यतन्ते ते व्यसनशतान्विताः बहुव्यसनाकुलाः इह संसारसागरे आसजन्ति सच्छन्ते सन्निविशन्ते दुःखमेव प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। हे अज! अकृतकर्णधराः अलब्धकर्णधराः वणिजः यथा जलधौ मज्जन्ति, तद्वत् ॥ ३३ ॥

ननु मयि भृशं भावं विदधतु, ततः किमित्यपेक्षायां निरतिशयानन्दजलधिमग्नानां वैषयिकसुखान्तरनैरपेक्ष्यम्। इतरेषां तु सुखं विषमिश्रपयःपानतुल्यमित्यभिप्रेत्याहुः - **स्वजनेति**। सर्वरसे सर्वविधसुखमये आत्मनि च त्वयि 'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति। को ह्येवान्यत् कःप्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' (तैत्ति.उ.2-7) इत्युक्तरीत्या निरतिशयसुखस्वरूपे तदावहे च प्रियतमे त्वयि सति विद्यमाने नृणां मध्ये कस्यचिदुक्तविधं त्वां भजतः पुंसः

स्वजनादिभिः किं न किञ्चिदपि सुखमित्यर्थः। आत्मा देहः, धाम गृहं, धरा भूमिः, असुः प्राणः, रथशब्दो वाहनोपलक्षकः, इतीत्थं सत् निरतिशयपुरुषार्थभूतत्वत्स्वरूपमजानताम्, अत एव रतये सुखार्थं मिथुनत श्चरतां मिथुनीभूय वर्तमानानां स्वविहते स्वप्रकृतिसम्बन्धतिरोहिते अत एव स्वनिरस्तभगे स्वः स्वासाधारणः निरस्तो भगो ज्ञानैश्वर्यादिर्यस्य तस्मिन् स्वरूपे सति इह लोके को नु अर्थकामेषु सुखयति अर्थकामान्यतरो न कोऽपि सुखयतीत्यर्थः। स्वविहतिस्वनिरस्तभगे स्वयाथात्म्यानुभवविघातः तेन स्वनिरस्तस्वाभाविकज्ञानैश्वर्ये स्वरूपे सतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

ननु इत्थमात्मानं सर्वरसं ये मामाश्रयन्ते ते किं मिथुनतो न चरन्तीत्याहुः - **भुवीति**। ये त्वयि नित्यसुखस्वरूपे आत्मनि च सकृदपि मनो दधति, ते पुनः पुरुषाणां सारं ज्ञानवैराग्यादिरूपं हरन्तीति तथा, तानावसथान् गृहान्नोपासते न सेवन्ते न गृहेषु मिथुनतश्चरन्तीत्यर्थः। अपि तु भुवि पृथ्व्यां पुण्यानि तीर्थानि गङ्गादीनि सदनानि क्षेत्राणि च उपासते, तीर्थान्यपि तीर्थीकर्तुं पुण्यक्षेत्राण्यपि निरतिशयपुण्यावहानि कर्तुं तान्युपासत इति भावः। तत्र हेतुत्वेन तान् विशिंषन्ति - ऋषयः द्रष्टारः स्वात्मपरमात्मयाथात्म्यविद इत्यर्थः। अत एव विमदाः देहात्माभिमानस्वतन्त्रात्माभिमानादिरूपमदरहिताः, उत अपि च भवतः पदाम्बुजं हृदि येषां ते भवतः पदाम्बुजे हृत् येषां त इति वा, अत एव अघं भिन्दन्तीति तथा तान्यङ्घ्रिजलानि येषां ते । अनेन भगवद्भक्तानां पादस्पर्शोऽपि पावन इत्यभिप्रेतम्। आत्मनीत्यनेन कृत्स्नस्य चिदचिदात्मक प्रपञ्चरूपकार्यस्य तच्छरीरत्वम् अत एव परमार्थत्वं चाभिप्रेतं, न हि मिथ्याभूतं किञ्चित् कस्यचिच्छरीरभूतं दृष्टमित्यर्थः ॥३५॥

इत्थं कार्यस्य सत्यात्वाभ्युपगममभिप्रेत्य अथ यः कार्यसत्ता प्रतिक्षेपेण कार्यमिथ्यात्ववादः तं चोद्यमुखेन प्रस्तुत्य प्रतिक्षिपन्ति - **सत** इति। सत इत्यादिना तर्कहतमित्यन्तेन कार्यमिथ्यात्ववादिमतानुवादः। व्यभिचरतीत्यादिना तत्प्रतिक्षेप इति विभागः, तथाहि - सतः परमार्थभूतात्परस्मात्ब्रह्मणस्सकाशादुत्पन्नमिदं जगत् सत् परमार्थभूतं सत्यमिति यावत्। न तु नैतद्युक्तमित्यर्थः। कुतः? यतस्तर्कहतमिति चेत् यद्यपि यद्यस्मादुत्पन्नं तत्तदात्मकमेव। यथा मृद्धिरण्यादेरुत्पन्नं घटमकुटादि कार्यं, तथाऽपि चेतनात्पुरुषाज्जातानां केशदन्तनखलोम्नामचेतनत्वदर्शनादचेतनात् गोमयाज्जातानां वृश्चिकानां चेतनत्वदर्शनाच्च कार्यकारणयोस्सालक्षण्य व्याप्त्यभावात् परमार्थस्वप्नादपरमार्थगजतुरगादीनां तथा परमार्थशुक्तिशकलाद परमार्थरजतस्य चोत्पत्तिदर्शनात्। एतदुत्पत्तिवैयर्थ्याच्च कार्यं सदित्येतत्तर्कहतम्। अतः कार्यं मिथ्यैवेति चेदित्यर्थः। तर्कश्चात्र युक्तिः। का पुनरत्र युक्तिरिति चेदुच्यते। मृद्द्रव्यमात्रस्यानुवर्तमानत्वं तदतिरिक्तस्य च व्यावर्तमानत्वं, रज्जुसर्पादिषु ह्यनुवर्तमानस्याधिष्ठानभूतस्य रज्ज्वादेस्सत्यता। व्यावर्तमानस्य सर्पभूदलनाम्बुधारादेरसत्यता दृष्टा। तथा अनुवर्तमान मधिष्ठानभूतं मृद्द्रव्यमेव सत्यं, व्यावर्तमानास्तु घटशरावादयः असत्यभूताः, तथा निर्विशेषसन्मात्रात्सर्वाधिष्ठानभूता

द्ब्रह्मणोऽन्यः अहङ्कारादिव्यवहारालम्बनः कृत्स्नः प्रपञ्चः मिथ्या, कारणभूतं सन्मात्रं ब्रह्मैव सत्यं, किञ्च सत आत्मनो विनाशायोगादसतश्शशविषाणादेरुपलब्ध्यभावादुपलब्धिविनाशयोगे कार्यं सदसद्भ्यामनिर्वचनीयमिति गम्यते। अनिर्वचनीयं च शुक्तिकारजतादिवन्मृषैव, तस्य चानिर्वचनीयत्वं प्रतीतिबाधाभ्यां सिद्धम्। प्रतीयते हि। प्रपञ्चः प्रत्यक्षेण - 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्' (छान्दो.उ.6-8-7) 'नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्योस्स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृह.उ.4-4-9) 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति। यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृह.उ.2-4-14) 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (बृह.उ.4-5-16) इत्यादिभिर्वेदान्तैः बाध्यते चेति। ननु तर्कहतम् इति पाठान्तरम्। तदा ननु सत उत्पन्नमिदं सदिति चेत् तर्कहतमित्यन्वयः। इत्थमनूदितं कार्यमिथ्यात्वपक्षं प्रतिक्षिपन्ति व्यभिचरतीत्यादिना। कार्यं सदित्ययमर्थः क्व च व्यभिचरति? क्व चेति काकुः। न क्वचिद्व्यभिचार इत्यर्थः। केशपुरुषादिष्वपि अचेतनांश एव कार्यकारणभावादिति भावः। तथाऽपि स्वप्नार्थे शुक्तिकारजतादौ मिथ्यात्वेन व्यभिचार इत्यत्राहुः - क्व च मृषेति। क्व च मृषा? न क्वचिदपि कार्यं मृषेत्यर्थः। स्वप्नार्थानामपीश्वरसृष्टत्वान्न मृषात्वं, शुक्तौ रजतसद्भावादन्यथाख्यानाद्वा न मृषात्वमित्यभिप्रायः। सत उत्पत्तिवैयर्थ्यं परिहरन्ति - न तथोभययुगिति। व्यभिचरतीत्यनुषङ्गः। क्वचिदपि मृत्सुवर्णादिद्रव्ये उभयावस्थान दर्शनात् न व्यभिचरति। कार्यत्वकारणत्वरूपावस्थावदेव मृत्सुवर्णादिकं दृश्यते, अतस्सतोऽवस्थान्तरप्राप्तिस्सफलेत्यर्थः। विकल्पः घटशरावाद्यवस्थाभेदः, स च व्यवहृतये घटेन जलमाहरेत्यादिवाक्पूर्वकव्यवहारार्थम् इषितः इष्टः। यद्वा नन्वसञ्चेन्न प्रतीयते, सचेन्न बाध्यते, प्रतीयते बाध्यते च शुक्तिकारजतवत् प्रपञ्चरूपं कार्यम् । अतः सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं कार्यं मृषैवेत्यत आहुः - न तथोभययुगिति। तथा तथाभूतमनिर्वचनीयम्। उभययुक् सत्त्वविलक्षणत्वरूपधर्मद्वययोगि द्रव्यं स नास्त्येवेत्यर्थः। ननु शुक्त्यादिषु रजतादिप्रतीतेः प्रतीतिकालेऽपि तन्नास्तीति बाधेन च अन्यस्यान्यथाभानायोगाच्च सदसदनिर्वचनीयमपूर्वमेवेदं रजतं दोषवशात्प्रतीयत इति कल्पनीयमिति चेन्न, तत्कल्पनायामप्यन्यस्यान्यथा भानस्यावर्जनीयत्वात् अन्यथा भानाभ्युपगमादेव ख्यातिप्रवृत्ति बाधभ्रमत्वाना मुपपत्तेरत्यन्तापरिदृष्टाकारणकवस्तु कल्पनायोगात् कल्प्यमानं - हि इदमनिर्वचनीयं न तदानीमनिर्वचनीयमिति प्रतीयते, अपि तु परमार्थरजतमित्येव। अनिर्वचनीयमित्येव प्रतीतं चेत् भ्रान्तिबाधयोः प्रवृत्तिरप्यनुपपत्तिः। अतोऽन्यस्यान्यथा भानविरहे प्रतीतिप्रवृत्तिबाधभ्रमत्वानामनुपपत्तेः तस्यापरिहार्यत्वाच्च शुक्त्यादिरेव रजताद्याकारेण भासत इति भवता अभ्युपगन्तव्यम्। किञ्च अनिर्वचनीयमपूर्वं रजतमत्र जातमिति वदता तस्य जन्मकारणं वक्तव्यं, न तावत्तत्प्रतीतिः। तस्यास्तद्विषयत्वेन तदुत्पत्तेः प्रागात्मलाभायोगात्। निर्विषया जाता तदुत्पाद्य तदेव विषयीकरोतीति महतामिदमुपपादनम्। अथेन्द्रियादिगतो दोषः? तन्न, तस्य पुरुषाश्रयत्वेनार्थगतकार्यस्योत्पादकत्वायोगात्। नापीन्द्रियाणि, तेषां ज्ञानकारणत्वात्। नापि दुष्टानीन्द्रयाणि। तेषामपि स्वकार्यभूते ज्ञान एव विशेषकरत्वात्, अनादिमिथ्या

ज्ञानोपादानत्वमनवस्थादिदोषनिरस्तं, किञ्च अपूर्वमनिर्वचनीयमिदं वस्तुजातं रजतादिबुद्धिशब्दाभ्यां, कथमिव विषयीक्रियते? न घटादिबुद्धिशब्दाभ्यां रजतादिसादृश्यादिति चेत्तर्हि तत्सदृशमित्येव प्रतीतिशब्दौ स्याताम्। रजतत्वादिजातीयायोगादिति चेत् सापि किं परमार्थभूता उत अपरमार्थभूता? न तावत्परमार्थभूता । तस्या अपरमार्थान्वयायोगात्, नाप्यपरमार्थभूता, परमार्थान्वयायोगात्। अपरमार्थे परमार्थबुद्धि शब्दयोर्निर्वाहकत्वायोगाच्च। यत्पुनरुक्तं रज्ज्वादिवन्मृन्मात्रस्य कारणस्यानुवर्तमानत्वात्पारमार्थ्यं सर्पादीनामिव घटशरावादि कार्याणां मिथो व्यावर्तमानत्वादपारमार्थ्यम्। अहङ्कारादि व्यवहारालम्बनास्सर्वे पदार्थाः मिथो व्यावर्तमानत्वात् अत एव बाधितत्वादपरमार्था इति, तत्तुच्छं द्वयोः ज्ञानयोः विरोधे हि बाध्यबाधकभावः। बाधितस्यैव व्यावृत्तिः। अत्र घटादिषु देशकालभेदेन विरोध एव नास्ति, यस्मिन्देशे यस्मिन्काले यस्य सद्भावः प्रतिपन्नः तस्मिन्देशे तस्मिन्काले तस्याभावः प्रतिपन्नश्चेद्विरोधाद्बलवतो बाधकत्वं, बाधितस्य च व्यावृत्तिः, देशान्तरकालान्तरसम्बन्धितयाऽनुभूतस्यान्य देशकालयोर्भावप्रतीतौ न विरोध इति कथमत्र बाध्यबाधकभावः। अन्यत्र निवृत्तस्यान्यत्रवृत्तिर्वा कथमुच्यते? रज्जुसर्पादिषु तु तद्देशकालसम्बन्धितयैवाभावप्रतीतेर्विरोधे बाधकत्वं व्यावृत्तिश्चेति देशकालान्तरदृष्टस्य देशकालान्तरव्यावर्तमानत्वं मिथ्यात्वव्याप्तं न दृष्टमिति न व्यावर्तमानत्वमात्रं पारमार्थ्ये हेतुः। यत्त्वनुवर्तमानत्वात्परमार्थ इति तत्सिद्धमेवेति न साधनमर्हति। अतो न सन्मात्रमेव वस्तु, सत उत्पत्तिवैयर्थ्यं परिहरन्ति व्यवहृतये विकल्प इषित इति। अस्य यथोक्त एवार्थः। अतस्सतोऽवस्थान्तरप्राप्तिस्सफलेत्यर्थः। ननु तर्कहतत्वाभावेऽपि 'नेह नाना' इत्यादिश्रुतिरेव कार्यमिथ्यात्वं प्रमापयतीत्यत आहुः - भ्रमयतीत्यदिना। ते तव भारती वाग्रूपा 'नेह नाना' (बृह.उ.4-4-9) इत्यादिश्रुतिः। उरुवृत्तिभिः उक्थजडान् अन्धपरम्परया भ्रमयतीति सम्बन्धः। उक्थजडाः कर्मजडाः, अनादिपापवासनादूषिताशेषशेमुषीकाः, तान्। अयं भावः - न केवलं कार्यमिथ्यात्वबोधनात्मिकैव 'नेह नाना' (बृह.उ.4-4-9) इत्यादि त्वद्द्वारत्या वृत्तिः। अपि तु अब्रह्मात्मकस्वतन्त्रवस्तुनिषेधबोधनात्मिका,ब्रह्मस्वरूपे देवमनुष्यादि भेद निषेधादि बोधनाद्यात्मिकाश्च बह्व्यो वृत्तयस्सन्ति। एवं तदर्थबुभुत्सवोऽप्युक्थ जडास्तद्विपरीताश्च। तत्र ये कर्मजडाः तान् प्रथमबुभुत्सुकुबुद्धिपरिकल्पित कार्यमिथ्यात्वकारण सत्यत्वपरत्वदिरूप बहुवृत्तिभिः प्रथमप्रतिपत्तृ कुबुद्ध्यनुवर्तिनां कर्मजडानाम् अन्धपरम्परया कार्यमिथ्यात्वभ्रमं जनयति। औपनिषदपरमपुरुषवरणीयता हेतुगुणविशेषगुण विशिष्टानां तु अब्रह्मात्मकस्वतन्त्रवस्तुनिषेधादि विषयां प्रमितिं जनयतीति किमस्माभिः विधेयमिति ॥ ३६ ॥

**विज०** कथमनुजानतेति तत्राह - **नेति**। अजशब्दस्यानेकवृत्तित्वेनानिश्चय इत्यतः प्रकृतिपूरुषयोरिति तयोरुद्भव उत्पत्तिः न घटत इति यतस्ततः प्रकृतिपूरुषौ विनाऽन्यो बन्धरहितो न विद्यते। मुख्यतोऽजशब्दप्रवृत्तिनिमित्तान्यथानुपपत्त्या

न घटत इत्युक्तं भवति। तदुभययोः प्रकृतिपूरुषयोः युजोः योगयोः असुभृतो जीवा भवन्ति देशतः कालतश्च यत्र परमस्तत्र प्रकृतिः यत्र प्रकृतिः तत्र परम इत्युभययुजोः। तत्र दृष्टान्तः- जलबुद्बुदवत्। जलबुद्बुदानि यथोत्पद्यन्ते तथेति। 'सम्यग्ज्ञानवदाचार्यान्मुच्यते पुरुषो भवात्, द्वावेव नित्यमुक्तौ तु परमः प्रकृतिस्तथा' (वामने) इति स्मृतेः। 'योनः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवनायन्त्यन्या। त आयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषयः पूर्वे जनितारो न भूता असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि' (आद्याश्रुतिः) इत्यादि श्रुतेः। ब्रह्मेशेन्द्रादि संनाम्नां येऽर्थभूता गुणा मताः पूत्तीशितृत्वद्रष्टृत्वप्रमुखास्ते हरेः सदेति। 'अतस्तु सर्वनामासौ सर्वकर्ता च केशवः' (पाद्मे) इत्यादिस्मृतीनां च अर्थत्वेन संदृब्धस्य त्वयि त इम इति श्लोकस्य अयं भावः - मधुनि निलिल्युरिति वक्तव्ये मधुनिलिल्युरिति पाठो गाथाभङ्गभयात् 'समाने लोप' इति न्यायाच्च कृतः। ततो इति पाठोऽपि वैलक्षण्यज्ञापनाया कारि तत तात पितरित्यर्थः। 'ततेति तात' इति श्रुतिः। 'अ उ आनन्दपूर्णत्वादनामा सर्वस्मादुत्कृष्ट त्वादुनामा 'आनन्दत्वानामासावुत्कृष्टत्वादुनामकः एतन्नामद्वयं विष्णोर्ज्ञात्वा पापैः प्रमुच्यत' (स्कान्दे) इति स्मृतेः। तयोः सन्धिः। ओ इत्यनेन नाम्नोर्नामिनश्चाभेदः। 'उनाम्नः सम्बुद्धिरसूचि ये गुणाः श्रुताः सुविरुद्धाश्च देवे सन्ति' इत्यादिश्रुतौ प्रतीताः। त इमे विबुधनामगुणाः विबुधानामिन्द्रादीनां नाम्नामर्थभूताः परमैश्वर्यादिगुणाः अमृते नित्यमुक्ते परमे त्वयि निलिल्युः निलीनतया स्थिताः। कस्मिन् के इव? मधुन्यर्णवे मकरन्दमधुलक्षणसमुद्रे अशेषपुष्परसा इव ॥ २८ ॥ ३९॥

यतोऽशेषगुणाकरो भवान् अतो नृषु सुधियः। निर्धारणे सप्तमी। नृणां मध्ये सम्यग्ज्ञानिनः स्वगतया सुष्ठ्वन्यैरनवगतया मायया स्वेच्छया त्वयि भेदं समस्तादन्यो विशिष्टगुणः परः इति भेददर्शनलक्षणम्। कुशलमनुविधातुमनुप्रभवः सम्यक्समर्थाः। अनेन अज्ञानिनां निलीनाः ज्ञानिनामभिव्यक्ताः गुणा इत्यतः तेषां सद्भावो दर्शित इति। तदुक्तम् - 'अन्याविज्ञातया विष्णोः शक्त्यैव कुशलं जनाः। कुर्वन्ति कुशलेषूच्चभेद दर्शनमेव तु । पूर्णानन्दादिसम्पत्तिं विष्णोर्ज्ञात्वेतरेषु च। तदपेक्ष्य विष्णुमात्रज्ञानं तद्भेददर्शनम्। अनाद्यनन्तो भेदोऽयं स्वभावः परजीवयोः। स्वतो वा परतो वापि न कदाचित्प्रणश्यति। एवं ज्ञानवतां विष्णुर्बहुजन्म न दास्यति । अनुवृत्तिर्यद्यनल्पा स हि सर्वेश्वरः प्रभुः' (प्रमाणसंहितायाम्) इति। अनेन कथमनुवर्तिनां भवभयं तव भ्रुकुटी सृजति। मुहुर्नृणामित्येतदर्थो विवृतः। तथाहि - यथा तव गुणविधान सामर्थ्यं तथा अनुकूलभूत त्वत्प्रसादानुवर्तिनां मुहुर्निरन्तरं सेवमानानां तव भ्रुकुटी भवभयं कथं सृजति? न कथमपि, प्रत्युत निर्मूलयतीत्यर्थः। 'यः पिता जनिता चैव कल्पको नित्यपोषकः। प्रापकः सर्वदेवानां पदानां पुरुषोत्तमः । सर्वदेवाभिधा वाच्यो भूत भव्यभवत्प्रभुः। विचार्यः सर्वदेवेशैस्तं ब्रह्माद्या यजन्ति च। त्रिगुणात्मकस्रष्टारस्तथापि न यजन्ति तम्। यतः

पूर्णशशक्त्यैव तेषां यजनमिष्यते। अतः सर्वेश्वरो विष्णुरेक एव महागुणः' (प्रधानसंहितायाम्) इत्यनेन ब्रह्मादी नामखण्ड गुणत्वं स्वातन्त्र्येण सर्वकर्तृत्वमित्यादिकं दूरतोऽपहस्तितमिति ज्ञातव्यम् ॥ १९ ॥ ३२ ॥

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैतेऽकथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः' (श्वेता.उ.6-23) इति श्रुतेः। 'देवा अपि सुयोगाद्या यतन्ते सर्वसाधनैः। पुत्रदारादिभिः सार्धं नोच्छ्वसन्ति इह संसृतौ। गुरोरनुग्रहमृते साधनं न हरेः प्रियम्। गुरूपदेशात्तु हरिं प्राप्नोत्येव न संशयः॥' (तत्त्वोद्योगे) इति स्मृत्यनुगृहीतायाः श्रुतेः अभिप्रायगर्भस्य 'इह भवच्चरणेषु' इत्यादि श्लोकद्वयस्य अयमभिसन्धिः। हे अजित! भक्तभक्त्यावशीकृत! जयो विष्णोश्चावयोः चावयोश्च भक्त्या तत्प्रीतिसाधनम्। 'जगदीशयोः कुतो ह्योनोः सर्वशक्त्योर्बलाज्जयः' (पवनविजये) इति वचनात्। भक्तलक्षणसाधनसामग्र्या विष्णोः प्रसादो जयो नाम हे हरे! इह संसारे व्यसनशताब्धितारं गुरोश्चरणमपहाय हृषीकवायुभिः उदात्तमहत्तुरगैः कर्मणि यतन्तीत्यन्वयः। व्यसनानां शतमेवाब्धिः व्यसनशताब्धिः तं तारयतीति यः तं षण्णवत्यङ्गुलो यस्त्वित्यादि लक्षणोपेतस्य गुरोश्चरणमिति सेवेह लक्ष्यते। तां सेवां त्यक्त्वा उदात्तः सारथिः। 'रथोपरि स्वीकरणादुदात्तःसारथिर्मतः' (व्यासनिरुक्तिः) इति वचनात्। वायुरेवादात्तो येषां ते तथा। पृथग्पदत्वं छान्दसं, हृषीकाण्येव माहांस्तुरगा महत्तुरगाः महादेशाभावः छान्दसः। तैस्ते उच्छ्वसन्ति निश्वसन्तीत्यन्वयः। अत्र दृष्टान्तः - जलधावकृतकर्णधराः अकृतकर्णधरः कर्णधारो यैस्ते तथा। वणिजः सांयात्रिका इवेत्यर्थः ॥ २०॥ ३३॥

यतमानाः कीदृशाः? स्वजनसुतात्मदारधनधामधराः स्वजनसुतादि भरणोपेताः आत्मा देहः धाम गृहं जितहृषीक इत्येकं वा पदम्। उक्तमेव विवरणम्। ये च देवकल्पाः पुरुषाः भवच्चरणेषु भवद्विषयसुकर्मसु सुजातभुवः सुष्ठुजातस्थानाः उत्तमयोग्यतायुक्ताः हृषीकलक्षणवायुसारथियुक्ततुरगैरमतिलोलं बुद्धिचाञ्चल्यं विना निष्कामत्वेन यतन्ति ते स्वजनादियुक्ता उच्छ्वसन्ति उत्कृष्टं श्वसन्ति प्राणन्ति जीवन्तीत्यर्थः। 'श्वस प्राणने' इति धातुः। किं कृत्वा? गुरोश्चरणमपहाय हानं त्यागमपाकृत्य गुरुचरणनिषेवणं कृत्वेत्यर्थः। 'नास्त्यकृतः कृतेन' (मुण्ड.उ. 1-2-12) इति श्रुतेः। अकृतो भगवानेव कर्णधारो येषां ते तथा। दैवानुकूलकर्णधारा इत्यर्थः। ते उपायविदः सुयोगज्ञाः किन्तु नृणां यानि विहितानि साधनानि सुखशान्तिमति त्वयि सुखस्यापि सुखं सुखशं दुःखमिश्ररहितसुखमित्यर्थः। तस्यान्तिमति पूर्तिमति पूर्णसुखे इत्यर्थः। यस्मिंस्त्वयि न सन्ति हि गुर्वभावात् तस्माद्विभवे विगतसंसारे देहाभिमानरहिते जीवन्मुक्ते गुरावुद्युति उपदिशति साधन जातमुपदिशति सति सर्वरसे सर्वस्मात् सारभूते आत्मनि परमात्मनि श्रयत एव तत्साधनसर्वस्वं तत्प्रीतिजनकत्वेन श्रीहरिं विषयीकरोतीत्यर्थः। षण्णवत्यङ्गुलो यस्तु तालास्यो दशतालकः दशप्रादोशकः सप्तपदो हस्तचतुष्टयः 'कलमत्रयाङ्गुलश्चैव वाग्मीसन्देहवर्जितः। वासुदेवैकशरणो गुरुरित्युच्यते बुधैः। गुरुलक्षणसम्पूर्णः साक्षादेकश्चतुर्मुखः। ततः शेषेन्द्रवह्न्याद्याः क्रमादेव प्रकीर्तिताः'॥ (गुरुविवेके) इत्यादिवाक्यामत्र प्रमाणम्। 'देवा योग्यतया जाता विष्णुपादाम्बुजाश्रयाः। तथापि

साधनैस्तेषां तत्प्राप्तिर्गुर्वनुग्रहात्' (तत्त्वोद्योगे) इति च। 'ब्रह्मा ज्ञात्वेति लोकप्रवृत्तिं प्रवर्ततां को नु मोक्षं ददति । अतो "ब्रह्मोपासते साधु धीरा नाहं भावस्तेषु रुद्राधिवासः" (महारवश्रुतिः) इति श्रुतेः। 'महाभाग्यं तु कैवल्यमज्ञानाङ्कः प्रदास्यति। अतस्सन्तो विजानन्ति हरिं ते त्वनहङ्कृता' (स्कान्दे) इति स्मृत्यर्थसङ्ग्राहिण्या अर्थरूपस्य। इति सदजानतामित्यस्य श्लोकस्यायमर्थः। इतिशब्दः प्रकारवचनः। इति लोके दृश्यमानप्रकारेण सद्ब्रह्म अजानतां ब्रह्माज्ञानिनां मिथुनतः स्त्रीपुंसभावेन रतये ग्राम्यधर्माय चरतां प्रवर्तमानानां को नु पुरुषः अद्य इह विजने मोक्षविषये सुखयति न कोऽपि मोक्षं ददातीत्यर्थः। कीदृशे विजने? स्वनिरस्तभगे सुष्ठु अनिरस्तो भग ऐश्वर्यादिगुणो यस्मिन् स तथा तस्मिन् र . स्त्वदज्ञानिनां परमानन्दलक्षणमोक्षभावः ॥ २१ ॥ ३४ ॥

अतः भुवि स्थाने पुण्यं शुद्धिकरं तीर्थं शास्त्रमेव सदनं शरणं येषां ते तथा। ते ऋषयो देवादयः त्वामेव सन्तं ज्ञात्वा भवतः पदाम्बुजं हृदा निविशन्ति। कीदृशम्? अघभिदं पापनाशनं किञ्च मनो मननसमर्थमन्तःकरणं नित्यसुखे चिदात्मनि त्वयि दधति च। अत्र प्रधानसाधनमाहुः - हे पुरुषसार! पुरुषोत्तम ! पुनश्च पश्चात् हरस्य रुद्रस्यावसथं अहङ्कारं सकृदपि नोपासते न कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ २२ ॥ ३५ ॥

यज्जीवमीशं प्रवदन्ति तर्कैः तच्चेश्वरो वचनं सन्दधाति। 'नासीदादौ मरणे नो भविष्यन्मृषा ततो हि ईशितृत्वं स्वपेषु' इति श्रुत्यर्थद्योतकस्य स्मृत्यनुगृहीतस्य इदमप्यथो वदन्ति चेदित्यस्य श्लोकस्य इदं तात्पर्यम् -इदं जगत् न पातीत्यपः। 'पा पालने' इति धातुः सोऽस्यास्तीत्यपि अनीश्वरमित्यर्थः। अपि गर्हितमसत्यम्। अत एव अप्रतिष्ठमिति वा। 'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्' (स्कान्दे) इत्यादेः। न मत्तोऽन्य ईश्वरश्चेतनत्वादित्यादि तर्कैः वदन्ति चेत् अथो तस्मात् कुतः? सर्वात्मना एतदपि वचनं भगवत्प्रेरणयेत्यवगन्तव्यम्। तर्हि तर्कः प्रामाणिकः स्यादिति तत्राह-नन्विति। तर्का व्यभिचरन्ति नन्वित्यन्वयः। अत्र व्यभिचारित्वं पक्षधर्मत्वादिलक्षणाभावः। तथा हि विशिष्टपक्षीकारस्य सिद्धान्तविरुद्धत्वादनुपपत्तिः निर्विशेषेश्वरपक्षीकारे हेतोरसिद्धिः इत्यादिदूषणमुपेक्ष्याचार्यैः कालात्ययापदिष्टत्वं प्रादर्शि। वेदोक्तो जीवव्यतिरिक्तेश्वरो न तर्कैरपनेतुं शक्यः। यतस्तर्का व्यभिचारिण इति। "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" (मुण्ड.उ. 3-1-1) इति श्रुतेः। जीवेश्वरौ विरुद्धधर्माक्रान्तत्वेन भिन्नौ छायातपवदित्यादेश्च दूषणान्तरमाह क्वचिदिति। अभेदस्य सिद्धावसिद्धौ च तर्कस्य विशेषानापादकत्वेनाप्रयोजकत्वात्। अपिपासोः पयः पानवत् । भोजनस्येष्टसाधनत्वतर्को ज्वरितादौ व्यभिचार्यत्वेन व्यर्थश्च सर्वशरीरसमवेतसुखदुःखानुसन्धातृत्वेन कायपरिमाणो जीव इति क्षपणकदर्शनपरिकल्पितः तर्कोऽपि मृषैव। अणुशरीरस्थस्य कर्मादिवशाद्धस्त्यादिशरीरप्राप्तौ विकारित्वापत्तेः। ननु तर्हि तर्केभ्यः किं प्रयोजनमत्राह - तत इति। यतो दुष्टास्ततो भयदृग्व्यवहितये भयबुद्धीनां बुद्धिव्यवधानाय तर्का भवन्ति। न तु धीराणां विदुषाम्। ननु किमिति प्रवृत्ता इति तत्राह - विकल्प इति। 'वि निषेधे पृग्भावे' (वैज.को. 8-7-6) इति वचनात्। विकल्पो वेदविरुद्ध

कल्पना जगतो मिथ्यात्वं जीवस्य ब्रह्मणोऽभेदो जगत् क्षणिकं षड्गुण ईश्वर इत्यादिलक्षणान्धपरम्परयैवान्वहमुषितः प्रवर्तितः 'अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः' (कठ.उ.2-5) इति श्रुतिः। अन्धपरम्परायाश्च कोऽवलम्ब इति तत्राह भ्रमतीति। भारती वेदवाणी च भ्रमति बहुधा वक्ति। तात्पर्यार्थावबोधाकुशलानज्ञानुद्दिश्येति शेषः। इति यस्मात् तस्मादन्धपरम्परा। 'बहूक्ति रन्यथाज्ञप्तिः परिवृत्तिश्च कथ्यते। भ्रम इत्येव विद्वद्भिस्तथा चङ्क्रमणं क्वचित्' (शब्दनिर्णये) इत्यतो भ्रमस्य बहूक्तित्वं सिद्धम्। वेदस्य बहुधोक्तेः किं कारणमत्राह - तवोर्विति। उरुशब्देनानन्तत्वं वृत्तिशब्देन गुणकर्माणि विवक्ष्यन्ते। भवतो गुणकर्मणामनन्तत्वात् तानि वक्तुमूढजवा त्वरावती वेदवाणी। अतो वेदेऽपि बहुधा वचनात् तदर्थनिर्णयशक्त्यभावात् योग्यतावशाद्विपरीतप्रतीतेश्च विरुद्धकल्पनायुक्ता अन्धपरम्परयाऽसुराणाम् ॥ २३॥ ३६॥

**न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधनादनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे ।**
**अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्प पथैर्वितथमनो विलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥ ३७ ॥**

**स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेत भगः ।**
**त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो महसि महीयसेऽऽष्टगुणितेऽपरिमेय भगः ॥ ३८ ॥**

**यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः ।**
**असुतृपयोगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगवन्ननपगतान्तकादनधिरूढपदाद्भवतः ॥ ३९ ॥**

❖ **त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयो र्गुणविगुणान्वयांस्तर्हि न देहभृतां च गिरः ।**
**अनुयुगमन्वहं सगुणगीतपरम्परया श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः ॥ ४० ॥**

**द्युपतय एव तेन ययुरन्तमनन्ततया त्वमपि यदन्तराऽण्डनिचयाननु सावरणाः ।**
**ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुत स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ॥ ४१ ॥**

1--1 M. Ma निमित्तकम° 2. M. Ma °गी° 3. M. Ma °मिद° 4. M. Ma °न्ति बुधाः 5--5 M. Ma उदगात्पुमाननुगीतमात्त° 6--6 M. Ma त्वमुत जहासि जिहासताम् अहिरव त्वचं परभगां 7. M. Ma °णोऽप° 8. M. Ma °च्च 9. M. Ma °योऽपि 10. M. Ma °डा 11. M. Ma °नुतृप्त° 12--12 M. Ma °मध्यो 13. M. Ma व ❖ These verses appears in vija like this:-

तदवगमार्थं सितासितयोर्गुणविद्रुमयोर्न हि देहभृतां स गिरः। अनुययुरत्र हंसकुलगीतपरम्परया न तुषावरणा इव रजांसि वान्ति ॥ वयसा सह यच्छ्रुतयस्त्वयि सफलं पतन्ति बन्धनाः॥

**श्रीध०** तदेवं प्रपञ्चस्य सत्त्वे साधकं नास्तीत्युक्तम्। इदानीमसत्त्वे सृष्टिप्रलयश्रुतयो 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्ति.उ. 3-1) इत्याद्याः तन्मूलं चानुमानं प्रमाणमित्याह - नेति। यद्यस्मादिदं विश्वमग्रे सृष्टेः पूर्वं न आस नासीत्। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छान्दो.उ.6-2-1) "आत्मा वा इदमेवाग्र आसीत्" (एत.उ. 1-1-1) इत्यादि श्रुतेः। "न च निधनात् प्रलयादनु अनन्तरं भविष्यत् भविष्यति"। नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् (यजु. अ.2-8-9) इत्यादि श्रुतेः। अतः कारणात् अन्तरा मध्येऽप्येकरसे केवले त्वयि मृषा मिथ्यारूपमेव विभातीति मितं निश्चितम्। यत एवं हि अतः श्रुत्या द्रविणजातिविकल्पपथैः द्रविणजातीनां द्रव्यमात्राणां मृल्लोहकार्ष्णायसरूपाणां विकल्पा भेदा घटकुण्डलादयः तेषां पन्थानो मार्गाः प्रकाराः तैरुपमीयते सदृशतया निरूप्यते। यथा तत्र कार्याकाराणां नामधेयमात्रता कारणं मृदाद्येव तु सत्यं, तथा अत्रापि आकाशादीनां नाममात्रता ब्रह्मैव सत्यम्[1]। तथा च श्रुतिः - 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं भवति' (छान्दो.उ.6-1-6) 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छान्दो. उ. 6-4-1) 'यथा नाम एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्' (छान्दो.उ.6-1-5) 'यथा एकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसम्' (छान्दो.उ.6-1-6) इत्यादि। तस्मादस्य सत्त्वे प्रमाणाभावादसत्त्वे प्रमाणस्य विद्यमानत्वात् वितथमनो विलासमृतं सत्यमिति ये अवयन्ति जानन्ति तेऽबुधाः। अज्ञा इत्यर्थः। अत्रैवं प्रयोगः - विवादाध्यासितं न सत्। आद्यान्तयोरविद्यमान त्वाद्विकारित्वाद्दृश्यत्वाच्च शुक्तिरजतादिवत् इत्यन्वये दृष्टान्तः - आत्मवच्चेति। व्यतिरेके दृष्टान्तः। मुकुटकुण्डलकङ्कणकिङ्किणीपरिणतं कनकं परमार्थतः। महदहङ्कृतिखप्रमुखं तथा नरहरेर्न परं[2] परमार्थतः ॥ २४ ॥ ३७ ॥

ननु यदि प्रपञ्चो नाम नास्त्येव तदाऽसता तेन न चैतन्यस्य सम्बन्धगन्धोऽपि तर्हि किमपराद्धं जीवेन यतोऽयं संसरति किं वा बहुपुण्यमीश्वरस्य यतो नित्यमुक्तः किंविषयं च तदा कर्मकाण्डमित्यपेक्षायां जीवेश्वरविशेषं 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (मुण्ड. उ. 3-1-1) इति। 'अजामेकां लोहिताशुक्लकृष्णाम्' (म. ना. उ. 8-4) इत्याद्या वदन्तीत्याह - स इति। स तु जीवो यद्यस्मादजया मायया अजा मविद्यां अनुशयीत आलिङ्गेत् ततो गुणांश्च देहेन्द्रियादीन् जुषन् सेवमानः आत्मतयाध्यस्यंस्तदनु तदनन्तरं सरूपतां तद्धर्मयोगं च जुषन् अपेतभगः पिहिताऽऽनन्दादिगुणस्सन् मृत्युं संसारं भजति प्राप्नोति। तद्विषयमेव च कर्मकाण्डमिति भावः। त्वमुत त्वं तु जहासि तामजां मायाम्। ननु स मय्येवास्ति, कथं त्यागस्तत्राह - अहिरिव त्वचमिति। अयं भावः - यथा भुजङ्गः स्वगतमपि कञ्चुकं गुणबुद्ध्या नाभिमन्यते तथा त्वमजाम् न तु निरन्तराह्लादि संवित्कामधेनुवृन्दपतेः अजया कृत्यमिति तामुपेक्षस इति। कुत एतत्तदाह - आत्तभगो नित्यप्राप्तैश्वर्यः। महसि परमैश्वर्येऽष्टगुणितेऽणिमाद्यष्टविभूतिमति महीयसे पूज्यसे विराजसे। कथम्भूतः? अपरिमेयभगोऽपरिमितैश्वर्यः। न ह्यन्येषामिव देशकालादिपरिच्छिन्नं तवाष्टगुणितैश्वर्यम् अपि तु परिपूर्णस्वरूपानुबन्धित्वादपरिमितमित्यर्थः। नृत्यन्ती तव वीक्षणाङ्गणगता कालस्वभावादिभिः भावान्

सत्त्वरजस्तमोगुणमयानुन्मीलयन्ती बहून्। मामाक्रम्य पदा शिरस्यतिभरं सम्मर्दयन्त्यातुरं माया ते शरणं गतोऽस्मि नृहरे त्वामेव तां वारय ॥ २५॥ ३८॥

एवं तावदुक्तसाधनकदम्बेन ये भगवन्तं भजन्ति ते मृत्युं तरन्ति इतरे संसरन्तीत्युक्तम्। इदानीं ये बहिस्सङ्गं परित्यज्य भगवन्मार्गे प्रवृत्ता अपि कथञ्चिदन्तर्वान्ताशिनः कामान्न मुञ्चन्ति न भगवन्तं प्राप्नुवन्ति न चेह सुखं लभन्ते केवलं कुयोनीरेव प्राप्नुवन्ति तान् शोचन् 'कामान् यः कामयते मन्यमानः सः कर्मभिर्जायते तत्र तत्र' (मुण्ड.उ.3-2-2) इत्यादि श्रुत्यर्थमाह - यदीति। हे भगवन्! ये यतयो हृदि स्थिताः कामजटाः कामस्य जटा मूलाज्ञानवासना यदि न समुद्धरन्ति नोत्पाटयन्ति तेषामसतां भवान् हृदि गतोऽपि दुरधिगमो दुष्प्रापः। कथम्? अस्मृतकण्ठमणिः विस्मृतो यः कण्ठमणिः तत्तुल्यः। स यथा कण्ठे वर्तमानोऽप्यस्मृतश्चेदप्राप्त इव भवति तद्वदिति। न केवलमेतावत् किन्त्वसुतृपयोगिनामिन्द्रियतर्पणपराणां योगच्छद्मनामुभयतोऽप्यसुखमिहामुत्र च दुःखमेव तदाह- अनपगतान्तकादनिवृत्तान्मृत्योः। लोकाराधनधन र्ज नादि क्लेशाद्भोग वैभवप्राकट्यभयाच्च इह तावद्दुःखम् भवत ईश्वरादपि दुःखम्। कथम्भूतात्? अनधिरूढपदात् अनधिरूढं पदं स्वरूपं यस्य तस्मात्। त्वत्स्वरूपप्राप्त्यभावादविद्यावद्विषयत्वेन प्राप्तनिजधर्मातिक्रमनिबन्धन त्वद्दण्डरूपनरकप्राप्तेः अमुत्राप्यसुखमित्यर्थः। 'दम्भन्यासमिषेण वञ्चितजनं भोगैकचिन्तातुरं सम्मुह्यन्तमहर्निशं विरचितोद्योगक्लमैराकुलम्। आज्ञालङ्घिनमज्ञमज्ञजनतासम्माननादुर्मदं दीनानाथ! दयानिधान! परमानन्द! प्रभो! पाहि माम् ॥ २६॥ ३९॥

ननु यतेर्न किमपि कृत्यमस्ति प्रारब्धमपि सुखोपभोगेनापक्षीयते अतः किमिति वृथा शप्यते उभयतोऽप्यसुखमिति। श्रूयते च - 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' (बृह.उ.4-4-23) इत्यादि तत्राह - त्वदवगमीति। हे सगुण! षड्गुणैश्वर्ययुक्त! त्वदवगमी त्वज्ज्ञानवान् भवदुत्थशुभाशुभयोः भवतः कर्मफलदातुरीश्वराद्धेतो रुत्थयोराविर्भूतयोः शुभाशुभयोः प्राचीनपुण्यापुण्य कर्मणोः फलभूतान् गुणविगुणान्वयान् सुखदुःखसम्बन्धान् न वेत्ति नानुसन्धत्ते तर्हि तदानीं च देहभृतां देहाभिमानिनां प्रवृत्तिनिवृत्तिकरीर्गिरो विधिनिषेधलक्षणा न वेत्ति। विगतदेहाभिमानतया कार्याकार्यबोधाभावान्न नियुज्यत इत्यर्थः। युक्तं चैतत्। यतः कारणान्मनुजैरन्वहं श्रवणभृतः अनुदिनं श्रवणेन चेतसि धृतस्त्वं तेषामपवर्गगतिः अपवर्गरूपा गतिः भवसि। कथम्? श्रवणभृतः अनुयुगं प्रतियुगं या गीतपरम्परा उपदेशसन्ततिस्तया, सत्सम्प्रदायानुसारेणेत्यर्थः। एतदुक्तं भवति - ये तावत् तत्त्वज्ञानिनो न तेषां कर्माधिकारशङ्कापि ये च अनवरतं त्वत्कथाश्रवणादि निष्ठाः तेषामप्यासन्नभवत्पदानां न विधिनिषेधबाधः। इतरेषां तु योगच्छद्मना इन्द्रियलालसानामुभयतोऽप्यसुखमिति। अवगमं तव मे दिश माधव स्फुरति यन्न सुखासुखसङ्गमः। श्रवणवर्णनभावमथापि वा न हि भवामि यथा विधिकिङ्करः ॥ २७॥ ४०॥

त्वदवगमी न वेत्ति सुखःखे न च विधिनिषेधावित्युक्तं तत्र ननु कथमवगन्तुं शक्यते दुरधिगमत्वस्योक्तत्वादित्येव

माशङ्क्य सत्यमेवमनवगाह्यमहिम्नो अवाङ्मनसागोचरत्वा दविषयत्वेनैव ज्ञानमिति दर्शयन् 'यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदर्वाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं भवच्च भविष्यच्च' (बृह.उ. 3-8-4) इत्यादि श्रुतिप्रतिपादितमपरिमितं महिमानमाह - **द्युपतय एवेति**। हे भगवन्! ते अन्तं द्युपतयः स्वर्गादिलोकपतयो ब्रह्मादयो न ययुः न प्रापुः। तत्कुतः? यदन्तवद्वस्तु तत्किमपि त्वं न भवसि। आस्तां तावत्[1] द्युपतयो न ययुरिति। यद्यस्मात् त्वमप्यात्मनोऽन्तं न यासि । कुतस्तर्हि सर्वज्ञता सर्वशक्तिता वाऽत आह - अनन्ततया अन्ताभावेन। न हि शशविषाणाज्ञानं सार्वज्ञ्यं तदप्राप्तिर्वा शक्तिवैभवं विहन्ति। अनन्तत्वमेवाह - यदन्तरेति । यस्य तवान्तरा मध्ये ननु अहो सावरणा उत्तरोत्तरं दशगुणसप्तावरणयुक्ता अण्डनिचया ब्रह्माण्डसमूहा वान्ति परिभ्रमन्ति। वयसा कालचक्रेण खे रजांसीव, इह एकदैव न तु पर्यायेण। हि यस्मात् एवमतः श्रुतयस्त्वयि फलन्ति तात्पर्यवृत्त्या पर्यवस्यन्ति। न तु साक्षाद्वदन्त्ययमेतावानिति। सगुणस्य गुणानन्त्यान्निर्गुणस्य चागोचरत्वात्। कथं तर्हि अपदार्थे तात्पर्यमिति। तत्र विधिमुखवाक्ये भवेदयं नियमः पदार्थस्यैव वाक्यार्थत्वमिति। निषेधमुखे तु नायं नियम इत्याह - अतन्निरसनेनेति। 'अन्यदेव तद्विदितादथो "अविदितादधि" (केन.उ.1-4) 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रा स्मात्कृताकृतात्' (कठ.उ.2-4) "अस्थूलमनणु" (बृह.उ.3-8-8) इत्यादिप्रकारेण लक्षणया च 'तत्त्वमसि' (छान्दो. उ. 6-7-8) इत्यादयः पर्यवस्यन्ति। न च वाच्यं निषेधैः शून्यमेव ज्ञाप्यत इति। यतो भवन्निधनाः भवति त्वयि निधनं समाप्तिर्यासां तास्तथा। न हि निरवधिनिषेधः सम्भवति अतोऽवधिभूते त्वयि फलन्तीत्यर्थः। द्युपतयो विदुरनन्तमनन्त ते न च भवान्न गिरः श्रुति मौलयः। त्वयि फलन्ति यतो नम इत्यतो जय जयेति भजे तव तत्पदम् ॥ २८॥ ४१॥

1. Ml.V. add इति निरूप्यते इत्यर्थः 2. Ml.V. पृथक् 3. B. J. Omit जटाः 4. B.J. मूलानि वा° 5. Ml.v. कर्मांति 6. B. J. सन्मदं 7. B. J. क्षय्यते 8. B. J. Omit तावत् 9- -9 B.J. तु तानतदित्यतो

**वीर०** ननु 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् (छान्दो. उ. 6-1-4) इत्यादिमृदादिदृष्टान्तेषु मृदादिकारणानामेव 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादिभिः सत्यत्व प्रतीतेः विकाराणां नामधेयानां च वाचारम्भणमित्यनेन वागालम्बनं व्यवहारमात्रं न तु पारमार्थ्यमिति मिथ्यात्वप्रतिपादनाच्च दार्ष्टान्तिकेऽपि सन्मात्रस्य ब्रह्मणः पारमार्थ्यं, कार्यस्य तु मिथ्यात्वमकामेनाऽपि स्वीकार्यमित्याशङ्कायां मृत्पिण्डकार्यादि दृष्टान्तानां कार्यमिथ्यात्वपरत्ववर्णनमविदुषामेव रोचते, न विदुषामित्याहुः - **न यदिति**। अत्र विकल्पपथैरित्यन्तेन कार्यमिथ्यात्वपरत्ववर्णनानुवादः। वितथेत्यादिना तत्प्रतिक्षेप इति विभागः। तथाहि - यत् यस्मात् इदं विश्वम् अग्रे सृष्टेः पूर्वं नास नासीत्। 'सदेव सोम्येदमग्र' (छान्दो. उ. 6-2-1) 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐत.उ.1-1-1) इति श्रुतेरिति भावः। निधनात् प्रलयात् अनु अनन्तरं न भविष्यत् न भविष्यति। 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' (यजु.उ.2-

8-9) इत्यादिश्रुतेरिति भावः। अतः कारणादन्तरा मध्येऽपि एकरसे केवले त्वयि, मृषा मिथ्यारूपमेवेदं विभातीति मितं निश्चितं यत एवम् अतः श्रुत्या द्रविणजातिविकल्पपथैः द्रविणजातीनां द्रव्यमात्राणां मृल्लोहकार्ष्णायसरूपाणां विकल्पाः भेदाः घटकुण्डलादयः तेषां पन्थानः मार्गाः प्रकाराः तैरुपमीयते सदृशतया निरूप्यते यथा तत्र कार्याकाराणां नामधेयमात्रता कारणं मृदाद्येव सत्यम् । तथा अत्राप्याकाशादीनां नामधेयमात्रता। ब्रह्मैव सत्यमिति निरूप्यत इत्यर्थः। तथा च श्रुतिः - 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणंविकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं यथा सोम्यैकेन लोहमणिना विज्ञातेन सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्। यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसम्' (छान्दो. उ. 6-1-6) इत्यादि। अथैतद्दूषयन्ति - वितथेति। कुदृष्टीनां वितथमनोविलसितमेतत्कार्यमिथ्यात्वपरत्ववर्णन मित्यर्थः। प्रतिपन्नोपाधौ बाधादर्शनादिति भावः। तस्मात् कुदृष्ट्यभिमतं कार्यमिथ्यात्वम् ऋतं प्रामाणिकमिति अबुधाः - 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन' (छान्दो.उ.6-1-6) इत्यादिदृष्टान्तवाक्यार्थानभिज्ञाः अवयन्ति जानन्ति, न तदर्थाभिज्ञा इत्यर्थः। अयं भावः - अत्र हि न कार्यमिथ्यात्वं कारणसत्यत्वं च प्रतिपाद्यते। किन्तु कार्यकारणयोः अनन्यद्रव्यत्वं,तथाहि - 'स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातं स्यात्' (छान्दो. उ. 6-1-3) इति कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मैककारणत्वं कारणात्कार्यस्यानन्यत्वं च हृदिनिधाय कारणभूतब्रह्मज्ञानेन कार्यभूतस्य सर्वस्य विज्ञाने प्रतिज्ञाते सति कृत्स्नस्य सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टब्रह्मैककारणतामजानता शिष्येण - 'कथन्नु भगवस्स आदेशः' (छान्दो.उ. 6-1-3) इत्यन्यज्ञानेनान्यस्य ज्ञातत्वासम्भवं चोदितो ब्रह्मैककारणतामुपदेक्ष्यन् लौकिकप्रतीतिसिद्धं कारणात्कार्यस्यानन्यत्वं तावत् 'यथा सोम्यैकेन' (छान्दो. उ. 6-1-6) इत्यादिना दर्शयति। यथैकमृत्पिण्डारब्धानां घटशरावादीनां तस्मादनतिरिक्त द्रव्यतया तज्ज्ञानेन ज्ञाततेत्यर्थः। अत्र काणादवादे कारणात्कार्यस्य बुद्धिशब्दान्तरादिभिः द्रव्यान्तरत्वमाशङ्क्य लोकप्रतीत्यैव कारणात्कार्यस्यानन्यतोपपाद्यते - वाचेत्यादिना। आरभ्यते आलभ्यते स्पृश्यत इत्यारम्भणं, 'कृत्यल्युटः' (अष्टा.3-3-113) इति कर्मणि ल्युट्। वाचा वाक्पूर्वकेण व्यवहारेण हेतुनेत्यर्थः। हेतुत्वं च अत्राध्ययनेन वसतीतिवत्। घटेनोदकमाहरेत्यादिवाक्पूर्वको हि उदकाहरणादि व्यवहारः, तस्य व्यवहारस्य सिद्धये तेनैव मृद्द्रव्येण पृथुबुध्नोदरत्वादि लक्षणो विकारः संस्थानविशेषतत्प्रयुक्तं च घट इत्यादिनामधेयं स्पृश्यते। उदकाहरणादिव्यवहारविशेषसिद्ध्यर्थं मृद्द्रव्यमेव संस्थानान्तरनामधेयभाग्भवति। अतो घटाद्यपि मृत्तिकेत्येव सत्यं, मृत्तिकाद्रव्यमित्येव सत्यं, प्रमाणेनोपलभ्यत इत्यर्थः। न तु द्रव्यान्तरत्वेन। अतस्तस्यैव मृद्धिरण्यादेर्द्रव्यस्य संस्थानान्तरभाक्त्वमात्रेण बुद्धिशब्दान्तरादय उपपद्यन्ते। यथैकस्य देवदत्तस्यावस्थाभेदात् बालो युवा स्थविर इति बुद्धिशब्दान्तरादयः कार्यविशेषाश्च दृश्यन्ते, तद्वदिति। एवं चैकमेव चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म सृष्टेः प्राक् निधनानन्तरं च नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टत्वेनावतिष्ठते । अन्तरा तु तद्विभागार्हस्थूल चिद चिदात्मकप्रपञ्चाकारोणावतिष्ठत इत्यवस्थानामनित्यत्वेऽपि तदाश्रयस्य द्रव्यस्य उभयावस्थायोगनः

पारमार्थ्यमेवेति बुधा अवयन्तीति 'नासदासीन्नो सदासीत्' (यजु.अ. 2--8-9) इत्यस्य स्थूलावस्थमचिद्द्रव्यं चिद्द्रव्यं च प्रलयदशायां नासीत्। किन्तु तमः निरतिशयसूक्ष्मदशापन्नमचिद्द्रव्यं तमसा तमस्सदृशे नाचिद्द्रव्येण गूढं तिरोहितं प्रकेतं सूक्ष्मावस्थं चिद्द्रव्यं चासीदित्यर्थः। उक्थजडानबुधाः इत्यनेन जीवानामज्ञत्वसम्भावना सूचिता ॥ ३७ ॥

ननु भगवत इव तेषामपि नित्यत्वैकरसत्वप्रकृतिस्थत्वाद्यविशेषेऽपि कथं तेषां तत्सम्भावना तव सम्भावनया अप्यभाव इत्याशङ्कायां प्रकृतिवश्यत्वतदभावाभ्यामेवेत्याहुः - **स यदजयेति**। स जीवो यत् यस्मात् अजया त्वन्मायया' मोहित इति शेषः। अजां प्रकृतिपरिणामात्मिकां देवमनुष्यादिमूर्तिम् अनुशयीत आलिङ्गति बिभर्तीति यावत्। ततो गुणान् शब्दादिविषयान् जुषन् सेवमानः सरूपतां स्थूलत्वकृशत्वादिदेहधर्मतां भजति, देहात्माभिमानी भवतीत्यर्थः। तदनु तदनन्तरं मृत्युं मरणं भजति प्राप्नोति। इत्थं जन्ममरणादिरूपसंसृतिभाक्त्वात् अपेतः भगः ज्ञानैश्वर्यादिर्यस्य तथाभूतो भवति। त्वमुत त्वं तु सर्पस्त्वचं कञ्चुकमिव तामजां जहासि। नियमेन तत्परतन्त्रतया सम्बन्धरहितोऽसि। अहिदृष्टान्तः त्यागमात्राभिप्रायकः। अत एवात्तः नित्यं परिगृहीतः भगः येन तथाभूतः - 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसश्श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ' (विष्णु. पु. 5-74) इति भगशब्दार्थोऽवगन्तव्यः। तथापि किं जीव इव अहमपि परिच्छिन्नभगः, नेत्याहुः - अपरिमेयभगः अपरिचछिन्नैश्वर्यादिमान् अष्टगुणिते अपहतपाप्मत्वादयोऽष्टौ गुणाः ते अस्य नित्यं सञ्जाता इत्यष्टगुणितं, तारकादित्वादितच्। तस्मिन् नित्याविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकयुक्ते महसि अपरिच्छिन्ने स्वयंप्रकाशस्वरूपे महीयसे महसि स्थित्वा पूज्यस इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

इत्थमपेतभगस्य पुनस्तत्प्राप्तौ किं निदानमित्यपेक्षायाम् अनन्यप्रयोजनं त्वदुपासनमेवेत्यभिप्रेत्य तावत् भगवत्प्रावण्ये सत्यपि कामहतानामनर्थमाहुः - **यदीति**। यतयः मुनयः मनःप्रणिधानशीला अपि यदि हृदि स्थिताः कामजटाः कामानां मूलानि वासना इति यावत्। न समुद्धरन्ति नोत्पाटयन्ति। तर्हि तेषामसतां हृदि गतः स्थितोऽपि त्वं दुरधिगमः दुर्ज्ञेयः अस्मृतकण्ठमणिः कण्ठे स्थितोऽप्यस्मर्यमाणो मणिरिव स यथा कण्ठे वर्तमानोऽप्यस्मृतश्चेदज्ञातप्राय एव हि भवति। किञ्च हे भगवन्! तेषामसुतृपयोगिनां प्राणेन्द्रियतर्पणपराणां योगिनामुभयतः इह परलोके च असुखं दुःखमेव। तदेवाहुः - अनपगतान्तकात् अनिवृत्तात् मृत्योः इह परलोके च असुखं दुःखमेव। भोगपौष्कल्येऽपि मरणभयं दुःखमस्त्येवेति भावः। परलोके तु अनधिरूढपदाद्भवतस्सकाशात् दःखम् अनधिरूढम् अप्राप्तम् पदं त्वत्स्थानं येन तस्मात् भावप्रधानो निर्देशः। अप्राप्तत्वत्पदत्वात् त्वत्पदाप्राप्तेरिति यावत्। भवतः निजधर्मातिलङ्घिनां शास्तुर्यमरूपात्त्वत्तो दुःखमित्यर्थः ॥ ३९ ॥

अथानन्यप्रयोजनानां भगवद्भक्तानां तु उभयतस्सुखमेवेत्याहुः - **त्वदवगमीति**। त्वामवगच्छतीति त्वदवगमी त्वद्याथात्म्यज्ञानवान् 'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च' (भ.गी.7-14) इत्युक्तिषु तुरीय इत्यर्थः। भवतीति भवः संसारः

तस्मिन्नुत्थयोरुपस्थितयोः फलजननाय समुत्थितयोः इत्यर्थः। तयोः शुभाशुभयोः पुण्यपापात्मकयोः कर्मणोः गुणविगुणान्वयान् फलभूतसुखदुःखसम्बन्धान् तर्हि तदानीं च देहभृतां गिरः स्तुतिनिन्दावाक्यान्यपि न वेत्ति नानुसन्धत्ते, कुतः? यतः त्वमपवर्गगतिः तस्य देहान्ते अपवर्गसाधनभूतः, अनेन परलोके सुखमुक्तम्। इह तु मनुजैस्तावकैस्सह अनुयुगं प्रतियुगम्। अनुवर्तिन्या सगुणगीतपरम्परया सगुणस्य अनन्तकल्याणगुणयुक्तस्य तव गीतपरम्परया कथामृतपरम्परया अन्वहं श्रवणभृतः श्रवणेन चेतसि धृतः यतस्त्वत्कथामृतपानमत्तः ततो न वेत्तीत्यर्थः ॥ ४० ॥

इत्थं यथामति संस्तुत्य अथ त्वन्माहात्म्यस्यापरिच्छिन्नत्वात् साकल्येन स्तोतुं न शक्नुम इति निगमयन्ति -**द्युपतय इति**। द्युपतयः स्वर्गादिलोकपतयः महेन्द्रब्रह्मादय एव ते तावन्तं स्वरूपस्वभावपारं न ययुः न जानीयुरित्यर्थः। किं पुनर्मनुजादय इति भावः। किं बहुना, त्वमपि न यासि,कुतः? अनन्ततया स्वरूपस्वभावयोः अपरिच्छिन्नतया, न चैतावता तव सर्वज्ञत्वभङ्गः, यथावस्थितवस्तुविषयकज्ञानस्यैव सर्वज्ञत्वावहत्वात् अपरिच्छिन्नस्य परिच्छिन्नत्वज्ञानस्याज्ञत्वावहत्वाच्चेति भावः। महिम्नोऽपरिच्छिन्नत्वमेव प्रतिपादयन्ति - यदन्तरेत्यादिना। यस्य तव अन्तरा मध्ये एकैकस्मिन् रोमकूपे सावरणाः सप्तभिरावरणैस्सहिताः अण्डानां ब्रह्मण्डानां निचयास्समूहाः वान्ति सञ्चरन्ति। यथा खे आकाशे रजांसि, वयसेति जात्यभिप्रायमेकवचनम्। पक्षिभिस्सह वान्ति तद्वत्। यत् यस्मादेवं हि ततः श्रुतयः, पारोक्ष्यनिर्देशः स्तुतेः अन्यगतत्वाभिप्रायकः, त्वयि अतन्निरसनेन तस्मादपारमहिम्नस्त्वत्तः अन्यत् प्रकृतिपुरुषादिवस्तु तन्निरसनेन तत्साजात्यप्रतिषेधेन तत्पूर्वकमित्यर्थः। भवन्निधनाः भवति निधनं निष्ठा पर्यवसानमिति यावत्, तद्यासां ताः शब्दवृत्त्या तात्पर्यवृत्त्या च प्रकृतिपुरुषसाजात्यनिरसनेन तद्विलक्षणं त्वां बोधयन्तीत्यर्थः। फलन्ति सफला भवन्ति कृतार्थानि भवन्तीत्यर्थः। समस्तचेतनाचेतनसाजात्यनिरसनेन तद्वैलक्षण्यमात्रं बोधयन्ति न तु साकल्येन, त्वत्स्वरूपस्वभावादिकं बोधयितुं शक्नुवन्तीति भावः ॥ ४१ ॥

1. B.T.W भयजं

**विज०** जीवस्येश्वरत्वे बाधकमाह - **नेति**। इदमीश्वरत्वमग्रे उत्पत्तेः पूर्वं जीवेषु गर्भस्थेषु नाऽऽस नास्ति न भविष्यत् यदि गर्भस्थ ईशो भवेत्तर्हि उत्तरत्रापि अभविष्यत्। न च तथेति। यस्मादतो निधनात् मरणादनन्तरमपि नरकादिगमनान्न विद्यत इत्यर्थः। ननु अस्येशोऽहमिति किन्निमित्ताप्रतीति रत्राह-अनिमित्तकमिति।अः विष्णुः निमित्तं यस्य तत्। अनिमित्तकं भगवन्निमित्तकमेव तस्य जन्ममरणयोरन्तरा मध्ये त्वयि जीवे मृषैवेशितृत्वं भाति न तु वस्तुतः त्वं जीवः कुतः? एकरसे प्रधानसारे न च वस्तुतः जीवः सर्वोत्तमसारः मृषैव तथा मन्यते। अतो भ्रान्तिरेव तथा ज्ञाने प्रयोजकेत्याह - अत इति। यतो जीवः सर्वसारो न भूयादतो द्रविणजातिविकल्पपथैः जीव उपगीयत इत्यन्वयः। भ्रन्त्या जीवो द्रविणवान् अभिजातिमानित्यादि

साक्षिविरुद्ध कल्पनामार्गैः कथ्यते, अज्ञैरिति शेषः। विद्वद्भिस्तु भवानेव द्रविणादिमानित्युच्यते। कुतः? यतस्तपोदमाद्या अभिजन्मकारणभूताः गुणाश्च भवत एव कथमेतदिति तत्राह - वितथेति। यतोऽभिजात्यादिगुणास्तव मुख्याः, अत इदं जीवस्येश्वरत्वं बुधाः तत्वज्ञानिनो वितथमनोविलासं मिथ्यामनोविकारमित्यवयन्ति जानन्ति। गुणा एव अभिजात्याख्या स्तद्वानेवाभिजातिमान्। 'अतोऽभिजात्यवान्विष्णुस्तदन्ये तूपचारतः' (शब्दनिर्णये) इति वचनात्। 'ये जगत्प्रवदन्त्यज्ञा जीवादन्येशवर्जितम्। तेषामपि तु तां वाचमीश एव ददात्यजः। न च तर्कैर्भवेदीशो जीवो वेदविरोधतः॥' (तन्त्रभागवते) इत्यादिस्मृत्यर्थत्वेन श्रुत्यन्तरमप्यूह्यम् ॥ २४ ॥ ३७ ॥

'स्मरन् ब्रह्मगुणान्नित्यं मुक्तौ ब्रह्मसरूपताम्। दुर्भगां प्रकृतिं त्यक्त्वा हत्वा चान्यां दुरन्वयाम्। याति तच्च परेशानात्स हि पूज्योऽथ पूजकः। तस्यैकस्य स्वतन्त्रत्वात् स चानन्तगुणो विभुः' (खातिलश्रुतिः) इति श्रुत्यर्थरूपस्य उदगात्पुमानित्यस्यायमर्थः। अनुशब्दो विकल्पार्थः। श्रुतिष्वनुगीतगुणान्। चशब्दात्तव कर्माणि च जुषन् तदनुगुणस्मरणमनु उदगात्संसारादिति शेषः। अस्मात्संसारान्मुक्तो भवतीत्यर्थः। तव सरूपतां च भजति। कश्चित्सायुज्यं कश्चित्सारूप्यं कश्चित्सालोक्यं च। यद्वा गुणस्मरणमनुगुणाननुकूलान् प्रातरादिकालविशेषान् जुषन् यच्चायं पुमान् परमेण त्वया आत्तभगां अपहृतप्रयत्नलक्षणशक्तिं प्रातिस्विकीं पूर्वोक्तां द्विविधां नीचां तां प्रकृतिं जहाति त्यजति। जिहाति हन्ति च। तदुभयमपि त्वमेव जहासि उत जिहसि च। उत त्यागवधयोः समुच्चयार्थः। 'जिहाति रावणं सङ्ख्ये राघवः परमास्त्रवित्' (स्कान्दे) इति च। 'स्वातन्त्र्यात् प्रकृतित्यागकर्ता नारायणः परः। यद्यप्येषा जीवसंस्था हन्ता च भगवान्प्रभुः' (गारुडे) इति च। किञ्च महसि असुरजनमोहनाय शिवादीन्पूजयसि। महीयसे च सुरजनेन पूज्यसे च अणिमाद्यष्टगुणः व्याप्तगुणो वा। 'अशू व्याप्तौ' इति धातुः। अपरिमेयभगः दुर्ज्ञेयपरमैश्वर्यादिगुणः ॥ २५ ॥ ३८॥

**यदि न समुच्चरन्तीत्य**स्यायमर्थः। यदि यतयोऽपि हृदिकामजडात् जडशरीराविष्टकामात् न समुच्चरन्ति सम्यक् नोद्गच्छन्ति नोत्थिता भवन्ति विषयकामाः स्युरित्यर्थः। तर्हि हृदि गतोऽपि तेषामसतामप्रशस्तकर्मणां पुंसां दुरधिगमो दुर्ज्ञेयः। अस्मृतकण्ठमणिरिति लुप्तोपमा। विस्मृतकण्ठमणिः पुरुषो यथा कण्ठस्थितं मणिं न जानाति तथेत्यर्थः। अनेन स यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवति। तत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते इति कामयमान इत्येतद्विवृतम्। हे भगवन्! अनुतृप्तयोगिनाम् अनुतृप्तानां विद्ययाऽलब्धबुद्धिं प्राप्तानां निष्कामानामित्यर्थः। निवृत्तमार्गस्थानां पुंसां भवतोऽधीनात् अनधिरूढपदात् अनारूढवैकुण्ठादिब्रह्मस्थानादज्ञानामनवगमात् अज्ञातादन्तकात् कालादिलक्षणादभयोऽभयप्रदः पूर्णानन्दादिलक्षणां मुक्तिं ददातीत्यर्थः। इन्द्रियाभिमानि देवानां वियोगाभावलक्षणां च अमुना च 'अथा कामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रमन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येति' इति श्रुतिव्याख्यानम्। अस्याः श्रुतेः विशेषार्थः। 'निषिद्धकामयुक्तानामसतां तु विशेषतः। दुर्ज्ञेयो भगवान्विष्णुर्हृदिस्थोऽस्मृतहारवत्' (ब्रह्मतर्के) इत्यादिवाक्यादेव अवगन्तव्यः। 'देवाश्च ऋषयश्चैव सुभक्त्या कामिनोऽपि तु' इत्यादिना कामित्वे यतित्वमप्रयोजकमित्युक्तम् ॥ २६॥ ३९॥

सकलश्रुतिस्मृतिभावसङ्ग्रहात्मनः तदवगमार्थं सितासितयोरित्यस्यायम्भावः। देहभृतां जीवानां सगिरः गिरा वाचा सहिताः श्रोत्रादयः गुणविगुणयोः तदवगमार्थसितासितयोः नानुययुर्हि इत्यन्वयः। द्वितीयार्थे षष्ठी। गुणरूपा श्रीः विगुणो निर्गुणो विष्णुः तौ पूर्वं प्रस्तुतो विष्णुः तच्छब्देन परामृश्यते। तस्य हरेरवगमो यस्यास्सा तदवगमा तया श्रियाऽर्थ्यते ज्ञायते सम्यगित्यर्थः। परमस्तेन सिता बद्धा सर्वदा तदधीनत्वेन वर्तते इति श्रीः। असितोऽबद्धो नित्यमुक्तो विष्णुस्तौ श्री श्रीधरौ नानुययुः आनुकूल्येन यथास्थितरूपगुणविषयत्वेन न प्रापुः तद्विषयीकरणोपायमाह - अत्रेति। अत्र जीवराशौ हंसकुलगीतपरम्परयेति। हंसनां ब्राह्मणानां कुलेन गीतस्य उपदिष्टस्य ज्ञानस्य परम्परया इन्द्रियाण्यानुययुश्च श्रुतयश्चानुययु रित्युपसंख्यानं कर्तव्यम्। अत्र रजांसीति रजश्शब्दोपादानात् रजोगुणप्रधाना मनुष्या उपलक्ष्यन्ते। तुषा आवरणं कवचं येषां ते तुषावरणाः तुषावरणाः तण्डुलपदार्थाः। रजांसीव यथा धूली(लीःन) न्न वान्ति न स्पृशन्तीत्यर्थः। तथा च श्रुतयः- वयसा महता कालेन सह रजोरूपान्मनुष्यान्न वान्ति प्राप्तफलान्न कुर्वन्तीति यदतो बध्नन्तीति बन्धनाः। विधिनिषेधरूपेण पुरुषं बध्नन्त्यः श्रुतयः सात्त्विकानामर्थे त्वयि सफलं पतन्ति । त्वद्गुणगणान्प्रकाश्य त्वदुपासकानां पुरुषार्थहेतवो भवन्ति, राजसानां बुद्धिव्यामोहकत्वेन त्वयि न पतन्ति पुरुषार्थहेतवो न स्युरित्यर्थः। अनेन "जानाति प्रकृतिर्विष्णुं ज्ञेयो विष्णुश्च निर्गुणः। तावुभौ न विजानन्ति ऋते ब्रह्मपरम्पराम्" (महोपनिषत्) इति महोपनिषद्विवृता। "अन्ये सर्वे श्रियाबद्धाः श्रीर्बद्धा विष्णुनैव तु। बन्धश्च विष्णुतन्त्रत्वं मुक्तानां च श्रियस्तथा" (गारुडे) इत्यादि गरुडपुराणार्थोऽपि सङ्गृहीतः ॥ २७॥ ४०॥ ४१ ॥

**श्रीभगवानुवाच**

**इत्येतद्ब्रह्मणःपुत्रा आश्रुत्यात्मानुशासनम् ।**
**सनन्दनमथानर्चुस्सिद्धा ज्ञात्वाऽऽत्मनो गतिम् ॥ ४२ ॥**

**इत्यशेष समाम्नाय पुराणोपनिषद्रसः ।**
**समुद्धृतः पूर्वजातैर्व्योमयानैर्महात्मभिः ॥ ४३ ॥**

**त्वं चैतद्ब्रह्मदायादश्रद्धयाऽऽत्मानुशासनम् ।**
**धारयंश्चरगां कामं कामानां भर्जनं नृणाम् ॥ ४४ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**एवं स गुरुणाऽऽदिष्टं गुहीत्वा श्रद्धयाऽऽत्मवान् ।**
**पूर्णश्श्रुतधरो राजन्नाह वीरव्रतो गुरुम् ॥ ४५ ॥**

1. B. G. J. Ml.T.V.W. °जैस्तै° 2- -2 M. Ma मायन महा° 3. M.Ma °यन्भज 4. M. Ma. Ml.V निधनं 5- -5 M. Ma Omit 6- -6 Ml. T.V.W स्वगुरुणा ; B. G. J स ऋषिणा 7. M. Ma °ष्टो 8. M. Ma °स्सद्यस्ततो 9. M. Ma °न्प्राह 10. B. G. J मुनिः ॥

**श्रीध० इतीति**। इत्यशेषसमाम्नायपुराणोपनिषद्रस इति, सर्वश्रुतिपुराणरहस्यतात्पर्यमित्यर्थः ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

**त्वमिति**। ब्रह्मदायादेति ब्रह्मैव दायमिव अयत्नप्राप्यमत्ति सेवत इति तथा। ब्रह्मपुत्रेति वा ॥ ४४ ॥

**एवमिति**। पूर्णः कृतकृत्यः। श्रुतधरः श्रुतमर्थं मनसि धारयन् वीरव्रतो नैष्ठिकः ॥ ४५ ॥

**वीर०** इत्थं श्रुतिगीतसंवेदेन सनन्दनोक्तमुत्तरमवधार्य तं बहुमेनिरे इत्याह भगवन्नारायणः - **इत्येवमिति**। इति श्रुत्युक्तप्रकारेण एवं सनन्दनोक्तमात्मानुशासनम्, आत्मा अनुशिष्यते येन तदात्मानुशासनम् उत्तरमाश्रुत्य ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्य पुत्राः मरीच्यादयः सिद्धाः, आत्मनः परमात्मनो गतिं प्रकारं याथात्म्यं ज्ञात्वा निश्चित्य अथ सनन्दनमानर्चुः ॥ ४२ ॥

**इतीति**। सर्वश्रुतिपुराणोपनिषत् तात्पर्यमेवं समुद्धृतमिति प्रकृतवेदस्तुतिप्रशंसा ॥ ४३ ॥

**त्वमिति**। हे ब्रह्मदायाद! ब्रह्मपुत्र! दायभोक्तृत्वात्पुत्रस्य तस्मिन्दायादशब्द उपचर्यते। एतदात्मानुशासनं नृणां ये कामास्तेषां भर्जनं दाहकं श्रुतिस्तवनं धारयन् कामं यथेष्टं गां भूमिं तदुपलक्षितान् लोकान् चर पर्यट ॥ ४४ ॥

कथमेतत्त्वया विदितमित्यपेक्षायां तद्वक्तुं प्रस्तौति मुनिश्चतुर्भिः - **एवमिति**। गुरुणा बदर्याश्रमवासिना श्रीनारायणेन आदिष्टम् उपदिष्टं श्रद्धया गृहीत्वा तस्मिन्नेवाहितमनाः[1] पूर्णः निवृत्तसंशयत्वात्पूर्णमनाः श्रुतं यथाश्रुतं धरतीति तथाभूतः वीराणां जितेन्द्रियाणां व्रतं यस्य सः नैष्ठिको नारदः हे राजन्! गुरुं श्रीनारयणं प्राह ॥ ४५ ॥

1. B.T.W °न्नविहित°

**विज०** इतिशब्दः आदिवचनः। एवमादि श्रुत्या गीतमात्मानुशासनं ब्रह्मज्ञानमाश्रुत्य श्रुत्वा हृदि कृत्वा आत्मनः परमात्मनः गतिं स्वरूपस्थितिं ज्ञात्वा ॥ ४२ ॥

व्योम यनमहात्मभिः ब्रह्माश्रयेषु उत्तमैः तैः पूर्वजैः सनकादिभिः अशेषाणां समीचीनानाम् आम्नायानां पुराणानामुपनिषदां च रसः सार इति समद्धृतः ॥ ४३ ॥

ब्रह्मदायाद! ब्रह्मपुत्र! नारद! काम्यानां निधनं नाशकरं, यद्वा कामानामभीष्टानां फलानां निधनं कुलं गृहं वा। 'निधनोऽस्त्री कुले नाशे निस्त्रिंशे क्रूरखड्गयोः' (वैज.को.7-5-51) इति यादवः ॥ ४४ ॥

पूर्णः स्वतस्तृप्तः ॥ ४५ ॥

नारद उवाच

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलकीर्तये ।
यो धत्ते सर्वभूतानामभवायोशतीः कलाः ॥ ४६ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्याद्यमृषिमामन्त्र्य तच्छिष्यांश्च महात्मनः ।
ततोऽगादाश्रमं साक्षात्पितुर्द्वैपायनस्य मे ॥ ४७ ॥

सभाजितो भगवता कृतासनपरिग्रहः ।
तस्मै तद्वर्णयामास नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥ ४८ ॥

तथैतद्वर्णितं राजन्यन्नः प्रश्नः कृतस्त्वया ।
यथा ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणेऽपि मनश्चरेत् ॥ ४९ ॥

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो
यस्सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरश्शास्ति ताः ।
यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम् ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
उत्तरार्धे सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

1. M. Ma मू° 2. M. Ma धाता 3- -3 M. Ma °मभयो यस्य ते ; Ml.V. °मभयायसतीः ; T.W °मभयायोशतीः 4- -4 B. G. J. M. Ma Omit 5. B. G.J. °मानम्य 6- -6 K. Ml,T.V.W °श्चामलात्मनः ; M. Ma °श्चामलात्मकान् 7. K °ड्यु 8. B. G. J इत्येत° ; K.T.W तदेत° 9. M. Ma °श्च 10. M. Ma येन 11- -11 M. Ma यो ह्यात्मा जगदादि 12. M. Ma °नो 13. M. Ma ष्ट 14- -14 पुनस्संहिताम् 15. M. Ma तथा

**श्रीध० नम** इति। श्रीकृष्णावतारतया नारयणं नमस्यति। उक्तं हि - 'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्' (भग.1-3-28) इति ॥ ४६ ॥

**इतीति**। साक्षात्पितुरिति। योनिव्यवधानं विना जनकस्य अग्निमन्थनावसरे कथञ्चिदरणौ रेतः पतितं ममन्थ व्यासस्तदैव तत उत्पन्नः शुक इति हि वदन्ति ॥ ४७ - ४९ ॥

समस्तवेदस्तुत्यर्थं सङ्गृह्यानुस्मारयति - य इति। योऽस्य विश्वस्योत्प्रेक्षकः। एवमनुशायिनां समस्तपुरुषार्थसिद्धये सृष्टिस्थितिप्रलयादि[1-] प्रापणीयमित्यालोचक[-1] इत्यर्थः। अनेन निमित्तत्वमुक्तम्। एवमालोच्यास्यादिमध्यनिधने आदिर्जन्म मध्यः[2] पालनं निधनमन्तः एतेषु कर्मसु यो वर्तते। अनेनोपादानत्वमुक्तम्। ननु प्रकृतिपुरुषयोरुपादाननिमित्तत्वे प्रसिद्धे, सत्यम्। तयोरपि तत एवोद्भूतत्वान्मूलकारणं स एवेत्याह - योऽव्यक्तजीवेश्वर इति। प्रवेशनियमने दर्शयति - य इति। पूर्वोक्तप्रकारणेदं सृष्ट्वा यदर्थमेतत्सृष्टं तेन ऋषिणा सृष्टे कार्योऽहमिति दर्शनात् ऋषिः जीवः तेन सहानुप्रविष्टः पुरः शरीराणि तस्य भोगायतनानि चक्रे ताः पुरः शास्ति तस्य भोग्यं ददत्परिपालयति। उपासकस्य च कैवल्यरूपो भवतीत्याह - यं सम्पद्येति। यं सम्पद्य प्राप्यानुशयी अन्वनु दण्डवत्प्रणामैः चरणमूले शेते इति तथा स जीवोऽजां कार्यकारणरूपामविद्यां त्यजति। ननु ब्रह्मसम्पन्नस्यापि जीवस्य तत्सम्बन्धो दृश्यतेऽत आह - सुप्तः कुलायं यथेति। अयं भावः - यथा सुप्तं शरीवन्तमन्ये पश्यन्ति स तु नात्मानं तथा पश्यति एवं जीवन्मुक्तमप्यन्ये देहवन्तं पश्यन्ति स तु न किञ्चत्पश्यतीति तं हरिम् अजस्रमनवरतं ध्यायेत्। किमित्यत आह - अभयं न भयं यस्मात् भयनिवर्तकमित्यर्थः। कुत एतत् ? कैवल्यनिरस्तयोनिं कैवल्येनाप्रच्युतस्वरूपावस्थानेन निरस्ता तिरस्कृता योनिर्मूलकारणं माया येन तम्। "सर्वश्रुतिशिरोरत्ननीराजितपदाम्बुजम्। भोगयोगप्रदं वन्दे माधवं कर्मिनम्रयोः"। ईक्षन्तामिच्छया सन्तः क्षमन्तां मम साहसम्। मया हि स्वीयबोधाय कृतमेतन्न सर्वतः ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

1- -1 MI.V °लया: प्रापणीया: 2. MI.V मध्यं * This verse in not found in B.J. edns.

**वीर०** उक्तिमेवाह - **नम** इति । कृष्णाय सर्वलोकसुखकराय तदुपयुक्ता अमला अकर्मवश्या मूर्तिर्यस्य तस्मै तुभ्यं नमः। केन कारणेन कृष्ण इत्यतस्तं विशिनष्टि - य इति। यो भगवान् सर्वभूतानामभवाय अपवर्गाय उशतीः कमनीयाः निर्मला इति यावत्। कलाः विद्याः धत्ते अपेक्षित विद्योपदेशेन सुखकर इति भावः ॥ ४६ ॥

इतीत्थमाद्यमृषिं नारायणम् अमलम् अन्तः करणं येषां तान् तस्य शिष्यांश्चामन्त्र्य प्रणामपूर्वकमापृच्छ्य साक्षात्स्वयं द्वैपायनस्याश्रमम् अगाङ्गगाम ॥ ४७ ॥

**सभाजित** इति। ततो भगवता द्वैपायनेन सभाजितः पूजितः कृतः आसनस्य परिग्रहो येन सः तस्मै द्वैपायनाय नारायणस्य मुखाच्च्युतं निर्गतं श्रुतिस्मृत्यात्मकं वचो वर्णयामास उपदिदेशेत्यर्थः। स तु मह्यमुपदिष्टवानिति तु प्रसिद्धत्वात् नोक्तम् ॥ ४८ ॥

एवं च त्वत्प्रश्नस्योत्तरमागतमित्याह - **तदेतदिति** । हे राजन्! नः अस्मान् प्रति यः प्रश्नस्त्वया कृतः तत् तत्र प्रश्ने एतच्छ्रुतवचः वर्णितम् उत्तरत्वेन कथितमित्यर्थः। येनोपवर्णितेन अनिर्देश्ये निर्गुणेऽपि ब्रह्मणि श्रुतयश्चरेयुरिति मनश्चरेत् प्रसरेत् निस्संशयं मनो भवेदित्यर्थः ॥ ४९ ॥

'अशेषसमाम्नयपुराणोपनिषद्रसः' इत्युक्तम्। कोऽसौ समाम्नायादीनां रसः, यः श्रुतिगीत्या समुद्धृत इत्यपेक्षायामाह- "आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः। इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणस्सदा" (भारत.13 App.13-20 pr) इत्युक्तरीत्या जगदुदयविभवलयलीलः सर्वान्तरात्मा बन्धमोक्षदो भगवानुपास्य इत्येष एवेति वक्तुं स्रष्टृत्वाद्युपयुक्तैर्गुणैर्भगवन्तं विशिंषन् तद्ध्यानं विधत्ते - **योऽस्येति**। अस्य जगतः आदिमध्यनिधने सृष्टिस्थितिलये निमित्ते उत्प्रेक्षकः 'तदैक्षत बहुस्याम्' (छान्दो.उ.6-2-3) इत्युक्तविधेक्षिता, यच्छब्दानां कैवल्यनिरस्तयोनिमित्यनेन सम्बन्धः। यश्च अव्यक्तजीवयोः प्रकृतिपुरुषयोः कारणावस्थयोः ईश्वरः अन्तःप्रविश्य नियन्ता। अनेन कारणावस्थायां सूक्ष्मचिदचिद्वैशिष्ट्यं तस्योपादानत्वं तदुपयुक्तं सर्वशक्तित्वं च फलितम्। उत्प्रेक्षक इत्यनेन निमित्तत्वं तदुपयुक्तं सार्वज्ञ्यं च। यश्च इदं महदादिपृथिव्यन्तसमष्टि तत्त्वजातं सृष्ट्वा ऋषिणा चतुर्मुखाख्यजीवेनानुप्रविश्य जीवद्वाराऽनुप्रविश्येत्यर्थः। पुरः शरीराणि चक्रे निर्ममे। ततः ताः पुरः शास्ति नियमयति पूर् शब्दोऽत्र सजीवदेवादिशरीरपरः, ऋषिणा चक्रे पुरस्संहिता इति पाठान्तरम्। तदा पुरः प्रथमम् ऋषिणा चतुर्मुखेन संहिताः वेदसंहिताः चक्रे प्रावर्तयदित्यर्थः। अनेन हितकृत्त्वमुक्तम्। शास्त्रप्रवर्तनं हि हितार्थम्। अनुशयो भुक्तावशिष्टं कर्म, सोऽस्यास्तीत्यनुशयी कर्मवश्यो जीवः, यं सम्पद्य अजां जहाति प्रकृतिं सम्बन्धं[1] त्यजति[2] आविर्भूतगुणाष्टको भवति मुक्तो भवतीति यावत्। तथा च श्रूयते "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" (छान्दो.उ.8-12-2) इति। तत्र दृष्टान्तः - सुप्तः कुलायं यथेति। यथा शकुनिः नीडे कञ्चित्कालं सुप्तः तद्विहायोड्डीयते तद्वदजायां स्थितः अनुशयो जीवः यं सम्पद्य तां जहातीत्यर्थः। कैवल्यनिरस्तयोनिं संसारिणां मोक्षप्रदानेन निरस्ता योनिः प्रभवदुःखं येन तं, न विद्यते भयं यस्मात्तं हरिम् आश्रितार्तिहरम् अजस्रं नित्यं ध्यायेत् ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

1. T.W.Omit सम्बन्धं 2. T.W जहाति

**विज०** सर्वभूतानां धाता धृतिपोषणयोः कर्ता यः सर्वभूतानाम् इति प्रस्तुताः ते जीवाः यस्य तव कलाः प्रतिबिम्बांशाः ॥ ४६ ॥

ऋषिरूपत्वादृषिः ॥ ४७ ॥

अत्र नारदेन व्यासाय कथाकथनं स्तुत्यर्थं न तु ज्ञापनाय। "कथाः कथयती शस्य व्यासस्यान्ते स नारदः। स्तुत्यर्थं तस्य देवस्य ज्ञापनाय न तु क्वचित्" (ब्राह्मे) इत्यादि ॥ ४८ ॥

त्वया यः प्रश्नः कृतः तत्प्रश्नवचनमुद्दिश्यैतत्परिहारवचनं वर्णितम्। येन वर्णितप्रकारेणानिर्देश्ये निर्गुणे ब्रह्मणि मनश्चरेत् तथेति ॥ ४९ ॥

उपासनार्थं स्वलक्षणैर्लक्षयति - **यो हीति**। आत्मा जगदादिमध्यनिधनानि उत्पत्तिस्थितिसंहाराः यस्मात् स तथा, यश्च अव्यक्तजीवयोः प्रकृतिचेतनयोरीश्वरः। यश्चेदं सृष्ट्वाऽनुप्रविष्टः यश्च ऋषिणा ऋषिरूपेण पुराणसंहितां चक्रे। अनुशयी जीवः। यं पुनः सम्पद्य प्राप्य अजां बन्धकशक्तिं जहाति। सुप्तः कुलायं शरीरादावभिमानं च यथा त्यजति तं कैवल्यनिरस्तयोनिं समाधिकभावेन निराकृतकारणं तं हरिम् अजस्रं निरन्तरं ध्यायेदित्यन्वयः ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

# अष्टाशीतितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या द्विनवतितमोध्यायः)

राजोवाच

देवासुर मनुष्येषु ये भजन्त्यशिवं शिवम् ।
प्रायस्ते धनिनो भोजा[1] न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम् ॥ १ ॥

एतद्वेदितुमिच्छामस्सन्देहोत्र महान्हि नः ।
विरुद्धशीलयोः प्रभ्वोः विरुद्धा भजतां गतिः ॥ २ ॥

श्रीशुक उवाच

शिवशक्तियुतः शश्वत्त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः ।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ॥ ३ ॥

ततो विकारा अभवन् षोडशामीषु कञ्चन[2] ।
उपधावन् विभूतीनां सर्वासामश्नुते गतिम् ॥ ४ ॥

हरिर्हि[3] निर्गुणस्साक्षात् पुरुषः[4] प्रकृतेः परः ।
ससर्वदृक् उपद्रष्टा तं भजन् निर्गुणो भवेत् ॥ ५ ॥

1. M. Ma. Ml.V. ब्रह्मन् 2. M.Ma पञ्चसु 3. M. Ma °स्तु 4. K.T.W. भगवान्

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

अष्टाशीतितमे विष्णुभक्तः कैवल्यमश्नुते। ततोऽर्वाग्देव भक्तस्तु विभूतिमिति वर्ण्यते ॥

हरिर्भजतां मुक्तिद इत्युक्तं 'अभयं ध्यायेदजस्रं हरिम्' (भाग.10-87-50) इति। तत्र शङ्कते - **देवासुरेति**। अशिवं अवधीरित भोगं त्यक्तविषयं[1-1] धनिनः[2] भोजाः[3] भोगिनः लक्ष्म्याः पतिं सर्वभोगयुक्तम् ॥ १,२ ॥

**शिव इति**। अन्योन्योपमर्देन तमसः त्रैविध्यात् त्रिलिङ्गः त्रिलिङ्गत्वमेवाह वैकारिक इति। अहं अहङ्कारः॥ ३ ॥

**तत** इति। विकाराः मन इन्द्रियभूतरूपाः षोडशेति इन्द्रियदेवानामभेदविवक्षया कञ्चनेति। यत्किञ्चित् विकारोपाधिकं भजन् उपाध्यनुरूपाणां विभूतीनां[2] गतिं स्वरूपं प्राप्नोति ॥ ४ ॥

**हरिरिति**। उपद्रष्टा साक्षी सन् यतः सर्वदृक् सर्वं पश्यति अतः प्रकृतेः पर इति अत्रेदं तत्त्वं 'वस्तुनो गुणसम्बन्धे रूपद्वयमिहेष्यते। तद्धर्माऽयोगयोगाभ्यां बिम्बवत् प्रतिबिम्बवत्। गुणास्सत्त्वादयश्शान्त घोरमूढास्स्वभावतः। ब्रह्मविष्णु शिवानां च गुणयन्तृस्वरूपिणाम्। नातिभेदो भवेद्भेदो गुणधर्मैरिहांशतः। सत्त्वस्य शान्त्या नो जातु विष्णोर्विक्षेपमूढते। रजस्तमो गुणाभ्यां तु भवेतां ब्रह्मरुद्रयोः। गुणोपमर्दनाद्भूय (मर्दतो भूय) स्तदंशानां च भिन्नता। अतस्समग्र सत्त्वस्य विष्णोः मोक्षकरी तनुः (मतिः)। अंशतो भूतिहेतुश्च तथाऽऽनन्दमयी स्वतः। अंशतः तारतम्येव (न) ब्रह्मरुद्रादिसेविनाम्। विभूतयो भवन्त्येव शनैर्मोक्षोऽप्यनंशतः। इदमेवाभिप्रेत्य तत्र तत्रोच्यते 'श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः"(  ) इति। तथा 'सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिः" (  ) इति। तथा "सत्त्वं तत् तीर्थसाधनम्" (  ) इति। तथा "त्रयाणां एकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्" (  ) इति। तथा "न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते" (  ) इत्यादि। एवञ्च सति न किञ्चिदसमञ्जसं तत्तद्भक्तानां तु कलहो मोहमात्रमिति ॥ ५ ॥

1--1 B. J. Omit 2. B. J. Omit धनिनः 3. Ml.v. Omit भोजाः ; J. भोगाः 4. B.J.Omit गतिं

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रिका

'यं सम्पद्य जहात्यजां तं कैवल्य निरस्त योनिम्' (  ) इति जगत्कारणत्वादिवत् मोक्षदत्वमपि हरेरेवासाधारणो धर्म इत्युक्तम्। अनेन रुद्रादीनां न मोक्षदत्वं किन्त्वर्थकामादि प्रदत्वमिति सूचितम्। तत्र सन्दिहानः पृच्छति राजा - **देवासुरमनुष्येष्विति**। देवादीनां मध्ये ये जनाः अशिवं अमङ्गलरूपमपि शिवं भजन्ति, ते प्रायशः प्रायेण धनिनः आढ्या भवन्ति। भोजा इति पाठे भोगिनो भवन्तीत्यर्थः। हे ब्रह्मन्! लक्ष्म्याः पतिं तु ये भजन्ति ते न तु नाढ्याः। लक्ष्म्याः पतिमित्यनेन विपरीतमिदमित्यभिप्रेतं लक्ष्मीपतिभक्तैरेव आढ्यैर्भवितव्यमित्यभिप्रायः ॥ १ ॥

**एतदिति**। एतद्वैपरीत्यनिदानं वेदितु मिच्छामः अत्र वैपरीत्ये नोऽस्माकं महान् सन्देहो वर्तते। विरुद्धं शीलं स्वभावः ययो स्तयोः प्रभ्वोः हरिहरयोः कर्मणि षष्ठी तौ भजतां गतिः फलं विरुद्धा विसदृशीत्यर्थः। एकस्वभावौ भजतां कथं विसदृशं फलमिति शङ्कार्थः ॥ २ ॥

एकस्वभावतैव नास्ति तत्कुतः फलमेकरूपं स्यादिति परिहरति - **शिव** इत्यादिभिः त्रिभिः। शिवः शक्त्या उमया युक्तः

शश्वत् सदा त्रिलिङ्गः वक्ष्यमाणाधिष्ठेयत्रैविध्यात्त्रिलिङ्गात्रिविधाहङ्कारप्रचुरमूर्तिः गुणेन तमोगुणेन संवृतः तमः स्वभाव इत्यर्थः। अधिष्ठेयस्य त्रैविध्यमेवाह - **वैकारिक** इति। अहमहङ्कारः वैकारिकादि भेदेन त्रिधा ॥३॥

ततस्त्रिविधाहङ्कारात् षोडश विकाराः एकादशेन्द्रियाणि पञ्चभूतानि सतन्मात्राणीति षोडश विकारा जाता इत्यर्थः। तत्र तामसादहङ्कारात् सतन्मात्राणि पञ्चमहाभूतानि, वैकारिकात्तु एकादशेन्द्रियाणि राजसाहङ्कारस्तूभयोरनुग्राहक इति विवेकः। त्रिविधोप्यहङ्कारो रुद्राधिष्ठेय इत्यर्थः। "अहङ्कारोऽध्यात्मं अहङ्कर्तव्यमधिभूतं रुद्रस्तत्राधिदैवतम्" (  ) इति हि श्रुतिः। अस्त्वेवं, ततः किमत आह - अमीष्विति। अमीषु अहङ्कारतद्विकाराधिदैवेषु रुद्राधिगमाभिमानिवातार्कप्रचेतो अश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्र मित्रप्रजापत्यादिषु मध्ये कञ्चनान्यतममधिदैवतं उपधावन् भजन् पुरुषः सर्वासां विभूतीनां ऐश्वर्याणां गतिं प्रकारमश्नुते नानाविधानि तत्तदधिदैवतेन दातुं शक्यान्यैश्वर्याणि प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

**हरिर्हीति**। निर्गुणः सत्त्वादि प्राकृतगुणवश्यतारहितः साक्षाद्भगवान् समग्र ज्ञानैश्वर्यादि षाड्गुण्यपूर्णः प्रकृतेः "भूमिरापोऽनलो वायुः" (भ.गी.7-4) 'अपरेयमितस्त्वन्या' (भ.गी.7-5) इति श्लोकद्वयोक्तोभयविधायाः प्रकृतेः विलक्षणः सर्वदृक् सर्वज्ञः अत एव उपद्रष्टा गुणदोषानुमन्ता रुद्रादयस्तु उक्त विपरितस्वभावा इति भावः। हि यस्मादेवं तस्मात्तं भजन्निर्गुणो भवेत् प्राकृतगुणसम्बन्धरहितो मुक्तो भवेदित्यर्थः। अयं भावः - ब्रह्मरुद्रादीनां रजस्तमः प्रचुरस्वभावत्वात् गुणवश्यत्वादषाड्गुण्यपूर्णत्वात् जीवत्वात् असर्वज्ञत्वाच्च न मोक्षप्रदाने सामर्थ्यं, किन्तु स्वशक्त्यानुसारेणार्थकामादि प्रदान एव। भगवतस्तु यद्यपि चतुर्विधपुरुषार्थप्रदत्व शक्तिरस्त्येव, तथापि स भगवान् सर्वज्ञः परमकारुणिको यद्यहं स्वभक्ताय त्रैवर्गिकफलं प्रयच्छेयं तर्ह्ययं तदन्ते पुनःपुनर्याचमानो मां नित्यदरिद्र एवावतिष्ठते। अतस्तमनुगृह्णामीत्यालोच्य प्रायशः स्वभक्तेभ्यो मुक्तिमेव प्रयच्छतीति कस्मैचिन्निर्बन्धात्त्रैवर्गिकमपि प्रयच्छतीति ॥ ५ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

शिवं भजन् तामसाद्यान्यतम विष्णु निषवमाणः सात्त्विक एव शिवस्याप्यन्यापरिहार्यापत्ति समुच्छित्तिकरो नारायणः किमुतेतरेषां इत्यर्थसारं वृकासुर आख्यायिकया आख्यापयति तत्र राजा आख्यायिकामुत्थापयितुं पृच्छति **देवासुरेति**। दिगम्बरत्वेन लोकदृष्ट्या अशिवमशुद्धवत् प्रतीयमानं निर्धनं वा 'शिवो लोके पद्मरागे हरे कीले शिवे जले' (  ) इत्यतः पद्मराग राहित्येन निर्धनत्वं लक्ष्यते अशिवमकीलं अनर्गलं सर्ववरप्रदमित्यर्थः। लक्ष्मीपतिमित्यनेन धनित्वमुपलक्षयति तथापि तद्भक्ता धनिनो न भवन्ति ॥ १ ॥

एतद्धनित्वाऽधनित्व सन्देहे तन्निरासप्रयत्नो घटते तदभावे व्यर्थ इत्यत्राह सन्देह इति। न च अयं औपचारिक इत्याह महानिति। सन्देह बीजान्तरमाह विरुद्धेति। श्मशाने पिशाचगणैः परिवृतत्वेन अटनशीलं रुद्रस्य, इन्द्रादि देवैः

परीतत्वेनावस्थानं हरेः असुरादीनामपि वरदानेच्छावत्वेन गतित्वमाश्रयत्वं ईशानस्य, देवादीनां समृद्धि चिकीर्षुत्वेन हरेः तथा चात्र प्रभ्वोः समर्थयोर्विषये महानस्माकं सन्देहोस्ति हि यस्मात् तन्निरसनप्रयासः सार्थक इत्यर्थः ॥ २ ॥

जीवानां त्रैविध्यं केनाप्यनभिभूतं प्रमितं देवासुरमनुष्येषु इत्यनेन सूचितम्। तत्र शिवः स्वल्प सम्पृक्त सत्त्वेन बहुलेन तमसा रजसा स्पृष्टत्वेन तदनुसृतस्वभावत्वेन हरिनियत प्रकृति बद्धत्वेन तत्तत्प्राणिस्वभाव सेवानुगुण फलदान क्लृप्तत्वेनावश इव तादृशं फलं वितरति हरिस्तु स्वाधीन सत्त्वादिगुणत्वेन तत् प्रवर्तकत्वेन तच्छक्त्यनुपहत शक्तित्वेन प्रकृति परत्वेन तन्निर्मित शरीररहितत्वेन तत्स्वभावाभावेन कूटस्थत्वेन नित्य निर्दोषज्ञानानन्द तनुत्वेन स्व सेवकेभ्यः स्वानुगुणं फलं प्रयच्छतीति भावेन परिहरति शिव इत्यादिना। शक्तियुतः प्रकृतिसम्बद्धः अत एव शश्वत् त्रीणि लिङ्गानि वैकारिकादीनि यस्य स तथा। ननु प्रकृतेरेकत्वेन तत्सम्बन्धेनैकविध्यमेवोचितं न त्रैविध्यं अन्यथा चातुर्विध्यं किं न स्यादित्यत उक्तं गुणसंवृत इति। गुणानां त्रित्वात् तत्सम्बन्धेन त्रित्वं युक्तं न चातुर्विध्यादिकं सूचितं त्रैविध्यं स्पष्टयति वैकरिक इति। अहं अहङ्कारात्मको रुद्रः ॥ ३ ॥

ततः अहङ्कारात् षोडश विकारा, अभवन्निति शेषः। पञ्चभूतानि दशेन्द्रियाणि एकं मनः। ननु किमायातं प्रकृत इति तत्राह अमीष्विति। यो भूतानां मध्ये अमीषु पञ्चस्वाकाशादिषु अधिष्ठान प्रकारेषु निधाय्य शिवमुपाधावत् सेवमानो भवति स पुरुषः तस्मात् सर्वासां विभूतीनां गतिं सेवानुसारेण फलमश्नुते। अत्र ग्रन्थबाहुल्यभयात् विशेष विशदीकरणादुपरम्यते ॥ ४ ॥

तुशब्देन सत्त्वादिगुणराहित्यमेव न तु ज्ञानादि गुणराहित्यं विवक्ष्यते। तथात्वे सर्वदृगित्याद्यनुपपन्नं स्यात्, हरिरविनश्वरं अनन्तकालीनं फलं ददाति रुद्रस्तु अनित्यं दुःखोदर्कं ददातीत्यादि विशेषं वा दर्शयति 'उपद्रष्टा साक्षी सर्वेभ्यो द्रष्टृभ्योऽधिकद्रष्टा न अन्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इति श्रुतेः ॥ ५ ॥

**निवृत्तेष्वश्वमेधेषु राजा युष्मत्पितामहः ।**
**शृण्वन् भागवतान्[1] धर्मानपृच्छदिदमच्युतम् ॥ ६ ॥**

**स आह भगवांस्तस्मै प्रीतःशुश्रूषवे प्रभुः[2] ।**
**नृणां निश्रेयसार्थाय योवतीर्णो यदोः कुले ॥ ७ ॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**यस्याह मनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः ।**
**ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःख दुःखितम् ॥ ८ ॥**

स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णस्स्याद्धनेहया ।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम् ॥ ९ ॥

तद्ब्रह्मपरमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम् ।
ततो मां सुदुराराध्यं हित्वाऽन्यान् भजते जनः ॥ १० ॥

1. B.G.K.M.Ma.T.W.भगवता 2. M.V. विभुः mit धनिनः 3. K.T.W.तदा * अनीहया इति वीरराघवादृतः पाठः 4- -4 K.T.W. तस्मै ब्रह्म परं 5. M.V. °रम् 6. M.Ma. पुनः

**श्रीध० यस्येति**। यस्याहमनुगृह्णामीति अयमर्थ- यो विषयान् परिजिहीर्षुरपि कथञ्चित् विद्यमानेषु विषयेषु सज्जते क्लिश्यति च तस्य विषयापहार एवानुग्रह इति। यथा श्रुतत्वे ध्रुवादीनामैश्वर्यविरोधात्। अथवा प्रथमं विभूतीः कामानुरूपा दत्वा शनैः विषयोपभोगावसाने तस्य निर्वेदमुत्पाद्य हरिष्यामि परमानुग्रहं कर्तुमिति तदुक्तं भगवतैव - 'न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते' (भा.ग.10-22-26) इति दुःख दुःखितमिति दुःखादनु पुनर्दुःखित मिव प्रतीयमानमित्यर्थः ॥ ६-८ ॥

**स** इति। स पुनर्बन्धूनामनुग्रहेण धनेहया प्रवृत्तोऽपि मदनुग्रहेण यदा निष्फलोद्यमो निर्विण्णः स्यात् तदा मदनुग्रहमिति। मम असाधारण मनुग्रहम् ॥ ९ ॥

तमेवाह - **तद्ब्रह्मेति**। जनः पश्चादपि मोक्ष मरोचयन् अत्यासक्तः अन्यान् (अन्यं) भजते इत्यर्थः ॥ १० ॥

**वीर०** न केवलमयं त्वत्प्रश्नस्य परिहारोऽस्मद्बुद्धि परिकल्पितः किन्तु भगवतैवोक्त इति वक्तुं प्रस्तौति - निर्वृत्तेषु परिसमाप्तेषु सत्सु, राजा युधिष्ठिरः भगवतः श्रीकृष्णात् सकाशात् धर्मान् शृण्वन् तमच्युतं प्रति इदं त्वत्पृष्टमपृच्छत् ॥ ६ ॥

**स** इति। स पृष्टो भगवान् श्रोतुमिच्छवे तस्मै युधिष्ठिराय प्रीतः प्राह - तत्र हेतुत्वेन तं विशिनष्टि - नृणामिति । निश्रेयसार्थाय निरतिशय पुरुषार्थ प्रदान तत्साधन ज्ञापनायेत्यर्थः ॥ ७ ॥

**यस्येति**। यस्य यमित्यर्थः कर्मणश्शेषत्वविवक्षया षष्ठी। ननु धनापहारो नानुग्रहः प्रत्युत निग्रह एव स्यात् अत आह तत इति। अधनमिति च्छेदः। तो धनापहारादधनं निर्धनमत एव दुःखपरम्पराग्रस्तमस्य ये स्वजनाः ते त्यजन्ति ॥ ८ ॥

ततोप्ययं महान्निग्रह इत्यत आह - **स** इति। वितथोद्योगः व्यर्थोद्यमः निर्धनस्य सर्वोप्युद्योगो व्यर्थ एवेति भावः। अत एव निर्विण्णो भवेत् तदा अनीहया निराशया वैषयिकं सुखं सर्वथा मम दुर्लभमित्येवं तत्र आशां अपोह्येति भावः। मत्परैः मद्भक्तैस्सह कृतं मैत्रं यस्य तस्य मदनुग्रहं करिष्ये। मदसाधारणोऽनुग्रहः मदनुग्रहः तम् अतो न पौनरुक्त्यम् ॥ ९ ॥

तमेवानुग्रहं दर्शयति - **तस्मा** इति। तस्मै मत्परैः कृतमैत्राय यद्ब्रह्म तद्दर्शयामीति शेषः। असौ एव मदनुग्रह इति भावः। कथम्भूतं ब्रह्म? परं प्रकृतिपुरुषाभ्यां विलक्षणं सूक्ष्मं सर्वान्तःप्रवेशयोग्यं चिन्मात्रं ज्ञानस्वरूपमात्रम्। मात्र शब्देन क्वचिदपि जडत्वव्यावृत्तिः अनन्तकं त्रिविध परिच्छेदशून्यम्। अत्र सत्यज्ञानादिवाक्यार्थ उपक्षिप्तः अतस्तावद्दुःखावहत्वात् सुदुराराध्यं मां हित्वा हि गतौ गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः ज्ञात्वेत्यर्थः। अन्यान् रुद्रादीन् तावत्सुखदानन्ततस्तु दुःखदान् स्वयमपि दुःखितान् ज्ञात्वा केवलं सुखदानित्येवं बुद्ध्वा भजत इत्यर्थः ॥ १०॥

**विज०** न धनित्वं फलं ददातीत्यस्य कथं परिहार आगतः तं वक्तुमुपक्रमते **निवृत्तेष्विति** ॥ ६॥

भूभार हरणाय प्रवृत्तेन धर्मकथनं क्वोपयुज्यत इत्यत्राह **नृणामिति**। अनेन न केवलमवतार प्रयोजनं भूभार हरणमपि तु नृणां संसारनिर्मूलन लक्षण निश्रेयसं चेत्युक्तं भवति ॥ ७॥

अनुग्रहं कर्तुं शनैः यावत् यावत्प्रेम वर्धते तावत् तावत् हरिष्ये धनस्य मदहेतुत्वात् एतद्धरणं तत्फलमाह तत इति। अस्याधनस्य स्वजनाः दुःख दुःखितं दुःखातिशयोपेतं एनमधनं त्यजन्ति ॥ ८॥

ततो धनाभावात् स यदा धनेहया वितथोद्योगो निर्विण्णः स्यात् तदा मत्परैः कृत मैत्रस्य तस्यानुग्रहं मुक्तिलक्षणं करिष्ये इत्यन्वयः ॥ ९॥

यतोऽहं भजमानस्य धनं हरिष्यामि अतस्तत्परमं ब्रह्म वेदान्तवेद्यं सूक्ष्मं नित्याव्यक्तं चिन्मात्रं प्रकृति प्राकृत वैकृत ज्ञानशून्यं सत्प्रशस्तं अनन्तकं अन्तत्रय वर्जितं सुदुराराध्यं मां हित्वा अन्यान् भजते परब्रह्मत्वादयः सुदुराराध्यत्वे हेतवः ॥ १० ॥

**ततस्त आशु तोषेभ्यो लब्धराज्यश्रियोद्धताः ।**
**मत्ताः प्रमत्ता वरदान् विस्मरन्त्यवजानते ॥ ११ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**शापप्रसादयोरीशा ब्रह्मविष्णु शिवादयः ।**
**सद्यश्शाप प्रसादोऽङ्ग शिवो ब्रह्मा न चाच्युतः ॥ १२ ॥**
**अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।**
**वृकासुराय गिरिशो वरं दत्वाऽऽप सङ्कटम् ॥ १३ ॥**

**वृको नामासुरः पुत्रः शकुनेः पथि नारदम् ।**

**दृष्ट्वाऽऽशु तोषं पप्रच्छ देवेषु त्रिषु दुर्मतिः ॥ १४ ॥**

**स आदिदेश गिरिश मुपधावास्वसिद्धये ।**

**सोऽल्पाभ्यां गुणदोषाभ्यां आशु तुष्यति कुप्यति ॥ १५ ॥**

1. M. Ma प्रमत्ताः वरदान् देवान् 2- -2 K.T.W. कोप° 3- - 3 B.G.J.Ml.V अत्र चोदा° 4- -4 B. G.J. स आह देवं 5- - 5 B.G.J. °वाशु सिद्ध्यसि ;K.T.w. वाशु तुष्यति

**श्रीध०** एतदेव इतिहासेन स्पष्टयितु माह - **शापप्रसादयोरिति**। ब्रह्मा चेत्यन्वयः ॥ ११ - १३ ॥

**वृक इति**। शकुनेः पुत्रः ॥ १४, १५॥

**वीर० तत** इति। ततो भजनानन्तरं ते भक्ताः आशु तृप्यन्तीत्याशुतोषाः तेभ्यो रुद्रादिभ्यस्सकाशात् अनेनात्मनि चिरात्तोषत्वं सूचितम्। लब्धं राज्यं यैस्ते, श्रिया सम्पदा उद्धताः उत्पथाः मत्ताः गर्विताः प्रमत्ताः अनवहिताश्च वरदान् देवानेव विस्मरन्ति अवजानते अवज्ञां कुर्वन्ति च। इत्थं स्वोक्त परिहारो भगवदुक्त्या संवादितः ॥ ११ ॥

अथ "अव्यवस्थितचित्तस्य प्रसादोपि भयङ्करः। क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टः" ( ) इति न्यायेन देवतान्तराणामव्यवस्थितचित्तानां भजनमात्मघातायैव पर्यवस्यतीति इतिहासेन स्पष्टयितुमाह - कोपप्रसादयोरिति। यद्यपि ब्रह्मादयः सर्वे देवाः कोपप्रसादयोः निग्रहानुग्रहयो र्दक्षास्तथापि अङ्ग ! हे राजन्! शिवो ब्रह्मा च सद्य एव शापः प्रसादश्च यस्य तथाभूतः अच्युतस्तु नैवं विधः, किन्त्वनुग्रहैकस्वभावः क्वचिन्निग्रहोप्यन्ततो वरेणैव तुल्य इति भावः ॥ १२ ॥

**अत्रैवेति**। सद्यश्शापप्रसादत्वे निदर्शनतया इतिहासमुदाहरन्तीत्यर्थः। कोसावित्यतः तं वर्णयति वृकासुरायेति। सङ्कटं दुःखमवाप इत्यर्थः ॥ १३ ॥

कथं तदित्यतो विस्तरतो वर्णयति - **वृको नामेति**। शकुनेः पुत्रः त्रिषु देवेषु मध्ये आशु तोषं पप्रच्छ यतः स दुर्मतिः॥ १४ ॥

स नारदः आदिदेश शशंस। किमिति? गिरिशमुपधाव भज स आशु तुष्यति। किञ्च स इति। स गिरिशः ॥ १५ ॥

**विज०** अन्योपासकास्ते मत् ध्यानतः तान् देवान् अपि जहतीति भावेनाह - **तत** इति। यतो मामवज्ञायान्यानुपासते अत एव दोषात् ॥ ११ ॥

देवेषु के शापप्रसादसमर्थास्तत्रापि सद्यःशापप्रसादाः क इति तत्राह शापेति ॥ १२ ॥

शिवः सद्यः शापप्रसाद इत्येतत् कथमित्यत्र इतिहासं वक्ति **अत्रेति** ॥ १३ - १५ ॥

**दशास्य बाणयोस्तुष्टः स्तुवतोर्वन्दिनोरिव ।**
**ऐश्वर्यमतुलं दत्वा तत आप सुसङ्कटम् ॥ १६ ॥**

**इत्यादिष्टस्तमसुर उपाधावत्स्वगात्रतः ।**
**केदार आत्मक्रव्येण जुह्वानोऽग्निमुखं हरम् ॥ १७ ॥**

**देवोपलब्धिमप्राप्य निर्वेदात्सप्तमेऽहनि ।**
**शिरोऽवृश्चत्स्वधितिना तत्तीर्थ क्लिन्नमूर्धजम् ॥ १८ ॥**

**तदा महाकारुणिकस्सधूर्जटिः यथा रणावग्निरिवोत्थितोऽनलात् ।**
**निगृह्य दोर्भ्यां भुजयोर्न्यवारयत् तत्स्पर्शनात् भूय उपस्कृताकृतिः ॥ १९ ॥**

**तमाह चाङ्गालमलं वृणीष्व मे यथाभिकामं वितरामि ते वरम् ।**
**प्रीयेय तोयेन नृणां प्रपद्यता महो त्वयात्मा भृशमर्द्यते वृथा ॥ २० ॥**

1. M.Ma °त्सुयन्त्रितः 2. M.Ma °न् अ° 3. V. भवम् 4- -4 M.Ma शिरोजिहीर्षुरसिना सतीर्थक्लिन्नमूर्धजः 5- -5 B.G.J. वयं चाग्नि° ; M. Ma °ऽवय व्यग्नि° ;V. °वदिष्टोग्नि° 6. M.Ma उपाकृ° 7. K. M. Ma.T.W. निकामं 8- -8 M. Ma शिवेन जीवेन

**श्रीध० दशास्येति**। सुसङ्कटमाप कैलासोत्पाटनं पुरीपालनं च। सुकण्टकमिति वा पाठः ॥ १६ ॥

**इतीति**। स्वगात्रतः उपाधावत् स्वदेहेन याजयामास। कथम्? आत्मक्रव्येण स्वमांसेन जुह्वान इति ॥ १७ ॥

**देवेति**। अवृश्चत् च्छेत्तुमुद्यतः ॥ १८ ॥

**तदेति**। स्वयं च अग्निरिव मूर्तिमानग्निः इव देदीप्यमान इत्यर्थः। वयं अधुना कथाभिर्यथाकथञ्चिद्दुःखेन मर्तुकामं वारयामः तद्वदिति। स च उपस्कृताकृतिः परिपूर्ण देहोऽभवत् तं न्यवारयच्च ॥ १९ ॥

एवमाह च **तमिति**। तोयेनापि भजतां प्रीतः स्यां त्वया तु देहो वृथा पीड्यते इति ॥ २० ॥

1- -1 B. J. Omit 2- -2 B.J. Omit

**वीर०** तथाहि दशास्यबाणयोः रावणबाणासुरयोर्वन्दिनोरिव स्तुतिपाठकयोरिव स्तुवतोरतुल मैश्वर्यं दत्वा ताभ्यां सकाशादेव सङ्कटं कैलासोत्पाटन पुरपालन[1] दुःखमवाप इत्यर्थः॥ १६ ॥

**इतीति**। इत्थमादिष्टोऽसुरः सुष्ठु मन्त्रितः प्रचोदितश्च तं गिरिशमेवोपाधावत् आराधितवान्। स्वगात्रत इति पाठे स्वदेहेन स्वदेहमांसहोमेन आराधितवानिति यावत्। आत्मनः स्वस्य क्रव्यं मांसं तेन हविषा अग्निमुखस्थं हरं जुह्वानोऽपि देवस्य हरस्योपलब्धिं दर्शनमप्राप्य सप्तमेऽहनि क्लिन्ना आर्द्रा मूर्धजाः केशा यस्मिन् तदात्मनः शिरः स्वधितिना अवृश्चत् च्छेत्तुमारब्धवानित्यर्थः। स्वधितिः पशुपुरोडाशादि च्छेदनार्थः खड्गविशेषः ॥ १७, १८ ॥

**तदेति**। धूर्जटिः रुद्रः मूर्तिमानग्निरिव देदीप्यमानः अग्नेरुत्थितः स्वदोर्भ्यां तद्भुजयोः प्रगृह्य न्यवारयत् तस्य धूर्जटेः स्पर्शनात् प्रभावात् पुनः उपस्कृता निर्व्रणा आकृतिः शरीरं यस्य तथाभूतो बभूवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

**तमिति**। तं वृकासुरमाह - किमिति। अङ्ग ! हे वृक ! अलमलं होमेनेति शेषः। यथानिकामं यथेच्छं वरं वृणीष्व तुभ्यं वितरामि प्रयच्छामि तोयेनापि प्रपद्यतां भजतां नृणां प्रीतस्स्यां त्वया तु वृथा आत्मा देहो भृशमर्दितः पीडितः ॥ २० ॥

1. B. °नात्मक

**विज०** अग्निमुखमुद्दिश्य जुह्वन्निति च्छान्दसः। जुह्वन् होमं कुर्वन् ॥ १७ ॥

देवोपलब्धिं देवदर्शनं असिना शिरो हर्तुकामोऽभूत् ॥ १८ ॥

करचरणाद्यवयवी उपाकृताकृतिः उत्पन्नस्वरूपः ॥ १९ ॥

यथानिकामं नितरां काममनतिक्रम्य नृणां यत्प्रियतमं वस्तु स जीवः जीवनं प्राणधारणं तेन जीवेन प्रपद्यतां प्रपन्नो भवतु, भवानिति शेषः। केनेत्यत उक्तं शिवेन मयेति। किञ्च जीवोऽसुधारण तत्परः अनेन 'पूर्वमायुः परीक्षेत पश्चाल्लक्षणमादिशेत्" (  ) इति वचनात् जीवनं सर्वस्मात् अभीष्टमित्युक्तं भवति। किञ्च अत इति। तत्राह अहो इति। आत्मा शरीरं अर्द्यते हिंस्यते अहो यस्मात् तस्मात् ॥ २० ॥

**[1]देवं स वव्रे पापीयान् वरं भूत भयावहम् ।**
**यस्य [2]यस्य करं शीर्ष्णि धास्ये स म्रियतामिति ॥ २१ ॥**

**तच्छ्रुत्वा भगवान् रुद्रो दुर्मना इव भारत ।**
**ओमिति प्रहसंस्तस्मै [3-]ददेऽहे [-3]रमृतं यथा ॥ २२ ॥**

**स तद्वर परीक्षार्थं शम्भोर्मूर्ध्नि किलासुरः ।**
**स्वहस्तं धातुमारेभे सोऽभिभ्यत्स्वकृताच्छिवः ॥ २३**

**तेनोपसृष्टस्सन्त्रस्तः पराधावत्सवेपथुः ।**
**यावदन्तं दिवो भूमेः काष्ठानामुदगादुदक् ॥ २४ ॥**

**अजानन्तः प्रतिविधिं तूष्णीमासन् सुरेश्वराः ।**
**ततो वैकुण्ठमगमत् भास्वरं तमसः परम् ॥ २५ ॥**

1. K. M. Ma. Ml.T.V.W. देवात्स 2. M. Ma पुंसः 3- -3 ददौ वर 4. Ml.V. दिशो 5- -5 M. Ma कोष्ठानामधरम्भुवः

**श्रीध० तदिति**। दातुमनर्हमपि ददे दत्तवान् अहेः सर्पस्य अमृतं क्षीरमिव ॥ २१-२३ ॥

**तेनेति**। उपसृष्टः अनुगतस्सन् उदगात् उत्तरतः अगात् ऊर्ध्वमगच्छद्वा उदक् ऊर्ध्वमञ्चन् ॥ २४ ॥

**अजानन्त** इति। वैकुण्ठम्, श्वेतद्वीपम् ॥ २५ ॥

1. B. J. Omit ददे 2. B. J.Omit अहेः 3- -3 B.J. अधावत् उदक् उत्तरतः

**वीर० देवादिति**। स पापीयान् वृकः देवात् रुद्रात् भूतभयावहं वरं वृतवान् वरमेव दर्शयति - यस्येति। यस्य शीर्ष्णि अहं करं धास्ये स म्रियतामित्येवं विधं भूतभयावहमिति सम्बन्धः ॥ २१ ॥

**तदिति**। हे भारत! स्थाणुः शिवः तद्वरणं श्रुत्वा तावद्दुर्मना इव दुःखितमना भूत्वा इवशब्दो अनतिरिक्तार्थकः। प्रसभं बलात् तस्मै ओं इत्यङ्गीकृत्य ददे दत्तवान्। यथा अहेः सर्पस्यामृतं क्षीरं तद्वत् ॥ २२ ॥

**स इति**। असुरः वरस्य परीक्षार्थं किमयं वरः सत्यं उत मित्थ्या वेति परीक्षार्थमित्यर्थः। स शिवः स्वकृतादपराधात् स्वयमबिभ्यत् ॥ २३ ॥

तेनासुरेणोपसृष्टोऽनुगतः स शम्भुः जातवेपथुः कम्पितगात्रः त्रस्तः पराधावत्। सोऽपि पृष्टतो अन्वधावदित्यनुक्तमपि योज्यम्। काष्ठानां दिशां उदगात् उत्तरतः अगात् ऊर्ध्वमगच्छत् वा। उदक् ऊर्ध्वमञ्चन् ॥ २४,२५ ॥

**विज०** ओमित्युक्त्वा प्रहसन् आत्मनो दैन्यमप्रकाशयन् ॥ २१,२२ ॥

अबिभेत् भीतवान् ॥ २३ ॥

उपसृष्टः उपद्रुतः दिवोन्तमवसानं यावदस्ति भूमेः कोष्ठानां विवराणां अवसानं च यावत्भुवोऽधरमधस्थलं पातालं च यावत्तावत् पर्यन्तं पराधावत् ॥ २४ ॥

तल्लोकवासिनः शून्यप्रायाः किमत्राह - **अजानन्त** इति। प्रतिविधिं प्रतिक्रियाम् ॥ २५ ॥

**यत्र नारायणः साक्षात् न्यासिनां[1] परमा गतिः।**
**शान्तानां न्यस्तदण्डानां यतो नावर्तते गतः ॥ २६ ॥**

**तं तथा व्यसनं दृष्ट्वा भगवान् वृजिनार्दनः ।**
**दूरात् प्रत्युदियाद्[2-]धूत्वा वटुको[-2] योगमायया ॥ २७ ॥**

**मेखलाजिन दण्डाक्षैस्तेजसाग्निरिव[3] ज्वलन्[4] ।**
**अभिवादयामास[5-] च तं[-5] कुशपाणिर्विनीतवत् ॥ २८ ॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**शाकुनेय भवान् व्यक्तं श्रान्तः किं दूरमागतः ।**
**क्षणं विश्रम्यतां[6] पुंस आत्मायं सर्वकामधुक् ॥ २९ ॥**

**यदि न श्रवणायालं युष्मद्व्यवसितं प्रभो ।**
**भण्यतां प्रायशस्सर्वैः[7-] धृतैस्[-7] स्वार्थान्[8] समीहते ॥ ३० ॥**

1. Ml.V योगिनां 2- -2 M. Ma °दितो भूप दारको 3. M. Ma °द्यै° 4. Ml.V. °वो° 5- -5 K. तं आशीर्वादयामास 6. M.V. °श्रा° 7- -7 B.G.J.K. प्रायशः पुम्भिः धृतै° ;T.W. प्रायशः पुम्भिर्भृतै° ; M.Ma पुरुषः साधो पुम्भिः 8. K. M. Ma.T.W. °र्थम्

**श्रीध० तमिति**। तं वृकासुरं तथा व्यसनं तादृग्व्यसनं यस्य तम्। शिवं वृजिनार्दनः दुःखहन्ता दूरत एव दृष्ट्वा ॥ २६,२७ ॥

**मेखलेति**। मेखलादिभिरुपलक्षितः प्रत्युदियात् सम्मुखमागतः ॥ २८ ॥

**शाकुनेयेति**। व्यक्तं निश्चितं किं किमर्थं आत्मा देहः सर्वपुरुषार्थ हेतुः अतो मा पीडयेति ॥ २९ ॥

**यदीति**। प्रायशः पुम्भिर्धृतैः भवान् स्वार्थान् समीहते साधयितुमिच्छति, अथवा जनः पुम्भिः सहायैः स्वकार्याणि साधयति अतो नः कथ्यतामिति ॥ ३० ॥

**वीर० अजानन्त** इति। सुरेश्वराः चतुर्मुखेन्द्रादयः प्रतिविधिं प्रतिक्रियामजानन्तः ततः वैकुण्ठमण्डान्तर्वर्तिनं कञ्चिद्विष्णुलोकं न तु परमस्थानं मुक्तप्राप्यं भास्वरं प्रकाशबहुलं तमसःपरं प्रकृतिकार्यरहितं यत्र वैकुण्ठे गतः प्राप्तः न्यस्तदण्डानां भूतद्रोहरहितानां सर्वभूतसुहृदामित्यर्थः, गतो यतो नावर्तते श्रीविष्णुलोकगतानां श्वेतद्वीपवासिनां च पुनर्जन्माभावात् , तं वैकुण्ठमगमदिति सम्बन्धः ॥ २६ ॥

**तमिति**। तं वृकासुरं तथा तादृशं व्यसनं दुःखम्। यस्य तं रुद्रं च दृष्ट्वा वृजिनार्दनो दुःखापहारी भगवान् योगमायया आत्मीयाश्चर्य शक्त्या वटुको भूत्वा मेखलादिभिरुपलक्षितः तेजसा विग्रहकान्त्या अग्निरिव ज्वलन् दूरादेव प्रत्युदियात् तदभिमुखमाजगाम। कुशपाणिः पवित्रपाणिः अभिवादयामास, आह चेति शेषः ॥ २७.२८ ॥

तदेवाह - **शाकुनेयेति**। हे शाकुनेय ! शकुनेस्सुत ! व्यक्तं नूनमयमात्मा देहः पुंसः सर्वान्कामान् दोग्धीति तथाभूतः किं किमर्थं दूरमागतः अहो श्रान्तस्त्वं अतो माऽऽयासयेति भावः ॥ २९ ॥

**यदीति**। युष्मद्व्यवसितं यदि नोऽस्माकं श्रवणायालं श्रोतुं योग्यं तर्हि हे प्रभो! भण्यतामुच्यतां पुमान् स्वार्थं चिकीर्षितं स्वप्रयोजनं पुम्भिः आप्तैस्सह समीहते आलोच्य करोति अतो भण्यतामित्यर्थः ॥ ३० ॥

**विज०** दारको बाल ब्रह्मचरी ॥ २६-२८ ॥

आत्मा शरीरम् ॥ २९ ॥

पुम्भिरर्थितम् ॥ ३० ॥

**श्रीशुक उवाच**

**एवं भगवता पृष्टो वचसाऽमृतवर्षिणा ।**
**गतक्लमोऽब्रवीत्तस्मै यथापूर्वमनुष्ठितम् ॥ ३१ ॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**एवं चेत्तर्हि तद्वाक्यं न वयं श्रद्दधीमहि ।**
**यो दक्ष शापात्पैशाच्यं प्राप्तः प्रेतपिशाचराट् ॥ ३२ ॥**

★ यदि ते[1] तत्र विस्रम्भो दानवेन्द्र जगद्गुरौ ।
तर्ह्यङ्ग[2]शु स्वशिरसि हस्तं न्यस्य प्रतीयताम् ॥ ३३ ॥

यद्यसत्यं वचश्शम्भोः कथञ्चिद्दानवर्षभ ।
तथा[5] त्वं जह्यसद्वाचं न यद्वक्ता[6]ऽनृतं पुनः ॥ ३४ ॥

इत्थं भगवतश्चित्रैर्वचोभिस्तु[7-] सुपेशलैः[-7] ।
भिन्नधीर्विस्मितशीर्ष्णि[8] स्वहस्तं कुमतिर्व्यधात्[9] ॥ ३५ ॥

1. K.T.W. श्रमो 2. Ml.V. तर्ह्यङ्ग * The following extra verse is found only in M.Ma editions रुषाक्रान्त शरीरोऽसौ न सत्यं वदते हरः। क्रोधयुक्ते कुतः सत्यं मूढोऽसि त्वं महासुर॥ 3. B. G. J. K. M. Ma.T.W. °वस्तत्र 4. M. Ma. °पि 5. B.G.J. तदैनं ;T.W. तदन्ते 6. T.W. त° 7- -7 B.G.J. °भि स्स सु K.T.W. भि स्स्मय 8. B. G. J. K. M. Ma.T.W. °स्मृत 9. K. Ml.T.V.W. °न्र्यधात् M. Ma. °भिश्च सु° ;

**श्रीध० एवमिति**। पैशाच्यं पिशाचानामिव वृत्तिम् ॥ ३१-३३ ॥

**यदीति**। यत् यथा वक्ता वदिष्यति ॥ ३४॥

**इत्थमिति**। चित्रैर्भ्रामकैः सुपेशलैः अतिरम्यैः भिन्नधीः भ्रंशितमतिः ॥ ३५ ॥

**वीर० एवमिति**। तस्मै भगवते अब्रवीत् कथयामास ॥ ३१ ॥

इत्युक्तः प्राह भगवान् - **एवं चेत्तर्हीति**। अङ्ग! हे वृक! तद्वाक्यं रुद्रवाक्यं वरदानात्मकं न श्रद्दधीमहि न विश्वसिमः। तत्र हेतुत्वेन रुद्रं विशिनष्टि य इति। यो रुद्रः दक्षशापात् पिशाचतां प्राप्तः प्रेतानां, पिशाचानां च राडधिपतिः बभूव न हि पिशाचवचो विश्वसनीयमिति भावः ॥ ३२ ॥

**यदीति**। हे दानवेन्द्र! जगद्गुरौ जगद्गुरुतया त्वदभिमानविषये तत्र रुद्रे यदि वो युष्माकं विस्रम्भो विश्वासः तर्ह्यङ्ग! हे वृक! स्वस्य शिरसि न्यस्य निधाय प्रतीयतां परीक्ष्यताम् ॥ ३३ ॥

हे दानवर्षभ! यदि शम्भोर्वचः कथञ्चिदसत्यं स्यात्तर्हि तदन्ते तदनन्तरं असद्वाचमनृतवाचं रुद्रं जहि नाशय अन्यथा रुद्रः। पुनस्तथा अनृतं वदन् वञ्चयिष्यति अतः तं जहीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

**इत्थमिति**। चित्रैर्भ्रामकैः स्मयेन पेशलैः अतिरम्यैः वचोभिः भिन्नधीः भ्रंशितमतिः कुमतिरसुरः विस्मृतः स्वशिरसि तं न्यधात् निहितवान् ॥ ३५ ॥

**विज०** तस्य रुद्रस्य वाक्यं पैशाच्यं कर्म श्मशान अटन लक्षणम् ॥ ३१-३५ ॥

**अथाप तद्भिन्नशिरा वज्रापहत इव क्षणात् ।**
**जयशब्दो नमश्शब्दस्साधुशब्दोऽभवद्दिवि ॥ ३६ ॥**

**मुमुचुः पुष्पवर्षाणि हते पापे वृकासुरे ।**
**देवर्षि पितृ गन्धर्वा मोचितस्सङ्कटाच्छिवः ॥ ३७ ॥**

**मुक्तं गिरिशमभ्याह भगवान् पुरुषोत्तमः ।**
**अहो देव महादेव पापोऽयं स्वेन पाप्मना ॥ ३८ ॥**

**हतः कोनु महत्स्वीश जन्तुर्वैकृतकिल्बिषः ।**
**क्षेमी स्यात्किमु विश्वेशे यः कृतागा[1-1] जगद्गुरौ ॥ ३९ ॥**

**य एव मव्याकृत शक्त्युदन्वतः परस्य साक्षात् परमात्मनो हरेः ।**
**गिरित्र मोक्षं कथयेच्छृणोति वा विमुच्यते संसृतिभिः तथारिभिः ॥ ४० ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८॥

1- -1 B. G. J. K.T.W. कृतागस्को ; M. Ma कृतपापो

**श्रीध० हत** इति। किमु वक्तव्यं विश्वेशे त्वयि कृतागाः[1] कृतापराधः इति ।। ३६-३९।।

**य** इति। अव्याकृतशक्त्युदन्वतः अवाङ्मनसगोचर शक्ति समुद्रस्य गिरित्र मोक्षं शिवमोचन रूपं चरित्रं संसृतिभिः नाना योनि सञ्चारैः ॥ ४०॥

❖ भक्तसङ्कटमालोक्य कृपापूर्ण हृदम्बुजः ।
गिरित्रं चित्रवाक्यात्तु मोक्षयामास केशवः ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

1. B. J. कृतागस्कः ❖ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः

**वीर०** अथ निधानानन्तरमेव वज्रेणाहत इव भिन्नं शिरो यस्य सः क्षणादपतत्। जय शब्द इति स्पष्टोर्थः ॥ ३६ ॥

देवादयः पुष्पवर्षाणि मुमुचुः इत्थं शिवः सङ्कटात् युक्त्या उपायेन मोचितः ॥ ३७ ॥

ततो भगवान् गिरिशमभ्येत्य प्राह - **महादेवेति**। पापात्मा अयं वृकासुरः स्वेनैव पाप्मना हतः किल। हे ईश! महत्सु कृतकिल्बिषः कृतापराधः को वा जन्तुः क्षेमी स्यात्। किमुत जगद्गुरौ जगद्धितकारिणि विश्वेशे त्वयि कृतापराधः क्षेमी स्यादिति महादेवत्वेशत्व विश्वेश्वरत्वजगद्गुरुत्वव्यपदेशाः तदन्तरात्मभूतस्वात्माभिप्रायापन्नाः ॥ ३८, ३९ ॥

प्रकृतेतिहास प्रवचन श्रवणादिफलमाह - **य** इति। एवमित्थं वाङ्मनसावेद्य विविधविचित्रानन्त शक्तिसागरस्य प्रकृतिपुरुष विलक्षणस्यान्तःप्रवेशनियमन व्याप्यगतदोषास्पर्शैः लोकत्रयधारकस्य आश्रितार्तिहरस्य भगवतो गिरित्रकर्ममोक्षण प्रतिपादकं इतिहासं यः पुमान् कथयेत् यो वा शृणोति सः संसृतिभिः सांसारिक दुःखैः शत्रुभिश्च विमुच्यते ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्र चन्द्रिकायां
व्याख्यायां अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

**विज०** आख्यायिका कथनादि फलमाह - **य** इति। आख्याकृत नित्यशक्ति समुद्रस्य संसृतिभिः पुत्रमित्रादि बन्धनलक्षणाभिः ॥ ३६-४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥
(विजयध्वजरीत्या द्विनवतितमोऽध्यायः)

# एकोननवतितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या त्रिनवतितमोऽध्यायः)

**श्रीशुक उवाच**

**सरस्वत्यास्तटे राजन् ऋषयः सत्रमासत ।**
**वितर्कः समभूत्तेषां त्रिष्वधीशेषु को महान् ॥ १ ॥**

**तस्य जिज्ञासया ते वै भृगुं ब्रह्मसुतं नृप ।**
**तज्ज्ञप्त्यै प्रेषयामासुः सोऽभ्यगाद्ब्रह्मणः सभाम् ॥ २ ॥**

**न तस्मै ब्रह्मणे[1] स्तोत्रं चक्रे सत्त्वपरीक्षया ।**
**तस्मै चुक्रोध भगवान् प्रज्वलन् स्वेन तेजसा ॥ ३ ॥**

**स आत्मन्युत्थितं मन्युमात्मजायात्मना प्रभुः ।**
**अशीशमद्यथा वन्हिं स्वयोन्या वारिणाऽत्मभूः[2] ॥ ४ ॥**

1. B.G.J. प्रह्मणं 2. K.M.Ma.T.W प्रभुः ।

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

नवाशीतितमे देवः को महानिति संशये। परीक्ष्य विष्णोरुत्कर्षं मुनिभ्योऽवर्णयद्भृगुः ॥

इतिहासान्तरमाह - **सरस्वत्या** इति ॥ १-३ ॥

**स** इति। स्वयोन्या स्वस्यैव रूपान्तरेणाभिव्यक्ति स्थानेन स्वकार्येणेत्यर्थः। तेन यथा कश्चित् वह्निं शमयति तथा स्वकार्येण पुत्रेण निमित्तेन क्रोधं शमयामास इत्यर्थः ॥ ४ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

**तस्येति**। तस्य महत्त्वस्य जिज्ञासया ते ऋषयः, हे नृप! ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्य सुतं भृगुं तज्ज्ञप्त्यै महत्त्वं वेत्तुं इत्यर्थः। प्रेषयामासुः स भृगुस्तावत् ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्य सभामभ्यगात् ॥ १,२ ॥

सत्त्वपरीक्षार्थं तस्मै ब्रह्मणे स्तोत्रं न कृतवान् ततस्तस्मै भृगवे भगवान् ब्रह्मा चुक्रोध ॥ ३ ॥

**स** इति। स ब्रह्माऽऽत्मजाय भृगवे आत्मनि मनस्युत्थितं मन्युं क्रोधमात्मना विवेकात्मिकया बुद्ध्याऽशामयत् यथा स्वयोन्या स्वस्यैव स्वरूपान्तरेण अभिव्यक्तिस्थानेन स्वकार्येणेति यावत् तेन वारिणा यथा कश्चिद्वह्निं शमयति तथा स्वकार्येण पुत्रेण निमित्तेन क्रोधं शमयामासेत्यर्थः। यद्वा स्वस्याग्रेर्योनिररणिः तस्या उत्थितं वह्निं जलेन कश्चिच्छमयति तथा भृगोरुत्पत्तिस्थानभूतात् स्वस्मात्तदुत्थितं क्रोधं बुध्याऽशामयदित्यर्थः ॥ ४ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

विष्णोः समः अधिकोऽस्तीति (वा) संशयनिरासाय तस्य भक्तानुकम्पित्व प्रकटनाय च, मुमुक्षुभिः क्षमागुण एवापाद्यः तत्प्रसादजनक इति द्योतनाय च तस्मिन्निरतिशय भक्तिजननाय च अस्याध्यायस्य प्रारम्भः। तत्रादौ मुनीनां सत्र समये जिज्ञासाप्रकारं वक्ति- **सरस्वत्या** इति। वितर्को जिज्ञासा त्रिषु ब्रह्मादिषु अधीशेषु अधिकेश्वरेषु च महानुत्तमः ॥१॥

तस्य अधिकस्य वा इत्यनेन लोक संशयनिरासाय मन्दाधिकारिणां दृढनिश्चयाय न स्वार्थं परिज्ञात वेदान्तार्थत्वात् स्वेषामिति निर्धारयति ॥ २,३ ॥

आत्मनः स्वस्यात्मनि मनस्यात्मजाय भृगवे उत्थितं मन्युमशीशमत् शान्तं कृतवान्। प्रभुः समर्थः प्रभुः भृगोः पितृत्वेन स्वामी ॥ ४ ॥

**ततः कैलासमगमत्स तं देवो महेश्वरः ।**

**परिरब्धुं समारेभ उत्थाय भ्रातरं मुदा ॥ ५ ॥**

**नैच्छत्त्वमस्युत्पथग इति[1] देवश्चुकोप ह[1] ।**

**शूलमुद्यम्य तं हन्तु मारेभे तिग्मलोचनः ॥ ६ ॥**

**पतित्वा पादयोर्देवी सान्त्वयामास तं गिरा । ★**

**मुनिर्जगाम[2] वैकुण्ठं यत्र देवो जनार्दनः ॥ ७ ॥**

शयानं श्रिय उत्सङ्गे पदा वक्षस्य ताडयत् ।
तत उत्थाय भगवान् सह लक्ष्म्या सतां गतिः ॥ ८ ॥

1--1 M.Ma °त्तमशुभाचार इति ; Ml.V. त्वमशुभाचारस्ततो ; T.W. त्त्वमत्त्युत्पथग इति। * The following extra verse is found in M. Ma. Ml.v. edns. इति कृच्छ्रात् ततो मुक्तः कैलासात् रजताचलात्। 2. B.G.J.K.T.W अथो ज°

## श्रीधरीय व्याख्या नास्ति

**वीर० तत** इति। स भृगुः कैलासं जगाम। तं भृगुं परिरब्धुमालिङ्गितुम् ॥ ५ ॥

**नैच्छदिति**। त्वमुत्पथग इति वदन् परिरम्भणं नैच्छदित्यर्थः। देवो रुद्रः तस्मै चुकोप किञ्च तीक्ष्ण दृष्टिस्सन् शूलमुद्यम्य तं भृगुं हन्तुमारब्धवान् ॥ ६ ॥

**पतित्वेति**। देवी गिरा सान्त्वोक्त्या तं रुद्रं, अथेति वैकुण्ठशब्दः पूर्ववद्विष्णु लोकपरः श्रियो लक्ष्म्याः उत्सङ्गे शयानं वक्षसि पादेन अताडयत्। तत इति सतां गतिरिति हेतुगर्भम् ॥ ७,८ ॥

**विज०** महेश्वर इति साङ्केतिकं नाम, अन्वर्थाङ्गीकारे प्रकृतानुपपत्तेः भ्रातरं मुदेति भ्रातृशब्द प्रयोगाच्च ॥ ५ ॥

श्मशान वासित्वेनाशुभाचार इति मत्वा ॥ ६-८ ॥

स्वतल्पादवरुह्याऽऽशु ननाम शिरसा मुनिम् ।
आह ते स्वागतं ब्रह्मन् निषीदात्रासने क्षणम् ॥
अजानतामागतान् वः क्षन्तुमर्हथ नः प्रभो ॥ ९ ॥

★ अतीव कोमलौ तात चरणौ ते महामुने ।
इत्युक्त्वा विप्रचरणौ मर्दयन् स्वेन पाणिना ॥ १० ॥

पुनीहि स लोकं मां लोकपालांश्च मद्गतान् ।
पादोदकेन भगवंस्तीर्थानां तीर्थकारिणा ॥ ११ ॥

**अद्याहं भगवंल्लक्ष्म्या आसमेकान्त भाजनम् ।**

**वत्स्यत्युरसि मे लक्ष्मी र्भवत्पादहतांहसा ॥ १२ ॥**

1. B.G.J. ह्याथ 2- -2 M. Ma सं वः क्षन्तुमर्हसि मानद। ★ This verse is not found in K. M. Ma Ml.T.V.W 3- -3 B.G. J. M. Ma. Ml.V भवतस्तौ°

4. B. G. J. K. M. Ma.T.W. भूति। ▲ The following extra half verse is found in M.Ma. editions only - श्रीवत्समिति नामापि जायतां पादलक्षणः।

**श्रीध० पुनीहीति**। तीर्थकारिणा तीर्थत्व निमित्तेन ॥ ९-१२ ॥

**वीर०** अतः स तल्पादाश्ववरुह्य मुनिं भृगुं शिरसा ननामाऽऽह च किमिति। हे ब्रह्मन्! ते त्वया स्वागतं कुशलमागतं खलु अत्रास्मिन् आसने क्षणं निषीद उपविश। हे प्रभो! युष्मानागतानजानतां नोऽस्माकमपरार्धमिति शेषः। क्षन्तुमर्हथ ॥ ९,१० ॥

**पुनीहीति**। सह लोकं स वैकुण्ठं मां मद्गतान् मदावेशित चित्तान् मद्धार्यान् इति वा। लोकपालांश्च हे भगवन्! पादोदकेन पुनीहि कथम्भूतेन? तीर्थानां गङ्गादीनामपि तीर्थकारिणा पवित्रत्वकारिणा ॥ ११ ॥

**अद्येति**। हे भगवन्! अद्य अधुना अहं लक्ष्म्या एकान्तभाजनं नियताश्रय आसं तत्र हेतुत्वेनात्मानं विशिंषन्नाह - भवतः पादेन पादताडनेन हतमंहः पापं यस्य तस्य ममोरसि भूतिर्लक्ष्मीः वत्स्यत्यनपायितया वर्तिष्यतीति ॥ १२ ॥

**विज०** ते तुभ्यं निषीदोपविश आगसमपराधम् ॥ ९,१० ॥

अहमेव गतं गतिः आश्रयो येषां ते मद्गतास्तान् तीर्थकारिणा शुद्धिकारिणा "तीर्थं मन्त्राद्युपाध्याय शास्त्रेष्वम्भसि पावने" (वैज.कौ.6-3-13) इति यादवः ॥ ११ ॥

असुरजनमोहनार्थमाह - **अद्येति**। अद्याहं लक्ष्म्याः श्रिय एकान्तेन नियमेन भाजनं पात्रमासं भूतिर्लक्ष्मीः "भूतिः श्रीजन्म भस्मस्विति" च। नित्यकृतवासापि अद्य प्रभृति वत्स्यति स्पष्टवासं करिष्यति, भवता नित्यशक्तेन पादेन ज्ञानेन हतं नष्टं अंहो यस्मिन् तत् तथा नित्यसत्ता ज्ञानात्मकत्वेन दोषरहितमिति वा, तस्मिन्निति तथा। बाह्यार्थः कथा यदि वाक्यार्थः ॥ १२ ॥

## श्रीशुक उवाच

एवं ब्रुवाणे वैकुण्ठे भृगुस्तन्मन्द्रया गिरा ।
निर्वृतस्तर्पितस्तूष्णीं भक्त्युत्कण्ठोऽश्रुलोचनः[1] ॥ १३ ॥

पुनश्च[2-] सत्रमाव्रज्य[-2] मुनीनां ब्रह्मवादिनाम् ।
स्वानुभूतमशेषेण राजन्! भृगुरवर्णयत् ॥ १४ ॥

तन्निशम्याथ मुनयो विस्मिता मुक्तसंशयाः ।
भूयांसं श्रद्दधुर्विष्णुं यतः शान्तिर्यतोऽभयम् ॥ १५ ॥

धर्मस्साक्षाद्यतो ज्ञानं वैराग्यञ्च तदन्वितम्[3] ।
ऐश्वर्यं चाष्टधा यस्माद्यशश्चात्ममलापहम् ॥ १६ ॥

1. K. M1.T.V.W. °त्कण्ठा श्रु 2- -2 K.T.W. पुनःस्सत्रं समाव्रज्य ; M. Ma पुनःस्वसत्रमासाद्य 3. M.Ma चतुर्विधम्।

**श्रीध० एवमिति**। तस्य मन्द्रया गम्भीरया गिरा निर्वृतस्तूष्णीं, बभूवेति शेषः ॥ १३,१४ ॥

**तदिति**। विस्मिता अपराधातिरेकेऽपि निर्विकारित्वेन भूयांसं श्रद्दधुः महत्तमं निश्चितवन्तः यतो यस्मिन् ॥ १५ ॥

**धर्मेति**। वैराग्यञ्च चतुर्विधमितिपाठे तञ्चातुर्विध्यमेवं द्रष्टव्यम् विषयांस्त्यक्तुमशक्नुवतोपि सम्मानेच्छात्याग आद्यं वैराग्यम्। ततो विषयाणां मध्ये लवणादि व्यतिरेकेणापि वृत्ति द्वितीयम्। तथा वृत्तावपि मनसि राग शैथिल्येन बाह्येन्द्रियैरेव विषयसेवनं तृतीयम्। तत्रापि औदासीन्यं चतुर्थम्। यथाहुः - "वैराग्यमाद्यं यतमान संज्ञं क्वचिद्विरागो व्यतिरेक संज्ञम्। एकेन्द्रियाख्यं हृदि राग सौक्ष्म्यं - तस्याप्यभावस्तु वशीकृताख्यम्" ( ) इति ॥ १६ ॥

**वीर० एवमिति**। तस्य भगवतो मन्द्रया गम्भीरया आशयगर्भया गिरा निर्वृतः सुखितः[1] तर्पितश्च भक्त्युत्कण्ठया भक्त्युद्रेकेणाश्रूणि लोचनयोर्यस्य सः तूष्णीमास ॥ १३ ॥

**पुनरिति**। आव्रज्यागत्य हे राजन्! स्वेनात्मनाऽनुभूतमशेषेण ७ वर्णयत् ॥ १४ ॥

**तदिति**। तद्भृगुणोपवर्णितं निशम्य मुक्तसंशयाः गतसंशयाः[2-] [-2] अत एव निर्वृताः सुखिताः विष्णुमेव भूयांसं सर्वोत्कृष्टं श्रद्दधुः निश्चितवन्तः परत्वोपयुक्त गुणाविष्कारपूर्वक निश्चय प्रकारानेवाह यतः शान्तिरित्यादिना। यच्छब्दाना

त्रिविधाकृतयस्तस्येत्युपरिष्टात् सम्बन्धः। यतः यस्मिन् शान्तिः यतः सेव्यमानादभयं मुक्तिः यद्वा यतो यदुपासनादेव शान्तिरिति एवमुत्तरत्रापि ॥ १५ ॥

धर्मोऽत्र ब्रह्मण्यता ज्ञानं, सर्व विषयकं वैराग्यं विषयाऽनभिलाषः, तदन्वितं शान्त्यादिभिः सहितं अष्टधाऽणिमादि भेदेन अष्टविधमैश्वर्यं च आत्मनः भजतः पुंसः मलमपहन्तीति तथा तद्यशो यस्मिन् इत्यर्थः ॥ १६ ॥

1. K.T.W. Omit सुखितः 2- -2 B. Omits

**विज०** श्रिया सहितवत्समुरः श्रीवत्सं उरो वत्सञ्च वक्षश्च भुजान्तरमुदीर्यत इति उत्पलमालाभिधानं पादलक्षणः पादाङ्कः श्रीवत्समिति नाम जायतामित्यन्वयः ॥ १३,१४ ॥

भूयांसमत्त्युत्तमं यतो यस्माद्धरेः शान्तिर्मोक्षो मङ्गलं वा, पुंस इति शेषः ॥ १५ ॥

एकान्तभक्तानां धर्मादिष्वनपेक्षा लक्षणं वैराग्यमात्मनो मनसो मलनाशनम् ॥ १६ ॥

**मुनीनां न्यस्तदण्डानां शान्तानां समचेतसाम् ।**
**अकिञ्चनानां साधूनां यमाहुः परमां गतिम् ॥ १७ ॥**

**सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिः ब्राह्मणास्त्विष्टदेवताः ।**
**भजन्त्यनाशिषः शान्ता यं वा निपुणबुद्धयः ॥ १८ ॥**

**त्रिविधा[1-]ऽऽकृतयस्तस्य[-1] राक्षसा असुरा सुराः ।**
**गुणिन्या[2-] मायया[-2] सृष्टाः सत्वं तत्तीर्थसाधनम्[3-] [-3] ॥ १९ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**[4]एवं सारस्वता विप्रा नृणां संशय नुत्तये ।**
**पुरुषस्य पदाम्भोज सेवया तद्गतिं गताः ॥ २०॥**

1. M. Ma °धा मूर्तयस्तस्य 2- -2 M. Ma गुणास्तन्मायया 3- -3 M. Ma तत्राऽर्थदर्शनम् 4. K.M.Ma.Ml.T.V.W. इत्थं

**श्रीध० त्रिविधेति**। तस्य भगवत एव यद्यपि त्रिविधा आकृतयः तत्र तासु सत्वमेव तीर्थसाधनं[1] पुरुषार्थ हेतुः ॥ १७-१९ ॥

**एवमिति** इत्थं निश्चित्य सरस्वतीतीरवासिनो विप्रा हरिपदाम्भोज सेवया मुक्तिं प्रापुरिति ॥ २० ॥

1. Ml.V. अर्थ 2- -2 B.G.Omit.

**वीर० मुनीनामिति**। न्यस्तदण्डानां भूतद्रोहरहितानां समचेतसां सर्वात्मब्रह्मबुद्धीनामकिञ्चनानां प्रयोजनानन्तररहितानां परोपकार शीलानां यं परमां गतिं प्राप्यमाहुः ॥ १७ ॥

**सत्त्वमिति**। सत्त्वं रजस्तमोभ्यां अननुविद्धं शुद्धसत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिः शरीरं यस्य च इष्टदेवताः ब्राह्मणा अनाशिषः निष्कामाः शान्ताः जितेन्द्रियाः निपुणा बुद्धिः येषां ते यं भजन्ति ॥ १८ ॥

**त्रिविधेति**। तस्येत्थ भूतस्य निःसमाभ्याधिकस्य गुणिन्या सत्त्वादि त्रिगुणमय्या मायया सृष्टा राक्षसा असुराः सुराश्चेति त्रिविधा अप्याकृतयः तस्यैव शरीरभूता इत्यर्थः। तत्र देवाः सत्त्वप्रचुराः, असुरास्तु रजः प्रचुराः, राक्षसास्तमः प्रचुराः। देवादिषु त्रिष्वप्यासुरमानुषदैव सम्पत्तिभिः अभिजाताः सन्त्येवेति भगवद्गीतासु उक्तम्। एवञ्च सर्वेप्येते नोपास्या इति भावः। तथा चोक्तं शौनकेन - 'आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्ता जगदन्तर्व्यवस्थिताः। प्राणिनः कर्म जनितसंसार वशवर्तिनः॥ यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः। अविद्यान्तर्गताः सर्वे ते हि संसारगोचराः। पश्चादुद्धृतबोधाश्च ध्यानेनैवोपकारकाः। नैसर्गिको न वै बोधस्तेषामप्यन्यतो यतः॥ तस्मात्तदमलं ब्रह्म निसर्गादेवबोधवत्। इति एतदेवाह - सत्त्वं तत्तीर्थसाधनमिति। यत्सत्वं शुद्धसत्वमयं भगवच्छरीरं तदेव तीर्थ साधनं उपास्यमानं सन्निश्शेषप्रकृतिसम्बन्धक्षपणद्वारा आत्मशुद्धिसाधनमित्यर्थः ॥ १९ ॥

**इत्थं** इति। सारस्वताः सरस्वती तीरवासिनो विप्राः नृणां संशय निवृत्तये इत्थं निश्चित्य परमपुरुषस्य पदाम्भोज सेवया तद्गतिं मुक्तिं प्राप्ताः ॥ २०॥

**विज०** यस्य हरेः सत्त्वं गुणः प्रियामूर्तिः प्रेष्ट प्रतिमा यस्य, इष्टदेवता ब्राह्मणाः अनाशिषो निष्कामाः ॥ १७,१८॥

तत्र तेषु गुणेषु सत्वं नाम गुणः आर्यं सर्वपूज्यं श्रीहरिं दर्शयतीत्यार्य दर्शनः तद्विषयज्ञानोत्पादकः ॥ १९,२०॥

**सूत उवाच**

**इत्येतन्मुनितनयस्य पद्मगन्धपीयूषं भवभयभित्परस्य पुंसः ।**
**सुश्लोकं श्रवणपुटैः पिबत्यभीक्ष्णं पान्थोऽध्वभ्रमणपरिश्रमं जहाति ॥ २१ ॥ ★**

श्रीशुक उवाच

**एकदा द्वारवत्यान्तु विप्रपत्न्याः कुमारकः ।**
**जातमात्रो भुवं स्पृष्ट्वा ममार किल भारत! ॥ २२ ॥**

**विप्रो गृहीत्वा मृतकं राजद्वार्युपधाय सः ।**
**इदं प्रोवच विलपन्नातुरो दीनमानसः ॥ २३ ॥**

**ब्रह्मद्विषः शठधियो लुब्धस्य विषयात्मनः ।**
**क्षत्र बन्धोः कर्मदोषात्पञ्चत्वं मे गतोऽर्भकः ॥ २४ ॥**

1- -1. M. Ma. Omit 2. M. Ma गर्भ 3. B. K. Ml.T.V.W सुश्लोक्यं ; M. Ma सुश्लोकैः 4. Ml.V. संसारभ्रमण। ★विजयध्वजपाठानुसारेण अत्र त्रिनवतितमोऽध्यायः समाप्तः।

**श्रीध० इतीति**। व्यास नन्दनस्य मुख पङ्कजात् उद्गतं गन्धयुक्त पीयूषतुल्यं हरेः प्रशस्तं यशो यः संसारी सेवते स मुक्तो भवतीति ॥ २१ ॥

स च उक्तलक्षणो भगवान् श्रीकृष्ण एवेति दर्शयितु माख्यानान्तरमाह - **एकदेति** ॥ २२-२४ ॥

**वीर०** प्रकृतेतिहासश्रवणफलमाह - सूतः **इतीति**। मुनेः द्वैपायनस्य यः तनयः शुकस्तस्यास्य पद्मं मुखपद्मं तस्य गन्धो यस्मिंस्तत्, पीयूषममृतमेतद्भगवतः परत्व प्रकाशकेतिहासात्मकं भयं संसृतिभयं भिनत्तीति तथा सुश्लोक्यं बहुमन्तव्यं प्रसिद्धामृतं तु नैवं विधमिति भावः अभीक्ष्णं पुनः पुनः कर्णपुटैः श्रोत्रचषकैः पिबन्पान्थः संसाराध्वगः अध्वभ्रमण परिश्रमं प्रकृतिमण्डलपरिभ्रमणजं श्रमं जहाति मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

अत्र केचिदध्यायं समापयन्ति। अथ योसावुक्तविधः परमपुरुषः स एव श्रीकृष्णः इति दर्शयितुमितिहासान्तरं प्रस्तौति - **एकदेत्यादिना**। विप्रस्य कस्यचित् पत्न्या कुमारो हे भारत! जातमात्रस्तदैव भुवं स्पृष्ट्वा ममार ॥ २२ ॥

**विप्र** इति। स विप्रः राजद्वारे उपधाय निधायेदं वक्ष्यमाणं प्रोवाच ॥ २३ ॥

इदमिति विवक्षितमेवाह द्वाभ्यां - **ब्रह्मद्विष** इति। ब्रह्म ब्राह्मणान् द्वेष्टीति तथा तस्य शठस्य मूर्खस्येव धीर्यस्य लुब्धस्य निषादतुल्यस्य अजितेन्द्रियस्य क्षत्रबन्धोः क्षत्रियाभासस्य राज्ञः कर्मदोषात् दुर्व्यापारदोषात् ममार्भकः पञ्चत्वं मरणं प्राप्तः मयि तु न कश्चिद्दोष इति भावः ॥ २४ ॥

विज० -

श्रीशुक उवाच

कदाजिद्वाजिमेधेन यष्टुमुद्यम्य केशवः ।
महीं प्रदक्षिणी कर्तुं प्राहिणोत्प्रोक्षितं हयम् ॥ 1 ॥

हार्दिक्यं कृतवर्माणं युयुधानञ्च सात्यकिम् ।
चारुदेष्णं सुदेष्णञ्च प्रद्युम्नं साम्बमेव च ॥ 2 ॥

अंशुमन्तं सुभानुञ्च बहुसैन्यांश्च यादवान् ।
रक्षणार्थं तुरङ्गस्य प्राहिणोद्यदुनन्दनः ॥ 3 ॥

ते वै प्रदक्षिणं कृत्वा वसुधां प्रोक्षितं हयम् ।
उपानिन्युरदीर्घेण कालेन भरतर्षभ! ॥ 4 ॥

यष्टु कामं हरिं श्रुत्वा हयमेधेन भारत! ।
आजग्मु र्दीर्घ तपसो मुनयः संशितव्रताः ॥ 5 ॥

होतारञ्च तथाध्वर्यु मुद्गातारञ्च केशवः ।
कल्पयित्वा यथा न्यायं तथान्यानपि ऋत्विजः ॥ 6 ॥

ऋषिभि र्ब्राह्मण श्रेष्ठैर्यज्ञ विद्याविचक्षणैः ।
दीक्षां प्रपेदे भगवन् कृतपुण्याहमङ्गलः ॥ 7 ॥

तमुपास्तमहीपाला नानाजनपदेश्वराः ।
आजग्मुर्देव सङ्काशाः किरीटमुकुटोज्वलाः ॥ 8 ॥

पाण्डवाश्च महीपाला यज्ञदर्शनमिच्छवः ।
आहूता वासुदेवेन द्वारकामाययुर्नृप ॥ 9 ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने हयमेधे महोत्सवे ।
आसंस्तृप्ता द्विजा भोज्य वस्त्रगोभूमिकाञ्चनैः ॥ 10 ॥

**दीक्षां प्रविश्य गोविन्दः कामैस्तर्पयति द्विजान् ।**
**भुञ्जानेषु द्विजाग्र्येषु प्रतिगृह्णत्सु वाञ्छितम् ॥ 11 ॥**

**आसीनेषु यथा योगं भूपालेषु समन्ततः ।**
**वदत्सु मा शब्द इति वेत्र झर्झरपाणिषु ॥ 12 ॥**

**तृणमूलधरः कश्चिद्ब्राह्मणोऽभ्येत्य सत्वरः ।**
**चुक्रोश आर्त्त उद्बाहुर्यज्ञवाटमुखे स्थितः ॥ 13 ॥**

**क्षुत्क्षामकण्ठः शुष्कास्यो गलद्बाष्पाकुलेक्षणः ।**
**इदं चोवाच विलपन्नातुरो दीनमानसः ॥ 14 ॥**

**ब्रह्मद्विषः षठधियो लुब्धस्य विषयात्मनः ।**
**क्षत्रबन्धो कर्मदोषात्पञ्चत्वं मे गतास्सुताः ॥ 15 ॥**

लोकसङ्ग्रहायाश्वमेधयज्ञकरणमन्यासाध्य मृतविप्रपुत्रानयन माहात्म्यञ्च निरूपयत्यस्मिन्नध्याये। तत्रादौ हयस्य प्रदक्षिणप्रकारं वक्ति **कदाचिदिति**। उद्यम्य उद्योगं विधाय ॥ 1,2 ॥

बहवः सैन्याः सेनानायकाः येषां ते तथा तान् यदून् नन्दयतीति यदुनन्दनः ॥ 3,4 ॥

हयमेधेन अश्वमेधेन दीर्घकालं तपो येषां ते तथा ॥ 5-7 ॥

उपास्तुं निषेवितुं किरीटैः मुकुटैः सुवर्णैश्चोज्वलाः ॥ 8-11 ॥

वेत्रेण झर्झराः कर्कशाः पाणयो येषां ते तथा तेषु ॥ 12 ॥

तृणमूलधरः तृणानां मूलं चूडां धारयतीति तृणमूलं, यष्टिं च धारयतीति वा ॥ 13-15 ॥

**★ हिंसा विहारं नृपतिं दुःशीलमजितेन्द्रियम् ।**
**प्रजा भजन्त्यः सीदन्ति दरिद्रा नित्यदुःखिताः ॥ २५ ॥**

**एवं द्वितीयं विप्रर्षिस्तृतीयं त्वेवमेव च ।**
**विसृज्य स नृपद्वारि तां गाथां समगायत ॥ २६ ॥**

**तामर्जुन उपश्रुत्य कर्हिचित्केशवान्तिके ।**
**परे ते नवमे बाले ब्राह्मणं समभाषत ॥ २७ ॥**

**किं स्विद्ब्रह्मस्त्वन्निवासे इह नास्ति धनुर्धरः ।**
**राजन्य बन्धुरेते वै ब्राह्मणाः सत्रमासते ॥ २८ ॥**

★ According to M. Ma editions these three half verses are found in 100th chapter as 16th &17th Slokas. 1. K.T.W. ब्रह्मर्षि° ● According to M.Ma editions this verse is found in 100th chapter as 22nd Sloka. 2- -2 Ml.V. °रप्येते

**श्रीध० एवमिति**। ब्रह्मद्विष इत्यादिकां तां गाथां वाक्यम् मयि न कश्चिद्दोषोऽतो राजदोषेणैव मत्पुत्रा म्रियन्त इति वारं वारं चुक्रोशेत्यर्थः ॥२५-२७॥

**किमिति**। ब्रह्मन् किं स्विदिति किमर्थं वृथा रोदिषि यतस्त्वन्निवासे धनुर्धरमात्रोऽपि राजन्य बन्धुरपि नास्ति, ब्रह्मण्यस्य तु का वार्ता, एते तु सत्रे याग इव[1] ब्राह्मणा मिलिता भवितुमर्हन्तीत्यर्थः ॥ २८॥

1. Ml.V. एव

**वीर०** [1-]तदेव द्रढीकरोति[-1], हिंसैव विहारो यस्य तं, दुष्टं शीलं वृत्तिर्यस्य तमजितेन्द्रियं नृपं भजन्त्यः प्रजाः सीदन्ति दुख्यन्ति नित्यं दरिद्रा दुःखिताश्च भवन्ति ॥ २५ ॥

**एवमिति**। एवमेव च अष्टकृत्वः स विप्रो नृपद्वारि मृतकं विसृज्य तां गाथां 'ब्रह्मद्विष' इत्यादिवाक्यमगायत प्रोवाच ॥ २६ ॥

**तामिति**। परेते मृते सति नवमे बाले पूर्ववद्विप्रेण गीतां तां गाथां श्रुत्वा ॥ २७ ॥

भाषणमेवाह - **किंस्विदिति** त्रिभिः। हे ब्रह्मन्! इह त्वन्निवासभूते पुरे धनुर्धरः कोऽपि नास्ति किं स्वित्? धनुर्धरमात्रो राजन्यबन्धुरपि नास्ति किमित्यर्थः। ब्रह्मण्यो नास्त्येवेति भावः। एते तु सत्त्रमासते ये ब्राह्मणाः सत्त्रयागे ब्राह्मणा इव मिलिताः धनादिभिर्युक्ताः सुखमासत इत्यर्थः ॥ २८ ॥

1- -1. B.T.W. Omit.

**विज०** इत्युक्त्वा सपुनश्चैव चुक्रोश भृशदुःखितः

**तदाकर्ण्यार्जुनो मानी समुत्थाय वरासनात् ।**
**अपृच्छत्स्वयमासाद्य ब्राह्मणं केशवान्तिकात् ॥**

**किमासन्नर्भकाः ब्रह्मंस्तवकेनासि दुःखितः ।**
**तत्त्वमशेषेण त्वामद्य सुखयाम्यहम् ॥**

**इत्युक्तो ब्राह्मणः प्राह जातो जातोऽर्भको मम ।**
**नीयते तात केनापि तत्क्षणे सूतिका गृहात् ॥**

हिंसा विहारादि कर्मयुक्तं नृपतिं भजन्त्यः सीदन्ति ॥ २५॥

द्वितीयं द्विवारं, तृतीयं त्रिवारं, पुनश्चतुर्वारम् ॥ २६,२७ ॥

केनापि पुंसामीयते ॥

किमाहेत्यत्राह किं ब्रह्मणेति। इह त्वन्निवास स्थाने धनुर्धरो नास्ति किमित्यब्रवीत् धनुर्धरेण किं कार्यमत्राह, राजन्य बन्धोरिति, एते ब्राह्मणाः राजन्यबन्धोर्हेतोः सत्रमासते वै ॥ २८॥

**❖ धनदारात्मजाऽपृक्ता[1] यत्र शोचन्ति ब्राह्मणाः ।**
**ते वै राजन्य वेषेण नटा जीवन्त्यसुम्भराः ॥ २९ ॥**

**अहं प्रजां वां भगवन्रक्षिष्ये दीनयो रिह ।**
**अनिस्तीर्ण प्रतिज्ञोऽग्निं प्रवेक्ष्ये हतकल्मषः ॥ ३० ॥**

**ब्राह्मण उवाच**

**सङ्कर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नो धन्विनां वरः ।**
**अनिरुद्धोऽप्रतिरथो न त्रातुं शक्नुवन्ति यत् ॥ ३१ ॥**

**तत्कथं नु भवान् कर्म दुष्करं जगदीश्वरैः ।**
**चिकीर्षसि त्वं बालिशात्तत्र श्रद्दध्महे वयम् ॥ ३२ ॥**

❖ According to M.Ma editions these four verses are found in 100th chapter as 23rd to 26 Slokas. 1. K.Ml.T.V.W. °युक्ता

**श्रीध०** तदेवाह - **धनदारात्मजापृक्ता यत्रेति**। धनादिभिः वियुक्ताः सन्तो यत्र येषु जीवत्सु राजन्येषु शोचन्ति ते जीवन्ति[1-] केवलं[-1] जीविकां सम्पादयन्ति ॥ २९ ॥

**अहमिति**। हतकल्मष इति। अग्निप्रवेशेन ब्राह्मण विलापश्रवणपातकात्पूतो भवेयमित्यर्थः। अहतकल्मष इति वा ॥३०,३१॥

**तदिति**। न श्रद्दध्महे न सम्प्रतीमः ॥ ३२ ॥

1- -1 B. Omits

**वीर०** यत्र येषु जीवत्सु ब्राह्मणाः धनदारात्मजैः अयुक्ताः वियुक्ताः[1] एवं शोचन्ति ते वै राजन्य रूपेण क्षत्रियवेषेण नटा इव असुम्भरा स्वप्राणपोषणपराः जीवन्ति ते जीवच्छवप्राया इति भावः ॥ २९ ॥

**अहमिति**। दीनयोः वां युवयोः प्रजां जनिष्यमाणं पुत्रमहं इहैव स्थित्वा रक्षिष्ये यद्यहमनिस्तीर्णप्रतिज्ञः अनिष्पादित प्रतिज्ञः स्यां तर्ह्यग्निं प्रवेक्ष्ये[2]। ततो हतकल्मष ब्राह्मणविलाप श्रवणपातकादनृत भाषणाच्च पातकान्मुक्तो भवेयम्। 'अहत कल्मष' इति वा च्छेदः। यद्यनिस्तीर्ण प्रतिज्ञस्तर्ह्यनिरस्तपापस्तदपनोदनाय प्रवेक्ष्यामि इत्यर्थः ॥ ३० ॥

एवमुक्तः प्राह - विप्रः **सङ्कर्षण** इति द्वाभ्याम्। सङ्कर्षणो बलदेवः, वासुदेवः श्रीकृष्णः, धन्विनां श्रेष्ठः, प्रद्युम्नः न विद्यते प्रतिरथः समबलो यस्य सोऽनिरुद्धश्चेत्येते यन्मदपत्यं त्रातुं न शक्नुवन्ति ॥ ३१ ॥

तज्जगदीश्वरैः अपि कर्तुमशक्यं मदपत्यत्राणात्मकं कर्म कथं भवान् कर्तुं शक्नोति यतस्त्वं बालिशादज्ञानान्मौर्ख्याद्वा चिकीर्षसि तत्तस्माद्वयं न श्रद्दध्महे न विश्वसिमः ॥ ३२ ॥

1. B. Omits वियुक्ता 2. B. Omits प्रवेक्ष्ये

**विज०** राजापि स एव श्रेयानितरो दुःखहेतुरित्याह - **धनदारेति**। यत्र यस्मिन् देशे राजन्य वेषेणासुम्भरा नरा जीवन्ति तस्मिन् देशे स्थितास्ते भृत्या राज्ञा भरणीयाः ब्राह्मणाः धनदारात्मजैः सह शोचन्तीत्यन्वयः। यद्वा यत्र येषु राजसु सत्सु ब्राह्मण धनादिभिः सह शोचन्ति ते राजन्यवेषेण नटा एव जीवन्ति, न तु सद्वंश्याः। कुतः? असुम्भराः स्वप्राणपोषण परायणा वै यस्मात् तस्मात् दीनयोर्युवयोः अहतकल्मषः मिथ्याप्रतिज्ञत्वात् ॥ २९, ३० ॥

तत्रार्जुनस्याहङ्काराविष्करणाय ब्राह्मणो वक्ति **सङ्कर्षण** इति। सङ्कर्षणादयस्त्रातुं न शक्नुवन्ति, यद्यस्मात्तस्मा ज्जगदीश्वरैः दुष्करं कर्म कथं चिकीर्षति 'बालिशो बालमूर्खयोरिति' (वैज.को 7-4-20) वचनात् बालिशात् आत्मशक्त्यनभिज्ञानात् इह कर्मणि तव वाक्यं न श्रद्दध्महे ॥ ३१,३२ ॥

**अर्जुन उवाच**

❖ **नाहं सङ्कर्षणो ब्रह्मन्! न कृष्णः कार्ष्णिरेव च ।**
**अहं वा अर्जुनो नाम गाण्डीवं यस्य वै धनुः ॥ ३३ ॥**

**मावमंस्था मम ब्रह्मन्! वीर्यं त्र्यम्बक तोषणम् ।**
**मृत्युं विजित्य प्रधने आनेष्ये ते प्रजां प्रभो! ॥ ३४ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

★ **एवं विश्रम्भितो विप्रः फाल्गुनेन परन्तप! ।**
**जगाम स्वगृहं प्रीतः पार्थवीर्यं निशामयन् ॥ ३५ ॥**

**प्रसूति काल आसन्न भार्यया द्विज सत्तमः ।**
**पाहि पाहि प्रजां मृत्योरित्याहार्जुनमातुरः ॥ ३६ ॥**

❖ According to M.Ma edns. these two verses are found in 100th chapter as 28 & 29 Slokas 1- -1 M.V. पार्थोऽर्जुनो 2- -2 M. Ma गाण्डीवं तस्य कार्मुकम्। 3- -3 Ml. V. आनेष्ये ते प्रजाः प्रभो ; M. Ma आनयिष्ये तव प्रजाः ; K.T.w. आनेष्ये ते प्रजां विभो! 4- -4 B.G.J.K.M.Ma.T.W. omit.

★ According to M.Ma editions these two Slakas are found in 100th chapter as 39&40 slokas. 5.K.Ml.V. फ° 6.Ml.V. सुतं

**श्रीध० एवमिति**। एवं प्रौढिवादैर्विश्रम्भितो विश्वासं प्रापितः निशामयन् श्रृण्वन् ॥ ३३-३६॥

**वीर०** इत्थमुक्तः प्राह अर्जुनः - **नाहमिति** द्वाभ्याम्। कार्ष्णिः कृष्णस्यापत्यं पुमान् प्रद्युम्नः चकारादनिरुद्धश्च न भवामि। किन्तु तेभ्योप्यतिशयितशक्तिः अर्जुनोऽहं यस्य अर्जुनस्य मम गाण्डीवं धनुरस्ति ॥ ३३ ॥

हे ब्रह्मन्! मम वीर्यं मावमंस्थाः अवहेलनं मा कार्षीः। तत्र हेतुत्वेन विशिनष्टि-त्र्यम्बकतोषणं त्र्यम्बको रुद्रः स तुष्यत्यनेनेति तथा तत्, अतो हे प्रभो! मृत्युमपि प्रधने युद्धे विजित्य त्वत्प्रजामानेष्ये ॥ ३४ ॥

**एवमिति**। इत्थं फल्गुनेनार्जुनेन[1] विस्रम्भितः विश्वासं प्रापितः विप्रः प्रीतः स्वगृहं जगाम। ततो हे परन्तप! पार्थस्य वीर्यं निशामयन्नास्ते इति शेषः ॥३५॥

**प्रसूतीति**। भार्यायाः प्रसूतिकाले आसन्ने सति तदा द्विजसत्तमः आतुरस्सन् अर्जुनं प्रतीत्थमाह - कथम्? मम प्रजां मृत्योः पाहि पाहीति ॥ ३६ ॥

1. B. फा°

**विज०**

इति विस्रम्भयित्वा तं कृष्णमाहार्जुनो नृप ।
अनुज्ञां देहि भगवन् ब्राह्मणार्थे प्रयास्यतः ॥ 21 ॥

यजतां वाजिमेधेन भवानेभिर्महात्मभिः ।
इति ब्रुवन्तं बीभत्सुमनुज्ञां प्रेप्सुमच्युतः ॥ 22 ॥
बद्ध तूणं च गाण्डीवं स्मयमानोऽब्रवीद्वचः ।

**श्रीभगवानुवाच**

अहमेवागमिष्यामि न त्वया शक्यतेऽर्जुन ।
तमसाधारणंभूतं मन्ये येन हतोर्भकः ॥ 23 ॥

**अर्जुन उवाच**

सलोकपालो देवेन्द्रः खाण्डवो विजितो मया ।
किरातरूपी युद्धेन तोषितश्च त्रियम्बकः ॥ 24 ॥

निवातकवचाश्चैव बासवेनापि दुर्जयाः ।
मयैवानिहताः सङ्ख्ये हिरण्यपुरवासिनः ॥ 25 ॥

तेभ्योऽधिकतरं भूतं किं नु दानवसूदन!
बिभीषयसि मां कस्मादनुज्ञां देहि साम्प्रतम् ॥ 26 ॥

**श्रीशुक उवाच**

इत्युक्तः प्रददौ कृष्णस्त्वनुज्ञां सव्यसाचिने ।
निर्ययौ यज्ञशालायाः सङ्गृहीत शरासनः ॥ 27

रथमास्थाय विपुलं समुच्छ्रित कपिध्वजम् ।
अग्रे ब्राह्मण मारोप्य तद्ग्राममभितो ययौ ॥ 28 ॥

तत्र गत्वा प्रविष्टायां तत्पन्त्यां सूतिकागृहम् ।
ब्राह्मणं प्राह बीभत्सु रवरोप्य रथान्नृप ॥ 29 ॥

**अर्जुन उवाच**

याहि स्व भवनं ब्रह्मन् अभयं भव सर्वतः ।
दत्तं मयाऽद्य तद्भीतां पत्नीमाश्वासयाऽऽशु ते ॥ 30 ॥

प्रोवाच द्रुतमभ्येत्य पार्थः शस्त्रभृतां वरम् ।
एहि पार्थ महाबाहो ! यत्तो भव युधां वर ।
अत्र पूर्व कृतानां हि पौरुषाणां निदर्शनम् ॥ 31 ॥

**श्रीशुकं उवाच**

इत्युक्तो रथमारुह्य सज्यं कृत्वा तु गाण्डीवम् ।
त्वरन् जगाम बीभत्सुः सूतिका भवनान्तिकम् ।
ब्राह्मणोऽपि प्रविश्याह मुहूर्ते सूतिकागृहे ॥ 32 ॥

अत्रार्जुनः स्वगर्वमुद्गलयति अर्जुन इति। "धनञ्जयो रणे रणे" (ऋग्वे.1-74-3C) इति श्रुति प्रसिद्धेः। अहं धनञ्जयो नाम प्रख्यातः धनुष्मत्ता च ईदृशीत्याह - गाण्डीवमिति ॥ ३३ ॥

मावमंस्था अवमानं न कुरु मृत्युम् यमम् ॥ ३४,३५ ॥

ततः किं फलितमत्राह - इतीति ॥ १ ॥

तत्र कृष्णोऽहङ्कारिणो देवप्रसादो न स्यादिति भाववानर्जुनं निवारयन्निव वक्ति इतीति। बद्धतूणं पृष्ठबद्धतूणीरम् ॥ २ ॥

अल्पकार्य हेतुस्त्वद्गमनं किमर्थमित्यत्राह तं असाधारणमिति भूतं देवयोनिम् ॥ ३ ॥

अर्जुनः स्वगर्वमुद्गलयति स लोकपाल इति ॥ ४,५ ॥

भूतं देवयोनिम् ॥ 26,27 ॥

अभित उद्दिश्य ॥ 28,29 ॥

युधाम्वर युध्यन्तीति युधो योधास्तेषां वर पौरुषाणां पुरुष पराक्रमाणां निदर्शनं दृष्टान्तः ॥ ३६ ॥

**★स उपस्पृश्य शुच्यम्भो[1] नमस्कृत्य महेश्वरम् ।**
**दिव्यान्यस्त्राणि संस्मृत्य[2-2] सज्यं गाण्डीवमाददे ॥ ३७ ॥**

**न्यरुणत्सूतिकागारं शरैर्नानास्त्रयोजितैः ।**
**तिर्यगूर्ध्वमधः पार्थश्चकार शरपञ्जरम् ॥ ३८ ॥**

**ततः कुमारः सञ्जातो विप्रपत्न्याः रुदन्[3] मुहुः ।**
**सद्योऽदर्शनमापेदे सशरीरो विहायसा ॥ ३९ ॥**

**तदाह विप्रो विजयं विनिन्दन् कृष्णसन्निधौ ।**
**मौढ्यं पश्यत मे योऽहं श्रद्दधे क्लीबकत्थनम् ॥ ४० ॥**

★According to M.Ma (editions) in 100th chapter 44 to 47 1. Ml.V. °म्भु 2- -2 K.T.W. दिव्यान्यस्त्राण्यनुस्मृत्य ; Ml.V. दिव्यास्त्राणि च संस्मृत्य 3. K.T.W. मतः

**श्रीध० स** इति। ब्राह्मणोपेक्षकत्वेन कृष्णमवज्ञाय महेश्वरं नमस्कृत्य ॥ ३७ ॥

**न्यरुणदिति**। न्यरुणदावृतवान्। तदेवाऽऽह तिर्यगूर्ध्वमिति ॥ ३८ ॥

**तत** इति। अदर्शनमापेदे देहोऽपि नावशिष्ट इत्यर्थः ॥ ३९, ४० ॥

1- -1 B.J. कृष्णावज्ञया 2. Ml.V. न्यावशिष्टते

**वीर० स** इति। सोऽर्जुनः शुचिः शुद्धमम्बु जलम् उपस्पृश्याऽऽचम्य ॥ ३७ ॥

**न्यरुणदिति**। न्यरुणदावृतवान्। तदेवाह - तिर्यगूर्ध्वमिति ॥ ३८ ॥

**तत** इति। विप्रपत्न्याः सञ्जातः कुमारो रुदन्नेव मृतः। अदर्शनमापेदे, देहोऽपि नावशिष्टः इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

**तदेति**। अहो मम मौढ्यं पश्यत योऽहं क्लीबस्य षण्डस्यार्जुनस्य कत्थनं प्रगल्भभाषणं श्रद्दधे विस्रब्धवान् अस्मि अतोऽहं मूढः ॥ ४०॥

**विज०** सूतिकागारं सूतिकागृहं शरैर्न्यरुणत् आवृतवान् ॥ ३७,३८॥

भगवदनुग्रहरहितस्य साधनबाहुल्येन किं फलमिति भावेनाह - **तत** इति ॥ ३९ ॥

तदनन्तरं किमभूदित्यत्राह - **तदेति**। अथार्जुनं विनिन्दति तवेति ॥ ४० ॥

**★न प्रद्युम्नो नानिरुद्धो न रामो न च केशवः ।**
**यस्य[1] शेकुः परित्रातुं कोऽन्यस्तदवितेश्वरः ॥ ४१ ॥**

**धिगर्जुनं मृषावादं[2] धिगात्मश्लाघिनो धनुः।**
**दैवोपसृष्टं[3-] यो[-3] मौढ्यादानिनीषति दुर्मतिः ॥ ४२ ॥**

**एवं शपति विप्रर्षौ विद्यामास्थाय फाल्गुनः[4] ।**
**ययौ सयमनीमाशु यत्रास्ते भगवान् यमः ॥ ४३ ॥**

**विप्रापत्यमचक्षाणः तत्र ऐन्द्रीमगात् पुरीम् ।**
**आग्नेयीं नैर्ऋतीं सौम्यां वायव्यां वारुणीमथ ॥**
**रसातलं नाकपृष्ठं धिष्ण्यान्यन्यान्युदायुधः ॥ ४४ ॥ △**

★ According to M. Ma editions in 100th chapter 48 to 52 Slokas. 1. K.Ml.T.V.W. यन्न 2. Ml.V °चं 3- -3 K.T.W. °सादितं 4. K.Ml.V. फ° △ According to Viza second half verse is in next unit.

**श्रीध० नेति**। यस्य प्रजाः तत्तत्र ॥ ४१-४४ ॥

**वीर०** प्रद्युम्नादय एव यत्परित्रातुं न शेकुः न प्रवभूवुः तत् मदपत्यमवितुं त्रातुं को वा ईश्वरः समर्थः ॥ ४१ ॥

अतोऽर्जुनं धिक् स निन्द्य इत्यर्थः। 'उभ सर्वतसोः' (वार्तिक.under अष्टा. 1-4-48) इति द्वितीया। तत्र हतुमृषा वदतीति तथा तम्। आत्मस्तुतिशीलस्यास्य धनुर्गाण्डीवमपि धिक्। तत्र हेतुर्योऽर्जुनः दुष्टा मतिर्यस्य स तथाभूतस्सन् दैवेनोपसादितं लोकान्तरं प्रापितं मौढ्यादानिनीषति। आनेतु मिच्छतीति ॥ ४२ ॥

**एवमिति**। एवं विप्रर्षौ शपति निन्दति सति स फाल्गुनोऽर्जुनः विद्यां सर्वलोकसञ्चारावहां योगविद्यामाश्रित्य तावत्संयमनीं यमपुरीं प्रति ययौ। यत्र संयमिन्यां भगवान् यम आस्ते तां इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

तत्र विप्रस्यापत्यमचक्षाणोऽपश्यन् एवं क्रमेणैन्द्रियादि पुरीः, तत्र तत्राचक्षाणो ययौ । याम्या पुरी इयमन्या अस्यैव यमस्यैव सम्बन्धिनी दक्षिणदिक्स्था रसातलं पातालं नाकपृष्ठं नाकस्य स्वर्गस्य पृष्ठम् उपरितनं लोकं, किं बहुना? सर्वांश्च लोकान्वायुवच्चचार ॥ ४४ ॥

**विज०** यस्य ममार्भकं परित्रातुं न शेकुः सोऽहं कृष्णस्य सन्निधौ यस्य तव विकत्थनं श्रद्दधे वै तं त्वां धिक्, आत्मश्लाघिनः स्वस्य तव धनुश्च धिक्, तदधिकेश्वरः तेभ्यः प्रद्युम्नादिभ्योऽधिकेश्वरश्च कः ॥ ४१ ॥

किमित्येवं निन्दसीति तत्राऽऽह - दैवेति। दैवेनोपसृष्टयो रुपद्रुतयो रावयोः पुत्र मानिनीषति आनेतुमिच्छति ॥ ४२ ॥

विद्यां मनुष्यागम्यगमन सामर्थ्यकरीम् ॥ ४३ ॥

नैर्ऋतीं निर्ऋते विद्यमानां दिशं, सौम्यां सोमस्य.वायव्यां वायोः, वारुणीं वरुणस्य ॥ ४४ ॥

**★ततोऽलब्धद्विजसुतो ह्यनिस्तीर्ण प्रतिश्रुतः ।**
**अग्निं विविक्षुः कृष्णेन प्रत्युक्तः प्रतिषेधता ॥ ४५ ॥**

**दर्शये द्विजसूनूं स्ते माऽवज्ञात्मनः कृथाः ।**
**ये ते न कीर्तिं विमलां मनुष्याः स्थापयन्ति ते ॥ ४६ ॥**

**इति सम्भाव्य भगवा नर्जुनेन महेश्वरः ।**
**दिव्यं स्वरथ मास्थाय प्रतीचीं दिशमाविशत् ॥ ४७ ॥**

सप्तद्वीपान् सप्तसिन्धून् सप्तसप्तगिरी नथ ।[4]
लोका लोकं तथाऽतीत्य विवेश सुमहत्तमः ॥ ४८ ॥

तत्राऽऽश्वाः शैब्यसुग्रीव मेघपुष्प वलाहकाः ।
तमसि भ्रष्टगतयो बभूवु र्भरतर्षभ ! ॥ ४९ ॥[5]

तान्दृष्ट्वा भगवान्कृष्णो महायोगेश्वरेश्वरः ।
सहस्रादित्य सङ्काशं स्वचक्रं प्राहिणोत्परः ॥ ५० ॥

*According to M.Ma editions in 100th chapter these are 52 to 57 Slokas. 1- -1 B.G.J.Ml.V. °त्मानमात्मना 2- -2 Ml. V. मानवाः स्थापयिष्यन्ति कीर्तिं निन्दन्ति ये हि नः। 3. G. स° 4. Ml.V. गत्वा 5. Ml. V. सा

**श्रीध० तत** इति। प्रत्युक्तो वारितः उपपत्तिभिः प्रतिषेधं कुर्वता ॥ ४५ ॥

**दर्शय** इति। मावज्ञ माऽवजानीहि, ये निन्दन्ति त एव मनुष्या नः कीर्तिं स्थापयिष्यन्ति निश्चलां करिष्यन्ति। पाठान्तरन्तु छन्दोभङ्गभया दागन्तुकमिति ॥ ४६,४७ ॥

**सप्तद्वीपानिति**। सप्त सप्त संख्या गिरयो येषु द्वीपेषु तान् ॥ ४८-५० ॥

**वीर०** ततस्तत्र सर्वत्राऽप्यलब्धो द्विजसुतो येन सः। अत एव अनिस्तीर्ण प्रतिज्ञः, अत एवाऽग्निं प्रवेष्टुमिच्छुः प्रतिषेधता सामोक्तिभिः प्रतिषेधङ्कुर्वता श्रीकृष्णेन प्रत्युक्तो निवारितः ॥ ४५ ॥

प्रतिषेधपूर्वक निवारण प्रकारमेवाह-दर्शय इति। द्विजस्य सूनूं स्ते तुभ्यं दर्शये दर्शयिष्यामि। आत्मनः स्वस्य अवज्ञां मा कृथाः। एवञ्चेत्तव अमलां कीर्तिं मेते मनुष्याः स्थापयन्ति निश्चलां करिष्यन्ति। दूषयन्तीति पाठान्तरम्, तदात्मनोऽवज्ञा मा कृथाश्चेत् कीर्तिं दूषयिष्यन्तीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

**इतीति**। सम्भाष्य सम्भाषणेन प्रतिबोध्य भगवान्महेश्वरः श्रीकृष्णोऽर्जुनेन सह स्वकीयं रथमारुह्य पश्चिमां दिश माविशत् ॥ ४७ ॥

**सप्तद्वीपानिति**। सप्तसप्तगिरयो येषु तान्, द्वीपांश्च ततो लोकालोकं पर्वत मतीत्य सुमहन्निबिडं तमोऽन्धकारं विवेश ॥ ४८ ॥

तत्र तमसि शैब्यादयोऽश्वाः प्रतिहतगतयो बभूवुः। हे भरतर्षभ! ॥ ४९ ॥

**तानिति**। तान् भ्रष्टगतीनश्वान् दृष्ट्वा श्रीकृष्णः स्वचक्रं सुदर्शनं पुरोऽश्वानां पुरतः प्राहिणो त्प्रायुङ्क्त ॥ ५० ॥

I. B. °ज्ञां माकृथाश्चेत् K. °ज्ञानं करोषि चेत्

**विज०** अनिस्तीर्ण प्रतिश्रुतः असाधित प्रतिज्ञः प्रत्युक्तः नेत्युक्तः प्रतिषेधता निषेधं कुर्वता, कथं नेत्युक्त इति तत्राऽऽह - दर्शय इति। आत्मनैव स्वयं आत्मानं मावधीः मा हिंसीः। सन्धि रार्षः। एतेन पुत्रादानादिना त्वन्निमित्तेन मानुष्यं मनुष्यलोकस्थां यथा स्यात्तथा ईश्वरादपि महानुत्तमः ॥ ४५-५० ॥

**★ तमस्सुघोरं[1-] गहनं कृतं[-1] महद्विदारयद्दूरितरेण रोचिषा ।**
**मनोजवं निर्विविशे सुदर्शनं गुणच्युतो रामशरो यथा चमूः ॥ ५१ ॥**

**द्वारेण चक्रानुपथेन तत्तमः परं परं ज्योतिरनन्तपारम्[2] ।**
**तमश्रुवानं प्रसमीक्ष्य फाल्गुनः प्रताडिताक्षोऽपिदधेऽक्षिणी[3] उभे ॥ ५२ ॥**

**ततः प्रविष्ट स्सलिलं नभस्वता बलीयसैजद्बृहदूर्मिभीषणम्[4] ।**
**तत्राऽऽद्भुतं वै भवनं द्युमत्तमं भ्राजन्मणिस्तम्भसहस्रशोभितम् ॥ ५३ ॥**

**तस्मिन्महाभीम[5] मनन्तमद्भुतं सहस्रमूर्धन्यफणामणिद्युभिः ।**
**विभ्राजमानं द्विगुणोल्बणेक्षणं[6-] सिताचलाभं[-6] शितिकण्ठजिह्वम् ॥ ५४ ॥**

★ According to M.Ma edns. in 100th chapter these are 58 to 61 Slokas. 1- -1 Ml.V. कृतं सुघोरं दं 2. Ml.V. रगम् 3. Ml.V. °पि° 4. B.G.J. Ml.V. भू° 5. Ml.V. °हीन्द्रम° 6- -6 Ml.V. द्विसहस्र नेत्रैः

**श्रीध० तम** इति। प्रकृतिपरिणामरूपं नाऽऽलोकाभावमात्रम् ॥ ५१ ॥

**द्वारेणेति**। चक्रानुपथेन चक्रमनुगतेन द्वारेण तत्तमः परं तस्मात्तमसः परं दूरे वर्तमानं श्रेष्ठं भागवतं ज्योतिः समश्रुवानं व्याप्नुवत् प्रसमीक्ष्य प्रताडिताक्षो नेत्रे न्यमीलयदिति ॥ ५२ ॥

**तत** इति। एजन्त उच्चलन्तो बृहन्तो महान्त ऊर्मयो भूषणं यस्य तत्, तत्र सलिले भवनं महाकालपुरं द्युमत्तमं द्युतिमत्सु श्रेष्ठम् ॥ ५३ ॥

तस्मिन्निति। सहस्रं मूर्ध्नि भवाः फणास्तासु मणय स्तेषां द्युतिभिः द्विसहस्रनेत्रैरूर्जितं स्फटिकगिरिसङ्काशं शितिकण्ठजिह्वं कण्ठाश्च जिह्वाश्च कण्ठजिह्वाः शितयो नीलाः कण्ठाजिह्वाः यस्य तम् ॥ ५४ ॥

**वीर० तम** इति। गहनं दुष्प्रवेशं सुघोरं भयङ्करं महदपारं कृतम् भगवतैव सृष्टं तमो भूरितरेण बहुतरेण स्वतजेसा विदारयन्मनाजवं सुदर्शनं विवेश यथा रामस्य दाशरथेः शरो गुणान्मौर्व्याच्च्युतः चमूं रावणसेनां विवेश तद्वत् ॥ ५१ ॥

**द्वारेणेति**। चक्रानुपथेन चक्रमनुगतेन द्वारेण तस्मात्तमसः परं दूरे वर्तमानं भागवतमनन्तपारं ज्योतिः समश्नुवानं प्राप्नुवञ्चक्रं प्रसमीक्ष्य फाल्गुनोऽर्जुनः प्रताडिते प्रतिहते अक्षिणी दृष्टी यस्य सः, उभे अप्यक्षिणी अपिदधे न्यमीलयत्॥५२॥

**तत** इति। तत स्तमसः परतो जलं प्रविष्टः। कथम्भूतः? बलीयसा प्रचण्डेन नभस्वता वायुना एजन्ते उच्छलन्तः बृहन्तः ऊर्मयस्तरङ्गाः ते भीषणं, भीषणमिति पाठे तदा ऊर्मय एव भूषणं यस्य तथाभूतं तस्य जलस्याधस्तादद्भुतं भवनं, प्रविष्ट इत्यनुषङ्गः। कथम्भूतम्? द्युमत्तमं द्युतिमच्छ्रेष्ठं भ्राजतां मणिमयस्तम्भानां सहस्रेणोपशोभितम्॥ ॥ ५३ ॥

**तस्मिन्निति**। तस्मिन्भवने तं प्रसिद्धमनन्ताख्यं महान्त महिं ददर्शेत्युत्तरेण सम्बन्धः। कथम्भूतम्? अद्भुतं विस्मयनीयं सहस्रं मूर्धानः फणाः तेषु भवा स्तेषां महतां मणीनां द्युभिर्दीप्तिभिः विशेषेण भ्राजमानं, द्विगुणैः द्विसहस्रसंख्यैः ईक्षणैः उल्बणमुग्रं सिताचलः स्फटिकपर्वतः तस्य आभा इव आभा यस्य तं, शितिः नीलः कण्ठो जिह्वाश्च यस्य तमिति ॥ ५४॥

**विज०** गगनं छादयतीति गगनच्छदं गुणच्युतः मौर्व्या मुक्तः ॥ ५१ ॥

चक्रानुपथे सुदर्शन गतानुकूलमार्गे कृतद्वारेण समश्नुवानं गच्छन्तं यदूत्तमं प्रसमीक्ष्य अक्षिणी पिदध इत्यन्वयः। अनन्त पारं अन्तपार वर्जितम् ॥ ५२ ॥

ततस्सलिलं प्रविश्य गतो भवनं ददर्श त्यन्वयः। बलीयसा नभस्वता वायुना एजद्भिः कम्पमानैः बृहद्भिः ऊर्मिभिः तरङ्गैः भीषणं, तत्र सलिले ॥ ५३ ॥

तस्मिन् भवने अनन्तं ददर्श, सिताम्बराभं श्वेताकाशवत् शोभमानं, शितिः नीलः कण्ठो यस्य सः, शितिकण्ठः जिह्मगः नम्रगात्रतस्तम् ॥ ५४ ॥

**☆ ददर्श तद्भोग सुखासनं विभुं महानुभावं पुरुषोत्तमोत्तमम् ।**
**सान्द्राम्बुदाभं सुपिशङ्गवाससं प्रसन्नवक्त्रं रुचिरायतेक्षणम् ॥ ५५॥**

**महामणिव्रात किरीट कुण्डल प्रभापरिक्षिप्त सहस्रकुन्तलम् ।**
**प्रलम्ब चार्वष्टभुजं स[1] कौस्तुभं श्रीवत्सलक्ष्म्या वनमालया वृतम् ॥ ५६ ॥**

**सुनन्दनन्दप्रमुखैः स्वपार्षदैः[2] चक्रादिभिर्मूर्तिधरैर्निजायुधैः ।**
**पुष्ट्या श्रिया कीर्त्यजयाऽखिलर्द्धिभिः निषेव्यमाणं परमेष्ठिनां पतिम् ॥ ५७ ॥**

**ववन्द आत्मान मनन्त मच्युतो जिष्णुश्च तद्दर्शन जात साध्वसः ।**
**ता वाह भूमा परमेष्ठिनां प्रभुः बद्धाञ्जली सस्मित मूर्जया गिरा ॥ ५८॥**

☆ According to M.Ma editions in 100th chapter these are 62 to 65 Slokas. 1. K.T.W. सु° 2. K.T.W. च पा°

**श्रीध० ददर्शेति**। तद्भोगसुखासनं तस्यानन्तस्य भोगो देहः सुखकरमासनं यस्य तम् ॥ ५५ ॥

**महामणि** इति। महान्तो मणि व्राता येषु तेषां किरीटकुण्डलानां प्रभा तया परिक्षिप्ताः सर्वतः स्फुरन्तः सहस्रमपरिमिताः कुन्तला यस्य तम् ॥ ५६ ॥

**सुनन्देति**। कीर्त्यजया कीर्तिसहितया अजया अखिलर्द्धिभिः अणिमादि विभूतिभिः मूर्तिधराभिः ॥५७॥

**ववन्देति**। ऊर्जया ऊर्जितया गिरा ॥ ५८ ॥

**वीर० ददर्शेति**। तस्यानन्तस्य भोगः शरीरमेव सुखासनं यस्य तं विभुं भगवन्तं ददर्श। कथम्भूतम्? महाननुभावः प्रभावो यस्य तं पुरुषोत्तमानां ब्रह्मादीनामप्युत्तमं, सान्द्रस्य अम्बुदस्येव आभा यस्य। शोभने पिशङ्गे वाससी यस्य, प्रसन्नं वक्त्रञ्च यस्य, रुचिरे सुन्दरे आयते च ईक्षणे यस्य तम् ॥ ५५ ॥

महान्तो मणिव्राता येषु तेषां किरीटकुण्डलानां प्रभया परिक्षिप्ताः सर्वतः स्फुरन्तः अनन्ताः कुन्तलाः यस्य तं, प्रलम्बा दीर्घा श्चारवो वर्तुलाश्च अष्टौ भुजा यस्य, शोभनः कौस्तुभो यस्य, श्रीवत्सं लक्ष्मं चिह्नं यस्य तं, वनमालया अलङ्कृतञ्च ॥ ५६ ॥

सुनन्दनादिभिः पार्षदैः विग्रहधरैः चक्रादिभिः स्वासाधारणैरायुधैश्च पुष्ट्यादिभिश्शक्तिभिः मूर्तिमतीभिः तथा अखिलर्द्धिभिः अणिमादिभिस्सेव्यमानं परमेष्ठिनां ब्रह्मादीनां पतिम् ॥ ५७ ॥

**ववन्द** इति। अजं हेयप्रतिभटं स्वस्मादनन्यं तमच्युतो ववन्दे ननाम। तथा जिष्णु रर्जुनश्च तस्य भगवतो दर्शनेन जातं साध्वसं भक्तिपूर्वकभयं यस्य सः ववन्दे। ततो बद्धाञ्जली तौ कृष्णार्जुनौ प्रति परमेष्ठिनां पतिः प्रभुर्भगवान् ऊर्जितया गम्भीरया गिरा प्राह ॥ ५८॥

K.T.W. अक्षिणी

**विज०** तस्यानन्तस्य भोगे सुख मासनं यस्य सः तथा तद्भोग सुखासनः, तम् ॥५५,५६॥

परमेष्ठिनां ब्रह्मणां, पतिम् ॥ ५७ ॥

अच्युतः कृष्णः, जिष्णु रर्जुनः ॥ ५८॥

**✤ द्विजात्मजा मे[1] युवयो र्दिदृक्षुणा**
**मयोपनीता भुवि धर्मगुप्तये ।**
**कलावतीर्णा ववने र्भरासुरान्**
**हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे ॥ ५९ ॥**

**पूर्णकामावपि युवां नरनारायणा वृषी ।**
**धर्ममाचरतां स्थित्यै ऋषभौ लोकसङ्ग्रहम् ॥ ६०॥**

**इत्यादिष्टौ भगवता तौ कृष्णौ परमेष्ठिना ।**
**ओमित्यानम्य भूमान मादाय द्विजदारकान् ॥ ६१ ॥**

**न्यवर्तेतां[2] स्वकं धाम सम्प्रहृष्टौ यथागतम् ।**
**विप्राय ददतुः पुत्रान् यथारूपं[3] यथावयः ॥ ६२ ॥**

✤ According to M.Ma editions in 100th chapter these are 66 to 69 Slokas 1. Ml.V. वै 2. B.G.J.T.W. °र्ततां 3. K.T.W. रूपां स्तदा प्रभू ; Ml.V. रूपां स्तथा प्रभू

**श्रीध० द्विजेति**। मे कलावतीर्णाविति सम्बोधनम्। शीघ्रं मे अन्ति सकाशम् इतमागच्छतम् ॥ ५९॥

**पूर्णकामा** इति। आचरतं कुरुतम्। इदं भारतयुद्धात्पूर्वमेव कृतमपि श्रैष्ठ्य कथन प्रस्तावेनाऽत्रोक्तम् ॥ ६०॥

**वीर०** उक्तिमेवाह द्वाभ्यां **द्विजात्मजा** इति। युवयो र्युवां दिदृक्षुणा द्रष्टुमिच्छता मया द्विजात्मजा मे उपनीताः मदन्तिकं प्रापिताः। किमावयोः दर्शनेन? इत्यत्र आह - धर्मगुप्तये भुवि कलया अवतीर्णौ, कलावतीर्णा विति छत्रिन्यायेनोक्तम्। कृष्णस्तु भगवान्स्वयमित्युपक्रमे पूर्णावतारत्वोक्तेः। अतो मदवतारत्वान्मम दिदृक्षा जातेति भावः। अर्जुनस्य नरांशत्व प्रसिद्धि मुपजीव्य इत्थमुक्तम्। नरस्य नारायणांशावतारत्वात् अवनेः भूमेः भारायितानसुरान् हत्वा भूय स्त्वरया मे मम अन्तिकं समीपम्, इत मागच्छतम्। इण् गतौ इत्यस्य रूपम् ॥ ५९ ॥

किञ्च **पूर्णकामा विति**। युवां पूर्वं नरनारायणा वृषी भूत्वेति शेषः। ऋषभौ श्रेष्ठौ, हेतुगर्भमिदम्। अतः पूर्णकामावपि स्थित्यै जगद्रक्षणार्थं लोकसङ्ग्रहं धर्म माचेरतु राचरितवन्तौ लोकोऽर्वाचीनो जनः सङ्गृह्यते। प्रवर्त्यतेऽनेनेति तथा तम्। अत्र "यद्य दाचरति श्रेष्ठः" (भ.गी.33-21) इत्यादि गीता वचनार्थः उपक्षिप्तः ॥ ६०॥

**इतीति**। भगवता परमेष्ठिना इत्थ मादिष्टौ तौ कृष्णौ श्रीकृष्णार्जुनौ ओमिति तदाज्ञा मङ्गीकृत्य भूमानं भगवन्तं प्रणम्य द्विजपुत्रानादाय सम्प्रहृष्टौ धाम स्वगृहं प्रति यथाऽऽगतं न्यवर्तेताम् , आजग्मतुः। विप्रायेति यथारूपा ननतिक्रान्त स्वस्व पूर्वरूपान् प्रभू कृष्णार्जुनौ ददतुः ॥ ६१,६२॥

**विज०** युवयोः कृष्णार्जुनयोः ॥ ५९ ॥

जगतः स्थित्यै । लोकसङ्ग्रहं धर्मम् ॥ ६०॥

कृष्णौ यदूत्तमार्जुनौ आनन्दभूमानं पूर्णानन्दम् ॥ ६१ ॥

प्रसूयतां प्रसवं गच्छतां रूपं यथा प्रसूतिकाले यद्रूपं तादृशं रूपं दधानान् ॥ ६२ ॥

**★ निशाम्य वैष्णवं धाम पार्थः परमविस्मितः ।**
**यत्किञ्चित्पौरुषं पुंसां मेने कृष्णानुकम्पितम् ॥ ६३ ॥**

**△ इतीदृशान्यनेकानि वीर्याणीह प्रदर्शयन् ।**
**बुभुजे विषयान्रम्या नीजे चाऽत्यूर्जितैर्मखैः ॥ ६४॥**

**प्रववर्षाऽखिलान् कामान् प्रजासु ब्राह्मणादिषु ।**
**यथाकालं यथैवेन्द्रो भगवान् श्रैष्ठ्य मास्थितः ॥ ६५॥**

**हत्वा नृपानधर्मिष्ठान् घातयित्वाऽर्जुनादिभिः ।**
**अञ्जसा वर्तयामास धर्मं धर्मसुतादिभिः ॥ ६६ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसहस्र्यां

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे द्विजकुमारानयनं नाम एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

★ According to M.Ma editions in 100th chapter this Sloka is 70th Sloka. △ 64,65,66 Slokas are not found in M.Ma Editions 1. B.G.J. K.T.W "यान्ग्राम्या"

**श्रीध० निशाम्य** इति ॥ ६३-६६ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे

श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां उत्तरार्धे एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

**वीर० निशाम्येति**। विष्णोस्सम्बन्धि धाम स्थानं निशाम्य दृष्ट्वा पुंसां यत्किञ्चित् पौरुष मस्ति तत्सर्वं कृष्णानुकम्पितं श्रीकृष्णकृपालब्धमेवेति मेने। "शब्दः खे पौरुषं नृष्वि" ति(  ) गीतं दृष्टान्तमुखेन निश्चितवानित्यर्थः ॥ ६३ ॥

**इतीति**। ईदृशानि अतिदैव मानुषाणि चरित्राणि दर्शयन् अखिलेश्वरो भगवान् ग्राम्यान् विषयान् भोगान् बुभुजे। अखिलेश्वर इत्यनेन भोगप्रयुक्त कर्मवश्यत्वं व्युदस्यते ऊर्जितैः पुष्कलदक्षिणै र्मखैः यज्ञैः ईजे इष्टवान् ॥ ६४ ॥

**प्रववर्षेति**। ब्राह्मणा आदिर्यासां तासु प्रजासु अखिलानभिलषितान् कामान् प्रववर्ष। यथेन्द्रो - यथाकालं वर्षर्तुमनतिक्रम्य वर्षति तथा भगवानपि श्रैष्ठ्यं परत्व मास्थितः[1] कामान् ववर्ष ॥ ६५ ॥

**हत्वेति**। कांश्चिदधर्मिष्ठान् स्वयं हत्वा कांश्चि दर्जुनादिभि र्घातयित्वा धर्मसुतादिभिः युधिष्ठिरादिभिः अञ्जसा ऋजुमार्गेण सुखेन वा धर्मं वर्णाश्रमा द्यनुगुणं प्रवर्तयामास ॥ ६६ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां व्याख्यायां

उत्तरार्धे एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

1. B. माश्रितः

**विज०**

According to M.Ma editions in 100th chapter these are 71 to 74 Slokas.

तथाप्रविश्य गोविन्दो यज्ञवाटं पुनः स्वयम् ।
पूर्णपुरोहितैर्विप्रैः ऋत्विग्भिः क्षत्त्रियर्षभैः ॥ क ॥

प्रायश्चित्तन्तु चलने दीक्षायां य उदाहृतः ।
तं चकार यथान्यायं ब्राह्मणै रनुमोदितः ॥ ख ॥

समाप्य यज्ञं विधिवत्तर्पयित्वाऽर्थिनो द्विजान् ।
ऋत्विग्भ्यः पूजयित्वाऽन्या नृर्षीश्च कुरुसत्तम ॥ ग ॥

यमुनायां महानद्यां कृत्वाऽवभृथमज्जनम् ।
विजहार यथाकामं महर्षिभि र्यदूत्तमः ॥ घ ॥

पुंसां यत्किञ्चित्पौरुषं कृष्णानुकम्पितं मेने ॥ ६३-६६ ॥

दीक्षायां मध्ये चलने तत उत्थय गमने प्रायश्चित्त मुद्दिश्य यः कर्मविशेष उदाहृतः तं चकार ॥ क.ख.ग.

अवभृथनिमित्तमज्जनम् ॥ घ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥
(श्रीविजयध्वजरीत्या शततमोऽध्यायः)

# नवतितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या द्विशततमोऽध्यायः)

## श्रीशुक उवाच

[1]सुखं स्वपुर्यां निवसन् द्वारकायां श्रियः पतिः ।
सर्व सम्पत्समृद्धायां [2]जुष्टायां वृष्णिपुङ्गवैः ॥ १ ॥

स्त्रीभिश्चोत्तमवेषाभिः नवयौवनकान्तिभिः ।
[3-]कन्दुकैः हर्म्य सौधेषु [-3]क्रीडन्तीभिस्तटिद्द्युभिः ॥ २ ॥

नित्यं सङ्कुलमार्गायां मदच्युद्भिर्मतङ्गजैः ।
स्वलङ्कृतैर्भटैरश्वै रथैश्च [4]कनकोज्ज्वलैः ॥ ३ ॥

उद्यानोपवनाढ्यायां पुष्पितद्रुमराजिषु ।
निर्विशद्भृङ्गविहगैर्नादितायां समन्ततः ॥ ४ ॥

रेमे षोडशसाहस्रपत्नीनामेकवल्लभः ।
[5-]तावद्विचित्र रूपोऽसौ [-5]तद्गृहेषु [6]महद्धिषु ॥ ५ ॥

प्रोत्फुल्लोत्पलकह्लार कुमुदाम्भोजरेणुभिः ।
वासितामलतोयेषु कूजद्द्विजकु[7]लेषु च ॥ ६ ॥

1. T.W स्वयं 2. Ml.V. संवृतो 3- -3 B.G.J.K.T.W. कन्दुकादिभिर्हर्म्येषु ; Ml.V. हर्म्येषु कन्दुकाद्यैस्तु 4. Ml.V. वचो° 5- - 5 M.Ma.Ml.V. तावन्ति बिभ्रद्रूपाणि 6. B.G.J °द्गे° 7.M.Ma. कुलादिभिः ॥

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

चरमे तु पुनः प्रोक्ता कृष्णलीला समासतः। यदुवंशप्रसूतानामानन्त्यञ्च सकारणम् ॥

श्रीकृष्ण विभूतिं समासेन दर्शयति - **सुखमिति**। सर्वसम्पद्विशिष्टायां श्रियः पतिः षोडशसहस्र पत्नीनामेकवल्लभ स्सन् तासां गेहेषु रेमे इत्यन्वयः ॥ १-५ ॥

गृहविशेषणं **प्रोत्फुल्ले**त्यादिश्लोकेन ॥ ६ ॥

1. B.J. "म्पदादि वि" 2. B.G. गे"

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ भगवतः श्रीकृष्णस्य स्वपत्नीभिस्सह क्रीडाप्रकारं तासां तस्मिन्ननुरागातिशयं पुत्रपौत्रादि सन्ततीः प्रकृत स्कन्धार्थ श्रवणादि फलञ्च वर्णयति नवतितमेन **सुखं स्वपुर्यामि**त्यादिना। श्रियःपतिः इत्यस्य 'रेमे षोडशसाहस्र पत्नीनामेकवल्लभः' इत्युपरिष्टात् सम्बन्धः। वृष्णिपुङ्गवैः स्त्रीभिश्च जुष्टायां सेवितायाम् इति सम्बन्धः ॥ १ ॥

कथम्भूताभिः? नवयौवनेन कान्तिर्यासां ताभिः तडितामिव द्यौर्द्युति र्यासां ताभिः ॥ २ ॥

**नित्यमिति**। सङ्कुलाः सङ्कीर्णाः मार्गा तस्यां द्वारकायाम् इति पूर्वेण सम्बन्धः। मदच्युद्भिः मदजल स्राविभिः मतङ्गजैः गजैः सुष्ठ्वलङ्कृतैः भटैः कनकेनोज्ज्वलै रथैश्च ॥ ३ ॥

किञ्च। उद्यानैरुपवनैश्च आढ्यायां, कथम्भूतैः? पुष्पिता ये द्रुमाः तेषां राजिषु पङ्क्तिषु निर्विशन्तो भृङ्गाणां निवहाः समूहाः येषु तैः, नादितायामित्यस्य मतङ्गजादिभिरिति शेषः। यद्वा - निर्विशतां भृङ्गाणां निवहैः नादितायाम् ॥४॥

**रेमे** इति। षोडशसहस्रपत्नीनामेक एव वल्लभः पतिस्सन् तावन्ति षोडश सहस्राणि रूपणि मूर्ती र्बिभ्राणः तासां गृहेषु रेमे इति सम्बन्धः। कथम्भूतेषु? महत्य ऋद्धयः भोग्यभोगोपकरणादि समृद्धयः येषु ॥ ५॥

प्रोत्फुल्लानां उत्पलानां रेणुभिर्वासितानि अमलानि तोयानि येषु तेषु कूजन्ति द्विजानां पक्षिणां कुलानि समूहा येषु तेषु ॥ ६ ॥

## श्रीविजयध्वज तीर्थकृता पदरत्नावली

अनेनाऽध्याय द्वयेन गृहस्थधर्मानुकरण लक्षणं हरेस्सनिधानात् सर्वतीर्थोत्तमत्त्वं द्वारकायाश्च कथ्यते। तत्र प्रथमं द्वारकापुरं वर्णयति **सुखमिति** ॥ १ ॥

हर्म्येषु धनिनां योग्येषु समुन्नतगृहेषु सौधेषु सुधाधवलितेषूत्तम गृहेषु ॥ २,३ ॥

निर्विशद्भिः मिथ उपभुञ्जनैः भृङ्गविहङ्गैः नादितायां घोषवत्कृतायाम् ॥ ४,५ ॥

वासितामलतोयेषु परिमलीकृतजलेषु ॥६॥

**विजहार विगाह्याम्भो ह्रदिनीषु[1] महोदयः ।**
**कुचकुङ्कुमलिप्ताङ्गः परिरब्धश्च[2] योषिताम् ॥ ७ ॥**

**उपगीयमानो गन्धर्वै र्मृदङ्गपणवानकान् ।**
**वादयद्भिर्मुदा वीणाः[3] सूतमागधवन्दिभिः ॥ ८ ॥**

**सिच्यमानोऽच्युत[4] स्ताभिर्हसन्तीभिश्च[5] रेचकैः[6] ।**
**प्रतिसिञ्चन्विचिक्रीडे[7] यक्षीभिर्यक्षराडिव[8-8] ॥ ९ ॥**

**ताः क्लिन्नवस्त्र विवृतोरु कुचप्रदेशाः सिञ्चन्त्य उद्धृत बृहत्कबरप्रसूनाः ॥**
**कान्तं[9-9] स्म रेचक जिहीरषयोपगुह्य जातस्मरोत्सवलसद्वदना[10] विरेजुः ॥ १० ॥**

1. Ml.V. ह्रा° 2. M.Ma °स्स्व 3. B.G.J. °णां 4. M. Ma.T.W. सेव्य° 5. B.G.J. °स्स्म 6. K.T.W. सैचनैः 7. Ml.V. पत्नीः सि° 8--8 M. Ma मुखरः शक्तिभिः स्वयम्। 9--9 K.T.W. कान्तं स्व सेचन जिहीर्षुतयो°.; M.Ma कान्तस्य चेतन जिहीर्षतयो ; Ml.V. कान्तं स्म रेचक जिहीर्षुतयो° 10. M. Ma. Ml.V. °त्स्मय

**श्रीध०** तथा ह्रदिनीषु[1] चाऽम्भो विगाह्य विजहार। महानुदयो वैभवं यस्य सः। योषितां कुचकुङ्कुमैर्लिप्ताङ्गः, यतः ताभिः परिरब्धः ॥ ७ ॥

**उपगीयमान** इति। सूतमागधवन्दिभिश्चोपगीयमानः ॥ ८,९ ॥

**ता** इति। ताः क्लिन्नवस्त्राः अत एव विवृतोरु कुचप्रदेशाः उद्धृतानि विस्रस्तानि बृहत्कबरेभ्यः प्रसूनानि यासां ताः, जातेन स्मरेण य उत्सवस्तेन[2] लसन्ति वदनानि यासां ताः ॥ १० ॥

1. Ml.V. ह्रा° 2. Ml.V. उत्स्मय°

**वीर०** किञ्च **उपगीयमान** इति। सूताः पौराणिकाः। मागधाः वंशावलि पाठकाः। कथम्भूतैः? वीणादीन् वादयद्भिः ॥७,८

**सेव्यमान** इति। ताभिर्योषिद्भिः सेचनैः जलसेचनैः हसन्तीभिः सेव्यमानः स्वयमपि ताः प्रतिषिञ्चन् यक्षीभिः यक्षराट् कुबेर इव विचिक्रीडे विक्रीडितवान् ॥ ९ ॥

**ता** इति। क्लिन्नानि सिक्तानि वस्त्राणि यासां ताः, अत एव विवृतोरुकुचप्रदेशाः ताश्च उद्धृतानि विस्रस्तानि बृहत्कबरेभ्यः प्रसूनानि यासां ता योषितः कान्तं भगवन्तं सिञ्चन्त्यः स्वसेचन जिहीर्षुतया स्वशब्दः कान्तपरः। तस्य सेचनपरिहारेच्छया तमेवोपगुह्यऽऽलिङ्ग्य तेन जातेन स्मरेण उत्स्मयः उत्कृष्टहासः तेन लसन्ति वदनानि यासां ता विरेजुः ॥ १० ॥

**विज०** ह्रादिनीषु नदीषु। स्वयोषितमिति षष्ठी तृतीयार्थे ॥ ७ ॥

वीणाः इति द्वितीया ॥ ८ ॥

रेचकैः जलप्रक्षेपणचर्मपात्रैः शक्तिभिः भार्यादिभिस्सह ॥ ९ ॥

क्लिन्नान्यार्द्राणि वस्त्राणि यासां ताः, विवृता ऊरुप्रदेशाः कुचप्रदेशाश्च यासां ताः, बृहन्ति कबराणि बृहत्कबराणि उद्धृतानि उन्मुक्तानि बृहत्कबरपूरितानि प्रसूनानि यासां ताः, कान्तस्य कमनीयस्य कृष्णस्य चेतनजिहीर्षतया चित्तवशीरणेच्छया उपगूहनक्रियया जातेनाऽऽविर्भूतेन स्मरोत्स्मयेन उत्कृष्टेन मन्दस्मितेन लसन्ति वदनानि यासां ताः ॥ १० ॥

**कृष्णस्तु तत्स्तनविषज्जितकुङ्कुमस्रक्क्रीडाभिषङ्गधुतकुन्तलबृन्दबन्धः[1-1] ।**
**सिञ्चन्मुहुर्युवतिभिः प्रतिषिच्यमानो रेमे करेणुभिरिवेभपतिः परीतः ॥ ११ ॥**

**❖ नटानां नर्तकीनाञ्च[3] गीतवाद्योपजीविनाम् ।**
**क्रीडालङ्कार वासांसि कृष्णोऽदात्तस्य च स्त्रियः ॥ १२ ॥**

**कृष्णस्यैवं विहरतो गत्यालापेक्षितस्मितैः।**
**नर्मक्ष्वेलीपरिष्वङ्गैः[4] स्त्रीणां किल हृता धियः ॥ १३ ॥**

**ऊचुर्मुकुन्दैकधियोऽगिर उन्मत्तवज्जडम्।**
**चिन्तयन्त्योऽरविन्दाक्षं तानि[5] मे गदतः शृणु ॥ १४ ॥**

1--1. M. Ma °त सकुन्तलकुन्दगन्धः। 2. M. Ma. Ml.V. परि। ❖ अत्र विजयध्वजरीत्या व्यधिकशततमोऽध्यायः समाप्यते। अग्रे सप्तविंशश्लोकावधि श्लोका न विद्यन्ते । अष्टाविंशतिश्लोकमारभ्य त्र्यधिकशततमाध्यायत्वेन पठ्यते च ॥ 3. K.Ml.T.V.W. का° 4. B. G. J. T.W. क्ष्वेलि° ;Ml.V. केलि° 5. Ml.V. यानि

**श्रीध० कृष्ण** इति। तासां स्तनेभ्यो विषज्जित कुङ्कुमा स्रग्यस्य, क्रीडायामभिषङ्गेण अभिनिवेशेन धुतः कम्पितः कुन्तलबृन्दबन्धो यस्य सः ॥ ११-१३ ॥

**ऊचुरिति**। मुकुन्दैकधियः समाहिता इव उन्मत्ता[2] इव क्षणमगिरस्सत्यः पुनस्तमेवेशं चिन्तयन्त्यो जडं यथा भवति तथा, यानि वाक्यानि ऊचुस्तानि मे मत्तो गदतः शृण्वित्यर्थः ॥१४॥

1. B.J. या अभि 2. B.J. omit उन्मात्ता इव

**वीर० कृष्णस्त्विति**। तासां स्तनेभ्यो विषञ्जिता कुङ्कुमस्रग्यस्य सः, क्रीडायामभिषङ्गेणाऽभिनिवेशेन धुतः कम्पितः कुन्तलबृन्दबन्धो यस्य सः, स्वयं मुहुः सिञ्चन् युवतिभिः प्रतिषिच्यमानश्च करेणुभिः परिवृतो गजराडिव रेजे ॥ ११ ॥

**नटानामिति**। गीतैः वाद्यैः च उपजीवन्तीति तथा। तेषां नटादीनां नटादिभ्यः क्रीडार्थं येऽलङ्काराः भूषणानि वासांसि च तानि प्रादात् प्रायच्छत्। तथा स्त्रियोऽपि नर्तकीभ्यः प्रायच्छन् ॥ १२ ॥

**कृष्णस्येति**। कर्तरि षष्ठी गत्यादिभिरेवं विहरता कृष्णेन स्त्रीणां धियः हृताः ॥ १३ ॥

अत एव मुकुन्द एवैकस्मिन् धीर्यासां ताः, तमरविन्दाक्षं चिन्तयन्त्यः, तत्सान्निध्याभाव दशायामिति शेषः। अगिर इति छेदः क्षणमगिरः, धृतमौना इत्यर्थः। तत उन्मत्त इव जडं यथा तथा यानि वाक्यान्यूचुः तानि सम्यगादरतः कथयतो मत्तः शृणु ॥ १४ ॥

**विज०** तासां स्तनेभ्यः विषञ्जितानि सङ्क्रान्तानि कुङ्कुमानि तत् स्तनविषञ्जित कुङ्कुमानि तैर्मिश्रा स्रग्यस्य सः तथा कुन्तलैः-सह वर्तमानस्सकुन्तलः क्रीडाया मतिसङ्गतश्चाऽयं सकुन्तलश्च कुन्दगन्धश्च तथा कुन्दपुष्पवत् गन्धो यस्य स तथा। सिञ्चन्, जलमिति शेषः ॥ ११-१४ ॥

**गृहेषु तासामनिवार्य ईश्वरो निरस्तसाम्यातिशयो व्यवस्थितः।**
**रेमे रमाभिर्निजसौख्यसम्प्लुतो यथेतरो गार्हकमेधिकांश्चरन् ॥ क ॥**

अनिवार्य इत्यस्य विवरण मीश्वर इति। रमाभी रामाभिः लक्ष्मी सन्निधान युक्ताभिर्वा। निजसौख्य सम्प्लुतः स्वरूपानन्द समुद्रमग्नः गार्हकमेधिकान् गृहस्थाश्रमयोग्य धर्मांश्चरन् कुर्वन् ॥ क ॥

**इत्थं रमापतिमवाप्य पतिंस्त्रियस्ता ब्रह्मादयोऽपि पदवीं न विदुर्यदीयाम्।**
**भेजुर्मुदाऽविरत मेधितयाऽनुराग हासावलोक नवसङ्गमलज्जयैव ॥ ख ॥**

नवसङ्गमे या लज्जा सैव स्थिता तया अनुरागादियुक्तया ॥ ख ॥

**महिष्य ऊचुः**

**कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे स्वपिति[1] जगति रात्र्यामीश्वरो[2] गुप्तबोधः ।**
**वयमिव सखि कच्चिद्गाढनिर्भिन्नचेता[3] नलिननयनहासोदार लीलेक्षितेन[4] ॥ १५ ॥**

**नत्रे निमीलयसि नक्तमदृष्टबन्धुस्त्वं रोरवीषि करुणं बत चक्रवाकि !**
**दास्यङ्गता वयमिवाच्युतपादजुष्टां किं वा स्रजं स्पृहयसे कबरेण वोढुम् ॥ १६ ॥**

**भो भो सदा निष्टनसे उदन्वन्नलब्धनिद्रोऽधिगतप्रजागरः ।**
**किं वा मुकुन्दापहृतात्मलाञ्छनः प्राप्तां[5] दशां त्वञ्च गतो[6] दुरत्ययाम् ॥ १७ ॥**

**त्वं यक्ष्मणा बलवता[7] निगृहीत इन्दो क्षीणस्तमो न निजदाधितिभिः क्षिणोषि ॥**
**कच्चिन्मुकुन्दगदितानि यथा वयं त्वं विस्मृत्य भो स्थगित भीरुपलक्ष्यसे नः ॥ १८ ॥**

1. Ml.V. प 2. K. °रो ग्रस्त ; Ml.V. °रग्रस्त 3. Ml.V. °विद्ध 4. Ml.V. °क्षणेन॥ 5. K.T.W. प्राप्तो 6. K.T.W. यतो 7. B.G.J. °ताऽसि

**श्रीध० कुररीति**। ईश्वरः श्रीकृष्णः स्वपिति। त्वन्तु निद्राभङ्गं कुर्वती विलपसि न शेषे न स्वपिषि तदनुचितमित्यर्थः। अथवा नाऽपराधः तवापीत्याशयेनाऽऽहुः - नलिननयनस्य भगवतो हासेन सहित मुदारं यल्लीलेक्षितं तेन कच्चिद्गाढं निर्विद्धचेतास्त्वमिति ॥ १५ ॥

**नेत्र** इति। नक्तं रात्रावदृष्टबन्धुः सती रोरवीषि। किं वा नैतावत्, अपि तु वयमिव स्पृहयसे ॥ १६ ॥

**भो भो** इति। अलब्धनिद्रस्सदा निष्टनसे क्रोशसि, किं वा अस्माभिः प्राप्तां दशां त्वमपि गतोऽसि? अहो कष्टम् यथा वयं सम्भोगेन मुकुन्दापहृत कुचकुङ्कुमादि लाञ्छनाः तथा त्वमपि, यतोऽपहृत श्रीकौस्तुभादिलाञ्छनो लक्ष्यसे ॥ १७ ॥

**त्वमिति**। मुकुन्दगदितानि रहस्यानि विस्मृत्य तदेकचिन्तया कच्चित्त्वं क्षीणोऽसि? वयमिव स्थगितगीःस्तब्धवाक्[1] हे इन्दो! न स्तथैवोपलक्ष्यसे ॥ १८ ॥

1. B. J. तनुवाक्

**वीर०** कानि पुनस्तानीत्यत्राऽऽह - कुररीत्यादिना इतीदृशेनेत्यतः प्राक्तनेन। तत्रैकस्या वाक्यमाह **कुररीति**। हे कुररि! अस्मिन् जगति रात्र्यामीश्वरः कृष्णः ग्रस्त (गुप्त) बोधः विलुप्तबाह्यविषय ज्ञानः सन् स्वपिति शेते। त्वन्तु विगतनिद्रा सती विलपसि न तु शेषे न स्वपिषि। अनुचितं तन्निद्राभङ्गं करोषीति भावः। अथवा, नाऽपराधः तवापीत्याशयेनाऽऽह - नलिननयनस्य हासेन सहितमुदारं यल्लीलयेक्षितं तेन हे सखि! वयमिव त्वमपि गाढं यथा तथा निर्भिन्नं चेता यस्यास्सा कञ्चित् किमितिप्रश्नः ॥ १५ ॥

अन्यस्या वाक्यमाह - **नेत्र** इति। एवमाग्रेऽपि ज्ञेयम्। चक्रवाकि! नक्तं रात्रौ अदृष्टबन्धुः अदृष्टपतिः सती नेत्रे निमीलयसि किं किं वा करुणं यथा रोरवीषि। बतेति खेदेऽन्यम्। नैतावत् अपि तु वयमिव दास्यं प्राप्ता सती अच्युतपादेन जुष्टां सेवितां स्रजं कबरेण वोढुं स्पृहयसे किं वा ॥ १६ ॥

क्वचित् (काचित्) उदन्वन्तं प्रत्याह - **भो भो** इति। हे उदन्वन्! समुद्र! अलब्धनिद्रः अधिगत प्रजागरश्च सदा निष्टनसे नितरां ध्वनसि ष्वन शब्दे इति धातुः। किं वा अस्माभिः प्राप्तां दुरत्ययां दशां अवस्थां त्वमपि गतोऽसि? अहो कष्टं यथा वयं सम्भोगेन मुकुन्दापहृतकुचकुङ्कुमाद्यात्मलाञ्छनाः तथा त्वमपि, यतोऽपहृत श्रीकौस्तुभादि लाञ्छनो लक्ष्यसे अतस्त्वां पृच्छामीत्यर्थः ॥ १७ ॥

**त्वमिति**। हे इन्दो! त्वं बलवता यक्ष्मणा क्षयरोगेण नितरां गृहीतः अत एव क्षीणस्सन् स्वकान्तिभिः तमोन्धकारं न क्षिणोषि न विनाशयसि किं? यथा वयं तथा त्वमपि मुकुन्दगदितानि रहस्यानि विस्मृत्य तदेक चित्ततया स्थगितगीः स्तब्धवाक् सन् नोऽस्माभिः उपलक्ष्यसे ॥ १८ ॥

**किं वा चरित मस्माभिर्मलयाऽनिल तेऽप्रियम् ।**
**गोविन्दापाङ्गनिर्भिन्ने हृदीरयसि नः स्मरम् ॥ १९ ॥**

**★ मुग्धे ध्यायसि किं गृहाण पुरतः कुन्दं विकासोन्मुखं**
**किं कुन्दं न ममाऽमुना सुमनसः कीदृग्विधास्त्वत्प्रियाः।**

**पुन्नागं मृगये सखि श्रुतिशिरोभूषाविशेषायितं**
**गावोप्युज्झितसूनमासत तदामोद प्रकर्षोन्मुखाः ॥ २० ॥**

मेघ श्रीमंस्त्वमसि दयितो यादवेन्द्रस्य नूनं श्रीवत्साङ्कं वयमिव भवान् ध्यायति प्रेमबद्धः ।
अत्युत्कण्ठश्शबलहृदयोऽस्मद्विधो बाष्पधाराः स्मृत्वा स्मृत्वा विसृजसि मुहुर्दुःखदस्तत्प्रसङ्गः ॥२१

प्रियराव पदानि भाषसे मृतसञ्जीविकयाऽनया गिरा ।
करवाणि किमद्य ते प्रियं वद मे वल्गित कण्ठ कोकिल ॥ २२ ॥

▲ शुकराज गाय यदुदेव सत्कथां कुर्मस्तवाङ्ग! पयसोपसेचनम् ।
विरहाग्नितप्त हृदयेष्वलं रमारमणाभिधान सुधया च सिञ्च नः॥ २३ ॥

न चलसि न वदस्युदारबुद्धे क्षितिधर चिन्तयसे महान्तमर्थम् ।
अपि बत वसुदेव वन्दनाङ्घ्रिं वयमिव कामयसेस्तनैर्विधर्तुम् ॥ २४ ॥

1. B.G.J. किन्त्वा° ★ This verse is found only in K.T.W. Edns. 2. K. स्सजल ▲ This verse is found only in K.T.W. Edns.

**श्रीध० किमिति**। अप्रियाचरणं विना स्मरोदीरणेन व्यथाजननं हे मलयानिल! तवानुचितमित्यर्थः ॥ १९ ॥

**मेघेति**। आतपार्तिहरणादि साम्यत्त्वं यादवेन्द्रस्य नूनं दयितसखाऽसि। अतो भवान् तं ध्यायति। ध्याने लिङ्गान्याहुः- अत्युत्कण्ठ इत्यादि। अहो किमिति त्वया तेन सख्यं कृतं यतो दुःखदः तत्प्रसङ्ग इति ॥ २०॥

**प्रियरावेति**। हे कोकिल! मे प्रियरावस्य प्रियंवदस्य श्रीकृष्णस्य पदानीव पदानि शब्दां स्त्वं भाषसे मृतान् सञ्जीवयतीति तथा। तयाऽनया कोमलया गिरा वल्गितकण्ठ! रमणीयकण्ठ! मे वद कथय, किं तव प्रियं करवाणीति ॥ २१॥

**नेति**। हे क्षितिधर! त्वं न वदसि न चलसि, अतो नूनं महान्तमर्थं चिन्तयसे बत! तर्हि अपि किं यथा स्तनैर्विधर्तुं वयं कामयामहे तथा त्वं स्तनतुल्यैः शृङ्गैर्वोढुं कामयसे? ओमिति चेत्तर्हि तवाऽप्यस्म दवस्था भविष्यतीति भावः ॥२२॥

. B. J. Omit वद

**वीर० किं वेति**। हे मलयानिल! ते तुभ्यमस्माभिः किं वा अप्रियमाचरितं कृतम्, यतस्त्वं गोविन्दस्याऽपाङ्गैः नितरां भिन्ने नोऽस्माकं हृदि हृदये स्मरं काममीरयसि। अप्रियाचरणं विना स्मरोदीरणेन व्यथाजननं तवाऽनुचितमित्यर्थः ॥ १९ ॥

काञ्चित्प्रियमन्वेषयन्ती पुष्पाण्यन्वेषयन्तीमिव आलक्ष्य कस्याश्चिदुत्तर प्रत्युत्तर रूपं वाक्यमाह - **मुग्ध** इति। हे मुग्धे! किं ध्यायसि? पुरतः स्थितं विकासोन्मुखं कुन्दं गृहाण - एवमुक्ता प्राह - किं कुन्देन ममाऽमुनेति। अमुना मुवर्णरहितेन कुन्देन किम्? न किञ्चिदपि प्रयोजनम्। किन्तु मुकुन्दमेवान्वेषयामीत्यभिसन्धिः। सा पुनः प्राह त्वत्प्रिया स्सुमनसः पुष्पाणि कीदृग्विधा इति सा पुनः प्राह - पुन्नागं मृगये सखि! श्रुतिशिरोभूषाविशेषायितं इति हे सखि! श्रुतिशिरोभूषा विशेषायितं श्रोत्रयोः शिरसि च भूषणविशेषवदाचरत् पुन्नागं मृगये। श्रुतिशिरस्सु वेदान्तेषु भूषाविशेषायितं पुन्नागं पुरुषश्रेष्ठं मृगये इत्यभिसन्धिः। ननु किं बह्वीषु सुमनस्सु सतीषु विशेषेण पुन्नागमेव मृगयसे इत्यत्राऽऽह गावोऽपीति। उज्झितं गलितं सूनं पुन्नाग कुसुमं तदामोदप्रकर्षेण उन्मुखा आसत। मृगयन्त्योऽवतिष्ठन्ते पशवोप्येवं, किं पुनरहमिति भावः। पक्षान्तरे गावः वेदान्तवाचोऽपि उज्झितसूनं त्यक्तजन्मानम् अर्जमित्यर्थः। पुरुषश्रेष्ठं तदामोदप्रकर्षे तत्कल्याणगुण गणप्रकर्षे उन्मुखाः प्रतिपादनोन्मुखाः औन्मुख्यतामात्र मेव तासां नतु कार्त्स्न्येन तत्प्रतिपादनम्, आनन्त्यादिति भावः। आसत केवलं मृगयन्त्यः समासत इत्यर्थः ॥ २० ॥

**मेघेति**। हे मेघ! त्वं यादवेन्द्रस्य यदूत्तमस्य त्वं दयितः प्रियोऽसि । नूनं आतपार्तिहरणादिसाम्यात् त्वां तत्सुखमालक्षये इति भावः। अतो भवान् वयमिव श्रीवत्साङ्कं तद्विषयप्रेम्णा बद्धो निश्चलो ध्यायति किम्? ध्यानलिङ्गान्याह - अत्युत्कण्ठमित्यादि। अस्मद्विधः वयमिवेत्यर्थः। अत्युत्कण्ठं यथा तथा सजलहृदयः बाष्प धाराः मुञ्चसि। युक्तञ्चैतदित्याह - दुःखदः तत्प्रसङ्ग इति ॥ २१ ॥

**प्रियेति**। हे कोकिल! प्रियरावस्य प्रियंवदस्य श्रीकृष्णस्य पदानीव पदानि शब्दान् भाषसे। मृतान् सञ्जीवयतीति तथा। कोमलया गिरा हे वल्गितकण्ठ! रमणीयकण्ठ! मे कथय किं तेऽद्य प्रियं करवाणि इति ॥ २२ ॥

**शुकराजेति**। हे शुकराज! यदुदेवस्य सत्कथां गाय कथय। गैशब्दे लोटो मध्यमैकवचनम्। अङ्ग! हे शुक! तव पयसा क्षीरेण उपसेचनमभिषेकं कुर्मः त्वं नोऽस्माकं विरहाग्निना तप्तेषु हृदयेषु रमारमणस्य लक्ष्मीकान्तस्य अभिधानसुधया कथामृतेन अलं नितरां सिञ्च॥ २३ ॥

**न चलसीति**। हे क्षितिधर! त्वं न चलसि न वदसि च। किन्तु महान्तमर्थं चिन्तयसे, तर्हि किं वयं यथा स्तनै र्वसुदेवनन्दनस्य श्री कृष्णस्य अङ्घ्रिं विधर्तुं कामयामहे तथा त्वमपि स्तनतुल्यैः शृङ्गैः धर्तुं कामयसे किम्? ॥ २४ ॥

**शुष्यद्ध्रदाः[1] कृशतरा बत सिन्धुपत्न्यः सम्प्रत्यपास्त[2]कमलश्रिय आस्त[3] भर्तुः ।**
**यद्वद्वयं यदुपतेः[4] प्रणयावलोक मप्राप्य शुष्क[5] हृदया पुरु[6] कर्शिताः स्म ॥ २५॥**

**हंस स्वागतमास्यतां पिब पयो ब्रूह्यङ्ग शौरेः कथां**
**दूतं त्वां नु विदाम कच्चिदजितः स्वस्त्यास्त उक्तं पुरा ।**

**किं वा नश्चल सौहृदः स्मरति तं कस्माद्भजामो वयं**
**क्षौद्राऽऽलापय कामदं श्रिय मृते सैवैकनिष्ठा स्त्रियाम् ॥ २६ ॥**

1. B.J. करशिता 2. Ml.V. °पेत 3. B.G.J.K.T.W. इष्ट 4. G.J.T.W. मधु 5. B.G.J.K.T.W. मुष्ट 6. K. उरु

**श्रीध० शुष्यदिति**। भोः सिन्धुपत्न्यो नद्यः! सम्प्रति ग्रीष्मे सिन्धुर्मेघद्वारा अमृतवृष्ट्या युष्मान्नाऽऽनन्दयति। बत अहो कष्टम्! अतः शुष्यन्तो ह्रदाः यासां ताः अपगतकमलशोभाः कृशतराश्च वयं यथा प्रियतमस्य भर्तुर्मधुपतेः स्म प्रसिद्धम् ॥ २५ ॥

तदैव दैवादागतं हंस दूतं कल्पयित्वाऽऽहुः - **हंसेति**। नोऽस्मान्प्रति पुरा रहस्युक्तं, किं वा चलसौहृदः स्मरति, स्मृत्वैव मां प्रस्थापितवानिति चेत् अत आहुः, हे क्षौद्र! क्षुद्रस्य दूत! कस्मात् तं वयं भजामः कामार्थमाह्वयति युष्मानिति चेत्, अत आहुः अहो तर्हि तमालापय आकारय ओमिति गच्छन्त मिव तं पुनराहुः - याऽस्मान्वञ्चयित्वा एकाकिनी सेवते तां श्रियमृते तमेवाऽऽलापय। सा तदेकनिष्ठा कथं परिहर्तुं शक्यते? इति चेत् अताऽऽहुः स्त्रियाम् जातौ एकवचनम्। अस्मासु स्त्रीषु मध्ये किं सेवैकनिष्ठा नतु वयमित्यर्थः-। "क्षौद्रालापं अकामदमिति" पाठान्तरे तु क्षौद्रं मधु तद्वन्मधुरालाप मात्रं यस्य तमकामदमरतिप्रदं, श्रिय मृते वयं कस्माद्भजामः किन्त्वनाहताऽपि सती पुनः पुनस्सैव भजतु, यतोऽस्मादृश्यो मानिन्यः स्त्रिय एकनिष्ठा एकत्रैव स्वसम्मानसिद्धौ निष्ठा यासामिति ॥ २६ ॥

**वीर० शुष्यद्ध्रदा** इति। हे सिन्धुपत्न्यः, नद्यः! यद्वद्यथा वयं यदुपतेः प्रणयावलोक मप्राप्य तेन मुष्टानि अपहृतानि हृदयानि यासां ताश्च उरु नितरां (कर्शिताः स्म तथा यूयमपि सम्प्रति ग्रीष्मेशुष्यन्तो ह्रदा यासां) ताः अपगतकमलशोभाश्च इष्टस्य भर्तुस्सिन्धोः प्रणयाव लोकमप्राप्य कर्शिताः स्थ इत्यर्थः। बतेति खेदे अव्ययम् ॥ २५ ॥

हंसं प्रत्याह **हंसेति**। हे हंस! आस्यताम् उपविश्यताम्। पयः क्षीरं पिब अङ्ग! हे हंस! शौरेः श्रीकृष्णस्य कथां वार्तां ब्रूहि नु इति वितर्के। त्वां शौरेर्दूतं विदामः[1] अजितः श्रीकृष्णः स्वस्त्याऽस्ते कच्चित्? पुरा रहस्युक्तं चल सौहृदः, हेतुगर्भमिदम्। अतः स्मरति किम्, ननु स्मृत्वैव मां प्रस्थापितवानित्यत आह हे क्षौद्र! क्षुद्रदूत! कस्मात्तं वयं भजामः। कामार्थ माह्वयतीत्यत्राह - अहो तर्हि तमिहाऽऽलापय आकारय। ओमिति गच्छन्तं तं पुनराह या अस्मान् वञ्चयित्वा एकाकिनी रमते तां श्रियमृते विना तमेवाऽऽलापय। या तदेकनिष्ठा कथं परिहर्तुं शक्येत्यत्र आह स्त्रियामिति। जातौ एकवचनम्। अस्मासु स्त्रीषु मध्ये किं सैवैकनिष्ठा न तु वयमित्यर्थः ॥ २६ ॥

1. K.T.w. विदाम

**इतीदृशेन भावेन कृष्णे योगेश्वरेश्वरे ।**
**क्रियमाणेन माधव्यो लेभिरे परमां[1] गतिम् ॥ २७ ॥**

**श्रुतमात्रोऽपि यः पुंसां[2] प्रसह्याऽऽकर्षते मनः ।**
**उरुगायोरुगीतो वा पश्यन्तीनां[3] च किं पुनः ॥ २८ ॥**

**याः[4] सम्पर्यचरन्प्रेम्णा पादसंवाहनादिभिः[5] ।**
**जगद्गुरुं भर्तृबद्ध्या तासां किं वर्ण्यते तपः ॥ २९ ॥**

**एवं वेदोदितं धर्ममनुतिष्ठन्सतां[6] गतिः ।**
**गृहं[7] धर्मार्थकामानां मुहुश्चादर्शयत्पदम्[8] ॥ ३० ॥**

1. K. Ml.T.V.W. वैष्णवीं 2. B. G. J. K.T.W. स्त्रीणां 3. B. G.J.K.T.W. कुतः 4. K. Ml.T.V.W. यास्तम्प 5. K. घट्ट ✱अत्रारभ्य M. Ma. प्रकाशेषु अपि मूलानुसारेण श्लोकाः दृश्यन्ते। 6. K.T.W. कर्मस्वनु ; Ml.V. धर्मं ह्यनु 7. K.T.W. गृहान् ; M.Ma. गृहे 8- -8 M. Ma. मुहुस्सन्दर्शयन् पदम्॥

**श्रीध०** तासां कृष्णे एवम्भूतो भावो नातिचित्र मित्याह - **श्रुतमात्रोऽपीति**। उरुभिः गायैः गीतैः उरुधा गीतो वा यैः कैश्चिदपि गीतैः कथाभिः कथञ्चिदपि गीतो वेत्यर्थः ॥ २७,२८॥

पदं स्थानम् ॥ २९,३०॥

**वीर० इतीति**। माधव्यो माधवस्य (कृष्णस्य) स्त्रियः योगेश्वरेश्वरे कृष्णे क्रियमाणेन इत्थम्भूतेन भावेन वैष्णवीं गतिं मुक्तिं लेभिरे ॥ २७॥

कृष्णे तासामित्थम्भूतो भावो नातिचित्रमित्याह - **श्रुतमात्रोपीति**। उरुभिः बहुभिः गायैः गीतैः, उरु बहुधा गीतो वा। उरुगाय इति पृथक्पदं वा। सन्धिस्त्वार्षः। किं बहुना? यथाकथञ्चिच्छ्रुतमात्रोऽपि वा स्त्रीणां मनः प्रसह्य बलात्, आकर्षते, किं पुनः साक्षात्पश्यन्तीनां स्त्रीणां मन आकर्षतीति ॥ २८ ॥

यतः तासामित्थम्भूतो भावो ततस्ता अनुमोदते **या** इति। तं कृष्णं जगद्गुरुं सर्वोत्तमं परमपुरुषमपि भर्तृबुद्ध्या याः पादसङ्घट्टनादिभिः प्रेम्णा पर्यचरन्त सेवन्त तासां तपः किं वर्ण्यते कथं वर्ण्यत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

**एवमिति**। सतां गतिः स्वप्राप्त्युपायभूतोऽप्यनुतिष्ठन् गृहान् धर्मादीनां पदं स्थानमित्यदर्शयत् पदमिति दर्शयितुं अन्वतिष्ठत् इत्यर्थः ॥ ३०॥

**विज०** Note: विजयध्वजव्याख्यातग्रन्थरीत्या, 12 श्लोकमारभ्य 27 पर्यन्त श्लोकाः न सन्ति। अतो न व्याख्याताः ॥

धर्मार्थकामानां पदं विषयं सन्दर्शयन् त्रिवर्गाणामाश्रयो गृहस्थ इति सम्यक् दर्शयन् द्वारका मावसति, श्रीकृष्णे इति शेषः ॥ ३० ॥

Note:- अत्र विजयध्वजतीर्थव्याख्यारीत्या अधिकश्लोकाः व्याख्या च ॥

**एवं शासति भूचक्रं चक्रपाणौ जनार्दने ।**
**द्वारका वृष्णिनिलया योजनद्वादशायता ॥ 1 ॥**

**मुनिभिर्ब्राह्मणैश्चैव क्षत्रियैश्चाऽपि वन्दिभिः ।**
**आसीत्पूर्णा कुरुश्रेष्ठ सततं समलङ्कृता ॥ 2 ॥**

**पिण्डारकात्कुरुक्षेत्राच्छालग्रामाच्च पुष्करात् ।**
**वाराणस्याः प्रयागाच्च वेङ्कटाच्छ्रीगिरेरपि ॥ 3 ॥**

**स्थानं दूराच्च गोकर्णाच्चन्द्रतीर्थाच्च शोभनात् ।**
**सह्याद्रेश्च भृगुक्षेत्रात्कुमारनिलयादपि ॥ 4 ॥**

**गोदावरीतटात्पुण्यान्नर्मदा निकटादपि ।**
**शूर्पाकारात्प्रभासाच्च पुण्याद्बदरिकाश्रमात् ॥ 5 ॥**

**पावनान्नैमिशारण्या द्ब्रह्मदुर्गाच्च दुर्गमात् ।**
**आययुर्मुनयश्शान्ता नित्यव्रतपरायणाः ॥ 6 ॥**

**अब्भक्षा वायुभक्षाश्च निराहारा दृढव्रताः ।**
**वल्कलाजिनसंवीता जटिनश्चाऽपि मुण्डिनः ॥ 7 ॥**

**त्रिकालस्नायिनश्चैव मौनव्रतपरायणाः ।**
**वेदस्वाध्यायनिरताः स्तुतिस्तोत्रपरायणाः ॥ 8 ॥**

**ध्यानैकतानमनसः समाधौ कृतनिश्चयाः ।**
**त्वगस्थिमात्रावयवाः सिराधमनिसन्तताः ॥ 9 ॥**

**आगत्य मुनयो राजन् सर्वतश्शान्तचेतसः ।**
**उपासत महाराज! नित्यं तत्त्वैकचिन्तकाः ॥ 10 ॥**

**क्षत्त्रियैश्च महावीर्यै र्ब्राह्मणैश्च तपोधनैः ।**
**सूतैश्च मागधैश्चैव श्लोकस्तुतिपरायणैः ॥ 11 ॥**

**पूर्णमङ्गलघोषैश्च वादित्राणाञ्च निस्वनैः ।**
**निर्घुष्टा ब्रह्मघोषैश्च द्वारका कुरुनन्दन ! ॥ 12 ॥**

**क्षेत्राणामपि सर्वेषां तीर्थानाञ्चाऽघहारिणाम् ।**
**देवदेवस्य सान्निध्यादग्रण्या च बभूव सा ॥ 13 ॥**

ततः परं किमत्रेत्याह - **एवमिति**। भूचक्रं भूमण्डलं द्वारका मुन्यादिभिः पूर्णा निबिडा आसीदित्यन्वयः ॥ 1,2 ॥

पिण्डारकादि तीर्थ क्षेत्रेभ्यो द्वारकोत्तमतीर्थमित्यह **पिण्डारका**दित्यादिना ॥ 3 ॥

कुमारनिलयात् कुमारपर्वतात् ॥ 4,5 ॥

द्वारकामिति शेषः ॥ 6,7 ॥

स्तुतिस्तोत्रपरायणाः स्तुतिरप्रबन्धरूपा , स्तोत्रं प्रबन्धरूपं तज्जपैकपरायणाः ॥ 8 ॥

ध्यानैकतानमनसः श्रीहरिगुणगण सञ्चिन्तनायामेव विस्तृतमनसः समाधौ चित्तनिग्रहे कृतनिश्चयाः समीचीनाधिष्ठान लक्षणमुक्तौ वा सिरा रेखाः ॥ 9 ॥

सर्वत आगत्य ॥ 10-12 ॥

अग्रण्या अग्रण्येति छान्दसः उत्तमोत्तमाश्रया ॥ 13 ॥

**आस्थितस्य परं धर्मं कृष्णस्य गृहमेधिनाम् ।**
**आसन् षोडशसाहस्र महिष्योऽष्टशताधिकाः ॥ ३१ ॥**

**तासां स्त्रीरत्नभूतानामष्टौ याः प्रागुदाहृताः ।**
**रुक्मिणीप्रमुखा राजंस्तत्पुत्रांश्चानुपूर्वशः ॥ ३२ ॥**

**एकैकस्यां दश दश कृष्णोऽजीजनदात्मजान् ।**
**यावत्य[6] आत्मनो भार्या अमोघगतिरीश्वरः ॥ ३३ ॥**

**तेषामुद्दा[7]मवीर्याणामष्टादश महारथाः ।**
**आसन्नुदारयशस स्तेषां नामानि मे शृणु ॥ ३४ ॥**

1. M.Ma न: 2. B.G.J. स्रं 3. B.G.J. °ष्यश्चश 4. B.G.J. °कम् 5- -5 K.T.W. राजन् सह पुत्राश्च सर्वशः 6. B. J. M. Ma न्त्य 7. Ml. V. दार

**श्रीध० तासामिति**। या रुक्मिणी प्रमुखा अष्टावुदाहृताः प्राक् ॥ ३१, ३२॥

**एकैकस्यामिति**। एवमष्टोत्तरशताधिकषोडशसहस्रमहिषीणां पुत्त्रा लक्षमेकमशीत्युत्तरैकषष्टिसहस्राणि च भवन्ति ॥३३,३४॥

**वीर०** अथ भगवतः स्वपत्नीषु सन्तानमनुवर्णयितुं प्रस्तौति - **आस्थितस्येति**। परं गृहमेधिनां धर्ममास्थितस्य अनुतिष्ठतः कृष्णस्य महिष्यः पत्न्यः आसन् ॥ ३१ ॥

तासां स्त्रीरत्नरूपाणां मध्येऽष्टौ रुक्मिणीप्रमुखाः याः पूर्वं कथिताः सर्वशः सर्वाश्च सहपुत्राः पुत्रवत्य एवेत्यर्थः। तासां पुत्रास्तु लक्षमेकमशीत्युत्तरैकषष्टिसहस्राणि भवन्ति ॥ ३२ ॥

तदेवाऽऽह - **एकैकस्यामिति**। अजीजनत् जनयामास। आत्मनः स्वस्य यावत्यो भार्याः तासामेकैकस्याम् इति सम्बन्धः। तत्र हेतुत्वेन कृष्णं विशिनष्टि - अमोघगतिरप्रतिहतसङ्कल्पः ॥ ३३ ॥

तेषामुक्तसंख्यानां पुत्राणां मध्ये उदारयशसः विपुलयशस्विनः ॥ ३४ ॥

**विज०** कृष्णस्य षोडशसाहस्रमहिष्यः ॥ ३१ ॥

तासां मध्ये याः रुक्मिणीप्रमुखा अष्टौ महिष्यः प्रागुक्ताः अनुपूर्वशः तत्पुत्राश्चोक्ताः ॥ ३२ ॥

आत्मनो यावत्यो भार्याः तासु एकस्यामेकस्यां भार्यायां दश दश आत्मजानजीजनत् ॥ ३३ ॥

तेषां पुत्राणां मध्ये अष्टादशमहारथाः आसन् ॥ ३४ ॥

प्रद्युम्नश्चारुदेष्णश्च दीप्तिमान्भानुरेव च ।
साम्बो मधुर्बृहद्भानुश्चित्रभानुर्वृकोऽरुणः ॥ ३५ ॥

पुष्करो देवबाहुश्च श्रुतदेवस्सुनन्दनः ।
चित्रबाहुर्विरूपश्च कविर्न्यग्रोध एव च ॥ ३६ ॥

★ त्रिवक्राया उपक्रोशः पुत्रः कृष्णमनुव्रतः ।
शिष्यस्साक्षान्नारदस्य दधौ चित्तमखण्डितम् ॥ ३७ ॥

तेनोक्तं सात्त्वतं तन्त्रं यज्ज्ञात्वा मुक्तिमान् भवेत् ।
यत्र स्त्रीशूद्रदासानां संस्कारो वैष्णवः स्मृतः ॥ ३८ ॥

एतेषामपि राजेन्द्र तनुजानां मधुद्विषः ।
प्रद्युम्न आसीत्प्रथमः पितृवद्रुक्मिणीसुतः ॥ ३९ ॥

सा रुक्मिणो दुहितरमुपयेमे महारथः ।
तस्मात्सुतोऽनिरुद्धोऽभून्नागायुतबलान्वितः ॥ ४० ॥

1. B. G. J. K. Ml.T.V.W. श्चाऽनिरुद्धश्च 2. M. Ma. Ml. V. मित्रबृं° 3. M. Ma. र्भानुविन्दो वृ°- ; Ml. v. मित्रविन्दो वृ° 4. B. G.J. वेद 5. M.Ma चक्र 6- -6 M. Ma. Ml.V. भानुर्वरूधश्च ★ These two begining with त्रिवक्राया ..... ending with मखण्डितम्, तेनोक्तं.... स्मृतः verses are not found in G.J. Edns. 7. M. Ma विशोकश्च 8- -8 M.Ma आशीशिष्यो ना° 9. M. Ma. ददौ 10. B.W. व्रत 11. M.Ma. येनो° 12. M. Ma मूर्तिमान् 13. M. Ma °शानां 14. M. Ma. तस्यां ततो° ;Ml.V. तस्यां सतो°

**श्रीध०** अनिरूद्धश्चेति। अतः पुत्राणां मध्ये सप्तदशैव महारथाः ज्ञेयाः। अथवा अनिरुद्धनामाऽपि कश्चित्पुत्र एवेति ॥ ३५-४० ॥

**वीर० प्रद्युम्नश्चेति**। अनिरुद्धनामाऽपि कश्चित्पौत्रादन्यः पुत्रः ॥ ३५-३६ ॥

**त्रिवक्राया** इति। उपक्रोशो नाम त्रिवक्रायाः पुत्रः, स तु कृष्णमनुव्रतोऽनुवर्तमानः साक्षान्नारदस्य शिष्यो भूत्वा अखण्डितमविच्छिन्नं यथा तथा चित्तं दधौ, भगवत्समाधिनिष्ठो बभूवेत्यर्थः ॥ ३७ ॥

तमेव विशिनष्टि - **तेनेति**। सात्त्वतं पाञ्चरात्रं, उक्तं सात्त्वतमन्त्रार्थविषयः कश्चिद्ग्रन्थविशेषः प्रतिपत्तिसौकर्याय नातिसङ्ग्रह विस्तररूपेण कृत इत्यर्थः। तस्य अनादिशास्त्रस्य अर्वाचीनत्वायोगात्। तन्त्रं विशिनष्टि - यत्रेति। स्त्रीशूद्रादीनामपि वैष्णवः विष्णुप्रापकः संस्कारः तापपुण्ड्रादिसंस्कारः स्मृतः ॥३८॥

**एतेषामपीति**। मधुद्विषः श्रीकृष्णस्य तनूजानां पुत्राणामेतेषामष्टादशानां मध्ये यः प्रद्युम्नः स तु रुक्मिणीसुतः पितृवद्रूपेण गुणैश्च पितृतुल्यः सर्वेषां प्रथम आसीत् ॥३९॥

स प्रद्युम्नः रुक्मिणो मातुलस्य दुहितरमुपयेमे परिणीतवान् । तस्यां भार्यायां ततः प्रद्युम्नात् अनिरुद्धो नाम नागायुतबलः पुत्रोऽभूत् ॥४०॥

**विज०** त्रिवक्रायाः सैरन्ध्र्याः, स नारदस्तस्मै स्वशिष्याय अखण्डितं चित्तं पूर्वापरानुभवस्मरणसमर्थं ज्ञानं ददौ ॥ 1 ॥

येन नारदेन सात्त्वतं तन्त्रं पञ्चरात्रसंहिता यत् यं ज्ञात्वा पुमान् मूर्तिमान् निजरूपाभिव्यक्तिमान् भवेत्। यत्र यस्मिंस्तन्त्रे स्त्रीशूद्रादीनां वैष्णवः संस्कारः स्मृतः विष्णुविषयानुष्ठानेन शरीरशुद्धिः कथिता ॥ 2 ॥

तनुजानां पुत्राणाम् ॥ ३५-४० ॥

**स चाऽपि रुक्मिणः पौत्रीं दौहित्रो जगृहे ततः ।**
**व्रजस्तस्यामभूद्यस्तु[1] मौसलादवशेषितः ॥ ४१ ॥**

**प्रतिबाहुरभूत्तस्मात्सुबाहुस्तस्य चाऽऽत्मजः ।**
**सुबाहोः[2] उग्रसेनोऽभूच्छतसेनस्तु[3] तत्सुतः ॥ ४२ ॥**

**न ह्येतस्मिन् कुले जाता अधना अबहुप्रजाः[4] ।**
**अल्पायुषोऽल्पवीर्याश्च अब्रह्मण्याश्च जज्ञिरे ॥ ४३ ॥**

**यदुवंशप्रसूतानां पुंसां विख्यातकर्मणाम् ।**
**संख्या न शक्यते कर्तुमपि वर्षायुतैर्नप[5] ! ॥ ४४ ॥**

1.B.G.J. °भवद्यस्तु ; Ml.V. °त्मभूर्यस्तु 2.B.G.J. °हो: शान्त° ; K.T.W. °हो: धर्म° 3.K.T.W. °च्छु° 4.Ml.V. °श्रुता: 5.K.T.W. °तैरपि

**श्रीध०** (41-44 श्लोकानां श्रीधरीय व्याख्या नास्ति ॥)

**वीर०** स चाप्यनिरुद्धोऽपि रुक्मिणो दौहित्रः तस्य पौत्रीं जगृहे उपयेमे। ततोऽनिरुद्धात्तस्यां वज्रो नाम पुत्रो बभूव। तं वज्रं विशिनष्टि यस्त्विति। मौसलात् (ब्राह्मण) शापप्रयुक्तयदुकुलक्षयकारात् मुसलादवशेषितः, स एको अवशेषित इत्यर्थः। कृष्णेनेति शेषः ॥ ४१ ॥

तस्माद्वज्रात्प्रतिबाहुः, तस्य प्रतिबाहोरात्मजः सुबाहुः 1-तत्सुतः धर्मसेनसुतः श्रुतसेनः-1 ॥ ४२ ॥

सर्वान् वंश्यान्विशिनष्टि - **न हीति** । अधना निर्धनाः ॥ ४३ ॥

तेषामानन्त्यमाह - **यदुवंशप्रसूतानामिति** ॥ ४४ ॥

1- -1 T.W. Omit

**चि०** पौत्रीं पुत्रपुत्रीं दौहित्रः दुहितुः पुत्रः अनिरुद्धः 'निहते रुक्मिणी श्याले नाऽब्रवीत्साध्वसाधु वा। रुक्मिणीबलयो राजन् स्नेहभङ्गभयाद्धरिः' (भाग.10-61-30) इत्यनेन सर्वसमस्य हरेः स्नेह भङ्गभयमुच्यते। तत्कथं घटत इतीयमाशङ्का - "न स्नेह भङ्गो देव्यास्तु न भयं केशवस्य च। स्नेहभीत इवाऽथाऽपि नोचे रुक्मिवधे हरिः" (ब्रह्माण्डे) इत्यादिना परिहर्तव्या। अत्र श्रीमद्भगवत्पादैः सिंहावलोकनन्ययेन अध्यायेयत्ता सूचनाय चेदं प्रमाणमुक्तं मौसलात् मुसलयुद्धात् ॥ ४१,४२॥

एतस्मिन् कुले अधनादिदोषयुक्ता न जज्ञिरे इत्यन्वयः ॥ ४३ ॥

तेषां यदुवंशप्रसूतानाम् ॥ ४४ ॥

**तिस्रः कोट्यस्सहस्राणामष्टाशीतिशतानि च ।**
**आसन्यदु1-कुलाचार्याः कुमाराणामिति-1 श्रुतम् ॥ ४५ ॥**

**संख्यानं यादवानां कः करिष्यति महात्मनाम् ।**
**यत्राऽयुतानामयुतलक्षेणाऽऽस्ते स आहुकः ॥ ४६ ॥**

**देवासुराहवहता दैतेया ये सुदारुणाः ।**
**ते चोत्पन्ना मनुष्येषु प्रजा दृप्ता बबाधिरे ॥ ४७ ॥**

**तन्निग्रहाय हरिणा प्रोक्ता देवा यदोः कुले ।**
**अवतीर्णाः कुलशतं तेषामेकाधिकं नृप ॥ ४८ ॥**

**तेषां प्रमाणं भगवान् प्रभुत्वेनाऽभवद्धरिः ।**
**ये चाऽनुवर्तिनस्तस्य ववृधुः सर्वयादवाः ॥ ४९ ॥**

**शय्यासनाटनालापक्रीडास्नानाशनादिषु ।**
**न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः ॥ ५० ॥**

1- -1 M. Ma. Ml. V. कुमाराणां आचार्याणामिति 2. Ml. V. चा° 3. Ml. v. चेतोऽ 4. B. G. J: °नादिकर्मसु

**श्रीध० तिस्र** इति। सहस्राणामपरिमितानां कुमाराणामित्यन्वयः ॥ ४५ ॥

**संख्यानमिति**। यदा प्रत्येकं बहूनध्यापयतामाचार्याणामियं संख्या तदपि श्रुतमात्रं, न तु सम्यक् ज्ञायते। तदा कुमाराणामेवं संख्यानं कर्तुं न शक्यते। कुतः पुनः सर्वयादवानामिति ॥ ४६ ॥

**देवासुरेति**। ते चोत्पन्ना इति प्रत्येकं बहुभी रूपैरिति ज्ञेयम् ॥ ४७ ॥

**तन्निग्रहायेति**। एवमेव यदुकुलेऽपि देवा इति, तथा चोक्तम् - सहस्रशः समुद्भूता देवा यदुकुले पृथगिति ॥ ४८-५० ॥

**वीर०** तदेव कैमुत्यनयाभिप्रायेणाऽऽह - **तिस्रः कोट्य** इति। यदुकुलस्याचार्याः तत्कुमाराणामनुशिक्षका अध्यापकाः तिस्रः कोट्यः सहस्राणामष्टाशीतिः शतानि च सहस्राण्यध्यापका एवैतावन्तः, किम्पुनस्ते? इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

एकस्य वसुदेवस्यैव वंशजानां संख्यैवम्भूता, किम्पुनः सर्वेषां सम्भूतानामित्याह - **संख्यानमिति**। यत्र यदूनां वंशे य आहुको वसुदेवः स एवायुतानामयुतलक्षपुत्रः ॥ ४६ ॥

तेषां वीर्यशौर्यादि गुणनिरूपणायाऽऽह - **देवेति**। देवासुराहवे देवासुरयुद्धे हता ये अतिदारुणा दैतेयाः, ते मनुष्येषु चैद्यमागधादि रूपेण जाताः दृप्तास्सन्तः, प्रजा इति द्वितीयान्तम्। बबाधिरे पीडां कृतवन्तः ॥ ४७ ॥

**तन्निग्रहायेति**। तेषां निग्रहं कर्तुं प्रोक्ता आदिष्टाः देवाः यदोः कुलेऽवतीर्णाः, येषामवतीर्णानां कुलमेकाधिकशतम्। वृष्ण्यन्धकदाशार्हादिरूपेण एकाधिकशत भेदभिन्नमित्यर्थः ॥ ४८ ॥

**तेषामिति**। तेषां कुलानां प्रभुत्वे निमित्ते भगवान् श्रीकृष्णरूपेण अभवदवततार। ये सर्वे यादवास्ते तस्य श्रीकृष्णस्य अनुवर्तिनः, हेतुगर्भमिदम्। ववृधुः एधाञ्चक्रिरे ॥ ४९ ॥

किं ते तं परमात्मबुद्ध्या अन्ववर्तन्त? नेत्याह - **शय्येति**। वृष्णयो यदवः शय्यासनादिषु कृष्णे एव चेतो येषां तथाभूता अपि तं श्रीकृष्णं स्वमात्मानं, स्वान्तरात्मानं, परमात्मानमित्यर्थः। न विदुः, किन्तु यादवविशेषं विदुरिति भावः ॥ ५० ॥

1- -1 K.T.W. Omit

**विज०** संख्याज्ञानाभावेऽपि तदाचार्याणां संख्यां कामपि श्रावयामीत्याह - **तिस्र** इति ॥ ४५ ॥

यत्र येषाम् ॥४६॥

देवांशानां यादवानां अवन्यामुत्पत्तुं निमित्तमाह - **देवेति** ॥ ४७ ॥

श्रीकृष्णो भगवान्, तेषां प्रभुत्वे सामर्थ्ये दैवे प्रमाणं यतः श्रीकृष्णो नारायणावतारः प्रसिद्धः तेषाममानुषसामर्थ्ये हेतुश्च। ततो यादवा देवा इति सिद्धम्। एतदेव दृढीकरणाय पुनर्वक्ति - ये चेति ॥ ४९ ॥

स्वामिनं न विदुः शय्यादिषु सन्तं सह वर्तमानं आत्मानं स्वरूपभूतं श्रीनारायणम् ॥ ५० ॥

★ **ईजे क्रतुभिरात्मानं सर्ववेदार्थसङ्ग्रहं स्वयोगमायारचितैः कुरुक्षेत्रे[1] द्विषट्समाः ।**
**कृष्णगार्ध्यसितावन्ति रामाचार्योद्धवेश्वरः दीक्षितो ह्यग्रपत्नीभिः[2] पुण्यश्लोकशिखामणिः[3] ॥ ५१ ॥**

**तीर्थञ्चक्रे नृपोनं[4] यदजनि यदुषु स्वस्सरित्पादशौचं**
**विट्स्निग्धाः[5-] तत्स्वरूपं[-5] ययुरजितपरा[6-] श्रीर्यदर्थेऽन्ययत्नः[-6] ।**
**यन्नामामङ्गलघ्नं[7-] श्रुतमथगदितं यत्कृतो गोत्रधर्मः[-7]**
**कृष्णस्यैतन्न चित्रं क्षितिभरहरणं कालचक्रायुधस्य ॥ ५२ ॥**

▲ **जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो यदुवरपरिषत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्तधर्मम्[8-] ।**
**स्थिरचरवृजिनघ्नः[-8] सुस्मितश्रीमुखेन व्रजपुरवनितानां वर्धयन्कामदेवम् ॥ ५३ ॥**

**इत्थं परस्य निजधर्मरिरक्षयात्त[9] लीलातनोस्तदनुरूपविडम्बनानि ।**
**कर्माणि कर्मकषणानि यदूत्तमस्य श्रूयादमुष्य[10] पदयो रनुवृत्तिमिच्छन् ॥ ५४ ॥**

**मर्त्यस्तयाऽनुसवमेधितया[11] मुकुन्द श्रीमत्कथाश्रवणकीर्तनचिन्तयैति ।**
**तद्धाम[12] दुस्तरकृतान्तजवापवर्गं[12] ग्रामाद्वनं क्षितिभुजोऽपि ययुर्यदर्थाः[13] ॥ ५५ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

★ This verse is only found is M.Ma.Ml.V. Edns & Commented by vijayadhvajateertha only. 1. Ml.V. त्रादिषु क्रमात् 2. M. Ma °ऽग्रण्य 3. M. Ma सहाग्रणीः 4. M. Ma. नृणां यो 5--5 B. G. J. K.T.W. विद्विट् स्निग्धाः स्व° ; M. Ma. षड्भिश्चाप्तं स्व 6--6 M. Ma. पर उरसि रमा सर्वदा यस्य चाऽऽस्ते 7--7 M.Ma. यच्छास्त्रं च प्रमाणं यदनु च सदसद्व्यक्तयो यत्र धर्माः ▲ This verse appears like this in M.Ma Edns :-जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो नियमकृतपादाब्जैर्दस्युपीडां स्वदोर्भिः। मुदमुभयदृशीनां श्रीनिकेतात्ममूर्त्या स्मरवरबलानां स्निग्धहासेक्षया च॥ 8--8 °षद्भिर्दोर्भि 9. B. G. J. वर्त्म 10. M Ma. गाथा° 11. M. Ma. Ml.v. °याऽनुवृत्त्या 12--12 M.Ma. दुष्करकृतं जनतापवर्गं ; K. Ml.T.V.W. दुस्तरकृतान्तजनापवर्गं 13. M. Ma. र्थे

**श्रीध०** तस्मात्कृष्णकीर्तेः सर्वतीर्थोत्तमत्वं कृष्णस्य च सर्वदेवोत्तमत्वं न चित्रमित्याह - **तिर्थञ्चक्र** इति। इतः पूर्वं स्वस्सरिदेव सर्वतोऽधिकं तीर्थमित्यासीत्, इदानीन्तु यदुषु यदजनि जातं तीर्थं श्रीकृष्णकीर्तिरूपमेतत्स्वस्सरिद्रूपं पादशौचं तीर्थमूनमल्पं चक्रे, स्वयमेव सर्वतीर्थोपरि विराजत इत्यर्थः। श्रीकृष्णस्य विद्विषः स्निग्धाश्च तस्य स्वरूपं सारूप्यं ययुरित्यपि नातिचित्रम्, तस्य परमकारुणिकत्वात् तथेदञ्च न चित्रम्। किं तत्? अजितपरा अजिता अपराजिता कैश्चिदप्यप्राप्ता परा सर्वतः परिपूर्णा श्रीः कृष्णस्यैव नाऽन्यस्येति, तदेवाऽऽह - यदर्थेऽन्येषां ब्रह्मादीनां यत्न इति। ननु निरपेक्षं तमेव लक्ष्मीः श्रयत इति चित्रमेवेति चेत् न हि परममङ्गलनामधेयत्वात् तस्येत्याह - यन्नामेति। तदपि नाऽर्थस्मरणापेक्षमित्याह - श्रुतमथगदितमिति सर्वधर्माश्रयत्वादपीत्याह - यत्कृतो गोत्र धर्म इति। गोत्रेषु तत्तदृषिवंशेषु धर्मो यत्कृतो येन प्रवर्तितः तस्य क्षितिभरहरणं नैव चित्रमित्याह - कृष्णस्यैतदिति। कालचक्रायुधस्येति सर्वसंहारककालमूर्तेर्विशेषतो दुरन्तप्रभावचक्रायुधस्य कियदेतदित्यर्थः ॥ ५१ ॥

यत एवम्भूतः श्रीकृष्णस्ततः सेव्यः स एव सर्वोत्तम इत्याह - **जयतीति**। जनानां जीवानां यो निवासः आश्रयः तेषु वा निवसत्यन्तर्यामितया, तथा स कृष्णो जयति। देवक्यां जन्मेति वादमात्रं, यस्य सः वस्तुतः[1] अजन्मा[1]। यदुवराः पर्षत् सभा सेवकरूपा यस्य। इच्छामात्रेण निरसनसमर्थोऽपि क्रीडार्थं स्वैः दोर्भिरधर्ममस्यन् क्षिपन् स्थिरचरवृजिनघ्नोऽधिकारि विशेषानपेक्षमेव बृन्दावनगततरुलतागवादीनामपि संसारदुःखहन्ता तथा विलासवैदग्ध्यानपेक्षं व्रजवनितानां पुरवनितानाञ्च

सुस्मितेन शोभनहास्ययुतेन श्रीमता मुखेनैव कामदेव वर्धयन् कामश्चाऽऽसौ दीव्यति विजिगीषति संसारमिति देवस्तं भोगद्वारा मोक्षप्रवर्धयन्नित्यर्थः ॥ ५२ ॥

**इत्थमिति**। तत्तत्कार्यविशेषैः स्वीकृतमत्स्यकूर्मादिनानावतारमूर्तेः विशेषतो यदूत्तमस्य सतः परस्य परमस्य तदनुरूपानुकारीणि कर्मकषणानि[2-] कर्मनिबर्हणानि[-2] कर्माणि चरितानि श्रूयात् शृणुयादित्यर्थः ॥ ५३ ॥

अनुवृत्तेः फलमाह - **मर्त्य** इति। श्रीमत्याः कथायाः श्रवणकीर्तनयुक्तया चिन्तया संवर्धितयाऽनुवृत्त्या तया तन्निष्ठत्वेन तस्य धाम लोकमेति लोकत्वेऽपि कालानाकलितत्वमित्याह - दुस्तरेति। दुर्लभपुरुषार्थतामाह - ग्रामादिति ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां नवतितोऽध्यायः ॥ ९० ॥

1- -1 Ml. V. Omit 2- -2 B. J. Omit

**वीर०** स्वमात्मानं न विदुरित्यनेन तन्माहात्म्यं न विदुरिति सूचितम्। तदेवाऽनितरसाधारणं वदन्नत्याश्चर्यमेतद्भूभारापहरणमिति विस्मयमपनुदन्नाह - **तीर्थमिति**। हे नृप! इतःपूर्वं स्वस्सरित् स्वर्णदी गङ्गैव सर्वतोऽधिकं तीर्थमासीत् इदानीन्तु यदुषु यदजनि जातं तेषु जातं श्रीकृष्णकीर्तिरूपं तत्कर्तृस्वस्सरिद्रूपं पादशौचं तीर्थम् ऊनम् अल्पं चक्रे, यत् यशोरूपं तीर्थमेव सर्वतीर्थोपरि विराजत इति भावः। तथा द्विषन्तः शत्रवः स्निग्धा अनुरक्ताश्च तत्स्वरूपं ययुः प्रापुः। स्वं स्वासाधारणं रूपमाकृतिः तत्साधर्म्यमिति यावत्। तत्प्रापुः प्रीत्यप्रीत्यात्मकस्य स्वविषयस्य ज्ञानस्य साधर्म्य प्रापणस्वाभाव्यादिति भावः। तथा अजितपदा कैश्चिदप्यप्राप्तपदा श्रीश्च यस्यैवेति शेषः। यस्यैवानन्यार्हशेषभूतेत्यर्थः। तां श्रियं विशिनष्टि - यदर्थेऽन्ययत्न इति। यदर्थेऽन्ययत्नः यच्छ्रीकटाक्षलेशप्रसरणार्थम् अन्येषां ब्रह्मादीनां यत्नः श्रमः भवति इत्यर्थः। किञ्च यस्य भगवतो नाम श्रुतमथ (वक्तरि सति, अथवा) गदितं उच्चरितं (श्रोतरि सति) अर्थज्ञानरहितमपि अमङ्गलघ्नं, किञ्च गोत्रेषु तत्तद्वृष्णिवंशेषु धर्मो यत्कृतः येन प्रवर्तितः तस्यैतस्य श्रीकृष्णस्यैतन्न चित्रं, किं तत् यत् क्षितिभरहरणं, तत्र हेतुत्वेन पुनस्तं विशिनष्टि कालचक्रायुधस्येति। कालचक्रं कालाभिमानिसुदर्शनाख्यं चक्रमायुधं यस्य तस्य। कालायत्तं हि सर्वमिति भावः ॥ ५१ ॥

उक्तविधासाधारणप्रभावनिर्वाहकं परत्वमाह - **जयतीति**। सर्वोत्कर्षेण वर्तते। को जयतीत्यत आह जननिवास[-1] इति। जनानां स्थावरजङ्गमानां निवासः धारकः जनेषु निवसति धारकतयेत्यर्थः। तर्हि परमात्मनः कथं प्राकृतेषु जन्म इत्यत्राऽऽह - देवकीति। देवक्यां जन्मेति वादमात्रं यस्य सः न तस्य प्राकृतस्येव कर्मायत्तं जन्म, अपि तु स्वेच्छामूलकं

तदिति भावः। तदपि किमर्थमित्यत्राऽऽह - यदुवराः यदुश्रेष्ठाः तेषां परिषदः सङ्घाः ताभिरेव दोर्भिः भुजैः अधर्ममस्यन्। 'लक्षणहेत्वोः' (अष्टा.3-2-126) इत्ययं शता, प्रतिक्षेप्तुमित्यर्थः। न केवलं तदेव तस्य सङ्कल्पमात्रेणाऽपि सुशकत्वात्। किन्त्वेतदेवाऽवतारकृत्यं मुख्यमित्यभिप्रेत्य विशिनष्टि - स्थिरचरवृजिनघ्नः अधिकारमनपेक्ष्य स्थिराणां बृन्दावनादिगतानां तरुगुल्मादिरूपाणां स्थिराणां चराणां पशुशकुनि प्रभृतीनां केनचित्स्वसम्बन्धेन वृजिनं प्राप्तिप्रतिबन्धकं पापं हन्तीति तथा। तदेवोदाहर्तुं विशिनष्टि - शोभनं स्मितं यस्मिन्, तेन श्रीमुखेन व्रजवनितानां पुरवनितानाञ्च कामदेवं वर्धयन् ताः कामस्वभावाः वनिताः स्वेनैव स्वभावेन स्वविषयकेण मुच्येरन्निति तं तासां वर्धयन्निति भावः। वर्धयन् जयतीति सम्बन्धः। यद्वा अयमपि 'लक्षणहेत्वोः' (अष्टा. 3-2-126) इति शता वर्धयितुं देवकीजन्मवादो जयतीति सम्बन्धः ॥ ५२ ॥

प्रस्तुतस्कन्धार्थश्रवणफलं तदधिकारिणञ्चाऽऽह - **इत्थमिति**। निजधर्मरिरक्षया स्वनिगमोक्तधर्मरक्षणेच्छया आत्ता परिगृहीता लीलार्था तनुर्येन। लीलापदेन तन्वाः कर्मफलभोगार्थव्युदासः तस्य यदूत्तस्य परमपुरुषस्येत्थम्भूतानि तदनुरूपाणि अवतारानुरूपाणि धर्मरिरक्षानुरूपाणि वा विडम्बनानि मर्त्यचेष्टानुकारीणि कर्मणां कषणानि शृण्वतां कीर्तयताञ्च भक्तियोगोत्पत्ति प्रतिबन्धकानि पापकर्माणि कषन्ते निरस्यन्तीति तथा कर्माणि चेष्टितानि श्रूयात् शृणुयात् कः यः अमुष्य भगवतः पदयोः अनुवृत्तिं भक्तिमिच्छन् कामयमानः ॥ ५३ ॥

ननु किमनुवृत्तेरित्यत आह - **मर्त्य** इति। अनुसवमनुसन्ध्यं मुकुन्दस्य श्रीमत्याः कथायाः श्रवणकीर्तनचिन्तया श्रवणकीर्तनयुक्ता या चिन्ता तया समेधितयाऽनुवृत्त्या दुस्तरकृतान्तजनापवर्गं दुस्तरः कृतान्तो यैस्तेषां जनानामपवर्गं दुःखावसानहेतुभूतं तस्य भगवतो धाम स्थानमेति प्राप्नोति। दुस्तरेत्यादिविशेषणेन दुर्लभत्वं सूचितम्। तत्स्पष्टमेवाऽऽह-ग्रामादिति। यदर्थाः यद्धाम अर्थः। प्रयोजनं येषां ते यद्धाम प्रप्तिकामा इत्यर्थः। ग्रामाद्वनं ययुः यान्ति, तपस इति शेषः। यद्वा, यदनुवृत्तिकामाः दुस्त्यजकृतान्तभवापवर्गमिति पाठान्तरम्। दुस्तरः कृतान्तो मृत्युस्तत्तुल्यो भवस्संसारः तस्याऽपवर्गोऽवसानं यस्मात्तद्धाम एतीति सम्बन्धः ॥ ५४॥

**विभुर्विजयतेतरां विविधविश्वजन्मोदय स्थितिप्रभृतिनोदयो निरवधिस्वरूपः स्वतः।**
**निरस्तनिखिलाशुभः सकलशोभनोपाश्रयश्रियस्सहचरः पुमान् श्रुतिदृशाम्मनोज्ञाकृतिः॥**
**क्षाम्यन्त्वतिक्रमन्त्वत्र शब्दार्थविषयं मम। निर्मत्सरास्सुमनसो गुणान् गृह्णन्तु सर्वशः ॥**

समाप्तोऽयं दशमः स्कन्धः

इति श्रीवत्सान्वयपयः पारावारराकासुधाकरस्य सर्वविद्यानिधेः चक्रवर्तिनः
श्रीशैलगुरोस्सुतेन तच्चरणकमलपरिचर्या प्रसादिततत्सूक्तिसमधिगत
श्रीमद्भागवतार्थहृदयेन श्रीवैष्णवदासेन श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां
श्रीमद्भागवतचन्द्रिकायां व्याख्यायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे नवतितमोऽध्यायः ॥ ९०॥

1--1 T.W. Omit 2.B. त्र

**विज०** सर्ववेदार्थत्वेन सर्ववेदविषयत्वेन सम्यग्ग्रहो ग्रहणं यस्य स तथा तं स्वयोगमायया स्वरूपसामर्थ्येन रचितैरुत्पादितैः कृष्णो वेदव्यासः गाधिर्विश्वामित्रः, असितः आवन्तिः, सान्दीपनिः रामः एत आचार्या यस्य कृष्णस्य सः उद्धवस्य ईश्वरः उद्धवेश्वरः कृष्णगाध्यसितावन्तिरामाचार्यश्चाऽऽसौ उद्धवेश्वरश्च तथा अग्रण्यपत्नीभिः रुक्मिण्यादि श्रेष्ठपत्नीभिस्सह सन्दीक्षितः अग्रणीः सर्वोत्तमः ॥५१॥

श्रीकृष्णस्मरणार्थं संक्षिप्य तान् गुणान् कथयति - **तीर्थमिति**। तीर्थं कीर्तिलक्षणं नृणां चक्रे यत् यः यदुष्वजनि प्रादुर्भूतः यस्य पादशौचं पादप्रक्षालनजलं स्वस्सरित् स्वर्गनदी गङ्गाऽभूत्, यस्य स्वरूपं ऐश्वर्यादिषड्गुणैराप्तं पूर्णं, यस्य उरसि वक्ष उपरि रमा सर्वदाऽऽस्ते यस्य शास्त्रं शासकं वचनं तत्प्रमाणं, लोकस्येति शेषः। यच्छास्त्रं वेदादिशास्त्रं तत्प्रमाणमिति वा। सदसद्व्यक्तयः कार्यकारणव्यक्तयः यदनु यस्यानन्तरं विद्यमाना यदनुकूलत्वेन सत्तासम्बन्धिन्यः धर्मा यत्र यद्विषयत्वेन वर्तन्ते तस्य धर्मा यत्र यद्विषयत्वेन वर्तन्ते तस्य कृष्णस्यैतत् क्षितिभारहरणं न चित्रं, किन्त्वस्माकमेव हेत्वन्तरमाह- कालेति ॥ ५२ ॥

देवकीजन्मवादः देवकीपुत्रत्वेन वादः कीर्तिर्यस्य स तथा। जननिवासः जगन्निवासो जयति। कथमत्राऽऽह - नियमेति। भूभारक्षपणार्थं नियमेन भूमौ कृतानि पदाब्जानि पादन्यासपद्मानि यानि तैः स्वदोर्भिश्च दस्युपीडां, कुर्वन्निति शेषः। उभयदृशीनां अन्तर्बहिः स्थितिरूपस्य दृशिः दर्शनं येषां तेषां मुदं कुर्वन् अबलानां स्त्रीणां श्रीनिकेतात्ममूर्त्या लक्ष्मीमन्दिरात्मस्वरूपेण स्निग्धहासेक्षया स्निग्धमन्दस्मितशोभितरूपकटाक्षनिरीक्षणेन च स्मरवपुः काममूर्तिरिव स्थितः ॥ ५३ ॥

**यो ह्यात्मा जगदादिमध्यनिधनो योऽव्यक्तजीवेश्वरो**
**यः सृष्ट्वेदमनुप्रविष्ट ऋषिणा चक्रे पुनस्संहिताम् ।**
**यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तःकुलायं यथा**
**तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम् ॥**

जगत आदौ मध्ये निधने वर्तत इति जगदादिमध्यनिधनः जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारकर्ता अव्यक्तजीवयोरीश्वरः ऋषिणा व्यासात्मना भागवतीं संहितां अनुशयी जीवः यं सम्पद्य प्राप्य अजां बन्धकशक्तिं जहाति 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छान्दो.उ. 3-6-8-1) इति श्रुतेः। सुप्तः परमात्मानं प्राज्ञं प्राप्तः यथा कुलायं शरीराभिमानं त्यक्त्वाऽऽस्ते तथा कैवल्येन सच्चिदानन्दस्वरूपस्थित्या निरस्तयोनिं नित्यनिरस्तप्रकृतिम् ॥

इत्थं एवंविधस्य यदूत्तमस्य कर्माणि विक्रमलक्षणानि गायेदित्यन्वयः। निजधर्मरिरक्षया (रिरक्षिषया?) स्वकल्पितधर्मरक्षणेच्छया तस्यानुकूलविडम्बनानि कर्मकषणानि दुष्कर्मनिराकरणसमर्थानि अनुवृत्तिमनुगमनमिच्छन् ॥५४॥

मर्त्यः तयाऽनुवृत्त्या तस्य हरेर्धाम लोकमेति। कीदृश्या? श्रीमत्याः कथायाः श्रवणकीर्तनचिन्तनलक्षणया दुष्करेण तपसा कृतं साधितं जनतायाः क्रियासाध्यफलरूपं जनतापवर्गं यस्य हरेर्धामार्थे क्षितिभुजोऽपि ग्रामाद्वनं ग्रामं विहाय वनं ययुः यान्ति किम्पुनरन्य इति ॥ ५५॥

**सूत उवाच**

**य इदमनुशृणोति श्रावयेद्वा मुरारे श्चरितममृतकीर्तेर्वर्णितं व्यासपुत्रैः ।**
**जगदघभिदलं तद्भक्तकर्णावतंसं भगवति कृतचित्तो याति तत्क्षेमधाम ॥**

स्कन्धार्थमुपसंहरति - **य इदमिति**। व्यासपुत्रैः शुकादिभिः जगतोऽघं पापं भिनत्तीति जगदघभित् तद्भक्तानां कर्णावतंसं कर्णालङ्कारायमानं श्रवणादिफलमाह - भगवतीति। क्षेमधाम मोक्षलक्षणं स्थानम्। श्रवणादिकुर्वर्ता इत्थंभाव्यमित्यत उक्तं भगवतीति। - "सर्वोत्तमोऽपि भगवान्गुणभावं जनार्दनः। दर्शयेद्वासुदेवोऽपि ह्यात्मनो जीवतामपि। अज्ञाशक्तादिभावस्तु कुतस्तस्याऽखिलेशितुः। कुतश्च जीवता तस्य प्रधानपुरुषेशितुः। कुतो दोषास्सर्वगुणपूर्णस्यानन्दवारिधेः" (वामने) इत्येतत्प्रमाणम् । अज्ञजनेन कृष्णे क्रियमाणसर्वशङ्कानिराकरणार्थं भगवत्पादैः स्कन्धान्ते दर्शितमिति ज्ञातव्यमिति

"योऽयाचि त्रिदशैः कुभारहृतयेऽवतारि येन क्षितौ जघ्ने येन सुरासुहृत्समुदयो येन त्रिलोक्याऽपि सा।
येनाऽधायि युधिष्ठिरो निजपदे धर्मोऽपि येनाङ्कुरि श्रीकृष्णं तमकृष्णकृष्णदयितं वन्दामहे सन्ततम् ॥
पदरत्नावलिर्नाम दशमस्कन्धसङ्गता कृष्णप्रीत्या समाप्तोऽयं विद्वन्मानसहर्षिणी ।.

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥
समाप्तोऽयं दशमः स्कन्धः

# श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धस्थ तृतीय भागस्य श्लोक पादानुक्रमणिका


| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| – अ – | | | |
| अकामविहतं तथा | 80 | 29 | b |
| अकामा महरद्बलात् | 68 | 2 | d |
| अकिञ्चनानां साधूनाम् | 89 | 17 | c |
| अकृतज्ञाय विशङ्कया | 82 | 43 | b |
| अकृतप्रह्वणाञ्जलिं | 78 | 23 | b |
| अक्तमभ्यक्तमृत्विजः | 84 | 47 | b |
| अक्षीणजवयोर्नृप | 73 | 39 | d |
| अक्षैर्दीव्यन्ति राजानः | 61 | 35 | c |
| अक्षैस्सभायां क्रीडन्तम् | 66 | 36 | a |
| अक्षौहिणीभि र्द्वादशभिः | 63 | 4 | a |
| अक्षौहिणीभिस्तिसृभिः | 66 | 12 | c |
| अक्षौहिणीभिस्सहितो | 66 | 11 | c |
| अक्षौहिण्या परिवृतम् | 63 | 52 | a |
| अक्षौहिण्या परिजनैः | 83 | 15 | d |
| अगजगदोकसमखिल शक्त्यवबोधक ते | 87 | 14 | c |
| अगस्त्यो याज्ञ वल्क्यश्च | 84 | 5 | c |
| अगिर उन्मत्तवज्जडम् | 90 | 14 | b |
| अग्निराहुतयो मन्त्राः | 74 | 20 | c |
| अग्निहोत्रादि लक्षणैः | 84 | 51 | b |
| अग्निं विविक्षुः कृष्णेन | 89 | 45 | c |
| अग्नीन्वैतानिकान् खलः | 67 | 6 | d |
| अग्रहीच्छिरसा राजन् | 80 | 21 | a |
| अङ्गसङ्गति निर्वृत्तः | 80 | 19 | b |
| अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां | 80 | 4 | c |
| अङ्गारोद्गारिलोचनः | 66 | 32 | d |
| अजानंव यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृभवेत् | 87 | 30 | c |
| अजातशत्रवे भूरि | 72 | 14 | c |
| अजातशत्रु राकर्ण्य | 75 | 41 | a |
| अजातशत्रुर्निरगात् | 7 | 23 | C |
| अजातशत्रु र्विमना इवाऽभवत् | 75 | 43 | d |
| अजातशत्रोस्तं दृष्ट्वा | 75 | 1 | a |
| अजानतस्त्वपचितिं | 78 | 37 | c |
| अजानता मागतान् वः | 82 | 9 | e |
| अजानतैवाऽऽचरितः | 78 | 31 | a |
| अजानन्तमपि ह्येनम् | 64 | 44 | c |
| अजानन्तः प्रतिविधिं | 88 | 25 | a |
| अजीजनन्न नवमान् | 61 | 1 | c |
| अञ्जसा वर्तयामास | 89 | 66 | c |
| अण्वप्युपाहृतं भक्तैः | 81 | 3 | c |
| अत उपमीयते द्रविणजाति विकल्पपथैः | 87 | 37 | c |
| अतऋषस्ये दधुस्त्वयि मनो वचना चरितम् | 87 | 15 | c |
| अतप्य द्राजसूयस्य | 75 | 31 | c |
| अतस्त्वां गदया मन्द | 78 | 5 | c |
| अतिभानु स्तथाऽष्टमः | 61 | 10 | a |
| अतीवकोमलौ तात | 89 | 10 | a |
| अत्युत्कुण्ठश्शबल हृदयोऽस्मद्विधो बाष्पधाराः | 90 | 21 | c |
| अत्रकारण मुच्यताम् | 75 | 2 | d |
| अत्र ते वर्णयिष्यामि | 87 | 4 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अत्रैवोदाहरन्तीमं | 88 | 13 | a | अथोपवेश्यपर्यङ्के° | 80 | 20 | a |
| अथ तत्रकुरुश्रेष्ट | 85 | 27 | a | अथो मुनिर्यदुपतिना सभाजितः | 71 | 18 | a |
| अथ ते रामकृष्णाभ्याम् | 82 | 28 | a | अथोवाच हृषीकेशं | 69 | 37 | a |
| अथ तैरभ्यनुज्ञातः | 79 | 9 | a | अथोषस्युप्रवृत्तायां | 70 | 1 | a |
| अथ नारायणो देवः | 63 | 23 | c | अदत्त मवरुन्धीत | 68 | 28 | c |
| अथ पर्वण्युपावृत्ते | 79 | 1 | a | अदहन् वह्निमुत्सृजन् | 67 | 3 | d |
| अथ पृच्छामहे युष्मान् | 70 | 37 | c | अदान्तस्याविनीतस्य | 78 | 26 | a |
| अथ राजाहते क्षौमे | 75 | 22 | a | अदायि मेदिनी येन | 62 | 2 | c |
| अथार्त्विग्भ्योऽददा त्काले | 84 | 52 | a | अदीर्घ बोधाय विचक्षणस्स्वयं | 81 | 37 | c |
| अथर्त्विजो महाशीलाः | 75 | 25 | a | अदूषय च्छकृन्मूत्रैः | 67 | 6 | c |
| अथर्वाकश्यपो धौम्यः | 74 | 9 | a | अद्भुतं रोमहर्षणम् | 63 | 7 | b |
| अथवितथास्वमूबवितथं तव धाम समः | 87 | 18 | c | अद्यन स्त्वत्पदाम्भोजम् | 86 | 31 | c |
| अथाऽत्रब्रूहनुण्ठेयं | 70 | 47 | c | अद्यनिष्कौरवीं पृथ्वीम् | 68 | 40 | a |
| अथादिशन्प्रयाणाय | 71 | 12 | a | अद्यनोजन्मसाफल्यम् | 84 | 21 | a |
| अथान्यदपि कृष्णस्य | 76 | 1 | a | अद्यप्रभृतिवोभूपाः | 73 | 18 | a |
| अथाऽपतद्भिन्न शिराः | 88 | 36 | a | अद्यश्च इति मासांस्त्रीन् | 84 | 66 | c |
| अथाऽपिकालेस्वजनाभिगुप्तये | 84 | 18 | a | अद्याऽपि च पुरं ह्येतत् | 68 | 54 | a |
| अथाऽपिब्रूहि नो ब्रह्मन् | 69 | 22 | a | अद्याऽपि दृश्यते राजन् | 65 | 33 | a |
| अथाप्याश्रावये ब्रह्मन् | 70 | 41 | a | अद्याऽहं भगवल्लँक्ष्म्या | 89 | 12 | a |
| अथाऽऽप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि | 70 | 6 | a | अधना अबहुप्रजाः | 90 | 43 | b |
| अथाब्रवी न्नभोवाणी | 61 | 33 | a | अधनोऽयं धनं प्राप्य | 81 | 21 | a |
| अथाऽऽह पौण्ड्रकं शौरिः | 66 | 19 | a | अधर्मस्ते कृतः प्रभो | 78 | 29 | d |
| अथैकदात्मजौ प्राप्तौ प्राप्तौ | 85 | 1 | a | अधुनावद्यकर्मणा | 88 | 49 | b |
| अथैकदाद्वारवत्यां | 82 | 1 | a | अधुना श्रीमधान्धाक्षा | 84 | 63 | c |
| अथोचुर्मुनयो राजन् | 84 | 34 | a | अध्यात्मशिक्षया गोप्यः | 82 | 48 | a |
| अथो न राज्यं मृगतृष्णिरूपितं | 73 | 14 | a | अद्यासीनञ्चतान्विप्रान् | 78 | 23 | c |
| अथोपविष्टः परमासने विभुः | 70 | 19 | a | अध्यास्ते प्रतिलोमजः | 78 | 24 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अध्रुवेण ध्रुवंगताः | 72 | 21 | d | अनुग्रहो यद्भवतः | 73 | 9 | c |
| अनक्षज्ञो ह्ययं राजन् | 61 | 28 | a | अनुजानी हि मां देव | 69 | 39 | a |
| अनङ्गोङ्गयुत स्तया | 61 | 22 | b | अनुजानी हि मां कृष्ण | 64 | 29 | a |
| अनन्तस्याऽप्रमेयस्य | 67 | 1 | c | अनुज्ञातो गतोऽर्णवम् | 79 | 17 | d |
| अनन्तस्याऽप्रमेयस्य | 79 | 33 | c | अनुज्ञातो विमानग्रम् | 64 | 31 | c |
| अनन्यमेकंजगदात्मकेतं | 63 | 45 | c | अनुज्ञाप्य गुरून् विभुः | 71 | 12 | d |
| अनपगतान्तका दनाधिरूढ पदाद्भवतः | 87 | 39 | d | अनुतिष्ठन् सतां गतिः | 90 | 30 | b |
| अनपायिभि रस्माभिः | 62 | 29 | a | अनुनीता बुभ्मौ विप्रौ | 64 | 19 | a |
| अनयोर्मातुलेयं माम् | 72 | 29 | c | अनुमित मन्तरात्वयि विभाति मृषैकरसे | 87 | 37 | b |
| अनःस्यार्थैर्दिदृक्षया | 82 | 32 | d | अनुयुग मन्वहं सगुणगीत परम्परया | 87 | 40 | c |
| अनागत मतीतञ्च | 61 | 21 | a | अनुविश्यावभासते | 86 | 45 | d |
| अनागतां हलाग्रेण | 65 | 25 | e | अनुसेवां महाभुजः | 65 | 10 | f |
| अनात्मने स्वात्मविभत्तुमृत्यवे | 86 | 48 | b | अनुस्मरन्ता वन्योन्यम् | 79 | 28 | c |
| अनादरणकारणम् | 84 | 31 | b | अनुस्रोतेन सरयूम् | 79 | 10 | a |
| अनिच्छन्त मपीश्वरः | 74 | 49 | b | अन्तरं प्रेप्सुरर्जुनः | 86 | 8 | b |
| अनिरीक्षन्गदाग्रजः | 63 | 21 | b | अन्तःपुरचरादिषु | 69 | 36 | b |
| अनिरुद्धं विलिखितम् | 62 | 21 | a | अन्तःपुरजनैःप्रीत्या | 71 | 38 | a |
| अनिरुद्धोऽप्रतिरथः | 89 | 31 | c | अन्तःपुरजनो दृष्ट्वा | 80 | 24 | a |
| अनिवृत्तां व्रजेश्वरि | 82 | 38 | b | अन्तेच यः स्वात्मनि रुद्धविश्वः | 68 | 46 | c |
| अनिस्तीर्ण प्रतिज्ञोऽग्निं | 89 | 30 | c | अन्त्युपेतगुणात्मनाम् | 86 | 47 | d |
| अनिस्तीर्ण प्रतिश्रुतः | 89 | 45 | b | अन्यदान्यावहारिकः | 85 | 14 | d |
| अनिस्तीर्यत्यजन् पतेत् | 84 | 39 | d | अन्याश्चाभ्यागतायास्तु | 71 | 43 | c |
| अनीशा मधुरां ययुः | 84 | 69 | d | अन्यांश्चैवाऽऽत्मपक्षीयान् | 82 | 14 | a |
| अनीह एतद्बद्दुधैक आत्मना | 84 | 17 | a | अन्ये च तन्मुख सरोज मुदारहास | 86 | 20 | c |
| अनीहया गताहार्यं | 86 | 14 | c | अन्ये निर्भिन्न बाहूरु | 61 | 38 | a |
| अनुकालं समाहितः | 64 | 43 | b | अन्योन्यतोंसकटिपाद करोरु जत्रून् | 72 | 37 | b |
| अनुकुर्वन्स्वमायया | 83 | 7 | d | अन्योन्यसन्दर्शन हर्षरंहसा | 82 | 15 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अन्वेषमाणो न शिशिष्यान् | 80 | 39 | c | अप्राप्य शुष्कहृदयाः पुरुकर्शिताःस्म | 90 | 25 | d |
| अपत्यानां महोत्सवान् | 69 | 33 | b | अप्सरोभिः पितृगणैः | 78 | 14 | c |
| अपराजित मानिनम् | 77 | 19 | b | अबध्नीताऽथतन्मृष्ये | 68 | 22 | c |
| अपरिमिताङ्ग्वा स्तनुभृतो यदिसर्व गताः | 87 | 30 | a | अबुधास्त्वखिलात्मनः | 85 | 15 | b |
| अपरे च महेष्वासाः | 76 | 15 | a | अब्रह्मण्याश्च जज्ञिरे | 90 | 43 | d |
| अपर्तौ सुमह द्विज | 80 | 36 | b | अब्रह्मण्ये प्रयोजितः | 66 | 30 | f |
| अपश्यताञ्चाऽनिरुद्धम् | 63 | 1 | a | अभवद्यज्ञशालायाम् | 79 | 2 | c |
| अपश्यत्पौण्ड्रकं हरिः | 66 | 12 | d | अभवायोशतीः कलाः | 87 | 46 | d |
| अपाययत्स्तनं प्रीता | 85 | 55 | a | अभिचारविधानेन | 66 | 30 | c |
| अपि चक्रुः प्रवचनम् | 87 | 11 | G | अभिनन्द्ययथान्यायम् | 78 | 21 | c |
| अपि तव्यसनं महत् | 61 | 28 | b | अभिवन्द्याऽथ राजानम् | 73 | 34 | a |
| अपि नः स्मर्यते ब्रह्मन् | 80 | 35 | a | अभिवादयामास च तम् | 88 | 28 | c |
| अपि वत वसुदेवनन्दनाङ्घ्रिम् | 90 | 24 | c | अभिवाद्याऽभवंस्तूष्णीं | 79 | 24 | c |
| अपि ब्रह्मन् गुरुकुलात् | 80 | 28 | a | अभिष्टुवस्त्वन्धक कौरवस्त्रियः | 83 | 5 | b |
| अपि वर्षायुतै र्नृप | 90 | 44 | d | अभीक्ष्णं पूजयामास | 75 | 23 | c |
| अपि वा स्मरतेऽस्माकं | 65 | 10 | e | अभीयुर्मुदिता स्तस्मै | 86 | 22 | c |
| अपि संसरता मिह | 73 | 15 | d | अभूत्तुमुल मुल्बणम् | 77 | 6 | d |
| अपि स्मरथ न स्सख्यः | 82 | 42 | a | अभेद्यं कामगं वव्रे | 76 | 6 | c |
| अपि स्विदद्यलोकानां | 70 | 36 | a | अभ्यधावत दाशार्हम् | 63 | 22 | e |
| अपूजयन्महाभागान् | 74 | 17 | c | अभ्ययात्स हृषीकेशं | 71 | 24 | c |
| अपूर्णैरस्मदादिभिः | 69 | 21 | d | अभ्यषिञ्च दमेयात्मा | 72 | 46 | c |
| अपृच्छदिद मच्युतम् | 88 | 6 | d | अभ्यषिञ्चन्महाभागाः | 79 | 7 | c |
| अपोवाह रणात्सूतः | 76 | 27 | c | अभ्ययां चूर्णयन्नद्रीन् | 62 | 9 | c |
| अप्यवध्या यथा स्मान् स्वित् | 82 | 43 | a | अभ्युद्यतः पौरसुहृद्द्विजातिभिः | 63 | 53 | d |
| अप्यसौ मातरं द्रष्टुम् | 65 | 10 | c | अभ्येत्य तरसा तेन | 67 | 17 | c |
| अप्यस्त्युपायनं किञ्चित् | 80 | 13 | c | अमूल्य मौल्याभरणम् | 66 | 14 | c |
| अप्रत्युत्थायिनं सूतम् | 78 | 23 | a | अमृतत्वाय कल्पते | 82 | 45 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अमोघगति रीश्वरः | 90 | 33 | d | अलङ्कृतेभ्यो विप्रेभ्यः | 70 | 9 | c |
| अम्ब माऽस्मानसूयेथाः | 82 | 21 | a | अलब्धनिद्रोऽधिगंत प्रजा गरः | 70 | 11 | b |
| अयन्तुबहिराच्छन्नः | 83 | 19 | c | अलध्वाऽभय मन्यत्र | 63 | 25 | a |
| अयन्तु वयसातुल्यः | 72 | 32 | a | अलंयदूनां नरदेवलाञ्छनैः | 68 | 27 | a |
| अयं ममेष्टोदयितोऽनुवर्ती | 63 | 46 | a | अलातचक्रवद्भ्राम्यत् | 76 | 22 | c |
| अयंस्वस्त्ययनः पन्थाः | 84 | 37 | a | अल्पायुषोऽल्पवीर्याश्च | 90 | 43 | c |
| अयं हि परमो लाभः | 80 | 12 | c | अवजानन्त्यसूयवः | 86 | 55 | b |
| अयाजयन्महाराजम् | 74 | 16 | c | अवतारो मया कृतः | 78 | 27 | b |
| अयादवीं करिष्ये क्ष्माम् | 76 | 3 | c | अवतीर्णाः कुलशतम् | 90 | 48 | c |
| अयुक्तावस्तु चक्षते | 73 | 11 | d | अवतीर्णो जगत्पतिः | 66 | 2 | b |
| अयुतानि तुरङ्गमान् | 68 | 50 | d | अवतीर्णो किलाऽद्य मे | 85 | 30 | d |
| अयुते द्वे गिरिव्रजे | 70 | 25 | d | अवतीर्णो तथाऽत्थ ह | 85 | 18 | d |
| अयुते द्वे शतान्यष्टौ | 73 | 1 | a | अवधूतं सभाजितम् | 80 | 24 | d |
| अर्चतां स्वाभिवन्दताम् | 86 | 46 | b | अवधूतेन भिक्षुणा | 80 | 25 | b |
| अर्चादा विज्यदृष्टयः | 86 | 55 | d | अवध्योऽयं ममाऽप्येषः | 63 | 48 | a |
| अर्चायां देवचक्षुषाम् | 84 | 10 | b | अवप्लुत्य रथात्कृष्णः | 78 | 3 | c |
| अर्चितं सर्वधिष्ण्यपैः | 69 | 7 | b | अवबोधो भावान्बुद्धेः | 85 | 10 | c |
| अर्चित्वा वेद्यताम्बूलम् | 80 | 22 | c | अविध्यच्छरसन्दोहैः | 77 | 15 | c |
| अर्जुनस्तीर्थ यात्रायाम् | 86 | 2 | | अवेक्ष्याऽऽज्यं तथाऽऽदर्शं | 70 | 12 | a |
| अर्जुनेन परिष्वक्तः | 71 | 28 | c | अवात्सी त्स्वार्थसाधकः | 86 | 4 | b |
| अर्जुनेन सहेश्वरः | 89 | 47 | b | अवाप्या प्यैन्द मैश्वर्यं | 82 | 38 | c |
| अर्जुनोन भवेद्योद्धा | 72 | 32 | c | अवोचत्कोपसंरब्धः | 68 | 30 | c |
| अर्थकामौ च कुत्रचित् | 69 | 29 | d | अव्यक्तञ्च ततः परम् | 84 | 19 | d |
| अर्थिनो गृहमागतान् | 72 | 18 | b | अव्यक्तलिङ्गं प्रकृतिषु | 69 | 36 | a |
| अर्द्यमान स्समन्ततः | 63 | 15 | b | अव्याहतानुभव मीश्वर मद्वितीयम् | 84 | 33 | b |
| अर्हति ह्यच्युतः श्रैष्ठ्यम् | 74 | 19 | a | अशीशमद्यथावह्निम् | 89 | 4 | c |
| अर्हयित्वाऽश्रुपूर्णाक्षः | 74 | 28 | c | अश्नामि प्रयतात्मनः | 81 | 4 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अश्वैर्गजै रथैःक्वाऽपि | 69 | 26 | a | अहं प्रजा वां भगवान् | 89 | 30 | a |
| अष्टादशमहारथाः | 90 | 34 | b | अहंबृहस्पतिः कण्वः | 86 | 18 | c |
| अष्टाशीतिशतानिच | 90 | 45 | b | अहंब्रह्मा च विबुधाः | 63 | 44 | a |
| अष्टौ महिष्य स्तत्पुत्रान् | 61 | 7 | c | अहंयूयमसावार्य | 85 | 23 | a |
| अष्टौ याः प्रागुदाहृताः | 90 | 32 | b | अहं वा अर्जुनो नाम | 89 | 33 | d |
| असभ्याः पुरमाविशन् | 68 | 29 | d | अहंसमुद्रोजठरं भुजेन्द्रः | 63 | 36 | d |
| असम्बद्धागिरो रूक्षाः | 68 | 39 | c | अहं हि सर्वभूतानाम् | 82 | 46 | a |
| असावहं ममैवैते | 85 | 17 | a | अहो असाध्विदं सूत | 76 | 28 | c |
| असिभिः पट्टिशैर्बाणैः | 66 | 16 | c | अहो ऐश्वर्यमत्तानाम् | 68 | 39 | a |
| असिहस्तःक्षिपन्नृषा | 75 | 37 | d | अहो त्वयाऽऽत्मा भृशमर्द्यते वृथा | 88 | 20 | d |
| असुतृपयोगिना मुभयतो | | | | अहोदेव महादेव | 88 | 38 | c |
| प्यसुरवं भगवन् | 87 | 39 | c | अहोबह्मण्यदेवस्य | 81 | 15 | a |
| असृग्विमुञ्चन्गात्रेभ्यः | 63 | 15 | c | अहोभोजपते यूयं | 82 | 29 | a |
| असौ वृकोदरःपार्थः | 72 | 29 | a | अहोमहच्चित्रमिदम् | 68 | 24 | a |
| अस्त्रस्य तव वीर्यस्य | 78 | 35 | a | अहो मे पुत्रका यूयम् | 80 | 40 | a |
| अस्त्रौजसा सनृप भग्न | | | | अहो यदून् सुसंरब्धान् | 68 | 32 | a |
| मुखोनिवृत्तः | 66 | 40 | b | अहोवयंजन्मभृतः | 84 | 9 | a |
| अस्मदर्थेऽतिदुःखितः | 80 | 40 | b | अहोविचित्रं भगवद्विचेष्टितम् | 84 | 16 | d |
| अस्मद्दत्तनृपासनाः | 68 | 25 | d | अहोविभूम्न श्चरितंविडम्बनं | 84 | 17 | d |
| अस्मद्दृग्गोचरोभवान् | 86 | 32 | b | | | | |
| अस्माकञ्च महानर्थो हि | 71 | 4 | a | – आ – | | | |
| अस्माभिर्यदुनन्दन | 78 | 30 | b | आकर्ण्य यदुनन्दनः | 77 | 1 | b |
| अस्मास्वप्रतिकल्पेयम् | 84 | 62 | a | आकर्ण्येत्थं पितुर्वाक्यं | 85 | 21 | a |
| अस्मिन्लोकेऽथवाऽमुष्मिन् | 81 | 11 | c | आकल्पा दास्थित स्तपः | 87 | 6 | d |
| अस्यब्रह्मासनं दत्तम् | 78 | 30 | a | आकाशमिव केवलम् | 63 | 35 | d |
| अस्य मे पादसंस्पर्शः | 83 | 16 | a | आकृतीनां पृथक्कृतिः | 85 | 9 | d |
| अंसेऽनुरक्तहृदयानदधेस्म मालाम् | 83 | 29 | d | आकृष्यमाण मालोक्य | 68 | 42 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| आकृष्य सर्वतो वृक्षान् | 67 | 22 | c | आत्म लोकैपणां देव | 84 | 38 | c |
| आकोटिज्यां समुत्कृष्य | 83 | 22 | c | आत्मशक्तिभिरग्राह्योऽपि | 86 | 47 | c |
| आक्रीडनं भूतपते रिवोल्बणं | 66 | 18 | d | आत्मशक्ति समं वचः | 68 | 23 | b |
| आगच्छ दसि चर्मभ्याम् | 78 | 11 | c | आत्मसृष्टमधोक्षज | 85 | 5 | b |
| आगच्छन्नेव मुर्वीशः | 75 | 39 | a | आत्मसृष्टै स्तत्कृतेषु | 85 | 24 | c |
| आगतोऽपूर्वदर्शनः | 70 | 23 | b | आत्मान मकृताशिषम् | 82 | 19 | b |
| आग्नेयस्य च पार्जन्यम् | 63 | 13 | c | आत्मानमपि दुस्त्यजम् | 72 | 23 | d |
| आग्नेयीं नैऋतीं सौम्यां | 89 | 44 | c | आत्मानमपि यच्छति | 80 | 11 | b |
| आघ्रायोपगत स्तत्र | 65 | 20 | c | आत्मान माख्याहि विवित्सतां नः | 64 | 8 | c |
| आयान्तं स्नपयाञ्चक्रुः | 75 | 19 | c | आत्मानं कालमीश्वरम् | 84 | 23 | d |
| आचार्यैः कुलवृद्धैश्च | 72 | 2 | a | आत्मानं गुणतत्त्वदृक् | 84 | 24 | b |
| आचार्योऽपश्यदातुरान् | 80 | 39 | d | आत्मानं तमसः परम् | 70 | 4 | d |
| आजह्रुर्दिग्भ्य ओजसा | 72 | 14 | b | आत्मानं प्रियमीश्वरम् | 63 | 43 | b |
| आज्ञापयन्त्यद्यगतत्रपाबत | 68 | 27 | d | आत्मानं प्रेष्टमीश्वरम् | 63 | 44 | d |
| आतपत्रञ्च पाण्डुरम् | 68 | 26 | b | आत्मानं भूषयामास | 70 | 11 | a |
| आतिथ्येन निमन्त्र्य तम् | 86 | 5 | b | आत्मानं विश्वगं विदुः | 79 | 31 | d |
| आतिथ्येन सहद्विजैः | 86 | 25 | b | आत्मानं स गृहान्वयम् | 86 | 40 | b |
| आतुरो दीनमानसः | 89 | 23 | d | आत्मानं सम्प्रदर्शयन् | 67 | 11 | d |
| आत्मजाभ्यां सुविस्मिता | 85 | 27 | d | आत्मानं स्वर्गतं यथा | 81 | 12 | d |
| आत्मजायाऽऽत्मना प्रभुः | 89 | 4 | b | आत्माऽयं सर्व कामधुक् | 88 | 29 | d |
| आत्मनश्चर्हणं भवेत् | 74 | 23 | d | आत्मारामस्य तस्येमाः | 83 | 39 | a |
| आत्मनाऽऽत्माश्रयः सभ्याः | 74 | 21 | c | आत्मारामा धृतव्रताः | 73 | 23 | b |
| आत्मनानुप्रविश्यात्मन् | 85 | 5 | c | आत्मा वै पुत्र उत्पन्नः | 78 | 36 | a |
| आत्मना यदनुष्टितम् | 73 | 34 | d | आत्मा वै प्राणिनां प्रेष्ठः | 80 | 40 | c |
| आत्मनेऽ कल्पनाय च | 87 | 2 | d | आत्मा साक्षी स्वदृग्विभो | 86 | 31 | b |
| आत्मनो ललिता राजन् | 80 | 27 | c | आत्मा ह्येकः स्वयञ्ज्योतिः | 85 | 24 | a |
| आत्मप्रदीपो गुणिनश्च भूमन् | 63 | 40 | d | आददुस्सशरंचापम् | 83 | 21 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| आदाय द्विजदारकान् | 89 | 61 | d | आमाप्येद मुवाच ह | 72 | 2 | d |
| आदाय व्यसृजन् केचित् | 83 | 22 | a | आमश्शङ्कुर्वसुः श्रीमान् | 61 | 13 | c |
| आदिरन्तोऽन्तरं बहिः | 82 | 46 | b | आययुर्मत्पितुःपुरम् | 83 | 20 | b |
| आदिश त्सह सृञ्जयैः | 72 | 13 | b | आययुर्मुनय स्तत्र | 84 | 2 | c |
| आदिष्टा गृहमेधिनाम् | 69 | 41 | b | आयान्तं द्वारकौकसः | 66 | 35 | b |
| आद्योऽङ्ग यत्राऽऽश्रमिणाम् | 80 | 32 | c | आयुधानि महार्हाणि | 83 | 38 | c |
| आधत्ते विप्रोमदीक्षया | 86 | 56 | d | आयुरिन्द्रियसत्ववान् | 78 | 36 | d |
| आधावतस्सगदं तस्य बाहुम् | 77 | 36 | a | आयुश्चात्माऽङ्गमं तावत् | 78 | 30 | c |
| आनन्त्यं वा हरेः पदम् | 83 | 41 | d | आयोधनं तद्रथवाजिकुञ्जर | 66 | 18 | a |
| आनन्द सम्प्लव मखण्ड मकुण्ठबोधम् | 83 | 4 | b | आराधयामास नृप | 76 | 4 | c |
| आनन्दाश्रुकलामुञ्चन् | 73 | 35 | c | आराधयामास यथोपपन्नया | 86 | 41 | c |
| आनम्य पादयुगलं शिरसा किरीट | 69 | 14 | c | आराध्यैकात्मभावेन | 86 | 58 | c |
| आनर्च रुक्मिणीं सत्याम् | 71 | 42 | c | आरुरुक्षत्युपानद्वै | 68 | 24 | c |
| आनर्चाऽऽभरणाम्बरैः | 75 | 22 | d | आरुहद्गरुडध्वजम् | 71 | 13 | f |
| आनर्तधन्व कुरुजाङ्गल कङ्कमास्या | 86 | 20 | a | आरुहत्पश्यतां नृणाम् | 64 | 31 | d |
| आनर्त सौवीरकुरून् | 71 | 21 | a | आरुह्यनन्दिवृषभम् | 63 | 6 | c |
| आनर्तान् सुतरा मेव | 67 | 4 | c | आरुह्यसाकं मुनिभिः | 86 | 17 | c |
| आनिनीषति दुर्मतिः | 89 | 42 | d | आरूढः कम्पयन् द्रुमान् | 67 | 11 | b |
| अनिन्यथुः पितृस्थानात् | 85 | 32 | c | आरेभे तिग्मलोचनः | 89 | 6 | d |
| आनीतेषूपवेश्य सः | 86 | 39 | b | आर्यभ्रात रहं मन्ये | 82 | 19 | a |
| आनीतेष्वासनाग्र्येषु | 86 | 27 | c | आर्यमिश्राभिसङ्गतः | 77 | 9 | b |
| आनीय भुज्यते सोऽसौ | 68 | 35 | c | आर्यां द्वैपायनीं दृष्ट्वा | 79 | 20 | a |
| आनेष्ये ते प्रजां प्रभो | 89 | 34 | d | आलिरवन् सृक्किणीनग्नः | 66 | 33 | c |
| आपनसंसृटति भयापह मार्तबन्धो | 85 | 19 | b | आलिप्ता वस्तुपाणयः | 84 | 45 | d |
| आपुर्भवद्गति मथोऽनुगृहाण भक्तान् | 84 | 26 | d | आविस्तिरोऽल्पभूर्येकः | 85 | 25 | d |
| आप्रीतां दुःखच्छेदैः | 62 | 27 | d | आशासते यदित आशिष ईश नाञ्ये | 72 | 4 | d |
| आभाष्यानकदुन्दुभिम् | 84 | 34 | b | आशासितं यत्तद्भूत | 78 | 34 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| आशीर्भि रभिनन्दितः | 65 | 2 | d | आस्तेऽधुना द्वारकायां | 80 | 10 | c |
| आशीविषदुरासदैः | 76 | 24 | b | आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायाम् | 82 | 7 | a |
| आशु तुष्यति कुप्यति | 88 | 15 | d | आस्थितस्य परं धर्मं | 90 | 31 | a |
| आशुतोष उमापतिः | 76 | 5 | b | आस्थितः पुत्र मा खिदः | 69 | 40 | d |
| आश्रमानृषिमुख्यानाम् | 67 | 6 | a | आस्थितो मुनिभिर्वृतः | 72 | 1 | b |
| आश्राव्य रामं दुर्वाच्यम् | 68 | 29 | c | आह चामर्षितो मन्दाः | 72 | 30 | c |
| आश्रुत्यात्मानुशासनम् | 87 | 42 | b | आह चाऽह मिहायातः | 77 | 9 | a |
| आश्लिष्य गाढं नयनैः स्रवज्जलाः | 82 | 15 | c | आह ते स्वागतं बह्मन् | 89 | 9 | c |
| आश्लिष्यानामयं पृष्ट्वा | 82 | 41 | c | आहरस्व महाक्रतुम् | 72 | 9 | d |
| आश्लिष्टो बिभ्रतोरसि | 81 | 15 | d | आह वीरव्रतो गुरुम् | 87 | 45 | d |
| आश्वभ्योऽन्नेन पूजयत् | 84 | 54 | d | आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दम् | 82 | 49 | a |
| आसनानि च हैमानि | 81 | 30 | a | आहूतो धर्मसूनुना | 77 | 7 | b |
| आसने मघवा निव | 75 | 35 | b | आहोपायं तमेवाद्य | 72 | 15 | c |
| आसन्न च्युतसन्दर्शं | 82 | 23 | c | - इ - | | | |
| आसन्नुदार यशसः | 90 | 34 | c | | | | |
| आसन्मरीचेः षट्पुत्राः | 85 | 48 | a | इक्ष्वाकुतनयः प्रभो | 64 | 10 | b |
| आसन्यदुकुलाचार्याः | 90 | 45 | c | इच्छामीत्यपरो ययौ | 64 | 21 | d |
| आसन् षोडशसाहस्रं | 90 | 31 | c | इत एतान् प्रणेष्यामः | 85 | 51 | a |
| आसमेकान्तभाजनम् | 89 | 12 | b | इति कर्ण श्शलो भूरिः | 68 | 5 | a |
| आसद्य गदया मौर्व्या | 76 | 26 | c | इति कारुणिको नूनम् | 84 | 20 | c |
| आसाद्य धन्विनो बाणैः | 68 | 7 | c | इति क्षिप्त्वा शितैर्बाणैः | 66 | 21 | a |
| आसाद्य रोहिणीपुत्रं | 67 | 24 | c | इति तच्चिन्तय न्नन्तः | 81 | 21 | a |
| आसीत्कल्पक्षये यथा | 82 | 1 | d | इति तद्वचनं श्रुत्वा | 84 | 42 | a |
| आसीत्कुसुम वर्षिणाम् | 67 | 27 | d | इति तव सूरय स्त्र्यधिपतेऽखिल लोकमल | 87 | 16 | a |
| आसीत् सुतुमुलं युद्धं | 63 | 7 | a | इतिदूत स्तदाक्षेपं | 66 | 10 | a |
| आसीनः काञ्चने साक्षात् | 75 | 35 | a | इति देव श्चुकोप ह | 89 | 6 | b |
| आसीना ब्रह्मवादिनः | 70 | 22 | b | इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं | 87 | 20 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| इति पृथुकतण्डुलान् | 81 | 8 | d | इत्थं परस्य निज धर्म रिरक्षयाऽऽत्त | 90 | 54 | a |
| इति प्रस्तोभितो बालैः | 66 | 2 | c | इत्थं भगवत श्चित्रैः | 88 | 35 | a |
| इति प्रहसितं शौरेः | 65 | 15 | a | इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ताः | 61 | 5 | a |
| इति प्राह पतेति सः | 64 | 25 | b | इत्थं विचिन्त्य वसनात् | 81 | 8 | a |
| इति ब्रुवाणे गोविन्दे | 77 | 26 | a | इत्थं विधान्यनेकानि | 80 | 43 | a |
| इति मागध संरुद्धाः | 70 | 32 | a | इत्थं व्यवसितो बुद्ध्या | 81 | 38 | a |
| इति मुष्टिं सकृज्जग्ध्वा | 81 | 10 | a | इत्थं सभाजितं वीक्ष्य | 74 | 29 | a |
| इति मूढः प्रतिज्ञाय | 76 | 4 | a | इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं | 84 | 27 | a |
| इति लब्ध्वाऽ भयं कृष्णम् | 63 | 51 | a | इत्यर्थकाम धर्मेषु | 69 | 43 | a |
| इति लोक प्रवादोऽस्ति | 78 | 7 | a | इत्यर्द्यमाना सौभेन | 76 | 12 | a |
| इति वेदानुशासनम् | 78 | 36 | b | इत्यशेष समाम्नाय | 87 | 43 | a |
| इति श्रुतं नो भगवन् | 75 | 2 | c | इत्याचरन्तं सद्धर्मान् | 69 | 41 | a |
| इति सञ्चिन्त्य मनसा | 80 | 13 | a | इत्यात्मनाऽभिसन्धाय | 66 | 28 | a |
| इति सत्यवती श्रुतिः | 74 | 31 | b | इत्यादिश्य नृपान् कृष्णः | 73 | 24 | a |
| इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरताम् | 87 | 34 | c | इत्यादिष्ट स्तथाचक्रे | 66 | 31 | a |
| इति सम्भाष माणासु | 84 | 2 | a | इत्यादिष्ट स्तमसुरः | 88 | 17 | a |
| इति सम्भाष्य भगवान् | 89 | 47 | a | इत्यादिष्टौ भगवता | 89 | 61 | a |
| इति सं शिश्यिरे जनाः | 66 | 25 | d | इत्याद्य मृषि मानम्य | 87 | 47 | a |
| इति सूतोदितं वाणीम् | 77 | 1 | a | इत्यारोप्याङ्क मालिङ्ग्य | 65 | 3 | c |
| इति स्म राजा सम्पृष्टः | 64 | 9 | a | इत्याहार्जुन मातुरः | 89 | 36 | d |
| इतिहास पुराणानि | 69 | 28 | c | इत्युक्तश्चोदयामास | 77 | 12 | a |
| इतिहासं पुरातनम् | 88 | 13 | b | इत्युक्तः कुमति र्दृष्टः | 62 | 11 | a |
| इतीदृशान्यनेकानि | 89 | 64 | a | इत्युक्तः प्रस्थितो दूतः | 71 | 20 | a |
| इतीदृशेन भावेन | 90 | 27 | a | इत्युक्तोऽच्युत मानम्य | 63 | 31 | a |
| इत्थं तयोः प्रहतयोर्गदयो र्नृवीरौ | 72 | 38 | a | इत्युक्तोऽपि द्विज स्तस्मै | 81 | 5 | a |
| इत्थं धर्मसुतो राजा | 75 | 30 | a | इत्युक्तो बल माहूय | 61 | 28 | c |
| इत्थं निशम्य दमघोष सुतः स्वपीठात् | 74 | 30 | a | इत्युक्त्वा गदया साल्वम् | 71 | 21 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| इत्युक्त्वातं परिक्रम्य | 64 | 31 | a |
| इत्युक्त्वातान् समादाय | 85 | 53 | a |
| इत्युक्त्वा देवगन्धर्व | 62 | 19 | a |
| इत्युक्त्वा भीमसेनाय | 72 | 33 | a |
| इत्युक्त्वा यज्ञिये काले | 74 | 6 | a |
| इत्युक्त्वा विप्रचारणौ | 89 | 10 | c |
| इत्युक्त्वा सहदेवोऽभूत् | 74 | 25 | a |
| इत्युक्त्वा स्वाम्यपाक्रमत् | 64 | 21 | b |
| इत्युत्तमश्लोकशिखामणिं जनेषु | 83 | 5 | a |
| इत्युत्सुकोद्वार वतीम् | 69 | 3 | a |
| इत्युदारमतिः प्राह | 72 | 27 | a |
| इत्युदीरित माकर्ण्य | 71 | 1 | a |
| इत्युद्धव वचो राजन् | 71 | 11 | a |
| इत्युपामन्त्रितो भर्त्रा | 70 | 48 | a |
| इत्युपामन्त्रितो राज्ञा | 86 | 37 | a |
| इत्येत द्ब्रह्मणः पुत्राः | 87 | 42 | a |
| इत्येतन्मुनितनयास्य पद्म गन्ध | 89 | 21 | a |
| इदमाह जनार्दनम् | 77 | 17 | d |
| इदमाहान्न तर्पितान् | 86 | 30 | b |
| इदमित्थ मिति प्रायः | 85 | 45 | a |
| इदमेव कुरूद्वह | 87 | 7 | d |
| इदं प्रोवाच विलपन् | 89 | 23 | c |
| इन्द्रनीलमयैर्जालैः | 69 | 9 | c |
| इन्द्रप्रस्थ निवासिनः | 73 | 33 | b |
| इन्द्रप्रस्थ मितः प्रभो | 71 | 3 | d |
| इन्द्रप्रस्थं गतः कृष्णः | 77 | 7 | a |
| इन्द्रसेनेन पूजितौ | 85 | 53 | b |
| इन्द्रादयो लोकपालाः | 74 | 13 | c |
| इन्दियन्त्विन्द्रियाणां त्वम् | 85 | 10 | a |
| इन्द्रियाणाञ्चतैजसः | 85 | 11 | b |
| इन्धनानयने क्वचित् | 80 | 35 | d |
| इभेन्दस्यन्दनार्वभिः | 75 | 11 | b |
| इमे च द्वारकौकसः | 85 | 23 | b |
| इयदेव हि सच्छिष्यैः | 80 | 41 | a |
| इल्वलस्य सुतोघोरः | 78 | 38 | a |
| इष्टञ्चयज्ञै श्चरितं च पूर्तम् | 64 | 15 | d |
| इहनास्ति धनुर्धरः | 89 | 28 | b |
| – ई – | | | |
| ईक्षितोन्तः पुरस्त्रीणाम् | 70 | 16 | a |
| ईजेक्रतुभिरात्मानं सर्व वेदार्थ सङ्ग्रहम् | 90 | 51 | a |
| ईजे च भगवान्रामः | 82 | 4 | a |
| ईजेचात्यूजितैर्मखैः | 89 | 64 | d |
| ईजेऽनुयज्ञं विधिना | 84 | 51 | a |
| ईडित स्सुरमानवैः | 78 | 13 | d |
| ईदृग्विधान्यसङ्ख्यानि | 79 | 33 | a |
| ईप्सितः क्रतुराड्यम् | 72 | 8 | d |
| ईयते पशुदृष्टीनाम् | 78 | 16 | c |
| ईशश्चेत्पाहि बालिश | 77 | 27 | d |
| ईशस्य हि वशेलोकः | 82 | 21 | c |
| ईशोदुरत्ययः कालः | 74 | 31 | a |
| ईश्वरस्येशितव्यताम् | 84 | 15 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ईश्वरावादि पूरुषौ | 85 | 29 | d |
| ईहते यदयंसर्वः | 74 | 22 | c |
| – उ – | | | |
| उग्रसेनप्रचोदितः | 68 | 13 | d |
| उग्रसेनः क्षितीशेशः | 68 | 21 | a |
| उग्रसेनादय स्सभ्याः | 66 | 7 | c |
| उग्रसेनादिभिः प्रीतैः | 79 | 29 | c |
| उच्चैर्जहसु स्तदा | 66 | 7 | d |
| उच्छसंस्तज्जिघांसया | 78 | 11 | d |
| उञ्छवृत्ति शिशिर्वलिः | 72 | 21 | b |
| उताहो नृपते शुभम् | 64 | 24 | b |
| उतैकं शिक्षयाऽधिकम् | 79 | 26 | d |
| उत्क्षिप्यबाहुमिद माह सदस्यमर्षी | 74 | 30 | c |
| उत्तमश्लोकदर्शनम् | 80 | 12 | d |
| उत्तमश्लोकविक्रमम् | 66 | 43 | b |
| उत्तमश्लोकसत्कथाः | 80 | 2 | b |
| उत्तीर्णायासिताम्बरे | 65 | 31 | b |
| उत्कृत्य शिर आदाय | 77 | 28 | c |
| उत्थाय कृष्ण गुणवर्णन जातमन्युः | 74 | 30 | b |
| उत्थाय भ्रातरं मुदा | 89 | 5 | d |
| उत्फुल्लेन्दीवराम्भोज | 69 | 4 | a |
| उत्सिक्तभक्त्युपहताशय जीवकोशाः | 84 | 26 | c |
| उत्सक्ष्ये मूढचिह्नानि | 66 | 8 | c |
| उदर मुपासते य ऋषि वर्त्मसु कूर्पहराः | 87 | 18 | a |
| उदायुधा स्समुत्तस्थुः | 74 | 41 | c |
| उदासीनाश्च देहादौ | 73 | 23 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| उदीच्यां सव्यसाचिनम् | 72 | 13 | d |
| उद्गीयमान विजयः | 78 | 15 | a |
| उद्दीप्तदीप वलिभिः प्रतिसद्मजाल | 71 | 34 | a |
| उद्धवं प्राह केशवः | 70 | 46 | d |
| उद्धवं प्रेपयामास | 68 | 16 | c |
| उद्धवः प्रत्यभापत | 70 | 48 | d |
| उद्धवो यमुवाच ह | 72 | 15 | d |
| उद्यम्य मौर्वं परिघं व्यवस्थितः | 62 | 33 | c |
| उद्यम्य साल्वोऽच्युत मभ्यदाद्रुतम् | 77 | 35 | d |
| उद्यानानि च सर्वशः | 76 | 9 | d |
| उद्यानोपवनाढ्यायाम् | 90 | 4 | a |
| उद्वमन् रुधिरं मुखात् | 78 | 9 | b |
| उद्विदार्य गजाह्वयम् | 68 | 41 | b |
| उन्नीयवक्त्रमुरुकुन्तल कुण्डलत्विट् | 83 | 29 | a |
| उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति | 63 | 41 | c |
| उपगीयमान उद्गायन् | 65 | 21 | a |
| उपगीयमान चरितः | 65 | 23 | a |
| उपगीयमानो गन्धर्वैः | 90 | 8 | a |
| उपतस्थुर्नटाचार्याः | 70 | 20 | c |
| उपतस्थुस्सार्घ्यहस्ताः | 86 | 19 | c |
| उपयेमे महारथः | 90 | 40 | b |
| उपयेगे यथालोकं | 83 | 7 | c |
| उपयेमे यदूत्तमः | 62 | 1 | b |
| उपयेमे विशालाक्षः | 61 | 24 | c |
| उपलभ्यमहारथः | 66 | 11 | b |
| उपसृष्टः परेणेति | 76 | 33 | c |
| उपस्करा ययु रधियुज्य सर्वशः | 71 | 16 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| उपस्थायाऽर्क मुद्यन्तम् | 70 | 7 | a | उवास कतिचिन्मसान् | 74 | 48 | c |
| उपस्पृश्य महेन्द्राद्रौ | 79 | 12 | a | उवास कुर्व त्कल्याणम् | 86 | 37 | c |
| उपस्पृश्याऽथ दण्डकं | 79 | 20 | d | उषयाऽऽपहृतेन्द्रियः | 62 | 26 | d |
| उपहूता स्तथाचाऽन्ये | 74 | 10 | a | उषाभृशंशोकविषादविह्वला | 62 | 35 | c |
| उपहृत्याऽवनिज्याऽस्य | 80 | 20 | c | उषित्वाऽच्युतमन्दिरे | 81 | 12 | b |
| उपाधावत्स्वगात्रतः | 88 | 17 | b | उषित्वाऽऽदिश्य सन्मार्गं | 86 | 59 | c |
| उपधावन् विभूतीनां | 88 | 4 | c | उष्णीष कञ्चुकदुकूल महार्घ्यहाराः | 75 | 24 | b |
| उपाधाव स्वसिद्धये | 88 | 15 | b | | | | |
| उपानहः किलवयं | 68 | 38 | c | – ऊ – | | | |
| उपासिता भेदकृतोहर न्त्यघम् | 84 | 12 | c | ऊचतुः स्वार्थसाधकौ | 64 | 18 | b |
| उपासितव्यं स्पृहयामहे विभोः | 73 | 14 | c | ऊचुमुकुन्दैकधियः | 90 | 14 | a |
| उपास्यमानो विप्रेन्द्रैः | 75 | 36 | a | ऊचुः स्त्रियः पथि निरीक्ष्य मुकुन्दपत्नीः | 71 | 36 | a |
| उपोष्य सुसमाहिताः | 82 | 9 | d | ऊचुसङ्कर्षणं देवम् | 78 | 29 | c |
| उभययुजाभवन्त्यसु भृतो जलबुद्बुदवत् | 87 | 31 | b | ऊर्णायां प्रथमोन्तरे | 85 | 48 | b |
| उभयं मध्यथपरे | 82 | 47 | c | | | | |
| उभयार्थो मतो हि नः | 71 | 3 | h | – ऋ – | | | |
| उभयो रविशद्गेहम् | 86 | 26 | c | ऋणैः स्त्रिभिर्द्विजो जातः | 84 | 39 | a |
| उभाभ्यां तदलक्षितः | 86 | 26 | d | ऋत्विक् सदस्य बहुवित्सु सुहृत्तमेषु | 75 | 8 | a |
| उभावप्यच्युतप्रियौ | 86 | 16 | d | ऋत्विक् सदस्य विप्रादीन् | 75 | 22 | c |
| उरुगायोरुगीतो वा | 90 | 28 | c | ऋत्विग्भ्य स्ससदस्येभ्यः | 74 | 47 | a |
| उल्केवभुविखाऽच्युता | 74 | 45 | d | ऋषभाद्रिं हरेः क्षेत्रम् | 74 | 15 | a |
| उवाच चकिता वाचं | 65 | 27 | c | ऋषभौलोकसङ्ग्रहम् | 89 | 60 | d |
| उवाच दूतं भगवान् | 66 | 8 | a | ऋषयःकेचनान्विताः | 77 | 31 | b |
| उवाच सुख मासीनान् | 84 | 8 | a | ऋषयःश्रोतुमर्हथ | 84 | 29 | b |
| उवाच हाऽऽनन्द जलाकुलेक्षणः | 85 | 38 | c | ऋषयस्सत्रमासत | 89 | 1 | b |
| उवाचाङ्घ्र्यभिमर्शनः | 86 | 43 | d | ऋषयस्सत्रमासते | 78 | 20 | d |
| उवास कतिचिन्मासान् | 71 | 46 | a | ऋषयोऽयाजयन्मुदा | 79 | 30 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ऋषिपित्रोर्महामते | 84 | 40 | b | एके सन्त्यज्य दुद्रुवुः | 83 | 35 | d |
| ऋषीणां पितृदेवानाम् | 72 | 8 | a | एकैकशस्ताः कृष्णस्य | 61 | 1 | a |
| ऋषीणां शृण्वता मिमम् | 87 | 8 | b | एकैकस्मिन् शरौ द्वौ द्वौ | 63 | 18 | c |
| ऋषेर्नारायणस्य च | 87 | 4 | d | एकैकस्यां दश दश | 90 | 33 | a |
| ऋषेर्भगवतो भूत्वा | 78 | 25 | a | एकैकेन च सारथीन् | 68 | 10 | b |
| | | | | एकैकेनाऽस्य सैनिकान् | 76 | 19 | b |
| – ए – | | | | एतत्तेऽभिहितं राजन् | 75 | 44 | a |
| एकएव नचाऽपरः | 66 | 5 | b | एतत्सर्वं महायोगिन् | 62 | 1 | e |
| एकएवाऽद्वितीयोऽसौ | 74 | 21 | a | एतदन्तो नृणां क्लेशः | 86 | 49 | c |
| एकत्रचाऽसिचर्मभ्यां | 69 | 25 | c | एतदर्थोहि लोकेऽस्मिन् | 78 | 27 | a |
| एकदा गृहमानीय | 86 | 5 | a | एतदाख्याहि मे ब्रह्मन् | 61 | 20 | e |
| एकदा तु सभामध्ये | 72 | 1 | a | एतद्ब्रह्मण्य देवस्य | 81 | 41 | a |
| एकदा द्वारवत्यान्तु | 89 | 22 | a | एतद्विदित्वा उदिते | 80 | 39 | a |
| एकदा नारदो लोकान् | 87 | 5 | a | एतद्विदित्वातु भवान् | 76 | 33 | a |
| एकदान्तःपुरे तस्य | 75 | 31 | a | एतद्वेदितु मिच्छामः | 88 | 2 | a |
| एकदोपवनं राजन् | 64 | 1 | a | एतस्मिन्नन्तरे याम्यैः | 64 | 23 | a |
| एकपादोरु वृषण | 72 | 44 | a | एतर्ह्येव पुनःस्थानं | 82 | 22 | c |
| एकबाह्वक्षिभ्रूकर्णे | 72 | 44 | c | एत्य पर्वणि पर्वणि | 78 | 38 | d |
| एकरूपस्सभां ययौ | 70 | 17 | d | एतावतालमल मिन्द्रिय लालसेन | 85 | 19 | c |
| एकस्तु सारथिं जघ्ने | 68 | 11 | c | एतावताऽलं विश्वात्मन् | 81 | 11 | a |
| एकं पादं पदाऽऽक्रम्य | 72 | 43 | a | एतावदुक्त्वा भगवान् | 78 | 28 | a |
| एकं प्राणाधिकं मन्ये | 79 | 26 | c | एतावदृष्टपितरौ युवयोः स्म पित्रोः | 82 | 39 | a |
| एकं शुश्रूषवोऽपरे | 87 | 11 | h | एतेऽतिक्रम्य विदुरं | 68 | 5 | e |
| एकं स्वयंज्योति रनन्यमव्ययं | 70 | 5 | a | एते तेभ्रातरो राजन् | 72 | 10 | a |
| एकः पदातिसङ्क्रुद्धः | 78 | 2 | a | एतेनैव भविष्यति | 71 | 4 | b |
| एकारामाश्च वृष्णयः | 84 | 25 | b | एतेपृथुकतण्डुलाः | 81 | 9 | d |
| एकेव रमतो व्रजे | 65 | 34 | b | एतेयौनेन सम्बद्धाः | 68 | 25 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| एतेषामपि राजेन्द्र | 90 | 39 | a | एवं रूक्षैस्तदन्वाक्यैः | 78 | 7 | c |
| एतेषां पुत्रपौत्राश्च | 61 | 19 | c | एवं वदन्ति राजर्षे | 77 | 31 | a |
| एवमादीन्यभद्राणि | 74 | 38 | a | एवं विद्विंसृजेत्पुमान् | 86 | 33 | b |
| एवमावेदितो राजा | 72 | 30 | a | एवं विधान्यद्भुतानि | 85 | 59 | a |
| एवञ्चेत्तर्हि तद्वाक्यं | 88 | 32 | a | एवं विश्रम्भितो विप्रः | 89 | 35 | a |
| एवञ्चेत्सर्वभूतानाम् | 74 | 23 | c | एवं विश्राव्य भगवान् | 64 | 45 | a |
| एवञ्चे दर्चितोऽस्म्यद्धा | 86 | 57 | c | एवं वृते भगवति | 83 | 31 | a |
| एवं कृष्णेन शिक्षिताः | 82 | 48 | b | एवं वेदोदितं धर्मं | 90 | 30 | a |
| एवं गुणेनाऽपिहितो गुणां स्त्वम् | 63 | 40 | c | एवं वैकारिकीं मायाम् | 73 | 11 | c |
| एवं त्वा नाममात्रेषु | 84 | 25 | a | एवं शपति विप्रर्षौ | 89 | 43 | a |
| एवं देशान्विप्र कुर्वन् | 67 | 8 | a | एवं स ऋषिणाऽऽदिष्टं | 87 | 45 | a |
| एवं द्वितीयं विप्रर्षिः | 89 | 26 | a | एवं सञ्चोदितो मात्रा | 85 | 34 | a |
| एवं नानाविधं विश्वम् | 85 | 5 | a | एवं सर्वा निशा याताः | 65 | 34 | a |
| एवं निर्भर्त्सिता भीता | 65 | 27 | a | एवं सविप्रो भगवत्सुहृत्तदा | 81 | 40 | a |
| एवं निर्भत्स्य मायावी | 77 | 28 | a | एवं स सर्व दाराणाम् | 70 | 17 | a |
| एवं निहत्य द्विविदं | 67 | 28 | a | एवं सारस्वता विप्राः | 89 | 20 | a |
| एवं प्रपन्नै स्संविग्नैः | 68 | 49 | a | एवं सुहृद्भिः पर्यस्तः | 71 | 31 | a |
| एवं ब्रुवाणे वैकुण्ठे | 89 | 13 | a | एवं सौभञ्च साल्वञ्च | 78 | 13 | a |
| एवं भगवता पुष्टः | 88 | 31 | a | एवं सौहृद शैथिल्य | 84 | 65 | a |
| एवं भगवता राजन् | 85 | 26 | a | एवं स्वभक्तयो राजन् | 86 | 59 | a |
| एवं मत्सरिणं हत्वा | 66 | 23 | a | एवं ह्येतानि भूतानि | 82 | 47 | a |
| एवं मनुष्यपदवी मनु वर्तमानः | 69 | 44 | a | एष ते जनिता नीतः | 77 | 27 | a |
| एवं मीमांसमानं तम् | 81 | 24 | a | एष वै देवता स्सर्वाः | 74 | 19 | c |
| एवं यदूनां साल्वानां | 77 | 6 | a | एष साधु निरूपितः | 84 | 35 | b |
| एवं युधिष्ठिरो राजा | 74 | 1 | a | – ऐ – | | | |
| एवं युध्यन् भगवता | 67 | 22 | a | | | | |
| एवं योगेश्वरः कृष्णः | 78 | 16 | a | ऐतदात्म्य मिदंजगत् | 74 | 21 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ऐश्वर्यञ्चाष्टधा यस्मात् | 89 | 16 | c |
| ऐश्वर्य मतुलं दत्वा | 88 | 16 | c |
| ऐश्वर्याद्भ्रंशितस्याऽपि | 72 | 24 | c |
| **– ओ –** | | | |
| ओजस्सहोवलं चेष्टा | 85 | 8 | c |
| ओमिति प्रहसं स्तस्मै | 88 | 22 | c |
| ओमित्यानम्य भूमानम् | 89 | 61 | c |
| **– औ –** | | | |
| औत्सुक्य मुक्तकबराच्यवमान माल्याः | 75 | 17 | c |
| औत्सुक्य विश्लथित केरादुकूल वन्धाः | 71 | 34 | b |
| **– क –** | | | |
| क इहनुवेदवतावरजन्मलयोऽग्रसरम् | 87 | 24 | a |
| कङ्कगृध्रवटै र्वृतः | 66 | 9 | b |
| कच्चित्स्मरति वा बन्धून् | 65 | 10 | a |
| कच्चित्स्मरथ नो राम | 65 | 7 | c |
| कच्चिदास्ते सुखं कृष्णः | 65 | 9 | c |
| कच्चिद्गुरुकुले वासं | 80 | 31 | a |
| कच्चिन्तो बान्धवा राम | 65 | 7 | a |
| कच्चिन्मुकुन्दगदितानि यथा वयं त्वम् | 90 | 18 | c |
| कटिपृष्टस्तनांसके | 72 | 44 | b |
| कटिसूत्राङ्गदान्वितम् | 73 | 4 | d |
| कठोरास्यः स्वजिह्वया | 66 | 33 | b |
| कण्डूत्या निभृतैर्दोभिः | 62 | 9 | a |
| कथञ्चिद्दानवर्षभ | 88 | 34 | b |
| कथन्नुगृहान्त्यनवस्थितात्मनः | 65 | 13 | a |
| कथन्नुतादृशं स्त्रीभिः | 65 | 12 | c |
| कथ मनुवर्नतां भवभयं तव यद्भ्रुकुटिः | 87 | 32 | c |
| कथ मयथा भवन्ति भुविदत्तपदानिनृणाम् | 87 | 15 | d |
| कथमिन्द्रोऽपि कुरुभिः | 68 | 28 | a |
| कथयाञ्चक्रतुर्गाथाः | 80 | 27 | a |
| कथं चरन्तिश्रुतयः | 87 | 1 | c |
| कथंतदिद मित्यभूत् | 81 | 23 | d |
| कथं राम मसम्भ्रान्तम् | 77 | 25 | a |
| कथं रुक्म्यरिपुघ्नाय | 61 | 20 | a |
| कथंस्यादितिचिन्तयन् | 80 | 15 | d |
| कथाः कथयतापराः | 65 | 14 | b |
| कदर्थीकृत्यनः कन्याम् | 68 | 2 | c |
| कदर्थीकृत्य बलवान् | 67 | 15 | c |
| कदाचित्प्रियया गृहे | 69 | 29 | b |
| कदाऽऽयातो भवानिति | 69 | 21 | b |
| कन्दुकैः हर्म्यसौधेषु | 90 | 2 | c |
| कन्याऽलभत कान्तेन | 62 | 12 | c |
| कन्या स्सदासी स्तिल रूप्यशय्याः | 64 | 15 | b |
| कन्याया दूषणं पुम्भिः | 62 | 29 | c |
| कन्यायाः कुलदूषणम् | 62 | 28 | d |
| कन्यां चारुमतीं किल | 61 | 24 | d |
| कन्यां वीरमनोहराम् | 86 | 6 | b |
| कम्पयन्तो भुवं सैन्यैः | 75 | 12 | c |
| कम्पयन्नवनीतलम् | 66 | 34 | b |
| करवाणि किमद्य ते प्रियम् | 90 | 22 | c |
| करवाम प्रियं तव | 63 | 47 | b |
| करस्थोनाऽहनत्प्रभुः | 78 | 28 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| करालयापरिवृत आत्मसेनया | 71 | 14 | b | कलत्रैः खेचरा इव | 82 | 9 | b |
| करिष्यति महात्मनाम् | 90 | 46 | b | कलहाभिरताः खलाः | 68 | 33 | b |
| करिष्यामीत्यमर्षितः | 68 | 40 | b | कलापग्रामवासिभिः | 87 | 7 | b |
| करिष्ये मदनुग्रहम् | 88 | 9 | d | कलावतीर्णाविवनेः भरा सुरान् | 89 | 59 | c |
| करुन्शाधिपति र्नृप | 66 | 1 | b | कलिङ्गराजं तरसा | 61 | 37 | a |
| करेणुभिरिवेभराट् | 65 | 30 | d | कलिं कलिमलापहः | 68 | 14 | d |
| करेणुभिः परिजनवारयोपितः | 71 | 16 | b | कलिं कुरुकुलामयम् | 74 | 53 | b |
| करौगृह्य परस्परम् | 80 | 27 | d | कल्पयन्तं विभूतिभिः | 69 | 32 | d |
| करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च | 80 | 3 | b | कल्पिता योगमायया | 85 | 13 | d |
| कर्णाग्रण्यः समाकिरन् | 68 | 7 | d | कल्याणी येन ते कीर्तिः | 72 | 7 | c |
| कर्णादीन्षड्रथान्वीर | 68 | 9 | c | कविभिश्शास्त्र चक्षुषा | 84 | 36 | b |
| कर्णोदाने महामनाः | 75 | 5 | d | कविर्न्यग्रोध एव च | 40 | 36 | d |
| कर्णो पिधाय निर्जग्मुः | 74 | 39 | c | कश्चित्त्वदीय मतियाति निदेश मीश | 70 | 28 | c |
| कर्तव्यं गुरुनिष्कृतम् | 80 | 41 | b | कस्त्वं महाभाग वरेण्य रूपः | 64 | 7 | e |
| कर्ता तदनुमोदिता | 69 | 40 | b | कस्मादसा विमान् विप्रान् | 78 | 24 | a |
| कर्म चैद्यवधादिकम् | 74 | 54 | b | कस्यचिद्द्विजमुख्यस्य | 64 | 16 | a |
| कर्मणा कर्मनिर्हारः | 84 | 29 | c | कस्सहेताऽनु शासिता | 68 | 39 | d |
| कर्मणा कर्मनिर्हारः | 84 | 35 | a | कह्लार कुमुदोत्पलैः | 69 | 4 | b |
| कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे | 70 | 27 | b | कह्लारोत्पलवारिभिः | 81 | 22 | d |
| कर्मबन्धा द्विमुच्यते | 81 | 41 | d | कंसप्रतापिता स्सर्वे | 82 | 22 | a |
| कर्मभिर्भ्राम्यमाणायाः | 83 | 16 | c | कःपरस्समदर्शिनाम् | 72 | 19 | d |
| कर्मभिर्वर्धते तेजः | 74 | 4 | c | काञ्चनोपस्करं रथम् | 83 | 33 | b |
| कर्मविक्षिप्त चेतसाम् | 86 | 47 | b | कान्तिस्तेजः प्रभासता | 85 | 7 | a |
| कर्माणि कर्मकषणानि यदूत्तमस्य | 90 | 54 | c | कान्तं मृगयसे सुभ्रूः | 62 | 15 | a |
| कर्माण्यद्भुतकर्मणः | 79 | 34 | b | कान्तं स्म रेचकजिहीरषयोपगृह्य | 90 | 10 | c |
| कर्माण्यनन्यविषयाणि हरिश्चकार | 69 | 45 | b | कामकोटीं पुरीं काञ्चीम् | 79 | 14 | a |
| कर्हिचित्केशवान्तिके | 89 | 27 | b | कामपूराम सङ्घि पिम् | 62 | 7 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कामयामह एतस्य | 83 | 42 | a | कावेरीञ्च सरिद्वराम् | 79 | 14 | b |
| कामये द्रष्टु माहृताम् | 85 | 33 | d | काशिकेकयसृञ्जयान् | 84 | 55 | d |
| कामं विहृत्य सलिलात् | 65 | 31 | a | कार्शी मुपजगाम ह | 66 | 10 | d |
| कामात्मजं तं भुवनैक सुन्दरम् | 62 | 31 | a | काष्ठाना मुदगा दुदक् | 88 | 24 | d |
| कामानां भर्जनं नृणाम् | 87 | 44 | d | किङ्करस्या विजानतः | 64 | 20 | b |
| कामांश्च सर्ववर्णानाम् | 70 | 12 | c | किङ्करा इवतेऽमराः | 62 | 4 | d |
| कामेनातिबलीयसा | 86 | 8 | d | किञ्चित्करो त्युर्वपियत्स्वदत्तं | 81 | 35 | a |
| कामैरहतचेतसः | 80 | 30 | b | किन्तु तेऽविदितं नाथ | 64 | 11 | a |
| कामैर्भोगै स्सपर्यया | 69 | 30 | d | किन्नुवक्ष्येऽभिसङ्गम्य | 76 | 30 | a |
| काम्बोज कैकयान्मद्रान् | 82 | 13 | c | किन्वर्थ कामान् भजतः | 80 | 11 | c |
| कार्यं पैतृस्वसेयस्य | 71 | 2 | c | किन्वीश करवाम ते | 86 | 49 | b |
| कार्ष्णिस्सारथि रब्रवीत् | 76 | 28 | b | किमकार्य मसाधुभिः | 72 | 19 | b |
| कालगत्यादुरत्ययाम् | 68 | 24 | b | किमदेयं वदान्यानां | 72 | 19 | c |
| कालस्या रूपिण स्तव | 71 | 8 | d | किमनेन कृतं पुण्यम् | 80 | 25 | a |
| कालावध्वस्तसत्त्वानां | 85 | 30 | a | किमपि नतत्र शास्त्रमव कृष्यशयीत यदा | 87 | 24 | d |
| कालिङ्गप्रमुखा नृपाः | 61 | 27 | b | किमस्माभि रनिर्वृतम् | 80 | 44 | a |
| कालिङ्गः प्राह सद्बलम् | 61 | 29 | d | किमिदं कस्य वा वक्त्रम् | 66 | 25 | c |
| कालिन्दीं मित्रविन्दाञ्च | 71 | 43 | a | किमिदं कस्यवा स्थानं | 81 | 23 | c |
| कालिन्द्यास्सोमकोऽवरः | 61 | 14 | d | किमुत पुनः स्वधाम विधुता- | | | |
| कालेनतन्वा भवतोऽनुकम्पया | 73 | 13 | c | शय काल गुणाः | 87 | 16 | c |
| कालेन विसृजेद्बुधः | 84 | 38 | d | किमुतेऽक्षाऽभि मर्शिनः | 70 | 44 | d |
| कालेनाऽव्याहतदृशः | 64 | 11 | c | किमुपायन मानीतं | 81 | 3 | a |
| काले विध्युपयापनम् | 69 | 32 | b | किमुमत्कलया युतः | 86 | 53 | d |
| कालो दैवं कर्म जीवः स्वभावः | 63 | 27 | a | किरीटमालीन्यविशत् | 75 | 37 | c |
| कालोपसृष्टनियमावन आत्तयोग | 83 | 4 | c | किरीटमासनं शय्यां | 68 | 26 | c |
| कालो भवान् जगदिदं कलयाऽवतीर्णः | 70 | 28 | a | किरीटयुक्तंपुरुमायिनो हरिः | 77 | 37 | b |
| का विस्मरेत वां मैत्रीम् | 82 | 38 | a | | | | |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| किरीटहार कटक | 73 | 4 | c | कुत्रचिद्द्विज मुख्येभ्यः | 69 | 28 | a |
| किरीटेनाऽर्क वर्चसा | 64 | 9 | d | कुतोऽपि सह रामेण | 69 | 31 | c |
| किरीटेनार्क वर्णेन | 62 | 6 | c | कुन्तिभोजोविराटश्च | 82 | 25 | a |
| किं करिष्यन्ति वृष्णयः | 68 | 3 | b | कुन्तिर्नाग्नजितेम्सुताः | 61 | 13 | d |
| किं कुन्दं न ममामुनामुमनसः | | | | कुर्न्तीनाग्दृकेरलान् | 82 | 13 | d |
| कीदृग्विधा स्त्वत्प्रियाः | 90 | 20 | b | कुपितो विचकर्ष ह | 68 | 25 | f |
| किं दुर्मर्षं तितिक्षूणां | 72 | 19 | a | कुमारं गृह्य कन्याञ्च | 68 | 12 | c |
| किं नस्तत्कथया गोप्यः | 65 | 14 | a | कुमाराणा मितिश्रुतम् | 90 | 45 | d |
| किन्वल्पतपसां नृणाम् | 84 | 10 | a | कुमुदाम्भोज रेणुभिः | 90 | 6 | b |
| किं वः कामो मुनिश्रेष्टाः | 78 | 37 | a | कुम्भाण्डकूपकर्णाभ्याम् | 63 | 8 | a |
| किंवाचरित मस्माभिः | 90 | 19 | a | कुम्भाण्डः कूर्पकर्णश्च | 63 | 16 | a |
| किं वा जनाः स्वकृत मृच्छति तन्नविद्मः | 70 | 28 | d | कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते | 64 | 39 | c |
| किं वा नश्चल सौहृदः स्मरति तं | | | | कुररिविलपसित्वं वीतनिद्रा न शेषे | 90 | 15 | a |
| कस्मा द्भजामो वयम् | 90 | 26 | c | कुरवो वालदेवस्य | 68 | 23 | c |
| किं मुकुन्दापहृतात्मलाञ्छनः | 90 | 17 | c | कुरुकेकय कोसलाः | 75 | 12 | b |
| किं वा स्रजं स्पृहयसे कवरेणवोढुम् | 90 | 16 | d | कुरुते कार्यतोऽथवा | 82 | 21 | d |
| किं ववक्षुरिहागतः | 79 | 24 | d | कुरुध्वं मा विलम्वितं | 68 | 21 | d |
| किस्विद्वह्मं स्त्वन्निवासे | 89 | 28 | a | कुरुपाण्डवसंयुगे | 79 | 22 | b |
| कीदृशस्ते मनोरथः | 62 | 15 | b | कुरुभिर्यदुनन्दनः | 68 | 8 | b |
| कुक्कुटान्कूजतोऽशपन् | 70 | 1 | b | कुरुवृद्धाननुज्ञाप्य | 77 | 8 | a |
| कुचकुङ्कुमगन्धाढयं | 83 | 42 | c | कुरुवृद्धानु मोदितः | 68 | 5 | h |
| कुचकुङ्कुमलिप्ताङ्गः | 90 | 7 | c | कुरुसृञ्जयकेकयान् | 71 | 29 | d |
| कुचेलं मलिनं क्षामं | 80 | 23 | a | कुरुणां सह पाण्डवैः | 78 | 17 | b |
| कुञ्जरान् षष्टि हायनान् | 68 | 50 | b | कुरून्प्रत्युद्यमं चक्रुः | 68 | 13 | c |
| कुतानुमोहः परमस्य सद्गतेः | 77 | 33 | d | कुर्मस्तवाङ्घ्रपयसोपसेचनम् | 90 | 23 | b |
| कुतोऽशिवं त्वच्चरणाम्बुजासवम् | 83 | 3 | a | कुर्वन्तं विग्रहं कैश्चित् | 69 | 31 | a |
| | | | | कुर्वन्पारोक्ष्य सौहृदम् | 78 | 1 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कुलं समूलं दहति | 64 | 35 | c | कृत्वा पादाभिवन्दनम् | 71 | 28 | b |
| कुशपाणिर्विनीतवत् | 88 | 28 | d | कृत्वा भग्नवनस्पतीन् | 67 | 6 | b |
| कुशस्थलीं दिवि भुवि चाऽभिसंस्तुताम् | 83 | 36 | c | कृत्वा संस्थाविधिं पितुः | 66 | 27 | b |
| कुरुमै रभिवर्षितः | 78 | 15 | b | कृष्ट्वा तत्र यथा न्यायम् | 74 | 12 | c |
| कूजद्द्विजकुला कुलैः | 81 | 22 | b | कृष्ण कृष्ण महाबाहो! | 77 | 23 | a |
| कूजद्द्विजकुलेषु च | 90 | 6 | d | कृष्ण कृष्ण महायोगिन् | 85 | 3 | a |
| कूजतां हंससारसैः | 69 | 4 | d | कृष्ण कृष्णाऽप्रमेयात्मन् | 70 | 26 | a |
| कूपारामालयादिभिः | 69 | 34 | d | कृष्ण गार्ध्यसितावन्ति | | | |
| कूष्माण्डान् ब्रह्मराक्षसान् | 63 | 11 | b | रामाचार्योद्धवेश्वरः | 90 | 51 | c |
| कृकलासं गिरिनिभं | 64 | 3 | a | कृष्णञ्च कुपितं शनैः | 68 | 32 | b |
| कृकलासंपतन्प्रभो! | 64 | 25 | d | कृष्णञ्च त्यागकातरः | 75 | 28 | d |
| कृच्छ्रद्विसृष्टो निरगात् | 70 | 16 | c | कृष्णञ्चेदमुवाच सः | 77 | 26 | d |
| कृच्छ्रेण कुरवो युधि | 68 | 12 | b | कृष्णपत्नी स्सुवर्चसः | 71 | 42 | b |
| कृतपादाभिवन्दनौ | 85 | 1 | b | कृष्णपत्न्यास्स नारदः | 69 | 19 | b |
| कृतमालां ताम्रपर्णीम् | 79 | 16 | c | कृष्णमभ्यद्रवत्संख्ये | 63 | 17 | c |
| कृतमेतन्मया विभो | 76 | 32 | b | कृष्णमाविश दद्भुतं | 78 | 10 | b |
| कृतवर्मसुतो बली | 61 | 24 | b | कृष्णभोगेश्वरेश्वर | 85 | 29 | b |
| कतवर्मा च यूधपः | 82 | 7 | b | कृष्णरामदिदृक्षया | 84 | 2 | d |
| कृतानि च जगत्पतेः | 73 | 29 | d | कृष्णरामोग्रसेनाद्यैः | 84 | 59 | c |
| कृतासन परिग्रहम् | 70 | 35 | b | कृष्णरामौ परिष्वज्य | 82 | 35 | a |
| कृतासन परिग्रहः | 78 | 22 | b | कृष्णरामौ समाश्रव्य | 85 | 28 | a |
| कृतासन परिग्रहः | 87 | 48 | b | कृष्णशङ्करयो राजन् | 63 | 7 | c |
| कृत्तबाह्वङ्घ्रिकन्धराः | 83 | 35 | b | कृष्णश्चक्रेऽभिवादनम् | 71 | 41 | b |
| कृत्यानलः प्रतिहतः सरथाङ्गपाणेः | 66 | 40 | a | कृष्णश्च प्रत्यपूजयन् | 71 | 11 | d |
| कुत्यां माहेश्वरीं विभुः | 66 | 38 | b | कृष्णसन्दर्शनं मह्यं | 80 | 15 | c |
| कृत्वा च जगतीं वशे | 72 | 9 | b | कृष्णसन्दर्शनाह्लाद | 73 | 7 | a |
| कृत्वा निष्पन्न मोजसा | 67 | 20 | b | कृष्णस्तु तत्पौण्ड्रक काशि राजयोः | 66 | 17 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कृष्णस्तु तत्तन विपञ्जितकुङ्कुम स्रक् | 90 | 11 | a | कृष्णानुमोदितः पार्थे | 74 | 6 | c |
| कृष्णस्त्रीणां पुरोदिताः | 61 | 7 | b | कृष्णाय वासुदेवाय | 64 | 30 | c |
| कृष्णस्य गृहमेधिनाम् | 90 | 31 | b | कृष्णाय वासुदेवाय | 73 | 16 | a |
| कृष्णस्य च महामतिः | 71 | 1 | d | कृष्णायाऽकुण्ठमेधसे | 84 | 22 | b |
| कृष्णस्य च महारथः | 86 | 9 | d | कृष्णायाकुण्ठमेधसे | 86 | 35 | b |
| कृष्णस्यचाऽनुभावं तं | 74 | 1 | c | कृष्णायाऽऽचख्यु रुत्सुकाः | 64 | 4 | d |
| कृष्णस्य नगरी भृशम् | 76 | 12 | b | कृष्णायानन्यदर्शिने | 74 | 24 | b |
| कृष्णस्य परमात्मनः | 85 | 59 | b | कृष्णायाभिचरन् व्रतो | 66 | 31 | b |
| कृष्णस्य रचितां नृप | 85 | 58 | d | कृष्णायामल कीर्तये | 87 | 46 | b |
| कृष्णस्याकुण्ठमेधसः | 84 | 14 | b | कृष्णायाव्यक्तवर्त्मने | 66 | 3 | b |
| कृष्णस्याक्लिष्ट कर्मणः | 66 | 42 | d | कृष्णार्जुन वृकोदरान् | 72 | 27 | b |
| कृष्णस्यानन्तवीर्यस्य | 69 | 42 | a | कृष्णे कमलपत्राक्षे | 65 | 6 | c |
| कृष्णस्याऽसीत्सखा कश्चित् | 80 | 6 | a | कृष्णे कृष्णायतश्चित्तां | 83 | 15 | c |
| कृष्णस्याऽऽसीद्द्विजश्रेष्टः | 86 | 13 | a | कृष्णेऽखिलात्मनि हरौ | | | |
| कृष्णस्यैतन्नचित्रं क्षिति | | | | प्रणयानुबन्धम् | 84 | 1 | c |
| भरहरणं कालचक्र युधस्य | 90 | 52 | d | कृष्णेन च परिरब्धः | 72 | 45 | e |
| कृष्णस्यैवं विहरतः | 90 | 13 | a | कृष्णेनचास्यात्मनिकेत भूसुरैः | 86 | 42 | d |
| कृष्णं कमलपत्राक्षं | 66 | 4 | c | कृष्णेन परिभूतस्तम् | 61 | 20 | c |
| कृष्णं क्रतुञ्च शंसन्तः | 74 | 52 | c | कृष्णेन सुमहात्मना | 73 | 29 | b |
| कृष्णं जानीहि ते रिपुम् | 72 | 29 | d | कृष्णेनानन्तमूर्तिना | 64 | 9 | b |
| कृष्णं तोत्रैरिव द्विपम् | 78 | 7 | d | कृष्णेनाऽपि स्वचक्षुषा | 75 | 34 | d |
| कृष्णं त्रिभुवनेश्वरम् | 71 | 39 | b | कृष्णेनाऽमलकीर्तिना | 80 | 24 | b |
| कृष्णं मत्वाऽर्भकं यन्नः | 84 | 30 | c | कृष्णेनावहितात्मना | 69 | 43 | b |
| कृष्णं सभार्यमुपलभ्य गृहाधिरूढाः | 71 | 35 | b | कृष्णेनासीद्गतज्वरः | 75 | 30 | d |
| कृष्णं स्नेहेन पाण्डवः | 71 | 25 | b | कृष्णेनैकेनवह्नीनां | 69 | 1 | c |
| कृष्णः परिजनं प्राह | 64 | 32 | a | कृष्णेनोभक्तिरस्त्विति | 82 | 11 | b |
| कृष्णः पादावनेजने | 75 | 5 | b | कृष्णेयागेश्वरेश्वरे | 90 | 27 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कृष्णैकभक्त्या पूर्णार्थः | 86 | 13 | c | कौमोदक्या स्तनान्तरे | 78 | 8 | d |
| कृष्णोऽजीजन दात्मजान् | 90 | 53 | b | कौरवा जातसम्भ्रमाः | 68 | 42 | d |
| कृष्णोऽदात्तस्य च स्त्रियः | 90 | 12 | d | कौरवाः कुपिता ऊचुः | 68 | 2 | a |
| कृष्णोद्धव बलादिभिः | 84 | 68 | b | कौशिकीमेत्य ब्राह्मणैः | 79 | 9 | b |
| कृष्णोऽपि तमहन्गुर्व्या | 78 | 8 | c | कौशेय वाससी पीते | 66 | 14 | a |
| कृष्णेपि रथमास्थाय | 66 | 10 | c | क्रतवश्च यदात्मकाः | 74 | 20 | b |
| कृष्णोऽयत्सम्मतोऽर्हणे | 74 | 32 | d | क्रतुराजेन गोविन्द | 72 | 3 | a |
| कृष्णो योगेश्वरेश्वरः | 74 | 48 | b | क्रत्वङ्गं क्रतुभि स्सर्वैः | 79 | 30 | c |
| कृष्णो रामोऽसितोऽरुणिः | 86 | 18 | b | क्रन्दता मश्रुबिन्दवः | 64 | 38 | b |
| केकयैस्सहमद्रकैः | 72 | 13 | f | क्रियते किन्तु पूर्णानां | 69 | 21 | c |
| केचनोद्धवैरेण | 85 | 44 | a | क्रियमाणेन माधव्यः | 90 | 27 | c |
| केचित्कुर्वन्ति कर्माणि | 80 | 30 | a | क्रियाकलापं परिधाय वाससी | 70 | 6 | b |
| केतुस्ते भज्यते यदा | 62 | 10 | b | क्रियाफलं प्रेत्य च कर्णरोचनम् | 73 | 14 | d |
| केदार आत्मक्रव्येण | 88 | 17 | c | क्रियाभिः क्रतुराडिव | 75 | 18 | d |
| केरलांस्तु त्रिगर्तकान् | 79 | 19 | d | क्रियाश्चक्रे यथोचिताः | 86 | 15 | d |
| केशप्रसारशयनस्नपनोपहारैः | 61 | 6 | c | क्रीडन्तीभिस्तटिदद्युभिः | 90 | 2 | d |
| केशवेनानुकम्पितः | 73 | 35 | b | क्रीडन् बवन्धह यथाशिशवोऽजतोकान् | 83 | 13 | d |
| केशाविरिञ्चो धिषणा विसर्गः | 63 | 37 | b | क्रीडानरशरीरस्य | 76 | 1 | c |
| कैर्धृताञ्जलिभिर्नेमुः | 86 | 23 | c | क्रीडाभिषङ्गधुत कुन्तल बृन्दबन्धः | 90 | 11 | b |
| कोनुत्वच्चरणाम्भोजं | 86 | 33 | a | क्रीडालङ्कारवासांसि | 90 | 12 | c |
| कोनुश्रुत्वा सकृद्ब्रह्मन् | 80 | 2 | a | क्रीडास्नानाशनादिषु | 90 | 50 | b |
| कोऽन्यस्तदवितेश्वरः | 89 | 41 | d | क्रीडित्वा सुचिरं तत्र | 64 | 2 | a |
| कोन्वर्थः क्षत्रबन्धुना | 72 | 26 | b | क्रुद्धस्त्वष्टृ पदेनेन | 61 | 36 | c |
| को पस्तेऽखिलशिक्षार्थं | 68 | 47 | a | क्रुद्धोमुसलमादत्त | 67 | 16 | c |
| को वेदभूम्न उरुगाय विभूतिमायाम् | 85 | 20 | d | क्रुद्धौस्वमुष्टिभिरयस्सदृसै रपिष्टाम् | 72 | 38 | b |
| कौतूहलसमन्विता | 62 | 14 | d | क्लिन्नाम्बरा विवृतगात्र कुचोरुमध्याः | 75 | 17 | b |
| कौमुदी गन्धवायुना | 65 | 18 | b | क्लिश्यामहेऽतिकृपणास्तव माययेह | 70 | 29 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| क्लैव्यं कथं गतो वीर | 76 | 31 | c | क्षुत्क्षामाः शुष्कवदनाः | 73 | 2 | a |
| क्वकृष्णः श्रीनिकेतनः | 81 | 16 | b | क्षेमं गच्छेदकिञ्चनः | 87 | 3 | d |
| क्वचाऽखण्डितविज्ञान | 77 | 32 | c | क्षेमं त्रिलोकगुरु रर्थदृशञ्च यच्छन् | 86 | 21 | b |
| क्वचिच्चरन्तं योगेशं | 69 | 36 | c | क्षेमायस्वस्तये नृणाम् | 87 | 6 | b |
| क्वचिच्छयानं पर्यङ्के | 69 | 26 | c | क्षेमीस्यात्किमु विश्वेशो | 88 | 39 | c |
| क्वचित्क्रतुभिरूर्जितैः | 69 | 34 | b | क्षोभं दधुर्मलधियां रुचिरैर्विहारैः | 75 | 17 | d |
| क्वचित्समुद्रमध्यस्थः | 67 | 5 | a | क्षौद्रालापाय कामदं श्रिय मृते | | | |
| क्वचित्स शैलानुत्पाट्य | 67 | 4 | a | सेवैकनिष्ठा स्त्रियाम् | 90 | 26 | d |
| क्वचिदजयात्मनाचचरतोऽनु चरे न्निगमः | 87 | 14 | d | क्षौमाणि न तिलैस्सह | 70 | 9 | b |
| क्वचिद्भूमौ क्वचि द्व्योम्नि | 76 | 22 | a | क्ष्माभृद्द्रोणीगुहासु सः | 67 | 7 | b |
| क्वशोकमोहौ स्नेहो वा | 77 | 32 | a | | | | |
| क्वाऽपि धर्मसुतोऽधिराट् | 75 | 34 | b | – ख – | | | |
| क्वापि धर्मं सेवमानम् | 69 | 29 | c | ख इव रजांसि पान्ति वयसासह यच्छ्रुतयः | 87 | 41 | c |
| क्वाऽपि यातः स्पृहयतीम् | 62 | 17 | c | खगकिन्नर चारणाः | 74 | 14 | d |
| क्वाऽपि सन्ध्यामुपासीनं | 69 | 25 | a | खङ्गेनानकदुन्दुभिः | 77 | 28 | b |
| क्वासि कान्तेति वादिनी | 62 | 13 | b | खंवायुर्ज्योतिरापदः | 85 | 25 | a |
| क्वाऽहं दरिद्रः पापीयान् | 81 | 16 | a | खं सूर्यइव रश्मिभिः | 77 | 15 | d |
| क्षणं विश्रम्यतां पुंसः | 88 | 29 | c | – ग – | | | |
| क्षणेन नाशयामास | 76 | 17 | c | | | | |
| क्षत्रबन्धोः कर्मदोषात् | 89 | 24 | c | गङ्गामनु च भारत | 78 | 20 | b |
| क्षन्तु मर्हथनः प्रभो | 89 | 9 | f | गङ्गायामनुदृश्यते | 68 | 54 | d |
| क्षन्तुमर्हस्यतिक्रमम् | 68 | 44 | d | गङ्गायां नगरं पतत् | 68 | 42 | b |
| क्षपण कथा मृताब्धिमवगाह्य तपांसिजहुः | 87 | 16 | b | गङ्गायां सह कृष्णया | 75 | 19 | d |
| क्षितिधरचिन्तयसे महान्तमर्थम् | 90 | 24 | b | गङ्गासागरसङ्गमम् | 79 | 11 | d |
| क्षित्वा मां व्यसनार्णवे | 62 | 17 | d | गङ्गेति चेह चरणाम्बु पुनाति विश्वम् | 70 | 45 | d |
| क्षीणस्तमो न निजदीधितिभिः क्षिणोसि | 90 | 18 | b | गजैर्नदद्भि रभ्राभैः | 82 | 8 | a |
| क्षुत्क्षमा च तथाविधा | 80 | 7 | b | गण्डस्थलंशिशिरहास कटाक्षमोक्षैः | 83 | 29 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| गतक्लमोऽब्रवीत्तस्मै | 88 | 31 | c | गदामि चक्रेपुभिरार्दयत् भृशम् | 66 | 17 | c |
| गतस्साञ्छिन्नसौहृदः | 65 | 12 | b | गन्धमालाम्बरा कल्प | 86 | 29 | c |
| गत त्वन्माययेश्वर | 85 | 16 | d | गन्धर्वाप्सरसो यक्षाः | 63 | 9 | c |
| गतः प्रभासमशृणोत् | 86 | 2 | c | गन्धर्वा मुनयो रामं | 65 | 22 | c |
| गतां श्चिरायिताञ्छक्र | 82 | 42 | c | गन्धर्वोरग रक्षसाम् | 76 | 6 | b |
| गति र्वायोस्तवेश्वर | 85 | 8 | d | गन्धस्रग्भूषणाम्बरैः | 75 | 14 | b |
| गतिं प्रेमपरिष्वङ्ग | 65 | 15 | c | गन्धैर्नृभिर्युवतिभिश्च विराजमानम् | 71 | 32 | d |
| गतिं सूक्ष्मा मवोधेन | 85 | 15 | c | गमनाय मतिं दधे | 80 | 13 | b |
| गतोमाहेश्वरोज्वरः | 63 | 31 | b | गयां गत्वापितृनिष्ट्वा | 79 | 11 | c |
| गत्यलापेक्षितास्मितैः | 90 | 13 | b | गर्हितेनाऽधमेन च | 80 | 25 | d |
| गत्वा गजाह्वयं रामः | 68 | 16 | a | गवां लक्षं | 64 | 19 | c |
| गत्वा ते खाण्डव प्रस्थं | 73 | 32 | a | गाङ्गंहित्वायथा न्याम्भः | 84 | 31 | c |
| गदप्रद्युम्नसाम्बाद्याः | 82 | 6 | c | गाञ्चस्वागतमब्रवीत् | 80 | 22 | d |
| गदयाताडय न्मूर्ध्नि | 78 | 7 | c | गाण्डीवं यस्य वै धनुः | 89 | 33 | d |
| गदयाऽभिहतोऽप्याजौ | 78 | 8 | a | गाथांनारायणान्विताम् | 87 | 4 | b |
| गदयोः क्षिप्तयो राजन् | 72 | 36 | c | गन्धारीञ्च यशस्विनीं | 68 | 5 | f |
| गदश्च शुकसारणौ | 76 | 14 | d | गान्धारी ससुता तथा | 82 | 24 | b |
| गदसात्यकि साम्बाद्याः | 77 | 5 | a | गामर्घ्यञ्चन्यवेदयन् | 68 | 19 | b |
| गदस्साम्बोऽथ सारणः | 63 | 3 | b | गायकायूथशोजगुः | 75 | 10 | b |
| गदानिर्भिन्न हृदयः | 78 | 9 | a | गायत्स्वलिण्वनिद्राणि | 70 | 2 | c |
| गदापाणिः प्रकम्पयन् | 78 | 2 | b | गायन्तं वारुणीं पीत्वा | 67 | 16 | a |
| गदापाणी उभौ दृष्ट्वा | 79 | 25 | a | गायन्ति ते विशद कर्म गृहेषु देव्यः | 71 | 9 | a |
| गदाभ्यां युध्यतो मृधे | 79 | 23 | b | गावश्चारयतो गोपाः | 83 | 43 | c |
| गदाभ्यां रणदुर्मदौ | 72 | 34 | d | गावोत्युज्झितसूनमासत | | | |
| गदामादाय सत्वरः | 78 | 3 | b | तदामोद प्रकर्षोन्मुखाः | 90 | 20 | d |
| गदामुद्यम्य कारूषः | 78 | 4 | a | गिरित्रमोक्षंकथयेच्छृणोति वा | 88 | 40 | c |
| गदायां सन्निवृत्तायाम् | 77 | 22 | a | गिरि मूर्ध्नि जले क्वचित् | 76 | 22 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| गिरिर्यथा गैरिकया | 67 | 19 | c | गृहं ध्रष्ट सहस्राणां | 80 | 17 | a |
| गिरिरिवतकं ययौ | 67 | 8 | d | गृहं धर्मार्थकामानां | 90 | 30 | c |
| गिरीन् नदीस्तीर्थाय | 71 | 21 | c | गृहादनपगं वीक्ष्य | 61 | 2 | a |
| गीतवादित्रघोषेण | 71 | 24 | a | गृहान्धकूपे पतितस्य सङ्गमः | 86 | 42 | b |
| गीतवाद्येन भूयसा | 81 | 24 | d | गृहान्नो निवस द्विजैः | 86 | 36 | b |
| गीतवाद्योपजीविनाम् | 90 | 12 | b | गृहीतकण्ठयः पतिभिः | 70 | 1 | c |
| गीतं सुरैर्नृभि रगाच्छनकै विदिहान् | 86 | 21 | d | गृहीतपादः कृष्णेन | 86 | 11 | c |
| गीयमान कथामृतः | 66 | 23 | d | गृहीतहस्ताः परिवभ्रिमाऽऽनुगः | 80 | 38 | d |
| गीभिः प्राञ्जलयो नृपाः | 73 | 7 | d | गृहीतार्हणपाणयः | 86 | 22 | d |
| गुणच्यतो राम शरोयथा चमूः | 89 | 51 | d | गृहीत्वा दशमे पदे | 61 | 37 | b |
| गुणप्रवाह एतस्मिन् | 85 | 15 | a | गृहीत्वा पाणिना पणिम् | 70 | 15 | a |
| गुणविगुणान्वयां स्तर्हि न देहभृताञ्च गिरः | 87 | 40 | b | गृहीत्वा पाणिना पाणिम् | 86 | 50 | c |
| गुणास्तद्वृत्तयश्च याः | 85 | 13 | b | गृहीत्वा पादयोश्शत्रुम् | 72 | 42 | c |
| गुणिन्या मायया सृष्टाः | 89 | 19 | c | गृहीत्वा शोणितपुरम् | 62 | 23 | c |
| गुणोपपन्ना कपिला हेमशृङ्गाः | 64 | 13 | b | गृहीत्वाश्रद्धयाऽऽत्मवान् | 87 | 45 | b |
| गुदतः पाटयामास | 72 | 43 | c | गृहीत्वा हलमुत्तस्थौ | 68 | 40 | c |
| गुप्तानृभिर्निरगमन्नुप लब्धुमेतत् | 75 | 16 | a | गृहीत्वा हेलयामास | 67 | 14 | e |
| गुप्ताया स्व गृहे प्रभो | 62 | 29 | b | गृहे कल्याणिदीयताम् | 80 | 13 | d |
| गुरवे गुरुदक्षिणाम् | 85 | 32 | d | गृहेभ्यो भगवान्विभुः | 70 | 17 | b |
| गुरुणाकिल चोदितौ | 85 | 32 | b | गृहेषु गृहमेधिनम् | 72 | 17 | b |
| गुरुदारैश्चोदितानां | 80 | 35 | c | गृहेषु व्यष्टसाहस्रम् | 69 | 2 | c |
| गुरुशुश्रूषया यथा | 80 | 34 | d | गृहेष्वच्युतधर्मिणाम् | 80 | 16 | d |
| गुरुं मां विप्रमात्मानं | 86 | 55 | c | गृहैर्दारसुतैषणाम् | 84 | 38 | b |
| गुरून् भूतानिसर्वशः | 70 | 10 | b | गृह्णन्ति यावतः पांसून् | 64 | 38 | a |
| गुरोरनुग्रहेणैव | 80 | 43 | c | गह्लन्ति वै चित्रकथस्य सुन्दर | 65 | 13 | c |
| गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये | 63 | 35 | b | गेहञ्जुषामपि मनस्युदियात्सदानः | 82 | 49 | d |
| गूढः कुन्यापुरे शश्वत् | 62 | 26 | a | गोकर्णाख्यं शिवक्षेत्रम् | 79 | 19 | e |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| गोपवृद्धांश्च विधिवत् | 65 | 4 | a |
| गोपाला वनगोचराः | 61 | 35 | b |
| गोपीनां रतिमावहन् | 65 | 17 | d |
| गोपीनां स गुरुर्गतिः | 83 | 1 | b |
| गोपीश्चोत्कण्ठिताश्चिरं | 82 | 14 | d |
| गोपैर्गोपी भिरेकत्र | 65 | 2 | b |
| गोपोयं कुलपांसनः | 74 | 34 | b |
| गोप्यश्च कुञ्जरपतेर्जनकात्मजायाः | 71 | 9 | c |
| गोप्यश्च कृष्ण मुपलभ्य चिरादभीष्टं | 82 | 40 | a |
| गोप्यो हसन्त्यः पप्रच्छुः | 65 | 9 | a |
| गोभूकन्यामहाधनाः | 84 | 52 | d |
| गोभूहिरण्यायतनाश्वहस्तिनः | 64 | 15 | a |
| गोमतीं गण्डकीं स्नात्वा | 79 | 11 | a |
| गोविन्दचरणाम्बुजे | 84 | 69 | b |
| गोविन्दपुरुषोत्तम | 64 | 28 | b |
| गोविन्दं गृहमानीय | 71 | 40 | a |
| गोविन्दापाङ्गनिर्भिन्ने | 90 | 19 | c |
| गोविन्दाय नमोनमः | 73 | 16 | d |
| गोविप्रदेवतावृद्धान् | 70 | 10 | a |
| गोवृषद्विजदेवताः | 70 | 12 | a |
| ग्रहैस्सूर्यमिवोदितम् | 86 | 19 | d |
| ग्रामसिंहा यथा हरिम् | 83 | 34 | d |
| ग्रामाद्वनं क्षितिभुजोऽपि ययु र्यदर्थाः | 90 | 55 | d |
| ग्रामे त्यक्तैषणास्सर्वे | 84 | 38 | e |
| ग्लहंतत्राऽजयद्बलः | 61 | 30 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **– घ –** | | | |
| घातार्यत्वाऽर्जुनादिभिः | 89 | 66 | b |
| घातयिष्यामि मागधम् | 71 | 19 | d |
| घ्नन्तं तीर्थे पशून्मेध्यान् | 69 | 35 | c |
| घ्नन्तं बहुशपन्तं वा | 64 | 42 | c |
| घ्नन्तं स्वसौन्यं कुपितो ववन्ध ह | 62 | 35 | b |
| घ्नन्तः प्रजाः स्वा अतिनिर्घृणाः प्रभो | 73 | 12 | c |
| **– च –** | | | |
| चकम्पे तेन पतता | 67 | 26 | a |
| चकार शरपञ्जरम् | 89 | 38 | d |
| चकार सन्ध्योपगमदिसत्तमो | 70 | 6 | c |
| चक्रन्तुविष्णोस्तदनुप्रविष्टं | 66 | 41 | a |
| चक्रंप्राचीं सरस्वतीम् | 78 | 19 | d |
| चक्रंमुकुन्दास्त्रमथाग्निमार्दयत् | 66 | 39 | d |
| चक्रादिभि र्मूर्तिधरै र्निजायुधैः | 89 | 57 | b |
| चक्रायुध मभाषत | 63 | 34 | d |
| चक्रुस्ततस्त्ववभृथस्नपनं द्युनद्याम् | 75 | 8 | d |
| चक्रुस्ते कृपयान्विताः | 64 | 3 | d |
| चक्रुः कृष्णकथामिथः | 82 | 17 | d |
| चक्रुस्सपर्यां कृष्णाय | 71 | 37 | c |
| चक्रे किल किल शब्दम् | 67 | 11 | c |
| चक्रेण क्षुरनेमिना | 63 | 33 | b |
| चक्रेणक्षुरनेमिना | 78 | 12 | b |
| चक्रेऽवभृथमेकराट् | 74 | 47 | d |
| चक्रेसत्त्वपरीक्षया | 89 | 3 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| चतुर्भिश्चतुरो वाहान् | 68 | 10 | a | चामरव्यजनेशङ्ख | 68 | 26 | a |
| चतुर्भिश्चतुरो वाहान् | 77 | 4 | a | चारुचन्द्रोविचारुश्च | 61 | 9 | a |
| चत्वारश्चतुरोहयान् | 68 | 11 | b | चारुदेवश्च वीर्यवान् | 61 | 8 | b |
| चत्वारो वार्षिका मासाः | 63 | 1 | c | चारुदेष्णाम्सुदेष्णाश्च | 61 | 8 | a |
| चत्वारोऽस्य भुजा श्शिष्टाः | 63 | 50 | a | चारुप्रसन्नवदनं | 73 | 3 | c |
| चन्दनागुरुकुङ्कुमैः | 80 | 21 | d | चारुभानुगदादयः | 64 | 1 | d |
| चन्द्रभानुर्वृहद्भानुः | 61 | 10 | c | चारुश्च दशमोहरेः | 61 | 9 | b |
| चन्द्राग्न्यर्कर्क्षविद्युताम् | 85 | 7 | b | चार्मभिस्तान्नवैः पाशैः | 64 | 4 | a |
| चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा हि | 63 | 36 | c | चार्वब्जकोश वदनायत वाहुनेत्र | 61 | 3 | a |
| चरणसरोज हंसकुलसङ्ग विमृष्ट गृहः | 87 | 21 | d | चिकीर्षसित्वं वालिश्यात् | 89 | 32 | c |
| चरणौ ते महामुने | 89 | 10 | b | चिच्छेद भगवान् वाहून् | 63 | 33 | c |
| चरति तथोन्मुखे त्वयि | | | | चिच्छेदान्य श्शरासनं | 68 | 11 | d |
| हिते प्रिय आत्मनि च | 87 | 22 | b | चित्त आनकदुन्दुभिः | 84 | 65 | b |
| चरतो शुशुभे युद्धं | 72 | 35 | c | चित्तस्योपशमोऽयं वै | 84 | 36 | a |
| चरन्तमसिवर्त्मसु | 69 | 25 | d | चित्तं मुकुन्दे किलपद्महस्तया | 83 | 17 | c |
| चरन्तं मृगयां क्वापि | 69 | 35 | a | चित्रगुर्वेगवान्वृषः | 61 | 13 | b |
| चरन्ताविद मब्रवीत् | 79 | 25 | d | चित्रध्वजपताकाग्रैः | 75 | 11 | a |
| चराचर मिदं विश्वं | 86 | 56 | a | चित्रध्वजैः कनकतोरण पूर्णकुम्भैः | 71 | 32 | b |
| चरित ममृत कीर्ते र्वर्णितं व्यास पुत्रैः | 85 | 60 | b | चित्रबाहु विरूपश्च | 90 | 36 | c |
| चरितमहामृताब्धि परिवर्त परिश्रमणाः | 87 | 21 | b | चित्रबानुर्वृकोऽरुणः | 90 | 35 | d |
| चरित्वाते तमृत्विजः | 75 | 19 | b | चित्रलेखा च तत्सुता | 62 | 14 | b |
| चरित्वा ते महर्षयः | 84 | 53 | b | चित्रलेखा तमाज्ञाय | 62 | 22 | a |
| चरित्वा द्वादश मासान् | 78 | 40 | e | चित्रंबतैत देकेन | 69 | 2 | a |
| चरिष्यति भवान् लोक | 78 | 32 | c | चिन्तयन्तं सतां शिवम् | 69 | 31 | d |
| चरिष्ये वधनिर्वेशं | 78 | 33 | a | चिन्तयन्त्योऽ रविन्दाक्षं | 90 | 14 | c |
| चामर व्यजनानि च | 81 | 29 | d | चिन्मात्रं सदनन्तकम् | 88 | 10 | b |
| चामरव्यजनेन वै | 80 | 23 | d | चिरदर्शन कातराः | 82 | 33 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| चिरं नःपाहि दाशार्ह | 65 | 3 | a | जगद्व्यतिकरावहम् | 67 | 28 | b |
| चिरं विमृश्य मुनयः | 84 | 15 | a | जगाम नैमिषं यत्र | 78 | 20 | c |
| चिराद्दृष्टं प्रियतमं | 71 | 25 | c | जगाम पुलहाश्रमम् | 79 | 10 | d |
| चिरान्मृत सुतादाने | 85 | 32 | a | जगाम यदुनन्दनः | 79 | 23 | d |
| चीरबद्धा न्द्विजन्मनः | 81 | 8 | b | जगाम स्वगृहं प्रीतः | 89 | 35 | c |
| चुकोपोद्वीक्ष्य माधवः | 78 | 23 | d | जगाम स्वालयं तात | 81 | 13 | c |
| चूर्णीबभूवतु रूपेत्य यथार्कशाखे | 72 | 37 | c | जगाम हास्तिनपुरं | 68 | 15 | a |
| चेलखण्डेन तान्बद्ध्वा | 80 | 14 | c | जगुःसुकण्ठ्योगन्धर्व्यः | 84 | 46 | e |
| चैद्य देहोत्थितं ज्योतिः | 74 | 45 | a | जगृहे खड्गचर्मणी | 74 | 42 | b |
| चैद्यायमाऽर्पयितुमुद्यत कार्मुकेषु | 83 | 8 | a | जग्मु र्गिरिव्रजं तात | 72 | 16 | c |
| चैद्ये च सात्त्वतपतेश्चरणं प्रविष्टे | 75 | 8 | c | जग्मुर्यदुकुमारकाः | 64 | 1 | b |
| चोदनाय विमुच्यते | 85 | 47 | d | जघानासिगदेषुभिः | 63 | 14 | d |
| च्यवनो देवलोऽसितः | 84 | 3 | b | जघ्नतुर्वज्रकल्पाभ्यां | 72 | 34 | c |
| | | | | जघ्नुस्सौभपते र्बलम् | 77 | 5 | b |
| – छ – | | | | जघ्ने तं नृम्णसंसदि | 61 | 36 | d |
| छन्दां स्ययातयामानि | 80 | 42 | c | जघ्ने तंशतधाच्छिनत् | 67 | 21 | b |
| छायाश्च रूपाणि च सञ्चकास्ति | 63 | 40 | b | जत्रावभ्यर्दयत् क्रुद्धः | 67 | 25 | c |
| छित्त्वेषुणाऽपातयत्तम् | 83 | 26 | c | जनकः स्वगृहागतान् | 86 | 27 | b |
| छिन्नधन्वाऽविशत्पुरम् | 63 | 21 | d | जनय न्यदपेक्षया | 74 | 22 | b |
| छुरितेषुसरस्सूचैः | 69 | 4 | c | जनलोकनिवासिनाम् | 87 | 8 | d |
| | | | | जनलोकेऽ भवत्पुरा | 87 | 9 | b |
| – ज – | | | | जनसङ्ग्रह इत्यूचुः | 84 | 15 | c |
| जगतामीश्वरं प्रार्चः | 84 | 41 | c | जनाना मसृजत्प्रभुः | 87 | 2 | b |
| जगतीजगतः पते | 65 | 28 | d | जनि मसतः सतो मृति | | | |
| जगदधभिदलं तद्भक्त सत्कर्णपूरम् | 85 | 60 | c | मुतात्मनि ये च भिदां | 87 | 25 | a |
| जगदुः प्रकृतिभ्यस्ते | 73 | 30 | a | जनेभ्यः कथयाञ्चक्रुः | 84 | 71 | a |
| जगद्गुरुं भ्रष्टबुद्ध्या | 90 | 29 | c | जनेषुविख्यापयितुं मुकुन्दः | 64 | 7 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| जनेष्वभिज्ञेषु सएव गो खरः | 84 | 13 | d | जहारानुमतः पित्रोः | 86 | 9 | c |
| जनैः स्वपुर माविशत् | 67 | 28 | d | जहाराऽऽपनतो रिपोः | 74 | 43 | d |
| जन्तुर्वैकृतकिल्बिषः | 88 | 39 | b | जहारैकरथो युधि | 61 | 22 | d |
| जन्मत्रयानुगुणित | 74 | 46 | a | जहास भीमस्तं दृष्ट्वा | 75 | 40 | a |
| जन्मबन्धु श्रियोन्नद्ध | 68 | 29 | a | जहासोच्चैःस्म मागधः | 72 | 30 | b |
| जन्मभाजो नृणा मिह | 82 | 29 | b | जहौमङ्कथया शुचः | 82 | 18 | d |
| जन्मैतच्छोभनं कुरु | 69 | 22 | b | जाज्वल्यमान हृदयो | 75 | 42 | c |
| जन्मैतत्तेभारहाराय भूमेः | 63 | 28 | d | जाज्वल्यमानं प्रलयानलप्रभं | 66 | 39 | b |
| जपन्तं बह्म वाग्यतं | 69 | 25 | b | जातमात्रो भुवं स्पृष्ट्वा | 89 | 22 | c |
| जयजय जह्यजा मजितदोष गृभीत गुणां | 87 | 14 | a | जातस्मरोत्सवलसद्वदनाविरेजुः | 90 | 10 | d |
| जयति जननि वासोदेवकीजन्मवादः | 90 | 53 | a | जातहासो हरन्मनः | 70 | 16 | d |
| जयशब्दयुताभुवि | 83 | 27 | b | जात्यारुणाक्षोऽतिरुपा | 61 | 31 | c |
| जयशब्दो नमश्शब्दः | 67 | 27 | a | जानन्नधर्मं तद्योगं | 61 | 25 | e |
| जयशब्दोनमश्शब्दः | 88 | 36 | c | जानन्नपि महीं प्रादात् | 72 | 25 | c |
| जयस्सुभद्रो भद्रायाः | 61 | 17 | c | जानेवामस्ययत्साक्षात् | 85 | 3 | c |
| जरासन्धनिरोधजम् | 70 | 24 | d | जाम्बवत्या स्सुताह्येते | 61 | 12 | c |
| जरासन्धवधं विभोः | 74 | 1 | b | जिगीषयाऽस्या इतरेतरस्पृधः | 73 | 12 | b |
| जरास्न्धवधः कृष्ण | 71 | 10 | a | जिघृक्षयातान् परितःप्रसर्पतः | 62 | 34 | a |
| जरासन्धं घातयित्वा | 73 | 31 | a | जिघ्रन्त इव नासाभ्यां | 73 | 6 | a |
| जरासन्धादय स्तथा | 76 | 2 | d | जितवानह मित्याह | 61 | 30 | c |
| जलक्रीडारतं क्वाऽपि | 69 | 27 | c | जितोऽस्म्यात्मवता तेऽहम् | 72 | 10 | c |
| जलक्रीडार्थ मीश्वरः | 65 | 25 | b | जित्वर्क्षराजमथरत्नमदात्सतेन | 83 | 9 | c |
| जलयान मिवाऽऽघूर्णं | 68 | 42 | a | जित्वाऽजेयं सुरासुरैः | 77 | 25 | b |
| जलं मत्वा स्थलेऽपतत् | 75 | 38 | b | जित्वाधर्मेण धार्मिकम् | 68 | 22 | b |
| जले च स्थलवद्भ्रान्त्या | 75 | 38 | c | जित्वानृलोकनिरतं सकृदूढ दर्पः | 70 | 31 | c |
| जल्पितंचारु वीक्षितम् | 65 | 15 | b | जिष्णुश्चतद्दर्शन जातसाध्वसः | 89 | 58 | b |
| जहारत्रनैव शिरस्सकुण्डलं | 77 | 37 | a | जीवकोशास्त मध्यगन् | 82 | 48 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| जीवतावाह्मणार्थाय | 72 | 26 | a |
| जीवस्य यत्संसरतो विमोक्षणं | 70 | 40 | a |
| जीवस्याऽनुस्मृतिः सती | 85 | 10 | d |
| जीवितञ्चजराकृतम् | 72 | 40 | b |
| जीवेशौ स्वविभूतिभिः | 84 | 50 | d |
| जुष्टं ददर्श भवनैःकुरुराजधाम | 71 | 33 | d |
| जुष्टंस्वलङ्कृतैः पुम्भिः | 81 | 23 | a |
| जुष्टायां वृष्णिपुङ्गवैः | 90 | 1 | d |
| जुष्टांस्फाटिक राजतैः | 69 | 5 | b |
| जुष्टेन साञ्जलि रवीविश दासने स्वे | 69 | 14 | d |
| जह्वन्तञ्च वितानाग्नीन् | 69 | 24 | a |
| जुह्वानोऽग्निमुखं हरम् | 88 | 17 | d |
| जृम्भणास्त्रेणजृम्भितम् | 63 | 14 | b |
| ज्ञातिबन्धुसुहृद्धृतः | 79 | 32 | b |
| ज्ञातिभिस्समुपागतः | 79 | 29 | d |
| ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः | 72 | 2 | b |
| ज्ञात्वाकृष्णपुरोगमान् | 82 | 32 | b |
| ज्ञात्वा च तदवस्थितिम् | 83 | 24 | b |
| ज्ञात्वाऽथ नः क्षितिजये जितराजकन्याः | 83 | 40 | b |
| ज्ञात्वा परीक्षित उपाहरदर्हणं माम् | 83 | 40 | c |
| ज्ञात्वा मममतं साध्वि | 83 | 18 | a |
| ज्ञात्वाहार्दं सभासदाम् | 74 | 26 | b |
| ज्ञानविध्वंस्तकल्मषान् | 74 | 33 | b |
| ज्ञानैश्वर्यस्य हाऽऽत्मनः | 77 | 32 | d |
| ज्वरस्तु त्रिशिरा स्त्रिपात् | 63 | 22 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **– ड –** | | | |
| डाकिनी यातु धानांश्च | 63 | 10 | c |
| **– त –** | | | |
| त इमेऽध्यासतेऽन्तिके | 85 | 50 | d |
| तइमेमन्दमतयः | 68 | 33 | a |
| तउतपदाऽऽक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निऋतेः | 87 | 27 | b |
| तउतभवत्पदाम्बुजहृदोऽद्यभिदद्भि जलाः | 87 | 35 | b |
| तएन मृषयो राजन् | 84 | 43 | a |
| तएवकृष्णाद्य गभीररंहसा | 73 | 13 | a |
| तएवं मोचिताः कृच्छ्रात् | 73 | 29 | a |
| तएवं लोकनाथेन | 83 | 2 | a |
| तच्छिक्षयन् लोकमिमं | 69 | 40 | c |
| तच्छिष्यांश्च महात्मनः | 87 | 47 | b |
| तच्छ्रीनिकेत चरणोऽस्तु ममार्चनाय | 83 | 8 | d |
| तच्छ्रुत्वा क्षुभितो रामः | 86 | 11 | a |
| तच्छ्रुत्वा तुष्टुवुस्सर्वे | 74 | 25 | c |
| तच्छ्रुत्वा नारदेनोक्तं | 68 | 13 | a |
| तच्छ्रुत्वा प्रीतमानसः | 73 | 33 | a |
| तच्छ्रुत्वा भगवान्क्रुद्धः | 62 | 10 | a |
| तच्छ्रुत्वा भगवान्रुद्रः | 88 | 22 | a |
| तच्छ्रुत्वा मेऽभवद्भ्रमः | 68 | 18 | d |
| तज्ज्ञात्वैप्रेषयामासुः | 89 | 2 | c |
| तञ्चषोडशभिर्बाणैः | 77 | 15 | a |
| तञ्चाऽपि जितवान्रामः | 61 | 32 | a |
| तत अलङ्कृतो वर्णान् | 84 | 54 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तत आप सुसङ्कटम् | 88 | 16 | d | ततो जरासन्ध वध | 71 | 3 | g |
| तत उत्थाय भगवान् | 89 | 8 | c | ततोऽतिव्रज्य भगवान् | 79 | 19 | c |
| ततउदगा दनन्त तवधाम शिरः परमं | 87 | 18 | c | ततो दृषद्वतीं तीर्त्वा | 71 | 22 | a |
| तत ऐन्द्रमगात् पुरीम् | 89 | 44 | b | ततोऽधनं त्यजन्यस्य | 88 | 8 | c |
| ततश्च कालयोगेन | 64 | 22 | a | ततो नापैति यस्मोऽपि | 74 | 40 | c |
| ततश्चट चटाशब्दः | 72 | 36 | a | ततोऽनिरुद्धं सहमूर्यया वरं | 61 | 40 | a |
| ततश्च भारतं वर्षं | 78 | 40 | a | ततोऽनुज्ञाप्यराजानं | 74 | 49 | a |
| ततश्चैद्यस्त्व सम्भ्रान्तः | 74 | 42 | a | ततोऽन्यदाविशद्गेहम् | 69 | 19 | a |
| ततस्थ आशुतोषेभ्यः | 88 | 11 | a | ततोऽन्यं तरुमुत्पट्य | 67 | 21 | a |
| ततस्तिर्यङ्मुखो नग्नाम् | 63 | 21 | a | ततोऽन्यस्मिन्गृहे पश्यन् | 69 | 23 | c |
| ततस्ते देवयजनम् | 74 | 12 | a | ततो बाहुसहस्रेण | 63 | 32 | a |
| तत स्समे खले वीरौ | 72 | 34 | a | ततोऽभिवाद्य ते वृद्धान् | 82 | 17 | a |
| तत स्सूक्ष्मतरंज्योतिः | 78 | 10 | a | ततो मां सुदुराराध्यम् | 88 | 10 | c |
| ततः कामैः पूर्यमाण | 84 | 67 | a | ततोऽमुञ्चच्छिलावर्षं | 67 | 23 | a |
| ततः कुमार स्सञ्जातः | 89 | 39 | a | ततो मुहूर्त आगत्य | 77 | 22 | c |
| ततः कैलास मगमन् | 89 | 5 | a | ततो मुहूर्तं प्रकृतावुपप्लुतः | 77 | 29 | a |
| ततः पाण्डुसुताः क्रुद्धाः | 74 | 41 | a | ततोऽमेध्यमयं वर्षं | 79 | 2 | a |
| ततः पुरीं यदुपतिरत्यलङ्कृताम् | 83 | 36 | a | ततो युधिष्ठिरो राजा | 75 | 28 | a |
| ततः प्रववृते युद्धं | 76 | 16 | a | ततो लक्षं रुक्म्य गृहान् | 61 | 30 | a |
| ततः प्रविष्टः सलिलं नभस्वता | 89 | 53 | a | ततोऽलब्ध द्विजसुतो हि | 89 | 45 | a |
| ततः प्रविष्टः स्वपुरं हलायुधः | 68 | 53 | a | ततो विकारा अभवन् | 88 | 4 | a |
| ततः प्रव्यथितो बाणः | 62 | 30 | a | ततो वैकुण्ठ मगमत् | 88 | 25 | c |
| ततः फाल्गुन मासाद्य | 79 | 18 | a | ततोव्यमुञ्चद्यमुनां | 68 | 30 | a |
| ततश्शपा द्विनिर्मुक्ता | 85 | 51 | c | तत्कथं नु भवान् कर्म | 89 | 32 | a |
| ततादजत्रौ संक्रुद्धः | 77 | 21 | c | तत्कृष्ण हस्तेरितया विचूर्णितं | 77 | 35 | a |
| ततोऽगा दाश्रमं साक्षात् | 87 | 47 | c | तत्तद्भाव बुभुत्सया | 69 | 36 | d |
| ततोऽग्नि रुत्थितः कुण्डात् | 66 | 32 | a | तत्तीर्थ क्लिन्नमूर्धजम् | 88 | 18 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तत्तेगतेऽस्म्यरण पादारविन्दम् | 85 | 19 | a | तत्राप्याचष्ट गोविन्दं | 69 | 23 | a |
| तत्त्वग्राम उदाहृतः | 85 | 22 | d | तत्राद्भुतं वै भवनम् द्युमत्तमम् | 89 | 53 | c |
| तत्परस्य जनस्य वा | 74 | 40 | b | तत्राऽयुत मदा द्धेनूः | 79 | 16 | a |
| तत्पादा ववनिज्याऽपः | 74 | 27 | a | तत्राश्वाः शैब्य सुग्रीव | 89 | 49 | a |
| तत्पादेक्षाहतांहसः | 83 | 2 | d | तत्रेयुस्सर्व राजानः | 74 | 11 | c |
| तत्पुत्रान्पितरा वपि | 82 | 18 | b | तत्रैकः पुरुषो राजन् | 70 | 23 | a |
| तत्पुत्राश्चानुपूर्वशः | 90 | 32 | d | तत्रैव तदनुज्ञातः | 71 | 3 | e |
| तत्रतत्र तमायान्तम् | 86 | 19 | a | तत्रोपमन्त्रिणो राजन् | 70 | 20 | a |
| तत्रतत्रोपसङ्गस्य | 71 | 37 | a | तत्रोपविष्ट मृषिभि | 87 | 7 | a |
| तत्रतेष्वात्म पक्षेषु | 70 | 46 | a | तत्रोपाय मचीकरत् | 83 | 18 | d |
| तत्रत्यानां मानसानां | 87 | 9 | c | तत्सङ्घातो बीजरोह प्रवाहः | 63 | 27 | c |
| तत्रत्यो याति शुद्धये | 84 | 31 | d | तत्सम्पादय नः प्रभो | 72 | 3 | d |
| तत्रदुर्योधनो मानी | 75 | 37 | a | तत्सर्वं चूर्णयामास | 67 | 23 | c |
| तत्रयुद्ध मभूद्घोरम् | 62 | 1 | c | तत्सूर्य कोटि प्रतिमं सुदर्शनं | 66 | 39 | a |
| तत्रवै वार्षिका न्मासन् | 86 | 4 | a | तत्स्पर्शनाद्भूय उपस्कृताकृतिः | 88 | 19 | d |
| तत्रषोडशभिः सद्म | 69 | 8 | a | तथा काशीपतेः कायात् | 66 | 22 | g |
| तत्र सुप्तं सुपर्यङ्के | 62 | 23 | a | तथा चक्रु रतन्द्रिताः | 73 | 30 | d |
| तत्रस्थाः ब्राह्मणाः केचित् | 70 | 22 | a | तथा तद्राष्ट्र पालोऽङ्ग | 84 | 34 | c |
| तत्रस्थानां मानसानां | 87 | 9 | c | तथात्वं जह्यस द्भावं | 84 | 34 | c |
| तत्रस्नात्वा महाभागाः | 82 | 9 | c | तथा नमत यूयञ्च | 64 | 43 | c |
| तत्रहाऽय मभूत्प्रश्नः | 87 | 11 | a | तथाऽनुगृह्यभगवान् | 83 | 1 | a |
| तत्राऽऽगतांस्ते ददृशुः | 82 | 12 | c | तथान्यैः कथ्यतां मृधे | 76 | 31 | d |
| तत्रागत्यारविन्दाक्षः | 64 | 5 | a | तथा भूतानि भूतकृत् | 82 | 44 | d |
| तत्रागन्भारतीः प्रजाः | 82 | 5 | b | तथा मे कुरुतं कामं | 85 | 33 | a |
| तत्राऽगम द्दूतो गोपैः | 82 | 32 | c | तथा रामविधीयताम् | 78 | 35 | d |
| तत्राऽगस्त्यं समासीनम् | 79 | 17 | a | तथेति गिरिशादिष्टः | 76 | 7 | a |
| तत्राऽपश्य द्यदुपतिं | 67 | 9 | a | तथैतद्वर्णितं राजन् | 87 | 49 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तथैवाच्युत रामयोः | 84 | 34 | d | तद्ध्यान योगो ग्रथितात्म बन्धनः | 81 | 40 | c |
| तथोद्वाहश्च योषिताम् | 61 | 1 | b | तद्बन्धूनाञ्च भारत | 63 | 1 | b |
| तदङ्गसङ्गस्तन कुङ्कुमां स्रजम् | 62 | 32 | b | तद्ब्रह्मपरमं सूक्ष्मम् | 88 | 10 | a |
| तदत्यन्तविडम्बनम् | 74 | 3 | d | तद्ब्राह्मण्याग्रणी र्भवान् | 84 | 20 | d |
| तदद्भुतं महत्कर्म | 76 | 20 | a | तद्भवा ननु मोदताम् | 70 | 42 | d |
| तदनुस्मरण ध्वस्त | 82 | 48 | c | तद्भाव मापु रपि नित्ययुजां दुरापम् | 82 | 40 | d |
| तदन्ते बोधयाञ्चक्रुः | 87 | 12 | c | तद्भङ्गमाविश महं कलनूपुराभ्यां | 83 | 28 | a |
| तदपो लोकपावनीः | 86 | 28 | d | तद्वदामि तवाऽग्रतः | 64 | 22 | d |
| तदप्यर्हत्तमेक्षया | 86 | 52 | d | तद्विज्ञाय महामत्वः | 72 | 42 | a |
| तदम्भसा महाभाग | 86 | 40 | a | तद्वीक्ष्य तानुपव्रज्य | 84 | 44 | a |
| तदर्थं जहि माधवम् | 71 | 3 | f | तद्वीर्ये रीडिरे मुदा | 65 | 22 | d |
| तदव्यग्रधियः श्रुत्वा | 68 | 21 | c | तद्वीक्ष्यैर्जात विस्रम्भः | 85 | 2 | c |
| तदसित्व मनश्वरम् | 85 | 12 | b | तनुजानां मधुद्विषः | 90 | 39 | b |
| तदहं भक्त्युपहृतम् | 81 | 4 | c | तन्तुरुक्म्यजयत्तत्र | 61 | 29 | c |
| तदनादृत्यसत्कारम् | 75 | 42 | a | तन्त्वां जगत्सित्युदयालहेतुम् | 63 | 45 | a |
| तदा महाकारुणिकस्सधूर्जटिः | 88 | 19 | a | तन्त्वाऽद्य निशितैर्बाणैः | 77 | 19 | a |
| तदा रामश्च कृष्णश्च | 84 | 50 | a | तन्नश्रद्दध्महे वयम् | 89 | 32 | d |
| तदाऽह विप्रो विजयम् | 89 | 40 | a | तन्नः प्रयच्छभद्रं ते | 72 | 18 | c |
| तदुक्त मित्युपाकर्ण्य | 86 | 50 | a | तन्नःप्रसीद निरपेक्ष विमृश्य युष्मत् | 85 | 48 | a |
| तदेव यत्पश्यति तद्धि चक्षुः | 80 | 4 | b | तन्नः शुश्रूषणं परम् | 78 | 39 | b |
| तद्गृहेषु महर्धिषु | 90 | 5 | d | तन्निग्रहाय हरिणा | 90 | 48 | a |
| तद्दर्शनाह्लाद परिप्लुताशयं | 85 | 35 | c | तन्निशम्याऽथ मुनयः | 89 | 15 | a |
| तद्दिदृक्षुः स्म नारदः | 69 | 1 | d | तन्नोभवा न्प्रणतशोकहराङ्घ्रियुग्मः | 70 | 30 | a |
| तद्दीक्षायां प्रवृत्तायाम् | 84 | 44 | a | तन्न्यस्त हृदयेक्षणा | 86 | 7 | d |
| तद्देवदेव भवत श्चरणारविन्द | 72 | 5 | a | तन्महिष्यश्च मुदिताः | 84 | 45 | a |
| तद्धामदुस्तरकृतान्त जवापवर्गं | 90 | 55 | c | तन्माता कोटरा नाम | 63 | 20 | a |
| तद्दामलेभेऽ चरितः सतांगतिम् | 81 | 40 | d | तन्मे साध्वनुमोदितम् | 63 | 47 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तन्वः प्राणमिवोत्थिताः | 82 | 33 | b | तमेव सर्वगेहेषु | 69 | 41 | c |
| तपश्चरन्ती माजाय | 83 | 11 | a | तमेवाऽनुस्मरन् ययौ | 69 | 43 | d |
| तपश्श्रुतब्रह्म वदान्यसद्व्यः | 63 | 14 | c | तमोधाम दुरासदम् | 76 | 8 | b |
| तपसा च बभूविम | 83 | 39 | d | तयोरेवं प्रहरतोः | 72 | 39 | a |
| तपसाविद्यया तुष्ट्या | 86 | 53 | c | तयोः प्रसन्नो भगवान् | 86 | 17 | a |
| तपसोपशमेन वा | 80 | 34 | b | तयोस्समानीय वरासनं मुदा | 85 | 36 | a |
| तपस्स्वाध्यायसंयमैः | 84 | 19 | b | तरतमतश्चक्र स्वनलवत् स्वकृतानुकृतिः | 87 | 19 | b |
| तपोविद्या व्रतधरात् | 74 | 33 | a | तरन्त्यञ्जो भवार्णवम् | 80 | 33 | d |
| तप्ततामृ शिखाश्मश्रुं | 79 | 3 | c | तरुण्यो जाति चापलाः | 67 | 12 | b |
| तप्ततामृ शिखा श्मश्रुः | 66 | 32 | c | तर्कयामास निर्व्यग्रः | 81 | 32 | c |
| तप्तोऽहन्ते तेजसा दुस्सहेन | 63 | 29 | a | तर्पणं प्राणन मपाम् | 85 | 8 | a |
| तमनादृत्यमत्पराः | 80 | 40 | d | तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वम् | 81 | 9 | c |
| तमभ्यषिञ्जन् विधिवत् | 84 | 47 | a | तर्पयित्वे खाण्डवेन | 71 | 45 | a |
| तामर्चयित्वाऽभिययुः | 68 | 18 | c | तर्पयित्वाऽऽत्मनः कलाः | 70 | 7 | b |
| तमसः पारमश्नुते | 80 | 31 | d | तर्हि न शास्यतेऽतिनियमोध्रुव नेतरथा | 87 | 30 | b |
| तमसाचाऽऽवृता दिशः | 86 | 37 | b | तर्हिनसन्नचासदुभयं नच कालजवः | 87 | 24 | c |
| तमसि भ्रष्ट गतयः | 89 | 49 | c | तर्ह्यङ्गाशुस्वशिरसि | 88 | 33 | c |
| तमहं मृगये कान्तम् | 62 | 17 | a | तल्लिङ्गैः श्रुतयः परम् | 87 | 12 | d |
| तमः सुघोरं गहनं कृतं महत् | 89 | 51 | a | तल्लिप्सु स्सयतिर्भूत्वा | 86 | 3 | c |
| तमाकृष्य हलाग्रेण | 79 | 5 | a | तव चाऽभिमतः क्रतुः | 71 | 10 | d |
| तमागत मभिप्रेत्य | 78 | 21 | a | तवदासस्य केशव | 64 | 26 | b |
| तमानेष्ये नरं यस्ते | 62 | 18 | c | तवपरि ये चरन्त्यखिल सत्वनिकेतनया | 87 | 27 | a |
| तमाभिचारदहनम् | 66 | 35 | a | तवपुरुषं वहन्त्यखिल शक्ति धृतोंश कृतम् | 87 | 20 | b |
| तमाहचाङ्गाऽलमलं वृणीष्व मे | 88 | 20 | a | तवबलिमुद्वहन्तिसमुदन्त्यजयानिमिषाः | 87 | 28 | b |
| तमुपागत माकर्ण्य | 71 | 23 | a | तवब्रह्ममयस्येश | 70 | 44 | c |
| तमुपैहि महाभाग | 80 | 9 | c | तवयोगेश्वरेश्वर | 85 | 45 | b |
| तमेव शरणं जग्मुः | 68 | 43 | a | तवाऽवतारोऽयमकुण्ठधामन् | 63 | 38 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तवेहितं कोर्हति साधुवेदितुं | 70 | 39 | a | तस्य चोद्धरणे यत्नं | 64 | 3 | c |
| तस्था वाजौ चतुर्भुजः | 83 | 32 | d | तस्य जिज्ञासया ते वै | 89 | 2 | a |
| तस्थौसिंह इवैकलः | 68 | 6 | d | तस्य तत्तेभ्यपूजयत् | 68 | 10 | d |
| तस्मा अवोचद्भगवान् | 87 | 8 | a | तस्यत्वन्नभवेद्भयम् | 63 | 30 | d |
| तस्मात् कृष्णायमहते | 74 | 23 | a | तस्य धार्ष्ट्यं कपेर्वीक्ष्य | 67 | 12 | a |
| तस्मात्सुतोऽ निरुद्धोऽभूत् | 90 | 40 | c | तस्य भार्या कुचेलस्य | 80 | 7 | a |
| तस्मादस्य भवेद्भक्त | 78 | 36 | c | तस्यभ्राताऽर्जुनो ह्ययम् | 72 | 29 | b |
| तस्मादेकस्तरस्येह | 79 | 27 | a | तस्यर्त्विजो महाराज | 84 | 49 | a |
| तस्माद्ब्रह्मऋषी नेतान् | 86 | 57 | a | तस्य वै देवदेवस्य | 81 | 39 | a |
| तस्मा द्ब्रह्मकुलं ब्रह्मन् | 84 | 20 | a | तस्यशम्भोः प्रसादेन | 62 | 4 | c |
| तस्मा न्नसन्त्यमी भावाः | 85 | 14 | a | तस्याऽऽगमन कारणम् | 81 | 6 | b |
| तस्मिन्देव क्रतुवरे | 70 | 43 | a | तस्याग्रआसीनमवेक्ष्य विस्मितः | 62 | 32 | d |
| तस्मिन्नभ्युदये राजन् | 61 | 26 | a | तस्याऽद्य ते ददृशिमाङ्घ्रि मघौघमर्ष | 84 | 26 | a |
| तस्मिन्नयाजयन् क्षेत्रे | 84 | 43 | c | तस्याऽनुयायिनो भूपाः | 74 | 44 | c |
| तस्मिन्निपतिते पापे | 77 | 38 | a | तस्यामन्तःपुरं श्रीमत् | 69 | 7 | a |
| तस्मिन्निवृत उद्वाहे | 61 | 27 | a | तस्यावनिज्यचरणौ तदपः स्वमूर्ध्ना | 69 | 15 | a |
| तस्मिन्प्रविष्टा वुपलभ्यदैत्यराट् | 85 | 35 | a | तस्या सन्प्रेम वन्धनाः | 75 | 3 | d |
| तस्मिन्महाभीम मनन्त मद्भुतम् | 89 | 54 | a | तस्यास्तु मेऽनुभव मङ्घ्र्यवनेजनीत्वम् | 83 | 12 | d |
| तस्मिन् सन्धाय विशिखं | 83 | 26 | a | तस्यास्यतोऽस्त्राण्यसकत् | 63 | 33 | a |
| तस्मिन् समान गुणरूपवय स्सुवेष | 69 | 13 | a | तस्यैव मे सौहृद सख्यमैत्री | 81 | 36 | a |
| तस्मिन्सुसङ्कुलइभाश्वरथद्विपद्भिः | 71 | 35 | a | तस्यैवयच्चरणशौचमशेषतीर्थम् | 69 | 15 | d |
| तस्मै चुक्रोधभगवान् | 89 | 3 | c | तस्योषा नामदुहिता | 62 | 12 | a |
| तस्मै तद्वर्णयामास | 87 | 48 | c | तस्यौरसः सुतो बाणः | 62 | 3 | a |
| तस्मैनमस्ते स्वविलक्षणात्मने | 70 | 39 | d | तं करेणसलीलया | 64 | 5 | d |
| तस्मैवर मदाद्भवः | 66 | 29 | b | तं कैवल्य निस्तयोनिमभयं | | | |
| तस्य काशिपति र्मित्रं | 66 | 12 | a | ध्याये दजस्रं हरिम् | 87 | 50 | d |
| तस्याचाऽऽपततः कृष्णः | 78 | 12 | a | तं क्लेश कर्मपरिपाक गुणप्रवाहैः | 84 | 33 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तं गन्धं मधुधारायाः | 65 | 20 | a | तं शस्त्रपूगैः प्रहरन्तमोजसा | 77 | 34 | a |
| तं ग्राव्णा प्राहर क्रुद्धः | 67 | 14 | a | तं सङ्गम्य यथान्यायं | 68 | 19 | a |
| तं ज्ञात्वा मनुजा राजन् | 82 | 2 | a | तं संनिरीक्ष्य भगवान्सहसोत्थितः श्री | 69 | 14 | a |
| तं तथाऽऽयान्तमालोक्य | 78 | 3 | a | ताण्डवेऽतोषयन्मृडम् | 62 | 4 | F |
| तं तथा विरथं चक्रुः | 68 | 12 | a | तातैतदुपमन्महे | 85 | 22 | a |
| तं तथा व्यसनं दृष्ट्वा | 88 | 27 | a | ता देवरानुत सखीन् सिषिचु र्दूतीभिः | 75 | 17 | a |
| तं तस्याविनयं दृष्ट्वा | 67 | 16 | a | तान्यस्त्राण्युत्सृजामि ते | 66 | 19 | d |
| तं तु ते विरथं चक्रुः | 68 | 11 | a | ता नस्सद्यः परित्यज्य | 65 | 12 | a |
| तं तु सङ्कर्षणो मूर्ध्नि | 67 | 18 | a | तानानर्चु स्तथा सर्वे | 84 | 7 | a |
| तं ते जिघृक्षवः क्रुद्धाः | 68 | 7 | a | तानाह करुणस्तात | 73 | 17 | c |
| तं त्वाऽद्याऽहं गतिं मता | 85 | 31 | d | तानि चिच्छेद भगवान् | 63 | 19 | a |
| तं दुस्त्यज महं मन्ये | 84 | 61 | c | तानि मे गदतः शृणु | 90 | 14 | d |
| तं दृष्ट्वा देवकी देवी | 85 | 58 | a | तानृषीनृत्विजो वव्रे | 84 | 42 | c |
| तं दृष्ट्वा भगवान्कृष्णः | 70 | 34 | a | तान् दृष्ट्वा बालकान् देवी | 85 | 54 | a |
| तं दृष्ट्वा वृष्णयो दृष्टाः | 82 | 33 | a | तान् दृष्ट्वा भगवान्कृष्णः | 89 | 50 | a |
| तं दृष्ट्वा व्यसृजज्ज्वरम् | 63 | 23 | d | तान् दृष्ट्वा सहसोत्थाय | 84 | 6 | a |
| तं नस्समादिशोपायं | 73 | 15 | a | तान्वीरदुर्मदहन स्तरसा निगृह्य | 83 | 73 | c |
| तं नागपाशै र्बलिनन्दनो बली | 62 | 35 | a | तापीं पयोष्णीं निर्विन्ध्यां | 79 | 20 | c |
| तं पापं जहि दाशार्ह | 78 | 39 | a | ताभिर्दुकूलवलयैः | 84 | 48 | a |
| तं पुनर्नैमिशं प्राप्तम् | 79 | 30 | a | ताभिः पतीन्द्रुपदराजसुतोपतस्थे | 75 | 32 | c |
| तं बल श्शतधाऽच्छिनत् | 67 | 20 | d | ताभ्यां वक्षस्यरूरुजत् | 67 | 24 | d |
| तं भजन्निर्गुणो भवेत् | 88 | 5 | d | तामनादृत्य वैदर्भो | 61 | 34 | a |
| तं भिक्षेत वृकोदरः | 71 | 7 | b | तामर्जुन उपश्रुत्य | 89 | 27 | a |
| तं मातुलेयं परिरभ्य निर्वृतः | 71 | 27 | a | तामसश्चेत्यहं त्रिधा | 88 | 3 | d |
| तं मामवज्ञाय मुहुः | 68 | 33 | c | ता मतुलेयसखिभिः परिषिच्यमानः | 75 | 16 | c |
| तं विलोक्य बृहत्कायं | 79 | 3 | a | तामापतन्तीं नभसि | 77 | 14 | a |
| तं विलोक्याऽच्युतो दूरात् | 80 | 18 | a | ताम्बूल दीपामृतभक्षणादिभिः | 85 | 37 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ताम्बूलविश्रमण वीजनगन्धमाल्यैः | 61 | 6 | b | तिस्रः कक्षा स द्विजः | 80 | 16 | b |
| ताम्बूलाद्यैर्नृपोचितैः | 73 | 26 | d | तिस्रः कोट्य स्सहस्राणां | 90 | 45 | a |
| तारा यथोडुपसहाः किमकार्यमूभिः | 71 | 36 | b | तीर्त्वा विनशनं हरिः | 71 | 21 | b |
| तावच्छीर्जगृहे हस्तं | 81 | 10 | c | तार्थञ्चक्रेनृपोनं यदजनि | | | |
| तावती रददाञ्च गाः | 64 | 12 | d | यदुषु स्वस्सरित्याद शौचं | 90 | 52 | a |
| तावतोब्दा न्निरङ्कुशाः | 64 | 39 | b | तीर्थस्नायी विशुध्यसे | 78 | 40 | d |
| तावत्तापो देहिनां तेऽङ्घ्रि मूलं | 63 | 29 | c | तीर्थानां तीर्थकारिणा | 89 | 11 | d |
| तावत्सूत उपानीय | 70 | 14 | a | तीर्थाभिषेकव्याजेन | 78 | 17 | c |
| तावदद्राक्ष मात्मानं | 64 | 25 | c | तीर्थास्पदं हृदि कृतं सुविपक्वयोगैः | 84 | 26 | b |
| तावदुत्थाय भगवान् | 74 | 43 | a | तुमुलं लोमहर्षणम् | 76 | 16 | d |
| तावद्भिर्युगप त्पृथक् | 68 | 9 | d | तुर्यः स्वदृग्येतु रहेतुरीशः | 63 | 39 | b |
| तावद्विचित्ररूपोऽसौ | 90 | 5 | c | तुल्यश्रुत तपश्शीलाः | 87 | 11 | e |
| तावन्मृदङ्गपटहाः | 83 | 30 | a | तुल्यसैन्योऽभिनिर्ययौ | 63 | 5 | d |
| तावाह भूमांपरमेष्ठिनां प्रभुः | 89 | 58 | c | तुल्यस्वीयारिमध्यमः | 87 | 11 | f |
| तावुत्सङ्गं समारोप्य | 82 | 36 | a | तुष्टाव प्रयताञ्जलिः | 63 | 25 | d |
| ताश्च सौभपते र्मायाः | 76 | 17 | a | तुष्टुवुर्ननृतुर्जगुः | 71 | 30 | f |
| तासां किं वर्ण्यते तपः | 90 | 29 | d | तुष्टुवुः पुष्पवर्षिणः | 75 | 13 | d |
| तासां यादश पुत्राणां | 61 | 7 | a | तुष्टुवु स्सूतमागधाः | 84 | 46 | d |
| तासां स्त्रीरत्नभूतानां | 90 | 32 | a | तुष्टोऽहं भो द्विजश्रेष्ठाः | 80 | 42 | a |
| ता हेलयामास कपिः | 67 | 13 | a | तुष्येयं सर्वभूतात्मा | 80 | 34 | c |
| तां गाथां समगायत | 89 | 26 | d | तूर्याश्चानक गोमुखाः | 75 | 9 | b |
| तां तथा यदुवीरेण | 62 | 27 | a | तूष्णीमन्य दगाद्गृहम् | 69 | 22 | d |
| तां नीयमानां तत्स्वामी | 64 | 17 | a | तूष्णी मासन् भ्रमद्धियः | 84 | 14 | d |
| तां परं समनुध्यायन् | 86 | 8 | a | तूष्णीमासन् सुरेश्वराः | 88 | 25 | b |
| ताः क्लिन्न वस्त्र विवृतोरुकुचप्रदेशाः | 90 | 10 | a | तूष्णीं कृष्णानु भावावित् | 74 | 25 | b |
| तिर्यगूर्ध्वमधः पार्थः | 89 | 38 | c | तूष्णीं प्रीतमना अभूत् | 85 | 26 | d |
| तिष्ठतिष्ठेति भाषिणः | 68 | 7 | b | तृणतूलं रजांसि च | 82 | 44 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तृणपीठ ब्रुसीष्वेतान् | 86 | 39 | a | ते विजित्य नृपान् वीराः | 72 | 14 | a |
| तृतीयं त्वेवमेव च | 89 | 26 | b | ते वै गदे भुजजवेन निपात्यमाने | 72 | 37 | a |
| ते गत्वाऽऽतिथ्यवेलायाम् | 72 | 17 | a | ते वै राजन्यवेषेण | 89 | 29 | c |
| ते चोत्पन्ना मनुष्येषु | 90 | 47 | c | ते शार्ङ्गच्युत बाणौघैः | 83 | 35 | a |
| तेऽच्युतं प्राप्तमाकुर्ण्य | 86 | 22 | a | तेषामुद्दामवीर्याणां | 90 | 34 | a |
| तेजसाऽग्निरिव ज्वलन् | 88 | 28 | b | तेषा मेकाधिकं नृप | 90 | 48 | d |
| तेजसाऽचिन्तयद्धरिः | 72 | 40 | d | तेषां नामानि मे शृणु | 90 | 34 | d |
| तेजसा यशसा श्रिया | 72 | 11 | b | तेषां न्ययुङ्क्तपुरुषान् | 73 | 24 | c |
| तेजीयसोऽपि किमुत | 64 | 33 | c | तेषां प्रमाणं भगवान् | 90 | 49 | a |
| तेऽति प्रीता स्तमाकर्ण्य | 68 | 18 | a | तेषां ये तत्प्रभावज्ञाः | 68 | 19 | c |
| ते तूर्णमुपतस्थतुः | 79 | 4 | d | तेषां स दिव मस्पृशत् | 75 | 10 | d |
| तेन दोषोऽपि नास्ति मे | 78 | 7 | b | तेषां हि प्रशमो दण्डः | 68 | 31 | c |
| ते नमस्कृत्य गोविन्दं | 85 | 57 | a | ते सर्वे पुण्डरीकाक्ष | 85 | 43 | c |
| तेनाऽऽनृण्य मुपैम्यज्ञ | 78 | 6 | a | ते हन्यमाना भवनाद्विनिर्गताः | 62 | 34 | c |
| तेनाऽऽसुरी मगन् योनिम् | 85 | 49 | a | ते हि पातकिनोऽधिकाः | 78 | 27 | d |
| तेनाहनत् सुसङ्क्रुद्धः | 67 | 20 | c | तैर्देशान् समचूर्णयत् | 67 | 4 | b |
| ते निर्गता गिरिद्रोण्यां | 73 | 1 | c | तैलगोरसगन्धोद | 75 | 15 | a |
| तेनोक्तं सात्वतं तन्त्रं | 90 | 38 | a | तौ कृष्णौ परमेष्ठिना | 89 | 61 | b |
| तेनोक्षै रुक्म्यदीव्यत | 61 | 28 | d | त्यक्त्वा मुसललाङ्गलौ | 67 | 25 | b |
| तेनोपसृष्टः सन्त्रस्तः | 88 | 24 | a | त्यत्क्वै हि मां त्वं शरणं | 66 | 6 | c |
| तेऽन्वसज्जन्त राजन्याः | 83 | 34 | a | त्यजन्तः प्रकृतीर्दैवीः | 80 | 30 | c |
| तेऽपि सन्दर्शनं शौरेः | 71 | 20 | c | त्याजयिष्येऽभिधानं मे | 66 | 20 | a |
| ते पुनन्त्युरुकालेन | 84 | 11 | c | त्रयाणामकुतोभयम् | 70 | 36 | b |
| ते पूजिता मुकुन्देन | 73 | 27 | a | त्राहि त्राहि त्रिलोकेश | 66 | 36 | c |
| तेभ्यः स्ववीक्षणविनष्टतमिस्र दृग्भ्यः | 86 | 21 | a | त्रिकूटं सुदर्शनम् | 78 | 19 | b |
| तेभ्यो विशुद्धविज्ञानं | 79 | 31 | a | त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा | | | |
| ते रथैर्देवधिष्ण्याभिः | 82 | 7 | c | यदव बोधकृता | 87 | 25 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| त्रिदण्डीद्वारकामगात् | 86 | 3 | d | त्वमेव मृर्ध्नीदमनन्तलीलया | 68 | 46 | a |
| त्रिपुरेण यथा मही | 76 | 12 | d | त्वया ब्रह्मवधो यथा | 78 | 31 | b |
| त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः | 88 | 3 | b | त्वया व्यापादित स्मरघ्ना | 77 | 18 | d |
| त्रिलोकगीताःशृणु वर्णयामि ते | 83 | 5 | d | त्वया सङ्गम्य सङ्गत्या | 84 | 21 | c |
| त्रिलोक्यां प्रतियोद्धारं | 62 | 8 | c | त्वयिकृतसौहृदाः खलु | | | |
| त्रिलोक्यां यदि भाव्यते | 62 | 18 | b | पुनन्ति न ये विमुखाः | 87 | 27 | d |
| त्रिवक्राया उपक्रोशः | 90 | 37 | a | त्वयि त इमे ततो विविध नामगुणैः परमे | 87 | 31 | c |
| त्रिविधाकृतय स्तस्य | 89 | 19 | a | त्वयि द्रष्टुं तदीश्वरम् | 87 | 10 | b |
| त्रिशरस्ते प्रसन्नोऽहम् | 63 | 30 | a | त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे | 87 | 25 | d |
| त्रिष्वधीशेषु को महान् | 89 | 1 | d | त्वयि शास्त्रशरीरिणि | 85 | 42 | b |
| त्रीणि गुल्मान्यतीयाय | 80 | 16 | a | त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे | 87 | 34 | b |
| त्रैलोक्यवृजिनापहम् | 86 | 34 | d | त्वयि सुधियोऽभवे दधति भाव मनुप्रभवम् | 87 | 32 | b |
| त्वञ्चामीषु विकारेषु हि | 85 | 14 | c | त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसने भवन्निधनाः | 87 | 41 | d |
| त्वञ्चैत द्ब्रह्मदायाद | 87 | 44 | a | त्वय्यद्धा ब्रह्मणि परे | 85 | 13 | c |
| त्वदनुपथं कुलायमिदमात्म सुहृत्प्रियवत् | 87 | 22 | a | त्वरितः कन्यकाकारं | 62 | 30 | c |
| त्वदवगमी नवेति भवदुत्थ शुभाशुभयोः | 87 | 40 | a | त्वष्ट्रा कार्त्स्न्येन दर्शितम् | 69 | 7 | d |
| त्वद्दर्पघ्नोभवेन्मूढ | 62 | 10 | c | त्वं तवेति च नानाधीः | 74 | 5 | c |
| त्वन्तु मिथ्याभिधां त्यज | 66 | 5 | d | त्वन्त्वद्यमुक्तो द्वाभ्यां वै | 84 | 40 | a |
| त्वत्पादुकेअविरतं परि ये चरन्ति | 72 | 4 | a | त्वं मातुलेयो नः कृष्ण | 78 | 5 | a |
| त्वन्मायामोहितोऽनित्या | 73 | 10 | c | त्वं मां यमनुपृच्छसि | 87 | 11 | b |
| त्वन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये | 63 | 27 | a | त्वं यक्ष्मणा बलवताऽसि गृहीत इन्दो | 90 | 18 | a |
| त्वमकरणः स्वराडखिलकारक शक्तिधरः | 87 | 28 | a | त्वं रोरवीणि करुणं बत चक्रवालि | 90 | 16 | a |
| त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः | 87 | 41 | b | त्वं वासुदेवो भगवान् | 66 | 2 | a |
| त्वमसि यदात्मना समवरुद्ध समस्त भागः | 87 | 14 | b | त्वं हि नः परमं चक्षुः | 70 | 47 | a |
| त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वच मात्तभागः | 87 | 38 | c | त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिः | 63 | 35 | a |
| त्वमेक आद्यः पुरुषोऽद्वितीयः | 63 | 39 | a | त्वां वयं शरणं गताः | 68 | 48 | d |
| त्वमेको हेतुर्निराश्रयः | 68 | 45 | b | | | | |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| – द – | | | |
| दक्षिणं तत्र कन्याख्यां | 79 | 17 | e |
| दक्षिणाग्निं परिचर | 66 | 30 | a |
| दक्षिणां मधुरां तथा | 79 | 15 | b |
| दक्षिणां विपुला मदात् | 74 | 47 | b |
| दग्ध्वा वाराणसीं सर्वां | 63 | 42 | a |
| दण्डेन सात्वतपतिं परिवीजयन्त्या | 69 | 13 | d |
| दत्तमादाय पारिबर्हं | 84 | 68 | c |
| दत्तस्यानन्त्य मिच्छता | 14 | 24 | d |
| दत्तां नो भुञ्जते महीं | 68 | 3 | d |
| ददतं गाः स्वलङ्कृताः | 69 | 28 | b |
| ददर्श तद्भोगसुखासनं विभुम् | 89 | 55 | a |
| ददामि भिक्षितं तेभ्यः | 72 | 23 | c |
| ददाम्यात्मशिरोऽपि वः | 72 | 27 | d |
| ददुः स्वन्नं द्विजाग्र्येभ्यः | 82 | 11 | a |
| ददृशुस्ते घनश्यामं | 73 | 2 | c |
| ददृशु स्सत्वमद्भुतम् | 64 | 2 | d |
| ददेऽहेरमृतं यथा | 88 | 22 | d |
| ददौ कान्तिः शुभां स्रजम् | 65 | 31 | d |
| ददौ च द्वादश शतानि | 68 | 50 | c |
| ददौ पूर्णस्य भक्तितः | 83 | 38 | d |
| ददौ रौप्यखुराग्राणां | 70 | 9 | a |
| दधाति सकृन्मन स्त्वयि य आत्मानं नित्यसुखे | 87 | 35 | c |
| दधार पादाववनिज्य तज्जलम् | 85 | 36 | c |
| दध्यौ चित्रमखण्डितम् | 90 | 37 | d |
| दध्यौ प्रसन्नकरणः | 70 | 4 | c |
| दन्तयोरिव दन्तिनोः | 72 | 36 | d |
| दन्तवक्त्रं सहानुजम् | 78 | 13 | b |
| दन्तवक्त्रो रुषाऽभ्यगात् | 77 | 38 | f |
| दन्तानपातयत्क्रुद्धः | 61 | 37 | c |
| दन्तान्संदर्शयन्नुच्चैः | 61 | 29 | e |
| दमघोषो विशालाक्षः | 82 | 26 | a |
| दरिद्रावित्यदुःखिताः | 89 | 25 | d |
| दरिद्रासीदमानासा | 80 | 8 | a |
| दर्पोपशमनायाऽस्य | 63 | 49 | a |
| दर्शन स्पर्शन प्रश्न | 84 | 10 | c |
| दर्शनस्पर्शनार्चनैः | 86 | 52 | b |
| दर्शनं वां हि भूतानां | 85 | 40 | a |
| दर्शनादेव साधवः | 84 | 11 | d |
| दर्शयन् स्वगुदं तासाम् | 67 | 13 | c |
| दर्शयामास विटपं | 72 | 41 | c |
| दर्शये द्विजसूनूं स्ते | 89 | 46 | b |
| दर्शित स्सुगमो योगः | 84 | 36 | d |
| दशपूर्वान्दशाऽपरान् | 64 | 36 | d |
| दशभिर्दशभिर्नेतॄन् | 76 | 19 | c |
| दशा मिमां वा कतमेन कर्मणा | 64 | 8 | a |
| दशास्य बाणयो स्तुष्टः | 88 | 16 | a |
| दहन्निव जगत्त्रयम् | 68 | 40 | d |
| दहन्निव दिशो दश | 63 | 22 | f |
| दंशितो धृतकार्मुकः | 77 | 2 | b |
| दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीदण्ड | 66 | 33 | a |
| दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीमुखम् | 79 | 3 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| दातुः प्रतीपैः फणिनामिवाऽ मृतम् | 68 | 27 | b | दिवि देवगणैरिनाः | 77 | 38 | d |
| दानवेन्द्रजगद्गुरौ | 88 | 33 | b | दिवि देवपतिर्यथा | 75 | 36 | f |
| दानिष्वाख्यायमानेषु | 64 | 10 | c | दिव्यस्त्रगनुलेपनैः | 70 | 11 | d |
| दान्ता रुक्मपरिच्छदाः | 81 | 29 | b | दिव्यस्त्रग्वस्त्रसन्नाहाः | 82 | 9 | a |
| दान्तैरासनपर्यङ्कैः | 69 | 10 | c | दिव्यं स्वरथ मास्थाय | 89 | 47 | c |
| दारुकश्चोदयामास | 83 | 33 | a | दिव्यान्यस्त्राणि संस्मृत्य | 89 | 37 | c |
| दारुकंप्रति केशवः | 77 | 10 | d | दिव्यान्याभरणानि च | 79 | 8 | d |
| दारुकेणाऽऽहृतं रथम् | 86 | 17 | b | दिव्यास्त्रै रुक्मिणीसुतः | 76 | 17 | b |
| दारैर्वरै स्तत्सदृशैः | 69 | 32 | c | दिशं खं स्फोटमाश्रयः | 85 | 9 | b |
| दाशार्हकाणामृषभस्सखा मे | 81 | 34 | d | दिशां त्वमवकाशोऽसि | 85 | 9 | a |
| दासीनां निष्ककण्ठीनां | 68 | 51 | c | दिशि प्रतीच्यां नकुलं | 72 | 13 | c |
| दासीनां निष्ककण्ठीनां | 81 | 27 | c | दिशोऽविदन्तोऽय परस्परं वने | 80 | 38 | c |
| दासीभिर्निष्ककण्ठीभिः | 69 | 11 | a | दिष्टं तदनुमन्वानः | 79 | 29 | a |
| दासीभिश्चतुरङ्गिणीम् | 83 | 14 | b | दिष्ट्या कंसो हतः पापः | 65 | 8 | a |
| दासीभिस्सर्वसम्पद्भिः | 83 | 38 | a | दिष्ट्या दिष्ट्या भवानद्य | 78 | 4 | c |
| दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम् | 61 | 1 | d | दिष्ट्या दुर्गं समाश्रिताः | 65 | 8 | d |
| दासी सहस्रयुतयानुसवं गृहिण्या | 69 | 13 | b | दिष्ट्या मुक्तास्सुहृज्जनाः | 65 | 8 | b |
| दास्यति द्रविणं भूरि | 80 | 10 | a | दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहः | 82 | 45 | c |
| दास्यतीति न चाऽपरे | 86 | 3 | b | दिष्ट्या व्यवसितं भूपाः | 73 | 20 | a |
| दास्यं गता वय मिवाच्युत पादजुष्टां | 90 | 16 | c | द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षया | 89 | 59 | a |
| दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मानि स्यात् | 81 | 36 | b | दीक्षयाञ्चक्रिरे नृपम् | 74 | 12 | d |
| दास्याम्येषा प्रदीयताम् | 64 | 19 | d | दीक्षाशाला मुपाजग्मुः | 84 | 45 | c |
| दिक्चक्रजयिना विभोः | 71 | 3 | b | दीक्षितोऽजिनसंवृतः | 84 | 48 | d |
| दिदृक्षव स्समेष्यन्ति | 70 | 43 | c | दीक्षितो ह्यग्रण्यपत्नीभिः | | | |
| दिनानि कतिचिद्भूमन् | 86 | 36 | a | पुण्यश्लोकशिखामणिः | 90 | 51 | d |
| दिवांशुभि स्तुमुलरवं बभौ रवेः | 71 | 17 | c | दीनानामीशमानिनाम् | 74 | 3 | b |
| दिवि दुन्दुभयो नेदुः | 83 | 27 | a | दीनानां शं विधीयताम् | 70 | 32 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| दीप्तिमान् भानुरेव च | 90 | 35 | b | दुर्योधनः पारिवर्हं | 68 | 50 | a |
| दीप्तिमां स्ताम्रपत्राद्याः | 61 | 18 | a | दुर्योधनाय रामस्तां | 86 | 3 | a |
| दीयतां परमार्हणम् | 74 | 23 | b | दुर्हृदां चाऽसुखावहाः | 73 | 32 | d |
| दीर्घमायुर्वतैतस्य | 78 | 34 | a | दुश्शील मजितेन्द्रियम् | 89 | 25 | b |
| दीव्यन्तमक्षैस्तत्राऽपि | 69 | 20 | a | दुष्करं जगदीश्वरैः | 89 | 32 | b |
| दीव्यन्तमक्षैः प्रिययाऽभि नृम्णया | 62 | 32 | a | दुष्टराजन्यचोदितः | 61 | 34 | b |
| दुकूलमालाभरणा ददावहम् | 64 | 13 | d | दुष्टश्शाखामृगः शाखां | 67 | 11 | a |
| दुद्रुवुर्जीवितैषिणः | 74 | 44 | d | दुष्प्रज्ञा अविदित्वैवं | 86 | 55 | a |
| दुद्रुवुस्तदनीकानि | 63 | 16 | c | दुष्प्रापञ्चाप्यदुर्बलम् | 85 | 40 | b |
| दुरधिग मात्मतत्त्वनिगमाय तवाऽऽत्ततनोः | 87 | 21 | a | दुष्प्रेक्षे स्वगृहे पुम्भिः | 62 | 24 | c |
| दुरधिगमोऽसतां हृदिगतोऽस्मृतकण्ठमणिः | 87 | 39 | b | दुष्प्रेक्ष्यः प्रहसन्मुहुः | 68 | 30 | d |
| दुरन्तवीर्येण विचालिताः स्त्रियः | 73 | 13 | b | दुष्प्रेक्ष्याया न विद्महे | 62 | 29 | d |
| दुरुक्तं दुष्कृतानि च | 79 | 28 | d | दुस्त्यजान् स्वजनान् प्रभो | 65 | 11 | d |
| दुर्गां देवीं ददर्श सः | 79 | 17 | f | दुस्सहं तत्सभासदः | 74 | 39 | b |
| दुर्जयो योऽकृतात्मभिः | 72 | 10 | d | दुहितुः श्रुतदूषणः | 62 | 30 | b |
| दुर्जरं बत ब्रह्मस्वम् | 64 | 33 | a | दूतञ्च प्राहिणोन्मन्दः | 66 | 3 | a |
| दुर्दर्शमपि योगिनाम् | 82 | 29 | d | दूतवाक्येन मामाह | 66 | 19 | c |
| दुर्दर्शामपि योगिनाम् | 69 | 38 | b | दूतस्तु द्वारकामेत्य | 66 | 4 | a |
| दुर्विनीतोऽयमर्भकः | 68 | 2 | b | दूतं कृष्णाय प्राहिणोत् | 66 | 1 | d |
| दुर्विभाव्यं परै रभूत् | 76 | 21 | d | दूतं त्वां नु विदाम कञ्चिदजितः | | | |
| दुर्मना इव भारत | 88 | 22 | b | स्वस्त्यास्त उक्तं पुरा | 90 | 26 | b |
| दुर्मन्त्रैकान्तशीलिनौ | 68 | 5 | d | दूतैर्नीतो यमक्षयम् | 64 | 23 | b |
| दुर्भाषां मानिनोऽब्रुवन् | 68 | 33 | d | दूरात् प्रत्युदिया द्भूत्वा | 88 | 27 | c |
| दुर्योधनञ्च विधिवत् | 68 | 17 | c | दूषयंश्च कुलस्त्रियः | 67 | 8 | b |
| दुर्योधन मृते पापं | 74 | 53 | a | दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वाः | 82 | 40 | c |
| दुर्योधनसुतां राजन् | 68 | 1 | a | दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा | 87 | 17 | a |
| दुर्योधनं वर्जयित्वा | 75 | 2 | a | दृप्तास्ते रुक्मिणं प्रोचुः | 61 | 27 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| दृश्यते न च दृश्यते | 76 | 21 | b | देवदुन्दुभयो र्नेदुः | 75 | 20 | a |
| दृश्यते स जले परम् | 83 | 19 | d | देवदेव जगत्पते | 64 | 23 | d |
| दृष्टपूर्वानचिन्तयत् | 72 | 22 | d | देवदेव जगद्गुरो | 80 | 44 | b |
| दृष्टं तवाङ्घ्रियुगलं जनतापवर्गं | 69 | 18 | a | देवदेव जगन्नाथ | 64 | 28 | a |
| दृष्टः कश्चिन्नरः स्वप्ने | 62 | 16 | a | देवदेवेश मादृतः | 71 | 40 | b |
| दृष्टा ब्रह्मण्यता मया | 81 | 15 | b | देवदैत्यनरेश्वराः | 73 | 20 | d |
| दृष्टा मया ते बहुला दुरत्यया | 70 | 38 | a | देव दैववशान्नीतः | 64 | 22 | c |
| दृष्ट्वा कुरूणां दौश्शील्यं | 68 | 30 | a | देवर्षि पितृगन्धर्वाः | 75 | 13 | c |
| दृष्ट्वा त उत्तमश्लोकं | 86 | 23 | a | देवर्षि पितृ गन्धर्वाः | 88 | 37 | c |
| दृष्ट्वा तमात्मन स्तुल्यं | 66 | 15 | a | देवर्षि पितृभूतानि | 75 | 26 | a |
| दृष्ट्वा तं पूजयामासुः | 76 | 20 | c | देवर्षि पितृ मानवान् | 78 | 18 | b |
| दृष्ट्वाऽद्रिं वेङ्कटप्रभुः | 79 | 13 | d | देवर्षि पितृ मानवाः | 75 | 20 | d |
| दृष्ट्वानुधावत स्साम्बः | 68 | 6 | a | देवर्षि पितृणां प्रभो! | 84 | 39 | b |
| दृष्ट्वा पाण्डुसुतस्य ताम् | 74 | 53 | d | देवर्षि र्द्रष्टु मागमत् | 69 | 3 | b |
| दृष्ट्वा बाणोऽत्यमर्षणः | 63 | 17 | b | देवर्षिर्यदु वृद्धाश्च | 71 | 11 | c |
| दृष्ट्वा विक्लिन्नहृदयः | 71 | 25 | a | देवर्षिः परमद्युतिः | 70 | 33 | b |
| दृष्ट्वाऽऽशुतोषं पप्रच्छ | 88 | 14 | c | देवर्षे रुद्धवोऽब्रवीत् | 71 | 1 | b |
| दृष्ट्वा स्वभक्तै रजितं पराजितं | 81 | 40 | b | देवं पशुपतिं प्रभुम् | 76 | 4 | b |
| दृष्ट्वा स्वानाञ्च साध्वसम् | 66 | 37 | b | देवं स वव्रे पाणीयान् | 88 | 21 | a |
| दृष्ट्वोवाच ममेति ताम् | 64 | 17 | b | देवाना मपि दुष्प्रापं | 84 | 9 | c |
| देयं दान्ताय पूर्णाय | 74 | 24 | c | देवानृषीन् पितृन्वृद्धान् | 70 | 7 | c |
| देवकी सर्वदेवता | 85 | 27 | b | देवान् साधून् लोकसेतून् बिभर्षि | 63 | 28 | b |
| देवकीं पितरं बालम् | 85 | 57 | b | देवाश्च कुसुमासारान् | 83 | 27 | c |
| देवक्या उदरे जाता | 85 | 50 | a | देवाश्च तदनुग्रहः | 85 | 10 | b |
| देवक्या प्रहितोऽस्मीति | 77 | 22 | c | देवासुर मनुष्याणां | 76 | 6 | a |
| देवत्वं ताश्च तद्रसः | 85 | 8 | b | देवासुर मनुष्येषु | 88 | 1 | a |
| देवदत्त मिमं लब्ध्वा | 63 | 42 | a | देवासुराहवहताः | 90 | 47 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| देवाः कं जहसु र्वीक्ष्य | 85 | 48 | c | दोर्भ्यां मन्यं प्रगृह्य सः | 72 | 43 | b |
| देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि | 86 | 52 | a | दोर्भ्यामुत्क्षिप्य तज्जलम् | 67 | 5 | b |
| देवी पर्यचरत्साक्षात् | 80 | 23 | c | दोर्भ्यां परिष्वज्य रमामलालयं | 71 | 26 | a |
| देवीं वैतानिकीमिव | 81 | 27 | b | दोर्भ्यां पर्यग्रहीन्मुदा | 80 | 18 | d |
| देवेषु त्रिषु दुर्मतिः | 88 | 14 | d | दोस्सहस्रं त्वया दत्तम् | 62 | 8 | a |
| देवोत्तमं त्वां गणयामि नूनं | 64 | 7 | f | दौहित्रायाऽ निरुद्धाय | 61 | 25 | c |
| देवोपलब्धि मप्राप्य | 88 | 18 | a | दौहित्रो जगृहे ततः | 90 | 41 | b |
| देवोऽपि किमु पार्थिवः | 72 | 11 | d | द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया | 87 | 41 | a |
| देव्यो यथा दिवि विमानवरैर्नृदिव्यः | 75 | 16 | b | द्युमन्तं रुक्मिणी सुतः | 77 | 3 | d |
| देशकाल धनादयः | 74 | 19 | d | द्यौश्शीर्षमाशा श्रुति रङ्घ्रि रुर्वी | 63 | 36 | 3 |
| देशान्नागायुतप्राणः | 67 | 5 | c | द्वन्द्वं द्वन्द्वं दिने दिने | 70 | 9 | d |
| देशांश्च तदुपद्रुतान् | 67 | 16 | b | द्वन्द्वशो यदि मन्यसे | 72 | 28 | a |
| देह आवपनं विभो | 80 | 45 | b | द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम् | 85 | 6 | d |
| देहम्भृतां देहकृदस्मृतिश्छिदम् | 83 | 3 | d | द्वयोः प्रियचिकीर्षया | 86 | 26 | b |
| देहाद्युत्पाद्यमन्तवत् | 73 | 21 | b | द्वाभ्यां धनुश्च केतुश्च | 77 | 4 | c |
| देहे चास्यान्वयादिषु | 85 | 17 | b | द्वारका माविशत् सिद्धैः | 66 | 23 | c |
| देहेन पतमानेन | 72 | 26 | c | द्वारकायां यथा बालः | 66 | 3 | c |
| देहेन शश्वत्पततां रुजां भुवा | 73 | 14 | b | द्वारकायां श्रियःपतिः | 90 | 1 | b |
| देहेषु बहुधेयते | 85 | 24 | d | द्वारकां कृष्ण पालिताम् | 62 | 22 | d |
| दैतेया ये सुदारुणाः | 90 | 47 | b | द्वारकां प्रदहन् दिशः | 66 | 34 | d |
| दैत्यदानवगन्धर्व | 85 | 41 | a | द्वारेण चक्रानुपथेन तत्तमः | 89 | 52 | a |
| दैत्यविद्याधरान्यक्षान् | 62 | 19 | c | द्विजं धमनिसन्ततं | 80 | 23 | b |
| दैवक्रीडनकान्नरान् | 82 | 21 | b | द्विजाते रिह सम्भवः | 80 | 32 | b |
| दैवादुपनमत्युत | 86 | 15 | b | द्विजाते र्गृहमेधिनः | 84 | 37 | b |
| दैवेनाऽऽसादिताः स्वसः | 82 | 22 | d | द्विजालिकुलनादिताम् | 69 | 3 | d |
| दैवोपसृष्टं यो मौढ्यात् | 89 | 42 | c | द्विजो विज्ञाय विज्ञेयं | 80 | 31 | c |
| दोधूयमानो धवलैः | 75 | 36 | c | द्वितस्त्रितश्चैकतश्च | 84 | 5 | a |

Appendix -

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| द्वितीयां जग्धुमाददे | 81 | 10 | b | धरण्यां न्यपतद्व्यसुः | 78 | 9 | d |
| द्वितीयां स्वय मादाय | 72 | 33 | c | धर्मकृच्छ्रगतेन वै | 64 | 19 | b |
| द्विपत्खरोष्ट्रैररिणावखण्डितैः | 66 | 18 | b | धर्मज्ञान शमोपेतम् | 87 | 6 | c |
| द्विविदो नाम वानरः | 67 | 2 | b | धर्मतो वचनेनैव | 61 | 33 | c |
| द्विविदोऽपि महावीर्यः | 67 | 17 | a | धर्मपालां स्तथैवाऽस्मान् | 78 | 24 | c |
| द्विषोर्वैवाहिकं मिथः | 61 | 20 | f | धर्ममाचरतां स्थित्यै | 89 | 60 | c |
| द्वैपायनो नारदश्च | 84 | 3 | a | धर्मराजो जनार्दनम् | 71 | 44 | b |
| द्वैपायनो भरद्वाजः | 74 | 7 | a | धर्मशास्त्राणि सर्वशः | 78 | 25 | d |
| द्वैरथे तव सन्निधौ | 71 | 7 | d | धर्मश्चात्ममुदावहः | 84 | 36 | d |
| द्वैरथे स तु जेतव्यः | 71 | 6 | a | धर्मस्य गुप्त्यै जातो भवाय | 63 | 38 | b |
| द्वौमासौ तत्र चाऽवात्सीत् | 65 | 17 | a | धर्मं धर्मसुतादिभिः | 89 | 66 | d |
| द्रविडेषु महापुण्यं | 79 | 13 | c | धर्मं विजानताऽऽयुष्मन् | 76 | 32 | a |
| द्रविणं नृप यक्ष्यते | 72 | 14 | d | धर्मविद्दारुकात्मजः | 76 | 27 | d |
| द्रव्यज्ञान क्रियेश्वरम् | 84 | 51 | d | धर्मस्साक्षाद्यतो ज्ञानम् | 89 | 16 | a |
| द्रव्यमात्र मनश्वरम् | 85 | 12 | d | धर्मेण च्छल माश्रितः | 61 | 32 | b |
| द्रव्यं क्षेत्रं प्राण आत्माविकारः | 63 | 27 | b | धारयंश्चर गां कामं | 87 | 44 | c |
| द्रष्टुं ययुर्युवयः स्मनरेन्द्रमार्गे | 71 | 34 | d | धार्तराष्ट्रान् महारथान् | 68 | 6 | b |
| द्रावयामास तीक्ष्णाग्रैः | 63 | 11 | c | धास्ये सम्प्रियता मिति | 88 | 21 | d |
| | | | | धिगर्जुनं मृषावादं | 89 | 42 | c |
| – ध – | | | | धिगात्मश्लाघिनो धनुः | 89 | 42 | b |
| धत्तेऽनुशासनं भूमन् | 74 | 3 | c | धिष्ण्यान्यन्यान्युदायुधः | 89 | 44 | f |
| धनदारात्मजाऽपृक्ता | 89 | 29 | a | धुन्वन् वासो ननर्त ह | 86 | 38 | d |
| धनं मेऽभूरि नाऽददात् | 81 | 20 | d | धूपदीपार्घ्यगोवृषैः | 86 | 29 | d |
| धनाध्यक्षः सुयोधनः | 75 | 4 | b | धूपदीपासनादिभिः | 62 | 25 | b |
| धनूंषि युगपद्धरिः | 63 | 19 | b | धूपैस्सुरभिभि र्मित्रं | 80 | 22 | a |
| धनूंष्याकृष्य युगपत् | 63 | 18 | a | धूर्तस्तं कोपयन् हसन् | 67 | 14 | f |
| धनेषु विदितं हि मे | 80 | 29 | d | धृतराष्ट्रस्सह सुतः | 74 | 10 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| धृतराष्ट्रं वुभुत्सया | 68 | 16 | d | न जगाम तदन्तिकम् | 75 | 42 | d |
| धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरम् | 84 | 27 | b | न जानतोऽनर्थवहाच्छरीरतः | 70 | 40 | b |
| धृतराष्ट्रोऽनुजः पार्थाः | 84 | 57 | a | न जाने तव विक्रमम् | 65 | 28 | b |
| धृतैस्स्वार्थान् समीहते | 88 | 30 | d | नटयोरिव रङ्गिणोः | 72 | 35 | d |
| धृष्टकेतुस्स काशिराट् | 82 | 25 | d | नटस्येवाऽजितात्मनः | 78 | 26 | d |
| धेनूनां रुक्मशृङ्गाणां | 70 | 8 | a | नटा जीवन्त्यसुम्भराः | 89 | 29 | d |
| ध्यायन्त मेकमात्मानं | 69 | 30 | a | नटानां नर्तकीनाञ्च | 90 | 12 | a |
| ध्यायन्त्यभद्रनशने सुधियो गृणन्ति | 72 | 4 | b | न तत्तत्त्वविदः स्त्रियः | 61 | 2 | d |
| ध्यायंश्चराम्यनुगृहाण यथा स्मृतिः स्यात् | 69 | 18 | d | न तत्यजू रणं स्वं स्वं | 76 | 25 | c |
| ध्यायं स्तन्मयतां यातः | 74 | 46 | c | न तत्र दूतं न पितुः कलेबरं | 77 | 30 | a |
| ध्वस्त संरोधनक्लमाः | 73 | 7 | b | न तथा सत्वसंरब्धाः | 85 | 44 | c |
| ध्वन्तं विचित्र वलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग! | 69 | 12 | b | न तद्वाक्यं जगृहतुः | 79 | 28 | a |
| | | | | न तस्मै प्रह्वणे स्तोत्रम् | 89 | 3 | a |
| – न – | | | | न तस्य स्यात्पराजयः | 63 | 54 | d |
| न कश्चिन्मत्परं लोके | 72 | 11 | a | न तु याचितवान् स्वयम् | 81 | 14 | b |
| न किञ्चनोचतुः प्रेम्णा | 82 | 35 | c | न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम् | 88 | 1 | d |
| न किलाध्यासनार्हणः | 68 | 35 | d | न तेभ्यो विद्यते परम् | 81 | 39 | d |
| न कुतश्चन रिष्यति | 84 | 32 | d | न त्रातुं शक्नुवन्ति यत् | 89 | 31 | a |
| न कुतश्चिद्भयोऽसुरः | 63 | 50 | d | न त्वया भीरुणा योत्स्ये | 72 | 31 | a |
| नकुलो द्रव्यसाधने | 75 | 4 | d | नत्वा त्वदङ्घ्रीन्प्रक्षाल्य | 86 | 28 | c |
| न कृष्णः काष्णिरिव च | 89 | 33 | b | नत्वा प्राह वचो रुदन् | 77 | 22 | f |
| न गुणाय भवन्त्यस्य | 78 | 26 | c | नत्वा मुनीन् सुसंहृष्टः | 86 | 38 | c |
| नग्ना मुक्तशिरोरुहा | 63 | 20 | b | न देवा मृच्छिलामयाः | 84 | 11 | b |
| न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयो रजयोः | 87 | 31 | a | न द्वेषान्न च मत्सरात् | 68 | 47 | b |
| न चचाल यदूद्वहः | 78 | 8 | b | ननाम मूर्ध्ना पतितो धरण्याम् | 64 | 7 | b |
| न च तेऽजितभक्तानां | 74 | 5 | a | ननाम शिरसा मुनिम् | 89 | 9 | b |
| न चलसि न वदस्युदारबुद्धे | 90 | 24 | a | न निवर्तेत कर्हिचित् | 84 | 62 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ननु ब्रह्मन् भगवतः | 80 | 8 | c | नब्राह्मणान्मे दयितं | 86 | 54 | a |
| ननु भृयान् भगवतः | 70 | 36 | c | न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः | 84 | 12 | b |
| ननृतुर्गायका जगुः | 83 | 30 | d | नमस्कुरुत नित्यशः | 64 | 42 | d |
| ननृतुर्जगु स्तुष्टुवुश्च | 70 | 21 | c | नमस्कृत्य महेश्वरम् | 89 | 37 | b |
| ननृतु र्नटनर्तक्यः | 84 | 46 | c | नमस्कृत्याभिवाद्य च | 79 | 17 | b |
| नन्दमाह करे स्पृशन् | 84 | 60 | d | नमस्कृत्वाऽऽत्मसम्भृतीः | 70 | 10 | c |
| नन्दव्रजं गते रामे | 66 | 1 | a | नमस्तस्मै भगवते | 84 | 22 | a |
| नन्दस्तत्र यदून्प्राप्तान् | 82 | 32 | a | नमस्तस्मै भगवते | 87 | 46 | a |
| नन्दस्तु सख्युः प्रियकृत् | 84 | 66 | a | नमस्तुभ्यं भगवते | 86 | 35 | a |
| नन्दस्तु सहगोपालैः | 84 | 59 | a | नमस्ते देवदेवेश | 73 | 8 | a |
| नन्दादीन्सुहृदो गोपान् | 82 | 14 | c | नमस्ते सर्वभावाय | 64 | 30 | a |
| नन्दो गोपाश्च गोप्यश्च | 84 | 69 | a | नमस्ते सर्वभूतात्मन् | 68 | 48 | a |
| नन्दोपनन्दभद्राद्याः | 63 | 3 | c | नमस्ये त्वां महादेव | 62 | 7 | a |
| नन्वब्रुवाणो दिशते समक्षं | 81 | 34 | a | नमः कृष्णाय वेधसे | 85 | 39 | b |
| नन्वर्थकोविदा ब्रह्मन् | 80 | 33 | a | नमामि त्वाऽनन्तशक्तिं परेशं | 63 | 26 | a |
| नन्वेत दुपनीतं मे | 81 | 9 | a | न मे तोषाय कल्पते | 81 | 3 | f |
| न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते | 87 | 21 | c | न मे ब्रह्मधनं भूयात् | 64 | 41 | a |
| न पश्यति यथान्धदृक् | 84 | 64 | d | नमो जयेति नेमुस्तं | 74 | 29 | c |
| न पश्यस्यन्तिकेऽन्तिकम् | 77 | 20 | b | नमोऽनन्ताय वृहते | 85 | 39 | a |
| न पश्यामः पुराकृतम् | 84 | 63 | d | नमो वस्सर्वदेवेभ्यः | 84 | 29 | a |
| न पुन रुपासते पुरुष सारहरावसथान् | 87 | 35 | d | नमोऽस्तुतेऽध्यात्मविदां परात्मने हि | 86 | 48 | a |
| न प्रत्याख्याति कर्हिचित् | 71 | 6 | d | न यदिमग्र आसन भविष्य दतो निधनात् | 87 | 37 | a |
| न प्रद्युम्नो नाऽनिरुद्धः | 89 | 41 | a | न यदूनां कुले जातः | 76 | 29 | a |
| न प्राज्ञायत किञ्चन | 80 | 37 | d | न यद्वक्ताऽनृतं पुनः | 88 | 34 | d |
| न प्रायच्छ दवाङ्मुखः | 81 | 5 | d | नय मां द्युमतः पार्श्वं | 77 | 2 | c |
| न बत रमन्त्यहो असदुपासनयाऽत्महनः | 87 | 22 | c | न यं विदन्त्यमी भूपाः | 84 | 23 | a |
| न ब्रह्मणः स्वपरभेद मतिस्तव स्यात् | 72 | 6 | a | नयाम्यपुनरावृत्तं | 77 | 19 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नरकस्य सखा कश्चित् | 67 | 2 | a | नश्रद्धायेन भाषितम् | 65 | 12 | d |
| नरकं निहतं श्रुत्वा | 69 | 1 | a | न श्रेयो विन्दते नृपः | 73 | 10 | b |
| नरदुन्दुभिभिस्सह | 75 | 20 | b | नश्वरेष्विहभावेषु | 85 | 12 | a |
| नरदेव परिच्छदान् | 68 | 36 | d | न सन्त्यङ्ग षडूर्मयः | 70 | 18 | d |
| नरदेवोचितै र्वस्त्रैः | 73 | 25 | c | न सेहिरे याज्ञसेनि! | 83 | 31 | c |
| नरनारायणा वृषी | 89 | 60 | b | न हि तेऽविदितं किञ्चित् | 70 | 37 | a |
| नरलोकविडम्बनम् | 70 | 41 | b | नहिपरमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेत् | 87 | 29 | c |
| नरलोकविभूषणम् | 70 | 11 | b | न हि विकृतिं त्यजन्ति | | | |
| नरा नार्योऽमरप्रभाः | 81 | 24 | b | कनकस्य तदात्मतया | 87 | 26 | c |
| न रामो न च केशवः | 89 | 41 | b | न ह्यम्मयानि तीर्थानि | 84 | 11 | a |
| नरोष्ट्रगोमहिषखराश्वतर्यनः | 71 | 16 | a | न ह्येकस्याद्वितीयस्य | 74 | 4 | a |
| नर्तक्य स्ताण्डवैः पृथक् | 70 | 20 | d | न ह्येतस्मिन्कुले जाताः | 90 | 43 | a |
| नर्तक्यो ननृतुर्हृष्टाः | 75 | 10 | a | नागायुत बलान्वितः | 90 | 40 | d |
| नर्मक्ष्वेलि परिष्वङ्गैः | 90 | 13 | c | नाचिनोति स्वयं कल्यः | 72 | 26 | a |
| न लक्ष्यते जयोऽन्यो वा | 79 | 27 | c | नागायुतसमो बले | 71 | 5 | b |
| न लभे त्वदृते समम् | 62 | 8 | d | नाऽग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारकाः | 84 | 12 | a |
| नलिननयन हासोदारलीलेक्षितेन | 90 | 15 | d | नाऽच्छिनत्पस्पृशे परम् | 83 | 24 | d |
| न लेभे शं भ्रमच्चित्तः | 86 | 8 | c | नाऽतिचित्रमिदं विप्राः | 84 | 30 | a |
| न वध्यो मे तवाऽन्वयः | 63 | 48 | d | नातिसत्त्वो न मे समः | 72 | 32 | 2 |
| न वयं श्रद्दधीमहि | 88 | 32 | b | नाऽऽत्मपातं विचक्षते | 64 | 37 | b |
| न वयं साध्वि साम्राज्यं | 85 | 41 | a | नात्यभीष्टाञ्जगद्गुरुः | 80 | 11 | d |
| नवयौवन कान्तिभिः | 90 | 2 | b | नाथ नाथेति प्रारुदन् | 66 | 26 | d |
| न विदन्त्यपि योगेशाः | 85 | 45 | c | नादितायां समन्ततः | 90 | 4 | d |
| न विदुस्सन्त मात्मानं | 90 | 50 | c | नादोवर्ण स्त्वमोङ्कारः | 85 | 9 | c |
| न वेद रहितं परम् | 84 | 24 | d | नाऽधिकं तावता तुष्टः | 86 | 15 | c |
| न वेद स्मृत्युपप्लवात् | 84 | 25 | d | नाध्यगच्छन्नै कान्त्यात् | 74 | 18 | c |
| न शताक्षौहिणीयुतः | 71 | 6 | b | नानन्तः श्रीरजःप्रियः | 86 | 32 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नानाकर्मसु ते तदा | 75 | 7 | b | नारदात्तदुपाकर्ण्य | 63 | 2 | a |
| नानातनूर्गगनव द्विदथञ्जहासि | 85 | 20 | c | नारदो भगवान् व्यासः | 84 | 57 | c |
| नानात्वं यात्यसा वपि | 85 | 25 | d | नारदो वामदेवोऽत्रिः | 86 | 18 | a |
| नानादेश समागतैः | 75 | 36 | b | नाराचै रष्टभिः म्मयन् | 77 | 3 | d |
| नानानर्घ्य परिच्छदैः | 84 | 67 | d | नारायणपरो नृपः | 75 | 23 | d |
| नानानुनय कोविदः | 65 | 16 | 8 | नारायणमुखाच्छ्रुतम् | 87 | 48 | d |
| नालाभावैर्लीलयै वोपपन्नैः | 63 | 28 | a | नारायणहृषीकेश | 64 | 28 | c |
| ननायुधधरो बली | 63 | 32 | b | नारायणाङ्गसंस्पर्श | 85 | 56 | c |
| नानारूपो विनिर्गत्य | 70 | 17 | c | नारायणाय ऋषये | 86 | 35 | c |
| नानाविभान्ति किल विश्वसृजोपक्लृप्ताः | 75 | 32 | b | नारायणोऽखिलभवाय गृहीत शक्तिः | 69 | 44 | b |
| नानाहास्यरसैर्विभुम् | 70 | 20 | b | नारायणो नरसखो विधिनोदितेन | 69 | 16 | b |
| नाऽनुस्मरथ सत्तमाः | 82 | 19 | d | नारीणां हृदयङ्गमम् | 86 | 7 | b |
| नाऽनुस्मरन्ति स्वजनं | 82 | 20 | c | नार्यश्च कुण्डलयुगालक बृन्दजुष्ट | 75 | 24 | c |
| नान्तं दानस्य धर्मस्य | 64 | 74 | c | नार्यो विकीर्य कुसुमै र्मनसोप गूह्य | 71 | 35 | c |
| नाऽन्यथाभूरिभूतिभिः | 86 | 57 | d | नाविन्दं स्तदवस्थितिम् | 83 | 23 | d |
| नान्यद्गवा मप्ययुतम् | 64 | 21 | c | नाऽशकत् समवेक्षितुम् | 74 | 28 | d |
| नाऽब्रवीत्साध्वसाधु वा | 61 | 39 | b | नाऽशक्नुवन्समुद्धर्तुं | 64 | 4 | c |
| नाभिर्नभोग्नि र्मुखमम्बुरेतः | 63 | 36 | a | नाऽस्य प्रतिविधिर्भुवि | 64 | 34 | d |
| नाऽभ्यपद्यत शं राजन् | 76 | 12 | c | नाऽहमिज्या प्रजातिभ्थां | 80 | 34 | a |
| नाममात्रेन्द्रियाभातं | 84 | 24 | c | नाऽहर्गणान् स बुबुधे | 62 | 26 | c |
| नाऽमृष्यत्तदचिन्त्यार्भः | 68 | 8 | c | नाऽहं प्रतीच्छे वै राजन् | 64 | 21 | a |
| नाऽमृष्यत्तद्धलायुधः | 61 | 29 | f | नाऽहं सङ्कर्षणो ब्रह्मन् | 89 | 33 | a |
| नाऽमृष्यदति शोभनम् | 70 | 3 | b | नाऽहं ह्यलाहलं मन्ये | 64 | 34 | a |
| नाम्ना भोजकटे पुरे | 61 | 19 | b | निक्षिप्य चाप्यधाच्छृङ्गैः | 67 | 7 | c |
| नाऽऽम्नायोपि नियामकः | 78 | 31 | d | निगृहीतं सुतं श्रुत्वा | 68 | 4 | a |
| नारदस्य च संवादं | 87 | 4 | c | निगृह्य दोर्भ्यां भुजयोर्न्यवारयत् | 88 | 19 | c |
| नारदः प्रहसन्निव | 69 | 37 | b | निघ्नता मितरेतरम् | 77 | 6 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| निजं वाक्य मनादृत्य | 65 | 25 | c | निर्घातवज्रपरुषस्तलताडनोत्थः | 72 | 38 | d |
| नित्यं निवद्धवैरास्ते | 85 | 42 | c | निर्जगाम पुराद्बहिः | 72 | 33 | d |
| नित्यं सङ्कुलमार्गायां | 90 | 3 | a | निर्जितो जयतीति सः | 78 | 16 | d |
| नित्योन्यो निर्गुणो गुणैः | 85 | 24 | b | निर्भिद्य कलशं दुष्टः | 67 | 15 | a |
| निदेशं शिरसाऽऽधाय | 70 | 48 | c | निर्भिन्नमूर्धोरुभुजाः प्रदुद्रुवुः | 62 | 34 | d |
| निनेदुर्नटनर्तक्यः | 83 | 30 | c | निर्मुच्य संसृति विमोक्षमनुस्मरन्तीः | 83 | 40 | c |
| निन्दां भगवतश्शृण्वन् | 74 | 40 | a | निर्ययुर्दशिता गुप्ताः | 76 | 15 | c |
| निन्ये तद्वाग्य मग्नु मे | 83 | 14 | d | निर्ययू रुक्ममालिनः | 75 | 11 | d |
| निन्ये मृगेन्द्र इव भाग मजावियूथात् | 83 | 8 | c | निर्यातधूपरुचिरं विलसत्पताकं | 71 | 33 | b |
| निन्ये स्वयूथग मिवात्म वलिं द्विपारेः | 83 | 12 | b | निर्यान्त मीक्ष्य घनवुद्धय उन्नदन्तः | 69 | 12 | d |
| निपेतुश्शस्त्र वृष्टयः | 76 | 10 | d | निर्वर्तित निजक्रियः | 86 | 14 | d |
| निपेतुः पुष्प वृष्टयः | 74 | 29 | d | निर्विण्णस्स्याद्धनेहया | 88 | 9 | b |
| निपेतुः प्रथमे केचित् | 83 | 35 | c | निर्विण्णान् घोरसंसृतेः | 73 | 8 | d |
| निभृत मरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि हृत् | 87 | 23 | a | निर्विशङ्कङ्ग विहगैः | 90 | 4 | c |
| निमग्नाहृदधा ऽब्रवीत् | 80 | 5 | d | निर्विशेष मभूद्युद्धम् | 72 | 39 | c |
| निमित्त परमाशस्य | 71 | 8 | a | निर्वृक्षमकरोद्वनम् | 67 | 22 | d |
| निमित्तान्यतिघोराणि | 77 | 8 | c | निर्वृत स्तर्पितस्तूष्णीं | 89 | 13 | c |
| निम्नं कूलं जलमयं | 80 | 37 | c | निर्वेदात्सप्तमेऽहनि | 88 | 18 | b |
| नियमः प्रथमः कल्पे | 78 | 33 | c | निवार्यमाणा अप्यङ्ग | 75 | 40 | c |
| निरयं योऽभिमन्यन्ते | 64 | 37 | c | निवासितः प्रिया जुष्टे | 81 | 17 | a |
| निरुध्य सेनया साल्वः | 76 | 9 | a | निविष्टयोस्तत्र महात्मनोस्तयोः | 85 | 36 | b |
| निरूपिता महायज्ञे | 75 | 7 | a | निवीतं वनमालया | 73 | 5 | b |
| निरूप्य पुररक्षणम् | 77 | 10 | b | निवृत्ताखिलविग्रहम् | 79 | 30 | d |
| निर्ऋणोऽशरणो भव | 84 | 40 | d | निवृत्तेष्वश्वमेधेषु | 88 | 6 | a |
| निर्गमय्यावरोधान् स्वान् | 71 | 13 | a | निवृत्तोऽसद्वधा दपि | 78 | 28 | b |
| निर्गुणे गुणवृत्तयः | 87 | 1 | b | निशम्य तद्व्यवसितमाहृतार्हणः | 7 | 18 | c |
| निर्गुणेऽपि मनश्चरेत् | 87 | 49 | d | निशम्य धर्मराजस्तु | 73 | 35 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| निशम्य भगवद्गीतं | 72 | 12 | a | नृणे निर्वाय पर्याय च कौशिकाग्र्ये | 83 | 28 | c |
| निशम्य विप्रियं कृष्णः | 77 | 24 | a | नूनं तेन स्मरन्त्युत | 77 | 31 | d |
| निशम्येत्थं भगवतः | 84 | 14 | a | नूनं नानामदोन्नद्धाः | 68 | 31 | a |
| निशम्योचुः प्रकोपिताः | 68 | 23 | d | नूनं वतैतन्मम दुर्भगस्य | 81 | 33 | a |
| निशाम्य वैष्णवं धाम | 89 | 63 | a | नूनं भूतानि भगवान् | 82 | 43 | c |
| निश्चक्रामगृहात्तूर्णं | 81 | 25 | c | नूनं हन्युः पुरीं मम | 77 | 9 | d |
| निश्चक्राम पुरा द्रुतम् | 66 | 11 | d | नृगं ब्राह्मणगौरिव | 64 | 44 | d |
| निषीदात्राऽऽसने क्षणं | 89 | 9 | d | नृगो नाम नरेन्द्रोऽहं | 64 | 10 | a |
| निषेद्धुं पथि केचन | 83 | 34 | b | नृगो मे दत्तवानिति | 64 | 7 | d |
| निषेव्यमाणं परमेष्ठिनां पतिम् | 89 | 57 | d | नृणां निःश्रेयसार्थाय | 88 | 7 | c |
| निष्ककण्ठ्यः सुवाससः | 84 | 45 | b | नृणां यः स्नेहसंजितः | 84 | 61 | b |
| निष्किञ्चनानां शान्तानां | 86 | 33 | c | नृणां संवदतां मन्त्रः | 86 | 46 | c |
| निष्क्रम्य तूष्णीं प्रययौ गजाह्वयम् | 75 | 43 | d | नृणां संशयनुत्तये | 89 | 20 | b |
| निष्क्रम्य विश्वशरणाद्व्यु पलब्धवृत्तिः | 85 | 46 | c | नृणां संसरतां मिह | 86 | 34 | b |
| निष्टां प्रदर्शय विभो कुरुसृञ्जयानां | 72 | 5 | d | नृत्यन्ति यत्र विहितागरुधूप मक्षैः | 69 | 12 | c |
| निष्ठुराः स्तनयित्नवः | 80 | 36 | d | नृदेवा ये समागताः | 75 | 1 | d |
| निष्पापान् कुरु नः प्रभो | 85 | 46 | b | नृपतिः पारमेष्ठ्येऽप्सु | 70 | 42 | c |
| निहते मगधेश्वरे | 72 | 45 | b | नृपते ध्यायतो हरिः | 72 | 15 | b |
| निहते रुक्मिणि श्याले | 61 | 39 | a | नृपाणां रुधिरौघेण | 82 | 3 | c |
| निहत्य दोर्भिः प्रणयाश्रु लोचनाः | 82 | 16 | d | नृपो बालकृतोद्यमः | 66 | 3 | d |
| निहत्य निर्जित्य रिपून् | 65 | 8 | c | नृभिर्विद्याधरद्युभिः | 82 | 8 | b |
| निहत्य पितृहन्तारं | 66 | 27 | c | नृभूत पितृचारणान् | 84 | 56 | b |
| निहन्यमाना मुहुरम्बुसंप्लवे | 80 | 38 | b | नृलोक मजितेन्द्रियः | 63 | 42 | b |
| निःक्षत्रियां महीं कुर्वन् | 82 | 3 | a | नृषु तव मायया भ्रम ममीष्ववगत्य भृशं | 87 | 32 | a |
| निःश्रेयसाय जगतां स्थिति रक्षणाभ्यां | 69 | 17 | c | नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः | 80 | 19 | d |
| नीतास्ते योगमायया | 85 | 47 | d | नेत्रे निमीलयति नक्तमदृष्टबन्धुः | 90 | 16 | a |
| नूत्नकौशेयवाससः | 84 | 49 | b | नेत्रैस्सिषिचतुर्बलम् | 65 | 3 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नेदुरावभृथोत्सवे | 75 | 9 | d | न्यस्तावकुत्र च भयौ न सतां परःस्वः | 82 | 39 | d |
| नेदुर्दुन्दुभयो राजन् | 77 | 38 | c | न्यायार्जिता रौप्यखुराः सवत्सलाः | 64 | 13 | c |
| नेदुर्दुन्दुभयो व्योम्नि | 65 | 22 | a | न्यासिनां परमा गतिः | 88 | 26 | b |
| नेदुर्मृदङ्गपटहः | 84 | 46 | a | | | | |
| नेप्ये त्वां लाङ्गलाग्रेण | 65 | 26 | c | – प – | | | |
| नेहता विपुलं यशः | 72 | 26 | d | पक्षक्षपणचेतसः | 82 | 42 | d |
| नैच्छत्कुरूणां वृष्णीनां | 68 | 14 | c | पञ्चत्वं मे गतोऽर्भकः | 89 | 24 | d |
| नैच्छत्त्वमग्युत्पथगः | 89 | 6 | a | पञ्चाप्सरस मुत्तमम् | 79 | 18 | b |
| नैजं पाशुपतम्य च | 63 | 13 | d | पञ्चालानथ मत्स्यांश्च | 71 | 21 | c |
| नैनं नाथाभ्यसूयामः | 73 | 9 | a | पतङ्गः क्षुद्रभृद्धृणी | 85 | 52 | b |
| नैवाक्षकोविदां यूयं | 61 | 35 | a | पतत्पताकाध्वजवारितातपाम् | 69 | 6 | d |
| नैवातिप्रीयसे विद्वन् | 80 | 29 | c | पतन्त मचलो व्यथा | 67 | 18 | d |
| नैवाऽतृप्यन् प्रशंसन्तः | 75 | 27 | c | पतन्तं निरयेऽशुचौ | 64 | 20 | d |
| नैवाऽद्भुतं त्वयि विभोऽखिल लोकनाथे | 69 | 17 | a | पतन्ती तद्वनं सर्वं | 65 | 19 | c |
| नैवोपपद्येत यदूत्तमस्य | 81 | 33 | d | पतित्वा पादयो नृप | 65 | 27 | d |
| नैशं तम इवोष्णगुः | 76 | 17 | d | पतित्वा पादयो र्देवी | 89 | 7 | a |
| नोग्रसेनः किल विभुः | 68 | 34 | a | पतिमागतमाकर्ण्य | 81 | 25 | a |
| नो चेद्देहि ममाऽऽहवम् | 66 | 6 | d | पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा | 81 | 26 | a |
| नोवाच किञ्चिद्भगवान् | 74 | 38 | c | पतिव्रता पतिं प्राह | 80 | 7 | c |
| नो सेवेरन् यावदाशानुबद्धाः | 63 | 29 | d | पतीन्पुत्रान् स्वसृ रपि | 65 | 11 | b |
| न्यपातयत् काशिपुर्यां | 66 | 22 | c | पत्नीना मेकवल्लभः | 90 | 5 | b |
| न्यमन्त्रयेतां दाशार्हं | 86 | 25 | a | पत्नीनां भवनं महत् | 69 | 8 | d |
| न्यरुणत्सूतिकागारं | 89 | 38 | a | पत्नीभिरष्टादशभिः | 84 | 47 | c |
| न्यर्बुदं ग्लहमाददे | 61 | 31 | d | पत्नीसंयाजावभृथैः | 75 | 19 | a |
| न्यवर्ततां स्वकं धाम | 89 | 62 | a | पत्नीसंयाजावभृथ्यैः | 84 | 53 | d |
| न्यवात्सीत्तत्प्रियङ्करः | 75 | 29 | b | पत्नीं वीक्ष्य प्रस्फुरन्तीं | 81 | 27 | a |
| न्यवात्सीद्बन्धुवत्सलः | 84 | 59 | d | पत्यस्तु षोडश सहस्र मनङ्गबाणैः | 61 | 4 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पत्न्याः पतिव्रताया स्तु | 81 | 7 | a | परम्परमथो रामः | 68 | 20 | c |
| पत्न्युद्वर्पातिसम्भ्रमा | 81 | 25 | b | परम्य साक्षात् परमात्मनो हरेः | 88 | 40 | b |
| पत्रं पुष्पं फलं तोयं | 81 | 4 | a | परं परमपूरुषः | 86 | 44 | b |
| पथि काञ्चनमालिनः | 82 | 8 | d | परं परंज्योतिरनन्तपारम् | 89 | 52 | b |
| पथि निर्जित्य राजन्यान् | 83 | 14 | c | परं भागय मेऽभवत् | 62 | 8 | b |
| पथ्यनुव्रज्य नन्दितः | 81 | 13 | d | परं भावं भगवतः | 65 | 29 | a |
| पदा वक्षस्यताडयत् | 89 | 8 | b | पराजिताश्च्युता राज्यात् | 64 | 41 | c |
| पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्यां | 66 | 34 | a | पराधावन् सवेपथुः | 88 | 24 | b |
| पद्भ्यां प्रगृह्य कनकोज्ज्वलरत्नमालाम् | 83 | 28 | b | परार्ध्य वामःस्रग्गन्ध | 62 | 25 | a |
| पद्भ्यां महीं महाराज | 78 | 2 | c | परार्ध्याभरणक्षौम | 84 | 67 | c |
| पद्मकोश मिवाऽनिलः | 66 | 22 | d | परांश्च शतशो नृप | 84 | 14 | b |
| पद्मगर्भारुणेक्षणम् | 73 | 3 | b | परिधाय स्वलङ्कृतः | 75 | 22 | b |
| पद्महस्तं गदाशङ्ख | 73 | 4 | a | परिपृष्टास्सुसत्कृताः | 83 | 2 | b |
| पपात तोये गदया सहस्रधा | 77 | 35 | b | परिभाष्याऽभ्यभाषत | 85 | 2 | d |
| पप्रच्छ विद्वानपि तन्निदानं | 64 | 7 | 6 | परिरब्धश्च योषिताम् | 90 | 7 | d |
| पप्रच्छुःपर्युपागताः | 65 | 5 | d | परिरब्धुं समारेभे | 89 | 5 | c |
| पम्पां भीमरथीं ततः | 79 | 12 | d | परिरभ्य जयाच्युतौ | 72 | 45 | d |
| पयस्विनीनां गृष्टीनां | 70 | 8 | c | परिरम्भणविश्श्लेषात् | 70 | 3 | c |
| पयस्विनीस्तरुणीश्शीलरूप | 64 | 13 | a | परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तान् | 87 | 27 | c |
| पयःफेननिभाश्शय्याः | 81 | 29 | a | परिवेषणे द्रुपदजः | 75 | 5 | c |
| परमप्रीणनं सखे | 81 | 9 | b | परिषस्वजिरे गाढम् | 82 | 33 | c |
| परमभजन्ति ये पदमजस्र सुखानुभवम् | 87 | 16 | d | परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठैः | 65 | 2 | a |
| परमर्षीन् ब्रह्मनिष्ठान् | 74 | 33 | c | परिष्वक्तोऽग्रजो यथा | 80 | 26 | d |
| परमानन्दनिर्वृताः | 82 | 23 | d | परिष्वज्य व्रजेश्वरीम् | 82 | 37 | b |
| परमेण समाधिना | 66 | 28 | d | परिष्वज्याऽङ्कमारोप्य | 85 | 54 | c |
| परलोकगतानाञ्च | 78 | 1 | c | परिसर पद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम् | 87 | 18 | b |
| परसैन्य विदारणम् | 79 | 4 | b | परिहारांश्च तान्सर्वान् | 87 | 11 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| परिहासकथा मनु | 66 | 8 | b | पश्य लोकांश्च भास्वतः | 64 | 24 | d |
| परीतं प्रणतोऽपृच्छत् | 87 | 7 | c | पाञ्चाल कुन्ति मधु केकय कोसलार्णाः | 86 | 20 | b |
| परीतं यदुपुङ्गवैः | 69 | 35 | d | पाटयन्निव संज्ञया | 72 | 41 | d |
| परीत्य सुसमाहितः | 78 | 40 | b | पाण्डवानां चिकीर्षितं | 70 | 37 | d |
| परेते नवमे बाले | 89 | 27 | c | पाण्डवाः कृष्णरामौ च | 84 | 6 | c |
| परेशायकृताञ्जलिः | 70 | 24 | b | पातयामास भूतले | 72 | 42 | d |
| पर्जन्यवत्तत्स्वयमीक्षमाणः | 81 | 34 | c | पादयोः पेततुः प्रभो! | 86 | 24 | d |
| पर्यङ्कत स्सकलधर्मभृतां वरिष्ठः | 69 | 14 | b | पादसंवाहनादिभिः | 81 | 18 | b |
| पर्यङ्कस्थां श्रियं हित्वा | 80 | 26 | c | पादसंवाहनादिभिः | 90 | 29 | b |
| पर्यङ्काहेमदण्डानि | 81 | 29 | c | पादस्पर्शं महात्मनः | 83 | 43 | d |
| पर्यङ्के भ्रातरो यथा | 81 | 17 | b | पादाम्बुजं परिणिनाय य आत्मकामः | 83 | 40 | d |
| पर्यटन्नवनीं प्रभुः | 86 | 2 | b | पादारविन्दाधिपणान्यगृहान्धकूपात् | 85 | 46 | b |
| पर्यटन्भगवत्प्रियः | 87 | 5 | b | पादावङ्क गतौ विष्णोः | 86 | 30 | c |
| पर्यटामि तवोद्गायन् | 69 | 39 | c | पादावनेजनपयश्च वचश्च शास्त्रम् | 82 | 30 | b |
| पर्वणीव महार्णवः | 86 | 11 | b | पादोदकं यानि भवन्ति नित्यम् | 80 | 4 | d |
| पर्वतः कुरुशार्दूल | 67 | 26 | c | पादोदकेन भगवान् | 89 | 11 | c |
| पल्वलं गगने चरम् | 79 | 5 | b | पादौ पादावनेजनीः | 80 | 20 | d |
| पल्वलेन विनिर्मितम् | 79 | 2 | b | पादौ प्रगृह्यमणिनाऽहममुष्य दासी | 83 | 10 | d |
| पशूनामिव वैकृता | 74 | 5 | d | पादौ स्पृष्ट्वा स्वमौलिना | 64 | 31 | b |
| पशूनां लगुडो यथा | 68 | 31 | d | पानभोजनभक्ष्यैश्च | 62 | 25 | c |
| पश्य उन्मादकं नृणां | 73 | 19 | d | पान्थोऽध्वभ्रमण परिश्रमं जहाति | 89 | 21 | d |
| पश्यताभात मक्षरे | 82 | 47 | d | पापे त्वं मामविज्ञाय | 65 | 26 | a |
| पश्यतां सर्वभूतानां | 74 | 45 | c | पापोऽयं स्वेन पाप्मना | 88 | 38 | d |
| पश्यतां सर्वभूतानां | 78 | 10 | c | पाययित्वाऽधरं मधु | 62 | 17 | b |
| पश्यन्तीनाञ्च किं पुनः | 90 | 28 | d | पारतन्त्र्याद्वै सादृश्यात् | 85 | 6 | c |
| पश्यन्द्वारवतीं ययौ | 77 | 8 | d | पारमेष्ठ्यश्रिया जुष्टः | 75 | 35 | c |
| पश्यन्निपातं धनिनां मदोद्भवम् | 81 | 37 | d | पारिजातोऽमराङ्घ्रिपः | 68 | 35 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पारिबर्हेण भूयसा | 84 | 55 | b | पितृहन्तृ वधोपायं | 66 | 29 | c |
| पार्थमाप्यायन् स्वेन | 72 | 40 | c | पित्रा कृतान् क्षितिप वीर्य परीक्षणाय | 83 | 13 | b |
| पार्थवीर्यं निशामयन् | 89 | 35 | d | पित्रा सम्पूजिता स्सर्वे | 83 | 21 | a |
| पार्थः परमविस्मितः | 89 | 44 | b | पित्रोश्च लब्ध शरणा मुनयो वयञ्च | 71 | 9 | d |
| पार्थाभ्यां संस्तुतः प्रायात् | 73 | 31 | c | पिनाक्यस्त्राणि शार्ङ्गिणे | 63 | 12 | b |
| पार्थो यत्तोऽसृजद्बाणम् | 83 | 24 | c | पिवन्त इव चक्षुर्भ्यां | 73 | 5 | c |
| पार्श्वस्थं चक्रमादिशत् | 66 | 38 | d | पिवन्ति ये कर्णपुटै रलं प्रभो | 83 | 3 | c |
| पार्श्वस्थं वीक्ष्य दुर्मदः | 62 | 6 | b | पिवन्मर्त्योऽमृतं यथा | 75 | 27 | d |
| पार्षदमुख्यो भवतः | 63 | 50 | c | पीड्यमान पुरानीकः | 76 | 24 | c |
| पार्ष्णिग्राहोऽन्वयान्नृप | 66 | 12 | b | पीतकौशेय वाससम् | 73 | 2 | d |
| पावनस्सर्वलोकानां | 64 | 45 | c | पीतवासा बृहद्बाहुः | 62 | 16 | c |
| पावनं लोकपावन | 78 | 32 | b | पीतशेषं गदाभृतः | 85 | 56 | b |
| पाहि पाहि प्रजां मृत्योः | 89 | 36 | c | पीत्वाऽमृतं पयस्तस्या° | 85 | 58 | a |
| पांसुमुष्टिं सकृद्भसन् | 76 | 4 | d | पीयूषं भवभयभित् परस्य पुंसः | 89 | 21 | b |
| पितरं मातरञ्च नः | 65 | 10 | b | पुण्यश्लोकशिखामणिः | 71 | 31 | b |
| पितरा वभिवाद्य च | 82 | 35 | b | पुण्यश्लोकाच्युताव्यय | 64 | 28 | d |
| पितरौ रामकेशवौ | 76 | 30 | b | पुत्रदारगृहादिषु | 63 | 41 | b |
| पिता ते पितृवत्सल | 77 | 23 | b | पुत्रन्यासञ्च गोकुले | 82 | 34 | d |
| पितादुहितृवत्सलः | 83 | 18 | b | पुत्रप्राणरिरक्षया | 63 | 20 | d |
| पितामहस्य ते यज्ञे | 75 | 3 | a | पुत्रयोर्धामसूचकम् | 85 | 2 | b |
| पिता मे पूजयामास | 83 | 37 | a | पुत्रस्नेहस्नुत स्तनी | 85 | 54 | b |
| पिता मे बलवान्विधिः | 77 | 25 | d | पुत्रः कृष्ण मनुव्रतः | 90 | 37 | b |
| पिता मे मातुलेयाय | 83 | 15 | a | पुत्राणां दुहितृणाञ्च | 69 | 32 | a |
| पितुर्द्वैपायनस्य मे | 87 | 47 | d | पुत्रान् कंसविहिंसितान् | 85 | 28 | b |
| पितु स्सर्वात्मसम्पदा | 61 | 1 | d | पुत्रान् दश दशाबलाः | 61 | 1 | b |
| पितृवद्रुक्मिणीसुतः | 90 | 39 | d | पुत्र्यान्तु रुक्मिणो राजन् | 61 | 19 | a |
| पितृष्वसुर्गुरुस्त्रीणां | 11 | 41 | a | पुनन्तः पादरेणुभिः | 86 | 51 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पुनरन्यं समुत्क्षिप्य | 67 | 20 | a | पुरुषश्शिरसाऽच्युतम् | 77 | 22 | d |
| पुनरात्तप्रहरणः | 77 | 1 | c | पुरुषस्य पदाम्भोज | 89 | 20 | c |
| पुन राप्लुत्य वृष्णयः | 82 | 10 | d | पुरुषं प्रकृतेः परम् | 69 | 30 | b |
| पुनरिह यत्समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे | 87 | 18 | d | पुरुषः प्रकृतेः परः | 88 | 5 | b |
| पुनर्द्वारवती मगात् | 86 | 59 | d | पुरुषान् योषितो दृप्तः | 67 | 7 | a |
| पुनर्द्वारवती मेत्य | 85 | 53 | c | पुरो रथद्विपभट सादिनायकैः | 71 | 14 | a |
| पुनर्याग्यन्ति मद्गतिम् | 85 | 52 | d | पुरोऽवतस्थे कृष्णस्य | 63 | 20 | c |
| पुनश्च मन्त्रमाव्रज्य | 89 | 14 | a | पुलस्त्यः कश्यपोऽत्रिश्च | 84 | 4 | c |
| पुनीहि मद्दलोकं मां | 89 | 11 | a | पुलिन्द्य स्तृणवीरुधः | 83 | 43 | b |
| पुनीहीदं निमेः कुलम् | 86 | 36 | d | पुष्करो देवबाहुश्च | 90 | 36 | a |
| पुन्नागं मृगये सखि श्रुति | | | | पुष्पितद्रुम राजिषु | 90 | 4 | b |
| शिरोभूषा विशेषायितं | 90 | 20 | c | पुष्पितोपवनाराम | 69 | 3 | c |
| पुमान् पूर्णः प्रशान्तये | 80 | 43 | d | पुष्ट्या श्रिया कीर्त्यजयाखिलर्द्धिभिः | 89 | 57 | c |
| पुमान् यच्छ्रद्धयाऽऽतिष्ठन् | 85 | 47 | c | पुसंस्त्वत्तोषकारणम् | 81 | 11 | d |
| पुम्भिर्लिप्ता विलिम्पन्त्यः | 75 | 15 | c | पुंसामपूर्णकामानां | 62 | 7 | c |
| पुम्भिर्मकञ्चुकोष्णीव | 69 | 11 | c | पुंसां विख्यात कर्मणाम् | 90 | 44 | b |
| पुरग्रामव्रजाकरान् | 71 | 21 | d | पूजयाञ्चक्र ईश्वरान् | 86 | 29 | b |
| पुरग्रामाकरान् घोषान् | 67 | 3 | c | पूजयामासतुर्भीमं | 72 | 45 | c |
| पुरस्तादेव सर्वतः | 82 | 2 | b | पूजायां नाविदत्कृत्यं | 71 | 40 | c |
| पुरस्त्रीजनवल्लभः | 65 | 9 | d | पूजितः परया भक्तया | 69 | 20 | c |
| पुरं निर्माय शाल्वाय | 76 | 7 | c | पूजिता स्तमनुज्ञाप्य | 75 | 26 | c |
| पुरं भोजकटं जग्मुः | 61 | 26 | c | पूजितो देवदेवेन | 81 | 18 | c |
| पुरःपुष्करिणीं क्वचित् | 75 | 39 | b | पूयगन्धश्च सर्वशः | 79 | 1 | d |
| पुराणोपनिषद्रसः | 87 | 43 | b | पूयन्तेऽन्तेऽवसायिनः | 70 | 44 | b |
| पुरीं बभञ्जोप वनानि | 76 | 9 | c | पूयशोणितविण्मूत्र | 78 | 39 | c |
| पुरुजिद्द्रुपद श्शल्यः | 82 | 25 | c | पूर्णकामावपि युवां | 89 | 60 | a |
| पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः | 87 | 17 | c | पूर्णचन्द्रकलामृष्टे | 65 | 18 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पूर्णःश्रुतधरो राजन् | 87 | 45 | c | पौण्ड्रकोऽपि तदुद्योगं | 66 | 11 | a |
| पूर्तयन्तं क्वचिद्धर्मं | 69 | 34 | c | पौत्रं कृष्णस्य योगिनी | 62 | 22 | b |
| पूर्वं गन्तव्य मस्माभिः | 71 | 3 | c | पौत्रीं रुक्म्यददाद्धरेः | 61 | 25 | b |
| पूर्वंत्व मशुभं भुङ्क्षे | 64 | 24 | a | पौरा जानपदा नृप | 86 | 19 | b |
| पूर्वं देवाऽशुभं भुञ्जे | 64 | 25 | a | पौराजानपदा नृप | 86 | 22 | b |
| पूर्वागुरुकुले सतोः | 80 | 27 | b | पौरान्तःपुरवासिनां | 70 | 12 | d |
| पूर्वाद्रिमिव भास्करः | 70 | 15 | d | पौरा मङ्गलपाणयः | 71 | 37 | b |
| पूर्वेषां पुण्य यशसां | 70 | 22 | c | पौराश्च हाहता राजन् | 66 | 26 | c |
| पूर्वेषां पूर्वजैर्धृता | 87 | 3 | b | पौरुषं दर्शयन्ति स्म | 77 | 20 | c |
| पृच्छन्ति श्रेय आत्मनः | 84 | 30 | d | पौरुषं मम पश्यत | 76 | 3 | d |
| पृथग्विधानि प्रायुङ्क | 63 | 12 | a | पौरैस्सभाजितोऽभीक्ष्णं | 86 | 4 | c |
| पृथा भ्रातॄन् स्वसॄर्वीक्ष्य | 82 | 18 | a | प्रकोष्ठैर्ज्याहतैरपि | 72 | 22 | b |
| पृथा विलोक्य भ्रात्रेयं | 71 | 39 | a | प्रगृह्य रुचिरं चापं | 68 | 6 | c |
| पृथुकप्रसृतिं राजन् | 81 | 5 | c | प्रघोषघोषत्ककुभो निराक्रमत् | 71 | 14 | d |
| पृथूदकं बिन्दुसरः | 78 | 19 | a | प्रघोषो गात्रवान् सिंहः | 61 | 15 | a |
| पृष्टाश्चानामयं स्वेषु | 65 | 6 | a | प्रचण्डचक्रवातोऽभूत् | 76 | 11 | c |
| पृष्टश्चाविदुषे वासौ | 69 | 21 | a | प्रचण्डः पांसुवर्षणः | 79 | 1 | b |
| पृष्टस्तत्राऽऽत्मनः क्षमम् | 76 | 30 | d | प्रजा दृप्ता बबाधिरे | 90 | 47 | d |
| पृष्ट्वा शिवमनामयम् | 68 | 20 | b | प्रजाधर्मेण रक्षथ | 73 | 21 | d |
| पेततुर्मुसलार्दितौ | 63 | 16 | b | प्रजापति र्हृदयं यस्य धर्मः | 63 | 37 | c |
| पेतुरेकेऽमुना हताः | 83 | 22 | d | प्रजा भजन्त्यः सीदन्ति | 89 | 25 | c |
| पेतुस्समुद्रे सौभेयाः | 77 | 5 | c | प्रजासु ब्राह्मणादिषु | 89 | 65 | b |
| पेशस्कारीव कीटकम् | 67 | 7 | d | प्रज्वलन् स्वेन तेजसा | 89 | 3 | d |
| पैलः पराशरो गर्गः | 74 | 8 | c | प्रणतक्लेशनाशाय | 73 | 16 | c |
| पौण्ड्रकस्याऽपि दुर्मतेः | 78 | 7 | b | प्रणम्य चोपसङ्गृह्य | 84 | 28 | c |
| पौण्ड्रकस्याल्पमेधसः | 66 | 7 | b | प्रणम्य तं हृदि निरगाद्विहायसा | 71 | 18 | b |
| पौण्ड्रकं ससखं हरिः | 66 | 23 | b | प्रणम्य शिरसाऽसुरः | 63 | 51 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| प्रणम्यावस्थितोऽग्रतः | 70 | 14 | d | प्रदीपा वलिभिर्मुदा | 80 | 22 | b |
| प्रणम्योत्थाय चार्चयन् | 78 | 21 | d | प्रद्युम्न आसीत्प्रथमः | 90 | 39 | c |
| प्रणेमुर्विश्ववन्दितम् | 84 | 6 | d | प्रद्युम्नगुहयोरपि | 63 | 7 | d |
| प्रणेमु शिशरसा बलं | 68 | 19 | d | प्रद्युम्नप्रमुखा जाता | 61 | 9 | c |
| प्रणेमुर्हतपाप्मानः | 73 | 6 | c | प्रद्युम्नश्चारुदेष्णश्च | 90 | 35 | a |
| प्रताडिताक्षोपिदधेक्षिणी उभे | 89 | 52 | d | प्रद्युम्नस्य महात्मनः | 76 | 20 | b |
| प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं | 68 | 52 | a | प्रद्युम्नं गदया शीर्ण | 76 | 27 | a |
| प्रतिजग्राह भगवान् | 67 | 18 | c | प्रद्युम्नं प्राक्प्रपीडितः | 76 | 26 | b |
| प्रतिवाहुरभूत्तस्मात् | 90 | 42 | a | प्रद्युम्नं वीक्ष्य लज्जिता | 62 | 20 | d |
| प्रतिरुध्य प्रत्यविध्यत् | 77 | 3 | c | प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धोऽभूत् | 61 | 18 | c |
| प्रतिलब्धात्मदर्शनाः | 85 | 56 | d | प्रद्युम्नादीन् गृणामि ते | 61 | 7 | d |
| प्रतिसिञ्चन् विचिक्रीडे | 90 | 9 | c | प्रद्युम्नाद्यास्तथाऽपरे | 61 | 26 | d |
| प्रतीक्षन्निरिशादेशं | 62 | 11 | c | प्रद्युम्नो धन्विनां वरः | 89 | 31 | b |
| प्रतीचीं दिश माविशात् | 89 | 47 | d | प्रद्युम्नो भगवान्वीक्ष्य | 76 | 13 | a |
| प्रतीयमेऽथाऽपि यथाविकारम् | 63 | 39 | c | प्रद्युम्नो युयुधानश्च | 63 | 3 | a |
| प्रतीहारैः प्रवेशितः | 70 | 23 | d | प्रधानपुरुषेश्वरः | 85 | 4 | d |
| प्रतोष्य प्रत्यनन्दत | 70 | 12 | f | प्रधानपुरुषश्वरौ | 85 | 18 | b |
| प्रत्यगृह्णन् महाभागं | 81 | 24 | c | प्रधानपुरुषौ परौ | 85 | 3 | d |
| प्रत्यग्रही त्प्रीतियुतो महात्मा | 81 | 35 | d | प्रधानमनुशायिनाम् | 85 | 11 | d |
| प्रत्यस्त्रैश्शमयामास | 63 | 12 | c | प्रध्वस्ताखिलबन्धनः | 66 | 24 | b |
| प्रत्याह प्रश्रया नम्रः | 85 | 21 | c | प्रपन्नभय भञ्जन | 70 | 26 | b |
| प्रत्युक्तः प्रतिषेधता | 89 | 45 | d | प्रपन्नान् पाहि नः कृष्ण! | 73 | 8 | c |
| प्रत्युत्थानासनादिभिः | 69 | 20 | d | प्रपन्नार्तिहराव्यय | 73 | 8 | b |
| प्रत्युद्गमासन वरार्हण पादशौच | 61 | 6 | a | प्रपन्नां भक्तवत्सल | 65 | 29 | d |
| प्रत्यूषेऽभ्येत्य सुश्लोकैः | 87 | 13 | c | प्रपन्नाः पादमूलं ते | 70 | 32 | c |
| प्रत्यैक्षन्त मुमुक्षवः | 7 | 20 | d | प्रबुद्ध आजौ समपश्यदच्युतः | 77 | 30 | b |
| प्रदाप्य प्रकृतीः कामैः | 70 | 12 | c | प्रभानु र्भानुमांस्तथा | 61 | 10 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| प्रभापरिक्षिप्तसहस्रकुन्तलम् | 89 | 56 | b | प्रसक्ता वृजिनार्णवे | 63 | 41 | d |
| प्रभावं न विदाम ते | 68 | 44 | b | प्रसन्नवक्त्रं रुचिरायतेक्षणम् | 89 | 55 | d |
| प्रभासं पुनरागमत् | 79 | 21 | d | प्रसह्य तु बलाद्भुक्तं | 64 | 36 | c |
| प्रभिन्न मिव वारणम् | 67 | 10 | d | प्रसह्य रुद्धास्तेनाऽऽसन् | 70 | 25 | c |
| प्रभुत्वेनाऽभवद्धरिः | 90 | 49 | b | प्रसह्याऽऽकर्षते मनः | 90 | 28 | b |
| प्रमत्तस्स सभामध्ये | 77 | 18 | c | प्रसादितः सुप्रसन्नः | 68 | 49 | c |
| प्रमोदोपहतो नृपः | 71 | 40 | d | प्रसार्य केशबाह्वङ्घ्रीन् | 78 | 9 | c |
| प्रययुः शोणितपुरं | 63 | 2 | c | प्रसूतिकाल आसन्ने | 89 | 36 | a |
| प्रययौ द्वारकां किल | 80 | 15 | b | प्रस्थापनोपायनैः | 69 | 33 | a |
| प्रययौ नन्दगोकुलं | 65 | 1 | d | प्रस्थाप्य यदुवीरांश्च | 75 | 29 | c |
| प्रयाग मुपगम्य सः | 79 | 10 | b | प्रहरिष्यन्नमर्षितः | 68 | 41 | d |
| प्रयुऽज्याऽवितथाऽशिषः | 79 | 7 | b | प्रहसन् श्लक्ष्णया गिरा | 85 | 21 | d |
| प्रलम्बचार्वष्ट भुजं सकौस्तुभं | 89 | 56 | c | प्रहसन्निद मब्रवीत् | 82 | 41 | d |
| प्रवर्तन्ते स्म राजेन्द्र | 75 | 7 | c | प्रहसं स्तमुवाच ह | 86 | 50 | d |
| प्रववर्षाऽखिलान्कामान् | 89 | 65 | a | प्रहारं नाऽनुचिन्तयन् | 67 | 19 | d |
| प्रविश्य रेवा मगमत् | 79 | 21 | a | प्रहृष्टरोमा नृपगद्गदाक्षरः | 85 | 38 | d |
| प्रविष्टानां महारण्यं | 80 | 36 | a | प्रह्लादाय वरो दत्तः | 63 | 48 | c |
| प्रविष्टो निजमन्दिरं | 81 | 28 | b | प्रह्वपादार्चनादिकम् | 84 | 10 | d |
| प्रविष्टोन्वात्मसत्तया | 86 | 44 | d | प्राकाराट्टालगोपुरम् | 63 | 5 | b |
| प्रवृक्णा बाहवो मया | 63 | 49 | b | प्राकृतैर्वैकृतैर्यज्ञैः | 84 | 51 | c |
| प्रवृद्धबाष्पाः परिरेभिरेऽच्युतम् | 71 | 27 | d | प्रागकल्पाच्च कुशलं | 84 | 63 | a |
| प्रवृद्धभक्त्या उद्धर्ष | 86 | 28 | a | प्रागदृष्टश्रुतेन सा | 62 | 12 | d |
| प्रवृद्धस्नेहया तया | 62 | 26 | b | प्रागाद्योत्स्यन् जनार्दनं | 63 | 31 | d |
| प्रवेक्ष्ये हतकल्मषः | 89 | 30 | d | प्रागासीना नृपादयः | 84 | 6 | b |
| प्रशशंसुर्मुदा युक्ताः | 82 | 28 | c | प्राणाः प्राणमिवाऽऽगतं | 71 | 24 | d |
| प्रशशंसु र्हृषीकेशम् | 73 | 7 | c | प्राचेतसमिवाऽमराः | 74 | 16 | f |
| प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः | 80 | 6 | d | प्राच्यां वृकोदरं मत्स्यैः | 72 | 13 | e |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| प्राज्ञाय देहकृदमुं निजनाथदेवं | 83 | 10 | a | प्राविशद्राममन्दिरम् | 71 | 38 | d |
| प्राञ्चालय त्वां तमहं प्रपद्ये | 70 | 40 | d | प्रावृडन्ते यथा ग्रहाः | 73 | 27 | d |
| प्राणादिभिः स्वविभवै रुपगूढ मज्ञः | 84 | 33 | c | प्रासादलक्षैर्नवभिः | 69 | 5 | a |
| प्राणादीनां विश्वसृजां | 85 | 6 | a | प्रासादाट्टालतोलिकाः | 76 | 10 | b |
| प्राणो जीवो बिभर्त्यजः | 85 | 5 | d | प्राह प्रभो भगवते करवाम किन्ते | 69 | 16 | d |
| प्रादात्सौभमयोमयम् | 76 | 7 | d | प्राहरत्कृष्णसूताय | 77 | 13 | c |
| प्रादाद्दुहितरं युधि | 61 | 20 | b | प्राहरन्नरयो हरिम् | 66 | 16 | d |
| प्रादाय महतीं गदां | 72 | 33 | b | प्राहिणोत्पारिबर्हाणि | 86 | 12 | a |
| प्रादां युवभ्यो द्विजपुङ्गवेभ्यः | 64 | 14 | d | पियबाह्वन्तरं गता | 70 | 3 | d |
| प्रादुरासीद्यथा रविः | 70 | 33 | d | प्रियया चोद्धवेन च | 69 | 20 | b |
| प्राद्युम्निं योगमास्थिता | 62 | 23 | b | प्रियरावपदानि भाषसे | 90 | 22 | a |
| प्राद्युम्निं रथमारोप्य | 63 | 51 | c | प्रियापर्यङ्कमास्थितः | 80 | 18 | b |
| प्राप्तं निशम्य नरलोचन पानपात्रम् | 71 | 34 | a | प्रियाश्च काश्चन शिबिकाभिरच्युतं | 71 | 15 | a |
| प्राप्तं प्रानञ्च सेवन्तः | 73 | 22 | c | प्रीणय्य सूनृतैर्वाक्यैः | 73 | 28 | c |
| प्राप्तं रामं सुहृत्तमम् | 68 | 18 | b | प्रीतश्शुश्रूषवे प्रभुः | 88 | 7 | b |
| प्राप्तः प्रेतपिशाचराट् | 88 | 32 | d | प्रीतःप्रणयविह्वलः | 74 | 26 | d |
| प्राप्तां दशां त्वं च शतो दुरत्ययाम् | 90 | 17 | d | प्रीतः फुल्लमुखाम्बुजः | 72 | 12 | b |
| प्राप्ताः सालोक्य सामीप्यं | 85 | 43 | a | प्रीतस्स्वयं तथा युक्तः | 81 | 28 | a |
| प्राप्तोऽद्राक्षीद्यदूद्वहम् | 62 | 30 | d | प्रीतात्मोत्थाय पर्यङ्कात् | 71 | 39 | c |
| प्राप्तो निजगृहान्तिकं | 81 | 21 | b | प्रीतो दुर्दर्शनं नृणां | 71 | 23 | b |
| प्राप्तो मामस्य दास्यामि | 81 | 7 | c | प्रीतोऽविमुक्तेभगवान् | 66 | 29 | a |
| प्राप्योषतुर्भवति पक्ष्महृ यद्वदक्ष्णोः | 82 | 39 | c | प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून् | 80 | 19 | c |
| प्रायस्ते धनिनो भोजाः | 88 | 1 | c | प्रीत्या सङ्कर्षणाच्युतौ | 85 | 1 | d |
| प्रायः पाकविपाकेन | 71 | 10 | c | प्रीत्युत्फुल्लाननाशयाः | 86 | 23 | b |
| प्रायुङ्क्त च ततस्स्वयं | 70 | 13 | d | प्रीत्युत्फुल्लेक्षणस्तस्यां | 86 | 6 | c |
| प्रायो गृहेषु ते चित्तं | 80 | 29 | a | प्रीयेय तोयेन नृणां प्रपद्यतां | 88 | 20 | c |
| प्राविशद्यन्निविष्टानां | 70 | 18 | c | प्रेक्षन् खलु सतां गतिः | 81 | 2 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| प्रेक्षमाणो रुषाऽऽविष्टः | 63 | 5 | c | वध्नीतेमं दुर्विनीतम् | 68 | 3 | a |
| प्रेमगद्गदयागिरा | 65 | 6 | b | वन्धुज्ञाति नृपान् मित्र | 75 | 23 | a |
| प्रेमोत्कुण्ठाश्रुलोचना | 81 | 26 | b | वन्धुरूपमरिं हत्वा | 78 | 6 | c |
| प्रेम्णा गोविन्दरामयोः | 84 | 66 | b | वन्धुषु प्रतियातेषु | 84 | 70 | a |
| प्रेम्णा निवासयामास | 75 | 28 | c | वन्धूनामैक्य काम्यया | 68 | 22 | d |
| प्रेम्णा निरीक्षणेनैव | 81 | 2 | c | बन्धून्कुशलिनो दृष्ट्वा | 68 | 20 | a |
| प्रेम्णा नोवाच किञ्चन | 13 | 35 | d | बन्धून्परिष्वज्य यदन् | 84 | 58 | a |
| प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत् | 81 | 3 | d | बन्धून् सदारान् ससुतान् | 84 | 55 | a |
| प्रेष्ठं न्यमंसत स्वं स्वं | 61 | 2 | c | बभाषे कालचोदितः | 61 | 34 | d |
| प्रोक्तादेवा यदोः कुले | 90 | 48 | b | बभाषेदं सुयन्त्रितः | 84 | 28 | d |
| प्रोचुः प्रहृष्टमनसः | 83 | 2 | c | बभाषे नष्टमङ्गलः | 74 | 38 | b |
| प्रोत्फुल्लकुमुदाम्भोज | 81 | 22 | c | बभाषे प्राकृतो यथा | 77 | 24 | d |
| प्रोत्फुल्लदृग्वक्त्र स ते रुहश्रियः | 82 | 15 | b | बभाषेऽविक्लवं वचः | 68 | 20 | d |
| प्रोत्फुल्लोत्पलकह्लार | 90 | 6 | a | बभाषे सूनृतै र्वाक्यैः | 70 | 35 | c |
| | | | | बभूव हाहेति वचस्तदा नृणां | 77 | 37 | d |
| – फ – | | | | बभूवु र्भरतर्षभ | 89 | 49 | d |
| फलार्हणो शीर शिवामृताम्बुभिः | 86 | 41 | a | बभूवुः कोटिशो नृप! | 61 | 19 | d |
| फल्गुनेन भटैर्वृतः | 71 | 46 | d | बभौ चितं मोदवहं मनस्विनां | 66 | 18 | c |
| फल्गुनेन परन्तप! | 89 | 35 | b | बभौ स्वभासा ककुभोऽवभासयन् | 70 | 19 | b |
| | | | | बलदेवपरिग्रहाः | 67 | 12 | d |
| – ब – | | | | बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ! | 65 | 1 | a |
| बद्धवैरौ नृपार्थवत् | 79 | 28 | b | बलमक्षै र्विनिर्जय | 61 | 27 | d |
| बद्धं निशम्याश्रुकलाक्ष्यरोदीत् | 62 | 35 | d | बलस्य बलशालिनः | 79 | 33 | b |
| बद्धाञ्जलीसस्मितमूर्जया गिरा | 89 | 58 | d | बलस्यानन्तवीर्यस्य | 65 | 33 | c |
| बद्धान् वियुङ्क्ष मगधाह्वय कर्म पाशात् | 70 | 30 | b | बलस्योपर्यमर्षितः | 67 | 23 | b |
| बद्ध्वा पतित मर्भकाः | 64 | 4 | b | बलं गजस्यन्दनवाजिपत्तिमत् | 66 | 17 | b |
| बद्ध्वाऽपनीतः साल्वेन | 77 | 23 | c | बलं बृहद्ध्वजपटछन्नचामरैः | 71 | 17 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| बलं मूर्धन्यताडयत् | 67 | 17 | d | बाणैश्च न भवादृशाः | 61 | 35 | d |
| बलः प्रबल ऊर्ध्वगः | 61 | 15 | b | बाधन्ते दस्यवः प्रजाः | 74 | 37 | a |
| बलः प्रहरतां वरः | 67 | 14 | b | बाध्यमाना निजाः प्रजाः | 76 | 13 | b |
| बलिनामपि चान्येषां | 71 | 5 | c | बान्धवाः परिचर्यायां | 75 | 3 | c |
| बलीयसैजद्बृहदूर्मिभीषणं | 89 | 53 | b | बालवाक्यैर्विभिद्यते | 74 | 31 | d |
| बलेन परिघार्दिताः | 61 | 38 | d | बाष्पकण्ठयौ समूचतुः | 82 | 37 | d |
| बलेन बुभुजे किल | 86 | 5 | d | बाहुभ्यां परिरभ्य च | 82 | 36 | b |
| बलेन सह संयुगः | 63 | 8 | b | बाहुभ्यां परिरम्भितः | 81 | 16 | d |
| बलेनैव जितोग्लहः | 61 | 33 | b | बाहुषु छिद्यमानेषु | 63 | 34 | a |
| बलेरासीन्महात्मनः | 62 | 2 | b | बाह्योपवन मास्थितः | 68 | 16 | b |
| बलेर्नु श्रूयते कीर्तिः | 72 | 24 | a | बाह्लीकपुन्नाभूर्याद्याः | 75 | 6 | c |
| बल्वलो नाम दानवः | 78 | 38 | b | बाह्वोर्दधानं मधुमल्लिका श्रिताम् | 62 | 32 | c |
| बहुरूपैकरूपं तत् | 76 | 21 | a | बिभर्षि सत्वं खलनिग्रहाय च | 84 | 18 | b |
| बहुलाश्व इति श्रुतः | 86 | 16 | b | बिभेद न्यपतद्धस्तात् | 77 | 16 | c |
| बहुशः प्रार्थितो मृदु | 80 | 12 | b | बिभ्रज्जगद्गुरुतरोऽपि सतां पतिर्हि | 69 | 15 | b |
| बाढमाशंसितं तथा | 73 | 18 | d | बिभ्रतो भगवन् सत्त्वं | 68 | 47 | c |
| बाणश्च तावद्विरथः | 63 | 21 | c | बिभ्रत्पिङ्गजटाभारं | 70 | 33 | c |
| बाणस्तु रथमारूढः | 63 | 31 | c | बिभ्रत्स्मितमुखाम्भोजं | 65 | 24 | c |
| बाणस्यतनया मूषां | 62 | 1 | a | बिभ्रद्बभौ सार्क इवोदयाचलः | 77 | 35 | d |
| बाणस्य पृतनां शौरिः | 63 | 14 | c | बिभ्रद्रुरोध भवने मृगराडिवाऽऽवीः | 70 | 30 | d |
| बाणस्य भगवान् भवः | 63 | 34 | b | बिभ्रन्मुहुः प्रेमविभिन्नया धिया | 85 | 38 | b |
| बाणस्य मन्त्री कुम्भाण्डः | 62 | 14 | a | बिभ्राणश्च हरे राजन् | 66 | 24 | c |
| बाणः पञ्चशतानि वै | 63 | 18 | b | बिभ्रणं कौस्तुभमणिं | 66 | 13 | c |
| बाणः पुन्नशतज्येष्ठः | 62 | 2 | a | बुद्धीन्द्रियमनः प्राणान् | 87 | 2 | a |
| बाणार्थे भगवान् रुद्रः | 63 | 6 | a | बुभुजे नातिलम्पटः | 81 | 38 | d |
| बाणांश्चक्रायुधे नृप! | 63 | 32 | d | बुमुजे विषयान् ग्राम्यान् | 89 | 64 | c |
| बाणेन सह सात्यकेः | 63 | 8 | d | बृहत्या पूजयाऽर्चितः | 84 | 59 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| बृहत्सेन इति ख्यातः | 83 | 18 | c | ब्रह्मन् स्मरसि नौ यतः | 86 | 31 | b |
| बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया | 87 | 15 | a | ब्रह्मपुत्रस्तथाऽङ्गिराः | 84 | 5 | b |
| बृहद्भुजं कुण्डलकुन्तलत्विषा | 62 | 31 | c | ब्रह्मबन्धुरिति स्माऽहं | 81 | 16 | c |
| बृहद्रथसुतो यतः | 72 | 16 | d | ब्रह्मर्षिसेवितान्देशान् | 74 | 37 | a |
| बोधयन्तीव वन्दिनः | 70 | 2 | b | ब्रह्मलिङ्गधरास्त्रयः | 72 | 16 | b |
| बोधयन्त्यनु जीविनः | 87 | 13 | d | ब्रह्मलिङ्गानि बिभ्रति | 72 | 23 | b |
| ब्रह्मक्षत्रसभामध्ये | 74 | 51 | c | ब्रह्मवादः सम्प्रवृत्तः | 87 | 10 | c |
| ब्रह्मघोषेण भूयसा | 71 | 24 | b | ब्रह्मविष्णुशिवादयः | 88 | 12 | b |
| ब्रह्मघोषेण भूयसा | 75 | 13 | b | ब्रह्मवृत्तिं हरेच्च यः | 64 | 40 | b |
| ब्रह्मणः परमात्मनः | 74 | 4 | b | ब्रह्मवेषधरो गत्वा | 71 | 7 | a |
| ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये | 64 | 30 | b | ब्रह्मस्वं दुरनुज्ञातं | 64 | 36 | a |
| ब्रह्मणे परमात्मने | 85 | 39 | d | ब्रह्मस्वं साधु बालिशः | 64 | 37 | d |
| ब्रह्मण्यदेव इति यद्गुणनाम युक्तं | 69 | 15 | c | ब्रह्मस्वं हि विषं प्रोक्तं | 64 | 34 | c |
| ब्रह्मण्यदेवो धर्मात्मा | 64 | 32 | c | ब्रह्मस्वारणिपावकः | 64 | 35 | d |
| ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च | 80 | 9 | a | ब्रह्मंस्तेऽनुग्रहार्थाय | 86 | 51 | a |
| ब्रह्मण्यस्य वदान्यस्य | 64 | 26 | a | बह्माख्य मस्योद्भवनाश हेतुभिः | 70 | 5 | c |
| ब्रह्मण्यं समयाचेरन् | 72 | 17 | c | ब्रह्मादय स्सुराधीशाः | 63 | 9 | a |
| ब्रह्मण्येऽभ्यर्थितो विप्रैः | 71 | 6 | c | ब्रह्मादयोऽपि न विदुःपदवीं यदीयाम् | 61 | 5 | b |
| ब्रह्मण्यो ब्राह्मणं कृष्णः | 81 | 2 | a | ब्रह्मादिभि र्हृदि विचिन्त्य मगाधबोधैः | 69 | 18 | b |
| ब्रह्म ते हृदयं कृष्णं | 84 | 19 | a | ब्रह्मानन्दं गतो यथा | 80 | 17 | d |
| ब्रह्मदायापहारिणः | 64 | 39 | d | ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य | | | |
| ब्रह्मद्विषः शठधियः | 89 | 24 | a | कलाः कलायाः | 68 | 37 | c |
| ब्रह्मन् धर्मस्य वक्ताऽहं | 69 | 40 | a | ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्रं | 63 | 13 | a |
| ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये | 87 | 1 | a | ब्राह्मणस्तान्तु रजनीं | 81 | 12 | a |
| ब्रह्मन् मच्छ्रद्धयाऽर्चय | 86 | 57 | b | ब्राह्मणं समभाषत | 89 | 27 | d |
| ब्रह्मन् मे भवतागृहात् | 81 | 3 | b | ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः | 74 | 6 | d |
| ब्रह्मन् वेदितु मिच्छामः | 86 | 1 | a | ब्राह्मणार्थो ह्यपहृतः | 64 | 44 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ब्राह्मणाश्चारविन्दाक्षं | 71 | 30 | e | भगवति कृतचित्तो याति तत्क्षेमधाम | 85 | 60 | d |
| ब्राह्मणा स्त्विष्टदेवताः | 89 | 18 | b | भगवन्तं भयातुराः | 66 | 36 | b |
| ब्राह्मणास्स्वर्णलाङ्गलैः | 74 | 12 | b | भगवन्निन्दनं श्रुत्वा | 74 | 39 | a |
| ब्राह्मणा स्सन्नमासते | 89 | 28 | c | भगवन्मामजानतीम् | 65 | 29 | b |
| बाह्मणाःक्षत्रिया वैश्याः | 74 | 11 | a | भगवन्यानि चान्यानि | 80 | 1 | a |
| ब्राह्मणाः प्रभवो दैवं | 81 | 39 | c | भगवाञ्छ्रैष्ठ्यमास्थितः | 89 | 65 | d |
| ब्राह्मणेभ्यो ददुर्धेनूः | 82 | 10 | a | भगवाञ्जगदीश्वरः | 78 | 16 | b |
| ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य | 71 | 29 | a | भगवानपि तत्राऽब्दं | 75 | 29 | a |
| ब्राह्मणेभ्यो हलायुधः | 79 | 16 | b | भगवान् देवकीसुतः | 64 | 32 | b |
| ब्राह्मणैस्सह ऋत्विजम् | 66 | 30 | b | भगवान्देवकीसुतः | 71 | 12 | b |
| बाह्मणैः कुलवृद्धैश्च | 68 | 15 | c | भगवान्धनुरादाय | 83 | 25 | c |
| ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः | 72 | 1 | c | भगवान्धर्मगुप्तनुः | 84 | 8 | b |
| ब्राह्मणो जन्मतः श्रेयान् | 86 | 53 | a | भगवान्पुरुषोत्तमः | 88 | 38 | b |
| ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः | 80 | 6 | b | भगवान्प्रणतार्तिहा | 86 | 50 | b |
| ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय | 70 | 4 | a | भगवान्प्रहसन्प्रियम् | 81 | 2 | b |
| ब्रूत वो भगवान्स्वयम् | 83 | 7 | b | भगवान् प्रीणयन् गिरा | 71 | 19 | b |
| ब्रूताऽहं करवाण्यय | 78 | 37 | b | भगवान्बादरायणिः | 80 | 5 | b |
| | | | | भगवान्भक्तभक्तिमान् | 86 | 59 | b |
| – भ – | | | | भगवान्भीमवेगया | 77 | 21 | b |
| भक्तस्य च चिकीर्षितम् | 70 | 41 | d | भगवान् भुवनेश्वरः | 73 | 24 | b |
| भक्तानुकम्प्युपव्रज्य | 63 | 34 | c | भगवान्भूतभावनः | 72 | 46 | b |
| भक्ताय चित्रं भगवान् हि सम्पदः | 81 | 37 | a | भगवान् रथमास्थितः | 65 | 1 | b |
| भक्तिर्भवेद्भगवति ह्यपवर्ग मार्गे | 69 | 45 | d | भगवान् लोकपावनः | 80 | 21 | b |
| भक्तोऽतीव जनार्दने | 81 | 38 | b | भगवान् लोकभावनः | 86 | 37 | b |
| भक्त्या केचन कामतः | 85 | 44 | b | भगवान्विश्वभावनः | 64 | 5 | b |
| भक्त्या परमया हरिम् | 84 | 41 | b | भगवान्वृजिनार्दनः | 88 | 27 | b |
| भक्त्युत्कण्ठोऽश्रुलोचनः | 89 | 13 | d | भगवान्व्यतर द्विभुः | 79 | 31 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| भगवान्सर्वभूतेशः | 62 | 5 | a | भवता लब्ध दक्षिणात् | 80 | 28 | b |
| भगवान्सात्त्वतर्षभः | 68 | 52 | b | भवता शत्रुकर्शन | 72 | 7 | b |
| भगवान्सात्त्वतर्षभः | 80 | 9 | b | भवता सत्यकामेन | 80 | 44 | c |
| भगवान्सात्वतर्षभः | 85 | 21 | b | भवतीनां मदापनः | 82 | 45 | d |
| भगवान् सात्त्वतां पतिः | 74 | 19 | b | भवतो यद्व्यवसितं | 63 | 47 | c |
| भगवां स्तदभिप्रेत्य | 86 | 26 | a | भवत्पादनिषेवया | 69 | 38 | d |
| भगवांस्ता स्तथाभूताः | 82 | 41 | a | भवत्पादहतां हसः | 89 | 12 | d |
| भगिन्या चाभिवन्दितः | 71 | 41 | d | भवत्सन्दर्शनार्थिनः | 64 | 26 | d |
| भग्नदर्पाश्शमं यान्ति | 68 | 4 | c | भवद्दर्शनकाङ्क्षिणः | 70 | 32 | b |
| भग्नमानेषु मानिषु | 83 | 25 | b | भवन्त ऋतभाषिणः | 73 | 19 | b |
| भग्ने भग्ने पुनः पुनः | 67 | 22 | b | भवन्त एतद्विज्ञाय | 73 | 21 | a |
| भग्नो मृधे खलु भवन्त मनन्तवीर्यम् | 70 | 31 | b | भवन्तं वै सुरादयः | 70 | 43 | b |
| भजति सरूपतां तदनुमृत्यु मपेतभागः | 87 | 38 | b | भवन्तावनुगृह्णीताम् | 64 | 20 | a |
| भजन्त्यनाशिष श्शान्ताः | 89 | 18 | c | भवन्ति किल विश्वात्मन् | 85 | 31 | c |
| भज्यमानपुरोद्यान | 63 | 5 | a | भवन्त्युद्वेजिनोऽहयः | 64 | 41 | d |
| भटा आवेदयाञ्चक्रुः | 62 | 28 | a | भवन्त्विह परत्र च | 80 | 42 | d |
| भटेभरथवाजिभिः | 83 | 38 | b | भवभीताः पृथाग्धियः | 70 | 26 | d |
| भण्यतां प्रायशस्सर्वैः | 88 | 30 | c | भवान्दाताऽपहर्तेति | 64 | 18 | c |
| भद्रचारुस्तथाऽपरः | 61 | 8 | d | भवान् सर्व मिदं जगत् | 85 | 17 | d |
| भद्रां जाम्बवतीं तथा | 71 | 42 | d | भवान् हि सर्वभूतानां | 86 | 31 | a |
| भयं वायेऽज्ञसम्भवाः | 77 | 32 | b | भवापवर्गाय भजाम देवम् | 63 | 45 | d |
| भरद्वाजोऽथ गौतमः | 84 | 3 | d | भविता शरणं शुनाम् | 66 | 9 | d |
| भर्त्रे प्रादादुपायनम् | 80 | 14 | d | भविष्यत्यजरामरः | 63 | 50 | b |
| भर्त्सयन्कृष्णपक्षीयान् | 74 | 42 | c | भवेज्जन्मनि जन्मनि | 83 | 16 | b |
| भल्लेन छित्वाऽथ रथाङ्गमद्भुतम् | 77 | 36 | b | भानुश्चन्द्रोऽश्वसेनश्च | 61 | 13 | a |
| भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं | | | | भानुस्सभानुस्स्वर्भानुः | 61 | 10 | a |
| भुवि निश्वसिताः | 87 | 20 | d | भारं मेने हृतं भुवः | 79 | 22 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| भार्यया द्विजमत्तमः | 89 | 36 | b | भीष्म द्रोणार्जुनादिभिः | 68 | 28 | b |
| भार्योढा सदृशी न वा | 80 | 28 | d | भीष्मं द्रोणञ्च वाह्लिकं | 68 | 17 | b |
| भावक्षुब्धं मनो दधे | 86 | 6 | d | भीष्मो द्रोणः पृथा यमौ | 84 | 57 | b |
| भावा ये चाऽस्य हेतवः | 86 | 56 | b | भीष्मो द्रोणोऽम्बिकापुत्रः | 82 | 24 | a |
| भाविन्याऽऽत्तं कुशाग्रेण | 78 | 28 | c | भुक्तमग्नेर्मनागपि | 64 | 33 | b |
| भावो हि भवकारणम् | 74 | 46 | d | भुक्तं हन्ति त्रिपूरुषं | 64 | 36 | b |
| भावो हि भवकारणम् | 85 | 43 | d | भुक्त्वा पीत्वा सुखं मेने | 81 | 12 | c |
| भासयन्तीं दिशश्शौरिः | 77 | 14 | c | भुक्त्वोपविविशुः कामं | 82 | 12 | a |
| भास्वरं तमसः परम् | 88 | 25 | d | भुजैस्सहस्रै रवलोक्य माधवः | 62 | 33 | b |
| भिन्नर्धाविग्मितश्शीर्णि | 88 | 35 | c | भुज्यते कुरुभिर्दत्तं | 68 | 38 | a |
| भिन्नाञ्चनचयोपमम् | 79 | 3 | b | भुञ्जन्त्यस्म दुपेक्षया | 68 | 26 | d |
| भीतः पिताऽऽदिशत मां प्रभवेऽपि दत्ताम् | 83 | 9 | d | भुञ्जानमवशेषितम् | 69 | 24 | d |
| भीतास्तेऽपि प्रदुद्रुवुः | 62 | 9 | d | भुवि पुरुपुण्यतीर्थ सदना न्यृषयो विमदाः | 87 | 35 | a |
| भीतो माहेश्वरो ज्वरः | 63 | 25 | b | भूखण्डं किल वृष्णयः | 68 | 38 | b |
| भीमसेनेन केशवः | 73 | 31 | b | भूतप्रमथनायकाः | 85 | 41 | d |
| भीमसेनोऽर्जुनः कृष्णः | 72 | 16 | a | भूतप्रेतान्सगुह्यकान् | 63 | 10 | b |
| भीनस्तुल्यबलो मम | 72 | 32 | d | भूतमातृ पिशाचांश्च | 63 | 11 | a |
| भीमस्यामोघ दर्शनः | 72 | 41 | b | भूतानामनुकम्पार्थं | 66 | 5 | c |
| भीमं समबलं विना | 71 | 5 | d | भूतानामसि भूतादिः | 85 | 11 | a |
| भीमः प्रहरतां वरः | 72 | 42 | b | भूतानां तत्र पश्यतां | 77 | 17 | b |
| भीमः स्मयन् प्रेम जवाकुलेन्द्रियः | 71 | 27 | b | भूतेषु भूमंश्चरतः स्वशक्तिभिः | 70 | 38 | c |
| भीमार्जुन जनार्दनाः | 73 | 34 | b | भूतेष्वात्माऽऽत्मना ततः | 82 | 47 | b |
| भीमो दुर्योधनः कर्णः | 83 | 23 | c | भूत्वा मुकुन्दस्य पदारविन्दं | 64 | 7 | a |
| भीमो महानसाध्यक्षः | 75 | 4 | a | भूभारक्षत्रक्षपण | 85 | 18 | c |
| भीमो वायुरभूद्राजन् | 79 | 1 | c | भूमण्डलं बिभर्षि सहस्र मूर्धन् | 68 | 46 | b |
| भीष्मको नग्नजिन्महान् | 82 | 25 | b | भूमेर्भारायमाणानां | 85 | 30 | c |
| भीष्म द्रोणकृपादयः | 74 | 10 | b | भूमौ च ते भुवनमङ्गलदिग्वितानं | 70 | 45 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| भूयः पार्श्वमुपातिष्ठत् | 66 | 42 | c | भ्रमयति भारतीत उरुवित्तिभि | | | |
| भूयान्मे त्वत्पदास्पदं | 64 | 29 | d | रुक्थजडान् | 87 | 36 | d |
| भूयांसं श्रद्दधुर्विष्णुं | 89 | 15 | c | भ्रष्टागौर्मम गोधने | 64 | 16 | b |
| भूयोऽहं श्रोतुमिच्छामि | 67 | 1 | a | भ्राजद्वरमणिग्रीवं | 73 | 5 | a |
| भूर्यप्यभक्तोपहृतं | 81 | 3 | e | भ्राजन्मणिस्तम्भसहस्र शोभितम् | 89 | 53 | d |
| भूर्यर्थायोपकल्पते | 71 | 10 | b | भ्रातरः पितरावपि | 82 | 20 | b |
| भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः | 82 | 46 | d | भ्रातरीशकृतः पाशः | 84 | 61 | a |
| भूषणानि महार्हाणि | 65 | 31 | c | भ्रातर्वो नाचराम हि | 84 | 63 | b |
| भूषणैश्च महाधनैः | 74 | 28 | b | भ्राता मैन्दस्य वीर्यवान् | 67 | 2 | d |
| भूषणैः स्रग्विलेपनैः | 73 | 25 | d | भ्रातुर्भार्या हतोक्षताम् | 77 | 18 | b |
| भूस्तत्कृतेषु यथाशयम् | 85 | 25 | b | भ्रातृपत्नी र्मुकुन्दश्च | 82 | 18 | c |
| भूः कालभर्जितभगाऽपि यदङ्घ्रिपद्म | 82 | 30 | c | भ्रातृभिश्च युधिष्ठिरः | 72 | 1 | d |
| भृगुस्तन्मन्द्रया गिरा | 89 | 13 | b | भ्रातृशोकपरिप्लुतः | 78 | 11 | b |
| भृगुं ब्रह्मसुतं नृप | 89 | 2 | b | भ्रातॄन् दिग्विजयेऽयुङ्क्त | 72 | 12 | c |
| भृत्यान् दारुकजैत्रादीन् | 71 | 12 | c | भ्रातॄंश्च मेऽपकुरुतः स्वपुरं श्रियौकाः | 83 | 12 | c |
| भेजुर्मुदाविरतमेधितयानुराग | 61 | 5 | c | भ्रूक्षेपैः सन्मुखादिभिः | 67 | 13 | b |
| भोगैश्च विविधैर्युक्तान् | 73 | 26 | c | भ्रूमण्डलप्रहित सौरत मन्त्र शौण्डैः | 61 | 4 | b |
| भोजयन्तं द्विजान् क्वापि | 69 | 24 | c | **– म –** | | | |
| भोजयित्वा वरान्नेन | 73 | 26 | a | | | | |
| भोजराजहतान्पुत्रान् | 85 | 33 | c | मखैरुत्तमकल्पकैः | 84 | 43 | d |
| भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः | 68 | 34 | b | मङ्गलानि समस्पृशत् | 70 | 10 | d |
| भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः | 80 | 10 | d | मच्चित्ता विचरिष्यथ | 73 | 22 | d |
| भो भो स्सदा निष्टनसे उदन्वन् | 90 | 17 | a | मज्जनाय कृतोद्यमम् | 69 | 23 | d |
| भो भोः पौण्ड्रक यद्भवान् | 66 | 19 | b | मणिकाञ्चनभूषितान् | 73 | 28 | b |
| भौतिकानां यथा खं वाः | 82 | 46 | c | मणिस्तम्भशतोपेतं | 81 | 28 | c |
| भौमं निहत्य सगणं युधितेन रुद्धाः | 83 | 40 | a | मण्डलानि विचित्राणि | 72 | 35 | a |
| भौमैर्हि भूमिर्बहुनाम रूपिणी | 84 | 17 | c | मण्डलानि विचित्राणि | 79 | 25 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मण्युत्तमपरिष्कृतैः | 69 | 10 | d | मनुतीर्थमुपस्पृश्य | 79 | 21 | c |
| मत्त इत्यापगां बलः | 65 | 25 | d | मनुष्याः स्थापयन्ति ते | 89 | 46 | d |
| मत्तानामिव मानिनाम् | 68 | 39 | b | मनोजवं निर्विविशे सुदर्शनं | 89 | 51 | c |
| मत्ताःप्रमत्ता वरदान् | 88 | 11 | c | मनोरथमहार्णवम् | 84 | 60 | b |
| मत्परैः कृतमैत्रस्य | 88 | 9 | c | मनोरथमहार्हणम् | 75 | 30 | b |
| मत्स्यं वीक्ष्य सकृज्जले | 83 | 26 | b | मनोहर्ता तमादिश | 62 | 18 | d |
| मत्स्यः पार्थेप्सया कृतः | 83 | 19 | b | मन्त्रयन्तश्च कस्मिंश्चित् | 69 | 27 | a |
| मत्स्याभासं जले वीक्ष्य | 83 | 24 | a | मन्त्रिभिश्चोद्धवादिभिः | 69 | 27 | b |
| मत्स्याः केकयसृञ्जयाः | 74 | 41 | b | मन्दाकिनीति दिवि | | | |
| मत्स्योशीनर कौसल्य | 82 | 13 | a | भोगवतीति चाऽधः | 70 | 45 | c |
| मथुरा स्वपुरीं त्यक्त्वा | 72 | 31 | c | मन्दारवन वायुभिः | 70 | 2 | d |
| मदच्युद्भिर्मतङ्गजैः | 90 | 3 | b | मन्यते सम्पदोऽचलाः | 73 | 10 | d |
| मदविह्वल लोचनः | 65 | 23 | d | मन्युना क्षुभितः श्रीमान् | 61 | 31 | a |
| मदविह्वललोलनम् | 67 | 10 | b | मन्वानो न्यपतज्जले | 75 | 39 | d |
| मदास्ते भरतर्षभ | 68 | 29 | b | मन्वानौ तं जगद्गुरुम् | 86 | 24 | b |
| मदिराकलशं कपिः | 67 | 14 | d | मन्यन्त उदकाशयम् | 73 | 11 | b |
| मद्रूपाणीति चेतसि | 86 | 56 | c | मन्येत सूर्यमिव मेघहिमोपरागैः | 84 | 33 | d |
| मधुं माधवमेव च | 65 | 17 | b | मम दृष्टिपथं गतः | 78 | 4 | d |
| मध्यस्थः प्रययौ किल | 78 | 17 | d | ममाऽपि राज्यच्युतजन्मकर्म | 83 | 17 | a |
| मध्ये भान्तीं सुविस्मितः | 81 | 27 | d | ममार किल भारत | 89 | 22 | d |
| मध्ये सभायां कुरुषु स्वचेष्टितम् | 68 | 53 | d | ममाऽहमिति माधव | 74 | 5 | b |
| मध्ये सुचारुकुचकुङ्कुमशोण हारम् | 75 | 33 | c | ममेति प्रतिग्राह्याऽऽह | 64 | 17 | c |
| मनसा परिषस्वजे | 81 | 26 | d | मयमायाविमोहितः | 75 | 38 | d |
| मनसैवात्ममायया | 86 | 45 | b | मयः परपुरञ्जयः | 76 | 7 | b |
| मनः क्षितं पुनर्हर्तुम् | 84 | 69 | c | मया ते बहुविस्तरम् | 74 | 50 | b |
| मनुजांश्च यथाऽलिखत् | 62 | 19 | d | मया दत्ता द्विजातये | 64 | 16 | d |
| मनुजेषु च सा वृष्णीन् | 62 | 20 | a | मयोपोवाहितोरणात् | 76 | 33 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मयाऽभयं दत्तममुष्य देव | 63 | 46 | b | महापातक्यपि यतः | 75 | 21 | c |
| मयि भक्तिर्हि भूतानां | 82 | 45 | a | महापुरुषचेष्टितम् | 73 | 30 | b |
| मयेशे नृपयूथपाः | 83 | 31 | b | महामणिग्रातकिरीटकुण्डल | 89 | 56 | a |
| मयोपनीता भुवि धर्मगुप्तये | 89 | 59 | b | महामरकतप्रख्यैः | 69 | 5 | c |
| मयोपनीतां पृथुं कैकमुष्टिं | 81 | 35 | c | महामारकतेषु च | 81 | 31 | b |
| मटय्यात्मन्यखिलेश्वरे | 73 | 18 | b | महायोगेश्वरेश्वरः | 89 | 50 | b |
| मय्यावेश्य मनस्सम्यक् | 73 | 23 | c | महार्ह वस्त्राभकणानुलेपनैः | 85 | 37 | b |
| मर्त्यस्तयाऽनुसवमेधितया मुकुन्द | 90 | 55 | a | महार्ह वासोऽलङ्करैः | 83 | 37 | b |
| मर्त्यात्मदृक् त्वयि परे यदपत्य बुद्धिः | 85 | 19 | c | महाविभूतेरवलोकतोऽन्यः | 81 | 33 | c |
| मर्दयन् स्वेन पाणिना | 89 | 10 | d | महाशः पावनो वह्निः | 61 | 16 | c |
| मलयञ्च कुलाचलम् | 79 | 16 | d | महासत्वोऽऽभ्यवर्तत | 78 | 2 | d |
| मलयानिल तेऽप्रियम् | 90 | 19 | b | महिम्ने परमात्मने | 84 | 22 | d |
| मलिनामलवाससः | 73 | 1 | d | महिषीणां हरे र्द्विजः | 80 | 17 | b |
| महत्या भरतर्षभ | 76 | 9 | b | महिष्यः पुत्रबान्धवाः | 66 | 26 | b |
| महत्यां तीर्थयात्रायां | 82 | 5 | a | महिष्या वीजित श्शान्तः | 81 | 17 | c |
| महत्यां देवयात्रायां | 86 | 9 | a | महिष्योऽष्टशताधिकाः | 90 | 31 | d |
| महत्त्वञ्चाऽच्युतात्मनः | 75 | 31 | d | महेन्द्रभवनं यथा | 81 | 28 | d |
| महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः | 87 | 17 | b | महोल्कामिव रंहसा | 77 | 14 | b |
| महद्दर्शन निर्वृतः | 81 | 14 | d | मागधं मधुसूदन | 73 | 9 | b |
| महन्मनास्तो मुखनिस्सृतं क्वचित् | 83 | 3 | b | मागधानां पतिं प्रभुः | 72 | 46 | d |
| महर्षेश्शिष्य मैक्षत | 78 | 22 | d | मागधाम्बष्ठचेदिपाः | 83 | 23 | b |
| महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभागः | 87 | 28 | d | मातरं पितरं भ्रातृन् | 65 | 11 | a |
| महाधनोपस्करेभ- | 86 | 12 | c | मातरः कृष्णजातानां | 61 | 19 | a |
| महानुभाव स्तदबुध्यतासुरीं | 77 | 29 | c | मातुलेयीं स आत्मनः | 86 | 2 | d |
| महानुभावं पुरुषोत्तमोत्तमं | 82 | 55 | b | मातुः पुत्रानयच्छताम् | 85 | 53 | d |
| महानुभावेन गुणालयेन | 81 | 36 | c | मातृशोकापनुत्तये | 85 | 51 | b |
| महापातकनाशनम् | 79 | 15 | d | मात्रार्थञ्च भवार्थञ्च | 87 | 2 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत् | 81 | 20 | b | माल्यधूपानुलेपनैः | 84 | 7 | d |
| माद्यास्सुता महाशक्तिः | 61 | 15 | c | माल्याः क्षोभं दधु | | | |
| माधवं प्रणिपत्याऽऽह | 64 | 9 | c | र्मलधियां रुचिरै र्विहारैः | 75 | 16 | d |
| माधव्यथ क्षितिपपत्य उत स्वगोप्यः | 84 | 1 | b | मावज्ञात्मानमात्मनः कृथाः | 89 | 46 | b |
| माधव्यो विरहातुराः | 70 | 1 | d | मावमंस्था मम ब्रह्मन् | 89 | 34 | a |
| माधुर्यै र्व्रजयोषितां | 65 | 34 | d | माहेन्द्र इव वारणः | 65 | 21 | d |
| मानितो मानयामास | 71 | 29 | c | माहेन्द्र इव वारणः | 65 | 32 | d |
| मानुषी मीयुषो गतिं | 69 | 37 | d | माहेश्वरस्समाक्रन्दत् | 63 | 24 | c |
| मानुषीं प्रकृतिं गतः | 77 | 24 | b | माहेश्वरो वैष्णवश्च | 63 | 24 | a |
| मान्यो वदान्यो धर्मांश्च | 62 | 3 | c | मां तावद्रयमारोप्य | 83 | 32 | a |
| मा भैष्ट दूत भद्रं वः | 71 | 19 | c | मां यजन्तेऽध्वरै र्युक्ताः | 73 | 21 | c |
| मा भैष्टेत्यभयं ददौ | 68 | 49 | d | मित्रध्रुङ्मां जिघांससि | 78 | 5 | b |
| मा भैष्टेत्यभ्यया द्वीरः | 76 | 13 | c | मित्रविन्दात्मजाः क्षुधिः | 61 | 16 | d |
| मा भैष्टे त्यवितास्म्यहम् | 66 | 37 | d | मित्राणां मित्रवत्सलः | 78 | 6 | b |
| मामन्ते ब्रह्म यास्यथ | 73 | 23 | d | मिथिलायां गृहाश्रमी | 86 | 14 | b |
| मामन्ध्वं बालभाषितं | 74 | 32 | b | मिषतां भूभुजां राज्ञि | 83 | 33 | c |
| मायया विभ्रमच्चित्तः | 84 | 25 | c | मिषतां सर्वभूतानां | 85 | 57 | c |
| मायाकृतिं परमहंसगतिं नताः स्मः | 83 | 4 | d | मीलिताक्ष्यनमद्बुद्ध्या | 81 | 26 | c |
| मायामयं मयकृतं | 76 | 21 | c | मुकुन्दगात्रं नृपतिर्हताशुभः | 71 | 26 | b |
| मायामर्त्यस्य सन्ति हि | 79 | 33 | d | मुकुन्दसन्दर्शन निर्वृतेन्द्रियः | 71 | 18 | d |
| मायायवनिकाच्छन्नं | 84 | 23 | c | मुकुन्दस्य महात्मनः | 80 | 1 | b |
| माया विभो विश्वसृजश्च मायिनः | 70 | 38 | b | मुकुन्दं प्राह दुर्मदः | 78 | 4 | b |
| मायावी सौभराडयम् | 77 | 11 | d | मुकुन्दः कुल्ललोचनैः | 71 | 38 | b |
| मायां ससाल्वप्रहितां मयोदिताम् | 77 | 29 | d | मुकुन्दोऽथ सरस्वतीम् | 71 | 22 | b |
| मा राज्यश्रीरभूत्पुंसः | 84 | 64 | a | मुकुन्दो द्वारकौकसः | 64 | 45 | b |
| मार्कण्डेयो बृहस्पतिः | 84 | 4 | d | मुक्तं गिरीशमभ्याह | 88 | 38 | a |
| माला मामुच्य काञ्चनीं | 65 | 32 | b | मुक्तादाम विलम्बिभिः | 69 | 10 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मुक्तादाम विलम्बीनि | 81 | 30 | c | मुसलेनाऽहनत्क्रुद्धः | 79 | 5 | c |
| मुखं तदपिधायाऽज्ञ | 66 | 9 | a | मुहुर्दृष्ट्वा मुनिरभूत् | 69 | 42 | c |
| मुग्धे ध्यायसि किं गृहाण पुरतः | | | | मुहुश्चाऽदर्शय त्पदम् | 90 | 30 | d |
| कुन्दं विकासोन्मुखं | 90 | 20 | a | मुहूर्तं तन्तु वैदर्भी | 70 | 3 | a |
| मुञ्चन्नार्तस्वरं शैलः | 79 | 6 | c | मूढानां नः कुबुद्धीनां | 68 | 44 | c |
| मुनय उपासते तदरयोऽपि | | | | मूर्छितो गदया हतः | 76 | 33 | d |
| ययुः स्मरणात् | 87 | 23 | b | मूर्तिमा नतिभीषणः | 66 | 32 | b |
| मुनयश्चामलाशयाः | 63 | 44 | b | मूर्धन्यहेमकलशै रजतोरुशृङ्गैः | 71 | 33 | c |
| मुनयस्सिद्धचारणाः | 63 | 9 | b | मूर्धभिः पादयोर्हरिः | 73 | 6 | d |
| मुनयः खिन्नमानसाः | 78 | 29 | b | मूर्ध्नाऽऽनम्य प्रसाद्य च | 84 | 42 | d |
| मुनयो दधिरे मनः | 84 | 27 | d | मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः | 83 | 42 | d |
| मुनयो दीर्घसत्रिणः | 78 | 21 | b | मूर्ध्नि ब्रह्मद्रुहं बलः | 79 | 5 | d |
| मुनयो यक्षरक्षांसि | 74 | 14 | c | मूर्ध्न्यजिघ्रदभीक्ष्णशः | 85 | 54 | d |
| मुनिभि स्सिद्धगन्धर्वैः | 78 | 14 | a | मूलं तच्चरणार्चनम् | 81 | 19 | d |
| मुनिर्जगाम वैकुण्ठं | 89 | 7 | c | मृगतृष्णां यथा बालाः | 73 | 11 | a |
| मुनीना मूर्ध्वरेतसां | 87 | 9 | d | मृगाणां मृगराडिव | 83 | 33 | d |
| मुनीनां न्यस्तदण्डानां | 89 | 17 | a | मृतसञ्जीविकयाऽनया गिरा | 90 | 22 | b |
| मुनीनां ब्रह्मवादिनां | 89 | 14 | b | मृतः परम मायया | 64 | 22 | b |
| मुनीनां यस्त्वमात्मदः | 86 | 33 | d | मृता गमननिर्गमम् | 85 | 58 | b |
| मुनीनां स वचः श्रुत्वा | 85 | 2 | a | मृत्युं पुरस्त्वाविगणय्य दुर्मदाः | 73 | 12 | d |
| मुनींश्च ससुतां पृथाम् | 77 | 8 | b | मृत्युं विजित्य प्रथने | 89 | 34 | c |
| मुमुचुर्हर्ष विह्वलाः | 83 | 27 | d | मृत्यो रस्माकमेव च | 78 | 35 | b |
| मुमुचुः पुष्पवर्षाणि | 75 | 20 | c | मृदङ्गपणवानकान् | 90 | 8 | b |
| मुमुचुः पुष्पवर्षाणि | 88 | 37 | a | मृदङ्गभेर्यानक शङ्ख गोमुखैः | 71 | 14 | c |
| मुमोच परमक्रुद्धः | 63 | 32 | c | मृदङ्ग वीणामुरज | 70 | 21 | a |
| मुष्टीकृत्य कपीश्वरः | 67 | 24 | b | मृदङ्ग शङ्खपटहं | 71 | 30 | c |
| मुसलाहत मस्तिष्कः | 67 | 19 | a | मृदङ्ग शङ्ख पणवाः | 75 | 9 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मृदा सुरभ्या तुलसी कुशाम्बुजैः | 86 | 41 | b | मोहिता मायया विष्णोः | 85 | 55 | c |
| मृदूपस्तरणानि च | 81 | 30 | b | मौढ्यं पश्यतमे योऽहं | 89 | 40 | c |
| मृष्टात्मभिर्नवदुकूल विभूषणस्त्रक् | 71 | 32 | c | मौढ्याद्विभर्ष्यभीतवत् | 66 | 6 | b |
| मेखलाजिन दण्डाक्षैः | 88 | 28 | a | मौल्युत्तमैर्धृतमुपासित तीर्थ तीर्थम् | 68 | 37 | b |
| मेघ पुष्पवलाहकाः | 89 | 49 | b | मौसला दवशेषितः | 90 | 41 | d |
| मेघश्रीमं स्वमसि दयितो यादवेन्द्रस्य नूनं | 90 | 21 | a | म्लायता वदनेन सा | 80 | 7 | d |
| मेनिरे कृष्णभक्तस्य | 74 | 16 | a | – य – | | | |
| मेनिरे मागधं शान्तं | 73 | 33 | c | | | | |
| मेने आत्मानमच्युतम् | 66 | 2 | d | य इत्थं वीर्यशुल्कां मां | 83 | 14 | a |
| मेने कृष्णानुकम्पितम् | 89 | 63 | d | य इदमनुशृणोति श्रावयेद्वा मुरारेः | 85 | 60 | a |
| मेने सुविस्मिता मायां | 85 | 58 | c | य इदं कीर्तये द्विष्णोः | 74 | 54 | a |
| मैत्रीजनेषु दधतश्च दमं खलानां | 69 | 17 | b | य इदं शक्तिभिस्सृष्ट्वा | 86 | 44 | c |
| मैत्रेयश्च्यवनादयः | 86 | 18 | d | य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपाय खिदः | 87 | 33 | b |
| मैत्रेयः कवषस्त्रितः | 74 | 7 | d | य एतत्कृष्णविजयं | 63 | 54 | a |
| मैत्र्यर्पिताफला वापि | 84 | 62 | c | य एनं श्रावयेन्मर्त्यः | 66 | 43 | a |
| मैथिलश्चापसद्गतिं | 86 | 58 | d | य एव मव्याकृतशक्त्युदन्वतः | 88 | 40 | a |
| मैथिलः श्रुतदेवश्च | 86 | 24 | c | यक्षरक्षः पिशाचाश्च | 85 | 41 | c |
| मैथिलः श्रुतदेवश्च | 86 | 25 | c | यक्षरक्षो विनायकान् | 63 | 10 | d |
| मिथिलानरयोषितां | 86 | 37 | d | यक्षीभिर्यक्षराडिव | 90 | 9 | d |
| मैथिलो निरहम्मानः | 86 | 16 | c | यक्षैः किन्नरचारणैः | 78 | 14 | d |
| मैथिलो मद्रकेकयौ | 82 | 26 | b | यक्ष्यते त्वां मखेन्द्रेण | 70 | 42 | a |
| मैव द्रुह्यत मामकाः | 64 | 42 | b | यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत् | 72 | 3 | c |
| मोक्तुमर्हसि विश्वात्मन् | 65 | 29 | c | यच्चक्षुषां पुरुषमौलि रुदारहास | 71 | 36 | c |
| मोचयामास राजन्यान् | 72 | 46 | c | यच्च भारायितं भुवः | 63 | 49 | d |
| मोचयित्वा मयं येन | 71 | 45 | c | यच्छ्रद्धयातवित्तेन | 84 | 37 | c |
| मोचित स्सङ्कटाच्छिवः | 88 | 37 | d | यच्छ्रद्धया यजेद्विष्णुं | 84 | 35 | c |
| मोहयित्वाऽथ गिरिशं | 63 | 14 | a | यजन्तं पञ्चभिर्मखैः | 69 | 24 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यजन्तं सकलान्देवान् | 69 | 34 | a | यत्र नारायण स्साक्षात् | 88 | 26 | a |
| यजमानपुरस्सराः | 75 | 12 | d | यत्र माहिष्मती पुरी | 79 | 21 | b |
| यजमानपुरस्सराः | 84 | 53 | d | यत्र यत्रोपलक्ष्येत | 76 | 23 | a |
| यज्ज्ञात्वा मुक्तिमान्भवेत् | 90 | 38 | b | यत्र येन यतो यस्य | 85 | 4 | a |
| यज्ञकेतु स्सुयोधनः | 68 | 5 | b | यत्र शोचन्ति ब्राह्मणाः | 89 | 29 | b |
| यज्ञाध्ययनपुत्रैस्तान् | 84 | 39 | c | यत्र सन्निहितो हरिः | 79 | 14 | d |
| यज्ञैर्देवर्णमुन्मुच्य | 84 | 40 | c | यत्र सन्निहितो हरिः | 79 | 19 | b |
| यउदगादृषिर्यमनु देवगणा उभये | 87 | 24 | b | यत्र स्त्रीशूद्र दासानां | 90 | 38 | c |
| यत उदयास्तमयौ विकृते | | | | यत्रायुताना मयुत | 90 | 46 | c |
| मृदि वा विकृतात् | 87 | 15 | b | यत्राऽऽस्ते भगवान्यमः | 89 | 43 | d |
| यतवाचोऽनुशृण्वतः | 84 | 8 | d | यत्राऽऽस्ते मिन्नहा हरिः | 67 | 4 | d |
| यशश्शान्तिर्यतोऽभयं | 89 | 15 | d | यत्राऽस्पृष्टोऽपि कर्मणा | 82 | 4 | b |
| यतस्सरयु रास्रवत् | 79 | 9 | d | यत्रोपलब्धं सत्व्यक्तं | 84 | 19 | c |
| यतो नावर्तते गतः | 88 | 26 | d | यत्स्थैर्यं भूभृतां भूमेः | 85 | 7 | c |
| यत्किञ्चित्पौरुषं पुंसां | 89 | 63 | b | यत्स्ववाचो विरुध्येरन् | 77 | 31 | c |
| यत्कृताज्ञेषु सत्तमैः | 84 | 62 | b | यथा काकः पुरोडाशं | 74 | 34 | c |
| यत्तद्ब्रह्मब्रह्मलिङ्ग प्रशान्तम् | 63 | 26 | d | यथा कालं यथैवेन्द्रः | 89 | 65 | c |
| यत्त्वयाज्ञमृषा धृतम् | 66 | 20 | b | यथा चैद्यवधे नृप | 78 | 10 | d |
| यत्तीर्थबुद्धि स्सलिले कर्हिचित् | 84 | 13 | c | यथा द्रव्यविकारेषु | 85 | 12 | c |
| यत्त्वया मूर्ढानस्सख्युः | 77 | 18 | a | यथानटं रङ्गगतं | 66 | 15 | c |
| यत्पश्यथाऽसकृत्कृष्णं | 82 | 29 | c | यथान्तको दण्डधरो जिघांसया | 62 | 33 | d |
| यत्पादसेवार्जितयाऽत्म विद्यया | 77 | 35 | a. | यथाऽन्येऽघापनुत्तये | 82 | 4 | d |
| यत्पृष्टोऽहमिहत्वया | 75 | 44 | b | यथाऽन्वशासत् भगवान् | 73 | 30 | c |
| यत्प्रेक्षणे/दृशिषु पक्ष्म कृतं शपन्ति | 82 | 40 | b | यथापूर्व मनुष्ठितम् | 88 | 31 | d |
| यत्र क्वापि सतश्चेतः | 64 | 29 | c | यथा ब्रह्मण्यनिर्देश्ये | 87 | 49 | c |
| यत्र चक्रे महा ह्रदान् | 82 | 3 | d | यथा भवेद्वचस्सत्यं | 78 | 35 | c |
| यत्र देवो जनार्दनः | 89 | 7 | d | यथाभिकामं वितरामि ते परम् | 88 | 20 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यथा मे चिन्त्यतां बुधाः | 78 | 37 | d | यथोपयेमे विजयः | 86 | 1 | c |
| यथाऽऽम्नातं स दक्षिणाः | 84 | 52 | b | यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः | 87 | 22 | d |
| यथा युगान्ते हुतभुक्पृथक् प्रजाः | 66 | 17 | d | यदन्यत्कृतवान्विभुः | 67 | 1 | d |
| यथाऽरणा वग्नि रिवोत्थितोऽनलात् | 88 | 19 | b | यदर्थमिह जीवसि | 77 | 27 | b |
| यथा रूपं यथा वयः | 89 | 62 | d | यदर्थे जहिम दाशार्ह | 65 | 11 | c |
| यथाऽर्णवः क्षुभिततिमिङ्गिलोर्मिभिः | 71 | 17 | d | यदात्थ भगवं स्त्वन्नः | 63 | 47 | a |
| यथावज्रहतोऽ रुजाः | 79 | 6 | d | यदात्थैकान्तभक्तान्मे | 86 | 32 | c |
| यथावत्सुसमाहितः | 74 | 17 | d | यदात्मकमिदं विश्वम् | 74 | 20 | a |
| यथावदवद न्नृपान् | 71 | 20 | b | यदाऽऽसीत्तीर्थयात्रायां | 84 | 71 | c |
| यथा वयो यथा सख्यं | 65 | 4 | c | यदि तस्य तथैव नः | 65 | 14 | d |
| यथा वीर्यं यथा वयः | 83 | 21 | b | यदि तिष्ठे र्ममाऽग्रतः | 77 | 19 | d |
| यथा वृत्रहणोऽध्वरे | 84 | 49 | d | यदि ते कर्ण मस्पृशत् | 64 | 10 | d |
| यथा शयानं सम्राजं | 87 | 13 | a | यदि ते तत्र विस्रम्भः | 88 | 35 | a |
| यथा शयानः पुरुषः | 84 | 24 | a | यदि न समुद्धरन्ति यतयो | | | |
| यथा शयानः पुरुषः | 86 | 45 | a | हृदि कामजटाः | 87 | 39 | a |
| यथा सम्बन्धमात्मनः | 65 | 4 | d | यदि नः श्रवणायाऽलं | 88 | 30 | a |
| यथा सिंह श्शिवारुतं | 74 | 38 | d | यदि नेच्छामि संयुगम् | 66 | 20 | d |
| यथाऽसुराणां विबुधैः | 76 | 16 | c | यदीशितव्यायतिगूढ ईहया | 84 | 16 | c |
| यथा सौभपतिर्हतः | 76 | 1 | d | यदुक्तमृषिणा देव | 71 | 2 | a |
| यथा स्यान्न स्तदुच्यतां | 84 | 29 | d | यदुदेव महोत्सवम् | 84 | 71 | b |
| यथा स्वयंवरे राज्ञि | 83 | 19 | a | यदुभिर्निर्जितस्संख्ये | 76 | 2 | c |
| यथाहं ज्ञानदो गुरुः | 80 | 32 | d | यदुभिर्मानितोऽवसत् | 84 | 66 | d |
| यथाऽहं प्रणमे विप्रान् | 64 | 43 | a | यदुभिस्तेऽर्चिता नृपाः | 82 | 23 | b |
| यथाऽहं लोकसङ्ग्रहम् | 80 | 30 | d | यदुराजञ्च शत्रुहन् | 71 | 13 | d |
| यथा हिते दैत्यपतौ प्रसादः | 63 | 46 | d | यदुवरपर्ष त्स्वैर्दोर्भिरस्यन्त धर्मम् | 90 | 53 | b |
| यथाहि सूर्यः पिहितः स्वयं घनैः | 63 | 40 | a | यदुवंशप्रसूतानां | 90 | 44 | a |
| यथोडुराजो दिवि तारकागणैः | 70 | 19 | d | यदुसृञ्जयकाम्भोज | 75 | 12 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यदृच्छया नृतां प्राप्य | 85 | 16 | a | यन्मन्यसे नः क्षममत्रवक्तुं | 64 | 8 | d |
| यदृच्छयोपपन्नेन | 80 | 6 | c | यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा वयं | 84 | 16 | a |
| यदेतच्छ्रेयसां परम् | 84 | 21 | d | यन्माया मोहित धियः | 63 | 41 | a |
| यद्दृध्वाऽल्पायुषो नृपाः | 64 | 41 | b | यमाभ्याञ्चाभिवादितः | 71 | 28 | d |
| यद्दरिद्रतमो लक्ष्मीं | 81 | 15 | c | यमाहुः परमां गतिम् | 89 | 17 | d |
| यद्दर्शनस्पर्शनानुपथप्रजल्प | 82 | 31 | a | यमुनाऽऽकृष्टवर्त्मना | 65 | 33 | b |
| यद्भवानक्षिगोचरः | 86 | 49 | d | यमुना मनु यान्येव | 78 | 20 | a |
| यष्यनुस्मरन्चैरं | 61 | 23 | a | यमुना यदुनन्दनं | 65 | 27 | b |
| यद्यसत्यं वचश्शम्भोः | 88 | 34 | a | यमुनोपवने रेमे | 65 | 18 | c |
| यद्यूयं बहवस्त्वेकं | 68 | 22 | a | यमेन पृष्टस्तत्राऽहं | 64 | 23 | c |
| यद्येतद्ब्रह्महत्यायाः | 78 | 32 | a | यमौ किरीटी च सुहृत्तमं मुदा | 71 | 27 | c |
| यद्येष्यन्तीह वृष्णयः | 68 | 4 | b | यमौ कृष्णार्जुनावपि | 79 | 24 | b |
| यद्योगेश्वरदर्शनं | 84 | 9 | d | ययातिनैषां हि कुलं | 74 | 36 | a |
| यद्रणान्मेऽवकर्षणं | 76 | 28 | d | यथासृष्टिः प्रवर्तते | 85 | 55 | d |
| यद्व आज्ञापय त्रभुः | 68 | 21 | b | ययुर्द्वारवतीं पुनः | 84 | 70 | d |
| यद्वद्वयं मधुपतेः प्रणयावलोकं | 90 | 25 | c | ययुर्धाम दिवौकसां | 85 | 57 | d |
| यद्वयं कामयामहे | 72 | 18 | d | ययुर्धीरास्तपोवनम् | 84 | 38 | f |
| यद्वा आपत्सु मद्वार्तां | 82 | 19 | c | ययुर्भारत तत्क्षेत्रं | 82 | 6 | a |
| यद्विद्यमानात्मतयाऽवसीयते | 70 | 39 | c | ययु र्विरह कृच्छ्रेण | 84 | 58 | c |
| यद्विश्रुतिः श्रुतिनुतेदमलं पुनाति | 82 | 30 | a | ययु श्श्रेयो विधित्सया | 82 | 2 | d |
| यद्वै विशुद्धभावेन | 80 | 41 | c | ययुस्तमेव ध्यायन्तः | 73 | 29 | c |
| यन्नः पुन्नान्समुद्दिश्य | 85 | 22 | c | ययौ द्वारवतीं साल्वः | 76 | 8 | c |
| यन्नः प्रश्नः कृतस्त्वया | 87 | 49 | b | ययौ नारायणाश्रमं | 87 | 5 | d |
| यन्नः प्राप्तं यदृच्छया | 85 | 40 | d | ययौ ब्राह्मणसंयुतः | 78 | 18 | d |
| यन्नामाऽमङ्गलघ्नं श्रुत मथ गदितं | | | | ययौ रुद्रानुमोदितः | 63 | 52 | d |
| यत्कृतो गोत्र धर्मः | 90 | 52 | c | ययौ विहायसा राजन् | 62 | 22 | c |
| यन्नाऽऽयासि मयाऽऽहुता | 65 | 26 | b | ययौ सभार्य स्सामात्यः | 74 | 49 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ययौ संयमनी माशु | 89 | 43 | c | यस्याऽमलं दिवि यशः प्रथितं रसायां | 70 | 45 | a |
| यर्हि त्वय्येव कल्पिताः | 85 | 14 | b | यस्याऽहमनुगृह्णामि | 88 | 8 | a |
| यविष्ठै रभिवन्दितः | 65 | 4 | b | यस्यां विषक्तहृदयः कुरुराडतप्यत् | 75 | 32 | d |
| यविष्ठै रभिवादिताः | 82 | 17 | b | यस्यांशांशांशभागेन | 85 | 31 | a |
| यशश्च तव गोविन्द | 71 | 4 | c | यस्येन्द्रियं विमथितुं करणै र्न शेकुः | 61 | 4 | d |
| यशश्चाऽऽत्ममलापहं | 89 | 16 | d | यस्यैकांशेन विधृता | 65 | 28 | c |
| यशोदा च महाभागा | 82 | 36 | c | यस्सृष्ट्वेद मनुप्रविश्य ऋषिणा | | | |
| यशो वितेने तच्छान्त्यै | 86 | 34 | c | चक्रे पुरः शास्ति ताः | 87 | 50 | b |
| यष्टव्यं राजसूयेन | 71 | 3 | a | यं पश्यन्त्यमलात्मानः | 63 | 35 | c |
| यस्तानि गायति शृणोत्यनुमोदते वा | 69 | 45 | c | यं वा निपुणबुद्धयः | 89 | 18 | d |
| यस्ताव दस्य बलवा निह जीविताशां | 70 | 27 | c | यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी | | | |
| यस्त्वां विसृजते मर्त्यः | 63 | 43 | a | सुप्तः कुलायं यथा | 87 | 50 | c |
| यस्मिन्नरेन्द्र दितिजेन्द्रसुरेन्द्र लक्ष्मः | 75 | 32 | a | यः कृतागा जगद्गुरौ | 88 | 39 | d |
| यस्मिं स्तदा मधुपतेर्महिषी सहस्रं | 75 | 33 | a | याचितो भगवान्बलः | 65 | 30 | b |
| यस्मै यद्यद्यथा यदा | 85 | 4 | b | याचित्वा चतुरो मुष्टीन् | 80 | 14 | a |
| यस्सर्वतीर्थास्पदपादरेणुभिः | 86 | 42 | c | याचिष्णवे भूर्यपि भूरि भोगः | 81 | 34 | b |
| यस्यच्छन्दोमयं ब्रह्म | 80 | 45 | a | याजका देववर्चसः | 74 | 16 | d |
| यस्यदैव मदक्षिणम् | 82 | 20 | d | याजकान्सदसस्पतीन् | 74 | 17 | b |
| यस्यपादयुगं साक्षात् | 68 | 36 | a | यात्यधस्सुकृताच्च्युतः | 74 | 40 | d |
| यस्य यस्यकरं शीर्ष्णि | 88 | 21 | c | यात्यस्माभिर्विना कालः | 65 | 14 | c |
| यस्य शेकुः परित्रातुं | 89 | 41 | c | यात्रामात्रन्त्वह रहः | 86 | 15 | a |
| यस्याऽङ्घ्रि पङ्कज रजोऽखिल | | | | यादवेन्द्रोऽपि तं दोर्भ्यां | 67 | 25 | a |
| लोकपालाः | 68 | 37 | a | यानि त्वमस्मच्चिह्नानि | 66 | 6 | a |
| यस्याऽऽत्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके | 84 | 13 | a | यानीह विश्व विलयोद्भव वृत्तिहेतुः | 69 | 45 | a |
| यस्यादेशानुवर्तिनः | 68 | 34 | d | यान्तं देवगतिं प्रभो | 64 | 29 | b |
| यस्याऽनुभूतिः कालेन | 84 | 32 | a | यापितो यदुभिर्ययौ | 84 | 68 | d |
| यस्यानेह प्रतिक्रिया | 82 | 38 | d | या ममाऽऽसीत्पितामही | 86 | 1 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यावत्य आत्मनो भार्याः | 98 | 33 | c | युवां तुल्यबलौ वीरौ | 79 | 26 | a |
| यावत्यस्सिकताभूमौ | 64 | 12 | a | युवां न नस्सुतौ साक्षात् | 85 | 18 | a |
| यावत्यो दिवि तारकाः | 64 | 12 | b | युवां योगेश्वरेश्वरौ | 85 | 33 | b |
| यावत्यो वर्षधाराश्च | 64 | 12 | c | युष्मत्प्रजारुजति नोऽजित तद्विधेहि | 70 | 31 | d |
| यावत्सन्नं समाप्यते | 78 | 30 | d | युष्मद्व्यवसितं प्रभो | 88 | 30 | b |
| यावदन्तं दिवो भूमेः | 88 | 24 | c | यूयं दारसुतान्विताः | 65 | 7 | d |
| यावान्स तु विधीयताम् | 78 | 33 | d | यूयं पात्रविदां श्रेष्ठाः | 74 | 32 | a |
| यास्याम्यपचितिं पितुः | 66 | 27 | d | ये च सन्तर्दनादयः | 75 | 6 | d |
| याःसम्पर्यचरन्प्रेम्णा | 90 | 29 | a | ये चाऽनुपातिन स्तस्य | 90 | 49 | c |
| युगपत्संहृताञ्जली | 86 | 25 | d | ये तु दिग्विजये तस्य | 70 | 25 | a |
| युधामन्यु स्सुशर्मा च | 82 | 26 | c | ये ते नः कीर्तिं विमलां | 89 | 46 | c |
| युधि विक्लबचेतसा | 72 | 31 | b | ये त्वांभजन्ति न भजन्त्युत चोभयेषां | 72 | 5 | c |
| युधिष्ठिरमथापृच्छत् | 83 | 1 | c | येन तच्छ्रेय आत्मनः | 83 | 16 | d |
| युधिष्ठिरमनुव्रताः | 82 | 27 | b | येन ते चरणाब्जयोः | 73 | 15 | b |
| युधिष्ठिरस्तु तं दृष्ट्वा | 79 | 24 | a | येनैवात्मन्यदो विश्वं | 79 | 31 | c |
| युधिष्ठिरस्य भीमस्य | 71 | 28 | a | ये भजन्त्यशिवं शिवं | 88 | 1 | b |
| युद्धं तर्हि ददामि वः | 72 | 30 | d | ये मया गुरुणा वाचा | 80 | 33 | c |
| युद्धं त्रिनवरात्रं तत् | 77 | 6 | c | येषां गृहे निरयवर्त्मनि वर्ततां वः | 82 | 31 | c |
| युद्धं नो देहि राजेन्द्र | 72 | 28 | a | येषां लोकाविसिस्मिरे | 69 | 33 | d |
| युद्धात्सम्यगप क्रान्तः | 76 | 30 | c | येषां वासो गुरावभूत् | 80 | 44 | d |
| युद्धार्थिनो वयं प्राप्ताः | 72 | 28 | c | येऽस्मत्प्रसादोपचिता हि यादवाः | 68 | 27 | c |
| युनक्ति वियुनक्ति च | 82 | 43 | d | येऽस्मत्प्रसादोपचितां | 68 | 3 | c |
| युयुत्सुर्दिग्जानहं | 62 | 9 | b | ये स्युस्त्रैलोक्यगुरवः | 74 | 2 | a |
| युयुधाते ज्वरा वुभौ | 63 | 24 | b | यैस्त्वमेवं विकत्थसे | 66 | 8 | d |
| ययुधानो विकर्णश्च | 75 | 6 | a | योगमाया महोदयम् | 69 | 42 | b |
| युयुधे रामकृष्णयोः | 63 | 6 | d | योगमाया मुपाश्रितौ | 85 | 34 | d |
| युवयो स्समवीर्ययोः | 79 | 27 | b | योगमाया विवित्सया | 69 | 19 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| योगमायां कृतो वयं | 85 | 45 | d | योपितां हृदयङ्गमः | 62 | 16 | d |
| योगमायोदयं वीक्ष्य | 69 | 37 | c | योऽसौ त्रिलोक गुरुणा | 80 | 26 | a |
| योगानां पतये नमः | 64 | 30 | d | योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्य | | | |
| योगेश्वरस्य भवतः | 78 | 31 | c | निधने योऽव्यक्त जीवेश्वरः | 87 | 50 | a |
| योगेश्वरात्मन् निर्भातां | 69 | 38 | c | योऽहस द्विवृतै र्द्विजैः | 61 | 37 | a |
| योगेश्वरेश्वरस्याऽङ्ग | 69 | 19 | c | योऽहं तद्गृहमार्जनी | 83 | 11 | d |
| योगेश्वरै र्हृदि विचिन्त्य मगाध बोधैः | 82 | 49 | b | – र – | | | |
| योगेश्वरै श्रुति दृशामलहृद्विभाव्यः | 64 | 27 | b | | | | |
| योजितस्तेन चाशीर्भिः | 79 | 17 | c | रक्षा च शरणैषिणाम् | 71 | 2 | d |
| यो दक्षशापा त्पैशाच्यं | 88 | 32 | c | रक्षिष्ये दीनयो रिह | 89 | 30 | b |
| यो धत्ते सर्वभूतानां | 87 | 46 | c | रजसाऽऽच्छादिता दिशः | 76 | 11 | d |
| यो न सेहे श्रियं स्फीतां | 74 | 53 | c | रजस्तमः स्वभावानां | 85 | 40 | c |
| यो नाऽऽद्रियेत त्वत्पादौ | 63 | 42 | c | रत्नदीपान्भ्राजमानाः | 81 | 31 | c |
| योऽनित्येन शरीरेण | 72 | 20 | a | रत्नप्रदीप निकरद्युतिभि र्निरस्त | 69 | 12 | a |
| योऽनुस्मरेत रामस्य | 79 | 34 | a | रथमास्थाय दारुकः | 77 | 12 | b |
| यो नौ स्मरति संवादं | 63 | 30 | c | रथयूथपयूथपाः | 76 | 15 | b |
| योन्यथा मे स दण्डभाक् | 64 | 43 | d | रथस्थां दुर्गनिर्गताम् | 86 | 9 | b |
| यो ब्रह्मवादः पूर्वेषां | 87 | 8 | c | रथस्थो धनु रादाय | 86 | 10 | a |
| यो भूभुजोऽयुतमतङ्गज वीर्यमेकः | 70 | 30 | c | रथं प्रापय मे सूत | 77 | 11 | a |
| यो मां स्वयंवर उपेत्य विजित्य भूपान् | 83 | 12 | a | रथं समारोप्य ययुः कुशस्थलीम् | 61 | 40 | b |
| यो मे भक्त्या प्रयच्छति | 81 | 4 | b | रथाङ्गै रुपलक्षितं | 73 | 4 | b |
| यो मे सनाभिवधतप्त हृदा ततेन | 83 | 9 | a | रथानां षट्सहस्राणि | 68 | 51 | a |
| योऽल्पाभ्यां गुणदोषाभ्यां | 88 | 15 | c | रथान् सदश्वा नारोप्य | 73 | 28 | a |
| योऽवतीर्णो यदोः कुले | 88 | 7 | d | रथारूढो महायशाः | 76 | 13 | d |
| योऽवतीर्य यदोर्वंशे | 86 | 34 | a | रथाश्ववरयोषितः | 86 | 12 | d |
| यो वै त्वया द्विनवकृत्व उदात्तचक्र | 70 | 31 | a | रथिनश्च महेष्वासान् | 68 | 10 | c |
| यो वै भारतवर्षेऽस्मिन् | 87 | 6 | a | रथिनं सारथिं रथी | 76 | 32 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| रथी हित्वैव सात्यकिं | 63 | 17 | d | राजन् विद्ध्यतिथीन् आसन् | 72 | 18 | a |
| रथेनाऽऽदित्यवर्चसा | 68 | 15 | b | राजन् सञ्जातमन्यवः | 68 | 13 | b |
| रथेभाश्वपदातिभिः | 76 | 15 | d | राजपन्त्यश्च सर्वशः | 74 | 15 | b |
| रथैश्च कनकोज्ज्वलैः | 90 | 3 | d | राजपुत्र्युपलक्षये | 62 | 15 | d |
| रमाभिधान सुक्षय च सिञ्च नः | 90 | 23 | d | राजभिर्मुक्तबन्धनैः | 73 | 17 | b |
| रम्भन्त इव बाहुभिः | 73 | 6 | b | राजभिश्चोपहासितः | 61 | 36 | b |
| रराज राजशार्दूलः | 75 | 36 | e | राजमोक्षं वितानञ्च | 74 | 54 | c |
| रविच्छदध्वजपटचित्र तोरणाम् | 83 | 36 | b | राजर्षे स्वाश्रमान् गन्तुं | 84 | 27 | c |
| रवौ सन्दीपनि र्गुरुः | 80 | 39 | b | राजसन्देशमब्रवीत् | 66 | 4 | d |
| रसातलं नाकपृष्ठं | 89 | 44 | c | राजसूयमहोदयम् | 75 | 1 | b |
| रसायां भुवि सम्पदाम् | 81 | 19 | b | राजसूय महोदयम् | 75 | 27 | b |
| राक्षसा असुरास्सुराः | 89 | 19 | b | राजसूयं समीयुः स्म | 74 | 15 | c |
| राजदूत मुवाचेदं | 71 | 19 | a | राजसूयावभृथ्येन | 74 | 51 | a |
| राजदूते ब्रुवत्येवं | 70 | 33 | a | राजसूयेऽथ निर्वृत्ते | 77 | 7 | c |
| राजद्वारि सकुण्डलं | 66 | 25 | b | राजसूयेन पाण्डवः | 70 | 42 | b |
| राजद्वार्युपधाय सः | 89 | 23 | b | राजसूयेन पावनीः | 72 | 3 | b |
| राजन् कंसविहिंसिताः | 85 | 50 | b | राजसूयेन विधिवत् | 24 | 16 | e |
| राजन् पुत्र्योऽच्युतं स्थितं | 61 | 2 | b | राजसूये महाक्रतौ | 75 | 44 | d |
| राजन् भृगुरवर्णयत् | 89 | 14 | d | राजसूये महात्मनः | 75 | 3 | b |
| राजन्यबन्धवोह्येते | 72 | 23 | a | राजस्वमेयभट शेखरिताङ्घ्रिरेणुः | 83 | 8 | b |
| राजन्य बन्धु रेते वै | 89 | 28 | c | राजंस्ते दुहितुर्वयम् | 62 | 28 | b |
| राजन्यबन्धून्विज्ञाय | 72 | 22 | c | राजा चाऽऽप्त मनोरथः | 73 | 33 | d |
| राजन्याननुशिक्षयन् | 64 | 32 | d | राजानमृषयस्सुराः | 75 | 2 | b |
| राजन्या नान्नकाङ्क्षिणः | 72 | 28 | d | राजानश्च यशस्विनः | 70 | 43 | d |
| राजन्या ब्रह्मलिङ्गिनः | 72 | 17 | d | राजानश्च समाहूताः | 74 | 15 | a |
| राजन्याश्चैद्य पक्षीयाः | 77 | 9 | c | राजान स्सुष्ठ्वलङ्कृताः | 84 | 44 | d |
| राजन्येषु निवृत्तेषु | 83 | 25 | a | राजानो दुद्रुवुर्भीताः | 61 | 38 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| राजानोन्येच राजेन्द्र | 82 | 27 | a | रामकृष्णानुवर्तिनः | 63 | 3 | d |
| राजानोमृष्टकुण्डलाः | 73 | 27 | b | राम मागतमब्रवीत् | 68 | 17 | d |
| राजानो ये समागताः | 75 | 25 | d | रामराम महाबाहो | 65 | 28 | a |
| राजानो राजकुल्याश्च | 64 | 39 | a | राम रामाऽखिलाधार | 68 | 44 | a |
| राजानो राजलक्ष्म्यान्धाः | 64 | 37 | a | राम रामाप्रमेयात्मन् | 85 | 29 | a |
| राजायुष्मत्पितामहः | 88 | 6 | b | रामश्शस्त्रभृतां वरः | 82 | 3 | b |
| राज्ञस्सदसिभारत | 74 | 42 | d | रामसन्दर्शनादृताः | 65 | 9 | b |
| राज्ञस्समेतान्निर्जित्य | 61 | 22 | c | रामस्तत्राऽऽददे पणम् | 61 | 29 | b |
| राज्ञःकाशीपते र्ज्ञात्वा | 66 | 26 | a | रामस्य च निरीक्षतः | 67 | 13 | d |
| राज्ञःपाण्डुसुतस्यवै | 74 | 15 | d | रामस्याऽऽक्षिप्त चित्तस्य | 65 | 34 | c |
| राज्ञःप्रिय चिकीर्षया | 71 | 46 | b | रामस्याद्भुतकर्मणः | 67 | 1 | b |
| राज्ञःप्रियचिकीर्षवः | 75 | 7 | d | रामह्रदेषु विधिवत् | 82 | 10 | c |
| राज्ञःपैतृष्वसेयस्य | 70 | 41 | c | रामं दृष्ट्वाऽभिवाद्य च | 79 | 12 | b |
| राज्ञाकृष्णानुमोदिताः | 75 | 40 | d | रामं पुष्करमालिनं | 67 | 9 | b |
| राज्ञाञ्चाकथयन्कथाः | 70 | 22 | d | रामः कृष्णश्च भारत | 85 | 34 | b |
| राज्ञामावेदय दुःखं | 70 | 29 | c | रामः क्षपासु भगवान् | 65 | 17 | c |
| राज्ञामीश्वरमानिनां | 64 | 33 | d | रामः सशिष्यो भगवान् | 84 | 4 | a |
| राज्ञामुच्छास्त्रवर्तिनां | 85 | 30 | b | रामादयो भोजकटाद्दशार्हाः | 61 | 40 | c |
| राज्ञासभाजितास्सर्वे | 74 | 52 | a | रामाय वाससी दिव्ये | 79 | 8 | c |
| राज्ञां प्रकृतयो नृप | 74 | 11 | d | रामेणाऽजानता च सः | 86 | 4 | d |
| राज्ञां राज्यच्युतिविभो | 73 | 9 | d | रामो द्वारवतीं ययौ | 79 | 29 | b |
| राज्ञां स्वशत्रुवधमात्म विमोक्षणं च | 71 | 9 | b | रामो भार्गव आसुरिः | 74 | 9 | b |
| राज्ञेदिव्या सभाकृता | 71 | 45 | d | रामोऽभिवाद्य पितरौ | 65 | 2 | c |
| राज्ञो निरीक्ष्यपरितश्शनकै र्मुरारेः | 83 | 29 | c | रावणो नरकोऽपरे | 73 | 20 | b |
| राज्ञोबन्धात् विमुञ्चतः | 71 | 4 | d | रुक्मवत्यां महाबलः | 61 | 18 | d |
| राज्यं विभूतिर्न समर्थयत्यजः | 81 | 37 | b | रुक्मिणी प्रमुखा राजन् | 90 | 32 | c |
| राज्यैश्वर्यमदोन्नद्धः | 73 | 10 | a | रुक्मिणी बलयो राजन् | 61 | 39 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| रुक्मिणी रामकेशवौ | 61 | 26 | b |
| रुक्मिणैवमधिक्षिप्तः | 61 | 36 | a |
| रुक्मिण्यास्तनयां राजन् | 61 | 24 | a |
| रुक्मिण्यां नावमाः पितुः | 61 | 9 | d |
| रुक्मिण्युद्वाह आगतः | 76 | 2 | b |
| रुक्मी कृष्णावमानितः | 61 | 23 | b |
| रुक्मी कैतव माश्रितः | 61 | 30 | d |
| रुक्मीजितंमयाऽत्रेमे | 61 | 32 | c |
| रुक्मीवदति वै मृषा | 61 | 33 | d |
| रुरुधुर्बाणनगरं | 63 | 4 | c |
| रुरोदतत्कृतां मैत्रीम् | 84 | 65 | c |
| रूपमेतच्चतुर्भुजम् | 86 | 54 | b |
| रूपिणी श्रीरिवाऽऽलयात् | 81 | 25 | d |
| रेजे स्वज्योत्स्नयेवेन्दुः | 79 | 32 | c |
| रेजे स्वलङ्कृतो लिप्तः | 65 | 32 | c |
| रेमे करेणुभिरिवेभपतिः परीतः | 90 | 11 | d |
| रेमे करेणुयूथेषु | 65 | 21 | c |
| रेमेऽङ्गषोडशसहस्र वराङ्गनानां | 69 | 44 | c |
| रेमे प्राद्युम्निना समम् | 62 | 24 | d |
| रेमे षोडशसाहस्र | 90 | 5 | a |
| रोचनां बद्धवैरोऽपि | 61 | 25 | c |
| रोमहर्षणमासीनं | 78 | 22 | c |
| रोमाणि यस्यौषधयोऽम्बुवाहाः | 63 | 37 | a |
| रोहिणी देवकी चाऽथ | 82 | 37 | a |
| रोहिण्यास्तनया हरेः | 61 | 18 | b |
| रौक्माणां सूर्यवर्चसां | 68 | 51 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **– ल –** | | | |
| लक्षेणाऽऽस्ते स आहुकः | 90 | 46 | d |
| लक्ष्मणां समितिञ्जयः | 68 | 1 | b |
| लब्धभावो भगवति | 81 | 41 | c |
| लब्धराज्य श्रियोद्धताः | 88 | 11 | b |
| लब्धसर्वमनोरथः | 86 | 40 | d |
| लब्धसंज्ञो मुहूर्तेन | 76 | 28 | a |
| लब्धं कार्त्स्न्येन तत्फलं | 84 | 9 | b |
| लभन्त आत्मीय मनन्त मैश्वरं | 77 | 33 | c |
| लयोत्पत्त्यादिनास्यवै | 84 | 32 | b |
| ललनाभिस्समं पपौ | 65 | 20 | d |
| ललनायूथमध्यगम् | 67 | 9 | d |
| ललनारत्नसंयुतान् | 81 | 31 | d |
| ललाटेऽसृक्समुत्सृजन् | 79 | 6 | b |
| लाङ्गलाग्रेण नगरं | 68 | 41 | a |
| लालयन्तं शिशून्सुतान् | 69 | 23 | b |
| लिप्ताभिशाप मपमार्ष्टु मुपाजहार | 83 | 9 | b |
| लिहन्त इव जिह्वया | 73 | 5 | d |
| लीलया मुसलायुधः | 67 | 23 | d |
| लीलया युधिनिर्जिताः | 73 | 1 | b |
| लीलातनो स्तदनुरूप विडम्बनानि | 90 | 54 | b |
| लीलावतारैः स्वयशः प्रदीपकं | 70 | 40 | c |
| लीलावलोककलयोत्सव मातनोति | 71 | 36 | d |
| लीलां भुवन पावनीः | 69 | 39 | d |
| लुब्धस्य विषयात्मनः | 89 | 24 | b |
| लेभिरे परमां गतिं | 90 | 27 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| लेभे परां निर्वृति मश्रुलोचनः | 71 | 26 | c | वचो व स्समवेतार्थं | 85 | 22 | a |
| लोकद्वयजिगीषवः | 76 | 25 | d | वज्रनिष्पेषसन्निभः | 72 | 36 | d |
| लोकपाला स्सहानुगाः | 75 | 26 | b | वज्रस्तस्यामभूद्यस्तु | 90 | 41 | c |
| लोकपालांशसम्भवाः | 72 | 10 | b | वज्राहत इवक्षणात् | 88 | 36 | b |
| लोकपालांश्च मद्गतान् | 89 | 11 | b | वज्रेण वृत्रस्य यथा पुरन्दरः | 77 | 37 | c |
| लोकपालैश्च पूजितान् | 74 | 33 | d | वज्रेणेन्द्रो यथा गिरेः | 66 | 21 | d |
| लोकस्य ग्राहयन्नीशः | 82 | 4 | c | वटुको योगमायया | 88 | 27 | d |
| लोकं यास्यन्ति विज्वराः | 85 | 51 | d | वणिज इवाविशन्त्यकृत | | | |
| लोकाननुभविष्यति | 72 | 7 | d | कर्णधरा जलधौ | 87 | 33 | d |
| लोकानां गुरुमीश्वरम् | 62 | 7 | d | वत्स्यत्युरसि मे लक्ष्मीः | 89 | 12 | c |
| लोकानुग्रह काम्यया | 78 | 33 | b | वदन्तु प्राश्निका इति | 61 | 32 | d |
| लोकान्क्रीडनकानीश | 68 | 45 | c | वद मे वल्गितकण्ठ कोकिल | 90 | 22 | d |
| लोकान्पर्यटतो गुणः | 70 | 36 | d | वदान्यानां कुदुम्बिनां | 64 | 38 | d |
| लोकालोकं तथाऽतीत्य | 89 | 48 | c | वधमर्हति दुर्मतिः | 78 | 24 | d |
| लोकांस्ते यशसाऽप्लुतान् | 69 | 39 | b | वधाय साल्वस्य लयार्कसन्निभं | 77 | 36 | c |
| लोकेष्वीश्वरकर्तृषु | 70 | 37 | b | वधिष्ये वीक्षतस्तेऽमुं | 77 | 27 | c |
| लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः | 70 | 27 | a | वध्या हि धर्मध्वजिनः | 78 | 27 | c |
| | | | | वनदाहे यथा मृगाः | 66 | 35 | d |
| – व – | | | | वनमाला विभूषितम् | 66 | 13 | d |
| वक्त्रश्रियः कनकमेखलया विरेजुः | 75 | 24 | d | वनितभिर्हलायुधः | 65 | 23 | b |
| वक्षःस्थल मरिन्दमम् | 76 | 27 | b | वनिताशोभिमण्डले | 65 | 21 | b |
| वक्ष्येऽथाऽपि तवाऽऽज्ञया | 64 | 11 | d | वनेषु व्यचरत् क्षीबः | 65 | 23 | c |
| वक्ष्येऽहं शृणुतेऽनघ | 87 | 11 | d | वन्दिन श्चोपमन्त्रिणः | 71 | 30 | b |
| वचसाऽमृत वर्षिणा | 88 | 31 | b | वन्दिन स्तत्पराक्रमैः | 87 | 13 | b |
| वचःकृतघ्नस्यबुधाः पुरस्त्रियः | 65 | 13 | b | वन्दिभ्योऽ दात्तथास्त्रियः | 84 | 54 | b |
| वचो दुरन्वयं विप्राः | 84 | 14 | c | वपुषा युगपत्पृथक् | 69 | 2 | b |
| वचोभिस्तु सुपेशलैः | 88 | 35 | b | वयञ्च सर्वे भवतानुभाविताः | 63 | 38 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वयञ्चाऽन्ये च तादृशाः | 85 | 42 | d | वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव | | | |
| वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोज सुधाः | 87 | 23 | d | विश्वसृजः | 87 | 28 | c |
| वयमिव कामयसे स्तनैर्विधर्तुम् | 90 | 24 | d | ववन्द आत्माननन्त मच्युतः | 89 | 58 | a |
| वयमिव सखि कश्चिद्गाढनिर्भिन्नचेताः | 90 | 15 | c | ववन्द उत्थितः शीर्ष्णा | 70 | 34 | c |
| वयं त्वां शरणं यामः | 70 | 25 | c | ववृधु स्सर्वयादवः | 90 | 49 | d |
| वयं पुरा श्रीमदनष्टदृष्टयः | 73 | 12 | a | ववृषुः कुसुमै र्मुदा | 65 | 22 | b |
| वयं भृशं तत्र महानिलाम्बुभिः | 80 | 38 | a | वव्रे युक्तान्स ऋत्विजः | 74 | 6 | b |
| वयं याता दिशं दिशं | 82 | 22 | b | वसतां गुरु वेश्मसु | 80 | 43 | b |
| वयं वै गृहदासिकाः | 83 | 39 | b | वसतो रामकृष्णयोः | 82 | 1 | b |
| वयांस्यरूरुवन्कृष्णं | 70 | 2 | a | वसानं गरुडध्वजम् | 66 | 14 | b |
| वरवध्वो मुदा बलः | 86 | 12 | b | वसित्वा वाससी नीले | 65 | 32 | a |
| वरं दत्त्वाऽपसङ्कटम् | 88 | 13 | d | वसिष्ठश्च्यवनः कण्वः | 74 | 7 | c |
| वरं भूतभयावहं | 88 | 21 | b | वसिष्ठो गालवो भृगुः | 84 | 4 | b |
| वराम्बराभरणविलेपनस्रजः | 71 | 15 | c | वसुदेव उदाहृतम् | 85 | 26 | b |
| वरायुधाभरण किरीट वर्मभिः | 71 | 17 | b | वसुदेव भवान् नूनम् | 84 | 41 | a |
| वरुणप्रेषितादेवी | 65 | 19 | a | वसुदेव मिवाऽऽनीय | 77 | 26 | c |
| वरुणस्य यथा पुरा | 74 | 13 | b | वसुदेवः परिष्वज्य | 82 | 34 | a |
| वरेण च्छन्दयामास | 62 | 5 | c | वसुदेवाहुकादयः | 82 | 5 | d |
| वरेण च्छन्दयामास | 76 | 5 | c | वसुदेवोग्रसेनाद्यैः | 82 | 23 | a |
| वर्णाश्रमकुलापेतः | 74 | 35 | a | वसुदेवोग्रसेनाभ्यां | 84 | 68 | a |
| वर्णाश्रमयुता जनाः | 75 | 21 | b | वसुदेवोऽञ्जसोत्तीर्य | 84 | 60 | a |
| वर्णाश्रमवता मिह | 80 | 33 | b | वसुदेवो बुभुत्सया | 84 | 30 | b |
| वर्णाश्रमात्मापुरुषः परोभवान् | 84 | 18 | d | वसुदेवोऽभिनन्द्याह | 85 | 1 | c |
| वर्णितं तदुपाख्यानं | 74 | 50 | a | वसुदेवो महामनाः | 84 | 42 | b |
| वर्तमान मतीन्द्रियम् | 61 | 21 | b | वसुदेवो महायशाः | 84 | 28 | b |
| वर्तमानो गृहाश्रमी | 80 | 6 | f | वसुमान्द्रविडः क्रतुः | 61 | 12 | b |
| वर्धनोऽन्नाद एव च | 61 | 16 | b | वस्त्रस्रग्भूषणादिकं | 75 | 41 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वहतस्ते वदन्ति हि | 68 | 45 | d | वार्तां बद्धस्य कर्म च | 63 | 2 | b |
| वहन्ति दुर्लभं लब्ध्वा | 74 | 2 | c | वार्यमाणोऽपिदैत्यराट् | 72 | 25 | d |
| वह्निरब्भिः प्रशाम्यति | 64 | 35 | b | वार्युपस्पृश्य माधवः | 70 | 4 | b |
| वह्निं फल्गुनसंयुतः | 71 | 45 | b | वालव्यजन सङ्कुलैः | 75 | 36 | d |
| वह्नेरिवाच्छन्नरुचो न मेऽद्भुतम् | 70 | 38 | d | वालव्यजनहस्तया | 81 | 17 | d |
| वह्नेःप्रदहतः पुरं | 66 | 36 | d | वासस्सग्रुक्ममालिनीः | 82 | 10 | b |
| वाक्यैश्शुश्रूषयार्चितः | 62 | 25 | d | वासस्त्रङ्मण्डनादिभिः | 71 | 43 | d |
| वाचःपेशैः स्मयन् भृत्यं | 70 | 46 | c | वासांसि रत्नानि परिच्छदान्रथान् | 64 | 15 | c |
| वाचा मधुरया प्रीणन् | 86 | 30 | a | वासांस्यास्फालयद्बलं | 67 | 15 | b |
| वाण्याऽभिभाष्य मितयाऽ मृतामिष्टया तं | 69 | 16 | c | वासितामलतोयेषु | 90 | 6 | c |
| वातवर्ष मभूत्तीव्रं | 80 | 36 | c | वासुदेव मुपाविशत् | 74 | 45 | b |
| वादयद्भिर्मुदा वीणाः | 90 | 8 | c | वासुदेवे भगवति | 80 | 5 | c |
| वादित्राणि विचित्राणि | 75 | 9 | c | वासुदेवोऽवतीर्णोऽहं | 66 | 5 | a |
| वानरो राष्ट्रविप्लवं | 67 | 3 | b | वासुदेवोहमित्यज्ञः | 66 | 1 | c |
| वाम आयुश्च सत्यकः | 61 | 17 | d | वासोऽत्यन्तविडम्बनं | 80 | 45 | d |
| वामदेवादयोऽपरे | 84 | 5 | d | वासोभिर्भूषणैः स्वीयैः | 70 | 11 | c |
| वामनाय महात्मने | 62 | 2 | d | वासोभिः पीतकौशेयैः | 74 | 28 | a |
| वायव्यस्य च पार्वतं | 63 | 13 | d | वाहनानि त्रिभिस्त्रिभिः | 76 | 19 | d |
| वायव्यां वारुणी मथ | 89 | 44 | d | विकत्थनं तदाऽऽ कर्ण्य | 66 | 7 | a |
| वायुना नौरिवाम्भसि | 67 | 26 | d | विगृह्णत्सु जिगीषया | 70 | 46 | b |
| वायुनोपहृतं बलः | 65 | 20 | b | विचकर्ष सगङ्गायां | 68 | 41 | c |
| वायु र्यथा घनानीकं | 82 | 44 | a | विचरन्तं गदाग्रजम् | 69 | 26 | b |
| वारमुख्या बलावृतम् | 69 | 27 | d | विचित्रोपवनोद्यानैः | 81 | 22 | a |
| वारयिष्यन्विनशनं | 79 | 23 | c | विचिन्वन्तः पिपासिताः | 64 | 2 | b |
| वाराणसीं परिसमेत्यु सुदक्षिणं तं | 66 | 40 | c | विचेष्टितं लक्षयामः | 62 | 28 | c |
| वाराणसीं साटृसभालयाऽऽपणाम् | 66 | 41 | b | विजगाह जलंस्त्रीभिः | 65 | 30 | c |
| वारुणी वृक्षकोटरात् | 65 | 19 | b | विजय श्चित्रकेतुश्च | 61 | 12 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| विजहार विगाह्याम्भः | 90 | 7 | a | विध्वा सौभञ्च खे भ्रमत् | 77 | 15 | b |
| विजहास भृशं हरिः | 66 | 15 | d | विद्याधरमहोरगाः | 74 | 14 | b |
| विजहुर्वारयोषितः | 75 | 15 | d | विद्याधर महोरगैः | 78 | 14 | b |
| विजहुविविधै रसैः | 75 | 14 | d | विद्यामास्थाय फाल्गुनः | 89 | 43 | b |
| विजित हृषीक वायुभिरदान्त मनस्तुरगं | 87 | 33 | a | विद्याया स्तपसो दृशः | 84 | 21 | b |
| विजित्य नृपतीन्सर्वान् | 72 | 9 | a | विद्राविते भूतगणे | 63 | 22 | a |
| विज्ञापितो भगवते | 70 | 22 | c | विद्राव्य क्रोशतां स्वानां | 86 | 10 | c |
| विज्ञाय तद्विधातार्थं | 66 | 38 | c | विधमन्तं स्वसैन्यानि | 77 | 3 | a |
| विज्ञायाचिन्तयन्नाऽयं | 81 | 6 | c | विधुन्वं स्त्रिशिखं ज्वलन् | 66 | 33 | d |
| विटस्निग्धा स्तत्स्वरूपं ययु | | | | विनद्य सौभराडुच्चैः | 77 | 17 | c |
| रजित पराश्री र्यदर्थेऽन्ययत्नः | 90 | 52 | b | विनष्टदर्पाश्चरणौ स्म राम ते | 73 | 13 | d |
| वितता दिक्ष्वकल्मषा | 72 | 24 | b | विना मत्क्लीबचित्तेन | 76 | 29 | c |
| वितथमनोविलास मृत | | | | विनिन्दन् कृष्णसन्निधौ | 89 | 40 | b |
| मित्यवयन्त्य बुधाः | 87 | 37 | d | विन्दन्ति ते कमलनाभ भवापवर्गम् | 72 | 4 | c |
| वितर्कस्समभूत्तेषां | 89 | 1 | c | विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति | | | |
| वितानानि द्युमन्ति च | 81 | 30 | d | त आरूपितैः | 87 | 25 | b |
| वितानै र्निमितैस्त्वष्ट्रा | 69 | 10 | a | विपर्ययेन्द्रियार्थार्थं | 63 | 43 | c |
| वित्तैषणां यक्षदानैः | 84 | 38 | a | विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्त सेवया | 84 | 12 | d |
| विदधति यत्र येत्ववधिकृता भवतश्चकिताः | 87 | 28 | d | विपाशां शोण आप्लुतः | 79 | 11 | b |
| विदर्भकुरुसृञ्जयान् | 82 | 13 | b | विप्रकृष्टं व्यवहितं | 61 | 21 | c |
| विदर्भ कोसल कुरून् | 84 | 55 | c | विप्रक्षत्रिय विट्शूद्राः | 75 | 25 | c |
| विदाम योगमायां ते | 69 | 38 | a | विप्रचक्रमदोद्धतः | 67 | 15 | d |
| विदारयन्भूरितरेण रोचिषा | 89 | 51 | b | विप्रदेवेन देववत् | 81 | 18 | d |
| विदूरथस्तु तद्भ्राता | 78 | 11 | a | विप्रपत्न्या रुदन्मुहुः | 89 | 39 | b |
| विदूरश्च महामतिः | 74 | 10 | d | विप्रपत्न्याः कुमारकः | 89 | 22 | b |
| विदेहान्प्रययौ प्रभुः | 86 | 17 | d | विप्रव्याजेन विष्णुना | 72 | 24 | d |
| विद्धच्छिन द्वर्मधनुश्शिरोमणिं | 77 | 34 | c | विप्रशापात्पुनः पुनः | 74 | 50 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| विप्रं कृतागम मपि | 64 | 42 | a | विरमत्वफलो रणः | 79 | 27 | d |
| विप्राणां हृतवृत्तीनां | 64 | 38 | c | विरमेत विशेषज्ञः | 80 | 2 | c |
| विप्रानभ्यर्च्य चाऽऽत्मवान् | 70 | 7 | d | विरहाग्नितप्तहृदयेष्वलं रमा | 90 | 23 | c |
| विप्रान् पृथुकतण्डुलान् | 80 | 14 | b | विरिञ्चभवसंयुताः | 74 | 13 | d |
| विप्रापत्य मचक्षाणः | 89 | 44 | a | विरुजोऽभूद्वृकोदरः | 72 | 45 | f |
| विप्राय ददतुः पुत्रान् | 89 | 62 | c | विरुद्धशीलयोः प्रभ्वोः | 88 | 2 | c |
| विप्रोऽगम्यान्ध(क) वृष्णीनां | 80 | 16 | c | विरुद्धाभजतां गतिः | 88 | 2 | d |
| विप्रो गृहीत्वा मृतकं | 89 | 23 | a | विरेजतुस्सुतै दरिः | 84 | 50 | c |
| विप्रो ददर्श चमख्यजनेन रुक्म | 69 | 13 | c | विरेजुर्मोचिताः क्लेशात् | 73 | 27 | c |
| विप्रौ विवदमानौ मां | 64 | 18 | a | विरेजे रक्तधारया | 67 | 19 | b |
| विभक्तरथ्यापथचत्वरापणैः | 69 | 6 | a | विलिम्पन्त्योऽभिषिञ्चन्त्यः | 75 | 14 | c |
| विभावयामो भुवनानि सप्त | 63 | 38 | d | विलोक्य तत्रसुस्सर्वे | 66 | 35 | c |
| विभूतिभिर्वाऽभिभवेत् | 72 | 11 | c | विलोक्य ब्राह्मणस्तत्र | 81 | 32 | a |
| विभ्राजमानं द्विगुणोल्बणेक्षणं | 89 | 54 | c | विलोक्य मुदिताननाः | 62 | 24 | b |
| विभ्राजमानं वपुषा | 67 | 10 | c | विलोक्य स्फटिकां भूमिं | 75 | 39 | c |
| विमनस्को घृणी स्नेहात् | 77 | 24 | c | विविक्त उपसङ्गतः | 82 | 41 | b |
| विमानैर्द्रष्टुमागमन् | 63 | 9 | d | विविधनीह कर्माणि | 74 | 22 | a |
| विमानैस्सर्वतो वृतम् | 81 | 21 | d | विवेश निजमन्दिरम् | 64 | 45 | d |
| विमुच्यते संसृतिभि स्तथारिभिः | 88 | 40 | d | विवेशशङ्खानकदुन्दभिस्वनैः | 63 | 53 | c |
| विमृशन्त स्सभासदः | 74 | 18 | b | विवेश सुमहत्तमः | 89 | 48 | d |
| विमृश्या स्सचराचरं | 85 | 23 | d | विवेशालङ्कृतं पुरम् | 71 | 31 | d |
| विमोहिता विश्वसृजा मधीश्वराः | 84 | 16 | b | विवेशालङ्कृतां पुरीम् | 78 | 15 | d |
| वियत इवापयदस्य तव शून्यतुला दधतः | 87 | 29 | d | विवेशैकतमं शौरेः | 69 | 8 | c |
| विरक्त इन्द्रियार्थेषु | 80 | 6 | c | विवेशैकतमं श्रीमत् | 80 | 17 | c |
| विरजधियोऽन्वयन्त्यभि | | | | विव्याधपञ्चविंशत्या | 76 | 18 | a |
| विपण्यव एकरसम् | 87 | 19 | d | विशन्तं ददृशुस्सर्वे | 77 | 12 | c |
| विरथीकृत्य पौण्ड्रकम् | 66 | 21 | c | विशालं ब्रह्मतीर्थञ्च | 78 | 19 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| विशीर्यमाणं स्वबलं | 63 | 17 | a | विस्मरन्त्यवजानते | 88 | 11 | d |
| विशुद्धसत्त्वधाम्न्यद्धा | 85 | 42 | a | विस्मिता मुक्तसंशयाः | 89 | 15 | b |
| विश्रान्तं सुखमासीनं | 65 | 5 | c | विस्मितो जात कौतुकः | 69 | 42 | d |
| विश्वकर्मन्नमस्तेऽस्तु | 68 | 48 | c | विस्मितोऽभूदति प्रीत्या | 80 | 24 | c |
| विश्वसर्गनिरोधयोः | 71 | 8 | b | विस्मृत्य भोः स्थगितगी रुपलक्ष्यसे नः | 90 | 18 | d |
| विश्वात्मदैवं सुतरां तथाऽऽत्मनः | 85 | 35 | b | विहर उर्दाक्षया यदि परस्य विमुक्तनतः | 87 | 29 | b |
| विश्वामित्रश्शतानन्दः | 84 | 3 | c | विहरन् रथमारुह्य | 71 | 46 | b |
| विश्वामित्रो वामदेवः | 74 | 8 | a | विहर्तुं साम्ब प्रद्युम्न | 64 | 1 | c |
| विश्वोत्पत्तिलयोदयाः | 85 | 31 | b | विहाय सद्यः कृकलासरूपं | 64 | 6 | b |
| विश्वोत्पत्ति स्थानसंरोध हेतुं | 63 | 26 | c | विहारान्सविमानाग्रान् | 76 | 10 | c |
| विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्गः | 81 | 36 | d | विह्वला व्रीडिता भृशम् | 62 | 13 | d |
| विषण्णःकाम मार्गणैः | 80 | 2 | d | वीक्ष्य तत्कदनं रामं | 77 | 10 | a |
| विषमत्यमृतं त्यजन् | 63 | 43 | d | वीक्ष्य दुर्योधनः श्रियम् | 75 | 31 | b |
| विषयाञ्जायया त्यक्ष्यन् | 81 | 38 | c | वीक्ष्य प्रावृष मासन्नां | 84 | 70 | c |
| विषयेष्विन्द्रियेहया | 84 | 25 | b | वीक्ष्य योगेश्वरेशस्य | 69 | 33 | c |
| विषं ह्यस्य प्रतिक्रिया | 64 | 34 | b | वीक्ष्य विस्मितमानसाः | 64 | 3 | b |
| विष्टब्धं विद्रुमस्तम्भैः | 69 | 9 | a | वीक्ष्योज्जहार वामेन | 64 | 5 | c |
| विष्टायां जायते कृमिः | 64 | 40 | d | वीक्ष्योषाऽवाङ्मुखी ह्रिया | 62 | 21 | b |
| विष्णवे द्विजरूपिणे | 72 | 25 | b | वीणापणववेणुभिः | 71 | 30 | d |
| विष्णुतेजोपबृंहितं | 72 | 12 | d | वीणावेणुतलोन्नादः | 75 | 10 | c |
| विष्णुरातेन सम्पृष्टः | 80 | 5 | a | वीतिहोत्रो मधुच्छन्दाः | 74 | 9 | c |
| विष्णुस्सन्निहितो यत्र | 79 | 18 | c | वीरसेनोऽकृतव्रणः | 74 | 9 | d |
| विष्णोश्चक्रं सुदर्शनम् | 66 | 42 | b | वीरस्येत्याह सारथिम् | 77 | 2 | d |
| विष्णोस्सदयितो भवेत् | 79 | 34 | d | वीर्यशौर्यबलोन्नद्धं | 68 | 23 | a |
| विसृज्य तद्भूतल मास्थितो गदां | 77 | 35 | c | वीर्यं त्र्यम्बकतोषणं | 89 | 34 | b |
| विसृज्य स नृपद्वारि | 89 | 26 | c | वीर्यं सूचयतीव हि | 65 | 33 | d |
| विस्फूर्ज्य रुचिरंचापं | 68 | 9 | a | वीर्याणीह प्रदर्शयन् | 89 | 64 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य | 80 | 1 | c | वृष्णिभिः परिवारितः | 70 | 18 | b |
| वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य | 85 | 59 | c | वृष्णिवीरा भृशार्दिताः | 76 | 25 | b |
| वृकासुराय गिरिशः | 88 | 13 | c | वृष्णीन् कृष्ण परिग्रहान् | 82 | 28 | d |
| वृको नामाऽसुरः पुन्नः | 88 | 14 | a | वेणुतालदरस्वनैः | 70 | 21 | b |
| वृकोहर्षोऽनिलो गृध्नः | 61 | 16 | a | वेदाहं त्वां विश्वसृजां | 85 | 29 | c |
| वृतश्चन्द्र इव ग्रहैः | 68 | 15 | c | वेद्धुं पर्षदि मद्धियः | 83 | 21 | b |
| वृतश्च वृष्णिप्रवरैः | 78 | 15 | c | वेपमानाऽभिगम्य च | 80 | 8 | b |
| वृतः सुसम्मृश्य विहाय लोकपान् | 83 | 17 | d | वेपमानैर्हलायुधः | 68 | 49 | b |
| वृतः स्वयंवरे साक्षात् | 61 | 22 | a | वेलाकूलानमज्जयत् | 67 | 5 | d |
| वृताधर्मेण धार्मिकम् | 84 | 43 | b | वेषं कृत्रिम माश्रितम् | 66 | 15 | b |
| वृतोऽनुजैर्बन्धुभिश्च | 75 | 34 | c | वैकारिक स्तैजसश्च | 88 | 3 | c |
| वृतो नृसिंहैर्यदुभिर्यदूत्तमः | 70 | 19 | c | वैकारिको विकल्पानां | 85 | 11 | c |
| वृत्तं विवसतां गुरौ | 80 | 35 | b | वैकुण्ठवासिनो र्जन्म | 74 | 50 | c |
| वृत्तिर्गन्धोऽर्थतो भवान् | 85 | 7 | d | वैक्लब्यादश्रुलोचना | 85 | 28 | d |
| वृत्रघ्न विबुधा यथा | 79 | 7 | d | वैजयन्तीं ददुर्मालां | 79 | 8 | a |
| वृथा त्वं कत्थसे मन्द | 77 | 20 | a | वैजयन्त्या च मालया | 65 | 24 | b |
| वृथा पण्डितमानिनः | 78 | 26 | b | वैदूर्यफलकोत्तमैः | 69 | 9 | b |
| वृथा पानरतं शश्वत् | 74 | 36 | c | वैरसंरब्धया धिया | 74 | 46 | b |
| वृद्धानामपि यद्बुद्धिः | 74 | 31 | c | वैरं कृष्णकृतं स्मरन् | 76 | 8 | d |
| वृद्धेभ्यश्च यथार्हतः | 71 | 29 | b | वैराग्यञ्च तदन्वितं | 89 | 16 | b |
| वृष्णयश्च तथाऽक्रूर | 82 | 5 | c | वैराज्यं परमेष्ठ्यञ्च | 83 | 41 | c |
| वृष्णय स्तुल्यतां नीताः | 68 | 25 | c | वैरोचनिसुतोऽसुरः | 63 | 48 | b |
| वृष्णयः कृष्ण चेतसः | 90 | 50 | d | वैशम्पायन एव च | 74 | 8 | d |
| वृष्णयः कृष्णदेवताः | 82 | 11 | d | वैष्णवेन बलार्दितः | 63 | 24 | d |
| वृष्णयः कृष्ण देवताः | 84 | 70 | b | व्रजपुरवनितानां वर्धयन्कामदेवम् | 90 | 53 | d |
| वृष्णयः कृष्णपालिताः | 63 | 2 | d | व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति | 83 | 43 | a |
| वृष्णयः पुष्करस्रजः | 84 | 44 | b | व्रजामि शरणं तेऽद्य | 66 | 20 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| व्रीडावनतकन्धरः | 75 | 42 | b | शङ्करानुचरान् शौरिः | 63 | 10 | a |
| व्रीडितः पतये श्रियः | 81 | 5 | b | शङ्करेण च संयुगम् | 63 | 54 | b |
| व्यक्तं मे कथयिष्यन्ति | 76 | 31 | a | शङ्खभेर्यानकादयः | 83 | 30 | b |
| व्यतरद्भागिनेयाय | 61 | 23 | c | शङ्खभेर्यानकादयः | 84 | 46 | b |
| व्यतीयुरनुशोचतां | 63 | 1 | d | शङ्खान् दध्मुर्जितारयः | 73 | 31 | b |
| व्यभिचरति क्वचक्वचमृषा न तथोभयुक् | 87 | 36 | b | शङ्खार्यसिगदाशार्ङ्ग | 66 | 13 | a |
| व्यरोचत स्वपत्नीभिः | 75 | 18 | c | शतजिच्च सहस्रजित् | 61 | 11 | d |
| व्यरोचन्त महातेजाः | 82 | 8 | c | शतधा कामचारिणीम् | 65 | 26 | d |
| व्यलिखद्रामकृष्णौ च | 62 | 20 | c | शतसेनस्तु तत्सुतः | 90 | 42 | d |
| व्यलिम्पद्दिव्यगन्धेन | 80 | 21 | c | शतं सहस्रमयुतं | 61 | 29 | a |
| व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया | 87 | 36 | c | शतेनाऽताडयच्छाल्वम् | 76 | 19 | a |
| व्यसनशतान्विताः समपहाय गुरो श्चरणं | 87 | 33 | c | शत्रोर्जन्ममृती विद्वान् | 72 | 40 | a |
| व्यसनन्तेऽपकर्षामि | 62 | 18 | a | शनैः पुनन्ति कालेन | 86 | 52 | c |
| व्याधः कपोतो बहवो हि | 72 | 21 | c | शपन्तश्चेदिपं रुषा | 74 | 39 | d |
| व्याधिं देहचरं यथा | 78 | 6 | d | शप्तं सद्भि र्बहिष्कृतं | 74 | 36 | b |
| व्याहृत्य व्यनद द्बली | 76 | 26 | d | शब्दस्तयोः प्रहरतो रिभयो रिवाऽऽसीत् | 72 | 38 | c |
| व्येतु ते मज्ज्वराद्भयम् | 63 | 30 | b | शब्दः कोलाहलोऽप्यासीत् | 74 | 44 | a |
| व्योमयानै र्महात्मभिः | 87 | 43 | d | शममिच्छन्निहाऽऽगतः | 68 | 32 | d |
| | | | | शम्भोर्मूर्ध्नि किलाऽसुरः | 88 | 23 | b |
| **– श –** | | | | शयानं श्रिय उत्सङ्गे | 89 | 8 | a |
| शकले ददृशुः प्रजाः | 72 | 44 | d | शयानं सह शक्तिभिः | 87 | 12 | b |
| शकुनेः पथि नारदम् | 88 | 14 | b | शयिष्यसे हतस्त्रत्र | 66 | 9 | c |
| शक्त्यो याः परस्य ताः | 85 | 6 | b | शय्यासनपरिच्छदैः | 83 | 37 | d |
| शक्तिभिः प्रासतोमरैः | 66 | 16 | b | शय्यासनाटनालाप | 90 | 50 | a |
| शक्तिं भीमरवां मृधे | 77 | 13 | d | शय्यासनाशनस यौन सपिण्डबन्धः | 82 | 31 | b |
| शक्रप्रस्थ मुपागमत् | 71 | 22 | d | शरणार्थी हृषीकेशं | 63 | 25 | c |
| शक्रादयो लोकपालाः | 68 | 34 | c | शरण्यः श्लक्ष्णया गिरा | 73 | 17 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| शरण्यः सम्ग्रहस्याऽऽह | 66 | 37 | c | शाला सभाभी रुचिरां सुरालयैः | 69 | 6 | b |
| शरण्यो भक्तवत्सलः | 62 | 5 | b | शाल्वस्ततस्ततोऽमुञ्चन् | 76 | 23 | c |
| शरान् सात्वतयूथपाः | 76 | 23 | d | शाल्वानीकपशस्त्रास्त्रैः | 76 | 25 | a |
| शरेणान्येन वै शिरः | 77 | 4 | d | शाल्वामात्यो द्युमान् नाम | 76 | 26 | a |
| शरैरग्न्यर्कसंस्पर्शैः | 76 | 24 | a | शाल्वोऽमुह्यत्परेरितैः | 76 | 24 | d |
| शरैर्नानास्त्रयोजितैः | 89 | 38 | b | शास्त्रयोनेस्तवाऽऽत्मनः | 84 | 20 | b |
| शरैश्शार्ङ्गधनुश्च्युतैः | 63 | 11 | d | शिखिनाऽपाक्रम द्रणात् | 63 | 15 | d |
| शरैस्सन्नतपर्वभिः | 76 | 18 | d | शिर उत्कृत्य पत्रिभिः | 66 | 22 | b |
| शशंस सर्वयदुपुङ्गवानां | 68 | 53 | c | शिरसा लोकपावनीः | 74 | 27 | b |
| शश्वद्दरिद्रस्य समृद्धिहेतुः | 81 | 33 | b | शिरसैवाऽनुशासनम् | 74 | 2 | d |
| शश्वद्भयेन मृतकेन धुरं वहामः | 70 | 29 | b | शिरयो रुधिरोक्षिताः | 61 | 38 | b |
| शंसन्तः प्रययुः क्रतुम् | 84 | 56 | d | शिरस्तु तस्योभयलिङ्ग मानमेत् | 80 | 4 | a |
| शाकुनेयं भवा न्व्यक्तं | 88 | 29 | a | शिरः क्षुरान्तचक्रेण | 74 | 43 | c |
| शाखा इव वनस्पतेः | 63 | 33 | d | शिरः पतितमालोक्य | 66 | 25 | a |
| शाखामिव महागजः | 72 | 43 | d | शिरो जहार राजेन्द्र | 78 | 12 | c |
| शाध्यस्मानीशितव्येश | 85 | 47 | a | शिरो मकुटसेवितं | 68 | 24 | d |
| शान्तः कुविरलम्पटः | 86 | 13 | d | शिरोऽवृश्च त्स्वधितिना | 88 | 18 | c |
| शान्तानां न्यस्तदण्डानाम् | 88 | 26 | c | शिरोऽवृश्च द्रथाङ्गेन | 66 | 21 | c |
| शान्तानां समचेतसां | 89 | 17 | b | शिलाद्रुमाश्चाऽशनयः | 76 | 11 | b |
| शान्तिर्दर्शःपूर्णमासः | 61 | 14 | c | शिवभक्तिरत स्सदा | 62 | 3 | a |
| शान्तिं नेच्छन्त्यसाधवः | 68 | 31 | b | शिवश्शन्तियुत श्शश्वत् | 88 | 3 | a |
| शान्तोग्रेणात्युल्बणेन ज्वरेण | 63 | 29 | b | शिवो ब्रह्मा न चाऽच्युतः | 88 | 12 | d |
| शान्तो यथैक उत सर्वसखैश्चरामि | 85 | 46 | d | शिशुपालजिघांसवः | 74 | 41 | d |
| शापुप्रसादयो रीशाः | 88 | 12 | a | शिशुपाल सख श्शाल्वः | 76 | 2 | a |
| शार्ङ्गपाणि रविस्मितः | 63 | 12 | d | शिशुपालस्य साल्वस्य | 78 | 1 | a |
| शार्ङ्गमासीत्तदद्भुतम् | 77 | 16 | d | शिशुपाले च संस्थिते | 77 | 7 | d |
| शार्ङ्गमुद्यम्य सन्नद्धः | 83 | 32 | c | शिशुपाले हते महान् | 74 | 44 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| शिष्य स्साक्षान्नारदस्य | 90 | 37 | c | शेषेऽद्वितीयः परिशिष्यमाणः | 68 | 46 | d |
| शिष्योऽधीत्य बहूनि च | 78 | 25 | b | शैव्यां नाग्नजितीं सतिम् | 71 | 43 | b |
| शीर्णदन्ता इवाहयः | 68 | 4 | d | शैव्ये रोहिणि लक्ष्मणे | 83 | 6 | d |
| शुकराज गाय यदुदेव सत्कथां | 90 | 23 | a | शोणिताख्ये पुरे रम्ये | 62 | 4 | a |
| शुक्लेनेज्येत पूरुषः | 84 | 37 | d | श्यामं पिशङ्गाम्बरमम्बुजेक्षणं | 62 | 31 | b |
| शुनो यथा सूकरयूथपोऽहनत् | 62 | 34 | b | श्यामः कमललोचनः | 62 | 16 | b |
| शुशुभे सुरराडिव | 74 | 51 | d | श्रद्दधे क्वीवकत्थनम् | 89 | 40 | d |
| शुश्रूषन्तं गुरून्क्वापि | 69 | 30 | c | श्रद्धया करवाम तत् | 70 | 47 | d |
| शुश्रूषया परमया | 81 | 18 | a | श्रद्धया तर्पयन्मुनिम् | 70 | 35 | d |
| शुष्यद्धदाः कर्शिता बत सिन्धुपत्न्यः | 90 | 25 | a | श्रद्धयाऽऽत्मानुशासनम् | 87 | 44 | b |
| शूद्रा यज्ञदिदृक्षवः | 74 | 11 | b | श्रद्धया धारये द्यस्तां | 87 | 3 | c |
| शूरमानकदुन्दुभिं | 62 | 20 | b | श्रद्धयोपहृतं भैक्ष्यं | 86 | 5 | c |
| शूरः प्रहरणोऽरिजित् | 61 | 17 | b | श्रद्धामहे सुचिरमस्य नृपासनं क्व | 68 | 37 | d |
| शूराणामपि योगिनां | 84 | 61 | d | श्रवणभृतो यस्त्वमपवर्गगति र्मनुजैः | 87 | 40 | d |
| शूरानबहुभाषिणः | 77 | 20 | d | श्रवणात्कीर्तनाद्ध्यानात् | 70 | 44 | a |
| शूरांश्चारुन्धतो भटान् | 86 | 10 | b | श्रान्तः किं दूरमागतः | 88 | 29 | b |
| शूर्पारक मगाद्बलः | 79 | 20 | b | श्रियं जिहीर्षतेन्द्रस्य | 72 | 25 | a |
| शूलमुद्यम्य तं हन्तुं | 89 | 6 | c | श्रिया हीनेन लोकेऽस्मिन् | 80 | 25 | c |
| शूलैर्गदादिभिः परिघैः | 66 | 16 | a | श्रियैश्वर्यमदोन्नाहं | 73 | 19 | c |
| शृणु कर्माद्भुतं नृप | 76 | 1 | b | श्रीकामो मा भजत्पुरा | 81 | 6 | d |
| शृणोति तत्पुण्य कथाः सकर्णः | 80 | 3 | d | श्रीधामाम्लान पङ्कजाम् | 79 | 8 | b |
| शृण्वतामेव चैतेषाम् | 72 | 2 | c | श्रीनिकेत मनुज्ञाप्य | 84 | 56 | c |
| शृण्वतां गदतां शश्वत् | 86 | 46 | a | श्रीनिकेतं वपुश्शौरेः | 82 | 27 | c |
| शृण्वतां सर्वभूभुजां | 76 | 3 | b | श्रीनिवासेन सम्भृतः | 80 | 26 | b |
| शृण्वन्तं मङ्गलानि च | 69 | 28 | d | श्रीभानुः प्रतिभानुश्च | 61 | 11 | a |
| शृण्वन्दिगन्तधवल स्वयशोऽ शुभघ्नं | 86 | 21 | c | श्रीमत्कथाश्रवणकीर्तन चिन्तयैति | 90 | 55 | b |
| शृण्वन्भागवतान् धर्मान् | 88 | 6 | c | श्रीमत्पादरजःश्रियः | 83 | 42 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| श्रीमदाद्भंशिताः स्थानात् | 73 | 20 | c | श्रुत्वा युद्धोद्यमं रामः | 78 | 17 | a |
| श्रीमन्मुखं प्रचल कुण्डलकुन्तलाढ्यम् | 75 | 33 | d | श्रुत्वाऽवाच्यानि चाऽच्युतः | 68 | 30 | b |
| श्रीरङ्गाख्यं महापुण्यं | 79 | 14 | c | श्रुत्वा विनष्ट नानाधीः | 85 | 26 | c |
| श्रीरुपाऽऽस्तेऽखिलेश्वरी | 68 | 36 | b | श्रुत्वा सुललितं गीतं | 67 | 8 | c |
| श्रीवत्सलक्ष्मं वनमालयाऽऽ वृतम् | 89 | 56 | d | श्रत्वैतत्सर्वतो भूपाः | 83 | 20 | a |
| श्रीवत्साङ्कं चतुर्बाहुं | 73 | 3 | a | श्रूयते रणविच्युतः | 76 | 29 | b |
| श्रीवत्साङ्कं वयमिव भवान् | | | | श्रूयादमुष्य पदयो रनुवृत्ति मिच्छन् | 90 | 54 | d |
| ध्यायति प्रेमबद्धः | 90 | 21 | b | श्रेणीमुख्या हतैनसः | 71 | 37 | d |
| श्रीवत्साद्युपलक्षितं | 66 | 13 | b | श्रेयसां तस्य गुरुषु | 80 | 45 | c |
| श्रीशैलं गिरिशालयम् | 79 | 13 | b | श्रेयस्कामस्य मानद | 84 | 64 | b |
| श्रुतदेव इति श्रुतः | 86 | 13 | b | श्रेयो धर्मादिलक्षणम् | 74 | 22 | d |
| श्रुतदेव उपस्थितः | 86 | 43 | b | श्रेणीभरेण शनकैः क्वणदङ्घ्रिशोभम् | 75 | 33 | b |
| श्रुतदेव स्सुनन्दनः | 90 | 36 | b | श्रोतुमप्यसतां दूरान् | 86 | 27 | a |
| श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्तं | 86 | 38 | a | श्रोतुमिच्छामि हे प्रभो! | 80 | 1 | d |
| श्रुतपूर्वा स्तथा मुनीन् | 86 | 23 | d | श्वश्वासञ्चोदिता कृष्णा | 71 | 42 | a |
| श्रुतमात्रोऽपि यः पुंसां | 90 | 26 | a | श्वेतद्वीपं गतवति | 87 | 10 | a |
| श्रुतयो यत्र शेरते | 87 | 10 | d | श्वोभूते विश्वभावेन | 81 | 13 | a |
| श्रुतिः कविर्वृषो वीरः | 61 | 14 | a | | | | |
| श्रुत्वा जितं जरासन्धं | 72 | 15 | a | – ष – | | | |
| श्रुत्वा तज्जनवैक्लब्यं | 66 | 37 | a | षडिमे मत्प्रसादेन | 85 | 52 | c |
| श्रुत्वा द्विजेरितं राज्ञा | 74 | 26 | a | षष्टिवर्ष सहस्राणि | 64 | 40 | c |
| श्रुत्वा द्विजैः कथ्यमानं | 79 | 22 | a | षोडशामीषु काचन | 88 | 4 | b |
| श्रुत्वाऽऽनीतं गुरोः पुत्रं | 85 | 27 | b | – स – | | | |
| श्रुत्वा पृथा सुबलपुत्र्यथयाज्ञसेनी | 84 | 1 | a | | | | |
| श्रुत्वा प्रीत स्तमब्रवीत् | 74 | 1 | d | स आत्मन्युत्थितं मन्युं | 89 | 4 | a |
| श्रुत्वा ब्रह्मण्यतां नरः | 81 | 41 | b | स आदिदेश गिरिशं | 88 | 15 | a |
| श्रुत्वा मुहुर्नारदगीत मास ह | 83 | 17 | b | स आह भगवांस्तस्मै | 88 | 7 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| स इत्थं द्विजमुख्येन | 81 | 1 | a | सङ्कर्षण मनुज्ञाप्य | 71 | 13 | c |
| स इत्थं प्रभुणाऽऽदिष्टः | 86 | 58 | a | सङ्कर्षणसनातन | 85 | 3 | b |
| स इन्द्रसेनो भगवत्पदाम्बुजं | 85 | 38 | a | सङ्कर्षणस्ताः कृष्णस्य | 65 | 16 | a |
| स उत्तमश्लोककराभिमृष्टः | 64 | 6 | a | सङ्कर्षणं परिहसन् | 61 | 34 | c |
| स उपस्पृश्य शुच्यम्भः | 89 | 37 | a | सङ्कर्षणो वासुदेवः | 89 | 31 | a |
| स उवास विदेहेषु | 86 | 14 | a | सङ्क्रुद्धान् वृष्णिपुङ्गवान् | 68 | 14 | b |
| स एकदाऽऽह गिरिशं | 62 | 6 | a | सङ्गीतं सहभर्तृकाः | 84 | 46 | f |
| स एव भार्यया विप्रः | 80 | 12 | a | सङ्गहोऽनन्यचोदितः | 78 | 32 | d |
| सकारणाकारणलिङ्गमीयुषे | 86 | 48 | c | सङ्ग्रामजिद्बृहत्सेनः | 61 | 17 | a |
| सकिरीटं सकुण्डलं | 78 | 12 | d | स चकम्पे वमन्नसृक् | 77 | 21 | d |
| सकुटुम्बा जिजीविषवः | 68 | 43 | b | सचाऽग्निः प्रमथैर्वृतः | 66 | 30 | d |
| सकुटुम्बोऽवहन्मुदा | 74 | 27 | d | स चाऽऽजुहाव यमुनां | 65 | 25 | a |
| सकुटुम्बो वहन्मूर्ध्ना | 86 | 29 | a | स चाऽपि रुक्मिणः पैत्रीं | 90 | 41 | a |
| सकृदप्यागमिष्यति | 65 | 10 | d | स चाऽलब्ध्वा धनं सख्युः | 81 | 14 | a |
| सकोशहस्त्यश्वरथान्नशालाम् | 66 | 41 | d | सञ्चरन्ति मया लेकान् | 86 | 51 | c |
| सखा प्रियचिकीर्षया | 81 | 7 | b | सञ्चिन्त्यारिवधोपायं | 72 | 41 | a |
| सखा साक्षाच्छ्रियः पतिः | 80 | 8 | d | सज्यं कर्तुमनीश्वराः | 83 | 22 | b |
| सखीना मपचितिं कुर्वन् | 77 | 38 | c | सज्यं कृत्वाऽथ लीलया | 83 | 25 | d |
| सखीनां मध्य उत्तस्थौ | 62 | 13 | c | सज्यंकृत्वऽपरे वीराः | 83 | 23 | a |
| सख्यपृच्छ त्सखीञ्चैषां | 62 | 14 | c | सज्यं गाण्डीव माददे | 89 | 37 | d |
| सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेः | 80 | 19 | a | सटङ्कस्सवनस्पतिः | 67 | 26 | b |
| सख्युस्सोऽपचितिं कुर्वन् | 67 | 3 | a | स त इदमुत्थितं सदिति चेन्न तु तर्कहतं | 87 | 36 | a |
| सख्यै प्रिय मदर्शयत् | 62 | 23 | d | स तद्वरपरीक्षार्थं | 88 | 23 | 8 |
| सख्योपेत्याऽग्रहीत्पाणिं | 83 | 11 | c | स तर्कयामास कुतो ममान्वभूत् | 86 | 42 | a |
| सगणास्सिद्धगन्धर्वाः | 74 | 14 | a | स तं देवो महेश्वरः | 89 | 5 | b |
| सगोपुराट्टालककोष्ठसङ्कुलां | 66 | 41 | c | स तं प्रविष्टं वृतमाततायिभिः | 62 | 33 | a |
| सगोपुराणि द्वाराणि | 76 | 10 | a | स तं वव्रे पुराधिपम् | 62 | 5 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| स तानादाय विप्राग्र्यः | 80 | 15 | a | सदिव मन स्त्रिकृत्वयि विभात्य सदा मनुजात् | 87 | 26 | a |
| सतां गेयं यशोध्रुवम् | 72 | 20 | b | स दूषयति नस्सन्नं | 78 | 38 | c |
| सतां शुश्रूषणे जिष्णुः | 75 | 5 | a | सद्याश्छिनत्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै | 70 | 27 | d |
| स तु विस्मित उत्थाय | 69 | 22 | c | सद्यश्शापप्रसादोऽङ्ग | 88 | 12 | c |
| स तूपस्पृश्य सलिलं | 77 | 2 | a | सद्यस्समुत्थाय ननाम सान्वयः | 85 | 35 | d |
| स तोरणै र्भूपित मार्गचत्वरां | 63 | 53 | b | सद्योऽदर्शन मापेदे | 89 | 39 | c |
| सत्परा परमेष्ठिनः | 81 | 10 | d | सद्यो मुच्येत किल्बिषात् | 75 | 21 | d |
| सत्यभामात्मजा दश | 61 | 11 | b | सद्यो विसृज्य गृहकर्म पतींश्च तल्पे | 71 | 34 | c |
| सत्यसन्धो दृढव्रतः | 62 | 3 | d | सद्रक्षणाय खलनिग्रहणाय चाऽन्यः | 70 | 28 | b |
| सत्यास्सन्तु मनोरथाः | 80 | 42 | b | सनन्दन मथाऽऽनर्चुः | 87 | 42 | c |
| स त्वं कथं मम विभोऽक्षिपथः परात्मा | 64 | 27 | a | स नमस्कृत्य कृष्णाय | 70 | 24 | a |
| स त्वं शाधि स्वभृत्यान्नः | 86 | 49 | a | सनातन मृषिं द्रष्टुं | 87 | 5 | c |
| सत्त्वमिन्द्रिय मेव च | 78 | 34 | b | स नाऽर्हति किल श्रीशः | 68 | 36 | c |
| सत्त्वं तत्तीर्थसाधनं | 89 | 19 | d | स नित्यभगवद्ध्यान | 66 | 24 | a |
| सत्त्वंयस्य प्रियामूर्तिः | 89 | 18 | a | सन्तमेकं ददर्श ह | 69 | 41 | d |
| सत्त्वं रजस्तम इति | 85 | 13 | a | सन्तप्तचामीकर चारुवर्णः | 64 | 6 | c |
| सदश्वं रुक्म मालिनं | 75 | 18 | b | सन्तवन्तः पूजातन्तून् | 73 | 22 | a |
| सदसतः परं त्व मथ यदेष्ववशेष मृतम् | 87 | 17 | d | सन्त्यनन्तानि भारत | 85 | 59 | d |
| सदसस्तस्य महतः | 84 | 8 | c | सन्दधे रणकोविदः | 63 | 18 | d |
| सदस स्पतय स्सर्वे | 74 | 32 | c | सन्देशैर्हृदयङ्गमैः | 65 | 16 | b |
| सदसि मृशन्त्य शेषमिद मात्मतयाऽत्मविदः | 87 | 26 | b | सन्देहोऽत्र महान् हि नः | 88 | 2 | b |
| सदस्पती नतिक्रम्य | 74 | 34 | a | सन्धिञ्चाऽ न्यत्र केशवम् | 69 | 31 | b |
| सदस्यर्त्विक्सुरगणान् | 84 | 56 | a | सन्नतिं नययुर्नृपाः | 70 | 25 | b |
| सदस्यर्त्विग्द्विजश्रेष्ठाः | 75 | 13 | a | सन्निकर्षो हि मर्त्यानां | 84 | 31 | a |
| सदस्या ग्र्यार्हणार्हं वै | 74 | 18 | a | सन्निकृष्टा स्सुरादयः | 85 | 44 | d |
| सदस्या ब्रह्मवादिनः | 75 | 25 | b | सन्न्यस्ताखिलराधसः | 65 | 6 | d |
| सदाराः पाण्डवाः कुन्ती | 82 | 24 | c | सपत्नीकं पुरस्कृत्य | 63 | 52 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सपर्यया सत्त्वविवर्धनान्धसा | 86 | 41 | d | समर्हयामास स तौ विभूतिभिः | 85 | 37 | a |
| सपर्यां कथमर्हति | 74 | 34 | d | समशिक्षाबलौजसोः | 72 | 39 | b |
| सपर्यां कथमर्हति | 74 | 35 | d | समश्नुवानं प्रसमीक्ष्य फल्गुनः | 89 | 52 | c |
| सपर्यांकथमर्हति | 74 | 36 | d | समं प्रशान्तं सुहृदात्मदैवम् | 63 | 45 | b |
| सपर्यां कारयामास | 73 | 25 | a | समाख्यातुं त्वमर्हसि | 62 | 1 | f |
| सप्तगोदावरीं वेणीं | 79 | 12 | c | समाविशत्तरणिरिव स्वकेतनं | 83 | 36 | d |
| सप्तद्वीपान् सप्तसिन्धून् | 89 | 48 | a | समावृत्तेन धर्मज्ञ | 80 | 28 | c |
| सप्तसप्त गिरीनथ | 89 | 48 | b | समाहितोऽनुशृणुयात् | 66 | 43 | c |
| सप्तोक्षणोतिबलवीर्य सुतीक्ष्णशृङ्गान् | 83 | 13 | a | समुद्धरतं मां कृच्छ्रत् | 64 | 20 | c |
| सप्रेमहास रसवीक्षित वल्गुजल्पैः | 61 | 3 | b | समुद्धृतः पूर्वजातैः | 87 | 43 | c |
| स बाहूतालसङ्काशौ | 67 | 24 | a | समुद्र इव पर्वणि | 61 | 31 | b |
| सबृन्द आब्रह्मपुनत् यदाम्बुह | 85 | 36 | d | समुद्रं दुर्गमाश्रित्य | 74 | 37 | c |
| स भवानरविन्दाक्षः | 74 | 3 | a | समुद्रं शरणंगतः | 72 | 31 | d |
| सभाजयसि सद्धाम | 84 | 20 | c | समुन्नतं दक्षिणतः | 68 | 54 | c |
| सभाजयित्वा विधिवत् | 70 | 35 | a | समुपेत्याऽथ गोपालान् | 65 | 5 | a |
| सभाजितो भगवता | 87 | 48 | a | समृद्धीस्सर्वसम्पदां | 81 | 32 | b |
| सभायामास्थितं प्रभुं | 66 | 4 | b | समेतः पादरजसा | 86 | 36 | c |
| सभायां मयक्लृप्तायां | 75 | 34 | a | समेता स्सर्वतो दिशम् | 63 | 4 | b |
| सभार्यस्वजनापत्यः | 86 | 43 | c | समेत्य गोविन्दकथा मिथोऽगृणन् | 83 | 5 | c |
| सभार्यस्सानुजामात्यः | 74 | 27 | c | समेत्य बन्धू ननुरक्तचेतसः | 68 | 53 | b |
| सभार्यं च नवं नवम् | 71 | 44 | d | सम्पदोऽमर्त्यदुर्लभाः | 81 | 7 | d |
| सभार्योऽवनिजे मुदा | 86 | 39 | d | सम्पाद्यतां तद्भवतः प्रसादः | 63 | 46 | c |
| सभीम दुर्योधनयोः | 79 | 23 | a | सम्पूज्य देव ऋषिवर्यमृषिः पुराणः | 69 | 16 | a |
| सभ्यानां मतमास्थाय | 71 | 1 | c | सम्पृक्तविदुषा सा च | 64 | 16 | c |
| समन्तात्सात्त्वतर्षभाः | 63 | 4 | d | सम्प्रत्यपास्तकमलश्रिय आस्तभर्तुः | 90 | 25 | b |
| सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया | 87 | 30 | d | सम्प्रहृष्टौ यथागतं | 89 | 62 | b |
| समर्हयद्धृषीकेशं | 74 | 26 | c | सम्प्रापितोस्य तदर्हः सुभद्रः | 64 | 8 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सम्प्राप्ता न्विद्धय मून्मुनीन् | 86 | 51 | b | सर्वभूतात्मदृक् साक्षात् | 81 | 6 | a |
| सम्प्रीणना भ्युदयणोषण पालनानि | 82 | 39 | b | सर्वभूतात्मभूताय | 74 | 24 | a |
| सम्प्रीतः प्रेमविह्वलः | 82 | 34 | b | सर्वभूतात्म साक्षिणः | 64 | 11 | b |
| सम्प्रेष्याह्वापयामास | 75 | 41 | c | सर्वमाश्रावयाञ्चक्रुः | 73 | 34 | c |
| सम्भृत्य सर्वसम्भारान् | 72 | 9 | c | सर्वयज्ञेश्वरं मखैः | 84 | 35 | d |
| सम्भ्रमस्तेन कर्तव्यः | 77 | 11 | c | सर्वराजन्यनिधनं | 79 | 22 | c |
| सम्मोहिताभगवतो नमनो विजेतुं | 61 | 3 | c | सर्त्विग्जनं समदहत् स्वकृतोऽभिचारः | 66 | 40 | d |
| सम्यक् पश्यन्ति योगिनः | 61 | 21 | d | सर्वलोकेश्वरेश्वरः | 70 | 34 | b |
| सम्यक्प्राप्त समर्हणाः | 82 | 28 | b | सर्ववेदमयो विप्रः | 86 | 54 | c |
| सम्यक् व्यवसितं राजन् | 72 | 7 | a | सर्वशक्ति धराव्यय | 68 | 48 | b |
| सम्यक्सभाजितः प्रीतः | 69 | 43 | c | सर्वसङ्गनिवृत्त्याद्धा | 83 | 39 | c |
| स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन् | 87 | 38 | a | सर्वसम्पत्समृद्धये | 81 | 11 | b |
| स यदा वितथोद्योगः | 88 | 9 | a | सर्वसम्पत्समृद्धायां | 90 | 1 | c |
| स यद्वा पुन्नतां गतः | 84 | 41 | d | सर्वस्यान्त र्बहिस्साक्षी | 66 | 38 | a |
| स यानं वृष्णिभीषणं | 76 | 6 | d | सर्वा आसार शर्कराः | 76 | 11 | b |
| सरस्वतीं प्रतिस्रोतां | 78 | 18 | c | सर्वात्मन स्समदृशः स्वसुखानुभूतेः | 72 | 6 | b |
| सरस्वत्या स्तटे राजन् | 89 | 1 | a | सर्वात्मना प्रपन्ना स्त्वां | 63 | 44 | c |
| स राज्यमकरो त्पुरा | 62 | 4 | b | सर्वात्मानं केवलं ज्ञप्तिमात्रं | 63 | 26 | b |
| सरित इवार्णवि मधुनिलिल्युरशेषरसाः | 87 | 31 | d | सर्वान् विव्याध सायकैः | 68 | 9 | b |
| सरुक्मिणो दुहितरं | 90 | 40 | a | सर्वान्सम्पूज्य विधिवत् | 74 | 47 | c |
| सर्वज्ञेनाऽपि मुग्धवत् | 70 | 48 | b | सर्वार्थात्मार्पणं गुरौ | 80 | 41 | d |
| सर्वतो भद्र मच्युतम् | 71 | 11 | b | सर्वा विसिस्युरलमश्रुकलाकुलाक्ष्यः | 84 | 1 | d |
| सर्वदेवमयो ह्यहम् | 86 | 54 | d | सर्वासामपि सिद्धीनां | 81 | 19 | c |
| सर्वधर्मबहिष्कृतः | 74 | 35 | b | सर्वासामश्नुते गतिम् | 88 | 4 | d |
| सर्वपापैः प्रमुच्यते | 66 | 43 | d | सर्वास्त्रशस्त्रतत्वज्ञाः | 83 | 20 | c |
| सर्वपापैः प्रमुच्यते | 74 | 54 | d | सर्वांश्च सुहृदो ऽव्ययम् | 83 | 1 | d |
| सर्वभूतमनोभिज्ञः | 81 | 1 | c | सर्वे कुशलमासते | 65 | 7 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सर्वे जनाः सुररुचो मणिकुण्डलस्त्रक् | 75 | 24 | a | सशरीरो विहायसा | 89 | 39 | d |
| सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ | 85 | 23 | c | सशार्ङ्गशार्ङ्गधन्वनः | 77 | 16 | b |
| सर्वे प्राञ्जलयो जनाः | 74 | 29 | b | सशोच्योह्यात्मवञ्चकः | 63 | 42 | d |
| सर्वे मङ्गल पाणयः | 68 | 18 | d | ससदस्या विरेजुस्ते | 84 | 49 | c |
| सर्वे मुमुदिरे ब्रह्मन् | 75 | 1 | c | ससभ्यस्सानुगोमुदा | 70 | 34 | d |
| सर्वे लोकास्सहेश्वराः | 74 | 2 | b | ससम्भ्रमै रभ्युपेतः | 71 | 38 | c |
| सर्वेषा मपि भूतानां | 72 | 8 | c | ससम्राड्रथमारूढः | 75 | 18 | a |
| सर्वेषां प्राणिना मिह | 86 | 53 | b | ससर्वद्वृ गुपद्रष्टा | 88 | 5 | c |
| सर्वेषां शृण्वतां राज्ञां | 84 | 34 | c | ससुतः प्रमथैर्नृतेः | 63 | 6 | b |
| सर्वे सञ्छिन्नकन्धराः | 77 | 5 | d | ससुतः सस्नुषः प्रायान् | 68 | 52 | c |
| सर्वे स्वपर सैनिकाः | 76 | 20 | d | ससुताबाह्लिकादयः | 82 | 26 | d |
| सलक्ष्मणं पुरस्कृत्य | 68 | 43 | c | स सेवतां सुरतरोरिवते प्रसाद्ः | 72 | 6 | c |
| स लब्ध्वा कामगं यानं | 76 | 8 | a | ससैन्यं सानुगामात्यं | 71 | 44 | c |
| स वञ्चयित्वा ग्रावाणं | 67 | 14 | c | ससौभस्सहसैनिकः | 76 | 23 | b |
| सवत्सानां सुवाससां | 70 | 8 | d | सस्त्रीका वीक्ष्यविस्मिताः | 82 | 27 | d |
| सवध्वा तामुपानयत् | 63 | 51 | d | सस्नुषा परिषस्वजे | 71 | 39 | d |
| स वव्रे वरमीप्सितम् | 66 | 29 | d | सस्नुस्तत्रततस्सर्वे | 75 | 21 | a |
| स वाच्यश्शोच्य एव सः | 72 | 20 | d | सस्नूरामह्रदे विप्राः | 84 | 53 | c |
| स वै दुर्विषहो राजा | 71 | 5 | a | सस्मारमुसलं रामः | 79 | 4 | a |
| स वै भवान्पुरुषो लोक कल्पः | 63 | 37 | d | सस्वजेऽथ पुनः पुनः | 71 | 25 | d |
| स वै सत्कर्मणां साक्षात् | 80 | 32 | a | सह ओजोऽपराजितः | 61 | 15 | d |
| सव्रजःसहबान्धवः | 84 | 67 | b | सहकृष्णान् द्विजोत्तमान् | 86 | 58 | b |
| सव्रीडप्रेमवीक्षितैः | 70 | 16 | b | सहदेव स्तदाऽब्रवीत् | 74 | 18 | d |
| सव्रीडसौहृदनिरीक्षणहासजुष्टः | 69 | 44 | d | सहदेवस्तु पूजायां | 75 | 4 | c |
| सव्रीडहासवदनाकबरी धृतस्त्रक् | 83 | 28 | d | सहदेवं तत्तनयं | 72 | 46 | a |
| सव्रीडितोऽवाग्वदनो रुषा ज्वलन् | 75 | 43 | a | सहदेवं दक्षिणस्यां | 72 | 13 | a |
| सव्यं दक्षिणमेव च | 72 | 35 | b | सहदेवेन पूजितः | 73 | 31 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सहदेवेन भारत | 73 | 25 | b | संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं | 82 | 49 | c |
| सहरामोऽच्युतोऽर्चयत् | 84 | 7 | b | संसिक्तमार्गाङ्गणवीथि देहलीं | 69 | 6 | c |
| सहलक्षम्या सतां गतिः | 89 | 8 | d | संसिक्तवर्त्म करिणां मदगन्धतोयैः | 71 | 32 | a |
| सहशय्यासनाशनाः | 68 | 25 | b | संस्कारो वैष्णवः स्मृतः | 90 | 38 | d |
| सहसङ्कथयन् हरिः | 81 | 1 | b | संस्तुत्य मुनयो रामं | 79 | 7 | a |
| सहसोत्थाय चाभ्येत्य | 80 | 18 | c | संस्तूयमानो भगवान् | 67 | 28 | c |
| सहस्रबाहुर्वाद्येन | 62 | 4 | e | संस्तूयमानो भगवान् | 71 | 31 | c |
| सहस्रमूर्धन्यफणा मणिद्युभिः | 89 | 54 | b | संस्तूयमानो भगवान् | 73 | 17 | a |
| सहस्रं दुहितृवत्सलः | 68 | 51 | d | संस्पृशन् शनकैर्मुदा | 86 | 30 | d |
| सहस्राणि च षोडश | 61 | 19 | f | संस्मरेत्प्रातरुत्थाय | 63 | 54 | c |
| सहस्रादित्यसङ्काशं | 89 | 50 | c | संवत्सरान्ते भगवान् | 76 | 5 | a |
| सहस्रै स्समलङ्कृतं | 69 | 8 | b | संविभज्याऽग्रतो विप्रान् | 70 | 13 | a |
| सहात्मजाः पतिमनुसुव्रता ययुः | 71 | 15 | b | संश्रावयन्भगवते परुषाण्यभीतः | 74 | 30 | d |
| सहितो भ्रातृभिर्नृप | 75 | 37 | b | संस्पृशंस्तत्पदाम्बुजं | 62 | 6 | d |
| संख्या न शक्यते कर्तुं | 90 | 44 | c | साक्षात्सदसतःपरे | 87 | 1 | d |
| संख्यानं यादवानां कः | 90 | 46 | a | साक्षादधोक्षज उरुव्यसनान्धबुद्धेः | 64 | 27 | c |
| संजज्ञ इत्यनुयुगं निजधर्मगुप्त्यौ | 85 | 20 | b | सा च तं सुन्दरवरं | 62 | 24 | a |
| संयत्ता उद्धृतेष्वासाः | 83 | 34 | c | साचिव्यं यक्ष्यतस्त्वया | 71 | 2 | b |
| संयुक्ता विरतेतरौ | 72 | 34 | b | सा तत्र तमपश्यन्ती | 62 | 13 | a |
| संयुगं मत्समेन ते | 62 | 10 | d | सा ताञ्छोचत्यात्मजान् स्वान् | 85 | 50 | c |
| संयुध्यतो र्द्विरदयो रिव दीप्तः मन्ख्योः | 72 | 37 | d | सात्यकिश्चारुदेष्णश्च | 76 | 14 | a |
| संयोज्याक्षिपते भूयः | 82 | 44 | c | सात्यक्युद्धवसंयुक्तः | 70 | 15 | c |
| संरब्धौ विजयैषिणौ | 79 | 25 | b | साधयित्वा क्रतुं राज्ञः | 74 | 48 | a |
| संरुद्धा मागधेन ये | 72 | 46 | f | साधयिष्यति सङ्कल्पं | 66 | 30 | c |
| संरोध परिकर्शिताः | 73 | 2 | b | साधये योगमायया | 78 | 34 | d |
| संसरन्तीह कर्मभिः | 85 | 15 | d | साधुशब्दोऽभवद्दिवि | 88 | 36 | d |
| संसारकूप पतितोत्तरणावलम्बं | 69 | 18 | c | साधु साध्विति चाऽम्बरे | 67 | 27 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| साधु साध्विति सत्तमाः | 74 | 25 | d | सालमुत्पाट्य पाणिना | 67 | 17 | b |
| साधूनाञ्च परायणम् | 80 | 9 | d | साल्वश्च कृष्णमालोक्य | 77 | 13 | a |
| साध्वीनां मौक्तिकस्रजाम् | 70 | 8 | b | साल्वश्शौरेस्तु दोस्सव्यं | 77 | 16 | a |
| सानुजो जगदीश्वर | 65 | 3 | b | साल्वस्त्वन्तरधीयत | 77 | 22 | b |
| सान्त्वयामास तं गिरा | 89 | 7 | b | साल्वस्य ध्वजिनी पालं | 76 | 18 | c |
| सान्त्वयामास भगवान् | 65 | 16 | c | साल्वस्यान्तिकमाशु वै | 77 | 11 | b |
| सान्त्वयित्वा तु ताम्रामः | 68 | 14 | a | साल्वं शरणमागतं | 76 | 5 | d |
| सान्त्वयित्वाऽहमेतेषां | 68 | 32 | c | साल्वं शरैश्शौरि रमोचाविक्रमः | 77 | 34 | b |
| सान्द्राम्बुदाभं सुपिशङ्गवाससं | 89 | 55 | c | साल्वः प्रतिज्ञामकरोत् | 76 | 3 | a |
| सान्निध्यं यत्र धूर्जटेः | 79 | 19 | f | साल्वानां यदुभिस्सह | 76 | 16 | b |
| साऽपि तं चकमे वीक्ष्य | 86 | 7 | a | साल्वेनाल्पीयसा नीतः | 77 | 25 | c |
| सामुद्रं सेतुमगमत् | 79 | 15 | c | सा वागनन्तस्य गुणान्गृणीते | 80 | 3 | a |
| साम्ना योगेश्वरेण च | 75 | 41 | d | साश्रुकण्ठौ कुरूद्वह | 82 | 35 | d |
| साम्बमारेभिरे बद्धुं | 68 | 5 | g | सांख्ययोग वितानाय | 85 | 39 | c |
| साम्बस्य बाणपुत्रेण | 63 | 8 | c | सांख्यं योगञ्च यत्परः | 74 | 20 | d |
| साम्बं प्राञ्जलयोऽब्रुवन् | 68 | 43 | d | सिच्यमानोऽच्युत स्ताभिः | 90 | 9 | a |
| साम्बः सुमित्रः पुरुजित् | 61 | 11 | c | सिञ्चन्त्य उद्धृतबृहत्कबरप्रसूनाः | 90 | 10 | b |
| साम्बादींश्च कुशस्थली | 75 | 29 | d | सिञ्चन्मुहुर्युवतिभिः प्रतिषिच्यमानः | 90 | 11 | c |
| साम्बाद्याः पितृसन्निभाः | 61 | 12 | d | सिताचलाभं शितिकण्ठजिह्वं | 89 | 54 | d |
| साम्बोऽक्रूरस्सहानुजः | 76 | 14 | b | सिद्धचारणपन्नगान् | 62 | 19 | b |
| साम्बो जाम्बवतीसुतः | 68 | 1 | d | सिद्धविद्याधरोरगाः | 85 | 41 | b |
| साम्बो मधु बृहद्भानुः | 90 | 55 | c | सिद्धाखिलार्थाः मधुसूदनाश्रयाः | 61 | 40 | d |
| सायकैश्शतधाऽच्छिनत् | 77 | 14 | d | सिद्धा ज्ञात्वाऽऽत्मनो गतिं | 87 | 42 | d |
| सायं प्रातरनन्तस्य | 79 | 34 | c | सिन्धुं वेलेव प्रत्यधात् | 78 | 3 | d |
| सारथिं रथमश्वांश्च | 63 | 19 | c | सिंहग्रस्तमिवोरणः | 68 | 28 | d |
| सारथे रथमारुहत् | 70 | 15 | b | सिंहवद्व्यनदच्च सः | 78 | 7 | f |
| सारूप्यमथ सात्मतां | 85 | 43 | b | सिंहः क्षुद्रमृगैरिव | 68 | 8 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सीतापतिं त्रिणवहा न्यमुनाऽभ्ययुध्यत् | 83 | 10 | b | सुनन्देनाहनच्च तम् | 67 | 18 | d |
| सीदते ते कुटुम्बिने | 80 | 10 | b | सुबाहुर्भद्र एकलः | 61 | 14 | b |
| सीदत्कुटुम्बेभ्य ऋतव्रतेभ्यः | 64 | 14 | b | सुबाहुस्तस्य चाऽऽत्मजः | 90 | 42 | b |
| सुकल्या मिह दुर्लभां | 85 | 16 | b | सुबाहोश्शान्तसेनीऽभूत् | 90 | 42 | c |
| सुखयति कोन्विह स्वविहते स्वानिरस्तभगे | 87 | 34 | d | सुमतिर्जैमिनिक्रतुः | 74 | 8 | b |
| सुखं दुःखं भवाभवौ | 73 | 22 | b | सुमन्तुर्गौतमोऽसितः | 74 | 7 | b |
| सुखं निवासयामास | 71 | 44 | a | सुयेधनस्य दौरात्म्यं | 75 | 44 | c |
| सुखं स्वपुर्यां निवसन् | 90 | 1 | a | सुरमानव खेचराः | 74 | 52 | b |
| सुखासीना न्महामनाः | 86 | 27 | d | सुरसिद्धमुनीन्द्राणाम् | 67 | 27 | c |
| सुग्रीवसचिवस्सोऽथ | 67 | 2 | c | सुरामांसाभिवर्षिणं | 78 | 39 | d |
| सुग्रीवाद्यैर्हयै र्युक्तं | 70 | 14 | c | सुवस्त्रमणि कुण्डलैः | 69 | 11 | d |
| सुचन्द्रशुकसारणैः | 82 | 6 | d | सुवासस्समलङ्कृतं | 63 | 52 | b |
| सुचारुश्चारुगुप्तश्च | 61 | 8 | c | सुवासा स्सुष्ठ्वलङ्कृतः | 79 | 32 | d |
| सुतलं संविविशतुः | 85 | 34 | c | सुवासीभि रलङ्कृतं | 69 | 11 | b |
| सुतस्पर्शपरिस्नुतम् | 85 | 55 | b | सुशान्तं तप ईयुषे | 86 | 35 | d |
| सुतां कुर्वन् स्वसुःप्रियं | 61 | 23 | d | सुश्लोकं श्रवणपुटैः पिबत्यभीक्ष्णं | 89 | 21 | c |
| सुतां यभितुमुद्यतं | 85 | 48 | d | सुसंवृता नृभि रसिचर्मपाणिभिः | 71 | 15 | d |
| सुतौ विजतु श्शुचः | 82 | 36 | d | सुसुतान् सपरिच्छदान् | 71 | 13 | b |
| सुदक्षिणस्तस्य सुतः | 66 | 27 | a | सुस्नातान् समलङ्कृतान् | 73 | 26 | b |
| सुदक्षिणोऽर्चयामास | 66 | 28 | c | सुस्वागतं विदधुरुत्स्मयवीक्षितेन | 71 | 35 | d |
| सुदर्शनीयसर्वाङ्गं | 67 | 9 | c | सुहृत्कृतं फलंवपि भूरिकारी | 81 | 35 | b |
| सुदुश्शासन गान्धारौ | 68 | 5 | d | सुहृत्सन्दर्शनादिकम् | 84 | 71 | d |
| सुदुस्तरं समुत्तीर्य | 75 | 30 | c | सुहृत्सम्बन्धिनो नृपान् | 82 | 12 | d |
| सुदृढा जायते भक्तिः | 73 | 18 | c | सुहृत्सम्बन्धिबान्धवाः | 84 | 57 | d |
| सुधर्माऽऽक्रम्यते येन | 68 | 35 | a | सुहृत्सम्बन्धि बान्धवान् | 75 | 28 | b |
| सुधर्माख्यां सभां सर्वैः | 70 | 18 | a | सुहृत्सम्बन्धि बान्धवान् | 83 | 37 | b |
| सुनन्दनन्द प्रमुखैः स्वपार्षदैः | 89 | 57 | a | सुहृदः प्रकृती र्दारान् | 70 | 13 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सुहृदामपि नः प्रभो | 72 | 8 | b | सृजत्यवति हन्त्यजः | 74 | 21 | d |
| सुहृदोज्ञातयः पुत्राः | 82 | 20 | a | सृजत्यवत्यत्ति न तत्र बध्यते | 84 | 17 | b |
| सुहृदोऽन्यांश्च सर्वशः | 75 | 23 | b | सृञ्जयो विदुरः कृपः | 82 | 24 | d |
| सुहृद्दिदृक्षुरुत्कण्ठः | 65 | 1 | c | सृष्ट्वा लोकं परं स्वाप्नं | 86 | 45 | c |
| सुहृद्भि रभिनन्दितः | 68 | 52 | d | सेतिहासपुराणानि | 78 | 25 | c |
| सुहृद्भि रभियाचितः | 74 | 48 | d | सेवया तद्गतिं गताः | 89 | 20 | d |
| सुहृद्भि श्चान्वशाम्यत | 86 | 11 | d | सेवानुभावमिह पश्यतु लोक एषः | 72 | 5 | b |
| सुहृद्धृतः प्रीतमनाः | 84 | 60 | c | सेवानुरूपमुदयो नविपर्ययोऽत्र | 72 | 6 | d |
| सुहृन्मन्त्रार्थतत्ववित् | 70 | 47 | b | सेविते स्त्रीगणैर्वृतः | 65 | 18 | d |
| सूचयद्रामविक्रमम् | 68 | 54 | b | सैषा ह्युपनिषद्ब्राह्मी | 87 | 3 | a |
| सूतमागधगन्धर्वाः | 71 | 30 | a | सोऽतिविद्धः कुरश्रेष्ठ | 68 | 8 | a |
| सूतमागधवन्दिनः | 70 | 21 | d | सोऽद्य नो दर्शनं प्राप्तः | 86 | 44 | a |
| सूतमागध वन्दिभिः | 90 | 8 | d | सोऽन्वदृश्यत शूलधृत् | 79 | 2 | d |
| सूतमाहरणाङ्गणे | 77 | 1 | d | सोऽपतद्भुवि निर्भिन्न- | 79 | 6 | a |
| सूतमेकेन चाऽहनत् | 77 | 4 | b | सोऽपतद्रुधिरं वमन् | 67 | 25 | d |
| सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेत् | 76 | 32 | c | सोऽपश्यत्तत्र महतीं | 86 | 6 | a |
| सूतीगृहे ननु जगाद भवानजो नौ | 85 | 20 | a | सोपाध्यायः सुहृद्धृतः | 71 | 23 | d |
| सूतेन प्राप्तकिल्विषात् | 76 | 29 | d | सोपाध्याया स्सहस्रशः | 83 | 20 | d |
| सूतोपनीतं स्वरथं | 71 | 13 | e | सोपाध्यायो महेश्वरम् | 66 | 28 | b |
| सूदितञ्च बलं भूरि | 63 | 49 | c | सोऽबिभ्य त्स्वकृताच्छिवः | 88 | 23 | f |
| सूपपन्न मविस्मिताः | 74 | 16 | b | सोऽभिवन्द्याम्बिकापुत्रं | 68 | 17 | a |
| सूपविष्टा न्कृतातिथ्यान् | 86 | 43 | a | सोऽभ्यगाद्ब्रह्मण स्सभां | 89 | 2 | d |
| सूर्यश्चास्तङ्गत स्तावत् | 80 | 37 | a | सोभ्यधाव द्वृतो भूतैः | 66 | 34 | c |
| सूर्यानलेन्दु सङ्काशैः | 81 | 21 | c | सोमराज मिवोडुभिः | 84 | 47 | d |
| सूर्ये चाभिजिति स्थिते | 83 | 26 | d | सोऽर्चित स्सपरीवारः | 78 | 22 | a |
| सूर्योपराग स्सुमहान् | 82 | 1 | c | सोऽसावसाविति प्राह | 62 | 21 | c |
| सृजति मुहु स्त्रिणेमि रभवच्छरणेषु भयम् | 87 | 32 | d | सौत्येऽहन्यवनीपालः | 74 | 17 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सौनिकेन यथा पशुः | 77 | 23 | d | स्त्रीणां किल हृता धियः | 90 | 13 | d |
| सौभञ्च शत्रोर्गदया रुरोज ह | 77 | 34 | d | स्त्रीभिश्च हरिणाक्षिभिः | 81 | 23 | b |
| सौभञ्च साल्वराजञ्च | 77 | 10 | c | स्त्रीभिश्चोत्तमवेषाभिः | 90 | 2 | a |
| सौभराट् प्रत्युपस्थितः | 77 | 26 | b | स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभिर्नृषु | 84 | 2 | b |
| सौभस्थमालोक्य निहन्तु मुद्यतः | 77 | 30 | d | स्नातास्सुवाससो राजन् | 84 | 44 | c |
| सौभं तद्दुरवस्थितम् | 76 | 22 | d | स्नातो राजा युधिष्ठिरः | 74 | 51 | b |
| सौभे च गदया हते | 77 | 38 | b | स्नातोऽलङ्कारवासांसि | 84 | 54 | a |
| सौहृदा क्लिन्नचेतसः | 84 | 58 | b | स्नात्वा प्रभासे सन्तर्प्य | 78 | 18 | a |
| स्कन्दं दृष्ट्वा ययौ रामः | 79 | 13 | a | स्नात्वा सन्तर्प्य देवादीन् | 79 | 10 | c |
| स्कन्दः प्रद्युम्नबाणौघैः | 63 | 15 | a | स्नात्वा सरोवर मगात् | 79 | 9 | c |
| स्तनैः स्तनात्कुङ्कुमपङ्कूरूषितान् | 82 | 16 | c | स्नात्वाऽस्पर्शद्गदायुतं | 79 | 18 | d |
| स्तम्भैर्मरकतोत्तमैः | 69 | 9 | d | स्नापयाश्चक्र उद्धर्षः | 86 | 40 | c |
| स्तुवतो वन्दिनोरिव | 88 | 16 | b | स्निग्धच्छायाङ्घ्रिपाङ्घ्रिषु | 82 | 12 | b |
| स्तूयमानञ्च वन्दिभिः | 69 | 26 | d | स्निग्धेक्षणं नृप पपुर्दृशिभिर्नृनार्यः | 86 | 20 | d |
| स्तूयमानश्च वन्दिभिः | 75 | 35 | d | स्नेहपाशानुबन्धनः | 61 | 25 | f |
| स्थलेऽभ्यगृह्णद्वस्त्रान्तं | 75 | 38 | a | स्नेहपशैः निबध्नानि | 85 | 17 | c |
| स्थानं दूरं हरेः स्थानं | 79 | 19 | a | स्नेहभङ्ग भयाद्धरिः | 61 | 39 | d |
| स्थितं निरुदके कूपे | 64 | 2 | c | स्पर्धन्तो हृच्छयातुराः | 83 | 31 | d |
| स्थितिपालन तत्परः | 68 | 47 | d | स्पर्शात्थशक्तिरभिवर्षति नोऽखिलार्थान् | 82 | 30 | d |
| स्थित्युत्पत्तिलयानां त्वं | 68 | 45 | a | स्फुरन्मकरकुण्डलम् | 66 | 14 | d |
| स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजः | 87 | 29 | a | स्फुरन्मकरकुण्डलम् | 73 | 3 | d |
| स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मित श्रीमुखेन | 90 | 53 | c | स्मयन्तस्तं जगद्गुरुं | 84 | 15 | d |
| स्त्रिय उरगेन्द्रभोग भुजदण्डविषक्तधियः | 87 | 23 | c | स्मयमान उवाच तम् | 81 | 1 | d |
| स्त्रिय एक उदावहत् | 69 | 2 | d | स्मयमाना महीपते | 62 | 21 | d |
| स्त्रियश्च संवीक्ष्य मथोऽति सैहृद | 82 | 16 | a | स्मरतः पादकमलम् | 80 | 11 | a |
| स्त्रियो नृपतयोऽपरे | 75 | 40 | b | स्मरतां दर्शनं गतः | 86 | 31 | d |
| स्त्रियो मज्जनकर्मणि | 73 | 24 | d | स्मरन् कंसकृतान् क्लेशान् | 82 | 34 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| स्मरन्ती कृपणं प्राह | 85 | 28 | c | स्वचक्रं प्राहिणोत्पुरः | 89 | 50 | d |
| स्मरन्त्यो रुरुदुः स्त्रियः | 65 | 15 | d | स्वच्छस्फटिककुड्येषु | 81 | 31 | a |
| स्मरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीं | 82 | 37 | c | स्वजनसुतात्मदारधन धामधरासुरथैः | 87 | 34 | a |
| स्मरन्नश्रुविलोचनः | 84 | 65 | d | स्वजनादुःखदुःखितं | 88 | 8 | d |
| स्मरेद्वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु | 80 | 3 | c | स्वजनानुत बन्धून्वा | 84 | 64 | c |
| स्मरेद्गीथः परिष्वङ्गः | 85 | 52 | a | स्वतल्पादवरुह्यऽऽशु | 89 | 9 | a |
| स्मायावलोकलवदर्शित भावहारि | 61 | 4 | a | स्वतेजसा स्वं ककुभोऽथ रोदसी | 66 | 39 | c |
| स्मितार्मलापाङ्गदृशोऽभिरेभिरे | 82 | 16 | b | स्वतोऽन्यस्माच्च गुणतः | 84 | 32 | c |
| स्मितावलोकेन च मण्डिताननं | 62 | 31 | d | स्वदत्तां परदत्तां वा | 64 | 40 | a |
| स्मितावलोको च्छ्वसित स्मरातुराः | 65 | 13 | d | स्वदेशा त्प्रत्ययापयत् | 73 | 28 | d |
| स्मृतिर्नाऽद्याऽपि विध्वस्ता | 64 | 26 | c | स्वदेशांश्चाऽपरे जनाः | 84 | 58 | d |
| स्मृतिर्यथा न विरमेत् | 73 | 15 | c | स्वधामनि मुदा ययुः | 74 | 52 | d |
| स्मृत्वा स्मृत्वा विसृजसि मुहु | | | | स्वधामानि ययु र्मुदा | 75 | 26 | d |
| दुःखद स्तत्प्रसङ्गः | 90 | 21 | d | स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः | 84 | 13 | b |
| स्यन्दनं परमाद्भुतम् | 70 | 14 | b | स्वपत्न्यावभृथस्नातः | 79 | 32 | a |
| स्यमन्तपञ्चकं क्षेत्रम् | 82 | 2 | c | स्वपाद स्पर्शनेच्छया | 83 | 11 | b |
| स्यादिदं भगवान् साक्षात् | 85 | 4 | c | स्वपिति जागर्ति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः | 90 | 15 | b |
| स्यान्मेऽनुदृश्य च इह यस्य भवापवर्गः | 64 | 27 | d | स्वपुरं जयिनोऽविशन् | 68 | 12 | d |
| स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः | 70 | 13 | b | स्वपुरं देवकीसुतः | 74 | 49 | d |
| स्रग्व्येककुण्डलो मत्तः | 65 | 24 | a | स्वप्नायितं नृपसुखं परतन्त्रमीश | 70 | 29 | a |
| स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं | 87 | 20 | a | स्वप्ने प्राद्युम्निना रतिम् | 62 | 12 | b |
| स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयाऽवसितं | 87 | 26 | d | स्वँबोधआस्ते स्वजनानुषङ्गतः | 77 | 29 | b |
| स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया | 87 | 19 | a | स्वभागं मृगराडिव | 86 | 10 | d |
| स्वगृहं प्रविश न्नृप | 62 | 11 | b | स्वमघं क्षपयिष्णवः | 82 | 6 | b |
| स्वगृहाञ्जनको यथा | 86 | 38 | b | स्वमन्धेनाऽध्यवासयत् | 65 | 19 | d |
| स्वगृहान्व्रीडितोऽगच्छत् | 81 | 14 | c | स्वमायया सर्वगुणप्रसिद्ध्यै | 63 | 39 | d |
| स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पणेन च | 85 | 37 | d | स्वमायया संवृतरुद्धदृष्टये | 86 | 48 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| स्वमाययेदं सृजतो नियच्छतः | 70 | 39 | b | स्ववचस्तदृतं कर्तुं | 86 | 32 | a |
| स्वयञ्च कृष्णया राजन् | 71 | 41 | c | स्ववीर्यनशनं कुधीः | 62 | 11 | d |
| स्वयञ्च तदनुज्ञाताः | 82 | 11 | c | स्वशक्तिभि र्लक्षित भावनिर्वृतिं | 70 | 5 | d |
| स्वयन्तु कुरव श्शिरः | 68 | 38 | d | स्वसमृद्धि महैतुकीम् | 81 | 32 | d |
| स्वयमाहूय दत्तवान् | 83 | 15 | b | स्वसंस्थया नित्य निवृत्त कल्मषं | 70 | 5 | b |
| स्वयं जहार किमिदं | 81 | 8 | c | स्वसारं रामकृष्णयोः | 86 | 1 | b |
| स्वयंवरस्था महरत् | 68 | 1 | c | स्वसुखेनाभिवन्दितः | 81 | 13 | b |
| स्वयं सख्युस्समर्हणं | 80 | 20 | b | स्वसुः प्रियचिकीर्षया | 61 | 25 | d |
| स्वयोगमाययाच्छन्नं | 84 | 22 | c | स्वसृष्टमिद मापीय | 87 | 12 | a |
| स्वयोगमायारचितैःकुरुक्षेत्रे द्विषट् समाः | 90 | 51 | b | स्वस्थं सौभं समाविशत् | 77 | 28 | d |
| स्वयोन्या वारिणाऽऽत्मभूः | 89 | 4 | d | स्वहस्तं कुमतिर्व्यधात् | 88 | 35 | d |
| स्वराजधानीं समलङ्कृतां ध्वजैः | 63 | 53 | a | स्वहस्तं धातुमारेभे | 88 | 23 | c |
| स्वरूपं तन्मयोऽभवत् | 66 | 24 | d | स्वागतं कुशलं पृष्ट्वा | 82 | 17 | c |
| स्वरैराकृतिभिस्तांस्तु | 72 | 22 | a | स्वागतासनपाद्यार्घ्य | 84 | 7 | c |
| स्वर्गापवर्गयोः पुंसां | 81 | 19 | a | स्वागतेनाभिनन्द्याङ्घ्रीन् | 86 | 39 | c |
| स्वर्गापवर्गविगमः स्वयमास विष्णुः | 82 | 31 | d | स्वानामर्थचिकीर्षया | 82 | 42 | b |
| स्वर्ग्यद्भुतालङ्करणाम्बरस्त्रक् | 64 | 6 | d | स्वानुग्रहाय सम्प्राप्तं | 86 | 24 | a |
| स्वर्णपुङ्खै रयोमुखैः | 76 | 18 | b | स्वानुभूतमशेषेण | 89 | 14 | c |
| स्वर्णरत्न परिच्छदैः | 69 | 5 | d | स्वान् निवार्य स्वयं रुषा | 74 | 43 | b |
| स्वलङ्कृता नरा नार्यः | 75 | 14 | a | स्वाप्नं यथा चाम्बरचारिणं रिपुं | 77 | 30 | c |
| स्वलङ्कृताभि र्विबभौ | 84 | 48 | c | स्वामिने सर्वमाहरन् | 66 | 10 | b |
| स्वलङ्कृताः कटकुटि कम्बलाम्बरादि- | 71 | 16 | c | स्वायम्भुवब्रह्मसत्रं | 87 | 9 | a |
| स्वलङ्कृतेभ्यो गुणशीलवद्भ्यः | 64 | 14 | a | स्वाराज्यं भोज्यमप्युत | 83 | 41 | b |
| स्वलङ्कृतेभ्योऽलङ्कृत्य | 84 | 52 | c | स्वार्थे प्रमत्तस्य वयः | 85 | 16 | c |
| स्वलङ्कृतै र्भटैर्भूपाः | 75 | 11 | c | स्विष्टेषु सूनृत समर्हणदक्षिणाभिः | 75 | 8 | b |
| स्वलङ्कृतै र्भटैरश्वैः | 90 | 3 | c | स्वेदप्रालेयभूषितं | 65 | 24 | d |
| स्वलीलया वेदपथं सनातनं | 84 | 18 | c | स्वे परे चारुणानुजं | 77 | 12 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| स्वैरवर्ती गुणैर्हीनः | 74 | 35 | c | हरेर्यज्ञपतेः प्रभोः | 81 | 39 | b |
| स्वैरावतार उरुगायविदाम सुष्ठु | 69 | 17 | d | हरेः स्वकौशलं यत्र | 69 | 7 | c |
| स्वैर्विभ्रमैस्समशकन् वनिताविभूम्नः | 61 | 3 | d | हर्तारं पातयत्यधः | 64 | 44 | b |
| स्वैः स्वैर्बन्धुभिरन्वितौ | 84 | 50 | b | हर्षयन्तः स्वसुहृदः | 73 | 32 | c |
| | | | | हलञ्च दैत्यदमनं | 79 | 4 | c |
| - ह - | | | | हलञ्चारिजिघांसया | 67 | 16 | d |
| हतनाथानि सर्वतः | 63 | 16 | d | हसन्तं हास्यकथया | 69 | 29 | a |
| हतप्रायबलेश्वरः | 77 | 13 | b | हसन्तीभिश्च रेचकैः | 90 | 9 | b |
| हतः को नु महत्स्वीश | 88 | 39 | a | हसन्ती व्रीडितापाङ्गा | 86 | 7 | c |
| हते पापे वृकासुरे | 88 | 37 | b | हसन्त्यो भ्रातृजामयः | 76 | 31 | b |
| हत्वा दुर्विषहानन्यान् | 78 | 13 | c | हस्तग्राहं न तेऽद्यांऽपि | 62 | 15 | c |
| हत्वा नृपामधर्मिष्ठान् | 89 | 66 | a | हस्तं न्यस्य प्रतीयताम् | 88 | 33 | d |
| हत्वा शङ्खमपूरयत् | 63 | 19 | d | हंस स्वागत मास्यतां पिब पयो | | | |
| हत्वेहभूयस्त्वरये तमन्तिमे | 89 | 59 | d | ब्रूह्यङ्ग शौरेः कथां | 90 | 26 | a |
| हनिष्यति न सन्देहः | 71 | 7 | c | हंस्युन्मार्गान् हिंसया वर्तमानान् | 63 | 28 | c |
| हनिष्ये वज्रकल्पया | 78 | 5 | d | हारनूपुर कुण्डलैः | 84 | 48 | b |
| हन्तुं रन्ध्रं प्रतीक्षते | 61 | 20 | d | हार्दिक्यो भानुविन्दश्च | 76 | 14 | c |
| हयमारुह्य सैन्धवम् | 69 | 35 | b | हार्दिक्यो विदुरादयः | 75 | 6 | b |
| हयरत्नचतुष्टयम् | 83 | 32 | b | हासावलोकनवसङ्गम लालसाद्यम् | 61 | 5 | d |
| हयैश्च तरलप्लवैः | 82 | 7 | d | हास्यप्रिया विजहसुः | 67 | 12 | c |
| हरये परमात्मने | 73 | 16 | b | हास्य हस्तग्रहादिभिः | 65 | 5 | b |
| हरिदासस्य राजर्षेः | 75 | 27 | a | हाहाकारो महानासीत् | 72 | 45 | a |
| हरिद्रासान्द्रकुङ्कुमैः | 75 | 15 | b | हाहाकारो महानासीत् | 77 | 17 | a |
| हरिर्हि निगुणस्साक्षात् | 88 | 5 | a | हाहेति वादिन स्सर्वे | 78 | 29 | a |
| हरिशङ्करयो र्महत् | 62 | 1 | d | हाहेति शब्दः सुमहानभूत्सतां | 75 | 43 | c |
| हरिश्चन्द्रो रन्तिदेवः | 72 | 21 | a | हित्वा तद्ब्रह्मवर्चसम् | 74 | 37 | b |
| हरिष्ये तद्धनं शनैः | 88 | 8 | b | हित्वात्मधाम विधुतात्मकृत त्र्यवस्थं | 83 | 4 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| हित्वाऽन्यान् भजते जनः | 88 | 10 | d | हृष्यत्त्वचो रुद्धगिरोययु र्मुदम् | 82 | 15 | d |
| हित्वा यदात्मनि सुखं त्वदनीहलभ्यं | 70 | 29 | c | हे कृष्णपत्न्य एतन्नः | 83 | 7 | a |
| हिनस्ति विषमत्तारं | 64 | 35 | a | हे जाम्बवति कौसले | 83 | 6 | b |
| हिन्वन्त्यनाद्या त्मविपर्ययग्रहम् | 77 | 33 | b | हेतुभिर्लक्षयाञ्चक्रुः | 62 | 27 | c |
| हिरण्यकशिपोर्जाता | 85 | 49 | c | हे राजन्! हे वृकोदर! | 79 | 26 | b |
| हिरण्यगर्भ श्शर्वश्च | 71 | 8 | c | हे विप्रा व्रियतां कामः | 72 | 27 | c |
| हिंसाविहारं नृपतिं | 89 | 25 | a | हे वैदर्भ्य च्युतो भद्रे | 83 | 6 | a |
| हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः | 70 | 6 | d | हे सत्यभामे कालिन्दि | 83 | 6 | c |
| हृदयास्त्राविलेक्षणः | 86 | 28 | b | हैहयो नहुषो वेनः | 73 | 20 | a |
| हृदि भास्यमलात्मनाम् | 86 | 46 | d | हैमाः किलोपकरणाः | 74 | 13 | a |
| हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थः | 86 | 47 | a | ह्रदिनीषु महोदयः | 90 | 7 | b |
| हृदीरयसि नः स्मरम् | 90 | 19 | d | ह्रसते वा यथारवेः | 74 | 4 | d |
| हृष्यत्तनुर्विस्मृत लोकविभ्रमः | 71 | 26 | d | | | | |

# व्याख्यानोद्धृतानां प्रमाणवचनानां आकरनिर्देशनी
## दशमः स्कन्धः तृतीयो भागः (61-90 अध्यायाः)

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | **अ** | | | |
| 1 | 87 | 15 | अग्नि मूर्धा दिवः | श्रीध० | ऋग्वे° 8-44-16a | |
| 2 | 74 | 19 | अग्निर्वै देवानां मुखम् | विज० | | |
| 3 | 78 | 36 | अङ्गादङ्गात्सम्भवसि | श्रीध० | बृह. उ. 6-4-9 | |
| 4 | 78 | 36 | अङ्गादङ्गा त्सम्भवसि | वीर० | बृह. उ. 6-4-9 | |
| 5 | 87 | 20 | अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्त | वीर० | कठ. उ. 6-17 | |
| 6 | 87 | 20 | अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोमध्य | वीर० | कठ. उ. 4-12 | |
| 7 | 87 | 20 | अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्य | वीर० | श्वेता. उ. 5-8 | |
| 8 | 87 | 36 | अचक्षुश्श्रोत्रम् | श्रीध० | मुण्ड. उ. 1-1-6 | |
| 9 | 77 | 31 | अजस्यावक्रचेतसः | विज० | कठ. उ. 5-1 | |
| 10 | 87 | 31 | अजामेकां लोहितशुक्ल | श्रीध० | म. ना. उ. 8-4 | |
| 11 | 87 | 38 | अजामेकां लोहित शुक्ल | श्रीध० | म. ना. उ. 8-4 | |
| 12 | 87 | 26 | अजायात्मना च चरतः | वीर० | | |
| 13 | 87 | 15 | अतश्शब्दश्च हेत्वर्थे | विज० | शब्दनिर्णये | |
| 14 | 87 | 31 | अतस्तुसर्वनामाऽसौ | विज० | पाद्मे | |
| 15 | 70 | 28 | अतिस्या दधिकार्थोक्तौ | विज० | वैज. को. 8-7-15 | |
| 16 | 87 | 37 | अतोऽभिजाय वा न्विष्णुः | विज० | शब्दनिर्णये | |
| 17 | 87 | 39 | अथाकामाय मानो यो | विज० | | |
| 18 | 87 | 14 | अथान्ये प्रकृती दुष्टे | विज० | महातत्त्वविवेके | |
| 19 | 85 | 49 | अधिशीङ्स्थाऽऽसाम् | वीर० | अष्टा० 1-4-46 | |
| 20 | 87 | 36 | अध्य स्यते खपुष्पत्व | श्रीध० | | |
| 21 | 87 | 36 | अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति | विज० | मुण्ड. उ. 3-1-1 | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 22 | 74 | 35 | अनामगोत्रम् | श्रीध० | | |
| 23 | 87 | 25 | अनीशयामुह्यति मुह्यमानः | श्रीध० | मुण्ड. उ. 3-1-2 | |
| 24 | 72 | 5 | अनुभावः प्रभावे स्यात् | विज० | वैज. को. 8-1-8 | |
| 25 | 87 | 24 | अनेजदेकं मनसो | श्रीध० | ईशा. उ. 4 | |
| 26 | 87 | 2 | अनेनजीवेनाऽऽत्मनाऽनु | वीर० | छान्दो. उ. 6-3-2 | |
| 27 | 87 | 36 | अन्धेनैवनीयमाना यथान्धाः | विज० | कठ. उ. 2-5 | |
| 28 | 87 | 41 | अन्यत्रधर्मा दन्यत्राधर्मात् | श्रीध० | कठ. उ. 2-14 | |
| 29 | 87 | 41 | अन्यदेवतद्वदिता दथो | श्रीध० | केन. उ. 1-4 | |
| 30 | 87 | 32 | अन्याविज्ञातया विष्णोः | विज० | प्रमाणसंहितायाम् | |
| 31 | 87 | 40 | अन्ये सर्वे श्रिया।बद्धाः | विज० | गारुडपुराणे | |
| 32 | 88 | 5 | अपरेय मितस्त्वन्याम् | वीर० | भ. गी. 7-5 | |
| 33 | 87 | 28 | अपाणि पादो जवनो | श्रीध० | श्वेता. उ. 3-19 | |
| 34 | 73 | 14 | अपामसोममममृता अभूम | वीर० | अथ. शिखा. उ. 3-2 | |
| 35 | 87 | 36 | अपामसोम ममृता अभूम | श्रीध० | अथ. शिखा. उ. 3-2 | |
| 36 | 88 | 1,2 | अभयंध्यायेदजस्त्रं | श्रीध० | भाग्. 10-87-50 | |
| 37 | 87 | 1 | अभिधेयाविनाभूतप्रवृत्तिः | श्रीध० | | |
| 38 | 69 | 45 | अमृतस्यैष सेतुः | वीर० | मुण्ड. उ. 2-2-5 | |
| 39 | 87 | 1 | अय मात्मा ब्रह्म | वीर० | बृह. उ. 2-5-19 | |
| 40 | 87 | 25 | अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः | श्रीध० | कठ. उ. 2-5 | |
| 41 | 87 | 31 | अविनाशी वा अरेऽयमात्मा | श्रीध० | बृह. उ. 4-5-14 | |
| 42 | 88 | 12 | अव्यस्थितचित्तस्य प्रसादो | वीर० | | |
| 43 | 87 | 50 | अशेषसमाम्नाय पुराणो | वीर० | | |
| 44 | 87 | 17 | अशक्तोदेहपूर्येष | विज० | पुरुषोत्तम तन्त्रे | |
| 45 | 87 | 26 | असतोऽधिमनोऽसृजत | श्रीध० | | |
| 46 | 87 | 36 | असत्य मप्रतिष्ठं ते जग | विज० | स्कान्दे | |
| 47 | 87 | 28 | असद्वा इद मग्र आसीत् | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-7 | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 48 | 87 | 17 | असुर्या नाम ते लोकाः | श्रीध० | ईशा. उ. 3 | |
| 49 | 87 | 22 | असुर्या नाम ते लोकाः | विज० | ईशा. उ. 3 | |
| 50 | 87 | 41 | अस्थूल मनणु | श्रीध० | बृह. उ. 3-8-8 | |
| 51 | 61 | 25 | अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं | श्रीध० | | |
| 52 | 88 | 4 | अहङ्कारोऽध्यात्मं | वीर० | | |
| 53 | 87 | 3 | अहंमनुरभवं सूर्यश्च | वीर० | बृह. उ. 1-4-10 | |
| | | | **आ** | | | |
| 54 | 87 | 33 | आचार्यवान् पुरुषो वेद | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-14-2 | |
| 55 | 75 | 38 | आचितं निचितं व्याप्तम् | विज० | हला. को. 4-17 | |
| 56 | 87 | 17 | आत्मन आकाश स्सम्भूतः | वीर० | तैत्ति. उ. 2-1-1 | |
| 57 | 81 | 6 | आत्मा (देहे) धृतौ (जीवे) | विज० | वैज. को. 6-1-6 | |
| 58 | 87 | 29 | आत्मानं मुक्तिदं विष्णुं | विज० | ब्राह्मे | |
| 59 | 87 | 23 | आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः | श्रीध० | बृह. उ. 2-4-5 | |
| 60 | 87 | 37 | आत्मा वा इदमेक एवा | श्रीध० | ऐत. उ. 1-1-1 | |
| 61 | 87 | 37 | आत्मा वा इदमेक एवा | वीर० | ऐत. उ. 1-1-1 | |
| 62 | 78 | 36 | आत्मा वै पुत्रनामाऽसि | श्रीध० | कौषी. उ. 2-11 | |
| 63 | 87 | 31 | आनन्द त्वा दनामासौ | विज० | स्कान्दे | |
| 64 | 87 | 2 | आमिक्षां देवतायुक्तां वद | श्रीध० | | |
| 65 | 87 | 36 | आम्नायस्य क्रियार्थ | श्रीध० | | |
| 66 | 87 | 22 | आराम मस्य पश्यन्ति | श्रीध० | बृह. उ. 4-3-14 | |
| 67 | 87 | 40 | आर्तोजिज्ञासु रर्थार्थी | वीर० | भ. गी. 7-16 | |
| 68 | 87 | 50 | आलोड्य सर्वशास्त्राणि | वीर० | भार. 13 App 13-20 pr | |
| | | | **इ** | | | |
| 69 | 70 | 1 | इत्यर्थ कामधर्मेषु | श्रीध० | भाग. 10-69-43 | |
| 70 | 87 | 37 | इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप | वीर० | बृह. उ. 4-5-16 | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 71 | 87 | 15 | इन्द्रो यातोऽवसितस्य | श्रीध० | ऋग्वे 1-32-15a | |
| 72 | 74 | 19 | इन्द्रो वै सर्वेषां श्रेष्ठः | विज० | | |
| 73 | 82 | 30 | इमम्मे गङ्गे यमुने सर | वीर० | म.ना.उ. 5-21 | |
| | | | **ई** | | | |
| 74 | 87 | 3 | ईशबुद्धिस्थिता स्सदा | विज० | | |
| | | | **उ** | | | |
| 75 | 72 | 38 | उगितश्च | वीर० | अष्टा 4-1-14 | |
| 76 | 87 | 18 | उदरं ब्रह्मेति शार्कराक्षा | श्रीध० | ऐत.उ.1-4-1 | |
| 77 | 87 | 31 | उन्नाम्नस्सम्बुद्धिरसूचि | विज० | | |
| 78 | 88 | 5 | उपद्रष्टा साक्षी सर्वे | विज० | | |
| 79 | 87 | 25 | उभयन्त्वग्निरूपश्च न | विज० | प्रकाशिकायाम् | |
| 80 | 89 | 42 | उभसर्वतसोः | वीर० | वार्तिक under अष्टा 1-4-48 | |
| | | | **ऋ** | | | |
| 81 | 84 | 39 | ऋणानित्रीण्यपाकृत्य | श्रीध० | मनुस्मृ 6-35 | |
| 82 | 84 | 39 | ऋणानित्रीण्यपाकृत्य | वीर० | मनुस्मृ 6-35 | |
| | | | **ए** | | | |
| 83 | 87 | 25 | एक एव हि भूतात्मा | श्रीध० | त्रिपुर. तापि. उ. 5-12 | |
| 84 | 74 | 21 | एकमेवाऽद्वितीयं | वीर० | छान्दो. उ 6-2-1 | |
| 85 | 87 | 25 | एकमेवाऽद्वितीयं | श्रीध० | छान्दो. उ 6-2-1 | |
| 86 | 87 | 30 | एकमेवाऽद्वितीयं | विज० | छान्दो. उ 6-2-1 | |
| 87 | 87 | 31 | एकमेवाऽद्वितीयं | श्रीध० | छान्दो. उ 6-2-1 | |
| 88 | 87 | 36 | एकमेवाऽद्वितियं | श्रीध० | छान्दो. उ 6-2-1 | |
| 89 | 87 | 19 | एको देव स्सर्वभूतेषु | श्रीध० | श्वेता उ 6-11 | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 90 | 87 | 24 | एको ह वै नारायणः | वीर० | म. ना. उ. 3-1-1 | |
| 91 | 87 | 34 | एतस्यैवानन्दस्यन्यानि | श्रीध० | बृह. उ. 4-3-32 | |
| 92 | 87 | 16 | एतं ह वाव न तपति | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-9 | |
| 93 | 87 | 46 | एतेचांशकलाः पुंसः | श्रीध० | भाग. 1-3-28 | |
| 94 | 87 | 36 | एतेनक्रत्वर्थकर्तृ प्रति | श्रीध० | | |
| 95 | 77 | 29 | एकमेवतु सर्वत्र पर | विज० | ब्रह्माण्डे | |
| 96 | 87 | 1 | एवं स्वभावतया | श्रीध० | भाग. 10-86-59 | |
| 97 | 87 | 18 | एष देवपथो ब्रह्मपथः | वीर० | छान्दो. उ. 4-15-6 | |
| 98 | 87 | 40 | एष नित्यो महिमा ब्राह्म | श्रीध० | बृह. उ. 4-4-23 | |
| 99 | 74 | 19 | एष वै सर्वा देवताः | वीर० | | |
| | | | **ऐ** | | | |
| 100 | 74 | 21 | ऐतदात्म्य मिदं सर्वम् | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-8-7 | |
| 101 | 87 | 15 | ऐतदात्म्य मिदं सर्वम् | वीर० | छान्दो. उ 6-8-7 | |
| 102 | 87 | 17 | ऐतदात्म्य मिदं सर्वं | वीर० | छान्दो. उ. 6-8-7 | |
| 103 | 87 | 37 | ऐतदात्म्य मिदं सर्वं | वीर० | छान्दो. उ. 6-8-7 | |
| 104 | 87 | 14 | ऐश्वर्यस्य समग्रस्य | वीर० | विष्णु. पु. 6-5-74 | |
| 105 | 87 | 38 | ऐश्वर्यस्य समग्रस्य | वीर० | विष्णु. पु. 6-5-74 | |
| | | | **क** | | | |
| 106 | 80 | 16,17 | कक्ष्या कच्छे वरत्रायां | विज० | वैज. को. 6-2-7 | |
| 107 | 87 | 37 | कथन्नु भगवस्स आदेशः | वीर० | छान्दो. उ. 6-1-3 | |
| 108 | 87 | 48 | कथाः कथयतीशस्य | विज० | ब्राह्मे | |
| 109 | 87 | 34 | कमलत्रयाङ्गुलश्चैव | विज० | गुरुविवेके | |
| 110 | 87 | 25 | करणाधिपाधिपो न | वीर० | श्वेता. उ 6-9 | |
| 111 | 85 | 4 | करोति क्रियमाणेन | श्रीध० | | |
| 112 | 85 | 4 | करोत्यर्थस्य कर्ता च | श्रीध० | | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 113 | 87 | 39 | कामान् यः कामयते | श्रीध० | मुण्ड. उ. 3-2-2 | |
| 114 | 85 | 51 | कीर्तिमन्तं प्रथमजं | श्रीध० | भाग. 10-1-57 | |
| 115 | 87 | 37 | कृत्यल्युटः | श्रीध० | अष्टा. 3-3-113 | |
| 116 | 64 | 30 | कृषिर्भूवाचक श्शब्दो | श्रीध० | भारत. 5-68-5 | |
| 117 | 70 | 26 | कृषिर्भूवाचक श्शब्दो | वीर० | भारत. 5-68-5 | |
| 118 | 87 | 1 | केवलो निर्गुणश्च | विज० | श्वेता. उ 6-11 | |
| 119 | 87 | 24 | को अद्धावेद क इह | श्रीध० | बाष्कलमन्त्र 3-10 | |
| 120 | 64 | 42 | क्रुध द्रुह | वीर० | अष्टा. 1-4-37 | |
| 121 | 87 | 24 | क्वाऽहंबुद्ध्यादिसंरुद्धः | श्रीध० | | |
| 122 | 88 | 12 | क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टः | वीर० | | |
| | | | **ख** | | | |
| 123 | 87 | 29 | खण्डाधीश स्सार्वभौमस्य | विज० | शाण्डिल्यश्रुतिः | |
| | | | **ग** | | | |
| 124 | 74 | 19 | गुणाःश्रुता स्सुविरुद्धाश्च | विज० | | |
| 125 | 87 | 35 | गुरुलक्षणं सम्पूर्णः | विज० | गुरुविवेके | |
| | | | **च** | | | |
| 126 | 63 | 36 | चक्षो स्सूर्यो अजायत | वीर० | पु. सू. 1-6 | |
| 127 | 63 | 36 | चन्द्रमा मनसो जातः | वीर० | पु. सू. 1-6 | |
| 128 | 77 | 29 | चिदानन्दघनस्यास्य | विज० | ब्रह्माण्डे | |
| | | | **ज** | | | |
| 129 | 87 | 33 | जगदीशयोः कुतो | विज० | पवनविजये | |
| 130 | 87 | 14 | जयजय --- संवृता | विज० | शाण्डिल्यश्रुतिः | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 131 | 87 | 14 | जयजयाजित --- गुणा | श्रीध० | | |
| 132 | 72 | 15 | जरासन्धं निहत्यैव | विज० | मात्स्ये | |
| 133 | 65 | 30 | जात रूप मयञ्चैकं | श्रीध० | हरिवंशे | |
| 134 | 77 | 28 | जानन् शाल्वकृतां माया | विज० | ब्रह्माण्डे | |
| 135 | 87 | 40 | जानाति प्रकृति विष्णुं | विज० | महोपनिषत् | |
| 136 | 85 | 18 | जाने वामस्य यत्साक्षात् | वीर० | भाग. 10-85-3 | |
| 137 | 84 | 39 | जायमानो वै ब्राह्मणः | श्रीध | तैत्ति. सं. 6-3-10 | |
| 138 | 84 | 39 | जायमानो वै ब्राह्मणः | वीर० | तैत्ति. सं. 6-3-10 | |
| 139 | 87 | 38 | जिहाति रावणं संख्ये | विज० | स्कान्दे | |
| 140 | 80 | 3 | जिह्वाऽसती दार्दुरकीव | वीर० | भाग. 2-3-20 | |
| | | | **त** | | | |
| 141 | 87 | 11 | तज्जलनिति शान्त | वीर० | छान्दो. उ. 3-14-1 | |
| 142 | 87 | 31 | ततेति तात | विज० | | |
| 143 | 77 | 34 | ततो मुहूर्ते | वीर० | भाग. 10-77-21 | |
| 144 | 87 | 30 | तत्र स्वतन्त्रो | विज० | महा शालीन. श्रुतिः | |
| 145 | 87 | 1 | तत्त्वमसि | वीर० | छान्दो. उ. 6-8-7 | |
| 146 | 87 | 2 | तत्त्वमसि | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-8-7 | |
| 147 | 87 | 20 | तत्त्वमसि | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-8-7 | |
| 148 | 87 | 41 | तत्त्वमसि | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-8-7 | |
| 149 | 87 | 16 | तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते | श्रीध० | | |
| 150 | 86 | 44 | तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् | विज० | तैत्ति. उ. 2-6 | |
| 151 | 87 | 2 | तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् | वीर० | तैत्ति. उ. 2-6 | |
| 152 | 87 | 17 | तत्सृष्ट्वातदेवानु प्राविशत् | वीर० | तैत्ति. उ. 2-6 | |
| 153 | 87 | 26 | तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत् | वीर० | तैत्ति. उ. 2-6 | |
| 154 | 87 | 26 | तदात्मानं स्वयमकुरुत | वीर० | तैत्ति. उ. 2-7 | |
| 155 | 87 | 15 | तदुक्तमृषिणा | वीर० | ऐत. उ. 4-5 | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 156 | 87 | 17 | तदैक्षत बहु स्याम् | वीर० | छान्दो. उ. 6-2-3 | |
| 157 | 87 | 50 | तदैक्षत बहुस्याम् | वीर० | छान्दो. उ. 6-2-3 | |
| 158 | 87 | 36 | तद्भूतानां क्रियार्थेन | श्रीध० | जैमि. सू. 1-1-25 | |
| 159 | 87 | 16 | तद्यथा पुष्करपलाश | श्रीध० | | |
| 160 | 87 | 25 | तद्यथेह कर्मचितो | वीर० | छान्दो. उ. 8-1-6 | |
| 161 | 87 | 36 | तद्यथेह कर्मचितो | श्रीध० | छान्दो. उ. 8-1-6 | |
| 162 | 87 | 33 | तद्विज्ञानार्थं सगुरु | श्रीध० | मुण्ड. उ. 1-2-12 | |
| 163 | 87 | 15 | तम आसीत्तमसागूढ | विज० | यजुः 2-8-9 | |
| 164 | 87 | 17 | तमः पर्यान्तिते पद | विज० | पैङ्गीश्रुतिः | |
| 165 | 87 | 2 | तमेवं विद्वा नमृत इह | विज० | तैत्ति. आ. 3-1-3 | |
| 166 | 87 | 29 | तमेवं विद्वा नमृत इह | विज० | पु. सू. 1-7 | |
| 167 | 87 | 18 | तयोर्ध्वमाय न्नमृतत्व | वीर० | कठ. उ. 6-16 | |
| 168 | 87 | 31 | तस्माद्वा एतस्मा दात्मन | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-1 | |
| 169 | 87 | 36 | तस्माद्वा एतस्मा दात्मन | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-1-1 | |
| 170 | 87 | 30 | तस्माल्लोकात्पुनरेत्य | वीर० | बृह. उ. 4-4-6 | |
| 171 | 87 | 17 | तस्य पुरुषविधताम् | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-2 | |
| 172 | 87 | 17 | तस्य प्रियमेव शिरः | वीर० | तैत्ति. उ. 2-5 | |
| 173 | 87 | 27 | तस्य वाक्तन्तिर्नामानि | श्रीध० | | |
| 174 | 87 | 17 | तस्यैष एव शरीर आत्मा | वीर० | तैत्ति. उ. 2-3 | |
| 175 | 87 | 18 | तं प्रणदाभ्यां प्रापद्यत | विज० | ऐत. उ. 1-3-1 | |
| 176 | 77 | 34 | तान्यहं वेद सर्वाणि | वीर० | भगी 4-5 | |
| 177 | 77 | 29 | ता महर द्विभुः | विज० | | |
| 178 | 71 | 7 | तीक्ष्णश्चैव प्रचण्डश्च | विज० | | |
| 179 | 89 | 11 | तीर्थं शास्त्रेष्वम्भसि | विज० | वैज. को. 6-3-13 | |
| 180 | 87 | 2 | तुविग्रीवो वपोदरः | विज० | ऋग्वे 8-17-8a | |
| 181 | 87 | 30 | तेन प्रद्योतेनैव | वीर० | बृह. उ. 6-4-2 | |
| 182 | 87 | 31 | ते यथातत्र न विवेकं | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-9-2 | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 183 | 87 | 20 | तेषां सततयुक्तानां | वीर० | भ. गी. 10-10 | |
| 184 | 87 | 26 | त्रिगुणातीत मीशेश | विज० | चैतन्य विवेके | |
| 185 | 81 | 35 | त्रैविद्या मां सोमपाः | विज० | भ. गी. 9-20 | |
| 186 | 87 | 22 | त्वय्यात्मनि जगन्नाथे | श्रीध० | | |
| 187 | 87 | 23 | त्वं वेत्थनापरस्ते | विज० | साङ्कृतिश्रुतिः | |
| | | | **द** | | | |
| 188 | 87 | 25 | दाक्षायण यज्ञेन सुव | वीर० | | |
| 189 | 75 | 1 | दुर्योधन मृते पापम् | वीर० | भाग. 10-74-53 | |
| 190 | 87 | 33 | देवा अपि सुयोगाद्याः | विज० | तत्त्वोद्योगे | |
| 191 | 87 | 34 | देवा योग्यतया जाता | विज० | तत्त्वोद्योगे | |
| 192 | 87 | 39 | देवाश्च ऋषयश्चैव | विज० | स्कान्दे | |
| 193 | 87 | 30 | देशतः कालतश्चैव | विज० | कोटरव्यश्रुतिः | |
| 194 | 87 | 27 | देहान्ते देवः परंब्रह्म | श्रीध० | | |
| 195 | 80 | 30 | दैवीह्येषा गुणमयी | वीर० | भ. गी. 7-14 | |
| 196 | 87 | 15 | द्रुहिणवह्नि रवीन्द्र | श्रीध० | | |
| 197 | 87 | 38 | द्वा सुपर्णा सयुजा | श्रीध० | मुण्ड. उ. 3-1-1 | |
| 198 | 87 | 15 | द्वितीयार्थे तृतीयार्थे | विज० | महाव्याकरणे | |
| 199 | 61 | 25 | द्विषदन्नं न भोक्तव्यं | श्रीध० | भारत. 5-409<br>1pr. 14 App 4-2162 pr | |
| 200 | 61 | 25 | द्विषदन्नं न भोक्तव्यं | वीर० | भारत. 5-409<br>1pr 14 App 4-2162 pr | |
| | | | **ध** | | | |
| 201 | 89 | 33 | धनञ्जयो रणे रणे | विज० | ऋग्वे० 1-74-3c | |
| 202 | 76 | 27 | धर्मवित् सूतः कृच्छ | वीर० | | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | न | | | |
| 203 | 84 | 37 | न कर्मणा न प्रजया | श्रीध० | म. ना. उ. 8-14 | |
| 204 | 74 | 4 | न कर्मणा वर्धते नो | श्रीध० | इतेहास. उ. 20 | |
| 205 | 74 | 4 | न कर्मणा वर्धते नो | विज० | इतिहास० उ. 20 | |
| 206 | 87 | 21 | न किञ्चिदभिवाञ्छति | विज० | विमद श्रुतिः | |
| 207 | 87 | 17 | न चे दवेदी र्महती | श्रीध० | बृह. उ. 4-4-14 | |
| 208 | ६5 | 7 | न तत्र सूर्यो भाति न | श्रीध० | कठ. उ. 5-15 | |
| 209 | 87 | 30 | न तत्समश्चाभ्यधिक | विज० | श्वेता. उ. 6-8 | |
| 210 | 27 | 28 | न तस्य कार्यं करणं | श्रीध० | श्वेता. उ. 6-8 | |
| 211 | 87 | 28 | न तस्य कार्यं करणं | वीर० | श्वेता. उ. 6-8 | |
| 212 | 87 | 22 | न तं विदा थ य इमा | श्रीध० | | |
| 213 | 87 | 24 | न तं विदाय य इमा | श्रीध० | | |
| 214 | 88 | 6-8 | न मय्यावेशितधियां | श्रीध० | भाग. 10-22-26 | |
| 215 | 90 | 41 | न स्नेह भङ्गो देव्या स्तु | विज० | ब्रह्माण्डे | |
| 216 | 85 | 6 | नानात्वा त्स्वक्रियानीशाः | श्रीध० | भाग. 3-5-37 | |
| 217 | 80 | 34 | नाऽपुत्रस्यलोकोऽस्ति | विज० | ऐत. ब्रा. 7-13-12a | |
| 218 | 87 | 2 | नाम रूपयो र्निर्वहिता | वीर० | पु. सू. 7 | |
| 219 | 87 | 24 | नासदासीन्नोसदासीत् | वीर० | यजु. आर. 2-8-9 | |
| 220 | 87 | 24 | नासदासीन्नोसदासीत् | विज० | यजु. आर. 2-8-9 | |
| 221 | 87 | 37 | नासदासीन्नोसदासीत् | श्रीध० | यजु. आर. 2-8-9 | |
| 222 | 87 | 37 | नासदासीन्नोसदासीत् | वीर० | यजु. आर. 2-8-9 | |
| 223 | 87 | 36 | नाऽऽसीदादौ मरणेनो | विज० | | |
| 224 | 87 | 34 | नास्त्य कृतः कृतेन | विज० | मुण्ड. उ. 1-2-12 | |
| 225 | 87 | 23 | नित्यदुःखसुसम्पूर्णः | विज० | प्रमाणसंहितायाम् | |
| 226 | 87 | 3 | नित्य या नित्ययास्तौमि | विज० | | |
| 227 | 86 | 14 | नित्यं नाम निकषयोः | वीर० | | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 228 | 87 | 25 | नित्यो नित्यानां | वीर० | कठ. उ. 5-13 | |
| 229 | 87 | 45 | निधने स्त्री कुले | विज० | वैज. को. 7-5-51 | |
| 230 | 87 | 35 | निपानागयो स्तीर्थं | श्रीध० | अम. को. 3-243 | |
| 231 | 87 | 23 | निभृतो मोक्षवित्प्राणः | विज० | भागवत संहितायाम् | |
| 232 | 87 | 15 | निरपेक्षबृहत्त्वस्य | विज० | मान्यसंहितायाम् | |
| 233 | 87 | 39 | निषिद्धकाम मुक्तानां | विज० | ब्रह्मतर्के | |
| 234 | 87 | 20 | निषुसीद गणपते | विज० | | |
| 235 | 72 | 5 | निष्ठो त्कर्षेव्यवस्थायां | विज० | वैज. को. 6-2-21 | |
| 236 | 90 | 41 | निहते रुक्मिणीस्याले | विज | भाग. 10-61-39 | |
| 237 | 77 | 32 | नूनं हन्युः पुरीं मम | वीर० | | |
| 238 | 87 | 33 | नृदेहमाद्यं सुलभं | श्रीध० | भाग. 11-20-17 | |
| 239 | 87 | 27 | नेह नानास्ति किञ्चन | श्रीध० | वृह. उ. 4-4-9 | |
| 240 | 87 | 30 | नेह नानास्ति किञ्चन | विज० | वृह. उ. 4-4-9 | |
| 241 | 87 | 37 | नेह नानास्ति किञ्चन | वीर० | वृह. उ. 4-4-9 | |
| 242 | 87 | 33 | नैषा तर्केणमति रापनेया | श्रीध० | कठ. उ. 2-9 | |
| 243 | 77 | 34 | न्यर्बुदं वृन्दखर्वेच | विज० | वैज. को. 5-1-28 | |
| | | | **प** | | | |
| 244 | 87 | 50 | परंज्योति रूपसम्पद्य | वीर० | छान्दो. उ. 8-12-2 | |
| 245 | 87 | 25 | पराऽस्य शक्तिर्विविधैव | वीर० | श्वेता. उ. 6-8 | |
| 246 | 87 | 34 | परीक्ष्यलोकान् | श्रीध० | मुण्ड. उ. 1-2-12 | |
| 247 | 87 | 32 | परीत्य भूतानि परीत्य | श्रीध० | मना. उ. 2-7 | |
| 248 | 72 | 19 | परोऽरिपरमात्मनोः | वीर० | वैज. को. | |
| 249 | 87 | 26 | पश्यत्यचक्षुस्सशृणो | वीर० | श्वेता. उ. 3-19 | |
| 250 | 82 | 35 | पिता मात्रा | श्रीध० | अष्टा. 1-2-70 | |
| 251 | 87 | 16 | पुनरप्रथमे प्रश्ने | विज० | वैज. को. 8-7-24 | |
| 252 | 87 | 25 | पुमान्नदेवोननरः | वीर० | | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 253 | 88 | 20 | पूर्वमायुः परीक्षेत | विज० | | |
| 254 | 72 | 15 | पूर्वाः कथाःपरं ब्रूयुः | विज० | शब्दनिर्णये | |
| 255 | 87 | 18 | प्रतिष्ठास्यामीति सप्राण | विज० | | |
| 256 | 72 | 4 | प्रद्यान्वस्यमहतोमह | विज० | | |
| 257 | 87 | 33 | प्राकृतैस्संस्कृतैश्चैव | श्रीध० | | |
| 258 | 87 | 18 | प्राण एवैनमनुप्रविशति | विज० | हिरण्यनाभश्रुतिः | |
| 259 | 86 | 32 | प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थं | विज० | भ.गी. 7-17 | |
| | | | **ब** | | | |
| 260 | 72 | 15 | बलिनामपि चान्येषां | वीर० | भाग. 10-71-5 | |
| 261 | 87 | 29 | बहु स्याम् | वीर० | तैत्ति. उ. 2-6 | |
| 262 | 87 | 36 | बहूत्किरन्यथा ज्ञप्तिः | विज० | शब्दनिर्णये | |
| 263 | 89 | 31,32 | बालिशो बालमूर्खयोः | विज० | वैज. को. 7-4-20 | |
| 264 | 70 | 5 | बृहतिबृंहयति | वीर० | | |
| 265 | 87 | 15 | बृहद्धि दृष्टमवशेषितम् | विज० | औद्दालंयानश्रुतिः | |
| 266 | 87 | 3 | बृंहतो ह्यस्मिन् गुणाः | विज० | | |
| 267 | 87 | 1 | ब्रह्मते हृदयं शुद्धम् | वीर० | भाग. 10-84-19 | |
| 268 | 87 | 17 | ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-5 | |
| 269 | 87 | 17 | ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा | वीर० | तैत्ति. उ. 2-5 | |
| 270 | 74 | 21 | ब्रह्मवनं ब्रह्मसवृक्षः | वीर० | तैत्ति. ब्रा. 2-8-9-6 | |
| 271 | 87 | 24 | ब्रह्मा प्राप्तलोकाश्च देवा | विज० | साङ्कृतिश्रुतिः | |
| 272 | 87 | 25 | ब्रह्मैवसन्ब्रह्माप्येति | श्रीध० | बृह. उ. 4-4-6 | |
| 273 | 87 | 34 | ब्रह्मोपासते साधुधीरा | विज० | महारवश्रुतिः | |
| 274 | 78 | 31 | ब्राह्मणो न हन्तव्यः | श्रीध० | | |
| 275 | 78 | 31 | ब्राह्मणो न हन्तव्यः | वीर० | | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | **भ** | | | |
| 276 | 87 | 14 | भगं योन्यां भगो यत्ने | विज० | वैज. को. 6-5-58 | |
| 277 | 87 | 2 | भवोभद्रे हरे प्राप्तौ | विज० | वैज. को. 6-1-41 | |
| 278 | 64 | 18 | भासनोपसम्भाषा | विज० | अष्टा. 1-3-47 | |
| 279 | 87 | 27 | भीषा स्माद्वातः पवते | श्रीध० | तैत्ति. उ. 1-8 | |
| 280 | 87 | 28 | भीषास्माद्वातः पवते | वीर० | तैत्ति. उ. 1-8 | |
| 281 | 68 | 26 | भुजोऽनवने | विज० | अष्टा. 1-3-66 | |
| 282 | 69 | 30 | भूमि रापोऽनलोवायुः | वीर० | भ. गी. 7-4 | |
| 283 | 88 | 5 | भूमि रापोऽनलोवायुः | वीर० | भ. गी. 7-4 | |
| | | | **म** | | | |
| 284 | 87 | 2 | मनसा अग्रे सङ्कल्पयति | विज० | ऐत. उ. 1-1-2 | |
| 285 | 87 | 26 | मनः प्रजापति मसृजत | श्रीध० | | |
| 286 | 85 | 4 | मनोमयः प्राणशरीरनेता | वीर० | मुण्ड. उ. 2-2-7 | |
| 287 | 63 | 46 | मम मद्भक्तभक्तेषु | वीर० | भ. गी. | |
| 288 | 87 | 34 | महाभाग्यन्तु कैवल्य | विज० | स्कान्दे | |
| 289 | 87 | 2 | माता परिच्छदेर्धेशे | विज० | वैज. को. 6-5-62 | |
| 290 | 77 | 32 | मानुषीं प्रकृतिं गतः | वीर० | भाग. 10-77-23 | |
| 291 | 77 | 34 | मानषीं प्रकृतिं गतः | वीर० | भाग. 10-77-23 | |
| 292 | 87 | 30 | मुच्यते तत्त्वसम्बुद्धा | विज० | वामने | |
| 293 | 70 | 9 | मृगान् शुक्लदतः कृष्णान् | श्रीध० | भाग. 9-20-28 | |
| 294 | 87 | 27 | मृत्योस्समृत्युमाप्नोति | श्रीध० | कठ. उ. 4-10 | |
| | | | **य** | | | |
| 295 | 87 | 14 | य आत्मनि तिष्ठन् | श्रीध० | बृह. उ. 3-7-22 | |
| 296 | 87 | 17 | य एवमेताच्छिरसःशिरस्त्व | विज० | ऐत. उ. 1-3&4 | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 297 | 66 | 30 | यज्ञस्य देवमृत्विजम् | श्रीध० | तैत्ति. उ. 4-3-13-36 | |
| 298 | 87 | 14 | यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते | श्रीध० | तैत्ति. उ. 3-1 | |
| 299 | 87 | 37 | यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते | श्रीध० | तैत्ति. उ. 3-1 | |
| 300 | 87 | 24 | यतो वाचो निवर्तन्ते | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-14 | |
| 301 | 87 | 24 | यतोवाचो निवर्तन्ते | वीर० | तैत्ति. उ. 2-14 | |
| 302 | 70 | 27 | यत्करोपि यदश्नासि | श्रीध० | भ. गी. 9-27 | |
| 303 | 87 | 1 | यत्तदद्रेश्यम् | विज० | मुण्ड. उ. 1-6 | |
| 304 | 87 | 37 | यत्र हि द्वैतमिव कं | वीर० | बृह. उ. 2-4-14 | |
| 305 | 63 | 39 | यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फु | श्रीध० | बृह. उ. 2-1-20 | |
| 306 | 87 | 28 | यथाऽग्नेःक्षुद्रा विस्फुः | श्रीध० | बृह. उ. 2-1-20 | |
| 307 | 87 | 31 | यथाऽग्नेःक्षुद्रा विस्फुः | श्रीध० | बृह. उ. 2-1-20 | |
| 308 | 87 | 37 | यथानाम एकेन लोहमणि | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-1-5 | |
| 309 | 87 | 31 | यथा सौम्य मधु मधुकृतो | श्रीध० | छान्दो उ 3-6-9-1 | |
| 310 | 87 | 15 | यथा सौम्यैकेन मृत्पि | वीर० | छान्दो. उ. 6-1-4 | |
| 311 | 87 | 37 | यथा सौम्येकेन मत्पि | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-1-6 | |
| 312 | 87 | 37 | यथा सौम्येकेन मृत्पि | वीर० | छान्दो. उ. 6-1-6 | |
| 313 | 87 | 37 | यथा एकेन नखनिकृन्त | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-1-6 | |
| 314 | 87 | 27 | यथैव कुण्डलं | विज० | गारुडे | |
| 315 | 87 | 11 | यथैव पङ्कजं ब्रह्मा | विज० | तन्त्रभागवते | |
| 316 | 77 | 29 | यदचरस्तन्वा वृधानो | विज० | | |
| 317 | 85 | 7 | यदादित्यगतं तेजो | श्रीध० | भ. गी. 15-12 | |
| 318 | 87 | 34 | यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते | श्रीध० | कठ. उ. 6-14 | |
| 319 | 87 | 28 | यदिदं किञ्च जगत्सर्वं | वीर० | कठ. उ. 6-2 | |
| 320 | 87 | 28 | यदिमन्यसे सुवेदेति | श्रीध० | केन. उ. 2-1 | |
| 321 | 87 | 41 | यदूर्ध्वं गार्गिदिवो | श्रीध० | बृह. उ. 3-8-4 | |
| 322 | 70 | 5 | यदेष आकाश आनन्दो | विज० | तैत्ति. उ. 2-7 | |
| 323 | 85 | 6 | यदैते संहताभावा | श्रीध० | भाग. 2-5-32, 33 | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 324 | 78 | 32 | यद्यदाचरतिश्रेष्ठः | वीर० | भ. गी. 3-21 | |
| 325 | 89 | 60 | यद्यदाचरति श्रेष्ठः | वीर० | भ. गी. 3-21 | |
| 326 | 87 | 26 | यद्वैतत्सुकृतम् | वीर० | तैत्ति. उ. 2-7 | |
| 327 | 86 | 13 | यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः | विज० | कठ. उ. 2-22 | |
| 328 | 87 | 27 | यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः | श्रीध० | कठ. उ. 2-22 | |
| 329 | 87 | 18 | यस्मात्प्राणं प्रत्युरु | विज० | | |
| 330 | 87 | 2 | यस्य ज्ञानमयंवपुः | श्रीध० | मुण्ड. उ. 1-1-6 | |
| 331 | 87 | 20 | यस्यदेवे परा भक्तिः | श्रीध० | श्वेता. उ. 6-23 | |
| 332 | 87 | 27 | यस्यदेवे पराभक्तिः | श्रीध० | श्वेता. उ. 6-23 | |
| 333 | 87 | 33 | यस्यदेवे पराभक्तिः | विज० | श्वेता. उ. 6-23 | |
| 334 | 85 | 4,5 | यस्याऽऽत्मा शरीरम् | वीर० | बृह. उ. 3-7-22 | |
| 335 | 87 | 28 | यस्यामत तस्यमतं | श्रीध० | केन. उ. 2-3 | |
| 336 | 87 | 1 | यस्सर्वज्ञ स्सर्ववित् | वीर० | मुण्ड. उ. 2-2-7 | |
| 337 | 87 | 2 | यस्सर्वज्ञस्सर्ववित् | श्रीध० | मुण्ड. उ. 2-2-7 | |
| 338 | 87 | 14 | यस्सर्वज्ञ स्सर्ववित् | श्रीध० | मुण्ड. उ. 2-7-7 | |
| 339 | 87 | 25 | यस्सर्वज्ञ स्सर्ववित् | वीर० | मुण्ड. उ. 2-7-7 | |
| 340 | 88 | 1 | यं सम्पद्यजहात्यजां | वीर० | | |
| 341 | 87 | 21 | यं सर्वदेवानमन्ति मुमु | श्रीध० | | |
| 342 | 87 | 32 | यः पिताजनिताचैव | विज० | प्रधानसंहितायाम् | |
| 343 | 87 | 2 | यः पृथिव्यां तिष्ठन् | श्रीध० | बृह. उ. 3-7-3 | |
| 344 | 66 | 19 | यानि त्वमस्मच्चिह्नानि | वीर० | भाग. 10-66-6 | |
| 345 | 84 | 29 | यावतीर्वै देवतास्ताः | श्रीध० | सहवा. उ. 19 | |
| 346 | 87 | 11 | यावद्ब्रह्मविष्ठितं तावती | विज० | | |
| 347 | 85 | 3 | युष्मदस्मदोः षष्ठीचतु | वीर० | अष्टा. 8-1-20 | |
| 348 | 87 | 37 | ये जगत्प्रवदन्त्यज्ञा | विज० | तन्त्रभागवते | |
| 349 | 87 | 30 | येवैकेचास्मल्लोकात्प्रयन्ति | वीर० | कौषी. उ. 1-2 | |
| 350 | 87 | 19 | यो जीववद्योनिषु | विज० | कमठश्रुतिः | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 351 | 74 | 19 | यो देवानाम् | विज० | | |
| 352 | 87 | 31 | यो नः पिता जनितायो | विज० | आद्याश्रुतिः | |
| 353 | 87 | 19 | यो निवेशाह्वयो जीव | विज० | तन्त्र भागवते | |
| 354 | 63 | 42 | योऽन्यथासन्तमात्मानं | वीर० | भारत. 1-68-26 | |
| 355 | 87 | 14 | यो ब्रह्माणं विदधाति | श्रीध० | श्वेता. उ. 6-18 | |
| 356 | 84 | 12 | यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते | श्रीध० | छान्दो. उ. 7-2-2 | |
| | | | **र** | | | |
| 357 | 87 | 19 | रतत्वाद्धात्मके विष्णौ | विज० | नामसंहितायाम् | |
| 358 | 76 | 26 | रथिनि प्राणसन्दिग्धे | विज० | | |
| 359 | 87 | 33 | रथोपरि स्वीकरणात् | विज० | व्यासनिरुक्ते | |
| 360 | 77 | bet 6&7 extra V. | रथ्या प्रतोली विशिखा | विज० | वैज. को. 4-3-16 | |
| 361 | 87 | 26 | रसो वै सः | वीर० | तैत्ति. उ. 2-7 | |
| 362 | 87 | 34 | रसो वै सः रसं ह्येवायं | वीर० | तैत्ति. उ. 2-7 | |
| | | | **ल** | | | |
| 363 | 61 | 23 | लक्षणहेत्वोः | वीर० | अष्टा. 3-2-126 | |
| 364 | 64 | 32 | लक्षणहेत्वोः | वीर० | अष्टा. 3-2-126 | |
| 365 | 65 | 32 | लक्षणहेत्वोः | वीर० | अष्टा. 3-2-126 | |
| 366 | 67 | 3 | लक्षणहेत्वोः | वीर० | अष्टा. 3-2-126 | |
| 367 | 78 | 1,2 | लक्षणहेत्वोः | वीर० | अष्टा. 3-2-126 | |
| 368 | 80 | 30 | लक्षणहेत्वोः | वीर० | अष्टा. 3-2-126 | |
| 369 | 90 | 52 | लक्षणहेत्वोः | वीर० | अष्टा. 3-2-126 | |
| 370 | 87 | 14 | लयस्य त्वष्टमो भागः | विज० | नारदीये | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | व | | | |
| 371 | 87 | 27 | वयति गा इव यः सुरा | विज० | आरुणिश्रुतिः | |
| 372 | 65 | 30 | वरुणप्रहिताचास्मै | श्रीध० | विष्णुपु० 5-25-16 | |
| 373 | 65 | 30 | वरुणप्रहिताचास्मै | वीर० | विष्णुपु० 5-25-16 | |
| 374 | 61 | after 24 | वशाभिप्राययोश्छन्दः | विज० | वैज. को. 6-1-24 | |
| 375 | 63 | 40 | वष्टि वा (त्भाऽ)गुरिः | वीर० | | |
| 376 | 88 | 5 | वस्तुनोगुणसम्बन्धे | श्रीध० | | |
| 377 | 84 | 17 | वाचारम्भणं विकारो | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-1-5 | |
| 378 | 87 | 15 | वाचारम्भणं विकारो | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-4-1 | |
| 379 | 87 | 37 | वाचारम्भणं विकारो | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-4-1 | |
| 380 | 70 | 5 | विज्ञानमानन्दम् | श्रीध० | बृह. उ. 3-9-28 | |
| 381 | 87 | 36 | विज्ञानमानन्दम् | श्रीध० | बृह. उ. 3-9-28 | |
| 382 | 77 | after 37 extra V. | विज्ञानमानन्द ब्रह्म | विज० | बृह. उ. 3-9-28 | |
| 383 | 87 | 14 | विध्यादीनां नियन्ता | विज० | श्रुतिनिर्णये | |
| 384 | 87 | 36 | विनिषेधे पृथग्भावे | विज० | वैज. को. 8-7-6 | |
| 385 | 87 | 1 | विशुद्धसत्त्वधाम्न्यद्धा | वीर० | भाग. 10-85-42 | |
| 386 | 77 | 29 | विष्णोर्मोहयन्मायया | विज० | ब्रह्माण्डे | |
| 387 | 87 | 11 | विष्णोःस्वरूपशक्ते ः | विज० | तन्त्रभागवते | |
| 388 | 80 | 28 | वेदमधीत्याभिसमावृत्य | वीर० | | |
| 389 | 87 | 3 | वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः | विज० | म. ना. उ. 8-15 | |
| 390 | 77 | 34 | वेदाहं समतीतानि | वीर० | भ. गी. 7-26 | |
| 391 | 87 | 1 | वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः | वीर० | भ. गी. 15-15 | |
| 392 | 89 | 16 | वैराग्यमाद्यं यतमानसंज्ञं | श्रीध० | | |
| 393 | 72 | 4 | व्यवहिताश्च | विज० | अष्टा. 1-4-82 | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | **श** | | | |
| 394 | 87 | 18 | शतञ्चैका च हृदयस्य | श्रीध० | कठ. उ. 6-16 | |
| 395 | 87 | 18 | शतञ्चैका च हृदयस्य | वीर० | कठ. उ. 6-16 | |
| 396 | 89 | 63 | शब्दःखे पौरुषं नृषु | वीर० | | |
| 397 | 80 | 41 | शरीरमर्थं प्राणांश्च | वीर० | विहगेश्वरसंहिता | |
| 398 | 87 | 18 | शर्कराक्षुद्रपाषाणे | विज० | | |
| 399 | 87 | 18 | शर्करा तु शिलाभेदे शकले | विज० | वैज. को. 7-2-26 | |
| 400 | 66 | 29 | शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो | वीर० | ब्र. सू. 1-1-30 | |
| 401 | 87 | 1 | शास्त्रयोनेस्तवात्मनः | वीर० | भाग. 10-84-20 | |
| 402 | 64 | 3-5 | शिरः प्राग्रं कृकं विदुः | विज० | | |
| 403 | 88 | 1 | शिवोलोके पद्मरागे | विज० | | |
| 404 | 87 | 20 | श्रीब्रह्मरुद्रपूर्वेषु | विज० | तन्त्रभागवते | |
| 405 | 87 | 11 | श्रीर्भूमिरिति रूपाभ्याम् | विज० | ज्योतिस्संहितायाम् | |
| 406 | 87 | 11 | श्रीःपराप्रकृतिः प्रोक्ता | विज० | महातत्त्वविवेके | |
| 407 | 87 | 2 | श्रुतयस्त्वयि हि फलन्त्यतः | श्रीध० | भाग. 10-87-41 | |
| 408 | 87 | 35 | श्रोतव्यो मन्तव्यः | श्रीध० | बृह. उ. 6-5-6 | |
| | | | **स** | | | |
| 409 | 74 | 19 | स आत्मा अङ्गान्यन्या | वीर० | तैत्ति. उ. 1-5-1 | |
| 410 | 87 | 28 | स एक ईशः--- सुराः | विज० | आरुणिश्रुतिः | |
| 411 | 87 | 15 | स एष रसानां रसतमः | विज० | छान्दो. उ. 1-1-3 | |
| 412 | 87 | 2 | स ऐक्षत तत्तेजोऽसृजत | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-2-3 | |
| 413 | 87 | 16 | सकलवेदगणेरित | श्रीध० | | |
| 414 | 77 | 31 | सङ्कर्षणमनुज्ञाप्य | वीर० | भाग 10-71-13 | |
| 415 | 78 | 36 | सञ्जीव शरदश्शतम् | श्रीध० | कौषी. उ. 2-10 | |
| 416 | 90 | 54 | सता सौम्यतदासम्पन्नो | विज० | छान्दो. उ. 6-8-1 | |
| 417 | 87 | 26 | सतां पक्षस्त्वयम् | विज० | | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 418 | 87 | 25 | सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः | वीर० | छान्दो. उ. 8-1-5 | |
| 419 | 70 | 5 | सत्यं ज्ञान मनन्तं विज्ञान | वीर० | बृह. उ. 3-9-28 | |
| 420 | 87 | 1 | सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म | वीर० | तैत्ति. उ. 2-1-1 | |
| 421 | 87 | 2 | सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-1-1 | |
| 422 | 87 | 14 | सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-1-1 | |
| 423 | 87 | 27 | सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-1-1 | |
| 424 | 87 | 2 | सत्येनलभ्यस्तपसा | विज० | मुण्ड. उ. 3-1-5 | |
| 425 | 87 | 25 | सत्वादिजं देहमथो | विज० | सुरायणंश्रुतिः | |
| 426 | 70 | 5 | सदेव सौम्येद मग्र० | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-2-1 | |
| 427 | 87 | 25 | सदेव सौम्येद मग्र० | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-2-1 | |
| 428 | 87 | 37 | सदेव सौम्येद मग्र० | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-2-1 | |
| 429 | 87 | 37 | सदेव सौम्येद मग्र० | वीर० | छान्दो. उ. 6-2-1 | |
| 430 | 74 | 21 | सदेवेद मग्र आसीत् | वीर० | छान्दो. उ. 6-2-1 | |
| 431 | 87 | 11 | सनकाद्याः समाःसर्वे | विज० | ऋक्संहितायाम् | |
| 432 | 87 | 28 | समभेदे समीचीनसुष्ठु | विज० | वैजं. को. 8-7-8 | |
| 433 | 68 | 1 | समितिस्सङ्गतिसभयोः | विज० | हला. को. 5-35 | |
| 434 | 74 | 19 | समे यजेत | वीर० | | |
| 435 | 87 | 15 | सम्मूलास्सौम्येमास्सर्वाः | वीर | | |
| 436 | 87 | 31 | सम्यग्ज्ञानवदाचार्यात् | विज० | वामने | |
| 437 | 87 | 20 | सयश्चाऽयंपुरुषे यश्चा° | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-8 | |
| 438 | 87 | 17 | स वा एष पुरुषो | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-1-1 | |
| 439 | 87 | 17 | स वा एष पुरुषविध | वीर० | तैत्ति. उ. 2-2 | |
| 440 | 87 | 3 | सर्वगत्वादनन्तस्य स | वीर० | विष्णुपु० 1-19-85 | |
| 441 | 87 | 26 | सर्वगं ये प्रपश्यन्ति | विज० | सौकरायणश्रुतिः | |
| 442 | 87 | 19 | सर्वस स्सर्वदृक् (वित्) | वीर० | विष्णुपु० 5-1-46-48 | |
| 443 | 87 | 36 | सर्वत्रैव हि विज्ञानं | श्रीध० | | |
| 444 | 87 | 1 | सर्ववेदमयो विप्रस्सर्व | वीर० | भाग. 7-11-20 | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text [illegible] | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 445 | 87 | 14 | सर्वश्रुत्यर्थसमाम्नान् | विज० | तन्त्रभागवते | |
| 446 | 87 | 2 | सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः | श्रीध० | बृह. उ. 4-4-22 | |
| 447 | 87 | 1 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म | वीर० | छान्दो. उ. 3-14-1 | |
| 448 | 87 | 11 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म | वीर० | छान्दो. उ. 3-14-1 | |
| 449 | 87 | 15 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म | श्रीध० | छान्दो. उ. 3-14-1 | |
| 450 | 87 | 15 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म | वीर० | छान्दो. उ. 1-14-1 | |
| 451 | 86 | 56 | सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति | विज० | कठ. उ. 2-15 | |
| 452 | 87 | 1 | सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति | वीर० | कठ. उ. 2-15 | |
| 453 | 87 | 1 | सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति | विज० | कठ. उ. 2-15 | |
| 454 | 90 | 56 | सर्वोत्तमोऽपि भगवान् | विज० | वामने | |
| 455 | 87 | 2 | सोऽकामयत बहुस्याम् | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-6 | |
| 456 | 87 | 17 | सोऽकामयत | वीर० | तैत्ति. उ. 2-6 | |
| 457 | 87 | 31 | सोऽकामयत बहुस्याम् | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-6 | |
| 458 | 87 | 37 | स्तब्धोऽस्युत तमादेशम् | वीर० | छान्दो. उ. 6-1-3 | |
| 459 | 87 | 38 | स्मरन् ब्रह्मगुणान्नित्यम् | विज० | कापिलश्रुतिः | |
| 460 | 87 | 30 | स्वतन्त्रोनापरःकश्चित् | विज० | तन्त्र भागवते | |
| 461 | 87 | 19 | स्वनिर्मितेषु कार्येषु | श्रीध० | | |
| 462 | 87 | 2 | स्वबुद्ध्याराज्यते येन | श्रीध० | | |
| 463 | 87 | 2 | स्वसृष्ट मिदमापीय | श्रीध० | भाग. 10-87-12 | |
| 464 | 87 | 38 | स्वातन्त्र्या त्प्रकृति | विज० | गारुडे | |
| 465 | 87 | 30 | स्वात्मनाचोत्तरयोः | वीर० | ब्र. सू. 2-3-20 | |
| 466 | 87 | 2 | स्वाध्यायप्रवचने एवेति | विज० | तैत्ति. उ. 1-9-1 | |
| 467 | 63 | 45 | स्वेमहिम्नि प्रतिष्ठितः | वीर० | छान्दो. उ. 7-24-1 | |
| | | | **ह** | | | |
| 468 | 87 | 14 | हरिंवदन्ति सर्वेषां | विज० | श्रुतिनिर्णये | |
| 469 | 70 | 9 | हिरण्येन परिवृतान् कृष्णान् | श्रीध० | ऐत. ब्रा. 8-23-3a | |
| 470 | 87 | 14 | हृग्रहोर्भश्छन्दसि | श्रीध० | वार्तिक under अष्टा 3-1-84 | |

శ్రీ వేంకటేశ్వర విశ్వవిద్యాలయం

తిరుమల తిరుపతి దేవస్థానములు

Harih Om

# SRĪMAD
# BHĀGAVATA
# MAHĀPURĀNAM

*of Maharshi Vedavyasa*

## SKANDHA - X

## VOL.III

**(Adhyayas 61 to 90)**

**With the Commentaries :**
Bhavarthadipika of Sri Sridharaswami, Bhagavatachandrachandrika of Sri Vira Raghavacharya, Padaratnavali of Sri Vijayadhvaja Tirtha

**Edited by**
Brahmasri
**Mallampalli Sarabheswara Sarma**
Special Officer,
**SRI BHAGAVATA PROJECT,**
T.T. Devasthanams, Tirupati

Published by
**Executive Officer,**
Tirumala Tirupati Devasthanams,
TIRUPATI.
**2003**

SRIMAD BHAGAVATAMAHAPURANAM - SKANDHA - X, VOL.III.
*Edited by*
**Mallampalli Sarabheswara Sarma**

T.T.D. Religious Publications Series No. 590
First Edition 2003.

Price : Rs.

Copies : 1,000.

Published by :
**Sri Ajeya Kallam, I.A.S.**
Executive Officer,
Tirumala Tirupati Devasthanams,
TIRUPATI.

Printed at :
**GAYATHRI ART PRINTERS**
# 1-8-703/6/1, Nallakunta,
Adj. Shankarmutt, O.U. Road,
Hyderabad - 500 044.
Phone : 27670210

ओं नमो वेङ्कटेशाय

*श्रीवेदव्यासमहर्षिप्रणीतम्*

# श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

## दशमः स्कन्धः

### तृतीयो भागः

त्रिंशदध्यायात्मकः

श्री श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका, श्रीवीरराघवनिर्मिता श्रीभागवतचन्द्रचन्द्रिका, श्रीविजयध्वजलिखिता पदरत्नावली चेति त्रिभिः व्याख्यानैः भूषितम्

ब्रह्मश्री

**मल्लम्पल्लि शरभेश्वर शर्मणा**

परिष्कृतम्

**तिरुमल तिरुपति देवस्थान-**

**कार्यनिर्वहणाधिकारिभिः**

**प्रकाशितम्**

**२००३**

"ईशानां जगतोऽस्य वेङ्कटपते र्विष्णोः परां प्रेयसीं
तद्वक्षःस्थल नित्यवासरसिकां तत्क्षान्तिसंवर्धनीम्।
पद्मालङ्कृतपाणिपल्लवयुगां पद्मासनस्थां श्रियं
वात्सल्यादिगुणोज्ज्वलां भगवतीं वन्दे जगन्मातरम्॥"

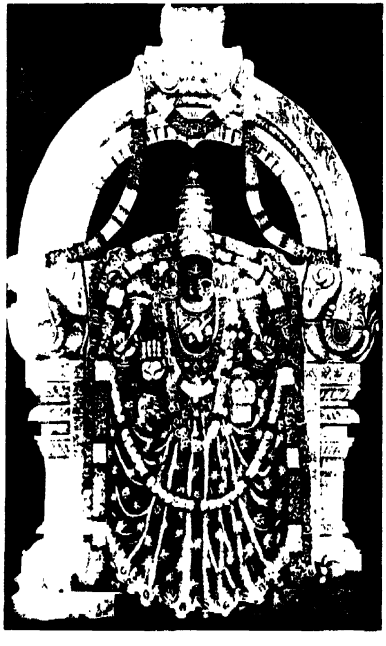

श्रीमद्वेङ्कटनायकस्य हृदये द्वेधा विधायाऽऽत्मनो
मूर्तिं शश्वदियं कृपामृतझरीस्रोतस्विनी भार्गवी।
उद्धर्तुं निखिला नगण्यविषमांहोवह्निदग्धात्मनो
जन्तून् सन्निदधाति विश्वजननी पद्मावती रक्षतात्॥

हरिः ओम्

लोकोद्धारैकदीक्षापर निगममहाहर्म्यधर्म्यप्रदीपः
स्वाङ्घ्रिद्वन्द्वप्रपन्नाखिलदुरिततमोध्वंसिपुण्यप्रदीपः।
दिङ्मूढेभ्यो नरेभ्यः प्रकटितसरणिः स्नेहदीप्रः प्रदीपः
युष्मानस्मान्समस्ता नवतु वृषगिरिस्थास्नुमङ्गल्यदीपः॥

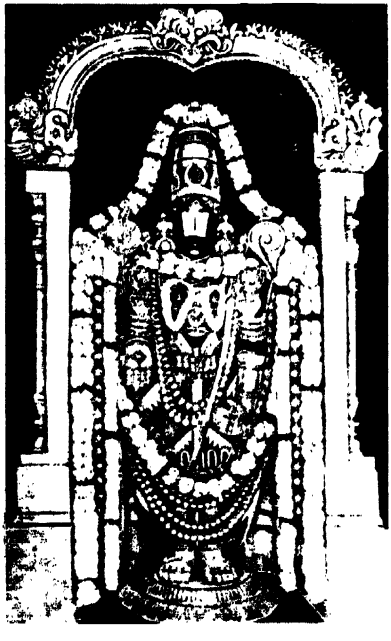

श्रीमद्भागवतं पुराण मखिलाम्नायैकसारः क्व वा?
प्रज्ञादुर्विधकिम्पचानधिषणाः शैक्षाः क्व वा मादृशाः?
भक्त्या चापलत स्तथाऽपि च परिष्कर्तुं वयं व्यापृताः,
एतत् प्राभृतयाम वेङ्कटपतेः पादाब्जयोः, स्वीक्रियात्॥

# THE CRITICAL EDITION OF SRIMAD BHAGAVATA

## THE EDITORIAL BOARD


Ex-Officio Chairman

**Sri Ajeya Kallam, I.A.S.**
Executive Officer,

**MEMBERS**

1. **Prof. Samudrala Lakshmanaiah**
   Special Officer
   Sri Bhagavatam Project.

2. **Prof. H.S. Brahmananda**
   Secretary,
   Dharma Prachara Parishad,
   T.T. Devasthanams, Tirupati.

3. **Prof. S. Sudarsana Sarma**
   Professor & Head
   Dept. of Sahitya,
   R.S. Vidyapeetha, Tirupati.

4. **Prof. K. Pratap**
   Professor
   Dept. of Sanskrit,
   S.V. University, Tirupati.

5. **Dr. G.S.R. Krishna Murthy**
   Reader
   Dept. of Sahitya,
   R.S. Vidyapeetha, Tirupati.

**Co-Ordinated Members**

6. **Prof. N.C.V. Narasimhacharya**
   Former Special Officer
   Sri Bhagavatam Project.

7. **Dr. N.S. Ramamoorthy,**
   Editor,
   T.T. Devasthanams, Tirupati.

**Convener**

8. **Dr. Medasani Mohan**
   Director
   Sri Annamacharya Project
   T.T. Devasthanams, Tirupati.

T'RUMALA TIRUPATI DEVASTHANAMS

# TRUST BOARD

## Chairman

**Sri P. Chalapathi Rao, M.L.A.**

## Members

**Dr. Smt. Gogineni Uma, M.L.A.,**

**Sri G. Srinivasulu**

**Sri K. Jayaram, B.A., LLB., M.L.A.,**

**Sri D.K. Audikesavulu**

**Dr. D. Rama Naidu, M.P.,**

**Sri Manoj Kumar Santhalia**

**Sri G. Ganga Reddy, M.P.,**

**Dr. V.R. Panchamukhi**

**Smt. Gundu Sudha Rani,**

**Sri D.S. Murthy, I.A.S.,**
Commissioner, Endowments, A.P.
Ex-Officio Member

**Sri Ajeya Kallam, I.A.S.,**
Executive Officer,
T.T.Devasthanams
Ex-Officio Member

# CONTENTS


1. Foreword ..... I
2. Introduction - English ..... II
3. Introduction - Sanskrit ..... IV
4. List of Abbreviations - (Editions) ..... VIII
5. List of Abbreviations (Texts cited) ..... IX
6. Contents of each canto (in prose) ..... X
7. Contents of each canto (in slokas) ..... XII
8. Process of Reciting Sri Bhagavata ..... XIV

| Text. | Page |
|---|---|
| Canto.61 | 1 |
| Canto.62 | 17 |
| Canto.63 | 27 |
| Canto.64 | 45 |
| Canto.65 | 60 |
| Canto.66 | 72 |
| Canto.67 | 83 |
| Canto.68 | 91 |
| Canto.69 | 109 |
| Canto.70 | 126 |
| Canto.71 | 147 |
| Canto.72 | 165 |
| Canto.73 | 184 |
| Canto.74 | 197 |
| Canto.75 | 216 |
| Canto.76 | 230 |
| Canto.77 | 242 |
| Canto.78 | 259 |
| Canto.79 | 277 |
| Canto.80 | 288 |
| Canto.81 | 307 |

| Text. | Page |
|---|---|
| Canto.82 | 323 |
| Canto.83 | 339 |
| Canto.84 | 354 |
| Canto.85 | 376 |
| Canto.86 | 398 |
| Canto.87 | 421 |
| Canto.88 | 491 |
| Canto.89 | 506 |
| Canto.90 | 533 |
| Appendix-I Quarter Verse Index | 1 |
| Appendix-II Citations Index | 107 |

# FOREWORD

The Tirumala Tirupati Devasthanams have undertaken the publication of religious books on a large scale, as part of propagation of Sanatana Dharma. The devotees are well aware that the TTD had published a number of books on numerous religious topics, in many languages.

Sanskrit is considered as the divine and most ancient language in the world. Holy scriptures like the Vedas, Sastras,and Puranas, owe their origin to the Sanskrit language only.

Indians regard Ramayana, Maha Bharata and Srimad Bhagavata as the most sacred books in their literature and they are considered as the essence of the Vedas.

Even amongst these three works, Bhagavata is considered as a fruit fallen from the Kalpa Vruksha of the Vedas. Bhagavata says,that Sage Vyasa, even after writing many books like Maha Bharata, did not derive peace of mind. On the advice of Sage Narada, he composed Bhagavata and obtained mental peace.

Bhagavata asserts that all the sins would get annihilated by singing the qualities, activities and the names of Lord Srimannarayana. It extolls the unique qualities, divine activities and the holy names of the Lord, in glowing terms. Especially, the sacred story of Lord Sri Krishna, is described excellently in the tenth skandha of this holy scripture.

The TTD have undertaken the onerous task of bringing out the Bhagavata in Sanskrit with three commentaries confirming to the three main systems of philosophy, in fourteen volumes. Out of these, three volumes, namely, first Skandha and first and second volumes of Dasama Skandha have been so far published.

The present volume is the third part of the Dasama Skandha. It is heartening to note that editing of the remaining ten volumes has also been completed and the printing is under progress.

Eminent scholar Sri Mallampalli Sarabheswara Sarma, editor of this volume, who has made enormous efforts to bring it out, deserves our gratitude. It is hoped that the readers would receive this volume with due devotion and respect.

**Ajeya Kallam, I.A.S.**
Executive Officer,
Tirumala Tirupati Devasthanams

Tirupati,
Dt. 5-5-2003.

# PREFACE

The Bhāgavata Puraṇa occupies a unique place among the Mahapurāṇas in many ways. It depicts the life and the great deeds of Lord Krishna, the Sampurnavatara of Lord Viṣṇu. Being a Sātvika puraṇa it is vaisṇava in essence. If the Bhagavadgita is the Lord's message to humanity, the Bhāgavata is the swarūpavaibhava of the Lord Himself.

The following verse from the Padmapurāṇa reveals how the Lord has set Himself in the form of the Bhagavata Purana.

"स्वकीयं यद्भवेत्तेजः तच्च भागवतेऽदधात् ||
तेनेयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तते हरेः ||"

Hence, there is no difference between the Lord and the Bhagavata Purāna. It is everlasting as the Lord and more tangible and permanent than the Lord's physical form.

The Bhāgavata is Mahāpurāṇa for it has ten characteristics, where as Puranas possess only five. These characteristics are as follows:

| | | |
|---|---|---|
| 1. Sarga | : | The Subtle creation of ego, intelligence, mind, organs of sense and action, objects of sense and elements. This creation is due to the disturbance of the equilibrium of the three gunās Satva, Rajas and Tamas. This is dealt with in skandha -III. |
| 2. Visarga | : | The gross creation proceeding from Brahma. This is dealt with in skandha IV. |
| 3. Sthiti or Sthana | : | Maintenance of divine law and order. It is also called vritti i.e. professions men adopt to maintain themselves - skandha - V. |
| 4. Posana | | Skandha - VI |
| 5. Uti | | Jiva is the doer of actions prompted by ignorance which is the result of his past actions. He is the cause of the phenomenal world - skandha VII. |
| 6. Manvantara | | Account of the righteous path followed by Manus, who observe the duty of protecting their subjects - Skandha VIII. |
| 7. Esanucarita | | Vamsacaritam - Genealogy of the Manus accounts of the Solar and the Lunar race - skandha IX. |
| 8. Nirodha | | Destruction of wicked kings who cause the decline of Dharma - skandha X. |
| 9. Mukti | | Liberation - Skandha XI. |
| 10. Asraya or Apasraya | | The ultimate reality, the last resort of the universe - skandha XII. |

The uniqueness of the Bhāgavata lies also in its depiction of human passions (Kāma, Krodha etc.) which are considered great obstacles in the path of Mukti, as the very means of getting salvation, if the Lord is their sole object. It is clear, as in the case of Kamsa, Sisupala and others, how their very fear and anger against the Lord, has enabled them to reach Him. In the same way, Lord Krishna being alambana for the gopikās in their longing has made their way easy for liberation. Thus, it is well depicted in the Bhāgavata Purāna, how the human passions can become the very means of attaining salvation.

Another unique feature of the Bhāgavata Purāṇa is its quality of possession. It possesses those who come in touch with it. The readers are easily enthrolled by the spirit of Lord Krishna. Perhaps, it is this quality that makes the Bhāgavata all the more distinct from the other Mahāpurāṇas.

The captivating quality reaches its heights in the Dasama Skandha, the heart of the Bhāgavata. The awe-inspiring and miraculous deeds of Lord Krishna, depicted in this skandha, captivate the readers. The eighth characteristic of the Purāṇa, viz., Nirodha is predominent in it. It depicts the birth of the Lord, His childhood, his marriage besides the destruction of the various forms of Evil. Nirodha being the main characteristic of the Dasama Skandha, it describes how various asuras in different forms, are punished and put an end to by Lord Krishna, even from His childhood. The Dasama Skandha has a special significance as it portrays the life of Lord Krishna, who is Āsraya (the ultimate reality).

The lila of the Lord Krishna is revealed at three centres, viz., Gokula, Madhura and Dwāraka. The first volume, the first of its edition, comprises twenty eight chapters of the Dasama skandha of the Bhāgavata. It covers the Lord's sport from His Incarnation to lifting of the mount Govardhana.

The first and second volumes have been edited by an eminent scholar, Sri N.C.V. Narasimhacharya. The third volume edited by me is now ready to be published. With this volume the 10th skandha gets completed. The other volumes from second will follow. The research assistants, Sri S.B.S. Bhattacharya, Smt. S. Poornavalli, Dr. S. Dasaratha and Sri K. Rajagopalan assisted me in the editorial work.

May the Lord Venkateswara shower His choicest blessings on all those who are connected with the Bhagavata Project.

-- EDITOR

# निवेदनम्

**रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्मज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।**
**सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षात् विष्णुरध्यात्मदीपः ।।**

एवमभिष्टुतः किल देवकीदेव्याः स्वजठरात् सद्यः समवतीर्णो धरणीभारावतरणाय परिपूर्ण निजकलाभिः स्वीकृतविभवावतारो लीलामयो भगवान् श्रीकृष्णः स्वयं विष्णुः ।

शिष्टपरित्राणदुष्टनिर्वापणरूपनिजकार्यप्रणालिकया शाश्वतधर्मगोप्ता स भगवान् महाभारत समराङ्गणे यं स्वधर्मं समुपदिदेश पार्थं निमित्तीकृत्य स एष जागर्ति खलु गीतारूपेण त्रैकालिकस्यापि जगतस्तमोनिरासाय सकलश्रुतिसौधशिखरदीपायमानः कोऽप्यध्यात्मप्रदीपः ।

तस्यैव भगवतः कृष्णस्य विष्णोः स्वरूपवैभवानन्यः पुनरपि कोऽप्यनश्वरो वाङ्मयावतारो वेदव्यासोपज्ञो जागर्ति कलियुगप्रजानामलसानां अल्पायुषां आधिव्याधिनिपीडितानां जननमरणरूप संसारस्रोतोवेगेन अतिनीयमानानां समुत्तारणाय श्रीमन्महाभागवतरूपेण। तदिदं प्रमाणयति हि पाद्मपि पुराणम्-

**स्वकीयं यद्भवेत्तेजः तच्च भागवतेऽदधात्।**
**तेनेयं वाङ्मयीमूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तते हरेः।।**

अथ निर्वृत्ते निजावतारप्रयोजने स्वरूपेण तिरोदधानोऽपि भगवान् यां पुनः स्वतेजसा यत् समभिविवेश तत् सेयं प्रत्यक्षायमाणा मूर्तिरेव वाङ्मयी भगवतः श्रीमद्भागवतम्। अथ को नु खल्वेष भगवान्नाम -?

**वदन्ति तत् तत्त्वविदः तत्त्वं यत् ज्ञानमद्वयम्।**
**ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।।**

ब्रह्मेति औपनिषदैः परमात्मेति हैरण्यगर्भैः यदेव तत्त्वमद्वयज्ञानरूपं निगद्यते, तदेवात्र भगवानिति सात्त्वतैः शब्द्यमानं दर्शनमिदं प्रथयति भागवतमिति सात्त्वतमिति च।

प्रथममिदं दर्शनमनुजग्राह श्रीमन्नारायणः स्वनाभीकमलसमुदिताय चतुर्मुखाय ब्रह्मणे श्लोक चतुष्टयरूपेण यथैवम् -

**अहमेवासमेवाग्रे नान्यत् सदसतः परम्।**
**पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोप्यहम् ।।**

**ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।**
**तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः।।**

**यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।**
**प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्।।**

**एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।**
**अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदा।।**

एवं नारायणोपज्ञमिदं पुराणं विज्ञानम् "अणोरणीयान् महतो महीयान्" इतिवत् अग्रे श्लोक चतुष्टयमात्रं सूक्ष्मतमं पश्चात् अष्टादशसहस्रश्लोकरूपेण वितस्तार।

नारायणः, ब्रह्मा, नारदः, वेदव्यासः, शुकश्च इत्येते भागवतसम्प्रदायप्रवर्तकाः पुरुषाः। विषयप्रयोजनाधिकारि सम्बन्धरूपमनुबन्ध चतुष्टयं निर्दिष्टमेवं द्वितीयश्लोकेन -

**धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां**
**वेद्यं वास्तव मत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।**
**श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः**
**सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिश्शुश्रूषभिस्तत्क्षणात्।।**

अन्यदेव खलु वैशिष्ट्यमितर मोक्ष शास्त्रेभ्यः श्रीमद्भागवतस्य यस्य शुश्रूषा क्षण एव ज्ञान तपो योगयज्ञादिभिरितरैरूपायैर्दुरधिगम ईश्वर स्सुकृतिनां हृदये सद्यः समवरुध्यते व्रजालिन्देपूलूखले निबद्ध इव भगवान्। परीक्षित् प्रभृतयो बहवोऽत्र निदर्शनम्। वत्सापहरणलीलायां चतुर्मुखो ब्रह्मा एवं खलु विसिस्मये -

**अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।**
**यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्।।**

इदमपरमनितरसाधारणं वैलक्षण्यमस्य मोक्षदर्शनस्य ये नाम कामक्रोधादयः प्रकृतिजनिता विकाराः मोक्षपरिपन्थिनस्सम्भाव्यन्ते प्रायशः, तेऽपि पन्थानो निरूपिता गम्याधिगमाय यदि स्यात् तेषा मेकायतनं स्वयं भगवान् हरिः तथाहि -

**कीटः पेशस्कृता रुद्धः कुड्यायां तदनुस्मरन्।**
**संरम्भभययोगेन विन्दते तत्सरूपताम्।।**

**एवं कृष्णे भगवति मायामनुजविग्रहे।**
**वैरेण हतपाप्मानस्तमापुरनुचिन्तया।।**

**कामात् द्वेषात् भयात्स्नेहात् यथा भक्त्येश्वरे मनः।**
**आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्सद्गतिं गताः।।**

**गोप्यः कामाद्भयात् कंसः द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।**
**सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो।।**

(भाग-7-1-27-30)

सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानु कथा, निरोध, मुक्ति, आश्रय रूपैर्दशभि र्लक्षणै स्समभिलक्षितमिदं महापुराणम्। तत्र-

**सर्गो** नाम - आकाशादि महाभूतानां शब्दादि तन्मात्राणां द्विविधस्यापीन्द्रियग्रामस्य मनसश्च जन्मकथनम् (अयमेव कारणसर्गः सूक्ष्मसर्ग इति च व्यवह्रियते) सोऽयं सर्ग प्रकारोऽत्र तृतीयस्कन्धे समभिवर्णितः।

**विसर्गो** नाम - ब्रह्मणस्सर्गः स्थूलशरीर रचना (स्थूल सृष्टिः) सोऽयं विसर्गप्रकारोऽत्र चतुर्थस्कन्धे निरूपितः।

**स्थानम्** - स्थितिरेव स्थानम्। ऋतेन सत्येन च जगतो व्यवस्थाकरणम्, तदत्र पञ्चमस्कन्धे निरूपितम्।

**पोषणम्** - ईश्वरानुग्रहेण प्रजानां परिपालनम् षष्टस्कन्धे।

**ऊतिः** - "ऊतयः कर्मवासनाः" ता एव जगतो रचना हेतुः, सोऽयं सप्तमे स्कन्धे समभिवर्णितः।

**मन्वन्तरम्** - मनोः पन्थाः (मन्वन्तराणि) अष्टमस्कन्धे।

**ईशानुकथाः** - सोमसूर्य वंशक्रमानुवर्णनं नवमस्कन्धे।

**निरोधः** - दुष्टानां विध्वंसः सोऽयं श्रीकृष्णावतारविषयः दशमस्कन्धे प्रदर्शितः।

**मुक्तिः** - प्रकृतिगुणेभ्यो विमुक्तिः एकादशस्कन्धविषयः।

**आश्रयः** - आश्रय एव व्यपाश्रय इति च व्यवह्रियते।

**आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते।**
**स आश्रयः परंब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते।।**

(भाग 2-10-7)

तादृश आश्रयः परमात्मा "श्रीकृष्णः शरणं मम" इति भक्त्या आत्मनिवेदनमेव आश्रयः सोऽयं द्वादशस्कन्ध विषयः।

एवमाश्रयभूतस्य परमात्मनो विभवावतारस्य श्रीकृष्णस्य जननादि कथाः, अवतारप्रयोजनभूतायाः दुष्टसंहाररूप निरोधलीलायाश्च समभिवर्णनं दशमस्कन्ध विषयः। सोऽयमध्यायनवतिप्रमितो दशमस्कन्धो मतत्रयव्याख्यया समलङ्कृतोऽधुना तिरुमल तिरुपतिदेवस्थानाधिकृतैः भागशः प्रकाश्यते। श्रीमद्भिः प्रामाणिकैः एन्. सि. वि. नरसिंहाचार्यस्वामिभिरत्र श्रीमद्भागवतपरिष्करणरूप श्रीकार्ये विशिष्टाधिकृतैः व्याख्यात्रितय समलङ्कृतस्य दशमस्कन्धस्य प्रथमद्वितीयभागौ परिष्कृतौ। अयन्तु तत्र तृतीयोभागः।

अस्य मुद्रणप्रतिविलेखन, मुद्रणसंशोधन पर्यन्ते सकलेऽपि सम्पादनकार्यकलापे बाढमुपकृतवन्तश्चत्वारोऽपि वर्धिष्णवो विद्वांसः परिगणनामर्हन्ति। श्रीमान् एस्. बि. एस्. भट्टाचार्यः,श्रीमती एस्. पूर्णवल्ली, श्रीमान् डा. एस्. दशरथः, श्रीमान् के. राजगोपालन्, अर्चावतार विलसनेन "कलौ वेङ्कटनायकः" इति प्रसिद्ध्या निजतल्पनिर्विशेषायां शेषशैलाधित्यकायां सकल जगदनुग्रहणाय स्वलीलामातन्वानः प्रपन्न जनसन्निधिः कल्याणनिधिः श्रियःपतिः श्रीनिवासः श्रियमातनोतु निरन्तरायां निरन्तरं श्रीमद्भागवतव्यासङ्गिनां विदुषां तत्पर्यवेक्षकाणां श्रीकार्यनिर्वहणतत्पराणां सर्वेषामप्यधिकृतानाम्।

इति सर्वं शिवम्।

विदुषामनुचरः
**सम्पादकः।**

## LIST OF ABBREVIATIONS

(of the Edition of Srimad Bhagavata Mahapurana being referred to)

1. A. Edited by Sri Krishna Sankara Sastri - contains about 30 commentaries - Printed in Devanagari Script at Ahmedabad, Gujarat.

2. B. Printed in Devanagari Script at Brindavan - contains 9 commentaries.

3. G. Contains text only - Printed at Gita Press, Ghorakhpur - in Devanagari Script.

4. H. Contains Sridhara's Commentary. Edited by Sri Hayagriva Sastry. Printed in Telugu Script at Madras.

5. J. Contains Sridharacharya's Commentary - Edited by Prof. J.L.Sastri - in Devanagari Script.

6. M. Contains the commentary of Sri Vijaya Dhvaja Tirtha - printed in Devanagari Script Madhava Edition.

7. Ma. Contains the commentary of Sri Vijaya Dhvaja Tirtha - Printed in Devanagari Script - Another Madhva Edition.

8. T. Contains the commentary of Sri Veera Raghavacharya - Printed in Telugu Characters - Published by Sri Tridandi Srimannarayana Ramanuja Jeer Swami.

9. V. Contains the commentary of Sridharacharaya - Printed at Vavilla Press, Madras in Telugu Script.

10. W. Contains the commentary of Sri Veera Raghava Charya - Printed in Telugu characters - Published by the Maharaja of Wanaparti Samsthan, Andhra.

## LIST OF ABBREVIATIONS

Commentaries

1. श्रीध० श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

2. वीर० श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

3. विज० श्रीविजध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

## Texts cited in commentaries and their Abbreviations

| Abbreviation | Name of the Book | Abbreviation | Name of the Book |
|---|---|---|---|
| अथ . शिखा . उ . | अथर्वशिखोपनिषत् | ब्र.सू. | ब्रह्मसूत्राणि |
| अद्वै . उ . | अद्वैतोपनिषत् | - | ब्राह्मे |
| - | अध्यात्मे | - | भद्रिकायाम् |
| - | अभिधानम् | भ . गी . | भगवद्गीता |
| अम . को . | अमरकोशः | भर . सं . | भरद्वाजसंहिता |
| अष्टा . | अष्टाध्यायी | - | भागवततन्त्रे |
| - | अहिर्बुध्न्यसंहिता | भाग . | भागवतम् |
| आगम . प्रा . | आगमप्रामाण्यम् | - | भविष्यत्पुराणे |
| आप . श्रो . सू | आपस्तम्ब क्षौत सूत्रम् | भारते . आनु . | भारते आनुशासनिकपर्व |
| - | आग्नेये | भारते . आरण्य | भारते आरण्यपर्व |
| ईशा . उ . | ईशावाश्योपनिषत् | भारते . उद्योग | भारते उद्योगपर्व |
| उणा . सू . | उणादिसूत्राणि | भारते . शान्ति | भारते शान्तिपर्व |
| - | उत्पलमाला | मनु . स्मृ . | मनुस्मृतिः |
| ऋक् . सं . | ऋक् संहिता | - | महाकौर्मे |
| ऐत . उ . | ऐतरेयोपनिषत् | - | माहात्म्ये |
| कठ . उ . | कठोपनिषत् | म . ना . उ . | महानारयणोपनिषत् |
| - | कापिलेये | महा . उ . | महोपनिषत् |
| कुमार . स . | कुमारसम्भवम् | माण्डू . उ . | माण्डूक्योपनिषत् |
| कौषी . उ . | कौषीतक्युपनिषत् | - | माध्यन्दिनश्रुतिः |
| - | क्रियायोगे | मुण्ड . उ . | मुण्डकोपनिषत् |
| - | गारुडे | मैत्रा . उ . | मैत्रायण्युपनिषत् |
| - | गोपालः | याज्ञ . स्मृ . | याज्ञवल्क्यस्मृतिः |
| - | चाक्रायण श्रुतिः | रामा . | रामायणम् |
| छान्दो . उ . | छान्दोग्योपनिषत् | - | रुद्रः |
| जित . स्तो | जितन्तास्तोत्रम् | - | लक्ष्मीतन्त्रे |
| - | तत्वनिर्णये | वर . स्तवः | वरदराजस्तवः |
| - | तन्त्रभागवते | - | वामने |
| तैत्ति . आ . | तैत्तिरीय आरण्यकम् | - | वाराहे |
| तैत्ति . उ . | तैत्तिरीयोपनिषत् | - | वरुचिः |
| तैति . सं . | तैत्तिरीयसंहिता | विष्णु . ध . पु . | विष्णुधर्मोत्तरपुराणम् |
| - | दत्तः | विष्णु . पु . | विष्णुपुराणम् |
| - | नारदीये | - | विष्वक्सेनसंहिता |
| निरा . उ . | निरालम्बोपनिषत् | वे . नि . | वेदनिघण्टुः |
| - | निरुक्तम् | - | शब्दनिर्णये |
| नृ . उ . ता . उ . | नृसिंह उत्तरतापिन्युपनिषत् | शार्ङ्ग . पद्ध . | शार्ङ्गधरपद्धतिः |
| - | पञ्चतन्त्रे | - | शिशुपालवधम् |
| - | परमसंहिता | श्वेता . उ . | श्वेताश्वतरोपनिषत् |
| - | पाञ्चरात्रे | सुबा . उ . | सुबालोपनिषत् |
| - | पाद्मपुराणम् | सुभा . | सुभाषितरत्नभाण्डागारम् |
| पु . सू . | पुरुषसूक्तम् | सूर्य . उ . | सूर्योपनिषत् |
| - | प्रकाशिकायाम् | - | स्कान्दे |
| प्रश्न . उ . | प्रश्नोपनिषत् | - | षाड्गुण्ये |
| बृह . उ . | बृहदारण्यकोपनिषत् | - | हरिवंशे |
| - | ब्रह्मतर्के | हला . को . | हलायुधकोशः |
| - | ब्रह्मवैवते | - | हेमचन्द्रः |

# श्रीमद्भागवतमहापुराणदशमस्कन्धस्थानां
# एकषष्टितमारब्धानां नवतितमपर्यन्तानां अध्यायानां
## -विषयानुक्रमणी-


| अध्याय संख्या | विषयः |
|---|---|
| ६१. | श्रीकृष्ण सन्ततीनां वर्णनम्, अनिरुद्ध विवाहे रुक्मिणो वधश्च। |
| ६२. | ऊषानिरुद्ध समागमः, अनिरुद्धस्य बन्धनं च |
| ६३. | श्रीकृष्णबाणासुर सङ्ग्रामः, तत्र माहेश्वरज्वरेण महेश्वरेण च कृता भगवत्स्तुतिः। |
| ६४. | नृगस्योद्धारः। |
| ६५. | बलभद्रस्य व्रजे गमनं, कालिन्दीकर्षणं च। |
| ६६. | पौण्ड्रककाशिराजयोर्वधः, स्वप्रयुक्तेनाभिचाराग्निना सुदक्षिणस्य विनाशः, सुदर्शन तेजसा वारणाशीदहनं च। |
| ६७. | रैवतके द्विविदवधः। |
| ६८. | साम्बविवाहः, बलरामेण हस्तिनापुरकर्षणं च। |
| ६९. | देवर्षि नारदकर्तृकं भगवतो गृहचर्यादर्शनम्। |
| ७०. | श्रीकृष्णस्याह्निककृत्यवर्णनं युधिष्ठिरसन्देशमादाय नारदस्य जरासन्धकारानिबद्धनृपाणा सन्देशमादाय दूतस्य च आगमनम्। |
| ७१. | उद्धवमन्त्रणया श्रीकृष्णस्य इन्द्रप्रस्थगमनम्। |
| ७२. | राजसूयोपगमे पाण्डवाना दिग्विजयः, भीमेन जरासन्धवधश्च। |
| ७३. | जरासन्धरुद्धानां राज्ञा कारागृहान्मोचनम्। |
| ७४. | राजसूये भगवतोऽग्रपूजनं ततो रुष्टस्य दुर्वदतः शिशुपालस्य भगवत्कर्तृको वधश्च। |
| ७५. | राजसूयान्तेऽवभृथस्नानमहोत्सवः, मयनिर्मितायां युधिष्ठिरसभायां दुर्योधनस्यावमाननं च। |
| ७६. | शाल्वस्य यदुभिः सह युद्धम्। |
| ७७. | भगवता सौभसहितस्य शाल्वस्य विनाशः। |
| ७८. | दन्तवक्त्रविदूरथवधः, बलरामद्वारा सूतशिरश्छेदश्च। |

७९. पल्वलवधः सूतहत्यामार्जनाय बलभद्रस्य तीर्थेषु भ्रमणं च।

८०. सुदामोपाख्यानम् - पत्नीप्रेरणया सुदाम्नो भगवत्समीपे गमनं भगवत्कृतः तस्य सत्कारश्च।

८१. सुदाम्नः स्वपुरीं प्रत्यागमनं तत्र भगवद्दत्तमैश्वर्यमुपलभ्य भगवद्वात्सल्यगुणगानम्।

८२. कुरुक्षेत्रे सूर्योपरागपर्वणि यदुभिः सह कुरूणां नन्दादिगोपानां च समागमः।

८३. द्रौपदीं प्रति श्रीकृष्णपत्नीनां स्वस्वोद्वाहवृत्तान्तवर्णनम्।

८४. ऋषिगणकृता भगवत्स्तुतिः, वसुदेवयज्ञोत्सवः, बन्धूनां प्रस्थापनादिकं च।

८५. वसुदेवमुखेन भगवत्तत्त्वप्रतिपादनं भगवता देवकीप्रार्थनया तदीयमृतपुत्राणामानयनं च।

८६. सुभद्राहरणं, श्रीकृष्णस्य मिथिलागमनं, तत्र बहुलाश्वश्रुतदेवयोः सद्मनि सकृदेव प्रवेशः।

८७. वेदस्तुतिः।

८८. शिवाच्युतयोः स्वभाववैलक्षण्यं वटुरूपेण विष्णुना शम्भोर्वृकासुरभयाद्रक्षणं च।

८९. भृगुकर्तृकं त्रिदेवपरीक्षणं तत्र विष्णोः श्रैष्ठ्यं पार्थेन सह महाकालपुरं गत्वा भगवता ब्राह्मणस्य मृतपुत्राणामानयनं च।

९०. श्रीकृष्णलीलानां संक्षेपतोऽनुवर्णनं तन्महिषीणां तस्मिन्ननुरागाधिक्यं यदुवंशीयानामसंख्येयत्व प्रतिपादनं च।

# श्रीमद्भागवतमहापुराणदशमस्कन्धस्थानां
# एकषष्टितमारब्धानां नवतितमपर्यन्तानां अध्यायानां
## अध्यायार्थसङ्ग्रहश्लोकाः

एकषष्टितमे शौरः पुत्रपौत्रादि सन्ततिः ।
अनिरुद्धविवाहे च रुक्मिणो रामतो वधः ॥
अष्टाधिकशतद्व्यष्टसहस्रस्त्रीसमुद्भवान् ।
कोटिशः पुत्रपौत्रादीन् हरिर्दारैरयोजयत् ॥ ६१ ॥

द्विषुकृषष्टितमे प्रोक्तमनिरुद्धस्य रोधनम् ।
कन्यया रममाणस्य बाणेन बहुबाहुना ॥ ६२ ॥

त्रियुक् षष्टितमे चाथ बाणयादवसङ्गरे ।
स्तुतिर्ज्वरिणेश्वरेण बाणबाहुभिदो हरेः ॥
श्रीकृष्णश्श्रीहरं जित्वा बाणबाहूनथाच्छिनत् ।
चतुर्बाहुं विमुञ्चेमं देवदेवदयानिधे ॥
इति सम्प्रार्थितस्तेन रुद्रेण प्रीतमानसः ।
प्रह्लादाय वरो दत्तः पुरावध्योऽसुरो मया ॥
चत्वारोऽस्य भुजाश्लिष्टा भविष्यत्यजरामरः ।
पार्षदोऽयं भवतु ते हरेत्युक्त्वा ससर्ज तम् ॥ ६३ ॥

चतुष्षष्टितमे कृष्णो नृगं शापादमोचयत् ।
ब्रह्मस्वहरिदोषोक्त्या राज्ञो दृप्तानशिक्षयत् ॥
विभूति भोगभाग्यादिमदोद्धतमनोरथान् ।
अन्यशासद्यदून् कृष्णः नृगोद्धारप्रसङ्गतः ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमे रामश्चक्रे गोकुलमागतः ।
रममाणस्तु गोपीभिः कालिन्द्याः कर्षणं मदात् ॥
रामस्य चरितं चित्रं कालिन्द्याकर्षणादि यत् ।
पौंड्रकान्तादि कृष्णस्य पृथगुक्तं ततः परम् ॥ ६५ ॥

षड्युक् षष्टितमे काशीं गत्वाऽहन् पौण्ड्रकं हरिः ।
तन्मित्रं च ततो वृत्तं सुदक्षिणमथादिशत् ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमे रामो गिरौ रैवतके मदात् ।
स्वैरं युवतिभिः क्रीडन्नवधीद्विविधं बलः ॥ ६७ ॥

अष्टषष्टितमे साम्बे निबद्धे कौरवैर्युधि ।
तद्विमोक्षाय रामेण द्विजाह्वय विकर्षणम् ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमे गार्हस्थ्यं प्रतिमन्दिरम् ।
कृष्णस्य नारदो दृष्ट्वा विस्मितोऽगात्ततः स्तुवन् ॥ ६९ ॥

ततस्तु सप्ततितमे कृष्णस्याह्निककर्मणि ।
दूतनारदयोः कार्ये मन्त्रि मन्त्र विचारणम् ॥
जगन्मङ्गलचारित्रमाह्निकं जगदीशितुः ।
नारदेन क्वचित् किञ्चित् दृष्टमाह यथाक्रमम् ॥ ७० ॥

अथैक सप्ततितमे ह्युद्धवस्य तु मन्त्रतः ।
इन्द्रप्रस्थं गते कृष्णे पार्थानां परमोत्सवः ॥
राजसूयमिषं कृत्वा भीमदुर्योधनादिषु ।
कलिमुत्पाद्य तद्द्वारा भूभारमहरत्प्रभुः ॥ ७१ ॥

ततो द्विसप्ततितमे राज्ञा कार्ये निवेदिते ।
दुर्जयं मागधं बुद्ध्वा भीमेनाघातयद्धरिः ॥ ७२ ॥

ततस्त्रिसप्ततितमे मोचयित्वा नृपान् हरिः ।
राजार्हभोगैस्स्वान्देशान् प्रस्थाप्य पुनराहरत् ॥
अत्युन्नद्धजरासन्धवधात्तद्बुद्धभूपतीन् ।
विमोक्ष्य कृपया कृष्णो निजरूपमदर्शयत् ॥ ७३ ॥

चतुर्युक् सप्ततितमे राजसूयक्रियाद्विजैः ।
अग्रपूजाप्रसङ्गेन चैद्यघातादि वर्ण्यते ॥
राजसूयमुखे हत्वा जरासन्धं तदन्तरे ।
चैद्यं तदन्ते कुर्वन्तं बीजं कलिमिवावपत् ॥ ७४ ॥

पञ्चयुक्सप्ततितमे यज्ञावभृथसम्भ्रमः ।
सुयोधनस्य चाक्षन्त्या मानभङ्गो दृशिक्रमात् ॥ ७५ ॥

ततष्षट् सप्ततितमे वृष्णिसाल्व महामृधे ।
द्युमद्गदा प्रहारेण रणात्प्रद्युम्न निर्गमः ॥
सम्पाद्य धर्मराजस्य राजसूय महोदयम् ।
निहत्य सौभराजादीनथोपारमदच्युतः ॥ ७६ ॥

सप्तयुक् सप्ततितमे नानामायाविचक्षणः ।
कृष्णेनागत्य साल्वस्तु हतस्सौभं च चूर्णितम् ॥७७॥

ततोऽष्टसप्ततितमे दन्तवक्र विडूरथौ ।
हत्वा हरिः पुरे रेमे रामस्सूतं ततोऽवधीत् ॥ ७८ ॥

ऊनाशीतितमे रामः पल्वलं द्विजतुष्टये ।
निहत्य तीर्थस्नानाद्यैस्सूतहत्यामपानुदत् ॥ ७९ ॥

तथाऽशीतितमे कृष्णश्श्रीदामानं गृहागतम् ।
सम्पूज्यापृच्छदर्थेप्सुं गुरुवासकथां मुदा ॥ ८० ॥

एकाशीतितमे सख्युर्जग्ध्वा पृथुकतण्डुलान् ।
श्रियं निर्मितवानिन्द्रदुर्लभां तु तदाश्रमे ॥ ८१ ॥

द्व्यशीतितम आगत्य कुरुक्षेत्रं रविग्रहे ।
वृष्टीन् दृष्ट्वा मुदा भूपाश्चक्रुः कृष्णकथा मिथः ॥
श्रीकाम सुहृदे कृष्णः प्रकल्प्येन्द्रपदं भुवि ।
नन्दादिसुहृदानन्द कुरुक्षेत्रं जगाम सः ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितम एवं च स्त्रीणां कृष्णकथोत्सवे ।
द्रौपद्यै कृष्णभार्याभिरुक्तास्स्वस्वकरग्रहाः ॥ ८३ ॥

चतुर्भिरधिकेऽशीतितमे मुनिसमागमे ।
वसुदेवमुखोत्साहवन्धुप्रस्थापनादिकम् ॥ ८४ ॥

पञ्चाशीतितमे रामकृष्णौ सम्प्रार्थितौ स्तुतौ ।
पित्रे ज्ञानमथोमात्रे मृतान्पुत्रानयच्छताम् ॥
नन्दयित्वा कुरुक्षेत्रे यात्रायां सुहृदो बहून् ।
तत्त्वज्ञानं ततः पित्रोरादिशन्मृतसूनुभिः ॥ ८५ ॥

षडशीतितमे दम्भात्सुभद्रामर्जुनोऽहरत् ।
गत्वा च मिथिलां कृष्णो नृपविप्रावनन्दयत् ॥
पित्रोस्स्वज्ञानमादिश्य सुभद्रामर्जुनाय च ।
जगाम मिथिलां कृष्णस्सभक्तप्रियकृत्ततः ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमे नारायणनारदवादतः ।
वेदैस्तुतिर्गुणालम्बा निर्गुणा च तथोच्यते ॥ ८७

अष्टाशीतितमे विष्णुभक्तः कैवल्यमश्नुते ।
ततोऽर्वाग्देवभक्तस्तु विभूतिमिति वर्ण्यते ॥ ८८ ॥

नवाशीतितमे देवः को महानिति संशये ।
परीक्ष्यविष्णोरुत्कर्षं मुनिभ्योऽवर्णयद्भृगुः ॥
मृतपुत्रं समादाय विप्रोऽरोदीद्धरेः पुरः ।
अर्जुनेन प्रतिज्ञातं विप्र पुत्रस्य रक्षणम् ॥
शिशावदर्शनं प्राप्ते फल्गुनेऽग्निसमीपगे ।
सार्जुनो हरिरानाय्य वैकुण्ठात्तत्सुतार्पणम् ॥ ८९

चरमे तु पुनः प्रोक्त कृष्णलीला समासतः ।
यदुवंशप्रसूतानामानन्त्यं च सकारणम् ॥ ९० ॥

## श्रीमद्भागवतपाठविधिः

स्नातः शुचि र्भूत्वा प्राणा नायम्य त्रिराचम्य च मङ्गलपाठपूर्वकं भगवन्तं प्रणमेत्। तदनु सञ्चितैः षोडशोपचारैर्मानसोपचारैर्वा व्यासं शुकं वासुदेवं श्रीमद्भागवतग्रन्थं च सादरं सविनयं सभक्तिभावं सम्पूजयेत्। ततः पाठारम्भात् प्राक् 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' इति द्वादशाक्षरमन्त्रम् 'ओं ह्रीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' इति गोपालमन्त्रं वाऽष्टोत्तरशतवारं जपेत्। पश्चादेवं विनियुञ्जीत—

## विनियोगः

ओं अस्य श्रीमद्भागवताख्यस्तोत्रमन्त्रस्य नारद ऋषिः, बृहती छन्दः, श्रीकृष्णः परमात्मा देवता, ब्रह्म बीजम्, भक्तिः शक्तिः, ज्ञानवैराग्ये कीलकम्, मम श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थं पाठे विनियोगः।

## ऋष्यादिन्यासः

'नारदर्षये नमः' शिरसि। 'बृहतीच्छन्दसे नमः' मुखे। 'श्रीकृष्णपरमात्मदेवतायै नमः' हृदि। 'ब्रह्मबीजाय नमः' गुह्ये। 'भक्तिशक्तये नमः' पादयोः। 'ज्ञानवैराग्यकीलकाय नमः' नाभौ। श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थकपाठविनियोगाय नमः सर्वाङ्गे। द्वादशाक्षरमन्तेण हृदयाद्यङ्गन्यासं करन्यासं च कुर्यात्। अथवाऽधोऽङ्गितरीत्याऽङ्गन्यासकरन्यासौ विदध्यात्—

## अङ्गन्यासः

ओं क्लां हृदयाय नमः। ओं क्लीं शिरसे स्वाहा। ओं क्लूं शिखायै वषट्। ओं क्लैं कवचाय हुम्। ओं क्लौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ओं क्लः अस्त्राय फट्।

## करन्यासः

ओं क्लां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ओं क्लीं तर्जनीभ्यां नमः। ओं क्लूं मध्यमाभ्यां नमः। ओं क्लैं अनामिकाभ्यां नमः। ओं क्लौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ओं क्लः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

## अथ ध्यानम्

कस्तूरीतिलकं ललाटफलके वक्षःस्थले कौस्तुभं नासाग्रे नवमौक्तिकं करतले वेणुं करे कङ्कणम्।
सर्वाङ्गे हरिचन्दनं च कलयन् कण्ठे च मुक्तावलिं गोपस्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपालचूडामणिः॥
अस्ति स्वस्तरुणीकराग्रविगलत्कल्पप्रसूनाप्लुतं वस्तु प्रस्तुतवेणुनादलहरीनिर्वाणनिर्व्याकुलम्।
स्रस्तस्रस्तनिबद्धनीविविलसद्गोपीसहस्रावृतं हस्तन्यस्तनतापवर्गं मखिलोदारं किशोराकृति॥
इत्येवं ध्यात्वा पाठमारभेत।

## श्रीमद्भागवतसप्ताहपारायणस्य दैनन्दिनविश्रामस्थलानि निम्नाङ्कितपद्येषु निरूपितानि

मनुकर्दमसंवादपर्यन्तं प्रथमेऽहनि। भरताख्यानपर्यन्तं द्वितीयेऽहनि वाचयेत्॥
तृतीये दिवसे कुर्यात् सप्तमस्कन्धपूरणम्। कृष्णाविर्भावपर्यन्तं चतुर्थे दिवसे वदेत्॥
रुक्मिण्युद्वाहपर्यन्तं पञ्चमेऽहनि शस्यते। श्रीहंसाख्यानपर्यन्तं षष्ठेऽहनि वदेत्सुधीः॥
सप्तमे तु दिने कुर्यात् पूर्तिं भागवतस्य वै। एवं निर्विघ्नतासिद्धि र्विपर्यय इतोऽन्यथा॥

# श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

ओं नमो भगवते वासुदेवाय

## दशमः स्कन्धः

## एकषष्टितमोऽध्यायः

### भगवतः षोडशसहस्र महिषीसम्मोहन वर्णनम्

(विजयध्वजरीत्या षट्सप्ततितमोऽध्यायः)

**श्रीशुक उवाच**

एकैकशस्ताः कृष्णस्य पुत्रान्दश दशाबलाः ।
अजीजनन्नवमान् पितुः सर्वात्मसम्पदा ॥ १ ॥

गृहादनपगं वीक्ष्य राजपुत्र्योऽच्युतं स्थितम् ।
प्रेष्ठं[1] न्यमंसत स्वं स्वं[-1 2] न तत्तत्वविदः स्त्रियः ॥ २ ॥

चार्वञ्चकोश वदनायत बाहुनेत्र सप्रेम हासरसवीक्षित वल्गुजल्पैः ।
सम्मोहिता भगवतो न मनो विजेतुं स्वैर्विभ्रमैः समशकन्वनिता विभूम्नः ॥ ३ ॥

स्मायावलोकलवदर्शित भावहारि भ्रूमण्डल प्रहित सौरतमन्त्रशौण्डैः[3] ।
पत्न्यस्तु षोडश सहस्र मनङ्गबाणै र्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न शेकुः ॥ ४ ॥

★ इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम् ।
भेजुर्मुदाऽविरत मेधितयाऽनुराग हासावलोकनवसङ्गम लालसाद्यम् ॥ ५ ॥

○ याः स्वीप्सितं स्वभवनेष्वधिरूढमुद्यै र्लक्ष्म्येकधाम सरसप्लुतवीक्षणेन ।
ऐक्षन्सतामपि पतिञ्च सतीः कटाक्षैः स्थूणान्तरेण नवसङ्गम लज्जयैव ॥

---

1- -1 M.Ma आत्मनोऽमंसतप्रेष्ठं ; W. प्रेष्ठं न्यमंसतात्मान 2. K.W. अत 3. K.W. स्मराव

★ This verse is not found in M.Ma edns. ○ This extra verse is found in M.Ma edns only.

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

एकषष्टितमे शौरेः पुत्रपौत्रादि सन्ततिः। अनिरुद्ध विवाहे च रुक्मिणो रामतो वधः ॥

अष्टाधिक शतद्वयष्ट सहस्त्र स्त्रीसमुभ्दवान्। कोटिशः पुत्रपौत्रादीन्हरि दरैरयोजयत् ॥

तदेतद्वक्तुमाह - **एकैकश** इति। कृष्णस्याऽबला भार्याः। सर्वा या आत्मनि सम्पत् तया। पितुः सकाशा दनवमान् अन्यूनान् ॥ १ ॥

**गृहादिति**। प्रेष्ठं न्यमंसत अच्युतस्य प्रियतमं प्रत्येकं स्वं स्वं मेनिरे। न तस्य तत्त्वमात्मारामत्वं विदन्ति ताः ॥ २ ॥

आत्मारामत्वं व्यनक्ति द्वयेन **चार्विति**। चार्वब्जकोशवद्वदनं च आयतानि बाहुनेत्राणि च सप्रेम्णा हासरसेन वीक्षितानि च वल्गुजल्पाश्च भगवतः एतैः सम्मोहिता वनिताः स्वैः स्वैः अनेकै र्विभ्रमैस्तस्य श्रीकृष्णस्य मनो विजेतुं हर्तुं न समशकन्न शक्ता बभूवुः। विभूम्नः परिपूर्णस्य ॥ ३ ॥

तासां विभ्रमान्वर्णयन्नेतद्विवृणोति - **स्मायेति**। स्मायो गूढहसितं तद्युक्तोऽवलोकलवः कटाक्षस्तेन दर्शितः सूचितो भावोऽभिप्रायः तेन हारि मनोहरण शीलं यद्भ्रूमण्डलं तेन प्रहिताः प्रस्थापिता ये सौरता मन्त्रास्तेषु शौण्डैः प्रगल्भैरनङ्गस्य वाणैः शरैरन्यैश्च करणैः कामशास्त्रप्रसिद्धैः यस्येन्द्रियं मनो विमथितुं क्षोभयितुं षोडशसहस्रमपि पत्न्यो न शेकुरिति ॥ ४ ॥

**इत्थमिति**। अनुरागेण हासोऽवलोकश्च नवसङ्गमे लालसमौत्सुक्यं च ते आद्या यस्य विभ्रमकदम्बस्य तं भेजुः। अनुरागहासावलोकनवसङ्गम लालसात् यं भेजुस्तस्य मनो विजेतुं न शेकुरिति वा ॥ ५ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ भगवतस्तासु पत्नीषु पुत्र पौत्रादिपरम्परा अनुवर्णयति एकषष्टितमेन **एकैकश** इति। ताः कृष्णस्याबलाः स्त्रियः सर्वाः या आत्मसम्पत्तया पितुस्सकाशादनवमान् अन्यूनान् तुल्यानेकैकशो दश दश पुत्रान् जनयामासुः ॥ १ ॥

तदेव विस्तरेण वक्तुं तावत्तासां भगवन्मायामोहितत्वं भगवतस्तदवश्यत्वं चाह - द्वाभ्यां **गृहादिति**। गृहात् अनपगं नापगच्छति न निष्क्रामतीति तथा तं स्थितं गृहेष्वेव स्थितमच्युत मालोक्य सर्वास्ता राजपुत्र्यः अतत्तत्वविदः भगवद्याथात्म्यानभिज्ञाः, हेतुगर्भमिदम्। तत्वात् प्रत्येकं स्वं स्वं आत्मानं प्रियतमं भगवत इति शेषः। न्यमंसत अमन्यन्त ॥ २ ॥

**चार्विति**। चार्वब्जकोशवद्वदनम् आयतानि बाहु नेत्राणि च सप्रेम्णा हासरसेन वीक्षितानि च वल्गु जल्पाश्च एतैस्साधनैर्भगवता कर्त्रा सम्मोहिताः वनिताः स्वैरनेकैर्विभ्रमैर्विभूम्नः परिपूर्णस्य भगवतः मनो मानसं जेतुं वशीकर्तुं न समशकन् न समर्था बभूवुः, तस्याऽऽत्मारामत्वादिति भावः ॥ ३ ॥

तासां विभ्रमान्वर्णयन्नेव तद्विवृणोति **स्मेरेति**। स्मेरो गूढहसितं तद्युक्तोऽवलोकलवः कटाक्षः तेन दर्शितः सूचितो भावोऽभिप्रायस्तेन हारि मनोहरणशीलं यद्भ्रूमण्डलं तेन प्रहिताः प्रस्थापिताः ये सौरतमन्त्राः तेषु प्रगल्भैरनङ्गस्य बाणैरन्यैश्च करणैः कामशास्त्रप्रसिद्धैः यस्य भगवतः इन्द्रियं मनः मथितुं क्षोभयितुं षोडशसहस्रमपि पत्न्यः न शेकुः नाशक्नुवन् ॥ ४ ॥

**इत्थमिति**। किन्तु तदीयां पदवीं याथात्म्यं ब्रह्मादयोऽपि न विदुः, तमित्थम्भूतं श्रियः पतिमवाप्य ताः स्त्रियः अविरतं सततं यथा तथा एधितया वर्द्धितया मुदा नवसङ्गमे लालसा औत्सुक्यम् आद्यो यस्य विभ्रमकदम्बस्य तं भेजुः, नवसङ्गम लालसात् यं भेजुः तस्य मनो विजेतुं न शेकुरिति वा ॥ ५ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अध्यायद्वयेन लोकविडम्बनानुचरितं कथयति। तेन सतां ज्ञानाभिवृद्धिरसतामन्यथेति। तत्रादौ एकैकस्यां दश दश पुत्रा आसन् इत्यादि कथयति - **एकैकश** इति। सर्वात्मसम्पदा अन्यूनदेहादि स्वभावसमद्धया ॥ १ ॥

अनपगम् अपगमरहितम् ॥ २ ॥

एवमपि पराजयः स्त्रीणामेवेत्याह **चार्विति** ॥ ३ ॥

स्मायः मन्दस्मितं तेन युक्तोऽवलोकः स्मायावलेकः तस्य लवेनाल्पेन दर्शितेन भावेन स्पन्दनलक्षण क्रियया हारिणा मनोहरेण भ्रुवोः मण्डलवलयेन प्रहिताः सौरतमन्त्राः सुरतवर्धनमन्त्राः एतैः शौण्डैः पटुत्वमाप्तैः कामबाणैः करणैः सम्भोगसाधनैः यस्य हरेरिन्द्रियं रेतोलक्षणं विमथितुं आलोडयितुं स्रावयितुं वा वशीकृत कामत्वेन दृढवीर्यत्वात् ॥ ४ ॥

याः पत्न्यः पक्ष्मकटाक्षैः स्थूणान्तरेण स्तम्भव्यवधानेन स्वीप्सितं सुतरामभीष्टं कृष्णमैक्षन् अपश्यन्, ता इति शेषः। केन उच्यते लक्ष्म्याः कान्त्याः एकधाम प्रधानगृहं च सरसं सस्नेहं प्लुतं दीर्घीकृतं सृतं वा वीक्षणं दर्शनं लक्ष्म्येकधाम सरसप्लुतवीक्षणं तेन स्वभवनेष्वधिरूढं उत्तुङ्गमञ्चारूढम् अपि सम्भावनार्थं सतीः सत्यः स्थूणान्तरे किमर्थं वीक्षणमित्यत उक्तम् नवसङ्गमेति ॥ ५ ॥

★ प्रत्युद्गमासन वरार्हण पादशौच ताम्बूल विश्रमण वीजन गन्धमाल्यैः ।
केशप्रसार[1] शयनस्नपनोपहारैः[2] दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम् ॥ ६ ॥

❖ रामागृहे विहरतः पुरतः कराभ्यां वद्धेक्षणाः स्वदयितस्य मुदा हसन्त्यः ।
गोत्रान्तराण्यभिदधुर्न[3] तु पूरुषस्य क्लेशावहान्यपि[4] तदङ्घ्रिजभङ्गभीताः ॥

## -: अष्टमहिषी पुत्र संख्या नामानुवर्णनम् :-

तासां या दशपुत्राणां कृष्णस्त्रीणां पुरोदिताः ।
अष्टौ महिष्यस्तत्पुत्रान्प्रद्युम्नादीन्गृणामि[5] ते ॥ ७ ॥

चारुदेष्णः सुदेष्णश्च चारुदेहश्च[6] वीर्यवान् ।
सुचारुश्चारुगुप्तश्च भद्रचारुस्तथापरः ॥ ८ ॥

चारुचन्द्रो[7] विचारुश्च[8] चारुश्च दशमो हरेः ।
प्रद्युम्नप्रमुखा जाता रुक्मिण्यां नावमाः पितुः ॥ ९ ॥

भानुः सुभानुः स्वर्भानुः प्रभानुर्भानुमांस्तथा ।
चन्द्रभानुर्बृहद्भानु[9] रतिभानु स्तथाऽष्टमः ॥ १० ॥

---

★ This verse is not found in M.Ma edns 1.K.T.W. °ध° 2. K.W. °हार्यैः ❖ This verse is not found in G.J.K.W. edns. 3. B. M. Ma गात्रा° 4. B. M. Ma. °पि° 5.M.Ma गृणन्ति तान् 6. Ml.V. °व° 7. K.M.Ma.W. °न्द्रोऽति° 8. K.M.Ma.W. °भान् 9. Ml.V. °नू रवि ; K.W. °नू रति

**श्रीध० प्रत्युद्गमेति**। किन्तु प्रत्युद्गमादिभि र्विभोस्तस्य दास्यं नित्यं विदधुरिति। प्रौढभावेऽपि नवसङ्गमाद्यभिधानमगतसारत्वेनौत्सुक्येन च तथा प्रतीतेः। तेषामेव श्लोकानां प्रस्तावान्तरे पुनः पुनः आवृत्तिरिति सौन्दर्यात् ॥६॥

प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रस्तुतमाह - **तासामिति**। दश दश पुत्रा यासां तासां मध्येऽष्टौ महिष्यो याः प्रागुक्तास्त त्पुत्रानिति ॥७-१०॥

**वीर०** किन्तु प्रत्युद्नमादिभिः विभोस्तस्य दास्यं विदधुरिति प्रौढभावेऽपि नवमङ्गमाद्यभिधानमगत सारत्वे नौत्सुक्येन च तथा प्रतीतेः, एतेषामेव श्लोकानां प्रस्तावान्तरे पुनः पुनरावृत्तिरपि सौन्दर्यात् ॥ ६ ॥

प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमाह-**तासामिति**। दश दश पुत्रा यासां तासां कृष्णस्य स्त्रीणां मध्ये या अष्टौ रुक्मिण्यादयः पूर्वं कथितास्तासां पुत्रान् प्रद्युम्नादीन् तुभ्यं कथयामि ॥ ७ ॥

**चारुदेष्ण** इति। प्रद्युम्नः प्रमुख आदिर्येषा मिति तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः। ते दश पितुर्हरेरनवमा स्तुल्या रुक्मिण्याः पुत्रा इति शेषः। प्रद्युम्नव्यतिरिक्तान् नवपुत्रान्निर्दिशति - चारुदेष्ण इति। वीर्यवानिति चारुदेह विशेषणम् ॥ ८, ९ ॥

अथ सत्यभामासुतानाह-**भानुरिति**। भान्वादयो दश सत्यभामायास्सुता इत्यन्वयः ॥ १० ॥

**विज०** सुरतादन्यत्र काले तासां लीला विशेषमाह-**रामा** इति। रामाः स्त्रियः गृहे विहरतः स्वदयितस्य कराभ्यां पुरतो बद्धेक्षणाः मुदा रोमाञ्चहेतुहर्षेण हसन्त्यः साट्टहासं (कुर्वन्त्यः) निजपूरुषस्य निजभर्तुः क्लेशावहानि क्लेशाकराण्यपि गात्रान्तराणि विषयेभ्यः स्पर्शयोग्येभ्यो गात्रेभ्येऽन्यत् गात्राणि अपिदधुः वस्त्रादिना पिहितानि चक्रुरित्यन्वयः। कीदृश्यः? तस्याङ्गजस्याऽश्लेषलक्षणकामस्य भङ्गे, भीता अपीति ॥ ६ ॥

इदानीं तासां पृथक् पृथक् पुत्रान्वक्तु मुपक्रमते - **तासामिति**। दश दश पुत्रा यासां ताः दशपुत्राः तासां तासां कृष्णस्त्रीणां मध्ये याः पुरोदिताः पूर्वोक्ताः अष्टौ महिष्यः तासां तान्पुत्रान् प्रद्युम्नादीन् गृणन्ति तत्रत्या इति शेषः ॥ ७ ॥

प्रद्युम्नादन्ये किं नामान इति तत्राह **चारुदेष्ण** इत्यादिना ॥ ८, ९ ॥

[1]एवं क्रमेण सत्यभामादि सुताननुक्रामति **भानुरित्यादिना**। एकैः[-1] शत्रुः चन्द्रस्य स्वर्भानू राहुरिव अपरः लोकस्य भानुः सूर्य इव स्वः स्वर्गपुरे स्थितः ॥ १० ॥

---

1--1 B.M. Omit

**श्रीभानुः प्रतिभानुश्च सत्यभामात्मजा दश ।**
**साम्बः सुमित्रः पुरुजिच्छतजिच्च सहस्रजित् ॥ ११ ॥**

विजयश्चित्रकेतुश्च वसुमान्[1] द्रविणः[2] क्रतुः ।
जाम्बवत्याः सुता ह्येते साम्बाद्याः पितृसन्निभाः[3] ॥१२॥

भानुश्चन्द्रोऽश्वसेनश्च चित्रगुर्वेगवान्वृषः ।
आमः शङ्कुर्वसुः श्रीमान् कुन्तिर्नाग्नजितेः[5] सुताः ॥१३॥

श्रुतिः[6] कविर्वृषो वीरः सुबाहुर्भद्र एकलः ।
शान्तिर्दर्शः पूर्णमासः[7] कालिन्द्याः सोमकोऽवरः ॥१४॥

प्रघोषो गात्रवान्सिंहो बलः प्रबल ऊर्ध्वगः ।
माद्र्याः सुता महाशक्तिः सह ओजोऽपराजितः ॥१५॥

---

1. M.I.V कीर्ति° 2. B.G.J. °ड 3. B.G.J.M.Ma M.I.V सम्मताः 4. B.G.J वीर° 5. K.W. धृति° ; M.Ma. M.I.V कृति° 6. B.G.J. M. Ma.M.I.V श्रुतः 7. M.Ma °म्यः 8. K.W. प्रजङ्घा 9. M. Ma स्थिद्धो 10. B.G.J. M. Ma पुत्रा 11. M.I.v. °हस्तेजोऽ ।

**श्रीध० भानुरिति** । श्रीमानिति वसोः कुन्तेर्वा विशेषणम् ॥११-१३॥

**श्रुत** इति । भद्रो नाम एकल एकः । सोमकोऽवरः कनीयान् । एते कालिन्द्याः सुता इति ॥१४॥

**प्रघोष** इति । माद्र्या लक्ष्मणायाः ॥१५॥

**वीर०** जाम्बवतीसुतानाह **साम्ब** इति । एते साम्बादयः पितृतुल्याः जाम्बवत्यास्सुताः । नाग्नजितीसुतानाह भानुरिति । श्रीमानिति वसोः धृतेर्वा विशेषणम् ॥११-१३॥

कालिन्द्यास्सुतानाह - **श्रुतिरिति** । भद्रस्यैव एकल इति नामान्तरं, सोमकोऽवरः तेषां सर्वेषां कनीयान्, एते दश कालिन्द्यास्सुता इति शेषः ॥१४॥

अथ लक्ष्मणायास्सुतानाह - **प्रजङ्घ** इति । माद्र्याः लक्ष्मणायाः सुताः प्रजङ्घादय इत्यन्वयः ॥१५॥

**विज०** नाग्नजितेः नग्नजित्पुत्र्याः नीलायाः ॥११-१३॥

वृषविशेषणां वीर इति । अपरः सोमकोऽपि कालिन्द्यास्सुतः ॥१४॥

माद्र्याः लक्ष्मणायाः ॥ १५ ॥

वृको[1-] हर्षोऽनिलो गृध्रो[-1] वर्धनोऽन्नाद[2-] एव च[-2] ।
महांशः[3] पवनो[4] वह्निर्मित्रविन्दात्मजाः क्षुधिः ॥ १६ ॥

सङ्ग्रामजिद्बृहत्सेनः शूरः प्रहरणोऽरिजित् ।
जयः[5] सुभद्रो भद्राया वाम आयुश्च सत्यकः ॥ १७ ॥

दीप्तिमांस्ताम्रपत्राद्या[6] रोहिण्यास्तनया हरेः ।
प्रद्युम्नाद्यानिरुद्धोभूद्रुक्मवत्यां महाबलः ॥१८॥

पत्र्यां तु रुक्मिणो राजन्नान्मा भोजकटे पुरे ।
एतषां पुत्रपौत्राश्च बभूवुः कोटिशो नृप ॥

मातरः कृष्णजातानां सहस्राणि च षोडश ॥१९॥

राजोवाच

कथं रुक्म्यरिपुत्राय प्रादाद्दुहितरं युधि ।
कृष्णेन परिभूतस्तं हन्तुं रन्ध्रं प्रतीक्षते ।
एतदाख्याहि मे ब्रह्मन्[7] द्विषोर्वैवाहिकं मिथः ॥ २० ॥

---

1- -1 K.Ml.v.W वृकों ह्यर्कोऽनिलो गृध्रो ; M.Ma वृकोऽर्कोऽनिलो नीलो 2- -2 K.M.Ma.W बह्वन्नोऽन्नाद एव च ; Ml.v. बह्वन्नो नाथ एव च । 3. G.J.K.M.Ma.Ml.V.W. महाशः 4. G.J.Ml.V. पा° 5. Ml.V. यज्ञः । 6. B.G.J. °तमा° 7. B.G.J. Ml.V. विद्वन् ।

**श्रीध० वृक** इति । क्षुधिश्च दशमः । एते मित्रविन्दात्मजाः ॥ १६ ॥

**सङ्ग्रामजिदिति** । सङ्ग्रामजित्प्रमुखाः सत्यकान्ता भद्रायाः सुताः । शैब्याऽपिनाम सैव ॥ १७ ॥

**दीप्तिमानिति** । रोहिण्याः सुतानामुक्तिरन्यासामुपलक्षणार्थम् ॥१८॥

**पुत्र्यामिति** । एतेषामपि अन्येषामपि श्रीकृष्णपुत्राणां शतसंख्यस्त्रीषु पुत्राः पौत्राश्च कोटिशो बभूवुः । तत्र हेतुत्वेन श्रीकृष्णपत्नीनां बाहुल्यमनुस्मारयति । मातरः कृष्णजातानामिति । चशब्देनाधिकाश्चेत्युक्तम् ॥१८॥

**कथमिति**। यः कृष्णं हन्तुं रन्ध्रं प्रतीक्षते स कथं प्रादादिति। वैवाहिकं विवाहनिमित्तम् ॥ २० ॥

**वीर०** मित्रविन्दायास्सुतानाह-**वृक** इति। क्षुधिः दशमः, एते मित्रविन्दात्मजाः ॥ १६ ॥

अथ भद्रायास्सुतानाह-**सङ्ग्रामजिदिति**। भद्राया इत्यस्याः। सुता इति शेषः। एवमन्यासामपि षोडशसहस्र पत्नीनां दश दश पुत्राः तथैव ॥ १७ ॥

रोहिण्याम्सुतानामुक्तिरन्यासामपि सुतप्रदर्शनार्थम्-**दीप्तिमानिति**। हरेराश्रितार्तिहरस्य बलभद्रस्य (?) रोहिण्याश्च जाताः पुत्राः इत्यर्थः। अथ विवक्षिष्यमाण कथाविषयक पिपृच्छिषामुत्पादयन् भगवतः पौत्रादीनाह प्रद्युम्नादिति द्वाभ्याम् ॥ १८ ॥

हे राजन् ! नाम्ना भोजकटमिति प्रसिध्दे पुरे, वसत इति शेषः। तस्य रुक्मिणः पुत्र्यां रुक्मवत्याख्यायां भार्यायां प्रद्युम्नादनिरुध्दो बभूव। एतेषां प्रद्युम्नव्यतिरिक्तानां कृष्णपुत्राणामपि पुत्राः पौत्राश्च कोटिशो बभूवुः, तत्र हेतुत्वेन श्रीकृष्णपत्नीनां बाहुल्यमनुस्मारयति मातर इति। कृष्णजातानां मातरः षोडशसहस्राणि, चशब्दात् ततोऽप्याधिक्यं सूच्यते ॥ १९ ॥

रुक्मिणः पुत्र्यामित्युक्तम्, तत्र पृच्छति राजा **कथमिति**। अरेः कृष्णस्य पुत्राय प्रद्युम्नाय कथं दुहितरं ददौ, किञ्च स हि रुक्मी युद्धे कृष्णेन परिभूतोऽवमानितः तं कृष्णं हन्तुं रन्ध्रमन्तरं प्रतीक्षते, स कथं प्रादादिति भावः। हे विद्वन् ! द्विषोः कृष्णरुक्मिणोः मिथो यद्वैवाहिकं विवाहनिमित्त मेतन्मह्यमाख्याहि ॥ २० ॥

---

1. K. omits पुत्राय

**विज०** रोहिण्याः भद्रायाः ॥ १६-१८ ॥

भोजकटे पुरे स्थितस्य रुक्मिणः पुत्र्याम्। एतेषां मातरः कृष्णभार्याणां षोडशसहस्राणि ॥ १९ ॥

अरेः कृष्णस्य पुत्राय प्रद्युम्नाय तं कृष्णं रन्ध्रमवसरम्। **द्विषोः** शत्रुभूतयोः वैवाहिकीं विवाहसम्बन्धिनीम् ॥ २० ॥

**अनागतमतीतं च वर्तमानमतीन्द्रियम्।**
**विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः ॥ २१ ॥**

श्रीशुक उवाच

❖ वृतस्स्वयंवरे सांक्षादनङ्गोऽङ्गयुतस्तया ।
राज्ञः समेतान्निर्जित्य जहारैकरथो युधि ॥ २२ ॥

यद्यप्यनुस्मरन्वैरं रुक्मी कृष्णावमानितः ।
व्यतरद्भागिनेयाय सुतां कुर्वन्स्वसुः प्रियम् ॥ २३ ॥

★ तदेवानुस्मरन्वैरं रुक्मी कृष्णावमानितः ।
तोषयामास तपसा श्रीशैलनिलयं हरम् ॥ 1 ॥

तपसाऽऽराधितो रुद्रो रुक्मिणं वरदर्षभः ।
वरेण च्छन्दयामास स च वव्रे दृढं धनुः ॥ 2 ॥

अजेयं शत्रुसङ्घानामच्छेद्यं त्रिदशैरपि ।
तथेति कार्मुकं दत्वा वाक्यं चोवाच शङ्करः ॥ 3 ॥

यदा विरुध्यसे विष्णौ तदेतत्कार्मुकं नृप ।
हित्वा तदा त्वां मामेव प्रतिपत्स्यति नान्यथा ॥ 4 ॥

इत्युक्त्वा कार्मुकं दत्वा शङ्करो न व्यदृश्यत ।
सोपि लब्धवरो राजा प्राप्य भोजकटं पुरम् ॥ 5 ॥

तेन चापेन सकलान्नृपान्प्रख्यात पौरुषान् ।
वशे चकार सङ्ग्रामे रुक्मी कृष्णमृते नृप ॥ 6 ॥

विरोद्धुं वासुदेवेन रुक्मी नैवाकरोन्मनः ।
धनुर्लोभान्महाराज न मैत्रीमप्यकल्मषाम् ॥ 7 ॥

यद्यप्यनुस्मरन्वैरं गिरिशस्य स्मरन्वचः ॥ 8 ॥
अनिरुद्धो रुक्मवत्यां तस्यां जज्ञे महारथः ॥ 9 ॥

जहार यं चित्रलेखा बाणपुत्र्या प्रचोदिता ।
सहस्त्रबाहुर्बाणश्च यत्कृते द्विभुजोऽभवत् ॥ 10 ॥

**रुक्मिण्यास्तनयां राजन्कृतवर्मसुतो बली ।**
**उपयेमे विशालाक्षः कन्यां चारुमतीं किल ।। २४ ।।**

## -: अनिरुद्ध विवाहे बलरामकृत रुक्मिवध कथारम्भः :-

**दौहित्रायानिरुद्धाय पौत्रीं रुक्म्यददाद्धरेः ।**
**रोचनां बध्दवैरोऽपि स्वसुः प्रियचिकीर्षया ।**
**जानन्नधर्मं[1] तद्योगं स्नेहपाशानुबन्धनः ।।२५।।**

---

❖ अयं श्लोकः विजयध्वजीय पाठानुसारेण ३० तम श्लोकत्वेन दृश्यते। ★ 'तदेवानुस्मरन्वैरं' इत्यारभ्य 'यत्कृतं द्विभुजोऽभवत्' पर्यन्तं दश श्लोकाः विजयध्वजपाठे दृश्यन्ते। अन्येषु प्रकाशेषु नास्ति। 1. B.G.J.K.MI.V.W. तद्यानं

**श्रीध०** रुक्मिणोऽभिप्रायं कथं जानीम इति चेदत आह-**अनागतमिति**। अतीन्द्रियमस्मदादीन्द्रियागोचरम्। विप्रकृष्टं दूरस्थम्। व्यवहितं कुड्याद्यन्तरितम् ॥२१॥

**वृत** इति। तत्रोत्तरम्-स्वयंवरे रुक्मवत्या वृतस्सन् राज्ञो निर्जित्य जहारेति ॥२२॥

**यद्यपीति**। यद्यपि श्रीकृष्णावमानितस्तथापि वैर मनुस्मरन्नपि व्यतरत्प्रादात् अन्वमोदतेत्यर्थः ॥२३॥

सर्वासामपि एकैका कन्या तत्सर्वविवाहोपलक्षणार्थं ज्येष्ठकन्याविवाहमाह-**रुक्मिण्या** इति ॥२४॥

**दौहित्रायेति**। यौनं विवाहः । तद्यौनमधर्मं जानन्निति। "द्विषदन्नं न भोक्तव्यं द्विषन्तं नैव भोजयेत्" (भार 5-409 - 1PR14PPP 4-2162 PR) इति लोक विरोधात्। "अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न तु" इति निषेधाच्चेत्यर्थः॥२५॥

---

1- -1 MI.V इत्यादि श्लोक विचारात्

**वीर०** न जानामीति मा वोच इत्याह-**अनागतमिति**। अतीन्द्रियमस्मदादीन्द्रियागोचरं विप्रकृष्टं दूरस्थं व्यवहितमीषदन्तरितं चेत्येतत्सर्वं योगिनो भवन्तः सम्यक् यथावत्पश्यन्ति साक्षात्कुर्वन्ति अतो जानास्येवेति भावः ।।२१।।

एतदेव स्पष्टयितुं तावत्स्वयंवरे तद्दुहिता प्रद्युम्नेन हतेत्याह-**वृत** इति। एक एव रथो यस्य सः असहायः प्रद्युम्नः स्वयंवरे तथा रुक्मवत्या वृतः, स्वयं च तस्यामनुरागयुक्तः समेतान् युयुत्सया प्राप्तान् राज्ञो नृपान् युद्धे निर्जित्य तां जहार॥२२॥

इत्थमापृष्टः प्राह श्रीशुकः[1] **यद्यपीति**। यद्यपि रुक्मी कृष्णेनावमानितः तथापि वैरमनुस्मरन्नपि स्वसुः रुक्मिण्याः प्रियं कुर्वन् "लक्षणहेत्वोः" (अष्ट 3-2-126) इति शत्रादेशः, कर्तुमित्यर्थः। व्यतरत् ददौ अन्वमोदतेति भावः। न त्वाहूय कन्यां ददौ, अपि तु स्वयंवरे प्रद्युम्नेन हृतामन्वमोदतेत्युत्तरमभिप्रेतम् ॥ २३ ॥

रुक्मितनयाप्रसङ्गात् किं भगवतोऽपि दुहितरस्सन्ति ? यदि सन्ति तर्हि कस्यां कस्यां भार्यायां कति कति कन्या अजीजनदिति राज्ञो बुभुत्सां शमयन्नाह **रुक्मिण्या** इति। तनयामित्येक वचनेनान्यासामप्येकैकैव कन्येति दर्शितम्, चारुमतीं नाम कन्यां कृतवर्मणः सुतः उपयेमे ॥ २४ ॥

न केवलं रुक्मी प्रद्युम्नगृहीतां स्वसुता मेवान्वमोदत अपि तु प्रद्युम्नसुतायानिरुध्दाय स्वदौहित्राय स्वपौत्रीमपि भगिनीप्रियचिकीर्षया ददावित्याह **दौहित्रायेति**। हरेरिति तस्य पौत्रायेति शेषः। रोचनां नाम पौत्रीं ददावित्यर्थः। न केवलं बद्धवैरोऽप्येव अपि तु तद्यौनमधर्म्यं जानन्नपि युमेश्रणें, योनिर्मिश्रणं वैवाहिकसम्बन्धः, तत्प्रयुक्तं भोजनप्रतिभोजनादिकं तदधर्म्यम् अस्वर्ग्यं लोकविरुद्धं जानन्नित्यर्थः। "द्विषदन्नं न भोक्तव्यं द्विषन्तं नैव भोजयेत्" (भारतं 5-409-1 Pr 14 App 4-2162) Pr इति शास्त्रादिति भावः। एवम्भूतोऽपददात्, तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि - स्नेहपाशेन स्वसरि यः स्नेह एव पाशस्तेनानुबध्यत इति तथा, अत एव तस्याः प्रियं कर्तुमिच्छया ददावित्यर्थः ॥ २५ ॥

---

1.B मुनिः

**विज०** अतीतकथा नेदानीं वक्तुं शक्येति नेत्याह-**अनागतमिति**। विप्रकृष्टं दूरस्थं व्यवहितं मूर्तद्रव्यान्तरितम् ॥ २१ ॥

*अनङ्गश्चेत् किमवलोक्य वृत इत्यत उक्तम् **अङ्गयुत** इति ॥ २२ ॥

अर्धाङ्गीकारेण परिहरति-**यद्यपीति**। व्यतरत् दत्तवान्। भागिनेयाय सहोदर्याः पुत्रायेति सूचितम्, प्रियम् इष्टं, स्पष्टं तदेव आचष्टे कुर्वन्निति। इदं दाने कारणम् ॥ २३ ॥

❖ ननु ततः परं वैरं मुक्तवान् किं न ततोऽधिकमभूत् कथमत्राह-**तदेवेति**। श्रीशैलनिलयं श्रीपर्वतवासिनं मल्लिकार्जुन नामानमित्यर्थः ॥ 1 ॥

छन्दयामास अभीष्टं दत्तवान्। "वशाभिप्राययोश्छन्दः" वैज °को° 6-1-24 इति ॥ 2 ॥

शत्रुसङ्घानां मनसेति शेषः। अजेयाच्छेद्यत्वे तथाऽऽस्तामित्युक्त्वा तस्य कृष्णभक्तिं दर्शयितुं वक्ति - वाक्यं चेति ॥ 3-6 ॥

तर्हि बन्धुमैत्रीं निर्दुष्टात्माऽकार्षीत् किं नेत्याह-मैत्रीमिति। अपि तु बन्धु कृत्याकरणेन कल्मष मकरोत्। ।7।।

मैत्र्यकरणे विरोधाकारणे च निमित्तमाह-यदीति ॥8,9॥

यमनिरुद्धम् ॥10॥

कृतवर्मणः सुतः पुत्रः ॥२५॥

रुक्मी स्वदौहित्राय हरेः पौत्राय अनिरुद्धाय इति शेषः स्वपौत्रीमदात् ॥२६॥

---

★ This is taken as 30th sloka commentary in M. Ma. Mb Editions

❖ Commentaries for extra verses.

तस्मिन्नभ्युदये राजन् रुक्मिणी रामकेशवौ ।
परं भोजकटं जग्मुः प्रद्युम्नाद्यास्तथाऽपरे[1] ॥२६॥

तस्मिन्निर्वृत्त उद्वाहे कालिङ्गप्रमुखा नृपाः ।
दृप्तास्ते रुक्मिणं प्रोचुर्बलमक्षै र्विनिर्जय ॥२७॥

अनक्षज्ञो ह्ययं राजन्नपि तद्व्यसनं[2] महत् ।
इत्युक्तो बलमाहूय तेनाक्षै रुक्म्यदीव्यत ॥२८॥

शतं सहस्रमयुतं रामस्तत्राददे पणम् ।
तं तु रुक्म्यजयत्तत्र कालिङ्गः प्राहसद्बलम् ॥
दन्तान्संदर्शयन्नुच्चैर्नामृष्यत्तद्बलायुधः ॥२९॥
ततो लक्षं रुक्म्यगृह्णादग्लहं तत्राजयद्बलः ॥
जितवानहमित्याह रुक्मी कैतवमाश्रितः ॥३०॥

---

1- -1 B.G.J. M. Ma. Ml.v. साम्बप्रद्युम्नकादयः। Ma °सनी महान्

श्रीध० लोकविरुद्धाचरणफलं वक्तुमाह-तस्मिन्निति ॥२६, २७॥

अनक्षज्ञ इति। अदीव्यत् क्रीडितवान् ॥२८, २९॥

**तत** इति। निष्काणां लक्षं ग्लहं पणं कृतवान्। कैतवं कपटम् ॥३०॥

**वीर०** लोकविरुद्धाचरणफलं वक्तुमाह-**तस्मिन्निति**। तस्मिन्नभ्युदये अनिरुद्धविवाहोत्सवरूप निमित्ते ॥२६॥

**तस्मिन्नति**। तस्मिन्नुद्वाहे निर्वृत्ते जाते सति ये कलिङ्गप्रमुखास्ते राजानः रुक्मिणं प्रोचुः, किमिति? बलं बलभद्रम् अक्षैः देवनाक्षैः तद्व्यापरैः द्यूतैरिति यावत्, हे राजन्! रुक्मिन्! अयं बलरामः अनक्षज्ञः, द्यूतानभिज्ञः, अपि तथापि तद्व्यसनं द्यूतव्यसनं महदस्य वर्तत इति ॥२७॥

इत्थमुक्तो रुक्मी बलभद्रमाहूय तेन सह अक्षैः अदीव्यत क्रीडितवान् ॥२८॥

**शतमिति**। निष्काणामित्यादिः। तत्र द्यूते रामः तावन्निष्काणां शतं ततः सहस्रं ततोऽयुतं च पणं जित्वा स्वीकृतवान्। पुनस्तं राममपि रुक्मी जितवान्। तदा बलं रामं कालिङ्गः [1-]दन्तान् सन्दर्शयन्[-1] प्राहसत् अपहसितवान्, रामः तद्धसनं नामृष्यत् न सेहे ॥२९॥

ततो रुक्मी लक्षं ग्लहं पणमाददे, तं च बलः अजयत्, कैतवं वञ्चनमाश्रितो रुक्मी अहं जितवानित्याह ॥३०॥

---

1- -1 B Omits

**विज०** तस्मिन्नभ्युदये अनिरुद्धविषये विवाहे प्रवृत्ते सति ॥२६, २७॥

बलं बलभद्रं तद्व्यसनी द्यूतक्रियापरः ॥२८॥

पराजये पणं ग्लहम्। कलिङ्गः दन्तवक्त्रः ॥२९॥

त्वां जितवान्'तानशिक्षत। अग्रे इति भावः ॥३०॥

**मयुना क्षुभितः श्रीमान्समुद्र इव पर्वणि ।**
**[1]जात्यारुणाक्षोऽतिरुषा [2]न्यर्बुदं ग्लहमाददे ॥ ३१ ॥**

**तं चापि जितवान्रामो धर्मेण च्छलमाश्रितः ।**
**रुक्मी जितं मयाऽत्रेमे वदन्तु [3]प्राश्निका इति ॥३२।**

**★ तथेत्याह कलिङ्गोपि दन्तान्सन्दर्श्य सीरिणः। ततः कोपपरीतात्मा तूष्णीमासीद्धलायुधः ॥**
**[4]अथान्नवीन्नभोवाणी बलेनैव जितो ग्लहः। धर्मतो [5]वचनेनैव रुक्मी वदति वै मृषा ॥३३॥**

**तामनादृत्य वैदर्भो दुष्टराजन्यचोदितः ।**
**सङ्कर्षणं परिहसन्बभाषे कालचोदितः ॥ ३४ ॥**

**नैवाक्षकोविदा यूयं गोपाला वनगोचराः ।**
**अक्षैर्दीव्यन्ति राजानो बाणैश्च न भवादृशाः ॥ ३५ ॥**

---

1 K.W. जाता° 2. K.W. पूर्ववत् 3. K.W. °न्ति ★ This extra verse is found in B. M. Ma editions only. 4. B. G. J. M. Ma. Ml.V तदाऽ° 5. K.W. वञ्चनेनैवं

**श्रीध० मन्युनेति** । न्यर्बुदं दशकोटीः ग्लहं पणं क्षुभितो राम आददे ॥ ३१ ॥

**तमिति** । छलमाश्रितो रुक्मी मया जितमित्याह ॥ ३२-३५ ॥

**वीर० मन्युनेति** । यथा पर्वणि समुद्रः तद्वन्मन्युना क्षुभितोऽत एव जाते अरुणे अक्षिणी यस्य तथाभूतो रामः रुषा पूर्ववल्लक्षं ग्लहमाददे ॥ ३१ ॥

तं रुक्मिणं च धर्मेणैव अजयच्च रुक्मी तु छलमाश्रितः मया जितम् । अत्रास्मिन्विषये प्राश्निकाः प्रष्टव्याः[1] कालिङ्गादयो वदन्ति, मया जितमित्येव वदन्ति, अतस्ते प्रष्टव्या इत्याहेत्यर्थः ॥ ३२ ॥

**अथेति** । धर्मतो बलेन रामेणैव ग्लहो जितः, रुक्मी तु वञ्चनेनैवं वदति, अतः तदुक्तिः मृषेत्यशरीरवाणी प्राहेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

तां नभोवाणी मनादृत्य दुष्टराजन्यैः कालिङ्गादिभिश्चोदितो वैदर्भः रुक्मी कालचोदितोऽत एव परिहसन् बभाषे ॥ ३४ ॥

भाषणमेवाह-**नैवेति** । नाक्षकोविदा न द्यूतकुशलाः, तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि-गोपाला वनगोचराश्चेति । राजान एवाक्षैर्बाणैश्च दीव्यन्ति, न तु भवादृशाः पशुपालकाः ॥ ३५ ॥

---

1. K. omits प्रष्टव्याः

**विज०** अर्बुदं दशकोटिधनम् ॥ ३१, ३२ ॥

आकाशसरस्वती किमाहेति तत्राह बलेनेति ॥ ३३ ।

तामाकाशवाणीम् ॥ ३४, ३५ ॥

रुक्मिणैवमधिक्षिप्तो राजभिश्चापहासितः ।[1]
क्रुद्धस्त्वष्टपदेनैनं[2-2] जघ्ने[3-3] तं नृम्णसंसदि[3] ॥ ३६ ॥

कलिङ्गराजं तरसा गृहीत्वा दशमे पदे ।
दन्तानपातयत्क्रुद्धो योऽह सद्विवृतैर्द्विजैः ॥ ३७ ॥

अन्ये निर्भिन्नबाहूरु[4] शिरसो रुधिरोक्षिताः ।
राजानो दुद्रुवुर्भीता बलेन परिघार्दिताः ॥ ३८ ॥

निहते रुक्मिणि श्याले[5] नाब्रवीत्साध्वसाधु वा ।
रुक्मिणीबलयो राजन्स्नेहभङ्गभयाद्धरिः[6] ॥ ३९ ॥

ततोऽनिरुद्धं[7] सह सूर्यया[8] वरं रथं समारोप्य ययुः कुशस्थलीम्
रामादयो भोजकटाद्दशार्हाः[9] सिद्धाखिलार्था मधुसूदनाश्रयाः ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्त्रयां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे एकषष्टितमोऽध्यायः ।।६१।।

---

1. B.G.J.M.Ma °श्चो° 2--2 B.G.J.K.V.W. क्रुद्धः परिघमुद्यम्य 3--3 M.Ma जघानोद्वाह पर्वणि ; K.W. जघ्ने तं नृपसंसदि 4. M.Ma °हो° 5. K.W. स्याले 6. K.W. °रैः 7. M.Ma अथो 8. M. Ma भार्यया 9. K.M. Ma.W. °र्हकाः

श्रीध० रुक्मिणेति। नृम्णसंसदि। मण्डलसभायाम्[1] ॥ ३६, ३९ ॥

तत इति। सूर्यया नवोढया। सिद्धा अखिला अर्था अभ्युदयशत्रुवधादयो येषां ते ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

---

1. Ml.v शोभन°

**वीर० रुक्मिणेति**। रुक्मिणैवमधिक्षिप्तो रामः हे नृप! संसदि सभायां नृपाणां संसदि वा तं जघ्ने ॥ ३६ ॥

कलिङ्गराजं तु तरसा प्रसह्य दशमे पदे पादविन्यासे गृहीत्वा क्रुद्धस्सन् दन्तान् अपातयत् भग्नानकरोदित्यर्थः। तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि यः कलिङ्गः विवृतैः प्रकाशितैः द्विजैः दन्तैः अहसत्; ततो दन्तानेवापातयदित्यर्थः ॥ ३७ ॥

अन्ये तु राजानः बलेन कर्त्रा परिघेण साधनेनार्दिताः ताडिताः अत एव निर्भिन्नानि बाह्वादीनि येषां ते अत एव रुधिरेणोक्षिताः सिक्ताः भीताश्च दुद्रुवुः पलायितवन्तः ॥ ३८ ॥

**निहत** इति। हरेः कृष्णस्य स्याले रुक्मिणि निहते सति साध्वसाध्विति वा नाब्रवीत्, कुतः? बलयोः (?) रामकृष्णयोर्विषये यः स्नेहस्तस्य भङ्गभयात् बलयोरित्यत्र द्विवचन बलेन कृष्णपरिग्रहः। हरिरिति प्रथमान्त पाठे स्याले रुक्मिणि निहते सति हरिः भगवान् रुक्मिणीबलयोः रुक्मिणी बलरामयोः स्नेहभङ्ग भयात् साध्वसाधु वा नाब्रवीदित्यर्थः ॥ ३९ ॥

**तत** इति। ततो रामादयो दशार्हकाः सूर्यया नवोढया सह अनिरुद्धं श्रेष्ठं रथम् आरोप्य [1-]आरोहयित्वेत्यर्थः[-1]। मधुसूदन आश्रयो योषां ते, अत एव सिद्धाः सकलाः अर्थाः प्रयोजनानि येषां ते। कुशस्थलीं द्वारकां प्रति [2]ययुः जग्मुः ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

---

1- -1 K.T.W. आरोहोत्यर्थः। 2. K.T.W. Omit ययुः

**विज०** अष्टपदेन अक्षफलकेन ॥ ३६-३८ ॥

हरेः श्याले रुक्मिणि निहते सति ॥ ३९ ॥

भार्यया सह अनिरुद्धं वरं रथमारोप्य रामादयो दशार्हकाः सिद्धाखिलार्थाः सम्पन्नसमस्ताभीष्टाः। तत्र हेतुः मधुसूदनेति ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

(विजयध्वजरीत्या षट्सप्ततितमोऽध्यायः।)

# द्विषष्टितमोऽध्यायः

(अध्यायेऽस्मिन् विजयध्वजीयव्याख्या नास्ति)

राजोवाच

★ बाणस्य तनयामूषामुपयेमे यदूत्तमः ।
तत्र युद्धमभूद्घोरं हरिशङ्करयोर्महत् ।
एतत्सर्वं महायोगिन् समाख्यातुं त्वमर्हसि ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

बाणः पुत्रशतज्येष्ठो बलेरासीन्महात्मनः ।
❖ अदायि[1-] मेदिनी येन वामनाय महात्मने[1] ॥ २ ॥

तस्यौरसः सुतो बाणः शिवभक्तिरतः सदा ।
मान्यो वदान्यो धीमांश्च सत्यसन्धो दृढव्रतः ॥ ३ ॥

शोणिताख्ये पुरे रम्ये स राज्य मकरोत्पुरा ।
तस्य शम्भोः प्रसादेन किङ्करा इव तेऽमराः ॥

सहस्रबाहु र्वाद्येन ताण्डवेऽतोषयन्मृडम् ॥ ४ ॥

भगवान् सर्व भूतेशः शरण्यो भक्तवत्सलः ।
वरेणच्छन्दयामास स[2] तं वव्रे पुराधिपम् ॥ ५ ॥

---

★ This verse is not found in MI & V editions. ❖ Five half verses begining with अदायि and ending with तेऽमराः are not found in MI. & V edns. 1- -1 B.G.J.MI.v येन वामनरूपाय हरयेऽदायि मेदिनी। 2. K.T.W. स च

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

द्वियुक् षष्टितमे प्रोक्त मनिरुद्धस्य रोधनम्। कन्यया रममाणस्य बाणेन बहुबाहुना ॥
★ अनिरुध्दोद्वहेऽन्यस्मिन् बाणयादव संयुगे। श्रीकृष्णः श्रीहरं जित्वा बाणबाहूनथाच्छिनत् ॥ १-४

पुराधिपम् पुरपालकम् ॥ ५ ॥

---

★ This verse is not found in Ml. V edns.

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथानिरुद्धविवाहा[1]नन्तरं तदीयमेव विवाहान्तरं समासतः श्रुतपूर्वं विस्तरबुभुत्सया पृच्छतिराजा **बाणस्येति**। उषां उषानाम तनयां यदूत्तमोऽनिरुद्धः तत्र निमित्ते हरिशङ्करयोः कृष्णशिवयोः महद्घोरं युद्धमभूदित्येतत्सर्वं मह्यम्, आख्यातु मर्हसि ॥ १ ॥

आचष्टे बाण इत्यादिना, बलेः पुत्राणां शतस्य ज्येष्ठः बाणो नामासीत्। कोऽसौ बलिरित्यत आह। येन बलिना मेदिनी भूमि रदायि दत्ता ॥ २ ॥

बाणं विशिनष्टि - **तस्येति**। तस्य बले रौरसः उरसा निर्मितः सुतः सत्ये सन्धा अभिसन्धिर्यस्य, धृतं रुद्रोपासनात्मकं व्रतं येन सः ॥ ३ ॥

**शोणिताख्य** इति। स बाणः तस्य बाणस्य शम्भोः प्रसादेन वरेण हेतुना, अमरा देवाः किङ्करा इव,किं बहुनेत्याह सहस्रबाहुरिति। सहस्रं बाहवो यस्य स बाणः "सहस्र बाहुवाद्येनेति", समस्तपाठे तु सहस्र बाहुभिः यद्वाद्यं वादनं तेन मृडं रुद्रं ताण्डवे नृत्ये अतोषयत्। मृडे ताण्डवं कुर्वति सति सहस्रबाहुभिः पञ्चशतवाद्यानि वादयन् तमतोषयदित्यर्थः ॥ ४ ॥

इत्थं तोषितः स भगवान् रुद्रः तं बाणं वरेण, अध्ययनेन वसतीतिवत् तृतीया। वरार्थं छन्दयामास [2]चोदयामास[-2] बाणस्तं रुद्रं पुराधिपं पुरपालकं वव्रे त्वं मत्पुरीं पालयन्नास्वेति वव्रे इत्यर्थः ॥ ५ ॥

---

1. B.K. ह प्रसङ्गात् 2- -2 B. Omits

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

**स एकदाऽऽह गिरिशं पार्श्वस्थं वीक्ष्य[1] दुर्मदः ।**
**किरीटेनार्कवर्णेन संस्पृशंस्तत्पदाम्बुजम् ॥ ६ ॥**

नमस्ये त्वां महादेव लोकानां गुरुमीश्वरम् ।
पुंसामपूर्णकामानां कामपूरामराङ्घ्रिपम् ॥७॥

दोस्सहस्रं त्वया दत्तं वरं भाराय मेऽभवत् ।
त्रिलोक्यां प्रतियोद्धारं न लभे त्वदृते समम् ॥८॥

कण्डूत्या निभृतैर्दोर्भिः युयुत्सुर्दिग्गजान्हम् ।
अभ्ययां[2] चूर्णयन्नद्रीन् भीतास्तेऽपि प्रदुद्रुवुः ॥९॥

तच्छ्रुत्वा भगवान् क्रुध्दः केतुस्ते भज्यते यदा ।
त्वद्दर्पघ्नो भवेन्मूढ संयुगोमत्समेन ते ॥१०॥

---

There is no commentary of Vijayadwaja to this Chapter 1. B.G.J.K.T.W. वीर्य 2. B.G.J.MI.V. आद्याऽ या°

**श्रीध० नमस्य** इति। कामान् पूरयतीति कामपूरः स चासौ अमराङ्घ्रिपः कल्पतरुः तं त्वा ॥६,७॥

**कण्डूत्येति**। हे आद्य निभृतैः भरितैः दोर्भिः अद्रीन् चूर्णयन् आयां आगच्छम् ॥८-१०॥

**वीर० स** इति। स बाणः वीर्येण दुष्टो मदो यस्य सः, अर्क इव वर्णो यस्य तेन किरीटेन तस्य रुद्रस्य पादाम्बुजं स्पृशन् गिरिशमुवाच ॥६॥

उक्तिमेवाह - **नमस्य** इति। हे महादेव! त्वां नमस्करोमि। कथम्भूतं, न पूर्णः कामो येषां तेषां पुंसां कामान्पूरयतीति तथा स चासौ अमराङ्घ्रिपः कल्पतरुः तम् ॥७॥

त्वया दत्तं भुज सहस्रं केवलं मम भाराय भारार्थमेवाभवत्, त्वदृते त्वां विना मया प्रतियोद्धारं तुल्यं पुरुषं न पश्यामि मदिष्टदैवेन त्वया तु समेनापि न **योत्स्यामीति** भावः ॥८॥

**कण्डूत्येति**। निभृतैः भरितैः भुजैः योद्धुमिच्छुः अद्रींश्चूर्णयन् दिग्गजान् अभ्ययां अभिद्रुतवानस्मि तेऽपि दिग्गजाअपि दुद्रुवुः ॥९॥

**तदिति**। तद्बाणवचः श्रुत्वा भगवान् रुद्रः प्राहेति शेषः। उक्तिमेवाह - केतुरिति। तव केतुः ध्वजो यदा भज्यते स्वयमेव भग्नः पतेदित्यर्थः। तदा हे मूढ! तव दर्पं हन्तीति तथाभूतः भवेत् सम्भवेत् तेन अमत्समेनेति छेदः नाहं समो यस्य सः तेन मत्तोप्यधिकेन त्वद्दर्पघ्नेन संयुगश्च भवेत् ॥१०॥

इत्युक्तः कुमतिर्हृष्टस्स्वगृहं प्राविशन्नृप ।
प्रतीक्षन् गिरिशादेशं स्ववीर्यनशनं[1] कुधीः ॥ ११ ॥

## उषापरिणय कथा

तस्योषा नाम दुहिता स्वप्ने प्राद्युम्निना रतिम् ।
कन्याऽलभत कान्तेन प्रागदृष्ट श्रुतेन सा ॥ १२ ॥

सा तत्र तमपश्यन्ती क्वासि कान्तेति[2] वादिनी ।
सखीनां मध्य उत्तस्थौ विह्वला व्रीडिता भृशम् ॥ १३

बाणस्य मन्त्री कुम्भाण्ड श्चित्रलेखा च तत्सुता ।
सख्यपृच्छत्सखीं[3] ऊषां[3] कौतूहलसमन्विता ॥ १४ ॥

कान्तं[4] मृगयसे सुभ्रु[4] कीदृशस्ते मनोरथः ।
हस्त ग्राहं न तेऽद्यापि राजपुत्र्युपलक्षये ॥ १५ ॥

---

1. K.T.W. भ्रं° 2. K. क्वासीति 3- -3 B.G.J. °खीमुषां 4- -4 B.G.J. कं त्वं मृगयसे सुभ्रूः

**श्रीध० इतीति**। स्ववीर्यनशनं नाशकं केतुभङ्गं प्रतीक्षमाणः ॥ ११ ॥

श्रीमहेशादिष्टसङ्ग्रामस्य प्रसङ्गमाह - **तस्येति** प्राद्युम्निना अनिरुध्देन तत्रापि स्वप्ने ॥१२

**सेति**। तं कान्तं अपश्यन्ती सा उत्तस्थौ ॥ १३ ॥

ततः किं वृत्तं[1] तदाह - **बाणस्येति** ॥ १४ ॥

**कान्तमिति**। हस्तग्राहं भर्तारम् ॥ १५ ॥

---

1. Ml.v. कृतं

**वीर० इतीति**। हे नृप! कुबुध्दिः बाणः स्ववीर्यं भ्रंशयतीति तथा तं गिरीशस्यादेशं केतुभङ्गात्मकं प्रतीक्षमाणो गृहान् प्राविशत् ॥ ११ ॥

एवं स्थिते रुद्रादिष्ट सङ्ग्राम प्रसङ्गमाह-**तस्येत्यादिना**। तस्य बाणस्य दुहिता उषा नाम कन्या प्रागदृष्टः अश्रुतश्च तेन प्राद्युम्निना अनिरुध्देन सह रतिं लेभे ॥ १२ ॥

**सेति**। सा स्वप्रोथिता उषा तं कान्तमपश्यन्ती क्वासि क्वासीत्येवं वदन्ती तत्तदा नितरां व्रीडिता लज्जिता च ॥ १३ ॥

ततः किमासीत्तत्राह - **बाणस्येति**। तस्य कुम्भाण्डस्य सुता चित्रलेखा इदमन्वर्थं नाम, सा कौतूहलेन युक्ता सखी° उषां अपृच्छत् ॥ १४ ॥

प्रश्नमेवाह - **कान्तमिति**। हे सभ्रु! मनोरथविषयः कीदृशः? हे राजपुत्रि! ते तव हस्तग्रहं हस्तं गृह्णतीति तथा तं भर्तारं अद्यापि नोपलक्षये इत्थंत्वेन न निश्चिनोमीत्यर्थः ॥ १५ ॥

**उषोवाच**

**दृष्टः कश्चिन्नरःस्वप्ने श्यामः कमललोचनः ।**
**पीतवासाबृहद्बाहुर्योषितां हृदयङ्गमः ॥ १६ ॥**

**तमहं मृगये कान्तं पाययित्वाऽधरं मधु ।**
**क्वापि यातस्स्पृहयतीं क्षिप्त्वा मां व्यसनार्णवे[1] ॥ १७ ॥**

**चित्रलेखोवाच**

**व्यसनं तेऽपकर्षामि त्रिलोक्यां यदि भाव्यते[2] ।**
**तमानेष्ये नरं यस्ते मनोहर्ता तमादिश ॥ १८ ॥**

**इत्युक्त्वा देवगन्धर्व सिध्यचारणपन्नगान् ।**
**दैत्यान् विद्याधरान् यक्षान् मनुजांश्च यथालिखत् ॥ १९ ॥**

**मनुजेषु च सा वृष्णीन् शूर मानकदुन्दुभिम् ।**
**व्यलिखद्रामकृष्णौ च प्रद्युम्नं वीक्ष्य लज्जिता ॥ २० ॥**

---

1. B.G.J.MI.v वृजिनार्णवे 2. K.T.W. °से

**श्रीध० इतीति**। स्वप्ने त्वया दृष्ट एषां मध्ये को वा भवेदिति। देवादीन् यथावत् पटे आलिखत्॥१६-१९॥

**मनुजेष्विति**। प्रद्युम्नं लिखितं वीक्ष्य श्वशुरोऽयमिति लज्जिता ॥२०॥

**वीर०** एवमुक्त्वा प्राहोषा दृष्टमिति। हृदयङ्गमः मनोहरः ॥१६॥

**तमिति**। मृगये विचिनोमि स्पृहयतीं कांक्षन्तीं मां दुःखार्णवे क्षिप्त्वा क्वापि नूनं यातः ॥१७॥

इत्येवमुक्त्वा प्राह चित्रलेखा **व्यसनमिति**। तव व्यसनं दुःखं अपनयामि, कथं, त्वया यदि त्रिलोक्यां कश्चिद्भाव्यते अयमेवेति निश्चीयते तर्हि तं नरं पुरुषमानेष्ये, अतो यस्ते मनोहर्ता तं प्रति मां आदिश आज्ञापय ॥१८॥

**इतीति**। इत्थमुक्त्वा देवादीन् पटे यथावत् अलिखत् ॥१९॥

यदा च मनुष्येष्वपि वृष्णीन् तत्रापि सुरादीनलिखत् तदा प्रद्युम्नं वीक्ष्य लज्जिता पुत्रतुल्यरूपत्वादिति भावः ॥२०॥

**अनिरुद्धं विलिखितं वीक्ष्योषाऽवाङ्मुखी[1] ह्रिया।**
**सोसावसाविति प्राह स्मयमाना महीपते ॥२१॥**

**चित्रलेखा तमाज्ञाय पौत्रं कृष्णस्य योगिनी ।**
**ययौ विहायसा राजन् द्वारकां कृष्णपालिताम् ॥२२॥**

**तत्र सुप्तं सुपर्यङ्के प्राद्युम्निं योगमास्थिता[2] ।**
**गृहीत्वा शोणितपुरं सख्यै प्रियमदर्शयत् ॥२३॥**

**सा च तं सुन्दरवरं विलोक्य मुदिताननाः ।**
**दुष्प्रेक्षे स्वगृहे पुम्भी रेमे प्राद्युम्निना समम्[3] ॥२४॥**

**परार्ध्यवासस्त्रक् गन्ध धूपदीपासनादिभिः ।**
**पानभोजन भक्ष्यैश्च वाक्यैश्शुश्रूषयार्चितः ॥२५॥**

---

1. Ml. T.V.W. स्थिता 2. K.T.W. °माश्रिता 3. K.T.W. सह

**श्रीध० अनिरुद्धमिति**। अनिरुद्धं विलिखितं वीक्ष्य उषा अवाङ्मुखी बभूव ॥२१, २२॥

**तत्रेति**। शोणितपुरं नीत्वा ॥ २३ ॥

**सेति**। पुम्भिर्दुष्प्रेक्ष्ये प्रेक्षितु मशक्ये ॥ २४ ॥

**परार्ध्येति**। स च परार्ध्यैरमूल्यैः वासस्त्रक् गन्धादिभिः शुश्रूषणपूर्वकं अर्चितस्सन् ॥ २५ ॥

**वीर०** ततः अनिरुद्ध मवलोक्य ह्रिया लज्जया अवाङ्मुखी बभूव। स स्वप्नदृष्टः असावेव असावेवेति प्राह हे महीपते! ॥ २१ ॥

तमुषया निश्चितं कृष्णस्य पौत्रं अनिरुध्दं विज्ञाय योगिनी वैहायसगमनान्तर्धान तूर्णगमनाद्यावहयोगशालिनी आकाशमार्गेण द्वारकां ययौ ॥ २२ ॥

तत्र द्वारकायां शोभने पर्यङ्के सुतं प्राद्युम्निं अनिरुध्दं गृहीत्वा शोणितपुरमागत्येति शेषः। सख्यै उषायै ॥ २३ ॥

**सा चेति**। सा उषा पुम्भिरितरैः प्रेक्षितुमशक्ये स्वगृहे प्राद्युम्निना सह अनिरुध्देन समं रेमे ॥ २४ ॥

**परार्ध्येति**। परार्ध्यैः वासःप्रभृतिभिः शुश्रूषया अर्चितो बहुमतः सोऽनिरुध्दः ॥ २५ ॥

**गूढः [1]कन्यापुरे शश्वत् [2]प्रवृध्दस्नेहया तया।**
**नाहर्गणान् स बुबुधे [3]ह्युषयापहृतेन्द्रियः ॥ २६ ॥**

**तां तथा यदुवीरेण भुज्यमानां हतव्रताम् ।**
**हेतुभि र्लक्षयाञ्चक्रुः [4]आप्रीतां दुरवच्छदैः ॥ २७ ॥**

**भटा [5]आवेदयाञ्चक्रु[5] राजंस्ते दुहितुर्वयम्।**
**विचेष्टितं लक्षयामः कन्यायाः कुलदूषणम् ॥ २८ ॥**

**अनपायिभिरस्माभिः गुप्तायास्[6]स्वगृहे प्रभो ।**
**कन्याया दूषणं पुम्भिः [7]दुष्प्रेक्ष्याया न विग्रहे ॥ २९ ॥**

**ततः प्रव्यथितो बाणो दुहितुश्श्रुत दूषणः ।**
**त्वरितः कन्यकागारं प्राप्तोऽद्राक्षीद्यदूद्वहम् ॥ ३० ॥**

---

1. K.T.W. चान्तःपुरे 2. K.T.W. प्ररूढ° 3. B.G.J. उ° 4. K.T.W. दूषितां 5- -5 K.T.W. निवेदयामासू° 6. B.G.J. °श्च 7. B.G.J. °क्षा°

**श्रीध० गूढ** इति। तया उषया अपहृतेन्द्रियः अहर्गणान् दिवससमूहान् न बुबुधे ॥ २६ ॥

**तामिति**। आप्रीतां अतिहृष्टां दुरवच्छदैः आच्छादयितु मशक्यैः ॥ २७ ॥

**भटा** इति। विचेष्टितं विरुध्दाचरणम् ॥ २८ ॥

**अनपायिभिरिति**। अनपायिभिः अपायः अपसर्परणं प्रमादो वा, तद्रहितैः। पाठान्तरे [1]दुष्प्रेष्यायाः[1] दुष्टा प्रेष्या सखी यस्याः तस्याः। पुम्भिः दूषणं कुतो वेति न जानीम इति ॥ २९, ३० ॥

---

1- -1 B.J. omit

**वीर०** उषाया गृहे गूढः शश्वन्नित्यं प्रवृध्दः स्नेहो यस्यास्तया उषयाऽपहृतं इन्द्रियं मनो यस्य सः, अहर्गणान् न बबुधे न ज्ञातवान् ॥ २६ ॥

**तामिति**। यदुवीरेणानिरुध्देन भुज्यमानमत एव क्षतं विहतं व्रतं कन्याया विहतं यस्यास्तथाभूतां वीक्ष्य दुरवच्छदैः छादयितुमशक्यैः हेतुभिः चिह्नैः दूषितां लक्षयाञ्चक्रुः ॥ २७ ॥

**भटा** इति। तत स्ते राज्ञे बाणाय आवेदयाञ्चक्रुः। आवेदनप्रकारमेवाह - 'राजन्नित्यादिना' 'न विद्महे' इत्यन्तेन। हे राजन्! कुलं दूषयतीति तथा तच्चेष्टितं लक्षयामः ॥ २८ ॥

अनपायिभिः अनुसरद्भिः अप्रमादैः अस्माभिः स्वगृहे गुप्ताया अपि दूषणं न विद्महे ॥ २९ ॥

**तत** इति। दुहितुः यत् दूषणं तच्छ्रुतं येन स बाणः अत एव प्रव्यथितः त्वरायुक्तः कन्यकागृहं प्राप्य यदूद्वहं अनिरुद्धं ददर्श ॥ ३० ॥

**[1]कामात्मजातं भुवनैकसुन्दरं श्यामं पिशङ्गाम्बर मम्बुजेक्षणम् ।**
**बृहद्भुजं कुण्डलकुन्तलत्विषा स्मितावलोकेन च मण्डिताननम् ॥ ३१ ॥**

**दीव्यन्तमक्षैः प्रिययाभिनृम्णया तदङ्गसङ्गस्तनकुङ्कुमां[2] स्रजम् ।**
**बाह्वोर्दधानं मधुमल्लिकाश्रितां तस्याग्र आसीनमवेक्ष्य विस्मितः ॥ ३२ ॥**

**स तं प्रविष्टं वृतमाततायिभिः भुजैः[3] सहस्रै रवलोक्य माधवः ।**
**उद्यम्य मौर्वं परिघं व्यवस्थितो यथान्तको दण्डधरो जिघांसया ॥ ३३ ॥**

**जिघृक्षया तान् परितः प्रसर्पतः शुनो यथा सूकर यूथपोऽहनत् ।**
**ते हन्यमाना भवनाद्विनिर्गता निर्भिन्नमूर्धोरुभुजाः प्रदुद्रुवुः ॥ ३४ ॥**

**तं नागपाशैः बलिनन्दनो बली घ्नन्तं स्वसैन्यं कुपितो बबन्ध ह ।**
**उषा भृशं शोकविषादविह्वला बध्दं निशाम्याश्रुकलाक्षयरोदीत् ॥ ३५ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

---

1. B.G.J. °त्मजं तं 2. B.G.J. MI.V. °भ° 3. B.G.J.K.T.W. भटैरनेकैः 4. T.W. वि° ; B.G.J. क्षयरौदिषीत. 5. K.T.V.W. °क्षयरोदीत.

**श्रीध० कामात्मजातमिति** । कामस्यात्मनो देहात् जातम् ॥ ३१ ॥

**दीव्यन्तमिति** । अभिनृम्णया सर्वमङ्गलया । तस्या अग्ङसङ्गेन स्तनकुङ्कुमं यस्यां स्रजि तां बाह्वो र्मध्ये वक्षसि दधानं मधुमल्लिकाः वसन्तभवा मल्लिकाः तदाश्रिताम् । तस्याग्र इत्यार्षः सन्धिः तस्या अग्र इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

**स इति** । आततायिभिः उद्यतशस्त्रैः माधवः अनिरुध्दः, मौर्वं मुरुः लोहविशेषः तन्निर्मितम् ॥ ३३-३४ ॥

**तमिति** । शोकविषादाभ्यां विह्वला विवशा[1] अश्रूणां कलाः बिन्दवः ययो स्ते अक्षिणी यस्यास्सा ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

---

1. B.J. अवशाः

**वीर०** कथम्भतम्? कामस्य प्रद्युम्नस्य आत्मनो देहाज्जातम् । अत एव भुवनैकसुन्दरं कुण्डलयोः कुन्तलानां च त्विषा स्मितयुक्तेन अवलोकेन च मण्डितं आननं यस्य तम् ॥ ३१ ॥

अभिनृम्णया सर्वतो मङ्गलया प्रियया सह अक्षैर्दिव्यन्तं क्रीडन्तं तस्या अङ्गसङ्गेन स्तनकुङ्कुमं यस्यां, मधुमल्लिकाः वसन्तभवमल्लिकाः ताभिः आश्रितां स्रजं बाह्वोर्मध्ये वक्षसि दधानं तस्याग्रेपुरतः, अत्र सन्धिरार्षः । आलक्ष्य अवलोक्य विस्मितो बभूव ॥ ३२ ॥

**स** इत्यादि सार्धमेकान्वयि। स माधवो मधुवंशप्रभवोऽनिरुद्धः, अत एव आततायिभिः उद्यतायुधैः भटैः परिवृतं तं बाणमवलोक्य यथा दण्डधरोऽन्तकः तद्वत्। जिघांसया तत्र व्यवस्थितं लोहमयं परिघमुद्यम्य ग्रहीतु मिच्छया परितः परिसर्पतः[1] तानाततायिनः अहनत् जघान। यथा सूकराणां यूथं पातीति तथा सूकरश्रेष्ठः शुनो हन्ति तद्वत्। त इति, ते आततायिनः निर्भिन्नाः मूर्धादयो येषां ते। अत एव गृहात् निर्गताः दुद्रुवुः ॥३३,३४॥

**तमिति**। बली बलवान्, बलि नन्दनो बाणः स्वसैन्यं घ्नन्तं अनिरुद्धं कुपितो नागपाशैः बबन्ध ह। शोकविषादाभ्यां बाह्याभ्यन्तर दुःखाभ्यां विह्वला अवशा अश्रूणां कला बिन्दवो ययो स्ते अक्षिणी यस्याः सा रुरोद ॥३५॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥६२॥

---

1.B. प्रसर्पतः

# त्रिषष्टितमोऽध्यायः

## (अध्यायेऽस्मिन् विजयध्वजीय व्याख्या नास्ति)

-: बाणासुर युद्धकथारम्भः :-

**श्रीशुक उवाच**

**अपश्यतां चानिरुद्धं तद्बन्धूनां च भारत ।**
**चत्वारो वार्षिका मासा व्यतीयुरनुशोचताम् ॥ १ ॥**

**नारदात्तदुपाकर्ण्य वार्तां बद्धस्य कर्म च ।**
**प्रययुश्शोणितपुरं वृष्णयः कृष्णपालिताः[1] ॥ २ ॥**

**प्रद्युम्नो युयुधानश्च गदस्साम्बोऽथ सारणः ।**
**नन्दोपनन्द भद्राद्या रामकृष्णानुवर्तिनः ॥ ३ ॥**

**अक्षौहिणीभिर्द्वादशभिः समेतास्सर्वतोदिशम् ।**
**रुरुधुर्बाणनगरं समन्तात्सात्त्वतर्षभाः ॥ ४ ॥**

**भज्यमान पुरोद्यान प्राकाराट्टालगोपुरम् ।**
**प्रेक्षमाणो रुषाऽऽविष्टः तुल्यसैन्योऽभिनिर्ययौ[2] ॥ ५ ॥**

---

1. B.G.J. देवताः 2. K.T.W. विनिर्ययौ ।

### श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

त्रियुक्षष्टितमे नाथ बाणयादवसङ्गरे । स्तुतिर्ज्वरेण रुद्रेण बाणबाहुभिदो हरेः ॥
अनिरुध्दोद्वहेन्यस्मिन् बाणयादवसंयुगे । श्रीकृष्णः श्रीहरं जित्वा बाणबाहूनथाच्छिनत् ॥

**नारदादिति** । ततः कर्म च युद्धादिकम् ॥ १,२ ॥

**प्रद्युम्न** इति । रामकृष्णानुवर्तिन इति तौ पुरतो निर्गतावित्यर्थः ॥ ३ ॥

**अक्षौहिणीभिरिति** । सर्वतोदिशमित्यस्य उत्तरेणान्वयः ॥ ४ ॥

**भज्यमानेति** । भज्यमानानि पुरोद्यानानि द्वन्द्वैकवद्भावः, अट्टालाः प्राकारादुपरि अत्युन्नतस्थानानि, अभिनिर्ययौ बाणः ॥ ५ ॥

---

1- -1 B.J. Omit

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथानिरुद्धादर्शनजव्यथानां क्रमेण नारदाच्छ्रुत तद्वार्तानां प्राप्तशोणितपुराणां यदूनां बाणेन सह संग्रामं वर्णयति त्रिषष्टितमेन - **अपश्यतामिति** । अनिरुद्धमपश्यतां तस्य अनिरुद्धस्य बन्धूनां अनुशोचतां सतां वार्षिकाः आषाढाद्याश्चिनान्ताः चत्वारो मासाः व्यतीयुः अतिक्रान्ताः ॥ १ ॥

**नारदादिति** । बद्धस्यानिरुद्धस्य वार्तां बन्धनात्पूर्वं तस्य कर्म च श्रुत्वा कृष्णेन पालिताः कृष्णसहिता इत्यर्थः, वृष्णयो यादवाः ॥ २ ॥

वृष्णिप्रधानानाह - **प्रद्युम्न** इति । एते सर्वे रामकृष्णावनुवर्तन्त इति तथा भूताः ययुः ॥ ३ ॥

**अक्षौहिणीभिरिति** । समेताः सहिताः ॥ ४ ॥

**भज्यमानेति** । भज्यमानानां पुरादीनां द्वन्द्वैकवद्भावौ, यद्वा बहुव्रीहिरेव । पुरमिति विशेष्याध्याहारः । रुषा आविष्टो व्याप्तो बाणः । तुल्यसैन्यः द्वादशाक्षौहिणीसैन्ययुक्तः विनिर्गतः, पुरादिति शेषः, अट्टालाः प्राकारादुपरितनानि उन्नतस्थानानि ॥ ५ ॥

अस्मिन्नध्याये विजयध्वजीय व्याख्यानं नास्ति ।

**बाणार्थे[1] भगवान् रुद्रः ससुतः[2] प्रमथैर्वृतः ।**
**आरुह्य नन्दिवृषभं युयुधे रामकृष्णयोः ॥ ६ ॥**

**आसीत्सुतुमुलं युद्धमद्भुतं रोमहर्षणम् ।**
**कृष्णशङ्करयोः राजन् प्रद्युम्नगुहयोरपि ॥ ७ ॥**

**कुम्भाण्डकूपकर्णाभ्यां बलेन सह संयुगः ।**
**साम्बस्य बाणपुत्रेण बाणेन सह सात्यकेः ॥ ८ ॥**

**ब्रह्मादयस्सुराधीशा मुनयस्सिद्धचारणाः ।**
**गन्धर्वाप्सरसो यक्षा विमानैर्द्रष्टुमागमन् ॥९॥**

**शङ्करानुचरान् शौरिः भूतप्रेतान् सगुह्यकान् ।**
**डाकिनीयातुधानांश्च यक्षरक्षो[3-] विनायकान्[-3] ॥ १० ॥**

---

1. K.MI.T.V.W. बाणार्थं 2. B.G.J.MI.V. तैः 3- -3 B.G.J. भेतालान् स°

**श्रीध० बाणार्थमिति।** सुतः स्कन्दः तत्सहितैः। प्रमथगणैः रामकृष्णाभ्यां युयुधे ॥६-१०॥

**वीर० बाणार्थमिति।** बाणस्य सहायार्थं ससुतः स्कन्देन सहितः नन्दिनाम वृषभमारुह्य, रामकृष्णाभ्यां युयुधे [1]आयुध्यत ॥६॥

**आसीदिति।** तुमुलं सङ्कुलं रोमहर्षणं शृण्वतां पश्यतां च रोमोद्गमावहम्, कस्य केन सहेत्यत आह कृष्णशङ्करयोरिति सार्धेन। हे राजन्! बलेन बलभद्रेण सह ॥७॥

**ब्रह्मादय** इति। सिद्धचारणानां इतरेतरयोगद्वन्द्वः, तदा गन्धर्वादयोऽपि आगमन् आजग्मुः ॥८,९॥

**शङ्करानुचरानिति** । शौरिः कृष्णः शार्ङ्गाख्यात् धनुषः च्युतैः तीक्ष्णमग्रं येषां तैः, शरैः भूतादीन् शङ्करस्यानुचरान् द्रावयामासेति सम्बन्धः ॥१०॥

---

1.B.K. अ°

**[1]भूतमातृपिशाचांश्च कूष्माण्डान् ब्रह्मराक्षसान् ।**
**[2]द्रावयामास तीक्ष्णाग्रैश्शरैः शार्ङ्गधनुश्च्युतैः ॥११।**

**पृथग्विधानि प्रायुङ्क्त पिनाक्यस्त्राणि शार्ङ्गिणे[3] ।**
**प्रत्यस्त्रैश्शमयामास शार्ङ्गपाणि रविस्मितः ॥१२॥**

**ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्रं वायव्यस्य च पार्वतम् ।**
**आग्नेयस्य च पार्जन्यं नैजं पाशुपतस्य च ॥१३॥**

**मोहयित्वाऽथ गिरिशं जृम्भणास्त्रेण जृम्भितम् ।**
**बाणस्य पृतनां शौरिर्जघाना सिगदेषुभिः ॥ १४ ॥**

**स्कन्दः प्रद्युम्नबाणौघैरर्द्यमानस्समन्ततः ।**
**असृग्विमुञ्चन् गात्रेभ्यश्शिखिनाऽपाक्रमद्रणात् ॥ १५ ॥**

---

1. B.G.J.K. प्रेत 2. Ml.v ताडया 3. K.T.W. °णि

**श्रीध०** प्रत्यस्त्राण्येवाह - **ब्रह्मास्त्रस्येति** । नैजं नारायणास्त्रम् ॥ ११-१४ ॥

**स्कन्द** इति । शिखिना मयूरेण वाहनेन ॥ १५ ॥

**वीर० पृथग्विधानीति** । पिनाकी रुद्रः शार्ङ्गिणि कृष्णे पृथग्विधानि नानाविधान्यस्त्राणि प्रयुक्तवान्, शार्ङ्गपाणिः कृष्णः अविस्मित एव तानि प्रत्यस्त्रैः शमयामास ॥ ११,१२ ॥

तदेवाह **ब्रह्मास्त्रस्येति** । नैजं नारायणास्त्रं शामकं प्रायुङ्क्त्यर्थः ॥ १३ ॥

**मोहयित्वेति** । जृम्भणाख्येनास्त्रेण गिरिशं जृम्भितं जृम्भणयुक्तं यथा तथा मोहयित्वा ॥ १४ ॥

**स्कन्द इति** । स्कन्दः षण्मुखः, असृग् रुधिरं विमुञ्चन् शिखिना मयूरवाहनेन सह रणस्थानात् प्राद्रवत् ॥ १५ ॥

**कुम्भाण्डः कूपकर्णश्च पेततुर्मुसलार्दितौ ।**
**दुद्रुवुस्तदनीकानि हतनाथानि सर्वतः ॥ १६ ॥**

**विशीर्यमाणं स्वबलं दृष्ट्वा बाणोऽत्यमर्षणः ।**
**कृष्णमभ्यद्रवत्संख्ये रथी हित्वैव सात्यकिम् ॥ १७ ॥**

**धनूंष्याकृष्य युगपत् बाणः पञ्चशतानि वै ।**
**एकैकस्मिन् शरौ द्वौ द्वौ सन्दधे रणकोविदः ॥ १८ ॥**

**तानि चिच्छेद भगवान् धनूंषि युगपद्धरिः ।**
**सारथिं रथमश्वांश्च हत्वा शङ्खमपूरयत् ॥ १९ ॥**

**तन्माता कोटरा नाम नग्ना मुक्तशिरोरुहा ।**
**पुरोऽवतस्थे कृष्णस्य पुत्रप्राणरिरक्षया ॥ २० ॥**

---

1. K.T.W. °मर्षितः

**श्रीध० कुम्भाण्ड** इति। तयोरनीकानि [1-]हताः नाथाः[-1] येषां तानि ॥ १६-२० ॥

---

1--1 B.J. हतौ नाथौ

**वीर० कुम्भाण्ड** इति। मुसलेन बलभद्रप्रयुक्तेन अर्दितौ पेततुः हतौ नाथौ येषां तानि तयोरनीकानि सर्वतो दिक्षु दुद्रुवुः ॥ १६ ॥

**विशीर्यमाणमिति**। विशीर्यमाणं हन्यमानं दृष्ट्वा अतीव न मृष्यतीति तथा, सबाणस्सात्यकिं प्रतियोद्धारं हित्वा अनादृत्य सङ्घे युद्धे रथी सन् कृष्णमभ्यद्रवत् ॥ १७ ॥

**धनूंषीति**। रणे दुष्टो मदो यस्य स बाणः एकैकस्मिन् धनुषि द्वौ द्वौ शरौ सन्दधे तानि संहितमात्रशराण्येव, न तु प्रयुक्तबाणानि, धनूंषि चिच्छेद, सायकैरिति शेषः। ततः सारथिरथाश्वान् हत्वा नाशयित्वा, शङ्खं पाञ्चजन्यमपूरयत् ॥ १८, १९ ॥

**तन्मातेति**। तस्य बाणस्य माता कोटरा नाम नग्ना, मुक्ता विस्रस्ताः केशाः यस्यास्तथाभूता च पुत्रस्य प्राणान् रक्षितुमिच्छया। कृष्णस्य पुरतः उपतस्थे अवस्थितवती ॥ २० ॥

**ततस्तिर्यङ्मुखो नग्नामनिरीक्षन् गदाग्रजः ।**
**बाणश्च तावद्विरथ श्छिन्नधन्वाऽविशत्पुरम् ॥ २१ ॥**

**विद्राविते भूतगणे ज्वरस्तु त्रिशिरास्त्रिपात् ।**
**महादेव प्रयुक्तोऽसौ घोररूपो विभीषणः ॥**
**★ अभ्यधावत[1] दाशार्हं° दहन्निव दिशो दश ॥ २२ ॥**

**❖ आविर्बभूव पुरतस्समरे शार्ङ्गधन्वनः ।**
**अथ नारायणो देवस्तं दृष्ट्वा व्यसृजज्ज्वरम् ॥ २३ ॥**

**माहेश्वरो वैष्णवश्च युयुधाते ज्वरावुभौ ।**
**माहेश्वरः समाक्रन्दत् वैष्णवेन बलार्दितः ॥ २४ ॥**

**अलब्धाऽभयमन्यत्र भीतो माहेश्वरो ज्वरः ।**
**शरणार्थी हृषीकेशं तुष्टाव प्रयताञ्जलिः ॥ २५ ॥**

---

★ This half verse is not found in Ml.v editions. 1. K.T.W. पद्यत । ❖ This half verse is not found in G.J. editions

**श्रीध० तत** इति। अनिरीक्षमाणः तिर्यङ्मुखो बभूवेति ॥ २१, २२ ॥

**आविर्बभूवेति**। ज्वरस्तु योद्धुमभ्यधावदिति नारायणश्शीतज्वरमसृजत् ॥ २३,२५ ॥

**वीर०** तत इति। नग्नामनीक्षमाणः तिर्यङ्मुखो बभूव, तावत् तदन्तरं लब्ध्वेत्यर्थः ॥ २१ ॥

**विद्रावित** इति। भूतगणे विद्राविते पलायिते सति शङ्करेण प्रयुक्तः घोरं रूपं यस्य सः, विशेषेण भीषयतीति तथा, त्रीणि शिरांसि यस्य, त्रयः पादा यस्य सः, तापज्वरः दश दिशो दहन्निव दाशार्हं कृष्णमभ्यपद्यत अभ्याजगाम ॥ २२ ॥

समरे शार्ङ्गधन्वनः कृष्णस्याग्रे आविर्बभूव च अथेति। देवः कृष्णः तं ज्वरं दृष्ट्वा, ज्वरं वैष्णवं शीतज्वरं व्यसृजत् प्रायुङ्क्त ॥ २३ ॥

माहेश्वरो वैष्णवश्चेत्युभौ ययुधाते युद्धं कृतवन्तौ, तदा वैष्णवेन ज्वरेण कर्त्रा बलेन साधनेनार्दितः विहतः माहेश्वरो ज्वरः समाक्रन्दत् रुरोद ॥ २४ ॥

**अलब्धेति**। अन्यत्र अन्यतः अभयमलब्ध्वा अत एव नितरां भीतः शरणं रक्षितारं तदुपायं वा। **अर्थयत** इति तथा बद्धाञ्जलिः, कृष्णं तुष्टाव ॥ २५ ॥

**माहेश्वर ज्वर उवाच**

**नमामि त्वाऽनन्तशक्तिं परेशं सर्वात्मानं केवलं ज्ञप्तिमात्रम् ।**
**विश्वोत्पत्तिस्थान संरोधहेतुं यत्तद्ब्रह्म ब्रह्मलिङ्गं प्रशान्तम् ॥ २६ ॥**

**कालो दैवं कर्मजीवस्स्वभावो द्रव्यं क्षेत्रं प्राण आत्मा विकारः ।**
**तत्संघातो बीजरोह प्रवाहस्त्वन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये ॥२७॥**

**नानाभावैर्लीलयैवोपपन्नैः दैवान् साधून् लोकसेतून् बिभर्षि ।**
**हंस्युन्मार्गान्[1] हिंसया वर्तमानान् जन्मैतत्ते भारहाराय भूमेः ॥२८॥**

**तप्तोऽहं ते तेजसा दुस्सहेन शान्तोग्रेणात्युल्बणेन ज्वरेण ।**
**तावत्तापो देहिनां तेऽङ्घ्रिमूलं नो सेवेरन् यावदाशानुबद्धाः ॥ २९॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**त्रिशिरस्ते प्रसन्नोऽहं[2] व्येतु ते मज्ज्वराद्भयम् ।**
**यो नौ स्मरति संवादं तस्य त्वन्न भवेद्भयम् ॥३०॥**

---

1. K. स्वेच्छया 2. B.G.J. °न्नोऽस्मि

**श्रीध०** आत्मानं परमशक्तं मन्यमानः श्रीकृष्णं तापयितुं प्रवृत्तः स्वयमेव तप्तस्सन्, तं परमेश्वरं ज्ञात्वा स्तुवन् नमस्करोति - **नमामीति**। त्वा त्वां अनन्तशक्तिं नमामि कुतः परेषां ब्रह्मादीनां ईशं तत्र हेतुः सर्वात्मानं सर्वस्य आत्मानं चेतयितारं, तत्कुतः केवलं शुद्धं ज्ञप्तिमात्रं चैतन्यघनं, तदेवं सर्वचेतयितृत्वेन परमेश्वरत्वमुक्तं, किञ्च विश्वसृष्ट्यादि हेतुत्वादपीत्याह - विश्वोत्पत्तीति, नन्वेवम्भूतं ब्रह्मप्रसिद्धं नाहमिति चेत् तत्राह यत्तद्ब्रह्मेति। **यद्ब्रह्म** तदेव त्वमित्यर्थः। किं तद्ब्रह्म इत्यत आह - ब्रह्मलिङ्गं ब्रह्मणा वेदेन लिङ्ग्यते द्योत्यत इति, तत्कुतः **प्रशान्तं** सर्वविक्रियारहितत्वात् न साक्षात् वाच्यमिति भावः ॥२६॥

किञ्च यत्सविशेषं वस्तु तत्र वयं प्रभवामः त्वयि तु सर्वविशेषातीते न कस्यापि प्रभुत्वं, किन्तु त्वमेव सर्वप्रभुरिति ज्ञप्तिमात्रत्वं विवृण्वन् स्तौति **काल** इति। कालः क्षोभकः कर्म निमित्तं, तदेव फलाभिमुखमभिव्यक्तं दैवं स्वभावः तत्संस्कारः जीवः तद्वान्। द्रव्यं भूतसूक्ष्माणि क्षेत्रं प्रकृतिः प्राणः सूत्रं आत्मा अहङ्कारः विकार एकादशेन्द्रियाणि महाभूतानि चेति षोडशकः तत्संघातो लिङ्गदेहः एतस्य च बीजरोहप्रवाहः रोहोङ्कुरः देहाद्बीजरूपं कर्म ततोङ्कुररूपो देहः ततः पुनरेवमिति प्रवाहः एषा त्वन्माया तस्या निषेधः अपोहो यस्मिन्निति तं त्वां निषेधावधिभूतं प्रपद्ये भज इति ॥२७॥

ननु देवकीतनयस्य कथमेवम्भूतत्वं तत्राह **नानाभावैरिति**। सर्वोपाधि विनिर्मुक्त एव त्वं यथा लीलया स्वीकृतैः मत्स्याद्यवतारैः देवादीन् बिभर्षि पालयसि तदर्थं लोकसेतून् वर्णाश्रमधर्मान् तदर्थं तदनुष्ठातॄन् साधून्। तदङ्गत्वेन उन्मार्गान् दैत्यादीन् हंसि संहरसि। एवमेतदपि तव जन्मभूमेर्भारहरणाय। लीलावतारोऽयं न कस्यापि त्वं तनय इत्यर्थः ॥२८॥

अतः अज्ञानतस्त्वदभिभवे प्रवृत्तं मां तसं रक्षेत्याशयेनाह-**तप्त** इति। तेजसा त्वत्सृष्टेन ज्वरेण, शान्तोग्रेण शीतज्वरेण परसन्तापकस्य युक्त एव ताप इति चेदत आह-तावदिति । त्वत्सेवायां प्रवृत्तानामनुचित इति भावः ॥२९॥

**त्रिशिर** इति। हे त्रिशिरः! व्येतु अपयातु मदाज्ञापालकस्सन् सुखं विचरका सा आज्ञा? तामाह-य इति। नौ आवयो रिमं संवादं यः स्मरति तस्य त्वत् त्वत्तः भयं न भवेत् त्वया भयं नोत्पादनीयं इत्यर्थः ॥३०॥

**वीर०** स्तुतिमेवाह-**नमामीति** चतुर्भिः। तावत्स्वरक्षणोपयुक्त परत्वविशिष्टं स्तौति द्वाभ्यां, परेशं त्वां नमामि परेषां ब्रह्मादीनामपीशं नियन्तारं किं प्राकृत राजादिवत् नेत्याह-सर्वात्मानमिति। सर्वेषां बह्मादीनां आत्मानं अन्तः प्रविश्य धारकत्वेन नियन्तारमित्यर्थः। कथमणुस्वरूप ब्रह्मादि जीववर्गान्तः प्रवेश इत्यतो विशिनष्टि केवलं निरवयवं ज्ञानमात्रस्वरूपं साजात्यादन्तःप्रवेशोपपत्ति रिति भावः। मात्रशब्देन क्वचिदपि जाड्यराहित्यं विवक्षितं, ननु परेशस्तर्हि कोऽसौ जगत्कर्तेत्यत्र त्वमेवेति वक्तुं कारणत्वोपयुक्त सर्वशक्तित्वादि गुणयोगमाह अनन्तशक्तीति। कारणत्वमाह विश्वोत्पत्तीति। स्थानं स्थितिः विश्वस्योत्पत्त्यादि हेतुमित्यर्थः। ममैवंविधत्वे किं प्रमाणमत आह ब्रह्मलिङ्गं वेदप्रमाणकम् ननूक्तविधं ब्रह्म न त्वहं तत्राह यत्तद्ब्रह्मेति। यद्वेदान्तप्रसिद्धं ब्रह्म तदभिन्नं त्वां, नन्वहमपि, कदाचित् शोचामि। नेत्याह प्रशान्तं अशनायापिपासाशोकमोहजरामृत्युरूपोर्मिषट्करहितम् ॥२६॥

कालकर्मस्वभावादीनामेव जगद्धेतुत्वं न ममेत्यत आह-**काल** इति। दैवं कालाद्यभिमानि देवता। कर्म जीवादृष्टं, स्वभावः जडत्वाऽजडत्वपरिणामित्वादि तत्तद्वस्तु स्वभावः, द्रव्यं पृथिव्यादि भूतपञ्चकं, क्षेत्रं पृथिव्याद्युत्पत्तिभूमिः प्रकृतिः, प्राणः पञ्चवृत्तिः प्राणः, आत्मा मतिः, विकारः अवस्थाभेदः, तत्सङ्घातशशरीरं, बीजरोहप्रवाहः कार्यकारणप्रवाहः, एषा एतत्सर्वं त्वन्माया त्वत्सङ्कल्परूप ज्ञानाधीनमित्यर्थः। एषेति सर्वनामत्वात्पर्ययिणोद्देश्य विधेयलिङ्ग भांक्त्वात् प्रतिनिर्दिश्यमानमायापेक्षया स्त्रीलिङ्ग निर्देशः। तं त्वां निषेधं नेति नेतीति प्रकृति प्राकृत समस्त वस्तु गत प्रकारो यस्मिन्निषिध्यते तं त्वा प्रपद्ये इत्यर्थः। निषेधं इत्यत्र अधिकरणे घञ् ॥२७॥

ननूक्तविधः परेशोऽन्य एव अहं तु यदुध्वन्यतम इत्यत आह-**नानाभावैरिति**। लीलयैव हेतुभूतया उपपन्नैः अन्यथा त्वय्यकर्मवश्ये तेषामनुपपन्नत्वादिति भावः। तैर्भावैः प्रकारभूतैः मत्स्याद्यवतारैः इति यावत्। धर्मसेतून् धर्ममर्यादाश्च बिभर्षि पुष्णासि उन्मार्गान् उत्पथान् हंसि नाशयसि उन्मर्गा नित्यस्यैव विवरणं हिंसया[2] वर्तमानानिति। यथा मत्स्यकूर्मादिजन्म तद्वदेतदपि तव जन्म अवतारः भूमेः भारहाराय भारापनयनार्थम्। अनेन वासल्य सौशील्य सौलभ्यादीनि सूचितानि ॥२८॥

इत्थं[3] शरण्यत्वमाविष्कृत्य स्वकीयां आर्तिं आवेदयति-**तप्त इति**। तावच्छान्ते नाप्यन्ततः उग्रेणोल्बणेन दारुणेन[4] अत एव सोढुमशक्येन त्वत्तेजसा उपबृंहितेन ज्वरेणाहं तप्तः। ततो मां प्रपन्नं पाहीति भावः, परसन्तापकस्य युक्त एव ताप इत्यत आह--तावदिति। यावदाशया रक्षकान्तरसम्भावनाशयाऽनुबद्धाः तवाऽङ्घ्रिमूलं न सेवेरन् तावदेव देहिनां तापः, सेवायां प्रवृत्तानां तु अनुचित इति भावः ॥२९॥

इत्थं संस्तुतः शरण्या भगवान् तमनुगृह्णन् आह **त्रिशिर** इति। हे त्रिशिरः! ते तुभ्यं अहं प्रसन्नः तव मज्ज्वराद्भयं व्येतु व्यपैतु, यः पुमान् आवयोरिमं संवादं स्मरति तस्य त्वत् त्वत्तः भयं न भवेत्, तं त्वं मा भीषय इत्यर्थः ॥३०॥

---

1. W. परतत्त्व 2. B.K. स्वेच्छया 3. B. adds तस्य 4. K.T.W. omit दारुणेन।

**इत्युक्तोऽच्युत मानम्य गतो माहेश्वरोज्वरः ।**
**बाणस्तु रथमारूढः प्रागाद्योत्स्यन् जनार्दनम्[1] ॥३१॥**

**ततो बाहुसहस्रेण नानायुधधरो बली[2] ।**
**मुमोच परमक्रुद्धो बाणांश्चक्रायुधे नृप[3] ॥३२॥**

**तस्यास्यतोऽस्त्राण्यसकृच्चक्रेण क्षुरनेमिना[5] ।**
**चिच्छेद भगवान् बाहून् शाखा इव वनस्पतेः ॥३३॥**

**बाहुषु च्छिद्यमानेषु बाणस्य भगवान् भवः ।**
**भक्तानुकम्प्युपव्रज्य चक्रायुधमभाषत ॥३४॥**

**श्रीरुद्र उवाच**

**त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिः गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये ।**
**यं पश्यन्त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम् ॥ ३५**

---

1.T.W. प्रायात् 2. B.G.J.K.T.W. °सुरः 3. K.T.W. परिघं 4. K.T.W. बाण° 5. K. °णि स° ।

**श्रीध०** भक्तसंरक्षणार्थं° श्रीरुद्रो भगवन्तं स्तौति-**त्वमिति** । अयमर्थः त्वां अज्ञात्वा अयमयुध्यतेति न चित्रं यतस्त्वं वाङ्मये ब्रह्मण्यपि गूढं ब्रह्म अभिधानाविषयत्वात् । कुतः परं ज्योतिः ज्योतिषामपि प्रकाशकत्वात् अविषयः कथं तर्हि प्रतीतिः अत आह-यमिति । अमलात्मनां स्वतः प्रकाशसे इत्यर्थः ॥ ३१-३५ ॥

**वीर० इतीति** । आनम्य प्रणम्य योत्स्यन् योद्धुं जनार्दनं कृष्णं प्रागात् अभ्यापतत् ॥ ३१ ॥

**तत** इति । नानाविधान्यायुधानि धरतीति तथा । सोऽसुरो बाणः क्रुद्धो हे नृप! चक्रायुधे कृष्णे परिघं मुमोच प्रायुङ्क्त ॥ ३२ ॥

**तस्येति** । अस्यतः क्षिपतः प्रयुञ्जानस्येति यावत्, तस्य बाणस्यास्त्राणि बाहूंश्च सकृद्युगपत् क्षुरस्येव नेमिर्यस्य तेन चक्रेण सुदर्शनेन चिच्छेद वनस्पतेः वृक्षस्य शाखा इव ॥ ३३ ॥

**बाहुष्विति** । च्छिद्यमानेषु सत्सु भगवान्भवो रुद्रः भक्तानुकम्पी, हेतुगर्भमिदं तत्त्वादभाषत ॥ ३४ ॥

भाषणमेवाह - **त्वं हीत्यादिभिर्द्वादशभिः** । केवलं वेदान्तैकवेद्यं योगपरिशुद्धमनोग्राह्यं त्वत्स्वरूप स्वभावादिकं कथमयं जानीयादित्यभिप्रयन् स्तौति **त्वं हीति** । वाङ्मये ब्रह्मणि वेदे उपनिषदीति यावत् । गूढं यत्परं ब्रह्म तत् त्वम् । किन्तद्ब्रह्मस्वरूपमत आह ज्योतिरिति । स्वप्रकाशं ज्ञानस्वरूपमित्यर्थः, अमलात्मानः योगविशुद्धान्तःकरणाः[1] यं पश्यन्ति स त्वमिति सम्बन्धः । अथ शरण्यत्वोपयुक्तकल्याणगुणान्विवक्षुः तावत् दृष्टान्तमुखेन निर्दोषत्वमाह, आकाशमिव केवलं निरस्तनिखिलदोषम् ॥ ३५ ॥

---

1. B. परिशु°

**नाभि र्नभो ऽग्नि र्मुख मम्बु रेतो द्यौश्शीर्ष माशा श्रुति रङ्घ्रि रुर्वी ।**
**चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा ह्यहं समुद्रो जठरं भुजेन्द्रः ॥ ३६ ॥**

रोमाणि यस्यौषधयोऽम्बुवाहाः केशा विरिञ्चो धिषणा विसर्गः ।
प्रजापतिर्हृदयं यस्य धर्मस्स वै भवान् पुरुषो लोककल्पः ॥३७॥

तवावतारोऽयमकुण्ठधामन् धर्मस्य गुप्त्यै जगतो भवाय ।
वयं च सर्वे भवतानुभाविता विभावयामो भुवनानि सप्त ॥३८॥

त्वमेक आद्यः पुरुषोऽद्वितीयस्तुर्यस्त्वदृग्घेतु रहेतुरीशः ।
प्रतीयसेऽथापि यथाविकारं स्वमायया सर्वगुण प्रसिद्ध्यै ॥३९॥

यथैव सूर्यः पिहितस्त्वयं घनैः[1]छायां च रूपाणि च सञ्चकास्ति ।
एवं गुणेनापिहितो गुणांस्त्वमात्मप्रदीपो गुणिनश्च भूमन् ॥४०॥

---

1- -1 B.G.J. °सूर्योऽ पिहितश्छायया स्वया ; K.T.W °सूर्योऽपिहित स्वच्छायया

**श्रीध०** आस्तां तावन्निर्गुणस्य तव ज्ञानं, लीलयाधिष्ठितस्त्वया यो विराड्विग्रहः सोऽपि न ज्ञायते उदुम्बुरफलान्तर्वर्ति मशकैरिवोदुम्बरफलमित्याशयेन विराड्रूपं स्तौति-द्वाभ्यां-**नाभिरिति**। यस्य नभ आदयो नाभ्याद्यवयवाः स भवान् लोककल्पः पुरुष इत्युत्तरेणान्वयः। नभो यस्य नाभिः, अग्निर्यस्य मुखं अम्बुरेतः, द्यौः शीर्षं, आशाः दिशः, श्रुतिः श्रवणेन्द्रियं, उर्वी अङ्घ्रिः, चन्द्रो मनः, अर्को दृक्, अहं शिवः, आत्मा अहङ्कारः, समुद्रो जठरं, इन्द्रो भुजा, बाहुः इन्द्रादयो लोकपालाः बाहव इत्यर्थः ॥३६॥

**रोमाणीति**। ओषधयो रोमाणि यच्छब्दस्यावृत्तिः स्पष्टतार्था अम्बुवाहाः केशाः विरिञ्चो धिषणा बुद्धिः प्रजापतिः विसर्गो मेढ्रं धर्मो हृदयम्। लोकैः कल्प्यते उपकल्प्यत इति लोककल्पः ॥३७॥

ननु प्रादेशिकशरीरस्य कथं नभोनाभित्वादि इत्यत आह **तवेति**। हे अकुण्ठधामन्! अप्रच्युतस्वरूपभवाय अभ्युदयाय, न केवलमेतावत्, किन्तु अस्मदनुग्रहार्थमपीत्याह वयं चेति, सर्वे लोकपाला वयं त्वया पालिताः सप्तापि भुवनानि पालयाम इति ॥३८॥

ननु यदि विभावयितारो यूयं विभाव्यानि भुवनानि च सन्ति तर्हि कथमुक्तं त्वं हि ब्रह्मेति। न हि ब्रह्मत्वे मम सजातीय विजातीयभेदः सम्भवतीत्यत आह **त्वमिति**। एकः सजातीयभेदरहितः कुतः, आद्यः पुरुषः पुरुषाणाम् अवस्थात्रयवतामाद्यः प्रकृतिभूतः पुरुषः कुतः तुर्यः शुद्ध इत्यर्थः। तदपि कुतः? स्वदृक् स्वप्रकाशज्ञानरूपः

शुद्धादेव ह्युपाधियोगाज्जीवा जायन्ते। "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येव मेवास्मादात्मानस्सर्व एवात्मानो व्युच्चरन्ति" (बृह० उ० 2-1-26) इति श्रुतेः। अतः सजातीयरहितः किञ्च अद्वितीयः विजातीयरहितः, तदपि कुतः हेतुस्सर्वस्य तथा स्वयं अहेतुरीशश्चेति। कथं तर्हि प्रतिशरीरं जीवभेदः प्रतीयते। अतआह-प्रतीयस इति। सर्वगुणप्रसिद्ध्यै सर्वविषयप्रकाशनाय ॥३९॥

तर्हि किमहमेवं संसारीत्युच्यते? नहि नहीति सदृष्टान्तमाह-**यथेति**। हे भूमन्। स्वया छायया मेघलक्षणया परदृष्ट्या पिहितः छादितोऽपि सूर्यः छायां मेघं च रूपाणि च भवनान्तरितान् घटादीनपि सञ्चकास्ति प्रकाशयति। एवंगुणेनाऽहङ्कारेण स्वकार्येण जीवाऽऽवरकेण तद्दृष्ट्या पिहितोऽपि गुणान् सत्त्वादीन् उपाधीन् गुणिनश्च उपहितान् जीवानपि चकास्ति। आत्मप्रदीपः स्वप्रकाशः अतः सर्वसाक्षिणस्तव न संसार इत्यर्थः ॥४०॥

---

1. B.J. अव

**वीर०** न हि शरीरमात्मनोऽप्रियम् अतस्त्वच्छरीरभूत कृत्स्नजगदन्तर्गतोऽयं मूर्खोऽपि तवानुकम्प्य एवेत्यभिप्रयन् विराड्रूपत्वेन स्तौति-**नाभिरिति** द्वाभ्याम्। नभोऽग्न्यम्बुद्युदिक् पृथिव्यो यथाक्रमं तव नाभिमुखरेतश्शिरश्श्रोत्रपादाः, चन्द्रो मन इति कार्यकारणभावेन सामानाधिकरण्यम्। "चन्द्रमा मनसो जातः" (पु. सू. 1-6) इति श्रुतेः। भगवन् मानसात् प्रसूतस्य चन्द्रस्य सर्वदेहि मनोऽभिमानदेवतात्वाच्च। एवं दृगर्क इत्यपि "चक्षोस्सूर्योऽजायत" (पु. सू. 1-6) इति श्रुतेः। दृगभिमानि देवतात्वाच्च यस्य तवेति सर्वत्र योज्यम्। अहं रुद्रः, आत्मा अन्तःकरणभेदोऽहङ्कारः। अत्रापि पूर्ववदेव सामानाधिकरण्यं द्रष्टव्यम्। समुद्रः जठरं कुक्षिः, भुजात्मकः" इन्द्रः इन्द्रादयस्तव भुजा इत्यर्थः। यच्छब्दानां स वै भवानित्यनेन सम्बन्धः ॥३६॥

**रोमाणीति**। ओषधयो यस्य रोमाणि, अम्बुवाहाः मेघाः केशाः, विरिञ्चो धिषणा बुद्धिः, प्रजापतिः विसर्गः मेढ्रं, धर्मो हृदयं, स वै भवान्। इत्थं लोकैः कल्प्यते अवयवत्वेनेति लोककल्पः ॥३७॥

नन्वेवमप्ययं दुरात्मा निग्राह्य एवेति चेत्। यद्यप्येवं तथाप्यधुना शरणं गतोऽनुग्राह्य एव, युक्तं चैतत्। तवावतारस्य प्रपन्नलोकाभ्युदय हेतुत्वादित्यभिप्रयन्नाह **तवेति**। हे अकुण्ठधामन्! तेजस्स्वभावेति यावत् अवतारदशायामप्यप्रच्युत सार्वज्ञ्य सर्वशक्त्यादि स्वभावे त्यर्थः। जगतः प्रपन्नलोकस्य भवायाऽभ्युदयाय, अभवायेति वा च्छेदः। अभवाय भवप्रयुक्त तापत्रयनिवृत्तये इत्यर्थः। अनुग्राह्यश्चेत् तर्हि त्वमेवैनमनुगृह्णीष्व इत्यत आह-वयमिति। सर्वे वयं लोकपालास्तावत् त्वया सृष्टाः अनु ततः भाविताः पालिताः सप्त भुवनानि विभावयामः पालयामः। वयं त्वत्परतन्त्रा इति भावः ॥३८॥

आकाशमिव केवलमिति निरस्तनिखिलदोषत्वमुक्तम्। विराट्शरीरकत्वोक्त्या सर्वान्तरात्मत्वं फलितं, तवावतारोऽयमित्यनेन निरुपाधिकरक्षकत्व वात्सल्यसौशील्यादिकं आविष्कृतं, अथ परत्वोपयुक्त कारणत्वादि कमाह-**त्वमेक** इति। त्वमस्य जगतो हेतुः कारणं, किं चतुर्मुखादिवत्, नेत्याह-अहेतुरिति। स्वयं कारणान्तर रहितः, किं निमित्तकारणं, नेत्याह एक इति। अविभक्तनाम रूपसूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टत्वेन एकत्व व्यपदेशार्हः, आद्यः पुरुषः जगदुपादान कारणभूत पुरुषश्चेत्यर्थः। किमुपादानकारणमेव, नेत्याह अद्वितीय इति। अधिष्ठात्रन्तररहितः निमित्तकारणं चेत्यर्थः। अत एव प्रकृति पुरुष विलक्षण इत्याह स्वदृक् तुर्यश्चेति, स्वदृक् स्वयं प्रकाशज्ञान स्वरूपः, अनेन प्रकृति वैलक्षण्यमुक्तम्। तुर्यः जाग्रत्स्वप्न सुषुप्ति रूपावस्थात्रय सम्बन्धरहितः, अनेन जीववैलक्षण्यमुक्तं, आकाशमिव केवलमित्यनेन च निर्विकारत्व मुक्तं, एक आद्यः पुरुष इत्यनेन विकाराश्रयत्व रूपोपादानत्वं, कथमेतदुभयं मिथो विरुद्धमेकस्मिन्नुपपद्यते इत्याशङ्क्य परिहरति प्रतीयस इति। यद्यपीदं परस्परविरुद्ध मथापि सर्वगुणप्रसिद्ध्यै सर्वेषां गुणानां स्वापृथक् सिद्ध विशेषणानां प्रकृतिपुरुषादीनां प्रसिद्ध्यै देवमनुष्यत्वाद्याकार सिध्दये स्वमायया आत्मीय सङ्कल्पेन यथाविकारं, प्रकृतिपुरुषगत स्वरूपान्यथाभाव स्वभावान्यथाभावरूप विकारानुगुणं प्रतीयसे। तत्तदन्तरात्मतया तत्तन्नामरूप निर्वाहकत्वेन प्रतीयसे प्रमीयसे, वेदान्तजन्य प्रमाविषयो भवसीत्यर्थः, अस्मिन्विषये वेदान्तानामेव प्रामाण्यमिति भावः ॥३९॥

सर्वगुणेत्यनेन प्रकृतिसम्बन्धस्सूचितः। तर्हि जीवस्येव प्रकृत्या तिरोहितस्य यथाविकारमन्तरात्मतया प्रकाशो न स्यादित्याशङ्कां दृष्टान्तेन निराकरोति **यथैवेति**। अपिहित इति च्छेदः। दार्ष्टान्तिके गुणेन अपिहित इति दर्शनात्, अन्यथा उपध्मानीयप्रसङ्गाच्च। अपिहित इति नञ् समासः, नतु 'वष्टिवागुरिरिति' वचनविहिताकारलोपाभावपक्षे रूपम्। स्वया स्वप्रकाश्यया च्छायया मेघादिरूपया। अपिहितोऽतिरोहित स्वरूपस्वभाव एव सन्। नहि मेघादिना सूर्यतत्प्रभयोस्तिरोधिः, मेघादीन् भित्त्वा तदन्तर्बहिश्च प्रसरणात्। अन्यथा तद्व्यवहितरूपाग्रहणप्रसङ्गात्, यथैवम्भूतः सूर्यः छायां मेघादीन् रूपाणि तद्व्यवहितानि रूपाणि च सञ्चकास्ति सम्यक्प्रकाशयति। एवं हे भूमन्। गुणेन सत्त्वादिगुणेन गुणमयप्रकृत्येति यावत्। अपिहितः अतिरोहित स्वरूपस्वभाव एव त्वम्। गुणान् प्रकृति तत्कार्यगत धर्मान्गुणिनः प्रकृत्यादींश्च प्रकाशयसि आत्मप्रदीपः स्वप्रकाशश्च यद्यपि दृष्टान्ते छायासूर्ययोः न सम्बन्धः मिथस्तयोः विप्रकृष्टत्वात्। दार्ष्टान्तिके त्वपृथक्सिद्ध विशेषण विशेष्य भावसम्बन्ध इति दृष्टान्तो विषमः, तथापि विप्रकृष्टस्येव अपृथक्सिद्धाया अपि प्रकृतेः तिरोधायकत्वमन्य प्रकाश्यत्वं तिरोधानप्रतीतेः भ्रमरूपत्वं च इत्येतदेव दृष्टान्ताभिप्रेतम् ॥४०॥

---

1. B,K. add धाम

यन्मायामोहितधियः पुत्रदारगृहादिषु ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रसक्ता वृजिनार्णवे ॥ ४१ ॥

देवदत्तमिमं लब्ध्वा नृलोकमजितेन्द्रियः ।
यो नाद्रियेत त्वत्पादौ सशोच्यो ह्यात्मवञ्चकः ॥ ४२ ॥

यस्त्वां विसृजते मर्त्य आत्मानं प्रियमीश्वरम् ।
विपर्ययेन्द्रियार्थार्थं[1] विषमित्यमृतं त्यजन् ॥ ४३ ॥

अहं ब्रह्मा च विबुधा मुनयश्चामलाशयाः ।
सर्वात्मना प्रपन्नास्त्वां आत्मानं प्रेष्ठमीश्वरम् ॥ ४४ ॥

तं त्वा जगत्स्थित्युदयान्तहेतुं समं प्रशान्तं सुहृदात्म दैवम्[2] ।
अनन्यमेकं जगदात्मकेतं भवापवर्गाय भजाम देव ॥ ४५ ॥

अयं ममेष्टो दयितोऽनुवर्ती मयाऽभयं दत्तममुष्यदेव ।
सम्पाद्यतां तद्भवतः प्रसादो यथा हि ते दैत्यपतौ प्रसादः ॥ ४६ ॥

---

1- -1 K.T.W °र्तो 2. K.T.W. नायकम्

श्रीध० किञ्च मायाश्रयस्यान्यान् मोहयतस्तव कुतः संसृतिरिति आशयेनाह - **यदिति**। पुत्रादिषु प्रसक्ताः वृजिनार्णवे दुःखसागरे उन्मज्जन्ति देवादियोनिषु, निमज्जन्ति स्थावरादियोनिषु। तदुक्तं वायवीये- "विपर्ययश्च भवति ब्रह्मत्वस्थावरत्वयोः" ॥ ४१ ॥

एवं जीवेश्वर व्यवस्थां निरूप्येदानीं अभजन्तं निन्दति - द्वाभ्यां **देवेति**। देवेन त्वया कर्माध्यक्षेण दत्तं नृदेहमिमं लब्ध्वापीति ॥ ४२ ॥

शोच्यत्वे हेतुः **य** इति। विपर्ययाः विपरीताः अनात्माऽप्रियाऽनीश्वराः ये इन्द्रियार्थाः पुत्रादयस्तदर्थम् ॥ ४३ ॥

अहमन्ये च शुद्धमनसस्त्वामेव भक्त्या प्रपन्ना इत्याह-**अहमिति** ॥ ४४ ॥

भगवतो भजनीयत्वे हेतून् वदन् तद्भक्तिं प्रार्थयते-**तमिति**। समत्वे हेतुः-प्रशान्तमिति। सुसेव्यत्वमाह-सुहृदात्मदैवं सुहृद् बुद्धि प्रवर्तकत्वात् आत्मा च सर्वात्मकत्वात्, एवम्भूतं दैवं ईश्वरं त्वाम्। न चान्यो भजनीयोऽस्तीत्याह-अनन्यमेकं समानासमानजातीयरहितम्। तत्कुतः? जगतामात्मनां च केतमधिष्ठानम् ॥ ४५ ॥

स्वयं भक्तिमाशास्य स्वभक्तस्याभीष्ट माशास्ते - **अयमिति**, दैत्यपतौ प्रह्लादे ॥ ४६ ॥

**वीर०** न केवलमयमेवाज्ञः किन्तु सर्वेऽपि त्वन्मायामोहितत्वादित्यभिप्रयन्नाह **यन्मायेति**। यस्य तव मायया मोहिता धीर्येषां ते पुत्रादिषु [1]सक्ताः वृजिनार्णवे दुःखार्णवे उन्मज्जन्ति उत्लवन्ते पुनर्निमज्जन्ति च ॥ ४१ ॥

ननु मोहयन् वृजिनार्णवे पातयंश्चाहं किं निर्घृणः नेत्याह-**देवदत्तमिति**। देवेन निरवधिक कृपावता त्वया दत्तं त्वदाराधनोपयुक्त° त्वन्मायातरणसाधनं चेमं मनुष्यदेहं लब्ध्वाऽपि अजितेन्द्रियः इन्द्रियपरवशस्सन् यः पुमान् त्वच्चरणौ नाद्रियेत न सेवेत स शोच्यः, अहो किमस्य दौर्भाग्यमित्येवं शोचनीयः। कुतः? हि यस्मात् अयमात्मवञ्चकः आत्मापहारी-'योन्यथा सन्त मात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते, किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा' (भार० 1-68-26) इति वचनार्थोऽत्रानुसन्धेयः। स्वदोषेणैव स्वयं दुःख्यतीति न तव दोषप्रसङ्ग इति भावः ॥ ४२ ॥

इतोऽपि शोच्य हत्याह - **यस्त्वामिति**। स्वयं मरणशीलस्सन् आत्मानं प्रियं ईश्वरं च त्वां विसृजते त्यजति न सेवते किन्तु विपर्ययेषु अनात्मस्वप्रियेष्वनीश्वरेषु इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु आर्तः दीनः अमृतमपि त्वां अमृततुल्यां त्वत्सेवां वा विषबुद्ध्या त्यजन् आस्ते स शोच्य इति सम्बन्धः ॥ ४३ ॥

यतस्त्वत्सेवाऽमृततुल्या अत एव वयं त्वामेव प्रपन्ना इत्याह - **अहमिति**। अहं रुद्रः त्वामेवोक्तविधं सर्वभावेन उपायोपेयभावेन शरणं गताः ॥ ४४ ॥

न केवलमात्मत्वानुगुण गुणमात्रयुक्तमेव त्वां प्रपन्नाः किन्तु शरण्यत्वोपयुक्ता संख्येय गुणान्तरयुक्तं चेत्यभिप्रयन्नाह-**तमिति**। हे देव! तमुक्तविधं किञ्च जगदुत्पत्तिस्थिति कारणम्। समं वैषम्यरहितं प्रशान्तं ऊर्मिषट्करहितं भजतामपि शान्त्यावहं च सुहृद्यासावात्म नायकश्च तं अनन्यं स्वतुल्य सेव्यान्तररहितं एकं स्वाधिक प्रपदनीयान्तर रहितं आत्मकेतं आत्मनां अस्माकं केतं आश्रयमाधारमिति यावत्। आत्मैव केतं यस्य तमिति वा 'स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः' (छान्दो ०उ० 7-24-1) इति श्रुतेः। भवाभ्युदयायैहिकसुखाय अपवर्गाय मोक्षाय च भजामः ॥ ४५ ॥

प्रकृतिं विज्ञापयति-**अयमिति**। अयं बाणः मे त्वां प्रपन्नस्य मम इष्टो भक्तः। अनेन 'मम मद्भक्त भक्तेषु प्रीतिरभ्यधिका भवेत्' इति भगवद्वचनं स्मारितम्। अत एव दयितः प्रियः अनुवर्तत इति। तथा च हे देव! अमुष्य बाणस्य मया अभयम् दत्तम् .किमत इत्यत आह .तन्मया दत्तमभयं सम्पाद्यतां सफलीक्रियतां अयमेव भवतोऽनुग्रहः। यथा हि ते त्वया दैत्यपतौ प्रह्लादे प्रसादः, कृत इति शेषः। त्वद्वंशजं न हनिष्यामीति प्रह्लादमनुगृहीतवानित्यर्थः ॥ ४६ ॥

---

1. B. आसक्ताः

**श्रीभगवानुवाच**

**यदात्थ भगवंस्त्वं नः करवाम प्रियं तव ।**
**भवतो[1] यद्व्यवसितं तन्मे साध्वनुमोदितम् ॥४७॥**

**अवध्योऽयं ममाप्येष[2] वैरोचनि[3] सुतोऽसुरः ।**
**प्रह्लादाय वरो दत्तो न वध्यो मे तवान्वयः ॥४८॥**

**दर्पोपशमनायास्य प्रवृक्णा बाहवो मया ।**
**सूदितं[4] च बलं भूरि यच्च भारायितं भुवः ॥४९॥**

**चत्वारोऽस्य भुजाश्शिष्टा भविष्यन्त्यजरामराः ।**
**पार्षदमुख्यो भवतो न कुतश्चिद्भयोऽसुरः ॥५०॥**

---

1. MI.V. °ता 2. K.MI.T.V.W °या° 3. K.T.W. °न 4. K.T.W. नाशितं

**श्रीध० अवध्य** इति। वैरोचनि बलिर्मद्भक्तः तत्सुतत्वादयमवध्यस्तावत् किञ्च प्रह्लादायेति अन्वयो वंशः ॥४७, ४८॥

तर्हि किमत्येवं कृतं तत्राह-**दर्पोपशमनायेति** ॥४९॥

अनुगृह्णाति - **चत्वार** इति ॥५०॥

**वीर०** इत्थं संस्तुतः प्रसन्नः प्राह भगवान् - **यदात्थेति**। हे भगवन्! रुद्र! नः अस्मान्प्रति यदात्थ अवोचः यच्च तव प्रियं तन्नोऽस्माकमपि अतः तत् करवाम भवता यन्निश्चितमेतत्प्राणसंरक्षणात्मकं तन्मयाऽप्यनुमोदितम् ॥४७॥

वैरोचनिसुत इति हेतुगर्भं तत्त्वादवध्यः, तत्रापि हेत्वन्तरमाह-प्रह्लादायेति। अन्वयः वंशजः ॥४८॥

तर्हि किमर्थं बाहूनच्छिनः तत्राह-**दर्प** इति। प्रवृक्णाश्छिन्नाः, किमर्थम्? बहुसैन्यं हतवानसीत्यत आह-नाशितमिति। भूभारापनयनार्थमिति भावः ॥४९॥

रुद्रमुखेन बाणमनुगृह्णाति -**चत्वार** इति। अस्य बाणस्य चत्वारः भुजाः शिष्टाः आज्ञप्ताः अनुगृह्य अवशेषिता इत्यर्थः। अयं जरामरणरहितः भविष्यतीति, न कुतश्चित् भयं यस्य तथाभूतश्च भविष्यतीति सम्बन्धः ॥५०॥

इति लब्ध्वाऽभयं कृष्णं प्रणम्य शिरसाऽसुरः ।
प्राद्युम्निं रथमारोप्य सबध्वा[1] तमुपानयत्[2] ॥ ५१ ॥

अक्षौहिण्या परिवृतं सुवाससमलङ्कृतम्[3] ।
सपत्नीकं पुरस्कृत्य ययौ रुद्रानुमोदितः ॥ ५२ ॥

स्वराजधानीं समलङ्कृतां ध्वजैस्सतोरणै भूषितमार्गचत्वराम्[4] ।
विवेश शङ्खानक दुन्दुभिस्वनैरभ्युद्यतः पौरसुहृद्द्विजातिभिः ॥ ५३ ॥

य एतत्कृष्णविजयं[5] शङ्करेण च संयुगम् ।
संस्मरेत्प्रातरुत्थाय न तस्य स्यात्पराजयः ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

---

1. K. सह 2. K. समानयत् ;T.W. समुपानयत् 3. B.G.J. °सः 4. B.G.J.K.T.W. रुक्षितमा° 5. B.G.J. एवं कृ°

**श्रीध० इतीति**। सहवध्वा उषया कान्तया सह ॥ ५१ ॥

**अक्षौहिण्येति**। रुद्रानुमोदित इति तदभिप्रेतस्यैव बाणभुजभङ्गस्य कृतत्वात् ॥ ५२ ॥

**स्वेति**। पौरादिभिरभ्युद्यत अभिमुखमागत्य सत्कृतः ॥ ५३,५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

**वीर० इतीति**। अभयमिति च्छेदः। वध्वा उषया सह प्राद्युम्निमनिरुद्धं समानयत् द्वारकां प्रापयामासेत्यर्थः ॥ ५१ ॥

तदेवाह - **अक्षौहिण्येति**। शोभने वाससी यस्य तं, पत्न्या सहितं अनिरुद्धं पुरस्कृत्य पुरतो गमयन् रुद्रानुमोदितः स्वयमप्यनुययौ ॥ ५२ ॥

**स इति**। स बाणः कृष्णो वा। अन्यतरसहितोऽन्यतरो वा। पौरादिभिः अभ्युद्यतः अभिमुखमागत्य सत्कृतः शङ्खादिध्वनिभिः राजधानीं द्वारकां विवेश। कथम्भूतम्? उक्षिताः सिक्ताः, मार्गाः वीथयः, चत्वराण्यङ्गणानि च यस्यां ताम् ॥ ५३ ॥

उक्तकथासु संस्मरणफलमाह-**य इति**। यः पुमान् संस्मरेदिति श्रवणाख्यानादीनामप्युपलक्षणम्। तस्य स्मरतः पराजयो न स्यात् ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

# चतुष्षष्टितमोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या सप्ताशीतितमोऽध्यायः)

-: नृगापाख्यानम् :-

**श्रीशुक उवाच**

★ एकदोपवनं राजञ्जग्मु र्यदुकुमारकाः ।
विहर्तुं साम्ब प्रद्युम्न चारुभानु गदादयः ॥ १ ॥

क्रीडित्वा सुचिरं तत्र विचिन्वन्तः पिपासिताः ।
स्थितं[1] निरुदके कूपे ददृशुः सत्त्वमद्भुतम् ॥ २ ॥

कृकलासं गिरिनिभं वीक्ष्य विस्मितमानसाः[2] ।
तस्य चोद्धरणे यत्नं चक्रुस्ते कृपयान्विताः ॥ ३ ॥

चर्मभिस्तान्तवैः[3] पाशैर्बद्ध्वा[4] पतितमर्भकाः ।
नाऽशक्नुवन्समुद्धर्तुं कृष्णायाऽऽचख्युरुत्सुकाः ॥ ४ ॥

तत्रागत्वाऽरविन्दाक्षो[5] भगवान्विश्वभावनः ।
वीक्ष्योज्जहार वामेन तं करेण स लीलया ॥ ५ ॥

---

★ श्रीविजयध्वजीय पाठानुसारेण सप्ताशीतितमाध्यायस्य त्रयोदशश्लोकादारभ्य अयमध्यायः दृश्यते । 1. B,G,J, MI,V जलं 2. M, Ma चेतसः 3. B,G,J चर्मजै° ;M,Ma चर्मभि° 4. B,G,J °स्तं तथा 5. B,G,J तत्रागत्वा°

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुष्षष्टितमे कृष्णो नृगं पापादमोचयत् । ब्रह्मस्वहारि दोषोक्त्या राज्ञो दृप्तानशिक्षयत् ॥
विभूतिभाग्यभोगादि मदोन्नद्धमनोरथान् । अन्वशासद्यदून्कृष्णो नृगोद्धारप्रसङ्गतः ॥

**क्रीडित्वेति** । पिपासिताः तृषिता जलं विचिन्वन्तः । सत्त्वं जीवम् ॥ १,२ ॥

**कृकलासमिति** । तं च कृकलासं वीक्ष्य ॥ ३ ॥

**चर्मजैरिति**। चार्मभिः[1] चर्ममयैः पाशैः तान्तवैः तन्तुमयैश्च ॥४, ५॥

1. B,J चर्मणैः

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ दत्तापहारप्रयुक्तदुरितनिमित्त कृकलासजन्मनो नृगस्य तज्जन्मविमोचनात्मकं भगवच्चेष्टितमनुवर्णयति चतुष्षष्टितमेन-**एकदेत्यादिना**। तावदुपोद्घातमाह - हे राजन्! साम्बादयो यदुकुमारकाः ॥१॥

**क्रीडित्वेति**। तत्रोपवने पिपासिताः तृषिताः जलमन्वेषयन्तः क्वचिन्निरुदके निर्जले कूपे महदुन्नतं अद्भुतं च सत्त्वं जन्तुं ददृशुः ॥२॥

कृकलासं नाम गिरिनिभं गिरितुल्यं विस्मितं चेतो येषां ते तस्य कृकलासस्योद्धरणे निमित्ते यत्नं च चक्रुः ॥३॥

**चार्मभिरिति**। चर्ममयैः तन्तुमयैश्च पाशैः रज्जुभिः बद्ध्वा पतितं तमुद्धर्तुं न प्रबभूवुः ॥४॥

**तत्रेति**। विश्वं भावयति अभ्यधिकं करोतीति तथा वामेन करेण लीलयैव तमुज्जहार बहि र्निष्कासितवान् ॥५॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

विचिन्वन्तः अन्वेषणं कुर्वन्तः सत्त्वं प्राणिनम् ॥१,२॥

कृकं लासयति नर्त्तयतीति कृकलासः, 'शिरः प्राग्रं कृकं विदुः' इति च ॥३-५॥

**स उत्तमश्लोककराभिमृष्टो विहाय सद्यः कृकलासरूपम् ।**
**सन्तप्त चामीकर चारुवर्णः स्वर्ग्यद्भुतालङ्करणाम्बरस्त्रक् ॥६॥**

**★भूत्वा मुकुन्दस्य पदारविन्दं ननाम मूर्ध्ना पतितो धरण्याम् ॥**
**पप्रच्छ विद्वानपि तन्निदानं जनेषु विख्यापयितुं मुकुन्दः ।**
**कस्त्वं महाभाग वरेण्यरूपो देवोत्तमं त्वां गणयामि नूनम् ॥७॥**

दशामिमां वा कतमेन कर्मणा सम्प्रापितोऽस्य तदर्हः सुभद्र ।
आत्मानमाख्याहि विवित्सतां नो यन्मन्यसे नः क्षममत्र वक्तुम् ॥८॥

श्रीशुक उवाच

इति स्म राजा संपृष्टः कृष्णेनाऽनन्तमूर्तिना ।
माधवं प्रणिपत्याह किरीटेनार्कवर्चसा ॥९॥

नृग उवाच

नृगो नाम नरेन्द्रोऽहमिक्ष्वाकुतनयः प्रभो ।
दानिष्वाख्यायमानेषु यदि ते कर्णमस्पृशम् ॥१०॥

किं न तेऽविदितं नाथ सर्वभूतात्मसाक्षिणः ।
कालोनाव्याहतदृशो वक्ष्येऽथापि तवाज्ञया ॥११॥

यावत्यः सिकता भूमौ यावत्यो दिवि तारकाः ।
यावत्यो वर्षधाराश्च तावतीरददां च गाः ॥१२॥

पयस्विनीस्तरुणीः शीलरूप गुणोपपन्नाः कपिला हेमशृङ्गीः ।
न्यायार्जिता रौप्यखुराः सवत्सा दुकूलमाल्याभरणा ददावहम् ॥१३॥

स्वलङ्कृतेभ्यो गुणशीलवद्भ्यः सीदत्कुटुम्बेभ्य ऋतव्रतेभ्यः ।
तपःश्रुतब्रह्मवदान्यसद्भ्यः प्रादां युवभ्यो द्विजपुङ्गवेभ्यः ॥१४॥

गोभूहिरण्यायतनाश्वहस्तिनः कन्याः सदासीस्तिलरूप्यशय्याः ।
वासांसि रत्नानि परिच्छदान्रथा निष्टं च यज्ञैश्चरितं च पूर्तम् ॥१५॥

---

1- -1 M, Ma स्वर्गोचिता ★ This additional half verse is found in M, Ma only. 2- -2 K, Ml, T, V, W तस्य दानं ;M, Ma तस्य कर्म 3. M, Ma add श्रीभगवानुवाच 4. k, T, Ml, V, W °म 5- -5 K, T, M, Ma,W तोह्यतदर्हः ;Ml, V तोऽसि ह्यतदर्हः 6. K. सुदीसिः ;Ml.V. सुप्रभः 7. M, Ma, W °सेऽङ्गो ;Ml, V °से तत् 8. K, Ml, T, V, W °न्त° 9. K, T, W मानुषः ;M, Ma प्रतीतः 10. K, Ml, T, V, W °ने° 11. B, G, J,M, Ma, Ml, V भूमेः 12. B, G, J, M, Ma °ङ्गीः 13. B, G, J, K, T, W रू° 14. B, G, J, M, Ma माला° 15. K, T, W ददाम्यहम् ;Ml. V °स्त्यदामहम् 16. M, Ma पूर्तिः

**श्रीध० स** इति। सन्तप्तं चामीकरं सुवर्णं तद्वच्चारु[1] वर्णो यस्य सः। अद्भुता अलङ्करणाम्बरस्रजो यस्य सः। स्वर्गी देवो बभूवेति ॥ ६, ७ ॥

**दशामिति**। यद्यदि। क्षमं योग्यम् ॥८, ९॥

**नृग** इति। यदि ते कर्णमस्पृशमित्यसन्देहे सन्देहवचनं यदि वेदाः प्रमाणं स्युः इतिवत्। कर्णपथं नूनं प्राप्तः स्यामित्यर्थः ॥ १० ॥

किञ्च **किं न्विति**। सर्वेषां भूतानामात्मनो बुध्देः साक्षिणस्तेऽविदितं किं नु. न किञ्चित् ॥ ११, १३ ॥

**स्वलङ्कृतेभ्य** इति। ऋतव्रतेभ्योऽदम्भाचारेभ्यः। तपसा श्रुताः प्रख्यातास्च ते ब्रह्मणि वदान्या अत्युदारा अध्यापनशीलाश्च ते सन्तश्च तेभ्यः ॥ १४ ॥

**गोभूहिरण्येति**। पूर्तं वापीकूपादि। चरितं कृतम् ॥ १५ ॥

---

1. B, J Omit चारु

**वीर० स इति**। स उद्धृतः उत्तमश्लोकस्य करणाभिमृष्ट इति हेतुगर्भमिदम्। सन्तप्तं चामीकरं सुवर्णं तद्वद्वर्णो यस्य सः। अद्भुता अलङ्करणादयो यस्य सः। स्वर्गी देवो बभूव ॥ ६ ॥

**पप्रच्छेति**। तस्य कृकलासस्य जन्मनो निदानं कारणं जानन्नपि मुकुन्दः तज्जनेषु ख्यापयितुं प्रसिद्धीकर्तुं पप्रच्छ। प्रश्नमेवाह-**कस्त्वमिति**। हे महाभाग! वयं तु त्वां देवोत्तमं[1] देवश्रेष्ठं गणयाम ॥ ७ ॥

कतमेन केन वा कर्मणा इमां कृकलासत्वरूपां दशाम् अवस्थां प्रापितोऽसि, तत्र हेतुः - अतदर्हा एतदवस्थानर्हा शोभना दीप्तिः यस्य सः, आत्मानमिति। विवित्सतां वेत्तुमिच्छतां नोऽस्मभ्यम् आत्मानमाख्याहि, यत् यदि तद्वक्तुं क्षमं योग्यं तर्ह्याख्याहीति सम्बन्धः ॥८॥

**इतीति**। आनन्दमूर्तिना हृद्यमूर्तिना सम्पृष्टो राजा मानुष इति च पूर्वजन्माभिप्रायेणोक्तम्, अर्कस्येव वर्णो यस्य तत् तेन किरीटेन नमस्कृत्याऽऽह ॥९॥

उक्तिमेवाह - **नृग** इत्यादिना इत्युक्त्वा तमित्यतः प्राक्तनेन। अहं नृगो नाम नरेन्द्रः राजश्रेष्ठः, हे प्रभो!

दानेष्वाख्यायमानेषु दानप्रशंसासु वक्तव्यास्वित्यर्थः। दानेषु दानशीलेषु वा यदि तव कर्णमस्पृशमित्यसन्देहे सन्देहवचनं यदि वेदाः प्रमाणं स्युः इतिवत्, कर्णपथं नूनं प्राप्तः स्यामित्यर्थः ॥१०॥

किञ्च, **किन्विति**। ते त्वया न विदितं किन्नु विदितमेवेत्यर्थः। तत्र हेतुत्वेन विशिनष्टि सर्वभूतानामात्मनो बुध्देः साक्षिणः साक्षाद्दृष्टुः कालेनाव्याहता अविप्लुता दृक् ज्ञानं यस्य तस्य अथापि यद्यप्येवं तथापि वक्ष्ये ॥११॥

**यावत्य** इति। सिकतादयो यावत्यस्तावतीः धेनूः अददां दत्तवानस्मि, मया दत्तानां गवां सङ्ख्या न विद्यत इत्यर्थः ॥१२॥

ता एव विशिनष्टि - **पयस्विनीरिति**। अत्र भूम्नि मत्वर्थीयः, शीलादिभिर्युक्ताः कपिलवर्णाः हेमस्वर्णालङ्कारः शृङ्गयोर्यासां ताः, न्यायतः सम्पादिताः रौप्यं रजतालङ्कारः खुरेषु यासां ताः, वत्सैस्सहिताः दुकूलादीनां द्वन्द्वः,ततो मत्वर्थीयोऽच्, ददामि अदामित्यर्थः ॥१३॥

अथ सत्पात्राणि विशिनष्टि - **स्वलङ्कृतेभ्य** इति। सीदन् ल्किश्यन् कुटुम्बो येषां तेभ्यः ऋतव्रतेभ्यः अदम्भाचारेभ्यः तपसा श्रुताः प्रख्याताः ते ब्रह्मणि वदान्याः ब्रह्मवादिनः ते च ते सन्तः, तेभ्यः, वदान्यवद्भ्यः इति पाठे तप आदिविशिष्टेभ्यः एवंविधेभ्यो ब्राह्मणोत्तमेभ्योऽदाम् ॥१४॥

न केवलं गा एवादाम्, अन्यानपीत्याह[2]-**गोभ्विति**। पुनर्गोग्रहणमितरापेक्षया तद्धयस्त्वाभिप्रायकं, गवादीनामितरेतरयोगद्वन्द्वः, तत्रायतनानि गृहाः, दासीभिस्सहिताः कन्याः, तिलादीनां द्वन्द्वः, तत्र रूप्यं रजतं, परिच्छदान् गृहोपकरणानि, न केवलं प्रादामेव, किन्तु, यज्ञैरिष्टं च पूर्तं स्मार्तं कर्म चरितं कृतं च ॥१५॥

---

1. B adds ध्रुवं 2. B अन्यदपी°

**विज०** विवित्सतां ज्ञातुकामानां यद्यदि ॥६-९॥

तव कर्णमस्पृशं तर्हि ज्ञातुं योग्य इत्यर्थः ॥१०॥

अन्यथापि ज्ञातुं शक्य इत्याह-**किं त्विति** ॥११॥

सिकतारजांसि अददास्म अददाम् 'दा दाने' इति धातुः। सुडागमश्छान्दसः ॥१२-१५॥

कस्यचिद्द्विजमुख्यस्य भ्रष्टा गौर्मम गोधने ।
सम्पृक्ताऽविदुषा सा च मया दत्ता द्विजातये ॥ १६ ॥

तां नीयमानां तत्स्वामी दृष्ट्वोवाच ममेति तम् ।
ममेति प्रतिग्राह्याह[1] नृगो मे दत्तवानिति ॥ १७ ॥

विप्रौ विवदमानौ मामूचतुः स्वार्थसाधकौ ।
भवान्दाताऽपहर्तेति तच्छ्रुत्वा मेऽभवद्भ्रमः ॥ १८ ॥

अनुनीतावुभौ विप्रौ धर्मकृच्छ्रगतेन[2] वै[3] ।
गवां लक्षं प्रगृह्णीतां[4] दास्याम्येषा प्रदीयताम् ॥ १९ ॥

भवन्तावनुगृह्णीतां किङ्करस्याऽविजानतः ।
समुध्दरतं[5] मां कृच्छ्रात्पतन्तं निरयेऽशुचौ[6] ॥ २० ॥

---

1. Ml.v गृह्या° 2. K,M,Ma, T, W छं 3. M,Ma,Ml, T,V, W मे 4. B, G, J, K, Ml, T, V, W प्रकृष्टानां 5. G, K, M, Ma, T, W °रत 6. Ml, V °ऽशुभे ।

**श्रीध०** एवं वर्तमानस्य मम सङ्कटं किञ्चिदापन्नं शृण्वित्याह - **कस्यचिदिति** । द्विजमुख्यस्य प्रतिग्रहनिवृत्तस्य । सम्पृक्ता मिलिता । अविदुषा ब्राह्मणस्येयमित्यजानता ॥ १६,१७ ॥

**विप्राविति** । प्रतिग्राहिणोक्तम्-दातेति । स्वामिनोक्तमपहर्तेति । अभवद्भ्रमः, व्याकुलोऽभवमित्यर्थः ॥ १८ ॥

**अनुनीताविति** । तदोभावपि प्रत्येकमनुनीतौ प्रार्थितौ । कथं तदाह - गवामिति सार्धेन ॥ १९, २० ॥

---

1. Ml, v मिश्रिता

**वीर०** एवं वर्तमानस्य मम किञ्चित्सङ्कटमापन्नं शृण्वित्याह - **कस्यचिदिति** । द्विजमुख्यस्य गां प्रतिगृहीतवतो गौर्भ्रष्टा बलात् तध्दस्ताद्विमोचिता सती मम गोधने सम्पृक्ता मिलिता सा च अविदुषा पूर्वमेव कस्मैचित् दत्ता इत्येवमजानता मया द्विजातये अन्यस्मै ब्राह्मणाय दत्ता ॥ १६ ॥

**तामिति**। तामन्यस्मै दत्तां गां दृष्ट्वा तस्याः गोः स्वामी पूर्वप्रतिगृहीतां तां गां मम मदीयेत्याह, प्रतिग्राही पश्चात्प्रतिग्रहीता मदीयैव अधुनैव मह्यं नृगो दत्तवानित्याह ॥१७॥

**विप्राविति**। भवान् दाता ततोऽपहर्ता चेत्येवमूचतुः। यतस्तौ स्वार्थसाधकौ स्वार्थपरौ, अत एवमूचतुरित्यर्थः। तद्विप्रयोः वचश्श्रुत्वा ममापि भ्रमो जातः ॥१८॥

तदा धर्मकृच्छ्रं धर्मसङ्कटं प्राप्तेन मया अनुनीतौ उपच्छन्दितौ, अनुनयनप्रकारमेवाह-गवामिति सार्धेन। प्रकृष्टानां श्रेष्ठानां गवां लक्षमन्यतरस्मै प्रदीयतां युवयोरन्यतरेणेत्यर्थः ॥१९॥

किञ्च **भवन्ताविति**। किङ्करस्य मम कर्मणः शेषत्वविवक्षयेयं षष्ठी, किङ्करं मामनुगृह्णीतामित्यर्थः। तत्र हेतुत्वेन विशिनष्टि - अविजानत इति। कृच्छ्राद्धर्मसङ्कटादशुचौ निरये पतन्तं मां समुद्धरतेति पूजार्थं बहुवचनम् ॥२०॥

विज० भ्रष्टा अभ्यस्तदेशं विहाय अन्यदेशङ्गता। संसृष्टा सङ्कुलिता अविदुषा अजानता ॥१६॥

तस्याः गोः स्वामी पूर्वतनो नाथः अन्यः प्रतिग्रहीता ममेति प्रतिगृह्याब्रवीत् ॥१७॥

विवदमानौ विप्रतिपद्यमानौ 'भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वद' (अष्टा० 1-3-47) इत्यतः आत्मनेपदम्, भ्रमः संभ्रमः ॥१८-२०॥

**नाहं प्रतीच्छे[1] वै राजन्नित्युक्त्वा स्वाम्यपाक्रमत् ।**
**नान्यद्रवामच्च्युत मिच्छामीत्यपरो ययौ ॥२१॥**

★ **ततश्च[2] कालयोगेन मृतः परममायया ।**
❖ **देव दैववशाद्गीतस्तद्दवामि तवाऽग्रतः ॥२२॥**

**एतस्मिन्नन्तरे याम्यैर्दूतैर्नीतो यमक्षयम् ।**
**यमेन पृष्टस्तत्राहं देव देव जगत्पते ॥२३॥**

**पूर्वं त्वमशुभं भुङ्क्षे उताहो नृपते शुभम् ।**
**नान्तं दानस्य धर्मस्य[3] पश्य[4] लोकांश्च[4] भास्वतः ॥२४॥**

**पूर्वं देवाशुभं भुञ्ज इति प्राह पतेति सः ।**
**तावदप्राक्षमात्मानं कृकलासं पतन्प्रभो! ॥२५॥**

**ब्राह्मण्यस्य वदान्यस्य तव दासस्य केशव ।**
**स्मृतिर्नाद्यापि विध्वस्ता भवत्सन्दर्शनार्थिनः ॥२६॥**

---

1 M, Ma नान्यां ★ This verse is not found in G, J, MI, V edns. ❖ This half - verse is not found in M, Ma Edns. 3. K, MI, T, V, W भवतः 4- -4 B, G, J, K, MI, T, V, W पश्ये लोकस्य 5. M, Ma तव स°

**श्रीध० नेति** । अपरः प्रतिग्राही । दुराग्रहो यल्लक्षं त्वयोक्तमन्यदपि गवामयुतं यदि तदपीमां विहाय नेच्छामीत्युक्त्वा गां त्यक्त्वा ययौ इत्यर्थः ॥२१॥

**एतस्मिन्नन्तर** इति । इतः पूर्वं पापाभावान्नेतुमसमर्था इति भावः ॥२३॥

**पूर्वमिति** । उताहो इत्येकं पदम् । अभवा पूर्वं शुभमिति । नान्तमिति यमस्य स्वस्य वा वाक्यम् । पश्ये पश्यामि ॥२४॥

**ब्राह्मणस्येति** । हे देव! यम! पूर्वमशुभं भुञ्ज इति मयोक्ते, स यमः पतेति प्राह ॥२५, २६॥

**वीर०** एवमुक्तयोस्तयोरन्यतरः गोस्वामी हे राजन्! अहं गवां लक्षमपि न प्रतीच्छे न प्रतिगृह्णामि, किन्तु दत्तामेव नयामीत्युक्त्वा अपाक्रमत् ययौ । तथा अपरोऽपि प्रतिग्राही दुराग्रहः यल्लक्षं त्वया प्रतिश्रुतम्, अन्यदपि गवामयुतं दत्तं यदि तथाप्येनां विहाय नेच्छामीत्युक्त्वा गां त्यक्त्वा ययावित्यर्थः ॥२१॥

**तत** इति । हे परम! मायया परमस्य तव मायया वा हेतुभूतेन सङ्कल्पेन कालयोगेन निमित्तेन मृतः हे देव! दैववशाददृष्टवशात् यत्र नीताः तत्तवाग्रतो वदामि ॥२२॥

**एतस्मिन्निति** । हे देवदेव! जगत्पते! एतस्मिन्नन्तरे इतः पूर्वं पापाभावात् नेतुमसमर्थैरिति भावः । याम्यैः यमसम्बन्धिभिः यमसदनं प्रापितः तत्र यमसदने यमेनाहं पृष्टश्च ॥२३॥

प्रश्नमेवाह - **पूर्वमिति** । किं पूर्वम् अशुभं पापफलं भुङ्क्षे, उताहो किं वा शुभं पुण्यफलं भोक्ष्यसे, भवतो दानस्य यो लोकः लोक्यत इति लोकः फलं तस्य भास्वतः प्रकाशमानस्य उपस्थितस्य इति यावत्, अन्तम् अवधिं न पश्यामि ॥२४॥

पूर्वमेवाशुभं पापफलं भुञ्जे तस्याल्पीयस्त्वादिति भावः। इति मयोक्ते पत निरये इति शेषः। इतीत्थं स यमः मां प्राह, तावदिति। तावत्तदैव हे **प्रभो**! पतन् अहमात्मानं कृकलासमद्राक्षं दृष्टवानस्मि ॥२५॥

**ब्रह्मण्यस्येति**। हे केशव! ब्रह्मण्यस्येत्यादि विशेषण चतुष्टयं पूर्वजन्मस्मृत्यनपाये हेतुतयोपात्तं, **ब्रह्मणि** ब्राह्मणकुले साधुः ब्रह्मण्यः ॥२६॥

---

1. B °मक्षमैरिति

**विज०** अपाक्रमत् अपगतवान् ॥२१॥

याम्यैः यमस्य विद्यमानैः ॥२२॥

भुङ्क्ष्व भोक्षयसे ॥२३॥

तव दानस्य धर्मस्य अन्तं नास्ति तज्जन्यलोकान् पश्य इत्युक्तोऽहं प्राक् अशुभं भुञ्जे इत्युक्ते स यमः तर्हि पतेति मां प्राह ॥२४-२६॥

★ **स त्वं कथंमम विभोऽक्षिपथः[1] परात्मा योगेश्वरैः श्रुतिदृशाऽमलहृद्विभाव्यः ।**
**साक्षादधोक्षज उरुव्यसनान्धबुध्देः स्यान्मेऽनुदृश्य[2] इह यस्य भवापवर्गः ॥२७॥**

**देव देव जगन्नाथ गोविन्द! पुरुषोत्तम!**
**नारायण हृषीकेश पुण्यश्लोकाच्युताव्यय ॥२८॥**

**अनुजानीहि मां कृष्ण यान्तं[3] देवगतिं प्रभो ।**
**यत्र क्वापि सतश्चेतो भूयान्मे त्वत्पदास्पदम् ॥२९॥**

**नमस्ते सर्वभावाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।**
**कृष्णाय वासुदेवाय योगानां[4] पतये नमः ॥३०॥**

**इत्युक्त्वा तं परिक्रम्य पादौ स्पृष्ट्वा स्वमौलिना ।**
**अनुज्ञातो विमानाग्र्य मारुहत्पश्यतां नृणाम् ॥३१॥**

---

★ This verse is not found in M, Ma Edns. 1. K, T, W °sक्षिगतः ;Ml, V °sक्षपथः 2. K, T, W शाल्लेऽनुदृश्य ;Ml, V स्यादेव दृश्य 3. K, M, Ma, T, W यातुं 4. M, Ma गोपानां

**श्रीध०** दुर्घटेन श्रीकृष्णदर्शनेन विस्मितस्सन्, आत्मनो **भाग्यमभिनन्दति - स त्वमिति**। हे विभो! स त्वं ममाक्षिपथो लोचनगोचरस्सन् कथं साक्षात्प्रत्यक्षोऽसीत्यर्थः। **किमत्राश्चर्यं तदाह** - पर आत्मा। अत एव योगेश्वरैरपि श्रुतिदृशा उपनिषच्चक्षुषाऽमले हृदि विभाव्यः चिन्त्यः। यतोऽधोक्षजः। **अक्षजमैन्द्रियकज्ञानं तदधोऽर्वागेव यस्मात्सः**। यस्येह भवापवर्गो भवेत् तस्य भवान्ननुदृश्यः स्यात्। उरुव्यसनेन कृकलासत्वभवेन[1] दुःखेनान्धबुध्देस्तु ममैतच्चित्रमित्यर्थः ॥२७॥

उद्रिक्तभक्तिर्बहुधा सम्बोधयन्नाह **देव देवेति** ॥२८॥

अनुज्ञापयति - **अनुजानीहीति**। देवलोकेऽपि सतो वर्तमानस्यात्मनो मनसः सन्निधिं प्रार्थयते। यत्र क्वापीति। त्वत्पदमास्पदं विषयो यस्य तथाभूतं भूयादिति ॥२९॥

यास्यन्नमस्यति - **नम** इति। सर्वभावाय सर्वस्य भावो जन्म येन तस्मै। ब्रह्मणे कर्तृत्वेऽप्यविकाराय। कुतः? अनन्तशक्तये, अनन्ता मायाख्या शक्तिर्यस्य तस्मै। वासुदेवाय सर्वभूताश्रयायेत्युपादानत्वमुक्तम्। श्रीकृष्णाय सदानन्द रूपायेति पुरुषार्थत्वमुक्तम्। 'कृषिर्भूवाचकश्शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते। भारत° (5-68-5) इति स्मृतेः। किञ्च योगानामिष्टपूर्तादिकर्मणां पतये फलदात्रे। अयं भावः - एवम्भूतं त्वां विहाय गन्तुमनिच्छुरपि गमिष्यामि त्वद्दत्तकर्मफलभोगायेति ॥३०, ३१॥

---

1. B, J °सभवदुः° 2. MI, V omit कर्म

**वीर०** अलभ्यलाभेनाधुना कृतार्थोभूवमित्याह - **सत्वमिति**। हे विभो! सः यस्याहं सन्दर्शनार्थी सत्वं कथं ममाक्षिपथं गतः लोचनगोचरः, कथमित्यनेन दौर्लक्ष्यं[1] सूचितं, तत्र हेतुत्वेन विशिनष्टि - परमात्मा न हि परमात्मा केवलं मांस चक्षुषा वीक्ष्य इति भावः। किञ्च योगेश्वरैः श्रुतिदृशा उपनिषच्चक्षुद्वारिण निर्मले हृदये विभाव्यः केवलं चिन्त्यः, यद्यप्येवमथापि हे अधोक्षज! अभक्तेन्द्रियजन्यज्ञानाविषयः यस्य भवापवर्गः संसारनाशः तस्योरुणा व्यसनेनान्धा बुद्धिर्यस्य तथाभूतस्यापि शान्ते सति हृदये त्वं दृश्य एवेत्यर्थः ॥२७॥

हर्षातिशयेन बहुधा सम्बोधयन् किञ्चित्प्रार्थयमान श्चानुज्ञां पृच्छति - **देव देवेति** द्वाभ्याम्। देवगतिं स्वर्गलोकं प्रति यातुं गन्तुमुद्यतं माममनुजानीहि आज्ञापय, यत्र क्वापि सतो वर्तमानस्य मम चेतः त्वत्पदास्पदं त्वत्पदारविन्दसंश्रयं भूयात् तथाऽनुगृहीष्येत्यर्थः ॥२८, २९॥

यास्यन्नमस्करोति - **नमस्त** इति। ते तुभ्यं सर्वभावाय **सर्वः** भावः पदार्थो यस्य शरीरत्वेनेति स तथा तस्मै तत्र हेतुः **ब्रह्मणे** स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयबृहत्त्वाय अनन्ताश्शक्तयः कार्योपयुक्ताऽपृथक्सिद्धप्रकृतिपुरुषकाल सार्वज्ञ्य **सर्वशक्तित्वादयो** यस्य तस्मै। योगानां पतये निर्वाहकाय ॥ ३० ॥

**इतीति**। स्वमौलिना स्वकिरीटेन विमानाग्र्यं विमानश्रेष्ठम् आरुरोह नृणां पश्यतां सताम् ॥ ३१ ॥

---

1. K. दौर्लभ्यं

विज० देवगतिं स्वर्गम् ॥ २७ ॥

यत्र क्वापि योनिविशेषे सतः सम्भवतः ॥ २९ ॥

सर्वभावाय सम्पूर्णैश्वर्याय सर्वोत्पादनकर्त्रे वा। अखण्डलीलयेति वा ॥ ३०,३१ ॥

**कृष्णः परिजनं प्राह भगवान्देवकीसुतः ।**
**ब्रह्मण्यदेवो धर्मात्मा राजन्याननुशिक्षयन् ॥ ३२ ॥**

**दुर्जरं बत ब्रह्मस्वं भुक्तमग्नेर्मनागपि ।**
**तेजीयसोऽपि किमुत राज्ञामीश्वरमानिनाम् ॥ ३३ ॥**

**नाऽहं हालाहलं मन्ये विषं यस्य प्रतिक्रिया ।**
**ब्रह्मस्वं हि विषं प्रोक्तं नाऽस्य प्रतिविधिर्भुवि ॥ ३४ ॥**

**हिनस्ति विषमत्तारं वह्निरद्भिः प्रशाम्यति ।**
**कुलं समूलं दहति ब्रह्मस्वारणिपावकः ॥ ३५ ॥**

**ब्रह्मस्वं दुरनुज्ञातं भुक्तं हन्ति त्रिपूरुषम् ।**
**प्रसह्य तु बला[2] दुक्तं[3] दश पूर्वान्दशापरान् ॥ ३६ ॥**

**राजानो राजलक्ष्म्यान्धा नात्मपातं विचक्षते ।**
**निरयं[4] येऽभिमन्यन्ते ब्रह्मस्वं साधुबालिशाः ॥ ३७ ॥**

---

1. K, M, Ma, T, W अग्नि 2. M, Ma °ह्यति 3. K. T, W °क्ष्या च ;M, Ma क्ष्याश्च 4. M, Ma निरये।

**श्रीध० दुर्जरमिति**। मनागीषदपि भुक्तं सदग्नेरग्नि सदृशस्य तेजीयसोऽतितेजस्विनोऽपि दुर्जरम् ॥ ३२-३४ ॥

किञ्च विषादपि घोरमित्याह - **हिनस्तीति**। संसर्गि संसर्गेण मारकत्वादग्नितुल्यता स्यात्, तदपि नेत्याह-वह्नि रिति। अपि च समूलमिति वह्निर्मूलान्यवशेषयति, ब्रह्मस्वलक्षणारणिजः पापपावकस्तु कुलं तदपि समूलमिति ॥ ३५ ॥

**ब्रह्मस्वमिति**। दुरनुज्ञातं यथावदननुज्ञातम्। त्रिपूरुषं कुलं स्वं पुत्रं पौत्रं च। प्रसह्य हठात्। बलाद्राजाद्याश्रयतः ॥ ३६ ॥

**राजान** इति। ये ब्रह्मस्वमभिमन्यन्ते इच्छन्ति ते निरयमेवाभिमन्यन्ते। अतो बालिशा अज्ञा आत्मपातं न विचक्षत इति ॥ ३७ ॥

**वीर० कृष्ण** इति। ब्रह्मण्यदेवो धर्मात्मेति च हेतुगर्भम्। तत्त्वात्, राजन्याननुशिक्षयन् इत्यत्र 'लक्षणहेत्वोः' (अष्टा 3-2-126) इति शत्रादेशः, अनुशिक्षयितुमित्यर्थः। परिजनं परितो विद्यमानं प्रति आह ॥ ३२ ॥

उक्तिमेवाह - **दुर्जरमित्यादिना** एतद्विश्राव्येत्यतः प्राक्तनेन। बतेत्याश्चर्ये। ब्रह्मस्वं मनागीषदपि भुक्तं सत् अग्नेरग्निसदृशस्य अतितेजस्विनोऽपि दुर्जरं दुःखेनापि न जीर्यतीति तथा, किं वक्तव्यम् ईश्वरम्मन्यानां[1] राज्ञां दुर्जरमिति ॥ ३३ ॥

किञ्च **नाहमिति**। हालाहलं न विषं मन्ये, कुतः? यस्य हालाहलस्य प्रतिक्रिया प्रतीकारः, वर्तत इति शेषः। किन्तु ब्रह्मस्वमेव विषं प्रोक्तम् हि यस्मादस्य ब्रह्मस्वस्य भूमौ प्रतिक्रिया नास्ति ॥ ३४ ॥

किञ्च **हिनस्तीति**। विषं तु अत्तारं भक्षयितारमेव हन्ति, अग्निस्तु अद्भिर्जलैः प्रशाम्यति, अनेन संसर्गि संसर्गेण मारकत्वादग्नितुल्यता स्यात् इत्येतदपि नास्तीत्युक्तम्। अपि च समूलमिति वह्निर्हि मूलान्यवशेषयति, ब्रह्मस्वलक्षणः अरणिजः पावकस्तु कुलं तदपि समूलं दहति ॥ ३५ ॥

किञ्च - **ब्रह्मस्वमिति**। दुरनुज्ञातं सम्यगननुज्ञातं सत् भुक्तं स्वं पुत्रं पौत्रं चेति त्रीन् पुरुषान् दहति, बलात् राजाद्याश्रयबलात् प्रसह्य बलात्कृत्य[2] भुक्तं तु दश पूर्वान् पितृपितामहादीन् हन्ति, नरके पातयति अपरान् पुत्रपौत्रादीन् दश नाशयति ॥ ३६ ॥

तर्हि राजानः किमिति ब्रह्मस्वं भुञ्जत इत्यत्राह - **राजान** इति। ये राजानः साधु यथा तथा ब्रह्मस्वमभिमन्यन्ते आकाङ्क्षन्ति, ते राज्यलक्ष्म्या अन्धा इति शेषः। आत्मा पतत्यस्मिन्निति तथा तन्निरयं न प्रचक्षते न प्रतीक्षन्ते न विचारयन्ति, अतस्ते केवलं बालिशाः मूढाः ॥ ३७॥

---

1. B मन्यमानानां 2. B. °त्कृत्वा

**विज०** परिजनं परित उपासमानं जनम् ॥ ३२॥

अग्नेरपि दुर्जरं जीर्णीकर्तुमशक्यं मनागल्पमपि किं पुनरन्यस्येत्यर्थः ॥ ३३॥

प्रतिनिधिः प्रतिक्रिया नास्ति ॥ ३४॥

ब्रह्मस्वाख्यारणिजन्यपावकः ॥ ३५॥

दुरनुज्ञातम् अनुज्ञां विना भुक्तम्, अननुज्ञातं वा प्रसह्य अविचार्य ॥ ३६॥

राजलक्ष्म्या राजश्रियः पातं निरये आत्मपातं च न प्रचक्षते न पश्यन्ति। ये ब्रह्मस्वं साधु मन्यन्ते ते बालिशाः॥ ३७॥

**श्रीशुक उवाच**

**गृह्णन्ति यावतः पांसून् क्रन्दतामश्रुबिन्दवः[1] ।**
**विप्राणां हृतवृत्तीनां[2] वदान्यानां कुटुम्बिनाम् ॥३८॥**

**राजानो राजकुल्याश्च तावतोऽब्दाग्निरङ्गुशाः[3] ।**
**कुम्भीपाकेषु[4] पच्यन्ते ब्रह्मदायापहारिणः[4] ॥३९॥**

**स्वदत्तां परदत्तां वा ब्रह्मवृत्तिं हरेत्[5] यः ।**
**षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः ॥४०॥**

**न[6] मे ब्रह्मधनं भूयाद्[7] यद्यत्याऽल्पायुषो[8] नृपाः ।**
**पराजिताश्च्युता राज्याद्[9] भवन्त्युद्वेजिनो[10] हि ये ॥४१॥**

विप्रं कृतागसमपि मैव हुह्यत मामकाः ।
घ्नन्तं बहु शपन्तं वा नमस्कुरुत नित्यशः ॥४२॥
यथाऽहं प्रणमे विप्रानननुकालं समाहितः ।
तथा नमत यूयं च योऽन्यथा मे स दण्डभाक् ॥४३॥
ब्राह्मणार्थो ह्यपहृतो हर्तारं पातयत्यधः ।
अजानन्तमपि ह्येनं नृगं ब्राह्मणगौरिव ॥४४॥
एवं विश्राव्य भगवान्मुकुन्दो द्वारकौकसः ।
पावनः सर्वलोकानां विवेश निजमन्दिरम् ॥४५॥★

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे चतुष्षष्टितमोऽध्यायः ॥६४॥

---

★ The following extra verses belong to Vijayadhvaja are found in M, Ma edns. in between 37 & 38 slokas. सद्भिः समागमो राजन् कदाचिन्नाफलो भवेत्। विमुक्तो नरकाद्राजा नृगः साधु समागमात्॥ साधूनां दर्शनं स्पर्शं कीर्तनं स्मरणं तथा। तीर्थानामिव पुण्यानां सर्वमेव हि पावनम्॥ एतच्छ्रुत्वा त्वया सन्तः सदोपास्याः परन्तप। ब्रह्मस्वं मैव हर्तव्यं यदीच्छसि पराङ्गतिम्॥ 1. K. M, Ma, Ml, T. V. W रुदता 2. K, M, Ma, Ml, T, V, W वित्तानां 3. M, Ma तावन्तो° 4- -4 K, T, W कुम्भीपाकेन प° ;M, Ma नरके तु वि° 5. K, M, Ma, Ml, T, V, W °त 6. Ml, V मा 7. M, Ma °द्यङ्गध्वा 8. B,G, J नराः 9. K, M, Ma, T, W स्थानात् 10 B, G, J °जिनोऽहयः ;M, Ma जिता नृपाः ; K, T, W जिनो वयम् 11. B, G, J, K, M, Ma नैव 12. M, Ma °प्रान्सर्वं° 13. K, T, W एतत् 14. Ml, V °रका प्रजाः 15. K. T, W भूतानां

श्रीध० अपि च गृह्णन्तीति ॥३८-४०॥

नेति। गृध्द्वा अभिकाङ्क्ष्य ॥४१, ४२॥

यथेति। प्रणमे नमामि ॥४३॥

न केवलमर्थवादविभीषिकेयं किन्तु प्रत्यक्षमित्याह - ब्राह्मणार्थ इति ॥४४, ४५॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां चतुष्षष्टितमोऽध्यायः ॥६४॥

**वीर०** गृह्णन्तीत्यादि श्लोकद्वयमेकान्वयम्। हृतं वित्तं येषां तेषाम् अत एव रुदतां विप्राणाम् अश्रुबिन्दवः यावतः पांसून् गृह्णन्ति आर्द्रान्कुर्वन्ति तावतोऽब्दान्वत्सरान् कुम्भीपाकेन निरयेण पच्यन्ते, ब्रह्मदायापहारिणः ब्रह्मस्वापहारिणः निरङ्कुशाः दुर्निवाराः राजादिविशेषणमिदं द्वयम् ॥३८, ३९॥

**स्ववत्तामिति**। ब्रह्मवृत्तिं ब्राह्मणस्याजीविकाम् ॥४०॥

**ब्रह्मस्वं** न मां स्पृशेदित्याशास्ते **नम** इति। विपर्ययेऽनर्थमाह - यदिति। यद्ब्रह्मधनं गृध्द्धा अभिकाङ्क्ष्य अल्पायुषः पराजिताश्च राज्याद्भ्रष्टाश्च भवन्ति, अतो वयमुद्वेजिनः भीतिमन्तो भवेम ॥४१॥

**विप्रमिति**। मामका यदि यूयं मदीयास्तर्हि कृतापराधमपि विप्रं नैव द्रुह्यत, आर्षत्वात् 'क्रुधद्रुह' (अष्टा°1-4-37) इति चतुर्थ्यभावः, किन्तु बहु यथा तथा शपन्तमपि नित्यं नमस्कुरुत ॥४२॥

इदमेव स्वदृष्टान्तेन द्रढयति **यथेति**। अनुकालं त्रिसन्ध्यं प्रणमे नमस्करोमि, योऽन्यथा न नमेत् स दण्डभाक् मे मत्तः ॥४३॥

न केवलमर्थवाद इति बिभीषिकेयम्, किन्तु प्रत्यक्षमित्याह - **ब्राह्मणार्थ** इति। ब्राह्मणार्थो विप्रधनं हर्तारम् अधो नरके पातयति, यथा अजानन्तमेनं नृगं ब्राह्मणस्य गौरपातयत् तद्वत्, अजानन्तमपीत्यनेन किमु वक्तव्यं जानन्तं पातयतीति कैमुत्यन्यायोऽभिप्रेतः ॥४४॥

**एतदिति**। द्वारकौकसः प्रति एतत् उक्तं श्रावयित्वा, तत्र हेतुः - सर्वलोकानां पावनः ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां चतुष्षष्टितमोऽध्यायः ॥६४॥

**विज०** यद्ब्रह्मस्वं जग्ध्वाऽल्पायुषो भवन्ति ॥३८-४१॥

द्रुह्यत द्रोहं न कुरुत ॥४२-४४॥

सर्वलोकानां पावनः शुध्दिकर्ता ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे चतुष्षष्टितमोऽध्यायः ॥६४॥

(विजयध्वजरीत्या सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥८७॥)

# पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या अष्टाशीतितमोऽध्यायः)

बलरामस्य पुनर्नन्दव्रजागमनकथा

### श्रीशुक उवाच

बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ भगवान्रथमास्थितः[1] ।
सुहृद्दिदृक्षुरुत्कण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥ १ ॥

परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठै र्गोपैर्गोपीभिरेव च ।
रामोऽभिवाद्य पितरावाशीर्भिरभिनन्दितः ॥ २ ॥

चिरं नः पाहि दाशार्ह सानुजो जगदीश्वर[2] ।
इत्यारोप्याङ्कमालिङ्ग्य नेत्रैः सिषिचतुर्बलम्[3] ॥ ३ ॥

गोपवृद्धांश्च विधि वद्यविधैरभिवन्दितः[4] ।
यथावयो यथासख्यं यथासम्बन्धमात्मनः ॥ ४ ॥

समुपेत्याऽथ गोपालान्[5] हास्यहस्तग्रहादिभिः[6] ।
विश्रान्तं सुखमासीनं पप्रच्छुः पर्युपागताः[7] ॥ ५ ॥

---

1. K.T.W. °श्रितः 2. B.G.J. रः 3. B.G.J.K. M.Ma. T.W °र्जलैः 4- -4 M. Ma. T.W. °द्यविधैरभिवादितः ;Ml. V °द्यभिवन्द्याभिवादितः 5. M. Ma त मु° 6. M.Ma. Ml.V. °लाः हास्य 7. M. Ma. °पासिताः ।

### श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पञ्चषष्टितमे राम श्चक्रे गोकुल मागतः । रममाणस्तु गोपीभिः कालिन्द्याः कर्षणं मदात् ॥

रामस्य चरितं चित्रं कालिन्द्याकर्षणादि यत् । पौण्ड्रकान्तादि कृष्णस्य पृथगुक्तं[1] ततः परम् ॥ १ ॥

**परिष्वक्त** इति । आशीर्भिरभिनन्दितो बभूव ॥ २ ॥

तदाह - **चिरमिति** ॥ ३ ॥

**गोपवृद्धानिति** । गोपवृध्दांश्च विधिवदभिवन्द्य यविष्ठैरभिवन्दितो बभूवेत्यर्थः । अपि च यथावय इति ॥ ४ ॥

**समुपेत्येति** । ते सर्वे स्वेषु यादवेषु तं राममनामयमारोग्यं पप्रच्छुः । ते च तेन पृष्टा इति ॥ ५ ॥

---

1. B.J. क गतः

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ प्रत्येकं रामकृष्णयोश्चेष्टितानि वर्णयति **बलभद्र** इति । हे कुरुश्रेष्ठा सुहृद्दिदृक्षुरिति समस्तं पदम् । सुहृदो बन्धून् द्रष्टुमिच्छुः, तत्र हेतुरुत्कण्ठः प्रेमयुतः तद्विषयाभिलाषयुक्तो वा ॥ १ ॥

**परिष्वक्त** इति । आलिङ्गितः पितरौ यशोदानन्दगोपौ अभिवाद्य प्रणम्य ताभ्यामाशीर्भिरभिनन्दितश्च ॥ २ ॥

तदेवाह - **चिरमिति** । हे दाशार्हा हे जगदीश्वरा इदं सम्बोधनद्वयं हेतुगर्भम् । जगदीश्वरत्वा त्स्वाश्रितसंरक्षणार्थं दाशार्हेष्ववतीर्णत्वाच्च मानुजम्न्वं नोऽस्मान् चिरं पाहि चिरमात्मरक्षाप्रार्थनैनैव[1] तयोर्दीर्घायुष्ट्वादिकं सर्वं प्रार्थितप्रायमेव तेन विना तदनुपपत्ते रित्याशयेन चिरं पाहीत्युक्तम्, इतीति । आदिश्याऽऽशास्य नेत्रैः नेत्रजैर्जलैः हर्षजलै स्सिषिचतुः स्नपयामासतुः ॥ ३ ॥

**गोपवृद्धानिति** । ततो गोपवृद्धांश्चाभिवाद्येति शेषः । यविष्ठैः न्यूनवयस्कैः अभिवन्दितः, किञ्च यथावय इति । अथ ततो हास्यादिभिः आदिशब्देन आलिङ्गनादि सङ्गृहः । आत्मनः स्वस्य वयस्सख्यसम्बन्धानुरूपम् ॥ ४ ॥

गोपान् समुपेत्य उपविवेशेति शेषः ॥ ५ ॥

---

1. T.W. °नैव

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भगवच्छिक्षितकेशाविष्टस्य शेषावतारस्य बलभद्रस्य हरिमाहात्म्याविनाभूतं माहात्म्यं वर्णय त्यनेन प्रारिप्सितेनाऽध्यायत्रयेण । तत्र प्रथमे यमुनामदहरणलक्षणं विक्रमं वक्तुं बलस्य गोकुलगमनं वक्ति । द्वितीये द्विविदवधलक्षणं, तृतीये कौरवगर्वनिर्वापणार्थं तत्पुराकर्षणलक्षणं वक्तुं दुर्योधनसुताहरणं वक्ति ॥ १ ॥

पितरौ यशोदानन्दौ गोपौ ॥ २ ॥

इति समासाभिवादनादिकर्माणं तं राममङ्कमारोप्य नेत्रैश्चक्षुर्नाडीनिर्गतैः 'नेत्रं नाड्यांतरोः मूले' (वैज. को. 6-3-17) इति यादवः ॥ ३ ॥

यविष्ठैः कनिष्ठैः ॥ ४ ॥

हास्येन मन्दस्मितेन, हस्तग्रहेण, आदिशब्देन परिरम्भणादिकं गृह्यते ॥ ५ ॥

**[1]पृष्टाश्चानामयं स्वेषु[-1] प्रेमगद्गदया गिरा ।**
**कृष्णे कमलपत्राक्षे सभ्यस्ताखिलराधसः ॥ ६ ॥**

**कच्चिन्नो बान्धवा राम सर्वे कुशलमासते ।**
**कच्चित्स्मरथ नो राम यूयं दारसुतान्विताः ॥ ७ ॥**

**दिष्ट्या कंसो हतः पापो दिष्ट्या मुक्ताः सुहृज्जनाः ।**
**निहत्य निर्जित्य रिपून्दिष्ट्या दुर्गं समाश्रिताः ॥ ८ ॥**

**गोप्यो हसन्त्यः पप्रच्छू रामसन्दर्शनादृताः ।**
**कच्चिदास्ते सुखं कृष्णः पुरस्त्रीजनवल्लभः ॥ ९ ॥**

**कच्चित्स्मरति वा बन्धून्पितरं मातरं च [2]नः ।**
**★ अप्यसौ मातरं द्रष्टुं सुकृदप्यागमिष्यति ॥**
**अपि वा स्मरतेऽस्माकमनुसेवां महाभुजः ॥ १० ॥**

---

1- -1 K.T.W. पृष्ट्वा च अनामयं स्वेषु ;M. Ma पृष्टश्चाकथयत्स्वेषु ;Ml.V पृष्टाश्चनामयं प्रीताः 2. B.G.J.K.M. Ma. T.W. सः ★ This extra half verse is found in B.G.J. editions only.

**श्रीध० पृष्टाश्चेति** । कृष्णे कृष्णप्रात्यर्थं सभ्यस्ताखिलराधस स्त्यक्तसर्वविषयाः ॥ ६-८ ॥

**[1]गोप्य[-1] इति** । रामस्य सन्दर्शनेनादृताः सादराः ॥ ९, १० ॥

---

1- -1 Ml.V. Omit

**वीर० पृष्टाश्चेति**। अनामयमारोग्यं पृष्ट्वा कमलपत्राक्षे कृष्णे सन्न्यस्ताः सम्यङ्निहिताः अखिलाः सकला राधसः बुद्धयो यैस्ते कृष्णैकप्रवणचित्ता इत्यर्थः। प्रेम्णा गद्गदया गिरा परिपप्रच्छुः ॥६॥

प्रश्नमेवाह-**कच्चिदि**त्यादिना। हेराम ! नोऽस्माकं सर्वे बान्धवाः कुशल मासते; कच्चिद्दारैस्सुतैरन्विताः, इदं विस्मृत्यभावसूचकं विशेषणम्। यूयं नोऽस्मान् स्मरथ कच्चित् ?॥७॥

दिष्ट्येत्यानन्दे, अयमस्माकमानन्द इत्यर्थः। सुहृज्जनाः वसुदेवदेवक्यादयः मुक्ताः कंसनिर्बन्धात् मोचिताः, कांश्चिद्रिपून्निहत्य कांश्चिन्निर्जित्य च दुर्गं जलदुर्गं द्वारकामित्यर्थः ॥८॥

**गोप्य** इति। रामस्य सन्दर्शने पुनः पुनर्वीक्षणे आदृताः पप्रच्छुः, प्रश्नमेवाह - कच्चिदास्त इति। पुरस्त्रीजनवल्लभ इत्यनेन ग्राम्यस्त्रीष्वात्मसु तस्य प्रीत्यभावो हेतुगर्भितः ॥९॥

स कृष्णः पितरं नन्दं मातरं यशोदां च स्मरति कच्चित् ? अपि वेति। अस्माकमनुसेवामनुवर्तनं स्मरते किं वा? न स्मरत्येवेति भावः ॥१०॥

**विज०** सन्न्यस्ताखिलराधसः समर्पित समस्तसम्पदः ॥६-८॥

रामसन्दर्शनेनादृताः जातबहुमानाः ॥९॥

अस्माकमनुसेवां स्मरते न वा ॥१०॥

**मातरं पितरं भ्रातॄन्पतीन्पुत्रान्स्वसॄरपि ।**
**यदर्थे जहिम[1] दाशार्ह दुस्त्यजान्स्वजनान्प्रभो ॥११॥**

**ता नः सद्यः परित्यज्य गतः सञ्छिन्नसौहृदः ।**
**कथं नु तादृशं स्त्रीभिर्न श्रद्धीयेत भाषितम् ॥१२॥**

**कथं नु गृह्णन्त्यनवस्थितात्मनो वचः[2] कृतघ्नस्य बुधाः[3] पुरस्त्रियः[3] ।**
**गृह्णन्ति[4] वै चित्रकथस्य सुन्दरस्मितावलोकोच्छ्वसितस्मरातुराः ॥१३॥**

**किं नस्तत्कथया गोप्यः कथाः कथयतापराः ।**
**यात्यस्माभिर्विना कालो यदि तस्य तथैव नः ॥१४॥**

**इति प्रहसितं शौरेर्जल्पितं चारु वीक्षितम् ।**
**गतिं प्रेमपरिष्वङ्गं स्मरन्त्यो रुरुदुः स्त्रियः ॥ १५ ॥**

---

1. K. Ml. T. V. W अत्याक्ष्म ; M. Ma. हिन्म 2. K.T.W. वाचः 3- -3 M. Ma मुधा प° 4. M. Ma कृष्णस्य

**श्रीध० ता** इति। तर्हि तद्गमने युष्माभिः प्रतिबन्धः किं न कृतः तद्वाक्यविश्वासादिति चेत्, ननु विश्वासः किमिति कृतस्तत्राहुः - कथन्चिति। वक्तृबहुत्वान्नानाविधानि वाक्यानि ॥ ११, १२ ॥

तत्रान्या ऊचुः - **कथं नु गृह्णन्तीति**। अन्या ऊचुः - गृह्णन्ति वा इति। चित्रकथस्य चित्रकथाकथनकोविदस्य। किञ्च सुन्दरं स्मितं यस्मिंस्तेनावलोकेनोऽच्छ्वसितः क्षुभितो यः स्मरस्तेनातुराः ॥ १३ ॥

तत्रान्या ऊचुः - **किं न** इति। कालस्तावत्तस्य चास्माकं च यात्येव। किन्तु तस्य सुखेन, अस्माकं तु दुःखे-नेत्येतावानेव विशेष इति ध्वनितम् ॥ १४, १५ ॥

**वीर०** एतदेव स्पष्टयितुं तस्य सौहार्दाभावमाहुः - **मातरमिति** सार्धेन। हे दाशार्ह! हे प्रभो! मात्रादीनन्यांश्च स्वजनान् यदर्थे यन्निमित्तम् अत्याक्ष्म त्यक्तवत्यः, ताः नोऽस्मान् सद्य एव परित्यज्य गतः, अत एव सञ्छिन्नं सौहृदं येन तथाभूतः तर्हि तद्गमने युष्माभिः प्रतिबन्धः किं न कृतः, तद्वाक्यविश्वासादिति चेत् विश्वासः किमिति कृतः, तत्राऽऽहुः - कथं न्विति अर्धेन। तादृशमित्यनेन वञ्चनशीलत्वं विवक्षितम्। स्त्रीभिरित्यनेन मौढ्यमभिप्रेतम्। कथं न श्रद्धीयेत न विश्वस्येत अज्ञत्वाद्विश्वसितवत्यस्मेति भावः ॥ ११, १२ ॥

वक्तृबहुत्वान्नानाविधानि वाक्यानि तत्रान्या ऊचुः - **कथमिति**। अनवस्थितः चञ्चलः आत्मा मनो यस्य तस्य कृतघ्नस्य च कथन्नु बुधाः कुशलाः पुरस्त्रियो गृह्णन्ति विश्वसन्ति। अन्या ऊचुः - गृह्णन्ति वा इति। विचित्राः कथाः भाषणानि यस्य तस्य, हेतुगर्भमिदम्। भाषणेनैव व्यामोहयितुरित्यर्थः। सुन्दरं स्मितं यस्मिन् तेन अवलोकनेन उच्छ्वसित उद्दीपितो यः स्मरः कामः तेनाऽऽतुराः आकुलाः, इदमपि हेतुगर्भम्। तत्वात्ताः गृह्णन्ति, वै इति निश्चये ॥ १३ ॥

अपरा ऊचुः - **किं न** इति। हे गोप्यः! तस्य कथया वार्तया नोऽस्माकं किं को वा पुरुषार्थः, अतोऽन्याः कथाः कथयत, तस्य श्रीकृष्णस्यास्माभिर्विना यदि कालो याति, तर्हि तथैव नोऽस्माकमपि यात्येव, किन्तु तस्य सुखेन अस्माकं तु दुःखेनेत्येतावानेव विशेष इत्यनेन ध्वनितम् ॥ १४ ॥

**इतीति**। प्रेम्णा परिष्वङ्गमालिङ्गनं च स्मरन्त्यः ॥ १५ ॥

**विज०** यस्य कृष्णस्यार्थे दृढस्नेहनिमित्तं मात्रादीन् स्वजनान् हिन्म अत्याक्ष्म छान्दसप्रयोगः ॥ ११ ॥

स्त्रीभिस्तादृशं गुडजिह्विकालक्षणं भाषितं कथं नु न श्रध्दीयेत श्रध्देयमेवेत्यर्थः ॥ १२ ॥

अस्मदन्यानैव श्रद्दधत इत्याहुः - **कथमिति**। परस्त्रियः अस्मदन्यस्त्रियः, अन्यत्र उत्तमस्त्रियः, अनवस्थितात्मनः चञ्चलमनसः, अन्यत्र सङ्गरहितस्य कृतघ्नस्य अनुपकारिणः, अन्यत्रकारिणः विनाशिनः कृष्णस्य पुमधीनस्य अन्यत्र पूर्णानन्दस्य मुधावचः कथं नु गृह्णन्ति अन्यत्र मुधा कथं न गृह्णन्ति सार्थमेव गृह्णन्तीत्यर्थः। वैचित्रा नानाविधाः कथाः वाक्यप्रबन्धा यस्य स तथा तस्य उभयत्र समं कीदृश्यः सुन्दरस्मितावलोकेन उच्छ्वसितेन उद्धतेन स्मरेण आतुराः अन्यत्र निरन्तरस्मरणपरवत्यः ॥ १३ ॥

हरये प्रेम्णा कम्पन्त्यो मिथो जल्पन्ति **किं न** इति। हे गोप्यः! अपराः कथाः कथयत तस्य कृष्णस्य कथया किं नः प्रयोजनम्? तस्य कृष्णस्य यद्यस्माभिर्विना कालो याति। तथा तर्हि तेन विना नः कालोऽपि यातीत्यन्वयः ॥ १४ ॥

शुकः स्त्रीणां धैर्यशिथिलं वचनं वज्रधारोपममिति लोकसिध्दमित्याशयेनाह - **इतीति**। इत्थमुक्त्वा शौरेः कृष्णस्य प्रहसितादि च स्मरन्त्यो रुरुदुरित्यन्वयः ॥ १५ ॥

**सङ्कर्षणस्ताः कृष्णस्य सन्देशैर्हृदयङ्गमैः ।**
**सान्त्वयामास भगवान्नानानुनय कोविदः ॥ १६ ॥**

**द्वौ मासौ तत्र चावात्सीन्मधुं माधवमेव च ।**
**रामः क्षपासु भगवान्गोपीनां रतिमावहन्[1] ॥ १७ ॥**

**पूर्णचन्द्रकलामृष्टे कौमुदीगन्धवायुना ।**
**यमुनोपवने रेमे सेविते स्त्रीगणैर्वृतः ॥ १८ ॥**

**वरुणप्रेषिता[2] देवी वारुणी वृक्षकोटरात् ।**
**पतन्ती तद्वनं सर्वं स्वगन्धेनाध्यवासयत्[3] ॥ १९ ॥**

**तं गन्धं मधुधाराया वायुनोपहृतं बलः ।**
**आघ्रायोपगतस्तत्र ललनाभिः समं[4] पपौ ॥ २० ॥**

---

1. T.W. मुद° 2. Ml. V. °रं° 3. M. Ma सौरभेना° 4. K.M. Ma. T. W. पपौ समम्

**श्रीध० सङ्कर्षण** इति। नानाविधेष्वनुनयेषु कोविदः ॥ १६ ॥

**द्वाविति**। मधुं चैत्रम्। माधवं वैशाखम्। गोपीनां रतिमिति श्रीकृष्ण क्रीडासमयेऽनुपन्नानामतिबालानां अन्यासामित्यभियुक्त प्रसिद्धिः ॥ १७ ॥

**पूर्णेति**। पूर्णचन्द्रस्य कलाभिः मरीचिभिरामृष्टे उज्ज्वलिते। कौमुदीगन्धवायुना कुमुद्वतीनां गन्धसहितेन सेविते। यद्वा कौमुदीशब्देन तद्विकासितानि कुमुदानि लक्ष्यन्ते कुमुदगन्धवायुनेत्यर्थः ॥ १८ ॥

**वरुणेति**। वारुणी सुधया सहोत्पन्ना मदिरा ॥ १९, २० ॥

**वीर० सङ्कर्षण** इति। नानाविधेषु अनुनयेषु सान्त्वनेषु कोविदो निपुणः ताः गोपीः सान्त्वयामास ॥ १६ ॥

**द्वाविति**। मधुं चैत्रं माधवं वैशाखं चेत्येतौ द्वौ मासाववात्सीदुषितवान्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, कथम्भूतस्सन्? तासु मधुमाधवयोस्सम्बन्धिनीषु क्षपासु रात्रिषु गोपीनां पूर्वं स्वपरिगृहीतगोपीनां व्रजान्निष्क्रमणान्तरमुत्पन्नानां वा रतिमनुरागमावहन् उद्रेचयन् ॥ १७ ॥

किञ्च **पूर्णेति**। पूर्णचन्द्रस्य कलाभिः मरीचिभिः आमृष्टे उज्ज्वले कौमुदीगन्धवायुना कुमुद्वतीनां गन्धवातेन सेविते। यद्वा कौमुदीशब्देन तद्विकासितानि कुमुदानि लक्ष्यन्ते, कुमुदगन्धवायुनेत्यर्थः यमुनायाः उपवने स्त्रीसमूहैः परिवृतो रेमे क्रीडितवान् ॥ १८ ॥

**वरुणेति**। वारुणी सुधया सह उत्पन्ना मदिरा, सा च वरुणप्रेरिता सती इदमेव तस्यां वारुणीशब्दप्रवृत्तौ निमित्तम्। वृक्षकोटरादापतन्ती अधस्स्रवन्ती स्वगन्धेन तद्वनमध्यवासयत् परिमलयाञ्चकारेत्यर्थः ॥ १९ ॥

**तमिति**। तं वायुनोपहृतं घ्राणं प्रत्यानीतं मधुधारायाः गन्धमाघ्राय तत्रागतो बलो रामः स्त्रीभिस्सह पपौ पीतवान् ॥ २० ॥

**विज०** मधुं माधवं वसन्तर्तुम् ॥ १६, १७ ॥

कौमुदी कुमुद्वती तस्याः गन्धेन संपृक्तेन वायुना सेविते ॥ १८ ॥

अध्यवासयत् - संस्कारोपेतमकरोत् ॥ १९, २० ॥

**★ उपगीयमान उद्गन्धर्वनिताशोभिमण्डले ।**
**रेमे करेणुयूथेषु माहेन्द्र इव वारणः ॥ २१ ॥**

नेदुर्दन्दुभयो व्योम्नि ववृषुः कुसुमैर्मुदा ।
गन्धर्वा मुनयो रामं तद्वीर्यैरीडिरे मुदा ॥ २२ ॥

उपगीयमानचरितो वनिताभिर्हलायुधः ।
वनेषु व्यचरत्क्षीबो मदविह्वललोचनः ॥ २३ ॥

स्रग्व्येककुण्डलो मत्तो वैजयन्त्या च मालया ।
बिभ्रत्स्मितमुखाम्भोजं स्वेदप्रालेयभूषितम् ॥ २४ ॥

स चाऽऽजुहाव यमुनाञ्जल क्रीडार्थमीश्वरः ।
निजं वाक्यमनादृत्य मत्त इत्यापगां बलः ॥
अनागतां हलाग्रेण कुपितो विचकर्ष ह ॥ २५ ॥

पापे त्वं मामविज्ञाय यन्नायासि मयाऽऽहुता ।
नेष्ये त्वां लाङ्गलाग्रेण शतधा कामचारिणीम् ॥ २६ ॥

---

★ This verse is not found in G. J. M. Ma. editions. 1. Ml. V. रेजे 2. Ml. V °शो 3- -3 B. °न्द्रो वारणो यथा 4- -4 M. Ma माहेन्द्र इव वारणः 5. M. Ma. शुभैक° 6. B. G. J. K. Ml. T. V. W. आ° 7. M. Ma. T.W. निज

**श्रीध०** उपगीयमानेति। क्षीबो मत्तः ॥ २१, २२ ॥

**स्रग्वीति**। स्वेद एव प्रालेयं हिमं तेन भूषितम् ॥ २३, २४ ॥

**स** इति। मत्तोऽयमित्यनादृत्य अनागतामापगां नदीम् ॥ २५ ॥

**पापे** इति। आहुता आहूता यत् यस्मान्नागच्छसि तस्मात्। नेष्ये गमयिष्यामि ॥ २६ ॥

**वीर०** वनितानां शोभिनि मण्डले उपगीयमानः स्वयं चोद्गायन् रेमे, यथा करेणूनां इभीनां यूथेषु माहेन्द्रो वारणो गजः ऐरावतः, तद्वत् ॥ २१ ॥

**नेदुरिति**। ववृषुः देवा इत्यध्याहारः, मुदा हर्षेण तस्य रामस्य वीर्यैः वीर्यप्रकाशकैः वचोभिरीडिरे तुष्टुवुः ॥ २२ ॥

10-65-27-34

इत्थमुपगीयमानानि चरितानि यस्य सः। क्षीबो मत्तः, मदेन विह्वले चञ्चले लोचने यस्य सः वनिताभिस्सह वनेषु चचार ॥ २३ ॥

तमेव विशिनष्टि - **स्रग्वीति**। स्रगस्यास्तीति तथा एकं कुण्डलं यस्य सः। वनमालया अलङ्कृत इति शेषः। स्वेद एव प्रालेयं हिमं तेन भूषितं स्मितयुक्तं मुखाम्भोजं बिभ्राणः ॥ २४ ॥

तस्यैव चरित्रान्तरमाह-**स** इत्यादिना। ईश्वरः प्रभुः स रामः युमुनां आजुहाव आहूतवान्। ततो मत्तोऽयमित्यात्मवाक्यमनादृत्यानागतामापगां यमुनां कुपितो बलरामः हलाग्रेण विचकर्ष आकृष्टवान्। हेति विस्मये ॥ २५ ॥

**पापे** इति। आहुतेति च्छेदः, हे पापे! यद्यतो मया त्वमाहूता मामवज्ञाय अवहेल्य नागताऽसि, अतस्त्वां स्वैरचारिणीं शतधा नेष्यामि शतकुल्यावतीं करिष्ये ॥ २६ ॥

**विज०** ईडिरे तुष्टुवुः ॥ २१,२२ ॥

क्षीबः मद्यपानमत्तः ॥ २३ ॥

स्वेदप्रालेयेन धर्महिमजलेन भूषितम् ॥ २४, २५ ॥

हे पापे! आहुता आहूता ॥ २६ ॥

**एवं निर्भर्त्सिता भीता यमुना यदुनन्दनम् ।**
**उवाच चकिता वाचं पतिता पादयोर्नृप ॥ २७ ॥**

**राम राम महाबाहो न जाने तव विक्रमम् ।**
**यस्यैकांशेन विधृता जगती जगतः पते ॥ २८ ॥**

**परं भावं भगवतो भगवन्मामजानतीम् ।**
**मोक्तुमर्हसि विश्वात्मन्प्रपन्नां भक्तवत्सल ॥ २९ ॥**

**ततो व्यमुञ्चद्यमुनां याचितो भगवान्बलः ।**
**विजगाह जलं स्त्रीभिः करेणुभिरिवेभराट् ॥ ३० ॥**

कामं विहृत्य सलिलादुत्तीर्णायासिताम्बरे ।
भूषणानि महार्हाणि ददौ कान्तिः शुभां स्रजम् ॥ ३१ ॥

वसित्वा वाससी नीले मालामामुच्य काञ्चनीम् ।
रेजे स्वलङ्कृतो लिप्तो माहेन्द्र इव वारणः ॥ ३२ ॥

अद्यापि दृश्यते राजन् यमुनाऽऽकृष्टवर्त्मना ।
बलस्यानन्तवीर्यस्य वीर्यं सूचयतीव हि ॥ ३३ ॥

एवं सर्वा निशा याता एकेव रमतो व्रजे ।
रामस्याक्षिप्तचित्तस्य माधुर्यैर्व्रजयोषिताम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

---

1. M. Ma °त्वा 2. M. Ma विचित्राणि 3- -3 K. M. Ma. T. W कान्तिमतीं 4. M. Ma °माधाय 5. M. Ma °तस्ताभिः

**श्रीध० एवमिति**। चकिता कम्पिता ॥ २७ ॥

**रामेति**। एकांशेन शेषाख्येन ॥ २८,२९ ॥

**तत इति**। विजगाहे अवगाहनं कृतवान् ॥ ३० ॥

**काममिति**। उत्तीर्णाय निर्गतायासिताम्बरादीनि कान्तिर्ददौ। कान्तिः लक्ष्मीः। यथोक्तं वैष्णवे (पुराणे) "वरुणप्रहिता चास्मै मालामम्लान पङ्कजाम्। समुद्राभे तथा वस्त्रे नीले लक्ष्मी रयच्छत॥" (विष्णु.पु. 5-25-16) इति। हरिवंशे च बलं प्रति लक्ष्मीवाक्यम् - "जातरूपमयं चैकं कुण्डलं वज्रभूषणम्। आदिपद्मं च पद्माख्यं दिव्यं श्रवणभूषणम् ॥ देवेमां प्रतिगृह्णीष्व पौराणीं भूषणक्रियाम् ॥" इत्यादि ॥ ३१ ॥

**वसित्वेति**। वसित्वा परिधाय, आमुच्य कण्ठे निधाय। चन्दनादिभिरालिप्तः ॥ ३२,३३ ॥

**एवमिति**। एकेव एकैव निशा यथा तथा। माधुर्यैः विलासैः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

**वीर०** इत्येवं निर्भर्त्सिता अत एव भीता यमुना तथैव कर्तुं अयं प्रभुरिति शङ्किता हे नृप! पादयोः पतित्वा यदुनन्दनं रामं प्रति उवाच ॥ २७ ॥

वाचमेवाऽऽह - **रामेति** द्वाभ्याम्। तव विक्रमं महिमानं न जाने अपारत्वादिति भावः । तदेव स्पष्टयितुमाह - यस्येति। हे जगतां पते ! षष्ठ्यन्त पाठे तस्य यस्य एकांशेन सहस्रतममूर्धैकदेशेन जगती पृथ्वी विधृता विशेषेण धृता, तस्य तवेति सम्बन्धः ॥ २८ ॥

भगवतस्तव परं निरवधिकं भावं प्रभावं हे भगवन् ! अजानतीम् अधुना प्रपन्नां च मां मोक्तुमर्हसि, तदुपयुक्तं सम्बोधयति भक्तवत्सलेति। मुञ्चेत्यस्य यथापूर्वं गमयेत्यर्थः ॥ २९ ॥

**तत** इति। बलो रामः इत्थं याचितः तां[1] यमुनां व्यमुञ्चत्। ततः स्त्रीभिस्सह जलं विजगाहे च, यथा करेणुभिस्सह इभराट् ऐरावतः तद्वत् ॥ ३० ॥

**काममिति**। कामं यथेच्छं विहृत्योत्तीर्णाय निर्गताय रामाय असिताम्बरे नीलाम्बरे महार्हाणि अनार्घाणि[2-2] भूषणानि कान्तिमतीमम्लानश्रियं स्रजं मालां च ददौ, यमुनेति कर्तृपदाध्याहारः। यत्तु "वरुणप्रहितां चास्मै मालामम्लानपङ्कजाम्। समुद्राभे तथा वस्त्रे नीले लक्ष्मीरयच्छत" (विष्णु. पु. 5-25-16) इति वैष्णवं वचनम्। तत्रापि लक्ष्मीः दर्शनीयरूपा मूर्तिधरा यमुनेति व्याख्येयम् ॥ ३१ ॥

**वसित्वेति**। वसित्वा परिधाय काञ्चनीं स्वर्णमयीं मालामामुच्य आबध्य कण्ठे निधाय काञ्चनीं माला मित्यनुक्त भूषणोपलक्षणम् । इत्थं सुष्ठु अलङ्कृतः स्त्रीभिस्सह रेजे यथा माहेन्द्रो वारणस्तद्वत् ॥ ३२ ॥

हलेन कृष्टा यमुनेत्येतदसम्भावितं मन्वानस्य राज्ञस्संशयनिराचिकीर्षयाऽऽह - **अद्यापीति**। हे राजन्! अनन्तं वीर्यं यस्य तस्य बलस्य रामस्य वीर्यं सूचयती "लक्षणहेत्वोः" (अष्टा 3-2-126) इति शत्रन्तात् ङीप्, सूचयितुमित्यर्थः। आकृष्टवर्त्मना हलाकृष्टमार्गेण यमुना स्यन्दमानेति शेषः ॥ ३३ ॥

**एवमिति**। आक्षिप्तं रिरंसाप्रवणं चित्तं यस्य तस्य व्रजे रमतो रामस्य माधुर्यैः विलासैस्सर्वा निशाः रात्रयः योषितामेकेव निशा याताः, एकनिशाप्राया बभूवुरित्यर्थः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

विजय० भावमभिप्रायं माहात्म्यं वा ॥ २७-३० ॥

असिताम्बरे नीलवस्त्रे ददौ यमुनेति शेषः ॥ ३१,३२ ॥

आकृष्टेन वर्त्मना मार्गेण दृश्यते ॥ ३३ ॥

एका निशेव व्रजस्त्रीणां माधुर्यैः सौन्दर्यैः कर्णरम्यवचनैः आक्षिप्तमाकृष्टं चित्तं यस्य स तथा तस्य ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

(विजयध्वजरीत्या अष्टाशीतितमोऽध्यायः)

# षट्षष्टितमोऽध्यायः

## (श्रीकृष्णकृत पौण्ड्रककाशिराज वधादि कथारम्भः)

### श्रीशुक उवाच

नन्द व्रजं गते रामे करूशाधिपतिर्नृप[1] ।
वासुदेवोऽहमित्यज्ञो दूतं कृष्णाय प्राहिणोत् ॥१ ॥

त्वं वासुदेवो भगवानवतीर्णो जगत्पतिः ।
इति प्रस्तोभितो बालैर्मेने[2] स्वात्मानमच्युतम् ॥२ ॥

दूतं च प्राहिणोन्मन्दः कृष्णायाव्यक्त वर्त्मने ।
द्वारकायां यथा बालो नृपो बालकृतोद्यमः[3][4] ॥३ ॥

दूतस्तु[5] द्वारकामेत्य सभायामास्थितं प्रभुम् ।
कृष्णं कमलपत्राक्षं राजसन्देशमब्रवीत् ॥४ ॥

### कारूश[6] उवाच[6]

वासुदेवोऽवतीर्णोऽह मेक एव न चापरः ।
भूतानामनुकम्पार्थं त्वन्तु मिथ्याभिधां त्यज ॥५ ॥

---

1. B.G.J.T.W. °षा° 2. B.G.J. °न आ° 3. K. °लैःकृ° 4. B.G.J.K. Ml. V. °तोऽबुधः। 5. K.T.W. °स्तद्दवा° 6- -6 B.G.J. K.T.W omit

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

षड्युक् षष्टितमे काशीं गत्वाहन् पौण्ड्रकं हरिः। तन्मित्रं च ततो वृत्तं सुदक्षिणवधादिकम् ॥

**त्वमिति**। प्रस्तोभितः स्तुत्या प्रोत्साहितः बालैः अज्ञैः ॥१,२ ॥

**दूतमिति**। बालकृतो नृपः बालैः नृपत्वेन क्रीडायां परिकल्पितः ॥३-५॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ कृष्णचरितं पौण्ड्रकवधकाशी पुरदहनात्मक मनुवर्णयति **नन्दव्रज** मित्यादिना। हे नृप! करूषाणां देशानां

अधिपतिः अहमेव वासुदेव इत्यभिमन्यमानः, अत एव अज्ञः श्रीकृष्णाय दूतं प्राहिणोत् प्रेषयामास। **दूतमुखेन** वक्ष्यमाणं वचः प्राहिणोदित्यर्थः ॥ १ ॥

तदेवाह - **त्वमिति**। इतीत्थं बालैः अज्ञैः त्वं प्रस्तोभितः स्तुत्या मुधा प्रोत्साहितः अहन्तु आत्मानमेवाच्युतं वासुदेवं मेने मनवै ॥ २ ॥

**दूतमिति**। अस्यैतद्वक्तुमित्यादि - न व्यक्तं वर्त्म याथात्म्यं यस्य तस्मै, किं वक्तु मित्यत आह - द्वारकायामिति। बालैः अज्ञैः यथा बालः क्रीडायां नृपः कृतः नृपत्वेन कल्प्यते, तथा त्वमप्यबुधेऽज्ञो द्वारकायां नृपत्वेन कल्पितः इत्यतः त्वं वासुदेव इति पूर्वोक्तं च वक्तुमित्यर्थः ॥ ३ ॥

**दूत** इति। तत् ततः राजसन्देशं राज्ञः पौण्ड्रकस्य सन्देशम् ॥ ४ ॥

तदेवाह - **वासुदेव** इति। न चापरः न त्वं वासुदेव इति भावः, किन्तु त्वं भूतानां स्वसम्बन्धविषयभूतानाम् अनुकम्पार्थं मिथ्या वासुदेवः। अतस्तामभिधामाख्यां त्यज ॥ ५ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

अयमध्यायस्य कथाभागः, एकोनषष्टितमाध्यायानन्तरं, योजनीये विजयध्वजीय अधिकपाठे पञ्चमाध्यायत्वेन दृश्यते ॥

**यानि त्वमस्मच्चिह्नानि मौढ्याद्विभर्ष्यभीतवत् ।**
**त्यक्त्वै हि मां त्वं शरणं नो चेद्देहि ममाहवम् ॥ ६ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**विकत्थनं तदाकर्ण्य पौण्ड्रकस्याल्पमेधसः ।**
**उग्रसेनादयस्सभ्या उच्चैर्जहसुस्तदा ॥ ७ ॥**

**उवाच दूतं भगवान् परिहास कथामनु ।**
**उत्त्रक्ष्ये मूढ चिह्नानि यैस्त्वमेवं विकत्थसे ॥ ८ ॥**

**मुखं यदापिबाथाज्ञ कङ्कगृध्रवटैर्वृतः ।**
**शयिष्यसे हतस्तत्र भविता शरणं शुनाम् ॥ ९ ॥**

**इति दूतस्तदाऽऽक्षेपं स्वामिने सर्वमाहरत् ।**
**कृष्णोऽपि रथमास्थाय काशीमुपजगाम ह ॥१०॥**

---

1- -1 B.G.J. K.T.W. °र्षि सात्वत! 2. B.G.J. omit वि 3. B.G.J. तदुपा° 4. B.G.J.K.T.W तदपि 5. K. ML. T.V.W. °लै° 6. K. Ml. T.V.W. °मा°

**श्रीध० उवाचेति**। हे मूढ! उत्त्रक्ष्ये त्वयि प्रक्षेप्स्यामि यै स्सह त्वमेवं विकत्थसे तेष्वपीत्यर्थः। यद्वा यैः कृत्रिमैस्सुदर्शनादिभिः त्वमेवं श्लाघसे तानुत्त्रक्ष्ये त्याजयिष्यामि इत्यर्थः ॥६-८॥

मां शरणं एहीत्यस्योत्तरं **मुखमिति**। वटाः कङ्कादिवत् पक्षि विशेषाः। तत्र तदा शुनां शरणमाश्रयो भवितासि ॥९॥

**इतीति**। काशीमिति। पौण्ड्रकस्यापि तदा मित्रपुरे अवस्थानात् ॥१०॥

**वीर० यानीति**। हे सात्वत! अस्मदसाधारणानि यानि चिह्नानि शङ्खचक्रादीनि त्वं मौढ्याद्विभर्षितानि त्यक्त्वा मां शरणमेह्यागच्छ नो चेच्छरणं नाभ्येषि तर्हि आहवं युद्धं देहि युध्यस्वेत्यर्थः ॥६॥

**विकत्थनमिति**। तद्दूतोक्त मल्पबुद्धेः पौण्ड्रकस्य विकत्थनमाकर्ण्य सभ्यास्सभायां स्थिताः जहसुः हसितवन्तः ॥७॥

**उवाचेति**। परिहास कथामनु उग्रसेनादीनां परिहासकथनानन्तरं प्राह तदेवाह उत्त्रक्ष्य इति। हे मूढ! चिह्नानि त्वया धृतानि। उत्त्रक्ष्ये त्याजयिष्यामि। तत्र हेतुत्वेन विशिनष्टि यैश्चिह्नैः त्वमेवं विकत्थसे ॥८॥

मां शरणं एहीत्यस्योत्तरमाह **मुखमिति**। हे अज्ञ! तत् येनेत्थं विकत्थितं तन्मुखमपिधाय आच्छाद्य कङ्कादिभिः वृतः शयिष्यसे वलाः कङ्कादिवत् पक्षिविशेषाः। ततस्तत्र शयनस्थले भवान् शुनां शरणं भविता भविष्यति, मया हतं शयितं च त्वां श्वसृगालादयः खादिष्यन्तीति भावः ॥९॥

**इतीति**। आक्षेपमधिक्षेपं स्वामिने पौण्ड्रकाय समाहरत् आगत्य न्यवेदयत् इत्यर्थः। कृष्णोऽपीति। रथमास्थाय अधिष्ठाय काशीमुपजगाम तत्समीपमुपजगामेत्यर्थः ॥१०॥

**पौण्ड्रकोपि तदुद्योगमुपलभ्य महारथः ।**
**अक्षौहिणीभिः सहितो निश्चक्राम पुराद्भुतम् ॥११॥**

**तस्य काशिपतिर्मित्रं पार्ष्णिग्राहोऽन्वयाद्नृप ।**
**अक्षौहिणीभिस्तिसृभिरपश्यत्पौण्ड्रकं हरिः ॥ १२ ॥**

**शङ्खार्यसिगदाशार्ङ्ग श्रीवत्साद्युपलक्षितम् ।**
**बिभ्राणं कौस्तुभमणिं वनमालाविभूषितम् ॥ १३ ॥**

**कौशेय वाससी पीते वसानं गरुडध्वजम् ।**
**अमूल्यमौल्याभरणं स्फुरन्मकर कुण्डलम् ॥ १४ ॥**

**दृष्ट्वा तमात्मनस्तुल्यं[3] वेषं कृत्रिममाश्रितम् ।**
**यथा नटं रङ्गगतं विजहास भृशं हरिः ॥ १५ ॥**

---

1- -1 B.G.J. MI. V. °भ्यां संयुक्तो 2. K. T.W. हरिः 3. K.T. MI. T.V.W. °ना तुल्यं

**श्रीध० तस्येति** । पार्ष्णिग्राहः पृष्ठप्रान्त रक्षण तत्परः[1-1] ॥ ११-१३ ॥

**कौशेयेति** । गरुडः कृत्रिमः ध्वजे यस्य तं, अमूल्यं अनर्घं मौल्याभरणं किरीटं यस्य तम् ॥ १४,१५ ॥

---

1- -1 B.J. पृष्ठतो रक्षकः ।

**वीर० पौण्ड्रकोपीति** । तस्य कृष्णस्योद्योग मुपगम्य उपलभ्य ज्ञात्वा, द्रुतं शीघ्रं पुरात् कारूषपुरात् निश्चक्राम यद्वा पौंड्रकस्य तदा मित्रपुरेऽवस्थानात् काशीपुरादित्यर्थः ॥ ११ ॥

**तस्येति** । तस्य पौण्ड्रकस्य मित्रं सखा काशीपतिः काशिराजः पार्ष्णिग्राहः पृष्ठतो रक्षकः सहायभूतस्सन् तिसृभिः अक्षौहिणीभिः सह अन्वयात् अनुजगाम । तदा हरिः कृष्णः पौण्ड्रकं ददर्श ॥ १२ ॥

कथम्भूतम्? शङ्खादिभिः उपालक्षितं तत्र अरि अरयुक्तं चक्रं कौस्तुभमणिं बिभ्राणं वनमालया विराजितम् ॥ १३ ॥

पीते पिशङ्गे कौशेयवस्त्रे, वसानं परिदधानं गरुडः कृत्रिमो ध्वजे यस्य, अमूल्य मनर्घं मौल्याभरणं यस्य, स्फुरन्ती मकराकारे कुण्डले यस्य ॥ १४ ॥

आत्मना कृष्णेन तुल्यो वेषो यस्य तं, अथापि कृत्रिमं वेषमास्थितमाश्रितं तत्र दृष्टान्तः । यथा नटं रङ्गगतमिति, रङ्गे नृत्यस्थले गतं नटमिव स्थितमित्यर्थः । तमेवंविधं दृष्ट्वा हरिर्भृशं प्रहसितवान् ॥ १५ ॥

शूलैर्गदाभिः परिघैश्शक्तिभिः[1] प्रासतोमरैः ।
असिभिः पट्टिसैर्बाणैः[2] प्राहरन्नरयो हरिम् ॥१६ ॥

कृष्णस्तु तत्पौण्ड्रक काशिराजयो र्बलं गजस्यन्दन वाजिपत्तिमत् ।
गदासि चक्रेषुभिरार्दयद्दृशं[3] यथा युगान्ते हुतभुक् पृथक्प्रजाः ॥१७ ॥

आयोधनं तद्रथवाजिकुञ्जरद्विपत्खरोष्ट्रैररिणावखण्डितैः[4] ।
बभौ चितं[5] मोदवहं मनस्विनामाक्रीडनं भूतपते रिवोल्बणम् ॥१८ ॥

अथाह पौण्ड्रकं शौरिर्भोभोः पौण्ड्रक यद्भवान् ।
दूतवाक्येन मामाह तानस्त्राण्युत्सृजामि ते ॥१९॥

त्याजयिष्येऽभिधानं मे यत्त्वयाज्ञ मृषा धृतम् ।
व्रजामि शरणं तेऽद्य यदि नेच्छामि संयुगम् ॥२०॥

---

1. B.G.J. तृष्टि ;MI.v क्त्यष्टि 2. K. MI. T.V.W °ट्टि° 3. MI. V. °रर्द° 4. K.T.W. च 5. K.T.W. चिरं

**श्रीध० कृष्ण** इति। गजस्यन्दनादि चतुरङ्गबलमर्दितवान्, पृथक् प्रजाः, चतु र्विधं भूतग्रामं, यथा युगान्ताग्निरिति ॥१६,१७ ॥

**आयोधनमिति**। आयोधनं रणस्थानं अरिणा चक्रेण चितं आकीर्णं आक्रीडनमिव कल्पान्ते रुद्रस्य क्रीडास्थानमिव ॥१८-२० ॥

**वीर० शूलैरिति**। तदा अरयः शत्रवः कृष्णं शूलादिभिः प्राहरन् प्रत्याहतवन्तः ॥१६॥

**कृष्णस्त्विति**। गजादयोऽस्य सन्तीति तथा चतुरङ्गमित्यर्थः। तत् पौण्ड्रक काशिराजयोः बलं गदादिभिः भृशं आर्दयत् पीडयामास। आजघ्ने इति यावत्। यथा युगान्ताग्निः पृथक् प्रजाः चतुर्विधभूतग्रामा नर्दयिष्यति तद्वत् ॥१७॥

**आयोधनमिति**। अरिणा चक्रेण। चकाराद्गदादिभिश्च खण्डितैः रथादिभिः तदायोधनं युध्दस्थलं मनस्विनां सूराणां चिरं सन्तोषावहं सद्रेजे, भूतपतेः आक्रीडन मिव कल्पान्ते रुद्रस्य क्रीडास्थानमिव उल्बणं दारुणं सद्बभौ इति सम्बन्धः ॥१८॥

**अथेति**। उक्तिमेवाह भो भो इत्यादिना संयुगमित्यन्तेन। भो भोः पौण्ड्रक! दूतवाक्य मुखेन, भवान् मां प्रति यदाह "यानि त्वमस्मच्चिन्हानि" (भाग० 10-66-6) इत्यादि तान्येवास्त्राण्युत्सृजामि प्रतियोक्ष्यामि[2] ॥१९॥

हे अज्ञ! मे मत्सम्बन्धि मदसाधारण मित्यर्थः अभिधानं नाम ते त्वया मृषा धृतं तत्त्याजयिष्ये, यदि संयुगं नेच्छामि संयुगाद्भीतोऽस्मि चेत् त्वां शरणं व्रजामि नाहं भीत इत्यर्थः ॥२०॥

1. B. Omits भूतपतेः 2. B. प्रयोक्ष्यामि

इति क्षिप्त्वाशितैर्बाणै र्विरथीकृत्य पौण्ड्रकम् ।
शिरोऽवृश्च्यद्रथाङ्गेन वज्रेणेन्द्रो यथा गिरेः ॥२१॥

तथा काशीपतेः[1] कायाच्छिर उत्कृत्य पत्रिभिः ।
व्यपातयत्काशिपुर्यां पद्मकोशमिवानिलः ॥२२॥

एवं मत्सरिणं हत्वा पौण्ड्रकं स सखं हरिः ।
द्वारकामाविशत्सिद्धै[2]र्गीयमान कथामृतः ॥२३॥

स नित्यं भगवद्ध्यान प्रध्वस्ताखिल बन्धनः ।
बिभ्राणश्च हरे राजन् स्वरूपं तन्मयोऽभवत् ॥२४॥

शिरः पतितमालोक्य राजद्वारि सकुण्डलम् ।
किमिदं कस्य वा वक्त्रमिति संशिशिरे[3] जनाः ॥२५॥

1. B.G.J.K.T.W °शि° 2. MI. V. स्तू° 3. B.J. शयिरे ;MI. V. शिरे

**श्रीध० इतीति** गिरेः शृङ्गं यथेति ॥२१-२४॥

**शिर** इति। प्रथमं किमिदमिति पश्चात् वक्त्रमिति विभाव्य कस्य चेति संशयिरे[1] संशयं कृतवन्त इति ॥२५॥

1. MI. V. °शिशिरे

**वीर० इतीति**। उक्तवेति शेषः। रथाङ्गेन चक्रेण शिरोऽवृश्च्यत् चिच्छेद। यथेन्द्रो वज्रेण गिरेः शृङ्गं तद्वत् ॥२१॥

**तथेति**। पत्रिभिः बाणैः काशिपतेः कायाच्छिरः उत्कृत्य उत्स्रुत, यथा तथा च्छित्वा काशीपुर्यां न्यपातयत्, अनिलो वायुः पद्मकोशमिव ॥२२॥

**एवमिति**। ससखं सकाशिराजं मत्सरिणं शत्रुं पौण्ड्रकं हत्वा सिद्धैर्गीयमाना कथैवामृतं यस्य स हरिः द्वारकां विवेश ॥२३॥

**स** इति। सपौण्ड्रकः भगवतः श्रीकृष्णस्य ध्यानेन ध्वस्तान्यखिलानि बन्धनानि कर्मबन्धनानि यस्य सः, हेतु गर्भमिदं तथा हरेः कृष्णस्य रूपं रूपतुल्यं स्वरूपं[1] स्ववेषं बिभ्राण इत्यपि तत्त्वात्तन्मयः तदीय वेषप्रचुरो बभूव। साधर्म्यं गत इत्यर्थः। शिरच्छेदेन दोषस्य प्रायश्चित्तं कृतम्। अत भगवद्ध्यानस्य फलं तत्साधर्म्यं लब्धमिति भावः ॥२४॥

**शिर** इति। प्रथमं किमिदमिति पश्चात् सकुण्डलत्वात् शिर इति, ततः कस्येदं मुखमिति संशिश्यिरे संशयं चक्रुः ॥२५॥

---

1. K.T.W. omit स्व°

**राज्ञः काशीपते र्ज्ञात्वा महिष्यः पुत्र बान्धवाः ।**
**पौराश्च हा हता राजन्नाथ नाथेति प्रारुदन्[1] ॥२६॥**

**सुदक्षिणस्तस्य सुतः कृत्वा संस्थाविधिं पितुः ।**
**निहत्य पितृहन्तारं यास्याम्यपचितिं पितुः ॥२७॥**

**इत्यात्मनाभिसन्धाय सोपाध्यायो महेश्वरम् ।**
**सुदक्षिणोऽर्चयामास परमेण समाधिना ॥२८॥**

**प्रीतोऽविमुक्ते भगवान् तस्मै वरमदाद्भवः ।**
**पितृहन्तृवधोपायं स वव्रे वरमीप्सितम्[2] ॥२९॥**

**रुद्र[3] उवाच**

**सुदक्षिणाग्निं[4] परिचर ब्राह्मणैस्सह[5] ऋत्विजम् ।**
**अभिचार विधानेन स चाग्निः प्रमथै र्वृतः ॥**
**साधयिष्यति सङ्कल्पमब्रह्मण्ये प्रयोजितः ॥३०॥**

---

1. Ml. v. चा° 2- -2 K. परमेश्वरम् ;Ml. V. वरमीशितुः। 3- -3 B.G.J. omit 4. B.G.J. दक्षिणा° ;K.T.W. त्वं दक्षिणा° 5. B.G.J. °सममृ°; K.T.W. °सम्यगृ°

**श्रीध० सुदक्षिण** इति। संस्थाविधिं उत्तरक्रियां, अपचितिं निष्कृतिम् ॥ २६, २७॥

**इतीति**। आत्मना अभिसन्धाय बुद्ध्या अध्यवस्य सुदक्षिणः अत्युदारः ॥ २८॥

**प्रीत** इति। वरमदात् वृणीष्वेत्युक्तवान् इत्यर्थः ॥ २९॥

**सुदक्षिणेति**। ऋत्विजं ऋत्विज मिव स्वनियोगकारिणं "यज्ञस्य देवमृत्विजम्" (तैत्ति. सं 4-3-13-3b) इति श्रुतेः। अब्रह्मण्ये प्रयोजित इति, कृष्णे प्रयोजितो विपरीतो भविष्यतीति सूचितम् ॥ ३० ॥

**वीर० राज्ञ** इति। ततः क्रमेण काशिपतेः राज्ञ एवेदं शिरः इति ज्ञात्वा निश्चित्य महिष्यस्तस्य भार्याः पुत्रादयश्चेत्थं रुरुदुः ॥ २६॥

**सुदक्षिण** इति। तस्य काशिराजस्य सुदक्षिणो नाम पुत्र आसीदिति वाक्यान्तरं, स च सुदक्षिणः पितुः संस्थाविधिमुत्तरक्रियां कृत्वा मत्पितृहन्तारं हत्वा पितुः अपचितिं ऋणापनयनात्मिकां निष्कृतिं यास्यामि ॥ २७॥

इतीत्थं अभिसन्धाय उपाध्यायेन सहितः परमेण समाधिना ध्यानयोगेन महेश्वरं रुद्रं आराधयामासेति सम्बन्धः ॥ २८॥

**प्रीत** इति। सुदक्षिणः प्रसन्नं परमेश्वरं रुद्रं प्रति वधोपायमेव वरं वव्रे "शास्त्र दृष्ट्यानूपदेशो वामदेववत्" (ब्र. सू. 1-1-30) इति न्यायेन महेश्वरं परमेश्वरमिति च मुनिप्रयोगः, प्रीत इति विविक्ते एकान्ते प्रीतःप्रसन्नो रुद्रः तस्मै वरं ददौ ॥ २९॥

वरमेवाह - **सुदक्षिणाग्निमिति**। सम्यक् ऋत्विजो यस्य तं दक्षिणाग्निमभिचारहोमेन परिचर आराधय, स च परिचरितोग्निः प्रमथैः परिवृतः अब्रह्मण्ये प्रयुक्तः सङ्कल्पं त्वदभिसन्धिं साधयिष्यति। ब्रह्मण्ये प्रयोजितस्तु स्वयमेव हन्यत इति भावः ॥ ३०॥

**इत्यादिष्ट स्तथा चक्रे कृष्णायाभिचरन् व्रती[1] ॥ ३१ ॥**

**ततोऽग्नि रुत्थितः कुण्डान्मूर्तिमानति भीषणः ।**
**तप्तताम्र शिखाश्मश्रु रङ्गारोद्गारिलोचनः ॥ ३२ ॥**

**दंष्ट्रोग्र भ्रुकुटीदण्ड[2] कठोरास्य स्वजिह्वया ।**
**आलिहन् सृक्वणीं[3] नग्नो विधून्वन् त्रिशिखं ज्वलन्[4] ॥ ३३ ॥**

5

**पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्यां कम्पयन्नवनीतलम् ।**
**सोभ्यधावद्धतो भूतैः द्वारकां प्रदहन् दिशः ।। ३४ ।।**

**तमाभिचारदहनमायान्तं द्वारकौकसः ।**
**विलोक्य तत्रसुस्सर्वे वनदाहे यथा मृगाः ।। ३५ ।।**

---

1. K.T.W. कुधीः 2. K.T.W. °न्त 3. B.G.J. °क्षि ;K. °क्षि° 4. B.T.W. °तु 5. K.T.W. °चरणी°

**श्रीध० इतीति** । अभिचरन् अभिचारं कुर्वन् व्रती गृहीतनियमः ।। ३१ ।।

**तत** इति । तप्तं ताम्रमिव शिखाः श्मश्रूणि च यस्य सः । अङ्गारोद्गारीणि लोचनानि यस्य सः ।। ३२ ।।

**दंष्ट्रेति** । दंष्ट्राभिः उग्रैः भ्रुकुटी दण्डैश्च कठोरं क्रूरमास्यं यस्य सः, त्रिशिखं त्रिशूलम् ।। ३३ ।।

**पद्भ्यामिति** । दिशः प्रदहन् ।। ३४, ३५ ।।

**वीर० इतीति** । इतीत्थं आदिष्टः कुबुद्धिः सुदक्षिणः, तथा यथोक्तं कृष्णाय अभिचरन् दुह्यन् चक्रे ।। ३१ ।।

**तत** इति । कथम्भूतः अग्निः? मूर्तिमान् विग्रहधारी अतिदारुणः तप्तं यत् ताम्रं तद्वच्छिखा श्मश्रूणि च यस्य अङ्गारोद्गारिणी लोचने यस्य, दंष्ट्राभि रुग्रैश्च भ्रुकुटी दन्तैः कठोरं[1] आस्यं यस्य सः, सृक्विणीमुत्तरोष्ठोर्ध्व देश मालिहन् आस्वादयमानस्तिस्रः शिखाः यस्य तं शूलं धुन्वन् कम्पयन् ।। ३२, ३३ ।।

**पद्भ्यामिति** । सोऽग्निः भूतैः प्रमथैः वृतः ।। ३४ ।।

**तमिति** । आयान्तं आगच्छन्तं विलोक्य तत्रसुः वनदाहे सति यथा मृगास्त्रस्यन्ति तद्वत् ।। ३५ ।।

---

1. B. adds क्रूरं

**अक्षैस्सभायां क्रीडन्तं भगवन्तं भयातुराः ।**
**त्राहि त्राहि त्रिलोकेश वह्नेः प्रदहतः पुरम् ।। ३६ ।।**

**श्रुत्वा तज्जन वैक्लव्यं दृष्ट्वा स्वानाञ्च साध्वसम् ।**
**शरण्यस्सम्प्रहस्याह माभैष्टे त्यवितास्म्यहम् ।। ३७ ।।**

**सर्वस्यान्तर्बहिस्साक्षी कृत्यां माहेश्वरीं विभुः ।**
**विज्ञाय तद्विघातार्थं पार्श्वस्थं चक्रमादिशत् ।। ३८ ।।**

**तत्सूर्यकोटिप्रतिमं सुदर्शनं जाज्वल्यमानं प्रलयानल प्रभम् ।**
**स्वतेजसा खं ककुभोऽथ रोदसी चक्रं मुकुन्दास्त्रमथाग्नि मार्दयत्[1] ॥ ३९ ॥**

**कृत्यानलः प्रतिहतस्सरथाङ्ग पाणे रस्त्रौजसा[2] स[3-] नृप भग्न[-3] मुखोऽनिवृत्तः ।**
**वाराणसीं प्रतिसमेत्य सुदक्षिणं तं सर्त्विग्जनं समदहत्स्वकृतोऽभिचारः ॥ ४० ॥**

---

1. Ml. V. °म° 2. K.T.W. स्ततेजसा 3- -3 K.Ml.T.V.W नृप विभग्न

**श्रीध० अक्षैरिति** । त्राहि त्राहीत्याहुरिति शेषः ॥ ३६ ॥

**श्रुत्वेति** । अहमवितास्मि रक्षिष्यामि ॥ ३७, ३८ ॥

**तदिति** । रोदसी च प्रकाशयदिति शेषः, यद्वा स्वतेजसा खादीन् प्रति जाज्वल्यमानं अत्यर्थं प्रकाशमानित्यर्थः । आर्दयत् अपीडयत् ॥ ३९ ॥

अर्दितोऽग्निर्यत्कृतवान् तदाह **कृत्यानल** इति । सहर्त्विग्भिः जनैश्च वर्तमानं अभिचर्यते मार्यते अनेनेत्यभिचारः । कृत्यानलः ॥ ४० ॥

**वीर० अक्षैरिति** । पुरं द्वारकां प्रदहतो वह्नेस्सकाशात् अस्मान् त्राहीत्याहुरिति शेषः ॥ ३६ ॥

**श्रुत्वेति** । तद्भगवानां वैक्लव्यमधैर्यं श्रुत्वा स्वानां साध्वसं भयं दृष्ट्वा प्रहस्योवाच - तदेवाह शरण्योहम् अविता चास्मि, भयं माकुरुत दुष्टजनात्संसाराच्च सम्भवद्भयं वो न विद्यत इति ॥ ३७ ॥

**सर्वस्येति** । सर्वस्य लोकस्यान्तर्बहिश्च साक्षाद्द्रष्टा, हेतुगर्भ मिदम् । अतो माहेश्वरीं कृत्यां विज्ञाय तद्विघातार्थं कृत्यानाशनार्थं पार्श्वस्थं चक्रं सुदर्शनमाज्ञापयामास ॥ ३८ ॥

**तदिति** । तद्भगवता आदिष्टं चक्रं कर्तृ अग्निं आर्दयत्, चक्रं कथम्भूतम्? सूर्याणां कोटिः प्रतिमा तुला यस्य तत् । सुदर्शनाख्यं अतिशयेन ज्वलत् प्रलयाग्ने रिव प्रभा यस्य तत् । स्वेतजसा खं अन्तरिक्षं रोदसी द्यावापृथिव्यौ ककुभो दिशश्च प्रकाशयदिति शेषः मुकुन्दस्यैव असाधारणमस्त्रम् ॥ ३९ ॥

अर्दितस्सन् किमकरोदित्यत आह-**कृत्यानल** इति । रथाङ्गपाणे तेन प्रसिध्देन तेजसा तेजःप्रचुरेण सुदर्शनेन भग्नं मुखं यस्य स, प्रतिहतश्च अत एव निवृत्तः सः प्रसिध्दः कृत्यानलो, हे नृप । वाराणसीं प्रत्यागत्य स्वेन कृतः अभिचारो येन तं ऋत्विग्जनैः सहितं, प्रथमान्तपाठे ऋत्विग्भिः जनैश्च वर्तमानं अभिचरति मारयतीति तथा, स कृत्यानलः तं सुदक्षिणमदहत् ॥ ४० ॥

चक्रन्तु विष्णो स्तदनुप्रविष्टं वाराणसीं साट्ट सभालयापणाम् ।
सगोपुराट्टालक कोष्ठ[1] सङ्कुलां[1] सकोश हस्त्यश्वरथान्नशालाम् ॥४१॥

दग्ध्वा वाराणसीं सर्वां विष्णोश्चक्रं[2] सुदर्शनम् ।
भूयः पार्श्व मुपतिष्ठत्कृष्णस्या क्लिष्ट कर्मणः ॥४२॥

य एनं[3] श्रावयेन्मर्त्य उत्तम श्लोक विक्रमम्[4] ।
समाहितोऽनु[5] श्रुणुयात् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यायां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे षट् षष्टितमोऽध्यायः ॥६६॥

---

1. Ml. V. गोष्ठगोकुलां 2. K. Ml. T.V.W. विष्णुच° 3. G.K.Ml.T.V.W. °तच्छ्रा° 4. K. चेष्टितम् 5. B.G.J. Ml. V. °वा श्रु°

**श्रीध० चक्रमिति**। अट्टादि सहितां, अट्टाः मञ्चाः ॥४१-४३॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां षट् षष्टितमोऽध्यायः ॥६६॥

**वीर०** किञ्च **चक्रमिति**। तद्विष्णोश्चक्रं वाराणसीं अनु कृत्यानल मनुसृत्य प्रविष्टं सत् अदहदिति पूर्वेण सम्बन्धः। कथम्भूताम्? अट्टादिभिः सहितां तत्र सभालयाः सभा गृहाणि, सभा आलयाश्चेति वा। अट्टालकाः उपरितन प्रदेशाः, गोपुरादि सहितैः गोकुलैः[1] सङ्कुलां व्याप्तां कोशादीनां शालाभिस्सहितां, तत्र कोशो धनम् ॥४१॥

**दग्ध्वेति**। भूयः पुनः अक्लिष्ट कर्मणः उदारचेष्टितस्य श्रीकृष्णस्य पार्श्वं उपातिष्ठत् पार्श्वं समीपे तस्थावित्यर्थः ॥४२॥

उक्तकथाश्रवणादि फलमाह- **य** इति। यः पुमान् एतदुत्तमश्लोकस्य चेष्टितं मर्त्यान्प्रति श्रावयेत् यद्वा समाहितः श्रुणुया त्सर्वैः पापैः मुक्तो भवेत् ॥४३॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघव विदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां षट् षष्टितमोऽध्यायः ॥६६॥

---

1. K.T.W. कोष्ठैः

# सप्तषष्टितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या एकोननवतितमोऽध्यायः)

(बलरामकृत द्विविदवध कथा)

**राजोवाच**

**भूयोऽहं श्रोतुमिच्छामि रामस्याद्भुतकर्मणः ।**
**अनन्तस्याप्रमेयस्य यदन्यत्कृतवान् विभुः[1] ॥ १ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**नरकस्य सखा कश्चित् द्विविदो नाम वानरः ।**
**सुग्रीवसचिवस्सोऽथ भ्राता मैन्दस्य वीर्यवान् ॥ २ ॥**

**सख्युस्सोपचितिं कुर्वन् वानरो राष्ट्रविप्लवम् ।**
**पुरग्रामाकरान् घोषानदहद्वह्निमुत्सृजन् ॥ ३ ॥**

**क्वचित्सशैलानुत्पाट्य तैर्देशान् समचूर्णयत् ।**
**आनर्तान्[2] सुतरामेव यत्रास्तेमित्रहा[3] हरिः ॥ ४ ॥**

**क्वचित्समुद्रमध्यस्थो दोर्भ्यामुत्क्षिप्य[4] तज्जलम् ।**
**देशान्नागायुतप्राणो बेलाकूलानमज्जयत्[5] ॥ ५ ॥**

---

1. B.G.J.M.Ma प्रभुः 2. K.T.W. °वं ;M.Ma °त्य 3. M.Ma शत्रुहा 4. K.M.Ma.T.W. °मुध्दृत्य 5. K.MI.T.V.W. कूले न्यम°

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

सप्तषष्टितमे रामो गिरौ रैवतके मदात्। स्वैरं युवतिभिः क्रीडन् अवधीत् द्विविदं खलम्[1] ॥

कालिन्दी विदारणानन्तरं रामचरितं द्विविदवधादि सङ्गतमपि अनुक्त्वा तत्पूर्वभावित्वेन पौण्ड्रकवधादिकं[2] निरूप्येदानीं तदेव प्रस्तौति - **भूय** इति। रामचरित श्रवणेच्छायां अद्भुत कर्मत्वं हेतुः तत्र च अनन्तत्वं तत्राप्यप्रमेयत्वमिति ॥ १ ॥

**नरकस्येति**। नरकस्य सखेति हरिणावैरे कारणं सुग्रीव सचिव इति तस्य मन्त्रबलं, मैन्दस्य भ्रातेति रामायणे अतिप्रसिद्धत्वेन वीर्याधिक्यमुक्तमिति ॥२॥

**सख्युरिति**। सख्युर्नरकस्य अपचितिं आनृण्यं राष्ट्रस्य विप्लवो नाशो यथा भवति तथा पुरादीनदहदिति ॥३॥

किञ्च **क्वचिदिति**। कदाचित् सः द्विविदः मित्रहा [3-]मित्रं सखायं नरकासुरं हन्तीति मित्रहा हरिः श्रीकृष्णः[-3] ॥४॥

**क्वचिदिति**। तस्य समुद्रस्य जलं बाहुभ्यां उत्क्षिप्य वेलायाः कूले वर्तमानान् देशान् [4-]न्यमज्जयत्[-4] प्लावयामासेति ॥५॥

---

1. MI.V. बलः 2. B.J. Omit कं 3- -3 B.J. सखिहन्ता 4- -4 B.J. Omit.

## श्रीवीरराघव विदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवमन्तरागर्भिणीति न्यायेन श्रुतकृष्णचरित्रः पुनर्बलभद्र चेष्टितबुभुत्सया[1] पृच्छति राजा **भूय इति**। अद्भुतं कर्म चेष्टितं यस्य तस्यानन्तस्य अनन्तावताररूपस्य अप्रमेयस्य अपारमहिम्नो रामस्य चेष्टितं श्रोतुमिच्छामि किं पूर्वोक्तं नेत्याह यदन्यदिति। विभुः रामः यदन्यत् कृतवान् तच्चेष्टितम् ॥१॥

द्विविदवधात्मकं कर्माख्यातुं तावद्विविदस्य दुश्चेष्टितमाचष्टे **नरकस्येत्यादिना**। द्विविदो नाम कश्चिद्वानरः स च नरकस्य सखा सुग्रीवस्य सचिवो मन्त्री मैन्दस्य भ्राता च वीर्यवांश्चेति रामायणादौ प्रसिद्ध इति तात्पर्यम् ॥२॥

**सख्युरिति**। सः द्विविदः सख्युर्नरकस्यापचितिमानृण्यं, कुर्वन् 'लक्षणहेत्वोः, (अष्टा. 3-2-126) इति शता कर्तुं राष्ट्रस्य विप्लवो नाशो यथा तथा पुरादीन् वह्निमुत्सृजन् ददाह ॥३॥

**क्वचिदिति**। स द्विविदः तैरुत्पाटितैः शैलैः देशान् तत्राप्यानर्तान् सुतरामचूर्णयत्। तत्र हेतुत्वेन तान्विशिनष्टि- यत्र येष्वानर्तेषु मित्रहा नरकघ्नो हरिरास्ते ॥४॥

**क्वचिदिति**। दोर्भ्यां बाहुभ्यां तत्समुद्रं जलं उद्धृत्योत्क्षिप्य वेलायाः कूले वर्तमानान् देशानमज्जयत्। तत्र हेतुत्वेन तं विशिनष्टि, नागायुतप्राणः नागानां गजानां अयुतस्य दशसहस्रस्य प्राणो बलं यस्य सः ॥५॥

---

1. B. चरित्र

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अनन्तस्य शेषस्य एन विष्णुना प्रमेयस्य ज्ञेयस्य ॥ १,२ ॥

सख्युर्नरकस्य अपचितिं निष्कृतिम् ॥ ३,४ ॥

वेलया समुद्रजलाभिवृद्ध्याकूलान् नीचभूमीः समुद्रतीर निकटवर्ति देशान् अनाशयदित्यर्थः ॥ ५ ॥

**आश्रमानृषिमुख्यानां कृत्वा भग्नवनस्पतीन् ।**
**अदूषयच्छकृन्मूत्रैरग्नीन् वैतानिकान् खलः ॥६॥**

**पुरुषान् योषितो दृप्तः क्ष्माभृद्द्रोणी गुहासु सः ।**
**निक्षिप्य चाप्यधाच्छृङ्गैः[1] पेशस्कारीव कीटकम् ॥७॥**

**[2-]एवं देशान्[-2] विप्रकुर्वन् [3]दूषयंश्च कुलस्त्रियः ।**
**श्रुत्वा सुललितं गीतं गिरिं रैवतकं ययौ ॥८॥**

**तत्रापश्यद्यदुपतिं रामं पुष्करमालिनम् ।**
**सुदर्शनीय सर्वाङ्गं ललनायूथमध्यगम् ॥९॥**

**गायन्तं [4]वारुणीं पीत्वा मदविह्वललोचनम् ।**
**विभ्राजमानं वपुषा प्रभिन्नमिव वारणम् ॥१०॥**

---

1. B.G.J. °च्छैलैः 2- -2 M.Ma तं देशं 3. M.Ma वै धर्षयंश्च 4. M.Ma मदिरां

**श्रीध० आश्रमानिति**। आश्रमस्थान् वनस्पतीन् भुङ्क्त्वा आहवनीयाद्यग्निषु मूत्रादि कृतवानित्यर्थः ॥ ६ ॥

**पुरुषानिति**। अप्यधात् पिदधे पेशस्कारी भ्रमरः ॥७-९॥

**गायन्तमिति**। प्रभिन्नं मत्तम् ॥ १० ॥

**वीर० आश्रमानिति**। ऋषिमुख्यानां आश्रयभूतान् वनस्पतीन् भस्मसात्कृत्वा दग्ध्वेत्यर्थः। भग्नवनस्पतीनिति पाठे भग्नाः वनस्पतयो येषु तथाभूतान् कृत्वा शकृन्मूत्रैः मलमूत्रैः वैतानिकान् यज्ञीयान् आहवनीयादीन् अग्नीन् अदूषयत् यतः स खलः दुरात्मा ॥ ६ ॥

**पुरुषानिति**। दुष्टो द्विविदो गिरेः कन्दरेषु गुहासु च निक्षिप्य शृङ्गैः गिरिशृङ्गैः अप्यधात् पिहितवान् पेशस्कारी भ्रमरकीटमिव ॥७॥

**एवमिति**। विप्रकुर्वन् पीडयन् तत्र तत्र कुलस्त्रीः दूषयंश्च सुललितं मधुरं गीतं श्रुत्वा रैवतकं पर्वतं ययौ ॥८॥

**तत्रेति**। तत्र रैवतकोपवने पुष्करमाला पद्ममालास्यास्तीति तथा व्रीह्यादित्वान्मत्वर्थीय इनिः सुष्ठु दर्शनीयानि सर्वाण्यङ्गानि यस्य तं योषित्समूहमध्यगतं वारुणीं मदिरां पीत्वा मदेन विह्वले घूर्णिते लोचने यस्य तं प्रभिन्नं मत्तं वारण मैरावतमिव स्थितं राममपश्यदिति सम्बन्धः ॥९,१०॥

---

1. K.T.W. °स्मकृ°

**विज०** वैतानिकान्यज्ञ सम्बन्धिनः ॥६॥

क्ष्माभृद्द्रोणीम् गुहासु पर्वतनितम्बगुहासु ॥७-९॥

प्रभिन्नं मदजल स्राविणम् ॥१०॥

**दुष्टश्शाखामृगश्शाखामारूढः कम्पयन् द्रुमान् ।**
**चक्रे किलकिलाशब्दमात्मानं सम्प्रदर्शयन् ॥११॥**

**तस्य धार्ष्ट्यं कपेर्वीक्ष्य तरुण्यो जाति (त) चापलाः ।**
**हास्यप्रिया विजहसुर्बलदेव परिग्रहाः ॥१२॥**

**ता हेलयामास कपिर्भूक्षेपैस्संमुखादिभिः ।**
**[1-]दर्शयन् स्वगुदं[-1] तासां रामस्य च निरीक्षतः ॥१३॥**

**तं ग्राव्णां प्राहरत्क्रुद्धो बलः प्रहरतां वरः ।**
**स वञ्चयित्वा ग्रावाणं मदिराकलशं कपिः ।**
**गृहीत्वा हेलयामास धूर्तस्तं कोपयन् [2]हसन् ॥१४॥**

**[3-]निर्भिद्य कलशं[-3] [4]दृष्टो वासांस्यास्फालयद्बलम्[5-] ।**
**कदर्थीकृत्य बलवान् विप्रचक्रे मदोद्धतः[-5] ॥१५॥**

---

1- -1 M.Ma सन्दर्शयन् गुदं 2. M.Ma भृशम् 3- -3 M.Ma भृशं निर्भिद्य 4. K. दृप्तः ;5- -5 M.Ma वासांस्याकृष्य योषिताम् ।

**श्रीध० तस्येति**। जात्या स्वभावेनैव चापलं यासां ताः ॥ ११,१२ ॥

**ता इति**। हेलयामास अवजज्ञे निरीक्षतः निरीक्षमाणस्य तमनादृत्येत्यर्थः ॥ १३,१४ ॥

**निर्भिद्येति**। आस्फालयत् योषितां वासांस्याकृष्य पाटितवान्। विप्रचक्रे एवमपकृतवान् ॥ १५ ॥

**वीर० दुष्ट इति**। दुष्टश्चासौ शाखामृगश्च शाखामृग इत्यनेन स्वभावत एव दौष्ट्यं व्यज्यते दुष्ट इत्यनेन तत्रापि किल किलेत्यनुकरणं आत्मानं स्वशरीरं दर्शयन् चक्रे ॥ ११ ॥

**तस्येति**। तस्य द्विविदस्य धार्ष्ट्यं दौष्ट्यं प्रागल्भ्यं दृष्ट्वा जात्या स्वभावेनैव चापलं यासां, हास्यं प्रियं यासां ताः। परिगृह्यन्ते इति परिग्रहाः, बलदेवस्य परिग्रहाः तत्परिगृहीता इत्यर्थः। हेतुगर्भाण्येतानि अतो विजहसुः प्रहसितवत्यः ॥ १२ ॥

**ता इति**। कपिः द्विविदः भ्रूविक्षेपैः सम्मुखागमनादिभिः आदिशब्देन दन्तप्रदर्शनादि सङ्ग्रहः स्वगुदं तासां दर्शयन्। रामस्य पश्यतस्स त एव ताः हेलयामास अवजज्ञे ॥ १३ ॥

**तमिति**। ग्रावणा पाषाणेन तं कपिं प्राहरत् सः कपिः तं रामं कोपयन् हसंश्च हेलयामास अवमतवान्। किञ्च निर्भिद्येति द्रुमो गर्वितः कलशं मदिरापत्रं[1-1] निर्भिद्य योषितां वासांस्याकृष्यात्मानं प्रापितवान् मदेनोद्धतो बलवांश्च कपिरेकं बलं रामं कदर्थीकृत्य तुच्छीकृत्य विप्रचक्रे अपचकार ॥ १४,१५ ॥

---

1- -1 T.W. Omit

**विज०** कपिजति चापलं दृष्ट्वा ॥ ११,१२ ॥

हेलयामास अवज्ञाताश्चक्रे समुखादिभिः पुरः स्थित्यादिभिः ॥ १३-१५ ॥

**तं[1-] तस्याविनयं[-1] दृष्ट्वा देशांश्च तदुपद्रुतान् ।**
**क्रुद्धो मुसलमाद (ध) त्त हलं चारिजिघांसया ॥ १६ ॥**

**द्विविदोपि महावीर्य स्सालमुत्पाट्य[2-] पाणिना[-2] ।**
**अभ्येत्य तरसा तेन बलं मूर्धन्यताडयत् ॥ १७ ॥**

**तं तु सङ्कर्षणो मूर्ध्नि पतन्तमचलो[3] यथा ।**
**प्रति जग्राह भगवान्[4] सुनन्देनाहनच्च[5] तम्[6] ॥ १८ ॥**

**मुसलाहतमस्तिष्को विरेजे रक्तधारया ।**
**गिरिर्यथा गैरिकया प्रहारं नानुचिन्तयन्[7] ॥१९॥**

**पुनरन्यं समुत्क्षिप्य[8] कृत्वा निष्पत्रमोजसा ।**
**तेनाहनत् सुसङ्क्रुद्धस्तं बलश्शतधाच्छिनत्[9] ॥२०॥**

---

1- -1 M.Ma तस्याप्यविनयं 2- -2 B.G.J. शालमुद्यम्य ; M.Ma शैलमुत्पाट्य 3. M.Ma °लं रुषा 4. B.G.J. बलवान् 5. M.Ma मुसलेना° 6. K.T.W. °नद्धरिम् 7. M.Ma °न्वचिन्तयत् 8. M.Ma समुत्पाट्य । 9. M.Ma °धारुजत्

**श्रीध० द्विविद** इति । सालं वृक्षम् ॥१६,१७॥

**तमिति** । सुनन्देन मुसलेन अहनत् अहन्नित्यर्थः, तं[1-] वानरम्[-1] ॥१८॥

**मुसलेति** । मस्तिष्कं मस्तके अवयवविशेषः । गैरिकया लोहितधातुना नानुचिन्तयन् अगणयन् ॥१९,२०॥

---

1- -1 B. Omit

**वीर० तमिति** । तं कपिं तस्याविनयं धार्ष्ट्यं तेनोपद्रुतान् । देशांश्चावलोक्य क्रुद्धो रामः हलं मुसलं चाददे ॥१६॥

**द्विविदोऽपीति** । महद्वीर्यं यस्य सः । द्विविदोऽपि सालवृक्षं उत्पाट्य बलमूर्धनि राममूर्धनि तेन सालेनाताडयत् ॥१७॥

**तमिति** । पतन्तं तं सालं प्रतिजग्राह गृहीतवान्[1-] [-1]। तत्प्रहारमङ्गीकृतवान् इत्यर्थः । यथा पर्वतस्तद्वत् । ततस्सुनन्देन मुसलेन हरिं कपिमहनत् ताडयामास ॥१८॥

**मुसलेति** । मुसलेनाहतो मस्तिष्को मस्तकावयवविशेषो यस्य सः, अत एव रक्तधारया रेजे यथा गिरिर्गैरिकधारया राजते तद्वत् । ततः तं प्रहारमननुचिन्तयन् पुनरन्यं सालमोजसा बलेनोत्पाट्य पर्णरहितं कृत्वा तेन सालेनाहनत् तं सालं बलो रामः शतधा चिच्छेद ॥१९,२०॥

---

1- -1 W. Omits

**विज०** गैरिकया गिरिधातु रसधारया ॥१६-२०॥

**ततोऽन्यं[1-] तरुमुत्पाट्य जघ्ने तं शतधाच्छिनत्[-1] ॥२१॥**

**एवं युध्यन् भगवता भग्ने भग्ने[2] पुनः पुनः ।**
**आकृष्य सर्वतो वृक्षान्निर्वृक्षमकरोद्वनम् ॥२२॥**

ततोऽमुञ्चच्छिलावर्षं बलस्योपर्यमर्षितः ।
तत्सर्वं चूर्णयामास लीलया मुसलायुधः ॥ २३ ॥

स[3] बाहू तालसङ्काशौ मुष्टीकृत्य कपीश्वरः ।
आसाद्य रोहिणीपुत्रं ताभ्यां[4] वक्षस्यरूरुजत् ॥ २४ ॥

यादवेन्द्रोऽपि तं दोर्भ्यां त्यक्त्वा मुसललाङ्गलौ[5] ।
जत्रावभ्यर्दयत्क्रुद्धः[6-6] सोपतद्रुधिरं वमन् ॥ २५ ॥

चकम्पे तेन पतता सटङ्कस्सवनस्पतिः[7-7] ।
पर्वतः कुरुशार्दूल[8] वायुना नौरिवाम्भसि ॥ २६ ॥

जयशब्दो नमश्शब्दः साधु साध्विति चाम्बरे ।
सुरसिद्धमुनीन्द्राणामासीत्कुसुम वर्षिणाम् ॥ २७ ॥

एवं निहत्य द्विविदं जगद्व्यतिकरावहम् ।
संस्तूयमानो भगवान् जनैस्स्वपुरमाविशत् ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयसिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

---

1- -1 B.G.J. ततोऽन्येन रुषा जग्ने तञ्चापि श° ; M. Ma. MI.V ततोऽन्यमुत्पाट्य जग्ने तञ्चापि श° 2. MI.V तस्मिन् 3. K. MI.T.V.W. स्व 4.K.M.Ma.T.V.W. दोर्भ्यां 5. B.G.J. ले 6- -6 K.T.W. वभ्यार्दयत्क्रु ; M.Ma °वताडयत्क्रु 7- -7 K.M.Ma T.W. सकण्टक व° 8. M.Ma नृप

**श्रीध० स्वेति** । अरूरुजत् ताडयामास ॥ २१-२४ ॥

**यादवेन्द्र इति** । यादवेन्द्रः[1-] सङ्कर्षणः क्रुद्धस्सन्[-1] जत्रौ कण्ठबाहुमूले ॥ २५ ॥

**चकम्पइति** । टङ्काः सतोयविवराणि तत्सहितः ॥ २६,२७ ॥

**एवमिति** । जगतो व्यतिकरं नाशमावहतीति तथा तम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

---

1- -1 MI.V. Omit

**वीर०** ततोऽन्य मुत्पाट्य प्रयुक्तं तथा चिच्छेद ॥ २१ ॥

**एवमिति**। प्रयुक्ते साले भग्ने सति सर्वतो वृक्षानाकृष्य तद्वनं वृक्षरहितं चकार ॥ २२ ॥

**तत** इति। बलस्य रामस्योपरि तच्छिलाजालम् सर्वम् ॥ २३ ॥

**स्वबाहू** इति। ताभ्यां मुष्टीकृताभ्यां बाहुभ्यां अरूरुजत् अताडयत् ॥ २४ ॥

यादवेन्द्रो रामोऽपि मुसललाङ्गलौ त्यक्त्वा दोर्भ्यामेव तं कपिं जत्रौ कण्ठबाहुमूले अभ्यर्दयत् अताडयत्। स कपी रुधिरं वमन् उद्गिरन् पपात ॥ २५ ॥

**चकम्प** इति। पतता तेन द्विविदेन कण्टकादिसहितो गिरिश्चकम्पे चचाल। हे कुरुशार्दूल! यथा वायुना नौरम्भसि कम्पते तद्वत् ॥ २६ ॥

जयशब्दः कुसुमानि वर्षन्तीति तथा तेषां सुरादीनां यथायोग्यं जयशब्दादिरासीत् ॥ २७ ॥

**एवमिति**। जगतो व्यतिकरं नाशमावहत्यापादयतीति तथाभूतं द्विविदमेवं निहत्य जनै स्संस्तूयमानो भगवान् रामः स्वपुरं द्वारकां प्रविवेश ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

**विज०** अरूरुजत्[1] चूर्णयामास ॥ २१-२४ ॥

सकण्टकाः वनस्पतयो यस्मिन् स तथा ॥ २६ ॥

जगतो व्यतिकरं नाशमावहति करोतीति जगद्व्यतिकरावहस्तम् ॥ २७,२८ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
विजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां
टीकायां सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥
(विजयध्वजरीत्या एकोन नवतितमोऽध्यायः)

1. M. Ma अरुजत्

# अष्टषष्टितमोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या नवतितमोऽध्यायः)

### बलरामकृत हास्तिनपुराकर्षणादि घट्टः

**श्रीशुक उवाच**

**दुर्योधनसुतां राजन् लक्ष्मणां समितिञ्जयः ।**
**[1-]स्वयंवरस्थामहरत्[-1] साम्बो जाम्बवती सुतः ॥ १ ॥**

**[2]कौरवाः कुपिता ऊचु र्दुर्विनीतोऽयं मर्भकः ।**
**कदर्थीकृत्य नः कन्या मकामा महरद्बलात् ॥ २ ॥**

**बध्नीतैनं दुर्विनीतं किं करिष्यन्ति वृष्णयः ।**
**[3]येऽस्मत्प्रसादोपचितां दत्तां नो भुञ्जते महीम् ॥ ३ ॥**

**निगृहीतं सुतं श्रुत्वा यद्येष्यन्तीह वृष्णयः ।**
**भग्नदर्पाः शमं यान्ति [5]शीर्णदन्ता इवाहयः[-5] ॥ ४ ॥**

---

1- -1 T.W. स्वयंवरे जहारैकः 2. M.Ma कुरवः 3. B.G.J. °तैनं 4. K.T.W. °त्वत्तापोप° 5- -5 B.G.J.K.MI.T.V.W. प्राणा इव सुसंयताः

### श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अष्टषष्टितमे साम्बे निबद्धे कौरवै र्युधि । तद्विमोक्षाय रामेण गजाह्वयविकर्षणम् ॥

रामचरित्रान्तरं निरूपयितु माह- **दुर्योधनसुतामिति** । समितिञ्जयः सङ्ग्रामजित् ॥ १,२ ॥

**बध्नीतेति** । नोऽस्माकं मही मस्माभि र्दत्ताम् । न ते भूपतय इति भावः ॥ ३ ॥

**निगृहीतमिति** । यान्ति यास्यन्ति । प्राणा इन्द्रियाणीव । सुसंयताः प्राणायामादिभि र्दमिताः ॥ ४ ॥

## श्रीवीरराघव विदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

रामस्यैव चेष्टितान्तर मनुवर्णयितु मुपोद्घातमाह अष्टषष्टितमेन **दुर्योधनसुता** मित्यादिना। समितौ सङ्ग्रामे जयतीति तथा। समिति श्शत्रुः तं जयतीति वा। स जाम्बवत्यास्सुतः। साम्बो लक्ष्मणां नाम दुर्योधनस्य सुतां स्वयंवरस्थां हृतवान् ॥ १ ॥

**कौरवा** इति। उक्तिमेवाऽऽह-दुर्विनीत इत्यादिना सुसंयता इत्यन्तेन। नोऽस्मान् कदर्थीकृत्य तुच्छीकृत्य बलात् अकामयमानामपि कन्या महरत् ॥ २ ॥

अत एव दुर्विनीतं मूर्खं बध्नीत बन्धयत। वृष्णयः किं करिष्यन्ति, न किमपीत्यर्थः। तत्र हेतुः य इति। ये वृष्णयः अस्माकं प्रतापेन पराक्रमेण उपचिता मेधितां समृध्दामिति यावत्। नोऽस्माभिर्दत्ताञ्च महीं भुञ्जते अनुभवन्ति। तेन भूपतयो बभूवुरिति भावः ॥ ३ ॥

**निगृहीतमिति**। निगृहीतं बद्धं सुतं शृत्वा यदि वृष्णयः आगमिष्यन्ति, तर्हि भग्नो दर्पो [1]गर्वो येषां ते तथाभूताः, शमं शान्तिं यास्यन्ति। सुसंयताः प्राणायामादिभिः दमिताः प्राणाः इन्द्रियाणीव ॥ ४ ॥

---

1. B. Omits गर्वो

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

समिति शब्देन सङ्गरसभे गृह्येते। उभे अपि शस्त्रेण वाचा जयतीति समितिञ्जयः खश्प्रत्ययो मुमागमोऽनुस्वारः। "समितिः सङ्गतिसभयोः" (हला. को. 5-35) इत्यभिधानम् ॥ १ ॥

अकामां कुमारकामविधुराम् ॥ २ ॥

अस्मत्प्रसादेनोपचिताः संवर्धिताः, अत एव नो महीं भुञ्जते, दत्ताम्, अस्माभिरिति शेषः ॥ ३ ॥

निगृहीतं बध्दं, शीर्णदन्ताः भग्नदन्ताः ॥ ४ ॥

**[1]इति कर्ण श्शलो भूरि र्यज्ञकेतु स्सुयोधनः[-1] ।**
**★ सुदुश्शासन गान्धारौ दुर्मन्त्रैकान्तशीलिनौ ॥**

एतेऽतिक्रम्य विदुरं गान्धारीञ्च यशस्विनीम् ।
साम्बमारेभिरे बद्धुं कुरुवृद्धैरसङ्कृताः[2-] [-2] ॥५॥

दृष्ट्वाऽनुधावतस्साम्बो धार्तराष्ट्रान् महारथान्[3] ।
प्रगृह्य रुचिरं चापं तस्थौ सिंह इवैकलः ॥६॥

तं ते जिघृक्षवः क्रुध्दा स्तिष्ठ तिष्ठेति भाषिणः[4] ।
आसाद्य धन्विनो बाणैः कर्णाग्रण्यः[5-] [-5] समाकिरन् ॥७॥

सोऽतिविध्दः[6] कुरुश्रेष्ठ कुरुभि र्यदुनन्दनः ।
नाऽमृष्य[7-] तदचिन्त्याऽर्भः[-7] सिंहः[8-] क्षुद्रमृगैरिव[-8] ॥८॥

---

1- -1 M.Ma इति कर्णं समालोक्य भूरिश्रवसुयोधनौ । ★ These two extra half verses are found in M and Ma editions only. 2- -2 B.G.J.K.Ml.T.V.W. °वृद्धानुमोदिताः 3. B.G.J. थः । 4. K.M.Ma.T.W. वादिनः 5- -5 M.Ma कर्णमुख्यः 6. B.G.J. °ऽप° K.T.W. °ऽभि° 7- -7 M.Ma तत्परिभवं 8- -8 M.Ma.T.W. दण्डाहत इवोरगः

**श्रीध० इतीति** । कुरुवृध्दो भीष्मः, तेनाऽनुमोदिताः तत्सहिताः षडेते इत्यर्थः ॥५॥

**दृष्ट्वेति**[1-] । एकलः एकः[-1] ॥६॥

**तमिति** । कर्णोऽग्रणी र्येषां ते ॥७॥

**स इति** । नाऽमृष्यत्[2-] असहत्[-2] अचिन्त्यस्य भगवतोऽर्भोऽर्भकः अचिन्त्यश्चाऽसावर्भश्चेति वा ॥८॥

---

1- -1 B.J. Omit 2- -2 Ml.V. Omit

**वीर०** इतीत्थं निश्चित्य कर्णादयः कुरुवृध्दैः धृतराष्ट्रादिभिः अनुमोदिताः साम्बं बध्दु मारेभिरे आरब्धवन्तः ॥५॥

**दृष्ट्वेति** । अनुधावतः पृष्ठतः आगन्तॄन् दृष्ट्वा एकलोऽसहायः सिंह इव तस्थौ ॥६॥

**तमिति** । ते धार्तराष्ट्राः तं साम्बं जिघृक्षवः ग्रहीतुमिच्छवः कर्णः अग्रणीः पुरतो नायको योषां तथाभूताः आसाद्य समीपमेत्य वा समाकिरन् पिदधुः ॥७॥

**स** इति। हे कुरुश्रेष्ठ! कुरुभिरभितो विध्दस्ताडितः **स** यदुनन्दनः साम्बः अचिन्त्यस्य भगवतोऽर्भः[1] अर्भकः हेतुगर्भमिदम्। अतस्तद्वेधनं नाऽमृष्यत् न सेहे। तत्र दृष्टान्तः- क्षुद्रमृगै र्विध्दः सिंह इव ॥८॥

1. K.W. Omit अर्भः

**विज०** एते इत्यवलोक्य साम्बं बध्दु मारेभिरे। असङ्गताः विनाभूताः ॥५॥

एकलः अपुरुषद्वितीयः ॥६॥

जिघृक्षवः ग्रहीतुकामाः ॥७,८॥

**विस्फूर्ज्य[1] रुचिरं[2-] चापं[-2] सर्वान् विव्याध सायकैः ।**
**कर्णादीन् षड्रथान्[3-] वीरं[-3] स्तावद्भि र्युगपत्पृथक् ॥९॥**

**चतुर्भिश्चतुरो वाहान् एकैकेन च सारथीन् ।**
**रथिनश्च महेष्वासां[4] स्तस्य तत्तेऽभ्यपूजयन् ॥१०॥**

**तं तु ते विरथं चक्रुश्चत्वारश्चतुरो हयान् ।**
**एकस्तु सारथिं जघ्ने चिच्छेदाऽन्यश्शरासनम् ॥११॥**

**तं तथा विरथं चक्रुः कृच्छ्रेण कुरवो युधि ।**
**कुमारं गृह्य कन्याञ्च स्वपुरं जयिनोऽविशन् ॥१२॥**

1. Ma. MI.V विस्फार्य 2- -2 K. M.Ma.T.W. सुमहच्चापं 3- -3 M. Ma सहयाग्रण्यां° MI.V. षड्रथान् वीक्ष्य 4. K.M.Ma. MI.T.V.W. सा°

**श्रीध०** तत्प्रपञ्चयति- **चतुर्भिरिति**। चतुर्भिश्चतुर इत्यत्र वीप्साऽनुसन्धेया। तत्कर्म ते सम्मानितवन्तः ॥९-११॥

**तमिति**। स्वस्य दुर्योधनस्य कन्याञ्च, नीत्वेति शेषः ॥१२॥

**वीर० विस्फूर्ज्येति**। आरोपितज्यं चापं विस्फूर्ज्य वज्रनिर्घोषवत् ध्वनयित्वा वीर स्साम्बः कर्णादीन् पूर्वोक्तान् षट् संख्याकान् तावतो रथांश्च तावद्भिस्सायकैः बाणैः युगपत्पृथक् प्रत्येकं विव्याध ॥९॥

तथा चतुर्भिश्चतुर्भिः सायकैः चतुरो वाहान् अश्वान् एकैकेन बाणेन सारथींश्च विव्याध। रथिनश्चेति ते रथिनः कर्णादयः तस्य साम्बस्य तत्कर्म अपूजयन्नभ्यनन्दन् ॥१०॥

**तमिति**[1]। ते कर्णादयस्तं साम्बं विरथं चक्रुः। तदेवाह-चत्वार इति। आजघ्नुरिति वचनपरिणामेन चत्वार इत्यस्य सम्बन्धः। तमिति[-1]। एवं युध्ध्वे तं साम्बं कृच्छ्रेण प्रयासेन विरथीकृत्य जयिनः प्राप्तजयाः कुमारं साम्बं स्वकन्यां स्वस्य दुर्योधनस्य कन्याञ्च, आदायेति शेषः। पुरं हास्तिनपुरं, आविशन् ॥ ११,१२॥

---

1- -1 W Omits

**विज०** हयानामग्रण्यं अग्रणीभवं कर्म तेन सह वर्तन्त इति सहयग्रण्या स्तान् यावन्तः तावद्भिश्शरैः ॥९॥

एतदेव विवृणोति-**चतुर्भिरिति**। साम्बस्य तत्कर्म सन्दृश्य कुरवः किमकुर्वन्? अत्राऽऽह-महेष्वासा इति ॥१०॥

अत्र साम्बस्य पराजयो नाम्नीति भावेनाऽऽह चत्वार इति ॥ ११॥

गृह्य गृहीत्वा जयिनो जेतुकामा एव न तु लब्धजया इति तात्पर्यार्थः ॥ १२॥

**तच्छ्रुत्वा नारदेनोक्तं राजन् सञ्जातमन्यवः ।**
**कुरूनप्रत्युद्यमं चक्रु रुग्रसेन प्रचोदिताः ॥१३॥**

**सान्त्वयित्वा तु ताञ्रामः संक्रुद्धान्[1] वृष्णिपुङ्गवान्[2] ।**
**नेच्छत्कुरूणां वृष्णीनां कलिं कलिमलापहः[3] ॥१४॥**

**जगाम हास्तिनपुरं रथेनाऽऽदित्य वर्चसा ।**
**ब्राह्मणैः कुलवृध्दैश्च वृतश्चन्द्र इव ग्रहैः ॥१५॥**

**गत्वा गजाह्वयं रामो बाह्योपवन मास्थितः[4] ।**
**उध्दवं प्रेषयामास धृतराष्ट्रं[5-] बुभुत्सया[-5] ॥१६॥**

1. B.G.J.K.Ml.T.V.W. सन्न° 2. Ml.V. °वः 3- -3 M.Ma कलाहशङ्कितः 4. K.M.Ma.Ml.T.V.W. °माश्रितः 5- -5 K.T.W. राजन् तपां बुभुत्सया ;M.Ma धृतराष्ट्राय शान्तये

**श्रीध० सान्त्वयित्वेति**। यतः कलिं नैच्छत्, अतस्सान्त्वयित्वा जगामेति ॥ १३-१५॥

**गत्वेति**। धृतराष्ट्रं प्रति बुभुत्सयेति, अभिप्रायजिज्ञासयेत्यर्थः ॥ १६॥

**वीर० तदिति**। हे राजन्, नारदोक्त्या तद्वृत्तान्तं शृत्वा सञ्जातो मन्यु र्येषां ते उग्रसेनप्रचोदिताश्च [1]यदवः कुरून्प्रत्युद्यमं प्रति चिकीर्षां चक्रुः ॥ १३॥

**सान्त्वयित्वेति**। सन्नध्दान् गन्तु मायत्तानाशु सान्त्वयित्वा रामः कुरूणां वृष्णीनाञ्च मिथः कलिं कलहं नैच्छत् यत स्स कलिमलं कलहात्मकं मल मपहन्तीति तथा ॥ १४॥

किन्तु आदित्यस्यैव वर्चो यस्य तेन रथेन गमनसाधनेन ग्रहै र्गुरुशुक्रादिभिः चन्द्र इव ब्राह्मणादिभिः परिवृतो हास्तिनपुरं जगाम ॥ १५॥

**गत्वेति**। गजाह्वयं हास्तिनपुरम्। हे राजन्, तेषां कुरूणां बुभुत्सया अभिप्रायजिज्ञासया उद्धवं प्रेपयामास ॥ १६॥

---

1. T.W. Omit यदवः

**विज०** नारदोक्तेन नारदवचनेन ॥ १३॥

कलिम् विरोधम् ॥ १४, १५॥

**सोऽभिवन्द्याम्बिकापुत्रं भीष्मं द्रोणञ्च बाह्लिकम् ।**
**दुर्योधनञ्च विधिवत् राम मागत मब्रवीत् ॥ १७॥**

**[1]तेऽतिप्रीता स्समाकर्ण्य प्राप्तं रामं सुहृत्तमम् ।**
**तमर्चयित्वाऽभिययुः सर्वे मङ्गलपाणयः ॥ १८॥**

**तं सङ्गम्य यथान्यायं गा मर्घ्यञ्च न्यवेदयन् ।**
**तेषां ये तत्प्रभावज्ञाः प्रणेमुश्शिरसा बलम् ॥ १९।**

**बन्धून् कुशलिनः [2]दृष्ट्वा पृष्ट्वा शिव मनामयम् ।**
**परस्पर मथो रामो बभाषेऽविक्लबं वचः ॥ २०॥**

---

1. K.M.Ma. पि 2. B.G.J.K.M.Ma.T.W. शृत्वा

**श्रीध० स** इति। विधिवदभिवन्द्य[1] ॥ १७।

**त** इति। तमुध्दवमर्चयित्वा सत्कृत्य, मङ्गलपाणयः उपायनहस्ताः ॥१८।

**तमिति**। वृध्दा अपि प्रणेमुः ॥१९,२०॥

---

1. MI.V. वाद्य

**वीर० स** इति। उध्दवः अम्बिकायाः पुत्रं, भीष्मं बाह्लीकेन सहितं दुर्योधनञ्च विधिवदभिवन्द्य ॥१७॥

**तेऽपीति**। तेऽपि भीष्मादयोऽपि राम मागतं शृत्वा प्रीताः तमुध्दवं सुहृद्भिर्वृत मर्चयित्वा सर्वे मङ्गलद्रव्याणि पाणिषु येषां तथाभूताः राम मभिजग्मुः ॥१८॥

**तमिति**। तं रामं यथान्यायं स्वस्ववयःस्थानाद्यनुरूपमालिङ्गनादिभिः आलिङ्ग्य सम्यक् गां धेनु मर्घ्यञ्च तस्मै न्यवेदयन्। तेषां मध्ये ये तत्प्रभावज्ञाः रामप्रभावविदस्ते बलं रामं शिरसा प्रणेमुः ॥१९॥

**बन्धूनिति**। रामः परस्परं बन्धून् कुशलिनः शृत्वा अनामय मारोग्यं शिवं शुभञ्च पृष्ट्वा च। अविक्लब मिति छेदः। अदीनं वचो बभाषे ॥२०॥

**विज०** परस्परं शिवं सुख मनामय मारोग्यम् अविक्लबम् धाष्टर्ययुक्तम् ॥ १७-२०॥

**उग्रसेनः क्षितीशेशो यद्व आज्ञापयत्प्रभुः ।**
**तदव्यग्रधियः श्रुत्वा कुरुध्वं[1] मा विलम्बितम्[2] ॥२१॥**

**यद्यूयं बहवस्त्वेकं जित्वाऽधर्मेण धार्मिकम् ।**
**अबध्नीताऽथ तन्मृध्ये बन्धूना[3] मैक्यकाम्यया[3] ॥२२॥**

**श्रीशुक उवाच**

**वीर्यशौर्यबलोन्नध्द मात्मशक्ति समं वचः ।**
**कुरवो बलदेवस्य निशम्योचुः प्रकोपिताः ॥२३॥**

**अहो महच्चित्र मिदं कालगत्या दुरत्ययम् ।**
**आरुरुक्षत्युपान द्वै शिरो मकुटसेवितम्[5-5] ॥ २४ ॥**

---

1.MI.T.V.W. °ध्यमपि 2. K. तत् 3- -3 M. Ma मिष्टकाम्यया 4- -4 B.G.J.M.Ma Omit 5- -5 B.G.J.M.Ma मुकुटसेवितम् ;K मकुटभूषितम्

**श्रीध० यदिति**। यद्यूयमिति उग्रसेनवाक्यं मृष्ये सहे, अथाऽऽह तमानीय, समर्पयतेति शेषः ॥ २१,२२ ॥

**वीर्येति**। वीर्यं प्रभावः, शौर्यमुत्साहो, बलं सत्त्वं, तैः उन्नध्दम् उच्छृङ्खलं, कथम्? आत्मनः शक्तेः सम मनुरूपम् ॥ २३ ॥

**अहो** इति। उपानत्पादरक्षा शिर आरोढुमिच्छति हीना अपि अस्मान् आज्ञापयन्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥

**वीर०** तदेवाऽऽह-**उग्रसेन** इति द्वाभ्याम्। तदाज्ञापित मव्यग्रधियः अवहितचित्तास्सन्तः श्रुत्वा कुरुध्वं, तन्मा विलम्बितम् इणन्तमिदं मा[1-1] विलम्बितव्य मित्यर्थः ॥ २१ ॥

किञ्च **यदीति**।एक मसहायं धार्मिकञ्च बालं बहवो यूयम् अधर्मेण जित्वा अबध्नीत बध्दवन्त इति यत्तदहं मृष्ये सोढवानस्मि। कुतः? बन्धूना मैक्यकाम्यया मिथ स्सौहार्द कामनया अथाऽऽशु तमानीय, समर्पयतेति शेषः ॥ २२ ॥

**वीर्येति**। वीर्यं युध्दे ग्लान्यभावः, शौर्यं तत्र स्वगृह इव प्रवेशसामर्थ्यं, बलं धारणसामर्थ्यं एभिरुन्नध्द मृच्छृङ्खलं बलदेवस्य वचो निशम्याऽऽकर्ण्य कुरवः प्रकोपिताः प्रोचुः ॥ २३ ॥

उक्तिमेवाह-**अहो** इति षड्भिः। (दुरन्तया)दुरत्यया दुरतिक्रमणीयया कालगत्या अहो महदिदं चित्रं जातम्। किन्तदित्यत आह-आरुरुक्षतीति। उपानत् पादरक्षा मकुटेन भूषितं शिरो मूर्धानमारोढु मिच्छति। उपानत्स्थानीया यदवः किरीटालङ्कृत शिरःस्थानीयान् अस्मान् आज्ञापयन्तीत्येतत् अतिचित्रमिति भावः ॥ २४ ॥

---

1- -1 W न विलम्बि

**विज०** अधर्मेण अबध्नीत बन्धन मकार्ष्ट। मृष्ये सहेयम् ॥ २१-२३ ॥

आरुरुक्षति आरोढु मिच्छति ॥ २४ ॥

एते यौनेन[1] सम्बध्दाः[2] सह शय्यासनाशनाः ।
वृष्णय स्तुल्यतां नीता अस्मद्दत्तनृपासनाः ॥२५॥

चामरव्यजने शङ्खं मातपत्रञ्च पाण्डुरम्[3] ।
किरीटमासनं शय्यां भुञ्जन्त्यस्मदुपेक्षया ॥२६॥

अलं यदूनां नरदेवलाञ्छनै दातुः[4-] प्रतीपैः फणिनामिवामृतम्[-4] ।
येऽस्मत्प्रसादोपचिता[5] हि यादवा आज्ञापयन्त्यद्य गतत्रपा बत ॥२७॥

कथमिन्द्रोऽपि कुरुभि र्भीष्मद्रोणार्जुनादिभिः ।
अदत्तमवरुन्धीत[6-] सिंहग्रस्त[-6] मिवोरणः[7] ॥२८॥

---

1. M.Ma °य 2. K.M.Ma.T.W. सम्बन्धाः 3. K. °ण्ड° 4- -4 M.Ma दातृप्रतीपैः फणिनामिवामृतैः ; Ml.V. दातुः प्रतीपाचरितोध्दतात्मनाम् 5.K.Ml.T.V.W नः प्र 6- -6 K.T.W मुपयुञ्जीत 7.M.Ma °म्न इवो°

**श्रीध०** अस्यैव प्रपञ्चः एत इति चतुर्भिः। यौनेन पृथाया विवाहेन ॥२५॥

किञ्च **चामरेति**। भुञ्जन्त्युपभुञ्जते इत्यर्थः। अस्मदुपेक्षया अस्माक मनाग्रहेण अस्माकमनुग्रहेणेति यावत् ॥२६॥

**अलमिति**। अतः परं तान्यपहरिष्याम इत्यर्थः ॥२७॥

**कथमिति**। अवरुन्धीत स्वीकुर्यात्, उरणो मेषः ॥२८॥

**वीर०** एतदेव प्रपञ्चयति चतुर्भिः। एते वृष्णयः यौनेन पृथाविवाहेन सम्बध्दाः सम्बन्धिनः। सम्बन्धशब्दोऽत्र अर्शाद्यजन्तः अतः सहाऽस्माभिः सह शय्यासनभोजनानि येषां ते अस्माभिर्दत्तं नृपासनं येषां ते, अत एव तुल्यतामस्माभिः साम्यं प्रापिताः, वस्तुतो न समा इति भावः ॥२५॥

किञ्च। **चामरेति**। अस्मदुपेक्षया हेतुभूतया चामरादीन् भुञ्जते उपयुञ्जत इत्यर्थः। तत्रासनं नृपासनम् ॥२६॥

**अलमिति**। यदूनां नरदेवलाञ्छनैः चामरिदिभिरलम्। अतः परं तान्यपहरिष्याम इति भावः। तत्र हेतुत्वेन तानि विशिंषन्ति दातुः प्रतीपैरिति दातृणामस्माकमेव प्रतीपैः प्रतिकूलैः। तत्र दृष्टान्तः- फणिना मिवामृतमिति। सर्पाणां पोषणाय यद्दत्तममृतं क्षीरं दातुरेव प्रतीपं तद्वत्। एतदेव दार्ष्टान्तिकेऽनुगमयति य इति। ये यादवाः

अस्मदनुग्रहेणोपचिता एधिताः, नोऽस्मानेव अधुना आज्ञापयन्ति। अहो बत[1] एते निर्लज्जाः खलु। यद्वा गतत्रपा स्सन्तः आज्ञापयन्ति बतेत्याश्चर्ये ॥२७॥

**कथमिति**। इन्द्रोऽपि भीष्मादिभिः कुरुभिः अदत्तं कथमुपयुञ्जीत, सिंहग्रस्त मुरणो मेष इव ॥२८॥

---

1. B. °तेति नि° ;K. °त ते नि°

**विज्ञ०** यौनेयेन योनिनिमित्तेन सम्बन्धो येषां ते तथा। ततः किमत्राऽऽह-सह इति ॥२५॥

अस्मद्दत्तेत्युक्तं विवृणोति-**यामरेति**। मह्यं महनीय मासनं भुञ्जन्ति भजन्ति। अन्योपद्रवमन्तरेण रक्षन्ति। "भुजोऽनवने" (अष्टा० 1-3-66) इति पाणिनिः ॥२६॥

दातृणा मस्माकं प्रतीपै र्विरोधिभिः दत्तै रमृतैः क्षीरादि रसैः विषात्मना परिणतैः दातृणां मरणप्रदत्वेन प्रतीपैः ॥२७॥

अवरुन्धीत प्राप्नोति। सिंहग्रस्त उरणः अविर्यथा कवलं न गृह्णाति। सिंहग्रस्तमितिपाठे कबल मदातुं न शक्तः ॥२८॥

**श्रीशुक उवाच**

**जन्मबन्धुश्रियोन्नद्ध मदा स्ते भरतर्षभ![1]**
**आश्राव्य रामं दुर्वाच्य[2-] मसभ्याः पुरमा[-2] विशन् ॥२९॥**

**दृष्ट्वा कुरूणां दौश्शील्यं श्रुत्वाऽवाच्यानि[3-] चाऽच्युतः[-3]।**
**अवोच त्कोपसंरब्धो दुष्प्रेक्ष्यः प्रहसन्मुहुः ॥३०॥**

**नूनं नाना[4]मदोन्नद्धाः शान्तिं नेच्छन्त्यसाधवः।**
**तेषां हि प्रशमो दण्डः पशूनां लगुडो[5] यथा ॥३१॥**

**अहो यदूनू सुसंरब्धान् कृष्णञ्च कुपितं शनैः ।**
**सान्त्वयित्वाऽहमेतेषां शम मिच्छन्निहाऽऽगतः ॥३२॥**

---

1. K. श्रियालब्ध 2- -2 M.Ma °क्यै रटव्यां पुर आ° 3- -3 M.Ma वच्यातिवाच्यताम् 4. M.Ma नामम° 5. M.Ma लकुटः

**श्रीध० जन्मेति**। जन्मना बन्धुभिश्चेपलक्षितया श्रिया उन्नध्दः उत्कटो मदो येषां ते, दुर्वाच्यं परुषं वाक्यं असभ्याः दुर्जनाः ॥२९, ३०॥

**नूनमिति**। नाना धनाभिजनादिमदैरुन्नध्दा स्तेषां दण्ड एव प्रशमः प्रकर्षेण शमयतीति तथा, यथा लगुडो दण्डः ॥३१, ३२॥

**वीर० जन्मेति**। हे भरतर्षभ! अभिजनबन्धुसम्पद्भिः लब्धः मदो येषां ते। अत एव असभ्याः कुरवः इत्थं रामं प्रति दुर्वाच्यं परुषं वाक्यं श्रावयित्वा पुरं हास्तिनं विविशुः ॥२९॥

**दृष्ट्वेति**। दौश्शील्यं दौर्जन्यं दृष्ट्वाऽवाच्यानि वचांसि श्रुत्वा अच्युतः स्वासाधारणकल्याण गुणजातान्न च्यवते इत्यच्युतो रामः कोपेन संरक्तोऽत एव दुष्प्रेक्ष्यः पुनः पुनः प्रहसन्नुवाच ॥३०॥[1]

उक्तिमेवाऽऽह **नून** मिति। नाना धनादिमदैः उन्नध्दा असाधवो दुरात्मान एते नूनं शान्तिं नेच्छन्ति। अत स्तेषां दण्ड एव प्रशमः शान्तिकरः, यथा पशूनां उद्धृतानां लगुडो यष्टिविशेषः, तद्वत् ॥३१॥

**अहो** इति। सुसंरब्धान् क्रुध्दान् हरिं कृष्णञ्च सान्त्वयित्वा शमं शान्तिपूर्वकं सन्धिं इच्छन् इहाऽऽगतोऽस्मि ॥३२॥

---

1. B.K. संरब्धः

**विज०** अटव्या मुपवने स्थितं रामम्। ॥२९॥

वाच्यातिवाच्यता मपवादातिशयिता मपवादताम् ॥३०॥

प्रशमः शान्तिकरः लकुटः यष्टिः ॥३१, ३२॥

**त इमे मन्दमतयः कलहाभिरताः खलाः ।**
**ते मा मवज्ञाय मुहुः दुर्भाषां मानिनोऽब्रुवन् ॥३३॥**

**नोग्रसेनः किल विभुः भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः ।**
**शक्रादयो लोकपाला यस्याऽऽदेशानुवर्तिनः ॥३४॥**

**सुधर्माऽऽक्रम्यते येन पारिजातोऽमराङ्घ्रिपः ।**
**आनीय भुज्यते सोऽसौ न किलाध्यासनार्हणः ॥३५॥**

**यस्य पादयुगं साक्षाच्छ्रीरुपास्तेऽखिलेश्वरी ।**
**न नाऽर्हति किल श्रीशो नरदेवपरिच्छदान् ॥ ३६ ॥**

---

1. M. Ma °ति° 2- -2 K.M.Ma.T.W. तस्मात् तं मामवज्ञाय 3.B.G.J.K.MI.T.V.W °षान् 4. MI.V. आहृत्य 5. M.Ma °कः

**श्रीध० त** इति। दुर्भाषान् अवाच्यशब्दान् ॥ ३३ ॥

दुर्भाषणमनुस्मरति षड्भिः-**नोग्रसेन** इति। विभुराज्ञापयितुं समर्थः ॥ ३४ ॥

अहो धृष्टा श्रीकृष्णमप्यधिक्षिपन्तीति **कुपित** आह-**सुधर्मे**त्यादिभिस्त्रिभिः ॥ ३५, ३६ ॥

**वीर० त इम** इति। खला मूर्खश्च मामवज्ञाय अवहेल्य मानिनो दुरहङ्कारिणो दुर्भाषान् दुर्वाक्यान्यूचुः ॥ ३३ ॥

दुर्भाषणमेवानुस्मरति-**नेति**। उग्रसेनो विभुर्न प्रभुः किलेति काकुः । काक्वा सूचितमनुशयमेव व्यञ्जयितुं विशिनष्टि-भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः इति। एवमग्रेऽपि इन्द्रादयो यस्य यदुराजस्य आज्ञानुवर्तिनः किल। पूर्ववद्विशिनष्टि लोकपाला इति ॥ ३४ ॥

**सुधर्मेति**। सुधर्मा नाम सभा येनाऽऽक्रम्यते अधिष्ठीयते सोऽसौ कृष्णः सिंहासनार्हो न किल ॥ ३५ ॥

पुनस्तमेव विशिंषन्नेतदेवाऽऽह-**यस्येति** द्वाभ्याम्। अखिलानां ब्रह्मादीनां ईश्वरी श्रीः लक्ष्मीः, साक्षाद्यस्य पादयुग्मं उपास्ते सोऽसौ भगवान् श्रियःपतिर्नरदेवचिह्नानि नार्हति किल। त्रीश इति पाठे त्रिलोकेशः ॥ ॥

**विज०** सोऽसौ कृष्णः ॥ ३३-३६ ॥

**यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजोऽखिललोकपालैः[1] मौल्युत्तमैर्धृतमुपासिततीर्थतीर्थम् ।**
**ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कलाः[2] कलायाः श्रद्धामहे[3] सुचिरमस्य[-3] नृपासनं क्व? ॥ ३७ ॥**
**भुञ्जते[4] कुरुभिर्दत्तं भूखण्डं किल[5] वृष्णयः[-5]**
**उपानहः किल वयं स्वपन्तु कुरवशिरः ॥ ३८ ॥**

**अहो ऐश्वर्यमत्तानां मत्तानामिव मानिनाम् ।**
**असम्बन्धागिरो रूक्षाः कस्सहेताऽनुशासिता ॥ ३९ ॥**

**अद्य निष्कौरवीं पृथ्वीं करिष्यामीत्यमर्षितः ।**
**गृहीत्वा हलमुत्तस्थौ दहन्निव जगन्नयम् ॥४०॥**

---

1. B.G.J.MI.V. °लैः 2. M.Ma कलांशाः 3- -3 B.G.J.K.MI.T.V.W श्रीश्चोद्वहेम 4. M.Ma.T.W. भुज्यते 5. M.Ma.T.W. वृष्णिभिः किल 6. K.T.W. °यां

**श्रीध० यस्येति** । मौल्युत्तमैर्मौलियुक्तैरुत्तमाङ्गैः उत्तमैर्मौलिभिरिति वा । उपासितानि तीर्थानि यै र्योगिभिः तेषामपि तीर्थम् । यद्वा, उपासितं सर्वैः सेवितं तीर्थं गङ्गा तस्याः तीर्थं तीर्थत्वनिमित्तम् । किञ्च ब्रह्मा भवः श्रीश्चाऽहमपि उद्वहेम । कथम्भूता वयम्? यस्य कलाया अंशस्य कला अंशा ॥३७, ३८॥

**अहो इति** । मत्तानामिव मद्यादिना रूक्षाः परुषाः । अनुशासिता स्वयं दण्डधरस्सन् ॥३९, ४०॥

**वीर० यस्येति** । अखिलैर्लोकपालैः कर्तृभिः, मौल्युत्तमैः मौलियुक्तैः उत्तमैः उत्तमाङ्गैः शिरोभिः यस्याऽङ्घ्रिरजोधृतम् । कथम्भूतम्? उपासिततीर्थ तीर्थम् । उपासितानि तीर्थानि गङ्गादीनि यैर्योगिभिः तेषामपि तीर्थं पावनम् । यद्वा, उपासितगुरूणां सतामपि पावनम्, उपासितानां गङ्गादितीर्थानामपि पावनं वा । यस्य कलायाः कला अशांशभूताः अहमनन्तः श्रीर्लक्ष्मीः, उद्वहेम बिभृम । अङ्घ्रिरज इत्यनुषज्यते । अस्यैवम्भूतस्य नृपासनं क्व कथं वा तदधिकारः इति काकुः ॥३७॥

**भुञ्जत इति** । भुञ्जते किल ॥३८॥

**अहो इति** । मत्तानां मद्यादिना प्रमत्तानां मानिनां स्त्रैरिणामिव एषामैश्वर्येण मत्तानामसम्बद्धाः रूक्षाः परुषाश्च गिरः को वा अनुशासिता दण्डयितुं समर्थश्चेत्सहेत? ॥३९॥

अतोऽद्य भूमिं निष्कौरवां करिष्यामीत्यभिसन्धायेति शेषः । अतिक्रुद्धो जगन्नयं दहन्निव हलं गृहीत्वा उदतिष्ठत् ॥४०॥

**विज०** श्रद्धामहे आकाङ्क्षामहे । सर्वैरुपासितं निषेवितं तीर्थं भागीरथी, अस्या अपि तीर्थं शुद्धिकरम् अस्य कृष्णस्य ॥३७, ३८॥

अनुशासिता शिक्षाकरः ॥३९, ४०॥

**लाङ्गलाग्रेण नगरमुद्विदार्य गजाह्वयम् ।**
**विचकर्ष स गङ्गायां प्रहरिष्यन्नमर्षितः ॥४१॥**

**जलयानमिवाऽऽघूर्णं गङ्गायां नगरं पतत् ।**
**आकृष्यमाणमालोक्य कौरवा जातसम्भ्रमाः ॥४२॥**

**तमेव शरणं जग्मुः सकुटुम्बा जिजीविषवः ।**
**सलक्ष्मणं पुरस्कृत्य साम्बं प्राञ्जलयोऽब्रुवन्[1] ॥४३॥**

**राम रामाऽखिलाधार प्रभावं न विदाम[2] ते ।**
**मूढानां नः [3-]कुबुद्धीनां[-3] क्षन्तुमर्हस्यतिक्रमम्[4] ॥४४॥**

---

1. B.G.J. यः प्रभुम् 2. M.Ma °महे 3- -3 M.Ma कुटुम्बीनां 4. K.M.Ma Ml.T.V.W. °प्यधीश्वर

**श्रीध० लाङ्गलेति**। लाङ्गलाग्रेण दक्षिणतः प्राकारमूले निखातेन उद्विदार्य उत्पाट्य ॥४१, ४२॥

**तमिति**। जिजीविषवः इत्यक्षराधिक्यं सोढव्यम् ॥४३॥

[1-]**रामेति**। मूढानां प्रभावानभिज्ञानाम् अतिक्रममपराधम्[-1] ॥४४॥

---

1- -1 Ml.V. Omit

**वीर० लाङ्गलाग्रेणेति**। स रामः गजाह्वयं नगरमुद्विदार्य दक्षिणतः प्राकारमूले निखातेनोत्पाट्य गङ्गायां प्रहरिष्यन् पातयितुमित्यर्थः। विचकर्ष आकृष्टवान्। यतोऽमर्षितः ॥४१॥

**जलयानमिवेति**। आकृष्यमाण मत एव जलयानं प्लवमिव आघूर्णं भ्रमत् गङ्गायां पतच्च नगरमालोक्य जातः सम्भ्रमः सम्यग्भ्रमः कम्पो येषां ते ॥४२॥

जिजीविषवः जीवितुमिच्छवः कुटुम्बै स्सहिताः तं राममेव शरणं जग्मुः ययुः। सलक्ष्मणं लक्ष्मणया सहितं साम्बं पुरस्कृत्य पुरतो निधाय बद्धाञ्जलयः प्रोचुश्च ॥४३॥

उक्तिमेवाऽऽह-**राम रामेति** पञ्चभिः। कुबुद्धीनां नोऽस्माकमपराधमिति शेषः ॥४४॥

**विज०**- कुटुम्बीनामिति दीर्घश्छान्दसः ॥ ४१-४४ ॥

**स्थित्युत्पत्ति लयानां[1] त्वमेको[1] हेतु र्निराश्रयः[2] ।**
**लोकान् क्रीडनकानीश बहतस्ते[3] वदन्ति हि ॥ ४५ ॥**

**त्वमेव मूर्ध्नीद मनन्तलीलया भूमण्डलं बिभर्षि सहस्रमूर्धन् ।**
**अन्ते च यः स्वात्मनिरुद्धविश्वः शेषेऽद्वितीयः परिशिष्यमाणः ॥ ४६ ॥**

**कोपस्तेऽखिल[4] शिक्षार्थं न द्वेषान्न च मत्सरात् ।**
**बिभ्रतो भगवन्सत्त्वं स्थितिपालनतत्पर[5]! ॥ ४७ ॥**

**नमस्ते सर्वभूतात्मन् सर्वशक्तिधराऽव्यय ।**
**विश्व कर्मन्नमस्तेऽस्तु त्वां वयं शरणं गताः ॥ ४८ ॥**

---

1--1 B.G.J.K.MI.T.V.W. °त्यय्यानां 2. K.T.W. °जा° 3. B.G.J.K.MI.T.V.W क्रीडत° 4. K.MI.T.V.W. बल° 5. B.J.M.Ma °रः

**श्रीध० त्वमिति**। शेषे शयनङ्करोषि शेषपर्यङ्के परिशिष्यमाणो यः स च त्वमेवेति वा ॥ ४५, ४६ ॥

अस्मासु कोपश्च तवाऽयमुचित एवेत्याहुः-**कोपस्ते** इति। स्थितिपालने[1] तत्परस्तात्पर्यवान् कोपः, पाठान्तरे सम्बोधनम् ॥ ४७ ॥

नम इति। विश्वं कर्म कृत्यं यस्य स त्वमिति सम्बोधनम् ॥ ४८ ॥

---

1. MI.V. क्षिति

**वीर० स्थितीति**। अप्ययः प्रलयः। तेषां त्वमेक एव हेतुराधारतयेति भावः। कस्तर्हि मम हेतुस्तत्राहुः- निजाश्रयः इति। निज आत्मा आधारो यस्य सः। हे ईश! क्रीडत स्ते तवेति क्रीडनकान् क्रीडोपकरणभूतान् वदन्ति त्वद्याथात्म्यविदः ॥ ४५ ॥

त्वमेको हेतुरित्येतदेव प्रपञ्चयति- **त्वमिति**। हे अनन्त! मूर्ध्नेत्यस्य सहस्रेत्यादिः सहस्रमूर्धा त्वमेक एवेदं कृत्स्नं भूमण्डलं मूर्ध्नि लीलयेव बिभर्षि। अन्ते प्रलये स्वात्मनि रुद्धं लीनं विश्वं यस्य सः। अत एव अवशिष्यमाणः, अत एव चाऽद्वितीयः, समाभ्यधिकरहितः शेषे शयिष्यसे। परमात्मदृष्ट्येदमुक्तम् ॥ ४६ ॥

**कोप** इति। हे क्षितिपालनतत्पर। हे भगवन्! हे बल। सत्वं शुद्धसत्वमयं शरीरं बिभ्रतस्तव कोपः केवलं शिक्षार्थमेव न तु द्वेषात्, नाऽपि मत्सराच्च। द्वेषोऽप्रीतिः। मत्सरः कौटिल्यम् ॥४७॥

शरण्यत्वोपयुक्तगुणैः सम्बोधयन्तः शरणं व्रजन्ति। सर्वभूतात्मन्नित्यनेन सार्वज्ञ्यं, सर्वशक्तिधरेत्यनेन सर्वशक्तित्वम्, अव्ययेत्यनेन रागद्वेषादिविकारराहित्यम् अत एव सर्वसुहृत्त्वम्, विश्वकर्मन्नित्यनेन परत्वञ्चोक्तं भवति। क्रियते इति कर्म कार्यं विश्वं यस्य कार्यं तथाभूतेत्यर्थः। सर्वमिदं परमात्मदृष्ट्योक्तम् ॥४८॥

**विज०** क्रीडनकान् क्रीडासाधनानि ॥४५॥

अन्ते जगत्संहारे परिशिष्यमाणोऽद्वितीयः शेषे ॥४६॥

जगद्बिभ्रतस्ते कोपोऽखिलशिक्षार्थं सत्त्वं स्थित्यादि तत्परः सद्भिरत्र हलधरे यथोचितं ग्राह्यम्। अनुचितमन्तर्यामि विषयमिति तात्पर्य मवगन्तव्यम्। विश्वस्य प्रपञ्चस्य अनुग्रहार्थं कर्म विक्रमलक्षणो व्यापारो यस्य स तथा। तस्य सम्बुद्धिः हे विश्वकर्मन्! ॥४७, ४८॥

**श्रीशुक उवाच**[1-1]

**एवं प्रपन्नैः संविग्नै र्वेपमानै र्हलायुधः[2-2]।**
**प्रसादितस्सुप्रसन्नो[3-3] मा भैष्टेत्यभयं ददौ ॥४९॥**

**दुर्योधनः पारिबर्हं कुञ्जरान् षष्टिहायनान्[4] ।**
**ददौ च द्वादशशतान्य युतानि[5] तुरङ्गमान् ॥५०॥**

**रथानां षट्सहस्राणि रौक्माणां सूर्यवर्चसाम् ।**
**दासीनां निष्ककण्ठीनां सहस्रं दुहितृवत्सलः ॥५१॥**

**प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं भगवान्सात्त्वतर्षभः ।**
**ससुतः सस्नुषः प्रायात्सुहृद्भिरभिनन्दितः[7] ॥५२॥**[8]

---

1- -1 M.Ma MI.V. Omit 2- -2 °नायनैर्बलः 3- -3 K. प्रसन्नोसौ M.Ma.T.W. °सम्प्रसन्नो 4. MI.V. षा° 5- -5 K. द्विशतसाहस्रं नि° ,M,Ma द्विदशसाहस्रान् नि° MI.T.V.W ददौ द्वादश साहस्रं नि° 6. G.K.T.W. प्रागात्सु° ; 7. M.Ma °व°

**श्रीध० एवमिति**। वेपमानमयनं पुरं येषां तैः ॥४९॥

**दुर्योधन** इति। तुरङ्गमांश्च द्वादशायुतानि ॥५०, ५१॥

**प्रतिगृह्येति**। सुहृद्भिः कौरवैः ॥५२॥

**वीर० एवमिति**। संविग्नैर्भीतैः अत एव कम्पमानैः, अत एव प्रपन्नैः प्रसादितः प्रसन्नश्चाऽसौ हलायुधः रामः भयं माकार्ष्टेत्येवमभयं ददौ[1] ॥४६॥

**दुर्योधन** इति। पारिबर्हमुपायनम् ददाविति सम्बन्धः। तदेव प्रपञ्चयति-द्वितीयान्तैः। षष्टिः हायनानि वत्सरा येषां तान्, द्विशतञ्च साहस्रञ्च तयोर्मध्यमाहारः तावतो गजान् ददौ। द्वादशसाहस्रमिति पाठान्तरे तु स्पष्टोऽर्थः। तुरङ्गमांश्च द्वादश नियुतानि ददौ ॥५०॥

**रथानामिति**। रौक्माणां स्वर्णालङ्कृतानां सूर्यस्येव वर्चो येषां तेषां रथानाम्। निष्कं पत (द)काख्यं भूषणं कण्ठे यासां तासां दासीनां सहस्रं ददौ। तत्र हेतुः दुहितृवत्सल इति ॥५१॥

**प्रतिगृह्येति**। तत्सर्वमुपायनं प्रतिगृह्य सात्त्वतर्षभो रामः सतेन स्नुषया च सहितः सुहृद्भिः कौरवैरभिनन्दितो ययौ ॥५२॥

**विज०** सांविग्नैर्भयसङ्घातैः वेपमानानां कम्पमानानां अङ्गोपाङ्गानाम् अयनैराश्रयैः ॥४९, ५०॥

रौक्माणि हेमचितान्याभरणानि एषां सन्तीति रौक्मिणस्तेषाम् ॥५१, ५२॥

**ततः प्रविष्टः स्वपुरं[1] हलायुधः समेत्य बन्धूननुरक्तचेतसः।**
**शशंस सर्वं यदुपुङ्गवानां मध्ये सभायां कुरुषु स्वचेष्टितम् ॥५३॥**

**अद्याऽपि वः पुरं ह्येतत्सूचयद्रामविक्रमम् ।**
**समुन्नतं दक्षिणतो गङ्गायां[2] ननु दृश्यते ॥ ५४॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥६८॥

1. K.M.Ma.T.W. °रीं° 2. B.G J. °यामनु°

**श्रीध० तत** इति। मध्ये सभायाम् सभामध्ये ॥ ५३, ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

**वीर० तत** इति। स्वपुरीं द्वारकाम् अनुरक्तं चेतो येषां तान् बन्धून् यदून् समेत्य यदुपुङ्गवानां मध्ये सभाया सभाया मध्ये यत् कुरुषु स्वचेष्टितं तत्सर्वं शशंस कथयामास ॥ ५३ ॥

यद्धलेन गङ्गायां पुरपातनं तदसम्भावितं मन्वानं राजानं प्रत्याह मुनिः- **अद्यापीति**। वो युष्माकं पुरं हास्तिनं रामपराक्रमं सूचयद्वर्तते। तत्र लिङ्गमाह समुन्नतमिति। गङ्गायां दक्षिणतः समुन्नतं सत् दृश्यते ननु ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघव विदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

**विज०** रामविक्रमो जलरेखावन्नश्वरो न, किन्तु सर्व चक्षुर्विषय इत्याह - अद्यापीति। रामविक्रमं सूचयत् गङ्गायां दक्षिणतः समुन्नतं दृश्यत इत्यन्वयः ॥ ५३, ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थरीत्या नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

# एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या सप्तसप्ततितमोऽध्यायः)

### श्रीकृष्णंप्रति नारदागमनम्

श्रीशुक उवाच

नरकं निहतं श्रुत्वा तथोद्वाहं च योषिताम् ।
कृष्णेनैकेन बह्वीनां तं[1] दिदृक्षुः स्म नारदः ॥१॥

चित्रं बतैतद्द्वेवेन वपुषा युगपत्पृथक् ।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत् ॥२॥

इत्युत्सुको द्वारवतीं देवर्षिर्द्रष्टुमागमत् ।
पुष्पितोपवनाराम द्विजालिकुलनादिताम् ॥३॥

उत्फुल्लेन्दीवराम्भोज कह्लारकुमुदोत्पलैः ।
छुरितेषु सरस्सूच्चैः कूजितां हंससारसैः ॥४॥

प्रासादलक्षैर्नवभिर्जुष्टां स्फाटिकराजतैः ।
महामरकतप्रख्यैः स्वर्णरत्नपरिच्छदैः ॥५॥

---

1. B.G.J.M.Ma तत्

### श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एकोनसप्ततितमे गार्हस्थ्यं प्रतिमन्दिरम्। कृष्णस्य नारदो दृष्ट्वा विस्मितोऽगात्ततः स्तुवन् ॥१॥

दिदृक्षामभिनयेनाह-**चित्रमिति**। द्व्यष्ट सहस्र[1] स्त्रीः उदावहत् परिणीतवान् ॥२॥

**इतीति**। तां द्वारवती मनुवर्णयति-पुष्पितेति सार्धत्रयेण। पुष्पितेषूपवनेषु आरामेषूद्यानेषु च द्विजानामलीनां च कुलानि तैर्नादिताम् ॥३॥

**उत्फुल्लेति**। छुरितेषु व्याप्तेषु ॥४॥

प्रासादेति। महामरकतैः प्रख्यायन्ते प्रकाशन्त इति तथा तैः। स्वर्णरत्नमयाः परिच्छदाः परिकरा येषु तैः ॥५॥

---

1. MI.V. साहस्रं

## श्रीवीरराघव विदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथैको भगवानष्टाधिक (शत) षोडश सहस्रपत्नीभिस्सह कथं रमत इति दिदृक्षयाऽऽगताय नारदाय प्रदर्शितं भगवतश्चेष्टित मनुवर्णयति **नरकमित्यादिना**। एकेन कृष्णेन सह कर्त्रा वा बह्वीनां योषितां विवाहं च श्रुत्वा नारदस्तं कृष्णं दिदृक्षुरासीदिति शेषः अत्र उद्वाहशब्देन तत्पूर्वक क्रीडा च विवक्षिता ॥१॥

दिदृक्षामेवाभिनयति - **चित्रमिति**। एतच्चित्रं बत अतिचित्रमित्यर्थः। किं तत् ? यदेकेन वपुषा विग्रहेण युगपदेव पृथग्गृहेषु बहुषु गृहेषु योषित्समान सङ्ख्याक गृहेष्वित्यर्थः द्व्यष्टसाहस्रं षोडश सहस्रसङ्ख्याकाः स्त्रियः स्त्रीः एक उपयेमे इत्येतत् ॥

**इतीति**। इत्थं द्रष्टुमुत्सुको देवर्षिनारदः द्वारकां ययौ। सार्धत्रयेण तामेव वर्णयति-पुष्पितेति। पुष्पितेषूपवनेष्वारामेषु उद्यानवनेषु च द्विजानां पक्षिणाम् अलीनां च कुलैर्नादिताम् ॥३॥

उत्फुल्लैरिन्दीवरादिभिः छुरितेषु व्याप्तेषु सरस्सु हंसैस्सारैश्च उच्चैर्नादिताम् ॥४॥

नवभिः प्रासादानां लक्षैर्जुष्टां युक्तामित्यर्थः। कथम्भूतैः ? स्फटिकमयैः रजतमयैश्च महामरकतस्येन्द्रनीलस्य स्वर्णश्रेष्ठस्य रत्नानां च तन्मयाः[1], परिच्छदाः उपकरणानि येषु तैः। महामरकत प्रख्यैः इति पाठे महामरकतैः प्रख्यान्ति प्रकाशन्ते इति तथा,तैः स्वर्णरत्नमयाः येषु तैः ॥५॥

---

1. K. Omits तन्मयाः

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

नरकं निहतं श्रुत्वा तथा एकेन कृष्णेन बह्वीनां योषितां च उद्वाहं श्रुत्वा नारदः तद्वृत्तिं दिदृक्षु रभूदित्यन्वयः ॥१॥

ततः किमिति तत्राह - **चित्रमिति**। एकः एकेन वपुषा पृथक् गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एकस्मिन्मुहूर्ते उदावहदिति यत्तदिदं विचित्रमाश्चर्यमिति च ॥२॥

सन्तोषादुत्सुको भूत्वा देवर्षिः कृष्णचेष्टितं द्रष्टुं द्वारवतीमागमदित्यन्वयः। कीदृशम्? द्वारवती नाम पुरं पुष्पिता उपवनारामा यस्मिंस्तत् द्विजानामलीनां पक्षिणां कुलेन नादितम्। ॥३॥

उत्फुल्लेन्दीवरादिभिः छुरितेषु मिश्रितेषु सरस्सु हंसादिभिरुच्चैः प्लुतस्वरेण कूजितं यद्वा सामान्यत उक्तं नारदागमनं विशिनष्टि - पुष्पितेत्यादिना। प्रथमतो द्विजादिनादितं पुष्पितोपवनारामं प्राप। पश्चादुत्फुल्लेन्दीवरादिभिः छुरितेषु सरस्सु हंसादिभिः उच्चैः कूजितं स्थलमाप ॥४॥

ततः पश्चात्स्फाटिकराजतैः स्फटिकादिनिर्मितैः नवभिः नूतनैः प्रासादलक्षणैः (क्षैः।) जुष्टं स्थलमाप। कीदृशैः? महामरकतप्रख्यैः इन्द्रनीलविहितमोपानैः स्वर्णरत्नानि सुवर्ण श्रेष्ठानि परिच्छदा येषां तानि यथा अत्युत्तम सुवर्णजल[1] विचित्रितानीत्यर्थः तः ॥५॥

---

1. B. स्थल

**विभक्तरथ्या पथचत्वरापणैः शालासभाभी रुचिरां सुरालयैः ।**
**संसिक्त मार्गाङ्गण वीथिदेहलीं पतत्पताकाध्वजवारिता तपाम् ॥६॥**

**तस्यामन्तः पुरं श्रीमदर्चितं सर्वधिष्ण्यपैः ।**
**हरेः स्वकौशलं यत्र त्वष्ट्रा कार्त्स्न्येन दर्शितम् ॥७॥**

**तत्र षोडशभिः सद्म सहस्रैः समलङ्कृतम् ।**
**विवेशैकतमं शौरेः पत्नीनां भवनं महत् ॥८॥**

**विष्टब्धं विद्रुमस्तम्भैर्वैदूर्य फलकोत्तमैः ।**
**इन्द्रनीलमयैः जालैः स्तम्भैर्मरकतोत्तमैः ॥९॥**

**वितानैर्निर्मितैस्त्वष्ट्रा मुक्तादामविलम्बिभिः ।**
**दान्तैरासनपर्यङ्कैर्मण्युत्तम परिष्कृतैः ॥१०॥**

---

1. M.Ma गेहिनीं ; T.W. गेहलीं 2- -2 B.G.J. कुड्यैर्जगत्या चाहतत्विषा ; M.Ma कुड्यै जालैर्मरकतोत्तमैः ;Ml.v. कुड्यै र्जगत्या चाहितत्विष

**श्रीध० विभक्तेति**। पतन्त्यः प्रचलन्त्यः पताका येषु तैर्ध्वजैर्वारित आतपो यस्यां ताम् ॥६॥

**तस्यामिति**। तस्यां द्वारकायाम्। सर्वैर्धिष्ण्यपैर्लोकपालैरर्चितम्। षोडशभिः सद्मसहस्रैः समलङ्कृतं हरेरन्तः पुरं विवेश। तत्र च तस्य शौरेः पत्नीनां भवनेष्वेकतमं विवेशेत्यन्वयः। यत्र च स्वकौशलं त्वष्ट्रा दर्शितमित्यन्तः पुरभवनयोर्विशेषणम् ॥७, ८॥

तदनुवर्णयति चतुर्भिः-**विष्टब्धमिति**। विद्रुमस्तम्भैर्विष्टब्धं विधृतम्। वैदूर्यमयानि फलकोत्तमानि स्तम्भाश्रयणानि छादनानि तैरिन्द्रनीलमयैः कुड्यादिभिश्चोपलक्षितम् जगत्या भूमिकया चेन्द्रनीलमणिमय्या। न[1-] हता[-1] त्विड् यस्यास्तया ॥९॥

**वितानैरिति**। मुक्तादाम्नां विलम्बा विविधानि लम्बनानि विद्यन्ते येषु तैः। मण्युत्तमैः परिष्कृतैर्भूषितैः ॥१०॥

---

1- -1 MI.V आहिता

**वीर० किञ्च विभक्तेति**। विभक्तैः रथ्या पथादिभिः शालादिस्सभाभि स्सुराणां देवता प्रतिमानाम् आलयैश्च रुचिरां शोभमानां रथ्यापथाः राजवीथयः संसिक्ताः मार्गादयो यस्यां तां पतन्तीभिः चलन्तीभिः पताकादिभिः ध्वजैश्य वारित आतपो यस्यां ताम् ॥६॥

**तस्यामिति**। तस्यां द्वारकायाम् अन्तःपुरं तत्रापि शौरेरेकतमं भवनं गृहं विवेशेति सम्बन्धः, अन्तःपुरं विशिनष्टि-श्रीमद्भोग्य भोगोपकरणादि समृद्धिमत् सर्वैः धिष्ण्यपैः लोकाधिपतिभिः अर्चितं बहुमतं, किं बहुना? यत्र यस्मिन्नन्तः पुरे हरेः हरये त्वष्ट्रा स्वकौशलं स्वशिल्पनैपुण्यं कार्त्स्न्येन प्रदर्शितम्, किञ्च षोडशभिः शौरेः पत्नीनां गृहसहस्रैस्समलङ्कृतम् ॥७, ८॥

पुरं भवनं चैव (वं?) विशिनष्टि-**विष्टब्धमिति** चतुर्भिः विद्रुमस्तम्भैः वैडूर्यमयानि फलकोत्तमानि स्तम्भाश्रयाणि च्छादनानि तैश्च विष्टब्धं प्रतिबद्धम् इन्द्रनीलमयैः जालैः गवाक्षैः मरकतमयैः उत्तमैश्च स्तम्भै विष्टब्धं त्वष्ट्रा विश्वकर्मणा निर्मितैः मुक्तादामानि विलम्बयन्तीति तथा तैः वितानैः उल्लोचैः दान्तैः निर्मलैः मणिश्रेष्ठालङ्कृतैश्च आसनैः पर्यङ्कैश्च उपलक्षितमिति शेषः। अलङ्कृतमित्युपरिष्टात्संबन्धो वा ॥९, १०॥

**विज० किञ्च विभक्तैः विभक्त रथ्यापथैः रथ मार्गैश्चत्वरैरापणैश्च शोभितां ततःपरं शालाभिः सभाभिरतिरुचिरां सुरालयैः देवगृहैश्च मनोरमां गोमयचन्दनोदकादिना संसिक्ता मार्गाश्च अङ्गणानि च वीथयश्च गृहपङ्क्ति पुरोमार्गाश्च संसिक्तमार्गाङ्गण वीथयः ताश्च गेहानि चास्याः सन्तीति संसिक्तमार्गाङ्गण वीथिगेहिनी तां, पतन्त्यः विवरणावरणे**

कुर्वन्त्यः पताका येषां ते पतत्पताकाः ते च ध्वजाः पतत्पताकाध्वजास्तैः वारितस्तम्भित आतपो यत्र सा तथा ताम्। एवं विधायां तस्यां कुशस्थल्यामन्तर्भागे हरेः पुरं सर्वसम्पदापूर्णं स्थानमस्तीति शेषः। सर्वधिष्ण्यपैः समस्तैः ब्रह्मादिभिरर्चितं धिष्ण्यं गृहं मध्यगृहपतिर्ब्रह्मा परितः पतय इन्द्रादयः यत्र पुरे त्वष्ट्रा विश्वकर्मणा ॥ ६, ७॥

ततः परितः कृष्णस्य पत्नीनां षोडशभिः सद्मसहस्रैः गृहसहस्रैः सन्दर्शनीयतया अलङ्कृतं भवनानामेकतमं भवनम् ॥८॥

कीदृशम् तद्गृहम्? अत्राह-विष्टब्धमिति। मूले अग्रे च फलकोत्तमानि येषां ते तथा तैः जालैः गवाक्षैः ॥९॥

मुक्तादामविलम्बिभिः अवलम्बमान मौक्तिकमालैः दान्तैः गजदन्तनिर्मितैः ॥१०॥

---

1- -1 B. M.Ma प्रकाशेषु स्वीकृतोऽयं पाठः अनन्वितः।

दासीभिर्निष्ककण्ठीभिः सुवासोभिरलङ्कृतम्।
पुम्भिः सकञ्चुकोष्णीष[1] सुवस्त्रमणिकुण्डलैः ॥११॥

रत्नप्रदीपनिकरद्युतिभिर्निरस्त ध्वान्तं विचित्रबलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग।
नृत्यन्ति यत्र विहितागुरु[2] धूपमक्षै र्निर्यान्तमीक्ष्य[3] घनबुद्ध्य उन्नदन्तः ॥१२॥

तस्मिन्समानगुणरूपवयस्सुवेष दासीसहस्रयुतयाऽनुसवं गृहिण्या।
विप्रो ददर्श चमरव्यजनेन रुक्म दण्डेन सात्वतपतिं परिवीजयन्त्या ॥१३॥

तं सन्निरीक्ष्य भगवान्सहसोत्थितः श्री पर्यङ्कतः सकलधर्म भृतां वरिष्ठः।
आनम्य[4] पादयुगलं[5] शिरसा किरीट जुष्टेन साञ्जलिरवीविशदासने स्वे ॥१४॥

तस्यावनिज्य चरणौ तदपः स्वमूर्ध्नाऽबिभ्रज्जगद्गुरुतरोऽपि सतां पतिर्हि।
ब्रह्मण्यदेव इतियद्गुणनाम युक्तं तस्यैव यच्चरण शौचमशेष तीर्थम् ॥१५॥

---

1. T.W. °षैः 2. K.T.W. °गा° 3. M.Ma °त° 4. MI.V. °गम्य 5. MI. T.V.W. °गले

श्रीध० रत्नेति। ईक्ष्यसमीक्ष्य। घनो मेघोऽयमिति बुद्धिर्येषां ते ॥११, १२

**तस्मिन्निति**। अनुसवं सर्वकालम्। आत्मना समानानि गुणरूपवयांसि सुवेषोऽलङ्काराश्च यस्य तेन दासीसहस्रेण युतया गृहिण्या सह ॥ १३ ॥

**तमिति**। श्रियो रुक्मिण्याः पर्यङ्कतः। अवीविशदुपवेशयामास ॥ १४ ॥

**तस्येति**। अबिभ्रत् दधारेत्यर्थः। बिभ्रदिति शत्रन्तं वा। तदा संपूज्याभिभाष्य च प्राहेत्युत्तरेणान्वयः। कथम्भूतः? यस्य चरणशौचं गङ्गा अशेषतीर्थं सः। अत एव जगद्गुरुतरोऽपि सतां धर्मभृतां पतित्वादेवमकरोदित्यर्थः। सतां पतित्वे हेतुः - ब्रह्मण्यदेव इति यद्गुणकृतं नाम तस्यैव, यतो युक्तं समञ्जसमतस्तद्धर्मप्रवर्तना यैव माचरणमित्यर्थः ॥१५॥

**वीर०** शोभनानि वासांसि याभिः ताभिर्दासीभिः शोभनानि कञ्चुकादीनि येषां तैः पुम्भिश्चालङ्कृतम् ॥११॥

रत्नप्रदीपानां ये निकरास्समूहाः तेषां द्युतिभिः निरस्तं तमो यस्मिन् तत्। किञ्च यत्रान्तःपुरे भवने च वलभीषु **स्तम्भाग्र** प्रसारित वक्रदारुविशेषेषु शिखण्डिनो मयूराः गवाक्षमार्गैः निर्यान्तं विहितं[1] कृतम् अगरुधूपं वीक्ष्य घनो नीलाम्बुदोऽयमिति बुद्धिर्येषां तथाभूताः अतएव उन्नदन्तः उच्चैर्नदन्तः नृत्यन्ति, तथाभूतं च ॥ १२ ॥

**तस्मिन्निति**। तस्मिन्नेव भवने गृहिण्या भार्यया रुक्मिण्येति भावः। समं सहितमित्यर्थः। सात्वत पतिं श्रीकृष्णं विप्रो नारदो ददर्श। कथम्भूतया? अनुसवं सर्वकालम् आत्मना समानानि गुणरूपवयांसि सुवेषः अलङ्कारश्च यस्य तेन दासीनां सहस्रेण युतया रुक्मिण्या रुक्ममयो दण्डो यस्य तेन चामरव्यजनेन वीजयन्त्या च ॥ १३ ॥

**तमिति**। तं दृष्टवन्तं नारदं सम्यक् निरीक्ष्य भगवान् श्रियः रुक्मिण्याः पर्यङ्का दाशूत्थितः, तदिष्टदैवतभूतः किमित्युत्थित इत्यतो विशिनष्टि सकलधर्मभृतां वरिष्ठः धर्मात्मभिः महत्त्वेवं वर्तितव्यमिति प्रदर्शनार्थमिति भावः। अत एव किरीटालङ्कृतेन शिरसा तस्य पादयुगलं प्रणम्य अञ्जलिना सहितः स्वकीये आसने अवीविशदुपवेशयामास इत्यर्थः ॥ १४ ॥

**तस्येति**। स भगवान् जगतां साधुजनानां गुरुतरोऽपि परमगुरुरपि हि यतस्सतां पतिरपि तस्य नारदस्य चरणाववनिज्य प्रक्षाल्य तदपः अवनेजनजलानि मूर्ध्नि बिभ्रत् बिभ्राणः आसेति शेषः। दधारेत्यर्थः अबिभ्रदिति वाच्छेदः। अबिभ्रत् अबिभ्रत् दधारेत्यर्थ। युक्तं चैतदित्याह - ब्रह्मण्येति। ब्रह्मणि ब्राह्मणकुले साधवो ब्रह्मण्याः तेषां देव इति यद्गुणनाम अन्वर्थं नाम तस्यैव यतो भगवत एवासाधारणमित्यर्थः। अतः युक्तं ब्रह्मण्यदेवत्वाद्विप्राङ्घ्रिजलधारणमित्येतदुचितमेवेत्यर्थः। अन्यथा तु न घटत इत्यभिप्रयन्विशिनष्टि - यच्चरणशौचं यस्य भगवतः चरणसम्बन्धाच्छौचं पवित्रता यस्य तथाभूतम्। अशेषं गङ्गादितीर्थम्, तस्यैवं विधस्योक्तादेव हेतोस्तदुचितमित्यर्थः ॥ १५ ॥

---

1. B.T.w. Omit विहितं

**विज०** अक्षैर्गवाक्षैः निर्यातं निर्गतं विहितागुरुचूर्णं धूपं दृष्ट्वा शिखण्डिनो मयूराः ॥ ११, १२ ॥

चामरव्यजनेन चामराख्यव्यजनेन तस्मिन्भवने आविवेश उपविष्टः ॥ १३, १४ ॥

भो परीक्षित्! नैतच्चित्रमित्याह - ब्रह्मण्यदेव इतीति। यस्य चरणशौचजलमशेषांस्तीर्थयति शुद्धान्करोतीति अशेषतीर्थम्। यद्वाऽशेषाणि तीर्थानि यस्मिंस्तत् तस्य हरेः ब्रह्मण्यदेव इति यत्तद्गुणनाम तस्यैव युक्तमित्यवधारयेत्यर्थः ॥ १५ ॥

**संपूज्य देवऋषिवर्यमृषिः पुराणो नारायणो नरसखो विधिनोदितेन ।**
**वाण्याभिभाष्य मितयाऽमृत जुषृया[1] तं प्राह प्रभो भगवते करवाम किं[2] ते ॥ १६ ॥**

नारद उवाच

**नैवाद्भुतं त्वयि विभोऽखिललोकनाथे मैत्रीं[3] जनेषु[4-] दधतश्च दमं[-4] खलानाम्**
**निश्श्रेयसाय[5-] जगतां[-5] स्थितिरक्षणाभ्यां स्वैरावतार उरुगाय विदाम सुष्ठु ॥ १७ ॥**

**दृष्टं तवाङ्घ्रियुगलं जननापवर्गं ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिन्त्यमगाध बोध[6]म् ।**
**संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं ध्यायंश्चराम्यनुगृहाण यथा स्मृतिः स्यात् ॥ १८ ॥**

**ततोऽन्यदाविशद्गेहं कृष्णपत्न्याः स नारदः ।**
**योगेश्वरेश्वरस्याङ्ग योगमायाविवित्सया ॥ १९ ॥**

**दीव्यन्त मक्षैस्[7]तत्रापि प्रियया चोध्दवेन च ।**
**पूजितः परया भक्त्या प्रत्युत्थानासनादिभिः ॥ २० ॥**

---

1. B.G.J. मिष्टया ; M. Ma कल्पया 2. B.G.J. हे किम्। 3. B.G.J. K.MI. T.V.W. मैत्री 4- -4 B.G.J.K.MI.T.V.W. सकलेषु दमः 5- -5 B.G.J. °य हि जगत्स्थि° ;K. MI. T.V.W. °य जगतः स्थि° 6. B.G.J. M. Ma. MI.V. °धैः 7. M.Ma मक्षभिः

**श्रीध० सम्पूज्येति**। अभिभाष्य दिष्ट्यात्र त्वदागमनमित्यादि प्रियमुक्त्वा ॥१६॥

भगवता स्वस्यार्हणमनर्हं मन्यमानस्तत्सम्भावयन्नाह - **नैवेति**। सर्वमित्रत्वादेवमर्हणं न तु मम गौरवात्। तर्हि कथं कंसादिष्वमैत्री तत्राह - खलानां दमश्च नैवाद्भुतमिति। कुतः? जगतः स्थितिर्धारणं रक्षणं पालनं ताभ्यां सह

तस्य निश्श्रेयसाय तवायं स्वेच्छावतार इति वयं सुष्ठु सम्यक् विदाम विद्मः। अतः खलदमः साधु सम्माननं च युक्तमिति भावः ॥ १७ ॥

यदुक्तं प्रभो किं करवामेति तत्राह - **दृष्टमिति**। भक्तजनताया अपवर्गरूपम्। किञ्च अतिदुर्लभतया ब्रह्मादिभिर्योगीश्वरैरपि हृदि विचिन्त्यम्। किञ्च संसारकूपे पतितानामुत्तरणायावलम्बमाश्रयम्। एवम्भूतं तवाङ्घ्रियुगलं मया दृष्टम् अतः कृतकृत्योऽस्मि तथापि [1-]त्वत्स्मृतिर्[-1]यथा स्यात् तथा अनुगृहाण। ततः तद्ध्यायन्नेव नित्यं चरामीति ॥१८, १९॥

**दीव्यन्तमिति**। अक्षैर्दीव्यन्तमित्यादौ ददर्शेति ज्ञातव्यम् ॥ २० ॥

---

1- -1 Ml. V. तस्यस्मृति

**वीर० संपूज्येति**। नरस्य सखा नारायणः पुराण ऋषिरपि उक्तादेव हेतोः देवऋषिवर्यं नारदं शास्त्रोक्तेन विधिना संपूज्य अमृतेन जुष्टया अमृतवर्षिण्येत्यर्थः। मितया च [1-]अल्पाक्षरया[-1] वाण्या अभिभाष्य सम्बोध्य प्राह, उक्तिमेवाह-प्रभो ! भगवते ! करवाम किं ते, हे प्रभो भगवते तुभ्यं किङ्करवाम किङ्करा वयमित्यर्थः। किमिष्टं करवामेति वा, किं यत्किञ्चिदिष्टमस्ति तत्करवामेति वा ॥ १६ ॥

इत्थमुक्तः प्राह नारदः - **नैवेति** द्वाभ्याम्। तावदात्मार्हणमनर्हणं मन्यमानस्तत्सम्भावयन्नाह - नैवेति। सर्वेषु जनेषु विषयभूतेषु मैत्रीत्येतल्लोकनाथे त्वयि नैव चित्रं सर्वं मित्रत्वादेवमर्हणं न तु गौरवादिति भावः कथं तर्हि कंसादिष्वमैत्री तत्राह-दम इत्यादि। खलानां दमश्च नेवाद्भुतमिति भावः। कुतः? हि यस्मात् उरुगाय जगतः स्थितिः धारणं रक्षणं पालनं ताभ्याम्, चतुर्थ्यन्तमिदम्। निश्श्रेयसाय मोक्षप्रदानाय च ताभ्यां सह मोक्षप्रदानायेति वा। स्वैरावतारः स्वेच्छावतारः इति वयं सुष्ठु सम्यक् विद्मः, अतः खलदमः साधुसम्माननं च युक्तमिति भावः ॥ १७ ॥

यदुक्तं प्रभो भगवते करवाम किं ते इति, तत्राऽऽह[2] - **दृष्टमिति**। तावत्तवाङ्घ्रि युगलं दृष्टं मयेति शेषः। कथम्भूतम्? जनतायाः प्रपन्नजनसमूहस्य अपवर्गम् अपवर्गसाधनं फलभूतं वा किञ्चातिदुर्लभतया ब्रह्मादिभिर्योगीश्वरैरपि हृदि विचिन्त्यम् अगाधः बोधो विज्ञानं यस्मात्तथाभूतं संसारकूपे पतितानाम् उत्तरणाय अवलम्बमाश्रयम्, एवम्भूतं दृष्टा कृतार्थोऽस्मीति भावः। अतस्तदेव ध्यायन् चरामि। किन्तु तद्विषया स्मृतिर्यथास्यात्, तथा अनुगृहाण ॥ १८ ॥

**तत इति**। सः नारदः अन्यत् कृष्णपत्न्याः गृहमविशत्, किं कर्तुमिच्छया? अङ्ग! हे राजन्! योगीश्वरेश्वरस्य भगवतो योगमायामाश्चर्यशक्तिं वेतुमिच्छया ॥ १९ ॥

**दीव्यन्तमिति**। तत्रापि गृहे प्रिययोध्द्वेन च सह अक्षैः देवनाक्षैः दीव्यन्तं क्रीडन्तं ददर्शेति शेषः। असौ नारदः प्रत्युत्थानादिभिरुत्कृष्टया भक्त्या तत्पूर्वकं पूजितः ॥ २० ॥

---

1- -1 K.T.W. Omit 2. B. स्वमनीषितं तत् प्रार्थयते

**विज०** शास्त्रोदितेन विधिना संपूज्य ॥ १६ ॥

तत्र नारदः प्रतिवक्ति - **नेति**। त्वयि अद्भुतं नैव मानादिदानमिति शेषः। स्वैरावतारः स्वेच्छावतार इति सुष्ठु विदाम ॥ १७ ॥

अद्य दृष्टं तवाङ्घ्रियुगलं ध्यायंश्चरामि। यथा स्मृतिः स्यात् तथाऽनुगृहाण ॥ १८, १९ ॥

अक्षभिः अक्षैः दीव्यन्तं देवनक्रियां कुर्वन्तम् ॥ २० ॥

**पृष्टश्चाविदुषेवासौ कदाऽऽयातो भवानिति ।**
**क्रियते किं नु पूर्णानामपूर्णैरस्मदादिभिः ॥ २१ ॥**

**अथापि ब्रूहि नो ब्रह्मञ्जन्मैतच्छोभनं कुरु ।**
**स तु विस्मित उत्थाय तूष्णीमन्यदगाद्गृहम् ॥ २२ ॥**

**तत्राप्याचष्ट गोविन्दं लालयन्तं शिशून् सुतान् ।**
**ततोऽन्यस्मिन्गृहेऽपश्यन्मज्जनाय कृतोद्यमम् ॥ २३ ॥**

**जुह्वन्तं च वितानाग्नीन्यजन्तं पञ्चभिर्मुखैः ॥**
**भोजयन्तं द्विजान्क्वापि भुञ्जानमवशेषितम् ॥ २४ ॥**

**क्वापि सन्ध्यामुपासीनं जपन्तं ब्रह्म वाग्यतम् ।**
**एकत्र चासि चर्मभ्यां चरन्तमसिवर्त्मसु[1] ॥ २५ ॥**

**अश्वैर्गजैरथैः क्वापि विचरन्तं गदाग्रजम् ।**
**क्वचिच्छयानं पर्यङ्के स्तूयमानं च वन्दिभिः ॥ २६ ॥**

**मन्त्रयन्त्रं च कस्मिंश्चिन्मन्त्रिभिश्चोध्दवादिभिः ।**
**जलक्रीडारतं क्वापि वारमुख्याऽबलावृतम् ॥ २७ ॥**

**कुत्रचिद्द्विजमुख्येभ्यो ददतं गाः स्वलङ्कृताः ।**
**इतिहास पुराणानि शृण्वन्तं मङ्गलानि च ॥२८॥**

**हसन्तं हास्यकथया कदाचित्प्रियया गृहे ।**
**क्वापि धर्मं सेवमानमर्थकामौ च कुत्रचित् ॥२९॥**

**ध्यायन्तमेक मात्मानं[2] पुरुषं प्रकृतेः परम् ।**
**शुश्रूषन्तं गुरून्क्वापि कामैर्भोगैः सपर्यया ॥३०॥**

---

1. M. Ma. °न्तं शिष्यवर्त्मसु 2. B.G.J. °मासीनं

**श्रीध० जुह्वन्तमिति**। वितानाग्नीन् आहवनीयादीनग्नीन् पञ्चभिर्मखैः महायज्ञैः यजन्तम् ॥२१-३०॥

**वीर०** अविदुषा अजानतेव भगवता पृष्टश्च, प्रश्नमेवाह-**कदेत्यादिना** कुर्वित्यन्तेन। इति शब्दः कुर्वित्यनन्तरं योज्यः, इति पृष्टश्चेत्यन्वयः। आयात इति च्छेदः। अपूर्णैः आगन्तुक पूर्तिरहितैः स्वत एव परिपूर्णैः अवाप्तसमस्तकामैरिति यावत्, तैरप्यस्मदादिभिः पूर्णानां युष्माकं किंक्रियते, निरपेक्षत्वात्किमपि न क्रियत एवेति भावः ॥२१॥

यद्यप्येवमथापि हे ब्रह्मन् ! ब्रूहि ममैतज्जन्म शोभनं कुरु, सफलं कुर्वित्यर्थः। भागवतकैङ्कर्यमकुर्वतः शरीरमशुभमिति भावः। सत्विति - सतु नारदो विस्मितः तष्णीमुत्थायान्यदपि गृहमाजगाम ॥२२॥

तत्रापि गृहे गोविन्दं आचष्ट ददर्श, कथम्भूतम्? लालयन्तम् उपच्छन्दयन्तम्, तत इति - मज्जनाय स्नानाय कृतः उद्यमो यत्नो येन तथाभूतम् ॥२३॥

जुह्वन्तमित्यादि द्वितीयान्तानां कृचिदित्यादिः, ददर्शेत्यन्तः, वितानाग्नीन् यज्ञियान् आहवनीयाद्यग्नीन् पञ्चभिर्मखैः महायज्ञैः, अवशेषितं परिवेषणावशेषितम् ॥२४॥

क्वचिद्ब्रह्म स्वात्मानं जपन्तम् अवलोकयन्तमित्यर्थः। ब्रह्म प्रणवं वा, यद्वा ब्रह्म वेदं जपन्तं वेदमेव जपेन्नित्यम् इति शास्त्रात्, क्वचित् वाग्यतं मौनीभूतम्, एकस्मिन् क्वचित् असिचर्मभ्यां खड्गखेटाभ्यां सह असिवर्त्मसु खड्गभ्रामणगतिषु चरन्तं गदाग्रजं कृष्णं क्वचिच्छयानमिति, वन्दिभिः स्तुतिपाठकैः स्तूयमानं च ॥२५, २६॥

क्वचिदुद्धवादिभिः मन्त्रयन्त्रं वारमुख्याभिर्गणिका श्रेष्ठाभिरबलाभिः स्त्रीभिः, परिवृतम् ॥२७॥

सुष्ठ्वलङ्कृताः गाः धेनूः ददतं प्रयच्छन्तं मङ्गलानि मङ्गलस्तुतीश्च शृण्वन्तम् ॥२८॥

कदाचित्क्वचिद्गृहे प्रियया सह हास्यकथया हसन्तम् ॥२९॥

प्रकृतेः "भूमिरापोनलो वायुः" (भ.गी. 7-4) इत्यादि श्लोकद्वयोक्तप्रकृतिद्वयात् परं विलक्षणं परमपुरुषभूतं स्वात्मानं ध्यायन्तं अनुभवन्तं सपर्यया पूजया च गुरून् शुश्रूषन्तं परिचरन्तम् ॥३०॥

---

1- -1 K.T.W. Omit

**विज०** अविदुषेव पूर्वं गृहे नारदागमनमजानतेव हरिणा भवान् कदाऽऽयात इत्यसौ नारदः पृष्टः ॥२१-२३

क्वापि गृहे ब्राह्मणदत्तावशेषितमन्नम् ॥२४॥

असिचर्मभ्यां शिष्यवर्त्मसु चरन्तं शिष्यान् शिक्षयन्तम् ॥२५, २६॥

वारमुख्याभिरबलभिरावृतं वेष्टितम् ॥२७॥

ददतमिति पाठः। ददन्तामिति पाठे दद दान इत्यस्य धातोः शत्रादेशः ॥२८-३०॥

**कुर्वन्तं विग्रहं कैश्चित्सन्धिं चान्यत्र केशवम् ।**
**कुत्रापि सह रामेण चिन्तयन्तं सतां शिवम् ॥३१॥**

**पुत्राणां दुहितॄणां च काले विध्युपयापनम्[1] ।**
**दारैर्वीरैस्तत्सदृशैः कल्पयन्तं विभूतिभिः ॥३२॥**

**प्रस्थापनोपानयनैरपत्यानां महोत्सवान् ।**
**वीक्ष्य योगेश्वरेशस्य येषां लोका विसिस्मिरे ॥३३॥**

**यजन्तं सकलान्देवान्क्वचिच्छ्रतुभिरूर्जितैः[2] ।**
**पूर्तयन्तं क्वचिद्धर्मं कूपारामालयादिभिः[3] ॥३४॥**

**चरन्तं मृगयां क्वापि हयमारुह्य सैन्धवम् ।**
**घ्नन्तं तीर्थे पशून्मेध्यान्परीतं यदुपुङ्गवैः[4] ॥३५॥**

---

. M. Ma. °नायनम् 2. B.G.J. °क्वापि क° 3. B.G.J. °मठा° 4. B.G.J. Ml. V. ततः

**श्रीध० पुत्राणामिति**। काले तत्तत्समये विधिना उपयापनं प्रापणं विवाहमित्यर्थः। कल्पयन्तं घटयन्तम्। विभूतिभिः विभवैः ॥ ३१, ३२ ॥

**प्रस्थापनेति**। प्रस्थापनं दुहितृ जामात्रादीनां स्वगृहात्तद्गृहं प्रति नयनम्। उपानयनं तत्तद्गृहात्पुनरानयनम्। तैर्महोत्सावान्कल्पयन्तम्। योगेश्वरेशस्य तेषामपत्यानां महोत्सवान्वीक्ष्य लोकाः सर्वे विसिस्मिरे विस्मयं चक्रुः। तथाभूतान् कल्पयन्तम् ॥ ३३-३५ ॥

**वीर०** कैश्चिद्विग्रहं विरोधं कुर्वन्तम् अन्यत्र गृहे सन्धिं कुर्वन्तं केशवं सतां साधूनां शिवं योगक्षेमं चिन्तयन्तम् ॥ ३१ ॥

**पुत्राणामिति**। काले तत्तत्समये पुत्राणां तत्सदृशैर्दारैः दुहितृणां तु तत्सदृशैर्वरैश्च विधिना शास्त्रोक्तेन उपयापनं प्रापणं विवाहमित्यर्थः। तद्विभवैः कल्पयन्तं घटयन्तम् ॥ ३२ ॥

**प्रस्थापनेति**। प्रस्थापनं दुहितृस्नुषाजामात्रादीनां स्वगृहात्तद्गृहं प्रति नयनं तद्गृहात् पुनरानयन मुपानयनं तैः अपत्यानां पुत्राणां दुहितृणां च महोत्सवान् कल्पयन्तम्, तान्विशिनष्टि - योगेश्वरेशस्य भगवतः येषाम् अपत्यादीनां महोत्सवान् वीक्ष्य लोकास्सर्वे विसिस्मिरे विस्मयं चक्रुः। तथाभूतान् उत्सवादीन् कल्पयन्तमिति सम्बन्धः ॥ ३३ ॥

स्वकलान् स्वांशभूतान् देवान् इन्द्रादीन् ऊर्जितैः बहुदक्षिणैः क्रतुभिः यजन्तं कूपादिनिर्माणैः धर्मं पूर्तयन्तं पूर्तं स्मार्तं धर्मं कुर्वन्तमित्यर्थः। पूर्त शब्दात् 'तत्करोति' इति णिजन्तात् छता "सविशेषणानां वृत्तिर्न" इत्यादि निषेधस्य विशेष्यविषयत्वादत्र पूर्तस्य धर्मं प्रति विशेषणत्वात् सापेक्षस्यापि नामधातुवृत्तिरवगन्तव्या ॥ ३४ ॥

सैन्धवं सिन्धुदेशोद्भवं हयमश्वमारुह्य मृगयां चरन्नं मेध्यान् यागार्हान् पशून् विशसन्तं क्वचित् यदुश्रेष्ठैः परिवृतम् ॥ ३५ ॥

**विज०** काले प्राप्ते विध्युक्त प्रकारेण उपानयनं उपनयनं स्वगृहं प्रत्यानयनं ब्राह्मणी का(क)रणं कल्पयन्तं पुत्राणां दारैः सह दुहितृणां वरैस्सह योगं कल्पयन्तम् ॥ ३१, ३२ ॥

प्रस्थापनं परगृहं प्रति दुहितृ प्रेषणम् उपनयनं स्वगृहं प्रत्यानयनं येषामिति षष्ठी द्वितीयार्थे। लोकाः यानिकर्माणि वीक्ष्य विसिस्मिरे तानि कुर्वन्तं कर्मणामाचरणं वीक्ष्येति वा ॥ ३३ ॥

कूपादिभिः पूर्तयन्तं पूर्ताख्यधर्ममाचरन्तम् ॥ ३४ ॥

**सैन्धवं सिन्धु** देशभवं, तीर्थे शास्त्रे विहितान्पात्रे प्राप्ते वा यजे वा ॥ ३५ ॥

अव्यक्तलिङ्गं[1-] प्रकृतिष्वन्तःपुर[-1] चरादिषु[2] ।
क्वचिच्चरन्तं योगेशं[3] तत्प्रभाव बुभुत्सया ॥३६॥

अथोवाच हृषीकेशं नारदः प्रहसन्निव ।
योगमायोदयं[4] वीक्ष्य मानुषीमीयुषो रतिम्[5] ॥३७॥

नारद[6-] उवाच[-6]

विदाम योगमायां[7] ते दुर्दर्शामपि योगिनाम्[8] ।
योगेश्वरात्मन्निर्भातां[9] भवत्पादनिषेवया ॥३८॥

अनुजानीहि मां देव लोकांस्ते यशसाऽऽप्लुतान् ।
पर्यटामि तवोद्गायँ[10] ल्लीलां भुवनपावनी ॥३९॥

श्रीभग ॥नुवाच

ब्रह्मन्धर्मस्य वक्ताहं कर्ता[11] तदनुमोदिता[12] ।
तच्छिक्षयँल्लोक[13-] मिममास्थितः[-13] पुत्र । मा खिदः ॥४०॥

---

1- -1 M. Ma. लिङ्गप्रकृतिमन्तः 2. B.G.J. गृहा° 3. MI. V. देहेषु 4. M. Ma °या बलं 5. B.G.J.K.MI. T.V.W. गतिम् 6- -6 B.G.J.MI.V. Omit 7. B.G.J. °यास्ते 8. B.G.J. मायि° 9. B.G.J. °ताः 10. B.G.J.K.M.Ma नीम् 11. M.Ma °म° 12. M.Ma तः 13- -13 M.Ma शिक्षयैस्तं लोक

श्रीध० अव्यक्तलिङ्गमिति । अव्यक्तलिङ्गं वेषान्तरेण च्छन्नम् ॥३६, ३७॥

विदाम इति । हे योगेश्वर! आत्मन् आत्मनि मम मनसि तव स्वरूपे या निर्भाताः प्रतीतास्तव योगमायाः केवलं विदाम विद्मः न तु त्वत्पारमार्थ्यमिति भावः ॥३८॥

त्वन्मानुष्यनाट्येन मुह्यामि अतो मां प्रस्थापयेत्याह - अनुजानीहीति ॥३९॥

ब्रह्मन्निति । तत्तस्माल्लोकं शिक्षयन् इमं धर्म मास्थितो न तु तत्त्वतः । हे पुत्र । मा खिदः मोहं मा प्राप्नुहीति ॥४०॥

**वीर०** प्रकृतिषु अमात्यादिषु अन्तःपुर चरादिषु तत्तदभिप्रायं बोद्धुमिच्छया अव्यक्तं वेषान्तरेण च्छन्नं लिङ्ग स्वासाधारण चिह्नं यस्य तं चरन्तं ददर्श ॥ ३६ ॥

**अथेति**। मानुषीं गतिं चेष्टां तनुं वा ईयुषः प्राप्तवतः परिगृहीतवत इति यावत्, तस्य भगवतः योगमायोदयम् आश्चर्यशक्तिवैभवमवलोक्य प्रहसन्निव प्राह, अचिन्त्यविविध विचित्रशक्तावस्मिन् नैतच्चित्रमितीवशब्दाभिप्रायः ॥ ३७ ॥

उक्तिमेवाह - **विदाम** इति द्वाभ्याम् । हे योगेश्वर! योगिनां दुर्दर्शामपि ते तव योगमायाम् आश्चर्यशक्तिं भवत्पादनिषेवाप्रभावेन आत्मन् आत्मनि मनसि निर्भातां नितरां भातां विदामः जानीमः ॥ ३८ ॥

किन्तु हे देव ! मामनुजानीहि आज्ञापय, तव यशसा व्याप्तान् लोकान् भुवनपावनीं तव लीलामुद्गायन् परितश्चरामि ॥ ३९ ॥

इत्थमुक्तः प्राह भगवान् - **ब्रह्मन्निति**। हे ब्रह्मन्! वक्ता उपदेष्टा तद्धर्मोपदेश तदनुष्ठान तदनुमोदनादिकं शिक्षयन् शिक्षयितुं जनान् प्रतीति शेषः। इमं लोकं मनुष्य देहमास्थितः परिगृहीतवानस्मि। प्राकृतचेष्टामनुवर्ते इति भावः। अतो हे पुत्र ! माखिदः स्वयमीश्वरोप्यधुनाप्राकृतो बभूवेत्येवं विधं मोहं न प्राप्नुहीत्यर्थः ॥ ४० ॥

**विज०** अव्यक्त लिङ्गप्रकृतिम् अस्पष्टलक्षण स्वभावं, तेषां तेषां भावानां पदार्थानां बुभुत्सया स्वभाव जिज्ञासया ॥ ३६ ॥

मानुषीं रतिं मनुष्यक्रीडाम् ॥ ३७ ॥

आत्मनि हृदये निर्भातस्य प्रकाशितस्य भवतः पादयोर्निषेवया ॥ ३८ ॥

आप्लुतानिति पाठे यशसा तीर्थेन स्नातानीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

लोकानुकारि चरितदर्शनेन नारदस्य अन्यथाज्ञानं निवारयन्निति तत्त्वमुपदिशति - ब्रह्मन्निति। इमं लोकमास्थितः अस्मिन्लोके स्थितः तं धर्मकर्तारम् अनुमोदकः अनुज्ञाता ॥ ४० ॥

**श्रीशुक उवाच**

**इत्याचरन्तं सद्धर्मानादिष्टा गृहमेधिनाम् ।**
**तमेव सर्वदेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह ! ॥ ४१ ॥**

**कृष्णस्यानन्तवीर्यस्य योगमायामहोदयम् ।**
**मुहुर्दृष्ट्वा मुनिरभूद्विस्मितो जातकौतुकः ॥ ४२ ॥**

इत्यर्थकामधर्मेषु कृष्णेनावहितात्मना ।
सम्यक् सभाजितः प्रीतस्तमेवानुस्मरन्ययौ ॥ ४३ ॥

एवं मनुष्यपदवी मनुवर्तमानो नारायणोऽखिलभवाय गृहीतशक्तिः ।
रेमेऽङ्ग षोडश सहस्र वराङ्गनानां सव्रीडसौहृदनिरीक्षण हासजुष्टः ॥ ४४ ॥

यानीह विश्वविलयोद्भव वृत्तिहेतुः कर्माण्यनन्य विषयाणि हरिश्चकार ।
यस्तानि गायति शृणोत्यनुमोदते वा भक्तिर्भवेद्भगवति ह्यपवर्गमार्गे ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

---

1--1 B.G.J. °न्यायनान्गृह ; T.W. °न्यादिष्टान्गृह ; M.Ma °न्यक्समृष्टान्गृह 2. B.G.J. M.Ma °गे° 3. B.G.J.K.M.Ma ऋषिः 4. B.G.J. K.MI. T.V.W. °न श्रद्धि° 5. M. Ma °च 6. B.G.J.K.M.Ma.T.W. यस्त्वङ्ग

**श्रीध० इतीति** । इत्येवमनुगृहीतः तमेकमेव सन्तं ददर्शेति ॥ ४१ ॥

**कृष्णस्येति** । मुहुर्मुहुर्दृष्ट्वा जातकौतुको मुनिर्विस्मितोऽभूदिति ॥ ४२ ॥

**इतीति** । श्रद्धितः श्रद्धया युक्त आत्मा यस्य तेन ॥ ४३ ॥

नारददृष्टां श्रीकृष्णलीलां निगमयति **एवमिति** । अखिलस्य भवाय उद्भवाय गृहीताः शक्तयो नानामूर्तयो येन सः । सव्रीडं च तत्सौहृदं च तेन निरीक्षणं हासश्च ताभ्यां जुष्टः ॥ ४४ ॥

**यानीति** । अनन्यविषयान्यसाधारणानि । अपवर्गमार्गे मोक्षप्रदे ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

**वीर०** कदाचित् मोहसम्भावनामपि निवर्तयितुं भगवता प्रदर्शितं सार्वज्ञ्यं ददर्श, विस्मितश्च बभूव मुनिरित्याह - **इतीति** द्वाभ्याम्। गृहमेधिनामादिष्टान् विहितान् धर्मानेवमाचरन्तं तदैव पुनस्सर्वदेहेषु एकरूपेण आत्मतया सन्तं वर्तमानं ददर्श ॥ ४१ ॥

**कृष्णस्येति**। अनन्तवीर्यस्य अपरिच्छिन्न कल्याणगुणस्य कृष्णस्याश्चर्यशक्तेर्माहात्म्यं वैभवम् उत्सुकस्सन् मुहुर्मुहुः दृष्ट्वा ऋषिर्नारदो विस्मितो बभूव ॥ ४२ ॥

**इतीति**। अर्थादिषु श्रद्धितः लोकशिक्षार्थं सञ्जात श्रद्धः आत्मा मनो यस्य तेन कृष्णेन सभाजितो बहुमतः प्रीतश्च तं कृष्णमेवानुस्मरन् ययौ ॥ ४३ ॥

नारदाय दर्शितं योगमायोदयं निगमयति **एवमिति**। स्वयं नारायणस्सन् अखिलानां भवायाभ्युदयाय गृहीता उपात्ता शक्तिः दिव्यतनुः येन सः मनुष्यचेष्टामनु वर्तमानः अङ्ग ! हे राजन्! सव्रीडं च तत्सौहृदं च तेन निरीक्षणं हासश्च ताभ्यां जुष्टः ॥ ४४ ॥

उक्तविध भगवच्चेष्टित गानादिफलमाह - **यानीति**। विश्वस्य विलयः प्रलयः उद्भवः उत्पत्तिः वृत्तिः स्थितिः आसां हेतुः हरिः यानि ईदृशेष्ववतारेषु इह लोके वा अनन्यसाधारणानि कर्माणि चकार, तानि अङ्ग हे राजन् ! यः पुमान् गायति, तस्यापवर्गमार्गे मोक्षप्रापके, 'अमृतस्यैष सेतुः' (मुण्ड उ.2-2-5) इति श्रुतेर्मार्गशब्दः प्रापकपरः, भगवति भक्तिर्भवेत् ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

**विज०** उपसंहरति **इतीति**। इतिशब्द आदिवचनः ॥ ४१, ४२ ॥

इत्यर्थधर्मकामेषु अवहितात्मना कृष्णेन ॥ ४३, ४४ ॥

साक्षान्मोक्षहेतुत्वात् भगवच्चरितमिदं बुभूषुभिरभ्यसनीयं आश्वसनीयं न तु विटवृत्तवदुपेक्षणीय-मिति भावेनाह - **यानीति**। अङ्ग ! विष्णुरात ! विश्वविलयोद्भव वृत्तिषु हेतुः हरिः यानि अनन्यविषयाणि कर्माणि चकार यस्तु तानि गायति शृणोति अनुजानीति वा, स तस्य पुंसोपवर्गमार्गे भक्तिर्भवति हि यस्मात् तस्मादवश्यं मुमुक्षुणा सेव्यानीति ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

(विजयध्वजरीत्या सप्तसप्ततितमोऽध्यायः)

# सप्ततितमोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या अष्टसप्ततितमोऽध्यायः)

### श्रीशुक उवाच

अथोषस्युपवृत्तायां कुक्कुटान् कूजतोऽशपन् ।
गृहीतकण्ठ्यः पतिभिः माधव्यो विरहातुराः ॥ १ ॥

वयांस्यरूरवन् कृष्णं बोधयन्तीव वन्दिनः ।
गायत्स्वलिष्वनिद्राणि[1-] मन्दारवनवायुभिः[-1] ॥ २ ॥

मुहूर्तं तं तु वैदर्भी नामृष्यदतिशोभनम्[2] ।
परिरम्भण विश्लेषात् प्रियबाह्वन्तरं गता ॥ ३ ॥

ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः ।
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम् ॥ ४ ॥

एकं स्वयं[3] ज्योति रनन्यमव्ययं[4] स्वसंस्थया नित्यनिवृत्तकल्मषम्[5] ।
ब्रह्माख्यमस्योद्भवनादि[6] हेतुभिः स्वशक्तिभि[7] र्लक्षितभावनिर्वृतिम् ॥ ५

---

1- -1 K.T.W. °ष्वनिद्रेषु ; M.Ma °ष्वभद्रेषु 2. M.Ma.T.W. °पि 3. M.Ma परं 4. K.M.Ma मद्वयं 5. B.G.J.K.M.Ma.T.W. °रस्त 5. B.G.J.K. °नाश 6. M.Ma °लक्षणैः

### श्रीधरस्वामि विरचिता भावर्थदीपिका

ततस्तु सप्ततितमे कृष्णस्याह्निककर्मणि । दूतनारदयो कार्ये मन्त्रि[1] मन्त्र विचारणम् ॥

जगन्मङ्गलचारित्र माह्निकं जगदीशितुः । नारदेन क्वचित्किञ्चित् दृष्टमाह यथाक्रमम् ॥

**अथेति** । "इत्यर्थकामधर्मेषु कृष्णेन श्रद्धितात्मना" (भाग० 10-69-43) इति प्रस्तुतस्य श्रीकृष्णस्याह्निकस्याधिकारे अथशब्दः उपवृत्तायां आसन्नायां पतिभिः श्रीकृष्णैः माधव्यो माधवस्य भार्याः वयांसीति । वन्दिन इव श्रीकृष्णं बोधयन्ति सन्ति वयांसि पक्षिणः अरूरवन् अतिशयेनाकूजन् मन्दारवनवायुभिः गायत्सु अलिषु अनिद्राणि निद्रारहितानि[2-] वयांसि[-2] ॥ १, २ ॥

**मुहूर्तमिति**। वैदर्भीत्युपलक्षणं अन्यासामपि[3-] परिरम्भण विश्लेषात् तं मुहूर्तं[4] पर्यालोच्य ॥ ३, ४ ॥

**एकमिति**। एकं अखण्डं तत्र हेतुः अनन्यं निरुपाधिं अतएव अव्ययं नित्यं स्वयं ज्योतिः तत्र हेतुः नित्यं निवृत्तं कल्मषं अविद्या यस्मात्तं उपलक्षणमाह अस्येति। विश्वस्य लक्षितः भावश्चासौ निर्वृतिश्च। भावसत्ता निर्वृतिरानन्दः तथाहि गुणक्षोभात्पूर्वं सत्तामात्रं यः, स देवसौम्येदमग्र आसीत् (छान्दो.उ. 6-2-1) इत्यादि श्रुतेः। स एवानन्दश्च "विज्ञानमानन्दम्" (बृह.उ. 3-9-28) इत्यादि श्रुतेः तं सदानन्दमित्यर्थः ॥ ५ ॥

---

1. B.J. कार्य 2- -2 Ml. V. Omit 3- -3 B.J. Omit 4. B.J. Omit मुहूर्तं 5. B.J. °ष्ठे हे°

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ भगवतो दिनचर्यात्मकं चेष्टित मनुवर्णयन् मगधविरुध्दराजसंदेशाहर्तृ संवेदित वृत्तान्त युधिष्ठिराभिप्रायाभिज्ञ नारद निवेदित तद्वृत्तान्तान्यतरनिश्चिचीपाप्रयुक्तं उध्दवोद्देश्यकं भगवत्प्रश्नमाह अथेत्यादिना, अथ ननु हे राजन्! यद्वाऽत्राथशब्दो भगवद्दिनचर्याप्रस्तावद्योतकः अथ भगवद्दिनचर्या प्रारभ्यत इत्यर्थः। उषसि प्रभातवेलायां उपवृत्तायां आसन्नायां सत्यां पतिभिः कृष्णैः गृहीताः कण्ठाः यासां ताः माधव्यः श्रीकृष्णस्य स्त्रियः विरहेण भाविना आतुराः कूजतः शब्दायमानान् कुक्कुटानशपन् ॥ १ ॥

**वयांसीति**। वन्दिन इव श्रीकृष्णं बोधयन्ति सन्ति वयांसि पक्षिणः मन्दारवनवायुभिः अनिद्रेष्वलिषु गायत्सु सत्सु अरूरवन् पुनः पुनरकूजन् ॥ २ ॥

**मुहूर्तमिति**। प्रियस्य बाह्वोरन्तरं गता वैदर्भीत्यन्यासामप्युपलक्षणं परिरम्भ विश्लेषाध्देतोः तं मुहूर्तमतिशोभनमपि नामृष्यन्नसेहे असमीचीनममन्यतेत्यर्थः ॥ ३ ॥

**ब्राह्म इति**। वारि शुध्दं जलं उपस्पृश्य आचम्य प्रसन्नानि करणानीन्द्रियाणि यस्य सः। तमसः प्रकृतेः परं विलक्षणमात्मानं दध्यौ ध्यातवान् स्वात्मावलोकनपरो बभूवेत्यर्थः ॥ ४ ॥

[1-]कोऽसौ तमसः पर आत्मा? तं विशिनष्टि - एकमिति। एकं समाभ्यधिकरहितं जीवस्तु विपरीत इति भावः[-1]। स्वयंज्योतिः स्वयंप्रकाशस्वरूपं अनन्यं न विद्यत अन्यदशरीरभूतं वस्तु यस्य तं अद्वयं जात्यादि कल्पना रहितं स्वामिन्संस्था सम्यगविकृतत्वेनावस्थितिस्तया, नित्यं निरस्तं प्रतिक्षिप्तं कल्मषं पुण्यपापात्मकं हेयं यस्य तं ब्रह्मेत्याख्या

"बृहति बृंहयती" इति निरुक्ता यस्य तं अस्य जगतः उत्पत्ति नाश हेतुभिः स्वशक्तिभिः उद्भवनाशग्रहणं स्थितेरप्युपलक्षणम्। शक्तिरपृथक्सिध्दविशेषणं ततश्च उत्पत्तिकारणत्व[2] लयकारणत्व रूपैः धर्मैरित्यर्थः। भावस्सत्ता सा च मान सम्बन्धार्हत्वरूपा भावशब्दश्चात्र धर्मिपरः। लक्षितो भावः सत्ताविशिष्टं स्वरूपं निर्वृतिरानन्दात्मकं यस्य तथाभूतं अत्रास्येत्यादिना भावेत्यन्तेन प्रकृतेः परस्यात्मनो लक्षणमभिप्रेतं जगज्जन्मादिकारणत्वं हि ब्रह्मणो लक्षणं निर्वृतिपदेनानन्दवाचिना "सत्यं ज्ञान मनन्तं विज्ञानमानन्दम्" (ब्रुह.उ. 3-9-28) इति स्वरूपशोधक वाक्यार्थः स्मारितः। अत्र कोऽसौ प्रकृतेः पर आत्मेत्यतो ब्रह्माख्य मित्युक्तं, ब्रह्मशब्दस्यानेकार्थसाधारण्या त्किन्तद्ब्रह्मेत्यपेक्षायां अस्येत्यादिना जगत्कारणत्वं लक्षितमितिकारणत्वं चिदचिद्विशिष्टगतमिति विशेष्यभूत ब्रह्मस्वरूप जिज्ञासायां निर्वृतिपदं प्रयुक्तं जगत्कारणत्वस्य हिरण्यगर्भादिरिव सुकृत विशेषप्रयुक्तत्व शङ्काव्युदासाय स्वसंस्थया नित्य निरस्त कल्मष मित्युक्तम्। कारणत्वप्रयुक्त विकाराश्रयत्व शङ्काव्युदासायाव्यय मिति। अधिष्टान्त्रन्तर शङ्काव्युदासायैकमिति कारणत्व प्रयुक्त कार्यानन्यत्वं वक्तुं अनन्य मित्युक्तमिति द्रष्टव्यं सच्छब्दापरपर्याय भावशब्देनोक्तार्थे वेदान्तानां प्रमापकत्वं सूचितम् ॥ ५ ॥

---

1- -1 T.W. Omit 2. B.K. add स्थितिकारणत्व

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

राज्ञां दैनन्दिन नित्यनियम प्रकारं कथयत्यस्मिन् अध्याये। तत्रादौ माधवीनां ग्राम्यधर्म लौल्यातिशयं कथयति**अथेत्यादिना** ॥ १ ॥

वयांसि कोकिलादीनि वन्दिनः कृष्णं बोधयन्तीवोपतस्थुः नित्योद्बुध्दत्वादिवेति। मन्दारवनवायुभिः पारिजातवनवायुभिः सह ॥ २ ॥

तं मुहूर्तोपलक्षितकालं प्रियस्य कृष्णस्य बाह्वन्तरं वृक्षस्थलम् ॥ ३ ॥

नित्यप्रसन्नान्तः करणः आत्मानं स्वमेव ॥ ४ ॥

इतरवस्तुभ्यः आत्मानं व्यावर्तयति **एकमिति**। एकं मुख्यं स्वरूपभेदशून्यं वा। आदित्यादि ज्योतिभ्यः परं विलक्षणं परंज्योतिरूपं सम्पद्येति श्रुतिः। अनन्यं अन्याधीनस्वभावरहितं अन्यः स्वतन्त्रो यस्मात् स तथा तं वा।

अद्वयं असदृशं स्वसंस्थया स्व व्यवस्थया स्वमहिम्ना स्वाकारेण वा। नित्यनिरस्तदोषं किं तस्य नामधेयमत्राह- ब्रह्माख्यमिति। स्वलक्षणैः स्वरूपलक्षणैः व्यावर्तक धर्मैः अस्य जगतः उद्भवनादि हेतुभिः सृष्ट्यादि हेतुभिः लक्षिता भाव निर्वृतिःस्वरूपानन्दो यस्य स तथा तम्। 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' (तैत्ति. उ. 2-7) इति श्रुतेः ॥५॥

**अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि क्रियाकलापं परिधाय वाससी ।**
**चकार सन्ध्योपगमादिसत्तमो हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः ॥६॥**

**उपस्थायार्कमुद्यन्तं तर्पयित्वात्मनः कलाः ।**
**देवान् ऋषीन् पितॄन् वृद्धान् विप्रानभ्यर्च्य चात्मवान् ॥७॥**

**धेनूनां रुक्मशृङ्गाणां साध्वीनां मौक्तिकस्रजाम् ।**[1]
**पयस्विनीनां गृष्टीनां सवत्सानां सुवाससाम् ॥८॥**

**ददौ रौप्य खुराग्राणां क्षौमाजिन तिलैस्सह ।**
**अलङ्कृतेभ्यो विप्रेभ्यो द्वन्द्व द्वन्द्व दिने दिने ॥९॥**[2-2]

**गोविप्र देवतावृध्दान् गुरून्भूतानि सर्वशः ।**
**नमस्कृत्वात्मसम्भूती र्मङ्गलानि समस्पृशत् ॥१०॥**[3]

---

1. B.G.J.M.Ma °ङ्गी 2- -2 G.J.M.Ma बद्वं बद्वं ;B. वध्दं ;K.T.W. पद्यं पद्यं 3. B.G.J.K.T.W. °त्या

**श्रीध० अथेति**। आप्लुतः स्नातः सन्ध्यायाः उपगमः उपासनं आदिर्यथाभवति तथा क्रियाकलापं चकार काण्वत्वादुदयात्पूर्वमेव हुतानलः ब्रह्मगायत्रीं जजाप ॥६॥

**उपस्थायेति**। कलाः अंशान् देवान् ऋषीन् पितॄंश्च तर्पयित्वा ॥७॥

**धेनुनामिति**। गृष्टीनां प्रथम प्रसूतानाम् ॥८॥

**ददाविति**। महासंख्यायुक्त सङ्ख्याभिधानम्[1-]। द्वन्द्वशो यत्र ब्राह्मणा गा विभेजिर इत्युक्ते[-1] द्वन्द्वमिति। "हिरण्येन" परिवृतान् कृष्णान् शुक्लदतो मृगान् मध्करे भरतोऽददाच्छतं द्वन्द्वानि सप्त च" (ऐत ब्रा 8-23-3a) इति श्रुत्युक्तानि सप्तोत्तर शतं द्वन्द्वान्येकीकृत्य पुराणे चतुर्दश लक्षत्वेन गणितानि - यथोक्तं - भरतमेवाधिकृत्य नवमस्कन्धे

"मृगान् शुक्लदतः कृष्णान्सुवर्णेन परिष्कृतान्, अदात्कर्मणि मघ्गारेनियुतानि चतुर्दश" (भाग 9-20-28) इति। ततश्चेयं द्वन्द्वसंख्या श्लोकेन सङ्गृह्यते। चतुर्दशानां लक्षाणां सप्ताधिक शतांशकः द्वन्द्वं चतुरशीत्यग्र सहस्राणि त्रयोदशेति। दिने दिने प्रतिदिनं[2-2] प्रतिगृहं चेति, बध्वं, बध्वमिति च पाठान्तरम् ॥९॥

**गोविप्रेति**। आत्मसम्भूतीः स्वविभूतीः मङ्गलानि कपिलादीनि ॥१०॥

---

1- -1 B.J. Omit 2- -2 B.J. Omit

**वीर० अथेति**। अथ सत्तमो भगवान् अम्भसि आप्लुतः स्नातः वाससी परिधाय क्रियाकलापं चकारेति सम्बन्धः कोऽसौ क्रियाकलापं चकारेति सम्बन्धः कोऽसौ क्रियाकलाप इत्यतस्तं प्रपञ्चयति सन्ध्येत्यादिना यत्सन्ध्योपगमादि क्रियाकलापमित्यर्थः सन्ध्योपगमः सन्ध्योपासनं आदि शब्दसङ्गृह्णीतानाह हुतानल इत्यादिना। हुतः अनलः आहवनीयो येन सः, वाग्यतः वाचं यच्छतीति तथा मौनी भूत्वेत्यर्थः। ब्रह्म गायत्रीम् ॥६॥

उपस्थायेत्यादि श्लोकत्रयमेकान्वयम्। आत्मनः स्वस्य कलाः अंशभूतान् देवादीन् तर्पयित्वा वृध्दान् कुलवृध्दान् विप्रांश्च आत्मवान् श्रध्दायुक्तस्सन् अभ्यर्च्य दिने दिने अलङ्कृतेभ्यो विप्रेभ्यः क्षौमकृष्णाजिन तिलैः सह धेनूनां पद्मं पद्मं ददौ। पद्ममिति महासंख्यायुक्त संघाभिधानं कथम्भूतानां रुक्मं स्वर्णालङ्कारः शृङ्गयोः यासां मौक्तिकानां स्रजो यासां बहुक्षीराणां गृष्टीनां प्रथमप्रसूतानां शोभनो वत्सो यासां शोभनं वासो यासां, तासां रौप्यं रजतालङ्कारः खुराग्रेषु यासां तासाम् ॥७-९॥

**गोविप्रेति**। गवादीनां द्वन्द्वः तत्र वृध्दाः कुलवृध्दाः तानात्मनःस्वस्य सम्भूतीः विभूति भूतान् नमस्कृत्य मङ्गलानि कपिलादीनि मङ्गलद्रव्याणि समस्पृशत् ॥१०॥

**विज० सन्ध्योपगमादि सन्ध्योपासनादिकं क्रियाकलापं चकार। ब्रह्म जजाप। नियतस्वाध्यायाध्ययनं कृतवान् गायत्रीं वा जजप्तवान् ॥६॥**

**स आत्मनः कलाः स्वसन्निधानविशेषोपेतान् आत्मवान् स्वाधीनप्रयत्नः स्वाधीनमना वा ॥७॥**

**साध्वीनां प्रादबन्धनादि क्रियानपेक्षाणां गृष्टीनां प्रथम प्रसूतानाम्। ॥८॥**

**बद्धं बद्धं द्वयं द्वयं एकैकस्मै विप्राय ॥९॥**

गोविप्रदेवताः वयोवृध्दांश्च गुरुभूतान्यश्वत्थादीनि नमस्कृत्य एतत्सर्वं कीदृश मत्राह आत्मेति। आत्मनः सम्भूतिं सन्निधेः प्रतिमां मङ्गलानि तिलादीनि ॥ १० ॥

**आत्मानं भूषयामास नरलोक विभूषणम् ।**
**वासोभिर्भूषणैः स्वीयैः दिव्यस्रग नुलेपनैः ॥ ११ ॥**

**अवेक्ष्याऽऽज्यं तथाऽऽदर्शं गोवृषद्विज देवताः ।**
**कामांश्च सर्ववर्णानां पौरान्तःपुर वासिनाम्[1] ।**
**प्रदाप्य[2] प्रकृतीः कामैः[2] प्रतोष्य प्रत्यनन्दत ॥ १२ ॥**

**संविभज्याग्रतो विप्रान् स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः ।**
**सुहृदः प्रकृतीर्दारान् प्रायुङ्क्त[3] च ततः[3] स्वयम् ॥ १३ ॥**

**तावत्सूत उपानीय स्यन्दनं परमाद्भुतम् ।**
**सुग्रीवाद्यैर्हयैर्युक्तं प्रणम्यावस्थितोऽग्रतः ॥ १४ ॥**

**गृहीत्वा पाणिना पाणिं सारथे[4] रथमारुहत्[4] ।**
**सात्यक्युद्धव संयुक्तः पूर्वादिमिव भास्करः ॥ १५ ॥**

---

1. B.G.J.K.T.W. चारिणाम् 2- -2 M.Ma प्रादात् कामान् पृथक् कामैः ; MI.V. प्रादाप्य प्राकृतैः कामैः 3- -3 B.G.J.K.MI.T.V.W. °नुपायुङ्क्त ततः 4- -4 B.G.J.MI.V. सारथेस्तमथारुहत् ; K.T.W. सारथे रथमाविशत्

**श्रीध० आत्मानमिति।** नरलोकस्य विभूषणरूपमात्मानं स्वीयैः पीताम्बर कौस्तुभादिभिः ॥११॥

**अवेक्ष्येति।** कामानभिलषितानर्थान् ॥ १२ ॥

**संविभज्येति।** विप्रान् स्रगादिभिः संविभज्य तेभ्यस्तानि दत्वेत्यर्थः। उपायुङ्क्त भोगार्थमग्रहीत् ॥ १३, १४ ॥

**गृहीत्वेति।** पाणिं कृताञ्जलिं गृहीत्वा ॥ १५ ॥

**वीर० आत्मानमिति**। नरलोकस्य भूषणरूपमात्मानं कौस्तुभपीताम्बरादिभिः भूषयामास ॥ ११ ॥

कामानभिलषितार्थान् प्रदाप्य प्रकृतीः अमात्यादीन् प्रतोष्य तोषयित्वा प्रतिनन्दितवान् ॥ १२ ॥

**संविभज्येति**। अग्रतः पुरतः उपवेशितानिति शेषः विप्रान् स्रगादिभिः संविभज्य सम्यग्विभागेन प्रीणयित्वा आज्यादीन् अवलोक्य तत्रादर्शो दर्पणं सुहृदो मित्राणि दारान् पत्नीश्च उपायुङ्क्त यथायोग्य मन्ववर्ततेत्यर्थः ॥ १३ ॥

**तावदिति**। सुग्रीवाद्यैः आदिशब्देन मेघपुष्पबलाहकसङ्ग्रहः तैरश्वैर्युक्तं स्यन्दनं रथमानीय प्रणम्य अग्रतः अवतस्थे[1] ॥ १४ ॥

गृहीत्वेति। सारथेः पाणिं स्वपाणिना गृहीत्वा पूर्वाद्रि मुदयाद्रिं भास्करस्सूर्य इव आरुरोह ॥ १५ ॥

---

1. B. तस्थौ

**विज०** नरलोकस्य मुक्तामुक्तस्य भूषणं अलङ्कारभूतम् ॥ ११ ॥

आदर्शं दर्पणं गवादींश्च प्रेक्ष्य देवताः प्रतिष्ठिताः कामिनामर्थिनां कामान् काम्यान् पदार्थान् किं बहुना सर्वान्कामैः पृथक् पृथक् प्रतोष्य सन्तोषं जनयित्वा स्वयमपि प्रत्यनन्दत सन्तुष्टोऽभूदित्यन्वयः ॥ १२ ॥

द्रव्यसंविभागक्रममाह - संविभज्येति। विप्रदीनुद्दिश्य स्रगादिभिः तृतीया च द्वितीयार्थे प्रायुङ्क्त स्वयं स्वीचकार ॥ १३ ॥

तावत्तदा ॥ १४, १५ ॥

**ईप्सितोऽन्तःपुरस्त्रीणां[1] स व्रीड प्रेम वीक्षितैः ।**
**कृच्छाद्विसृष्टो निरगाज्जातहासो[2] हरन्मनः ॥ १६ ॥**

**★ एवं ससर्वदाराणां गृहेभ्यो भगवान्विभुः ।**
**नानारूपो विनिर्गत्य एकरूपस्सभां ययौ ॥ १७ ॥**

**सुधर्माख्यां सभां सर्वैर्वृष्णिभिः परिवारितः ।**
**प्राविशद्यन्निविष्टानां न सन्त्यङ्गषडूर्मयः ॥ १८ ॥**

**अथोपविष्टः[3] परमासने विभु र्बभौ स्वभासा ककुभोऽवभासयन् ।**
**वृतो नृसिंहै र्यदुभिर्यदूत्तमो यथोडुराजो दिवि तारकागणैः ॥ १९ ॥**

तत्रोपमन्त्रिणो[4] राजन्नानाहास्यरसै र्विभुम् ।
उपतस्थुर्नटाचार्याः नर्तक्यस्ताण्डवैः[5] पृथक् ॥२०॥

---

1. B.G.J.K.MI.T.V.W. °क्षि° 2. K.MI.T.V.W. सोऽह ★ This verse is found only in MI.v edns. and it is commented by Sridhara Swami 3. B.G.J.K.M.Ma.T.W. तत्रो° 4. M.Ma तत्राऽथम° 5. M.Ma समम्

**श्रीध० ईक्षित** इति । स व्रीडप्रेमवीक्षितैः ईक्षितः क्षणं स्थितः ताभिरेव वीक्षितैः कृच्छ्रात् विसृष्टो निरगादिति ॥१६॥

**एवमिति** । एवं सर्वगृहेभ्यः पृथक् पृथक् निर्गत्य अनन्तरं एक एव सन् ॥१७॥

**सुधर्मेति** । सुधर्मां प्राविशत् यन्निविष्टानां यत्र प्रविष्टानाम् ॥१८॥

**अथेति** । नृसिंहैः नृषुश्रेष्ठैः नृसिंह इति पाठे कृष्ण एव ॥१९॥

**तत्रेति** । उपमन्त्रिणः परिहासकाः पृथक् पृथक् स्वस्वसमुदायैः ॥२०॥

**वीर० ईक्षित** इति । व्रीडा प्रेमभ्यां युक्तैः वीक्षितैः ईक्ष्यमाणः ताभिस्तैरेव वीक्षितैः कृच्छ्रात्कथञ्चिद्विसृष्टस्तासां मनो हरन् सञ्जातः हासौ यस्य तथाभूतो निर्जगाम ॥१६, १७॥

**सुधर्मामिति** । तां विशिनष्टि यद्यत्र सभायामुपविष्टानां षडूर्मयः अशनाया पिपासाशोकमोहजरामृत्यवो न सन्ति तथा भूतामित्यर्थः ॥१८॥

**तत्रेति** । तत्र सुधर्मायां स्वभासा स्वदीप्त्या ककुभो दिशः भासयन्, नृसिंहैः नरश्रेष्ठैः यदुभिः परिवृतः बभौ यथा दिवि आकाशे नक्षत्रगणैश्चन्द्रो भाति तद्वत् ॥१९॥

**तत्रेति** । तत्र तदा हे राजन्, उपमन्त्रिणः परिहासकाः हास्यरसैः विभुं श्रीकृष्णमुपतस्थुः तथा पृथक् स्व स्व समुदायै र्नटाचार्यास्ताण्डवादिभिः ॥२०॥

**विज० स्त्रीणां मनः** ॥१६, १७॥

**यन्निविष्टानां यत्र सभायामुपविष्टानां अशनपानादि षडूर्मयो न सन्ति न बाधन्ते** ॥१८॥

**नृसिंहैः पुरुषश्रेष्ठैः** ॥१९॥

नानाविधैः हास्यैः हसनविषयैः रसैः रागजनकवचनैः ॥ २० ॥

**मृदङ्गवीणामुरजवेणु तालदर स्वनैः ।**
**ननृतुर्जगुस्तुष्टुवुश्च सूत मागध वन्दिनः ॥ २१ ॥**

**तत्रस्थाः[1] ब्राह्मणाः केचिदासीना ब्रह्मवादिनः ।**
**पूर्वेषां पुण्य यशसां राज्ञां चाकथयन्कथाः ॥ २२ ॥**

**तत्रैकः पुरुषो राजन्नागतोऽ पूर्वदर्शनः ।**
**विज्ञापितो भगवते प्रतीहारैः प्रवेशितः ॥ २३ ॥**

**स नमस्कृत्य कृष्णाय परेशाय कृताञ्जलिः ।**
**राज्ञामावेदय दुःखं जरासन्धनिरोधजम् ॥ २४ ॥**

**येतु[2] दिग्विजये तस्य सन्नतिं न युयुर्नृपाः ।**
**प्रसह्य रुध्दास्ते नासन्नयुते द्वे गिरिव्रजे ॥ २५ ॥**

---

1. B.G.J.MI.V. तत्राहुः 2. B.G.J.K.MI.T.V.W. च

**श्रीध० मृदङ्गेति** । मृदङ्गादयः प्रसिध्दाः दरः शङ्खः सूतादयः तुष्टुवुः ॥ २१ ॥

**तत्रेति** । ब्राह्मणाः ब्रह्म वेदं आहुः मन्त्रान् व्याचख्युरित्यर्थः वादिनः[1] वचनचतुराः ॥ २२, २३ ॥

**स** इति । स पुरुषः जरासन्धेन यो निरोधः तत्प्रभवं राज्ञां दुःखमावेदयत् ॥ २४ ॥

**य** इति । गिरिव्रजे तत्संज्ञके दुर्गे रुध्दाः आसन् तेषां च दुःखमावेदयदित्यन्वयः ॥ २५ ॥

---

1. B. वदन ; J. वादन

**वीर०** मृदङ्गादयः प्रसिध्दाः दरश्शङ्खः तेषां स्वनैः ननृतुः जगुश्च सूतादयस्तुष्टुवुः तत्र मागधाः वंशावली पाठकाः ॥ २१ ॥

तत्रस्थाः सभायां स्थिताः पुण्यं यशो येषां तेषां पूर्वेषां राज्ञां कथाः कथयामासुः ॥ २२ ॥

एवमाह्निक मनुवर्णितम्। अथ जरासन्धनिरुध्द राजसंदेशहरागमनं प्रस्तौति - **तत्रेति**। इत्थं नीयमानदिनानां एकस्मिन् दिने। हे राजन्! अपूर्वदर्शनः न पूर्वं दर्शनं यस्य सः यः[2] कश्चित् पुरुषः आगतः, प्रतिहारैः द्वारपालैर्भगवते विज्ञापितः ततः प्रवेशितश्च ॥ २३ ॥

**स इति**। आगतः कृताञ्जलिः बध्दोऽञ्जलिर्येन सः जरासन्धेन, यो निरोधः तत्प्रभवं राज्ञां दुःखं, आवेदयत् ॥ २४ ॥

ये चेति तस्य जरासन्धस्य दिग्विजये ये नृपाः सन्नतिं नम्रतां न प्रापुः ते द्वे अयुते नृपाः गिरिव्रजसंज्ञिके, दुर्गे तेन जरासन्धेन बलात् निरुध्दा आसन् तेषां राज्ञामिति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ २५ ॥

---

1. B.K. add एकोऽसहायः 2. B.K. Omit यः

**विज०** नटादयो ननृतुः, सूतादयो जगुः ॥ २१ ॥

गानानन्तरं कः प्रसङ्ग इत्यत्राह - **तत्रस्था** इति। ष्ठा गतिनिवृत्तिवाचिना शयित्वमुपतिष्ठत्वं वा सूच्यते। अत्र तयोः को विवक्ष्यते इत्यत उक्तं आसीना इति ॥ २२ ॥

तत्र तस्यां अवस्थायाम् ॥ २३ ॥

जरासन्धेन कृतोपरोधो निरोधः तस्माज्जातम् ॥ २४ ॥

गिरिव्रजे नगरे ॥ २५ ॥

**राजान[1-] ऊचुः[-1]**

**कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन्प्रपन्नभय भञ्जन ।**
**वयं त्वां शरणं यामो भवभीताः पृथ[2]धियः ॥ २६ ॥**

**लोको विकर्म निरतः कुशले प्रमत्तः कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे ।**
**यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै ॥ २७ ॥**

**काल[3-]ो भवान् जगदिदं[-3] कलयाऽवतीर्ण स्सद्रक्षणाय खलनिग्रहणाय चाद्यः[4] ।**
**कश्चित्त्वदीयमतियातिनिदेशमीश किं वा जनस्स्वकृतमृच्छति तन्न विद्मः ॥ २८ ॥**

**स्वप्नायितं नृपसुखं परतन्त्रमीश शश्वद्भयेन मृतकेन धुरं वहामः ।**
**हित्वा[5] यदात्मनि सुखं[6] तदनीहलभ्यं क्लिश्यामहेऽतिकृपणास्तव माययेह ॥२९॥**

**तन्नो भवान् प्रणतशोक हराङ्घ्रियुग्मो बध्दान्वियुङ्क्ष्व मगधाह्वय कर्मपाशात् ।**
**यो भूभुजोऽयुतमतङ्गज वीर्यमेको बिभ्रद्रुरोध भवने मृगराडिवाऽवीः[7] ॥३०॥**

---

1- -1 B.G.J. Omit. 2. K.MI.V. °थग्दृशः 3- -3 B.G.J. लोके भवान् जगदिनः ; MI.V. लोके भवान् भगवतः ; K.T.W. लोके त्वमीश जगतः 4. B.G.J.MI.V. चाऽन्यः 5. B.G.J.K.T.W. न° 6. B.G.J.K.MI.T.V.W. त्व° 7. MI.V. वाऽजान् ।

**श्रीध०** कृष्णकृष्णेति षट् श्लोकैः राज्ञां विज्ञप्तिः तत्र प्रथमेन शरणाश्रयणं त्रिभिर्भयानुवादः द्वाभ्यां प्रार्थनमिति कृष्णेति पृथक् दर्शिनः ॥२६॥

लोकस्य भव भयं विवृण्वन्तो नमन्ति लोक इति विकर्म निषिध्दं काम्यं च तस्मिन्नितरां रतः तस्मात् स्वे कुशले धर्मे भवतः अर्चने त्वया उदिते उक्ते[1] पाञ्चरात्रे सामान्यतश्च गीतासु — 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्'(भ. गी. 9-27) इत्यादि । प्रमत्तः अनवहितः यावदयं लोकस्तावदेवास्य लोकस्य यः सद्यो जीविताशां भिनत्ति तस्मै तुभ्यं अनिमिषाय कालात्मने नम इति ॥२७॥

सेयं लोकस्य गतिः वयं तु त्वद्भक्ताः अतोऽस्माकं कुत एतद्दुःखमापन्नमित्याश्चर्येणाहुः लोक इति । भो ईश ईश्वरं सद्रक्षणार्थं मवतीर्णोऽसि चेत् तथाप्यस्माकं दुःखं स्यात् चेत् तर्हि किमन्यः कश्चिज्जरासन्धादि स्त्वदाज्ञामतिलङ्घयति । किञ्च त्वया रक्ष्यमाणोऽपि जनः स्वकर्मजं दुःखं प्राप्नोत्येवेति न विद्मः न चैतदुभयमपि युक्तमिति भावः ॥२८॥

किं दुःखं तदाहुः स्वप्नायितमिति स्वप्नवज्ज्ञातं नृपसुखं नृपोचितं सुखं यतः परतन्त्रं विषयसाध्यं किञ्च सम्प्रति शश्वद्भयं यस्मिन् तेन मृततुल्येनशरीरेण धुरं पुत्रदारादिचिन्तारूपभरं केवलं वहामः अहो कष्टं नः ये वयमितः पूर्वमेव निष्कामास्सन्तस्त्वां नाश्रिता इत्याहुः हित्वेति तत् त्वतः यत् अनीहैः निष्कामैः[3] लभ्यं आत्मनि स्वतस्सिध्दं सुखं तत् हित्वा क्लिश्यामः ॥२९॥

त्वन्मायाकृतं कर्मबन्धं त्वमेव निवर्तयेति प्रार्थयन्ते - **तदिति** । वियुङ्क्ष्व मोचय । मगधो जरासन्धः तत्संज्ञिकात् कर्म पाशात् ननु भवद्भिरेव विक्रम्य ततो निर्गम्यतामिति चेदत आहुः - य इति । य[4] एक एव अयुतमतङ्गजानां वीर्यं बिभ्रत्सन् स्वभवने भूभुजोऽस्मान् रुरोध मृगराट्[5] सिंहः अजान्[6-] मेषानिव[-6] ॥३०॥

---

1- -1 B.G.J. Omit. उक्ते 2- -2. MI.V. Omit 3. B.J. चिन्तां के° 4. B.J. Omit. य 5. B.J. Omit. मृगराट् 6- -6 B.J. मेषीरिव ।

**वीर०** तेषां विज्ञप्तिमेवाह षड्भिः तावच्चरण्य त्वोपयुक्त गुणविशिष्टं सम्बोधयन्त श्शरणं व्रजन्ति **कृष्णकृष्णेति**। कृषिर्भूवाचकश्शब्दः (भारत 5-68-5) इत्यादिना निरुक्तेन कृष्ण शब्देन निम्नोन्नतानादरेण सर्वलोकानन्दकरत्वम्, अत एव वैषम्य नैर्घृण्यादिराहित्यं च विवक्षितं अप्रमेयात्मन्नपरिच्छेद्य स्वरूप अनेनास्मदन्तरात्मतया अस्मद्दुःखं जानास्येवेति विवक्षितम्। अत एव सर्वज्ञत्वं च। प्रपन्न भयभञ्जनेत्यनेन वात्सल्यं विवक्षितं त्वां शरणं रक्षणोपायं यामः व्रजामः, अध्यवस्यामः यातिरत्र गत्यर्थः। प्रावण्यस्य गतिपूर्वकत्वात् गत्यर्थानां बुद्ध्यर्थत्वात्। कार्पण्यद्योतनायात्मनो विशिषन्ति भवभीताः भवशब्दोत्र सांसरिकमरणदुःखपरः भवाद्भीताः पृथक्दृशः पृथग्दर्शिनः भिन्नमतयः अज्ञास्त द्भयनिवर्तनोपायानभिज्ञा इति यावत् ॥ २६ ॥

प्रपन्नभयभञ्जनेत्यनेन अप्रपन्नजनमरणभयाभञ्जनत्वं सूचितम्। तदेव विवृण्वन्तः प्रणमन्ति-लोक इति। तृतीयं स्कन्धे ब्रह्मस्तुतौ पठितोप्ययं श्लोकविजानि साम्यादर्थमौष्ठ वाच्चात्राऽपि पठ्यते। यो लोको जनः विकर्मणि विविधे कर्मणि वैपयिक मुख्यार्थे कर्मणीति यावत् निरतः त्वदुदिते पञ्चरात्र गीतादि मुखेन भवतोपदिष्टे भगवदाराधनात्मके कुशले श्रेयस्साधने। स्वानुरूपे च शरणवरणादि रूपधर्मे यावत् प्रमत्तः अनवहितस्तावत्तस्य यो जीविताशां सद्यश्छिनत्ति तस्मै अनिमिषाय कालात्मने तुभ्यं नमोस्तु ॥ २७ ॥

नन्वेतावता लोकहिताचरणैक शीलस्य तव वैषम्य मस्तीत्याहुः लोक इति। भोजगत ईश्वर त्वं सतां रक्षणाय खलानां दुष्टानां विग्रहाय च कलया अंशेन बलभद्रेण सहावतीर्णः जगतः आद्यः आदौ भवः कारणभूत इति वा सम्बन्धः खलनिग्रहेण विना सद्रक्षणासम्भवात्तस्यापि तादर्थ्यात्केवल हितैककारित्वमिति भावः यद्वा खलानां निग्रहस्यापि तेपमन्ततो हितत्वे पर्यवसानात्सोपि हितमेवेति भावः तर्ह्येवं भूते सति मयि कुतः कश्चिद्दुख्यतीत्यत्र कारणद्वयं सम्भावयन्तोऽन्यन्नविद्म इत्याहुः हे ईश कश्चिज्जनस्त्वदीयं आज्ञां निदेशमतियाति अतिक्रामति किं वा स्वकृतं स्वकृतपापफलं प्राप्नोति तत् उभयव्यतिरिक्तं कारणान्तरं न विद्मः अन्यतरन्निश्चेतुं न शक्नुम इति वा कर्मानुगुणमीश्वरो नियच्छतीत्यविरोधः ॥ २८ ॥

प्रकृतं स्वदुःखं निवेदयिष्यन्तस्तावदधुनैव न क्लिश्यामः किन्तु सदापीत्यभिप्रयन्त आहुः **स्वप्नायितमिति**। हे ईश नृपसुखं यन्नृपाणां सुखं तत् स्वप्नायितं स्वाप्नसुखतुल्यं क्षणिकमतितुच्छं चेत्यर्थः। तत्र हेतुत्वेन विशिषन्ति परतन्त्रमिति कर्मायत्तमित्यर्थः। अतोस्माकं बन्धनात्पूर्वमपि न सुखमिति भावः ननु कल्याणतरनृपदेह सम्बन्ध एव सुखरूप इत्यत आहुः शश्वदिति शश्वत्सदाभयममित्रेभ्यो यस्य तेन मृतकेन शव तुल्येन देहेन धुरं वहामः मृतकतुल्यशरीराख्य भारं वहाम इत्यर्थः मृतकेनेति कर्मणः कारणत्व विवक्षया तृतीया यद्वा लोके मृतकेनोह्यमानेन या धूर्भारः तादृशीं धुरं भारं वहाम इत्यर्थः। नहि शवं वहतां तत्सम्बन्धः सुखरूपः किन्तु भारापादकतया दुःखरूपयेव तथा नपते

सम्बन्धोपीति भावः अतो हे ईश त्वत् त्वत्तः त्वदनुग्रहादित्यर्थः यत् अनीहैः निष्कामैः लभ्यं आत्मनि त्वयि विषये सुखं तत् हित्वा अत एव नितरां कृपणास्तव माययामोहिता इति शेषः इहलोके क्लिश्यामहे ॥ २९ ॥

प्रकृतमात्मदुःखं निवेदयन्तस्तन्निराकरणं प्रार्थयन्ते। तन्न इति। प्रणतानां शोकहरं अङ्घ्रियुग्मं यस्य तथाभूतेति सम्बोधनं तानुक्तविधानधुना बध्दांश्च नोऽस्मान् मगधाह्वयः जरासन्धव्याजरूपो यः कर्मपाशः तस्माद्वियुङ्क्ष्व वियोजय भवद्भिरेव विक्रम्य ततो निष्क्रम्यतामित्यतो मागधं विशिंषन्ति य इति यः अयुत संख्यानां मतङ्गजानां वीर्यं बलमेक एव बिभ्राणः भूभुजोस्मान् सिंहः अवीः मेषीरिव भवने रुरोध निरुद्धवान् तथाभूत मागधाह्वय कर्म पाशादिति सम्बन्धः न वयं निर्गन्तुं शक्नुम इतिभावः ॥ ३० ॥

---

1. B. क्षमा

विज० पृथग्धियः यथार्थज्ञानशून्याः ॥ २६ ॥

अयतार्थज्ञानी किं करोति किञ्च तस्य फलमिति तत्राह-लोक इति। उक्तार्थोऽयम् ॥ २७ ॥

भगवानत्र किमर्थमवतीर्ण इति तत्राह काल इति। चशब्दः एवार्थे समुच्चये वा। सतां रक्षणाय खलानां दुष्टानां निग्रहाय इदं जगत् अस्मिन् जगति कलयावतीर्णो भगवानिति किं वदन्ती एतद्वयं विनान्यत् कार्यं किं न किमपि कुतः कालः तत्तत् काले तत्तत्कार्यसाधन समर्थत्वात् कः खलः को वा सन्निति विशिनष्टि- कश्चिदिति। हे ईश। कश्चिज्जनः त्वदीयं निदेशमतियाति अतिक्रामति। सः खलः किं सुकृतमृच्छति, किं स्वित् त्वदीयं निदेशमतियाति लङ्घयति स असन्किं सुकृत मृच्छतीति वयं न विद्मः एकः सुखच्छेदकं लोकं एकः सुखकरं ऋच्छतीति भवान्वेत्तीति वाक्यार्थः। "अति स्यादधिकार्योक्तौ प्रशंसायामतिक्रमे" (वैज. को. 8-7-15) इति ॥ २८ ॥

स्वर्गादि सुखस्य निर्विषयत्वेन राज्य सुखात्परं न किमपि इति केषाञ्चित् प्रवादस्तत्राह स्वप्नायितमिति। स्वप्नायितं स्वप्नवत् क्षणिकं तदपि न स्वाधीनमित्याह परतन्त्रमिति। तत्र तन्नित्यमित्याशयश्च तन्मरणतयोपेतेन मृतकेन शवकल्पेन शरीरेण राज्यधुरं वहाम इत्यस्यान्यत्किं सुखमस्तीति तर्हि तध्दानौ बह्वायसात्क्लेशः स्यादिति तत्राह हित्वेति। यदनीह लभ्यं निवृत्तिमार्गस्थैः साध्यमात्मनि सुखं तद्धित्वा कृपणा वयं क्लिश्यामहे एवं विधं ज्ञानमस्तिचेत् किमिति क्लेश इत्यत उक्तं तवेति ॥ २९ ॥

किमिदानीमावश्यकं तद्वद किं बहुसिध्दानुवादेनेति तत्राह-तन्न इति। वियुङ्क्ष्व वियोजय अयुतमतङ्गज वीर्यं अयुत गजपराक्रमं बिभ्रत् ॥ ३० ॥

यो वै त्वया द्विनवकृत्व उदात्त चक्र भग्नो मृधे खलु भवन्तमनन्तवीर्यम् ।
जित्वा नृलोक निरतं सकृदूढदर्पो युष्मत्प्रजा रुजति[1-] नोऽजित[-1] तद्विदेहि[2] ॥ ३१ ॥

दूत[3-] उवाच[-3]

इति मागध संरुद्धा भवद्दर्शन काङ्क्षिणः ।
प्रपन्नाः पादमूलं ते दीनानां शं विधीयताम् ॥ ३२ ॥

श्रीशुक उवाच

राजदूते ब्रुवत्येवं देवर्षिः परमद्युतिः ।
बिभ्रत्पिङ्ग जटाभारं प्रादुरासीद्यथा रविः ॥ ३३ ॥

तं दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः सर्वलोकेश्वरेश्वरः ।
ववन्द उत्थितश्शीर्ष्णा स सभ्यस्सानुगो मुदा ॥ ३४

सभाजयित्वा विधिवत्कृतासन परिग्रहम् ।
बभाषे सूनृतैर्वाक्यै श्श्रद्धया तर्पयन्मुनिम्[4] ॥ ३५ ॥

1- -1 M.Ma क्षिपतिचाऽशुच 2. K.T.W. शं विदेहि 3- -3 B.K. M.Ma. Ml. T.V.W. Omit ★ Here K.T.W. reads an extra verse as follows:- प्रियस्य तस्य कृष्णस्य गायन् कर्मणि जन्म च । कृष्णं सङ्घांश्च लोकांश्च द्रावयन् रमयन् भृशम् ॥ ❖ The same verse appears in M. Ma as follows गायन् गिरन् मधुरया प्रिय कर्माणि जन्म च। द्रावयन्नघ संङ्घाश्च लोकान्निरमयन् भृशम् ॥ 4. M. Ma मधुरै°

श्रीध० किञ्च युष्मदीया वयमिति अस्मानधिकं बाधत इत्याहुः - य इति हे उदात्त चक्र उद्यत सुदर्शन यो वै द्विनवकृत्वः अष्टादश वारान् त्वया सहमृधे वर्तमाने तत्र सप्तदशकृत्वः त्वया खलु भग्नः पराजितः पश्चादनन्त वीर्यमपि नृलोकनिरतं नरशरीरविनोदं भगवन्तं भवन्तं सकृज्जित्वा ऊढदर्पः प्राप्तगर्वः युष्मत्प्रजाः नः अस्मान् रुजति पीडयति, तत् तत्र यत् युक्तं कार्यं तद्विधेहि जरासन्धपीडां[1-] निवारयेत्यभिप्रायः[-1] ॥ ३१ ॥

दूत आह - **इतीति** ॥ ३२-३५ ।

1- -1 B.J. इत्यर्थः ।

**वीर०** किञ्च भवदीया वयमित्यस्मान् भृशं बाधत इत्याहुः **यो वा** इति। भो उदात्त चक्र! उद्यतसुदर्शन! द्विनवकृत्वः अष्टादशवारं त्वया सह मृधे युध्दे प्रवृत्ते सति तत्र सप्तदशकत्वो भग्नः पराजितः खलु पश्चादनन्तं वीर्यं यस्य तमपि नृलोकनिरतं मनुष्यचेष्टामनुवर्तमान मित्यर्थः। हेतुगर्भमिदम्। अतः त्वां सकृज्जित्वा प्राप्तदर्पः युष्मत्प्रजाः भवदीयान्नोऽस्मान् रुजति पीडयति, अतः शं सुखं विधेहि कुरु ॥ ३१ ॥

**इतीति**। श्लोको दूतवचनम्। दीनानां तेषां राज्ञां शं विधीयतां क्रियताम् ॥ ३२ ॥

अथ नारदागमनादिकं प्रस्तौति राजदूत इत्यादिना। राज्ञां दूते ब्रुवति सति परमा द्युतिर्यस्य सः बिभ्र द्विभ्राणः प्रियस्य भगवतः कर्माणि जन्म चगायन् तं कृष्णं संघान् सभ्यसंघांश्च प्रावयन् आर्द्रचित्तान् कुर्वन् भृशमितरलोकान् रमयंश्च आविरासीदिति सम्बन्धः ॥ ३३ ॥

**तमिति**। तं नारदं मृदा हर्षेण ववन्दे ॥ ३४ ॥

**सभाजयित्वेति**। यथाविधि सभाजयित्वा पूजयित्वा कृत आसनपरिग्रहो येन तं मुनिं श्रध्दया मधुरैः वाक्यैश्च तर्पयन् बभाषे ॥ ३५ ॥

**विज०** उदात्तं उन्नतं चक्रं सैन्यं यस्य स उदात्तचक्रः, आशु च आश्वेव तस्य प्रतिक्रियाम् ॥ ३१-३५ ॥

**अपिस्विदद्य लोकानां त्रयाणामकुतोभयम् ।**
**ननु भूयान्भगवतो लोकान्पर्यटतो गुणः ॥ ३६ ॥**

**नहि तेऽविदितं किञ्चित् लोकेष्वीश्वर कर्तृषु ।**
**अथ पृच्छामहे युष्मान् पाण्डवानां चिकीर्षितम् ॥ ३७ ॥**

**नारद उवाच**

**दृष्टा मया ते बहुला[1]दुरत्यया माया विभो विश्वसृजश्च मायिनः ।**
**भूतेषु भूमं[2] श्चरतस्स्वशक्तिभिः वह्नेरिव च्छन्नरुचो न[3] मेऽद्भुतम् ॥ ३८ ॥**

**तवेहितं कोऽर्हति साधु वेदितुं स्वमाययेदं सृजतो नियच्छतः ।**
**यद्विद्यमानात्म[4]तयाऽवसीयते[5] तस्मै नमस्ते स्वविलक्षणात्मने ॥ ३९ ॥**

**जीवस्य यस्संसरतो विमोक्षणं न जानतोऽनर्थ वहाच्छरीरतः ।**
**लीलावतारैःस्वयशः प्रदीपकं प्राज्वालयत्त्वां तमहं प्रपद्ये ॥४०॥**

1. B.G.J.K.M.Ma.T.W. °शो 2. M.Ma शश्वच्च° 3- -3 M. Ma योऽविद्ययानात्म 4. B.G.J. MI.V. °वभासने 5. M.Ma यस्य° 6. M. Ma जायनेऽ° 7- -7 M. Ma प्रज्वालयेः त्वं तदहं

**श्रीध० अपीति**। भूयान् महान् गुणो लाभो यदस्माकं सर्वलोक वृत्तान्त ज्ञानमिति ॥३६॥

**नेति**। ईश्वरः कर्ता येषां तेषु ॥३७॥

एवमविदुषेव भगवता सर्वज्ञेन जरासन्धवधार्थमेव पाण्डव चिकीर्षितं पृष्टो नारदो मायेयमिति ज्ञात्वाऽऽह त्रिभिः **दृष्टा** इति। विश्वसृजश्च ब्रह्मणोपि मायिनो मोहकस्य ते स्वशक्तिभिः विद्यादिभूतेष्वन्तर्यामितया चरतो वर्तमानस्य यद्यहं भूतेषु वर्ते तर्हि भूतानि मां किं न पश्यन्ति तत्राह - वह्नेरिव च्छन्नरुच इति स्वशक्तिभिरेव च्छन्ना रुक् प्रकाशो यस्य तस्य अतस्तवेदं प्रश्नादि न मेऽद्भुतम् ॥३८॥

**तवेति** इदं जगत् कथंभूतं अमदेव यत्तव मायया विद्यमानात्मतया अवभासते तज्जगत्सृजतः किन्तु केवलं ते तुभ्यं नमः तदेव शक्यमित्याह तस्मै नम इति कुतः स्वेन रूपेण सर्वतो विलक्षणात्मने अचिन्त्याय इत्यर्थः ॥३९॥

नन्वेवं भूतस्य किं माया चेष्टितैरित्यत आह **जीवस्येति**। अविद्या तमसा आवृतत्त्वेन अनर्थप्रापकात् शरीरात्संसरतः। तेनैव तमसा तस्माच्छरीराद्विमोक्षणोपायं अजानतः प्राज्वालयत् प्रदीपितवान्। तं त्वां यशःश्रवणादिभिः जीवस्य मोक्षार्थमित्यर्थः ॥४०॥

---

1- -1 B.J. अयमस्माकं

**वीर०** तदेवाह-अपिस्विदिति द्वाभ्याम्। अधुना लोकानां अकुतो भयं नकुतश्चिदपि भयं तत्रापि अपिस्वित् अभयं कच्चिदितीष्टप्रश्नः। ननु हे ब्रह्मन् ! लोकान्पर्यटतो भगवत स्त्वत्तः अस्माकमयं भूयान् महान् गुणः लाभः यत्सर्व लोक वृत्तान्तज्ञानमिति वाक्यशेषः ॥३६॥

**नन्विति**। ईश्वर कर्तृषु स्वकर्तृकेषु लोकेषु किञ्चिदपि तवाविदितं न, किन्तु सर्वं विदितमवेत्यर्थः। **अथातः युष्मान् प्रति पृच्छामहे ॥३७॥**

इत्थं सर्वज्ञेनाप्यविदुषेव जरासन्धवधार्थमेव पाण्डवचिकीर्षितं पृष्टो नारदः केवलमिदं जनव्यामोहनमिति ज्ञात्वा आह - **दृष्टेति** त्रिभिः। हे विभो! हे भूमन्! स्वशक्तितः सर्वज्ञत्वादि स्वशक्तिभिरेव सहभूतेष्वन्तरात्मतया चरतस्तव। अनेन पाण्डवादि चिकीर्षितं तव विदितमेवेत्यभिप्रेतम्। विश्वसृजो ब्रह्मणोऽपि मायिनः व्यामोहकस्य तव पाण्डवानां चिकीर्षितं पृच्छाम इत्येतत् दुरतिक्रमणीया माया मया दृष्टा व्यामोहनमात्रमेतदिति निश्चितमित्यर्थः। बहुशो दुरत्ययेत्यनेन त्वत्प्रपन्नैः स्वत्त्ययैवेति सूचितम्। यद्वा बहुशो दृष्टेति सम्बन्धः। यथा मह्यं योगमायोदयः प्रदर्शितः तद्वदयं प्रश्नोऽपीति भावः। ननु भूतेषु चरामि तैः किं न दृश्य इत्यतो विशिनष्टि - भस्मना वह्नेरिति। वह्नेः च्छन्नाः गूढाः स्वप्रकाशो यस्य तवेति सम्बन्धः अतस्तवेदं प्रश्नादिकं मम नाद्भुतम् इत्यर्थः ॥३८॥

पाण्डव वृत्तान्त प्रश्न व्याजेन मागध जिघांसैवाभि प्रेतेत्यपि न निश्चेतुं शक्नुम इत्यभिप्रयन्नाह-**तवेति**। ईहित मभिप्रेतं साधु यथावद्वेदितुं[1-1] कोवाऽर्हति नकोपीत्यर्थः। तत्र हेतुत्वेन तं विशिनष्टि - स्वमायया स्वसङ्कल्पेन इदं जगत्सृजतः नियच्छतोऽन्तरात्मतया प्रशासितुश्च तवेति सम्बन्धः। त्वत्सृज्यस्त्वन्नियाम्यश्च अयं जनः कथं वक्तुमर्हतीति भावः। किन्तु यद्विद्यमानात्मतया यस्मिन् त्वयि विद्यमान आत्मा भावो अभिप्राय इति यावत्, तत्त्वेन अवसीयते निश्चीयते मयेति शेषः। यस्य तवायमेवाभिप्राय इति मया निश्चीयत इत्यर्थः। स्वेन स्वसाधारणस्वभावेन सर्वस्माद्विलक्षण आत्मा स्वरूपं यस्य तस्मै तुभ्यं नमः केवलं नमस्करोमि नत्वीहितं निश्चेतुं शक्नोमीतिभावः ॥३९॥

यद्यप्येवम्, अथापि त्वदवतारः केवलं साधुपरित्राणाय दुष्कृद्विनाशाय च इत्येतत्तु निश्चिनोमीत्यभिप्रयन् प्रपद्यते जीवस्येति। यो भवान् संसरतः अनर्थवहात् दुःखावहाच्छरीरान्मोक्षणं मोक्षणोपाय मजानतश्च जीवस्य स्वयश एव प्रदीपस्तं लीलावतारैः प्राज्वालयन् सन्दीपितवान्, तं त्वामहं शरणं प्रपद्ये मुक्त्युपाय मजानतः संसरतो जीवस्य यथाऽन्ध तमसावृतघटपटादी न जानतः तज्ज्ञानोपाय भूत प्रदीप प्रज्वलनं तद्वत् शृण्वतोऽनुस्मरतः कथयतश्च मुक्त्युपायभूतं यशो विस्तृतवानित्यर्थः ॥४०॥

---

1- -1 B यथा तथा तद्वे°

**विज०** अद्य त्रयाणां लोकानां अकुतोभयं अपिस्वित् कुतोपि भयं नास्ति हि। लोक कुशलाकुशल जिज्ञासया पर्यटतो भवतो महान् गुणो भवतीत्याह-नन्विति ॥३६॥

पक्षिवत्पर्यटताऽज्ञेन मया किं प्रयोजनमत्राह-न हीति। ईश्वरः कर्ता येषां ते तथा तेषु अथ तस्मात् ॥३७॥

मायामाहात्म्यानि मायिनः नित्याव्याहतमाहात्म्यस्य दारुषु च्छन्नरुचः वेद्मे रुच इव तवरुचोत्यद्भुता अचिन्त्याः ॥३८॥

वह्नेः रुचो मथनादिना व्यज्यन्ते, न तथा तव रुच इति भावेनाह - **तवेति**। कुतो निर्वेदनमिति तत्राह - य इति। यो भवानविद्ययाऽज्ञानेनात्मतया अस्वामितया अवसीयते निश्चीयते शरीरिभिरिति शेषः इति यदतो वेदनं दुःशकमित्यर्थः तर्हि तत्सत्यं किं नेत्याह - स्वेति। स्वतो विलक्षण स्वरूपाय तस्मात्स्वामित्वमेव सत्यमिति। तत्र अज्ञानमेव कारणमित्यर्थः। स्वरूपतो विरुद्ध लक्षण स्वामिने कदात्यनुपहत स्वामिन इत्यर्थः इति वा ॥ ३९ ॥

अज्ञानं मां कदापि न स्पृशेत् प्रत्युत ज्ञानमेव नित्यं प्रज्वलितं भूयादिति प्रार्थयते जीवस्येति। अज्ञानतः संसरतो जीवस्यानर्थवहाच्छरीरतो विमोक्षणं न जायत इति यत् तस्मात् एतद्देह हानाय लीलावतारैः त्वं वयशः प्रदीपकं ज्ञानं प्रज्वालयेस्तदर्थमहं शरणं प्रपद्ये इत्यन्वयः। अनेन लीलावतार विषया ज्ञानं दूरीकृत्य तत्त्वज्ञानमेव विकसितं कुरु इत्युक्तं भवति ॥ ४० ॥

**अथाप्याश्रावये ब्रह्मन् नरलोक विडम्बनम्[1]।**
**राज्ञः पैतृष्वसे यस्य भक्तस्य च चिकीर्षितम् ॥ ४१ ॥**

**यक्ष्यते[2] त्वां मखेन्द्रेण राजसूयेन पाण्डवः।**
**नृपतिः पारमेष्ठ्येऽप्सु[3-] तद्भवाननुमोदताम्[-3] ॥ ४२ ॥**

**तस्मिन् देवक्रतुवरे भवन्तं[4-] वै सुरादयः[-4]।**
**दिदृक्षवस्समेष्यन्ति राजानश्च यशस्विनः ॥ ४३ ॥**

**श्रवणात्कीर्तनाद्ध्यानात्पूयन्तेऽन्त्यावसायिनः[5] ।**
**तव ब्रह्म मयस्येश किमु तेक्षाभिमर्शिनः[6] ॥ ४४ ॥**

**यस्यामलं दिवि यशः प्रथितं रसायां**
**भूमौ च ते भुवनमङ्गलदिग्वितानम्[7-] ।**
**मन्दाकिनीति दिवि भोगवतीति चाधो**
**गङ्गेति चेह चरणाम्बु[-7] पुनाति विश्वम् ॥ ४५ ॥**

---

1. M.Ma देव 2. B.G.J.K.T.W. °ति 3- -3 B.G.J.MI.V. पारमेष्ठ्यकामो नृपति ; M.Ma नृपतिः पारमेष्ठ्येन 4- -4 K.T.W Omit 5. B.G.J. K.T.W. °ऽन्तेव° ; MI. V. °ऽ न्ताव° 6. MI.V. तत्र 7- -7 M.Ma अमल यशोऽथ दिशान्वितानम्। मन्दाकिनी च तव पादरजो वहोर्मिः श्रीमत्पदास्पद गताऽ

**श्रीध० अथेति**। आश्रवये श्रावयिष्यामि नरलोकविडम्बनं ब्रह्मत्वां ब्रह्मन्निति पाठेऽपि हे ब्रह्मन् परमात्मन् नरलोकानुकारिणं त्वां श्रावयिष्यामीति ॥४१, ४२॥

न चात्रैवानुमोदनं कार्यं किन्तु तत्रागन्तव्यमित्याशयेनाह - **तस्मिन्निति** ॥४३॥

तत्रागताश्च सर्वे त्वद्दर्शनादिना पूता भविष्यन्तीत्याह - **श्रवणादिति**। अन्तावसायिनः श्वपचा अपि ब्रह्ममयस्य वेदमूर्तेः ईक्षा च अभिमर्शश्च स्पर्शनं ते विद्येते येषां ते ॥४४॥

कैमुत्यमतिशयेनाह - यस्येति। हे भुवनानां मङ्गलरूप दिवि पाताले भूमौ च प्रथितम्। यस्य यशः विश्वं पुनाति कथम्भूतं प्रथितं दिग्वितानन्दिशां भुवनानां वितानवदलङ्करणं तथा चरणाम्बु च प्रथितं पुनाति। कथं तत्प्रथितं दिवि मन्दाकिनीति अधश्च भोगवतीति इह च भूमौ गङ्गेति तस्य तव आगमनात्सर्वं पवित्रं मङ्गलं च भविष्यतीति भावः ॥४५॥

**वीर० अथापीति**। यद्यप्येवमथापि नरलोकं विडम्बयत्यनुवर्तत इति तथा तं त्वां प्रति राज्ञो युधिष्ठिरस्य चिकीर्षितं श्रावये ॥४१॥

किं तदित्यत आह - **यक्ष्यतीति**। पाण्डवो युधिष्ठिरः राजसूयाख्येन मुखश्रेष्ठेन त्वा माराधयिष्यति तत्तदभिप्रेतं भवाननुमोदतां त्वया निर्वर्त्यतामित्यर्थः अतः तत्र गम्यतामिति भावः, तद्व्याजेन शिशुपालादि वधोऽपि भविष्यतीत्यभिप्रयन्नाह - दिदृक्षव इति। यशश्विनः प्रसिद्धा राजानश्चैद्यादयो दिदृक्षवो राजसूयमिति शेषः। समेष्यन्ति आगमिष्यन्ति ॥४२, ४३॥

तत किमिति आह - श्रवणादिति। अन्तेवसायिनः चण्डालादयोऽपि साक्षात् परब्रह्म भूतस्य तव नामश्रवणादि भिरपि काम क्रोध भयादि कृतैः पूयन्ते किमुत अक्ष्णा अभिमृशन्ति विषयीकुर्वन्तीति तथा ते शिशुपालादयः पूयन्त इति किमु वक्तव्यम्। त्वां पश्यन्तो हठाच्च मुक्ता भवन्तीति भावः ॥४४॥

कैमुत्यनयेन भङ्ग्यन्तरेणाह - **यस्येति**। हे भुवनानां मङ्गलरूप! दिवि पाताले भूमौ च प्रथितं प्रख्यातं यस्य तव यशो विश्वं पुनाति। कथं प्रथितं दिग्वितानं दिशां वितानं [1]उल्लोचवदलङ्करणं तथा चरणाम्बु [2]पुनाति प्रथितं कथं[-2] प्रथितम्? दिवि मन्दाकिनीति, अधः पाताले भोगवतीति इहलोके गङ्गेति च ॥४५॥

---

1. K. चः तद्वद° 2- -2 B.Omits

**विज०** यतः त्वत्प्रसादादस्मदादेर्विज्ञानं तत्र किंचिदपि विज्ञाप्यं न पश्यामि, अथापि तथापि अशेष पुरुषार्थ प्राप्तौ भगवद्भक्तेः मुख्य हेतुत्वेऽपि नर देवानां विडम्बनं यज्ञकरणम् ॥४१॥

पारमेष्ठ्येन उत्तमकल्पेन ब्रह्मपदप्राप्ति हेतुना वा ॥४२, ४३॥

अन्त्यावसायिनः अन्त्यजातयोऽपि ईक्षा दर्शनमभिमर्शनं स्पर्शनादि लक्षणं चैषां इतीक्षाभिमर्शिनः ॥४४॥

उक्तिमेव स्फोरयति - **यस्येति**। हे अमल यशः। मङ्गलकर्त्तन! यस्य तवाथ कल्याणमत एवामलं निर्दोषं यशः विश्वं पुनाति। ननु मितत्वे यशसो विश्वपुनानत्वं कथमित्यत उक्तं दिवीत्यादि घटान्तर दीपवत् अस्पष्टस्यापि कथं इत्यत उक्तम् - दिशां वितानमिति। दिशामन्तेषु विशेषेण तानाविस्तारो यस्य तत्तथा। तथापि न चोरवदित्याह - प्रथितमिति। अथ जन्मप्रभृति श्रीमत्पादलक्षणास्पदं गता तव पादरजो वहोर्मिर्मंदाकिनी च विश्व पुनाति अतः तव माहात्मयं किं वक्ष्यामीत्यतो नमो नम इत्युपरमामीति वाक्यार्थः ॥४५॥

**श्रीशुक उवाच**

**★ तत्र त्येष्वात्मपक्षेषु[1-] विगृह्णत्सु[-1] जिगीषया[2] ।**
**वाचः पेशैः स्मयन् भृत्यमुद्धवं प्राह केशवः ॥४६॥**

**श्रीभगवानुवाच[3-] [-3]**

**त्वं हि न परमं चक्षुस्सुहृन्मन्त्रार्थ तत्त्ववित् ।**
**अथात्र[4] ब्रूह्यनुष्ठेयं श्रद्दधा[5] करवाम तत् ॥४७॥**

**श्रीशुक उवाच[6-] [-6]**

**इत्युपामन्त्रितो भर्त्रा सर्वज्ञेनापि मुग्धवत् ।**
**निदेशं[7] शिरसाऽऽधाय उद्धवः प्रत्यभाषत ॥४८॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे सप्ततितमोऽध्यायः ॥७०॥

---

★ इत आरभ्य त्रयः श्लोकाः M. Ma प्रकाशेषु न दृश्यन्ते। 1- -1 B.G.J. तेष्वात्मपक्षेष्व ; MI. V. तेष्वात्मनः पक्षेष्व 2. B. °णा° 3- -3 K. MI. T.V.W. Omit 4. K. अतो° ; B.J. तथा° 5. B.G.J.K.T.W. श्रद्धध्मः 6- -6 B.G.J. MI.V. Omit 7. MI. V. सन्देशं

**श्रीध० तत्रेति**। तत्रैवं नारदेनोक्त तेषु तत्र वर्तमानेष्वात्मीय पक्षेषु यादवेषु जरासन्धस्य जिगीषया अगृह्णत्सु अननुमन्यमानेषु सत्सु वाचः पेशैः पेशल वाग्भिरित्यर्थः ॥४६॥

**त्वमिति**। चक्षुष्ट्वे हेतुः - मन्त्रार्थानां मन्त्र साध्यानां अर्थानां तत्त्ववित् परिपाकवेदिता ॥४७, ४८॥

इति श्रमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां सततितमोऽध्यायः ॥७०॥

**वीर० तत्रत्येष्विति**। इत्थं श्रुत राजवृत्तान्त युधिष्ठिर वृत्तान्तेषु[1-] सभास्येष्वात्मपक्षेषु यदुषु जिगीषया प्रगृणत्सु मागधजिगीषा मुत्पादयितुं प्रगृणत्सु तावन्मागधं प्रत्येव गन्तव्यमित्येवं वदत्सु सत्स्वित्यर्थः। वाचः पेशैः मृदुवचोभिः उध्दवं प्राह ॥४६॥

तदेवाह-**त्वं हीति**। **हि** यस्मात् त्वं नोऽस्माकं चक्षुस्तत्स्थानीय इत्यर्थः। सुहृत् मन्त्रार्थानामालोचन साध्यानां अर्थानां तत्त्वं याथात्म्यम् वेत्तीति तथा च अतोऽत्राधुना यदनुष्ठेयं कर्तव्यं यत् तद्ब्रूहि तत् भवदुपदिष्टं कर्तव्यमर्थं श्रद्दध्मः विश्वसिमः करवाम च ॥४७॥

**इतीति**। इत्थं सर्वज्ञेनापि भर्त्रा भगवता मुग्धवदज्ञेनेव। उपामन्त्रितः मन्त्रार्थं प्रचोदितः उद्धवः सन्देशमाज्ञां शिरसा आधाय ऊढ्वा प्रत्यभाषत प्रत्युत्तरं ददावित्यर्थः ॥४८॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां सततितमोऽध्यायः ॥७०॥

---

1- -1 K. मन्त्रेषु

# एक सप्ततितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या एकोनाशीतितमोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

इत्युदीरितमाकर्ण्य देवर्षेरुद्धवोऽब्रवीत् ।
सभ्यानां मतमाज्ञाय कृष्णस्य च महामतिः ॥ १ ॥

उद्धव उवाच

यदुक्तमृषिणा देव साधिव्यं यक्ष्यतस्त्वया ।
कार्यं पैतृष्वसे[1] यस्य रक्षा च शरणैषिणाम् ॥ २ ॥

यष्टव्यं राजसूयेन दिक्[2-] चक्र[-2] जयिना विभो ।
★ पूर्वं गन्तव्यमस्माभिः इन्द्रप्रस्थ मितः प्रभो ॥

तत्रैव तदनु ज्ञात स्तदर्थं जहि मागधम् ।
तत[3]ो जरासन्ध[4-] वध[-4] उभयार्थो मतो हि[5] नः ॥ ३ ॥

अस्माकं च महानर्थो ह्यनेनैव[6] भविष्यति ।
यशश्च तव गोविन्द राज्ञो बन्धाद्विमुञ्चतः[7] ॥ ४ ॥

स वै दुर्विषहो राजा नागायुतसमो बले[8] ।
बलिनामपि चान्येषां भीमं[9-] समबलं[-9] विना ॥ ५ ॥

---

1. B.J. °स्रे 2- -2 K.T.W. दिशश्च ★ These Two half verses begining with पूर्वं and ending with मागधम् are found only in KTW editions

3. B.G.J.M.Ma.T.W. अतो 4- -4 B.G.J.K.T.W. सुतजयः सुतवधः ;M.Ma. 5. B.G.J. मम ;K.M.Ma.T.W. हि मे । 6. B.G.J.K.M.Ma.T.W. °ह्येनैव

7. B.G.J. बध्दान्वि°, 8. M.Ma ०ब्यतः 9- -9 K.T.W. भीममुग्र°, M.Ma भीमसेन°

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

अथैक सप्ततितमे ह्युद्धवस्य तु मन्त्रतः। इन्द्रप्रस्थं गते कृष्णे पार्थानां परमोत्सवः ॥

राजसूयमिषं कृत्वा भीमदुर्योधनादिषु। कलिमुत्पाद्य तद्द्वारा भूभार महरत्प्रभुः ॥

**इतीति**। देवर्षेर्मतं राजसूय गमनं सभ्यानां मतं राज रक्षा। कृष्णस्य तु उभयम् ॥ १ ॥

**यदिति**। यक्ष्यतः यागं करिष्यतः पैतृष्वसेयस्य पितृष्वसुः पुत्रस्य साचिव्यं साहाय्यं तच्च कार्यं तथा शरणार्थिनां राज्ञां रक्षा च कार्या ॥ २ ॥

तत्र प्रथम राजसूयार्थं गन्तव्यं ततो राज रक्षा च कर्तव्येत्याह अष्टभिः श्लोकैः **यष्टव्यमिति**। ततः दिग्विजयहेतोः उभयार्थः राजसूयार्थः शरणागतराजरक्षणार्थश्च ॥ ३, ४ ॥

अत्युत्सुकतया सद्य एव जरासन्धं हन्तुमिच्छतो यादवानालक्ष्याह - **स** इति। अन्येषां ततो बलिनामपि यद्यपि सम बल एव भीमः तथापि तं विना भीमादेव तस्य मृत्युर्विहित इति भावः ॥ ५ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

न,आत्मपक्षवत् भगवदभिप्रायानभिज्ञः प्राह। किन्तु तदभिप्रायं जानन्नेव प्रत्यभाषतेत्याह - **इतीति**। तावत्सभ्यानां मतम्। जरासन्ध वधार्थमेव गन्तव्यमित्येवंविधमभिमतं ज्ञात्वा ततः कृष्णस्य मतं राजसूय याजनार्थमेव गन्तव्यमित्येवं मतं ज्ञात्वा प्राह - तत्र हेतुत्वेन विशिनष्टि महती श्रेष्ठा सूक्ष्मा मतिर्यस्य सः ॥ १ ॥

उक्तिमेवाह **यदित्यादिना**। ऋषिणा नारदेन यदुक्तं यागं करिष्यतः पैतृष्वसेयस्य पितृष्वसुः पुत्रस्य साचिव्यं साहाय्यं कर्तव्यमिति तदपि कार्यं कर्तव्यमेव तथा शरणार्थिनां राज्ञां च रक्षा कर्तव्या ॥ २ ॥

तत्र तावत् राजसूयार्थं गन्तव्यं ततो राजरक्षा कर्तव्येत्याह **यष्टव्यमित्याद्यष्टभिः**। दिशश्च जयिना चशब्देन यक्ष्यमाणेन चेत्यस्य सङ्ग्रहः तेन युधिष्ठिरेण कर्त्रा राजसूयेन यष्टव्यं तावत् तत्साचिव्यमेव कार्यमिति भावः। दिशश्च जयिनेत्यनेन राजसूयस्य दिग्विजयपूर्वकत्वं तद्दशायामेव राज रक्षा च कृता भवतीत्युभयमभिप्रेतम्। पूर्वं प्रथम-मस्माभिः इतो द्वारकातः इन्द्रप्रस्थं प्रति गन्तव्यम्। दिशश्च जयिनेत्यनेनाभिप्रेतं विशदयति तत्रैवेति। तत्र इन्द्रप्रस्थे युधिष्ठिरेणानुज्ञात एव तदर्थं युधिष्ठिरप्रयोजनाय मागधं जहि घातय ततो दिग्विजय हेतोः जरासुतजयः उभयार्थः राजसूयार्थः शरणागत रक्षार्थश्चेति मया मतः बुद्धः ॥ ३ ॥

अनेनैव राजसूयार्थं गमनेनैव महान् सर्वोपि सिपाधयिषतोऽर्थो भविष्यति। हे गोविन्द! राज्ञो नृपान् बन्धात् विमुञ्चतः विमोचयतः तव यशश्च भविष्यति ॥४॥

अत्युत्सुकतया प्रथममेव जरासन्धेन सह युयुत्सून् यदून् आलक्ष्याह-**स वा** इति। स वै जरासुतः गजानां अयुतेन तुल्यं बलं यस्य सः, उग्रं बलं यस्य तं भीमं विना अन्येषामपि बलिनां दुःखेनापि सोढुमशक्यः भीमादेव तस्य मृत्युर्विहित इति भावः ॥५॥

---

1. B. जयार्थ

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

एकान्तभक्तानां भक्त्यतिशयजननाय हरेः बन्धुकृत्याचरण लक्षण माहात्म्यं कथयति। तत्रादौ कृष्णाकटाक्ष सूचित तत्कार्य विशेष उध्दवः स्वां नीतिं वक्ति **इतीति** ॥१॥

तद्भवाननुमोदतामिति देवर्षिणा यदुक्तं तस्यायमभिप्रायः हे देव! त्वया यक्ष्यतः यागं करिष्यतः पैतृष्वसे यस्य युधिष्ठिरस्य साचिव्यं साहाय्यं कार्यं कर्तव्यमिति किं च शरणैषिणां राज्ञां रक्षा च कार्या ॥२॥

कार्यद्वयसाधनोपायं वक्ति **यष्टव्यमिति**। तेन राज्ञा राजसूयेन यज्ञेन यष्टव्यं न ऋष्यादिनेव यागमात्रेण तथापीत्थं कृतेन भाव्यमित्याह दिक् चक्रेति। दिग्मण्डलं जितवता तन्नामृत्वा जरासन्धः करं न ददातीति यदतो जरासुतवध उभयेषामर्थः प्रयोजनम् ॥३॥

युधिष्ठिर कार्यं सिद्धवत् कृत्वा स्वकार्यमभिष्टौति **अस्माकमिति**। एतेन जरासन्धवधेन विमुच्यतः विमोचयतः ॥४॥

दुर्बलैःदुर्विषहोऽस्तु बलिनां सुविषह इत्यत उक्तं बलिनामिति। तर्हीदं दुःखसाध्यं नेत्याह भीमसेनेति ॥५॥

**द्वैरथे स[1] तु जेतव्यो न[2] शताक्षौहिणी युतः[3]।**
**ब्रह्मण्योऽभ्यर्थितो विप्रैर्न प्रत्याख्याति कर्हिचित् ॥६॥**

**ब्रह्मवेषधरो गत्वा[4] तं भिक्षेत वृकोदरः ।**
**हनिष्यति न सन्देहो द्वैरथे[5] तव सन्निधौ ॥७॥**

निमित्तं[6] परमीशस्य विश्वसर्ग निरोधयोः ।
हिरण्य गर्भश्शर्वश्च कालस्यारूपिण स्तव[7] ॥८॥

गायन्ति ते विशद कर्मगृहेषु देव्यो राज्ञां स्वशत्रुवधमात्म विमोक्षणं च ।
गोप्यश्च कुञ्जरपते र्जनकात्मजायाः पित्रोश्च लब्ध शरणा मुनयो वयञ्च ॥९॥

जरासन्धवधः कृष्ण भूर्यर्थायोपकल्प्यते ।
प्रायः पाकविपाकेन[8] तव चाभिमतः क्रतुः ॥१०॥

---

1. K.T.W. न तु, 2. B.G.J. मा शता° ; K.T.W. न तथा 3. K.T.W. शतैः । 4. M.Ma भूत्वा 5. K.T.W. °थं 6. M. Ma °त्त मात्रमी° 7. M. Ma °ख्या° 8. K.T.W. कर्म ; M.Ma काल

**श्रीध०** ननु स्वबलसाम्येऽपि सेना बलं तस्याधिकमिति चेदत आह **द्वैरथ** इति । द्वैरथे द्वन्द्व युध्दे शतेनाक्षौहिणीभिर्युतो हि न जेतव्य इत्यर्थः । नन्वसौ स्वसैन्यमेव युद्धाय नियुञ्जीत कुतस्तेन द्वैरथमिति तत्राह - **ब्रह्मण्य** इति । न प्रत्याख्याति न निराकरोति ॥६॥

**ब्रह्मेति** । भिक्षेत द्वन्द्वयुद्धं याचतां तथापि समबलत्वात् साम्यमेव स्यादत आह - तव सन्निधाविति ॥७॥

ननु अकिञ्चित्कुर्वतो मम सन्निधानात् किं स्यात् अत आह - **निमित्तमिति** । अयमर्थः यथा तव अरूपस्य कालात्मनः विश्वसर्गे निमित्तं केवलं हिरण्यगर्भः तथा शर्वश्च तन्निरोधे तदा त्वमेव सन्निधिमात्रेण हन्ता भीमसेनो निमित्तमात्रमिति ॥८॥

अतोऽनेनोपायेन त्वया शीघ्रं हन्तव्य इत्याशयेनाह - **गायन्तीति** । जरासन्ध निरुद्धानां[1] राज्ञां देव्यः पत्न्यः । ते विशदं कर्म स्वगृहेषु बालक लालनादौ गायन्ति । किं तत्कर्म? स्वशत्रोः जरासन्धस्य वधं, आत्मनां पतीनां विमोक्षणं च । वत्स! मा रोदीः श्रीकृष्ण एवं करिष्यातीति अत्र दृष्टान्ता गोप्यश्चेत्यादयः । यथा गोप्यः शङ्खचूडवधं स्वमोक्षं च गायन्ति अवतारान्तरगतं च कुञ्जरपतेः नक्रात् । जनकात्मजायाः रावणात्, पित्रोश्च कंस गृहात् मोक्षं, अत एवम्भूतानां तासां कृपया त्वया तथैव कर्तव्यमिति भावः ॥९॥

किञ्च **जरासन्ध वध** इति । भूर्यर्थायेति । ततः शिशुपालवधादयोऽपि सुखसाध्या भविष्यन्तीति भावः । एतच्च सर्वं भविष्यत्येवेति सम्भावयन्नाह - प्राय इति । पच्यत इति पाकः कर्म तस्य विपाकः फलं तेन राज्ञां

पुण्यविपाकेन। पापविपाकेनेति पाठान्तरे जरासन्धादीनां पापविपाकेनेति। तेनायं क्रतुस्तवाभिप्रेतः तत्र गते त्वयि सर्वं भविष्यतीत्यर्थः ॥१०॥

---

1. B.J. धृतानां

**वीर०** किञ्च **द्वैरथेनेति**। द्वैरथेन द्वन्द्वयुद्धेनैव स जेतव्यः, न तथा अक्षौहिणीनां शतैरपि, नन्वपरिमित सैन्यपरिवृतेन सह भीमस्य कथं द्वन्द्वयुद्धं भविष्यतीत्यत आह - ब्रह्मण्य इति। सत्वित्यनुषज्यते, स जरासन्धः ब्रह्मण्यः। अतो विप्रैः याचितो न प्रत्याख्याति ॥६॥

ततः किमत आह - ब्रह्मवेषधरः वृकोदरः भीमः विप्रवेषं दधत् गत्वा तं जरासुतं भिक्षेत, द्वन्द्वयुद्धमिति शेषः। ततोऽपि किमत आह हनिष्यतीति। द्वैरथं द्वन्द्वयोधिनं मागधं हनिष्यति सोप्यतिबलस्तं कथं [1] हनिष्यतीत्यत उक्तं तव सन्निधाविति। तव सान्निध्यप्रभावाद्धनिष्यति [2] [3] इति भावः ॥७॥

नन्वकिञ्चित् कुर्वतो मम सन्निधिना किं स्यादत आह - **निमित्तमिति** विश्वस्य सर्ग निरोधयोः उत्पत्तिप्रलययोः त्वं परं निमित्तं आदिकारणं अतो भीमरूपेण त्वमेव हनिष्यसीति भावः। यद्यहं परं निमित्तं किं तर्ह्यवान्तरं निमित्तमत आह हिरण्यगर्भ इति। कालस्य कालशरीरकस्य अरूपिणः प्राकृतरूप रहितस्य सर्वस्रष्टुः सर्व संहर्तुश्च तव हिरण्यगर्भः। शर्वश्च तवेत्यंशांशि भावसम्बन्धे षष्टी। विश्वसर्ग निरोधयोः, अवान्तरकारणमिति शेषः ॥८॥

कोऽसौ तद्वधादस्माकं लाभः तत्राह **गायन्तीति**। राज्ञां मगधरुद्धानां देव्यः पत्न्यः स्वगृहेषु बालकलालनादौ स्वशत्रोः जरासन्धस्य वधं आत्मनां आत्मवज्जीवन हेतुभूतानां पतीनां विमोक्षणं च इत्येवं विधं तव विशदं निर्मलं कर्म चेष्टितं गायन्ति गास्यन्ति। तत्र दृष्टन्त माह - गोप्यश्चेति। अस्य यथेत्यादिभिः यथा गोप्यः शङ्खचूडवधं स्वमोक्षणं च गायन्ति। यथा च अवतारान्तरगतं नक्राक्रुञ्जरपतेर्गजेन्द्रस्य विमोक्षणं, यथा वा रावणात् जनकात्मजायाः विमोक्षणं, "यथा च पित्रोः देवकीवसुदेवयोः कंसाद्विमोक्षणं", लब्धशरणाः प्रपन्नाः मुनयः अस्मदादयश्च गायन्ति तद्वदित्यर्थः ॥९॥

किञ्च **जरासन्धवध** इति। हे कृष्ण! भूर्यर्थाय अनेक प्रयोजनाय कल्पते ततः चैद्यादयोऽपि सुखसाध्या भविष्यन्तीति भावः, ततश्च राजसूयार्थ गमनेनैव सर्वं सम्पस्यत इत्यभिप्रयन्नाह - प्राय इत्यादि। कर्मविपाकेन, इत्यस्य राज्ञामित्यादिः विपच्यत इति विपाकः फलं प्रायशो जरासन्धनिरुद्धानां राज्ञां कर्मणः पुण्यस्य फलेन हेतुना। क्रतुः राजसूयस्तव च। चशब्दाद्युधिष्ठिरस्याप्यभिमतः, अतस्तावत् तत्रैव गन्तव्यमिति भावः ॥१०॥

---

1. B.K. add भीम एव 2. B.K. "वादेव हनि" 3. B.K. add न तु स्वबलप्रभावात् इति भावः।

**विज०** द्वैरथे द्वन्द्वयुद्धे तत्रोपायमाह ब्रह्मण्य इति ॥६॥

"तीक्ष्णश्चैव प्रचण्डश्च वृको नामानलो मतः। स पाण्डवस्य जठरे तेन भीमो वृकोदरः" इति हनन निश्चये को हेतुरित्यत उक्तं तवेति। त्वया सह गन्तव्यं तदर्थमित्यर्थः ॥७॥

तत्कुत इति तत्राह **निमित्तमात्रमिति**। काल इत्याख्या रूपं संज्ञारूपमस्यास्तीति कालाख्यरूपी तस्य ॥८॥

हे कृष्ण! तत्रेदं कर्म लोकक्षेम करमिति भावेनाह **गायन्तीति**। राज्ञां देव्यः महिष्यः चशब्दाद्देव्यः गृहेषु ते तव इदं कर्म गायन्ति। इदमिति किं तत्राह स्वशत्रिति। आत्मनः स्वामिनो निरोधात् मोक्षणं कथं गायन्ति इत्यतो लुप्तोपमामाह **गोप्य** इति। चशब्दो यथा वचनः गोप्यः यथा कुञ्जरपतेः गजेन्द्रस्य नक्राद्विमोक्षणं नक्राख्यवधञ्च। यद्वा कुवलयापीडस्य आत्मविमोक्षणं शरीरवियोगलक्षणं मरणं, चाणूरादिस्वशत्रुवधं च जनकात्मजायाः सीतायाः रावण बन्धाद्विमोक्षणं रावणाख्य शत्रुवधञ्च, मुनयो वाल्मीक्यादयः वयं च तथा पित्रोः देवकी वसुदेवयोः कंसविहित श्रृङ्खलायाः विमोक्षणं, कंसाख्य शत्रुवधं गायामस्तथेत्यर्थः। देव्यो देवस्त्रियो गृहेषु विमानेषु स्थित्वा मोक्षणमित्यादि वा ॥९॥

किं बहुनोक्तेनायं जरासन्धवधो अनेक प्रयोजनोपेत इत्याह - **जरासन्धेति**। भूभारहरणार्थं त्वेनावतीर्णत्वात् तत्र कालान्तरे दुर्योधनादि भारावरोपण हेतुत्वेनाभिमतः क्रतुरित्याह प्राय इति ॥१०॥

**श्रीशुक उवाच**

**इत्युद्धववचो राजन् सर्वतो भद्रमच्युतम्[1]।**
**देवर्षिर्यदुवृद्धाश्च कृष्णश्च[2] प्रत्यपूजयन् ॥११॥**

**अथादिशत्प्रयाणाय भगवान् देवकीसुतः ।**
**भृत्यान् दारुकजैत्रादीन् अनुज्ञाप्य गुरून् विभुः ॥१२॥**

**निर्गमय्य[3-] वरोधान्[-3] स्वान्[4-] ससुतान्[-4] सपरिच्छदान् ।**
**सङ्कर्षण मनुज्ञाप्य यदुराजं च शत्रुहन्[5]।**
**सूतोपनीतं स्वरथं आरुहद्गरुडध्वजः[6] ॥१३॥**

**पुरो[7] रथद्विपभटसादि नायकैः करालया परिवृत आत्मसेनया[8] ।**
**मृदङ्ग भेर्यानकशङ्खगोमुखैः, प्रघोष घोषत्[9-] ककुभो[-9] निराक्रमत् ॥१४॥**

10- -10
**प्रियाश्च काञ्चन शिबिकाभिरच्युतं, सहात्मजाः पतिमनु सुव्रता ययुः ।**
**वराम्बराभरण विलेपनस्रजस्सुसंवृता नृभिरसि चर्मपाणिभिः ॥१५॥**

---

1. K.M.Ma.T.W. °नः 2. K.M.Ma.T.W. रामश्च 3- -3 M.Ma स निर्गम्या° 4- -4 M.Ma °तू स्वात्, 5. M. Ma शत्रुहा, 6. K.T.W. आरोह° 7. B.G.J.K.M.Ma.T.W. °जम्. 8. B.G.J.K.M.Ma.T.W. ननो 9- -9 M.Ma मङ्घुष्टया वै ; B.J. प्रघोष घोषित् ; G. प्रघोष घोषितः ; T.W. प्रघोष घोषाः 10- -10 B.G.J.MI.V. नृवाजि काञ्चन ; K.T.W. ग्यवाजि काञ्चन

**श्रीध० इतीति**। अच्युतं उपपत्त्या दृढं, यदुवृध्दा इत्यनेन अनिरुध्दादयस्तथा नापूजयन्निति सूचितम् ॥११॥

**अथेति**। अनुज्ञाप्य अनुज्ञां प्रार्थ्य, गुरून् वसुदेवादीन् ॥१२॥

**निर्गमय्येति**। अवरोधान् दारान् निर्गमय्य प्रयाणं कारयित्वा ॥१३॥

**पुर** इति। भटाः पदातयः, सादिनः अश्वारोहाः, रथादि नायकैः करालया तीव्रया आत्मसेनया परिवृतो निराक्रमत् निरगात् पुरम्यकाशात[1] मृदङ्गादिभिः वाद्यैः प्रघोषेण घोषितायाः ककुभः ॥१४॥

**नृवार्जाति**। नरयानैः अश्वैः काञ्चनशिबिकाभिश्च अच्युतं पतिमनुययुः। सुव्रताः पतिव्रताः वराण्यम्बरादीनि यासां ताः ॥१५॥

---

1. B.J. कुतस्म°

**वीर० इतीति**। सर्वतः भद्रं शुभावहं उद्धवस्य वचः श्रुत्वा अच्युतादयस्सर्वे प्रत्यपूजयन् अन्वमोदन्त ॥११॥

**अथेति**। दारुकः जैत्र एवादिः येषां तान् भृत्यान् आदिशत् आज्ञापयामास। गुरून् वसुदेवादीन् प्रति अनुज्ञाप्य अनुज्ञां प्रार्थ्य निर्गमय्येत्युत्तरेण सम्बन्धः ॥१२॥

**निर्गमय्येति**। सुतैस्सहितान् परिच्छदैः परिकरैः सहितान् स्वान् अवरोधान् दारान् निर्गमय्य पुराद्बहिः गमयित्वा, हे शत्रुहन्! सूतेनोपनीतमानीतम् रथमारुरोह ॥१३॥

**तत** इति। द्विपाः गजाः, भटाः पदातयः, सादिनः अश्वारूढाः तेषां नायकैः करालया परभयङ्करया स्वस्य सेनया परिवृतः मृदङ्गादिभिः वाद्यैः यः प्रघोषः तेन घोषिताः ककुभः कुर्वन्नित्यध्याहारः। निराक्रमत् निष्क्रान्तवान्। प्रघोष घोषीति पाठे दिशः मृदङ्गादिभिः यो घोषः तेन घोषयन् ॥१४॥

**स्ववाजीति**। सुव्रताः पतिव्रताः वैदर्भ्यादयः पतिमच्युतं यान्तं स्वस्ववाजिकाञ्चनशिबिकादिभिः अनुययुः। कथम्भूताः? असि चर्मणी खड्गखेटौ पाण्योरेषां तैः नृभिः भृत्यैः संवृताः वराः श्रेष्ठाः अम्बरादयो यासां ताः ॥१५॥

**विज०** सर्वतो भद्रं सर्वप्रकारेण भद्रम् ॥११-१३॥

ततः किमभूदिति तत्राह-**तत** इति। ककुभः दिशः संघुष्टया संघोषयन्त्या ॥१४॥

प्रियाश्चाच्युतं पतिं अनुययुः। वस्त्रैः सुसंवृताः असि चर्मपाणिभिः नृभिः परिवृताः ॥१५॥

**नरोष्ट्र गोमहिषखराश्वतर्य नः करेणुभिः परिजनवारयोषितः ।**
**स्वलङ्कृताः कटकुटिकम्बलाम्बरा उपस्करा ययुरधियुज्य सर्वशः ॥१६॥**

**बलं बृहध्वज पट छत्र चामरैः वरायुधाभरण किरीट वर्मभिः।**
**दिवांशुभिस्तुमुलरवं बभौ खेर्यथार्णवः क्षुभिततिमिङ्गिलोर्मिभिः ॥१७॥**

**अथो मुनिर्यदुपतिना सभाजितः प्रणम्य तं हृदि निरगाद्विहायसा।**
**निशम्य तद्व्यवसितमाहृतार्हणो मुकुन्द सन्दर्शन निर्वृतेन्द्रियः ॥१८॥**

**राजदूतमुवाचेदं भगवान् प्रीणयन् गिरा।**
**मा भैष्ट दूत भद्रं वो घातयिष्यामि मागधम् ॥१९॥**

**इत्युक्तः प्रस्थितो दूतो यथावदवदन्नृपान् ।**
**तेऽपि सन्दर्शनं शौरेः प्रत्यैक्षन्त मुमुक्षवः ॥२०॥**

---

1. M.Ma पट 2. B.G.J. °तः॥ 3. B.G.J. MI.V. विदधद्वि ; M.Ma निदधद्वि 4. MI.V. निशाम्य, 5- -5 K.T.W. देवकी सुतः ; M.Ma प्रेमयागिरा 6. K.T.W. प्रहितः 7. B.G.J. MI.V. °क्षन् यन्मु°

**श्रीध० नरेति**। नरोष्ट्रादिभिः यानैः अश्वतरी गर्दभाभ्यां अश्वाज्जाता, अनः शकटं, करेणुर्गजी, परिजन-योषितो वारयोषितश्च कटकुटयः उशीरादि तृण निर्मित गृहाः कम्बलाम्बरादयश्च। उपस्कराः कुड्यादिरूपा यासां ताः, अधियुज्य बलीवर्दादिषु तानुपस्करान् दृढं सन्नह्य ॥१६॥

**बलमिति**। खेरंशुभिश्च तद्बलं दिवा बभौ। कथम्भूतम्? तुमुलरवं आकुलस्वनं क्षुभितैः तिमिङ्गलैः ऊर्मिभिः ॥१७॥

**अथो** इति। मुनिर्नारदो विहायसा, ययाविति शेषः ॥१८॥

**राजेति**। मा भैष्टेति बहुत्वं राजाभिप्रायेण ॥१९॥

**इतीति**। प्रत्यैक्षन् प्रत्यैक्षन्त। यत् यस्मात् मुमुक्षवः ॥२०॥

**वीर० नरेति**। तथा परिजनयोषितः वारयोषितश्च कटकुड्यादयः उपस्कराः कुटीशिबिरादि साधनभूताः यामां नाः। अधियुज्य बलीवर्दादिषु उपस्करान् दृढं सन्नह्य नरादिभिः यानैः ययुरिति सम्बन्धः, तत्र नरो नरवाह्यं, यानं गर्दभ्यां, अश्वाज्ञाना अश्वतरी, अनश्शकटं, करेणुर्गजी, कटकुटयः उशीरादि तृणनिर्मिताः गृहाः ॥१६॥

**बलमिति**। तद्वलं ध्वजादिभिः दिवा बभाविति सम्बन्धः। कथम्भूतम्? तुमुलो रवस्स्वनो यस्मिन् तत् यथा रवेः सूर्यस्यांशुभिः क्षुभिता तिमिङ्गिलादयः तैः ये महान्तः ऊर्मयः तैः अर्णवो भाति तद्वत् ॥१७॥

**अथो** इति। यदुपतिना कृष्णेन सभाजितो बहुमतो मुनिर्नारदः तं हृदि प्रणम्य मनसा प्रणम्येत्यर्थः। तस्य कृष्णस्य व्यवसितं वचो निशम्य आहृतं समर्पितमर्हणं यस्य मुकुन्दस्य सन्दर्शनेन निर्वृतानि सुखितानि इन्द्रियाणि यस्य सः। विहायसा आकाशमार्गेण निरगाद्ययौ ॥१८॥

**राजेति**। भगवान् राजदूतं उवाच। उक्तिमेवाह मा भैष्टेति ॥१९॥

**इतीति**। प्रहितः प्रेषितः नृपान् प्रति यथावत् भगवदुक्तं सर्वं अवदत् उवाच। तेऽपि नृपा अपि शौरेः दर्शनं प्रतीक्षितवन्तः। कथम्भूताः? मुमुक्षवः मागधबन्धनादिति शेषः ॥२०॥

**विज०** ततो बहिः नरोष्ट्रादिभिः परिवृताः परिजनयुत वारयोषितश्च पटकुटयः वस्त्रनिर्मितमन्दिराणि पटकुटि कम्बलाम्बराणि आदिर्येषां ते तथा। ते च उपस्कराः परिकरा येषां ते तथा। अधियुज्य संयुज्य आरोप्य वा ॥१६॥

रवेः अंशुभिः दिवा दिनं यथा भाति बृहध्वज पटादे रुदाहरणमिदं, क्षुभिततिमिङ्गिलोर्मिभिः अर्णवो यथेति। नरोष्ट्रादेर्निदर्शनम् ॥१७॥

हरेर्व्यवसितं निश्चितं निशम्यागात् ॥१८॥

प्रेम स्नेहं यातीति प्रेमया सोमपाशब्दवद्रूपं नेयम् ॥१९, २०॥

आनर्त सौवीरकुरून्[1] तीर्त्वा विनशनं हरिः ।
गिरीन्नदीरतीयाय पुर ग्राम व्रजाकरान् ॥ २१ ॥

ततो दृषद्वतीं[2] तीर्त्वा मुकुन्दोऽथ सरस्वतीम् ।
पञ्चालानथ[3] मत्स्यांश्च शक्रप्रस्थमुपागमत्[4] ॥ २२ ॥

तमुपागतमाकर्ण्य प्रीतो दुर्दर्शनं नृणाम् ।
अजातशत्रुर्निरगात्सोपाध्यायस्सुहृद्वृतः ॥ २३ ॥

गीत वादित्र घोषेण ब्रह्मघोषेण भूयसा ।
अभ्ययात्स[5] हृषीकेशं प्राणाः प्राणमिवागतम् ॥ २४ ॥

दृष्ट्वा विक्लिन्नहृदयः कृष्णं स्नेहेन पाण्डवः ।
चिराहृष्टं प्रियतमं सस्वजे[6] स पुनः पुनः ॥ २५ ॥

---

1. B.G.J.K. सरून् 2. K.T.W. वृ° 3. M.Ma.Ml.V. पा° 4. B.G.J.M.Ma °मथा° 5- -5 K.T.W. प्रत्ययात्स° ; M.Ma अभ्यगात्स° 6. B.G.J. °जेऽथ ; M.Ma.Ml.T.V.W. °जे स ।

**श्रीध० आनर्तेति** । आनर्तादयो मार्गस्थ देशाः तान् तीर्त्वा अतिक्रम्य विनशनं कुरुक्षेत्रं गिरीन्[1] रैवतकादीन्[2] अतीयाय अतिक्रम्य ययौ ॥ २१ ॥

**तत** इति । शक्रप्रस्थं इन्द्रप्रस्थम् ॥ २२, २३ ॥

**गीतेति** । प्राणाः इन्द्रियाणि प्राणं मुख्यं प्राणमिव ॥ २४ ॥

**दृष्ट्वेति** । सस्वजे परिरेभे ॥ २५ ॥

---

1. B.J. Omit गिरीन् 2. B.J. Omit रैवतकादीन्

**वीर० आनर्तेति** । आनर्तादयो मार्गस्था देशाः । तान् तीर्त्वा अतिक्रम्य विनशनं कुरुक्षेत्रमतीयाय अतिचक्राम ॥ २१ ॥

दृषद्वतीं[1] नदीं तथा सरस्वतीं च तीर्त्वा मत्स्यांश्च देशानतिक्रम्य शक्रप्रस्थमिन्द्रप्रस्थमुप समीपं जगाम । तत्र पुरं प्राकारयुक्तं ग्रामस्तद्रहितः व्रजः अभीराणामावासः आकरः खनिः मत्स्यांश्चेत्यनन्तर मनुषक्तस्य तीर्त्वेत्यस्यातिक्रम्य इत्यर्थः योग्यत्वात् ॥ २२ ॥

**तमिति**। नृणां दुर्लभं दर्शनं यस्य तं कृष्णमागतं श्रुत्वा अजातशत्रु युधिष्ठिरः निरगात्, पुरादिति शेषः ॥२३॥

**गीतेति**। वादित्राणि वाद्यानि तद्घोषेण ब्रह्मघोषेण च स युधिष्ठिरः कृष्णमभ्यगात्[2] प्राणः इन्द्रियगणः आगत प्राणं पञ्चवृत्तिप्राणमिवेत्याभिमुख्ये दृष्टान्तः ॥२४॥

**दृष्ट्वेति**। कृष्णे यः स्नेहः तेन विक्लिन्न आर्द्रं हृदयं यस्य सः सस्वजे ॥२५॥

---

1. K.T.W. वृ° 2. B.K. add अभिमुखं जगाम।

विज० विनशनं कुरुक्षेत्रं आकरं रत्नाद्युत्पत्ति स्थानम् ॥२१॥

दृषद्वतीं चक्रनदीम् ॥२२-२५॥

**दोर्भ्यां परिष्वज्य रमामलालयं[1] मुकुन्दगात्रं नृपतिर्हताशुभः।**
**लेभे परां निर्वृतिमश्रुलोचनो हृष्यत्तनुर्विस्मृत लोक विभ्रमः ॥२६॥**

**तं मातुलेयं परिरभ्य निर्वृतो भीमस्स्मयन् प्रेमजलाकुलेन्द्रियः[2]।**
**यमौ किरीटी च सुहृत्तमं मुदा प्रवृद्धबाष्पाः परिरेभिरेऽच्युतम् ॥२७॥**

★ **युधिष्ठिरस्य भीमस्य कृत्वा पादाभिवन्दनम्।**
**अर्जुनेन परिष्वक्तो यमाभ्यां[3] चाभिवादितः ॥२८॥**

**ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य वृद्धेभ्यश्च यथार्हतः।**
**मानितो[4] मानयामास कुरुसृंजय केकयान् ॥२९॥**

**सूतमागध गन्धर्वा वन्दिनश्चोपमन्त्रिणः।**
**मृदङ्गशङ्खपटह वीणा पणव वेणुभिः[5]।**
**ब्राह्मणाश्चारविन्दाक्षं तुष्टुवुर्ननृतुर्जगुः ॥३०॥**

---

1. M.Ma °लयालयं 2. B.G.J. °वा° ★ This half verse is not found in B.G.J. M.Ma edns. 3. B.G.J. °भ्यामभिवादितः ; Ml.v. °भ्यामभिवन्दितः
4. M-Ma °नो 5. B.G.J. गोमुखैः

**श्रीध० दोर्भ्यामिति**। रमायाः अमलं निर्दोषं आलयं विस्मृतो लोक[1-] विभ्रमः लोक[-1] व्यवहारो[2] येन सः ॥२६, २७॥

**युधिष्ठिरस्येति**। अर्जुनेन समत्त्वात् परिष्वक्त एव केवलं यमाभ्यां नकुलसहदेवाभ्यां अभिवन्दितः नमस्कृतश्चेति ॥२८-३०॥

---

1- -1 B.J. Omit. 2. MI. V. व्यापारो

**वीर० दोर्भ्यामिति**[1-]। रमायाः अमलं निर्दोषं आलयं[-1] मुकुन्दस्य गात्रं भुजाभ्यामालिङ्ग्य हतमशुभं यस्य सः। परां निर्वृतिमानन्दं प्राप। तदेव वक्तुं विशिनष्टि अश्रूण्यानन्दजानि लोचनयोर्यस्य । हृष्यन्ती उदञ्चित रोमा तनुर्यस्य। विस्मितः लोकविभ्रमो लोकव्यवहारो येन सः ॥२६॥

**तमिति**। मातुलस्यापत्यं कृष्णं परिरभ्य प्रेमजलैः आनन्दाश्रुभिः आकुले व्याप्ते पिहिते इन्द्रिये लोचने यस्य सः। बभूवेति शेषः। यमौ नकुलसहदेवौ, किरीटी अर्जुनश्च मुदा हर्षेण प्रवृद्धानि बाष्पाणि आनन्दाश्रूणि येषां ते। परिरेभिरे परिष्वक्तवन्तः ॥२७॥

अर्जुनेन केवलं परिष्वक्त एव समवयस्कत्त्वात् यमाभ्यां त्वभिवादितश्च। भगवान्ब्राह्मणेभ्यो वयोवृद्धेभ्यो। युधिष्ठिरादिभ्यः यथायोग्यं नमस्कृत्य स्वयं बहुमतः, कुर्वादीन् बह्वमन्यत ॥२८, २९॥

**सूतेति**। सूतादयो ब्राह्मणाश्च मृदङ्गादिभिः तुष्टुवुः ननृतुः, जगुश्च। तत्र सूता मागधाः, ब्रह्मणाश्च उपमन्त्रिणश्च तुष्टुवुः। इतरे ननृतुर्जगुश्च। उपमन्त्रिणः परिहासकाः ॥३०॥

---

1- -1 W. Omits

**विज०** रमा श्रीरलयाभूः तयोरालयं श्रीधराश्रयमित्यर्थः। विस्मृतः लोके विद्यमानः विविधभ्रमो येन स तथा ॥२६।

प्रेमजलेन आनन्दाश्रु जलेनऽऽकुले नेत्रेन्द्रिये यस्य स तथा ॥२७, २८॥

उप समीपे समेत्य मन्त्रणशीलाः ॥२९, ३०॥

**एवं सुहृद्भिः पर्यस्तः पुण्यश्लोक शिखामणिः ।**
**संस्तूयमानो भगवान् विवेशालङ्कृतं पुरम् ॥३१॥**

संसिक्त वर्त्म करिणां मदगन्धतोयैः चित्रध्वजैः कनकतोरण पूर्णकुम्भैः ।
मृष्टात्मभिर्नरदुकूल विभूषण स्त्रक् गन्धैर्नृभिर्युवतिभिश्च विराजमानम् ॥ ३२ ॥

उद्दीप्तदीपबलिभिः प्रतिसद्म जाल निर्यातधूप रुचिरं विलसत्पताकम् ।
मूर्धन्य हेम कलशै रजतोरुशृङ्गैः जुष्टं ददर्श भवनैः कुरु राजधाम ॥ ३३ ॥

प्राप्तं निशम्य नरलोचन पानपात्रम् औत्सुक्य विश्लथित केशदुकूलबन्धाः ।
सद्यो विसृज्य गृहकर्म पतींश्च तल्पे द्रष्टुं ययुर्युवतयश्च नरेन्द्रमार्गे ॥ ३४ ॥

तस्मिन् सुसङ्कुल इभाश्वरथद्विपद्भिः कृष्णं सभार्यमुपलभ्य गृहादिरूढाः ।
नार्यो विकीर्य कुसुमैर्मनसोपगूह्य सुस्वागतं विदधुरुत्स्मय वीक्षितेन ॥ ३५ ॥

---

1. M.Ma °र्वर 2. M.Ma पतीन् स्व° 3. M.Ma रुच्छ्रित

**श्रीध० संसिक्तेति**। चित्रध्वजादिभिः विराजमानम् ॥ ३१, ३२ ॥

**उद्दीप्तेति**। प्रतिसद्म उद्दीप्तैः दीपैः बलिभिः पुष्पादिप्रकरैश्च, जुष्टं जालेभ्यो गवाक्षेभ्यो निर्यातैर्धूपैः रुचिरं विलसन्त्यः पताकाः यस्मिन् तत्, मूर्धन्याः मूर्ध्नि भवाः हेमकलशाः येषां तैः। रजतमयानि रूप्यमयानि, उरूणि स्थूलानि शृङ्गाणि कलशाधस्तनभूमिकाः येषां तैः, भवनैर्जुष्टं कुरुराजस्य धाम पुरं ददर्श ॥ ३३ ॥

**प्राप्तमिति**। नराणां लोचनानि तेषां पानस्य 1 सादर वीक्षणस्य पात्रविषयं किं पुनर्नारीणामित्यर्थः। 2-औत्सुक्येन इष्टार्थोद्युक्तत्त्वेन विश्लथिताः स्रस्ताः केशदुकूलबन्धा यासां ताः-2 ॥ ३४ ॥

**तस्मिन्निति**। सुष्ठु स्वागतं तत्प्रश्नादिकं प्रियं उत्स्मय वीक्षितेनैव विदधुः ॥ ३५ ॥

---

1. MI.V. add सारसौन्दर्य 2- -2 B.J. Omit

**वीर० एवमिति**। पर्यस्तः परिवृत्तः पुण्यश्लोकश्रेष्ठः पुरं इन्द्रप्रस्थं विवेश ॥ ३१ ॥

तद्विशिनष्टि-**संसिक्त वर्त्मेति** द्वयेन। करिणां मदगन्धजलैः संसिक्तानि वर्त्मानि पुरवीथयो यस्मिन् तत्। कनकतोरणैः पूर्णकुम्भैश्च मृष्टः स्नापितः आत्मा शरीरं यैः, नवाः दुकूलादयो येषां तैः, नृभिः पुम्भिः तथा भूताभिः युवतिभिः स्त्रीभिश्च विराजमानम् ॥ ३२ ॥

किञ्च **उद्दीप्तेति**। प्रतिगृहमुद्दीप्तैः दीपैः बलिभिः पुष्पादिभिश्च जुष्टं जालेभ्यो गवाक्षेभ्यो निर्यातैः धूपैः रुचिरं विलसन्त्यः पताकाः यस्मिन् तत्। मूर्धन्याः मूर्धनि भवस्ते हेमकलशाः येषां तैः रजतमयान्युरूणि स्थूलानि शृङ्गाणि कलधौतस्तम्भ भूमिकाः येषां तैश्च गृहैः जुष्टं, एवम्भूतं कुरुराजधाम इन्द्रप्रस्थपुरं ददर्श ॥ ३३ ॥

**प्राप्तमिति**। नराणां लोचनानि तेषां पानस्य सादरवीक्षणस्य पात्रं विषयं किं पुनर्नारीणामित्यर्थः, तं कृष्णं प्राप्तमागतं श्रुत्वा युवतयः पौरस्त्रियः सद्य एव गृह व्यापारं तल्पे पर्यङ्के पतींश्च विसृज्य औसुक्या द्विश्लथिताः। केशानां दुकूलानां च बन्धाः ग्रन्थयो यासां ताः, द्रष्टुं नरेन्द्रमार्गं राजवीथीं ययुः ॥ ३४ ॥

**तस्मिन्निति**। गृहेषु प्रासादेष्वधिरूढाः युवतयः इभादिभिः चतुर्भिस्सेनाङ्गैस्सुसङ्कुले सङ्कीर्णे तस्मिन्नरेन्द्रमार्गे सभार्यं श्रीकृष्णमुपलभ्य दृष्ट्वा कुसुमैः विकीर्य मनसा उपगूह्यालिङ्ग्य स्मययुक्तवीक्षितेनैव सुस्वागतं स्वागत प्रश्नं विदधुश्चक्रुः तासामुत्स्मयवीक्षितं स्वागतप्रश्नं विदधदिवासेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

**विज०** पर्यस्तः परिवृतः ॥ ३१, ३२ ॥

चन्दनाम्बु संसिक्त वर्त्म कुरुराजधाम ददर्शेत्यन्वयः। प्रतिसद्म प्रतिगृहम् ॥ ३३, ३४ ॥

उच्छ्रित वीक्षितेन सम निरीक्षणेन ॥ ३५ ॥

**ऊचुस्त्रियः पथि निरीक्ष्य मुकुन्दपत्नीः तारा यथोडुपसहाः किमकार्यमूभिः ।**
**यच्चुक्षुषां पुरुषमौलिरुदारहास लीलावलोक कलयोत्सवमातनोति[1] ॥ ३६ ॥**

**तत्र तत्रोपसङ्गम्य पौरा मङ्गलपाणयः ।**
**चक्रुस्सपर्यां कृष्णाय श्रेणीमुख्या[2] हतैनसः ॥ ३७ ॥**

**अन्तः पुरजनैः प्रीत्या मुकुन्दः फुल्ललोचनैः ।**
**संसम्भ्रमैरभ्युपेतः प्राविशद्राजमन्दिरम् ॥ ३८ ॥**

**पृथा विलोक्य भ्रात्रेयं कृष्णं त्रिभुवनेश्वरम् ।**
**प्रीतात्मोत्थाय पर्यङ्कात्सस्नुषा परिषस्वजे ॥ ३९ ॥**

**गोविन्दं गृहमानीय देव देवेश मादृतः ।**
**पूजायां नाविदत्कृत्यं प्रमोदोपहतो नृपः ॥ ४० ॥**

1. MI.V. °लया सुख° 2. K. MI. V. °णि°

**श्रीध० ऊचुरिति**। उडुपसहाः चन्द्रसहचरा इत्यर्थः। अमूभिः किं पुण्यमकारीति ॥ ३६॥

**तत्रेति**। श्रेण्यः एकशिल्पोपजीविनां संघाः तेषु मुख्याश्च ॥ ३७॥

**अन्तः पुरेति**। अभ्युपेतः अभिगमनेन सत्कृतः ॥ ३८ ॥

**पृथेति**। सस्नुषा द्रौपदी सहिता ॥ ३९ ॥

**गोविन्दमिति**। कृत्यं प्रकारविशेषं प्रमोदेन उपहतः अभिभूतः ॥ ४० ॥

**वीर० ऊचुरिति**। उडुपेन चन्द्रेण सहिताः ताराः इव स्थिताः कृष्णपत्नीः पथि[1] निरीक्ष्य स्त्रियः प्रोचुः उक्तिमेवाह-किमित्यादिना। अमूभिः कृष्णपत्नीभिः किमकारि किं सुकृतमाचरितं, तत्र हेतुत्वेन विशिंषन्ति यद्यासां चक्षुषां पुरुषमौलिः पुरुषोत्तमः उदारो गम्भीरो यो हासस्तद्युक्तो लीलया अवलोकस्तस्य कलया लेशेनैव सुखं वितनोति तथाभूताभिरमूभिरिति सम्बन्धः ॥ ३६ ॥

**तत्र तत्रेति**। उपसङ्गम्य समीपमागत्य पौराः श्रेणयः एकशिल्पोपजीविनां सङ्घास्तेषु मुख्याश्च मङ्गलानि गन्धपुष्पताम्बूलादि शुभद्रव्याणि पाण्यो येषां ते कृष्णाय पूजां चक्रुः अतो हतं निरस्तमेनः पापं येषां तथाभूताः, बभूवुरिति शेषः ॥ ३७ ॥

**अन्तरिति**। सम्भ्रमेण सहितैः अत एव फुल्ले विकसिते लोचने येषां तैः। अन्तःपुरजनैः अभ्युपेतः अभिसङ्गतः राजमन्दिरं प्रविवेश ॥ ३८ ॥

**पृथेति**। पृथा कुन्ती भ्रात्रेयं भ्रातृपुत्रं श्रीकृष्ण मवलोक्य प्रीतः आत्मा मनो यस्यास्सा पर्यङ्कात् उत्थाय स्नुषया द्रौपद्या सह; परिषस्वजे आलिङ्गितवती ॥ ३९ ॥

**गोविन्दमिति**। देवानां देवो ब्रह्मा तस्याऽपीशं गोविन्दं गृहं प्रत्यानीय नृपो युधिष्ठिरः प्रमोदेन उपहतः अभिभूतः परवशेति यावत्। पूजायां कृत्यं क्रमविशेषं नाविदत् ॥ ४० ॥

---

1. T.W. Omit पथि

**विज०** उडुपसहाः उडुपेन चन्द्रेण सहिताः ताराः अमूभिः किं शुभमकारि ॥ ३६ ॥

श्रेणी मुख्याः नगरप्रधानाः ॥ ३७, ३८ ॥

भ्रात्रेऽयं भ्रातुः पुत्रम् ॥३९, ४०॥

पितृष्वसुर्गुरुस्त्रीणां कृष्णाचक्रेऽभिवादनम् ।
स्वयं च कृष्णया राजन् भगिन्या चाभिवादितः[1] ॥४१॥

श्वश्रूभिः सञ्चोदिता कृष्णा कृष्णपत्नीस्सुवर्चशः[2] ।
आनर्च रुक्मिणीं सत्यां भद्रां जाम्बवतीं तथा ॥४२॥

कालिन्दीं मित्रविन्दां च शैब्यां नाग्नजितीं सतीम् ।
अन्याश्चाभ्यागतास्ताश्च वासस्रग्मण्डनादिभिः ॥४३॥

सुखं निवासयामास धर्मराजो जनार्दनम् ।
ससैन्यं सानुगामात्यं सभार्यं च नवं नवम् ॥४४॥

तर्पयित्वा खाण्डवेन वह्निं फल्गुनसंयुतः ।
मोचयित्वा मयं येन राज्ञे दिव्यासभाऽऽहृता[3] ॥४५॥

उवास कतिचिन्मासान् राज्ञः प्रियचिकीर्षया ।
विहरन् रथमारुह्य फल्गुनेन बलैर्वृतः[4] ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥७१॥

---

1. B.G.J. वन्दितः 2. B.G.J.K.T.W. °श्च सर्वशः 3. B.G.J. °भा कृता 4. B.G.J. M.Ma भटै° ; K. रथै°

**श्रीध० पितृष्वसुरिति**। गुरुस्त्रीणां च । कृष्णया द्रौपद्या, भगिन्या सुभद्रया ॥४१॥

**श्वश्रूभिति**। आनर्च अर्चितवती ॥४२॥

**कालिन्दीमिति**। अन्याश्च याः कृष्णपत्न्योऽभ्यागताः ता अपि ॥४३॥

**सुखमिति**। प्रत्यहं नवं नवं यथा भवति तथा सुखं निवासयामास ॥४४॥

कथम्भूतम्? **तर्पयित्वेति**। यः प्रेम्णा नित्यं फल्गुनेन संयुतः अत एव तस्य सहायेन खाण्डवेन वह्निं तर्पयित्वा तत्र च मयं मोचयित्वा तं मयं प्रयुज्य युधिष्ठिराय दिव्या सभा कृता तं श्रीकृष्णं अनेन राज्ञः कृष्णोपकारानुस्मरणं, सभाया दिव्यत्वाद्यथा मनोरथं सर्वावकाश सम्पादनं च दर्शितमिति ॥ ४५, ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

---

1- -1 B. Omits

**वीर० पितृष्वसुरिति**। श्रीकृष्णो भगवान् पितृष्वसुः पृथायाः गुरुस्त्रीणां च अभिवादनं चक्रे स्वयं कृष्णया द्रौपद्या भगिन्या सुभद्रया च अभिवादितश्च ॥ ४१ ॥

**शश्रेति**। शश्रा श्वशुरस्य स्त्रिया पृथया सञ्चोदिता कृष्णा द्रौपदी कृष्णस्य पत्नीः सर्वप्रकारैः आनर्च पूजितवती। कृष्णपत्नीरेव निर्दिशति रुक्मिणी मित्यादिना। शैब्यां लक्ष्मणां अन्याश्चेति एता अन्याश्चागताः स्त्रियः वस्त्रादिभिः आनर्चेति सम्बन्धः मण्डनमलङ्कारः ॥ ४२, ४३ ॥

**सुखमिति**। प्रत्यहं नवं नवं यथाभवति तथा सुखं निवासयामास ॥ ४४ ॥

कथम्भूतम्? यः प्रेम्णा नित्यं फल्गुनेन अर्जुनेन संयुतः अत एव तस्य साहाय्येन खाण्डवेनाग्निं प्रीणयित्वा तत्र मयं मोचयित्वा तं मयं प्रयुज्य राज्ञे युधिष्ठिराय। दिव्या सभा आहृता आनीता येन तथाभूतं जनार्दनमिति सम्बन्धः ॥ ४५ ॥

**उवासेति**। मासान्, अत्यन्त संयोगे द्वितीया। राज्ञो युधिष्ठरस्य प्रियं कर्तुमिच्छया फल्गुनेन सह रथमारुह्य रथैः परिवृतो विहरन्कतिचित् मासान् उवास उषितवान् ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघव विदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

**विज०** भगिन्या सुभद्रया च ॥ ४१ ॥

श्वश्र्वा पृथया ॥ ४२-४५ ॥

येन मयेन दिव्या सभा राज्ञा आहृता भगवदाज्ञया निर्माय दत्ता ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
विजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥
(विजयध्वजरीत्या एकोनाशीतितमोऽध्यायः)

# द्विसप्ततितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या अशीतितमोऽध्यायः)

## दिग्विजय जरासन्धवधादि कथा

### श्रीशुक उवाच

एकदा तु सभा मध्ये आस्थितो मुनिभिर्वृतः ।
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यै र्भ्रातृभिश्च युधिष्ठिरः[1-1] ॥ १ ॥

आचार्यैः कुलवृद्धैश्च ज्ञातिसम्बन्धबान्धवैः[2] ।
शृण्वतामेव चैतेषामाभाष्येदं[3] मुवाच ह ॥ २ ॥

### युधिष्ठिर उवाच

ऋतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनीः ।
यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत्सम्पादय नः प्रभो ॥ ३ ॥

त्वत्पादुके अविरतं परि ये चरन्ति ध्यायन्त्यभद्रनशने[4] सुधियो[5] गृणन्ति ।
विन्दन्ति ते कमलनाभ भवापवर्ग माशासते यदि त आशिष ईश नान्ये ॥ ४ ॥

तद्देवदेव भवतश्चरणारविन्द सेवानुभावमिह पश्यतु लोक एषः ।
ये त्वां भजन्ति न भजन्त्युत वोभयेषां[6] निष्ठां प्रदर्शय विभो कुरुसृञ्जयानाम् ॥ ५ ॥

---

1- -1 M.Ma समन्वितः 2. B.G.J. M.Ml. V. °न्धि 3. Ml. V. °न° 4. K.T.W. °शमने 5. B.G.J. शुचयो 6. B.G.J.M.Ma वो°

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

ततो द्विसप्ततितमे राज्ञा कार्ये निवेदिते। दुर्जयं मागधं बुदध्वा भीमेनाघातयद्धरिः ॥

**एकदेति**। आस्थितः, आसनमिति शेषः ॥ १ ॥

**आचार्यैरिति**। शृण्वतामेवेति। यत्प्रसन्नः कृष्णः करोति न तदन्यः कश्चिदपि कर्तुं समर्थ इति निश्चित्य सर्वानेव ताननादृत्य कृष्णमुवाचेत्यर्थः। आभाष्य भो भो कृष्ण ! भक्तवत्सल! इत्येवं सम्बोध्य ॥ २ ॥

**ऋतुराजेनेति**। विभूतीरंशान् ॥ ३ ॥

एष चक्रवर्तिनां मनोरथः कथं त्वया क्रियत इति चेदत आह- **त्वत्पादुके** इति। परि ये चरन्तीति यच्छब्दव्यवधानमार्षम्। ये परिचरन्ति देहेन। ध्यायन्ति मनसा। अभद्रस्य नशने नाशके। गृणन्ति वाचा। ते भवस्यापवर्गं मोक्षं विन्दन्ति। यद्याशासते तर्ह्याशिषोऽपि त एव विन्दन्ति नान्ये चक्रवर्तिनोऽपि ॥ ४ ॥

भगवतो भक्तपक्षपातमाविष्कुर्वन्[1]आह **तद्देवदेवेति**। तत्तस्मात् पश्यतु साक्षात्। एवं निश्चितेऽपि ये कर्मादिप्रधानाः। केचित्कुरुसृञ्जयाः भगवद्भक्तिं न बहुमन्यन्ते, तेषां मोहनिवृत्तये ये त्वां भजन्ति[2] यदि वा न भजन्ति तेषा मुभयेषां निष्ठा स्थितिं प्रदर्शय प्रकटयेति[3] ॥ ५ ॥

---

1. B.G. °ष्कारय° 2. Ml. V. ये 3. B.G.J. Omit प्रकटयेति

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ जरासन्धवधात्मकं भगवतः चेष्टितं वक्तुं प्रस्तौति - **एकदेति**। तृतीयान्तानां वृत इत्यनेनान्वयः। एतेषां मुनिप्रभृतीनां शृण्वतां सतां एवं आभाष्य सम्बोध्य, कृष्णमिति शेषः। इदं वक्ष्यमाणमुवाच ॥ १,२ ॥

तदेवाह - **ऋतुराजेनेत्यादि**[1] चतुर्भिः। पावनीस्तव विभूतीः विभूतिभूतान्देवान् यक्ष्ये आराधयिष्यामि, तत् मदभिप्रेतं यजनं नोऽस्माकं सम्पादय निर्वर्तय ॥ ३ ॥

नन्वयं चक्रवर्तिनां मनोरथः कथं त्वया क्रियत इत्यत आह - **त्वत्पादुके** इति। अभद्रं शमयतीति तथा ते तव पादुके ये जनाः परिचरन्ति देहेन, ध्यायन्ति मनसा, गृणन्ति वाचा ते शुचयः परिशुद्धान्तःकरणाः भवस्यापवर्गं नाशं[2] मोक्षमिति यावत्, विन्दन्ति, हे ईश! हे कमलनाभ! ते यद्याशिषः कामानाशंसते, तर्हि ता अपि विन्दन्ति, अन्ये परिचर्यादिरहिताश्चक्रवर्तिनोऽपि[3] न विन्दन्तीत्यर्थः। अतो भक्तपक्षपातिनस्तव चरणारविन्दं समाश्रितानां नः सर्वमनोरथपूर्तिस्सुकरैवेति भावः ॥ ४ ॥

एतदेव निदर्शयेत्याह-**तदिति**। ततस्मात् देवानामपि देव एष लोकस्तव भवतः[4] चरणारविन्दसेवाप्रभावं पश्यतु, भवतश्चरणारविन्दसेवाप्रभावं दृष्ट्वा त्वत्पादुके इत्यादिनोक्तमर्थं निश्चिनोत्वित्यर्थः। तन्निश्चेतुं भक्तानामभक्तानां च स्थितिं लोकस्य दर्शयेत्याह - ये इति। कुरूणां सृञ्जयानां च मध्ये ये अस्मादादयस्त्वां न भजन्ति, तेषामुभयेषां निष्ठां स्थितिं प्रदर्शय अभ्युदय तदभावौ दर्शयेत्यर्थः ॥ ५ ॥

---

1. K.T.W. °दिना 2. B. नाशकं 3. B. Omits अपि 4. B.T.W. Omit भवतः

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

राजसूय यज्ञार्थाय पाण्डवानां दिशां जयो जरासन्धवधश्च श्रीनारायणप्रसादायत्त इति तन्माहत्म्यत्वेन प्रतिपादयत्यस्मिन्नध्याये। तत्रादौ युधिष्ठिरः आगतं श्रीकृष्णं स्वचिकीर्षितं विज्ञापयति **एकदेति** ॥ १ ॥

आभाष्य अभिमुखीकृत्य एतेषां सर्वेषां श्रोत्रादीन्द्रियतृप्तिजनकं इदं वक्ष्यमाणं वचनमुवाच । हेत्यनेन कर्तव्यतां सूचयति ॥ २ ॥

पावनीः शुद्धिकरीः भवतः विभूतीः सन्निधान विशेषस्थानेन्द्रादिदेवताः यष्टुकामः ॥ ३ ॥

तत्कार्यं भवदनुग्रहेनैतद्दुस्साधनमित्याह[1] - **त्वत्पादुकेति**। अभद्रनशने अशुभ विध्वंसनसमर्थे परिचरन्ति नित्यं पूजयन्ति। "व्यवहिताश्च" (अष्टा° 1-4-82) इति छन्दसि व्यवधानेप्युपसर्गाणां क्रियायोगः सिद्धः "प्रद्यान्वस्य महतो महनि" इत्यादौ, अनेन भागवतस्य वेदतुल्यत्वेनाध्येयत्वादौ तात्पर्यं दर्शयति। भवापवर्गं संसारत्यागं विन्दन्ति। ननु तर्हि नानेनाभीष्ट सिद्धिरिति तत्राह आशासत इति। यदि ते सेवकाः आशासते आशिष ऐहिकसिद्धीः कामयन्ते तर्हि ता अपि विन्दन्ति। अन्ये अनुपासकाः नोभयं विन्दन्तीति भयं, विन्दन्तीति शेषः ॥ ४ ॥

यतो भवच्चरण सेवाफलमनुभवसिद्धम्, अतो लोकोपि प्रत्यक्षप्रमाणोऽस्य माहात्म्यं दृग्विषयं करोत्वित्याह **तदिति**। अपि कृष्णात्वमपि भजदभजतामुभयेषामपि जयलक्षणोत्कर्षं व्यवस्थापय इत्याह - ये त्वामिति। 'निष्ठोत्कर्षे व्यवस्थायां नाशेऽन्ते व्रतयज्ञयोः' (वैज. को. 6-2-21) इति यादवः। "अनुभावः प्रभावे स्यात्" (वैज. को. 8-1-8) इति ॥ ५ ॥

---

1. B. °हेणैन°

**न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तवस्यात्सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः ।**
**संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः सेवाऽनुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र[1] ॥ ६ ॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**सम्यग्व्यवसितं राजन् भवता शत्रुकर्शन ।**
**कल्याणी येन ते कीर्तिर्लोकाननुभविष्यति[2] ॥ ७ ॥**

**ऋषीणां पितृदेवानां सुहृदामपि नः प्रभो ।**
**सर्वेषामपि[3] भूतानामीप्सितः क्रतुराडयम् ॥ ८ ॥**

**विजित्य[4] नृपतीन्सर्वान्कृत्वा च जगतीं वशे ।**
**संभृत्य सर्वसम्भारानाहरस्व महाक्रतुम् ॥ ९ ॥**

**ऐते ते भ्रातरो राजँल्लोकपालांशसम्भवाः ।**
**जितोऽस्म्यात्मवता तेऽहं दुर्जयो योऽकृतात्मभिः[5-5] ॥ १० ॥**

---

1. M. Ma. MI.V. रूप उ° 2. K.T.W. चरि° 3. M. Ma °मेव 4. K.T.W. निर्जित्य 5- -5 M. Ma वशेऽस्मि तव तानाऽहं

**श्रीध०** ननु रागादिरहिते मयि कथमिदं वैषम्यं स्यात्तत्राह - **नेति**। स्वतः पर इति भेदमतिस्तव न स्यादेव। कुतः? ब्रह्मणो निरुपाधेः। किञ्च सर्वस्यात्मनोऽतः समदृशः। किञ्च स्वसुखानुभूतेः। अतो रागाद्यभावादिति भावः। तथापि संसेवमानानामेव त्वत्प्रसादो नान्येषाम्। तत्रापि सेवाऽनुरूपमुदयः फलं न त्वत्र विपर्ययोऽन्यथाभावः। यथा कल्पद्रुमस्य यागादिराहित्येऽपि सेवकेष्वेव फलजनकत्वं नान्येषु ॥ ६ ॥

सत्यं मद्भक्तानामेव कैवल्यादि नान्येषामित्यनुमोदमान आह - **सम्यगिति**। शत्रुकर्शनेति सम्बोधयन्, सर्वराजविजयशक्तिं सम्भावयति[1] अनुभविष्यति द्रक्ष्यति[2]। सर्वलोकव्याप्ता भविष्यतीत्यर्थः ॥ ७, ८ ॥

किमत्र मयाऽन्येन वा सम्पादनीयं, तव तु मुकर एव राजसूय इत्याह - **विजित्येति**। जगतीं सर्वां पृथ्वीम्। सम्भारान् यज्ञोपस्करान् सम्भृत्य सम्पाद्य आहरस्व[3] आहर अनुतिष्ठेत्यर्थः ॥ ९ ॥

ननु नृपतिविजयादि कथं शक्यं स्यादत आह-**एत इति**। किञ्च आत्मवता जितेन्द्रियेण ते त्वयाऽहं च जितोऽस्मि वशीकृतोऽस्मि अकृतात्मभिरजितेन्द्रियैः ॥ १० ॥

---

1. B.J. सञ्चारयति 2. Ml. V. Omit द्रक्ष्यति 3. B.J. Omit आहर

**वीर०** ननु वैषम्यनैर्घृण्यादिरहितं मां किमिति विषमकृत्ये चोदयसीत्यत आह-**नेति**। ब्रह्मणः हेयप्रत्यनीककल्याण गुणगणपरिपूर्णस्य तव स्वः पर इति च भेदमतिः न स्यात् यद्यपि नास्त्येव, तत्र हेतुत्वेन विशिनष्टि - सर्वात्मनः सर्वेषामन्तरात्मनः स्वशरीरेष्वेव केषुचिदवयवेषु स्वीयमतिः केषुचित्परकीयमतिः न दृष्टेति भावः। अत एव समदृशः समा दृक् स्वशरीरेषु सर्वेष्वात्मीयत्वबुद्धिर्यस्य तस्य किञ्च वैषम्यनिमित्तं रागद्वेषादिकं तदपि तव नास्तीत्यभिप्रयन् विशिनष्टि - स्वसुखानुभूतेरिति। स्वसुखस्य स्वासाधारणापरिच्छिन्नानन्दस्यानुभूतिः अनुभवो यस्य तस्य केवलं स्वानन्दजुषो न तु रागादिजुष इत्यर्थः। तथापि संसेवमानानामेव विषयभूतानां तव प्रसादोऽनुग्रहः, तत्रापि मेवानुरूपमेव उदयः फलं यथा, सुरतरोः कल्पद्रुमस्य संसेवमानेष्वेव फलप्रदत्वं, न ह्येतावताऽत्र कल्पतरौ विपर्ययो वैषम्यमस्ति, तद्वत् ॥ ६ ॥

एवमुक्तस्तद्वचोऽनुमोदमानः प्राह श्रीभगवान् - **सम्यगिति** पञ्चभिः[1]। हे राजन्! हे शत्रुकर्शन! सम्यग्व्यवसितं निश्चितम्, कुतः? एवं व्यवसितविधानेन कल्याणी तव कीर्तिः लोकाननुचरिष्यति व्याप्ता भविष्यतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

**ऋषीणामिति**। पितॄणां देवानां च सुहृदां नोऽस्माकं किं बहुना सर्वेषामपि भूतानामयं क्रतुश्रेष्ठ ईप्सितः इष्टः ॥ ८ ॥

**निर्जित्येति**। जगतीं सर्वां पृथ्वीं वशे कृत्वा स्वाधीनां कृत्वेत्यर्थः। सर्वान् सम्भारान् यागार्थपदार्थान् सम्भृत्य सम्पाद्य महाक्रतुं राजसूयं आहरस्व अनुतिष्ठस्वेत्यर्थः ॥ ९ ॥

कथमहं जेतुं प्रभुरित्यत आह - **एते इति**। एते ते तव भ्रातरो भीमादयः लोकपालानां वाय्विन्द्रादीनां अंशसम्भवाः, अत एभिस्सर्वे नृपास्सुजया एवेति भावः। किञ्च अकृतात्मभिः अजितेन्द्रियैः दुःखेनापि जेतुं वशीकर्तुमशक्योऽहं आत्मवता मद्भक्तिप्रवणचित्तवता ते[2] त्वया जितोऽस्मि वशीकृतोऽस्मि। अतः किं तव दुस्साधमिति भावः ॥ २० ॥

---

1. T.W. Omit पञ्चभिः 2. B. Omits ते

**विज०** सर्वसमस्य हरेः वैषम्यं मयाऽऽपाद्यत इति बिभ्यदिव परिहरति - **नेति**। ब्रह्मणः पूर्णस्य सर्वात्मनः सर्वस्वामिनः ननु परा पूर्वेषां संख्या वृणक्तीत्यादि कथमित्यत्राह - समदृश इति। यथा वस्तुदर्शिनः स्वरूपसुखस्यानुभूतिरनुभवः पूर्णानन्दोऽहमिति यस्य स तथा तस्य अयमपि स्वपरबुद्ध्यभावे हेतुः, नन्वसुराणां दुःखोदयः सुराणां सुखोदयः इत्ययं विशेषः कस्मादत्राह संसेवयेति। उदयतीत्युदयः। अतोऽत्र जगतिविपर्ययो न विषमो नोदेति ॥६॥

येन व्यवसितेन क्रतुराजेन अनुभविष्यति स त्वयाऽनुवर्त्यते ॥७॥

न केवलं तवाभीष्टोऽयमृष्यादीनां सर्वेषामपि हृदयङ्गम इत्याह - **ऋषीणामिति** ॥८॥

तत्रेत्थंभावमाह - **विजित्येति**। सर्वसम्भारान् संभृत्य सम्पाद्य आहरस्व कुरुष्व ॥९॥

साम्प्रतं सर्वजयो दुश्शको नेति भावेनाह - **एत** इति। लोकपालांशैः सम्भवो येषां ते तथा, योऽहं अकृतात्मभिः अनुत्पादितमत्प्रसादैः ॥१०॥

**न कश्चिन्मत्परं लोके तेजसा यशसा श्रिया ।**
**विभूतिभिर्वाऽभिभवेद्देवोऽपि किमु पार्थिवाः ॥११॥**

श्रीशुक उवाच

**निशम्य भगवद्गीतं प्रीतः फुल्लमुखाम्बुजः ।**
**भ्रातॄन्दिग्विजयेऽयुङ्क्त विष्णुतेजोपबृंहितान् ॥१२॥**

**सहदेवं दक्षिणस्यामादिशत्सहसृञ्जयैः ।**
**दिशि प्रतीच्यां नकुलमुदीच्यां सव्यसाचिनम् ।**
**प्राच्यां वृकोदरं मत्स्यैः केकयैः सह मद्रकैः ॥१३॥**

**ते विजित्य नृपान्वीरान् आजह्रुर्दिग्भ्य ओजसा ।**
**अजातशत्रवे भूरि द्रविणं नृप यक्ष्यते ॥१४॥**

**श्रुत्वाऽजितं जरासन्धं नृपतेर्ध्यायतो हरिः ।**
**आहोपायं तमेवाद्य उद्धवो यमुवाच ह ॥ १५ ॥**

---

1. M. Ma विभवैर्दे° 2. B.G.J. °द्यः । 3.M.Ma प्रीत्युत्कु° 4. M. Ma राजन् 5. B.G.J. °रा आ° 6- -6 M. Ma °र्दिव्य मञ्जसा

**श्रीध०** आस्तां तावदेवम्भूतस्य तव परैरभिभवशङ्का अकिञ्चनमपि मत्परं कोऽपि नाभिभवितुं प्रभवतीत्याह- **न कश्चिदिति** । तेजसा प्रभावेण । विभूतिभिः सैन्यादिसामग्रीभिः ॥ ११ ॥

**निशम्येति** । आयुङ्क्त नियुक्तवान् । विष्णोस्तेजसोपबृंहितान् संवर्धितान् । तेजोपबृंहितानिति सन्धिरार्षः ॥ १२ ॥

**सहदेवमिति** । नकुलादीनां मत्स्यादिभिः सहायैर्यथासंख्येन सम्बन्धः ॥ १३ ॥

**त इति** । कथम्भूताय? यक्ष्यते यागं करिष्यते ॥ १४ ॥

**श्रुत्वेति** । आद्यो हरिः श्रीकृष्णः ॥ १५ ॥

---

1. Ml. V. किञ्च कमपि

**वीर०** आस्तां तावदेवम्भूतस्य तव परैरभिभवशङ्का, यतोऽकिञ्चनमपि मत्परं कोऽपि नाभिभवितुं प्रभुरित्याह- **न कश्चिदिति** । मत्परं अहमेव परो यस्य तं मय्यासक्तचित्तमित्यर्थः । देवोऽपि तेजआदिभिः नाभिभवेत्, किमुत पार्थिवा नाभिभवेयुरिति,तत्र तेजः प्रभावः, श्रीः सम्पत्, विभूतयः सैन्यादिसमृद्धयः ॥ ११ ॥

**निशम्येति** । प्रीतः अत एव फुल्लं विकसितं मुखाम्बुजं यस्य सः । युधिष्ठिरः दिग्विजये निमित्ते विष्णोस्तेजसा उपबृंहितान् वर्धितान् भ्रातॄन् भीमादीन् प्रायुङ्क्त ॥ १२ ॥

**सहदेवमिति** । सृञ्जयैस्सह दक्षिणस्यां दिश्यादिशत् आज्ञापयामास, सव्यसाचिनमर्जुनं वृकोदरं भीमं मत्स्यादि-भिस्सह ॥ १३ ॥

**त इति** । हे नृप ! यक्ष्यते यागं करिष्यमाणायाजातशत्रवे धर्मराजाय ते भ्रातरः भूरि बहु द्रविणं वित्तमाजह्रुः आहृत्य समर्पयामासुः ॥ १४ ॥

**श्रुत्वेति**। जरासन्धमजितं श्रुत्वा नृपतेर्युधिष्ठिरस्य ध्यायत श्चिन्तयतस्सतः हरिः श्रीकृष्णो यमुपायमुद्धवो [1]बलिनामपि चान्येषां भीमं समबलं विना (भाग° 10-71-5) इति प्राह तमेवोपायं [3]प्राह ॥ १५ ॥

---

1. T.W. Omit तव 2. K.T.W. दिश्याज्ञा° 3. B. आह

**विज०** भवतो दुर्जयत्वेन किमस्माकमिति तत्राह - **नेति**। मत्परं मद्भक्तं विभूतिभिः उपस्करसम्पद्भिः ॥ ११ ॥

विष्णोस्तेजसा प्रभावेण उपबृंहितान् परिपूरितान् ॥ १२, १३ ॥

यक्ष्यते यष्टुकामाय ॥ १४ ॥

अत्र दिग्विजये जरासन्धो जितो मारितो वेति तत्प्रसङ्गो नाकर्णित इति राज्ञो हार्दां शङ्कां परिहरन्निव दिग्विजयात् प्रागेव तद्वधो वृत्त इति नात्र प्रसक्त इति वृत्तं तद्धननमनुवदति - **श्रुत्वेति**। ननु दिशां जयादनन्तरं तद्वधः किं न स्यात् यथास्थितमन्यथानूद्यते किमर्थमिति चेन्न, निर्णयग्रन्थविरोधात्। ननु पूर्वापराभावे किं प्रमाणम्? किं प्रयोजनमिति चेदुच्यते "पूर्वाः कथाः परं ब्रूयुः पराः पूर्वं तथैव च। मोहनार्थाय दुष्टानां सर्वव्यत्यास इष्यते" ॥ (शब्दनिर्णये) इत्यादिवाक्यं, किञ्च "जरासन्धं निहत्यैव पाण्डवैस्तु दिशो जिताः" (मात्स्ये) इत्यादि स्पष्टवचनम्। भगवत एव जरासन्धमजितं श्रुत्वा तज्जयः कथमिति ध्यायतो युधिष्ठिरस्य उद्धवोऽयमुपायमुवाच तमाह हरिरित्यन्वयः ॥ १५ ॥

**भीमसेनोऽर्जुनः कृष्णो ब्रह्मलिङ्गधरास्त्रयः** [1] ॥
**जग्मुर्गिरिव्रजं तात बृहद्रथसुतो यतः ॥ १६ ॥**

**ते गत्वाऽऽतिथ्यवेलायां गृहेषु गृहमेधिनम् ।**
**ब्रह्मण्यं समयाचन्त राजन्या ब्रह्मलिङ्गिनः** [2] **॥ १७ ॥**

**राजन्विद्धयतिथीन् अस्मानर्थिनो** [3] **गृहमागतान्** [4] **।**
**तन्नः प्रयच्छ भद्रं ते यद्वयं कामयामहे ॥ १८ ॥**

**किं दुर्मर्षं तितिक्षूणां किमकार्यमसाधुभिः ।**
**किमदेयं वदान्यानां कः परः समदर्शिनाम्** [5] **॥ १९ ॥**

**योऽनित्येन शरीरेण सतां गेयं यशो ध्रुवम् ।**
**नाचिनोति[6] स्वयंकल्पः[7] स वाच्यः शोच्य एव सः[8] ॥ २० ॥**

1. K. M. Ma. Ml. V. °स्ततः 2. B.G.J. °चेरन्त्रा° 3. B.G.J. प्राप्ता 4. B.G.J. Ml.T.V.W. दूर 5. B.G.J.M.Ma किं न 6. K. Ml. T. V. W. न° 7. B.G.J. M. Ma °ल्पः 8. K.T.W. हि ॥

**श्रीध० भीमसेन** इति। ब्रह्मलिङ्गधरा ब्राह्मणलिङ्गधारिणः। यतो यत्र बृहद्रथसुतो जरासन्धः ॥ १६ ॥

**ते** इति। गृहेषु वर्तमानं समयाचन्त[1-] सम्यग्याचितवन्तः, प्रार्थयामासुः इत्यर्थः[-1] ॥ १७, १८ ॥

नन्विदं कामयामह इति विशेषो निर्दिश्यताम्, अन्यथा यस्य स्वयंकल्पः[2] पुत्रादेर्वियोगो दुस्सहः स कथं देयः,तथा राजमण्डनं किरीटाद्यदेयं यत्तद्भिक्षुभ्यः कथं देयं,तथातिरम्यं रत्नाभरणादि पुत्रादियोग्यं कथं परस्मै देयमिति चेदत आहुः - **किं दुर्मर्षमित्यादि**। अत्र[3] दृष्टान्तत्वेनार्थान्तरमाहुः - किमकार्यमिति। यथाऽसाधूनामकार्यं नास्ति तथा तितिक्षूणां दुर्मर्षं दुस्सहं नास्ति। वदानान्यानामप्युदाराणामदेयं दातुमयोग्यं[4-] नास्ति[-4]। समदर्शिनां शत्रुमित्रादीन्[5-] समं पश्यतां[-5] परश्च नास्ति। अतः किं विशेषनिर्देशेनेत्यर्थः ॥ १९ ॥

किञ्च अर्थिने धीरेण मुद्गलादिवत्प्राणा अपि न वञ्चनीया इत्याशयेनाहुः - **योऽनित्येनेति**। नाऽचिनोति[6] न सम्पादयति स वाच्यः स निन्द्यः ॥ २० ॥

1- -1 B.J. चेरन्। सम्यगयाचन्तेत्यर्थः। 2. B. Ml.V. Omit स्वयंकल्पः 3. B.J. अथ 4- -4 B.J. Omit 5- -5 B.J. Omit 6. B.J. न चि°

**वीर० भीमसेन** इति। ब्रह्मरूपधरा विप्रवेषधराः त्रयः[1] इन्द्रप्रस्थाद्गिरिव्रजं जग्मुः। हे तात! यतो यत्र बृहद्रथसुतो जरासन्ध आस्ते, तद्गिरिव्रजमिति सम्बन्धः ॥ १६ ॥

**तमिति**। ब्रह्मलिङ्गिनः विप्रवेषिणः राजन्याः भीमादयो गृहेषु वर्तमानं तं जरासन्ध मयाचन्त ॥ १७ ॥

याच्ञाप्रकारमेवाह - **राजन्निति** चतुर्भिः[2]। गृहं प्रत्यागतानस्मानर्थिनो विद्धि जानीहि, तत् नः अस्मभ्यं प्रयच्छ देहि, किं तत्? यद्वयं कामयामहे ते तुभ्यं भद्रं मङ्गलम् अस्तु ॥ १८ ॥

ननु यत्कामयामह इति सामान्यतो निर्दिष्टं, न विशेषतः, तद्यदि दुस्सहमदेयं चेत् तत्कथं कामयध्वमित्यत

आहुः- **किमिति**। दुर्मर्षं दुस्सहं किं, न किमपीत्यर्थः। किमकार्यमसाधुभिः, कः परः समदर्शिनामिति च दृष्टान्तार्थम्। यथा असाधूनामकार्यं नास्ति, तथा तितिक्षूणां दुर्मर्षं नास्ति, यथा समदर्शिनां सर्वं ब्रह्मात्मकं पश्यतां परोऽन्यः, अब्रह्मात्मकस्वतन्त्रपदार्थो नास्ति, तथा अत्युदाराणामदेयं नास्तीत्यर्थः। किं विशेषनिर्देशेनेति भावः। वदान्यानां अर्थिने देहोऽपि देय एव इत्यभिप्रेतम् ॥१९॥

तदेव सहेतुकं व्यञ्जयन्तो विपर्यये निन्द्यतामाहुः - **य** इति। सतामिति कर्तरि षष्ठी। सद्भिः गेयं ध्रुवं शाश्वतं यशो यस्स्वयं समर्थस्सन् न चिनोति न सम्पादयति, स वाच्यः निन्द्य एव। अत एव शोच्यः, अहो किमस्य दौर्भाग्यमिति कृपालुभिश्शोच्य इत्यर्थः ॥२०॥

---

1. B.K. ततः 2. T.w. Omit चतुर्भिः

**विज०** हेति सूचितमितिहासं स्पष्टयति - **भीमसेन** इत्यादिना। ब्रह्मलिङ्गधराः ब्राह्मणलक्षणानि बिभ्राणाः यतो यत्र ॥१६॥

आतिथ्यवेलायां आतिथ्यपूजासमये आदित्ये दिनमध्यं गाहमान इत्यर्थः ॥१७, १८॥

दुर्मर्षं दुस्सहं, परः शत्रुः 'परोऽरि परमात्मनोः' इति ॥१९॥

अचिनोति सञ्चिनोति उपार्जितं करोति वाच्यो निन्द्यः ॥२०॥

**हरिश्चन्द्रो रन्तिदेव उञ्छवृत्तिः शिबिर्बलिः ।**
**व्याधः कपोतो बहवो ह्यध्रुवेण ध्रुवं गताः ॥२१॥**

**श्रीशुक उवाच**

**स्वैराकृतिभिस्तांस्तु प्रकोष्ठैर्ज्याऽहतैरपि ।**
**राजन्यबन्धून्विज्ञाय दृष्टपूर्वानचिन्तयत् ॥२२॥**

**राजन्यबन्धवो ह्येते ब्राह्मलिङ्गानि बिभ्रति ।**
**ददामि भिक्षितं तेभ्य आत्मानमपि दुस्त्यजम् ॥२३॥**

बलेर्नु[2] श्रूयते कीर्तिर्वितता दिक्ष्वकल्मषा ।
ऐश्वर्याद्भ्रंशितस्यापि विप्रव्याजेन विष्णुना ॥ २४ ॥

श्रियं जिहीर्षतेन्द्रस्य विष्णवे द्विजरूपिणे ।
जानन्नपि महीं प्रादाद्वार्यमाणोऽपि दैत्यराट् ॥ २५ ॥

---

1. MI. V. कामितं 2. K.T.W. °र्न

**श्रीध० हरिश्चन्द्र** इति। विश्वामित्रा[1]र्थानृण्याय हरिश्चन्द्रो भार्यात्मजादि सर्वं विक्रीय स्वयं चाण्डालतां प्राप्तोऽप्यनिर्विण्णः सहायोध्यावासिभिर्जनैः स्वर्गं गतः। रन्तिदेवः सकुटुम्बोऽष्टचत्वारिंशदहान्यलब्धोदकोऽपि[2] कथञ्चिल्लब्धान्नोदकाद्यर्थिभ्यो दत्वा ब्रह्मलोकं गतः। उञ्छवृत्तिः मुद्गलः षण्मासं सीदत्कुटुम्बोऽप्यातिथ्यदानेन ब्रह्मलोकं गतः। शिबिः शरणागतकपोत रक्षणाय स्वमांसं श्येनाय दत्वा दिवं गतः। बलिः सर्वस्वं ब्राह्मणवेषधारिणे वामनाय[3] हरये दत्वा तमेव आत्मसाच्चकार। कपोतश्चातिथये व्याधाय कपोत्या सहात्ममांसं दत्वा विमानेन दिवं गतः। व्याधस्तयोः सत्त्वं वीक्ष्य स्वयमतिनिर्विण्णो महाप्रस्थाने वनाग्निनिर्दग्ध[4] देहो निष्कल्मषो दिवमारुरोह। एवमन्ये च बहवोऽध्रुवेण शरीरेण ध्रुवं लोकं गता इति ॥ २१ ॥

**स्वैरिति**। ज्याहतैर्ज्याघातकिणाङ्कितैः दृष्टपूर्वान् द्रैपदी स्वयंवरादिषु ॥ २२, २३ ॥

**बलेरिति**। इन्द्रस्य श्रियं जिहीर्षता विप्रव्याजेन विष्णुना भ्रंशितस्यापि बलेः। नु अहो। नेति पाठे न श्रूयते किं, अपि तु श्रूयत इति ॥ २४ ॥

**श्रियमिति**। तं श्लाघते - विष्णवे इति। शुक्रेण वार्यमाणोऽपि। अत एव विष्णुरिति जानन्नपि ॥ २५ ॥

---

1. MI.V. °त्राऽऽनृ 2. B. °ब्धान्नोद° 3. B. J. Omit वामनाय 4. B.J. Omit नि

**वीर०** अनित्यशरीरेण नित्ययशस्सम्पादनं किं क्वचित्प्रसिद्धम्? तत्राहुः - **हरिश्चन्द्र** इति। विश्वामित्रानृण्याय हरिश्चन्द्रो भार्यात्मजादि सर्वं विक्रीय स्वयं चण्डालतां प्राप्तोऽपि अनिर्विण्णः सह अयोध्यावासिभिर्जनैः स्वर्गं गतः। रन्तिदेवस्सकुटुम्बोऽष्टचत्वारिंशदहान्यलब्धान्नोदकोऽपि कथञ्चिल्लब्धान्नोदकादि अर्थिभ्यो दत्वा ब्रह्मलोकं गतः, उञ्छवृत्तिः मुद्गलषण्मासं सीदत्कुटुम्बोऽप्यातिथ्यदानेन ब्रह्मलोकं गतः। शिबिः शरणागतकपोतरक्षणार्थं स्वमांसं

श्येनाय दत्वा दिवं गतः, बलिः विप्रवेषाय विष्णवे सर्वस्वं दत्वा तमेवात्मसाद्यकार। कपोतश्चातिथये व्याधाय कपोत्या सह आत्ममांसं दत्वा विमानेन दिवं गतः। व्याधस्तयोस्सत्त्वं वीक्ष्य स्वयमतिनिर्विण्णो महाप्रस्थाने वनाग्नि निर्दग्धदेहो निष्कल्मषो दिवमारुरोह, एवमन्ये च बहवोऽध्रुवेण शरीरेण ध्रुवं यशस्सञ्चितवन्तः ॥ २१ ॥

**स्वैरिति**। इत्थमुक्त जरासुतः ज्याहतैः ज्याघातकिणाङ्कितैः प्रकोष्ठैः स्वैरर्लिङ्गैः आकृतिभिश्च तान् अर्थिनः राजन्यबन्धून् विज्ञाय अनुमाय दृष्टपूर्वान् पूर्वं द्रौपदीस्वयंवरादिषु दृष्टान्विज्ञाय अचिन्तयत् ॥ २२ ॥

चिन्ताप्रकारमेवाह - **राजन्यबन्धव** इति चतुर्भिः। ब्रह्मलिङ्गानि विप्रवेषान् बिभ्रति दधति तथापि एतेभ्यः दुस्त्यजमात्मानं देहमपि भिक्षितं याचितं ददामि ॥ २३ ॥

**बलेरिति**। इन्द्रस्येन्द्रार्थं श्रियं हर्तुमिच्छता विप्रव्याजेन विष्णुनैश्वर्याङ्कशितस्य त्याजितस्यापि बले वैरोचनस्य कीर्तिर्निर्दुष्टा दिक्षु व्याप्ता च न श्रूयते किम् सा अधुनाऽपि श्रूयत एवेत्यर्थः। तं श्लाघते - विष्णव इति। जानन्नपि वार्यमाणोऽपि, शुक्रेणेति शेषः। दैत्यराट् बलिः महीं प्रादात्[1] ददौ ॥ २४, २५ ॥

---

1. T.W. Omit प्रादात्

**विज०** अध्रुवेण शरीरेण ॥ २१-२३ ॥

श्रूयते किं श्रूयते? एवं हीति योज्यं, इन्द्रस्य श्रियं बलाज्जिहीर्षता हर्तुकामेन विष्णुना ऐश्वर्याङ्कशितस्य ॥ २४ ॥

वार्यमाणः, शुक्रेणेति शेषः ॥ २५ ॥

**जीवता ब्राह्मणार्थाय कोन्वर्थः क्षत्रबन्धुना ।**
**देहेन पतमानेन नेहता विपुलं[1] यशः ॥ २६ ॥**

**इत्युदारमतिः प्राह कृष्णार्जुन वृकोदरान् ।**
**हे विप्रा! व्रियतां कामो ददाम्यात्मशिरोऽपि वः ॥ २७ ॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**युद्धं नो देहि राजेन्द्र द्वन्द्वशो[2-2] यदि मन्यसे ।**
**युद्धार्थिनो वयं प्राप्ता राजन्या नान्यकाङ्क्षिणः[3] ॥ २८ ॥**

**असौ वृकोदरः पार्थस्तस्य भ्राताऽर्जुनो ह्ययम् ।**
**अनयोर्मातुलेयं मां कृष्णं जानीहि ते रिपुम् ॥२९॥**

**एवमावेदितो राजा जहासोच्चैः स्म मागधः ।**
**आह चामर्षितो मन्दा युद्धं तर्हि ददामि वः ॥३०॥**

---

1. K. विमलं 2- -2 MI.V. द्वन्द्वं त्वं 3. MI.V. नान्य°

**श्रीध० जीवतेति**। पतमानेन पतता क्षत्रबन्धुना देहेन ब्राह्मणार्थाय विपुलं यशो नेहता नेहमानेनासम्पादयता को नु अर्थः। न कोऽपीत्यर्थः ॥२६॥

इतीति। एवं निश्चित्याह - हे विप्रा इति ॥२७, २८॥

राजन्यतामेव प्रपञ्चयति - **असाविति** ॥१९, ३०॥

**वीर० जीवतेति**। पतमानेन विनङ्क्ष्यता क्षत्रबन्धुना देहेन ब्राह्मणार्थाय विमलं, विपुलमिति पाठान्तरम्। यशः कीर्तिं नेहता नेहमानेन असम्पादयता को न्वर्थः किं प्रयोजनं, न किमपीत्यर्थः ॥२६॥

**इतीति**। उक्तिमेवाह - हे विप्रा इति। वः युष्मभ्यम् आत्मनो मम शिरोऽपि ददामि ॥२७॥

इत्थमुक्तः प्राह श्रीभगवान् **युद्धमिति**। द्वन्द्वशो युद्धं द्वन्द्वयुद्धं देहि यदि मन्यसे इच्छसि तर्हि देहीति सम्बन्धः। वयं राजन्याः युद्धार्थिनः न त्वन्नकाङ्क्षिणो ब्राह्मणाः इत्यर्थः ॥२८॥

**असाविति**। असौ पार्थः पृथायाः पुत्रः [1]वृकोदरः भीमः तस्य वृकोदरस्य [2]भ्राता, (अयं अर्जुनः) अनयोः भीमार्जुनयोः मातुलस्यापत्यं मां कृष्णं तव रिपुं जानीहि ॥२९॥

**एवमिति**। उच्चैर्जहास, अमर्षितः क्रुद्धः प्राह च, उक्तिमेवाह - मन्दा इत्यादिना। हे मन्दाः! यदि युद्धं वाञ्छथ तर्हीत्यर्थः। वो युष्मभ्यं [3]ददामि ॥३०॥

---

1. B. Omits वृकोदरः 2. K.T.W. Omit भ्राता 3. K.T.W. Omit ददामि

**विज०** यः क्षत्रबन्धुः पतमानेन देहेन विपुलं यशो नेहता नेहते नापादयति तेन ब्राह्मणार्थाय जीवता क्षत्रबन्धुना कोऽन्वर्थो भवति, न कोपीति विचिन्त्य ॥२६, २७॥

द्वन्द्वशो युद्धं द्वन्द्वयुद्धम् ॥२८॥

वीप्सां त्रीन्प्रति स्पष्टयन् निर्दिशति - **असाविति** ॥२९, ३०॥

**न त्वया भीरुणा योत्स्ये युधि विल्कबचेतसा ।**
**मथुरां स्वपुरीं त्यक्त्वा समुद्रं शरणं गतः ॥३१॥**

**अयं तु वयसाऽतुल्यो नातिसत्त्वो न मे समः ।**
**अर्जुनो न भवेद्योद्धा भीमस्तुल्यबलो मम ॥३२॥**

**इत्युक्त्वा भीमसेनाय प्रदाय[1] महतीं गदाम् ।**
**द्वितीयां स्वयमादाय निर्जगाम पुराद्बहिः ॥३३॥**

**ततः समे[2-] खले[-2] वीरौ संयुक्ताविति[3]रेतरौ[4] ।**
**जघ्नतुर्वज्रकल्पाभ्यां गदाभ्यां रणदुर्मदौ ॥३४॥**

**मण्डलानि विचित्राणि सव्यं दक्षिणमेव च ।**
**चरतोः शुशुभे युद्धं नटयोरिव रङ्गिणोः[5] ॥३५॥**

---

1. B.G.J. MI.V. प्रादाय ; M. Ma दत्वा स 2- -2 K.T.W. समे स्थले ; M.Ma समबलौ 3. M.Ma संसक्ता 4. K.T.W. °रम् । 5. K. गज°

**श्रीध० नेति** । यतो मद्भिया[1] समुद्रं शरणं गतः ॥३१॥

**अयमिति** । वयसाप्यतुल्यो नातिसत्त्वो नातिबलश्च न च देहेन मया समोऽतोऽर्जुनो योद्धा न भवेत् । भीमस्तु भवेत् । यतो मम तुल्यबलः इति ॥३२॥

**इतीति** । प्रादाय दत्त्वेत्यर्थः ॥३३॥

**तत इति** । समे खले युद्धाङ्गणे ॥३४॥

**मण्डलानीति** । मण्डलानि गदायुद्धगति भेदान् । सव्यं दक्षिणं च यथा भवति तथा । रङ्गिणो रङ्ग गतयोर्नटयोरिवेति निर्भयत्वे उपमा ॥३५॥

---

1. MI. V. मद्भयात्

**वीर०** त्वया सह न योत्स्ये, तत्र हेतुत्वेन विशिनष्टि - भीरुणा युधि युद्धे विक्लवम् अधृष्टं चेतो यस्य तेन, एतदेव स्मारयति - मधुरामिति ॥ ३१ ॥

**अयं त्विति** । अयं वयसा अतुल्य इति छेदः । अयमर्जुनस्तु वयसा न तुल्यः, किन्त्वेवमः[1] नातिसच्चः अनतिबलश्च, अतो न मम समः, अतश्च योद्धा न भवेत्, भीमस्तु मम तुल्यबलः तेनैव सह योत्स्य इति भावः ॥ ३२ ॥

**इतीति** । महतीं गुर्वीं गदां प्रदाय दत्वा पुराद्बहिर्निर्जगाम ॥ ३३ ॥

**तत इति** । समे निम्नौन्नत्यरहिते स्थले युध्दाङ्गणे संयुक्तावायत्तौ[2] वीरौ मागधभीमसेनौ रणे दुष्टो मदो ययोस्तौ जघ्नतुः ॥ ३४ ॥

सव्यं दक्षिणं च यथा भवति तथा मण्डलानि गदायुद्ध गतिभेदाननुचरतोः[3] युद्धं शुशुभे, रङ्गिणोः रङ्गगतयोः गजयोरिवेति, नटयोरिति पाठे निर्भयत्वे दृष्टान्तः ॥ ३५ ॥

---

1. B. °न्त्यपटुः 2. B. °क्तौ वी° 3. T.W. Omit गति

**विज०** अतुल्यः नातिसत्वः न प्रशस्तपराक्रमः ॥ ३१-३४ ॥

रङ्गिणोः रङ्गगतयोः मण्डलं वल्गतोर्वा ॥ ३५ ॥

**ततश्चटचटाशब्दो वज्र निष्पेषसन्निभः ।**
**गदयोः क्षिप्तयो राजन्दन्तयोरिव दन्तिनोः ॥ ३६ ॥**

**ते वै गदे भुजबलेन[1] निपात्यमाने[2] अन्योन्यतोस[3] कटिपाद करोरुजत्रून् ।**
**चूर्णी बभूवतुरुपेत्य यथार्कशाखे संयुध्यतो द्विरदयोरिव दीप्तमन्योः[4] ॥ ३७ ॥**

**इत्थं तयोः प्रहतयोर्गदयोर्नृवीरौ क्रुद्धौ स्वमुष्टिभिरयःसदृशैरपिष्टाम्[5] ।**
**शब्दस्तयोः प्रहरतोरिभयोरिवासी निर्घात वज्र परुषस्तलताडनोत्थः[6] ॥३८ ॥**

**तयोरेवं प्रहरतोः समशिक्षाबलौजसोः ।**
**निर्विशेषमभूद्युद्धमक्षीण बलयोर्नृप[7] ॥३९ ॥**

**शत्रोर्जन्ममृती विद्वाञ्जीवितं च जराकृतम् ।**
**पार्थमाप्यायधस्येन तेजसाऽचिन्तयद्धरिः ॥ ४० ॥**

---

1.B.G.J.M.Ma °जवेन 2. K. निहन्य° 3. M.Ma °योः सकटि° 4. M.Ma °सन्ध्योः । 5. B.G.J.M.Ma स्पर्शे 6.M.Ma °व्यपि° 7. B.G.J.M.Ma जय°

★ These following two verses are found only in B.G.J. Edns. between 39 and 40 slokas. "एवं तयोर्महाराज युध्यतोः सप्तविंशतिः । दिनानि निरगंस्तत्र सुहृद्वन्निशि तिष्ठतोः" ॥ "एकदा मातुलेयं वै प्राह राजन् वृकोदरः । न शक्तोऽहं जरासन्धं निर्जेतुं युधि माधव" ।

**श्रीध० तत** इति । चटचटेति गदयोः परस्पराघातशब्दानुकारणम् । वज्रस्य निष्पेषः पातस्तत्सदृशः । युध्यतोर्दन्तिनोः[1] दन्ताघात शब्द इव शुशुभे ॥ ३६ ॥

**ते** इति । असंकट्यादीनुपेत्य । दीप्तो मन्युः ययोस्तयोः द्विरदयोः गजयोरर्क शाखाभ्यां समं युध्यतोस्ते यथा चूर्णीभवतस्तद्वत् ॥ ३७ ॥

**इत्थमिति** । अपिष्टां चूर्णी चक्रतुः ॥ ३८ ॥

**तयोरिति** । शिक्षा अभ्यासः, बलं सत्त्वम्, ओजः प्रभावः, समानि तानि ययोस्तयोः ॥ ३९ ॥

**शत्रोरिति** । जन्म शकलरूपं, मृतिः पुनः शकलीभावः ते विद्वान् जानन् । जरा नाम राक्षसी तत्कृतम् । अचिन्तयत् कथमसौ शकलीभवेदिति ॥ ४० ॥

---

1. Ml.v. °ध्यमानयो र्द°

**वीर० ततश्चेति** । चटचटेति गदयोः परस्पराघातशब्दानुकरणम्, वज्रस्याशनेः निष्पेषः निष्पातः तत्सदृशः, युध्यतोः दन्तिनोः गदयोः दन्ताघातशब्द इव शुशुभे ॥ ३६ ॥

**ते वा** इति । अन्योन्यतः परस्परं भुजबलेन निहन्यमाने ते गदे अंसादीनुपेत्य चूर्णीबभूवतुः, तत्र अंसः स्कन्धः, दीप्तो मन्युः ययोस्तयोः गजयोरर्कशाखाभ्यां संयुध्यतोस्ते यथा चूर्णीभवतः, तद्वत् ॥ ३७ ॥

**इत्थमिति** । अयस्सदृशैः कृष्णायसवज्रिष्ठुरैः मुष्टिभिः गदयोरपिष्टां चूर्णीचक्रतुः गदयोरिति कर्मणश्शेषत्वविवक्षया षष्ठी, प्रहरतोरित्यत्र करणस्य कर्तृत्व विवक्षायां लटश्शत्रादेशः, "उगितश्च" (अष्टा 4-1-4)इति ङीप् अभाव आर्षः

प्रहरतोर्भीममागधयोः ये गदे तयोरिति, गजयोरिव मुष्टिभिः प्रहरतयोस्तयोः भीममागधयोः करतलताडनादुत्थ उत्पन्नश्शब्दः निर्घातवज्रपरुषः वज्रनिर्घातवत्पुरुष आसीत्। निर्घातशब्दस्य पूर्वनिपात आर्षः ॥३८॥

**तयोरिति**। शिक्षा अभ्यासः बलं सत्त्वम् ओजः प्रभावः समान्येतानि ययोः तयोः अक्षीण बलयोः युद्धं निर्विशेषं निरुपममासीत् ॥३९॥

**शत्रोरिति**। हरिः शत्रोः जरासन्धस्य जन्म शकलरूपं मृतिः पुनश्शकलीभावः ते, जरा नाम राक्षसी तत्कृतं जीवितं च विद्वान् जानन् स्वेन तेजसा पार्थं भीममाप्याययन् उपबृंहयन् अचिन्तयत् कथमसौ शकलीभवेदिति ॥४०॥

**विज०** अन्योन्ययोः परस्परसङ्गतयोः सकटिपादकरोरुजत्रून्प्रति निपात्यमाने अर्कस्य गुल्मस्य शाखे दीप्तसन्ध्योः प्रकाशितसन्धिस्थानयोः ॥३६, ३७॥

अयस्स्पर्शैः स्वमुष्टिभिः व्यपिष्टां विपेषतुः जघ्नतुरित्यर्थः। प्रहतयोः सतोः निर्घातवज्रवन्निष्ठुरः ॥ ३८, ३९॥

जरया राक्षस्या कृतशरीरशकलसन्धानात् जन्म तद्विघटनान्मरणं च जानन् ॥४०॥

**सञ्चिन्त्यारिवधोपायं भीमस्यामोघदर्शनः।**
**दर्शयामास विटपं पाटयन्निव संज्ञया ॥४१॥**

**तद्विज्ञाय महासत्त्वो भीमः प्रहरतां वरः।**
**गृहीत्वा पादयोः शत्रुं पातयामास भूतले ॥४२॥**

**एकं पादं पदाक्रम्य दोर्भ्यामन्यं प्रगृह्य सः।**
**गुदतः पाटयामास शाखामिव महागजः ॥४३॥**

**एकपादोरु वृषण कटिपृष्ठस्तनांसके।**
**एकबाह्वक्षि भ्रूकर्णे शकले ददृशुः प्रजाः ॥४४॥**

**हाहाकारो महानासीन्निहते मगधेश्वरे।**
**पूजयामासतुर्भीमं परिरभ्य जयाच्युतौ॥**
**★ कृष्णेन च परिरब्धो विरुजोऽभूद्गतोदरः ॥४५॥**

**सहदेवं तत्तनयं भगवान्भूतभावनः ।**
**अभ्यषिञ्चदमेयात्मा मगधानां[2] पतिं प्रभुः ॥**
**मोचयामास[3] राजन्यान्संरुद्धा मागधेन[4] ये ॥ ४६ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

---

1. M.Ma T.W. °तन्नाजः । ★ This half verse is not found in G.J.M.Ma Ml.V. Edns. It is commented by veera raghava only. 2. M.Ma माग° 3. M.Ma. Ml.V °क्षं° 4. Ml.V. सः

**श्रीध० सञ्चिन्त्येति** । विटपं शाखाम् । करेण विटपं गृहीत्वा हरिर्भीमस्य यथाहं विटपं पाटयामि तथा त्वमेनं विपाटयेति संज्ञया सङ्केतेनारिवधोपायं दर्शयामासेत्यर्थः ॥ ४१-४३ ॥

**एकपादेति** । एकैकः पादादिः ययोः ते शकले ॥ ४४, ४५ ॥

दुर्वृत्तत्वादसौ हतोः, न तु राज्याभिलाषेणेति दर्शयन्नाह - **सहदेवमिति** ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

**वीर० सञ्चिन्त्येति** । विटपं शाखान् करे गृहीत्वा हरिर्भीमस्य यथा विटपं पाटयामि, तथा त्वमेनं पाटयेति संज्ञया सङ्केतेन अरिवधोपायं दर्शयामासेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

**तदिति** । तत्साङ्केत्यं विदित्वा शत्रुं[1] जरासन्धम्[1] ॥ ४२ ॥

**एकमिति** । पदा पादेन आक्रम्य दृढमवष्टभ्य अन्यं पादं दोर्भ्यां हस्ताभ्यां प्रगृह्य महागजश्शाखामिव गुदत आरभ्य पाटयामास विदारयामास ॥ ४३ ॥

**एकेति** । एकैकः पादादिर्ययोः तयोस्ते शकले ददृशुः ॥ ४४ ॥

**हाहाकार** इति। मगधेश्वरे निहते सति [1-2] जयाच्युतौ भीमं परिरभ्यालिङ्ग्य पूजयामासतुः बह्वमन्येताम्, श्रीकृष्णेन परिरब्धः आलिङ्गितः हेतुगर्भमिदम्। विरुजः विगतग्लानिः बभूव ॥४५॥

दुर्वृत्तत्वादसौ मागधो हतः, न राज्याभिलाषणेति दर्शयन्नाह - **सहदेवमिति**। अमेयात्मा अपरिच्छेद्य स्वरूपस्वभावः भूतानि लोकान् भावयति अभ्युदयतीति तथा हेतुगर्भमिदम्। अतस्ततनयं जरासन्धतनयं सहदेवाख्यं मगधानां देशानां पतिमभ्यषिञ्चत् तेषामधिपतिं चकारेत्यर्थः। ततो मागधेन [3] ये [4] संरुद्धास्तान् राजन्यान्मोचयामास ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्री वीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥७२॥

---

1- -1 T.W. Omit 2. T.W. add वि 3. T.W. Omit ये 4. B. सन्निरु° ; T.W. निरु°

**विज०** भीमस्यारिवधोपायं संज्ञया दर्शयामास। केयं संज्ञयेत्याह - **विटपमिति** ॥४१-४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥७२॥

# त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या एकाशीतितमोऽध्यायः)

### श्रीशुक उवाच

अयुते द्वे शतान्यष्टौ लीलया युधि निर्जिताः ।
ते निर्गता[1-] गिरिद्रोण्यां मलिना[2] मलवाससः ॥ १ ॥

क्षुत्क्षामाः शुष्कवदनाः संरोधपरिकर्शिताः ।
ददृशुस्ते घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥ २ ॥

श्रीवत्साङ्कं चतुर्बाहुं पद्मगर्भारुणेक्षणम्[3-] ।
चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ ३ ॥

पद्महस्तं गदाशङ्ख रथाङ्गैरुपलक्षितम् ।
किरीटहारकटककटिसूत्राङ्गदान्वितम्[4] ॥ ४ ॥

भ्राजद्वरमणिग्रीवं निवीतं[5] वनमालया ।
पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया ॥ ५ ॥

जिघ्रन्त इव नासाभ्यां रम्भन्त[6-] इव बाहुभिः ।
प्रणेमुर्हतपाप्मानो मूर्धभिः पादबोर्हरेः ॥ ६ ॥

---

1--1 M, Ma विनिर्गता 2.M, Ma "नो 3--3 k,M, Ma ,T,W पत्रनिभेक्षणम् ;Ml, V पत्रायतेक्षणम् 4.B,G,J "चि" 5.Ml, V वीतञ्च 6--6 M, Ma इंहन्त इव चेतसा

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ततस्त्रिसप्ततितमे मोचयित्वा नृपान्हरिः । राजार्हभोगैः स्वान्देशान् प्रस्थाप्य पुनरागमत् ॥

अत्युग्रद्धजरासन्धवधात्तद्बुद्धभूपतीन् । विमोक्ष्यकृपया कृष्णो निजरूपमदर्शयत् ॥

**अयुत** इति। ये निर्जिता जरासन्धेन निरुद्धाश्च गिरिद्रोण्यां ते ततो निर्गतास्सन्तो घनश्यामं ददृशुरित्युत्तरेणान्वयः ॥ १ ॥

**क्षुधिति**। क्षुधा क्षामाः कृशाः संरोधेन परिकर्शिताः क्लेशिताः ॥ २ - ४ ॥

**भ्राजदिति** भ्राजन् भ्राजमानो वरमणिः कौस्तुभो यया सा ग्रीवा यस्य तं, निवीतं[1] कण्ठलम्बितया व्याप्तं, पिबन्त इव इत्यादीनां हरेः पादयोः प्रणेमुरित्युत्तरेणान्वयः ॥ ५ ॥

जिघ्रन्त इति । रम्भन्तः परिरम्भमाणा इव ॥ ६ ॥

---

1. B,J वीतं

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

न केवलं मोचयामास, अपि च तैः संस्तुतस्तान्[1] बहुमानयामास चेत्याह -त्रिसप्ततितमेन अयुते इत्यादिना। द्वे **अयुते** अष्टौ शतानि च ये राजन्या युद्धे जरासन्धेन लीलया[2-] अनायासेन[-2] निर्जिताः गिरिद्रोण्यां सन्निरुद्धाश्च ते ततो निर्गतास्सन्तः घन इव श्यामं श्रीकृष्णं ददृशुरित्युत्तरेणान्वयः। कथम्भूताः? मलिनाः अभ्यङ्गोन्मर्दनस्नानाद्यभावात् मलानि[3] मलिनानि वासांसि येषां ते ॥ १ ॥

क्षुधा क्षामाः कृशाः शुष्काणि वदनानि येषां ते संरोधेन परिकर्शिताः क्लेशिताः ॥ २ ॥

कथम्भूतम्? श्रीवत्सोऽङ्कश्चिह्नं यस्य, चारु सुन्दरं प्रसन्नञ्च वदनं यस्य, स्फुरती मकराकारे कुण्डले यस्य, पद्मं रेखात्मकं हस्ते यस्य तं, तथा गदादिभिः उपलक्षिते स्वासाधारणैः[4-] धृतपद्मादिभिः चतुर्भिः बाहुभिः उपलक्षितं यथा किरिटादिभिराचितं युक्तम्[-4] ॥ ३, ४ ॥

भ्राजमानो वरमणिः कौस्तुभो ग्रीवायां यस्य तं, वनमालया निवीतं कण्ठलम्बितया व्याप्तम् ॥ ५ ॥

पिबन्त इवेत्यादीनां हरेः पादयोः प्रणेमुरित्युत्तरेणान्वयः। चेतसा रम्भन्त इव परिरम्भमाण इव, हरन्त इवेति पाठान्तरम्। इत्थं तेषां भगवति प्रेमातिशयः प्रदर्शितः ॥ ६ ॥

---

1. K.T.W. Omit सं 2- -2 T.W. Omit 3. T.W. मलानि 4- -4 K.T.W. Omit

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

जरासन्धरोधादिलक्षणतपसा प्रसन्नो भगवान् यज्ज्ञानसाध्यं स्वरूपं दर्शितवान् तदुपासकानां भक्त्यतिशय जननार्थं कृतमिति कृत्वा तन्माहात्म्यं कथयति अस्मिन्नध्याये। तत्रादौ तत्संख्यां निर्दिशति - अयुतेति। गिरिद्रोण्यां निरुद्धाः ततो विनिर्गताः ॥ १-४ ॥

निवीतं पर्यासितम् ॥ ५ ॥

चेतसा आलिङ्गनार्थमीहन्तः चेष्टमाना इव ॥ ६ ॥

**कृष्णसन्दर्शनाह्लादध्वस्तसंरोधनक्लमाः[1]।**
**प्रशशंसुर्हृषीकेशं गीर्भिः प्राञ्जलयो नृपाः ॥ ७ ॥**

**राजान ऊचुः**

**नमस्ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराव्यय ।**
**प्रपन्नान् पाहि नः कृष्ण निर्विण्णान् घोरसंसृतेः ॥ ८ ॥**

**नैनं[2] नाथाभ्यसूयामो[3] मागधं मधुसूदन ।**
**अनुग्रहो यद्भवतो[4] राज्ञां राज्यच्युतिर्विभो[5] ॥ ९ ॥**

**राज्यैश्वर्यमदोन्नद्धो[6] न श्रेयो विन्दते नृपः ।**
**त्वन्मायामोहितोऽनित्या[7] मन्यते[8] सम्पदोऽचलाः[9] ॥ १० ॥**

---

1. K श्रमाः। 2. M,Ma नैव 3. B G.J. °न्व° 4. K.T.W. °ता 5.K.T.W. °तिः प्रभो 6. M,Ma °द्धा° 7. M.Ma °ताःनि° 8. M.Ma °न्ते° 9. M,Ma °दश्चलाः

**श्रीध० कृष्णेति**। कृष्णसन्दर्शनाह्लादेन ध्वस्तः संरोधनक्लमो येषां ते ॥७॥

**नमस्ते** इति।संरोधाद्रक्षितान् अस्मान्। घोरायाः संसृतेरपि पाहि मोचय ॥८॥

ननु भवन्तो जरासन्धासूयाविष्टा इहामुत्र भोगासक्ताश्च कथं संसृतेर्मोचनीया इत्याशङ्क्य सम्प्रति न वयं तथाभूता इत्याहुः - **नैनमित्यष्टभिः**। हे नाथ! वयमेनं नान्वसूयामः,[1]अमुं दोषदृष्ट्या न पश्यामः कुत इत्यत आहुः अनुग्रह इति, यद्यस्मात् ॥९॥

एतदेव व्यतिरेकेणोपपादयन्ति - **राज्यैश्वर्येति**। राज्यैश्वर्याभ्यां मदस्तेन उन्नद्धः उच्छृङ्खलो नित्या अचलाश्च सम्पदः मन्यते। यद्वा, अनित्यास्सतीरचलाः शाश्वतीर्मन्यते ॥ १० ॥

1. B. J अन्वनु

**वीर०** कृष्णसन्दर्शनाद्य आह्लादः तेन ध्वस्तः संरोधनजश्रमो येषां ते नृपा बद्धाञ्जलयः प्रशशंसुः तुष्टुवुः ॥ ७ ॥

प्रशंसामेवाह- **नमस्त** इत्यादिभिः नवभिः। देवानां देवो ब्रह्मा, तस्यापीश, अनेन परत्वमुक्तम्। प्रपन्नार्ति हरेत्यनेन वात्सल्यम्। हे अव्यय, विकाररहितेत्यनेन रागद्वेषादिराहित्यं, समत्वं सर्वभूत सुहृत्वञ्च। कृष्णेत्यनेन भक्तानां सुखापादनायावतीर्णत्वम्। प्रपन्नान्नः[2] पाहीत्यनेन गोमृत्ववरणम्। ननु भवन्तो बन्धाद्विमोचिताः सुख्यन्तु, किमर्थमधुना मां प्रपद्यन्ते, इत्यत आत्मनो विशिंषन्ति, घोरसंसृतेः[3-] घोरायाः संसृतेः[-3] निर्विण्णाः, अतस्संसृतेरपि भवान् पातु इत्येतदर्थं प्रपन्ना इत्यर्थः ॥ ८॥

ननु भवन्तो जरासन्धासूयाविष्टाः विषयभोगलालसाश्च कथं संसृतेर्निर्विण्णाः, इत्याशङ्क्य अधुना न वयं तथाभूता इत्याहुः - **नैन**मित्यष्टभिः। हे नाथ! हे मधुसूदन! एनं मागधं नाभ्यसूयामः, अस्मिन्दोषान्नाविष्कुर्मः, किन्तु गुणानेवेति भावः। कुत इत्याहुः- अनुग्रह इति। हे विभो! यत् यस्मात् राज्ञामस्माकं राज्याच्च्युतिः भ्रंशः[4] भवताऽनुग्रहः जरासन्धमुखेन भवता कारितोऽनुग्रह एव इत्यर्थः ॥ ९॥

कथं राज्यच्युतेरनुग्रहरूपता इत्यत आहुः - **राज्येति**। राज्यैश्वर्याभ्यां यो मदः, तेन उन्नद्धः उच्छृङ्खलः श्रेयो न विन्दते न लभते। किन्तु तव मायया मोहितः अनित्याश्चला अपि सम्पदः भोग्यभोगोपकरणादिसमृद्धीः अचलाः शाश्वतीः मन्यते। एवं मन्यमानोऽन्ततः स्थावरतां यातीति[5] भावः ॥ १०॥

1. B omits ज: 2. K,T,N omit न्नः 3- -3. K,T,W omit 4. B. omits भ्रंशः 5. K,T,W ए°

**विज०** राज्यच्युतिः कथमनुग्रहोऽभूदित्यत्राह - **राज्येति**। कुतो न विन्दते इति तत्राह - त्वन्मायामोहिता इति। चलाः क्षणिकाः सम्पदः, नित्याश्शाश्वद्रूपा मन्यन्ते, यत्तस्मात् ॥ ७-१०॥

**मृगतृष्णां यथा बाला मन्यन्त उदकाशयम् ।**
**एवं वैकारिकीं मायामयुक्ता वस्तु चक्षते॥ ११ ॥**

**वयं पुरा श्रीमदनष्टदृष्टयो[1] जिगीषयाऽस्या[2] इतरेतरस्पृधः ।**
**घ्नन्तः प्रजाः स्वा अतिनिर्घृणाः प्रभो मृत्युं पुरस्त्वाऽविगणय्य[3] दुर्मदाः ॥ १२ ॥**

**त एव कृष्णाऽद्य गभीररंहसा दुरन्तवीर्येण विचालिताः श्रियः ।**
**कालेन तन्वा भवतोऽनुकम्पया विनष्टदर्पाश्चरणौ स्मराम[4] ते ॥ १३ ॥**

**अथो[5] न राज्यं मृगतृष्णिरूपितं देहेन शश्वत् पतता रुजां[6] भुवा ।**
**उपासितव्यं स्पृहयामहे विभो क्रियाफलं प्रेत्य च कर्णरोचनम् ॥ १४ ॥**

**तं नस्समादिशोपायं[7] येन ते चरणाब्जयोः ।**
**स्मृतिर्यथा न विरमेदपि संसरतामिह ॥ १५ ॥**

**कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।**
**प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ १६ ॥**

---

1. M, Ma, Ml, V बुद्ध° 2. M, Ma °हीर्ष° 3--3 M, Ma मृत्युं परन्त्वामगणय्य ; K, T, W पुरस्तादविगणय्य 4. K. नमाम ते ; M, Ma स्मराम हे 5. K, T, W अतो 6. M, Ma रजो 7. Ml, V °स्त्व°

**श्रीध०** किञ्च अवस्तुवस्तुतया पश्यन्तीत्याहुः **मृगतृष्णामिति**। वैकारिकीं सृष्ट्यादि[1] विकारापन्नां अयुक्ता अविवेकिनः ॥ ११ ॥

राज्यस्य योगवियोगयोरनर्थावहत्वमस्मास्वेव[2] दृष्टमित्याहुः- **वयमिति** द्वाभ्याम्। श्रीमदेन नष्टा दृष्टिर्येषां[3] ते अस्याः पृथिव्याः इतरेतरस्पृधः परस्परं स्पर्धमानाः पुरःपुरतः त्वा त्वां मृत्युमविगणय्य पुरा ये दुर्मदा वयम् ॥ १२॥

**त** इति। हे कृष्ण ! त एव वयमद्य विनष्टदर्पाः ते चरणौ स्मरामः स्मर्तुमाशास्महे। कथम्भूताः ? भवतः तन्वा मूर्त्या कालेन श्रियो विचालिता विभ्रंशिताः, अतो राज्यच्युतिः भवदनुग्रह एवेत्यर्थः ॥ १३ ॥

**अथो** इति। अत एव अथोऽनन्तरं मृगतृष्णिकया[4] रूपितं सदृशं[4] राज्यं शश्वत्पतता प्रतिक्षणं क्षीयमाणेन तथा रुजां रोगाणां भुवा[5] जन्मक्षेत्रेण देहेनोपासितव्यं सेव्यं न स्पृहयामहे, प्रेत्य परलोके च क्रियाफलं स्वर्गादिभोगमुपासितव्यं न स्पृहयामहे। कथम्भूतम् ? कर्णयोः रोचनं रुचिजनकमात्रं तत्र गतस्य स्पर्धाद्यनपगमेन सुखाभावादित्यर्थः ॥ १४ ॥

यद्येवम्भूता यूयं तर्हि मम चरणौ स्मरत, ततोऽनायासेन मुक्तिर्भविष्यतीति, किं मदपेक्षयेति चेदत आहुः - **तं न** इति। त्वच्चरणस्मृतिरपि त्वत्प्रसादफलमेवेत्यर्थः ॥ १५, १६ ॥

---

1.Ml, V शब्दादि° 2. B, J °रनर्थार्थाव° 3. Ml, V बुद्धि 4- -4 B, J मृगतृष्णिसदृशं 5. Ml, V भोज्य

**वीर०** त्वन्मायामोहितः[1] शाश्वतीर्मन्यत इत्येतदेव सदृष्टान्तमुपपादयन्ति -**मृगतृष्णामिति** मृगतृष्णा मरीचिका। तामुदकाशयं जलाशयं नदीतटाकादिरूपं मन्यन्ते। तथाऽयुक्ताः अविवेकिनो नृपाः वैकारिकीं मायां [2-]स्रक्चन्दनादि[-2] [3-]शब्दादिविकारात्मिकां[-3] प्रकृतिं वस्तु चक्षते। प्रकृतिपरिणामरूपभोग्यं[4] नित्यं[5] मन्यन्त इत्यर्थः। अतथाभूतायाः तथात्वावभासे दृष्टान्तः ॥ ११ ॥

तदेवं राज्यादियोगवियोगात् अनर्थावहत्वमुक्तं, तदेतदस्मास्वेव दृष्टमित्याहुः - **वयमिति** द्वाभ्याम्। अस्या भूमेः जिगीषया परस्परं स्पर्धमानाः अतिनिर्घृणाः नितरां निष्कृपाः वयं पुरस्तात् पुरोवर्तिनमित्यर्थः। मृत्युमविगणय्य प्रजाः घ्नन्तः पुरा ये दुर्मदाः ॥ १२ ॥

ते वयमद्य हे कृष्ण ! गम्भीरं रंहः वेगो यस्य दुरन्तमपारं वीर्यं प्रभावो यस्य तेन भवतः तन्वा शरीरभूतेन कालेन विचलिता भ्रंशिता श्रीर्येषां ते तथाभूताः भवतोऽनुकम्पया हेतुभूतया विनष्टो दर्पो येषां ते तव चरणौ निरतिशय पुरुषार्थभूतौ नमाम नतिपूर्वकं शरणः प्राप्ताः स्मेत्यर्थः ॥ १३ ॥

**अत** इति। राज्यादियोगायोगयोः एवंविधत्वात् शश्वत्सदा रुजां रोगाणां भुवा उत्पत्तिस्थानभूतेन पतता पतिष्यमाणेन[6] देहेन [7-]मृगतृष्णरूपितं[-7] मृगतृष्णात्वेन निरूपितं, तत्तुल्यमित्यर्थः। राज्यं नोपासितव्यं न सेवितव्यम्। अनेन आत्मनामैहिकविषयविरागः आविष्कृतः। तथा हे विभो ! कर्णयोः श्रोत्रयोरेव रोचनं प्रीत्यावहम् "अपामसोमममृता अभूमः स एवैनं भूतिं गमयति" (अथ.शिखा ३-२) इत्याद्यर्थवादैः श्रुतिसुखमात्रावहं न त्वनुभवदशायां पतनभयशङ्कास्पदत्वेन दुःखमिश्रत्वादिति भावः। प्रेत्य लोकान्तरं प्राप्य, अनुभूयेति शेषः। क्रियायाः श्रौतस्मार्तरूपायाः फलं स्वर्गादिरूपं न स्पृहयामहे ॥ १४ ॥

तर्हि किं स्पृहयध्वे ? इत्यत्र तदाविष्कुर्वन्तः तदनुगृहाणेति विज्ञापयन्ति तदिति। तत्तस्मात्सकलविषयविरक्त त्वात् नोऽस्माकं तम् इति च्छेदे तम् उपायं समादिश देहि। कोऽसौ ? येनोपायेन अस्माकमिह प्रकृतिमण्डले संसारतामपि यथा तव चरणाब्जयोर्विषयभूतयोः स्मृतिः न विरमेत्, न विच्छिन्ना भवति तथा अनुगृहाणेत्यर्थः ॥ १५ ॥

एवं स्वाभिप्रायमाविष्कृत्य तन्निष्पत्तिनिदानभगवत्प्रसादनोपायोऽञ्जलिरेवेत्येभिप्रयन्तः मन्त्रविशेषेण नमस्कुर्वन्ति - **कृष्णायेति**। प्रणतानां प्रणतिमात्रं कुर्वतां क्लेशं नाशयतीति तथा, तस्मै ॥ १६ ॥

---

1. K. अनित्या 2- -2 K,T,W omit 3--3 K omits 4.B omits रूपं 5. B omits नित्यं 6. K,T,W °घ्यता 7- -7 K,T,W omit

**विज०** एतमर्थं निदर्शयति - मृगतृष्णामिति। मृगतृष्णां अम्बरप्रदेशसंसृष्टदिवाकरकरनिकरं दृष्ट्वा उदकाशयं जलाधारं जलपूरमित्यर्थः। एवमयुक्ताः मनोयोगाकुशलाः अज्ञाः वैकारिकीं विकारोपेतां अनित्यां मायां 'गो अश्वमहिमेत्याचक्षते' इति श्रुतेर्महिमानं सम्पल्लक्षणं वस्तु प्रतिहतिरहितं नित्यं चक्षते पश्यन्ति ॥ ११ ॥

अस्याः जगत्याः ये वयं पुरःस्थितं मृत्युं त्वामगणय्य स्थिताः ॥ १२ ॥

ते च वयं कालेन श्रियो विचलिता अभूम। तत्तस्मात् भवतोऽनुकम्पया चरणौ स्मरामहे ॥ १३ ॥

रजोभुवा रजोगुणोत्पन्नेन शश्वत्पतता देहेन राज्यं नोपासितव्यमिति स्पृहयामहे। प्रेत्य यत्क्रियाफलं स्वर्गादिकं तदपि न कामयामहे । कीदृशं कर्णरोचनं श्रवणसुखजनकमापातरमणीयमित्यर्थः ॥ १४ ॥

येनोपायेन ॥ १५-१६ ॥

**श्रीशुक उवाच**

**संस्तूयमानो भगवान् राजभिर्मुक्तबन्धनैः ।**
**तानाह करुणस्तात शरण्यः श्लक्ष्णया गिरा ॥ १७ ॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**अद्य प्रभृति वो[1-] भूपाः[-1] मय्यात्मन्यखिलेश्वरे।**
**सुदृढा जायते भक्तिर्बाढमाशंसितं[2] तथा ॥ १८ ॥**

**दिष्ट्या व्यवसितं भूपा भवन्त ऋतभाषिणः[3] ।**
**श्रियैश्वर्यमदोन्नाहं पश्य उन्मादकं नृणाम् ॥ १९ ॥**

**हैहयो नहुषो वेनो रावणो नरकोऽपरे ।**
**श्रीमदाद्भ्रंशिताः स्थानाद्देवदैत्यनरेश्वराः ॥ २० ॥**

**भवन्त[4-] एतद्विज्ञाय[-4] देहाद्युत्पाद्यमन्तवत् ।**
**मां यजन्तोऽध्वरैर्युक्ताः[5] प्रजा धर्मेण रक्षथ ॥ २१ ॥**

**सन्तन्वन्तः प्रजातन्तून् सुखं दुःखं भवाभवौ ।**
**प्राप्तं प्राप्तञ्च सेवन्तो मञ्चित्ता विचरिष्यथ ॥ २२ ॥**

---

1- -1 M, Ma भूपालाः 2. B माशा° 3 .K, T, W भूत° 4- -4 M, Ma सञ्चिन्तयत वि° 5. Ml, V भ°

**श्रीध० संस्तूयमानेति**। श्लक्ष्णया मञ्जुलया ॥ १७ ॥

**अद्येति** यथा भवद्भिराशंसितं तथा बाढं निश्चितं वो मयि भक्तिः जायते जायतामित्यर्थः ॥ १८ ॥

**दिष्ट्येति**। हे भूपाः ! मद्भजनमेव कर्तव्यमिति भवद्भिर्व्यवसितं सङ्कल्पितं दिष्ट्या भद्रं भवद्भिरुक्तञ्च सत्यमेवेत्याह- भवन्त इति। श्रीश्च ऐश्वर्यञ्च ताभ्यां मदस्तेन उन्नाहमुन्नहनम् उद्बन्धनं स्वैराचारमित्यर्थः। पश्ये पश्यामि ॥ १९ ॥

तदेवाह - **हैहय** इति। हैहयः कार्तवीर्यश्चक्रवर्ती नरेश्वरः पितुः कामधेनुहरणात् परशुरामेण सपुत्रो हतः। नहुषः देवेन्द्रतां प्राप्तः उन्मत्तः शचीसङ्गाय ब्राह्मणान् शिबिकां वाहयन् तैरेव ततो भ्रंशितोऽजगरत्वमवाप। वेनोऽप्युन्मत्तो ब्राह्मणानधिक्षिपन् तैरेव हुङ्कृतैर्हतः। रावणो राक्षसेश्वरःसीतामभिलषन् राघवेण हतः। नरको दैत्येश्वरोऽदितिकुण्डलाद्याहरणात् मयैव हतः। अपरेऽपि श्रीमदात् स्थानाद्भ्रंशिताः ॥ २० ॥

**भवन्त** इति। यदुत्पाद्यं देहादि तदन्तवत्। एवं विज्ञाय युक्ताः अप्रमत्ताः रक्षथ रक्षतेत्यर्थः ॥ २१ ॥

**सन्तन्वन्त** इति। प्रजातन्तून् पुत्रादिसन्ततीः प्राप्तं प्राप्तं समत्वेन सेवमानाः ॥ २२ ॥

---

1.B, J omit उन्नहनं 2. Ml, V हुङ्कारैः

**वीर० संस्तूयमान** इति। मुक्तं बन्धनं मागधकृतं यैः येषां वा तैः राजभिः संस्तुतः करुणः करुणायुक्तः अत एव शरण्यः श्लक्ष्णया मृद्व्या गिरा तान् राज्ञः प्राह ॥ १७ ॥

तदेवाह - **अद्येति**[1-] षड्भिः[-1]। आत्मनि अन्तःप्रविश्य धारके अखिलानामीश्वरे प्रशासितरि मयि वो युष्माकं अद्य प्रभृति सुदृढा भक्तिर्जायते भविष्यति। कथं यथा बाढं साधु यथा तथा आशंसितं समीहितं तथा सुदृढेति सम्बन्धः ॥ १८ ॥

तन्निश्चितमभिनन्दति- **दिष्ट्येति**। हे भूपाः। भूतं यथास्थितं तात्त्विकमिति यावत्, तद्भाषन्त इति तथा। तैर्भवद्भिः व्यवसितं निश्चितं तद्दिष्ट्या आनन्दस्सम्यगिति यावत्। तदेवोपपादयति[2] श्रियैश्वर्याभ्यां यो मदोन्नाहः मदेनोद्बन्धनं उद्वृत्तिः तं नृणामुन्मादनं पश्ये पश्यामीत्यर्थः[3] ॥ १९ ॥

तदेवाह - **हैहय** इति। हैहयः कार्तवीर्यः। नहुषः नरेश्वरश्चक्रवर्ती। एते श्रीमदाद्धेतोः स्थानात् राज्यात् भ्रंशिताः तावत् हैहयः पितुः कामधेनुहरणात् परशुरामेण सपुत्रो हतः। तथा नहुषो देवेन्द्रतां प्राप्तः उद्दृत्तः शचीसङ्गाय ब्राह्मणान् शिबिकां वाहयन् तैरेव ततो भ्रंशितः अजगरत्वमवाप। वेनोप्युन्मत्तो ब्राह्मणानधिक्षिपन् तैरेव हुङ्कृतैर्हतः। रावणो राक्षसेश्वरःसीतामभिलषन् राघवेण सङ्ग्रामे[4] हतः। नरकोऽपि[5] दैत्यश्च अदितेः कुण्डलाद्याहरणात् मयैव हतः। एवमपरेऽपि श्रीमदात् स्थानाद्भ्रंशिता इत्यर्थः ॥ २० ॥

अतो भवन्तो यदुत्पाद्यं देहादि तदन्तवत् विज्ञाय युक्ताः अवहितचेतसः यज्ञैः मामाराधयन्तः धर्मेण प्रजाः रक्षथ रक्षन्तु इत्यर्थः। मध्यमपुरुष आर्षः ॥ २१ ॥

**सन्तन्वन्त** इति। प्रजातन्तून् पुत्रपौत्रादिसन्ततीः सन्तन्वन्तो विस्तारयन्तः भवः उत्पत्तिः, अभवः भवेतरः, तदन्यार्थोऽत्र नञ् मरणमित्यर्थः। सुखादिकं प्राप्तं प्राप्तं समत्वेन सेवन्तः[6] सेवमानाः मयि विषयभूते चित्तं येषां ते विचरिष्यथ, कालं नयतेत्यर्थः ॥ २२ ॥

---

1--1 K,T,W °त्यादिना 2. K,T,W °तुमाह 3 K,T,W omit इत्यर्थः 4. K,T,W omit संग्रामे 5. K,T,W omit अपि 6. B omits सेवन्तः

**विज०** बाढमभिमतमाशंसितम् आकाङ्क्षितञ्च जायते। 'बाढन्त्वभिमते भृशे' इति च ॥ १८ ॥

भवतां व्यवसितं दिष्ट्या मङ्गलं, तत्र हेतुः भवन्त इति। ऋतभाषिणः ब्रह्मवादिनः यथार्थवादिनो वा। अनुभावयति श्रियेति यूयं श्रियैश्वर्यमदानाम् उन्नाहमभिवृद्धिम्, उन्मादनं बुद्धिभ्रंशकरं पश्यत ॥ १९ ॥

कान् पश्याम इति तत्राह - **हैहयेति**। ध्वंसिताः भ्रंशिताः ॥ २० ॥

शिक्षयति - सञ्चिन्तयतेति। उत्पाद्यम् उत्पत्तियोग्यम् अन्तवन्नाशवत् ॥ २१ ॥

भवाभवौ मङ्गलामङ्गले ॥ २२ ॥

**उदासीनाश्च देहादावात्मारामा धृतव्रताः[1] ।**
**मय्यावेश्य मनस्सम्यक् मामन्ते ब्रह्म यास्यथ ॥ २३ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**इत्यादिश्य नृपान् कृष्णो भगवान् भुवनेश्वरः ।**
**तेषां न्ययुङ्क पुरुषान् स्त्रियो मज्जनकर्मणि ॥ २४ ॥**

**सपर्यां कारयामास सहदेवेन भारत ।**
**नरदेवोचितैर्वस्त्रैर्भूषणैः स्रग्विलेपनैः ॥ २५ ॥**

1. K, T, W "ढ"

**श्रीध०** **उदासीना** इति । मां ब्रह्म यास्यथ ॥ २३ ॥

**इतीति**। स्त्रियश्च स्त्रीश्च[1] तेषां मज्जनकर्मणि अभ्यङ्गस्नानादौ न्ययुङ्क्त ॥ २४,२५ ॥

1. B,J omit स्त्रीश्च

**वीर०** देहादावित्यादिशब्देन तदनुबन्धिनां सङ्ग्रहः। उदासीना अहम्ममतारहिताः इत्यर्थः[1]। आत्मारामाः स्वात्मपरमात्म याथात्म्यावलोकनपराः मयि सम्यक् मन आवेश्य अन्ते प्रारब्धावसाने ब्रह्म परब्रह्मभूतं मां यास्यथ प्राप्स्यथ[2] ॥ २३ ॥

इति इत्थम् आदिश्य अनुशिष्य तेषां नृपाणां मज्जनकर्मणि अभ्यङ्गस्नानादौ निमित्ते पुरुषान् स्त्रियः स्त्रीश्च न्ययुङ्क्त ॥२४॥

**सपर्यामिति**। हे भारत। सहदेवेन जरासन्धसुतेन प्रयोज्यकर्त्रा नरदेवानामर्हैः वस्त्रादिभिस्साधनैः सपर्यां कारयामास ॥ २५ ॥

1. B omits इत्यर्थः 2. T, W omit प्राप्स्यथ

**विज०** आत्मारामत्वं विवृणोति - मयीति॥ २३ - २५ ॥

**भोजयित्वा वरान्नेन सुस्नातान् समलङ्कृतान् ।**
**भोगैश्च विविधैर्युक्तांस्ताम्बूलाद्यैर्नृपोचितैः ॥ २६ ॥**

**ते पूजिता मुकुन्देन राजानो मृष्टकुण्डलाः ।**
**विरेजुर्मोचिताः क्लेशात्[1] प्रावृडन्ते यथा ग्रहाः ॥ २७ ॥**

**रथान् सदश्वानारोप्य मणिकाञ्चनभूषितान् ।**
**प्रीणय्य[2] सूनृतैर्वाक्यैः स्वदेशान् प्रत्ययापयत् ॥ २८ ॥**

1. Ml, V कृच्छ्रात् 2. K, T, W °णीय

**श्रीध० भोजयित्वेति**। सुस्नातान् सम्यगलङ्कृतान् भोगैश्च युक्तान् वरेणान्नेन भोजयित्वा पुनस्तेषां सपर्यां सह देवेन कारयामास इति[1] पूर्वेणान्वयः[-1] ॥ २६ ॥

**त** इति। ग्रहाश्चन्द्रादयो यथा ॥ २७ ॥

**रथानिति** । प्रीणय्य[2] नन्दयित्वा[3] ॥ २८ ॥

---

1- -1 B, J omit 2. Ml, V प्रीणीय 3. Ml, V प्रीणयित्वा

**वीर० भोजयित्वेति**। वरान्नेन श्रेष्ठान्नेन भुजि कर्मणोऽन्नस्य तत्कारणत्वविवक्षायां तृतीया। ततः पुनः ताम्बूला द्यैर्विविधैर्भोगैर्युक्तान् कारयामासेत्यनुषङ्गः[1] ॥ २६ ॥

**त** इति। ते राजानस्सहदेवेन पूजिताः कृष्णेन क्लेशान्मोचिताः विरेजुः, यथा प्रावृडन्ते शरदि ग्रहाश्चन्द्रादयः तद्वत् ॥ २७ ॥

**रथानिति**। सन्तः समीचीना अश्वाः येषान्तान् रथानारोप्य रथेषु उपवेश्य सूनृतैः मधुरैर्वाक्यैः। प्रीणीय हर्षयित्वा स्वस्वदेशान् प्रत्ययापयत् प्रस्थापयमास ॥ २८ ॥

---

1. K.T. W °त्यर्थः।

**विज०** भोगैःस्रक्चन्दनादिलक्षणैः धनैर्वा ॥ २६ ॥

ग्रहा आदित्यादयः ॥ २७ ॥

प्रीणय्य प्रीतिं जनयित्वा ॥ २८ ॥

**त एवं मोचिताः कृच्छ्रात् कृष्णेन सुमहात्मना ।**
**ययुस्तमेव ध्यायन्तः कृतानि च जगत्पतेः ॥ २९ ॥**

**जगदुः प्रकृतिभ्यस्ते महापुरुषचेष्टितम् ।**
**यथान्वशासद् भगवांस्तथा चक्रुरतन्द्रिताः ॥ ३० ॥**

**जरासन्धं घातयित्वा भीमसेनेन केशवः ।**
**पार्थाभ्यां संयुतः प्रायात् सहदेवेन पूजितः ॥ ३१ ॥**

**श्रीध० जगदुरिति**। जगदुः ऊचुः ॥ २९ - ३१ ॥

**वीर० त इति** । कृच्छ्रात् क्लेशान्मोचिताः तमेव श्रीकृष्णमेव । जगत्पतेः कृष्णस्य कृतानि चेष्टितानि च ध्यायन्तः जग्मुः ययुः ॥ २९ ॥

**जगदुरिति**। नृपाः महापुरुषस्य श्रीकृष्णस्य चेष्टितं , प्रकृतिभ्योऽमात्यादिभ्यो जगदुः ऊचुः । यथा भगवान् अन्वशासत् अनुशिक्षितवान् तथा निरवद्याश्चक्रुः ॥ ३० ॥

**जरासन्धमिति**। भीमसेनेन प्रयोज्यकर्त्रा घातयित्वा सहदेवेन जरासन्धसुतेन पूजितः पार्थाभ्यां भीमार्जुनाभ्यां च संयुतः प्रायाद्ययौ ॥ ३१ ॥

**विज०** कृतानि कार्याणि ॥ २९ ॥

प्रकृतिभ्यः विश्वस्तभृत्येभ्यः ॥ ३०, ३१ ॥

**[1-]गत्वा ते खाण्डव[-1]प्रस्थं शङ्खान्दध्मुर्जितारयः ।**
**हर्षयन्तः स्वसुहृदो दुर्हृदाञ्चासुखावहाः ॥ ३२ ॥**

**तच्छ्रुत्वा प्रीतमनस इन्द्रप्रस्थनिवासिनः ।**
**मेनिरे मागधं शान्तं राजा चासमनोरथः ॥ ३३ ॥**

**अभि[2]वन्द्याऽथ राजानं भीमार्जुनजनार्दनाः ।**
**सर्वमाश्रावयाञ्चक्रुरात्मना यदनुष्ठितम् ॥ ३४ ॥**

**निशम्य धर्मराजस्तु[3] केशवेनानुकम्पितः ।**
**आनन्दाश्रुकला[4] मुञ्चन् प्रेम्णा नोवाच किञ्चन ॥ ३५ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे कृष्णाद्यागमने त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

---

1- -1 K,T,W ते गत्वाऽखण्डल° 2. M, Ma, T, W °वाद्या° 3. B, G, J °स्तत् 4. B, G, J कलां ; M, Ma, T, W कणान्

**श्रीध० गत्वेति**। खाण्डवप्रस्थमिन्द्रप्रस्थम् ॥ ३२ ॥

**तदिति**। शान्तं मृतम्। आप्तमनोरथो बभूव ॥ ३३ - ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

**वीर०**- त इति । ते कृष्ण भीमार्जुनाः आखण्डलप्रस्थम् इन्द्रप्रस्थम् गत्वा शङ्खान् [1]दध्मुः ध्वनयामासुः। तत्र हेतुः जितोऽरिः शत्रुर्यैस्ते दुर्हृदाम् अमित्राणां असुखं दुःखमावहन्तीति तथा, सुहृदो मित्राणि हर्षयन्तश्च ॥ ३२ ॥

**तदिति** । तच्छङ्खध्वननं श्रुत्वा मागधं शान्तं हतं मेनिरे अमन्यन्त । राजा युधिष्ठिरस्तु आप्तः मनोरथो येन तथाभूतश्चाऽऽसीत् ॥ ३३ ॥

अपि च **अभिवन्द्येति**। आत्मना आत्मभिः यदनुष्ठितं कृतं तत्सर्वमाश्रावयामासुः ॥ ३४ ॥

**निशम्येति**। आनन्दाश्रूणां [2]कलाः बिन्दून् मुञ्चन् किञ्चिदपि नोवाच, तूष्णीमासेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

---

1. B omits दध्मुः 2. K, T, W °श्रुकलाः

**विज०** खाण्डवप्रस्थम् इन्द्रप्रस्थम्। दुर्हृदां शत्रूणाम् ॥ ३२ ॥

शान्तं मृतम्। प्राप्तमनोरथः, अभूदिति शेषः ॥ ३३ - ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीवीजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

(विजयध्वजरीत्या एकाशीतितमोऽध्यायः)

# चतुस्सप्ततितमोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या अशीतितमोऽध्यायः)

### श्रीशुक उवाच

एवं युधिष्ठिरो राजा जरासन्धवधं[1] विभोः ।
कृष्णस्य चानुभावं तं श्रुत्वा प्रीतस्तमब्रवीत् ॥ १ ॥

### युधिष्ठिर उवाच

[2-]ये स्युस्त्रैलोक्यगुरवस्सर्वे[-2] लोकास्सहेश्वराः[3] ।
वहन्ति दुर्लभं लब्ध्वा शिरसैवाऽनुशासनम् ॥ २ ॥

स भवानरविन्दाक्ष[4-] दीनानामीशमानिनाम्[-4] ।
धत्तेऽनुशासनम् भूमन् तदत्यन्तविडम्बनम् ॥ ३ ॥

न ह्येकस्याऽद्वितीयस्य ब्रह्मणः परमात्मनः[5] ।
कर्मभिर्वर्धते तेजो हसते वा[6] यथा रवेः ॥ ४ ॥

न च[7] तेऽजितभक्तानां ममाऽहमिति माधव ।
त्वं तवेति च नानाधीः पशूनामिव वैकृता ॥ ५ ॥

### [8-]श्रीशुक उवाच[-8]

इत्युक्त्वा यशिये[9] काले वव्रे युक्तान् स ऋत्विजः ।
कृष्णानुमोदितः पार्थो ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः ॥ ६ ॥

---

1. K.T.W. धं प्रभोः । ; M.Ma. °धात् प्रभो । 2- -2M.Ma यस्य त्रिलोक गुरवः सर्व 3. B.G.J.M.Ma °कमहे° 4- -4 B.G.J. °क्षो दीनानामीशः; K. °क्ष जनानामीशः;; Ml.V. °क्ष दीनानामिह 5. K. मेहिनः । 6. B.G.J..Ml.T.V.W. च 7. B.G.J. वै 8- -8 M. Ma omit 9. M.Ma. याशिये

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुर्युक्सप्ततितमे राजसूयक्रियाद्विजैः। अग्रपूजाप्रसङ्गेन चैद्यघातादि वर्ण्यते ॥

राजसूयमुखे हत्वा जरासन्धं तदन्ते[1]। चैद्यं तदन्ते कुर्वन्तं बीजं कलिमिवाऽवपत् ॥

[2-]कुरूणामन्तार्थं कुरूणामन्तो यस्मात् असौ कुर्वन्तः तं कलिं इत्यर्थः। **एवमिति**। कृष्णस्य चानुभावमिति चकारात्तस्य स्वाज्ञानुविधायित्वाज्ञाऽऽलक्ष्येत्यर्थः[-2] ॥ १ ॥

तदाह - **ये स्युरिति**। ये त्रैलोक्यस्यापि गुरवः स्युः सनकादयः सर्वे च लोकाः[3] लोकपालाश्च ते शिरसैव तवाऽनुशासनं वहन्ति दुर्लभं लब्ध्वेति भाग्ये नैतल्लब्धमिति बहुमानेनेत्यर्थः ॥ २ ॥

**स** इति। सभवान्परमेश्वरोऽस्माकमनुशासनं धत्ते तदत्यन्तविडम्बनमननुरूपमनुकरणं,स्वतेजोहानि प्रसङ्गात्[4-] इति तात्पर्यार्थः[-4] ॥ ३ ॥

अथवा तव पूर्णस्य आज्ञापनाज्ञाधारणाभ्यां न तेजसे हानिवृद्धी। अतः कृपया सर्वं सङ्गच्छत इत्याह - **नेति**। एकस्य अद्वितीयस्य समानासमानरहितस्य ब्रह्मणस्तवोभयं माया परमात्मन इति सर्वजीवनियन्तुस्तव नियाम्यत्वं सुतरां न वास्तवम्, अतः परानुग्रहार्थैः एतैः कर्मभिः तव तेजो न वर्धते न च ह्रसति[5], रवेः इव उदयास्तमयादि कर्मभिरित्यर्थः। तथा च श्रुतिः - "न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्" (इतिहास उ.-२०) इति ॥ ४ ॥

नन्वेवमप्यहं परमेश्वरो सर्वस्याज्ञापकः[6-] ममेदं नीचं कर्मायोग्यमिति मनसि कथं न भवेदत आह - **न चेति**। हे अजित! तव भक्तानामेव तावदियं नानाधीर्भेदमतिः नास्ति यथा पशूनामज्ञानां वैकृता शरीरविषया, तव तु नास्तीति किम्पुनर्वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ५ ॥

**इतीति**। यज्ञिये यज्ञोचिते वसन्तादिकाले युक्तानभियुक्तान् स युधिष्ठिरः ऋत्विजो होतृप्रमुखान् वव्रे वृतवान् ॥६॥

---

1. B.J. °न्तं° 2- -2 B.J.omit 3. B.J. omit लोकाः 4- -4 B.J.ङ्गादित्यर्थः। 5. MI.V. °ते 6. B.J. omit.

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ राजसूययाजन शिशुपालवधात्मकं भगवच्चेष्टितमनुवर्णयति चतुस्सप्ततितमेन - **एवमिति**। युधिष्ठिरो राजा तं तं जरासन्धघातनात्मकं कृष्णस्यानुभावं प्रभावञ्च श्रुत्वा तं श्रीकृष्णमब्रवीत् ॥ १ ॥

उक्तिमेवाह **य** इति चतुर्भिः। ये त्रैलोक्यस्याऽपि गुरवः स्युः सनकादयः, ये च सर्वे लोकाः जनास्तत्पालाश्च ते यस्यानुशासनं दुर्लभं लब्ध्वा भाग्यैरेव तल्लब्धमिति बहुमानेनेत्यर्थः। शिरसा वहन्ति ॥ २ ॥

स भवान् हे अरविन्दाक्ष! ईशमात्मानं मन्यन्त इति तथा तेषां जनानामनुशासनं धत्ते करोतीति यत्तदत्यन्तविडम्बनं मनुष्यचेष्टाभिनयमात्रमन्यथा सर्वनियन्तुः सङ्कल्पमात्रक्लृप्तजगदुत्पत्तिस्थितिलयस्य तवैतत् साक्षाच्छत्रुविजयादिरूपं कर्म न घटत इति भावः ॥ ३ ॥

ननु प्रभावातिशयार्थमेवाऽहमपीतरवत्तवानुशासनं दधे इत्यत आह - **न हीति**। एकस्याविभक्तनामरूपचिदचिद्विशिष्टतया जगदुपादानकारणभूतस्याऽद्वितीयस्य निमित्तकारणस्य च ब्रह्मणस्तदुभयकारणत्वोपयुक्तस्वाभाविकसार्वज्ञ्य सर्वशक्तित्वादि कल्याणगुणबृहत्वशालिनः एवं लीलाविभूतिनायकत्वमुक्तम्। परमे नित्यविभूत्याख्ये तिष्ठतीति तथा। तस्य तव कर्मभिः प्राकृतशत्रुजयादिरूपैस्तेजःप्रभावो न वर्धते नाऽपि ह्रसते च, यथा रवेरुदयस्तमंयादिकर्मभिर्न वर्धते न क्षीयते च' तद्वत् ॥४॥

उक्तमेव सहेतुकं कैमुत्यनयाभिप्रायेणाऽऽह **न चेति**। हे माधव! हे अजित! ते तव भक्तानामेव पशूनामिव पशुतुल्यानां देहाभिमानिनामिव ममाऽऽहमिति त्वं तवेति च नानाधीः स्वदेहपरदेह तत्सम्बन्धिषु अनात्मभूतेषु अनात्मीयेषु आत्माभिमानात्मीयत्वाभिमानरूप नानाधी र्न चास्ति कुतः तद्धेतुक तेजोवृद्धि ह्रासौ किं पुनस्तव तौ न स्त इतीति भावः ॥ ५ ॥

**इतीति**। यज्ञिये यज्ञार्हे वसन्तादिरूपकाले सपार्थो युधिष्ठिरः कृष्णेनाऽनुमोदितः युक्तानभियुक्तान् ब्रह्मवादिनः ब्राह्मणान् ऋत्विजो वृतवान् ॥ ६ ॥

---

1.B.T.W. °त्परश्च

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

श्रोतृमनोहरं क्षमाजनंकं वीरवीर्यवर्धनं हरेः समवृत्तिनिदर्शनं शिशुपालवधं निगदत्यस्मिन्नध्याये। तत्रादौ युधिष्ठिरो भगवन्तं स्तुत्वा तदनुज्ञया राजसूयप्रारम्भणं वक्ति एवमित्यादिना ॥ १ ॥

यस्य तव त्रिलोकगुरवः ब्रह्मादयः ॥ २ ॥

ईशमानिनाम् ईश्वरोऽहमहं भोगीत्याद्यभिमानवतां दीनानामात्मतत्त्वज्ञानाभावात् कोष्ठगत्या कृपणानां अनुशासनं दुर्मार्गप्रवृत्तित्यागेन सन्मार्गवर्तनम् ॥ ३ ॥

प्रेक्षावत इव हरेः अनुशासनादि प्रवृत्तिः स्वप्रयोजनोद्देशपूर्विका इत्यकृतार्थत्वप्रसङ्ग इति तत्राह-न हीति। तेजःप्रभाव लक्षणा प्रभा। कर्मभिः शुभाशुभलक्षणैः। "न कर्मणा वर्धता नो कनीयान्" (इतिहास उ.२०) इति श्रुतेः। एकस्यापि समाधिकसद्भावे तौ किं न स्यातामिति तत्राऽऽह अद्वितीयस्येति। अस्याऽपि परिच्छिन्नत्वे कथमिति मन्दाशङ्कां परिहरति-ब्रह्मण इति। बहिस्तस्थाऽस्तु अन्तःपरिच्छिन्न इति तत्राह - परमात्मन इति। आत्मनो जीवात्मपरत्वेन पूर्णत्वेन नीयमानस्य परमात्मन इत्यर्थः। रवेः प्रभा मन्दोष्णत्वादि विशेषः कालोपाधिको न स्वाभाविक इति भवत्येवं निदर्शनं, हरेस्तूक्तविशेषणसामर्थ्यात्सोऽपि नेत्यवगमयितव्यम् ॥ ४ ॥

हरेरद्वितीयत्वं किम्पुनर्न्यायेनाऽऽह - **न चेति**। हे अजित! माधव! लक्ष्मीपते! ते तत्र भक्तानां पुत्रादौ ममेति देहादावहमिति देहान्तरे त्वमिति तदीयक्षेत्रादौ तवेति नानाधीर्नास्ति। चशब्दस्सर्वत्रेश्वरसत्तां पश्यतामित्यस्मिन्नर्थे वर्तते। कीदृशी नानाधीः? यथा पशूनां संस्काररहितानां बुद्धिर्वैकृता विविधप्रकारा। स्वार्थे तद्धितः ॥ ५ ॥

याज्ञिये यज्ञकारणयोग्ये युक्तान्कल्पोक्तन्यायवेदिनः ॥ ६ ॥

**द्वैपायनो भरद्वाजः सुमन्तुर्गौतमोऽसितः ।**
**वसिष्ठश्च्यवनः कण्वो मैत्रेयः कवषस्त्रितः ॥ ७ ॥**

**विश्वामित्रो वामदेवः सुमतिर्जैमिनिः क्रतुः ।**
**पैलः पराशरो [1]गर्गो वैशम्पायन एव च ॥ ८ ॥**

**[2]अथर्वा कश्यपो धौम्यो रामो भार्गव आसुरिः ।**
**वीतिहोत्रो मधुच्छन्दा वीरसेनोऽकृतव्रणः ॥ ९ ॥**

**उपहूतास्तथा[3] चान्ये भीष्मद्रोणकृपादयः ।**
**धृतराष्ट्रस्सहसुतो विदुरश्च महामतिः ॥ १० ॥**

**ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्रा यज्ञदिदृक्षवः ।**
**तत्रेयुस्सर्वराजानो राज्ञां प्रकृतयो नृप ! ॥ ११ ॥**

**ततस्ते देवयजनं ब्राह्मणास्स्वर्णलाङ्गलैः ।**
**कृष्टा तत्र यथान्यायं[5] दीक्षयाञ्चक्रिरे नृपम् ॥ १२ ॥**

---

1. K.T.W. अगस्त्यो 2. MI.V. दुर्वासाः 3. K.T.W. थैवान्ये 4. B.G.J. ऽऽम्नायं ; MI.V. ऽऽम्नातं

**श्रीध०** तानाह **द्वैपायन** इति त्रिभिः ॥ ७,८ ॥

अथवा इति। अकृतव्रणान्तानेतानृत्विगुपद्रष्टादिभेदेन वव्रे ॥ ९ ॥

**उपहूता** इति । अन्ये चोपहूता यज्ञदिदृक्षवः [1]सर्वे च तत्रेयुरित्यन्वयः ॥ १०,११ ॥

तत इति। देवयजनं यज्ञभूमिं कृष्ट्वा कर्षणादिभिस्संशोध्य दीक्षयाञ्चक्रिरे दीक्षासंस्कारयुक्तमकुर्वन् ॥ १२ ॥

---

1. B I omit सर्वे च

**वीर०** तानेव निर्दिशति - द्वैपायन इति त्रिभिः। अकृतव्रणान्तान् एतान् ऋत्विगुपद्रष्टादिभेदेन वव्रे इति सम्बन्धः ॥ ७-९ ॥

**उपहूता** इति। अन्ये च द्रोणादयः उपहूतास्सन्तो यज्ञं द्रष्टुमिच्छवः तत्रेयुः आजग्मुरित्यन्वयः ॥ १०,११ ॥

तत इति। देवयजनं देवा इज्यन्तेऽस्मिन्निति तद्यज्ञभूमिं स्वर्णमयैर्लाङ्गलैः कृष्ट्वा कर्षणादिभिस्संशोध्य नृपं युधिष्ठिरं दीक्षयाञ्चक्रिरे दीक्षासंस्कारयुक्तमकुर्वन् ॥ १२ ॥

---

1--1 B.omits

**विज०** उपहूता मुनयः यथान्ये अनुपहूता अपि तत्राऽऽजग्मुः तत्र द्रोणादयोऽप्युपहूताः ॥ ७-११ ॥

यत्र यज्ञकरणमभीष्टतमं तद्देवयजनं स्वर्णलाङ्गलैः [1]सुवर्णमयहलैः कृष्ट्वोल्लिख्य संशोध्य शालां कृत्वा तत्र यथान्यायं नृपं दीक्षयाक्रुरित्यन्वयः ॥ १२ ॥

---

1.M.Ma. add सुवर्णलाङ्गलैः

**हैमाः किलोपकरणा वरुणस्य यथापुरा ।**
**इन्द्रादयो लोकपाला विरिञ्चभवसंयुताः ॥ १३ ॥**
**सगणास्सिद्धगन्धर्वविद्याधरमहोरगाः ।**
**मुनयो यक्षरक्षांसि खगकिन्नरचारणाः ॥ १४ ॥**

**राजानश्च समाहूता राजपत्न्यश्च सर्वशः ।**
**राजसूयं समीयुः स्म राज्ञः पाण्डुसुतस्य वै ॥ १५ ॥**

**मेनिरे कृष्णभक्तस्य सूपपन्नमविस्मिताः ।**
**अयाजयन् महाराजं याजका देववर्चसः ॥**
**राजसूयेन विधिवत्प्राचेतसमिवा"मराः ॥ १६ ॥**

**सौत्येऽहन्यवनीपालो याजकान्सदसस्पतीन् ।**
**अपूजयन् महाभागान्यथावत् सुसमाहितः ॥ १७ ॥**

**सदस्यग्र्यार्हणार्हं वै विमृशन्तस्सभासदः ।**
**ना"ध्यगच्छन्ननैकान्त्या त्सहदेवस्तदाऽब्रवीत् ॥ १८ ॥**

---

1.K.T.W. °ञ्जि 2.B.G.J. "र्वा वि° 3. M.Ma. खगाः 4. B.J.Ml.V. सुत्ये°; M.Ma. सूत्ये 5.T.W. सुमहार्हणै; 6. B.G.J. स्या" 7. M.Ma.Ml.V. "ग्रा"

**श्रीध० हैमा** इति। उपकरणा उपस्काराः। वरुणस्य राजसूये यथा आसन्निति शेषः। किञ्च इन्द्रादयो देवगणाः ॥ १३,१४ ॥

**राजानश्चेति**। ये च राजादयः समाहूतास्तत्र समीयुः स्म, ते सर्वे श्रीकृष्णभक्तस्य पाण्डुसुतस्य राज्ञः युधिष्ठिरस्य[1] राजसूयमविस्मितास्सन्तः सूपपन्नं सुसम्पन्नं मेनिरे इत्यन्वयः याजकाः ऋत्विजः ॥ १५,१६ ॥

**सौत्येति**। सुत्येऽहनि सोमाभिषवदिने ॥ १७ ॥

**सदसीति**। अग्र्यार्हणमग्रपूजा[2], तस्यार्हं योग्यम् अनैकान्त्यात् योग्यानां बहुत्वेन एकस्यानिश्चयात् ॥ १८ ॥

---

1.Ml.V.omit युधिष्ठिरस्य 2. Ml.V °ग्रा

**वीर०** स पुरा पूर्वकाले यथा वरुणस्य तद्वदस्यापि उपकरणा हैमाः[1] हेममया आसन्निति शेषः। तृतीयान्तपाठे हैमैर्यज्ञःप्रावर्ततेति शेषः। विरिञ्चिभवाभ्यां[2-] ब्रह्मरुद्राभ्यां[3-] संयुतां[-2] इन्द्रादयो[-3] देवगणाः ॥ १३ ॥

ये च समाहूताः राजानः तेषां पत्न्यश्च समीयुः स्म[4] ॥ १४ ॥

ते सर्वे कृष्णभक्तस्यपाण्डुसुतस्य राज्ञः राजसूयं अविस्मितास्सन्तः[5-] सूपपन्नं[-5] सुसम्पन्नं मेनिरे इत्यन्वयः। अयाजयन्निति। देवानामिव

वर्चो येषां ते याजका ऋत्विजः। [6]अमराः देवाः प्रचेतसं वरुणमिव महाराजं युधिष्ठिरं यथाविधि राजसूयेनाऽयाजयन् ॥ १५,१६ ॥

**सौत्य** इति। सौत्येऽहनि सोमाभिषवदिने अवनीपालो युधिष्ठिरः अपूजयत् पूजयितुमुद्युक्तवानित्यर्थः ॥ १७ ॥

**सदसीति**। सदसि सभायाम् अग्र्यार्हणार्हं अग्रपूजार्हं विमृशन्नपि नाध्यगच्छत् न निश्चितवान्। कुतः अनैकान्त्यात् योग्यानां बहुत्वेन एकस्याप्यविशेषात्। एवं सति तदा सहदेवो माद्रीसुतः। सभासदः सभ्यानब्रवीत् ॥ १८ ॥

---

1. B.omits हैमाः 2- -2 B. omits 3- -3 K.T.W. omit 4. B.omits स्म 5- -5 B.omits 6. B.omits अमराः

**विज०** वरुणस्य यज्ञे वरुणम् अनूक्तं समाहृत्य तात्पर्यात्पुनरुक्तं करोति इन्द्रादय इति ॥ १३-१५ ॥

प्रचेतसं वरुणम् ॥ १६ ॥

सुत्ये सोमाभिषवसम्बन्धिनि अहनि पशुसंज्ञपनदिवसे वा ॥ १७ ॥

अग्रार्हणार्हमग्रपूजास्वीकारयोग्यं विमृशन्तः विचारयन्तः अनैकान्त्यात् नानाबुद्धित्वात् सर्वेषां गुणानामेकत्वा नियमाद्वा ॥ १८ ॥

[1-]सहदेव उवाच[-1]

**अर्हति ह्यच्युतः श्रेष्ठ्यं भगवान् सात्त्वतां पतिः ।**
**एष वै देवतास्सर्वा देशकालधनादयः ॥ १९ ॥**

**यदात्मकमिदं विश्वं क्रतवश्च यदात्मकाः ।**
**अग्निराहुतयो मन्त्राः सांख्यं योगश्च यत्परः ॥ २० ॥**

**एक एवाद्वितीयोऽसावैतदात्म्यमिदं जगत् ।**
**आत्मनात्माश्रयः सभ्याः सृजत्यवति हन्त्यजः ॥ २१ ॥**

**विविधानीहकर्माणि जनयन् [2]यदपेक्षया ।**
**[3]ईहते यदयं सर्वः श्रेयो धर्मादिलक्षणम् ॥ २२ ॥**

**तस्मात्कृष्णाय महते दीयतां परमार्हणम् ।**
**एवञ्चेत्सर्वभूतानामात्मनश्चार्हणं भवेत् ॥ २३ ॥**

**सर्वभूतात्मभूताय कृष्णायाऽनन्यदर्शिने ।**
**देयं दान्ताय[1] पूर्णाय दत्तस्याऽऽनन्त्यमिच्छता ॥ २४ ॥**

---

1- -1 B.G.J.M.Ma.Ml.T.V.W. omit 2. B.G.J. यदेवक्षया ; M.Ma. ह्यनपेक्षया 3. K.M.Ma.T.W. सर्व° 4. B.G.J.K.M.Ma. शान्ताय

**श्रीध० यदात्मकमिति**। सांख्यं ज्ञानं योग उपासना ॥ १९,२० ॥

ननु सांख्यं केवलपरं योगः सविशेषणपरः कथमुभयो रेकपरत्वं तत्राह - **एक इति**। एक एवाद्वितीयोऽसावतः सांख्यस्यैतत्परत्वं युक्तम्। विशेषणभूतस्य सर्वप्रपञ्चस्य तन्मयत्वात्सविशेषणविषयस्य योगस्यापि युक्तमद्वितीयपरत्वमित्याह- ऐतदात्म्यमिति। एष श्रीकृष्ण आत्मा यस्य तदेतदात्मा तस्य भावः ऐतदात्म्यम्। भवितव्ये[1] च भाव निर्देशः "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" (छान्दो.उ.6-8-7)इति श्रुतेः। अत्र हेतुः आत्मनेति। हे सभ्याः! आत्माश्रयोऽन्यनिरपेक्षः स्वयमजः इदं जगत्सृजत्यवति रक्षति[2] हन्ति संहरति[3] चेति ॥ २१ ॥

किञ्च **विविधानीति**। यस्यापेक्षयाऽनुग्रहेण[2] विविधानि कर्माणि तपोयोगादीनि जनयन् कुर्वन् यद्यस्मात् अयं सर्वेऽपि जनो यदधीनानीत्यर्थः ॥ २२,२३ ॥

ननु आत्मना क्रियमाणं अर्हणं आत्मनः कथं स्यात् तत्राह - **सर्वेति**। सर्वभूतानामात्मभूताय अनन्यदर्शने निरस्त भेदमतये ॥ २४ ॥

---

1. B.J. °तयव 2. B.J.omit रक्षति 3. B.J. omit संहरति 4. B.J. °वे° 5- -5 B.omits

**वीर०** तदेवाह **अर्हतीति**। श्रैष्ठ्यं श्रेष्ठस्य उचितमर्हणमिति। तत्र हेतुत्वेन विशिनष्टि सात्त्वतां ब्रह्मविदां पूर्वोक्तद्वैपा यनादीनां पतिः स्वामी। किञ्च, 'एष वै सर्वा देवताः' इत्यादि। एष भगवान् इज्याः[1] सर्वदेवताःशरीरात्मभावनिबन्धनमिदं सामानाधिकरण्यं - "स आत्मा अङ्गानन्यादेवताः" (तैत्ति.उ.1-5-1) इति श्रुतेरिति भावः। देशः 'समे यजेत' इत्युक्तविधः। कालो वसन्तादिः। धनानि यज्ञोपयुक्तानि। आदिशब्दो यजमानर्त्विगादि सङ्ग्राहकः ॥ १९ ॥

**यदिति**। देशादयो धनान्ता इत्येतद्विश्वं सर्वं यदात्मकं यो भगवान् आत्मा यस्य तथाभूतम्। क्रतवश्च साङ्ख्यं प्रत्यागात्मयाथात्म्यानुचिन्तनं, योगः परमात्मोपासना, तत्सर्वं स भगवान् परो निर्वाहको यस्य तथाभूतम् ॥ २० ॥

किमम्बहुनेत्याह - **एकेति**। इदं चिदचिदात्मकं जगत् ऐतदात्म्यम् - एष भगवानात्मा अन्तरात्मा यस्य तथाभूतम्। स्वार्थे ष्यञ् । 'एक एवाऽद्वितीयोऽसौ' आसीदिति शेषः। "सदेवेदमग्र आसीत्"। (छान्दो.उ.6-2-1),एकमेवाद्वितीयम् ( छान्दो.उ.6-2-1) इतिवदयं निर्देशः। अविभक्तनामरूपचिदचिद्विशिष्टपरः एकशब्दः निमित्तान्तरव्युदासार्थः। अद्वितीय शब्दः एक इत्यनेन कार्यावस्थयोः एवम्भूतोऽसावात्मा स्वयमाश्रयः आधारो यस्य सः। आत्मनोपकरणभूतेन सर्वान्समष्टि व्यष्टिपदार्थान् सृजत्यवति रक्षति हन्ति संहरति। एवमप्यजः स्वशरीरभूतचिदचिद्गतोत्पत्यादिविकाररहितः। "ब्रह्मवनं ब्रह्म सवृक्ष आसीत्" (तैत्ति.ब्रा.2-8-9-6) इति श्रुत्यर्थोऽत्रानुसन्धेयः ॥ २१ ॥

एवम्भूतश्चेदसौ किमित्यस्मदादिवत् चेष्टते? अत आह - **विविधानीति**। यदपेक्षया यस्य लोकापेक्षया अनुजिघृक्षया[2] धर्मादिलक्षणं धर्मादिरूपम् आदिशब्दः काममोक्षसङ्ग्राहकः सर्वं श्रेयो जनयन्। लक्षणहेत्वोः इति शत्रादेशः। सम्पादयितुमित्यर्थः। विविधानि कर्माणि ईहते चेष्टते यत् यस्मात् एवं तस्मादित्युत्तरेण सम्बन्धः ॥ २२ ॥

**तस्मादिति**। महते सर्वोत्कृष्टाय कृष्णाय दीयतां क्रियतां एवञ्चेत्कृष्णाय दीयते चेत्, सर्वभूतानामात्मानो दातुश्चार्हणं बहुमानं कृतं भवेत्, सर्वान्तरात्मत्वादिति भावः ॥ २३ ॥

एतदेव व्यञ्जयन् पुनर्हेतुतया विशिषन्नाह - **सर्वभूतेति**। सर्वभूतानामन्तरात्मभूताय अत एवानन्यदर्शिने अन्यत् स्वस्मात्पृथग्भूतं पश्यतीति अन्यदर्शी, ततो नञ् समासः तस्मै सर्वशरीरकायेत्यर्थः। इतरेत्वन्यदर्शिनः। न हि तेषामन्यतमाय दत्तमितरेभ्यो दत्तं भवतीति भावः। शान्ताय रागद्वेषादिरहिताय। इतरे त्वशान्ताः, न हि तेषां दत्तमन्यतमाय[3] दत्तमितरे सहन्त इति भावः। पूर्णाय स्वभावतोऽवाप्तसमस्तकामाय, नित्यसन्तोषिणे इति यावत्। न हि असन्तोषिणे दत्त मनन्तं भवतीति भावः। अतो दत्तस्य दानस्याऽऽनन्त्यं फलानन्त्यं इच्छता कामयमानेन उक्तविधाय कृष्णायैव देयम् ॥ २४॥

---

1. K.omits इज्याः 2- -2 K.T.W. omit 3. K.T.W. omit दत्तं

**विज०** अच्युतः गुणतः स्वरूपतो वा न क्षीणः श्रैष्ठ्यं गुणज्येष्ठयोग्याग्रपूजनं "गुणाः श्रुताः सुविरुद्धाश्च देवे सन्ति" इत्यादि श्रुतिवाक्यं हिना सूचयति। सात्वतः तन्त्रप्रणेतारः एतेषां पतिः स्वामी गतिश्च। इदञ्चाग्रपूजायोग्यत्वे लिङ्गम्। "इन्द्रो वै सर्वेषां श्रेष्ठः", "अग्निर्वै देवानां मुखम्" इत्यादेः इन्द्रादिषु सत्स्वस्य कथं सम्भवो भवतीति तत्राऽऽह एष वा इति। "यो देवानाम्" इति श्रुतिं वा इत्यनेन गृह्णाति अचेतनमपि तदधीन सत्ताकमित्याह देशेति ॥ १९ ॥

किम्बहुना, सर्वमपि तद्ज्ञानमित्याह **यदात्मकमिति**। तात्पर्यात्पुनरुक्तं करोति क्रतव इति। साङ्गत्यं यथार्थज्ञानं योगः कर्मलक्षणः यः परो विषयो यस्य स तथा ॥ २० ॥

उपसंहरति **एक** इति। एतदात्माधीनं हे सभ्याः! ऐतदात्म्य विवरणमात्मेति, उक्तार्थसमर्थनं सृजतीत्यादि ॥ २१ ॥

फलहेतुत्वाच्चाऽयमेवाऽत्र योग्यतम इत्याह- यदयमिति ॥ २२ ॥

एतत्तृप्तौ सर्वं तृप्तं स्यादिति भावेनाह एवञ्चेति। स्वस्मादन्यस्य स्वातन्त्रं न पश्यतीति अनन्यदर्शी तस्मै देवैस्सह वर्तत इति सहदेवो देवव्रतोऽपि ग्राह्यः भारते तद्वचनादग्रपूजादानाद्युक्तेः ॥ २३,२४ ॥

**श्रीशुक उवाच**

**इत्युक्त्वा सहदेवोऽभूत्तूष्णीं कृष्णानुभाववित् ।**
**तच्छ्रुत्वा तुष्टुवुस्सर्वे साधु साध्विति सत्तमाः ॥ २५ ॥**

**श्रुत्वा[2] द्विजेरितं राजा ज्ञात्वा[3] हार्दं सभासदाम् ।**
**समार्हयद्[4]धृषीकेशं प्रीतः प्रणयविह्वलः ॥ २६ ॥**

**तत्पादावनिज्याऽपशिरसा लोकपावनीः**
**सभार्यस्सानुजामात्यः सकुटुम्बोऽवहन्मुदा ॥ २७ ॥**

**वासोभिः पीतकौशेयैः भूषणैश्च महाधनैः ।**
**अर्हयित्वा[5]ऽश्रुपूर्णाक्षो नाऽशकत्समवेक्षितुम् ॥ २८ ॥**

**इत्थं सभाजितं वीक्ष्य सर्वे प्राञ्जलयो जनाः[6] ।**
**नमो जयेति नेमुस्तं निपेतुः पुष्पवृष्टयः[7] ॥ २९॥**

**इत्थं निशम्य दमघोषसुतः स्वपीठादुत्थाय कृष्णगुणवर्णनजातमन्युः ।**
**उत्क्षिप्य बाहुमिदमाह सदस्यमर्षी[8] संश्रावयन्भगवते परुषाण्यभीतः ॥ ३० ॥**

---

1- -1.B.G.J.K.Ml.T.V.W. omit 2. M.Ma. °ऽनु° 3. K.T.W. जात 4. K °मार्च° 5. Ml.V. भूषयित्वा° 6. Ml.V. नृपाः 7. M.Ma. खात्पेतुः 8. M.Ma. °मर्षात्

**श्रीध० इतीति**। श्रीकृष्णानुभाववित् सहदेव इत्युक्त्वा तूष्णीमभूत् ॥ २५ ॥

**श्रुत्वेति**। द्विजेरितं साधुसाध्विति घोषं श्रुत्वा , हार्दमभिप्रायम् ॥ २६-३० ॥

**वीर०** कृष्णप्रभाववित् सहदेवस्तूष्णीं बभूव। तत्सहदेवोक्तं श्रुत्वा सर्वे सत्तमा द्वैपायनादयः साधु साध्विति तुष्टुवुः ॥ २५ ॥

**श्रुत्वेति**। द्विजेरितं साधु साध्विति घोषं श्रुत्वा सभासदां सभ्यानां जातं हार्दमभिप्रायं, ज्ञात्वा चेति शेषः। यद्वा, जातमभिव्यक्तं हार्दमभिप्रायो यस्मात्तद्द्विजेरितं श्रुत्वेत्यर्थः। राजा युधिष्ठिरः प्रीतः प्रीतियुक्तः प्रणयेन स्नेहेन विह्वलः परवशः समार्चयत् ॥ २६ ॥

अर्चनप्रकारमेवाऽऽह द्वाभ्याम् - **तत्पादाविति**। तस्य भगवतः पादाववनिज्य प्रक्षाल्य लोकान्पावयन्ति पुनन्तीति तथा, ता अपः भार्यादिसहितः शिरसा वहन् ॥ २७ ॥

पीतैः कौशेयैश्च वासोभिर्महाधनैर्बहुमूल्यैरनर्घ्यैरिति यावत्। भूषणैश्चार्हयित्वा अश्रुभिरानन्दाश्रुभिः, पूर्णे अक्षिणी यस्य सः तं भगवन्तमवेक्षितुं नालं न प्रबभूव ॥ २८ ॥

**इत्थमिति**। इत्येवं सभाजितं सम्पूजितं भगवन्तमवलोक्य नमो जयेति, वदन्त इति शेषः। तं श्रीकृष्णं नेमुः नमश्चक्रुः ॥ २९ ॥

इत्थमेवम्भूतं श्रीकृष्णस्य गुणवर्णनं श्रुत्वा दमघोषसुतः शिशुपालः जातो मन्युर्यस्य सः स्वासनादुत्थाय बाहुमुत्क्षिप्य उद्धृत्य अमर्षी क्रुद्धोऽभीतश्च भगवते परुषाणि वचांसि संश्रावयन् संश्रावयितुं इदं वक्ष्यमाणमाह इत्यर्थः ॥ ३० ॥

**विज०** सत्तमाः सतां श्रेष्ठाः ॥ २५-३० ॥

**ईशो दुरत्ययः काल इति सत्यवती श्रुतिः ।**
**वृद्धानामपि यद्बुद्धिर्बालवाक्यैर्विभिद्यते ॥ ३१ ॥**

**यूयं पात्रविदां श्रेष्ठा मा मन्ध्वं बालभाषितम् ।**
**सदसस्पतयस्सर्वे कृष्णो यत्सम्मतोऽर्हणे ॥ ३२ ॥**

**तपोविद्याव्रतधरान् ज्ञानविध्वस्तकल्मषान् ।**
**परमर्षीन् ब्रह्मनिष्ठान् लोकपालैश्च पूजितान् ॥ ३३ ॥**

**[1]सदसस्पतीनतिक्रम्य [2]गोपोऽयं कुलपांसनः ।**
**यथा काकः पुरोडाशं सपर्यां कथमर्हति ॥ ३४ ॥**

**वर्णाश्रमकुलापेतः सर्वधर्मबहिष्कृतः ।**
**स्वैरवर्ती गुणैर्हीनः सपर्यां कथमर्हति ॥ ३५ ॥**
**ययातिनैषां[3] हि कुलं शप्तं सद्भिर्बहिष्कृतम्[4] ।**
**वृथा पानरतं[5] मत्तं[6] सपर्यां कथमर्हति ॥ ३६ ॥**

---

1. B.G.J. °दस्प° 2. K.M.Ma.Ml.T.V.W. गोपालः 3. K.T.W. च 4. M.Ma. °विगर्हितम्। 5. K.T.W. °प° 6. B.G.J.K.Ml.V. शश्वत् ; T.W. मत्तः

**श्रीध० यूयमिति**। हे सदसस्पतयः, यूयं सर्वे बालस्य भाषितं मा मङ्ध्वं[1] मा जानीत, मा गृह्णीत, किं तत्? यद्यतः कृष्णोऽर्हणे अग्रपूजायां[2] सम्मतस्तत् ॥ ३१ - ३३ ॥

**सदसस्पतीनिति**। अस्यैव वास्तवोऽर्थः पूर्ववदुन्नेयः, गोपाल इति वेदपृथिव्यादि पालक इत्यर्थः। कुत्सितं वेदविपरीतं लपन्तीति कुलपाः पाषण्डाः तान् अंसते समाघातयतीति कुलपांसनः[3] तथा सः अकाकः कश्च अकश्च काके सुखदुःखे ते न विद्येते यस्य सोऽकाकः आप्तकाम इत्यर्थः। स यथा आप्तकामो देवयोग्यं केवलं पुरोडाशमात्रं नार्हति, अपि तु सर्वस्वमपि तथाऽयं श्रीकृष्णोऽपि ब्रह्मर्षियोग्यं सपर्यामात्रं कथमर्हति, किन्तु स्वात्मसमर्पणमप्यर्हतीत्यर्थः[4] ॥ ३४ ॥

**वर्णेति**। वर्णाश्रमकुलेभ्योऽपेतो ब्रह्मत्त्वात्। "अनाम गोत्रम्" इति श्रुतेः। अत एवाऽनधिकारित्वात्। सर्वैर्धर्मैर्बहिष्कृतः स्वैरवर्ती परमेश्वरत्वात्, अत एव निर्गुणस्तम आदिरहितः। एवम्भूतो जीवानां योग्यं तुच्छं सपर्यामात्रं कथमर्हतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

**ययातिनेति**। अपि च कथं वर्णनीयो मादृशैः एषां यदूनां महिमा यस्मादेषां कुलं ययातिना शप्तमपि किं सद्भिर्बहिष्कृतमपि तु शिरसा धृतम् ,किञ्च अस्मदादि कुलवत् किं वृथा पानरतम्, अपि तु अतिनियताचारमित्यर्थः। अहो यदूनामेव तावदीदृशं माहात्म्यम्, यदुकुलवृद्धस्य ययातेश्शापो न प्राभूदित्यादि[5]। अयन्तु साक्षादीश्वरोऽतः सपर्यामात्रं कथमर्हतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

---

1. B.J. मन्यध्वं 2.Ml.V. omit अग्रपूजायां 3. B.J. omit कुलपांसनः 4. B.J. आत्म 5. Ml.V. प्रादुर्भूयादि"

**वीर०** तदेवाऽऽह **ईश** (इत्यादि) सप्तभिः। ईशः ब्रह्मादीनामपि प्रभुः कालो दुरत्ययः दुरतिक्रमणीयः इत्येवं विधा श्रुतिः किंवदन्ती सत्यवत् यथार्था। कुतः? यत् यस्मात् वृद्धानामपि बुद्धिः बालस्य सहदेवस्य वाक्यैः भिद्यते विपरीता क्रियते इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

**यूयमिति**। हे सदसस्पतयः! बालभाषितं मा मङ्ध्वम् मा गृह्णीत। किन्तत् यदर्हणे कृष्णसम्मत इति तत् ॥ ३२ ॥

**तप** इत्यादि। तपोऽनशनादि, विद्या शास्त्रजन्यं ज्ञानं, व्रतं कृच्छ्रादि, एतानि धरन्तीति तथा तान्, ज्ञानं परमात्मोपासनात्मकं, तेन विध्वस्तं कल्मषं पापं येषां तान्, ब्रह्मणि, परस्मिन् निष्ठा येषां तान् साक्षात्कृतब्रह्मस्वरूपान् इति यावत्। एवम्भूतान् परमर्षीनतिक्रम्य अनादृत्य कुलाधमोऽसौ गोपालः काकः पुरोडाशमिव सपर्यां प्रति कथमर्हति ? ॥ ३३, ३४ ॥

किञ्च। **वर्णेति**। वर्णादिभ्योऽपेतः भ्रष्टः सर्वस्माद्वर्णादिप्रयुक्तधर्मात् बहिष्कृतश्च स्वैरं स्वच्छन्दं वर्तत इति तथा गुणैः निरवद्यैर्हीनो रहितः ॥ ३५ ॥

**ययातिनेति** । एषां यदूनां कुलं ययातिना तत्कूटस्थेन शप्तं सद्भिः कुलीनैः बहिष्कृतञ्च शश्वत् सदा वृथा पापे रतं तत्परम् ॥ ३६ ॥

---

1. B. इत्यर्थः 2. B. स्वेच्छं

विज० "ईशः कालो दुरत्ययः" इति श्रुतिः। सत्यवती अबाधितार्था। तदुपपादयति वृद्धानामिति ॥ ३१ ॥

मामन्ध्वम् । हे सर्वे सदसस्पतयः। किं बालभाषितं तदाह - कृष्ण इति ॥ ३२,३३ ॥

अतिव्रज्यातिक्रम्य कुलकर्मणि एते इत्याह - गोप इति ॥ ३४ ॥

एतदेव विवृणोति **वर्णेति** ॥ ३५ ॥

यदोर्वंशे जातत्वात् कथं कुलाभाव इति । तत्राऽऽह - **ययातिनेति** ॥ ३६ ॥

**ब्रह्मर्षिसेवितान् देशान् हित्वा[1] तत्ब्रह्मवर्चसम्[2] ।**
**समुद्रं दुर्गमाश्रित्य बाधन्ते दस्यवः प्रजाः। ॥ ३७ ॥***

**एवमादीन्यभद्राणि बभाषे नष्टमङ्गलः ।**
**नोवाच किञ्चिद्भगवान् यथा सिंहशिवारुतम् ॥ ३८ ॥**

**भगवन्निन्दनं श्रुत्वा दुस्सहं तत्सभासदः[3] ।**
**कर्णौ पिधाय निर्जग्मुः शपन्तश्चेदिपं रुषा ॥ ३९ ॥**

**निन्दां भगवतः श्रृण्वन् तत्परस्य जनस्य वा ।**
**ततो नापैति यस्सोऽपि यात्यधस्सुकृताच्च्युतः ॥ ४० ॥**

**ततः पाण्डुसुताः क्रुद्धा मत्स्याः[5] केकयसृञ्जयाः ।**
**उदायुधास्समुत्तस्थुः शिशुपालजिघांसवः ॥ ४१ ॥**

**ततश्चैद्यस्त्वसम्भ्रान्तो जगृहे खड्गचर्मणी ।**
**भर्त्सयन् कृष्णपक्षीयान् राज्ञस्सदसि भारत! ॥ ४२ ॥**

---

1. B.G.J.M.Ma.Ml.V. °त्वैतेऽत्र° 2. M.Ma. सः । *Ml.V. add श्रीशुक उवाच 3.K.T.W. ते स° 4: M.Ma. च 5. B.G.J.M.Ma.Ml.V. मत्स्यकै°

**श्रीध० ब्रह्मर्षिरिति**। किञ्च ये राजानो। दुष्टानुच्चाटयन्ति, तदर्थं कीकटादि देशानप्याश्रयन्ति, एते तु ब्रह्मर्षिसेवितानेव देशानाश्रित्य अब्रह्मवर्चसं समुद्रं दुर्गमपि हित्वा हापयित्वेत्यर्थः। बाधन्ते, तथा याः दस्यवः प्रजाः ताश्च अयमर्थः- वेदतदर्थाभियोगो ब्रह्मवर्चसं, तदविरुद्धमब्रह्मवर्चसं समुद्रं, मुद्राऽत्र[1] लिङ्गं तत्सहितं समुद्रं वेदविरुद्धलिङ्गधारिणं पाषण्डमित्यर्थः। तल्लिङ्गं त्याजयित्वा बाधन्ते दण्डयन्ति। कथम्भूतम् दुर्गम्? धर्मवत्प्रतीतेरधर्मतया दुर्ज्ञेयमित्यर्थः। तथा दस्यवो दस्यूनपि प्रजावेषेण वर्तमानान् दण्डयन्ति। अतो यदुभ्योऽन्यः को नाम धार्मिकोऽस्तीति पारुष्यं[2] तत्वार्थमेव ॥ ३७ ॥

**एवमिति**। शिवा फेरुः तस्या रुतं श्रुत्वा यथा सिंहो न किञ्चिद्वूते, तद्वत् ॥ ३८-४२ ॥

---

1. Ml.V. omit अत्र 2. B.J. °ष्यन्तूक्तार्थ

**वीर०** ब्रह्मर्षिसेवितार्यावर्तादीन् देशान् हित्वा तपोब्रह्मवर्चसञ्च त्यक्त्वा समुद्रं तन्मध्यस्थं दुर्गं निषिद्धञ्च देशमाश्रित्य दस्युवत् दुष्टसत्त्ववत् प्रजाः जनान् बाधन्ते ॥ ३७ ॥

**एवमिति**। नष्टं मङ्गलं यस्य सः, हेतुगर्भमिदम्। एवमादीन्यभद्राणि परुषाणि बभाषे। भगवांस्तु यथा सिंहः शिवा-रुतं, शिवा फेरुः तस्याः रुतं ध्वनिं[1] श्रुत्वा तूष्णीमासीत्तथा किञ्चिदपि नोवाच, तूष्णीं बभूवेत्यर्थः ॥ ३८ ॥

**भगवन्निन्दनमिति**। कर्णौ पिधायऽऽच्छाद्य रुषा चेदिपं चैद्यं शिशुपालं शपन्तो जग्मुः ॥ ३९ ॥

कुतो विनिर्जग्मुरिति, अत्र अनिर्गमने प्रत्यवायमाह - **निन्दामिति**। तत्परस्य भगवत्परस्य च जनस्य निन्दां श्रुत्वा यो जनः पुमान् ततो नापेति न निर्गच्छति, सोऽपि श्रोताऽपि, अपि शब्दान्निन्दकोऽपि कादपि सुकृतात् च्युतः भ्रष्टः अधः नरके पततीत्यर्थः ॥ ४०॥

ततः सभासदां निर्गमनानन्तरं मत्स्यादयश्च उत्थाय क्रुद्धाः[2] शिशुपालं हन्तुमिच्छवः उदायुधाः उद्धृतान्यायुधानि यैस्ते, उत्तस्थुः ॥ ४१ ॥

**तत** इति। असम्भ्रान्तोऽवहितः। हे भारत! कृष्णपक्षीयान्राज्ञो भूपान् भर्त्सयन् खड्गखेटौ जग्राह ॥ ४२ ॥

---

1. B. शब्दं 2. T.W. omit क्रुद्धाः

**विज०** अब्रह्मवर्चसः गायत्रीजपसम्बन्धतेजोरहिताः ब्रह्म वेदः तत्सम्बन्धवचोयुक्तान् देशान्वा। समुद्रमित्यादिना दाशसाम्यमापादयति ॥ ३७ ॥

शिवारुतम् सृगालशब्दितम् ॥ ३८,३९ ॥

कुतो निर्गमनमिति तत्राऽऽह - **निन्दामिति** ॥ ४० -४२ ॥

**तावदुत्थाय भगवान् स्वाञ्त्रिवार्य[1] स्वयं रुषा ।**
**शिरः क्षुरान्तचक्रेण जहाराऽऽपततो रिपोः ॥ ४३ ॥**

**शब्दः कोलाहलोऽप्यासीच्छिशुपाले[2] हते महान् ।**
**तस्यानुयायिनो[3] भूपा दुद्रुवुर्जीवितैषिणः ॥ ४४ ॥**

**चैद्यदेहोत्थितं[4] ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत् ।**
**पश्यतां सर्वभूतानामुल्केव भुवि खाच्च्युता ॥ ४५ ॥**

**जन्मत्रयानुगुणितवैरसंरब्धया धिया ।**
**ध्यायंस्तन्मयतां यातो[5] भावो हि भवकारणम् ॥ ४६ ॥**

**ऋत्विग्भ्यस्स सदस्येभ्यो दक्षिणां विपुलामदात् ।**
**सर्वान्संपूज्य विधिवच्चक्रेऽवभृथमेकराट् ॥ ४७ ॥**

**साधयित्वा क्रतुं राज्ञः कृष्णो योगेश्वरेश्वरः[6] ।**
**उवास कतिचिन्मासान्[7-] सुहृद्भिरभियाचितः[-7] ॥ ४८ ॥**

---

1. M.Ma.T.W. ता° 2. K.Ml.V. °लो ह्या° 3. M.Ma.. तत्राततायि° 4. M.Ma. °हस्थि° 5. Ml.V. नीतः 6. K.T.W. °गी° 7- -7. M.Ma. हत्वा च चेदिपं तत्र विजहार यथा सुखम् ॥

**श्रीध० तावदिति**। तावदुत्थायेत्यस्य अयं अभिप्रायः, एष मत्पार्षदो मत्तुल्यबलः सर्वानेतान्हन्यात्। अतो मयैव शीघ्रं हन्तव्य इति तत्क्षणमेव उत्थाय शिरो जहारेति ॥ ४३-४५ ॥

नन्वेवं निन्दकस्य कथं वासुदेवे प्रवेशः ? तत्राह - **जन्मत्रयेति**। जन्मत्रयेऽनुगुणितमनुवर्तिनं यद्वैरं तेन संरब्धयाऽऽविष्टया तन्मयतां तत्स्वरूपतां यातः पुनः पार्षदो बभूवेत्यर्थः। अत्र हेतुः भावो हीति। भावो भावना अनुध्यानं भवस्य ध्येयाकारजन्मनः कारणं पेशस्कारिध्यानेन कीटादौ तथा दृष्टत्वादित्यर्थः ॥ ४६-४८ ॥

**वीर० तावदिति**। तावत् तत्क्षण मेव उत्थाय स्वान्[1] स्वकीयान्निवार्य रुषा क्षुरस्येवान्तो धारा यस्य तेन चक्रेणऽऽपततो रिपोः शिरो जहार चिच्छेद ॥ ४३ ॥

**शब्द** इति। शिशुपाले हते सति महानुच्चैः कोलाहलः कलकलशब्दः आसीत्। तस्य चैद्यस्या नुयायायिनोऽनुवर्तिनो भूपाः जीवितेच्छवः दुद्रुवुः ॥ ४४ ॥

**चैद्येति**। सर्वभूतानां पश्यतां सतां खात् आकाशात् च्युता उल्का भुवीव चैद्यस्य देहादुत्थितं तेजो जीवात्मकं वासुदेवं श्रीकृष्णम् उपाविशत् तावत् प्रविश्य ततः तत् साधर्म्यमवाप[2] इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

तदेव व्यञ्जयन् कथं तन्निन्दकस्य तत्साधर्म्यं प्राप्तिरिति शङ्काञ्च निराकुर्वन्नाह - **जन्मत्रय** इति। जन्मत्रयेनानुगुणितमनुवर्तितं यद्वैरं तेन संरब्धया आविष्टया धिया ध्यायंस्तन्मयतां तत्प्रचुरतां तत्साधर्म्यमिति यावत्। यातः प्राप्तःपार्षदो बभूवेत्यर्थः। हि यस्मात् भावः चित्तवृत्तिः भवकारणं शुभाशुभ जन्मनोः निदानम् । अतः शुभाश्रयविषयो भावः शुभभव कारणं बभूवेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

**ऋत्विग्भ्य** इति। एकराट् युधिष्ठिरः, सदसि भवाः सदस्याः तैः सहितेभ्यः ऋत्विग्भ्यः[3-3] विपुलां महतीं दक्षिणां ददौ। ततो विधिवदवभृथं नाम स्नानं चक्रे ॥ ४७ ॥

**साधयित्वेति**। राज्ञो युधिष्ठिरस्य क्रतुं राजसूयं साधयित्वा सुहृद्भिः पृथादिभिः याचितः प्रार्थितः कतिचिन्मासानुवास उषितवान्। मासानित्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया ॥ ४८ ॥

---

1. K.T.W. स्वपक्षीयान्नि° 2. K.T.W. °माप 3- -3 T.W. omit

**विज०** स्ववचनं सत्यं कर्तुं तावत्ततः पूर्वमेव कृष्णः क्षुरान्तचक्रेण क्षुरधारसुदर्शनेन रिपोः शिरो जहार इत्यन्वयः ॥ ४३, ४४

ज्योतिर्जयचैतन्यात्मकं खादाकाशात् च्युतोल्का भुवीव ॥ ४५ ॥

जन्मत्रयेऽनुगुणितेन संवर्धितेन वैरेण शत्रुभावेन विशिष्टेन इतरेण ज्ञानेन संरब्धया समुद्रिक्तया धिया ध्यायं स्तन्मयतां द्वेषमयतां असुरो भगवत्प्रधानतां जयो यातः तथा हि भावो भक्तिर्भावकारणं माङ्गल्यकारणं भवति ॥ ४६॥

भगवतेऽग्रपूजासमर्पणेन युधिष्ठिरः कृतकृत्यः, किमुत ऋत्विगादिभ्योऽपि यथाविहितदक्षिणामदादिति तत्राऽऽह - ऋत्विग्भ्य इत्यादिना। एकराट् चक्रवर्ती ॥ ४७ ,४८ ॥

* ततोऽनुज्ञाप्य राजानमनिच्छन्तमपीश्वरः ।
ययौ सभार्यस्सामात्यः स्वपुरं देवकीसुतः ॥ ४९ ॥

◌ वर्णितं तदुपाख्यानं मया ते बहुविस्तरम् ।
वैकुण्ठवासिनोर्जन्म विप्रशापात् पुनः पुनः ॥ ५० ॥

राजासूयावभृथ्येन स्नातो राजा युधिष्ठिरः ।
ब्रह्मक्षत्रसभामध्ये शुशुभे सुरराडिव[1] ॥ ५१ ॥

राज्ञा सभाजितास्सर्वे सुरमानवखेचराः ।
कृष्णं क्रतुञ्च शंसन्तः स्वधामानि मुदा ययुः ॥ ५२ ॥

★ दुर्योधनमृते पापं कलिं कुरुकुलामयम् ।
यो न सेहे श्रियं स्फीतां दृष्ट्वा पाण्डुसुतस्य ताम् ॥ ५३ ॥

य इदं कीर्तयेद्विष्णोः कर्म चैद्यवधादिकम् ।
राजमोक्षं वितानञ्च[2] सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे चतुस्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

---

* This verse is not found in M.Ma. Edns. only. ◌ अयं श्लोकः M.Ma. प्रकाशेषु 'भवकारणम्' इति श्लोकादनन्तरं दृश्यते । 1. Ml.V. देव° ★अयं श्लोकः M.Ma. प्रकाशेषु न दृश्यते। 2. K.T.W. °ज्ञां

**श्रीध० ब्रह्मेति**। सुरा मानवाः खेचराः प्रमथाश्च ॥ ४९-५२ ॥

**दुर्योधनमिति**। पापं धर्मद्विषम्। अत्र हेतुः कलिं कलेरंशं अत एव कुरुकुलस्याऽऽमयं व्याधिवत्[1] नाशकम् ॥ ५३

**य इति** । वितानं यज्ञश्च ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां चतुस्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

---

1. Ml.V. धि° ना°

**वीर० तत** इति। ईश्वरो भगवान् स्वगमनमनिच्छन्तमपि राजानं[1-] युधिष्ठिरमनुज्ञाप्य राजानं प्रत्यनुज्ञां प्राप्येत्यर्थः[-1]। स्वपुरं द्वारकां प्रति ययौ ॥ ४९ ॥

जन्मत्रयानुगुणितवैरविस्तरबभुत्सुमालक्ष्याऽऽह - **वर्णितमिति**। वैकुण्ठवासिनोः जयविजययोः विप्राणां सनकादीनां शापाद्धेतोः पुनः पुनः जन्म तद्विषयं यदुपाख्यानं तन्मया तुभ्यं बहुविस्तरं यथा तथा वर्णितम् ॥ ५० ॥

**राजसूयेति**। राजसूयसम्बन्धिना अवभृथेन स्नातः सुरराडिन्द्र इव शुशुभे ॥ ५१ ॥

**राज्ञेति**। राज्ञा युधिष्ठिरेण सम्पूजिताः सर्वे सुरा मानवाः खेचरा अमराश्च शंसन्तः स्तुवन्तः मुदा हर्षेण स्वधामानि स्वस्थानानि प्रति[2] ययुः ॥ ५२ ॥

किं सर्वे मुदा ययुः ? नेत्याह - **दुर्योधनमिति**। दुर्योधनमेकं विना सर्वे मुदा ययुः। तत्र हेतुत्वेन तं[3] विशिनष्टि पापः अत एव कलिं धर्मद्विषं कुरुकुलस्याऽऽमयं रोगवन्नाशनिदानम्। किञ्च यो[4] दुर्योधनः समृद्धां पाण्डुसुतस्य श्रियं सम्पदं दृष्ट्वा न सेहे न सोढवान् ॥ ५३ ॥

उपवर्णितोपाख्यानकीर्तनफलमाह - **य इति**। राज्ञां जरासन्धबन्धीकृतानां मोक्षणं ततस्त्याजनं, वितानं यज्ञं च य कीर्तयेदनुवर्णयेत्सः सर्वैः पापैः प्रमुच्यते ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां चतुस्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

---

1- -1 K.T.W. omit 2. K.T.W. omit प्रति 3. K.T.W. omit तं 4. B. omits यो

**विज०** तयोरुपाख्यानं वैकुण्ठवासिनोर्जयविजययोः विप्रशापात् पुनः पुनः जन्म ॥ ५० ॥

राजसूयावभृथविहितकर्मणा ब्रह्मणां विप्राणां क्षत्राणां मण्डलेश्वराणां सभामध्ये स्वराडिन्द्रः ॥ ५१-५३ ॥

बन्धुभूत शिशुपालवधलक्षणं हरेः कर्म न पुण्यसाधनं, किन्तुतद्विपरीतकारणमिति मन्दाशङ्कां परिहरन् फलमाह- इदमिति ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे चतुस्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

(विजयध्वजरीत्या द्व्यशीतितमोऽध्यायः)

# पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या त्र्यशीतितमोध्यायः)

### राजोवाच

अजातशत्रोस्तं दृष्ट्वा राजसूय महोदयम् ।
सर्वे मुमुदिरे ब्रह्मन् नृ देवा[1-] ये[-1] समागताः ॥ १ ॥

दुर्योधनं वर्जयित्वा राजानमृषयस्[2]सुराः ।
इति श्रुतं नो भगवन्नत्र[3] कारणमुच्यताम् ॥ २ ॥

### श्री[4-]शुक उवाच

पितामहस्य ते यज्ञे राजसूये महात्मनः ।
बान्धवाः परिचर्यायां तस्यासन् प्रेमबन्धनाः ॥ ३ ॥

भीमो महानसाध्यक्षो धनाध्यक्षस्सुयोधनः ।
सहदेवस्तु पूजायां नकुलो द्रव्यसाधने ॥ ४ ॥

सतां[5] शुश्रूषणे जिष्णुः कृष्णः पादावने जने ।
परिवेषणे द्रुपदजः कर्णो दाने महामनाः ॥ ५ ॥

---

1--1 M, Ma देवा ये च 2. B, G, J °नः सर्वयः° ; M, Ma °नः ऋषय° 3. B, G, J, K, M, MA , T, W °वस्त° 4- -4 B, G, J ऋषिरुवाच 5. B, G, J. गुरु

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पञ्चयुक्सप्ततितमे यज्ञावभृथसम्भ्रमः। सुयोधनस्य चाक्षान्त्या मानभङ्गो दृशि भ्रमात् ॥

दुर्योधनस्य एकस्यैव दुःखे कारणं प्रष्टुमुक्तमनुवदति **अजातशत्रोरिति** ॥ १ ॥

**दुर्योधनमिति**। इति श्रुतं त्वन्मुखादेवेत्यर्थः ॥ २ ॥

दुर्योधनस्य असहनकारणत्वेन यागमहोत्सवमेव पुनः सिंहावलोकनेन निरूपयति - **पितामहस्येत्यादिना** 'एकदान्तःपुरे तस्ये' त्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन, प्रेमबन्धनाः प्रेमयन्त्रिताः ॥ ३ ॥

**भीम** इति। पूजायां सम्मानने[1] द्रव्यसाधने नानावस्तुसम्पादने ॥ ४ ॥

**सतामिति**। गुरूणां[2] शुश्रूषणे चन्दनाऽऽलेपनादौ ॥ ५ ॥

---

1. MI, V सम्माने 2. MI, V omit गुरूणां

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

"दुर्योधनमृते पापम्" (भाग. 10-74-53) इत्यस्यैव विस्तरबुभुत्सया प्रष्टुमुक्तमनुवदति राजा **अजातशत्रोरिति** द्वाभ्याम्। राजसूयस्य[1] महोदयं महोत्सवं दृष्ट्वा मुमुदिरे सन्तुतुषुरिति नोऽस्माभिः श्रुतम् त्वन्मुखादेवेत्यर्थः। हे भगवन्! तत्र दुर्योधनसन्तोषे कारणमुच्यताम् ॥ १,२ ॥

तद्वक्तुं प्रस्तौति - **पितामहस्येति**। ते तव पितामहस्य महात्मनो राज्ञो युधिष्ठिरस्य राजसूये तस्य राज्ञो बान्धवाः प्रेमबन्धनाः प्रेमयन्त्रिताः परिचर्यायामासन् परिचेरुरित्यर्थः ॥ ३ ॥

तदेव प्रपञ्चयति - **भीम** इति। महानसाध्यक्षः पाकशालाध्यक्षो बभूव। सुयोधनो दुर्योधनः[2] धनाध्यक्ष आस, पूजायां सम्माननने[3] सहदेवः, द्रव्यसाधने नानावस्तुसम्पादने [4-]नकुलोऽभवदित्यर्थः[-4] ॥ ४ ॥

जिष्णुरर्जुनः सतां शुश्रूषणे चन्दनलेपनादौ, कृष्णप्रादावनेजने पादप्रक्षालने, द्रुपदजः धृष्टद्युम्नः परिवेषणे भक्ष्यभोज्यादि विनियोगे कर्णस्तु दाने निरूपितः इति वचनपरिणामेन उत्तरत्र सम्बन्धः ॥ ५ ॥

---

. T, W. °य महोत्सवं 2. B omits दुर्योधनः 3. T, W omit सहदेवः 4- -4 T, W omit

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

अनेनान्तरातीताध्यायोक्तमेव प्रश्नपूर्वकं विस्तृत्य कथयति **अजातशत्रोरित्यादिना** ॥ १ -५ ॥

युयुधानो विकर्णश्च हार्दिक्य[1] विदुरादयः ।
बाह्लीकपुत्रा भूर्याद्या ये च सन्तर्दनादयः ॥ ६ ॥

निरूपिता महायज्ञे नानाकर्मसु[2-] ते तदा[-2] ।
प्रवर्तन्ते स्म राजेन्द्र! राज्ञः प्रिय चिकीर्षवः[3] ॥ ७ ॥

ऋत्विक्सदस्य बहुवित्सु सुहृत्तमेषु स्विष्टेषु सूनृत समर्हण[4] दक्षिणाभिः ।
चैद्ये च साच्वतपतेश्चरणं प्रविष्टे चक्रुस्ततस्त्ववभृथस्नपनं द्युनद्याम् ॥ ८॥

मृदङ्ग शङ्खपणवास्तूर्याश्छानक[5-] गो मुखाः[-5] ।
वादित्राणि विचित्राणि नेदुरावभृथोत्सवे[6-] ॥ ९ ॥

नर्तक्यो ननृतुर्हृष्टा गायका यूथशो जगुः ।
वीणा वेणुतलोन्नादस्तेषां सदिवमस्पृशत् ॥ १० ॥

---

1. B,G,J,M,Ma °क्यो 2- -2 M, Ma विशारदाः 3. M, Ma °या 4. M, Ma महार्हण 5- -5 B, G, J °व धुन्धुर्यानक° ; K, T, W °व दुन्दुभ्यानक° ; M, Ma °व स तूर्यानक° 6- -6 M, Ma °रारान्महो°

**श्रीध०** **निरूपिता** इति। निरूपिताः नियुक्तास्सन्तः नानाकर्मसु प्रवर्तन्ते स्म ॥ ६,७ ॥

**ऋत्विगिति**। ऋत्विजश्च सदस्याश्च सभासदः बहुविदश्च ऋत्विजश्च तेषु स्विष्टेषु सम्यक् पूजितेषु सूनृतम् प्रियवाक्। समर्हणमलङ्कारादि दक्षिणाश्च प्रसिद्धाः[1] ताभिः द्युनद्यां गङ्गायाम् ॥ ८ -१० ॥

---

1. MI . V . omit प्रसिद्धाः

**वीर०** युयुधानस्सत्यकिः तत्प्रभृतयः महायज्ञे नानाकर्मसु निरूपितास्सन्तः राज्ञो युधिष्ठिरस्य प्रियं कर्तुमिच्छवः यथा नियोगं प्रवर्तन्ते स्म प्रावर्तन्त ॥ ६, ७ ॥

**ऋत्विगिति**। ऋत्विजश्च सदस्याश्च बहुविदश्च तेषु सुहृत्तमेषु च सूनृतादिभिः स्विष्टेषु, सम्यक् पूजितेषु सत्सु तत्र सूनृतं प्रियवाक्यं, अर्हणमलङ्कारादि, सात्वतपतेः श्रीकृष्णस्य चरणं प्रविष्टे सति च द्युनद्यां गङ्गायां अवभृथस्नपनं चक्रुः ॥ ८ ॥

तदेव प्रपञ्चयितुं तावद्रङ्गां प्रति गमनारम्भं प्रस्तौति - **मृदङ्गेति**। अवभृथे अवभृथसम्बन्धिनि उत्सवे मृदङ्गादयः। अन्यानि वादित्राणि वाद्यानि च विचित्राणि नेदुः दध्वनुः ॥ ९ ॥

**नर्तक्य** इति । तेषां च तासां च तेषां "पुमान्स्त्रियां इत्येक शेषः"। गायकानां नर्तकीनां चेत्यर्थः। वीणादीनां नादः, यद्वा तेषां मृदङ्गादीनां वीणादीनां च स प्रसिद्धो नादः दिवमन्तरिक्षमस्पृशत् व्याप्तवान्[1] ॥ १० ॥

1. T, W व्याप्तम् ।

**विज०** ऋत्विजश्च सदस्याश्च बहुविदश्च ते तथा तेषु सुहृत्तमेषु स्विष्टेषु सुष्ठु पूजितेषु सत्सु ततः कालव्यवधानमन्तरेण ॥ ६-८॥

आराद्दूरे समीपे च ॥ ९, १० ॥

**चित्रध्वजपताकाग्रैरिभेन्द्रस्यन्दनार्वभिः[1] ।**
**स्वलङ्कृतैर्भटैः[2] भूपाः निर्ययू रुक्ममालिनः ॥ ११ ॥**

**यदुसृञ्जयकाम्बोजकुरुकेकयकोसलाः[3] ।**
**कम्पयन्तो भुवं सैन्यैर्यजमान पुरस्सराः[4] ॥ १२ ॥**

**सदस्यार्त्त्विग्द्विजश्रेष्ठा ब्रह्मघोषेण भूयसा ।**
**देवर्षि पितृगन्धर्वास्तुष्टुवुः पुष्पवर्षिणः ॥ १३ ॥**

**स्वलङ्कृता नरा नार्यो गन्धस्रग्भूषणाम्बरैः ।**
**विलिम्पन्त्योऽभिषिञ्चन्त्यो[5] विजहर्विविधै रसैः[6] ॥ १४ ॥**

**तैलगोरस गन्धोदहरिद्रासान्द्रकुङ्कुमैः ।**
**पुम्भिर्लिप्ताः प्रलिम्पन्त्यो विजहुर्वीरयोषितः ॥ १५ ॥**

---

1. M. Ma °द्यै° 2. M, Ma °दि° 3. B, G, J , M, Ma °म्बो° 4. M, Ma °रैः 5. K.T.M.Ma W. °न्तो 6. K.T.M, Ma.W °न्तो

**श्रीध० चित्रेति**। चित्राणि ध्वजपताकाग्राणि येषु तैः इभेन्द्रैः स्यन्दनैः अर्वभिः अश्वैर्भटैश्च एवं चतुरङ्गसैन्यैः[1] निर्ययुः ॥ ११ ॥

**यदुसृञ्जयेति**। यजमानो युधिष्ठिरः पुरस्सरो येषां ते ॥ १२ ॥

**सदस्येति**। सदस्या ऋत्विजः अन्ये च द्विजश्रेष्ठाः निर्ययुः ॥ १३ ॥

**स्वलङ्कृता** इति। किञ्च गन्धादिभिः स्वलङ्कृताः नरा नार्यश्च रसैः[2] मिथो विजहुः ॥ १४ ॥

रसानेवाह-**तैलेति**। किञ्च सान्द्रकुङ्कुमादिभिः पुम्भिर्लिप्तास्तान् प्रलिम्पन्त्यो वारयोषितश्च विजहुः ॥ १५ ॥

---

1. B, J [illegible] : 2. B, J omit रसैः

**वीर० चित्रेति**। रुक्ममालाः स्वर्णमालाः एषां सन्तीति तथा, व्रीह्यादित्वात् मत्वर्थीय इनिः। ते भूपाः चित्राः ध्वजादयो येषां तैः इभेन्द्रादिभिः स्वलङ्कृतैः भटैश्च सह निर्जग्मुः ॥ ११ ॥

**यद्वेति**। यजमानो युधिष्ठिरः पुरस्सरः पुरो यायी येषां ते यद्वादयः सैन्यैः भुवं कम्पयन्तो निर्ययुरिति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ १२ ॥

**सदस्येति**। सदस्यादयो भूयसा ब्रह्मघोषेण निर्ययुः तदा देवादयः पुष्पवर्षिणः तुष्टुवुश्च ॥१३ ॥

किञ्च गन्धादिभिः स्वलङ्कृताः नराः नार्यश्च विविधैः रसै विलिम्पन्तोऽभिषिञ्चन्तश्च मिथो विजहुः ॥ १४ ॥

रसानेवाह - **तैलेति**। पुम्भिः कर्तृभिः तैलादिभिः लिप्ताः वारयोषितः पुनस्तै र्विलिम्पन्त्यः विजहुः गोरसो दधिक्षीरादिः गन्धोदिकं चन्दनोदकम् ॥ १५ ॥

**विज०** रसैश्च हरिद्रादिरागजलैः ॥ ११ -१४ ॥

एतदेवाह - **तैलेत्यादिना** ॥ १५ ॥

**गुप्ता नृभिर्निरगमन्नुपलब्धुमेतद्देव्यो यथा दिवि विमानवरैर्नृदेव्यः ।**
**ता मातुलेय सखिभिः परिसिच्यमान स्सव्रीडहासविकसद्वदना विरेजुः ॥ १६ ॥**

**ता देवरानुत सखीन् सिषिचुर्दृतीभिः क्लिन्नाम्बरा विवृतगात्रकुचोरुमध्याः ।**
**आत्मुक्यमुक्तकबरच्यवमानमाल्याः क्षोभं दधुर्मलधियां रुचिरैर्विहारैः ॥ १७ ॥**

**स सम्राड्रथमारूढः सदश्वं रुक्ममालिनम् ।**
**व्यरोचत स्वपत्नीभिः क्रियाभिः क्रतुराडिव ॥ १८ ॥**

**पत्नीसंयाजावभृथैश्चरित्वा ते तमृत्विजः ।**
**आचान्तं स्नापयाञ्चक्रुर्गङ्गायां सह कृष्णया ॥ १९ ॥**
**देवदुन्दुभयोर्नेदुः नरदुन्दुभिभिस्सह ।**
**मुमुचुः पुष्पवर्षाणि देवर्षि पितृमानवाः ॥ २० ॥**

---

1. MI, V किल 2. B, G, J राज्ञ्य° 3. M, Ma स्समेताः 4. MI, V °रुह्य° 5.M, Ma दिवि

**श्रीध० गुप्ता** इति। नृभिर्गुप्ताः रथादियानैः नृदेव्यः राजपत्न्यो निरगमन् निर्गताः[1], एतदुपलब्धुं विमानवरैः देव्यो यथा, तद्वत् मातुलेयैस्सखिभिश्च परितः सिच्यमानाः सव्रीडेन हासेन विकसन्ति वदनानि यासां ताः ॥ १६ ॥

**ता** इति। देवरान् पतिभ्रातॄन् उत सखीन् सखीनपि दृतीभिः उदकनोदनचर्मयन्त्रैः सेचन पात्रैश्च, मलधियां कामिनाम् ॥ १७ ॥

**स** इति। क्रियाभिः अङ्गक्रियाभिः[2] क्रतुराट् सशरीरो राजसूय इव ॥ १८ ॥

**पत्नीति**। पत्नीसंयाजाः[3] यागविशेषाः[4] अवभृथसम्बन्धि आवभृथ्यं च तैश्चरित्वा तान्यनुष्ठायेत्यर्थः ॥ १९, २० ॥

---

1. B, J. निरगुः 2. MI, V अङ्गेष्टिभिः 3. B, J. °जः 4. B, J. °षः

**वीर० गुप्ता** इति। दिवि यथा विमानश्रेष्ठैः देव्यो देवपत्न्यः[1] देवस्त्रियः तथा नृदेव्यः राज्ञां स्त्रियः नृभिः भटैः गुप्ताः रथादि यानैः एतदवभृथस्नपनमुपलब्धुं द्रष्टुं निरगमन् निर्जग्मुः ताः नृदेव्यः मातुलेयैः सखिभिश्च सिच्यमानाः सव्रीडेन हासेन विकसन्ति वदनानि यासां ताः विरेजुः ॥ १६ ॥

**ता** इति। ताः नृदेव्यः दृतीभिः उदकनोदनचर्मयन्त्रैः। देवरान् पतिभ्रातॄन् उत सखीन् सखीनपि सिषिचुः। स्वयं च तैः सिक्ताः क्लिष्टानि सिक्तानि अम्बराणि यासां ताः, अत एव विवृतं व्यक्तं गात्रं शरीरम्। कुचौ ऊरू मध्यप्रदेशश्च यासां ताः, औत्सुक्यात् तत् प्रयुक्त जलक्रीडातिशयात् मुक्तेभ्यः श्लथेभ्यः कबरेभ्यः केशबन्धेभ्यः[2] च्यवमानानि गलन्ति माल्यानि पुष्पाणि यासां ताः, रुचिरैः विहारैः मलधियां कामिनां क्षोभं चित्तचाञ्चल्यं कामोद्रेकमिति यावत् दधुश्चक्रुः ॥ १७ ॥

**स** इति। सन्तस्समीचीनाः अश्वाः यस्य रुक्ममाला अस्य सन्तीति तथा तं रथमारूढः सम्राड्युधिष्ठिरः क्रियाभिः अङ्गक्रियाभिः प्रयाजादिभिः क्रतुराट् राजसूय इव स्वपत्नीभिः व्यरोचत रराज ॥ १८ ॥

**पत्नीति**। पत्नीसंयाजाः यागविशेषाः अवभृथस्य सम्बन्धि आवभृथ्यं तच्च कर्म चरित्वा अनुष्ठाय ते[3] ऋत्विजः तं सम्राजमाचान्तं कृताचमनं कृष्णया द्रौपद्या च सहितं स्नापयाञ्चक्रुः ॥ १९ ॥

**देवदुन्दुभय इति**। नराणां दुन्दुभिभिः समं सह देवानां दुन्दुभयो नेदुः, देवादयः पुष्पवर्षाणि मुमुचुः॥ २० ॥

---

1. K.T. W omit देवपत्न्यः 2- -2 B omits 3. K.T,W omit ते

**विज०** नृदेव्यः राज्ञ्यः एतदुपालब्धुं चक्षुर्विषयं स्थलं निरगमन् इत्यन्वयः। देव्यः देवस्त्रियः मातुलेयैः सखिभिश्च ॥ १६ ॥

दृतीभिः जलसेचनपात्रैः मलधियां विषयाविष्टानां रुचिरैः भूषणैः समेताः ॥ १७, १८ ॥

पत्नी संयाजावभृथ्याख्येष्टिभिः चरित्वा कृत्वा ॥ १९, २० ॥

**सस्नुस्तत्र ततस्सर्वे वर्णाश्रमयुता जनाः[1] ।**
*** महापातक्यपि यतस्सद्यो मुच्येत किल्बिषात् ॥ २१ ॥**

**अथ राजाऽहते क्षौमे परिधाय स्वलङ्कृतः ।**
**ऋत्विक्सदस्य विप्रादीनानर्चाभरणाम्बरैः ॥ २२ ॥**

**बन्धुज्ञाति[2-] नृपान् मित्रसुहृदोऽन्यांश्च[-2] सर्वशः ।**
**अभीक्ष्णं पूजयामास नारायणपरो नृपः ॥ २३ ॥**

**सर्वे जनास्सुररुचो मणिकुण्डलस्रगुष्णीषकञ्चुकदुकूलमहार्घहाराः[3] ।**
**नार्यश्च कुण्डलयुगालकबृन्दजुष्टवक्त्रश्रियःकनकमेखलया विरेजुः॥ २४॥**

**अथर्त्विजो महाशीलाः[4] सदस्या ब्रह्मवादिनः ।**
**विप्रक्षत्रियविट्[5]शूद्रा राजानो ये समागताः ॥ २५ ॥**

---

1. B. G. J. नराः * This half verse is not found in M . Ma. Edns. 2- -2 K,M,Ma, T. W. बन्धून् ज्ञातीन् नृपान् मित्रान् 3. B. G. J. M. Ma. °र्घ्य° 4. M. Ma. °शिक्षाः :Ml. V. °त्मानः 5. B. G. J. ब्रह्म°

**श्रीध० अथेति**। अहते नूतने आनर्च अर्चितवान् ॥ २१-२३ ॥

**सर्व** इति। सुराणामिव रुक् कान्तिः येषां ते, मणिकुण्डलैः सहिताः स्रग्भूषादयो येषां ते, कुण्डलयुगेन अलकबृन्देन च जुष्टा वक्त्रश्रीः यासां ताः ॥ २४-२५ ॥

**वीर० सस्नुरिति**। ततः स्नापनानन्तरं चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्य व्यवस्थयाऽवस्थितास्सर्वे जनाःसस्नुः स्नानं चक्रुः। तत्र कारणमाह- महापातकीति। यतः स्नानात् महा पातक्यापि किल्बिषात् ब्रह्महत्यादिपातकात् मुच्येत किंपुनरितरे पातकिनस्ततो मुच्येरन्निति कैमुत्यनयद्योतनार्थोऽपिशब्दः पापनिवृत्तये सस्नुरिति भावः ॥ २१॥

**अथेति**। राजा युधिष्ठिरः अहते नूतने क्षौमे दुकूले परिधायाभरणादिभिः ऋत्विगादीन् आनर्च अर्चितवान् ॥ २२॥

बन्धूनिति। मित्रानिति पुंस्त्वमार्षम्। तत् नृपानित्यस्य विशेषणम्। अभीक्ष्णं पुनः पुनः पूजयामास। तत्र हेतुत्वेन विशिनष्टि नारायणः परो यस्य स सर्वस्य नारायणात्मकत्व बुद्धियुक्त इत्यर्थः ॥ २३॥

**सर्व** इति। सर्वे जनाः नराः सुराणामिव ऋक्कान्तिर्येषां ते मणिकुण्डलादीनां द्वन्द्वः ततो मत्वर्थीयोऽच् मणि कुण्डलाभ्यां सहिताः स्रगादयो येषामिति वा तथा भूताः विरेजुः। नार्यस्तु कुण्डलयुगेनालकबृन्देन च जुष्टा वक्त्रस्य श्रीर्यासां तथाभूताः कनकमेखलयोपलक्षिताश्च विरेजुः ॥ २४ ॥

**अथेति**। महच्छीलं सुस्वभावः सद्वृत्तिर्वा येषां ते ऋत्विगादयः पूजितास्सन्तः, हे नृप! तमनुज्ञाप्य तदनुज्ञामु पादायेत्यर्थः। स्वधामानि स्वगृहाणि ययुः ॥ २५ ॥

**विज०** अहते अधौते ॥ २१- २५ ॥

**देवर्षि पितृभूतानि लोकपालास्सहानुगाः ।**
**पूजितास्तमनुज्ञाप्य स्वधामानि ययुर्मुदा[1] ॥ २६ ॥**

**हरिदासस्य राजर्षे राजसूयमहोदयम् ।**
**नैवातृप्यन् प्रशंसन्तः पिबन् मर्त्योऽमृतं यथा ॥ २७ ॥**

**ततो युधिष्ठिरो राजा सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान् ।**
**प्रेम्णा निवारयामास[2] कृष्णं च त्यागकातरः ॥ २८ ॥**

**भगवानपि तत्राब्दं न्यवात्सीत्तत्प्रियङ्करः ।**
**प्रस्थाप्य यदुवीरान्स्वान् साम्बादींश्च कुशस्थलीम् ॥ २९ ॥**

**इत्थं धर्मसुतो राजा मनोरथ महार्णवम् ।**
**सुदुस्तरं समुत्तीर्य कृष्णेनासीद्गतज्वरः ॥ ३० ॥**

---

1. B, G, J, K, T, W °नृप। 2. B, G, J, M, Ma, Ml, V °स° 3. B, G, J, K, M, Ma T, W, °ङ्क 4. B, G, J, M, Ma, Ml, T,V,W. °रांश्च 5. K,T,W, °दीन्वै 6. M, Ma सुसमृद्धं

**श्रीध० इत्थमिति**। गतज्वरः निश्चिन्तः आसीत् ॥ २६ - ३० ॥

**वीर० हरिदासस्येति**। राजसूयमहोत्सवं प्रशंसन्तो नातृप्यन् यथा मर्त्यःअमृतं पिबन्नतृप्यति तद्वत् ॥२६,२७॥

**तत** इति। सुहृदश्च सम्बन्धिनो ज्ञातींश्च बान्धवांश्च जिगमिषून् प्रेम्णा निवारयामास त्यागाद्विश्लेषात् कातरः प्रेम्णा च कृष्णं वारयामास ॥ २८ ॥

**भगवानिति**। तस्य युधिष्ठिरस्य प्रियङ्करः प्रियं चिकीर्षुरिति यावत् कुशस्थलीं द्वारकां प्रति साम्बादीन् यदुवीरान् प्रस्थाप्य प्रयाप्य स्वयं तत्रैव अन्यानि कतिचिद्दिनानि अवात्सीत् उषितवान् ॥ २९ ॥

**इत्थमिति**। सुदुस्तरं मनोरथं राजसूयचिकीर्षारूपं महार्णवं कृष्णेन कर्णधारस्थानीयेन समुत्तीर्य गतज्वरो निश्चिन्त आसीत् ॥ ३० ॥

**विज० देवर्षिरिति** ॥ २६ - ३० ॥

**एकदान्तःपुरे तस्य वीक्ष्य दुर्योधनः श्रियम् ।**
**अतप्यद्राजसूयस्य महत्त्वं चाच्युतात्मनः ॥ ३१ ॥**

**यस्मिन् नरेन्द्रदितिजेन्द्र सुरेन्द्रलक्ष्म्यः नानाविभान्ति किल विश्वसृजोपकॢप्ताः।**
**ताभिःपतीन् द्रुपदराजसुतोपतस्थे यस्यां विषक्तहृदयः कुरुराडतप्यत् ॥ ३२ ॥**

**यस्मिंस्तदा मधुपतेर्महिषी सहस्रं[4] श्रोणीभरेण शनकैः क्वणदङ्घ्रिशोभम् ।**
**मध्ये सुचारुकुचकुङ्कुमशोणहारं श्रीमन्मुखं[5] च चलकुण्डल कुन्तलाढ्यम् ॥३३ ॥**

**सभायां मयक्लृप्तायां[6] क्वापि धर्मसुतोऽधिराट्[7] वृतोऽनुजैर्बन्धुभिश्च कृष्णेनापि स्वचक्षुषा ॥३४ ॥**

**आसीनः काञ्चने साक्षादासने मघवानिव ।**
**पारमेष्ठ्यश्रिया जुष्टः स्तूयमानश्च वन्दिभिः ॥ ३५ ॥**

---

1. B.G.J. M. Ma °हि° 2. B.G.J Ml.V °क्ष्मीनां° 3. K.M.Ma.T.W °तिं 4. M. Ma °रिपो° 5. B.G.J प्रचल ; K.T.W चपल 6. Ml.V. °विद्यायां 7.K.M. Ma. Ml.V. विराट् ।

**श्रीध० एकदेति**। अच्युते श्रीकृष्णे[1] आत्मा मनः[2] यस्य तस्य ॥ ३१॥

**यस्मिन्निति**। नरेन्द्रादीनां लक्ष्मीः लक्ष्म्यः विभूतयः, विश्वसृजा मयेन उपक्लृप्ताः विरचिताः ताभिस्सह, कुरुराट् दुर्योधनः अतप्यत् ॥ ३२॥

**यस्मिन्निति**। महिषी सहस्रमिति बहुत्वोपलक्षणं, क्वणद्भिः अङ्घ्रिभिः शोभा यस्य, मध्ये सुचारु चारुमध्यमित्यर्थः। कुचकुङ्कुमैः शोणा हाराः यस्य तत्। श्रीमन्ति मुखानि यस्य तत्, चलैः कुण्डलैः कुन्तलैश्च, आढ्यं सम्पन्नं, अशोभतेति शेषः ॥ ३३॥

**सभायामिति**। क्वापि कदाचित् स[3] विरेज इति शेषः। स्वस्य चक्षुषा हिताहितज्ञापकेन॥ ३४,३५॥

---

1. B.J.omit श्रीकृष्णे 2. B.J.omit मनः 3. Ml.V.omit सः

**वीर० एकदेति**। अच्युते भगवती आत्मा मनो यस्य तस्य युधिष्ठिरस्यान्तःपुरे, श्रियं सम्पदं राजसूयस्य महत्वं च अवलोक्य[1] दुर्योधनो अतप्यत् ॥ ३१॥

श्रियमेव प्रपञ्चयन् तत्परितापमाह- **यस्मिन्निति** द्वाभ्याम्। यस्मिन्नन्तःपुरे विश्वसृजा विश्वकर्मणा उपक्लृप्ताः रचिताः नानाविधाः नरेन्द्रादीनां लक्ष्म्यः भोग्यभोगोपकरणभोगस्थानादिलक्ष्म्यः भान्ति, द्रुपदराजसुता द्रौपदी ताभिः लक्ष्मीभिः पतिमुपतस्थे[2] पर्यचरत् यस्यां द्रुपदराजसुतायां विषक्तं आसक्तं हृदयं यस्य सः, कुरुराट् दुर्योधनः अतप्यत् ॥ ३२॥

**यस्मिन्निति**। तदा दुर्योधनपरितापकाले यस्मिन्नन्तःपुरे यदुपतेः कृष्णस्य महिषीसहस्रं पत्नीसहस्रं, परितापावहत्वेनासेति शेषः। सहस्रमिति बहुत्वोपलक्षणम्। कथम्भूतम्? श्रोणीभरेण नितम्बभरेण शनकैः क्वणद्भिः चरणाभरणध्वननपूर्वकं चलद्भिः अङ्घ्रिभिः शोभा यस्य तत् मध्ये सुचारु चारुमध्यमित्यर्थः। कुचकुङ्कुमैः शोणाः [3]हाराः यस्य तत्, श्रीमन्ति [4]शोभायुक्तानि यस्य तत्। चपलैः कुण्डलैः कुन्तलैश्च आढ्यं सम्पन्नम् ॥३३॥

**सभायामिति**। क्वापि कदाचित् मयेन दत्तायां, मयविद्यायामिति पाठे विद्याप्रभावरचितायामित्यर्थः। स्वचक्षुषा हिताहितज्ञापकेन कृष्णेन परिवृतो, रेजे इति शेषः ॥ ३४॥

किञ्च **आसीन** इति। पारमेष्ठ्यश्रिया चतुर्मुखसम्पत्सदृशा श्रिया जुष्टः सेवितः इन्द्र इव आसीनः उपविष्टवान् ॥ ३५ ॥

1. B, आलोक्य 2. B पतीन् युधिष्ठिरादीन् 3. B adds रक्ताः 4. T, W omit शोभायुक्तानि

**विज०** यस्मिन् पुरे विश्वसृजा कृष्णेन तस्मिन् ताभिः श्रीभिः सह द्रुपदराजसुता पतिमुपतस्थ इत्यन्वयः ॥ ३१-३३ ॥

स्वचक्षुषा स्वदृष्टिभूतेन ॥ ३४, ३५ ॥

☆ **उपास्यमानो विप्रेन्द्रैः नानादेश समागतैः ।**
**दोधूयमानो धवलैर्वालव्यजनसङ्कुलैः ॥**
**रराज राजशार्दूलो दिवि देवपतिर्यथा ॥ ३६ ॥ ★**

**तत्र दुर्योधनो मानी[2] सहितो भ्रातृभिर्नृप[3] ।**
**किरीटमाली न्यविशदसिहस्तः क्षिपन् रुषा[4] ॥ ३७ ॥**

**स्थलेऽप्यगृह्णाद्वस्त्रान्तं[5] जलं[6-] मत्वा स्थलेऽपतत् ।**
**जले च स्थलवत् भ्रान्त्या मयमायाविमोहितः[-6] ॥ ३८ ॥**

❖ **आगच्छन्नेवमुर्वीशः पुरः पुष्करिणीं क्वचित् ।**
**विलोक्य स्फटिकां भूमिं मन्वानो न्यपतज्जले ॥ ३९ ॥**

**जहास भीमस्तं दृष्ट्वा स्त्रियो नृपतयोऽपरे[7-] ।**
**निवार्यमाणा अप्यङ्ग राज्ञा कृष्णानुमोदिताः[-7] ॥ ४० ॥**

☆ अजातशत्रुराकर्ण्य वस्त्रस्रग्भूषणादिकम् ।
संप्रेष्याह्नापयामास साम्ना योगेश्वरेण च ॥ ४१ ॥

तदनादृत्य सत्कारं व्रीडावनतकन्धरः ।
जाज्वल्यमानहृदयो न जगाम तदन्तिकम् ॥ ४२ ॥

सव्रीडितोऽवाग्वदनो रुषा ज्वलन् निष्क्रम्य तूष्णीं प्रययौ गजाह्वयम् ।
हाहेति शब्दः सुमहानभूत्सतामजातशत्रुर्विमना इवाभवत् ॥

◆ बभूव तूष्णीं भगवान् भुवो भरं समुज्जिहीर्षुर्भ्रमति स्म यदृशा ॥ ४३ ॥

❀ एतत्तेऽभिहितं राजन् यत् पृष्टोऽहमिह त्वया ।
सुयोधनस्य दौरात्म्यं राजसूये महाक्रतौ ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

---

0 These three half verses are found only in M, Ma editions *अत्र विजयध्वजरीत्या त्र्यशीतितमोऽध्यायः समाप्तः 1. अत्र विजयध्वजरीत्या चतुरशीतितमोऽध्यायः प्रारभ्यते। * Here M, Ma add श्रीशुक उवाच 2. M, Ma राजा 3. M, Ma °प्रियैः 4. K नृपान् 5. B, G, J, K, Ml, T, V, W °ध्य° 6--6 M, Ma हरिनीलोपलाचिते। स्थलं पुष्करिणीं मत्वा सर्वे तं जहसुर्जनाः ॥ ▲ This additional verse is found in M,Ma edns only 7--7 M, Ma भूपाश्च केचन ✣ These two additional verses are found in M, Ma edns only 8. K, M, Ma, T, W °भूतदा अजा° ❀ This half verse is not found in T, W editions 9--9 M, Ma जिहीर्षुरात्मेहितमात्मनि स्मरन्। ; Ml, V जिहीर्षुरेष भ्रमति स्म यद्दृशा। ❖ This verse is not found in M, Ma edns 10--10 Ml.V. पृष्टोऽहमिति यत् 11. K, T, W दुर्यो°

**श्रीध० तत्रेति**। मानी साहङ्कारः किरीटं च माला च विद्येते यस्य सः, न्यविशत् विवेश क्षिपन् द्वास्थादीन् अपक्षिपन् ॥३६ ,३७॥

**स्थल** इति। तत्र शुद्धान्ते स्थले वस्त्रान्तमध्यगृह्णात् आकुञ्चितवान्। कुतः? तस्मिन् स्थल एव भ्रान्त्या जलं मत्वा जले च अपतत् , कुतः स्थलवद्भ्रान्त्या ॥ ३८ - ४२ ॥

**स इति**। भुवो भरं भारं जिहीर्षुरिति अद्य सम्पादितेन कलहबीजेन कुरूणां संहारं करिष्यामीति मत्वा[2] किञ्च यस्य दृशा दृष्टिमात्रेण दुर्योधनो भ्रमति स्म भ्रान्तिं प्राप मयमया तु निमित्तमात्रं सः भूभारहरणबीजं दुर्योधनस्य भ्रमं भीमादि हास्येन तस्य पराभवं च विधाय तूष्णीमासीदित्यर्थः ॥ ४३ , ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

---

1 . B . J . omit शुद्धान्ते 2 . Ml . V omit मत्वा

**वीर० तत्रेति**। किरीटमाले अस्य स्त इति तथा मानी साहङ्कारः असिः खड्गो हस्ते यस्य सः। भ्रातृभिः दुश्शासनादिभिः परीतः[1] परिवृतः नृपान् क्षिपन् निन्दन्, तत्र सभायां न्यविशत् विवेश। रुषेति पाठे द्वारपालान् क्षिपन्नित्यर्थः ॥ ३६, ३७ ॥

**स्थल इति**। शत्रूणां जलस्थलबुद्धिं विपर्यासकारिणीं सभामाविशन् दुर्योधनस्तावत्स्थले जलभ्रान्त्येति शेषः। वस्त्रान्तमभ्यगृह्णात् उद्धृतवान् तथा क्वचित् स्थले जलं मत्वा न्यपतत्। तथा जले च स्थलवद्भ्रान्त्या न्यपतत्। जलविषयक ज्ञानस्य स्थलविषयकज्ञान सारूप्य ज्ञापनाय वत्करणम्। तदात्मिकया भ्रान्त्येत्यर्थः। भ्रान्तौ कारणं वदन् विशिनष्टि मयस्य मायया विमोहित इति ॥३८,३९॥

**जहासेति**। तं एवम्भूतं दुर्योधनं दृष्ट्वा भीमः जहास हसितवान्। तथा अन्ये नृपाश्च राज्ञा युधिष्ठिरेण निवार्यमाणा अपि भगवता अनुमोदिताः तं पश्यतेत्येवं प्रबोधिताः जहसुः ॥ ४०-४२ ॥

**स इति**। स दुर्योधनः लज्जतोऽधोमुखः गजाह्वयं हास्तिनपुरं ययौ तदा सुमहानुच्चैः हा हा दुर्योधनोऽवमानित इति शेषः, इत्येवं विधः शब्दो बभूव विमना इव अभवत्, इवशब्दो अनतिरिक्तार्थकः ॥४३॥

प्रश्नस्योत्तरमुक्तं निगमयति - **एतदिति**। हे राजन्! यत् अहं त्वया पृष्टः तस्य एतदुत्तरं तुभ्यं इतीत्थं अभिहितं किं तत्? यत् दुर्योधनस्य दौरात्म्यं युधिष्ठिर सम्पदमवलोकनज परितापरूपं दौर्जन्यम् ॥४४॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५॥

---

1. K.T.W. omit परीतः

**विज०** वालव्यजनसङ्कुलैः चामर स्तिमित वायुभिः दोधूयमानः वीज्यमानः ॥ ३६ ॥

द्वित्रेष्वध्यायेषु शाल्ववधमाहात्म्यं कथयति । तत्रादौ भूभारहरण हेतु दुर्योधनस्य तेजः क्षतिं च वक्ति - **तत्रेत्यादिना।** तत्र सभायाम् ॥ ३७ ॥

"आचितं निचितं व्याप्तम्" (हला.को. 4-7) इति हलायुधः ॥ ३८ ॥

पुरः अग्रतः स्फटिकमणिनिबद्धाम् ॥ ३९-४४ ॥

योगेश्वरेण श्रीकृष्णेनानुज्ञातः साम्ना सान्त्ववचनेन ॥

आत्मना स्वेनैव ईहितं चेष्टितं आत्मनि मनसि स्मरन्भद्रमिति शेषः, तत्र कथान्तरं वक्तुं तन्नारदागमनमाह तदेति ॥

उपेत्य नारदस्सर्वे सदस्यैरभिपूजितः। कृष्णेनाभ्यर्चितः सम्यगुपविष्टो नृपान्तिके ॥
उवाच धर्मराजस्तं प्रणिपत्य यथाविधि। भवान् सर्वत्र गो ब्रह्मन् सर्वकालेष्वसङ्गतः ॥

नृपाणां शौर्ययुक्तानां सर्वमण्डल वासिनाम्। इदानीं कतमः शूरो नित्योद्योगेन वर्तते ॥
इति तेनोदितां वाणीमाकर्ण्य मुनिरब्रवीत् ॥

**नारद उवाच**

भग्नदर्पा नृपाः सर्वे कृष्णेनाप्रतिमौजसा। वसन्ति विषये स्वे स्वे नष्ट चेष्टागतश्रियः ॥
एक एव महोत्साहः क्षत्रियाणां दुराग्रही। जातः शाल्वेषु नृपतिः बहुपादातिवाहनः ॥

भ्रातर्युपरते युद्धे विष्णुना लोक जिष्णुना। ब्रह्मदत्त सुते हंसे यमुनायां महात्मना ॥
कृष्ण द्विडेत्यराज्ञो सौरुक्म्यादीन्कुण्डिने पुरे। समाजं कारयामासश्चातुरानृण्य काङ्क्षया ॥

शिशुपाल द्रुममुखैर्दन्तवक्त्रपुरस्सरैः। पराजितेषु संग्रामे जरासन्धादिषु प्रभो ॥

रुक्म्यादीन् राज्ञः समाजं सम्मेलनं आनृण्यं ऋणाभावकरणम् ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां टीकायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥
(विजयध्वजतीर्थरीत्या त्र्यशीतितमोध्यायः)

# षट्सप्ततितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या पञ्चाशीतितमोऽधयायः)

**श्रीशुक उवाच**

* अथान्यदपि कृष्णस्य शृणु कर्माद्भुतं नृप ।
क्रीडा नरशरीरस्य यथा सौभपतिर्हतः ॥ १ ॥

शिशुपालसखस्साल्वो रुक्मिण्युद्वाह आगतः[1] ।
यदुभिः निर्जितस्संख्ये जरासन्धादयस्तथा ॥ २ ॥

साल्वः प्रतिज्ञामकरोच्छृण्वतां सर्वभूभुजाम् ।
अयादवीं[2] करिष्ये क्ष्मां पौरुषं[3-] मम पश्यत[-3] ॥ ३ ॥

इति मूढः प्रतिज्ञाय देवं[4-] पशुपतिं प्रभुम्[-4] ।
▲ गते तस्मिन् बहून् वर्षान् प्रतीक्ष्य तदुपागमम् ॥

तदनन्तरजोऽमात्यैरभिषिक्तो नृपार्थिभिः ।
तपस्तप्त्वा स नृपतिर्देवं पशुपतिं प्रभुम्
आराधयामास नृपः[5] पांसुमुष्टिं सकृद्ग्रसन् ॥ ४ ॥

संवत्सरान्ते भगवनाशु[6-] तोष[-6] उमापतिः ।
वरेणच्छन्दयामास[7] साल्वं[8] शरणमागतम् ॥ ५ ॥

---

* These two verses are not found in M, Ma editions 1. Ml, V तौ: 2. K, Ml, T, V, क्ष वां 3--3 M, Ma पश्यन्तु मम पौरुषम् 4- -4 M, Ma तपसे प्राविशद्वनम् ▲ These three extra half verses are found in M, Ma editions 5. M,Ma वने 6--6 M, Ma न्सन्तुष्टस्य 7. K, T, W, add स 8.K, T, W णाग

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

ततः षट्सप्ततितमे वृष्णिसाल्वमहामृधे द्युमद्गदाप्रहारेण रणात्प्रद्युम्ननिर्गमः ॥

सम्पाद्य धर्मराजस्य राजसूयमहोदयम् निहत्य सौभराजादीनधोपारमदच्युतः ॥ २-३ ॥

**इतीति**। प्रत्यहंसकृत्। पांसुमुष्टिं एकां ग्रसन् भक्षयन् ॥ ४ ॥

**संवत्सरान्त** इति। आशुतोषोऽपि भगवानुमापतिः श्रीकृष्ण विद्विषि साल्वे वरस्य वैफल्यं मन्यमाने न शीघ्रं प्रादुरभूत्। तस्यातिनिर्बन्धमालक्ष्य संवत्सरांते वरेण च्छन्दयामास इच्छां कारितवान् वरं वृणीष्वेत्युवाचेत्यर्थः ॥५॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ साल्व वधात्मकं भगवतश्चेष्टितमनुवर्णयितुं प्रस्तौति षट्सप्ततितमेन **अथेति**। क्रीडार्थं नरस्येव शरीरं यस्य तस्य कृष्णस्याद्भुतमन्यदपि चेष्टितं शृणु, किं तत् सौभपतिः सौभं नाम पुरं तस्य पतिस्साल्वो यथा येन प्रकारेण हतः तथा तस्य हननमित्यर्थः ॥१॥

**शिशुपालसख** इति। यदा साल्वो रुक्मिणी विवाहे आगतः संख्ये ये निर्जितः जरासन्धादयश्च जिताः स तदा। सर्वभूतानां शृण्वतां सतां प्रतिज्ञामकरोदिति सम्बन्धः। प्रतिज्ञामेव दर्शयति - अयादवामिति[1] यादवरहितानां क्ष्मां भूमिम् करिष्यामि[2-] मे पराक्रमं पश्यत[-2] ॥२,३॥

**इतीति**। इत्थं प्रतिज्ञाय अतएव मूढः पशुपतिं रुद्रं आराधयामास। किं[3-] कुर्वन्[-3]? प्रत्यहं सकृत् पांसुमुष्टि मेकं ग्रसन् भक्षयन् आराधयामासेति सम्बन्धः ॥४॥

**संवत्सरान्त** इति। आशु तोषः ईषत् सन्तुष्टवान् भगवद्विद्वेषित्वादिति भावः वरेणेति हेत्वर्थे तृतीया वरार्थं च्छन्दयामास वरं वरयेतेत्युवाचेत्यर्थः ॥५॥

---

1. B.J. "वी" 2- -2 T.W. omit 3- -3 T.w. omit

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

शिशुपाल द्रुम दुर्मुखैः सह जरासन्धादिषु सत्सु ॥१-४॥

तस्य साल्वस्यानन्तरज अनुजः च्छन्दयामास तृप्तमकरोत् ॥५॥

---

1. M.Ma शा" 2. B. ह"

**देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।**
**अभेद्यं कामगं वव्रे स यानं वृष्णिभीषणम् ॥६॥**

तथेति गिरिशादिष्टो मयः परपुरञ्जयः ।
पुरं निर्माय साल्वाय प्रादात्सौभमयोमयम् ॥७॥

सलब्ध्वा कामगं यानं तमोधाम दुरासदम् ।
❖ आययौ स्वं जनपदं समग्र बलवाहनम् ।
इदानीं राजपुत्राणां स एवोद्योगवान् नृप ! ॥

इति धर्मसुतः श्रीमान् श्रुत्वा तन्नारदोदितम् ।
पार्श्वे भगवतः शौरेः शनैर्मुखमवैक्षत ॥

निशम्य तद्वासुदेवो धैर्यसारो निराकुलः ।
किञ्चित्प्रहस्यास्तुनामेत्याह साहि महात्मता ॥

पूजयित्वा ऋषिं सम्यक् सूनृतैर्गीभिरच्युतः ।
चिराभिलषितः सोऽपि प्राप्तः साध्वित्यचिन्तयत् ।

उग्रसेनं यदुपतिं युयुधानञ्च माधवः ।
अक्रूरं कृतवर्माणमन्यांश्च यदुपुङ्गवान् ॥
प्रेषयामास रक्षायै द्वारवत्याः स्वसैनिकान् । ❖

श्रीशुक उवाच

तथा वसति गोविन्दे शक्रप्रस्थे महात्मनि ।
ससानुजे चैव नृपे कृतकृत्ये युधिष्ठिरे ॥

आकर्ण्य शाल्वः संक्रुद्धो दमघोषसुतं हतम् ।
जरासन्धं च सुहृदं राजसूयं क्रतुं कृतम् ॥
ययौ द्वारवतीं साल्वो वैरं कृष्णकृतं स्मरन् ॥ ८ ॥

निरुध्य सेनया साल्वो महत्या भरतर्षभ ।
तमावसन्नन्तरिक्षे युयुधे भरतर्षभ।
पुरीं बभञ्जोपवनान्युद्यानानि च सर्वशः ॥९॥

स गोपुराणि द्वाराणि प्रसादाट्टालतोलिकाः ।
विहारान् स विमानाग्र्यान्निपेतुश्शस्त्रवृष्णयः ॥१०॥

1. B. G. J. M. Ma. Ml. V. °मयस्म° ✻ These extra verses beginning with आययौ स्व जनपदं and ending with राजसूयं क्रतुं कृतम् are found in M.Ma editions only. ❖ According to M. Ma. editions 84th chapter ends here and 85th chapter begins immediately. 2. B. G. J. K. M. MA. T. W. वृष्णि 3--3 This half verse is not found in M, Ma. editions. ☆ This extra half verse is found in M.Ma editions only.

**श्रीध० तथेति**। तथेति प्रतिज्ञाय गिरिशेनाधिष्ठो मयः अयस्मयं लोहमयं पुरं सौभसंज्ञं निर्माय रचयित्वा प्रादात् ॥ ६, ७ ॥

**स इति**। तमसोन्धकारस्य धाम आश्रयं अन्यैर्दुरासदं दुष्प्रापम्। स गोपुराणीति। प्रासादाः गृहाः आट्टालास्तदुपरिगृहाः तोलिकास्तत्पर्यन्त कुड्यानि ताः विहारान् क्रीडास्थानानि च स बभञ्ज, किञ्च विमानाग्र्यात्तस्मा च्छस्त्र वृष्ट्यादयः पेतुः ॥ ८-१०॥

**वीर० देवेति**। स साल्वः यानं वव्रे वृतवान् कथम्भूतं देवादीनां भेत्तुमशक्यं कामं यथेष्टं गच्छतीति तथा तद्वृष्णीनां यदूनां भीषणं भयङ्करम् ॥६॥

**तथेतीति**। तथेत्यङ्गीकृत्य गिरिशेनादिष्टो मयः सौभं नाम अयोमयं लोहमयं पुरं निर्माय ददौ ॥७॥

**सलब्धेति**। स साल्वः तमसोऽन्धकारस्य धामाश्रयं यानं लब्ध्वा अधिष्ठ्येत्यर्थः वृष्णिकृतं वैरं स्मरन् द्वारवतीं ययौ ॥८॥

**निरुध्येति**। हे भरतर्षभ, पुरीं द्वारवतीं निरुध्य उपवनादीन् बभञ्ज ॥९॥

तत्र अट्टालाः प्राकारोपरिगृहाः तोरणाः बहिर्द्वाराणि विहाराः क्रीडास्थानानि। किञ्च विमानाग्र्यात्तस्मात्सौभात् शस्त्र वृष्टयः शिलादयश्च निपेतुः ॥१०॥

1. B. कृष्णस्य

**विज०** अयस्मयं अयोमयं अयस्मयादीनि च्छन्दसीति पाणिनिः। नीलरश्मिपुञ्जात्मकत्वात् तमो धामेत्युच्यते ॥६,७॥

सूनृतैः सूनृताभिः ॥

स्वसैनिकान् स्वसेनानायकान् ॥

तथा महोत्सवसमेतत्वेन शाल्वः संक्रुद्धोऽभूदिति शेषः॥

आगत्य च अन्तरिक्षे तं विमानं आवसन् तस्मिन् विमाने स्थितः युयुधे इत्यन्वयः। संप्रहार प्रकारमाह पुरीमिति। अट्टालोऽट्टः तोलिकावीथिका गृह पङ्क्तिमध्य पद्धतिरित्यर्थः ॥ ८-१० ॥

**शिला[1]द्रुमाश्चाशनयस्सर्वा[2] आसारशर्कराः।**
**प्रचण्डश्चक्रवातोऽभूद्रजसाच्छादिता दिशः ॥ ११ ॥**

**इत्यर्द्यमाना सौभेन कृष्णस्य नगरी भृशम् ।**
**नाभ्यपद्यत शं राजंस्त्रिपुरेण यथा मही ॥ १२ ॥**

**प्रद्युम्नो भगवान् वीक्ष्य बाध्यमान[3] निजा प्रजाः ।**
**माभैष्टेत्यभ्ययाद्वीरो[4] रथारूढो[5-] महायशाः[-5] ॥ १३ ॥**

**सात्यकिश्चारुधेष्णश्च साम्बोऽक्रूरस्सहानुजैः[6] ।**
**हार्दिक्यो भानुविन्दश्च गदश्च शुकसारणौ ॥ १४ ॥**

**अपरे च महेष्वासा रथयूथपयूथपाः ।**
**निर्ययुर्दंशितागुप्ता रथेभाश्वपदादिभिः[7-7] ॥ १५ ॥**

---

1. M.Ma शैला° 2. B.G.J.K.M.Ma.T.W. °स्सर्पा 3. M.Ma.मध्य° 4. B.G.J. M.Ma °धा° 5- - 5 M.Ma वाचः पित्रोरनुस्मरन्; K. Ml. T. V. W. रथारूढो महारथः 6. B. G. J. भुजः 7- -7 M. Ma रथ नागाश्वपत्तिभिः ॥

**श्रीध०** शिला इति। आसारशर्कराः धारासम्पातवज्रवलोपलाः ॥ ११ ॥

**इतीति**। शं सुखं नाभ्यपद्यत ॥ १२ - १५ ॥

**वीर०** तत्रासारो धारासम्पातः शर्कराः सूक्ष्मशिलाः प्रचण्डो निष्ठुरश्चक्रवातो बभूव दिशश्च रजसा रेणुनाच्छादिताः[1] बभूवुः॥ ११ ॥

**इतीति**। इत्थं सौभेन [2]भृशं अर्द्यमाना पीड्यमाना कृष्णस्य नगरी द्वारका हे राजन् शं सुखं नाभ्यपद्यत न प्राप यथा त्रिपुरेण [3]अर्द्यमाना[-3] मही शं नाभ्यपद्यत तद्वत् ॥ १२ ॥

**प्रद्युम्न इति**। [4]भगवान् षड्गुणसम्पन्नः प्रद्युम्नः[-4] [5]बाध्यमानाः पीड्यमानाः [6]निजाः स्वकीयाः प्रजाः प्रेक्ष्य, इतीत्यनन्त मुक्त्वेति शेषः अभ्ययादभ्यद्रवत् ॥ १३ ॥

तथा सात्यकि प्रभृतयोऽपरे च यदुवीराः महान्त इष्वासाः धनूंषि येषां ते रथयूथपानामपि यूथपाः दंशिताः क्वचित रथादिभिश्चतुर्भिरङ्गैरुग्राश्च निर्ययुः द्वारकाया इति शेषः ॥ १४, १५ ॥

---

1. B. घूर्णिताः 2. B. K. add यानेन 3- -3. K. T. W. omit 4- -4 T. W. omit 5. T. W. वं 6- -6 T. W. omit 7- -7 T. W. omit.

**विज०** विहायस आकाशादासारो वेगवान् वर्षः तत्सहिताः शर्कराः क्षुद्र पाषाणाः चक्रवातो मण्डल वायुः ॥ १२

शं सुखम् ॥ १२-१५ ॥

**ततः प्रववृते युद्धं साल्वाना यदुभिस्सह।**
**यथासुराणां विबुधैस्तुमुलं रोमहर्षणम् ॥ १६ ॥**

**[1]ताश्च सौभपतेर्माया [2]दिव्यास्त्रै रुक्मिणीसुतः ।**
**क्षणेन नाशयामास नैशं तम इवोष्णगुः ॥ १७ ॥**

**[3]विव्याथ पञ्चविंशत्या स्वर्णपुङ्खैरयोमुखैः ।**
**साल्वस्य ध्वजनीपालं शरैस्सन्नत पर्वभिः ॥ १८ ॥**

**शतेनाताडयत्साल्वमेकैकेनास्य सैनिकान् ।**
**दशभिर्दशभिर्नेत्रून्वाहनानि त्रिभिस्त्रिभिः ॥ १९ ॥**

**तदद्भुतं महत्कर्म प्रद्युम्नस्य महात्मनः ।**
**दृष्ट्वा तं पूजयामासुस्सर्वे स्वपरसैनिकाः ॥ २० ॥**

---

1. M.Ma ताञ्च 2. M.Ma व्यां 3. M.Ma विव्याधद'

**श्रीध० तत इति**। तुमुलं व्याकुलं रोमहर्षणं रौद्रम् ॥ १६ ॥

**ता इति**। नैशं निशिभवं तमः उष्णगुः सूर्य इव ॥ १७ ॥

किञ्च **विव्याधेति**। स्वर्णमयानि पुंखानि पृष्टप्रान्तानि येषां तैः अयो लोहं तन्मयानि मुखान्यग्राणि येषां तैः ध्वजनीपालं सेनान्यं सन्नतानि निम्नानि पर्वाणि ग्रन्थयो येषां तैः ॥ १८ ॥

**शतेनेति**। सैनिकान् भटान् नेतॄन् सारथीन् ॥ १९ ॥

**तदिति**। [1]स्वपरसैनिका[2]ः स्वपरसेनयोर्वर्तमानास्सर्वे पूजयामासुः सम्मानितवन्तः ॥ २० ॥

---

1- -1 B.J. omit

**वीर० तत इति**। युद्धं प्रवृत्तमभूत् यथा विबुधैः देवैस्सह, असुराणां तद्वत् कथम्भूतं तुमुलं व्याकुलं रोमहर्षणं शृण्वतामपि रोमोद्गमकरम् ॥ १६ ॥

**ताश्चेति**। याः शस्त्रवृष्ट्यादयो माया स्ताः क्षणेन नाशयामास उष्णाः गावः किरणाः यस्य सः सूर्यो नैशं निशासम्बन्धि तमोऽन्धकारं नाशयति तद्वत् ॥ १७ ॥

**विव्याधेति**। स्वर्णमयाः पुङ्खाः पृष्टप्रान्ताः येषां तैः अयो लोहं तन्मयानि मुखान्यग्राणि येषां तैः सन्नतानि निमग्नानि पर्वाणि येषां तैः पञ्चविंशत्या शरैः साल्वस्य ध्वजनीपालं सेनान्यं विव्याध ॥ १८ ॥

साल्वन्तु शतेन शराणामीति शेषः। अताडयत् सैनिकान्भटान् एकैकेन शरेणाताडयत् नेतॄनवान्तर सेनानायकान् सारथीन् वा दशभिर्दशभिः शरैः वाहनानि गजाश्वरथादीनि त्रिभिस्त्रिभिः शरैः अताडयत् ॥ १९ ॥

**तदिति**। तत्प्रद्युम्नविक्रमात्मकं महदतिकौशलं कर्म दृष्ट्वा स्वपरसेनयोः वर्तमानास्सर्वे तं प्रद्युम्नं पूजयामासुः बहुमेनिरे ॥ २० ॥

---

1. B. बाणाना°

**विज०** उष्णा गावो यस्य स उष्णगुः सूर्यः ॥ १६-१८ ॥

अस्य प्रद्युम्नस्य ॥ १९-२० ॥

बहुरूपैकरूपं तद्दृश्यते न च दृश्यते ।
मायामयं मयकृतं[1-1] दुर्विभाव्यं परैरभूत्[2] ॥ २१ ॥

क्वचिद्धूमौ क्वचिद्वयोम्नि गिरिमूर्ध्नि जले क्वचित् ।
अलातचक्रवत् भ्राम्यत्सौभं तद्दुरवस्थितम् ॥ २२ ॥

यत्र यत्रोपलक्ष्येत ससौभस्सह[4-4] सैनिकः ।
साल्वस्ततस्ततोऽमुञ्चन् शरान् साल्वतयूथपाः ॥ २३ ॥

शरैरग्न्यर्क संस्पर्शैः[5] आशीविषदुरासदैः ।
पीड्यमान[6] पुरानीकस्साल्वोऽमुह्यत्परेरितैः ॥ २४ ॥

साल्वानीकपशस्त्रास्त्रैर्[7]वृष्णिवीरा भृशार्दिताः।
न तत्यजू रणं स्वं स्वं लोकद्वयजिगीषवः ॥ २५॥

---

1- -1 M.Ma मयमाया कृतं यानं 2. M.Ma जनै° 3- -3 M.Ma क्वचित्सिन्धौ क्वचिद्गिरौ। 4- -4 M.Ma तस्य सौभस्य 5. M.Ma सङ्कशैः 6. T.W. पाट्य° 7. B.G.J.K.M.Ma.T.W. स्त्रौघैः

**श्रीध० बहुरूपेति**। कदाचित् बहुरूपं कदाचिदेकरूपं क्वचिद्दृश्यते क्वचिन्नदृश्यते एवं दुर्विभाव्यं दुर्वितर्क्य मभूत् ॥ २१ ॥

किञ्च क्वचिदिति एवं तत् दुःखस्थितं अनवस्थतं च अभूत् ॥ २२-२३ ॥

शरैरिति। अग्निवद्दाहकः अर्कवत्संशोषकः युगपत् सर्वतस्संस्पर्शो येषां तैः आशीविषवदेकदेशस्पर्शमात्रेण मारकत्वाद्दुरासदैः दुस्सहैः पाट्यमानं[2] पुरमनीकानि च यस्य सः परैर्यदुभिः ईरितैः मुक्तैः ॥ २४ ॥

**साल्वेति**।भृशार्दिता अपि स्वं स्वं रणं स्वां युद्ध भूमिम् ॥ २५ ॥

---

1- -1. MI. V. अतर्क्यं 2. B. J. पीड्य

**वीर० बह्विति**। तन्मयकृतं सौभं क्वचिद्बहुरूपं क्वचिच्चैकरूपं क्वचिच्च दृश्यते क्वचित्तु न दृश्यते एवं परैः दुर्विभाव्य मवितर्क्यमभवत् ॥ २१ ॥

किञ्च - क्वचिदिति। एवं दुरवस्थितं अनवस्थितं च अभूत् ॥ २२ ॥

**यत्रयत्रेति**। उपलक्ष्येत दृश्येत सात्वत यूथपाः यदुवीराः ॥ २३ ॥

शरैरिति। अग्निवद्दाहको अर्कवत्संशोषकः युगपत् सर्वत संस्पर्शो येषां तैः आशीविषवदेकस्पर्शमात्रेण मारकत्वाद्दुरासदैः, दुस्सहैः परेरितैः यदुवीरप्रयुक्तैः शरैः पीड्यमानं पुरमनीकानि च यस्य सः साल्वोऽमुह्यत् मुमोह ॥ २४ ॥

**साल्वेति**। साल्वसैन्यपानां शस्त्रौघैः भृशं पीडिता अपि यदुवीराः स्वं स्वं रणं रणभूमिं न तत्यजुः न त्यक्तवन्तः तत्र हेतुत्वेन विशिनष्टि लोकत्रयमपि जेतुमिच्छवः ॥ २५ ॥

---

1. T.W पाठ्य

**विज०** दुरवस्थितं नैकत्र स्थितमभूत् इति शेषः ॥ २१, २२ ॥

तस्य सौभस्य सैनिकः सेनासहितः शाल्वः यत्रयत्रोपलक्ष्येत सात्वतयूथपाः ततश्शरानमुञ्चन्नित्यन्वयः॥ २३

इति परैः शरैः प्रपीड्यमानः पुरस्थितानीकः ॥ २४ ॥

शाल्वस्यानीकपाः सेनानायकाः तेषां शस्त्राणामोघैः ॥ २५ ॥

**साल्वामात्यो द्युमान्नाम प्रद्युम्नं प्राक्प्रपीडितः ।**
**आसाद्य गदया मौर्व्या व्याहत्य व्यनदद्बली ॥ २६ ॥**

**[1]प्रद्युम्नं गदया शीर्ण वक्षस्थलमरिन्दमम् ।**
**अपोवाह रणात्सूतो धर्मविद्दारुकात्मजः ॥ २७ ॥**

**लब्धसंज्ञो मुहूर्तेन कार्ष्णिस्सारथिमब्रवीत् ।**
**अहो असाध्विदं सूत यद्रणान्मेऽ[2]वकर्षणम् ॥ २८ ॥**

**न यदूनां कुले जातश्श्रूयते रणविच्युतः ।**
**विनामत्क्लीबचित्तेन सूतेन प्राप्तकिल्बिषात् ॥ २९ ॥**

**किन्नु वक्ष्येऽभिसङ्गम्य पितरौ रामकेशवौ ।**
**युद्धात् सम्यगपक्रान्तः पृष्टस्तत्रात्मनः क्षमम् ॥ ३० ॥**

---

1.MI.V - तं द्युमद्गदया 2. B. G. J. K.M.Ma. T.W. °ऽपसर्पणम् 3. K. MI. T.V.W. कल्मषात् 4. K. M. Ma. MI. T.V.W. र्य्यादप° 5. M. Ma °ना

**श्रीध० साल्वेति**। मौर्व्या कार्ष्णायसमय्या व्याहत्य प्रहत्य ॥ २६॥

**प्रद्युम्नमिति**। तं प्रद्युम्नं अपोवाह अन्यतो निनाय ॥ २७,२८ ॥

**नेति**। मत् मत्तो विना क्लीबं चित्तं यस्य तेन त्वया सूतेन ॥ २९ ॥

**किन्त्विति**। पितरौ रामकृष्णौ अभिसङ्गम्य तत्पार्श्वं गत्वा ताभ्यां पुष्टः स्वयोग्यं किं नु वक्ष्यामीति ॥ ३० ॥

---

1. MI. V. केशवौ

**वीर० साल्वामात्य** इति। द्युमान्नाम द्युमदाख्यः बली मौर्व्या कार्ष्णायसमय्या गुर्वेति पाठान्तरम्। व्याहत्य प्रताड्य व्यनदत् ॥ २६ ॥

**प्रद्युम्नमिति**। गदया तत्प्रहारेण विशीर्णं वक्षस्थलं यस्य तं प्रद्युम्नं रणाद्रणस्थानादपोवाह अपसारयामास, तत्र हेतुत्वन सूतं विशिनष्टि 'धर्मवित्, सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेद्रथिनम्' (भाग० 10-76-32) इत्येवं विध धर्मवित्त-दारुकस्य कृष्णसारथेः आत्मजश्च ॥ २७ ॥

**लब्धसंज्ञ** इति। तावन्मूर्छितः ततो मुहूर्तेन लब्धा संज्ञा चेतना येन सः कार्ष्णिः प्रद्युम्नः सारथिं उवाच। उक्तिमेवाह अहो इति सार्थैः चतुर्भिः। हे सूत। इद मसाधुं किं तत् मम रणादपसर्पणमिति ॥ २८ ॥

कुतस्तस्यसाधुत्वमत आह - **नेति**। यदूनां कुले जातः कोऽपि रणाविच्युतः पलायितो न श्रूयते किं पुनर्दृश्यत इति भावः क्लीबमधृष्टं चित्तं यस्य तेन त्वया सूतेन हेतुना प्राप्तं कल्मषमयशो येन तस्मात् मत् मत्तः विना अन्यः कोऽपि रणविच्युतो न श्रूयत इति सम्बन्धः ॥ २९ ॥

किञ्च **किन्त्विति**। रामकेशवाभिसङ्गम्य तत्पार्श्वं गत्वेत्यर्थः, ताभ्यां पृष्टः न्याय्या द्युध्दादपक्रान्तः पलायितोऽहमात्मनः क्षमं योग्यं किन्नुवक्ष्यामि ॥ ३० ॥

**विज०** "रथिनि प्राणसन्दिग्धे सारथीरथमाहरेत्। जीवयेद्युद्धतः साधु युद्धकर्म विशारदः" इति युद्धधर्मवित् ॥२६,२७॥

अपसर्पणं अपसरणम् ॥ २८ ॥

कुतोऽसाध्वित्यतस्तदाह - **नेति मद्विना** ॥ २९ ॥

धर्मसाधनाद्युद्धादपगतोऽहं पितृभ्यां पृष्टः तत्रपित्रोरात्मना मयाकृत मक्षमं किंनु कथंनु वक्ष्ये इत्यन्वयः ॥ ३० ॥

**व्यक्तं मे कथयिष्यन्ति हसन्त्यो भ्रातृजामयः ।**
**क्लैब्यं कथं गतो वीर तथान्यैः कथ्यतां मृधे ॥ ३१ ॥**

**सूत उवाच**

**धर्मं विजानता युष्मान् कृतमेतन्मया विभो ।**
**सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेद्रथिनं सारथिं रथी ॥ ३२ ॥**

**एतद्विदित्वा तु भवान् मयाऽपोवाहितो रणात् ।**
**उपसृष्टः परेणेति मूर्च्छितो गदयाऽऽहतः॥ ३३ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयाशिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥
(विजयध्वजरीत्या पञ्चाशीतितमोऽध्यायः)

---

1. B.G.J.K.Ml.T.V.W. कथं 2. B.G.J.Ml.V. तवा° ;M.Ma सहा° 3- -3 B.G.J.K.T.W. सारथिरुवाच।

**श्रीध० व्यक्तमिति**। भ्रातृ जामयो भ्रातृभार्याः व्यक्तं निश्चितं यत्क्लैब्यं कथयिष्यति तत्कथनमनुकरोति - कथं कथमिति ॥ ३१ ॥

**धर्ममिति**। विभो! हे समर्थ! एतदपसर्पणं धर्ममाह - सूत इति ॥ ३२ ॥

**एतदिति**। अपोवाहितः अपनीतः उपसृष्टः उपसर्गं पीडां प्राप्त इति कृत्वा। यतः परेण शत्रुणा गदया हतस्सन् मूर्च्छितो निस्संज्ञतां गतो भवानिति ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां

षट् सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६॥

**वीर०** किञ्च **व्यक्तमिति**। मे मम। भ्रातृजामयो भ्रातृभार्याः मृधे युद्धे प्राप्तं क्लैब्यं कथंकथमिति। हसन्त्यः कथयिष्यन्ति व्यक्तं नूनं हे वीर तथा अन्यैरपि कथं कथ्यतां सम्भावनायां लोट् ॥ ३१ ॥

इत्थमुक्तः प्राह सूतः - **धर्ममिति**। हे प्रभो धर्मं विजानतेति हेतुगर्भं,अतो मया एत दपसारणं कृतं कोऽसौ धर्म स्तत्राह सूत इति। कृच्छ्रगतिं विपत्तिं गतं रथिनं रक्षे द्रथीतु तथाभूतं सारथिमिति ॥ ३२ ॥

अस्त्वयं धर्मः किम्म्याधुना प्राप्तं कृच्छं? यतो मामपोहितवान् तत्राह - एतदिति। परेण शत्रुणा कर्त्रा गदया आहतस्ताडितः उपसृष्टः पीडां पीडां प्राप्तः मूर्च्छितश्चेत्येत द्विदित्वा उपसृष्ट इति पादे परेणापह्रियेतेत्येतत् विदित्वेत्यर्थः मया भवान् रणादपोवाहितः ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

**विज०** किञ्चेदं दुःसहमित्याह - **व्यक्तमिति**। जामयः सहोदर्यः कथं कथयन्तीति तत्राह क्लैब्यमिति। हे वीर मृधे अन्यैः सह कथं क्लैब्यं गतः तत् कथ्यतामिति ॥ ३१ ॥

कोऽयं धर्म इति । तत्राह - सूत इति ॥ ३२ ॥

उपस्पृष्टः उपद्रुतः ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

( विजयध्वजरीत्या पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५॥ )

# सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या षडशीतितमोऽध्यायः)

* इति सूतोदितां वाणीमाकर्ण्य यदुनन्दनः ।
पुनरात्त प्रहरणः सूतमाह रणाङ्गणे ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

[1-] स तूपस्पृश्य सलिलं [-1] दंशितो धृतकार्मुकः ।
नय मां द्युमतः पार्श्वं वीरस्येत्याह सारथिम् ॥ २ ॥

विधमन्तं स्वसैन्यानि द्युमन्तं रुक्मिणीसुतः ।
प्रतिरुध्य [3] प्रत्यविध्यन्नाराचैरष्टभिः स्मयन् ॥ ३ ॥

चतुर्भिश्चतुरो वाहान् सूतमेकेन चाहनत् ।
द्वाभ्यां धनुश्च केतुं [-4] च [5] शरेणाऽन्येन वै शिरः ॥ ४ ॥

[6-] गदसात्यकिसाम्बाद्या जघ्नुः सौभपतेर्बलम् [-6] ।△
पेतुः समुद्रे [7] सौभेयाः सर्वे सच्छिन्नकन्धराः [-7] ॥ ५ ॥

एवं यदूनां [8] साल्वानां [9] निघ्नतामितरेतरम् ।
[10] युद्धं त्रिनवरात्रं [11-] तदभूत्तुमुलमुल्बणम् [-11] ॥ ६ ॥

---

* This verse is not found in G. J. K. Ml. T. V. W. editions.1- -1 B. J. K. स उपस्पृश्य सलिलं ; M. Ma. पश्य सूत द्युमान् एष 2. M. Ma. आद्रवन्तं 3. B. G. J. M. Ma. T. W. °हत्य ; M l.V °हत्य 4- -4 M. Ma. °च केतुः धनुषी° 5. K. M. Ma. Ml. T. V. W. द्युमतोऽन्येन 6- -6 M. Ma. गदासात्यकिरक्रूरः साम्बश्च शुकसारणौ । △ Here an additional half verse is found in M. Ma. editions as follows वसुदेवोग्रसेनौ च जघ्नुः सौभपतेर्बलम् 7- -7 M. Ma. बहवः शाल्वेयाभिन्न° 8. B. G. J. M. Ma. शा° 9 Ml. V. जघ्नता 10. M. Ma. रणं 11- -11. M. Ma. तु तुमुलं रोमहर्षणम् ।

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

सप्तयुक्सप्ततितमे नानामायाविचक्षणः। कृष्णेनागत्य साल्वस्तु हतः सौभं च चूर्णितम् ॥

**स** इति। दंशितः सन्नद्धः ॥ १, २ ॥

**विधमन्तमिति**। विधमन्तं क्षपयन्तम् । प्रतिहत्य प्रतिरुध्य ॥ ३ ॥

अष्टानां विनियोगमाह - **चतुर्भिरिति** ॥ ४ ॥

**गदेति**। सौभेयाः सौभस्थाः ॥ ५॥

**एवमिति**। नवानां रात्रीणां समाहारो नवरात्रम्। त्रयाणां नवरात्राणां समाहारः त्रिणव रात्रम्। सप्तविंशति महोरात्राणीत्यर्थः। तुमुलमाकुलम्। उल्बणं घोरम् ॥ ६ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ पुनस्सन्नद्धेन प्रद्युम्न द्युमति हते सति यदुषु च युध्यमानेषु भगवानागत्य साल्वं जघानेत्याह सप्तसप्तति तमेन- **स त्विति**। स तु प्रद्युम्नः सलिलमुपस्पृश्य आचम्य मूर्च्छात उत्थितत्वादिति भावः, दंशितः सन्नद्धः धृतं कार्मुकं धनुः येन सः। सारथिमाह किमिति? वीरस्य द्युमतः पार्श्वं समीपं मां नय प्रापयेति ॥ १, २ ॥

**विधमन्तमिति**। रुक्मिणीसुत इत्यस्य द्युमत्पार्श्वं गत इत्यादिः स्वसैन्यानि विधमन्तं ताडयन्तं द्युमन्तं प्रतिरुध्य सन्निरुध्य स्मयन् अनेनानायासस्सूच्यते, अष्टभिः शरैः प्रत्यविध्यत् प्रत्यताडयत् ॥ ३ ॥

तत्राष्टानां विनियोगमाह - **चतुर्भिरिति**। (चतुरो) वाहानश्वान् एकेन कार्मुकम् एकेन सूतं एकेन ध्वजमेकेन तु द्युमतश्शिरोऽहनत् ॥ ४ ॥

**गदेति**। गदप्रभृतयः यदवः सौभपतेः बलं जघ्नुः। सोभेयाः सौभस्थाः सर्वे सञ्छिन्नाः कन्धरा येषां ते समुद्रे पेतुः पतितवन्तः ॥ ५. ॥

**एवमिति**। इतरेतरं परस्परं निघ्नतां सम्बन्धि तद्युद्धं त्रिनवरात्रमभूत् । नवानां रात्रीणां समाहारः नवरात्रं, त्रयाणां नवरात्राणां समाहारः त्रिनवरात्रं सप्तविंशत्यहोरात्राणि इत्यर्थः। तुमुलमाकुलम् उल्बणं घोरम् ॥ ६ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

यदून्नन्दयतीति यदुनन्दनः। एष द्युमान् दंशितः रणाङ्गणे आस्ते इति शेषः। ततः किं तत्राह - नयेति ॥ १-५ ॥

त्रिनवरात्रम् सप्तविंशद्रात्रम् ॥ ६ ॥

अलक्षयद्भाकुनान्घोरान् सङ्ग्रामशंसिनः ।
अन्वीयमानः सामात्यैः पाण्डवैः निर्ययौ पुरात् ॥ क ॥

स गत्वा किञ्चिदध्वानं स्थापयित्वा पुरौकसः ।
पृथासुताननुज्ञाप्य प्रणतानश्रुलोचनान् ॥ ख ॥

सुवर्णशिबिकारूढै रवरोधवधूजनैः ।
गजाश्वरथपादाति सहस्रैरपि संयुतः ।
अन्वीत राज कटकः प्रतस्थे पश्चिमामुखः ॥ ग ॥

शाल्वोऽपि कुरुशार्दूल विमानेन खचारिणा ।
अपावृत्य रणाद्राष्ट्रं स्वमेवाभ्यर्दितो ययौ ॥ घ ॥

गच्छमानस्य शाल्वस्य साम्बोऽभिद्रुत्य पृष्ठतः ।
शाल्वामात्यं क्षेमधूर्तिं बाणैर्निन्ये यमक्षयम् ॥ ङ ॥

सेनापतिं विविन्दाख्यं शाल्वस्याखिल वल्लभम् ।
निरुध्य पथि गच्छन्तं प्रद्युम्नः प्राहरच्छरैः ॥ च ॥

अखिलात्समस्त प्रकृति जनात् वल्लभं प्रियतम् ॥
प्रद्युम्ने नातिविद्धोऽसौ गृहीत्वा खड्गचर्मणी ।
ससञ्ज रौक्मिणेयेन तदभूद्रणमद्भुतम् ॥ छ ॥

ससञ्ज सङ्गतः ।

मण्डलानि विचित्राणि चरितस्तस्य सङ्गरे ।
कृपाणेन यदुश्रेष्ठः शिरः कायादपाहरत् ॥ ज॥

विभ्रष्टमार्गा सा सेना हतप्रवर यूथपा ।
विदुद्राव यथाकामं प्राणत्राणपरायणा ॥ झ ॥

देवोऽपि द्वारकामेत्य वेगेन गरुडध्वजः ।
ददर्श नगरीं भग्न प्रासादाट्टालगोपुरम् ॥ ञ ॥

विशीर्ण तोरणां रुग्ण तुङ्गसालप्रतोलिकाम् ।
विश्वस्तोपवनोद्यानां प्रस्तरापूर्णदीर्घिकाम् ॥ ट ॥

सालः प्राकारः "रथ्या प्रतोली विशिखा" (वैज.को.4-3-16) इति हलायुधः। प्रतोलिरेव प्रतोलिका। प्रस्तरापूर्ण दीर्घिकां, पाषाणपूरित परिखां गन्तुमिति शेषः ॥

निस्स्वाध्याय वषट्कारामालोक्य द्वारकां पुरीम् ।
आपृच्छत्कृतवर्माणं किमेतदिति दुर्मनाः ॥ ठ ॥

तेनोक्तं सर्वमाकर्ण्य शाल्वराज विचेष्टितम् ।
प्रतिजज्ञे यदुपतिः शृण्वतां सर्वसात्वताम् ॥ ड ॥

अनुद्रुत्य तमद्यैव सौभं हत्वा दुरात्मकम् ।
सौभं निपात्य जलधौ प्रवेक्ष्ये द्वारकामिति ॥ ढ ॥

सरथं शैब्यसुग्रीव मेघपुष्प वलाहकैः ।
युक्तं बहुप्रहरणमग्रेवास्थित दारुकम् ॥ ण ॥

आरुह्य भगवान्विष्णुः गरुडध्वजमुत्तमम् ।
प्रययौ सौभपदवीं मनो मारुतरंहसा ॥ त ॥

तथा गत्वा सुदूरं तमम्भोधेः कुक्षिमाश्रितम् ।
ददर्श सौभं तन्मध्ये शाल्वं च समलङ्कृतम् ॥ थ ॥

इन्द्रप्रस्थगतकृष्ण आहूतो धर्मसूनुना ।
राजसूयेऽथ निर्वृत्ते शिशुपाले च संस्थिते ॥ ७ ॥

कुरुवृद्धानमनुज्ञाप्य मुनींश्च ससुतां पृथाम् ।
निमित्तान्यतिघोराणि पश्यन्द्वारवतीं ययौ ॥ ८ ॥

★ आह चाह मिहायात आर्यमिश्राभिसङ्गतः ।
राजन्याश्चैद्यपक्षीया नूनं हन्युः पुरीं मम ॥ ९ ॥

वीक्ष्य तत्कदनं रामं निरूप्य पुररक्षणम् ।
सौभं च साल्वराजं च दारुकं प्राहकेशवः ॥ १० ॥

रथं प्रापय मे सूत साल्वस्यान्तिकमाशु वै ।
सम्भ्रमस्ते न कर्तव्यो मायावी सौभराडयम् ॥ ११ ॥

इत्युक्त श्चोदयामास रथमास्थाय दारुकः ।
विशन्तं ददृशुस्सर्वे स्वे परे चारुणानुजम् ॥ १२ ॥

---

1. B. G. J. M. Ma. Ml. V. °स्थं 2. K . T. W. च 3- -3 M. Ma. रणे हते 4. K. T. W. °नुपामन्त्र्य 5- -5. M. Ma. ब्राह्मणैस्सह 6- -6 M. Ma. omit ★from 9th to 12th verses are not found in M . Ma. editions 7. B. G. J. Ml. V. स्वानां 8. K. T. W. °णे

**श्रीध०** परमतमुपन्यस्यति - **इन्द्रप्रस्थ गत** इत्यादिना ॥ ७ ॥

**आह चेति**। स्वगतमेव पथि चिन्ताविजृम्भित भाषणम्। आर्यमिश्राभिसङ्गतो बलभद्रसहितः ॥ ८,९ ॥

**वीक्ष्येति**। दुर्निमित्तदर्शनाकुलचित्त एवं चिन्तयन् द्वारकामागत्य स्वानां कदनं वीक्ष्य, सौभं च शाल्वराजं च वीक्ष्य, रामं पुररक्षणं प्रति निरूप्य नियुज्य दारुकं प्राहेत्यन्वयः ॥ १० ॥

**रथमिति**। ते त्वया ॥ ११ ॥

**इत्युक्त** इति। आस्थाय सम्यगधिष्ठाय, अरुणानुजं ध्वजे वर्तमानं गरुडम् ॥ १२ ॥

**वीर०** अत्र कैश्चिदृषिभिरुक्तं दूषयितुमनुवदति शुकः - 'इन्द्रप्रस्थगतः' इत्यादिना 'एवं वदन्ति राजर्षे ऋषयः' इत्यतः प्राक्तनेन। धर्मसूनुना युधिष्ठिरेणाहूतः कृष्णः राजसूये संवृत्ते परिसमाप्ते सति शिशुपाले संस्थिते मृते च सति तत्रैव कतिचिद्दिनानि स्थितः ॥ ७ ॥

अतिघोराणि निमित्तानि पश्यन् कुरुवृद्धादीन् भीष्मादीन् ससुतां पृथां कुन्तीं मुनींश्च आमन्त्र्य पृष्ट्वा द्वारावतीं ययौ। आह च इत्युत्तरेण सम्बन्धः ॥ ८ ॥

उक्तिमेवाह - **आह चाह**मित्यादिना। आर्यमिश्रो बलभद्रः तेनाभिसङ्गतः सहितोऽहमिहागतः चैद्यपक्षीया राजन्या मम पुरीं हन्युः नाशयेयुः। अतोऽहं गमिष्यामीति शेषः ॥ ९ ॥

**वीक्ष्येति**। अस्यागमनानन्तरम् इत्यादिः स्वानां तत्कदनंयुद्धंसौभं साल्वं च वीक्ष्य रामं पुररक्षणम् प्रति निरूप्य नियुज्य दारुकं प्राहेत्यन्वयः ॥ १० ॥

उक्तिमेवाह - **रथमिति**। हे सूतः! साल्वस्यान्तिकं प्रति आशु रथं प्रापय। तेन साल्वेन सह सङ्ग्रामः कर्तव्यः। अयं साल्वो मायावी सौभराट् च ॥ ११ ॥

**इतीति**। आस्थायसम्यगधिष्ठाय चोदयामास गमयामास, अश्वानिति शेषः। विशन्तमिति अरुणस्यानुजो यस्मिन् तं गरुडध्वजं रथं विशन्तं रणभूमाविति शेषः। स्वे यदवः परे साल्वपक्षीयाश्च ददृशुः ॥ १२ ॥

**विज०** अस्मिन्नवसरे कृष्णागमनं वक्ति इन्द्रप्रस्थ इति ॥ ७-१२ ॥

**साल्वश्च कृष्णमालोक्य हतप्रायबलेश्वरः ।**
**प्राहरत्[1]कृष्णसूताय शक्तिं भीमरवां[2] मृधे ॥ १३ ॥**

**तामापतन्तीं नभसि महोल्कामिव रंहसा ।**
**भासयन्तीं दिशश्शौरिस्सायकैश्शतधाऽऽच्छिनत् ॥ १४ ॥**

**तं च षोडशभिर्बाणै र्विध्वा सौभं च खे[3] भ्रमत् ।**
**अविध्यच्छरसंदोहैः खं सूर्य इव रश्मिभिः ॥ १५ ॥**

**साल्वश्शारैस्तु[4-] दोस्सव्यं[-4] सशार्ङ्गं शार्ङ्गधन्वनः ।**
**बिभेद-यपतद्धस्ता च्छार्ङ्गमासीत्तदद्भुतम् ॥ १६ ॥**

**हाहाकारोमहानासीद्भूतानां तत्र पश्यताम् ।**
**विनद्य सौभराडुच्चैरिदमाह जनार्दनम् ॥ १७ ॥***

---

1. Ml. प्राहिणोत्कृ° 2. M.Ma भीमां दृढां 3. M.Ma खेचरम् 4- -4 M.Ma °श्शौरेस्ततस्स° 5. M.Ma यदूनां * The following extra verse is found in M.Ma editions only - यत्त्वया युधि दुर्बुद्धे भ्रातरौ मे महाबलौ। निहतौ हंसडिभकौ यमुनायां दुरात्मना ॥

**श्रीध० साल्वश्चेति**। हतप्रायस्य बलस्य सैन्यस्येश्वरः[1] ॥ १३, १४ ॥

**तमिति**। तं च साल्वम्। शरसन्दोहैः शरजालैः। खं सूर्य इव रश्मिभिरिति सुनीलत्व विपुलत्वादिभिः आकाशोपमा सौभस्य। अचिन्त्यवेगत्व[2] बाहुल्यादिभिः शराणां रश्मिसादृश्यम्। अयत्नेनैव रश्मिवच्छरजालप्रसर णात्सूर्यतुल्यः श्रीकृष्ण इति ॥ १५ ॥

**साल्व** इति। दोर्बाहुम् ॥ १६, १७ ॥

---

1. MI.V omit सैन्यस्य 2. B.J वेगबाहुः

**वीर० साल्व** इति। हतप्रायस्य बलस्येश्वरः साल्वः युद्धे कृष्णमवलोक्य भीमो रवो ध्वनिः यस्यास्तां शक्तिं कृष्णस्य सूताय प्राहरत्प्रयुङ्क्ते ॥ १३ ॥

**तामिति**। रंहसा वेगेन नभस्यापतन्तीम् उल्कामिव सर्वाः दिशो भासयन्तीं तां शक्तिं शतधा चिच्छेद ॥ १४ ॥

**तमिति**। खे आकाशे भ्रमद्भ्राम्यमाणं सौभं तं सौभपतिं च विद्ध्वा खमाकाशं रश्मिभिस्सूर्य इव शरजालैः पुनः सौभमाविध्यत्। सुनीलत्वविपुलत्वादिभिः आकाशोपमा सौभस्य अचिन्त्यवेगत्वबाहुल्यादिभिः शराणां रश्मि सादृश्यं अयत्नेनैव रश्मिवत् शरजालप्रसारात् सूर्यतुल्यः श्रीकृष्ण इत्यवगन्तव्यम् ॥ १५ ॥

**साल्व** इति। शार्ङ्गधन्वनः कृष्णस्य शार्ङ्गं सहितं दोर्भुजं बिभेद विव्याध,हस्तात् शार्ङ्गं न्यपतत्। तदद्भुतमभूत् अभूतपूर्वत्वादिति भावः ॥ १६ ॥

अत एवाह - **हाहाकार** इति। महानुच्चैः विनद्येति अस्य शार्ङ्गपातजसन्तोषातिशयादित्यादिः, उच्चैः विनद्य इदं वक्ष्यमाणमाह ॥ १७ ॥

**विज०** सव्यं हस्तम् ॥ १३-१७ ॥

**यत्त्वया मूढ! नस्सख्युर्भार्या चापहृतेक्षताम्[1] ।**
**प्रमत्तस्स सभामध्ये त्वया व्यापादितस्सखा[2] ॥ १८ ॥ ★**

**तं त्वाद्य निशितैर्बाणैरपराजितमानिनाम् ।**
**नयाम्यपुनरावृत्तं यदि तिष्ठेर्ममाग्रतः ॥ १९ ॥ ▲**

श्रीभगवानुवाच[4-][-4]

वृथा त्वं कत्थसे मन्द न पश्यस्यन्तिकेऽन्तकम्[5-][-5] ।
पौरुषं दर्शयन्ति[6-] स्म शूरा न बहुभाषिणः[-6] ॥ २० ॥

इत्युक्त्वा गदया साल्वं भगवान्भीमवेगया ।
तताड जत्रौ संक्रुद्धस्स चकम्पे वमन्नसृक् ॥ २१ ॥

---

1.M.Ma यद्भूयो 2- -2 M.Ma °प्यपहृता त्वया। 3- -3 M.Ma यच्च मन्द सभामध्ये दमघोषस्सुतस्सखा। ★ Here the following extra half verse is found in M.Ma editions only. व्यापादितः क्षत्रयाणां पश्यतां हतचेतसाम् ▲ Here the following extra verse is found in M.Ma only इति तेनोदितं वाणीमाकर्ण्य मधुसूदनः। प्राहादितो बाणगणैः पुनरात्त शरासनः 4- -4 M.Ma omit 5- -5 M.Ma यस्यास्त्यतिकौतुकम् 6- -6 M.Ma दर्शय त्वं नः शूराणां फल्गुभाषणम् 7. M.Ma संरब्धः

**श्रीध० यदिति**। सख्युः शिशुपालस्य ईक्षतामस्माकम्। प्रमत्तोऽनवहितः। व्यापादितः निहतः ॥ १७ ॥

**तमिति**। अपराजितोऽहमिति मानिनं मानवन्तम्। अपुनरावृत्तिं मृत्युम्। तिष्ठेः स्थास्यसि ॥ १९ -२१ ॥

**वीर०** तदेवाह - **यदिति** द्वाभ्याम्।यत् यस्मात् हे मूढ! नोऽस्माकं सख्युश्चैद्यस्य भार्यात्वेन सङ्कल्पिता रुक्मिणी त्वया अस्माकमीक्षतां पश्यतां सताम् अपहृता, तथा नस्सखा सभामध्ये व्यापादितः हतः, तत्र हेतुत्वेन सखायं विशिनष्टि- प्रमत्तः तदाऽनवहितः इत्यर्थः ॥ १८ ॥

**तमिति**। तुशब्दोऽत्र हेत्वर्थः। तस्मात्तं सख्युः भार्यापहर्तारं च अपराजितमात्मानं मन्यमानं त्वमपुनरावृत्तं मृत्युं नयामि, अतो युद्धे ममाग्रतास्तिष्ठ ॥ १९ ॥

इत्थमुक्तः प्राह श्रीभगवान् - **वृथेति**। हे मन्द! विकत्थसे प्रगल्भं भाषसे, अन्तिके समनन्तरे प्राप्तं मृत्युं न पश्यसि नालोकयसीत्यर्थः। किञ्च शूराः केवलं पौरुषमेव दर्शयन्ति, न तु बहु यथा तथा भाषन्त इति ॥ २० ॥

**इतीति**। भीमो भयङ्करो वेगः यस्यास्तया गदया जत्रौ स्कन्धमूले तताड ताडयामास, स च साल्वः असृक् रुधिरं वमन् उद्गिरन् चकम्पे कम्पितवान् ॥ २१ ॥

**विज०** सख्युर्भार्या शिशुपालस्य संक्लृप्ता जाया रुक्मिणी ॥ १८ ॥

अपुनरावृत्तिं मरणं यमगृहं वा ॥ १९ ॥

यस्य तवातिकौतुकमिति व्याख्यातं वीर्यं नास्ति स त्वं वृथा कत्थसे पौरुषम् अस्ति चेद्दर्शय शूराणाञ्च भाषणं फल्गुमितं वीर्य-प्रकटनं बह्वित्यर्थः। यद्वा शूराणां पौरुषं दर्शय भाषणं फल्गु तुच्छं विकत्थन-मित्यर्थः ॥ २०,२१ ॥

★ **गदायां सन्निवृत्तायां साल्वस्त्वन्तरधीयत ।**
**ततो मुहूर्तं आगत्य पुरुषश्शिरसाऽच्युतम् ॥**
**देवक्या प्रहितोऽस्मीति नत्वा प्राह वचो रुदन् ॥ २२ ॥**

**कृष्ण कृष्ण महाबाहो पिता ते पितृवत्सल ।**
**बद्ध्वाऽपनीतस्साल्वेन सौनिकेन यथापशुः ॥ २३ ॥**

**निशम्य विप्रियं कृष्णो मानुषीं प्रकृतिं गतः ।**
**विमनस्को घृणी स्नेहाद्बभाषे प्राकृतो यथा ॥ २४ ॥**

**कथं राममसम्भ्रान्तं[2] जित्वाजेयं सुरासुरैः ।**
**साल्वेनाल्पीयसाऽऽनीतः पिता मे बलवान्विधिः ॥ २५ ॥**

**इति ब्रुवाणे गोविन्दे सौभराट् प्रत्युपस्थितः ।**
**वसुदेवमिवानीय कृष्णं चेदमुवाच ह[3] ॥ २६ ॥**

**एष ते जनिता नीतो[4] यदर्थमिह जीवसि ।**
**वधिष्ये वीक्षतस्तेऽमुमीशश्चेत्त्राहि बालिश ॥ २७ ॥**

---

★ From 22 to 27, 6 verses are not found in M.Ma editions 1.Ml.V. प्रेषितोऽ° 2. Ml.V. °मसम्मतं 3. B.G.J.स: 4. B.G.J.K.T.W. तातो

**श्रीध० निशम्येति**। घृणी दयावान् ॥ २२-२६ ॥

**एष** इति। जनिता जनयिता। ईशश्चेच्छक्तश्चेत् ॥ २७ ॥

**वीर० गदायामिति**। सन्निवृत्तायां कृष्णेनापनीतायां सत्यामित्यर्थः। अन्तरधीयत अन्तर्हितवान्। ततः अन्तर्धानानन्तरं कश्चित्साल्वप्रेषितः पुरुष आगत्य अच्युतं शिरसा नत्वा प्रणम्य रुदन् वचो वाक्यं प्राह किमिति? देवक्या प्रहितः प्रेषितोऽस्मीति ॥ २२ ॥

किञ्च हे पितृवत्सल! ते तव पिता वसुदेवः बद्ध्वा अपनीतः, यथा सैनिकेन पशुमारकेण पशुरुपनीयते, तद्वत् ॥ २३ ॥

**निशम्येति**। मानुषीं प्रकृतिं स्वभावम् अनुगतः प्राप्तः घृणी दयावान् अत एव विमनस्को दुःखितमनाः स्नेहात्पितृविषयकात् बभाषे, यथा प्राकृतः पुरुषः, तद्वत् ॥ २४ ॥

भाषणमेवाह - **कथमिति**। सुरासुरैरपि जेतुमशक्यं तं प्रसिद्धं रामं कथं जित्वा क्षुद्रेण साल्वेन मम पिता आनीतः, विधिः दैवं बलवान् अहो! ॥ २५ ॥

इति ब्रुवाणे सति वसुदेवमिवेति। इति इवशब्देन वस्तुतोऽवसुदेवमिति सूच्यते ॥ २६॥

उक्तिमेवाह - **एष** इति। ते तव एष जनिता जनकः तातः [illegible] नृत्तये जनितेत्युक्तम्। यदर्थं किमर्थमित्यर्थः। ते तव वीक्षितः पश्यतस्सतः अमुं वसुदेवं वधिष्ये, हे बालिश! मूढ! ईशस्समर्थश्चेत् अमुं पाहि ॥ २७ ॥

वि[illegible] No commentary for this unit.

एवं निर्भर्त्स्य मायावी[1] खड्गेनानकदुन्दुभेः ।
उत्कृत्य शिर आदाय खस्थं सौभं समाविशत् ॥ २८ ॥

ततो मुहूर्तं[2] प्रकृतावुपप्लुतः स्वबोध आस्ते स्वजनानुसङ्गतः[3] ।
महानुभावस्तदबुध्यतासुरीं मायां स साल्वप्रहितां[4] मयोदिताम् ॥ २९ ॥

न तत्र दूतं[5] न पितुः कलेवरं प्रबुद्ध आजौ समपश्यदच्युतः[6] ।
स्वाप्नं[7] यथा चाम्बरचारिणं रिपुं सौभस्थमालोक्य निहन्तुमुद्यतः ॥ ३० ॥

एवं वदन्ति राजर्षे ऋषयः केचनान्विताः ।
यत्स्ववाचो विरुध्येरन्ननूनं ते स्मरन्त्युत ॥ ३१ ॥

क्व शोकमोहौ स्नेहो वा भयं वायेऽज्ञसम्भवाः
क्व चाखण्डितविज्ञान ज्ञानैश्वर्यस्य हाऽऽत्मनः[8] ॥ ३२ ॥

यत्पादसेवोर्जितयाऽऽत्मविद्यया हिन्वन्त्यनाद्यात्मविपर्ययग्रहम् ।
लभन्त आत्मीयमनन्तमैश्वरं कुतो नु मोहः परमस्य सद्गतेः ॥ ३३ ॥

---

1- -1 M MA ततः शाल्वः समुत्पत्य 2- -2 M Ma °हूर्तात् प्रकृतावुपस्थितः तत्रानुतिष्ठतस्व° 3. B. Ml. V. षड्ग; T. W. षड्गतः 4. B.G. J. प्रसृतां ;M. Ma. प्रकृत 5. M Ma. दैत्यं 6. M. Ma तदप° ;Ml. V. यदप° 7. M.Ma. स्वप्ने 8- -8 B. G. J. °यस्त्व खपिहा; M. Ma. °मैश्वरोऽन्ति; ; Ml. V. °यस्सुरेडितः 9 M Ma °वा°

**श्रीध० तत** इति। स्वबोधः स्वतस्सिद्धज्ञानवानपि स्वजनस्नेहतः प्रकृतौ मनुष्य स्वभावे उप्लुतो निमग्न आस्ते अतिष्ठत्। ततः तत्सर्वमासुरीं मायामबुध्यत् मायेयमिति ज्ञातवान् ॥ २८ , २९ ॥

**नेति**। स्वाप्नं स्वप्नप्रपञ्चं यथा ॥ ३० ॥

एवं परमतमुपन्यस्तं निराकरोति - **एवमिति**। के च केचन नान्विता अनन्विताः पूर्वापरानुसन्धानरहिताः। तदाह यत्स्ववाच इति। तन्नानुस्मरन्तीत्यर्थः। अयमाभिप्रायः - न तावत् राजसूयार्थं, रामेण सह गतः श्रीकृष्णः, सङ्कर्षणमनुज्ञाप्येति पूर्वमुक्तत्वात् ॥ ३१ ॥

असम्भावितं चेत्याह - **क्व शोकमोहाविति**। भयं वा दुर्निमित्तदर्शनकृतं, नूनं हन्युः पुरीं ममेति, यदुक्तं - यच्च हस्ताच्छार्ङ्गं न्यपतदित्युक्तं, तद्भयं वा केति। अशेषु सम्भवो येषां ते। अखण्डितानि विज्ञानज्ञानैश्वर्याणि यस्य सः। तत्र विज्ञानं स्वरूपविषयम्। ज्ञानं बाह्यविषयम् ॥ ३२ ॥

**यदिति**। किञ्च यस्य पादसेवया ऊर्जिता पुष्कला या आत्मविद्या तया अनादितश्चासौ आत्मविपर्ययग्रहश्च, अहं कृशः सुखी दुःखीत्यादि लक्षणस्तं हिन्वन्ति, नाशयन्ति सन्तः ऐश्वरं पदं च। तस्य सतां गतेः कुतो नु मोह इति। अतो नैतद्वचनं सत्यमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

**वीर० एवमिति**। आनकदुन्दुभेः वसुदेवस्य शिर उत्कृत्य छित्त्वा आदाय खड्गम् आकाशे स्थितं सौभमाविशत् ॥ २८ ॥

**तत** इति। प्रकृतौ मानुषस्वभावे उप्लुते मग्नः स्वबोधः स्वासाधारणं सार्वज्ञ्यं यस्य सः। तत्र हेतुः - स्वजनानुसङ्गतः स्वजनासक्तः महानुभावः, हेतुगर्भमिदम्। तत्त्वाद् स भगवान् मयोदितां साल्वं प्रति मयैवं कुर्वित्युपदिष्टामित्यर्थः। साल्वेन प्रेषिताम् आसुरीं मायाम् अबुध्यत ज्ञातवान् इत्यर्थः॥ २९ ॥

ततः किं कृतवान्? तदाह - नेति। यदैव प्रबुद्धोऽबुध्यत च तत्र तदैव आजौ युद्धाङ्गणे दूते नाधश्यत्, नापि पितुः कलेवरं, यथा स्वप्नादुद्बुद्धस्स्वाप्नमर्थं न पश्यति, तद्वत्। किन्तु अम्बरचारिणं सौभं स्थितं तं रिपुं साल्वमवलोक्य निहन्तुमुद्युक्तो बभूव ॥ ३० ॥

इत्थमुपन्यस्तं परमतं निराकरोति **एवमिति**। हे राजर्षे! केचिदृषयः नान्विताः अनान्विताः पूर्वापरसन्धान रहिताः इत्यर्थः। इत्थं वदन्ति, तदेवाह - यत्स्ववाच इति। स्ववाचो विरुध्येरन् विरोधं प्राप्नुयुरिति यत्, तन्नानुस्मरन्ति नानुसन्दधते, नूनं ध्रुवम्, अयमभिप्राय. न तावद्राजसूयार्थं रामेण सह आगतः श्रीकृष्णः 'सङ्कर्षणमनुज्ञाप्य' (भाग. 10-77-23)इति पूर्वमुक्तत्वात्,न च इन्द्रप्रस्थं गते कृष्णे साल्वागमनं साल्वसङ्ग्रामव्यासक्तेन मया युष्मद्द्यूतं न ज्ञातमिति काम्यकवनस्थान्पाण्डवान् सान्त्वयता कृष्णेनोक्तमिति व्यासोक्तेरिति ॥ ३१ ॥

असम्भावितं चैतदित्याह - **क्व शोकमोहाविति**। विमनस्कः इत्यनेनोक्ताः शोकाः 'मानुषी प्रकृतिं गतः' भाग. 10-77-23 इत्यनेनोक्तो मोहश्च 'घृणी स्नेहात्' इत्यनेनोक्तः स्नेहः भयं वा दुर्निमित्त दर्शनजं 'नूनं हन्युः पुरीं मम' इत्युक्तं, यत्र हस्ताच्छस्त्रं न्यपतदिति, तद्ज्ञानसम्भवं न विद्यते ज्ञानं येषां तेषु सम्भवं सम्भवेत्। भयं वा कैत्येसम्भावना द्योत्यते। तद्धेतुत्वेन भगवन्तं विशिनष्टि अखण्डितेति। ज्ञानविज्ञानशब्दौ प्रकारप्रकारिविषयज्ञानपरौ अखण्डिते ज्ञानविज्ञाने सर्वपदार्थ तद्याथात्म्यविषयके ऐश्वर्य च यस्य तस्य ईश्वरस्य सर्वान्तर्यामिणः शोकादिः केति सम्बन्धः, हेत्येवं विधस्य भगवतश्शोकादिकं वदतः प्रति विस्मयते ॥ ३२ ॥

शोकाद्यभावं कैमुत्यनयाभिप्रायेणाह - **यत्पादेति**। यस्य भगवतः पादयोः सेवया परिचर्यादिरूपसेवया श्रवणकीर्तनादि रूपया वा ऊर्जिता पुष्कला परिनिष्पन्नेति यावत् तया आत्मविद्यया आत्मनः तस्य परमात्मनः विद्यया उपासनया अनाद्यात्मविपर्ययग्रहं हिन्वन्ति अपनयन्ति अनादिश्चासावात्मनो विपर्ययः देहाद्विलक्षणस्यात्मनो देहतादात्म्यभ्रमः अस्वतन्त्रस्यात्मनः स्वातन्त्र्यभ्रमश्चेत्येवं विपर्ययः स एव ग्रहः पिशाचः तं, किञ्चानन्तम् असङ्कुचितम् आत्मीयमैश्वर्यम् अपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकलक्षणं लभन्ते निरस्तनिश्शेषाज्ञानतत्कार्याः गुणाष्टकप्रादुर्भावरूपमुक्तिं लभन्त इत्यर्थः। सताङ्गतेः परमपुरुषस्य मोहः कुतोऽनु? तत्पाद सेवकानामेव न मोहः, किं पुनस्तस्य मोहाभाव इति वक्तव्यमित्यर्थः ॥३३॥

**विज०** साल्वस्य शक्तिप्रकटनाय तन्मायाप्रकारमाह -**तत** इति ॥ २८ ॥

श्रीकृष्णः साल्वसृष्टां मायामवलोक्य किमकरोदत्राह - **तत** इति। ततो वसुदेवशिरोहरणानन्तरं मुहूर्तकालं तत्र युद्धे अनुतिष्ठत् अन्वतिष्ठत् अन्ववर्तत। कीदृशः? प्रकृतौ चिदानन्दघनस्वभावे उपस्थितोपि साल्वमायां जानन्नपि प्रकृतामृप प्रकृतिसमीपे स्थितः अजानन्निव पुनः किं चकारेति तत्राह - ततो मुहूर्तान्महानुभावः अपरिमितप्रभावः स हरिः स्वजनस्य

स्वभक्तजनस्यानुकूलत्सङ्गतः वचनप्रसङ्गात् तद्वसुदेवशिरोहरणमबध्यत कथं तदत्राह - आसुरी मिति। साल्वेन प्रकृतां प्रयुक्तां मूलबलमाह मय इति। मयेनासुररक्षणोदितामुपदिष्टामित्यर्थः। तदुक्तं 'जानन् शाल्वकृतां मायामजानन्निव केशवः। अन्ववर्तत किञ्चित्' (ब्रह्माण्डे) इति बुद्ध्वा किं कृतमत्राह - प्रकृताविति, कृती च्छेदन इति धातोः बुद्ध्वा मायाः प्रकृतौ निर्मूलने सम्यक् स्थितोऽभूदिति शेषः। ततः 'तामाहरद्विभुः' इति वचनात् अज्ञानप्रकटनं कस्मादत्राह प्रकृताविति। प्रकृतिनिर्मित शरीरस्थत्वादसुरजनमोहनार्थत्वाच्च। "एवमेव तु सर्वत्र परमात्मा सनातनः। विश्व रुधिरस्रावी कथञ्चिदजयत्परम्" (ब्रह्माण्डे) "इत्यादि दर्शयेत् विष्णुर्मोहयान्मायया जगत्" (ब्रह्माण्डे) इति। चिदानन्दघनस्वभाव इत्येतत्कुत इति चेन्न। चिदानन्दघनस्यास्य कुतो वेधादिसद्गतेःसम्भवेत् (ब्रह्माण्डे) इत्यस्मात् स्वजनानुसङ्गत इतीदमपि सद्गतेः इति सिद्धम्। 'यदचरस्तन्वावावृधनो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु मायेत्सा ते, यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से' इत्यादि श्रुति सिद्धोऽयमित्यर्थः। तथाहि हे इन्द्र! तन्वावावृधानः स्वरूपेण भृशं वर्धमानस्त्वं बलानि वीर्याणि विक्रमलक्षणानि अचरः अकृतेति यत्स्वजनेषु प्रब्रुवाणः व्याकुर्वाणो' वर्तसे इति शेषः। तस्मात् स्वभावरहस्यं स्वजना जानन्तीत्यर्थः साल्वादिशत्रुणा क्रियमाणानि यानि युद्धान्याहुः पुराणादौ एतानि त्वामुद्दिश्य सा मयोदिता माया इत् इन्द्रजालल्लक्षणैव त्वं पुरा प्रथमतो मुहूर्तं शत्रुसुखत्रोटनान्मायां न विवित्से न ज्ञातवानसि, अद्याधुना विवित्से ननु पश्चात् सा सिद्धाऽभूदित्यर्थः ॥ २९ ॥

एतदेव स्पष्टयति - **नेति**। अच्युतः ज्ञानच्युति रहितः तत्पितुः कलेबरं च नापश्यत् प्रबुद्धः मायामिति शेषः। आत्मा परमात्मा निदर्शयति स्वप्न इति। यथा स्वप्ने करितुरगादीन् पश्यति ततः प्रबुद्धः तान् पदार्थान्न पश्यति बद्ध्वा किं कृतमत्राह - अम्बरचारिणमिति ॥ ३० ॥

तद्दृष्टृणामृष्यादीनामपि ज्ञानलोपो नास्ति किं पुनः हरेरिति भावेनाह - **एवमिति**। कथं वदन्तीत्यत्राह - यतत्स्ववाच इति। स्वस्य स्वतन्त्रस्य हरेः वाचो वेदलक्षणा यन्मोहादिकं हरिविषयं प्रति विरुध्यन्ते विरोधवन्त्यो भवन्ति हरेर्मोहादिकं न सहन्त इत्यर्थः। "अजस्यावक्र चेतसः" (कठ. उ. 5. 1) इति श्रुतेः। नूनं तार्किका उपक्रमादिवेदतात्पर्यलिङ्गकोविदास्ते वैदिकाः तन्महादिकं स्मरन्ति नु किं नैव स्मरन्तीत्यर्थः। येषां स्ववाचो विरुध्यन्ते हरेर्मोहादिवादिन्यः। परस्परविरोधिन्यः स्युः ते शास्त्रप्रणेतारः, तादृशीर्वाचः स्मरन्ति पुराणादौ नैव इति वा ॥ ३१ ॥

प्रत्युत विपरीतमेव वदन्तीत्याह **क्वेति**। ये शोकादयोऽज्ञानतः सम्भवो येषां ते तथा ॥ ३२ ॥

तदेव द्रढयति - **यत्पादेति**। आत्मविद्यया परमात्मज्ञानेन अनादिकालेन आत्मविपर्यायग्रहं मनसि स्थितमन्यथाज्ञानं हिन्वन्ति नाशयन्ति। न तावदेव, किन्तु हरितत्त्वं च जानन्तीत्याह - लभन्ते इति। आत्मीयमात्मनः परमात्मनो विद्यमानमनन्तमैश्वर्यमीश्वरत्वं लभन्ते जानन्ति। यद्वा स्वयोग्य मैश्वर्यरमीश्वरानु गृहीतमनन्तं मोक्षं लभन्ते प्राप्नुवन्ति ॥ ३३ ॥

इति तैरुदितां वाणीमाकर्ण्य कमलेक्षणः ।
ससौभं हन्तुमारेभे शाल्वं कुरु कुलोद्वह ॥

ततो निशातमादाय चक्रं कृष्णः सुदर्शनम् ।
आग्नेयास्त्रेणाभिमन्त्र्य प्राहिणोत्सौभनाशनम् ॥

तन्नारायणहस्ताग्रान्मुक्तमाग्नेयमन्त्रितम् ।
जज्वालाऽब्रह्मसदनं ज्वालामालातिभीषणम् ॥
ततो वैमानिकास्सर्वे ते विहाय विहायसम् ॥

सुदर्शनोष्मणा तप्ता दुद्रुवुः सर्वतो दिशम् ।
तदर्कशतसङ्काशं सौभं भित्त्वा द्विधा पुरम् ॥

भूयो नारायणकरं प्राप भूपसुदर्शनम् ।
ततः समुद्रे न्यपतत्पुरं विच्छिन्नबन्धनम् ॥

गदापाणिर्दुराधर्षः शाल्वोऽपि प्रत्यदृश्यत ॥
तां प्रेषयामास गदां कृष्णमुद्दिश्य दुर्मतिः ॥

ततो रथं दैत्यबलोपनीतं संस्थाय शाल्वो बहुशस्त्र सङ्चयम् ।
अवाकिरत्कृष्णाशिरस्यनन्तैर्महायुधैश्च व्यनदद्धरिर्यथा ॥

तां गदां प्रेषितां तेन छित्वा बाणैस्त्रिधा हरिः ।
पाञ्चजन्यमुपाध्माय सिंहनादं व्यनीनदत् ॥

आब्रह्मसदनं ब्रह्मसदनं ब्रह्मलोक पर्यन्तम्

सौभं नाम पुरम् ॥

अनन्तैः अनेकसङ्ख्यैः हरिः सिंहः ॥

तं शस्त्रपूगैः प्रहरन्तमोजसा साल्वं शरैश्शौरिरमोघविक्रमः ।
विद्ध्वाऽच्छिनद्वर्मधनुश्शिरोमणिं सौभं च शत्रोर्गदया रुरोज ह ॥ ३४ ॥

तत्कृष्णहस्तेरितया विचूर्णितं पपात तोये गदया सहस्रधा ।
विसृज्य तद्भूतलमास्थितो गदामुद्यम्य[2] साल्वोऽच्युतमभ्यगद्भुतम्[3] ॥ ३५ ॥

आधावतः सगदं[4] तस्य बाहुं भल्लेन छित्त्वाऽथ रथाङ्गमद्भुतम् ।
वधाय साल्वस्य लयार्कसन्निभं बिभ्रद्बभौ सार्क इवोदयाचलः ॥ ३६ ॥

जहार तेनैव शिरस्सकुण्डलं किरीटयुक्तं पुरुमायिनो हरिः ।
वज्रेण वृत्रस्य यथा पुरन्दरो बभूव हाहेति वचस्तदा नृणाम् ॥ ३७ ॥

तस्मिन्निपतिते पापे सौभे च गदया हते ।
नेदुर्दुन्दुभयो राजन् दिवि देवगणेरिताः ।
सखीनामपचितिं कुर्वन्दन्तवक्त्रो रुषाऽभ्यगात् ॥ ३८ ॥

---

1. K. T. W. चु° 2. Ml. V. °मादाय 3. Ml. V. हरिम° 4. K. T. W. साङ्गदमस्य बा° ; M. Ma. भीमगदस्य बा°

इति श्रीमद्भगवते महापुराणे श्रीवैय्यासिक्यां अष्टादश साहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥७७ ॥

**श्रीध०** किं तर्हि सत्यं, तदाह - **तं शस्त्रपूगैरिति**। वर्म कवचम्। रुरोज बभञ्ज ॥ ३४, ३५।

**आधावत** इति। लयार्क सन्निभं प्रलयकालीनसूर्यसदृशम् ॥ ३६, ३७ ॥

**तस्मिन्निति**। देवगणैरीरिता वादिताः। [1-] किञ्च सखीनामिति [-1] ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
[illegible] ॥ [illegible] ॥

---

1 - -1. Ml. V. omit

**वीर०** इत्थं परमते निरस्ते किं तर्हि तात्त्विकमित्यत आह - **तमिति**। शौरिरित्यस्येन्द्रप्रस्थादागत इत्यादिः यद्वा भगवतः शोकमोहादिप्रतिपादकमिव स्थितमनूदितं परमतमुद्धरति एवं वदन्तीति त्रिभिः। अन्विता युक्ता इति यावत्, केचनैवं वदन्तीत्यर्थः। ननु निरस्तनिखिलदोषस्य भगवतोऽज्ञानशोकादि दोषान्वदन्तः कथमाभियुक्ता इत्यत आह - यदिति। यत् यस्मात् स्ववाच इति षष्ठ्यन्तं स्ववाचः "वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन" (भ.गी.7-26) "तान्यहं वेद सर्वाणि" (भ.गी.4-5) इति सार्वज्ञ्यविषय भगवद्वचसः ये विरुध्येरन् अज्ञानादयो दोषाः तान् ते ऋषयः नानुस्मरन्त्येव, किन्तु मनुष्य भावानुकारमात्र तात्पर्यकत्वेन, तथा ऊचुः इति भावः। त इति बहुवचनम्, सर्वाभिप्रायकम्, एवं च 'मानुषीं प्रकृतिं गतः' (भागः 10-77-23) इत्यस्य प्रकृतिं स्वभावं गतोऽनुगतः अनुकुर्वन्नित्यर्थः। अन्यथा प्राकृतो यथेति दृष्टान्ता सङ्गतिः, हस्तात् शार्ङ्गं न्यपतदित्युक्तेरपि मनुष्य भावानुकारे तात्पर्यम् अन्यथा निरस्तनिखिलदोषस्य क्वावद्यसम्भावनापीत्यभिप्रायेणाह - क्व शोकेति द्वाभ्याम्। अनन्योः यथोक्त एवार्थः। अस्मिन्पक्षे आर्यमिश्राभि सङ्गत इत्यस्य अयमर्थः आर्यमिश्राः वृद्धाः भीष्मादयः तैः अभिसङ्गतः अभितः सङ्गतः सुखमासमिति। आर्यमिश्रैश्च सङ्गतः इति पाठान्तरमपि क्वचिद्दृश्यते। आर्यैः मुनिभिः मिश्रैः भवद्भिश्च सङ्गतः इत्यर्थः। न तु बलभद्रसहितत्वमनेनोच्यते। अस्मिन्पक्षे काम्यकवनस्थपाण्डवसान्त्वनमुपपन्नमेव, अन्यथा परमतं दूषयन् भगवान्बादरायणः स्ववचसोः पूर्वपरयोः विरोधं परमतेनापादयितुमर्हति "ततो मुहूर्ते" (भा. 10-77-21) इत्यादेस्तु अयमर्थः - उपप्लुतः स्वबोध इत्यसमस्तं पदद्वयम्। स्वबोधः स्वः स्वभाविकः स्वासाधारणश्च बोधः सार्वज्ञ्यरूपो यस्य तथाभूतोऽपि प्रकृता वुपप्लुतो मग्नः प्रकृतिवश्याज्ञसंसारीव आस्ते आस इत्यर्थः। तत्र हेतुः - स्वजनान् यदून् अनुसङ्गतः अनुवर्तमानः स्वयमपि कश्चिद्यादव इवानुकुर्वन् इत्यर्थः। तत्ततोऽबुध्यत प्रबुद्धवानभूत्। नित्यसर्वज्ञोऽपि प्राकृतवत् क्रमेणाबुध्यतेति, किञ्च आद्यव्याख्याने इन्द्रप्रस्थाद्भगवदागमनस्यानुक्तत्वात्, 'तं शस्त्र पूगैः' इत्यादेः पूर्वग्रन्थसंदर्भवैघट्यं शौरिरित्यस्येन्द्रप्रस्थादागत इत्यादि पूर्णत्वे स्वारस्यमित्यवगन्तव्यमित्यलं विस्तरेण। अमोघोऽप्रतिहतो विक्रमो यस्य स शौरिः ओजसा बलेन शस्त्रजातैः प्रहरन्तं साल्वं शरैर्विद्ध्वा ताडयित्वा वर्म कवचं धनुश्च शिरोमणिं च अच्छिनत्, सौभं तु गदया रुरोज बभञ्ज, हेत्याश्चर्ये ॥ ३४ ॥

**तदिति**। कृष्णहस्तेनेरितया प्रयुक्तया गदया सहस्रधा विचूर्णितं तत्सौभं तोये समुद्रजले पपात, ततस्साल्वः भूतलमास्थितः गदामुद्यम्य द्रुतं यथा तथा तं कृष्णम् अभ्यद्रवत् ॥ ३५ ॥

**आधावत** इति। अभ्यापततोऽस्य साल्वस्य अङ्गदेन सहितं बाहुं भल्लेन बाणविशेषेण छित्वा अथ साल्वस्य वधार्थं प्रलयतुल्यं रथाङ्गं चक्रं बिभ्राणो बभौ, यथा सार्कः सूर्यसहित उदयाचलः तद्वत् ॥ ३६ ॥

**जहारेति**। पुरुमायिनः बहुविध-मायिनः साल्वस्य शिरः तेनैव चक्रेणैव जहार हतवान् ययेन्द्रो वज्रेण वृत्रस्य शिरः तद्वत् तदा नृणां हाहेति शब्दो बभूव ॥ ३७ ॥

अथ सानुजदन्तवक्त्र-वधात्मकं हरेश्चेष्टितं वक्तुं तावत्प्रौस्तौति सार्धेन - **तस्मिन्निति**। तस्मिन् साल्वे पतिते हते च सति सखीनां साल्वादीनां अपचितिं पारोक्ष्येणोपकृतिं कुर्वन् कर्तुमित्यर्थः। वर्णाधिक्य-मार्षम् ॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥७७॥

**विज०** शिरोमणिं किरीटं रुरोज बिभेद ह प्रसिद्धम् शतं सहस्रमयुतं नियुतं प्रयुतार्बुदे 'न्यर्बुदं शङ्कुवृन्दे च निखर्वं खर्वं मर्बुदम्' (न्यर्बुदं बृन्दखर्वे च निखर्वं खर्व मम्बुजम् इति पाठःवैज.को. 5-1-28) इति यादवः ॥ ३४-३६ ॥

पुरुमायिनः अनेकशतमायावतः ॥ ३७,३८ ॥

**स्तूयमानो मुनिगणैः सूतमागध वन्दिभिः ।**
**आजगाम वृतस्सैन्यैः पुरीं द्वारवतीं हरिः ॥**

**सम्प्रविश्य पुरीं रम्यां पताकाखण्डमण्डिताम् ।**
**अलङ्कृतामलङ्कारैः सिक्तसम्मृष्ट चत्त्वरम् ॥**

**पूजितो यदुभिर्वृद्धैः पौरजान-पदैस्तथा ।**
**रमयन्द्व्यष्टसाहस्र महिषीः प्रेमविह्वलाः ॥**
**उवास देवकीपुत्रः सानन्दं कुरुनन्दन ॥**

सानन्दं आनन्दसहितं इत्यर्थे विषयानन्दः न स्वरूपानन्द इत्यर्थः। स्यात् सोनुपपन्नः 'विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म '(बृ-ह. उ 3-9-28) इति श्रुतेः ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥७७॥

(विजयध्वजरीत्या षडशीतितमोध्यायः )

# अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या एकाधिकशततमोऽध्यायः)

[1-]शिशुपालस्य साल्वस्य पौण्ड्रकस्याऽपि[-1] दुर्मतेः[2] ।
परलोक गतानाञ्च कुर्वन्पारोक्ष्य सौहृदम् ॥ १ ॥

[3-]एकः पदातिः[3] सङ्क्रुद्धो[4] गदापाणिः प्रकम्पयन् ।
पद्भ्यां[5] महीं महाराज महासत्त्वो अभ्यवर्तत[6] ॥ २ ॥

तं तथाऽऽभान्त मालोक्य गदामादाय सत्वरः ।
अवप्लुत्य रथात्कृष्णः सिन्धुं वेलेव प्रत्यधात्[7] ॥ ३ ॥

गदामुद्यम्य कारूषो[8] मुकुन्दं प्राह दुर्मदः ।
दिष्ट्या दिष्ट्या[9] भवानद्य मम दृष्टिपथं गतः ॥ ४ ॥

---

1--1 M.Ma रुक्मिणः शिशुपासस्य पौण्ड्रकस्य च 2. B.G.J °ति: 3. M.Ma पदातिः पथि 4. M.Ma संरोद्धुं ; Ml.V सन्नद्धो 5. B.G.J. पद्भ्यामिमां 6. B.G.J.M.Ma व्यदृश्यत; Ml.v अभ्यदृश्यत 7. M.Ma °गात् 8. K.Ml.V कारूशो; M.Ma कालिङ्गो 9. M.Ma कृष्ण

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

ततोऽष्टसप्ततितमे दन्तवक्त्रविदूरथौ। हत्वा हरिः पुरे रेमे रामस्सूतं ततोऽवधीत् ॥

सखीनां अपचितिं कुर्वन्नित्युक्तं, तदेवाह - **शिशुपालस्येति**। पारोक्ष्य सौहृदं परोक्षे करणीयं सुहृत्कृत्यम् ॥१,२॥

**तमिति**। प्रत्यधात् प्रतिरुरोध ॥ ३ ॥

**गदामिति**। 'मुकुन्दं प्राह दुर्मदः' इत्यादे रधिक्षेप परता स्फुटैव। परमार्थस्तु दुर्मदो गतमदः प्राह मुकुन्दं तृतीये जन्मनि मुक्तिदानार्थमागतम्। अद्येति। जन्मत्रयेऽन्विष्यमाणोऽद्य ब्रह्मशापावसाने भवान्मम स्वामी दृष्टिपथं गतः प्राप्तः। एतद्दिष्ट्या, भद्रं भद्रम्। अतिहर्षे वीप्सा ॥ ४ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषालिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

सखीनामपचितिं कुर्वन्नित्युक्तं विस्तरेणाऽऽह - **शिशुपालस्येत्यादिना**। पारोक्ष्यसौहृदम् परोक्षेण कर्तव्यं सुहृत्कृत्यं कुर्वन् "लक्षणहेत्वोः" [अष्टा 3-2-126] इति शत्रादेशः, कर्तुमित्यर्थः। व्यदृश्यत इत्युत्तरत्र सम्बन्धः। कथम्भूतः? एकोऽसहायः गदा पाणौ यस्य सः। पद्भ्यां महीं प्रकम्पयन् महत्सत्त्वं बलं यस्य सः। हे महाराज! ॥ १,२ ॥

तदा कृष्णः किमकरोत् तदाह - **तमिति**। तं दन्तवक्त्रं अवलोक्य त्वरया सहितः सिन्धुं समुद्रं वेलेव प्रत्यधात् प्रतिरुरोध इत्यर्थः ॥ ३ ॥

**गदामिति**। कारूषो[1] दन्तवक्त्रः प्राह। तदेवाऽऽह दिष्ट्येति। दिष्ट्या अयमानन्दो जात इत्यर्थः। कोऽसौ अद्यदृष्टिपथं भवान् प्राप्त इत्येषः ॥ ४ ॥

---

1. k. कारूशो

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

**उद्वापनस्नानहेतो र्यमुनातीरमागतम् ।**
**श्रुत्वा तूर्णं कलिङ्गेशो दन्तवक्त्रस्सहानुजः ॥ क ॥**

**महत्या सेनया युक्तो गजानीकसमन्वितः ।**
**गच्छन्तं द्वारकां कृष्णं पथि रोद्धुं समाययौ ॥ ख ॥**

**सोऽभ्येत्य पथि गच्छन्तं वृतं यदुकुमारकैः ।**
**कान्ताषोडश साहस्र शिबिका परिवारितम् ॥ ग ॥**

**राजसङ्घानुगच्छन्तं महर्षिगणसेवितम् ।**
**ऋत्विक्पुरोहिताचार्य ब्राह्मणैश्च समन्वितम् ॥**
**दन्तवक्त्रोऽरुणन्मूढो मृगेन्द्रं जम्बुको यथा ॥ घ ॥**

हरेरवशिष्ट भूभार दन्तवक्त्रविदूरथ वधलक्षणं यच्चरितं तत्कथयत्यस्मिन्नध्याये। तत्र तद्घटनप्रकारमाह **उद्वापनेति**। उद्वापनेस्नानहेतोः अवभृथस्नानहेतोः ॥ क ॥

अरुणत् रुरोध। जम्बुकः सृगालः ॥ ख - घ ॥

पारोक्ष्यसौहृदं मृतिलक्षणाप्रत्यक्षत्वेऽपि बन्धुना यत्कर्तव्यं सौहृदं प्रेम तत् कुर्वन् कर्तुकामः। ताच्छीलिकः शतृप्रत्ययः ॥ १,२ ॥

वेला जलवृद्धिः । सिन्धुं नदीम् ॥ ३ ॥

कालिङ्गः कलिङ्गविषयनाथः ॥ ४ ॥

*** त्वं मातुलेयो नः कृष्ण मित्रध्रुग्[1] जिघांससि ।**
**अतस्त्वां गदया मन्द हनिष्ये वज्रकल्पया ॥ ५ ॥**
**तेनानृण्य[2] मुपैम्यज्ञ मित्राणां मित्रवत्सलः ।**
**बन्धुरूपमरिं हत्वा व्याधिं देहचरं यथा ॥ ६ ॥**

**इतिलोकप्रवादोऽस्ति तेन दोषोऽपि नास्ति मे ।**
**एवं रूक्षैस्तुदन्वाक्यैः[3] कृष्णं तोत्रैरिव द्विपम् ।**
**गदयाऽताडयन्मूर्ध्नि[4] सिंहवद्व्यनदच्च सः ॥ ७ ॥**

**गदयाऽभिहतेऽप्याजौ न चचाल यदूद्वहः[5] ।**
**कृष्णोऽपि[6] तमहन्[6] गुर्व्या कौमोदक्या स्तनान्तरे ॥ ८ ॥**

---

* त्वामद्य द्वन्द्वयुद्धेन हनिष्याम्यविलम्बितम्। 1. M.Ma ध्रुक् पारदारिकः 2. B.G.J K.Ml. T.V.W तर्ह्यां° 3. M.Ma °श्च वचनैः 4. M.Ma त्कृष्णं 5. M.Ma °त्तमः 6- -6 M.Ma गदया व्यहनत्

श्रीध० किञ्च ! हे कृष्ण ! त्वमस्माकं मातुलेयो बन्धुः। एवमपि मित्रध्रुक् मित्राणि घातितवान्। माञ्च जिघांससि। तस्मादस्माकं त्वत्तो मृत्युः सनकाद्यनुग्रह प्राप्तो नूनं दुर्वारः। अतः त्वां एतावन्मात्रमहं याचे। किन्तदाह - हे अमन्द ! सर्वसहनसमर्थ ! क्षात्रधर्मेण सेवितुं गदया त्वां हनिष्ये प्रहरिष्यामि. तां एकवारं सहस्व इति। ननु वज्रतुल्या त्वद्गदां को वा सहेत नैवमित्याह अवज्रकल्पया उत्पलमालावत् अतिकोमलयेत्यर्थः ॥ ५ ॥

नन्वेवं हनने कः तव पुरुषार्थः तमाह **तर्हीति**। अज्ञ ! न विद्यते ज्ञो यस्मात्[1], हे सर्वज्ञेत्यर्थः। परमार्थतः स्वामिनमेतद्देह सम्बन्धेन बन्धुरूपमरिं ब्रह्मशापेन शत्रुत्वेन प्रतीतं त्वां हत्वा मित्राणामानृण्य मुपैष्यामि। विशेषेणाऽऽधीयते मनसि चिन्त्यत इति व्याधिः देहेऽन्तर्यामितया चरतीति तथा तम्। ईश्वरं हत्वा क्षात्रधर्मेणाराध्य हन्ते र्गत्यर्थस्य ज्ञानार्थत्वात् ज्ञात्वेति वा तेन यथा पित्रा दीनामानृण्य मुपयन्ति तद्वदिति ॥ ६ ॥

रूक्षैरित्यादि प्रतीत्यभिप्रायेण, तोत्रैरङ्कुशादिभिः ॥ ७,८ ॥

---

1 Ml.V. add तस्य सम्बुद्धिः 2 Ml.V. omit अरिं

**वीर०** हे कृष्ण ! त्वमस्माकं मातुलेयः मातुलस्य पुत्रः, सहजमित्रमिति तात्पर्यम्। तथाऽपि मित्राण्येव द्रुह्यतीति तथा। माञ्च हन्तुमिच्छसि। यत एवम्भूतः ततः त्वां वज्रतुल्यया बृहत्या गदया हनिष्ये ताडयिष्यामित्यर्थः ॥ ५ ॥

तर्ह्येवञ्चेत् मित्रवत्सलोऽहं देहगतं व्याधिमिव मृत्युसंपादकं बन्धुरूपमरिं त्वां हत्वा मित्राणामानृण्यं ऋणाभावं प्राप्स्यामि ॥ ६ ॥

**एवमिति**। तोत्रैः अङ्कुशादिभिः द्विपं गजमिवेत्थं रूक्षैः परुषैः वाक्यैः कृष्णं तुदन् व्यथयन्निव मूर्ध्नि गदया अताडयत्[1] ततः स दन्तवक्त्रः सिंहवत् व्यनदत् ॥ ७ ॥

**गदयेति**। यदूद्वहः कृष्णः आजौ युद्धेगदया ताडितोऽपि न चचाल। अपि तु कृष्णःतं दन्तवक्त्रं स्तनान्तरे स्तन मध्ये कौमोदक्या[2] स्वगदया गाढं यथा तथा, अताडयदित्यनुषङ्गः ॥ ८ ॥

---

1. B. तताड 2 \. B. क्याख्यया

**विज०** मातुलो वसुदेवः तत्पुत्रः पारदारिकः परस्त्रीरतिसमुत्सुकः ॥ ५ ॥

विश्वासघाती बन्धुघ्नः सततं कलहप्रियः ।

पौण्ड्रकं मातुलेयं मे सङ्ख्ये सूदितवानसि ।

रुक्मी च शिशुपालश्च भ्रातरौ मे त्वया हतौ ॥ क ॥

भ्रातरौ मातृसोदरौ पुत्रत्वेन ॥ क ॥

आनृण्यम् ऋणाभावम् । देहचरं देहगतम् ॥ ६ ॥

रूक्षैर्वचनैः, व्यथयित्वेति शेषः ॥ ७, ८ ॥

गदानिर्भिन्न हृदय उद्वमन् रुधिरं मुखात् ।
प्रसार्य केशबाहूंश्च धरण्यां न्यपतद्व्यसुः ॥ ९ ॥

ततस्सूक्ष्मतरं ज्योतिः कृष्णमाविशदद्भुतम् ।
पश्यतां सर्वभूतानां यथा चैद्यवधे नृप ॥ १० ॥

☆ विदूरथस्तु तद्भ्राता भ्रातृशोकपरिप्लुतः ।
आगच्छदसिचर्मभ्यां उच्छ्वसंस्तज्जिघांसया ॥ ११ ॥

तस्य चाऽऽपततः कृष्णश्चक्रेण क्षुरनेमिना ।
शिरो जहार राजेन्द्र! सकिरीटं सकुण्डलम् ॥ १२ ॥

---

1. K.M. Ma.T.W. गार्ढं ;Ml. V. गार्ढं 2- -2 M. Ma. [illegible] गतासु न्यपतत् भुवि 3. Ml.V. मं 4. M.Ma. °द्यस्य सङ्गरे; Ml.V. °द्यपतेर्नृपः! M. Ma. reads this भ्रातरं निहतं दृष्ट्वा दन्तवक्त्रं विदूरथः मूर्छितो भ्रातृशोकेनाऽप्यसि चर्म समादधे ॥

श्रीधरीय व्याख्या नास्ति।

**वीर०** एवं ताडितो निर्भिन्नं हृदयं यस्य सः। मुखा द्रुधिरम् उद्वमन् केशादीन् प्रसार्य व्यसुर्गतप्राणो धरण्यां न्यपतत् ॥९॥

ततो दन्तवक्त्र शरीरात् सूक्ष्म मणु स्वरूपं (परं) परित्यक्त प्रकृतिसम्बन्धं ज्योतिः स्वप्रकाशं जीवस्वरूपं श्रीकृष्णमविशत्। तावदाविश्य ततः तत्साधर्म्य युक्त : तत्पार्षदतां प्राप्त इत्यर्थः। यथा सर्वभूतानां पश्यतां सतां हे नृप! चैद्यवधे कृते तद्देहादाविशत् तद्वदित्यर्थः। यद्यप्यात्म ज्योतिषः अतिसूक्ष्मत्वात् सर्वभूतैर्द्रष्टुमशक्यं अतीन्द्रियञ्च तथापि स्वस्य परमापुरुषत्वं तयोस्तु शापान्ते स्वस्मिन् प्रवेशञ्च सर्वभूतेभ्यःप्रख्यापयितुमचिन्त्य शक्तिः भगवान् तथा प्रवेशयामासेति विभावयन्तु ॥ १० ॥

**विदूरथ** इति। तस्य दन्तवक्त्रस्य भ्राता विदूरथः भ्रातृविषयकशोकेन परिप्लुतो व्याप्तः उच्छ्वसन् तज्जिघांसया कृष्णं हन्तुमिच्छयाऽसिचर्मभ्यां खड्गखेटाभ्यां युक्त इति शेषः। आगच्छदभ्यपतत् ॥ ११ ॥

**तस्येति**। क्षुरस्येव नेमिर्धारा यस्य तेन चक्रेण हे राजेन्द्र! किरीटादि सहितमापततः तस्य विदूरथस्य शिरो जहार चिच्छेदेत्यर्थः ॥ १२ ॥

---

1. B. तुं शक्तो भग° 2. T. W. omit परिप्लुतः

विज० दन्तवक्त्र गतासुरः कृष्णं ध्वान्तापरपर्यायं [illegible] उत्कृष्टानन्द रूपश्रीहरिम् ॥ १० ॥

सोऽवप्लुत्य रथात्तूर्णं विधुन्वन् खड्गमुत्तमम् ।
अभिदुद्राव गोविन्दं गदया मुर्वी प्रकम्पयन् ॥ क ॥
तस्य बाणेन चिच्छेद खड्गं यादवनन्दनः ।
ततो जग्राह निरतां शक्तिं घोरां विदूरथः ॥ ख ॥
तया प्रहर्तुं गोविंदं मभिनिश्चित्य सङ्गरे ।
क्षणेनाभिससाराऽशः चापमुक्तो यथाशरः ॥ ग ॥

असि युक्तं चर्म ॥ क-ग ॥

विदूरथेति ॥ ११-१२ ॥

एवं सौभञ्च साल्वञ्च दन्तवक्त्रं सहानुजम् ।
हत्वा दुर्विषहान्[1]न्यानीडितः सुरमानवैः ॥ १३ ॥
मुनिभिः सिद्धगन्धर्वैः विद्याधरमहोरगैः ।
अप्सरोभिः पितृगणै र्यक्षैः किन्नरचारणैः ॥ १४ ॥
[2]उद्गीयमानविजयः कुसुमैरभिवर्षितः ।
वृतश्च विष्णुप्रवरैः विवेशालङ्कृतां[3] पुरीम् ॥ १५ ॥
एवं योगेश्वरः कृष्णो भगवान्[4]जगदीश्वरः ।
ईयते पशुदृष्टीनां निर्जितो[5] जयतीति सः ॥ १६ ॥

1 B G J नन्यै री° 2 B G J M Ma Ml V उपगीय° 3 M Ma °तं 4 M Ma °वा न्देवकीसुतं 5 M Ma जीयते

श्रीध० एवं श्रीकृष्णे महाबलानपि लीलया जयत्येवेति कृत्वा स कदाचिज्जरासन्धादिभि र्निर्जित इति पशुदृष्टीनामीयते। [1]नित्यजये हेतवः भोगेश्वरो भगवान् जगदीश्वर इति ॥ ११-१६ ॥

1 Ml V विजये

**वीर० एवमिति**। अन्यानपि दुर्विषहान् सोढुमशक्यान् शत्रून् सौभादीन्[1] हत्वा सुरादिभि रीडितः उपगीयमानः विजयो यस्य सः। वृष्णिप्रवरैः यदूत्तमैः परिवृतश्च पुरीं द्वारकां विवेश ॥ १३ - १५ ॥

इत्थं सर्वत्र सर्वदा[2] विजयिनो भगवतः क्वचित्पराजयं वदन्तो मूढा इत्याह - **एवमिति**। भगवान् षाड्गुण्यपूर्णः जगतः कृत्स्नस्येश्वरः प्रशासिता च अनेन पराजय सम्भावना दूरत एवाऽपास्तेति सूचितम्। निर्जितः, जरासन्धादिभिरिति शेषः। क्वचिच्च जयतीत्येवं पशुदृष्टीनां मूढानां ईयते प्रतीयते[3]। निर्जितो जयति इति भाति। अजित एव जयतीत्यार्थः ॥ १६ ॥

1. K. T. W. omit सौभादीन् 2. T. W. omit सर्वदा 3. T. W. omit प्रतीयते ।

**विज०** पशुदृष्टीनां अज्ञजन बुद्धीनां पक्षे जयतीति ईयते ज्ञायते ॥ १३ - १६ ॥

**एवं निहत्य समरे दन्तवक्त्रं विदूरथौ ।**
**कालयामास तत्सैन्यं जगृहे वारणादिकम् ॥ क ॥**

**भूयः पुष्परथं दिव्यमारुह्य समलङ्कृतम् ।**
**सहितः सात्त्वतगणैः ईडितस्सुरमानवैः ॥ ख ॥**

**तस्यकर्माण्युदाराणि पुण्यश्लोकस्य भारत!**
**शक्यन्ते कथितुं नैव वर्षाणामयुतैरपि ॥ ग ॥**

**एवमारभ्य राक्षस्याः पूतनायाः परन्तप!**
**भूभारभूतानसुरान् जघानमधुसूदनः ॥ घ ॥**

कालयामास द्रावयामास वारणादिकम् इत्यत्र गजाश्वरथादिकं गृह्यते ॥ क ॥

पुष्परथम् विवाहयोग्य रथम् ॥ ख ॥

ब्रह्माद्यन्यतमेनाऽपि तत्कर्मसमाप्तिं कर्तुं न शक्यते किं पुनर्मयेति भावेनाऽऽह तस्येति ॥ ग ॥

स्कन्धमारभ्य यद्दैत्यहननं तदादितः उपसंहरति एवमिति ॥ घ ॥

अत्र विजयध्वजरीत्या एकाधिकशततमोऽध्यायः समाप्यते।

राजोवाच

❖ अष्टादशाक्षौहिणीनां तावद्भिर्मायया दिनैः ।
व्यापादनं येन कृतं तस्मै विश्वात्मने नमः ॥ ङ ॥

श्रृण्वतो मे कथास्तस्य चरितानि च सद्वशः ।
वैक्लव्यं विस्मयो भीतिर्वर्धते मे पुनः पुनः ॥ च ॥

मन्ये प्रायेण पाप्मानं जीर्णं मम दुरत्ययम् ।
इन्द्रियाणि प्रबुद्धानि प्रसन्नञ्च मनोभृशम् ॥ छ ॥

क्षुत्तृष्णे च प्रशान्ते मे आत्मा चाऽऽनन्द निर्भरः ।
प्रसादात्तव धर्मज्ञ कृतार्थोऽहमिहाऽभवम् ॥ ज ॥

अपि च श्रोतुमिच्छामि किञ्चिदर्थं तपोधन ।
युध्यतस्सुहृदो दृष्ट्वा निवारितुमशक्नुवन् ।
तीर्थं स्नातुं गतो रामः किञ्चकार तपोधन ! ॥ झ ॥

---

❖ विजयध्वजरीत्या षण्णवतितमोध्यायः आरभ्यते ।

सितकेशावेशिनो बलभद्रस्य चरितं कृष्णमाहात्म्यानुस्यूतमेव,अतस्तदपि पुरुषार्थोपयोगिभवतीत्यनेन अध्याय द्वयेन निरूपयति। तत्रादौ श्रुतकृष्णवैभवो विस्मितमना राजा भगवन्तं नमति - अष्टादशेति। मायया महिम्ना व्यपादनं निधनं विश्वात्मने सर्वान्तार्यामिणे ॥ ङ ॥

हरिकथाश्रवणस्य प्रत्यक्षफलमाह - शृण्वत इति। वैक्लव्यं पारवश्यं कथाश्रवणतात्पर्यम्, विस्मयः स्मयभावः, भीतिः विहिताकरणे प्रत्यवाय बुद्धिः ॥ च ॥

प्रबुद्धानि प्रफुल्लानि, स्वविषय इति शेषः ॥ छ ॥

आत्मा भोगायतनं, आनन्दनिर्भरः पूर्णानन्दः ॥ ज ॥

कृतार्थश्चेत्तूष्णीम्भवेति तत्राऽह - अपि चेति। किञ्चिदित्यव्ययं शब्दतोल्प मर्थतो महान्तमित्यतो वा व्यत्ययः ॥ झ ॥

बलरामकृत तीर्थयात्रा सूतवधादि कथारम्भः ॥

श्रुत्वा युद्धोद्यमं रामः कुरूणां सह पाण्डवैः । [1-1]
तीर्थाभिषेकव्याजेन मध्यस्थः प्रययौ किल ॥ १७ ॥

स्नात्वा प्रभासे[2] सन्तर्प्य देवर्षिपितृमानवान् ।
सरस्वतीं प्रतिस्रोतां[3] ययौ ब्राह्मणसंवृतः ॥ १८ ॥

पृथूदकं[4] बिन्दुसरस्त्रिकूटं[5] सुदर्शनम् ।
विशालं ब्रह्म तीर्थञ्च चक्रं प्राचीं सरस्वतीम् ॥ १९ ॥

यमुनामनुयान्येव गङ्गामनु च भारत!
जगाम नैमिषं यत्र ऋषयस्सत्रमासते ॥ २० ॥

तमागतमभिप्रेत्य मुनयो दीर्घसत्रिणः ।
अभिनन्द्य[6] यथान्यायं प्रणम्योत्थाय चाऽर्चयन् ॥ २१ ॥

सोऽर्चितस्सपरीवारः कृतासनपरिग्रहः ।
रोमहर्षणमासीनं महर्षेश्शिष्यमैक्षत[7-7] ॥ २२ ॥

---

1- -1 It is not found in M. Ma. Edns. 2. M. Ma. °सं 3. B. G. J. M. Ma. °स्रोतं 4. Ml. V. मधू° 5. B. G. J. M. Ma. त्रितकूपं ; Ml. V. त्रिणकूपं 6. M. Ma. °वन्द्या; Ml. V. °गम्य 7- -7 M. Ma. शिष्यमैक्षन्महामुनेः

श्रीध० ☆ विदूरथान्त मामथ्य[1] पूतनादि दनोः कुलम्। कृष्णस्तूपारमन्नाराद्रामोऽहन् सूतपल्वलौ ॥

तत्प्रसङ्गमाह - श्रुत्वेति ॥ १७ ॥

स्नात्वेति। प्रतिस्रोतां[2] प्रतिलोमम्[3] ॥ १८ ॥

पृथूदकमिति। सुदर्शनं तीर्थं, चक्रं चक्रतीर्थम् ॥ १९ ॥

यमुनामिति। यमुनामनु यानि तीर्थानि गङ्गा मनु च यानि तानि सर्वाणि गत्वा नैमिशमरण्यं जगाम ॥ २० ॥

तमिति। अभप्रेत्य श्रीराम इति ज्ञात्वा ॥ २१ ॥

**स** इति। महर्षेर्व्यासस्य ॥ २२ ॥

---

★ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः 1. Ml. V. उन्मथ्य 2. B. J. स्रोतं 3. B. J. लोमम् ।

**वीर०** अथ पुनः कानिचिद्बलभद्रचेष्टितानि अनुवर्णयति - 'श्रुत्वेत्यादिना यावदेकोनाशीति तमाध्याय समाप्ति'। कुरूणां पाण्डवैः सह युद्धोद्यमं युद्धाय यत्नं श्रुत्वा मध्यस्थः उभयेषामपि बान्धवताऽविशेषात् उभयमध्यस्थः तटस्थ इति यावत्। हेतुगर्भमिदम्। अतः पुण्यतीर्थस्नान यात्राव्याजेन प्रययौ ॥ १७ ॥

**स्नात्वेति**। प्रति प्रत्यक् स्रोतः प्रवाहो यस्यास्तां सरस्वतीं प्रत्यक्सरस्वतीं ययौ इत्यर्थः ॥ १८ ॥

ततः पृथूदकादीनि तीर्थविशेषाणि ययाविति सम्बन्धः। तत्र चक्रं चक्रतीर्थं प्राचीं सरस्वतीं त्रिवेणीमित्यर्थः ॥ १९ ॥

ततो यमुना मनु यानि तीर्थानि गङ्गामनु च यानि तीर्थानि तानि सर्वाणि सादरं यथा तथा। नारदमिति पाठे तदाख्यं तीर्थं, नैमिशञ्च जगामेति सम्बन्धः। नैमिशं विशिनष्टि यत्रेति। यत्र नैमिशे ऋषयः शौनकादयः सत्रमासतेऽनु तिष्ठन्ति ॥ २० ॥

तत्र यदभूत्तदेवाऽऽह - तमित्यादिना। तं बलभद्रमागतमभिप्रेत्य दृष्ट्वेत्यर्थः। दीर्घं सहस्रसमं सत्रमेषामस्तीति तथा ते मुनयः यथान्यायमभिनन्द्याऽर्चयन्नर्चितवन्तः ॥ २१ ॥

**स** इति। कृतशासनपरिग्रहो येन सः रामः रोमहर्षणमैक्षतेति सम्बन्धः। कथम्भूतम्? आसीनम् उपविष्टं महर्षेर्बादरायणस्य शिष्यम् ॥ २२ ॥

---

1. K. T. W. omit अभिनन्द्य 2. T. W. महामुनेः

**विज०** भोजनादिना मानवसन्तर्पणं, प्रतिस्रोतं प्रवाहाभिमुखम् ॥ १७, १८ ॥

पृथूदकं नाम तीर्थं त्रितस्य मुनेः कूपं विशलमप्येकं तीर्थम् ॥ १९, २० ॥

अभिप्रेत्य अभिगम्य ॥ २१, २२ ॥

1- -1
**अप्रत्युत्थायिनं सूत मकृत प्रह्वणाञ्जलिम् ।**
**अध्यासीनञ्च तान्विप्रां श्चुकोपोद्वीक्ष्य माधवः ॥ २३ ॥**

कस्मादसाविमान् विप्रानध्यास्ते प्रतिलोमजः ।
धर्मपालां स्तथैवाऽस्मान् वधमर्हति दुर्मतिः ॥ २४ ॥

ऋषेर्भगवतो भूत्वा शिष्यश्चाधीत्य बहूनि च ।
सेतिहासपुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः ॥ २५ ॥

अदान्तस्याऽविनीतस्य वृथापण्डितमानिनः ।
न गुणाय भवन्त्यस्य नटस्येवाऽजितात्मनः ॥ २६ ॥

एतदर्थो हि लोकेस्मिन्नवतारो मया कृतः ।
वध्या हि धर्मध्वजिनः ते हि पातकिनोऽधिकाः । २७ ॥

एतावदुक्त्वा भगवन्निवृत्तोऽसद्वधादपि ।
भावित्वा तं कुशाग्रेण करस्थेनाऽहनत्प्रभुः ॥ २८ ॥

---

1--1 M. Ma. प्रत्यवस्थायिनं 2. J. यस्मा° 3. B. G. J. K. Ml. T. V. W. °न्ति स्म 4. B. G. J. मे

**श्रीध०** अप्रत्युत्थायिनमिति। सूतं प्रतिलोमजं न कृतं प्रह्वणमञ्जलिश्च येन तम् अध्यासीनञ्च तान् तेभ्योऽप्युच्चैरासीनमित्यर्थः ॥ २३, २४ ॥

अजानन्नध्यास्त इति चेत्, नैवमित्यह - **ऋषेरिति** ॥ २५ ॥

ननु बहुज्ञः कथमेवं कः कुर्यात्? तत्राह - **अदान्तस्येति**। गुणाय ङथो चितानुष्ठानाय ॥ २६ ॥

ननु, विप्रानध्यास्तान् अन्यद्वा किञ्चित्करोतु किन्तवेति चेत् तत्राह - एतदर्थ इति। धर्मध्वजिनः उत्तम लिङ्गधारिणः ॥ २७ ॥

**एतावदिति**। भावित्वादिति। न हि भवितव्यं केनापि परिहर्तुं शक्यते इत्यर्थः। अहनत् अहन् ॥ २८ ॥

---

1. B. J. omit कः 2. B. J. omit ननु 3. Ml. V. अत्राऽऽह 4. Ml V. हतवान्

**वीर०** अप्रत्युत्थायिनं प्रत्युत्थानमकृतवन्तं तं सूतं प्रतिलोमजं न कृतं प्रह्वणं प्रणामोऽञ्जलिश्च येन तम्। तान् विप्रान् अध्यासीनं विप्रेभ्योऽप्युच्चासनासीनमित्यर्थः। माधवो रामश्चुकोप सकोपं प्राहेत्यर्थः ॥ २३ ॥

**तदेवाऽऽह कस्मादिति** चतुर्भिः। विप्रान् अध्यास्ते, विप्रेषूच्चैरासनमधितिष्ठतीत्यर्थः। प्रतिलोमज इत्यनेन तदनर्हत्वाविष्कारः। तथा धर्मं पालयन्तीति तथा। तानस्मानप्यध्यास्ते, अतोऽयं दुर्मतिर्वधमर्हति ॥ २४ ॥

**अजानन्नध्यास्त इत्यत आह - ऋषेरिति।** ऋषेर्भगवतो बादरायणस्य शिष्यो भूत्वा बहूनि इतिहासादीनि सर्वशः **कार्त्स्न्येन अधीत्य च** ॥ २५ ॥

अदान्तस्य दमविनयादि रहितस्य वृथा पण्डितमात्मानं मन्यमानस्य गुणाय न भवन्ति। इतिहासाद्यध्ययनादीनीति शेषः। किन्तु दोषायैवेति भावः। अदान्तस्य इत्यादि विशेषणैः, नास्याज्ञानकृतमध्यासनाधिष्ठानम्, अपि तु अहङ्कारप्रयुक्तमिति सूच्यते ॥ २६ ॥

विप्रानध्यास्ताम्, अन्यद्वा करोतु, किं तवेप्यत आह, **एतदर्थ** इति। कोऽसावर्थः? धर्मध्वजिनः उत्तमवेषधारिणो मे वध्या इत्येषः कुतः? हि यस्मात् ते धर्मध्वजिनः अधिकाः पातकिनः। अतो दुष्कृद्विनाशार्थं अवतीर्णेन मयैवंविधाः अवश्यं वध्या इत्यर्थः ॥ २७ ॥

**एतावदिति**। असतां वधान् निवृत्तोऽपि भगवान् रामः भावित्वाद्भवितव्यस्य केनाऽप्यपरिहार्यत्वात्तं रोमहर्षणं कुशाग्रेण अहनत् ॥ २८ ॥

---

1. K. T. W. सर्वतः 2. K. T. W. omit मे

**विज०** प्रत्यवस्थायिनम् आभिमुख्येन स्थितम्। प्रह्वणं नमनम्। तान्विप्रानध्यासीनं, तेषां मध्ये उच्चासने स्थितं, माधवो मधुकुलोद्भवः ॥ २३ ॥

प्रतिलोमजः विपरीतजन्मा। अस्मानिति द्वितीया पञ्चम्यर्थे ॥ २४ ॥

सेतिहासपुराणान्यधीत्य सुदुष्टस्य प्रतिजन्मनः ॥ २५ ॥

गुणाय पुण्यफलदानलक्षणाय न भवन्ति ॥ २६ ॥

एतदर्थः दुष्टनिग्रहार्थः ॥ २७ ॥

असद्वधान्निवृत्तोऽपि मरणस्यावश्यं भावित्वात् ॥ २८ ॥

**हाहेति वादिनस्सर्वे मुनयः[1] खिन्नमानसाः ।**
**ऊचुस्सङ्कर्षणं देव मधर्मस्ते कृतः प्रभो ॥ २९ ॥**

**अस्य ब्रह्मासनं दत्तमस्माभिर्यदुनन्दन ।**
**आयुश्चात्माऽक्लमं[2] तावद्यावत्सत्रं समाप्यते ॥ ३० ॥**

**अजानतैवाऽऽचरितः[3] त्वया ब्रह्मवधो यथा ।**
**योगेश्वरस्य भवतो नाम्नायोऽपि नियामकः ॥ ३१ ॥**

**यदेतद्ब्रह्महत्यायाः पावनं लोकपावन!**
**चरिष्यति भवान् लोकसङ्ग्रहोऽनन्यचोदितः[4] ॥ ३२ ॥**

---

1. M. Ma. ऋषयः 2. M. Ma. °श्चास्याक्षयं 3. K. T. W. °तेवा° 4. K. T. W. °हो नान्य° ; Ml. V. M. Ma. °हं नान्य° ; Ml. V. °हे नान्य°

**श्रीध० हाहेति**। ते त्वया ॥ २९ ॥

अधार्मिक प्रतिलोमजवधः कोऽयमधर्म इति चे त्तत्राहुः - **अस्येति**। पुराणप्रवचनाय आत्मनः शरीरस्य नास्ति क्लमो यस्मिन् तदायुश्च दत्तमिति ॥ ३० ॥

**अजानतेति**। ब्रह्मवधेऽपि किं ममेश्वरस्येति चेत्। सत्यमेव। तथाऽपि प्रायश्चित्तं कर्तव्यमित्याशयेनाऽऽहुः- योगेश्वरस्येति सार्धेन। आम्नायो "ब्राह्मणो न हन्तव्यः"—— इत्यादि लक्षणः ॥ ३१ ॥

**यदीति**। तथाऽप्येतस्याः ब्रह्महत्यायाः पावनं प्रायश्चित्तं, हे लोकपावन! अनन्यचोदितः स्वयमेव भवान्यदि करिष्यति तर्हि लोकसङ्ग्रहो भविष्यति, नान्यथेति ॥ ३२ ॥

**वीर० हाहेति**। खिन्नं मानसं येषां ते ऊचुः। उक्तिमेवाऽऽह - अधर्म इत्यादिना सपादत्रयेण। ते त्वया अधर्मः कृतः ॥ २९ ॥

अधार्मिक प्रतिलोमज वधः कोऽयमधर्मः? इत्यत आह _ **अस्येति** सार्धेन। हे यदुनन्दन! अस्य रोमहर्षणस्य अस्माभिर्ब्रह्मासनं यावत् यावताकालेन सत्रं समाप्यते तावदात्मनो देहस्य न क्लमः श्रमो यस्मिन् तदायुश्च दत्तम्। पुराण वक्त्रे ब्राह्मणय देयं यस्मान्न प्रत्युत्थायिते तद्ब्रह्मासनमित्यर्थः ॥ ३० ॥

**अजानतेति**। अतस्त्वयाऽजानतैव आचरितं कृतं यथा ब्रह्मवधः ब्रह्महत्या तद्वत्। ब्रह्महत्यासदृशं पापं कृतमित्यर्थः। ननु ब्रह्मवधादपि किं ममेश्वरस्येत्यत आहुः - योगेश्वरस्येतिसार्धेन। यद्यपि योगेश्वरस्य अवद्याऽस्पर्शोपयुक्त योगनिर्वाहकश्य भकर्मवस्यं तव 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'— इत्यादिलक्षण आम्नायोऽपि न नियामकः यद्यपि त्वं न विधिवस्य इत्यर्थः ॥ ३१॥

तथापि हे लोकपावन! ब्रह्महत्यायाः पावनं प्रायश्चित्तं चरिष्यति, चरतु अनुतिष्ठत्वित्यर्थः। किमर्थमित्यताऽऽहुः- नान्यैश्चोदितः। स्वयमेव यदि भवांश्चरिष्यति तर्हि लोकसङ्ग्रहः स्यादित्यर्थः। 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः' (भ.गी.३-२१) इत्युक्तरीत्या लोकाननुशिक्षितुं चरेति भावः ॥ ३२ ॥

**विज०** ब्रह्मासनं ब्राह्मणमध्ये ब्राह्मणयोग्यासनम् ॥ २९, ३० ॥

अस्य निधनं त्वया अजानतेव, यद्वा अजानता वा ब्राह्मणवधसमानदोषोऽयमित्यशयेनाह - ब्रह्मेति। भवत आम्नायो विधिनिषेध शासि शास्त्रं नियामकं इदं कुरु, नेदमिति नियन्ता नास्ति। कुत इत्यत्राऽऽह योगेश्वरस्येति ॥ ३१ ॥

विध्यागोचरत्वा दृषयः स्वहार्दं विज्ञापयन्ति **यदीति**। यदि भवान् त्वं ब्रह्महत्यायाः एतत्पावनं शुद्धि लक्षणं परिहारं चरिष्यति, तर्हि लोकसङ्ग्रहं करिष्यति। कुतोऽत्राऽऽह नेति ॥ ३२ ॥

**श्रीभगवानुवाच**[1-1]

**चरिष्ये[4] वधनिर्वेशं लोकानुग्रहकाम्यया।**
**नियमः प्रथमे कल्पे यावान् स तु विधीयताम् ॥ ३३ ॥**

**दीर्घमायुर्बतैतस्य[3] सत्वमिन्द्रियमेव च ।**
**आशासितं यत्तद्भूत[4] साधये योगमायया ॥ ३४ ॥**

**ऋषय ऊचुः**

**अस्त्रस्य[5] तव वीर्यस्य मृत्योरस्माकमेव च ।**
**यथा भवेद्वचस्सत्यं तथा राम विधीयताम् ॥ ३५ ॥**

श्रीभग[6] ॥नुवाच

**आत्मा वै पुत्र उत्पन्न इति वेदानुशासनम् ।**
**तस्मादस्य भवेद्वक्ता आयुरिन्द्रियसत्त्ववान्[7] ॥ ३६ ॥**

---

1- -1 K.T.W. श्रीराम उवाच ; M.Ma. बलभद्र उवाच 2. B.G.J. करिष्ये 3. K.T.W. किलैतस्य ; M. Ma. व्रतं तस्य 4. M. Ma. यद्यदुत ;T.W. यद्युगपत् 5. K.T.W. शस्त्रस्य 6- -6. K.Ml.T.V.W. राम उवाच M.Ma बलभद्र उवाच 7. M. Ma वीर्यवान्

**श्रीध० चरिष्य इति**। वधस्य निर्वेशं प्रायश्चित्तम्। प्रथमेकल्पे मुख्यपक्षे[1] विधीयतामुपदिश्यताम् ॥ ३३ ॥

**दीर्घमिति**। किञ्च। बत हे मुनयः! एतस्य दीर्घमायुः सत्त्वं बलमिन्द्रियं तत्पाटवञ्च यद्भवद्भिराशासितमपेक्षितं तन्नो ब्रूत सर्वम् ॥ ३४ ॥

**अस्त्रस्येति**। अस्त्रादीनां सत्यता यथा भवेदस्माकञ्च वचस्सत्यं यथाभवेत्तथा विधीयतामित्यर्थः ॥ ३५ ॥

तथा सम्पादयन्नाह - **आत्मेति**। "अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे" (बृह.उ.6-4-9) "आत्मा वै पुत्र नामासि" (कौषी.उ.2-11) "स जीव शरदः शतम्" (कौषी.उ.2-10) इत्यादि वेदानुशासनम् वेदवचनम्। तस्मादस्य रोमहर्षणस्य पुत्रः उग्रश्रवाः भवतां पुराणप्रवक्ता भवेत् स च आयुरादिमांश्च भवेत्। अतः साक्षादजीवनात् अस्त्रस्य मृत्योश्च सव्यता पुत्ररूपेण चायुरादिसिद्धे युष्मद्वचनस्यापि सत्यता स्यादिति भावः ॥ ३६ ॥

---

1. B.J. कल्पे 2. Ml.V. तद्भूतं

**वीर०** - एवमुक्तः प्राह रामः- **चरिष्य** इति द्वाभ्याम्। लोकानुग्रहकाम्यया लोकानुग्रहजिघृक्षया वधस्य निर्वेशं प्रायश्चित्तं चरिष्ये प्रथमे कल्पे मुख्यपक्षे यावान्नियमः स तु विधीयताम्; मुख्यप्रायश्चित्तमुपदिश्यतामित्यर्थः ॥ ३३ ॥

किञ्च। **दीर्घमिति**। अस्य रोमहर्षणस्य दीर्घमायुः, सत्त्वं, बलं, इन्द्रियं इन्द्रियपाटवात्मकम् अन्यञ्च यद्भवद्भिराशासितम् अपेक्षितं तत्सर्वं ब्रूत, योगमायया आश्चर्यशक्त्या अहं तत्सर्वं साधये ॥ ३४ ॥

इत्थमुक्ताः प्राहुर्मुनयः **अस्त्रस्येति**। अस्त्रस्य त्वत्प्रयुक्त कुशाग्ररूपस्य तव वीर्यस्य च मृत्योः रोमहर्षणमरणस्य[1] च यथा सत्यत्वं यथा चास्माकं वचः-भवत् सत्रं त्वं दीर्घायुष्मान् पुराणवक्ता भवेत्येवंविधं वचः सत्यं भवेत्तथा हे राम! विधीयतां क्रियतामित्यर्थः ॥ ३५ ॥

अस्त्रादीनां सत्यत्वं सम्पादयन्नाह रामः -(बृह.उ 6-4-9) **आत्मा वा** इति। "अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे" (बृह.उ 6-4-9) "आत्मा वै पुत्र नामाऽसि" (कौषी.उ.2-11) "सजीव शरदः शतम्" (कौषे. उ.2-11) इत्यादि वेदानुशासनम् वेदवाक्यम्। तस्मादस्य पुत्रः उग्रश्रवाः भवतां पुराणवक्ता भवेत्, आयुरादिमांश्च भवेत् इत्यर्थः। अतः साक्षात् रोमहर्षणस्याऽऽजीवनादस्त्रस्य मृत्योश्च सत्यता पुत्ररूपेण च आयुरादि सिद्धेः भवद्वचनस्यापि सत्यता स्यादिति भावः ॥ ३६ ॥

---

1. B. omits मरणस्य

**विज०** प्रथमे कल्पे उत्तमकल्पे यावान्नियमोविधिः सत्वेव विधिः भवद्भिर्विधीयताम् ॥ ३३ ॥

तस्य व्रतं दीर्घमायुः सत्त्वमिन्द्रियं दूरश्रवण दूरदर्शनादि शक्तिमत्साधये। किं बहुना, यद्य दाशासितं कामितं तत्तत्साधय इत्याह - आशासितमिति ॥ ३४ ॥

अस्त्रवीर्ययोरमोघत्वं मृत्योरनावृत्तित्वमस्मद्वचसश्च अवन्ध्यफलत्वं यथास्यात्तथा विधीयताम् ॥ ३५ ॥

पुराणानां वक्ता पुत्रः स्यात् ॥ ३६ ॥

**किं वः कामो मुनि श्रेष्ठाः ब्रूताऽहं[1] करवाण्यथ[2]।**
**अजानतः[3] स्त्वपचितिं यथा मे चिन्त्यतां[4] बुधाः ॥ ३७ ॥**

**ऋषय[5] ऊचुः[5]**

**इल्वलस्य सुतो घोरो बल्वलो नाम दानवः ।**
**स दूषयति नः सत्रमेत्य[6] पर्वणि[6] पर्वणि ॥ ३८ ॥**

**तं पापं जहि दाशार्ह तन्नश्शुश्रूषणं परम् ।**
**पूयशोणितविण्मूत्र सुरामांसाभिवर्षिणम् ॥ ३९ ॥**

**ततश्च भारतं वर्षं परीत्य सुसमाहितः ।**
**चरित्वा द्वादशान्मासां[7] स्तीर्थस्नायी विशुध्यसे ॥ ४० ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादश साहस्र्यां

श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

बलदेवचरित्रे बल्वलवधोपक्रमो नाम अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

---

1. Ml. V. बूत मां 2. M. Ma. करवाणि तत् ; T. W. करवाण्युत 3. M. Ma. Ml. V. °तश्चा° 4. M. Ma. बुध्यतां 5- -5. T. W. omit 6- -6. M. Ma. सर्वान् सत्रमेत्य च 7. B. G. J. °श मा°

**श्रीध०** प्रथमं तावदपेक्षितं कथयत तदहं करिष्यामीत्याह - **किं वः काम** इति। किं विषयो वः कामो वर्तते तद्ब्रूतेति। अथानन्तरं ब्रह्मदण्डं गृहीत्वा अपचितिं निष्कृतिमजानतो मे हे बुधाः। यथा वच्चिन्त्यता मपचितिरिति ॥ ३७ ॥

प्रथमं तावदपेक्षितं कर्तव्यं कथयन्ति **इल्वलस्येति** द्वाभ्याम् ॥ ३८, ३९ ॥

प्रायश्चित्तमाहुः - **ततश्चेति**। परीत्य प्रदक्षिणी कृत्य सुसमाधानादि गुणविशेषादेकाब्दमात्रमुक्तमिति अविरोधः । सुसमाहितः कामक्रोधादि रहितः चरित्वा कृच्छ्राणि ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां

अष्टसप्ततितमोध्यायः ॥ ७८ ॥

**वीर०** किञ्च। ब्रह्मदण्डार्थं युष्मदपेक्षितं कथयत तदहं करिष्यामीत्यत आह - **किं वः काम** इति। हे मुनि श्रेष्ठाः! वो युष्माकं किं कामः यद्विषयः कामो वर्तते तं ब्रूत। अथानन्तरं ब्रह्मदण्डं गृहीत्वा अपचितिं निष्कृतिं अजानतो मम गृहे बुधाः! यथावत् वेदशास्त्रानुसारतः[1] अपचितिः चिन्त्यतां विधीयतामित्यर्थः ॥ ३७ ॥

इत्थमुक्ताः तावदपेक्षितं - **इल्वलस्येति**। दानवो, वर्तत इति शेषः। सपल्वलः प्रतिपर्वाऽऽगत्य स' दूषयति ॥ ३८ ॥

तं पल्वलं जहि मारय , तदेव नोऽस्माकं परमुत्कृष्टं शश्रूषणम् तं कथम्भूतम्? पूयादी न्यभिवर्षतीति[2] तथाभूतम्। तत्र पूयम् हेयम् ॥ ३९ ॥

ततः तद्वधानन्तरं भारतं वर्षं परीत्य प्रदक्षिणी कृत्य सुसमाहितो रागद्वेषादिरहितः तीर्थस्नानशीलो द्वादशमासां श्चरित्वा विशुध्यसे शुद्धो भविष्यसि। चरित्वेत्यस्य कृच्छ्राणीत्यादिर्वा ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रिकायां व्याख्यायां

अष्टसप्ततितमोऽध्यः ॥ ७८ ॥

---

1. I. T.W. omit 2. B. °नभि°

**विज०** हे बुधाः! युष्माभिर्वरो दत्त इत्यजानतो मे अपचिति परिहारं बुध्यताम् ॥ ३७ ॥

प्रायश्चित्तं विधातुमाहुः - **इत्वलस्येति** ॥ ३८-४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

विजयध्वजरीत्या षण्णवतितमोध्यायः ॥ ९६ ॥

अस्मिन्नध्याये 'विज' रीत्या षोडश श्लोक पर्यन्तं एकाधिक शततमोऽध्यायः।

सप्तदशश्लोकादारभ्य समापन पर्यंतं षण्णवति तमोऽध्यायः ॥

# एकोनाशीतितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या सप्तनवतितमोऽधयायः)

## श्रीशुक अवाच

अथ[1] पर्वण्युपावृत्ते प्रचण्डः पांसुवर्षणः ।
भीमोवायुरभूद्राजन्पूयगन्धश्च[2]सर्वशः ॥ १ ॥

ततोऽमेध्यमयं वर्षं पल्वलेन[3] विनिर्मितम् ।
अभवद्यज्ञशालायां सोऽन्वदृश्यत[4] शूलधृत्[5] ॥ २ ॥

तं विलोक्य बृहत्कायं भिन्नाञ्जनचयोपमम् ।
तप्तताम्रशिखाश्मश्रुं[6] दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीमुखम् ॥ ३ ॥

सस्मार मुसल रामः परसैन्यविदारणम्[7] ।
हलं च दैत्यदमनं ते[8] तूर्णमुपतस्थतुः ॥ ४ ॥

तमाकृष्य हलाग्रेण पल्वलं[9] गगने चरम् ।
मुसलेनाहनत्क्रुद्धो मूर्ध्नि न्यब्रह्मद्रुहं बलः ॥ ५ ॥

---

1. B. G. J. K. M. Ma. MI . V. ततः 2. MI. V. °ति° 3.B. G. J. M. Ma. °ब° 4. MI. V. °प्य° 5. B. G. J. M. Ma. °धृक्° ; MI. V. °भृत्° 6. K. M. Ma.T. W. °श्रु° 7. M. Ma. °विमर्दनम्° 8. M. Ma. °तौ° 9. B. G. J. M. Ma. ब°

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

ऊनाशीतितमे रामो बल्वलं द्विजतुष्टये। निहत्य तीर्थ स्नानाद्यैः सूतहत्यामपानुदत् ॥

**अथ** इति। उपावृत्ते प्राप्ते ॥ १,२ ॥

**तमिति**। भिन्नो विदीर्णोऽञ्जनचय उपमा यस्य तमतिकृष्णमित्यर्थः। तप्तताम्रवत् शिखा श्मश्रूणि च यस्य तम्। दंष्ट्राभिरुग्रं भ्रुकुटीयुतं[1] मुखं यस्य तम् ॥ ३-५ ॥

---

1. B. °टीमुखं

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ पल्वलवधं वक्तुं तदुच्चेष्टितं प्रस्तौति - **तत इति**। पर्वण्युपावृत्ते प्राप्ते सति प्रचण्डो निष्ठुरः पांसून् वर्षतीति तथा भयङ्करो दुर्गन्धो वायुः अभूत् उदभूत् ॥ १ ॥

ततः अमेध्यमयमिति च्छेदः स पल्वलः शूलं धरतीति तथा अन्वदृश्यत ॥ २.॥

**तमिति**। तं पल्वलमवलोक्य रामः परसैन्यं विदारयतीति तथा तं मुसलं दैत्यान् दमयति नाशयतीति तथा तद्बलं च सस्मारेति सम्बन्धः। तं कथम्भूतम्? बृहत् कायः शरीरं यस्य तं, भिन्नोविदीर्णोऽञ्जनचयःउपमा यस्य तम्, अतिकृष्णमित्यर्थः। तप्तताम्रवच्छिखा श्मश्रूणि च यस्य तं, दंष्ट्राभिरुग्रं भ्रुकुटीयुतं मुखं यस्य तं, तौ[1] हलमुसलौ[2] तूर्णं तदैव उपतस्थतुः सन्निहितौ[3] बभूवतुः ॥ ३,४॥

**तमिति**। गगने चरं तं पल्वलं हलाग्रेणाकृष्य बलो रामः क्रुद्धो मूर्ध्नि मुसलेनाहनत् ताडयामास, तत्र हेतुत्वेन पल्वलं विशिनष्टि - ब्रह्मद्रुहं ब्रह्मा ब्रह्मकुलं[4] तस्मै द्रुह्यतीति तथा तम् ॥ ५ ॥

---

1. K. ते 2. K .ले 3. K. ते 4. B.K. ब्राह्मण

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

तप्तताम्रवत् प्रकाशमानाभिः शिखाश्मश्रुदंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीभिः युक्तं मुखं यस्य सः तथा तम् । शिखा च श्मश्रूणि च दंष्ट्रे च उग्रभ्रुकुटी च शिखाश्मश्रुदंष्ट्रोग्रभ्रुकुट्यः उग्रा भ्रुकुटी उग्रभ्रुकुटी ॥ १ -५ ॥

**सोऽपतद्भुवि[1] निर्भिन्नललाटोऽसृक्समुत्सृजन् ।**
**मुञ्चन्नार्तस्वरं शैलो यथा वज्रहतोऽरुणः[2] ॥ ६ ॥**

**संस्तुत्य मुनयो रामं प्रयुज्यावितथाशिषः ।**
**अभ्यषिञ्चन्महाभागा[3] वृत्रघ्नं विबुधा यथा ॥ ७ ॥**

**वैजयन्तीं ददुर्मालां श्रीधामाम्लानपङ्कजाम् ।**
**रामाय वाससी दिव्ये दिव्यान्याभरणानि च ॥ ८ ॥**

**अथ तैरभ्यनुज्ञातः कौशिकीमेत्य ब्राह्मणैः ।**
**स्नाता सरोवरमगाद्यतस्सरयुरास्रवत् ॥ ९ ॥**
**अनुस्रोतेन सरयूं प्रयागमुपगम्य सः ।**
**स्नात्वा सन्तर्प्य देवादीञ्जगाम पुलहाश्रमम् ॥ १० ॥**

1. M. Ma. °द्वल 2. M.Ma. °ऽसुरः 3. K.T.W. भाग ; M.Ma. °र्हाभिः 4- -4. M. Ma. स्रोतेन सरयूं पायात्

**श्रीध० स इति**। अरुणो रुधिरेण दैत्यः शैलो धातुभिर्यथेति ॥ ७ ॥

**वैजयन्तीमिति**। श्रियो धामानि अम्लानानि पङ्कजानि यस्यां ताम् ॥ ८ ॥

**अथेति**। किं तत्सरः तदाह- यत इति। आस्रवदुदगात् ॥ ९॥

**अनुस्रोतेनेति**। अनुस्रोतेन अनुलोमतः। पुलहाश्रमं हरिक्षेत्रम् ॥ २० ॥

1. B.J. omit तदाह

**वीर० स** इति। निर्भिन्नं ललाटं यस्य सः पल्वलः असृक् रुधिरम् उत्सृजन् उद्गिरन्[1] आर्तस्वरं मुञ्चंश्च भुवि भूमौ अपतत्, यथा अरुणः गैरिकादि धातुभिरिति शेषः। उपमेये तु रुधिरेणारुणः वज्रेणाहतः पर्वतः अपतत्[2],तद्वत् ॥ ६ ॥

**संस्तुत्येति**। अवितथाः सत्याः ताः आशिषः प्रयुज्य आशीर्वादान् कृत्वेत्यर्थः। हे महाभाग! अभ्यषिञ्चन् स्नापयामासुः। यथा विबुधाः देवाः वृत्रघ्नम् इन्द्रं तद्वत् ॥ ७ ॥

**वैजयन्तीमिति**। श्रियो धामानि अम्लानि पङ्कजानि यस्यां तां वैजयन्तीं नाम मालां दिव्ये वस्त्रे दिव्यान्याभरणानि च ददुः ॥ ८ ॥

**अथेति**। तैर्मुनिभिः ब्राह्मणैस्सह कौशिकीं नदीमागत्य तत्र स्नात्वा ततस्सरोवरमगात्। किं तत्सरस्तत्राह यतस्सरसः सरयूः आस्रवत् उदगात् ॥ ९ ॥

सरयूमनुस्रोतेन अनुलोमेन स बलभद्रः पुलहाश्रमं सालग्रामक्षेत्रम् ॥ १० ॥

1.T.W. Omit उद्गिरन् 2. K. पतति

**विज०** श्रियो धामानि अम्लानानि च पङ्कजानि यस्यां सा, तथा ताम् ॥ ६-८॥

यतः सरोवरात् आस्रवत् अस्यन्दत् ॥९॥

स्रोतेन प्रवाहेण ॥१०॥

**गोमतीं गण्डकीं स्नात्वा विपाशां शोण आप्लुतः ।**
**गयां गत्वा पितॄनिष्ट्वा गङ्गासागरसङ्गमम्[1] ॥ ११ ॥**

**उपस्पृश्य महेन्द्रादौ रामं दृष्ट्वाऽभिवाद्य च ।**
**सप्तगोदावरीं वेणीं[2] पम्पां भीमरथीं ततः ॥ १२ ॥**

**स्कन्दं दृष्ट्वा ययौ रामश्श्रीशैलं गिरिशालयम् ।**
**द्रविडेषु[3] महापुण्यं दृष्ट्वाद्रिं वेङ्कटं[4] प्रभुः ॥ १३ ॥**

**कामकोटीं[5] पुरीं काञ्चीं कावेरीं च सरिद्वराम् ।**
**श्रीरङ्गाख्यं महापुण्यं यत्र सन्निहितो हरिः ॥ १४ ॥**

**ऋषभाद्रिं हरेः क्षेत्रं दक्षिणां मथुरां तथा ।**
**समुद्रसेतुमगमन्महापातकनाशनम्[6] ॥ १५ ॥**

---

1. B.G.J. °सङ्गमे 2. B.G.J. वेणां 3. M.Ma द्रुमिलेषु 4.T.W. वेङ्कटाचलम् 5. B.G.J. °कोष्णीं; M.Ma कोटीं 6. B.G.J. समुद्रं

**श्रीध० गोमतीमिति।** गोमत्यां गण्डक्यां विपाशायां च स्नात्वा शोणे च आप्लुतः। इष्ट्वा सम्पूज्य ॥ ११,१२ ॥

**स्कन्दमिति। श्रीशैलं** श्रीपर्वतम् ॥ १३ ॥

**कामकोटिमिति। काञ्चीं** पुरीम् ॥ १४,१५ ॥

**वीर०** गोमत्यां गण्डक्यां विपाशायां च स्नात्वा शोणे च नदे आप्लुतः स्नातः पितॄन् पितामहादीन् इष्ट्वा सम्पूज्य मनसा आराध्येत्यर्थः जीवत्पितृकत्वात् श्राद्धाधिकाराभावात्, यद्यपि जीवत्पितृकैः गया न गन्तव्येति वदन्ति, तथाप्यत एव वचनात्तीर्थयात्राव्याजेन गन्तव्या, न तु श्राद्धार्थमित्यवगम्यते, गङ्गासागरसङ्गमं गत्वा उपस्पृश्य तत्र स्नात्वा, वत्वाप्रत्ययान्तानां

समुद्रसेतुमगमदित्युपरिष्टादन्वयः। गिरिशस्य रुद्रस्य आलयं श्रीशैलं श्रीपर्वतं काञ्चीपुरीं सरिद्वरां कावेरीं यत्र हरिः सन्निहितः तच्छ्रीरङ्गाख्यं महापुण्यावहं क्षेत्रम्, ऋषभाद्रिं वनगिरिं, तद्विशेषणं हरेः क्षेत्रमिति, तत्रेति ॥ ११-१५॥

**विज०** शोणं नदम् ॥ ११ ॥

सप्तशाखाभेदेन समुद्रं गता सप्तगोदावरी तां वेणीं कृष्णवेणीम् ॥ १२-१५ ॥

**तत्रायुतमदाद्धेनू ब्राह्मणेभ्यो हलायुधः ।**
**कृतमालां ताम्रपर्णीं मलयां च कुलाचलम् ॥ १६ ॥**
**[1]तत्रागस्त्यं समासीनं नमस्कृत्याभिवाद्य च ।**
**योजितस्तेन चाशीर्भिरनुज्ञातो गतोऽर्णवम् ॥**
**दक्षिणं तत्र कन्याख्यां दुर्गां देवीं ददर्श सः ॥ १७ ॥**
**ततः [2]फाल्गुनमासाद्य पञ्चाप्सरसमुत्तमम् ।**
**विष्णुस्सन्निहितो यत्र स्नात्वाऽस्पर्शद्भवापहम् ॥ १८॥**
**स्थानं दूरं हरेः स्थानं यत्र सन्निहितो हरिः ।**
***ततोऽ[3]तिव्रज्य भगवान् [4]केरलांस्तुत्रिगर्तकान् ॥**
**गोकर्णाख्यं शिवक्षेत्रं सान्निध्यं यत्र धूर्जटेः ॥ १९ ॥**
**[5]आर्यां द्वैपायनीं [6]दृष्ट्वा शूर्पारकमगाद्बलः ।**
**तापीं पयोष्णीं निर्विन्ध्यामुपस्पृश्याथ दण्डकम् ॥ २० ॥**

---

1. M. Ma तथा° 2. K. M. Ma. T.W. फ° * This half verse is found only in M.Ma editions. 3. B.G.J. °ऽभि 4. K.T.W. °रलाञ्छत ; M.Ma °रलादीञ्जि° 5. M. Ma तत्र 6. M.Ma °नं 7.K. °काम् ;T.W. कान्

**श्रीध० तत्रेति**। दक्षिणमर्णवम् ॥ १६-१७ ॥

**तत इति**। फाल्गुनमनन्तपुरम्। पञ्चाप्सरसं सरः। अस्पर्शदस्पृशत् ॥ १८ ॥

**तत इति**। केरलादीन् देशान् ॥ १९ ॥

**आर्यामिति**। द्वीपमयनं यस्यास्ताम् ॥ २० ॥

**वीर०** तत्र समुद्रसेतौ हलायुधः रामः अयुतं धेनूः ददौ। कृतमालामिति। अगमदित्यनुषङ्गः, शेषो वा ॥ १६ ॥

तत्र मलयपर्वते तेनागस्त्येन आशीर्भिः योजितः दक्षिणमर्णवं गतः। तत्रार्णवसमीपे कन्याख्यां कन्यां कुमार्याख्यां दुर्गां देवीं ददर्श स बलरामः ॥ १७ ॥

**तत इति**। फाल्गुनमनन्तपुरं प्राप्य उत्तमं पञ्चाप्सरसं नाम सरः समासाद्य, तद्विशिनष्टि - यत्र पञ्चाप्सरसेविष्णुस्सन्निहित. तत्र स्नात्वा गवामयुतम् अस्पर्शत् अदादित्यर्थः ॥ १८ ॥

भगवान् रामः केरलादीन् देशान् यत्र धूर्जटे शिवस्य सान्निध्यं तद्गोकर्णाख्यं शिवाभिमानिक्षेत्रम् ॥ १९ ॥

द्वीपमयनं यस्यास्तामार्यामम्बिकां दृष्ट्वा शूर्पारकं क्षेत्रं जगाम। तापीमिति। उपस्पृश्य ताप्यादिषु स्नात्वा अथ दण्डकं दण्डकाख्यमरण्यं प्रविश्य ॥ २० ॥

---

1- -1. K.T.W.Omit 2. B.adds चोदितश्च ; K. adds चोदितश्च 3. K. कन्यां 4. T.W. फ° 5. B. ददावित्यर्थः

**विज०** अस्पृशत् ददौ। स्थानं दूरम् अनन्तक्षेत्रम् ॥ १६-१९ ॥

धूर्जटेः शिवस्य ॥ २० ॥

**प्रविश्य रेवामगमद्यत्र माहिष्मती पुरी ।**
**मनुतीर्थमुपस्पृश्य प्रभासं पुनरागमत् ॥ २१ ॥**

**श्रुत्वा द्विजैः कथ्यमानं कुरुपाण्डवसंयुगे ।**
**सर्वराजन्य निधनं भारं मेने हृतं भुवः ॥ २२ ॥**

**सभीमदुर्योधनयोर्गदाभ्यां युध्यतोर्मृधे ।**
**वारयिष्यन्विनशनं जगाम यदुनन्दनः ॥ २३ ॥**

**युधिष्ठिरस्तु तं दृष्ट्वा यमौ कृष्णार्जुनावपि ।**
**अभिवाद्याभवं स्तूष्णीं किं विवक्षुरिहागतः ॥ २४ ॥**

**गदापाणी उभौ दृष्ट्वा संरब्धौ विजयैषिणौ ।**
**मण्डलानि विचित्राणि चरन्ताविदमब्रवीत् ॥ २५ ॥**

---

1. M.Ma अनु° 2- -2 M. Ma तु कथितं 3- -3 भारमेतद्धृतं 4. M. Ma °तोरणम् 5. M.Ma °शसनं 6. M.Ma °वीरस्तु

**श्रीध०** स इति विनशनं कुरुक्षेत्रम् ॥ २१-२३ ॥

**युधिष्ठिरस्त्विति** ॥ विवक्षुः वक्तुमिच्छुः। किं वदिष्यतीति भिया तूष्णीमासन्निति ॥ २४-२५ ॥

**वीर०** ततो रेवां नर्मदामगमत्, यत्र रेवातीरे माहिष्मतीं पुरी वर्तते, तां रेवामित्यर्थः ॥ २१ ॥

**श्रुत्वेति**। तत्र द्विजैः कथ्यमानं सर्वेषां बहूनां राजन्यानां राज्ञां निधनं नाशं शृत्वा भुवो भारं हतं भगवतेति शेषः। मेने अमन्यत ॥ २२ ॥

**स इति**। स यदुनन्दनो रामः मृधे युद्धे युध्यतोस्सतोः तौ वारयिष्यन् वारयितुं विनशनं कुरुक्षेत्रं जगाम ॥ २३ ॥

**युधिष्ठिर इति**। तं रामं दृष्ट्वा ययौ तत्समीपमिति शेषः। तथा कृष्णार्जुनावपि ययतुः ते तमभिवाद्य किं वक्तुमिच्छुरिहागत इति संशयानाः तूष्णीमभवन् ॥ २४ ॥

उभौ भीमदुर्योधनौ दृष्ट्वा इदं वक्ष्यमाणं अब्रवीत्, कथम्भूतौ? संरब्धौ क्रुद्धौ विजयमाकाङ्क्षन्तौ[1] विचित्राणि मण्डलानि गतिभेदान् चरन्तौ कुर्वन्तौ ॥ २५ ॥

---

1. B. काङ्क्षमाणै

**विज०** अनुतीर्थं नाम तीर्थम् ॥ २१ ॥

भुव एतत् एतं भारं हतं श्रुत्वा एतत् एतर्हि भुवो भारं हतं मेने इति शेष इति वा ॥ २२ ॥

विशसनं युद्धम् ॥ २३ ॥

किं वक्तुकाम आगत इति मत्वा ॥ २४-२५ ॥

युवां तुल्यबलौ वीरौ हे राजन् हे वृकोदर ।
एकं प्राणाधिकं मन्ये उतैकं शिक्षयाऽधिकम् ॥ २६ ॥

तस्मादेकतरस्येह युवयोस्समवीर्ययोः ।
न लक्ष्यते जयोऽन्यो वा विरमत्वफलो रणः ॥ २७ ॥

न तद्वाक्यं जगृहतुर्बद्धवैरौ नृपार्थवत्[1] ।
अनुस्मरन्तावन्योन्यं दुरुक्तं दुष्कृतानि च ॥ २८ ॥

दिष्टं तदनुमन्वानो रामो द्वारवतीं ययौ ।
उग्रसेनादिभिः प्रीतैः[2] ज्ञातिभिः समुपागतः[3] ॥ २९ ॥

★ तं पुनर्नैमिशं प्राप्तमृषयोऽयाजयन्मुदा[1] ।
क्रत्वङ्गं[4] क्रतुभिस्सर्वैर्निवृत्ताखिलविग्रहम्[5] ॥ ३० ॥

---

1. K.T.W. °त्यजौ 2. K.T.W. °स्फतैः 3. B. तैः ★ This verse is not found in M.Ma editions only. 4. K. °ङ्गं 5. M1.T.V.W. °र्वे°

**श्रीध० तस्मादिति**। अन्यः पराजयो वा। रणः सङ्ग्रामः ॥ २६-२७ ॥

**नेति**। अर्थवद्वाक्यम् ॥ २८ ॥

**दिष्टमिति**। दिष्टं प्राचीनं कर्म। समुपागतः सङ्गतः ॥ २९ ॥

**तमिति**। तं बलरामं क्रत्वङ्गं यज्ञमूर्तिम् ॥ ३० ॥

**वीर०** उक्तिमेवाह - **युवामिति**। हे राजन्! दुर्योधन! हे वृकोदर! भीम! एकं भीमं प्राणाधिकं बलाधिकं मन्ये, उतैकम् एकं तु दुर्योधनं शिक्षयाऽधिकं मन्ये ॥ २६ ॥

तस्मात् हेतोः तुल्यवीर्ययोः युवयोः अन्यतरस्य विजयः अन्यः पराजयो वा भविष्यतीति न लक्ष्यते, अतो निष्फलो रणः सङ्ग्रामः विरमतु शाम्यतु ।। २७ ।।

**नेति**। नृपात्मजौ भीमदुर्योधनौ इत्थमुक्तावपि तस्य रामस्य वाक्यं न जगृहतुः, तत्र हेतुत्वेन तौ विशिनष्टि-बद्धवैरौ, तत्रापि हेतुः - अन्योन्यं दुरुक्तं [1-]दुश्चेष्टितानि[-1] च स्मरन्तौ ॥ २८॥

**दिष्टमिति**। रामः तत् स्ववाक्याग्रहणं दिष्टं तयोः प्रचीनकर्मप्रयुक्तं मन्वानः तूष्णीं द्वारवतीं पुरीं ययौ, तत्र च स्फीतैस्सर्वसम्पत्समृद्धैः उग्रसेनादिभिस्सङ्गतो बभूव ॥ २९ ॥

तमिति। तं बलभद्रं निवृत्ताखिलविरोधं क्रत्वङ्गैस्सह क्रतुभिः अयाजयन्। क्रत्वङ्गमिति पाठे यज्ञशरीरकं परमात्मानम् ॥ ३० ॥

---

1--1 B. दुष्कृतानि

**विज०** प्राणाधिकं बलाधिकम् ॥ २६ ॥

अन्यः पराजयो वा विरमतु शान्तो भवतु ॥ २७ ॥

दुष्कृतानि जतुगृहदाहादीनि ॥ २८ ॥

तद्युद्धं दिष्टं दैवकृतम् ॥ २९,३० ॥

▲ **तेभ्यो विशुद्धविज्ञानं भगवान्व्यतरद्विभुः ।**
**येनैवात्मन्यदो विश्वमात्मानं विश्वगं विदुः ॥ ३१ ॥**

**स्वपत्न्याऽवभृथस्नातो ज्ञातिबन्धुसुहृद्वृतः ।**
**रेजे स्वज्योत्स्नयेवेन्दु स्सुवासास्सुष्ठलङ्कृतः ॥ ३२ ॥**

**ईदृग्विधान्यसंख्यानि बलस्य बलशालिनः ।**
**अनन्तस्याप्रमेयस्य मायामर्त्यस्य सन्ति हि ॥ ३३ ॥**

**योऽनुस्मरेत रामस्य कर्माण्यद्भुतकर्मणः ।**

**सायं प्रातरनन्तस्य विष्णोस्सदयितो भवेत् ॥ ३४ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

---

▲ These two verses are not found in M.Ma editions only. 1. Ml.V. द्धं 2. K.T.W. नेकानि 3- -3 M. Ma Omit 4- -4 M.Ma Omit 5. K.T.W. शृण्वन् गृणन्न°

**श्रीध० तेभ्य** इति। आत्मन्यधिष्ठाने विश्वगं सर्वानुस्यूतं येनैव विदुः पश्यन्ति तद्विशुद्धं विज्ञानं व्यतरददात् ॥ ३१-३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां

एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

**वीर०** भगवान् रामः तेभ्यः ऋषिभ्यः विशुद्धं विपर्यय संशयादिरहितं विज्ञानं व्यतरत् अदात् उपदिदेशेत्यर्थः। किं तत्ज्ञानम्? यद्व्यतरदित्यत आह-येनैवेति। येन ज्ञानेन आत्मनि परमात्मन्याधारभूते विश्वमात्मानं च विश्वगं विस्वं गच्छति व्याप्य तिष्ठतीति तथाभूतं विदुः साक्षात् कुर्युः, तथाविधं ज्ञानं व्यतरदित्यर्थः। (ज्ञानप्रदानं दक्षिणास्थानीयमिति बोध्यम्) ॥ ३१ ॥

स्वपत्येति। रेवत्याख्यया स्वपत्या सह अवभृथस्नातः कृतावभृथस्नान इत्यर्थः। स्वज्योत्स्नया चन्द्र इव रेजे, ज्योत्स्नास्थानीया स्वपत्नी, चन्द्रस्थानीयस्तु रामः, अनपायित्वाच्छुभ्रवर्णत्वाच्च ॥ ३२ ॥

रामस्य चेष्टितानि साकल्येन वक्तुं न शक्यानीत्यभिप्रयन्नाह — **ईदृग्विधानीति**। अनन्तस्य अनन्तावताररूपस्य अप्रमेयस्य असङ्ख्यातकल्याणगुणस्य मायामर्त्यस्य स्वसङ्कल्पपरिगृहीतमनुष्यजन्मनः ॥ ३३ ॥

उपवर्णितबलभद्रचेष्टितश्रवणादि फलमाह **य** इति। अद्भुतानि कर्माणि यस्य तस्यानन्तस्य तदवताररूपस्य बलदेवस्य कर्माणि यः पुमान् शृण्वन्, सति वक्तरि गृणन् कथयन् सति श्रोतरि कीर्तयन् उभयोरभावे अनुस्मरेच्च[2-], स विष्णोर्दयितो निरतिशयप्रियो भवेत् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषालिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां व्याख्यायां

एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

---

1- -1W. Omits 2- -2 B. Omits

**विज०** बलभद्ररामस्य[1-] विक्रमश्रवणादिना किं फलं भवतीति तत्राह – ईदृग्विधानीति[-1] ॥ ३१-३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

(विजयध्वजरीत्या सप्तनवतितमोऽध्यायः)

---

1- -1B. Omits.

# अशीतितमोऽध्यायः

(श्रीविजयध्वजरीत्या अष्टनवतितमोऽध्यायः)

## कुचेलोपाख्यानम्

★ राजोवाच

भगवन्यानि चाऽन्यानि मुकुन्दस्य महात्मनः ।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य श्रोतुमिच्छामि हे प्रभो! ॥ १ ॥

को नु श्रुत्वा सकृद्ब्रह्मन् उत्तमश्लोकसत्कथाः ।
विरमेत विशेषज्ञो विषण्णः काममार्गणैः ॥ २ ॥

सा [1-]वागनन्तस्य[-1] गुणान् गृणीत करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च ।
स्मरेद्वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः ॥ ३ ॥

शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानमेत्तदेव यत्पश्यति तद्धि चक्षुः ।
अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम् ॥ ४ ॥

सूत उवाच

विष्णुरातेन सम्पृष्टो भगवान्बादरायणिः ।
वासुदेवे भगवति निमग्नहृदयोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥

श्रीशुक उवाच

कृष्णस्याऽऽसीत्सखा कश्चित् ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः ।
विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ॥
यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानो गृहाश्रमी ॥ ६ ॥

---

★ विजयध्वजरीत्या अयमध्यायः सप्तदशश्लोकादारभ्यते। 1- -1 B.G.J °गया तस्य

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अथाऽशीतितमे कृष्णः श्रीदामानं गृहागतम्। सम्पूज्याऽपृच्छदर्थेप्सुं गुरुवासकथां मुदा ॥

सुरारिमारको हरिः पुरा चकार शं सताम्। अतःपरं विनैव तन्निजोपकारमाचरत् ॥

श्रीरामचरितानि श्रुत्वा पुनर्मुकुन्दवीर्याणि पृच्छति - **भगवन्निति**। हे भगवन्! श्रोतुमिच्छामि इत्यन्वयः॥ १ ॥

**क** इति। उत्तमश्लोकस्य श्रीकृष्णस्य सत्या मनोहराः विषयवैतृष्ण्यजनिकाः कथाः विशेषज्ञः सारवित्, विषण्णो विषादं प्राप्तः ॥ २ ॥

कथाश्रवणं स्तुवन् दृष्टान्ततया अन्यार्थानाह **या वागिति**। तावेव करौ यौ तत्कर्मकर्तारौ, तदेव मनो यत् स्थिरजङ्गमेषु वसन्तं स्मरेत्, यस्तस्य पुण्याः कथाः शृणोति। स एव कर्णः ॥ ३ ॥

**शिर** इति। उभयलिङ्गमिति मत्वा आनमेत्तदेव शिरः तदेव तस्य लिङ्गं स्थिरं जङ्गमश्च तस्यैव लिङ्गमित्येव यत्पश्यति तदेव चक्षुः तान्येव अङ्गानि यानि पादोदकं भजन्तीति ॥ ४-६ ॥

---

1. B महे

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ भगवतो भक्तानुग्रहं ब्रह्मण्यत्वाद्यात्मकं कुचेलवृत्तान्तं प्रस्तोष्यंस्तावत् तद्विषयकं राज्ञः प्रश्नमाह सूतः **भगवन्निति**। हे भगवन्! शुक! अनन्तस्य अपरिच्छिन्नस्वरूपस्वभावस्य महात्मनो भक्तानुकम्पिनो मुकुन्दस्य यानि वीर्याणि प्रभावसूचकानि कर्माणि तानि श्रोतुं इच्छाम हे प्रभो! वक्तुं समर्थेति भावः ॥ १ ॥

बहुधा श्रुतवतोऽपि कुतस्तव न विरक्तिरुदेतीत्यत आह **कोन्विति**। हे ब्रह्मन्! उत्तमश्लोकस्य सत्कथाः असकृदपि श्रुत्वा काममार्गणैः विषयान्वेषणैः अविषण्णः विषादमप्राप्तः विशेषज्ञो रसज्ञश्च को वा पुमान् विरमेत, भगवत्कथाश्रवणादिति शेषः। सारज्ञश्चेन्न कोऽपि विरमेतेत्यर्थः। यद्वा काममार्गणैः विषण्णः निर्वेदं प्राप्तः ॥ २ ॥

भगवद्गुणवर्णनादिषु उपयुक्तानामेव वागादीन्द्रियाणां साफल्यम्, अन्यथा वैयर्थ्यमेवेत्याह - सेति द्वाभ्याम्। या अनन्तस्य गुणान् गृणीते वर्णयति सैव वाक् सफलेत्यर्थः। विपर्यये 'जिह्वाऽसति दार्दुरकीव' (भाग.1-3-10) इत्यादि द्वितीयस्कन्धोक्तोऽर्थोऽनुसन्धेयः। तस्य भगवतः कर्माऽऽराधनात्मकं कुरुत इति तथा। तावेव करौ हस्तौ। स्थावरेषु जङ्गमेषु[1] चाऽन्तरात्मतया वसन्तं भगवन्तं यत्स्मरेत् तदेव मनः। यस्तस्य पुण्याः कथाः शृणोति स एव कर्णः श्रोत्रम् ॥ ३ ॥

उभयं चराचरात्मकं लिङ्गं शरीरं यस्य तम्। विभवावताररूपमर्चाव्रतररूपञ्चेति वा।यत् आनमेत् प्रणमेत् तदेव शिरः। यत्तं पश्यति तदेव चक्षुः। विष्णोः तज्जनानां तद्भक्तानां वा (उदकं) पादोदकं नित्यं यानि भजन्ति सेवन्ते तान्येवाऽङ्गनि गात्राणि ॥ ४ ॥

इत्थमापृष्टः प्राह मुनिरित्याह सूतः **विष्णुरातेनेति**। विष्णुरातेन परीक्षिता निमग्नमासक्तं मानसं हृदयं यस्य सः ॥५॥

उक्तिमेवाऽऽह **कृष्णस्येत्यादिना** यावदध्यायसमाप्ति। ब्रह्मवित्तमः ब्रह्मविदां श्रेष्ठः इन्द्रियार्थेषु शाब्दादिविषयेषु विरक्तः। तत्र हेतुः प्रशान्तः आत्मा मनो यस्य, जितानीन्द्रियाणि बाह्यानि येन सः यदृच्छयोपपन्नेन दैवाल्लब्धेनान्नादिना वर्तमानःजीवन्। एवम्भूतः कृष्णस्य सखा आसीदिति सम्बन्धः ॥ ६ ॥

---

1. B चरेषु

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

भगवानपि गोविन्दः साधयित्वा स्ववाञ्छितम्। सुयोधने महाबाहौ निहते गदया रणे ॥ क ॥

विसृज्यायोधनं शून्यं प्रयातुमुपचक्रमे। कृपश्च कृतवर्मा च द्रौणिश्च रथिनां वरः ॥ ख ॥

अवशिष्टा महात्मानः सुयोधनबले त्रयः। पञ्चपाण्डुसुता वीराः सात्यकिश्च महाबलः॥ ग ॥

वैश्यपुत्रो युयुत्सुश्च शिष्टाः कृष्णपुरोगमाः। तान् पुरस्कृत्य गोविन्दो मुनिबृन्दसमन्वितः ॥ घ ॥

जगाम हास्तिनपुरं धृतराष्ट्रं प्रसादितुम्। गान्धारीं धृतराष्ट्रञ्च विदुरञ्च महामतिम् ॥ ङ ॥

प्रसाद्य पाण्डवान् स्वे स्वे राज्ये संस्थाप्य यत्नतः। स्तूयमानो मुनिगणैः सूतमागधवन्दिभिः ॥ च ॥

अनुयातः पाण्डुपुत्रैः प्रेमबाष्पाविलेक्षणैः। ताननुज्ञाप्य सोत्कण्ठान्रथेनादित्यवर्चसा ॥ छ ॥

शङ्खदुन्दुभि निर्घोषैः वेदमङ्गल निःस्वनैः। पुण्याहमन्त्रघोषैश्च द्वारकां प्रययौ हरिः ॥ ज ॥

विचित्रतोरणरम्यां चलत्कजलिकाकुलाम्। अलङ्कृतां पौरजनैः सिक्तसम्मृष्टभूतलाम् ॥ झ ॥

उपस्थितः पौरजनैः पालिकाङ्कुरधारिभिः। योषिद्भिर्वारमुख्याभि र्भूषिताभिश्च भूषणैः ॥ ञ ॥

वहद्भिर्दीपमुकुरकलशस्रक्फलाक्षतान्। उपस्थितो ब्राह्मणैश्च पुत्रैः पौत्रैस्सहानुजैः ॥ ट ॥

प्रविवेश पुरीं दिव्यां दिवसे पूजितो हरिः। स प्रविश्य सभां दिव्यां सुधर्मां लोकविश्रुताम् ॥ ठ ॥

आहुकं वासुदेवञ्च रामश्चैवाऽभ्यवायवत्। प्रणम्य मातरो विश्वाः काञ्चने परमासने ॥ ड ॥

उपविश्य यथाजोषं पूजितो यदुपुङ्गवैः। रराज रजनीनाथो यथा ग्रहगणै र्दिवि ॥ ढ ॥

हतावशिष्टै र्भूपालैस्तत्पुत्रैश्च महाबलैः। अभिषिक्तैर्यथा स्थानं सेव्यमानो दिवा निशम् ॥ ण ॥

अवतीर्णमहाभारां विश्वां विश्वम्भरो हरिः। धर्मराजं पुरस्कृत्य धर्मेणैवान्वशासत ॥ त ॥

राजा एतदेव इन्द्रियकृत्यमिति वक्ति **सा वागिति**। या अनन्तस्य गुणान् गृणीते सैव वाक्। यौ तत्कर्मकरौ तावेव करौ। अनेन करोतीति करः इति कर्तर्यच् प्रत्ययः सफल इति सूचितं यत्स्थिरजङ्गमेषु वसन्तं हरिं स्मरेत् तदेव मनः 'मन ज्ञाने' इति धातोः स्मरणलक्षणं ज्ञानं यस्तस्य हरेः कथा शृणोति स कर्णः। 'कृणआकर्णने' इति धातुः ॥ १-३ ॥

चराचरभेदेनोभयलिङ्गं उभयप्रतिमाम् आनमेद्यत्तदेव शिरः। श्रयत इति शिरः 'श्रिञ्सेवायाम्' इति धातोः नमनलक्षणसेवायां शिर इति निपात्यते। यदुभयलिङ्गं पश्यति तदेव चक्षुः 1-चेष्टे पश्यतीति चक्षुः-1। 'चक्षुर्दर्शने' इति धातुः। तस्य हरेः जनानां यानि विष्णोः पादोदकं नित्यं भजन्ति। पानस्नानलक्षणां सेवां कुर्वन्ति अथ मङ्गलानि तान्येवाऽङ्गानि, नान्यानि ॥ ४-६ ॥

---

1- -1 B Omits

अनेनाऽध्यायद्वयेन कृपणब्राह्मणकृपातिशयकथनेन हरिभक्तस्य केवलं न पारत्रिकमेव फलम्, अपि तु ऐहिकमप्यति विस्मयकरं स्यादितीदृशं माहात्म्यं वक्ति। तत्र प्रथमतो भारतयुद्धं समाप्य कृष्णस्य हस्तिनापुरप्रयाणप्रकारं प्रख्यापयति **भगवानपीति** ॥ क ॥

शून्यं शवादिनाऽपि रहितं; प्रयातुं गन्तुम्। अष्टादशाक्षौहिणीभ्यः शिष्टानाह - कृपश्चेति ॥ ख-ङ ॥

भगवत्सेवामन्तरेण राज्यानिच्छून् इत्यतो यत्नत इति युक्त्या प्रतिपाद्येत्यर्थः ॥ च,छ। ।

वेदे ये मङ्गलनिस्वनाः मङ्गलवचनानि, तैः ॥ ज,झ ॥

उपस्थितोऽभिगतः। अङ्कुरपूरितपालिका पात्रविशेषः ॥ ञ-ठ ॥

मातरो मातृः॥ ड ॥

यथाजोषं यथासुखम् ॥ ढ-त ॥

तस्य भार्या कु(चे)चैलस्य क्षुत्क्षामा च तथाविधा ।
पतिव्रता पतिं प्राह म्लायता वदनेन सा ॥ ७ ॥

[1-]दरिद्रा सीदमाना [-1]सा वेपमानाऽभिगम्य च ।
ननु ब्रह्मन् भगवतः सखा साक्षाच्छ्रियः पतिः ॥ ८ ॥

ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च भगवान् सात्वतर्षभः[3] ।
तमुपैहि महाभाग साधूनाञ्च परायणम् ॥ ९ ॥

दास्यति द्रविणं भूरि सीदते ते कुटुम्बिने ।
आस्तेऽधुना द्वारवत्यां भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः ॥ १० ॥

स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति ।
किन्त्वर्थ कामान् भजतो [5-]नात्यभीष्टाञ्[-5]जगद्गुरुः ॥ ११ ॥

स एव भार्यया विप्रो बहुशः प्रार्थितो [6]मृदु (दुः) ।
अयं हि परमो लाभः उत्तमश्लोकदर्शनम् ॥ १२ ॥

---

1- -1 K.Ml.T.V.W दारिद्र्यात् सीदमाना सा ; M.ma दरिद्रं साध्व्यशनाया 2. Ml.T,V,W ते: 3. Ml.T.V,W तां पतिः 4. K.Ml.T.V.W किमर्थं 5- -5 M.Ma नान्यमिष्टङ्गं 6. M.Ma विभुः

**श्रीध० तस्येति**। तथाविधा कुचैला किञ्च क्षुत्क्षामा यत्किञ्चित्सम्पन्नमन्नं तस्मै परिविष्य स्वयं क्षुधा जीर्णा ॥ ७ ॥

**पतिव्रतेति**। पतिव्रता सती म्लायता शुष्यता वदनेन सीदमाना भर्तुर्भोगसम्पादनशक्त्याऽवसीदन्ती वेपमाना भयेन कम्पमाना ॥ ८,९ ॥

**दास्यतीति**। भोजवृष्ण्यन्धकेश्वर इति तत्स्वीकारमात्रेण सर्वे ते दास्यन्तीति भावः। नात्यभीष्टान् परिपाकविरसत्वात् ॥ १०-१२ ॥

**वीर०** तस्य ब्राह्मणस्य कुचेलाख्यस्य कुत्सितं चेलमस्य - इतीदमन्वर्थ नाम। भार्या क्षुत्क्षामा यदृच्छया लब्धं तस्मै परिविष्य स्वयं क्षुधा जीर्णा। तत्र हेतुः। तथाविधा पतिवत् जितेन्द्रिया। अत एव पतिव्रता एवम्भूता सा म्लायता शुष्यता वदनेन पतिं प्राह ॥ ७ ॥

**दरिद्रा** इति। तदेवाऽऽह - नन्विति सार्धैस्त्रिभिः। हे ब्रह्मन्! भगवतः पूज्यस्य तव यस्सखा कृष्णः तमुपैहि समीपं गच्छ। कथम्भूतः? साक्षात् श्रियो लक्ष्म्याः पतिः तव दारिद्र्यापनयनं तस्य कियदिति भावः। ननु श्रियः पतिश्चेत् मां नाऽवलोकयेदपि इत्यत आह - ब्रह्मण्य इति। ब्रह्मणि ब्राह्मणकुले साधुः। तस्मात्वामादरिष्यत इति भावः। अथाऽपि श्रियः पतिश्चेत् मोक्षदो न तु वित्तद इत्यत आह - शरण्यः। चतुर्विधपुरुषार्थार्थिनां शरणार्हः। अथाऽपि न मदभिप्रेतं जानीयात् इत्यत आह - भगवान् ज्ञानशक्त्यादिषाड्गुण्यपूर्णः. अथाऽपि परत्वेन न मामाद्रियेतेत्यत आह - सात्त्वतर्षभः निरतिशयसौशील्यादेव सात्त्वतश्रेष्ठतयाऽवतीर्ण इति भावः। तमेव किं विशिष्योपैहीति ब्रूषे इत्यत आह-साधूनां भवादृशां परमयनं प्राप्यम् ॥ ८-९ ॥

उपेताय किं दास्यतीत्यत आह - **दास्यतीति**। भूरि पुष्कलं द्रविणं धनं सीदते क्लिश्यमानाय कुटुम्बिने च तुभ्यं दास्यति। क्वाऽऽस्त इत्यत आह - आस्ते इति। द्वारकायामेवाऽधुनाऽऽस्ते, न तु शत्रुविजयाद्यर्थं क्वापि गत इति भावः ॥ १० ॥

दास्यति वा नवा इति संशयानं प्रत्याऽऽह - **स्मरत** इति। स्मरत एवाऽऽत्मानमपि यच्छति ददाति, किम्पुनः सुदूरं गत्वा भजतो याचमानस्य अर्थकामान् ददातीति वक्तव्यमित्यर्थः। तान्विशिनष्टि **नात्यभीष्टानीति**। परिपाकविरसत्वादिति भावः। भर्तुर्भोगसम्पादनार्थमेवं प्रचोदितमिति न पूर्वोक्तजितेन्द्रियत्व पातिव्रत्यादिविरोधः ॥ ११ ॥

**स** इति। स विप्रः कुचेलः मृदुः मृदुस्वभावत्वात् ओमिति वदन्निति भावः। उत्तमश्लोकस्य भगवतो दर्शनमित्यतं परमो लाभः ॥ १२ ॥

**विज०** तथाविधा भर्तृवन्मलिनवस्त्रा ॥ ७ ॥

म्लायता म्लानिं गच्छता अशनायावेपमानेत्येकं पदम् । अशनायया अशनेच्छया कम्पमाना ॥ ८.९ ॥

सीदते अवसन्नाय दरिद्राय ॥ १० ॥

अर्थकामान् यच्छतीति किन्नु वक्तव्यम्। किञ्च जगद्गुरुः अन्यम् उक्तेभ्योऽन्यमिष्टं न यच्छति। किन्तु भजतः पुरुषस्य यच्छत्येवेत्यर्थः। यद्वा, ना परमपुरुषः अन्यमभीष्टं यच्छतीत्यतः तमुपैहीत्यन्वयः ॥ ११-१२ ॥

**इति सञ्चिन्त्य मनसा गमनाय मतिं[1] दधे।**
**अप्यस्त्युपायनं किञ्चिद्गृहे कल्याणि दीयताम्[2] ॥ १३ ॥**

याचित्वा चतुरो मुष्टीन् विप्रान्पृथुकतण्डुलान्[3] ।
चैलखण्डेन[4] तान्बद्ध्वा भर्त्रे प्रादादुपायनम् ॥ १४ ॥

स तानादाय विप्राग्र्यः प्रययौ द्वारकां किल ।
कृष्णसन्दर्शनं मह्यं कथं स्यादिति चिन्तयन् ॥ १५ ॥

त्रीणि गुल्मान्यतीताय तिस्रः कक्षाश्च स द्विजः ।
विप्रोऽगम्यान्ध(क)वृष्णीनां गृहेष्वच्युत धर्मिणाम्[5] ॥ १६ ॥

गृहं द्व्यष्टसहस्राणां महिषीणां हरेर्द्विजः ।
विवेशैकतमं श्रीमद्ब्रह्मानन्दं[6] गतो यथा ॥ १७ ॥

तं विलोक्याच्युतो दूरात्प्रियापर्यङ्कमास्थितः[7-7] ।
सहसोत्थाय चाऽभ्येत्य दोर्भ्यां पर्यग्रहीन्मुदा ॥ १८ ॥

---

1. M,Ma मनो 2. M,Ma अथा 3. M,Ma तंदु 4. B,G,J,M,Ma चैल 5. M,Ma गेहे 6. Ml,T,V,W न्द 7--7 K,T,W ङ्क आस्थितः ; M,Ma ङ्क आश्रितः

**श्रीध० इतीति**। अप्यस्ति किमस्तीति प्रश्नः ॥ १३,१४ ॥

**स** इति। मह्यं मम ॥ १५ ॥

**त्रीणीति**। गुल्मानि रक्षार्थं सैन्यस्थानानि कक्षाः प्रतोलीः अतीयाय अतिक्रम्य जगाम। सद्विजः द्विजैस्सहितः ततश्च अगम्याः दुर्गमाः अच्युतधर्मिणः येऽन्धका वृष्णयश्च तेषां गृहेषु ॥ १६ ॥

**गृहमिति**। तथा हरे र्द्व्यष्टसहस्राणां महिषीणाञ्च ये गृहास्तेषु मध्ये श्रीमदेकतमं गृहं विवेश। तदा च स द्विजो ब्रह्मानन्दङ्गतो यथा ता बभूवेति शेषः॥ १७ ॥

**तमिति**। पर्यग्रहीत् पर्यरम्भत[1] ॥ १८ ॥

---

1. Ml,V आलिङ्गितवान्

**वीर०** इति मनसा सञ्चिन्त्य चिन्तापूर्वकं निश्चित्येत्यर्थः। वित्तलाभस्त्वानुषङ्गिक इत्यभिप्रेत्येति भावः। मतिं बुद्धिं दधे चक्रे। विधाय प्राहेत्यर्थः। तदेवाऽऽह अपीति। हे कल्याणि! उपायनं भगवते समर्पणीयं योग्यं वस्तु गृहे किमस्तीति प्रश्नः॥ १३ ॥

इत्थमापृष्टा सा पृथुकतण्डुलान्, तानपि चतुरो मुष्टीन् ग्रामस्थान् विप्रान् प्रति याचित्वा चेलखण्डेन छिद्रपटशकलेन बद्धवा भगवत उपायनं भर्त्रे ददौ, तद्धस्ते ददौ इत्यर्थः ॥ १४ ॥

**स** इति। स विप्राग्र्यः कुचेलः तान् पृथुकतण्डुलान् ॥ १५ ॥

**त्रीणीति**। स द्विजः कुचेलः गुल्मानि रक्षार्थसैन्यस्थानानि ततः कक्ष्याः प्रतोलयः,ताश्च अतीयाय अतिक्रान्तवानित्यर्थस्यान्वयः। अच्युतस्येव धर्माः सम्पत्त्यदिगुणाःयेषां तेषामगम्यानां दुर्गमानामन्धकानां वृष्णीनाञ्च गृहेषु मध्ये ॥ १६ ॥

द्व्यष्टसहस्राणि हरेर्महिषीणां गृहान्, तत्राऽपि श्रीमदेकतमं गृहं निवेशेति सम्बन्धः। द्विजशब्दस्य त्रैवर्णिक साधारणत्वात् अग्रजात्यवगमाय विप्र इति चोक्तमिति अतो न पौनरुक्त्यम्। यथा ब्रह्मानन्दं मोक्षसुखं प्राप्तो वैकुण्ठे हरेर्मन्दिरं विशति, तद्वत् ॥ १७ ॥

**तमिति**। प्रियाया रुक्मिण्याः पर्यङ्के आस्थितो भगवांस्तं कुचेलं दूरादेव दृष्ट्वा दोर्भ्यां बाहुभ्यां पर्यग्रहीत् आलिङ्गितवान् ॥ १८ ॥

**विज०** तैलखण्डेन जीर्णवस्त्रखण्डेन ॥ १४,१५ ॥

गुल्मानि शिबिराणि। कक्ष्याः पुरप्रकोष्ठानि। 'कक्ष्या कच्छे वरत्रायां काञ्च्यां गेहप्रकोष्ठके' (वैज्ञ.को.6-2-7) इति यादवः। अन्धवृष्णीनां गृहेषु मध्ये यानि द्व्यष्टसाहस्रमहिषीणां गृहाणि गम्य गत्वा तेष्वेकतमं गृहं विवेशेत्यन्वयः। द्विजत्वं क्षत्रियस्याऽप्यस्तीति विप्र इति। आनन्दं गतो मुक्तो ब्रह्म विशति यथा तथा ॥ १६,१७ ॥

पर्यग्रहीत् आश्लिष्टवान् ॥ १८ ॥

**सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः ।**
**प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून्नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः ॥ १९ ॥**

**अथोपवेश्य पर्यङ्के स्वयं सख्युस्समर्हणम् ।**
**उपाहृत्याऽवनिज्याऽस्य पादौ पादावनेजनीः ॥ २० ॥**

**अग्रहीच्छिरसा राजन् भगवान् लोकपावनः ।**
**व्यलिम्पद्दिव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुङ्कुमैः[1] ॥ २१ ॥**

**धूपैस्सुरभिभिर्मित्रं प्रदीपावलिभिर्मुदा[2] ।**
**अर्चित्वाऽऽवेद्य ताम्बूलं गाञ्च स्वागतमब्रवीत् ॥ २२ ॥**

**कुचेलं मलिनं क्षामं द्विजं धमनिसन्ततम् ।**
**देवी[3] पर्यचरत्साक्षात् चामरव्यजनेन वै ॥ २३ ॥**

**अन्तः पुरजनो दृष्ट्वा कृष्णेनाऽमलकीर्तिना ।**
**विस्मितोऽभूदति[4-] प्रीत्या[-4] अवधूतं सभाजितम् ॥ २४ ॥**

---

1. K.T.W गरु 2. K.T,W पैबंलि 3. K,Ml,T,V,W भैष्मी 4-4 M,Ma भूत्सविप्राग्रं

**श्रीध०** सख्युरिति। अब्बिन्दून् आनन्दाश्रूणि ॥ १९ ॥

**अथेति**। समर्हणमुपायनमुपहृत्य समर्प्य पादावनेजनीरपः ॥ २०-२२ ॥

**कुचेलमिति**। धमनिभिः सिराभिः सन्ततं व्याप्तम् ॥ २३ ॥

**अन्तःपुरेति**। अवधूतं मलिनम् ॥ २४ ॥

**वीर० सख्युरिति** । अङ्गसङ्गेनाऽऽलिङ्गनेन अतीव निर्वृतः सुखितः प्रीतश्च पुष्करेक्षणः भगवान् नेत्राभ्याम् आनन्दाश्रुबिन्दून् अभ्यमुञ्चत् ॥ १९ ॥

**अथेति**। उपविष्टं कृत्वा तस्य सख्युः स्वयमेवोपायनमुपहृत्य समर्प्य पादाववनिज्य प्रक्षाल्य पादावनेजनीः अपः शिरसा अग्रहीद्दधार। व्यलिम्पदिति। चन्दनादिभिः साधितेन दिव्यगन्धेन मित्रं सखायं व्यलिम्पत् ॥ २०,२१ ॥

सुरभिभिः धूपैः दीपैर्बलिभिरन्यैश्च पूजासाधनैरर्चित्वा गां धेनुं ताम्बूलञ्च निवेद्य स्वागतमब्रवीत् पप्रच्छ ॥ २२ ॥

**कुचेलमिति**। मलिनमध्यङ्गोद्वर्तनाद्यभावात् धमनिभिः सिराभिस्सन्ततं व्याप्तं मेदोमांसादि रहितकेवल त्वङ्मात्रावशिष्टा शरीरमित्यर्थः। तत्र हेतुः क्षामं क्षुधा कर्शितं भैष्मी रुक्मिणी चामरव्यजनेन पर्यचरत् वीजयामासेत्यर्थः ॥ २३ ॥

**अन्तःपुरजन** इति। कीर्तिर्यस्य तेन कृष्णेन प्रीत्या सभाजितं सम्यक् पूजितं तमवधूतं मलिनं वीक्ष्य विस्मितो बभूव ॥ २४ ॥

---

1. B.Omits भगवान् 2. K.T,W मध्यङ्गोन्मर्दना 3. B त्वङ्नाडीमात्रा

**विज०** पादावनेजनीरपः पादप्रक्षालनजलानि ॥ १९-२२ ॥

धमनिसन्ततं सिरासहस्राचितगात्रम् ॥ २३-२४ ॥

किमनेन कृतं पुण्यमवधूतेन भिक्षुणा ।
श्रिया हीनेन लोकेऽस्मिन् गर्हितेनाधमेन च ॥ २५ ॥

योऽसौ त्रिलोकगुरुणा श्रीनिवासेन सम्भृतः ।
पर्यङ्कस्थां श्रियं हित्वापरिष्वक्तोऽग्रजो यथा ॥ २६ ॥

कथयाञ्चक्रतुर्गाथाः पूर्वा गुरुकुले सतोः ।
आत्मनो[1] ललिता राजन् करौ गृह्य परस्परम् ॥ २७ ॥

[2-] श्रीभगवानुवाच [-2]

अपि ब्रह्मन् गुरुकुलात् भवता लब्धदक्षिणात् ।
समावृत्तेन धर्मज्ञ भार्योढा सदृशी न वा ॥ २८ ॥

प्रायो गृहेषु ते चित्तमकाम[3] विहतं तथा ।
नैवाति प्रीयसे[4] विद्वन्[-4] धनेषु विदितं हि मे ॥ २९ ॥

केचित्कुर्वन्ति कर्माणि कामैरहतचेतसः ।
त्यजन्तः प्रकृतीर्दैवीर्यथाऽहं लोकसङ्ग्रहम् ॥ ३० ॥

---

1. K,Ml,T,V,W नोर्ललिता; M,Ma नोल्लसिता 2- -2 M,Ma Omit 3. Ml,V त्तं न 4- -4 M,Ma ते तद्वत् 5. K,M,Ma,T,W ति देवीं

**श्रीध०** विस्मयमाह - **किमनेनेति** द्वाभ्याम् ॥ २५ ॥

**य** इति। सम्भृतस्सम्मानितः ॥ २६ ॥

**कथयाञ्चक्रतुरिति**। सतोर्वसतोः, करौ गृह्य गृहीत्वा ॥ २७ ॥

**अपीति**। भार्या ऊढा परिणीता नवेति गृहस्थलिङ्गदर्शनात् भोगादर्शनाच्च संशयादिव प्रश्नः ॥ २८ ॥

अप्रतिषेधात् उद्वाहमनुमतं मत्वाऽऽह **प्राय** इति। तर्हि ते चित्तं नूनमकाम विहतं कामैर्विहतं न भवतीति मे विदितम्। तथा हि धनेषु वस्त्रादिषु नैवाऽतिप्रीयसे हे विद्वन्निति, विदुषस्तव एतद्युक्तमिति भावः ॥ २९ ॥

कामहतत्वाभावे किं गृहधर्मक्लेशेन इत्याशङ्क्याऽऽह - **केचिदिति**। दैवीरीश्वरमायारचिताः प्रकृतीः विषयवासनाः त्यजन्तः कामैः अनाकृष्टचेतसामपि कर्मकरणे दृष्टान्तः - यथाऽहमिति। लोकसङ्ग्रहं लोकस्य सङ्ग्रहो ग्रहणं यथा भवति तथाऽहमीश्वरोऽपि कर्माणि यथा करोमि तद्वत् ॥ ३० ॥

---

1. B, J Omit करौ

**वीर०** विस्मितवाक्यमेवाऽऽह - **किमिति** द्वाभ्याम्। पुरा पूर्वजन्मनि किं पुण्यमनेन कृतमित्यर्थः। अन्यथैवं पूजितो न स्यात् इत्यभिप्रयन् तं विशिनष्टि। अवधूतेन मलिनेन श्रिया हीनेन दरिद्रेण, अत एव अस्मिन् लोके गर्हितेन अनादरणीयेन। अस्मिन् लोके इत्यनेन अमुष्मिंस्त्वादरणीय एवेति सूच्यते। अधमेन न ह्यधमः पूज्यते, किन्तु पूजकापेक्षयोत्तम एव पूज्यते इति ॥ २५ ॥

योऽसावुक्तविधोऽप्ययं द्विजः त्रिलोकगुरुणा श्रीनिवासेन सम्भृतः सम्मानितः परिष्वक्तः आलिङ्गितश्च यथाऽग्रजो रामस्तद्वत् ॥ २६ ॥

**कथयाञ्चक्रतुरिति**। अस्य कृष्णकुचेलाविति शेषः। पुरा गुरुकुले सतोर्वर्तमानयोः आत्मनोर्याः सुन्दरा गाथाः कथाः ताः परस्परं करौ हस्तो गृह्य गृहीत्वा त्यबार्षः। हे राजन्! कथयाञ्चक्रतुः ॥ २७ ॥

तदेवाह - **अपीति**। हे ब्रह्मन्! लब्धा दक्षिणा येन तस्माद्गुरुकुलात्समावृत्तेन कृतसमावर्तनाख्य कर्मणा भवता 'वेदमधीत्याभिसमावृत्य' इत्यधीतसाङ्गसशिरस्कस्वाध्यायैरनुष्ठेयं समावर्तनाख्यं कर्मविहितं हे धर्मज्ञ! सदृशी अनुरूपा भार्या ऊढा परिणीता न वा? अपिशब्दः प्रश्नद्योतकः ॥ २८ ॥

नोढैवेत्यहन्तु सम्भावयामीत्यभिप्रयन् आह - **प्राय** इति। अकामविहतं कामैः अविहतं तव चित्तं प्रायशः गृहेषु गृहस्थाश्रमेषु न रमत इत्यध्याहारः। यद्वा, तव चित्तं गृहेषु कामैः अविहतं विहतं न भवति तथा हे विद्वन्! तत्त्वत्रययाथात्म्यज्ञानिन्! धनेष्वपि विषयभूतेषु नातीव प्रीयसे प्रीतियुक्तो भवसीति मे मया विदितम् ॥ २९ ॥

गृहस्थलिङ्गदर्शनादूढैवेति पुनर्निश्चित्य कामहतत्वाभावे किं गृहाश्रमेण इत्याशङ्कामपनुदन् तत्प्रयोजनमाह - **केचिदिति**। कामैरहतं चेतो येषां तथाभूता अपि केचिन्मुमुक्षवः दैवीं देवस्य विष्णोः सम्बन्धिनीं प्रकृतिं मायां 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया' (भगी.7-14) इत्युक्तविधां त्यजन्तः 'लक्षणहेत्वोः' (अष्टा 3-2-126) इति शत्रादेशः त्यक्तुं, प्रकृतिसम्बन्धान्मोक्तुमिति यावत्, कर्माणि गृहस्थाश्रमप्रयुक्तानि अनभिसंहितफलानि नित्यनैमित्तिकादिरूपाणि कुर्वन्ति, ब्रह्मविद्याङ्गत्वेनाऽनुतिष्ठन्तीत्यर्थः। ब्रह्मविद्याङ्गतया कर्मणामनुष्ठानार्थं गृहाश्रमपरिग्रह इति भावः। ननु कामैश्चेतसोऽविहतय एव हि कर्माणि कर्तव्यानि, कर्मणां विद्याङ्गत्वमपि चित्तशुद्धिजननद्वारैव । तथा च सति कामैरविहतचेतसां किं कर्मानुष्ठानेन इत्यत आह - यथाऽहं लोकसङ्ग्रहमिति।

लोकस्य सङ्ग्रहो यस्मिंस्तद्यथा भवति तथा अहं करोमि तद्वत्। अयं भावः - कामैर्विहतचेतोभिस्तद्विदितिद्वाराविद्यानिष्पत्तये कर्माणि कर्तव्यानि। अविहतचेतोभिस्तु लोकसङ्ग्रहार्थमिति भावः ॥ ३० ॥

---

1- -1 B Omits

**विज०** सम्भृतः सभाजितः सङ्गृहीतो वा ॥ २५,२६ ॥

गुरुकुले सतां स्वेषां काले पूर्वस्मिन् या गाथा वृत्ताः ताः कथयाञ्चक्रतुः ॥ २७ ॥

स भवान् (तेन भवता) सदृशी भार्या लब्धापि किं न वा। यथा प्राकृतस्य चित्तं गृहेषु कामविहतं भवति तथा प्रायस्ते चित्तं गृहेषु भार्यादिषु अकामविहतं काम (मे)नाविषयेच्छया विहतं न स्यात्, तद्वत् तव चित्तं धनेष्वपि नैवातिप्रीयते, कथमेतदत्राऽऽह - विदितमिति ॥ २८-२९ ॥

केचिन्निवृत्तिमार्गस्थाः प्रकृतिं देहाभिमानलक्षणां दैवीं देवाधीनाम् ॥ ३०॥

**कश्चिद्गुरुकुले[1] वासं ब्रह्मन् स्मरसि नौ यतः ।**
**द्विजो विज्ञाय विज्ञेयं तमसः परमश्नुते ॥ ३१ ॥**

**स वै सत्कर्मणां साक्षात् द्विजातेरिह सम्भवः ।**
**आद्योऽङ्ग[2-] यत्राऽश्रमिणां[-2] यथाऽहं ज्ञानदो गुरुः ॥ ३२ ॥**

**नन्वर्थकोविदा[3] ब्रह्मन् वर्णाश्रमवतामिह ।**
**ये मया गुरुणा वाचा तरन्त्यञ्जो भवार्णवम्[4] ॥ ३३ ॥**

**नाऽहमिज्या प्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा ।**
**तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा ॥ ३४ ॥**

**अपि नः[5] स्मर्यते[6] ब्रह्मन् वृत्तं निवसतां गुरौ ।**
**गुरुदारैश्चोदितानामिन्धनानयने क्वचित् ॥ ३५ ॥**

**प्रविष्टानां महारण्यमपर्ता सुमहद्द्विज ।**
**वातवर्षमभूत्तीव्रं निष्टुराः स्तनयित्नवः ॥ ३६ ॥**

1. M. Ma. लावासं 2- -2. M.Ma. गुरुर्ह्याश्र 3. M.Ma. ते त्वर्थ 4. K.T.W महार्णं 5. T.W. न 6. M.Ma. तां

**श्रीध० कच्चिदिति**। नौ आवयोः यतो गुरोः विज्ञेयं परमात्मत्वं तमसः संसारस्य ॥ ३१ ॥

तत्राऽऽत्मज्ञानप्रदस्य गुरोरत्यन्तं पूज्यत्वं वक्तुं पुरुषस्य त्रीन् गुणानाह - **स वा** इति। इह संसारे यत्र सम्भवो जन्म मात्रं स पिता। तावदाद्यः प्रथमो गुरुः पूज्यः। कर्मविद्याप्रदं गुरुमाह - द्विजातेस्सतः पुंसः सत्कर्मणां यत्र सम्भवः, उपनीय वेदाध्यापक इत्यर्थः। स द्वितीयो गुरुः यथाऽहमीश्वरः तथा प्रथमादपि पूज्य इत्यर्थः। ब्रह्मविद्याप्रदं गुरुमाह - आश्रमिणां सर्वेषामपि ज्ञानदो यः स तु साक्षादहमेवेति ॥ ३२ ॥

अतो ज्ञानप्रदं गुरुरूपं मामाश्रित्य ये संसारं तरन्ति ते बुद्धिमन्त इत्याह **नन्विति**। हे ब्रह्मन्! ते ननु वर्णाश्रमवतां मध्ये अर्थकोविदाः इह मनुष्यजन्मनि तत्राऽपि वर्णाश्रमवत्त्वे सति ये मया गुरुणा।गुरुरूपेण वक्त्रा वाचा उपदेशमात्रेण अञ्जः सुखेनैव भवार्णवं तरन्तीति ज्ञानप्रदाद्गुरोरधिकः सेव्यो नास्तीत्युक्तम् ॥ ३३ ॥

अत एव तद्भजनादधिको धर्मश्च नास्तीत्याह **नाऽहमिति**। इज्या गृहस्थधर्मः। प्रजातिः प्रकृष्टं जन्म,उपनयनं ते न ब्रह्मचारिधर्मः उपलक्ष्यते। ताभ्यां तथा तपसा वनस्थधर्मेण उपशमेन यतिधर्मेण वा अहं परमेश्वरः तथा न तुष्येयं यथा सर्वभृतात्माऽपि गुरुशुश्रूषयेति ॥ ३४ ॥

किञ्च अस्माकं गुरुशुश्रूषणं किमपि दैवादेव सम्पन्नम् तत्किं त्वया स्मर्यत इति पृच्छति अपि न इति। गुरौ निवसतां अस्माकं यत्किमपि वृत्तं तत् क्वचित् कदाचित् ॥ ३५ ॥

**प्रविष्टानामिति**। अपर्तौ अपगते ऋतौ, अकाले इत्यर्थः। वातश्च वर्षञ्च तयोः समाहारः। स्तनयित्नवो गर्जितानि चाऽभवन् ॥ ३६ ॥

---

1. MI,v ऽभूवन्

**वीर० कच्चिदिति**। हे ब्रह्मन्! नौ आवयोः गुरुकुले वासं स्मरसि कच्चित्? तं विशिनष्टि। यतो गुरुकुलवासाद्विज्ञेयं स्वपराऽऽत्मयाथात्म्यं विज्ञाय तमसः पारमज्ञानस्य पारं मुक्तिमिति यावत्। अश्नुते प्राप्नोति ॥ ३१॥

**किञ्चसवा** इति। सवै गुरुकुलवासः द्विजातेस्त्रैवर्णिकस्य सतां कर्मणां सम्भवोऽनुष्ठानहेतुः, तद्धेतुभूत ज्ञानोत्पादकत्वादित्यभिप्रायः। यद्वा, सत्कर्मणां पुंसां द्वितीयजन्मसम्भवेन गुरुकुलावासरूपो ह्याश्रम इत्यर्थः। यस्मिन्नाश्रामे गुरुरहमिव ज्ञानदस्य इत्यन्वयः। यद्वा ज्ञानप्रदस्य गुरोरत्यन्तपूज्यतां वक्तुं पुरुषस्य त्रीन् गुरूनाह स वा इति। अङ्ग ! हे

ब्रह्मन्! इहसंसारे यतस्सम्भवो जन्ममात्रं स पिता तावदाद्यः प्रभमो गुरुः। द्विजातेस्सतः पुंसः यत्कर्मणां यत्र सम्भवः उपनीय वेदाध्यापकः स द्वितीयो गुरुः। यथाऽहमीश्वरस्तथा प्रथमादपि पूज्य इत्यर्थः। ब्रह्मविद्याप्रदं गुरुमाह - आश्रमिणां सर्वेषामपि ज्ञानदो यो गुरुः स तु साक्षादहमेवेति ॥ ३२ ॥

अतो ज्ञानप्रदं गुरुमाश्रित्य ये संसारं तरन्ति ते बुद्धिमन्त इत्याह **नन्विति**। ननु हे ब्रह्मन्! इह लोके सर्वेषां वर्णानामाश्रमिणाञ्च मध्ये त एवार्थकोविदाः पुरुषार्थकुशलाः के? ये मया गुरुणा गुरुरूपेण वक्त्रा वाचा उपदेशमात्रेण अञ्जस्सुखेन संसाररूपं महार्णवं तरन्ति ॥ ३३ ॥

एवं महोपकर्तुर्गुरोरधिकस्सेव्यो नास्तीत्युक्तम् । अत एव तद्भजनादधिको धर्मश्चनाऽस्तीत्याह - नाऽहमिति। इज्या महायज्ञपञ्चकं, प्रजातिः प्रकृष्टं जन्म, तपोऽनशनादिरूपं, शम इन्द्रियनिग्रहः। यथाऽहं गुरुशुश्रूषया तुष्येयं प्रीतस्स्यां न तथा इज्यादिभिस्तुष्येयम्। आत्मानं विशिनष्टि - सर्वभूतानामन्तरात्मा ॥ ३४ ॥

किञ्च अस्माकं गुरुशुश्रूषणे किमपि दैवादेव सम्पन्नं तत्किं त्वया न स्मर्यत इति पृच्छति अपिन इति। गुरौ तत्सन्निधौ निवसतामस्माकं वृत्तं न स्मर्यते किम्? किं तदित्यत आह गुरुदारैरित्यादिना । इन्धनानयने निमित्ते चोदितानामस्माकम्। क्वचित् कदाचित् ॥ ३५ ॥

अपतौ अपगते ऋतौ, अकाल इत्यर्थः। महारण्यं प्रविष्टानां सतां वातो वर्षञ्च तयोस्समाहारः,तदभूत् । तथा निष्ठुरा स्तनयित्नवः स्तनयित्नुशब्दोऽत्र तद्गर्जिते लाक्षणिकः, गर्जितानि चाऽभवन् ॥३६॥

**विज०** तात्पर्यात्पुनरुक्तं करोति **कच्चिदिति**। यतो यस्मिन् गुरुकुलवासे विज्ञेयं विज्ञाय तमसः अज्ञानस्य पारम्, प्रकृतेर्वा। वैकुण्ठमश्नुते ॥ ३१ ॥

इतोऽपि गुरुकुलवासः कर्तव्य इत्याह **स वा** इति। यस्मात् द्विजातेः साक्षात् सत्कर्मणां सम्भवो जन्म स गुरुकुले वासो वा इत्यन्वयः। अत्र हेतुमाह आद्य इति। ज्ञानदो गुरुः आश्रमिणां आद्यः हि यस्मात्तस्मात् यथाऽहम् इति ॥ ३२॥

ज्ञानमपि यन्मुक्तिसाधनं तद्वदेव गुरुरित्याह **तेत्विति**। गुरुणा गुरुस्थेन मयाऽप्युक्तया वाचा अञ्जः शिक्षिता ये पुरुषाः भवार्णवं तरन्ति ते त्विह वर्णाश्रमवतां मध्ये अर्थकोविदाः स्वप्रयोजनसम्पादनपटव इत्यन्वयः॥ ३३ ॥

सर्वेषु साधनेष्वयमेव भगवदनुग्रहान्तरङ्गमित्याह **नेति**। इज्या यजनं प्रजनं प्रजातिः सन्ततिजननं 'नाऽपुत्रस्य लोकोऽस्ति' (ऐत. ब्रा. 7-13-12-a) इति श्रुतिः ॥ ३४ ॥

अनुग्रहविशेषस्मरणार्थम् उभयोरनुभूतविशेषं स्मारयति **अपीति**। गुरौ निवसतां नो यत्कर्म तत् स्मर्यताम् । अपि स्मर्यते किम् ॥ ३५ ॥

अपर्तौ वर्षाकालमन्तरेण वातयुतवर्षम् ॥ ३६ ॥

---

1- -1Ma गुर्वन्तर्याम्युक्तया

**सूर्यश्चास्तङ्गतस्तावत्तमसा चाऽऽवृता[1] दिशः।**
**निम्नं कूलं जलमयं[2] न प्रज्ञायत किञ्चन ॥ ३७ ॥**

**वयं भृशं तत्र महानिलाम्बुभिर्निहन्यमाना[3] मुहरम्बुसम्प्लवे।**
**दिशोऽविदन्तोऽथ परस्परं वने गृहीतहस्ताः परिबभ्रिमाऽऽतुराः ॥ ३८ ॥**

**एतद्विदित्वा उदिते रवौ सान्दीपनिर्गुरुः ।**
**अन्वेषमाणो नश्शिष्यानाचार्योऽपश्यदातुरान्[4] ॥ ३९ ॥**

**आचार्य[5] उवाच[5]**

**अहो मे[6] पुत्रका यूयमस्मदर्थेऽतिदुःखिताः ।**
**आत्मा वै प्राणिनां प्रेष्ठस्तमनादृत्य मत्पराः ॥ ४० ॥**

**इयदेव[7] हि सच्छिष्यैः कर्तव्यं[8] गुरुनिष्कृतम्[9] ।**
**यद्वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मार्पणं गुरौ ॥ ४१ ॥**

**तुष्टोऽहं[10] भो द्विजश्रेष्ठाः सत्यास्सन्तु मनोरथाः ।**
**छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च ॥ ४२ ॥**

---

1.M,ma संवृता; T,w ऽऽच्छादिता 2. M,Ma जलौघेन 3.T,W ना नि 4- -4 M,Ma नार्यः पश्यन् अरूरुदत् 5- -5 B,G,J,K,M,Ma,T,W omit 6. B,G, J,Ml,V हे 7. B,G,J, एतदेव 8. Ml,V व्या 9. K,T.w निष्क्रियम् ;Ml, V निष्कृतिः 10- -10 K,Ml,T,V,W तुष्टोऽहं वो ;M,Ma सन्तुष्टोऽहं

**श्रीध० सूर्य** इति । निम्नं कूलं नतमुन्नतञ्च स्थानम् ॥३७॥

वर्यामिति। अम्बूनां सम्प्लवे व्यामिश्रणं यस्मिन्नेकोदके तस्मिन्वने इत्यर्थः। परिबभ्रिम, 'भृञ् भरणे' इति धातो रूपम्। परि परितो बभ्रिम, इडागमश्छान्दसः। भारान् धृतवन्त इत्यर्थः ॥ ३८,३९ ॥

उवाच कृपया श्लोकत्रयीम्, यया वयं कृतार्था इत्याह अहो इति। आत्मा देहः ॥ ४० ॥

इयदिति। गुरोर्निष्कृतं प्रत्युपकारः। सर्वे अर्थाः यस्मात्स आत्मा देहः तस्यार्पणं विनियोगः ॥४१॥

तुष्ट इति। अयातयामानि यातो यामो यस्य, पक्वस्यान्नस्य तद्गतसारं भवति तद्वत् अन्यदपि गतसारम्। गौण्यावृत्त्या यातयाममित्युच्यते,अगतसाराणि छन्दांसि मत्तोऽधीयमानानि भवन्त्वित्यर्थः ॥ ४२ ॥

**वीर०** तावत्तथैव[1] सूर्योऽस्तङ्गतश्च। अत एव दिशस्तमसा व्याप्ताः निम्नं नतं कूलमुन्नतञ्च स्थलं जलमयं, हेतुगर्भम्, अतो न प्रज्ञायत न ज्ञातमभूत् ॥ ३७ ॥

**वयमिति**। अम्बूनां सम्प्लवे प्रवाहे महानिलैरम्बुभिश्च हन्यमानाः पीड्यमानाः दिशोऽविदन्तः अजानन्तः अत एवाऽऽतुराः परस्परं गृहीताः हस्ता यैस्ते वयं वने परिबभ्रिम परितो बभ्रिम। इन्धनभारान् धृतवन्त इत्यर्थः। पर्यचरामेति वा। उपसर्गवशात् भृञः चरत्यर्थत्वम्। इडार्षः ॥ ३८ ॥

**एतदिति**। एतदस्माकं कृच्छ्रं विदित्वा सूर्ये उदिते सति अन्वेषमाणो नोऽस्मान् अपश्यत्, दृष्ट्वाऽब्रवीदित्यर्थः ॥ ३९ ॥

तदेवाऽऽह **अहो** इति त्रिभिः। हे पुत्रकाः! देहिनामात्मा देहः प्रेष्ठः प्रियतमः, तथाऽपि तमात्मानमनादृत्य मत्पराः मत्सेवापराः मत्प्रयोजनाय अतीव दुःखिता इत्यर्थः ॥ ४० ॥

**इयदेवेति**। सच्छिष्यैः गुरोः कर्तव्यं निष्क्रियं प्रत्युपकारः इयदेव एतावदेव। कियत् यद्विशुद्धभावेन निष्कपटभावेन सर्वथा सर्वप्रकारेण आत्मार्पणं देहसमर्पणमित्येतावत् 'शरीरमर्थं प्राणांश्च सद्गुरुभ्यो निवेदयेत्' (विहगेश्वरसंहिता) इत्युक्तेरिति भावः ॥ ४१ ॥

**तुष्ट** इति। हे द्विजश्रेष्ठाः! द्विजशब्दस्य त्रैवर्णिकपरत्वात् एवं सम्बोधनम्। वो युष्मभ्यमहं गुरुः सन्तुष्टः अतो युष्माकं मनोरथाः अपेक्षाः सफलाः सन्तु। किञ्च, छन्दांसि मत्तोऽधीता वेदाः इह परत्र च लोके अयातयामानि अगतसाराणि, सफलानि ऐहिकामुष्मिकापेक्षितफलजननसमर्थानि भवन्तु इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

---

1. K °तदेव

**विज०** इदं निम्नमिदं कूलमिति किञ्चन स्थूलजलप्रवाहेण न प्राज्ञायत न ज्ञातमभूत् ॥ ३७ ॥

अम्बुसम्प्लवे जलप्रवाहे दिशोऽविदन्तः अजानन्तः परिबभ्रिम परितो भ्रान्ता बभूविम ॥ ३८ ॥

विदित्वा उदित इत्यनेन दुःखातिशयं दर्शयति - कथमेतदत्राह - अरूरुदादिति ॥ ३९ ॥

आत्मा देहः ॥ ४० ॥

गुरुनिष्कृतं गुरुप्रत्युपकारः सर्वोऽर्थो यस्मात्सः तथा सर्वार्थ आत्मा शरीरं तस्यार्पणं यत्तत् ॥ ४१,४२

**इत्थं विधान्यनेकानि वसतां गुरुवेश्मसु ।**
**गुरोरनुग्रहेणैव पुमान् पूर्णः प्रशान्तये[2] ॥ ४३ ॥**

**कुचेल[3] उवाच**

**किमस्माभिरनिर्वृत्तं[4] देव देव जगद्गुरो ।**
**भवता सत्यकामेन येषां वासो गुरावभूत् ॥ ४४ ॥**

**यस्य छन्दोमयं ब्रह्म देह आवपनं विभौ ।**
**श्रेयसां[5] तस्य गुरुषु वासोऽत्यन्तविडम्बनम् ॥ ४५ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे श्रीदामचरितं नाम अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

---

1. K,T,W नि। 2. Ml,V प्रजायते। 3- -3 B,G,J,K,M,Ma,T,W ब्राह्मण उवाच 4. K,T,W किञ्च 5. M,Ma योऽयं स

**श्रीध० इत्थमिति**। इत्थंविधानि एवम्प्रकाराणि अनेकानि वृत्तानि किं त्वया स्मर्यन्त इति शेषः। फलतमुपसंहरति **गुरोरिति** ॥ ४३ ॥

**किमिति**। अस्माभिः किमनिर्वृत्तमसम्पन्नं येषामस्माकं भवता सह वासोऽभूत् ॥ ४४ ॥

भवतस्तु सर्वमेतद्विडम्बनमात्रमित्याह **यस्येति**। छन्दोमयं वेदाख्यं ब्रह्म तथा श्रेयसामावपनं तदुद्भवस्थानं देहो मूर्तिर्यस्य तस्य तव ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

---

**वीर० इत्थमिति**। गुरुवेश्मनि स्वाचार्यगृहेषु वसतामस्माकम् एवंविधान्यनेकानि वृत्तानि किं त्वया न स्मर्यन्त इति शेषः। फलितमाह - गुरोरिति। अनुग्रहेणैव इत्येवकारेण उपायान्तरव्यावृत्तिः। पूर्णः पूर्णमनोरथः स्यादिति [1]लक्षयन् इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

इत्थमुक्तः प्राह कुचेलः **किन्नविति**। हे देवदेव! हे जगद्गुरो! अस्माभिरनिर्वृत्तमसम्पन्नम् अस्माकं दुर्लभं किञ्चस्ति न किमपीत्यर्थः। तत्र हेतुं वदन् आत्मनो विशिनष्टि। येषामस्माकं सत्यकामेन भवता सह गुरुकुले वासो बभूव, तैरस्माभिरिति सम्बन्धः। सत्यकामस्य तव गुरुकुलवासः केवलमस्मन् मनोरथपूरणार्थं एवेति भावः ॥ ४४ ॥

अन्यथा न घटत इत्यभिप्रयन्नाह **यस्येति**। छन्दोमयं वेदरूपं ब्रह्म, यस्य देहः विग्रहः [2]यस्य च देहः[2] श्रेयसां पुरुषार्थानाम् आवपनं उत्पत्तिभूमिः। तस्य तव गुरुषु गुरुगृहेषु वासोऽत्यन्तविडम्बनमभिनयमात्रं विडम्बनेनाऽस्मान् मनोरथपूरणार्थः अन्यथा सर्वविद्यास्थान तदवबोध्यपुरुषार्थचतुष्टय वर्षुकशोलशरीरस्यतव न घटते इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

---

1. K omits लक्षयन् 2- -2 B,K omit

**विज०** उक्तमतिदिशति **इत्थमिति**। इत्थंविधान्यनेकानि व्यसनान्यासन्निति शैषः। तानि व्यसनानि गुरोरनुग्रहेण निस्तीर्य पुमान् प्रशान्तये प्रकृष्टसुखवृत्तये पूर्णः कृतार्थः स्यात् ॥ ४३ ॥

अस्माभिर्गुरुकुलवासे इदं कृतमिति विशे(शि)ष्य किं वक्तव्यं सर्वमप्यनुष्ठितमिति ब्राह्मण आह - किमिति । सत्यकामेन भवता सह येषां नो गुरुकुलवासोऽभूत्, तैरस्माभिः गुरुकुलवासे किमनिर्वृत्तं न कृतं किं सर्वं मया चीर्णमेव ॥ ४४ ॥

किन्त्विदमस्माकं युक्तं, तव तु अत्यन्तविडम्बनमित्याह - यस्येति। छन्दोमयं वेदमुख्यप्रतिपाद्यम् आवपनं जगदुत्पत्तिक्षेत्रं ब्रह्म यस्य तव देहः स्वरूपं तस्य तव योऽयं गुरुषु वासः, सोऽयमत्यन्त विडम्बनम् अनुकार इति ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे अशीतितमोऽऽध्यायः ॥ ८० ॥

(विजयध्वजरीत्या अष्टनवतितमोऽध्यायः)

# एकाशीतितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या एकोनशततमोऽध्यायः)

श्रीशुक उवाच

स इत्थं द्विजमुख्येन[1] सह सङ्कथयन् हरिः ।
सर्वभूतमनोऽभिज्ञः स्मयमान उवाच तम् ॥ १ ॥

*ब्रह्मण्यो ब्राह्मणं कृष्णो भगवान्प्रहसन्[2] प्रियम् ।
प्रेम्णा निरीक्षणेनैव प्रेक्षन् खलु सतां गतिः[3] ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

किमुपायनमानीतं ब्रह्मन्मे भवता गृहात् ।
अण्वप्युपाहृतं[4] भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत् ।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥ ३ ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ ४ ॥

इत्युक्तोपि द्विजस्तस्मै व्रीडितः पतये श्रियः ।
पृथुकप्रसृतिं राजन्न प्रायच्छ दवाङ्मुखः ॥ ५ ॥

सर्वभूतात्मदृक्साक्षा त्तस्याऽऽगमन कारणम् ।
विज्ञायाऽचिन्तयन्नाऽयं श्रीकामो माऽभजत्पुरा ॥ ६

---

1. M.Ma वर्येण *This verse is not found in K.T.W. editions 2. M.Ma स्निव। 3. M.Ma पतिः 4- -4 M.Ma अल्पमप्याहृतं ;Ml,V. अण्वप्युपहृतं

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

एकाशीति तमे सख्यु र्जग्ध्वा पृथुकतण्डुलान्। श्रियं निर्मितवानिन्द्र दुर्लभान्तु तदाश्रमे ॥

**स** इति। सङ्कथयन् सुखगोष्ठीः कुर्वन् सर्वभूतानां मनसोऽभिज्ञः मदर्थं पृथुका नानीय दातुं लज्जित इति जानन्नित्यर्थः ॥ १ ॥

**ब्रह्मण्य** इति। प्रहसन् क्ष्वेलीं कुर्वन् ॥ २ ॥

लज्जया त्व कथयत स्ता मपनुदन्नाऽऽह अण्वपीति द्वाभ्याम् ॥ ३-५ ॥

**सर्वेति**। सर्वभूताना मात्मदृक् अन्तःकरणसाक्षी ॥ ६ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ततः किं जातं तदाह **स** इति। स हरिरित्थं द्विजमुखेन कुचेलेन सह सङ्कथयन् सुखगोष्ठीं कुर्वन् सर्वभूतानां मनसोऽभिज्ञः मदर्थं पृथुकानानीय दातुं लज्जित इति जानन्नित्यर्थः। तं विप्र मुवाच ॥ १,२ ॥

तदेवाऽऽह **किमिति** सार्ध द्वयेन। हे ब्रह्मन्! भवता गृहात् मे मह्यं उपायनं किमानीतम्? लज्जया तूष्णीं स्थितस्य तमपनुदन्नाह - अण्विति द्वाभ्याम्। यद्भक्तैः प्रेम्णोपहृतं समर्पितं तदणु अत्यल्पमपि मे भूर्येव भवेत्, यद्भूर्यपि अभक्तेनोपहृतं तन्मम सन्तोषाय न कल्पते इत्यर्थः ॥ ३ ॥

अतः पत्रादीना मन्यतमं यः पुमान्मह्यं प्रयच्छति ददाति समर्पयतीति यावत् । प्रयतः नियतः विशुद्ध आत्मा मनो यस्य तस्य सम्बन्धि भक्त्या समर्पित मह मश्नामि ॥ ४ ॥

**इतीति**। व्रीडाऽस्य सञ्जाता इति तथा अत एवाऽवाङ्मुखः हे राजन्! तस्मै श्रियःपतये भगवते पृथुकप्रसृतिं न प्रायच्छत् न ददौ ॥ ५ ॥

सर्वभूताना मात्मानम् अन्तःकरणं पश्यतीति तथा। अत एव [1]साक्षी साक्षाद्द्रष्टा भगवान् सर्वभूतमनोऽभिप्रायसाक्षात्कर्ता वा तस्य द्विजस्य आगमन कारणं विज्ञाय कार्य मात्मना कर्तव्यमचिन्तयत्। किमिति विज्ञाय? इत्यत्राह श्रीकाम इत्यादिना मामित्यन्तेन। श्रीकामो नाऽभजत् मां इति शेषः। किन्तु मोक्षार्थकाम इत्यर्थः ॥ ६ ॥

---

1.B.omits साक्षी

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

सङ्कथयन् संलापं कुर्वन् ॥ १,२ ॥

दरिद्रत्वेन भूरिद्रव्याभावात् भवतो महतोऽल्पं मन स्तुष्टिकरं न स्यदिति नाऽऽनीतमिति शङ्का माभूदित्याह - अल्पमिति। आहृतमानीत द्रव्यभूरित्वाभूरित्वे अप्रयोजके, किन्तु भक्तिरेवेत्यनेनादर्शि ॥ ३-५ ॥

सर्वभूतानामात्मदृक् स्वभावज्ञः, 'आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि' (वैज को.6-1-6) इति यादवः ॥ ६ ॥

**पत्न्याः पतिव्रतायास्तु[1] सखा प्रियचिकीर्षया ।**
**प्राप्तो मामस्य दास्यामि सम्पदोऽमर्त्यदुर्लभाः ॥ ७ ॥**

**इत्थं विचिन्त्य वसना स्त्रीरबद्धान् द्विजन्मनः ।**
**स्वयं जहार किमिद मिति पृथुकतण्डुलान् ॥ ८ ॥**

**★ नन्वेतदुपनीतं मे परम प्रीणनं सखे ।**
**तर्पयत्यङ्ग मां विश्व मेते पृथुक तण्डुलाः ॥ ९ ॥**

**[2]इति मुष्टिं सकृज्जग्ध्वा द्वितीयां[3] जग्धु माददे ।**
**तावच्छ्रीर्जगृहे हस्तं सत्वरा परमेष्ठिनः ॥ १० ॥**

**एतावताऽलं विश्वात्मन् ! सर्वसम्पत्समृद्धये ।**
**अस्मिन् लोकेऽथवाऽमुष्मिन् पुंसस्त्वत्तोषकारणम् ॥ ११ ॥**

**ब्राह्मण स्तान्तु रजनी मुषित्वाऽच्युतमन्दिरे ।**
**भुक्त्वा पीत्वा सुखं मेने[4] ~~आत्मानं स्वर्गतं यथा~~ ॥ १२ ॥**

---

1. Ml,V. मे ★ This verse is not found in M,Ma editions. 2. M,Ma एक 3. K,T,W. यं मुष्टि 4- -4 M,Ma सुखं सुत्वा मेन आत्मानमिन्द्रवत्

**श्रीध० पत्न्या** इति।अमर्त्यानां देवानामपि दुर्लभाः ॥ ७ ॥

**इत्थमिति**। अतिजीर्णत्वा द्वसनस्य पुनस्तन्मध्ये चीरेण बद्धान् ॥ ८ ॥

**नन्विति**। अङ्ग ! हे सखे ! मां विश्वं, विश्वात्मानं माम् ॥ ९ ॥

**इतीति**। इति वदन्नेकां मुष्टिं जग्ध्वा, तत्परेति। अयं भावः - एतावता पुंस इहाऽमुत्र च मत्कटाक्षविलासभूतानां सर्वसम्पदां समृद्धयेऽलम्, अतः परं द्वितीयमुष्ट्यदनेन मा मा मेतदधीनां कुर्विति ॥ १० ॥

**एतावतेति**। त्वत्तोषकारणं तव तोषस्य कारणं यथा भवेत्तथा सर्वसम्पत्समृद्धये, यां भक्तस्य समृद्धिं दृष्ट्वा त्वं तुष्ये रित्यर्थः ॥ ११ ॥

**ब्राह्मण** इति। स्वर्गतम् स्वर्गवासिनम् ॥ १२ ॥

**वीर०** अधुना तु पतिव्रतायाः पत्न्याः प्रियं कर्तुमिच्छया मां प्राप्त इति कार्यचिन्ताप्रकार मेवाह अस्येत्यादिना। अमर्त्यानां देवानामपि दुर्लभा स्सम्पदः भोग्यभोगोपकरण भोगस्थानादि समृद्धीरस्य द्विजस्य दास्यामि ॥ ७ ॥

**इत्थमिति**। अतिजीर्णत्वा द्वस्त्रस्य पुनः तन्मध्ये चीरेण बद्धान्पृथुकतण्डुलान् किमिदमिति पृच्छन् स्वयमेव जहार आददे, आदाय उवाचेत्यर्थः ॥ ८ ॥

उक्तिमेवाह - **नन्विति**। ननु हे सखे! मह्यमेतत्पृथुक तण्डुलरूपमुपायनमानीतमेतदेव मम परमप्रीणनं नितरां प्रीतिकृत्। अङ्ग! हे सखे! एते पृथुकतण्डुलाः विश्वं[1] विश्वशरीरकं मां तर्पयन्ति तृप्तं कुर्वन्ति ॥ ९ ॥

इतीत्यनन्तरमुक्त्वेति शेषः। एकं मुष्टिं जग्ध्वा द्वितीयं मुष्टिं जग्धु मत्तु मुपाददे, तावददनात्पूर्वमेव श्रीः रुक्मिणी सत्वरा त्वरयायुक्ता परमेष्ठिनःश्रीकृष्णस्य हस्तं जगृहे गृहीत्वा वारयन्ती प्राहेत्यर्थः ॥ १० ॥

तदेवाऽऽह - **एतावतेति**। हे विश्वात्मन्! विश्वात्मना त्वया एकमुष्ट्यदनेनैव कृत्स्नं विश्वं तर्पितमिति सम्बोधनाभिप्रायः। एतावता एकमुष्ट्यदनमात्रेणैव पुंसः अस्मिन्नमुष्मिन्वा लोके [illegible]दां समृद्धय [illegible]म् इतःपरं द्वितीयमुष्ट्यदनेन किं मम पि द्विजाधीनां कर्तु मुद्युङ्क्ते इति भावः। तव तोषस्य कारणं यथा भवे त्तथा सर्वसम्पत्समृद्धये इति सम्बन्धः ॥ ११ ॥

**ब्राह्मण** इति। अच्युतस्य मन्दिरे भुक्त्वा पीत्वा तां रात्रिं सुखं यथा तथोषित्वा चाऽऽत्मानं स्वर्गतं स्वर्गवासिनमिव अमन्यतेत्यर्थः ॥ १२ ॥

---

1. B.W. Omit विश्वं

**विज०** चीरं पटच्छदं जीर्णवस्त्रमित्यर्थः। इदं चीरबद्धं किमित्युक्त्वा द्विजन्मनःपृथुकतण्डुलान् स्वयमाजहार ॥ ८-१२।

श्वो भूते विश्वभावेन स्वसुखेनाभिवन्दितः ।
जगाम स्वालयं तात! पथ्यनुव्रज्य नन्दितः ॥ १३ ॥

स चाऽलब्ध्वा धनं सख्यु र्न तु याचितवान्स्वयम् ।
स्वगृहान्व्रीडितोऽगच्छ न्महद्दर्शन निर्वृतः ॥ १४ ॥

अहो ब्रह्मण्यदेवस्य दृष्टा ब्रह्मण्यता मया ।
यद्दरिद्रतमो लक्ष्मी माश्लिष्टो बिभ्रतोरसि ॥ १५ ॥

क्वाहं दरिद्रः पापीयान् क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः ।
ब्रह्मबन्धुरिति स्माऽहं बाहुभ्यां परिरम्भितः ॥ १६ ॥

निवेशितः[1] प्रियाजुष्टे पर्यङ्के भ्रातरो यथा ।
महिष्या वीजितः श्रान्तो वालव्यजनहस्तया ॥ १७ ॥

शुश्रूषया परमया पादसंवाहनादिभिः ।
पूजितो देवदेवेन विप्रदेवेन देववत् ॥ १८ ॥

---

1. B.G.J.M.Ma. Ml.V निवासितः

**श्रीध० श्वोभूत** इति। श्वो भूते उदिते रवौ विश्वं भावयतीति विश्वभावः तेनेति पुरतो भाविन मिन्द्र दुर्लभं सूचयति स्वसुखेन स्वानन्दपूर्णेनेति दानेऽदीनतां दर्शयति - नन्दितो विनयोक्तिभिः ॥ १३ ॥

**स** इति। व्रीडितः स्वचित्तकार्पण्येन लज्जितः महतः श्रीकृष्णस्य दर्शनेन निर्वृतः सुखं प्राप्तः॥ १४॥

निर्वृतिमेवाऽऽह - **अहो** इति चतुर्भिः। यद्यतः लक्ष्मीमुरसि बिभ्रता आश्लिष्टोऽहम् ॥ १५ ॥

**क्वेति**। पापीयान्नीचः ॥ १६,१७ ॥

**शुश्रूषयेति**। पूजितश्चन्दन लेपनादिभिः॥ १८ ॥

**वीर०** ततः श्वो भूते उदिते रवौ विश्वं भावयति अभ्युदययुक्तं करोतीति तथा। तेन स्वसुखेन श्रीकृष्णेनाऽभिनन्दितः अभिनन्दनपूर्वकमनुज्ञात इत्यर्थः। तथा हे तात! तेन पथि अनुव्रज्य अनुगम्य वन्दितश्च स्वालयं स्वगृहं प्रति जगाम ॥ १३ ॥

**स चेति** । स ब्राह्मणः सख्युस्सकाशाद्धन मलब्ध्वा स्वयं व्रीडितः कार्पण्येन लज्जितः न याचितवान् । भगवानयाचितो न ददौ। स्वयन्तु न याचित्वाऽपि लब्धा नित्यर्थः। किन्तु महतो भगवतो दर्शनेनैव निर्वृतः सुखितः स्वगृहान्प्रति जगाम ॥ १४ ॥

निर्वृति मेवाऽऽह - **अहो** इति चतुर्भिः। ब्रह्मण्यदेवस्य ब्राह्मणश्रेष्ठस्य ब्रह्मण्यता ब्रह्मकुले साधुता दृष्टा। काऽसौ उरसि वक्षसि लक्ष्मीं बिभ्रता भगवता अहं दरिद्रोऽप्याश्लिष्ट आलिङ्गितः इति यदेषा ॥ १५ ॥

अय मलभ्यलाभ इत्याह - **क्वाऽहं** मिति। पापीयान्नीचः, अथाऽपि ब्रह्मबन्धुरयमित्यभिप्रेत्य बाहुभ्या मालिङ्गितः ॥१६॥

किञ्च श्रिया लक्ष्म्यवताररूपया रुक्मिण्या जुष्टे सेविते पर्यङ्के अहं निवेशितः[1] उपवेशितः[2] यथा भ्रातर स्तद्वत्। किञ्चाऽध्वनिश्रान्तोऽहं वालव्यजनं हस्ते यस्या स्तस्या महिष्या भार्यया वीजितश्च ॥ १७ ॥

किञ्च, **शुश्रूषयेति**। पादसंवाहनं पादपीडनम् आदि र्येषां आदि शब्देन चन्दनलेपनादि सङ्ग्रहः देवानां ब्रह्मादीनां देवेन। तथाऽपि सौशील्यातिशयेन विप्राणां देवेन कर्त्रा देववदहं पूजितः ॥ १८ ॥

---

1. B.T.W. निवासितः 2. B.Omits उपवेशितः

**विज०** अनुव्रज्य अनुगम्य नन्दितः, कृष्णेनेति शेषः ॥ १३

महतः कृष्णस्य दर्शनेन निर्वृतः ॥ १४,१५ ॥

अहं ब्राह्मणानां विप्राणां बन्धुरिति स्मृत्वा ॥ १६ ॥

भ्रातरो यथा, भ्रातरमिति शेषः ॥ १७,१८ ॥

**स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम्।**
**सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम् ॥ १९ ॥**

**अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चै र्न मां स्मरेत् ।**
**इति कारुणिको नूनं धनं मे भूरि नाऽददात् ॥ २० ॥**

**इति तच्चिन्तयन्नन्तः प्राप्तो निजगृहान्तिकम् ।**
**सूर्यानलेन्दुसङ्काशै र्विमानै स्सर्वतो वृतम् ॥ २१ ॥**

**विचित्रोपवनोद्यानैः कूजद्द्विजकुलाकुलैः ।**
**प्रोत्फुल्ल कुमुदाम्भोज कह्लरोत्पलवारिभिः ॥ २२ ॥**

**जुष्टं स्वलङ्कृतैः पुम्भिः स्त्रीभिश्च हरिणाक्षिभिः ।**
**किमिदं कस्य वा स्थानं कथं तदिदमित्यभूत् ॥ २३ ॥**

**एवं मिमांसमानं तं नरा नार्योऽमरप्रभाः ।**
**प्रत्यगृह्णन् महाभागं गीतवाद्येन भूयसा ॥ २४ ॥**

1. M.Ma दिवि 2. M.Ma नो यद्ध 3- -3 K.T.W. तश्चिन्तयाहृष्टः ; M.Ma तश्चित्तगत्यान्तः ; Ml.V. सञ्चिन्त्य ॰यान्विप्रः

**श्रीध०** एवं सम्पूज्याऽपि धनस्यादाने कारणं कल्पयति - **स्वर्गापवर्गयोरिति** द्वाभ्याम् । स्वर्गादीनां यद्यपि तस्य चरणार्चनमेव कारणं, तथाऽपि कारुणिकत्वादभूर्यपि स्वल्पमपि धनं मह्यं नाऽददात् ॥ १९,२० ॥

**इतीति**। इत्येवं चिन्तयन् निजगृहस्यान्तिकं तत्प्रान्तम्। तस्य विशेषणं सूर्येति ॥ २१ ॥

**विचित्रेति**। विचित्रोपवनादिभि र्वृतम्। कथम्भूतैः? कूजद्भिः द्विजकुलैः पक्षिसमूहैः आकुलैः व्याप्तैः। तथा प्रोत्फुल्लानि कुमुदादीनि येषु तानि वारीणि येषु तानि तथा तैः ॥ २२ ॥

किञ्च, **जुष्टमिति**। हरिणीनामिवाक्षीणि यासां ताभिः तदैश्वर्यं दृष्ट्वा वितर्कितवां स्तदाह - किमिदमिति। प्रथमं तेजःपुञ्जं दृष्ट्वा किमिदमिति पश्चाद्विमानानि दृष्ट्वा कस्य वेति स्थानं स्वीयमिति ज्ञात्वा कथं तदिदं स्थान मित्येवं रूप मभूदिति ॥ २३ ॥

**एवमिति**। अमरप्रभा स्तत्तुल्यकान्तयः प्रत्यगृह्णन्नुपायनादिभि रादृतवन्तः ॥ २४ ॥

**वीर०** इत्थं सम्पूज्याऽपि धनस्य अदाने कारणं कल्पयति - **स्वर्गापवर्गयोरिति** द्वाभ्याम्। यद्यपि रसायां पाताले भुवि च सम्पदां सर्वासां सिद्धीनां अणिमादीनाञ्च स्वर्गापवर्गयोः स्वर्गमोक्षयोश्च कारणं तस्य भगवत श्चरणार्चनमेव ॥ १९ ॥

तथाऽप्ययं भगवान् कारुणिकः, हेतुगर्भमिदम्। अतो निर्धनो मादृशो धनं लब्ध्वा नितरां माद्यन् गर्वितो मां न स्मरेत् इत्यभिप्रेत्य मे मह्यं भूरि बहुधनं नाऽददात् न ददौ ॥ २० ॥

**इतीति**। तच्चिन्तया भगवद्गुणानुचिन्तयैव हृष्टः स्वगृहसमीपं प्राप्तः। तस्य विशेषणं सूर्येति। सूर्यादिव दीप्यमानै रित्यर्थः। सर्वतः परितः वृतम् ॥२१॥

किञ्च, **विचित्रेति**। कूजतां द्विजानां पक्षिणां कुलानि तै राकुलैर्व्याप्तैः विचित्रै रुपवनै रुद्यानैश्चावृतं, तथा प्रोत्फुल्लानि कुमुदादीनि येषु तानि वारीणि येषु तैः, सरोभिरिति विशेष्य मध्याहार्यम्। जुष्टं युक्तमित्यर्थः ॥२२॥

पुम्भिः हरिणानामिव अक्षीणि यासां ताभिः स्त्रीभिश्च जुष्ट तथा च दृष्ट्वा वितर्कितवानित्याह - **किमिति**। प्रथमं तेजः पुञ्जं दृष्ट्वा किमेदमीत, पश्चात् विमानानि दृष्ट्वा कस्य वेदं स्थानमिति, स्वीयमिति ज्ञात्वा कथं तदिदं स्थानम् इत्येवं रूपमभूत् ॥२३॥

इतीत्थं मीमांसमानं वितर्कयन्तं द्विजं नरा नार्यश्च हे महाभाग! भूयसोऽर्हैर्गीतवाद्येन प्रत्यगृह्णन् उपायनादिभि राहृतवन्त इति सम्बन्धः। अमरप्रभाः देवतुल्यकान्तयः इति नरनारीविशेषणम् ॥२४॥

---

1- -1 T.W. Omit

**विज०** दिवि आकाशे॥ १९ ॥

माद्यन् मदं गच्छन् ॥ २० ॥

अन्तर्हृदय इति तस्मिन् कृष्णे स्थितचित्तगत्या स्वगृहान्तिकं प्राप्तः॥ २१,२२॥

स्वमन्दिरं दृष्ट्वा इदं किं, कस्यचेदं स्थानम्, इदं तदिति तत् द्वारकाविधं कथमभूत्॥ २३

एवं मीमांसमानं जिज्ञासमानं तं नरादयः प्रत्यगृह्णन् अभ्याययु रित्यन्वयः ॥ २४ ॥

**पतिमागत माकर्ण्य पत्युद्धर्षाऽति सम्भ्रमा।**
**निश्चक्राम गृहात्तूर्णं रूपिणी श्रीरिवालयात् ॥ २५ ॥**

**पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा प्रेमोत्कण्ठाश्रुलोचना ।**
**मीलिताक्ष्यनमद्बुद्ध्या मनसा परिषस्वजे ॥ २६ ॥**

**पत्नीं वीक्ष्य प्रस्फुरन्तीं देवीं वैमानिकीमिव ।**
**दासीनां निष्ककण्ठीनां मध्ये भान्तीं सुविस्मितः ॥ २७ ॥**

**प्रीतः स्वयं तथा युक्तः प्रविष्टो निजमन्दिरम्।**
**मणिस्तम्भशतोपेतं महेन्द्रभवनं यथा ॥ २८ ॥**

**पयः फेननिभाश्शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः ।**
**पर्यङ्का हेमदण्डानि चामरव्यजनानि च ॥ २९ ॥**

**आसनानि च हैमानि मृदूपस्तरणानि च ।**
**मुक्तादामविलम्बीनि वितानानि द्युमन्ति च ॥ ३० ॥**

---

1. K.T.W प्रीत्युद्धर्ष ; Ml.V. भक्त्युद्धर्ष 2. K.T.W प्रेम्णो 3. B.G.J विस्फुरन्तीं ; M.Ma प्रस्फुरन्तीं 4. B.G.J.K.Ml.V. स वि॰5.M.Ma प्रीतां

**श्रीघ० पतिमिति**। उद्भूतो हर्षो यस्या स्सा अतिसम्भ्रमः आदरो यस्या स्सा आलयात् कमलवनात् रूपधारिणी श्रीरिव[1] स्वर्गस्य तत्र भगवता आनीतत्वात् स्वर्गिणामिव तयो रूपञ्च बभूवेति भावः ॥२५॥

बुद्ध्या अयमेव वन्द्य इति निश्चयेन मनसा सङ्कल्पेन ॥ २६-२८ ॥

**पय** इति। यत्र मन्दिरे पयःफेननिभाः शय्याः आस्तरणानीत्यादि सम्पदः तत्र सर्वसम्पदां समृद्धीः विलोक्य तर्कयामासेति चतुर्थेनाऽन्वयः यत्र च दान्ताः गजदन्तमयाः पर्यङ्काः ॥ २९ ॥

**असनानीति**। यत्राऽऽसनानि च मृदून्युपस्तरणानि तूलादिमयानि येषु तानि यत्र च मुक्तादामविलम्बवन्ति द्युमन्ति च वितानानि ॥ ३० ॥

---

1. B. श्रीरेव

**वीर० पतिमिति**। आलयात् कमलवनात्, श्रीर्लक्ष्मीरिव स्वगृहात् तूर्णं निश्चक्राम निश्चक्रवती ॥ २५ ॥

**पतिव्रतेति**। उत्कण्ठया प्रेमपूर्वकानुध्यानेन, अश्रूणि आनन्दजलबिन्दवो लोचनयो र्यस्या स्सा, प्रेम्णा पतिं दृष्ट्वा मीलिते अक्षिणी यया सा बुद्ध्या आनम न्नमश्चक्रे, मनसा परिषस्वजे आलिङ्गितवती च ॥ २६ ॥

**पत्नीमिति**। स ब्राह्मणः वैमानिकीं विमानारूढां दैवीं देवतास्त्रियमिव प्रस्फुरन्तीं तां, निष्कः पदकाख्यभूषणं कण्ठे यासां तासां दासीनां मध्ये भान्तीं दीप्यमानां पत्निं वीक्ष्य विस्मितो बभूव ॥ २७ ॥

**प्रीत** इति। तया पत्न्या युक्तः सहितः निजमन्दिरं विशिनष्टि मणिस्तम्भेत्यादिना । यथा महेन्द्रभवनं तद्वत् स्थितम् ॥ २८ ॥

**पय** इति। पयःफेनेत्यादेः मन्दिरः इत्यादिः। पयः फेननिभाः दुग्धफेनवन्मृदुलाः शुभ्राश्च दान्ता धौताः परिच्छदाः रुक्ममयाः परिकराः यासां ताः। शय्या इति द्वितीयान्तानां विलोक्येत्यपरिष्टात् सम्बन्धः। प्रथमान्तपाठे तु यत्र मन्दिरे पयः फेननिभाः शय्यादयः तत्र सर्वसम्पदां समृद्धिमवलोक्य तर्कयामासेति सम्बन्धः। अस्मिन्पक्षे दान्ताः दन्तमयाः रुक्म परिच्छदा इति च पर्यङ्कविशेषणम्। हेममयो दण्डो येषां तानि चामरव्यजनानि च ॥ २९ ॥

**आसनानीति**। मृदून्युपस्तरणानि तूलादिमयानि येषु तानि आसनानि मुक्तादाम्नां मुक्तासराणां विलम्बा येषु सन्तीति तथाभूतानि तानि वितानानि उल्लोचाः द्युमन्ति कान्तियुक्तानि च ॥ ३० ॥

**विज०** स निजमन्दिरं प्रविष्टोऽभूत् ॥ २५-२९ ॥

द्युमन्ति द्युतिमन्ति ॥ ३० ॥

**स्वच्छस्फटिककुड्येषु महामरकतेषु च ।**
**रत्नदीपान्[1]भ्राजमानान्[2] ललनारत्नसंयुतान्[3] ॥ ३१ ॥**

**विलोक्य ब्राह्मणस्तत्र समृद्धीस्[4]सर्वसम्पदाम् ।**
**तर्कयामास निर्व्यग्रः स्वसमृद्धिमहैतुकीम् ॥ ३२ ॥**

**नूनं बतैतन्मम दुर्भगस्य[5] शश्वद्धरिद्रस्य समृद्धिहेतुः ।**
**महाविभूतेरवलोकतोन्यो[6] नवोपपद्येत यदूत्तमस्य ॥ ३३ ॥**

**नन्वब्रुवाणो दिशते समक्षं याचिष्णवे[7] भूर्यपि भूरिभोगः[8] ।**
**पर्जन्यवत्स्वयमीक्षमाणो दाशार्हकाणामृषभःसखा[9] मे ॥ ३४ ॥**

**किञ्चित्करोत्युर्वपि यत्स्वदत्तं सुहृत्कृतं फल्ग्वपि भूरिकारी ।**
**मयोपनीतां[10] पृथुकैकमुष्टिं प्रत्यग्रहीत्प्रीतियुतो महात्मा ॥ ३५ ॥**

**तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्री दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात् ।**
**महानुभावेन गुणालयेन विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्गः ॥ ३६ ॥**

---

1. G.Ml.V. पा 2. G.Ml.V. ना 3. G.Ml.V. ता 4. M.Ma. "द्धि 5. K.T.W. बतेदं मम 6. M.Ma. ऽन्यत्रै 7. M.Ma. यो वि 8. B.G.J. भोजः ; M.Ma. तेजाः 9. K.T.W. स कामे 10. K.T.W. नीतं

**श्रीध० विलोक्येति**। स ब्राह्मणो निर्व्यग्रस्सन् स्थिरस्सन् अहैतुकीमाकस्मिकीं स्वस्य समृद्धिं तर्कयामास। कुत एषा समृद्धिरागतेति ॥ ३१,३२ ॥

निश्चिनोति **नूनमिति**। एतन्ममेति एष चाऽसावहञ्च तस्यै तन्मम महतीविभूतिर्यस्य तस्यावलोकादन्यस्तु न सम्भवेत् ॥ ३३ ॥

ननु स चेदवलोकनमात्रेण महदैश्वर्यं दत्तवान् , तर्हीदं तुभ्यं मया दत्तमिति किं नाऽवोचत्, अत आह नन्विति। ननु मे सखा समक्षमब्रुवाण एव याचिष्णवे याचकाय भूरि बह्वपि दिशति ददाति। अत्र हेतुः भूरिभोगः[1] स्वयं तद्देयं पर्जन्यव दीक्षमाण इति, अयमर्थः - स्वयं तावद्भूरिभोजो बहुभोज आप्तकामत्वात् लक्ष्मीपतित्वाच्च अतो यथा पारावारपरिपूरकोऽतिवदान्यः पर्जन्यः कदाचिद्बह्वपि वर्षमल्पमेव च मन्यमानो लज्जयैव समक्षमवर्षन् रात्रौ निद्राणे कर्षके तत्क्षेत्रमाप्लावयति, एवं श्रीकृष्णोऽपि स्वभोगापेक्षया तद्देयमिन्द्रादिपदमप्यतितुच्छं मन्वानः तस्यैव भजनं बहुमन्यमानः समक्षं अब्रुवाणः एव ददातीति ॥ ३४ ॥

तदेवाऽऽह - **किञ्चिदिति**। उरु बह्वपि स्वदत्तं यत् तत् किञ्चित्करोति अल्पं मन्यते । सुहृत्कृतं फल्गु अतितुच्छमपि भूरिकारी बहु मन्यत इत्यर्थः। अत एव मयोपनीतां समीपं नीतां प्रीतियुतः स्वयमेव प्रतिगृहीतवान् ॥ ३५ ॥

श्रीकृष्णस्य भक्तवात्सल्यं दृष्ट्वा तद्भक्तिं प्रार्थयते - **तस्येति**। सौहृदं प्रेम सख्यं हिताशंसवश्च मैत्री उपकारित्वञ्च दास्यं सेवकत्वम्, तत्समाहारैकवचनम्। तस्य तत्सम्बन्धिनो मे मम स्यात् न तु विभूतिः। किञ्च महानुभावेन तेनैव विषज्जतो विशेषेण सङ्गं प्राप्नुवतः तद्भक्तेषु प्रकृष्टः सङ्गः स्यादिति ॥ ३६ ॥

---

1. B.J.V. ज:

**वीर०** महान्तो मरकता इन्द्रनीलमणयः येषु तेषु स्वच्छेषु स्फटिकमयकुड्येषु रत्नान्येव दीपाः स्त्रीरत्नैस्संवृताः भ्राजमानाः। औज्ज्वल्यातिशयाद्रत्नानां दीपत्वरूपणम् ॥ ३१ ॥

**विलोक्येति।** निर्मग्नः निश्चलः स्थितस्सन् अहैतुकीं स्वस्य समृद्धिं तर्कयामास। कुतः? एषा समृद्धिरागतेति तावच्चिन्तितवानित्यर्थः ॥ ३२ ॥

निश्चिनोति **नूनमिति**। दुर्भगस्य अस्मिञ्जन्मनि निर्भगस्य शश्वत्सदा जन्मान्तरेषु अपीत्यर्थः। दरिद्रस्य मम समृद्धिहेतुः सम्पद्धेतुः महाविभूतेः विभूतिद्वयनाशकस्य यदूत्तमस्य भगवतो अवलोकनादन्यो नैवोपपद्येत न सम्भाव्येत। नूनं ध्रुवं अहो बत एतदाश्चर्यं इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

एवं तर्हि समक्षमेव मह्यं दास्यामीति ब्रुवन् किं न ददौ इत्याशङ्क्याऽऽह - **नन्विति**। भूरिभोगो बहुभोगो भगवान्। हेतुगर्भमिदम्। अतः याचिष्णवे याचकाय भूर्यपि बहुभाग्यमपि अब्रुवाणः 'दास्यामि प्रतिगृह्णीष्व' इत्येवमवदन् असमक्षमेव दिशते यच्छति। विरिञ्चिभोगपर्यन्तमपि याचकाय दीयमानं स्वभोगापेक्षया अतितुच्छमेवेत्यभिप्रेत्य लज्जया तत्समक्षं न यच्छति, किन्तु असमक्षमेवेत्यर्थः। एतदेव दृष्टान्तमुखेन वदन् कृतज्ञतामप्याह - पर्जन्यवदिति। यथा पर्जन्यः कदाचित् बह्वपि वर्षमल्पमेव मन्यमानः शयाने सति जनेरात्रावगर्जन् असमक्षमेव वर्षति तद्वदयं दाशार्हकाणामृषभो यदुपतिः तत्सेवकसमर्पितमत्यल्पमपि समीक्षमाणे बहुमन्यमानः सकामे कामनया युक्ते पुंसि अभिलषितानर्थानसमक्षं वर्षतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

तत्स्वयमीक्षमाण इत्येतदेव स्वदृष्टान्तेन द्रढयति - **किञ्चिदिति**। यत्स्वदत्तमात्मना दत्तमैश्वर्यमुरु भूर्यपि तत्किञ्चित्करोति, अत्यल्पं मन्यते इत्यर्थः। यत्सुहृदा भक्तेन कृतं समर्पितं फल्गु अत्यल्पमपि तद्भूरि बहु करोतीति तथा। तथाहि- मयोपनीतं समीप आनीतं पृथुकानां एकं मुष्टिं स्वयं महात्मा उभयविभूत्यधिपतिरपि प्रीति.युक्तः प्रत्यग्रहीत्। महात्मेत्यस्य सर्वभूताभिप्रायज्ञ इति वाऽर्थः ॥ ३५ ॥

अतः कृतज्ञतामस्य भगवतः सख्यादिकमेव मम प्रतिजन्मनि स्यादिति प्रार्थयते - **तस्यैवेति**। भगवत एव सौहृदं हितैषित्वं प्रेम वा सख्यं प्रियत्वं हिताशंसनं वा मित्रत्रायकत्वं वा मैत्री उपकार[2]स्मरणेन किञ्चित्करत्वं दास्यं भृत्यत्वं तेषां द्वन्द्वैकवद्भावः। तन्मम जन्मनि जन्मनि। वीप्सायां द्विर्भावः स्यादस्तु, न तु विभूतिरिति भावः। किञ्च गुणालयेन अनन्तकल्याणगुणाश्रयेण महानुभावेन भगवता विषज्जतः विशेषेण सङ्गतिं प्राप्तवतो मम तत्पुरुषाणां तद्भक्तानां प्रसङ्गः प्रकृष्टसङ्गः स्यात् ॥ ३६ ॥

1. B. स्पष्टं 2. B. करणेन

**विज०** निर्व्यग्रः निस्सम्भ्रमः ॥ ३१, ३२ ॥

ममैतदेव समृद्धिहेतुः महाविभूतेः यदूत्तमस्य अवलोकतोऽन्यन्निमित्तं नैवोपपद्येत । स एव हेतुरित्यन्वयः ॥ ३३॥

यः स्वयमब्रुवाणः तूष्णीकः पर्जन्यवत् नः अक्षयं शं दिशते ददाति यो यस्मै विष्णवे अभूर्यपि धनं ददाति भूरितेजाः अनल्पप्रभावो भवति। स एतादृशमहिमा दाशार्हकाणामृषभः श्रीकृष्णः मे सखा नन्वनुमतं, लोकेनेति शेषः ॥ ३४ ॥

भक्तदत्तमेव हरेः तृप्तिजनकत्वेन अनन्तफलत्वेन परिणमति, नाऽभक्तदत्तमित्याह - **किञ्चिदिति**। यत्सुष्ठु भक्तिपूर्वमदत्तं तदुर्वपि किञ्चित्करोति फलत इति शेषः। 'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापायज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिम्' (भ.गी. 9-20) इत्यादेः। सुहृत्कृतं पूजनं फल्गु अपि अल्पमपि भूरिकारि। एतत्कुतो दृष्टमत्राह मयेति, हेतुगर्भविशेषणम् एतत् ॥ ३५ ॥

यतोऽत्र भक्तिरेव प्रधानकारणम् अतः सैव सम्पाद्येति भावेनाऽऽह - तस्यैवेति। योऽहनादिकालमारभ्य तच्चरणैकशरणः तस्यैव मे सौहृदादि स्यादित्यन्वयः। न केवलमस्य हरेः भक्तिलक्षणसङ्गेन पूर्यते, अपि तु तद्भक्तसङ्गोऽपि स्यादिति प्रार्थयते। महानुभावेनेति। भगवता सह विषज्जतः विशेषेण सङ्गं कुर्वतः मे तत्पुरुषप्रसङ्गः तस्य हरेः पुरुषेषु ब्रह्मादिष्वपि प्रकृष्टसङ्गश्च स्यादित्यन्वयः ॥ ३६ ॥

**भक्ताय चित्रं[1] भगवान् हिसम्पदो राज्यं विभूतिर्न समर्थयत्यजः ।**
**अदीर्घबोधाय विचक्षणः स्वयं पश्यन्निपातं धनिनां मदोद्भवम् ॥ ३७ ॥**

**इत्थं व्यवसितो बुद्ध्या भक्तोऽतीव[2]जनार्दने ।**
**विषयाञ्जाययात्यक्ष्यन्[3] बुभुजे नाऽतिलम्पटः ॥ ३८ ॥**

**तस्य वै देवदेवस्य हरेर्यज्ञपतेः प्रभोः ।**
**ब्राह्मणाः प्रभवो दैवं न तेभ्यो विद्यते परम् ॥ ३९ ॥**

**श्रीशुक[4-] उवाच[-4]**

**एवं सविप्रो भगवत्सुहृत्तदा[5] दृष्ट्वा स्वभक्तैरजितं[6] पराजितम् ।**
**तद्ध्यानवेगोद्ग्रथितात्मबन्धनः तद्धाम लेभेऽचिरतः[7] सतां गतिम् ॥ ४० ॥**

**एतद्ब्रह्मण्यदेवस्य श्रुत्वा ब्रह्मण्यतां नरः ।**
**लब्धभावो भगवति कर्मबन्धाद्विमुच्यते ॥ ४१ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

---

1. B.G.J.M.Ma.Ml.V. चित्रा 2. M.Ma. भक्त्या 3. M.Ma. त्यक्त्वा 4- -4 B.G.J.M.Ma.Ml.V.omit 5. K.Ml.T.V.W. °त्तमो 6. B.G.J.K.Ml.T.V.W. भृत्यै° 7 K.T.W. चरितैः 8. M.Ma.Ml.V. °न्धात्प्र°

**श्रीध०** ननु, भक्तेः फलं सम्पदं प्राप्य पुनर्भक्तिं किमिति प्रार्थयते? अत आह - भक्तायेति। सम्पदः केशादीन्, राज्यमैश्वर्यं विभूतीः कलत्रपुत्रीदीन् न समर्थयति न ददाति, अपि तु दृढां भक्तिमेव, कुतः अदीर्घबोधाय, अविवेकिने, मम तु भक्त्या भावा देवं जातम् अतः तद्भक्तिरेव मम स्यादिति भावः ॥ ३७ ॥

**इत्थमिति** । त्यक्ष्यन् शनैः शनैः त्यागमभ्यस्यन् जायया सह बुभुजे ॥ ३८ ॥

श्रीकृष्णस्यैवं ब्रह्मण्यता नातिचित्रमित्याह - **तस्येति** ॥ ३९ ॥

**एवमिति**। अन्यैरजितमपि स्वभृत्यैः पराजितं दृष्ट्वा तस्य ध्यानं तस्य वेगः तेनोद्बुधितमात्मबन्धनमहङ्कारो यस्य सः, गतिमित्यविवक्षितलिङ्गं[1] धाम विशेषणम्। सतां ब्रह्मविदां प्राप्यमित्यर्थः ॥ ४० ॥

एतत् पृथुकोपाख्यानं श्रुत्वा तत्र ब्रह्मण्यतां विशेषतः श्रुत्वेति ॥ ४१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां

एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

---

1. B. J. °विष्ट लि°

**वीर०** ननु भक्तस्सन्नेव किमिति पुनः तद्भक्तिं प्रार्थयसे? इत्यत आह - **भक्तायेति**। चित्रं यद्यहं भक्तस्तर्हि मह्यमैश्वर्यप्रदानमतिचित्रमित्यर्थः। इत्थमैश्वर्यदानेन मामभक्तमेव सम्भावयामीति भावः। कुतः? हि यस्मादजो भगवान् भक्ताय सम्पदो राज्यं विभूतीश्च न समर्थयति, न वर्धयति न यच्छतीत्यर्थः। तत्र सम्पदो भोग्यभोगोपकरणं[1-] [-1] भोगस्थानादि समृद्धयः, विभूतयः, पुत्रपशुवित्तादिसमृद्धयः। अदाने हेतुं वदन् भगवन्तं विशिनष्टि - धनिनां मदस्योद्भवो यस्मात् तदैश्वर्यनिपातं निपतन्त्यनेन नरके इति तथाभूतम्। अदीर्घबोधाय अविवेकाय च भवेदिति पश्यन् जानन् विचक्षणः, हेतुगर्भमिदम्। अतस्तावन्न समर्थयत्येवेति सम्बन्धः। अतः किं वाऽऽहमभक्तः तस्मात्तद्भक्तिं प्रार्थये इति भावः ॥ ३७॥

**इत्थमिति**। बुध्या विवेकात्मिकया व्यवसितः निश्चिन्वन् नितरां भगवति भक्तियुक्तस्सन् विषयांस्त्यक्ष्यन् शनैश्शनै विषयत्यागमभ्यस्यन्नातिलम्पटः तेषु अतीव आदररहितः तान् जायया सह बुभुजे अनुबभूव ॥ ३८ ॥

स्वयं निस्समाभ्यधिको भगवान् कथमेवमकिञ्चनं द्विजमाहूतवानिति स्मयमानं राजानमालक्ष्याऽऽह - तस्य वै इति। हे प्रभो! यज्ञपतेः यज्ञनिर्वाकस्य देवानां ब्रह्मादीनामपि देवस्य हरेः प्रभवो दैवञ्च ब्राह्मणा एव। तेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः परमन्यद्दैवं न तस्य विद्यते इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

ततो ब्राह्मणः किमभूदित्यत आह - **एवमिति**। भगवत्सखः स ब्राह्मणः अन्यैरजितमपि (स्वभक्तैः) स्वभृत्यैः पराजितं वशीकृतं दृष्ट्वा तस्य भगवतो ध्यानेनोद्ग्रथितम् उन्मोचितमात्मनः स्वस्य बन्धनं संसृतिबन्धो यस्य सः। चरितैः तद्ध्यानाङ्गतयाऽनुष्ठितैर्वर्णाश्रमानुगुणैः पञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानैः ध्यानद्वारा साधनैः सतां मुक्तानां गतिं प्राप्यं तस्य भगवतो धाम स्थानं वैकुण्ठाख्यं लेभे प्राप्तवान्। स्वभृत्यैः पराजितं सताङ्गतिं उपायभूतं दृष्ट्वेति वा सम्बन्धः ॥ ४० ॥

अथ उपवर्णितभगवच्चेष्टितश्रवणफलमाह[2] - **एतदिति**। ब्रह्मण्यश्रेष्ठस्य भगवतो ब्रह्मण्यतां श्रुत्वा लब्धः भावो भक्तिः येन सः कर्मबन्धात् प्राचीनकर्मरूपाद्बन्धनात् मुक्तो[3] भवति ॥ ४१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

---

1- -1 B. omits 2. B.omits श्रवण 3. T.W. °क्तोऽभवत्

**विज०** हरिरैहिकमैश्वर्यं न ददातीति मन्दजनानुमितदोषापमार्जनयेयं सम्पादितेति भावेनाह - भक्तायेति ॥ ३७ ॥

त्यक्त्वाऽहम्ममतामिति शेषः ॥ ३८ ॥

देवदेवस्येत्यनेन सर्वप्रभुत्वं, यज्ञपतेरित्यनेन सर्वदेवत्वञ्च हरेरेव मुख्यमिति सूचितम्। अनेन इतरैर्ब्राह्मणभक्तिरेवावश्यं कर्तव्येति तात्पर्यं विधीयते न तु तस्य वै इति ॥ ३९ ॥

तस्य विप्रस्य का सिद्धिरभूत्तत्राह - एवमिति। अजितं नाम भगवन्तं स्वभक्तैः पराजितं दृष्ट्वा तस्य हरेर्ध्यानवेगेन उद्ग्रथितमुन्मुक्तम् आत्मबन्धनं यस्य तथा तद्भक्तैरेव प्राप्यं तद्धाम वैकुण्ठादिलक्षणम् ॥ ४० ॥

एतच्चरितोपासकस्य फलमाह - **एवमिति**। लब्धभावो लब्धभक्तिः, अनेनास्य विप्रस्येतरभक्तवैलक्षण्यमुक्तं स्यादिति तात्पर्यमवगन्तव्यम् ॥ ४१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे एकाशीतितमोऽऽध्यायः ॥ ८१ ॥
(विजयध्वजरीत्या एकोनशततमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥ )

# द्व्यशीतितमोऽध्यायः

सूर्योपरागे कुरुक्षेत्रं प्रति श्रीकृष्णादीनां गमनकथा

**श्रीशुक उवाच**

**अथैकदा द्वारवत्यां वसतो रामकृष्णयोः ।**
**सूर्योपरागः सुमहानासीत्कल्पक्षये यथा ॥ १ ॥**

**तं ज्ञात्वा मनुजा[1] राजन् पुरस्तादेव सर्वतः ।**
**स्यमन्तपञ्चकं[2] क्षेत्रं ययुः श्रेयोविधित्सया ॥ २ ॥**

**निःक्षत्रियां महीं कुर्वन्रामः शस्त्रभृतां वरः ।**
**नृपाणां रुधिरौघेण यत्र चक्रे महाह्रदान् ॥ ३ ॥**

**ईजे स भगवान्रामो यत्राऽस्पृष्टोऽपि कर्मणा ।**
**लोकस्य ग्राहयन्नीशो[3] यथाऽन्योऽघापनुत्तये[4] ॥ ४ ॥**

**महत्यां तीर्थयात्रायां तत्राऽगन् भारतीः प्रजाः ।**
**वृष्णयश्च तथाऽक्रूरवसुदेवाहुकादयः ॥ ५ ॥**

**ययुर्भारत तत्क्षेत्रं स्वमघं क्षपयिष्णवः ।**
**गदप्रद्युम्नसाम्बाद्याः[5] सुचन्द्रशुकसारणैः ॥ ६ ॥**

**आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायां कृतवर्मा च यूथपः ।**
**ते रथैर्देवधिष्ण्याभैर्हयैश्च तरलप्लवैः ॥ ७ ॥**

---

1. K.T.W. सत्तमाः; M1.V. पुरुषाः 2. G. स° 3. B.G.J.K.T.W. च 4. K.T.W. °न्नार्यो° 5. K.T.W. °श्च

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थ दीपिका

द्व्यशीतितम आगत्य कुरुक्षेत्रं रविग्रहे। वृष्णीन् दृष्ट्वा मुदा भूपाश्चक्रुः कृष्णकथामिथः ॥
श्रीदाम[1] सुहृदे कृष्णः प्रकल्प्यैन्द्रं[2] पदं भुवि। नन्दादि सुहृदानन्दी कुरुक्षेत्रं जगाम सः ॥

**अथेति**। कल्पक्षये यथा सर्वग्रास इत्यर्थः ॥ १ ॥

**तमिति**। ज्योतिर्विद्भिः कथ्यमानमादावेव ज्ञात्वा स्यमन्तकपञ्चकं क्षेत्रं कुरुक्षेत्रम् ॥ २ ॥

अब्रह्मण्य क्षत्रियवधस्थानत्वेन, परशुरामस्य अघापनुत्ति स्थानत्वेन च क्षेत्रस्य पापनिरासकत्वमाह - **निःक्षत्रिया** मिति द्वाभ्याम् ॥ ३ ॥

**ईजे** इति। अन्योऽविद्वान् यथा ॥ ४ ॥

**महत्यामिति**। आगन् आजग्मुः। भारतीर्भारत्यः ॥ ५,६ ॥

**आस्ते** इति। सुचन्द्रशुकसारणैस्सह अनिरुद्धो द्वारकारक्षायामास्ते तथा कृतवर्मा च यूथपतिः सेनानीः देवधिष्ण्याभैर्विमानसङ्काशैः। तरलास्तरङ्गाः तद्वत् प्लुथो गतिर्येषां तैः ॥ ७ ॥

---

1. MI.V श्रीकाम 2.MI.V. "ल्प्य इन्द्रपदं

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ भागवतः सबान्धवस्य तीर्थयात्रा व्याजेन सुहृत्सङ्गमतत्सल्लापाद्यात्मकं चेष्टितमनुवर्णयति त्रिभिरध्यायैः- **अथेति**। रामकृष्णयोर्द्वारकायां वसतोस्सतोः सुमहान् सर्वग्रासः। तत्र दृष्टान्तः कल्पक्षये यथेति। यथा कल्पावसाने सूर्यो न दृश्यते, तद्वदित्यर्थः ॥ १ ॥

**तमिति**। हे राजन्! तं सूर्योपरागं ज्योतिर्विद्भिः कथ्यमानम् आदावेव ज्ञात्वा सत्तमाः शिष्टाः सर्वे श्रेयोविधित्सया पुण्यार्जनेच्छया स्यमन्तपञ्चकं नाम क्षेत्रं कुरुक्षेत्रमित्यर्थः। ययुः जग्मुः ॥ २ ॥

अब्रह्मण्य क्षत्रिय वधस्थानत्वेन, परशुरामस्य अघापनुत्तिस्थानत्वेन च क्षेत्रस्य पापनिरासकत्वमाह - **निः क्षत्रियामिति** द्वाभ्याम्। रामो भार्गवः रुधिरौघेण रुधिरधारया यत्र क्षेत्रे महाह्रदान् पञ्च चक्रे ॥ ३ ॥

**ईजे** इति। कर्मणा नृपवधप्रयुक्तपापेनाऽस्पृष्टोऽपि रामो भार्गवःलोकस्य ग्राहयन्नन्योऽपि मत्तोऽर्वाचीनाः शिष्टा एवं कुर्युरिति तान् ग्राहयितुमित्यर्थः। तथाऽन्येषामविदुषामघापनुत्तये पापापनोदनाय च यत्र क्षेत्रे ईजे इयाज तत् क्षेत्रं ययुरिति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ४ ॥

**महत्यामिति**। महत्यां अतिशयितपुण्यावहायां भारतीः भारत्यः भारतवर्षस्थाः प्रजाः तत्र क्षेत्रे आगन्नाजग्मुः। तथा अक्रूरादयो वृष्णयश्च अगमन् ॥ ५ ॥

किमर्थमित्यत आह - **ययुरिति**। हे भारत! स्वं स्वकीयमघं पापं क्षपयिष्णवः निरसितुमिच्छवः इत्यर्थः। गदेति। गदादिभिस्सह ॥ ६ ॥

अनिरुद्धः रक्षायां निमित्तभूतायां द्वारकारक्षणार्थमित्यर्थः। तत्रैवाऽस्ते स्थितवानित्यर्थः। [1-]एतैर्विशेषणैस्सर्वे भगवदादयो जग्मुरित्यभिप्रायः[-1]। तत्र श्रीकृष्णस्तु लोकं तीर्थयात्रायां प्रवर्तयितुं गत इति बोध्यम्। तेऽक्रूरादयः देवधिष्ण्याभैः देवविमानसङ्काशैरिति रथविशेषणम्। तरलाः तरङ्गाः तद्वत् प्लवो गतिः येषां तैः इति हयविशेषणम् ॥ ७ ॥

---

1- -1 T.W. omit

**गजैर्नदद्भिरभ्राभैर्नृभिर्विद्याधरद्युभिः ।**
**व्यरोचन्त महातेजाः पथिकाञ्जनमालिनः ॥ ८ ॥**

**दिव्यस्रग्वस्त्रसन्नाहाः कलत्रैः खेचरा इव ।**
**तत्र स्नात्वा महाभागा उपेष्य सुसमाहिताः ॥ ९ ॥**

**ब्राह्मणेभ्यो ददुर्धेनूर्वासस्स्रग्रुक्ममालिनीः ।**
**रामह्रदेषु विधिवत्पुनराप्लुत्य वृष्णयः ॥ १० ॥**

**ददुः स्वन्नं द्विजाग्र्येभ्यः कृष्णे नो भक्तिरस्त्विति ।**
**स्वयञ्च तदनुज्ञाता वृष्णयः कृष्णदेवताः ॥ ११ ॥**

**भुक्त्वोपविविशुः कामं स्निग्धच्छायाङ्घ्रिपाङ्घ्रिषु ।**
**तत्राऽऽगतांस्ते ददृशुस्सुहृत्सम्बन्धिनो नृपान् ॥ १२ ॥**

**श्रीध० गजैरिति**। विद्याधरद्युभिः विद्याधराणामिव द्युतिर्येषां तैः महातेजाः महातेजसाः ॥ ८ ॥

**दिव्येति**। दिव्या अत्युत्तमाः स्रग्वस्त्रसन्नाहा येषाम् ॥ ९ ॥

**ब्राह्मणेभ्य** इति। पुनरन्येद्युराप्लुत्य, यद्वा तस्मिन्नेवाऽहनि मुक्तिस्थानं कृत्वा ॥ १०,११ ॥

**भुक्त्वेति**। स्निग्धा शीतला छाया येषामङ्घ्रिपानामङ्घ्रिषु मूलेषु ॥ १२ ॥

**वीर०** नदद्भिः अभ्राभैः नीलमेघसङ्काशैः इति च गजविशेषणम्। महाभागाः महाभाग्यवन्तः सर्वे कञ्चनमालयुक्ताः ॥ ८ ॥

दिव्याः स्रगादयो येषां ते। सन्नाहः कवचादिपरिकरबन्धः खेचरा देवा इव कलत्रैस्सह व्यरोचन्त। तत्रेति। वासस्स्रगादयः आसां सन्तीति तथा ताः धेनूर्ददुः। रामह्रदेषु भार्गवनिर्मितेषु ह्रदेषु आप्लुत्य स्नात्वा कृष्णे भगवति नोऽस्माकं भक्तिरस्त्विति प्रार्थयमाना ददुः। तथा स्वयं भगवानपि तत्राऽऽप्लुत्य ददौ इत्यर्थः। कृष्णो देवता येषां ते ॥ ९-११ ॥

अत एव तेन कृष्णेन अनुज्ञाता वृष्णयः कामं यथेष्टं भुक्त्वा स्निग्धा सान्द्रा छाया येषां तेषामङ्घ्रिपाणां वृक्षाणामङ्घ्रिषु मूलेषु उपविविशुः। तत्रेति। ते वृष्णयस्तत्र स्यमन्तपञ्चके आगतान् सुहृदादीन् ददृशुः सुहृदश्च सम्बन्धिनश्च तान् ॥ १२ ॥

**मत्स्योशीनरकौसल्यविदर्भकुरुसृञ्जयान् ।**
**काम्भोजकैकयान्[1] मद्रान् कुन्तीनारट्टकेरलान्[2] ॥ १३ ॥**

**अन्यांश्चैवाऽऽत्मपक्षीयान् परांश्च शतशो नृप ।**
**नन्दादीन् सुहृदो गोपान् गोपीश्चोत्कण्ठिताश्चिरम् ॥ १४ ॥**

**अन्योन्यसन्दर्शनहर्षरंहसा प्रोत्फुल्लहृद्वक्त्रसरोरुहश्रियः ।**
**आश्लिष्य गाढं नयनैः स्रवज्जलाहृष्यत्त्वचो रुद्धगिरो ययुर्मुदम् ॥ १५ ॥**

**स्त्रियश्च संवीक्ष्य मिथोऽतिसौहृदस्मितामलापाङ्गदृशोऽभिरेभिरे[3] ।**
**स्तनैः स्तनान्कुङ्कुमपङ्करूषितान्निहत्य दोर्भिः प्रणयाश्रुलोचनाः ॥ १६ ॥**

**ततोऽभिवाद्य ते वृद्धान् यविष्ठैरभिवादिताः।**
**स्वागतं कुशलं पृष्ट्वा चक्रुः कृष्णकथामिथः ॥ १७ ॥**

**पृथा भ्रातॄन् स्वसॄर्वीक्ष्य तत्पुत्रान्यितरावपि ।**
**भ्रातृपत्नीर्मुकुन्दञ्च जहौ सङ्कथया शुचः ॥ १८ ॥**

---

1. B.G.J. काम्बोज, K. कम्बोज ; T.W. कम्भोज 2. B.G.J. °नर्त 3. MI.T.V.W. °मिरे

**श्रीध० अन्य** इति। प्रोत्फुल्लैः हृद्वक्त्रसरोरुहैः श्रीः शोभा येषां ते ॥ १३-१५ ॥

**स्त्रिय** इति। अति सौहृदेन यत् स्मितं तेनाऽमलाः अपाङ्गैर्दृशो दृष्टयो यासां ताः, मिथः परस्परं संवीक्ष्य दोर्भिरभिरेभिरे आलिङ्गनं कृतवत्यः॥ १६-१७ ॥

**पृथेति**। सङ्कथया मिथस्सप्रेमगोष्ठ्या ॥ १८ ॥

**वीर०** मत्स्यादयश्शब्दाः जनपदतद्राजसाधारणाः अन्यान्मत्स्यादिभ्योऽन्यानात्मपक्षीयान् स्वपक्षपातिनः, तथा परान् शत्रूंश्च सुहृदो नन्दादीन् गोपांश्चिरमुत्कण्ठा प्रीतिपूर्वकानुध्यानं आसां सञ्जातेति तथा ता गोपीश्च ददृशुरिति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ १३,१४॥

**अन्योन्येति**। अन्योन्यस्य सन्दर्शनेन यो हर्षस्तस्य रंहसा वेगेन, अतिशयेनेति यावत्। प्रोत्फुल्लैः, हृद्वक्त्राण्येव सरोरुहाणि तैः श्रीः शोभा येषां ते, गाढं यथा तथा आलिङ्ग्य नयनैः स्रवन्ति जलानि येषां ते, हृष्यन्त्यः उदञ्चितरोमाणः (तनवः) त्वचो येषाम् रुद्धः गद्गदाः गिरो येषां ते मुदं हर्षं ययुः प्रापुः ॥ १५ ॥

**स्त्रियश्चेति**। अतिसौहृदेन स्मितं तेनाऽमलाः अपाङ्गैर्नेत्रान्तैः दृशो दृष्टयो यासां ताः कुङ्कुमपङ्केन रूषितान् लिप्तान् तादृशैः स्तनैः निहत्य सम्पीड्य मिथोऽभिरेभिरे परिषस्वजिरे। प्रणयेन प्रीत्या अश्रूणि लोचनयोः यासां ताः ॥ १६ ॥

**तत** इति। ते यदवो मत्स्यादयश्च वृद्धान् वयसा अधिकानभिवन्द्य यविष्ठैः न्यूनवयस्कैः अभिवन्दिताश्च स्वागतं कुशलञ्च पृष्ट्वा तत्र परस्परं कथाश्चक्रुः कथयामासुः ॥ १७ ॥

तावत् पृथा कुन्ती भ्रातॄन् स्वसॄर्भगिनीश्च तत्पुत्रान् भ्रातृपुत्रान् स्वसृपुत्रांश्च वीक्ष्य सङ्कथया मिथः सप्रेमगोष्ठ्या शुचः क्लेशान् जहौ तत्याज ॥ १८ ॥

## कुन्त्युवाच

**आर्य भ्रातरहं मन्ये आत्मानमकृताशिषम् ।**
**यद्वा आपत्सु मद्वार्तां नाऽनुस्मरथ सत्तमाः ॥ १९ ॥**

**सुहृदो ज्ञातयः पुत्रा भ्रातरः पितरावपि ।**
**नानुस्मरन्ति स्वजनं यस्य दैवमदक्षिणम्॥ २० ॥**

**वसुदेव उवाच**

**अम्ब माऽस्मानसूयेथाः दैवक्रीडनकान्नरान् ।**
**ईशस्य हि वशे लोकः कुरुते[2] कार्यतेऽथवा ॥ २१ ॥**

**कंसप्रतापितास्सर्वे वयं याता[1]दिशं दिशम् ।**
**एतर्ह्येव पुनः स्थानं दैवेनाऽऽसादिताः स्वसः॥ २२ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**वसुदेवोग्रसेनाद्यैर्यदुभिस्तेऽर्चिता नृपाः ।**
**आसन्नच्युत सन्दर्श परमानन्द निर्वृताः॥ २३ ॥**

---

1. K.M.I.T.V.W. "त 2. K.T.W. क्रियते

**श्रीध०** तामेव वसुदेवपृथयोः सङ्कथामाह - **आर्येत्यादि** चतुर्भिः। अकृताशिषमपूर्णमनोरथम् ॥ १९ ॥

**सुहृद** इति। यस्य दैवमदक्षिणम् अननुकूलं तं स्वजनमपि सन्तं सुहृदादयो नाऽनुस्मरन्ति। अतो मम[1] दैवं प्रतिकूलं युष्माकं कोऽपराधः इति भावः ॥ २०,२१ ॥

ईशवशत्वमेवाऽऽह - **कंसप्रतापिता** इति। हे स्वसः! एतर्ह्येव सम्प्रत्येव ॥ २२,२३ ॥

---

1. M.I.V. ममैव

**वीर०** तावत् पृथावसुदेवयोः सङ्कथामाह - आर्येत्यादिभिः[1] चतुर्भिः। हे आर्य! हे भ्रातः! अहमात्मानमकृताशिषमप्राप्तमनोरथं मन्ये, मम मनोरथपूर्तिरजातेत्यर्थः। कुतः? यद्यस्मात् हे सत्तमाः! मद्भार्तां नानुस्मरत न स्मृतवन्तः। अडभाव आर्षः ॥ १९ ॥

युक्तश्चैतदित्याह - **सुहृद** इति । यस्य दैवमदक्षिणम् प्रतिकूलं तं स्वजनमपि सुहृदो नानुस्मरन्त्येव । अतो मम दैवं प्रतिकूलमिति भवतां कोऽपराध इति भावः ॥ २० ॥

एवमुक्तः प्राह वसुदेवः - **अम्बेति**। हे अम्ब, दैवस्य क्रीडनकान् क्रीडासाधनभूतान्नरानस्मान् प्रति माऽसूयेथाः असूयां मा कार्षीः। कुतः? हि यस्मात् लोकः जनः ईशस्य ईश्वरेण इत्यर्थः। वशे क्रियते वशीक्रियत इत्यर्थः। यथा ईशस्य यथारुचि कार्यते व्यापार्यते च ॥ २१ ॥

ईशवशत्वमेवाऽऽह - **कंसप्रतापिता** इति। कंसेन प्रतापिताः क्लेशिताः सर्वे वयं दिशं दिशं याताः गताः हे स्वसः॥ एतर्ह्येव सम्प्रत्येव दैवेन स्थानमासादिताः प्रापिताः ॥ २२ ॥

**वसुदेवेति**। ते मत्स्यादयो नृपाः वसुदेवादिभिः यदुभिः अर्चिताः अच्युतसन्दर्शनजपरमानन्देन सुखिताश्चाऽऽसन् बभूवुः ॥ २३ ॥

---

1. B. "ति च"

**भीष्मो द्रोणोऽम्बिकापुत्रो गान्धारी ससुता तथा ।**
**सदाराः पाण्डवाः कुन्ती सञ्जयो[1] विदुरः कृपः ॥ २४ ॥**

**कुन्तिभोजो विराटश्च भीष्मको नग्नजिन्महान् ।**
**पुरुजिद्द्रुपदश्शैब्यः[2] धृष्टकेतुस्[3]सकाशिराट् ॥ २५ ॥**

**दमघोषो विशालाक्षो मैथिलो मद्रकेकयौ ।**
**युधामन्युस्सुशर्मा च ससुता बाह्लिकादयः ॥ २६ ॥**

**राजानोऽन्ये[4] च राजेन्द्र युधिष्ठिरमनुव्रताः ।**
**श्रीनिकेतं वपुश्शौरेः सस्त्रीका[5] वीक्ष्य विस्मिताः ॥ २७ ॥**

**अथ ते रामकृष्णाभ्यां सम्यक्प्राप्तसमर्हणाः ।**
**प्रशशंसुर्मुदा युक्ता वृष्णीन् कृष्णपरिग्रहान् ॥ २८ ॥**

---

1. B.G.J. सृ" 2. Ml.T.V.W. "श्शल्यो 3. K.Ml.T.V.W. "तुश्च 4. B.G.J. ये च 5. B.G.J. "कं

**श्रीध० राजान** इति। युधिष्ठिरं येऽनुव्रतास्ते, राजसूये जितत्वात् ॥ २४-२८ ॥

**वीर०** भीष्मादयोऽन्ये च ये युधिष्ठिरमनुव्रताः ते सर्वे सस्त्रीकाः श्रियो लक्ष्म्याः श्रीनिकेतनमाश्रयं शौरेः [1-]श्रीकृष्णस्य[-1] वपुः शरीरं [2]वीक्ष्य विस्मिता बभूवुरिति [3-]चतुर्णामन्वयः[-3]। [4-]तत्राऽम्बिकापुत्रो[-4] धृतराष्ट्रः ससुता दुर्योधनादिसहिता गान्धारी ॥ २४-२७ ॥

**अथेति**। ते भीष्मादयः कृष्णरामाभ्यां कर्तृभ्यां सम्यग्यथातथा प्राप्तं समर्हणं यैस्ते। कृष्णेन परिगृह्यन्त इति तथा तान् वृष्णीन् प्रशशंसुः ॥ २८ ॥

---

1- -1 K.T.W. omit 2. K.T.W. अवलोक्य 3- -3. K.T.W. सम्बन्धः। 4- -4 K.T.W. omit.

**अहो! भोजपते! यूयं जन्मभाजो नृणामिह ।**
**यत्पश्यथाऽसकृत्कृष्णं दुर्दर्शमपि योगिनाम् ॥ २९ ॥**

**यद्विश्रुतिः श्रुतिनुतेदमलं पुनाति पादावनेजनपयश्च वचश्च शास्त्रम् ।**
**भूः कालभर्जित [1]भगाऽपि यदङ्घ्रिपद्म स्पर्शोत्थ शक्तिरभिवर्षति नोऽखिलार्थान् ॥ ३० ॥**

**[2]यद्दर्शनस्पर्शनानुपथप्रजल्प शय्यासनाशनसयौनसपिण्डबन्धः ।**
**येषां गृहे निरयवर्त्मनि वर्ततां वः स्वर्गापवर्गविगमः स्वयमास विष्णुः ॥ ३१ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**नन्दस्तत्र यदून्प्राप्तान् ज्ञात्वा कृष्णपुरोगमान् ।**
**तत्राऽगमद्धृतो गोपैरनस्स्थार्थैर्[3]दिदृक्षया ॥ ३२ ॥**

---

1. T.W. °गुणापि 2. B.G.JMl.v त° 3. K°नोभिः; °नस्साध°

**श्रीध० अहो**! इति। जन्मभाजो नृणां मध्ये सफलजन्मानः ॥ २९ ॥

किञ्च, न केवलं तस्य दर्शनमेव अपि तु, अत्यन्तदुर्लभं बहु युष्माकं स्वतस्सम्पन्नमित्याहुः-यद्विश्रुतिरिति द्वाभ्याम् - यदिति पृथक् पदम्, यस्येत्यर्थः। विश्रुतिः कीर्तिः श्रुतिभिर्नुता वेदैः स्तुता इदं विश्वम् अलमप्यर्थं पुनाति। 'यद्विश्रुति

श्रुति रमीव मलम् 'इति पाठे श्रुतिः श्रवणम्, अमीवं पापमिति। यस्य पादावनेजनपयो गङ्गा च यस्य वचो वाक्यरूप शास्त्रञ्च वेदाख्यं विश्वं पुनाति। किञ्च, कालेन भर्जितं दग्धं भागं माहात्म्यं यस्या स्सा, तथा विधाऽपि भूः यस्याङ्घ्रिपद्मस्पर्शेन उत्था आविर्भूता शक्तिर्यस्या स्सा नोऽस्माक मखिलानर्थान् अभितो वर्षति ॥ ३० ॥

**यदिति**। दर्शनञ्च स्पर्शनञ्च अनुपथोऽनुगतिश्च प्रजल्पो गोष्ठी च शय्या शयनञ्चाऽऽसनञ्चाऽशनं भोजनञ्च यौनं विवाहसम्बन्धस्तेन सह वर्तमानः सपिण्डबन्धो दैहिकसम्बन्धः तेन श्रीकृष्णेन सह दर्शनाद्युपलक्षितः स यौनः सपिण्डबन्धो येषां वोऽस्ति। किञ्च येषां वर्तमानानां स्वर्गापवर्गाभ्यां विरमयति वितृष्णान् करोतीति तथा। सः ते यूयं जन्मभाज इति। यद्वा तदिति सामान्यनिर्देशः स इत्यर्थः। स विष्णुः स्वयं येषां वो निरयवर्त्मनि संसारकारणे गृहे वर्तमानानामपि बध्यते सम्बध्यत इति बन्धोः दर्शनादिभिः सम्बन्धस्सन् स्वर्गापवर्गविरम आस परमसुखप्रदो बभूवेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

**नन्द** इति। अनस्स्थार्थैरिति। तत्रैव वासचिकीर्षया शकटेषु स्थापितैः अर्थैः सहाऽऽगत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

---

1--1 Ml.V. °तः दग्धः भगः

**वीर०** प्रशंसामेवाऽऽह - **अहो**! इति त्रिभिः। भोजपतिरुग्रसेनः। हे भोजपते! इह लोके नृणां मध्ये यूयमेव जन्मभाजः सफलजन्मनः। कुतः? यद्यस्मात्, योगिनामपि दुर्दर्शं श्रीकृष्णमसकृत् पश्यथ ॥ २९ ॥

किञ्च, न केवलं तस्य दर्शनमेव, अपि तु दुर्लभं बहु युष्माकं सम्पन्नमित्याहुः - **यद्विश्रुतिरिति** द्वाभ्याम्। यदिति पृथक्पदमव्ययम् यस्येत्यर्थकं विश्रुति पदावनेजनपादाभ्यां पृथक् सम्बध्यते। यद्वा, पादेत्यस्य यस्येत्यादिः यस्य भगवतो विश्रुतिः कीर्तिः श्रुतिभिः वेदैः नुता इदं कथयत्सर्वमाश्वपाकं जगत्पुनाति यस्य पादावनेजनपयःपादप्रक्षालनजलं तदात्मिका गङ्गा च जगत्पुनातीत्यर्थः। वचः काव्यपुराणादिरूपं शास्त्रं शासनात्मकवेदाश्च विश्वं पुनाति। किञ्च कालेन भर्जितं दग्धं भगवन्माहाँत्म्यं यस्यास्तथाविधाऽपि भूः पृथ्वी यस्याङ्घ्रिपद्मस्पर्शेन उत्था आविर्भूता शक्तिर्माहात्म्यमैश्वर्यम् इति यावत्। सा यस्यास्ताथाभूता नोऽस्माकमखिलानर्थान् सर्वान् अभीष्टान् अर्थान् अभिवर्षतीति। 1-श्रुतेरिति पाठे श्रुतेर्यस्य विश्रवणं विश्रुतिः-1। विश्रुतमिति पाठे "इमम्मे गङ्गे यमुने सरस्वति" (म.ना.उ.5.21) इत्यादिषु विविध श्रुतिषु श्रुतिमिति पयोविशेषणम्। वचः गीतात्मकं शास्त्रं यत्कीर्तनं जगदलं सकलमितिपाठे अलं पुनातीत्यन्वयः। जगदमीवमलं पुनातीति पाठे अमीवं पापं तदेव मलं यस्य तज्जगत्पुनातीत्यर्थः। गङ्गाजलं गीताशास्त्रञ्च जगत्सकलं पुनातीत्यर्थः ॥ ३० ॥

किञ्च, **यद्दर्शनमिति**। यस्य दर्शनञ्च स्पर्शनञ्च अनुपथः अनुगतिश्च प्रजल्पो गोष्ठी च शय्या शयनम्, आसनञ्च, अशनं भोजनञ्चेति इतरेतरयोगद्वन्द्वः सयौन सपिण्डाभ्यां विवाहैकगोत्रत्वाभ्यां बन्धस्सम्बन्धः दर्शनादिभिः सहितः, सयौन सपिण्डबन्धः स येषां भवतामस्ति। किञ्च येषां गृहे श्रीकृष्णः स्वयमास आविर्बभूव, येषां वो निरयवर्त्मनि प्रवृत्तिमार्गे वर्ततां वर्तमानानामपि स्वर्गापवर्गवैतृष्ण्यञ्च आस अभूत् ॥ ३१ ॥

**नन्द** इति। कृष्णपुरोगमान् कृष्णप्रभृतीन् ज्ञात्वा आकर्ण्य तद्दिदृक्षया कृष्णादिदर्शनेच्छया गोपैः परिवृतः अनोभि श्शकटैः गमनसाधनैः तत्र कृष्णसन्निधौ आजगाम ॥ ३२ ॥

---

1- -1 K.T.W. omit

**तं दृष्ट्वा वृष्णयो दृष्टा स्तन्वः प्राणमिवोत्थिताः ।**
**परिषस्वजिरे गाढं चिरदर्शनकातराः ॥ ३३ ॥**

**वसुदेवः परिष्वज्य सम्प्रीतः प्रेमविह्वलः ।**
**स्मरन् कंसकृतान् क्लेशान् पुत्रन्यासञ्च गोकुले ॥ ३४ ॥**

**कृष्णरामौ परिष्वज्य पितरावभिवाद्य च ।**
**न किञ्च नोचतुः प्रेम्णा साश्रुकण्ठौ कुरुद्वह ॥ ३५ ॥**

**1-ता उत्सङ्गे -1समारोप्य बाहुभ्यां परिरभ्य च ।**
**यशोदा च महाभागासुतौ विजहतुश्शुचः ॥ ३६ ॥**

---

1- -1 K. तावात्मोत्सङ्गे : B.G.J. तावात्मासने ;M.V. तावात्माङ्के स

**श्रीध० वसुदेव** इति। वसुदेवस्तं परिष्वज्य प्रेमविह्वलो बभूवेति शेषः ॥ ३३-३५ ॥

**ताविति**। तौ सुतौ परिरभ्य नन्दो यशोदा च विरहशोकान् विजहतुः तत्यजुः। यद्वा, शुचोऽश्रूणि विजहतुः मुमुचतुः इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

**वीर० तमिति**। तं नन्दं प्राणं मुख्यप्राणं प्रति तन्वः शरीराणीव तावद्विनिर्गते पुनरागते सति मुख्यप्राणे यथा शरीराण्युत्तिष्ठन्ते तद्वदित्यर्थः। उत्थिताः सन्तः चिरं दर्शने निमित्ते कातराः लम्पटाः अतो गाढं यथा तथा परिषस्वजिरे आलिङ्गितवन्तः ॥ ३३ ॥

**वसुदेव** इति। परिष्वज्य, नन्दमिति शेषः। प्रणयेन स्नेहातिशयेन विह्वलः परवशः गोकुले पुत्रयोः रामकृष्णयोर्न्यासम्, अवस्थापनञ्च, स्मरन्नास्ते इत्यध्याहारः ॥ ३४ ॥

कृष्णरामाविति प्रथमान्तम्। पिता च माता च पितरौ 'पिता मात्रा (अष्टा.1.2.70) इत्येकशेषः। तौ यशोदानन्दौ अभिवाद्य आलिङ्ग्य च हे कुरूद्वह! प्रेम्णा साश्रुः कण्ठो ययोस्तौ, किञ्चिदपि नोचतुः तूष्णीमासतुरित्यर्थः ॥ ३५ ॥

**ताविति**। यशोदा चेति, चशब्दान्नन्दः तौ सुतौ रामकृष्णावात्मनः उत्सङ्गमारोप्य तस्मिन्नुपवेश्येत्यर्थः। बाहुभ्यां परिरभ्य च शुचः पुत्रविश्लेषजशोकान् विजहतुः ॥ ३६ ॥

**रोहिणी देवकी चाऽथ परिष्वज्य व्रजेश्वरीम् ।**
**स्मरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीं बाष्पकण्ठ्यौ समूचतुः ॥ ३७ ॥**

**का विस्मरेत वां मैत्रीमनिवृत्तां व्रजेश्वरि !**
**अवाप्याऽप्यैन्द्रमैश्वर्यं यस्या नेह प्रतिक्रिया ॥ ३८ ॥**

**एतावदृष्टपितरौ युवयोः स्म पित्रोः सम्प्रीणनाभ्युदयपोषणपालनानि ।**
**प्राप्योषतुर्भवति पक्ष्म हि[1] यद्वदक्ष्णो न्यस्तावकुत्र च भयौ न सतां परः स्वः ॥ ३९ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं यत्प्रेक्षणे[2] दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति[3] ।**
**दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वा स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम् ॥ ४० ॥**

---

1. B.G.J. ह 2.T.W. त° 3. K.M.I.T.V.W. °न्त्यः

**श्रीध० रोहिणीति** । व्रजेश्वरीं यशोदाम् ॥ ३७ ॥

**केति**। अनिवृत्तां निवृत्तिकारणे सत्यप्यनुवर्तमानाम् ऐन्द्रमैश्वर्यं प्राप्याऽपि यस्याः प्रतिक्रिया कर्तुं न शक्यत इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

तत्कृतां मैत्रीमाहतुः - **एताविति** । न दृष्टौ पितरौ याभ्यां तौ। वस्तुतस्तु, अजन्मत्वादेव अदृष्टपितरौ, हे भवति! युवयोः पित्रोन्यस्तावेतौ सम्प्रीणनादीनि प्राप्य अकुत्रचभयौ क्वचिदपि भयरहितौ भूत्वा ऊषतुः वासं

चक्रतुः। कथम्भूतयोः अक्ष्णोर्नेत्रयोः? रक्षकं पक्ष्म यद्वत्तथा रक्षकयोः युक्तं युवयोरेतत्, यतः सतां परः, स्वः इति नास्ति वैषम्यम् ॥ ३९ ॥

**गोप्य** इति। अभीष्टत्वे लिङ्गम्। यद्यस्य श्रीकृष्णस्य प्रेक्षणे दृशिषु नेत्रेषु व्यवधायकपक्ष्मकृतं[1] विधातारं शपन्ति।

दृग्भिर्नेत्रद्वारैः हृदि कृतं हृदये प्रवेशितं परिरभ्य तद्भावं तदात्मतां प्रापुः। अपि नित्य युजामारूढयोगिनामपि ॥ ४० ॥

---

1. B.J. °कं

**वीर० देवकीति**। व्रजेश्वरीं यशोदां परिष्वज्य तत्कृतां व्रजेश्वरीकृतां मैत्रीं स्मरन्त्यौ बाष्पमानन्दाश्रुकण्ठे ययोस्ते समूचतुः ॥ ३७ ॥

उक्तिमेवाऽऽह - **केति**। हे व्रजेश्वरि! वां युवयोः मैत्रीं अनिवृत्तां यावद्देहमनुवृत्तमित्यर्थः। का वा स्त्री विस्मरेत। न कापीत्यर्थः। अत्र हेतुत्वेन तां विशिनष्टि - ऐन्द्रमैश्वर्यं दत्त्वाऽपि यस्याः मैत्र्याः प्रतिक्रिया प्रत्युपकृतिरिह लोके नास्ति ॥ ३८ ॥

मैत्रीं प्रपञ्चयतः - **एताविति**। न दृष्टौ पितरौ याभ्यां तौ हे भवति! युवयोः पित्रोर्न्यस्तावेतौ सम्प्रीणनादीनि प्राप्य अकुत्रचभयौ क्वचिदपि भयरहितौ भूत्वा ऊषतुः वासं चक्रतुः। कथम्भूतयोः? अक्ष्णोः नेत्रयोः पक्षकं पक्ष्म यद्वत्तथा रक्षकयोः युवयोः इति सम्बन्धः। रक्षकयोरित्यस्याध्याहारः। सुप्रीणनमपेक्षितप्रदानेन[1] तर्पणम्, अभ्युदयो महोत्सवः। युक्तश्चैतदित्यूचतुः। न सतां परोऽस्तीति। परः स्वः इति पाठे परः स्वकः इति च न वैषम्यमस्तीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

**गोप्यश्चेति**। अभीष्टं प्रियतमं कृष्णं उपलभ्य दृष्ट्वा यस्य श्रीकृष्णस्य प्रेक्षणे प्रवृत्तासु दृशिषु स्वनेत्रेषु व्यवधायकपक्ष्मकृतं विधातारं शपन्त्यः दृग्भिर्नेत्रद्वारैः हृदिकृतं हृदये प्रवेशितमाश्लिष्य नित्ययुजां नित्यं मनो युञ्जानानां योगिनामपि दुरापं दुर्लभं तद्भावं कार्त्स्न्येन तद्विग्रहावगाहनात्मकमभिप्रायं प्रापुः ॥ ४० ॥

---

1. K. सम्प्री

**भगवांस्तास्तथाभूता विविक्त उपसङ्गतः ।**
**आश्लिष्यानामयं पृष्ट्वा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ ४१ ॥**

**अपि स्मरथ नस्सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया ।**
**गतांश्चिरायिताञ्शत्रूपक्षक्षपणचेतसः ॥ ४२ ॥**

**अप्यवध्यायथाऽस्मान् स्विदकृतज्ञा विशङ्कया ।**
**नूनं भूतानि भगवान् युनक्ति वियुनक्ति च ॥ ४३ ॥**

**वायुर्यथा घनानीकं तृणतूलं[1] रजांसि च ।**
**संयोज्याऽऽक्षिपते भूयस्तथाभूतानि भूतकृत् ॥ ४४ ॥**

1. B.G.J. 'णं तूलं

**श्रीध० अपीति**। चिरायितान् विलम्बितान्। अत्र हेतुः शत्रूणां पक्षस्य क्षपणे चेतो येषां तान् ॥ ४१,४२ ॥

**अपीति**। अपिस्वित् अस्मान् अवध्यायथा अवजानीथ, अकृतज्ञा एत इत्याऽऽविशङ्कया ईषच्छङ्कया न शङ्कामात्रं निश्चितमेवैतत् परित्यज्य गतत्वादित्यत आह - नूनमिति ॥ ४३ ॥

एतत्सदृष्टान्तमाह - **वायुरिति**। आक्षिपते [1-]आक्षिपति[-1] पृथक्करोतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

1--1. B.J. omit

**वीर० भगवानिति**। तथाभूता आत्मभावमापन्नाः ता गोपीर्विविक्ते एकान्ते उपसङ्गतः अनामयमारोग्यं पृष्ट्वा इदं वक्ष्यमाणमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

तदेवाऽऽह - **अपीति** षड्भिः। हे सख्यः! नोऽस्मानपि स्मरथ, स्मरथ किम्? इत्यर्थः। क्षणसौहृदान् युष्मान्नानुस्मरामेत्यत आत्मनो विशिनष्टि - सतां साधूनां स्वानामर्थं प्रयोजनं कर्तुमिच्छया चिरायितान् विलम्बितान्। तत्र हेतुः - शत्रु पक्षक्षपणे चेतो येषां तानस्मान् ॥ ४२ ॥

अकृतज्ञविशङ्कया अकृतज्ञः कृतज्ञादन्यः तद्विशङ्कया कृतघ्ना एवैते इति बुद्ध्येत्यर्थः। अवध्यायथापिस्वित् अवजानीथ किमित्यर्थः। अवपूर्वाद्ध्यायतेः लोण्मध्यमपुरुषबहुवचनम् । न शङ्कामात्रं निश्चितमेतत्, परित्यज्य गतत्वादित्यत आह- नूनमिति। भूतानीति द्वितीयान्तम् ॥ ४३ ॥

एतत्सदृष्टान्तमाह - **वायुरिति**। घनानीकं मेघसमुदायं तृणादीनि च वायुर्यथा युनक्ति वियुनक्ति वियोजयति च तद्वत् भूतकृत् भूतस्रष्टा भगवान् क्वचिद्भूतानि संयोज्य पुनराक्षिपते वियोजयति च ॥ ४४ ॥

**मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।**
**दिष्ट्या यदाऽऽसीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ॥ ४५ ॥**

**अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः ।**
**भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः ॥ ४६ ॥**

**एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्माऽऽत्मना तत ।**
**उभयं मय्यथपरे पश्यताऽऽभातमक्षरे[1] ॥ ४७ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः ।**
**तदनुस्मरणध्वस्तजीवकोशास्तमध्यगन् ॥ ४८ ॥**

**आहुश्च ते नलिन नाभपदारविन्दं योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः[2] ।**
**संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं गेहञ्जुषामपि मनस्युदियात्सदा नः ॥ ४९ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे वृष्णिगोपसङ्गमो नाम द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

---

1. M.L.V. 'न्त 2. K.T.W. 'गो'

**श्रीध०** अपि च, अतिभद्रमिदं यदुत भवतीनां मद्वियोगेन मत्प्रेमातिशयो जात इत्याह - **मयीति**। मयि भक्तिमात्रमेव तावदमृतत्वाय कल्पत इति यदुत भवतीनां मत्स्नेह आसीत् तद्दिष्ट्या अतिभद्रं कुतः मदापनो मत्प्रापण इति ॥ ४५ ॥

कीदृशम्त्वं,यं वयं स्नेहेन प्राप्स्याम इत्यपेक्षायामात्मस्वरूपमाह - **अहं हीति**। हे अङ्गनाः ! भौतिकानां शरावसैन्धवादीनां यथाऽकाशादीनि पञ्चमहाभूतान्याद्यन्तादिरूपाणि एवं सर्वभूतानां जरायुजादीनामहं, अतो व्यापकं मां भवत्यः प्राप्ता एवेति ॥ ४६ ॥

ननु चतुर्विधभूतग्रामाणां तद्भोक्ता आत्मैव आद्यन्तादिरूपः तस्मिंश्च सर्वव्यापके सर्वभूतानि वर्तन्त इति कुतस्त्वत्प्राप्तिरस्माकमित्यत आह - **एवं हीति**। अयमर्थः - शराद्यादीनां यथा भौतिकानां महाभूतान्याद्यन्तादिरूपाणि एवमेवेतानि चतुर्विधानि भूतान्यपि भौतिकत्वाविशेषात् स्वकारणेषु भूतेष्वेव वर्तन्ते। ननु "भोक्तर्यात्मनि, आत्मा तु तेषु भूतेषु आत्मना भोक्तृरूपेण ततो व्याप्तो न कारणत्वेन। अथैतदुभयं भूतभौतिकरूपं भोग्यञ्च भोक्तारञ्चाऽऽत्मानं मय्यक्षरे परिपूर्णे आभातं, पश्यतेति" ॥ ४७ ॥

**अध्यात्मेति**। अध्यात्मशिक्षया स्वरूपोपदेशेन शिक्षिताः बोधिताः तस्यानुस्मरणेन ध्वस्तो जीवकोशो लिङ्गं यासां ताः तमेवाऽध्यगन् प्रापुः ॥ ४८ ॥

एवं प्राप्तोऽपि कृष्णः पुनर्गृहव्यासङ्गेन माऽपयात्विति तच्चरणस्मरणं प्रार्थयामासुरित्याह - **आहश्चेति**। हे नलिननाभ ! ते पदारविन्दं योगेश्वरैः[1-] हृदि विचिन्त्यं[-1] गेहञ्जुषां गृहसेविनीनामपि नो[2-] मनसि[-2] सदा उदियात् आविर्भवेत् ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां

द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

---

1- -1. B.J. omit 2- -2 Ml.v omit

**वीर०** किञ्चाऽतिभद्रमिदं यद्भवतीनां मद्वियोगेन मत्प्रेमातिशयोऽभूदित्याह - **मयीति**। मयि भक्तिमात्रमेव तावदमृतत्वाय मुक्तये कल्पते। यत्तु भवतीनां मयि स्नेहः आसीत् तद्दृष्ट्याऽतिभद्रम्। कुतः ? मदापनः मत्प्रापणः ॥४५॥

कीदृशस्त्वम् ? यं वयं स्नेहेन प्राप्स्यामहे इत्यपेक्षायामात्मनो याथात्म्यमाह - **अहमिति**। आदिः सृष्टिकारणम्, अन्तः लयकारणम्, अन्तरमन्तरात्मा बहिश्च व्याप्य स्थितः इत्यर्थः। अन्तर्बहिश्च सद्भावे दृष्टान्तार्थमाह - भौतिकानामिति। हे अङ्गानाः ! खमाकाशः, वाः जलम्, भूः पृथ्वी, खादीनि यथा भौतिकानां भूतपरिणामात्मकानां देवमनुष्यादिशरीराणामन्तर्बहिश्च वर्तन्ते ॥ ४६ ॥

एवं दृष्टान्तमुखेन शिक्षितमर्थं दार्ष्टान्तिके सङ्गमयति - **एवमिति**। एतान्याकाशादीनि तत्कार्यरूपाणि देवादि शरीरात्मकानि च भूतानि भूतेषु आत्मा तेषु भूतेषु स्थित आत्मा जीवात्मा च आत्मना मया अन्तर्बहिश्च, व्याप्यन्त इति

**शेषः। ततः तस्मादुभयं चेतन मचेतनञ्च वस्तुजातं अक्षरेऽन्तर्बहिश्च व्याप्य वर्तमानेऽपि व्याप्यगत विकाररहिते मय्याभातं प्रमितं पश्यत। मयीत्यनेन धारकत्वमुक्तम्। आत्मनेत्यनेन अन्तःप्रविश्यप्रशासितृत्वञ्च अन्तः प्रविश्य नियमनं हि आत्म शब्दप्रवृत्तिनिमित्तम् ॥ ४७ ॥**

**अध्यात्मशिक्षयेति**। आत्मनि अध्यात्मम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। स्वात्मपरमात्म याथात्म्यविषयज्ञानमित्यर्थः। तस्य शिक्षया सम्यगुपदेशेन साधनेन इत्थं कृष्णेन कर्त्रा शिक्षिता गोप्यः तस्य भगवदुपदिष्टात्मयाथात्म्यस्य अनुस्मरणेन मननपूर्वकनिदिध्यासनेन ध्वस्तः जीवकोशः कोशवदावरकं कर्म मूलमज्ञानं यासां ताः, तं भगवन्तम् अध्यगन् प्रापुः क्रमेण मुक्ता बभूवुरित्यर्थः ॥ ४८ ॥

तदा तदुपदिष्टाध्यात्मानुस्मरणविरोधिमोहोपशमनाय मनसः तदङ्घ्रिप्रावण्यं प्रार्थयमानाः प्राहुः च इत्याह - **आहुश्चेति**। उक्तिमेवाह - त इत्यादिना। हे नलिननाभ! अगाधोऽपारो बोधः ज्ञानं येषां तैः योगेश्वरैः हृदि विचिन्त्यं केवलं चिन्त्यमेव, न तु दृश्यम्। संसारकूपे पतितानां उत्तरणाय[1] अवलम्बमालम्बनभूतं ते तव पदाम्बुजं देहधारिणां नोऽस्माकं मनसि सदा उदियात् आविर्भवेत् यथावत् विषयीभवेत् इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

**इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे**
**श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां**
**व्याख्यायां द्व्यशीतितमोऽऽध्यायः ॥ ८२ ॥**

---

1. B. उत्ता°

# त्र्यशीतितमोध्यायः

**श्रीशुक उवाच**

**तथाऽनुगृह्य भगवान् गोपीनां स गुरुर्गतिः ।**
**युधिष्ठिरमथाऽपृच्छ त्सर्वांश्च सुहृदोऽव्ययम् ॥१॥**

**त एवं लोकनाथेन परिपृष्टास्सुसत्कृताः ।**
**प्रोचुः प्रहृष्टमनस स्तत्पादेक्षाहतांहसः ॥२॥**

**कुतोऽशिवं त्वच्चरणाम्बुजासवं महन्मनस्तो मुखनिस्सृतं क्वचित् ।**
**पिबन्ति ये कर्णपुटै रलं प्रभो! देहम्भृतां देहकृदस्मृतिच्छिदम् ॥ ३ ॥**

**हित्वाऽऽत्मधाम विधुतात्मकृतत्र्यवस्थ मानन्द सम्प्लव मखण्डमकुण्ठ बोधम् ।**
**कालोपसृष्ट निगमावन आत्तयोग मायाकृतिं परमहंसगतिं नताः स्मः ॥४॥**

---

1. K.T.W. अथाऽ; Ml.V. ततोऽ 2- -2 K.T.W. सङ्गतिं गुरुः 3- -3 B.G.J.K.Ml.V. प्रत्यूषुर्हृष्ट 4- -4 K.T.W. महात्मनां सम्मुर्खानवृतं

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

त्र्यशीतितम एवञ्च स्त्रीणां कृष्णकथोत्सवे। द्रौपद्यै कृष्णभार्याभि रुक्ताः स्वस्वकरग्रहाः ॥

**तथेति**। अव्ययम् कुशलम् ॥ १ ॥

**त** इति। तत्पादेक्षया हत मंहो येषां ते ॥ २ ॥

**कुत** इति। महतां मनस्तः मनसस्सकाशा न्मुखद्वारतो निस्सृतं क्वचित्कदाचित् देहम्भृतां देहधारिण देहकृच्चाऽसावस्मृतिश्चाविद्यां तां छिनत्तीति तथा तं देहकृदीश्वरः तद्विषयाज्ञानच्छिदं वा ॥३॥

हि, त्वा इति पदद्वयम्। त्वा त्वां हि एव त्वामेव नताः स्मेत्यर्थः। कथम्भूतम्? आत्मधाम्ना स्वरूपप्रकाशेन विधुत निरस्ताः आत्मकृताः बुद्धिनिमित्ता स्तिस्रोऽवस्थाः यस्मिंस्तम्। अत एवाऽनन्दसम्प्लवं सर्वानन्दकदम्बरूपम् अखण्डञ्चापरिच्छि यतो न कुण्ठः कुण्ठितो बोध श्चिच्छक्ति र्यस्य तम्। ननु एवं रूपता श्रीकृष्णस्य कुतः? अस्मदादिवद्देहप्रतीतेः रत आह

कालोपसृष्टेति। कालेनोपसृष्टा विप्लुताश्च ते निगमाश्च तेषा मवने रक्षार्थ मात्ता उपात्ता योगमायया आकृति र्नराकारमूर्ति र्येन तम्। परमहंसानां गतिं त्वाम्। अत स्तवैवंरूपत्वा दस्माकञ्च त्वन्माययैतत्सर्व वैपरीत्या त्त्वामेव नताः स्मेति। यद्वा, त्वामिति प्रकरणात् ज्ञातव्यम्। त्वां नताः स्म। किं कृत्वा, हित्वा, किम्, आत्मधाम आत्माशरीरं धाम गृहम् तञ्च तञ्च देहदैहिकसङ्गं परित्यज्येत्यर्थः। समान मन्यत् ॥४॥

---

1. B.J.Omit मनसः 2. B.Omits देह

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवत चन्द्रचन्द्रिका

**अथेति**। गुरुस्तत्वोपदेष्टा। भगवान्गोपीनां सङ्गतिं स्वपादारविन्दासक्तिं तथाऽस्त्वित्यनुगृह्य अथ युधिष्ठरं सर्वान् सुहृदश्च प्रति अव्ययमारोग्यमपृच्छत् ॥ १ ॥

त इति। ते युधिष्टिरादयः तस्य भगवतः पादयोरीक्षया दर्शनेन हतं निरस्तं अंहः पाप ममङ्गलञ्च येषां ते। अत एव हृष्टं मनो येषां ते प्रत्यूचुः ॥ २ ॥

उक्तिमेवाह - कुत इति द्वाभ्याम्। त्वच्चरणाम्बुजासवं त्वत्पादाब्ज कथामृतमित्यर्थः। आसववन्मधुरं विषयविस्मापनञ्च ये कर्णपुटैः श्रोत्रचषकैः पिबन्ति त्वच्चरणाम्बुजं ये ध्यायन्तीत्यर्थः। तेषामशिवममङ्गलं कुतः? नास्त्येवेत्यर्थः। आसवत्वरूपणात्पिबन्तीत्युक्तम्। प्रसिद्धासवा दौत्कृष्ट्यम् वक्तुं विशिंषन्ति। महात्मनां सतः परिशुद्धान् मुखमेव पद्मं तस्मान्निस्सृतं देहसम्पादक मनादि अज्ञानं तां छिनत्तीति तथा तम्। प्रसिद्धामृतन्तु नैवंविधमिति भावः ॥ ३ ॥

**तमिति**। यस्य चरणाम्बुजामृत मेवंविधं तं त्वां नताः स्मः प्रणमामः। कथम्भूतम्? परमहंसानां गतिं प्राप्यं मुक्त्युपायभूतञ्च तदुपयुक्तं सौशील्यं वात्सल्यञ्चाहुः। कालेनोपसृष्टो विप्लुतो निगमो वेदः तस्यावने निमित्ते रक्षणार्थं वैदिकधर्ममर्यादापालनार्थमित्यर्थः। आत्ता परिगृहीता योगमाया स्वाश्चर्यशक्तियोगेन आकृति विग्रहो यस्य तम्। योगमायेत्यनेन आकृतेरकर्मायत्तत्वमुक्तम्। आत्मेत्यनेन स्वेच्छयैवोपात्तत्वम्। यद्यपि सङ्कल्पमात्रेणाऽपि निगमविरोधि दुष्कृद्विनाशसम्भवः, तथापि आश्रितवात्सल्यात् सौशील्याञ्च आत्तयोगमायाकृतिरिति भावः। आश्रितकार्यापदकज्ञानगुणयोगमाहुः। अखण्डः अविच्छन्नः अप्रतिहतः बोधः अनिष्टपरिहारेष्टप्रापणाद्युपयुक्तज्ञानं यस्य तम्। प्राप्यत्वोपयुक्तं गुणमाहुः आनन्दसम्प्लवमानन्दप्रवाहरूपम्। प्राप्यवैलक्ष्ण्य माहुः - तिस्रः अवस्थाः उत्पत्तिस्थितिसंहतयः आत्मधाम्ना स्वतेजसा विधुता निर्धूताः आत्मकृताः स्वकृताः तिस्रः अवस्थाः यस्य तम्। अन्येषां सृष्ट्यादिकृत् स्वयं सृष्ट्याद्यविषयश्चेत्यर्थः ॥ ४ ॥

1- -1
श्रीशुक उवाच

इत्युत्तमश्लोकशिखामणिं जनेष्वभिष्टुवत्स्वन्धककैरवस्त्रियः ।
समेत्य गोविन्दकथामिथोऽगृणं स्त्रिलोकगीताः श्रृणु वर्णयामि[2] ते ॥ ५ ॥

द्रौपद्युवाच

हे वैदर्भ्यच्युतो[3] भद्रे हे जाम्बवति कौसले ।
हे सत्यभामे कालिन्दि शैब्ये रोहिणि लक्ष्मणे ॥ ६ ॥

हे कृष्णपत्य एतन्नो ब्रूत वो भगवान्स्वयम् ।
उपयेमे यथालोकमनुकुर्वन् स्वमायया ॥ ७ ॥

रुक्मण्युवाच

चैद्याय माऽर्पयितुमुद्यत कार्मुकेषु राजस्वजेय भट शेखरिताङ्घ्रि रेणुः ।
निन्ये मृगेन्द्र इव भाग 4-मजावियूथा -4 तच्छ्रीनिकेतचरणोऽस्तु ममार्चनाय ॥ ८ ॥

1- -1 B.G.J. ऋषिरुवाच 2. K. यामहे 3. K.Ml.T.V.W. "च्युते 4- -4 Ml.V. मजोऽपि यद्वा

**श्रीध० इतीति**। त्रिषु लोकेषु गीताः ॥ ५ ॥

**हे वैदर्भीति**। कौसले हे सत्ये! शैब्ये हे मित्रविन्दे! रोहिणी नाम काचित्पट्टमहिषी तुल्या ॥ ६ ॥

**हे कृष्णपत्य** इति। हे अन्याः श्रीकृष्णस्य पत्यः ॥ ७ ॥

**चैद्याय** इति। मा माम्, अर्पयितुं सम्पादयितुं राजसु जरासन्धादिषु उद्यतकार्मुकेषु सत्सु अजेया ये भटास्तेषां शेखरिताः मुकुटवत्कृताः[1] अङ्घ्रिरेणवो येन तेषां मूर्ध्नि पदं दधतीत्यर्थः। तस्य श्रीनिकेतस्य चरणो ममाऽर्चनायास्तु ॥ ८ ॥

1. Ml.V. मकुट

**वीर० इतीति**। उत्तमश्लोकानां[1] पुण्यकीर्तीनाम् उत्तमं श्रीकृष्णं इत्थं जनेष्वभिष्टुवत्सु सत्सु परितः स्तोत्रं कुर्वत्सु सत्सु अन्धकानां कौरवाणाञ्च स्त्रियः समेत्य सङ्घीभूय मिथो गोविन्दस्य कथा अगृणन् कथयामासुः। ताः त्रिषु लोकेषु गीताः कथा वयं वर्णयामहे। त्वं श्रुण्विति शुकोक्तिः ॥ ५ ॥

इत्थं प्रतिज्ञाय तावत्ताः प्रस्तोतुं श्रीकृष्णपत्नीः प्रति द्रौपदीप्रश्नमाह - वैदर्भीत्यादि द्वाभ्याम्। अच्युते इति वैदर्भी विशेषणम्। नित्यानपायिनीत्यर्थः। हे कौसल्ये सत्ये हे शैब्ये! मित्रविन्दे! रोहिणीनाम काचित्पट्टमहिषी तुल्या ॥ ६ ॥

अन्याः कृष्णपत्नीः युगपत्सम्बोधयति - हे कृष्णपत्न्य इति। एतत् नोऽस्मभ्यं ब्रूत इति। यदयं भगवान् श्रीकृष्णः स्वमायया स्वसङ्कल्पेन लोकमनुकुर्वन् यथा भवतीरुपयेमे उदूढवानित्येतत् ॥ ७ ॥

एवमापृष्टासु तावद्रुक्मिणी प्राह - चैद्यायेति। मां **चैद्याय** शिशुपालाय अर्पयितुं दापयितुं राजसु चैद्यपक्षीयेषु उद्यतकार्मुकेषु उद्धृतचापेषु सत्सु अजेया भटास्तेषां शेखरिताः मुकुटवत्कृताः अङ्घ्रिरेणवो येन सः तेषां मूर्ध्नि पदं निदधदित्यर्थः। स भगवान् मृगेन्द्रः सिंहः अजानामवीनाञ्च यूथात् स्वभागमिव मां नित्ये आनीतवान्। अत्र उद्यतकार्मुक राजन्य यूथस्य अजावियूथतुल्यताऽभिप्रेता। तस्य भगवतः श्रीनिकेतचरणः श्रीमत्पादारविन्दं ममार्चनाय परिचर्यार्थमस्तु। तच्छ्रीनिकेतचरणं सदाऽहं परिचरेयमिति प्रार्थना ॥ ८ ॥

---

[1] K.T.W. श्लोकोत्तमं

**सत्यभामोवाच**

**यो मे सनाभिवधतप्तहृदा ततेन लिप्ताभिशापमपमार्ष्टुमुपाजहार ।**
**जित्वर्क्षराजमथ रत्नमदात्सतेन भीतः पिताऽदिशत मां प्रभवोऽपि दत्ताम् ॥ ९ ॥**

**जाम्बवत्युवाच**

**प्राज्ञाय[1] देहकृदमुं निजनाथदेवं सीतापतिं त्रिनवहान्यमुनाऽभ्ययुध्यत् ।**
**ज्ञात्वा परीक्षितं[2] उपाहरदर्हणं मां पादौ प्रगृह्य मणिनाऽह ममुष्य दासी ॥ १० ॥**

**कालिन्द्युवाच**

**तपश्चरन्ती माज्ञाय स्वपादस्पर्शनेच्छया[3] ।**
**सख्योपेत्याऽग्रहीत्पाणिं योऽहं[4] तद्गृहमार्जनी ॥ ११ ॥**

भद्रोवाच

**यो मां स्वयंवर उपेत्य विजित्य भूपान् निन्ये श्वयूथगमिवात्मबलिं द्विपारिः ।**
**भ्रातृंश्च मेऽपकुरुतः स्वपुरं श्रियैका स्तस्यास्तु मेऽनुभवमङ्घ्र्यवनेजनीत्वम्[5] ॥ १२ ॥**

1. G. प्र° ; K. अ° 2. Ml.V. तं 3. B.G.J. नाशया ;K.T.W. काम्यया 4. Ml.V. साऽहं 5. B.G.J. जन° ;Ml.V. जनि°

**श्रीध० य** इति। सनाभे भ्रातुर्वधेन सिंहकृतेन तप्तं हृद्यस्य तेन मे ततेन तातेन लिप्तमभिशापं दुर्यशोऽपमार्ष्टुं परिहर्तुमृक्षराजं जित्वा रत्नं स्यमन्तकमुपाजहार आनीतवान्। अथानन्तरं मत्पित्रे रत्नमदात्। तेन स्वापराधेन भीतस्स मे पिता प्रभवे श्रीकृष्णाय मामदिशत [1]अदिशत् ददौ, दत्तामक्रूरादिभ्यः प्रतिश्रुतामपीत्यर्थः ॥ ९ ॥

**प्राज्ञायेति**। देहकृत् पिता अमुं श्रीकृष्णं निजनाथं स्वामिनं देवमीश्वरं सीतापतिं प्राज्ञाय अविज्ञाय त्रिनवहानि। ह्रस्वश्चन्दोनुरोधेन सप्तविंशतिदिनानि अमुना अभ्ययुध्यत् परीक्षितः सञ्जाता परीक्षा यस्य स परीक्षितः तं साक्षात्सीतापति रेवाऽसाविति ज्ञात्वा पादौ प्रगृह्य मणिना सह मामर्हणमुपाहरत् अर्हणतया समर्पितवान्। अहो! तर्हि त्वमतिश्रेष्ठाऽसि? नेत्याह - अमुष्य अहं दासीति ॥ १० ॥

**तप** इति। सख्या अर्जुनेन तस्य गृहमार्जनी गृहेसम्मार्जनकर्त्री ॥ ११ ॥

**य** इति। शुनां यूथगतं स्वबलिं द्विपारिः सिंह इवेति मे भ्रातुश्च अपकुरुतोऽपकारं कुर्वतो विजित्य श्रियैको लक्ष्मीनिवासः तस्य अङ्घ्र्यवनेजनत्वं चरणक्षालनकर्तृत्वमनुभवं प्रति जन्म मेऽस्तु ॥ १२ ॥

1. B.J. omit अदिशत्

**वीर०** अथ सत्यभामोक्तिमाह - य इति। सनाभेर्भ्रातुः प्रसेनस्य वधेन सिंहकर्तृकेण तप्तं हृदयं यस्य तेन ततेन अस्मत्पित्रा लिप्तमापादितमभिशापं दुर्यशोऽपमार्ष्टुमपनेतुम्, ऋक्षराजं जाम्बवन्तं जित्वा रत्नं शमन्तकाख्यमुपाजहार आनीतवान्। अथ अनन्तरं मत्पित्रे रत्नमदाद्दौ। तेन स्वापराधेन भीतः स मे पिता प्रभवेऽस्मत्स्वामिने श्रीकृष्णाय , दत्तामक्रूरादिभ्यः प्रतिश्रुतामपि माम् अपि शब्दाद्रत्नमपि अदिशद्दौ इत्यर्थः ॥ ९ ॥

अथ जाम्बवती जगौ - अज्ञायेति। देहकृन्मम पिता जाम्बवान् अमुं श्रीकृष्णं निजनाथं स्वस्वामिनं स्वकुलदैवतञ्च सीतापतिमज्ञाय, अज्ञात्वेत्यर्थः। ल्यबार्षः। अमुना श्रीकृष्णेन सह त्रिनवहानि सप्तविंशत्यहानि। अत्यन्तसंयोगे

द्वितीया। छन्दोभङ्गाभावाय ह्रस्व आर्षः। शकन्ध्वादित्वात्पररूपं वा। अयुध्यत् युयोध। ततः परीक्षितः परीक्षाऽस्य सञ्जातेति तथा स मम पिता ज्ञात्वा सीतापतिरेवाऽसा वधुना यदुष्ववतीर्ण इति ज्ञात्वेत्यर्थः। पादौ प्रगृह्य पादग्रहणपूर्वकं प्रसाद्य मणिना सह मामर्हण मुपायनमुपाहरत् समर्पितवान्। अहममुष्य भगवतो दासी यावदात्मभावि दास्यं कुर्यामिति प्रार्थना ज्ञेया ॥ १० ॥

अथ कालिन्दी जगौ - तपश्चरन्तीमिति। स्वस्य भगवतः पादस्पर्शकाम्यया[1] पादसंवाहनादिपरिचर्या चिकीर्षया तपः कुर्वतीं मां ज्ञात्वा सख्या अर्जुनेन सहाऽऽगत्य मम पाणिमग्रहीत्। इत्थं गृहीताऽहं तस्य भगवतो गृहमार्जनी गृहान्मार्जयतीति तथाभूता भवेयम् ॥ ११ ॥

अथ भद्रागीतिमाह - **य** इति। शुनां यूथगतं स्वबलिं द्विपारिस्सिंह इव नृपानपकुर्वतः मे भ्रातॄंश्च विजित्य यः श्रियौकाः श्रीनिवासः मां पुरं द्वारकां प्रति निन्ये आनीतवान् तस्य श्रियौकसः अङ्घ्र्यवनेजनीत्वं चरणक्षालनकर्तृत्वं ममाऽनुभवं प्रतिजन्म अस्तु स्यात् ॥ १२ ॥

---

1. B. °नाशया

**सत्योवाच** (नाग्नजिति )

**सप्तोक्षणोऽतिबलवीर्यसुतीक्ष्णशृङ्गान् पित्रा कृतान् क्षितिप वीर्यपरीक्षणाय ।**
**तान्वीर दुर्मदहनस्तरसा निगृह्य क्रीडान्वबन्ध ह यथा शिशवोऽजतोकान् ॥ १३ ॥**

**य इत्थं वीर्यशुल्कां मां दासीभिश्चतुरङ्गिणीम्।**
**पथि[1] निर्जित्य राजन्याञ्जिन्ये तद् द्वास्यमस्तु मे ॥ १४ ॥**

**मित्रविन्दोवाच**

**पिता मे मातुलेयाय स्वयमाहूय दत्तवान् ।**
**कृष्णे कृष्णाय तच्चित्तामक्षौहिण्या सखीजनैः ॥ १५ ॥**

**अस्य मे पादसंस्पर्शो भवेज्जन्मनि जन्मनि ।**
**कर्मभिर्भ्राम्यमाणाया येन तच्छ्रेय आत्मनः ॥ १६ ॥**

---

1. B. युधि

**श्रीध० सप्त** इति। सप्तोक्ष्णो वृषभान्, बलञ्च वीर्यञ्च सुतीक्ष्णशृङ्गाणि चाऽतिशयितानि येषां तान् मे पित्रा कृतान् सम्पादितान् बलीयसे परीक्षणाय तानतिप्रसिद्धान् वीराणां दुर्मदं घ्नन्ति ये तां स्तरसा शीघ्रमेव निगृह्य दमयित्वा क्रीडन् अनायासेनैव बबन्ध अजतोकान् अजापत्यानि ॥ १३ ॥

**य** इति। वीर्यमेव शुल्कं देयं यस्यास्तां दासीभिस्सह चतुरङ्गिणीं गजाश्वादिसेनायुक्तां मां पुरं निन्ये ॥ १४ ॥

**पितेति**। हे कृष्णे! हे द्रौपदि! तस्मिन्नेव चित्तं यस्यास्तां मामक्षौहिण्या सेनया सह सखीजनैश्च सह ॥ १५ ॥

**अस्येति**। पादसंस्पर्शेन आत्मनो मे तत्कैवल्याख्यं श्रेयो भवेत् सः यद्वा, येन कारणेनाऽत्मनो जीवस्य तच्छ्रेयः, स एव पुरुषार्थः इति ॥ १६ ॥

**वीर०** अथ नाग्नजिती गायति - **सप्तेति**। क्षितिपानां राज्ञां वीर्यस्य परीक्षणाय परीक्षार्थं मम पित्रा नग्नजिता कृतान् सम्पादितान् बलं वीर्यं प्रभावश्च सुतीक्ष्णशृङ्गाणि च तान्यतिशयितानि येषां तान् वीराणां दुष्टं मदं घ्नन्ति इति तथा तान् प्रसिद्धान् सप्त उक्ष्णः वृषभान् यथा शिशवो बालाः अजतोकान् अजापत्यानि तथा तरसा आशु निगृह्य दमयित्वा क्रीडन् अनायासेनैव बबन्ध ॥ १३ ॥

यो भगवान् युद्धे राजन्यान्निर्जित्य वीर्यमेव शुल्कं देयं द्रव्यं यस्यास्तां दासीभिस्सह चतुरङ्गिणीं गजाश्वादिसेनायुक्तां मां निन्ये तस्य भगवतो दास्यं ममाऽस्तु इति प्रार्थना ॥ १४ ॥

अथ मित्रविन्दा गायनमाह - पितेति द्वाभ्याम्। हे कृष्णे! द्रौपदि! मे इति पूर्वोत्तरान्वयिपदम्। मम पिता स्वय माहूय मम मातुलसुताय श्रीकृष्णाय। तस्मिन् श्रीकृष्णे एव चित्तं यस्यास्तां मामक्षौहिण्या सखीजनैश्च सह दत्तवान् ॥ १५ ॥

अस्य श्रीकृष्णस्य पादसंस्पर्शः पादसंवाहनादिपरिचर्या मम प्रतिजन्म भवेत् अस्तु। इत्थं प्रार्थनायां हेतुत्वेन पादसंस्पर्शं येन विशिनष्टि येन तत्पादसंस्पर्शनेन आत्मनो मम कर्मभिः पुण्यपापात्मकैः भ्राम्यमाणायाः संसरन्त्याः श्रेयो निःश्रेयसं भवेत् ॥ १६ ॥

**लक्ष्मणोवाच**

**ममापि राज्ञ्यच्युतजन्मकर्म श्रुत्वा मुहुर्नारदगीतमास ह ।**
**चित्तं मुकुन्दे किल पद्महस्तया वृतः सुसम्मृश्य विहाय लोकपान् ॥ १७ ॥**

**ज्ञात्वा मम मतं साध्वि पिता दुहितृवत्सलः ।**

**बृहत्सेन इति ख्यातस्तत्रोपायमचीकरत् ॥ १८ ॥**

**यथा स्वयंवरे राज्ञि ! मत्स्यः पार्थेप्सया कृतः ।**

**अयन्तु बहिराच्छन्नो दृश्यते स जले परम् ॥ १९ ॥**

**श्रुत्वैतत्सर्वतो भूपा आययुर्मत्पितुः पुरम् ।**

**सर्वास्त्रशस्त्रतत्त्वज्ञाः सोपाध्यायाः सहस्रशः ॥ २० ॥**

---

1. MI.V. मासीत् 2. MI.V. उपेयुः

**श्रीध० ममेति**। राज्ञि ! हे द्रौपदि ! यथा मित्रविन्दायास्तथैव ममाऽपि चित्तं मुकुन्दविषयमासीत्। सुसम्मृश्य सुष्ठु विचार्य पद्महस्तया श्रिया वृतः किल। अतो ममाऽपि चित्तं श्रीमुकुन्दे आसेति ॥ १७ ॥

**ज्ञात्वेति**। तत्र श्रीकृष्णप्राप्तावुपायमचीकरत् कारयामास ॥ १८ ॥

**यथेति**। यथा राज्ञि ! तव स्वयंवरे पार्थस्येप्सया आप्तुमिच्छया कृतः तथा मत्स्यं कारितवान्। पाठान्तरे पार्थस्यंषुणाऽपाकृतः, तर्हि इममप्यर्जुन एव किं नाऽध्यत्तत्राह - अयन्त्विति। समस्त्यो बहिरेवाच्छन्नो नाऽन्तः अतः, स्तम्भलग्नयोर्ध्वदृष्ट्या संलक्ष्यते, अयन्तु न तथा । किन्तु स्तम्भमूले निहितकलशजले केवलं दृश्यते। अतः दृष्टिरधस्तादुपरि च लक्ष्यमिति श्रीकृष्णव्यतिरेकेण न कस्यापि भेद्य इति भावः ॥ १९,२० ॥

**वीर०** अथ लक्ष्मणागीतिं प्रपञ्चयति - ममाऽपीत्यादिना। हे राज्ञि ! नारदेन गीतमच्युतस्य जन्मादिकं श्रुत्वा ममाऽपि यथा मित्रविन्दायास्तथा ममाऽपि चित्तं मुकुन्दे आसीदित्यर्थः। पद्महस्तया श्रिया तदवताररूपया रुक्मिण्येत्यर्थः। वृतः किल। अतोऽपि सुष्ठु विचार्य मम चित्तं मुकुन्दे आसेति सम्बन्धः ॥ १७ ॥

**ज्ञात्वेति**। हे साध्वि ! मम तमभिप्रायं ज्ञात्वा मम पिता बृहत्सेनोनाम दुहितृवत्सलः। अतस्तत्र श्रीकृष्णप्राप्तावुपाय मचीकरत् कारयामास ॥ १८ ॥

कोऽसावित्यतः तं प्रपञ्चयति - **यथेति**। हे राज्ञि ! यथा तव स्वयंवरे पार्थेप्सया अर्जुनप्राप्तेच्छया त्वत्पित्रा मत्स्यः कृतः तथा अस्मत्पित्राऽपि कृत इत्यर्थः। तर्ह्यर्जुन एव किं नाऽविध्यत्? तत्राऽऽह -अयन्त्विति। स मत्स्यो बहिरेवाऽऽच्छन्नो नान्तः स्तम्भसंलग्नयोर्ध्वदृष्ट्या दृश्यते अयन्तु न तथा, किन्तु स्तम्भमूलनिहितकलशजले केवलं दृश्यते।

अतः दृष्टिरधस्तात् उपरि च लक्ष्यमिति कृष्णमन्तरेण न कस्यापि भेद्य इति भावः। बहिराच्छन्नः प्रतिबिम्बस्य बिम्बभूतो मत्स्यस्तिरोहितः स मत्स्यप्रतिबिम्ब एव जले दृश्यते, प्रतिबिम्बेन बिम्बभूतमत्स्यस्यावस्थानं निरूप्य तत्र वेधो दुष्कर इति व्याख्यानान्तरम् ॥ १९ ॥

**श्रुत्वेति**। एतन्मत्स्ययन्त्रनिर्माणं श्रुत्वा सर्वतो दिग्भ्यः मत्पितुः पुरमाजग्मुः। कथम्भूताः? सर्वेषां शस्त्राणा मस्त्राणाञ्च तत्त्वं याथात्म्यं प्रयोगोपसंहारौ जानन्त इति तथा। उपाध्यायैस्सहिताश्च ॥ २० ॥

**पित्रा सम्पूजितास्सर्वे यथा वीर्यं यथा वयः ।**
**आददुस्सशरं चापं वेद्धुं पर्षदि मद्धियः ॥ २१ ॥**

**आदाय व्यसृजन् केचित् सज्यं[1] कर्तुमनीश्वराः ।**
**आकोटि[2] ज्यां समुत्कृष्य[3] पेतुरोकोऽमुना हताः ॥ २२ ॥**

**सज्यां[4] कृत्वाऽपरे[4] वीराः मागधाम्बष्ठचेदिपाः[5] ।**
**भीमो दुर्योधनः कर्णो नाविन्दंस्तदवस्थितम्[6] ॥ २३ ॥**

**मत्स्याभासं जले वीक्ष्य ज्ञात्वा च तदवस्थितम् ।**
**पार्थो यत्तोऽसृजद्बाणं नाऽच्छिनत्पस्पृशे परम् ॥ २४ ॥**

---

1. K. MI.T.V.W. सज्यो 2. B.G.J. आकोष्टं 3. MI.V. समाकृष्य 4- -4. MI.V. सज्ञं धृत्वा 5. MI.V. धावन्ति चे' 6. MI.V. माविदं

**श्रीध०** पित्रेति। मत्स्यं वेद्धुं पर्षदि संसदि मद्धियो धीर्येषामिति, अन्याचित्ता न वेद्धुशक्ता इति ॥ २१ ॥

तदेवाऽऽह - **आदायेति**। अमुना चापेन ॥ २२ ॥

**सज्यमिति**। नाऽविन्दं स्तदवस्थितिमिति मागधादीनां क्रियाशक्तिरेव न तु लक्ष्याभिज्ञतेत्यर्थः ॥ २३ ॥

**मत्स्येति**। यत्तो यत्नवान् असृजत् मुमोच। स बाणो मत्स्यं नाऽच्छिनत् परं केवलं पस्पर्श, ज्ञानवानप्यर्जुनो बलेनाऽपूर्ण इत्यर्थः ॥ २४ ॥

**वीर० पित्रेति**। मम पित्रा वीर्यवयःस्थानाद्यनुरूपं सर्वे सम्पूजिताः। मय्येव धीर्येषां ते मत्स्यं वेद्धुं पर्षदि सभायां सशरं चापमाददुः मद्धिय इत्यस्य अन्याश्चित्तत्वाश्च वेद्धुं नाऽशक्नुवन्निति भावः ॥ २१ ॥

तदेवाह - **आदायेति**। केचिद्यसृजन् लक्ष्यादन्यत्र प्रयुक्तवन्त इत्यर्थः। केचित्तु आकोटिधनुषः कोटिपर्यन्तं ज्यां समाकृष्य सज्यीकर्तुं ज्यासहितं कर्तुम् , आरोपितज्याकं कर्तुमित्यर्थः। अनीश्वराः असमर्थाः अमुना चापेन हतास्ताडिताः निपेतुः ॥ २२ ॥

**सज्यमिति**। अपरे जरासन्धादयस्तु वीराः सज्यं कृत्वाऽपि लक्ष्यावस्थितिं नाऽविन्दन्। मागधादीनां क्रियाशक्तिरेव न तु लक्ष्याभिज्ञतेति भावः ॥ २३ ॥

मत्स्येति। पार्थोऽर्जुनस्तु जले मत्स्याभासं मत्स्यप्रतिबिम्बं वीक्ष्य तदवस्थितिं मत्स्ययन्त्रावस्थानदेशं ज्ञात्वा यत्तो यत्नवान् बाणं व्यसृजत् मुमोच। स बाणो मत्स्यं नाऽच्छिनत् परं केवलं पस्पर्श। ज्ञानवानप्यर्जुनो न वेद्धुं प्रबभूवेत्यर्थः ॥ २४ ॥

**राजन्येषु निवृत्तेषु भग्नमानेषु मानिषु ।**
**भगवान्धनुरादाय सज्यं[1] कृत्वाऽथ लीलया ॥ २५ ॥**

**तस्मिन्सन्धाय विशिखं मत्स्यं वीक्ष्य सकृज्जले ।**
**छित्वेषुणाऽपातयत्तं सूर्येचाऽभिजिति स्थिते ॥ २६ ॥**

**दिवि दुन्दुभयो नेदुर्जयशब्दयुता[2] भुवि ।**
**देवाश्च कुसुमासारान् मुमुचुर्हर विह्वलाः ॥ २७ ॥**

**तद्रङ्गमाविशमहं कलनूपुराभ्यां पद्भ्यां प्रगृह्य कनकोज्ज्वलरत्नमालाम् ।**
**नूत्ने निषीय परिधाय च कौशिकाग्र्ये स व्रीड हास वदना कबरी धृतस्रक् ॥ २८ ॥**

---

1. MI.V. सज्ञं 2. MI.V. पुनर्भुवि।

**श्रीध० तस्मिन्निति**। अभिजिति सर्वार्थसाधके मुहूर्ते ॥ २६, २७ ॥

भगवत्प्राप्तिहर्षनिर्भरेण आत्मानमेवाऽनुवर्णयन्त्याह द्वाभ्यां **तद्रङ्गमिति**। तत्तदा कलौ कलस्वनौ नूपुरौ ययोस्ताभ्यां पद्भ्यां रङ्गं प्राविशं कनकेनोज्ज्वलां रत्नमालां निवीय प्रावृत्य परिधाय च नीवीबन्धेन च कौशिकाग्र्ये उत्तमकौशेयवस्त्रे सव्रीडो हासो यस्मिंस्तद्वदनं यस्यास्सा कबर्यां धृताः स्रजो यया सा ॥ २८ ॥

**वीर०** भगवांस्तु विव्याधेत्याह - राजन्येष्विति। मानिषु साहङ्कारेषु राजन्येषु भग्नमानेषु अत एव निवृत्तेषु च सत्सु सूर्ये अभिजितिस्थिते सर्वार्थसाधके मध्याह्ने इत्यर्थः। लीलया अनायासेनैव तस्मिन् धनुषि विशिखं बाणं सन्धाय सकृदेव जले वीक्ष्य इषुणा मत्स्यं छित्वा न्यपातयत् ॥ २५,२६ ॥

भुविजयशब्देन युताः (दुन्दुभयो) देवदुन्दुभयो नेदुः। यदा दिवि दुन्दुभयो नेदुस्तदैव भुवि जयशब्दा बभूवुरित्यर्थः ॥२७॥

भगवत्प्राप्तिजहर्षनिर्भरेण आत्मानमेवाऽनुवर्णयन्त्याह - तदिति द्वाभ्याम्। तत् तदा नूत्ने नवीने कौशिकाग्र्ये उत्तम कौशिकेये वस्त्रे परिधाय सव्रीडो हासो यस्मिं स्तद्वदनं यस्याः कबर्यां धृताः स्रजो यया सा अहं कनकेनोज्ज्वलां रत्नमालां निवीय प्रगृह्य कलौ कलस्वनौ नूपुरौ ययो स्ताभ्यां पद्भ्यां रङ्गं प्राविशं प्रविष्टवत्यस्मि ॥ २८ ॥

**उन्नीयवक्त्रमुरुकुन्तलकुण्डलत्वि ङ्गण्डस्थलं शिशिरहास कटाक्षमोक्षैः ।**
**राज्ञो निरीक्ष्य परितः शनकैर्मुरारे रंसोनुरक्त हृदया निदधे स्म[1] मालाम् ॥ २९ ॥**

**तावन्मृदङ्गपटहाः शङ्खभेर्यानकादयः ।**
**निनेदुर्नटनर्तक्यो ननृतुर्गायका जगुः ॥ ३० ॥**

**एवं वृते भगवति[2] मयेशे नृपयूथपाः ।**
**न सेहिरे याज्ञसेनि ! स्पर्धन्तो हृच्छयातुराः ॥ ३१ ॥**

**मां तवद्रथमारोप्य हयरत्नचतुष्टयम् ।**
**शार्ङ्गमुद्यम्य सन्नद्धस्तथा वाजौ चतुर्भुजः ॥ ३२ ॥**

**दारुकश्चोदयामास काञ्चनोपस्करं रथम् ।**
**मिषतां भूभुजां राज्ञि! मृगाणां मृगराडिव ॥ ३३ ॥**

**तेऽन्वसज्जन्त राजन्या निषेद्धुं पथि केचन ।**
**संयत्ता उद्धृतेष्वासा ग्रामसिंहा यथा हरिम्[3] ॥ ३४ ॥**

---

1. Ml.V. स्व° 2. K.T.W. यदुपतौ 3. K.T.W. उद्यते°

**श्रीध० उन्नियेति**। उरवः कुन्तला यस्मिन् कुण्डलयोस्त्विषो ययोस्ते गण्डस्थले यस्मिंस्तच्च तच्च शिशरः सन्तापहरो हासो येषु तैः कटाक्षमोक्षैरपाङ्गमोक्षणविलासैः अनुरक्तं हृदयं यस्यास्सा अहम् ॥ २९, ३० ॥

याज्ञसेनि! हे द्रौपदि! ईशे श्रीकृष्णे मया वृते सति स्पर्धन्तः स्पर्धमानाः। नन्वेवं परमैश्वर्यं दृष्टवतां कुतः स्पर्धावसरः, तत्राह - हृच्छयातुरा इति। हृच्छयेन कामेन आतुरा विवशाः। कामविजृम्भिता स्पर्धेति[2] भावः ॥ ३१ ॥

**मामिति** । हयरत्नानां चतुष्टयं यस्मिंस्तं रथम्। द्वाभ्यां भुजाभ्यां मामालिङ्ग्य द्वाभ्यां धनुर्बाणौ गृहीत्वा चतुर्भुजस्तस्थौ ॥ ३२ ॥

**दारुक** इति। मृगाणां मिषतां मृगराडिव तदा हरिर्जगामेति शेषो ज्ञातव्यः। दारुकस्यैव वा मृगराजोपमा ॥३३ ॥

**त** इति। अन्वसज्जन्त। पृष्ठतस्सक्ता बभूवुः। निषेद्धुं प्रतिबन्धं कर्तुं केचन पुरतो गत्वा पथि संयत्ता बभूवुरित्यर्थः। उद्धृतेष्वासाः ऊर्ध्वकृतचापाः[3] ग्रामसिंहाः श्वानो हरिं सिंहं यथेति ॥ ३४ ॥

---

1. MI.V. वीक्षण 2. MI.V. स्पर्धन्ते 3. MI.V. ऊर्ध्वी

**वीर० उन्नीयेति**। उरवः कुन्तलाः यस्मिन् कुण्डलयोस्त्विस्त्वषो ययोस्ते गण्डस्थले यस्मिन् तञ्च वक्त्रम् उन्नीय परितश्शनै राज्ञो राजन्यान्निरीक्ष्य मुरारेः श्रीकृष्णस्य शिशिरः सन्तापहरः हासो येषु तैः कटाक्षमोक्षैरपाङ्गवीक्षणविलासैरनुरक्तं हृदयं चित्तं यस्याः साऽहं तस्य अंसे स्कन्धे मालां निदधे स्म निहितवत्यस्मि ॥ २९ ॥

**तावदिति**। तदैव नटा नर्तक्यश्च ननृतुः ॥ ३० ॥

**एवमिति**। इत्थं ईश्वरे भगवति मया वृते सति हे याज्ञसेनि! द्रौपदि! नृपयूथपाः हृच्छयेन कामेनाऽऽतुराः स्पर्धमाना न सेहिरे ॥ ३१ ॥

**मामिति**। हयरत्नाना मश्वश्रेष्ठानां चतुष्टयं यस्मिंस्तं रथ मारोप्य तस्मिन्निधाप्येत्यर्थः द्वाभ्यां भुजाभ्यां आलिङ्ग्य द्वाभ्यां धनुर्बाणान् गृहीत्वा चतुर्भुजो युद्धे तस्थावित्यर्थः ।। ३२ ।।

**दारुक** इति। काञ्चनेनोपस्कृतं रथं गमयामास। हे राज्ञि! मृगाणां क्षुद्राणां पश्यतां (सतां) मृगाधिपस्सिंह इव भूभुजां मिषतां सतां हरिर्जगामेति शेषोऽवगन्तव्यः ॥ ३३ ॥

**त इति**। केचन राजन्याः सन्नद्धा आयत्ताः उद्यताः इष्वासाश्चापा यैस्ते पथि निषेद्धुं वारयितुं अन्वसज्जन्त पृष्ठतोऽन्वधावन् यथा ग्रामसिंहाः श्वानः हरिं सिंहं तद्वत् ॥ ३४ ॥

**ते शार्ङ्गच्युतबाणौघैः कृतबाह्वङ्घ्रिकन्धराः ।**
**निपेतुः प्रथने केचिदेके सन्त्यज्य दुद्रुवुः ॥ ३५ ॥**

**ततः पुरीं यदुपतिरत्यलङ्कृतां रविच्छदध्वजपटचित्रतोरणम् ।**
**कुशस्थलीं दिवि भुविचाऽभिसंस्तुतां समाविशत्तरणिरिव स्वकेतनम् ॥ ३६ ॥**

**पिता मे पूजयामास सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान् ।**
**महार्हवासोऽलङ्कारैश्शय्यासनपरिच्छदैः ॥ ३७ ॥**

**दासीभिस्सर्वसम्पद्भिर्भटैभरथवाजिभिः ।**
**आयुधानि महार्हाणि ददौ पूर्णस्य भक्तितः ॥ ३८ ॥**

**आत्मारामस्य तस्येमा वयं वै गृहदासिकाः ।**
**सर्वसङ्गनिवृत्त्याद्धा तपसा च बभूविम ॥ ३९ ॥**

---

1.K.T.W. कदने 2.K.T.W ऽनिशं; Ml.V. ऽपिसं 3.K.T.W. पूर्णाय

**श्रीध० तत** इति। रविं छादयन्ति ते रविच्छदा ध्वजेषु पटा यस्यां चित्राणि तोरणानि यस्यां सैव सा च तां कुशस्थलीं द्वारकापुरीं यदुपतिः समाविशत् स्वकेतनं मण्डलमस्ताचलं वा ॥ ३५,३६ ॥

**पितेति**। महार्हवासःप्रभृतिभिः सुहृदादीन् पूजयामास ॥ ३७ ॥

**दासीभिरिति**। दास्यादिभिस्सह आयुधानि पूर्णायापि ददौ ॥ ३८ ॥

**आत्मारामस्येति** । इमाः अष्टौ वयं सर्वसङ्गनिवृत्त्या तपसा स्वधर्मेण अद्धा साक्षात् तस्य गृहदासिका बभूविम ॥ ३४ ॥

**वीर०** ते नृपाः कृत्ताश्छिन्नाः बाह्वादयो येषां ते केचित् प्रधने युद्धदेशे निपेतुः, केचित्तु सन्त्यज्य दुद्रुवुः ॥३५ ॥

**तत** इति। यदुपतिः श्रीकृष्णः पुरीं तत्राऽपि स्वगृहं समाविशदिति सम्बन्धः। यथा सूर्यः स्वकेतनं मण्डलमस्ताचलं वा, तद्वत्। कथम्भूतम्? परितोऽलङ्कृतां रविं छादयन्तीति तथा तेषु ध्वजेषु पटा यस्यां (पटानि) चित्राणि तोरणानि यस्यां सा चाऽसौ सा च ताम् ॥ ३६ ॥

**पितेति**। अनर्घ्यवस्त्रादिभिः सुहृत्प्रभृतीन् पूजयामास ॥ ३७ ॥

**दासीभिरिति**। सर्वसम्पद्भिः सर्वाभरणभूषिताभिरित्यर्थः। हे राज्ञि! दास्यादिभिस्सह पारिबर्हम् उपायनं, पूर्णस्य अवाप्तसमस्तकामस्याऽपि भगवतो भक्तितो ददौ। पूर्णायेति पाठान्तरम् ॥ ३८ ॥

**आत्मारामस्येति**। इमाः अष्टौ वयं सर्वसङ्गनिवृत्त्या वैराग्येण तपसा च हेतुना तस्य भगवतः आत्मारामस्य निरवधिक स्वानन्दानुभवशीलस्य अद्धा साक्षात् गृहदासिका बभूविम ॥ ३९ ॥

---

1. K.T.W. अनर्घ

**षोडशसहस्रमहिष्य ऊचुः**

**भौमं निहत्य सगणं युधि तेन रुद्धा ज्ञात्वाऽथ नःक्षिति जये जितराज कन्याः ।**
**निर्मुच्य संसृतिविमोक्षमनुस्मरन्तीः पादाम्बुजं परिणिनाय[1] य आप्तकामः ॥ ४० ॥**

**न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भोज्यमप्युत ।**
**वैराज्यं पारमेष्ठ्यञ्च आनन्त्यं वा हरेः पदम् ॥ ४१ ॥**

**कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः ।**
**कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः ॥ ४२ ॥**

**व्रजस्त्रियो बद्धाञ्छन्ति पुलिन्द्यस्तृणवीरुधः ।**
**गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्शं महात्मनः ॥ ४३ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
उत्तरार्धे तीर्थयात्रानुवर्णनं नाम त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

---

1. MI.V. स

**श्रीध० भौममिति**। क्षितिजये दिग्विजये जितानां राज्ञां कन्याः नोऽस्मान् तेन रुद्धाः ज्ञात्वा ततो निर्मुच्य संसृतेर्विमोक्षो यस्मात् तत्पादाम्बुजमनुस्मरतीर्नः परिणिनाय उदवहत् आप्तकामोऽपि यः ॥ ४० ॥

**न वयमिति**। साम्राज्यादि न कामयामहे किन्तु एतस्य श्रीमत्पादरजो मूर्ध्ना वोढुं कामयामह इति। ननु तस्य गृहिण्यो यूयं सर्वसम्पद्भाजः किमेवं कामयध्वम्? अत आहुः - हे साध्वि! साम्राज्यं सार्वभौमपदं, स्वाराज्यमैन्द्रं पदं भोज्यं तदुभयभोगभाक्त्वं, विविधं राजत इति विराट् तस्य भावो वैराज्यम् अणिमादिसिद्धिभाक्त्वमित्यर्थः। पारमेष्ठ्यं

ब्रह्मपदं अनन्यं मोक्षं हरेः पदं तत्सालोक्यादि न तु कामयामह इति। यद्वा बह्वृचब्राह्मणोक्तक्रमेण प्रागादिदिक्चतुष्टयाधिपत्यानि साम्राज्य भौज्य स्वाराज्यवैराज्यानि व्याख्येयानि ॥ ४१ ॥

कामयामह इति। तत्किं तत्पादरज एव काम्यते, अत आहुः - श्रियः कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यमिति ब्रह्मादि सेव्यया लक्ष्म्याऽपि सेवितत्वादिति भावः ॥ ४२ ॥

ननु, तर्ह्यतिदुर्लभत्वात्किं तद्वाञ्छया? अत आहुः - **व्रजस्त्रिय** इति। यद्यथा गावो गाः महात्मनोऽपि गाश्चारयतः पादस्पर्शञ्च गोपा यथा वाञ्छन्ति तद्वत् तत्पराणां सुलभ इति भावः ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

**वीर०** अथ षोडशसहस्रपत्नीनां गीतिमाह चतुर्भिः - **भौममिति**। सगणं ससैन्यं भौमं नरकं निहत्य क्षितिजये दिग्विजये जितानां राज्ञां कन्याः अस्मान् तेन नरकेन रुद्धाः ज्ञात्वा ततो मोचयित्वा संसृतेर्विमोक्षो यस्मात् तत्पदाम्बुज मनुस्मरन्तीरस्मान् आप्तकामोऽपि परिणिनाय उपयेमे ॥ ४० ॥

**नेति**। हे साध्वि! वयं साम्राज्यादीनि न कामयामहे तत्र साम्राज्यं सार्वभौमपदं, स्वाराज्यं ऐन्द्रपदं कैवल्यं वा, भोज्यं तदुभयभोगभाक्त्वमित्यर्थः। पारमेष्ठ्यं ब्रह्मपदं आनन्त्यमिति स्वार्थेष्यञ्। अनन्तं हरेः पदमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

तर्हि किं कामयध्वम्? तत्राऽऽहुः - एतस्य गदाभृतः, श्रियो लक्ष्म्याः कुचकुङ्कुमस्य गन्धेनाऽढ्यं श्रीमत्पादरजोमूर्ध्ना वोढुं कामयामह इति सम्बन्धः। श्रियः कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यमित्यनेन ब्रह्मादिसेवितया श्रियाऽपि सेव्यमानत्वात् पादरज एव कामयामह इति सूचितम् ॥ ४२ ॥

**नन्विति**। दुर्लभत्वात्किं तद्वाञ्छया? इत्यत आहुः व्रजस्त्रिय इति। महात्मनः निरवधिक सौशील्ययुक्तात्मनः अत एव गावः गाः चारयतो भगवतः यत् यथा व्रजस्त्रियः पुलिन्द्यः आरण्यकस्त्रियः तृणानि वीरुधश्च पादस्पर्शं वाञ्छन्ति, तद्वत् वयमपि कामयामह इत्यर्थः। सौशील्यसौलभ्याद्यनन्तकल्याणगुणाकरस्य भगवतः पादरजः तद्दासानां सुलभमेवेति भावः। तृणवीरुधो वाञ्छन्तीत्यनेन तृणादीनामपि भगवत्सान्निध्यातिशयहितचैतन्यानां तदिच्छावत्वं सूचितम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

# चतुरशीतितमोऽध्यायः

## श्रीशुक उवाच

श्रुत्वा पृथा सुबलपुत्र्यथ याज्ञसेनी माधव्यथ क्षितिपपत्न्य उत स्वगोप्यः ।
कृष्णेऽखिलात्मनि हरौ प्रणयानुबन्धं सर्वा विसिस्मुरलमश्रुकलाऽऽकुलाक्ष्यः[1] ॥ १ ॥

इति सम्भाषमाणासु स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभिर्नृषु ।
आययुर्मुनयस्तत्र कृष्णरामदिदृक्षया ॥ २ ॥

द्वैपायनो नारदश्च च्यवनो देवलोऽसितः ।
विश्वामित्रश्शतानन्दो भरद्वाजोऽथ गौतमः ॥ ३ ॥

रामस्सशिष्यो भगवान् वसिष्ठो गालवो भृगुः ।
पुलस्त्यः कश्यपोऽत्रिश्च[2] मार्कण्डेयो बृहस्पतिः ॥ ४ ॥

द्वितास्त्रिताश्चैकतश्च ब्रह्मपुत्रास्[3]तथाऽङ्गिराः ।
अगस्त्यो याज्ञवल्क्यश्च वामदेवादयोऽपरे ॥ ५ ॥

तान् दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रागासीना नृपादयः ।
पाण्डवाः कृष्णरामौ च प्रणेमुर्विश्ववन्दितम्[4] ॥ ६ ॥

---

1. B.G.J. °स्म्यु 2. MI.V. पुलगोऽ° 3. B.G.J. °त्रा° 4. K.T.W. °लॉक

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुर्भिरधिकाशीतितमे मुनिसमागमे। वसुदेवमखोत्साहबन्धुप्रस्थापनादिकम् ॥

**श्रुत्वेति**। सुबलपुत्री गान्धारी, माधवी सुभद्रा, क्षितिपानां राज्ञां पत्न्यः स्वगोप्यः कृष्णभक्ता गोप्यः विसिस्म्युः विस्मयं चक्रुः ॥ १-६ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

**श्रुत्वेति**। सबलपुत्री गान्धारी, याज्ञसेनी द्रौपदी, माधवी सुभद्रा, अथ तथा क्षितिपानां राज्ञां पत्न्यश्च उतापि च गोप्यः कृष्णभक्ता गोप्यश्च रुक्मिण्यादीनामखिलान्तरात्मनि भगवति कृष्णे हरौ अमलं निष्कपटं प्रणयानुबन्धं प्रेमपारतन्त्र्य युक्तं वच इति यावत्। श्रुत्वा सर्वाः पृथादयः अश्रुकलाभिः आनन्दाश्रुबिन्दुभिः आकुले व्याप्ते अक्षिणी यासां ताः, विसिस्म्युः विस्मयं चक्रुः ॥ १ ॥

**इतीति**। स्त्रीषु स्त्रीभिस्सह सम्भाषमाणासु सतीषु तथा नृषु पुरुषेषु तैस्सह सम्भाषमाणेषु सत्सु ॥ २ ॥

आगतान्मुनीन्निर्दिशति - **द्वैपायन** इति त्रिभिः ॥ ३ ॥

तत्र रामः परशुरामः[1-] ॥ ४ ॥

ब्रह्मपुत्र इत्यङ्गिरसो विशेषम् । अपरे निर्दिष्टेभ्योऽन्ये च ॥ ५ ॥

विश्ववन्दितान् कृत्स्नजगद्वन्द्यानित्यर्थः[-1] ॥ ६ ॥

---

1- -1.T.W. omit

**तानानर्चुर्तथा[1] सर्वे सहरामोऽच्युतोऽर्चयत् ।**
**स्वागतासनपाद्यार्घ्यमाल्यधूपानुलेपनैः ॥ ७ ॥**

**उवाच सुखमासीनान् भगवान्धर्मगुप्तनुः ।**
**सदसस्तस्य महतो यतवाचोऽनुश्रुण्वतः ॥ ८ ॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**अहो वयं जन्मभृतो लब्धं कात्स्न्र्ये न तत्फलम् ।**
**देवानामपि दुष्प्रापं यद्योगेश्वरदर्शनम् ॥ ९ ॥**

**किं न्वल्पतपसां[2] नृणामर्चायां देवचक्षुषाम् ।**
**दर्शनस्पर्शनप्रश्नप्रह्वपादार्चनादिकम् ॥ १० ॥**

---

1. B.G.J. MI.V. °र्यथा 2. B.G.J.MI.V. स्वल्प

**श्रीध० तानिति**। आनर्चुः अर्चितवन्तः ॥ ७ ॥

**उवाचेति**। धर्मगोप्त्री तनुर्यस्य स धर्मगुप्तनुः, यता नियता वाक् यस्य तस्य सदसः ॥ ८ ॥

**अहो** इति। जन्मभृतः सफलजन्मानः तत्फलं जन्मफलं किं तत्? यद्योगेश्वरदर्शनम् ॥ ९ ॥

किञ्च युष्माकं दर्शनमेव तावद्देवानामपि दुष्प्रापमस्माकन्तु स्पर्शनादिकमपि कथन्नु घटितमिति विस्मयेनाऽऽह - **किमिति**। स्वल्पतपसां तीर्थस्नानादिमात्रे तपोबुद्धिर्येषां तथाऽर्चायां प्रतिमायां देव इति चक्षुर्दृष्टिर्येषां तेषां योगेश्वरदर्शनस्पर्शनादिकमिदं[1] किं[2] सम्भावितं न सम्भावितमित्यर्थः[-2] ॥ १० ॥

---

1. B.J. omit स्पर्शन 2.- -2 B.J. किमसम्भावितमित्यर्थः।

**वीर० तानिति**[1-]। यदा सर्वे आनर्चुः अर्चितवन्तः तदा सरामोऽच्युतः[-1] कृष्णोऽपि तान् स्वागतप्रश्नादिभिरर्चितवान् ॥७॥

**उवाचेति**। धर्मगोप्त्री तनुर्यस्य भगवान् यतवाचो मौनीभूतस्य महतो विपुलस्य तस्य सदसि सभायां अनुश्रुण्वतः सतः सुखमासीनान् तान् द्वैपायनादीनुवाच ॥ ८ ॥

तदेवाऽऽह -**अहो** इति पञ्चभिः[2]। हे मुनयः! वयं जन्मभृतः सफलजन्मानो बभूविम तत्फलं जन्मफलं कार्त्स्न्येनाऽस्माभिर्लब्धम्। किं तत्? यद्देवानामपि दुर्लभं योगिनां वो दर्शनमिति ॥ ९ ॥

कथन्त्वेतद्घटितमिति विस्मयेनाऽऽह - **किञ्चिति**। अल्पं तपः पुण्यं येषां ते अर्चायां प्रतिमायामेव देवचक्षुर्देवताबुद्धिः येषां तेषामस्माकं वो दर्शनादिकं किन्नु कथं बभूवेत्यर्थः। प्रह्वशब्दः प्रणामपरः, प्रश्नःस्वागतप्रश्नः ॥ १०॥

---

1- -1 T.W. omit 2. K.T.W. omit पञ्चभिः

**न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।**
**ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥ ११ ॥**

**नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारका न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः ।**
**उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया ॥ १२ ॥**

**यस्याऽऽत्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।**
**यत्तीर्थबुद्धिः [1]सलिले[1] न कर्हिचि[1]जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥ १३ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**निशम्येत्थं भगवतः कृष्णस्याऽकुण्ठमेधसः ।**
**वचो दुरन्वयं विप्रास्तूष्णीमासन् भ्रमद्धियः ॥ १४ ॥**

[1]--[1] K.T.W. "द्धिस्तु जले

**श्रीध०** एतत्प्रपञ्चयति - न **ह्यम्मयानीति** त्रिभिः ॥ ११ ॥

**नेति**। वाङ्मनसयोरप्युपासनाविषयत्वं यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते (छान्दो.उ.7-2-2) इति श्रुतेः। अघं तन्मूलमज्ञानं च अग्न्यादयो न हरन्ति। अत्र हेतुः - भेदकृतो भेदकर्तारः। यद्वा भेदबुद्धिं कुर्वतः पुंसः विपश्चितो निरस्तभेदाः ते तु मुहूर्तमात्रसेवयैवाऽघं घ्नन्तीति ॥ १२ ॥

अतः साधून्विहाय अन्यत्राऽऽत्मादिबुद्धया सज्जमानोऽतीवमन्द इत्याह - **यस्येति**। आत्मबुद्धिरहमिति बुद्धिः। त्रयो धातवो वातपित्तश्लेष्माणः प्रकृतयो यस्य तस्मिन् कुणपे शरीरे स्वधीः स्वीया इति बुद्धिः भौमे भूमिविकारे मृच्छिलादौ इज्यधीः देवताबुद्धिः, यद्यस्य तीर्थबुद्धि तीर्थमिति बुद्धिः अभिज्ञेषु तत्त्ववित्सु यस्य एताः बुद्धयो न सन्ति स एव गोष्वपि खरो दारुणोऽत्यविवेकी। यद्वा, गवां तृणादिभार वहः खरो गर्दभ इति ॥ १३ ॥

**निशम्येति**। दुरन्वयम् अननुरूपं भ्रमन्त्यनवस्थिता धीः बुद्धिर्येषां ते ॥ १४ ॥

**वीर०** नन्वर्चायां देवचक्षुः पवित्रावहमपि किमिति तत्तुच्छीकरोषीत्यत्राऽऽह - **न हीति**। अम्मयानि तीर्थानि मृण्मयाः शिलामयाश्च देवाश्च दर्शनादेव न पुनन्ति, किन्तु उरुकालेन। साधवस्तु दर्शनादेव पुनन्तीत्यर्थः। तीर्थानीति दृष्टान्तार्थम् ॥ ११ ॥

देवा उरुकालेनैव पुनन्तीत्येतत् प्रपञ्चयति - **नाग्निरिति**। भूजलादिशब्दैः तदभिमानिदेवताः लक्ष्यन्ते, ता अग्न्यादयश्चोपासिता भेदकृतः आत्मनि देहगतभेदं कुर्वाणस्याऽघं हरन्ति, उरुकालसेवया हरन्तीत्यर्थः। विपश्चितः साधवस्तु मुहूर्तसेवयैव हरन्ति इति। अघशब्देन तन्मूलमज्ञानञ्च विवक्षितम् ॥ १२॥

यत एवमतोऽर्चादेव चक्षुषं क्षिपन् अर्थान्तरमप्याह - **यस्येति**। यस्य पुंसः त्रिधातुके वातपित्तश्लेष्ममये कुणपे शवप्राये शरीरे आत्मबुद्धिः आत्माभिमानः कलत्रेषु दारेषु स्वधीः स्वकीयबुद्धिः, एवम् अहम्ममाभिमानौ उक्तौ पार्थिवप्रतिमादौ इज्यधीः देवताबुद्धिः जले गङ्गादिजले एव तीर्थबुद्धिः कर्हिचिदप्यभिज्ञेषु स्वात्मपरमात्मयाथात्म्याभिज्ञेषु भवादृशेषु नेज्यधीः न तीर्थबुद्धिश्च स पुमान् गोखर एव गोप्रायः खरप्रायश्च। यद्वा, गवां सम्बन्धी खरः तदर्थतृणभारार्थखरसदृशः, अतीव अज्ञ इत्यर्थः। न हि निन्दान्यायेनेयं साधुजनप्रशंसा ॥ १३ ॥

**निशम्येति**। अकुण्ठा प्रतिहतिरहिता मेधा यस्य तस्य भगवतः कृष्णस्य दुरन्वयम् अननुरूपं वचो निशम्य भ्रमन्ती अनवस्थिता धीर्येषां तथाभूताः तूष्णीमासन् अहो स्वभजनाऽऽहितमाहात्म्यान् अस्मानयं स्वस्मादुत्कृष्टतमान् वदति अतो विपरीतमेतद्वच इत्येवं तावत् भ्रमद्धियः इत्यर्थः ॥ १४ ॥

---

1. B omits तत्

**चिरं विमृश्य मुनय ईश्वरस्येशितव्यताम् ।**
**जनसङ्ग्रह[1] इत्यूचुः स्मयन्त स्तं जगद्गुरुम् ॥ १५ ॥**

**मुनय ऊचुः**

**यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा वयं विमोहिता विश्वसृजामधीश्वरा[2] ।**
**यदीशतव्यायति गूढ ईहया अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितम् ॥ १६ ॥**

**अनीह एतद्बहुधैक आत्मना सृजत्यवत्यत्ति न तत्र[3-] बध्यते[-3] ।**
**भौमैर्हि भूमिर्बहुमानरूपिणी अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ॥ १७ ॥**

**अथाऽपि काले स्वजनाभिगुप्तये बिभर्षि सत्त्वं खलनिग्रहाय च[4] ।**
**स्वलीलया वेदपथं सनातनं वर्णाश्रमात्मा पुरुषः परो भवान् ॥ १८ ॥**

---

1. K.T.W. °हमि° 2. B.G.J.Ml.V. °रा: 3- -3. B.G.J. बध्यते यथा ;K.T.W. सज्यते यथा 4. Ml.V.Omit च

**श्रीध० चिरमिति**। ईशितव्यतामनीश्वरतां कर्माधिकारितां जनसङ्ग्रहमात्रमेतदित्यूचुः, स्मयन्तो स्मयमानाः[1-] हसन्तः[-1] ॥ १५ ॥

दुरन्वयं विवृण्वन्त आहु द्वाभ्यां **यन्मायया**[1]**इति**। तत्त्ववित्सूत्तमा अपि वयं काऽसौ माया यया विमोहिता इति तामाहुः- यदिति। यद्यस्मात् ईहया नरचेष्टितेन गूढस्सन् ईशितव्यायति अनीश्वरवदाचरति भवान्। नन्वहमीश्वरश्चेत् किमित्येवमाचरेयम्? तत्राऽऽहुः - अहो इति। भगवतः तव विचेष्टितं विचित्रमवितर्क्यमेव[2] ॥ १६ ॥

भगवत्त्वमेवाऽऽहुः - **अनीह** इति। अनीहोऽक्रिय एव आत्मना स्वरूपमात्रेण। बहुधेत्यत्र दृष्टान्तः यथा भौमैरिति। भौमैः घटादिविकारैः उपलक्षिता 'वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छान्दो.उ.6-1-5) इति श्रुतेः। ननु कथमहं जगत्सृष्ट्यादिकर्ता देवकीवसुदेवपुत्रत्वादिति[3] तत्राऽऽहुः - अहो इति। विभूम्नः परिपूर्णस्य तवेदं जन्मादिचरितं विडम्बनमनुकरणमात्रं, न तु तत्त्वमिति ॥ १७ ॥

जनसङ्गहमाहुः - **अथापीति** त्रिभिः। सत्त्वं शुद्धसत्त्वात्मकं रूपं बिभर्षि स्वलीलया आचारेण वेदपथञ्च बिभर्षि ॥१८॥

1--1 B.J. omit 2. B.J. °मतर्क्यं° 3. B.J. omit देवकी

**वीर० चिरमिति**। जनसङ्गहम् अकृत्स्नविदो जनाः इत्थं साधून् भजेयुः इत्येवंविधजनानुग्रहरूपम् ईश्वरस्य भगवतः ईशितव्यतां (कर्माधिकारितां) चिरमालोच्य स्मयन्त ईषद्धसन्तः जगद्गुरुं कृष्णं प्रति इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण ऊचुरित्यन्वयः ॥ १५ ॥

तमेवाऽऽह - **यदिति**। हे विश्वसृजां ब्रह्मादीनामधीश्वर! तत्त्वविच्छ्रेष्ठा अपि वयं त्वन्मायया विमोहितास्ताव त्त्वदभिप्रायं जनसङ्ग्रहात्मकमवगन्तुमसमर्था बभूविमेत्यर्थः। कोऽसावभिप्रायः इत्यतस्तं निर्दिशन्ति, यदिति। गूढ ईहयेति सर्वेश्वरोऽपि भगवानीहया गूढः मनुष्यचेष्टया छन्नः ईशितव्ययति ईशितव्यवत् कर्मवश्यवत् आचरतीत्यर्थः। यत एवं तस्मादहो भगवतस्तव चेष्टितमहो विचित्रमतिविचित्रमित्यर्थः। यद्वा, तत्वविदुत्तमा अपि तावत्त्वन्मायया मोहिता इति चित्रम्। ईश्वरोऽपि ईहया गूढस्सन् ईशितव्यायति इति यत् तद्भगवतस्तव चेष्टितमहो विचित्रमित्यर्थः। 'यदीशतव्याः स तु गूढ ईहया 'इति पाठे तु यस्येशितव्या वयं स ईश्वरो मनुष्यचेष्टया छन्न इत्यर्थः ॥ १६ ॥

विश्वसृजामधीश्वरत्वे सम्बोधनाभिप्रेतं कृत्स्नजगत्स्रष्टुत्वं व्यञ्जयन्तो विस्मयन्ते - **अनीह** इति। अनीहः कर्मायत्त चेष्टारहितः भवानेकः कारणावस्थायामेक एव सन् आत्मनैतज्जगत् बहुधा सृजति। बहुधेत्यनेन नामरूपविभागनिबन्धनं बहुत्वविवक्षितम्। एक इत्यनेन तु तत्प्रतिसम्बन्ध्येकत्वम् तदयमर्थः - व्याकरिष्यमाणकार्यावस्थचिदचिद्गतनामरूप विभाग निबन्धनबहुत्वप्रतिसम्बन्धितदविभागनिबन्धनैकत्वापन्नचिदचिच्छरीरकतया एकत्वव्यपदेशार्होपादानकारणतया तावदवस्थितो बहुधैतज्जगत्सृजतीति। एवञ्च, एक इत्यनेनोपादानत्वं फलितं सृजतीति। कर्तृत्वनिर्देशान्निमित्तत्वम् आत्मनेत्यनेन

स्वस्यैवोपकरणत्वं वदतोपकरणान्तरनिरपेक्षत्वम् अवति रक्षति, अत्ति संहरते च। अथाऽपि न सज्जते। सृज्यचिदचिद्गतैर्दोषैर्न स्पृश्यते इत्यर्थः। अनेनोपादानत्वप्रयुक्तविकाराश्रयत्वप्रसङ्गः परिहृतः। विकाराणां चिदचिद्द्वारकत्वेन स्वतो न सृज्यत इति भावः। एकस्यैव सतोऽनेकधापत्तौ दृष्टान्तः - यथा भौमैः भूमिः बहुनामरूपिणीति यथा एकैव मृत् भौमैस्तदविकारैः घटशरावमणिकादिभिः बहूनि रूपाण्यवस्थास्सन्तीति तथाभूता। तथैकोऽपि भगवान् बहुरूपो बभूवेत्यर्थः। विभूम्नो भगवतः तवेदं चरितं विडम्बनमनुकरणम् अहो अति विचित्रमित्यर्थः ॥ १७ ॥

ननु, नाऽहं विश्वसृजामधीश्वरः, अपि तु वसुदेवसुतः, अन्यथा सर्वेश्वरस्यैवं मनुष्यतापत्तिर्न घटत इत्यत आहुः - **अथापीति**। यद्यपि ईश्वरः, तथाऽपि स्वजनानां स्वभक्तानां साधूनामभिगुप्तये परित्राणाय खलानां दुष्कृतां निग्रहाय च सत्त्वं शुद्धसत्त्वमयं रूपं बिभर्षि स्वलीलारूपेण आचारेण सनातनं वेदपथं च बिभर्षि पुष्णासि। कथम्भूतः? परः प्रकृतिपुरुषविलक्षणः पुरुषोऽपि वर्णाश्रमात्मा वर्णाश्रमोपलक्षितजीवात्मेव सन्नित्यर्थः। यद्वा एवं वर्णाश्रमात्मा वर्णाश्रमयुक्त जीवात्मा इव प्रतीयमानोऽपि भवान् परः पुरुषः परमपुरुष एवेत्यर्थः ॥ १८ ॥

**ब्रह्म ते हृदयं शुक्लं तपस्स्वाध्यायसंयमैः ।**
**यत्रोपलब्धं सद्व्यक्तमव्यक्तञ्च ततः परम् ॥ १९ ॥**

**तस्माद्ब्रह्मकुलं ब्रह्मन् शास्त्रयोनेस्तवात्मनः[1] ।**
**सभाजयसि सद्धाम[2] तद्ब्रह्मण्यग्रणीर्भवान् ॥ २० ॥**

**अद्य नो जन्मसाफल्यं विद्यायास्तपसो दृशः ।**
**त्वया सङ्गम्य सद्गत्या यदेतत्[3] श्रेयसां परम्[4] ॥ २१ ॥**

**नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाऽकुण्ठमेधसे ।**
**स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्ने परमात्मने ॥ २२ ॥**

---

1. B.G.J. °स्त्वमा° ;K.T.W. °र्महा° 2. K त° 3. B.G.J. यदन्तः ;Ml.V. यत्त्वं निश्रे° 4. B.G.J.Ml.V. परः।

**श्रीध०** अत एव ब्राह्मणेषु बहुमानमपि करोषीति सहेतुकमाहुः - **ब्रह्मेति**। ब्रह्म वेदाख्यं शुक्लं शुद्धं ते हृदयमन्त रङ्गं रूपं कुतः इत्यत आहुः - यत्रेति। यत्र ब्रह्मणि व्यक्तं कार्यम्, अव्यक्तं कारणं ततः परं सत् सन्मात्रं ब्रह्म च तप आदिभिरुपलब्धं तद्ब्रह्म ॥ १९ ॥

**तस्मादिति**। तस्माद्वेद हृदयत्वात् वेदप्रवर्तकं ब्राह्मणकुलं शास्त्रयोनेः वेदप्रमाणकस्य तव सद्धाम श्रेष्ठमुपलब्धि स्थानं सभाजयसि सम्पूजयसि। तत् तस्मादेव कारणात् त्वं ब्रह्मण्यानामग्रणीः मुख्यः तत्प्रवर्तकस्सन् कर्माचरसीत्यर्थः ॥ २० ॥

तस्मादीश्वरस्य तवेदं जनसङ्ग्रहमात्रं वयं तु तव सङ्गत्या कृतार्था इत्याहुः - **अथेति** षड्भिः। सतां गत्या त्वया सङ्गम्य सङ्गं प्राप्य यत् यस्मात् त्वं श्रेयसां[1] परोऽवधिः ॥ २१,२२ ॥

---

1. MI.V. निश्श्रे°

**वीर०** यतो वेद (मयं) पथं बिभर्षि अत एव ब्राह्मणान् बहुमन्यसे इत्याहुः - ब्रह्मेति द्वाभ्याम्। शुद्धं भ्रमविप्रलिप्सादि पुरुषदोषासंस्पृष्टं ब्रह्म वेदः ते तव हृदयम् अन्तरङ्गं तद्ब्रह्म विशिंषन्ति तप इत्यदिना। यत्र यतो वेदा तपादिभिस्सह सत् परमार्थं व्यक्तं कार्यम् अव्यक्तं कारणम्। यद्वा, व्यक्तं शरीरम्, अव्यक्तं आत्मस्वरूपं ततस्ताभ्यां परं विलक्षणं परमात्मस्वरूपञ्च उपलब्धं यथावदवगतं यत्तत्त्वत्रय तप आदि याथात्म्यावेदकं ब्रह्म तत्तव हृदयमित्यर्थः। तत्र तपोऽनशनादिरूपं,स्वाध्यायोऽध्ययनं,संयमः वर्णाश्रमानुरूपो धर्मः ॥ १९ ॥

**तस्मादिति**। यस्मादुक्तविधं ब्रह्म तव हृदयं तस्मादित्यर्थः। शास्त्रं वेदः योनिः स्वप्रमितिकारणं यस्य तस्य सर्वान्तरात्मनस्तव ब्रह्मकुलं स्थानम् उपलब्धिस्थानं त्वद् याथात्म्यावबोधकवेदाधारभूतमित्यर्थः। एवं हेतुनिर्देशः तस्मात्तद्धाम ब्राह्मणकुलरूपं धाम सभाजयसि बहुमन्यसे। किञ्च ब्रह्मण्यानां ब्राह्मणान् बहुमन्यमानानां अग्रणीः श्रेष्ठश्च भवान् अतोऽपि सभाजयसीति भावः ॥ २०॥

आत्मनां कृतार्थतामाविष्कुर्वन्ति - **अथेति**। सतां साधूनां गत्या प्राप्यप्रापकभूतेन त्वया सङ्गम्य नोऽस्माकम् अद्य जन्मसाफल्यं जातं तथा विद्यायाः तपसो दृशोर्नेत्रयोश्च साफल्यमित्यन्वयः। कुतः? यत् यतः एतत्त्वत्सङ्गमनं श्रेयसामपि परमुत्कृष्टं श्रेयः ॥ २१ ॥

किञ्च, यथावद्विज्ञातुं न शक्नुम इत्यभिप्रायेण प्रणेमुः - **तस्मा** इति। स्वयोगमायया स्वासाधारणाश्चर्यशक्त्या छन्नो गूढो महिमा ऐश्वर्यं यस्य तस्मै परमात्मनेऽन्तःप्रविश्य प्रशासनेन भर्त्रे ॥ २२ ॥

**न यं विदन्त्यमी भूपा एकारामाश्च वृष्णयः ।**
**मायायवनिकाच्छन्नमात्मानं कालमीश्वरम्[1] ॥ २३ ॥**

**यथा शयानः पुरुष आत्मानं गुणतत्त्वदृक् ।**
**नाममात्रेन्द्रियाभातं न वेद रहितं परम् ॥ २४ ॥**

**एवं त्वा[2-] नाममात्रेषु विषयेष्विन्द्रियेहया[-2] ।**
**मायया विभ्रमच्चित्तो न वेद स्मृत्युपप्लवात् ॥ २५ ॥**

**तस्याऽद्य ते ददृशिमाङ्घ्रिमघौघमर्ष तीर्थास्पदं हृदिकृतं सुविपक्वयोगैः ।**
**उत्सिक्तभक्त्युपहताशयजीवकोशा आपुर्भवद्गतिमतः[4] अनुगृहाण भक्तान् ॥ २६ ॥**

1. G.J. ज° 2- -2. K.T.W. त्वामाश्रितं ब्रह्मन् नाममात्रेन्द्रिये° ;Ml.V. त्वाऽयं जनो ब्रह्मन् नाममात्रेन्द्रिये° 3. K.T.W. °तत्त्युपहता° ; Ml.V. °तत्त्यपहतां° 4. B.G.J. °थोऽनु ;T.W. °थाऽनु

**श्रीध० नेति**। एकस्मिन्नेव स्थाने आरामो येषां तेऽपि कालं सृष्ट्यादिकारणम् ईश्वरं नियन्तारम् ॥ २३ ॥

एतत्सदृष्टान्तमाह - **यथेति**। शयानः स्वप्नान् पश्यन् गुणतत्त्वदृक् स्वप्नविषयेषु तत्त्वदृष्टिः नाममात्रमिन्द्रियेण मनसा आभातं सिंहव्याघ्रादिरूपमात्मानं वेद तद्रहितं देवदत्तादिरूपमात्मानं न वेद यथा ॥ २४ ॥

**एवमिति**। एवं त्वा त्वां नाममात्रेषु स्वप्नादितुल्येषु विषयेष्विन्द्रियैर्वा ईहा प्रवृत्तिः सैव माया तथा विभ्रमच्चित्तो न वेद, स्मृतेः विवेकस्य उपप्लवान्नाशात् ॥ २५ ॥

**तस्येति**। अघौघस्य मर्षं नाशं करोति यद्गङ्गाख्यं तीर्थं तस्याऽऽस्पदमाश्रयं तेऽङ्घ्रिं सुविपक्वयोगैरपि हृदि कृते केवलं न तु दृष्टं, तस्य तेऽङ्घ्रिं ददृशिम दृष्टवन्तो वयं बहुभिः पुण्यैः, अतोऽस्मान् भक्तान ननु गृहाण भक्तान् कृत्वाऽनुग्रहं कुर्वित्यर्थः। ननु किं भक्त्या, यथापूर्वं तप एव तप्यतामिति नेत्याहुः, उत्सिक्ता उद्रिक्ता या भक्तिः तयोपहत आशयलक्षणो जीवकोशो येषां त एव पूर्वे भवद्गतिमापुर्नाऽन्य इति[1] ॥ २६ ॥

1. Ml.V. भगवद्गतिमापु°

**वीर०** केवलं वयमेव न शक्नुमः, अपि तु शश्वत्सहचरा वृष्णयोऽपीत्यभिप्रेत्याहुः - **नेति**। एकस्मिन् स्वात्मन्ये वाऽऽरमन्त इति तथा ते केवलप्रत्यगात्मानुभवपराश्च यं त्वां न विदन्ति यथावन्न जानन्ति। कथम्भूतम्? सर्वजीवमोहिनी मायैव यवनिका तिरस्कारिणी तथा छन्नं भूपादिज्ञानविषयम् आत्मानमीश्वरमन्तरात्मतया सन्तमपि कालं बहिः कालरूपेण परिच्छन्दन्तम् ॥ २३ ॥

एतत्सदृष्टान्तमाहुः - **यथेति**। गुणतत्त्वदृक् गुणेषु सत्त्वादिगुणकार्येषु शब्दादिविषयेषु तत्त्वदृक् पुरुषार्थदर्शी। यद्वा,

गुणतत्त्वं गुणपरिणामरूपं तत्त्वं देहमात्मतया पश्यतीति तथा स शयानः पुरुषो यथा नाममात्रेन्द्रियाभातं, मात्रा शब्देन रूपं विवक्षितम्। स्वाप्ननामरूपेन्द्रियैरवभातमुपलक्षितं युक्तमित्यर्थः। तमात्मानं वेद, न तु स्वतो नामादिरहितं परं देहाद्विलक्षण मात्मानं वेद ॥ २४ ॥

एवं जाग्रत्पुरुषोऽपि हे ब्रह्मन्! मायया त्वन्मायामूलया नाममात्रेन्द्रियेहया नाममात्रेन्द्रियानुगुणया[1] चेष्टया यः स्मृत्युप प्लवः स्वात्मपरमात्मयाथात्म्यविषयः स्मृतेः प्रमोषः तस्माद्विभ्रमत् अनात्मानं देहमात्मतया पारतन्त्रं स्वतन्त्रतया च गृह्णञ्चित्तं यस्य सः, त्वामात्माश्रितम्, कर्तरि क्तः। तं प्रत्यगात्मानमेव न वेद प्रत्यगात्मनः परमात्मानं त्वां न वेदैवेति कैमुत्यसिद्ध मित्यर्थः ॥ २५ ॥

तर्हि कैरप्यविज्ञेयोऽहमनुपास्योऽमोक्षदश्चेत्यत आहुः - **तस्येति**। अघौघस्य मर्षं शुद्धिं करोति यद्गङ्गादितीर्थं तस्याऽऽश्रयमास्पदं ते तवाङ्घ्रिं सुविपक्को योगो भक्तियोगो येषां तैर्हृदिकृतं साक्षात्कृतं वयमधुना ददृशिम। सुविपक्क योगै र्हृदिकृतमित्यनेन योगपरिशुद्धमनुपास्यत्वञ्च निरस्तम्। उत्सिक्तया उद्रिक्तया भक्त्या अपहृतः आशया वासना जीवकोशः अज्ञानरूपः कोशश्च येषां ते । कोशवदावारकत्वात् कोशत्वरूपणम् । भवद्गतिं प्रापुः। अनेन मुक्तप्राप्यत्वमुक्तम्। यत एवमतो भक्तानस्मान् अनुगृहाण ॥ २६ ॥

---

1. B. "णचे"

**श्रीशुक उवाच**

**इत्यनुज्ञाप्य[1] दाशार्हं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरम् ।**
**राजर्षे[2] स्वाश्रमान् गन्तुं मुनयो दधिरे मनः ॥ २७ ॥**

**तद्वीक्ष्य तानुपव्रज्य[3] वसुदेवो महायशाः ।**
**प्रणम्य चोपसङ्गृह्य बभाषेदं सुयन्त्रितः ॥ २८ ॥**

**वसुदेव उवाच**

**नमो वस्सर्वदेवेभ्य ऋषयः श्रोतुमर्हथ ।**
**कर्मणा कर्मनिर्हारो यथा स्यान्नस्तदुच्यताम् ॥ २९ ॥**

**श्रीनारद उवाच**

**नातिचित्रमिदं विप्रा वसुदेवो बुभुत्सया ।**
**कृष्णं मत्वाऽर्भकं यन्नः पृच्छति श्रेय आत्मनः ॥ ३० ॥**

---

1- -1. K.T.W. इतीदमुक्त्वा 2. MI.V. राजंस्ते 3.MI.V. °ननु°

**श्रीध० तदिति**। उपसङ्गृह्य चरणौ पाणिभ्यां धृत्वा बभाषे। बभाषेदमिति सन्धिरार्षः ॥ २७,२८ ॥

**नम** इति। सर्वे देवा येषु तेभ्यः "यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति" (सह.वा.उ.19) इति श्रुतेः। येन कर्मणा यथाकृतेन वा। कर्मणां निर्हारो निरासो भवति तदच्युताम् ॥ २९ ॥

श्रीकृष्णं हित्वा अस्मान् पृच्छतीति विस्मितान्प्रत्याह - **नातीति**। बुभुत्सया बोद्धुमिच्छया ॥ ३० ॥

**वीर० इतीति** दाशार्हं श्रीकृष्णम्। इदमुक्त्वा अनुज्ञां पृष्ट्वेत्यर्थः। हे राजर्षे! मनो दधिरे मनश्चक्रुः ॥ २७ ॥

**तदिति**। तन्मनोधानं वीक्ष्य तान्मुनीनुपव्रज्य समीपमेत्य प्रणम्योपसङ्गम्य चरणौ पाणिभ्यां धृत्वा सुयन्त्रितोऽवहितचित्तः इदं वक्ष्यमाणं बभाषे ॥ २८ ॥

सर्वे देवा येषु तेभ्यः युष्मभ्यं नमः। हे ऋषयः! श्रोतुं मद्वच इति शेषः। 'यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति' (सह.वा.उ.19) इति श्रुतिप्रसिद्ध्यभिप्रायेण सर्वदेवेभ्य इत्युक्तम्। किं तद्वच इत्यत आह - कर्मणेति। यथा यथाऽनुष्ठितेन कर्मणा वर्णाश्रमानुगुणेन कर्मणां भगवद्भक्तियोगोत्पत्तिप्रतिबन्धकानां प्राचीनपुण्यापुण्यात्मकानां निर्हारः स्यादिति तदुच्यतां तत्रोत्तरमुच्यतामित्यर्थः ॥ २९ ॥

इत्थं पृष्टेषु मुनिषु किं सर्वज्ञं कृष्णं हित्वा अस्मान् पृच्छतीत्येवं संशयितवत्सु तान्प्रतिप्रश्नकारणमुत्थापयन्नाह नारदः **नातिचित्रमिति** चतुर्भिः। हे विप्राः। वसुदेवः आत्मनः स्वस्य श्रेयस्साधनं बोद्धुमिच्छया नोऽस्मान् पृच्छतीत्येतन्नाति चित्रम्। तत्र हेतुः - कृष्णमर्भकं मत्वेति। मत्वा नः पृच्छतीति सम्बन्धः ॥ ३० ॥

**सन्निकर्षो[1] हि मर्त्यानामनादरणकारणम् ।**
**गाङ्गं हित्वा यथाऽन्याम्भस्तत्रत्यो याति शुद्धये ॥ ३१ ॥**

**यस्यानुभूतिः कालेन लयोत्पत्त्यादिनाऽस्य वै ।**
**स्वतोऽन्यस्माच्च गुणतो न कुतश्चन रिष्यति ॥ ३२ ॥**

**तं क्लेशकर्मपरिपाकगुणप्रवाहै रव्याहतानुभवमीश्वरमद्वितीयम् ।**
**प्राणादिभिः स्वविभवैरुपगूढमज्ञो मन्येत सूर्यमिव मेघहिमोपरागैः ॥ ३३ ॥**

**अथोचुर्मुनये राजन् आभाष्यानकदुन्दुभिम् ।**
**सर्वेषां श्रुण्वतां राज्ञां तथैवाऽच्युतरामयोः ॥ ३४ ॥**

---

1. J.Ml.V. °र्णोऽत्र 2. Ml.V. °श्चिन्न 3. B.G.J.Ml.V. °न्यो

**श्रीध० सन्निकर्ष** इति। तत्रत्यो गङ्गातीरवासी ॥ ३१ ॥

श्रीकृष्णेऽर्भकत्वं मन्यमानोऽविद्याविजृम्भित इत्याह - **यस्येति** द्वाभ्याम्। अनुभूतिर्ज्ञानम् कुतश्चिदपि न रिष्यति न नश्यति तदेवाऽऽह - कालेन कर्कटिका फलवत् अस्य विश्वस्य लयोत्पत्त्यादिनाऽपि स्वतश्च[1] विद्युदादिवत् अन्यस्माच्च मुद्गरादेर्घटादिवत् गुणतो रूपाद्यन्तरोत्पत्तेः पूर्वरूपादिना देहादिवत् ॥ ३२ ॥

**तमिति**। तमेव कुतश्चिदप्यव्याहतानुभवमत एवेश्वरं किञ्च अद्वितीयं कृष्णम् अन्यः प्राकृतः उपगूढमाच्छन्नं मनुष्यं मन्येत? कैः क्लेशकर्मादिभिः तत्र क्लेशाः रागादयश्च तत्पूर्वकाणि कर्माणि च तत्परिपाके सुखदुःखे च सत्वादीनां गुणानां पुनःपुनः प्रवाहश्च तैः प्राणादिभिश्च स्वैर्विभवैः स्वकार्यैः। अत्र दृष्टान्तः मेघहिमोपरागैः अभ्रतुषारराहुभिः स्वविभवैः सूर्यमिवेति ॥ ३३, ३४ ॥

---

1. Ml. V. एव

**वीर०** तत्कृत इत्यत आह - **सन्निकर्ष** इति। हि यस्मात् सन्निकर्षः निरन्तरसान्निध्यमनादरणकारणम्। ततः कृष्णमर्भकं मत्वेत्यर्थः। सन्निकर्षस्य अनादरणकारणत्वे दृष्टान्तः -गाङ्गमिति। यथा तत्रत्यो गङ्गातीरस्थो गाङ्गमम्भो हित्वा अनादृत्य आत्मनो विशुद्धये विशुद्धयर्थं अन्याम्भः प्रति याति पुण्यजलान्तरं याति तद्वत् ॥ ३१ ॥

एवं सन्निकर्षस्य अनादरकारणत्वमुक्त्वा सर्वज्ञत्वानभिज्ञानमपि तत्कारणमिति वक्तुं तावत्कृष्णस्य नित्यसर्वज्ञतामाह-

**श्रस्येति**। यस्य कृष्णस्यानुभूतिः ज्ञानं कालादिभिः न रिष्यति न नङ्क्ष्यति तं श्रीकृष्णमित्युत्तरेण सम्बन्धः यथा अस्मदादीनामनुभूतेः कालादिभिः प्रमोषः तथा नेश्वरस्येति भावः। अस्य जगत उत्पत्यादिनेत्यादिशब्देन प्रलयः, गुणाः सत्वादयः त्रयः, कुतश्चन उक्तातिरिक्तादन्यस्मादपि कालादयो ह्यन्येषां ज्ञानलोपहेतवः तैस्सङ्कुचितज्ञान इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

तदेव सदृष्टान्तमुपपादयति - **तमिति**। क्लेशाः कर्माणि च पुण्यापुण्यात्मकानि च तेषां परिपाकः सुखदुःखे च गुणानां सत्त्वादीनां पुनःपुनः[1] प्रवाहश्च तैरव्याहतोऽनुभवो महिमा[2] यस्य तमद्वितीयं स्वतुल्यरहितमीश्वरं श्रीकृष्णं स्वविभवैः प्राणादिभिः इन्द्रियादिभिः उपगूढमावृतं प्राकृतेन्द्रियतद्व्यापारैः तिरोहितानुभवं मन्येत मन्यते। अज्ञेति हेतुगर्भं स्वयमज्ञत्वादेवम्भूतमपीश्वरं स्वतुल्यं मन्यत इत्यर्थः। अत्र दृष्टान्तः मेघहिमोपरागैः अभ्रतुषारराहुभिः स्वविभवैः सूर्यमिवेति ॥ ३३ ॥

एवमुक्त्वा सर्वे मुनयः सम्भूयोचुरित्याह - **अथेति**। आभाष्य सम्बोध्य सर्वेषां राज्ञां श्रृण्वतां सतां तथैवाऽच्युतराम योरपि श्रृण्वतोस्सतोः (मुनय ऊचुः आभाष्य सम्बोध्य हे राजन्! परीक्षित!) ॥ ३४॥

---

1. B. omits पुनः 2. T.W. omit महिमा

**कर्मणा कर्मनिर्हार एष साधु निरूपितः ।**
**यदृच्छया यजेद्विष्णुं सर्वयज्ञेश्वरं मखैः ॥ ३५ ॥**

**चित्तस्योपशमोऽयं वै कविभिश्शास्त्रचक्षुषा ।**
**दर्शितस्सुगमो योगो धर्मश्चाऽऽत्ममुदावहः[1-] ॥ ३६ ॥**

**अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः ।**
**यच्छ्रद्धयाऽऽप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषः ॥ ३७ ॥**

**वित्तैषणां[2] यज्ञदानैर्गृहैर्दारसुतैषणाम्[3] ।**
**आत्मलोकैषणां[4] देवकालेन विसृजेद्बुधः ।**
**ग्रामेत्यक्तैषणा स्सर्वे ययु र्धीरास्तपोवनम् ॥ ३८ ॥**

---

1- -1. K.T.W. °श्चात्र सुखा° 2. K.T.W. °त्ते 3. K.T.W. °ते° 4. K.T.W. °के° 5. K.T.W. °क्ते°

**श्रीध०** चित्तस्योपशमः उपशमहेतुः योगो मोक्षोपायश्च शनैरात्ममुदमावहततीति तथा सुगमः प्रवृत्याश्रयत्वात् धर्मश्चाऽऽवश्यकः। अन्यथा विहिताकरणेन मालिन्यप्रसङ्गात् ॥३५,३६॥

ननु, 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' (म.ना.उ.8-14) इत्यादिना आदावेव त्यागस्य अशक्यत्वादित्याशयेनाऽऽहुः **अयमिति** सार्धचतुर्भिः। स्वस्त्ययनः स्वस्ति क्षेममीयतेऽनेनेति तथा। श्रध्दया निष्कामतया शुक्लेन शुध्देनाऽऽप्तेन वित्तेन पूरुष ईश्वर इज्येतेति यदेष पन्थाः ॥३७॥

स्वस्त्ययनमाहुः - **वित्तैषणामिति**। वित्तफलभूतैर्यज्ञैः दानैश्च वित्तेषणां वित्तेच्छां विसृजेत्। गृहैः गृहोचितैः भोगैः दारसुतेषणां विसृजेत्, तदनुभवेनैव तदौत्सुक्यनिवृत्तेः। देहे मृते आत्मनः स्वर्गादिलोकेषणां कालेन क्षयानुसन्धानेन विसृजेत्। देव हे वसुदेव! यद्वा, देवकालेन देवानामपि मृत्युना मृत्युहेतुभूतेनेत्यर्थः। अत्राऽऽचारं प्रमाणयति - ग्राम इति ॥३८॥

**वीर०** उक्तिमेवाऽऽह - **कर्मणेति**। साधु यथा तथा एष एवेति निरूपितः। कोऽसौ? यत्सर्वेषां यज्ञानामीश्वरं निर्वाहकं विष्णुं श्रद्धया मखैः यज्ञैः यजेदाराधयेदित्येषः ॥ ३५ ॥

**चित्तस्येति**। अयं विष्णवाराधनरूपो धर्मः अत्र लोके चित्तस्योपशमः शान्त्यावहः सुखावहःनिरतिशयमोक्षसुखावहश्च अतोऽयमेव सुगमोपाय इति मुनिभिः शास्त्रमेव चक्षुस्तेन दर्शितः। ण्यन्तात् दृशेर्निवृत्ते प्रेरणात् कर्मणि क्तः, दृष्ट इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

**अयमिति**। द्विजातेस्त्रैवर्णिकस्य गृहाश्रमिणः श्रेयः प्रापकोऽयमेव पन्थाः। कोऽसौ? शुक्लेन शुद्धेन आप्तवित्तेन परपीडादिकमन्तरेणलब्धेन धनेन पुरुषः परमपुरुषः श्रद्धया इज्यतेति अयं भक्तियोगोत्पत्ति प्रतिबन्धनिरसनद्वारा मोक्षसुखावहः पन्थाः केवलमीश्वराराधनात्मक यज्ञ एवेत्यर्थः ॥ ३७ ॥

आप्तवित्तेन इज्यतेत्युक्तं सम्यग्व्यय एव वित्तस्य प्रयोजनमिति वदन्तः प्रसङ्गात् अन्यदप्याहुः - **वित्तैषणामिति**। यज्ञैर्दानैश्च वित्तैषिणां वित्तेच्छां विसृजेत्। अर्थस्य सम्यग्व्ययेन तद्रक्षणदुःखं परिहरेदित्यर्थः। गृहैर्गृहोचितैः भोगैः दारसुतैषणां विसृजेत्, तदनुभवे सत्येव एतावताऽलमिति तदौत्सुक्यनिवृत्तेः। मृते देहे आत्मनः स्वर्गादिलोकेषणां कालेन स्वर्गादीनामपि कालवशात् क्षयिष्णुत्वनिरूपणेन त्यजेदित्यर्थः। तथाहि धीराः तावत् ग्रामे त्यक्ताः ईषणाः पूर्वोक्तास्तिस्रः यैस्ते ततः तपोवनं ययुः ॥ ३८ ॥

**ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षि पितृणां प्रभो ।**
**यज्ञाध्ययनपुत्रैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन्यतेत् ॥ ३९ ॥**

**त्वन्त्वद्य मुक्तो द्वाभ्यां वै ऋषिपित्रोर्महामते! ।**
**यज्ञैर्देवर्णमुन्मुच्य निर्ऋणोऽशरणो भव ॥ ४० ॥**

**वसुदेव भवान्नूनं भक्त्या परमया परिम् ।**
**जगतामीश्वरं प्रार्चः[1] स यद्वां पुत्रत्वां गतः ॥ ४१ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**इति तद्वचनं श्रुत्वा वसुदेवो महामनाः ।**
**तानृषीनृत्विजो वव्रे मूर्ध्नाऽऽनम्य प्रसाद्य च ॥ ४२ ॥**

---

1. Ml.V. प्रार्चत्

**श्रीध०** किञ्च, **ऋणैरिति**। तथा च श्रुतिः 'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः' (तैत्ति.सं.6-3-10) इत्यादि तान्यनिस्तीर्य तेषामृणान्यनपाकृत्य। तथा च मनुः- 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्। अनापाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः' (मनु.स्मृ.6-35) इति ॥ ३९ ॥

निर्ऋणो निर्मुक्तऋणः अशरणो भव गृहात्प्रव्रज ॥ ४० ॥

किञ्च, अविशुद्धचित्तानामयं क्रमः। त्वन्तु कृतार्थ एवेत्याहुः - **वसुदेवेति**। भवान्नूनं[1] निश्चितं परमया प्रेमलक्षणया भक्त्या हरिं[-1] प्रार्चोऽर्चितवान्[2], यद्यस्मात् वां युवयोः ॥ ४१,४२ ॥

---

1- -1. Ml.V. omit 2. Ml.V. प्रार्चत् अर्चि°

**वीर०** इतोऽपि विष्णुर्यष्टव्य इत्याहुः - **ऋणैरिति**। हे विभो! देवानाम् ऋषीणां पितॄणाञ्च ऋणैस्त्रिभिः द्विजः त्रैवर्णिको जातः जायते। अतस्तानि देवर्षिपितृऋणानि क्रमेण यज्ञाध्ययनपुत्रैरनिस्तीर्य अनपाकृत्य चरन् पतेत्, नरक इत शेषः। अत्र 'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो, यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः' (म.ना.उ.6-3-10) इति श्रुतिः। 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्। अनापाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः' (मनु.6-35) इति स्मृतिश्च अनुसन्धेया। श्रुतौ ब्रह्मचर्यशब्दः तत्पूर्वकाध्ययनपरः ॥ ३९ ॥

अतस्त्वयाऽधुना देवऋणमेवाऽपाकर्तव्यम्, ऋषिपितृऋणाभ्यान्तु मुक्त एवेत्याहुः - **त्वन्त्विति**। हे महामते! उन्मुच्य अपाकृत्य निर्ऋणः ऋणत्रयरहितः अशरणः गृहसङ्गरहितो भव ॥ ४० ॥

हे वसुदेव! भवान् नूनं हरिम् आराधितवान्। ततः? यद्यस्मात् स भगवान् स्वयं वां युवयोः पुत्रतां गतः ॥ ४१ ॥

**इतीति**। तद्वचनं तेषां वचः श्रुत्वा आनम्य प्रणम्य प्रसाद्य प्रसन्नान् कृत्वा ऋत्विजो वव्रे वृतवान् ॥ ४२ ॥

**त एनमृषयो राजन् वृता धर्मेण धार्मिकम्।**
**तस्मिन्नयाजयन् क्षत्रे मखैरुत्तमकल्पकैः ॥ ४३ ॥**

**तद्दीक्षायां प्रवृत्तायां वृष्णयः पुष्करस्रजः ।**
**स्नातास्सुवाससो राजन् राजानः सुष्ठ्वलङ्कृताः ॥ ४४ ॥**

**तन्महिष्यश्च मुदिता निष्ककण्ठ्यस्सुवाससः ।**
**दीक्षाशालामुपाजग्मुरालिप्ता वस्तुपाणयः ॥ ४५ ॥**

**नेदुर्मृदङ्गपटहशङ्खभेर्यानकादयः ।**
**ननृतुर्नटनर्तक्यस्तुष्टुवुस्सूतमागधाः ॥**
**जगुस्सुकण्ठ्यो गन्धर्व्यः सङ्गीतं सहभर्तृकाः ॥ ४६ ॥**

**तमभ्यषिञ्चन्विधिवदक्तमभ्यक्तमृत्विजः ।**
**पत्नीभिरष्टादशभिः सोमराजमिवोडुभिः ॥ ४७ ॥**

**ताभिर्दुकूलवलयैर्हारनूपुरकुण्डलैः ।**
**स्वलङ्कृताभिर्विबभौ दीक्षितोऽजिनसंवृतः ॥ ४८ ॥**

1. Ml.V. °व° 2. Ml.V. °त्वा° 3. Ml.V. °नश्च स्व° 4. Ml.V. °जग्मुस्सवलि° 5. Ml.V. °भवैः 6. Ml.V. जनसंवृतः ॥

**श्रीध० तदिति**। आलिप्ताः कुङ्कुमादिभिः वस्तुपाणयो गृहीतार्हणहस्ताः ॥ ४३-४६ ॥

**तमिति**। अक्तं नेत्रयो रञ्जनेन, अभ्यक्तं सर्वाङ्गेषु नवनीतेन ॥ ४७ ॥

**ताभिरिति**। ताभिः पत्नीभिः सहितो दीक्षितो विरेजे ॥ ४८॥

**वीर० त** इति। एवं धर्मेण यथाविधि वृतास्ते ऋषयस्तस्मिन् स्यमन्तपञ्चके क्षेत्रे उत्तमकल्पकैः मन्त्रतन्त्रद्रव्यादि लोपरहितैः मखैर्यज्ञैः तं वसुदेवमयाजयन् ॥ ४३ ॥

एतदेव प्रपञ्चयति - **तद्दीक्षायामित्यादिना**। तद्दीक्षायां यज्ञदीक्षायां पुष्कराणां स्रजो येषां ते ॥ ४४ ॥

तस्य वसुदेवस्य महिष्यः पत्न्यः आलिप्ताः कुङ्कुमादिभिः, वस्तून्यर्हणानि पाण्योः यासां ताः ॥ ४५ ॥

सूताः पुराणपाठकाः, मागधाः वंशावलिपाठकाः, सहभर्तृकाः ॥ ४६ ॥

**तमिति**। अक्तं नेत्रयोरञ्जनेन, अभ्यक्तं सर्वाङ्गेषु नवनीतेन अक्तं तं वसुदेवम् उडुभिः नक्षत्रैः सहितं सोमराजं चन्द्रमिव अष्टादशाभिःपत्नीभिस्सहितम् अभ्यषिञ्चन् ॥ ४७ ॥

**ताभिरिति**। दुकूलादिभिरन्यैश्च विविधैर्विपुलालङ्कारैः सुष्ठु अलङ्कृताभिः पत्नीभिस्सह दीक्षितः अजिनेन संवृतः विरेजे ॥ ४८ ॥

**तस्यर्त्विजो महाराज नूत्रकौशेयवाससः[1] ।**
**ससदस्या विरेजुस्ते यथा वृत्रहणोऽध्वरे ॥ ४९ ॥**

**तदा[2] रामश्च कृष्णश्च स्वैः स्वैर्बन्धुभिरन्वितौ ।**
**विरेजतुः[3-] सुतैर्दारैर्जीवेशौ[-3] स्वविभूतिभिः[4] ॥ ५० ॥**

**ईजेऽनुयज्ञं विधिना अग्निहोत्रादिलक्षणैः ।**
**प्राकृतैर्वैकृतैर्यज्ञैर्द्रव्यज्ञानक्रियेश्वरम् ॥ ५१ ॥**

**अथर्त्विग्भ्योऽददात्काले यथाऽऽम्नातं सदक्षिणाः ।**
**स्वलङ्कृतेभ्योऽलङ्कृत्य[5] गोभूकन्या महाधनाः ॥ ५२ ॥**

**पत्नीसंयाजवभृथ्यैश्चरित्वा[6] ते महर्षयः[7] ।**
**सस्नू रामह्रदे विप्रा यजमानपुरस्सराः ॥ ५३ ॥**

**स्नातोऽलङ्कारवासांसि[8] वन्दिभ्योऽदात्तथा स्त्रियः ।**
**ततः अलङ्कृतान्वर्णानाश्वभ्योऽन्नेन[9-] पूजयत्[-9] ॥ ५४ ॥**

---

1. B.G.J. र° 2. M.I.V. °था 3- -3. ABGJ रेजतुः स्वसु° 4. K. दे° 5. K विप्रेभ्यो 6. M.I.V. °थै° 7 M.I.V. °त्वाऽथ 8. K.T.W. °ना° ;M.I.V. °त्वा° 9- -9. B.G.J. स्वलङ्कृतो व°

**श्रीध० तथेति**। जीवेशौ सर्वजीवानामीशौ ॥ ४९, ५० ॥

**ईजे** इति। अनुयज्ञं प्रतियज्ञम्। आम्नातसर्वाङ्गाः प्राकृताः ज्योतिष्टोमदर्शपूर्णमासादयः, तेभ्यश्चोदनालिङ्गादिभिरति देशप्राप्ताङ्गाः वैकृताः सौरसत्रादयः तैस्सर्वैः। द्रव्यं पुरोडाशादि, ज्ञानं मन्त्रः, क्रिया कर्म तेषामीश्वरम् ॥ ५१,५२ ॥

**पत्नीति**। सस्नुः स्नानञ्चक्रुः ॥ ५३ ॥

**स्नात्वेति**। आश्वभ्यः शुनोऽभिव्याप्य, अन्नेन पूजयदपूजयत् ॥ ५४ ॥

**वीर०** तस्य वासुदेवस्य सम्बन्धिनः ऋत्विजः नूत्नानि नवानि कौशेयानि वासांसि येषां ते, सदस्यैस्सभ्यैः सहिता विरेजुः यथा वृत्रहणः इन्द्रस्य अध्वरे, तद्वत् ॥ ४९ ॥

**तदेति**। देवानां ब्रह्मादीनामपि ईशौ इति रामकृष्णयोर्विशेषणम्। जीवेशौ इति पाठान्तरम्। तदा जीवानामीश्वरौ इत्यर्थः। देवेशैः स्वविभूतिरिति च पाठः। तदा स्वाः विभूतयो येषान्तैः देवेशैः देवश्रेष्ठांशसम्भूतैः इति स्वसुत विशेषणम् ॥ ५० ॥

**ईजे** इति। अनुयज्ञं प्रतियज्ञम्। ईजे इष्टवान्। तदेवाऽऽह - विधिनेति। आम्नात सर्वाङ्ग- प्राकृताः ज्योतिष्टोम दर्शपूर्णमासादयः तेभ्यश्चोदनालिङ्गादिभिः अतिदेशप्राप्ताङ्गाः वैकृताः सौर्यसत्रादयः सर्वैरग्निहोत्रादिनामकैस्तैः होमैश्च द्रव्यज्ञानक्रियेश्वरं भूतपञ्चकज्ञानेन्द्रियपञ्चककर्मेन्द्रियपञ्चकनिर्वाहकं भगवन्तं ईजे। यद्वा, पुरोडाशादिद्रव्यसाङ्गकर्मविषयज्ञानतदनुष्ठानानां प्रभुम् ॥ ५१ ॥

**अथेति**। वसुदेवः काले विहितकाले यथाऽऽम्नातं यथोक्तं दक्षिणाः ऋत्विग्भ्यः स्वयमप्यलङ्कृत्य तावत्, ततो महाधना अनर्घा गोभूकन्याश्च ददौ ॥ ५२ ॥

पत्नीसंयाजा आवभृथ्याश्च यागविशेषाः तैश्चरित्वा इष्ट्वा रामह्रदे परशुरामनिर्मिते ह्रदे सस्नुः स्नानं चक्रुः ॥ ५३ ॥

**स्नानेति**। स्नानादीनि ददौ स्नपयामास। तेभ्योऽलङ्कारवासांसि च ददौ इत्यर्थः। तत्र स्त्रियश्च सस्नुः सुष्ठलङ्कृतश्चेति सम्बन्धः। आश्वभ्यः शुनोऽभिव्याप्य सर्वान् वर्णान् अन्नेन पूजयत् अपूजयत्। अडभाव आर्षः। आगमशास्त्रस्यानित्यत्वाद्वा ॥ ५४॥

**बन्धून् सदारान् ससुतान् पारिबर्हेण भूयसा ।**
**विदर्भकोसलकुरून् काशिकेकयसृञ्जयान् ॥ ५५ ॥**

**सदस्यर्त्विक्सुरगणान् नृभूतपितृचारणान्[1] ।**
**श्रीनिकेतमनुज्ञाप्य शंसन्तः प्रययुः क्रतुम् ॥ ५६ ॥**

**धृतराष्ट्रोऽनुजः पार्थाः भीष्मो द्रोणः पृथा यमौ ।**
**नारदो भगवान् व्यासः सुहृत्सम्बन्धि बान्धवाः ॥ ५७ ॥**

**बन्धून्परिष्वज्य यदून् सौहृदाऽऽक्लिन्नचेतसः ।**
**ययुर्विरहकृच्छ्रेण स्वदेशांश्चापरे जनाः ॥ ५८ ॥**

**नन्दस्तु सह गोपालैर्बृहत्या पूजयार्चितः ।**
**कृष्णरामोग्रसेनाद्यैर्न्यवात्सीद्बन्धुवत्सलः ॥ ५९ ॥**

**वसुदेवोऽञ्जसोत्तीर्य मनोरथमहार्णवम् ।**
**सुहृद्वृतः प्रीतमना नन्दमाह करे स्पृशन् ॥ ६० ॥**

---

1. K.T.W. °णा 2- -2. Ml. V °श्चामरप्रभाः

**श्रीध० बन्धूनिति**। बन्ध्वादि चारणान्तान् पारिबर्हेण प्रीतिदानेन चाऽपूजयत्। ते च सर्वे प्रययुः ॥ ५५, ५६ ॥

प्रयाणे केषाञ्चिद्विशेषमाह-**धृतराष्ट्र** इति द्वाभ्याम्। अनुजो विदुरः, पार्था युधिष्ठिरभीमार्जुनाः, यमौ नकुलसहदेवौ ॥ ५७॥

**बन्धूनिति**। सौहृदेनाऽऽक्लिन्नानि चेतांसि येषां ते ॥ ५८,५९ ॥

**वसुदेव** इति। मनोरथो यज्ञविषयः तमेव महार्णवम् ॥ ६० ॥

**वीर०** बन्ध्वादीन् पारिबर्हेण बहुमानार्थं देयद्रव्येण पूजयदिति सम्बन्धः ॥ ५५ ॥

स दस्येति। सदस्यादयः श्रीनिकेतं कृष्णमनुज्ञाप्य अनुज्ञां पृष्ट्वा क्रतुं प्रशंसन्तो ययुः ॥ ५६ ॥

**धतराष्ट्र** इति। अनुजो विदुरः, पृथा कुन्ती, यमौ नकुलसहदेवौ, सुहृदश्च सम्बन्धिनश्च बान्धवाश्च ते सौहृदेन सौहार्देन क्लिन्नमार्द्रं चेतो येषां ते विरहकृच्छ्रेण विश्लेषयुक्तक्लेशेन उपलक्षिताः ययुः, तथा अपरे जनाश्च ययुः ॥ ५७,५८ ॥

**नन्दस्त्विति**। बृहत्या महत्या पूजया समर्चितः गोपैस्सह न्यवात्सीत् उषितवान्। तत्र हेतुत्वेन विशिनष्टि बन्धुवत्सल इति ॥ ५९ ॥

**वसुदेव** इति। मनोरथः यज्ञविषयः स एव महार्णवः अञ्जसा सुखेन उत्तीर्य निस्तीर्य ॥ ६० ॥

वसुदेव उवाच

भ्रातरीशकृतः पाशो नृणां यः स्नेहसंज्ञितः ।
तं दुस्त्यजमहं मन्ये शूराणामपि योगिनाम् ॥ ६१ ॥

अस्मास्वप्रतिकल्पेयं यत्कृताज्ञेषु सत्तमैः ।
मैत्र्यर्पिताऽफला वाऽपि[1] न निवर्तेत कर्हिचित् ॥ ६२ ॥

प्रागकल्पाच्च[2] कुशलं भ्रातर्वो नाचराम हि ।
अधुना श्रीमदान्धाक्षा न पश्यामः पुराकृतम्[3] ॥ ६३ ॥

मा राज्यश्रीरभूत्पुंसः श्रेयस्कामस्य मानद! ।
स्वजनानुत बन्धून्वा न पश्यति यथाऽन्धदृक्[4] ॥ ६४ ॥

श्रीशुक उवाच[5-]

एवं सौहृदशैथिल्यचित्त आनकदुन्दुभिः ।
रुरोद तत्कृतां मैत्रीं स्मरन्नश्रुविलोचनः ॥ ६५ ॥

नन्दस्तु सख्युः प्रियकृत्प्रेम्णा गोविन्दरामयोः ।
अद्य श्व इति मासांस्त्रीन् यदुभिर्वारितोऽवसत्[6] ॥ ६६ ॥

---

1. K. Ml.T.V.W. °चा° 2. K. Ml.T.V.W. °ल्या° 3. B.G.J. पुरस्सतः ;Ml.V. पुरस्थितावान् 4. K.T.W. मदान्ध 5- -5. Ml.T.V.W. omit 6. B.G.J. Ml.V. °मानितो

**श्रीध० भ्रातरिति**। शूराणां बलेन, योगिनां ज्ञानिनाऽपीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

तत्कृतस्तत्राऽऽह - **अस्मास्विति**। कृताज्ञेषु कृतमुपकारमजानत्सु सत्तमैर्भवद्भिः अप्रतिकल्पा अनुपमा मैत्री इयमर्पिता अफलाऽपि[1] प्रत्युपकारशून्याऽपि कर्हिचित् यद्यस्मात् न निवर्तेत तस्मात् ईश्वरकृतः पाशोऽयं भवतामिति गम्यते इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

अफलत्वमेवाऽऽह - **प्रागिति**। हे भ्रातः! अकल्पात् असामर्थ्यात् वः कुशलं प्रियं न ह्याचराम न कृतवन्तो वयं अधुना[2] श्रीमदेन अन्धानि अक्षीणि येषां ते ॥ ६३ ॥

मा इति! राज्यश्रीर्माभूत्। छान्दसोऽडागमः ।, ६४,६५ ॥

**अद्यश्व** इति। प्रातर्निर्गमे अद्यैव अपराह्णे गम्यताम्। अपराह्णे निर्गमे श्वो गम्यतामिति पुनः पुनः एवं मानितः ॥ ६६

1. Ml.V. °मपि 2. B.J. omit अधुना

**वीर०** उक्तिमेवाह - **भ्रातरिति**। हे भ्रातः! य ईशेन भगवता कृष्णेन कृतः निर्मितः स्नेहलक्षणः पाशः, तं शूराणां बलेन, योगिनां ज्ञानेनाऽपि दुस्त्यज्यं मन्ये इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

कुत इत्यतआह - **अस्मास्विति**। यद्यस्मात् कृतमुपकारं न जानन्तीति तथा तेषु अस्मासु सत्तमैर्भवद्भिः अयमप्रतिकल्पा अनुपमा मैत्री अर्पिता निहिता अफला प्रत्युपकारशून्याऽपि अधुनाऽपि न निवर्तते ॥ ६२ ॥

अफलत्वमेवाऽऽह - **प्रागिति**। हे भ्रातः! प्राक् कंसकृतनिर्बन्धदशायाम् अकल्पाः असमर्थाः। हेतुगर्भमिदम्। अतो वो युष्माकं कुशलं प्रियं नाऽऽचरेमहि न कृतवन्तः। अधुना तु श्रीमदेन ऐश्वर्यमदेन अन्धे अक्षिणी येषां ते वयं पुराकृतमुपकारं न पश्यामः ॥ ६३ ॥

अतो हे मानद! श्रेयस्कामस्य पुंसो राज्यश्रीर्माभूदिति प्रार्थना। कुतः? यतो मदान्धदृक् पुमान् सुजनान् साधून् उताऽपि च बन्धून् न पश्यति ॥ ६४ ॥

**एवमिति**। शुकोक्तिः। सौहृदेन शैथिल्यं, स्वार्थे ष्यञ्। शिथिलं चित्तं यस्य सः, तत्कृतां नन्दकृतां मैत्रीं स्मरन् अश्रूणि विलोचनयोः यस्य सः रुरोद ॥ ६५ ॥

**नन्दस्त्विति**। सख्युर्वसुदेवस्य रामकृष्णयोश्च प्रियकृत् अत एव (लक्षणहेत्वोरिति शत्रा प्रियङ्कर्तुमित्यर्थः) अद्य श्वः इति, प्रातर्निर्गमे अपराह्णे गम्यताम् इति, अपराह्णे निर्गमे श्वो गम्यताम् इत्येवं यदुभिः निवारितश्च। मानित इति पाठान्तरम्। त्रीन् मासान् अवसत्, मासानिति अत्यन्तसंयोगे द्वितीया ॥ ६६ ॥

**ततः कामैः पूर्यमाणः सव्रजः सह बान्धवः ।**
**पराध्याभरणक्षौम नानार्घ्यपरिच्छदैः ॥ ६७ ॥**

**वसुदेवोग्रसेनाभ्यां कृष्णोद्धवबलादिभिः ।**
**दत्तमादाय पारिबर्हं यापितो यदुभिर्ययौ ॥ ६८ ॥**

**नन्दो गोपाश्च गोप्यश्च गोविन्दचरणाम्बुजे ।**
**मनः क्षिप्तं पुनर्हर्तुमनीशा मथुरां ययुः ॥ ६९ ॥ ★**

**बन्धुषु प्रतियातेषु वृष्णयः कृष्णदेवताः ।**
**वीक्ष्य प्रावृषमासन्नां ययुर्द्वारवतीं पुनः ॥ ७० ॥**

**जनेभ्यः कथयाञ्चक्रुर्यदुदेवमहोत्सवम् ।**
**यदासीत्तीर्थयात्रायां सुहृत्सन्दर्शनादिकम् ॥ ७१ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
तीर्थयात्रानुवर्णनं नाम चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

---

1. K. °नर्धं ; T.W. °रल ★ The following three half verses are found only in Ml.V. editions पाण्डवाश्च महात्मानः सर्वे च मुनिसत्तमाः। अनुज्ञाताः केशवेन बाष्पगद्गदभाषिणः। शक्रप्रस्थं ययुस्सर्वे स्वजनैः परिवारिताः ॥

**श्रीध० वसुदेवेति**। यापितो महासैन्येन प्रस्थापितः ॥ ६७ - ७० ॥

**जनेभ्य** इति। यदुदेवस्य वसुदेवस्य महोत्सवं यज्ञादिलक्षणं सुहृत्सन्दर्शनादिकञ्चेति ॥ ७१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

**वीर० तत** इति। सव्रजः गोपैस्सहितः सबान्धवश्च परार्थ्यैः श्रेष्ठैः आभरणैः क्षौमैः दुकूलैः नानाविधैरनर्घैः परिच्छदैः भोगोपकरणैः इत्येवंविधैः कामैः पूर्यमाणः दत्तान् पारिबर्हानादाय यदुभिर्यापितः महता सैन्येन प्रस्थापितो ययौ ॥ ६७, ६८ ॥

**नन्दो** गोप्यश्चेति। गोविन्दस्य चरणाम्बुजे क्षिप्तं निहितं चित्तं पुनर्हर्तुमसमर्थास्सन्तः ययुः ॥ ६९ ॥

**बन्धुष्विति**। बन्धुषु नन्दादिषु प्रतियातेषु प्रस्थितवत्सुकृष्ण एव देवता येषां ते वृष्णयः प्रावृषं वर्षर्तुमासन्नां सन्निहितां वीक्ष्य ज्ञात्वा ॥ ७० ॥

**जनेभ्य** इति। यदुदेवस्य महोत्सवं यज्ञादिलक्षणं यच्च सुहृत्सन्दर्शनादिकं तत्सर्वं जनेभ्यो द्वारकास्थेभ्यः कथयामासुः ॥ ७१ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

# पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

1- -1
श्रीशुक उवाच

अथैकदाऽऽत्मजौ प्राप्तौ कृतपादाभिवन्दनौ ।
वसुदेवोऽभिनन्द्याऽऽह प्रीत्या सङ्कर्षणाच्युतौ ॥ १ ॥

मुनीनां स वचः श्रुत्वा पुत्रयोर्धामसूचकम् ।
तद्वीर्यं जातविस्रम्भः परिभाष्याऽभ्यभाषत ॥ २ ॥

वसुदेव उवाच

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् सङ्कर्षण सनातन !
जाने वा मस्य यत्साक्षात् प्रधानपुरुषौ परौ ॥ ३ ॥

यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यथा ।
स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषे वरः ॥ ४ ॥

2
एवं नानाविधं विश्व मात्मसृष्ट मधोक्षज !
3
आत्मनाऽनु प्रविश्याऽऽत्मन् प्राणो जीवो बिभर्त्यजः ॥ ५ ॥

---

1- -1 B.G.J. श्रीबादरायणिरुवाच 2. B.G.J.K. एतन्ना° 3. B. G. J. K. M. T.V.W. त्यंजः

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

पञ्चाशीति तमे रामकृष्णौ सम्प्रार्थितौ सुतौ। पित्रे ज्ञान मथो मात्रे मृतान्पुत्रा नयच्छताम् ॥
नन्दयित्वा कुरुक्षेत्रयात्रायां सुहृदो बहून्। तत्वज्ञानं ततः पित्रो रादिशन्मृतसूनुभिः ॥ १ ॥

**मुनीनामिति**। धाम प्रभावः, तत्सूचकम् जातविस्रम्भः उत्पन्नविश्वासः परिभाष्य सम्बोध्य ॥ २ ॥

**कृष्णेति**। अस्य विश्वस्य यत्साक्षात्स्वरूपभूतं कारणं प्रधानपुरुषौ नाम परौ तयोरपि कारणत्वेन ईश्वरौ च साक्षाद्वां युवामिति जाने ॥ ३ ॥

नन्विदं विश्व मनेकैः कारकैः जायमानं कुतः प्रधानपुरुषात्मकं, कुतस्तरा मावयो स्तत्कारणत्वेन ईश्वरत्वम् तत्राऽऽह -**यत्रेति**। यत्र अधिकरणे, येन कर्ता करणेन च, यतः अपादानात् यस्य सम्बन्धेन, षष्ठ्यर्थस्याकारत्वेऽपि निमित्तत्तोक्ता। यस्मै सम्प्रदानाय, यद्यदिति प्रयोज्य प्रयोजक[2] कर्तृकर्मकारके दर्शिते। ननु तयो र्नास्ति भेदः, यथोक्तम् 'करोति क्रियमाणेन न कश्चित्कर्मणा विना। भवत्यर्थस्य कर्ता च करोतेः कर्मजायते'॥ इति। तथा 'करोत्यर्थस्य यः कर्ता भवितुः सप्रयोजकः, भविता तमपेक्ष्याऽथ प्रयोज्यत्वं प्रपद्यते' इति च। सत्यम्। तथाऽप्यवस्थाभेदन भेदो विवक्षितः। दृश्यते चाऽवस्थाभेदः। तण्डुला नोदनं पचति, मृदं घटं करोतीति। तदेवं सप्तविभक्त्यर्था दर्शिताः। यथेति यदेति च क्रियाविशेषणभूताना मन्येषाञ्च अव्ययाना मर्थाः स्यादिति क्रियापदार्थोपलक्षणम्। एवं सर्वं[3] प्रपञ्चमनूद्य तत्कारणस्य[4] भगवद्रूपतां विधत्ते इदं साक्षादिति तयो रैक्य मभिप्रेत्यैकवचनम् ॥ ४ ॥

किञ्च, धारणपोषणकर्ताऽपि त्वमेवेत्याह - **एतदिति**। हे आत्मन्! प्राणः क्रियाशक्तिः जीवो ज्ञानशक्तिश्च सन् त्वमेव बिभर्षि ॥ ५ ॥

---

1. V. °णौः 2. B.J.Omit प्रयोजक 3. MI.V. सर्वं 4. MI.V. °णभ

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ कदाचिद्वसुदेव देवक्यावेदित याथात्म्यस्य भगवतः प्रेताग्रजादानात्मकं चेष्टितमनुवर्णयति - अथेत्यादिना पञ्चाशीतितमेन। कृतं पादाभिवन्दनं याभ्यां तौ रामकृष्णावभिनन्द्य प्राह ॥ १ ॥

किञ्च, **मुनीनामिति**। स वसुदेवः पुत्रयोः प्रभावसूचकं मुनीनां वचः 'वसुदेव भवान्नूनं भक्त्या परमया' इत्याद्युक्तं वचः स्मृत्वा तथा तयोः रामकृष्णयोर्वीर्यै[1-1] र्जातो विस्रम्भो जगदीश्वरत्वविषयविश्वासो यस्य सः परिभाष्य सम्बोध्य अभाषत ॥ २ ॥

तदेवाऽऽह - **कृष्णेति**। प्राकृतौ आवां किमित्येवं सम्बोधयसि इत्यत आह - जान इति। वामिति। 'युष्मदस्मदोः षष्ठी चतुर्थीद्वितीयास्थयो र्वां नावौ' (अष्टा 8-1-20) इति वामादेशे सति रूपम्। यद्यस्मात् अस्य जगतः साक्षात्प्रधानपुरुषौ कारणभूतौ प्रकृतिपुरुषौ परौ ताभ्यां विलक्षणौ च वां युवां जाने। कार्यावस्थचिदचिदात्मकस्याऽस्य जगतः कारणावस्थौ प्रधानपुरुषौ प्रकृतिपुरुषशरीरकौ अत एव तदात्मभूतौ तद्विलक्षणौ पुरुषौ जाने इत्यर्थः ॥ ३ ॥

एवं जगतस्तत्कार्यत्वं प्रतिज्ञातम्। ननु जगत्कार्यञ्चेत् कारकषट्कसाध्यं कस्यचित्सम्बन्धि केनचित्प्रकारेण युक्तं काल सह चरितञ्चेति कथं मदेककार्यमित्यत आह - **यत्रेति**। कारकषट्कसम्बन्धिप्रकारकालानां त्वच्छरीरत्वेन त्वदात्मकत्वात

कृत्स्नं जगत् त्वत्कार्यमेवेत्यभिप्रायः यत्राऽधिकरणे, येन कर्त्ता, यतः उपादानात् यस्य सम्बन्धिनः यस्मै सम्प्रदानाय यत्प्रयोजकं कर्तृ यदा यस्मिन्काले यथा यः प्रकारः। एवं कारकषट्कादीनां निर्देशः यथा स्यादित्येतदिदं विश्वमधिकरणादिकं सर्वं साक्षात् प्रधानपुरुषयोः प्रकृतिपुरुषयोः ईश्वरो भगवांत्स्वमेवेति सम्बन्धः। वक्ष्यमाण कान्त्यादि सामानाधिकरण्योपयुक्तत्वेन एतत्प्रपञ्चयति हे अधोक्षज! आत्मन् आत्मनि आत्मना सृष्टम्। अनेन अधिकरणान्तर कर्त्रन्तरव्युदासः। नानाविधं देवनर पशु पादपभिन्नमेतत् जगदात्मना स्वशरीरभूतेन जीवेनाऽनुप्रविश्य रक्षणोपयुक्त मनुप्रवेशं कृत्वा प्राणः प्राणशरीरको जीवः स्तच्छरीरकश्च एवमप्यजः प्राणजीवगतदोषास्पृष्टः बिभर्षि प्राणशरीरकत्वं जीवशरीरकत्वञ्च श्रूयते - 'मनोमयः प्राणशरीरनेता' (मुण्ड.उ.2-2-7) 'यस्यात्मा शरीरम्' (बृह.उ.3-7-22) इति ॥ ४,५ ॥

---

1- -1 K.T.W. Omit

प्राणादीनां विश्वसृजां शक्तयो याः परस्य ताः ।
पारतन्त्र्याद्वैसादृश्या द्द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम् ॥ ६ ॥

कान्ति स्तेजः प्रभा सत्ता चन्द्राग्न्यर्कर्क्षविद्युताम् ।
यत्स्थैर्यं भूभृतां भूमे र्वृत्ति र्गन्धोऽर्थतो भवान् ॥ ७ ॥

तर्पणं प्राणन मपां देवत्वं ताश्च तद्रसः ।
ओज स्सहो बलञ्चेष्टा गति र्वायो स्तवेश्वर ॥ ८ ॥

दिशां त्व मवकाशोऽसि दिशः खं स्फोट आश्रयः ।
नादो वर्ण स्त्व मोङ्कार आकृतीनां पृथक्कृतिः ॥ ९ ॥

इन्द्रियन्त्विन्द्रियाणां[1] त्वं देवाश्च तदनुग्रहः[2] ।
अवबोधो भवान् बुद्धे र्जीवस्यानुस्मृतिः सती ॥ १० ॥

भूताना मसि[3] भूतादि रिन्द्रियाणाञ्च तैजसः[4] ।
वैकारिको विकल्पानां प्रधाना[5] मनुशायिनाम् ॥ ११ ॥

नश्वरे ष्विहभावेषु तदसि त्वमनश्वरम् ।
यथा द्रव्यविकारेषु द्रव्यमात्रं अनश्वरम्[6] ॥ १२ ॥

---

1- -1 K.T.W. यत्वानीन्द्रियाणां 2. K.T.W. °हा: 3. K.T.W. °पि 4. K.T.W °सम् 5. L. °दा° 6. B.G.J.MI.V. निरूपितम् ।

**श्रीध०** ननु प्राणादीनां विचित्रशक्तीनां कारणत्वावगमात् कथं परमेश्वरस्यैव कारणत्वेन सर्वात्मकत्वमुच्यते इत्याशङ्क्य प्राणदिशक्तयोऽपि तस्यैवेत्याह - **प्राणादीनामिति**। प्राणः प्रकृतिभूतं सूत्रं तदादीनां विश्वसृजां विश्वकारणानां यश्शक्तयः ताः परस्य परमकारणस्येश्वरस्यैव कृतः पारतन्त्र्यात् यथा वेधशक्ति र्न बाणस्य अपितु पुरुषस्य तद्वदित्यर्थः। ननु भगवतः प्राणादिवर्गस्य च स्वातन्त्र्यमेव किं न स्यात्? अत आह - वैसादृश्यात् द्वयोरिति। चेतनाचेतनत्वेन विसदृशत्वा द्द्वयोः अचेतन प्राणादिवर्गस्य चेतनपारतन्त्र्यमेव युक्तमित्यर्थः यद्वा प्राणादिषु द्वयोर्द्वयोरेव तावद्विसदृशत्वं विरुद्धक्रियकारित्वात्, किं पुनर्बहुनाम्? तस्मा देकेन सर्वज्ञेन सर्वशक्तिनाऽधिष्ठितानामेव विशिष्टकार्यरम्भकत्वं युक्तं न स्वतन्त्राणामिति, तथाचोक्तम् - 'यदैते संहता भावा भूतेन्द्रिय मनोगुणाः। यदायतननिर्माणे न शेकुर्ब्रह्मवित्तम। तथा संहत्यचाऽन्योन्य भगवच्छक्तिचोदिताः। सदसत्त्वमुपादाय चोभयं ससृजुर्ह्यदः' (भाग 2-5-32,33) इति तथा 'नानात्वात्स्व क्रियाऽनीशाः प्रोचुः प्राञ्जलयो विभुम्' (भाग.3-5-37) इत्यादि। ननु प्राणादीनां क्रियाकारित्वं शक्त्यभावे कुतः स्यात् अत आह - चेष्टेव चेष्टैतामिति। चेष्टमाना मेषां चेष्टैव न तु शक्तिः। यथा वायो श्शक्त्या तृणादीनां चलनं, यथा वा पुरुषस्य शक्त्या शराणां वेग इति ॥ ६ ॥

पारतन्त्र्यमेव प्रपञ्चयति कान्तिरिति पञ्चभिः। चन्द्रस्य कान्तिः, अग्ने स्तेजः, अर्कस्य प्रभा, ऋक्षविद्युतां सत्ता, स्फुरणमात्रेण सत्त्वम अर्थतो वस्तुतो भवान्। तथा च श्रुतिः - 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः, तमेव भान्त मनुभाति सर्वं तस्यभासा सर्व मिदं विभाति' (कठ.उ.5-15) इति स्मृतिश्च - 'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चान्द्रमसि यत्ताग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्' (भघी.15-12) इति. भूमे र्वृत्तिः प्रणिना माधारत्वेन वर्तनं गन्धश्च भवान् तवैव शक्ति रित्यर्थः ॥ ७ ॥

**तर्पणमिति**। किञ्च, हे देव! अपां तर्पणं तृप्तिजनकत्वं प्राणनं जीवनहेतुत्वं ता आपश्च तासां रसश्च त्वमेव। किञ्च वायो रोजः, सह आदि तवैव शक्तिः ॥ ८ ॥

**दिशामिति**। दिशा मुपाधिकृताऽऽकाश प्रदेशानां अवकाशो दिशश्च त्वम्। खं सामान्याकाशः तदाश्रयः स्फोटश्च शब्दतन्मात्रं परावस्था वाक् इत्यर्थः। नादः पश्यन्ती ओङ्कारो मध्यमा, वर्णश्चाऽऽकृतीनां पदार्थातनां पृथक्कृतिः पृथक्करण मभिधानां यश्मात्तत्पदं वर्णपदाद्यात्मिका वैखरी चत्वमित्यर्थः ॥ ९ ॥

**इन्द्रियमिति**। इन्द्रियाणामिन्द्रियं विषयप्रकाशन शक्तिः, देवाश्चेन्द्रियाधिष्ठातारः, तदनुग्रह स्तेषां अधिष्ठानशक्तिश्च त्वम्। अवबोधोऽध्यवसायशक्तिः अनुस्मृतिः प्रतिसन्धानशक्तिः ॥ १० ॥

**भूतानामिति**। भूतानां कारणं भूतादिः तामसोऽहङ्कार स्त्वमसि इन्द्रियाणां कारणं तैजसो राजसोऽहङ्कार स्त्वं विविध मधिदैवाध्यात्माधिभूतभेदेन कल्प्यन्त इति विकल्पा देवा स्तेषां कारणं वैकारिकः सात्त्विकोऽहङ्कारश्च त्वम्, अनुशायिनां जीवानां संसारकारणं प्रधानं त्वम् ॥ ११ ॥

अपि च नश्वरेषु नाशशीलेषु इह एतेषु भावेषु यदनश्वर मवशिष्यमाणं रूपं तत्त्वमसि द्रव्यविकारेषु मृत्सुवर्णादिकार्येषु घटकुण्डलादिषु च नश्वरेषु च द्रव्यमात्रं मृत्सुवर्णादिमात्र मनश्वरं यथा तद्वत् ॥ १२ ॥

---

1. Ml.V. शक्तीनामधि 2. Ml.V. वेधः

**वीर०** एवं भगवत श्चिदचित्सामानाधिकरण्यं शरीरात्मभावनिबन्धमिति शिक्षा कृता। अथ चिदचिदसाधारण धर्मसामनाधिकरण्यं तन्निर्वाहकत्वनिबन्धनमिति शिक्षयति - प्राणादीनामिति। विश्वसृजां विश्वशरीरसृष्टि हेतुभूतानां प्राणादीनां, आदिशब्देन भूतपञ्चकैकादशेन्द्रिय महदहङ्कारसङ्ग्रहः। एतै र्हि विश्वसृष्टिः तेषां या शशक्तयः कार्योपयोग्यपृथक्सिद्धधर्माः ताः परस्य परमात्मनः तवैव शक्तयः त्वन्निर्वाह्या एवेत्यर्थः। कुतः? पारतन्त्र्यात् शक्त्याश्रयाणां प्राणादीनां पारतन्त्र्यस्वाभाव्यात्। एवञ्च तच्छक्तीनां पारतन्त्र्यं किम्पुनर्न्यायसिद्धमितिभावः। ननु प्राणादीनां शक्तयः मिथः प्राणादिभिर्निर्वाह्याः कुतो न स्युः इत्यत आह - वैसादृश्यादिति। अन्योन्य प्रतिनियतशक्तित्वेन वैधर्म्यान्न मिथो निर्वाह्यतेत्यर्थः। किमुताचेतनानां पारतन्त्र्यस्वभावतेति। कुतश्चेतनस्यैव तत्स्वभावत्वादित्यभिप्रेत्याह- द्वयोश्चेष्टैव चेष्टतामिति। चेष्टतां चेष्टमानानां देहानां चेष्टाद्वयोश्चैव जीवपरयो श्चेष्टैव न केवलं जीव एव स्वतन्त्रः प्रवर्तते अपि तु परमात्मानुमान्यः प्रवर्तत इत्यर्थः।

सर्ववस्तुशक्तीनां तन्निर्वाह्यत्वनिबन्धनं सामानाधिकरण्य माह - कान्तिरित्यादिना। चन्द्रस्य कान्तिः, अग्ने स्तेजः, अर्कस्य प्रभा, ऋक्षाणां नक्षत्राणां विद्युताञ्च सत्ता प्रकाशसत्ता भूभृतां पर्वतानां यत्स्थैर्यं, भूमिवृत्ति र्गन्धः, यद्वा वृत्तिः प्राणिनामाधारत्वेन वर्तनं गन्धश्चेत्येतत्सर्वम् अर्थतः वस्तुतः भवान् त्वन्निर्वाह्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥

**तर्पणमिति**। अपां तर्पणं लोकवृत्तिहेतुत्वं जीवनं जीवनहेतुत्वम्। प्राणनमिति पाठे स एवार्थः, क्लेदन मार्दीकरणं देवत्वमितिपाठे देवताधिष्ठितत्वं ता आपः तासां रसो माधुर्यं च सर्वं भवान् त्वदधीन मित्यर्थः। या वायो शशक्तयः ओजः प्रभृतयः ताः ईश्वर स्त्वमेवेति पूर्ववत्। तत्र ओजः प्रवृत्तिसामर्थ्यं सहो वेगः बलं धारणसामर्थ्यं, चेष्टा व्यापारः, गति र्गमनम् ॥ ८ ॥

**दिशामिति**। दिशां सम्बन्धी अवकाशः दिशश्च त्वमेव स्फोटः शब्दः आश्रयः तदाश्रयभूतं खं त्वमेवेत्यन्वयः।

नादः शब्दभिव्यञ्जकः वर्णः आकाशादिः ओङ्कारः आकृतीनां शब्दवाच्याना माकृतीनां पृथक्कृतिः द्वैविध्यञ्च त्वमेव। स्फोटनादोङ्कारशब्दैः परा पश्यन्ती मध्यमाख्या वाग्भेदा उच्यन्ते आकृतीनां पदार्थनां पृथक्करण मभिधानं यस्मात्तत्पदं वर्णपदाद्यात्मिका वैखरी त्वमित्यर्थः। इति केचित् ॥ ९ ॥

**इन्द्रियत्वानीति**। इन्द्रियाणा मिन्द्रियत्वानि विषय प्रकाशन सामर्थ्यानि तदनुग्रहा स्तेषाम् इन्द्रियाणां अनुग्राहकाः विषयप्रकाशनरूप सामर्थ्यापादका इति यावत्। ते देवाः दिग्वातार्कादयः इन्द्रियाभिमानिदेवाश्च त्वम् इन्द्रियाणा मिन्द्रियत्वं देवाश्च त्वदनुग्रहाः इति पाठे अनुग्रहाः अनुग्रहशब्दवाच्याः इन्द्रियाद्यभिमानिदेवाश्चेतत्सर्वं त्वत्त्वत्तः जातं त्वदनुग्रह प्रभवा देवा इत्यर्थः। अनुग्रह इत्येकवचनान्तपाठे - तदनुग्रहः तेषामधिष्ठानशक्तिश्च त्वमेवेत्यर्थः। बुद्धेरवबोधोऽध्यवसायः सत्यबाधिता जीवस्थानुस्मृतिः संस्कारजन्यं ज्ञानं च भवान् ॥ १० ॥

**भूतानामिति**। भूताना माकाशादीनां कारणं भूतादि स्तामसाहङ्कारः इन्द्रियाणा मनुग्राहक स्तैजसः राजसाहङ्कारः विकल्पा¯ना मनुग्राहको वैकारिकः सात्त्विकाहङ्कारः विविधं कल्पनं ज्ञान मनेनेति विकल्पः इन्द्रियं तत्कारणम् - इति वार्थः। अनुशयिना मनुशयवतां कर्मिणां (कर्मणां) भुक्तावशिष्टं कर्मानुशयशब्दार्थः। प्रधानं फलदं कर्म च त्वमेवेत्यर्थः ॥ ११ ॥

एवं सर्वकारणत्व निर्वाहकत्वप्रयुक्त सार्वात्म्य मभिधाय अथ सार्वात्म्य प्रयुक्तानित्यत्वादि दोषपरि जिहीर्षयाऽऽह नश्वरेष्विति। भावेष्ववस्थासु नश्वरेषु आगमापायिषु सत्सु यद्भवाश्रयमनश्वरं स्थिर मवस्थारहित माधारभूतञ्च तत्त्वमसि। एतदेव दृष्टान्तमुखेन विवृणोति - यथेति। द्रव्यस्य मृत्सुवर्णादे र्विकारेषु पिण्डत्वघटत्वकुण्डलत्वकटकत्वादिविकारेषु नश्वरेष्वपि द्रव्यमात्रं मृत्सुवर्णादिरूप मनश्वरं सर्वावस्थानुवृत्तं, तद्वत् वस्तुतो यद्यपि मृत्सुवर्णादिद्रव्यमपि नश्वरमेव। तथाऽपि यावत्स्वविकार मनश्वरत्वमात्राभिप्रायेण दृष्टान्तः ॥ १२ ॥

---

1. B. यत

**सत्त्वं रजस्तम इति गुणा स्तद्वृत्तयश्च याः ।**
**त्वय्यद्धा ब्रह्मणि परे कल्पिता योगमायया ॥ १३ ॥**

**तस्मा न्न सन्त्यमीभावा यर्हि त्वय्येव[1] कल्पिताः ।**
**त्वञ्चामीषु विकारेषु ह्यन्यदा[2] व्यावहारि¯कः ॥ १४ ॥**

**गुणप्रवाह एतस्मिन्नबुधा स्त्वखिलात्मनः[3] ।**
**गतिं सूक्ष्मा मबोधेन संसरन्तीह कर्मभिः ॥ १५ ॥**

**यदृच्छया नृतां प्राप्य सुकल्पा[4] मिह दुर्लभाम्**
**स्वार्थे प्रमत्तस्य वयो गतं त्वन्माययेश्वर ! ॥ १६ ॥**

---

1. B.G.J.Ml.V. त्वयि वि° 2. K.T.W. सन्सदा 3. Ml.V. नि। 4. B.G.J. °ल्पा

**श्रीध०** ननु त्रिगुणात्मक कार्यरूपोऽपि त्वमित्युक्तत्वात् कथमनश्वरत्वं? तत्राऽऽह - **सत्त्वमिति**। तद्वृत्तय स्तत्परिणामाश्च महदादयः अद्धा साक्षात् त्वयि परे ब्रह्मणि कल्पिताः ॥ १३ ॥

**तस्मादिति**। तस्मान्नसन्तीति नन्वसतां कथं प्रतीतिः? अत आह - यर्हीति। यदा विकल्पिता स्तदैव प्रतीतिमात्रेण त्वयि सन्ति। त्वञ्चामीषुतदैव कारणतयाऽनुगतः अन्यदात्वव्यावहारिको निर्विकल्पकस्त्वमेवाऽवशिष्यसे इत्यर्थः ॥ १४ ॥[1]

एवं रूपत्वादज्ञान निबन्धनश्च संसार इत्याह -**गुणप्रवाह** इति सूक्ष्मां निष्प्रपञ्चां गति मबुधा अविद्वांसः। अबुदध्वेति वा पाठः। अतोऽबोधेन देहाभिमानेन कृतैः कर्मभिः संसरन्तीति ॥ १५ ॥

एवं तयो स्तत्त्वं निरूप्य तदप्राप्त्या शोचति - यदृच्छयेति। नृतां मनुष्यतां सुकल्पां पटुतरेन्द्रियाम् ॥ १६ ॥

---

1. B.J. विकल्पकः

**वीर०** एवमप्यविकारिणो मम विकारित्वं दुर्वार मित्यत आह - **सत्त्वमिति** द्वाभ्याम्। सत्त्वादयः प्रकृतिगुणाः, तेषां वृत्तयः परिणामरूपा महदादयश्च परे ब्रह्मणि त्वय्यद्धा त्वय्येव योगमायया सङ्कल्परूप ज्ञानेन योगेन कल्पिता स्त्वयि कृता इत्यर्थः। ब्रह्मणि परे इत्यस्य प्रधानपुरुषेश्वर इत्यादिः प्रधानपुरुषौ परौ प्रधानपुरुषेश्वर इत्युपक्रमात्। एवञ्च सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टे त्वयि कल्पिता इत्यर्थः ॥ १३ ॥

यत एवं यस्मात्कल्पिताः सृष्टा अमीभावाः महदादयः त्वयि चिदचिद्भ्यां निष्कृष्टे त्वयि न सन्त्येव साक्षान्न सन्त्येव। महदादिभावानां प्रकृत्यादिष्वेव साक्षात्सम्भवः, त्वयि तु प्रकृत्यादिद्वारेति न विकारित्व मितिभावः। यर्हि यदा त्वयि न सन्त्येव तदा विकारेष्वन्तः प्रविश्य सदा सन्निति व्यावहारिकः शास्त्रै र्व्यवह्रियत इत्यर्थः। अस्मदुक्तेष्वर्थेषु शास्त्रमेव प्रमाणमिति तात्पर्यम् ॥ १४ ॥

**तयोस्समानीय वरासनं मुदा निविष्टयो स्तत्र महात्मनोस्तयोः ।**
**दधार पादाववनिज्य तज्जलं सबृन्द आब्रह्म पुनद्यदम्बु ह[3-3] ॥ ३६ ॥**

---

1- -K.T.W. कृष्णौ कुरूद्वह ! 2- -2 K.T.W. रसातलं 3- -3 K.T.W. पुनात्यदोऽम्बु हि

**श्रीध०** दैत्यराट् बलिः कथम्भूतो विश्वस्याऽऽत्मभूतं दैवं सान्वयः सपरिवारः ॥ ३३-३५ ॥

सबृन्दः सपरिजनः कथम्भूतौ पादाववनिज्य यदम्बु ययो रवनेजनोदक माब्रह्म ब्रह्माणमभिव्याप्य जगत् पुनत् पवित्रयत् वर्तते, तौ ॥ ३६ ॥

**वीर० तथेति** [1]यथा गुरोः कामं कृतवन्तौ तथा ममाऽपि कामं इष्टं कुरुतं नाऽऽवां शक्तौ इति मा वोचत मित्यभिप्रायेण विशिनष्टि योगीश्वरेश्वरौ निरतिशयाश्चर्यशक्तिमन्तौ। कोऽसौ काम इत्यत आह-भोजेति भोजराजः कंसः, तेन हतान् ॥ ३३ ॥

**एवमिति**। योगमाया माश्चर्यशक्तिम् उपाश्रितौ रसातलं (सुतलं) बलिचक्रवर्तिनो लोकं विविशतुः ॥ ३४ ॥

**तस्मिन्निति**। दैत्यराट् बलिः विश्वेषा मात्मनं दैवं दैवभूतं तथा नितरा मात्मनो दैवतभूतौ तस्मिन् सुतले प्रविष्टौ उपलभ्य दृष्ट्वा तयो र्दर्शनेन य आह्लाद स्तेन परिप्लुतः व्याप्तः आशयो मनो यस्य स सान्वयः सपरिवारः सद्य स्तदैव उत्थाय ननाम ॥ ३५ ॥

**तयोरिति**। तयो रामकृष्णयोः श्रेष्ठमासन मानीयाऽऽदाय समर्प्य तत्र वरासने पादाववनिज्य प्रक्षाल्य तज्जलं सपरिवार शिरसा दधार। कुतः ? हि यस्मात्, अदः अम्बुजलं आब्रह्मब्रह्माण मभिव्याप्य कृत्स्नं जगत् पुनाति पुनद्यदिति पाठे यदम्बु पवित्रयत् वर्तत इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

**समर्हयामास स तौ विभूतिभिः महार्हवस्त्राभरणानुलेपनैः ।**
**[1]ताम्बूलदीपामृतभक्षणादिभिः स्वगोत्रवित्तात्म समर्पणेन च ॥ ३७ ॥**

**स इन्द्रसेनो भगवत्पदाम्बुजं बिभ्रन्मुहुः प्रेमविभिन्नयाधिया ।**
**उवाच [2]हाऽऽनन्दजलाकुलेक्षणः प्रहृष्टरोमा नृप गद्गदाक्षरः[3] ॥ ३८ ॥**

**बलिरुवाच**

**नमोऽनन्ताय बृहते नमः कृष्णाय वेधसे ।**
**साङ्ख्ययोगवितानाय[4] ब्रह्मणे परमात्मने ॥ ३९ ॥**

**दर्शनं वां हि भूतानां दुष्प्रापं चाप्यदुर्लभम् ।**
**रजस्तमस्स्वभावानां यन्नः प्राप्तं[5] यदृच्छया ॥ ४० ॥**

---

1. K.T.W स्रग्धूप 2. K.T.W. चा° 3. B.G.J. रम्। 4. K.T.W. °धा° 5. B.G.J. प्राप्तौ

**श्रीध०** इन्द्रसेनो बलिः प्रेमविभिन्नया प्रेमार्द्रया धिया बिभ्रद्धारयन् ॥ ३७-३८ ॥

अनन्ताय शेषाय बृहते फणैकदेशे विश्वधारणाद्बृहत् तस्मै कृष्णाय सदानन्दरूपाय च वेधसे जगद्विधात्रे सांख्ययोगवितानायेत्यदि पदत्रयमैक्य विवक्षया ॥ ३९ ॥

योगेश्वराणा मपि दुर्दर्शौ युवामस्माभिः दृष्टावित्येतन्नातिचित्रमित्याह - **दर्शनमिति** । दुष्प्रापमपि युष्मत्कृपया केषाञ्चिददुर्लभं सुलभमपिभवति, तदाह - रजस्तमस्स्वभावानामिति। नो दर्शनं प्राप्तौ ॥ ४० ॥

**वीर०** समर्हयामासेति। स बलिः तौ समर्हयामास विभूतिभिः पुष्कलैः अमृतभक्षणममृततुल्य भक्ष्यद्रव्यं स्वगोत्रं स्वकुलं वित्तमात्मा च तेषांसमर्पणेन च समर्हयामासेति सम्बन्धः ॥ ३७ ॥

**स** इति। इन्द्रसेनो बलिः प्रेमविभिन्नया प्रेमार्द्रया धिया भगवत्पदाम्बुजं धारयन् आनन्दजलैः आकुले व्याप्ते अक्षिणी यस्य प्रहृष्टान्युदञ्चितानि रोमाणि यस्य गङ्गादीनि कुण्ठितानि अक्षराणि यस्य सः। हे नृप! उवाच ॥ ३८ ॥

तदेवाऽऽह - नम इत्यादिना विमुच्यत इत्यन्तेन ग्रन्थेन [1]अनन्ताय शेषाय बृहते फणैकदेशेन विश्वधारकाय वेधसे जगद्विधात्रे साङ्ख्ययोग विधानाय साङ्ख्ययोग प्रवर्तकाय [1]थ वितानायेति पाठे मत्वर्थीयोऽच् द्रष्टव्यः। वितानो यज्ञः सच कर्मयोगोपलक्षकः योगो भक्तियोगः, साङ्ख्यं ज्ञानयोगः ते अस्याराधन रूपतया सन्तीति तथा तस्मै कर्मज्ञानयोगानु गृहीत भक्तियोगाराध्यायेत्यर्थः। ब्रह्मणे स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशय बृहते परमात्मनेऽन्तः प्रवेश नियमनाभ्यां लोकत्रयस्य भर्त्रे व्याप्यगतदोषास्पृष्टाय च ॥ ३९ ॥

युवामस्माभिर्दृष्टावित्येतन्नातिचित्रमिति अभिप्रेत्याह - **दर्शनमिति**। वां युवयोः दर्शनं केषाञ्चित् भूतानां दुष्प्रापं दुर्लभञ्चाऽपि केषाञ्चित् युष्मत् कृपया तु सुलभमेव। तदुपपादयति रजस्तमः स्वभावानामिति। यद्यस्मात् रजस्तमः प्रचुर स्वभावानामपि नोऽस्माकं युष्मद्दर्शनं प्राप्तम्। अतो भवत्कृपैव तत्र निदानमिति भावः ॥ ४० ॥

सामाश्राव्य सम्बोध्य ॥ २८ ॥

**वीर०** तत्र दृष्टान्त माह खमिति। यथा खादयः तत्कृतेषु आकाशादिभिः कृतेषु यथाशयं व्याप्यानुरूपं आविष्कृताल्पभूर्येकनानात्वं यान्ति। तद्वदसौ परमात्माऽपि क्वचिदाविष्कृतत्वं क्वचिदल्पत्वं क्वचिद्भूरित्वं विपुलत्वं स्वत स्तस्येकत्वं व्याप्य बहुत्वप्रयुक्तं नानात्वं च यातीत्यर्थः। एकस्यानेकेषु व्याप्तौ तत्प्रयुक्तनानात्ववस्तुत्वैकत्वेचाऽयं दृष्टान्तः न वस्तुतो व्याप्य व्यापकयो रेक द्रव्यत्वे ज्ञेयम् ॥ २५ ॥

एवमिति। उदाहृतः उक्तः उदाहृतमिति पाठे तूक्तं वचः श्रुत्वेत्यर्थः। विनष्टनानाधीः अब्रह्मात्मक भेदबुद्धिरहितः अत एव प्रीतमना स्तूष्णीं बभूव ॥ २६ ॥

अथेति। हे कुरुश्रेष्ठ! सर्वदेवतात्मक भगवदवतारस्थानत्वात्तथाभूता देवकी आत्मजाभ्यां रामकृष्णाभ्यां गुरोस्सान्दीपनेः पुत्रमानीतं श्रुत्वा अतीव विस्मिता सती ॥ २७ ॥

समाश्राव्य सम्बोध्य वैक्लव्या दैन्यादश्रूणि[1] लोचनयो र्यस्या सा प्राह ॥ २८ ॥

1. B Omits दैन्यात्

**देवक्युवाच**

**रामरामाऽप्रमेयात्मन् कृष्ण योगेश्वरेश्वर[1] ।**
**वेदाऽहं वां विश्वसृजा मीश्वरा वादिपूरुषौ ॥ २९ ॥**

**कालवध्वस्तसत्त्वानां राज्ञामुच्छास्त्रवर्तिनाम् ।**
**भूमेर्भारायमाणाना मवतीर्णौ किलाऽद्य[2] मे ॥ ३० ॥**

**यस्यांशांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयादयः ।**
**भवन्ति किल विश्वात्मन् तं त्वाऽद्याहं गतिंगता ॥ ३१ ॥**

**चिरान्मृतसुतादाने गुरुणा किलचोदितौ[3] ।**
**आनिन्यथुः पितृस्थाना द्रुरवेगुरुदक्षिणाम्[1] ॥ ३२ ॥**

1. K.T.W. °गी° 2. K.T.W. क्षयाय 3. B.G.J. काल 4. K.T.W. °णाः

**श्रीध०** भूमेर्भारायमाणानां राज्ञामर्थे तेषां निधनार्थं मे मयि किलावतीर्णौ ॥ ३० ॥

हे आद्य ! यस्यांशः पुरुष स्तस्यांशो माया, तस्या/अंशा गुणाः तेषां भागेन परमाणुमात्रलेशेन विश्वोत्पत्त्यादयो भवन्ति तं त्वा त्वां गतिं शरणं गतास्मि ॥ ३१ ॥

आनिन्यथु रानीतवन्तौ पितृस्थानाद्यात्मसमम् ॥ ३२-३४ ॥

**वीर०** तदेवाऽऽह रामेति पञ्चभिः। हे अप्रमेयात्मन् ! अपरिच्छेद्यस्वरूप ! योगेश्वराणा माश्चर्यशक्तिमता मपीश्वरौ वां युवां विश्वसृजां ब्रह्मादीना मीश्वरावादिपूरुषौ जगत्कारणपुरुषावहं वेद वेद्मि ॥ २९ ॥

तर्ह्येवम्भूतयो रावयोः किमर्थं यदुषु जन्मेत्यत आह - कालेति। कालवशेन विध्वस्तं सत्त्वं सत्त्वगुणो येषां उच्छास्त्रवर्तिनां शास्त्रीयमर्यादातिलङ्घिना मत एव भूमे र्भारायमाणानां राज्ञां क्षयाय मे मयि अस्मत्तो वाऽवतीर्णौ ॥ ३० ॥

यस्य तव अंशांशांशभागेन अयुतायुतशतैककलांशकांशेन विश्वस्योत्पत्त्यादयो भवन्ति किलेति शास्त्रप्रसिद्धिः तं पूर्णब्रह्मरूपं त्वा मधुनाऽहं गतिं शरणं गताऽस्मि ॥ ३१ ॥

स्वाभिप्रायमावेदयति - चिरादिति द्वाभ्याम्। मृतसुतादाने निमित्ते गुरुणा सान्दीपनिना चोदितौ भवन्तौ पितृस्थानाद्यमसमदना दानिन्यतुः आनीतवन्तौ किल गुरुदक्षिणाः विपुलदक्षिणारूपान् पुत्रान् आनिन्यतुरिति सम्बन्धः। दक्षिणाः इति पाठे अर्पयितुमिति शेषः ॥ ३२ ॥

---

1. B.omits वेद

**तथा मे कुरुतं कामं युवां योगेश्वरेश्वरौ ।**
**भोजराजहतान्पुत्रान् कामये द्रष्टुमाहृतान् ॥ ३३**

**ऋषिरुवाच**

**एवं सञ्चोदितो मात्रा रामः कृष्णश्च भारत[1] ।**
**सुतलं[2] संविविशतु र्योगमाया मुपाश्रितौ ॥ ३४ ॥**

**तस्मिन् प्रविष्टा वुपलभ्य दैत्यराड्विश्वात्मदैवं सुतरां तथाऽऽत्मनः ।**
**तद्दर्शनाह्लाद परिप्लुताशयः सद्यसमुत्थाय ननाम सान्वयः ॥ ३५ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**आकर्ण्येत्थं पितुर्वाक्यं भगवान्सात्वतर्षभः ।**
**प्रत्याह प्रश्रयाऽऽनम्रः प्रहसन् श्लक्ष्णया गिरा ॥ २१ ॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**वचो वस्समवेतार्थं तातैत दुपमन्महे ।**
**यन्नः पुत्रा न्समुद्दिश्य तत्त्वग्राम उदाहृतः ॥ २२ ॥**

**अहं यूय मसावार्य इमे च द्वारकौकसः ।**
**सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृश्याः सचराचरम् ॥ २३ ॥**

**आत्मा ह्येकः स्वयञ्ज्योति र्नित्योऽन्यो प्राकृतै र्गुणैः ।**
**आत्मसृष्टै स्तत्कृतेषु देहेषु बहुधेयते ॥ २४ ॥**

---

1. K.T.W. निशम्ये° 2. K.T.W. य इमे 3. T.W. विश्वमेवं 4. B.G.J. निर्गुणे 5. B.G.J. भूतेषु

**श्रीध० वच** इति। उपमन्महे उपमन्यामहे समुद्दिश्य विषयीकृत्य तत्त्वग्राम स्तत्त्वसमूहः उदाहृतः सम्यङ्निरूपितः ॥ २१,२२ ॥

इमामेव दृष्टिं सर्वत्र विधत्स्वेत्याह - अहमिति। एवं विमृश्या ब्रह्मत्वेनैवाऽन्वेषणीयाः। किञ्च सचराचरं जगदपि ॥ २३ ॥

ननु, नानाविकारवतां कुतो ब्रह्मत्वमिति चेत् न, ब्रह्मण एवोपाधि धर्मै र्बहुधा प्रतीतेरिति सदृष्टान्त माह द्वाभ्याम् - आत्मा हीति। यथा खादिभूतानि तत्कृतेषु घटादिषु आविस्तिरोभावादिकं यान्ति, एवं असावात्माऽप्यात्मसृष्टैर्गुणैः कृत्वा तत्कृतेषु देहेषु बहुधा ईयते पुनश्च यथाऽशयं यथोपाध्याविर्भाव तिरोभावादि रूपेण प्रतीयते न वस्तुतः कुतः ऐको बहुधा स्वयञ्ज्योति र्दृश्यत्वेन नित्योऽनित्यत्वेन, अनन्योऽन्यत्वेन निर्गुणः सगुणत्वेन इत्यादि बहुधात्वं प्रपञ्चनीयम् ॥ २४ ॥

---

1--1 Ml.V. उपपन्नं मन्यामहे

**वीर०** निशम्येति। प्रश्रयेण विनयेन आनम्रः श्लक्ष्णया मृद्वया गिरा प्रत्याह ॥ २१ ॥

तदेवाऽऽह वच इति चतुर्भिः। आत्मनः परमात्मत्वं गोपयन्नाह - हे तात! वो युष्माक मेतद्वचो वाक्यं समवेतार्थ

मुपपन्नार्थम् उपमन्महे उपमन्यामहे, अभ्युपगच्छाम इति यावत्। यद्वा, समवेतार्थं समवेतः अस्मच्छिक्षागर्भितः अर्थो यस्य तथाभूत मुपलभामह इत्यर्थः। कुतः किञ्च तद्वच इत्यत आह यदिति। यद्यतः पुत्रानस्मान् समुद्दिश्य विषयीकृत्य, लक्ष्यीकृत्येति यावत्। तत्त्वग्रामः तत्त्वसमुदायः उदाहृतः सम्यक् निरूपितो येनेत्येतद्वचः सर्वं ब्रह्मात्मकं इत्येव मस्मान् ग्राहयितु मस्मानेव विषयीकृत्य उक्तमिति भावः ॥ २२ ॥

तदेवाऽऽह अहमिति। असावर्योऽग्रजः सर्वे द्वारकौकसः किं बहुना हे यदुश्रेष्ठ! सचराचरं विश्वं कृत्स्नं जगच्चैवं परमात्मात्मकं तत्कारणकं तन्निर्वाह्यञ्चेत्यर्थः ॥ २३ ॥

कुत इत्यत आह - आत्मेति। हि यस्मा दात्मा परमात्मा तावदात्मना स्वेनैव सृष्टैः प्राकृतै र्गुणै र्गुणपरिणामात्मकै र्महदादिभिः तत्कृतेषु महदादिभिः सृष्टेषु भूतेषु देवमनुष्यादिषु बहुधा ईयते व्याप्त इति प्रमाणतो ज्ञायते। कथम्भूतः स्वयञ्ज्योतिः स्वयंप्रकाशस्वरूपः अन्यः देवादिशरीर तदभिमानिजीवेभ्योऽन्यः ॥ २४ ॥

**[1-]खं वायुर्ज्योति रापो भू स्तत्कृतेषु यथाशयम्।**
**[1-]आविस्तिरोऽल्प[-1]भूर्य[2]के नानात्वं यात्यसावपि ॥ २५ ॥**

## -:स्मरोद्गीथादि नामक देवकी षड्गर्भानयन कथाः-

**श्रीशुक उवाच**

**एवं भगवता राजन् वसुदेव उदाहृतम्[3] ।**
**श्रुत्वा विनष्टनानाधी स्तूष्णीं प्रीतमना[4] अभूत् ॥ २६ ॥**
**अथ तत्र कुरुश्रेष्ठ देवकी सर्वदेवता ।**
**श्रुत्वाऽऽनीतं गुरोः पुत्र मात्मजाभ्यां सुविस्मिता ॥ २७ ॥**
**कृष्णरामौ समाश्राव्य पुत्रान्[5] कंसविहिंसितान्[6] ।**
**स्मरन्ती कृपणं प्राह वैक्लव्या[7] दश्रुलोचना ॥ २८ ॥**

---

1--1 K.T.W. आविष्कृताऽल्प 2. B.G.J. °को 3. B.J.K.T.W. °तः *4.K.T.W. नादृश्यभूत् 5. Ml.V.add स्व 6. Ml.V.Omit °वि° 7. B.G.J. °व्या°

**श्रीध०** सुविस्मिता सती ॥ २५-२७ ॥

सर्वेऽपीत्थं किं न विदुरित्यत आह - गुणप्रवाह इति। सत्त्वादिगुणप्रवाहरूपे एतस्मिन् संसारे पतिता इति शेषः। सर्वान्तरात्मन स्तव सूक्ष्मां दुर्ज्ञेयां गतिं याथात्म्य मबुधाः अजानन्तः अबोधेन तेनैवाऽज्ञानेन तन्मूलैः कर्मभिः पुण्यापुण्यात्मभिर्हेतुभिः संसरन्ति ॥ १५ ॥

इत्थं भगवद्याथात्म्य मजानन्त मनुशोचति - यदृच्छयेति। इह लोके दुर्लभां सुकल्यां पटुतरेन्द्रियां नृतां नरत्वं प्राप्याऽपि हे ईश्वर! त्वन्मायया स्वार्थे स्वश्रेयस्साधने त्वद्याथात्म्यज्ञाने प्रमत्तस्याऽनवहितस्य पुंसो वयः आयु र्गतम् अहो! वृथा गत मित्यर्थः ॥ १६ ॥

**असावहं ममैवैते देहे चास्यान्वयादिषु ।**
**स्नेहपाशै र्निबध्नान्नि भवान्सर्वमिदं जगत् ॥ १७ ॥**

**युवां न न स्सुतौ साक्षात्प्रधानपुरूषेश्वरौ ।**
**भूभारक्षत्रक्षपण अवतीर्णौ तथाऽऽत्थ ह ॥ १८ ॥**

**तत्ते गतोऽस्म्यरण मद्य पदारविन्द मापन्नसंसृति भयापह मार्तबन्धो ।**
**एतावताऽल मलमिन्द्रियलालसेन मर्त्यात्मदृक्त्वयि परे यदपत्य बुद्धिः ॥ १९ ॥**

**सूतीगृहे ननु जगाद भवा नजो नौ सञ्ज्ञ इत्यनुयुगं निजधर्मगुप्त्यै ।**
**नानातनू र्गगनव द्विदध ज्ञहासि को वेद भूम्न उरुगाय विभूति मायाम् ॥ २० ॥**

---

1- -1 K. MI.T.V.W. °णायाव° 2. K.MI.T.V.W. हि। 3. MI.V. मायाः

**श्रीध०** अहो किमिति प्रमत्तोऽसि त्वया बहुभिः पाशै र्निबद्धत्वा दित्याह - **असावह** मिति। देहे अस्य देहस्यान्वयादिषु पुत्रादिषु च ममैवेत इति ॥ १७ ॥

अहो! त्वत्पुत्रयो रावयोः किमिद मारोप्यते? अत आह - युवामिति। भूभारक्षत्रक्षपणार्थ मवतीर्णौ तथा ह निश्चित मात्थ कथयसि ॥ १८ ॥

**तदिति**। तत्तस्मादरणं शरण मापन्नानां संसृतिभय मपहन्तीति तथा तत् ननु त्वमतिसुखी वृथा किं निर्विद्यसेऽत आह - एतावतेति। इन्द्रियलालसेन इन्द्रियार्थतृष्णया यद्येन इन्द्रियलालसेन मर्त्ये शरीरे आत्मदृक् आत्मबुद्धि रहं, त्वयि च परमेश्वरे अपत्यबुद्धि रस्मि। तेनाऽलमलं पर्याप्तमिति ॥ १९ ॥

ननु कुत एतत् अहं परमेश्वर इति। तत्राऽऽह - **सूतीगृहे** इति। नौ आवयोः अनुयुगं प्रतियुग्मं यदा सुतपाः पृश्निरिति युग्मम्, यदा कश्यपो दितिश्चेति युग्मम्, अधुना वसुदेवो देवकीति युग्मम् एवं हि प्रतियुग्मम् अज एवाऽहं सञ्जज्ञे अवतीर्ण इति भवान्ननु जगाद। नन्वन्योऽसौ चतुर्भुजो देव इति तत्राऽऽह - नानातनूरिति। गगनवदसङ्ग एव त्वं भूम्नः सर्वगतस्य विभूतिरूपां मायां को वेदेति ॥ २० ॥

1- -1. Ml.V. रूपाः मायां

**वीर०** किञ्च, असाविति। देहे, अस्य देहस्यान्वयादिषु अनुबन्ध्यादिषु पुत्रदारादिष्वसौ देहोऽहं, इमे पुत्रादयो ममेत्येवंरूपैः स्नेहपाशैः सर्वमिद माब्रह्म पश्वादिपर्यन्तं जगत् भवान् बध्नाति बद्धं करोति ॥ १७ ॥

यदुपक्रान्तं 'जाने वामस्य यत्साक्षात् प्रधानपुरुषौ परौ' (भाग.10-85-3) इति, तदुपसंस्मारयति - युवामिति। भूमे र्भारभूतक्षत्रियनिरसनार्थ मवतीर्णोऽह मित्येत दात्थ सूतिकागृहे कथितवानसि हीत्यर्थः ॥ १८ ॥

तस्मादशरणः उपायान्तर शून्योऽहं हे आर्त्तबन्धो! आपन्नानां संसृतिभय मपहन्तीति तथा तत्तव पदारविन्दं शरणङ्गतोऽस्मि। ननु त्वमतिसुखी, वृथा किमिति निर्विद्यस इत्यत आह - एतावतेति। यत् यस्मात् मर्त्ये शरीरे आत्मदृक् आत्मबुद्धि रहं त्वयि च प्रधानपुरुषेश्वरे अपत्यबुद्धि रस्मि अतः इन्द्रियार्थ तृष्णया अलमलं पर्याप्त मित्यर्थः ॥ १९ ॥

ननु कुत एतदहं परमेश्वर इति, तत्राऽऽह - सूतीगृह इति। ननु हे भगवन् भवन् सूतीगृहे जगाद, किं तत्? यत् अजः कर्मायत्तोत्पत्तिरहितोऽप्यहं निजधर्मणां स्वकृतधर्ममर्यादानां गुप्त्यै रक्षणाय अनुयुगं प्रतियुगं जज्ञे अवतरामीत्येतत्। नन्वन्योऽसौ चतुर्भुजो देव इत्यत आह - नानेति। नानातनूर्विदधत्तावद्धिभ्राणो जहासि गगनवत् यथा गगनं सर्वत्र व्याप्नुवदपि अजहत्स्वभावं तथा भवानपि नानातनूष्ववस्थितोऽपि अजहत्स्वभाव इति दृष्टान्तार्थः। इत्थमहं सम्भावयामि, तत्वत स्तव माहात्म्यं को वेदेत्याह। हे उरुगाय! भूम्नस्सर्वगतस्य तवविभूतीः मायाः आश्चर्य शक्तीश्च को वेद? न कोऽपि वेदेत्यर्थः ॥ २० ॥

1. B.Omis भवान् 2. B. तत:

दैत्यदानवगन्धर्वसिद्ध[1] विद्याधरोरगाः[2] ।
यक्षरक्षःपिशाचाश्च भूतप्रमथनायकाः ॥ ४१ ॥

विशुद्धसत्त्वधाम्न्यद्धा त्वयि शास्त्रशरीरिणि ।
नित्यं निबद्धवैरास्ते वयंचान्ये च तादृशाः ॥ ४२ ॥

★ प्राप्ताः सालोक्य सामीप्यं सारूप्यमथसात्मताम् ।
ते सर्वे पुण्डरीकाक्ष भावोहि भवकारणम् ॥ ४३ ॥

केचनोद्बद्धवैरेण[3] भक्त्या केचन कामतः ।
न तथा सत्त्वसंरब्धाः सन्निकृष्टा स्सुरादयः ॥ ४४ ॥

इदमित्थमिति प्रायस्तव योगेश्वरेश्वर ।
न विदन्त्यपि योगेशा[4] योगमायां कुतो वयम् ॥ ४५ ॥

---

1. B.G.J. °र्वा: 2. B.G.J. °ध्रचारणा: ;K.T.W. धराऽपि। *This verse is found only in K.T.W. edns. 3. Ml.V. °दुद्बुद्ध° 4. K..T W. °गो"

**श्रीध०** अहो विद्विषो वयं सात्त्विकभक्तेभ्योऽपि स भाग्या इत्याह - दैत्याद्यादिभिस्त्रिभिः ॥ ४१,४२ ॥

उद्बद्धवैरेण या भक्तिः तया केचनेति चैद्यादयः। कामतो भक्त्या गोप्यादयो यथा सन्निकृष्टाः त्वदात्मतां प्राप्ताः। तथा च सत्त्वसंरब्धाः सत्त्वाविष्टा अपि सुरादयो न सन्निकृष्टा इति ॥ ४३ ॥

ननु सात्त्विकेभ्योऽपि राजसादयः सन्निकृष्टा इति चित्रम्। तदाह - इदमित्थमिति। इदमिति स्वरूपतः, इत्थमिति विशेषतश्च ॥ ४४, ४५ ॥

**वीर०** अहो विद्विषोऽपि वयं सात्त्विक भक्तेभ्योऽपि स भाग्या इत्याह - दैत्येति त्रिभिः। दैत्यादयस्त्वयि नित्यं निबद्धं वैरं येषां तथाभूताः कथम्भूते त्वयि? विशुद्धस्य रजस्तमोभ्याममननुविद्धस्य सत्त्वस्य धाम्नि आश्रये। अनेन कामक्रोधादि प्राकृतदोष प्रतिभटत्वमभिप्रैतम्। अद्धा साक्षात् शास्त्र शरीरिणि शास्त्रवेद्यं शरीरं स्वरूप मस्यास्तीति तथा। तस्मिन् ते वयमित्थम्भूतावयमित्यर्थः तथाचाऽन्ये कंसादयश्य तादृशा नित्यं निबद्धवैरा इत्यर्थः ॥ ४१,४२ ॥

प्राप्त इति त एते सर्वे सालोक्यादिरूपां मुक्तिं प्राप्ताः। तत्र सालोक्यं नाम भगवता सह समान लोकावस्थायित्वं, सामीप्यं सान्निध्यम्, सारूप्यम् समानवेषता, सात्मता समानात्मगुणत्वं सायुज्यमिति यावत्। गुणाष्टकाविर्भाव साम्यं हि सायुज्यम्। सार्ष्टि त्वमथसात्मताम् इति पाठे सार्ष्टित्वं समानसमृद्धित्वम् सालोक्यादीनि त्रीणि सायुज्य प्रयुक्तानीति न मुक्ति तारतम्य शङ्कावकाशः। विबद्धवैराणामपि सालोक्यादि प्राप्तिः कुतः इत्यत आह - भाव इति। हि यस्मात् भावः चित्तवृत्ति विशेषः भवकारणं फलोदय कारणं त्वयि कोऽपि वा निरन्तर चित्तवृत्ति विशेषो मुक्तिकारणमित्यर्थः ॥

निदर्शयति - केचनेति। केचन कंसादयः उद्बद्धवैरेण त्वयि निबद्धवैरेण, प्राप्ता इत्यनुषज्यते। केचन भक्त्या, केचन गोपीजनाः कामतः कामात्प्राप्ताः। किञ्च यथा सन्निकृष्टाः त्वत्सात्मतां प्राप्ताः तथा सत्त्वसंख्याः सत्त्वाविष्टा अपि सुरादयो न प्राप्ताः यद्वा, यथोद्बद्धवैरादिना प्राप्ताः तथा सन्निकृष्ट अपि सत्त्वप्रधाना अपि नाऽनु प्राप्ता इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

त्वत्कृपासनाथो भाव एव भवकारणम्, अन्यथा त्वन्माया याथात्म्यवेदिनां कृतस्ततो निस्तार इत्यभिप्रयन्नात्मनः कैमुत्यनयेन तस्यादुर्ज्ञेयतामाह - इदमिति। हे योगीश्वरेश्वर! योगीश्वरा अपि प्रायशः तव योगमायया इदमित्थमिति स्वरूपतः स्वभावतश्च न विदन्ति। कुतो वयं विद्मः ॥ ४४,४५ ॥

**तन्नः प्रसीद निरपेक्ष विमृग्ययुष्मत् पादारविन्दधिषणोघगृहान्धकूपात् ।**
**निष्क्रम्य निश्वशरणाङ्घ्र्युपलब्धवृत्तिः शान्तो यथैक उत सर्वसखश्चरामि ॥ ४६ ॥**

**शाध्यस्मानीशितव्येश निष्पापान् कुरु नः प्रभो ।**
**पुमान्यदृच्छयाऽऽतिष्ठं श्रोदनाया विमुच्यते ॥ ४७ ॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**आसन्मरीचेः षट्पुत्रा ऊर्णायां प्रथमेऽन्तरे ।**
**देवाः कं जहसुर्वीक्ष्य सुतां यभितुमुद्यतम् ॥ ४८ ॥**

**तेनाऽऽसुरी मगन् योनि मधुनाऽवद्यकर्मणा ।**
**हिरण्यकशिपोर्जाता नीतास्ते योगमायया ॥ ४९ ॥**

**देवक्या उदरे जाता राजन् कंसविहिंसिताः ।**

**सा तान्शोचत्यात्मजान्स्वान् त इमेऽध्यासतेऽन्तिके ॥ ५० ॥**

---

1. B.G.J.MI.V. °णान्य 2. B.G.J.MI.V. °खे° 3. MI.V. °जांस्तुत

**श्रीध०** तदेवं यद्यपि वैरभावेन त्वत्प्राप्तिर्भवे त्तथापि मां सात्त्विकं कुर्विति प्रार्थयते - तदिति। तत्तथा नः प्रसीद, यथा निरपेक्षैः आप्तकामैः अपि विमृग्यं युष्मत्पादारविन्दं तदेव धिषणमाश्रयः तस्मादन्यत् गृहं तदेवाऽन्धकूपः तस्मान्निष्क्रम्य निर्गत्य विश्वस्य शरणं रक्षितारो वृक्षाः तेषामङ्घ्रिमूलेषु स्वत एव गलितैः फलादिभिः उपलब्धा प्राप्ता वृत्तिर्जीविका येन सोऽहं शान्तस्सन्नेक एव चरामि, उत अथवा सर्वेषां सखायो महान्तस्तैस्सह यथा चरामीति ॥ ४६ ॥

कथमल्पपुण्यानामेवम् भावः सम्भवतीति चेत्तर्हि यथैतद्भवेत्तथाऽस्माननुशिक्षयेत्याह-शाधीति हे प्रभो ! ईशितव्याः सर्वेजीवाः तेषामीश। यत् तवाऽनुशासनमातिष्ठन्नाश्रयंश्चोदनायाः विधि निषेध लक्षणायाः सकाशाद्विमुच्यते न खलु त्वद्भक्तो विधिकिङ्करः स्यादिति भावः ॥ ४७ ॥

तदुक्तं सर्वमनुमोद्य स्वागमन कारणं सप्रपञ्चं कथयति आसन्निति पञ्चभिः। ऊर्णायां भार्यायां प्रथमेऽन्तरे स्वायम्भुव मन्वन्तरे ते देवाः सुतां वाचं यभितुं यब्धुं मैथुनेन रमयितुम् उद्यतमुद्युक्तं कं प्रजापतिं जहसुः उपहसितवन्तः ॥ ४८ ॥

तेनावद्यकर्मणा पापेनाऽसुरीं योनिमगन्, अधुना तत्क्षणमेव हिरण्यकशिपो र्जाता इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

तेच योगमायया ततो नीतास्सन्तो देवक्या उदरे जाताः। हे राजन् बले ! ते च कंसेन विहिंसिताः। साच तान् आत्मजान् मत्वा शोचति। ते च इमे तवान्तिकेऽध्यासते ॥ ५० ॥

**वीर०** तन्न इति। तत्तस्मात् त्वन्मायास्वरूपस्वभाव वेदनतरणयोः दुष्करत्वात्, केवलं प्रसीदप्रसन्नो भव, अस्माननुगृहाणेत्यर्थः। कथं यथा निरपेक्षैः निष्कामैः विमृग्ये युष्मत्पादारविन्दे धिषणा बुद्धिर्यस्य अघयुक्तं गृहमेवाऽन्धकूपः तस्मान्निष्क्रम्य विश्वस्य शरणं रक्षितारो वृक्षाः तेषामङ्घ्रिषु मूलेषु उपलब्धै स्वत एव गलितैः फलादिभिः वृत्तिः जीवनं यस्य सोऽहं शान्तः सन्नेक एव उत अथवा सर्वेषां सखायो ये महान्तः तैः सहितश्चरामि तथाऽनुगृहाणेत्यर्थः। सर्वं सह पाठे शीतोष्णादि द्वन्द्वसहः ॥ ४६ ॥

प्रकृतागमनप्रयोजनबुभुत्सया स्वविषयकं शासनं प्रार्थयते। शाधीति। हे ईशितव्येश। ईशितव्या नियम्याः तेषाम् ईश! नोऽस्मान् शाधि कैङ्कर्याऽज्ञापनेन शिक्षयेत्यर्थः। किं तदित्यत आह - निष्पापानिति। हे प्रभो! ततोऽपि किमत आह - पुमानिति। तिष्ठन् त्वच्छासनमाश्रयन् चोदनायाः कर्मबन्धाद्विमुच्यते ॥ ४७ ॥

इत्थं प्रार्थितः प्राह भगवान् - आसन्निति। प्रथमान्तरे स्वायम्भुवमन्वन्तरे मरीचेः प्रजापतेः ऊर्णायां भार्यायां षट्सुताः आसन् ते देवाः सुतां सरस्वतीं यभितुं मैथुनम् कर्तुम् उद्युक्तं कं ब्रह्माणं वीक्ष्य जहसु र्हसितवन्त इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

तेन परिहासात्मकेन दुष्टेन कर्मणा आसुरीं योनिं प्रापुः। तदैव[1] हिरण्यकशिपोर्जाताः। ते च योगमायया शक्त्या ततो नीतास्सन्तः देवक्या उदरे जाताः। हे राजन् तेन कंसेन विहिंसिताः देवकीसुतान् आत्मजान् मत्वा शोचति। ते चेमे तवान्तिकमन्तिके अध्यासते। 'अधि शीङ् स्थासां कर्म' (अष्टा.1-4-46) इत्याधारस्य कर्मत्वम् ॥ ४९, ५० ॥

---

1. B. तथैव

**इत एतान्प्रणेष्यामो मातृशोकापनुत्तये ।**
**ततः पाप विनिर्मुक्ताः लोकं यास्यन्ति विज्वराः ॥ ५१ ॥**

**स्मरोग्दीथः परिष्वङ्गः पतङ्गः क्षुद्रभृद् घृणी ।**
**षडिमे मत्प्रसादेन पुनर्यास्यन्ति सद्गतिम् ॥५२॥**

**इत्युक्त्वा तान् समादाय इन्द्रसेनेन पूजितौ ।**
**पुनर्द्वारवतीमेत्य मातुः पुत्रा नयच्छताम् ॥ ५३ ॥**

**तान्दृष्ट्वा बालकान्देवी पुत्रस्नेह स्नुतस्तनी ।**
**परिष्वज्याऽङ्क मारोप्य मूर्ध्न्यजिघ्र दभीक्ष्णशः ॥ ५४ ॥**

**अपाययत्स्तनं प्रीता सुतस्पर्शपरिस्नुतम् ।**
**मोहिता मायया विष्णोर्यया सृष्टिः प्रवर्तते ॥ ५५ ॥**

**पीत्वाऽमृतं पयस्तस्याः पीतशेषं गदाभृतः ।**
**नारायणाङ्गसंस्पर्शप्रतिलब्धात्मदर्शनाः ॥ ५६ ॥**

**ते नमस्कृत्य गोविन्दं देवकीं पितरं बलम् ।**
**मिषतां सर्वभूतानां ययुर्धाम दिवौकसाम् ॥ ५७ ॥**

---

1- -1. B.G.J.Ml.V. ततः शापाद्वि 2. Ml.V. भूः घृणिः 3. K.T.W. प्रात्या 4. B.G.J. °घ्रुता। 5. K.Ml.T.V.W. विहायसाम्

**श्रीध०** इत इति। लोकं देवलोकम् ॥ ५२ ॥

स्मरोद्गीथः स्मरसहित उद्गीथः सद्गतिं मोक्षम्। स्मरस्यैव पूर्वकीर्तिमानिति नाम। अतः 'कीर्तिमन्तं प्रथमजं कंसायानकदुन्दुभिः अर्पयामास' (भाग.10-1-57) इत्युक्तम् ॥ ५२ ॥

इतीति। अयच्छताम् अर्पयामासतुः ॥ ५३,५४ ॥

अमृतत्वे हेतुः गदाभृतः पीतशेषमिति। नारायणाङ्गसंस्पर्शेनः प्रतिलब्धम्। देवा वयमिति आत्मदर्शनम् यैस्ते ॥ ५५ ॥

धाम देवलोकम् ॥ ५६ ॥

**वीर०** तत इति। मातुर्देवक्याः शोकापहरणाय इत एतान्प्रणेष्यामः। ततः शोकापनोदननान्तरं पापात् प्रजापत्यपहासात्मकात् विनिर्मुक्ताः, अत एव विज्वराः निर्दुःखाः लोकं तावत् पुण्यलोकं यास्यन्ति। ततो मत्प्रसादेन मदनुग्रहेण हेतुना इमे स्मरादयः षट् सद्गतिं मुक्तिं यास्यन्ति ॥ ५० ॥

स्मरोद्गीथ इति सन्धिरार्षः। स्मरसहित उद्गीथ इति मध्यमपदलोपी समासे वा ॥ ५१ ॥

इतीति। अयच्छतामर्पयामासतुः ॥ ५२ ॥

तानिति। पुत्रस्नेहेन स्नुतौ स्रवन्तौ स्तनौ यस्यास्सा अभीक्ष्णवाः पुनः पुनः मूर्ध्नि अजिघ्रत् ॥ ५३ ॥

सुतानां संस्पर्शेन स्नुसं क्षरन्तं स्तनमपाययत्। तत्र हेतुः विष्णोः मायया मोहिता। मायां विशिनष्टि यथा सृष्टिः प्रवर्तते। सृष्टिः इत्यस्य विश्वेत्यादिः ॥ ५४ ॥

पीत्वेति। तस्या देवक्याः अमृततुल्यं पयः स्यन्यं तत्र हेतुः गदाभृतः श्रीकृष्णस्य पीतशेषं पीत्वा नारायणस्य

श्रीकृष्णस्य अङ्गसंस्पर्शात् प्रतिलब्धम् आत्मदर्शनं स्वात्मपरमात्म याथात्म्यज्ञानं यैस्ते, बलं बलभद्रञ्च नमस्कृत्य सर्वभूतानां [1]मिषतां पश्यतां सतां विहायसा धाम देवलोकं ययुः ॥ ५५,५६ ॥

1.B. omits मिषतां

**तं दृष्ट्वा देवकी देवी मृतागमननिर्गमम् ।**
**मेने सुविस्मिता मायां कृष्णस्य [1]रचितां नृप ॥ ५८ ॥**

**एवं विधान्यद्भुतानि कृष्णस्य परमात्मनः ।**
**वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य सन्त्यनन्तानि भारत ॥ ५९ ॥**

**सूत उवाच**

**य इदमनुश्रुणोति श्रावयेद्वा मुरारेः चरितममृतकीर्तेर्वर्णितं व्यासपुत्रैः ।**
**जगदघभिदलं तद्भक्तसत्कर्णपूरं भगवति कृतचित्तो याति तत्क्षेमधाम ॥ ६० ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
मृताग्रजानयनं नाम पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

1. K.T.W. चरितां 2. K.T.W. मल

**श्रीध० तमिति**। मृतानां आगमनं निर्गमनञ्च श्रीकृष्णस्य मायां मेने तेनैव अपत्यादि रूपेण रचिताम् ॥५७,५८॥

अमृतं कीर्तिर्यस्य तस्य। व्यासपुत्रैः इति बहुवचनं पूजार्थम्। जगतामघं भिनत्तीति तथा तत् अलं निश्शेषं यथा भवति तथा न कृच्छ्रादिवदति। तदेवं मोक्षहेतुत्वञ्चोक्तं तद्भक्तानान्तु सत्कर्णपूरं परमसुखावहं कर्णाभरणमिति सुखारूपता माह। किञ्च भगवति कृतम् आवेशितं चित्तं येन स तथाभूत्वा तस्य क्षेमधाम कालादिभयरहितं लोकं यातीति ॥ ५९,६० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

**वीर०** तमिति। तं मृतानां आगमनपूर्वकं निर्गममवलोक्य सुतरां विस्मिता सती श्रीकृष्णस्य मायां मेने सर्वं तन्मायया कृतममन्यत। माया आश्चर्यशक्तिः ॥ ५७ ॥

एवमिति। हे भारत! अनन्तवीर्यस्य अनन्तकल्याणवीर्यसूचकगुणाकरस्य भगवतः इत्थम्भूतानि वीर्याणि प्रभावसूचकचेष्टितानि अनन्तानि सन्ति, न साकल्येन वक्तुं श्रोतुं वा शक्यानीति भावः ॥ ५८ ॥

उपवर्णितध्यानश्रवणादिफलमाह सूतः - य इति। व्यासपुत्रैरिति बहुवचनं गुरुत्वाभिप्रायम्। अमला कीर्तिर्यस्य मुरारेः चरितमलं निश्शेषं यथा तथा। जगतोऽघं भिनत्तीति तथा न कृच्छ्रादिवत्। यत्किञ्चिदघभिदिति भावः। तदेवं पापक्षयहेतुत्वं, अत एव मोक्षहेतुत्वञ्च उक्तम्। किञ्च तद्भक्तानां सत्कर्णपूरं परमसुखावह कर्णाभरणरूपम् इत्थम्भूतं इदं चरितं यः पुमाननुश्रुणोति श्रावयेत् वा, सः भगवति कृतं निहितं चित्तंयेन तथाभूतः तद्भगवत्सम्बन्धि क्षेमं कालादि भयरहितं धाम स्थानं याति प्राप्नोति ॥ ५९,६० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां

व्याख्यायां पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

# षडशीतितमोऽध्यायः

## (श्रीविजयध्वजतीर्थरीत्या एकनवतितमोध्यायः)★

-सुभद्राहरणकथा -

**राजोवाच** [1-] [-1]

**ब्रह्मन् वेदितुमिच्छामि स्वसारं रामकृष्णयोः ।**
**यथोपयेमे विजयो या ममाऽसीत्पितामही ॥ १ ॥**

**श्रीशुक उवाच** [3-] [-3]

**अर्जुनस्तीर्थयात्रायां पर्यटन्नवनीं प्रभुः ।**
**गतः प्रभास मशृणोन्मातुलेयीं स आत्मनः ॥२॥**

**दुर्योधनाय राम स्तां दास्यतीति न चाऽपरे ।**
**तल्लिप्सु स्स यति र्भूत्वा त्रिदण्डी द्वारका मगात् ॥३॥**
**तत्र वै वार्षिकान् मासा नवात्सीत् स्वार्थसाधकः ।** [4-] [-4] [5]
**पौरै स्सभाजितोऽभीक्ष्णं रामेणाऽजानता च सः ॥४॥** [6]

---

★ अयमध्यायः विजयध्वजतीर्थपाठानुसारेण त्रयोदश श्लोकादारभ्यते। 1- -1 श्रीविष्णुरात उवाच 2. B.G.J °मः 3- -3 श्रीब्रह्मरात उवाच 4. K.T.W स तत्र 5. K.M.I.V. नः 6. I.W. भिक्षु

## श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

षडशीतितमे दम्भा त्सुभद्रा मर्जुनोऽहरत्। गत्वा च मिथिलां कृष्णो नृपविप्रावनन्दयत् । पित्रोः स्वज्ञान मादिश्य सुभद्रां फाल्गुनाय च। जगाम मिथिलां कृष्णः स्वभक्तप्रियकृत्ततः ॥

देवक्या मृत पुत्रलाभवदर्जुनस्य सुभद्रालाभोऽपि रामप्रातिकूल्यात् दुर्घट इति मन्यमानः प्रसङ्गात्पृच्छति - **ब्रह्मन्निति** ॥ १,२॥

कथमशृणोत् तदाह - **दुर्योधनायेति**। अपरे वासुदेवादयो न दास्यन्तीति, तल्लिप्सु स्तस्या मातुलेय्या लिप्सुः रामं वञ्चयितुं पूज्यतमं त्रिदण्डिवेषं विधाय गत **इत्याह स** यति रिति ॥ ३ ॥

**तत्रेति**। स्वार्थसाधकः कन्यां प्रेप्सुः ॥ ४ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्र चन्द्रिका

वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य सन्तीत्युक्तं तत्राऽर्जुनाय सुभद्रा प्रदापनात्मकं भगवतश्चेष्टितं श्रोतुकामः पृच्छति राजा - **ब्रह्मन्निति**। विजयः अर्जुनः रामकृष्णयोः स्वसारं भगिनीं यथा येन प्रकारेण उपयेमे तं प्रकारं वेदितुमिच्छामि। तां विशिनष्टि - या तयोः स्वसा मम पितामही बभूव ॥१॥

तं प्रस्तौति मुनिः - **अर्जुन** इत्यादिना। अथाऽन्यदपि कृष्णस्येत्यतः प्राक्तनेन। अवनीं पृथ्वीं पर्यटन् प्रभासं नाम तीर्थं प्रति गतः तत्र सोऽर्जुनः आत्मनः स्वस्य मातुलेयीं मातुलस्य सुतां तां सुभद्रां रामो दुर्योधनाय दास्यति अपरे वसुदेवादयस्तु न च दास्यन्तीत्यशृणोत् वसुदेवाद्यनुमतिमन्तरेणाऽपि रामो दातुमुद्युक्तवानिति अशृणोदित्यर्थः ॥ २ ॥

तल्लिप्सु रिति। तां मातुलेयीं लिप्सुः तां जीहीर्षुः इत्यर्थः। सोऽर्जुनः त्रिदण्डी यति र्भूत्वा रामं वञ्चयितुं त्रिदण्डियति वेषं धृत्वा॥ ३ ॥

**तत्रेति**। वार्षिकान् आषाढाद्याश्विनान्तान् चतुरो मासान् उषितवान्, तत्र हेतुः स्वार्थसाधनः स्वप्रयोजनं साधयतीति तथा। नन्द्यादित्वा त्कर्तरिल्युः। पौरै र्महात्मना रामेण चाऽभीक्ष्णं पुनः पुनः सम्मानितोऽवात्सीदिति सम्बन्धः ॥ ४ ॥

## विजयध्वजीय पदरत्नावली व्याख्या एषां श्लोकानां नोपलब्धा

**एकदा गृह मानीय आतिथ्येन निमन्त्र्यतम् ।**
**श्रध्दयोपहतं भैक्ष्यं बलेन बुभुजे किल ॥५॥**

**सोऽपश्यत्तत्र महतीं[1-] कन्यां वीरमनोहराम्[-1] ।**
**प्रात्युत्फुल्लेक्षणस्तस्यां भावक्षुब्धं मनो दधे ॥६॥**

**साऽपि तं चकमे वीक्ष्य नारीणां हृदयङ्गमम् ।**
**हसन्ती व्रीडितापाङ्गा[2] तन्न्यस्तहृदयेक्षणा ॥७॥**

**तां परं[3] समनुध्याय न्तरं प्रेप्सु रर्जुनः ।**
**न लेभे शं भ्रमच्चित्तः कामेनातिबलीयसा ॥८॥**

**महत्यां देवयात्रायां रथस्थां दुर्गनिर्गताम् ।**
**जहाराऽनुमतः पित्रोः कृष्णस्य च महारथः[4] ॥९॥**

---

1--1 Ml.V. तन्वीं यतिः कन्यां मनोहरम् ; T.W. तन्वीं कन्यां वीरमनोरमाम् ; K. महतीं कन्यां वीरमनोरमाम् 2. B.G.J. °क्षी 3.T.W. सदा 4.T.W. °त्मनः

**श्रीध० एकदेति**। तमातिथ्येन निमन्त्र्य गृहमानीय बलेन यच्छ्रद्धयोपहतं परिविष्टं तद्भैक्ष्यं किल अर्जुनो बुभुजे इत्यन्वयः ॥ ५ ॥

**स** इति। भावेन रत्यभिप्रायेण क्षुभितं मनोदधे ॥ ६ ॥

**सेति**। व्रीडितापाङ्गा[1] सव्रीडकटक्षा तस्मिन्नेव न्यस्तं हृदय मीक्षणे[2] च यया सा ॥ ७ ॥

**तामिति**। अन्तरं हर्तु मवसरं प्रेप्सुः प्राप्तुमिच्छुः,कामेन भ्रमच्चित्तं यस्य सः, शं रामादि सम्माननिमित्तं सुखम् ॥ ८,९॥

---

1. B.J. °क्षा 2. B.J. °णञ्च

**वीर० एकदेति**। बलेन रामेणैकदा आतिथ्येन हेत्वर्थे तृतीया आतिथ्यार्थं निमन्त्रितः श्रद्धयोपहृतं परिविष्टं भैक्षमन्नं बुभुजे ॥ ५ ॥

**स** इति। सोऽर्जुनः महती मद्भुतां वीराणां मनो हरतीति तथा तां प्रीत्या उत्फुल्ले विकसिते ईक्षणे यस्य सः तस्यां कन्यायां रत्यभिप्रायेण क्षुभितं मनो दधे निहितवान्। स्मरक्षुब्धमिति पाठान्तरम् ॥ ६ ॥

**सापीति**। साऽपि कन्यापि तमर्जुनं वीक्ष्य व्रीडितौ व्रीडायुक्तौ अपाङ्गौ नेत्रान्तौ यस्या स्सा तस्मिन्नेव न्यस्तं हृदय मीक्षणे च यया सा, चकमे अकामयत ॥ ७ ॥

**तामिति**। परं केवलं तां कन्यामेव ध्यायन्नन्तरं हर्तु मवसरं प्राप्तु मिच्छुः अतिबलीयसा कामेन भ्रमत् चित्तं यस्य सः शं रामादिसम्मानजं सुखं न लेभे ॥ ८ ॥

एवं स्थिते कदा चिन्महारथोऽर्जुनः पित्रोः कृष्णस्येति च कर्तरि षष्ठी, देवकीवसुदेवाभ्यां कृष्णेन चाऽनुमतः दुर्गात्प्राकारात् बहिर्निर्गतां रथस्थां कन्यां जहार ॥९॥

**रथस्थो धनुरादाय शूरांश्चारुन्धतोभटान् ।**
**विद्राव्य क्रोशतां स्वानां स्वभागं[1] मृगराडिव ॥ १० ॥**

**तच्छ्रुत्वा क्षुभितो रामः पर्वणीव महार्णवः ।**
**गृहीतपादः कृष्णेन सुहृद्भिश्चाऽन्वशाम्यत ॥ ११ ॥**

**प्राहिणोत्पारिबर्हाणि वरवध्वोर्मुदा बलः ।**
**महाधनोपस्करेभ रथाश्व वरयोषितः[2] ॥ १२ ॥**

**★ अभवन् प्रीतिसंहृष्टाः बान्धवा यदुपाण्डवाः ।**
**अथाऽन्यदपि कृष्णस्य वात्सल्यं भक्तयोः शृणु ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**कृष्णस्याऽऽसीद् द्विजश्रेष्ठः[3] श्रुतदेव इति श्रुतः ।**
**कृष्णैकभक्त्या पूर्णार्थः शान्तः कविरलम्पटः ॥ १३ ॥**

**स उवास विदेहेषु मिथिलायां गृहाश्रमी[4] ।**
**अनीहयाऽऽगताऽहार्य[5] निर्वर्तित निजक्रियः[6] ॥ १४ ॥**

---

1. K.T.W. बलिं 2. B.G.J. नर ★ This verse is not found in B.G.J. 3- -3. M.Ma. वृष्णिष्वासीद्यदुश्रेष्ठः ; MI.T.V.W. कृष्णस्यासीत्सखाकश्चित् 4. M. Ma °मे 5. M. Ma °र्यो 6. M.Ma जप

**श्रीध० रथस्थ** इति। आ समन्ताद्रुन्धतः, आवरणं कुर्वतः ॥ १०,११ ॥

**प्राहिणोदिति**। पारिबर्हाणि वरवध्वोः प्रीतिदेयानि ॥ १२,१३ ॥

**स** इति। अनीहया अनुद्यमेनैव आगतं यदाहार्यं भोज्यं तेन निर्वर्तिताः निजाः क्रियाः येन सः ॥ १४ ॥

**वीर०** ततो रथस्थः धनुर्गाण्डीव मादाय आसमन्ता द्रुन्धतः शूरान् भटान् विद्राव्य पलायितान् कृत्वा स्वानां यदूनां क्रोशतामाक्रोशतां सतां जहारेति पूर्वेण सम्बन्धः। यथा मृगराट् सिंहः स्वबलिं स्वभागं हरति तद्वत् ॥ १० ॥

**तदिति**। तद्धरणं श्रुत्वा तावत् पर्वणि महार्णव इव क्षुभितः क्रुद्ध इत्यर्थः। ततः कृष्णेन सुहृद्भिश्च गृहीतौ पादौ यस्य सः अशाम्यत शान्तो बभूव ॥ ११ ॥

किञ्च **प्राहिणोदिति**। बलो रामः परिबर्हाणि प्रीत्यादेयानि श्रेष्ठवस्तूनि प्राहिणोत् प्रददौ। महाधना अनर्घाः उपस्कारा अलङ्काराः येषां, तान् इभान् गजान् रथानश्वान् पराः श्रेष्ठाः योषितो दासीश्च प्राहिणोदिति सम्बन्धः ॥ १२ ॥

तदा यादवः पाण्डवाश्च बान्धवाः प्रीतिसंहृष्टाः प्रीतिरानन्दः, तेन संहृष्टाः विकसित मुखाः बभूवुः। अथ भक्तवात्सल्य प्रयुक्तं भगवतः चेष्टितं प्रस्तोतुं प्रतिजानीते-अथेति। भक्तयो विषयभूतयोः यद्वात्सल्यं तच्छृणु। कावमूभक्तौ? कीदृशं वा तयो र्वात्सल्यम्? इत्यतः प्रस्तोति - कृष्णस्येत्यादिना यावदध्यायसमाप्ति। श्रुतदेव इति श्रुतः विश्रुतः कृष्णस्य भक्त आसीत्। स च कृष्णे भगवति एकया एकान्तया अनन्यप्रयोजनयेतियावत्। तया भक्त्या पूर्णार्थः पूर्णमनोरथः अत एव शान्तः कविर्विद्वान् अलम्पटः चित्तविक्षेपरहितः ॥ १३ ॥

स श्रुतदेवः विदेहेषु देशेषु तत्राऽपि मिथिलायां पुरि गृहाश्रमी सन्नुषितवान् । अनीहया अनुद्यमेनैव आगतं यदाहार्यं भोज्यं तेन निर्वर्तिताः निजाः क्रियाः [1-]अतिथिपूजनादिकाः[-1] येन सः ॥ १४ ॥

---

1- -1 T.W. Omit

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

'यमेवैषवृणुते तेन लभ्यः, इत्यादि श्रुत्यर्थ दृढीकरणाय हरेः भक्तिप्रियत्व माहात्म्यं वक्ति। तत्र श्रुतदेव बहुलाश्वविषय मितिहासं शुकोवदति। वृष्णिष्विति। भक्तिमन्तरेण अन्यमर्थ मनाकाङ्क्षमाणः पूर्णार्थ इत्युच्यते। कृष्ण विषयगाथारचनात् कविः, अलम्पटः शब्दादि विषयेच्छारहितः ॥ १३ ॥

मिथिलायां नगर्यां गृहाश्रमे स्थितः, सभार्य इत्यर्थः। अनीहया अप्रयत्नेन आगताहार्यः प्राप्तप्राप्तव्यः प्राप्तभोज्यो वा नितरां वर्तिता सहस्रनामादि जपक्रिया येन स तथा। 'नित्यं नाम निकामयोः' (वै.ज.को.) इति यादवः ॥ १४ ॥

**[1]यात्रामात्र न्त्वहरह र्देवा दुपनमत्युत ।**
**नाऽधिकं तावता तुष्टः क्रियाश्चक्रे यथोचिताः[3] ॥ १५ ॥**

तथा तद्राष्ट्रपालोऽङ्ग[4] बहुलाश्व इति श्रुतः ।
मैथिलो निरहम्मान उभावप्यच्युतप्रियौ ॥ १६ ॥

तयोः प्रसन्नो भगवान् दारुकेणाऽऽहृतं रथम् ।
आरुह्य साकं[5-] मुनिभिर्विदेहान् प्रययौ प्रभुः[-5]॥ १७ ॥

नारदो वामदेवोऽत्रिः कृष्णो रामोऽसितोऽरुणः[6] ।
अहं बृहस्पतिः कण्वो मैत्रेय[7-] श्च्यवनादयः[-7] ॥ १८ ॥

तत्र तत्र तमायान्तं पौरा जानपदा नृप ।
उपतस्थु स्साध्यहस्ता[8] ग्रहै[9-] स्सूर्य[-9] मिवोदितम् ॥ १९ ॥

आनर्तधन्व कुरु जाङ्गल[10] वङ्गमत्स्य पाञ्चाल कुन्ति मधुकेकय कोसलार्णाः ।
अन्ये च तन्मुख सरोज मुदारहास स्निग्धेक्षणं नृप! पपु र्दृशिभिर्नृनार्यः ॥ २० ॥

---

1. M.Ma यावन्मा° 2. K.T.W. नयत्युत ;M.Ma नमत्ययं ; Ml.V. नतं च यत् 3. Ml.V. °दिताः 4. M.Ma °भूत् 5- -5. सहितो विप्रै नीतैर्ब्रह्मवादिभिः ॥
6. B. G. J. K. M. Ma.T.W. णिः 7- -7 M. Ma. यश्च पराशरः *Following extra half verse is found in M.Ma. वशिष्ठः कश्यपश्चैव भरद्वाजोऽथ गौतमः ।
8. M.Ma. °र्घ 9- -9 M.Ma.Ml.V. लोकाः सूर्य° 10. B.G.J. कङ्क ; M.Ma टङ्क

**श्रीध० यात्रामात्रमिति**। यात्रामात्रं शरीरादि निर्वाहमात्रं भोज्य मुपनमति तं प्रत्यागच्छति ॥ १५ ॥

**तथेति**। मिथिलस्य जनकस्य वंश्यो मैथिलः ॥ १६ ॥

**तयोरिति**। प्रभुरेव स्वयं विदेहान् देशान् प्रययौ ॥ १७ ॥

**नारद** इति। कृष्णो व्यासः, रामो भार्गवः, अहं शुकः एव मादिभिस्सह ॥ १८,१९ ॥

**आनर्तेति**। आनर्ताद्यर्णान्ता स्तद्देश वर्तिनो नृनार्यः पुरुषाः[1-] नार्यश्च[-1] उदारहासं स्निग्धमीक्षणं यस्मिं स्तत्। दृशिभिः नेत्रैः ॥ २० ॥

1- -1 B.J. Omit.

**वीर०** एतदेव प्रपञ्चयति - **यात्रामात्र मिति**। अयं श्रुतदेवः यात्रामात्रं शरीर निर्वाहमात्रोपयुक्त माहार्य महरहः दैवादुपनयति उपनयन्तं प्रतीक्षत इत्यर्थः। अधिकं यात्रा मात्रादधिकं नोपनयति। तावता यात्रामात्रेणैव तुष्टः उचिताः वर्णाश्रमोचिताः क्रियाः पञ्च महायज्ञादि रूपक्रियाः यथावच्चक्रे ॥ १५ ॥

**तथेति**। अङ्ग ! हे राजन् ! यथाऽयं श्रुतदेवः तथा तद्राष्ट्रपालः विदेहदेशाधिपः बहुलाश्व इति श्रुतः, विश्रुतः स मैथिलो जनकवंश्यः निरहम्मानः देहात्माभिमानरहितः। उभौ श्रुतदेव बहुलाश्वौ अच्युतस्य प्रियौ भक्तौ ॥ १६ ॥

**तयोरिति**। प्रसन्नः प्रसन्नो भवितुमित्यर्थः आहूत मानीतं मुनिभिः साकं मुनिभिस्सह ॥ १७ ॥

केऽमी मुनय इत्यत आह - **नारद** इति। कृष्णो द्वैपायनः रामो भार्गवः, अहं शुकः ॥ १८ ॥

**तत्र तत्रेति**। पुरेषु भवाः पौराः जन पदेषु देशेषु भवाः जानपदाः साघ्र्या हस्ता येषां ते ग्रहै र्गुरुशुक्रादिभिः सहोदितं सूर्यमिव समायान्तं तं भगवन्तमुपतस्थुः। अभूतोपमेयम् ॥ १९ ॥

**आनर्तेति**। हे नृप ! आनर्तादिदेशवर्तिनो जनाः तथा अन्ये च नराः नार्यश्य उदारो हासः स्निग्धे ईक्षणे च यस्मिंस्तत्तस्य भगवतो मुखसरोजं पपुः मुखसरोजलावण्यरूपं मकरन्दं नेत्र चषकैः पपुरित्यर्थः ॥ २० ॥

**विज०** ननु प्रयत्नाभावे कथं शरीरयात्राऽस्ये त्यत्राऽह - यावदिति। अनुदिनं यावन्मात्र मुपनमति दैवात्प्राप्तं भवति, अयं ततोऽधिकं नाऽऽकाङ्क्षते। तर्हि केनाप्यलम्बुद्धि रत्राऽऽह - तपसेति ॥ १५ ॥

यथा श्रुतदेवः ॥ १६ ॥

ततः किमायातमत्राऽऽह - **तयोरिति**। नियतैरेकान्तभक्तैः ॥ १७ ॥

मुनीनां नामानि निर्दिशति - नारद इत्यादिना ॥ १८ ॥

त उपतस्थुः निषेवयाञ्चक्रुः ॥ १९,२० ॥

**तेभ्यः स्ववीक्षण विनष्टतमिस्रदृग्भ्यः क्षेमं त्रिलोकगुरु रर्थदृशं च यच्छन् ।**
**शृण्वन् दिगन्त धवलं स्वयशोऽशुभघ्नं गीतं सुरै र्नृभि रगाच्छनकै र्विदेहान् ॥ २१ ॥**

**तेऽच्युतं प्राप्त माकर्ण्य पौरा जानपदा नृप ।**
**अभीयु र्मुदिता स्तस्मै गृहीतार्हणपाणयः ॥ २२ ॥**

**दृष्ट्वा तमुत्तमश्लोकं प्रीत्युत्फुल्लाननाशयाः ।**
**कैर्धृताञ्जलिभि र्नेमुः श्रुतपूर्वा स्तथा मुनीन् ॥ २३ ॥**

**स्वानुग्रहाय सम्प्राप्तं मन्वानौ तं जगद्गुरुम् ।**
**मैथिलः श्रुतदेवश्च पादयोः पेततुः प्रभो ॥ २४ ॥**

**न्यमन्त्रयेतां दाशार्हमातिथ्येन सहद्विजैः ।**
**मैथिलः श्रुतदेवश्च युगपत् संहताञ्जली ॥ २५ ॥**

**भगवां स्तदभिप्रेत्य द्वयोः प्रियचिकीर्षया ।**
**उभयो राविशद्गेह मुभाभ्यां तदलक्षितः ॥ २६ ॥**

---

1. M.I.V.नृपाः 2. G.J. त उ" 3. M.Ma "मला° 4. M.Ma उधृता° 5. M.Ma पूर्वयथा 6- -6 M. Ma सत्यभूतं 7. K.M.Ma.T.W. सन्न° 8. M.Ma.M.I.V. तयोः

**श्रीध० तेभ्य** इति। स्ववीक्षणेनैव विनष्टतमिस्रा दृग्येषां तेभ्यः क्षेममभयमर्थदृशं तत्त्वज्ञानञ्च ॥ ११ ॥

**त** इति। अभीयुः प्रत्युज्जग्मुः ॥ १२ ॥

**दृष्ट्वेति**। प्रीत्या उत्फुल्लानि आननानि आशयाः अन्तः करणानि येषां ते, कैः शिरोभिः ॥ १३-१५ ॥

**भगवानिति**। तदभिप्रेत्याङ्गीकृत्य तत्तदा उभाभ्या मपि ताभ्यां मद्गृहादन्यस्य गेहं याती त्यलक्षितोऽविदितः। यद्वा उभाभ्यां रूपाभ्यां तदलक्षितः ताभ्यामलक्षित इति ॥ १६ ॥

**वीर० तेभ्य** इति त्रिलोक गुरुर्भगवान् स्वदर्शनेन विनष्टा तमिस्रादृक् येषां तेभ्यः स्ववीक्षणमात्र निरस्ताज्ञानेभ्य इत्यर्थः। क्षेमं श्रेयो यथा भवति तथा अर्धदृशं प्रयच्छन् अपाङ्गदृष्ट्या तानवलोकयन्नित्यर्थः। अतिशुभ्रं निर्मलं दिगन्त धवलं दिगन्त व्याप्तं स्वयशः सुरैर्नृभिश्च गीतं शृण्वन् शनैर्विदेहान् देशान् अगाद्ययौ ॥ २१ ॥

**त** इति। ते वैदेहाः पौरा जानपदाश्च गृहीत मर्हणं ये स्ते पाणयो येषां ते तस्मै भगवतेऽभीयुः प्रत्युज्जग्मुः। तमभिययुरित्यर्थः। यद्वा तस्मै इत्यनेन सापेक्षस्याऽपि गृहीतार्हणेत्यस्य आर्षत्वा त्समासः। तं वा इति पाठान्तरम् ॥ २२ ॥

दृष्ट्वेति। प्रीत्या उत्फुल्ल माननमाशयश्च येषां ते विदेहदेशवासिनो जना स्तं कृष्णं तथा श्रुतपूर्वान्मुनींश्च, नतु दृष्टपूर्वान्, निबद्धाञ्जलिभिर्नेमुः 'कैर्धृताञ्जलिभि' रिति पाठे न्यस्ताञ्जलिभिः शिरोभिः इत्यर्थः ॥ २३ ॥

**स्वानुग्रहायेति।** मैथिलः श्रुतदेवश्च जगद्गुरुं भगवन्तं स्वानुग्रहार्थमागतं मन्वानौ प्रभोः श्रीकृष्णस्य पादयोः निष्पेततुः ॥ २४ ॥

**न्यमन्त्रयेतामिति।** सन्नतौ नमस्कुर्वन्ता वञ्जली ययो स्तौ द्विजै र्मुनिभिः सह सहितमित्यर्थः। दाशार्हं भगवन्तं आतिथ्येन आतिथ्यार्थं युगपदेव न्यमन्त्रयेतां निमन्त्रितवन्तौ ॥ २५ ॥

**भगवांस्त्विति।** तन्निमन्त्रण मभिप्रेत्य अङ्गीकृत्य द्वयोरपि प्रियं कर्तुमिच्छया तत्तदा उभाभ्या मपि ताभ्यां मद्गृहा दन्यस्य गेहं समायातीत्यलक्षितः अविदितः उभयोरपि गृहान् अविशत् ॥ १६ ॥

**विज०** सेवाफलमाह - **तेभ्य** इति। स्ववीक्षणेन दर्शनेन विनष्टं तामिस्रं यस्या सा तथा विनष्टतामिस्रा निरस्ताज्ञाना दृक् ज्ञानं येषां ते तथा तेभ्यः, तेभ्यः पौरेभ्यः क्षेमं यच्छन् अर्थदृश मपरोक्ष ज्ञानं च ददन् एकस्मिन् दिगन्तेऽपि अनन्यथा गीयमानत्वात् दिगन्तधवलम् ॥ २१,२२ ॥

'स्वधृताञ्जलिरिति' रिति पाठे के मूर्ध्नि धृताञ्जलि पुटै रित्यर्थः ॥ २३ ॥

सत्यभूतं निर्दोषानन्द ज्ञानघनम् ॥ २४ ॥

निमन्त्रयेताम् भोजनार्थक्षणं कृतवन्तौ आतिथ्येन अतिथियोग्येन कर्मणा ॥ २५ ॥

तदलक्षितः ताभ्यां रूपाभ्या मलक्षितः अज्ञातरूपद्वय इत्यर्थः ॥ २६ ॥

**श्रोतु मप्यसतां दूरान् जनकः स्वगृहागतान् ।**
**आनीतेष्वासनाग्र्येषु सुखासीनान्महामनाः ॥ २७ ॥**

**प्रवृद्धभक्त्या उद्धर्ष हृदयास्रा विलेक्षणः ।**
**न त्वा तदङ्घ्रीन् प्रक्षाल्य तदपो लोकपावनीः ॥ २८ ॥**

**सकुटुम्बोऽवहन्मूर्ध्ना पूजयाञ्चक्र ईश्वरान् ।**
**गन्धमाल्याम्बराकल्प धूपदीपार्घ्य गोवृषैः ॥ २९ ॥**

**वाचा मधुरया प्रीणन्निदमाहाऽन्नतर्पितान् ।**
**पादावङ्कगतौ विष्णोः संस्पृशन् शनकैर्मुदा ॥ ३० ॥**

**बहुलाश्व उवाच**

**भवान्हि सर्वभूताना मात्मा साक्षी स्वदृग्विभो ।**
**अद्यनस्त्वत्पदाम्भोजं स्मरतां दर्शनं गतः ॥ ३१ ॥**

**स्ववचस्तदृतं कर्तु मस्म दृग्गोचरो भवान् ।**
**यदाऽऽत्यैकान्त भक्तान्मे नाऽनन्तः श्रीरजः प्रियः ॥३२॥**

---

1. K.T.W. "यशाः 2- -2 M.Ma भक्त्यु त्कर्ष ; MI.V. भक्तिरुद्धर्ष 3. MI.V. "यो" 4. MI.V. वाण्या 5- -5 M.Ma आमृजच्छ" 6. M.Ma. "न्वे 7. M.Ma "ग्विभुः ; MI.V. "ग्प्रभो 8. B.G.J.M.Ma. MI V. अथ 9- -9 M.Ma भक्तानामात्मानान्तोऽरजाः ।

**श्रीध० प्रवृद्धेति**। उद्धर्ष मुद्रतहर्ष हृदयं यस्य अस्रै राविले क्लिन्ने ईक्षणे यस्य सः। स च स च ॥ २७,२८ ॥

**सकुटुम्ब** इति। ईश्वरान्, ईश्वरं, तत्तुल्यांश्चेत्यर्थः ॥ २९ ॥

**वाचेति**। प्रीणन् प्रीणयन्, संस्पृशन् सम्मर्दयन् ॥ ३०॥

**भवानिति**। आत्मा चेतयिता साक्षी प्रकाशकः स्वदृक् स्वप्रकाशः अथातः कारणात् ॥ ३१ ॥

**स्ववचेति**। अनन्तो बन्धुरपि श्रीःभार्याऽपि अजः पुत्रोऽपि ॥ ३२ ॥

**वीर० श्रोतुमिति**। असतां श्रोतुमपि दूरान् स्वगृहागतान् आनीय समर्पितेषु श्रेष्ठेष्वासनेषु सुखासीनान् नत्वेत्युपरिष्टा त्सम्बन्धः। कथम्भूतः प्रवृद्धभक्त्या उद्धर्ष मुद्रतहर्ष हृदयं यस्य अस्रैरानन्दाश्रुभिः अविले व्याप्ते ईक्षणे यस्य स चाऽसौ स च। तेषामङ्घ्रीं पादौ प्रक्षाल्य ताः लोकपावनी रपः मूर्ध्नावहन् गन्धादिभिः ईश्वरान् पूजयामास। आकल्पोऽलङ्कारः तत्र ईश्वरशब्दः ईश्वरात्मक परः ॥ २७-२९ ॥

**वाचेति**। ततोऽत्रेन तर्पितान् मधुरया वाचा प्रीणयन् अङ्कगतौ विष्णोः कृष्णस्य पादौ संस्पृशन् पादा वङ्के निधाप्य संस्पृशन् इत्यर्थः। मुदा हर्षेण इदं वक्ष्यमाणमाह ॥ ३०॥

तदेवाऽऽह - **भवानिति** षड्भिः। हे विभो! हि यस्मात् भवानात्मा अन्तरात्मा साक्षाद्रष्टा स्वदृक् अनन्याधीन प्रकाशश्च अथातो मदभिप्रायं जानन् त्वत्पदाम्भोजं स्मरतां नोऽस्माकं दर्शनं प्राप्तः ॥ ३२ ॥

किञ्च **स्ववच** इति। यस्मात् एकान्त भक्ता दनन्यप्रयोजन भक्तियुक्तात् ममाऽनन्तः शेषः सखाऽपि श्रीर्लक्ष्मी र्भार्याऽपि अजो ब्रह्मा पुत्रोऽपि न प्रिय इति यत् आत्थ उक्तवा नसि तत् स्ववचो दृढीकर्तुं भवानस्माकं दृग्गोचरो दृग्विषयो बभूव ॥ ३१ ॥

**विज०** अथ बहुलाश्वः ईश्वरं पूजयाञ्चक्रे इत्यन्वयः। तान्नत्वा कीदृशान् श्रोतु मपि दूरान् कर्णाविषयान् ॥ २७ ॥

अति वृद्धभक्त्युत्कर्ष हृदयश्चास्राविलेक्षणश्च स तथा अस्रं नेत्रजलम् ॥ २८ ॥

कैस्साधनैरत्राऽऽह - गन्धेति ॥ २९ ॥

आमृजन् संवाहनं कुर्वन् ॥ ३० ॥

सुहृदिति यदथ तस्मात् ॥ ३१ ॥

दर्शन हेतुमाह - **स्ववच** इति। भवान् 'प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थ महं स च मम प्रियः' (भ.गी. 7-17) इति यत्स्ववचः, तद्दतं कर्तुं अस्मद्दृग्गोचरोऽभूदित्यन्वयः। भक्तेनाऽपि कृतज्ञेन भाव्यमिति भावेनाऽऽह - यदेति। आत्मा स्वामी अनन्तः अन्तत्रयहीनः अरजाः सात्त्विकः त्वमेकान्त भक्तानां प्रिय इति यदा यस्मात्तस्मात् ॥ ३२ ॥

**कोनुत्वच्चरणाम्भोज मेवं विद्विसृजेत्पुमान् ।**
**निष्किञ्चनानां शान्तानां मुनीनां यस्त्वमात्मदः ॥ ३३ ॥**

**योऽवतीर्य यदो वंशे नृणां संसरतामिह ।**
**यशो वितेने तच्छान्त्यै त्रैलोक्यवृजिनापहम् ॥ ३४ ॥**

**नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाऽकुण्ठमेधसे ।**
**नारायणाय ऋषये सुशान्तं तप ईयुषे ॥ ३५ ॥**

**दिनानि कतिचित्भूमन् गृहान्नो निवसन्द्विजैः ।**
**समेतः पादरजसा पुनीहीदं निमेः कुलम् ॥ ३६ ॥**

**इत्युपामन्त्रितो राज्ञा भगवान् लोकभावनः ।**
**उवास कुर्वन्कल्याणं मिथिला नरयोषिताम् ॥ ३७ ॥**

**श्रुतदेवोच्युतं प्राप्तं स्वगृहाञ्जनको यथा ।**
**नत्वा[8] मुनींश्च[9-] संहृष्टो[-9] धुन्वन् वासो ननर्त ह ॥ ३८ ॥**

---

1. K.T.W. किं नु 2. M.Ma "त्प्रभो। 3- -3 K. अचिनोत्स्वं 4. M.Ma विकृतापहः॥ 5. M. Ma स्वशान्तं ; K.T.W. सशान्तं 6. B.G.J. "स द्वि ; M.Ma "सन्नि" 7. K.पा" 8. M.Ma. मत्वा 9- -9 B.G.J. मनीन् सु संहृष्टो ; M.Ma.T.W. मुनींश्च संतु"

**श्रीध० य** इति। तच्छान्त्यै संसारोपशमाय ।। ३३-३५ ।।

**दिनानीति**। गृहान् गृहेष्वित्यर्थः ।। ३६,३७ ।।

**श्रुतदेवेति**। धुन्वन् परिभ्रमयन् ।। ३८ ।।

**वीर०** तस्मादेवं विधं त्वच्चरणाम्भोजं पुमान्विसृजेत् किन्नु! न त्यजत्येवेत्यर्थः। किञ्च यद्यस्मात् निष्किञ्चिनानां नास्ति किञ्चन प्रार्थनीयं येषां तेषां शान्तानां जितान्तः करणानां मुनीनां त्वमात्मदः निरतिशयपुरुषार्थभूतमात्मानं ददाति स्ववशीकरोतीति तथा। तस्माच्च विसृजेत्किन्त्विति सम्बन्धः ॥ ३३ ॥

सत्यम्। इत्थम्भूतस्तु ईश्वरो, न त्वहमित्यत आह - **य** इति। इह प्रकृतिमण्डले संसरतां जीवानां तच्छान्त्यै सांसारिकतापत्रयोपशमनाय यदोर्वंशे अवतीर्य य स्त्रिलोकवृजिनापहं त्रैलोक्यपापहरं स्वं स्वासाधारणं यशोऽचिनोत् सम्पादितवान् तस्मै भगवते तुभ्यं नमः इत्यन्वयः। सर्वेश्वर एव त्वं लोकोज्जिजीविषया अवतीर्ण इति भावः ॥ ३४ ॥

एवं विधाय तुभ्यं न प्रतिकर्तुं शक्नुमः, किन्तु केवलं नमस्कुर्म इत्यभिप्रेत्य नमस्करोति **नम** इति। कृष्णाय लोकसुखकराय अकुण्ठ मेधसे कृतज्ञतमाय सं शान्तिं शान्तिकरं लोकक्षेमावहं तप ईयुषे प्राप्ताय अधिकुर्वत इति यावत्। नारायणाय ऋषये तद्रूपेणावस्थिताय तस्मै पूर्वोक्तविधाय भगवते तुभ्यं नमः ॥ ३५ ॥

अभिप्रेतं निवेदयति - **दिनानीति**। हे भूमन्! द्विजैर्मुनिभिः समेत स्सहित स्त्वं नोऽस्माकं गृहे कतिचिद्दिनानि निवसन् पादरजसा इदं निमेः कुलं पुनीहि पवित्रीकुरु ॥ ३६ ॥

**इतीति**। उपामन्त्रितः प्रार्थितः लोक पावन इति हेतुगर्भम्। अतो मिथिलायां पुरि नराणां योषिताञ्च कल्याणं कुर्वन् कर्तुमित्यर्थः। उवास उषितवान् ॥ ३७ ॥

**श्रुतदेव** इति। जनको जनकवंश्यत्वात् बहुलाश्वो यथा तथा श्रुतदेवोऽपि स्वगृहं (प्रति) प्राप्तमच्युतं मुनींश्च नत्वा नितरां हृष्टः, अत एव वासः उत्तरीयं धुन्वन् उत्क्षिपन् ननर्त हेति हर्षे ॥ ३८ ॥

**विज०** एवंवित् उक्तार्थज्ञः कोनु पुरुषः त्वच्चरणाम्भोजं विसृजेत् कृतज्ञश्चेन्न मुञ्चतीत्यर्थः। एकान्तभक्तप्रियोऽयं किं ददातीति तत्राऽऽह - निष्किञ्चनानामिति ॥ ३३॥

लोकोपकारायाऽवतारो न तु स्वार्थायेत्याह - य इति। तच्छान्त्यै संसारोन्मूलनाय त्रैलोक्यस्य विकृतान् विरोधिनोऽपहन्तीति त्रैलोक्य विकृतापहः। विकृतं दुष्कृतम् ॥ ३४॥

शान्तं सुखपूर्तिः तपः ज्ञानं निर्दोषपूर्णानन्दज्ञानम्, ईयुषे प्राप्तवते ॥ ३५॥

राजा स्वगृहनिवासाय भगवन्तं प्रार्थयते - **दिनानीत्यादिना** ॥ ३६॥

मिथिलायां विद्यमानानां नरयोषिताम् ॥ ३७॥

तत्र श्रुतदेवेन किन्नु कृत मत्राऽऽह - **श्रुतदेव** इति। स्वगृहान् प्राप्त मच्युतं मत्वा ज्ञात्वा ॥ ३८॥

**तृणपीठ[1] बृसीष्वेता नानीतेषूपवेश्य सः ।**
**स्वागते नाभिनन्द्याङ्घ्रीन् सभार्योऽवनिजेमुदा ॥ ३९॥**

**तदम्भसा महाभाग आत्मानं सगृहान्वयम् ।**
**स्नापयाञ्चक्र उद्धर्षो लब्धसर्वमनोरथः ॥ ४०॥**

**[2]र्हणोशीरशिवामृताम्बुभिः[3] मुदा सुरभ्या तुलसी कुशाम्बुजैः ।**
**आराधयामास यथोपपन्नया सपर्यया सत्त्व विवर्धनान्धसा ॥ ४१॥**

**सतर्कयामास कुतो ममान्वभू[5] दृहान्धकूपे पतितस्य सङ्गमः ।**
**यस्सर्वतीर्थास्पदपादरेणुभिः कृष्णेन चास्मात्मनिकेत[6] भूसुरैः ॥ ४२॥**

**सूपविष्टान्कृतातिथ्यान् श्रुतदेव उपस्थितः ।**
**सभार्य स्वजनापत्य उवाचाङ्घ्र्यभिमर्शनः[7] ॥ ४३॥**

## श्रुतदेव उवाच

**सोऽद्य नो दर्शनं प्राप्तः परं परम पूरुषः ।**
**य इदं शक्तिभिः सृष्ट्वा प्रविष्टोन्वात्मसत्तया ॥ ४४॥**

---

1- -1 M. Ma °ठे सशिष्यांस्तानास्तृतेषु ; Ml.V. °ठ बृसीष्वेतानासनेषु 2. M.Ma. सिद्धा 3. M.Ma °म्भसा° 4. M.Ma °मानया ॥ 5. M.Ma °पतत्रृ° 6. M. Ma °ध्या° 7. M. Ma °नम् ॥ 8. B.G.J. नाद्य ; M. Ma अद्य 9. B.G.J. यर्हीदं 10- -10 B.G.J. प्रविष्टोह्यात्म° : M. Ma विभजत्यात्म°

**श्रीध० तृणेति**। अवनिजे अर्वानि निजे प्रक्षालितवान् ॥ ३९,४० ॥

फलेति। फलै रामलकादिभिः अर्हणेन उशीरैः तृणविशेषमूलैः सुवासितैः शिवै रमृतवत्स्वादुभि रम्बुभिः सुरभ्या मृदा कस्तूरी प्रमुखया सपर्यया पूजया यथोपपन्नयाऽनायासेन सम्पन्नया भूतानुपद्रवलब्धत्वात् सत्त्वविवर्धनं यदन्धोऽन्नं तेन च ॥ ४१ ॥

**स** इति। यस्य श्रीकृष्णस्य आत्मा मूर्तिः तस्य निकेतैः स्थान विशेषैः भूसुरैश्च सर्वतीर्थास्पदपादरेणुभिः कृष्णादिभिः यः सङ्गमः स मम कुतोन्वभूदिति। अनु इति विस्मये। यद्वा, आ इति वितर्के तु इति विस्मये ॥ ४२ ॥

**सूपविष्टानिति**। उपस्थितः समीप उपविष्टः भार्या भर्तव्याः स्वजनाः अपत्यानि च तैस्सहितः श्रीकृष्णस्याङ्घ्रि मभिमृशति सम्मर्दयतीति अङ्घ्र्यभिमर्शनः ॥ ४३ ॥

**स** इति। यर्हीदं प्रविष्ट स्तदैव दर्शनं प्राप्त इति स एव सन्मात्रोनाद्यातनीभूत स्त्वमित्यर्थः। यद्वा नोऽस्मा नद्यैव प्राप्त इति न किन्तु तदैव प्राप्तो यर्हीदं विश्वं स्वशक्तिभिः सत्वादिभिः सृष्ट्वा स्वसत्तया अनुप्रविष्ट स्त्वम् त्वद्दर्शनन्तु परं केवलमद्यैव प्राप्तम् ॥ ४४ ॥

**वीर० तृणेति**। स श्रुतदेवः आनीतेषु तृणमयेषु पीठेषु चाऽऽसनेषु च ता नुपवेश्य स्वागतप्रश्नपूर्वक मभिवन्द्य सभार्यो मुदा हर्षेण अङ्घ्री नर्वानिजे अवनिनिजे प्रक्षालितवान्। अभ्यास लोप आर्षः ॥ ३९ ॥

**तदम्भसेति**! हे महाभाग! तदम्भसा अङ्घ्रिजलेन स्वयमेवाऽऽत्मानं देहं स्वगृहांश्च स्नपयामास कथम्भूतः? उद्धर्षः उत्कटो हर्षः यस्य सः लब्धः सर्वमनोरथो येन सः ॥ ४० ॥

**फलेति**। फलानि चार्हणानि च गन्ध पुष्पधूपदीपादीनि उशीराणि सुगन्धितृण विशेषमूलानि च शिवानि निर्मलानि अमृत

तुल्यान्यम्बूनि च तैः सुरभ्या मृदा कस्तूर्या तुलस्या कुशै रम्बुजैश्च सत्त्वविवर्धनान्धसा सत्त्ववर्धकान्नेन जात्याश्रयनिमित्ता दुष्टान्नेन च इत्यर्थः। एभिः कृत्वा यथोपपन्नया अनायासेन सम्पन्नया सपर्यया पूजया आराधयामास ॥ ४१ ॥

**स** इति। स श्रुतदेव तर्कयामास। तर्कमेव दर्शयति - कुत इति गृहमेवान्धकूपः तस्मिन् पतितस्य मम कृष्णेन तथा अस्य कृष्णस्य आत्मनो मूर्तेः निकेतैः स्थानभूतैः भूसुरैश्च कथम्भूतैः सर्वतीर्थानामास्पदान्याश्रयाः पादरेणवो येषां तथाभूतैः सः यः सङ्गमः स कुतोऽन्वभूत्। अन्विति विस्मये ॥ ४२ ॥

**सूपविष्टा** निति। कृत मातिथ्यं यैः तानुपस्थितः समीप उपविष्टः स्वगृहा नापन्नं प्राप्तं भगवन्तं अङ्घ्र्याभिमर्शनः अङ्घ्री अभिमृशन्नाह उवाच ॥ ४३ ॥

उक्तिमेवाह-**सोऽद्येत्यादिना**। तावत् तद्दर्शनेनाऽऽत्मनः कृतार्थता मभिप्रयन्नाह स इति। स तादृशः परः प्रकृतिपुरुष विलक्षणः, अतएव परमः पर उत्कृष्टो मा यस्मात् सचाऽसौ पुरुषस्त्वं नोऽस्माकं दर्शनं प्राप्तः। कीदृशः यो मायया आत्मसङ्कल्पेन इदं जगत्सृष्ट्वा आत्मसत्तया, आत्मन स्सत्ता सदैकरूपता सदैकरूपेणात्मस्वरूपेणाऽनु प्रविष्टः ॥ ४४ ॥

---

1. B. स्ना°

**विज०** तृणपीठे कटे अवनिजे प्रक्षालयामास ॥ ३९,४० ॥

सिद्धार्हणं सर्षपः उशीरं वालव्यजनं जया वा, शिवा श्रेयसी अमृता प्रसिद्धा एताभिर्युक्तेन जलेन सुरभ्या सुगन्धया मृदा सत्त्वेनाऽऽत्मशक्त्या विवर्धमानया ॥ ४१ ॥

सर्वतीर्थाना मास्पदपादरेणुभिः आश्रय चरणरेणुभिः सह कृष्णेन आध्यात्मा परमात्मा निकेतो निलयः आश्रयो येषां ते अध्यात्म निकेताः तैः भूसुरैः ब्राह्मणैश्च यः सङ्गमः स गृहान्धकूपे पतितस्य मम कुतोऽपतत् तस्मात्त्वत्पुण्या दभूदिति तर्कयामास अचिन्तयत् इत्यन्वयः ॥ ४२ ॥

अङ्घ्र्यभिमर्शनं पादसम्मर्दनं कुर्वन् ॥ ४३ ॥

किमाहेत्याशङ्क्य कृष्णनामा वेदान्तप्रतिपाद्यः साक्षात् श्रीनारायण एव न देवदत्तादिषु एक इति भावेनाऽऽह अद्येति। यः सत्त्वादिगुणसृष्टाभिः शक्तिभिः महदादिभिः इदं जगत् सृष्ट्वा आत्मसत्तया ब्रह्मव्यतिरिक्तेन विविधाकारेण विभजति 'तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनु प्राविशत्' (तैत्ति.उ.2-6) इति श्रुतेः। स एवं परमपुरुषः श्रीकुष्णः अद्यनो दर्शनं प्राप्तो नाऽन्य इति शेषः ॥ ४४ ॥

**यथा शयानः पुरुषो मनसैवात्ममायया ।**
**सृष्ट्वा लोकं परं स्वाप्नमनुविश्याऽवभासते ॥ ४५॥**

**शृण्वतां गदतां शश्वदर्चतां त्वाऽभिवन्दताम् ।**
**नृणां संवदतामन्तर्हृदि भास्यमलात्मनाम् ॥ ४६ ॥**

**हृदिस्थोऽप्यति दूरस्थः कर्मविक्षिप्तचेतसाम् ।**
**आत्मशक्तिभिरग्राह्योऽप्यन्त्युपेत गुणात्मनाम् ॥ ४७ ॥**

**नमोऽस्तुतेऽध्यात्मविदां परात्मने ह्यनात्मने स्वात्मविभक्तमृत्यवे ।**
**सकारणाकारणलिङ्गमीयुषे स्वमायया संवृतरुद्धदृष्टये ॥ ४८ ॥**

1- -1 M. Ma "वरुध्याऽव" 2- -2 M. Ma "हर्शिनामभिनन्द" 3- -3 M. Ma संवसतां नित्यं हृदिस्थोयोऽ" 4. M. Ma °थ" 5- -5 M. Ma ह्यो हि अर्थाकारो गुणात्मकः ॥ 6. M.Ma सर्वात्मने 7. M.Ma मूर्तये 8- -8 M. Ma दृष्टये नमः ॥

**श्रीध०** मायासृष्टि प्रवेशयोरविद्या सृष्टि प्रवेशौ दृष्टान्ततया आह - **यथेति**। आत्ममायया स्वाविद्यया यद्वा - अत्मनस्तव माययेति ॥ ४५ ॥

किञ्च शृण्वतामिति। नित्यं श्रवणकीर्तनादि पराणाम् अमलात्मनामपि हृद्येव त्वं भासि। मम तु लोचनगोचरः त्वमहोभाग्यमिति भावः ॥ ४६ ॥

ननु सर्वेषां हृदि स्थितः कथं केषाञ्चिदेव हृदि भासि मेघैः सूर्यवज्जीवोपाधिभिः आवृतत्वादिति यद्युच्यते तर्हि न कस्याऽपि भयादित्यत आह - हृदिस्थोऽपीति। कर्मभिर्विक्षिप्तं चेतो येषां तेषां आत्मशक्तिभिः अहङ्कारादिभिः अग्राह्योऽप्यवहितोऽप्युपेत गुणः प्राप्तश्रवणकीर्तनादि संस्काराऽत्मा अन्तः करणं येषां तेषां अन्ति समीपे अव्यवहितः त्वं इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

**एतदेव** प्रपञ्चयन् नमस्यति **नम** इति। तुभ्यं नमोऽस्तु। अध्यात्मविदां निवृत्तदेहाद्यहङ्काराणां परात्मने परमात्मत्वेन प्रकाशमानाय मोक्षप्रदायेत्यर्थः। अनात्मने देहाद्यभिमानिने जीवाय परत्वेनाऽप्रकाशमानत्वात् स्वात्मनस्सकाशाद्विभक्तः समर्पितो मृत्युः संसारो येन तस्मै। कुतएतत्तत्राऽऽह - सकारणं महदादिकार्यम् अकारणं प्रकृतिस्तदुभयलिङ्गमुपाधिं नियन्तृनियम्यतया ईयुषे प्राप्तवते अत उभयनियन्तुः स्वस्मात्सकाशात् उभयवश्याय जीवाय विभक्तमृत्यव इत्यर्थः।

नियन्तृनियम्यत्वे कारणं वदन्नाह - हे स्वमायया संवृतेति। अतोऽलुप्तैस्वयंत्त्वा तन्नियन्त्रे तुभ्यं नमः। किञ्च रुद्ध दृष्टये मायावित्वादेव अन्येषां रुद्धा आवृता दृष्टिर्येन तस्मै। यद्वा - स्वमायया स्वस्याऽसंवृता अन्येषां रुद्धा दृष्टिर्येन तस्मै इत्येकं पदम् ॥ ४८ ॥

---

1. B.J. Omit नियन्तृ

**वीर०** तत्र दृष्टान्तः **यथेति**। अत्र पुरुषशब्दो जीवशरीरक परमात्मपरः जीवस्य स्वप्नार्थस्रष्टृत्वा योगात्। तदयमर्थः - यथा शयानः पुरुषः पुरुषशरीरकः परमात्मा मनसा स्वशरीर भूत जीवमनोरथानुसारिण्या अत्मनः स्वस्य मायया सङ्कल्पेन परं शयानदेहादन्यं स्वाप्नं सुषुप्तजीवकर्मानुगुणं तदेकानु भाव्यं तत्कालमात्रावस्थायिनं च लोकं देहमनुप्रविश्य तज्जीवमनोरथानुगुणेन सङ्कल्पेन अनुप्रविश्य अवभासते जीवानुभाव्य देशान्तर गमन राज्याभिषेक शिरश्छेदनादिभिः साक्षादस्पृष्ट एव प्रकाशते जगत्सर्ग तदनुप्रवेशयोः स्वाप्नसर्गतदनुप्रवेशौ। दृष्टान्तौ उभयत्र जीवद्वारकोऽनु प्रवेशो व्याप्यगत दोषास्पर्शश्च तुल्यः ॥ ४५ ॥

ननु मद्दर्शनं दुर्लभं किमिति मन्यसे इत्यत आह -शृण्वतामिति। शश्वत्सदाश्रवणादिकं कुर्वता मतएवाऽमलात्मनां परिशुद्धान्तः करणानां नृणां अन्तः हृद्येव भासि, नतु चक्षुर्विषयो भवसीति ॥ ४६ ॥

हृदिस्थ इति। कर्मणा विक्षिप्तं चेतो येषां तेषान्तु हृदिस्थोऽप्यतीव दूरस्थः। एवं कस्यापि अचक्षुर्विषयस्त्वं मद्दृग्विषयोऽसि अतो दुर्लभं त्वद्दर्शनं मया लब्धमिति भावः। ननु हृदिस्थत्व मतिदूरस्थत्वञ्च परस्परविरुद्धं कथमिव घटते इत्यत आह - आत्मशक्तिभिरिति। उपेताः गुणाः रजस्तमस्तत्कार्यकाम क्रोधमोहादयो येन सः आत्मा मनो येषां तेषामन्ति समीपस्थोऽपि आत्मशक्तिभिः देहात्माभिमान स्वतन्त्रात्माभिमानाद्यापादनद्वारा त्वद्याथात्म्यानापादकमायादिशक्तिभिः हेतुभिः अग्राह्यः। एतदेवाऽतिदूरस्थमिति न विरोधइति भावः ॥ ४७ ॥

न केवलम् अमलात्मनामन्त र्हृदि भासमान एव कर्मविक्षिप्त चेतसामग्राह्य एव, अपितु मोचको बन्धकश्चेति वदन्प्रणमति - नमोऽस्तु ते इति अध्यात्मविदां त्वद्याथात्म्यवेदिनां परात्मने प्राप्यायात्मने न विद्यते युक्तस्त्वयि निवेशित आत्मा येषां तेषां स्वात्मविभक्तमृत्यवे स्वात्मना स्वसङ्कल्पेन विभक्त स्समर्पितः मृत्युर्येन तस्मै। अनात्मने इति पाठे व्यापकान्तरशून्यायेत्यर्थः। ननु बन्धमोक्षहेतुत्वं वदन् मयि किं वैषम्यमापादयसीत्यतो विशिनष्टि-सकारणेति। सकारणमनुग्रह हेतुकं अकारणं अकर्महेतुकं लिङ्गं शरीर मीयुषे प्राप्तवते सर्व लोकोज्जिजीविषया स्वेच्छोपात्ताकर्ममूलदिव्य मङ्गल विग्रहाय, अतो न वैषम्य मस्तीति भावः। तर्हि सर्वान् किं न मोचयसीत्यतो विशिनष्टि - स्वमायया संवृता मोहिताः येषां

रुद्धा दृष्टिर्ज्ञानं यस्मिन् विषयभूते तस्मै त्वन्मायामोहितानां त्वद्याथात्म्यावेदिनां मुक्तिं अप्रयच्छन्नत्वं विषमः न ह्यभजतां कामा न प्रयच्छन् सुरद्रुमो विषम इति भावः ॥ ४८ ॥

**विज०** ननु सन्घटः सन्पट इति सदनु विद्धतया प्रतीतेः ब्रह्मव्यतिरिक्तं जगन्नास्तीत्याशङ्क्य सदृष्टान्तं परिहरति यथेति। यथा शयानः स्वपन् पुरुषः आत्मनः परमात्मनः मायया इच्छया प्रबोधितेन स्वमनोगत करि तुरगादि संस्कारेणैव परं स्वव्यतिरिक्तं स्वाप्नं लोकं सृष्ट्वा अवरुध्य स्वविषयी कृत्य अवभासते पृथक् प्रकाशते तथा भगवान् जगति स्थितोऽपि ततो व्यतिरिक्तमात्मानं प्रकाश्य तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ४५ ॥

अलौकिक सिद्धवस्तुसत्तायां किं प्रमाणमिति तत्राऽऽह - शृण्वतामिति। यः स्वकथां शृण्वतां गदतां हृदिस्थ इत्यनेन श्रवणवचने प्रमाणत्वेन ज्ञातव्य इति दर्शितं शश्वद्दर्शिनां अभिनन्दतां संवसतां अमलात्मनां नृणां नित्यं हृदिस्थ इत्यनेन प्रत्यक्षप्रमाणं दर्शितमिति ॥ ४६ ॥

नन्वेवं तर्हि कस्मान् मादृशानां तज्ज्ञानाभाव इत्याशङ्क्य उपासनाभावात् उपासनञ्च कर्म प्रतिबद्धमिति भावेनाऽऽह - हृदिस्थ इति। उपासकैरपि न स्वप्रयत्नेन ज्ञेयः किन्तु स्वप्रसादेनैवेत्याशयेनाऽह आत्मेति। आत्मनां जीवानां शक्तिभिः प्रयत्नादिलक्षणाभिः अग्राह्यो न ज्ञेयः मुह्यन्ति यं सूरय इत्यादिस्वोक्तिं स्मारयति। हि शब्देन देवदत्त वच्छरीरीचेत् कथम ग्राह्य इत्यत्राऽऽह - अर्थाकार इति। अर्थ्यत इत्यर्थः। आनन्दः। ऋगतौ इति धातुः यद्वा अर्थशब्देन ज्ञानञ्च ज्ञानानन्ददेह इत्यर्थः। अर्थो वस्तु अप्रतिहतं तदाकार इति वा। कुत एव अङ्गीकारइत्यत्राऽऽह अगुणात्मकं इति सत्त्वादि गुणनिर्मित देहवान्नभवति। एवंविधस्त्वमस्माकं दर्शनं प्राप्त इति पूर्वेणान्वयः ॥ ४७ ॥

एवं विधत्वान्मम नमनमन्तरेण त्वदुपासनं दुस्साध्य मिति भावेनाऽऽह - **नम** इति। अध्यात्मविदां परमात्मादि तत्त्वज्ञानिनां परमात्मने अशेष पुरुषार्थ दात्रे सर्वात्मने सर्व व्यापिने स्वात्मविभक्त मूर्तये स्वात्मनैव विभक्तस्वरूपाय सकारणं जगदकारणलिङ्गम् अकारणं कारणन्तरशून्यस्वरूपं प्रधानमेवं द्वे ईयुषे व्याप्तवते स्वमायया स्व सामर्थ्येन असंवृतदृष्टये अव्यवहित ज्ञानाय ॥ ४८ ॥

**सत्वं शाधि स्वभृत्यान्नः किन्वीश करवाम ते ।**
**एतदन्तो नृणां क्लेशो यद्भवानक्षिगोचरः ॥ ४९ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**तदुक्तमित्युपाकर्ण्य भगवान् प्रणतार्तिहा ।**
**गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रहसंस्त मुवाच ह ॥ ५० ॥**

**[4-] श्रीभगवानुवाच [-4]**

**ब्रह्मं स्तेऽनुग्रहार्थाय सम्प्राप्तान् विद्ध्यमून्मुनीन् [5] ।**
**सञ्चरन्ति मयालोकान् पुनन्तः पादरेणुभिः ॥ ५१ ॥**

**देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि दर्शनस्पर्शनार्चनैः ।**
**[6-] शनैः पुनन्ति [-6] कालेन तदप्यर्हत्तमेक्षया ॥ ५२ ॥**

---

1. B.G.J.K.T.W किं देव ; M.Ma किञ्चेष 2. B.G.J °महे। 3. J.M.Ma °क्ष 4- -4 K.T.W.Omit 5. Ml.V. द्विजान् 6- -6 K.T.W पुनन्ति चिर : M.Ma लोकान् पुनन्ति

**श्रीध० स** इति स एवम्भूतः परमेश्वरस्त्वं नोऽस्मान् स्वभृत्यान् शाधि अनुशिक्षय ॥ ४९,५० ॥

स्वस्मिन्नादरमित्यधिकं बाह्मणेषु मन्दमिव आलक्ष्य लोकसङ्ग्रहपरो भगवान् मत्तोऽपि ब्राह्मणेषु श्रद्धातिरेकं कुर्वित्येवं तमनुशास्ति ब्रह्मन्निति। सप्तभिः मया हृदि स्थितेन ॥ ५१ ॥

देवादिभ्योऽपि ब्राह्मणाः श्रेष्ठा इत्याह - **देवा** इति। ते शनैः पुनन्ति, एते तु सद्यः। किञ्च देवादीनि यत्पुनन्ति तदप्यर्हत्तमानामीक्षया ॥ ५२ ॥

**वीर०** इत्थं प्रणम्य तत्कैङ्कर्यं प्रार्थयते - स त्वमिति। स उक्तविधस्त्वं स्वभृत्यान्नोऽस्मान् शाधि। हे देव किङ्करवाम किञ्चिदिष्टंकरवामेति प्रार्थनायां लोट्। ननु मुक्तिं अयाचित्वा कैङ्कर्यमेव किमिति प्रार्थयसे इत्यत आह एतदिति। नृणां क्लेशस्ताप त्रयरूपः एतदन्तः एतत् अन्तोऽवधिर्यस्य तथाभूतः। किं तत्? यत् भवानक्षिगोचर इत्येतत् ॥ ४९ ॥

तदुक्तमिति। इतीत्थं तदुक्तं श्रुतदेवोक्तं उपाकर्ण्य प्रणतार्तिहा आश्रितार्तिहरः ॥ ५० ॥

उक्तिमेवाऽऽह - ब्रह्मन्नित्यादिभिः सप्तभिः इत्थं स्वाम्यभीष्ट करणानुरूप कैङ्कर्यं प्रार्थयमानं श्रुतदेवं प्रति मद्भक्तानां आराधनमेव निरतिशयं मत्कैङ्कर्यमिति वक्तुं तावद्भक्तान् प्रशंसति ब्रह्मन्निति षड्भिः हृदिस्थेन मया पादरेणुभिः लोकान् पुनन्तः पवित्रीकुर्वन्तः सञ्चरन्ति ॥ ५२ ॥

ननु देवादयोऽपि पुनन्त्येवेति किं विशेषेणैत एव पुनन्ति? इत्यत आह - **देवा** इति। देवा भगवत् प्रतिमाः, क्षेत्राणि अयोध्यामधुरादीनि, तीर्थानि गङ्गादीनि, चिरकालेन दीर्घकालेन पुनन्ति। किञ्च देवादीनि यत्पुनन्तीति तदपि अर्हत्तमानाम् ईक्षणात् मद्भक्तकर्तृकेक्षा प्रयुक्तमाहात्म्यादित्यर्थः ॥ ५२ ॥

**विज०** यद्यदा भवानक्षगोचरः स्यात् एतदन्तोऽयमवधिर्यस्य स तथा। नृणां क्लेशः परिश्रमः ॥ ४९,५० ॥

बह्मन् तपस्विन् ॥ ५१ ॥

देवादिभ्यो यच्छुद्धत्वं तदर्हत्तमानां पूज्यानां ब्राह्मणादीनां ईक्षया दर्शनेन। अपिशब्दोऽवधारणार्थः ॥ ५२,५३ ॥

**ब्राह्मणो[1] जन्मतः[2] श्रेयान्[3] सर्वेषां प्राणिनामिह ।**
**तपसा विद्यया तुष्ट्या किमु मत्कलया[4-] युतः[-4] ॥ ५३ ॥**

**न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम् ।**
**सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयोह्यहम् ॥ ५४ ॥**

**दुष्प्रज्ञा अविदित्वैव मवजानन्त्यसूयवः ।**
**गुरुं मां विप्रमात्मान मर्चादाविज्यदृष्टयः[5] ॥ ५५ ॥**

**चराचरमिदं विश्वं भावा[6] ये चाऽस्य हेतवः[7] ।**
**मद्रूपणीति चेतस्या धत्ते विप्रो मदीक्षया ॥ ५६ ॥**

---

1. M. Ma °णाः 2. B.G.J. °ना 3. M.Ma श्रेष्ठाः 4- -4 M. Ma यथापुनः। 5. M. Ma °विति 6. M. Ma °व 7. M. Ma दैवतम्

**श्रीध० ब्राह्मण** इति। मम कला परिकलनं उपास्तिस्तया युतः ॥ ५३ ॥

किञ्च ब्राह्मणाराधनमेव मम प्रेष्ठमित्याह-नेति। हेतुमाह सर्ववेदमयो विप्र इति। प्रमाणाधीनत्वात् प्रमेयस्य। वेदमयो विप्रो देवमयादस्मद्रूपात् प्रेष्ठ इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

**दुष्प्रज्ञा** इति। असूयवो दोषदृष्टयः। इज्य दृष्टयः पूज्य बुद्धयः ॥ ५५ ॥

**चराचरमिति**। अस्य विश्वस्य हेतवो भावाः महदादयः मदीक्षया ममैव सर्वत्रेक्षया ॥ ५६ ॥

**वीर०** मद्भक्तात् श्रेष्ठो नास्तीत्याह - ब्राह्मण इति। सर्वेषां प्राणिनां मध्ये इह श्रेष्ठेषु नरेषु ब्राह्मणो जन्मतः श्रेयान्। ब्राह्मणेष्वपि तपसा युतः युक्तः श्रेयान्। ततोऽपि विद्यया वेदान्तविद्यया युतः। ततोऽपि तुष्ट्या नित्य सन्तोषेण युतः श्रेयान्। मत्कलया कला विद्या (मम) मदुपासनेति यावत्। तया युतस्तु श्रेयानिति, किमुवक्तव्यमित्यर्थः ॥ ५३ ॥

किम्बहुनेत्याह - नैतदिति। एतद्द्विभुजं चतुर्भुजं वा मम रूपं ब्राह्मणात् मत्कलया युतात् न दयितं न प्रियम्। तत्र हेतुः - सर्वेति। ब्राह्मणाधीनत्वात् प्रमेर्यासिद्धेः प्रमाणभूत वेदप्रचुराद्विप्रादेवमयं वपुर्न मे दयितमित्यर्थः ॥ ५४ ॥

एवं केचित् त्वद्भक्तान् कुतोऽवमन्यन्ते, कुतो वा देवादीन् भजन्ते इत्यत आह - दुष्प्रज्ञा इति। एवमित्थम्भूतान् मद्भक्तान् अविदित्वा। तत्र हेतुः दुष्प्रज्ञाः दुरहङ्काराः, देहात्माभिमानिन इति यावत्। अत एव असूयवः सत्स्वपि गुणेषु दोषाविष्करणैक शीलाः अत एव अर्चादावेव इज्यदृष्टयः पूज्यता बुद्धिमन्तो मां मदात्मकं गुरुमात्मानं विप्रं "ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्" इत्युक्तविधं ज्ञानिनं विप्रं च अवजानन्ति ॥ ५५ ॥

ज्ञानिनो दृष्टिस्त्वन्यादृशीत्याह - चराचरमिति। चराचरात्मकमिदं विश्वं तथाऽस्य विश्वस्य हेतवो ये भावाः पदार्थाः महदादयः तान्येतानि सर्वाणि विप्रो मदीक्षया मद्विषयकज्ञानेन मदात्मकत्व बुद्ध्येत्यर्थः। धत्ते विषयीकरोति ॥ ५६ ॥

---

1. B. अनायासेन यत्किञ्चित्प्राप्त सन्तो"

**विज०** ब्राह्मणभक्तिजननार्थं अर्थवादमाह - **न ब्राह्मणादिति**। ब्राह्मणस्योत्तमत्वे हेतुमाह - सर्वेति। एवमप्यावयोः विशेषोऽस्तीति हि शब्देनाऽऽह ॥ ५४ ॥

असूयवः गुणेषु दोषाविष्करणशीलाः दुष्प्रज्ञा एवं गुरुं विप्रं मत्सन्निधानपात्रं अविदित्वा अवजानन्ति आत्मानं मामर्चादौ अवजानन्ति। कथम्? अर्चैव हरिरिति दृष्टयः ॥ ५५ ॥

ब्राह्मणपूजया सर्वमपि पूजितं स्यादिति भावेनाऽऽह - चराचरमिति। इदं चराचरं विश्वं भावये कल्पये, ब्रह्मणीति शेषः। अस्य ब्राह्मणस्य दैवतमहमिति शेषः। विप्रस्य सर्ववेदमयत्वमुक्तं स्पष्टयति। मद्रूपाणीति विप्रो मदीक्षया मत्प्रतिपादकत्वज्ञानेन एतस्यां 'सर्ववेदा यत्पदमामनन्ति' (कठ.उ.2-15) इत्यादि श्रुत्या वायुना वै गौतमसूत्रेणाऽयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्तीति श्रुतिसिद्धैः एभिः चराचरैस्सह मद्रूपाणि धत्ते ॥ ५६ ॥

तस्माद्ब्रह्मऋषीनेतान् ब्रह्मन्मच्छ्रद्धयाऽर्चय[-1] ।
एवञ्चेदर्चितोऽस्म्यद्धा नान्यथा भूरिभूतिभिः[2-] ॥ ५७ ॥

श्रीशुक उवाच

स इत्थं प्रभुणाऽऽदिष्टः सह कृष्णान् द्विजोत्तमान् ।
आराध्यैकात्म्यभावेन मैथिलश्चाऽऽप सद्गतिम् ॥ ५८ ॥

एवं स्वभक्तयो राजन् भगावान् भक्तभक्तिमान् ।
उषित्वाऽऽदिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात् ॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

1- -1. K.T.W. ब्रह्मन्संश्रद्धयार्चय ; M. Ma. ब्रह्मज्ञान्श्रद्धयार्चय ; MI.V. श्रद्धयार्चय नित्यशः 2- -2. K.M.Ma.T.W. सुविभूतिभिः 3. M.Ma. °कान्त°

**श्रीध०** सतां वेदानां त्रिकाण्डविषयाणां प्रवृत्तप्रकारमादिश्य ॥ ५७- ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां

षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

**वीर०** अस्त्वेवं, ततः किं अत आह - **तस्मादिति**। तस्मान्मद्भक्तानाम् इत्थम्भूतत्वात्, हे ब्रह्मन्! एतान्ब्रह्मर्षीन् श्रद्धयाऽत्यादरेणाऽर्चय एवञ्चेदित्थमर्चयसि चेत् अद्धा साक्षादहमेवाऽर्चितोऽस्मि। अन्यथा मद्भक्तार्चनं विना सुविभूतिभिः पुष्कलोपचारैरर्चितोऽप्यहं नाऽर्चितः। ऋषीनेतानिति स्वभक्तमात्रोप लक्षणम् ॥ ५७ ॥

**इत्थमिति**। प्रभुणा भगवता आदिष्टः स श्रुतदेवः ऐकात्म्यभावेन परमात्मबुद्ध्या आराध्य सतां गतिं मुक्तिमवाप ॥ ५८ ॥

**एवमिति**। भक्तेषु भक्तिः प्रीतिः सा अस्यास्तीति तथा स भगवान् हे राजन्! स्वभक्तयोः श्रुतदेव बहुलाश्वयोः सन्मार्गं सतां साधूनां मार्गं अनुष्ठेयधर्मप्रकारमादिश्योपदिश्य कतिपयदिनान्युषित्वा च पुनर्द्वारवतीं ययौ ॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां व्याख्यायां

षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

**विज०** प्रतिपादनच्छलेन फलितमाह - तस्मादिति ॥ ५७,५८ ॥

भक्तेषु प्रसादलक्षणस्नेहवान् ॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

# सप्ताशीतितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या चतुर्णवतितमोऽध्यायः)

राजोवाच[1-1]

ब्रह्मन्ब्रह्मण्य निर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः ।
कथं चरन्ति श्रुतयस्साक्षत्सदसतः परे ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

बुद्धीन्द्रियमनः प्राणाञ्जनानामसृजत्प्रभुः ।
मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मने[2] कल्पनाय च ॥ २ ॥

सैषा ह्युपनिषद्ब्राह्मी पूर्वेषां पूर्वजैर्धृता ।
श्रद्धया धारयेद्यस्तां क्षेमं गच्छेदकिञ्चनः[3] ॥ ३ ॥

अत्र ते वर्णयिष्यमि गाथां नारायणान्विताम्[4] ।
नारदस्य च संवादमृषेर्नारायणस्य च ॥ ४ ॥

एकदा नारदो लोकान् पर्यटन्भगवत्प्रियः ।
सनातनमृषिं द्रष्टुं ययौ नारायणाश्रमम् ॥ ५ ॥

---

1- -1 B.G.J परीक्षिदुवाच 2. G.J. °नेऽक° 3. K. गच्छत्य° 4. M.Ma °णोदि°

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावर्थदीपिका

सप्ताशीतितमे नारायणनारदवादतः। वेदैः स्तुतिर्गुणालम्बा निर्गुणावधि वर्ण्यते ॥
वागीशा यस्य वदने लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि। यस्याऽऽस्ते हृदये संवित्तं नृसिंहमहं भजे ॥
सम्प्रदाय विशुद्ध्यर्थं स्वीय निर्बन्धयन्त्रितः। श्रुतिस्तुतिमितव्याख्यां करिष्यामि यथामति ॥
श्रीमद्भागवतं पूर्वैः सारतः सन्निषेवितम्। मयातु तदुपस्पृष्टमुच्छिष्टमुपचीयते ॥

पूर्वाध्यायान्ते - 'एवं स्वभक्तयोराजन् भगवान्भक्त भक्तिमान्। उषित्वाऽऽदिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात्' (भाग. 10-86-59) इत्यत्र सन्मार्गं सतां स्वतः प्रमाणभूतानामप्रामाण्य कारणरहितानां वेदानां मार्गं ब्रह्मपरत्वमुपदिश्य भगवान् अगादित्युक्तं तत्र वेदानां ब्रह्मपरत्वमघटमानं मन्वानः पृच्छति - ब्रह्मन्निति। तत्र तावत् मुख्यालक्षणा गुणभेदेन त्रिधा शब्दप्रवृत्तिः। यथा मुख्यापि रूढि - योगभेदेन द्विधा। रूढिश्च स्वरूपेण जात्या गुणेन वा निर्देशार्हे वस्तुनि संज्ञासंज्ञि सङ्केतेन प्रवर्तते यथा - डित्थो गौः शुक्ल इति। लक्षणा च तेनैव सङ्केतेनाभिहितार्थ सम्बन्धिनि[2] यथा गङ्गायां घोष इति। गौणी चभिहितार्थ लक्षितगुणयुक्ते तत्सदृशे, यथा - सिंहो देवदत्त इति। यथाऽऽहुः -'अभिधेयाविनाभूत[3] प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते। लक्ष्यमाणगुणैर्योगात् वृत्तेरिष्टा तु गौणता' इति। योगवृत्तिस्तु एतत् त्रिविधवृत्तिप्रतिपादित पदार्थयोः प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः वा योगेन। यथा पङ्कजमौपगवः पाचक इत्यादि। तत्र तावद्ब्रह्मणि रूढवृत्तिर्न सम्भवतीत्याह - साक्षात् कथं चरन्तीति। तत्र हेतुः - अनिर्देश्ये इति। अनिर्देश्यत्वेऽपि हेतुं वदन् गुणवृत्तिं निराकरोति - निर्गुणे गुणवृत्तय इति। गुणैर्वर्तमानाअपि निर्गुणे कथं चरन्तीत्यर्थः। निर्गुणत्वे च हेतुं वदन् लक्षणां योगं च निराकरोति - सदसतः पर इति। कार्यकारणाभ्यां परस्मिन्नसङ्गे केनचिदपि सम्बन्धाभावान्न लक्षणायोगवृत्ती सम्भवत इत्यर्थः। एवं पदार्थत्वायोगादपदार्थस्य च वाक्यार्थत्वायोगान्न श्रुतिगोचरत्वं ब्रह्मण इत्यभिप्रायः ॥ १ ॥

उत्तरमाह - बुद्धीन्द्रियेति। बुद्ध्यादीनुपाधीन् जन्नानामनुशायिनां जीवानां मात्राद्यर्थं प्रभूरीश्वरोऽसृजत्। मीयन्ते इति मात्रा विषयास्तदर्थम्। भवार्थं भवो जन्म लक्षणं कर्म, तत्प्रभृति कर्मकरणार्थमित्यर्थः। आत्मने लोकान्तरगामिने, आत्मनः तत्तल्लोकभोगायेत्यर्थः। अकल्पनाय कल्पनानिवृत्तये, मुक्तय इत्यर्थः। अर्थधर्मकाममोक्षार्थमिति क्रमेण पदचतुष्टयस्यार्थः। जनानामिति वदन् जीवार्थमीश्वरस्य सृष्ट्यादिषु प्रवृत्तिरिति दर्शयति। प्रभुरिति ईश्वरस्योपाधिवश्यताभावेन नित्यमुक्ततां दर्शयति। अयम् अभिप्रायः - यद्यप्युक्तरीत्या[4] कापि प्रवृत्तिः न सम्भवति, तथापि परम्परया साक्षाद्वा सर्वासां श्रुतीनां ब्रह्मणि पर्यवसानम्। किञ्च, ईश्वरो जीवानां मोक्षार्थमेव सृष्टिं करोति, न च स्वरूपोप पादनमन्तरेणोपपद्यते - अतो योग्या काचन वृत्तिः विचारणीयेत्युत्तरम्[4]। सगुणमेव गुणैरनभिभूतं सर्वज्ञं सर्वशक्तिं सर्वेश्वरं सर्वनियन्तारं सर्वोपास्यं सर्वकर्मफलप्रदातारं समस्तकल्याणगुणनिलयं सच्चिदानन्दं भगवन्तं श्रुतयः प्रतिपादयन्ति। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुण्ड. उ. 2-2-7) 'यस्य ज्ञानमयं तपः' (मुण्ड.उ. 1-1-6) 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' (बृह. उ. 4-4-22) 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या आन्तरः' (बृह. उ. 3-7-3) 'सोऽकामयत बहुस्याम्' (तैति. उ. 2-6) 'स ऐक्षत, तत्तेजोऽसृजत' (छान्दो. उ. 6-2-3) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै.ति.उ 2-1-1) इत्याद्याः। तथाभूतेश्वरतां तावत् संसारिणो जीवस्य तन्निवृत्तये 'तत्त्वमसि' (छान्दो.उ. 6-7-8) इत्यादि वाक्यानि बोधयन्ति। तत्र च तत्त्वम्पदयोः सामानाधिकरण्यं प्रतीयते। तच्च प्रकारान्तरेणघटमानं ब्रह्मणि पर्यवसानं गमयति। तथाहि -न तावद्वैश्वदेव्याऽऽमिक्षेति वदुभयोः एकार्थाभिधानेन सामानाधिकरण्यम् घटते। यथोक्तम्

- 'आमिक्षां देवता युक्तां वदत्येवैष तद्धितः। आमिक्षापदसान्निध्यात् तस्यैव विषयार्पणम्'॥ इति कुतः? भिन्नार्थत्वात् न च अजहत्स्वार्थया निरूढलक्षणया विशेषण विशेष्यभावेन नीलमुत्पलमितिवत्। यथोक्तम् 'स्वबुद्ध्या रज्यते येन विशेष्यं तद्विशेषणम्' इत्यादि। कुतः? विरुद्धार्थत्वेन तदयोगात् न च जहत्स्वार्थत्वेन सम्बन्धलक्षणया कुसुमित द्रुमा गङ्गेतिवत्। कुतः? एकार्थत्वस्य विवक्षितत्वात्। अतो जहदजहत्स्वार्थलक्षणया सोऽयं देवदत्त इतिवत् विरुद्धांशत्यागेनानुगतचिदंशेनैकार्थेन सामानाधिकरण्येन निर्गुणे पर्यवसानम्। अस्थूलादि वाक्यानां तु साक्षादुपाधिनिषेधेन तत्पदार्थ शोधने उपयोगात् निर्गुण एव पर्यवसानम्। तथा च अत्रैवोपक्रमे 'स्वसृष्टमिदमापीय' (भाग 10-87-12) इत्यादिना विशिष्टमालम्बनं वक्ष्यति। अन्तेच 'श्रुतयः त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः' (भाग. 10-87-41) इत्युपसंहरिष्यति। उपासनादिवाक्यानां अन्यार्थ प्रवृत्त्या सृष्ट्यादि अवलम्बनत्वेन ज्ञानसाधन विधानेन तत् परत्वमित्येषा दिक् ॥ २ ॥

अत्र च अनादि शिष्टपरम्परागतत्वान्न सन्देहो युक्त इत्याह - सैषेति। सैषा यथोक्तलक्षणा यथोक्तालम्बना वा ब्राह्मी ब्रह्मपरा। श्रद्धया आदरेण वैतण्डिकतर्कानभिनिवेशेन यः श्रवणादिना धारयेत् स अकिञ्चनो निरस्तदेहाद्युपाधिः सन् ततः परं पदं प्राप्नुयादिति ॥ ३ ॥

एतदेव सर्वश्रुत्यर्थनिरूपणेन प्रपञ्चयितुमितिहासमवतारयति - अत्रेति। नारायणान्वितां नारायणः प्रवक्तृत्वेनान्वितो यस्यां ताम्। गाथामितिहासम् ॥ ४ ॥

---

1. Ml.V. °मितां व्यां° 2. Ml.V. नी नी 3. Ml.V. ने 4- -4 B.J Omit 5. Ml.V. °नैकार्थसामा° 6- -6 B.J क्रियार्थप्रवृत्त 7. B. J °लम्बनेन 8- -8 B.J Omit 9. B.J Omit वा 10. B. j Omit ततः

## श्रीवीरराघव विदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

'सर्ववेदमयो विप्रस्सर्वदेवमयोऽस्म्यहम्' (भाग. 7-11-20) इति वेदानां ब्रह्मप्रमापकत्वं भगवदुक्तयैवावगतम्, तत्पूर्वध्यायेऽपि 'विशुद्ध सत्त्वधाम्न्यद्धा त्वयि शास्त्र शरीरिणि' (भाग. 10-85-42) इति बलिवचनेनाप्यवगतम्, 'तत्पूर्वध्यायेऽपि ब्रह्म ते हृदयं शुद्धम्' (भाग.10-84-19) इत्यादिना 'शास्त्रयोने स्तवात्मनः (भाग. 10-84-20) इत्यन्तेन मुनिवचसाऽप्यवगतम्, श्रूयते चैवं 'सर्वेवेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति' (कठ.उ. 2-15) इति, स्मर्यते च 'वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः' (भ.गी.15-15) इति। ब्रह्मणश्चिदचिद्वैलक्षण्यं बहुशः प्रतिपादितं, तत्र चिदचिद्विलक्षण ब्रह्मस्वरूप स्वभावपराणां 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' (तैत्ति.उ.2-1-1) यस्सर्ज्ञःसर्ववित्' (मुण्ड.उ.2-2- 7) इत्यादि श्रुतिवचसां तत्प्रमापकत्वेऽपि 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृह.उ.2-5-19) 'तत्त्वमसि' (छन्दो.उ.6-8-7) 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' (छान्दो.उ.3-14-1) इत्यादिना

परमात्म शब्दसमानाधिकरणतया श्रुतानां चिदचिद्वाचिशब्दानां कथं परमात्म प्रमापकत्वमिति पृच्छति राजा-ब्रह्मन्निति। हे ब्रह्मन्! गुणवृत्तय इत्यत्र गुणशब्दो विशेषणपरः, गुणेन जातिगुणक्रियान्यतमेन द्वारभूतेन वृत्तिर्बोधनं यासां ताः जात्यादिकं प्रवृत्तिनिमित्ती कृत्य तद्विशिष्टाभिधायिन्यः श्रुतयः चिदचित्पराः कथं ब्रह्मणि साक्षाच्चरन्ति प्रवर्तन्ते, न हि प्रवृत्ति निमित्त प्रहाणेन शब्दः प्रतिपादयितुमलमिति प्रश्नार्थः। न च लक्षणया चरन्तीति वक्तुं युक्तम्। उदाहृतश्रुतिस्मृतिआदिभ्योऽभि धावृत्तेरेवावगमात्। न च कतिपयश्रुतीनां तत्र मुख्यवृत्तिः, चिदचिदादिपराणां तु लक्षणा वृत्तिरिति युक्तं, सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति (कठ. उ. 2-15) 'वैदैश्च सर्वैरहम्' (भगी. 15-15) इति सर्वशब्द स्वारस्यात् सर्वासामपि तस्मिन् अभिधावृत्ते रेवावगमात्। अत एव साक्षादित्युक्तं, तावत् जातिशब्दानां वृत्त्यसम्भवं व्यञ्जयन् विशिनष्टिअनिर्देश्ये चेतनाचेतनसजातीयतया निर्देष्टुमशक्ये, तत्र हेतुः - सदसतः परे सच्चासच्च तयोः समाहारः तस्मात्परे चिदचिद्भ्यां परे विलक्षणे अन्यस्मिन्निति यावत्, न हि चिदचिद्गतजातिप्रवृत्तिनिमित्तकशब्दानां चिदचिद्व्यामन्यस्मिन् मुख्यवृत्तस्सम्भवतीति भावः। अथ गुणशब्दानां वृत्त्यसम्भवं द्योतयितुं विशिनष्टि - निर्गुण इति । निर्गतत्रैगुण्ये त्रैगुण्यप्रत्यनीके यद्वा गुणशब्दानां ये ये प्रवृत्तिनिमित्तभूताः गुणाः तेभ्यः सर्वेभ्यो निर्गते निर्गुण इति निष्क्रियत्वस्यापि उपलक्षणम् ॥ ३ ॥

अत्र 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा.दो.उ. 6-3-2) 'नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते' (पु.सू.7) 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्चत्यच्चाभवत्' (तैत्ति.उ. 2-6) इत्यादि श्रुतयः स्वपर्यन्त नामरूपव्याकरणेन तत्तच्चिदचिद्वस्तुशरीरकतया तत्तच्छब्द वाच्योऽभूदिति प्रतिपादयन्त्यः परिहारमाहारत्यभिप्रेत्य तत्र तत्र बहुशो जगत्सर्ग प्रकार वर्णनयैव प्रकृतप्रश्नस्य उत्तरं उक्तप्रायमिति च अभिप्रेत्य केवलं सृष्टिमात्रं स्मारयति बुद्धीन्द्रियेति। जनानां जीवानां बुद्ध्यादीनसृजत्, प्रभुरध्यक्षः निर्वाहक इति यावत्, अयमभिप्रायः - स्वयमन्तरात्मतया नामरूपनिर्वाहको भवितुं बुद्ध्यादि शब्दोपलक्षित समष्टिपरम्परया महाभूतपर्यन्तमात्मानं तत्तच्छरीरकं परिणमय्य तन्मयः पुनः सदसच्छब्दवाच्यचिदचिन्मिश्रदेवादि स्थावरान्त जगद्रूपतत्तच्छ ब्दवाच्यश्चाभवदिति। एवं चिदचित् पदार्थानां सर्वेषां परमात्मशरीर तैकस्वभाव्यत्तत्वेनैव तैषां वस्तुत्वादपृथक्सिद्धविशेषणत्वाच्य अपृक्सिद्ध विशेषणवाचि शब्दानामाकृत्यधिकरण न्यायेन विशेष्यपर्यन्ताभिधान स्वाभाव्यात् गवादि शब्दानां गोत्वादिकं प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य व्यक्तिपर्यन्ताभिधानस्य मुख्यत्ववत् सर्वेषां लोकव्युत्पत्तिसिद्ध स्वस्वार्थाभिधायिनां स्वस्वार्थान् परमात्मापृथक्सिद्धविशेषणभूतान् प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य परमात्माभिधानं मुख्यमेवेति, विस्तरस्तु भाष्यादिष्वनुसन्धेयः, परम कारुणिकस्यावाप्तसमस्त कामस्य स्वपरप्रयोजन निरपेक्षस्य ब्रह्मणो जगत्सर्गेण प्रयोजनं किं इत्यत आह - मात्रार्थमिति। आत्मने कल्पनाय चेति तादर्थ्यचतुर्थ्यन्तम्, मात्रार्थं देहार्थं तदुत्पादनार्थामित्यर्थः। असत्प्रायाणां जीवानां स्वाराधनोपयुक्तकरण कलेबरादिप्रदानेनोज्जीवनार्थं जगत् सर्गे प्रवृत्तिरिति परिपूर्णस्यापि परानुजिघृक्षा सङ्गतैवेति भावः। अत एव गर्भजन्मजरामरणाद्यनेक

दुःखावहजगत्सर्ग प्रयक्तनैर्घृण्यशङ्काऽपि निरस्ता, दुःखंस्य तत्तज्जीवनादिकर्मप्रयुक्तत्वात् मीयन्त इति मात्राः देहाः, भवार्थमभ्युदयार्थम् आराधयितृभ्यो निश्रेयसरूपाभ्युदयप्रदानार्थं इत्यर्थः। अनेन देहोत्पादनस्यापि प्रयोजनमुक्तं, यद्वा भावार्थं त्रैवर्गिकरूपश्रेयः प्रदानार्थम्, आत्मने अध्यात्म ज्ञानर्थं मुक्तिसाधनोपासननिष्पत्तय इत्यर्थः। यद्वा आत्मार्थं जीवात्मस्वरूपसत्तात्मभार्थं प्रलयावस्थायामसत्प्रायाणां जीवानां परमात्मन आत्मत्वं शेषशेषि भावज्ञानेनैव ह्यात्मसत्तात्मभः अकल्पनाय कल्पनं ज्ञानैकाकारेष्वात्मसु देवमनुष्यादि कल्पनं भेद इति यावत्, तदभावाय मुक्तये उपायानुष्ठानेन देवादि भेदनिवृत्ति वृत्तिपूर्वकमुक्तयर्थं चेत्यर्थः। यद्वा सर्वमिदं सङ्कल्पमात्रेणैवोपपद्यतामित्यत आह - कल्पनाय चेति। कल्पनं क्रीडनं तस्मै, परिपूर्णस्यापि क्रीडार्थं जगद्व्यापार इति भावः ॥ २ ॥

नन्वित्थं सर्वशब्दानां ब्रह्मणि मुख्यवृत्तिः न लौकिकैः गृहीता, अपितु तत्तदर्थेष्वेव तत्कथं सार्वजनीनव्युत्पत्ति भङ्गनेन ब्रह्मणि व्युत्पत्तिः साध्यत इत्यत आह - सैषेति। सैषा उपपादिता ब्राह्मी ब्रह्मसम्बन्धिनी सर्वशब्दानां ब्रह्मण्यभिधावृत्तिः इत्यर्थः। उपनिषत् रहस्यतमा उपनिष्दर्थविचारेणावगन्तव्येति वाऽर्थः। अनधीतवेदान्तशास्त्राणां तत्तदर्थमात्रपर्यवसि तव्युत्पत्तावप्यधिगतवेदान्तार्थतदनुष्ठान निष्ठैर्ब्रह्मण्येवं व्युत्पत्तिर्गृहीता, न हि घटशब्दव्युत्पत्तिमगृहीतवतः। कस्यचित्पुंसो घटशब्दात्रदर्थानवगतावणि तस्म तद्बोधकशक्तिः विहतेति भावः। तथाहि पूर्वेषामपि पूर्वजैः वामदेवादिभिध एषा व्युत्पत्तिः धृता अवधृता निश्चितेति यावत्, वामदेव प्रह्लादयो हि परस्य ब्रह्मणः सर्वान्तरात्मत्वं सर्वस्य तच्छरीरत्वं शरीरवाचिनां शब्दानां शरीरिणि पर्यवसानं च पश्यन्तः सोऽहमिति स्वात्मशरीरकं परं ब्रह्म निर्दिश्य तत्सामानाधिकरण्येन मननुसूर्यादीन् 'अहंमनुरभवं सूर्यस्य कक्षीवानृषिरस्मि विप्रः' (बृह.उ. 1-4-10) इति। 'सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाह मवस्थितः। मत्तस्सर्वमहं सर्वं मयि सर्वं सनातने' (विष्णु.पु 1-19-85) इति निर्दिशन्तस्सर्वबुद्धिशब्दान् परमात्मपर्यन्तान् प्रदर्शयन्तस्सर्वशब्दानां परमात्मन्येव व्युत्पत्तिमध्यवसितवन्त इति भावः। इत्यं गृह्यमाणाया व्युत्पत्तेः फलमाह - श्रद्धयेति। तां उक्तविधां व्युत्पत्तिं यः पुमान् श्रद्धया धारयेत्, सोऽकिञ्चनः नास्ति किञ्चन प्रार्थनीयं यस्य सः क्षेमं मुक्तिं गच्छति प्राप्नोति ॥ ३ ॥

इत्थं परस्य ब्रह्मणस्सर्वपर्यन्तसर्व बुद्धिशब्दत्वं सर्वान्तरात्मत्वं जगत्कारणत्वं परम कारुणिकत्वं मोक्षप्रदत्वं चोक्तम्, अथउक्तार्थस्य स्वमनीषोत्प्रेक्षितत्वशङ्कानिरासाय मूर्तिधरा वेदा एवोक्तानुक्तगुणविशिष्टं भगवन्तं तुष्टुवुरिति वक्तुं तावत्स्वप्रश्नपरिहारानितिहासान्तरेण संवादयति - अत्रेति। अत्र त्वत्पश्ने मदुत्तरे च संवादरूपां नारायणेन प्रवर्तकेन अन्वितां गाथां ते तुभ्यं वर्णयिष्यामि, शृण्वितिशेषः। कोऽसौ नारायणः? किं परमव्योमनिलयः? किं वा अवतारविशेषः? कश्च तस्या श्रोतेत्यत आह नारदस्येति। ऋषेः ऋषिवेषधरस्य बदर्याश्रम वासिनो नारायणस्य च संवादं प्रश्नोत्तररूपमितिहासं कथयिष्यामिति सम्बन्धः ॥ ४ ॥

संवादमेव प्रस्तोतुं तावत् नारदस्य नारायणोपसत्तिमाह - एकदेति। सनातनंपुराणम् ऋषिं नारायणं द्रष्टुं तस्याश्रमं बदर्याख्यं ययौ ॥ ५ ॥

---

1. B. °द्वाचिनां 2. B.T.W. Omit स:

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

यदनन्त निगमनिकरानरूपितगुणगणाकरं ब्रह्म तदेव कृष्णनाम्नाऽवतीर्णं नान्यदित्यतो मुमुक्षुभिरत्र भक्तिः इतरत्र विरक्तिमूला कर्तव्येति विधीयतेऽस्मिन्नध्याये। तत्र नारद नारायण संवाद लक्षणमितिहासमुत्थापयितुं शुकं परीक्षित्पृच्छतिब्रह्मन् इत्यादिना। हे ब्रह्मन्! पूर्णकाम! 'सर्ववेदा यत्पदमामनन्ति' (कठ.उ 2-15) इति श्रूयते। तत्र श्रुतयः साक्षादमनन्त्युत लक्षणया वा तत्र न प्रथम इत्याह - कथमिति। साक्षात् चरन्ति वर्तन्ते वाचकत्वेनेति शेषः। तस्य काऽनुपपत्तिरत्राह - अनिर्देश्य इति। 'यत्तदद्रेश्यम्' (मुण्ड.उ. 1-6) इति श्रुतेः। न द्वितीय इत्याह निर्गुण इति। 'केवलो निर्गुणश्च' (श्वेता.उ.6-11) इति श्रुतेः। गुणैः प्रवर्तमानस्य कथं निर्गुणत्वमुपपद्यत इत्यत्राह सदसत इति। निर्गुणे गुणसमर्पकत्वेन श्रुतीनां सञ्चरणं कथमिति दौर्घट्यमापादयितुं शक्यते यादृग्वस्तु तादृशा वेदकत्वं न कोपि विरोधः इति तत्राह -गुणवृत्तय इति। गुणार्पकत्वेन गुणवृत्तिर्यासां तास्तथा। 'तु विग्रीवो वपोदरः सबाहुरन्धसोमदे गुणाः श्रुताः सुविरुद्धाश्च देवे' (ऋग्वे 8-17-8-a) इत्यादि श्रुतेः। अत एव नः संशयं छिन्धीति वाक्यशेषः ॥ २ ॥

श्रुतयः सत्त्वादिगुणराहित्येन निर्गुणे ज्ञानानन्दादि गुणगणमणिमालाङ्कृत विग्रहे ब्रह्मणि साक्षाद्वर्तन्त इति परिहारमभिप्रेत्य पीठिकामारचयति - बुद्धीति। बुद्ध्यादि सर्जनेन किं प्रयोजनमत्राह - मात्रार्थमिति। 'मात्रापरिच्छेदेऽर्थांशे प्रवृत्तौ कर्णभूषणे' (वैज.को. 6-5-62)इत्यतो मात्रा प्रवृत्तिः शब्दानामिति शेषः। तदर्थं 'मनसा अग्रे सङ्कल्पयत्यथ वाचा व्याहरति' (ऐत.उ.1-1-2) इति श्रुतेः। किमतोऽत्राह - भवार्थचेति'। भवो भद्रे कल्याणं पुण्यमिति यावत् तदर्थम्। 'स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः तद्धि तपः तद्धि तपः' (तैत्ति उ.1-9-1) इति श्रुतिः। च शब्दौ समुच्चयार्थौ। बुद्ध्यादीनिन्द्रियपूर्विका शाब्दी प्रवृत्तिरपि न स्वर्गादिविषया किन्तु परमात्मविषयैव पुण्यसाधनमित्यभिप्रायेणाह - आत्मन इति। सन्ध्यकरणात् सदसद्विलक्षण एवात्मा तमात्मानमुद्दिश्य शब्दराशेः प्रवृत्तिरिति भावः। ततः परमप्रयोजनमाह - कल्पनायेति। कल्पनाय परमात्मज्ञानाय 'सत्येन लभ्यस्तपसाह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्' (मुण्ड.उ.3-1-5) इति श्रुतेः। अनेन वक्तृविवक्षा पूर्विकाशब्दप्रवृत्तिः इत्यतो बुद्धीन्द्रियादिमत एव सुप्रयुक्त शब्देन ज्ञातपरब्रह्म तत्त्वगुणोपसंहार ज्ञानप्रसन्न भगवत्सारूप्यादिमोक्षप्राप्तेः शब्दानां श्रीहरिविषयत्वं साक्षादङ्गीकर्तव्यमित्युक्तं भवति ॥ २ ॥

शब्दमात्रस्य हर्येकविषयत्वमुक्त्वा अधुना 'वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः' (म.ना.उ.8-15) इति वचनात् उपनिषद्भागस्य तद्गुणगणावेदकत्वेन मुख्यवृत्त्या विषयत्वमिति भावेनाह - सैषेति। हि शब्दो हेतौ। 'ईशबुद्धिस्थिताः सदा' इति वचनात् या श्रीमन्नारायण बुद्धिस्थिता सैषा उपनिषद्वेदान्तपरपर्याया पूर्वेषां पूर्वजैः ब्रह्मादिभिः धृता अध्ययन रूपेण न तु कृता नित्यवाक्यत्वात् 'नित्यया नित्यया स्तौमि' इत्यादेः। हि यस्मात् तस्मात् यस्तां श्रद्धया धारयेत् स क्षेमं मोक्षं गच्छेत् ब्रह्मज्ञानलभ्यस्य मोक्षस्य कथं श्रुतिधारणया मोक्षः स्यादित्यत्र ब्राह्मीति। अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेति 'बृंहतो ह्यस्मिन् गुणाः' इति श्रुतेः। ब्रह्मगुणावेदकत्वेन तज्ज्ञान द्वारमुक्तिहेतुत्वोपपत्तेः। ज्ञानं च विरक्त्यादिमत एव स्यादितिभावेनाह - अकिञ्चन इति ॥ ३ ॥

भवच्छिष्यत्वेन मम भवदुक्तिः प्रमाणमस्तु। इतरेषां कथमिति शङ्का माभूदिति भावेनाह - अत्रेति। अत्र श्रुतयः कथं चरन्तीति अस्मिन्नर्थे गाथां त्रिषट्पादलक्षणप्रबद्धां कथां नारायणोदितां नारायणेन कथिताम् ॥४॥

नारायणस्य सङ्गमः कथमभूत् नारदस्येत्यत्राह -एकदेति ॥ ५ ॥

**[1]यो वै भारतवर्षेऽस्मिन् क्षेमाय स्वस्तये नृणाम् ।**
**धर्मज्ञानशमोपेत[2-] आकल्पादा[-2]स्थितस्तपः ॥ ६ ॥**

**तत्रोपविष्टमृषिभिः कलापग्रामवासिभिः ।**
**परीतं प्रणतोऽपृच्छदिदमेव कुरूद्वह ॥ ७ ॥**

**[3-]तस्मा अ[-3]वोचद्भगवानृषीणां शृण्वतामि[4]मम् ।**
**यो ब्रह्मवादः पूर्वेषां जनलोकनिवासिनाम् ॥ ८ ॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**स्वायम्भु[5]वब्रह्मसत्रं जनलोकेऽभवत्पुरा ।**
**तत्र[6]त्यानां मानसानां मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ॥ ९ ॥**

**श्वेतद्वीपं गतवति त्वयि द्रष्टुं तदीश्वरम्[7] ।**
**ब्रह्मवादस्स[8-]म्प्र[-8]वृत्त श्शृतयो यत्रशेरते ॥ १० ॥**

---

1. M.Ma. योऽसौ 2- -2 B.G.J. °तमाकल्पदा° ;M.Ma. त साकल्यदा° 3- -3 B.G.J. तस्मै ह्यवो° 4. B.G.J. °दम् ; M.Ma °माम् 5. M.Ma °वं 6. B.G.J. °स्था° 7. M.Ma. °मी° 8- -8. B.G.J. °द: सुसं°

**श्रीध० स्वायम्भुवेति**। ब्रह्मसत्रमिति। यथा यजमाना एव समाना ऋत्विगादिरूपेण यत्र कर्म कुर्वन्ति तत्कर्म सत्रं प्रसिद्धम्। तथा यत्र समाना एव वक्तृश्रोतृभावेन ब्रह्म मीमांसन्ते तद्ब्रह्मसत्रम् ॥ ६-९ ॥

अहे तर्हि मया कथं तन्नज्ञातमित्यत आह - **श्वेतद्वीपमिति**। तदीश्वरं तत्रस्थं मामेवानिरुद्धमूर्तिम् ॥ १० ॥

**वीर०** ऋषिं विशिनष्टि - **य** इति। नृणां क्षेमाय अभयरूपाय स्वस्तये मोक्षाय च आकल्पात् कल्पावधि तमः स्वात्मोपासनात्मकम् आस्थितः अधिकृतवानित्यर्थः। कथम्भूतः? धर्मः वर्णोचितः ज्ञानम् आत्मनः प्रकृतिपुरुषाभ्यां विलक्षणत्वेनावलोकनम्, शमो रागद्वेषादिराहित्यम् एभिरुपेतः ॥ ६ ॥

**तत्रेति**। तत्र नारायणाश्रमे कलापग्रामवासिभि - परमात्मस्वरूपध्याननिष्ठैः ऋषिभिः परीतं परिवृतं नारायणम् इदमेव त्वत्पृष्टमेव अपृच्छत् ॥ ७ ॥

तस्मा इति। तस्मै पृष्टवते नारदाय ऋषीणां शृण्वतां सतामिमं मदुक्तपरिहारगर्भं परिहारमवोचत्। तदुक्तपरिहारस्यापि साम्प्रदायिकत्वं वदन् तं विशिनष्टि - **य** इति। जनलोकनिवासिनां पूर्वेषामग्रजानां सनन्दनादीनां यस्संवादः प्रश्नोत्तररूपस्तमिममवोचदिति सम्बन्धः ॥ ८ ॥

उक्तिमेवाह - स्वायम्भुवेति। स्वायम्भुवः नारदः तस्य स्वयम्भुवः पुत्रत्वादेवं सम्बोधनम्। पुरा जनलोके तत्रत्यानां जनलोकस्थानां मानसानां ब्रह्ममानसपुत्राणाम् ऊर्ध्वरेतसां जन्मप्रभृति जितेन्द्रियाणां मुनीनां सनकादीनां सम्बन्धि ब्रह्मसत्रं परब्रह्मगुणानुभवात्मकं सत्रमभूत् ॥ ९ ॥

तर्हि, तदाऽहं क्व गतः? कथं[2-] मया न श्रुतम्[-2]? इत्यत आह - श्वेतद्वीपमिति। तं श्वेतद्वीपवासिनमीश्वरं तत्रस्थं[3-] मामेव अनिरुद्धमूर्तिमित्यर्थः। द्रष्टुं त्वयि गतवति सति तदा ब्रह्मवादः ब्रह्मणां वादः, संवृत्तः, तं विशिनष्टि - यत्र ब्रह्मवादे श्रुतयश्शेरते प्रतारणभयरहिता ऐककण्ठ्यं प्राप्ताः सुखमासत इत्यर्थः ॥ १० ॥

---

1- -1 T.W. Omit 2- -2 T.W. Omit 3- -3 T.W. Omit

**विज०** कस्मिन् खण्डे नारायणाश्रमः? तत्र किं कुर्वन् किं प्रयोजन आस्त इति तत्राह - योसाविति। तपसोङ्गवैकल्यपरिहासाय साकल्या दित्युक्तं, धर्मः सुकृतं विहिताचारो वा। ज्ञानं स्वपर पदार्थावगाहि। शमोनिष्ठा। एतैः उपेतः लोक दृष्ट्यैतदुक्तम् ॥ ६ ॥

तत्राश्रमे उपविष्टं तम् ॥ ७ ॥

तस्मै नारदायेमां गाथामवोचत्। गाथां विशिनष्टि - य इति। ब्रह्मवादः ब्रह्मविषया गाथा ॥ ८ ॥

पुरा तत्रात्यानां जनलोकस्थितानां मानसानामूर्ध्वरेतसां मुनीनां स्वायम्भुवं स्वयम्भूपुत्रैः क्रियमाणं ब्रह्मसत्रं ब्रह्मयज्ञं ब्रह्मविचारलक्षणो यज्ञो जनलोकेऽभवदित्यर्थः ॥ ९ ॥

यत्र श्वेतव्दीपे ब्रह्मणिश्रुतयः शेरते अन्यबोधकत्व व्यपारमन्तरेण तद्गुण बोधनपरा एव सन्ति तं श्वेतद्वीपं त्वयि गतवति ब्रह्मवादः सम्प्रवृत्त इत्यन्वयः ॥ १० ॥

**[1]तत्र हायमभूत्प्रश्नस्त्वं मां यमनुपृच्छसि। ★ परिहारांश्च तान्सर्वान् वक्ष्येऽहं शृणुतेऽनघ ॥**

**तुल्यश्रुततपश्शीलास्तुल्यस्वीयारिमध्यमाः। अपि चक्रुः प्रवचनमेकं[2] शुश्रूषवोऽपरे ॥ ११ ॥**

**सनन्दन उवाच**

**स्वसृष्टमिदमापीयशयानं सह शक्तिभिः ।**

**तदन्ते बोधयाञ्चक्रुस्तल्लिङ्गैश्श्रुतयः परम् ॥ १२ ॥**

**यथा शयानं सम्राजं वन्दिनस्तत्पराक्रमैः ।**

**प्रत्यूषेऽभ्येत्यसुश्लोकै र्बोधयन्त्यनुजीविनः ॥ १३ ॥**

**श्रुतय ऊचुः**

**जय जय जह्यजामजित दोषगृभीत[3]गुण त्वमसि यदत्मना समवरुद्धसमस्तभगः ।**

**[4]अंगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते क्वचिदजयाऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः ॥ १४ ॥**

**बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया यत [6-]उदयास्तमयौ विकृतेर्मृति वाऽविकृतात्[-6] ।**

**अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरतं कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम् ॥ १५ ॥**

---

1 M.Ma. तत्रात्यय° ★ This half verse is not found in G.J.M.Ma. Edns. 2 .K.Ml.V. न रा° 3. B.G.J.Ml.V. गुणां 4. M.Ma. अज° 5- -5 M.Ma. °नानुचर° 6- -6 M. Ma. उदगास्तमस्यविकृते विकृतः।

**श्रीध०** ननु सर्वज्ञास्ते, कस्तत्र वक्ता प्रष्टा वा तत्राह - तुल्यश्रुतेति। तुल्यश्रुतादिभिः अविशेषा अरिमित्रोदासीन तुल्यत्वेन निरुपमकरुणाः, अतः सर्वे प्रवचनयोग्या अपि केनापि कौतुकेनैकं प्रवक्तारं कृत्वाऽन्ये पप्रच्छुरित्यर्थः ॥ ११॥

स्वसृष्टमिति। स्वयं निर्मितमिदं विश्वं प्रलयसमये आपीय संहृत्य शयानं योगेन निद्राणमिव वर्तमानं तदन्ते प्रलयान्ते तल्लिङ्गैः तत्प्रतिपादकैः वाक्यैः परमीश्वरं सृष्टिसमये प्रथमनिश्वासभूताः श्रुतयः प्रबोधयामासुः ॥ १२ ॥

यथेति। सुश्लोकैः शोभनाः श्लोकाः कीर्तयो येषु तैः पराक्रमैः ॥ १३ ॥

जयजयेति। भो अजित! जय जय उत्कर्ष माविष्कुरु। आदरे वीप्सा। केन व्यापारेण? अगजदोकसां, अगानि स्थावराणि जगन्ति जङ्गमानि च ओकांसि शरीराणि येषां जीवानां तेषामजामविद्यां जहि नाशय। ननु किमिति गुणवती हन्तव्येत्यत आह - दोषगृभीतगुणाम्। दोषाय आनन्दाद्यावरणाय गृभीता[3] गृहीता गुणा यया ताम्। 'हग्रहोर्भश्छन्दसि' (अष्टा. 3-1-84) इति भकारः। इयं हि स्वैरिणीव पर प्रतारणाय गुणान् गृह्णात्यतो हन्तव्येति। तर्हि मय्यपि दोषमावहेदिति ममापि अविद्यादमने[4-5] का शक्तिः स्यादत आह - त्वमिति। यद्यस्मात्त्वमात्मना स्वरूपेणैव समवरुद्धसमस्तभगः सम्प्राप्त समस्तैश्वर्योऽसि। वशीकृतमायत्वादिति भावः। ननु स्वयमेव ते ज्ञानवैराग्यदिना किं न हन्युरित्यत[5] आह - अखिलशक्त्यवबोधकेति। तेषां त्वमेवान्तर्यामी सर्वशक्त्युद्बोधकः। अतो न ते ज्ञानादौ स्वतन्त्रा इति भावः। नन्वहमकुण्ठ ज्ञानैश्वर्यादि गुणो जीवानां कर्मज्ञानादिशक्त्यवबोधनेनाविद्यां हन्मीत्यत्र किं प्रमाणमिति चेत्, अहमेव प्रमाणमित्याह - निगमो वेदः। नन्वेवम्भूते मयि कथं श्रुतीनां प्रवृत्तिः तत्राह - क्वचिदिति। क्वचित् कदाचित्सृष्ट्यादि समयेऽजया मायया चरतः क्रीडतो नित्यं चालुप्तभगतया सत्यज्ञानानन्तानन्दैकरसेनात्मना च चरतो वर्तमानस्य तव[6] निगमोऽनुचरेत्प्रतिपादयेत्। कर्मणि षष्ठी। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्ति.उ 3-1) 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। 'तमुह देवमात्मबुद्धि प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' (श्वेता.उ. 6-18) 'य आत्मनि तिष्ठन्' (बृह.उ.3-7-22) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्ति.उ 2-1-1) 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुण्ड.उ.1-1-9) इत्यादि निगम कदम्बस्त्वामेवम्भूतं प्रतिपादयतीत्यर्थः। 'जय जयाजित जह्यगजङ्गमावृत्तिमजामुपनीतमृषागुणाम्। न हि भवन्तमृते प्रभवन्त्यमी निगमगीतगुणार्णवता तव' ॥१॥ ॥ १४ ॥

ननु कथं मामेवं प्रतिपादयन्ति यत 'इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा'(ऋग्वे.1-32-15A) इत्यादिभिः इन्द्रो यातो जङ्गमस्यवसितस्य स्थावरस्य च राजेति प्रतिपाद्यते, तथा 'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुद्' (ऋग्वे.8-44-15A) इत्यादिभिः च एवम्भूतत्वेनाग्न्यादयः

प्रतिपाद्यन्ते, तत्राह - बृहदुपलब्धमेतदिति। अयमर्थः - एतदुपलब्धं दृष्टमिन्द्रादिसर्वं बृहद्ब्रह्म त्वमित्ये[11] वावयन्ति जानन्ति। कथम्? बृहत एवावशेषतयाऽवशिष्यमाणत्वेन। कुतः - यतो बृहतः सर्वस्यो दयास्तमयावुत्पत्तिलयौ, सर्वोपादानत्वात्। तर्हि किं विकारित्वं बृहतः। न अविकृतात् । विवर्ताधिष्ठान त्वेनाविकारादित्यर्थः वा शब्दः उपमार्थः। यथा घटादेर्विकृतेर्मृदि उदयास्तमयौ तद्वत्। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छन्दो. उ. 6-14-1) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छन्दो.उ. 3-16-1) इत्यादिभिस्तथा प्रति पादनादित्यर्थः। अतः कारणादृषयो मन्त्रास्त द्रष्टारो वा त्वय्येव मनोवचनाचरितं दधुः, मनसा आचरितं तात्पर्यं वचनाचरितमभिधानं च धृतवन्तः। मनसा[12] त्वामेव ध्यायन्ती, वचसा त्वामेव निरूपयन्तीत्यर्थः[-12]। न पृथग्विकारेष्विति भावः। अत्र निदर्शनम् - कथमयथेति। नृणां भूचराणां यत्र कुत्रापि दत्तानि निक्षिप्तानि पदानि भुवि कथमयथा भवन्त्यदत्तानि भवन्दि। अतो यथा मृत्पाषाणेष्टकादिषु दत्तानि पदानि भुवं न व्याभिचरन्ति तथा यत्किमपि विकारजातं वदन्तो वेदास्त्वामेव सर्वकारणं परमार्थभूतं प्रतिपादयन्तीत्यर्थः। 'द्रुहिणवद्धिरवीन्द्रमुखामरा जगदिदं न भवेत्पृथगुत्थितम्। बहुमुखैरपि मन्त्रगणैरजस्त्वमुरुमूर्तिरतो विनिगद्यसे'॥ २ ॥ ॥ १५ ॥

---

1. B.J. हीनत्वेन 2. Ml.V. प्रसूताः 3. B.J Omit गृभिता 4- -4 B.J. तत्र 5. Ml.V. °रिति तत्राऽऽह। 6. B.J. द्या हन्तत्यत्र 7. B.J. Omit किंचित् 8. Ml.V. °नानन्दैक° 9. B.J.Omit तव 10- -10 Ml.V. °दीनां प्रतिपादनाच्य इति। 11. Ml.V.Omit त्वम् 12- -2 B.J.Omit 13. B.J. °त्यर्थः।

**वीर०** तत्रेति। हेति हर्षे आश्चर्ये वा, ऋषिभिः कृत एव प्रश्नस्त्वया कृतः, अहो तव बुद्धिकौशलमिति मां प्रति यं प्रष्टव्यमर्थमनुपृच्छसि स तदर्थ विषयकः प्रश्नः अभूत् प्रवृत्तः तथा परिहारश्च, तान् तत्र प्रवृत्तान् प्रश्नपरिहारान् सर्वानहं हे अनघ! ते तुभ्यं वक्ष्ये, शृणु। ननु कस्तत्र वक्ता बभूव? के वा श्रोतारः? किं वा ब्रह्मसत्रस्य लक्षणम्? इत्यत आह - तुल्येति। यद्यपि सर्वे श्रुतं शास्त्रजन्यं ज्ञानं तपः अनशनादि, यद्वा 'तपआलोचने' इति धातोः रूपं तप इति ब्रह्मोपासनात्मकं ज्ञानमित्यर्थः। शीलं तदुपयुक्ता सद्वृत्तिः आराधनाद्यात्मक स्वभावश्च, तुल्यान्येतानि येषां ते, तुल्याः, स्वीयाः अरयो मध्यमाः उपेक्ष्याश्च येषां ते, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति शान्त उपासीत' (छान्दो. उ. 3-14-1) इत्युक्त विधसर्वात्म ब्रह्मोपसननिष्ठत्वात् स्वीयादिरहिता इत्यर्थः। अनेन सर्वेषामपि प्रवचनसामर्थ्यं सूच्यते,अपि तथापि प्रवचने एकं चक्रुः सनन्दनं प्रतिवक्तारं चक्रुः इत्यर्थः। अपरे सनकादयस्सर्वे शुश्रूषवो बभूवुरिति शेषः। एतदेव ब्रह्मसत्रं नाम, यत् सर्वेऽप्यधिगत परमात्मयाथात्म्या अपि एकं प्रवक्तारं कृत्वा अन्ये तु तूष्णीं शृणुयुरिति भावः ॥ ११ ॥

प्रश्नस्तु त्वत्कृत एवेत्यभिप्रेत्य तमनु क्त्वैव सनन्दनोक्तमुत्तरमाह - स्वसृष्टमित्यादिभिः। अत्र स्वविवक्षितमुत्तरं श्रुतिगीत्या संवादयितुं प्रस्तौति सनन्दनः स्वसृष्टमिति द्वाभ्याम् स्वेन आत्मना सृष्टमिदं चिदचिदात्मकं जगदापीय संहृत्य शक्तिभिः

सूक्ष्मावस्थामापन्नाभिः प्रकृतिपुरुष कालत्मिकाभिस्सह शयानं निद्राणमिव वर्तमानं प्रकृति पुरुषादीन् स्वस्मिन्विभागानर्हान् कृत्वा निरवधिक स्वानन्दानुभवपरं परमपुरुषं तदन्ते प्रलयान्ते सृष्ट्यादौ इत्यर्थः। श्रुतयः तन्निश्वासरूपाः मूर्तिधराः वेदाः, यद्वा वेदाभिमानिनो देवाः, तल्लिङ्गैः परमपुरुषासाधारण धर्मप्रकाशकैः वचोभिः बोधयाञ्चक्रुः प्रबोधयन्त्य इव तुष्टुवुरित्यर्थः ॥ १२ ॥

तत्र दृष्टान्तमाह - **यथेति**। अनुजीविनो भृत्याः वन्दिनः स्तुतिपाठकाः प्रत्यूषे प्रभाते अभ्येत्य आगत्य शोभनाः श्लोकाः येषु तैः तस्य सम्राजः पराक्रमैः पराक्रमप्रकाशकैः स्तोत्रैःबोधयन्ति, तद्वत् ॥ १३ ॥

वेदपुरुषमुखनिर्गलितानष्टाविंशति सङ्ख्याकान् श्लोकानाह - जयजयेत्यादि। जयजयेत्यादरेद्विर्भावः। जय उत्कर्षं प्राप्नुहीत्यर्थः। ननु स्वभावत एव निस्समाभ्यधिकस्यानवाप्तः को वा प्राप्य उत्कर्ष इत्यत आहुः। अजामिति। अजां प्रकृतिं जहि नाशय त्याजयेत्यर्थः। त्वयिप्रलीनानां सर्वेषां जीवानां संसृतिनिदान भूतप्रकृति सम्बन्धं त्याजयता त्वया कारुण्यातिशयावहः कश्चिदुत्कर्षः अभूतपूर्व एव प्राप्यत इति भावः। नन्वहमपि प्रकृतिवश्यः, तत्कथमजां त्याजयामीत्यतस्सम्बोधयन्ति - अजितेति। सर्वान् जितवत्या प्रकृत्याप्यजित वशीकृतप्रकृते इत्यर्थः। नन्वनादितया सा अपराधिनां जीवानां कथं त्याजयितव्येत्यतस्सम्बोधयन्ति - दोषगृभीत गुणेति। सत्स्वपि दोषेषु गृभीतो गृहीतो गुणो यादृच्छिक प्रासङ्गिकानुषङ्गिकाद्यन्यतमो येन तथाभूत, सापराधजनेष्वपि कस्यचित् गुणलेशोऽस्ति चेत् तमपेक्ष्यानुग्रहशीलः त्वम् इत्यर्थः। गृभीतेत्यत्र 'गृहेर्भश्छन्दसि' इति भकारादेशः। दोषगृभीतगुणामिति पाठान्तरम्। तदा ननु कुतः प्रकृतेः भोग्यभोगोपकरणादि रूपायाः महागुणवत्त्याः त्याजनं प्रार्थ्यत इत्यतः तां विशिंषन्ति - दोषाः जीवानां दोषावहाः गृभीताः गुणाः सत्त्वरजस्तमोरूपाः यया तां, निष्ठान्तस्य पूर्वनिपाताभाव आर्षः। जीवानां संसृतिनिदान भूत गुणाश्रयत्वात्तां जहीत्यर्थः। ननु त्यजनोप युक्त ज्ञान शक्त्यादि रहितोऽहं कथं हापयेयम् इत्यत आहुः - यद्यस्मात्त्वमात्मना स्वत एव समवरुद्धः स्वीकृतः अशेषः भगो येन सः तस्माज्जहीत्यर्थः। 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसश्श्रियः। ज्ञानवैराग्यौश्चैव षण्णां भग इतीरणा' (विष्णु.पु. 6-5-74) इति विष्णुपुराण वचनात् - भग शब्दार्थोऽवगन्तव्यः। असंकुचित ज्ञानैश्वर्यशक्तिमत्वात् वात्सल्यसागरत्वाच्य मोचयितुं क्षमः, अतो जहीति भावः। ननु य एव प्रकृतिसम्बन्धापादकः स एव त्याजयितुं प्रभुः। नत्वहमित्याशङ्कायां त्वमेव प्रकृतिपुरुषकाल शरीरकत्ववेषेण सर्वकारणतया तत्सम्बन्धापादक इति द्योतयितुमनुद्बुद्धसामर्थ्यानां प्रकृत्यादीनां परमात्म विशेषणतावेषेणापि कार्याक्षमत्वादन्यथा प्रलयानापत्तेश्च तेषां स्वस्वकार्योन्मुख्य सामर्थ्योद्बोधकः त्वमेवेत्यभिप्रेत्य सम्बोधयन्ति-अगजगदोकसामखिल शक्त्यवबोधकेति। अगानां स्थावराणां जगतां जङ्गमानां शरीराणां चराचरात्मकशरीररूपेण करिष्यमाणानां प्रकृतिगुणानामित्यर्थः। ओकसां तादृशशरीराश्रयीभविष्णूनां जीवानां च अखिलश्शक्तयः स्वस्वकार्योन्मुख्यरूपाः तासामवबोधक उद्बोधक तत्र

जीवशक्तुद्बोदकत्वं नाम चिच्छक्त्युद्बोधकत्वं, तेषां प्रलयदशायां अनुद्बुद्धचिच्छक्तिकत्वात्। अत एव सर्वकारणतया सर्वकार्यानन्यं त्वामेव वेदोऽभिदधातीत्याहुः - क्वचिदिति। अजया आत्मना चेति सहार्थे तृतीया, साहित्यं च विशेष्य विशेषणभावेन, तदयमर्थः - अजया आत्मना च प्रकृति पुरुषाभ्यां विशिष्टस्य त इति कर्मणश्शेषत्व विवक्षया षष्ठी। चरतः जगदाकारेण परिणम्यमानस्य तावदधितिष्ठितश्चेत्यपि विवक्षितं, निगमः चिदचिद्वाचिराब्दसमुदायात्मको वेदभागः अनुचरेत् अनुवर्तेत, त्वामेवाभिदध्यादित्यर्थः। अनेन 'कथं चरन्ति श्रुतयः' इति प्रश्नस्योत्तरमुक्तं भवति। कारणत्वं चिदचिद्विशिष्टताकारेणेति च। तथा मोक्ष प्रदत्वं तदौपयिकगुणपूर्णत्वं शास्त्रप्रमाणकत्वं च। अगजगतोकसां स्थावरजङ्गमशरीराश्रयाणां सर्वेषां जीवानाम् अजां जहीति वा सम्बन्धः, जीवानामित्यनुक्त्वा अगजगदोकसामित्युक्तिरासन्नसृष्ट्यभिप्रायिका। एतत्स्तुति प्रवृत्तिकाले स्थावरजङ्गमात्मक शरीराणामभावात्, निगमोऽनुचरेदिति पारोक्ष्यनिर्देश्यः स्तुतेस्संसारिजीवगतत्वाभिप्रायकः, क्वचिदजयाऽऽत्मना च चरतोनुचरेन्निगमः इत्यनेन प्रकृति सम्बन्ध मोचकत्व नियततत्सम्बन्धापादकत्वज्ञापनाय सर्वकारणत्वं तस्य निर्विकारेऽनुपपन्नत्वात्तस्मिन् चिदचिद्वैशिष्ट्यं विशिष्ट कारणत्वादेव विशिष्टकारणानन्यत्वा च्छरीरात्म भावाच्च कार्यशरीरभूतचिदचिद्वाचि शब्दानां विशेष्यात्मपर्यन्ताभिधायकत्वं चोक्तम् ॥ १४ ॥

अथ कार्यकारणयो रनन्यत्वं दृष्टान्त मुखेनोपपाद्य कारणत्वनियतमुमुक्षूपास्यत्वमाहुः - बृहदिति। अवशेषतया ब्रह्मणस्सर्वोपसंहारेण व्यवस्थिततया जगत्कारणत्वादुपलब्धं सृष्टिकाले आविर्भूतमुत्पन्नमेतज्जगत् बृहत् ब्रह्मेत्यवयन्ति आमनन्ति। 'सन्मूलास्सोम्येमास्सर्वाः प्रजास्सदायतना स्सत्प्रतिष्ठाः' 'एतदात्म्यमिदंसर्वम्' (छान्दो.उ. 6-8-7) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दो.उ. 3-14-1) इत्यादयो वेदान्ता अवगमयंतीत्यर्थः। अवत्यत्यवशेषतयेति पाठान्तरं, तदा उपलब्धमुत्पन्न मेतज्जगत्स्थितिकाले अवति रक्षति, अन्तकाले अत्ति संहरति, ततोऽवशेषतया कारणत्वाद्बृहदेवेदं जगदिति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' (छान्दो.उ. 3-14-1) इतिवत् सहेतुको निर्देशः, एतदुपपादयन्ति - यस्य विकृतेः कार्यस्य यत इति पञ्चमीसप्तम्यर्थयोः सार्वविभक्तिकस्तसिः। यत उदय उत्पत्तिः यस्मिंश्च लयः सा विकृतिः तत् कारणात्मिका ततोऽनन्या मृदिवाविकृता, यथा तावदविकृता पिण्डाकारा मृत् घटशरावादिरूपविकृता तदनन्या तद्वत्, अविकृतादिति पाठान्तरम्। तदा अविकृताद्यतो यस्माद्विकृतेः कार्यस्योदयास्तमयौ सा विकृतिस्तदनन्या मृदिव यथा तावदविकृतान्मृत्पिण्डादुदिता घटशरावादिरूपा मृत् तदनन्या तद्वदित्यर्थः। 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्' (छान्दो.उ. 6-1-4) इत्यादिका श्रुतिरिहानुसन्धेया। तत्र हि घटेन जलमाहरेत्यादि वाग्व्यवहारपूर्वकजलाहरणादि कार्यार्थं मृत्पिण्डस्य घटादिनाम कम्बुग्रीवादिरूपविकार संस्पर्शमभिधाय मृत्पिण्डस्य तद्विकारघटादेश्च अनन्यत्वमुक्तम् अतः सर्वकारणत्वात् त्वयि ऋषयो मनोवचनाचरितानि

ध्यानस्तुतिचेष्टितानि अदधुः। त्वामेव निदध्युः तुष्टुवुः त्वदर्थम्[4] अचेष्टन्त चेत्यर्थः। तत्र सदृष्टान्तं हेतुमाहुः - कथमिति? आकाशे विहितानि पदानि यथा मोघानि भवन्ति, पतनस्यावर्जनीत्वात् भुवि निहितानि नृणां पदानि तु कथमयथा भवन्ति, कथं मोघानि भवन्ति? मोघानि न भवन्त्येव पश्चात्पतनाभावात्। एवं मनोवाक्कायचेष्टितानि त्वदाराधनरूपाणि अमोघानि संसारिक तापनिवारकाणि, अन्यविषयाणि, ध्यानादीनि तु न तन्निवारकाणि, प्रत्युत पतनावहानि, अतः त्वय्येव दधुरित्यर्थः। यद्वा-एवं जगत्कारणत्वेन त्वदनन्यत्वाज्जगद्विषयास्सर्वे वैदिकाशशब्दाः तात्पर्यतश्शक्त्या च त्वय्येव वर्तन्त इत्याहुः- अत इति। ऋषयो वेदाः 'तदुक्तमृषिणा' (एत.उ. 4-5) इत्यादौ ऋषिशब्दस्य वेदे प्रयोगात्, मनोवचना चरितं मनस आचरितं तात्पर्यं वचनाचरित मभिधानं च त्वय्येव दधुः धृतवन्तः। ननु तत्तदर्थविषयाणां कथमभिधायकत्व मित्याशङ्कायां दृष्टान्त मुखेन तदुपपादयन्ति - कथमिति? प्रसाद पर्यङ्कादिषु दत्तानि विहितानि नृणां पदानि कथं भुवि अयथा अदत्तानि भवन्ति प्रासादपर्यङ्कादिधारकत्वात् तस्यामेव यथा दत्तानि भवन्ति। एवं प्रतिपुरुषान्तरात्मतया तद्गतनामरूपनिर्वाहकत्वात् त्वयेव तत्तदर्थशरीरके निर्वाहके च वेदा वर्तन्त इत्यर्थः। अपृथक्सिद्धविशेषण वाचिशब्दानामकृत्यधिकरणन्यायेन विशेष्यपर्यन्तभिधानं मुख्यमेवेत्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

---

1. K.T.W Omit वचोभिः 2. K.T.W. करण° 3. K.W. °त्कारणिका 4. B.T.W. °दर्थे

**विज०** कथमत्राह - **तत्रेति**। मुनयः कीदृशा इत्यत्राह - तुल्येति। अरिः शत्रुः। एकं प्रवचनं प्रकृष्टं वचनं यस्य स तथा प्रवक्ता व्याख्यातेत्यर्थः। तम् अपरे शुश्रूषवः श्रोतारः योऽत्र प्रवर्तता स श्रेष्ठ इत्यत्र तात्पर्यं ज्ञातव्यम्। 'सनकाद्याः समाः सर्वे तत्र श्रेष्ठः कुमारकः' (ऋक्संहितायाम्) इति वचनात् ॥ ११ ॥

स एकः कथं प्रबोचदत्राह स्वसृष्टमिति। ब्रह्मलये स्वसृष्टमिदं जगदापीय संहृत्य शक्तिभिः श्रीभूदुर्गाख्याभिर्विभक्त प्रकृति मूर्तिभिः सह शयानं योगनिद्रां कुर्वाणं परं परमात्मानं तदन्ते ब्रह्म प्रलयावसाने श्रुतयस्तल्लिङ्गैः संसार निर्मूलनादि ब्रह्मलक्षणैः बोधयाञ्चक्रुरित्यन्वयः। अत्र इदं तात्पर्यम् - मूलप्रकृतिः श्री भूरूपाभ्यां विष्णुना सह शेते। श्रुतिनाम्ना दुर्गारूपेण विष्णुं स्तौति - जय जयेति। पुंशक्तिविषयबोधनवचनं दुर्गाख्याया अपि, तादृक्शक्तिमत्वात् तदर्थत्वेन भगवदाज्ञया गृहीतविग्रहत्वाच्च श्रुतीनामनन्तत्वे नाधिगन्तुं अशक्यत्वात् दुर्गानाम्नोपि तथात्वाच्च। कालीभद्रेत्यादि बहुरूपत्वप्रतीतेश्च श्रुतेश्चा नन्तत्वेन वाक्ये भेदा च्छ्रुतय इति बहुवचनं च युज्यते। तदुक्तम् - 'श्रीर्भूर्मीरति रूपाभ्यां प्रकृतिर्विष्णुना सह। शेते

श्रुति स्वरूपेण स्तौति ब्रह्मलये हरिम्'। एकाप्यनन्तरूपा सा वाक्यभेदात् सरस्वती। अनादि निधना नित्या स्तौति नारायणं प्रभुम्॥ (ज्योतिस्संहितायाम्) इति। अनेन इदं पौरुषेयं वाक्यत्वादितर वाक्यवदिति प्रयुक्तम्। 'यावद्ब्रह्मविष्ठितं तावतीवाक्' इति श्रुतेः। त्रिरूपायाः रमायाः शक्तिशब्दाभिधेयत्वं वैदापरपर्यायाः शक्तेश्चेतनाभिधेयत्वं विष्णोः स्वरूपभूतशक्तेः शक्यत्वगुणयोगेन युज्यते। नित्याव्यधानात् इति विशेषशक्तित्वाच्य 'विष्णोः स्वरूपशक्तेः सा शक्यत्वाच्छक्तिरेव तु नित्या। व्यवहितत्त्वात्तु विशेषा च्छक्तिनामिका' (तन्त्रभागवते) इति वचनात् सामान्य वाचिनोऽपि शक्ति शब्दस्य विशेषनिष्ठत्वं पङ्कजादि शब्दवद्युज्यते पङ्काज्जातं पङ्कजमिति शैवलादिषु वृत्तिसम्भवेऽपि पद्मे एव वर्तते। विप्रादावपि ब्रह्मशब्दस्य वृत्तियोगेपि चतुर्मुख एव। रुद्रशब्दस्य रौद्रगुणयोगे नातपे वृत्तावपि शङ्कर एव। आदित्य शब्दस्य अदितिपुत्रसामान्य वाचित्व सम्भवेऽपि सूर्यएव इत्याद्यूह्यम्। 'यथैव पङ्कजं ब्रह्मा रुद्र इत्यादिकं पदम्' (तन्त्रभागवते) इति वचनात्। उमादीनामपि प्रकृतिशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्धेः कथम् उच्यते अपर प्रकृतित्वं तासां लक्ष्म्या एव परम प्रकृतित्वं, तदुक्तम् - 'श्रीः परा प्रकृतिः प्रोक्ता ब्रह्माणीत्ववरा ततः। उमा शचीमुखास्तस्याः अवराः सम्प्रकीर्तिताः' (महातत्त्वविवेके) इति ॥ ११ ॥

नित्यबुद्धस्य हरेः कादाचित्कबोधनं विडम्बनमात्रं न तु सत्यमिति हृदि कृत्वा लौकिक मतमनुसरति -यथेति। अनुजीविन इत्यनेन वेदान्तानां तदेकनिष्ठत्वं सूच्यते। राजवज्जय शब्दाद्या नित्यबुद्धस्य बोधनं विडम्बमात्रं क्वेवास्य निद्रा विद्यापतेर्हरेरिति च ॥ १२,१३ ॥

श्रुतयोऽपि लक्ष्मीविभूतयः पुराणस्य स्त्री शूद्रादिश्रुतिगोचरत्वेन श्रुत्यर्थ एव गृह्यते न तु शब्द इत्याभप्रेत्य कथितं श्रुतय ऊचुरिति - जय जयेति। नित्यविजयाधिकरणस्य हरेर्लोटैष्यत्काल विजयो नाशास्यते किन्तु विजयप्रकाशनं भक्तानुकम्पित्वेन जयं प्रकाशयेत्यर्थः सर्वदा जयतो विष्णोर्जयस्तस्य प्रकाशनमित्यादि अत्र राजवद्भिशां जयो न प्रार्थ्यते। किन्तु दुस्तरं प्रकृत्यादेः इति आशयेनाह - जहीति। हे अजित। दोषैः जन्म दुखाज्ञानादिभिरानन्दज्ञानादयो जीवगुणा गृहीताः संवृता यथा सा दोषगृहीतगुणा तामजां 'अजगतिक्षेपणयो' इति धातोः जीवगुणाक्षेपिकां जहि हन तथा परमाच्छादिकां जहि गमय अपसारयेति यावत्। एते अपि प्रकृतिशब्दवाच्ये 'अथान्ये प्रकृती दुष्टे नृषु प्रातिस्विकं स्थितम्' (महातत्त्वविवेके) इत्यादेः। एतेन "जयजयेत्यारभ्य संवृताधिसंवृता" (शण्डिल्यश्रुतिः) इत्यन्ता श्रुतिर्गृहीता। अरतिं तन्द्रीं प्रकृत्याच्छन्नत्वाविशेषाज्जीवात्मनोः को विशेष इति तत्राह - त्वमसीति। त्वं यद्यस्मादात्मना स्वत एव सं अभिन्नोऽत एवावरुद्धः अनपगतः समस्तः पूर्णो भग ऐश्वर्यादिगुणो यस्य स तथा अनपगतपूर्णैश्वर्यादिगुणोऽसीत्यर्थः। 'भगो योन्यां भगोयत्ने यशोवीर्यार्कभूतिषु। कान्तीच्छाज्ञानवैराग्यधनैश्वर्य तपस्सु च' (वैज. को.6-5-58) इति यादवः। अतः

त्वत्प्रतिबिम्बभूतस्य जीवस्य प्रकृत्याच्छादितत्वात् त्वत् प्रसादमन्तरेणैश्वर्याद्या गुणाः न प्रकाशन्ते। अनेन ह्योषहि आनन्द इत्यारभ्य स्वतोसि त्वमित्यन्ता गृहीता। इतोऽपि विशेषोऽस्तीत्याह - अजेति। अज हे विष्णो जगदोकसां जगदाश्रयभूतानां श्रीब्रह्मादीनां सृष्ट्याद्यखिलशक्त्यबोधक रमाया इत्यारभ्य अनन्तोसीत्यन्ता अनेन सूचिता। इदानीं गुणवृत्तयः श्रुतयः निर्गुणे ब्रह्मणि कथं चरन्तीत्यस्य परिहारमाह - क्वचिदजयेति। विगमः तत्त्वनिश्चायके वेदः क्वचित्सृष्टिकाले आत्मना जीवेन अजया प्रकृत्या च अनुचरतः प्रवर्तमानस्य ते तवानुचरेत् चित्तानुवर्तित्वेन विधिनिषेधरूपेण वर्तते हरेस्तदगोचरत्वाल्लये केवलं स्तुतिरूपेण जीवानां निर्देहकत्वेन तत्प्रयोजनको नेति शेषः। 'लयस्य त्वष्टमो भागः सृष्टिकाल उदाहृतः। 'तत्रैव वेदसञ्चारो ह्यन्यदा स्तुतिमात्रकाः' (नारदीये) इति स्मृतिः। यस्माद्विधिनिषेध विषयो जीवः तस्मात् सृष्टिं कृत्वा वेदैः जीवान्बोधयित्वा तदुक्तमनुष्ठाय स्वज्ञानमुत्पाद्य त्वं प्रसन्नः तत्स्थां पिशाचवद्वर्तमानां अजां प्रकृतिं जहीति। अनेन सृष्टिकाल एव गुणमये जगति वर्तमानाः सदा निर्गुणे परमेश्वर एव वर्तन्त इति प्रश्नपरिहारो दर्शितः। यजेत न हन्तव्य इत्यादि विधिनिषेधानां स्तुतिपरत्वं युक्तम्। कथं यत्प्राप्त्यर्थं यत् नियमाद्विधिनिषेधा वर्तन्ते। सत्वमजां जहीति योजनोपपत्तेः। 'विध्यादीनां नियन्ता यः पूज्यः प्राप्यश्च तद्वताम्' (श्रुतिनिर्णये) इत्यादि स्तुति रूपेण विध्यादिश्रुतयोऽपि तु 'हरिं वदन्ति सर्वेषां तन्नामत्वादथापि च' (श्रुतिनिर्णये) इति स्मृतेः। अस्य सृजतो हि त इति प्रभृति माते क्षणोऽत्यागात् इति पर्यन्तं मूलश्रुतिरियम्। हन हिंसायाम् इति धातुः। पृथक्श्रुतित्वान्न पूर्वापरसम्बन्धः उपलक्षणत्वा दनन्तत्वात् श्रुतीनां सर्वश्रुत्यर्थोपबृंहितत्वाच्य तेषां श्लोकानां न सर्वश्रुतीनां पृथगुक्तिः। 'सर्वश्रुत्यर्थ सम्पन्नान् श्लोकान् सत्यवतीसुतः एकैकशाखा श्रुत्यर्थान् जगौ सर्वोपलक्षणान् बबन्ध तान् भागवते प्रतिश्लोकं पृथक् श्रुतिः' (तन्त्रभागवते) इत्याचार्यैरेवोक्तत्वान्नास्माभिः मिथः सम्बन्धार्थं प्रपञ्च्यते ॥ २॥१४ ॥

'बृहद्धि दृष्टमवशेषितं यत्स्वरूपमीशस्य तमोधिकस्य सर्वाधिकत्वेन तमो हि दुर्गा ततस्तथैनं विबुधा यथाऽगुरिति (औद्दालकायनश्रुतिः) औद्दालिकाय न श्रुत्यर्थनिबद्धोऽयं श्लोकः - बृहदुपलब्धमिति। तथाहि अविकृते तमसि 'तम आसीत्तमसागूहमग्र' (यजु. 2-8-9) इति श्रुतेः। नित्यतमो विषये त्वमुदगा उत्कृष्टत्वं गतः मूलप्रकृतेरपि त्वमधिकोऽसि यतः अतो बृहत्त्वेन बृह वृद्धाविति धातोः पूर्णत्वेन एतत्स्वरूपमुपलब्धम्। वेदेषु दृष्टं कथमत्राह - अवशेषतयेति। इत इदमधिकमितोपि इदमधिकतमिति सर्वाधिकत्वेन ततोऽधिकाभावेनावशेषितत्वेन परिशेष प्रमाणसिद्धित्वेनेत्यर्थः। 'स एष रसानां रसतमः परमपरार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथ' (छन्दो.उ.1-1-3) इति श्रुतिः। 'द्वितीयार्थे तृतीयार्थे पञ्चम्यर्थे च सप्तमी। चतुर्थ्यर्थे च संप्रोक्ताविषयेऽपि च तां विदुः'॥ (महाव्याकरणे) इति महाव्याकरणवचनात्। विषयपञ्चम्यौ युज्येते। कीदृशस्त्वम्? अविकृतः विकाररहितः अत ऋषयो ब्रह्मादि ज्ञानिनस्त्वं सर्वोत्तम इत्येतदर्थ पराणि त्वयि मनोवचनाचरितमित्येकवद्भा ववविवक्षयैकवचनम्। मनोवचनाचरितानि दधतामिति दधुः शिक्षां धृतवन्तः। पुंसां त्वयि तानि मन आदीनि कथ मयथा अतद्विषयाणि भवन्तीति दधुः। तत्र दृष्टान्तःनृणां पदं भूमौ निक्षिपामीति प्रवर्तमानानां दत्तानि

निहितानि पदानि यथा भूमेरन्यत्र न भवन्ति तथेत्यर्थः। जलवृक्षादेराधारशक्तिमत्त्वेऽपि भूम्यन्तर्भावान्न पृथगुक्तिः। अतः तथा बृहत्त्वेन दधुरिति वा। 'अतश्शब्दश्च हेत्वर्थे तथेत्यर्थे च वर्तते। उभयार्थे च भवति यथाशब्दविदो विदुः (शब्दनिर्णये) इति वचनात्। अनिर्देश्यमप्येकदेशेन निर्दिष्टं भवतीत्युक्तं कथमयथा भवन्तीत्यनेन यथा सर्वां भूमिमसञ्चरन्नत्येकदेश सञ्चारेण भूसञ्चारी भवति तथेति। 'निरपेक्ष बृहत्त्वस्य ज्ञानाज्ञानं भवेत्परं बृहत्वमेव तु गुणैः सर्वैरुद्दिश्यते यतः' (मान्यसंहिताम्) इति मान्यसंहितायाम् ॥ १५ ॥

इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल
क्षपणकथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः ।
किमुत पुनस्स्वधाम विधुताशय कालगुणाः
परमभजन्ति ये पदमजस्रसुखानुभवम् ॥ १६ ॥

दृतय इव श्वसन्त्ससुभृपो यदितेऽनुविधा
महदहमादयोऽण्यमसृजन्यदनुग्रहतः।
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोन्नमयादिषु य
स्सदसदतः परं त्वमथयदेष्वशेषमृतम् ॥ १७ ॥

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः
परिसर पद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम् ।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं
पुनरिह यत्समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥ १८ ॥

स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया।
तरतमश्चकास्स्यनलवत्स्वकृतानुकृतिः ।
अथ वितथास्वमूष्वविततं तवधाम समं
विरजधियोऽन्वयन्त्यभिविपन्यव एकरसम् ॥ १९ ॥

**स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं**
**तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतांशकृतम्।**[11]
**इति नृगतिं विविच्य कवयोनिगमावपनं**[12-]
**भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि निश्वसिताः ॥२०॥**[-12]

---

1--1. M.Ma. °वोच्छस° 2. K.Ml.T.V.W. °तृपो ; M. Ma हदो 3. M.Ma धा 4--4 M. Ma. मोत्तममध्यमादिषु यस्तव सदसतः 5--5 M. Ma प्रथयेदवि° 6--6 M. Ma यर्हि वर्त्मनि सूक्ष्म 7--7 M. Ma °गाह्य नन्दन पथाय 8. M. Ma भ 9. M.Ma अपि 10--10 M. Ma वितथोरु विधं मनसि निकट धियो नयन्त्यभिविपत्यतव 11. M. Ma धृतः स्व 12--12 M.Ma विमृशन्ति कवयो निगमावपनं यजन्त उपासते भव मध्यविनि°

**श्रीध०** त्वमेव सर्वनिगमगोचर इति सतां प्रवृत्त्या द्रढयति - इति तवेति। त्वमेव सर्वकारणत्वेन परमार्थ इति कृत्वा भोस्त्र्यधिपते त्रिगुणमायानटीनर्तक, सूरयो विवेकिनः तवाखिललोकमलक्षपणकथामृताब्धिं सकलजनवृजिननिरसनहेतुं कीर्तिसुधासिन्धुमवगाह्य निषेव्य तपांसि तपन्तीति तपांसि पापानि दुःखानि वा जहुस्त्यक्तवन्तः। त्वदीय कथामात्रेण यदा पापत्यागस्तदा किमु वक्तव्यं, ये पुनः स्वधामविधुताशयकालगुणाः स्वधाम्ना स्वरूपस्फुरणेनैव विधुतास्त्यक्ता आशयगुणा अन्तःकरणधर्मा रागादयः कालगुणा जरादयश्च यैस्ते, तथा हे परम! तवाजस्रसुखानुभवमखण्डानन्दानुभवं पदं स्वरूपं भजन्ति सेवन्ते तथाभूता दुःखानि त्यजन्तीति। 'तद्यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेतंविधुत पापं कर्म न श्लिष्यते' 'न कर्मणा लिप्यते पापकेन' 'तत्सुकृत दुष्कृते विधुनुते' 'एतदं ह वाव न तपति । 'किमहं साधु नाकरवम्' 'किमहं पापमकरवम्' (तैत्ति.उ.2-9) इत्यादि श्रुतेरित्यर्थः। 'सकलवेदगणेरित सद्गणस्त्वमिति सर्वमनीषिजना रताः।[2] त्वयि सुभद्रश्रवणादिभिस्तव पदस्मरणेन गतक्लमाः' (श्रीधरीयश्लोकः) ॥ ३॥१६ ॥[3]

'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये केचात्महनो जनाः' (ईश.उ.3) तथा 'न चेदवेदीर्महती विनष्टिः।' ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवोपयन्ति'[4-] (बृह.उ.4-4-14)[-4] इत्याद्याः श्रुतयः। असुर्येति[5-] श्रुतेरर्थः। ते प्रसिद्धाः लोकाः कर्मफलभूतदेवतिर्यङ्नरादिदेहाः असुर्याः असुषु रमन्त इति व्युत्पत्या असुराणां देहाभिमानिनां सम्बन्धिनः प्राप्या इत्यर्थः। ते कीदृशाः अन्धेन दृढेन तमसा आच्छादिताः ये के च ये केचित् आत्मानं ततस्वरूपभूत सत्यज्ञानानन्दतिरस्कारेण दुःखित्वाद्यारोपणेन च घ्नन्ति हिंसन्तीत्यात्महनः अविद्वांसः जनाः तान् लोकान् अभिगच्छन्ति प्राप्नुवन्ति। कर्मानुसारेण चेद्यादि इह मनुष्यजन्मनि पुरुषः नावेदीत् न विदितवान् तर्हि महती विनष्टिः विनाशः जन्ममरणपरम्परा अविच्छेदलक्षणा संसारगतिः[-5] इत्याद्याः श्रुतयः। पूर्वश्लोकोक्तोभयविधभजनहीनान्निन्दन्ति - दृतय इवेति। असुरभृतो[6] नरा

यदि ते अनुविधा अनुविदधतीत्यनुविधा अनुवर्तिनो भक्ता इति यावत्। तर्हि श्वसन्ति जीवन्ति सफलजीवना भवन्ति। इतरथा दृतय इव भस्त्रा इव, वृथाश्वासा इत्यर्थः। नन्वभक्तानामपि कामादिफलमस्त्येव। नः कार्यकारणानुग्राहकत्वेन जीवनहेतोस्तवाभजने कृतघ्नानां तदपि न सिध्येदित्याशयेनाह-महदहमादय इति। महानहङ्कारश्चादिर्येषां ते। यदनुग्रहतो यस्य तवाऽनुप्रवेशेन लब्धसामर्थ्याः सन्तोऽण्डं देहंसमष्टिव्यष्टिरूपं सृष्टवन्तः। तत्र च पञ्चापि कोशानन्नमयादीनाविश्य[8] तत्तदाकारस्सन् यश्चेतयते स त्वं तदाह - पुरुषविध इति। पुरुषस्यान्नमयादेर्विधेव विधा आकारो यस्य स तथा। ननु चिदेकरसस्य कथं तत्तदाकारताऽत आह - अन्वयोऽत्रेति। अत्र एषु अन्नमयादिष्वन्वेतीत्यन्वयः। अतस्तत्तदाकारतेति। एवं तर्हि सत्यत्वमसङ्गत्वं च कथं तत्राह - चरमोऽन्नमयादिषु य इति। अन्नमयादिषूपदिश्यमानेषु यश्चरमो 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' (तैत्ति.उ.2-5) इति पुच्छत्वेनोक्तः स त्वमिति सम्बन्धः। ननु तथाप्यन्नमयादिष्वन्वितत्वेऽसङ्गत्वव्याहतिरेव स्यात् तत्राह - सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृषमृतमिति। सदसतः स्थूलसूक्ष्मादन्नमयादेः परं व्यतिरिक्तं तत्साक्षिभूतम्। अवशेषमवशिष्यति इत्यवशेषमबाध्यम्। अथात एव ऋतं सत्यम्। तर्हि किमर्थं तेष्वन्वय उक्तः, शाखाचन्द्रवच्छुद्धस्वरूपलक्षणार्थम्। तथा हि - 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयस्तस्येदमेव शिरः' (तैत्ति.उ.2-1-1) इत्यादिना स्थुलसूक्ष्मक्रमेण पञ्चकोशानुपदिश्य 'तस्य पुरुषविधताम् अन्वयं पुरुषविधः' (तैत्ति.उ.2-2) इति पुनः पुनः तत्तदन्वितत्वेनालक्ष्य 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' (तैत्ति.उ.2-5) इति सर्वसाक्षिणःशुद्धसत्त्वस्वरूपनिरूपणमित्यनवद्यम्। 'नरवपुः प्रतिपद्य यदि त्वयि श्रवणवर्णनसंस्मरणादिभिः। नरहरे न भजन्ति नृणामिदं दृतिवदुच्छ्वसितं विफलं ततः' ॥ ४ ॥१७ ॥

एवं तावत् सर्वात्मके परमेश्वरे सर्वश्रुतिसमन्वयेन सद्भजनीयत्वमुक्त्वा अभक्तनिन्दया च तदेव दृढीकृत्येदानीमनवगाह्यमहिमनि[12] प्रथमं तावदुपाध्यालम्बनमुपासनं 'उदरं ब्रह्मेति शार्कराक्षा उपासते हृदयं ब्रह्मेत्यारुणयो ब्रह्म हैवैत इत ऊर्ध्वं त्वेवोदसर्पत्तच्छिरोऽश्रयत' (ऐत.उ.1-4-1) इत्याद्याः श्रुतयो विदधतीत्याह - उदरमुपासत इति। ऋषिवर्त्मसु ऋषीणां सम्प्रदायमार्गेषु ये कूर्पदृशस्ते उदरालम्बनं मणिपूरकस्थं ब्रह्मोपासते ध्यायन्ति। शार्कराक्षा इति श्रुतिपदस्य प्रतिपदं कूर्पदृश इति। कूर्पं शर्करारणो विद्यते दृक्ष्वक्षिषु येषां ते तथा रजः पिहितदृष्टयः, स्थूलदृष्टय इति यावत्। उदरस्य हृदयापेक्षया स्थूलत्वात्। यद्वा कूर्पं सूक्ष्मम्। सूक्ष्मदृश इत्यर्थः। तदा हृदयस्थं सूक्ष्मेवालक्ष्य तत्प्रवेशाय प्रथममुदरस्थमुपासत इति भावः। आरुणयस्तु साक्षाद्धृदयस्थं दहरं सूक्ष्म अनाहत[13-] चक्रस्थ[-13] मेवोपासते। हृदयविशेषणं परिसरपद्धतिमिति। परितः सरन्ति प्रसर्पन्तीति परिसरा नाड्यस्तासां पद्दतिं मार्गं प्रसरणस्थानमित्यर्थः। विशेषणस्य फलमाह - तत इति। ततो[14] हृदयात् भो अनन्त, तव धामोपलब्धिस्थानं सुषुम्नाख्यं परमं श्रेष्ठं ज्योतिर्मयं शिरो मूर्धानं प्रत्युदगात् उदसर्पत्। मूलाधारादारभ्य हृदयमध्याद्ब्रह्मरन्ध्रं प्रत्युद्गतमित्यर्थः। कथम्भूतं धाम? यत्समेत्य प्राप्य पुनरिह कृतान्तमुखे मृत्युमुखे संसारे न पतन्ति। तथा च श्रुतिः - 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिस्सृतैका।

तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति'[15-] अस्या श्रुतेरर्थः, शतं शतसंख्याकाः एका च सुषुम्ना नाम पुरुषस्यहृदयाद्विनिस्सृताः नाड्यः सिराः तासां मध्ये मूर्धानं भित्वा अभिनिस्सृता सुषुम्नानाम तया अन्तकाले आत्मानं वशीकृत्य यो जपेत् तया नाड्या ऊर्ध्वमुपरि आयन् गच्छन् आदित्यद्वारेण अमृतत्वं एति प्राप्नोति, विष्वङ् नानाविधगतयः अन्या नाड्यः उत्क्रमणे निमित्तं भवन्ति[-15] (कठ.उ.6-16) इति। उदरादिषु यः पुंसां चिन्तितो मुनिवर्त्मभिः। हन्ति मृत्युभयं देवो हृद्गतं तमुपास्महे ॥ ५॥ १८॥

नन्वीश्वरस्यापि तर्हि जीववदुदरहृदयादि सम्बन्धे तदनुप्रविष्टस्य च तारतम्ये सति केन विशेषेणोपास्यत्वमिति इमामाशङ्कां परिहरन्त्यः 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च' (श्रेता.उ. 6-11) इत्याद्याः श्रुतयः स्तुवन्तीत्याह - स्वकृतेति। स्वयं कृतासु विचित्रासु उच्चनीचमध्यमासु योनिष्वभिव्यक्तिस्थानेषु कार्येषु देहादिषु हेतुतयोपादानतया प्रागेव विद्यामानत्वेन मुख्यप्रवेशासम्भवाद्विशन्निव वर्तमान स्तरतमतो न्यूनाधिकभावेन चकास्सि अवभाससे स्वकृता योनीरनुकरोतीति स्वकृतानुकृतिरनलवत्। अग्निर्यथा स्वतस्तारतम्यहीनोऽपि काष्ठानुसारेण न्यूनाधिक[16-] इव तथा तथा[-16] यथा[17-] उत्तमप्रकाशस्सविता द्युमण्डलमेकरूपेण प्रकाशेनापूरयन्नपि वर्षासु निकृष्ट प्रकाशइव प्रतीयते शरदि प्रकृष्ट[-17] प्रकाश इव तद्वत्। अथातो वितथासु मिथ्याभूतास्वमूषु योनिष्ववितथं सत्यं यतः सममविशेषमतः सत्यं तव धाम स्वरूपं विरजधियो निर्मलमतयोऽन्वयन्ति जानन्ति। अनु इति पृथक् पदं वा। अत्र हेतुः - अभिविपण्यव इति। अभितो विगतव्यवहारः। पण व्यवहार इत्यस्य रूपं पण्युरिति। ऐहिकामुष्मिककर्मफलरहिता इत्यर्थः। अविशेषत्वादेवैकरसं सन्मात्रमतस्तवोपाधिकृत तारतम्याभावादप्रच्युतैश्वर्यस्योपास्यत्वमिति भावः। 'स्वनिर्मितेषु कार्येषु तारतम्यविवर्जितम्। सर्वानुस्यूतसन्मात्रं भगवन्तं भजामहे' ॥ ६ ॥ १९ ॥

अपि च कुतो न्वियमाशङ्का स्यात् भगवतो देहाद्युपाधिकृतदोषप्रसङ्ग इति, यतोऽविद्याकामकर्मभिः संसरतो जीवस्यापि भगवद्भावं लक्षणया बोधयन्त्यस्तं दोषं निषेधयन्ति 'स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये'। स एकः। (तैत्ति.उ. 2-8) 'तत्त्वमसि' (छान्दो.उ. 6-8) इत्याद्याः श्रुतयः। ननु क्रत्वर्थस्यात्मनः स्तुतिरियमीश्वरत्वेन क्रियते, नतु तस्येश्वरत्वं बोध्यते, नैतद्युज्यते, यतस्तत्र 'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥' (श्वेता.उ.6-23) इत्याद्याः श्रुतयः, कृतावतारस्य भगवतश्चरणाम्भोजभजनोपायं वदन्तीत्याह - स्वकृतपुरेष्विति। स्वकर्मोपार्जितेषु पुरेषु देहेष्वमीषु नरादिषु भोक्तृत्वेन वर्तमानं पुरुषमखिलशक्तिधृतः सर्वशक्त्याश्रयस्य पूर्णस्य तवांशकृतं वदन्ति । अंश इवांशः, कृत इव कृतः। त्वद्रूपं वदन्तीत्यर्थः। ननु कार्यकारणसंवृतस्य कुत एवम्भूतत्वं तत्राह - अबहिरन्तरसंवरणमिति। बहिः कार्यम्। अन्तरं कारणम्। वस्तुतस्तदावरणशून्यम्। तयोः लिङ्गस्थूलयोः असत्त्वादित्यर्थः इत्येवं नृगतिं

नुर्जीवस्य गतिं तत्त्वं विविच्य विशोध्य कवयो भजनं विना इदं न प्राप्यत इति जानन्तो निगमावपनं निगमोक्त - कर्मणामावपनं आसमन्तादुप्यन्तेऽस्मिन् इत्यावपनं क्षेत्रं सर्वकर्मार्पणविषयमित्यर्थः। यत्रार्पितानि कर्माणि मुक्तिफलं फलन्ति तं भवतोऽङ्घ्रिमभवं भवनिवर्तकं विश्वसिताः कृतविश्वासाः उपासतेऽर्चनवन्दनादिभिः सेवन्ते। भुवीति मर्त्यलेके। इदमेवोचितमिति दर्शयन्ति - त्वदंशस्य ममेशान त्वन्मायाकृतबन्धनम्। त्वदङ्घ्रिसेवामादिश्य परानन्द! निवर्तय ॥ ७॥ २० ॥

---

1. B.J. मृगी 2. Ml.V. मुहुः 3. Ml.V. रमन्ति 4- -4 Ml.V. Omit 5- -5 B.J. Omit 6. Ml.v. °तृपः 7. B. J. Omit तव 8. Ml.V. add यप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया 9. B.J.Omit स्यात् 10. Ml.V. °वेद्य 11- -11 B.J. साक्षिशुद्धस्व° 12. Ml.V. म 13- -13 B.J. Omit 14. B.J. Omit ततः 15- -15 B.J. Omit 16- -16 B.J.Omit 17- -17 B.J. Omit 18- -18 B.J.Omit 19. B. J. °न्यथेदं

**वीर०** 'अत ऋषयः' इत्यादेः पूर्वयोजना। कैमुत्यन्यायेन भगवद्ध्यानस्य सांसारिकतापनिवर्तकत्वमाहुः - **इति तव सूरय** इति। द्वितीययोजनायां तु कारणत्वसमनियतमुमुक्षूपास्यत्वं कैमुत्यन्यायेनाहुः - इतीति। त्र्यधिपते! इति सम्बोधनम्। जगज्जन्मस्थितिविनाशनिर्वाहक, इतिर्हेतौ, अतस्सूरयो विवेकिनः तवाखिललोकमलक्षपणकथामृताब्धिम् अखिलानां लोकानां जनानां शृण्वतां वदतां च मलं पापं क्षपयति नाशयतीति तथा सा कथैवामृतं तस्याब्धिमवगाह्यैव तपांसि आध्यात्मिकादितापान् जहुः तत्यजुः किं पुनर्ध्यानपरा इत्याहुः - किमुतेति। हे परम! ये स्वधाम! स्वतेजः स्वविषयकं ज्ञानं, स्वशब्दः परमात्मपरः तेन विधुताः आशयगुणाः रागादिमनोवृत्तयः कालगुणाः जरामरणादयश्च यैस्ते अजस्रसुखानुभवं नित्यज्ञानानन्दात्मकं पद्यत इति पदं स्वरूपं भजन्ति समाधिना साक्षात्कुर्वन्ति, ते तपांसि जहतीति किंपुनर्वक्तव्यमित्यर्थः ॥ १६ ॥

अथ भगवद्भजनविमुखानां जन्मवैयर्थ्यमाहुः - **दृतय** इति। ते तव अनुविधाः अनुविधायिनः त्वदाश्रयणयोग्य जन्मभाजोऽपि इत्यर्थः। असुतृपस्त्वां विहाय केवलं यदि प्राणेन्द्रियतर्पणपराः शब्दादिविषयचपलाश्चेत् तर्हि दृतय इव उच्छ्वसन्ति दृतयश्चर्मभास्त्रिकाः, ता यथा वायुपूरिता उच्छ्वसन्ति तद्वत् कृतोच्छ्वासा इत्यर्थः। अनेन 'अत ऋषयो दधुः' इति आद्ययोजनायां 'कथमयथा भवन्ति' इत्यादिसूचितमन्यविषयध्यानादिमोघत्वं स्पष्टीकृतम्। ननु सति मम कारणत्वे तत्समनियतमुमुक्षूपास्यत्वसिद्धिः। कारणत्वमेव त्वनुपपन्नम्। अचेतनस्य प्रधानस्यैव महदहङ्कारादिरूपेण परिणामस्वभावस्य कारणत्वात्, तथाहि चेतनभोग्यभूतस्य सत्त्वरजस्तमोमयस्य वियदादिनामरूपविकारावस्थितस्य जगद्रूपस्य वस्तुनः कारणभूतं वस्तु तत्स्वभावमेवेति युक्तं गुणसाम्यावस्थं प्रधानमेव कारणमिति। अत एव कार्यकारणयोरनन्यत्वोपपादकमृदादिदृष्टान्तोपपत्तिरिति ईक्षत्यधिकरणपूर्वपक्षानुसारिणीं आशङ्कामभिप्रेत्य परिहारमाहुः - महदित्यादिना यदनुग्रहत इत्यन्तेन। यस्य तव अनुग्रहतः 'तदैक्षत बहुस्याम्' (छान्दो.उ. 6-2-3) इति ईक्षात्मकसङ्कल्पालब्धसत्ताकाः येनानुप्रविष्टाश्च महदहङ्कारादयः अण्डमसृजन,

अचेतनस्य ईक्षात्मकानुग्रहासम्भवान्न तस्य कारणत्वमिति भावः। न च वृष्टिप्रतीक्षाश्शालय इतिवत् गौणानुग्रहसम्भवः। 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा' (छान्दो.उ.6-8-8) इति कारणस्यात्मत्वश्रवणात् स्यादेतत्, मा भूत्प्रधानं कारणं जीवस्तु भुवितुमर्हति, तस्येक्षासङ्कल्पानुग्रहापरपर्यायानुग्रह सम्भवात्, तथाहि - 'आत्मन आकाशस्सम्भूतः' (तैत्ति.उ. 2-1-1) इत्यात्मशब्देन कारणत्वं प्रकाम्य तस्य आत्मशब्दवाच्यस्य जीवातिरिक्तत्वशङ्काव्युदासाय प्रतिपर्यायं 'तस्यैष एव शरीर आत्मा' (तैत्ति.उ.2-3) इति शरीरसम्बन्ध मभिधाय आनन्दमयशब्देन स्वार्थकामयडन्तेन तस्यानन्दरूपतां चाभिधाय 'सोऽकामयत' (तैत्ति.उ.3-2-6) इति तस्येक्षापूर्वकसृष्टिराम्नायत इत्यानन्दमयाधिकरणपूर्वपक्षानुसारिणीं आशङ्कामभिप्रेत्य परिजहुः - पुरुषविध इत्यादिना। आनन्दवल्ल्यामन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयेषु यश्चरम आनन्दमयः पुरुषविधः 'स वा एष पुरुषविध एव' (तैत्ति.उ.2-2) इत्यादिना पुरुषाकारत्वेन निरूपितः। अन्वयः - 'तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तर पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' (तैत्ति.उ.2-5) इत्युक्तशिरःपक्षपुच्छादिरूपपुरुषप्रकारान्वयवान् स त्वमेव नतु प्रत्यगामेत्यर्थः। कुत इत्यतो विशिंषन्ति यत्सदसदिति। सदसच्चिदचिदात्मक प्रपञ्चाकारं यदित्यर्थः। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्रविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्चोत्यच्चाभवत्' (तैत्ति.उ.2-6) इति स्वसृष्टचिदिदनुप्रवेशेन तदुभयात्मक जगद्द्रूपेण भवनस्य चिदचिद्वाचि शब्दाभिधेयत्वस्य च श्रूयमाणस्य बद्धमुक्तोभयावस्थजीवासम्भावितस्य त्वय्येव सम्भवादिति भावः। किञ्च यदतः चिदचिदात्मकप्रपञ्चात्परं विलक्षणं निरुक्तानिरुक्तनिलयनानिलयन विज्ञानाविज्ञानसत्यानृत शब्दैः प्रकृतिपुरुषौ निर्दिश्य तदन्तरात्मतया तदनुप्रवेष्टृतया श्रूयमाणं यत्तज्जीवातिरिक्तस्त्वमेव। अथ यच्च एषु अन्नमयादिषु चतुर्षु संहृतेष्वपि अवशेषमवस्थितमानन्दमयरूपम् ऋतं निर्विकारं तत्त्वमेव, एवमुक्तधर्मसमानाधिकरणतया श्रूयमाणं ईक्षितृत्वात्मकानुगृहीतृत्वं जीवासम्भावितं त्वय्येवोपपन्नमिति समुदायाभिप्रायः, शारीरात्मत्वं च सर्वशरीरके त्वय्येवोपपन्नमिति च भावः। अत्र केचित् - अन्नमयादिषूपदिश्यमानेषु यश्चरमो 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (तैत्ति.उ.2-5) इति पुच्छत्वे नोक्तः। स त्वमिति सम्बन्धमाहुः, तथा हि -

तस्येदं ब्रह्मपुच्छं स्यात्प्रतिष्ठा हेतुरित्यतः। व्यतिरेकश्रुतेर्ब्रह्म विषयत्व प्रतीतितः ॥
श्लोकस्य वक्ष्यमाणस्य ब्रह्मप्राधान्यनिश्चयात्। प्रियमोदादिरूपेण विदितस्य जनैस्समैः ॥

इहानन्दमयस्यास्य शङ्कायाश्चात्र सङ्गतेः। सदसद्भावयोर्ज्ञानाज्ञानयोश्च निरंशिनः ॥
अंशित्वासङ्गतेर्निर्विकारस्य मयटाऽत्र वै। विकारित्वावबोधाच्च मयटो ह्यत्र सङ्गतेः ॥

तस्यैष एव शरीर आत्मेति च तदन्तरम्। आत्मान्तरं कीर्त्यमानमानन्दमयवस्तुनः ॥
ब्रह्मत्वं नावगमयेदित्यतः पुनरस्य हि। परे तस्मिन्नित्यशुद्धे शोध्यत्वानुपपत्तितः ॥
नानन्दमयशब्देन वाच्यं ब्रह्मेति निश्चितम्। पुच्छत्वेनैव यत्तत्र रूपितं तु तदिष्यते ॥

इति, तत्तुच्छम्

कृत्स्ने प्रकरणेह्यत्र पूर्वमन्नमयादिषु। स्वस्मादनतिरिक्तैस्स्ववयवैस्सुनिरूपणात् ॥
शिरः पक्षादिरूपेण पुरुषत्वस्य निश्चितम्। प्रियमोदादिभिस्स्वस्मादभिन्नैरेव रूपितः ॥

न भिद्यते ब्रह्मणोऽत्र ह्यानन्दमयशब्दितः। तत्तदन्तरभूतस्य वस्तुनो बोधकस्य वै ॥
तस्यैष एव शरीर आत्मेत्यात्मपदस्य हि। व्याख्यानन्दमये पर्यवसन्नाकीर्तनात्पुनः ॥

अन्यस्य ब्रह्मपर्यायस्यानन्दमयतस्ततः। अन्नादिमयपर्यायेषूक्तानां श्लोकरूपिणाम् ॥
वाक्यानां पक्षपुच्छादि मदर्थपरतः पुनः। पुच्छमात्र परस्यास्य श्लोकस्यास्याप्यसङ्गतेः ॥
अनन्तरे शोऽकामयतेति वाक्यश्रुतेन सः ॥

इति शब्देन पुंवस्तुबोधकेन तथा पुनः। प्रधानप्रकृतार्थस्य परामर्शनसाधुना ॥
अनन्तरस्यानन्दमयस्यत्राबोधसङ्गतेः। ब्रह्मणो व्यवधानेन तदुपस्थापन क्षतेः ॥

ब्रह्मण्यानन्दशब्दस्य ह्यानन्दो ब्रह्म इत्यतः। श्रुतेस्सम्प्रतिपन्नत्वादानन्द स्थापने क्षमात् ॥
आनन्दमयमात्मानमुपसङ्गम्य वाक्यतः। आनन्दानन्दमययोरैकार्थ्यस्य प्रतीतितः ॥

आनन्दमयशब्देन परब्रह्मावबोधनात्। आनन्दोब्रह्मेति व्यजानादिति पर्यायतुल्यतः ॥
आनन्दमयतुल्यार्थाच्छब्दादानन्दतः परम्। प्रतीतार्थश्रुतेः पश्चादुपपत्तेरभावतः ॥

न पुच्छमेव ब्रह्मेति किन्तु पुच्छवदिष्यते। स्वभिन्नपक्षपुच्छादि पर प्रकरणस्य वै ॥
आनुगुण्येन षष्ठ्या च निर्देशस्य तथा पुनः। अंशांशित्वेनोपपत्तेर्व्यतिरेकस्य निश्चयात् ॥

आत्माब्रह्मानन्दमयशब्दैरेकार्थ बोधनात्। तेषामन्यतमेनापि श्लोकस्य ह्युपपत्तितः ॥
आनन्दमयस्यापरिच्छित्तेः पुच्छब्रह्मपदस्य हि। आनन्दमयवाच्यस्य प्रसिद्धेरप्यभावतः ॥

सदसद्भावयोर्ज्ञानाज्ञानयोश्च तथा पुनः। शङ्कायास्सम्भवादस्यरूपणस्योपपत्तितः ॥
अंशांशिभ्यां तथानन्दमयशब्दगतस्य वै। मयटस्स्वार्थिकत्वेन प्राचुर्यार्थेऽपि वा पुनः ॥

उपपत्तेर्विकारार्थकत्वाभावाच्च ब्रह्मणः। निर्विकारत्वानिर्वाहादनन्यात्मत्ववादिनः॥
तस्यैष एव शारीर आत्मेत्यस्याविरोधतः। तद्वस्त्वनुगुणत्वेन शोधनस्य विधेः पुनः॥

प्रत्यगर्थस्य शोध्यत्वं संसृतेर्निर्हृतेः तथा। आनन्दमयशब्देन वाच्यस्य ब्रह्मणस्तथा॥
शोध्यत्वस्य प्रपत्त्या च साध्यस्य ह्युपपत्तितः। कालुष्यशान्तिरूपस्य न पुच्छं ब्रह्म वै मतम्॥
अन्यथाऽऽनन्दमयतस्य एव ब्रह्म तु स्थितम्। इतिपुच्छब्रह्मवादिदूषणोद्धार इष्यते॥ १७॥

अस्तु कारणत्वेनोपास्यत्वं, के के कुत्र कुत्र कथं कथमुपासते, कीदृशं च फलमित्यपेक्षायां उपासनभेदानभिधाय सर्वेषामप्युपासनानां मोक्षैकफलत्वमाहुः - उदरमिति। ऋषिवर्त्मसु वेदान्तविहितेषु उपासनमार्गेषु ये कूर्पदृशः सूक्ष्ममतयः तत्र केचिदारुणयः अरुणवंश्याः तदनुयायिनः दहरविद्यानिष्ठा इति यावत्, हृदयं हृद्गतं दहरं दहरशब्दवाच्यं हृदयपुण्डरीकान्तर्गताकाशरूपं त्वामुपासते केचित्तु वैश्वानरविद्यानिष्ठाः उदरम् उदरस्थजाठराग्निशरीरकं त्वामुपासते। केचित्तु परिसरपद्धतिं परितस्सरति व्याप्नोतीति तथा। सुषुम्नाख्या नाडी सैव पद्धतिर्मार्गः तं सुषुम्नामार्गस्थं त्वामुपासत इत्यर्थः। सुषुम्नायाः हृदयादारभ्य शिरःपर्यन्तव्याप्ते तदभिप्रायेण परिसरपद्धतिमित्युक्तं, तदेव स्पष्टयितुं परिसरवर्त्म विशिंषन्ति - ततः हृदयादारभ्येत्यर्थः। हे अनन्त! यत्तव परमं धाम उपासनस्थानं शिरो भ्रूमध्यं तत्पर्यन्तं यदुद्गादूर्ध्वमाक्रामत् 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिस्सृतैका' (कठ.उ. 6-16) इति श्रुत्यर्थोऽत्राभिसंहितः। तव धाम शिरः परमित्यनेन शिरोऽपि त्वदुपासनस्थानमित्युक्तं भवति। 'एष देवपथो ब्रह्मपथः' (छान्दो.उ. 4-15-6) 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (कठ.उ.6-16) एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते इत्यादि श्रुत्यर्थमभिप्रेत्य विशिंषन्ति - यत् मध्यनाडीवर्त्म शिरो वा सर्वेऽप्युपासकाः समेत्य प्राप्य पुनरिह प्रकृतिमण्डले कृतान्तमुखे मृत्युमुखे संसारे न पतन्ति, यदिति वर्त्माभिप्रायको नपुंसकनिर्देशः॥ १८॥

एवमुपासनस्थानप्रसङ्गात्परमात्मनोऽशुचिदेहसम्बन्ध उक्तः। अथ कार्यान्तः प्रविष्टस्यापि तस्य निर्दोषतया परमप्राप्यत्वमाहुः - स्वकृतेति। हेतुतया सर्वोपादानत्वेन स्वेन त्वया कृताः निर्मिताः विचित्राः योनयो देहाः येषां तेषु देवमनुष्यादि विचित्रभवत्कृत शरीरकेषु जीवेष्वित्यर्थः। विशन् अन्तरात्मतया प्रविशन् यद्वा देवादिशरीष्वेवोपासकानुग्रहणोपासानार्थं विशन् तिष्ठन्, इवशब्दोऽनतिरिक्तार्थकः, विशन्नेवेत्यर्थः। तरतमतः ज्ञानाल्पत्वमहत्त्वादिभावेन स्वकृतानुकृतिः स्वकृताः योनीरनुकरोतीति तथा हृदयादिकार्यपरिमाणोत्पत्तिविनाशाद्यनुकारी चकास्सीत्यर्थः। अनलवत् यथा अग्निः स्वतस्तारतम्यहीनोऽपि तृणकाष्ठाद्यनुसारेण तथा प्रकाशते, तद्वत्। अथ यद्यप्येवमथापीत्यर्थः। अमुषु योनिषु वितथासु अविद्यमानासूपसंहृतास्वित्यर्थः। अवितथमनुपसंहृतं, कुतः? सममेकरूपं कार्यनुप्रवेशकृतकार्यगतदोषस्पर्शरहितं, तत्कुतः? एकरसं अविच्छिन्नानन्दं तव धाम स्वरूपं विरजधियो निर्मलमतयः अनुनयन्त्युपासते, अभियन्ति प्राप्नुवन्ति चेत्यर्थः। अन्वयन्त्यभिविपन्यव एकरसम्

इति पाठान्तरम्। तदा अभिविपन्यवः विविध त्वद्गुणवादात्मक स्तुतियुक्ताः अन्वयन्ति अन्विता गच्छन्ति प्राप्नुवन्तीति यावत्। अत्र 'सर्वज्ञस्सर्वदृक्सर्वज्ञानशक्तिबलर्द्धिमान्। अन्यूनश्चाप्यवृद्धिश्च स्वाधीनोऽनादिमान् वशी। क्लमतन्द्रीभयक्रोधकामादिभि रसंयुतः। निरवद्यः परः प्राप्तिर्निरर्थाष्टोऽक्षरक्रमः' (विष्णु.पु.5-46-48) इत्यादि स्मृत्यर्थोऽनुसन्धेयः ॥ १९ ॥

परम भजन्ति ये पदमजस्रसुखानुभवम् उदरमुपासते अवितथं तव धाम समम् एकरसम् इत्युदरादि स्थानविशेषाधिष्ठानक दिव्यात्मस्वरूपोपासकानां तत्प्राप्तिरुक्ता। अथ दिव्यविग्रहोपासकानामपि तत्सारूप्यापत्तिरूपं फलमित्यभिप्रेत्य तदुपासकाश्च केचित्सन्तीत्याहुः - स्वकृतपुरेष्विति। अमूषु देवमनुष्यादिषु स्वेन त्वया कृतेषु पुरेषु त्वन्निवासभूतेषु देहेषु सन्तीमिति शेषः। अखिलशक्तिधृतः अखिलाश्शक्तीः आश्चर्यशक्तीः धरतीति तथा तस्य तवांशकृतम् अंशेन सङ्कल्पात्मकज्ञानेन कृतं कल्पितम् उपात्तम् अबहिरन्तः अन्तर्बहिर्देशरहितम् अन्तर्बहिश्च व्याप्तिक्षममित्यर्थः। अनेन विग्रहस्यापि पुरान्तरवस्थानप्रयुक्त परिच्छिन्नत्वशङ्काव्यावृत्तिः, अंसवरणं सङ्कोचहेतुरहितं पुरुषं पुरुषाकारं विग्रहं वदन्ति, वेदान्ता इति शेषः। 'अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः (श्वेता.उ.5-8) 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति' (कठ.उ.4-12) 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः' (कुठ.उ.6-17) इत्याद्याः वेदान्ताः प्रतिपादयन्तीत्यर्थः। इतीत्थम्भूतं तव पुरुषं तथा नृगतिं नरजन्म त्वदाराधनोपयुक्तमिदं नृजन्मेति च विचिन्त्य विचारपूर्वकं निश्चित्य भुवि भूमौ केचित्कवयो विवेकिनः निश्श्वसिताः प्राणायामपराः जितप्राणेन्द्रिया इत्यर्थः तवाङ्घ्रिमुपासते, कथम्भूतम्? निगमावपनं निगमानां वेदानामावपनं क्षेत्रं प्रतिपादनविषयमिति यावत्, यद्वा निगमस्य ज्ञानस्यापवनम् आ समन्तादुप्यतेऽनेनेत्यापवनम् उत्पादकं 'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगम्' (भगी 10-10) इति भगवदुक्तेः। अभवं न भवस्संसारो यस्मात् सेव्यमानात् तं भुवि विश्वसिताः इति पाठान्तरं, तदा मोक्षयिष्यतीति दृढविश्वासयुक्ताः उपासत इत्यर्थः ॥ २० ॥

---

1. B विजहुरिति 2- -2 B.Omits 3. K. श्रुति

**विज०** त्यजन्ति तापं य उ ते भवत्कथा इति स्म मुक्ताः किमुते स्वरूपगाः परावरेशेशपदं भजन्तः परम्परानन्दमनारतन्ते इति इन्द्रद्युम्नश्रुति प्रथितस्य इति श्लोकस्यायमर्थः। इति शब्दो हेत्वर्थः। पुनरवधारणार्थः। 'पुनरग्रथमे प्रश्ने व्यावृत्तावववधारणे' (वैज.को 8-7-24) इति। हे परमपरावरेशेश! ते तव अजस्रसुखानुभवं अनारतमजस्रं सुखं परमानन्दः अनुभवः ज्ञानं यस्य तत्तथा। तत्पदं स्वरूपं भजन्ति। अनन्याश्रयत्वात् स्वधामा परमः तेन विधुताः आशयगुणाः दुःख[illegible]ः कालगुणाः उत्पत्त्यादयो यैस्ते मुक्ताः तापांसि तापान् जहुरिति किमुत पुनः वक्तव्यमेव। हे त्र्यधिपते! त्रिलोकीनाथ! सूरयः दर्शनादिभाषाविचक्षणाः अखिललोकस्य मलं क्षपयतीति अखिललोकमलक्षपणः तं तव कथामृताब्धिम् अवगाह्यापि तपांसि जहुरिति यस्मादिति शेषः ॥ ३॥ १६॥

अनिशमनुध्वसन्त्यसुखोद्भरिताः तव रिपवो दृतिवत्तमसि प्रविष्टाः तव गुणप्रथनाः परिहाय 'तमःपर्यन्ति ते पदमजस्रमनन्तसुख'मिति (पैङ्गिश्रुतिः) पैङ्गिश्रुत्यर्थरूपस्य दृतय इवेत्यस्य श्लोकस्यायम्भावः। महदहमादयः ब्रह्मरुद्राद्यभिमन्यमानानि महदहङ्कारादितत्त्वानि यस्यानुप्रवेशलक्षणानुग्रहतो ब्रह्माण्डमसृजन् तस्यात्यन्तोपकारकस्य ते तव यद्यसुहृदः सर्वमिथ्यात्ववादिनः तर्हि ते दृतयः कारुशालायामग्निधमननिर्मितचर्मविशेषा इव उच्छ्वसन्ति तमसि प्रविष्टाः दुःखभराक्रान्तत्वाद्विनष्टप्राणबला दीर्घश्वासं कुर्वन्ति। अत्र चरमोत्तममध्यमादिषु चरमा मनुष्योत्तमाः उत्तमा इन्द्रादिदेवाः मध्यमा ऋषिगन्धर्वाः आदिः मुक्तसमुदाये प्रथमो ब्रह्मा एषु पुरुषेषु यस्तवाजस्रं ऋतमेकप्रकारं नित्यम् इति यावत्। अनन्तसुखं अविशेषं विषयविशेषनिमित्तक्षणभङ्गुर सुखमन्तरेण स्वरूपभूतापरिमितानन्दपूर्णं सदसतः परं प्रथयेत्_जानाति। शिष्यादिषूपदिश्य प्रख्यापयति च सः पुरुषविधस्य जीवदेहगतत्वेन तदाकारस्य तवान्वयः। अनुकूलप्राप्तिः यस्य तथा। 'असक्तो देहपूर्येषजीववद्देहगोऽपियत्, अथवा पुंविधातृत्वात् पुंविधः पुरुषोत्तमः' (पुरुषोत्तमतन्त्रे) इति वचनात्। तादृशं त्वामाप्नोतीत्यर्थः। प्रथयतीति प्रथनः ॥ ४॥ १७॥

'तं प्रपदाभ्यां प्रापद्यत ब्रह्मेमं पुरुषं यत्प्रपदाभ्यां प्रापद्यत ब्रह्मेमं पुरुषं तस्मात् प्रपदे तस्मात्प्रपदे इत्याचक्षते। शफाः खुरा इत्यन्येषां पशूनां तदूर्ध्वमुदसर्पत् ता ऊरु अभवतामुरु गृणीहित्यब्रवीत्। तदुदरमभवदुर्वेव मे कुर्वित्यब्रवीत्तदुदरो भवदुदरं ब्रह्मेति शार्कराक्षा उपासते हृदयं ब्रह्मेत्यारुणयो ब्रह्मा हैवताई ऊर्ध्वं त्वेवोदसर्पत्तच्छिरो श्रयत यच्छिरोऽश्रयत तच्छरोऽभवत्तच्छिरसः शिरस्त्वं ता एताः शीर्षञ्छ्रियः श्रिताश्चक्षुः श्रोत्रं मनोवाक्प्राणः श्रयन्तेऽस्मिञ्छ्रियो य एवमेतच्छिरसः शिरस्त्वं वेद' (ऐत.उ.1-3,4) इत्यादिश्रुतेः। कस्मिन्वहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते 'प्रतिष्ठास्यामीति सप्राणमसृजत' इति श्रुते। 'प्राण एवैनमनुप्रविशति प्राणमितरा देवता न प्राणादपरः परमनुप्रविशति। प्राण एवैनमनुभुङ्क्ते प्रविशति प्राणमितरा देवता न प्राणादपरः परमनुभुङ्क्ते प्राणमितरादेवता प्राणादपरः परमनुप्रविशति प्राण एवैनमनुप्रविशति। प्राण एवैनमन्वान्दीभवति। प्राणमितरा देवता न प्राणादपरः परमन्वानन्दीभवति तस्मादाहुः प्राणः पद्धति' (हिरण्यनाभश्रुतिः) इति हिरण्यनाभश्रुतेश्चार्थप्रतिनिधिरुदरमुपासत इति तस्याभिप्रायः। 'शर्करक्षुद्रपाषाणे सुसूक्ष्मे खण्डिते गुडे' इति। 'शर्करातु शिलाभेदे ऋग्भेदाल्पकपालयोः। शर्करं तत्र देशेषु सितायां शकले गुडे' (वैज.को.7-2-26) इति च। अतः शर्कराक्षाः सूक्ष्मदृष्टयः तेषु ख्याताः शार्कराक्षाः त एव वर्त्मनि ब्रह्मणि सूक्ष्मदृष्टयः हरेरशेषविशेषान् विजानन्तो यर्हि 'यस्मात्प्राणं प्रत्युरु गृणीहि इत्यब्रवीत्' इति वचनात् उदरनामकं ब्रह्मोपासते उदरं पूर्णं ब्रह्म उद्गतः अरः परिच्छेदो यस्मात् तदुदरं पूर्णमित्येकार्थत्वात्। यस्माच्चारुणयो हृद्यनात् हृदयनामकं ब्रह्मोपासते यस्माच्चेतरे माण्डूकेयादयो दहरमाकाशादप्यतिसूक्ष्मं परिसरो मुख्यप्राणः पद्धतिर्मार्गो यस्य यस्य स तथा परिसरस्य पद्धतिर्वा । तदुपासते तद्ब्रह्म ततः हृदः नन्दनपथा ब्रह्मनाडीद्वारा शिरः प्रत्युदगात्। अथ यत्परमं ब्रह्म पुनरिह हृदयादिषु स्थितं उपास्य तत्समीपमुपेत्य कृतान्तमुखे संसारे न पतन्तीन्वयः ॥ ५॥ १८॥

'यो जीववद्योनिषु भात्यनन्तो मूढैस्तमोगैर्भरताधिगम्यः निचाय्य तं शाश्वतमात्मसंस्थं तदिच्छवोऽऽत्मन्यदधु र्महान्तः' (कमठश्रुतिः) इति कमठश्रुत्यर्थग्राहिणः स्वकृतविचित्रेति श्लोकस्यार्थउच्यतो। स्वकृतर्विचित्रयोनिषु स्वनिर्मित सुरनरादिनानाविधशरीरेषु विशन्निव विशन् जीवः तद्वदज्ञानां यस्त्वं चकास्सि कथमिव? अनवत्स्वकृतानुकृतिः यथाऽनलः स्वकृतस्यानुकृतिर्यस्य स तथा। स्वकृतदार्वादेरपनयने गच्छन् तत्स्थापने तिष्ठन् अनुवर्तते। एवं स्वकृतशरीरादिएवनुवर्तसे तद्गतः सन्नित्यर्थः। ज्ञानिमतमाह - हेतुतयेति। सर्वहेतुतया भरतेन भेदज्ञानात्मके विष्णौ रतेन वायुना मतः ज्ञातः 'रतत्वाद्भात्मके विष्णौ अथवापि जगद्भृतेः। भरतोवायुरुद्दिष्टो भारती तत्सरस्वती' (नामसंहितायाम्) इति स्मृतेः। वितथासु अन्यथाभवन्तीषु अशाश्वतीष्वपि सम्भावितासु असम्भावितास्वपि अमूषु योनिषु अवितथात्वेन अनन्यथाभूत्वैव शाश्वतत्वेन ऊरुविधं बहुविधं तिष्ठन्तं निकटधियः त्वत्समीपस्थबुद्धयः महान्तस्ते तव त्वामभिविपत्य मनसाऽभिगम्य मनसि नयन्ति ध्यायन्तीत्यर्थः। 'यो निवेश्याह्वयो जीवस्त्वज्ञानां तद्वदेव तु। प्रकाशते परो देवः तेन यान्त्यधरं तमः। सर्वहेतुतयैवेशं प्राणो जानाति तत्वतः। तेन चासौ परो देवः तत्परं याति केशवम्। इन्धनानयने त्वग्निर्ययैवानीयते सह। एवं देहगतो विष्णुः सहगच्छेन्निजेच्छया। अशाश्वतेषु देहेषु शाश्वतं बहुधा स्थितम्। निचाय्य मनसा सन्तो जानन्ति निकटेच्छवः' (तन्त्रभागवते) इत्यादि तन्त्रभागवते सिद्धोऽयमर्थः ॥ ६॥ १९॥

प्रक्रमवत्स्वसत्कृतं सर्वेषु पुरुषेषु सर्वाशु सुधीषु स्थित्वा त्वां तु बहिरन्तरसञ्चरणेपि। 'निषुसीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम्। ना ऋते त्वत्क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवन् चित्रमर्चा' इत्यादिश्रुत्यभिप्रायगर्भस्य प्रक्रमवदित्यस्य श्लोकस्यायमर्थः। सर्वेषु पुरुषेषु सर्वधीषुसर्वेन्द्रियेषु च स्थित्वा श्रीब्रह्मादिषु प्रक्रमवत् प्रकृष्टप्रमयुक्तत्वेन स्वसत्कृतं स्वात्मनैव सत्कृतं त्वां वदन्ति किञ्च हे पुरुष! बहिरन्तः अण्डाद्यान्तर्बहिश्च असञ्चरणे असदमङ्गलं चरणं कर्म यस्यासौ असञ्चरणः तस्मिन्पापाचारे स्थित्वा पापाचारमपि स्वात्मनः पूजात्वेनैव कारयन्तं त्वां वदन्ति। तुशब्देन यथाकरणं तस्याधोगत्यर्थमिति सूचयति। किं बहुना? तत्सर्वं तव स्वकृतं अनन्यापेक्षया त्वयैव कृतं वदन्ति। कुत इति तत्राह - अखलेति। सर्वपुरुषेन्द्रियशक्तिप्रेरकत्वात् श्रुतिश्लोकयोः सर्वत्रैकार्थत्वभावे नैकतन्नियतत्वद्योतनाय ज्ञायते 'श्रीब्रह्मरुद्रपूर्वेषु क्रमात्स्थित्वा जनार्दनः स्वात्मानमर्चयत्यद्धा बहिरन्तरसत्सु च असतामधमाचारो हरिवृष्ट्यात्मपूजनं तस्याऽधोगमनायेति श्रुतिराहाखिलक्रियाम्' (तन्त्रभागवते) इत्यादिना। त्रिपादोऽयं श्लोकः ॥ ७॥ २०॥

---

1. Ma °षं

दुरधिगमात्मतत्त्वनिगमाय[1] तवात्ततनो[2] श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्त पुरिश्रमणाः।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥ २१ ॥

त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियवञ्चरति[3] तथोन्मुखे[4] त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च ।
न बत[5] रमन्त्यहो[5] असदुपासनयाऽऽत्महनो यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये[6] कुशरीरभृतः ॥ २२ ॥

निभृतमरुन्मनोक्षदृढयोगयुजो[7] हृदि यत्[7] मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुस्स्मरणात् ।
स्त्रिय[8] उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो[8] वयमपि ते समास्समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः[10] ॥ २३ ॥

क इह नु[11] वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं[11] यत उदगादृषिर्यमनु वेदगणा उभये ।
तर्हि न सन्नचासदुभयं न च कालजवः किमपि न तत्र शास्त्रमपकृष्य शयीत यदा ॥ २४ ॥

जनिमसतस्सतो मृतिमुतात्मनि[12] ये च भिदां[13] विपणमृतं[14] स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः[14] ।
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा[15] यदबोधकृता त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे[16] ॥ २५ ॥

---

1. B.G.J.M.Ma. °व° 2. M.Ma. °यतवाङ्मनस° 3. M.Ma. °न्ति 4. M. Ma. °खास्त्वयि 5- -5 M. Ma. चरम 6. M.Ma. °न्त्यभवा 7- -7 M. Ma मोक्षहृदय योगयुजो हृदयं 8- -8 स्वनुराग तद्भवानुरगेन्द्रभोग 9. M. Ma. °मास° 10. M.Ma सुधाम् 11- -11. M. Ma वेद नु वक्तुमपेत 12. M. Ma °मजा° 13.M.Ma ते 14- -14 विशर्ध्वनिमारुवतः 15. M. Ma Omit भिदा 16- -16. M. Ma न तु भवेत्तदव°

श्रीध० भक्तिरत्यन्तसाधनमिति[1] वचनमुचितमिव[2] मन्वानो भक्तिं गुरूकरोति - दुरधिगमेति। भो हे ईश्वर ! दुरवगमं दुर्बोधं यदात्मतत्त्वं तस्य निगमाय ज्ञापनाय तवात्ततनोराविष्कृतमूर्तेः चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः, चरितमेव महानमृताब्धिः तस्मिन्परिवर्तो अवगाहस्तेन परिश्रमणाः परिवर्जनार्थः। श्रमणं श्रमः गतश्रमा इत्यर्थः। अपवर्गमपि केचिन्नपरिलषन्ति नेच्छन्ति, कुतोऽन्यत् इन्द्रपदादि। केचिदित्येवम्भूता भक्तिरसिका विरला इति दर्शयन्ति। न केवलं अन्यन्नेच्छन्ति किन्तु तेनैव सुखेन पूर्णास्सन्तः पूर्वसिद्धं गृहादिसुखमप्युपेक्षन्त इत्याह - तव चरणसरोजहंसकुलसङ्ग विसृष्टगृहा इति। तव चरणसरोजे हंसा इव रममाणा ये भक्तास्तेषां कुलं तेन सङ्गस्तेन विसृष्टा गृहा यैस्ते तथा। अनेन श्रवणकीर्तने दर्शिते। श्रुतिश्च मुक्तेरप्याधिक्यं भक्तेर्दर्शयति। यथाह - 'यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च' इति। व्याख्यातं च सर्वज्ञैर्भाष्यकृद्भिः, मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भजन्ते इति । त्वत्कथामृतपायोधौ विहरन्तो महामुदः। कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम् ॥ ८ ॥ १२ ॥

'आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन' (बृह. उ. 4-3-14) 'न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ॥ नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति' इत्याद्याः श्रुतयोऽनुक्रोशन्त्यो जगदात्मनि ईश्वरे रतिमुपदिशन्तीत्याह - त्वदनुपथमिति। त्वदनुवर्तित्वात्त्वत्सेवौपयिकमिदं कुलायं कौ पृथिव्यां लीयते इति कुलायं शरीरम् आत्मसृहृत् प्रियवत् आत्मा च सुहृच्च प्रयश्च तद्वच्चरति। स्वाधीनतया वर्तते इत्यर्थः। तथापि त्वयि उन्मुखे हिते प्रिये आत्मनि च अप्यर्थे चकारः। एवम्भूते सुसेव्येऽपि त्वयि बताहो कष्टं न समन्ति न सख्यादिना भजन्ति। असदुपासनया देहाद्युपलालनेनात्महनः प्रमादिनः। कुतः यदनुशयाः यस्यां असदुपासनायामनुशयो वासना येषां ते कुशरीरभृतः सन्त उरुभये संसारे भ्रमन्ति परिवर्तन्ते। अत आत्महन इति भावः। 'त्वय्यात्मनि जगन्नाथे मन्मनो रमतामिह। कदा ममेदृशं जन्म मानुषं सम्भविष्यति' ॥ ९॥ २२॥

इदानीं 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः (बृह.उ.2-4-5) 'इत्याद्याः श्रुतयो ध्यानमङ्गत्वेनोपदिशन्तीत्याह - निभृतेति। मरुत्प्राणो मनश्चाक्षाणीन्द्रियाणि च निभृतानि संयमितानि यैस्ते च ते दृढं योगं युञ्जन्ति ते दृढयोगयुजस्ते तथाभूता मुनयो हृदि यत्तत्त्वमुपासते तदेवारयोऽपि तव स्मरणाद्ययुः प्रापुः। स्त्रियोऽपि कामत उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियः अहीन्द्रदेहसदृशयोर्भुजदण्डयोर्विषक्ता धीर्यासां ताः परिच्छिन्नदृष्टयः समदृशः सममपरिच्छिन्नं त्वां पश्यन्त्यो वयं श्रुत्यभिमानिन्यो देवता अपि ते समा एव कृपाविषयतया। अङ्घ्रिसरोजसुधाः अङ्घ्रिसरोजं सुष्ठु धयन्त्यः। अयम्भाव :- इत्थम्भूतस्तव स्मरणानुभावो, ये योगिनस्त्वां हृद्यालम्बनमुपासते, याश्च वयं त्वां समं पश्यामो, याश्च स्त्रियः कामतः परिच्छिन्नं ध्यायन्ति ये च द्वेषेण सर्वानपि तांस्त्वामेव प्रापयतीति। 'चरणस्मरणं प्रेम्णा तव देव सुदुर्लभम्। यथाकथञ्चिन्नृहरे मम भूयादहर्निशम् ॥ १०॥ २३॥

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तैत्ति.उ. 2-9) 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः। अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव' (बाष्कलमन्त्रा.उ.10) 'अनेजदेकं मनसो जवीयो नैतद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् । तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' (ईशा.4) इत्याद्याः श्रुतयो भगवत्तत्वं दुर्ज्ञेयं वदन्त्यो भक्तिमेवोररीकृत्य स्तुवन्तीत्याह - क इह नु वेदेति। बत अहो हे भगवन्निह जगत्यग्रसरं पूर्वमेवसिद्धं त्वामवरजन्मलयोऽर्वाचीनोत्पत्तिनाशवान् को नु पुमान् वेद जानाति। ईश्वरस्य पूर्वसिद्धावन्यस्य च अर्वाचीनत्वे प्रमाणं वदन् ज्ञानकारणाभावमाह - यत उदगादिति। यतस्त्वत्त ऋषिर्ब्रह्मा उत्पन्नो यं ब्रह्मणमनु उभये आध्यात्मिकाधिदैविका देवगणा उत्पन्नास्ततोऽप्यर्वाचीनाः सर्वे। यदा तु भवान्सर्वमवकृष्योपसंहृत्य शयीत तर्हि तदा अनुशायिनां जीवानां ज्ञानसाधनं नास्ति, यतस्तदा न सत्स्थूलमाकाशादि। न चासत्सूक्ष्मं महदादि। न चोभयं सदसद्व्यामारब्धं शरीरम्। न

च कालजवस्तन्निमित्तभूतं कालवैषम्यम्। एवं सति तत्र तदा न किमपीन्द्रियप्राणाद्यपि। न च ज्ञापकं शास्त्रमपि। अयमभिप्रायः- अर्वाक्सृष्टिगतानां देहाद्युपाधिकृतान्तराणां कालवशेन च मलिनसत्त्वानां न तावद्भगवज्ज्ञान सामर्थ्यम्. तथा च श्रुतिः - 'न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माक मन्तरं बभूव' इत्याद्याः। यदा तु प्रलयसमये न बह्वन्तरमस्ति तदापि साधनभावान्न भगवज्ज्ञा न् सामर्थ्यम्। अतस्त्वदेक शरणतया श्रवणकीर्तनादि भक्तिरेव सुकरेति। 'क्काहं बुद्ध्यादिसंरुद्धः क्व च भूमन्महस्तव। दीनबन्धो! दयासिन्धो! भक्तिं मे नृहरे दिश' ॥ ११ ॥ २४ ॥

इतोऽपि न ज्ञानं सुशकम्,उपदिशतामपि भ्रमबाहुल्यादित्याह - जनिमसत इति। असतो जगतो जनिमुत्पत्तिं ये वैशेषिकादयो वदन्ति। सत एव ब्रह्मतत्त्वस्योत्पत्तिं वदन्ति ये च पातञ्जलादयः। सत एवैकविंशतिप्रकारस्य दुःखस्य नाशं मृतिं मोक्षं वदन्ति ये नैयायिकाः। उतापि ये च साङ्ख्यादय आत्मनि भिदां भेदं च। ये च मीमांसका विपणं कर्मफलव्यवहारं ऋतं सत्यं स्मरन्ति वदन्ति ते सर्वे आरूपितैरारोपितैः भ्रमैरेवोपदिशन्ति न तत्त्वदृष्ट्या। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छान्दो.उ.6-2-1) 'ब्रह्मैव सब्रह्मात्येति' (बृह.उ.4-4-6) 'अनीशया शोचति मुह्यमानः'(मुण्ड. उ. 3-1-2) 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः। जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः॥' (कठ.उ.2-5) 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म (छान्दो.उ.6-2-1)' एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ '(त्रिपुर-तापि.उ.5-12) इत्यादिश्रुतिविरोधात्। किञ्च वस्तुतः पुरुषस्य त्रिगुणमयत्वे सर्वमिदं सङ्गच्छेत, नतु तदस्तीत्याह - त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता त्वयीति। त्रिगुणमयः पुमानित्यनेन हेतुना या भिदा। उपलक्षणमेतद्भिदादि। सा यस्मात्त्वयि विषये अबोधकृता त्वद्विषयाज्ञानविजृम्भिता। तर्हि किमज्ञानमस्ति, वस्तुतः पुंसि नैवेत्याह - ततः अबोधात्परत्र परेऽसङ्गेऽवबोधरसे ज्ञानघने स अबोधो न भवेन्न सम्भवतित्यर्थः'। मिथ्यातर्कसुकर्कशेरित महावादान्धकारान्तर भ्राम्यन्मन्दमतेरमन्दमहिमंस्त्वज्ज्ञानवर्त्मस्फुटम् । श्रीमन्माधव वामन त्रिनयन श्रीशङ्कर श्रीपते गोविन्देति मुदा वदन् यदुपते मुक्तः कदास्यामहम् ॥ १२॥ २५॥

---

1. B.J. °रल्प° 2. B.J °नमनु° 3. B.J. °विगा° 4. MI.V. Omit इन्द्रपदादि 5--5 MI.V.Omit 6. B.J. धारयन्त्यः 7. MI.V. °म्बोनोपा 8--8 MI.V. मतां नराणां 9. MI.V. adds

**वीर०** केचिदुभयविधमप्युपासनं विहाय केवलं त्वद्गुणामृतपानसुखिता मोक्षमपि नेच्छन्तीत्याहुः-दुरधिगमेति। दुरधिगमं दुःखेनाप्यवगन्तुमशक्यं यत् आत्मनस्तव तत्त्वं याथात्म्यं तस्य निगमाय प्रकाशनायात्ता उपात्ता तनुः रामकृष्णादिरूपा

येन तस्य तव चरितमेव महान् अमृताब्धिस्तस्मिन् परिवर्तेन अवगाहनेन परिश्रमणाः, परिरत्रवर्जने, परिविधूताः श्रमाः आध्यात्मिकादितापाः येषां ते। हे ईश्वर! ते तव चरणसरोजसम्बन्धिनो हंसा भागवताः तत्कुलसङ्गेन विसृष्टास्त्यक्ताः गृहाः गेहदेहाद्यानुरागा यैस्ते अपवर्गं मोक्षसुखमपि न परिलषन्ति न काङ्क्षन्ति ॥ २१ ॥

नृगतिं विचिन्त्येत्यनेन देहस्य भगवत्सेवोपयुक्तत्वमभिप्रेतम्। तदेव स्पष्टयन्त्यः तथैव सति तस्य साफल्यमन्यथा तु न साफल्यं, प्रत्युतानर्थहेतुत्वं चेत्याहुः - त्वदनुपथमिति। कुलायं नीडतुल्यमिदं नृशरीरम् त्वदनुपथं त्वदनुवर्ति त्वदाराधनप्रवणं चेदित्यर्थः। तर्ह्यात्मादिवच्चरति, आत्मादिभिस्तुल्यं स्यादित्यर्थः। तथाप्यसदप्युपासनया शब्दादि विषयसेवया हेतुभूतया आत्महनः आत्मघातिनः विषयसेवायाः अन्ततः स्थावरत्वापादकतया आत्मनोऽसत्प्रायतापादकत्वात्तत्सेवापरा आत्मघातिन एवेति भावः। त्वय्यहो न रमन्ते, अहो निरतिशयगुणवदिदं शरीरं प्राप्यापि त्वां न भजन्त इति खेदः, कथम्भूते? यथोत्सुके यथावस्थितोत्कूलानन्दे अत एव प्रिये अत एव च हिते उन्मुख इति पाठे ईषदानुकूल्येनाप्यभिमुखीभवितुमुद्युक्त इत्यर्थः। कुतस्तान्प्रति खिध्यध्वे इत्यत आहुः - यद्यस्मादनुशयाः प्रतिजन्मभुक्तावशिष्टोत्तरोत्तर देहनिमित्त कर्मयुक्ताः उरु बहु भयं यस्मिन् तस्मिन् संसारे भ्रमन्ति। अतः ते कुशरीरभृतः कुत्सितदेहभाजः केवलं शोच्या एवेति भावः। भुक्तावशिष्टं कर्मानुशयः, स एषामस्तीत्यर्श आद्यच् ॥ २२ ॥

आस्तां त्वयि न रमन्त इति, अहो बत त्वयि द्वेषादिकमपि न कुर्युः, यतस्त्वयि विलक्षणविषये तस्यापि त्वत्प्राप्तिसाधनत्वमिति सदृष्टान्तं सोदाहरणं सोपपादनं चाहुः - निभृतेति। मरुतः प्राणाः मनश्चाक्षाणीन्द्रियाणि च निभृतानि संयमितानि मरुदादीनि यैस्ते च दृढम् अविचाल्यं योगमुपासनात्मकं युञ्जत इति तथा ते मुनयः हृदि यत्त्वत्स्वरूपमुपासते तदेवारयः शत्रवोऽपि स्मरणात् अप्रीतिपूर्वकस्मरणात् ययुः प्रापुः। तथा स्त्रियः गोप्योऽपि उरगेन्द्रस्याहीन्द्रस्य देहसदृशयोर्भुजदण्डयोर्विशेषण सक्ता धीर्यासां ताः तदेव ययुरित्यन्वयः। विषयस्य विलक्षणत्वादिति भावः। किं बहुना? वयं वेदाभिमानिनो देवा अपि अङ्घ्रिसरोजमेव सुधा तद्वद्भोग्यं येषां ते त्वच्चरणसरोजप्रकाशका वयमपीत्यर्थः। यद्वा अङ्घ्रिसरोजं सुष्ठु धयन्ति पिबन्ति अनुभवन्तीति यावत्। 'धेट्पाने' धातो रूपमिदम्। त्वयि प्रमाणतया त्वदन्तरङ्गभूता स्त्वत्स्वरूपादिप्रकाशका वयमपीत्यर्थः। ते तव समास्तुल्याः मुनिप्रभृतय इव त्वामेव विषयभूतं तात्पर्यतोऽर्थतश्च प्राप्नुम इत्यर्थः। तत्र हेतुत्वेन विशिंषन्ति समदृश इति। समा दृक् यस्य अनादृतनिम्नोन्नतभावस्य वैषम्यनैर्घृण्यादिपरिहाराय व्याजमात्रावलम्बिनस्सर्वानुजिघृक्षोस्तव सर्वेऽपि तुल्यकक्ष्या इति भावः ॥ २३ ॥

अङ्घ्रिसरोजसुधा इत्यनेन भगवत्स्वरूपस्वभावादिप्रकाशकं वेदाख्यं शास्त्रमेवेत्यभिप्रेतम्। अतस्तेन विना भगवतो दुरवगमत्वं सहेतुकमाहुः - क इहेति। अवरजन्मलयः अर्वाचीनोत्पत्तिनाशवान् इह लोके को नु पुमान् अग्रसरं सृष्टेः पूर्वभाविनं

सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टत्वेन कारणतयाऽवस्थितं त्वां वेद? शास्त्रेण विना न कोऽपि वेदेत्यर्थः बतेति विस्मये। 'यतो वाचोनिवर्तन्ते'(तैत्ति.उ.2-4) इत्युक्तरीत्या वाङ्मनसापरिच्छेद्यस्वरूपस्वभावं तं वेत्तुमुद्युक्तोऽविस्मीयते, सर्वेषामवरजन्मलयत्वमुपपादयन्तियतस्त्वतः ऋषिर्ब्रह्मा उदगादुद्भूव, यमनु पश्चाच्चतुर्मुखोत्पत्त्यनन्तरमित्यर्थः। उभये निवृत्तिनिष्ठास्सनकादयः प्रवृत्तिनिष्ठाः मरीच्यादयश्च देवा उदगुः। मनुजादयस्तेभ्योऽप्यर्वाचीना इति किमु वक्तव्यमिति भावः। अग्रसरत्वमुपपादयन्ति - तर्हीति। यदा भवान् शास्त्रमपकृष्य स्वहृदये निधाय शयीत शयितवान् तर्हि तदा सृष्टेः पूर्वकाले सत्कार्यावस्थं चिद्वस्तु असत्कार्यावस्थमचिद्वस्तु उभयं मिश्ररूपं कार्यं च कालजवः कालप्रवृत्तिः सर्गादिविषया नासीत्, किं बहुना? तत्र तदा न किमप्यासीदित्यर्थः। अत्र 'नासदासीन्नोस दासीत्' (यजु.आर 2-8-9) 'एको ह वै नारयण आसीन्न ब्रह्म नेशानो नेमे द्यावापृथिवी' (म.ना.उ.1-1) इत्यादिश्रुत्यर्थो अनुसंहितः। अवरजन्मलयोऽग्रसरमिति च हेतुगर्भम्। यद्यप्यवरजन्मा पुत्रादिरग्रसरं पित्रादिकम् अयमित्थम्भूत इति जानात्येव। तथाप्यत्र भगवतो वाङ्मनसापरिच्छेद्यस्वरूपस्वभावत्वे अवरजन्मलयानां तन्मायामोहितत्वेन तदनुग्राह्यज्ञानत्वेन च तद्वेदनाऽक्षमत्वे च तात्पर्यम्। तर्हि न सन्नचासत् इति सृष्टेः पूर्वं सच्छब्दवाच्यकार्यावस्थचिदचिन्निषेधेन नामरूपविभागानर्हकारणावस्थचिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मणोऽग्रसरत्वोक्त्या सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मात्मकस्य सत एव द्रव्यस्य स्थूलचिदचिद्विशिष्टतारूपकार्यावस्थायोगित्वलाभात् सत्कार्यवादः फलितः ॥ २४ ॥

अथ तद्विरुद्धमसत्कार्यवादं विरुद्धवादप्रसङ्गान्मतान्तराणि चानूद्य दूषयन्ति - जनिमिति। असतो द्रव्यस्य जनिमुत्पत्तिं सत्तायोगमिति यावत्, सतश्च द्रव्यस्य पश्चान्मृतिं नाशं च ये तार्किकाः स्मरन्तीत्यसत्कार्यवादोऽनूदितः। उतेति पक्षान्तरे। आत्मनि भिदां स्थूलत्वकृशत्वमनुष्यत्वमृगत्वादिरूपां भिदां ये केचित् स्मरन्तीति चार्वाकमतानुवादः। ते हि देहमेवात्मानं मन्यन्ते। विपणं देवमनुष्ययोरन्योन्योपकार भावजनितं वाणिज्यफलतुल्यं स्वर्गादिफलम् ऋतं सत्यं ये मीमांसकाः स्मरन्तीति कर्मफलनित्यत्ववादानुवादः, न केवलं स्मरन्ति किन्तु ते तार्किकादयः आरूपितैरारोपितैर्युक्त्याभासैः उपदिशन्ति च। तमारुपितैरिति पाठे तं स्वमतसिद्धं युक्त्याभासैरुपदिशन्ति चेत्यर्थः। तथा पुमान् त्रिगुणमयः सत्त्वादिगुणत्रयप्रचुरो जीव एव न तु तदतिरिक्त ईश्वराख्य इति निरीश्वरसांख्यमतानुवादः तत्र साधारणं दूषणमाहुः - इतीत्यादिना। इति भिदा इत्थम्भूतो मतभेद इत्यर्थः। यदबोधकृता यस्य तवाबोधकृता याथात्म्याज्ञानप्रयुक्ता चिदचिद्विशिष्टत्वद्रूपस्य सत एव द्रव्यस्य जगदात्मकस्थूलावस्थारूपकार्यता योगित्वं पूर्वपूर्वसंस्थानत्यागात्मिकां मृतिमावृत्ति विधादिभिः कर्मफलस्य तारतम्यम् अत एव अनित्यत्वं ब्रह्मज्ञानफलस्य नित्यत्वं जीवासम्भावितसार्वज्ञ्यसत्यसङ्कल्पत्व करणाधिपत्वादिस्वभावं परमात्मानं देवमनुष्यादिदेहविलक्षणं प्रत्यगात्मानं चाजानतामित्थं मतभेदः प्रवृत्त इत्यर्थः। ननु बुद्धिशब्दान्तरादिभेदात् कार्यकारणयोर्भेदः। अत एवासदेव कार्यपूर्वमुत्पद्यत इति युक्तम्। किञ्च कारणमेव चेत्कार्यं, कारकव्यापारवैयर्थ्यं, सर्वस्य सर्वदा सत्त्वेन कार्यस्य नित्यानित्यविभागश्च न स्यात्। अथ कार्यं सदेव पूर्वमनभिव्यक्तं कारकव्यापारेणाभिव्यज्यते। अतः कारकव्यापारार्थवत्त्वं नित्यानित्यविभागश्चोच्येत, तदसत्-

अभिव्यक्तेरभिव्यक्त्यन्त रापेक्षत्वेऽनवस्थानात्। अनपेक्षत्वे कार्यस्य नित्योपलब्धिप्रसङ्गात्। तदुत्पत्त्यभ्युपगमेऽसत्कार्यवादप्रसङ्गात्। अतोऽसतः कार्यस्योत्पत्तिहेतुत्वेनैव कारकव्यापारार्थवत्त्वम्। अतश्च सत्कार्यवादासिद्धिः। नन्वसत्कार्यवादिनोऽपि कारकव्यापारो नोपपद्यते, प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासत्वात्, कार्यादन्यत्र कारकव्यापारेण भवितव्यं, तत्रान्यत्वाविशेषात्तन्तुगतकारकव्यापारेण घटोत्पत्तिरपि प्रसज्येत, नैवं - यत्कार्योत्पादनशक्तं यत्कारणं तद्गतकारकव्यापारेण तत्कार्योत्पत्तिसिद्धेः। अत्रोच्यते - सत एव मृद्धिरण्यादेर्द्रव्यस्य संस्थानान्तरभाक्त्वमात्रेण बुद्धिशब्दान्तराद्युपपत्तेर्न तावन्मात्रेणासत्कार्यवादप्रसङ्गः, तत्तदवस्थस्य तस्यैव द्रव्यस्य ते ते शब्दाः तानि तानि च कार्याणीति द्रव्यस्य तत्तदवस्थतायाः कारकव्यापारायत्तत्वेन तस्यार्थवत्त्वोपपत्तिः, अभिव्यक्त्यनुबन्धीति चोद्यानि तस्या अनभ्युपगमादेव परिहृतानि, उत्पत्त्यभ्युपगमेऽपि सत्कार्यवादो न विरुध्यते। सत एवोत्पत्तेः। ननु विप्रतिषिद्धमिदमभिधीयते-पूर्वमेव सत् तदुत्पद्यते चेतीति चेत् न, द्रव्यस्योत्तरोत्तरसंस्थानयोगो हि पूर्वपूर्वसंस्थानसंस्थितस्य विनाशः। स्वावस्थितस्य तु उत्पत्तिः, अतः सर्वावस्थस्य द्रव्यस्य सत्वात् सत्कार्यवादो न विरुध्यते, संस्थानस्यासत उत्पत्तावसत्कार्यवादप्रसङ्ग इति चेत् - असत्कार्यवादिनोऽपि उत्पत्तेरनुत्पत्तिमत्वे सत्कार्यवादप्रसङ्गः। उत्पत्तिमत्वे च अनवस्था, अस्माकं तु अवस्थानामुत्पत्तिस्थानीयानां पृथक् प्रतिपत्तिकार्ययोगानर्हत्वात् अवस्थावत एवोत्पत्त्यादिकं सर्वं निरवद्यमिति। एवं ममायं देहः, शिरसि मे दुःखं, पादे मे वेदनेत्यपरोक्षमेव देहात्मनोर्व्यतिरेकप्रतीतेः। 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' (कठ.उ.5-13) इत्यादि शास्त्राच्च तदवगतेः। 'पुमान्न देवो न नरः' इत्यादिना देवत्वादिप्रतिषेधाच्चात्मनां भिदावादोऽज्ञानमूलः। 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते। एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते। नास्त्यकृतः कृतेन' (छान्दो.उ. 8-1-6) इत्यादिश्रुतेः। 'दाक्षायणयज्ञेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यावृत्तिविधानाच्च कर्मफलानित्यत्वावगतेः तन्नित्यत्ववादोऽप्यज्ञानमूलः। "यस्सर्वज्ञस्सर्ववित्" (मुण्ड.उ.2-2-7) 'सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः' (छान्दो.उ.8-1-5) 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते। स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'(श्वेता.उ.6-8) 'करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वेता. उ. 6-9) इत्यादीनि बहुप्रमाणानि ईश्वरेऽवगन्तव्यानि, इत्थमेषां वादानामज्ञानमूलत्वमुक्तम्। अथ भगवज्ज्ञानवतां तादृशभ्रमाभावमाहुः - त्वयीति। ततः पूर्वप्रस्तुतसदसच्छब्दवाच्यप्रकृतिपुरुषाभ्यां परत्र परस्मिन् विलक्षण इति यावत्। अवबोधरसे ज्ञानस्वरूपे त्वयि यथावद्विज्ञाते यतीति शेषः। सः अबोधः तन्मूलो वादभेदश्च नास्तीत्यर्थः ॥ २५ ॥

---

1. B. यथोन्मुखे 2.T.W. °कर

**विज०** हे दुरवगम! आत्मतत्त्व! दुर्ज्ञेयनिजस्वरूप! चरितलक्षणमहामृताब्धेः परिवर्तनेन मथनेन परिश्रमणाः चरगतिभक्षणयोः इत्यतः त्वत्तत्त्वावगतिहेतुर्वेदश्चरितशब्देनोच्यते। स एव महासमुद्रः तस्य परिवर्तनं परिलोडनं मथनमिति यावत्। तेन परिश्रान्ता इति यतः अतो भवमध्याद्विनिश्वसिताः मुक्ताः निगमानामावपनं स्थानं निगमानां ततोऽभिव्यक्ते तत

एव फलप्रदत्वाद्विषयत्वाच्च निगमावपनं त्वां विमृश्य यज्ञादिभिः यजन्ते उपासते सजातीयविजातीयप्रत्ययानन्तरितत्वेन ध्यायन्ति। कीदृशः? निगमविषयेषु आयतवाङ्मनसः विस्तृतवाङ्मनोव्यापारा इत्यनेन वेदेनैव विज्ञातभगवत्तत्त्वा इत्युक्तं भवति। 'न किञ्चिदभिवाञ्छन्ति यतयः सुसदाश्रयाः प्रेष्ठस्य रमणस्याग्र्यै प्रियवद्देहदृष्टयः' (विमदश्रुतिः) इत्यर्थद्योतकस्य न परिलषन्तीत्यस्यायम्भावः - ईश्वरेत्यनेन श्रुत्यन्तरमत्राप्यनुकूलं लक्षयति केचिद्यतयः किञ्चिदपवर्गलक्षणमुपासनाफलमपि न परिलषन्ति न वाञ्छन्ति। तत्र निमित्तमाह - चरणेति। चरणसरोजसेविनां हंसानां सन्न्यासिनां कुलस्य समूहस्य सङ्गेन सेवालक्षणेन विसृष्टगृहाः गृह्यन्ति त्यक्तुं न मुञ्चन्तीति गृहाः भार्यापुत्रादयो विसृष्टाः संत्यक्ता यैस्ते। अनेन सुसदाश्रया इति विवृतम् ॥ ८॥ २१ ॥

किञ्च त्वदनुपथं त्वन्मार्गानुकूलमार्गं त्वत्प्राप्त्यनुसारित्वादिदमात्मनः स्वस्य सुहृदनिमित्तबन्धुभूतं कुलायं शरीरं, प्रियवाञ्छच्छरीरवञ्चरन्ति पश्यन्ति। प्रिये सर्वतः प्रियतमे आत्मनि सर्वदानकर्तरि त्वयि तथाहि ते तत्तत् प्राप्ताऽऽपत्परिहारेण उन्मुखाः अभिमुखाः। 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः' (ईशा.उ.3) इति श्रुतिसूचिताभिप्रायस्य न च रमन्त्यस्यायमर्थः। असदुपासनयाऽन्यथोपसनया ब्रह्माहमित्याद्युपासनया आत्महनः आत्मानं घ्नन्तो जनाः असुर्यान् सुष्ठारमणरूपत्वादसुरप्राप्तत्वाच्च नित्यनिरतिशयदुःखान्निरस्तसमस्तसुखान् लोकानाप्नुवन्तीत्येतन्न च रमन्त्यहो इत्यनेन लक्ष्यते। सुखलक्षणारतिरेव नास्तीति न, किन्तु नित्यदुःखमनुभवन्ति च। अहो आश्चर्यं, अन्यथोपासकानां अनर्थपरम्परा। किञ्च सदनुशयाः यस्मिन्ननुशयो येषां ते तथा। यत्रानुशयानाः तमस्येव भ्रमन्तीत्यर्थः। कुतोऽत्राह - अभवा इति। तत उत्थाय पुनर्जन्मवर्जिताः जन्माभावेन देहाभावे दुःखभोगाभाव इति तत्राह - कुशरीरभृत इति। नित्यदुःखभोगसाधनं कुत्सितं निन्द्यं शरीरं बिभ्रतीति ॥ ९॥ २२ ॥

न केवलं भगवद्द्वेषिणामेतादृशलोकप्राप्तिः अपि तु तद्भक्तद्वेषिणामपि तल्लोकावाप्तिरिति भावेनाह- निभृतेत्यादिना। निभृतं परिपूर्णं मोक्षार्थं हृदयं ज्ञानं यस्य स निभृतमोक्षहृदयो वायुः तेन योगेन नियोगेन युजो युक्ताः नियमितास्सन्तः ये मुनयो ज्ञानिनःहृद्ययनात् हृदयं भगवन्तमुपासते तेषां मुनीनामरयो द्वेषिणोपि तदेव श्रीनारायणद्वेषिप्राप्यं तमो ययुरित्यन्वयः। 'नित्यदुःखसुसम्पूर्णं निरस्तानन्दमव्ययं तमो यान्त्यन्यथा ज्ञानद्वेषाद्वा हरिसंश्रये' (प्रमाणसंहितायाम्) हरिभक्तजने - 'निभृतो मोक्षवित्प्राणः तद्योगात्तत्प्रसादतः। जानन्ति परमं देवं नान्यथा तु कथञ्चन' (भागवत संहितायाम्) इति स्मरणात् इत्युत्तरश्लोकान्वयि। 'त्वं वेत्थ नापरस्ते स्वरूपं न नित्यवाङ्नागभोगप्रियस्य कुतो ब्रह्मा प्राप्तलोकश्च देवास्तथा प्राप्ता जनिमन्तो यतोऽस्मात्' (साङ्कृतिश्रुतिः) इति साङ्कृतिश्रुत्यर्थभूतस्यायमर्थः। हे स्मरणात्, स्वनुरागः सुष्ठु अनुरागः स्नेहो यस्य स तथा तस्य सम्बुद्धिः स्वनुरागेति। स्मरणादेव अनुरक्त इत्यर्थः। यत्तव सच्चिदानन्दलक्षणं तत्ते स्वरूपं भवान् वेद नान्यो वेत्ति। अनेन त्वं वेत्थ नापरस्ते स्वरूपमिति विवृतम्। भवत्यो मत्स्वरूपं विदन्ती हीति तत्राहुः - उरगेन्द्रेति। उरसा गच्छन्तीति उरगाः तेषामिन्द्र

उरगेन्द्रः तस्य भोग एव दण्डः तस्मिन् विषक्ता धीर्यस्य स तथा तस्य ते तव अङ्घ्रिसरोजसुधामुद्दिश्य वयं नित्यवाचोपि समा समदृशः सर्वमाहात्म्यस्य वेदैरपि वक्तुमशक्यत्वादसमदृशः माहात्म्योपमितज्ञानाभावाः। वेदागम्यमाहात्म्यस्यापि वेदैरेव गम्यत्वात् समदृशः तुल्यज्ञानाः ॥ १० ॥ २३ ॥

अत इह जगति अन्यः को नु पुमान् माहात्म्यं वक्तुं वेद। अमुना नित्यवाङ्नागभोगप्रियस्य कुत इत्येतद्विवृतं को ह्यस्मान् वेदान् त्वां च ऋते अपेतजन्मलयः उत्पत्तिनाशरहितः यतस्त्वत्तः ऋषिर्ब्रह्मा उदगादुत्पन्नः। अतो जन्मादिरहितो न भवति। देवगणा अपि उक्तगुणा नेत्याहुः - ब्रह्मणोन्वनन्तरं उभये प्राप्तपदाः प्राप्यपदाश्च देवगणाः। अनेन कुतो न 'ब्रह्माप्राप्तलोकाश्च देवास्तथाप्राप्ताजनिमन्तो यतोऽस्मात्' (साङ्कृतिश्रुतिः) इति श्रुतिर्व्याख्याता। महिम्नः सर्वशोनुक्तेः वेदाश्चसमदर्शिनः तस्यापि वेदगम्यत्वात् तथैव समदर्शिन इति वाक्यं चानुगृहीतम्। 'नासदासीन्नोसदासीत्तदानीन्नासीद्रजोनो व्योमापरो यत्। किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्' (यजु.आर.2-8-9) इत्यादिश्रुत्यर्थानुरूपस्य तर्हिन सन्न चासत इत्यस्य श्लोकस्य भावः कथ्यते। यदा भवान्प्रलये शास्त्रं अध्यापकपरम्पराप्राप्तं वेदमपकृष्य आत्मनि निधाय शयीत अध्येत्रभावे शास्त्रप्रवृत्त्यभावात् तर्हि तदा सत्स्थूलमण्डादिकं नासीत्। असत्सूक्ष्मं महदादिकं च नासीत्। उभयम् अग्निरापश्च न च कालजवः जराद्यापादक लक्षणः किं बहुना? तत्र किमपि वस्तु नासीदित्यर्थः ॥ ११ ॥ २४ ॥

हे अज! असतः सूक्ष्मरूपात् त्वत्तः सतः स्थूलरूपस्य जगतः परमेश्वरपर्यन्तं यथाक्रमं जनिं मृतिं च सर्वस्मात्परमात्मनि भिदां भेदं च विपणो व्यवहारः। त्वत्सेवालक्षणधने दत्ते सुखपदार्थलक्षणफलं देयमिति सङ्कल्पलक्षण, इत्यतः फलं लक्ष्यते विशिष्टफलापेक्षामृते ये स्मरन्ति तेषां ध्वनिं उपाविश वाचि सन्निहितत्वेन तदुक्तविद्यया ज्ञातुं शक्योऽसीत्यर्थः. तत्रेत्थम्भावमाहुः - आरुवतः वेदादिभिः स्तुवतो वायोः प्रसादात् तथा स्मरन्ति नान्यथेत्यर्थः। सर्ववेदादिरूपेण प्राणस्यारुवतः सदा प्रसादाद्ये विजानन्ति सूक्ष्मात्स्थूलजनिं क्रमाति मृतिं च सर्वजीवादेरीशस्य व्यतिरिक्ततां जानन्ति। ये निराकाङ्क्षास्तेषां वाचि जनार्दन इति सूक्ष्माणि महदादीनि स्थूलान्यण्डादिकानि च, 'उभयं त्वग्निरापश्च न किञ्चित्प्रलयोऽभवत्' (प्रकाशिकायाम्) इति वचनादस्य श्लोकस्यायमेवार्थः। न सदसद्वैलक्षण्यार्थ इति। 'सत्त्वादिकं देहमथो मनश्च सत्त्वादिबद्धं च वदन्त्यसन्तः। परं पुमांसं न सुरास्तु तैर्हि जीवाः सुदृष्टाः परमार्थरूपाः' (सुरायणश्रुतिः) इति श्रुत्यर्थोपिनिबद्धस्य त्रिगुणमय इत्यस्यायमर्थः -पुमान् जीवः त्रिगुणमयः सत्त्वादिगुणबद्ध इति जीवस्यापि त्रिगुणबद्धता अबोधकृता अज्ञानकृता यतस्तस्मादवबोधरसे त्वयीति सप्तमी षष्ठ्यर्थे ॥ १२ ॥ २५ ॥

---

1- -1 B. omits

सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजा त्सदभिमृषन्त्यशेषमिदमात्मतयाऽऽत्मविदः ।
न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयाऽवसितम् ॥ २६ ॥

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्व निकेततया त उत पदाक्रमन्त्यविगणय्य शिरोनिर्ऋतेः ।
परिवयसे पशूनिव गिराऽविबुधानपि तां स्त्वयि कृत सौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः ॥ २७ ॥

त्वमकरणस्वराडखिलकारक शक्तधर स्तव बलिमुद्वहन्ति समुदन्त्यजयानिमिषाः ।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः ॥ २८ ॥

स्थिरचरजातयस्स्युर जयोत्थनिमित्तयुजो विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः ।
न हि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवे द्वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः ॥ २९ ॥

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा ।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्यनियन्तृभवे त्सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ॥ ३० ॥

---

1- -1 M. Ma भवत्यसतामनुजादभो विमृ° 2. M. Ma °तं° 3. M.Ma °तं 4. M. Ma °रसितम्° 5. M. Ma °त° 6- -6 M. Ma ननु ते 7. M.Ma दृढ 8. M.Ma ननु 9. M.Ma ते 10- -10 K.T.W. त्वमकरण° ; M. Ma त्वमेकः 11- -11 M. Ma दन्ति च ये 12. M. Ma °येत्व° 13. M.Ma विरह 14. M.Ma °येद्यदि 15. M.Ma सतः 16. M .Ma °त्रय° 17. M. Ma °ल संद° 18- -18 M. Ma °ततो नहि न 19- -19 ध्रुवते च तथा 20- -20 M. Ma अजनपरिमुच्यतेऽत्र भवात्सततात् 21. K.T.W. °वि° 22- -22 M. Ma °ता ततमनन्तम°

**श्रीध०** ननु यद्यसन्नोत्पद्यते, यदि च त्रिगुणमयः पुरुषो न भवति, तर्हीदं प्रपञ्चजातं पुरुषश्च पृथङ्नास्तीत्युक्तं स्यात्। कथं तर्हि तयोः सत्त्वेन प्रतीतिरत आह - सदिव मन इति। मनो मनोमात्रविलसितमिदं त्रिवृत् त्रिगुणात्मकं प्रपञ्चजातमसदेव सदिव विभाति। कथमिति चेत् तत्राह - त्वयीति । त्वय्यधिष्ठाने अधिष्ठानसत्तया सद्वत्प्रतीयत इत्यर्थः। न केवलमिदमहङ्कारास्पदं किन्तु आमनुजात्। मनुजः पुरुषः। अभिविधावाकारः पुरुषमभिव्याप्येति। पुरुषस्यापि पृथक्सत्त्वप्रतीतिः मनोमात्रविलसितेत्यर्थः। तथा च श्रुतिः - 'असतोऽधिमनोऽसृजत' "मनः प्रजापतिमसृजत। प्रजापतिः प्रजा असृजत। तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठितं यदिदं किञ्च" इति। नन्वात्मविदामपि विश्वं सदेव स्फुरत्यतः कथमसत्स्यादत आह सदभिमृशन्तीति। आत्मविदस्त्वशेषमिदं भोक्तृभोग्यात्मकं विश्वमात्मतयैव सदभिमृशन्ति सदिति जानान्ति। आत्मकार्यत्वान्न पृथगित्यर्थः। तथाहि यदुपादानकं यत्कार्यं भवति तत्तेनैव रूपेण प्रतीयते उपादीयते चेति। लोकाचारेण

दर्शयति - न हि विकृतिमिति। कनकस्य विकृतिं कुण्डलादिकं कनकार्थिनो न त्यजन्ति। अत्र हेतुः - तदात्मतया कनक रूपत्वेनेत्यर्थः। अतः स्वकृतमिदं विश्वमनुप्रविष्टं च पुरुषरूपात्मतयैवावसितं निश्चितम्। 'यत्सत्तयाः सदाऽऽभाति जगदेतदसत्स्वतः। सदाभासमसत्यस्मिन्भगवन्तं भजाम तम्" ॥ १३॥ २६॥

ननु 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्ति.उ.2-1-1) 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृह.उ.4-4-9) "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (कठ.उ.4-10) इत्यादिश्रुतिभिरेवम्भूतस्य भगवतः प्रतिपादनात्तज्ज्ञानं सुकरमेवेति कृतं भक्त्या अत आह - तव परि ये चरन्तीति। तवेति कर्मणि षष्ठी। त्वां ये परिचरन्ति छन्दसि व्यवहिताश्चेति यच्छब्देन व्यवधान मदोषः। केन रूपेण? अखिल सत्त्वनिकेततया अखिलानि सत्त्वानि निकेतो यस्य स तथा तस्य भावस्तत्ता तया सर्वभूतावासतयेत्यर्थः। उत अत एव अविगणय्य तिरस्कृत्य त एव निर्ऋतेः मृत्योः शिरो मूर्धानं पदा पादेनाक्रमन्ति मृत्योर्मूर्ध्नि पदं दधति। ते तरन्ति मुच्यन्त इत्यर्थः। ये पुनर्विमुखा अभक्तास्तान् गिरा वाचा पशूनिव विबुधान् विदुषोऽपि परिवयसे बध्नासि। कुतः? त्वयि कृतसौहृदाः त्वयि कृतं सौहृदं प्रेम यैस्ते खलु निश्चितं पुनन्ति पवित्रयन्ति। आत्मानमन्यानपीति शेषः। नेतरे। तथा च श्रुतिः - "तस्य वाक्तन्तिर्नामानि दामानि। तस्येदं वाचा तन्त्या नामाभिर्दामभिः सर्वं सितम्" इति। अयमभिप्रायः - सत्यमेवम्भूतमात्मानं श्रुतयः प्रतिपादयन्ति तत्र च यद्यपि वस्तुनोऽपरोक्षत्वादपरोक्षमेव ज्ञानमुत्पद्यते। तथा प्यसम्भावना विपरीतभावनातिरस्कृतत्वात् मलिनचित्तेषु परोक्षमिव भवतीति नापरोक्षसंसारभ्रम निवृत्तिसामर्थ्यम्। भगवत्परिचर्यया तु सम्यगमलचित्तानां तत्प्रसादेन लब्धापरोक्षज्ञानानामयत्नत एव करकलितो मोक्ष इति च। तथा श्रुतयः -'देहान्ते देवः परं ब्रह्म तारकं व्याचष्ट' 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' (कठ.उ.2-22) 'यस्य देवे परा भक्तिः' (श्वेता.उ.6-23) इत्यादयः। 'तपन्तु तापैः प्रपतन्तु पर्वतादटन्तु तीर्थानि पठन्तु चागमन्। यजन्तु यागैर्विनयन्तु योगैर्हरिं विना नैव मृतिं तरन्ति" ॥ १४॥ २७॥

ननु यद्यखिलसत्त्वे निकेतत्वेन भगवतः सेव्यत्वमुच्यते तर्हि तत्करणसम्बन्धात् कर्तृ भोक्तृत्वे प्रसज्येयाताम्, न वस्तुतस्तथा त्वमिति चेत् तर्हि जीवानामपि तत्तुल्यत्वमिति केन विशेषेण पुनः सेव्यसेवकत्वमिति इमामाशङ्कां परिहरन्त्यः "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकीज्ञानबलक्रिया च' (श्वेता.उ.6-8) "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्" (श्वेता.उ.3-19) इत्याद्याः श्रुतयः स्तुवन्तीत्याह - त्वमकरण इति। करणसम्बन्धरहित एव अखिलकारकशक्तिधरः अखिलानां प्राणिनां यानि कारकाणीन्द्रियाणि तेषां शक्तीः धारयति प्रवर्तयतीति तथा। कुतः? स्वराट् यतः स्वेनैव राजसे दीप्यसे। न हि स्वतस्सिद्धज्ञानशक्तेरिन्द्रिया पेक्षेत्यर्थः। अतस्तव बलिमुद्वहन्ति पूजां कुर्वन्ति। अजयाऽविद्यया सहितास्तया वृता इत्यर्थः। अनिमिषा देवा इन्द्रादयस्तत्पूज्या विश्वसृजो ब्रह्मादयोऽपि। यथा सस्त्रीका एव किङ्कराः स्वामिनं सेवन्ते

तथा अविद्यायुक्ता देवादयस्त्वामिति लोकोक्तिः। समदन्ति च मनुष्यैर्दत्तं हव्यकव्यादिलक्षणं बलिं भक्षयन्ति। अत्र दृष्टान्तः - वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिवेति। यथा वर्षभुजः खण्डमण्डलपतयोऽखिलक्षितिपतेर्महा मण्डलेश्वरस्य स्वप्रजादत्तबलिभुजो बलिमुद्वहन्ति तद्वदिति। कथं बलिं वदन्ति तदाह - विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिता इति। त्वत्तो भीताः सन्तो यस्मिन् कर्मणि ये नियुक्तास्ते तत्तत्कुर्वन्तीति। त्वदाज्ञापालनमेव बल्युद्वहनमित्यर्थः। तथा च श्रुतिः - "भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चमः"। (तैत्ति.उ.1-8) इति। "अनिन्द्रियोऽपि यो देवः सर्वकारकशक्तिधृक्। सर्वज्ञः सर्वकर्ता च सर्वसेव्यं नमामि तम्" ॥ १५॥ २८॥

तदेवं करणप्रवर्तकमीश्वरं करणपरतन्त्रा नरा भजन्तीत्युक्तम्, न केवलमियदेव कारणं तत उत्पन्नत्वेनापि तत्परतन्त्रत्वात् इति वदन्ति "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे श्लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति" (बृह.उ.2-1-20) इत्याद्याः श्रुतय इत्याह- स्थिरचरजातय इति। हे विमुक्त! नित्यमुक्त! यदि तवाऽजया मायया विहरो विहारः क्रीडा भवति तदा स्थिरचरजातयः स्थिराश्च चराश्च जातयो जात्यालिङ्गिता देहा येषां ते जीवाः स्युः भवेयुः। कथम्भूतस्य ? ततोऽजातः परस्य दूरे वर्तमानस्यासङ्गस्येत्यर्थः। कथं विहारः उदीक्षया ईक्षणलेशेन । ननु मयि लीनानां जीवानां कथं जन्म स्यात्तत्राह - उत्थनिमित्तयुज इति। ईक्षयैवोत्थान्युत्थितान्याविर्भूतानि निमित्तानि कर्माणि तद्युक्तानि लिङ्गशरीराणि वा तैर्युज्यन्त इति ते तथा। ननु किं निमित्तोत्थानेन मदिच्छयैव भवन्तु, न त्वयि वैषम्याभावाविष्टमसृष्टेरयोगादित्याह - परमस्येति। तव परमस्योत्तमस्य परमकारुणिकस्य वियत इवाकाशसदृशस्य, समस्येत्यर्थः। कश्चिदपरः स्वीयः परोऽस्वीयश्च न भवेत्। न सम्भवतीत्यर्थः। "असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत" (तैत्ति.उ.2-7) इत्यादिश्रुत्या शून्य पूर्वकत्वमिव प्रतीयते तदर्थं पुनर्विशिनष्टि। शून्यतुलां दधतः शून्यसाम्यं भजतः। तदेव दर्शयितुं पुनर्विशिनष्टि - अपदस्येति। न पद्यत इत्यपदस्तस्य वाङ्मनसयोरगोचरस्येत्यर्थः। "तदीक्षणवशक्षोभमायाबोधित कर्मभिः। जातान्संसरतः खिन्नान्नृहरे पाहि नः पितः" ॥ १६ ॥ २९॥

एवं तावत्परमात्मनः सकाशात् अविद्याकृतकार्योपाधयस्तदंशा एव जीवा जाताः संसरन्तो भवन्तीत्युक्तम्। तत्र यद्येकाऽविद्या तदा सर्वजीवस्याप्येकत्वादेकमुक्तौ सर्वमुक्ति प्रसङ्गः। अथ नानाऽविद्यास्तर्हि तस्यैवांशान्तरेण संसारानपगमादनिर्मोक्ष इत्यादि वितर्कबलेन वस्तुत एव जीवाः जात्यानानात्मानस्तत्र च तेषामणुत्वे देहव्यापि चैतन्यं न स्यात्। देहपरिमाणत्वे च मध्यमपरिमाणानां सावयवत्वेनानित्यत्वं स्यात् । अतः सर्वगता नित्याश्चेति केचन मन्यन्ते। तत्र न तावदुक्तदोषप्रसङ्गः। अविद्याभेदेन तच्छक्तिभेदेन वा बद्धमुक्तव्यवस्था सम्भवात्। ईश्वरस्य तु न केनाप्यंशेन

संसारशङ्केत्युक्तमेव। प्रसिद्धं चात्मैक्यं सर्वश्रुतिषु। किञ्च इमं पक्षमन्तर्यामि ब्राह्मणमपि न सहत इत्याह - अपरिमिता इति। वस्तुत एवानन्ता ध्रुवास्तेनैव रूपेण नित्याः सर्वगताश्च तनुभृतो जीवा यदि स्युः तर्हि तेषां समत्वाच्छास्यता न घटत इति कृत्वा हे ध्रुव! नियमो नियमनं त्वया न स्यात् इतरथा तु घटेत। कथम्? यन्मयमुपाधितो यद्विकारप्रायं यज्जीवाख्यमजनि जातं तत्तस्य स्वविकारस्य नियन्तृ नियामकं भवेत्। अविमुच्य कारणतयाऽपरित्यज्य। किं तत्? सममनुस्यूतम्। ननु किं यत्तच्छब्दैर्ज्ञायते चेत् उच्यतामिदं तदित्यत आह - अनुजानतां यदमतमिति। जानीम इति वदतां यदमतमविज्ञातप्रथम्। अविषयत्वात्। तथा च श्रुतिः - 'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञात मविजानताम्' (केन.उ. 2-3) 'अवचेनेनैव प्रोवाच' सह तूष्णीं बभूव इत्यादिः। किञ्च मतस्य ज्ञातस्य दुष्टतया दोषश्रवणात्। तथा च श्रुतिः - "यदि मन्यसे सुवेदेति दहमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य देवेषु' (केन.उ.2-1) इत्यादि। तस्माद्यत्तच्छब्दानवद्यात्यम[7-] तर्क्यं[-7] किमपि सर्वानुस्यूतत्वेन समं नियन्तृ भवेदित्यर्थः 'अन्तर्यन्ता सर्वलोकस्य गीतः श्रुत्या युक्त्या चैवमेवावसेयः। यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्नृसिंहः श्रीमन्तं तं चेतसैवावलम्बे' ॥ १७ ॥ ३०॥

---

1. B.J. सत्त्वतः 2- -2 विवदन्तु वादैः 3- -3 B. J. Omit 4. Ml.V. परिपा° 5. Ml.V. बलिवह° 6- -6 B. J. Omit 7- -7 Ml. V. °ब्दाबोध्यम°

**वीर०** किमबोधनिदानमित्यपेक्षायां मनोदोष एवेति। किं तन्निवृत्तिनिदानमित्यपेक्षायां भगवदुपासनात्मकयोग एवेति, विशुद्धान्तःकरणास्तु सर्वमिदं जगत् भगवदात्मकतया सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्टभगवत्कार्यतया च तदन्यदेव पश्यन्तीति वदन्त्यः सत्कारणवादरूपदूषण परिहारपूर्वकमसत्कारणवादासाधारणानुपपत्तिमाहुः-**सदिवेति**। आमनुजात् मनुजपर्यन्तात् मनुष्य पर्यन्तानां देहिनामित्यर्थः। त्रिवृत् त्रिगुणात्मकं मनस्सदिव सत्त्वमर्थक्रियाकारित्वं कार्यकरमिव प्रतीयमानमपि त्वय्यसद्भाति कार्यकरं न भवति। चिदचिदात्मक जगद्विशिष्टं तदात्मानं त्वां न प्रकाशयतीत्यर्थः। आत्मानं त्वां विदन्त्युपासत इत्यात्मविदः त्वदुपासनात्मक योगपरिशुद्धान्तःकरणास्तु अशेषं कृत्स्नमिदं जगत् आत्मतया आत्मशब्दः परमात्मपरः 'अजयाऽऽत्मना च चरतः' इत्युक्तप्रकारेण सदभिमृशन्ति, सच्छब्दवाच्यसूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं कारणं ब्रह्मैव कार्यजगद्रूपेणावस्थितम्। अतः ततोऽनन्य दित्येवमुपास्य परब्रह्मविशेषणतया उपास्य कोट्यन्तर्गतत्वाज्जगदुपादेयमेव पश्यन्तीत्यर्थः। ब्रह्मात्मकत्वेन जगतो हेयत्वाभावे दृष्टान्तमाहुः नहीति। कनकस्य विकृतिं विकारं कटक मकुटादिकं न हि त्यजन्ति। किन्तु तदात्मतया प्रकृतिभूतकनकानन्यतया उपाददत एवेति शेषः। कार्यावस्थायामपि कनकाव्यतिरेकादिति भावः। यदि कार्यं कारणादन्यत्, तदा कनकस्य विकृतिं त्यजेयुरित्यसत्कार्यवादेऽनुपपत्तिरभिसंहिता। एवं जगदुपादेयमेवेत्याहुः

- स्वकृतमिति। स्वरूपपरिणामशङ्काव्यावृत्त्यर्थमनु प्रवेशोक्तिः। अनेन स्वपक्षे दूषणोद्धारः, स्वशब्दः परमात्मपरः, स्वकृतं जगत् तेन परमात्मना अनुप्रविष्टं व्याप्तम्। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तैत्ति.उ.2-6) इति हि श्रुतिः। अत इदं जगदात्मतया अवसितम् उपास्य परमात्मशब्दवाच्यवस्त्वन्तर्गततया सुखरूपं निश्चितमित्यर्थः। 'तदात्मानं स्वयमकुरुता' (तैत्ति.उ.2-7) यद्वै तत्सुकृतम्। "रसो वै रसः" (तैत्ति.उ.2-7) इति हि श्रुतिः। यद्वा आत्मतया अन्तः प्रविश्य धारकतया अन्तः प्रविश्य धारकत्वं ह्यात्मशब्दार्थः। तेन अवसितं व्याप्तम्। अनेन आकाशादिवन्न तृष्णीं व्याप्तिः। किन्तु धारकतयेत्युक्तम्। अनेनेदं सदभिमृशन्तीत्युक्तं सामानाधिकरण्यं शरीरात्मभाव निबन्धनमिति फलितम् ॥ २६ ॥

नन्विदमात्मविदस्सदभिमृशन्तु, ततः किमत आहुः - **तवेति**। इत्थमिदं सदभिमृशन्त एव मृत्युं तरन्तीति भावः। तथाहि - अखिलसत्त्वानां सर्वेषां जन्तूनां निकेततया धारकतया ये तव परिचरन्ति अखिलान्तरात्मत्वेन त्वां सेवन्ते उपासत इति यावत् त उत त एव निर्ऋतेः मृत्योः शिरो मूर्धानमविगणय्य अनादृत्य पदा पादेन आक्रामन्ति मृत्योर्मूर्ध्नि पदं दधति ततो मुच्यन्त इत्यर्थः। तर्हि इत्थमनभिमृशतां का गतिरित्यत आहुः - परिवयस इति। अविबुधानिति च्छेदः, अविदुषः सार्वात्म्य ब्रह्मोपासनरहितान् गिरा शास्त्रात्मकसम्यगुपदेशेन परिवयसे अय पय इत्यादिदण्डकपठितस्य वयतेः' वी गति व्याप्ति' इत्यस्य ण्यन्तस्य वा इदं रूपम्। अस्य गत्यर्थकस्य ज्ञानार्थकत्वात् बोधयसीत्यर्थः। यद्वा - परिवयसे गमयसि सन्मार्गं नयसीत्यर्थः। पशूनिव यथा दुर्दमान् पशून् नासिकासूत्रादिभिः सम्यक् शिक्षयन्ति, तद्वत्, शास्त्रात् त्वामित्थम्भूतं ज्ञात्वा क्रमेणोपासीना मुच्यन्त इति भावः। परिवयस इति लण्मध्यमपुरुषेण निरतिशयकृपावत्त्वं सर्वानुजिघृक्षुत्त्वं च सूचितम्। तर्हि शास्त्रानधिकारिणां का गति रित्यत आहुः - तानिति। ये त्वयि न विमुखाः वैमुख्यरहिताः अत एव कृतं सौहृदं यैस्ते त्वद्भक्ताः तानज्ञान् शास्त्राधिकाररहितानपि पुनन्ति खलु, भागवतसेवया तेऽपि मुच्यन्त इति भावः। येषां सत्सेवाऽपि न रोचते, तेषामधोगतिरेवेति तात्पर्यम् ॥२७॥

ननु सर्वकारणत्वान्मदनन्यत्वेन अभिमृशन्त एव मृत्योश्शिरः पादेनाक्रमन्तीति सत्यं, यदि कारणत्वोपास्य त्वनियतसार्वज्ञ्यसर्वशक्तित्व परत्वादि गुणपौष्कल्यं स्यादित्यपेक्षायां तत्पौष्कल्य माहुः - त्वामिति। अरं शीघ्रं सङ्कल्पमात्रेण करोतीत्यरकरः सङ्कल्पमात्रपरिक्लृप्त विश्वः जगत्सर्गापादकसङ्कल्पात्मकज्ञानाश्रय इति यावत्। अनेन सार्वज्ञ्यं फलितम्। त्वमकरण इति पाठान्तरम्। तदा करणायत्त ज्ञानरहितः 'पश्यत्यचक्षुस्सशृणोत्यकर्णः' (श्वेता.उ.3-19) "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" (श्वेता.उ.6-8) इति हि श्रुतिः। कार्यं शरीरं करणमिन्द्रियं च न विद्यते, प्राकृत शरीरेन्द्रियतदायत्तज्ञानरहितः नित्यनिरूपाधिक सार्वज्ञ्याश्रय इति तदर्थः। सार्वज्ञ्यस्य निरुपाधिकत्वस्फोरणाय स्वराडित्युक्तम्। स्वराट् स्वतन्त्रः अकर्मवश्यः कर्मवश्यानां प्रेरकश्च स्वातन्त्र्यस्य सप्रतियोगिकत्वात्, अखिलकारकशक्तिधरः निमित्तोपादानकारणसम्प्रदानापादानाधिकरणाद्यात्मकानि

कारकाणि तच्छक्तीश्च धरतीति तथा सकलकारक तच्छक्तिनिर्वाहक इत्यर्थः। अथ परत्वमाहुः - तवेत्यादिना। अजया अजाशब्दाभिधया प्रकृत्या सहिता इति शेषः। प्रकृति परतन्त्राः अनिमिषा देवाः वायुसूर्याग्नीन्द्रादयः विश्वसृजः प्रजापतयश्च ये ये यत्र यत्र व्यापारे अधिकृतास्ते सर्वे भवतश्चकिताः भीतास्सन्तः तव बलिं स्वस्वाधिकारानुवर्तनात्मिकां पूजाम् उद्वहन्ति विदधति, समदन्ति त्वया दत्तान् भोगाननुभवन्ति च। यथा वर्षभुजो भारतादिवर्षभोक्तारः अखिलक्षितिपतेस्सार्वभौमस्य बलिं विदधति, तद्वत्। अत्र 'भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चमः (तैत्ति.उ.1-8) इति। "भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः" (तैत्ति.उ.1-8) "यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निस्सृतम्। महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति" (कठ.उ.6-2) इति श्रुत्यर्थोऽनुसन्धेयः। प्राणशब्दनिर्दिष्टे परमात्मनि स्थितानां सर्वेषां ततो निस्सृतानां तस्मात्सञ्जातमहाभयनिमित्तमेजनं कम्पनमस्ति। तच्छासनाति वृत्तौ किं भविष्यतीति महतो भयाद्वज्रादिवोद्यतात् कृत्स्नं जगत्कम्पत इति तदर्थः। महद्भयं वज्रमुद्यतमिति पञ्चम्यर्थे प्रथमा ॥ २८ ॥

इत्थं कल्याणगुणपौष्कल्यमुक्तं तर्हि किं हेया अपि गुणास्सन्तीत्यपेक्षायां ते न सन्तीति वदन्त्यः कथमवर्जनीयप्रकृतिसम्बन्ध निवृत्तिरित्यपेक्षायां हेय प्रत्यनीकभगवत्कटाक्षादेवेत्याहुः - **स्थिरेति**। स्थावरजङ्गम संस्थानास्सर्वे प्राणिनः अजयोत्थनिमित्तयुजः प्रकृतिकार्यदुःखनिमित्तशरीरयुक्तास्स्युः सर्वेषामजासम्बन्धोऽवर्जनीय इति भावः। ततस्तत्र केषाञ्चिदेवम्भूतानां विरहो यदि कदाचित्प्रकृतिमोक्षस्सम्भवति चेत् परस्य तव उदीक्षया कटाक्षादेव मोक्षः स्यादित्यर्थः। उपायनिष्पत्तिस्त्वत्कटाक्षमूलैवेति भावः। नन्ववर्जनीय प्रकृतिसम्बन्धेषु कांश्चित्तत्स्त्याजयन्नहं किं वैषम्यनैर्घृण्यादिहेयगुण इत्यतस्सम्बोधयन्ति - विमुक्तेति। हेयाद्विशेषेण मुक्त हेयप्रतिभटेत्यर्थः। एतदेव विशदीकुर्वन्ति - न हीति। परमस्य परः उत्कृष्टः कारुणिकः मा न विद्यते यस्मात् तस्य परमकारुणिकस्य तव कश्चिदपरः करुणाविषयः परस्तदविषयश्च नास्ति सर्वात्मनां शरीरभूतत्वादरक्षणीयो नास्ति, अतस्सर्वरक्षकस्त्वम् अतो न वैषम्यादि हेय सम्भावनाऽपि। तथापि व्याजमात्रावलम्बित्वान्न सर्वान् रूपमोचयसीति भावः। न केवलं वैषम्यनैर्घृण्यरूपहेयाभाव एव, अपि तु सर्वे हेयगुणा न सन्तीत्यभिप्रायेण सदृष्टान्तं विशिंषन्ति - वियत इत्यादिना। वियत इव आकाशस्येव अपदस्यास्थानस्य हेयानाश्रयस्य यथा सर्वत्र व्याप्य स्थितस्याप्याकाशस्य व्याप्यगतदोषानाश्रयत्वं, तद्वद्धेयानाश्रयस्योत्यर्थः। अत एव शून्यतुलां शून्योपमां दधतः सर्वव्यापिनोऽपि व्याप्यगतदोषस्पर्शाभावेनाविद्यमानतुलस्येत्यर्थः। विहर उदीक्षयेति पाठान्तरम्। तदाऽयमर्थः। ननु यद्यहमकरणः तर्हि जगत्स्रष्टृत्वाद्यनुपपत्तिः, स्वराजो जगद्व्यापारानुपपत्तिश्च। सकरणानां कर्मवश्यानां चैव कर्तृत्वव्यापारवत्त्वादि दर्शनादित्यत आहुः - स्थिरेति। यदि यदा विहरः विहारः, चिक्रीडिषोदेतीत्यर्थः। तदा परस्य प्रकृतिपुरुषाभ्यां विलक्षणस्य तव उदीक्षया 'बहु स्याम्' (तैत्ति.उ.2-6) इत्युक्त सङ्कल्पमात्रेणैव अजायाः

प्रकृतेस्सकाशादुत्थान्युदितानि तैर्युज्यन्त इति तथा। स्थिरचरजातयः स्थावरजङ्गमसंस्थानास्सर्वे प्राणिनस्स्युः उदीक्षयेत्यनेन कारणायत्तकर्तृत्व व्युदासः, विहर इत्यनेन कर्मायत्तव्यापारवत्त्वव्युदासः। अत एव जगत्सर्गरूप व्यापारस्य जीवव्यापारवत्सुखदुःखनिमित्तार्थत्त्वव्युदासश्च फलितः। तत्र हेतुत्वेन सम्बोधयन्ति विमुक्तेति। अस्य यथोक्त एवार्थः। जीवानां तु असर्वज्ञत्वासर्वशक्तित्वासत्यसङ्कल्पत्वादिहेयास्पदत्वान्न सङ्कल्पमात्रेण घटादि कर्तृत्वमिति भावः। कस्तर्हि ममोदीक्षितेत्यत आहुः - ततः यत एवं ततः परमस्य सर्वोत्कृष्टस्य परः पूर्वभावी उदीक्षिता नास्ति। परमकारणत्वादिति भावः। अत एव अपरः आकार्यभूतः कश्चिदपि नास्ति। सर्वस्य त्वदात्मकत्वादिति भावः। यद्वा अपरः अन्यः अशरीरभूतः कश्चिदपि नास्ति, सर्वस्य त्वदात्मकत्वादिति भावः। तर्हि व्याप्यगतदोषप्रसक्तिरित्यतस्सदृष्टान्तं विशिंषन्ति-वियत इवेत्यादि। यथोक्त एवार्थः ॥ २९ ॥

"स्थिरचरजातयस्स्युः इत्यनेन चराचरात्मक स्थूलसूक्ष्मशरीरान्तः प्रवेशयोग्यं जीवानां स्वाभाविकमणुस्वरूपत्वं सूचितं, तद्विरुद्धं जीवस्वरूप विभुत्ववादं दूषयन्ति - अपरिमिता इति। हे ध्रुव! तनुभृतो जीवाः अपरिमिता असङ्ख्येयाः ध्रुवाः नित्याश्च ते यदि सर्वगताः, तर्हि न शास्यता, सर्वेषां तुल्यत्वात्परमात्मना जीवान्तरेण वा शास्यता नियाम्यता नोपपद्यते, इतीत्थं नियमः उत्क्रान्तिगत्यादिविषयः नित्यं श्रूयमाणो नोपपद्यते, उत्क्रान्तिस्तावच्छ्रूयते - 'तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' (बृह.उ.6-4-2) इति। गतिरपि 'ये वै केचास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छान्ति' (कौषि.उ. 1-2) इति। आगतिरपि 'तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' (बृह.उ. 4-4-6) इति। इतरथा अणुत्वे तु शास्यतानियमादय उपपद्यन्त इत्यर्थः। यद्यपि शरीरवियोगरूप त्वेनोत्क्रान्तिशरीरस्थितस्याप्यात्मनः कथञ्चिदुपपद्यते। गत्यागती तु न कथञ्चिदुपपद्येते। अतस्ते स्वात्मनैव सम्पाद्ये इत्यभिप्रायेण नियमशब्दः प्रयुक्तः। तथा च शारीरकं सूत्रं 'स्वात्मना चोत्तरयोः' (ब्र.सू.2-3-20) इति। चशब्दोऽवधारणे। तनुभृत इत्यनेन सर्वेषां सर्व शरीरसम्बन्धाविशेषात्सर्वशरीरानुचरपुण्यपापानां सर्वसाधारणत्वेन व्यवस्थितफलदानायोगाच्छासनं नोपपद्यत इत्यात्मविभुत्ववादेऽनुपपत्तिरुद्घाटिता। अपरिमिता इत्यनेन जीवैक्यवादव्युदासः। तत्र बन्धमोक्षशिष्याचार्य ज्ञत्वाज्ञत्वादि व्यवस्थानुपपत्तिः दूषणमभिप्रेतम्। नन्वणुत्वपक्षेऽपि जीवानां परमात्मशास्यत्ता किं भृत्यानां राजशास्यतेवेत्यपेक्षायामन्तः प्रविश्यैवेत्याह - अजनि चेति। यन्मयमजनि व्यापकेन येन प्रचुरं जगदजनि जातं तद्ब्रह्म अविमुच्य अन्तस्स्थित्वैव नियन्तृ इति सम्यगजानतां यन्मतं तस्य मतस्य दुष्टत्वात् अमतम् अनभिमतं प्रामाणिकानामिति शेषः। सममनुजानताम् इति पाठान्तरम्। तदा समशब्दः सर्वपर्यायः समं सर्वं तत् जगत् अविमुच्य अन्तस्स्थित्वैव नियन्तृ इत्यनुजानतां प्रामाणिकानां यदमतमनभिमतं तदनादरणीयमित्यध्याहारः। कुतः? तस्य मतस्य दुष्टतया प्रमाणविरुद्धतयेत्यर्थः। जगदजनीति प्रकृतिपुरुषात्मक जगत उत्पत्तिः उक्ता ॥३०॥

**विज०** त्रिवृत् त्रिगुणात्मकं मनः त्वयि तवापि सदिव विद्यत इत्यर्थः। असतां पक्षो भवति न तु सतां - 'सतां पक्षस्त्वयम्' इत्याहुः मनुजादय इति। आत्मविदः सम्यक् परमात्मतत्त्वज्ञानिनः मनुजानामादयो देवाः। भवतः त्रिगुणातीतत्वाद्भवानेव परमानन्दः त्वदन्यदिदमशेषं जीवजातम् आर्ततया स्थितमित्येव विमृशन्ति जानन्ति।

त्रैगुण्यदेहेन्द्रियकमासुरा जानते हरिम्। 'त्रिगुणातीतमीशेशमतः पूर्णसुखं सुराः। जानन्ति गुणबुद्धत्वात् जीवानार्तांश्च कृत्स्नशः। अनार्तस्य प्रसादेन तेषामार्तिविनाशनम्' इति चैतन्यविवेके। 'सर्वगं ये प्रपश्यन्ति ब्रह्मानन्दमजक्षरम्। एकमेवाद्वयं नित्यं निर्ऋते स्ते शिरोगताः'(सौकरायनश्रुतिः) इति श्रुत्यर्थेन प्रथितस्य न हि विकृतमित्यस्य श्लोकस्यायम्भावः - यथा कनकस्य विकृतिं विविधकृतं कुण्डलादि रूपं कनकं विना परित्यक्तुं न शक्यते। नेदं कनकं सर्वमिति । तत्र हेतुः - तदात्मतयेति। कनकस्वरूपत्वेन प्रमाणसिद्धत्वात् तथा स्वकृतमिदं जगदनुप्रविष्टो भवान् मूलरूपं विना परित्यक्तुं न शक्यः। तत्र हेतुरात्मतयेति। एकस्वरूपत्वात् कीदृशं जगत्प्रविष्टः रसितं लसितं, आत्मना प्रकाशितं जगत्प्रविष्टः तस्मात्सर्वगतो विष्णुरिति ज्ञातव्य इति तात्पर्यार्थः ॥ १३ ॥ २६ ॥

एवं विधज्ञानेन किं प्रयोजनं तदह - **तवेति**। ये तव अखिलतत्त्वानि सर्वपदार्थाः अधिष्ठानतया निकेतानि अधिष्टानतया आश्रयो यस्य स तथा तस्य भावः तत् ता तया, स्वरूपं ज्ञात्वा परिचरन्ति पूजयान्ति। यद्वा अखिलतत्त्वानां निकेततया ते ज्ञानिनः ऋतात्मकब्रह्मप्राप्तिविरुद्धत्वान्निर्ऋताख्यस्य संसारस्य शिरः स्फुटं पदाक्रमन्ति। ननु किं कृत्वा? अविगणय्य संसारमितिशेषः। आचार्यैरत्र या याः श्रुतयोऽध्येतृपरम्परासिद्धाः तास्ता एवोदाह्रियन्ते न त्वन्याः लोकप्रत्ययार्थं तत्र श्रुत्युक्ताधिकार्थे पुराणानि चोपात्तानि। 'यथैव कुण्डलं त्यक्त्वा नादातुं कनकांशकं, तस्यैव तदवस्थत्वात् केवलाभेदतः स्फुटम्। एवं सुरासुरनरेष्वास्थितो भगवान् हरिः। नैव भेदेन मन्तव्यो जीवभेदे तु सत्यपि। ये तथाभिन्नंमीशेशं पश्यन्ति परमर्षयः। ऋतप्राप्ति विरुद्धत्वात्संसारनिऋतेः शिरः 'अगणय्य पदाक्रम्य वैष्णवं निलियं ययुः' इति गारुडे। परिवयस इति श्लोकस्यायम्भावः - ये ते देवाः त्वत्पादैकाश्रयाः तान्विबुधानपि गिरा वैदिकवाचा परिवयसे परितो बध्नासि। वेदोक्त कर्मानुष्ठानेन प्रवर्तयस इत्यर्थः। वय बन्धन इति धातोः कानिव दाम्ना पशूनिव त्वयि दृढसौहृदाः गाढबद्धस्नेहपाशाः पुरुषाः पुनन्ति। ननु जगदिति शेषः। ते तव विमुखाः द्वेषिणो न पुनन्ति प्रत्युतमलीमसं कुर्वन्तीति शेषः। अनेन - 'वयति, गा इव यः सुरादिकांस्तन्मनसो जगदपुनन् शुचयो न परे' (आरुणिश्रुतिः) इति विवृतम् ॥ १४ ॥ २८ ॥

कुतः? शुद्धिरपि त्वन्नियतेत्यत्राहुः **त्वमिति**। अखिलकारकशक्तिधरः त्वमेक एव नान्यः। कुतः? स्वराट् चक्रवर्ती अस्मत्स्वामी किमस्मानाज्ञापयसीति प्रतीक्ष्य सर्वदा विवृतनयनत्वात् ये अनिमिषाः देवाः ते तव बलिमुद्वहन्ति मनुजैः दीयमानं सम्यगदन्ति च। अनेन - "स एक ईशः परिपूर्णशक्तिः बलिहरा इतरे स्युः सुराः सुखिनः" (आरुणि श्रुतिः) इत्येतत् व्याख्यातम्। "समभेदे समीचीने सुष्ठु पूजा सुखेषु सु"(वैज.को. 8-7-8) इति यादवः। तत्र तत्र पुराणवाक्योदाहरणेनै तच्छ्रुत्यर्थत्वेन श्लोको प्रथित इति निश्चीयते। सा श्रुतिरपि प्रमाणी क्रियते। वर्षभुज इत्यस्य श्लोकस्यायम्भावः - ये यत्र यस्मिन्पदे त्वधिकृताः अधिकारं प्राप्ताः विश्वसृजस्ते भवतश्चकिताः भीताः तत्र स्थित्वा भवतो विदधति बलिमिति शेषः। कस्मै? के इव वर्षभुजः खण्डेशाः अखिलक्षितिपतेः चक्रवर्तिन इव ॥ १५ ॥ २८॥

यदि पुरुषो विमुक्तास्सन्तो यस्मात् सविमुक्तस्सन् तस्य विमुक्तसतः परस्य सकाशात् विरहे मुक्तौ उदीक्षयेत्। परमात्मन एव मुक्तिरिति पश्येत्। "तमेवं विद्वानमृत इह भवति। नान्यः पन्थाऽयनाय विद्यते' (पु.सू.1-7) इति श्रुतेः। हे अज! तर्हि ये स्थिरचरजातयः स्थिरत्वं चरत्वं च जातिर्येषां ते तथा ते अनिमित्तयुजः स्युः। अः परमात्मानिमित्तं युक् योगो संसारस्य येषां ते तथा भगवन्नियोगदेव संसारभाज इत्यर्थः। मुक्तेस्तन्नियतत्त्वात्। बन्धोपि तदधीन इति भावः। 'खण्डाधीशाः सार्वभौमस्य यद्वद्ब्रह्मेशाद्याः कुर्वते तेऽनुशासिं। त्वं मक्तिदो बन्धदोऽतोमतो नस्त्वं ज्ञानदोऽज्ञानदश्चासि विष्णोः' इति शाण्डिल्यश्रुतेः। 'आत्मानं मुक्तिदं विष्णुं यदि पुंस उदीक्षयेत्। सुप्रसन्नस्तथा बन्धस्तत एवेति सेत्स्यति' (ब्राह्मे) इति स्मृत्यनुगृहीतश्लोकस्यार्थमनुवदतीति। न हि परमस्येति श्लोकस्यायम्भावः - अनात्प्राणात् परस्योत्तमस्य सर्वं सन्दधतः यस्य परमस्य ते तव काश्चिदपरः स्वतन्त्रो न भवेत्। हे शून्यतुल! समानवर्जित! यस्य अत्र जीवसमुदाये व्ययतः सर्वं जानतः सर्वज्ञस्येत्यर्थः। अय गताविति धातोः गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात्। इव यथा प्राणस्य नापरः स्वतन्त्रा तद्वत्प्राणश्रीरन्यो वा त्वां विना स्वतन्त्रो[1-1] नास्ति। त्वमेव स्वतन्त्रः ॥ १६॥ २९॥

हे सर्वपूर्ण! यदि ततः तस्मात् प्राणात्तनुभृतो जीवाः ध्रुवाः प्राणाधीनाः जीवाः कियन्तः सन्तीत्यर्थः। तर्हि सत्यम्। ते अपरिमिताः असंख्याताः। नन्वेवं चेत् 'एकमेवाद्वितीयम्' (छन्दो.उ.6-2-1) इत्यादि श्रुतिवाक्यविरोध इति तत्राह - न हीति। श्रुतेरयं नियमोऽर्थो जीवानां शास्यता अधीनता नेत्यत्रार्थे न हि किन्तु स्वगतभेदस्य ईश्वरान्तरस्य तत्तन्त्रस्य च निषेधो नियमः। तत्र किं प्रमाणमत्राह - ब्रुवत इति। अतोऽन्यदार्तं 'नेह नानास्ति किञ्चन'। (बृह.उ.4-4-9) न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते'। (श्वेता.उ.6-8) इत्यादि श्रुतिस्मृतयः तथा ब्रुवते च। तव स्वतन्त्रो नापरो यद्वदत्रप्राणान्नान्यस्तुल्यशून्यस्य सन्धिन् प्राणाधीना अमिता जीवसङ्घाः 'प्राणोवशे ते प्रकृतिश्च भूमन्' (महाशालीन श्रुतिः) इति श्रुतिरनेन गृहीता। 'स्वतन्त्रो नापरः कश्चिद्विष्णोः प्राणपतेः प्रभोः' (तन्त्रभागवते) इत्यादि स्मृतेः। श्रुतिरपि सत्यार्थेत्यर्थः। "मुच्यते तत्त्वसम्बुद्धा दाचार्यत्पुरुषो भवात् एतावेव स्वतोऽबुद्धौ परमः प्रकृतिस्तथा"। (वामने) इति कलापश्रुत्यर्थतया 'देशतः कालतश्चैव समव्याप्तावजावुभौ। ताभ्यामुभययोगाभ्यां जायन्ते पुरुषाः परे' (कौटरव्यश्रुतिः) इति कौटरव्यश्रुत्यर्थतया च ग्रथितस्य अजन परिमुच्यते इत्यस्यायम्भावः - हे अजन! लोकविलक्षण! जन्मरहितेति वा। समं एकप्रकारतया ततं व्याप्तम्। अनन्त मदुष्टतया निर्दोषत्वेन अनुजानता सम्यक् ज्ञानावताचार्येण उपदिष्टमार्गेण। अत्र जगति ज्ञानवान् पुरुषः सततात्सन्ततमज्ञानकल्पिताद्भवात् संसारात् परिमुच्यते सम्यक् मुक्तो भवति ॥ २८॥ ३०॥

---

1- -1B. Omits.

न घटत उद्भवः प्रकृति पूरुषयोर जयो रुभय युजा[1] भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत् ।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः[2] परमे[3] सरित[4] इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ॥ ३१ ॥

नृषु तव मायया[5-] भ्रममभीष्ववगत्य भृशं[-5]त्वयि सुधियोऽभवे[6-] दधति भावमनुप्रभवम्[-6] ।
कथमनुवर्ततां[7] भवभयं तव यद्भ्रुकुटिः[8] सृजति मुहुस्त्रिणेमिरभवच्छरणेषु[9-] भयम्[-9] ॥ ३२ ॥

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरङ्गं य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः ।
व्यसन शतान्विता स्समपहाय[10] गुरोश्चरणं वणिज इवविशन्त्यकृतकर्णधरा[11-] जलधौ[-11] ॥ ३३ ॥

स्वजनसुतात्मदार धनधामधरासुरथै स्त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे ।
इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां सुखयति कोन्विह स्वविहते[12] स्वनिरस्तभगे ॥ ३४ ॥

भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनान्यृषयो विमदा स्त उत भवत्पदाम्बुजहदोऽघभिदङ्घ्रि जलाः ।
दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान् ॥ ३५ ।

सत इदमुत्थितं सदिति चेन्न तु तर्कहतं व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक् ।
व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया भ्रमयति भारतीत ऊरुवृत्तिभिरुक्थजडान् ॥ ३६ ॥

---

1. M. Ma °जो: 2. M. Ma °बु° 3. M. Ma °णा:° 4. M. Ma अमृत 5--5 M. Ma स्वगतया कुशलं 6--6 M. Ma °योऽङ्गभेद मनुधातु मनुप्रभवः। 7. M. Ma °र्तिनां 8. M. Ma भ्रुकुटी 9--9 M. Ma मुहुः नृणाम्। अत्र विजयध्वजानुसारि पाठः 33 तम श्लोकादारभ्य 36 श्लोक पर्यन्तं एवं विधा व्यत्यस्ता दृस्यते - इहभवञ्चरणेषु सुजातभुवोजितहृषीक वायुभि रुदात्तमहत्तुरगैः। य इहं यतंत्यनतिलोलमुपायविदो व्यसनशताब्धि तारमपहायगुरोश्चरणम्॥ वणिज इवोच्छ्रसंत्यकृतकर्णधरा जलधौ स्वजन सुतात्मदारधनधामधराः। सुखशान्ति मतित्वयिहि सन्ति न तानि नृणां विभव उद्यतिश्रयत आत्मनिसर्वरसे॥ इति सदजानतां मिथुनतोरतयेचरतां सुखयतिकोन्विहाद्यविजनेस्वनिरस्तभणे। भुविपुण्यतीर्थसदनाह्यृषयोनिविशंत्यतस्त्वानु भवतः पदाम्बुजं हृदाघभिदं दधंति। सकृन्मनस्त्वयिचिदात्मनि नित्यरवेन पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथम्॥ इदमप्यथो वदन्ति चेन्नतुतर्काव्यभिचरन्ति क्वचिन्मृषाच। ततोभयहग्व्यवहितये विकल्प उषितोन्वहमन्ध परम्परया भ्रमति भारती च तवोरुवृत्तिभिरन्दजवा॥ 10. B. G. J. °भव° ;Ml.V. °मुप° 11--11 °वाज सन्त्य° 12. K. °पिहि°

श्रीध० ननु यदि च परमात्मनो जीवा जायन्त इति नियन्तृनियम्यभाव उच्यते तथा सति जीवानामनित्यत्वप्रसङ्गेन प्रतिदिनं कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गः स्यात्। किञ्च तदा मोक्षो नाम जीवस्य स्वरूपहानिरेव स्यात्। न चैतद्युक्तम्।

स्वप्रकाशानन्दात्मनोऽविद्याकृतानर्थनिवृत्तिमात्रस्य मोक्षत्वाभ्युपगमादित्याशङ्क्योपाधि जन्मनैव जीवानां जन्मोच्यते न स्वतः अघटनादित्याह - **न घटत** इति। तत्र किं प्रकृतेर्जीव रूपेणोद्भवः स्यात् पुरुषस्य वा उभयोर्वा। आद्ये जीवानां जडत्वापत्तिः। द्वितीये पुरुषस्य विकारित्वप्रसङ्गः। अत एव तृतीय इत्याशयेनोक्तं प्रकृतिपुरुषयोरुद्भवो न घटत इति श्रुत्याऽजत्वप्रतिपादनादपीत्याह - अजयोरिति। तथा च श्रुतिः- 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम्। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' (म.ना.उ.8-4) इति। उभययुजा तु भवन्ति, उभयं च तद्युज्यत इति युक् सम्बद्धम्। परस्पराध्यस्तमिति यावत्। तेनासुभृतः प्राणाद्युपाधयो जीवा जायन्त इत्यर्थः। तत्र च प्रकृति पारतन्त्र्यापारतन्त्र्याभ्यां जीवेश्वरविभागः[1] जलबुद्बुदवदिति। यथा केवलेन जलेनानिलेन वा जलबुद्बुदा[2] न भवन्ति, किन्तु मिलिताभ्यां तद्वत्। तत्र यथाऽनिलो निमित्तं जल मुपादानमेवमत्रापि प्रकृतिर्निमित्तं पुरुष उपादानम्। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तैत्ति.उ. 2-1) 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (छान्दो.उ.6-2-3) इति। "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मदात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्व एवात्मानो व्युच्चरन्ति" (बृह.उ.2-1-20) इत्यादि श्रुतिषु चेतनाचेतनप्रपञ्चस्य परमात्मोपादानकर्त्वश्रवणात्[3]। न च विकारित्वम्, परिणामानङ्गीकारता केचित्पुनः परिणाममङ्गीकृत्यात्मनो विकारभिया विपरीतं निमित्तोपादानभावमिच्छन्ति। सर्वथा तावत्प्रकृतिपुरुषैक्याद्भवतीति सिद्धम्। तत् 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' (छान्दो.उ.6-2-1) 'अजामेकाम्' (बृह. उ. 4-5-14) इत्यादिश्रुतिबलादनुत्पत्ति श्रवणाच्च जीवानामौपाधिकमेव जन्म न वस्तुत इत्युक्तम्। उपाधिलयेन परमात्मनि पुनर्लयश्रवणादपि न वास्तवं जन्मेत्याह त्वयि त इति। यतो वास्तवं जन्म तस्माद्विविधनामगुणैरनेकप्रकारकारण[4] कार्योपाधिभिः सह लिल्युर्लीना बभूवुः। तत्र सुषुप्तिप्रलययोर्मधुन्यशेषरसा इव लीयन्ते। यथा मधुनि सकल कुसुमरसा विशेषतोऽनुपलक्ष्यमाणा अपि सामान्येनोपलक्ष्यन्ते। एवं स्वप्नादौ विशेषमात्रलया त्कारणस्य विद्यमानत्वात् सामान्यतो वर्तन्ते। मुक्तौ तु कारणस्यापि लयात् त्वयि परमे निरुपाधौ सरित इवार्णवे लीयन्त इति विवेकः। तथा च श्रुतयः- 'यथा सौम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहारमेकतां सङ्गमयन्ति' (छान्दो.उ.6-9-1) 'ते यथा तत्र न विवेकं लभन्ते अमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्य मुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे' (छान्दो.उ.6-9-2) इति। 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् '(मुण्ड.उ.3-2-8) इत्याद्याः।' यस्मिन्नुद्यद्विलयमपि यद्भाति विश्वं लयादौ जीवोपेतं गुरुकरुणया केवलात्मावबोधे। अत्यन्तान्तं व्रजति सहसा सिन्धुवत् सिन्धुमध्ये मध्ये चित्तं त्रिभुवनगुरुं भावये तं नृसिंहम् ॥ १८॥ ३१॥

नन्वेवं तावत् परमेश्वराज्जीवा जायन्ते तद्वशेन च कर्माणि कुर्वन्ति, पुनस्तत्र लीयन्त इति संसार चक्रे परिभ्रमणमुक्तम्। इदानीं तन्निवृत्तये 'परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च' (म.ना.उ. 2-7)

उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश इत्याद्याः भगवदनुवृत्तिं विदधतीत्याह - नृषु तव माययेति। नृषु जीवेष्वमीषु तव मायया भ्रममुक्तलक्षणमवगत्य ज्ञात्वा सुधियो भृशं त्वय्यभवे भवनिवर्तके भावं स्वभावमनुवृत्तिं दधति कुर्वन्ति। कीदृशं भ्रमम्? अनुप्रभवं अन्वनु प्रभवो यस्मिन् तं भ्रमम्। ततः किमत आह - कथमिति। अनुवर्ततामनुवर्तमानानां त्वामेव शरणं भजतां भवभयं संसारभयं कथं भवेत्। न कथञ्चिदित्यर्थः। कुतः? यद्यस्मात्तव भ्रुकुटिः भ्रूभङ्गरूपस्त्रिणेमिस्तिस्रो नेमय इवावच्छेदाः शीतोष्णवर्षाकाला यस्य संवत्सरात्म कस्य कालस्य सः। अभवच्छरणेषु न भवान् शरणं रक्षिता येषां तेष्वेव भयं जन्ममरणादि लक्षणं सृजति करोति। अत एवम्भूतं संसारमाकलय्य तन्निवृत्तये सुधियस्त्वयि भावं दधतीति। "संसारचक्र क्रकचैः विदीर्णमुदीर्णना नाभवतापतप्तम्। कथञ्चिदापन्नमिह प्रपन्नं त्वमुद्धर श्रीनृहरे नृलोकम्" ॥ १९ ॥ ३२ ॥

स च भगवति भावो मनो नियमेऽसति भवति। सोऽपि गुरूपसदनादिति गुरूपसदनं विदधति 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मुण्ड.उ.1-2-2) 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' (छान्दो.उ.6-14-2) 'नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठा' (कठ.उ.2-9) इत्याद्याः श्रुतय इत्याह- **विजितेति**। विजितानि हृषीकाणि इन्द्रियाणि वायुः प्राणाश्च यैस्तैरप्यदान्तमनस्तुरगमदान्तमदमितं मन एव तुरगो दुर्दमत्वसाम्यात्तं ये यन्तुं नियन्तुं यतन्ति प्रयतन्ते। अतिलोलमतिचञ्चलम् गुरोश्चरणं समपहायाऽनाश्रित्य ते उपायेषु खिद्यन्ते क्लिश्यन्तीत्युपायखिदः सन्तो व्यसनशतान्विता बहुव्यसनाकुला इह संसारसमुद्रे आविशन्ति[5] सन्तिष्ठन्ति[5]। दुःखमेव प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। हे अज! अकृत कर्णधारा अस्वीकृतनाविका वणिजो यथा तद्वत्। उक्तं[6] च - 'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्। मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान्भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा' (भाग. 11-20-17) इति। प्राकृतैः संस्कृतैश्चैव गद्यपद्याक्षरैस्तथा। देशभाषादिभिः शिष्यं बोधयेत्स गुरुः स्मृतः"। गुरुणोपदर्शित भगवद्भाजन सुखानुभूतौ तु स्वत एव मनो निश्चलं भवति नान्यथेति भावः। यदा 'परानन्दगुरो भवत्पदे पदं मनो मे भगवँल्लभेत। तदा निरस्ताखिलसाधनश्रमः श्रयेय सौख्यं भवतः कृपावशात् ॥ २०॥ ३३॥

"परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन" (मुण्ड.उ.1-2-12) तथा "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः[7]। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" (कठ.उ.6-14) इत्याद्या वैराग्यमङ्गं विदधतीत्याह - स्वजन सुतेति। आत्मा देहः। धाम गृहम्। असुः प्राणः। स्वजनादिभिः द्वन्द्वनिर्दिष्टैः किम् सर्वरसे सर्वे रसाः सुखानि विद्यन्ते यस्मिंस्तस्मिंस्त्वयि परमानन्दे 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृह.उ.4-3-32) इति श्रुतेः। श्रयतस्त्वां सेवमानस्य पुंस आत्मनि सति नृणां तुच्छैरेतैः किं क उपयोग इति सत् सत्यं परमार्थसुखमजानतामत एव मिथुनतः स्त्रिया। मिथुनीभूय रतये मायासुखाय चरतां प्रवर्तमानानाम् कर्मणि षष्ठी । अजानतश्चरतः पुरुषान् कोन्वर्थः सुखयत्यानन्दयति। न कोऽपीत्यर्थः। इह संसारे। कथम्भूते स्वविहते? स्वत एव नश्वरे। स्वनिरस्तभगे स्वत एव

गतसारे। पाठान्तरे तु को न्वित्यस्यैतद्विशेषणद्वयम्। अतः त्वद्भजनमेवोचितमित्यर्थः। भजतो हि भवान्साक्षात्परमानन्दचिद्घनः। आत्मैव किमतः कृत्यं तुच्छदारसुतादिभिः ॥ २१॥ ३४॥

एवं गुरूपदेशेन तत्त्वमवगम्य सारासारविवेकेन च सर्वतो निर्विद्य तदेव महत्सङ्गेनोपत्तिभिः सम्यगवधारयितुं तीर्थसदनानि सत्पुरुषदर्शनाय मुनयः पर्यटन्तीति 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' (बृह.उ.6-5-6) इत्यादि श्रुत्यर्थमाह - भुवीति। ते उक्तलक्षणा ऋषयो विमदा निरहङ्कारा यतो भवत्पदाम्बुजहृदः भवतः पदाम्बुजं हृदि येषां ते। अतः स्वयमेवाघभिदङ्घ्रिजलं येषां ते उत अपि तथाविधा अपि भुवि पृथिव्यां पुरूणि बहनि पुण्यानि तीर्थानि सदनानि च क्षेत्राणि तान्येवोपासते सेवन्ते प्राय स्तत्रैव महत्सङ्गो भवतीति। अथवा पुरु अधिकं भगवद्भजनलक्षणं पुण्यं येषां तानि च तानि तीर्थानि च गुरवो महान्त इत्यर्थः। तेषां सदनान्याश्रमान् यथाऽऽह अमरसिंहः - 'निपानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टजले गुरौ' (अम.को.शे 3-243) इति। न पुनः पुरुषसारहरावसथानुपासते। पुरुषाणां सारं विवेकस्थैर्यधैर्यक्षमाशान्तिप्रमुखं हरन्तीति तथा, न च ते आवसथा गृहास्तान्। न च तेषां गृहादिभव कुत्सितसुखापेक्षेत्याह - दधति सकृन्मन स्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे इति। सकृदपि त्वयि ये मनो दधतीति तेऽपि गृहाद्यासक्ता न भवन्ति। किं पुनरेवम्भूता इत्यर्थः। 'मुञ्चन्नङ्गतदङ्गसङ्गमनिशं त्वामेव सञ्चिन्तयन् सन्तः सन्ति यतो यतो गतमदास्तानाश्रमानावसन्। नित्यं तन्मुखपङ्कजाद्विगलितत्वत्पुण्यगाथामृतस्रोतः संप्लवसंप्लुतो नरहरे न स्यामहं देहभृत् ॥ २२॥ ३५॥

ननु 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समन्वयः' (जैमिनी. सू. 1-1-20) इति। तत्र तत्र जैमिनिना वेदस्य क्रियापरत्वाभिधानादुपनिषदामपि तदेव युक्तम्। यथोक्तं तन्त्रवार्तिकृता - "एतेन क्रत्वर्थकर्तृ प्रतिपादनेनोपनिषदां नैराकाङ्क्ष्यं व्याख्यातम्" इति चेत् न। "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" (छान्दो.उ. 6-2-1) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृह.उ. 3-9-28) 'अचक्षुरश्रोत्रम्' (मुण्ड.उ. 1-1-6) इत्येवं तद्विपरीतात्मप्रतिपादनात्। न हि अद्वितीय परमानन्दरूपस्य कर्माङ्गत्वं युज्यते। अनुनमतं चैतद्वार्तिककृतः। कथम् "सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते। पराङ्गं चात्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधार्यताम्'॥ इति तेनैवोक्तत्वात्। एतदर्थमेव मननाय मुनयः पर्यटन्तीत्युक्तम्। तत्र तावद्द्वैतस्य सत्यत्वे भवेदप्येवं तदेव तु न सम्भवतीति प्रश्नोत्तराभ्यां मननेन तत्त्वावधारण प्रकारमाह - सत इति। इदं विश्वं धर्मि। सदिति साध्यो धर्मः। सत उत्पन्नत्त्वाद्धेतुः। यद्यत उत्पन्नं तत्तदात्मकमेव दृष्टम्। यथा कनकादुत्पन्नं कुण्डलादि, तदात्मकं तद्वदिति। तत्र यदि सदभेदः साध्यते तदाऽपादानत्व निर्देशेनैव भेद प्रतीतेर्विरुद्धो हेतुरित्याह ननु तर्कहतमिति। ननु नाभेदं साधयामः किन्तु तदुत्पन्नत्वेन कुण्डलादिवद्भेदं प्रतिषेधयामः। तत्राभेद एव स्यात् इत्याशङ्क्यानैकान्तिकत्वेन दूषयति - व्यभिचरति क्व चेति। पितृपुत्रादिषु मुद्गरघटप्रध्वंसादिषु च तथा दर्शनादिति भावः। ननु तदुत्पन्नत्वं नाम तदुपादानत्वं, न तु तन्निमित्तत्वमतो नानैकान्तिकत्वमित्याशङ्क्य दूषयति क्व च मृषेति। गुणोपादानस्यापि फणिनो न

गुणत्वं, किन्तु मिथ्यात्वम्। अन्यथा कुण्डलादिवदबाधप्रसङ्गात्। अतः पुनरप्यनैकान्तिकत्वमेवेति भावः। ननु न तत्र केवलं गुणमात्रं फणिन उपादानं, किन्त्वविद्यायुक्तम्। तथाभूतस्यावस्तुत्वाद्युक्तं फणिनो मिथ्यात्वमित्याशङ्क्य तत्तुल्यमत्रापीति दूषयति। न तथोभययुगिति अयमर्थः - अत्राप्यविद्यायुक्तस्यैव सत उपादानत्वम्। एवम्भूतस्य च न वस्तु[12]सत्त्वम्। प्रपञ्चस्येति। ननु मा भूदनेन हेतुना प्रपञ्चस्य सत्त्वं, हेत्वन्तरेण तु साधयामः। तथाहि - सदिदमर्थक्रियाकारित्वात् यदर्थक्रियाकारि तत् सत्। न यदेवं न तदेवं, यथा शुक्तिरजतमिति तत्राह - व्यवहृतये विकल्प इषित इति। व्यवहारायार्थक्रियार्थं विकल्पो भ्रम इषित इष्ट एव, कूटकार्षापणादिनापि क्वचिद्व्यवहारदर्शनात्। नन्वेकत्र सतोऽन्यत्रारोपो भ्रमः प्रसिद्धोऽत्यन्तासत्त्वे कथं प्रपञ्चः भ्रमः स्यात् सत्त्वे वा नाद्वैतसिद्धिः। उक्तं च भट्टैः - 'अध्यस्यते खपुष्पत्वमसत्कथमवस्तुनि। प्रज्ञातगुणसत्ताकमध्यारोप्येत वा न वा' इति। नेत्याह - अन्धपरम्परयेति। अन्धपरम्परया यो विकल्प इत्यन्वयः। अयम्भावः - संस्कारजन्यो भ्रमः संस्कारसिद्धये पूर्वप्रतीतिमात्रमपेक्षते, न वस्तु[14]सत्त्वम्। प्रतीतौ सत्यां वस्तु[15]सत्त्वाभावेन ब्रह्म[16]व्यतिरेकादर्शनात्। अतोऽनादित्वात् पूर्वपूर्वभ्रम दृष्टस्योत्तरोत्तर आरोपो भविष्यति। अन्धपरम्परा न्यायेन तेन[17-] च[-17] वस्तुव्यवहारः सेत्स्यतीत्यप्रयोजको हेतुरिति। ननु 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' 'अपाम सोमममृता अभूम' (अथ. शिख. उ. 3-2) इत्यादिभिः कर्मफलस्य नित्यत्व प्रतिपादनादसत्त्वं न घटते न हि नित्यं वस्त्वसद्भवति, तस्माद्वेदप्रतिपादितत्त्वाद्द्वैतं सदेवेत्याशङ्क्याह - भ्रमयतीति। हे भगवन्! ते तव भारती वेद[18]लक्षणा ऊरुवृत्तिभिर्बह्वीभिर्गौणलक्षणादिवृत्तिभिरुक्थजडान् कर्मश्रद्धाभराक्रान्तमन्दमतीन् भ्रमयति मोहयति। अयम्भावः - न हि वेदः कर्मफलं नित्यमभिप्रैति, किन्तु लक्षणया प्राशस्त्यमात्रम् विध्येकवाक्यत्वात्, अन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गात्। 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छान्दो.उ.8-1-6) इति न्यायोपबृंहितश्रुत्यन्तरविरोधाच्च। अतः कर्मजडानामिदं भ्रममात्रमिति। एतेनैव 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तैत्ति.उ.2-1-1) इत्यादीना मप्यन्यपरत्वं दर्शितं भवति। उद्भूतं भवतः सतोऽपि भुवनं सन्नैव सर्पः स्रजः कुर्वत्कार्यमपीह कूटकनकं वेदोऽपि नैवं परः। अद्वैतं तव सत्परं तु परमानन्दं पदं तन्मुदा वन्दे सुन्दरमिन्दिरानुत हरे मा मुञ्च मामानतम् ॥ २३ ॥ ३६ ॥

---

1- -1 B. J. Omit 2. Ml. V. °दानि 3. B. J. Omit क 4. B. J.Omit कारण 5- -5 B.J. सन्ति ति° 6- -6 B. Ml. V. Omit 7. B. J. श्रिता: 8- -8 B. J. Omit 9. B. J. Omit भुवि पृथिव्यां 10. Ml. V. °नात् अनेन 11. Ml. V. उपा 12. Ml. V. वस्तुत्वं 13. Ml. V. तत्राह 14. Ml. V. सत्यत्वम् 15. Ml. V. सत्यत्वा° 16. Ml. V. भ्रम 17- -17 B. J. Omit तेन च वस्तु 18. Ml. V. °वाक्

**वीर०** ननु प्रकृतिपुरुषयोः नित्ययोरुत्पत्त्यनुपपत्तिः? अत आहुः - न घटत इति। यद्यप्यजत्वात्प्रकृतेः पुरुषस्य च नोत्पत्तिः तथाऽपि विद्यमानानामेवाऽप्यानामवयवानां वायुप्रेरितानां परस्परसंयोगाज्जले बुद्बुदोत्पत्तिवत्, उभययुजा प्रकृतिपुरुषयोस्संयोगेन असुभृतो प्राणिनः विविधैर्नामभिः रूपैश्चोपलक्षिताः त्वय्याधारभूते भवन्ति, दैवमनुष्यादिशरीरविशिष्टरूपेणोत्पत्तिः युज्यत इत्यर्थः। ततः त इमे असुभृतः परमे त्वयि निलिल्युः प्रलयदशायां नामरूपे विहाय त्वय्यविभक्ततामापुरित्यर्थः। यथा सरितोऽर्णवे यथा च मधुनि माक्षिके अशेषाः रसाः मकरन्दाः तद्वत्। द्रव्यस्योत्तरोत्तरसंस्थानयोगो हि पूर्वपूर्वसंस्थानसंस्थितस्य विनाशः। स्वावस्थावस्थितस्य तूत्पत्तिः। अतः अवस्थानामनित्यत्वेऽप्यवस्थाश्रयस्य द्रव्यस्य नित्यत्वात्तस्य पूर्वोत्तरावस्थात्यागोपादानात्मकविनाशोत्पत्त्यविरोध इति भावः, अत्राणवादिस्थानीयं चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म ॥ ३१ ॥

तर्हि उत्पत्तिविनाशाद्यात्मकसंसारनिवृत्यनुवृत्त्योः किं निदानमित्यपेक्षायां त्वद्भक्तितदभावौ एवेत्याहुः - **नृष्विति**। अनु पृष्ठतः प्रभवः संसारो यस्मात्तम्, अमीषु नृषु तव मायया त्वदीयया प्रकृत्या भ्रमं देहात्माभिमानस्वतन्त्रात्माभिमानादि रूपम् अवमृश्य अयमेव संसृतिहेतुरिति निश्चित्य सुधियः त्वयि भृशं भक्तिं दधति, अनुवर्ततां त्वां भजतां भवभयं संसृतिभयं कथं भवेत्? न भवेदेवेत्यर्थः। कुतः? यद्यस्मादभवच्छरणेषु, न भवान् शरणं येषां तेष्वेव तव भ्रुकुटिः भ्रूभङ्गरूपः त्रिणेमिः तिस्रो नेमयः शीतोष्णवर्षकालात्मिकाः यस्य सः। संवत्सरात्मकः कालः इत्यर्थः। भयं संसृतिभयं सृजति। अभवच्चरणेष्विति पाठे न भवतः चरणं येषां तेषु उपायोपेयभावेन भवतश्चरणमनाश्रितेषु इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

कुतस्तर्हि मयि भाव इत्यपेक्षायां मनोनिग्रहादेव वैराग्यात्मकात्, स च गुरूपासनादेव, न तु उपायान्तरेभ्य इत्यभिप्रेत्याहुः - **विजितेति**। अतिचञ्चलम् अत एव विजितानि हृषीकाणि इन्द्रियाणि वायवः प्राणाश्च यैः तैरप्यदान्तं दुर्निग्रहं मन एव तुरगमश्वं, ये पुरुषाः यन्तुं नियन्तुं गुरोश्चरणं विहाय उपायान्तरेषु क्लिश्यन्तो यतन्ते ते व्यसनशतान्विताः बहुव्यसनाकुलाः इह संसारसागरे आसजन्ति सच्छन्ते सन्निविशन्ते दुःखमेव प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। हे अज! अकृतकर्णधराः अलब्धकर्णधराः वणिजः यथा जलधौ मज्जन्ति, तद्वत् ॥ ३३ ॥

ननु मयि भृशं भावं विदधतु, ततः किमित्यपेक्षायां निरतिशयानन्दजलधिमग्नानां वैषयिकसुखान्तरनैरपेक्ष्यम्। इतरेषां तु सुखं विषमिश्रपयःपानतुल्यमित्यभिप्रेत्याहुः - **स्वजनेति**। सर्वरसे सर्वविधसुखमये आत्मनि च त्वयि 'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति। को ह्येवान्यत् कःप्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' (तैत्ति.उ.2-7) इत्युक्तरीत्या निरतिशयसुखस्वरूपे तदावहे च प्रियतमे त्वयि सति विद्यमाने नृणां मध्ये कस्यचिदुक्तविधं त्वां भजतः पुंसः

स्वजनादिभिः किं न किञ्चिदपि सुखमित्यर्थः। आत्मा देहः, धाम गृहं, धरा भूमिः, असुः प्राणः, रथशब्दो वाहनोपलक्षकः, इतीत्थं सत् निरतिशयपुरुषार्थभूतत्वत्स्वरूपमजानताम्, अत एव रतये सुखार्थं मिथुनत श्चरतां मिथुनीभूय वर्तमानानां स्वविहते स्वप्रकृतिसम्बन्धतिरोहिते अत एव स्वनिरस्तभगे स्वः स्वासाधारणः निरस्तो भगो ज्ञानैश्वर्यादिर्यस्य तस्मिन् स्वरूपे सति इह लोके को नु अर्थकामेषु सुखयति अर्थकामान्यतरो न कोऽपि सुखयतीत्यर्थः। स्वविहतिस्वनिरस्तभगे स्वयाथात्म्यानुभवविघातः तेन स्वनिरस्तस्वाभाविकज्ञानैश्वर्ये स्वरूपे सतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

ननु इत्थमात्मानं सर्वरसं ये मामाश्रयन्ते ते किं मिथुनतो न चरन्तीत्याहुः - **भुवीति**। ये त्वयि नित्यसुखस्वरूपे आत्मनि च सकृदपि मनो दधति, ते पुनः पुरुषाणां सारं ज्ञानवैराग्यादिरूपं हरन्तीति तथा, तानावसथान् गृहान्नोपासते न सेवन्ते न गृहेषु मिथुनतश्चरन्तीत्यर्थः। अपि तु भुवि पृथ्व्यां पुण्यानि तीर्थानि गङ्गादीनि सदनानि क्षेत्राणि च उपासते, तीर्थान्यपि तीर्थीकर्तुं पुण्यक्षेत्राण्यपि निरतिशयपुण्यावहानि कर्तुं तान्युपासत इति भावः। तत्र हेतुत्वेन तान् विशिंषन्ति - ऋषयः द्रष्टारः स्वात्मपरमात्मयाथात्म्यविद इत्यर्थः। अत एव विमदाः देहात्माभिमानस्वतन्त्रात्माभिमानादिरूपमदरहिताः, उत अपि च भवतः पदाम्बुजं हृदि येषां ते भवतः पदाम्बुजे हृत् येषां त इति वा, अत एव अघं भिन्दन्तीति तथा तान्यङ्घ्रिजलानि येषां ते । अनेन भगवद्भक्तानां पादस्पर्शोऽपि पावन इत्यभिप्रेतम्। आत्मनीत्यनेन कृत्स्नस्य चिदचिदात्मक प्रपञ्चरूपकार्यस्य तच्छरीरत्वम् अत एव परमार्थत्वं चाभिप्रेतं, न हि मिथ्याभूतं किञ्चित् कस्यचिच्छरीरभूतं दृष्टमित्यर्थः ॥३५॥

इत्थं कार्यस्य सत्यात्वाभ्युपगममभिप्रेत्य अथ यः कार्यसत्ता प्रतिक्षेपेण कार्यमिथ्यात्ववादः तं चोद्यमुखेन प्रस्तुत्य प्रतिक्षिपन्ति - **सत** इति। सत इत्यादिना तर्कहतमित्यन्तेन कार्यमिथ्यात्ववादिमतानुवादः। व्यभिचरतीत्यादिना तत्प्रतिक्षेप इति विभागः, तथाहि - सतः परमार्थभूतात्परस्मात्ब्रह्मणस्सकाशादुत्पन्नमिदं जगत् सत् परमार्थभूतं सत्यमिति यावत्। न तु नैतद्युक्तमित्यर्थः। कुतः? यतस्तर्कहतमिति चेत् यद्यपि यद्यस्मादुत्पन्नं तत्तदात्मकमेव। यथा मृद्धिरण्यादेरुत्पन्नं घटमकुटादि कार्यं, तथाऽपि चेतनात्पुरुषाज्जातानां केशदन्तनखलोम्नामचेतनत्वदर्शनादचेतनात् गोमयाज्जातानां वृश्चिकानां चेतनत्वदर्शनाच्च कार्यकारण्योस्सालक्षण्य व्याप्यभावात् परमार्थस्वप्नादपरमार्थगजतुरगादीनां तथा परमार्थशुक्तिशकलाद परमार्थरजतस्य चोत्पत्तिदर्शनात्। एतदुत्पत्तिवैयर्थ्याच्च कार्यं सदित्येतत्तर्कहतम्। अतः कार्यं मिथ्यैवेति चेदित्यर्थः। तर्कश्चात्र युक्तिः। का पुनरत्र युक्तिरिति चेदुच्यते। मृद्द्रव्यमात्रस्यानुवर्तमानत्वं तदतिरिक्तस्य च व्यावर्तमानत्वं, रज्जुसर्पादिषु ह्यनुवर्तमानस्याधिष्ठानभूतस्य रज्ज्वादेस्सत्यता। व्यावर्तमानस्य सर्पभूदलनाम्बुधारादेरसत्यता दृष्टा। तथा अनुवर्तमान मधिष्ठानभूतं मृद्द्रव्यमेव सत्यं, व्यावर्तमानास्तु घटशरावादयः असत्यभूताः, तथा निर्विशेषसन्मात्रात्सर्वाधिष्ठानभूता

ब्रह्मणोऽन्यः अहङ्कारादिव्यवहारालम्बनः कृत्स्नः प्रपञ्चः मिथ्या, कारणभूतं सन्मात्रं ब्रह्मैव सत्यं, किञ्च सत आत्मनो विनाशायोगादसतश्शशविषाणादेरुपलब्ध्यभावादुपलब्धिविनाशयोगे कार्यं सदसद्भ्यामनिर्वचनीयमिति गम्यते। अनिर्वचनीयं च शुक्तिकारजतादिवन्मृषैव, तस्य चानिर्वचनीयत्वं प्रतीतिबाधाभ्यां सिद्धम्। प्रतीयते हि। प्रपञ्चः प्रत्यक्षेण - 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्' (छान्दो.उ.6-8-7) 'नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्योस्स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृह.उ.4-4-9) 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति। यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृह.उ.2-4-14) 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (बृह.उ.4-5-16) इत्यादिभिर्वेदान्तैः बाध्यते चेति। ननु तर्कहतम् इति पाठान्तरम्। तदा ननु सत उत्पन्नमिदं सदिति चेत् तर्कहतमित्यन्वयः। इत्थमनूदितं कार्यमिथ्यात्वपक्षं प्रतिक्षिपन्ति व्यभिचरतीत्यादिना। कार्यं सदित्ययमर्थः क्व च व्यभिचरति? क्व चेति काकुः। न क्वचिद्व्यभिचार इत्यर्थः। केशपुरुषादिष्वपि अचेतनांश एव कार्यकारणभावादिति भावः। तथाऽपि स्वप्रार्थे शुक्तिकारजतादौ मिथ्यात्वेन व्यभिचार इत्यत्राहुः - क्व च मृषेति। क्व च मृषा? न क्वचिदपि कार्यं मृषेत्यर्थः। स्वप्रार्थानामपीश्वरसृष्टत्वान्न मृषात्वं, शुक्तौ रजतसद्भावादन्यथाख्यानाद्वा न मृषात्वमित्यभिप्रायः। सत उत्पत्तिवैयर्थ्यं परिहरन्ति - न तथोभययुगिति। व्यभिचरतीत्यनुषङ्गः। क्वचिदपि मृत्सुवर्णादिद्रव्ये उभयावस्थान दर्शनात् न व्यभिचरति। कार्यत्वकारणत्वरूपावस्थावदेव मृत्सुवर्णादिकं दृश्यते, अतस्सतोऽवस्थान्तरप्राप्तिस्सफलेत्यर्थः। विकल्पः घटशरावाद्यवस्थाभेदः, स च व्यवहृतये घटेन जलमाहरेत्यादिवाक्पूर्वकव्यवहारार्थम् इषितः इष्टः। यद्वा नन्वसञ्जेन्न प्रतीयते, सचेन्न बाध्यते, प्रतीयते बाध्यते च शुक्तिकारजतवत् प्रपञ्चरूपं कार्यम् । अतः सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं कार्यं मृषैवेत्यत आहुः - न तथोभययुगिति। तथा तथाभूतमनिर्वचनीयम्। उभययुक् सत्त्वविलक्षणत्वरूपधर्मद्वययोगि द्रव्यं स नास्त्येवेत्यर्थः। ननु शुक्त्यादिषु रजतादिप्रतीतेः प्रतीतिकालेऽपि तन्नास्तीति बाधेन च अन्यस्यान्यथाभानायोगाच्च सदसदनिर्वचनीयमपूर्वमेवेदं रजतं दोषवशात्प्रतीयत इति कल्पनीयमिति चेन्न, तत्कल्पनायामप्यन्यस्यान्यथा भानस्यावर्जनीयत्वात् अन्यथा भानाभ्युपगमादेव ख्यातिप्रवृत्ति बाधभ्रमत्वाना मुपपत्तेरत्यन्तापरिदृष्टाकारणकवस्तु कल्पनायोगात् कल्प्यमानं - हि इदमनिर्वचनीयं न तदानीमनिर्वचनीयमिति प्रतीयते, अपि तु परमार्थरजतमित्येव। अनिर्वचनीयमित्येव प्रतीतं चेत् भ्रान्तिबाधयोः प्रवृत्तिरप्यनुपपत्तिः। अतोऽन्यस्यान्यथा भानविरहे प्रतीतिप्रवृत्तिबाधभ्रमत्वानामनुपपत्तेः तस्यापरिहार्यत्वाच्च शुक्त्यादिरेव रजताद्याकारेण भासत इति भवता अभ्युपगन्तव्यम्। किञ्च अनिर्वचनीयमपूर्वं रजतमत्र जातमिति वदता तस्य जन्मकारणं वक्तव्यं, न तावत्तत्प्रतीतिः। तस्यास्तद्विषयत्वेन तदुत्पत्तेः प्रागात्मलाभायोगात्। निर्विषया जाता तदुत्पाद्य तदेव विषयीकरोतीति महतामिदमुपपादनम्। अथेन्द्रियादिगतो दोषः? तन्न, तस्य पुरुषाश्रयत्वेनार्थगतकार्यस्योत्पादकत्वायोगात्। नापीन्द्रियाणि, तेषां ज्ञानकारणत्वात्। नापि दुष्टानीन्द्रयाणि। तेषामपि स्वकार्यभूते ज्ञान एव विशेषकरत्वात्, अनादिमिथ्या

ज्ञानोपादानत्वमनवस्थादिदोषनिरस्तं, किञ्च अपूर्वमनिर्वचनीयमिदं वस्तुजातं रजतादिबुद्धिशब्दाभ्यां, कथमिव विषयीक्रियते? न घटादिबुद्धिशब्दाभ्यां रजतादिसादृश्यादिति चेत्तर्हि तत्सदृशमित्येव प्रतीतिशब्दौ स्याताम्। रजतत्वादिजातीयायोगादिति चेत् सापि किं परमार्थभूता उत अपरमार्थभूता? न तावत्परमार्थभूता । तस्या अपरमार्थान्वयायोगात्, नाप्यपरमार्थभूता, परमार्थान्वयायोगात्। अपरमार्थे परमार्थबुद्धि शब्दयोर्निर्वाहकत्वायोगाच्च। यत्पुनरुक्तं रज्ज्वादिवन्मृन्मात्रस्य कारणस्यानुवर्तमानत्वात्पारमार्थ्यं सर्पादीनामिव घटशरावादि कार्याणां मिथो व्यावर्तमानत्वादपारमार्थ्यम्। अहङ्कारादि व्यवहारालम्बनास्सर्वे पदार्थाः मिथो व्यावर्तमानत्वात् अत एव बाधितत्वादपरमार्था इति, तत्तुच्छं द्वयोः ज्ञानयोः विरोधे हि बाध्यबाधकभावः। बाधितस्यैव व्यावृत्तिः। अत्र घटादिषु देशकालभेदेन विरोध एव नास्ति, यस्मिन्देशे यस्मिन्काले यस्य सद्भावः प्रतिपन्नः तस्मिन्देशे तस्मिन्काले तस्याभावः प्रतिपन्नश्चेद्विरोधाद्बलवतो बाधकत्वं, बाधितस्य च व्यावृत्तिः, देशान्तरकालान्तरसम्बन्धितयाऽनुभूतस्यान्य देशकालयोर्भावप्रतीतौ न विरोध इति कथमत्र बाध्यबाधकभावः। अन्यत्र निवृत्तस्यान्यत्रवृत्तिर्वा कथमुच्यते? रज्जुसर्पादिषु तु तद्देशकालसम्बन्धितयैवाभावप्रतीतेर्विरोधे बाधकत्वं व्यावृत्तिश्चेति देशकालान्तरदृष्टस्य देशकालान्तरव्यावर्तमानत्वं मिथ्यात्वव्याप्तं न दृष्टमिति न व्यावर्तमानत्वमात्रं पारमार्थ्ये हेतुः। यत्त्वनुवर्तमानत्वात्परमार्थ इति तत्सिद्धमेवेति न साधनमर्हति। अतो न सन्मात्रमेव वस्तु, सत उत्पत्तिवैयर्थ्यं परिहरन्ति व्यवहृतये विकल्प इषित इति। अस्य यथोक्त एवार्थः। अतस्सतोऽवस्थान्तरप्राप्तिस्सफलेत्यर्थः। ननु तर्कहतत्वाभावेऽपि 'नेह नाना' इत्यादिश्रुतिरेव कार्यमिथ्यात्वं प्रमापयतीत्यत आहुः - भ्रमयतीत्यादिना। ते तव भारती वाग्रूपा 'नेह नाना' (बृह.उ.4-4-9) इत्यादिश्रुतिः। उरुवृत्तिभिः उक्थजडान् अन्धपरम्परया भ्रमयतीति सम्बन्धः। उक्थजडाः कर्मजडाः, अनादिपापवासनादूषिताशेषशेमुषीकाः, तान्। अयं भावः - न केवलं कार्यमिथ्यात्वबोधनात्मिकैव 'नेह नाना' (बृह.उ.4-4-9) इत्यादि त्वद्भारत्या वृत्तिः। अपि तु अब्रह्मात्मकस्वतन्त्रवस्तुनिषेधबोधनात्मिका,ब्रह्मस्वरूपे देवमनुष्यादि भेद निषेधादि बोधनाद्यात्मिकाश्च बह्व्यो वृत्तयस्सन्ति। एवं तदर्थबुभुत्सवोऽप्युक्थ जडास्तद्विपरीताश्च। तत्र ये कर्मजडाः तान् प्रथमबुभुत्सुकुबुद्धिपरिकल्पित कार्यमिथ्यात्वकारण सत्यत्वपरत्वदिरूप बहुवृत्तिभिः प्रथमप्रतिपत्तृ कुबुद्ध्यनुवर्तिनां कर्मजडानाम् अन्धपरम्परया कार्यमिथ्यात्वभ्रमं जनयति। औपनिषदपरमपुरुषवरणीयता हेतुगुणविशेषगुण विशिष्टानां तु अब्रह्मात्मकस्वतन्त्रवस्तुनिषेधादि विषयां प्रमितिं जनयतीति किमस्माभिः विधेयमिति ॥ ३६ ॥

**विज०** कथमनुजानतेति तत्राह - **नेति**। अजशब्दस्यानेकवृत्तित्वेनानिश्चय इत्यतः *प्रकृतिपुरुषयोरिति तयोरुद्भव* उत्पत्तिः **न घटत इति यतस्ततः** प्रकृतिपुरुषौ विनाऽन्यो बन्धरहितो न विद्यते। मुख्यतोऽजशब्दप्रवृत्तिनिमित्तान्यथानुपपत्त्या

न घटत इत्युक्तं भवति। तदुभययोः प्रकृतिपूरुषयोः युजोः योगयोः असुभृतो जीवा भवन्ति देशतः कालतश्च यत्र परमस्तत्र प्रकृतिः यत्र प्रकृतिः तत्र परम इत्युभययुजोः। तत्र दृष्टान्तः- जलबुद्बुदवत्। जलबुद्बुदानि यथोत्पद्यन्ते तथेति। 'सम्यग्ज्ञानवदाचार्यान्मुच्यते पुरुषो भवात्, द्वावेव नित्यमुक्तौ तु परमः प्रकृतिस्तथा' (वामने) इति स्मृतेः। 'योनः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवनायन्त्यन्या। त आयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषयः पूर्वे जनितारो न भूता असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि' (आद्याश्रुतिः) इत्यादि श्रुतेः। ब्रह्मेशेन्द्रादि संनाम्नां येऽर्थभूता गुणा मताः पूत्तीशितृत्वद्रष्टृत्वप्रमुखास्ते हरेः सदेति। 'अतस्तु सर्वनामासौ सर्वकर्ता च केशवः' (पाद्मे) इत्यादिस्मृतीनां च अर्थत्वेन संदृब्धस्य त्वयि त इम इति श्लोकस्य अयं भावः - मधुनि निलिल्युरिति वक्तव्ये मधुनिलिल्युरिति पाठो गाथाभङ्गभयात् 'समाने लोप' इति न्यायाच्च कृतः। ततो इति पाठोऽपि वैलक्षण्यज्ञापनाया कारि तत तात पितरित्यर्थः। 'ततेति तात' इति श्रुतिः। 'अ उ आनन्दपूर्णत्वादनामा सर्वस्मादुत्कृष्टत्वादुनामा 'आनन्दत्वानामासावुत्कृष्टत्वादुनामकः एतन्नामद्वयं विष्णोर्ज्ञात्वा पापैः प्रमुच्यत' (स्कान्दे) इति स्मृतेः। तयोः सन्धिः। ओ इत्यनेन नाम्नोर्नामिनश्चाभेदः। 'उनाम्नः सम्बुद्धिरसूचि ये गुणाः श्रुताः सुविरुद्धाश्च देवे सन्ति' इत्यादिश्रुतौ प्रतीताः। त इमे विबुधनामगुणाः विबुधानामिन्द्रादीनां नाम्नामर्थभूताः परमैश्वर्यादिगुणाः अमृते नित्यमुक्ते परमे त्वयि निलिल्युः निलीनतया स्थिताः। कस्मिन् के इव? मधुन्यर्णवे मकरन्दमधुलक्षणसमुद्रे अशेषपुष्परसा इव ॥ २८ ॥ ३९॥

यतोऽशेषगुणाकरो भवान् अतो नृषु सुधियः। निर्धारणे सप्तमी। नृणां मध्ये सम्यग्ज्ञानिनः स्वगतया सुष्ठन्यैरनवगतया मायया स्वेच्छया त्वयि भेदं समस्तादन्यो विशिष्टगुणः परः इति भेददर्शनलक्षणम्। कुशलमनुविधातुमनुप्रभवः सम्यक्समर्थाः। अनेन अज्ञानिनां निलीनाः ज्ञानिनामभिव्यक्ताः गुणा इत्यतः तेषां सद्भावो दर्शित इति। तदुक्तम् - 'अन्याविज्ञातया विष्णोः शक्त्यैव कुशलं जनाः। कुर्वन्ति कुशलेषूच्चभेद दर्शनमेव तु । पूर्णानन्दादिसम्पत्तिं विष्णोर्ज्ञात्वेतरेषु च। तदपेक्ष्य विष्णुमात्रज्ञानं तद्भेददर्शनम्। अनाद्यनन्तो भेदोऽयं स्वभावः परजीवयोः। स्वतो वा परतो वापि न कदाचित्प्रणश्यति। एवं ज्ञानवतां विष्णुर्बहुजन्म न दास्यति । अनुवृत्तिर्यद्यनल्पा स हि सर्वेश्वरः प्रभुः' (प्रमाणसंहितायाम्) इति। अनेन कथमनुवर्तिनां भवभयं तव भ्रुकुटी सृजति। मुहुर्नृणामित्येतदर्थो विवृतः। तथाहि - यथा तव गुणविधान सामर्थ्यं तथा अनुकूलभूत त्वत्प्रसादानुवर्तिनां मुहुर्निरन्तरं सेवमानानां तव भ्रुकुटी भवभयं कथं सृजति? न कथमपि, प्रत्युत निर्मूलयतीत्यर्थः। 'यः पिता जनिता चैव कल्पको नित्यपोषकः। प्रापकः सर्वदेवानां पदानां पुरुषोत्तमः । सर्वदेवाभिधा वाच्यो भूत भव्यभवत्प्रभुः। विचार्यः सर्वदेवेशैस्तं ब्रह्माद्या यजन्ति च। त्रिगुणात्मकस्रष्टारस्तथापि न यजन्ति तम्। यतः

पूर्णेशशक्त्यैव तेषां यजनमिष्यते। अतः सर्वेश्वरो विष्णुरेक एव महागुणः' (प्रधानसंहितायाम्) इत्यनेन ब्रह्मादी नामखण्ड गुणत्वं स्वातन्त्र्येण सर्वकर्तृत्वमित्यादिकं दूरतोऽपहस्तितमिति ज्ञातव्यम् ॥ १९ ॥ ३२ ॥

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैतेऽकथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः' (श्वेता.उ.6-23) इति श्रुतेः। 'देवा अपि सुयोगाद्या यतन्ते सर्वसाधनैः। पुत्रदारादिभिः सार्धं नोच्छ्वसन्ति इह संसृतौ। गुरोरनुग्रहमृते साधनं न हरेः प्रियम्। गुरूपदेशात्तु हरिं प्राप्नोत्येव न संशयः॥' (तत्त्वोद्योगे) इति स्मृत्यनुगृहीतायाः श्रुतेः अभिप्रायगर्भस्य 'इह भवञ्चरणेषु' इत्यादि श्लोकद्वयस्य अयमभिसन्धिः। हे अजित! भक्तभक्त्यावशीकृत! जयो विष्णोश्चावयोः चावयोश्च भक्त्या तत्प्रीतिसाधनम्। 'जगदीशयोः कुतो ह्योनोः सर्वशक्त्योर्बलाबलयः' (पवनविजये) इति वचनात्। भक्तलक्षणसाधनसामग्र्या विष्णोः प्रसादो जयो नाम हे हरे! इह संसारे व्यसनशताब्धितारं गुरोश्चरणमपहाय हृषीकवायुभिः उदात्तमहत्तुरगैः कर्मणि यतन्तीत्यन्वयः। व्यसनानां शतमेवाब्धिः व्यसनशताब्धिः तं तारयतीति यः तं षण्णवत्यङ्गुलो यस्त्वित्यादि लक्षणोपेतस्य गुरोश्चरणमिति सेवेह लक्ष्यते। तां सेवां त्यक्त्वा उदात्तः सारथिः। 'रथोपरि स्वीकरणादुदात्तःसारथिर्मतः' (व्यासनिरुक्तिः) इति वचनात्। वायुरेवादात्तो येषां ते तथा। पृथग्पदत्वं छान्दसं, हृषीकाण्येव माहांस्तुरगा महत्तुरगाः महादेशाभावः छान्दसः। तैस्ते उच्छ्वसन्ति निश्वसन्तीत्यन्वयः। अत्र दृष्टान्तः - जलधावकृतकर्णधराः अकृतकर्णधरः कर्णधारो यैस्ते तथा। वणिजः सांयात्रिका इवेत्यर्थः ॥ २०॥ ३३॥

यतमानाः कीदृशाः? स्वजनसुतात्मदारधनधामधराः स्वजनसुतादि भरणोपेताः आत्मा देहः धाम गृहं जितहृषीक इत्येकं वा पदम्। उक्तमेव विवरणम्। ये च देवकल्पाः पुरुषाः भवञ्चरणेषु भवद्विषयसुकर्मसु सुजातभुवः सुष्ठुजातस्थानाः उत्तमयोग्यतायुक्ताः हृषीकलक्षणवायुसारथियुक्ततुरगैरमतिलोलं बुद्धिचाञ्चल्यं विना निष्कामत्वेन यतन्ति ते स्वजनादियुक्ता उच्छ्वसन्ति उत्कृष्टं श्वसन्ति प्राणन्ति जीवन्तीत्यर्थः। 'श्वस प्राणने' इति धातुः। किं कृत्वा? गुरोश्चरणमपहाय हानं त्यागमपाकृत्य गुरुचरणनिषेवणं कृत्वेत्यर्थः। 'नास्त्यकृतः कृतेन' (मुण्ड.उ. 1-2-12) इति श्रुतेः। अकृतो भगवानेव कर्णधारो येषां ते तथा। दैवानुकूलकर्णधारा इत्यर्थः। ते उपायविदः सुयोगज्ञाः किन्तु नृणां यानि विहितानि साधनानि सुखशान्तिमति त्वयि सुखस्यापि सुखं सुखशं दुःखमिश्ररहितसुखमित्यर्थः। तस्यान्तिमति पूर्तिमति पूर्णसुखे इत्यर्थः। यस्मिंस्त्वयि न सन्ति हि गुर्वभावात् तस्माद्विभवे विगतसंसारे देहाभिमानरहिते जीवन्मुक्ते गुरावुद्युति उपदिशति साधन जातमुपदिशति सति सर्वरसे सर्वस्मात् सारभूते आत्मनि परमात्मनि श्रयत एव तत्साधनसर्वस्वं तत्प्रीतिजनकत्वेन श्रीहरिं विषयीकरोतीत्यर्थः। षण्णवत्यङ्गुलो यस्तु तालास्यो दशतालकः दशप्रादोशकः सप्तपदो हस्तचतुष्टयः 'कलमत्रयाङ्गुलश्चैव वाग्मीसन्देहवर्जितः। वासुदेवैकशरणो गुरुरित्युच्यते बुधैः। गुरुलक्षणसम्पूर्णः साक्षादेकश्चतुर्मुखः। ततः शेषेन्द्रवह्न्याद्याः क्रमादेव प्रकीर्तिताः'॥ (गुरुविवेके) इत्यादिवाक्यामत्र प्रमाणम्। 'देवा योग्यतया जाता विष्णुपादाम्बुजाश्रयाः। तथापि

साधनैस्तेषां तत्प्राप्तिर्गुर्वनुग्रहात्' (तत्त्वोद्योगे) इति च। 'ब्रह्मा ज्ञात्वेति लोकप्रवृत्तिं प्रवर्ततां को नु मोक्षं ददति । अतो "ब्रह्मोपासते साधु धीरा नाहं भावस्तेषु रुद्राधिवासः" (महारवश्रुतिः) इति श्रुतेः। 'महाभाग्यं तु कैवल्यमज्ञानाङ्कः प्रदास्यति। अतस्सन्तो विजानन्ति हरिं ते त्वनहङ्कृता' (स्कान्दे) इति स्मृत्यर्थसङ्ग्राहिण्या अर्थरूपस्य। इति सदजानतामित्यस्य श्लोकस्यायमर्थः। इतिशब्दः प्रकारवचनः। इति लोके दृश्यमानप्रकारेण सद्ब्रह्म अजानतां ब्रह्माज्ञानिनां मिथुनतः स्त्रीपुंसभावेन रतये ग्राम्यधर्माय चरतां प्रवर्तमानानां को नु पुरुषः अद्य इह विजने मोक्षविषये सुखयति न कोऽपि मोक्षं ददातीत्यर्थः। कीदृशे विजने? स्वनिरस्तभगे सुष्ठु अनिरस्तो भग ऐश्वर्यादिगुणो यस्मिन् स तथा तस्मिन् स्वदज्ञानिनां परमानन्दलक्षणमोक्षभावः ॥ २१ ॥ ३४ ॥

अतः भुवि स्थाने पुण्यं शुद्धिकरं तीर्थं शास्त्रमेव सदनं शरणं येषां ते तथा। ते ऋषयो देवादयः त्वामेव सन्तं ज्ञात्वा भवतः पदाम्बुजं हृदा निविशन्ति। कीदृशम्? अघभिदं पापनाशनं किञ्च मनो मननसमर्थमन्तःकरणं नित्यसुखे चिदात्मनि त्वयि दधति च। अत्र प्रधानसाधनमाहुः - हे पुरुषसार! पुरुषोत्तम ! पुनश्च पश्चात् हरस्य रुद्रस्यावसथं अहङ्कारं सकृदपि नोपासते न कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ २२ ॥ ३५ ॥

यज्जीवमीशं प्रवदन्ति तर्कैः तञ्चेश्वरो वचनं सन्दधाति। 'नासीदादौ मरणे नो भविष्यन्मृषा ततो हि ईशितृत्वं स्वपेषु' इति श्रुत्यर्थद्योतकस्य स्मृत्यनुगृहीतस्य इदमप्यथो वदन्ति चेदित्यस्य श्लोकस्य इदं तात्पर्यम् -इदं जगत् न पातीत्यपः। 'पा पालने' इति धातुः सोऽस्यास्तीत्यपि अनीश्वरमित्यर्थः। अपि गर्हितमसत्यम्। अत एव अप्रतिष्ठमिति वा। 'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्' (स्कान्दे) इत्यादेः। न मत्तोऽन्य ईश्वरश्चेतनत्वादित्यादि तर्कैः वदन्ति चेत् अथो तस्मात् कुतः? सर्वात्मना एतदपि वचनं भगवत्प्रेरणयेत्यवगन्तव्यम्। तर्हि तर्कः प्रामाणिकः स्यादिति तत्राह-नन्विति। तर्का व्यभिचरन्ति नन्वित्यन्वयः। अत्र व्यभिचारित्वं पक्षधर्मत्वादिलक्षणाभावः। तथा हि विशिष्टपक्षीकारस्य सिद्धान्तविरुद्धत्वादनुपपत्तिः निर्विशेषेश्वरपक्षीकारे हेतोरसिद्धिः इत्यादिदूषणमुपेक्ष्याचार्यैः कालात्ययापदिष्टत्वं प्रादर्शि। वेदोक्तो जीवव्यतिरिक्तेश्वरो न तर्कैरपनेतुं शक्यः। यतस्तर्का व्यभिचारिण इति। "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" (मुण्ड.उ. 3-1-1) इति श्रुतेः। जीवेश्वरौ विरुद्धधर्माक्रान्तत्वेन भिन्नो छायातपवदित्यादेश्च दूषणान्तरमाह क्वचिदिति। अभेदस्य सिद्धावसिद्धौ च तर्कस्य विशेषानापादकत्वेनाप्रयोजकत्वात्। अपिपासोः पयः पानवत् । भोजनस्येष्टसाधनत्वतर्को ज्वरितादौ व्यभिचार्यत्वेन व्यर्थश्च सर्वशरीरसमवेतसुखदुःखानुसन्धातृत्वेन कायपरिमाणो जीव इति क्षपणकदर्शनपरिकल्पितः तर्कोऽपि मृषैव। अणुशरीरस्थस्य कर्मादिवशाद्धस्त्यादिशरीरप्राप्तौ विकारित्वापत्तेः। ननु तर्हि तर्केभ्यः किं प्रयोजनमत्राह - तत इति। यतो दुष्टास्ततो भयदृग्व्यवहितये भयबुद्धीनां बुद्धिव्यवधानाय तर्का भवन्ति। न तु धीराणां विदुषाम्। ननु किमिति प्रवृत्ता इति तत्राह - विकल्प इति। 'वि निषेधे पृग्भावे' (वैज.को. 8-7-6) इति वचनात्। विकल्पो वेदविरुद्ध

कल्पना जगतो मिथ्यात्वं जीवस्य ब्रह्मणोऽभेदो जगत् क्षणिकं षड्गुण ईश्वर इत्यादिलक्षणान्धपरम्परयैवान्वहमुषितः प्रवर्तितः 'अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः' (कठ.उ.2-5) इति श्रुतिः। अन्धपरम्परायाश्च कोऽवलम्ब इति तत्राह भ्रमतीति। भारती वेदवाणी च भ्रमति बहुधा वक्ति। तात्पर्यार्थावबोधाकुशलानज्ञानुद्दिश्येति शेषः। इति यस्मात् तस्मादन्धपरम्परा। 'बहूक्ति रन्यथाज्ञप्तिः परिवृत्तिश्च कथ्यते। भ्रम इत्येव विद्वद्भिस्तथा चङ्क्रमणं क्वचित्' (शब्दनिर्णये) इत्यतो भ्रमस्य बहूक्तित्वं सिद्धम्। वेदस्य बहुधोक्तेः किं कारणमत्राह - तवोर्विति। उरुशब्देनानन्तत्वं वृत्तिशब्देन गुणकर्माणि विवक्ष्यन्ते। भवतो गुणकर्मणामनन्तत्वात् तानि वक्तुमूढजवा त्वरावती वेदवाणी। अतो वेदेऽपि बहुधा वचनात् तदर्थनिर्णयशक्त्यभावात् योग्यतावशाद्विपरीतप्रतीतेश्च विरुद्धकल्पनायुक्ता अन्धपरम्परयाऽसुराणाम् ॥ २३॥ ३६॥

**न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधनादनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे ।**[1-1]
**अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्प पथैर्वितथमनो विलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥ ३७ ॥**[2][3][4]

**स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेत भगः ।**[5-5][6-]
**त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो महसि महीयसेऽऽष्टगुणितेऽपरिमेय भगः ॥ ३८ ॥**[6-][7]

**यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः ।**[8][9][10]
**असुतृपयोगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगवन्ननपगतान्तकादनधिरूढपदाद्भवतः ॥ ३९ ॥**[11][12-][12-][13]

❖ **त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयो र्गुणविगुणान्वयांस्तर्हि न देहभृतां च गिरः ।**
**अनुयुगमन्वहं सगुणगीतपरम्परया श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः ॥ ४० ॥**

**द्युपतय एव तेन ययुरन्तमनन्ततया त्वमपि यदन्तराऽण्डनिचयाननु सावरणाः ।**
**ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुत स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ॥ ४१ ॥**

---

1- -1 M. Ma निमित्तकम° 2. M. Ma °गी° 3. M. Ma °मिद° 4. M. Ma °न्ति बुधाः 5- -5 M. Ma उदगात्पुमाननुगीतमात्त° 6- -6 M. Ma त्वमुत जहासि जिहासताम् अहिरव त्वचं परभगां 7. M. Ma °णोऽप° 8. M. Ma °ञ्च 9. M. Ma °योऽपि 10. M. Ma °डा 11. M. Ma °नुतृत° 12- -12 M. Ma °मभयो 13. M. Ma व ❖ These verses appears in vija like this:-

तदवगमार्थं सितासितयोर्गुणविद्रुमयोर्न हि देहभृतां स गिरः। अनुययुरत्र हंसकुलगीतपरम्परया न तुषावरणा इव रजांसि वान्ति ॥ वयसा सह यच्छ्रुतयस्त्वयि सफलं पतन्ति बन्धनाः ॥

**श्रीध०** तदेवं प्रपञ्चस्य सत्त्वे साधकं नास्तीत्युक्तम्। इदानीमसत्त्वे सृष्टिप्रलयश्रुतयो 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्ति.उ. 3-1) इत्याद्याः तन्मूलं चानुमानं प्रमाणमित्याह - नेति। यद्यस्मादिदं विश्वमग्रे सृष्टेः पूर्वं न आस नासीत्। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छान्दो.उ.6-2-1) "आत्मा वा इदमेवाग्र आसीत्" (एत.उ. 1-1-1) इत्यादि श्रुतेः। "न च निधनात् प्रलयादनु अनन्तरं भविष्यत् भविष्यति"। नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् (यजु. अ.2-8-9) इत्यादि श्रुतेः। अतः कारणात् अन्तरा मध्येऽप्येकरसे केवले त्वयि मृषा मिथ्यारूपमेव विभातीति मितं निश्चितम्। यत एवं हि अतः श्रुत्या द्रविणजातिविकल्पपथैः द्रविणजातीनां द्रव्यमात्राणां मृल्लोहकार्ष्णायसरूपाणां विकल्पा भेदा घटकुण्डलादयः तेषां पन्थानो मार्गाः प्रकाराः तैरुपमीयते सदृशतया निरूप्यते। यथा तत्र कार्याकाराणां नामधेयमात्रता कारणं मृदाद्येव तु सत्यं, तथा अत्रापि आकाशादीनां नाममात्रता ब्रह्मैव सत्यम्[1]। तथा च श्रुतिः - 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं भवति' (छान्दो.उ.6-1-6) 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छान्दो. उ. 6-4-1) 'यथा नाम एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्' (छान्दो.उ.6-1-5) 'यथा एकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसम्' (छान्दो.उ.6-1-6) इत्यादि। तस्मादस्य सत्त्वे प्रमाणाभावादसत्त्वे प्रमाणस्य विद्यमानत्वात् वितथमनो विलासमृतं सत्यमिति ये अवयन्ति जानन्ति तेऽबुधाः। अज्ञा इत्यर्थः। अत्रैवं प्रयोगः - विवादाध्यासितं न सत्। आद्यान्तयोरविद्यमान त्वाद्विकारित्वाद्दृश्यत्वाच्च शुक्तिरजतादिवत् इत्यन्वये दृष्टान्तः - आत्मवच्चेति। व्यतिरेके दृष्टान्तः। मुकुटकुण्डलकङ्कणकिङ्किणीपरिणतं कनकं परमार्थतः। महदहङ्कृतिखप्रमुखं तथा नरहरेर्न परं[2] परमार्थतः ॥ २४ ॥ ३७ ॥

ननु यदि प्रपञ्चो नाम नास्त्येव तदाऽसता तेन न चैतन्यस्य सम्बन्धगन्धोऽपि तर्हि किमपराद्धं जीवेन यतोऽयं संसरति किं वा बहुपुण्यमीश्वरस्य यतो नित्यमुक्तः किंविषयं च तदा कर्मकाण्डमित्यपेक्षायां जीवेश्वरविशेषं 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (मुण्ड. उ. 3-1-1) इति। 'अजामेकां लोहिताशुक्लकृष्णाम्' (म. ना. उ. 8-4) इत्याद्या वदन्तीत्याह - स इति। स तु जीवो यद्यस्मादजया मायया अजा मविद्यां अनुशयीत आलिङ्गेत् ततो गुणांश्च देहेन्द्रियादीन् जुषन् सेवमानः आत्मतयाध्यस्यंस्तदनु तदनन्तरं सरूपतां तद्धर्मयोगं च जुषन् अपेतभगः पिहिताऽऽनन्दादिगुणस्सन् मृत्युं संसारं भजति प्राप्नोति। तद्विषयमेव च कर्मकाण्डमिति भावः। त्वमुत त्वं तु जहासि तामजां मायाम्। ननु स मय्येवास्ति, कथं त्यागस्तत्राह - अहिरिव त्वचमिति। अयं भावः - यथा भुजङ्गः स्वगतमपि कञ्चुकं गुणबुद्ध्या नाभिमन्यते तथा त्वमजाम् न तु निरन्तराह्लादि संवित्कामधेनुवृन्दपतेः अजया कृत्यमिति तामुपेक्षस इति। कुत एतत्तदाह - आत्तभगो नित्यप्राप्तैश्वर्यः। महसि परमैश्वर्येऽष्टगुणितेऽणिमाद्यष्टविभूतिमति महीयसे पूज्यसे विराजसे। कथम्भूतः? अपरिमेयभगोऽपरिमितैश्वर्यः। न ह्यन्येषामिव देशकालादिपरिच्छिन्नं तवाष्टगुणितैश्वर्यम् अपि तु परिपूर्णस्वरूपानुबन्धित्वादपरिमितमित्यर्थः। नृत्यन्ती तव वीक्षणाङ्गणगता कालस्वभावादिभिः भावान्

सत्त्वरजस्तमोगुणमयानुन्मीलयन्ती बहून्। मामाक्रम्य पदा शिरस्यतिभरं सम्मर्दयन्त्यातुरं माया ते शरणं गतोऽस्मि नृहरे त्वामेव तां वारय ॥ २५॥ ३८॥

एवं तावदुक्तसाधनकदम्बेन ये भगवन्तं भजन्ति ते मृत्युं तरन्ति इतरे संसरन्तीत्युक्तम्। इदानीं ये बहिस्सङ्गं परित्यज्य भगवन्मार्गे प्रवृत्ता अपि कथञ्चिदन्तर्वान्ताशिनः कामान्न मुञ्चन्ति न भगवन्तं प्राप्नुवन्ति न चेह सुखं लभन्ते केवलं कुयोनीरेव प्राप्नुवन्ति तान् शोचन् 'कामान् यः कामयते मन्यमानः सः कर्मभिर्जायते तत्र तत्र' (मुण्ड.उ.3-2-2) इत्यादि श्रुत्यर्थमाह - यदीति। हे भगवन्! ये यतयो हृदि स्थिताः कामजटाः कामस्य जटा मूलाज्ञानवासना यदि न समुद्धरन्ति नोत्पाटयन्ति तेषामसतां भवान् हृदि गतोऽपि दुरधिगमो दुष्प्रापः। कथम्? अस्मृतकण्ठमणिः विस्मृतो यः कण्ठमणिः तत्तुल्यः। स यथा कण्ठे वर्तमानोऽप्यस्मृतश्चेदप्राप्त इव भवति तद्वदिति। न केवलमेतावत् किन्त्वसुतृपयोगिनामिन्द्रियतर्पणपराणां योगच्छद्मनामुभयतोऽप्यसुखमिहामुत्र च दुःखमेव तदाह- अनपगतान्तकादनिवृत्तान्मृत्योः। लोकाराधनधन जनादि क्लेशाद्भोग वैभवप्राकट्यभयाच्च इह तावद्दुःखम् भवत ईश्वरादपि दुःखम्। कथम्भूतात्? अनधिरूढपदात् अनधिरूढं पदं स्वरूपं यस्य तस्मात्। त्वत्स्वरूपप्राप्त्यभावादविद्यावद्विषयत्वेन प्राप्तनिजधर्मातिक्रमनिबन्धन त्वद्दण्डरूपनरकप्राप्तेः अमुत्राप्यसुखमित्यर्थः। 'दम्भन्यासमिषेण वञ्चितजनं भोगैकचिन्तातुरं सम्मुह्यन्तमहर्निशं विरचितोद्योगक्लमैराकुलम्। आज्ञालङ्घिनमज्ञमज्ञजनतासम्माननादुर्मदं दीनानाथ! दयानिधान! परमानन्द! प्रभो! पाहि माम् ॥ २६॥ ३९॥

ननु यतेर्न किमपि कृत्यमस्ति प्रारब्धमपि सुखोपभोगेनापक्षीयते अतः किमिति वृथा शप्यते उभयतोऽप्यसुखमिति। श्रूयते च - 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' (बृह.उ.4-4-23) इत्यादि तत्राह - त्वदवगमीति। हे सगुण! षड्गुणैश्वर्ययुक्त! त्वदवगमी त्वज्ज्ञानवान् भवदुत्थशुभाशुभयोः भवतः कर्मफलदातुरीश्वरादधेतो रुत्थयोराविर्भूतयोः शुभाशुभयोः प्राचीनपुण्यापुण्य कर्मणोः फलभूतान् गुणविगुणान्वयान् सुखदुःखसम्बन्धान् न वेत्ति नानुसन्धत्ते तर्हि तदानीं च देहभृतां देहाभिमानिनां प्रवृत्तिनिवृत्तिकरीर्गिरो विधिनिषेधलक्षणा न वेत्ति। विगतदेहाभिमानतया कार्याकार्यबोधाभावान्न नियुज्यत इत्यर्थः। युक्तं चैतत्। यतः कारणान्मनुजैरन्वहं श्रवणभृतः अनुदिनं श्रवणेन चेतसि धृतस्त्वं तेषामपवर्गगतिः अपवर्गरूपा गतिः भवसि। कथम्? श्रवणभृतः अनुयुगं प्रतियुगं या गीतपरम्परा उपदेशसन्ततिस्तया, सत्सम्प्रदायानुसारेणेत्यर्थः। एतदुक्तं भवति - ये तावत् तत्त्वज्ञानिनो न तेषां कर्माधिकारशङ्कापि ये च अनवरतं त्वत्कथाश्रवणादि निष्ठाः तेषामप्यासन्नभवत्पदानां न विधिनिषेधबाधः। इतरेषां तु योगच्छद्मना इन्द्रियलालसानामुभयतोऽप्यसुखमिति। अवगमं तव मे दिश माधव स्फुरति यन्न सुखासुखसङ्गमः। श्रवणवर्णनभावमथापि वा न हि भवामि यथा विधिकिङ्करः ॥ २७॥ ४०॥

त्वदवगमी न वेत्ति सुखःखे न च विधिनिषेधावित्युक्तं तत्र ननु कथमवगन्तुं शक्यते दुरधिगमत्वस्योक्तत्वादित्येव

माशङ्क्य सत्यमेवमनवगाह्यमहिम्नो अवाङ्मनसागोचरत्वा दविषयत्वेनैव ज्ञानमिति दर्शयन् 'यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदर्वाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं भवच्च भविष्यच्च' (बृह.उ. 3-8-4) इत्यादि श्रुतिप्रतिपादितमपरिमितं महिमानमाह - **द्युपतय एवेति**। हे भगवन्! ते अन्तं द्युपतयः स्वर्गादिलोकपतयो ब्रह्मादयो न ययुः न प्रापुः। तत्कुतः? यदन्तवद्वस्तु तत्किमपि त्वं न भवसि। आस्तां तावत्[1] द्युपतयो न ययुरिति। यद्यस्मात् त्वमप्यात्मनोऽन्तं न यासि । कुतस्तर्हि सर्वज्ञता सर्वशक्तिता वाऽत आह - अनन्ततया अन्ताभावेन। न हि शशविषाणाज्ञानं सार्वज्ञ्यं तदप्राप्तिर्वा शक्तिवैभवं विहन्ति। अनन्तत्वमेवाह - यदन्तरेति । यस्य तवान्तरा मध्ये ननु अहो सावरणा उत्तरोत्तरं दशगुणसप्तावरणयुक्ता अण्डनिचया ब्रह्माण्डसमूहा वान्ति परिभ्रमन्ति। वयसा कालचक्रेण खे रजांसीव, इह एकदैव न तु पर्यायेण। हि यस्मात् एवमतः श्रुतयस्त्वयि फलन्ति तात्पर्यवृत्त्या पर्यवस्यन्ति। न तु साक्षाद्वदन्त्ययमेतावानिति। सगुणस्य गुणानन्त्यान्निर्गुणस्य चागोचरत्वात्। कथं तर्हि अपदार्थे तात्पर्यमिति। तत्र विधिमुखवाक्ये भवेदयं नियमः पदार्थस्यैव वाक्यार्थत्वमिति। निषेधमुखे तु नायं नियम इत्याह - अतन्निरसनेनेति। 'अन्यदेव तद्विदितादथो "अविदितादधि" (केन.उ.1-4) 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रा स्मात्कृताकृतात्' (कठ.उ.2-4) "अस्थूलमनणु" (बृह.उ.3-8-8) इत्यादिप्रकारेण लक्षणया च 'तत्त्वमसि' (छान्दो. उ. 6-7-8) इत्यादयः पर्यवस्यन्ति। न च वाच्यं निषेधैः शून्यमेव ज्ञाप्यत इति। यतो भवन्निधनाः भवति त्वयि निधनं समाप्तिर्यासां तास्तथा। न हि निरवधिनिषेधः सम्भवति अतोऽवधिभूते त्वयि फलन्तीत्यर्थः। द्युपतयो विदुरनन्तमनन्त ते न च भवान्न गिरः श्रुति मौलयः। त्वयि फलन्ति यतो नम इत्यतो जय जयेति भजे तव तत्पदम् ॥ २८॥ ४१॥

---

1. Ml.V. add इति निरूप्यते इत्यर्थः 2. Ml.V. पृथक् 3. B. J. Omit जटाः 4. B.J. मूलानि वा" 5. Ml.v. कर्मांति 6. B. J. सन्मदं 7. B. J. क्षय्यते 8. B. J. Omit तावत् 9- -9 B.J तु तानतदित्यतो

**वीर०** ननु 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् (छान्दो. उ. 6-1-4) इत्यादिमृदादिदृष्टान्तेषु मृदादिकारणानामेव 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादिभिः सत्यत्व प्रतीतेः विकाराणां नामधेयानां च वाचारम्भणमित्यनेन वागालम्बनं व्यवहारमात्रं न तु पारमार्थ्यमिति मिथ्यात्वप्रतिपादनाच्च दार्ष्टान्तिकेऽपि सन्मात्रस्य ब्रह्मणः पारमार्थ्यं, कार्यस्य तु मिथ्यात्वमकामेनाऽपि स्वीकार्यमित्याशङ्कायां मृत्पिण्डकार्यादि दृष्टान्तानां कार्यमिथ्यात्वपरत्ववर्णनमविदुषामेव रोचते, न विदुषामित्याहुः - **न यदिति**। अत्र विकल्पपथैरित्यन्तेन कार्यमिथ्यात्वपरत्ववर्णनानुवादः। वितथेत्यादिना तत्प्रतिक्षेप इति विभागः। तथाहि - यत् यस्मात् इदं विश्वम् अग्रे सृष्टेः पूर्वं नास नासीत्। 'सदेव सोम्येदमग्र' (छान्दो. उ. 6-2-1) 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐत.उ.1-1-1) इति श्रुतेरिति भावः। निधनात् प्रलयात् अनु अनन्तरं न भविष्यत् न भविष्यति। 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' (यजु.उ.2-

8-9) इत्यादिश्रुतेरिति भावः। अतः कारणादन्तरा मध्येऽपि एकरसे केवले त्वयि, मृषा मिथ्यारूपमेवेदं विभातीति मितं निश्चितं यत एवम् अतः श्रुत्या द्रविणजातिविकल्पपथैः द्रविणजातीनां द्रव्यमात्राणां मृल्लोहकार्ष्णायसरूपाणां विकल्पाः भेदाः घटकुण्डलादयः तेषां पन्थानः मार्गाः प्रकाराः तैरुपमीयते सदृशतया निरूप्यते यथा तत्र कार्याकाराणां नामधेयमात्रता कारणं मृदाद्येव सत्यम् । तथा अत्राप्याकाशादीनां नामधेयमात्रता। ब्रह्मैव सत्यमिति निरूप्यत इत्यर्थः। तथा च श्रुतिः - 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणंविकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं यथा सोम्यैकेन लोहमणिना विज्ञातेन सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्। यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसम्' (छान्दो. उ. 6-1-6) इत्यादि। अथैतद्दूषयन्ति - वितथेति। कुदृष्टीनां वितथमनोविलसितमेतत्कार्यमिथ्यात्वपरत्वर्वर्णन मित्यर्थः। प्रतिपन्नोपाधौ बाधादर्शनादिति भावः। तस्मात् कुदृष्ट्यभिमतं कार्यमिथ्यात्वम् ऋतं प्रामाणिकमिति अबुधाः - 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन' (छान्दो.उ.6-1-6) इत्यादिदृष्टान्तवाक्यार्थानभिज्ञाः अवयन्ति जानन्ति, न तदर्थाभिज्ञा इत्यर्थः। अयं भावः - अत्र हि न कार्यमिथ्यात्वं कारणसत्यत्वं च प्रतिपाद्यते। किन्तु कार्यकारणयोः अनन्यद्रव्यत्वं,तथाहि - 'स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातं स्यात्' (छान्दो. उ. 6-1-3) इति कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मैककारणत्वं कारणात्कार्यस्यानन्यत्वं च हृदिनिधाय कारणभूतब्रह्मज्ञानेन कार्यभूतस्य सर्वस्य विज्ञाने प्रतिज्ञाते सति कृत्स्नस्य सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टब्रह्मैककारणतामजानता शिष्येण - 'कथन्नु भगवस्स आदेशः' (छान्दो.उ. 6-1-3) इत्यन्यज्ञानेनान्यस्य ज्ञातत्वासम्भवं चोदितो ब्रह्मैककारणतामुपदेक्ष्यन् लौकिकप्रतीतिसिद्धं कारणात्कार्यस्यानन्यत्वं तावत् 'यथा सोम्यैकेन' (छान्दो. उ. 6-1-6) इत्यादिना दर्शयति। यथैकमृत्पिण्डारब्धानां घटशरावादीनां तस्मादनतिरिक्त द्रव्यतया तज्ज्ञानेन ज्ञाततेत्यर्थः। अत्र काणादवादे कारणात्कार्यस्य बुद्धिशब्दान्तरादिभिः द्रव्यान्तरत्वमाशङ्क्य लोकप्रतीत्यैव कारणात्कार्यस्यानन्यतोपपाद्यते - वाचेत्यादिना। आरभ्यते आलभ्यते स्पृश्यत इत्यारम्भणं, 'कृत्यल्युटः' (अष्टा.3-3-113) इति कर्मणि ल्युट्। वाचा वाक्पूर्वकेण व्यवहारेण हेतुनेत्यर्थः। हेतुत्वं च अत्राध्ययनेन वसतीतिवत्। घटेनोदकमाहरेत्यादिवाक्पूर्वको हि उदकाहरणादि व्यवहारः, तस्य व्यवहारस्य सिद्धये तेनैव मृद्द्रव्येण पृथुबुध्नोदरत्वादि लक्षणो विकारः संस्थानविशेषतत्प्रयुक्तं च घट इत्यादिनामधेयं स्पृश्यते। उदकाहरणादिव्यवहारविशेषसिद्ध्यर्थं मृद्द्रव्यमेव संस्थानान्तरनामधेयभाग्भवति। अतो घटाद्यपि मृत्तिकेत्येव सत्यं, मृत्तिकाद्रव्यमित्येव सत्यं, प्रमाणेनोपलभ्यत इत्यर्थः। न तु द्रव्यान्तरत्वेन। अतस्तस्यैव मृद्धिरण्यादेर्द्रव्यस्य संस्थानान्तरभाक्त्वमात्रेण बुद्धिशब्दान्तरादय उपपद्यन्ते। यथैकस्य देवदत्तस्यावस्थाभेदात् बालो युवा स्थविर इति बुद्धिशब्दान्तरादयः कार्यविशेषाश्च दृश्यन्ते, तद्वदिति। एवं चैकमेव चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म सृष्टेः प्राक् निधनानन्तरं च नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टत्वेनावतिष्ठते । अन्तरा तु तद्विभागार्हस्थूल चिद चिदात्मकप्रपञ्चाकारोणावतिष्ठत इत्यवस्थानामनित्यत्वेऽपि तदाश्रयस्य द्रव्यस्य उभयावस्थायोगनः

पारमार्थ्यमेवेति बुधा अवयन्तीति 'नासदासीन्नो सदासीत्' (यजु.अ. 2--8-9) इत्यस्य स्थूलावस्थमचिद्द्रव्यं चिद्द्रव्यं च प्रलयदशायां नासीत्। किन्तु तमः निरतिशयसूक्ष्मदशापन्नमचिद्द्रव्यं तमसा तमस्सदृशे नाचिद्द्रव्येण गूढं तिरोहितं प्रकेतं सूक्ष्मावस्थं चिद्द्रव्यं चासीदित्यर्थः। उक्थजडानबुधाः इत्यनेन जीवानामज्ञत्वसम्भावना सूचिता ॥ ३७ ॥

ननु भगवत इव तेषामपि नित्यत्वैकरसत्वप्रकृतिस्थत्वाद्यविशेषेऽपि कथं तेषां तत्सम्भावना तव सम्भावनया अप्यभाव इत्याशङ्कायां प्रकृतिवश्यत्वतदभावाभ्यामेवेत्याहुः - **स यदजयेति**। स जीवो यत् यस्मात् अजया त्वन्मायया' मोहित इति शेषः। अजां प्रकृतिपरिणामात्मिकां देवमनुष्यादिमूर्तिम् अनुशयीत आलिङ्गति बिभर्तीति यावत्। ततो गुणान् शब्दादिविषयान् जुषन् सेवमानः सरूपतां स्थूलत्वकृशत्वादिदेहधर्मतां भजति, देहात्माभिमानी भवतीत्यर्थः। तदनु तदनन्तरं मृत्युं मरणं भजति प्राप्नोति। इत्थं जन्ममरणादिरूपसंसृतिभाक्त्वात् अपेतः भगः ज्ञानैश्वर्यादिर्यस्य तथाभूतो भवति। त्वमुत त्वं तु सर्पस्त्वचं कञ्चुकमिव तामजां जहासि। नियमेन तत्परतन्त्रतया सम्बन्धरहितोऽसि। अहिदृष्टान्तः त्यागमात्राभिप्रायकः। अत एवात्तः नित्यं परिगृहीतः भगः येन तथाभूतः - 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसश्श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ' (विष्णु. पु. 5-74) इति भगशब्दार्थोऽवगन्तव्यः। तथापि किं जीव इव अहमपि परिच्छिन्नभगः, नेत्याहुः - अपरिमेयभगः अपरिच्छिन्नैश्वर्यादिमान् अष्टगुणिते अपहतपाप्मत्वादयोऽष्टौ गुणाः ते अस्य नित्यं सञ्जाता इत्यष्टगुणितं, तारकादित्वादितच्। तस्मिन् नित्याविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकयुक्ते महसि अपरिच्छिन्ने स्वयंप्रकाशस्वरूपे महीयसे महसि स्थित्वा पूज्यस इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

इत्थमपेतभगस्य पुनस्तत्प्राप्तौ किं निदानमित्यपेक्षायाम् अनन्यप्रयोजनं त्वदुपासनमेवेत्यभिप्रेत्य तावत् भगवत्प्रावण्ये सत्यपि कामहतानामनर्थमाहुः - **यदीति**। यतयः मुनयः मनःप्रणिधानशीला अपि यदि हृदि स्थिताः कामजटाः कामानां मूलानि वासना इति यावत्। न समुद्धरन्ति नोत्पाटयन्ति। तर्हि तेषामसतां हृदि गतः स्थितोऽपि त्वं दुरधिगमः दुर्ज्ञेयः अस्मृतकण्ठमणिः कण्ठे स्थितोऽप्यस्मर्यमाणो मणिरिव स यथा कण्ठे वर्तमानोऽप्यस्मृतश्चेदज्ञातप्राय एव हि भवति। किञ्च हे भगवन्! तेषामसुतृपयोगिनां प्राणेन्द्रियतर्पणपराणां योगिनामुभयतः इह परलोके च असुखं दुःखमेव। तदेवाहुः - अनपगतान्तकात् अनिवृत्तात् मृत्योः इह परलोके च असुखं दुःखमेव। भोगपौष्कल्येऽपि मरणभयं दुःखमस्त्येवेति भावः। परलोके तु अनधिरूढपदाद्भवतस्सकाशात् दःखम् अनधिरूढम् अप्राप्तम् पदं त्वत्स्थानं येन तस्मात् भावप्रधानो निर्देशः। अप्राप्तत्वत्पदत्वात् त्वत्पदाप्राप्तेरिति यावत्। भवतः निजधर्मातिलङ्घिनां शास्तुर्यमरूपात्त्वत्तो दुःखमित्यर्थः ॥ ३९ ॥

अथानन्यप्रयोजनानां भगवद्भक्तानां तु उभयतस्सुखमेवेत्याहुः - **त्वदवगमीति**। त्वामवगच्छतीति त्वदवगमी त्वद्याथात्म्यज्ञानवान् 'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च' (भ.गी.7-14) इत्युक्तिषु तुरीय इत्यर्थः। भवतीति भवः संसारः

तस्मिन्नुत्थयोरुपस्थितयोः फलजननाय समुत्थितयोः इत्यर्थः। तयोः शुभाशुभयोः पुण्यपापात्मकयोः कर्मणोः गुणविगुणान्वयान् फलभूतसुखदुःखसम्बन्धान् तर्हि तदानीं च देहभृतां गिरः स्तुतिनिन्दावाक्यान्यपि न वेत्ति नानुसन्धत्ते, कुतः? यतः त्वमपवर्गगतिः तस्य देहान्ते अपवर्गसाधनभूतः, अनेन परलोके सुखमुक्तम्। इह तु मनुजैस्तावकैस्सह अनुयुगं प्रतियुगम्। अनुवर्तिन्या सगुणगीतपरम्परया सगुणस्य अनन्तकल्याणगुणयुक्तस्य तव गीतपरम्परया कथामृतपरम्परया अन्वहं श्रवणभृतः श्रवणेन चेतसि धृतः यतस्त्वत्कथामृतपानमत्तः ततो न वेत्तीत्यर्थः ॥ ४० ॥

इत्थं यथामति संस्तुत्य अथ त्वन्माहात्म्यस्यापरिच्छिन्नत्वात् साकल्येन स्तोतुं न शक्नुम इति निगमयन्ति -**द्युपतय इति**। द्युपतयः स्वर्गादिलोकपतयः महेन्द्रब्रह्मादय एव ते तावन्तं स्वरूपस्वभावपारं न ययुः न जानीयुरित्यर्थः। किं पुनर्मनुजादय इति भावः। किं बहुना, त्वमपि न यासि,कुतः? अनन्ततया स्वरूपस्वभावयोः अपरिच्छिन्नतया, न चैतावता तव सर्वज्ञत्वभङ्गः, यथावस्थितवस्तुविषयकज्ञानस्यैव सर्वज्ञत्वावहत्वात् अपरिच्छिन्नस्य परिच्छिन्नत्वज्ञानस्याज्ञत्वावहत्वाच्चेति भावः। महिम्नोऽपरिच्छिन्नत्वमेव प्रतिपादयन्ति - यदन्तरेत्यादिना। यस्य तव अन्तरा मध्ये एकैकस्मिन् रोमकूपे सावरणाः सप्तभिरावरणैस्सहिताः अण्डानां ब्रह्मण्डानां निचयास्समूहाः वान्ति सञ्चरन्ति। यथा खे आकाशे रजांसि, वयसेति जात्यभिप्रायमेकवचनम्। पक्षिभिस्सह वान्ति तद्वत्। यत् यस्मादेवं हि ततः श्रुतयः, पारोक्ष्यनिर्देशः स्तुतेः अन्यगतत्वाभिप्रायकः, त्वयि अतन्निरसनेन तस्मादपारमहिम्नस्त्वत्तः अन्यत् प्रकृतिपुरुषादिवस्तु तन्निरसनेन तत्साजात्यप्रतिषेधेन तत्पूर्वकमित्यर्थः। भवन्निधनाः भवति निधनं निष्ठा पर्यवसानमिति यावत्, तद्यासां ताः शब्दवृत्त्या तात्पर्यवृत्त्या च प्रकृतिपुरुषसाजात्यनिरसनेन तद्विलक्षणं त्वां बोधयन्तीत्यर्थः। फलन्ति सफला भवन्ति कृतार्थानि भवन्तीत्यर्थः। समस्तचेतनाचेतनसाजात्यनिरसनेन तद्वैलक्षण्यमात्रं बोधयन्ति न तु साकल्येन, त्वत्स्वरूपस्वभावादिकं बोधयितुं शक्नुवन्तीति भावः ॥ ४१ ॥

---

1. B.T.W भयजं

**विज०** जीवस्येश्वरत्वे बाधकमाह - **नेति**। इदमीश्वरत्वमग्रे उत्पत्तेः पूर्वं जीवेषु गर्भस्थेषु नाऽऽस नास्ति न भविष्यत् यदि गर्भस्थ ईशो भवेत्तर्हि उत्तरत्रापि अभविष्यत्। न च तथेति। यस्मादतो निधनात् मरणादनन्तरमपि नरकादिगमनान्न विद्यत इत्यर्थः। ननु अस्येशोऽहमिति किन्निमित्ताप्रतीति रत्राह-अनिमित्तकमिति।अः विष्णुः निमित्तं यस्य तत्। अनिमित्तकं भगवन्निमित्तकमेव तस्य जन्ममरणयोरन्तरा मध्ये त्वयि जीवे मृषैवेशितृत्वं भाति न तु वस्तुतः त्वं जीव-कुतः? एकरसे प्रधानसारे न च वस्तुतः जीवः सर्वोत्तमसारः मृषैव तथा मन्यते। अतो भ्रान्तिरेव तथा ज्ञाने प्रयोजकेत्याह - अत इति। यतो जीवः सर्वसारो न भूयादतो द्रविणजातिविकल्पपथैः जीव उपगीयत इत्यन्वयः। भ्रन्त्या जीवो द्रविणवान् अभिजातिमानित्यादि

साक्षिविरुद्ध कल्पनामार्गैः कथ्यते, अज्ञैरिति शेषः। विद्वद्भिस्तु भवानेव द्रविणादिमानित्युच्यते। कुतः? यतस्तपोदमाद्या अभिजन्मकारणभूताः गुणाश्च भवत एव कथमेतदिति तत्राह - वितथेति। यतोऽभिजात्यादिगुणास्तव मुख्याः, अत इदं जीवस्येश्वरत्वं बुधाः तत्वज्ञानिनो वितथमनोविलासं मिथ्यामनोविकारमित्यवयन्ति जानन्ति। गुणा एव अभिजात्याख्या स्तद्वानेवाभिजातिमान्। 'अतोऽभिजात्यवान्विष्णुस्तदन्ये तूपचारतः' (शब्दनिर्णये) इति वचनात्। 'ये जगत्प्रवदन्त्यज्ञा जीवादन्येशवर्जितम्। तेषामपि तु तां वाचमीश एव ददात्यजः। न च तर्कैर्भवेदीशो जीवो वेदविरोधतः॥' (तन्त्रभागवते) इत्यादिस्मृत्यर्थत्वेन श्रुत्यन्तरमप्यूह्यम् ॥ २४ ॥ ३७ ॥

'स्मरन् ब्रह्मगुणान्नित्यं मुक्तौ ब्रह्मसरूपताम्। दुर्भगां प्रकृतिं त्यक्त्वा हत्वा चान्यां दुरन्वयाम्। याति तच्च परेशानात्स हि पूज्योऽथ पूजकः। तस्यैकस्य स्वतन्त्रत्वात् स चानन्तगुणो विभुः' (खातिलश्रुतिः) इति श्रुत्यर्थरूपस्य उदगात्पुमानित्यस्यायमर्थः। अनुशब्दो विकल्पार्थः। श्रुतिष्वनुगीतगुणान्। चशब्दात्तव कर्माणि च जुषन् तदनुगुणस्मरणमनु उदगात्संसारादिति शेषः। अस्मात्संसारान्मुक्तो भवतीत्यर्थः। तव सरूपतां च भजति। कश्चित्सायुज्यं कश्चित्सारूप्यं कश्चित्सालोक्यं च। यद्वा गुणस्मरणमनुगुणाननुकूलान् प्रातरादिकालविशेषान् जुषन् यश्चायं पुमान् परमेण त्वया आत्तभगां अपहृतप्रयत्नलक्षणशक्तिं प्रातिस्विकीं पूर्वोक्तां द्विविधां नीचां तां प्रकृतिं जहाति त्यजति। जिहाति हन्ति च। तदुभयमपि त्वमेव जहासि उत जिहसि च। उत त्यागवधयोः समुच्चयार्थः। 'जिहाति रावणं सङ्ख्ये राघवः परमास्त्रवित्' (स्कान्दे) इति च। 'स्वातन्त्र्यात् प्रकृतित्यागकर्ता नारायणः परः। यद्यप्येषा जीवसंस्था हन्ता च भगवान्प्रभुः' (गारुडे) इति च। किञ्च महसि असुरजनमोहनाय शिवादीन्पूजयसि। महीयसे च सुरजनेन पूज्यसे च अणिमाद्यष्टगुणः व्याप्तगुणो वा। 'अशू व्याप्तौ' इति धातुः। अपरिमेयभगः दुर्ज्ञेयपरमैश्वर्यादिगुणः ॥ २५ ॥ ३८॥

**यदि न समुच्चरन्तीत्य**स्यायमर्थः। यदि यतयोऽपि हृदिकामजडात् जडशरीराविष्टकामात् न समुच्चरन्ति सम्यक् नोद्गच्छन्ति नोत्थिता भवन्ति विषयकामाः स्युरित्यर्थः। तर्हि हृदि गतोऽपि तेषामसतामप्रशस्तकर्मणां पुंसां दुरधिगमो दुर्ज्ञेयः। अस्मृतकण्ठमणिरिति लुप्तोपमा। विस्मृतकण्ठमणिः पुरुषो यथा कण्ठस्थितं मणिं न जानाति तथेत्यर्थः। अनेन स यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवति। तत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते इति कामयमान इत्येतद्विवृतम्। हे भगवन्! अनुतृप्तयोगिनाम् अनुतृप्तानां विद्ययाऽलब्धबुद्धिं प्राप्तानां निष्कामानामित्यर्थः। निवृत्तमार्गस्थानां पुंसां भवतोऽधीनात् अनधिरूढपदात् अनारूढवैकुण्ठादिब्रह्मस्थानादज्ञानामनवगमात् अज्ञातादन्तकात् कालादिलक्षणादभयोऽभयप्रदः पूर्णानन्दादिलक्षणां मुक्तिं ददातीत्यर्थः। इन्द्रियाभिमानि देवानां वियोगाभावलक्षणां च अमुना च 'अथा कामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रमन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येति' इति श्रुतिव्याख्यानम्। अस्याः श्रुतेः विशेषार्थः। 'निषिद्धकामयुक्तानामसतां तु विशेषतः। दुर्ज्ञेयो भगवान्विष्णुर्हृदिस्थोऽस्मृतहारवत्' (ब्रह्मतर्के) इत्यादिवाक्यादेव अवगन्तव्यः। 'देवाश्च ऋषयश्चैव सुभक्त्या कामिनोऽपि तु' इत्यादिना कामित्वे यतित्वमप्रयोजकमित्युक्तम् ॥ २६॥ ३९॥

सकलश्रुतिस्मृतिभावसङ्ग्रहात्मनः तदवगमार्थं सितासितयोरित्यस्यायम्भावः। देहभृतां जीवानां सगिरः गिरा वाचा सहिताः श्रोत्रादयः गुणविगुणयोः तदवगमार्थसितासितयोः नानुययुर्हि इत्यन्वयः। द्वितीयार्थे षष्ठी। गुणरूपा श्रीः विगुणो निर्गुणो विष्णुः तौ पूर्वं प्रस्तुतो विष्णुः तच्छब्देन परामृश्यते। तस्य हरेरवगमो यस्यास्सा तदवगमा तया श्रियाऽर्थ्यते ज्ञायते सम्यगित्यर्थः। परमस्तेन सिता बद्धा सर्वदा तदधीनत्वेन वर्तते इति श्रीः। असितोऽबद्धो नित्यमुक्तो विष्णुस्तौ श्री श्रीधरौ नानुययुः आनुकूल्येन यथास्थितरूपगुणविषयत्वेन न प्रापुः तद्विषयीकरणोपायमाह - अत्रेति। अत्र जीवराशौ हंसकुलगीतपरम्परयेति। हंसनां ब्राह्मणानां कुलेन गीतस्य उपदिष्टस्य ज्ञानस्य परम्परया इन्द्रियाण्यानुययुश्च श्रुतयश्चानुययु रित्युपसंख्यानं कर्तव्यम्। अत्र रजांसीति रजश्शब्दोपादानात् रजोगुणप्रधाना मनुष्या उपलक्ष्यन्ते। तुषा आवरणं कवचं येषां ते तुषावरणाः तुषावरणाः तण्डुलपदार्थाः। रजांसीव यथा धूली(लीः)न न्न वान्ति न स्पृशन्तीत्यर्थः। तथा च श्रुतयः- वयसा महता कालेन सह रजोरूपान्मनुष्यान्न वान्ति प्राप्तफलान्न कुर्वन्तीति यदतो बध्नन्तीति बन्धनाः। विधिनिषेधरूपेण पुरुषं बध्नन्त्यः श्रुतयः सात्त्विकानामर्थे त्वयि सफलं पतन्ति । त्वद्गुणगणान्प्रकाश्य त्वदुपासकानां पुरुषार्थहेतवो भवन्ति, राजसानां बुद्धित्यामोहकत्वेन त्वयि न पतन्ति पुरुषार्थहेतवो न स्युरित्यर्थः। अनेन "जानाति प्रकृतिर्विष्णुं ज्ञेयो विष्णुश्च निर्गुणः। तावुभौ न विजानन्ति ऋते ब्रह्मपरम्पराम्" (महोपनिषत्) इति महोपनिषद्विवृता। "अन्ये सर्वे श्रियाबद्धाः श्रीर्बद्धा विष्णुनैव तु। बन्धश्च विष्णुतन्त्रत्वं मुक्तानां च श्रियस्तथा" (गारुडे) इत्यादि गरुडपुराणार्थोऽपि सङ्गृहीतः ॥ २७॥ ४०॥ ४१ ॥

**श्रीभगवानुवाच**

**इत्येतद्ब्रह्मणःपुत्रा आश्रुत्यात्मानुशासनम् ।**
**सनन्दनमथानर्चुस्सिद्धा ज्ञात्वाऽऽत्मनो गतिम् ॥ ४२ ॥**

**इत्यशेष समाम्नाय पुराणोपनिषद्रसः ।**
**समुद्धृतः पूर्वजातैर्व्यामयानैर्महात्मभिः ॥ ४३ ॥**

**त्वं चैतद्ब्रह्मदायादश्रद्धयाऽऽत्मानुशासनम् ।**
**धारयंश्चरगां कामं कामानां भर्जनं नृणाम् ॥ ४४ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**एवं स गुरुणाऽऽदिष्टं गुहीत्वा श्रद्धयाऽऽत्मवान् ।**
**पूर्णश्श्रुतधरो राजन्नाह वीरव्रतो गुरुम् ॥ ४५ ॥**

1. B. G. J. Ml.T.V.W. °जैस्तै° 2- -2 M. Ma मायन महा° 3. M.Ma °यन्भज 4. M. Ma Ml.V निधनं 5- -5 M. Ma Omit 6- -6 Ml. T.V.W स्वगुरुणा ; B. G. J स ऋषिणा 7. M. Ma °ष्टो 8. M. Ma °स्सद्यस्ततो 9. M. Ma °न्प्राह 10. B. G. J मुनिः ॥

**श्रीध० इतीति**। इत्यशेषसमाम्नायपुराणोपनिषद्रस इति, सर्वश्रुतिपुराणरहस्यतात्पर्यमित्यर्थः ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

**त्वमिति**। ब्रह्मदायादेति ब्रह्मैव दायमिव अयत्नप्राप्यमत्ति सेवत इति तथा। ब्रह्मपुत्रेति वा ॥ ४४ ॥

**एवमिति**। पूर्णः कृतकृत्यः। श्रुतधरः श्रुतमर्थं मनसि धारयन् वीरव्रतो नैष्ठिकः ॥ ४५ ॥

**वीर०** इत्थं श्रुतिगीतसंवेदेन सनन्दनोक्तमुत्तरमवधार्य तं बहुमेनिरे इत्याह भगवन्नारायणः - **इत्येवमिति**। इति श्रुत्युक्तप्रकारेण एवं सनन्दनोक्तमात्मानुशासनम्, आत्मा अनुशिष्यते येन तदात्मानुशासनम् उत्तरमाश्रुत्य ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्य पुत्राः मरीच्यादयः सिद्धाः, आत्मनः परमात्मनो गतिं प्रकारं याथात्म्यं ज्ञात्वा निश्चित्य अथ सनन्दनमानर्चुः ॥ ४२ ॥

**इतीति**। सर्वश्रुतिपुराणोपनिषत् तात्पर्यमेवं समुद्धृतमिति प्रकृतवेदस्तुतिप्रशंसा ॥ ४३ ॥

**त्वमिति**। हे ब्रह्मदायाद! ब्रह्मपुत्र! दायभोक्तृत्वात्पुत्रस्य तस्मिन्दायादशब्द उपचर्यते। एतदात्मानुशासनं नृणां ये कामास्तेषां भर्जनं दाहकं श्रुतिस्तवनं धारयन् कामं यथेष्टं गां भूमिं तदुपलक्षितान् लोकान् चर पर्यट ॥ ४४ ॥

कथमेतत्त्वया विदितमित्यपेक्षायां तद्वक्तुं प्रस्तौति मुनिश्चतुर्भिः - **एवमिति**। गुरुणा बदर्याश्रमवासिना श्रीनारायणेन आदिष्टम् उपदिष्टं श्रद्धया गृहीत्वा तस्मिन्नेवाहितमनाः[1] पूर्णः निवृत्तसंशयत्वात्पूर्णमनाः श्रुतं यथाश्रुतं धरतीति तथाभूतः वीराणां जितेन्द्रियाणां व्रतं यस्य सः नैष्ठिको नारदः हे राजन्! गुरुं श्रीनारयणं प्राह ॥ ४५ ॥

1. B.T.W °न्नविहित°

**विज०** इतिशब्दः आदिवचनः। एवमादि श्रुत्या गीतमात्मानुशासनं ब्रह्मज्ञानमाश्रुत्य श्रुत्वा हृदि कृत्वा आत्मनः परमात्मनः गतिं स्वरूपस्थितिं ज्ञात्वा ॥ ४२ ॥

व्योमयनमहात्मभिः ब्रह्माश्रयेषु उत्तमैः तैः पूर्वजैः सनकादिभिः अशेषाणां समीचीनानाम् आम्नायानां पुराणानामुपनिषदां च रसः सार इति समद्धृतः ॥ ४३ ॥

ब्रह्मदायाद! ब्रह्मपुत्र! नारद! काम्यानां निधनं नाशकरं, यद्वा कामानामभीष्टानां फलानां निधनं कुलं गृहं वा। 'निधनोऽस्त्री कुले नाशे निखिशे क्रूरखड्गयोः' (वैज.को.7-5-51) इति यादवः ॥ ४४ ॥

पूर्णः स्वतस्तृप्तः ॥ ४५

श्रीनारद उवाच

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलकीर्तये ।
यो धत्ते सर्वभूतानामभवायोशतीः कलाः ॥ ४६ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्याद्यमृषिमामन्त्र्य तच्छिष्यांश्च महात्मनः ।
ततोऽगादाश्रमं साक्षात्पितुर्द्वैपायनस्य मे ॥ ४७ ॥

सभाजितो भगवता कृतासनपरिग्रहः ।
तस्मै तद्वर्णयामास नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥ ४८ ॥

तथैतद्वर्णितं राजन्यन्नः प्रश्नः कृतस्त्वया ।
यथा ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणेऽपि मनश्चरेत् ॥ ४९ ॥

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो
यस्सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरश्शास्ति ताः ।
यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम् ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
उत्तरार्धे सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

1. M. Ma मू° 2. M. Ma धाता 3- -3 M. Ma °मभयो यस्य ते ; Ml.V. °मभयायसतीः ; T.W °मभयायोशतीः 4- -4 B. G. J. M. Ma Omit 5. B. G.J °मानम्य 6- -6 K. Ml.T.V.W °श्यामलात्मनः ; M. Ma °श्यामलात्मकान् 7. K °श्रु 8. B- G. J इत्येत° ; K.T.W तदेत° 9. M. Ma °श्च 10. M. Ma येन 11- -11 M. Ma यो ह्यात्मा जगदादि 12. M. Ma °नो 13. M. Ma ष्ट 14- -14 पुनस्संहिताम् 15. M. Ma तथा

**श्रीध० नम** इति। श्रीकृष्णावतारतया नारयणं नमस्यति। उक्तं हि - 'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्' (भग.1-3-28) इति ॥ ४६ ॥

**इतीति**। साक्षात्पितुरिति। योनिव्यवधानं विना जनकस्य अग्रिमन्थनावसरे कथञ्चिदरणौ रेतः पतितं ममन्थ व्यासस्तदैव तत उत्पन्नः शुक इति हि वदन्ति ॥ ४७ - ४९ ॥

समस्तवेदस्तुत्यर्थं सङ्गृह्यानुस्मारयति - य इति। योऽस्य विश्वस्योत्प्रेक्षकः। एवमनुशायिनां समस्तपुरुषार्थसिद्धये सृष्टिस्थितिप्र[1]लयादि प्रापणीयमित्यालोचक इत्यर्थः। अनेन निमित्तत्वमुक्तम्। एवमालोच्यास्यादिमध्यनिधने आदिर्जन्म [2]मध्यः पालनं निधनमन्तः एतेषु कर्मसु यो वर्तते। अनेनोपादानत्वमुक्तम्। ननु प्रकृतिपुरुषयोरुपादाननिमित्तत्वे प्रसिद्धे, सत्यम्। तयोरपि तत एवोद्भूतत्वान्मूलकारणं स एवेत्याह - योऽव्यक्तजीवेश्वर इति। प्रवेशनियमने दर्शयति - य इति। पूर्वोक्तप्रकारणेदं सृष्ट्वा यदर्थमेतत्सृष्टं तेन ऋषिणा सृष्टे कार्योऽहमिति दर्शनात् ऋषिः जीवः तेन सहानुप्रविष्टः पुरः शरीराणि तस्य भोगायतनानि चक्रे ताः पुरः शास्ति तस्य भोग्यं ददत्परिपालयति। उपासकस्य च कैवल्यरूपो भवतीत्याह - यं सम्पद्येति। यं सम्पद्य प्राप्यानुशयी अन्वनु दण्डवत्प्रणामैः चरणमूले शेते इति तथा स जीवोऽजां कार्यकारणरूपामविद्यां त्यजति। ननु ब्रह्मसम्पन्नस्यापि जीवस्य तत्सम्बन्धो दृश्यतेऽत आह - सुप्तः कुलायं यथेति। अयं भावः - यथा सुप्तं शरीवन्तमन्ये पश्यन्ति स तु नात्मानं तथा पश्यति एवं जीवन्मुक्तमप्यन्ये देहवन्तं पश्यन्ति स तु न किञ्चत्पश्यतीति तं हरिम् अजस्रमनवरतं ध्यायेत्। किमित्यत आह - अभयं न भयं यस्मात् भयनिवर्तकमित्यर्थः। कुत एतत् ? कैवल्यनिरस्तयोनिं कैवल्येनाप्रच्युतस्वरूपावस्थानेन निरस्ता तिरस्कृता योनिर्मूलकारणं माया येन तम्। "सर्वश्रुतिशिरोरत्ननीराजितपदाम्बुजम्। भोगयोगप्रदं वन्दे माधवं कर्मिनम्रयोः"। ईक्षन्तामिच्छया सन्तः क्षमन्तां मम साहसम्। मया हि स्वीयबोधाय कृतमेतन्न सर्वतः ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

---

1- -1 Ml.V °लयाः प्रापणीयाः 2. Ml.V मध्यं * This verse in not found in B.J. edns.

**वीर०** उक्तिमेवाह - **नम** इति । कृष्णाय सर्वलोकसुखकराय तदुपयुक्ता अमला अकर्मवश्या मूर्तिर्यस्य तस्मै तुभ्यं नमः। केन कारणेन कृष्ण इत्यतस्तं विशिनष्टि - य इति। यो भगवान् सर्वभूतानामभवाय अपवर्गाय उशतीः कमनीयाः निर्मला इति यावत्। कलाः विद्याः धत्ते अपेक्षित विद्योपदेशेन सुखकर इति भावः ॥ ४६ ॥

इतीत्थमाद्यमृषिं नारायणम् अमलम् अन्तः करणं येषां तान् तस्य शिष्यांश्चामन्त्र्य प्रणामपूर्वकमापृच्छ्य साक्षात्स्वयं द्वैपायनस्याश्रमम् अगाज्जगाम ॥ ४७ ॥

**सभाजित** इति। ततो भगवता द्वैपायनेन सभाजितः पूजितः कृतः आसनस्य परिग्रहो येन सः तस्मै द्वैपायनाय नारायणस्य मुखाच्च्युतं निर्गतं श्रुतिस्मृत्यात्मकं वचो वर्णयामास उपदिदेशेत्यर्थः। स तु मह्यमुपदिष्टवानिति तु प्रसिद्धत्वात् नोक्तम् ॥ ४८ ॥

एवं च त्वत्प्रश्नस्योत्तरमागतमित्याह - **तदेतदिति** । हे राजन्! नः अस्मान् प्रति यः प्रश्नस्त्वया कृतः तत् तत्र प्रश्ने एतच्छ्रुतवचः वर्णितम् उत्तरत्वेन कथितमित्यर्थः। येनोपवर्णितेन अनिर्देश्ये निर्गुणेऽपि ब्रह्मणि श्रुतयश्चरेयुरिति मनश्चरेत् प्रसरेत् निस्संशयं मनो भवेदित्यर्थः ॥ ४९ ॥

'अशेषसमाम्नयपुराणोपनिषद्रसः' इत्युक्तम्। कोऽसौ समाम्नायादीनां रसः, यः श्रुतिगीत्या समुद्धृत इत्यपेक्षायामाह- "आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः। इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणस्सदा" (भारत.13 App.13-20 pr) इत्युक्तरीत्या जगदुदयविभवलयलीलः सर्वान्तरात्मा बन्धमोक्षदो भगवानुपास्य इत्येष एवेति वक्तुं स्रष्टृत्वाद्युपयुक्तैर्गुणैर्भगवन्तं विशिंषन् तद्ध्यानं विधत्ते - **योऽस्येति**। अस्य जगतः आदिमध्यनिधने सृष्टिस्थितिलये निमित्ते उत्प्रेक्षकः 'तदैक्षत बहुस्याम्' (छान्दो.उ.6-2-3) इत्युक्तविधेक्षिता, यच्छब्दानां कैवल्यनिरस्तयोनिमित्यनेन सम्बन्धः। यश्च अव्यक्तजीवयोः प्रकृतिपुरुषयोः कारणावस्थयोः ईश्वरः अन्तःप्रविश्य नियन्ता। अनेन कारणावस्थायां सूक्ष्मचिदचिद्वैशिष्ट्यं तस्योपादानत्वं तदुपयुक्तं सर्वशक्तित्वं च फलितम्। उत्प्रेक्षक इत्यनेन निमित्तत्वं तदुपयुक्तं सार्वज्ञ्यं च। यश्च इदं महदादिपृथिव्यन्तसमष्टि तत्त्वजातं सृष्ट्वा ऋषिणा चतुर्मुखाख्यजीवेनानुप्रविश्य जीवद्वाराऽनुप्रविश्येत्यर्थः। पुरः शरीराणि चक्रे निर्ममे। ततः ताः पुरः शास्ति नियमयति पूर् शब्दोऽत्र सजीवदेवादिशरीरपरः, ऋषिणा चक्रे पुरस्संहिता इति पाठान्तरम्। तदा पुरः प्रथमम् ऋषिणा चतुर्मुखेन संहिताः वेदसंहिताः चक्रे प्रावर्तयदित्यर्थः। अनेन हितकृत्त्वमुक्तम्। शास्त्रप्रवर्तनं हि हितार्थम्। अनुशयो भुक्तावशिष्टं कर्म, सोऽस्यास्तीत्यनुशयी कर्मवश्यो जीवः, यं सम्पद्य अजां जहाति प्रकृति सम्बन्धं[1] त्यजति[2] आविर्भूतगुणाष्टको भवति मुक्तो भवतीति यावत्। तथा च श्रूयते "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" (छान्दो.उ.8-12-2) इति। तत्र दृष्टान्तः - सुप्तः कुलायं यथेति। यथा शकुनिः नीडे कञ्चित्कालं सुप्तः तद्विहायोड्डीयते तद्वदजायां स्थितः अनुशयो जीवः यं सम्पद्य तां जहातीत्यर्थः। कैवल्यनिरस्तयोनिं संसारिणां मोक्षप्रदानेन निरस्ता योनिः प्रभवदुःखं येन तं, न विद्यते भयं यस्मात्तं हरिम् आश्रितार्तिहरम् अजस्रं नित्यं ध्यायेत् ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

1. T.W.Omit सम्बन्धं 2. T.W जहाति

**विज०** सर्वभूतानां धाता धृतिपोषणयोः कर्ता यः सर्वभूतानाम् इति प्रस्तुताः ते जीवाः यस्य तव कलाः प्रतिबिम्बांशाः ॥ ४६ ॥

ऋषिरूपत्वादृषिः ॥ ४७ ॥

अत्र नारदेन व्यासाय कथाकथनं स्तुत्यर्थं न तु ज्ञापनाय। "कथाः कथयती शस्य व्यासस्यान्ते स नारदः। स्तुत्यर्थं तस्य देवस्य ज्ञापनाय न तु क्वचित्" (ब्राह्मे) इत्यादि ॥ ४८ ॥

त्वया यः प्रश्नः कृतः तत्प्रश्नवचनमुद्दिश्यैतत्परिहारवचनं वर्णितम्। येन वर्णितप्रकारेणानिर्देश्ये निर्गुणे ब्रह्मणि मनश्चरेत् तथेति ॥ ४९ ॥

उपासनार्थं स्वलक्षणैर्लक्षयति - **यो हीति**। आत्मा जगदादिमध्यनिधनानि उत्पत्तिस्थितिसंहाराः यस्मात् स तथा, यश्च अव्यक्तजीवयोः प्रकृतिचेतनयोरीश्वरः। यश्चेदं सृष्ट्वाऽनुप्रविष्टः यश्च ऋषिणा ऋषिरूपेण पुराणसंहितां चक्रे। अनुशयी जीवः। यं पुनः सम्पद्य प्राप्य अजां बन्धकशक्तिं जहाति। सुप्तः कुलायं शरीरादावभिमानं च यथा त्यजति तं कैवल्यनिरस्तयोनिं समाधिकभावेन निराकृतकारणं तं हरिम् अजस्रं निरन्तरं ध्यायेदित्यन्वयः ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

# अष्टाशीतितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या द्विनवतितमोध्यायः)

**राजोवाच**

**देवासुर मनुष्येषु ये भजन्त्यशिवं शिवम् ।**
**प्रायस्ते धनिनो भोजा[1] न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम् ॥ १ ॥**

**एतद्वेदितुमिच्छामस्सन्देहोत्र महान्हि नः ।**
**विरुद्धशीलयोः प्रभ्वोः विरुद्धा भजतां गतिः ॥ २ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**शिवशक्तियुतः शश्वत्त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः ।**
**वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ॥ ३ ॥**

**ततो विकारा अभवन् षोडशामीषु कञ्चन[2] ।**
**उपधावन् विभूतीनां सर्वासामश्नुते गतिम् ॥ ४ ॥**

**हरिर्हि[3] निर्गुणस्साक्षात् पुरुषः[4] प्रकृतेः परः ।**
**ससर्वदृक् उपद्रष्टा तं भजन् निर्गुणो भवेत् ॥ ५ ॥**

---

1. M. Ma. Ml.V. ब्रह्मन् 2. M.Ma पञ्चसु 3. M. Ma °स्तु 4. K.T.W. भगवान्

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

अष्टाशीतितमे विष्णुभक्तः कैवल्यमश्नुते। ततोऽर्वाग्देव भक्तस्तु विभूतिमिति वर्ण्यते ॥

हरिर्भजतां मुक्तिद इत्युक्तं 'अभयं ध्यायेदजस्रं हरिम्' (भाग.10-87-50) इति। तत्र शङ्कते - **देवासुरेति**। अशिवं अवधीरित भोगं त्यक्तविषयं[1-] धनिनः[2-1] भोजाः[3] भोगिनः लक्ष्म्याः पतिं सर्वभोगयुक्तम् ॥ १,२ ॥

**शिव इति**। अन्योन्योपमर्देन तमसः त्रैविध्यात् त्रिलिङ्गः त्रिलिङ्गत्वमेवाह वैकारिक इति। अहं अहङ्कारः॥ ३ ॥

**तत** इति। विकाराः मन इन्द्रियभूतरूपाः षोडशेति इन्द्रियदेवानामभेदविवक्षया कञ्चनेति। यत्किञ्चित् विकारोपाधिकं भजन् उपाध्यनुरूपाणां विभूतीनां गतिं[2] स्वरूपं प्राप्नोति ॥ ४ ॥

**हरिरिति**। उपद्रष्टा साक्षी सन् यतः सर्वदृक् सर्वं पश्यति अतः प्रकृतेः पर इति अत्रेदं तत्त्वं 'वस्तुनो गुणसम्बन्धे रूपद्वयमिहेष्यते। तद्धर्माऽयोगयोगाभ्यां बिम्बवत् प्रतिबिम्बवत्। गुणास्सत्त्वादयश्शान्त घोरमूढास्स्वभावतः। ब्रह्मविष्णु शिवानां च गुणयन्तृस्वरूपिणाम्। नातिभेदो भवेद्भेदो गुणधर्मैरिहांशतः। सत्त्वस्य शान्त्या नो जातु विष्णोर्विक्षेपमूढते। रजस्तमो गुणाभ्यां तु भवेतां ब्रह्मरुद्रयोः। गुणोपमर्दनाद्भूय (मर्दतो भूय) स्तदंशानां च भिन्नता। अतस्समग्र सत्त्वस्य विष्णोः मोक्षकरी तनुः (मतिः)। अंशतो भूतिहेतुश्च तथाऽऽनन्दमयी स्वतः। अंशतः तारतम्येव (न) ब्रह्मरुद्रादिसेविनाम्। विभूतयो भवन्त्येव शनैर्मोक्षोऽप्यनंशतः। इदमेवाभिप्रेत्य तत्र तत्रोच्यते 'श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः"(  ) इति। तथा 'सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिः" (  ) इति। तथा "सत्त्वं तत् तीर्थसाधनम्" (  ) इति। तथा "त्रयाणां एकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्" (  ) इति। तथा "न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते" (  ) इत्यादि। एवञ्च सति न किञ्चिदसमञ्जसं तत्तद्भक्तानां तु कलहो मोहमात्रमिति ॥ ५ ॥

---

1--1 B. J. Omit 2. B. J. Omit धनिनः 3. Ml.v. Omit भोजाः ; J. भोगाः 4. B.J.Omit गतिं

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रिका

'यं सम्पद्य जहात्यजां तं कैवल्य निरस्त योनिम्' (  ) इति जगत्कारणत्वादिवत् मोक्षदत्वमपि हरेरेवासाधारणो धर्म इत्युक्तम्। अनेन रुद्रादीनां न मोक्षदत्वं किन्त्वर्थकामादि प्रदत्वमिति सूचितम्। तत्र सन्दिहानः पृच्छति राजा - **देवासुरमनुष्येष्विति**। देवादीनां मध्ये ये जनाः अशिवं अमङ्गलरूपमपि शिवं भजन्ति, ते प्रायशः प्रायेण धनिनः आढ्या भवन्ति। भोजा इति पाठे भोगिनो भवन्तीत्यर्थः। हे ब्रह्मन्! लक्ष्म्याः पतिं तु ये भजन्ति ते न तु नाढ्याः। लक्ष्म्याः पतिमित्यनेन विपरीतमिदमित्यभिप्रेतं लक्ष्मीपतिभक्तैरेव आढ्यैर्भवितव्यमित्यभिप्रायः ॥ १ ॥

**एतदिति**। एतद्वैपरीत्यनिदानं वेदितु मिच्छामः अत्र वैपरीत्ये नोऽस्माकं महान् सन्देहो वर्तते। विरुद्धं शीलं स्वभावः ययो स्तयोः प्रभ्वोः हरिहरयोः कर्मणि षष्ठी तौ भजतां गतिः फलं विरुद्धा विसदृशीत्यर्थः। एकस्वभावौ भजतां कथं विसदृशं फलमिति शङ्कार्थः ॥ २ ॥

एकस्वभावतैव नास्ति तत्कुतः फलमेकरूपं स्यादिति परिहरति - **शिव** इत्यादिभिः त्रिभिः। शिवः शक्त्या उमया युक्तः

शश्वत् सदा त्रिलिङ्गः वक्ष्यमाणाधिष्ठेयत्रैविध्यात्त्रिलिङ्गात्त्रिविधाहङ्कारप्रचुरमूर्तिः गुणेन तमोगुणेन संवृतः तमः स्वभाव इत्यर्थः। अधिष्ठेयस्य त्रैविध्यमेवाह - **वैकारिक** इति। अहमहङ्कारः वैकारिकादि भेदेन त्रिधा ॥३॥

ततस्त्रिविधाहङ्कारात् षोडश विकाराः एकादशेन्द्रियाणि पञ्चभूतानि सतन्मात्राणीति षोडश विकारा जाता इत्यर्थः। तत्र तामसादहङ्कारात् सतन्मात्राणि पञ्चमहाभूतानि, वैकारिकात्तु एकादशेन्द्रियाणि राजसाहङ्कारस्तूभयोरनुग्राहक इति विवेकः। त्रिविधोप्यहङ्कारो रुद्राधिष्ठेय इत्यर्थः। "अहङ्कारोऽध्यात्मं अहङ्कृतंव्यमधिभूतं रुद्रस्तत्राधिदैवतम्" (  ) इति हि श्रुतिः। अस्त्वेवं, ततः किमत आह - अमीष्विति। अमीषु अहङ्कारतद्विकाराधिदैवेषु रुद्राधिगमाभिमानिवातार्कप्रचेतो अश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्र मित्रप्रजापत्यादिषु मध्ये कञ्चनान्यतमर्मधिदैवतं उपधावन् भजन् पुरुषः सर्वासां विभूतीनां ऐश्वर्याणां गतिं प्रकारमश्नुते नानाविधानि तत्तदधिदैवतेन दातुं शक्यान्यैश्वर्याणि प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

**हरिर्हीति**। निर्गुणः सत्त्वादि प्राकृतगुणवश्यतारहितः साक्षाद्भगवान् समग्र ज्ञानैश्वर्यादि षाड्गुण्यपूर्णः प्रकृतेः "भूमिरापोऽनलो वायुः" (भ.गी.7-4) 'अपरेयमितस्त्वन्या' (भ.गी.7-5) इति श्लोकद्वयोक्तोभयविधायाः प्रकृतेः विलक्षणः सर्वदृक् सर्वज्ञः अत एव उपद्रष्टा गुणदोषानुमन्ता रुद्रादयस्तु उक्त विपरितस्वभावा इति भावः। हि यस्मादेवं तस्मात्तं भजन्निर्गुणो भवेत् प्राकृतगुणसम्बन्धरहितो मुक्तो भवेदित्यर्थः। अयं भावः - ब्रह्मरुद्रादीनां रजस्तमः प्रचुरस्वभावत्वात् गुणवश्यत्वादषाड्गुण्यपूर्णत्वात् जीवत्वात् असर्वज्ञत्वाच्च न मोक्षप्रदाने सामर्थ्यं, किन्तु स्वशक्त्यानुसारेणार्थकामादि प्रदान एव। भगवतस्तु यद्यपि चतुर्विधपुरुषार्थप्रदत्व शक्तिरस्त्येव, तथापि स भगवान् सर्वज्ञः परमकारुणिको यद्यहं स्वभक्ताय त्रैवर्गिकफलं प्रयच्छेयं तर्ह्ययं तदन्ते पुनःपुनर्याचमानो मां नित्यदरिद्र एवावतिष्ठते। अतस्तमनुगृह्णामीत्यालोच्य प्रायशः स्वभक्तेभ्यो मुक्तिमेव प्रयच्छतीति कस्मैचिन्निर्बन्धात्त्रैवर्गिकमपि प्रयच्छतीति ॥ ५ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

शिवं भजन् तामसाद्यान्यतमं विष्णुं निषेवमाणः सात्त्विक एव शिवस्याप्यन्यापरिहार्यापत्ति समुच्छित्तिकरो नारायणः किमुतेतरेषां इत्यर्थसारं वृकासुर आख्यायिकया आख्यापयति तत्र राजा आख्यायिकामुत्थापयितुं पृच्छति **देवासुरेति**। दिगम्बरत्वेन लोकदृष्ट्या अशिवमशुद्धवत् प्रतीयमानं निर्धनं वा 'शिवो लोके पद्मरागे हरे कीले शिवे जले' (  ) इत्यतः पद्मराग राहित्येन निर्धनत्वं लक्ष्यते अशिवमकीलं अनर्गलं सर्ववरप्रदमित्यर्थः। लक्ष्मीपतिमित्यनेन धनित्वमुपलक्षयति तथापि तद्भक्ता धनिनो न भवन्ति ॥ १ ॥

एतद्धनित्वाऽधनित्व सन्देहे तन्निरासप्रयत्नो घटते तदभावे व्यर्थ इत्यत्राह सन्देह इति। न च अयं औपचारिक इत्याह महानिति। सन्देह बीजान्तरमाह विरुद्धेति। श्मशाने पिशाचगणैः परिवृतत्वेन अटनशीलं रुद्रस्य, इन्द्रादि देवैः

परीतत्वेनावस्थानं हरेः असुरादीनामपि वरदानेच्छावत्वेन गतित्वमाश्रयत्वं ईशानस्य, देवादीनां समृद्धि चिकीर्षुत्वेन हरेः तथा चात्र प्रभ्वोः समर्थयोर्विषये महानस्माकं सन्देहोस्ति हि यस्मात् तन्निरसनप्रयासः सार्थक इत्यर्थः ॥ २ ॥

जीवानां त्रैविध्यं केनाप्यनभिभूतं प्रमितं देवासुरमनुष्येषु इत्यनेन सूचितम्। तत्र शिवः स्वल्प सम्पृक्त सत्त्वेन बहुलेन तमसा रजसा स्पृष्टत्वेन तदनुसृतस्वभावत्वेन हरिनियत प्रकृति बद्धत्वेन तत्तत्प्राणिस्वभाव सेवानुगुण फलदान क्लृप्तत्वेनावश इव तादृशं फलं वितरति हरिस्तु स्वाधीन सत्त्वादिगुणत्वेन तत् प्रवर्तकत्वेन तच्छक्त्यनुपहत शक्तित्वेन प्रकृति परत्वेन तन्निर्मित शरीररहितत्वेन तत्स्वभावाभावेन कूटस्थत्वेन नित्य निर्दोषज्ञानानन्द तनुत्वेन स्व सेवकेभ्यः स्वानुगुणं फलं प्रयच्छतीति भावेन परिहरति शिव इत्यादिना। शक्तियुतः प्रकृतिसम्बद्धः अत एव शश्वत् त्रीणि लिङ्गानि वैकारिकादीनि यस्य स तथा। ननु प्रकृतेरेकत्वेन तत्सम्बन्धेनैकविध्यमवोचितं न त्रैविध्यं अन्यथा चातुर्विध्यं किं न स्यादित्यत उक्तं गुणसंवृत इति। गुणानां त्रित्वात् तत्सम्बन्धेन त्रित्वं युक्तं न चातुर्विध्यादिकं सूचितं त्रैविध्यं स्पष्टयति वैकरिक इति। अहं अहङ्कारात्मको रुद्रः ॥ ३ ॥

ततः अहङ्कारात् षोडश विकारा, अभवन्निति शेषः। पञ्चभूतानि दशेन्द्रियाणि एकं मनः। ननु किमायातं प्रकृत इति तत्राह अमीष्विति। यो भूतानां मध्ये अमीषु पञ्चस्वाकाशादिषु अधिष्ठान प्रकारेषु निधाय्य शिवमुपाधावत् सेवमानो भवति स पुरुषः तस्मात् सर्वासां विभूतीनां गतिं सेवानुसारेण फलमश्नुते। अत्र ग्रन्थबाहुल्यभयात् विशेष विशदीकरणादुपरम्यते ॥ ४ ॥

तुशब्देन सत्त्वादिगुणराहित्यमेव न तु ज्ञानादि गुणराहित्यं विवक्ष्यते। तथात्वे सर्वदगित्याद्यनुपपन्नं स्यात्, हरिर्विनश्वरं अनन्तकालीनं फलं ददाति रुद्रस्तु अनित्यं दुःखोदर्कं ददातीत्यादि विशेषं वा दर्शयति 'उपद्रष्टा साक्षी सर्वेभ्यो द्रष्टृभ्योऽधिकद्रष्टा न अन्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इति श्रुतेः ॥ ५ ॥

**निवृत्तेष्वश्वमेधेषु राजा युष्मत्पितामहः ।**
**शृण्वन् भागवतान्[1] धर्मानपृच्छदिदमच्युतम् ॥ ६ ॥**

**स आह भगवांस्तस्मै प्रीतःशुश्रूषवे प्रभुः[2] ।**
**नृणां निश्रेयसार्थाय योवतीर्णो यदोः कुले ॥ ७ ॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**यस्याह मनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः ।**
**ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःख दुःखितम् ॥ ८ ॥**

स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णस्याद्धनेहया ।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम् ॥ ९ ॥

तद्ब्रह्मपरमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम् ।
ततो मां सुदुराराध्यं हित्वाऽन्यान् भजते जनः ॥ १० ॥

---

1. B.G.K.M Ma T.W. भगवता 2. M.V. विभुः [illegible] चिन्मः 3. K. T. W. तदा * अनीहया इति वीरराघवादृतः पाठः 4- -4 K.T.W. तस्मै ब्रह्म परं 5. M.V. रम् 6. M.Ma. पुनः

**श्रीध० यस्येति**। यस्याहमनुगृह्णामीति अयमर्थः- यो विषयान् परिजिहीर्षुरपि कथञ्चित् विद्यमानेषु विषयेषु सज्जते क्लिश्यति च तस्य विषयापहार एवानुग्रह इति। यथा श्रुतत्वं ध्रुवादीनामैश्वर्यविरोधात्। अथवा प्रथमं विभूतीः कामानुरूपा दत्वा शनैः विषयोपभोगावसाने तस्य निर्वेदमुत्पाद्य हरिष्यामि परमानुग्रहं कर्तुमिति तदुक्तं भगवतैव - 'न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते' (भा.ग.10-22-26) इति दुःख दुःखितमिति दुःखादनु पुनर्दुःखित मिव प्रतीयमानमित्यर्थः ॥ ६-८ ॥

**स** इति। स पुनर्बन्धूनामनुग्रहेण धनेहया प्रवृत्तोऽपि मदनुग्रहेण यदा निष्फलोद्यमो निर्विण्णः स्यात् तदा मदनुग्रहमिति। मम असाधारण मनुग्रहम् ॥ ९ ॥

तमेवाह - **तद्ब्रह्मेति**। जनः पश्चादपि मोक्ष मरोचयन् अत्यासक्तः अन्यान् (अन्यं) भजते इत्यर्थः ॥ १० ॥

**वीर०** न केवलमयं त्वत्प्रश्नस्य परिहारोऽस्मद्बुद्धि परिकल्पितः किन्तु भगवतैवोक्त इति वक्तुं प्रस्तौति - निर्वृत्तेषु परिसमाप्तेषु सत्सु, राजा युधिष्ठिरः भगवतः श्रीकृष्णात् सकाशात् धर्मान् शृण्वन् तमच्युतं प्रति इदं त्वत्पृष्टमपृच्छत् ॥ ६ ॥

**स** इति। स पृष्टो भगवान् श्रोतुमिच्छवे तस्मै युधिष्ठिराय प्रीतः प्राह - तत्र हेतुत्वेन तं विशिनष्टि - नृणामिति । निश्रेयसार्थाय निरतिशय पुरुषार्थ प्रदान तत्साधन ज्ञापनायेत्यर्थः ॥ ७ ॥

**यस्येति**। यस्य यमित्यर्थः कर्मणश्शेषत्वविवक्षया षष्ठी। ननु धनापहारो नानुग्रहः प्रत्युत निग्रह एव स्यात् अत आह तत इति। अधनमिति च्छेदः। तो धनापहारादधनं निर्धनमत एव दुःखपरम्पराग्रस्तमस्य ये स्वजनाः ते त्यजन्ति ॥ ८ ॥

ततोप्ययं महान्निग्रह इत्यत आह - **स** इति। वितथोद्योगः व्यर्थोद्यमः निर्धनस्य सर्वोप्युद्योगो व्यर्थ एवेति भावः। अत एव निर्विण्णो भवेत् तदा अनीहया निराशया वैषयिकं सुखं सर्वथा मम दुर्लभमित्येवं तत्र आशां अपोह्येति भावः। मत्परैः मद्भक्तैस्सह कृतं मैत्रं यस्य तस्य मदनुग्रहं करिष्ये। मदसाधारणोऽनुग्रहः मदनुग्रहः तम् अतो न पौनरुक्त्यम् ॥ ९ ॥

तमेवानुग्रहं दर्शयति - **तस्मा** इति। तस्मै मत्परैः कृतमैत्राय यद्ब्रह्म तद्दर्शयामीति शेषः। असौ एव मदनुग्रह इति भावः। कथम्भूतं ब्रह्म? परं प्रकृतिपुरुषाभ्यां विलक्षणं सूक्ष्मं सर्वान्तःप्रवेशयोग्यं चिन्मात्रं ज्ञानस्वरूपमात्रम्। मात्र शब्देन क्वचिदपि जडत्वव्यावृत्तिः अनन्तकं त्रिविध परिच्छेदशून्यम्। अत्र सत्यज्ञानादिवाक्यार्थ उपक्षिप्तः अतस्तावद्दुःखावहत्वात् सुदुराराध्यं मां हित्वा हि गतौ गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः ज्ञात्वेत्यर्थः। अन्यान् रुद्रादीन् तावत्सुखदानन्ततस्तु दुःखदान् स्वयमपि दुःखितान् ज्ञात्वा केवलं सुखदानित्येवं बुद्ध्वा भजत इत्यर्थः ॥ १०॥

**विज०** न धनित्वं फलं ददातीत्यस्य कथं परिहार आगतः तं वक्तुमुपक्रमते **निवृत्तेष्विति** ॥ ६॥

भूभार हरणाय प्रवृत्तेन धर्मकथनं क्वोपयुज्यत इत्यत्राह **नृणामिति**। अनेन न केवलमवतार प्रयोजनं भूभार हरणमपि तु नृणां संसारनिर्मूलन लक्षण निश्रेयसं चेत्युक्तं भवति ॥ ७॥

अनुग्रहं कर्तुं शनैः यावत् यावत्प्रेम वर्धते तावत् तावत् हरिष्ये धनस्य मदहेतुत्वात् एतद्धरणं तत्फलमाह तत इति। अस्याधनस्य स्वजनाः दुःख दुःखितं दुःखातिशयोपेतं एनमधनं त्यजन्ति ॥ ८॥

ततो धनाभावात् स यदा धनेहया वितथोद्योगो निर्विण्णः स्यात् तदा मत्परैः कृत मैत्रस्य तस्यानुग्रहं मुक्तिलक्षणं करिष्ये इत्यन्वयः ॥ ९॥

यतोऽहं भजमानस्य धनं हरिष्यामि अतस्तत्परमं ब्रह्म वेदान्तवेद्यं सूक्ष्मं नित्याव्यक्तं चिन्मात्रं प्रकृति प्राकृत वैकृत ज्ञानशून्यं सत्प्रशस्तं अनन्तकं अन्तत्रय वर्जितं सुदुराराध्यं मां हित्वा अन्यान् भजते परब्रह्मत्वादयः सुदुराराध्यत्वे हेतवः ॥ १० ॥

**ततस्त आशु तोषेभ्यो लब्धराज्यश्रियोद्धताः ।**
**मत्ताः प्रमत्ता वरदान् विस्मरन्त्यवजानते ॥ ११ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**शापप्रसादयोरीशा ब्रह्मविष्णु शिवादयः ।**
**सद्यश्शाप प्रसादोऽङ्ग शिवो ब्रह्मा न चाच्युतः ॥ १२ ॥**

**अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।**
**वृकासुराय गिरिशो वरं दत्वाऽऽप सङ्कटम् ॥ १३ ॥**

**वृको नामासुरः पुत्रः शकुनेः पथि नारदम् ।**

**दृष्ट्वाऽऽशु तोषं पप्रच्छ देवेषु त्रिषु दुर्मतिः ॥ १४ ॥**

**स आदिदेश गिरिश मुपधावास्वसिद्धये ।**

**सोऽल्पाभ्यां गुणदोषाभ्यां आशु तुष्यति कुप्यति ॥ १५ ॥**

---

1. M. Ma प्रमत्ताः वरदान् देवान् 2- -2 K.T.W. कोप° 3- - 3 B.G.J.MI.V अत्र चोदा° 4- -4 B. G.J. स आह देवं 5- - 5 B.G.J. °वाशु सिद्धयसि :K.T.w. वाशु तुष्यति

**श्रीध०** एतदेव इतिहासेन स्पष्टयितु माह - **शापप्रसादयोरिति**। ब्रह्मा चेत्यन्वयः ॥ ११ - १३ ॥

**वृक इति**। शकुनेः पुत्रः ॥ १४, १५॥

**वीर० तत** इति। ततो भजनानन्तरं ते भक्ताः आशु तृप्यन्तीत्याशुतोषाः तेभ्यो रुद्रादिभ्यस्सकाशात् अनेनात्मनि चिरात्तोषत्वं सूचितम्। लब्धं राज्यं यैस्ते, श्रिया सम्पदा उद्धताः उत्पथाः मत्ताः गर्विताः प्रमत्ताः अनवहिताश्च वरदान् देवानेव विस्मरन्ति अवजानते अवज्ञां कुर्वन्ति च। इत्थं स्वोक्त परिहारो भगवदुक्तया संवादितः ॥ ११ ॥

अथ "अव्यवस्थितचित्तस्य प्रसादोपि भयङ्करः। क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टः" ( ) इति न्यायेन देवतान्तराणामव्यवस्थितचित्तानां भजनमात्मघातायैव पर्यवस्यतीति इतिहासेन स्पष्टयितुमाह - कोपप्रसादयोरिति। यद्यपि ब्रह्मादयः सर्वे देवाः कोपप्रसादयोः निग्रहानुग्रहयो र्दक्षास्तथापि अङ्ग ! हे राजन् ! शिवो ब्रह्मा च सद्य एव शापः प्रसादश्च यस्य तथाभूतः अच्युतस्तु नैवं विधः, किन्त्वनुग्रहैकस्वभावः क्वचिन्निग्रहोप्यन्ततो वरेणैव तुल्य इति भावः ॥ १२ ॥

**अत्रैवेति**। सद्यश्शापप्रसादत्वे निदर्शनतया इतिहासमुदाहरन्तीत्यर्थः। कोसावित्यतः तं वर्णयति वृकासुरायेति। सङ्कटं दुःखमवाप इत्यर्थः ॥ १३ ॥

कथं तदित्यतो विस्तरतो वर्णयति - **वृको नामेति**। शकुनेः पुत्रः त्रिषु देवेषु मध्ये आशु तोषं पप्रच्छ यतः स दुर्मतिः ॥ १४ ॥

स नारदः आदिदेश शशंस। किमिति? गिरिशमुपधाव भज स आशु तुष्यति। किञ्च स इति। स गिरिशः ॥ १५ ॥

**विज०** अन्योपासकास्ते मत् ध्यानतः तान् देवान् अपि जहतीति भावेनाह - **तत** इति। यतो मामवज्ञायान्यानुपासते अत एव दोषात् ॥ ११ ॥

देवेषु के शापप्रसादसमर्थास्तत्रापि सद्यःशापप्रसादाः क इति तत्राह शापेति ॥ १२ ॥

शिवः सद्यः शापप्रसाद इत्येतत् कथमित्यत्र इतिहासं वक्ति **अत्रेति** ॥ १३ - १५॥

**दशास्य बाणयोस्तुष्टः स्तुवतोर्वन्दिनोरिव ।**
**ऐश्वर्यमतुलं दत्वा तत आप सुसङ्कटम् ॥ १६ ॥**

**इत्यादिष्टस्तमसुर उपाधावत्स्वगात्रतः ।**
**केदार आत्मक्रव्येण जुह्वानोऽग्निमुखं हरम् ॥ १७ ॥**

**देवोपलब्धिमप्राप्य निर्वेदात्सप्तमेऽहनि ।**
**शिरोऽवृश्चत्स्वधितिना तत्तीर्थ क्लिन्नमूर्धजम् ॥ १८ ॥**

**तदा महाकारुणिकस्सधूर्जटिः यथा रणावग्निरिवोत्थितोऽनलात् ।**
**निगृह्य दोर्भ्यां भुजयोर्न्यवारयत् तत्स्पर्शनात् भूय उपस्कृताकृतिः ॥ १९ ॥**

**तमाह चाङ्गालमलं वृणीष्व मे यथाभिकामं वितरामि ते वरम् ।**
**प्रीयेय तोयेन नृणां प्रपद्यता महो त्वयात्मा भृशमर्द्यते वृथा ॥ २० ॥**

---

1. M.Ma °त्सुयन्त्रितः 2. M.Ma °न् अ° 3. V. भवम् 4- -4 M.Ma शिरोजिहीर्षुरसिना सतीर्थक्लिन्नमूर्धजः 5- -5 B.G.J. वयं चाग्नि° ; M. Ma °ऽवय व्यग्नि° :V. °वदिष्टोग्नि° 6. M.Ma उपाकृ° 7. K. M. Ma.T.W. निकामं 8- -8 M. Ma शिवेन जीवेन

**श्रीध० दशास्येति**। सुसङ्कटमाप कैलासोत्पाटनं पुरीपालनं च। सुकण्टकमिति वा पाठः ॥ १६ ॥

**इतीति**। स्वगात्रतः उपाधावत् स्वदेहेन याजयामास। कथम्? आत्मक्रव्येण स्वमांसेन जुह्वान इति ॥ १७ ॥

**देवेति**। अवृश्चत् च्छेत्तुमुद्यतः ॥ १८ ॥

**तदेति**। स्वयं च अग्निरिव मूर्तिमानग्निः इव देदीप्यमान इत्यर्थः। वयं अधुना कथाभिर्यथाकथञ्चिद्दुःखेन मर्तुकामं वारयामः तद्वदिति। स च उपस्कृताकृतिः परिपूर्ण देहोऽभवत् तं न्यवारयच्च ॥ १९ ॥

एवमाह च **तमिति**। तोयेनापि भजतां प्रीतः स्यां त्वया तु देहो वृथा पीड्यते इति ॥ २० ॥

---

1- -1 B. J. Omit 2- -2 B.J. Omit

**वीर०** तथाहि दशास्यबाणयोः रावणबाणासुरयोर्वन्दिनोरिव स्तुतिपाठकयोरिव स्तुवतोरतुल मैश्वर्यं दत्वा ताभ्यां सकाशादेव सङ्कटं कैलासोत्पाटन पुरपालनं[1] दुःखमवाप इत्यर्थः॥ १६ ॥

**इतीति**। इत्थमादिष्टोऽसुरः सुष्ठु मन्त्रितः प्रचोदितश्च तं गिरिशमेवोपाधावत् आराधितवान्। स्वगात्रत इति पाठे स्वदेहेन स्वदेहमांसहोमेन आराधितवानिति यावत्। आत्मनः स्वस्य क्रव्यं मांसं तेन हविषा अग्निमुखस्थं हरं जुह्वानोऽपि देवस्य हरस्योपलब्धिं दर्शनमप्राप्य सप्तमेऽहनि क्लिन्ना आर्द्रा मूर्धजाः केशा यस्मिन् तदात्मनः शिरः स्वधितिना अवृश्चत् च्छेत्तुमारब्धवानित्यर्थः। स्वधितिः पशुपुरोडाशादि च्छेदनार्थः खड्गविशेषः ॥ १७, १८ ॥

**तदेति**। धूर्जटिः रुद्रः मूर्तिमानग्निरिव देदीप्यमानः अग्नेरुत्थितः स्वदोर्भ्यां तद्भुजयोः प्रगृह्य न्यवारयत् तस्य धूर्जटेः स्पर्शनात् प्रभावात् पुनः उपस्कृता निर्व्रणा आकृतिः शरीरं यस्य तथाभूतो बभूवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

**तमिति**। तं वृकासुरमाह - किमिति। अङ्ग! हे वृक! अलमलं होमेनेति शेषः। यथानिकामं यथेच्छं वरं वृणीष्व तुभ्यं वितरामि प्रयच्छामि तोयेनापि प्रपद्यतां भजतां नृणां प्रीतस्स्यां त्वया तु वृथा आत्मा देहो भृशमर्दितः पीडितः ॥ २० ॥

---

1. B. °नात्मक

**विज०** अग्निमुखमुद्दिश्य जुह्वन्निति च्छान्दसः। जुह्वन् होमं कुर्वन् ॥ १७ ॥

देवोपलब्धिं देवदर्शनं असिना शिरो हर्तुकामोऽभूत् ॥ १८ ॥

करचरणाद्यवयवी उपाकृताकृतिः उत्पन्नस्वरूपः ॥ १९ ॥

यथानिकामं नितरां काममनतिक्रम्य नृणां यत्प्रियतमं वस्तु स जीवः जीवनं प्राणधारणं तेन जीवेन प्रपद्यतां प्रपन्नो भवतु, भवानिति शेषः। केनेत्यत उक्तं शिवेन मयेति। किञ्च जीवोऽसुधारण तत्परः अनेन 'पूर्वमायुः परीक्षेत पश्चाल्लक्षणमादिशेत्" (  ) इति वचनात् जीवनं सर्वस्मात् अभीष्टमित्युक्तं भवति। किञ्च अत इति। तत्राह अहो इति। आत्मा शरीरं अर्द्यते हिंस्यते अहो यस्मात् तस्मात् ॥ २० ॥

**देवं[1] स वव्रे पापीयान् वरं भूत भयावहम् ।**
**यस्य यस्य[2] करं शीर्ष्णि धास्ये स म्रियतामिति ॥ २१ ॥**

**तच्छ्रुत्वा भगवान् रुद्रो दुर्मना इव भारत ।**
**ओमिति प्रहसंस्तस्मै ददेऽहे[3] रमृतं यथा ॥ २२ ॥**

**स तद्वर परीक्षार्थं शम्भोर्मूर्ध्नि किलासुरः ।**
**स्वहस्तं धातुमारेभे सोऽभिभ्यत्स्वकृताच्छिवः ॥ २३ ॥**

**तेनोपसृष्टस्सन्त्रस्तः पराधावत्सवेपथुः ।**
**यावदन्तं दिवो भूमेः काष्ठानामुदगादुदक् ॥ २४ ॥**

**अजानन्तः प्रतिविधिं तूष्णीमासन् सुरेश्वराः ।**
**ततो वैकुण्ठमगमत् भास्वरं तमसः परम् ॥ २५ ॥**

---

1. K. M. Ma. Ml.T.V.W. देवात्स 2. M. Ma पुंसः 3- -3 ददौ वर 4. Ml.V. दिशो 5- -5 M. Ma कोष्ठानामधरम्भुवः

**श्रीध० तदिति**। दातुमनर्हमपि ददे[1] दत्तवान् अहेः[2] सर्पस्य अमृतं क्षीरमिव ॥ २१-२३ ॥

**तेनेति**। उपसृष्टः अनुगतस्सन् उदगात् उत्तरतः[3-] अगात् ऊर्ध्वमगच्छद्वा उदक् ऊर्ध्वमञ्चन्[-3] ॥ २४ ॥

**अजानन्त** इति। वैकुण्ठम्, श्वेतद्वीपम् ॥ २५ ॥

---

1. B. J. Omit ददे 2. B. J.Omit अहेः 3- -3 B.J. अधावत् उदक् उत्तरतः

**वीर० देवादिति**। स पापीयान् वृकः देवात् रुद्रात् भूतभयावहं वरं वृतवान् वरमेव दर्शयति - यस्येति। यस्य शीर्ष्णि अहं करं धास्ये स म्रियतामित्येवं विधं भूतभयावहमिति सम्बन्धः ॥ २१ ॥

**तदिति**। हे भारत! स्थाणुः शिवः तद्वरणं श्रुत्वा तावद्दुर्मना इव दुःखितमना भूत्वा इवशब्दो अनतिरिक्तार्थकः। प्रसभं बलात् तस्मै ओं इत्यङ्गीकृत्य ददे दत्तवान्। यथा अहेः सर्पस्यामृतं क्षीरं तद्वत् ॥ २२ ॥

**स इति**। असुरः वरस्य परीक्षार्थं किमयं वरः सत्यं उत मित्थ्या वेति परीक्षार्थमित्यर्थः। स शिवः स्वकृतादपराधात् स्वयमबिभ्यत् ॥ २३ ॥

तेनासुरेणोपसृष्टोऽनुगतः स शम्भुः जातवेपथुः कम्पितगात्रः त्रस्तः पराधावत्। सोऽपि पृष्टतो अन्वधावदित्यनुक्तमपि योज्यम्। काष्ठानां दिशां उदगात् उत्तरतः अगात् ऊर्ध्वमगच्छत् वा। उदक् ऊर्ध्वमञ्चन् ॥ २४,२५ ॥

**विज०** ओमित्युक्त्वा प्रहसन् आत्मनो दैन्यमप्रकाशयन् ॥ २१,२२ ॥

अबिभेत् भीतवान् ॥ २३

उपसृष्टः उपद्रुतः दिवोन्तमवसानं यावदस्ति भूमेः कोष्ठानां विवराणां अवसानं च यावत्भुवोऽधरमधस्थलं पातालं च यावत्तावत् पर्यन्तं पराधावत् ॥ २४ ॥

तल्लोकवासिनः शून्यप्रायाः किमत्राह - **अजानन्त** इति। प्रतिविधिं प्रतिक्रियाम् ॥ २५ ॥

**यत्र नारायणः साक्षात् न्यासिनां[1] परमा गतिः।**
**शान्तानां न्यस्तदण्डानां यतो नावर्तते गतः ॥ २६ ॥**

**तं तथा व्यसनं दृष्ट्वा भगवान् वृजिनार्दनः ।**
**दूरात् प्रत्युदियाद्[2-]दूत्वा वटुको[-2] योगमायया ॥ २७ ॥**

**मेखलाजिन दण्डाक्षैस्तेजसाग्निरिव[3] ज्वलन्[4] ।**
**अभिवादयामास[5-] च तं[-5] कुशपाणिर्विनीतवत् ॥ २८ ॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**शाकुनेय भवान् व्यक्तं श्रान्तः किं दूरमागतः ।**
**क्षणं विश्रम्यतां[6] पुंस आत्मायं सर्वकामधुक् ॥ २९ ॥**

**यदि न श्रवणायालं युष्मद्व्यवसितं प्रभो ।**
**भण्यतां प्रायशस्सर्वैः[7-] धृतैस्स्वार्थान्[-7] समीहते[8] ॥ ३० ॥**

---

1. Ml.V योगिनां 2- -2 M. Ma °दितो भूप दारको 3. M. Ma °द्धौ° 4. Ml.V. °वो° 5- -5 K. तं आशीर्वादयामास 6. M.V. °श्रा° 7- -7 B.G.J.K. प्रायशः पुम्भिः धृतै° ;T.W. प्रायशः पुम्भिर्भृतै° ; M.Ma पुरुषः साधो पुम्भिः 8. K. M. Ma.T.W. °र्थम्

**श्रीध० तमिति**। तं वृकासुरं तथा व्यसनं तादृग्व्यसनं यस्य तम्। शिवं वृजिनार्दनः दुःखहन्ता दूरत एव दृष्ट्वा ॥ २६,२७ ॥

**मेखलेति**। मेखलादिभिरुपलक्षितः प्रत्युदियात् सम्मुखमागतः ॥ २८ ॥

**शाकुनेयेति**। व्यक्तं निश्चितं किं किमर्थं आत्मा देहः सर्वपुरुषार्थ हेतुः अतो मा पीडयेति ॥ २९ ॥

**यदीति**। प्रायशः पुम्भिर्धृतैः भवान् स्वार्थान् समीहते साधयितुमिच्छति, अथवा जनः पुम्भिः सहायैः स्वकार्याणि साधयति अतो नः कथ्यतामिति ॥ ३० ॥

**वीर० अजानन्त** इति। सुरेश्वराः चतुर्मुखेन्द्रादयः प्रतिविधिं प्रतिक्रियामजानन्तः ततः वैकुण्ठमण्डान्तर्वर्तिनं कञ्चिद्विष्णुलोकं न तु परमस्थानं मुक्तप्राप्यं भास्वरं प्रकाशबहुलं तमसःपरं प्रकृतिकार्यरहितं यत्र वैकुण्ठे गतः प्राप्तः न्यस्तदण्डानां भूतद्रोहरहितानां सर्वभूतसुहृदामित्यर्थः, गतो यतो नावर्तते श्रीविष्णुलोकगतानां श्वेतद्वीपवासिनां च पुनर्जन्माभावात् , तं वैकुण्ठमगमदिति सम्बन्धः ॥ २६ ॥

**तमिति**। तं वृकासुरं तथा तादृशं व्यसनं दुःखम्। यस्य तं रुद्रं च दृष्ट्वा वृजिनार्दनो दुःखापहारी भगवान् योगमायया आत्मीयाश्चर्य शक्त्या वटुको भूत्वा मेखलादिभिरुपलक्षितः तेजसा विग्रहकान्त्या अग्निरिव ज्वलन् दूरादेव प्रत्युदियात् तदभिमुखमाजगाम। कुशपाणिः पवित्रपाणिः अभिवादयामास, आह चेति शेषः ॥ २७.२८ ॥

तदेवाह - **शाकुनेयेति**। हे शाकुनेय ! शकुनेस्सुत ! व्यक्तं नूनमयमात्मा देहः पुंसः सर्वान्कामान् दोग्धीति तथाभूतः किं किमर्थं दूरमागतः अहो श्रान्तस्त्वं अतो माऽऽयासयेति भावः ॥ २९ ॥

**यदीति**। युष्मद्व्यवसितं यदि नोऽस्माकं श्रवणायालं श्रोतुं योग्यं तर्हि हे प्रभो ! भण्यतामुच्यतां पुमान् स्वार्थं चिकीर्षितं स्वप्रयोजनं पुम्भिः आप्तैस्सह समीहते आलोच्य करोति अतो भण्यतामित्यर्थः ॥ ३० ॥

**विज०** दारको बाल ब्रह्मचरी ॥ २६-२८ ॥

आत्मा शरीरम् ॥ २९ ॥

पुम्भिरर्थितम् ॥ ३० ॥

**श्रीशुक उवाच**

**एवं भगवता पृष्टो वचसाऽमृतवर्षिणा ।**
**गतक्लमोऽब्रवीत्तस्मै यथापूर्वमनुष्ठितम् ॥ ३१ ॥**

**श्रीभगवानुवाच**

**एवं चेत्तर्हि तद्वाक्यं न वयं श्रद्दधीमहि ।**
**यो दक्ष शापात्पैशाच्यं प्राप्तः प्रेतपिशाचराट् ॥ ३२ ॥**

★ यदि ते[1] तत्र विस्रम्भो दानवेन्द्र जगद्गुरौ ।
तर्ह्यङ्गाशु[4] स्वशिरसि हस्तं न्यस्य प्रतीयताम् ॥ ३३ ॥

यद्यसत्यं वचश्शम्भोः कथञ्चिद्दानवर्षभ ।
तथा[5] त्वं जह्यसद्वाचं न यद्वक्ताऽनृतं[6] पुनः ॥ ३४ ॥

इत्थं भगवतश्चित्रैर्वचोभिस्तु[7-] सुपेशलैः[-7] ।
भिन्नधीर्विस्मितशीर्ष्णि[8] स्वहस्तं कुमतिर्व्यधात्[9] ॥ ३५ ॥

---

1. K.T.W. श्रमो 2. Ml.V. तर्ह्यङ्ग * The following extra verse is found only in M.Ma editions रुषाक्रान्त शरीरोऽसौ न सत्यं वदते हरः । क्रोधयुक्ते कुतः सत्यं मूढोऽसि त्वं महासुर ॥ 3. B. G. J. K. M. Ma.T.W. °वस्तत्र 4. M. Ma. °पि 5. B.G.J. तदैनं ;T.W. तदन्ते 6. T.W. त° 7- -7 B.G.J. °भि स्स सु K.T.W. भि स्स्मय 8. B. G. J. K. M. Ma.T.W. °स्मृत 9. K. Ml.T.V.W. °न्यधात् M. Ma. °भिश्च सु° ;

**श्रीध० एवमिति**। पैशाच्यं पिशाचानामिव वृत्तिम् ॥ ३१-३३ ॥

**यदीति**। यत् यथा वक्ता वदिष्यति ॥ ३४ ॥

**इत्थमिति**। चित्रैर्भ्रामकैः सुपेशलैः अतिरम्यैः भिन्नधीः भ्रंशितमतिः ॥ ३५ ॥

**वीर० एवमिति**। तस्मै भगवते अब्रवीत् कथयामास ॥ ३१ ॥

इत्युक्तः प्राह भगवान् - **एवं चेत्तर्हीति**। अङ्ग ! हे वृक! तद्वाक्यं रुद्रवाक्यं वरदानात्मकं न श्रद्दधीमहि न विश्वसिमः। तत्र हेतुत्वेन रुद्रं विशिनष्टि य इति। यो रुद्रः दक्षशापात् पिशाचतां प्राप्तः प्रेतानां, पिशाचानां च राडधिपतिः बभूव न हि पिशाचवचो विश्वसनीयमिति भावः ॥ ३२ ॥

**यदीति**। हे दानवेन्द्र ! जगद्गुरौ जगद्गुरुतया त्वदभिमानविषये तत्र रुद्रे यदि वो युष्माकं विस्रम्भो विश्वासः तर्ह्यङ्ग ! हे वृक ! स्वस्य शिरसि न्यस्य निधाय प्रतीयतां परीक्ष्यताम् ॥ ३३ ॥

हे दानवर्षभ ! यदि शम्भोर्वचः कथञ्चिदसत्यं स्यात्तर्हि तदन्ते तदनन्तरं असद्वाचमनृतवाचं रुद्रं जहि नाशय अन्यथा रुद्रः। पुनस्तथा अनृतं वदन् वञ्चयिष्यति अतः तं जहीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

**इत्थमिति**। चित्रैर्भ्रामकैः स्मयेन पेशलैः अतिरम्यैः वचोभिः भिन्नधीः भ्रंशितमतिः कुमतिरसुरः विस्मृतः स्वशिरसि स्वहस्तं न्यधात् निहितवान् ॥ ३५ ॥

**विज०** तस्य रुद्रस्य वाक्यं पैशाच्यं कर्म श्मशान अटन लक्षणम् ॥ ३१-३५ ॥

**अथाप तद्भिन्नशिरा वज्रापहत इव क्षणात् ।**
**जयशब्दो नमश्शब्दस्साधुशब्दोऽभवद्दिवि ॥ ३६ ॥**

**मुमुचुः पुष्पवर्षाणि हते पापे वृकासुरे ।**
**देवर्षि पितृ गन्धर्वा मोचितस्सङ्कटाच्छिवः ॥ ३७ ॥**

**मुक्तं गिरिशमभ्याह भगवान् पुरुषोत्तमः ।**
**अहो देव महादेव पापोऽयं स्वेन पाप्मना ॥ ३८ ॥**

**हतः कोनु महत्स्वीश जन्तुर्वैकृतकिल्बिषः ।**
**क्षेमी स्यात्किमु विश्वेशे यः कृतागा[1] जगद्गुरौ ॥ ३९ ॥**

**य एव मव्याकृत शक्त्युदन्वतः परस्य साक्षात् परमात्मनो हरेः ।**
**गिरित्र मोक्षं कथयेच्छृणोति वा विमुच्यते संसृतिभिः तथारिभिः ॥ ४० ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीव ब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८॥

---

1- -1 B. G. J. K.T.W. कृतागस्को ; M. Ma कृतपापो

**श्रीध० हत** इति। किमु वक्तव्यं विश्वेशे त्वयि कृतागाः[1] कृतापराधः इति ।। ३६-३९।।

**य** इति। अव्याकृतशक्त्युदन्वतः अवाङ्मनसगोचर शक्ति समुद्रस्य गिरित्र मोक्षं शिवमोचन रूपं चरित्रं संसृतिभिः नाना योनि सञ्चारैः ॥ ४०॥

❖ भक्तसङ्कटमालोक्य कृपापूर्ण हृदम्बुजः ।
गिरित्रं चित्रवाक्यात्तु मोक्षयामास केशवः ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां व्याख्यायां
अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८॥

---

1. B. J. कृतागस्कः ❖ श्रीधरीयोऽयं श्लोकः

**वीर०** अथ निधानानन्तरमेव वज्रेणाहत इव भिन्नं शिरो यस्य सः क्षणादपतत्। जय शब्द इति स्पष्टोर्थः ॥ ३६ ॥

देवादयः पुष्पवर्षाणि मुमुचुः इत्थं शिवः सङ्कटात् युक्त्या उपायेन मोचितः ॥ ३७ ॥

ततो भगवान् गिरिशमभ्येत्य प्राह - **महादेवेति**। पापात्मा अयं वृकासुरः स्वेनैव पाप्मना हतः किल। हे ईश! महत्सु कृतकिल्बिषः कृतापराधः को वा जन्तुः क्षेमी स्यात्। किमुत जगद्गुरौ जगद्धितकारिणि विश्वेशे त्वयि कृतापराधः क्षेमी स्यादिति महादेवत्वेशत्व विश्वेश्वरत्वजगद्गुरुत्वव्यपदेशाः तदन्तरात्मभूतस्वात्माभिप्रायापन्नाः ॥ ३८, ३९ ॥

प्रकृतेतिहास प्रवचन श्रवणादिफलमाह - **य** इति। एवमित्थं वाङ्मनसावेद्य विविधविचित्रानन्त शक्तिसागरस्य प्रकृतिपुरुष विलक्षणस्यान्तःप्रवेशनियमन व्याप्यगतदोषास्पर्शैः लोकत्रयधारकस्य आश्रितार्तिहरस्य भगवतो गिरित्रकर्ममोक्षण प्रतिपादकं इतिहासं यः पुमान् कथयेत् यो वा शृणोति सः संसृतिभिः सांसारिक दुःखैः शत्रुभिश्च विमुच्यते ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्र चन्द्रिकायां
व्याख्यायां अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

**विज०** आख्यायिका कथनादि फलमाह - **य** इति। आख्याकृत नित्यशक्ति समुद्रस्य संसृतिभिः पुत्रमित्रादि बन्धनलक्षणाभिः ॥ ३६-४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥
(विजयध्वजरीत्या द्विनवतितमोऽध्यायः)

# एकोननवतितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या त्रिनवतितमोऽध्यायः)

**श्रीशुक उवाच**

**सरस्वत्यास्तटे राजन् ऋषयः सत्रमासत ।**
**वितर्कः समभूत्तेषां त्रिष्वधीशेषु को महान् ॥ १ ॥**

**तस्य जिज्ञासया ते वै भृगुं ब्रह्मसुतं नृप ।**
**तज्ज्ञप्त्यै प्रेषयामासुः सोऽभ्यगाद्ब्रह्मणः सभाम् ॥ २ ॥**

**न तस्मै ब्रह्मणे[1] स्रोत्रं चक्रे सत्त्वपरीक्षया ।**
**तस्मै चुक्रोध भगवान् प्रज्वलन् स्वेन तेजसा ॥ ३ ॥**

**स आत्मन्युत्थितं मन्युमात्मजायात्मना प्रभुः ।**
**अशीशमद्यथा वन्हिं स्वयोन्या वारिणाऽत्मभूः[2] ॥ ४ ॥**

---

1. B.G.J. प्रह्मणं 2. K.M.Ma.T.W प्रभुः ।

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

नवाशीतितमे देवः को महानिति संशये। परीक्ष्य विष्णोरुत्कर्षं मुनिभ्योऽवर्णयद्भृगुः ॥

इति हासान्तरमाह - **सरस्वत्या** इति ॥ १-३ ॥

**स** इति। स्वयोन्या स्वस्यैव रूपान्तरेणाभिव्यक्ति स्थानेन स्वकार्येणेत्यर्थः। तेन यथा कश्चित् वह्निं शमयति तथा स्वकार्येण पुत्रेण निमित्तेन क्रोधं शमयामास इत्यर्थः ॥ ४ ॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

**तस्येति**। तस्य महत्त्वस्य जिज्ञासया ते ऋषयः, हे नृप! ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्य सुतं भृगुं तज्ज्ञाप्यै महत्त्वं वेत्तुं इत्यर्थः। प्रेषयामासुः स भृगुस्तावत् ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्य सभामभ्यगात् ॥ १,२ ॥

सत्त्वपरीक्षार्थं तस्मै ब्रह्मणे स्तोत्रं न कृतवान् ततस्तस्मै भृगवे भगवान् ब्रह्मा चुक्रोध ॥ ३ ॥

**स** इति। स ब्रह्माऽऽत्मजाय भृगवे आत्मनि मनस्युत्थितं मन्युं क्रोधमात्मना विवेकात्मिकया बुद्ध्याऽशामयत् यथा स्वयोन्या स्वस्यैव स्वरूपान्तरेण अभिव्यक्तिस्थानेन स्वकार्येणेति यावत् तेन वारिणा यथा कश्चिद्वह्निं शमयति तथा स्वकार्येण पुत्रेण निमित्तेन क्रोधं शमयामासेत्यर्थः। यद्वा स्वस्याग्नेर्योनिररणिः तस्या उत्थितं वह्निं जलेन कश्चिच्छमयति तथा भृगोरुत्पत्तिस्थानभूतात् स्वस्मात्तदुत्थितं क्रोधं बुध्याऽशामयदित्यर्थः ॥ ४ ॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थ कृता पदरत्नावली

विष्णोः समः अधिकोऽस्तीति (वा) संशयनिरासाय तस्य भक्तानुकम्पित्व प्रकटनाय च, मुमुक्षुभिः क्षमागुण एवापाद्यः तत्प्रसादजनक इति द्योतनाय च तस्मिन्निरतिशय भक्तिजननाय च अस्याध्यायस्य प्रारम्भः। तत्रादौ मुनीनां सत्र समये जिज्ञासाप्रकारं वक्ति- **सरस्वत्या** इति। वितर्को जिज्ञासा त्रिषु ब्रह्मादिषु अधीशेषु अधिकेश्वरेषु च महानुत्तमः ॥१॥

तस्य अधिकस्य वा इत्यनेन लोक संशयनिरासाय मन्दाधिकारिणां दृढनिश्चयाय न स्वार्थं परिज्ञात वेदान्तार्थत्वात् स्वेषामिति निर्धारयति ॥ २,३ ॥

आत्मनः स्वस्यात्मनि मनस्यात्मजाय भृगवे उत्थितं मन्युमशीशमत् शान्तं कृतवान्। प्रभुः समर्थः प्रभुः भृगोः पितृत्वेन स्वामी ॥ ४ ॥

**ततः कैलासमगमत्स तं देवो महेश्वरः ।**

**परिरब्धुं समारेभ उत्थाय भ्रातरं मुदा ॥ ५ ॥**

**नैच्छत्त्वमस्युत्पथग इति देवश्चुकोप ह ।**

**शूलमुद्यम्य तं हन्तु मारेभे तिग्मलोचनः ॥ ६ ॥**

**पतित्वा पादयोर्देवी सान्त्वयामास तं गिरा । ★**

**मुनिर्जगाम वैकुण्ठं यत्र देवो जनार्दनः ॥ ७ ॥**

**शयानं श्रिय उत्सङ्गे पदा वक्षस्य ताडयत् ।**
**तत उत्थाय भगवान् सह लक्ष्म्या सतां गतिः ॥ ८ ॥**

---

1--1 M.Ma °त्तमशुभाचार इति ; MI.V. त्वमशुभाचारस्ततो ; T.W. त्वमत्युत्पथग इति। * The following extra verse is found in M. Ma. MI.v. edns. इति कृच्छ्रात् ततो मुक्तः कैलासात् रजताचलात्। 2. B.G.J.K.T.W अधो ज°

## श्रीधरीय व्याख्या नास्ति

**वीर० तत** इति। स भृगुः कैलासं जगाम। तं भृगुं परिरब्धुमालिङ्गितुम् ॥ ५ ॥

**नैच्छदिति**। त्वमुत्पथग इति वदन् परिरम्भणं नैच्छदित्यर्थः। देवो रुद्रः तस्मै चुकोप किञ्च तीक्ष्ण दृष्टिस्सन् शूलमुद्यम्य तं भृगुं हन्तुमारब्धवान् ॥ ६ ॥

**पतित्वेति**। देवी गिरा सान्त्वोक्त्या तं रुद्रं, अथेति वैकुण्ठशब्दः पूर्ववद्विष्णु लोकपरः श्रियो लक्ष्म्याः उत्सङ्गे शयानं वक्षसि पादेन अताडयत्। तत इति सतां गतिरिति हेतुगर्भम् ॥ ७,८ ॥

**विज०** महेश्वर इति साङ्केतिकं नाम, अन्वर्थाङ्गीकारे प्रकृतानुपपत्तेः भ्रातरं मुदेति भ्रातृशब्द प्रयोगाच्च ॥ ५ ॥

श्मशान वासित्वेनाशुभाचार इति मत्वा ॥ ६-८ ॥

**स्वतल्पादवरुह्याऽऽशु ननाम शिरसा मुनिम् ।**
**आह ते स्वागतं ब्रह्मन् निषीदात्रासने क्षणम् ॥**
**अजानतामागतान् वः क्षन्तुमर्हथ नः प्रभो ॥ ९ ॥**

**★ अतीव कोमलौ तात चरणौ ते महामुने ।**
**इत्युक्त्वा विप्रचरणौ मर्दयन् स्वेन पाणिना ॥ १० ॥**

**पुनीहि स लोकं मां लोकपालांश्च मद्गतान् ।**
**पादोदकेन भगवंस्तीर्थानां तीर्थकारिणा ॥ ११ ॥**

**अद्याहं भगवंल्लक्ष्म्या आसमेकान्त भाजनम् ।**

**वत्स्यत्युरसि मे लक्ष्मी र्भवत्पादहतांहसा ॥ १२ ॥ ▲**

---

1. B.G.J. ह्याथ 2- -2 M. Ma सं व: क्षन्तुमर्हसि मानद। ★ This verse is not found in K. M. Ma Ml.T.V.W 3- -3 B.G. J. M. Ma. Ml.V भवतस्नी'

4. B. G. J. K. M. Ma.T.W. भूति। ▲ The following extra half verse is found in M.Ma. editions only - श्रीवत्समिति नामापि जायतां पादलक्षण: ।

**श्रीध० पुनीहीति**। तीर्थकारिणा तीर्थत्व निमित्तेन ॥ ९-१२ ॥

**वीर०** अत: स तल्पादाश्ववरुह्य मुनिं भृगुं शिरसा ननामाऽऽह च किमिति। हे ब्रह्मन्! ते त्वया स्वागतं कुशलमागतं खलु अत्रास्मिन् आसने क्षणं निषीद उपविश। हे प्रभो! युष्मानागतानजानतां नोऽस्माकमपराधमिति शेष:। क्षन्तुमर्हथ ॥ ९,१० ॥

**पुनीहीति**। सह लोकं स वैकुण्ठं मां मद्गतान् मदावेशित चित्तान् मद्धार्यान् इति वा। लोकपालांश्च हे भगवन्! पादोदकेन पुनीहि कथम्भूतेन? तीर्थानां गङ्गादीनामपि तीर्थकारिणा पवित्रत्वकारिणा ॥ ११ ॥

**अद्येति**। हे भगवन्! अद्य अधुना अहं लक्ष्म्या एकान्तभाजनं नियताश्रय आसं तत्र हेतुत्वेनात्मानं विशिंषन्नाह - भवत: पादेन पादताडनेन हतमंह: पापं यस्य तस्य ममोरसि भूतिर्लक्ष्मी: वत्स्यत्यनपायितया वर्तिष्यतीति ॥ १२ ॥

**विज०** ते तुभ्यं निषीदोपविश आगसमपराधम् ॥ ९,१० ॥

अहमेव गतं गति: आश्रयो येषां ते मद्गतास्तान् तीर्थकारिणा शुद्धिकारिणा "तीर्थं मन्त्राद्युपाध्याय शास्त्रेष्वम्भसि पावने" (वैज.कौ.6-3-13) इति यादव: ॥ ११ ॥

असुरजनमोहनार्थमाह - **अद्येति**। अद्याहं लक्ष्म्या: श्रिय एकान्तेन नियमेन भाजनं पात्रमासं भूतिर्लक्ष्मी: "भूति: श्रीजन्म भस्मस्विति" च। नित्यकृतवासापि अद्य प्रभृति वत्स्यति स्पष्टवासं करिष्यति, भवता नित्यशक्तेन पादेन ज्ञानेन हतं नष्टं अंहो यस्मिन् तत् तथा नित्यसत्ता ज्ञानात्मकत्वेन दोषरहितमिति वा, तस्मिन्निति तथा। बाह्यार्थ: कथा यदि वाक्यार्थ: ॥ १२ ॥

## श्रीशुक उवाच

**एवं ब्रुवाणे वैकुण्ठे भृगुस्तन्मन्द्रया गिरा ।**
**निर्वृतस्तर्पितस्तूष्णीं भक्त्युत्कण्ठोऽश्रुलोचनः ॥ १३ ॥**[1]

**पुनश्च सत्रमाव्रज्य[2] मुनीनां ब्रह्मवादिनाम् ।**
**स्वानुभूतमशेषेण राजन्! भृगुरवर्णयत् ॥ १४ ॥**

**तन्निशम्याथ मुनयो विस्मिता मुक्तसंशयाः ।**
**भूयांसं श्रद्दधुर्विष्णुं यतः शान्तिर्यतोऽभयम् ॥ १५ ॥**

**धर्मस्साक्षाद्यतो ज्ञानं वैराग्यञ्च तदन्वितम्[3] ।**
**ऐश्वर्यं चाष्टधा यस्माद्यशश्चात्ममलापहम् ॥ १६ ॥**

---

1. K. M. T.V.W. "त्कण्ठा श्रु 2- -2 K.T.W. पुनःस्सत्रं समाव्रज्य ; M. Ma पुनःस्वसत्रमासाद्य 3. M.Ma चतुर्विधम्।

**श्रीध० एवमिति**। तस्य मन्द्रया गम्भीरया गिरा निर्वृतस्तूष्णीं, बभूवेति शेषः ॥ १३,१४ ॥

**तदिति**। विस्मिता अपराधातिरेकेऽपि निर्विकारित्वेन भूयांसं श्रद्दधुः महत्तमं निश्चितवन्तः यतो यस्मिन् ॥ १५ ॥

**धर्मेति**। वैराग्यञ्च चतुर्विधमितिपाठे तच्चातुर्विध्यमेवं द्रष्टव्यम् विषयांस्त्यक्तुमशक्नुवतोपि सम्मानेच्छात्याग आद्यं वैराग्यम्। ततो विषयाणां मध्ये लवणादि व्यतिरेकेणापि वृत्ति द्वितीयम्। तथा वृत्तावपि मनसि राग शैथिल्येन बाह्येन्द्रियैरेव विषयसेवनं तृतीयम्। तत्रापि औदासीन्यं चतुर्थम्। यथाहुः - "वैराग्यमाद्यं यतमान संज्ञं क्वचिद्विरागो व्यतिरेक संज्ञम्। एकेन्द्रियाख्यं हृदि राग सौक्ष्म्यं - तस्याप्यभावस्तु वशीकृताख्यम्" ( ) इति ॥ १६ ॥

**वीर० एवमिति**। तस्य भगवतो मन्द्रया गम्भीरया आशयगर्भया गिरा निर्वृतः सुखितः तर्पितश्च भक्त्युत्कण्ठया भक्त्युद्रेकेणाश्रूणि लोचनयोर्यस्य सः तूष्णीमास ॥ १३ ॥

**पुनरिति**। आव्रज्यागत्य हे राजन्! स्वेनात्मनाऽनुभूतमशेषेण उवर्णयत् ॥ १४ ॥

**तदिति**। तद्भृगुणोपवर्णितं निशम्य मुक्तसंशयाः गतसंशयाः अत एव निर्वृताः सुखिताः विष्णुमेव भूयांसं सर्वोत्कृष्टं श्रद्दधुः निश्चितवन्तः परत्वोपयुक्त गुणाविष्कारपूर्वक निश्चय प्रकारानेवाह यतः शान्तिरित्यादिना। यच्छब्दाना

त्रिविधाकृतयस्तस्येत्युपरिष्टात् सम्बन्धः। यतः यस्मिन् शान्तिः यतः सेव्यमानादभयं मुक्तिः यद्वा यतो यदुपासनादेव शान्तिरिति एवमुत्तरत्रापि ॥ १५ ॥

धर्मोऽत्र ब्रह्मण्यता ज्ञानं, सर्व विषयकं वैराग्यं विषयाऽनभिलाषः, तदन्वितं शान्त्यादिभिः सहितं अष्टधाऽणिमादि भेदेन अष्टविधमैश्वर्यं च आत्मनः भजतः पुंसः मलमपहन्तीति तथा तद्यशो यस्मिन् इत्यर्थः ॥ १६ ॥

---

1. K.T.W. Omit सुखितः 2- -2 B. Omits

**विज०** श्रिया सहितवत्समुरः श्रीवत्सं उरो वत्सश्च वक्षश्च भुजान्तरमुदीयंत इति उत्पलमालाभिधानं पादलक्षणः पादाङ्कः श्रीवत्समिति नाम जायतामित्यन्वयः ॥ १३,१४ ॥

भूयांसमत्त्युत्तमं यतो यस्माद्धरेः शान्तिर्मोक्षो मङ्गलं वा, पुंस इति शेषः ॥ १५ ॥

एकान्तभक्तानां धर्मादिष्वनपेक्षा लक्षणं वैराग्यमात्मनो मनसो मलनाशनम् ॥ १६ ॥

**मुनीनां न्यस्तदण्डानां शान्तानां समचेतसाम् ।**
**अकिञ्चनानां साधूनां यमाहुः परमां गतिम् ॥ १७ ॥**

**सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिः ब्राह्मणास्त्विष्टदेवताः ।**
**भजन्त्यनाशिषः शान्ता यं वा निपुणबुद्धयः ॥ १८ ॥**

**त्रिविधा[1-]ऽऽकृतयस्तस्य[-1] राक्षसा असुरा सुराः ।**
**गुणिन्या[2-] मायया[-2] सृष्टाः सत्वं तत्तीर्थसाधनम्[3-] [-3] ॥ १९ ॥**

**श्रीशुक उवाच**

**एवं[4] सारस्वता विप्रा नृणां संशय नुत्तये ।**
**पुरुषस्य पदाम्भोज सेवया तद्गतिं गताः ॥ २० ॥**

---

1. M. Ma "धा मूर्तयस्तस्य 2- -2 M. Ma गुणास्तन्मायया 3- -3 M. Ma तत्राऽर्थदर्शनम् 4. K.M.Ma.MI.T.V.W. इत्थं

**श्रीध० त्रिविधेति**। तस्य भगवत एव यद्यपि त्रिविधा आकृतयः तत्र तासु सत्वमेव तीर्थसाधनं[1] पुरुषार्थ हेतुः ॥ १७-१९ ॥

**एवमिति** इत्थं निश्चित्य सरस्वतीतीरवासिनो विप्रा हरिपदाम्भोज सेवया मुक्तिं प्रापुरिति ॥ २० ॥

---

1. Ml.V. अर्थ 2- -2 B.G.Omit.

**वीर० मुनीनामिति**। न्यस्तदण्डानां भूतद्रोहरहितानां समचेतसां सर्वात्मब्रह्मबुद्धीनामकिञ्चनानां प्रयोजनानन्तररहितानां परोपकार शीलानां यं परमां गतिं प्राप्यमाहुः ॥ १७ ॥

**सत्त्वमिति**। सत्त्वं रजस्तमोभ्यां अननुविद्धं शुद्धसत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिः शरीरं यस्य च इष्टदेवताः ब्राह्मणा अनाशिषः निष्कामाः शान्ताः जितेन्द्रियाः निपुणा बुद्धिः येषां ते यं भजन्ति ॥ १८ ॥

**त्रिविधेति**। तस्येत्थ-भूतस्य निःसमाभ्याधिकस्य गुणिन्या सत्त्वादि त्रिगुणमय्या मायया सृष्टा राक्षसा असुराः सुराश्चेति त्रिविधा अप्याकृतयः तस्यैव शरीरभूता इत्यर्थः। तत्र देवाः सत्त्वप्रचुराः, असुरास्तु रजः प्रचुराः, राक्षसास्तमः प्रचुराः। देवादिषु त्रिष्वप्यासुरमानुषदैव सम्पत्तिभिः अभिजाताः सन्त्येवेति भगवद्गीतासु उक्तम्। एवञ्च सर्वेप्येते नोपास्या इति भावः। तथा चोक्तं शौनकेन - 'आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्ता जगदन्तर्व्यवस्थिताः। प्राणिनः कर्म जनितसंसार वशवर्तिनः॥ यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः। अविद्यान्तर्गताः सर्वे ते हि संसारगोचराः। पश्चादुद्भूतबोधाश्च ध्यानेनैवोपकारकाः। नैसर्गिको न वै बोधस्तेषामप्यन्यतो यतः॥ तस्मात्तदमलं ब्रह्म निसर्गादेवबोधवत्। इति एतदेवाह - सत्त्वं तत्तीर्थसाधनमिति। यत्सत्वं शुद्धसत्वमयं भगवच्छरीरं तदेव तीर्थ साधनं उपास्यमानं सन्निश्शेषप्रकृतिसम्बन्धक्षपणद्वारा आत्मशुद्धिसाधनमित्यर्थः ॥ १९ ॥

**इत्थं** इति। सारस्वताः सरस्वती तीरवासिनो विप्राः नृणां संशय निवृत्तये इत्थं निश्चित्य परमपुरुषस्य पदाम्भोज सेवया तद्गतिं मुक्तिं प्राप्ताः ॥ २०॥

**विज०** यस्य हरेः सत्त्वं गुणः प्रियामूर्तिः प्रेष्ट प्रतिमा यस्य, इष्टदेवता ब्राह्मणाः अनाशिषो निष्कामाः ॥ १७,१८॥

तत्र तेषु गुणेषु सत्वं नाम गुणः आर्यं सर्वपूज्यं श्रीहरिं दर्शयतीत्यार्य दर्शनः तद्विषयज्ञानोत्पादकः ॥ १९,२०॥

**सूत उवाच**

**इत्येतन्मुनितनयस्य पद्मगन्धपीयूषं भवभयभित्परस्य पुंसः ।**
**सुश्लोकं श्रवणपुटैः पिबत्यभीक्ष्णं पान्थोऽध्वभ्रमणपरिश्रमं जहाति ॥ २१ ॥ ★**

**श्रीशुक उवाच**

**एकदा द्वारवत्यान्तु विप्रपत्न्याः कुमारकः ।**
**जातमात्रो भुवं स्पृष्ट्वा ममार किल भारत! ॥ २२ ॥**

**विप्रो गृहीत्वा मृतकं राजद्वार्युपधाय सः ।**
**इदं प्रोवच विलपन्नातुरो दीनमानसः ॥ २३ ॥**

**ब्रह्मद्विषः शठधियो लुब्धस्य विषयात्मनः ।**
**क्षत्र बन्धोः कर्मदोषात्पञ्चत्वं मे गतोऽर्भकः ॥ २४ ॥**

---

1- -1. M. Ma. Omit 2. M. Ma गर्भ 3. B. K. MI.T.V.W सुश्लोक्यं ; M. Ma सुश्लोकैः 4. MI.V. संसारभ्रमण। ★विजयध्वजपाठानुसारेण अत्र त्रिनवतितमोऽध्यायः समाप्तः।

**श्रीध० इतीति**। व्यास नन्दनस्य मुख पङ्कजात् उद्गतं गन्धयुक्त पीयूषतुल्यं हरेः प्रशस्तं यशो यः संसारी सेवते स मुक्तो भवतीति ॥ २१ ॥

स च उक्तलक्षणो भगवान् श्रीकृष्ण एवेति दर्शयितु माख्यानान्तरमाह - **एकदेति** ॥ २२-२४ ॥

**वीर०** प्रकृतेतिहासश्रवणफलमाह - सूतः **इतीति**। मुनेः द्वैपायनस्य यः तनयः शुकस्तस्यास्य पद्मं मुखपद्मं तस्य गन्धो यस्मिंस्तत्, पीयूषममृतमेतद्भगवतः परत्व प्रकाशकेतिहासात्मकं भयं संसृतिभयं भिनत्तीति तथा सुश्लोक्यं बहुमन्तव्यं प्रसिद्धामृतं तु नैवं विधमिति भावः अभीक्ष्णं पुनः पुनः कर्णपुटैः श्रोत्रचषकैः पिबन्पान्थः संसाराध्वगः अध्वभ्रमण परिश्रमं प्रकृतिमण्डलपरिभ्रमणजं श्रमं जहाति मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

अत्र केचिदध्यायं समापयन्ति। अथ योसावुक्तविधः परमपुरुषः स एव श्रीकृष्णः इति दर्शयितुमितिहासान्तरं प्रस्तौति - **एकदेत्यादिना**। विप्रस्य कस्यचित् पत्न्या कुमारो हे भारत! जातमात्रस्तदैव भुवं स्पृष्ट्वा ममार ॥ २२ ॥

**विप्र** इति। स विप्रः राजद्वारे उपधाय निधायेदं वक्ष्यमाणं प्रोवाच ॥ २३ ॥

इदमिति विवक्षितमेवाह द्वाभ्यां - **ब्रह्मद्विष** इति। ब्रह्म ब्राह्मणान् द्वेष्टीति तथा तस्य शठस्य मूर्खस्येव धीर्यस्य लुब्धस्य निषादतुल्यस्य अजितेन्द्रियस्य क्षत्रबन्धोः क्षत्रियाभासस्य राज्ञः कर्मदोषात् दुर्व्यापारदोषात् ममार्भकः पञ्चत्वं मरणं प्राप्तः मयि तु न कश्चिद्दोष इति भावः ॥ २४ ॥

विज० –

श्रीशुक उवाच

कदाजिद्वाजिमेधेन यष्टुमुद्यम्य केशवः ।
महीं प्रदक्षिणी कर्तुं प्राहिणोत्प्रोक्षितं हयम् ॥ 1 ॥

हार्दिक्यं कृतवर्माणं युयुधानञ्च सात्यकिम् ।
चारुदेष्णं सुदेष्णञ्च प्रद्युम्नं साम्बमेव च ॥ 2 ॥

अंशुमन्तं सुभानुञ्च बहुसैन्यांश्च यादवान् ।
रक्षणार्थं तुरङ्गस्य प्राहिणोद्यदुनन्दनः ॥ 3 ॥

ते वै प्रदक्षिणं कृत्वा वसुधां प्रोक्षितं हयम् ।
उपानिन्युरदीर्घेण कालेन भरतर्षभ! ॥ 4 ॥

यष्टु कामं हरिं श्रुत्वा हयमेधेन भारत! ।
आजग्मु र्दीर्घ तपसो मुनयः संशितव्रताः ॥ 5 ॥

होतारञ्च तथाध्वर्यु मुद्गातारञ्च केशवः ।
कल्पयित्वा यथा न्यायं तथान्यानपि ऋत्विजः ॥ 6 ॥

ऋषिभि र्ब्राह्मण श्रेष्ठैर्यज्ञ विद्याविचक्षणैः ।
दीक्षां प्रपेदे भगवन् कृतपुण्याहमङ्गलः ॥ 7 ॥

तमुपास्तमहीपाला नानाजनपदेश्वराः ।
आजग्मुर्देव सङ्काशाः किरीटमुकुटोज्वलाः ॥ 8 ॥

पाण्डवाश्च महीपाला यज्ञदर्शनमिच्छवः ।
आहूता वासुदेवेन द्वारकामाययुर्नृप ॥ 9 ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने हयमेधे महोत्सवे ।
आसंस्तृप्ता द्विजा भोज्य वस्त्रगोभूमिकाञ्चनैः ॥ 10 ॥

**दीक्षां प्रविश्य गोविन्दः कामैस्तर्पयति द्विजान् ।**
**भुञ्जानेषु द्विजाग्र्येषु प्रतिगृह्णत्सु वाञ्छितम् ॥ 11 ॥**

**आसीनेषु यथा योगं भूपालेषु समन्ततः ।**
**वदत्सु मा शब्द इति वेत्र झर्झरपाणिषु ॥ 12 ॥**

**तृणमूलधरः कश्चिद्ब्राह्मणोऽभ्येत्य सत्वरः ।**
**चुक्रोश आर्त्त उद्बाहुर्यज्ञवाटमुखे स्थितः ॥ 13 ॥**

**क्षुत्क्षामकण्ठः शुष्कास्यो गलद्बाष्पाकुलेक्षणः ।**
**इदं चोवाच विलपन्नातुरो दीनमानसः ॥ 14 ॥**

**ब्रह्मद्विषः षठधियो लुब्धस्य विषयात्मनः ।**
**क्षत्रबन्धो कर्मदोषात्पञ्चत्वं मे गतास्सुताः ॥ 15 ॥**

लोकसङ्ग्रहायाश्वमेधयज्ञकरणमन्यासाध्य मृतविप्रपुत्रानयन माहात्म्यञ्च निरूपयत्यस्मिन्नध्याये। तत्रादौ हयस्य प्रदक्षिणप्रकारं वक्ति **कदाचिदिति**। उद्यम्य उद्योगं विधाय ॥ 1,2 ॥

बहवः सैन्याः सेनानायकाः येषां ते तथा तान् यदून् नन्दयतीति यदुनन्दनः ॥ 3,4 ॥

हयमेधेन अश्वमेधेन दीर्घकालं तपो येषां ते तथा ॥ 5-7 ॥

उपास्तुं निषेवितुं किरीटैः मुकुटैः सुवर्णैश्चोज्वलाः ॥ 8-11 ॥

वेत्रेण झर्झराः कर्कशाः पाणयो येषां ते तथा तेषु ॥ 12 ॥

तृणमूलधरः तृणानां मूलं चूडां धारयतीति तृणमूलं, यष्टिं च धारयतीति वा ॥ 13-15 ॥

**★ हिंसा विहारं नृपतिं दुःशीलमजितेन्द्रियम् ।**
**प्रजा भजन्त्यः सीदन्ति दरिद्रा नित्यदुःखिताः ॥ २५ ॥**

**एवं द्वितीयं विप्रर्षिस्तृतीयं त्वेवमेव च ।**
**विसृज्य स नृपद्वारि तां गाथां समगायत ॥ २६ ॥**

**तामर्जुन उपश्रुत्य कर्हिचित्केशवान्तिके ।**
**परेते नवमे बाले ब्राह्मणं समभाषत ॥ २७ ॥**

**● किं स्विद्ब्रह्मस्त्वन्निवासे इह नास्ति धनुर्धरः ।**
**राजन्य बन्धुरेते[2-] वै[-2] ब्राह्मणाः सत्रमासते ॥ २८ ॥**

---

★ According to M. Ma editions these three half verses are found in 100th chapter as 16th &17th Slokas. 1. K.T.W. ब्रह्मर्षि° ● According to M.Ma editions this verse is found in 100th chapter as 22nd Sloka. 2- -2 Ml.V. °रप्येते

**श्रीध० एवमिति**। ब्रह्मद्विष इत्यादिकां तां गाथां वाक्यम् मयि न कश्चिद्दोषोऽतो राजदोषेणैव मत्पुत्रा म्रियन्त इति वारं वारं चुक्रोशेत्यर्थः ॥२५-२७॥

**किमिति**। ब्रह्मन् किं स्विदिति किमर्थं वृथा रोदिषि यतस्त्वन्निवासे धनुर्धरमात्रोऽपि राजन्य बन्धुरपि नास्ति, ब्रह्मण्यस्य तु का वार्ता, एते तु सत्रे याग इव[1] ब्राह्मणा मिलिता भवितुमर्हन्तीत्यर्थः ॥ २८॥

---

1. Ml.V. एव

**वीर०** [1-]तदेव द्रढीकरोति[-1], हिंसैव विहारो यस्य तं, दुष्टं शीलं वृत्तिर्यस्य तमजितेन्द्रियं नृपं भजन्त्यः प्रजाः सीदन्ति दुख्यन्ति नित्यं दरिद्रा दुःखिताश्च भवन्ति ॥ २५ ॥

**एवमिति**। एवमेव च अष्टकृत्वः स विप्रो नृपद्वारि मृतकं विसृज्य तां गाथां 'ब्रह्मद्विष' इत्यादिवाक्यमगायत प्रोवाच ॥ २६ ॥

**तामिति**। परेते मृते सति नवमे बाले पूर्ववद्विप्रेण गीतां तां गाथां श्रुत्वा ॥ २७ ॥

भाषणमेवाह - **किंस्विदिति** त्रिभिः। हे ब्रह्मन्! इह त्वन्निवासभूते पुरे धनुर्धरः कोऽपि नास्ति किं स्वित्? धनुर्धरमात्रो राजन्यबन्धुरपि नास्ति किमित्यर्थः। ब्रह्मण्यो नास्त्येवेति भावः। एते तु सत्त्रमासते ये ब्राह्मणाः सत्त्रयागे ब्राह्मणा इव मिलिताः धनादिभिर्युक्ताः सुखमासत इत्यर्थः ॥ २८ ॥

---

1- -1. B.T.W. Omit.

**विज०** इत्युक्त्वा सपुनश्चैव चुक्रोश भृशदुःखितः ।

**तदाकर्ण्यार्जुनो मानी समुत्थाय वरासनात् ।**
**अपृच्छत्स्वयमासाद्य ब्राह्मणं केशवान्तिकात् ॥**

**किमासन्नर्भकाः ब्रह्मंस्तवकेनासि दुःखितः ।**
**ब्रूहि तत्त्वमशेषेण त्वामद्य सुखयाम्यहम् ॥**

**इत्युक्तो ब्राह्मणः प्राह जातो जातोऽर्भको मम ।**
**नीयते तात केनापि तत्क्षणे सूतिका गृहात् ॥**

हिंसा विहारादि कर्मयुक्तं नृपतिं भजन्त्यः सीदन्ति ॥ २५॥

द्वितीयं द्विवारं, तृतीयं त्रिवारं, पुनश्चतुर्वारम् ॥ २६,२७ ॥

केनापि पुंसामीयते ॥

किमाहेत्यत्राह किं ब्रह्मणेति। इह त्वन्निवास स्थाने धनुर्धरो नास्ति किमित्यब्रवीत् धनुर्धरेण किं कार्यमत्राह, राजन्य बन्धोरिति, एते ब्राह्मणाः राजन्यबन्धोर्हेतोः सत्रमासते वै ॥ २८॥

❖ **धनदारात्मजाऽपृक्ता[1] यत्र शोचन्ति ब्राह्मणाः ।**
**ते वै राजन्य वेषेण नटा जीवन्त्यसुम्भराः ॥ २९ ॥**

**अहं प्रजां वां भगवन्रक्षिष्ये दीनयो रिह ।**
**अनिस्तीर्ण प्रतिज्ञोऽग्निं प्रवेक्ष्ये हतकल्मषः ॥ ३० ॥**

**ब्राह्मण उवाच**

**सङ्कर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नो धन्विनां वरः ।**
**अनिरुद्धोऽप्रतिरथो न त्रातुं शक्नुवन्ति यत् ॥ ३१ ॥**

**तत्कथं नु भवान् कर्म दुष्करं जगदीश्वरैः ।**

**चिकीर्षसि त्वं बालिशात्तन्न श्रद्दध्महे वयम् ॥ ३२ ॥**

---

❖ According to M.Ma editions these four verses are found in 100th chapter as 23rd to 26 Slokas. 1. K.Ml.T.V.W. °युक्ता

**श्रीध०** तदेवाह - **धनदारात्मजापृक्ता यत्रेति**। धनादिभिः वियुक्ताः सन्तो यत्र येषु जीवत्सु राजन्येषु शोचन्ति ते जीवन्ति केवलं[1-] [-1] जीविकां सम्पादयन्ति ॥ २९ ॥

**अहमिति**। हतकल्मष इति। अग्निप्रवेशेन ब्राह्मण विलापश्रवणपातकात्पूतो भवेयमित्यर्थः। अहतकल्मष इति वा ॥३०,३१॥

**तदिति**। न श्रद्दध्महे न सम्प्रतीमः ॥ ३२ ॥

---

1- -1 B. Omits

**वीर०** यत्र येषु जीवत्सु ब्राह्मणाः धनदारात्मजैः अयुक्ताः वियुक्ताः[1] एवं शोचन्ति ते वै राजन्य रूपेण क्षत्रियवेषेण नटा इव असुम्भरा स्वप्राणपोषणपराः जीवन्ति ते जीवच्छवप्राया इति भावः ॥ २९ ॥

**अहमिति**। दीनयोः वां युवयोः प्रजां जनिष्यमाणं पुत्रमहं इहैव स्थित्वा रक्षिष्ये यद्यहमनिस्तीर्णप्रतिज्ञः अनिष्पादित प्रतिज्ञः स्यां तर्ह्यग्निं प्रवेक्ष्ये[2]। ततो हतकल्मष ब्राह्मणविलाप श्रवणपातकादनृत भाषणाच्च पातकान्मुक्तो भवेयम्। 'अहत कल्मष' इति वा च्छेदः। यद्यनिस्तीर्ण प्रतिज्ञस्तर्ह्यनिरस्तपापस्तदपनोदनाय प्रवेक्ष्यामि इत्यर्थः ॥ ३० ॥

एवमुक्तः प्राह - विप्रः **सङ्कर्षण** इति द्वाभ्याम्। सङ्कर्षणो बलदेवः, वासुदेवः श्रीकृष्णः, धन्विनां श्रेष्ठः, प्रद्युम्नः न विद्यते प्रतिरथः समबलो यस्य सोऽनिरुद्धश्चेत्येते यन्मदपत्यं त्रातुं न शक्नुवन्ति ॥ ३१ ॥

तज्जगदीश्वरैः अपि कर्तुमशक्यं मदपत्यत्राणात्मकं कर्म कथं भवान् कर्तुं शक्नोति यतस्त्वं बालिशादज्ञानान्मौर्ख्याद्वा चिकीर्षसि तत्तस्माद्वयं न श्रद्दध्महे न विश्वसिमः ॥ ३२ ॥

---

1. B. Omits वियुक्ता 2. B. Omits प्रवेक्ष्ये

**विज०** राजापि स एव श्रेयानितरो दुःखहेतुरित्याह - **धनदारेति**। यत्र यस्मिन् देशे राजन्य वेषेणासुम्भरा नरा जीवन्ति तस्मिन् देशे स्थितास्ते भृत्या राज्ञा भरणीयाः ब्राह्मणाः धनदारात्मजैः सह शोचन्तीत्यन्वयः। यद्वा यत्र येषु राजसु सत्सु ब्राह्मण धनादिभिः सह शोचन्ति ते राजन्यवेषेण नटा एव जीवन्ति, न तु सद्वंश्याः। कुतः? असुम्भराः स्वप्राणपोषण परायणा वै यस्मात् तस्मात् दीनयोर्युवयोः अहतकल्मषः मिथ्याप्रतिज्ञत्वात् ॥ २९, ३० ॥

तत्रार्जुनस्याहङ्काराविष्करणाय ब्राह्मणो वक्ति **सङ्कर्षण** इति। सङ्कर्षणादयस्त्रातुं न शक्नुवन्ति, यद्यस्मात्तस्मा ज्जगदीश्वरैः दुष्करं कर्म कथं चिकीर्षति 'बालिशो बालमूर्खयोरिति' (वैज.को 7-4-20) वचनात् बालिशात् आत्मशक्त्यनभिज्ञानात् इह कर्मणि तव वाक्यं न श्रद्दध्महे ॥ ३१,३२ ॥

## अर्जुन उवाच

❖ **नाहं सङ्कर्षणो ब्रह्मन्! न कृष्णः कार्ष्णिरेव च ।**
**अहं वा[1] अर्जुनो[1] नाम गाण्डीवं यस्य[2] वै धनुः[2] ॥ ३३ ॥**

**मावमंस्था मम ब्रह्मन्! वीर्यं त्र्यम्बक तोषणम् ।**
**मृत्युं विजित्य प्रधने आनेष्ये[3] ते प्रजां प्रभो![3] ॥ ३४ ॥**

## श्रीशुक[4] उवाच

★ **एवं विश्रम्भितो विप्रः फाल्गुनेन[5] परन्तप! ।**
**जगाम स्वगृहं प्रीतः पार्थवीर्यं निशामयन् ॥ ३५ ॥**

**प्रसूति काल आसन्न भार्यया द्विज सत्तमः ।**
**पाहि पाहि प्रजां[6] मृत्योरित्याहार्जुनमातुरः ॥ ३६ ॥**

---

❖ According to M.Ma edns. these two verses are found in 100th chapter as 28 & 29 Slokas 1- -1 M.V. पार्थोऽर्जुनो 2- -2 M. Ma गाण्डीवं तस्य कार्मुकम्। 3- -3 Ml. V. आनेष्यं ते प्रजाः प्रभो ; M. Ma आनयिष्ये तव प्रजाः ; K.T.w. आनेष्ये ते प्रजां विभो! 4- -4 B.G.J.K.M.Ma.T.W. omit.

★ According to M.Ma editions these two Slakas are found in 100th chapter as 39&40 slokas. 5.K.Ml.V. फ 6.Ml.V. सुतं

**श्रीध० एवमिति**। एवं प्रौढिवादैर्विश्रम्भितो विश्वासं प्रापितः निशामयन् श्रृण्वन् ॥ ३३-३६॥

**वीर०** इत्थमुक्तः प्राह अर्जुनः - **नाहमिति** द्वाभ्याम्। कार्ष्णिः कृष्णस्यापत्यं पुमान् प्रद्युम्नः चकारादनिरुद्धश्च न भवामि। किन्तु तेभ्योप्यतिशयितशक्तिः अर्जुनोऽहं यस्य अर्जुनस्य मम गाण्डीवं धनुरस्ति ॥ ३३ ॥

हे ब्रह्मन्! मम वीर्यं मावमंस्थाः अवहेलनं मा कार्षीः। तत्र हेतुत्वेन विशिनष्टि-त्र्यम्बकतोषणं त्र्यम्बको रुद्रः स तुष्यत्यनेनेति तथा तत्, अतो हे प्रभो! मृत्युमपि प्रधने युद्धे विजित्य त्वत्प्रजामानेष्ये ॥ ३४ ॥

**एवमिति**। इत्थं फल्गुनेनार्जुनेन[1] विस्रम्भितः विश्वासं प्रापितः विप्रः प्रीतः स्वगृहं जगाम। ततो हे परन्तप! पार्थस्य वीर्यं निशामयन्नास्ते इति शेषः ॥३५॥

**प्रसूतीति**। भार्यायाः प्रसूतिकाले आसन्ने सति तदा द्विजसत्तमः आतुरस्सन् अर्जुनं प्रतीत्थमाह - कथम्? मम प्रजां मृत्योः पाहि पाहीति ॥ ३६ ॥

---

1. B. फा°

**विज०**

इति विस्रम्भयित्वा तं कृष्णमाहार्जुनो नृप ।
अनुज्ञां देहि भगवन् ब्राह्मणार्थे प्रयास्यतः ॥ 21 ॥

यजतां वाजिमेधेन भवानेभिर्महात्मभिः ।
इति ब्रुवन्तं बीभत्सुमनुज्ञां प्रेप्सुमच्युतः ॥ 22 ॥
बद्ध तूणं च गाण्डीवं स्मयमानोऽब्रवीद्वचः ।

**श्रीभगवानुवाच**

अहमेवागमिष्यामि न त्वया शक्यतेऽर्जुन ।
तमसाधारणंभूतं मन्ये येन हतोर्भकः ॥ 23 ॥

**अर्जुन उवाच**

सलोकपालो देवेन्द्रः खाण्डवो विजितो मया ।
किरातरूपी युद्धेन तोषितश्च त्रियम्बकः ॥ 24 ॥

निवातकवचाश्चैव बासवेनापि दुर्जयाः ।
मयैवानिहताः सङ्ख्ये हिरण्यपुरवासिनः ॥ 25 ॥

तेभ्योऽधिकतरं भूतं किं नु दानवसूदन!
बिभीषयसि मां कस्मादनुज्ञां देहि साम्प्रतम् ॥ 26 ॥

## श्रीशुक उवाच

इत्युक्तः प्रददौ कृष्णस्त्वनुज्ञां सव्यसाचिने ।
निर्ययौ यज्ञशालायाः सङ्गृहीत शरासनः ॥ 27 ॥

रथमास्थाय विपुलं समुच्छ्रित कपिध्वजम् ।
अग्रे ब्राह्मण मारोप्य तद्गाममभितो ययौ ॥ 28 ॥

तत्र गत्वा प्रविष्टायां तत्पत्न्यां सूतिकागृहम् ।
ब्राह्मणं प्राह बीभत्सु रवरोप्य रथान्नृप ॥ 29 ॥

## अर्जुन उवाच

याहि स्व भवनं ब्रह्मन् अभयं भव सर्वतः ।
दत्तं मयाऽद्य तद्भीतां पत्नीमाश्वासयाऽऽशु ते ॥ 30 ॥

प्रोवाच द्रुतमभ्येत्य पार्थः शस्त्रभृतां वरम् ।
एहि पार्थ महाबाहो ! यत्तो भव युधां वर ।
अत्र पूर्वं कृतानां हि पौरुषाणां निदर्शनम् ॥ 31 ॥

## श्रीशुक उवाच

इत्युक्तो रथमारुह्य सज्यं कृत्वा तु गाण्डीवम् ।
त्वरन् जगाम बीभत्सुः सूतिका भवनान्तिकम् ।
ब्राह्मणोऽपि प्रविश्याह मुहूर्ते सूतिकागृहे ॥ 32 ॥

अत्रार्जुनः स्वगर्वमुद्गलयति अर्जुन इति। "धनञ्जयो रणे रणे" (ऋग्वे.1-74-3C) इति श्रुति प्रसिद्धेः। अहं धनञ्जयो नाम प्रख्यातः धनुष्मत्ता च ईदृशीत्याह - गाण्डीवमिति ॥ ३३ ॥

मावमंस्था अवमानं न कुरु मृत्युम् यमम् ॥ ३४,३५ ॥

ततः किं फलितमत्राह - इतीति ॥ १ ॥

तत्र कृष्णोऽहङ्कारिणो देवप्रसादो न स्यादिति भाववानर्जुनं निवारयन्निव वक्ति इतीति। बद्धतूणं पृष्ठबद्ध तूणीरम् ॥ २ ॥

अल्पकार्य हेतुस्त्वद्गमनं किमर्थमित्यत्राह तं असाधारणमिति भूतं देवयोनिम् ॥ ३ ॥

अर्जुनः स्वगर्वमुद्गलयति स लोकपाल इति ॥ ४,५ ॥

भूतं देवयोनिम् ॥ 26,27 ॥

अभित उद्दिश्य ॥ 28,29 ॥

युधाम्वर युध्यन्तीति युधो योधास्तेषां वर पौरुषाणां पुरुष पराक्रमाणां निदर्शनं दृष्टान्तः ॥ ३६ ॥

★ **स उपस्पृश्य शुच्यम्भो[1] नमस्कृत्य महेश्वरम् ।**
**दिव्यान्यस्त्राणि[2] संस्मृत्य[-2] सज्यं गाण्डीवमाददे ॥ ३७ ॥**

**न्यरुणत्सूतिकागारं शरैर्नानास्त्रयोजितैः ।**
**तिर्यगूर्ध्वमधः पार्थश्चकार शरपञ्जरम् ॥ ३८ ॥**

**ततः कुमारः सञ्जातो विप्रपत्न्याः रुदन् मुहुः[3] ।**
**सद्योऽदर्शनमापेदे सशरीरो विहायसा ॥ ३९ ॥**

**तदाह विप्रो विजयं विनिन्दन् कृष्णसन्निधौ ।**
**मौढ्यं पश्यत मे योऽहं श्रद्दधे क्लीबकत्थनम् ॥ ४० ॥**

---

★According to M.Ma (editions) in 100th chapter 44 to 47 1. Ml.V. °म्भु 2- -2 K.T.W. दिव्यान्यस्त्राण्यनुस्मृत्य ; Ml.V. दिव्यास्त्राणि च संस्मृत्य 3. K.T.W मृतः

**श्रीध० स** इति। ब्राह्मणोपेक्षकत्वेन कृष्णमवज्ञाय महेश्वरं नमस्कृत्य ॥ ३७ ॥

**न्यरुणादिति**। न्यरुणदावृतवान्। तदेवाऽऽह तिर्यगूर्ध्वमिति ॥ ३८ ॥

**तत** इति। अदर्शनमापेदे देहोऽपि नावशिष्ट इत्यर्थः ॥ ३९, ४० ॥

---

1- -1 B.J. कृष्णावज्ञया 2. Ml.V. नावशिष्टते

**वीर० स** इति। सोऽर्जुनः शुचिः शुद्धमम्बु जलम् उपस्पृश्याऽऽचम्य ॥ ३७ ॥

**न्यरुणदिति**। न्यरुणदावृतवान्। तदेवाह - तिर्यगूर्ध्वमिति ॥ ३८ ॥

**तत** इति। विप्रपत्न्याः सञ्जातः कुमारो रुदन्नेव मृतः। अदर्शनमापेदे, देहोऽपि नावशिष्टः इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

**तदेति**। अहो मम मौढ्यं पश्यत योऽहं क्लीबस्य षण्डस्यार्जुनस्य कत्थनं प्रगल्भभाषणं श्रद्दधे विस्रब्धवान् अस्मि अतोऽहं मूढः ॥ ४० ॥

**विज०** सूतिकागारं सूतिकागृहं शरैर्न्यरुणत् आवृतवान् ॥ ३७,३८ ॥

भगवदनुग्रहरहितस्य साधनबाहुल्येन किं फलमिति भावेनाह - **तत** इति ॥ ३९ ॥

तदनन्तरं किमभूदित्यत्राह - **तदेति**। अथार्जुनं विनिन्दति तत्रेति ॥ ४० ॥

**★ न प्रद्युम्नो नानिरुद्धो न रामो न च केशवः ।**
**यस्य[1] शेकुः परित्रातुं कोऽन्यस्तदवितेश्वरः ॥ ४१ ॥**

**धिगर्जुनं मृषावादं[2] धिगात्मश्लाघिनो धनुः ।**
**दैवोपसृष्टं[3-] यो[-3] मौढ्यादानिनीषति दुर्मतिः ॥ ४२ ॥**

**एवं शपति विप्रर्षौ विद्यामास्थाय फाल्गुनः[4] ।**
**ययौ सयमनीमाशु यत्रास्ते भगवान् यमः ॥ ४३ ॥**

**विप्रापत्यमचक्षाणः तत्र ऐन्द्रीमगात् पुरीम् ।**
**आग्नेयीं नैर्ऋतीं सौम्यां वायव्यां वारुणीमथ ॥**
**रसातलं नाकपृष्ठं धिष्ण्यान्यन्यान्युदायुधः ॥ ४४ ॥ △**

---

★ According to M. Ma editions in 100th chapter 48 to 52 Slokas. 1. K.Ml.T.V.W. यत्र 2. Ml.V °चं 3- -3 K.T.W. °सादितं 4. K.Ml.V. फ° △ According to Viza second half verse is in next unit.

**श्रीध० नेति**। यस्य प्रजाः तत्तत्र ॥ ४१-४४ ॥

**वीर०** प्रद्युम्नादय एव यत्परित्रातुं न शेकुः न प्रबभूवुः तत् मदपत्यमावितुं त्रातुं को वा ईश्वरः समर्थः ॥ ४१ ॥

अतोऽर्जुनं धिक् स निन्द्य इत्यर्थः। 'उभ सर्वतसोः' (वार्तिक.under अष्टा. 1-4-48) इति द्वितीया। तत्र हेतुमृषा वदतीति तथा तम्। आत्मस्तुतिशीलस्यास्य धनुर्गाण्डीवमपि धिक्। तत्र हेतुर्योऽर्जुनः दुष्टा मतिर्यस्य स तथाभूतस्सन् दैवेनोपसादितं लोकान्तरं प्रापितं मौढ्यादानिनीषति। आनेतु मिच्छतीति ॥ ४२ ॥

**एवमिति**। एवं विप्रर्षौ शपति निन्दति सति स फाल्गुनोऽर्जुनः विद्यां सर्वलोकसञ्चारावहां योगविद्यामाश्रित्य तावत्संयमनीं यमपुरीं प्रति ययौ। यत्र संयमिन्यां भगवान् यम आस्ते तां इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

तत्र विप्रस्यापत्यमचक्षाणोऽपश्यन् एवं क्रमेणेन्द्रियादि पुरीः, तत्र तत्राचक्षाणो ययौ । याम्या पुरी इयमन्या अस्यैव यमस्यैव सम्बन्धिनी दक्षिणदिक्स्था रसातलं पातालं नाकपृष्ठं नाकस्य स्वर्गस्य पृष्ठम् उपरितनं लोकं, किं बहुना? सर्वांश्च लोकान्वायुवच्चचार ॥ ४४ ॥

**विज०** यस्य ममार्भकं परित्रातुं न शेकुः सोऽहं कृष्णस्य सन्निधौ यस्य तव विकत्थनं श्रद्दधे वै तं त्वां धिक्, आत्मश्लाघिनः स्वस्य तव धनुश्च धिक्, तदधिकेश्वरः तेभ्यः प्रद्युम्नादिभ्योऽधिकेश्वरश्च कः ॥ ४१ ॥

किमित्येवं निन्दसीति तत्राऽऽह - दैवेति। दैवेनोपसृष्टयो रुपद्रुतयो रावयोः पुत्त्र मानिनीर्षति आनेतुमिच्छति ॥ ४२ ॥

विद्यां मनुष्यागम्यगमन सामर्थ्यकरीम् ॥ ४३ ॥

नैर्ऋतीं निर्ऋते विद्यमानां दिशं, सौम्यां सोमस्य.वायव्यां वायोः, वारुणीं वरुणस्य ॥ ४४ ॥

**★ ततोऽलब्धद्विजसुतो ह्यनिस्तीर्ण प्रतिश्रुतः ।**
**अग्निं विविक्षुः कृष्णेन प्रत्युक्तः प्रतिषेधता ॥ ४५ ॥**

**दर्शये द्विजसूनूं स्ते माऽवज्ञात्मनः कृथाः[1] ।**
**ये[2] ते न कीर्तिं विमलां मनुष्याः स्थापयन्ति ते[2] ॥ ४६ ॥**

**इति सम्भाव्य भगवा नर्जुनेन महेश्वरः[3] ।**
**दिव्यं स्वरथ मास्थाय प्रतीचीं दिशमाविशत् ॥ ४७ ॥**

**सप्तद्वीपान् सप्तसिन्धून् सप्तसप्तगिरी नथ ।**
**लोकालोकं तथाऽतीत्य विवेश सुमहत्तमः ॥ ४८ ॥**

**तत्राऽऽश्वाः शैब्यसुग्रीव मेघपुष्प बलाहकाः ।**
**तमसि भ्रष्टगतयो बभूवु र्भरतर्षभ ! ॥ ४९ ॥**

**तान्दृष्ट्वा भगवान्कृष्णो महायोगेश्वरेश्वरः ।**
**सहस्रादित्य सङ्काशं स्वचक्रं प्राहिणोत्परः ॥ ५० ॥**

---

*According to M.Ma editions in 100th chapter these are 52 to 57 Slokas. 1- -1 B.G.J.Ml.V. "त्मानमात्मना 2- -2 Ml. V. मानवाः स्थापयिष्यन्ति कीर्तिं निन्दन्ति ये हि नः। 3. G. स° 4. Ml.V. गत्वा 5. Ml. V. सा

**श्रीध० तत** इति। प्रत्युक्तो वारितः उपपत्तिभिः प्रतिषेधं कुर्वता ॥ ४५ ॥

**दर्शय** इति। मावज्ञ माऽवजानीहि, ये निन्दन्ति त एव मनुष्या नः कीर्तिं स्थापयिष्यन्ति निश्चलां करिष्यन्ति. पाठान्तरन्तु छन्दोभङ्गभया दागन्तुकमिति ॥ ४६,४७ ॥

**सप्तद्वीपानिति**। सप्त सप्त संख्या गिरयो येषु द्वीपेषु तान् ॥ ४८-५० ॥

**वीर०** ततस्तत्र सर्वत्राऽप्यलब्धो द्विजसुतो येन सः। अत एव अनिस्तीर्ण प्रतिज्ञः, अत एवाऽग्निं प्रवेष्टुमिच्छु. प्रतिषेधता सामोक्तिभिः प्रतिषेधङ्कुर्वता श्रीकृष्णेन प्रत्युक्तो निवारितः ॥ ४५ ॥

प्रतिषेधपूर्वक निवारण प्रकारमेवाह-दर्शय इति। द्विजस्य सूनूं स्ते तुभ्यं दर्शये दर्शयिष्यामि। आत्मनः स्वस्य अवज्ञां मा कृथाः। एवञ्चेत्तव अमलां कीर्तिं मेते मनुष्याः स्थापयन्ति निश्चलां करिष्यन्ति। दूषयन्तीति पाठान्तरम्, तदात्मनोऽवज्ञा मा कृथाश्चेत् कीर्तिं दूषयिष्यन्तीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

**इतीति**। सम्भाष्य सम्भाषणेन प्रतिबोध्य भगवान्महेश्वरः श्रीकृष्णोऽर्जुनेन सह स्वकीयं रथमारुह्य पश्चिमां दिशमाविशत् ॥ ४७ ॥

**सप्तद्वीपानिति**। सप्तसप्तगिरयो येषु तान्, द्वीपांश्च ततो लोकालोकं पर्वत मतीत्य सुमहन्निबिडं तमोऽन्धकारं विवेश ॥ ४८ ॥

तत्र तमसि शैब्यादयोऽश्वाः प्रतिहतगतयो बभूवुः। हे भरतर्षभ! ॥ ४९ ॥

**तानिति**। तान् भ्रष्टगतीनश्वान् दृष्ट्वा श्रीकृष्णः स्वचक्रं सुदर्शनं पुरोऽश्वानां पुरतः प्राहिणो त्प्रायुङ्क्त ॥ ५० ॥

---

I. B. °ज्ञां माकृथाश्चेत् K. °ज्ञानं करोषि चेत्

**विज०** अनिस्तीर्ण प्रतिश्रुतः असाधित प्रतिज्ञः प्रत्युक्तः नेत्युक्तः प्रतिषेधता निषेधं कुर्वता, कथं नेत्युक्त इति तत्राऽऽह - दर्शय इति। आत्मनैव स्वयं आत्मानं मावधीः मा हिंसीः। सन्धि रार्षः। एतेन पुत्रादानादिना त्वन्निमित्तेन मानुष्यं मनुष्यलोकस्थां यथा स्यात्तथा ईश्वरादपि महानुत्तमः ॥ ४५-५० ॥

★ **तमस्सुघोरं गहनं कृतं[1-] महद्विदारयद्भूरितरेण रोचिषा ।**
**मनोजवं निर्विविशे सुदर्शनं गुणच्युतो रामशरो यथा चमूः ॥ ५१ ॥**

**द्वारेण चक्रानुपथेन तत्तमः परं परं ज्योतिरनन्तपारम्[2] ।**
**तमश्रुवानं प्रसमीक्ष्य फाल्गुनः प्रताडिताक्षोऽपिदधेऽक्षिणी उभे[3] ॥ ५२ ॥**

**ततः प्रविष्ट स्सलिलं नभस्वता बलीयसैजद्बृहदूर्मिभीषणम्[4] ।**
**तत्राऽऽद्भुतं वै भवनं द्युमत्तमं भ्राजन्मणिस्तम्भसहस्रशोभितम् ॥ ५३ ॥**

**तस्मिन्महाभीम[5] मनन्तमद्भुतं सहस्रमूर्धन्यफणामणिद्युभिः ।**
**विभ्राजमानं द्विगुणोल्बणेक्षणं[6-] सिताचलाभं शितिकण्ठजिह्वम्[-6] ॥ ५४ ॥**

---

★ According to M.Ma edns. in 100th chapter these are 58 to 61 Slokas. 1--1 MI.V. कृतं सुघोरं गगनच्छदं 2. MI.V. रगम् 3. MI.V. °पि° 4. B.G.J. MI.V. भृ° 5. MI.V. °हीन्द्रम° 6- -6 MI.V. द्विसहस्र नेत्रैः

**श्रीध० तम** इति। प्रकृतिपरिणामरूपं नाऽऽलोकाभावमात्रम् ॥ ५१ ॥

**द्वारेणेति**। चक्रानुपथेन चक्रमनुगतेन द्वारेण तत्तमः परं तस्मात्तमसः परं दूरे वर्तमानं श्रेष्ठं भागवतं ज्योतिः समश्रुवानं व्याप्नुवत् प्रसमीक्ष्य प्रताडिताक्षो नेत्रे न्यमीलयदिति ॥ ५२ ॥

**तत** इति। एजन्त उच्छलन्तो बृहन्तो महान्त ऊर्मयो भूषणं यस्य तत्, तत्र सलिले भवनं महाकालपुरं द्युमत्तमं द्युतिमत्सु श्रेष्ठम् ॥ ५३ ॥

तस्मिन्निति। सहस्रं मूर्ध्नि भवाः फणास्तासु मणय स्तेषां द्युतिभिः द्विसहस्रनेत्रैरूर्जितं स्फटिकगिरिसङ्काशं शितिकण्ठजिह्वं कण्ठाश्च जिह्वाश्च कण्ठजिह्वाः शितयो नीलाः कण्ठजिह्वाः यस्य तम् ॥ ५४ ॥

**वीर० तम** इति। गहनं दुष्प्रवेशं सुघोरं भयङ्करं महदपारं कृतम् भगवतैव सृष्टं तमो भूरितरेण बहुतरेण स्वतजेसा विदारयन्मनाजवं सुदर्शनं विवेश यथा रामस्य दाशरथेः शरो गुणान्मौर्व्याच्च्युतः चमूं रावणसेनां विवेश तद्वत् ॥ ५१ ॥

**द्वारेणेति**। चक्रानुपथेन चक्रमनुगतेन द्वारेण तस्मात्तमसः परं दूरे वर्तमानं भागवतमनन्तपारं ज्योतिः समश्नुवानं प्राप्नुवन्तं प्रसमीक्ष्य फाल्गुनोऽर्जुनः प्रतीडिते प्रतिहते अक्षिणी दृष्टी यस्य सः, उभे अप्यक्षिणी अपिदधे न्यमीलयत् ॥५२॥

**तत** इति। तत स्तमसः परता जलं प्रविष्टः। कथम्भूतः? बलीयसा प्रचण्डेन नभस्वता वायुना एजन्ते उच्चलन्तः बृहन्तः ऊर्मयस्तरङ्गाः तै भीषणं, भीषणमिति पाठे तदा ऊर्मय एव भूषणं यस्य तथाभूतं तस्य जलस्याधस्तादद्भुतं भवनं, प्रविष्ट इत्यनुषङ्गः। कथम्भूतम्? द्युमत्तमं द्युतिमच्छ्रेष्ठं भ्राजतां मणिमयस्तम्भानां सहस्रेणोपशोभितम्॥ ॥ ५३ ॥

**तस्मिन्निति**। तस्मिन्भवने तं प्रसिद्धमनन्ताख्यं महान्त महिं ददर्शेत्युत्तरेण सम्बन्धः। कथम्भूतम्? अद्भुतं विस्मयनीयं सहस्रं मूर्धानः फणाः तेषु भवा स्तेषां महतां मणीनां द्युभिर्दीप्तिभिः विशेषेण भ्राजमानं, द्विगुणैः द्विसहस्रसंख्यैः ईक्षणैः उल्बणमुग्रं सिताचलः स्फटिकपर्वतः तस्य आभा इव आभा यस्य तं, शितिः नीलः कण्ठो जिह्वाश्च यस्य तमिति ॥ ५४ ॥

**विज०** गगनं छादयतीति गगनच्छदं गुणच्युतः मौर्व्या मुक्तः ॥ ५१ ॥

चक्रानुपथे सुदर्शन गतानुकूलमार्गे कृतद्वारेण समश्नुवानं गच्छन्तं यदूत्तमं प्रसमीक्ष्य अक्षिणी पिदध इत्यन्वयः। अनन्त पारं अन्तपार वर्जितम् ॥ ५२ ॥

ततस्सलिलं प्रविश्य गतो भवनं ददर्श त्यन्वयः। बलीयसा नभस्वता वायुना एजद्भिः कम्पमानैः बृहद्भिः ऊर्मिभिः तरङ्गैः भीषणं, तत्र सलिले ॥ ५३ ॥

तस्मिन् भवने अनन्तं ददर्श, सिताम्बराभं श्वेताकाशवत् शोभमानं, शितिः नीलः कण्ठो यस्य सः, शितिकण्ठः जिह्मगः नम्रगात्रतस्तम् ॥ ५४ ॥

**☆ ददर्श तद्भोग सुखासनं विभुं महानुभावं पुरुषोत्तमोत्तमम् ।**
**सान्द्राम्बुदाभं सुपिशङ्गवाससं प्रसन्नवक्त्रं रुचिरायतेक्षणम् ॥ ५५॥**

**महामणिव्रात किरीट कुण्डल प्रभापरिक्षिप्त सहस्रकुन्तलम् ।**
**प्रलम्ब चार्वष्टभुजं स[1] कौस्तुभं श्रीवत्सलक्ष्म्या वनमालया वृतम् ॥ ५६ ॥**

**सुनन्दनन्दप्रमुखैः स्वपार्षदैः[2] चक्रादिभिर्मूर्तिधरैर्निजायुधैः ।**
**पुष्ट्या श्रिया कीर्त्यजयाऽखिलर्द्धिभिः निषेव्यमाणं परमेष्ठिनां पतिम् ॥ ५७ ॥**

**ववन्द आत्मान मनन्त मच्युतो जिष्णुश्च तद्दर्शन जात साध्वसः ।**
**ता वाह भूमा परमेष्ठिनां प्रभुः बद्धाञ्जली सस्मित मूर्जया गिरा ॥ ५८॥**

---

☆ According to M.Ma editions in 100th chapter these are 62 to 65 Slokas. 1. K.T.W. सु° 2. K.T.W. च पा°

**श्रीध० ददर्शेति**। तद्भोगसुखासनं तस्यानन्तस्य भोगो देहः सुखकरमासनं यस्य तम् ॥ ५५ ॥

**महामणि** इति। महान्तो मणि व्राता येषु तेषां किरीटकुण्डलानां प्रभा तया परिक्षिप्ताः सर्वतः स्फुरन्तः सहस्रमपरिमिताः कुन्तला यस्य तम् ॥ ५६ ॥

**सुनन्देति**। कीर्त्यजया कीर्तिसहितया अजया अखिलर्द्धिभिः अणिमादि विभूतिभिः मूर्तिधराभिः ॥५७॥

**ववन्देति**। ऊर्जया ऊर्जितया गिरा ॥ ५८ ॥

**वीर० ददर्शेति**। तस्यानन्तस्य भोगः शरीरमेव सुखासनं यस्य तं विभुं भगवन्तं ददर्श। कथम्भूतम्? महाननुभावः प्रभावो यस्य तं पुरुषोत्तमानां ब्रह्मादीनामप्युत्तमं, सान्द्रस्य अम्बुदस्येव आभा यस्य। शोभने पिशङ्गे वाससी यस्य, प्रसन्नं वक्त्रञ्च यस्य, रुचिरे सुन्दरे आयते च ईक्षणे यस्य तम् ॥ ५५ ॥

महान्तो मणिव्राता येषु तेषां किरीटकुण्डलानां प्रभया परिक्षिप्ताः सर्वतः स्फुरन्तः अनन्ताः कुन्तलाः यस्य तं, प्रलम्बा दीर्घा श्चारवो वर्तुलाश्च अष्टौ भुजा यस्य, शोभनः कौस्तुभो यस्य, श्रीवत्सं लक्ष्मं चिह्नं यस्य तं, वनमालया अलङ्कृतञ्च ॥ ५६ ॥

सुनन्दनादिभिः पार्षदैः विग्रहधरैः चक्रादिभिः स्वासाधारणैरायुधैश्च पुष्ट्यादिभिश्शक्तिभिः मूर्तिमतीभिः तथा अखिलर्द्धिभिः अणिमादिभिस्सेव्यमानं परमेष्ठिनां ब्रह्मादीनां पतिम् ॥ ५७ ॥

**ववन्द** इति। अजं हेयप्रतिभटं स्वस्मादनन्यं तमच्युतो ववन्दे ननाम। तथा जिष्णु रर्जुनश्च तस्य भगवतो दर्शनेन जातं साध्वसं भक्तिपूर्वकभयं यस्य सः ववन्दे। ततो बद्धाञ्जली तौ कृष्णार्जुनौ प्रति परमेष्ठिनां पतिः प्रभुर्भगवान् ऊर्जितया गम्भीरया गिरा प्राह ॥ ५८॥

---

1. K.T.W. अक्षिणी

**विज०** तस्यानन्तस्य भोगे सुख मासनं यस्य सः तथा तद्भोग सुखासनः, तम् ॥५५,५६॥

परमेष्ठिनां ब्रह्मणां, पतिम् ॥ ५७ ॥

अच्युतः कृष्णः, जिष्णु रर्जुनः ॥ ५८॥

**✤ द्विजात्मजा मे[1] युवयो र्दिदृक्षुणा**
**मयोपनीता भुवि धर्मगुप्तये ।**
**कलावतीर्णा ववने र्भरासुरान्**
**हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे ॥ ५९ ॥**

**पूर्णकामावपि युवां नरनारायणा वृषी ।**
**धर्ममाचरतां स्थित्यै ऋषभौ लोकसङ्ग्रहम् ॥ ६०॥**

**इत्यादिष्टौ भगवता तौ कृष्णौ परमेष्ठिना ।**
**ओमित्यानम्य भूमान मादाय द्विजदारकान् ॥ ६१ ॥**

**न्यवर्तेतां[2] स्वकं धाम सम्प्रहृष्टौ यथागतम् ।**
**विप्राय ददतुः पुत्रान् यथारूपं[3] यथावयः ॥ ६२ ॥**

---

✤ According to M.Ma editions in 100th chapter these are 66 to 69 Slokas 1. Ml.V. वै 2. B.G.J.T.W. °र्ततां 3. K.T.W. रूपां स्तदा प्रभू ; Ml.V. रूपां स्तथा प्रभू

**श्रीध० द्विजेति**। मे कलावतीर्णाविति सम्बोधनम्। शीघ्रं मे अन्ति सकाशम् इतमागच्छतम् ॥ ५९॥

**पूर्णकामा** इति। आचरतं कुरुतम्। इदं भारतयुद्धात्पूर्वमेव कृतमपि श्रैष्ठ्य कथन प्रस्तावेनाऽत्रोक्तम् ॥ ६०॥

**वीर०** उक्तिमेवाह द्वाभ्यां **द्विजात्मजा** इति। युवयो र्युवां दिदृक्षुणा द्रष्टुमिच्छता मया द्विजात्मजा मे उपनीताः मदन्तिकं प्रापिताः। किमावयोः दर्शनेन? इत्यत्र आह - धर्मगुप्तये भुवि कलया अवतीर्णौ, कलावतीर्णा विति छत्रिन्यायेनोक्तम्। कृष्णस्तु भगवान्स्वयमित्युपक्रमे पूर्णावतारत्वोक्तेः। अतो मदवतारत्वान्मम दिदृक्षा जातेति भावः। अर्जुनस्य नरांशत्व प्रसिद्धि मुपजीव्य इत्थमुक्तम्। नरस्य नारायणांशावतारत्वात् अवनेः भूमेः भारायितानसुरान् हत्वा भूय स्त्वरया मे मम अन्तिकं समीपम्, इत मागच्छतम्। इण् गतौ इत्यस्य रूपम् ॥ ५९ ॥

किञ्च **पूर्णकामा विति**। युवां पूर्वं नरनारायणा वृषी भूत्वेति शेषः। ऋषभौ श्रेष्ठौ, हेतुगर्भमिदम्। अतः पूर्णकामावपि स्थित्यै जगद्रक्षणार्थं लोकसङ्ग्रहं धर्म माचरतु राचरितवन्तौ लोकोऽर्वाचीनो जनः सङ्गृह्यते। प्रवर्त्यतेऽनेनेति तथा तम्। अत्र "यद्य दाचरति श्रेष्ठः" (भ.गी.33-21) इत्यादि गीता वचनार्थः उपक्षिप्तः ॥ ६०॥

**इतीति**। भगवता परमेष्ठिना इत्थ मादिष्टौ तौ कृष्णौ श्रीकृष्णार्जुनौ ओमिति तदाज्ञा मङ्गीकृत्य भूमानं भगवन्तं प्रणम्य द्विजपुत्रानादाय सम्प्रहृष्टौ धाम स्वगृहं प्रति यथाऽऽगतं न्यवर्तेताम्, आजग्मतुः। विप्रार्येति यथारूपा ननतिक्रान्त स्वस्व पूर्वरूपान् प्रभू कृष्णार्जुनौ ददतुः ॥ ६१,६२॥

**विज०** युवयोः कृष्णार्जुनयोः ॥ ५९ ॥

जगतः स्थित्यै । लोकसङ्ग्रहं धर्मम् ॥ ६०॥

कृष्णौ यदूत्तमार्जुनौ आनन्दभूमानं पूर्णानन्दम् ॥ ६१ ॥

प्रसूयतां प्रसवं गच्छतां रूपं यथा प्रसूतिकाले यद्रूपं तादृशं रूपं दधानान् ॥ ६२ ॥

**★ निशाम्य वैष्णवं धाम पार्थः परमविस्मितः ।**
**यत्किञ्चित्पौरुषं पुंसां मेने कृष्णानुकम्पितम् ॥ ६३ ॥**

**△ इतीदृशान्यनेकानि वीर्याणीह प्रदर्शयन् ।**
**बुभुजे विषयान्रम्या नीजे चाऽत्यूर्जितैर्मखैः ॥ ६४॥**

**प्रववर्षाऽखिलान् कामान् प्रजासु ब्राह्मणादिषु ।**
**यथाकालं यथैवेन्द्रो भगवान् श्रैष्ठ्य मास्थितः ॥ ६५॥**

**हत्वा नृपानधर्मिष्ठान् घातयित्वाऽर्जुनादिभिः ।**
**अञ्जसा वर्तयामास धर्मं धर्मसुतादिभिः ॥ ६६ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसहस्र्यां

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां

दशमस्कन्धे उत्तरार्धे द्विजकुमारानयनं नाम एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

---

★ According to M.Ma editions in 100th chapter this Sloka is 70th Sloka. △ 64,65,66 Slokas are not found in M.Ma Editions 1. B.G.J. K I W "यान्ग्राम्या"

**श्रीध० निशाम्य** इति ॥ ६३-६६ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे

श्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां

व्याख्यायां उत्तरार्धे एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

**वीर० निशाम्येति**। विष्णोस्सम्बन्धि धाम स्थानं निशाम्य दृष्ट्वा पुंसां यत्किञ्चित् पौरुष मस्ति तत्सर्वं कृष्णानुकम्पितं श्रीकृष्णाकृपालब्धमेवेति मेने। "शब्दः खे पौरुषं नृष्वि" ति(  ) गीतं दृष्टान्तमुखेन निश्चितवानित्यर्थः ॥ ६३ ॥

**इतीति**। ईदृशानि अतिदैव मानुषाणि चरित्राणि दर्शयन् अखिलेश्वरो भगवान् ग्राम्यान् विषयान् भोगान् बुभुजे। अखिलेश्वर इत्यनेन भोगप्रयुक्त कर्मवश्यत्वं व्युदस्यते ऊर्जितैः पुष्कलदक्षिणै र्मखैः यज्ञैः ईजे इष्टवान् ॥ ६४ ॥

**प्रववर्षेति**। ब्राह्मणा आदिर्यासां तासु प्रजासु अखिलानभिलषितान् कामान् प्रववर्ष। यथेन्द्रो - यथाकालं वर्षर्तुमनतिक्रम्य वर्षति तथा भगवानपि श्रैष्ठ्यं परत्व मास्थितः[1] कामान् ववर्ष ॥ ६५ ॥

**हत्वेति**। कांश्चिदधर्मिष्ठान् स्वयं हत्वा कांश्चि दर्जुनादिभि र्घातयित्वा धर्मसुतादिभिः युधिष्ठिरादिभिः अञ्जसा ऋजुमार्गेण सुखेन वा धर्मं वर्णाश्रमा द्यनुगुणं प्रवर्तयामास ॥ ६६ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे

श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां व्याख्यायां

उत्तरार्धे एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

---

1. B. माश्रितः

**विज०**

According to M.Ma editions in 100th chapter these are 71 to 74 Slokas.

तथाप्रविश्य गोविन्दो यज्ञवाटं पुनः स्वयम् ।
पूर्णपुरोहितैर्विप्रैः ऋत्विग्भिः क्षत्त्रियर्षभैः ॥ क ॥

प्रायश्चित्तन्तु चलने दीक्षायां य उदाहृतः ।
तं चकार यथान्यायं ब्राह्मणै रनुमोदितः ॥ ख ॥

समाप्य यज्ञं विधिवत्तर्पयित्वाऽर्थिनो द्विजान् ।
ऋत्विग्भ्यः पूजयित्वाऽन्या नृर्षीश्च कुरुसत्तम ॥ ग ॥

यमुनायां महानद्यां कृत्वाऽवभृथमज्जनम् ।
विजहार यथाकामं महर्षिभि र्यदूत्तमः ॥ घ ॥

पुंसां यत्किञ्चित्पौरुषं कृष्णानुकम्पितं मेने ॥ ६३-६६ ॥

दीक्षायां मध्ये चलने तत उत्थय गमने प्रायश्चित्त मुद्दिश्य यः कर्मविशेष उदाहृतः तं चकार ॥ क.ख.ग.

अवभृथनिमित्तमज्जनम् ॥ घ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥
(श्रीविजयध्वजरीत्या शततमोऽध्यायः)

# नवतितमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या द्विशततमोऽध्यायः)

**श्रीशुक उवाच**

[1]सुखं स्वपुर्यां निवसन् द्वारकायां श्रियः पतिः ।
सर्वं सम्पत्समृद्धायां [2]जुष्टायां वृष्णिपुङ्गवैः ॥ १ ॥

स्त्रीभिश्चोत्तमवेषाभिः नवयौवनकान्तिभिः ।
[3-]कन्दुकैः हर्म्य सौधेषु [-3]क्रीडन्तीभिस्तटिद्द्युभिः ॥ २ ॥

नित्यं सङ्कुलमार्गायां मदच्युद्भिर्मतङ्गजैः ।
स्वलङ्कृतैर्भटैरश्वै रथैश्च [4]कनकोज्ज्वलैः ॥ ३ ॥

उद्यानोपवनाढ्यायां पुष्पितद्रुमराजिषु ।
निर्विशद्भृङ्गविहगैर्नादितायां समन्ततः ॥ ४ ॥

रेमे षोडशसाहस्रपत्नीनामेकवल्लभः ।
[5-]तावद्विचित्र रूपोऽसौ [-5 6]तद्गृहेषु महर्द्धिषु ॥ ५ ॥

प्रोत्फुल्लोत्पलकह्लार कुमुदाम्भोजरेणुभिः ।
वासितामलतोयेषु कूजद्द्विजकुलेषु [7]च ॥ ६ ॥

1. T.W स्वयं 2. Ml.V. संवृतो 3- -3 B.G.J.K.T.W. कन्दुकादिभिर्हर्म्येषु ; Ml.V. हर्म्येषु कन्दुकाद्यैस्तु 4. Ml.V. वचो° 5- - 5 M.Ma.Ml.V. तावन्ति बिभ्रद्रूपाणि 6. B.G.J "द्गे° 7.M.Ma. कुलादिभिः ॥

## श्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

चरमे तु पुनः प्रोक्ता कृष्णलीला समासतः। यदुवंशप्रसूतानामानन्त्यञ्च सकारणम् ॥

श्रीकृष्ण विभूतिं समासेन दर्शयति - **सुखमिति**। सर्वसम्पद्विशिष्टायां श्रियः पतिः षोडशसहस्र पत्नीनामेकवल्लभ स्सन् तासां गेहेषु रेमे इत्यन्वयः ॥ १-५ ॥

गृहविशेषणं **प्रोत्फुल्ले**त्यादिश्लोकेन ॥ ६ ॥

---

1. B.J. "म्पदादि वि" 2. B.G. गे"

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ भगवतः श्रीकृष्णस्य स्वपत्नीभिस्सह क्रीडाप्रकारं तासां तस्मिन्ननुरागातिशयं पुत्रपौत्रादि सन्ततीः प्रकृत स्कन्धार्थं श्रवणादि फलञ्च वर्णयति नवतितमेन **सुखं स्वपुर्यामि**त्यादिना। श्रियःपतिः इत्यस्य 'रेमे षोडशसाहस्र पत्नीनामेकवल्लभः' इत्युपरिष्टात् सम्बन्धः। वृष्णिपुङ्गवैः स्त्रीभिश्च जुष्टायां सेवितायाम् इति सम्बन्धः ॥ १ ॥

कथम्भूताभिः? नवयौवनेन कान्तिर्यासां ताभिः तडितामिव द्यौर्द्युति र्यासां ताभिः ॥ २ ॥

**नित्यमिति**। सङ्कुलाः सङ्कीर्णाः मार्गा तस्यां द्वारकायाम् इति पूर्वेण सम्बन्धः। मदच्युद्भिः मदजल स्राविभिः मतङ्गजैः गजैः सुष्ठुलङ्कृतैः भटैः कनकेनोज्ज्वलै रथैश्च ॥ ३ ॥

किञ्च। उद्यानैरुपवनैश्च आढ्यायां, कथम्भूतैः? पुष्पिता ये द्रुमाः तेषां राजिषु पङ्क्तिषु निर्विशन्तो भृङ्गाणां निवहाः समूहाः येषु तैः, नादितायामित्यस्य मतङ्गजादिभिरिति शेषः। यद्वा - निर्विशतां भृङ्गाणां निवहैः नादितायाम् ॥४॥

**रेमे** इति। षोडशसहस्रपत्नीनामेक एव वल्लभः पतिस्सन् तावन्ति षोडश सहस्राणि रूपणि मूर्ती बिभ्राणः तासां गृहेषु रेमे इति सम्बन्धः। कथम्भूतेषु? महत्य ऋद्धयः भोग्यभोगोपकरणादि समृद्धयः येषु ॥ ५॥

प्रोत्फुल्लानां उत्पलानां रेणुभिर्वासितानि अमलानि तोयानि येषु तेषु कूजन्ति द्विजानां पक्षिणां कुलानि समूहा येषु तेषु ॥ ६ ॥

## श्रीविजयध्वज तीर्थकृता पदरत्नावली

अनेनाऽध्याय द्वयेन गृहस्थधर्मानुकरण लक्षणं हरेस्सनिधानात् सर्वतीर्थोत्तमत्त्वं द्वारकायाश्च कथ्यते। तत्र प्रथमं द्वारकापुरं वर्णयति **सुखमिति** ॥ १ ॥

**हर्म्येषु धनिनां योग्येषु समुन्नतगृहेषु सौधेषु सुधाधवलितेषूत्तम गृहेषु** ॥ २,३ ॥

**निर्विशद्भिः मिथ उपभुञ्जनैः भृङ्गविहङ्गैः नादितायां घोषवत्कृतायाम्** ॥ ४,५ ॥

वासितामलतोयेषु परिमलीकृतजलेषु ॥६॥

**विजहार विगाह्याम्भो ह्रदिनीषु[1] महोदयः ।**
**कुचकुङ्कुमलिप्ताङ्गः परिरब्धश्च[2] योषिताम् ॥ ७ ॥**

**उपगीयमानो गन्धर्वै मृदङ्गपणवानकान् ।**
**वादयद्भिर्मुदा वीणाः[3] सूतमागधवन्दिभिः ॥ ८ ॥**

**सिच्यमानोऽच्युत[4] स्ताभिर्हसन्तीभिश्च[5] रेचकैः[6] ।**
**प्रतिसिञ्चन्विचिक्रीडे[7] यक्षीभिर्यक्षराडिव[8] ॥ ९ ॥**

**ताः क्लिन्नवस्त्र विवृतोरु कुचप्रदेशाः सिञ्चन्त्य उद्धृत बृहत्कबरप्रसूनाः ॥**
**कान्तं[9] स्म रेचक जिहीरषयोपगुह्य[9] जातस्मरोत्सवलसद्वदना[10] विरेजुः ॥ १० ॥**

---

1. MI.V. ह्रा° 2. M.Ma °स्स्व 3. B.G.J. °णां 4. M. Ma.T.W. सेव्य° 5. B.G.J. °स्स्म 6. K.T.W. सैचनैः 7. MI.V. पत्नीः सि° 8--8 M. Ma मुखरः शक्तिभिः स्वयम् । 9--9 K.T.W. कान्तं स्व सेचन जिहीर्षुतयो° ; M.Ma कान्तस्य चेतन जिहीर्षतयो ; MI.V. कान्तं स्म रेचक जिहीर्षुतयो° 10. M. Ma. MI.V. °त्स्मय

**श्रीध०** तथा ह्रदिनीषु[1] चाऽम्भो विगाह्य विजहार। महानुदयो वैभवं यस्य सः। योषितां कुचकुङ्कुमैर्लिप्ताङ्गः, यतः ताभिः परिरब्धः ॥ ७ ॥

**उपगीयमान** इति। सूतमागधवन्दिभिश्चोपगीयमानः ॥ ८,९ ॥

**ता** इति। ताः क्लिन्नवस्त्राः अत एव विवृतोरु कुचप्रदेशाः उद्धृतानि विस्रस्तानि बृहत्कबरेभ्यः प्रसूनानि यासां ताः, जातेन स्मरेण य उत्सवस्तेन[2] लसन्ति वदनानि यासां ताः ॥ १० ॥

---

1. MI.V. ह्रा° 2. MI.V. उत्स्मय°

**वीर०** किञ्च **उपगीयमान** इति। सूताः पौराणिकाः। मागधाः वंशावलि पाठकाः। कथम्भूतैः? वीणादीन् वादयद्भिः ॥७,८॥

**सेव्यमान** इति। ताभिर्योषिद्भिः सेचनैः जलसेचनैः हसन्तीभिः सेव्यमानः स्वयमपि ताः प्रतिषिञ्चन् यक्षीभिः यक्षराट् कुबेर इव विचिक्रीडे विक्रीडितवान् ॥ ९ ॥

**ता** इति। क्लिन्नानि सिक्तानि वस्त्राणि यासां ताः, अत एव विवृतोरुकुचप्रदेशाः ताश्च उद्धृतानि विस्रस्तानि बृहत्कबरेभ्यः प्रसूनानि यासां ता योषितः कान्तं भगवन्तं सिञ्चन्त्यः स्वसेचन जिहीर्षुतया स्वशब्दः कान्तपरः। तस्य सेचनपरिहारेच्छया तमेवोपगुह्यऽऽलिङ्ग्य तेन जातेन स्मरेण उत्स्मयः उत्कृष्टहासः तेन लसन्ति वदनानि यासां ता विरेजुः ॥ १० ॥

**विज०** ह्रादिनीषु नदीषु। स्वयोषितमिति षष्ठी तृतीयार्थे ॥ ७ ॥

वीणाः इति द्वितीया ॥ ८ ॥

रेचकैः जलप्रक्षेपणचर्मपात्रैः शक्तिभिः भार्यादिभिस्सह ॥ ९ ॥

क्लिन्नान्यार्द्राणि वस्त्राणि यासां ताः, विवृता ऊरुप्रदेशाः कुचप्रदेशाश्च यासां ताः, बृहन्ति कबराणि बृहत्कबराणि उद्धृतानि उन्मुक्तानि बृहत्कबरपूरितानि प्रसूनानि यासां ताः, कान्तस्य कमनीयस्य कृष्णस्य चेतनजिहीर्षतया चित्तवशीरणेच्छया उपगूहनक्रियया जातेनाऽऽविर्भूतेन स्मरोत्स्मयेन उत्कृष्टेन मन्दस्मितेन लसन्ति वदनानि यासां ताः ॥ १० ॥

**कृष्णस्तु तत्स्तनविषज्जितकुङ्कुमस्रक्क्रीडाभिषङ्गधुतकुन्तलबृन्दबन्धः[1-1] ।**
**सिञ्चन्मुहुर्युवतिभिः प्रतिषिच्यमानो[2] रेमे करेणुभिरिवेभपतिः परीतः ॥ ११ ॥**

❖ **नटानां नर्तकीनाञ्च[3] गीतवाद्योपजीविनाम् ।**
**क्रीडालङ्कार वासांसि कृष्णोऽदात्तस्य च स्त्रियः ॥ १२ ॥**

**कृष्णस्यैवं विहरतो गत्यालापेक्षितस्मितैः।**
**नर्मक्ष्वेलीपरिष्वङ्गैः[4] स्त्रीणां किल हृता धियः ॥ १३ ॥**

**ऊचुर्मुकुन्दैकधियोऽगिर उन्मत्तवज्जडम्।**
**चिन्तयन्त्योऽरविन्दाक्षं तानि[5] मे गदतः शृणु ॥ १४ ॥**

---

1--1. M. Ma °त सकुन्तलकुन्दगन्धः। 2. M. Ma. MI.V. परि। ❖ अत्र विजयध्वजरीत्या व्यधिकशततमोऽध्यायः समाप्यते। अग्रे सप्तविंशश्लोकावधि श्लोका न विद्यन्ते । अष्टाविंशतिश्लोकमारभ्य त्र्यधिकशततमाध्यायत्वेन पठ्यते च ॥ 3. K.MI.T.V.W. का° 4. B. G. J. T.W. क्ष्वेलि° ;MI.V. केलि° 5. MI.V. यानि

**श्रीध० कृष्ण** इति। तासां स्तनेभ्यो विषज्जित कुङ्कुमा स्रग्यस्य, क्रीडायामभिषङ्गेण अभिनिवेशेन धुतः कम्पितः कुन्तलबृन्दबन्धो यस्य सः ॥ ११-१३ ॥

**ऊचुरिति**। मुकुन्दैकधियः समाहिता इव उन्मत्ता[2] इव क्षणमगिरस्सत्यः पुनस्तमेवेशं चिन्तयन्त्यो जडं यथा भवति तथा, यानि वाक्यानि ऊचुस्तानि मे मत्तो गदतः शृण्वित्यर्थः ॥१४॥

---

1. B.J. या अभि 2. B.J. omit उन्मत्ता इव

**वीर० कृष्णस्त्विति**। तासां स्तनेभ्यो विषञ्जिता कुङ्कुमस्रग्यस्य सः, क्रीडायामभिषङ्गेणाऽभिनिवेशेन धुतः कम्पितः कुन्तलबृन्दबन्धो यस्य सः, स्वयं मुहुः सिञ्चन् युवतिभिः प्रतिषिच्यमानश्च करेणुभिः परिवृतो गजराडिव रेजे ॥ ११ ॥

**नटानामिति**। गीतैः वाद्यैः च उपजीवन्तीति तथा। तेषां नटादीनां नटादिभ्यः क्रीडार्थं येऽलङ्काराः भूषणानि वासांसि च तानि प्रादात् प्रायच्छत्। तथा स्त्रियोऽपि नर्तकीभ्यः प्रायच्छन् ॥ १२ ॥

**कृष्णस्येति**। कर्तरि षष्ठी गत्यादिभिरेवं विहरता कृष्णेन स्त्रीणां धियः हृताः ॥ १३ ॥

अत एव मुकुन्द एवैकस्मिन् धीर्यासां ताः, तमरविन्दाक्षं चिन्तयन्त्यः, तत्सान्निध्याभाव दशायामिति शेषः। अगिर इति छेदः क्षणमगिरः, धृतमौना इत्यर्थः। तत उन्मत्त इव जडं यथा तथा यानि वाक्यान्यूचुः तानि सम्यगादरतः कथयतो मत्तः शृणु ॥ १४ ॥

**विज०** तासां स्तनेभ्यः विषञ्जितानि सङ्क्रान्तानि कुङ्कुमानि तत् स्तनविषञ्जित कुङ्कुमानि तैर्मिश्रा स्रग्यस्य सः तथा कुन्तलैः-सह वर्तमानस्सकुन्तलः क्रीडाया मतिसङ्गतश्चाऽयं सकुन्तलश्च कुन्दगन्धश्च तथा कुन्दपुष्पवत् गन्धो यस्य स तथा। सिञ्चन्, जलमिति शेषः ॥ ११-१४ ॥

**गृहेषु तासामनिवार्य ईश्वरो निरस्तसाम्यातिशयो व्यवस्थितः।**
**रेमे रमाभिर्निजसौख्यसम्प्लुतो यथेतरो गार्हकमेधिकांश्चरन् ॥ क ॥**

अनिवार्य इत्यस्य विवरण मीश्वर इति। रमाभी रामाभिः लक्ष्मी सन्निधान युक्ताभिर्वा। निजसौख्य सम्प्लुतः स्वरूपानन्द समुद्रमग्नः गार्हकमेधिकान् गृहस्थाश्रमयोग्य धर्मांश्चरन् कुर्वन् ॥ क ॥

**इत्थं रमापतिमवाप्य पतिंस्त्रियस्ता ब्रह्मादयोऽपि पदवीं न विदुर्यदीयाम्।**
**भेजुर्मुदाऽविरत मेधितयाऽनुराग हासावलोक नवसङ्गमलज्जयैव ॥ ख ॥**

नवसङ्गमे या लज्जा सैव स्थिता तया अनुरागादियुक्तया ॥ ख

**महिष्य ऊचुः**

**कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो[1] गुप्तबोधः[2] ।**
**वयमिव सखि कच्चिद्गाढनिर्भिन्नचेता[3] नलिननयनहासोदार लीलेक्षितेन[4] ॥ १५ ॥**

**नन्त्रे निमीलयसि नक्तमदृष्टबन्धुस्त्वं रोरवीषि करुणं बत चक्रवाकि !**
**दास्यङ्गता वयमिवाच्युतपादजुष्टां किं वा स्रजं स्पृहयसे कबरेण वोढुम् ॥ १६ ॥**

**भो भो सदा निष्टनसे उदन्वन्नलब्धनिद्रोऽधिगतप्रजागरः ।**
**किं वा मुकुन्दापहृतात्मलाञ्छनः प्राप्तां[5] दशां त्वञ्च गतो[6] दुरत्ययाम् ॥ १७ ॥**

**त्वं यक्ष्मणा बलवता[7] निगृहीत इन्दो क्षीणस्तमो न निजदाधितिभिः क्षिणोषि ॥**
**कच्चिन्मुकुन्दगदितानि यथा वयं त्वं विस्मृत्य भो स्थगित भीरुपलक्ष्यसे नः ॥ १८ ॥**

---

1. Ml.V. प 2. K. °रो ग्रस्त ; Ml.V. °रग्रस्त 3. Ml.V. °विद्ध 4. Ml.V. °क्षणेन ॥ 5. K.T.W. प्राप्तो 6. K.T.W. यतो 7. B.G.J. °ताऽसि

**श्रीध० कुररीति**। ईश्वरः श्रीकृष्णः स्वपिति। त्वन्तु निद्राभङ्गं कुर्वती विलपसि न शेषे न स्वपिषि तदनुचितमित्यर्थः। अथवा नाऽपराधः तवापीत्याशयेनाऽऽहुः - नलिननयनस्य भगवतो हासेन सहित मुदारं यल्लीलेक्षितं तेन कच्चिद्गाढं निर्विद्धचेतास्त्वमिति ॥ १५ ॥

**नेत्र** इति। नक्तं रात्रावदृष्टबन्धुः सती रोरवीषि। किं वा नैतावत्, अपि तु वयमिव स्पृहयसे ॥ १६ ॥

**भो भो** इति। अलब्धनिद्रस्सदा निष्टनसे क्रोशसि, किं वा अस्माभिः प्राप्तां दशां त्वमपि गतोऽसि? अहो कष्टम् यथा वयं सम्भोगेन मुकुन्दापहृत कुचकुङ्कुमादि लाञ्छनाः तथा त्वमपि, यतोऽपहृत श्रीकौस्तुभादिलाञ्छनो लक्ष्यसे ॥ १७ ॥

**त्वमिति**। मुकुन्दगदितानि रहस्यानि विस्मृत्य तदेकचिन्तया कच्चित्त्वं क्षीणोऽसि? वयमिव स्थगितगीः[1] स्तब्धवाक् हे इन्दो! न स्तथैवोपलक्ष्यसे ॥ १८ ॥

---

1. B. J. तनुवाक्

**वीर०** कानि पुनस्तानीत्यत्राऽऽह - कुररीत्यादिना इतीदृशेनेत्यतः प्राक्तनेन। तत्रैकस्या वाक्यमाह **कुररीति**। हे कुररि! अस्मिन् जगति रात्र्यामीश्वरः कृष्णः ग्रस्त (गुप्त) बोधः विलुप्तबाह्यविषय ज्ञानः सन् स्वपिति शेते। त्वन्तु विगतनिद्रा सती विलपसि न तु शेषे न स्वपिषि। अनुचितं तन्निद्राभङ्गं करोषीति भावः। अथवा, नाऽपराधः तवापीत्याशयेनाऽऽह - नलिननयनस्य हासेन सहितमुदारं यल्लीलयेक्षितं तेन हे सखि! वयमिव त्वमपि गाढं यथा तथा निर्भिन्नं चेता यस्यास्सा कञ्चित् किमितिप्रश्नः ॥ १५ ॥

अन्यस्या वाक्यमाह - **नेत्र** इति। एवमाग्रेऽपि ज्ञेयम्। चक्रवाकि! नक्तं रात्रौ अदृष्टबन्धुः अदृष्टपतिः सती नेत्रे निमीलयसि किं किं वा करुणं यथा रोरवीषि। बतेति खेदेऽन्यम्। नैतावत् अपि तु वयमिव दास्यं प्राप्ता सती अच्युतपादेन जुष्टां सेवितां स्रजं कबरेण वोढुं स्पृहयसे किं वा ॥ १६ ॥

क्वचित् (काचित्) उदन्वन्तं प्रत्याह - **भो भो** इति। हे उदन्वन्! समुद्र! अलब्धनिद्रः अधिगत प्रजागरश्च सदा निष्टनसे नितरां ध्वनसि ष्वन शब्दे इति धातुः। किं वा अस्माभिः प्राप्तां दुरत्ययां दशां अवस्थां त्वमपि गतोऽसि? अहो कष्टं यथा वयं सम्भोगेन मुकुन्दापहृतकुचकुङ्कुमाद्यात्मलाञ्छनाः तथा त्वमपि, यतोऽपहृत श्रीकौस्तुभादि लाञ्छनो लक्ष्यसे अतस्त्वां पृच्छामीत्यर्थः ॥ १७ ॥

**त्वमिति**। हे इन्दो! त्वं बलवता यक्ष्मणा क्षयरोगेण नितरां गृहीतः अत एव क्षीणस्सन् स्वकान्तिभिः तमोन्धकारं न क्षिणोषि न विनाशयसि किं? यथा वयं तथा त्वमपि मुकुन्दगदितानि रहस्यानि विस्मृत्य तदेक चित्ततया स्थगितगीः स्तब्धवाक् सन् नोऽस्माभिः उपलक्ष्यसे ॥ १८ ॥

**किं वा चरित मस्माभिर्मलयाऽनिल तेऽप्रियम् ।**
**गोविन्दापाङ्गनिर्भिन्ने हृदीरयसि नः स्मरम् ॥ १९ ॥**

★ **मुग्धे ध्यायसि किं गृहाण पुरतः कुन्दं विकासोन्मुखं**
**किं कुन्दं न ममाऽमुना सुमनसः कीदृग्विधास्त्वत्प्रियाः।**

**पुन्नागं मृगये सखि श्रुतिशिरोभूषाविशेषायितं**
**गावोप्युज्झितसूनमासत तदामोद प्रकर्षोन्मुखाः ॥ २० ॥**

**मेघ श्रीमंस्त्वमसि दयितो यादवेन्द्रस्य नूनं श्रीवत्साङ्कं वयमिव भवान् ध्यायति प्रेमबद्धः ।**
**अत्युत्कण्ठश्शबलहृदयोऽस्मद्विधो बाष्पधाराः स्मृत्वा स्मृत्वा विसृजसि मुहुर्दुःखदस्तत्प्रसङ्गः ॥२१॥**

**प्रियराव पदानि भाषसे मृतसञ्जीविकयाऽनया गिरा ।**
**करवाणि किमद्य ते प्रियं वद मे वल्गित कण्ठ कोकिल ॥ २२ ॥**

▲ **शुकराज गाय यदुदेव सत्कथां कुर्मस्तवाङ्क! पयसोपसेचनम् ।**
**विरहाग्नितप्त हृदयेष्वलं रमारमणाभिधान सुधया च सिञ्च नः॥ २३ ॥**

**न चलसि न वदस्युदारबुद्धे क्षितिधर चिन्तयसे महान्तमर्थम् ।**
**अपि बत वसुदेव वन्दनाङ्घ्रिं वयमिव कामयसेस्तनैर्विधर्तुम् ॥ २४ ॥**

---

1. B.G.J. किन्त्वा° ★ This verse is found only in K.T.W. Edns. 2. K. स्सजल ▲ This verse is found only in K.T.W. Edns.

**श्रीध० किमिति**। अप्रियाचरणं विना स्मरोदीरणेन व्यथाजननं हे मलयानिल! तवानुचितमित्यर्थः ॥ १९ ॥

**मेघेति**। आतपार्तिहरणादि साम्यत्त्वं यादवेन्द्रस्य नूनं दयितसखाऽसि। अतो भवान् तं ध्यायति। ध्याने लिङ्गान्याहुः- अत्युत्कण्ठ इत्यादि। अहो किमिति त्वया तेन सख्यं कृतं यतो दुःखदः तत्प्रसङ्ग इति ॥ २०॥

**प्रियरावेति**। हे कोकिल! मे प्रियरावस्य प्रियंवदस्य श्रीकृष्णस्य पदानीव पदानि शब्दां स्त्वं भाषसे मृतान् सञ्जीवयतीति तथा। तयाऽनया कोमलया गिरा वल्गितकण्ठ! रमणीयकण्ठ! मे [1]वद कथय, किं तव प्रियं करवाणीति ॥ २१॥

**नेति**। हे क्षितिधर! त्वं न वदसि न चलसि, अतो नूनं महान्तमर्थं चिन्तयसे बत! तर्हि अपि किं यथा स्तनैर्विधर्तुं वयं कामयामहे तथा त्वं स्तनतुल्यैः शृङ्गैर्वोढुं कामयसे? ओमिति चेत्तर्हि तवाऽप्यस्म दवस्था भविष्यतीति भावः ॥२२॥

---

1. B. J. Omit वद

**वीर० किं वेति**। हे मलयानिल! ते तुभ्यमस्माभिः किं वा अप्रियमाचरितं कृतम्, यतस्त्वं गोविन्दस्याऽपाङ्गैः नितरां भिन्ने नोऽस्माकं हृदि हृदये स्मरं काममीरयसि। अप्रियाचरणं विना स्मरोदीरणेन व्यथाजननं तवाऽनुचितमित्यर्थः ॥ १९ ॥

काञ्चित्प्रियमन्वेषयन्ती पुष्पाण्यन्वेषयन्तीमिव आलक्ष्य कस्याश्चिदुत्तर प्रत्युत्तर रूपं वाक्यमाह - **मुग्ध** इति। हे मुग्धे! किं ध्यायसि? पुरतः स्थितं विकासोन्मुखं कुन्दं गृहाण - एवमुक्ता प्राह - किं कुन्देन ममाऽमुनेति। अमुना सुवर्णरहितेन कुन्देन किम्? न किञ्चिदपि प्रयोजनम्। किन्तु मुकुन्दमेवान्वेषयामीत्यभिसन्धिः। सा पुनः प्राह त्वत्प्रिया स्सुमनसः पुष्पाणि कीदृग्विधा इति सा पुनः प्राह - पुन्नागं मृगये सखि! श्रुतिशिरोभूषाविशेषायितं इति हे सखि! श्रुतिशिरोभूषा विशेषायितं श्रोत्रयोः शिरसि च भूषणविशेषवदाचरत् पुन्नागं मृगये। श्रुतिशिरस्सु वेदान्तेषु भूषाविशेषायितं पुन्नागं पुरुषश्रेष्ठं मृगये इत्यभिसन्धिः। ननु किं बह्वीषु सुमनस्सु सतीषु विशेषेण पुन्नागमेव मृगयसे इत्यत्राऽऽह गावोऽपीति। उज्झितं गलितं सूनं पुन्नाग कुसुमं तदामोदप्रकर्षेण उन्मुखा आसत। मृगयन्त्योऽवतिष्ठन्ते पशवोप्येवं, किं पुनरहमिति भावः। पक्षान्तरे गावः वेदान्तवाचोऽपि उज्झितसूनं त्यक्तजन्मानम् अर्जामित्यर्थः। पुरुषश्रेष्ठं तदामोदप्रकर्षे तत्कल्याणगुण गणप्रकर्षे उन्मुखाः प्रतिपादनोन्मुखाः औन्मुख्यतामात्र मेव तासां नतु कार्त्स्न्येन तत्प्रतिपादनम्, आनन्त्यादिति भावः। आसत केवलं मृगयन्त्यः समासत इत्यर्थः ॥ २० ॥

**मेघेति**। हे मेघ! त्वं यादवेन्द्रस्य यदूत्तमस्य त्वं दयितः प्रियोऽसि। नूनं आतपार्तिहरणादिसाम्यात् त्वां तत्सुखमालक्षये इति भावः। अतो भवान् वयमिव श्रीवत्साङ्कं तद्विषयप्रेम्णा बद्धो निश्चलो ध्यायति किम्? ध्यानलिङ्गान्याह - अत्युत्कण्ठमित्यादि। अस्मद्विधः वयमिवेत्यर्थः। अत्युत्कण्ठं यथा तथा सजलहृदयः बाष्प धाराः मुञ्चसि। युक्तश्चैतदित्याह - दुःखदः तत्प्रसङ्ग इति ॥ २१ ॥

**प्रियेति**। हे कोकिल! प्रियरावस्य प्रियंवदस्य श्रीकृष्णस्य पदानीव पदानि शब्दान् भाषसे। मृतान् सञ्जीवयतीति तथा। कोमलया गिरा हे वल्गितकण्ठ! रमणीयकण्ठ! मे कथय किं तेऽद्य प्रियं करवाणि इति ॥ २२ ॥

**शुकराजेति**। हे शुकराज! यदुदेवस्य सत्कथां गाय कथय। गैशब्दे लोटो मध्यमैकवचनम्। अङ्ग! हे शुक! तव पयसा क्षीरेण उपसेचनमभिषेकं कुर्मः त्वं नोऽस्माकं विरहाग्निना तप्तेषु हृदयेषु रमारमणस्य लक्ष्मीकान्तस्य अभिधानसुधया कथामृतेन अलं नितरां सिञ्च॥ २३ ॥

**न चलसीति**। हे क्षितिधर! त्वं न चलसि न वदसि च। किन्नु महान्तमर्थं चिन्तयसे, तर्हि किं वयं यथा स्तनै र्वसदेवनन्दनस्य श्री कृष्णस्य अङ्घ्रिं विधर्तुं कामयामहे तथा त्वमपि स्तनतुल्यैः शृङ्गैः धर्तुं कामयसे किम्? ॥ २४ ॥

**शुष्यद्ग्रदाः[1] कृशतरा बत सिन्धुपत्न्यः सम्प्रत्यपास्तकमलश्रिय[2] आस्त[3] भर्तुः ।**
**यद्वद्वयं[4] यदुपतेः प्रणयावलोक मप्राप्य शुष्क[5] हृदया पुरु[6] कर्शिताः स्म ॥ २५॥**

**हंस स्वागतमास्यतां पिब पयो ब्रूह्यङ्गशौरेः कथां ।**
**दूतं त्वां नु विदाम कच्चिदजितः स्वस्त्यास्त उक्तं पुरा ।**

**किं वा नश्चल सौहृदः स्मरति तं कस्माद्भजामो वयं**
**क्षौद्राऽऽलापय कामदं श्रिय मृते सैवैकनिष्ठा स्त्रियाम् ॥ २६ ॥**

---

1. B.J. करशिता 2. M1.V. °पेत 3. B.G.J.K.T.W. इष्ट 4. G.J.T.W. मधु 5. B.G.J.K.T.W. मृष्ट 6. K. उरु

**श्रीध० शुष्यदिति**। भोः सिन्धुपत्न्यो नद्यः! सम्प्रति ग्रीष्मे सिन्धुर्मेघद्वारा अमृतवृष्ट्या युष्मान्नाऽऽनन्दयति। बत अहो कष्टम्! अतः शुष्यन्तो ह्रदाः यासां ताः अपगतकमलशोभाः कृशतराश्च वयं यथा प्रियतमस्य भर्तुर्मधुपतेः स्म प्रसिद्धम् ॥ २५ ॥

तदैव दैवादागतं हंस दूतं कल्पयित्वाऽऽहुः - **हंसेति**। नोऽस्मान्प्रति पुरा रहस्युक्तं, किं वा चलसौहृदः स्मरति, स्मृत्वैव मां प्रस्थापितवानिति चेत् अत आहुः, हे क्षौद्र! क्षुद्रस्य दूत! कस्मात् तं वयं भजामः कामार्थमाह्वयति युष्मानिति चेत्, अत आहुः अहो तर्हि तमालापय आकारय ओमिति गच्छन्त मिव तं पुनराहुः - याऽस्मान्वञ्चयित्वा एकाकिनी सेवते तां श्रियमृते तमेवाऽऽलापय। सा तदेकनिष्ठा कथं परिहर्तुं शक्यते? इति चेत् अताऽऽहुः स्त्रियाम् जातौ एकवचनम्। अस्मासु स्त्रीषु मध्ये किं सेवैकनिष्ठा नतु वयमित्यर्थः-। "क्षौद्रालापं अकामदमिति" पाठान्तरे तु क्षौद्रं मधु तद्वन्मधुरालाप मात्रं यस्य तमकामदमरतिप्रदं, श्रिय मृते वयं कस्माद्भजामः किन्त्वनाहताऽपि सती पुनः पुनस्सैव भजतु, यतोऽस्मादृश्यो मानिन्यः स्त्रिय एकनिष्ठा एकत्रैव स्वसम्मानसिद्धौ निष्ठा यासामिति ॥ २६ ॥

**वीर० शुष्यद्धृदा** इति। हे सिन्धुपत्न्यः, नद्यः! यद्वद्यथा वयं यदुपतेः प्रणयावलोक मप्राप्य तेन मुष्टानि अपहृतानि हृदयानि यासां ताश्च उरु नितरां (कर्शिताः स्म तथा यूयमपि सम्प्रति ग्रीष्मेशुष्यन्तो ह्रदा यासां) ताः अपगतकमलशोभाश्च इष्टस्य भर्तुस्सिन्धोः प्रणयाव लोकमप्राप्य कर्शिताः स्थ इत्यर्थः। बतेति खेदे अव्ययम् ॥ २५ ॥

हंसं प्रत्याह **हंसेति**। हे हंस! आस्यताम् उपविश्यताम्। पयः क्षीरं पिब अङ्ग! हे हंस! शौरेः श्रीकृष्णस्य कथां वार्तां ब्रूहि नु इति वितर्के। त्वां शौरेर्दूतं विदामः[1] अजितः श्रीकृष्णः स्वस्त्याऽस्ते कच्चित्? पुरा रहस्युक्तं चल सौहृदः, हेतुगर्भमिदम्। अतः स्मरति किम्, ननु स्मृत्वैव मां प्रस्थापितवानित्यत आह हे क्षौद्र! क्षुद्रदूत! कस्मात्तं वयं भजामः। कामार्थं माह्वयतीत्यत्राह - अहो तर्हि तमिहाऽऽलापय आकारय। ओमिति गच्छन्तं तं पुनराह या अस्मान् वञ्चयित्वा एकाकिनी रमते तां श्रियमृते विना तमेवाऽऽलापय। या तदेकनिष्ठा कथं परिहर्तुं शक्येत्यत्र आह स्त्रियामिति। जातौ एकवचनम्। अस्मासु स्त्रीषु मध्ये किं सैवैकनिष्ठा न तु वयमित्यर्थः ॥ २६ ॥

---

1. K.T.w. विदाम

**इतीदृशेन भावेन कृष्णे योगेश्वरेश्वरे ।**
**क्रियमाणेन माधव्यो लेभिरे परमां[1] गतिम् ॥ २७ ॥**

**श्रुतमात्रोऽपि यः पुंसां[2] प्रसह्याऽऽकर्षते मनः ।**
**उरुगायोरुगीतो वा पश्यन्तीनां[3] च किं पुनः ॥ २८ ॥**

**याः[4] सम्पर्यचरन्प्रेम्णा पादसंवाहनादिभिः[5] ।**
**जगद्गुरुं भर्तृबुद्ध्या तासां किं वर्ण्यते तपः ॥ २९ ॥**

**★ एवं वेदोदितं धर्ममनुतिष्ठन्सतां[6] गतिः ।**
**गृहं[7] धर्मार्थकामानां मुहुश्चादर्शयत्पदम्[8] ॥ ३० ॥**

1. K. Ml.T.V.W. वैष्णवीं 2. B. G. J. K.T.W. स्त्रीणां 3. B. G.J.K.T.W. कुतः 4. K. Ml.T.V.W. यास्तम्प 5. K. घट्ट ★ अत्रारभ्य M. Ma. प्रकाशेषु अपि मूलानुसारेण श्लोकाः दृश्यन्ते। 6. K.T.W. कर्मस्वनु ; Ml.V. धर्मं ह्यनु 7. K.T.W. गृहान् ; M.Ma. गृहे 8- -8 M. Ma. मुहुस्सन्दर्शयन् पदम्॥

**श्रीध०** तासां कृष्णे एवम्भूतो भावो नातिचित्र मित्याह - **श्रुतमात्रोऽपीति**। उरुभिः गायैः गीतैः उरुधा गीतो वा यैः कैश्चिदपि गीतैः कथाभिः कथञ्चिदपि गीतो वेत्यर्थः ॥ २७,२८॥

पदं स्थानम् ॥ २९,३०॥

**वीर० इतीति**। माधव्यो माधवस्य (कृष्णस्य) स्त्रियः योगेश्वरेश्वरे कृष्णे क्रियमाणेन इत्थम्भूतेन भावेन वैष्णवीं गतिं मुक्तिं लेभिरे ॥ २७॥

कृष्णे तासामित्थम्भूतो भावो नातिचित्रमित्याह - **श्रुतमात्रोपीति**। उरुभिः बहुभिः गायैः गीतैः, उरु बहुधा गीतो वा। उरुगाय इति पृथक्पदं वा। सन्धिस्त्वार्षः। किं बहुना? यथाकथञ्चिच्छ्रुतमात्रोऽपि वा स्त्रीणां मनः प्रसह्य बलात्, आकर्षते, किं पुनः साक्षात्पश्यन्तीनां स्त्रीणां मन आकर्षतीति ॥ २८ ॥

यतः तासामित्थम्भूतो भावो ततस्ता अनुमोदते **या** इति। तं कृष्णं जगद्गुरुं सर्वोत्तमं परमपुरुषमपि भर्तृबुद्ध्या याः पादसङ्घट्टनादिभिः प्रेम्णा पर्यचरन्त सेवन्त तासां तपः किं वर्ण्यते कथं वर्ण्यत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

**एवमिति**। सतां गतिः स्वप्राप्युपायभूतोऽप्यनुतिष्ठन् गृहान् धर्मादीनां पदं स्थानमित्यदर्शयत् पदमिति दर्शयितुं अन्वतिष्ठत् इत्यर्थः ॥ ३०॥

**विज०** Note: विजयध्वजव्याख्यातग्रन्थरीत्या, 12 श्लोकमारभ्य 27 पर्यन्त श्लोकाः न सन्ति। अतो न व्याख्याताः ॥

धर्मार्थकामानां पदं विषयं सन्दर्शयन् त्रिवर्गाणामाश्रयो गृहस्थ इति सम्यक् दर्शयन् द्वारका मावसति, श्रीकृष्णो इति शेषः ॥ ३० ॥

Note:- अत्र विजयध्वजतीर्थव्याख्यारीत्या अधिकश्लोकाः व्याख्या च ॥

**एवं शासति भूचक्रं चक्रपाणौ जनार्दने ।**
**द्वारका वृष्णिनिलया योजनद्वादशायता ॥ 1 ॥**

**मुनिभिर्ब्राह्मणैश्चैव क्षत्रियैश्चाऽपि वन्दिभिः ।**
**आसीत्पूर्णा कुरुश्रेष्ठ सततं समलङ्कृता ॥ 2 ॥**

**पिण्डारकात्कुरुक्षेत्राच्छालग्रामाच्च पुष्करात् ।**
**वाराणस्याः प्रयागाच्च वेङ्कटाच्छ्रीगिरेरपि ॥ 3 ॥**

**स्थानं दूराच्च गोकर्णाच्चन्द्रतीर्थाच्च शोभनात् ।**
**सह्याद्रेश्च भृगुक्षेत्रात्कुमारनिलयादपि ॥ 4 ॥**

**गोदावरीतटात्पुण्यान्नर्मदा निकटादपि ।**
**शूर्पाकारात्प्रभासाच्च पुण्याद्बदरिकाश्रमात् ॥ 5 ॥**

**पावनान्नैमिशारण्या द्ब्रह्मदुर्गाच्च दुर्गमात् ।**
**आययुर्मुनयश्शान्ता नित्यव्रतपरायणाः ॥ 6 ॥**

**अब्भक्षा वायुभक्षाश्च निराहारा दृढव्रताः ।**
**वल्कलाजिनसंवीता जटिनश्चाऽपि मुण्डिनः ॥ 7 ॥**

**त्रिकालस्नायिनश्चैव मौनव्रतपरायणाः ।**
**वेदस्वाध्यायनिरताः स्तुतिस्तोत्रपरायणाः ॥ 8 ॥**

**ध्यानैकतानमनसः समाधौ कृतनिश्चयाः ।**
**त्वगस्थिमात्रावयवाः सिराधमनिसन्तताः ॥ 9 ॥**

**आगत्य मुनयो राजन् सर्वतश्शान्तचेतसः ।**
**उपासत महाराज! नित्यं तत्त्वैकचिन्तकाः ॥ 10 ॥**

**क्षत्त्रियैश्च महावीर्यै ब्राह्मणैश्च तपोधनैः ।**
**सूतैश्च मागधैश्चैव श्लोकस्तुतिपरायणैः ॥ 11 ॥**

**पूर्णमङ्गलघोषैश्च वादित्राणाञ्च निस्वनैः ।**
**निर्घुष्टा ब्रह्मघोषैश्च द्वारका कुरुनन्दन ! ॥ 12 ॥**

**क्षेत्राणामपि सर्वेषां तीर्थानाञ्चाऽघहारिणाम् ।**
**देवदेवस्य सान्निध्यादग्रण्या च बभूव सा ॥ 13 ॥**

ततः परं किमत्रेत्याह - **एवमिति**। भूचक्रं भूमण्डलं द्वारका मुन्यादिभिः पूर्णा निबिडा आसीदित्यन्वयः ॥ 1,2 ॥

पिण्डारकादि तीर्थ क्षेत्रेभ्यो द्वारकोत्तमतीर्थमित्यह **पिण्डारका**दित्यादिना ॥ 3 ॥

कुमारनिलयात् कुमारपर्वतात् ॥ 4,5 ॥

द्वारकामिति शेषः ॥ 6,7 ॥

स्तुतिस्तोत्रपरायणाः स्तुतिरप्रबन्धरूपा , स्तोत्रं प्रबन्धरूपं तज्जपैकपरायणाः ॥ 8 ॥

ध्यानैकतानमनसः श्रीहरिगुणगण सञ्चिन्तनायामेव विस्तृतमनसः समाधौ चित्तनिग्रहे कृतनिश्चयाः समीचीनाधिष्ठान लक्षणमुक्तौ वा सिरा रेखाः ॥ 9 ॥

सर्वत आगत्य ॥ 10-12 ॥

अग्रण्या अग्रण्येति छान्दसः उत्तमोत्तमाश्रया ॥ 13 ॥

**आस्थितस्य परं धर्मं कृष्णस्य गृहमेधिनाम्[1] ।**
**आसन् षोडशसाहस्र[2] महिष्योऽष्टशताधिका[3]ः[4] ॥ ३१ ॥**

**तासां स्त्रीरत्नभूतानामष्टौ याः प्रागुदाहृताः ।**
**रुक्मिणीप्रमुखा राजंस्तत्पुत्रांश्चानुपूर्वशः[5] ॥ ३२ ॥**

**एकैकस्यां दश दश कृष्णोऽजीजनदात्मजान् ।**
**यावत्य[6] आत्मनो भार्या अमोघगतिरीश्वरः ॥ ३३ ॥**

**तेषामुद्दा[7]मवीर्याणामष्टादश महारथाः ।**
**आसन्नुदारयशस स्तेषां नामानि मे शृणु ॥ ३४ ॥**

---

1. M.Ma न: 2. B.G.J. स्रं 3. B.G.J. °ष्यश्च 4. B.G.J. °कम् 5- -5 K.T.W. राजन् सह पुत्राश्च सर्वश: 6. B. J. M. Ma न्त्य 7. Ml. V. दार

**श्रीध० तासामिति**। या रुक्मिणी प्रमुखा अष्टावुदाहृताः प्राक् ॥ ३१, ३२॥

**एकैकस्यामिति**। एवमष्टोत्तरशताधिकषोडशसहस्रमहिषीणां पुत्रा लक्षमेकमशीत्युत्तरैकषष्टिसहस्राणि च भवन्ति ॥३३,३४॥

**वीर०** अथ भगवतः स्वपत्नीषु सन्तानमनुवर्णयितुं प्रस्तौति - **आस्थितस्येति**। परं गृहमेधिनां धर्ममास्थितस्य अनुतिष्ठतः कृष्णस्य महिष्यः पत्न्यः आसन् ॥ ३१ ॥

तासां स्त्रीरत्नरूपाणां मध्येऽष्टौ रुक्मिणीप्रमुखाः याः पूर्वं कथिताः सर्वशः सर्वाश्च सहपुत्राः पुत्रवत्य एवेत्यर्थः। तासां पुत्रास्तु लक्षमेकमशीत्युत्तरैकषष्टिसहस्राणि भवन्ति ॥ ३२ ॥

तदेवाऽऽह - **एकैकस्यामिति**। अजीजनत् जनयामास। आत्मनः स्वस्य यावत्यो भार्याः तासामेकैकस्याम् इति सम्बन्धः। तत्र हेतुत्वेन कृष्णं विशिनष्टि - अमोघगतिरप्रतिहतसङ्कल्पः ॥ ३३ ॥

तेषामुक्तसंख्यानां पुत्राणां मध्ये उदारयशसः विपुलयशस्विनः ॥ ३४ ॥

**विज०** कृष्णस्य षोडशसाहस्रमहिष्यः ॥ ३१ ॥

तासां मध्ये याः रुक्मिणीप्रमुखा अष्टौ महिष्यः प्रागुक्ताः अनुपूर्वशः तत्पुत्राश्चोक्ताः ॥ ३२ ॥

आत्मनो यावत्यो भार्याः तासु एकस्यामेकस्यां भार्यायां दश दश आत्मजानजीजनत् ॥ ३३ ॥

तेषां पुत्राणां मध्ये अष्टादशमहारथाः आसन् ॥ ३४ ॥

[1]द्युम्नश्चारुदेष्णश्च दीप्तिमान्भानुरेव च ।
[2]साम्बो मधुर्बृहद्भानुश्चित्रभानुर्वृकोऽरुणः ॥ ३५ ॥
पुष्करो [4]देवबाहुश्च [5]श्रुतदेवस्सुनन्दनः ।
[6-]चित्रबाहुर्विरूपश्च[-6] कविर्न्यग्रोध एव च ॥ ३६ ॥

★ त्रिवक्राया [7]उपक्रोशः पुत्रः कृष्णमनुव्रतः ।
[8-]शिष्यस्साक्षान्नारदस्य [-8]दधौ [9]चित्तमखण्डितम् [10] ॥ ३७ ॥
[11]तेनोक्तं सात्त्वतं तन्त्रं यज्ज्ञात्वा [12]मुक्तिमान् भवेत् ।
यत्र स्त्रीशूद्रदासानां [13]संस्कारो वैष्णवः स्मृतः ॥ ३८ ॥

एतेषामपि राजेन्द्र तनुजानां मधुद्विषः ।
प्रद्युम्न आसीत्प्रथमः पितृवद्रुक्मिणीसुतः ॥ ३९ ॥

सा रुक्मिणो दुहितरमुपयेमे महारथः ।
[14]तस्मात्सुतोऽनिरुद्धोऽभून्नागायुतबलान्वितः ॥ ४० ॥

1. B. G. J. K. Ml.T.V.W. ज्ञाऽनिरुद्धश्च 2. M. Ma. Ml. V. मित्रर्बृ° 3. M. Ma. भानुविन्दो वृ°- ; Ml. v. मित्रविन्दो वृ° 4. B. G.J. वेद 5. M.Ma चक्र 6- -6 M. Ma. Ml.V. भानुर्वरूधश्च ★ These two begining with त्रिवक्राया ..... ending with मखण्डितम्, तेनोक्तं.... स्मृतः verses are not found in G.J. Edns. 7. M. Ma विशोकश्च 8- -8 M.Ma आशीश्शिष्यो ना° 9. M. Ma. ददौ 10. B.W. व्रत 11. M.Ma. येनो° 12. M. Ma मूर्तिमान् 13. M. Ma °शानां 14. M. Ma. तस्यां ततो° ;Ml.V. तस्यां सतो°

**श्रीध०** अनिरूद्धश्चेति। अतः पुत्राणां मध्ये सप्तदशैव महारथाः ज्ञेयाः। अथवा अनिरुद्धनामाऽपि कश्चित्पुत्र एवेति ॥ ३५-४० ॥

**वीर० प्रद्युम्नश्चेति**। अनिरुद्धनामाऽपि कश्चित्पौत्रादन्यः पुत्रः ॥ ३५-३६ ॥

**त्रिवक्राया** इति। उपक्रोशो नाम त्रिवक्रायाः पुत्रः, स तु कृष्णमनुव्रतोऽनुवर्तमानः साक्षान्नारदस्य शिष्यो भूत्वा अखण्डितमविच्छिन्नं यथा तथा चित्तं दधौ, भगवत्समाधिनिष्ठो बभूवेत्यर्थः ॥ ३७ ॥

तमेव विशिनष्टि - **तेनेति**। सात्त्वतं पाञ्चरात्रं, उक्तं सात्त्वतमन्त्रार्थविषयः कश्चिद्ग्रन्थविशेषः प्रतिपत्तिसौकर्याय नातिसङ्ग्रह विस्तररूपेण कृत इत्यर्थः। तस्य अनादिशास्त्रस्य अर्वाचीनत्वायोगात्। तन्त्रं विशिनष्टि - यत्रेति। स्त्रीशूद्रादीनामपि वैष्णवः विष्णुप्रापकः संस्कारः तापपुण्ड्रादिसंस्कारः स्मृतः ॥३८॥

**एतेषामपीति**। मधुद्विषः श्रीकृष्णस्य तनूजानां पुत्राणामेतेषामष्टादशानां मध्ये यः प्रद्युम्नः स तु रुक्मिणीसुतः पितृवद्रूपेण गुणैश्च पितृतुल्यः सर्वेषां प्रथम आसीत् ॥३९॥

स प्रद्युम्नः रुक्मिणो मातुलस्य दुहितरमुपयेमे परिणीतवान् । तस्यां भार्यायां ततः प्रद्युम्नात् अनिरुद्धो नाम नागायुतबलः पुत्रोऽभूत् ॥४०॥

**विज०** त्रिवक्रायाः सैरन्ध्र्याः, स नारदस्तस्मै स्वशिष्याय अखण्डितं चित्तं पूर्वापरानुभवस्मरणसमर्थं ज्ञानं ददौ ॥ 1 ॥

येन नारदेन सात्त्वतं तन्त्रं पञ्चरात्रसंहिता यत् यं ज्ञात्वा पुमान् मूर्तिमान् निजरूपाभिव्यक्तिमान् भवेत्। यत्र यस्मिंस्तन्त्रे स्त्रीशूद्रादीनां वैष्णवः संस्कारः स्मृतः विष्णुविषयानुष्ठानेन शरीरशुद्धिः कथिता ॥ 2 ॥

तनुजानां पुत्राणाम् ॥ ३५-४० ॥

**स चाऽपि रुक्मिणः पौत्रीं दौहित्रो जगृहे ततः ।**
**व्रजस्तस्यामभूद्यस्तु[1] मौसलादवशेषितः ॥ ४१ ॥**

**प्रतिबाहुरभूत्तस्मात्सुबाहुस्तस्य चाऽऽत्मजः ।**
**सुबाहोः[2] उग्रसेनोऽभूच्छतसेनस्तु[3] तत्सुतः ॥ ४२ ॥**

**न ह्येतस्मिन् कुले जाता अधना अबहुप्रजाः[4] ।**
**अल्पायुषोऽल्पवीर्याश्च अब्रह्मण्याश्च जज्ञिरे ॥ ४३ ॥**

**यदुवंशप्रसूतानां पुंसां विख्यातकर्मणाम् ।**
**संख्या न शक्यते कर्तुमपि वर्षायुतैर्नृप[5] ! ॥ ४४ ॥**

---

1.B.G.J. °भवद्यस्तु ; MI.V. °त्मभूर्यस्तु 2.B.G.J. °होः शान्त° ; K.T.W. °होः धर्म° 3.K.T.W. °च्छु° 4.MI.V. °श्रुताः 5.K.T.W. °तैरपि

**श्रीध०** (41-44 श्लोकानां श्रीधरीय व्याख्या नास्ति ॥)

**वीर०** स चाप्यनिरुद्धोऽपि रुक्मिणो दौहित्रः तस्य पौत्रीं जगृहे उपयेमे। ततोऽनिरुद्धात्तस्यां वज्रो नाम पुत्रो बभूव। तं वज्रं विशिनष्टि यस्त्विति। मौसलात् (ब्राह्मण) शापप्रयुक्तयदुकुलक्षयकारात् मुसलादवशेषितः, स एको अवशेषित इत्यर्थः। कृष्णेनेति शेषः ॥ ४१ ॥

तस्माद्वज्रात्प्रतिबाहुः, तस्य प्रतिबाहोरात्मजः सुबाहुः [1-]तत्सुतः धर्मसेनसुतः श्रुतसेनः[-1] ॥ ४२ ॥

सर्वान् वंशान्विशिनष्टि - **न हीति** । अधना निर्धनाः ॥ ४३ ॥

तेषामानन्त्यमाह - **यदुवंशप्रसूतानामिति** ॥ ४४ ॥

---

1--1 T.W. Omit

**श्री०** पौत्रीं पुत्रपुत्रीं दौहित्रः दुहितुः पुत्रः अनिरुद्धः 'निहते रुक्मिणी श्याले नाऽब्रवीत्साध्वसाधु वा। रुक्मिणीबलयो राजन् स्नेहभङ्गभयाद्धरिः' (भाग.10-61-30) इत्यनेन सर्वसमस्य हरेः स्नेह भङ्गभयमुच्यते। तत्कथं घटत इतीयमाशङ्का - "न स्नेह भङ्गो देव्यास्तु न भयं केशवस्य च। स्नेहभीत इवाऽथाऽपि नोचे रुक्मिवधे हरिः" (ब्रह्माण्डे) इत्यादिना परिहर्तव्या। अत्र श्रीमद्भगवत्पादैः सिंहावलोकनन्यायेन अध्यायेयत्ता सूचनाय चेदं प्रमाणमुक्तं मौसलात् मुसलयुद्धात् ॥ ४१,४२॥

एतस्मिन् कुले अधनादिदोषयुक्ता न जज्ञिरे इत्यन्वयः ॥ ४३ ॥

तेषां यदुवंशप्रसूतानाम् ॥ ४४ ॥

**तिस्रः कोट्यस्सहस्राणामष्टाशीतिशतानि च ।**
**आस[1-]न्यदुकुलाचार्याः कुमाराणामिति[-1] श्रुतम् ॥ ४५ ॥**

**संख्यानं यादवानां कः करिष्यति महात्मनाम् ।**
**यत्राऽयुतानामयुतलक्षेणाऽऽस्ते स आहुकः ॥ ४६ ॥**

**देवासुराहवहता दैतेया ये सुदारुणाः ।**
**ते चोत्पन्ना मनुष्येषु प्रजा दृप्ता बबाधिरे ॥ ४७ ॥**

**तन्निग्रहाय हरिणा प्रोक्ता देवा यदोः कुले ।**
**अवतीर्णाः कुलशतं तेषामेकाधिकं नृप ॥ ४८ ॥**

**तेषां प्रमाणं भगवान् प्रभुत्वेनाऽभवद्धरिः ।**
**ये चाऽनुवर्तिनस्तस्य ववृधुः सर्वयादवाः ॥ ४९ ॥**

**शय्यासनाटनालापक्रीडास्नानाशनादिषु ।**
**न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः ॥ ५० ॥**

---

1- -1 M. Ma. Ml. V. कुमाराणां आचार्याणामिति 2. Ml. V. चा° 3. Ml. v. चेतोऽ 4. B. G. J. °नादिकर्मसु

**श्रीध० तिस्र** इति। सहस्राणामपरिमितानां कुमाराणामित्यन्वयः ॥ ४५ ॥

**संख्यानमिति**। यदा प्रत्येकं बहूनध्यापयतामाचार्याणामियं संख्या तदपि श्रुतमात्रं, न तु सम्यक् ज्ञायते। तदा कुमाराणामेवं संख्यानं कर्तुं न शक्यते। कुतः पुनः सर्वयादवानामिति ॥ ४६ ॥

**देवासुरेति**। ते चोत्पन्ना इति प्रत्येकं बहुभी रूपैरिति ज्ञेयम् ॥ ४७ ॥

**तन्निग्रहायेति**। एवमेव यदुकुलेऽपि देवा इति, तथा चोक्तम् - सहस्रशः समुद्भूता देवा यदुकुले पृथगिति ॥ ४८-५० ॥

**वीर०** तदेव कैमुत्यनयाभिप्रायेणाऽऽह - **तिस्रः कोट्य** इति। यदुकुलस्याचार्याः तत्कुमाराणामनुशिक्षका अध्यापकाः तिस्रः कोट्यः सहस्राणामष्टाशीतिः शतानि च सहस्राण्यध्यापका एवैतावन्तः, किम्पुनस्ते? इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

एकस्य वसुदेवस्यैव वंशजानां संख्यैवम्भूता, किम्पुनः सर्वेषां सम्भूतानामित्याह - **संख्यानमिति**। यत्र यदूनां वंशे य आहुको वसुदेवः स एवायुतानामयुतलक्षपुत्रः ॥ ४६ ॥

तेषां **वीर्यशौर्यादि** गुणनिरूपणायाऽऽह - **देवेति**। देवासुराहवे देवासुरयुद्धे हता ये अतिदारुणा दैतेयाः, ते मनुष्येषु चैद्यमागधादि रूपेण जाताः दृप्तास्सन्तः, प्रजा इति द्वितीयान्तम्। बबाधिरे पीडां कृतवन्तः ॥ ४७ ॥

**तन्निग्रहायेति**। तेषां निग्रहं कर्तुं प्रोक्ता आदिष्टाः देवाः यदोः कुलेऽवतीर्णाः, येषामवतीर्णानां कुलमेकाधिकशतम्। वृष्ण्यन्धकदाशार्हादिरूपेण एकाधिकशत भेदभिन्नमित्यर्थः ॥ ४८ ॥

**तेषामिति**। तेषां कुलानां प्रभुत्वे निमित्ते भगवान् श्रीकृष्णरूपेण अभवदवततार। ये सर्वे यादवास्ते तस्य श्रीकृष्णस्य अनुवर्तिनः, हेतुगर्भमिदम्। ववृधुः एधाञ्चक्रिरे ॥ ४९ ॥

किं ते तं परमात्मबुद्ध्या अन्ववर्तन्त? नेत्याह - **शय्येति**। वृष्णयो यदवः शय्यासनादिषु कृष्णे एव चेतो येषां तथाभूता अपि तं श्रीकृष्णं स्वमात्मानं, स्वान्तरात्मानं, परमात्मानमित्यर्थः। न विदुः, किन्तु यादवविशेषं विदुरिति भावः ॥ ५० ॥

1- -1 K.T.W. Omit

**विज०** संख्याज्ञानाभावेऽपि तदाचार्याणां संख्यां कामपि श्रावयामीत्याह - **तिस्र** इति ॥ ४५ ॥

यत्र येषाम् ॥४६॥

देवांशानां यादवानां अवन्यामुत्पत्तुं निमित्तमाह - **देवेति** ॥ ४७ ॥

श्रीकृष्णो भगवान्, तेषां प्रभुत्वे सामर्थ्ये दैवे प्रमाणं यतः श्रीकृष्णो नारायणावतारः प्रसिद्धः तेषाममानुषसामर्थ्ये हेतुश्च। ततो यादवा देवा इति सिद्धम्। एतदेव दृढीकरणाय पुनर्वक्ति - ये चेति ॥ ४९ ॥

स्वामिनं न विदुः शय्यादिषु सन्तं सह वर्तमानं आत्मानं स्वरूपभूतं श्रीनारायणम् ॥ ५० ॥

★ **ईजे क्रतुभिरात्मानं सर्ववेदार्थसङ्ग्रहं स्वयोगमायारचितैः कुरुक्षेत्रे[1] द्विषट्समाः ।**
**कृष्णगार्ध्यसितावन्ति रामाचार्योद्धवेश्वरः दीक्षितो[2] ह्यग्रपत्नीभिः पुण्यश्लोकशिखामणिः[3] ॥ ५१ ॥**

**तीर्थञ्चक्रे नृपोनं[4] यदजनि यदुषु स्वस्सरित्पादशौचं**
**विट्स्निग्धाः[5] तत्स्वरूपं[-5] ययुरजितपरा श्रीर्यदर्थेऽन्ययत्नः[-6] ।**
**यन्नामामङ्गलघ्नं श्रुतमथगदितं यत्कृतो गोत्रधर्मः[7-]**
**कृष्णस्यैतन्न चित्रं क्षितिभरहरणं कालचक्रायुधस्य ॥ ५२ ॥**

▲ **जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो यदुवरपरिषत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्तधर्मम्[8-] ।**
**स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन व्रजपुरवनितानां वर्धयन्कामदेवम् ॥ ५३ ॥**

**इत्थं परस्य निजधर्मरिरक्षयात्त[9] लीलातनोस्तदनुरूपविडम्बनानि ।**
**कर्माणि कर्मकषणानि यदूत्तमस्य श्रूयादमुष्य[10] पदयो रनुवृत्तिमिच्छन् ॥ ५४ ॥**

**मर्त्यस्तथाऽनुसवमेधितया[11] मुकुन्द श्रीमत्कथाश्रवणकीर्तनचिन्तयैति ।**
**तद्धाम दुस्तरकृतान्तजवापवर्गं[12-12] ग्रामाद्वनं क्षितिभुजोऽपि ययुर्यदर्थाः[13] ॥ ५५ ॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां

श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे

नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

---

★ This verse is only found is M.Ma.Ml.V. Edns & Commented by vijayadhvajateertha only. 1. Ml.V. त्रादिषु क्रमात् 2. M. Ma °ऽग्रण्य 3. M. Ma सहाग्रणीः 4. M. Ma. नृणां यो 5--5 B. G. J. K.T.W. विद्विट् स्निग्धाः स्व° ; M. Ma. षड्भिश्चाग्रं स्व 6--6 M. Ma. पर उरसि रमा सर्वदा यस्य चाऽऽस्ते 7--7 M.Ma. यच्छास्त्रं च प्रमाणं यदनु च सदसद्व्यक्तयो यत्र धर्माः ▲ This verse appears like this in M.Ma Edns :-जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो नियमकृतपादाब्जैर्दस्युपीडां स्वदोर्भिः। मुदमुभयदृशीनां श्रीनिकेतात्ममूर्त्या स्मरवरबलानां स्निग्धहासेक्षया च॥ 8--8 °षद्भिर्दोर्भि 9. B. G. J. वर्त्म 10. M Ma. गाथा° 11. M. Ma. Ml.v. °याऽनुवृत्त्या 12--12 M.Ma. दुष्करकृतं जनतापवर्गं ; K. Ml.T.V.W. दुस्तरकृतान्तजनापवर्गं 13. M. Ma. थे

**श्रीध०** तस्मात्कृष्णकीर्तेः सर्वतीर्थोत्तमत्वं कृष्णस्य च सर्वदेवोत्तमत्वं न चित्रमित्याह - **तिर्थञ्चक्र** इति। इतः पूर्वं स्वस्सरिदेव सर्वतोऽधिकं तीर्थमित्यासीत्, इदानीन्तु यदुषु यदजनि जातं तीर्थं श्रीकृष्णकीर्तिरूपमेतत्स्वस्सरिद्रूपं पादशौचं तीर्थमूनमल्पं चक्रे, स्वयमेव सर्वतीर्थोपरि विराजत इत्यर्थः। श्रीकृष्णस्य विद्विषः स्निग्धाश्च तस्य स्वरूपं सारूप्यं ययुरित्यपि नातिचित्रम्, तस्य परमकारुणिकत्वात् तथेदञ्च न चित्रम्। किं तत्? अजितपरा अजिता अपराजिता कैश्चिदप्यप्राप्ता परा सर्वतः परिपूर्णा श्रीः कृष्णस्यैव नाऽन्यस्येति, तदेवाऽऽह - यदर्थेऽन्येषां ब्रह्मादीनां यत्न इति। ननु निरपेक्षं तमेव लक्ष्मीः श्रयत इति चित्रमेवेति चेत् न हि परममङ्गलनामधेयत्वात् तस्येत्याह - यन्नामेति। तदपि नाऽर्थस्मरणापेक्षमित्याह - श्रुतमथगदितमिति सर्वधर्माश्रयत्वादपीत्याह - यत्कृतो गोत्र धर्म इति। गोत्रेषु तत्तदृषिवंशेषु धर्मो यत्कृतो येन प्रवर्तितः तस्य क्षितिभरहरणं नैव चित्रमित्याह - कृष्णस्यैतदिति। कालचक्रायुधस्येति सर्वसंहारककालमूर्तेर्विशेषतो दुरन्तप्रभावचक्रायुधस्य कियदेतदित्यर्थः ॥ ५१ ॥

यत एवम्भूतः श्रीकृष्णस्ततः सेव्यः स एव सर्वोत्तम इत्याह - **जयतीति**। जनानां जीवानां यो निवासः आश्रयः तेषु वा निवसत्यन्तर्यामितया, तथा स कृष्णो जयति। देवक्यां जन्मेति वादमात्रं, यस्य सः वस्तुतः[1-1] अजन्मा। यदुवराः पर्षत् सभा सेवकरूपा यस्य। इच्छामात्रेण निरसनसमर्थोऽपि क्रीडार्थं स्वैः दोर्भिरधर्ममस्यन् क्षिपन् स्थिरचरवृजिनघ्नोऽधिकारि विशेषानपेक्षमेव बृन्दावनगततरुलतागवादीनामपि संसारदुःखहन्ता तथा विलासवैदग्ध्यानपेक्षं व्रजवनितानां पुरवनितानाञ्च

सुस्मितेन शोभनहास्ययुतेन श्रीमता मुखेनैव कामदेवं वर्धयन् कामश्चाऽऽसौ दीव्यति विजिगीषति संसारमिति देवस्तं भोगद्वारा मोक्षप्रवर्धयन्नित्यर्थः ॥ ५२ ॥

**इत्थमिति**। तत्तत्कार्यविशेषैः स्वीकृतमत्स्यकूर्मादिनानावतारमूर्तैः विशेषतो यदूत्तमस्य सतः परस्य परमस्य तदनुरूपानुकारीणि [2-]कर्मकषणानि कर्मनिबर्हणानि[-2] कर्माणि चरितानि श्रूयात् शृणुयादित्यर्थः ॥ ५३ ॥

अनुवृत्तेः फलमाह - **मर्त्य** इति। श्रीमत्याः कथायाः श्रवणकीर्तनयुक्तया चिन्तया संवर्धितयाऽनुवृत्त्या तया तन्निष्ठत्वेन तस्य धाम लोकमेति लोकत्वेऽपि कालानाकलितत्वमित्याह - दुस्तरेति। दुर्लभपुरुषार्थतामाह - ग्रामादिति ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां नवतितोऽध्यायः ॥ ९० ॥

---

1- -1 Ml. V. Omit 2- -2 B. J. Omit

**वीर०** स्वमात्मानं न विदुरित्यनेन तन्माहात्म्यं न विदुरिति सूचितम्। तदेवाऽनितरसाधारणं वदन्नत्याश्चर्यमेतद्भूभारापहरणमिति विस्मयमपनुदन्नाह - **तीर्थमिति**। हे नृप! इतःपूर्वं स्वस्सरित् स्वर्णदी गङ्गैव सर्वतोऽधिकं तीर्थमासीत् इदानीन्तु यदुषु यदजनि जातं तेषु जातं श्रीकृष्णकीर्तिरूपं तत्कर्तृस्वस्सरिद्रूपं पादशौचं तीर्थम् ऊनम् अल्पं चक्रे, यत् यशोरूपं तीर्थमेव सर्वतीर्थोपरि विराजत इति भावः। तथा द्विषन्तः शत्रवः स्निग्धा अनुरक्ताश्च तत्स्वरूपं ययुः प्रापुः। स्वं स्वासाधारणं रूपमाकृतिः तत्साधर्म्यमिति यावत्। तत्प्रापुः प्रीत्यप्रीत्यात्मकस्य स्वविषयस्य ज्ञानस्य साधर्म्यं प्रापणस्वाभाव्यादिति भावः। तथा अजितपदा कैश्चिदप्यप्राप्तपदा श्रीश्च यस्यैवेति शेषः। यस्यैवानन्यार्हशेषभूतेत्यर्थः। तां श्रियं विशिनष्टि - यदर्थेऽन्ययत्न इति। यदर्थेऽन्ययत्नः यच्छ्रीकटाक्षलेशप्रसरणार्थम् अन्येषां ब्रह्मादीनां यत्नः श्रमः भवति इत्यर्थः। किञ्च यस्य भगवतो नाम श्रुतमथ (वक्तरि सति, अथवा) गदितं उच्चरितं (श्रोतरि सति) अर्थज्ञानरहितमपि अमङ्गलघ्नं, किञ्च गोत्रेषु तत्तद्वृष्णिवंशेषु धर्मो यत्कृतः येन प्रवर्तितः तस्यैतस्य श्रीकृष्णस्यैतन्न चित्रं, किं तत् यत् क्षितिभरहरणं, तत्र हेतुत्वेन पुनस्तं विशिनष्टि कालचक्रायुधस्येति। कालचक्रं कालाभिमानिसुदर्शनाख्यं चक्रमायुधं यस्य तस्य। कालायत्तं हि सर्वमिति भावः ॥ ५१ ॥

उक्तविधासाधारणप्रभावनिर्वाहकं परत्वमाह - **जयतीति** । सर्वोत्कर्षेण वर्तते। [1-]को जयतीत्यत आह जननिवास[-1] इति। जनानां स्थावरजङ्गमानां निवासः धारकः जनेषु निवसति धारकतयेत्यर्थः। तर्हि परमात्मनः कथं प्राकृतेषु जन्म इत्यत्राऽऽह - देवकीति। देवक्यां जन्मेति वादमात्रं यस्य सः न तस्य प्राकृतस्येव कर्मायत्तं जन्म, अपि तु स्वेच्छामूलकं

तदिति भावः। तदपि किमर्थमित्यत्राऽऽह - यदुवराः यदुश्रेष्ठाः तेषां परिषदः सङ्घाः ताभिरेव दोर्भिः भुजैः अधर्ममस्यन्। 'लक्षणहेत्वोः' (अष्टा.3-2-126) इत्यय शता, प्रतिक्षेप्तुमित्यर्थः। न केवलं तदेव तस्य सङ्कल्पमात्रेणाऽपि सुशकत्वात्। किन्त्वेतदेवाऽवतारकृत्यं मुख्यमित्यभिप्रेत्य विशिनष्टि - स्थिरचरवृजिनघ्नः अधिकारमनपेक्ष्य स्थिराणां बृन्दावनादिगतानां तरुगुल्मादिरूपाणां स्थिराणां चराणां पशुशकुनि प्रभृतीनां केनचित्स्वसम्बन्धेन वृजिनं प्राप्तिप्रतिबन्धकं पापं हन्तीति तथा। तदेवोदाहर्तुं विशिनष्टि - शोभनं स्मितं यस्मिन्, तेन श्रीमुखेन व्रजवनितानां पुरवनितानाञ्च कामदेवं वर्धयन् ताः कामस्वभावाः वनिताः स्वेनैव स्वभावेन स्वविषयकेण मुच्येरन्निति तं तासां वर्धयन्निति भावः। वर्धयन् जयतीति सम्बन्धः। यद्वा अयमपि 'लक्षणहेत्वोः' (अष्टा. 3-2-126) इति शता वर्धयितुं देवकीजन्मवादो जयतीति सम्बन्धः ॥ ५२ ॥

प्रस्तुतस्कन्धार्थश्रवणफलं तदधिकारिणञ्चाऽऽह - **इत्थमिति**। निजधर्मरिरक्षया स्वनिगमोक्तधर्मरक्षणेच्छया आत्ता परिगृहीता लीलार्था तनुर्येन। लीलापदेन तन्वाः कर्मफलभोगार्थव्युदासः तस्य यदूत्तस्य परमपुरुषस्येत्थम्भूतानि तदनुरूपाणि अवतारानुरूपाणि धर्मरिरक्षानुरूपाणि वा विडम्बनानि मर्त्यचेष्टानुकारीणि कर्मणां कषणानि शृण्वतां कीर्तयताञ्च भक्तियोगोत्पत्ति प्रतिबन्धकानि पापकर्माणि कषन्ते निरस्यन्तीति तथा कर्माणि चेष्टितानि श्रूयात् शृणुयात् कः यः अमुष्य भगवतः पदयोः अनुवृत्तिं भक्तिमिच्छन् कामयमानः ॥ ५३ ॥

ननु किमनुवृत्तेरित्यत आह - **मर्त्य** इति। अनुसवमनुसन्ध्यं मुकुन्दस्य श्रीमत्याः कथायाः श्रवणकीर्तनचिन्तया श्रवणकीर्तनयुक्ता या चिन्ता तया समेधितयाऽनुवृत्त्या दुस्तरकृतान्तजनापवर्गं दुस्तरः कृतान्तो यैस्तेषां जनानामपवर्गं दुःखावसानहेतुभूतं तस्य भगवतो धाम स्थानमेति प्राप्नोति। दुस्तरेत्यादिविशेषणेन दुर्लभत्वं सूचितम्। तत्स्पष्टमेवाऽऽह-ग्रामादिति। यदर्थाः यद्धाम अर्थः। प्रयोजनं येषां ते यद्धाम प्रप्तिकामा इत्यर्थः। ग्रामाद्वनं ययुः यान्ति, तपस इति शेषः। यद्वा, यदनुवृत्तिकामाः दुस्त्यजकृतान्तभवापवर्गमिति पाठान्तरम्। दुस्तरः कृतान्तो मृत्युस्तत्तुल्यो भवस्संसारः तस्याऽपवर्गोऽवसानं यस्मात्तद्धाम एतीति सम्बन्धः ॥ ५४॥

**विभुर्विजयतेतरां विविधविश्वजन्मोदय स्थितिप्रभृतिनोदयो निरवधिस्वरूपः स्वतः।**
**निरस्तनिखिलाशुभः सकलशोभनोपाश्रयश्रियस्सहचरः पुमान् श्रुतिदृशाम्मनोज्ञाकृतिः॥**
**क्षाम्यन्त्वतिक्रमन्त्वत्र शब्दार्थविषयं मम। निर्मत्सरास्सुमनसो गुणान् गृह्णन्तु सर्वशः ॥**

समाप्तोऽयं दशमः स्कन्धः

इति श्रीवत्सान्वयपयः पारावारराकासुधाकरस्य सर्वविद्यानिधेः चक्रवर्तिनः
श्रीशैलगुरोस्सुतेन तच्चरणकमलपरिचर्या प्रसादितत्सूक्तिसमधिगत
श्रीमद्भागवतार्थहृदयेन श्रीवैष्णवदासेन श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां
श्रीमद्भागवतचन्द्रिकायां व्याख्यायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

1--1 T.W. Omit 2.B. त्र

**विज०** सर्ववेदार्थत्वेन सर्ववेदविषयत्वेन सम्यग्ग्रहो ग्रहणं यस्य स तथा तं स्वयोगमायया स्वरूपसामर्थ्येन रचितैरुत्पादितैः कृष्णो वेदव्यासः गाधिर्विश्वामित्रः, असितः आवन्तिः, सान्दीपनिः रामः एत आचार्या यस्य कृष्णस्य सः उद्धवस्य ईश्वरः उद्धवेश्वरः कृष्णगाध्यसितावन्तिरामाचार्यश्चाऽऽसौ उद्धवेश्वरश्च तथा अग्रण्यपत्नीभिः रुक्मिण्यादि श्रेष्ठपत्नीभिस्सह सन्दीक्षितः अग्रणीः सर्वोत्तमः ॥५१॥

श्रीकृष्णस्मरणार्थं संक्षिप्य तान् गुणान् कथयति - **तीर्थमिति**। तीर्थं कीर्तिलक्षणं नृणां चक्रे यत् यः यदुष्वजनि प्रादुर्भूतः यस्य पादशौचं पादप्रक्षालनजलं स्वस्सरित् स्वर्गनदी गङ्गाऽभूत्, यस्य स्वरूपं ऐश्वर्यादिषड्गुणैराप्तं पूर्णं, यस्य उरसि वक्ष उपरि रमा सर्वदाऽऽस्ते यस्य शास्त्रं शासकं वचनं तत्प्रमाणं, लोकस्येति शेषः। यच्छास्त्रं वेदादिशास्त्रं तत्प्रमाणमिति वा। सदसद्व्यक्तयः कार्यकारणव्यक्तयः यदनु यस्यानन्तरं विद्यमाना यदनुकूलत्वेन सत्तासम्बन्धिन्यः धर्मा यत्र यद्विषयत्वेन वर्तन्ते तस्य धर्मा यत्र यद्विषयत्वेन वर्तन्ते तस्य कृष्णस्यैतत् क्षितिभारहरणं न चित्रं, किन्त्वस्माकमेव हेत्वन्तरमाह- कालेति ॥ ५२ ॥

देवकीजन्मवादः देवकीपुत्रत्वेन वादः कीर्तिर्यस्य स तथा। जननिवासः जगन्निवासो जयति। कथमत्राऽऽह - नियमेति। भूभारक्षपणार्थं नियमेन भूमौ कृतानि पदाब्जानि पादन्यासपद्मानि यानि तैः स्वदोर्भिश्च दस्युपीडां, कुर्वन्निति शेषः। उभयदृशीनां अन्तर्बहिः स्थितिरूपस्य दृशिः दर्शनं येषां तेषां मुदं कुर्वन् अबलानां स्त्रीणां श्रीनिकेतात्ममूर्त्या लक्ष्मीमन्दिरात्मस्वरूपेण स्निग्धहासेक्षया स्निग्धमन्दस्मितशोभितरूपकटाक्षनिरीक्षणेन च स्मरवपुः काममूर्तिरिव स्थितः ॥ ५३ ॥

**यो ह्यात्मा जगदादिमध्यनिधनो योऽव्यक्तजीवेश्वरो**
**यः सृष्ट्वेदमनुप्रविष्ट ऋषिणा चक्रे पुनस्संहिताम् ।**
**यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तःकुलायं यथा**
**तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम् ॥**

जगत आदौ मध्ये निधने वर्तत इति जगदादिमध्यनिधनः जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारकर्ता अव्यक्तजीवयोरीश्वरः ऋषिणा व्यासात्मना भागवतीं संहितां अनुशयी जीवः यं सम्पद्य प्राप्य अजां बन्धकशक्तिं जहाति 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छान्दो.उ. 3-6-8-1) इति श्रुतेः। सुप्तः परमात्मानं प्राज्ञं प्राप्तः यथा कुलायं शरीराभिमानं त्यक्त्वाऽऽस्ते तथा कैवल्येन सच्चिदानन्दस्वरूपस्थित्या निरस्तयोनिं नित्यनिरस्तप्रकृतिम् ॥

इत्थं एवंविधस्य यदूत्तमस्य कर्माणि विक्रमलक्षणानि गायेदित्यन्वयः। निजधर्मरिरक्षया (रिरक्षिषया?) स्वकल्पितधर्मरक्षणेच्छया तस्यानुकूलविडम्बनानि कर्मकषणानि दुष्कर्मनिराकरणसमर्थानि अनुवृत्तिमनुगमनमिच्छन् ॥५४॥

मर्त्यः तयाऽनुवृत्त्या तस्य हरेर्धाम लोकमेति। कीदृश्या? श्रीमत्याः कथायाः श्रवणकीर्तनचिन्तनलक्षणया दुष्करेण तपसा कृतं साधितं जनतायाः क्रियासाध्यफलरूपं जनतापवर्गं यस्य हरेर्धामार्थे क्षितिभुजोऽपि ग्रामाद्वनं ग्रामं विहाय वनं ययुः यान्ति किम्पुनरन्य इति ॥ ५५॥

## सूत उवाच

**य इदमनुशृणोति श्रावयेद्वा मुरारे श्चरितममृतकीर्तेर्वर्णितं व्यासपुत्रैः ।**
**जगदघभिदलं तद्भक्तकर्णावतंसं भगवति कृतचित्तो याति तत्क्षेमधाम ॥**

स्कन्धार्थमुपसंहरति - **य इदमिति**। व्यासपुत्रैः शुकादिभिः जगतोऽघं पापं भिनत्तीति जगदघभित् तद्भक्तानां कर्णावतंसं कर्णालङ्कारायमानं श्रवणादिफलमाह - भगवतीति। क्षेमधाम मोक्षलक्षणं स्थानम्। श्रवणादिकुर्वतां इत्थंभाव्यमित्यत उक्तं भगवतीति। - "सर्वोत्तमोऽपि भगवान्गुणभावं जनार्दनः। दर्शयेद्वासुदेवोऽपि ह्यात्मनो जीवतामपि। अज्ञाशक्तादिभावस्तु कुतस्तस्याऽखिलेशितुः। कुतश्च जीवता तस्य प्रधानपुरुषेशितुः। कुतो दोषास्सर्वगुणपूर्णस्यानन्दवारिधेः" (वामने) इत्येतत्प्रमाणम् । अज्ञजनेन कृष्णे क्रियमाणसर्वशङ्कानिराकरणार्थं भगवत्पादैः स्कन्धान्ते दर्शितमिति ज्ञातव्यमिति

"योऽयाचि त्रिदशैः कुभारहृतयेऽवतारि येन क्षितौ जघ्ने येन सुरासुहृत्समुदयो येन त्रिलोक्याऽपि सा।
येनाऽधायि युधिष्ठिरो निजपदे धर्मोऽपि येनाङ्कुरि श्रीकृष्णं तमकृष्णकृष्णदयितं वन्दामहे सन्ततम् ॥
पदरत्नावलिर्नाम दशमस्कन्धसङ्गता कृष्णप्रीत्या समाप्तोऽयं विद्वन्मानसहर्षिणी ।.

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥
समापतोऽयं दशमः स्कन्धः

# श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धस्थ तृतीय भागस्य श्लोक पादानुक्रमणिका


| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **– अ –** | | | |
| अकामविहतं तथा | 80 | 29 | b |
| अकामा महरद्बलात् | 68 | 2 | d |
| अकिञ्चनानां साधूनाम् | 89 | 17 | c |
| अकृतज्ञाय विशङ्कया | 82 | 43 | b |
| अकृतप्रह्वणाञ्जलिं | 78 | 23 | b |
| अक्तमभ्यक्तमृत्विजः | 84 | 47 | b |
| अक्षीणजवयोर्नृप | 73 | 39 | d |
| अक्षैर्दीव्यन्ति राजानः | 61 | 35 | c |
| अक्षैस्सभायां क्रीडन्तम् | 66 | 36 | a |
| अक्षौहिणीभि र्द्वादशभिः | 63 | 4 | a |
| अक्षौहिणीभिस्तिसृभिः | 66 | 12 | c |
| अक्षौहिणीभिस्सहितो | 66 | 11 | c |
| अक्षौहिण्या परिवृतम् | 63 | 52 | a |
| अक्षौहिण्या परिजनैः | 83 | 15 | d |
| अगजगदोकसमखिल शक्त्यवबोधक ते | 87 | 14 | c |
| अगस्त्यो याज्ञ वल्क्यश्च | 84 | 5 | c |
| अगिर उन्मत्तवज्जडम् | 90 | 14 | b |
| अग्निराहुतयो मन्त्राः | 74 | 20 | c |
| अग्निहोत्रादि लक्षणैः | 84 | 51 | b |
| अग्निं विविक्षुः कृष्णेन | 89 | 45 | c |
| अग्नीन्वैतानिकान् खलः | 67 | 6 | d |
| अग्रहीच्छिरसा राजन् | 80 | 21 | a |
| अङ्गसङ्गति निर्वृत्तः | 80 | 19 | b |
| अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां | 80 | 4 | c |
| अङ्गारोद्गारिलोचनः | 66 | 32 | d |
| अजानंत्व यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृभक्त् | 87 | 30 | c |
| अजातशत्रवे भूरि | 72 | 14 | c |
| अजातशत्रु राकर्ण्य | 75 | 41 | a |
| अजातशत्रुर्निरगात् | 7 | 23 | C |
| अजातशत्रु र्विमना इवाऽभवत् | 75 | 43 | d |
| अजातशत्रोस्तं दृष्ट्वा | 75 | 1 | a |
| अजानतस्त्वपचितिं | 78 | 37 | c |
| अजानता मागतान् वः | 82 | 9 | e |
| अजानतैवाऽऽचरितः | 78 | 31 | a |
| अजानन्तमपि ह्येनम् | 64 | 44 | c |
| अजानन्नः प्रतिविधिं | 88 | 25 | a |
| अजीजनन्न नवमान् | 61 | 1 | c |
| अञ्जसा वर्तयामास | 89 | 66 | c |
| अण्वप्युपाहृतं भक्तैः | 81 | 3 | c |
| अत उपमीयते द्रविणजाति विकल्पपथैः | 87 | 37 | c |
| अतत्रभवेय दधुस्त्वयि मनो वचना चरितम् | 87 | 15 | c |
| अतप्य द्राजसूयस्य | 75 | 31 | c |
| अतस्त्वां गदया मन्द | 78 | 5 | c |
| अतिभानु स्तथाऽष्टमः | 61 | 10 | a |
| अतीवकोमलौ तात | 89 | 10 | a |
| अत्युत्कुण्ठश्शबल हृदयोऽस्मद्विधो बाष्पधाराः | 90 | 21 | c |
| अत्रकारण मुच्यताम् | 75 | 2 | d |
| अत्र ते वर्णयिष्यामि | 87 | 4 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अत्रैवोदाहरन्तीमं | 88 | 13 | a | अथोपवेश्यपर्यङ्के | 80 | 20 | a |
| अथ तत्रकुरुश्रेष्ट | 85 | 27 | a | अथो मुनिर्यदुपतिना सभाजितः | 71 | 18 | a |
| अथ ते रामकृष्णाभ्याम् | 82 | 28 | a | अथोवाच हृषीकेशं | 69 | 37 | a |
| अथ तैरभ्यनुज्ञातः | 79 | 9 | a | अथोषस्युप्रवृत्तायां | 70 | 1 | a |
| अथ नारायणो देवः | 63 | 23 | c | अदत्त मवरुन्धीत | 68 | 28 | c |
| अथ पर्वण्युपावृत्ते | 79 | 1 | a | अदहन् वह्निमुत्सृजन् | 67 | 3 | d |
| अथ पृच्छामहे युष्मान् | 70 | 37 | c | अदान्तस्याविनीतस्य | 78 | 26 | a |
| अथ राजाहते क्षौमे | 75 | 22 | a | अदायि मेदिनी येन | 62 | 2 | c |
| अथार्त्विग्भ्योऽददा त्काले | 84 | 52 | a | अदीर्घ बोधाय विचक्षणास्स्वयं | 81 | 37 | c |
| अथर्त्विजो महाशीलाः | 75 | 25 | a | अदूषय च्छकृन्मूत्रैः | 67 | 6 | c |
| अथर्वाकश्यपो धौम्यः | 74 | 9 | a | अद्भुतं रोमहर्षणम् | 63 | 7 | b |
| अथवितथास्वमूववितथं तव धाम समः | 87 | 18 | c | अद्यन स्त्वत्पदाम्भोजम् | 86 | 31 | c |
| अथाऽत्रब्रूहनुण्ठेयं | 70 | 47 | c | अद्यनिष्कौरवीं पृथ्वीम् | 68 | 40 | a |
| अथादिशन्प्रयाणाय | 71 | 12 | a | अद्यनोजन्मसाफल्यम् | 84 | 21 | a |
| अथान्यदपि कृष्णस्य | 76 | 1 | a | अद्यप्रभृतिवोभूपाः | 73 | 18 | a |
| अथाऽपतद्भिन्न शिराः | 88 | 36 | a | अद्यश्व इति मासांस्त्रीन् | 84 | 66 | c |
| अथाऽपिकालेस्वजनाभिगुप्तये | 84 | 18 | a | अद्याऽपि च पुरं ह्येतत् | 68 | 54 | a |
| अथाऽपिब्रूहि नो ब्रह्मन् | 69 | 22 | a | अद्याऽपि दृश्यते राजन् | 65 | 33 | a |
| अथाप्याश्रावये ब्रह्मन् | 70 | 41 | a | अद्याऽहं भगवल्लँक्ष्म्या | 89 | 12 | a |
| अथाऽऽप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि | 70 | 6 | a | अधना अबहुप्रजाः | 90 | 43 | b |
| अथाब्रवी न्नभोवाणी | 61 | 33 | a | अधनोऽयं धनं प्राप्य | 81 | 21 | a |
| अथाऽऽह पौण्ड्रकं शौरिः | 66 | 19 | a | अधर्मस्ते कृतः प्रभो | 78 | 29 | d |
| अथैकदात्मजौ प्राप्तौ प्राप्तौ | 85 | 1 | a | अधुनावद्यकर्मणा | 88 | 49 | b |
| अथैकदाद्वारवत्यां | 82 | 1 | a | अधुना श्रीमधान्धाक्षा | 84 | 63 | c |
| अथोचुर्मुनयो राजन् | 84 | 34 | a | अध्यात्मशिक्षया गोप्यः | 82 | 48 | a |
| अथो न राज्यं मृगतृष्णिरूपितं | 73 | 14 | a | अद्यासीनञ्चतान्विप्रान् | 78 | 23 | c |
| अथोपविष्टः परमासने विभुः | 70 | 19 | a | अध्यास्ते प्रतिलोमजः | 78 | 24 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अध्रुवेण ध्रुवंगताः | 72 | 21 | d | अनुग्रहो यद्भवतः | 73 | 9 | c |
| अनक्षज्ञो ह्ययं राजन् | 61 | 28 | a | अनुजानी हि मां देव | 69 | 39 | a |
| अनङ्गोङ्गयुत स्तया | 61 | 22 | b | अनुजानी हि मां कृष्ण | 64 | 29 | a |
| अनन्तस्याऽप्रमेयस्य | 67 | 1 | c | अनुज्ञातो गतोऽर्णवम् | 79 | 17 | d |
| अनन्तस्याऽप्रमेयस्य | 79 | 33 | c | अनुज्ञातो विमानग्र्रम् | 64 | 31 | c |
| अनन्यमेकंजगदात्मकेतं | 63 | 45 | c | अनुज्ञाप्य गुरून् विभुः | 71 | 12 | d |
| अनपगतान्तक्र दनाधिरूढ पदाद्भवतः | 87 | 39 | d | अनुतिष्ठन् सतां गतिः | 90 | 30 | b |
| अनपायिभि रस्माभिः | 62 | 29 | a | अनुनीता बुभौ विप्रौ | 64 | 19 | a |
| अनयोर्मातुलेयं माम् | 72 | 29 | c | अनुमित मन्नरात्वयि विभाति मृपैकरसे | 87 | 37 | b |
| अनःस्यार्थैर्दिदृक्षया | 82 | 32 | d | अनुयुग मन्वहं सगुणगीत परम्परया | 87 | 40 | c |
| अनागत मतीतञ्च | 61 | 21 | a | अनुविश्यावभासने | 86 | 45 | d |
| अनागतां हलाग्रेण | 65 | 25 | e | अनुसेवां महाभुजः | 65 | 10 | f |
| अनात्मने स्वात्मविभत्तुमृत्यवे | 86 | 48 | b | अनुस्मरन्ता वन्योन्यम् | 79 | 28 | c |
| अनादरणकारणम् | 84 | 31 | b | अनुस्रोतेन सरयूम् | 79 | 10 | a |
| अनिच्छन्त मपीश्वरः | 74 | 49 | b | अन्तरं प्रेप्सुरर्जुनः | 86 | 8 | b |
| अनिरीक्षन्नादाग्रजः | 63 | 21 | b | अन्तःपुरचरादिपु | 69 | 36 | b |
| अनिरुद्धं विलिखितम् | 62 | 21 | a | अन्तःपुरजनैःप्रीत्या | 71 | 38 | a |
| अनिरुद्धोऽप्रतिरथः | 89 | 31 | c | अन्तःपुरजनो दृष्ट्वा | 80 | 24 | a |
| अनिवृत्तां व्रजेश्वरि | 82 | 38 | b | अन्तेच यः स्वात्मनि रुद्धविश्वः | 68 | 46 | c |
| अनिस्तीर्ण प्रतिज्ञोऽग्निं | 89 | 30 | c | अन्त्युपेतगुणात्मनाम् | 86 | 47 | d |
| अनिस्तीर्ण प्रतिश्रुतः | 89 | 45 | b | अन्यदान्यावहारिकः | 85 | 14 | d |
| अनिस्तीर्यत्यजन् पतेत् | 84 | 39 | d | अन्याश्चाभ्यागतायास्तु | 71 | 43 | c |
| अनीशा मधुरां ययुः | 84 | 69 | d | अन्यांश्चैवाऽऽत्मपक्षीयान् | 82 | 14 | a |
| अनीह एतद्बद्धुधैक आत्मना | 84 | 17 | a | अन्ये च तन्मुख सरोज मुदारहास | 86 | 20 | c |
| अनीहया गताहार्यं | 86 | 14 | c | अन्ये निर्भिन्न बाहूरु | 61 | 38 | a |
| अनुकालं समाहितः | 64 | 43 | b | अन्योन्यतोंसकटिपाद करोरु जवून् | 72 | 37 | b |
| अनुकुर्वन्स्वमायया | 83 | 7 | d | अन्योन्यसन्दर्शन हर्षरंहसा | 82 | 15 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अन्वेषमाणो न शिशिष्यान् | 80 | 39 | c | अप्राप्य शुण्कहृदयाः पुरुकर्शिताःस्म | 90 | 25 | d |
| अपत्यानां महोत्सवान् | 69 | 33 | b | अप्सरोभिः पितृगणैः | 78 | 14 | c |
| अपराजित मानिनम् | 77 | 19 | b | अबध्नीताऽथतन्मृष्ये | 68 | 22 | c |
| अपरिमिताङ्ग्या स्तनुभृतो वदिसर्व गताः | 87 | 30 | a | अबुधास्त्वखिलात्मनः | 85 | 15 | b |
| अपरे च महेष्वासाः | 76 | 15 | a | अब्रह्मण्याश्च जज्ञिरे | 90 | 43 | d |
| अपर्ती सुमह द्विज | 80 | 36 | b | अब्रह्मण्ये प्रयोजितः | 66 | 30 | f |
| अपश्यताञ्चाऽनिरुद्धम् | 63 | 1 | a | अभवद्यज्ञशालायाम् | 79 | 2 | c |
| अपश्यत्पौण्ड्रकं हरिः | 66 | 12 | d | अभवायोशतीः कलाः | 87 | 46 | d |
| अपाययत्स्तनं प्रीता | 85 | 55 | a | अभिचारविधानेन | 66 | 30 | c |
| अपि चक्रुः प्रवचनम् | 87 | 11 | G | अभिनन्द्ययथान्यायम् | 78 | 21 | c |
| अपि तव्यसनं महत् | 61 | 28 | b | अभिवन्द्याऽथ राजानम् | 73 | 34 | a |
| अपि नः स्मर्यते ब्रह्मन् | 80 | 35 | a | अभिवादयामास च तम् | 88 | 28 | c |
| अपि वत वसुदेवनन्दनाङ्घ्रिम् | 90 | 24 | c | अभिवाद्याऽभवंस्तूष्णीं | 79 | 24 | c |
| अपि ब्रह्मन् गुरुकुलात् | 80 | 28 | a | अभिष्टुवस्त्वन्धक कौरवस्त्रियः | 83 | 5 | b |
| अपि वर्षायुतै नृप | 90 | 44 | d | अभीक्ष्णं पूजयामास | 75 | 23 | c |
| अपि वा स्मरतेऽस्माकं | 65 | 10 | e | अभीयुर्मुदिता स्तस्मै | 86 | 22 | c |
| अपि संसरता मिह | 73 | 15 | d | अभूत्तुमुल मुल्बणम् | 77 | 6 | d |
| अपि स्मरथ न स्मरथ्यः | 82 | 42 | a | अभेद्यं कामगं वव्रे | 76 | 6 | c |
| अपि स्विदद्यलोकानां | 70 | 36 | a | अभ्यधावत दाशार्हम् | 63 | 22 | e |
| अपूजयन्महाभागान् | 74 | 17 | c | अभ्ययात्स हृषीकेशं | 71 | 24 | c |
| अपूर्णैरस्मदादिभिः | 69 | 21 | d | अभ्यषिञ्च दमेयात्मा | 72 | 46 | c |
| अपृच्छदिद मच्युतम् | 88 | 6 | d | अभ्यषिञ्चन्महाभागाः | 79 | 7 | c |
| अपोवाह रणात्सूतः | 76 | 27 | c | अभ्ययां चूर्णयन्नद्रीन् | 62 | 9 | c |
| अप्यवध्या यथा स्मान् स्वित् | 82 | 43 | a | अभ्युद्यतः पौरसुहृद्द्विजातिभिः | 63 | 53 | d |
| अप्यसौ मातरं द्रष्टुम् | 65 | 10 | c | अभ्येत्य तरसा तेन | 67 | 17 | c |
| अप्यस्त्युपायनं किञ्चित् | 80 | 13 | c | अमूल्य मौल्याभरणम् | 66 | 14 | c |
| अप्रत्युत्थायिनं सूतम् | 78 | 23 | a | अमृतत्वाय कल्पते | 82 | 45 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अमोघगति रीश्वरः | 90 | 33 | d | अलङ्कृतेभ्यो विप्रेभ्यः | 70 | 9 | c |
| अम्ब माऽस्मानसूयेथाः | 82 | 21 | a | अलब्धनिद्रोऽधिगंत प्रजा गरः | 70 | 11 | b |
| अयन्तुबहिराच्छन्नः | 83 | 19 | c | अलष्ध्वाऽभय मन्यत्र | 63 | 25 | a |
| अयन्तु वयसातुल्यः | 72 | 32 | a | अलंयदूनां नरदेवलाञ्छनैः | 68 | 27 | a |
| अर्य ममेष्टोदयितोऽनुवर्ती | 63 | 46 | a | अलातचक्रवद्भ्राम्यत् | 76 | 22 | c |
| अयंस्वस्त्ययनः पन्थाः | 84 | 37 | a | अल्पायुषोऽल्पवीर्याश्च | 90 | 43 | c |
| अयं हि परमो लाभः | 80 | 12 | c | अवजानन्त्यसूयवः | 86 | 55 | b |
| अयाजयन्महाराजम् | 74 | 16 | c | अवतारो मया कृतः | 78 | 27 | b |
| अयादवीं करिष्ये क्ष्माम् | 76 | 3 | c | अवतीर्णाः कुलशतम् | 90 | 48 | c |
| अयुक्तावस्तु चक्षते | 73 | 11 | d | अवतीर्णो जगत्पतिः | 66 | 2 | b |
| अयुतानि तुरङ्गमान् | 68 | 50 | d | अवतीर्णो किलाऽद्य मे | 85 | 30 | d |
| अयुते द्वे गिरिव्रजे | 70 | 25 | d | अवतीर्णो तथाऽत्थ ह | 85 | 18 | d |
| अयुते द्वे शतान्यष्टौ | 73 | 1 | a | अवधूतं सभाजितम् | 80 | 24 | d |
| अर्चतां स्वाभिवन्दताम् | 86 | 46 | b | अवधूतेन भिक्षुणा | 80 | 25 | b |
| अर्चादा विज्यदृष्टयः | 86 | 55 | d | अवध्योऽयं ममाऽप्येषः | 63 | 48 | a |
| अर्चायां देवचक्षुषाम् | 84 | 10 | b | अवप्लुत्य रथात्कृष्णः | 78 | 3 | c |
| अर्चितं सर्वधिष्ण्यपैः | 69 | 7 | b | अवबोधो भावान्बुद्धेः | 85 | 10 | c |
| अर्चित्वा वेद्यताम्बूलम् | 80 | 22 | c | अविध्यच्छरसन्दोहैः | 77 | 15 | c |
| अर्जुनस्तीर्थ यात्रायाम् | 86 | 2 | | अवेक्ष्याऽऽज्यं तथाऽऽदर्श | 70 | 12 | a |
| अर्जुनेन परिष्वक्तः | 71 | 28 | c | अवात्सी त्स्वार्थसाधकः | 86 | 4 | b |
| अर्जुनेन सहेश्वरः | 89 | 47 | b | अवाप्या यैन्द मैश्वर्यं | 82 | 38 | c |
| अर्जुनो-न भवेद्योद्धा | 72 | 32 | c | अवोचत्कोपसंरब्धः | 68 | 30 | c |
| अर्थकामौ च कुत्रचित् | 69 | 29 | d | अव्यक्तञ्च ततः परम् | 84 | 19 | d |
| अर्थिनो गृहमागतान् | 72 | 18 | b | अव्यक्तलिङ्गं प्रकृतिषु | 69 | 36 | a |
| अर्द्यमान स्समन्ततः | 63 | 15 | b | अव्याहतानुभव मीश्वर मद्वितीयम् | 84 | 33 | b |
| अर्हति ह्यच्युतः श्रैष्ठ्यम् | 74 | 19 | a | अशीशमद्यथावह्निम् | 89 | 4 | c |
| अर्हयित्वाऽश्रुपूर्णाक्षः | 74 | 28 | c | अश्नामि प्रयतात्मनः | 81 | 4 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अश्वैर्गजै रथैःक्वाऽपि | 69 | 26 | a | अहं प्रजा वां भगवान् | 89 | 30 | a |
| अष्टादशमहारथाः | 90 | 34 | b | अहंबृहस्पतिः कण्वः | 86 | 18 | c |
| अष्टाशीतिशतानिच | 90 | 45 | b | अहंब्रह्मा च विबुधाः | 63 | 44 | a |
| अष्टौ महिष्य स्तत्पुत्रान् | 61 | 7 | c | अहंयूयमसावार्य | 85 | 23 | a |
| अष्टौ याः प्रागुदाहृताः | 90 | 32 | b | अहं वा अर्जुनो नाम | 89 | 33 | d |
| असभ्याः पुरमाविशन् | 68 | 29 | d | अहंसमुद्रोजठरं भुजेन्द्रः | 63 | 36 | d |
| असम्बद्धागिरो रूक्षाः | 68 | 39 | c | अहं हि सर्वभूतानाम् | 82 | 46 | a |
| असावहं ममैवैते | 85 | 17 | a | अहो असाध्विदं सूत | 76 | 28 | c |
| असिभिः पट्टिशैर्बाणैः | 66 | 16 | c | अहो ऐश्वर्यमत्तानाम् | 68 | 39 | a |
| असिहस्तःक्षिपन्नृपा | 75 | 37 | d | अहो त्वयाऽऽत्मा भृशमर्द्यते वृथा | 88 | 20 | d |
| असुतृपयोगिना मुभयतो | | | | अहोदेव महादेव | 88 | 38 | c |
| प्यसुरवं भगवन् | 87 | 39 | c | अहोबह्मण्यदेवस्य | 81 | 15 | a |
| असृग्विमुञ्चन्गात्रेभ्यः | 63 | 15 | c | अहोभोजपते यूयं | 82 | 29 | a |
| असौ वृकोदरःपार्थः | 72 | 29 | a | अहोमहच्चित्रमिदम् | 68 | 24 | a |
| अस्त्रस्य तव वीर्यस्य | 78 | 35 | a | अहो मे पुत्रका यूयम् | 80 | 40 | a |
| अस्त्रौजसा सनृप भग्न | | | | अहो यदून् सुसंरब्धान् | 68 | 32 | a |
| मुखोनिवृत्तः | 66 | 40 | b | अहोवयंजन्मभृतः | 84 | 9 | a |
| अस्मदर्थेऽतिदुःखितः | 80 | 40 | b | अहोविचित्रं भगवद्विचेष्टितम् | 84 | 16 | d |
| अस्मद्दत्तनृपासनाः | 68 | 25 | d | अहोविभूम्न श्चरितंविडम्बनं | 84 | 17 | d |
| अस्मद्दृग्गोचरोभवान् | 86 | 32 | b | – आ – | | | |
| अस्माकञ्च महानर्थो हि | 71 | 4 | a | | | | |
| अस्माभिर्यदुनन्दन | 78 | 30 | b | आकर्ण्य यदुनन्दनः | 77 | 1 | b |
| अस्मास्वप्रतिकल्पेयम् | 84 | 62 | a | आकर्ण्येत्थं पितुर्वाक्यं | 85 | 21 | a |
| अस्मिन्लोकेऽथवाऽमुष्मिन् | 81 | 11 | c | आकल्पा दास्थित स्तपः | 87 | 6 | d |
| अस्यब्रह्मासनं दत्तम् | 78 | 30 | a | आकाशमिव केवलम् | 63 | 35 | d |
| अस्य मे पादसंस्पर्शः | 83 | 16 | a | आकृतीनां पृथक्कृतिः | 85 | 9 | d |
| असेऽनुरक्तहृदयानदधेस्म मालाम् | 83 | 29 | d | आकृष्यमाण मालोक्य | 68 | 42 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| आकृष्य सर्वतो वृक्षान् | 67 | 22 | c | आत्म लोकैषणां देव | 84 | 38 | c |
| आकोटिज्यां समुत्कृष्य | 83 | 22 | c | आत्मशक्तिभिरग्राह्योऽपि | 86 | 47 | c |
| आक्रीडनं भूतपते रिवोल्बणं | 66 | 18 | d | आत्मशक्ति समं वचः | 68 | 23 | b |
| आगच्छ दसि चर्मभ्याम् | 78 | 11 | c | आत्मसृष्टमधोक्षज | 85 | 5 | b |
| आगच्छन्नेव मुर्वीशः | 75 | 39 | a | आत्मसृष्टे स्तत्कृतेषु | 85 | 24 | c |
| आगतोऽपूर्वदर्शनः | 70 | 23 | b | आत्मान मकृताशिषम् | 82 | 19 | b |
| आग्नेयस्य च पार्जन्यम् | 63 | 13 | c | आत्मानमपि दुस्त्यजम् | 72 | 23 | d |
| आग्नेयीं नैऋतीं सौम्यां | 89 | 44 | c | आत्मानमपि यच्छति | 80 | 11 | b |
| आघ्रायोपगत स्तत्र | 65 | 20 | c | आत्मान माख्याहि विवित्सतां नः | 64 | 8 | c |
| आयान्तं स्नपयाञ्चक्रुः | 75 | 19 | c | आत्मानं कालमीश्वरम् | 84 | 23 | d |
| आचार्यैः कुलवृद्धैश्च | 72 | 2 | a | आत्मानं गुणतत्त्वदृक् | 84 | 24 | b |
| आचार्योऽपश्यदातुरान् | 80 | 39 | d | आत्मानं तमसः परम् | 70 | 4 | d |
| आजह्रुर्दिग्भ्य ओजसा | 72 | 14 | b | आत्मानं प्रियमीश्वरम् | 63 | 43 | b |
| आज्ञापयन्त्यद्यगतत्रपाबत | 68 | 27 | d | आत्मानं प्रेष्टमीश्वरम् | 63 | 44 | d |
| आतपत्रञ्च पाण्डुरम् | 68 | 26 | b | आत्मानं भूषयामास | 70 | 11 | a |
| आतिथ्येन निमन्त्र्य तम् | 86 | 5 | b | आत्मानं विश्वगं विदुः | 79 | 31 | d |
| आतिथ्येन सहद्विजैः | 86 | 25 | b | आत्मानं स गृहान्वयम् | 86 | 40 | b |
| आतुरो दीनमानसः | 89 | 23 | d | आत्मानं सम्प्रदर्शयन् | 67 | 11 | d |
| आत्मजाभ्यां सुविस्मिता | 85 | 27 | d | आत्मानं स्वर्गतं यथा | 81 | 12 | d |
| आत्मजायाऽऽत्मना प्रभुः | 89 | 4 | b | आत्माऽयं सर्व कामधुक् | 88 | 29 | d |
| आत्मनश्चर्हणं भवेत् | 74 | 23 | d | आत्मारामस्य तस्येमाः | 83 | 39 | a |
| आत्मनाऽऽत्माश्रयः सभ्याः | 74 | 21 | c | आत्मारामा धृतव्रताः | 73 | 23 | b |
| आत्मनानुप्रविश्यात्मन् | 85 | 5 | c | आत्मा वै पुत्र उत्पन्नः | 78 | 36 | a |
| आत्मना यदनुष्टितम् | 73 | 34 | d | आत्मा वै प्राणिनां प्रेष्ठः | 80 | 40 | c |
| आत्मनेऽ कल्पनाय च | 87 | 2 | d | आत्मा साक्षी स्वदृग्विभो | 86 | 31 | b |
| आत्मनो ललिता राजन् | 80 | 27 | c | आत्मा ह्येकः स्वयञ्ज्योतिः | 85 | 24 | a |
| आत्मप्रदीपो गुणिनश्च भूमन् | 63 | 40 | d | आददुस्सशरंचापम् | 83 | 21 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| आदाय द्विजदारकान् | 89 | 61 | d | आमाप्येद मुवाच ह | 72 | 2 | d |
| आदाय व्यसृजन् केचित् | 83 | 22 | a | आमश्शङ्खुर्वसुः श्रीमान् | 61 | 13 | c |
| आदिरन्तोऽन्तरं बहिः | 82 | 46 | b | आययुर्मत्पितुःपुरम् | 83 | 20 | b |
| आदिश त्सह सृञ्जयैः | 72 | 13 | b | आययुर्मुनय स्तत्र | 84 | 2 | c |
| आदिष्टा गृहमेधिनाम् | 69 | 41 | b | आयान्तं द्वारकौकसः | 66 | 35 | b |
| आद्योऽङ्ग यत्राऽऽश्रमिणाम् | 80 | 32 | c | आयुधानि महार्हाणि | 83 | 38 | c |
| आधत्ते विप्रोमदीक्षया | 86 | 56 | d | आयुरिन्द्रियमत्ववान् | 78 | 36 | d |
| आधावनस्सगदं तस्य बाहुम् | 77 | 36 | a | आयुश्चात्माऽङ्गमं तावत् | 78 | 30 | c |
| आनन्त्यं वा हरेः पदम् | 83 | 41 | d | आयोधनं तद्रथवाजिकुञ्जर | 66 | 18 | a |
| आनन्द सम्प्लव मखण्ड मकुण्ठबोधम् | 83 | 4 | b | आराधयामास नृप | 76 | 4 | c |
| आनन्दाश्रुकलामुञ्चन् | 73 | 35 | c | आराधयामास यथोपपन्नया | 86 | 41 | c |
| आनम्य पादयुगलं शिरसा किरीट | 69 | 14 | c | आराध्यैकात्मभावेन | 86 | 58 | c |
| आनर्च रुक्मिणीं सत्याम् | 71 | 42 | c | आरुरुक्षत्युपानद्वै | 68 | 24 | c |
| आनर्चाऽऽभरणाम्बरैः | 75 | 22 | d | आरुहद्गरुडध्वजम् | 71 | 13 | f |
| आनर्तधन्व कुरुजाङ्गल कङ्कमास्या | 86 | 20 | a | आरुहत्पश्यतां नृणाम् | 64 | 31 | d |
| आनर्त सौवीरकुरून् | 71 | 21 | a | आरुह्यनन्दिवृषभम् | 63 | 6 | c |
| आनर्तान् सुतरा मेव | 67 | 4 | c | आरुह्यसाकं मुनिभिः | 86 | 17 | c |
| आनिनीषति दुर्मतिः | 89 | 42 | d | आरूढः कम्पयन् द्रुमान् | 67 | 11 | b |
| अनिन्यथुः पितृस्थानात् | 85 | 32 | c | आरेभे तिग्मलोचनः | 89 | 6 | d |
| आनीतेषूपवेश्य सः | 86 | 39 | b | आर्यभ्रात रहं मन्ये | 82 | 19 | a |
| आनीतेष्वासनाग्रेषु | 86 | 27 | c | आर्यमिश्राभिसङ्गतः | 77 | 9 | b |
| आनीय भुज्यते सोऽसौ | 68 | 35 | c | आर्यां द्वैपायनीं दृष्ट्वा | 79 | 20 | a |
| आनेष्ये ते प्रजां प्रभो | 89 | 34 | d | आलिरवन् सृक्किणीनग्नः | 66 | 33 | c |
| आपनसंसृटति भयापह मार्तबन्धो | 85 | 19 | b | आलिप्ता वस्तुपाणयः | 84 | 45 | d |
| आपुर्भवद्गति मथोऽनुगृहाण भक्तान् | 84 | 26 | d | आविस्तिरोऽल्पभूर्येकः | 85 | 25 | d |
| आप्रीतां दुःखच्छेदैः | 62 | 27 | d | आशासते वदित आशिष ईश नाऽन्ये | 72 | 4 | d |
| आभाष्यानकदुन्दुभिम् | 84 | 34 | b | आशासितं यत्तद्भूत | 78 | 34 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| आशीर्भि रभिनन्दितः | 65 | 2 | d | आस्तेऽधुना द्वारकायां | 80 | 10 | c |
| आशीविषदुरासदैः | 76 | 24 | b | आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायाम् | 82 | 7 | a |
| आशु तुष्यति कुप्यति | 88 | 15 | d | आस्थितस्य परं धर्मं | 90 | 31 | a |
| आशुतोष उमापतिः | 76 | 5 | b | आस्थितः पुत्र मा खिदः | 69 | 40 | d |
| आश्रमानृषिमुख्यानाम् | 67 | 6 | a | आस्थितो मुनिभिर्वृतः | 72 | 1 | b |
| आश्राव्य रामं दुर्वाच्यम् | 68 | 29 | c | आह चामर्षितो मन्दाः | 72 | 30 | c |
| आश्रुत्यात्मानुशासनम् | 87 | 42 | b | आह चाऽह मिहायातः | 77 | 9 | a |
| आश्लिष्य गाढं नयनैः स्रवज्जलाः | 82 | 15 | c | आह ते स्वागतं बह्मन् | 89 | 9 | c |
| आश्लिष्यानामयं पृष्ट्वा | 82 | 41 | c | आहरस्व महाक्रतुम् | 72 | 9 | d |
| आश्लिष्टो बिभ्रतोरसि | 81 | 15 | d | आह वीरव्रतो गुरुम् | 87 | 45 | d |
| आश्वभ्योऽन्नेन पूजयत् | 84 | 54 | d | आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दम् | 82 | 49 | a |
| आसनानि च हैमानि | 81 | 30 | a | आहूतो धर्मसूनुना | 77 | 7 | b |
| आसने मघवा निव | 75 | 35 | b | आहोपायं तमेवाद्य | 72 | 15 | c |
| आसन्न च्युतसन्दर्शं | 82 | 23 | c | - इ - | | | |
| आसन्नुदार यशसः | 90 | 34 | c | | | | |
| आसन्मरीचेः षट्पुत्राः | 85 | 48 | a | इक्ष्वाकुतनयः प्रभो | 64 | 10 | b |
| आसन्यदुकुलाचार्याः | 90 | 45 | c | इच्छामीत्यपरो ययौ | 64 | 21 | d |
| आसन् षोडशसाहस्रं | 90 | 31 | c | इत एतान् प्रणेष्यामः | 85 | 51 | a |
| आसमेकान्तभाजनम् | 89 | 12 | b | इति कर्ण श्शलो भूरिः | 68 | 5 | a |
| आसद्य गदया मौर्व्या | 76 | 26 | c | इति कारुणिको नूनम् | 84 | 20 | c |
| आसाद्य धन्विनो बाणैः | 68 | 7 | c | इति क्षित्वा शितै र्बाणैः | 66 | 21 | a |
| आसाद्य रोहिणीपुत्रं | 67 | 24 | c | इति तच्चिन्तय न्नन्तः | 81 | 21 | a |
| आसीत्कल्पक्षये यथा | 82 | 1 | d | इति तद्वचनं श्रुत्वा | 84 | 42 | a |
| आसीत्कुसुम वर्षिणाम् | 67 | 27 | d | इति तव सूरय स्त्वधिपतेऽखिल लोकमल | 87 | 16 | a |
| आसीत् सुतुमुलं युद्धं | 63 | 7 | a | इतिदूत स्तदाक्षेपं | 66 | 10 | a |
| आसीनः काञ्चने साक्षात् | 75 | 35 | a | इति देव श्चुकोप ह | 89 | 6 | b |
| आसीना ब्रह्मवादिनः | 70 | 22 | b | इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं | 87 | 20 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| इति पृथुकतण्डुलान् | 81 | 8 | d | इत्थं परस्य निज धर्म रिरक्षयाऽऽत्त | 90 | 54 | a |
| इति प्रस्तोभितो बालैः | 66 | 2 | c | इत्थं भगवत श्चित्रैः | 88 | 35 | a |
| इति प्रहसितं शौरेः | 65 | 15 | a | इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ताः | 61 | 5 | a |
| इति प्राह पतेति सः | 64 | 25 | b | इत्थं विचिन्त्य वसनात् | 81 | 8 | a |
| इति ब्रुवाणे गोविन्दे | 77 | 26 | a | इत्थं विधान्यनेकानि | 80 | 43 | a |
| इति मागध संरुद्धाः | 70 | 32 | a | इत्थं व्यवसितो बुद्ध्या | 81 | 38 | a |
| इति मुष्टिं सकृज्जग्ध्वा | 81 | 10 | a | इत्थं सभाजितं वीक्ष्य | 74 | 29 | a |
| इति मूढः प्रतिज्ञाय | 76 | 4 | a | इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं | 84 | 27 | a |
| इति लब्ध्वाऽ भयं कृष्णम् | 63 | 51 | a | इत्यर्थकाम धर्मेषु | 69 | 43 | a |
| इति लोक प्रवादोऽस्ति | 78 | 7 | a | इत्यर्द्यमाना सौभेन | 76 | 12 | a |
| इति वेदानुशासनम् | 78 | 36 | b | इत्यशेष समाम्नाय | 87 | 43 | a |
| इति श्रुतं नो भगवन् | 75 | 2 | c | इत्याचरन्तं सद्धर्मान् | 69 | 41 | a |
| इति सञ्चिन्त्य मनसा | 80 | 13 | a | इत्यात्मनाऽभिसन्धाय | 66 | 28 | a |
| इति सत्यवती श्रुतिः | 74 | 31 | b | इत्यादिश्य नृपान् कृष्णः | 73 | 24 | a |
| इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरताम् | 87 | 34 | c | इत्यादिष्ट स्तथाचक्रे | 66 | 31 | a |
| इति सम्भाष माणासु | 84 | 2 | a | इत्यादिष्ट स्तमसुरः | 88 | 17 | a |
| इति सम्भाष्य भगवान् | 89 | 47 | a | इत्यादिष्टौ भगवता | 89 | 61 | a |
| इति सं शिश्यिरे जनाः | 66 | 25 | d | इत्याद्य मृपि मानम्य | 87 | 47 | a |
| इति सूतोदितं वाणीम् | 77 | 1 | a | इत्यारोप्याङ्क मालिङ्ग्य | 65 | 3 | c |
| इति स्म राजा सम्पृष्टः | 64 | 9 | a | इत्याहार्जुन मातुरः | 89 | 36 | d |
| इतिहास पुराणानि | 69 | 28 | c | इत्युक्तश्चोदयामास | 77 | 12 | a |
| इतिहासं पुरातनम् | 88 | 13 | b | इत्युक्तः कुमति र्दृष्टः | 62 | 11 | a |
| इतीदृशान्यनेकानि | 89 | 64 | a | इत्युक्तः प्रस्थितो दूतः | 71 | 20 | a |
| इतीदृशेन भावेन | 90 | 27 | a | इत्युक्तोऽच्युत मानम्य | 63 | 31 | a |
| इत्थं तयोः प्रहतयोर्गदयो र्नृवीरौ | 72 | 38 | a | इत्युक्तोऽपि द्विज स्तस्मै | 81 | 5 | a |
| इत्थं धर्मसुतो राजा | 75 | 30 | a | इत्युक्तो बल माहूय | 61 | 28 | c |
| इत्थं निशम्य दमघोष सुतः स्वपीठात् | 74 | 30 | a | इत्युक्त्वा गदया साल्वम् | 71 | 21 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| इत्युक्त्वातं परिक्रम्य | 64 | 31 | a | इन्द्रादयो लोकपालाः | 74 | 13 | c |
| इत्युक्त्वातान् समादाय | 85 | 53 | a | इन्दियन्त्विन्द्रियाणां त्वम् | 85 | 10 | a |
| इत्युक्त्वा देवगन्धर्व | 62 | 19 | a | इन्द्रियाणाञ्चतैजसः | 85 | 11 | b |
| इत्युक्त्वा भीमसेनाय | 72 | 33 | a | इन्धनानयने क्वचित् | 80 | 35 | d |
| इत्युक्त्वा यज्ञिये काले | 74 | 6 | a | इभेन्दस्यन्दनार्वभिः | 75 | 11 | b |
| इत्युक्त्वा विप्रचारणौ | 89 | 10 | c | इमे च द्वारकौकसः | 85 | 23 | b |
| इत्युक्त्वा सहदेवोऽभूत् | 74 | 25 | a | इयदेव हि सच्छिष्यैः | 80 | 41 | a |
| इत्युक्त्वा स्वाम्यपाक्रमत् | 64 | 21 | b | इल्वलस्य सुतोघोरः | 78 | 38 | a |
| इत्युत्तमश्लोकशिखामणिं जनेषु | 83 | 5 | a | इष्ट्वयज्ञै श्चरितं च पूर्तम् | 64 | 15 | d |
| इत्युत्सुकोद्वार वतीम् | 69 | 3 | a | इहनास्ति धनुर्धरः | 89 | 28 | b |
| इत्युदारमतिः प्राह | 72 | 27 | a | – ई – | | | |
| इत्युदीरित माकर्ण्य | 71 | 1 | a | | | | |
| इत्युद्धव वचो राजन् | 71 | 11 | a | ईक्षितोन्तः पुरस्त्रीणाम् | 70 | 16 | a |
| इत्युपामन्त्रितो भर्त्रा | 70 | 48 | a | ईजेक्रतुभिरात्मानं सर्व वेदार्थ सङ्ग्रहम् | 90 | 51 | a |
| इत्युपामन्त्रितो राज्ञा | 86 | 37 | a | ईजे च भगवान्रामः | 82 | 4 | a |
| इत्येत द्ब्रह्मणः पुत्राः | 87 | 42 | a | ईजेचात्पूजितैर्मखैः | 89 | 64 | d |
| इत्येतन्मुनितनयास्य पद्म गन्ध | 89 | 21 | a | ईजेऽनुयज्ञं विधिना | 84 | 51 | a |
| इदमाह जनार्दनम् | 77 | 17 | d | ईडित स्सुरमानवैः | 78 | 13 | d |
| इदमाहान्न तर्पितान् | 86 | 30 | b | ईदृग्विधान्यसङ्ख्यानि | 79 | 33 | a |
| इदमित्थ मिति प्रायः | 85 | 45 | a | ईप्सितः क्रतुराडयम् | 72 | 8 | d |
| इदमेव कुरूद्वह | 87 | 7 | d | ईयते पशुदृष्टीनाम् | 78 | 16 | c |
| इदं प्रोवाच विलपन् | 89 | 23 | c | ईशश्चेत्पाहि बालिश | 77 | 27 | d |
| इन्द्रनीलमयैर्जालैः | 69 | 9 | c | ईशस्य हि वशेलोकः | 82 | 21 | c |
| इन्द्रप्रस्थ निवासिनः | 73 | 33 | b | ईशोदुरत्ययः कालः | 74 | 31 | a |
| इन्द्रप्रस्थ मितः प्रभो | 71 | 3 | d | ईश्वरस्येशितव्यताम् | 84 | 15 | b |
| इन्द्रप्रस्थं गतः कृष्णः | 77 | 7 | a | | | | |
| इन्द्रसेनेन पूजितौ | 85 | 53 | b | | | | |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ईश्वरावादि पूरुषौ | 85 | 29 | d | उदीच्यां सव्यसाचिनम् | 72 | 13 | d |
| ईहते यदयंसर्वः | 74 | 22 | c | उद्गीयमान विजयः | 78 | 15 | a |
| | | | | उद्दीप्तदीप वलिभिः प्रतिसद्मजाल | 71 | 34 | a |
| – उ – | | | | उद्धवं प्राह केशवः | 70 | 46 | d |
| उग्रसेनप्रचोदितः | 68 | 13 | d | उद्धवं प्रेषयामास | 68 | 16 | c |
| उग्रसेनः क्षितीशेशः | 68 | 21 | a | उद्धवः प्रत्यभाषत | 70 | 48 | d |
| उग्रसेनादय स्सभ्याः | 66 | 7 | c | उद्धवो यमुवाच ह | 72 | 15 | d |
| उग्रसेनादिभिः प्रीतैः | 79 | 29 | c | उद्यम्य मौर्वं परिघं व्यवस्थितः | 62 | 33 | c |
| उच्चकैर्जहसु स्तदा | 66 | 7 | d | उद्यम्य साल्वोऽच्युत मभ्यदाद्रुतम् | 77 | 35 | d |
| उच्छसंस्तज्जिघांसया | 78 | 11 | d | उद्यानानि च सर्वशः | 76 | 9 | d |
| उञ्छवृत्ति शिशिर्विलिः | 72 | 21 | b | उद्यानोपवनाढ्यायाम् | 90 | 4 | a |
| उताहो नृपते शुभम् | 64 | 24 | b | उद्वमन् रुधिरं मुखात् | 78 | 9 | b |
| उतैकं शिक्षयाऽधिकम् | 79 | 26 | d | उद्विदार्य गजाह्वयम् | 68 | 41 | b |
| उत्क्षिप्यबाहुमिद माह सदस्यमर्षी | 74 | 30 | c | उन्नीयवक्त्रमुरुकुन्तल कुण्डलत्विट् | 83 | 29 | a |
| उत्तमश्लोकदर्शनम् | 80 | 12 | d | उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति | 63 | 41 | c |
| उत्तमश्लोकविक्रमम् | 66 | 43 | b | उपगीयमान उद्गायन् | 65 | 21 | a |
| उत्तमश्लोकसत्कथाः | 80 | 2 | b | उपगीयमान चरितः | 65 | 23 | a |
| उत्तीर्णायासिताम्बरे | 65 | 31 | b | उपगीयमानो गन्धर्वैः | 90 | 8 | a |
| उत्कृत्य शिर आदाय | 77 | 28 | c | उपतस्थुर्नटाचार्याः | 70 | 20 | c |
| उत्थाय कृष्ण गुणवर्णन जातमन्युः | 74 | 30 | b | उपतस्थुस्सार्घ्यहस्ताः | 86 | 19 | c |
| उत्थाय भ्रातरं मुदा | 89 | 5 | d | उपयेमे महारथः | 90 | 40 | b |
| उत्फुल्लेन्दीवराम्भोज | 69 | 4 | a | उपयेगे यथालोकं | 83 | 7 | c |
| उत्सिक्तभक्त्युपहतनाशय जीवकोशाः | 84 | 26 | c | उपयेमे यदूत्तमः | 62 | 1 | b |
| उत्सक्ष्ये मूढचिह्नानि | 66 | 8 | c | उपयेमे विशालाक्षः | 61 | 24 | c |
| उदर मुपासते य ऋषि वर्त्मसु कूर्पहराः | 87 | 18 | a | उपलभ्यमहारथः | 66 | 11 | b |
| उदायुधा स्समुत्तस्थुः | 74 | 41 | c | उपसृष्टः परेणेति | 76 | 33 | c |
| उदासीनाश्च देहादौ | 73 | 23 | a | उपस्करा ययु रथियुज्य सर्वशः | 71 | 16 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| उपस्थायाऽर्क मुद्यन्तम् | 70 | 7 | a | उवास कतिचिन्मसान् | 74 | 48 | c |
| उपस्पृश्य महेन्द्राद्रौ | 79 | 12 | a | उवास कुर्व त्कल्याणम् | 86 | 37 | c |
| उपस्पृश्याऽथ दण्डकं | 79 | 20 | d | उषयाऽऽपहृतेन्द्रियः | 62 | 26 | d |
| उपहूता स्तथाचाऽन्ये | 74 | 10 | a | उषाभृशंशोकविषादविह्वला | 62 | 35 | c |
| उपहृत्याऽवनिज्याऽस्य | 80 | 20 | c | उषित्वाऽच्युतमन्दिरे | 81 | 12 | b |
| उपाधावत्स्वगात्रतः | 88 | 17 | b | उषित्वाऽऽदिश्य सन्मार्गं | 86 | 59 | c |
| उपधावन् विभूतीनां | 88 | 4 | c | उष्णीष कञ्चुकदुकूल महार्घ्यहाराः | 75 | 24 | b |
| उपाधाव स्वसिद्धये | 88 | 15 | b | | | | |
| उपानहः किलवयं | 68 | 38 | c | – ऊ – | | | |
| उपासिता भेदकृतोहर न्त्यघम् | 84 | 12 | c | ऊचतुः स्वार्थसाधकौ | 64 | 18 | b |
| उपासितव्यं स्पृहयामहे विभोः | 73 | 14 | c | ऊचुमुकुन्दैकधियः | 90 | 14 | a |
| उपास्यमानो विप्रेन्द्रैः | 75 | 36 | a | ऊचुः स्त्रियः पथि निरीक्ष्य मुकुन्दपत्नीः | 71 | 36 | a |
| उपोष्य सुसमाहिताः | 82 | 9 | d | ऊचुसङ्कर्षणं देवम् | 78 | 29 | c |
| उभययुगाभवन्त्यसु भृतो जलबुद्बुदवत् | 87 | 31 | b | ऊर्णायां प्रथमोत्तरे | 85 | 48 | b |
| उभयं मध्यथपरे | 82 | 47 | c | – ऋ – | | | |
| उभयार्थो मतो हि नः | 71 | 3 | h | | | | |
| उभयो रविशद्गेहम् | 86 | 26 | c | ऋणैः स्त्रिभिर्द्विजो जातः | 84 | 39 | a |
| उभाभ्यां तदलक्षितः | 86 | 26 | d | ऋत्विक् सदस्य बहुवित्सु सुहृत्तमेषु | 75 | 8 | a |
| उभावप्यच्युतप्रियौ | 86 | 16 | d | ऋत्विक् सदस्य विप्रादीन् | 75 | 22 | c |
| उरुगायोरुगीतो वा | 90 | 28 | c | ऋत्विग्भ्य स्ससदस्येभ्यः | 74 | 47 | a |
| उल्केवभुविखाऽऽयुता | 74 | 45 | d | ऋषभाद्रिं हरेः क्षेत्रम् | 74 | 15 | a |
| उवाच चकिता वाचं | 65 | 27 | c | ऋषभौलोकसङ्ग्रहम् | 89 | 60 | d |
| उवाच दूतं भगवान् | 66 | 8 | a | ऋषयःकेचनान्विताः | 77 | 31 | b |
| उवाच सुख मासीनान् | 84 | 8 | a | ऋषयःश्रोतुमर्हथ | 84 | 29 | b |
| उवाच हाऽऽनन्द जलाकुलेक्षणः | 85 | 38 | c | ऋषयस्सन्नमासत | 89 | 1 | b |
| उवाचाङ्घ्रिभिमर्शनः | 86 | 43 | d | ऋषयस्सन्नमासते | 78 | 20 | d |
| उवास कतिचिन्मासान् | 71 | 46 | a | ऋषयोऽयाजयन्मुदा | 79 | 30 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ऋषिपित्रोर्महामते | 84 | 40 | b | एके सन्त्यज्य दुद्रुवुः | 83 | 35 | d |
| ऋषीणां पितृदेवानाम् | 72 | 8 | a | एकैकशस्ताः कृष्णस्य | 61 | 1 | a |
| ऋषीणां शृण्वता मिमम् | 87 | 8 | b | एकैकस्मिन् शरौ द्वौ द्वौ | 63 | 18 | c |
| ऋषेर्नारायणस्य च | 87 | 4 | d | एकैकस्यां दश दश | 90 | 33 | a |
| ऋषेर्भगवतो भूत्वा | 78 | 25 | a | एकैकेन च सारथीन् | 68 | 10 | b |
| | | | | एकैकेनाऽस्य सैनिकान् | 76 | 19 | b |
| – ए – | | | | एतत्तेऽभिहितं राजन् | 75 | 44 | a |
| एकएव नचाऽपरः | 66 | 5 | b | एतत्सर्वं महायोगिन् | 62 | 1 | e |
| एकएवाऽद्वितीयोऽसौ | 74 | 21 | a | एतदन्तो नृणां क्लेशः | 86 | 49 | c |
| एकत्रचाऽसिचर्मभ्यां | 69 | 25 | c | एतदर्थोहि लोकेऽस्मिन् | 78 | 27 | a |
| एकदा गृहमानीय | 86 | 5 | a | एतदाख्याहि मे ब्रह्मन् | 61 | 20 | e |
| एकदा तु सभामध्ये | 72 | 1 | a | एतद्ब्रह्मण्य देवस्य | 81 | 41 | a |
| एकदा द्वारवत्यान्तु | 89 | 22 | a | एतद्विदित्वा उदिते | 80 | 39 | a |
| एकदा नारदो लोकान् | 87 | 5 | a | एतद्विदित्वातु भवान् | 76 | 33 | a |
| एकदान्तःपुरे तस्य | 75 | 31 | a | एतद्वेदितु मिच्छामः | 88 | 2 | a |
| एकदोपवनं राजन् | 64 | 1 | a | एतस्मिन्नन्तरे याम्यैः | 64 | 23 | a |
| एकपादोरु वृषण | 72 | 44 | a | एतर्ह्येव पुनःस्थानं | 82 | 22 | c |
| एकबाह्वक्षिभ्रूकर्णे | 72 | 44 | c | एत्य पर्वणि पर्वणि | 78 | 38 | d |
| एकरूपस्सभां ययौ | 70 | 17 | d | एतावतालमल मिन्द्रिय लालसेन | 85 | 19 | c |
| एकस्तु सारथिं जघ्ने | 68 | 11 | c | एतावताऽलं विश्वात्मन् | 81 | 11 | a |
| एकं पादं पदाऽऽक्रम्य | 72 | 43 | a | एतावदुक्त्वा भगवान् | 78 | 28 | a |
| एकं प्राणाधिकं मन्ये | 79 | 26 | c | एतावदृष्टपितरौ युवयोः स्म पित्रोः | 82 | 39 | a |
| एकं शुश्रूषवोऽपरे | 87 | 11 | h | एतेऽतिक्रम्य विदुरं | 68 | 5 | e |
| एकं स्वयंज्योति रनन्यमव्ययं | 70 | 5 | a | एते तेभ्रातरो राजन् | 72 | 10 | a |
| एकः पदातिसङ्क्रुद्धः | 78 | 2 | a | एतेनैव भविष्यति | 71 | 4 | b |
| एकारामाश्च वृष्णयः | 84 | 25 | b | एतेपृथुकतण्डुलाः | 81 | 9 | d |
| एकेव रमतो व्रजे | 65 | 34 | b | एतेयौनेन सम्बद्धाः | 68 | 25 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| एतेषामपि राजेन्द्र | 90 | 39 | a | एवं रूक्षैस्तदन्वाक्यैः | 78 | 7 | c |
| एतेषां पुत्रपौत्राश्च | 61 | 19 | c | एवं वदन्ति राजर्षे | 77 | 31 | a |
| एवमादीन्यभद्राणि | 74 | 38 | a | एवं विद्विसृजेत्पुमान् | 86 | 33 | b |
| एवमावेदितो राजा | 72 | 30 | a | एवं विधान्यद्भुतानि | 85 | 59 | a |
| एवञ्चेत्तर्हि तद्वाक्यं | 88 | 32 | a | एवं विश्रम्भितो विप्रः | 89 | 35 | a |
| एवञ्चेत्सर्वभूतानाम् | 74 | 23 | c | एवं विश्राव्य भगवान् | 64 | 45 | a |
| एवञ्चे दर्चितोऽस्म्यद्धा | 86 | 57 | c | एवं वृते भगवति | 83 | 31 | a |
| एवं कृष्णेन शिक्षिताः | 82 | 48 | b | एवं वेदोदितं धर्मं | 90 | 30 | a |
| एवं गुणेनाऽपिहितो गुणां स्त्वम् | 63 | 40 | c | एवं वैकारिकीं मायाम् | 73 | 11 | c |
| एवं त्वा नाममात्रेषु | 84 | 25 | a | एवं शपति विप्रर्षौ | 89 | 43 | a |
| एवं देशान्विप्र कुर्वन् | 67 | 8 | a | एवं स ऋषिणाऽऽदिष्टं | 87 | 45 | a |
| एवं द्वितीयं विप्रर्षिः | 89 | 26 | a | एवं सञ्चोदितो मात्रा | 85 | 34 | a |
| एवं नानाविधं विश्वम् | 85 | 5 | a | एवं सर्वा निशा याताः | 65 | 34 | a |
| एवं निर्भर्त्सिता भीता | 65 | 27 | a | एवं सविप्रो भगवत्सुहृत्तदा | 81 | 40 | a |
| एवं निर्भत्य मायावी | 77 | 28 | a | एवं स सर्व दाराणाम् | 70 | 17 | a |
| एवं निहत्य द्विविदं | 67 | 28 | a | एवं सारस्वना विप्राः | 89 | 20 | a |
| एवं प्रपन्नै स्संविग्नैः | 68 | 49 | a | एवं सुहृद्भिः पर्यस्तः | 71 | 31 | a |
| एवं ब्रुवाणे वैकुण्ठे | 89 | 13 | a | एवं सौभञ्च साल्वञ्च | 78 | 13 | a |
| एवं भगवता पुष्टः | 88 | 31 | a | एवं सौहृद शैथिल्य | 84 | 65 | a |
| एवं भगवता राजन् | 85 | 26 | a | एवं स्वभक्तयो राजन् | 86 | 59 | a |
| एवं मत्सरिणं हत्वा | 66 | 23 | a | एवं ह्येतानि भूतानि | 82 | 47 | a |
| एवं मनुष्यपदवी मनु वर्तमानः | 69 | 44 | a | एष ते जनिता नीतः | 77 | 27 | a |
| एवं मीमांसमानं तम् | 81 | 24 | a | एष वै देवता स्सर्वाः | 74 | 19 | c |
| एवं यदूनां साल्वानां | 77 | 6 | a | एष साधु निरूपितः | 84 | 35 | b |
| एवं युधिष्ठिरो राजा | 74 | 1 | a | – ऐ – | | | |
| एवं युध्यन् भगवता | 67 | 22 | a | | | | |
| एवं योगेश्वरः कृष्णः | 78 | 16 | a | ऐतदात्म्य मिदंजगत् | 74 | 21 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ऐश्वर्यञ्चाष्टधा यस्मात् | 89 | 16 | c |
| ऐश्वर्य मतुलं दत्वा | 88 | 16 | c |
| ऐश्वर्याद्भ्रंशितस्याऽपि | 72 | 24 | c |
| **– ओ –** | | | |
| ओजस्संहोबलं चेष्टा | 85 | 8 | c |
| ओमिति प्रहसं स्तस्मै | 88 | 22 | c |
| ओमित्यानम्य भूमानम् | 89 | 61 | c |
| **– औ –** | | | |
| औत्सुक्य मुक्तकबराच्यवमान माल्याः | 75 | 17 | c |
| औत्सुक्य विश्लथित केराङ्कुल बन्धाः | 71 | 34 | b |
| **– क –** | | | |
| क इहनुवेदबतावरजन्मलयोऽग्रसरम् | 87 | 24 | a |
| कङ्कगृध्रवटै र्वृतः | 66 | 9 | b |
| कच्चित्स्मरति वा बन्धून् | 65 | 10 | a |
| कच्चित्स्मरथ नो राम | 65 | 7 | c |
| कच्चिदास्ते सुखं कृष्णः | 65 | 9 | c |
| कच्चिद्गुरुकुले वासं | 80 | 31 | a |
| कच्चिन्तो बान्धवा राम | 65 | 7 | a |
| कच्चिन्मुकुन्दगदितानि यथा वयं त्वम् | 90 | 18 | c |
| कटिपृष्टस्तनांसके | 72 | 44 | b |
| कटिसूत्राङ्गदान्वितम् | 73 | 4 | d |
| कठोरास्यः स्वजिह्वया | 66 | 33 | b |
| कण्डूत्या निभृतैर्दोर्भिः | 62 | 9 | a |
| कथञ्चिद्दानवर्षभ | 88 | 34 | b |
| कथन्नुगृहान्त्यनवस्थितात्मनः | 65 | 13 | a |
| कथन्नुतादृशं स्त्रीभिः | 65 | 12 | c |
| कथ मनुवर्ततां भवभयं तव यद्भ्रुकुटिः | 87 | 32 | c |
| कथ मयथा भवन्ति भुविदत्तपदानिनृगाम् | 87 | 15 | d |
| कथमिन्द्रोऽपि कुरुभिः | 68 | 28 | a |
| कथयाञ्चक्रतुर्गाथाः | 80 | 27 | a |
| कथं चरन्तिश्रुतयः | 87 | 1 | c |
| कथंतदिद मित्यभूत् | 81 | 23 | d |
| कथं राम मसम्भ्रान्तम् | 77 | 25 | a |
| कथं रुक्म्यरिपुन्नाय | 61 | 20 | a |
| कथंस्यादितिचिन्तयन् | 80 | 15 | d |
| कथाः कथयतापराः | 65 | 14 | b |
| कदर्थीकृत्यनः कन्याम् | 68 | 2 | c |
| कदर्थीकृत्य बलवान् | 67 | 15 | c |
| कदाचित्प्रियया गृहे | 69 | 29 | b |
| कदाऽऽयातो भवानिति | 69 | 21 | b |
| कन्दुकैः हर्म्यसौधेषु | 90 | 2 | c |
| कन्याऽलभत कान्तेन | 62 | 12 | c |
| कन्या स्सदासी स्तिल रूप्यशय्याः | 64 | 15 | b |
| कन्याया दूषणं पुम्भिः | 62 | 29 | c |
| कन्यायाः कुलदूषणम् | 62 | 28 | d |
| कन्यां चारुमतीं किल | 61 | 24 | d |
| कन्यां वीरमनोहराम् | 86 | 6 | b |
| कम्पयन्तो भुवं सैन्यैः | 75 | 12 | c |
| कम्पयन्नवनीतलम् | 66 | 34 | b |
| करवाणि किमद्य ते प्रियम् | 90 | 22 | c |
| करवाम प्रियं तव | 63 | 47 | b |
| करस्थोनाऽहनत्प्रभुः | 78 | 28 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| करालयापरिवृत आत्मसेनया | 71 | 14 | b | कलत्रैः रवेचरा इव | 82 | 9 | b |
| करिष्यति महात्मनाम् | 90 | 46 | b | कलहाभिरताः खलाः | 68 | 33 | b |
| करिष्यामीत्यमर्षितः | 68 | 40 | b | कलापग्रामवासिभिः | 87 | 7 | b |
| करिष्ये मदनुग्रहम् | 88 | 9 | d | कलावतीर्णाववनेः भरा सुरान् | 89 | 59 | c |
| करुन्शाधिपति नृप | 66 | 1 | b | कलिङ्गराजं तरसा | 61 | 37 | a |
| करेणुभिरिवेभराट् | 65 | 30 | d | कलिं कलिमलापहः | 68 | 14 | d |
| करेणुभिः परिजनवारयोपितः | 71 | 16 | b | कलिं कुरुकुलामयम् | 74 | 53 | b |
| करौगृह्य परस्परम् | 80 | 27 | d | कल्पयन्तं विभूतिभिः | 69 | 32 | d |
| करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च | 80 | 3 | b | कल्पिता योगमायया | 85 | 13 | d |
| कर्णाग्रण्यः समाकिरन् | 68 | 7 | d | कल्याणी येन ते कीर्तिः | 72 | 7 | c |
| कर्णादीनृषड्रथान्वीर | 68 | 9 | c | कविभिश्शास्त्र चक्षुषा | 84 | 36 | b |
| कर्णोदाने महामनाः | 75 | 5 | d | कविर्न्यग्रोध एव च | 40 | 36 | d |
| कर्णो पिधाय निर्जग्मुः | 74 | 39 | c | कश्चित्त्वदीय मतियाति निदेश मीश | 70 | 28 | c |
| कर्तव्यं गुरुनिष्कृतम् | 80 | 41 | b | कस्त्वं महाभाग वरेण्य रूपः | 64 | 7 | e |
| कर्ता तदनुमोदिता | 69 | 40 | b | कस्मादसा विमान् विप्रान् | 78 | 24 | a |
| कर्म चैद्यवधादिकम् | 74 | 54 | b | कस्यचिद्द्विजमुख्यस्य | 64 | 16 | a |
| कर्मणा कर्मनिर्हारः | 84 | 29 | c | कस्सहेताऽनु शासिता | 68 | 39 | d |
| कर्मणा कर्मनिर्हारः | 84 | 35 | a | कह्लार कुमुदोत्पलैः | 69 | 4 | b |
| कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे | 70 | 27 | b | कह्लारोत्पलवारिभिः | 81 | 22 | d |
| कर्मबन्धा द्विमुच्यते | 81 | 41 | d | कंसप्रतापिता स्सर्वे | 82 | 22 | a |
| कर्मभिर्भ्राम्यमाणायाः | 83 | 16 | c | कःपरस्समदर्शिनाम् | 72 | 19 | d |
| कर्मभिर्वर्धते तेजः | 74 | 4 | c | काञ्चनोपस्करं रथम् | 83 | 33 | b |
| कर्मविक्षिप्त चेतसाम् | 86 | 47 | b | कान्तिस्तेजः प्रभासता | 85 | 7 | a |
| कर्माणि कर्मकषणानि यदूत्तमस्य | 90 | 54 | c | कान्तं मृगयसे सुभ्रूः | 62 | 15 | a |
| कर्माण्यद्भुतकर्मणः | 79 | 34 | b | कान्तं स्म रेचकजिहीरषयोपगृह्य | 90 | 10 | c |
| कर्माण्यनन्यविषयाणि हरिश्चकार | 69 | 45 | b | कामकोटीं पुरीं काञ्चीम् | 79 | 14 | a |
| कर्हिचित्केशवान्तिके | 89 | 27 | b | कामपूराम सङ्गि पिम् | 62 | 7 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कामयामह्र एतस्य | 83 | 42 | a | कावरीञ्च सरिद्वराम् | 79 | 14 | b |
| कामये द्रष्टु माहृताम् | 85 | 33 | d | काशिकेकयसृञ्जयान् | 84 | 55 | d |
| कामं विहृत्य सलिलात् | 65 | 31 | a | काशी मुपजगाम ह | 66 | 10 | d |
| कामात्मजं तं भुवनैक सुन्दरम् | 62 | 31 | a | काष्ठाना मुदगा दुदक् | 88 | 24 | d |
| कामानां भर्जनं नृणाम् | 87 | 44 | d | किङ्करस्या विजानतः | 64 | 20 | b |
| कामांश्च सर्ववर्णानाम् | 70 | 12 | c | किङ्करा इवतेऽमराः | 62 | 4 | d |
| कामेनातिबलीयसा | 86 | 8 | d | किञ्चित्करो त्युर्वपियत्स्वदत्तं | 81 | 35 | a |
| कामैरहतचेतसः | 80 | 30 | b | किन्तु तेऽविदितं नाथ | 64 | 11 | a |
| कामैर्भोगै स्सपर्यया | 69 | 30 | d | किन्नुवक्ष्येऽभिसङ्गम्य | 76 | 30 | a |
| काम्बोज कैकयान्मद्रान् | 82 | 13 | c | किन्वर्थ कामान् भजतः | 80 | 11 | c |
| कार्यं पैतृस्वसेयस्य | 71 | 2 | c | किन्ह्वीश करवाम ते | 86 | 49 | b |
| कार्ष्णिस्सारथि रब्रवीत् | 76 | 28 | b | किमकार्य मसाधुभिः | 72 | 19 | b |
| कालगत्यादुरत्ययाम् | 68 | 24 | b | किमदेयं वदान्यानां | 72 | 19 | c |
| कालस्या रूपिण स्तव | 71 | 8 | d | किमनेन कृतं पुण्यम् | 80 | 25 | a |
| कालावध्वस्तसत्त्वानां | 85 | 30 | a | किमपि नतत्र शास्त्रमव कृष्यशयीत यदा | 87 | 24 | d |
| कालिङ्गप्रमुखा नृपाः | 61 | 27 | b | किमस्माभि रनिर्वृतम् | 80 | 44 | a |
| कालिङ्गः प्राह सद्बलम् | 61 | 29 | d | किमिदं कस्य वा वक्त्रम् | 66 | 25 | c |
| कालिन्दीं मित्रविन्दाञ्च | 71 | 43 | a | किमिदं कस्यवा स्थानं | 81 | 23 | c |
| कालिन्द्यास्सोमकोऽवरः | 61 | 14 | d | किमुत पुनः स्वधाम विधुता- | | | |
| कालेनतन्वा भवतोऽनुकम्पया | 73 | 13 | c | शय काल गुणाः | 87 | 16 | c |
| कालेन विसृजेद्बुधः | 84 | 38 | d | किमुतेऽक्षाऽभि मर्शिनः | 70 | 44 | d |
| कालेनाऽव्याहतदृशः | 64 | 11 | c | किमुपायन मानीतं | 81 | 3 | a |
| काले विध्युपयापनम् | 69 | 32 | b | किमुमत्कलया युतः | 86 | 53 | d |
| कालो दैवं कर्म जीवः स्वभावः | 63 | 27 | a | किरीटमालीन्यविशत् | 75 | 37 | c |
| कालोपसृष्टनियमावन आत्तयोग | 83 | 4 | c | किरीटमासनं शय्यां | 68 | 26 | c |
| कालो भवान् जगदिदं कलयाऽवतीर्णः | 70 | 28 | a | किरीटयुक्तंपुरुमायिनो हरिः | 77 | 37 | b |
| का विस्मरेत वां मैत्रीम् | 82 | 38 | a | | | | |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| किरीटहार कटक | 73 | 4 | c |
| किरीटेनाऽर्क वर्चसा | 64 | 9 | d |
| किरीटेनार्क वर्णेन | 62 | 6 | c |
| किं करिष्यन्ति वृष्णयः | 68 | 3 | b |
| किं कुन्दं न ममामुनासुमनसः | | | |
| कीदृग्विधा स्वत्प्रियाः | 90 | 20 | b |
| किं दुर्मर्षं तितिक्षूणां | 72 | 19 | a |
| किं नस्तत्कथया गोप्यः | 65 | 14 | a |
| किंन्वल्पतपसां नृणाम् | 84 | 10 | a |
| किं वः कामो मुनिश्रेष्ठाः | 78 | 37 | a |
| किंवाचरित मस्माभिः | 90 | 19 | a |
| किं वा जनाः स्वकृत मृच्छति तन्विद्मः | 70 | 28 | d |
| किं वा नश्चल सौहृदः स्मरति तं | | | |
| कस्मा द्भजामो वयम् | 90 | 26 | c |
| किं मुकुन्दापहृतात्मलाञ्छनः | 90 | 17 | c |
| किं वा स्रजं स्पृहयसे कवरेणवोढुम् | 90 | 16 | d |
| किं ववक्षुरिहागतः | 79 | 24 | d |
| किस्विद्वह्मं स्वन्निवासे | 89 | 28 | a |
| कीदृशस्ते मनोरथः | 62 | 15 | b |
| कुक्कुटान्कूजतोऽशपन् | 70 | 1 | b |
| कुचकुङ्कुमगन्धाढयं | 83 | 42 | c |
| कुचकुङ्कुमलिप्ताङ्गः | 90 | 7 | c |
| कुचेलं मलिनं क्षामं | 80 | 23 | a |
| कुञ्जरान् षष्टि हायनान् | 68 | 50 | b |
| कुतानुमोहः परमस्य सद्गतेः | 77 | 33 | d |
| कुतोऽशिवं त्वच्चरणाम्बुजासवम् | 83 | 3 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| कुत्रचिद्विज मुख्येभ्यः | 69 | 28 | a |
| कुताऽपि सह रामेण | 69 | 31 | c |
| कुन्तिभोजोविराटश्च | 82 | 25 | a |
| कुन्तिर्नाग्नजितेस्सुताः | 61 | 13 | d |
| कुन्तीनारदृकेरलान् | 82 | 13 | d |
| कुपिनो विचकपं ह | 68 | 25 | f |
| कुमारं गृह्य कन्याञ्च | 68 | 12 | c |
| कुमाराणा मितिश्रुतम् | 90 | 45 | d |
| कुमुदाम्भोज रेणुभिः | 90 | 6 | b |
| कुम्भाण्डकूपकर्णाभ्याम् | 63 | 8 | a |
| कुम्भाण्डः कूर्पकर्णश्च | 63 | 16 | a |
| कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते | 64 | 39 | c |
| कुररिविलपसित्वं वीतनिद्रा न शेषे | 90 | 15 | a |
| कुरवो वालदेवस्य | 68 | 23 | c |
| कुरुकेकय कोसलाः | 75 | 12 | b |
| कुरुते कार्यतोऽथवा | 82 | 21 | d |
| कुरुध्वं मा विलम्बितं | 68 | 21 | d |
| कुरुपाण्डवसंयुगे | 79 | 22 | b |
| कुरुभिर्यदुनन्दनः | 68 | 8 | b |
| कुरुवृद्धाननुज्ञाप्य | 77 | 8 | a |
| कुरुवृद्धानु मोदितः | 68 | 5 | h |
| कुरुसृञ्जयकेकयान् | 71 | 29 | d |
| कुरुणां सह पाण्डवैः | 78 | 17 | b |
| कुरून्प्रत्युद्यमं चक्रुः | 68 | 13 | c |
| कुर्मस्तवाङ्गपयसोपसेचनम् | 90 | 23 | b |
| कुर्वन्तं विग्रहं कैश्चित् | 69 | 31 | a |
| कुर्वन्पारोक्ष्य सौहृदम् | 78 | 1 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कुलं समूलं दहति | 64 | 35 | c | कृत्वा पादाभिवन्दनम् | 71 | 28 | b |
| कुशपाणिर्विनीतवत् | 88 | 28 | d | कृत्वा भग्नवनस्पतीन् | 67 | 6 | b |
| कुशस्थलीं दिवि भुवि चाऽभिसंस्तुताम् | 83 | 36 | c | कृत्वा संस्थाविधिं पितुः | 66 | 27 | b |
| कुरुमै रभिवर्षितः | 78 | 15 | b | कृष्ट्वा तत्र यथा न्यायम् | 74 | 12 | c |
| कूजद्द्विजकुला कुलैः | 81 | 22 | b | कृष्ण कृष्ण महाबाहो! | 77 | 23 | a |
| कूजद्द्विजकुलेषु च | 90 | 6 | d | कृष्ण कृष्ण महायोगिन् | 85 | 3 | a |
| कूजतां हंससारसैः | 69 | 4 | d | कृष्ण कृष्णाऽप्रमेयात्मन् | 70 | 26 | a |
| कूपारामालयादिभिः | 69 | 34 | d | कृष्ण गार्ध्यसितावन्ति | | | |
| कूष्माण्डान् ब्रह्मराक्षसान् | 63 | 11 | b | रामाचार्योद्धवेश्वरः | 90 | 51 | c |
| कृकलासं गिरिनिभं | 64 | 3 | a | कृष्णञ्च कुपितं शनैः | 68 | 32 | b |
| कृकलासंपतन्प्रभो! | 64 | 25 | d | कृष्णञ्च त्यागकातरः | 75 | 28 | d |
| कृच्छ्रद्विसृष्टो निरगात् | 70 | 16 | c | कृष्णञ्चेदमुवाच सः | 77 | 26 | d |
| कृच्छ्रेण कुरवो युधि | 68 | 12 | b | कृष्णपत्नी स्सुवर्चसः | 71 | 42 | b |
| कृतपादाभिवन्दनौ | 85 | 1 | b | कृष्णपत्न्यास्स नारदः | 69 | 19 | b |
| कृतमालां ताम्रपर्णीम् | 79 | 16 | c | कृष्णमभ्यद्रवत्संख्ये | 63 | 17 | c |
| कृतमेतन्मया विभो | 76 | 32 | b | कृष्णमाविश दद्भुतं | 78 | 10 | b |
| कृतवर्मसुतो बली | 61 | 24 | b | कृष्णभोगेश्वरेश्वर | 85 | 29 | b |
| कतवर्मा च यूथपः | 82 | 7 | b | कृष्णरामदिदृक्षया | 84 | 2 | d |
| कृतानि च जगत्पतेः | 73 | 29 | d | कृष्णरामोग्रसेनाद्यैः | 84 | 59 | c |
| कृतासन परिग्रहम् | 70 | 35 | b | कृष्णरामौ परिष्वज्य | 82 | 35 | a |
| कृतासन परिग्रहः | 78 | 22 | b | कृष्णरामौ समाश्रव्य | 85 | 28 | a |
| कृतासन परिग्रहः | 87 | 48 | b | कृष्णशङ्करयो राजन् | 63 | 7 | c |
| कृतबाह्वङ्घ्रिकन्धराः | 83 | 35 | b | कृष्णश्चक्रेऽभिवादनम् | 71 | 41 | b |
| कृत्यानलः प्रतिहतः सरथाङ्गपाणेः | 66 | 40 | a | कृष्णश्च प्रत्यपूजयन् | 71 | 11 | d |
| कृत्यां माहेश्वरीं विभुः | 66 | 38 | b | कृष्णसन्दर्शनं मह्यं | 80 | 15 | c |
| कृत्वा च जगतीं वशे | 72 | 9 | b | कृष्णसन्दर्शनाह्लाद | 73 | 7 | a |
| कृत्वा निष्पन्न मोजसा | 67 | 20 | b | कृष्णस्तु तत्पौण्ड्रक काशि राजयोः | 66 | 17 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कृष्णस्तु तत्स्तन विषञ्जितकुङ्कुम स्रक् | 90 | 11 | a | कृष्णानुमोदितः पार्थे | 74 | 6 | c |
| कृष्णस्त्रीणां पुरोदिताः | 61 | 7 | b | कृष्णाय वासदेवाय | 64 | 30 | c |
| कृष्णस्य गृहमेधिनाम् | 90 | 31 | b | कृष्णाय वासुदेवाय | 73 | 16 | a |
| कृष्णस्य च महामतिः | 71 | 1 | d | कृष्णायाऽकुण्ठमेधसे | 84 | 22 | b |
| कृष्णस्य च महारथः | 86 | 9 | d | कृष्णायाकुण्ठमेधसे | 86 | 35 | b |
| कृष्णस्यचाऽनुभावं तं | 74 | 1 | c | कृष्णायाऽऽचख्यु रुत्सुकाः | 64 | 4 | d |
| कृष्णस्य नगरी भृशम् | 76 | 12 | b | कृष्णायानन्यदर्शिने | 74 | 24 | b |
| कृष्णस्य परमात्मनः | 85 | 59 | b | कृष्णायाभिचरन् व्रनी | 66 | 31 | b |
| कृष्णस्य रचितां नृप | 85 | 58 | d | कृष्णायामल कीर्तये | 87 | 46 | b |
| कृष्णस्याकुण्ठमेधसः | 84 | 14 | b | कृष्णायाव्यक्तवर्त्मने | 66 | 3 | b |
| कृष्णस्याक्लिष्ट कर्मणः | 66 | 42 | d | कृष्णार्जुन वृकोदरान् | 72 | 27 | b |
| कृष्णस्यानन्तवीर्यस्य | 69 | 42 | a | कृष्णो कमलपत्राक्षे | 65 | 6 | c |
| कृष्णस्याऽमीत्मखा कश्चित् | 80 | 6 | a | कृष्णे कृष्णायनश्चितां | 83 | 15 | c |
| कृष्णस्याऽऽसीद्द्विजश्रेष्टः | 86 | 13 | a | कृष्णेऽखिलात्मनि हरौ प्रणयानुबन्धम् | 84 | 1 | c |
| कृष्णस्यैतन्नचित्रं क्षिति भरहरणं कालचक्र युधस्य | 90 | 52 | d | कृष्णेन च परिरब्धः | 72 | 45 | e |
| कृष्णस्यैवं विहरतः | 90 | 13 | a | कृष्णेनचास्यात्मनिकेत भूसुरैः | 86 | 42 | d |
| कृष्णं कमलपत्राक्षं | 66 | 4 | c | कृष्णेन परिभूतस्तम् | 61 | 20 | c |
| कृष्णं क्रतुञ्च शंसन्तः | 74 | 52 | c | कृष्णेन सुमहात्मना | 73 | 29 | b |
| कृष्णं जानीहि ते रिपुम् | 72 | 29 | d | कृष्णेनानन्तमूर्तिना | 64 | 9 | b |
| कृष्णं नोत्रैरिव द्विपम् | 78 | 7 | d | कृष्णेनाऽपि स्वचक्षुषा | 75 | 34 | d |
| कृष्णं त्रिभुवनेश्वरम् | 71 | 39 | b | कृष्णेनाऽमलकीर्तिना | 80 | 24 | b |
| कृष्णं मत्वाऽर्भकं यन्नः | 84 | 30 | c | कृष्णेनावहितात्मना | 69 | 43 | b |
| कृष्णं सभार्यमुपलभ्य गृहाधिरूढाः | 71 | 35 | b | कृष्णेनासीद्गतज्वरः | 75 | 30 | d |
| कृष्णं स्नेहेन पाण्डवः | 71 | 25 | b | कृष्णेनैकेनवह्नीनां | 69 | 1 | c |
| कृष्णः परिजनं प्राह | 64 | 32 | a | कृष्णेनोभक्तिरस्तिति | 82 | 11 | b |
| कृष्णः पादावनेजने | 75 | 5 | b | कृष्णेयागेश्वरेश्वरे | 90 | 27 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कृष्णैकभक्त्या पूर्णार्थः | 86 | 13 | c | कौमोदक्या स्तनान्तरे | 78 | 8 | d |
| कृष्णोऽजीजन दात्मजान् | 90 | 53 | b | कौरवा जातसम्भ्रमाः | 68 | 42 | d |
| कृष्णोऽदात्तस्य च स्त्रियः | 90 | 12 | d | कौरवाः कुपिता ऊचुः | 68 | 2 | a |
| कृष्णोद्धव बलादिभिः | 84 | 68 | b | कौशिकीमेत्य ब्राह्मणैः | 79 | 9 | b |
| कृष्णोऽपि तमहन्गुर्व्या | 78 | 8 | c | कौशेय वाससी पीते | 66 | 14 | a |
| कृष्णेपि रथमास्थाय | 66 | 10 | c | क्रतवश्च यदात्मकाः | 74 | 20 | b |
| कृष्णोऽयत्सम्मतोऽर्हणे | 74 | 32 | d | क्रतुराजेन गोविन्द | 72 | 3 | a |
| कृष्णो योगेश्वरेश्वरः | 74 | 48 | b | क्रत्वङ्गं क्रतुभि स्सर्वैः | 79 | 30 | c |
| कृष्णो रामोऽसितोऽरुणिः | 86 | 18 | b | क्रन्दता मश्रुबिन्दवः | 64 | 38 | b |
| केकयैस्सहमद्रकैः | 72 | 13 | f | क्रियते किन्तु पूर्णानां | 69 | 21 | c |
| केचनोद्धद्धवैरेण | 85 | 44 | a | क्रियमाणेन माधव्यः | 90 | 27 | c |
| केचित्कुर्वन्ति कर्माणि | 80 | 30 | a | क्रियाकलापं परिधाय वाससी | 70 | 6 | b |
| केतुस्ते भज्यते यदा | 62 | 10 | b | क्रियाफलं प्रेत्य च कर्णरोचनम् | 73 | 14 | d |
| केदार आत्मक्रव्येण | 88 | 17 | c | क्रियाभिः क्रतुराडिव | 75 | 18 | d |
| केरलांस्तु त्रिगर्तकान् | 79 | 19 | d | क्रियाश्चक्रे यथोचिताः | 86 | 15 | d |
| केशप्रसारशयनस्नपनोपहारैः | 61 | 6 | c | क्रीडन्तीभिस्तटिदद्युभिः | 90 | 2 | d |
| केशवेनानुकम्पितः | 73 | 35 | b | क्रीडन् बबन्धह यथाशिशवोऽजनोकान् | 83 | 13 | d |
| केशाविरिञ्चो धिषणा विसर्गः | 63 | 37 | b | क्रीडानरशरीरस्य | 76 | 1 | c |
| कैर्धृताञ्जलिभिर्नेमुः | 86 | 23 | c | क्रीडाभिषङ्गधुत कुन्तल वृन्दवन्धः | 90 | 11 | b |
| कोनुत्वच्चरणाम्भोजं | 86 | 33 | a | क्रीडालङ्कारवासांसि | 90 | 12 | c |
| कोनुश्रुत्वा सकृद्ब्रह्मन् | 80 | 2 | a | क्रीडास्नानाशनादिषु | 90 | 50 | b |
| कोऽन्यस्तदवितेश्वरः | 89 | 41 | d | क्रीडित्वा सुचिरं तत्र | 64 | 2 | a |
| कोन्वर्थः क्षत्रबन्धुना | 72 | 26 | b | क्रुद्धस्त्वष्टृ पदेनेन | 61 | 36 | c |
| को पस्तेऽखिलशिक्षार्थं | 68 | 47 | a | क्रुद्धोमुसलमादत्त | 67 | 16 | c |
| को वेदभूम्न उरुगाय विभूतिमायाम् | 85 | 20 | d | क्रुद्धौस्वमुष्टिभिरयस्सदृसै रपिष्टाम् | 72 | 38 | b |
| कौतूहलसमन्विता | 62 | 14 | d | क्लिन्नाम्बरा विवृतगात्र कुचोरुमध्याः | 75 | 17 | b |
| कौमुदी गन्धवायुना | 65 | 18 | b | क्लिश्यामहेऽतिकृपणास्तव माययेह | 70 | 29 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| क्लैब्यं कथं गतो वीर | 76 | 31 | c |
| क्वकृष्णः श्रीनिकेतनः | 81 | 16 | b |
| क्वचाऽखण्डितविज्ञान | 77 | 32 | c |
| क्वचिच्चरन्तं योगेशं | 69 | 36 | c |
| क्वचिच्छयानं पर्यङ्के | 69 | 26 | c |
| क्वचित्क्रतुभिरूर्जितैः | 69 | 34 | b |
| क्वचित्समुद्रमध्यस्थः | 67 | 5 | a |
| क्वचित्स शैलानुत्पाट्य | 67 | 4 | a |
| क्वचिदजयात्मनाचरतोऽनु चरे निगमः | 87 | 14 | d |
| क्वचिद्भूमौ क्वचि द्व्योम्नि | 76 | 22 | a |
| क्वशोकमोहौ स्नेहो वा | 77 | 32 | a |
| क्वाऽपि धर्मसुतोऽधिराट् | 75 | 34 | b |
| क्वापि धर्मं मेवमानम् | 69 | 29 | c |
| क्वाऽपि यातः स्पृहयतीम् | 62 | 17 | c |
| क्वाऽपि सन्ध्यामुपासीनं | 69 | 25 | a |
| क्वासि कान्तेति वादिनी | 62 | 13 | b |
| क्वाऽहं दरिद्रः पापीयान् | 81 | 16 | a |
| क्षणं विश्रम्यतां पुंसः | 88 | 29 | c |
| क्षणेन नाशयामास | 76 | 17 | c |
| क्षत्रबन्धोः कर्मदोषात् | 89 | 24 | c |
| क्षन्तु मर्हथनः प्रभो | 89 | 9 | f |
| क्षन्तुमर्हस्यतिक्रमम् | 68 | 44 | d |
| क्षपण कथा मृताब्धिमवगाह्य तपांसिजहुः | 87 | 16 | b |
| क्षितिधरचिन्तयसे महान्तमर्थम् | 90 | 24 | b |
| क्षित्वा मां व्यसनार्णवे | 62 | 17 | d |
| क्षीणस्तमो न निजदीधितिभिः क्षिणोसि | 90 | 18 | b |
| क्षुत्क्षमा च तथाविधा | 80 | 7 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| क्षुत्क्षामाः शुष्कवदनाः | 73 | 2 | a |
| क्षेमं गच्छेदकिञ्चनः | 87 | 3 | d |
| क्षेमं त्रिलोकगुरु रर्थदृशश्च यच्छन् | 86 | 21 | b |
| क्षेमायस्वस्तये नृणाम् | 87 | 6 | b |
| क्षेमीस्यात्किमु विश्वेशो | 88 | 39 | c |
| क्षोभं दधुर्मलधियां रुचिरैर्विहारैः | 75 | 17 | d |
| क्षौद्रालापाय कामदं श्रिय मृते | | | |
| सेवैकनिष्ठा स्त्रियाम् | 90 | 26 | d |
| क्षौमाणि न तिलैस्सह | 70 | 9 | b |
| क्ष्माभृद्द्रोणीगुहासु मः | 67 | 7 | b |
| **– ख –** | | | |
| ख इव रजांसि पान्ति वयमाप्त यच्छ्रुतयः | 87 | 41 | c |
| खगकिन्नर चारणाः | 74 | 14 | d |
| खड्गेनानकदुन्दुभिः | 77 | 28 | b |
| खंवायुर्ज्योतिरापदः | 85 | 25 | a |
| खं सूर्यइव रश्मिभिः | 77 | 15 | d |
| **– ग –** | | | |
| गङ्गामनु च भारत | 78 | 20 | b |
| गङ्गायामनुदृश्यते | 68 | 54 | d |
| गङ्गायां नगरं पतत् | 68 | 42 | b |
| गङ्गायां सह कृष्णया | 75 | 19 | d |
| गङ्गासागरसङ्गमम् | 79 | 11 | d |
| गङ्गेति चेह चरणाम्बु पुनाति विश्वम् | 70 | 45 | d |
| गजैर्नदद्भि रभ्राभैः | 82 | 8 | a |
| गण्डस्थलंशिशिरहास कटाक्षमोक्षैः | 83 | 29 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| गतक्लमोऽब्रवीत्तस्मै | 88 | 31 | c | गदासि चक्रेपुभिरार्दयत् भृशम् | 66 | 17 | c |
| गतस्साञ्छिन्नसौहृदः | 65 | 12 | b | गन्धमालाम्बरा कल्प | 86 | 29 | c |
| गत त्वन्माययेश्वर | 85 | 16 | d | गन्धर्वाप्सरसो यक्षाः | 63 | 9 | c |
| गतः प्रभासमशृणोत् | 86 | 2 | c | गन्धर्वा मुनयो रामं | 65 | 22 | c |
| गतां श्चिरायिताञ्छक्र | 82 | 42 | c | गन्धर्वोरग रक्षसाम् | 76 | 6 | b |
| गति र्वायोस्तवेश्वर | 85 | 8 | d | गन्धस्रग्भूषणाम्बरैः | 75 | 14 | b |
| गतिं प्रेमपरिष्वङ्ग | 65 | 15 | c | गन्धैर्नृभिर्युवतिभिश्च विराजमानम् | 71 | 32 | d |
| गतिं सूक्ष्मा मबोधेन | 85 | 15 | c | गमनाय मतिं दधे | 80 | 13 | b |
| गतोमाहेश्वरोज्वरः | 63 | 31 | b | गयां गत्वापितॄनिष्ट्वा | 79 | 11 | c |
| गत्वलापेक्षितास्मितैः | 90 | 13 | b | गर्हितेनाऽधमेन त्र | 80 | 25 | d |
| गत्वा गजाह्वयं रामः | 68 | 16 | a | गवां लक्षं | 64 | 19 | c |
| गत्वा ते खाण्डव प्रस्थं | 73 | 32 | a | गाङ्गंहित्वायथा न्याम्भः | 84 | 31 | c |
| गदप्रद्युम्नसाम्बाद्याः | 82 | 6 | c | गाञ्चस्वागतमब्रवीत् | 80 | 22 | d |
| गदयाताडय न्मूर्ध्नि | 78 | 7 | c | गाण्डीवं यस्य वै धनुः | 89 | 33 | d |
| गदयाऽभिहतोऽप्याजौ | 78 | 8 | a | गाथांनारायणान्विताम् | 87 | 4 | b |
| गदयोः क्षिप्तयो राजन् | 72 | 36 | c | गन्धारीञ्च यशस्विनीं | 68 | 5 | f |
| गदश्च शुकसारणौ | 76 | 14 | d | गान्धारी ससुता तथा | 82 | 24 | b |
| गदसात्यकि साम्बाद्याः | 77 | 5 | a | गामर्घ्यञ्चन्यवेदयन् | 68 | 19 | b |
| गदस्साम्बोऽथ सारणः | 63 | 3 | b | गायकायूथशोजगुः | 75 | 10 | b |
| गदानिर्भिन्न हृदयः | 78 | 9 | a | गायत्स्वलिण्वनिद्राणि | 70 | 2 | c |
| गदापाणिः प्रकम्पयन् | 78 | 2 | b | गायन्तं वारुणीं पीत्वा | 67 | 16 | a |
| गदापाणी उभौ दृष्ट्वा | 79 | 25 | a | गायन्ति ते विशद कर्म गृहेषु देव्यः | 71 | 9 | a |
| गदाभ्यां युध्यतो मृधे | 79 | 23 | b | गावश्चारयतो गोपाः | 83 | 43 | c |
| गदाभ्यां रणदुर्मदौ | 72 | 34 | d | गावोत्युज्झितसूनमासत | | | |
| गदामादाय सत्वरः | 78 | 3 | b | तदामोद प्रकर्षोन्मुखाः | 90 | 20 | d |
| गदामुद्यम्य कारूषः | 78 | 4 | a | गिरित्रमोक्षंकथयेच्छृणोति वा | 88 | 40 | c |
| गदायां सन्निवृत्तायाम् | 77 | 22 | a | गिरि मूर्ध्नि जले क्वचित् | 76 | 22 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| गिरिर्यथा गैरिकया | 67 | 19 | c | गृहं घ्नष्ट सहस्राणां | 80 | 17 | a |
| गिरिरैवतकं ययौ | 67 | 8 | d | गृहं धर्मार्थकामानां | 90 | 30 | c |
| गिरीन् नदीस्तीर्थाय | 71 | 21 | c | गृहादनपगं वीक्ष्य | 61 | 2 | a |
| गीतवादित्रघोषेण | 71 | 24 | a | गृहान्धकूपे पतितस्य सङ्गमः | 86 | 42 | b |
| गीतवाद्येन भूयसा | 81 | 24 | d | गृहान्नो निवस द्विजैः | 86 | 36 | b |
| गीतवाद्योपजीविनाम् | 90 | 12 | b | गृहीतकण्ठयः पतिभिः | 70 | 1 | c |
| गीतं सुरैर्नृभि रगाच्छनैकै र्विदिहान् | 86 | 21 | d | गृहीतपादः कृष्णेन | 86 | 11 | c |
| गीयमान कथामृतः | 66 | 23 | d | गृहीतहस्ताः परिबभ्रिमाऽऽतुराः | 80 | 38 | d |
| गीभिः प्राञ्जलयो नृपाः | 73 | 7 | d | गृहीतार्हणपाणयः | 86 | 22 | d |
| गुणच्यतो राम शरोयथा चमूः | 89 | 51 | d | गृहीत्वा दशमे पदे | 61 | 37 | b |
| गुणप्रवाह एतस्मिन् | 85 | 15 | a | गृहीत्वा पाणिना पणिम् | 70 | 15 | a |
| गुणविगुणान्वयां स्तर्हि न देहभृताञ्च गिरः | 87 | 40 | b | गृहीत्वा पाणिना पाणिम् | 86 | 50 | c |
| गुणास्तद्वृत्तयश्च याः | 85 | 13 | b | गृहीत्वा पादयोश्शत्रुम् | 72 | 42 | c |
| गुणिन्या मायया सृष्टाः | 89 | 19 | c | गृहीत्वा शोणितपुरम् | 62 | 23 | c |
| गुणोपपन्ना कपिला हेमशृङ्गाः | 64 | 13 | b | गृहीत्वाश्रद्धयाऽऽत्मवान् | 87 | 45 | b |
| गुदतः पाटयामास | 72 | 43 | c | गृहीत्वा हलमुत्तस्थौ | 68 | 40 | c |
| गुप्तानृभिर्निरगमन्नुप लब्धुमेतत् | 75 | 16 | a | गृहीत्वा हेलयामास | 67 | 14 | e |
| गुप्ताया स्व गृहे प्रभो | 62 | 29 | b | गृहे कल्याणिदीयताम् | 80 | 13 | d |
| गुरवे गुरुदक्षिणाम् | 85 | 32 | d | गृहेभ्यो भगवान्विभुः | 70 | 17 | b |
| गुरुणाकिल चोदितौ | 85 | 32 | b | गृहेषु गृहमेधिनम् | 72 | 17 | b |
| गुरुदारैश्चोदितानां | 80 | 35 | c | गृहेषु व्यष्टसाहस्रम् | 69 | 2 | c |
| गुरुशुश्रूषया यथा | 80 | 34 | d | गृहेष्वच्युतधर्मिणाम् | 80 | 16 | d |
| गुरुं मां विप्रमात्मानं | 86 | 55 | c | गृहैर्दारसुतैषणाम् | 84 | 38 | b |
| गुरून् भूतानिसर्वशः | 70 | 10 | b | गृह्णन्ति यावतः पांसून् | 64 | 38 | a |
| गुरोरनुग्रहेणैव | 80 | 43 | c | गह्णन्ति वै चित्रकथस्य सुन्दर | 65 | 13 | c |
| गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये | 63 | 35 | b | गेहञ्जुषामपि मनस्युदियात्सदानः | 82 | 49 | d |
| गूढः कुन्यापुरे शश्वत् | 62 | 26 | a | गोकर्णाख्यं शिवक्षेत्रम् | 79 | 19 | e |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| गोपवृद्धांश्च विधिवत् | 65 | 4 | a |
| गोपाला वनगोचराः | 61 | 35 | b |
| गोपीनां रतिमावहन् | 65 | 17 | d |
| गोपीनां स गुरुर्गतिः | 83 | 1 | b |
| गोपीश्चोत्कण्ठिताश्चिरं | 82 | 14 | d |
| गोपैर्गोपी भिरेकत्र | 65 | 2 | b |
| गोपोयं कुलपांसनः | 74 | 34 | b |
| गोयश्च कुञ्जरपतेर्जनकात्मजायाः | 71 | 9 | c |
| गोयश्च कृष्ण मुपलभ्य चिरादभीष्टं | 82 | 40 | a |
| गोप्यो हसन्त्यः पप्रच्छुः | 65 | 9 | a |
| गोभूकन्यामहाधनाः | 84 | 52 | d |
| गोभूहिरण्यायतनाश्वहस्तिनः | 64 | 15 | a |
| गोमतीं गण्डकीं स्नात्वा | 79 | 11 | a |
| गोविन्दचरणाम्बुजे | 84 | 69 | b |
| गोविन्दपुरुषोत्तम | 64 | 28 | b |
| गोविन्दं गृहमानीय | 71 | 40 | a |
| गोविन्दापाङ्गनिर्भिन्ने | 90 | 19 | c |
| गोविन्दाय नमोनमः | 73 | 16 | d |
| गोविप्रदेवतावृद्धान् | 70 | 10 | a |
| गोवृषद्विजदेवताः | 70 | 12 | a |
| ग्रहैस्सूर्यमिवोदितम् | 86 | 19 | d |
| ग्रामसिंहा यथा हरिम् | 83 | 34 | d |
| ग्रामाद्वनं क्षितिभुजोऽपि ययु र्यदर्थाः | 90 | 55 | d |
| ग्रामे त्यक्तैषणास्सर्वे | 84 | 38 | e |
| ग्लहंतत्राऽजयद्बलः | 61 | 30 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **– घ –** | | | |
| घातार्थत्वाऽर्जुनादिभिः | 89 | 66 | b |
| घातयिष्यामि मागधम् | 71 | 19 | d |
| घ्नन्तं तीर्थे पशून्मेध्यान् | 69 | 35 | c |
| घ्नन्तं बहुशपन्तं वा | 64 | 42 | c |
| घ्नन्तं स्वसौन्यं कुपितो बबन्ध ह | 62 | 35 | b |
| घ्नन्तः प्रजाः स्वा अतिनिर्घृणाः प्रभो | 73 | 12 | c |
| **– च –** | | | |
| चकम्पे तेन पतता | 67 | 26 | a |
| चकार शरपञ्जरम् | 89 | 38 | d |
| चकार सन्ध्योपगमदिसत्तमो | 70 | 6 | c |
| चक्रन्तुविष्णोस्तदनुप्रविष्टं | 66 | 41 | a |
| चक्रंप्राचीं सरस्वतीम् | 78 | 19 | d |
| चक्रंमुकुन्दाम्त्रमथाग्निमार्दयत् | 66 | 39 | d |
| चक्रादिभि र्मूर्तिधरै र्निजायुधैः | 89 | 57 | b |
| चक्रायुध मभापत | 63 | 34 | d |
| चक्रुस्ततस्त्ववभृथस्नपनं द्युनद्याम् | 75 | 8 | d |
| चक्रुस्ते कृपयान्विताः | 64 | 3 | d |
| चक्रुः कृष्णकथामिथः | 82 | 17 | d |
| चक्रुस्सपर्यां कृष्णाय | 71 | 37 | c |
| चक्रे किल किल शब्दम् | 67 | 11 | c |
| चक्रेण क्षुरनेमिना | 63 | 33 | b |
| चक्रेणक्षुरनेमिना | 78 | 12 | b |
| चक्रेऽवभृथमेकराट् | 74 | 47 | d |
| चक्रेसत्त्वपरीक्षया | 89 | 3 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| चतुर्भिश्चतुरो वाहान् | 68 | 10 | a | चामरव्यजनेशङ्ख | 68 | 26 | a |
| चतुर्भिश्चतुरो वाहान् | 77 | 4 | a | चारुचन्द्रोविचारुश्च | 61 | 9 | a |
| चत्वारश्चतुरोहयान् | 68 | 11 | b | चारुदेवश्च वीर्यवान् | 61 | 8 | b |
| चत्वारो वार्षिका मासाः | 63 | 1 | c | चारुदेष्णस्सुदेष्णश्च | 61 | 8 | a |
| चत्वारोऽस्य भुजा श्शिष्टाः | 63 | 50 | a | चारुप्रसन्नवदनं | 73 | 3 | c |
| चन्दनागुरुकुङ्कुमैः | 80 | 21 | d | चारुभानुगदादयः | 64 | 1 | d |
| चन्द्रभानुर्बृहद्भानुः | 61 | 10 | c | चारुश्च दशमोहरेः | 61 | 9 | b |
| चन्द्राग्न्यर्कर्क्षविद्युताम् | 85 | 7 | b | चार्मभिस्तान्तवैः पाशैः | 64 | 4 | a |
| चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा हि | 63 | 36 | c | चार्वब्जकोश वदनायत बाहुनेत्र | 61 | 3 | a |
| चरणसरोज हंसकुलसङ्ग विसृष्ट गृहः | 87 | 21 | d | चिकीर्षसित्वं बालिश्यात् | 89 | 32 | c |
| चरणौ ते महामुने | 89 | 10 | b | चिच्छेद भगवान् बाहून् | 63 | 33 | c |
| चरति तथोन्मुखे त्वयि | | | | चिच्छेदान्य श्शरासनं | 68 | 11 | d |
| हिते प्रिय आत्मनि च | 87 | 22 | b | चित्त आनकदुन्दुभिः | 84 | 65 | b |
| चरतो शुशुभे युद्धं | 72 | 35 | c | चित्तस्योपशमोऽयं वै | 84 | 36 | a |
| चरन्नमसिवर्त्मसु | 69 | 25 | d | चित्तं मुकुन्दे किलपद्महस्तया | 83 | 17 | c |
| चरन्तं मृगयां क्वापि | 69 | 35 | a | चित्रगुर्वेगवान्वृषः | 61 | 13 | b |
| चरन्ताविद मब्रवीत् | 79 | 25 | d | चित्रध्वजपताकाग्रैः | 75 | 11 | a |
| चराचर मिदं विश्वं | 86 | 56 | a | चिन्नध्वजैः कनकतोरण पूर्णकुम्भैः | 71 | 32 | b |
| चरित ममृत कीर्ते र्वर्णितं व्यास पुत्रैः | 85 | 60 | b | चित्रबाहु विरूपश्च | 90 | 36 | c |
| चरितमहामृताब्धि परिवर्त परिश्रमणाः | 87 | 21 | b | चित्रबानुर्वृकोऽरुणः | 90 | 35 | d |
| चरित्वाते तमृत्विजः | 75 | 19 | b | चित्रलेखा च तत्सुता | 62 | 14 | b |
| चरित्वा ते महर्षयः | 84 | 53 | b | चित्रलेखा तमाज्ञाय | 62 | 22 | a |
| चरित्वा द्वादश मासान् | 78 | 40 | e | चित्रंबतैत देकेन | 69 | 2 | a |
| चरिष्यति भवान् लोक | 78 | 32 | c | चिन्तयन्तं सतां शिवम् | 69 | 31 | d |
| चरिष्ये वधनिर्वेशं | 78 | 33 | a | चिन्तयन्त्योऽ रविन्दाक्षं | 90 | 14 | c |
| चामर व्यजनानि च | 81 | 29 | d | चिन्मात्रं सदनन्तकम् | 88 | 10 | b |
| चामरव्यजनेन वै | 80 | 23 | d | चिरदर्शन कातराः | 82 | 33 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| चिरं नःपाहि दाशार्ह | 65 | 3 | a | जगव्द्यतिकरावहम् | 67 | 28 | b |
| चिरं विमृश्य मुनयः | 84 | 15 | a | जगाम नैमिषं यत्र | 78 | 20 | c |
| चिराद्दृष्टं प्रियतमं | 71 | 25 | c | जगाम पुलहाश्रमम् | 79 | 10 | d |
| चिरान्मृत सुतादाने | 85 | 32 | a | जगाम यदुनन्दनः | 79 | 23 | d |
| चीरबद्धा न्द्विजन्मनः | 81 | 8 | b | जगाम म्वगृहं प्रीतः | 89 | 35 | c |
| चुकोपोद्वीक्ष्य माधवः | 78 | 23 | d | जगाम स्वालयं तात | 81 | 13 | c |
| चूर्णीबभूवतु रूपेत्य यथार्कशाखे | 72 | 37 | c | जगाम हास्तिनपुरं | 68 | 15 | a |
| चेलखण्डेन तान्बद्ध्वा | 80 | 14 | c | जगुःसुकण्ठ्योगन्धर्व्यः | 84 | 46 | e |
| चैद्य देहोत्थितं ज्योतिः | 74 | 45 | a | जगृहे खड्गचर्मणी | 74 | 42 | b |
| चैद्यायमाऽर्पयितुमुद्यत कार्मुकेषु | 83 | 8 | a | जग्मु र्गिरिव्रजं तात | 72 | 16 | c |
| चैद्ये च सात्त्वतपतेश्चरणं प्रविष्टे | 75 | 8 | c | जग्मुर्यदुकुमारकाः | 64 | 1 | b |
| चोदनाय विमुच्यते | 85 | 47 | d | जघानासिगदेषुभिः | 63 | 14 | d |
| च्यवनो देवलोऽसितः | 84 | 3 | b | जघ्नतुर्वज्रकल्पाभ्यां | 72 | 34 | c |
| | | | | जघ्नुस्सौभपते र्बलम् | 77 | 5 | b |
| – छ – | | | | जघ्ने तं नृम्गसंसदि | 61 | 36 | d |
| छन्दां स्ययातयामानि | 80 | 42 | c | जघ्ने तंशतधाच्छिनत् | 67 | 21 | b |
| छायाश्च रूपाणि च सञ्चकास्ति | 63 | 40 | b | जत्रावभ्यर्दयत् क्रुद्धः | 67 | 25 | c |
| छित्त्वेषुणाऽपातयत्तम् | 83 | 26 | c | जनकः स्वगृहागतान् | 86 | 27 | b |
| छिन्नधन्वाऽविशत्पुरम् | 63 | 21 | d | जनय न्यदपेक्षया | 74 | 22 | b |
| छुरितेषुसरस्सूचैः | 69 | 4 | c | जनलोकनिवासिनाम् | 87 | 8 | d |
| | | | | जनलोकेऽ भवत्पुरा | 87 | 9 | b |
| – ज – | | | | जनसङ्ग्रह इत्यूचुः | 84 | 15 | c |
| जगतामीश्वरं प्रार्चः | 84 | 41 | c | जनाना मसृजत्प्रभुः | 87 | 2 | b |
| जगतीजगतः पते | 65 | 28 | d | जनि मसतः सतो मृति | | | |
| जगदद्यभिदलं तद्भक्त सत्कर्णपूरम् | 85 | 60 | c | मुतात्मनि ये च भिदां | 87 | 25 | a |
| जगदुः प्रकृतिभ्यस्ते | 73 | 30 | a | जनेभ्यः कथयाञ्चक्रुः | 84 | 71 | a |
| जगद्गुरुं भ्रष्टबुद्ध्या | 90 | 29 | c | जनेषुविख्यापयितुं मुकुन्दः | 64 | 7 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| जनेष्वभिज्ञेषु सएव गो खरः | 84 | 13 | d | जहारानुमतः पित्रोः | 86 | 9 | c |
| जनैः स्वपुर माविशत् | 67 | 28 | d | जहाराऽऽपततो रिपोः | 74 | 43 | d |
| जन्तुर्वैकृतकिल्बिषः | 88 | 39 | b | जहारैकरथो युधि | 61 | 22 | d |
| जन्मत्रयानुगुणित | 74 | 46 | a | जहास भीमस्तं दृष्ट्वा | 75 | 40 | a |
| जन्मबन्धु श्रियोन्नद्ध | 68 | 29 | a | जहासोच्चैःस्म मागधः | 72 | 30 | b |
| जन्मभाजो नृणा मिह | 82 | 29 | b | जहौसङ्कथया शुचः | 82 | 18 | d |
| जन्मैतच्छोभनं कुरु | 69 | 22 | b | जाज्वल्यमान हृदयो | 75 | 42 | c |
| जन्मैतत्तेभारहाराय भूमेः | 63 | 28 | d | जाज्वल्यमानं प्रलयानलप्रभं | 66 | 39 | b |
| जपन्तं बह्म वाग्यतं | 69 | 25 | b | जातमात्रो भुवं स्पृष्ट्वा | 89 | 22 | c |
| जयजय जह्यजा मजितदोष गृभीत गुणां | 87 | 14 | a | जातस्मरोत्मवलमद्वदनाविरंजुः | 90 | 10 | d |
| जयति जननि वासोदेवकीजन्मवादः | 90 | 53 | a | जातहासो हरन्मनः | 70 | 16 | d |
| जयशब्दयुताभुवि | 83 | 27 | b | जात्यारुणाक्षोऽतिरुपा | 61 | 31 | c |
| जयशब्दो नमश्शब्दः | 67 | 27 | a | जानन्नधर्मं तद्योगं | 61 | 25 | e |
| जयशब्दोनमश्शब्दः | 88 | 36 | c | जानन्नपि महीं प्रादात् | 72 | 25 | c |
| जयस्सुभद्रो भद्रायाः | 61 | 17 | c | जानेवामस्ययत्साक्षात् | 85 | 3 | c |
| जरासन्धनिरोधजम् | 70 | 24 | d | जाम्बवत्या स्सुताह्येते | 61 | 12 | c |
| जरासन्धवधं विभोः | 74 | 1 | b | जिगीषयाऽस्या इतरेतरस्पृधः | 73 | 12 | b |
| जरासन्धवधः कृष्ण | 71 | 10 | a | जिघृक्षयातान् परितःप्रसर्पतः | 62 | 34 | a |
| जरासन्धं घातयित्वा | 73 | 31 | a | जिघ्रन्त इव नासाभ्यां | 73 | 6 | a |
| जरासन्धादय स्तथा | 76 | 2 | d | जितवानह मित्याह | 61 | 30 | c |
| जलक्रीडारतं क्वाऽपि | 69 | 27 | c | जितोऽस्यात्मवता तेऽहम् | 72 | 10 | c |
| जलक्रीडार्थ मीश्वरः | 65 | 25 | b | जित्वर्क्षराजमथरत्नमदात्सतेन | 83 | 9 | c |
| जलयान मिवाऽऽघूर्णं | 68 | 42 | a | जित्वाऽजेयं सुरासुरैः | 77 | 25 | b |
| जलं मत्वा स्थलेऽपतत् | 75 | 38 | b | जित्वाधर्मेण धार्मिकम् | 68 | 22 | b |
| जले च स्थलवद्भान्त्या | 75 | 38 | c | जित्वानृलोकनिरतं सकृदूढ दर्पः | 70 | 31 | c |
| जल्पितंचारु वीक्षितम् | 65 | 15 | b | जिष्णुश्चतद्दर्शन जातसाध्वसः | 89 | 58 | b |
| जहारतनैव शिरस्सकुण्डलं | 77 | 37 | a | जीवकोशास्त मध्यगन् | 82 | 48 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| जीवताबाह्मणार्थाय | 72 | 26 | a |
| जीवस्य यत्संसरतो विमोक्षणं | 70 | 40 | a |
| जीवस्याऽनुस्मृतिः सती | 85 | 10 | d |
| जीवितञ्चजराकृतम् | 72 | 40 | b |
| जीवेशौ स्वविभूतिभिः | 84 | 50 | d |
| जुष्टं ददर्श भवनैःकुरुराजधाम | 71 | 33 | d |
| जुष्टंस्वलङ्कृतैः पुम्भिः | 81 | 23 | a |
| जुष्टायां वृष्णिपुङ्गवैः | 90 | 1 | d |
| जुष्टांस्फाटिक राजतैः | 69 | 5 | b |
| जुष्टेन साञ्जलि रवीविश दासने स्वे | 69 | 14 | d |
| जह्वन्तञ्च वितानाग्नीन् | 69 | 24 | a |
| जुह्वानोऽग्निमुखं हरम् | 88 | 17 | d |
| जृम्भणास्त्रेणजृम्भितम् | 63 | 14 | b |
| ज्ञातिबन्धुसुहृद्वृतः | 79 | 32 | b |
| ज्ञातिभिस्समुपागतः | 79 | 29 | d |
| ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः | 72 | 2 | b |
| ज्ञात्वाकृष्णपुरोगमान् | 82 | 32 | b |
| ज्ञात्वा च तदवस्थितिम् | 83 | 24 | b |
| ज्ञात्वाऽथ नः क्षितिजये जितराजकन्याः | 83 | 40 | b |
| ज्ञात्वा परीक्षित उपाहरदर्हणं माम् | 83 | 40 | c |
| ज्ञात्वा ममतं साध्वि | 83 | 18 | a |
| ज्ञात्वाहार्दं सभासदाम् | 74 | 26 | b |
| ज्ञानविध्वस्तकल्मषान् | 74 | 33 | b |
| ज्ञानैश्वर्यस्य हाऽऽत्मनः | 77 | 32 | d |
| ज्वरस्तु त्रिशिरा स्त्रिपात् | 63 | 22 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **– ड –** | | | |
| डाकिनी यातु धानांश्च | 63 | 10 | c |
| **– त –** | | | |
| त इमेऽध्यासतेऽन्तिके | 85 | 50 | d |
| तइमेमन्दमतयः | 68 | 33 | a |
| तउतपदाऽऽक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निऋतेः | 87 | 27 | b |
| तउतभवत्पदाम्बुजहृदोऽद्यभिदद्भि जलाः | 87 | 35 | b |
| तएन मृपयो राजन् | 84 | 43 | a |
| तएवकृष्णाद्य गभीररंहसा | 73 | 13 | a |
| तएवं मोचिताः कृच्छात् | 73 | 29 | a |
| तएवं लोकनाथेन | 83 | 2 | a |
| तच्छिक्षयन् लोकमिमं | 69 | 40 | c |
| तच्छिष्यांश्च महात्मनः | 87 | 47 | b |
| तच्छीनिकेत चरणोऽस्तु ममार्चनाय | 83 | 8 | d |
| तच्छ्रुत्वा क्षुभितो रामः | 86 | 11 | a |
| तच्छ्रुत्वा तुष्टुवुस्सर्वे | 74 | 25 | c |
| तच्छ्रुत्वा नारदेनोक्तं | 68 | 13 | a |
| तच्छ्रुत्वा प्रीतमानसः | 73 | 33 | a |
| तच्छ्रुत्वा भगवान्क्रुद्धः | 62 | 10 | a |
| तच्छ्रुत्वा भगवान्रुद्रः | 88 | 22 | a |
| तच्छ्रुत्वा मेऽभवद्भ्रमः | 68 | 18 | d |
| तज्ज्ञात्वैप्रेषयामासुः | 89 | 2 | c |
| तञ्चषोडशभिर्बाणैः | 77 | 15 | a |
| तञ्चाऽपि जितवान्रामः | 61 | 32 | a |
| तत अलङ्कृतो वर्णान् | 84 | 54 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तत आप सुसङ्कटम् | 88 | 16 | d | ततो जरासन्ध वध | 71 | 3 | g |
| तत उत्थाय भगवान् | 89 | 8 | c | ततोऽतिव्रज्य भगवान् | 79 | 19 | c |
| ततउदगा दनन्त तवधाम शिरः परमं | 87 | 18 | c | ततो दृपद्वतीं तीर्त्वा | 71 | 22 | a |
| तत ऐन्द्रमगात् पुरीम् | 89 | 44 | b | ततोऽधनं त्यजन्यस्य | 88 | 8 | c |
| ततश्च कालयोगेन | 64 | 22 | a | ततो नापैति यस्सोऽपि | 74 | 40 | c |
| ततश्चट चटाशब्दः | 72 | 36 | a | ततोऽनिरुद्धं सहसूर्यया वरं | 61 | 40 | a |
| ततश्च भारतं वर्षं | 78 | 40 | a | ततोऽनुज्ञाप्यराजानं | 74 | 49 | a |
| ततश्चैद्यस्त्व सम्भ्रान्तः | 74 | 42 | a | ततोऽन्यदाविशद्गेहम् | 69 | 19 | a |
| ततस्थ आशुतोषेभ्यः | 88 | 11 | a | ततोऽन्यं तरुमुत्पट्य | 67 | 21 | a |
| ततस्तिर्यङ्मुखो नग्नाम् | 63 | 21 | a | ततोऽन्यस्मिन्गृहे पश्यन् | 69 | 23 | c |
| ततस्ते देवयजनम् | 74 | 12 | a | ततो बाहुसहस्रेण | 63 | 32 | a |
| तत स्समे खले वीरौ | 72 | 34 | a | ततोऽभिवाद्य ते वृद्धान् | 82 | 17 | a |
| तत स्सूक्ष्मतरंज्योतिः | 78 | 10 | a | ततो मां सुदुराराध्यम् | 88 | 10 | c |
| ततः कामैः पूर्यमाण | 84 | 67 | a | ततोऽमुञ्चच्छिलावर्षं | 67 | 23 | a |
| ततः कुमार स्सञ्जातः | 89 | 39 | a | ततो मुहूर्त आगत्य | 77 | 22 | c |
| ततः कैलास मगमन् | 89 | 5 | a | ततो मुहूर्तं प्रकृतावुपप्लुतः | 77 | 29 | a |
| ततः पाण्डुसुताः क्रुद्धाः | 74 | 41 | a | ततोऽमेध्यमयं वर्षं | 79 | 2 | a |
| ततः पुरीं यदुपतिरत्यलङ्कृताम् | 83 | 36 | a | ततो युधिष्ठिरो राजा | 75 | 28 | a |
| ततः प्रववृते युद्धं | 76 | 16 | a | ततो लक्षं रुक्म्य गृहान् | 61 | 30 | a |
| ततः प्रविष्टः सलिलं नभस्वता | 89 | 53 | a | ततोऽलब्ध द्विजसुतो हि | 89 | 45 | a |
| ततः प्रविष्टः स्वपुरं हलायुधः | 68 | 53 | a | ततो विकारा अभवन् | 88 | 4 | a |
| ततः प्रव्यथितो बाणः | 62 | 30 | a | ततो वैकुण्ठ मगमत् | 88 | 25 | c |
| ततः फाल्गुन मासाद्य | 79 | 18 | a | ततोव्यमुञ्चद्यमुनां | 68 | 30 | a |
| ततश्शपा द्विनिर्मुक्ता | 85 | 51 | c | तत्कथं नु भवान् कर्म | 89 | 32 | a |
| तताडजत्रौ संक्रुद्धः | 77 | 21 | c | तत्कृष्ण हस्तेरितया विचूर्णितं | 77 | 35 | a |
| ततोऽगा दाश्रमं साक्षात् | 87 | 47 | c | तत्तद्भाव बुभुत्सया | 69 | 36 | d |
| ततोऽग्नि रुत्थितः कुण्डात् | 66 | 32 | a | तत्तीर्थ क्लिन्नमूर्धजम् | 88 | 18 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तत्तेगतेऽस्म्यरण पादारविन्दम् | 85 | 19 | a | तत्राप्याचष्ट गोविन्दं | 69 | 23 | a |
| तत्त्वग्राम उदाहृतः | 85 | 22 | d | तत्राद्भुतं वै भवनम् द्युमत्तमम् | 89 | 53 | c |
| तत्परस्य जनस्य वा | 74 | 40 | b | तत्राऽयुत मदा द्धेनूः | 79 | 16 | a |
| तत्पादा ववनिज्याऽपः | 74 | 27 | a | तत्राश्वाः शैब्य सुग्रीव | 89 | 49 | a |
| तत्पादेक्षाहतांहसः | 83 | 2 | d | तत्रेयुस्सर्व राजानः | 74 | 11 | c |
| तत्पुत्रान्पितरा वपि | 82 | 18 | b | तत्रैकः पुरुषो राजन् | 70 | 23 | a |
| तत्पुत्राश्चानुपूर्वशः | 90 | 32 | d | तत्रैव तदनुज्ञातः | 71 | 3 | e |
| तत्रतत्र तमायान्तम् | 86 | 19 | a | तत्रोपमन्त्रिणो राजन् | 70 | 20 | a |
| तत्रतत्रोपसङ्गम्य | 71 | 37 | a | तत्रोपविष्ट मृषिभि | 87 | 7 | a |
| तत्रतेष्वात्म पक्षेषु | 70 | 46 | a | तत्रोपाय मचीकरत् | 83 | 18 | d |
| तत्रत्यानां मानसानां | 87 | 9 | c | तत्सङ्घातो बीजरोह प्रवाहः | 63 | 27 | c |
| तत्रत्यो याति शुद्धये | 84 | 31 | d | तत्सम्पादय नः प्रभो | 72 | 3 | d |
| तन्नदुर्योधनो मानी | 75 | 37 | a | तत्सर्वं चूर्णयामास | 67 | 23 | c |
| तत्रयुद्ध मभूद्घोरम् | 62 | 1 | c | तत्सूर्य कोटि प्रतिमं सुदर्शनं | 66 | 39 | a |
| तत्रवै वार्षिका न्मासन् | 86 | 4 | a | तत्स्पर्शनाद्धय उपस्कृताकृतिः | 88 | 19 | d |
| तत्रषोडशभिः सद्म | 69 | 8 | a | तथा काशीपतेः कायात् | 66 | 22 | g |
| तत्र सुसं सुपर्यङ्के | 62 | 23 | a | तथा चक्रु रतन्द्रिताः | 73 | 30 | d |
| तत्रस्थाः ब्राह्मणाः केचित् | 70 | 22 | a | तथा तद्राष्ट्र पालोऽङ्ग | 84 | 34 | c |
| तत्रस्थानां मानसानां | 87 | 9 | c | तथात्वं जह्यस द्भावं | 84 | 34 | c |
| तत्रस्नात्वा महाभागाः | 82 | 9 | c | तथा नमत यूयञ्च | 64 | 43 | c |
| तत्रहाऽय मभूत्प्रश्नः | 87 | 11 | a | तथाऽनुगृह्यभगवान् | 83 | 1 | a |
| तत्राऽऽगतांस्ते ददृशुः | 82 | 12 | c | तथान्यैः कथ्यतां मृधे | 76 | 31 | d |
| तत्रागत्यारविन्दाक्षः | 64 | 5 | a | तथा भूतानि भूतकृत् | 82 | 44 | d |
| तत्रागन्भारतीः प्रजाः | 82 | 5 | b | तथा मे कुरुतं कामं | 85 | 33 | a |
| तत्राऽगम द्धृतो गोपैः | 82 | 32 | c | तथा रामविधीयताम् | 78 | 35 | d |
| तत्राऽगस्त्यं समासीनम् | 79 | 17 | a | तथेति गिरिशादिष्टः | 76 | 7 | a |
| तत्राऽपश्य द्यदुपतिं | 67 | 9 | a | तथैतद्वर्णितं राजन् | 87 | 49 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तथैवाच्युत रामयोः | 84 | 34 | d | तद्ध्यान योगो ग्रथितात्म बन्धनः | 81 | 40 | c |
| तथोद्वाहश्च योषिताम् | 61 | 1 | b | तद्वन्धूनाञ्च भारत | 63 | 1 | b |
| तदङ्गसङ्गस्तन कुङ्कुमां स्रजम् | 62 | 32 | b | तद्ब्रह्मपरमं सूक्ष्मम् | 88 | 10 | a |
| तदत्यन्तविडम्बनम् | 74 | 3 | d | तद्ब्राह्मण्याग्रणी र्भवान् | 84 | 20 | d |
| तदद्भुतं महत्कर्म | 76 | 20 | a | तद्भवा ननु मोदताम् | 70 | 42 | d |
| तदनुस्मरण ध्वस्त | 82 | 48 | c | तद्भाव मापु रपि नित्ययुजां दुरापम् | 82 | 40 | d |
| तदन्ते बोधयाञ्चक्रुः | 87 | 12 | c | तद्गङ्गमाविश महं कलनूपुराभ्यां | 83 | 28 | a |
| तदपो लोकपावनीः | 86 | 28 | d | तद्वदामि तवाऽग्रतः | 64 | 22 | d |
| तदप्यर्हत्तमेक्षया | 86 | 52 | d | तद्विज्ञाय महामत्वः | 72 | 42 | a |
| तदम्भसा महाभाग | 86 | 40 | a | तद्वीक्ष्य तानुपव्रज्य | 84 | 44 | a |
| तदर्थं जहि माधवम् | 71 | 3 | f | तद्वीर्यै रीडिरे मुदा | 65 | 22 | d |
| तदव्यग्रधियः श्रुत्वा | 68 | 21 | c | तद्वीक्ष्यैर्जात विस्रम्भः | 85 | 2 | c |
| तदमित्व मनश्वरम् | 85 | 12 | b | तनुजानां मधुद्विषः | 90 | 39 | b |
| तदहं भक्त्युपहृतम् | 81 | 4 | c | तन्तुरुक्म्यजयत्तत्र | 61 | 29 | c |
| तदनादृत्यसत्कारम् | 75 | 42 | a | तन्त्वां जगत्सित्युदयालहेतुम् | 63 | 45 | a |
| तदा महाकारुणिकस्सधूर्जटिः | 88 | 19 | a | तन्त्वाऽद्य निशितैर्बाणैः | 77 | 19 | a |
| तदा रामश्च कृष्णश्च | 84 | 50 | a | तन्नश्रद्दध्महे वयम् | 89 | 32 | d |
| तदाऽह विप्रो विजयम् | 89 | 40 | a | तन्नः प्रयच्छभद्रं ते | 72 | 18 | c |
| तदुक्त मित्युपाकर्ण्य | 86 | 50 | a | तन्नःप्रसीद निरपेक्ष विमृश्य युष्मत् | 85 | 48 | a |
| तदेव यत्पश्यति तद्धि चक्षुः | 80 | 4 | b | तन्नः शुश्रूषणं परम् | 78 | 39 | b |
| तद्गृहेषु महर्धिषु | 90 | 5 | d | तन्निग्रहाय हरिणा | 90 | 48 | a |
| तद्दर्शनाह्लाद परिप्लुताशयं | 85 | 35 | c | तन्निशम्याऽथ मुनयः | 89 | 15 | a |
| तद्दिदृक्षुः स्म नारदः | 69 | 1 | d | तन्नोभवा न्प्रणतशोकहराङ्घ्रियुग्मः | 70 | 30 | a |
| तद्वीक्षायां प्रवृत्तायाम् | 84 | 44 | a | तन्न्यस्त हृदयेक्षणा | 86 | 7 | d |
| तद्देवदेव भवत श्चरणारविन्द | 72 | 5 | a | तन्महिष्यश्च मुदिताः | 84 | 45 | a |
| तद्धामदुस्तरकृतान्त जवापवर्गं | 90 | 55 | c | तन्माता कोटरा नाम | 63 | 20 | a |
| तद्धामलेभेऽ चरितः सतांगतिम् | 81 | 40 | d | तन्मे साध्वनुमोदितम् | 63 | 47 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तन्वः प्राणमिवोत्थिताः | 82 | 33 | b | तमेव सर्वगेहेषु | 69 | 41 | c |
| तपश्चरन्ती माज्ञाय | 83 | 11 | a | तमेवाऽनुस्मरन् ययौ | 69 | 43 | d |
| तपश्श्रुतब्रह्म वदान्यसद्भ्यः | 63 | 14 | c | तमोधाम दुरासदम् | 76 | 8 | b |
| तपसा च बभूविम | 83 | 39 | d | तयोरेवं प्रहरतोः | 72 | 39 | a |
| तपसाविद्यया तुष्ट्या | 86 | 53 | c | तयोः प्रसन्नो भगवान् | 86 | 17 | a |
| तपसोपशमेन वा | 80 | 34 | b | तयोस्समानीय वरासनं मुदा | 85 | 36 | a |
| तपस्स्वाध्यायसंयमैः | 84 | 19 | b | तरतमतश्चक्र स्वनलवत् स्वकृतानुकृतिः | 87 | 19 | b |
| तपोविद्या व्रतधरात् | 74 | 33 | a | तरन्त्यञ्जो भवार्णवम् | 80 | 33 | d |
| तप्तताम्र शिखाश्मश्रुं | 79 | 3 | c | तरुण्यो जाति चापलाः | 67 | 12 | b |
| तप्तताम्र शिखा श्मश्रुः | 66 | 32 | c | तर्कयामास निर्व्यग्रः | 81 | 32 | c |
| तप्तोऽहन्ते तेजसा दुस्सहेन | 63 | 29 | a | तर्पणं प्राणन मपाम् | 85 | 8 | a |
| तमनादृत्यमत्पराः | 80 | 40 | d | तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वम् | 81 | 9 | c |
| तमभ्यषिञ्चन् विधिवत् | 84 | 47 | a | तर्पयित्वे खाण्डवेन | 71 | 45 | a |
| तामर्चयित्वाऽभिययुः | 68 | 18 | c | तर्पयित्वाऽऽत्मनः कलाः | 70 | 7 | b |
| तमसः पारमश्नुते | 80 | 31 | d | तर्हि न शास्यतेऽतिनियमोध्रुव नेतरथा | 87 | 30 | b |
| तमसाचाऽऽवृता दिशः | 86 | 37 | b | तर्हिनसन्नचासदुभयं नच कालजवः | 87 | 24 | c |
| तमसि भ्रष्ट गतयः | 89 | 49 | c | तर्ह्यङ्गाशुस्वशिरसि | 88 | 33 | c |
| तमहं मृगये कान्तम् | 62 | 17 | a | तल्लिङ्गैः श्रुतयः परम् | 87 | 12 | d |
| तमः सुघोरं गहनं कृतं महत् | 89 | 51 | a | तल्लिप्सु स्सयतिर्भूत्वा | 86 | 3 | c |
| तमाकृष्य हलाग्रेण | 79 | 5 | a | तव चाऽभिमतः क्रतुः | 71 | 10 | d |
| तमागत मभिप्रेत्य | 78 | 21 | a | तवदासस्य केशव | 64 | 26 | b |
| तमानेष्ये नरं यस्ते | 62 | 18 | c | तवपरि ये चरन्त्यखिल सत्वनिकेतनया | 87 | 27 | a |
| तमाभिचारदहनम् | 66 | 35 | a | तवपुरुषं वहन्त्यखिल शक्ति धृतोंश कृतम् | 87 | 20 | b |
| तमाहचाङ्गाऽलमलं वृणीष्व मे | 88 | 20 | a | तवबलिमुद्वहन्तिसमुदन्त्यजयानिमिषाः | 87 | 28 | b |
| तमुपागत माकर्ण्य | 71 | 23 | a | तवब्रह्ममयस्येश | 70 | 44 | c |
| तमुपैहि महाभाग | 80 | 9 | c | तवयोगेश्वरेश्वर | 85 | 45 | b |
| तमेव शरणं जग्मुः | 68 | 43 | a | तवाऽवतारोऽयमकुण्ठधामन् | 63 | 38 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तवेहितं कोर्हति साधुवेदितुं | 70 | 39 | a | तस्य चोद्धरणे यत्नं | 64 | 3 | c |
| तस्था वाजौ चतुर्भुजः | 83 | 32 | d | तस्य जिज्ञासया ते वै | 89 | 2 | a |
| तस्थौसिंह इवैकलः | 68 | 6 | d | तस्य ततेभ्यपूजयन् | 68 | 10 | d |
| तस्मा अवोचद्भगवान् | 87 | 8 | a | तस्यत्वन्नभवेद्भयम् | 63 | 30 | d |
| तस्मात् कृष्णायमहते | 74 | 23 | a | तस्य धाष्टर्यं कपेर्वीक्ष्य | 67 | 12 | a |
| तस्मात्सुतोऽ निरुद्धोऽभूत् | 90 | 40 | c | तस्य भार्या कुचेलस्य | 80 | 7 | a |
| तस्मादस्य भवेद्भक्त | 78 | 36 | c | तस्यभ्राताऽर्जुनो ह्ययम् | 72 | 29 | b |
| तस्मादेकस्तरस्येह | 79 | 27 | a | तस्यर्त्विजो महाराज | 84 | 49 | a |
| तस्माद्ब्रह्मऋषी नेतान् | 86 | 57 | a | तस्य वै देवदेवस्य | 81 | 39 | a |
| तस्मा द्ब्रह्मकुलं ब्रह्मन् | 84 | 20 | a | तस्यशम्भोः प्रसादेन | 62 | 4 | c |
| तस्मा न्नसन्त्यमी भावाः | 85 | 14 | a | तस्याऽऽगमन कारणम् | 81 | 6 | b |
| तस्मिन्देव क्रतुवरे | 70 | 43 | a | तस्याग्रआसीनमवेक्ष्य विस्मितः | 62 | 32 | d |
| तस्मिन्नभ्युदये राजन् | 61 | 26 | a | तस्याऽद्य ते ददृशिमाङ्घ्रि मघौघमर्ष | 84 | 26 | a |
| तस्मिन्नयाजयन् क्षेत्रे | 84 | 43 | c | तस्याऽनुयायिनो भूपाः | 74 | 44 | c |
| तस्मिन्निपतिते पापे | 77 | 38 | a | तस्यामन्तःपुरं श्रीमत् | 69 | 7 | a |
| तस्मिन्निवृत उद्वाहे | 61 | 27 | a | तस्यावनिज्यचरणौ तदपः स्वमूर्ध्ना | 69 | 15 | a |
| तस्मिन्प्रविष्टा वुपलभ्यदैत्यराट् | 85 | 35 | a | तस्या सन्प्रेम बन्धनाः | 75 | 3 | d |
| तस्मिन्महाभीम मनन्त मद्भुतम् | 89 | 54 | a | तस्यास्तु मेऽनुभव मङ्घ्रयवनेजनीत्वम् | 83 | 12 | d |
| तस्मिन् सन्धाय विशिखं | 83 | 26 | a | तस्यास्यतोऽस्त्राण्यसकत् | 63 | 33 | a |
| तस्मिन् समान गुणरूपवय स्सुवेष | 69 | 13 | a | तस्यैव मे सौहृद सख्यमैत्री | 81 | 36 | a |
| तस्मिन्सुसङ्कुलइभाश्वरथद्विपद्भिः | 71 | 35 | a | तस्यैवयच्चरणशौचमशेषतीर्थम् | 69 | 15 | d |
| तस्मै चुक्रोधभगवान् | 89 | 3 | c | तस्योषा नामदुहिता | 62 | 12 | a |
| तस्मै तद्वर्णयामास | 87 | 48 | c | तस्यौरसः सुतो बाणः | 62 | 3 | a |
| तस्मैनमस्ते स्वविलक्षणात्मने | 70 | 39 | d | तं करेणसलीलया | 64 | 5 | d |
| तस्मैवर मदाद्भवः | 66 | 29 | b | तं कैवल्य निस्तयोनिमभयं | | | |
| तस्य काशिपति र्मित्रं | 66 | 12 | a | ध्याये दजस्रं हरिम् | 87 | 50 | d |
| तस्याद्याऽऽपततः कृष्णः | 78 | 12 | a | तं क्लेश कर्मपरिपाक गुणप्रवाहैः | 84 | 33 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तं गन्धं मधुधारायाः | 65 | 20 | a | तं शस्त्रपूगैः प्रहरन्तमोजसा | 77 | 34 | a |
| तं ग्राव्णा प्राहर त्क्रुद्धः | 67 | 14 | a | तं सङ्गम्य यथान्यायं | 68 | 19 | a |
| तं ज्ञात्वा मनुजा राजन् | 82 | 2 | a | तं संनिरीक्ष्य भगवान्सहसोत्थितः श्री | 69 | 14 | a |
| तं तथाऽऽयान्तमालोक्य | 78 | 3 | a | ताण्डवेऽतोषयन्मृडम् | 62 | 4 | F |
| तं तथा विरथं चक्रुः | 68 | 12 | a | तातैतदुपमन्महे | 85 | 22 | a |
| तं तथा व्यसनं दृष्ट्वा | 88 | 27 | a | ता देवरानुत सखीन् सिषिचु र्दूतीभिः | 75 | 17 | a |
| तं तस्याविनयं दृष्ट्वा | 67 | 16 | a | तान्यस्त्राण्युत्सृजामि ते | 66 | 19 | d |
| तं तु ते विरथं चक्रुः | 68 | 11 | a | ता नस्सद्यः परित्यज्य | 65 | 12 | a |
| तं तु सङ्कर्षणो मूर्ध्नि | 67 | 18 | a | तानानर्चु स्तथा सर्वे | 84 | 7 | a |
| तं ते जिघृक्षवः क्रुद्धाः | 68 | 7 | a | तानाह करुणस्तात | 73 | 17 | c |
| तं त्वाऽद्याऽहं गतिं मता | 85 | 31 | d | तानि चिच्छेद भगवान् | 63 | 19 | a |
| तं दुस्त्यज महं मन्ये | 84 | 61 | c | तानि मे गदतः शृणु | 90 | 14 | d |
| तं दृष्ट्वा देवकी देवी | 85 | 58 | a | तानृषीनृत्विजो वव्रे | 84 | 42 | c |
| तं दृष्ट्वा भगवान्कृष्णः | 70 | 34 | a | तान् दृष्ट्वा बालकान् देवी | 85 | 54 | a |
| तं दृष्ट्वा वृष्णयो दृष्टाः | 82 | 33 | a | तान् दृष्ट्वा भगवान्कृष्णः | 89 | 50 | a |
| तं दृष्ट्वा व्यसृजज्ज्वरम् | 63 | 23 | d | तान् दृष्ट्वा सहसोत्थाय | 84 | 6 | a |
| तं नस्समादिशोपायं | 73 | 15 | a | तान्वीरदुर्मदहन स्तरसा निगृह्य | 83 | 73 | c |
| तं नागपाशै र्बलिनन्दनो बली | 62 | 35 | a | तापीं पयोष्णीं निर्विन्ध्यां | 79 | 20 | c |
| तं पापं जहि दाशार्ह | 78 | 39 | a | ताभिर्दुकूलवलयैः | 84 | 48 | a |
| तं पुनर्नैमिशं प्राप्तम् | 79 | 30 | a | ताभिः पतीन्द्रुपदराजसुतोपतस्थे | 75 | 32 | c |
| तं बल श्शतधाऽच्छिनत् | 67 | 20 | d | ताभ्यां वक्षस्यरूरुजत् | 67 | 24 | d |
| तं भजन्निर्गुणो भवेत् | 88 | 5 | d | तामनादृत्य वैदर्भो | 61 | 34 | a |
| तं भिक्षेत वृकोदरः | 71 | 7 | b | तामर्जुन उपश्रुत्य | 89 | 27 | a |
| तं मातुलेयं परिरभ्य निर्वृतः | 71 | 27 | a | तामसक्षेत्यहं त्रिधा | 88 | 3 | d |
| तं मामवज्ञाय मुहुः | 68 | 33 | c | ता मतुलेयसखिभिः परिषिच्यमानः | 75 | 16 | c |
| तं विलोक्य बृहत्कायं | 79 | 3 | a | तामापतन्तीं नभसि | 77 | 14 | a |
| तं विलोक्याऽच्युतो दूरात् | 80 | 18 | a | ताम्बूल दीपामृतभक्षणादिभिः | 85 | 37 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ताम्बूलविश्रमण वीजनगन्धमाल्यैः | 61 | 6 | b | तिस्रः कक्षा स द्विजः | 80 | 16 | b |
| ताम्बूलाद्यैर्नृपोचितैः | 73 | 26 | d | तिस्रः कोट्य स्सहस्राणां | 90 | 45 | a |
| तारा यथोडुपसहाः किमकार्यमूभिः | 71 | 36 | b | तीर्त्वा विनशनं हरिः | 71 | 21 | b |
| तावच्छीर्जगृहे हस्तं | 81 | 10 | c | तार्थञ्चक्रेनृपोनं यदजनि | | | |
| तावती रददाञ्च गाः | 64 | 12 | d | यदुषु स्वस्सरित्पाद शौचं | 90 | 52 | a |
| तावतोब्दा न्निरङ्कुशाः | 64 | 39 | b | तीर्थस्नायी विशुध्यसे | 78 | 40 | d |
| तावत्तापो देहिनां तेऽङ्घ्रि मूलं | 63 | 29 | c | तीर्थानां तीर्थकारिणा | 89 | 11 | d |
| तावत्सूत उपानीय | 70 | 14 | a | तीर्थाभिषेकव्याजेन | 78 | 17 | c |
| तावदद्राक्ष मात्मानं | 64 | 25 | c | तीर्थास्पदं हृदि कृतं सुविपक्वयोगैः | 84 | 26 | b |
| तावदुत्थाय भगवान् | 74 | 43 | a | तुमुलं लोमहर्षणम् | 76 | 16 | d |
| तावद्भिर्युगप त्पृथक् | 68 | 9 | d | तुर्यः स्वदृग्येतु रहेतुरीशः | 63 | 39 | b |
| तावद्विचित्ररूपोऽसौ | 90 | 5 | c | तुल्यश्रुत तपश्शीलाः | 87 | 11 | e |
| तावन्मृदङ्गपटहाः | 83 | 30 | a | तुल्यसैन्योऽभिनिर्ययौ | 63 | 5 | d |
| तावाह भूमांपरमेष्ठिनां प्रभुः | 89 | 58 | c | तुल्यस्वीयारिमध्यमः | 87 | 11 | f |
| तावुत्सङ्गं समारोप्य | 82 | 36 | a | तुष्टाव प्रयताञ्जलिः | 63 | 25 | d |
| ताश्च सौभपते र्मायाः | 76 | 17 | a | तुष्टुवुर्ननृतुर्जगुः | 71 | 30 | f |
| तासां किं वर्ण्यते तपः | 90 | 29 | d | तुष्टुवुः पुष्पवर्षिणः | 75 | 13 | d |
| तासां यादश पुत्राणां | 61 | 7 | a | तुष्टुवु स्सूतमागधाः | 84 | 46 | d |
| तासां स्त्रीरत्नभूतानां | 90 | 32 | a | तुष्टोऽहं भो द्विजश्रेष्ठाः | 80 | 42 | a |
| ता हेलयामास कपिः | 67 | 13 | a | तुष्येयं सर्वभूतात्मा | 80 | 34 | c |
| तां गाथां समगायत | 89 | 26 | d | तूर्याश्चानक गोमुखाः | 75 | 9 | b |
| तां तथा यदुवीरेण | 62 | 27 | a | तूष्णीमन्य दगाद्गृहम् | 69 | 22 | d |
| तां नीयमानां तत्स्वामी | 64 | 17 | a | तूष्णी मासन् भ्रमद्धियः | 84 | 14 | d |
| तां परं समनुध्यायन् | 86 | 8 | a | तूष्णीमासन् सुरेश्वराः | 88 | 25 | b |
| ताः क्लिन्न वस्त्र विवृतोरुकुचप्रदेशाः | 90 | 10 | a | तूष्णीं कृष्णानु भाववित् | 74 | 25 | b |
| तिर्यगूर्ध्वमधः पार्थः | 89 | 38 | c | तूष्णीं प्रीतमना अभूत् | 85 | 26 | d |
| तिष्ठतिष्ठेति भाषिणः | 68 | 7 | b | तृणतूलं रजांसि च | 82 | 44 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तृणपीठ ह्रुसीष्येतान् | 86 | 39 | a | ते विजित्य नृपान् वीराः | 72 | 14 | a |
| तृतीयं त्वेवमेव च | 89 | 26 | b | ते वै गदे भुजजवेन निपात्यमाने | 72 | 37 | a |
| ते गत्वाऽऽतिथ्यवेलायाम् | 72 | 17 | a | ते वै राजन्यवेषेण | 89 | 29 | c |
| ते चोत्पन्ना मनुष्येषु | 90 | 47 | c | ते शार्ङ्गच्युत बाणौघैः | 83 | 35 | a |
| तेऽच्युतं प्राप्तमाकुर्ण्य | 86 | 22 | a | तेषामुद्दामवीर्याणां | 90 | 34 | a |
| तेजसाऽग्निरिव ज्वलन् | 88 | 28 | b | तेषा मेकाधिकं नृप | 90 | 48 | d |
| तेजसाऽचिन्तयद्धरिः | 72 | 40 | d | तेषां नामानि मे शृणु | 90 | 34 | d |
| तेजसा यशसा श्रिया | 72 | 11 | b | तेषां न्ययुङ्क्तपुरुषान् | 73 | 24 | c |
| तेजीयसोऽपि किमुत | 64 | 33 | c | तेषां प्रमाणं भगवान् | 90 | 49 | a |
| तेऽति प्रीता स्तमाकर्ण्य | 68 | 18 | a | तेषां ये तत्प्रभावज्ञाः | 68 | 19 | c |
| ते तूर्णमुपतस्थतुः | 79 | 4 | d | तेषां स दिव मस्पृशत् | 75 | 10 | d |
| तेन दोषोऽपि नास्ति मे | 78 | 7 | b | तेषां हि प्रशमो दण्डः | 68 | 31 | c |
| ते नमस्कृत्य गोविन्दं | 85 | 57 | a | ते सर्वे पुण्डरीकाक्ष | 85 | 43 | c |
| तेनाऽऽनृण्य मुपैम्यज्ञ | 78 | 6 | a | ते हन्यमाना भवनाद्विनिर्गताः | 62 | 34 | c |
| तेनाऽऽसुरी मगन् योनिम् | 85 | 49 | a | ते हि पातकिनोऽधिकाः | 78 | 27 | d |
| तेनाहनत् सुसङ्क्रुद्धः | 67 | 20 | c | तैर्देशान् समचूर्णयत् | 67 | 4 | b |
| ते निर्गता गिरिद्रोण्यां | 73 | 1 | c | तैलगोरसगन्धोद | 75 | 15 | a |
| तेनोक्तं सात्वतं तन्त्रं | 90 | 38 | a | तौ कृष्णौ परमेष्ठिना | 89 | 61 | b |
| तेनोक्षै रुक्म्यदीव्यत | 61 | 28 | d | त्यक्त्वा मुसललाङ्गलौ | 67 | 25 | b |
| तेनोपसृष्टः सन्त्रस्तः | 88 | 24 | a | त्यक्त्वै हि मां त्वं शरणं | 66 | 6 | c |
| तेऽन्वसज्जन्त राजन्याः | 83 | 34 | a | त्यजन्तः प्रकृतीर्दिवीः | 80 | 30 | c |
| तेऽपि सन्दर्शनं शौरेः | 71 | 20 | c | त्याजयिष्येऽभिधानं मे | 66 | 20 | a |
| ते पुनन्त्युरुकालेन | 84 | 11 | c | त्रयाणामकुतोभयम् | 70 | 36 | b |
| ते पूजिता मुकुन्देन | 73 | 27 | a | त्राहि त्राहि त्रिलोकेश | 66 | 36 | c |
| तेभ्यः स्ववीक्षणविनष्टतमिस्र दृग्भ्यः | 86 | 21 | a | त्रिकूटं सुदर्शनम् | 78 | 19 | b |
| तेभ्यो विशुद्धविज्ञानं | 79 | 31 | a | त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा | | | |
| ते रथैर्देवधिष्ण्याभिः | 82 | 7 | c | यदव बोधकृता | 87 | 25 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| त्रिदण्डीद्वारकामगात् | 86 | 3 | d |
| त्रिपुरेण यथा मही | 76 | 12 | d |
| त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः | 88 | 3 | b |
| त्रिलोकुगीताःशृणु वर्णयामि ते | 83 | 5 | d |
| त्रिलोक्यां प्रतियोद्धारं | 62 | 8 | |
| त्रिलोक्यां यदि भाव्यते | 62 | 18 | |
| त्रिवक्राया उपक्रोशः | 90 | 37 | |
| त्रिविधाकृतय स्तस्य | 89 | 19 | |
| त्रिशरस्ते प्रसन्नोऽहम् | 63 | 30 | |
| त्रिष्वधीशेषु को महान् | 89 | 1 | |
| त्रीणि गुल्मान्यतीयाय | 80 | 16 | |
| त्रैलोक्यवृजिनापहम् | 86 | 34 | |
| त्वञ्चामीषु विकारेषु हि | 85 | 14 | |
| त्वञ्चैत द्ब्रह्मदायाद | 87 | 44 | |
| त्वदनुपथं कुलायमिदमात्म सुहृत्प्रियवत् | 87 | 22 | |
| त्वदवगमी नवेति भवदुत्थ शुभाशुभयोः | 87 | 40 | |
| त्वद्दर्पघ्नोभवेन्मूढ | 62 | 10 | |
| त्वन्तु मिथ्याभिधां त्यज | 66 | 5 | |
| त्वत्पादुकेऽविरतं परि ये चरन्ति | 72 | 4 | |
| त्वन्मायामोहितोऽनित्या | 73 | 10 | |
| त्वन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये | 63 | 27 | |
| त्वमकरणः स्वराडखिलकारक शक्तिधर | 87 | 28 | |
| त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः | 87 | 41 | |
| त्वमसि यदालना समवरुद्ध समस्त भागः | 87 | 14 | |
| त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वच मात्तभागः | 87 | 38 | |
| त्वमेक आद्यः पुरुषोऽद्वितीयः | 63 | 39 | |
| त्वमेको हेतुर्निराश्रयः | 68 | 45 | |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| त्वमेव मूर्ध्नीदमनन्तलीलया | 68 | 46 | a |
| त्वया ब्रह्मवधो यथा | 78 | 31 | b |
| त्वया व्यापादित स्सखा | 77 | 18 | d |
| त्वया सङ्गम्य सद्गत्या | 84 | 21 | c |
| त्वयिकृतसौहृदाः खलु | | | |
| पुनन्ति न ये विमुखाः | 87 | 27 | d |
| त्वयि त इमे ततो विविध नामगुणैः परमे | 87 | 31 | c |
| त्वयि द्रष्टुं तदीश्वरम् | 87 | 10 | b |
| त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे | 87 | 25 | d |
| त्वयि शास्त्रशरीरिणि | 85 | 42 | b |
| त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे | 87 | 34 | b |
| त्वयि सुधियोऽभवे दधति भाव मनुप्रभवम् | 87 | 32 | b |
| त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः | 87 | 41 | d |
| त्वय्यद्धा ब्रह्मणि परे | 85 | 13 | c |
| त्वरितः कन्यकाकारं | 62 | 30 | c |
| त्वष्ट्रा कार्त्स्न्येन दर्शितम् | 69 | 7 | d |
| त्वं तवेति च नानाधीः | 74 | 5 | c |
| त्वन्त्वद्यमुक्तो द्वाभ्यां वै | 84 | 40 | a |
| त्वं मातुलेयो नः कृष्ण | 78 | 5 | a |
| त्वं मां यमनुपृच्छसि | 87 | 11 | b |
| त्वं यक्ष्मणा बलवताऽसि गृहीत इन्दो | 90 | 18 | a |
| त्वं रोरवीषि करुणं बत चक्रवालि | 90 | 16 | a |
| त्वं वासुदेवो भगवान् | 66 | 2 | a |
| त्वं हि नः परमं चक्षुः | 70 | 47 | a |
| त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिः | 63 | 35 | a |
| त्वां वयं शरणं गताः | 68 | 48 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| – द – | | | |
| दक्षिणं तत्र कन्याख्यां | 79 | 17 | e |
| दक्षिणाग्निं परिचर | 66 | 30 | a |
| दक्षिणां मधुरां तथा | 79 | 15 | b |
| दक्षिणां विपुला मदात् | 74 | 47 | b |
| दग्ध्वा वाराणसीं सर्वां | 63 | 42 | a |
| दण्डेन सात्वतपतिं परिवीजयन्त्या | 69 | 13 | d |
| दत्तमादाय पारिबर्हं | 84 | 68 | c |
| दत्तस्यानन्त्य मिच्छता | 14 | 24 | d |
| दत्तां नो भुञ्जते महीं | 68 | 3 | d |
| ददतं गाः स्वलङ्कृताः | 69 | 28 | b |
| ददर्श तद्भोगसुखासनं विभुम् | 89 | 55 | a |
| ददामि भिक्षितं तेभ्यः | 72 | 23 | c |
| ददाम्यात्मशिरोऽपि वः | 72 | 27 | d |
| ददुः स्वन्नं द्विजाग्र्येभ्यः | 82 | 11 | a |
| ददृशुस्ते घनश्यामं | 73 | 2 | c |
| ददृशु स्सत्वमद्भुतम् | 64 | 2 | d |
| ददेऽहेरमृतं यथा | 88 | 22 | d |
| ददौ कान्तिः शुभां स्रजम् | 65 | 31 | d |
| ददौ च द्वादश शतानि | 68 | 50 | c |
| ददौ पूर्णस्य भक्तितः | 83 | 38 | d |
| ददौ रौप्यखुराग्राणां | 70 | 9 | a |
| दधाति सकृन्मन स्त्वयि | | | |
| य आत्मानं नित्यसुखे | 87 | 35 | c |
| दधार पादाववनिज्य तज्जलम् | 85 | 36 | c |
| दधौ चित्रमखण्डितम् | 90 | 37 | d |
| दध्यौ प्रसन्नकरणः | 70 | 4 | c |
| दन्तयोरिव दन्तिनोः | 72 | 36 | d |
| दन्तवक्त्रं सहानुजम् | 78 | 13 | b |
| दन्तवक्त्रो रुषाऽभ्यगात् | 77 | 38 | f |
| दन्तानपातयत्क्रुद्धः | 61 | 37 | c |
| दन्तान्संदर्शयन्नुच्चैः | 61 | 29 | e |
| दमघोषो विशालाक्षः | 82 | 26 | a |
| दरिद्रावित्यदुःखिताः | 89 | 25 | d |
| दरिद्रासीदमानासा | 80 | 8 | a |
| दर्पोपशमनायाऽस्य | 63 | 49 | a |
| दर्शन स्पर्शन प्रश्न | 84 | 10 | c |
| दर्शनस्पर्शनार्चनैः | 86 | 52 | b |
| दर्शनं वां हि भूतानां | 85 | 40 | a |
| दर्शनादेव साधवः | 84 | 11 | d |
| दर्शयन् स्वगुदं तासाम् | 67 | 13 | c |
| दर्शयामास विटपं | 72 | 41 | c |
| दर्शये द्विजसूनूं स्ते | 89 | 46 | b |
| दर्शित स्सुगमो योगः | 84 | 36 | d |
| दशपूर्वान्दशाऽपरान् | 64 | 36 | d |
| दशभिर्दशभिर्नेतॄन् | 76 | 19 | c |
| दशा मिमां वा कतमेन कर्मणा | 64 | 8 | a |
| दशास्य बाणयो स्तुष्टः | 88 | 16 | a |
| दहन्निव जगन्नयम् | 68 | 40 | d |
| दहन्निव दिशो दश | 63 | 22 | f |
| दंशितो धृतकार्मुकः | 77 | 2 | b |
| दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीदण्ड | 66 | 33 | a |
| दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीमुखम् | 79 | 3 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| दातुः प्रतीपैः फणिनामिवाऽ मृतम् | 68 | 27 | b | दिवि देवगणेरिताः | 77 | 38 | d |
| दानवेन्द्रजगद्गुरौ | 88 | 33 | b | दिवि देवपतिर्यथा | 75 | 36 | f |
| दानिष्वाख्यायमानेषु | 64 | 10 | c | दिव्यस्रगनुलेपनैः | 70 | 11 | d |
| दान्ता रुक्मपरिच्छदाः | 81 | 29 | b | दिव्यस्रग्वस्त्रसन्नाहाः | 82 | 9 | a |
| दान्तैरासनपर्यङ्कैः | 69 | 10 | c | दिव्यं स्वरथ मास्थाय | 89 | 47 | c |
| दारुकश्चोदयामास | 83 | 33 | a | दिव्यान्यस्त्राणि संस्मृत्य | 89 | 37 | c |
| दारुकंप्रति केशवः | 77 | 10 | d | दिव्यान्याभरणानि च | 79 | 8 | d |
| दारुकेणाऽऽहृतं रथम् | 86 | 17 | b | दिव्यास्त्रै रुक्मिणीसुतः | 76 | 17 | b |
| दारैर्वरै स्तत्सदृशैः | 69 | 32 | c | दिशं खं स्फोटमाश्रयः | 85 | 9 | b |
| दाशार्हकाणामृषभस्सखा मे | 81 | 34 | d | दिशां त्वमवकाशोऽसि | 85 | 9 | a |
| दासीनां निष्ककण्ठीनां | 68 | 51 | c | दिशि प्रतीच्यां नकुलं | 72 | 13 | c |
| दासीनां निष्ककण्ठीनां | 81 | 27 | c | दिशोऽविदन्तोऽय परस्परं वने | 80 | 38 | c |
| दासीभिर्निष्ककण्ठीभिः | 69 | 11 | a | दिष्टं तदनुमन्वानः | 79 | 29 | a |
| दासीभिश्चतुरङ्गिणीम् | 83 | 14 | b | दिष्ट्या कंसो हतः पापः | 65 | 8 | a |
| दासीभिस्सर्वसम्पद्भिः | 83 | 38 | a | दिष्ट्या दिष्ट्या भवानद्य | 78 | 4 | c |
| दासीशता अपि विभोर्विदुः स्म दास्यम् | 61 | 1 | d | दिष्ट्या दुर्गं समाश्रिताः | 65 | 8 | d |
| दासी सहस्रयुतयानुसवं गृहिण्या | 69 | 13 | b | दिष्ट्या मुक्तास्सुहृज्जनाः | 65 | 8 | b |
| दास्यति द्रविणं भूरि | 80 | 10 | a | दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहः | 82 | 45 | c |
| दास्यतीति न चाऽपरे | 86 | 3 | b | दिष्ट्या व्यवसितं भूपाः | 73 | 20 | a |
| दास्यं गता वय मिवाच्युत पादजुष्टां | 90 | 16 | c | द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षया | 89 | 59 | a |
| दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मानि स्यात् | 81 | 36 | b | दीक्षयाऽन्वक्रिरे नृपम् | 74 | 12 | d |
| दास्याम्येषा प्रदीयताम् | 64 | 19 | d | दीक्षाशाला मुपाजग्मुः | 84 | 45 | c |
| दिक्चक्रजयिना विभोः | 71 | 3 | b | दीक्षितोऽजिनसंवृतः | 84 | 48 | d |
| दिदृक्षव स्समेष्यन्ति | 70 | 43 | c | दीक्षितो ह्यग्रण्यपत्नीभिः | | | |
| दिनानि कतिचिद्भूमन् | 86 | 36 | a | पुण्यश्लोकशिखामणिः | 90 | 51 | d |
| दिवांशुभि स्तुमुलरवं बभौ रवेः | 71 | 17 | c | दीनानामीशमानिनाम् | 74 | 3 | b |
| दिवि दुन्दुभयो नेदुः | 83 | 27 | a | दीनानां शं विधीयताम् | 70 | 32 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| दीप्तिमान् भानुरेव च | 90 | 35 | b | दुर्योधनः पारिबर्हं | 68 | 50 | a |
| दीप्तिमां स्ताम्रपत्राद्याः | 61 | 18 | a | दुर्योधनाय रामस्तां | 86 | 3 | a |
| दीयतां परमार्हणम् | 74 | 23 | b | दुर्हृदां चाऽसुखावहाः | 73 | 32 | d |
| दीर्घमायुर्बतैतस्य | 78 | 34 | a | दुश्शील मजितेन्द्रियम् | 89 | 25 | b |
| दीव्यन्तमक्षैस्तत्राऽपि | 69 | 20 | a | दुष्करं जगदीश्वरैः | 89 | 32 | b |
| दीव्यन्तमक्षैः प्रिययाऽभि नृम्णया | 62 | 32 | a | दुष्टराजन्यचोदितः | 61 | 34 | b |
| दुकूलमालाभरणा ददावहम् | 64 | 13 | d | दुष्टश्शाखामृगः शाखां | 67 | 11 | a |
| दुद्रुवुर्जीवितैषिणः | 74 | 44 | d | दुष्प्रज्ञा अविदित्वैवं | 86 | 55 | a |
| दुद्रुवुस्तदनीकानि | 63 | 16 | c | दुष्प्रापञ्चाप्यदुर्बलम् | 85 | 40 | b |
| दुरधिग मामतत्वनिगमाय तवाऽऽततनोः | 87 | 21 | a | दुष्प्रेक्षे स्वगृहे पुम्भिः | 62 | 24 | c |
| दुरधिगमोऽसतां हृदिगतोऽस्मृतकण्ठमणिः | 87 | 39 | b | दुष्प्रेक्ष्यः प्रहसन्मुहुः | 68 | 30 | d |
| दुरन्तवीर्येण विचालिताः स्त्रियः | 73 | 13 | b | दुष्प्रेक्ष्याया न विद्महे | 62 | 29 | d |
| दुरुक्तं दुष्कृतानि च | 79 | 28 | d | दुस्त्यजान् स्वजनान् प्रभो | 65 | 11 | d |
| दुर्गां देवीं ददर्श सः | 79 | 17 | f | दुस्सहं तत्सभासदः | 74 | 39 | b |
| दुर्जयो योऽकृतात्मभिः | 72 | 10 | d | दुहितुः श्रुतदूषणः | 62 | 30 | b |
| दुर्जरं बत ब्रह्मस्वम् | 64 | 33 | a | दूतञ्च प्राहिणोन्मन्दः | 66 | 3 | a |
| दुर्दर्शमपि योगिनाम् | 82 | 29 | d | दूतवाक्येन मामाह | 66 | 19 | c |
| दुर्दर्शामपि योगिनाम् | 69 | 38 | b | दूतस्तु द्वारकामेत्य | 66 | 4 | a |
| दुर्विनीतोऽयमर्भकः | 68 | 2 | b | दूतं कृष्णाय प्राहिणोत् | 66 | 1 | d |
| दुर्विभाव्यं परै रभूत् | 76 | 21 | d | दूतं त्वां नु विदाम कञ्चिदजितः | | | |
| दुर्मना इव भारत | 88 | 22 | b | स्वस्त्यास्त उक्तं पुरा | 90 | 26 | b |
| दुर्मन्त्रैकान्तशीलिनौ | 68 | 5 | d | दूतैर्नीतो यमक्षयम् | 64 | 23 | b |
| दुर्भाषां मानिनोऽब्रुवन् | 68 | 33 | d | दूरात् प्रत्युदिया द्भूत्वा | 88 | 27 | c |
| दुर्योधनञ्च विधिवत् | 68 | 17 | c | दूषयंश्च कुलस्त्रियः | 67 | 8 | b |
| दुर्योधन मृते पापं | 74 | 53 | a | दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वाः | 82 | 40 | c |
| दुर्योधनसुतां राजन् | 68 | 1 | a | दूतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा | 87 | 17 | a |
| दुर्योधनं वर्जयित्वा | 75 | 2 | a | दृप्तास्ते रुक्मिणं प्रोचुः | 61 | 27 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| दृश्यते न च दृश्यते | 76 | 21 | b | देवदुन्दुभयो नेंदुः | 75 | 20 | a |
| दृश्यते स जले परम् | 83 | 19 | d | देवदेव जगत्पते | 64 | 23 | d |
| दृष्टपूर्वानचिन्तयत् | 72 | 22 | d | देवदेव जगद्गुरो | 80 | 44 | b |
| दृष्टं तवाङ्घ्रियुगलं जनतापवर्गं | 69 | 18 | a | देवदेव जगन्नाथ | 64 | 28 | a |
| दृष्टः कश्चिन्नरः स्वप्ने | 62 | 16 | a | देवदेवेश मादृतः | 71 | 40 | b |
| दृष्टा ब्रह्मण्यता मया | 81 | 15 | b | देवदैत्यनरेश्वराः | 73 | 20 | d |
| दृष्टा मया ते बहुला दुरत्यया | 70 | 38 | a | देव दैववशान्नीतः | 64 | 22 | c |
| दृष्ट्वा कुरूणां दौश्शील्यं | 68 | 30 | a | देवर्षि पितृगन्धर्वाः | 75 | 13 | c |
| दृष्ट्वा त उत्तमश्लोकं | 86 | 23 | a | देवर्षि पितृ गन्धर्वाः | 88 | 37 | c |
| दृष्ट्वा तमात्मन स्तुल्यं | 66 | 15 | a | देवर्षि पितृभूतानि | 75 | 26 | a |
| दृष्ट्वा तं पूजयामासुः | 76 | 20 | c | देवर्षि पितृ मानवान् | 78 | 18 | b |
| दृष्ट्वाऽद्रिं वेङ्कटप्रभुः | 79 | 13 | d | देवर्षि पितृ मानवाः | 75 | 20 | d |
| दृष्ट्वानुधावत स्साम्बः | 68 | 6 | a | देवर्षि पितृणां प्रभो! | 84 | 39 | b |
| दृष्ट्वा पाण्डुसुतस्य ताम् | 74 | 53 | d | देवर्षि द्रष्टु मागमत् | 69 | 3 | b |
| दृष्ट्वा बाणोऽत्यमर्षणः | 63 | 17 | b | देवर्षिर्यदु वृद्धाश्च | 71 | 11 | c |
| दृष्ट्वा विक्लिन्नहृदयः | 71 | 25 | a | देवर्षिः परमद्युतिः | 70 | 33 | b |
| दृष्ट्वाऽऽशुतोषं पप्रच्छ | 88 | 14 | c | देवर्षे रुद्धवोऽब्रवीत् | 71 | 1 | b |
| दृष्ट्वा स्वभक्तै रजितं पराजितं | 81 | 40 | b | देवं पशुपतिं प्रभुम् | 76 | 4 | b |
| दृष्ट्वा स्वानाञ्च साध्वसम् | 66 | 37 | b | देवं स वव्रे पाणीयान् | 88 | 21 | a |
| दृष्ट्वोवाच ममेति ताम् | 64 | 17 | b | देवाना मपि दुष्प्रापं | 84 | 9 | c |
| देयं दान्ताय पूर्णाय | 74 | 24 | c | देवानृपीन् पितृन्वृद्धान् | 70 | 7 | c |
| देवकी सर्वदेवता | 85 | 27 | b | देवान् साधून् लोकसेतून् बिभर्षि | 63 | 28 | b |
| देवकीं पितरं बालम् | 85 | 57 | b | देवाश्च कुसुमासारान् | 83 | 27 | c |
| देवक्या उदरे जाता | 85 | 50 | a | देवाश्च तदनुग्रहः | 85 | 10 | b |
| देवक्या प्रहितोऽस्मीति | 77 | 22 | c | देवासुर मनुष्याणां | 76 | 6 | a |
| देवत्वं ताश्च तद्रसः | 85 | 8 | b | देवासुर मनुष्येषु | 88 | 1 | a |
| देवदत्त मिमं लब्ध्वा | 63 | 42 | a | देवासुराहवहताः | 90 | 47 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| देवाः कं जहमु र्वीक्ष्य | 85 | 48 | c | दोर्भ्यां मन्यं प्रगृह्य सः | 72 | 43 | b |
| देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि | 86 | 52 | a | दोर्भ्यामुत्क्षिप्य तज्जलम् | 67 | 5 | b |
| देवी पर्यच्च रत्साक्षात् | 80 | 23 | c | दोर्भ्यां परिष्वज्य रमामलालयं | 71 | 26 | a |
| देवीं वैतानिकीमिव | 81 | 27 | b | दोर्भ्यां पर्यग्रहीन्मुदा | 80 | 18 | d |
| देवेषु त्रिषु दुर्मतिः | 88 | 14 | d | दोस्सहस्रं त्वया दत्तम् | 62 | 8 | a |
| देवोत्तमं त्वां गणयामि नूनं | 64 | 7 | f | दौहित्रायाऽ निरुद्धाय | 61 | 25 | c |
| देवोपलब्धि मप्राप्य | 88 | 18 | a | दौहित्रो जगृहे ततः | 90 | 41 | b |
| देवोऽपि किमु पार्थिवः | 72 | 11 | d | द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया | 87 | 41 | a |
| देव्यो यथा दिवि विमानवरैर्नृदेव्यः | '75 | 16 | b | द्युमन्तं रुक्मिणी सुतः | 77 | 3 | d |
| देशकाल धनादयः | 74 | 19 | d | द्यौश्शीर्षमाशा श्रुति रङ्घ्रि रुर्वी | 63 | 36 | 3 |
| देशान्नागायुतप्राणः | 67 | 5 | c | द्वन्द्वं द्वन्द्वं दिने दिने | 70 | 9 | d |
| देशांश्च तदुपद्रुतान् | 67 | 16 | b | द्वन्द्वशो यदि मन्यसे | 72 | 28 | a |
| देह आवपनं विभो | 80 | 45 | b | द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम् | 85 | 6 | d |
| देहम्भृतां देहकृदस्मृतिश्छिदम् | 83 | 3 | d | द्वयोः प्रियचिकीर्षया | 86 | 26 | b |
| देहाद्युत्पाद्यमन्तवत् | 73 | 21 | b | द्वाभ्यां धनुश्च केतुश्च | 77 | 4 | c |
| देहे चास्यान्वयादिषु | 85 | 17 | b | द्वारका माविशत् सिद्धैः | 66 | 23 | c |
| देहेन पतमानेन | 72 | 26 | c | द्वारकायां यथा बालः | 66 | 3 | c |
| देहेन शश्वत्पततां रुजां भुवा | 73 | 14 | b | द्वारकायां श्रियःपतिः | 90 | 1 | b |
| देहेषु बहुधेयते | 85 | 24 | d | द्वारकां कृष्ण पालिताम् | 62 | 22 | d |
| दैतेया ये सुदारुणाः | 90 | 47 | b | द्वारकां प्रदहन् दिशः | 66 | 34 | d |
| दैत्यदानवगन्धर्व | 85 | 41 | a | द्वारेण चक्रानुपथेन तत्तमः | 89 | 52 | a |
| दैत्यविद्याधरान्यक्षान् | 62 | 19 | c | द्विजं धमनिसन्ततं | 80 | 23 | b |
| दैवक्रीडनकान्नरान् | 82 | 21 | b | द्विजाते रिह सम्भवः | 80 | 32 | b |
| दैवादुपनमत्युत | 86 | 15 | b | द्विजाते गृहमेधिनः | 84 | 37 | b |
| दैवेनाऽऽसादिताः स्वसः | 82 | 22 | d | द्विजालिकुलनादिताम् | 69 | 3 | d |
| दैवोपसृष्टं यो मौढ्यात् | 89 | 42 | c | द्विजो विज्ञाय विज्ञेयं | 80 | 31 | c |
| दोधूयमानो धवलैः | 75 | 36 | c | द्वितस्त्रितश्चैकतश्च | 84 | 5 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| द्वितीयां जग्धुमाददे | 81 | 10 | b | धरण्यां न्यपतद्व्यसुः | 78 | 9 | d |
| द्वितीयां स्वय मादाय | 72 | 33 | c | धर्मकृच्छ्रगतेन वै | 64 | 19 | b |
| द्विपत्खरोष्ट्रैररिणावखण्डितैः | 66 | 18 | b | धर्मज्ञान शमोपेतम् | 87 | 6 | c |
| द्विविदो नाम वानरः | 67 | 2 | b | धर्मतो वचनेनैव | 61 | 33 | c |
| द्विविदोऽपि महावीर्यः | 67 | 17 | a | धर्मपालां स्तथैवाऽस्मान् | 78 | 24 | c |
| द्विषोर्वैवाहिकं मिथः | 61 | 20 | f | धर्ममाचरतां स्थित्यै | 89 | 60 | c |
| द्वैपायनो नारदश्च | 84 | 3 | a | धर्मराजो जनार्दनम् | 71 | 44 | b |
| द्वैपायनो भरद्वाजः | 74 | 7 | a | धर्मशास्त्राणि सर्वशः | 78 | 25 | d |
| द्वैरथे तव सन्निधौ | 71 | 7 | d | धर्मश्चात्ममुदावहः | 84 | 36 | d |
| द्वैरथे स तु जेतव्यः | 71 | 6 | a | धर्मस्य गुप्त्यै जानां भवाय | 63 | 38 | b |
| द्वैमासौ तत्र चाऽवात्सीत् | 65 | 17 | a | धर्मं धर्मसुतादिभिः | 89 | 66 | d |
| द्रविडेषु महापुण्यं | 79 | 13 | c | धर्मं विजानताऽऽयुष्मन् | 76 | 32 | a |
| द्रविणं नृप यक्ष्यते | 72 | 14 | d | धर्मविद्दारुकात्मजः | 76 | 27 | d |
| द्रव्यज्ञान क्रियेश्वरम् | 84 | 51 | d | धर्मस्माक्षाद्यतो ज्ञानम् | 89 | 16 | a |
| द्रव्यमात्र मनश्वरम् | 85 | 12 | d | धर्मेण च्छल माश्रितः | 61 | 32 | b |
| द्रव्यं क्षेत्रं प्राण आत्माविकारः | 63 | 27 | b | धारयंश्चर गां कामं | 87 | 44 | c |
| द्रष्टुं ययुर्युवयः स्मनरेन्द्रमार्गे | 71 | 34 | d | धार्तराष्ट्रान् महारथान् | 68 | 6 | b |
| द्रावयामास तीक्ष्णाग्रैः | 63 | 11 | c | धास्ये सन्नियता मिति | 88 | 21 | d |
| | | | | धिगर्जुनं मृषावादं | 89 | 42 | c |
| – ध – | | | | धिगात्मश्लाघिनो धनुः | 89 | 42 | b |
| धत्तेऽनुशासनं भूमन् | 74 | 3 | c | धिष्ण्यान्यन्यान्युदायुधः | 89 | 44 | f |
| धनदारात्मजाऽपृक्ता | 89 | 29 | a | धुन्वन् वासो ननर्त ह | 86 | 38 | d |
| धनं मेऽभूरि नाऽददात् | 81 | 20 | d | धूपदीपार्घ्यगोवृषैः | 86 | 29 | d |
| धनाध्यक्षः सुयोधनः | 75 | 4 | b | धूपदीपासनादिभिः | 62 | 25 | b |
| धनूंषि युगपद्धरिः | 63 | 19 | b | धूपैस्सुरभिभि र्मित्रं | 80 | 22 | a |
| धनूंष्याकृष्य युगपत् | 63 | 18 | a | धूर्तस्तं कोपयन् हसन् | 67 | 14 | f |
| धनेषु विदितं हि मे | 80 | 29 | d | धृतराष्ट्रस्सह सुतः | 74 | 10 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| धृतराष्ट्रं बुभुत्सया | 68 | 16 | d | न जगाम तदन्तिकम् | 75 | 42 | d |
| धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरम् | 84 | 27 | b | न जाननोऽनर्थवहाच्छरीरतः | 70 | 40 | b |
| धृतराष्ट्रोऽनुजः पार्थाः | 84 | 57 | a | न जाने तव विक्रमम् | 65 | 28 | b |
| धृतैस्स्वार्थान् समीहते | 88 | 30 | d | नटयोरिव रङ्गिणोः | 72 | 35 | d |
| धृष्टकेतुस्स काशिराट् | 82 | 25 | d | नटस्येवाऽजितात्मनः | 78 | 26 | d |
| धेनूनां रुक्मशृङ्गाणां | 70 | 8 | a | नटा जीवन्त्यसुम्भराः | 89 | 29 | d |
| ध्यायन्त मेकमात्मानं | 69 | 30 | a | नटानां नर्तकीनाञ्च | 90 | 12 | a |
| ध्यायन्त्यभद्रनशने सुधियो गृणन्ति | 72 | 4 | b | न तत्तत्त्वविदः स्त्रियः | 61 | 2 | d |
| ध्यायंश्चराम्यनुगृहाण यथा स्मृतिः स्यात् | 69 | 18 | d | न तत्यजू रणं स्वं स्वं | 76 | 25 | c |
| ध्यायं स्तन्मयनां यातः | 74 | 46 | c | न तत्र दूतं न पितुः कलेबरं | 77 | 30 | a |
| ध्वस्त संरोधनक्लमाः | 73 | 7 | b | न तथा सत्वसंरब्धाः | 85 | 44 | c |
| ध्वन्तं विचित्र वलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग! | 69 | 12 | b | न तद्वाक्यं जगृहतुः | 79 | 28 | a |
| | | | | न तस्मै प्रह्वणे स्तोत्रम् | 89 | 3 | a |
| – न – | | | | न तस्य स्यात्पराजयः | 63 | 54 | d |
| न कश्चिन्मत्परं लोके | 72 | 11 | a | न तु याचितवान् स्वयम् | 81 | 14 | b |
| न किञ्चनोचतुः प्रेम्णा | 82 | 35 | c | न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम् | 88 | 1 | d |
| न किलाध्यासनार्हणः | 68 | 35 | d | न तेभ्यो विद्यते परम् | 81 | 39 | d |
| न कुतश्चन रिष्यति | 84 | 32 | d | न त्रातुं शक्नुवन्ति यत् | 89 | 31 | a |
| न कुतश्चिद्भयोऽसुरः | 63 | 50 | d | न त्वया भीरुणा योत्स्ये | 72 | 31 | a |
| नकुलो द्रव्यसाधने | 75 | 4 | d | नत्वा त्वदङ्घ्रीन्प्रक्षाल्य | 86 | 28 | c |
| न कृष्णः काष्णिरिव च | 89 | 33 | b | नत्वा प्राह वचो रुदन् | 77 | 22 | f |
| न गुणाय भवन्त्यस्य | 78 | 26 | c | नत्वा मुनीन् सुसंहृष्टः | 86 | 38 | c |
| नग्ना मुक्तशिरोरुहा | 63 | 20 | b | न देवा मृच्छिलामयाः | 84 | 11 | b |
| न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयो रजयोः | 87 | 31 | a | न द्वेषान्न च मत्सरात् | 68 | 47 | b |
| न चचाल यदूद्वहः | 78 | 8 | b | ननाम मूर्ध्ना पतितो धरण्याम् | 64 | 7 | b |
| न च तेऽजितभक्तानां | 74 | 5 | a | ननाम शिरसा मुनिम् | 89 | 9 | b |
| न चलसि न वदस्युदारबुद्धे | 90 | 24 | a | न निवर्तेत कर्हिचित् | 84 | 62 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ननु ब्रह्मन् भगवतः | 80 | 8 | c | नब्राह्मणान्मे दयितं | 86 | 54 | a |
| ननु भूयान् भगवतः | 70 | 36 | c | न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः | 84 | 12 | b |
| ननृतुर्गायका जगुः | 83 | 30 | d | नमस्कुरुत नित्यशः | 64 | 42 | d |
| ननृतुर्जगु स्तुष्टुवुश्च | 70 | 21 | c | नमस्कृत्य महेश्वरम् | 89 | 37 | b |
| ननृतु र्नटनर्तक्यः | 84 | 46 | c | नमस्कृत्याभिवाद्य च | 79 | 17 | b |
| नन्दमाह करे स्पृशन् | 84 | 60 | d | नमस्कृत्वाऽऽत्मसम्भूतीः | 70 | 10 | c |
| नन्दव्रजं गते रामे | 66 | 1 | a | नमस्तस्मै भगवते | 84 | 22 | a |
| नन्दस्तत्र यदून्प्राप्तान् | 82 | 32 | a | नमस्तस्मै भगवते | 87 | 46 | a |
| नन्दस्तु सख्युः प्रियकृत् | 84 | 66 | a | नमस्तुभ्यं भगवते | 86 | 35 | a |
| नन्दस्तु सहगोपालैः | 84 | 59 | a | नमस्ते देवदेवेश | 73 | 8 | a |
| नन्दादीन्सुहृदो गोपान् | 82 | 14 | c | नमस्ते सर्वभावाय | 64 | 30 | a |
| नन्दो गोपाश्च गोप्यश्च | 84 | 69 | a | नमस्ते सर्वभूतात्मन् | 68 | 48 | a |
| नन्दोपनन्दभद्राद्याः | 63 | 3 | c | नमस्ये त्वां महादेव | 62 | 7 | a |
| नन्वब्रुवाणो दिशते ममक्षं | 81 | 34 | a | नमः कृष्णाय वेधसे | 85 | 39 | b |
| नन्वर्थकोविदा ब्रह्मन् | 80 | 33 | a | नमामि त्वाऽनन्तशक्तिं परेशं | 63 | 26 | a |
| नन्वेत दुपनीतं मे | 81 | 9 | a | न मे तोषाय कल्पते | 81 | 3 | f |
| न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते | 87 | 21 | c | न मे ब्रह्मधनं भूयात् | 64 | 41 | a |
| न पश्यति यथान्धदृक् | 84 | 64 | d | नमो जयेति नेमुस्तं | 74 | 29 | c |
| न पश्यस्यन्तिकेऽन्तिकम् | 77 | 20 | b | नमोऽनन्ताय बृहते | 85 | 39 | a |
| न पश्यामः पुराकृतम् | 84 | 63 | d | नमो वस्सर्वदेवेभ्यः | 84 | 29 | a |
| न पुन रुपासते पुरुष सारहरावसथान् | 87 | 35 | d | नमोऽस्तुतेऽध्यात्मविदां परात्मने हि | 86 | 48 | a |
| न प्रत्याख्याति कर्हिचित् | 71 | 6 | d | न यदिदमग्र आसन भविष्य दतो निधनात् | 87 | 37 | a |
| न प्रद्युम्नो नाऽनिरुद्धः | 89 | 41 | a | न यदूनां कुले जातः | 76 | 29 | a |
| न प्राज्ञायत किञ्चन | 80 | 37 | d | न यद्वक्ताऽनृतं पुनः | 88 | 34 | d |
| न प्रायच्छ दवाङ्मुखः | 81 | 5 | d | नय मां द्युमतः पार्श्वं | 77 | 2 | c |
| न बत रमन्त्यहो असदुपासनयाऽल्पहनः | 87 | 22 | c | न यं विदन्त्यमी भूपाः | 84 | 23 | a |
| न ब्रह्मणः स्वपरभेद मतिस्तव स्यात् | 72 | 6 | a | नयाम्यपुनरावृत्तं | 77 | 19 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नरकस्य मरवा कश्चित् | 67 | 2 | a | नश्रद्धीयेन भाषितम् | 65 | 12 | d |
| नरकं निहतं श्रुत्वा | 69 | 1 | a | न श्रेयो विन्दते नृपः | 73 | 10 | b |
| नरदुन्दुभिभिस्सह | 75 | 20 | b | नश्वरेष्विहभावेषु | 85 | 12 | a |
| नरदेव परिच्छदान् | 68 | 36 | d | न मन्त्यङ्ग षड्मयः | 70 | 18 | d |
| नरदेवोचितै र्वर्ग्यैः | 73 | 25 | c | न सेहिरे याज्ञसेनि! | 83 | 31 | c |
| नरनारायणा वृर्षा | 89 | 60 | b | न हि तेऽविदितं किञ्चित् | 70 | 37 | a |
| नरलोकविडम्बनम् | 70 | 41 | b | नहिपरमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेत् | 87 | 29 | c |
| नरलोकविभूषणम् | 70 | 11 | b | न हि विकृतिं त्यजन्ति | | | |
| नरा नार्योऽमरप्रभाः | 81 | 24 | b | कनकस्य तदात्मतया | 87 | 26 | c |
| न रामो न च केशवः | 89 | 41 | b | न ह्यम्मयानि तीर्थानि | 84 | 11 | a |
| नरोष्ट्रगोमहिषखराश्वतर्यनः | 71 | 16 | a | न ह्येकस्याद्वितीयस्य | 74 | 4 | a |
| नर्तक्य स्नाण्डवैः पृथक् | 70 | 20 | d | न ह्येतस्मिन्कुले जाताः | 90 | 43 | a |
| नर्तक्यो ननृतुर्हृष्टाः | 75 | 10 | a | नागायुत बलान्वितः | 90 | 40 | d |
| नर्मक्षवेलि परिष्वङ्गैः | 90 | 13 | c | नाचिनोति स्वयं कल्यः | 72 | 26 | a |
| न लक्ष्यते जयोऽन्यो वा | 79 | 27 | c | नागायुतसमो बले | 71 | 5 | b |
| न लभे त्वदृते समम् | 62 | 8 | d | नाऽग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारकाः | 84 | 12 | a |
| नलिननयन हासोदारलीलेक्षितेन | 90 | 15 | d | नाऽच्छिनत्पस्पृशे परम् | 83 | 24 | d |
| न लेभे शं भ्रमच्चित्तः | 86 | 8 | c | नाऽतिचित्रमिदं विप्राः | 84 | 30 | a |
| न वध्यो मे तवाऽन्वयः | 63 | 48 | d | नातिसत्त्वो न मे समः | 72 | 32 | 2 |
| न वयं श्रद्दधीमहि | 88 | 32 | b | नाऽऽत्मपातं विचक्षते | 64 | 37 | b |
| न वयं साध्वि साम्राज्यं | 85 | 41 | a | नात्यभीष्टाञ्जगद्गुरुः | 80 | 11 | d |
| नवयौवन कान्तिभिः | 90 | 2 | b | नाथ नाथेति प्रारुदन् | 66 | 26 | d |
| न विदन्त्यपि योगेशाः | 85 | 45 | c | नादितायां समन्ततः | 90 | 4 | d |
| न विदुस्सन्त मात्मानं | 90 | 50 | c | नादोवर्ण स्त्वमोङ्कारः | 85 | 9 | c |
| न वेद रहितं परम् | 84 | 24 | d | नाऽधिकं तावता तुष्टः | 86 | 15 | c |
| न वेद स्मृत्युपप्लवात् | 84 | 25 | d | नाध्यगच्छन्नै कान्त्यात् | 74 | 18 | c |
| न शताक्षौहिणीयुतः | 71 | 6 | b | नानन्तः श्रीरजःप्रियः | 86 | 32 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नानाकर्मसु ते तदा | 75 | 7 | b | नारदात्तदुपाकर्ण्य | 63 | 2 | a |
| नानातनूर्गगनव द्विदधज्जहासि | 85 | 20 | c | नारदो भगवान् व्यासः | 84 | 57 | c |
| नानात्वं यात्यसा वपि | 85 | 25 | d | नारदो वामदेवोऽत्रिः | 86 | 18 | a |
| नानादेश समागतैः | 75 | 36 | b | नाराचै रष्टभिः स्मयन् | 77 | 3 | d |
| नानानर्घ्य परिच्छदैः | 84 | 67 | d | नारायणपरो नृपः | 75 | 23 | d |
| नानानुनय कोविदः | 65 | 16 | 8 | नारायणमुखाच्छ्रुतम् | 87 | 48 | d |
| नालाभावैर्लीलयै वोपपन्नैः | 63 | 28 | a | नारायणहृषीकेश | 64 | 28 | c |
| ननायुधधरो बली | 63 | 32 | b | नारायणाङ्गसंस्पर्श | 85 | 56 | c |
| नानारूपो विनिर्गत्य | 70 | 17 | c | नारायणाय ऋषये | 86 | 35 | c |
| नानाविभान्ति किल विश्वसृजोपक्लृप्ताः | 75 | 32 | b | नारायणोऽखिलभवाय गृहीत शक्तिः | 69 | 44 | b |
| नानाहास्यरसैर्विभुम् | 70 | 20 | b | नारायणो नरसखो विधिनोदितेन | 69 | 16 | b |
| नाऽनुस्मरथ सत्तमाः | 82 | 19 | d | नारीणां हृदयङ्गमम् | 86 | 7 | b |
| नाऽनुस्मरन्ति स्वजनं | 82 | 20 | c | नार्यश्च कुण्डलयुगालक बृन्दजुष्ट | 75 | 24 | c |
| नान्तं दानस्य धर्मस्य | 64 | 74 | c | नार्यो विकीर्य कुसुमै मनसोप गृह्य | 71 | 35 | c |
| नाऽन्यथाभूरिभूतिभिः | 86 | 57 | d | नाविन्दं स्तदवस्थितिम् | 83 | 23 | d |
| नान्यद्गवा मप्ययुतम् | 64 | 21 | c | नाऽशकत् समवेक्षितुम् | 74 | 28 | d |
| नाऽब्रवीत्साध्वसाधु वा | 61 | 39 | b | नाऽशक्नुवन्समुद्धर्तुं | 64 | 4 | c |
| नाभिर्नभोग्नि मुखमम्बुरेतः | 63 | 36 | a | नाऽस्य प्रतिविधिर्भुवि | 64 | 34 | d |
| नाऽभ्यपद्यत शं राजन् | 76 | 12 | c | नाऽहमिज्या प्रजातिभ्यां | 80 | 34 | a |
| नाममात्रेन्द्रियाभातं | 84 | 24 | c | नाऽहर्गणान् स बुबुधे | 62 | 26 | c |
| नाऽमृष्यत्तदचिन्त्यार्भः | 68 | 8 | c | नाऽहं प्रतीच्छे वै राजन् | 64 | 21 | a |
| नाऽमृष्यत्तद्बलायुधः | 61 | 29 | f | नाऽहं सङ्कर्षणो ब्रह्मन् | 89 | 33 | a |
| नाऽमृष्यदति शोभनम् | 70 | 3 | b | नाऽहं हालाहलं मन्ये | 64 | 34 | a |
| नाम्ना भोजकटे पुरे | 61 | 19 | b | निक्षिप्य चाप्यधाच्छङ्खैः | 67 | 7 | c |
| नाऽऽम्नायोपि नियामकः | 78 | 31 | d | निगृहीतं सुतं श्रुत्वा | 68 | 4 | a |
| नारदस्य च संवादं | 87 | 4 | c | निगृह्य दोर्भ्यां भुजयोर्न्यवारयत् | 88 | 19 | c |
| नारदः प्रहसन्निव | 69 | 37 | b | निघ्नता मितरेतरम् | 77 | 6 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| निजं वाक्य मनादृत्य | 65 | 25 | c | निर्घातवज्रपरुषस्तलताडनोत्थः | 72 | 38 | d |
| नित्यं निबद्धवैराणां | 85 | 42 | c | निर्जगाम पुराद्वह्निः | 72 | 33 | d |
| नित्यं सङ्कुलमार्गायां | 90 | 3 | a | निर्जितो जयतीति सः | 78 | 16 | d |
| नित्योन्यो निर्गुणो गुणैः | 85 | 24 | b | निर्भिद्य कलशं दुष्टः | 67 | 15 | a |
| निदेशं शिरसाऽऽधाय | 70 | 48 | c | निर्भिन्नमूर्धोरुभुजाः प्रदुद्रुवुः | 62 | 34 | d |
| निनेदुर्नटनर्तक्यः | 83 | 30 | c | निर्मुच्य संसृति विमोक्षमनुस्मरन्तीः | 83 | 40 | c |
| निन्दां भगवतश्शृण्वन् | 74 | 40 | a | निर्ययुर्दर्शिता गुप्ताः | 76 | 15 | c |
| निन्ये तद्दास्य मस्तु मे | 83 | 14 | d | निर्ययू रुक्ममालिनः | 75 | 11 | d |
| निन्ये मृगेन्द्र इव भाग मजाविथूथान् | 83 | 8 | c | निर्यातधूपरुचिरं विलसत्पताकं | 71 | 33 | b |
| निन्ये स्वयूथग मिवात्म वलिं द्विपारेः | 83 | 12 | b | निर्यान्ति मीक्ष्य घनबुद्धय उन्नदन्तः | 69 | 12 | d |
| निपेतुश्शस्त्र वृष्टयः | 76 | 10 | d | निर्वर्तित निजक्रियः | 86 | 14 | d |
| निपेतुः पुष्प वृष्टयः | 74 | 29 | d | निर्विण्णस्स्याद्धनेहया | 88 | 9 | b |
| निपेतुः प्रथमे केचित् | 83 | 35 | c | निर्विण्णान् घोरसंसृतेः | 73 | 8 | d |
| निभृत मस्तमताक्षहृदयोगयुजो हृदिहृत् | 87 | 23 | a | निर्विशङ्कङ्ग विहगैः | 90 | 4 | c |
| निमग्नहृदयान्नृवीन् | 80 | 5 | d | निर्विशेष मभूद्युद्धम् | 72 | 39 | c |
| निमित्त परमोशस्य | 71 | 8 | a | निर्वृक्षमकरोद्वनम् | 67 | 22 | d |
| निमित्तान्यतिघोराणि | 77 | 8 | c | निर्वृत स्तर्पितस्तूष्णीं | 89 | 13 | c |
| निम्नं कृत्वं जलमयं | 80 | 37 | c | निर्वेदात्समेऽहनि | 88 | 18 | b |
| नियमः प्रथमः कल्पे | 78 | 33 | c | निवार्यमाणा अप्यङ्ग | 75 | 40 | c |
| निरयं योऽभिमन्यन्ते | 64 | 37 | c | निवासितः प्रिया जुष्टे | 81 | 17 | a |
| निरुध्य सेनया माल्वः | 76 | 9 | a | निविष्टयोस्तत्र महात्मनोस्तयोः | 85 | 36 | b |
| निरूपिता महायज्ञे | 75 | 7 | a | निवीतं वनमालया | 73 | 5 | b |
| निरूप्य पुररक्षणम् | 77 | 10 | b | निवृत्ताखिलविग्रहम् | 79 | 30 | d |
| निर्ऋणोऽशरणो भव | 84 | 40 | d | निवृत्तेष्वश्वमेधेषु | 88 | 6 | a |
| निर्गमय्यावरोधान् स्वान् | 71 | 13 | a | निवृत्तोऽसद्वधा दपि | 78 | 28 | b |
| निर्गुणे गुणवृत्तयः | 87 | 1 | b | निशम्य तद्व्यवसितमाहृतार्हणः | 7 | 18 | c |
| निर्गुणोऽपि मनश्चरेत् | 87 | 49 | d | निशम्य धर्मराजस्तु | 73 | 35 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| निशम्य भगवद्गीतं | 72 | 12 | a | नूले निवीय परिधाय च कौशिकाग्र्ये | 83 | 28 | c |
| निशम्य विप्रियं कृष्णः | 77 | 24 | a | नूनं तेन स्मरन्त्युत | 77 | 31 | d |
| निशम्येत्थं भगवतः | 84 | 14 | a | नूनं नानामदोन्मद्धाः | 68 | 31 | a |
| निशम्योचुः प्रकोपिताः | 68 | 23 | d | नूनं वतैतन्मम दुर्भगस्य | 81 | 33 | a |
| निशाम्य वैष्णवं धाम | 89 | 63 | a | नूनं भूतानि भगवान् | 82 | 43 | c |
| निश्चक्रामगृहात्तूर्णं | 81 | 25 | c | नूनं हन्युः पुरीं मम | 77 | 9 | d |
| निश्चक्राम पुरा हुतम् | 66 | 11 | d | नृगं ब्राह्मणगौरिव | 64 | 44 | d |
| निषीदात्राऽऽसने क्षणं | 89 | 9 | d | नृगो नाम नरेन्द्रोऽहं | 64 | 10 | a |
| निषेद्धुं पथि केचन | 83 | 34 | b | नृगो मे दत्तवानिति | 64 | 7 | d |
| निषेव्यमाणं परमेष्ठिनां पतिम् | 89 | 57 | d | नृणां निःश्रेयसार्थाय | 88 | 7 | c |
| निष्कंकण्ठ्यः सुवाससः | 84 | 45 | b | नृणां यः स्नेहसंज्ञितः | 84 | 61 | b |
| निष्किञ्चनानां शान्तानां | 86 | 33 | c | नृणां संवदतां मन्त्रः | 86 | 46 | c |
| निष्क्रम्य तूष्णीं प्रययौ गजाह्वयम् | 75 | 43 | d | नृणां संशयनुत्तये | 89 | 20 | b |
| निष्क्रम्य विश्वशरणाद्भुवि पलब्धवृत्तिः | 85 | 46 | c | नृणां संसरतां मिह | 86 | 34 | b |
| निष्टां प्रदर्शय विभो कुरुसृञ्जयानां | 72 | 5 | d | नृत्यन्ति यत्र विहितागरुधूप मर्क्षैः | 69 | 12 | c |
| निष्ठुराः स्तनयित्नवः | 80 | 36 | d | नृदेवा ये समागताः | 75 | 1 | d |
| निष्पापान् कुरु नः प्रभो | 85 | 46 | b | नृपतिः पारमंष्ट्र्येऽप्सु | 70 | 42 | c |
| निहते मगधेश्वरे | 72 | 45 | b | नृपते ध्यायतो हरिः | 72 | 15 | b |
| निहते रुक्मिणि श्याले | 61 | 39 | a | नृपाणां रुधिरौघेण | 82 | 3 | c |
| निहत्य दोर्भिः प्रणयाश्रु लोचनाः | 82 | 16 | d | नृपो बालकृतोद्यमः | 66 | 3 | d |
| निहत्य निर्जित्य रिपून् | 65 | 8 | c | नृभिर्विद्याधरद्युभिः | 82 | 8 | b |
| निहत्य पितृहन्तारं | 66 | 27 | c | नृभूत पितृचारणान् | 84 | 56 | b |
| निहन्यमाना मुहुरम्बुसंप्लवे | 80 | 38 | b | नृलोक मजितेन्द्रियः | 63 | 42 | b |
| निःक्षत्रियां महीं कुर्वन् | 82 | 3 | a | नृषु तव मायया भ्रम ममीष्ववगत्य भृशं | 87 | 32 | a |
| निःश्रेयसाय जगतां स्थिति रक्षणाभ्यां | 69 | 17 | c | नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः | 80 | 19 | d |
| नीतास्ते योगमायया | 85 | 47 | d | नेत्रे निमीलयति नक्तमदृष्टबन्धुः | 90 | 16 | a |
| नूलकौशेयवाससः | 84 | 49 | b | नेत्रैस्सिषिचतुर्बलम् | 65 | 3 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| नेदुरावभृथोत्सवे | 75 | 9 | d |
| नेदुर्दुन्दुभयो राजन् | 77 | 38 | c |
| नेदुर्दुन्दुभयो व्योम्नि | 65 | 22 | a |
| नेदुर्मृदङ्गपटहः | 84 | 46 | a |
| नेष्ये त्वां लाङ्गलाग्रेण | 65 | 26 | c |
| नेहता विपुलं यशः | 72 | 26 | d |
| नैच्छत्कुरूणां वृष्णीनां | 68 | 14 | c |
| नैच्छन्त्वमस्युत्पथगः | 89 | 6 | a |
| नैजं पाशुपतस्य च | 63 | 13 | d |
| नैनं नाथाभ्ययमयामः | 73 | 9 | a |
| नैवाक्षकोविदा यूयं | 61 | 35 | a |
| नैवातिप्रीयसे विद्वन् | 80 | 29 | c |
| नैवाऽतृप्यन् प्रशंसन्तः | 75 | 27 | c |
| नैवाऽद्भुतं त्वयि विभोऽखिल लोकनाथे | 69 | 17 | a |
| नैवोपपद्येत यदूत्तमस्य | 81 | 33 | d |
| नैशं तम इवोष्णगुः | 76 | 17 | d |
| नोग्रसेनः किल विभुः | 68 | 34 | a |
| नो चेद्देहि ममाऽऽहवम् | 66 | 6 | d |
| नोवाच किञ्चिद्भगवान् | 74 | 38 | c |
| नो सेवेरन् यावदाशानुबद्धाः | 63 | 29 | d |
| न्यपातयत् काशिपुर्यां | 66 | 22 | c |
| न्यमन्त्रयेतां दाशार्हं | 86 | 25 | a |
| न्यरुणत्सूतिकागारं | 89 | 38 | a |
| न्यर्बुदं ग्लहमाददे | 61 | 31 | d |
| न्यवर्ततां स्वकं धाम | 89 | 62 | a |
| न्यवात्सीत्तत्रियङ्करः | 75 | 29 | b |
| न्यवात्सीद्बन्धुवत्सलः | 84 | 59 | d |
| न्यस्तावकुत्र च भयौ न सतां परःस्वः | 82 | 39 | d |
| न्यायार्जिता रौप्यखुराः सवत्सलाः | 64 | 13 | c |
| न्यासिनां परमा गतिः | 88 | 26 | b |

– प –

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| पक्षक्षपणचेतसः | 82 | 42 | d |
| पञ्चत्वं मे गतोऽर्भकः | 89 | 24 | d |
| पञ्चाप्सरस मुत्तमम् | 79 | 18 | b |
| पञ्चालानथ मत्स्यांश्च | 71 | 21 | c |
| पतङ्गः क्षुद्रभृद्वृणी | 85 | 52 | b |
| पतत्पताकाध्वजवारितातपाम् | 69 | 6 | d |
| पतन्त मचलो व्यथा | 67 | 18 | d |
| पतन्तं निरयेऽशुचौ | 64 | 20 | d |
| पतन्ती तद्वनं सर्वं | 65 | 19 | c |
| पतित्वा पादयो र्नृप | 65 | 27 | d |
| पतित्वा पादयो र्देवी | 89 | 7 | a |
| पतिमागतमाकर्ण्य | 81 | 25 | a |
| पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा | 81 | 26 | a |
| पतिव्रता पतिं प्राह | 80 | 7 | c |
| पतीन्पुत्रान् स्वसृ रपि | 65 | 11 | b |
| पत्नीना मेकवल्लभः | 90 | 5 | b |
| पत्नीनां भवनं महत् | 69 | 8 | d |
| पत्नीभिरष्टादशभिः | 84 | 47 | c |
| पत्नीसंयाजावभृथैः | 75 | 19 | a |
| पत्नीसंयाजावभृथ्यैः | 84 | 53 | d |
| पत्नीं वीक्ष्य प्रस्फुरन्तीं | 81 | 27 | a |
| पत्न्यस्तु षोडश सहस्र मनङ्गबाणैः | 61 | 4 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पत्न्याः पतिव्रताया स्तु | 81 | 7 | a | परस्परमथो रामः | 68 | 20 | c |
| पत्न्युद्धर्षातिसम्भ्रमा | 81 | 25 | b | परस्य साक्षात् परमात्मनो हरेः | 88 | 40 | b |
| पत्रं पुष्पं फलं तोयं | 81 | 4 | a | परं परमपूरुषः | 86 | 44 | b |
| पथि काञ्चनमालिनः | 82 | 8 | d | परं परंज्योतिरनन्तपारम् | 89 | 52 | b |
| पथि निर्जित्य राजन्यान् | 83 | 14 | c | परं भाराय मेऽभवत् | 62 | 8 | b |
| पथ्यनुव्रज्य नन्दितः | 81 | 13 | d | परं भावं भगवतः | 65 | 29 | a |
| पदा वक्षस्यताडयत् | 89 | 8 | b | पराजिताश्च्युता राज्यात् | 64 | 41 | c |
| पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्यां | 66 | 34 | a | पराधावन् सवेपथुः | 88 | 24 | b |
| पद्भ्यां प्रगृह्य कनकोज्ज्वलरत्नमालाम् | 83 | 28 | b | परार्घ्यं वासःस्रग्गन्ध | 62 | 25 | a |
| पद्भ्यां महीं महाराज | 78 | 2 | c | परार्घ्याभरणक्षौम | 84 | 67 | c |
| पद्मकोश मिवाऽनिलः | 66 | 22 | d | परांश्च शतशो नृप | 84 | 14 | b |
| पद्मगर्भारुणेक्षणम् | 73 | 3 | b | परिधाय स्वलङ्कृतः | 75 | 22 | b |
| पद्महस्तं गदाशङ्ख | 73 | 4 | a | परिपृष्टास्सुसत्कृताः | 83 | 2 | b |
| पपात तोये गदया सहस्रधा | 77 | 35 | b | परिभाष्याऽभ्यभाषत | 85 | 2 | d |
| पप्रच्छ विद्वानपि तन्निदानं | 64 | 7 | 6 | परिरब्धश्च योषिताम् | 90 | 7 | d |
| पप्रच्छुःपर्युपागताः | 65 | 5 | d | परिरब्धुं समारेभे | 89 | 5 | c |
| पम्पां भीमरथीं ततः | 79 | 12 | d | परिरभ्य जयाच्युतौ | 72 | 45 | d |
| पयस्विनीनां गृष्टीनां | 70 | 8 | c | परिरम्भणविश्लेषात् | 70 | 3 | c |
| पयस्विनीस्तरुणीश्शीलरूप | 64 | 13 | a | परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तान् | 87 | 27 | c |
| पयःफेननिभाश्शय्याः | 81 | 29 | a | परिवेषणे द्रुपदजः | 75 | 5 | c |
| परमप्रीणनं सखे | 81 | 9 | b | परिपस्वजिरे गाढम् | 82 | 33 | c |
| परमभजन्ति ये पदमजस्र सुखानुभवम् | 87 | 16 | d | परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठैः | 65 | 2 | a |
| परमर्षीन् ब्रह्मनिष्ठान् | 74 | 33 | c | परिष्वक्तोऽग्रजो यथा | 80 | 26 | d |
| परमानन्दनिर्वृताः | 82 | 23 | d | परिष्वज्य व्रजेश्वरीम् | 82 | 37 | b |
| परमेण समाधिना | 66 | 28 | d | परिष्वज्याऽङ्कमारोप्य | 85 | 54 | c |
| परलोकगतानाञ्च | 78 | 1 | c | परिसर पद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम् | 87 | 18 | b |
| परसैन्य विदारणम् | 79 | 4 | b | परिहारांश्च तान्सर्वान् | 87 | 11 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| परिहासकथा मनु | 66 | 8 | b | पश्य लोकांश्च भास्वतः | 64 | 24 | d |
| परीतं प्रणतोऽपृच्छत् | 87 | 7 | c | पाञ्चाल कुन्ति मधु केकय कोसलार्णाः | 86 | 20 | b |
| परीतं यदुपुङ्गवैः | 69 | 35 | d | पाटयन्निव मंजया | 72 | 41 | d |
| परीत्य मुसमाहितः | 78 | 40 | b | पाण्डवानां चिकीर्षितं | 70 | 37 | d |
| परेते नवमे बाले | 89 | 27 | c | पाण्डवाः कृष्णरामौ च | 84 | 6 | c |
| परेशायकृताञ्जलिः | 70 | 24 | b | पातयामास भूतले | 72 | 42 | d |
| पर्जन्यवत्तत्स्वयमीक्षमाणः | 81 | 34 | c | पादयोः पेततुः प्रभो! | 86 | 24 | d |
| पर्यङ्कत स्मकलधर्मभृतां वरिष्ठः | 69 | 14 | b | पादसंवाहनादिभिः | 81 | 18 | b |
| पर्यङ्कस्थां श्रियं हित्वा | 80 | 26 | c | पादसंवाहनादिभिः | 90 | 29 | b |
| पर्यङ्काहमदण्डानि | 81 | 29 | c | पादस्पर्शं महात्मनः | 83 | 43 | d |
| पर्यङ्के भ्रातरो यथा | 81 | 17 | b | पादाम्बुजं परिणिनाय य आत्मकामः | 83 | 40 | d |
| पर्यटन्नवनीं प्रभुः | 86 | 2 | b | पादारविन्दार्पिपणान्यगृहान्धकूपात् | 85 | 46 | b |
| पर्यटन्भगवन्त्रियः | 87 | 5 | b | पादावङ्क गतौ विष्णोः | 86 | 30 | c |
| पर्यटामि तवोद्गायन् | 69 | 39 | c | पादावनेजनपयश्च वचश्च शास्त्रम् | 82 | 30 | b |
| पर्वणीव महार्णवः | 86 | 11 | b | पादोदकं यानि भवन्ति नित्यम् | 80 | 4 | d |
| पर्वतः कुरुशार्दूल | 67 | 26 | c | पादोदकेन भगवान् | 89 | 11 | c |
| पल्वलं गगने चरम् | 79 | 5 | b | पादौ पादावनेजनीः | 80 | 20 | d |
| पल्वलेन विनिर्मितम् | 79 | 2 | b | पादौ प्रगृह्यमणिनाऽहममुष्य दासी | 83 | 10 | d |
| पशूनामिव वैकृता | 74 | 5 | d | पादौ स्पृष्ट्वा स्वमौलिना | 64 | 31 | b |
| पशूनां लगुडो यथा | 68 | 31 | d | पानभोजनभक्ष्यैश्च | 62 | 25 | c |
| पश्य उन्मादकं नृणां | 73 | 19 | d | पान्थोऽध्वभ्रमण परिश्रमं जहाति | 89 | 21 | d |
| पश्यताभात मक्षरे | 82 | 47 | d | पापे त्वं मामविज्ञाय | 65 | 26 | a |
| पश्यतां सर्वभूतानां | 74 | 45 | c | पापोऽयं स्वेन पाप्मना | 88 | 38 | d |
| पश्यतां सर्वभूतानां | 78 | 10 | c | पाययित्वाऽधरं मधु | 62 | 17 | b |
| पश्यन्तीनाञ्च किं पुनः | 90 | 28 | d | पारतन्त्र्याद्वै सादृश्यात् | 85 | 6 | c |
| पश्यन्द्वारवतीं ययौ | 77 | 8 | d | पारमेष्ठ्यश्रिया जुष्टः | 75 | 35 | c |
| पश्यन्निपातं धनिनां मदोद्भवम् | 81 | 37 | d | पारिजातोऽमराङ्घ्रिपः | 68 | 35 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पारिबर्हेण भूयसा | 84 | 55 | b | पितृहन्तृ वधोपायं | 66 | 29 | c |
| पार्थमाप्यायन् स्वेन | 72 | 40 | c | पित्रा कृतान् क्षिप्तिप वीर्य परीक्षणाय | 83 | 13 | b |
| पार्थवीर्यं निशामयन् | 89 | 35 | d | पित्रा सम्पूजिता स्सर्वे | 83 | 21 | a |
| पार्थः परमविस्मितः | 89 | 44 | b | पित्रोश्च लब्ध शरणा मुनयो वयञ्च | 71 | 9 | d |
| पार्थाभ्यां संस्तुतः प्रायात् | 73 | 31 | c | पिनाक्यस्त्राणि शार्ङ्गिणे | 63 | 12 | b |
| पार्थो यत्तोऽसृजद्बाणम् | 83 | 24 | c | पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां | 73 | 5 | c |
| पार्श्वस्थं चक्रमादिशत् | 66 | 38 | d | पिबन्ति ये कर्णपुटै रत्नं प्रभो | 83 | 3 | c |
| पार्श्वस्थं वीक्ष्य दुर्मदः | 62 | 6 | b | पिबन्मर्त्योऽमृतं यथा | 75 | 27 | d |
| पार्षदमुख्यो भवतः | 63 | 50 | c | पीड्यमान पुरानीकः | 76 | 24 | c |
| पार्ष्णिग्राहोऽन्वयान्नृप | 66 | 12 | b | पीनकौशेय वाससम् | 73 | 2 | d |
| पावनस्सर्वलोकानां | 64 | 45 | c | पीनवामा वृहद्बाहुः | 62 | 16 | c |
| पावनं लोकपावन | 78 | 32 | b | पीतशेषं गदाभृतः | 85 | 56 | b |
| पाहि पाहि प्रजां मृत्योः | 89 | 36 | c | पीत्वाऽमृतं पयस्तस्या° | 85 | 58 | a |
| पांसुमुष्टिं सकृद्ग्रसन् | 76 | 4 | d | पीयूषं भवभयभित् परस्य पुंसः | 89 | 21 | b |
| पितरं मातरञ्च नः | 65 | 10 | b | पुण्यश्लोकशिखामणिः | 71 | 31 | b |
| पितरा वभिवाद्य च | 82 | 35 | b | पुण्यश्लोकाच्युताव्यय | 64 | 28 | d |
| पितरौ रामकेशवौ | 76 | 30 | b | पुत्रदारगृहादिषु | 63 | 41 | b |
| पिता ते पितृवत्सल | 77 | 23 | b | पुत्रन्यासञ्च गोकुले | 82 | 34 | d |
| पितादुहितृवत्सलः | 83 | 18 | b | पुत्रप्राणरिरक्षया | 63 | 20 | d |
| पितामहस्य ते यज्ञे | 75 | 3 | a | पुत्रयोर्धामसूचकम् | 85 | 2 | b |
| पिता मे पूजयामास | 83 | 37 | a | पुत्रस्नेहस्नुत स्तनी | 85 | 54 | b |
| पिता मे बलवान्विधिः | 77 | 25 | d | पुत्रः कृष्ण मनुव्रतः | 90 | 37 | b |
| पिता मे मातुलेयाय | 83 | 15 | a | पुत्राणां दुहितॄणाञ्च | 69 | 32 | a |
| पितुर्द्वैपायनस्य मे | 87 | 47 | d | पुत्रान् कंसविहिं सितान् | 85 | 28 | b |
| पितु स्सर्वात्मसम्पदा | 61 | 1 | d | पुत्रान् दश दशाबलाः | 61 | 1 | b |
| पितृव्यद्रुक्मिणीसुतः | 90 | 39 | d | पुत्र्यान्तु रुक्मिणो राजन् | 61 | 19 | a |
| पितृष्वसुर्गुरुस्त्रीणां | 11 | 41 | a | पुनन्तः पादरेणुभिः | 86 | 51 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पुनरन्यं समुत्क्षिप्य | 67 | 20 | a | पुरुषशिरसाऽच्युतम् | 77 | 22 | d |
| पुनरात्तप्रहरणः | 77 | 1 | c | पुरुषस्य पदाम्भोज | 89 | 20 | c |
| पुन राप्लुत्य वृष्णयः | 82 | 10 | d | पुरुषं प्रकृतेः परम् | 69 | 30 | b |
| पुनरिह यत्समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे | 87 | 18 | d | पुरुषः प्रकृतेः परः | 88 | 5 | b |
| पुनर्द्वारवती मगात् | 86 | 59 | d | पुरुषान् योषितो दूतः | 67 | 7 | a |
| पुनर्द्वारवती मेत्य | 85 | 53 | c | पुरो रथद्विपभट सादिनायकैः | 71 | 14 | a |
| पुनर्याग्यन्ति मद्गतिम् | 85 | 52 | d | पुरोऽवतस्थे कृष्णस्य | 63 | 20 | c |
| पुनश्च मन्त्रमाव्रज्य | 89 | 14 | a | पुलन्त्यः कश्यपोऽत्रिश्च | 84 | 4 | c |
| पुनीहि मद्लोकं मा | 89 | 11 | a | पुलिन्द्य स्तृणवीरुधः | 83 | 43 | b |
| पुनीहीदं निमेः कुलम् | 86 | 36 | d | पुष्करो देवबाहुश्च | 90 | 36 | a |
| पुन्नागं मृगयं मखि श्रुति | | | | पुष्पितद्रुम राजिषु | 90 | 4 | b |
| शिरोभूषा विशेषायिनं | 90 | 20 | c | पुष्पितोपवनाराम | 69 | 3 | c |
| पुमान् पूर्णः प्रशान्तये | 80 | 43 | d | पृथ्वी श्रिया कीर्त्यजयाखिलर्धिभिः | 89 | 57 | c |
| पुमान् यच्छ्रद्धयाऽऽतिष्ठन् | 85 | 47 | c | पुमंस्त्वतोपकारणम् | 81 | 11 | d |
| पुम्भिर्लिप्सा विलिम्पन्त्यः | 75 | 15 | c | पुंसामपूर्णकामानां | 62 | 7 | c |
| पुम्भिर्मकरकुण्डलाविव | 69 | 11 | c | पुंसां विख्यात कर्मणाम् | 90 | 44 | b |
| पुरग्रामव्रजाकरान् | 71 | 21 | d | पूजयाञ्चक्र ईश्वरान् | 86 | 29 | b |
| पुरग्रामाकरान् घोषान् | 67 | 3 | c | पूजयामासतुर्भीमं | 72 | 45 | c |
| पुरस्तादेव सर्वतः | 82 | 2 | b | पूजायां नाविदत्कृत्यं | 71 | 40 | c |
| पुरस्त्रीजनवल्लभः | 65 | 9 | d | पूजितः परया भक्तया | 69 | 20 | c |
| पुरं निर्माय शाल्वाय | 76 | 7 | c | पूजिता स्तमनुज्ञाप्य | 75 | 26 | c |
| पुरं भोजकटं जग्मुः | 61 | 26 | c | पूजितो देवदेवेन | 81 | 18 | c |
| पुरःपुष्करिणीं क्वचित् | 75 | 39 | b | पूयगन्धश्च सर्वशः | 79 | 1 | d |
| पुराणोपनिषद्रसः | 87 | 43 | b | पूयन्तेऽन्तेऽवसायिनः | 70 | 44 | b |
| पुरीं बभञ्जोप वनानि | 76 | 9 | c | पूयशोणितविण्मूत्र | 78 | 39 | c |
| पुरुजिद्धुपद श्शल्यः | 82 | 25 | c | पूर्णकामावपि युवां | 89 | 60 | a |
| पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः | 87 | 17 | c | पूर्णचन्द्रकलामृष्टे | 65 | 18 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पूर्णःश्रुतधरो राजन् | 87 | 45 | c | पौण्ड्रकोऽपि तदुद्योगं | 66 | 11 | a |
| पूर्तयन्तं क्वचिद्धर्मं | 69 | 34 | c | पौत्रं कृष्णस्य योगिनी | 62 | 22 | b |
| पूर्वं गन्तव्य मस्माभिः | 71 | 3 | c | पौत्रीं रुक्म्यददाद्धरेः | 61 | 25 | b |
| पूर्वंत्व मशुभं भुङ्क्षे | 64 | 24 | a | पौरा जानपदा नृप | 86 | 19 | b |
| पूर्वं देवाऽशुभं भुञ्जे | 64 | 25 | a | पौराजानपदा नृप | 86 | 22 | b |
| पूर्वागुरुकुले सतोः | 80 | 27 | b | पौरान्तःपुरवासिनां | 70 | 12 | d |
| पूर्वाद्रिमिव भास्करः | 70 | 15 | d | पौरा मङ्गलपाणयः | 71 | 37 | b |
| पूर्वेषां पुण्य यशसां | 70 | 22 | c | पौराश्च हाहता राजन् | 66 | 26 | c |
| पूर्वेषां पूर्वजैर्धृता | 87 | 3 | b | पौरुषं दर्शयन्ति स्म | 77 | 20 | c |
| पृच्छन्ति श्रेय आत्मनः | 84 | 30 | d | पौरुषं मम पश्यत | 76 | 3 | d |
| पृथग्विधानि प्रायुङ्क | 63 | 12 | a | पौरुष्यभाजिनोऽभीक्ष्णं | 86 | 4 | c |
| पृथा भ्रातॄन् स्वसृर्वीक्ष्य | 82 | 18 | a | प्रकोष्ठैर्ज्यास्त्रैरपि | 72 | 22 | b |
| पृथा विलोक्य भ्रात्रेयं | 71 | 39 | a | प्रगृह्य रुचिरं चापं | 68 | 6 | c |
| पृथुकप्रसृतिं राजन् | 81 | 5 | c | प्रघोषघोषत्ककुभो निराक्रमत् | 71 | 14 | d |
| पृथूदकं बिन्दुसरः | 78 | 19 | a | प्रघोषो गात्रवान् सिंहः | 61 | 15 | a |
| पृष्टाश्चानामयं स्वेषु | 65 | 6 | a | प्रचण्डचक्रवातोऽभूत् | 76 | 11 | c |
| पृष्टश्चाविदुषे वासौ | 69 | 21 | a | प्रचण्डः पांसुवर्षणः | 79 | 1 | b |
| पृष्टस्तत्राऽऽत्मनः क्षमम् | 76 | 30 | d | प्रजा दृप्ता बबाधिरे | 90 | 47 | d |
| पृष्ट्वा शिवमनामयम् | 68 | 20 | b | प्रजाधर्मेण रक्षथ | 73 | 21 | d |
| पेततुर्मुसलार्दितौ | 63 | 16 | b | प्रजापति र्हृदयं यस्य धर्मः | 63 | 37 | c |
| पेतुरेकेऽमुना हताः | 83 | 22 | d | प्रजा भजन्त्यः सीदन्ति | 89 | 25 | c |
| पेतुस्समुद्रे सौभेयाः | 77 | 5 | c | प्रजासु ब्राह्मणादिषु | 89 | 65 | b |
| पेशस्कारीव कीटकम् | 67 | 7 | d | प्रज्वलन् स्वेन तेजसा | 89 | 3 | d |
| पैलः पराशरो गर्गः | 74 | 8 | c | प्रणतक्लेशनाशाय | 73 | 16 | c |
| पौण्ड्रकस्याऽपि दुर्मतेः | 78 | 7 | b | प्रणम्य चोपसङ्गृह्य | 84 | 28 | c |
| पौण्ड्रकस्याल्पमेधसः | 66 | 7 | b | प्रणम्य तं हृदि निरगाद्विहायसा | 71 | 18 | b |
| पौण्ड्रकं ससखं हरिः | 66 | 23 | b | प्रणम्य शिरसाऽसुरः | 63 | 51 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| प्रणम्यावस्थितोऽग्रतः | 70 | 14 | d | प्रदीपा वलिभिर्मुदा | 80 | 22 | b |
| प्रणम्योत्थाय चार्चयन् | 78 | 21 | d | प्रद्युम्न आसीत्प्रथमः | 90 | 39 | c |
| प्रणेमुर्विश्ववन्दितम् | 84 | 6 | d | प्रद्युम्नगृहयोरपि | 63 | 7 | d |
| प्रणेमु शिरसा बलं | 68 | 19 | d | प्रद्युम्नप्रमुखा जाता | 61 | 9 | c |
| प्रणेमुर्हतपाप्मानः | 73 | 6 | c | प्रद्युम्नश्चारुदेष्णश्च | 90 | 35 | a |
| प्रताडिताक्षोपिदधेक्षिणी उभे | 89 | 52 | d | प्रद्युम्नस्य महात्मनः | 76 | 20 | b |
| प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं | 68 | 52 | a | प्रद्युम्नं गदया शीर्ण | 76 | 27 | a |
| प्रतिजग्राह भगवान् | 67 | 18 | c | प्रद्युम्नं प्राक्प्रपीडितः | 76 | 26 | b |
| प्रतिबाहुरभूतस्मात | 90 | 42 | a | प्रद्युम्नं वीक्ष्य लज्जिता | 62 | 20 | d |
| प्रतिरुध्य प्रत्यविध्यत | 77 | 3 | c | प्रद्युम्नाद्यानिरुद्धोऽभूत् | 61 | 18 | c |
| प्रतिलब्धात्मदर्शनाः | 85 | 56 | d | प्रद्युम्नादीन् गृणामि ते | 61 | 7 | d |
| प्रतिमिश्रयन् विचित्रक्रीडे | 90 | 9 | c | प्रद्युम्नाद्यास्तथाऽपरे | 61 | 26 | d |
| प्रतीक्षन्निरिशादेशं | 62 | 11 | c | प्रद्युम्नो धन्विनां वरः | 89 | 31 | b |
| प्रतीचीं दिशं माविशान् | 89 | 47 | d | प्रद्युम्नो भगवान्वीक्ष्य | 76 | 13 | a |
| प्रतीयमेवाऽपि यथाविकारम् | 63 | 39 | c | प्रद्युम्नो युयुधानश्च | 63 | 3 | a |
| प्रतीहारैः प्रवेशितः | 70 | 23 | d | प्रधानपुरुषेश्वरः | 85 | 4 | d |
| प्रतोष्य प्रत्यनन्दन | 70 | 12 | f | प्रधानपुरुषेश्वरौ | 85 | 18 | b |
| प्रत्यगृह्णन् महाभागं | 81 | 24 | c | प्रधानपुरुषौ परौ | 85 | 3 | d |
| प्रत्यग्रही त्रीतियुतो महात्मा | 81 | 35 | d | प्रधानमनुशायिनाम् | 85 | 11 | d |
| प्रत्यम्लेश्शमयामास | 63 | 12 | c | प्रध्वस्ताखिलबन्धनः | 66 | 24 | b |
| प्रत्याह प्रश्रया नम्रः | 85 | 21 | c | प्रपन्नभय भञ्जन | 70 | 26 | b |
| प्रत्युक्तः प्रतिषेधता | 89 | 45 | d | प्रपन्नान् पाहि नः कृष्ण! | 73 | 8 | c |
| प्रत्युत्थानासनादिभिः | 69 | 20 | d | प्रपन्नार्तिहराव्यय | 73 | 8 | b |
| प्रत्युद्गमासन वरार्हण पादशौच | 61 | 6 | a | प्रपन्नां भक्तवत्सल | 65 | 29 | d |
| प्रत्यूषेऽभ्येत्य सुश्लोकैः | 87 | 13 | c | प्रपन्नाः पादमूलं ते | 70 | 32 | c |
| प्रत्यैक्षन्त मुमुक्षवः | 7 | 20 | d | प्रबुद्ध आजौ समपश्यदच्युतः | 77 | 30 | b |
| प्रदाप्य प्रकृतीः कामैः | 70 | 12 | c | प्रभानु र्भानुमांस्तथा | 61 | 10 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| प्रभापरिक्षिप्तसहस्रकुन्तलम् | 89 | 56 | b | प्रसक्ता वृजिनार्णवे | 63 | 41 | d |
| प्रभावं न विदाम ते | 68 | 44 | b | प्रसन्नवक्त्रं रुचिरायतेक्षणम् | 89 | 55 | d |
| प्रभासं पुनरागमत् | 79 | 21 | d | प्रसह्य तु बलाद्भुक्तं | 64 | 36 | c |
| प्रभिन्न मिव वारणम् | 67 | 10 | d | प्रसह्य रुद्धास्तेनाऽऽसन् | 70 | 25 | c |
| प्रभुत्वेनाऽभवद्धरिः | 90 | 49 | b | प्रसह्याऽऽकर्षते मनः | 90 | 28 | b |
| प्रमत्तस्स सभामध्ये | 77 | 18 | c | प्रसादितः सुप्रसन्नः | 68 | 49 | c |
| प्रमोदोपहतो नृपः | 71 | 40 | d | प्रसार्य केशबाह्वङ्घ्रीन् | 78 | 9 | c |
| प्रययुः शोणितपुरं | 63 | 2 | c | प्रसूतिकाल आसन्ने | 89 | 36 | a |
| प्रययौ द्वारकां किल | 80 | 15 | b | प्रस्थापनोपायनैः | 69 | 33 | a |
| प्रययौ नन्दगोकुलं | 65 | 1 | d | प्रस्थाप्य यदुवीरांश्च | 75 | 29 | c |
| प्रयाग मुपगम्य सः | 79 | 10 | b | प्रहरिष्यन्नमर्षितः | 68 | 41 | d |
| प्रयुज्याऽवितथाऽशिषः | 79 | 7 | b | प्रहसन् श्लक्ष्णया गिरा | 85 | 21 | d |
| प्रलम्बचार्वष्ट भुजं सकौस्तुभं | 89 | 56 | c | प्रहसन्निव मन्त्रवीत् | 82 | 41 | d |
| प्रवर्तन्ते स्म राजेन्द्र | 75 | 7 | c | प्रहसं स्तमुवाच ह | 86 | 50 | d |
| प्रववर्षाऽखिलान्कामान् | 89 | 65 | a | प्रहारं नाऽनुचिन्तयन् | 67 | 19 | d |
| प्रविश्य रेवा मगमत् | 79 | 21 | a | प्रहृष्टरोमा नृपगद्गदाक्षरः | 85 | 38 | d |
| प्रविष्टानां महारण्यं | 80 | 36 | a | प्रह्लादाय वरो दत्तः | 63 | 48 | c |
| प्रविष्टो निजमन्दिरं | 81 | 28 | b | प्रह्वपादार्चनादिकम् | 84 | 10 | d |
| प्रविष्टोन्वात्मसत्तया | 86 | 44 | d | प्राकाराट्टालगोपुरम् | 63 | 5 | b |
| प्रवृक्णा बाहवो मया | 63 | 49 | b | प्राकृतैर्वैकृतैर्यज्ञैः | 84 | 51 | c |
| प्रवृद्धबाष्पाः परिरेभिरेऽच्युतम् | 71 | 27 | d | प्रागकल्पाच्च कुशलं | 84 | 63 | a |
| प्रवृद्धभक्त्या उद्धर्ष | 86 | 28 | a | प्रागदृष्टश्रुतेन सा | 62 | 12 | d |
| प्रवृद्धस्नेहया तया | 62 | 26 | b | प्रागाद्योत्यन् जनार्दनं | 63 | 31 | d |
| प्रवेक्ष्ये हतकल्मषः | 89 | 30 | d | प्रागासीना नृपादयः | 84 | 6 | b |
| प्रशशंसुर्मुदा युक्ताः | 82 | 28 | c | प्राणाः प्राणमिवाऽऽगतं | 71 | 24 | d |
| प्रशशंसु र्हृषीकेशम् | 73 | 7 | c | प्राचेतसमिवाऽमराः | 74 | 16 | f |
| प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः | 80 | 6 | d | प्राच्यां वृकोदरं मत्स्यैः | 72 | 13 | e |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| प्राज्ञाय देहकृदमुं निजनाथदेवं | 83 | 10 | a | प्राविशद्रामसन्दिरम् | 71 | 38 | d |
| प्राज्वालय त्वां नमहं प्रपद्ये | 70 | 40 | d | प्रावृडन्ते यथा ग्रहाः | 73 | 27 | d |
| प्राणादिभिः स्वविभवै रुपगूढ मज्ञः | 84 | 33 | c | प्रासादलक्षैर्नवभिः | 69 | 5 | a |
| प्राणादीनां विश्वसृजां | 85 | 6 | a | प्रासादाट्टालतोलिकाः | 76 | 10 | b |
| प्राणो जीवो बिभर्त्यजः | 85 | 5 | d | प्राह प्रभो भगवते करवाम किन्ते | 69 | 16 | d |
| प्रादात्सौभमयोमयम् | 76 | 7 | d | प्राहरत्कृष्णसूताय | 77 | 13 | c |
| प्रादाद्दुहितरं युधि | 61 | 20 | b | प्राहरन्नरयो हरिम् | 66 | 16 | d |
| प्रादाय महतीं गदां | 72 | 33 | b | प्राहिणोत्पारिबर्हाणि | 86 | 12 | a |
| प्रादां युवभ्यो द्विजपुङ्गवेभ्यः | 64 | 14 | d | पियबाह्वन्तरं गता | 70 | 3 | d |
| प्रादुरासीद्यथा रविः | 70 | 33 | d | प्रियया चोद्धवेन च | 69 | 20 | b |
| प्राद्युम्निं योगमास्थिता | 62 | 23 | b | प्रियरावपदानि भाषसे | 90 | 22 | a |
| प्राद्युम्निं रथमारोप्य | 63 | 51 | c | प्रियापर्यङ्कमास्थितः | 80 | 18 | b |
| प्रासं निशम्य नरलोचन पानपात्रम् | 71 | 34 | a | प्रियाश्च काञ्चन शिबिकाभिरच्युतं | 71 | 15 | a |
| प्रासं प्रातश्च सेवन्तः | 73 | 22 | c | प्रीणय्य सूनृतैर्वाक्यैः | 73 | 28 | c |
| प्रासं रामं सुहृत्तमम् | 68 | 18 | b | प्रीतश्शुश्रूषवे प्रभुः | 88 | 7 | b |
| प्रासः प्रेतपिशाचराट् | 88 | 32 | d | प्रीतःप्रणयविह्वलः | 74 | 26 | d |
| प्रासां दशां त्वं च शतो दुरत्ययाम् | 90 | 17 | d | प्रीतः फुल्लमुखाम्बुजः | 72 | 12 | b |
| प्रासाः सालोक्य सामीप्यं | 85 | 43 | a | प्रीतस्स्वयं तथा युक्तः | 81 | 28 | a |
| प्रासोऽद्राक्षीद्यदूद्वहम् | 62 | 30 | d | प्रीतात्मोत्थाय पर्यङ्कात् | 71 | 39 | c |
| प्रासो निजगृहान्तिकं | 81 | 21 | b | प्रीतो दुर्दर्शनं नृणां | 71 | 23 | b |
| प्रासो मामस्य दास्यामि | 81 | 7 | c | प्रीतोऽविमुक्तेभगवान् | 66 | 29 | a |
| प्राप्योपतुर्भवति पक्षमह यद्वदक्षणोः | 82 | 39 | c | प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून् | 80 | 19 | c |
| प्रायस्ते धनिनो भोजाः | 88 | 1 | c | प्रीत्या सङ्कर्षणाच्युतौ | 85 | 1 | d |
| प्रायः पाकविपाकेन | 71 | 10 | c | प्रीत्युत्फुल्लाननाशयाः | 86 | 23 | b |
| प्रायुङ्क्त च ततस्स्वयं | 70 | 13 | d | प्रीत्युत्फुल्लेक्षणस्तस्यां | 86 | 6 | c |
| प्रायो गृहेषु ते चित्तं | 80 | 29 | a | प्रीयेय तोयेन नृणां प्रपद्यतां | 88 | 20 | c |
| प्राविशद्यन्निविष्टानां | 70 | 18 | c | प्रेक्षन् खलु सतां गतिः | 81 | 2 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| प्रेक्षमाणो रुषाऽऽविष्टः | 63 | 5 | c | बध्नीतेमं दुर्विनीतम् | 68 | 3 | a |
| प्रेमगद्गदयागिरा | 65 | 6 | b | बन्धुज्ञाति नृपान् मित्र | 75 | 23 | a |
| प्रेमोत्कुण्ठाश्रुलोचना | 81 | 26 | b | बन्धुरूपमरिं हत्वा | 78 | 6 | c |
| प्रेम्णा गोविन्दरामयोः | 84 | 66 | b | बन्धुषु प्रतियातेषु | 84 | 70 | a |
| प्रेम्णा निवासयामास | 75 | 28 | c | बन्धूनामैक्य काम्यया | 68 | 22 | d |
| प्रेम्णा निरीक्षणेनैव | 81 | 2 | c | बन्धून्कुशलिनो दृष्ट्वा | 68 | 20 | a |
| प्रेम्णा नोवाच किञ्चन | 13 | 35 | d | बन्धून्परिष्वज्य यदन् | 84 | 58 | a |
| प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत् | 81 | 3 | d | बन्धून् सदारान् ससुतान् | 84 | 55 | a |
| प्रेष्ठं न्यमंसत स्वं स्वं | 61 | 2 | c | बभाषे कालचोदितः | 61 | 34 | d |
| प्रोक्तादेवा यदोः कुले | 90 | 48 | b | बभाषेदं सुयन्त्रितः | 84 | 28 | d |
| प्रोचुः प्रहृष्टमनसः | 83 | 2 | c | बभाषे नष्टसङ्कल्पः | 74 | 38 | b |
| प्रोत्फुल्लकुमुदाम्भोज | 81 | 22 | c | बभाषे प्राकृतो यथा | 77 | 24 | d |
| प्रोत्फुल्लदृग्वक्त्र स ते रुहश्रियः | 82 | 15 | b | बभाषेऽविक्लवं वचः | 68 | 20 | d |
| प्रोत्फुल्लोत्पलकह्लार | 90 | 6 | a | बभाषे सूनृतै र्वाक्यैः | 70 | 35 | c |
| | | | | बभूव हाहेति वचस्तदा नृणां | 77 | 37 | d |
| – फ – | | | | बभूवु र्भरतर्षभ | 89 | 49 | d |
| फलार्हणो शीर शिवामृताम्बुभिः | 86 | 41 | a | बभूवुः कोटिशो नृप! | 61 | 19 | d |
| फल्गुनेन भटैर्वृतः | 71 | 46 | d | बभौ चितं मोदवहं मनस्विनां | 66 | 18 | c |
| फल्गुनेन परन्तप! | 89 | 35 | b | बभौ स्वभासा ककुभोऽवभासयन् | 70 | 19 | b |
| | | | | बलदेवपरिग्रहाः | 67 | 12 | d |
| – ब – | | | | बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ! | 65 | 1 | a |
| बद्धवैरौ नृपार्थवत् | 79 | 28 | b | बलमक्षै र्विनिर्जय | 61 | 27 | d |
| बद्धं निशम्याश्रुकलाक्ष्यरोदीत् | 62 | 35 | d | बलस्य बलशालिनः | 79 | 33 | b |
| बद्धाञ्जलीसस्मितमूर्जया गिरा | 89 | 58 | d | बलस्यानन्तवीर्यस्य | 65 | 33 | c |
| बद्धान् विमुङ्क्ष्व मगधाह्वय कर्म पाशात् | 70 | 30 | b | बलस्योपर्यमर्षितः | 67 | 23 | b |
| बद्ध्वा पतित मर्भकाः | 64 | 4 | b | बलं गजस्यन्दनवाजिपत्तिमत् | 66 | 17 | b |
| बद्ध्वाऽपनीतः साल्वेन | 77 | 23 | c | बलं बृहद्ध्वजपटछन्नचामरैः | 71 | 17 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| बलं मूर्ध्न्यताडयत् | 67 | 17 | d | बाणैश्च न भवादृशाः | 61 | 35 | d |
| बलः प्रबल ऊर्ध्वगः | 61 | 15 | b | बाधन्ते दस्यवः प्रजाः | 74 | 37 | a |
| बलः प्रहरतां वरः | 67 | 14 | b | बाध्यमाना निजाः प्रजाः | 76 | 13 | b |
| बलिनामपि चान्येषां | 71 | 5 | c | बान्धवाः परिचर्यायां | 75 | 3 | c |
| बलीयसैजद्दृहद्दुर्मिर्भीषणं | 89 | 53 | b | बालवाक्यैर्विभिद्यते | 74 | 31 | d |
| बलेन परिघार्दिताः | 61 | 38 | d | बाष्पकण्ठयौ समृच्चतुः | 82 | 37 | d |
| बलेन बुभुजे किल | 86 | 5 | d | बाहुभ्यां परिरभ्य च | 82 | 36 | b |
| बलेन सह संयुगः | 63 | 8 | b | बाहुभ्यां परिरम्भितः | 81 | 16 | d |
| बलेनैव जितोग्लहः | 61 | 33 | b | बाहुषु छिद्यमानेषु | 63 | 34 | a |
| बलेरासीन्महात्मनः | 62 | 2 | b | बाह्योपवन मास्थितः | 68 | 16 | b |
| बलेर्नु श्रूयते कीर्तिः | 72 | 24 | a | बाह्लीकपुन्नाभूर्याद्याः | 75 | 6 | c |
| बल्वलो नाम दानवः | 78 | 38 | b | बाह्वोर्दधानं मधुमल्लिका श्रिताम् | 62 | 32 | c |
| बहुरूपैकरूपं तत् | 76 | 21 | a | बिभर्षि सत्वं खलनिग्रहाय च | 84 | 18 | b |
| बहुलाश्व इति श्रुतः | 86 | 16 | b | बिभेद न्यपतद्धस्तात् | 77 | 16 | c |
| बहुशः प्रार्थितो मृदु | 80 | 12 | b | बिभ्रज्जगद्गुरुतरोऽपि सतां पतिर्हि | 69 | 15 | b |
| बाढमाशंसितं तथा | 73 | 18 | d | बिभ्रतो भगवन् सत्त्वं | 68 | 47 | c |
| बाणश्च तावद्विरथः | 63 | 21 | c | बिभ्रत्पिङ्गजटाभारं | 70 | 33 | c |
| बाणस्तु रथमारूढः | 63 | 31 | c | बिभ्रत्स्मितमुखाम्भोजं | 65 | 24 | c |
| बाणस्यतनया मृषां | 62 | 1 | a | बिभ्रद्बभौ सार्क इवोदयाचलः | 77 | 35 | d |
| बाणस्य पृतनां शौरिः | 63 | 14 | c | बिभ्रद्बुरोध भवने मृगराडिवाऽऽवीः | 70 | 30 | d |
| बाणस्य भगवान् भवः | 63 | 34 | b | बिभ्रन्मुहुः प्रेमविभिन्नया धिया | 85 | 38 | b |
| बाणस्य मन्त्री कुम्भाण्डः | 62 | 14 | a | बिभ्राणश्च हरे राजन् | 66 | 24 | c |
| बाणः पञ्चशतानि वै | 63 | 18 | b | बिभ्रणं कौस्तुभमणिं | 66 | 13 | c |
| बाणः पुत्रशतज्येष्ठः | 62 | 2 | a | बुद्धीन्द्रियमनः प्राणान् | 87 | 2 | a |
| बाणार्थे भगवान् रुद्रः | 63 | 6 | a | बुभुजे नातिलम्पटः | 81 | 38 | d |
| बाणांश्चक्रायुधे नृप! | 63 | 32 | d | बुभुजे विषयान् ग्राम्यान् | 89 | 64 | c |
| बाणेन सह सात्यकेः | 63 | 8 | d | बृहत्या पूजयाऽर्चितः | 84 | 59 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| बृहत्सेन इति ख्यातः | 83 | 18 | c | ब्रह्मन् स्मरसि नौ यतः | 86 | 31 | b |
| बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया | 87 | 15 | a | ब्रह्मपुत्रस्तथाऽङ्गिराः | 84 | 5 | b |
| बृहन्द्रुजं कुण्डलकुन्तलत्विषा | 62 | 31 | c | ब्रह्मबन्धुरिति स्माऽहं | 81 | 16 | c |
| बृहद्रथसुतो यतः | 72 | 16 | d | ब्रह्मर्षिसेवितान्देशान् | 74 | 37 | a |
| बोधयन्तीव वन्दिनः | 70 | 2 | b | ब्रह्मलिङ्गधरास्त्रयः | 72 | 16 | b |
| बोधयन्त्यनु जीविनः | 87 | 13 | d | ब्रह्मलिङ्गानि बिभ्रति | 72 | 23 | b |
| ब्रह्मक्षत्रसभामध्ये | 74 | 51 | c | ब्रह्मवादः सम्प्रवृत्तः | 87 | 10 | c |
| ब्रह्मघोषेण भूयसा | 71 | 24 | b | ब्रह्मविष्णुशिवादयः | 88 | 12 | b |
| ब्रह्मघोषेण भूयसा | 75 | 13 | b | ब्रह्मवृत्तिं हरेच्च यः | 64 | 40 | b |
| ब्रह्मणः परमात्मनः | 74 | 4 | b | ब्रह्मवेषधरो गत्वा | 71 | 7 | a |
| ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये | 64 | 30 | b | ब्रह्मस्वं दुरनुज्ञातं | 64 | 36 | a |
| ब्रह्मणे परमात्मने | 85 | 39 | d | ब्रह्मस्वं साधु बालिशः | 64 | 37 | d |
| ब्रह्मण्यदेव इति यद्गुणनाम युक्तं | 69 | 15 | c | ब्रह्मस्वं हि विषं प्रोक्तं | 64 | 34 | c |
| ब्रह्मण्यदेवो धर्मात्मा | 64 | 32 | c | ब्रह्मस्वारणिपावकः | 64 | 35 | d |
| ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च | 80 | 9 | a | ब्रह्मंस्तेऽनुग्रहार्थाय | 86 | 51 | a |
| ब्रह्मण्यस्य वदान्यस्य | 64 | 26 | a | बह्माख्य मस्योद्भवनाश हेतुभिः | 70 | 5 | c |
| ब्रह्मण्यं समयाचेरन् | 72 | 17 | c | ब्रह्मादय स्सुराधीशाः | 63 | 9 | a |
| ब्रह्मण्येऽभ्यर्थितो विप्रैः | 71 | 6 | c | ब्रह्मादयोऽपि न विदुःपदवीं यदीयाम् | 61 | 5 | b |
| ब्रह्मण्यो ब्राह्मणं कृष्णः | 81 | 2 | a | ब्रह्मादिभि र्हृदि विचिन्त्य मगाधबोधैः | 69 | 18 | b |
| ब्रह्म ते हृदयं कृष्णं | 84 | 19 | a | ब्रह्मानन्दं गतो यथा | 80 | 17 | d |
| ब्रह्मदायापहारिणः | 64 | 39 | d | ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य | | | |
| ब्रह्मद्विषः शठधियः | 89 | 24 | a | कलाः कलायाः | 68 | 37 | c |
| ब्रह्मन् धर्मस्य वक्ताऽहं | 69 | 40 | a | ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्रं | 63 | 13 | a |
| ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये | 87 | 1 | a | ब्राह्मणस्तान्तु रजनीं | 81 | 12 | a |
| ब्रह्मन् मच्छ्रद्धयाऽर्चय | 86 | 57 | b | ब्राह्मणं समभाषत | 89 | 27 | d |
| ब्रह्मन् मे भवतागृहात् | 81 | 3 | b | ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः | 74 | 6 | d |
| ब्रह्मन् वेदितु मिच्छामः | 86 | 1 | a | ब्राह्मणार्थो ह्यपहृतः | 64 | 44 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ब्राह्मणाश्चाग्रविन्दाक्षं | 71 | 30 | e | भगवनि कृतचित्तो याति तत्परमधाम | 85 | 60 | d |
| ब्राह्मणा स्त्विष्टदेवताः | 89 | 18 | b | भगवन्तं भयातुराः | 66 | 36 | b |
| ब्राह्मणास्स्वर्णलाङ्गलैः | 74 | 12 | b | भगवन्निन्दनं श्रुत्वा | 74 | 39 | a |
| ब्राह्मणा स्सन्नमासते | 89 | 28 | c | भगवन्मामजाननीम् | 65 | 29 | b |
| ब्राह्मणाःक्षत्रिया वैश्याः | 74 | 11 | a | भगवन्यानि चान्यानि | 80 | 1 | a |
| ब्राह्मणाः प्रभवो दैवं | 81 | 39 | c | भगवाञ्छैष्ठ्यमास्थितः | 89 | 65 | d |
| ब्राह्मणेभ्यो ददुर्धेनूः | 82 | 10 | a | भगवाञ्जगदीश्वरः | 78 | 16 | b |
| ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य | 71 | 29 | a | भगवानपि तत्राऽब्दं | 75 | 29 | a |
| ब्राह्मणेभ्यो हलायुधः | 79 | 16 | b | भगवान् देवकीसुतः | 64 | 32 | b |
| ब्राह्मणैस्सह ऋत्विजम् | 66 | 30 | b | भगवान्देवकीसुतः | 71 | 12 | b |
| ब्राह्मणैः कुलवृद्धैश्च | 68 | 15 | c | भगवान्धनुरादाय | 83 | 25 | c |
| ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः | 72 | 1 | c | भगवान्धर्मगुप्तनुः | 84 | 8 | b |
| ब्राह्मणो जन्मतः श्रेयान् | 86 | 53 | a | भगवान्पुरुषोत्तमः | 88 | 38 | b |
| ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः | 80 | 6 | b | भगवान्प्रणतार्तिहा | 86 | 50 | b |
| ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय | 70 | 4 | a | भगवान्प्रहसन्प्रियम् | 81 | 2 | b |
| ब्रूत वो भगवान्स्वयम् | 83 | 7 | b | भगवान् प्रीणयन् गिरा | 71 | 19 | b |
| ब्रूताऽहं करवाण्यय | 78 | 37 | b | भगवान्बादरायणिः | 80 | 5 | b |
| | | | | भगवान्भक्तभक्तिमान् | 86 | 59 | b |
| – भ – | | | | भगवान्भीमवेगया | 77 | 21 | b |
| भक्तस्य च चिकीर्षितम् | 70 | 41 | d | भगवान् भुवनेश्वरः | 73 | 24 | b |
| भक्तानुकम्प्युपव्रज्य | 63 | 34 | c | भगवान्भूतभावनः | 72 | 46 | b |
| भक्ताय चित्रं भगवान् हि सम्पदः | 81 | 37 | a | भगवान् रथमास्थितः | 65 | 1 | b |
| भक्तिर्भवेद्भगवति ह्यपवर्ग मार्गे | 69 | 45 | d | भगवान् लोकपावनः | 80 | 21 | b |
| भक्तोऽतीव जनार्दने | 81 | 38 | b | भगवान् लोकभावनः | 86 | 37 | b |
| भक्त्या केचन कामतः | 85 | 44 | b | भगवान्विश्वभावनः | 64 | 5 | b |
| भक्त्या परमया हरिम् | 84 | 41 | b | भगवान्वृजिनार्दनः | 88 | 27 | b |
| भक्त्युत्कण्ठोऽश्रुलोचनः | 89 | 13 | d | भगवान्व्यतर द्विभुः | 79 | 31 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| भगवान्सर्वभूतेशः | 62 | 5 | a | भवता लब्ध दक्षिणात् | 80 | 28 | b |
| भगवान्सात्त्वतर्षभः | 68 | 52 | b | भवता शत्रुकर्शन | 72 | 7 | b |
| भगवान्सात्त्वतर्षभः | 80 | 9 | b | भवता सत्यकामेन | 80 | 44 | c |
| भगवान्सात्वतर्षभः | 85 | 21 | b | भवतीनां मदापनः | 82 | 45 | d |
| भगवान् सात्त्वतां पतिः | 74 | 19 | b | भवतो यद्व्यवसितं | 63 | 47 | c |
| भगवां स्तदभिप्रेत्य | 86 | 26 | a | भवत्पादनिषेवया | 69 | 38 | d |
| भगवांस्ता स्तथाभूताः | 82 | 41 | a | भवत्पादहतां हसः | 89 | 12 | d |
| भगिन्या चाभिवन्दितः | 71 | 41 | d | भवत्सन्दर्शनार्थिनः | 64 | 26 | d |
| भग्नदर्पाश्शमं यान्ति | 68 | 4 | c | भवद्दर्शनकाङ्क्षिणः | 70 | 32 | b |
| भग्नमानेषु मानिषु | 83 | 25 | b | भवन्त ऋतभाषिणः | 73 | 19 | b |
| भग्ने भग्ने पुनः पुनः | 67 | 22 | b | भवन्त एतद्विज्ञाय | 73 | 21 | a |
| भग्नो मृधे खलु भवन्त मनन्तवीर्यम् | 70 | 31 | b | भवन्तं वै सुरादयः | 70 | 43 | b |
| भजति सरूपतां तदनुमृत्यु मपेतभागः | 87 | 38 | b | भवन्तावनुगृह्णीताम् | 64 | 20 | a |
| भजन्त्यनाशिप श्शान्ताः | 89 | 18 | c | भवन्ति किल विश्वात्मन् | 85 | 31 | c |
| भज्यमानपुरोद्यान | 63 | 5 | a | भवन्त्युद्वेजिनोऽहयः | 64 | 41 | d |
| भटा आवेदयाञ्चक्रुः | 62 | 28 | a | भवन्त्विह परत्र च | 80 | 42 | d |
| भटेभरथवाजिभिः | 83 | 38 | b | भवभीताः पृथाग्धियः | 70 | 26 | d |
| भण्यतां प्रायशस्सर्वैः | 88 | 30 | c | भवान्दाताऽपहर्तेति | 64 | 18 | c |
| भद्रचारुस्तथाऽपरः | 61 | 8 | d | भवान् सर्व मिदं जगत् | 85 | 17 | d |
| भद्रां जाम्बवतीं तथा | 71 | 42 | d | भवान् हि सर्वभूतानां | 86 | 31 | a |
| भयं वायेऽङ्गसम्भवाः | 77 | 32 | b | भवापवर्गाय भजाम देवम् | 63 | 45 | d |
| भरद्वाजोऽथ गौतमः | 84 | 3 | d | भविता शरणं शुनाम् | 66 | 9 | d |
| भर्त्रे प्रादादुपायनम् | 80 | 14 | d | भविष्यत्यजरामरः | 63 | 50 | b |
| भर्त्सयन्कृष्णपक्षीयान् | 74 | 42 | c | भवेज्जन्मनि जन्मनि | 83 | 16 | b |
| भल्लेन छित्वाऽथ रथाङ्गमद्भुतम् | 77 | 36 | b | भानुश्चन्द्रोऽश्वसेनश्च | 61 | 13 | a |
| भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं | | | | भानुस्सभानुस्स्वर्भानुः | 61 | 10 | a |
| भुवि निश्वसिताः | 87 | 20 | d | भारं मेने हृतं भुवः | 79 | 22 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| भार्यया द्विजसत्तमः | 89 | 36 | b | भीष्म द्रोणार्जुनादिभिः | 66 | 28 | b |
| भार्योढा सदृशी न वा | 80 | 28 | d | भीष्मं द्रोणञ्च बाह्लिकं | 68 | 17 | b |
| भावशुद्धं मनो दधे | 86 | 6 | d | भीष्मो द्रोणः पृथा यमौ | 84 | 57 | b |
| भावा ये चास्य हेतवः | 86 | 56 | b | भीष्मो द्रोणोऽम्बिकापुत्रः | 82 | 24 | a |
| भाविन्याऽऽर्त्ते कृशाग्रेण | 78 | 28 | c | भुक्तमग्नेर्मनागपि | 64 | 33 | b |
| भावो हि भवकारणम् | 74 | 46 | d | भुक्तं हन्ति त्रिपूरुषं | 64 | 36 | b |
| भावो हि भवकारणम् | 85 | 43 | d | भुक्त्वा पीत्वा सुखं मेने | 81 | 12 | c |
| भासयन्तौ दिशश्शारिः | 77 | 14 | c | भुक्त्वोपविविशुः कामं | 82 | 12 | a |
| भास्वरं तमसः परम् | 88 | 25 | d | भुजैस्सहस्रैः खलोक्य माधवः | 62 | 33 | b |
| भिन्नर्याधिस्मितश्शाणिं | 88 | 35 | c | भुज्यते कुरुभिर्दत्तं | 68 | 38 | a |
| भिन्नाञ्जनचयोपमम् | 79 | 3 | b | भुञ्जन्यस्य दुपेक्षया | 68 | 26 | d |
| भीतः पिताऽऽदिशत मां प्रभवोऽपि दत्तम् | 83 | 9 | d | भुञ्जानमवशेषितम् | 69 | 24 | d |
| भीतानग्नेऽपि प्रदुद्रुवुः | 62 | 9 | d | भुवि पुरुपुण्यतीर्थ सदना नृपयो विमदाः | 87 | 35 | a |
| भीतो माहेश्वरो ज्वरः | 63 | 25 | b | भूखण्डं किल वृष्णयः | 68 | 38 | b |
| भीमसेनेन केशवः | 73 | 31 | b | भूतप्रमथनायकाः | 85 | 41 | d |
| भीमसेनोऽर्जुनः कृष्णः | 72 | 16 | a | भूतप्रेतान्सगुह्यकान् | 63 | 10 | b |
| भीमस्तुल्यबलो मम | 72 | 32 | d | भूतमातृ पिशाचांश्च | 63 | 11 | a |
| भीमस्यामोघ दर्शनः | 72 | 41 | b | भूतानामनुकम्पार्थं | 66 | 5 | c |
| भीमं समबलं विना | 71 | 5 | d | भूतानामसि भूतादिः | 85 | 11 | a |
| भीमः प्रहरतां वरः | 72 | 42 | b | भूतानां तत्र पश्यतां | 77 | 17 | b |
| भीमः स्मयन् प्रेम जवाकुलेन्द्रियः | 71 | 27 | b | भूतेषु भूमंश्चरतः स्वशक्तिभिः | 70 | 38 | c |
| भीमार्जुन जनार्दनाः | 73 | 34 | b | भूतेष्वात्माऽऽत्मना ततः | 82 | 47 | b |
| भीमो दुर्योधनः कर्णः | 83 | 23 | c | भूत्वा मुकुन्दस्य पदारविन्दं | 64 | 7 | a |
| भीमो महानसाध्यक्षः | 75 | 4 | a | भूभारक्षत्रक्षपण | 85 | 18 | c |
| भीमो वायुरभूद्राजन् | 79 | 1 | c | भूमण्डलं बिभर्षि सहस्र मूर्धन् | 68 | 46 | b |
| भीष्मको नग्नजिन्महान् | 82 | 25 | b | भूमेर्भारायमाणानां | 85 | 30 | c |
| भीष्म द्रोणकृपादयः | 74 | 10 | b | भूमौ च ते भुवनमङ्गलदिग्वितानं | 70 | 45 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भूयः पार्श्वमुपातिष्ठत् | 66 | 42 | c |
| भूयान्मे त्वत्पदास्पदं | 64 | 29 | d |
| भूयांसं श्रद्दधुर्विष्णुं | 89 | 15 | c |
| भूयोऽहं श्रोतुमिच्छामि | 67 | 1 | a |
| भूर्यप्यभक्तोपहृतं | 81 | 3 | e |
| भूर्यर्थायोपकल्पते | 71 | 10 | b |
| भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः | 82 | 46 | d |
| भूषणानि महार्हाणि | 65 | 31 | c |
| भूषणैश्च महार्घनैः | 74 | 28 | b |
| भूषणैः स्रग्विलेपनैः | 73 | 25 | d |
| भूस्तत्कृतेषु यथाशयम् | 85 | 25 | b |
| भूः कालभर्जितभगाऽपि यदङ्घ्रिपद्म | 82 | 30 | c |
| भृगुस्तन्मन्द्रया गिरा | 89 | 13 | b |
| भृगुं ब्रह्मसुतं नृप | 89 | 2 | b |
| भृत्यान् दारुकजैत्रादीन् | 71 | 12 | c |
| भेजुर्मुदाविरतमेधितयानुराग | 61 | 5 | c |
| भोगैश्च विविधैर्युक्तान् | 73 | 26 | c |
| भोजयन्तं द्विजान् क्वापि | 69 | 24 | c |
| भोजयित्वा वरान्नेन | 73 | 26 | a |
| भोजराजहतान्पुत्रान् | 85 | 33 | c |
| भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः | 68 | 34 | b |
| भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः | 80 | 10 | d |
| भो भो स्सदा निष्टनसे उदन्वन् | 90 | 17 | a |
| भो भोः पौण्ड्रक यद्भवान् | 66 | 19 | b |
| भौतिकानां यथा खं वाः | 82 | 46 | c |
| भौमं निहत्य सगणं युधितेन रुद्धाः | 83 | 40 | a |
| भौमैर्हि भूमिर्बहुनाम रूपिणी | 84 | 17 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भ्रमयति भारतीन उरुवित्तिभि रुक्थजडान् | 87 | 36 | d |
| भ्रष्टागौर्मम गोधनं | 64 | 16 | b |
| भ्राजद्वरमणिग्रीवं | 73 | 5 | a |
| भ्राजन्मणिस्तम्भमहस्र शोभितम् | 89 | 53 | d |
| भ्रातरः पितरावपि | 82 | 20 | b |
| भ्रातरीशकृतः पाशः | 84 | 61 | a |
| भ्रातर्वो नाचराम हि | 84 | 63 | b |
| भ्राता मैन्दस्य वीर्यवान् | 67 | 2 | d |
| भ्रातुर्भार्या हतोक्षताम् | 77 | 18 | b |
| भ्रातृपत्नी मुकुन्दश्च | 82 | 18 | c |
| भ्रातृभिश्च युधिष्ठिरः | 72 | 1 | d |
| भ्रातृशोकपरिप्लुतः | 78 | 11 | b |
| भ्रातॄन् दिग्विजयेऽयुङ्क | 72 | 12 | c |
| भ्रातॄंश्च मेऽपकुरुतः स्वपुरं श्रियौकाः | 83 | 12 | c |
| भ्रूक्षेपैः सन्मुखादिभिः | 67 | 13 | b |
| भ्रूमण्डलप्रहित सौरत मन्त्र शौण्डैः | 61 | 4 | b |
| **– म –** | | | |
| मखैरुत्तमकल्पकैः | 84 | 43 | d |
| मङ्गलानि समस्पृशत् | 70 | 10 | d |
| मच्चित्ता विचरिष्यथ | 73 | 22 | d |
| मज्जनाय कृतोद्यमम् | 69 | 23 | d |
| मणिकाञ्चनभूषितान् | 73 | 28 | b |
| मणिस्तम्भशतोपेतं | 81 | 28 | c |
| मण्डलानि विचित्राणि | 72 | 35 | a |
| मण्डलानि विचित्राणि | 79 | 25 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मण्युत्तमपरिष्कृतैः | 69 | 10 | d | मनुतीर्थमुपस्पृश्य | 79 | 21 | c |
| मत्त इत्यापगां बलः | 65 | 25 | d | मनुष्याः स्थापयन्ति ते | 89 | 46 | d |
| मत्तानामिव मानिनाम् | 68 | 39 | b | मनोजवं निर्विविशे सुदर्शनं | 89 | 51 | c |
| मत्ताःप्रमत्ता वरदान् | 88 | 11 | c | मनोरथमहार्णवम् | 84 | 60 | b |
| मत्परैः कृतमैत्रस्य | 88 | 9 | c | मनोरथमहार्हणम् | 75 | 30 | b |
| मत्स्यं वीक्ष्य सकृज्जले | 83 | 26 | b | मनोहर्ता तमादिश | 62 | 18 | d |
| मत्स्यः पार्थेप्सया कृतः | 83 | 19 | b | मन्त्रयन्तश्च कस्मिंश्चित् | 69 | 27 | a |
| मत्स्याभासं जले वीक्ष्य | 83 | 24 | a | मन्त्रिभिश्चोद्धवादिभिः | 69 | 27 | b |
| मत्स्याः केकयसृञ्जयाः | 74 | 41 | b | मन्दाकिनीति दिवि | | | |
| मत्स्योशीनर कौसल्य | 82 | 13 | a | भोगवतीति चाऽधः | 70 | 45 | c |
| मथुरा स्वपुरीं त्यक्त्वा | 72 | 31 | c | मन्दारवन वायुभिः | 70 | 2 | d |
| मदच्युद्भिर्मतङ्गजैः | 90 | 3 | b | मन्यते सम्पदोऽचलाः | 73 | 10 | d |
| मदविह्वल लोचनः | 65 | 23 | d | मन्युना क्षुभितः श्रीमान् | 61 | 31 | a |
| मदविह्वललोलनम् | 67 | 10 | b | मन्वानो न्यपतज्जले | 75 | 39 | d |
| मदास्ते भरतर्षभ | 68 | 29 | b | मन्वानौ तं जगद्गुरुम् | 86 | 24 | b |
| मदिराकलशं कपिः | 67 | 14 | d | मन्यन्त उदकाशयम् | 73 | 11 | b |
| मद्रूपाणीति चेनसि | 86 | 56 | c | मन्येत सूर्यमिव मेघहिमोपरागैः | 84 | 33 | d |
| मधुं माधवमेव च | 65 | 17 | b | मम दृष्टिपथं गतः | 78 | 4 | d |
| मध्यस्थः प्रययौ किल | 78 | 17 | d | ममाऽपि राज्यच्युतजन्मकर्म | 83 | 17 | a |
| मध्ये भान्तीं सुविस्मितः | 81 | 27 | d | ममार किल भारत | 89 | 22 | d |
| मध्ये सभायां कुरुषु स्वचेष्टितम् | 68 | 53 | d | ममाऽहमिति माधव | 74 | 5 | b |
| मध्ये सुचारुकुचकुङ्कुमशोण हारम् | 75 | 33 | c | ममेति प्रतिग्राह्याऽऽह | 64 | 17 | c |
| मनसा परिषस्वजे | 81 | 26 | d | मयमायाविमोहितः | 75 | 38 | d |
| मनसैवात्ममायया | 86 | 45 | b | मयः परपुरञ्जयः | 76 | 7 | b |
| मनः क्षितं पुनर्हर्तुम् | 84 | 69 | c | मया ते बहुविस्तरम् | 74 | 50 | b |
| मनुजांश्च यथाऽलिखन् | 62 | 19 | d | मया दत्ता द्विजातये | 64 | 16 | d |
| मनुजेषु च मा वृष्णीन् | 62 | 20 | a | मयोपोवाहितोरणात् | 76 | 33 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मयाऽभयं दत्तममुष्य देव | 63 | 46 | b | महापातक्यपि यतः | 75 | 21 | c |
| मयि भक्तिर्हि भूतानां | 82 | 45 | a | महापुरुषचेष्टितम् | 73 | 30 | b |
| मयेशे नृपयूथपाः | 83 | 31 | b | महामणिग्रातकिरीटकुण्डल | 89 | 56 | a |
| मयोपनीता भुवि धर्मगुप्तये | 89 | 59 | b | महामरकतप्रख्यैः | 69 | 5 | c |
| मयोपनीतां पृथुं कैकमुष्टिं | 81 | 35 | c | महामारकतेषु च | 81 | 31 | b |
| मटय्यात्मन्यखिलेश्वरे | 73 | 18 | b | महायोगेश्वरेश्वरः | 89 | 50 | b |
| मय्यावेश्य मनस्सम्यक् | 73 | 23 | c | महार्ह वस्त्राभकणानुलेपनैः | 85 | 37 | b |
| मर्त्यस्तयाऽनुसवमेधितया मुकुन्द | 90 | 55 | a | महार्ह वासोऽलङ्करैः | 83 | 37 | b |
| मर्त्यात्मदृक् त्वयि परे यदपत्य बुद्धिः | 85 | 19 | c | महाविभूतेरवलोकतोऽन्यः | 81 | 33 | c |
| मर्दयन् स्वेन पाणिना | 89 | 10 | d | महाशः पावनो वह्निः | 61 | 16 | c |
| मलयञ्च कुलाचलम् | 79 | 16 | d | महासत्वोऽऽभ्यवर्तत | 78 | 2 | d |
| मलयानिल तेऽप्रियम् | 90 | 19 | b | महिम्ने परमात्मने | 84 | 22 | d |
| मलिनामलवाससः | 73 | 1 | d | महिषीणां हरे र्द्विजः | 80 | 17 | b |
| महत्या भरतर्षभ | 76 | 9 | b | महिष्यः पुत्रबान्धवाः | 66 | 26 | b |
| महत्यां तीर्थयात्रायां | 82 | 5 | a | महिष्या वीजित श्शान्तः | 81 | 17 | c |
| महत्यां देवयात्रायां | 86 | 9 | a | महिष्योऽष्टशताधिकाः | 90 | 31 | d |
| महत्त्वञ्चाऽच्युतात्मनः | 75 | 31 | d | महेन्द्रभवनं यथा | 81 | 28 | d |
| महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः | 87 | 17 | b | महोल्कामिव रंहसा | 77 | 14 | b |
| महद्दर्शन निर्वृतः | 81 | 14 | d | मागधं मधुसूदन | 73 | 9 | b |
| महन्मनास्तो मुखनिस्सृतं क्वचित् | 83 | 3 | b | मागधानां पतिं प्रभुः | 72 | 46 | d |
| महर्षेश्शिष्य मैक्षत | 78 | 22 | d | मागधाम्बष्ठचेदिपाः | 83 | 23 | b |
| महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभागः | 87 | 28 | d | मातरं पितरं भ्रातृन् | 65 | 11 | a |
| महाधनोपस्करेभ- | 86 | 12 | c | मातरः कृष्णजातानां | 61 | 19 | a |
| महानुभाव स्तदबुध्यतासुरीं | 77 | 29 | c | मातुलेयीं स आत्मनः | 86 | 2 | d |
| महानुभावं पुरुषोत्तमोत्तमं | 82 | 55 | b | मातुः पुत्रानयच्छताम् | 85 | 53 | d |
| महानुभावेन गुणालयेन | 81 | 36 | c | मातृशोकापनुत्तये | 85 | 51 | b |
| महापातकनाशनम् | 79 | 15 | d | मात्रार्थञ्च भवार्थञ्च | 87 | 2 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| माद्यन्नुद्यैर्न मां स्मरेत् | 81 | 20 | b | माल्यधूपानुलेपनैः | 84 | 7 | d |
| माद्यास्सुता महाशक्तिः | 61 | 15 | c | माल्याः क्षोभं दधु | | | |
| माधवं प्रणिपत्याऽऽह | 64 | 9 | c | मलधियां रुचिरै र्विहारैः | 75 | 16 | d |
| माधव्यथ क्षितिपपत्य उत स्वगोप्यः | 84 | 1 | b | मावज्ञात्मानमात्मनः कृथाः | 89 | 46 | b |
| माधव्यो विरहातुराः | 70 | 1 | d | मावमंस्था मम ब्रह्मन् | 89 | 34 | a |
| माधुर्यै र्व्रजयोषितां | 65 | 34 | d | माहेन्द्र इव वारणः | 65 | 21 | d |
| मानितो मानयामास | 71 | 29 | c | माहेन्द्र इव वारणः | 65 | 32 | d |
| मानुषी मीयुषो गतिं | 69 | 37 | d | माहेश्वरस्समाक्रन्दत् | 63 | 24 | c |
| मानुषीं प्रकृतिं गतः | 77 | 24 | b | माहेश्वरो वैष्णवश्च | 63 | 24 | a |
| मान्यो वदान्यो धर्मांश्च | 62 | 3 | c | मां तावद्रथमारोप्य | 83 | 32 | a |
| मा भैष्ट दूत भद्रं वः | 71 | 19 | c | मां यजन्तेऽध्वरै र्युक्ताः | 73 | 21 | c |
| मा भैष्टेत्यभयं ददौ | 68 | 49 | d | मिन्नध्रुङ्गां जिघांससि | 78 | 5 | b |
| मा भैष्टेत्यभ्यया द्वीरः | 76 | 13 | c | मिन्नविन्दात्मजाः क्षुधिः | 61 | 16 | d |
| मा भैष्टे त्यवितास्म्यहम् | 66 | 37 | d | मिन्नाणां मिन्नवत्सलः | 78 | 6 | b |
| मामन्ते ब्रह्म यास्यथ | 73 | 23 | d | मिथिलायां गृहाश्रमी | 86 | 14 | b |
| मामन्ध्यं बालभाषितं | 74 | 32 | b | मिषतां भूभुजां राज्ञि | 83 | 33 | c |
| मायया विभ्रमच्चित्तः | 84 | 25 | c | मिषतां सर्वभूतानां | 85 | 57 | c |
| मायाकृतिं परमहंसगतिं नताः स्मः | 83 | 4 | d | मीलिताक्ष्यनमद्बुद्ध्या | 81 | 26 | c |
| मायामयं मयकृतं | 76 | 21 | c | मुकुन्दगात्रं नृपतिर्हताशुभः | 71 | 26 | b |
| मायामर्त्यस्य सन्ति हि | 79 | 33 | d | मुकुन्दसन्दर्शन निर्वृतेन्द्रियः | 71 | 18 | d |
| मायायवनिकाच्छन्नं | 84 | 23 | c | मुकुन्दस्य महात्मनः | 80 | 1 | b |
| माया विभो विश्वसृजश्च मायिनः | 70 | 38 | b | मुकुन्दं प्राह दुर्मदः | 78 | 4 | b |
| मायावी सौभराडयम् | 77 | 11 | d | मुकुन्दः कुल्ललोचनैः | 71 | 38 | b |
| मायां ससाल्वप्रहितां मयोदिताम् | 77 | 29 | d | मुकुन्दोऽथ सरस्वतीम् | 71 | 22 | b |
| मा राज्यश्रीरभूत्पुंसः | 84 | 64 | a | मुकुन्दो द्वारकौकसः | 64 | 45 | b |
| मार्कण्डेयो बृहस्पतिः | 84 | 4 | d | मुक्तं गिरीशमभ्याह | 88 | 38 | a |
| माला मामुच्य काञ्चनीं | 65 | 32 | b | मुक्तादाम विलम्बिभिः | 69 | 10 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मुक्तादाम विलम्बीनि | 81 | 30 | c | मुसलेनाऽहनत्क्रुद्धः | 79 | 5 | c |
| मुखं तदपिधायाऽज्ञ | 66 | 9 | a | मुहुर्दृष्ट्वा मुनिरभूत् | 69 | 42 | c |
| मुग्धे ध्यायसि किं गृहाण पुरतः | | | | मुहुश्चाऽदर्शय त्पदम् | 90 | 30 | d |
| कुन्दं विकासोन्मुखं | 90 | 20 | a | मुहूर्तं तन्तु वैदर्भी | 70 | 3 | a |
| मुञ्चन्नार्तस्वरं शैलः | 79 | 6 | c | मूढानां नः कुबुद्धीनां | 68 | 44 | c |
| मुनय उपासते तदरयोऽपि | | | | मूर्छितो गदया हतः | 76 | 33 | d |
| ययुः स्मरणात् | 87 | 23 | b | मूर्तिमा नतिभीषणः | 66 | 32 | b |
| मुनयश्चामलाशयाः | 63 | 44 | b | मूर्धन्यहेमकलशै रजतोरुशृङ्गैः | 71 | 33 | c |
| मुनयस्सिद्धचारणाः | 63 | 9 | b | मूर्धभिः पादयोर्हरिः | 73 | 6 | d |
| मुनयः खिन्नमानसाः | 78 | 29 | b | मूर्ध्नाऽऽनम्य प्रसाद्य च | 84 | 42 | d |
| मुनयो दधिरे मनः | 84 | 27 | d | मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः | 83 | 42 | d |
| मुनयो दीर्घसन्निणः | 78 | 21 | b | मूर्ध्नि ब्रह्मद्रुहं बलः | 79 | 5 | d |
| मुनयो यक्षरक्षांसि | 74 | 14 | c | मूर्ध्न्यजिघ्रदभीक्ष्णशः | 85 | 54 | d |
| मुनिभि स्सिद्धगन्धर्वैः | 78 | 14 | a | मूलं तच्चरणार्चनम् | 81 | 19 | d |
| मुनिर्जगाम वैकुण्ठं | 89 | 7 | c | मृगतृष्णां यथा बालाः | 73 | 11 | a |
| मुनीना मूर्ध्वरेतसां | 87 | 9 | d | मृगाणां मृगराडिव | 83 | 33 | d |
| मुनीनां न्यस्तदण्डानां | 89 | 17 | a | मृतसञ्जीविकयाऽनया गिरा | 90 | 22 | b |
| मुनीनां ब्रह्मवादिनां | 89 | 14 | b | मृतः परम मायया | 64 | 22 | b |
| मुनीनां यस्त्वमात्मदः | 86 | 33 | d | मृता गमननिर्गमम् | 85 | 58 | b |
| मुनीनां स वचः श्रुत्वा | 85 | 2 | a | मृत्युं पुरस्त्वाविगणय्य दुर्मदाः | 73 | 12 | d |
| मुनींश्च ससुतां पृथाम् | 77 | 8 | b | मृत्युं विजित्य प्रथने | 89 | 34 | c |
| मुमुचुर्हर्ष विह्वलाः | 83 | 27 | d | मृत्यो रस्माकमेव च | 78 | 35 | b |
| मुमुचुः पुष्पवर्षाणि | 75 | 20 | c | मृदङ्गपणवानकान् | 90 | 8 | b |
| मुमुचुः पुष्पवर्षाणि | 88 | 37 | a | मृदङ्गभेर्यानक शङ्ख गोमुखैः | 71 | 14 | c |
| मुमोच परमक्रुद्धः | 63 | 32 | c | मृदङ्ग वीणामुरज | 70 | 21 | a |
| मुष्टीकृत्य कपीश्वरः | 67 | 24 | b | मृदङ्ग शङ्खपटह | 71 | 30 | c |
| मुसलाहत मस्तिष्कः | 67 | 19 | a | मृदङ्ग शङ्ख पणवाः | 75 | 9 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मृदा सुरभ्या तुलसी कुशाम्बुजैः | 86 | 41 | b | मोहिता मायया विष्णोः | 85 | 55 | c |
| मृदूपस्तरणानि च | 81 | 30 | b | मौढ्यं पश्यतमे योऽहं | 89 | 40 | c |
| मृष्टालभिर्नवदुकूल विभूषणस्रक् | 71 | 32 | c | मौढ्याद्विभर्ष्यभीतवत् | 66 | 6 | b |
| मेखलाजिन दण्डाक्षैः | 88 | 28 | a | मौल्युत्तमैर्धृतमुपासित तीर्थ तीर्थम् | 68 | 37 | b |
| मेघ पुष्पवलाहकाः | 89 | 49 | b | मौसला दवशेषितः | 90 | 41 | d |
| मेघश्रीमं स्त्वमसि दयितो यादवेन्द्रस्य नूनं | 90 | 21 | a | म्लायता वदनेन सा | 80 | 7 | d |
| मेनिरे कृष्णभक्तस्य | 74 | 16 | a | | | | |
| मेनिरे मागधं शान्तं | 73 | 33 | c | - य - | | | |
| मेने आत्मानमच्युतम् | 66 | 2 | d | य इत्थं वीर्यशुल्कां मां | 83 | 14 | a |
| मेने कृष्णानुकम्पितम् | 89 | 63 | d | य इदमनुशृणोति श्रावयेद्वा मुरारेः | 85 | 60 | a |
| मेने सुविस्मिता मायां | 85 | 58 | c | य इदं कीर्तये द्विष्णोः | 74 | 54 | a |
| मैत्रीजनेषु दधतश्च दमं खलानां | 69 | 17 | b | य इदं शक्तिभिस्सृष्ट्वा | 86 | 44 | c |
| मैत्रेयश्च्यवनादयः | 86 | 18 | d | य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपाय खिदः | 87 | 33 | b |
| मैत्रेयः कवषस्त्रितः | 74 | 7 | d | य एतत्कृष्णविजयं | 63 | 54 | a |
| मैत्र्यर्पिताफला वापि | 84 | 62 | c | य एनं श्रावयेन्मर्त्यः | 66 | 43 | a |
| मैथिलश्चापसद्गतिं | 86 | 58 | d | य एव मव्याकृतशक्त्युदन्वतः | 88 | 40 | a |
| मैथिलः श्रुतदेवश्च | 86 | 24 | c | यक्षरक्षः पिशाचाश्च | 85 | 41 | c |
| मैथिलः श्रुतदेवश्च | 86 | 25 | c | यक्षरक्षो विनायकान् | 63 | 10 | d |
| मिथिलानरयोषितां | 86 | 37 | d | यक्षीभिर्यक्षराडिव | 90 | 9 | d |
| मैथिलो निरहम्मानः | 86 | 16 | c | यक्षैः किन्नरचारणैः | 78 | 14 | d |
| मैथिलो मद्रकेकयौ | 82 | 26 | b | यक्ष्यते त्वां मखेन्द्रेण | 70 | 42 | a |
| मैव दुह्यत मामकाः | 64 | 42 | b | यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत् | 72 | 3 | c |
| मोक्तुमर्हसि विश्वात्मन् | 65 | 29 | c | यच्चक्षुषां पुरुषमौलि रुदारहास | 71 | 36 | c |
| मोचयामास राजन्यान् | 72 | 46 | c | यच्च भारायितं भुवः | 63 | 49 | d |
| मोचयित्वा मयं येन | 71 | 45 | c | यच्छ्रद्धयातवित्तेन | 84 | 37 | c |
| मोचित स्सङ्कटाच्छिवः | 88 | 37 | d | यच्छ्रद्धया यजेद्विष्णुं | 84 | 35 | c |
| मोहयित्वाऽथ गिरिशं | 63 | 14 | a | यजन्तं पञ्चभिर्मखैः | 69 | 24 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यजन्तं सकलान्देवान् | 69 | 34 | a | यत्र नारायण स्साक्षात् | 88 | 26 | a |
| यजमानपुरस्सराः | 75 | 12 | d | यत्र माहिष्मती पुरी | 79 | 21 | b |
| यजमानपुरस्सराः | 84 | 53 | d | यत्र यत्रोपलक्ष्येत | 76 | 23 | a |
| यज्ञात्वा मुक्तिमान्भवेत् | 90 | 38 | b | यत्र येन यतो यस्य | 85 | 4 | a |
| यज्ञकेतु स्सुयोधनः | 68 | 5 | b | यत्र शोचन्ति ब्राह्मणाः | 89 | 29 | b |
| यज्ञाध्ययनपुत्रैस्तान् | 84 | 39 | c | यत्र सन्निहितो हरिः | 79 | 14 | d |
| यज्ञैर्देवर्णमुन्मुच्य | 84 | 40 | c | यत्र सन्निहितो हरिः | 79 | 19 | b |
| यउदगादृषिर्यमनु देवगणा उभये | 87 | 24 | b | यत्र स्त्रीशूद्र दासानां | 90 | 38 | c |
| यत उदयास्तमयौ विकृते | | | | यत्रायुताना मयुत | 90 | 46 | c |
| मृदि वा विकृतात् | 87 | 15 | b | यत्राऽऽस्ते भगवान्यमः | 89 | 43 | d |
| यतवाचोऽनुशृण्वतः | 84 | 8 | d | यत्राऽऽस्ते मिन्नहा हरिः | 67 | 4 | d |
| यशश्शान्तिर्यतोऽभयं | 89 | 15 | d | यत्राऽस्पृष्टोऽपि कर्मणा | 82 | 4 | b |
| यतस्सरयु रास्रवत् | 79 | 9 | d | यत्रोपलब्धं सत्व्यक्तं | 84 | 19 | c |
| यतो नावर्तते गतः | 88 | 26 | d | यत्स्थैर्यं भूभृतां भूमेः | 85 | 7 | c |
| यत्किञ्चित्पौरुषं पुंसां | 89 | 63 | b | यत्स्ववाचो विरुध्येरन् | 77 | 31 | c |
| यत्कृताज्ञेषु सत्तमैः | 84 | 62 | b | यथा काकः पुरोडाशं | 74 | 34 | c |
| यत्तद्ब्रह्मब्रह्मलिङ्ग प्रशान्तम् | 63 | 26 | d | यथा कालं यथैवेन्द्रः | 89 | 65 | c |
| यत्त्वयाज्ञमृषा धृतम् | 66 | 20 | b | यथा चैद्यवधे नृप | 78 | 10 | d |
| यत्तीर्थबुद्धि स्सलिले कर्हिचित् | 84 | 13 | c | यथा द्रव्यविकारेषु | 85 | 12 | c |
| यत्त्वया मूर्दानस्सख्युः | 77 | 18 | a | यथानटं रङ्गगतं | 66 | 15 | c |
| यत्पश्यथाऽसकृत्कृष्णं | 82 | 29 | c | यथान्तको दण्डधरो जिघांसया | 62 | 33 | d |
| यत्पादसेवार्जितयाऽत्म विद्यया | 77 | 35 | a. | यथाऽन्येऽघापनुत्तये | 82 | 4 | d |
| यत्पृष्टोऽहमिहत्वया | 75 | 44 | b | यथाऽन्वशासत् भगवान् | 73 | 30 | c |
| यत्प्रेक्षणे/दृशिषु पक्ष्म कृतं शपन्ति | 82 | 40 | b | यथापूर्वं मनुष्ठितम् | 88 | 31 | d |
| यत्र क्वापि सतश्चेतः | 64 | 29 | c | यथा ब्रह्मण्यनिर्देश्ये | 87 | 49 | c |
| यत्र चक्रे महा ह्रदान् | 82 | 3 | d | यथा भवेद्वचस्सत्यं | 78 | 35 | c |
| यत्र देवो जनार्दनः | 89 | 7 | d | यथाभिकामं वितरामि ते परम् | 88 | 20 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यथा मे चिन्त्यतां बुधाः | 78 | 37 | d | यथोपयेमे विजयः | 86 | 1 | c |
| यथाऽऽम्नातं स दक्षिणाः | 84 | 52 | b | यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः | 87 | 22 | d |
| यथा युगान्ते हुतभुक्पृथक् प्रजाः | 66 | 17 | d | यदन्यत्कृतवान्विभुः | 67 | 1 | d |
| यथाऽरणा वग्नि रिवोत्थितोऽनलात् | 88 | 19 | b | यदर्थमिह जीवसि | 77 | 27 | b |
| यथा रूपं यथा वयः | 89 | 62 | d | यदर्थे जहिम दाशार्ह | 65 | 11 | c |
| यथाऽर्णवः क्षुभिततिमिङ्गिलोर्मिभिः | 71 | 17 | d | यदात्थ भगवं स्त्वन्नः | 63 | 47 | a |
| यथावज्रहतोऽ रुजाः | 79 | 6 | d | यदात्थैकान्तभक्तान्मे | 86 | 32 | c |
| यथावत्सुसमाहितः | 74 | 17 | d | यदात्मकमिदं विश्वम् | 74 | 20 | a |
| यथावदवद न्नृपान् | 71 | 20 | b | यदाऽऽसीत्तीर्थयात्रायां | 84 | 71 | c |
| यथा वयो यथा मख्यं | 65 | 4 | c | यदि तस्य तथैव नः | 65 | 14 | d |
| यथा वीर्यं यथा वयः | 83 | 21 | b | यदि तिष्ठे र्ममाऽग्रतः | 77 | 19 | d |
| यथा वृत्रहणोऽध्वरे | 84 | 49 | d | यदि ते कर्ण मस्पृशत् | 64 | 10 | d |
| यथा शयानं सम्राजं | 87 | 13 | a | यदि ते तत्र विस्रम्भः | 88 | 35 | a |
| यथा शयानः पुरुषः | 84 | 24 | a | यदि न समुद्धरन्ति यतयो | | | |
| यथा शयानः पुरुषः | 86 | 45 | a | हृदि कामजटाः | 87 | 39 | a |
| यथा सम्बन्धमात्मनः | 65 | 4 | d | यदि नः श्रवणायाऽलं | 88 | 30 | a |
| यथा सिंह शिशवारुतं | 74 | 38 | d | यदि नेच्छामि संयुगम् | 66 | 20 | d |
| यथाऽसुराणां विबुधैः | 76 | 16 | c | यदीशितव्यायतिगूढ ईहया | 84 | 16 | c |
| यथा सौभपतिर्हतः | 76 | 1 | d | यदुक्तमृषिणा देव | 71 | 2 | a |
| यथा स्यान्न स्तदुच्यतां | 84 | 29 | d | यदुदेव महोत्सवम् | 84 | 71 | b |
| यथा स्वयंवरे राज्ञि | 83 | 19 | a | यदुभिर्निर्जितस्संख्ये | 76 | 2 | c |
| यथाहं ज्ञानदो गुरुः | 80 | 32 | d | यदुभिर्मानितोऽवसत् | 84 | 66 | d |
| यथाऽहं प्रणमे विप्रान् | 64 | 43 | a | यदुभिस्तेऽर्चिता नृपाः | 82 | 23 | b |
| यथाऽहं लोकसङ्ग्रहम् | 80 | 30 | d | यदुराजञ्च शत्रुहन् | 71 | 13 | d |
| यथा हिते दैत्यपतौ प्रसादः | 63 | 46 | d | यदुवरपर्ष त्स्वैर्दोर्भिरस्यन्त धर्मम् | 90 | 53 | b |
| यथाहि सूर्यः पिहितः स्वयं घनैः | 63 | 40 | a | यदुवंशप्रसूतानां | 90 | 44 | a |
| यथोडुराजो दिवि तारकागणैः | 70 | 19 | d | यदुसृञ्जयकाम्भोज | 75 | 12 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यदृच्छया नृतां प्राप्य | 85 | 16 | a | यन्मन्यसे नः क्षममत्रवक्तुं | 64 | 8 | d |
| यदृच्छयोपपन्नेन | 80 | 6 | c | यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा वयं | 84 | 16 | a |
| यदेतच्छ्रेयसां परम् | 84 | 21 | d | यन्माया मोहित धियः | 63 | 41 | a |
| यद्दृष्ट्वाऽल्पायुषो नृपाः | 64 | 41 | b | यमाभ्याञ्चाभिवादितः | 71 | 28 | d |
| यद्दरिद्रतमो लक्ष्मीं | 81 | 15 | c | यमाहुः परमां गतिम् | 89 | 17 | d |
| यद्दर्शनस्पर्शनानुपथप्रजल्प | 82 | 31 | a | यमुनाऽऽकृष्टवर्त्मना | 65 | 33 | b |
| यद्भवानक्षिगोचरः | 86 | 49 | d | यमुना मनु यान्येव | 78 | 20 | a |
| यप्यनुस्मरन्वैरं | 61 | 23 | a | यमुना यदुनन्दनं | 65 | 27 | b |
| यद्यसत्यं वचश्शम्भोः | 88 | 34 | a | यमुनोपवने रेमे | 65 | 18 | c |
| यद्यूयं बहवस्त्वेकं | 68 | 22 | a | यमेन पृष्टस्तत्राऽहं | 64 | 23 | c |
| यद्येतद्ब्रह्महत्यायाः | 78 | 32 | a | यमौ किरीटी च मुहृत्तमं मुदा | 71 | 27 | c |
| यद्येप्यन्तीह वृष्णयः | 68 | 4 | b | यमौ कृष्णार्जुनावपि | 79 | 24 | b |
| यद्योगेश्वरदर्शनं | 84 | 9 | d | ययातिनैषां हि कुलं | 74 | 36 | a |
| यद्रणान्मेऽवकर्षणं | 76 | 28 | d | यथासृष्टिः प्रवर्तते | 85 | 55 | d |
| यद्व आज्ञापय त्प्रभुः | 68 | 21 | b | ययुर्द्वारवतीं पुनः | 84 | 70 | d |
| यद्वद्वयं मधुपतेः प्रणयावलोकं | 90 | 25 | c | ययुर्धाम दिवौकसां | 85 | 57 | d |
| यद्वयं कामयामहे | 72 | 18 | d | ययुर्धीरास्तपोवनम् | 84 | 38 | f |
| यद्वा आपत्सु मद्वार्ता | 82 | 19 | c | ययुर्भारत तत्क्षेत्रं | 82 | 6 | a |
| यद्विद्यमानात्मतयाऽवसीयते | 70 | 39 | c | ययु र्विरह कृच्छ्रेण | 84 | 58 | c |
| यद्विश्रुतिः श्रुतिनुतेदमलं पुनाति | 82 | 30 | a | ययु श्श्रेयो विधित्सया | 82 | 2 | d |
| यद्वै विशुद्धभावेन | 80 | 41 | c | ययुस्तमेव ध्यायन्तः | 73 | 29 | c |
| यन्नः पुत्रान्समुद्दिश्य | 85 | 22 | c | ययौ द्वारवतीं साल्वः | 76 | 8 | c |
| यन्नः प्रश्नः कृतस्त्वया | 87 | 49 | b | ययौ नारायणाश्रमं | 87 | 5 | d |
| यन्नः प्राप्तं यदृच्छया | 85 | 40 | d | ययौ ब्राह्मणसंयुतः | 78 | 18 | d |
| यन्नामाऽमङ्गलघ्नं श्रुत मथ गदितं | | | | ययौ रुद्रानुमोदितः | 63 | 52 | d |
| यत्कृतो गोत्र धर्मः | 90 | 52 | c | ययौ विहायसा राजन् | 62 | 22 | c |
| यन्नाऽऽयासि मयाऽऽहुता | 65 | 26 | b | ययौ सभार्य स्सामात्यः | 74 | 49 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ययौ संयमनी माशु | 89 | 43 | c | यस्याऽमलं दिवि यशः प्रथितं रसायां | 70 | 45 | a |
| यर्हि त्वय्येव कल्पिताः | 85 | 14 | b | यस्याऽहमनुगृह्णामि | 88 | 8 | a |
| यविष्ठै रभिवन्दितः | 65 | 4 | b | यस्यां विषक्तहृदयः कुरुराडतप्यत् | 75 | 32 | d |
| यविष्ठै रभिवादिताः | 82 | 17 | b | यस्यांशांशांशभागेन | 85 | 31 | a |
| यशश्च तव गोविन्द | 71 | 4 | c | यस्येन्द्रियं विमथितुं करणै र्न शेकुः | 61 | 4 | d |
| यशश्चाऽऽत्ममलापहं | 89 | 16 | d | यस्यैकांशेन विधृता | 65 | 28 | c |
| यशोदा च महाभागा | 82 | 36 | c | यस्सृष्ट्वेद मनुप्रविश्य ऋषिणा | | | |
| यशो वितेने तच्छान्त्यै | 86 | 34 | c | चक्रे पुरः शास्ति ताः | 87 | 50 | b |
| यष्टव्यं राजसूयेन | 71 | 3 | a | यं पश्यन्त्यमलात्मानः | 63 | 35 | c |
| यस्तानि गायति शृणोत्यनुमोदते वा | 69 | 45 | c | यं वा निपुणबुद्धयः | 89 | 18 | d |
| यस्ताव दस्य बलवा निह जीविताशां | 70 | 27 | c | यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी | | | |
| यस्त्वां विसृजते मर्त्यः | 63 | 43 | a | सुप्तः कुलायं यथा | 87 | 50 | c |
| यस्मिन्नरेन्द्र दितिजेन्द्रसुरेन्द्र लक्ष्मः | 75 | 32 | a | यः कृतागा जगद्गुरौ | 88 | 39 | d |
| यस्मिं स्तदा मधुपतेर्महिषी सहस्रं | 75 | 33 | a | याचितो भगवान्बलः | 65 | 30 | b |
| यस्मै यद्यद्यथा यदा | 85 | 4 | b | याचित्वा चतुरो मुष्टीन् | 80 | 14 | a |
| यस्सर्वतीर्थास्पदपादरेणुभिः | 86 | 42 | c | याचिष्णवे भूर्यपि भूरि भोगः | 81 | 34 | b |
| यस्यच्छन्दोमयं ब्रह्म | 80 | 45 | a | याजका देववर्चसः | 74 | 16 | d |
| यस्यैव मदक्षिणम् | 82 | 20 | d | याजकान्सदसस्पतीन् | 74 | 17 | b |
| यस्यपादयुगं साक्षात् | 68 | 36 | a | यात्यधस्सुकृताच्च्युतः | 74 | 40 | d |
| यस्य यस्यकरं शीर्ष्णि | 88 | 21 | c | यात्यस्माभिर्विना कालः | 65 | 14 | c |
| यस्य शेकुः परित्रातुं | 89 | 41 | c | यात्रामात्रन्त्वह रहः | 86 | 15 | a |
| यस्याऽङ्घ्रि पङ्कज रजोऽखिल | | | | यादवेन्द्रोऽपि तं दोर्भ्यां | 67 | 25 | a |
| लोकपालाः | 68 | 37 | a | यानि त्वमस्मच्चिह्नानि | 66 | 6 | a |
| यस्याऽऽत्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके | 84 | 13 | a | यानीह विश्व विलयोद्भव वृत्तिहेतुः | 69 | 45 | a |
| यस्यादेशानुवर्तिनः | 68 | 34 | d | यान्तं देवगतिं प्रभो | 64 | 29 | b |
| यस्याऽनुभूतिः कालेन | 84 | 32 | a | यापितो यदुभिर्ययौ | 84 | 68 | d |
| यस्यानेह प्रतिक्रिया | 82 | 38 | d | या ममाऽऽसीत्पितामही | 86 | 1 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यावत्य आत्मनो भार्याः | 98 | 33 | c | युवां तुल्यबलौ वीरौ | 79 | 26 | a |
| यावत्यस्सिकताभूमौ | 64 | 12 | a | युवां न नस्सुतौ साक्षात् | 85 | 18 | a |
| यावत्यो दिवि तारकाः | 64 | 12 | b | युवां योगेश्वरेश्वरौ | 85 | 33 | b |
| यावत्यो वर्षधाराश्च | 64 | 12 | c | युष्मत्प्रजारुजति नोऽजित तद्विधेहि | 70 | 31 | d |
| यावत्सन्नं समाप्यते | 78 | 30 | d | युष्मद्व्यवसितं प्रभो | 88 | 30 | b |
| यावदन्तं दिवो भूमेः | 88 | 24 | c | यूयं दारसुतान्विताः | 65 | 7 | d |
| यावान्स तु विधीयताम् | 78 | 33 | d | यूयं पात्रविदां श्रेष्ठाः | 74 | 32 | a |
| यास्याम्यपचितिं पितुः | 66 | 27 | d | ये च सन्तर्दनादयः | 75 | 6 | d |
| याःसम्पर्यचरन्प्रेम्णा | 90 | 29 | a | ये चाऽनुपातिन स्तस्य | 90 | 49 | c |
| युगपत्संहृताञ्जली | 86 | 25 | d | ये तु दिग्विजये तस्य | 70 | 25 | a |
| युधामन्यु स्सुशर्मा च | 82 | 26 | c | ये ते नः कीर्तिं विमलां | 89 | 46 | c |
| युधि विक्लवचेतसा | 72 | 31 | b | ये त्वांभजन्ति न भजन्त्युत चोभयेषां | 72 | 5 | c |
| युधिष्ठिरमथापृच्छत् | 83 | 1 | c | येन तच्छ्रेय आत्मनः | 83 | 16 | d |
| युधिष्ठिरमनुव्रताः | 82 | 27 | b | येन ते चरणाब्जयोः | 73 | 15 | b |
| युधिष्ठिरस्तु तं दृष्ट्वा | 79 | 24 | a | येनैवात्मन्यदो विश्वं | 79 | 31 | c |
| युधिष्ठिरस्य भीमस्य | 71 | 28 | a | ये भजन्त्यशिवं शिवं | 88 | 1 | b |
| युद्धं तर्हि ददामि वः | 72 | 30 | d | ये मया गुरुणा वाचा | 80 | 33 | c |
| युद्धं त्रिनवरात्रं तत् | 77 | 6 | c | येषां गृहे निरयवर्त्मनि वर्ततां वः | 82 | 31 | c |
| युद्धं नो देहि राजेन्द्र | 72 | 28 | a | येषां लोकाविसिस्मिरे | 69 | 33 | d |
| युद्धात्सम्यगप क्रान्तः | 76 | 30 | c | येषां वासो गुरावभूत् | 80 | 44 | d |
| युद्धार्थिनो वयं प्राप्ताः | 72 | 28 | c | येऽस्मत्प्रसादोपचिता हि यादवाः | 68 | 27 | c |
| युनक्ति वियुनक्ति च | 82 | 43 | d | येऽस्मत्प्रसादोपचितां | 68 | 3 | c |
| युयुत्सुर्दिग्गजानहं | 62 | 9 | b | ये स्युस्त्रैलोक्यगुरवः | 74 | 2 | a |
| युयुधाते ज्वरा बुभौ | 63 | 24 | b | यैस्त्वमेवं विकत्थसे | 66 | 8 | d |
| ययुधानो विकर्णश्च | 75 | 6 | a | योगमाया महोदयम् | 69 | 42 | b |
| युयुधे रामकृष्णयोः | 63 | 6 | d | योगमाया मुपाश्रितौ | 85 | 34 | d |
| युवयो स्समवीर्ययोः | 79 | 27 | b | योगमाया विवित्सया | 69 | 19 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| योगमायां कृतो वयं | 85 | 45 | d | योषिता हृदयङ्गमः | 62 | 16 | d |
| योगमायोदयं वीक्ष्य | 69 | 37 | c | योऽसौ त्रिलोक गुरुणा | 80 | 26 | a |
| योगानां पतये नमः | 64 | 30 | d | योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्य | | | |
| योगेश्वरस्य भवतः | 78 | 31 | c | निधने योऽव्यक्त जीवेश्वरः | 87 | 50 | a |
| योगेश्वरात्मन् निर्भातां | 69 | 38 | c | योऽहस द्विवृतै र्द्विजैः | 61 | 37 | a |
| योगेश्वरेश्वरस्याऽङ्ग | 69 | 19 | c | योऽहं तद्गृहमार्जनी | 83 | 11 | d |
| योगेश्वरै र्हृदि विचिन्त्य मगाध बोधैः | 82 | 49 | b | – र – | | | |
| योगेश्वरै श्रुति दृशामलहृद्विभाव्यः | 64 | 27 | b | | | | |
| योजितस्तेन चाशीर्भिः | 79 | 17 | c | रक्षा च शरणैषिणाम् | 71 | 2 | d |
| यो दक्षशापा त्पशाच्यं | 88 | 32 | c | रक्षिष्ये दीनयो रिह | 89 | 30 | b |
| यो धत्ते सर्वभूतानां | 87 | 46 | c | रजसाऽऽच्छादिता दिशः | 76 | 11 | d |
| यो न सेहे श्रियं स्फीतां | 74 | 53 | c | रजस्तमः स्वभावानां | 85 | 40 | c |
| यो नाऽऽद्रियेत त्वत्पादौ | 63 | 42 | c | रत्नदीपान्भ्राजमानाः | 81 | 31 | c |
| योऽनित्येन शरीरेण | 72 | 20 | a | रत्नप्रदीप निकरद्युतिभि र्निरस्त | 69 | 12 | a |
| योऽनुस्मरेत रामस्य | 79 | 34 | a | रथमास्थाय दारुकः | 77 | 12 | b |
| यो नौ स्मरति संवादं | 63 | 30 | c | रथयूथपयूथपाः | 76 | 15 | b |
| योन्यथा मे स दण्डभाक् | 64 | 43 | d | रथस्थां दुर्गनिर्गताम् | 86 | 9 | b |
| यो ब्रह्मवादः पूर्वेषां | 87 | 8 | c | रथस्थो धनु रादाय | 86 | 10 | a |
| यो भूभुजोऽयुतमतङ्गज वीर्यमेकः | 70 | 30 | c | रथं प्रापय मे सूत | 77 | 11 | a |
| यो मां स्वयंवर उपेत्य विजित्य भूपान् | 83 | 12 | a | रथं समारोप्य ययुः कुशस्थलीम् | 61 | 40 | b |
| यो मे भक्त्या प्रयच्छति | 81 | 4 | b | रथाङ्गै रुपलक्षितं | 73 | 4 | b |
| यो मे सनाभिवधतप्त हृदा ततेन | 83 | 9 | a | रथानां षट्सहस्राणि | 68 | 51 | a |
| योऽल्पाभ्यां गुणदोषाभ्यां | 88 | 15 | c | रथान् सदश्वा नारोप्य | 73 | 28 | a |
| योऽवतीर्णो यदोः कुले | 88 | 7 | d | रथारूढो महायशाः | 76 | 13 | d |
| योऽवतीर्य यदोर्वंशे | 86 | 34 | a | रथाश्ववरयोषितः | 86 | 12 | d |
| यो वै त्वया द्विनवकृत्व उदात्तचक्र | 70 | 31 | a | रथिनश्च महेष्वासान् | 68 | 10 | c |
| यो वै भारतवर्षेऽस्मिन् | 87 | 6 | a | रथिनं सारथिं रथी | 76 | 32 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| रथी हित्वैव सात्यकिं | 63 | 17 | d | राजन् विद्ध्यतिथीन् आसन् | 72 | 18 | a |
| रथेनाऽऽदित्यवर्चसा | 68 | 15 | b | राजन् सञ्जातमन्यवः | 68 | 13 | b |
| रथेभाश्वपदातिभिः | 76 | 15 | d | राजपन्त्यश्च सर्वशः | 74 | 15 | b |
| रथैश्च कनकोज्ज्वलैः | 90 | 3 | d | राजपुत्र्युपलक्षये | 62 | 15 | d |
| रमाभिधान सुश्रोणि सिञ्च नः | 90 | 23 | d | राजभिर्मुक्तबन्धनैः | 73 | 17 | b |
| रम्भन्त इव बाहुभिः | 73 | 6 | b | राजभिश्चोपहासितः | 61 | 36 | b |
| रराज राजशार्दूलः | 75 | 36 | e | राजमोक्षं वितानञ्च | 74 | 54 | c |
| रविच्छदध्वजपटचित्र तोरणाम् | 83 | 36 | b | राजर्षे स्वाश्रमान् गन्तुं | 84 | 27 | c |
| रवौ सन्दीपनि र्गुरुः | 80 | 39 | b | राजसन्देशमब्रवीत् | 66 | 4 | d |
| रसातलं नाकपृष्ठं | 89 | 44 | c | राजसूयमहोदयम् | 75 | 1 | b |
| रसायां भुवि सम्पदाम् | 81 | 19 | b | राजसूय महोदयम् | 75 | 27 | b |
| राक्षसा असुरास्सुराः | 89 | 19 | b | राजसूयं समीयुः स्म | 74 | 15 | c |
| राजदूत मुवाचेदं | 71 | 19 | a | राजसूयावभृथ्येन | 74 | 51 | a |
| राजदूते ब्रुवत्येवं | 70 | 33 | a | राजसूयेऽथ निर्वृत्ते | 77 | 7 | c |
| राजद्वारि सकुण्डलं | 66 | 25 | b | राजसूयेन पाण्डवः | 70 | 42 | b |
| राजद्वार्युपधाय सः | 89 | 23 | b | राजसूयेन पावनीः | 72 | 3 | b |
| राजन् कंसविहिंसिताः | 85 | 50 | b | राजसूयेन विधिवत् | 24 | 16 | e |
| राजन् पुत्र्योऽच्युतं स्थितं | 61 | 2 | b | राजसूये महाक्रतौ | 75 | 44 | d |
| राजन् भृगुरवर्णयत् | 89 | 14 | d | राजसूये महात्मनः | 75 | 3 | b |
| राजन्यबन्धवोह्येते | 72 | 23 | a | राजस्वमेयभट शेखरिताङ्घ्रिरेणुः | 83 | 8 | b |
| राजन्य बन्धु रेते वै | 89 | 28 | c | राजंस्ते दुहितुर्वयम् | 62 | 28 | b |
| राजन्यबन्धून्विज्ञाय | 72 | 22 | c | राजा चाऽऽप्त मनोरथः | 73 | 33 | d |
| राजन्याननुशिक्षयन् | 64 | 32 | d | राजानमृषयस्सुराः | 75 | 2 | b |
| राजन्या नान्नकाङ्क्षिणः | 72 | 28 | d | राजानश्च यशस्विनः | 70 | 43 | d |
| राजन्या ब्रह्मलिङ्गिनः | 72 | 17 | d | राजानश्च समाहूताः | 74 | 15 | a |
| राजन्याश्चैद्य पक्षीयाः | 77 | 9 | c | राजान स्सुष्ठ्वलङ्कृताः | 84 | 44 | d |
| राजन्येषु निवृत्तेषु | 83 | 25 | a | राजानो दुद्रुवुर्भीताः | 61 | 38 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| राजानोन्येच राजेन्द्र | 82 | 27 | a | रामकृष्णानुवर्तिनः | 63 | 3 | d |
| राजानोमृष्टकुण्डलाः | 73 | 27 | b | राम मागतमब्रवीत् | 68 | 17 | d |
| राजानो ये समागताः | 75 | 25 | d | रामराम महाबाहो | 65 | 28 | a |
| राजानो राजकुल्याश्च | 64 | 39 | a | राम रामाऽखिलाधार | 68 | 44 | a |
| राजानो राजलक्ष्म्यान्धाः | 64 | 37 | a | राम रामाप्रमेयात्मन् | 85 | 29 | a |
| राजायुष्मत्पितामहः | 88 | 6 | b | रामश्शस्त्रभृतां वरः | 82 | 3 | b |
| राज्ञस्सदमिभारत | 74 | 42 | d | रामसन्दर्शनादृताः | 65 | 9 | b |
| राज्ञस्समेतान्निर्जित्य | 61 | 22 | c | रामस्तत्राऽऽददे पणम् | 61 | 29 | b |
| राज्ञःकाशीपते ज्ञात्वा | 66 | 26 | a | रामस्य च निरीक्षतः | 67 | 13 | d |
| राज्ञःपाण्डुसुतस्यवै | 74 | 15 | d | रामस्याऽऽक्षिप्त चित्तस्य | 65 | 34 | c |
| राज्ञःप्रिय चिकीर्षया | 71 | 46 | b | रामस्याद्भुतकर्मणः | 67 | 1 | b |
| राज्ञःप्रियचिकीर्षवः | 75 | 7 | d | रामह्रदेषु विधिवत् | 82 | 10 | c |
| राज्ञःपैतृष्वमेयस्य | 70 | 41 | c | रामं दृष्ट्वाऽभिवाद्य च | 79 | 12 | b |
| राज्ञाकृष्णानुमोदिताः | 75 | 40 | d | रामं पुष्करमालिनं | 67 | 9 | b |
| राज्ञाञ्चाकथयन्कथाः | 70 | 22 | d | रामः कृष्णश्च भारत | 85 | 34 | b |
| राज्ञामावेदय दुःखं | 70 | 29 | c | रामः क्षपासु भगवान् | 65 | 17 | c |
| राज्ञामीश्वरमानिनां | 64 | 33 | d | रामः सशिष्यो भगवान् | 84 | 4 | a |
| राज्ञामुच्छास्त्रवर्तिनां | 85 | 30 | b | रामादयो भोजकटाद्दशार्हाः | 61 | 40 | c |
| राज्ञाम्भाजितास्सर्वे | 74 | 52 | a | रामाय वाससी दिव्ये | 79 | 8 | c |
| राज्ञां प्रकृतयो नृप | 74 | 11 | d | रामेणाऽजानता च सः | 86 | 4 | d |
| राज्ञां राज्यच्युतिविभो | 73 | 9 | d | रामो द्वारवतीं ययौ | 79 | 29 | b |
| राज्ञां स्वशत्रुवधमात्म विमोक्षणं च | 71 | 9 | b | रामो भार्गव आसुरिः | 74 | 9 | b |
| राज्ञेदिव्या सभाकृता | 71 | 45 | d | रामोऽभिवाद्य पितरौ | 65 | 2 | c |
| राज्ञो निरीक्ष्यपरितश्शनकै र्मुरारेः | 83 | 29 | c | रावणो नरकोऽपरे | 73 | 20 | b |
| राज्ञोबन्धात् विमुञ्चतः | 71 | 4 | d | रुक्मवत्यां महाबलः | 61 | 18 | d |
| राज्यं विभूतिर्न समर्थयत्यजः | 81 | 37 | b | रुक्मिणी प्रमुखा राजन् | 90 | 32 | c |
| राज्यैश्वर्यमदोन्नद्धः | 73 | 10 | a | रुक्मिणी बलयो राजन् | 61 | 39 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| रुक्मिणी रामकेशवौ | 61 | 26 | b |
| रुक्मिणैवमधिक्षिप्तः | 61 | 36 | a |
| रुक्मिण्यास्तनयां राजन् | 61 | 24 | a |
| रुक्मिण्यां नावमाः पितुः | 61 | 9 | d |
| रुक्मिण्युद्वाह आगतः | 76 | 2 | b |
| रुक्मी कृष्णावमानितः | 61 | 23 | b |
| रुक्मी कैतव माश्रितः | 61 | 30 | d |
| रुक्मीजितंमयाऽत्रेमे | 61 | 32 | c |
| रुक्मीवदति वै मृषा | 61 | 33 | d |
| रुरुधुर्बाणनगरं | 63 | 4 | c |
| रुरोदतत्कृतां मैत्रीम् | 84 | 65 | c |
| रूपमेतच्चतुर्भुजम् | 86 | 54 | b |
| रूपिणी श्रीरिवाऽऽलयात् | 81 | 25 | d |
| रेजे स्वज्योत्स्नयेवेन्दुः | 79 | 32 | c |
| रेजे स्वलङ्कृतो लिप्तः | 65 | 32 | c |
| रेमे करेणुभिरिवेभपतिः परीतः | 90 | 11 | d |
| रेमे करेणुयूथेषु | 65 | 21 | c |
| रेमेऽङ्गषोडशसहस्र वराङ्गनानां | 69 | 44 | c |
| रेमे प्राद्युम्निना समम् | 62 | 24 | d |
| रेमे षोडशसाहस्र | 90 | 5 | a |
| रोचनां बद्धवैरोऽपि | 61 | 25 | c |
| रोमहर्षणमासीनं | 78 | 22 | c |
| रोमाणि यस्यौषधयोऽम्बुवाहाः | 63 | 37 | a |
| रोहिणी देवकी चाऽथ | 82 | 37 | a |
| रोहिण्यास्तनया हरेः | 61 | 18 | b |
| रौक्माणां सूर्यवर्चसां | 68 | 51 | b |

| – ल – | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| लक्षेणाऽऽस्ते स आहुकः | 90 | 46 | d |
| लक्ष्मणां समितिञ्जयः | 68 | 1 | b |
| लब्धभावो भगवति | 81 | 41 | c |
| लब्धराज्य श्रियोद्धताः | 88 | 11 | b |
| लब्धसर्वमनोरथः | 86 | 40 | d |
| लब्धसंज्ञो मुहूर्तेन | 76 | 28 | a |
| लब्धं कार्त्स्न्येन तत्फलं | 84 | 9 | b |
| लभन्त आत्मीय मनन्त मैश्वरं | 77 | 33 | c |
| लयोत्पत्त्यादिनास्यवै | 84 | 32 | b |
| ललनाभिस्समं पपौ | 65 | 20 | d |
| ललनायूथमध्यगम् | 67 | 9 | d |
| ललनारत्नसंयुतान् | 81 | 31 | d |
| ललाटेऽसृक्समुत्सृजन् | 79 | 6 | b |
| लाङ्गलाग्रेण नगरं | 68 | 41 | a |
| लालयन्तं शिशून्सुतान् | 69 | 23 | b |
| लिप्ताभिशाप मपमार्ष्टु मुपाजहार | 83 | 9 | b |
| लिहन्त इव जिह्वया | 73 | 5 | d |
| लीलया मुसलायुधः | 67 | 23 | d |
| लीलया युधिनिर्जिताः | 73 | 1 | b |
| लीलातनो स्तदनुरूप विडम्बनानि | 90 | 54 | b |
| लीलावतारैः स्वयशः प्रदीपकं | 70 | 40 | c |
| लीलावलोककलयोत्सव मातनोति | 71 | 36 | d |
| लीलां भुवन पावनीः | 69 | 39 | d |
| लुब्धस्य विषयात्मनः | 89 | 24 | b |
| लेभिरे परमां गतिं | 90 | 27 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| लेभे परां निर्वृति मश्रुलोचनः | 71 | 26 | c |
| लोकद्वयजिगीषवः | 76 | 25 | d |
| लोकपाला स्सहानुगाः | 75 | 26 | b |
| लोकपालांशसम्भवाः | 72 | 10 | b |
| लोकपालांश्च महतान् | 89 | 11 | b |
| लोकपालैश्च पूजितान् | 74 | 33 | d |
| लोकस्य ग्राहयन्नीशः | 82 | 4 | c |
| लोकं यास्यन्ति विज्वराः | 85 | 51 | d |
| लोकाननुभविष्यति | 72 | 7 | d |
| लोकानां गुरुमीश्वरम् | 62 | 7 | d |
| लोकानुग्रह काम्यया | 78 | 33 | b |
| लोकान्क्रीडनकानीश | 68 | 45 | c |
| लोकान्पर्यटतो गुणः | 70 | 36 | d |
| लोकालोकं तथाऽनीत्य | 89 | 48 | c |
| लोकांस्ते यशसाऽप्लुतान् | 69 | 39 | b |
| लोकेष्वीश्वरकर्तृषु | 70 | 37 | b |
| लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः | 70 | 27 | a |
| **– व –** | | | |
| वक्त्रश्रियः कनकमेखलया विरेजुः | 75 | 24 | d |
| वक्षःस्थल मरिन्दमम् | 76 | 27 | b |
| वक्ष्येऽथाऽपि तवाऽऽज्ञया | 64 | 11 | d |
| वक्ष्येऽहं शृणुतेऽनघ | 87 | 11 | d |
| वचसाऽमृत वर्षिणा | 88 | 31 | b |
| वचःकृतघ्नस्यबुधाः पुरस्त्रियः | 65 | 13 | b |
| वचो दुरन्वयं विप्राः | 84 | 14 | c |
| वचोभिस्तु सुपेशलैः | 88 | 35 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| वचो व स्समवेतार्थं | 85 | 22 | a |
| वज्रनिष्पेषसन्निभः | 72 | 36 | d |
| वज्रस्तस्यामभूद्यस्तु | 90 | 41 | c |
| वज्राहत इवक्षणात् | 88 | 36 | b |
| वज्रेण वृत्रस्य यथा पुरन्दरः | 77 | 37 | c |
| वज्रेणेन्द्रो यथा गिरेः | 66 | 21 | d |
| वटुको योगमायया | 88 | 27 | d |
| वणिज इवाविशन्त्यकृत | | | |
| कर्णधरा जलधौ | 87 | 33 | d |
| वत्स्यत्युरसि मे लक्ष्मीः | 89 | 12 | c |
| वदन्तु प्राश्निका इति | 61 | 32 | d |
| वद मे वल्गितकण्ठ कोकिल | 90 | 22 | d |
| वदान्यानां कुदुम्बिनां | 64 | 38 | d |
| वधमर्हति दुर्मतिः | 78 | 24 | d |
| वधाय साल्वस्य लयार्कसन्निभं | 77 | 36 | c |
| वधिष्ये वीक्षतस्तेऽमुं | 77 | 27 | c |
| वध्या हि धर्मध्वजिनः | 78 | 27 | c |
| वनदाहे यथा मृगाः | 66 | 35 | d |
| वनमाला विभूषितम् | 66 | 13 | d |
| वनितभिर्हलायुधः | 65 | 23 | b |
| वनिताशोभिमण्डले | 65 | 21 | b |
| वनेषु व्यचरत् क्षीबः | 65 | 23 | c |
| वन्दिन श्चोपमन्त्रिणः | 71 | 30 | b |
| वन्दिन स्तत्पराक्रमैः | 87 | 13 | b |
| वन्दिभ्योऽ दात्तथास्त्रियः | 84 | 54 | b |
| वपुषा युगपत्पृथक् | 69 | 2 | b |
| वयञ्च सर्वे भवतानुभाविताः | 63 | 38 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वयञ्चाऽन्ये च तादृशाः | 85 | 42 | d | वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव | | | |
| वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोज सुधाः | 87 | 23 | d | विश्वसृजः | 87 | 28 | c |
| वयमिव कामयसे स्तनैर्विधर्तुम् | 90 | 24 | d | ववन्द आत्माननन्त मच्युतः | 89 | 58 | a |
| वयमिव सखि कश्चिद्गाढनिर्भिन्नचेताः | 90 | 15 | c | ववन्द उत्थितः शीर्ष्णा | 70 | 34 | c |
| वयं त्वां शरणं यामः | 70 | 25 | c | ववृधु स्सर्वयादवः | 90 | 49 | d |
| वयं पुरा श्रीमदनष्टदृष्टयः | 73 | 12 | a | ववृषुः कुसुमै र्मुदा | 65 | 22 | b |
| वयं भृशं तत्र महानिलाम्बुभिः | 80 | 38 | a | वव्रे युक्तान्स ऋत्विजः | 74 | 6 | b |
| वयं याता दिशं दिशं | 82 | 22 | b | वसतां गुरु वेश्मसु | 80 | 43 | b |
| वयं वै गृहदासिकाः | 83 | 39 | b | वसतो रामकृष्णयोः | 82 | 1 | b |
| वयांस्यरूरुवन्कृष्णं | 70 | 2 | a | वसानं गरुडध्वजम् | 66 | 14 | b |
| वरवध्वो मुदा बलः | 86 | 12 | b | वसित्वा वाससी नीले | 65 | 32 | a |
| वरं दत्त्वाऽपसङ्कटम् | 88 | 13 | d | वसिष्ठश्च्यवनः कण्वः | 74 | 7 | c |
| वरं भूतभयावहं | 88 | 21 | b | वसिष्ठो गालवो भृगुः | 84 | 4 | b |
| वराम्बराभरणविलेपनस्रजः | 71 | 15 | c | वसुदेव उदाहृतम् | 85 | 26 | b |
| वरायुधाभरण किरीट वर्मभिः | 71 | 17 | b | वसुदेव भवान् नूनम् | 84 | 41 | a |
| वरुणप्रेषितादेवी | 65 | 19 | a | वसुदेव मिवाऽऽनीय | 77 | 26 | c |
| वरुणस्य यथा पुरा | 74 | 13 | b | वसुदेवः परिष्वज्य | 82 | 34 | a |
| वरेण च्छन्दयामास | 62 | 5 | c | वसुदेवाहुकादयः | 82 | 5 | d |
| वरेण च्छन्दयामास | 76 | 5 | c | वसुदेवोग्रसेनाद्यैः | 82 | 23 | a |
| वर्णाश्रमकुलापेतः | 74 | 35 | a | वसुदेवोग्रसेनाभ्यां | 84 | 68 | a |
| वर्णाश्रमयुता जनाः | 75 | 21 | b | वसुदेवोऽञ्जसोत्तीर्य | 84 | 60 | a |
| वर्णाश्रमवता मिह | 80 | 33 | b | वसुदेवो बुभुत्सया | 84 | 30 | b |
| वर्णाश्रमात्मापुरुषः परोभवान् | 84 | 18 | d | वसुदेवोऽभिनन्द्याह | 85 | 1 | c |
| वर्णितं तदुपाख्यानं | 74 | 50 | a | वसुदेवो महामनाः | 84 | 42 | b |
| वर्तमान मतीन्द्रियम् | 61 | 21 | b | वसुदेवो महायशाः | 84 | 28 | b |
| वर्तमानो गृहाश्रमी | 80 | 6 | f | वसुमान्द्रविडः क्रतुः | 61 | 12 | b |
| वर्धनोऽन्नाद एव च | 61 | 16 | b | वस्त्ररत्नभूषणादिकं | 75 | 41 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वहतस्ते वदन्ति हि | 68 | 45 | d | वार्ता बद्धस्य कर्म च | 63 | 2 | b |
| वहन्ति दुर्लभं लब्ध्वा | 74 | 2 | c | वार्यमाणोऽपिदैत्यराट् | 72 | 25 | d |
| वह्निरद्भिः प्रशाम्यति | 64 | 35 | b | वार्युपस्पृश्य माधवः | 70 | 4 | b |
| वह्निं फल्गुनसंयुतः | 71 | 45 | b | वालव्यजन सङ्कुलैः | 75 | 36 | d |
| वह्नेरिवाच्छन्नरुचो न मेऽद्भुतम् | 70 | 38 | d | वालव्यजनहस्तया | 81 | 17 | d |
| वह्नेःप्रदहतः पुरं | 66 | 36 | d | वासस्सग्रुक्ममालिनीः | 82 | 10 | b |
| वाक्यैश्शुश्रूषयार्चितः | 62 | 25 | d | वासस्त्रङ्मण्डनादिभिः | 71 | 43 | d |
| वाचःपेशैः स्मयन् भृत्यं | 70 | 46 | c | वासांसि रत्नानि परिच्छदान्रथान् | 64 | 15 | c |
| वाचा मधुरया प्रीणन् | 86 | 30 | a | वासांस्यास्फालयद्बलं | 67 | 15 | b |
| वाण्याऽभिभाष्य मिनयाऽ मृतामिष्टया तं | 69 | 16 | c | वासितामलतोयेषु | 90 | 6 | c |
| वातवर्ष मभूत्तीव्रं | 80 | 36 | c | वासुदेव मुपाविशत् | 74 | 45 | b |
| वादयद्भिर्मुदा वीणाः | 90 | 8 | c | वासुदेवे भगवति | 80 | 5 | c |
| वादित्राणि विचित्राणि | 75 | 9 | c | वासुदेवोऽवतीर्णोऽहं | 66 | 5 | a |
| वानरो राष्ट्रविप्लवं | 67 | 3 | b | वासुदेवोहमित्यज्ञः | 66 | 1 | c |
| वाम आयुश्च सत्यकः | 61 | 17 | d | वासोऽत्यन्तविडम्बनं | 80 | 45 | d |
| वामदेवादयोऽपरे | 84 | 5 | d | वासोभिर्भूषणैः स्वीयैः | 70 | 11 | c |
| वामनाय महात्मने | 62 | 2 | d | वासोभिः पीतकौशेयैः | 74 | 28 | a |
| वायव्यस्य च पार्वतं | 63 | 13 | d | वाहनानि त्रिभिस्त्रिभिः | 76 | 19 | d |
| वायव्यां वारुणी मथ | 89 | 44 | d | विकत्थनं तदाऽऽ कर्ण्य | 66 | 7 | a |
| वायुना नौरिवाम्भसि | 67 | 26 | d | विगृह्णत्सु जिगीषया | 70 | 46 | b |
| वायुनोपहृतं बलः | 65 | 20 | b | विचकर्ष सगङ्गायां | 68 | 41 | c |
| वायु र्यथा घनानीकं | 82 | 44 | a | विचरन्तं गदाग्रजम् | 69 | 26 | b |
| वारमुख्या बलावृतम् | 69 | 27 | d | विचित्रोपवनोद्यानैः | 81 | 22 | a |
| वारयिष्यन्विनशनं | 79 | 23 | c | विचिन्वन्तः पिपासिताः | 64 | 2 | b |
| वाराणसीं परिसमेत्यु सुदक्षिणं तं | 66 | 40 | c | विचेष्टितं लक्षयामः | 62 | 28 | c |
| वाराणसीं साटृसभालयाऽऽपणाम् | 66 | 41 | b | विजगाह जलंस्त्रीभिः | 65 | 30 | c |
| वारुणी वृक्षकोटरात् | 65 | 19 | b | विजय श्चित्रकेतुश्च | 61 | 12 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| विजहार विगाह्याम्भः | 90 | 7 | a | विध्वा सौभज्य खे भ्रमत् | 77 | 15 | b |
| विजहास भृशं हरिः | 66 | 15 | d | विद्याधरमहोरगाः | 74 | 14 | b |
| विजहुर्वारयोषितः | 75 | 15 | d | विद्याधर महोरगैः | 78 | 14 | b |
| विजहुर्विविधै रसैः | 75 | 14 | d | विद्यामास्थाय फाल्गुनः | 89 | 43 | b |
| विजित हृषीक वायुभिरदान्त मनस्तुरगं | 87 | 33 | a | विद्याया स्तपसो दृशः | 84 | 21 | b |
| विजित्य नृपतीन्सर्वान् | 72 | 9 | a | विद्राविते भूतगणे | 63 | 22 | a |
| विज्ञापितो भगवते | 70 | 22 | c | विद्राव्य क्रोशतां स्वानां | 86 | 10 | c |
| विज्ञाय तद्विधातार्थं | 66 | 38 | c | विधमन्तं स्वसैन्यानि | 77 | 3 | a |
| विज्ञायाचिन्तयन्नाऽयं | 81 | 6 | c | विधुन्वं स्त्रिशिखं ज्वलन् | 66 | 33 | d |
| विटस्निग्धा स्तत्स्वरूपं ययु | | | | विनद्य सौभराद्दुष्टैः | 77 | 17 | c |
| रजित पराश्री र्यदर्थेऽन्ययत्नः | 90 | 52 | b | विनष्टदर्पाश्चरणौ स्म राम ते | 73 | 13 | d |
| वितता दिक्ष्वकल्मषा | 72 | 24 | b | विना मत्क्लीबचित्तेन | 76 | 29 | c |
| वितथमनोविलास मृत | | | | विनिन्दन् कृष्णसन्निधौ | 89 | 40 | b |
| मित्यवयन्त्य बुधाः | 87 | 37 | d | विन्दन्ति ते कमलनाभ भवापवर्गम् | 72 | 4 | c |
| वितर्कस्समभूत्तेषां | 89 | 1 | c | विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति | | | |
| वितानानि द्युमन्ति च | 81 | 30 | d | त आरूपितैः | 87 | 25 | b |
| वितानै र्निमितैस्त्वष्ट्रा | 69 | 10 | a | विपर्ययेन्द्रियार्थार्थं | 63 | 43 | c |
| वित्तैषणां यक्षदानैः | 84 | 38 | a | विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्त सेवया | 84 | 12 | d |
| विदधति यत्र येत्ववधिकृता भवतश्चकिताः | 87 | 28 | d | विपाशां शोण आप्लुतः | 79 | 11 | b |
| विदर्भकुरुसृञ्जयान् | 82 | 13 | b | विप्रकृष्टं व्यवहितं | 61 | 21 | c |
| विदर्भ कोसल कुरून् | 84 | 55 | c | विप्रक्षत्रिय विट्शूद्राः | 75 | 25 | c |
| विदाम योगमायां ते | 69 | 38 | a | विप्रचक्रमदोद्धतः | 67 | 15 | d |
| विदारयन्भूरितरेण रोचिषा | 89 | 51 | b | विप्रदेवेन देववत् | 81 | 18 | d |
| विदूरथस्तु तद्भ्राता | 78 | 11 | a | विप्रपत्न्या रुदन्मुहुः | 89 | 39 | b |
| विदूरश्च महामतिः | 74 | 10 | d | विप्रपत्न्याः कुमारकः | 89 | 22 | b |
| विदेहान्प्रययौ प्रभुः | 86 | 17 | d | विप्रव्याजेन विष्णुना | 72 | 24 | d |
| विद्वाच्छिन द्वर्मधनुश्शिरोमणिं | 77 | 34 | c | विप्रशापात्पुनः पुनः | 74 | 50 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| विप्रं कृतागस मपि | 64 | 42 | a | विरमत्वफलो रणः | 79 | 27 | d |
| विप्राणां हृतवृत्तीनां | 64 | 38 | c | विरमेत विशेषज्ञः | 80 | 2 | c |
| विप्रानभ्यर्च्य चाऽऽत्मवान् | 70 | 7 | d | विरहाग्नितप्तहृदयेष्वलं रमा | 90 | 23 | c |
| विप्रान् पृथुकतण्डुलान् | 80 | 14 | b | विरिञ्चभवसंयुताः | 74 | 13 | d |
| विप्रापत्य मचक्षाणः | 89 | 44 | a | विरुजोऽभूद्दृकोदरः | 72 | 45 | f |
| विप्राय ददतुः पुत्रान् | 89 | 62 | c | विरुद्धशीलयोः प्रभ्वोः | 88 | 2 | c |
| विप्रोऽगम्यान्ध(क) वृष्णीनां | 80 | 16 | c | विरुद्धाभजनां गतिः | 88 | 2 | d |
| विप्रो गृहीत्वा मृतकं | 89 | 23 | a | विरेजतुस्सुतै र्दारैः | 84 | 50 | c |
| विप्रो ददर्श चमरव्यजनेन रुक्म | 69 | 13 | c | विरेजुर्मोचिताः क्लेशात् | 73 | 27 | c |
| विप्रौ विवदमानौ मां | 64 | 18 | a | विरेजे रत्नधारया | 67 | 19 | b |
| विभक्तरथ्यापथचत्वरापणैः | 69 | 6 | a | विलिम्पन्त्योऽभिषिञ्चन्त्यः | 75 | 14 | c |
| विभावयामो भुवनानि सप्त | 63 | 38 | d | विलोक्य तत्रसुस्सर्वे | 66 | 35 | c |
| विभूतिभिर्वाऽभिभवेत् | 72 | 11 | c | विलोक्य ब्राह्मणस्तत्र | 81 | 32 | a |
| विभ्राजमानं द्विगुणोल्बणेक्षणं | 89 | 54 | c | विलोक्य मुदिताननाः | 62 | 24 | b |
| विभ्राजमानं वपुषा | 67 | 10 | c | विलोक्य स्फटिकां भूमिं | 75 | 39 | c |
| विमनस्को घृणी स्नेहात् | 77 | 24 | c | विविक्त उपसङ्गतः | 82 | 41 | b |
| विमानैर्द्रष्टुमागमन् | 63 | 9 | d | विविधनीह कर्माणि | 74 | 22 | a |
| विमानैस्सर्वतो वृतम् | 81 | 21 | d | विवेश निजमन्दिरम् | 64 | 45 | d |
| विमुच्यते संसृतिभि स्तथारिभिः | 88 | 40 | d | विवेशशङ्खानकदुन्दभिस्वनैः | 63 | 53 | c |
| विमृशन्त स्सभासदः | 74 | 18 | b | विवेश सुमहत्तमः | 89 | 48 | d |
| विमृश्या स्सचराचरं | 85 | 23 | d | विवेशालङ्कृतं पुरम् | 71 | 31 | d |
| विमोहिता विश्वसृजा मधीश्वराः | 84 | 16 | b | विवेशालङ्कृतां पुरीम् | 78 | 15 | d |
| वियत इवापयदस्य तव शून्यतुला दधनः | 87 | 29 | d | विवेशैकतमं शौरेः | 69 | 8 | c |
| विरक्त इन्द्रियार्थेषु | 80 | 6 | c | विवेशैकतमं श्रीमत् | 80 | 17 | c |
| विरजधियोऽन्वयन्त्यभि | | | | विव्याधपञ्चविंशत्या | 76 | 18 | a |
| विपण्यव एकरसम् | 87 | 19 | d | विशन्तं ददृशुस्सर्वे | 77 | 12 | c |
| विरथीकृत्य पौण्ड्रकम् | 66 | 21 | c | विशालं ब्रह्मतीर्थञ्च | 78 | 19 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| विशीर्यमाणं स्ववलं | 63 | 17 | a | विस्मरन्त्यवजानते | 88 | 11 | d |
| विशुद्धसत्त्वधाम्न्यद्धा | 85 | 42 | a | विस्मिता मुक्तसंशयाः | 89 | 15 | b |
| विश्रान्तं सुखमासीनं | 65 | 5 | c | विस्मितो जात कौतुकः | 69 | 42 | d |
| विश्वकर्मन्नमस्तेऽस्तु | 68 | 48 | c | विस्मितोऽभूदति प्रीत्या | 80 | 24 | c |
| विश्वसर्गनिरोधयोः | 71 | 8 | b | विस्मृत्य भोः स्थगितगी रुपलक्ष्यसे नः | 90 | 18 | d |
| विश्वात्मदैवं सुतरां तथाऽऽत्मनः | 85 | 35 | b | विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्तनतः | 87 | 29 | b |
| विश्वामित्रश्शतानन्दः | 84 | 3 | c | विहरन् रथमारुह्य | 71 | 46 | b |
| विश्वामित्रो वामदेवः | 74 | 8 | a | विहर्तुं साम्ब प्रद्युम्न | 64 | 1 | c |
| विश्वोत्पत्तिलयोदयाः | 85 | 31 | b | विहाय सद्यः कृकलासरूपं | 64 | 6 | b |
| विश्वोत्पत्ति स्थानसंरोध हेतुं | 63 | 26 | c | विहारान्सविमानाग्रान् | 76 | 10 | c |
| विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्गः | 81 | 36 | d | विह्वला व्रीडिता भृशम् | 62 | 13 | d |
| विषण्णःकाम मार्गणैः | 80 | 2 | d | वीक्ष्य तत्कदनं रामं | 77 | 10 | a |
| विषमत्यमृतं त्यजन् | 63 | 43 | d | वीक्ष्य दुर्योधनः श्रियम् | 75 | 31 | b |
| विषयाञ्जायया त्यक्ष्यन् | 81 | 38 | c | वीक्ष्य प्रावृष मासन्नां | 84 | 70 | c |
| विषयेष्विन्द्रियेहया | 84 | 25 | b | वीक्ष्य योगेश्वरेशस्य | 69 | 33 | c |
| विषं ह्यस्य प्रतिक्रिया | 64 | 34 | b | वीक्ष्य विस्मितमानसाः | 64 | 3 | b |
| विष्टब्धं विद्रुमस्तम्भैः | 69 | 9 | a | वीक्ष्योज्जहार वामेन | 64 | 5 | c |
| विष्टायां जायते कृमिः | 64 | 40 | d | वीक्ष्योषाऽवाङ्मुखी ह्रिया | 62 | 21 | b |
| विष्णवे द्विजरूपिणे | 72 | 25 | b | वीणापणववेणुभिः | 71 | 30 | d |
| विष्णुतेजोपबृंहितं | 72 | 12 | d | वीणावेणुतलोन्नादः | 75 | 10 | c |
| विष्णुरातेन सम्पृष्टः | 80 | 5 | a | वीतिहोत्रो मधुच्छन्दाः | 74 | 9 | c |
| विष्णुस्सन्निहितो यत्र | 79 | 18 | c | वीरसेनोऽकृतव्रणः | 74 | 9 | d |
| विष्णोश्चक्रं सुदर्शनम् | 66 | 42 | b | वीरस्येत्याह सारथिम् | 77 | 2 | d |
| विष्णोस्सदयितो भवेत् | 79 | 34 | d | वीर्यशौर्यबलोन्नद्धं | 68 | 23 | a |
| विसृज्य तद्भूतल मास्थितो गदां | 77 | 35 | c | वीर्यं त्र्यम्बकतोषणं | 89 | 34 | b |
| विसृज्य स नृपद्वारि | 89 | 26 | c | वीर्यं सूचयतीव हि | 65 | 33 | d |
| विस्फूर्ज्य रुचिरंचापं | 68 | 9 | a | वीर्याणीह प्रदर्शयन् | 89 | 64 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य | 80 | 1 | c | वृष्णिभिः परिवारितः | 70 | 18 | b |
| वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य | 85 | 59 | c | वृष्णिवीरा भृशार्दिताः | 76 | 25 | b |
| वृकासुराय गिरिशः | 88 | 13 | c | वृष्णीन् कृष्ण परिग्रहान् | 82 | 28 | d |
| वृको नामाऽसुरः पुत्रः | 88 | 14 | a | वेणुतालदरस्वनैः | 70 | 21 | b |
| वृकोहर्षोऽनिलो गृध्रः | 61 | 16 | a | वेदाहं त्वां विश्वसृजां | 85 | 29 | c |
| वृतश्चन्द्र इव ग्रहैः | 68 | 15 | c | वेद्धुं पर्षदि मद्धियः | 83 | 21 | b |
| वृतश्च वृष्णिप्रवरैः | 78 | 15 | c | वेपमानाऽभिगम्य च | 80 | 8 | b |
| वृतः सुसम्मृश्य विहाय लोकपान् | 83 | 17 | d | वेपमानैर्हलायुधः | 68 | 49 | b |
| वृतः स्वयंवरे साक्षात् | 61 | 22 | a | वेलाकूलानमज्जयत् | 67 | 5 | d |
| वृताधर्मेण धार्मिकम् | 84 | 43 | b | वेषं कृत्रिम माश्रितम् | 66 | 15 | b |
| वृतोऽनुजैर्बन्धुभिश्च | 75 | 34 | c | वैकारिक स्तैजसश्च | 88 | 3 | c |
| वृतो नृसिंहैर्यदुभिर्यदूत्तमः | 70 | 19 | c | वैकारिको विकल्पानां | 85 | 11 | c |
| वृत्तं विवसतां गुरौ | 80 | 35 | b | वैकुण्ठवासिनो जन्म | 74 | 50 | c |
| वृत्तिर्गन्धोऽर्थतो भवान् | 85 | 7 | d | वैक्लव्यादश्रुलोचना | 85 | 28 | d |
| वृत्रघ्न विबुधा यथा | 79 | 7 | d | वैजयन्तीं ददुर्मालां | 79 | 8 | a |
| वृथा त्वं कत्थसे मन्द | 77 | 20 | a | वैजयन्त्या च मालया | 65 | 24 | b |
| वृथा पण्डितमानिनः | 78 | 26 | b | वैदूर्यफलकोत्तमैः | 69 | 9 | b |
| वृथा पानरतं शश्वत् | 74 | 36 | c | वैरसंरब्धया धिया | 74 | 46 | b |
| वृद्धानामपि यद्बुद्धिः | 74 | 31 | c | वैरं कृष्णकृतं स्मरन् | 76 | 8 | d |
| वृद्धेभ्यश्च यथार्हतः | 71 | 29 | b | वैराग्यञ्च तदन्वितं | 89 | 16 | b |
| वृष्णयश्च तथाऽक्रूर | 82 | 5 | c | वैराज्यं परमेष्ठ्यञ्च | 83 | 41 | c |
| वृष्णय स्तुल्यतां नीताः | 68 | 25 | c | वैरोचनिसुतोऽसुरः | 63 | 48 | b |
| वृष्णयः कृष्ण चेतसः | 90 | 50 | d | वैशम्पायन एव च | 74 | 8 | d |
| वृष्णयः कृष्णदेवताः | 82 | 11 | d | वैष्णवेन बलार्दितः | 63 | 24 | d |
| वृष्णयः कृष्ण देवताः | 84 | 70 | b | व्रजपुरवनितानां वर्धयन्कामदेवम् | 90 | 53 | d |
| वृष्णयः कृष्णपालिताः | 63 | 2 | d | व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति | 83 | 43 | a |
| वृष्णयः पुष्करस्रजः | 84 | 44 | b | व्रजामि शरणं तेऽद्य | 66 | 20 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| व्रीडावनतकन्धरः | 75 | 42 | b | शङ्करानुचरान् शौरिः | 63 | 10 | a |
| व्रीडितः पतये श्रियः | 81 | 5 | b | शङ्करेण च संयुगम् | 63 | 54 | b |
| व्यक्तं मे कथयिष्यन्ति | 76 | 31 | a | शङ्खभेर्यानकादयः | 83 | 30 | b |
| व्यतरद्भागिनेयाय | 61 | 23 | c | शङ्खभेर्यानकादयः | 84 | 46 | b |
| व्यतीयुरनुशोचतां | 63 | 1 | d | शङ्खान् दध्मुर्जितारयः | 73 | 31 | b |
| व्यभिचरति क्वचक्वचमृषा न तथोभययुक्त | 87 | 36 | b | शङ्खार्यसिगदाशार्ङ्ग | 66 | 13 | a |
| व्यरोचत स्वपत्नीभिः | 75 | 18 | c | शतजिच्च सहस्रजित् | 61 | 11 | d |
| व्यरोचन्त महातेजाः | 82 | 8 | c | शतधा कामचारिणीम् | 65 | 26 | d |
| व्यलिखद्रामकृष्णौ च | 62 | 20 | c | शतसेनस्तु तत्सुतः | 90 | 42 | d |
| व्यलिम्पद्दिव्यगन्धेन | 80 | 21 | c | शतं सहस्रमयुतं | 61 | 29 | a |
| व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया | 87 | 36 | c | शतेनाऽताडयच्छाल्वम् | 76 | 19 | a |
| व्यसनशतान्विताः समपहाय गुरो श्चरणं | 87 | 33 | c | शत्रोर्जन्ममृती विद्वान् | 72 | 40 | a |
| व्यसनन्तेऽपकर्षामि | 62 | 18 | a | शनैः पुनन्ति कालेन | 86 | 52 | c |
| व्याधः कपोतो बहवो हि | 72 | 21 | c | शपन्तश्चेदिपं रुषा | 74 | 39 | d |
| व्याधिं देहचरं यथा | 78 | 6 | d | शप्तं सद्भि र्बहिष्कृतं | 74 | 36 | b |
| व्याहृत्य व्यनद द्बली | 76 | 26 | d | शब्दस्तयोः प्रहरतो रिभयो रिवाऽऽसीत् | 72 | 38 | c |
| व्येतु ते मज्ज्वराद्भयम् | 63 | 30 | b | शब्दः कोलाहलोऽप्यासीत् | 74 | 44 | a |
| व्योमयानै र्महात्मभिः | 87 | 43 | d | शममिच्छन्निहाऽऽगतः | 68 | 32 | d |
| | | | | शम्भोर्मूर्ध्नि किलाऽसुरः | 88 | 23 | b |
| **– श –** | | | | शयानं श्रिय उत्सङ्गे | 89 | 8 | a |
| शकले ददृशुः प्रजाः | 72 | 44 | d | शयानं सह शक्तिभिः | 87 | 12 | b |
| शकुनेः पथि नारदम् | 88 | 14 | b | शयिष्यसे हतस्त्वत्र | 66 | 9 | c |
| शक्तग्रो याः परस्य ताः | 85 | 6 | b | शय्यासनपरिच्छदैः | 83 | 37 | d |
| शक्तिभिः प्रासतोमरैः | 66 | 16 | b | शय्यासनाटनालाप | 90 | 50 | a |
| शक्तिं भीमरवां मृधे | 77 | 13 | d | शय्यासनाशनस यौन सपिण्डबन्धः | 82 | 31 | b |
| शक्रप्रस्थ मुपागमत् | 71 | 22 | d | शरणार्थी हृषीकेशं | 63 | 25 | c |
| शक्रादयो लोकपालाः | 68 | 34 | c | शरण्यः श्लक्ष्णया गिरा | 73 | 17 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| शरण्यः सम्ग्रहम्याऽऽह | 66 | 37 | c | शाला सभाभी रुचिरां सुरालयैः | 69 | 6 | b |
| शरण्यो भक्तवत्सलः | 62 | 5 | b | शाल्वस्ततस्ततोऽमुञ्चन् | 76 | 23 | c |
| शरान् मात्वनयृथपाः | 76 | 23 | d | शाल्वानीकपशस्त्रास्त्रैः | 76 | 25 | a |
| शरेणान्येन वै शिरः | 77 | 4 | d | शाल्वामात्यो द्युमान् नाम | 76 | 26 | a |
| शरैरग्न्यर्कसंस्पर्शैः | 76 | 24 | a | शाल्वोऽमुह्यत्परेरितैः | 76 | 24 | d |
| शरैर्नानास्त्रयोजितैः | 89 | 38 | b | शास्त्रयोनेस्तवाऽऽत्मनः | 84 | 20 | b |
| शरैश्शार्ङ्गधनुश्च्युतैः | 63 | 11 | d | शिखिनाऽपाक्रम द्रणात् | 63 | 15 | d |
| शरैस्सन्नतपर्वभिः | 76 | 18 | d | शिर उत्कृत्य पत्रिभिः | 66 | 22 | b |
| शशंस सर्वयदुपुङ्गवानां | 68 | 53 | c | शिरसा लोकपावनीः | 74 | 27 | b |
| शश्वद्दरिद्रस्य समृद्धिहेतुः | 81 | 33 | b | शिरसैवाऽनुशासनम् | 74 | 2 | d |
| शश्वद्भयेन मृतकेन धुरं वहामः | 70 | 29 | b | शिरयो रुधिरोक्षिताः | 61 | 38 | b |
| शंसन्तः प्रययुः क्रतुम् | 84 | 56 | d | शिरस्तु तस्योभयलिङ्ग मानमेत् | 80 | 4 | a |
| शाकुनेयं भवा न्यक्तं | 88 | 29 | a | शिरः क्षुरान्तचक्रेण | 74 | 43 | c |
| शाखा इव वनस्पतेः | 63 | 33 | d | शिरः पतितमालोक्य | 66 | 25 | a |
| शाखामिव महागजः | 72 | 43 | d | शिरो जहार राजेन्द्र | 78 | 12 | c |
| शाध्यस्मानीशितव्येश | 85 | 47 | a | शिरो मकुटसेवितं | 68 | 24 | d |
| शान्तः कुविरलम्पटः | 86 | 13 | d | शिरोऽवृश्च त्वधितिना | 88 | 18 | c |
| शान्तानां न्यस्तदण्डानाम् | 88 | 26 | c | शिरोऽवृश्च द्रथाङ्गेन | 66 | 21 | c |
| शान्तानां समचेतसां | 89 | 17 | b | शिलाद्रुमाश्चाऽशनयः | 76 | 11 | b |
| शान्तिर्दर्शःपूर्णमासः | 61 | 14 | c | शिवभक्तिरत स्सदा | 62 | 3 | a |
| शान्तिं नेच्छन्त्यसाधवः | 68 | 31 | b | शिवश्शन्तियुत श्शश्वत् | 88 | 3 | a |
| शान्तोग्रेणात्युल्बणेन ज्वरेण | 63 | 29 | b | शिवो ब्रह्मा न चाऽच्युतः | 88 | 12 | d |
| शान्तो यथैक उत सर्वसखैश्चरामि | 85 | 46 | d | शिशुपालजिघांसवः | 74 | 41 | d |
| शापुप्रसादयो रीशाः | 88 | 12 | a | शिशुपाल सख श्शाल्वः | 76 | 2 | a |
| शार्ङ्गपाणि रविस्मितः | 63 | 12 | d | शिशुपालस्य साल्वस्य | 78 | 1 | a |
| शार्ङ्गमासीत्तदद्भुतम् | 77 | 16 | d | शिशुपाले च संस्थिते | 77 | 7 | d |
| शार्ङ्गमुद्यम्य सन्नद्धः | 83 | 32 | c | शिशुपाले हते महान् | 74 | 44 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| शिष्य स्साक्षान्नारदस्य | 90 | 37 | c | शेषेऽद्वितीयः परिशिष्यमाणः | 68 | 46 | d |
| शिष्योऽधीत्य बहूनि च | 78 | 25 | b | शैब्यां नाग्नजितीं सतिम् | 71 | 43 | b |
| शीर्णदन्ता इवाहयः | 68 | 4 | d | शैब्ये रोहिणि लक्ष्मणे | 83 | 6 | d |
| शुकराज गाय यदुदेव सत्कथां | 90 | 23 | a | शोणिताख्ये पुरे रम्ये | 62 | 4 | a |
| शुक्लेनेज्येत पूरुषः | 84 | 37 | d | श्यामं पिशङ्गाम्बरमम्बुजेक्षणं | 62 | 31 | b |
| शुनो यथा सूकरयूथपोऽहनत् | 62 | 34 | b | श्यामः कमललोचनः | 62 | 16 | b |
| शुशुभे सुरराडिव | 74 | 51 | d | श्रद्दधे क्लीबकत्थनम् | 89 | 40 | d |
| शुश्रूषन्तं गुरून्क्वापि | 69 | 30 | c | श्रद्धया करवाम तत् | 70 | 47 | d |
| शुश्रूषया परमया | 81 | 18 | a | श्रद्धया तर्पयन्मुनिम् | 70 | 35 | d |
| शुष्यद्धृदाः कर्शिता बत सिन्धुपत्न्यः | 90 | 25 | a | श्रद्धयाऽऽत्मानुशासनम् | 87 | 44 | b |
| शूद्रा यज्ञदिदृक्षवः | 74 | 11 | b | श्रद्धया धारये द्यस्तां | 87 | 3 | c |
| शूरमानकदुन्दुभि | 62 | 20 | b | श्रद्धयोपहृतं भैक्ष्यं | 86 | 5 | c |
| शूरः प्रहरणोऽरिजित् | 61 | 17 | b | श्रद्धामहे सुचिरमस्य नृपासनं कु | 68 | 37 | d |
| शूराणामपि योगिनां | 84 | 61 | d | श्रवणभृतो यस्त्वमपवर्गगति र्मनुजैः | 87 | 40 | d |
| शूरानबहुभाषिणः | 77 | 20 | d | श्रवणात्कीर्तनाद्ध्यानात् | 70 | 44 | a |
| शूरांश्चारुन्धतो भटान् | 86 | 10 | b | श्रान्तः किं दूरमागतः | 88 | 29 | b |
| शूर्पारक मगाद्बलः | 79 | 20 | b | श्रियं जिहीर्षतेन्द्रस्य | 72 | 25 | a |
| शूलमुद्यम्य तं हन्तुं | 89 | 6 | c | श्रिया हीनेन लोकेऽस्मिन् | 80 | 25 | c |
| शूलैर्गदादिभिः परिघैः | 66 | 16 | a | श्रियैश्वर्यमदोन्नाहं | 73 | 19 | c |
| शृणु कर्माद्भुतं नृप | 76 | 1 | b | श्रीकामो मा भजत्पुरा | 81 | 6 | d |
| शृणोति तत्पुण्य कथाः सकर्णः | 80 | 3 | d | श्रीधामाम्लान पङ्कजाम् | 79 | 8 | b |
| शृण्वतामेव चैतेषाम् | 72 | 2 | c | श्रीनिकेत मनुज्ञाप्य | 84 | 56 | c |
| शृण्वतां गदतां शश्वत् | 86 | 46 | a | श्रीनिकेतं वपुश्शौरेः | 82 | 27 | c |
| शृण्वतां सर्वभूभुजां | 76 | 3 | b | श्रीनिवासेन सम्भृतः | 80 | 26 | b |
| शृण्वन्तं मङ्गलानि च | 69 | 28 | d | श्रीभानुः प्रतिभानुश्च | 61 | 11 | a |
| शृण्वन्दिगन्तधवल स्वयशोऽ शुभ्रं | 86 | 21 | c | श्रीमत्कथाश्रवणकीर्तन चिन्तयैति | 90 | 55 | b |
| शृण्वन्भागवतान् धर्मान् | 88 | 6 | c | श्रीमत्पादरजःश्रियः | 83 | 42 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| श्रीमदाङ्गशिताः स्थानात् | 73 | 20 | c | श्रुत्वा युद्धोद्यमं रामः | 78 | 17 | a |
| श्रीमन्मुखं प्रचल कुण्डलकुन्तलाढ्यम् | 75 | 33 | d | श्रुत्वाऽवाच्यानि चाऽच्युतः | 68 | 30 | b |
| श्रीरङ्गाख्यं महापुण्यं | 79 | 14 | c | श्रुत्वा विनष्ट नानाधीः | 85 | 26 | c |
| श्रीरुपाऽऽस्तेऽखिलेश्वरी | 68 | 36 | b | श्रुत्वा सुललितं गीतं | 67 | 8 | c |
| श्रीवत्सलक्ष्मं वनमालयाऽऽ वृतम् | 89 | 56 | d | श्रत्वैतत्सर्वतो भूपाः | 83 | 20 | a |
| श्रीवत्साङ्कं चतुर्बाहुं | 73 | 3 | a | श्रूयते रणविच्युतः | 76 | 29 | b |
| श्रीवत्साङ्कं वयमिव भवान् | | | | श्रूयादमुष्य पदयो रनुवृत्ति मिच्छन् | 90 | 54 | d |
| ध्यायति प्रेमबद्धः | 90 | 21 | b | श्रेणीमुख्या हतैनसः | 71 | 37 | d |
| श्रीवत्साद्युपलक्षितं | 66 | 13 | b | श्रेयसां तस्य गुरुषु | 80 | 45 | c |
| श्रीशैलं गिरिशालयम् | 79 | 13 | b | श्रेयस्कामस्य मानद | 84 | 64 | b |
| श्रुतदेव इति श्रुतः | 86 | 13 | b | श्रेयो धर्मादिलक्षणम् | 74 | 22 | d |
| श्रुतदेव उपस्थितः | 86 | 43 | b | श्रेणीभरेण शनकैः क्वणदङ्घ्रिशोभम् | 75 | 33 | b |
| श्रुतदेव स्सुनन्दनः | 90 | 36 | b | श्रोतुमप्यसतां दूरान् | 86 | 27 | a |
| श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्तं | 86 | 38 | a | श्रोतुमिच्छामि हे प्रभो! | 80 | 1 | d |
| श्रुतपूर्वा स्तथा मुनीन् | 86 | 23 | d | श्वश्वासञ्चोदिता कृष्णा | 71 | 42 | a |
| श्रुतमात्रोऽपि यः पुंसां | 90 | 26 | a | श्वेतद्वीपं गतवति | 87 | 10 | a |
| श्रुतयो यत्र शेरते | 87 | 10 | d | श्वोभूते विश्वभावेन | 81 | 13 | a |
| श्रुतिः कविर्वृषो वीरः | 61 | 14 | a | | | | |
| श्रुत्वा जितं जरासन्धं | 72 | 15 | a | – ष – | | | |
| श्रुत्वा तज्जनवैक्लव्यं | 66 | 37 | a | षडिमे मत्प्रसादेन | 85 | 52 | c |
| श्रुत्वा द्विजेरितं राज्ञा | 74 | 26 | a | षष्टिवर्ष सहस्राणि | 64 | 40 | c |
| श्रुत्वा द्विजैः कथ्यमानं | 79 | 22 | a | षोडशामीषु काचन | 88 | 4 | b |
| श्रुत्वाऽऽनीतं गुरोः पुत्रं | 85 | 27 | b | – स – | | | |
| श्रुत्वा पृथा सुबलपुत्र्यथयाज्ञसेनी | 84 | 1 | a | | | | |
| श्रुत्वा प्रीत स्तमब्रवीत् | 74 | 1 | d | स आत्मन्युत्थितं मन्युं | 89 | 4 | a |
| श्रुत्वा ब्रह्मण्यतां नरः | 81 | 41 | b | स आदिदेश गिरिशं | 88 | 15 | a |
| श्रुत्वा मुहुर्नारदगीत मास ह | 83 | 17 | b | स आह भगवांस्तस्मै | 88 | 7 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| स इत्थं द्विजमुख्येन | 81 | 1 | a | सङ्कर्षण मनुज्ञाप्य | 71 | 13 | c |
| स इत्थं प्रभुणाऽऽदिष्टः | 86 | 58 | a | सङ्कर्षणसनातन | 85 | 3 | b |
| स इन्द्रसेनो भगवत्पदाम्बुजं | 85 | 38 | a | सङ्कर्षणस्ताः कृष्णस्य | 65 | 16 | a |
| स उत्तमश्लोककराभिमृष्टः | 64 | 6 | a | सङ्कर्षणं परिहसन् | 61 | 34 | c |
| स उपस्पृश्य शुच्यम्भः | 89 | 37 | a | सङ्कर्षणो वासुदेवः | 89 | 31 | a |
| स उवास विदेहेषु | 86 | 14 | a | सङ्कुद्धान् वृष्णिपुङ्गवान् | 68 | 14 | b |
| स एकदाऽऽह गिरिशं | 62 | 6 | a | सङ्गीतं सहभर्तृकाः | 84 | 46 | f |
| स एव भार्यया विप्रः | 80 | 12 | a | सङ्गहोऽनन्यचोदितः | 78 | 32 | d |
| सकारणाकारणलिङ्गमीयुषे | 86 | 48 | c | सङ्ग्रामजिद्बृहत्सेनः | 61 | 17 | a |
| सकिरीटं सकुण्डलं | 78 | 12 | d | स चकम्पे वमन्नसृक् | 77 | 21 | d |
| सकुटुम्बा जिजीविषवः | 68 | 43 | b | सचाऽग्निः प्रमथैर्वृतः | 66 | 30 | d |
| सकुटुम्बोऽवहन्मुदा | 74 | 27 | d | स चाऽऽजुहाव यमुनां | 65 | 25 | a |
| सकुटुम्बो वहन्मूर्ध्ना | 86 | 29 | a | स चाऽपि रुक्मिणः पैत्रीं | 90 | 41 | a |
| सकृदप्यागमिष्यति | 65 | 10 | d | स चाऽलब्ध्वा धनं सख्युः | 81 | 14 | a |
| सकोशहस्त्यश्वरथान्नशालाम् | 66 | 41 | d | सञ्चरन्ति मया लेकान् | 86 | 51 | c |
| सखा प्रियचिकीर्षया | 81 | 7 | b | सञ्चिन्त्यारिवधोपायं | 72 | 41 | a |
| सखा साक्षाच्छ्रियः पतिः | 80 | 8 | d | सज्यं कर्तुमनीश्वराः | 83 | 22 | b |
| सखीना मपचितिं कुर्वन् | 77 | 38 | c | सज्यं कृत्वाऽथ लीलया | 83 | 25 | d |
| सखीनां मध्य उत्तस्थौ | 62 | 13 | c | सज्यंकृत्वऽपरे वीराः | 83 | 23 | a |
| सख्यपृच्छ त्सखीञ्चैषां | 62 | 14 | c | सज्यं गाण्डीव माददे | 89 | 37 | d |
| सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेः | 80 | 19 | a | सटङ्कस्सवनस्पतिः | 67 | 26 | b |
| सख्युस्सोऽपचितिं कुर्वन् | 67 | 3 | a | स त इदमुत्थितं सदिति चेन्न तु तर्कहतं | 87 | 36 | a |
| सख्यै प्रिय मदर्शयत् | 62 | 23 | d | स तद्वरपरीक्षार्थं | 88 | 23 | 8 |
| सख्योपेत्याऽग्रहीत्पाणिं | 83 | 11 | c | स तर्कयामास कुतो ममान्वभूत् | 86 | 42 | a |
| सगणास्सिद्धगन्धर्वाः | 74 | 14 | a | स तं देवो महेश्वरः | 89 | 5 | b |
| सगोपुराट्टालककोष्ठसङ्कुलां | 66 | 41 | c | स तं प्रविष्टं वृतमाततायिभिः | 62 | 33 | a |
| सगोपुराणि द्वाराणि | 76 | 10 | a | स तं वव्रे पुराधिपम् | 62 | 5 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| स तानादाय विप्राग्र्यः | 80 | 15 | a | सदिव मन स्विकृत्वयि विभात्य सदा मनुजात् | 87 | 26 | a |
| सतां गेयं यशोध्रुवम् | 72 | 20 | b | स दूषयति नस्सद्म | 78 | 38 | c |
| सतां शुश्रूषणे जिष्णुः | 75 | 5 | a | सद्याश्छिनत्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै | 70 | 27 | d |
| स तु विस्मित उत्थाय | 69 | 22 | c | सद्यश्शापप्रसादोऽङ्ग | 88 | 12 | c |
| स तूपस्पृश्य सलिलं | 77 | 2 | a | सद्यस्समुत्थाय ननाम सान्वयः | 85 | 35 | d |
| स तोरणै र्भूषित मार्गचत्वरां | 63 | 53 | b | सद्योऽदर्शन मापेदे | 89 | 39 | c |
| सत्परा परमेष्ठिनः | 81 | 10 | d | सद्यो मुच्येत किल्बिषात् | 75 | 21 | d |
| सत्यभामात्मजा दश | 61 | 11 | b | सद्यो विसृज्य गृहकर्म पतींश्च तल्पे | 71 | 34 | c |
| सत्यसन्धो दृढव्रतः | 62 | 3 | d | सद्रक्षणाय खलनिग्रहणाय चाऽन्यः | 70 | 28 | b |
| सत्यास्मन्तु मनोरथाः | 80 | 42 | b | सनन्दन मथाऽऽनर्चुः | 87 | 42 | c |
| स त्वं कथं मम विभोऽक्षिपथः परात्मा | 64 | 27 | a | स नमस्कृत्य कृष्णाय | 70 | 24 | a |
| स त्वं शाधि स्वभृत्यान्नः | 86 | 49 | a | सनातन मृषिं द्रष्टुं | 87 | 5 | c |
| सत्त्वमिन्द्रिय मेव च | 78 | 34 | b | स नाऽर्हति किल श्रीशः | 68 | 36 | c |
| सत्त्वं तत्तीर्थसाधनं | 89 | 19 | d | स नित्यभगवद्ध्यान | 66 | 24 | a |
| सत्त्वंयस्य प्रियामूर्तिः | 89 | 18 | a | सन्तमेकं ददर्श ह | 69 | 41 | d |
| सत्त्वं रजस्तम इति | 85 | 13 | a | सन्तप्तचामीकर चारुवर्णः | 64 | 6 | c |
| सदश्वं रुक्म मालिनं | 75 | 18 | b | सन्तवन्तः पूजातन्तून् | 73 | 22 | a |
| सदसतः परं त्व मथ यदेष्ववशेष मृतम् | 87 | 17 | d | सन्त्यनन्तानि भारत | 85 | 59 | d |
| सदसस्तस्य महतः | 84 | 8 | c | सन्दधे रणकोविदः | 63 | 18 | d |
| सदस स्पतय स्सर्वे | 74 | 32 | c | सन्देशैर्हृदयङ्गमैः | 65 | 16 | b |
| सदसि मृशन्त्य शेषमिद मात्मतयाऽत्मविदः | 87 | 26 | b | सन्देहोऽत्र महान् हि नः | 88 | 2 | b |
| सदस्पती नतिक्रम्य | 74 | 34 | a | सन्धिज्वाऽ न्यत्र केशवम् | 69 | 31 | b |
| सदस्यर्त्विक्सुरगणान् | 84 | 56 | a | सन्नतिं नययुर्नृपाः | 70 | 25 | b |
| सदस्यर्त्विग्द्विजश्रेष्ठाः | 75 | 13 | a | सन्निकर्षो हि मर्त्यानां | 84 | 31 | a |
| सदस्या ग्र्यार्हणार्हं वै | 74 | 18 | a | सन्निकृष्टा स्सुरादयः | 85 | 44 | d |
| सदस्या ब्रह्मवादिनः | 75 | 25 | b | सन्न्यस्ताखिलराधसः | 65 | 6 | d |
| सदाराः पाण्डवाः कुन्ती | 82 | 24 | c | सपत्नीकं पुरस्कृत्य | 63 | 52 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सपर्यया सत्त्वविवर्धनान्धसा | 86 | 41 | d | समर्हयामास स तौ विभूतिभिः | 85 | 37 | a |
| सपर्यां कथमर्हति | 74 | 34 | d | समशिक्षाबलौजसोः | 72 | 39 | b |
| सपर्यां कथमर्हति | 74 | 35 | d | समश्नुवानं प्रसमीक्ष्य फल्गुनः | 89 | 52 | c |
| सपर्यांकथमर्हति | 74 | 36 | d | समं प्रशान्तं सुहृदात्मदैवम् | 63 | 45 | b |
| सपर्यां कारयामास | 73 | 25 | a | समाख्यातुं त्वमर्हसि | 62 | 1 | f |
| सप्तगोदावरीं वेणीं | 79 | 12 | c | समाविशत्तरणिरिव स्वकेतनं | 83 | 36 | d |
| सप्तद्वीपान् सप्तसिन्धून् | 89 | 48 | a | समावृत्तेन धर्मज्ञ | 80 | 28 | c |
| सप्तसप्त गिरीनथ | 89 | 48 | b | समाहितोऽनुशृणुयात् | 66 | 43 | c |
| सप्तोक्षणोतिबलवीर्य सुतीक्ष्णशृङ्गान् | 83 | 13 | a | समुद्धरतं मां कृच्छ्रत् | 64 | 20 | c |
| सप्रेमहास रसवीक्षित वल्गुजल्पैः | 61 | 3 | b | समुद्धृतः पूर्वजातैः | 87 | 43 | c |
| स बाहूतालसङ्काशौ | 67 | 24 | a | समुद्र इव पर्वणि | 61 | 31 | b |
| सबृन्द आब्रह्मपुनत् यदाम्बुह | 85 | 36 | d | समुद्रं दुर्गमाश्रित्य | 74 | 37 | c |
| स भवानरविन्दाक्षः | 74 | 3 | a | समुद्रं शरणंगतः | 72 | 31 | d |
| सभाजयसि सद्धाम | 84 | 20 | c | समुन्नतं दक्षिणतः | 68 | 54 | c |
| सभाजयित्वा विधिवत् | 70 | 35 | a | समुपेत्याऽथ गोपालान् | 65 | 5 | a |
| सभाजितो भगवता | 87 | 48 | a | समृद्धीस्सर्वसम्पदां | 81 | 32 | b |
| सभायामास्थितं प्रभुं | 66 | 4 | b | समेतः पादरजसा | 86 | 36 | c |
| सभायां मयक्लृप्तायां | 75 | 34 | a | समेता स्सर्वतो दिशम् | 63 | 4 | b |
| सभार्यस्वजनापत्यः | 86 | 43 | c | समेत्य गोविन्दकथा मिथोऽगृणन् | 83 | 5 | c |
| सभार्यस्सानुजामात्यः | 74 | 27 | c | समेत्य बन्धू ननुरक्तचेतसः | 68 | 53 | b |
| सभार्यं च नवं नवम् | 71 | 44 | d | सम्पदोऽमर्त्यदुर्लभाः | 81 | 7 | d |
| सभार्योऽवनिजे मुदा | 86 | 39 | d | सम्पाद्यतां तद्भवतः प्रसादः | 63 | 46 | c |
| सभीम दुर्योधनयोः | 79 | 23 | a | सम्पूज्य देव ऋषिवर्यमृषिः पुराणः | 69 | 16 | a |
| सभ्यानां मतमास्थाय | 71 | 1 | c | सम्पृक्तविदुषा सा च | 64 | 16 | c |
| समन्तात्सात्त्वतर्षभाः | 63 | 4 | d | सम्प्रत्यपास्तकमलश्रिय आस्तभर्तुः | 90 | 25 | b |
| सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया | 87 | 30 | d | सम्प्रहृष्टौ यथागतं | 89 | 62 | b |
| समर्हयद्धृषीकेशं | 74 | 26 | c | सम्प्रापितोस्य तदर्हः सुभद्रः | 64 | 8 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सम्प्राप्ता न्विद्धय मून्मुनीन् | 86 | 51 | b | सर्वभूतात्मदृक् साक्षात् | 81 | 6 | a |
| सम्प्रीणना भ्युदयणोषण पालनानि | 82 | 39 | b | सर्वभूतात्मभूताय | 74 | 24 | a |
| सम्प्रीतः प्रेमविह्वलः | 82 | 34 | b | सर्वभूतात्म साक्षिणः | 64 | 11 | b |
| सम्प्रेष्याह्वापयामास | 75 | 41 | c | सर्वमाश्रावयाञ्चक्रुः | 73 | 34 | c |
| सम्भृत्य सर्वसम्भारान् | 72 | 9 | c | सर्वयज्ञेश्वरं मखैः | 84 | 35 | d |
| सम्भ्रमस्तेन कर्तव्यः | 77 | 11 | c | सर्वराजन्यनिधनं | 79 | 22 | c |
| सम्मोहिताभगवतो नमनो विजेतुं | 61 | 3 | c | सर्विग्जनं समदहत् स्वकृतोऽभिचारः | 66 | 40 | d |
| सम्यक् पश्यन्ति योगिनः | 61 | 21 | d | सर्वलोकेश्वरेश्वरः | 70 | 34 | b |
| सम्यक्प्राप्त समर्हणाः | 82 | 28 | b | सर्ववेदमयो विप्रः | 86 | 54 | c |
| सम्यक् व्यवसितं राजन् | 72 | 7 | a | सर्वशक्ति धराव्यय | 68 | 48 | b |
| सम्यक्सभाजितः प्रीतः | 69 | 43 | c | सर्वसङ्गनिवृत्त्याद्धा | 83 | 39 | c |
| स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन् | 87 | 38 | a | सर्वसम्पत्समृद्धये | 81 | 11 | b |
| स यदा वितथोद्योगः | 88 | 9 | a | सर्वसम्पत्समृद्धायां | 90 | 1 | c |
| स यद्वा पुन्नतां गतः | 84 | 41 | d | सर्वस्यान्त र्बहिस्साक्षी | 66 | 38 | a |
| स यानं वृष्णिभीषणं | 76 | 6 | d | सर्वा आसार शर्कराः | 76 | 11 | b |
| सरस्वतीं प्रतिस्रोतां | 78 | 18 | c | सर्वात्मन स्समदृशः स्वसुखानुभूतेः | 72 | 6 | b |
| सरस्वत्या स्तटे राजन् | 89 | 1 | a | सर्वात्मना प्रपन्ना स्त्वां | 63 | 44 | c |
| स राज्यमकरो त्पुरा | 62 | 4 | b | सर्वात्मानं केवलं ज्ञप्तिमात्रं | 63 | 26 | b |
| सरित इवार्णवि मधुनिलिल्युरशेषरसाः | 87 | 31 | d | सर्वान् विव्याध सायकैः | 68 | 9 | b |
| सरुक्मिणो दुहितरं | 90 | 40 | a | सर्वान्सम्पूज्य विधिवत् | 74 | 47 | c |
| सर्वज्ञेनाऽपि मुग्धवत् | 70 | 48 | b | सर्वार्थात्मार्पणं गुरौ | 80 | 41 | d |
| सर्वतो भद्र मच्युतम् | 71 | 11 | b | सर्वा विसिस्युरलमश्रुकलाकुलाक्ष्यः | 84 | 1 | d |
| सर्वदेवमयो ह्यहम् | 86 | 54 | d | सर्वासामपि सिद्धीनां | 81 | 19 | c |
| सर्वधर्मबहिष्कृतः | 74 | 35 | b | सर्वासामश्नुते गतिम् | 88 | 4 | d |
| सर्वपापैः प्रमुच्यते | 66 | 43 | d | सर्वास्त्रशस्त्रतत्वज्ञाः | 83 | 20 | c |
| सर्वपापैः प्रमुच्यते | 74 | 54 | d | सर्वांश्च सुहृदो ऽव्ययम् | 83 | 1 | d |
| सर्वभूतमनोभिज्ञः | 81 | 1 | c | सर्वे कुशलमासते | 65 | 7 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सर्वे जनाः सुरुचो मणिकुण्डलस्रक् | 75 | 24 | a | सशरीरो विहायसा | 89 | 39 | d |
| सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ | 85 | 23 | c | सशार्ङ्गशार्ङ्गधन्वनः | 77 | 16 | b |
| सर्वे प्राञ्जलयो जनाः | 74 | 29 | b | सशोच्योह्यात्मवञ्चकः | 63 | 42 | d |
| सर्वे मङ्गल पाणयः | 68 | 18 | d | ससदस्या विरेजुस्ते | 84 | 49 | c |
| सर्वे मुमुदिरे ब्रह्मन् | 75 | 1 | c | ससभ्यस्सानुगोमुदा | 70 | 34 | d |
| सर्वे लोकास्सहेश्वराः | 74 | 2 | b | ससम्भ्रमै रभ्युपेतः | 71 | 38 | c |
| सर्वेषा मपि भूतानां | 72 | 8 | c | ससम्राड्रथमारूढः | 75 | 18 | a |
| सर्वेषां प्राणिना मिह | 86 | 53 | b | ससर्वद्दृ गुपद्रष्टा | 88 | 5 | c |
| सर्वेषां शृण्वतां राज्ञां | 84 | 34 | c | सयुतः प्रमथैर्नृतेः | 63 | 6 | b |
| सर्वे सञ्छिन्नकन्धराः | 77 | 5 | d | ससुतः सस्नुषः प्रायान् | 68 | 52 | c |
| सर्वे स्वपर सैनिकाः | 76 | 20 | d | ससुताबाह्लिकादयः | 82 | 26 | d |
| सलक्ष्मणं पुरस्कृत्य | 68 | 43 | c | स सेवतां सुरतरोरिवते प्रसाद्ः | 72 | 6 | c |
| स लब्ध्वा कामगं यानं | 76 | 8 | a | ससैन्यं सानुगामात्यं | 71 | 44 | c |
| स वञ्चयित्वा ग्रावाणं | 67 | 14 | c | ससौभस्सहसैनिकः | 76 | 23 | b |
| सवत्सानां सुवाससां | 70 | 8 | d | सस्त्रीका वीक्ष्यविस्मिताः | 82 | 27 | d |
| सवध्वा तामुपानयत् | 63 | 51 | d | सस्नुषा परिषस्वजे | 71 | 39 | d |
| स वव्रे वरमीप्सितम् | 66 | 29 | d | सस्नुस्तत्रततस्सर्वे | 75 | 21 | a |
| स वाच्यश्शोच्य एव सः | 72 | 20 | d | सस्नूरामह्रदे विप्राः | 84 | 53 | c |
| स वै दुर्विषहो राजा | 71 | 5 | a | सस्मारमुसलं रामः | 79 | 4 | a |
| स वै भवान्पुरुषो लोक कल्पः | 63 | 37 | d | सस्वजेऽथ पुनः पुनः | 71 | 25 | d |
| स वै सत्कर्मणां साक्षात् | 80 | 32 | a | सह ओजोऽपराजितः | 61 | 15 | d |
| सव्रजःसहबान्धवः | 84 | 67 | b | सहकृष्णान् द्विजोत्तमान् | 86 | 58 | b |
| सव्रीडप्रेमवीक्षितैः | 70 | 16 | b | सहदेव स्तदाऽब्रवीत् | 74 | 18 | d |
| सव्रीडसौहृदनिरीक्षणहासजुष्टः | 69 | 44 | d | सहदेवस्तु पूजायां | 75 | 4 | c |
| सव्रीडहासवदनाकबरी धृतस्रक् | 83 | 28 | d | सहदेवं तत्तनयं | 72 | 46 | a |
| सव्रीडितोऽवाग्वदनो रुषा ज्वलन् | 75 | 43 | a | सहदेवं दक्षिणस्यां | 72 | 13 | a |
| सव्यं दक्षिणमेव च | 72 | 35 | b | सहदेवेन पूजितः | 73 | 31 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सहदेवेन भारत | 73 | 25 | b | संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं | 82 | 49 | c |
| सहरामोऽच्युतोऽर्चयत् | 84 | 7 | b | संसिक्तमार्गाङ्गणवीथि देहलीं | 69 | 6 | c |
| सहलक्षम्या सतां गतिः | 89 | 8 | d | संसिक्तवर्त्म करिणां मदगन्धतोयैः | 71 | 32 | a |
| सहशय्यासनाशनाः | 68 | 25 | b | संस्कारो वैष्णवः स्मृतः | 90 | 38 | d |
| सहसङ्कथयन् हरिः | 81 | 1 | b | संस्तुत्य मुनयो रामं | 79 | 7 | a |
| सहसोत्थाय चाभ्येत्य | 80 | 18 | c | संस्तूयमानो भगवान् | 67 | 28 | c |
| सहस्रबाहुर्वाद्येन | 62 | 4 | e | संस्तूयमानो भगवान् | 71 | 31 | c |
| सहस्रमूर्धन्यफणा मणिद्युभिः | 89 | 54 | b | संस्तूयमानो भगवान् | 73 | 17 | a |
| सहस्रं दुहितृवत्सलः | 68 | 51 | d | संस्पृशन् शनकैर्मुदा | 86 | 30 | d |
| सहस्राणि च षोडश | 61 | 19 | f | संस्मरेत्प्रातरुत्थाय | 63 | 54 | c |
| सहस्रादित्यसङ्काशं | 89 | 50 | c | संवत्सरान्ते भगवान् | 76 | 5 | a |
| सहस्रै स्समलङ्कृतं | 69 | 8 | b | संविभज्याऽग्रतो विप्रान् | 70 | 13 | a |
| सहात्मजाः पतिमनुसुव्रता ययुः | 71 | 15 | b | संश्रावयन्भगवते परुषाण्यभीतः | 74 | 30 | d |
| सहितो भ्रातृभिर्नृप | 75 | 37 | b | संस्पृशंस्तत्पदाम्बुजं | 62 | 6 | d |
| संख्या न शक्यते कर्तुं | 90 | 44 | c | साक्षात्सदसतःपरे | 87 | 1 | d |
| संख्यानं यादवानां कः | 90 | 46 | a | साक्षादधोक्षज उरुव्यसनान्धबुद्धेः | 64 | 27 | c |
| संजज्ञ इत्यनुयुगं निजधर्मगुप्त्यै | 85 | 20 | b | सा च तं सुन्दरवरं | 62 | 24 | a |
| संयत्ता उद्धृतेष्वासाः | 83 | 34 | c | साचिव्यं यक्ष्यतस्त्वया | 71 | 2 | b |
| संयुक्ता विरतेतरौ | 72 | 34 | b | सा तत्र तमपश्यन्ती | 62 | 13 | a |
| संयुगं मत्समेन ते | 62 | 10 | d | सा ताञ्छोचत्यात्मजान् स्वान् | 85 | 50 | c |
| संयुध्यतो द्विरदयो रिव दीप्तः मन्योः | 72 | 37 | d | सात्यकिश्चारुदेष्णश्च | 76 | 14 | a |
| संयोज्याक्षिपते भूयः | 82 | 44 | c | सात्यक्युद्धवसंयुक्तः | 70 | 15 | c |
| संरब्धौ विजयैषिणौ | 79 | 25 | b | साधयित्वा क्रतुं राज्ञः | 74 | 48 | a |
| संरुद्धा मागधेन ये | 72 | 46 | f | साधयिष्यति सङ्कल्पं | 66 | 30 | c |
| संरोध परिकर्शिताः | 73 | 2 | b | साधये योगमायया | 78 | 34 | d |
| संसरन्तीह कर्मभिः | 85 | 15 | d | साधुशब्दोऽभवद्दिवि | 88 | 36 | d |
| संसारकूप पतितोत्तरणावलम्बं | 69 | 18 | c | साधु साध्विति चाऽम्बरे | 67 | 27 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| साधु साध्विति सत्तमाः | 74 | 25 | d | सालमुत्पाट्य पाणिना | 67 | 17 | b |
| साधूनाञ्च परायणम् | 80 | 9 | d | साल्वश्च कृष्णमालोक्य | 77 | 13 | a |
| साध्वीनां मौक्तिकस्रजाम् | 70 | 8 | b | साल्वशौरेस्तु दोस्सव्यं | 77 | 16 | a |
| सानुजो जगदीश्वर | 65 | 3 | b | साल्वस्त्वन्तरधीयत | 77 | 22 | b |
| सान्त्वयामास तं गिरा | 89 | 7 | b | साल्वस्य ध्वजिनी पालं | 76 | 18 | c |
| सान्त्वयामास भगवान् | 65 | 16 | c | साल्वस्यान्तिकमाशु वै | 77 | 11 | b |
| सान्त्वयित्वा तु तान्रामः | 68 | 14 | a | साल्वं शरणमागतं | 76 | 5 | d |
| सान्त्वयित्वाऽहमेतेषां | 68 | 32 | c | साल्वं शरैश्शौरि रमोचाविक्रमः | 77 | 34 | b |
| सान्द्राम्बुदाभं सुपिशङ्गवाससं | 89 | 55 | c | साल्वः प्रतिज्ञामकरोत् | 76 | 3 | a |
| सान्निध्यं यत्र धूर्जटेः | 79 | 19 | f | साल्वानां यदुभिस्सह | 76 | 16 | b |
| साऽपि तं चकमे वीक्ष्य | 86 | 7 | a | साल्वेनाल्पीयसा नीतः | 77 | 25 | c |
| सामुद्रं सेतुमगमत् | 79 | 15 | c | सा वागनन्तस्य गुणान्गृणीते | 80 | 3 | a |
| साम्ना योगेश्वरेण च | 75 | 41 | d | साश्रुकण्ठौ कुरूद्वह | 82 | 35 | d |
| साम्बमारेभिरे बद्धुं | 68 | 5 | g | सांख्ययोग वितानाय | 85 | 39 | c |
| साम्बस्य बाणपुन्नेण | 63 | 8 | c | सांख्यं योगञ्च यत्परः | 74 | 20 | d |
| साम्बं प्राञ्जलयोऽब्रुवन् | 68 | 43 | d | सिच्यमानोऽच्युत स्ताभिः | 90 | 9 | a |
| साम्बः सुमिन्नः पुरुजित् | 61 | 11 | c | सिञ्चन्त्य उद्धृतबृहत्कबरप्रसूनाः | 90 | 10 | b |
| साम्बादींश्च कुशस्थली | 75 | 29 | d | सिञ्चन्मुहुर्युवतिभिः प्रतिषिच्यमानः | 90 | 11 | c |
| साम्बाद्याः पितृसन्निभाः | 61 | 12 | d | सिताचलाभं शितिकण्ठजिह्वं | 89 | 54 | d |
| साम्बोऽक्रूरस्सहानुजः | 76 | 14 | b | सिद्धचारणपन्नगान् | 62 | 19 | b |
| साम्बो जाम्बवतीसुतः | 68 | 1 | d | सिद्धविद्याधरोरगाः | 85 | 41 | b |
| साम्बो मधु बृहद्भानुः | 90 | 55 | c | सिद्धाखिलार्थाः मधुसूदनाश्रयाः | 61 | 40 | d |
| सायकैश्शतधाऽच्छिनत् | 77 | 14 | d | सिद्धा ज्ञात्वाऽऽत्मनो गतिं | 87 | 42 | d |
| सायं प्रातरनन्तस्य | 79 | 34 | c | सिन्धुं वेलेव प्रत्यधात् | 78 | 3 | d |
| सारथिं रथमश्वांश्च | 63 | 19 | c | सिंहग्रस्तमिवोरणः | 68 | 28 | d |
| सारथे रथमारुहत् | 70 | 15 | b | सिंहवद्वधनदच्च सः | 78 | 7 | f |
| सारूप्यमथ सात्मतां | 85 | 43 | b | सिंहः क्षुद्रमृगैरिव | 68 | 8 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सीतापतिं न्निणवहा न्यमुनाऽभ्ययुध्यत् | 83 | 10 | b | सुनन्देनाहनच्च तम् | 67 | 18 | d |
| सीदते ते कुटुम्बिने | 80 | 10 | b | सुबाहुर्भद्र एकलः | 61 | 14 | b |
| सीदत्कुटुम्बेभ्य ऋतव्रतेभ्यः | 64 | 14 | b | सुबाहुस्तस्य चाऽऽत्मजः | 90 | 42 | b |
| सुकल्या मिह दुर्लभां | 85 | 16 | b | सुबाहोश्शान्तसेनीऽभूत् | 90 | 42 | c |
| सुखयति कोन्विह स्वविहते स्वानिरस्तभगे | 87 | 34 | d | सुमतिर्जैमिनिक्रतुः | 74 | 8 | b |
| सुखं दुःखं भवाभवौ | 73 | 22 | b | सुमन्तुर्गौतमोऽसितः | 74 | 7 | b |
| सुखं निवासयामास | 71 | 44 | a | सुयेधनस्य दौरात्म्यं | 75 | 44 | c |
| सुखं स्वपुर्यां निवसन् | 90 | 1 | a | सुरमानव खेचराः | 74 | 52 | b |
| सुखासीना न्महामनाः | 86 | 27 | d | सुरसिद्धमुनीन्द्राणाम् | 67 | 27 | c |
| सुग्रीवसचिवस्सोऽथ | 67 | 2 | c | सुरामांसाभिवर्षिणं | 78 | 39 | d |
| सुग्रीवाद्यैर्हयै र्युक्तं | 70 | 14 | c | सुवस्त्रमणि कुण्डलैः | 69 | 11 | d |
| सुचन्द्रशुकसारणैः | 82 | 6 | d | सुवासस्समलङ्कृतं | 63 | 52 | b |
| सुचारुश्चारुगुप्तश्च | 61 | 8 | c | सुवासा स्सुष्ठ्वलङ्कृतः | 79 | 32 | d |
| सुतलं संविविशतुः | 85 | 34 | c | सुवासीभि रलङ्कृतं | 69 | 11 | b |
| सुतस्पर्शपरिस्नुतम् | 85 | 55 | b | सुशान्तं तप ईयुषे | 86 | 35 | d |
| सुतां कुर्वन् स्वसुःप्रियं | 61 | 23 | d | सुश्लोकं श्रवणपुटैः पिबत्यभीक्ष्णं | 89 | 21 | c |
| सुतां यभितुमुद्यतं | 85 | 48 | d | सुसंवृता नृभि रसिचर्मपाणिभिः | 71 | 15 | d |
| सुतौ विजतु श्शुचः | 82 | 36 | d | सुसुतान् सपरिच्छदान् | 71 | 13 | b |
| सुदक्षिणस्तस्य सुतः | 66 | 27 | a | सुस्नातान् समलङ्कृतान् | 73 | 26 | b |
| सुदक्षिणोऽर्चयामास | 66 | 28 | c | सुस्वागतं विदधुरुत्स्मयवीक्षितेन | 71 | 35 | d |
| सुदर्शनीयसर्वाङ्गं | 67 | 9 | c | सुहृत्कृतं फल्वपि भूरिकारी | 81 | 35 | b |
| सुदुश्शासन गान्धारौ | 68 | 5 | d | सुहृत्सन्दर्शनादिकम् | 84 | 71 | d |
| सुदुस्तरं समुत्तीर्य | 75 | 30 | c | सुहृत्सम्बन्धिनो नृपान् | 82 | 12 | d |
| सुदृढा जायते भक्तिः | 73 | 18 | c | सुहृत्सम्बन्धिबान्धवाः | 84 | 57 | d |
| सुधर्माऽऽक्रम्यते येन | 68 | 35 | a | सुहृत्सम्बन्धि बान्धवान् | 75 | 28 | b |
| सुधर्माख्यां सभां सर्वैः | 70 | 18 | a | सुहृत्सम्बन्धि बान्धवान् | 83 | 37 | b |
| सुनन्दनन्द प्रमुखैः स्वपार्षदैः | 89 | 57 | a | सुहृदः प्रकृती र्दारान् | 70 | 13 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सुहृदामपि नः प्रभो | 72 | 8 | b | सृजत्यवति हन्त्यजः | 74 | 21 | d |
| सुहृदोज्ञातयः पुत्राः | 82 | 20 | a | सृजत्यवत्यत्ति न तत्र बध्यते | 84 | 17 | b |
| सुहृदोऽन्यांश्च सर्वशः | 75 | 23 | b | सृञ्जयो विदुरः कृपः | 82 | 24 | d |
| सुहृद्दिदृक्षुरुत्कण्ठः | 65 | 1 | c | सृष्ट्वा लोकं परं स्वाग्रं | 86 | 45 | c |
| सुहृद्भि रभिनन्दितः | 68 | 52 | d | सेतिहासपुराणानि | 78 | 25 | c |
| सुहृद्भि रभियाचितः | 74 | 48 | d | सेवया तद्गतिं गताः | 89 | 20 | d |
| सुहृद्भि श्चान्वशाम्यत | 86 | 11 | d | सेवानुभावमिह पश्यतु लोक एषः | 72 | 5 | b |
| सुहृद्वृतः प्रीतमनाः | 84 | 60 | c | सेवानुरूपमुदयो नविपर्ययोऽत्र | 72 | 6 | d |
| सुहृन्मन्त्रार्थतत्ववित् | 70 | 47 | b | सेविते स्त्रीगणैर्वृतः | 65 | 18 | d |
| सूचयद्रामविक्रमम् | 68 | 54 | b | सैषा ह्युपनिषद्ब्राह्मी | 87 | 3 | a |
| सूतमागधगन्धर्वाः | 71 | 30 | a | सोऽतिविद्धः कुरश्रेष्ठ | 68 | 8 | a |
| सूतमागधवन्दिनः | 70 | 21 | d | सोऽद्य नो दर्शनं प्राप्तः | 86 | 44 | a |
| सूतमागध वन्दिभिः | 90 | 8 | d | सोऽन्वदृश्यत शूलधृत् | 79 | 2 | d |
| सूतमाहरणाङ्गणे | 77 | 1 | d | सोऽपतद्भुवि निर्भिन्न- | 79 | 6 | a |
| सूतमेकेन चाऽहनत् | 77 | 4 | b | सोऽपतद्रुधिरं वमन् | 67 | 25 | d |
| सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेत् | 76 | 32 | c | सोऽपश्यत्तत्र महतीं | 86 | 6 | a |
| सूतीगृहे ननु जगाद भवानजो नौ | 85 | 20 | a | सोपाध्यायः सुहृद्वृतः | 71 | 23 | d |
| सूतेन प्राप्तकिल्विषात् | 76 | 29 | d | सोपाध्याया स्सहस्रशः | 83 | 20 | d |
| सूतोपनीतं स्वरथं | 71 | 13 | e | सोपाध्यायो महेश्वरम् | 66 | 28 | b |
| सृदितञ्च बलं भूरि | 63 | 49 | c | सोऽबिभ्य त्स्वकृताच्छिवः | 88 | 23 | f |
| सृपपन्न मविस्मिताः | 74 | 16 | b | सोऽभिवन्द्याम्बिकापुत्रं | 68 | 17 | a |
| सृपविष्टा न्कृतातिथ्यान् | 86 | 43 | a | सोऽभ्यगाद्ब्रह्मण स्सभां | 89 | 2 | d |
| सूर्यश्चास्तङ्गत स्तावत् | 80 | 37 | a | सोभ्यधाव द्वृतो भूतैः | 66 | 34 | c |
| सूर्यानलेन्दु सङ्काशैः | 81 | 21 | c | सोमराज मिवोडुभिः | 84 | 47 | d |
| सूर्ये चाभिजिति स्थिते | 83 | 26 | d | सोऽर्चित स्सपरीवारः | 78 | 22 | a |
| सूर्योपराग स्सुमहान् | 82 | 1 | c | सोऽसावसाविति प्राह | 62 | 21 | c |
| सृजति मुहु स्त्रिणेमि रभवच्छरणेषु भयम् | 87 | 32 | d | सौत्येऽहन्यवनीपालः | 74 | 17 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सौनिकेन यथा पशुः | 77 | 23 | d | स्त्रीणां किल हृता धियः | 90 | 13 | d |
| सौभञ्च शत्रोर्गदया रुरोज ह | 77 | 34 | d | स्त्रीभिश्च हरिणाक्षिभिः | 81 | 23 | b |
| सौभञ्च साल्वराजञ्च | 77 | 10 | c | स्त्रीभिश्चोत्तमवेषाभिः | 90 | 2 | a |
| सौभराट् प्रत्युपस्थितः | 77 | 26 | b | स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभिर्नृषु | 84 | 2 | b |
| सौभस्थमालोक्य निहन्तु मुद्यतः | 77 | 30 | d | स्नातास्सुवाससो राजन् | 84 | 44 | c |
| सौभं तद्दुरवस्थितम् | 76 | 22 | d | स्नातो राजा युधिष्ठिरः | 74 | 51 | b |
| सौभे च गदया हते | 77 | 38 | b | स्नातोऽलङ्कारवासांसि | 84 | 54 | a |
| सौहृदा त्क्लिन्नचेतसः | 84 | 58 | b | स्नात्वा प्रभासे सन्तर्प्य | 78 | 18 | a |
| स्कन्दं दृष्ट्वा ययौ रामः | 79 | 13 | a | स्नात्वा सन्तर्प्य देवादीन् | 79 | 10 | c |
| स्कन्दः प्रद्युम्नवाणौघैः | 63 | 15 | a | स्नात्वा सरोवर मगात् | 79 | 9 | c |
| स्तनैः स्तनात्कुङ्कुमपङ्कलूषितान् | 82 | 16 | c | स्नात्वाऽस्पर्शान्नदायुतं | 79 | 18 | d |
| स्तम्भैर्मरकतोत्तमैः | 69 | 9 | d | स्नापयाञ्चक्र उद्धर्षः | 86 | 40 | c |
| स्तुवतो वन्दिनोरिव | 88 | 16 | b | स्निग्धच्छायाङ्घ्रिपाङ्घ्रिषु | 82 | 12 | b |
| स्तूयमानञ्च वन्दिभिः | 69 | 26 | d | स्निग्धेक्षणं नृप पपुर्दृशिभिर्नृनार्यः | 86 | 20 | d |
| स्तूयमानश्च वन्दिभिः | 75 | 35 | d | स्नेहपाशानुबन्धनः | 61 | 25 | f |
| स्थलेऽभ्यगृह्णाद्वस्त्रान्तं | 75 | 38 | a | स्नेहपशैः निबध्नानि | 85 | 17 | c |
| स्थानं दूरं हरेः स्थानं | 79 | 19 | a | स्नेहभङ्ग भयाद्धरिः | 61 | 39 | d |
| स्थितं निरुदके कूपे | 64 | 2 | c | स्पर्धन्तो हृच्छयातुराः | 83 | 31 | d |
| स्थितिपालन तत्परः | 68 | 47 | d | स्पर्शोत्थशक्तिरभिवर्षति नोऽखिलार्थान् | 82 | 30 | d |
| स्थित्युत्पत्तिलयानां त्वं | 68 | 45 | a | स्फुरन्मकरकुण्डलम् | 66 | 14 | d |
| स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजः | 87 | 29 | a | स्फुरन्मकरकुण्डलम् | 73 | 3 | d |
| स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मित श्रीमुखेन | 90 | 53 | c | स्मयन्तस्तं जगद्गुरुं | 84 | 15 | d |
| स्त्रिय उरगेन्द्रभोग भुजदण्डविषक्तधियः | 87 | 23 | c | स्मयमान उवाच तम् | 81 | 1 | d |
| स्त्रिय एक उदावहत् | 69 | 2 | d | स्मयमाना महीपते | 62 | 21 | d |
| स्त्रियश्च संवीक्ष्य मथोऽति सैहृद | 82 | 16 | a | स्मरतः पादकमलम् | 80 | 11 | a |
| स्त्रियो नृपतयोऽपरे | 75 | 40 | b | स्मरतां दर्शनं गतः | 86 | 31 | d |
| स्त्रियो मज्जनकर्मणि | 73 | 24 | d | स्मरन् कंसकृतान् क्लेशान् | 82 | 34 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| स्मरन्ती कृपणं प्राह | 85 | 28 | c | स्वचक्रं प्राहिणोत्पुरः | 89 | 50 | d |
| स्मरन्त्यो रुरुदुः स्त्रियः | 65 | 15 | d | स्वच्छस्फटिककुड्येषु | 81 | 31 | a |
| स्मरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीं | 82 | 37 | c | स्वजनसुतात्मदारधन धामधरासुरथैः | 87 | 34 | a |
| स्मरन्नश्रुविलोचनः | 84 | 65 | d | स्वजनादुःखदुःखितं | 88 | 8 | d |
| स्मरेद्वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु | 80 | 3 | c | स्वजनानुत बन्धून्वा | 84 | 64 | c |
| स्मरेद्गीथः परिष्वङ्गः | 85 | 52 | a | स्वतत्पादवरुह्यऽऽशु | 89 | 9 | a |
| स्मायावलोकलवदर्शित भावहारि | 61 | 4 | a | स्वतेजसा स्वं ककुभोऽथ रोदसी | 66 | 39 | c |
| स्मितामलापाङ्गदृशोऽभिरेभिरे | 82 | 16 | b | स्वतोऽन्यस्माच्च गुणतः | 84 | 32 | c |
| स्मितावलोकेन च मण्डिताननं | 62 | 31 | d | स्वदत्तां परदत्तां वा | 64 | 40 | a |
| स्मितावलोको च्छ्वसित स्मरातुराः | 65 | 13 | d | स्वदेशा त्रत्ययापयत् | 73 | 28 | d |
| स्मृतिर्नाऽद्याऽपि विध्वस्ता | 64 | 26 | c | स्वदेशांश्चाऽपरे जनाः | 84 | 58 | d |
| स्मृतिर्यथा न विरमेत् | 73 | 15 | c | स्वधामनि मुदा ययुः | 74 | 52 | d |
| स्मृत्वा स्मृत्वा विसृजसि मुहु | | | | स्वधामानि ययु र्मुदा | 75 | 26 | d |
| दुःखद स्तत्प्रसङ्गः | 90 | 21 | d | स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः | 84 | 13 | b |
| स्यन्दनं परमाद्भुतम् | 70 | 14 | b | स्वपत्न्यावभृथस्नातः | 79 | 32 | a |
| स्यमन्तपञ्चकं क्षेत्रम् | 82 | 2 | c | स्वपाद स्पर्शनेच्छया | 83 | 11 | b |
| स्यादिदं भगवान् साक्षात् | 85 | 4 | c | स्वपिति जागर्ति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः | 90 | 15 | b |
| स्यान्मेऽनुदृश्य च इह यस्य भवापवर्गः | 64 | 27 | d | स्वपुरं जयिनोऽविशन् | 68 | 12 | d |
| स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः | 70 | 13 | b | स्वपुरं देवकीसुतः | 74 | 49 | d |
| स्रग्व्येककुण्डलो मत्तः | 65 | 24 | a | स्वप्नायितं नृपसुखं परतन्त्रमीश | 70 | 29 | a |
| स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं | 87 | 20 | a | स्वप्ने प्राद्युम्निना रतिम् | 62 | 12 | b |
| स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयाऽवसितं | 87 | 26 | d | स्वँबोधआस्ते स्वजनानुषङ्गतः | 77 | 29 | b |
| स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया | 87 | 19 | a | स्वभागं मृगराडिव | 86 | 10 | d |
| स्वगृहं प्रविश नृप | 62 | 11 | b | स्वमघं क्षपयिष्यावः | 82 | 6 | b |
| स्वगृहाञ्जनको यथा | 86 | 38 | b | स्वमन्धेनाऽध्यवासयत् | 65 | 19 | d |
| स्वगृहान्प्रीडितोऽगच्छत् | 81 | 14 | c | स्वमायया सर्वगुणप्रसिद्ध्यै | 63 | 39 | d |
| स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पणेन च | 85 | 37 | d | स्वमायया संवृतरुद्धदृष्टये | 86 | 48 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| स्वमाययेदं सृजतो नियच्छतः | 70 | 39 | b | स्ववचस्तदृतं कर्तुं | 86 | 32 | a |
| स्वयञ्च कृष्णया राजन् | 71 | 41 | c | स्ववीर्यनशनं कुधीः | 62 | 11 | d |
| स्वयञ्च तदनुज्ञानाः | 82 | 11 | c | स्वशक्तिभि र्लक्षित भावनिर्वृतिं | 70 | 5 | d |
| स्वयन्तु कुरव शिशरः | 68 | 38 | d | स्वसमृद्धि महैतुकीम् | 81 | 32 | d |
| स्वयमाहूय दत्तवान् | 83 | 15 | b | स्वसंस्थया नित्य निवृत्त कल्मषं | 70 | 5 | b |
| स्वयं जहार किमिदं | 81 | 8 | c | स्वसारं रामकृष्णयोः | 86 | 1 | b |
| स्वयंवरस्था महरत् | 68 | 1 | c | स्वसुखेनाभिवन्दितः | 81 | 13 | b |
| स्वयं सख्युस्समर्हणं | 80 | 20 | b | स्वसुः प्रियचिकीर्षया | 61 | 25 | d |
| स्वयोगमाययाच्छन्नं | 84 | 22 | c | स्वसृष्टमिद मापीय | 87 | 12 | a |
| स्वयोगमायारचितैःकुरुक्षेत्रे द्विषट् समाः | 90 | 51 | b | स्वस्थं सौभं समाविशत् | 77 | 28 | d |
| स्वयोन्या वारिणाऽऽत्मभूः | 89 | 4 | d | स्वहस्तं कुमतिर्व्यधात् | 88 | 35 | d |
| स्वराजधानीं समलङ्कृतां ध्वजैः | 63 | 53 | a | स्वहस्तं धातुमारेभे | 88 | 23 | c |
| स्वरूपं तन्मयोऽभवत् | 66 | 24 | d | स्वागतं कुशलं पृष्ट्वा | 82 | 17 | c |
| स्वैराकृतिभिस्तांस्तु | 72 | 22 | a | स्वागतासनपाद्यार्घ्य | 84 | 7 | c |
| स्वर्गापवर्गयोः पुंसां | 81 | 19 | a | स्वागतेनाभिनन्द्याङ्घ्रीन् | 86 | 39 | c |
| स्वर्गापवर्गविगमः स्वयमास विष्णुः | 82 | 31 | d | स्वानामर्थचिकीर्षया | 82 | 42 | b |
| स्वर्यन्द्रुतालङ्करणाम्बरस्रक् | 64 | 6 | d | स्वानुग्रहाय सम्प्राप्तं | 86 | 24 | a |
| स्वर्णपुङ्खै रयोमुखैः | 76 | 18 | b | स्वानुभूतमशेषेण | 89 | 14 | c |
| स्वर्णरत्न परिच्छदैः | 69 | 5 | d | स्वान् निवार्य स्वयं रुपा | 74 | 43 | b |
| स्वलङ्कृता नरा नार्यः | 75 | 14 | a | स्वाप्नं यथा चाम्बरचारिणं रिपुं | 77 | 30 | c |
| स्वलङ्कृताभि र्विबभौ | 84 | 48 | c | स्वामिने सर्वमाहरन् | 66 | 10 | b |
| स्वलङ्कृताः कटकुटि कम्बलाम्बरादि- | 71 | 16 | c | स्वायम्भुवब्रह्मसत्रं | 87 | 9 | a |
| स्वलङ्कृतेभ्यो गुणशीलवद्भ्यः | 64 | 14 | a | स्वाराज्यं भोज्यमप्युत | 83 | 41 | b |
| स्वलङ्कृतेभ्योऽलङ्कृत्य | 84 | 52 | c | स्वार्थे प्रमत्तस्य वयः | 85 | 16 | c |
| स्वलङ्कृतै र्भटैर्भूपाः | 75 | 11 | c | स्विष्टेषु सूनृत समर्हणदक्षिणाभिः | 75 | 8 | b |
| स्वलङ्कृतै र्भटैरश्वैः | 90 | 3 | c | स्वेदप्रालेयभूषितं | 65 | 24 | d |
| स्वलीलया वेदपथं सनातनं | 84 | 18 | c | स्वे परे चारुणानुजं | 77 | 12 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| स्वैरवर्ती गुणैर्हीनः | 74 | 35 | c | हरेर्यज्ञपतेः प्रभोः | 81 | 39 | b |
| स्वैरावतार उरुगायविदाम सुष्ठु | 69 | 17 | d | हरेः स्वकौशलं यत्र | 69 | 7 | c |
| स्वैर्विभ्रमैस्समशकन् वनिताविभूम्नः | 61 | 3 | d | हर्तारं पातयत्यधः | 64 | 44 | b |
| स्वैः स्वैर्बन्धुभिरन्वितौ | 84 | 50 | b | हर्षयन्तः स्वसुहृदः | 73 | 32 | c |
| | | | | हलञ्च दैत्यदमनं | 79 | 4 | c |
| - ह - | | | | हलञ्चारिजिघांसया | 67 | 16 | d |
| हतनाथानि सर्वतः | 63 | 16 | d | हसन्तं हास्यकथया | 69 | 29 | a |
| हतप्रायबलेश्वरः | 77 | 13 | b | हसन्तीभिश्च रेचकैः | 90 | 9 | b |
| हतः को नु महत्त्वीश | 88 | 39 | a | हसन्ती व्रीडितापाङ्गा | 86 | 7 | c |
| हते पापे वृकासुरे | 88 | 37 | b | हसन्त्यो भ्रातृजामयः | 76 | 31 | b |
| हत्वा दुर्विषहानन्यान् | 78 | 13 | c | हस्तग्राहं न तेऽद्याऽपि | 62 | 15 | c |
| हत्वा नृपामधर्मिष्ठान् | 89 | 66 | a | हस्तं न्यस्य प्रतीयताम् | 88 | 33 | d |
| हत्वा शङ्खमपूरयत् | 63 | 19 | d | हंस स्वागत मास्यतां पिब पयो | | | |
| हत्वेहभूयस्त्वरये तमन्तिमे | 89 | 59 | d | ब्रूह्यङ्ग शौरेः कथां | 90 | 26 | a |
| हनिष्यति न सन्देहः | 71 | 7 | c | हंस्युन्मार्गान् हिंसया वर्तमानान् | 63 | 28 | c |
| हनिष्ये वज्रकल्पया | 78 | 5 | d | हारनूपुर कुण्डलैः | 84 | 48 | b |
| हन्तुं रन्ध्रं प्रतीक्षते | 61 | 20 | d | हार्दिक्यो भानुविन्दश्च | 76 | 14 | c |
| हयमारुह्य सैन्धवम् | 69 | 35 | b | हार्दिक्यो विदुरादयः | 75 | 6 | b |
| हयरत्नचतुष्टयम् | 83 | 32 | b | हासावलोकनवसङ्गम लालसाद्यम् | 61 | 5 | d |
| हयैश्च तरलप्लवैः | 82 | 7 | d | हास्यप्रिया विजहसुः | 67 | 12 | c |
| हरये परमात्मने | 73 | 16 | b | हास्य हस्तग्रहादिभिः | 65 | 5 | b |
| हरिदासस्य राजर्षेः | 75 | 27 | a | हाहाकारो महानासीत् | 72 | 45 | a |
| हरिद्रासान्द्रकुङ्कुमैः | 75 | 15 | b | हाहाकारो महानासीत् | 77 | 17 | a |
| हरिर्हि निगुणस्साक्षात् | 88 | 5 | a | हाहेति वादिन स्सर्वे | 78 | 29 | a |
| हरिशङ्करयो र्महत् | 62 | 1 | d | हाहेति शब्दः सुमहानभूत्सतां | 75 | 43 | c |
| हरिश्चन्द्रो रन्तिदेवः | 72 | 21 | a | हित्वा तद्ब्रह्मवर्चसम् | 74 | 37 | b |
| हरिष्ये तद्धनं शनैः | 88 | 8 | b | हित्वात्मधाम विधुतात्मकृत त्र्यवस्थं | 83 | 4 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| हित्वाऽन्यान् भजते जनः | 88 | 10 | d | हृष्यत्त्वचो रुद्धगिरोययु र्मुदम् | 82 | 15 | d |
| हित्वा यदात्मनि सुखं त्वदनीहलभ्यं | 70 | 29 | c | हे कृष्णपत्न्य एतन्नः | 83 | 7 | a |
| हिनस्ति विषमत्तांर | 64 | 35 | a | हे जाम्बवति कौसले | 83 | 6 | b |
| हिन्वन्त्यनाद्या त्मविपर्ययग्रहम् | 77 | 33 | b | हेतुभिर्लक्षयाञ्चक्रुः | 62 | 27 | c |
| हिरण्यकशिपोर्जाता | 85 | 49 | c | हे राजन्! हे वृकोदर! | 79 | 26 | b |
| हिरण्यगर्भ श्शर्वश्च | 71 | 8 | c | हे विप्रा व्रियतां कामः | 72 | 27 | c |
| हिंसाविहारं नृपतिं | 89 | 25 | a | हे वैदर्भ्य च्युतो भद्रे | 83 | 6 | a |
| हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः | 70 | 6 | d | हे सत्यभामे कालिन्दि | 83 | 6 | c |
| हृदयास्राविलेक्षणः | 86 | 28 | b | हैहयो नहुषो वेनः | 73 | 20 | a |
| हृदि भास्यमलात्मनाम् | 86 | 46 | d | हैमाः किलोपकरणाः | 74 | 13 | a |
| हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थः | 86 | 47 | a | ह्रदिनीपु महोदयः | 90 | 7 | b |
| हृदीरयसि नः स्मरम् | 90 | 19 | d | ह्रमते वा यथारवेः | 74 | 4 | d |
| हृष्यत्तनुर्विस्मृत लोकविभ्रमः | 71 | 26 | d | | | | |

# व्याख्यानोद्धृतानां प्रमाणवचनानां आकरनिर्देशनी
## दशमः स्कन्धः तृतीयो भागः (61-90 अध्यायाः)

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | अ | | | |
| 1 | 87 | 15 | अग्नि मूर्धा दिवः | श्रीध० | ऋग्वे° 8-44-16a | |
| 2 | 74 | 19 | अग्निर्वै देवानां मुखम् | विज० | | |
| 3 | 78 | 36 | अङ्गादङ्गात्सम्भवसि | श्रीध० | बृह. उ. 6-4-9 | |
| 4 | 78 | 36 | अङ्गादङ्गा त्सम्भवसि | वीर० | बृह. उ. 6-4-9 | |
| 5 | 87 | 20 | अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्त | वीर० | कठ. उ. 6-17 | |
| 6 | 87 | 20 | अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोमध्य | वीर० | कठ. उ. 4-12 | |
| 7 | 87 | 20 | अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्य | वीर० | श्वेता. उ. 5-8 | |
| 8 | 87 | 36 | अचक्षुश्श्रोत्रम् | श्रीध० | मुण्ड. उ. 1-1-6 | |
| 9 | 77 | 31 | अजस्यावक्रचेतसः | विज० | कठ. उ. 5-1 | |
| 10 | 87 | 31 | अजामेकां लोहितशुक्ल | श्रीध० | म. ना. उ. 8-4 | |
| 11 | 87 | 38 | अजामेकां लोहित शुक्ल | श्रीध० | म. ना. उ. 8-4 | |
| 12 | 87 | 26 | अजायात्मना च चरतः | वीर० | | |
| 13 | 87 | 15 | अतश्शब्दश्च हेत्वर्थे | विज० | शब्दनिर्णये | |
| 14 | 87 | 31 | अतस्तुसर्वनामाऽसौ | विज० | पाद्मे | |
| 15 | 70 | 28 | अतिस्या दधिकार्थोक्तौ | विज० | वैज. को. 8-7-15 | |
| 16 | 87 | 37 | अतोऽभिजाय वा न्विष्णुः | विज० | शब्दनिर्णये | |
| 17 | 87 | 39 | अथाकामाय मानो यो | विज० | | |
| 18 | 87 | 14 | अथान्ये प्रकृती दुष्टे | विज० | महातत्त्वविवेके | |
| 19 | 85 | 49 | अधिशीङ्स्थाऽऽसाम् | वीर० | अष्टा० 1-4-46 | |
| 20 | 87 | 36 | अध्य स्यते खपुष्पत्व | श्रीध० | | |
| 21 | 87 | 36 | अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति | विज० | मुण्ड. उ. 3-1-1 | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 22 | 74 | 35 | अनामगोत्रम् | श्रीध० | | |
| 23 | 87 | 25 | अनीशयामुह्यति मुह्यमानः | श्रीध० | मुण्ड. उ. 3-1-2 | |
| 24 | 72 | 5 | अनुभावः प्रभावे स्यात् | विज० | वैज. को. 8-1-8 | |
| 25 | 87 | 24 | अनेजदेकं मनसो | श्रीध० | ईशा. उ. 4 | |
| 26 | 87 | 2 | अनेनजीवेनाऽऽत्मनाऽनु | वीर० | छान्दो. उ. 6-3-2 | |
| 27 | 87 | 36 | अन्धेनैवनीयमाना यथान्धाः | विज० | कठ. उ. 2-5 | |
| 28 | 87 | 41 | अन्यत्रधर्मा दन्यत्राधर्मात् | श्रीध० | कठ. उ. 2-14 | |
| 29 | 87 | 41 | अन्यदेवतद्वदिता दथो | श्रीध० | केन. उ. 1-4 | |
| 30 | 87 | 32 | अन्याविज्ञातया विष्णोः | विज० | प्रमाणसंहितायाम् | |
| 31 | 87 | 40 | अन्ये सर्वे श्रिय।श्रद्धाः | विज० | गारुडपुराणे | |
| 32 | 88 | 5 | अपरेय मितस्त्वन्याम् | वीर० | भ. गी. 7-5 | |
| 33 | 87 | 28 | अपाणि पादो जवनो | श्रीध० | श्वेता. उ. 3-19 | |
| 34 | 73 | 14 | अपामसोममभृता अभूम | वीर० | अथ. शिखा. उ. 3-2 | |
| 35 | 87 | 36 | अपामसोम ममृता अभूम | श्रीध० | अथ. शिखा. उ. 3-2 | |
| 36 | 88 | 1,2 | अभयंध्यायेदजस्रं | श्रीध० | भाग. 10-87-50 | |
| 37 | 87 | 1 | अभिधेयाविनाभूतप्रवृत्तिः | श्रीध० | | |
| 38 | 69 | 45 | अमृतस्यैष सेतुः | वीर० | मुण्ड. उ. 2-2-5 | |
| 39 | 87 | 1 | अय मात्मा ब्रह्म | वीर० | बृह. उ. 2-5-19 | |
| 40 | 87 | 25 | अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः | श्रीध० | कठ. उ. 2-5 | |
| 41 | 87 | 31 | अविनाशी वा अरेऽयमात्मा | श्रीध० | बृह. उ. 4-5-14 | |
| 42 | 88 | 12 | अव्यस्थितचित्तस्य प्रसादो | वीर० | | |
| 43 | 87 | 50 | अशेषसमाम्नाय पुराणो | वीर० | | |
| 44 | 87 | 17 | अशक्तोदेहपूर्येष | विज० | पुरुषोत्तम तन्त्रे | |
| 45 | 87 | 26 | असतोऽधिमनोऽसृजत | श्रीध० | | |
| 46 | 87 | 36 | असत्य मप्रतिष्ठं ते जग | विज० | स्कान्दे | |
| 47 | 87 | 28 | असद्वा इद मग्र आसीत् | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-7 | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 48 | 87 | 17 | असुर्या नाम ते लोकाः | श्रीध० | ईशा. उ. 3 | |
| 49 | 87 | 22 | असुर्या नाम ते लोकाः | विज० | ईशा. उ. 3 | |
| 50 | 87 | 41 | अस्थूल मनणु | श्रीध० | बृह. उ. 3-8-8 | |
| 51 | 61 | 25 | अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं | श्रीध० | | |
| 52 | 88 | 4 | अहङ्कारोऽध्यात्मं | वीर० | | |
| 53 | 87 | 3 | अहंमनुरभवं सूर्यश्च | वीर० | बृह. उ. 1-4-10 | |
| | | | **आ** | | | |
| 54 | 87 | 33 | आचार्यवान् पुरुषो वेद | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-14-2 | |
| 55 | 75 | 38 | आचितं निचितं व्याप्तम् | विज० | हला. को. 4-17 | |
| 56 | 87 | 17 | आत्मन आकाश स्सम्भूतः | वीर० | तैत्ति. उ. 2-1-1 | |
| 57 | 81 | 6 | आत्मा (देहे) धृतौ (जीवे) | विज० | वैज. को. 6-1-6 | |
| 58 | 87 | 29 | आत्मानं मुक्तिदं विष्णुं | विज० | ब्राह्मे | |
| 59 | 87 | 23 | आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः | श्रीध० | बृह. उ. 2-4-5 | |
| 60 | 87 | 37 | आत्मा वा इदमेक एवा | श्रीध० | ऐत. उ. 1-1-1 | |
| 61 | 87 | 37 | आत्मा वा इदमेक एवा | वीर० | ऐत. उ. 1-1-1 | |
| 62 | 78 | 36 | आत्मा वै पुत्रनामाऽसि | श्रीध० | कौषी. उ. 2-11 | |
| 63 | 87 | 31 | आनन्द त्वा दनामासौ | विज० | स्कान्दे | |
| 64 | 87 | 2 | आमिक्षां देवतायुक्तां वद | श्रीध० | | |
| 65 | 87 | 36 | आम्नायस्य क्रियार्थ | श्रीध० | | |
| 66 | 87 | 22 | आराम मस्य पश्यन्ति | श्रीध० | बृह. उ. 4-3-14 | |
| 67 | 87 | 40 | आर्तोजिज्ञासु रर्थार्थी | वीर० | भ. गी. 7-16 | |
| 68 | 87 | 50 | आलोड्य सर्वशास्त्राणि | वीर० | भार. 13 App 13-20 pr | |
| | | | **इ** | | | |
| 69 | 70 | 1 | इत्यर्थ कामधर्मेषु | श्रीध० | भाग. 10-69-43 | |
| 70 | 87 | 37 | इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप | वीर० | बृह. उ. 4-5-16 | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 71 | 87 | 15 | इन्द्रो यातोऽवसितस्य | श्रीध० | ऋग्वे 1-32-15a | |
| 72 | 74 | 19 | इन्द्रो वै सर्वेषां श्रेष्ठः | विज० | | |
| 73 | 82 | 30 | इमम्मे गङ्गे यमुने सर | वीर० | म.ना.उ. 5-21 | |
| | | | **ई** | | | |
| 74 | 87 | 3 | ईशबुद्धिस्थिता स्सदा | विज० | | |
| | | | **उ** | | | |
| 75 | 72 | 38 | उगितश्च | वीर० | अष्टा 4-1-14 | |
| 76 | 87 | 18 | उदरं ब्रह्मेति शार्कराक्षा | श्रीध० | ऐत.उ.1-4-1 | |
| 77 | 87 | 31 | उन्नाम्नस्सम्बुद्धिरसूचि | विज० | | |
| 78 | 88 | 5 | उपद्रष्टा साक्षी सर्वे | विज० | | |
| 79 | 87 | 25 | उभयन्त्वग्निरूपश्च न | विज० | प्रकाशिकायाम् | |
| 80 | 89 | 42 | उभसर्वतसोः | वीर० | वार्तिक under अष्टा 1-4-48 | |
| | | | **ऋ** | | | |
| 81 | 84 | 39 | ऋणानित्रीण्यपाकृत्य | श्रीध० | मनुस्मृ 6-35 | |
| 82 | 84 | 39 | ऋणानित्रीण्यपाकृत्य | वीर० | मनुस्मृ 6-35 | |
| | | | **ए** | | | |
| 83 | 87 | 25 | एक एव हि भूतात्मा | श्रीध० | त्रिपुर. तापि. उ. 5-12 | |
| 84 | 74 | 21 | एकमेवाऽद्वितीयं | वीर० | छान्दो. उ 6-2-1 | |
| 85 | 87 | 25 | एकमेवाऽद्वितीयं | श्रीध० | छान्दो. उ 6-2-1 | |
| 86 | 87 | 30 | एकमेवाऽद्वितीयं | विज० | छान्दो. उ 6-2-1 | |
| 87 | 87 | 31 | एकमेवाऽद्वितीयं | श्रीध० | छान्दो. उ 6-2-1 | |
| 88 | 87 | 36 | एकमेवाऽद्वितियं | श्रीध० | छान्दो. उ 6-2-1 | |
| 89 | 87 | 19 | एको देव स्सर्व भूतेषु | श्रीध० | श्वेता उ 6-11 | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted[1] | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 90 | 87 | 24 | एको ह वै नारायणः | वीर० | म. ना. उ. 3-1-1 | |
| 91 | 87 | 34 | एतस्यैवानन्दस्यन्यानि | श्रीध० | बृह. उ. 4-3-32 | |
| 92 | 87 | 16 | एतं ह वाव न तपति | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-9 | |
| 93 | 87 | 46 | एतेचांशकलाः पुंसः | श्रीध० | भाग. 1-3-28 | |
| 94 | 87 | 36 | एतेनक्रत्वर्थकर्तृ प्रति | श्रीध० | | |
| 95 | 77 | 29 | एकमेवतु सर्वत्र पर | विज० | ब्रह्माण्डे | |
| 96 | 87 | 1 | एवं स्वभावतया | श्रीध० | भाग. 10-86-59 | |
| 97 | 87 | 18 | एष देवपथो ब्रह्मपथः | वीर० | छान्दो. उ. 4-15-6 | |
| 98 | 87 | 40 | एष नित्यो महिमा ब्राह्म | श्रीध० | बृह. उ. 4-4-23 | |
| 99 | 74 | 19 | एष वै सर्वा देवताः | वीर० | | |
| | | | **ऐ** | | | |
| 100 | 74 | 21 | ऐतदात्म्य मिदं सर्वम् | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-8-7 | |
| 101 | 87 | 15 | ऐतदात्म्य मिदं सर्वम् | वीर० | छान्दो. उ 6-8-7 | |
| 102 | 87 | 17 | ऐतदात्म्य मिदं सर्वं | वीर० | छान्दो. उ. 6-8-7 | |
| 103 | 87 | 37 | ऐतदात्म्य मिदं सर्वं | वीर० | छान्दो. उ. 6-8-7 | |
| 104 | 87 | 14 | ऐश्वर्यस्य समग्रस्य | वीर० | विष्णु. पु. 6-5-74 | |
| 105 | 87 | 38 | ऐश्वर्यस्य समग्रस्य | वीर० | विष्णु. पु. 6-5-74 | |
| | | | **क** | | | |
| 106 | 80 | 16,17 | कक्ष्या कच्छे वरत्रायां | विज० | वैज. को. 6-2-7 | |
| 107 | 87 | 37 | कथन्नु भगवस्स आदेशः | वीर० | छान्दो. उ. 6-1-3 | |
| 108 | 87 | 48 | कथाः कथयतीशस्य | विज० | ब्राह्मे | |
| 109 | 87 | 34 | कमलत्रयाङ्कुलश्चैव | विज० | गुरुविवेके | |
| 110 | 87 | 25 | करणाधिपाधिपो न | वीर० | श्वेता. उ 6-9 | |
| 111 | 85 | 4 | करोति क्रियमाणेन | श्रीध० | | |
| 112 | 85 | 4 | करोत्यर्थस्य कर्ता च | श्रीध० | | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted! | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 113 | 87 | 39 | कामान् यः कामयते | श्रीध० | मुण्ड. उ. 3-2-2 | |
| 114 | 85 | 51 | कीर्तिमन्तं प्रथमजं | श्रीध० | भाग. 10-1-57 | |
| 115 | 87 | 37 | कृत्यल्युटः | श्रीध० | अष्टा. 3-3-113 | |
| 116 | 64 | 30 | कृषिर्भूवाचक श्शब्दो | श्रीध० | भारत. 5-68-5 | |
| 117 | 70 | 26 | कृषिर्भूवाचक श्शब्दो | वीर० | भारत. 5-68-5 | |
| 118 | 87 | 1 | केवलो निर्गुणश्च | विज० | श्वेता. उ 6-11 | |
| 119 | 87 | 24 | को अद्धावेद क इह | श्रीध० | बाष्कलमन्त्र 3-10 | |
| 120 | 64 | 42 | क्रुध द्रुह | वीर० | अष्टा. 1-4-37 | |
| 121 | 87 | 24 | क्वाऽहंबुद्ध्यादिसंरुद्धः | श्रीध० | | |
| 122 | 88 | 12 | क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टः | वीर० | | |
| | | | **ख** | | | |
| 123 | 87 | 29 | खण्डाधीश स्सार्वभौमस्य | विज० | शाण्डिल्यश्रुतिः | |
| | | | **ग** | | | |
| 124 | 74 | 19 | गुणाःश्रुता स्सुविरुद्धाश्च | विज० | | |
| 125 | 87 | 35 | गुरुलक्षणं सम्पूर्णः | विज० | गुरुविवेके | |
| | | | **च** | | | |
| 126 | 63 | 36 | चक्षो स्सूर्यो अजायत | वीर० | पु. सू. 1-6 | |
| 127 | 63 | 36 | चन्द्रमा मनसो जातः | वीर० | पु. सू. 1-6 | |
| 128 | 77 | 29 | चिदानन्दघनस्यास्य | विज० | ब्रह्माण्डे | |
| | | | **ज** | | | |
| 129 | 87 | 33 | जगदीशयोः कुतो | विज० | पवनविजये | |
| 130 | 87 | 14 | जयजय --- संवृता | विज० | शाण्डिल्यश्रुतिः | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 131 | 87 | 14 | जयजयाजित --- गुणा | श्रीध० | | |
| 132 | 72 | 15 | जरासन्धं निहत्यैव | विज० | मात्स्ये | |
| 133 | 65 | 30 | जात रूप मयञ्चैकं | श्रीध० | हरिवंशे | |
| 134 | 77 | 28 | जानन् शाल्वकृतां माया | विज० | ब्रह्माण्डे | |
| 135 | 87 | 40 | जानाति प्रकृति विष्णुं | विज० | महोपनिषत् | |
| 136 | 85 | 18 | जाने वामस्य यत्साक्षात् | वीर० | भाग. 10-85-3 | |
| 137 | 84 | 39 | जायमानो वै ब्राह्मणः | श्रीध | तैत्ति. सं. 6-3-10 | |
| 138 | 84 | 39 | जायमानो वै ब्राह्मणः | वीर० | तैत्ति. सं. 6-3-10 | |
| 139 | 87 | 38 | जिहाति रावणं संख्ये | विज० | स्कान्दे | |
| 140 | 80 | 3 | जिह्वाऽसती दार्दुरकीव | वीर० | भाग. 2-3-20 | |
| | | | **त** | | | |
| 141 | 87 | 11 | तज्जलनिति शान्त | वीर० | छान्दो. उ. 3-14-1 | |
| 142 | 87 | 31 | ततेति तात | विज० | | |
| 143 | 77 | 34 | ततो मुहूर्ते | वीर० | भाग. 10-77-21 | |
| 144 | 87 | 30 | तत्र स्वतन्त्रो | विज० | महा शालीन. श्रुतिः | |
| 145 | 87 | 1 | तत्त्वमसि | वीर० | छान्दो. उ. 6-8-7 | |
| 146 | 87 | 2 | तत्त्वमसि | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-8-7 | |
| 147 | 87 | 20 | तत्त्वमसि | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-8-7 | |
| 148 | 87 | 41 | तत्त्वमसि | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-8-7 | |
| 149 | 87 | 16 | तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते | श्रीध० | | |
| 150 | 86 | 44 | तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् | विज० | तैत्ति. उ. 2-6 | |
| 151 | 87 | 2 | तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् | वीर० | तैत्ति. उ. 2-6 | |
| 152 | 87 | 17 | तत्सृष्ट्वातदेवानु प्राविशत् | वीर० | तैत्ति. उ. 2-6 | |
| 153 | 87 | 26 | तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत् | वीर० | तैत्ति. उ. 2-6 | |
| 154 | 87 | 26 | तदात्मानं स्वयमकुरुत | वीर० | तैत्ति. उ. 2-7 | |
| 155 | 87 | 15 | तदुक्तमृषिणा | वीर० | ऐत. उ. 4-5 | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 156 | 87 | 17 | तदैक्षत बहु स्याम् | वीर० | छान्दो. उ. 6-2-3 | |
| 157 | 87 | 50 | तदैक्षत बहुस्याम् | वीर० | छान्दो. उ. 6-2-3 | |
| 158 | 87 | 36 | तद्भूतानां क्रियार्थेन | श्रीध० | जैमि. सू. 1-1-25 | |
| 159 | 87 | 16 | तद्यथा पुष्करपलाश | श्रीध० | | |
| 160 | 87 | 25 | तद्यथेह कर्मचितो | वीर० | छान्दो. उ. 8-1-6 | |
| 161 | 87 | 36 | तद्यथेह कर्मचितो | श्रीध० | छान्दो. उ. 8-1-6 | |
| 162 | 87 | 33 | तद्विज्ञानार्थं सगुरु | श्रीध० | मुण्ड. उ. 1-2-12 | |
| 163 | 87 | 15 | तम आसीत्तमसागूढ | विज० | यजुः 2-8-9 | |
| 164 | 87 | 17 | तमः पर्यान्तिते पद | विज० | पैङ्गीश्रुतिः | |
| 165 | 87 | 2 | तमेवं विद्वा नमृत इह | विज० | तैत्ति. आ. 3-1-3 | |
| 166 | 87 | 29 | तमेवं विद्वा नमृत इह | विज० | पु. सू. 1-7 | |
| 167 | 87 | 18 | तयोर्ध्वमाय न्नमृतत्व | वीर० | कठ. उ. 6-16 | |
| 168 | 87 | 31 | तस्माद्वा एतस्मा दात्मन | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-1 | |
| 169 | 87 | 36 | तस्माद्वा एतस्मा दात्मन | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-1-1 | |
| 170 | 87 | 30 | तस्माल्लोकात्पुनरेत्य | वीर० | बृह. उ. 4-4-6 | |
| 171 | 87 | 17 | तस्य पुरुषविधताम् | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-2 | |
| 172 | 87 | 17 | तस्य प्रियमेव शिरः | वीर० | तैत्ति. उ. 2-5 | |
| 173 | 87 | 27 | तस्य वाक्तन्तिर्नामानि | श्रीध० | | |
| 174 | 87 | 17 | तस्यैष एव शरीर आत्मा | वीर० | तैत्ति. उ. 2-3 | |
| 175 | 87 | 18 | तं प्रणदाभ्यां प्रापद्यत | विज० | ऐत. उ. 1-3-1 | |
| 176 | 77 | 34 | तान्यहं वेद सर्वाणि | वीर० | भगी 4-5 | |
| 177 | 77 | 29 | ता महर द्विभुः | विज० | | |
| 178 | 71 | 7 | तीक्ष्णश्चैव प्रचण्डश्च | विज० | | |
| 179 | 89 | 11 | तीर्थं शास्त्रेष्वम्भसि | विज० | वैज. को. 6-3-13 | |
| 180 | 87 | 2 | तुविग्रीवो वपोदरः | विज० | ऋग्वे 8-17-8a | |
| 181 | 87 | 30 | तेन प्रद्योतेनैव | वीर० | बृह. उ. 6-4-2 | |
| 182 | 87 | 31 | ते यथातत्र न विवेकं | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-9-2 | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 183 | 87 | 20 | तेषां सततयुक्तानां | वीर० | भ. गी. 10-10 | |
| 184 | 87 | 26 | त्रिगुणातीत मीशेश | विज० | चैतन्य विवेके | |
| 185 | 81 | 35 | त्रैविद्या मां सोमपाः | विज० | भ. गी. 9-20 | |
| 186 | 87 | 22 | त्वय्यात्मनि जगन्नाथे | श्रीध० | | |
| 187 | 87 | 23 | त्वं वेत्थनापरस्ते | विज० | साङ्कृतिश्रुतिः | |
| | | | **द** | | | |
| 188 | 87 | 25 | दाक्षायण यज्ञेन सुव | वीर० | | |
| 189 | 75 | 1 | दुर्योधन मृते पापम् | वीर० | भाग. 10-74-53 | |
| 190 | 87 | 33 | देवा अपि सुयोगाद्याः | विज० | तत्त्वोद्योगे | |
| 191 | 87 | 34 | देवा योग्यतया जाता | विज० | तत्त्वोद्योगे | |
| 192 | 87 | 39 | देवाश्च ऋषयश्चैव | विज० | स्कान्दे | |
| 193 | 87 | 30 | देशतः कालतश्चैव | विज० | कोटरव्यश्रुतिः | |
| 194 | 87 | 27 | देहान्ते देवः परंब्रह्म | श्रीध० | | |
| 195 | 80 | 30 | दैवीह्येषा गुणमयी | वीर० | भ. गी. 7-14 | |
| 196 | 87 | 15 | द्रुहिणवह्नि रवीन्द्र | श्रीध० | | |
| 197 | 87 | 38 | द्वा सुपर्णा सयुजा | श्रीध० | मुण्ड. उ. 3-1-1 | |
| 198 | 87 | 15 | द्वितीयार्थे तृतीयार्थे | विज० | महाव्याकरणे | |
| 199 | 61 | 25 | द्विषदन्नं न भोक्तव्यं | श्रीध० | भारत. 5-409 1pr. 14 App 4-2162 pr | |
| 200 | 61 | 25 | द्विषदन्नं न भोक्तव्यं | वीर० | भारत. 5-409 1pr 14 App 4-2162 pr | |
| | | | **ध** | | | |
| 201 | 89 | 33 | धनञ्जयो रणे रणे | विज० | ऋग्वे० 1-74-3c | |
| 202 | 76 | 27 | धर्मवित् सूतः कृच्छ | वीर० | | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | न | | | |
| 203 | 84 | 37 | न कर्मणा न प्रजया | श्रीध० | म. ना. उ. 8-14 | |
| 204 | 74 | 4 | न कर्मणा वर्धते नो | श्रीध० | इतिहास. उ. 20 | |
| 205 | 74 | 4 | न कर्मणा वर्धते नो | विज० | इतिहास० उ. 20 | |
| 206 | 87 | 21 | न किञ्चिदभिवाञ्छति | विज० | विमद श्रुतिः | |
| 207 | 87 | 17 | न चे दवेदी महती | श्रीध० | बृह. उ. 4-4-14 | |
| 208 | 85 | 7 | न तत्र सूर्यो भाति न | श्रीध० | कठ. उ. 5-15 | |
| 209 | 87 | 30 | न ततसमश्चाभ्यधिक | विज० | श्वेता. उ. 6-8 | |
| 210 | 27 | 28 | न तस्य कार्यं करणं | श्रीध० | श्वेता. उ. 6-8 | |
| 211 | 87 | 28 | न तस्य कार्यं करणं | वीर० | श्वेता. उ. 6-8 | |
| 212 | 87 | 22 | न तं विदा थ य इमा | श्रीध० | | |
| 213 | 87 | 24 | न तं विदाय य इमा | श्रीध० | | |
| 214 | 88 | 6-8 | न मय्यावेशितधियां | श्रीध० | भाग. 10-22-26 | |
| 215 | 90 | 41 | न स्नेह भङ्गो देव्या स्तु | विज० | ब्रह्माण्डे | |
| 216 | 85 | 6 | नानात्वा त्स्वक्रियानीशाः | श्रीध० | भाग. 3-5-37 | |
| 217 | 80 | 34 | नाऽपुत्रस्यलोकोऽस्ति | विज० | ऐत. ब्रा. 7-13-12a | |
| 218 | 87 | 2 | नाम रूपयो र्निर्वहिता | वीर० | पु. सू. 7 | |
| 219 | 87 | 24 | नासदासीन्नोसदासीत् | वीर० | यजु. आर. 2-8-9 | |
| 220 | 87 | 24 | नासदासीन्नोसदासीत् | विज० | यजु. आर. 2-8-9 | |
| 221 | 87 | 37 | नासदासीन्नोसदासीत् | श्रीध० | यजु. आर. 2-8-9 | |
| 222 | 87 | 37 | नासदासीन्नोसदासीत् | वीर० | यजु. आर. 2-8-9 | |
| 223 | 87 | 36 | नाऽऽसीदादौ मरणेनो | विज० | | |
| 224 | 87 | 34 | नास्त्य कृतः कृतेन | विज० | मुण्ड. उ. 1-2-12 | |
| 225 | 87 | 23 | नित्यदुःखसुसम्पूर्णः | विज० | प्रमाणसंहितायाम् | |
| 226 | 87 | 3 | नित्य या नित्ययास्तौमि | विज० | | |
| 227 | 86 | 14 | नित्यं नाम निकषयोः | वीर० | | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 228 | 87 | 25 | नित्यो नित्यानां | वीर० | कठ. उ. 5-13 | |
| 229 | 87 | 45 | निधने स्त्री कुले | विज० | वैज. को. 7-5-51 | |
| 230 | 87 | 35 | निपानागयो स्तीर्थं | श्रीध० | अम. को. 3-243 | |
| 231 | 87 | 23 | निभृतो मोक्षवित्प्राणः | विज० | भागवत संहितायाम् | |
| 232 | 87 | 15 | निरपेक्षबृहत्वस्य | विज० | मान्यसंहितायाम् | |
| 233 | 87 | 39 | निपिद्धकाम मुक्तानां | विज० | ब्रह्मतर्के | |
| 234 | 87 | 20 | निपुर्सीद गणपते | विज० | | |
| 235 | 72 | 5 | निष्ठो त्कर्षेव्यवस्थायां | विज० | वैज. को. 6-2-21 | |
| 236 | 90 | 41 | निहते रुक्मिणीग्याले | विज | भाग. 10-61-39 | |
| 237 | 77 | 32 | नूनं हन्युः पुरीं मम | वीर० | | |
| 238 | 87 | 33 | नृदेहमाद्यं सुलभं | श्रीध० | भाग. 11-20-17 | |
| 239 | 87 | 27 | नेह नानास्ति किञ्चन | श्रीध० | बृह. उ. 4-4-9 | |
| 240 | 87 | 30 | नेह नानास्ति किञ्चन | विज० | बृह. उ. 4-4-9 | |
| 241 | 87 | 37 | नेह नानास्ति किञ्चन | वीर० | बृह. उ. 4-4-9 | |
| 242 | 87 | 33 | नैपा तर्केणमति रापनेया | श्रीध० | कठ. उ. 2-9 | |
| 243 | 77 | 34 | न्यर्बुदं वृन्दखर्वेच | विज० | वैज. को. 5-1-28 | |
| | | | **प** | | | |
| 244 | 87 | 50 | परंज्योति रूपसम्पद्य | वीर० | छान्दो. उ. 8-12-2 | |
| 245 | 87 | 25 | पराऽस्य शक्तिर्विविधैव | वीर० | श्वेता. उ. 6-8 | |
| 246 | 87 | 34 | परीक्ष्यलोकान् | श्रीध० | मुण्ड. उ. 1-2-12 | |
| 247 | 87 | 32 | परीत्य भूतानि परीत्य | श्रीध० | मना. उ. 2-7 | |
| 248 | 72 | 19 | परोऽरिपरमात्मनोः | वीर० | वैज. को. | |
| 249 | 87 | 26 | पश्यत्यचक्षुस्सशृणो | वीर० | श्वेता. उ. 3-19 | |
| 250 | 82 | 35 | पिता मात्रा | श्रीध० | अष्टा. 1-2-70 | |
| 251 | 87 | 16 | पुनरप्रथमे प्रश्ने | विज० | वैज. को. 8-7-24 | |
| 252 | 87 | 25 | पुमान्नदेवोननरः | वीर० | | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 253 | 88 | 20 | पूर्वमायुः परीक्षेत | विज० | | |
| 254 | 72 | 15 | पूर्वाः कथाःपरं ब्रूयुः | विज० | शब्दनिर्णये | |
| 255 | 87 | 18 | प्रतिष्ठास्यामीति सप्राण | विज० | | |
| 256 | 72 | 4 | प्रद्यान्वस्यमहतोमह | विज० | | |
| 257 | 87 | 33 | प्राकृतैस्संस्कृतैश्चैव | श्रीध० | | |
| 258 | 87 | 18 | प्राण एवैनमनुप्रविशति | विज० | हिरण्यनाभश्रुतिः | |
| 259 | 86 | 32 | प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थं | विज० | भ.गी. 7-17 | |
| | | | **ब** | | | |
| 260 | 72 | 15 | बलिनामपि चान्येषां | वीर० | भाग. 10-71-5 | |
| 261 | 87 | 29 | बहु स्याम् | वीर० | तैत्ति. उ. 2-6 | |
| 262 | 87 | 36 | बहूत्किरन्यथा ज्ञप्तिः | विज० | शब्दनिर्णये | |
| 263 | 89 | 31,32 | बालिशो बालमूर्खयोः | विज० | वैज. को. 7-4-20 | |
| 264 | 70 | 5 | बृहतिबृंहयति | वीर० | | |
| 265 | 87 | 15 | बृहद्धि दृष्टमवशेषितम् | विज० | औद्दालयानश्रुतिः | |
| 266 | 87 | 3 | बृंहतो ह्यस्मिन् गुणाः | विज० | | |
| 267 | 87 | 1 | ब्रह्मने हृदयं शुद्धम् | वीर० | भाग. 10-84-19 | |
| 268 | 87 | 17 | ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-5 | |
| 269 | 87 | 17 | ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा | वीर० | तैत्ति. उ. 2-5 | |
| 270 | 74 | 21 | ब्रह्मवनं ब्रह्मसवृक्षः | वीर० | तैत्ति. ब्रा. 2-8-9-6 | |
| 271 | 87 | 24 | ब्रह्मा प्रासलोकाश्च देवा | विज० | साङ्कृतिश्रुतिः | |
| 272 | 87 | 25 | ब्रह्मैवसन्ब्रह्माप्येति | श्रीध० | बृह. उ. 4-4-6 | |
| 273 | 87 | 34 | ब्रह्मोपासते साधुधीरा | विज० | महारवश्रुतिः | |
| 274 | 78 | 31 | ब्राह्मणो न हन्तव्यः | श्रीध० | | |
| 275 | 78 | 31 | ब्राह्मणो न हन्तव्यः | वीर० | | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | **भ** | | | |
| 276 | 87 | 14 | भगं योन्यां भगो यत्ने | विज० | वैज. को. 6-5-58 | |
| 277 | 87 | 2 | भवोभद्रे हरे प्राणी | विज० | वैज. को. 6-1-41 | |
| 278 | 64 | 18 | भासनोपसम्भाषा | विज० | अष्टा. 1-3-47 | |
| 279 | 87 | 27 | भीषा स्माद्वातः पवते | श्रीध० | तैत्ति. उ. 1-8 | |
| 280 | 87 | 28 | भीषास्माद्वातः पवते | वीर० | तैत्ति. उ. 1-8 | |
| 281 | 68 | 26 | भुजोऽनवने | विज० | अष्टा. 1-3-66 | |
| 282 | 69 | 30 | भूमि रापोऽनलोवायुः | वीर० | भ. गी. 7-4 | |
| 283 | 88 | 5 | भूमि रापोऽनलोवायुः | वीर० | भ. गी. 7-4 | |
| | | | **म** | | | |
| 284 | 87 | 2 | मनसा अग्रे सङ्कल्पयति | विज० | ऐत. उ. 1-1-2 | |
| 285 | 87 | 26 | मनः प्रजापति मसृजत | श्रीध० | | |
| 286 | 85 | 4 | मनोमयः प्राणशरीरनेता | वीर० | मुण्ड. उ. 2-2-7 | |
| 287 | 63 | 46 | मम मद्भक्तभक्तेषु | वीर० | भ. गी. | |
| 288 | 87 | 34 | महाभाग्यन्तु कैवल्य | विज० | स्कान्दे | |
| 289 | 87 | 2 | माता परिच्छदेर्धेशे | विज० | वैज. को. 6-5-62 | |
| 290 | 77 | 32 | मानुषीं प्रकृतिं गतः | वीर० | भाग. 10-77-23 | |
| 291 | 77 | 34 | मानषीं प्रकृतिं गतः | वीर० | भाग. 10-77-23 | |
| 292 | 87 | 30 | मुच्यते तत्त्वसम्बुद्धा | विज० | वामने | |
| 293 | 70 | 9 | मृगान् शुक्लदतः कृष्णान् | श्रीध० | भाग. 9-20-28 | |
| 294 | 87 | 27 | मृत्योस्समृत्युमाप्नोति | श्रीध० | कठ. उ. 4-10 | |
| | | | **य** | | | |
| 295 | 87 | 14 | य आत्मनि तिष्ठन् | श्रीध० | बृह. उ. 3-7-22 | |
| 296 | 87 | 17 | य एवमेताच्छिरसःशिरस्त्व | विज० | ऐत. उ. 1-3&4 | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 297 | 66 | 30 | यज्ञस्य देवमृत्विजम् | श्रीध० | तैत्ति. उ. 4-3-13-36 | |
| 298 | 87 | 14 | यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते | श्रीध० | तैत्ति. उ. 3-1 | |
| 299 | 87 | 37 | यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते | श्रीध० | तैत्ति. उ. 3-1 | |
| 300 | 87 | 24 | यतो वाचो निवर्तन्ते | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-14 | |
| 301 | 87 | 24 | यतोवाचो निवर्तन्ते | वीर० | तैत्ति. उ. 2-14 | |
| 302 | 70 | 27 | यत्करोपि यदश्नासि | श्रीध० | भ. गी. 9-27 | |
| 303 | 87 | 1 | यत्तदद्रेश्यम् | विज० | मुण्ड. उ. 1-6 | |
| 304 | 87 | 37 | यत्र हि द्वैतमिव कं | वीर० | बृह. उ. 2-4-14 | |
| 305 | 63 | 39 | यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फु | श्रीध० | बृह. उ. 2-1-20 | |
| 306 | 87 | 28 | यथाऽग्नेःक्षुद्रा विस्फुः | श्रीध० | बृह. उ. 2-1-20 | |
| 307 | 87 | 31 | यथाऽग्नेःक्षुद्रा विस्फुः | श्रीध० | बृह. उ. 2-1-20 | |
| 308 | 87 | 37 | यथानाम एकेन लोहमणि | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-1-5 | |
| 309 | 87 | 31 | यथा सौम्य मधु मधुकृतो | श्रीध० | छान्दो उ 3-6-9-1 | |
| 310 | 87 | 15 | यथा सौम्यैकेन मृत्पि | वीर० | छान्दो. उ. 6-1-4 | |
| 311 | 87 | 37 | यथा सौम्येकेन मत्पि | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-1-6 | |
| 312 | 87 | 37 | यथा सौम्येकेन मृत्पि | वीर० | छान्दो. उ. 6-1-6 | |
| 313 | 87 | 37 | यथा एकेन नखनिकृन्त | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-1-6 | |
| 314 | 87 | 27 | यथैव कुण्डलं | विज० | गारुडे | |
| 315 | 87 | 11 | यथैव पङ्कजं ब्रह्मा | विज० | तन्त्रभागवते | |
| 316 | 77 | 29 | यदचरस्तन्वा वृधानो | विज० | | |
| 317 | 85 | 7 | यदादित्यगतं तेजो | श्रीध० | भ. गी. 15-12 | |
| 318 | 87 | 34 | यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते | श्रीध० | कठ. उ. 6-14 | |
| 319 | 87 | 28 | यदिदं किञ्च जगत्सर्वं | वीर० | कठ. उ. 6-2 | |
| 320 | 87 | 28 | यदिमन्यसे सुवेदेति | श्रीध० | केन. उ. 2-1 | |
| 321 | 87 | 41 | यदूर्ध्वं गार्गिदिवो | श्रीध० | बृह. उ. 3-8-4 | |
| 322 | 70 | 5 | यदेष आकाश आनन्दो | विज० | तैत्ति. उ. 2-7 | |
| 323 | 85 | 6 | यदैते संहताभावा | श्रीध० | भाग. 2-5-32, 33 | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 324 | 78 | 32 | यद्यदाचरतिश्रेष्ठः | वीर० | भ. गी. 3-21 | |
| 325 | 89 | 60 | यद्यदाचरति श्रेष्ठः | वीर० | भ. गी. 3-21 | |
| 326 | 87 | 26 | यद्वैतत्सुकृतम् | वीर० | तैत्ति. उ. 2-7 | |
| 327 | 86 | 13 | यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः | विज० | कठ. उ. 2-22 | |
| 328 | 87 | 27 | यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः | श्रीध० | कठ. उ. 2-22 | |
| 329 | 87 | 18 | यस्मात्प्राणं प्रत्युरु | विज० | | |
| 330 | 87 | 2 | यस्य ज्ञानमयंवपुः | श्रीध० | मुण्ड. उ. 1-1-6 | |
| 331 | 87 | 20 | यस्यदेवे परा भक्तिः | श्रीध० | श्वेता. उ. 6-23 | |
| 332 | 87 | 27 | यस्यदेवे पराभक्तिः | श्रीध० | श्वेता. उ. 6-23 | |
| 333 | 87 | 33 | यस्यदेवे पराभक्तिः | विज० | श्वेता. उ. 6-23 | |
| 334 | 85 | 4,5 | यस्याऽऽत्मा शरीरम् | वीर० | बृह. उ. 3-7-22 | |
| 335 | 87 | 28 | यस्यामत तस्यमतं | श्रीध० | केन. उ. 2-3 | |
| 336 | 87 | 1 | यस्सर्वज्ञ स्सर्ववित् | वीर० | मुण्ड. उ. 2-2-7 | |
| 337 | 87 | 2 | यस्सर्वज्ञस्सर्ववित् | श्रीध० | मुण्ड. उ. 2-2-7 | |
| 338 | 87 | 14 | यस्सर्वज्ञ स्सर्ववित् | श्रीध० | मुण्ड. उ. 2-7-7 | |
| 339 | 87 | 25 | यस्सर्वज्ञ स्सर्ववित् | वीर० | मुण्ड. उ. 2-7-7 | |
| 340 | 88 | 1 | यं सम्पद्यजहात्यजां | वीर० | | |
| 341 | 87 | 21 | यं सर्वदेवानमन्ति मुमु | श्रीध० | | |
| 342 | 87 | 32 | यः पिताजनिताचैव | विज० | प्रधानसंहितायाम् | |
| 343 | 87 | 2 | यः पृथिव्यां तिष्ठन् | श्रीध० | बृह. उ. 3-7-3 | |
| 344 | 66 | 19 | यानि त्वमस्मच्चिह्नानि | वीर० | भाग. 10-66-6 | |
| 345 | 84 | 29 | यावतीर्वै देवतास्ताः | श्रीध० | सहवा. उ. 19 | |
| 346 | 87 | 11 | यावद्ब्रह्मविष्ठितं तावती | विज० | | |
| 347 | 85 | 3 | युष्मदस्मदोः षष्ठीचतु | वीर० | अष्टा. 8-1-20 | |
| 348 | 87 | 37 | ये जगत्प्रवदन्त्यज्ञा | विज० | तन्त्रभागवते | |
| 349 | 87 | 30 | येवैकेचास्मल्लोकात्प्रयन्ति | वीर० | कौषी. उ. 1-2 | |
| 350 | 87 | 19 | यो जीववद्योनिषु | विज० | कमठश्रुतिः | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 351 | 74 | 19 | यो देवानाम् | विज० | | |
| 352 | 87 | 31 | यो नः पिता जनितायो | विज० | आद्याश्रुतिः | |
| 353 | 87 | 19 | यो निवेशाह्वयो जीव | विज० | तन्त्र भागवते | |
| 354 | 63 | 42 | योऽन्यथासन्तमात्मानं | वीर० | भारत. 1-68-26 | |
| 355 | 87 | 14 | यो ब्रह्माणं विदधाति | श्रीध० | श्वेता. उ. 6-18 | |
| 356 | 84 | 12 | यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते | श्रीध० | छान्दो. उ. 7-2-2 | |
| | | | **र** | | | |
| 357 | 87 | 19 | रतत्वाद्भात्मके विष्णौ | विज० | नामसंहितायाम् | |
| 358 | 76 | 26 | रथिनि प्राणसन्दिग्धे | विज० | | |
| 359 | 87 | 33 | रथोपरि स्वीकरणात् | विज० | व्यासनिरुक्ते | |
| 360 | 77 | bet 6&7 extra V. | रथ्या प्रतोली विशिखा | विज० | वैज. को. 4-3-16 | |
| 361 | 87 | 26 | रसो वै सः | वीर० | तैत्ति. उ. 2-7 | |
| 362 | 87 | 34 | रसो वै सः रसं ह्येवायं | वीर० | तैत्ति. उ. 2-7 | |
| | | | **ल** | | | |
| 363 | 61 | 23 | लक्षणहेत्वोः | वीर० | अष्टा. 3-2-126 | |
| 364 | 64 | 32 | लक्षणहेत्वोः | वीर० | अष्टा. 3-2-126 | |
| 365 | 65 | 32 | लक्षणहेत्वोः | वीर० | अष्टा. 3-2-126 | |
| 366 | 67 | 3 | लक्षणहेत्वोः | वीर० | अष्टा. 3-2-126 | |
| 367 | 78 | 1,2 | लक्षणहेत्वोः | वीर० | अष्टा. 3-2-126 | |
| 368 | 80 | 30 | लक्षणहेत्वोः | वीर० | अष्टा. 3-2-126 | |
| 369 | 90 | 52 | लक्षणहेत्वोः | वीर० | अष्टा. 3-2-126 | |
| 370 | 87 | 14 | लयस्य त्वष्टमो भागः | विज० | नारदीये | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | व | | | |
| 371 | 87 | 27 | वयति गा इव यः सुरा | विज० | आरुणिश्रुतिः | |
| 372 | 65 | 30 | वरुणप्रहिता चास्मै | श्रीध० | विष्णुपु० 5-25-16 | |
| 373 | 65 | 30 | वरुणप्रहिता चास्मै | वीर० | विष्णुपु० 5-25-16 | |
| 374 | 61 | after 24 | वशाभिप्राययोश्छन्दः | विज० | वैज. को. 6-1-24 | |
| 375 | 63 | 40 | वष्टि वा (त्भा ऽ)गुरिः | वीर० | | |
| 376 | 88 | 5 | वस्तुनोगुणसम्बन्धे | श्रीध० | | |
| 377 | 84 | 17 | वाचारम्भणं विकारो | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-1-5 | |
| 378 | 87 | 15 | वाचारम्भणं विकारो | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-4-1 | |
| 379 | 87 | 37 | वाचारम्भणं विकारो | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-4-1 | |
| 380 | 70 | 5 | विज्ञानमानन्दम् | श्रीध० | बृह. उ. 3-9-28 | |
| 381 | 87 | 36 | विज्ञानमानन्दम् | श्रीध० | बृह. उ. 3-9-28 | |
| 382 | 77 | after 37 extra V. | विज्ञानमानन्द ब्रह्म | विज० | बृह. उ. 3-9-28 | |
| 383 | 87 | 14 | विध्यादीनां नियन्ता | विज० | श्रुतिनिर्णये | |
| 384 | 87 | 36 | विनिषेधे पृथग्भावे | विज० | वैज. को. 8-7-6 | |
| 385 | 87 | 1 | विशुद्धसत्त्वधाम्न्यद्धा | वीर० | भाग. 10-85-42 | |
| 386 | 77 | 29 | विष्णोर्मोहयन्मायया | विज० | ब्रह्माण्डे | |
| 387 | 87 | 11 | विष्णोःस्वरूपशक्तेः | विज० | तन्त्रभागवते | |
| 388 | 80 | 28 | वेदमधीत्याभिसमावृत्य | वीर० | | |
| 389 | 87 | 3 | वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः | विज० | म. ना. उ. 8-15 | |
| 390 | 77 | 34 | वेदाहं समतीतानि | वीर० | भ. गी. 7-26 | |
| 391 | 87 | 1 | वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः | वीर० | भ. गी. 15-15 | |
| 392 | 89 | 16 | वैराग्यमाद्यं यतमानसंज्ञं | श्रीध० | | |
| 393 | 72 | 4 | व्यवहिताश्च | विज० | अष्टा. 1-4-82 | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | **श** | | | |
| 394 | 87 | 18 | शतञ्चैका च हृदयस्य | श्रीध० | कठ. उ. 6-16 | |
| 395 | 87 | 18 | शतञ्चैका च हृदयस्य | वीर० | कठ. उ. 6-16 | |
| 396 | 89 | 63 | शब्दःखे पौरुषं नृषु | वीर० | | |
| 397 | 80 | 41 | शरीरमर्थं प्राणांश्च | वीर० | विहगेश्वरसंहिता | |
| 398 | 87 | 18 | शर्कराक्षुद्रपाषाणे | विज० | | |
| 399 | 87 | 18 | शर्करा तु शिलाभेदे शकले | विज० | वैज. को. 7-2-26 | |
| 400 | 66 | 29 | शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो | वीर० | ब्र. सू. 1-1-30 | |
| 401 | 87 | 1 | शास्त्रयोनेस्तवात्मनः | वीर० | भाग. 10-84-20 | |
| 402 | 64 | 3-5 | शिरः प्राग्रं कृकं विदुः | विज० | | |
| 403 | 88 | 1 | शिवोलोके पद्मरागे | विज० | | |
| 404 | 87 | 20 | श्रीब्रह्मरुद्रपूर्वेषु | विज० | तन्त्रभागवते | |
| 405 | 87 | 11 | श्रीर्भूमिरिति रूपाभ्याम् | विज० | ज्योतिस्संहितायाम् | |
| 406 | 87 | 11 | श्रीःपराप्रकृतिः प्रोक्ता | विज० | महातत्त्वविवेके | |
| 407 | 87 | 2 | श्रुतयस्त्वयि हि फलन्त्यतः | श्रीध० | भाग. 10-87-41 | |
| 408 | 87 | 35 | श्रोतव्यो मन्तव्यः | श्रीध० | बृह. उ. 6-5-6 | |
| | | | **स** | | | |
| 409 | 74 | 19 | स आत्मा अङ्गान्यन्या | वीर० | तैत्ति. उ. 1-5-1 | |
| 410 | 87 | 28 | स एक ईशः--- सुराः | विज० | आरुणिश्रुतिः | |
| 411 | 87 | 15 | स एष रसानां रसतमः | विज० | छान्दो. उ. 1-1-3 | |
| 412 | 87 | 2 | स ऐक्षत तत्तेजोऽसृजत | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-2-3 | |
| 413 | 87 | 16 | सकलवेदगणेरित | श्रीध० | | |
| 414 | 77 | 31 | सङ्कर्षणमनुज्ञाप्य | वीर० | भाग 10-71-13 | |
| 415 | 78 | 36 | सञ्जीव शरदश्शतम् | श्रीध० | कौषी. उ. 2-10 | |
| 416 | 90 | 54 | सता सौम्यतदासम्पन्नो | विज० | छान्दो. उ. 6-8-1 | |
| 417 | 87 | 26 | सतां पक्षस्त्वयम् | विज० | | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 418 | 87 | 25 | सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः | वीर० | छान्दो. उ. 8-1-5 | |
| 419 | 70 | 5 | सत्यं ज्ञान मनन्तं विज्ञान | वीर० | बृह. उ. 3-9-28 | |
| 420 | 87 | 1 | सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म | वीर० | तैत्ति. उ. 2-1-1 | |
| 421 | 87 | 2 | सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-1-1 | |
| 422 | 87 | 14 | सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-1-1 | |
| 423 | 87 | 27 | सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-1-1 | |
| 424 | 87 | 2 | सत्येनलभ्यस्तपसा | विज० | मुण्ड. उ. 3-1-5 | |
| 425 | 87 | 25 | सत्यादिजं देहमथो | विज० | सुरायणंश्रुतिः | |
| 426 | 70 | 5 | सदेव सौम्येद मग्र० | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-2-1 | |
| 427 | 87 | 25 | सदेव सौम्येद मग्र० | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-2-1 | |
| 428 | 87 | 37 | सदेव सौम्येद मग्र० | श्रीध० | छान्दो. उ. 6-2-1 | |
| 429 | 87 | 37 | सदेव सौम्येद मग्र० | वीर० | छान्दो. उ. 6-2-1 | |
| 430 | 74 | 21 | सदेवेद मग्र आसीत् | वीर० | छान्दो. उ. 6-2-1 | |
| 431 | 87 | 11 | सनकाद्याः समाःसर्वे | विज० | ऋक्संहितायाम् | |
| 432 | 87 | 28 | समभेदे समीचीनसुष्ठु | विज० | वैज. को. 8-7-8 | |
| 433 | 68 | 1 | समितिस्सङ्गतिसभयोः | विज० | हला. को. 5-35 | |
| 434 | 74 | 19 | समे यजेत | वीर० | | |
| 435 | 87 | 15 | सम्मूलास्सौम्येमास्सर्वाः | वीर | | |
| 436 | 87 | 31 | सम्यग्ज्ञानवदाचार्यात् | विज० | वामने | |
| 437 | 87 | 20 | सयश्चाऽयंपुरुषे यश्चा° | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-8 | |
| 438 | 87 | 17 | स वा एष पुरुषो | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-1-1 | |
| 439 | 87 | 17 | स वा एष पुरुषविध | वीर० | तैत्ति. उ. 2-2 | |
| 440 | 87 | 3 | सर्वगत्वादनन्तस्य स | वीर० | विष्णुपु० 1-19-85 | |
| 441 | 87 | 26 | सर्वगं ये प्रपश्यन्ति | विज० | सौकरायणश्रुतिः | |
| 442 | 87 | 19 | सर्वस स्सर्वदृक् (वित्) | वीर० | विष्णुपु० 5-1-46-48 | |
| 443 | 87 | 36 | सर्वत्रैव हि विज्ञानं | श्रीध० | | |
| 444 | 87 | 1 | सर्ववेदमयो विप्रस्सर्व | वीर० | भाग. 7-11-20 | |

| Serial No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | in commentary | Particulars of Sources etc. | Page No. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 445 | 87 | 14 | सर्वश्रुत्यर्थसमान्नान् | विज० | तन्त्रभागवते | |
| 446 | 87 | 2 | सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः | श्रीध० | बृह. उ. 4-4-22 | |
| 447 | 87 | 1 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म | वीर० | छान्दो. उ. 3-14-1 | |
| 448 | 87 | 11 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म | वीर० | छान्दो. उ. 3-14-1 | |
| 449 | 87 | 15 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म | श्रीध० | छान्दो. उ. 3-14-1 | |
| 450 | 87 | 15 | सर्वं खल्विदं ब्रह्म | वीर० | छान्दो. उ. 1-14-1 | |
| 451 | 86 | 56 | सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति | विज० | कठ. उ. 2-15 | |
| 452 | 87 | 1 | सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति | वीर० | कठ. उ. 2-15 | |
| 453 | 87 | 1 | सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति | विज० | कठ. उ. 2-15 | |
| 454 | 90 | 56 | सर्वोत्तमोऽपि भगवान् | विज० | वामने | |
| 455 | 87 | 2 | सोऽकामयत बहुस्याम् | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-6 | |
| 456 | 87 | 17 | सोऽकामयत | वीर० | तैत्ति. उ. 2-6 | |
| 457 | 87 | 31 | सोऽकामयत बहुस्याम् | श्रीध० | तैत्ति. उ. 2-6 | |
| 458 | 87 | 37 | स्तब्धोऽस्युत तमादेशम् | वीर० | छान्दो. उ. 6-1-3 | |
| 459 | 87 | 38 | स्मरन् ब्रह्मगुणान्नित्यम् | विज० | कापिलश्रुतिः | |
| 460 | 87 | 30 | स्वतन्त्रोनापरःकश्चित् | विज० | तन्त्र भागवते | |
| 461 | 87 | 19 | स्वनिर्मितेषु कार्येषु | श्रीध० | | |
| 462 | 87 | 2 | स्वबुद्धयाराज्यते येन | श्रीध० | | |
| 463 | 87 | 2 | स्वसृष्ट मिदमापीय | श्रीध० | भाग. 10-87-12 | |
| 464 | 87 | 38 | स्वातन्त्र्या त्प्रकृति | विज० | गारुडे | |
| 465 | 87 | 30 | स्वात्मनाचोत्तरयोः | वीर० | ब्र. सू. 2-3-20 | |
| 466 | 87 | 2 | स्वाध्यायप्रवचने एवेति | विज० | तैत्ति. उ. 1-9-1 | |
| 467 | 63 | 45 | स्वेमहिम्नि प्रतिष्ठितः | वीर० | छान्दो. उ. 7-24-1 | |
| | | | ह | | | |
| 468 | 87 | 14 | हरिंवदन्ति सर्वेषां | विज० | श्रुतिनिर्णये | |
| 469 | 70 | 9 | हिरण्येन परिवृतान् कृष्णान् | श्रीध० | ऐत. ब्रा. 8-23-3a | |
| 470 | 87 | 14 | हृग्रहोर्भश्छन्दसि | श्रीध० | वार्तिक under अष्टा 3-1-84 | |

# BHĀGAVATA

## MAHĀPURĀṆAM

### OF MAHARṢI VĒDAVYĀSA

SKANDHA - XII

EDITED BY
Dr. N.C.V. Narasimhacharya

2004

Harih Om

SRĪMAD

# BHĀGAVATA

# MAHĀPURĀṆAM

## *of Maharṣi Vedavyāsa*

## SKANDHA-XII

*With the Commentaries*

Bhavartha-dipika of Sri Sridhara Swami, Bhavartha-candrika of Sri Vira Raghavacharya, Padaratnavali of Sri Vijayadhvaja Tirtha

**Edited by**


Panditaraja, Sahitya-Visarada, Vachaspati, Sarvabhauma, Vidwan

Recipient of President's Certificate of Honour

**Dr. N.C.V. Narasimhacharya,** M.A., B.O.L.

SPECIAL OFFICER

**SRI BHAGAVATA PROJECT,**

T.T. Devasthanams, Tirupati



Published by

**Executive Officer,**

Tirumala Tirupati Devasthanams,

2005

**Srimad Bhagavatamahapuranam - Skandha-XII**

Edited by

**Dr. N.C.V. Narasimhacharya**

T.T.D. Religious Publications Series No. 656

First Edition - 2005

Price - Rs. 75

Copies - 1000

*Published by*
**Sri. Ajeya Kallam,** I.A.S.
Executive Officer,
T.T.Devasthanams,
Tirupati

*Cover Design*
**P. Siva Prasad, T.T.D.**

*DTP Work by*
**Vinayaka Graphics,**
Tirupati. Ph: 0877-5572402

*Printed at* - Adisri, Tirupati

ओ नमो वेङ्कटेशाय

श्रीवेदव्यासमहर्षिप्रणीतम्

# श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

## द्वादशः स्कन्धः

श्रीश्रीधरस्वामिविरचिताभावार्थदीपिका, श्रीवीराघवनिर्मिता श्रीभागवतचन्द्रचन्द्रिका,
श्रीविजयध्वजविलिखिता पदरत्नावली चेति त्रिभि व्याख्याने भूषितम्


**पण्डितराज**, साहित्यविशारद, वाचस्पति, शिरोमणि, विद्वान् इति विरुदभाजा
**राष्ट्रपति पुरस्कार ग्रहीत्रा**
**डॉ. यन्. सि. वि. नरसिंहाचार्येण** एम् ए, बि ओ एल्,
(विशिष्टाधिकारी, श्रीमद्भागवतशोधपूर्ण परिष्करणपरिषत्)
**परिष्कृतम्**



तिरुमल तिरुपति देवस्थान
**कार्यनिर्वहणाधिकारिभिः**
**प्रकाशितम्**
२००४

हरिः ओम्

ईशानां जगतोऽस्य वेङ्कटपतेर्विष्णोः परां प्रेयसीं
तद्वक्षःस्थलनित्यवासरसिकां तत्क्षान्तिसंवर्धनीम् ।
पद्मालङ्कृतपाणिपल्लवयुगां पद्मासनस्थां श्रियं
वात्सल्यादिगुणोज्ज्वलां भगवतीं वन्दे जगन्मातरम् ।

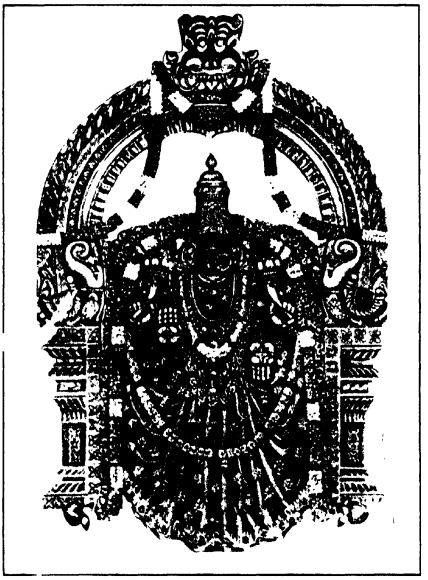

श्रीमद्वेङ्कटनायकस्य हृदये द्वेधा विधायाऽऽत्मनो
मूर्तिं शश्वदियं कृपामृतझरीस्रोतस्विनी भार्गवी ।
उद्धर्तुं निखिलानगण्यविषमांहोवह्निदग्धात्मनो
जन्तून् सन्निदधाति विश्वजननी पद्मावती रक्षतात् ॥

हरिः ओम्

लोकोद्धारैकदीक्षापर निगममहाहर्म्यधर्म्यप्रदीपः
स्वाङ्घ्रिद्वन्द्वप्रपन्नाखिलदुरितततमोध्वंसिपुण्यप्रदीपः ।
दिङ्मूढेभ्यो नरेभ्यः प्रकटितसरणिः स्नेहदीप्रः प्रदीपः
युष्मानस्मान्समस्तानवतु वृषगिरिस्थासमुमङ्गल्यदीपः ॥

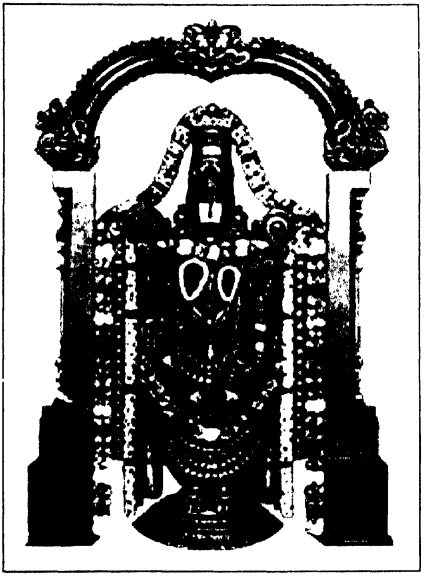

श्रीमद्भागवतं पुराणमखिलाम्नायैकसारः क्व वा ?
प्रज्ञादुर्विधकिम्पचानधिषणाः शैक्षाः क्व वा मादृशाः ?
भक्त्या चापलतस्तथाऽपि च परिष्कर्तुं वयं व्यापृताः,
एतत् प्राभृतयाम वेङ्कटपतेः पादाब्जयोः, स्वीक्रियात् ॥

TIRUMALA TIRUPATI DEVASTHANAMS, TIRUPATI

# TRUST BOARD


**CHAIRMAN**

*Sri T. Subbi Rami Reddy*, M.P.,

**MEMBERS**

Sri Janga Krishnamurthy, M.L.A.,

Sri Sama Ganesh Reddy

Sri N. Srinivasan

Sri M. Navaneeswara Reddy

Sri Gokaraju Ramaraju

Dr. Chadalawada Sudha, M.S., FRCSC.,

Sri N. Nageswara Rao, M.A.,

Sri K. Prem Sagar Rao

Sri P.V. Satyanarayana Murthy, I.A.S
COMMISSIONER, ENDOWMENTS, A.P.
EX-OFFICIO MEMBER

Sri Ajeya Kallam, I.A.S.,
EXECUTIVE OFFICER
TIRUMALA TIRUPATI DEVASTHANAMS
EX-OFFICIO MEMBER

# The Critical Edition of Srimad Bhagavata

## The Editorial Board


Chairman

**Sri Ajeya kallam**, I.A.S.
Executive Officer
T.T.Devasthanams

MEMBERS

1. **Dr. Medasani Mohan**
Director
Sri Annamacharya Project,
T.T.Devasthanams, Tirupati.

2. **Prof. H.S. Brahmananda**
Secretary,
Dharma Prachara Parishad,
T.T.Devasthanams, Tirupati.

3. **Prof. S. Sudarsana Sarma**
Professor & Head
Dept. of Sahitya
R.S. Vidyapeetha, Tirupati.

4. **Prof. K. Pratap**
Professor & Head
Dept. of Sanskrit
S.V. University, Tirupati.

5. **Dr. G.S.R. Krishna Murthy**
Reader
Dept. of Sahitya,
R.S. Vidyapeetha, Tirupati.

Co-ordinated Member

6. **Dr. N.S. Ramamoorthy**
Editor,
T.T.D. Devasthanams, Tirupati.

Convener

**Prof. Samudrala Lakshmanaiah**
Special Officer, Bhagavata Project.
T.T.Devasthanams.

# CONTENTS


| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | Foreword | ..... | I |
| 2. | Introduction - English | ..... | II |
| 3. | Introduction - Sanskrit | ..... | V |
| 4. | List of Abbreviations - (Editions) | ..... | VIII |
| 5. | List of Abbreviations - (Texts cited) | ..... | IX |
| 6. | Contents of each canto (in prose) | ..... | XI |
| 7. | Contents of each canto (in slokas) | ..... | XII |
| 8. | Process of Reciting of Bhagavata | ..... | XIII |
| 9. | Srimad Bhagavata Mahatmya-(Skanda purana) | ..... | XIV |
| 10. | SRIMAD BHAGAVATA MAHAPURANAM | | |

| **Text** | **Page** |
|---|---|
| Canto 1 | 1 |
| Canto 2 | 16 |
| Canto 3 | 33 |
| Canto 4 | 51 |
| Canto 5 | 74 |
| Canto 6 | 83 |
| Canto 7 | 116 |
| Canto 8 | 127 |
| Canto 9 | 148 |
| Canto 10 | 160 |
| Canto 11 | 177 |
| Canto 12 | 200 |
| Canto 13 | 221 |
| **Appendix -I** | 1 to 50 |
| Quarter Verse Index | |
| **Appendix-II** | 51 to 58 |
| Citation Index | |

# Foreword

Indians follow the Vedic tradition. Vedas were not written by the human beings; that is why, they are called "Apourusheyas". Scriptures like Ramayana explain the teachings of the Vedas in their own way.

Amongst these scriptures Srimadbhagavatam is unique. Written by Vedavyasa, it is described as verily the fruit of Veda-Kalpataru.

In this Kaliyuga, the easiest path to cross the ocean of samsara is the Bhakti yoga. There is no other scripture, which explains better the nature of Bhakti, than Srimadbhagavatam.

This holy treatise was taught to king Parikshit, by sage Suka, to remove the fear of death, as the former was cursed to die within a week, with a snake bite .

The fear of death doesn't merely confine to Parikshit, and it pervades all living beings. Death is inevitable. To face death fearlessly, the teachings contained in Srimadbhagavatam have to be understood and followed.

The T.T.D. is publishing religious books in various languages. As part of this effort, the publication of Sanskrit Bhagavatam critically edited by eminent scholars, has been taken up.

In the Indian philosophy there are three important systems called Adwaita, Visishtadwaita and Dwaita. Three well-known Acharyas belonging to the foregoing three systems of philosophy wrote commentaries on Srimadbhagavatam expounding their respective systems. The well-edited copies of the commentaries were not available to the readers since a long time. They are now made available in this critical edition

This is the twelfth skandha of Srimadbhagavatam. Late Sriman N.C.V. Narasimhacharya, the well-known Sanskrit Scholar and recipient of President's award, prepared this critical edition, with meticulous care

We hope the readers, as well as educational institutions, would utilise this book fully, thereby making the T.T.D's efforts fruitful

TIRUPATI

EXECUTIVE OFFICER
T.T.DEVASTHANAMS

# Introduction

Srimadbhagavatam is considered to be the representative or another form of Lord Srimannarayana. According to Padmapurana, He has laid his glory in Srimadbhagavatam. It is also said that He entered into the ocean of Srimadbhagavatam and disappeared. Therefore, we adore the Bhagavatam, as the Lord Himself.

Bhagavatam is said to be Brahma Sammita - equal to Brahma, where, the word Brahma means, both Veda and Parabrahma.

Though various secrets of the Vedas are expounded in this work, the pre-eminence of Bhakti yoga has been stressed in it more prominently. 'Bhagavatam can be understood neither by erudition, nor through commentaries, but only by Bhakti' says an adage. Different kinds of devotion have been described in this work, through various stories in an attractive style.

Generally, Purana has five characteristics ie. Srushti (Creation), Prati - Srushti (Secondary creation), Vamsa (generation), Manvantara (cosmic cycle ruled over by Manu) and Vamsanucharita (an account of royal dynasties). But Srimadbhagavatam being a Maha Purana, contains ten characteristics. They are : 1. Sarga, 2. Visarga, 3. Sthana, 4. Poshana, 5. Uti, 6. Manvantara, 7. Ishanukatha, 8. Nirodha, 9. Mukti and 10. Asraya. They are briefly explained below.

**1. Sarga:** Under the direction of the Lord, the three Gunas, get shaken, thereby producing the five elements, primary sensations, indriyas, Ahankara and Mahattattva. This is Sarga (Subtle Creation) which is described in the third Skandha.

**2. Visarga** : Brahma takes birth from Viratpurusha. He creates various beings, both animate and inanimate. This creation is Visarga (Gross creation) which is explained in the fourth Skandha.

**3. Sthana** : Keeping the creation, in an orderly form without decay is Sthana, which is described in the fifth Skandha.

**4. Poshana** : The Lord shows His grace towards His devotees. He sends His message to this world, through Acharyas. He takes birth Himself to protect this creation. He nourishes it by His Nama and Rupa. This process is Poshana which is explained in the Sixth Skandha.

**5. Uti** : The impressions of previous actions are termed as utis, the explanation of which is found in the Seventh Skandha.

**6. Manvantara :** The history of propagation of devotion towards Lord by various Manus in different ages and establishment of Dharma, is called Manvantara. This is contained in the eighth Skandha.

**7. Ishanukatha :** The description of the incarnations of Lord and stories of the devotees, is termed as Ishanukatha, which is described in the ninth Skandha.

**8. Nirodha :** The Lord absorbs Upadhis of the Jeevas into Himself and enters into Yoganidra. This is Nirodha Leela, contained in the tenth Skandha.

**9. Mukti :** To be within his own self, discarding all other forms is called, Mukti, (Liberation from the gunas of prakruti) which is described in eleventh Skandha.

**10. Asraya :** The last characteristic Asraya, is nothing but Adhistana (the last resort of the Universe) which is explained in the last Skandha (present volume)

The Other Characteristics are intended to support the last one

Parabrahma is Asraya It is also called Paramatma. All the actions in the creation take place on account of this Paramatma only. Srimabhagavatam emanated only to describe the glory of Paramatma

This volume is the last Skandha of Bhagavata It describes the lineage of the kings of Kaliyuga and also explains the Kali dharma.

Bhagavatam describes the method of warding off the evil affects of Kali as follows Kali is the store-house for all kinds of evils But there is a very great quality in it By mere chanting of sri Krishna's name, one gets released from the bondage of samsara The results that we reap by 1. meditation in Kruthayuga, 2 by conducting Yajnas in Thretayuga, 3 by performing Paricharya in Dwapara yuga, could be got by mere Hari Kirtana (chanting of name) in Kali yuga

In the Kalisantharana Upanishad, the importance of nama sankirtana is stressed, during the conversation of Brahma and Narada

In the last part of this Skandha, sage Suka tells Parikshit, dispelling his fear of death, as follows.

"Oh! king, do not think that you are going to die You were never born. You are not going to die like your physical body."

Thereafter, Parikshit says " I am sanctified by your grace, O! Sage, you have taught me about God Who is beginningless and endless. My ignorance has vanished, since I have gained the firm state of Jnana and Vijnana. You have shown me the abode of God!!"

Afterwards, the body of Parikshit, bitten by Takshaka, becomes ash.

In the end of this volume, the characteristics of Purana are explained. The penance of sage Markandeya, his vision of Mahapralaya due to Maya of Paramatma and the real nature of Almighty are narrated. This scripture ends with the following verse, which explains the greatness of Nama sankirtana and salutation made to God.

नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम् ।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम् ॥

This Skandha was edited by well-known Sanskrit Scholar, recipient of President's award, and our Guru, Sriman Dr. N.C.V. Narasimhacharya Swami. He reached Lotus feet of the Lord, even before the publication of this book.

The scholars who assisted in preparing this edition are : 1. Sriman K.C. Jayachandra Sastri, 2. Sriman U. Venkatramaiah and 3. Sriman Varada Rajan, who deserve the gratitude of the readers.

The research assistants, namely Sri S.B.S. Bhattacharya, Dr. S.Poornavalli and Dr. S. Dasaratha also deserve our commendation. Sri I. Venkateswara Rao and others who helped immensely in proof reading of the work also deserve our gratitude.

Sri Ajeya Kallam, IAS, the revered Executive Officer of the Tirumala Tirupati Devasthanams and Dr. Medasani Mohan, the Director of Annamacharya project and other members of the Advisory committee of the Bhagavata project are offered our deep gratitude for their keen interest and co-operation in bringing out this edition.

**Samudrala Lakshmanaiah,**
Special Officer,
Sri Bhagavata Project,
T.T.Devasthanams

Tirupati.

# निवेदनम्

**स्वकीयं यद्भवेत्तेजस्तच्च भागवतेऽदधात्।**

**तिरोधाय प्रविष्टोऽयं श्रीमद्भागवतार्णवम् ॥**

इति पद्मपुराणे श्रीमद्भागवतस्य प्राशस्त्यमुद्घोषितम्। ततश्च भगवतः प्रतिनिधित्वेन अथवा रूपान्तरत्वेन श्रीमद्भागवतमाराध्यते।

'इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्' इत्यत्र ब्रह्मसम्मितमित्यस्य वेदसदृशमिति, परब्रह्मसन्निभमिति च अर्थद्वयं परिग्राह्यं भवति।

यद्यपि पुराणेऽस्मिन् नानाविधानि वेदरहस्यानि प्रतिपादितानि तथाऽपि भक्तियोगस्यैव पारम्यं मुख्यतया निरूपितम्। तत एवोक्तं "भक्त्या भागवतं ज्ञेयं न व्युत्पत्त्या न टीकया" इति। भक्तेः वैविध्यं च अत्र नानाविधाभिः कथाभिः रमणीयतया प्रत्यपादि।

पुराणं पञ्चलक्षणमुच्यते । तदुक्तम् -

"**सृष्टिश्च प्रतिसृष्टिश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।**

**वंशानुचरितञ्चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्**" इति।

पुराणानां सर्वेषामपि लक्षणमत्राभिहितम् ।

किन्तु श्रीमद्भागवतं महापुराणं भवति। अत्र निरूपितानि लक्षणानि दशविधानि अस्मिन्नेव ग्रन्थे एवं पठ्यन्ते ।

"**अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः ।**

**मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः**" । (भाग-2-10-1) इति।

एतेषां लक्षणानां सङ्ग्रहेण स्वरूपं एवमुच्यते -

1. **सर्गः**- भगवतः प्रेरणया गुणेषु क्षोभो जायते। ततः आकाशादि पञ्चभूतानि, शब्दादितन्मात्राः, इन्द्रियाणि, अहङ्कारः, महत्तत्त्वं इत्येषां उत्पत्तिर्भवति। सैव सर्गः इत्युच्यते। भागवते तृतीयस्कन्धे सर्गो निरूपितः।

2. **विसर्गः**- विराट्पुरुषात् ब्रह्मा जायते । तेन नानाविधानां चराचराणां सृष्टिः क्रियते। इयं सृष्टिरेव विसर्गः इत्यभिधीयते। अस्य स्वरूपं चतुर्थस्कन्धे दृश्यते ।

3. **स्थानं** - विनाशोन्मुखायाः सृष्टेः कस्याश्चिन्मर्यादायाः स्थापनमेव स्थानं भवति। पञ्चमस्कन्धे निरूपितमिदम् ।

4. **पोषणम्** - भगवान् भक्तानुगृह्णाति। सत्पुरुषद्वारा जगद्धितकरं सन्देशं लोकं प्रति प्रेषयति। स्वयंच अवतीर्य सृष्टेः रक्षणं विदधाति। नामरूपाभ्यां च पुष्टिं कल्पयति । तदिदं पोषणमिति कथ्यते। षष्ठस्कन्धे एतद्विशदीकृतम् ।

5. **ऊतयः** - कर्मवासनाः ऊतयः इत्युच्यन्ते। एतासां स्वरूपं सप्तमस्कन्धे निर्दिष्टम् ।

6. **मन्वन्तरम्** -मन्वन्तरकालेषु तत्तत्कालाधिपतयः भगवद्भक्तेः प्रचारं कुर्वन्ति। धर्मश्च स्थापयन्ति। अष्टमस्कन्धे मन्वन्तराणां लक्षणं निरूपितम् ।

7. **ईशानुकथा**-ईशानुकथालक्षणलक्षिते नवमस्कन्धे भगवदवतारकथाः भक्तानां चरित्राणि च उपवर्णितानि ।

8 **निरोधः**- जीवोपाधीन् स्वस्मिन् विलीनान्विधाय यत्र भगवान् योगनिद्रास्थितिं गच्छति स निरोध इति उच्यते । दशमस्कन्धे श्रीकृष्णावतारवर्णनावसरे निरोधलीला वर्णिता ।

9. **मुक्तिः** - रूपान्तरं परित्यज्य स्वरूपेण स्थितिरेव मुक्तिः। अत्र प्रकृतिगुणेभ्यः सर्वात्मना विमुक्तिः वर्ण्यते। एकादशस्कन्धे मुक्तेः स्वरूपं निरूपितम् ।

10. **आश्रयः**-अन्तिमं तु लक्षणं आश्रयः। स एव अधिष्ठानमित्यपि व्यवह्रियते। इदञ्च द्वादशस्कन्धेऽस्मिन् प्रतिपादितम् ।

अस्य लक्षणस्य उपोद्बलकतयैव पूर्वोक्तानि नव लक्षणानि अभिहितानि - तदुक्तम्

"**दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम् ।**
**वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा** ॥" (भाग.2-10-2) इति।

अपि च

"**आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते ।**
**स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते** ।" (भाग.2-10-7)

इत्युक्तरीत्या सर्वस्यापि श्रीमद्भागवतस्य परमात्मस्वरूपनिरूपणपरत्वं निश्चितं भवति ।

अयं द्वादश स्कन्ध श्रीमद्भागवतस्य अन्तिमो भागो भवति। अत्र कलियुगसम्बन्धिनो राजवंशस्य वर्णनम्, कलिधर्मस्य च विवरणं विहितमस्मि। कलिदोषः कथमपाकर्तुं शक्यते इति चेत् -

**कलेर्दोषनिधे राजन्! अस्ति होको महान् गुणः ।**
**कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥** (भाग 12-3-51)

**कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।**
**द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥** (भाग 12-3-52 )

इति च कलिसन्तरणार्थं नामसङ्कीर्तनस्य सर्वोत्तमोपायत्वमुद्घोषितम् ।

कलिसन्तरणोपनिषद्यपि अयमेव विषय ब्रह्मनारदयोः संवादद्वारा प्रकटीक्रियते। उक्तं हि तत्र "भगवतः श्रीमन्नारायणस्य नामसङ्कीर्तनमात्रेण निर्द्धूतकलिर्भवति" इति।

स्कन्धेऽस्मिन् परीक्षितः मरणभीतिं निवारयन् शुकः एवं ब्रवीति -

**त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां त्यज ।**
**न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि॥** इति। (12-5-3)

तदनु परीक्षिदपि -

**सिद्धोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि भवता करुणात्मना ।**
**श्रावितो यच्च मे साक्षादनादिनिधनो हरिः ॥**(भाग.12-6-2)

**अज्ञानञ्च निरस्तं मे ज्ञानविज्ञाननिष्ठया ।**
**भवता दर्शितं क्षेमं पदं भगवतः परम् ॥** (भाग.12-6-7)

इति वदति। ततः तक्षकविषाग्निना तस्य राजर्षेः देहः भस्मसात् भवति ।

तदनु ग्रन्थेऽस्मिन् पुराणलक्षणानि उपवर्णितानि। अथ मार्कण्डेयस्य तपस्या तेन भगवन्मायया परिकल्पितस्य महाप्रलयस्य दर्शनं भगवत्स्वरूपस्य वर्णनं इत्येते विषयाः क्रमशः वर्ण्यन्ते ।

**नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम् ।**
**प्रणामो दुःखशमनः तं नमामि हरिं परम् ॥** (भाग.12-13-23)

इति परमार्थप्रतिपादनपरेण वचसा ग्रन्थोऽयं समाप्तिमुपयाति ।

विद्वद्वर्यैः राष्ट्रपतिपुरस्कारेण सम्मानितैः, बहुभाषानिपुणैः अस्मदुरुभिः श्रीमद्भिः डा.यन्.सि.वि. नरसिंहाचार्य स्वामिभिः व्याख्यानत्रयसमलङ्कृतोऽयं ग्रन्थः महता श्रमेण परिष्कृतः। ग्रन्थप्रकाशनात्पूर्वमेव ते महाभागाः यशश्शरीरा बभूवुः ।

अस्य ग्रन्थस्य परिष्करणे सम्पादने च बहुधा उपकृतवन्तः श्रीमन्तः के. सि. जयचन्द्रशास्त्रिणः, यु. वेङ्कटरामय्यनामानः, आ. वारदराजन्नाह्वयाश्च कृतज्ञताञ्जलिमर्हन्ति, एवं श्रीमान् यस्.बि.यस्. भट्टाचार्यः, डा. यस्. पूर्णवल्ली, डा. यस्. दशरथश्च कृतज्ञतामर्हन्ति।

मुद्रणसमये अक्षरशोधनकर्मणि सहकारं प्रदतवन्तः श्रीमन्तः श्री.ऐ. वेङ्कटेश्वररावु महोदयाः, एवं अन्ये च धन्यवादान् अर्हन्ति।

किञ्च अस्य ग्रन्थस्य मुद्रणे नितरां श्रद्धां प्रदर्शितवद्भ्यः ति.ति.दे श्रीकार्यनिर्वहणाधिकारिभ्यः श्री. अजेय कल्लं I.A.S महाशयेभ्यः, अन्नमाचार्य प्राजेक्ट्, निदेशकेभ्यः डा. मेडसानि मोहन् महाशयेभ्यः एवं अन्येभ्यश्च भागवतपरिष्करणमार्गदर्शक-मण्डलीसदस्येभ्यः सादरं कृतज्ञताञ्जलयः समर्प्यन्ते ।

'लोकास्समस्ताम्सुखिनो भवन्तु'

तिरुपति

**समुद्राल लक्ष्मणय्य**
**विशिष्टाधिकारी**
**श्रीभागवतपरिष्करणपरिषत्**
**ति ति देवस्थानम**

# LIST OF ABBREVIATIONS

(of the Edition of of Srimad Bhagavata Mahapuranam being referred to)

1.A. Edited by Sri Krishna Sankara Sastri-contains about 30 commentaries - Printed in Devanagari Script at Ahmedabad, Gujarat.

2.B. Printed in Devanagari Script at Brindavan-contains 9 commentaries.

3.G. Contains text only-Printed at Gita Press, Ghorakhpur-in Devanagari Script.

4.H. Contains Sridhara's Commentary-Edited by Sri Hayagriva Sastri. Printed in Telugu Script at Madras.

5.J. Contains Sridharacharya's Commentary-Edited by Prof. J.L. Sastri. Printed in Devanagari Script.

6.M. Contains the commentary of Sri Vijaya Dhvaja Tirtha-Printed in Devanagari Script- Another Madhva Edition.

7.Ma. Contains the commentary of Sri Vijaya Dhvaja Tirtha-Printed in Devanagari Script- Another Madhva Edition.

8. Contains the commentary of Sri Vira Raghavacharya- Printed in Telugu Script - Published by Sri Tridandi Srimannarayana Ramanuja Jeer Swami.

9.V. Contains the commentary of Sri Sridharacharya-Printed at Vavilla press, Madras in Telugu Script.

10.W. Contains the Commentary of Sri Viraraghavacharya - Printed in Telugu Script - Published by the Maharaja of Vanaparti Samsthan, Andhra.

## LIST OF ABBREVIATIONS

Commentaries

१. **श्रीध०** - श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

२. **वीर०** - श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

३. **विज०** - श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

# Texts cited in commentaries and their Abbreviations

| Abbreviations | Name of the Book | Abbreviation | Name of the Book |
|---|---|---|---|
| अथ. शिखा. उ. | अथर्वशिखोपनिषत् | तैत्ति.सं. | तैत्तिरीयसंहिता |
| अद्वै.उ. | अद्वैतोपनिषत् | - | दत्तः |
| - | अध्यात्मे | - | नारदीये |
| - | अभिधानम् | निरा.उ. | निरालम्बोपनिषत् |
| अम.को. | अमरकोशः | - | निरुक्तम् |
| अष्टा. | अष्टाध्यायी | निरा.उ. | नृसिंह उत्तरतापिन्युपनिषत् |
| | अहिर्बुध्न्यसंहिता | - | पञ्चतन्त्रम् |
| आगम.प्रा. | आगमप्रामाण्यम् | - | परमसंहिता |
| आप.श्रो.सू. | आपस्तम्बश्रौतसूत्रम् | - | पाञ्चरात्रम् |
| - | आग्नेय | - | पाद्मपुराणम् |
| ईशा.उ. | ईशावास्योपनिषत् | पु.सू. | पुरुषसूक्तम् |
| उणा.सू. | उणादिसूत्राणि | - | प्रकाशिकायाम् |
| | उत्पलमाला | प्रश्न.उ. | प्रश्नोपनिषत् |
| ऋक्.सं. | ऋक् संहिता | बृह.उ. | बृहदारण्यकोपनिषत् |
| ऐत.उ. | ऐतरेयोपनिषत् | | ब्रह्मतर्के |
| कठ.उ. | कठोपनिषत् | | ब्रह्मवैवर्ते |
| | कापिलेये | ब्र.सू. | ब्रह्मसूत्राणि |
| कुमार.स. | कुमारसम्भवम् | | ब्राह्मे |
| कौषी.उ. | कौषीतक्युपनिषत् | | भट्टिकायाम् |
| | क्रियायोगे | भ.गी. | भगवद्गीता |
| | गारुडे | भर.सं. | भरद्वाजसंहिता |
| | गोपालः | | भागवततन्त्रम् |
| | चाक्रायणश्रुति | भाग. | भागवतम् |
| छान्दो.उ. | छान्दोग्योपनिषत् | - | भविष्यत्पुराणे |
| जित.स्तो. | जितन्तास्तोत्रम् | भारते.आनु. | भारते आनुशासनिकपर्व |
| - | तत्त्वनिर्णये | भारते. आरण्य | भारते आरण्यपर्व |
| | तन्त्रभागवते | भारते. उद्योग | भारते उद्योगपर्व |
| तैत्ति.आ. | तैत्तिरीय आरण्यकम् | भारते. शान्ति | भारते शान्तिपर्व |
| तैत्ति.उ. | तैत्तिरीयोपनिषत् | मनु.स्मृ. | मनुस्मृतिः |

| Abbreviations | Name of the Book | Abbreviation | Name of the Book |
|---|---|---|---|
| - | महाकौर्मे | विष्णु.ध.पु. | विष्णुधर्मोत्तरपुराणम् |
| - | माहात्म्ये | विष्णु.पु. | विष्णुपुराणम् |
| म.ना.उ. | महानारायणोपनिषत् | - | विष्वक्सेनसंहिता |
| महा.उ. | महोपनिषत् | वे.नि. | वेदनिघण्टुः |
| माण्डू.उ. | माण्डूक्योपनिषत् | | शब्दनिर्णये |
| - | माध्यन्दिनश्रुतिः | शार्ङ्ग.पद्ध. | शार्ङ्गधरपद्धतिः |
| मुण्ड.उ. | मुण्डकोपनिषत् | | शिशुपालवधम् |
| मैत्रा.उ. | मैत्रायण्युपनिषत् | श्वेता.उ. | श्वेताश्वतरोपनिषत् |
| याज्ञ.स्मृ. | याज्ञवल्क्यस्मृति | सुबा.उ. | सुबालोपनिषत् |
| रामा. | रामायणम् | सुभा. | सुभाषितरत्नभाण्डागारम् |
| - | रुद्र | सूर्य.उ. | सूर्योपनिषत् |
| - | लक्ष्मीतन्त्रे | - | स्कान्दे |
| वर.स्तव | वरदराजस्तव | - | षाड्गुण्ये |
| - | वामने | - | हरिवंशे |
| - | वाराहे | हला.को. | हलायुधकोशः |
| - | वररुचि | | हेमचन्द्रः |

# श्रीमद्भागवत द्वादशस्कन्धस्थ विषयानुक्रमणी


| अध्यायः | विषयः |
|---|---|
| १. | कलियुगीयराजवंशवर्णनम् । |
| २. | कलिधर्मनिरूपणं कल्क्यवतारस्य कृतयुगागमस्य च समयः । |
| ३. | भूमिगीतं कलिदोषनिरासोपायः, युगधर्मनिरूपणं कलौ हरिनामकीर्तनमाहात्म्यवर्णनं च । |
| ४ | चतुर्विधप्रलयवर्णनम् । |
| ५. | परमार्थोपदेशेन राज्ञः परीक्षितो भीतिनिवारणम् । |
| ६. | परीक्षितो देहत्यागः सर्पसत्रं वेदानां शाखाविभागश्च । |
| ७. | अथर्ववेदविभागः पुराणलक्षणवर्णनं च । |
| ८. | मार्कण्डेयस्य तपस्या तत्कृतनरनारायणस्तुतिश्च । |
| ९. | मार्कण्डेयकर्तृकं भगवन्मायानिर्मितमहाप्रलयलीलादर्शनम् । |
| १०. | मार्कण्डेयाय भगवतः शङ्करस्य वरदानम् । |
| ११. | सोपायुधस्य भगवतः स्वरूपवर्णनं, सूर्यव्यूहवर्णनं च । |
| १२. | श्रीमद्भागवतोक्तविषयाणां संक्षेपतो विवरणम् । |
| १३. | विभिन्नपुराणानां श्लोकसंख्या श्रीमद्भागवतमहत्त्वं च । |

# श्रीमद्भागवत महापुराण
## द्वादशस्कन्धस्थानां त्रयोदशाध्यायानां
# अध्यायार्थसङ्ग्रहश्लोकाः

उक्तस्त्रयोदशाध्यायै र्द्वादशे त्वाश्रयस्सतः ।
अधिष्ठानावधित्वाभ्यामाश्रयश्चेश्वरस्सतः ॥

उक्तो लयावधित्वेन प्राकृतात्यन्तिके लये ।
अधिष्ठानतया चोक्तो महापुरुषवर्णने ॥

तत्राद्यैष्षड्भिरध्यायैः शुकःप्राह परिक्षिते ।
शेषैस्तत्राखिलान्याह सूतः पृष्टोऽथ सत्रिभिः ॥

स्वाश्रय श्रवणं कार्यो न विलम्बो मनीषिणा ।
इत्येतत्कालवैषम्यं चतुर्भिस्तावदुच्यते ॥ ० ॥

तत्र तु प्रथमे भूविमागधान्वयभूमिपान् ।
कलिप्रभावतः प्राह सङ्करादिमलीमसान् ॥१॥

द्वितीये तु [illegible]नेर्दोषवृद्धौ कल्क्यवतारतः ।
अधर्मिष्ठे जने नष्ट पुनः कृतयुगागमः ॥ २॥

तृतीये भूमिगीतैस्तु राज्यदोषादि वर्ण्यते ।
कलौ च दोषभूयिष्ठे दोषहन्त्री हरेर्नतिः ॥३॥

चतुर्थे च चतुर्थोक्ता लया नैमित्तिकादयः ।
तत्र संसारनिस्तारो हरिकीर्त्यैव वर्ण्यते ॥४॥

पञ्चमे तु समासेन परब्रह्मोपदेशतः ।
राज्ञस्तक्षकसन्देशान्मृत्युभीतिनिवारणम् ॥५॥

षष्ठे परीक्षितो मोक्षस्सर्पहोमादि तत्सुतात् ।
वेदशाखा विभागोक्तौ त्रिवेदव्यासवर्णनम् ॥६॥

सप्तमे धर्मविस्तारः पुराणव्यसनं ततः ।
पुराणलक्षणादीनि फलं भागवतश्रुतेः ॥७॥

अष्टमे तु तपश्चर्या मार्कण्डेयस्य मोहकैः ।
कामादिभिरसम्मोहो नरनारायणस्तुतिः ॥८॥

नवमे भगवन्मायादिदृक्षोर्दर्शनं मुहुः ।
माया शिशोर्दयाब्धौ च मुनेर्निर्वेशनिर्गमैः ॥९॥

दशमे शिव आगत्य मुनेस्तुष्टो वरानदात् ।
तेन साकमतिप्रीत्या समाभाष्य सभाजयन् ॥१०॥

एकादशे तु पूजार्थं महापुरुषवर्णनम् ।
रवेर्व्यूहस्य चाख्यानं प्रतिमासं पृथक् पृथक् ॥११।

द्वादशे तु पुराणोक्तसर्वार्थानुक्रमः कृतः ।
प्रथमस्कन्धमारभ्य प्राधान्येन समासतः ॥१२॥

त्रयोदशे पुराणानां संख्यामाह यथाक्रमम् ।
दानं दानस्य माहात्म्यं श्रीमद्भागवतस्य च ॥१३॥

# श्रीमद्भागवतपाठविधिः

स्नातः शुचिर्भूत्वा प्राणानायम्य त्रिराचम्य च मङ्गलपाठपूर्वकं भगवन्तं प्रणमेत्। तदनु सञ्चितैः षोडशोपचारैर्मानसोपचारैर्वा व्यासं शुकं वासुदेवं श्रीमद्भागवतग्रन्थं च सादरं सविनयं सभक्तिभावं सम्पूजयेत्। ततः पाठारम्भात् प्राक् 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' इति द्वादशाक्षरमन्त्रम् 'ओं क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' इति गोपालमन्त्रं वाऽष्टोत्तरशतवारं जपेत्। पश्चादेवं विनियुञ्जीत-

## विनियोगः

ओं अस्य श्रीमद्भागवताख्यस्तोत्रमन्त्रस्य नारद ऋषि , बृहती छन्द , श्रीकृष्ण परमात्मा देवता, ब्रह्म बीजम्, भक्तिः शक्तिः, ज्ञानवैराग्ये कीलकम्, मम श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थं पाठे विनियोगः।

## ऋष्यादिन्यासः

'नारदर्षये नमः' शिरसि। 'बृहतीच्छन्दसे नमः' मुखे। 'श्रीकृष्णपारमात्मदेवतायै नमः' हृदि। 'ब्रह्मबीजाय नमः' गुह्ये। 'भक्तिशक्तये नमः' पादयोः। 'ज्ञानवैराग्यकीलकाय नमः' नाभौ। श्रीमद्भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थकपाठविनियोगाय नमः सर्वाङ्गे। द्वादशाक्षरमन्त्रेण हृदयाद्यङ्गन्यासं करन्यासं च कुर्यात्। अथवाऽधोऽङ्कितगत्याऽङ्गन्यासकरन्यासौ विदध्यात्-

## अङ्गन्यासः

ओं क्लां हृदयाय नमः। ओं क्लीं शिरसे स्वाहा। ओं क्लूं शिखायै वषट्। ओं क्लैं कवचाय हुम्। ओं क्लौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ओ क्लः अस्त्राय फट्।

## करन्यासः

ओं क्लां हृदयाय नमः। ओं क्लीं तर्जनीभ्यां नमः। ओं क्लूं मध्यमाभ्यां नमः। ओं क्लैं अनामिकाभ्यां नमः। ओं क्लौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ओं क्लः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

## अथ ध्यानम्

कस्तूरीतिलकं ललाटफलके वक्षःस्थले कौस्तुभं नासाग्रे नवमौक्तिकं करतले वेणुं करे कङ्कणम्।
सर्वाङ्गे हरिचन्दनं च कलयन् कण्ठे च मुक्तावलिं गोपस्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपालचूडामणिः॥
अस्मि स्वस्मरुणीकराग्रविगलत्कल्पप्रसूनाप्लुतं वस्तु प्रस्तुतवेणुनादलहरीनिर्वाणनिर्व्याकुलम्।
स्वस्मस्वस्मनिबद्धनीविविलसद्गोपीसहस्रावृतं हस्तन्यस्तनतापवर्गमखिलोदारं किशोराकृति॥

इत्येवं ध्यात्वा पाठमारभेत।

## श्रीमद्भागवतसप्ताहपारायणस्य दैनन्दिनविश्रामस्थलानि निम्नाङ्कितपद्येषु निरूपितानि

मनुकर्दमसंवादपर्यन्तं प्रथमेऽहनि। भरताख्यानपर्यन्तं द्वितीयेऽहनि वाचयेत्।
तृतीये दिवसे कुर्यात् सप्तमस्कन्धपूरणम्। कृष्णाग्रिर्भावपर्यन्तं चतुर्थे दिवसे वदेत्॥
रुक्मिण्युद्वाहपर्यन्तं पञ्चमेऽहनि शस्यते। श्रीहंसाख्यानपर्यन्तं षष्ठेऽहनि वदेत्सुधीः।
सप्तमे तु दिने कुर्यात् पूर्तिं भागवतस्य वै। एवं निर्विघ्नतासिद्धिर्विपर्यय इतोऽन्यथा॥

ओं नमो भगवते वासुदेवाय

# श्रीमद्भागवतमाहात्म्यम्

(श्रीस्कान्द महापुराणान्तर्गतम्)

## अथ प्रथमोऽध्यायः

व्यास उवाच

श्रीसच्चिदानन्दघनस्वरूपिणे कृष्णाय चानन्तसुखाभिवर्षिणे ।
विश्वोद्भवस्थाननिरोधहेतवे नुमो वयं भक्तिरसाप्तयेऽनिशम् ॥१॥

नैमिषे सूतमासीनमभिवाद्य महामतिम् ।
कथामृतरसास्वादकुशला ऋषयोऽब्रुवन् ॥२॥

ऋषय ऊचुः

वज्रं श्रीमाथुरे देशे स्वपौत्रं हस्तिनापुरे ।
अभिषिच्य गते राज्ञि तौ कथं किं च चक्रतुः ॥३॥

सूत उवाच

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥४॥

महापथं गते राज्ञि परीक्षित् पृथिवीपतिः ।
जगाम मथुरां विप्रा[illegible]नाभि[illegible]भया ॥५॥

पितृव्यमागतं ज्ञात्वा वज्रः प्रेमपरिप्लुतः ।
अभिगम्याभिवाद्याथ निनाय निजमन्दिरम् ॥६॥

परिष्वज्य स तं वीरः कृष्णैकगतमानसः ।
रोहिण्याद्या हरेः पत्नीर्ववन्दायतनागतः ॥७॥

ताभिः संमानितोऽत्यर्थं परीक्षित् पृथिवीपतिः ।
विश्रान्तः सुखमासीनो वज्रनाभमुवाच ह ॥८॥

परीक्षिदुवाच

तात त्वत्पितृभिर्नूनमस्मत्पितृपितामहाः ।
उद्धृता भूरिदुःखौघादहं च परिरक्षितः ॥९॥

न पारयाम्यहं तात साधु कृत्वोपकारतः ।
त्वामतः प्रार्थयाम्यत्र सुखं राज्येऽनुयुज्यताम् ॥१०॥

कोशसैन्यादिजा चिन्ता तथारिदमनादिजा ।
मनागपि न कार्या ते सुसेव्याः किन्तु मातरः ॥११॥

निवेद्य मयि कर्तव्यं सर्वाधिपरिवर्जनम् ।
श्रुत्वैतत् परमप्रीतो वज्रस्तं प्रत्युवाच ह ॥१२॥

वज्रनाभ उवाच

राजन्नुचितमेतन्ने यदस्मासु प्रभाषसे ।
त्वत्पित्रोपकृतश्चाहं धनुर्विद्याप्रदानतः ॥१३॥

तस्मान्नाल्पापि मे चिन्ता क्षात्रं दृढमुपेयुषः ।
किन्त्वेका परमा चिन्ता तत्र किञ्चिद् विचार्यताम् ॥

माथुरे त्वभिषिक्तोऽपि स्थितोऽहं निर्जने वने ।
क्व गता वै प्रजात्रत्या यत्र राज्यं प्ररोचते ॥१५॥

इत्युक्तो विष्णुरातस्तु नन्दादीनां पुरोहितम् ।
शाण्डिल्यमाजुहावाशु वज्रसन्देहनुत्तये ॥१६॥

अथोटजं विहायाशु शाण्डिल्यः समुपागतः ।
पूजितो वज्रनाभेन निषसादासनोत्तमे ॥१७॥

उपोद्घातं विष्णुरातश्चकाराशु ततस्त्वसौ ।
उवाच परमप्रीतस्तावुभौ परिसान्त्वयन् ॥१८॥

शाण्डिल्य उवाच

शृणुतं दत्तचित्तौ मे रहस्यं व्रजभूमिजम् ।
व्रजनं व्याप्तिरित्युक्त्या व्यापनाद् व्रज उच्यते ॥१९॥

गुणातीतं परं ब्रह्म व्यापकं व्रज उच्यते ।
सदानन्दं परं ज्योतिर्मुक्तानां पदमव्ययम् ॥२०॥

तस्मिन् नन्दात्मजः कृष्णः सदानन्दाङ्गविग्रहः ।
आत्मारामश्चाप्तकामः प्रेमात्तैरनुभूयते ॥२१॥

आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ ।
आत्मारामतया प्राज्ञैः प्रोच्यते गूढवेदिभिः ॥२२॥

कामास्तु वाञ्छितास्तस्य गावो गोपाश्च गोपिकाः ।
नित्याः सर्वे विहाराद्या आप्तकामस्ततस्त्वयम् ॥२३॥

रहस्यं त्विदमेतस्य प्रकृतेः परमुच्यते।
प्रकृत्या खेलतस्तस्य लीलान्यैरनुभूयते ॥२४॥

सर्गस्थित्यप्यया यत्र रजःसत्त्वतमोगुणैः।
लीलैवं द्विविधा तस्य वास्तवी व्यावहारिकी ॥२५॥

वास्तवी तत्स्वसंवेद्या जीवानां व्यावहारिकी ।
आद्यां विना द्वितीया न द्वितीया नाद्यगा क्वचित् ॥२६॥

युवयोर्गोचरेयं तु तल्लीला व्यावहारिकी ।
यत्र भूरादयो लोका भुवि माथुरमण्डलम् ॥२७॥

अत्रैव व्रजभूमिः सा यत्र तत्त्वं सुगोपितम् ।
भासते प्रेमपूर्णानां कदाचिदपि सर्वतः ॥२८॥

कदाचिद् द्वापरस्यान्ते रहोलीलाधिकारिणः ।
समवेता यदात्र स्युर्यथेदानीं तदा हरिः ॥२९॥

स्वैः सहावतरेत् स्वेषु समावेशार्थमीप्सिताः ।
तदा देवादयोऽप्यन्येऽवतरन्ति समन्ततः ॥३०॥

सर्वेषां वाञ्छितं कृत्वा हरिरन्तर्हितोऽभवत् ।
तेनात्र त्रिविधा लोकाः स्थिताः पूर्वं न संशयः ॥३१॥

नित्यास्तल्लप्सवश्चैव देवाद्याश्चेति भेदतः ।
देवाद्यास्तेषु कृष्णेन द्वारिकां प्रापिताः पुरा ॥३२॥

पुनर्मौशलमार्गेण स्वाधिकारेषु चापिताः ।
तल्लिप्सूंश्च सदा कृष्णः प्रेमानन्दैकरूपिणः ॥३३॥

विधाय स्वीयनित्येषु समावेशितवांस्तदा ।
नित्याः सर्वेऽप्ययोग्येषु दर्शनाभावतां गताः ॥३४॥

व्यावहारिकलीलास्थास्तत्र यन्नाधिकारिणः ।
पश्यन्त्यत्रागतास्तस्मान्निर्जनत्वं समन्ततः ॥३५॥

तस्माच्चिन्ता न ते कार्या वज्रनाभ मदाज्ञया ।
वासयात्र बहून् ग्रामान् संसिद्धिस्ते भविष्यति ॥३६॥

कृष्णलीलानुसारेण कृत्वा नामानि सर्वतः ।
त्वया वासयता ग्रामान् संसेव्या भूरियं परा ॥३७॥

गोवर्द्धने दीर्घपुरे मथुरायां महावने ।
नन्दिग्रामे बृहत्सानौ कार्या राज्यस्थितिस्त्वया ॥३८॥

नद्यद्रिद्रोणिकुण्डादिकुञ्जान् संसेवतस्तव ।
राज्ये प्रजाः सुसम्पन्नास्त्वं च प्रीतो भविष्यसि ॥३९॥

सच्चिदानन्दभूरेषा त्वया सेव्या प्रयत्नतः ।
तव कृष्णस्थलान्यत्र स्फुरन्तु मदनुग्रहात् ॥४०॥

वज्र संसेवनादस्य उद्धवस्त्वां मिलिष्यति ।
ततो रहस्यमेतस्मात् प्राप्स्यसि त्वं समातृकः ॥५१॥

एवमुक्त्वा तु शाण्डिल्यो गतः कृष्णमनुस्मरन् ।
विष्णुरातोऽथ वज्रश्च परां प्रीतिमवापतुः ॥५२॥

इति श्रीस्कान्दे महापुराणे एकाशीतिसाहस्र्यां संहितायां द्वितीये वैष्णवखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये शाण्डिल्योपदिष्टव्रज भूमिमाहात्म्यवर्णनं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

# अथ द्वितीयोऽध्यायः

ऋषय ऊचुः

शाण्डिल्ये तौ समादिश्य परावृत्ते स्वमाश्रमम् ।
किं कथं चक्रतुस्तौ तु राजानौ सूत तद् वद ॥१॥

सूत उवाच

ततस्तु विष्णुरातेन श्रेणीमुख्याः सहस्रशः ।
इन्द्रप्रस्थात् समानाय्य मथुरास्थानमापिताः ॥२॥

माथुरान् ब्राह्मणास्तत्र वानराश्च पुरातनान् ।
विज्ञाय माननीयत्वं तेषु स्थापितवान् स्वाराट् ॥३॥

वज्रस्तु तत्सहायेन शाण्डिल्यस्याप्यनुग्रहात् ।
गोविन्दगोपगोपीनां लीलास्थानान्यनुक्रमात् ॥४॥

विज्ञायाभिधयाऽऽस्थाप्य ग्रामानावासयद् बहून् ।
कुण्ड कूपादिपूर्तेन शिवादि स्थापनेन च ॥५॥

गोविन्दहरिदेवादिस्वरूपारोपणेन च ।
कृष्णैकभक्तिं स्वे राज्ये ततान च मुमोद ह ॥६॥

प्रजास्तु मुदितास्तस्य कृष्णकीर्तनतत्पराः ।
परमानन्दसम्पन्ना राज्यं तस्यैव तुष्टुवुः ॥७॥

एकदा कृष्णपत्न्यस्तु श्रीकृष्णविरहातुराः ।
कालिन्दीं मुदितां वीक्ष्य पप्रच्छुर्गतमत्सराः ॥८॥

श्रीकृष्णपत्न्य ऊचुः

यथा वयं कृष्णपत्न्यस्तथा त्वमपि शोभने ।
वयं विरहदुःखार्तास्त्वं न कालिन्दि तद् वद ॥९॥

तच्छ्रुत्वा स्मयमाना सा कालिन्दी वाक्यमब्रवीत् ।
सापत्न्यं वीक्ष्य तत्तासां करुणापरमानसा ॥१०॥

कालिन्द्युवाच

आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका ।
तस्या दास्यप्रभावेण विरहोऽस्मान् न संस्पृशेत् ॥११॥

तस्या एवांशविस्तारः सर्वाः श्रीकृष्णनायिकाः ।
नित्यसम्भोग एवास्ति तस्याः साम्मुख्ययोगतः ॥१२॥

स एव सा स सैवास्ति वंशी तत्प्रेमरूपिका ।
श्रीकृष्णनखचन्द्रालिसङ्गाच्चन्द्रावली स्मृता ॥१३॥

रूपान्तरमगृह्णाना तयोः सेवातिलालसा ।
रूक्मिण्यादिसमावेशो मयात्रैव विलोकितः ॥१४॥

युष्माकमपि कृष्णेन विरहो नैव सर्वतः ।
किन्तु एवं न जानीथ तस्माद् व्याकुलतामिताः ॥१५॥

एवमेवात्र गोपीनामक्रूरावसरे पुरा ।
विरहाभास एवासीदुद्धवेन समाहितः ॥१६॥

तेनैव भवतीनां चेद् भवेदत्र समागमः ।
तर्हि नित्यं स्वकान्तेन विहारमपि लप्स्यथ ॥१७॥

सूत उवाच

एवमुक्तास्तु ताः पत्न्यः प्रसन्नां पुनरब्रुवन् ।
उद्धवालोकनेनात्मप्रेष्ठसङ्गमलालसाः ॥१८॥

श्रीकृष्णपत्न्य ऊचुः

धन्यासि सखि कान्तेन यस्या नैवास्ति विच्युतिः ।
यतस्ते स्वार्थसंसिद्धिस्तस्या दास्यो बभूविम ॥११॥

परन्तूद्धवलाभे स्यादस्मत्सर्वार्थसाधनम् ।
तथा वदस्व कालिन्दि तल्लाभोऽपि यथा भवेत् ॥१०॥

सूत उवाच

एवमुक्ता तु कालिन्दी प्रत्युवाचाथ तास्तथा ।
स्मरन्ती कृष्णचन्द्रस्य कलाः षोडशरूपिणीः ॥२१॥

साधनभूमिर्बदरी व्रजता कृष्णेन मन्त्रिणे प्रोक्ता ।
तत्रास्ते स तु साक्षात्तद्वयुनं ग्राहयँल्लोकान् ॥२२॥

फलभूमिर्व्रजभूमिर्दत्ता तस्मै पुरैव सरहस्यम् ।
फलमिह तिरोहितं सत्तदिहेदानीं स उद्धवोऽलक्ष्यः ॥२३॥

गोवर्द्धनगिरिनिकटे सखीस्थले तद्रजःकामः ।
तत्रत्याङ्कुरवल्ली-रूपेणास्ते स उद्धवो नूनम् ॥२४॥

आत्मोत्सवरूपत्वं हरिणा तस्मै समर्पितं नियतम् ।
तस्मात्तत्र स्थित्वा कुसुमसरः परिसरे सवज्राभिः ॥२५॥

वीणावेणुमृदङ्गैः कीर्तनकाव्यादिसरससङ्गीतैः ।
उत्सव आरब्धव्यो हरिरतलोकान् समानाय्य ॥२६॥

तत्रोद्धवावलोको भविता नियतं महोत्सवे वितते ।
यौष्माकीणामभिमतसिद्धिं सविता स एव सवितानाम् ॥२७॥

सूत उवाच

इति श्रुत्वा प्रसन्नास्ताः कालिन्दीमभिवन्द्य तत् ।
कथयामासुरागत्य वज्रं प्रति परीक्षितम् ॥२८॥

विष्णुरातस्तु तच्छ्रुत्वा प्रसन्नस्तद्युतस्तदा ।
तत्रैवागत्य तत् सर्वं कारयामास सत्वरम् ॥२९॥

गोवर्द्धनाददूरेण वृन्दारण्ये सखीस्थले ।
प्रवृत्तः कुसुमाम्भोधौ कृष्णसङ्कीर्तनोत्सवः ॥३०॥

वृषभानुसुताकान्तविहारे कीर्तनश्रिया ।
साक्षादिव समावृत्ते सर्वेऽनन्यदृशोऽभवन् ॥३१॥

ततः पश्यत्सु सर्वेषु तृणगुल्मलताचयात् ।
आजगामोद्धवः स्रग्वी श्यामः पीताम्बरावृतः ॥३२॥

गुञ्जामालाधरो गायन् बल्लवीवल्लभं मुहुः ।
तदागमनतो रेजे भृशं सङ्कीर्तनोत्सवः ॥३३॥

चन्द्रिकागमतो यद्वत् स्फाटिकाट्टालभूमणिः ।
अथ सर्वे सुखाम्भोधौ मग्नः सर्वं विसस्मरुः ॥३४॥

क्षणेनागतविज्ञाना दृष्ट्वा श्रीकृष्णरूपिणम् ।
उद्धवं पूजयाञ्चक्रुः प्रतिलब्धमनोरथा ॥३५॥

इति श्रीस्कान्दे महापुराणे एकाशीतिसाहस्र्यां संहितायां द्वितीये वैष्णवखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये गोवर्धनपर्वतसमीपे परीक्षिदादीनामुद्धवदर्शनवर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

# अथ तृतीयोध्यायः

सूत उवाच

अथोद्धवस्तु तान् दृष्ट्वा कृष्णकीर्तनतत्परान् ।
सत्कृत्याथ परिष्वज्य परीक्षितमुवाच ह ॥१॥

उद्धव उवाच

धन्योऽसि राजन् कृष्णैकभक्त्या पूर्णोऽसि नित्यदा ।
यस्त्वं निमग्नचित्तोऽसि कृष्णसङ्कीर्तनोत्सवे ॥२॥

कृष्णपत्नीषु वज्रे च दिष्ट्या प्रीतिः प्रवर्तिता ।
तवोचितमिदं तात कृष्णदत्तात्मवैभव ॥३॥

द्वारकास्थेषु सर्वेषु धन्या एते न संशयः ।
येषां व्रजनिवासाय पार्थमादिष्टवान् प्रभुः ॥४॥

श्रीकृष्णस्य मनश्चन्द्रो राधास्यप्रभयान्वितः ।
तद्विहारवनं गोभिर्मण्डयन् रोचते सदा ॥५॥

कृष्णचन्द्रः सदा पूर्णस्तस्य षोडश याः कलाः ।
चित्सहस्रप्रभाभिन्ना अत्रास्ते तत्स्वरूपता ॥६॥

एवं वज्रस्तु राजेन्द्र प्रपन्नभयभञ्जकः ।
श्रीकृष्णदक्षिणे पादे स्थानमेतस्य वर्तते ॥७॥

अवतारेऽत्र कृष्णेन योगमायातिभाविताः ।
तद्बलेनात्मविस्मृत्या सीदन्त्येते न संशयः ॥८॥

ऋते कृष्णप्रकाशं तु स्वात्मबोधो न कस्यचित् ।
तत्प्रकाशस्तु जीवानां मायया पिहितः सदा ॥९॥

अष्टाविंशे द्वापरान्ते स्वयमेव यदा हरिः ।
उत्सारयेन्निजां मायां तत्प्रकाशो भवेत्तदा ॥१०॥

स तु कालो व्यतिक्रान्तस्तेनेदमपरं शृणु ।
अन्यदा तत्प्रकाशस्तु श्रीमद्भागवताद् भवेत् ॥११॥

श्रीमद्भागवतं शास्त्रं यत्र भागवतैर्यदा ।
कीर्त्यते श्रूयते चापि श्रीकृष्णस्तत्र निश्चितम् ॥१२॥

श्रीमद्भागवतं यत्र श्लोकं श्लोकार्द्धमेव च ।
तत्रापि भगवान् कृष्णो वल्लवीभिर्विगजते ॥१३॥

भारते मानवं जन्म प्राप्य भागवतं न यैः ।
श्रुतं पापपराधीनैरात्मघातस्तु तैः कृतः ॥१४॥

श्रीमद्भागवतं शास्त्रं नित्यं यैः परिसेवितम् ।
पितुर्मातुश्च भार्यायाः कुलपङ्क्तिः सुतारिता ॥१५॥

विद्याप्रकाशो विप्राणां राज्ञां शत्रुजयो विशाम् ।
धनं स्वास्थ्यं च शूद्राणां श्रीमद्भागवताद् भवेत् ॥१६॥

योषितामपरेषां च सर्ववाञ्छितपूरणम् ।
अतो भागवतं नित्यं को न सेवेत भाग्यवान् ॥१७॥

अनेकजन्मसंसिद्धः श्रीमद्भागवतं लभेत् ।
प्रकाशो भगवद्भक्तेरुद्भवस्तत्र जायते ॥१८॥

सांख्यायनप्रसादात्तं श्रीमद्भागवतं पुरा ।
बृहस्पतिर्दत्तवान् मे तेनाहं कृष्णवल्लभः ॥१९॥

आख्यायिकां च तेनोक्तां विष्णुरात निबोध ताम् ।
ज्ञायते सम्प्रदायोऽपि यत्र भागवतश्रुतेः ॥२०॥

बृहस्पतिरुवाच

ईक्षाञ्चक्रे यदा कृष्णो मायापुरुषरूपधृक् ।
ब्रह्मा विष्णुः शिवश्चापि रजःसत्त्वतमोगुणैः ॥२१॥

पुरुषास्त्रय उत्तस्थुरधिकारांस्तदादिशत् ।
उत्पत्तौ पालने चैव संहारे प्रक्रमेण तान् ॥२२॥

ब्रह्मा तु नाभिकमलादुत्पन्नस्तं व्यजिज्ञपत् ।

ब्रह्मोवाच

नारायणादिपुरुष परमात्मन् नमोऽस्तु ते ॥२३॥

त्वया सर्गे नियुक्तोऽस्मि पापीयान् मां रजोगुणः ।
त्वत्स्मृतौ नैव बाधेत तथैव कृपया प्रभो ॥२४॥

बृहस्पतिरुवाच

यदा तु भगवांस्तस्मै श्रीमद्भागवतं पुरा ।
उपदिश्याब्रवीद् ब्रह्मन् सेवस्वैनत् स्वसिद्धये ॥२५॥

ब्रह्मा तु परमप्रीतस्तेन कृष्णाप्तयेऽनिशम् ।
सप्तावरणभङ्गाय सप्ताहं समवर्तयत् ॥२६॥

श्रीभागवतसप्ताहसेवनाप्तमनोरथः ।
सृष्टिं वितनुते नित्यं ससप्ताहः पुनः पुनः ॥२७॥

विष्णुरप्यर्थयामास पुमांसं स्वार्थसिद्धये ।
प्रजानां पालने पुंसा यदनेनापि कल्पितः ॥२८॥

विष्णुरुवाच

प्रजानां पालनं देव करिष्यामि यथोचितम् ।
प्रवृत्त्या च निवृत्त्या च कर्मज्ञानप्रयोजनात् ॥२९॥

यदा यदैव कालेन धर्मग्लानिर्भविष्यति ।
धर्मं संस्थापयिष्यामि ह्यवतारैस्तदा तदा ॥३०॥

भोगार्थिभ्यस्तु यज्ञादिफलं दास्यामि निश्चितम् ।
मोक्षार्थिभ्यो विरक्तेभ्यो मुक्तिं पञ्चविधां तथा ॥३१॥

येऽपि मोक्षं न वाञ्छन्ति तान् कथं पालयाम्यहम् ।
आत्मानं च श्रियं चापि पालयामि कथं वद ॥३२॥

तस्मा अपि पुमानाद्यः श्रीभागवतमादिशत् ।
उवाच च पठस्वैनत्तव सर्वार्थसिद्धये ॥३३॥

ततो विष्णुः प्रसन्नात्मा परमार्थकपालने ।
समर्थोऽभूच्छ्रिया मासि मासि भागवतं स्मरन् ॥३४॥

यदा विष्णुः स्वयं वक्ता लक्ष्मीश्च श्रवणे रता ।
तदा भागवतश्रावो मासेनैव पुनः पुनः ॥३५॥

यदा लक्ष्मीः स्वयं वक्त्री विष्णुश्च श्रवणे रतः ।
मासद्वयं रसास्वादस्तदातीव सुशोभते ॥३६॥

अधिकारे स्थितो विष्णुर्लक्ष्मीर्निश्चिन्तमानसा ।
तेन भागवतास्वादस्तस्या भूरि प्रकाशते ॥३७॥

अथ रूद्रोऽपि तं देवं संहाराधिकृतः पुरा ।
पुमांसं प्रार्थयामास स्वसामर्थ्यविवृद्धये ॥३८॥

रुद्र उवाच

नित्ये नैमित्तिके चैव संहारे प्राकृते तथा ।
शक्तयो मम विद्यन्ते देवदेव मम प्रभो ॥३९॥

आत्यन्तिके तु संहारे मम शक्तिर्न विद्यते ।
तदद्भुतं ममैतत्तु तेन त्वां प्रार्थयाम्यहम् ॥४०॥

बृहस्पतिरुवाच

श्रीमद्भागवतं तस्मा अपि नारायणो ददौ ।
स तु संसेवनादस्य जिग्ये चापि तमोगुणम् ॥४१॥

कथा भागवती तेन सेविता वर्षमात्रतः ।
लये त्वात्यन्तिके तेनावाप शक्तिं सदाशिवः ॥४२॥

उद्धव उवाच

श्रीभागवतमाहात्म्य इमामाख्यायिकां गुरोः ।
श्रुत्वा भागवतं लब्ध्वा मुमुदेऽहं प्रणम्य तम् ॥४३॥

ततस्तु वैष्णवीं रीतिं गृहीत्वा मासमात्रतः ।
श्रीमद्भागवतास्वादो मया सम्यङ्निषेवितः ॥४४॥

तावतैव बभूवाहं कृष्णस्य दयितः सखा ।
कृष्णेनाथ नियुक्तोऽहं व्रजे स्वप्रेयसीगणे ॥४५॥

विरहार्तासु गोपीषु स्वयं नित्यविहारिणा ।
श्रीभागवतसन्देशो मन्मुखेन प्रयोजितः ॥४६॥

तं यथामति लब्ध्वा ता आसन् विरहवर्जिताः ।
नाज्ञामिषं रहस्यं तच्चमत्कारस्तु लोकितः ॥४७॥

स्ववासं प्रार्थ्य कृष्णं च ब्रह्माद्येषु गतेषु मे ।
श्रीमद्भागवते कृष्णस्तद्रहस्यं स्वयं ददौ ॥४८॥

पुरतोऽश्वत्थमूलस्य चकार मयि तद् दृढम् ।
तेनात्र व्रजवल्लीषु वसामि बदरीं गत ॥४९॥

तस्मान्नारदकुण्डेत्र तिष्ठामि स्वेच्छया सदा ।
कृष्णप्रकाशो भक्तानां श्रीमद्भागवताद् भवेत् ॥५०॥

तदेषामपि कार्यार्थं श्रीमद्भागवतं त्वहम् ।
प्रवक्ष्यामि सहायोऽत्र त्वयैवानुष्ठितो भवेत् ॥५१॥

सूत उवाच

विष्णुरातस्तु श्रुत्वा तदुद्धवं प्रणतोऽब्रवीत् ।

परीक्षिदुवाच

हरिदास त्वया कार्यं श्रीभागवतकीर्तनम् ॥५२॥
आज्ञाप्योऽहं यथा कार्यं सहायोऽत्र मया तथा ।

सूत उवाच

श्रुत्वैतदुद्धवो वाक्यमुवाच प्रीतमानसः ॥५३॥

उद्धव उवाच

श्रीकृष्णेन परित्यक्ते भूतले बलवान् कलिः ।
करिष्यति परं विघ्नं सत्कार्ये समुपस्थिते ॥५४॥

तस्माद् दिग्विजयं याहि कलिनिग्रहमाचर ।
अहं तु मासमात्रेण वैष्णवीं रीतिमास्थितः ॥५५॥

श्रीमद्भागवतास्वादं प्रचार्य त्वत्सहायतः ।
एतान् सम्प्रापयिष्यामि नित्यधाम्नि मधुद्विषः ॥५६॥

सूत उवाच

श्रुत्वैवं तद्वचो राजा मुदितश्चिन्तयाऽऽतुरः ।
तदा विज्ञापयामास स्वाभिप्रायं समुद्धवम् ॥५७॥

परीक्षिदुवाच

कलिं तु निग्रहीष्यामि तात ते वचसि स्थितः ।
श्रीभागवतसम्प्राप्तिः कथं मम भविष्यति ॥५८॥

अहं तु समनुग्राह्यस्तव पादतले श्रितः ।

सूत उवाच

श्रुत्वैतद् वचनं भूयोऽप्युद्धवस्तमुवाच ह ॥५९॥

उद्धव उवाच

राजंश्चिन्ता तु ते कापि नैव कार्या कथञ्चन ।
तवैव भगवच्छास्त्रे यतो मुख्याधिकारिता ॥६०॥

एतावत्कालपर्यन्तं प्रायो भागवतश्रुतेः ।
वार्तामपि न जानन्ति मनुष्याः कर्मतत्परः ॥६१॥

त्वत्प्रसादेन बहवो मनुष्या भारताजिरे ।
श्रीमद्भागवतप्राप्तौ सुखं प्राप्स्यन्ति शाश्वतम् ॥६२॥

नन्दनन्दनरूपस्तु श्रीशुको भगवानृषिः ।
श्रीमद्भागवतं तुभ्यं श्रावयिष्यत्यसंशयम् ॥६३॥

तेन प्राप्स्यसि राजंस्त्वं नित्यं धाम व्रजेशितुः ।
श्रीभागवतसञ्चारस्ततो भुवि भविष्यति ॥६४॥

तस्मात्त्वं गच्छ राजेन्द्र कलिनिग्रहमाचर ।

सूत उवाच

इत्युक्तस्तं परिक्रम्य गतो राजा दिशां जये ॥६५॥

वज्रस्तु निजराज्येशं प्रतिबाहुं विधाय च ।
तत्रैव मातृभिः साकं तस्थौ भागवताशया ॥६६॥

अथ वृन्दावने मासं गोवर्धनसमीपतः ।
श्रीमद्भागवतास्वादस्तूद्धवेन प्रवर्तितः ॥६७॥

तस्मिन्नास्वाद्यमाने तु सच्चिदानन्दरूपिणी ।
प्रचकाशे हरेर्लीला सर्वतः कृष्ण एव च ॥६८॥

आत्मानं च तदन्तःस्थं सर्वेऽपि ददृशुस्तदा ।
वज्रस्तु दक्षिणे दृष्ट्वा कृष्णपादसरोरुहे ॥६९॥

स्वात्मानं कृष्णवैधुर्यान्मुक्तस्तद्भव्यशोभत ।
ताश्च तन्मातरः कृष्णे रासरात्रिप्रकाशिनि ॥७०॥

चन्द्रे कलाप्रभारूपमात्मानं वीक्ष्य विस्मिताः ।
स्वप्रेष्ठविरहव्याधिविमुक्ताः स्वपदं ययुः ॥७१॥

येऽन्ये च तत्र ते सर्वे नित्यलीलान्तरं गताः ।
व्यावहारिकलोकेभ्यः सद्योऽदर्शनमागताः ॥७२॥

गोवर्धननिकुञ्जेषु गोषु वृन्दावनादिषु ।
नित्यं कृष्णेन मोदन्ते दृश्यन्ते प्रेमतत्परैः ॥६३॥

सूत उवाच

य एतां भगवत्प्राप्तिं शृणुयाच्चापि कीर्तयेत् ।
तस्य वै भगवत्प्राप्तिर्दुःखहानिश्च जायते ॥७४॥

इति श्रीस्कान्दे महापुराणे एकाशीतिसाहस्र्यां संहितायां द्वितीये वैष्णवखण्डे परीक्षिदुद्धवसंवादे
श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

# अथ चतुर्थोऽध्यायः

ऋषय ऊचुः

साधु सूत चिरं जीव चिरमेवं प्रशाधि नः ।
श्रीभागवतमाहात्म्यमपूर्वं त्वन्मुखाच्छ्रुतम् ॥१॥

तत्स्वरूपं प्रमाणं च विधिं च श्रवणे वद ।
तद्वक्तुर्लक्षणं सूत श्रोतुश्चापि वदाधुना ॥२॥

सूत उवाच

श्रीमद्भागवतस्याथ श्रीमद्भगवतः सदा ।
स्वरूपमेकमेवास्ति सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥३॥

श्रीकृष्णासक्तभक्तानां तन्माधुर्यप्रकाशकम् ।
समुज्जृम्भति यद्वाक्यं विद्धि भागवतं हि तत् ॥४॥

ज्ञानविज्ञानभक्त्यङ्गचतुष्टयपरं वच ।
मायामर्दनदक्षं च विद्धि भागवतं च तत् ॥५॥

प्रमाणं तस्य को वेद ह्यनन्तस्याक्षगत्मन ।
ब्रह्मणे हरिणा तद्दिक् चतुःश्लोक्या प्रदर्शिता ॥६॥

तदानन्त्यावगाहेन स्वेप्सितावहनक्षमाः ।
त एव सन्ति भो विप्रा ब्रह्मविष्णुशिवादय ॥७॥

मितबुद्ध्यादिवृत्तीनां मनुष्याणां हिताय च ।
परीक्षिच्छुकसंवादो योऽसौ व्यासेन कीर्तित ॥८॥

ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो योऽसौ भागवताभिध ।
कलिग्राहगृहीतानां स एव परमाश्रय ॥९॥

श्रोतारोऽथ निरूप्यन्ते श्रीमद्विष्णुकथाश्रया ।
प्रवरा अवराश्चेति श्रोतारो द्विविधा मता ॥१०॥

प्रवराश्चातकौ हंसः शुको मीनादयस्तथा ।
अवरा वृकभूरुण्डवृषोष्ट्राद्या प्रकीर्तिता ॥११॥

अखिलोपेक्षया यस्तु कृष्णशास्त्रश्रुतौ व्रती ।
स चातको यथाम्भोदमुक्ते पार्थसि चातक ॥१२॥

हंसः स्यात् सारमादत्ते यः श्रोता विविधाच्छ्रुतात् ।
दुग्धेनैक्यं गतात्तोयाद् यथा हंसोऽमलं पयः ॥१३॥

शुकः सुष्ठु मितं वक्ति व्यासं श्रोतॄंश्च हर्षयन् ।
सुपाठितः शुको यद्वच्छिक्षकं पार्श्वगानपि ॥१४॥

शब्दं नानिमिषो जातु करोत्यास्वादयन् रसम् ।
श्रोता स्निग्धो भवेन्मीनो मीनः क्षीरनिधौ यथा ॥१५॥

यस्तुदन् रसिकाञ्छ्रोतॄन् विरौत्यज्ञो वृको हि सः ।
वेणुस्वनरसासक्तान् वृकोऽरण्ये मृगान् यथा ॥१६॥

भूरुण्डः शिक्षयेदन्याञ्छ्रुत्वा न स्वयमाचरेत् ।
यथा हिमवतः शृङ्गे भूरुण्डाख्यो विहङ्गमः ॥१७॥

सर्वं श्रुतमुपादत्ते सारासारान्धधीर्वृषः ।
स्वादुद्राक्षां खलिं चापि निर्विशेषं यथा वृषः ॥१८॥

स उष्ट्रो मधुरं मुञ्चन् विपरीते रमेत यः ।
यथा निम्बं चरत्युष्ट्रो हित्वाम्रमपि तद्युतम् ॥१९॥

अन्येऽपि बहवो भेदा द्वयोर्भृङ्गखरादय ।
विज्ञेयास्तत्तदाचारैस्तत्प्रकृतिसम्भवै ॥२०॥

य स्थित्वाभिमुखं प्रणम्य विधिवत्यक्तान्यवादो हरे-
र्लीला श्रोतुमभीप्सतेऽतिनिपुणो नम्रोऽथ कल्पाञ्जलिः ।
शिष्यो विश्वसितोऽनुचिन्तनपरः प्रश्नेऽनुरक्तः शुचि-
र्नित्यं कृष्णजनप्रियो निगदितः श्रोता स वै वक्तृभिः ॥२१॥

भगवन्मतिरपेक्षः सुहृदो दीनेषु सानुकम्पो यः ।
बहुधाबोधनचतुरो वक्ता संमानितो मुनिभिः ॥२२॥

अथ भागवभूम्यानं श्रीभागवतसेवने ।
विधिं शृणुत भो विप्रा येन स्यात् सुखसन्तति ॥२३॥

राजसं सात्त्विकं चापि तामसं निर्गुणं तथा ।
चतुर्विधं तु विज्ञेयं श्रीभागवतसेवनम् ॥२४॥

सप्ताहं यज्ञवद् यत्तु सश्रमं सत्वरं मुदा ।
सेवितं राजसं तत्तु बहुपूजादिशोभनम् ॥२५॥

मासेन ऋतुना वाऽपि श्रवणं स्वादसंयुतम् ।
सात्त्विकं यदनायासं समस्तानन्दवर्धनम् ॥२६॥

तामसं यत्तु वर्षेण सालसं श्रद्धया युतम् ।
विस्मृतिस्मृतिसंयुक्तं सेवनं तच्च सौख्यदम् ॥२७॥

वर्षमासदिनानां तु विमुच्य नियमाग्रहम् ।
सर्वदा प्रेमभक्त्यैव सेवनं निर्गुणं मतम् ॥२८॥

परीक्षितेऽपि संवादे निर्गुणं तत् प्रकीर्तितम् ।
तत्र सप्तदिनाख्यानं तदायुर्दिनसंख्यया ॥२९॥

अन्यत्र त्रिगुणं चापि निर्गुणं च यथेच्छया ।
यथा कथञ्चित् कर्तव्यं सेवनं भगवच्छ्रुतेः ॥३०॥

ये श्रीकृष्णविहारैकभजनास्वादलोलुपाः ।
मुक्तावपि निराकाङ्क्षास्तेषां भागवतं धनम् ॥३१॥

येऽपि संसारसन्तापनिर्विण्णा मोक्षकाङ्क्षिणः ।
तेषां भवौषधं चैतत् कलौ सेव्यं प्रयत्नतः ॥३२॥

ये चापि विषयारामाः सांसारिकसुखस्पृहाः ।
तेषां तु कर्ममार्गेण या सिद्धिः साधुना कलौ ॥३३॥

सामर्थ्यधनविज्ञानाभावादत्यन्तदुर्लभा ।
तस्मात्तैरपि संसेव्या श्रीमद्भागवती कथा ॥३४॥

धनं पुत्रांस्तथा दारान् वाहनादि यशो गृहान् ।
असापत्न्यं च राज्यं च दद्याद् भागवती कथा ॥३५॥

इह लोके वरान् भुक्त्वा भोगान् वै मनसेप्सितान् ।
श्रीभागवतसङ्गेन यात्यन्ते श्रीहरेः पदम् ॥३६॥

यत्र भागवती वार्ता ये च तच्छ्रवणे रताः ।
तेषां संसेवनं कुर्याद् देहेन च धनेन च ॥३७॥

तदनुग्रहतोऽस्यापि श्रीभागवतसेवनम् ।
श्रीकृष्णव्यतिरक्तं यत्तत् सर्वं धनसंज्ञितम् ॥३८॥

कृष्णार्थीति धनार्थीति श्रोता वक्ता द्विधा मतः ।
यथा वक्ता तथा श्रोता तत्र सौख्यं विवर्धते ॥३९॥

उभयोर्वैपरीत्ये तु रसाभासे फलच्युतिः ।
किन्तु कृष्णार्थिनां सिद्धिर्विलम्बेनापि जायते ॥४०॥

धनार्थिनस्तु संसिद्धिर्विधिसम्पूर्णतावशात् ।
कृष्णार्थिनोऽगुणस्यापि प्रेमैव विधिरुत्तमः ॥४१॥

आसमाप्ति सकामेन कर्त्तव्यो हि विधिः स्वयम् ।
स्नातो नित्यक्रियां कृत्वा प्राश्य पादोदकं हरेः ॥४२॥

पुस्तकं च गुरुं चैव पूजयित्वोपचारतः ।
ब्रूयाद् वा शृणुयाद् वाऽपि श्रीमद्भागवतं मुदा ॥४३॥

पयसा वा हविष्येण मौनं भोजनमाचरेत् ।
ब्रह्मचर्यमधःसुप्तिं क्रोधलोभादिवर्जनम् ॥४४॥

कथान्ते कीर्त्तनं नित्यं समाप्तौ जागरं चरेत् ।
ब्राह्मणान् भोजयित्वा तु दक्षिणाभिः प्रतोषयेत् ॥४५॥

गुरवे वस्त्रभूषादि दत्त्वा गां च समर्पयेत् ।
एवं कृते विधाने तु लभते वाञ्छितं फलम् ॥४६॥

दारागारसुतान् राज्यं धनादि च यदीप्सितम् ।
परंतु शोभते नात्र सकामत्वं विडम्बनम् ॥४७॥

कृष्णप्राप्तिकरं शश्वत् प्रेमानन्दफलप्रदम् ।
श्रीमद्भागवतं शास्त्रं कलौ कीरेण भाषितम् ॥४८॥

इति श्रीस्कान्दे महापुराणे एकाशीतिसाहस्र्यां संहितायां द्वितीये वैष्णवखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये
भागवतश्रोतृवक्तृलक्षणश्रवणविधिनिरूपणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

समाप्तमिदं श्रीमद्भागवतमाहात्म्यम् ॥

॥हरिः ओं तत्सत् ॥

# श्रीमद्भागवत महापुराणम्

## द्वादशः स्कन्धः

ओं नमो भगवते वासुदेवाय

## प्रथमोऽध्यायः

### राजोवाच

♦ स्वधामानुगते कृष्णे यदुवंशविभूषणे ।
कस्य वंशोऽभवत् पृथ्व्यामेतदाचक्ष्व मे मुने ॥१॥

### श्रीशुक उवाच

योऽन्त्यः पुरञ्जयो नाम भाव्यो बार्हद्रथो नृप ।
तस्यामात्यस्तु शुनको हत्वा स्वामिनमात्मजम् ॥२॥

प्रद्योतसंज्ञं राजानं कर्ता यत् पालकः सुतः ।
विशाखयूपस्तत्पुत्रो भविता राजकस्ततः ॥३॥

नन्दिवर्धनस्तत्पुत्रः पञ्च प्रद्योतना इमे ।
अष्टत्रिंशोत्तरशतं भोक्ष्यन्ति पृथिवीं नृपाः ॥४॥

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

जयन्ति श्रीपरानन्दकृपापाङ्गलमङ्गशः । या नित्यमनुवर्तन्ते संपदो विगता दृशः ॥*
ओं गुरुं परमानन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम् । यस्य संस्मृतिमात्रेण चिदानन्दायते वपुः ॥

उक्तस्त्रयोदशाध्यायै द्वादशे त्वाश्रयः सतः । अधिष्ठानावधित्वाभ्या माश्रयश्चेश्वरः सतः ॥

उक्तो लयावधित्वेन प्राकृतात्यन्तिके लये ।अधिष्ठानतया चोक्तो महापुरुषवर्णने ॥

---

1- -1 W पर्गीक्षिदुवाच ♦ This verse is not found in M Ma edtions 2 M Ma न्त्या रिपु , 3 B H V W M Ma भविष्यो ऽथ ; 4 B बार्हद्रथो 5 H M Ma V W Omit नृप , 6 w न ।, 7 W यस्या , 8 H V जनक MMa बाजक , 9 H V स्तु , 10 MM: ाम् , * The followin comamentary is found in H V edns only अस्यार्थ - कथम्भूतान्सम्पद ? विगत अदृक् अज्ञान याभिमात , स्ता अयम्भाव - प्रकार... अज्ञान प्रभवा रागादयो भवन्ति, आमु तु न नथेति भाव । ■ This verse is not found in A edn 11 B J श्रीगु 12 BJ वन्द आनन्द 13 BJ ग्रिति

तत्राद्यैः षड्भिरध्यायैः शुकः प्राह परीक्षिते । शेषैस्तत्राखिलान्याह सूतः पृष्टोऽथ सद्भिभिः ॥

स्वाश्रयश्रवणे कार्यो न विलम्बो मनीषिणा । इत्येतत्कालवैषम्यं चतुर्भिस्तावदुच्यते ॥

तत्र तु प्रथमे भाविमागधान्वयभूमिपान् । कलिप्रभावतः प्राह संकरादिमलीमसान् ॥

एवंभूते सोमवंशे मुकुंदस्यैरक्रीडावर्णितोऽथ स एव ।

वंशो भावी वर्ण्यते कृष्णभक्तिं मुक्त्वा मुक्त्यै वर्त्म नास्तीति वक्तुम् ॥

तदेवं वैवस्वतमनुवंशे सोमवंशप्रस्तावेन श्रीकृष्णावतारचरितानि सप्रपंचमनुवर्णितानि। अथेदानीं भावी सोमवंशः कलौ विजातीयसंकरादिमलीमसो वैराग्यद्वारा श्रीकृष्णैकभक्तिनिगमनायानुवर्ण्यते। तत्र तु सोमवंशशाखासु चिरकालानुवर्तितया मागधवंशोऽनुक्रम्यते। तत्र पुरोर्वंशे उपरिचरो वसुस्तस्य बृहद्रथस्तस्य जरासंधः, तस्य सहदेवः पुत्रोऽभूदित्युक्तं नवमस्कंधे। तत्रैव सहदेवान्मार्जारिः श्रुतश्रवा इत्यादयो रिपुंजयान्ता विंशतिर्भाविनो राजानो निरूपिताः। तत्र राजा पृच्छति स्वधामेति ॥१॥

इदानीं तदुपरितनं वंशं संकरादिदोषैः प्रपंचयति। **योऽन्त्य** इति। रिपुञ्जय एव पुरंजयः। इति स्वामिनं पुरंजय एव हत्वा स्वपुत्रं प्रद्योतसंज्ञं राजानं करिष्यति यस्य पालको नाम सुतो भविष्यति ॥२,३॥

**नन्दीति** प्रद्योतनाः प्रद्योतनसंज्ञाः। भविता च अवजक इति च पाठान्तरम् ॥४॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

### श्रीमते रामानुजाय नमः

तदेवं नवमस्कन्धेनोपक्रान्तसूर्यवंशावलिं तदनन्तरापतितसोमवंशावलिं च श्रीकृष्णावतारपर्यन्तां निरूप्य भगवतोऽवतार प्रभृतीनि स्वधामानुगमनान्तानि चरितानि दशमैकादशाभ्यां निरूपितानि। अथ भाविसोमवंशपरंपरोत्तरावधिबुभुत्सया पृच्छति राजा - **स्वधामानुगत** इति। यदुवंशस्य भूषणवच्छोभावहे श्रीकृष्णे स्वधाम स्वस्थानमनुगते सति ततः यदुवंशजानां सोमवंश्यानां उक्तानां मध्ये कस्य वंशोऽभवद्वंशपरम्परा प्रावर्तत तदेतद्धे मुने! मह्यमाचक्ष्व ॥१॥

बार्हद्रथवंशोऽभवदित्यभिप्रेत्य भाविनं तं अनुवर्णयितुमारभते, **योन्त्यः पुरञ्जयो 'नाम'** - इत्यादिना। पुरोर्वंशे

---

1 ABJ तत्रादौ; 2 H V ित ख , 3-3 H V omit 4 H V omit इदानीं ; 5 H V ित ग ; 6-6 A B J omit. 7 W omits चरितानि

उपरिचरो वसुस्तस्य बृहद्रथः तत्सुतो जरासन्धः, तस्य सहदेवस्तस्य मार्जारिः, तस्य श्रुतश्रवः प्रभृतयः पुरञ्जयान्ताः सुता विंशतिसङ्ख्या भाविनो नवमस्कन्ध एवोक्ताः, योऽन्त्यः कनीयान् पुरञ्जयो नाम बार्हद्रथवंश्यो भविता तस्य पुरञ्जयस्यामात्यः यः शुनको नाम स स्वामिनं पुरञ्जयं हत्वा ॥२॥

तस्यात्मजं प्रद्योतनामानं राजानं कर्ता करिष्यति यस्य प्रद्योतनस्याऽलकः सुतः तं राजानं कर्तेति पूर्वेण सम्बन्धः, तत्पुत्रः अलकपुत्रः विशाखयूपः ततोऽराजको भविष्यति ॥३॥

तत्पुत्रोऽराजकपुत्रः नन्दिवर्धनः तस्य पुत्राः पञ्च प्रद्योतनाः प्रद्योतनसंज्ञिकाः त इमे नृपाः अष्टत्रिंशोनरशतं इत्यस्य, समा इति शेषः ।

अयं कालावधिः एवमग्रेपि भोक्ष्यन्ति पालयिष्यन्ति ॥४॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

श्रीहनुमते नमः

पद्मवासालयं नत्वा पद्मभूपूर्वसर्गीड्यम् । द्वादशस्कन्धं व्याकुर्वे द्वादशात्मप्रीत्यै नित्यम् ॥

श्री नारायणकल्पप्रशिष्टवशादिकथनेन तन्माहात्म्यमेव कथयत्यस्मिन् स्कन्धे। तत्र प्रथमेऽध्याये वंशशेषं कथयति - य इति । अन्त्यः वंशावसानभवः कस्य वंशान्ते भव इत्यत उक्तं बार्हद्रथ इति। स्वामिनं रिपुञ्जयमात्मजं, स्वस्येति शेषः ॥२॥

यद्यस्य प्रद्योतनस्य सुतः पालको नाम यत्तदित्यस्याव्ययत्वात् षष्ठी, यद्वा यः पालको यस्य यत्पालकः स तस्य सुत इति ॥३॥

प्रद्योतनेन सार्कं पञ्च तेषां राज्यावधिं कालमाह - **अष्टेति** । भोक्ष्यन्ति पालयन्ति "भुजोऽनवने" (अष्टा. 1-3-66) इत्यतः परस्मैपदम्। पूर्ववंशवैलक्षण्यद्योतनार्थो वा व्यत्ययः ॥४॥

**शिशुनागस्ततो भाव्यः काकवर्णस्तु तत्सुतः ।**
**क्षेमधर्मा तस्य सुतः क्षेत्रज्ञः क्षेमधर्मजः ॥५॥**

---

1 HV भ 2 HV पक्षस्तु, 3 HV धत्वा, 4 HV क्षेत्र, 5 W त

विधिसारः सुतस्तस्याऽजातशत्रुर्भविष्यति ।
दर्भकस्तत्सुतो भाव्यो दर्भकस्याजयः स्मृतः ॥६॥

नन्दिवर्धन आजेयो महानन्दिस्तु तत्सुतः ।
शिशुनामा दशैवेते षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥७॥

समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं कुरुश्रेष्ठ कलौ नृपाः ।
महानन्दिसुतो राजन् शूद्रागर्भोद्भवो बली ॥८॥

महापद्मपतिः कश्चिन्नन्दः क्षत्रविनाशकृत् ।
ततो नृपा भविष्यन्ति शूद्रप्राया अधार्मिकाः ॥९॥

स एकच्छत्रां पृथिवीमनुल्लङ्घितशासनः ।
शासिष्यति महापद्मो द्वितीय इव भार्गवः ॥१०॥

तस्य चाष्टौ भविष्यन्ति सुमालिप्रमुखाः सुताः ।
य इमां भोक्ष्यन्ति महीं राजानः स्म शतं समाः ॥११॥

नव नन्दान् द्विजः कश्चित् प्रपन्नानुद्धरिष्यति ।
तेषामभावे जगतीं मौर्या भोक्ष्यन्ति वै कलौ ॥१२॥

**श्रीध० महापद्मेति** । नंदो नाम कश्चिन्महापद्मसंख्यायाः सेनायाः धनस्य वा पतिर्भविष्यति, अत एव महापद्म पतिरित्यपि तस्य नाम ॥५-९॥

**स इति**। एवमेव आत्मनः छत्रं यस्यां तां पृथिवीं शासिष्यति पालयिष्यति। क्षत्रोत्सादने दृष्टान्तः। भार्गवः परशुराम इव ॥१०॥

**तस्येति**। समाः संवत्सरान् ॥११॥

1 H V ततस्तस्य . 2 A B G J W भावी ; 3 H V सुत MMa तत 4-4 A B G J महानन्दि सुतस्तत . MMa महानन्दिश्च तत्सुत 5-5 H V शैशुनाभा दशैवैते . MMa शैशुनागा दशैते वै . W शिशुनागादयश्चैते 6 A B G J M Ma द्री 7 MMa त्कुल 8 A B G J यास्त्वधा 9 A B G J W मात्य . 10-10 पृथिवीं राजन् भोक्ष्यन्ति 11 H V श्च W मास्तु 12 H V व्यां . 13 AB G J omit पति . 14 A,B,J omit आत्मन

**नवेति** । नव नन्दान् नन्दं च तत्पुत्रांश्चेत्येवं नव। प्रपन्नान् विश्वस्तान्[1] विख्यातान्वा। द्विजः कौटिल्यवात्स्यायनादि पर्यायश्चाणक्य उद्धरिष्यति उन्मूलयिष्यति तेषामभावे[2] मौर्याः[3]मौर्यसंज्ञाः[3] ॥१२॥

**वीर०** ततः प्रद्योतनेभ्यः शिशुनागो भविता तत्सुतः शिशुनागसुतः काकवर्णः तस्य काकवर्णस्य सुतः क्षेमधर्मा तस्माज्जातस्तु क्षेत्रज्ञः ॥५॥

**विधिसार** इति तस्य क्षेत्रज्ञस्य अजातशत्रुरित्यस्य विधिसारादित्यादिः, तत्सुतः अजातशत्रुसुतः ॥६॥

**नन्दिवर्द्धन** इति। आजेयः अजयस्यात्मजः तत्सुतः नन्दिवर्द्धनसुतः ॥७॥

कुरुश्रेष्ठेति सम्बोधनम्। महानन्दिसुत इति। हे राजन्! ॥८॥

**महापद्मपतिरिति**। अन्वर्थं नाम महापद्मसङ्ख्यायाः सेनाया धनस्य वा पतिरिति, स च (शूद्रा) शूद्रीगर्भोद्भवः, बली अधिकबलयुक्तश्च क्षत्रकुलविनाशकृच्च। नन्द इति तस्यैव नामान्तरं यतोऽयं शूद्रीगर्भोद्भव अत एव तत आरभ्य नृपाः शूद्रप्रायाः अधार्मिकाश्च भविष्यन्ति ॥९॥

**स** इति। महापद्म इति नामैकदेशग्रहण महापद्मपतिः अनुल्लङ्घितशासनः प्रजाभिरनुल्लङ्घितमात्मशासनं यस्य सः। एकमेव छत्रं यस्यां तथाभूतां पृथ्वीं शासिष्यति पालयिष्यति। द्वितीयो भार्गवः परशुराम इव ॥१०॥

**तस्येति**। तस्य महापद्मपतेः सुतान्विशिनष्टि य इति। सहस्रं संवत्सरान् ॥११॥

**नव नन्दानिति**। नन्दशब्दस्तत्सुतपरश्च। "आत्मा वै पुत्र" (को.षी. 3. 2-11- ) इति श्रुत्यनुरोधात्। अत एव नन्दानिति बहुवचनम्। नवेति विशेषणं च तान् प्रपन्नान् विश्वस्तान् कश्चिद्विश्वस्तघातुकः कौटिल्यवात्स्यायनाख्यो द्विज उद्धरिष्यति उन्मूलयिष्यति नाशयिष्यति यावत्, ततस्तेषां सपितृकाणां सुमाल्यप्रमुखानामभावे तेष्वतिक्रान्तेषु इत्यर्थः। एवं सोमवंशे समाप्ते मौर्यसंज्ञां भोक्ष्यन्ति ॥१२॥

**विज०** महानन्दिं विशिनष्टि - महानन्दिरिति ॥५-८॥

महानन्दिवंशभव क इति। कश्चिदिति महापद्मसङ्ख्यया सङ्ख्याता सेना महापद्मा तस्याः पतिः कुलक्षत्रविनाशकृत् ततः कुलक्षत्राभावात् ॥९॥

---

1 B addy शरणागतान्. 2 A B J omit तेषामभावे 3- -3 मौर्य्यामौर्य्य

स महापद्मो नाम्ना नन्दः ॥१०-११॥

नन्देन सह नवसङ्ख्यान् नन्दान् नन्दवंशजानुद्धरिष्यत्यापद इति शेषः। मौर्या मुरवंशजाः हीनजातयः कैवर्ता ॥१२॥

स एव चन्द्रगुप्तं वै द्विजो राज्येऽभिषेक्ष्यति ।
तत्सुतो वारिसारस्तु ततश्चाशोकवर्धनः ॥१३॥

सुयशा भविता तस्य सङ्गतः सुयशः सुतः ।
शालिशूकस्ततस्तस्य सोमशर्मा भविष्यति ॥१४॥

शतधन्वा ततस्तस्य भविता तद् बृहद्रथः ।
मौर्या होते दश नृपाः सप्तत्रिंशच्छतोत्तरम् ॥१५॥

समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं कलौ कुरुकुलोद्वह ।
(हत्वा बृहद्रथं मौर्यं तस्य सेनापतिः कलौ ।
पुष्यमित्रस्तु शुङ्गाह्वः स्वयं राज्यं करिष्यति) ।
अग्निमित्रस्ततस्तस्मात् सुज्येष्ठो भविता ततः ॥१६॥

श्रीध० कथं भ. गन्ति तत्र । स एवेति। चन्द्रगुप्तं मौर्यप्रथमम् ॥१३,१४॥

तेषां चरमो दशरथः पराशरादिभिरुक्तोऽत्राप्यनुसंधेयः तेन चरमेण दशरथेन सह एते मौर्या दश सप्तत्रिंशच्छतोत्तरं सप्तत्रिंशदुत्तरं शतं समाः बृहद्रथस्य सेनापतिः पुष्यमित्रो नाम स्वामिनं बृहद्रथं हत्वा राज्यं करिष्यति स च शुङ्गानां प्रथमः ॥१५,१६॥

वीर० के पुनस्ते मौर्याः कथं च भोक्ष्यन्ति? तदाह स एवेति त्रिभिः, यस्तेषां नवानामुद्धर्ता द्विजः स एव मौर्यसंज्ञं प्रथमं चन्द्रगुप्तसंज्ञं नाम स्वसुतं राज्येऽभिषेक्ष्यति, तत्सुतः चन्द्रगुप्तसुतः ततः वारिसारानन्तरं तत्सुतोऽशोकवर्द्धनसुतः ॥१३॥

तस्याऽशोकवर्द्धनस्य ॥१४॥

---

1 MMa इन्द्र 2 MMa राजस्तु 3 H V सम्यत 4 H V ताऽथोवृ MMa ता तु बृ 5 H V मौर्य्या 6 W तात्परम् 7 H V द्रव These Two half verses ware not found in w edition 8 H V मौर्य्यं 9 A B G J पुष्य 10 ABGJ सुयोष्ठोथ भविष्यति MMa सुदेष्टो भविता तत H V मौर्य्यं प्र 12 A प्रथमा B J प्रथमो 13-13 A B J omit 14 A B J omit एते 15 A B J पुष्य 16 H V omit बृहद्रथ

ततः मौर्या इति यद्यपि चन्द्रगुप्तादयो नवैव तथापि पराशरादिभिश्चन्द्रगुप्तादिषु दशरथ एक उक्तः तदभिप्रायेण एते दशेत्युक्तम्। यद्वा, चन्द्रगुप्तस्य यः पिता तेन सह दशैत इत्युक्तम्। सप्तत्रिंशच्छतात्परं सप्तत्रिंशदुत्तरशतं समा इत्यर्थः। कुरुकुलोद्वहेति सम्बोधनम् ॥१५॥

**अग्निमित्र** इति। मौर्यसंज्ञकस्य बृहद्रथस्य सेनानी[1] पुष्यमित्रो नाम स्वामिनं हत्वा राज्यं करिष्यति अग्निमित्रादयो नव तद्वंश्याः[2] दशैते शुङ्गसंज्ञाः वर्षशताधिकं द्वादशाधिकं वर्षशतं भोक्ष्यन्ति इति सम्बन्धः ॥१६॥

**विज०** कथं भोक्ष्यन्तीत्यत आह - **स एवेति**। स एव नवनन्दाचार्यः ॥१३-१४॥

मौर्यसंज्ञा अपि मौर्याः ॥१५॥

वंशव्यत्यासं कथयति - **हत्वेति**। पुष्यमित्र इत्यादि जातिप्रयुक्तं नाम, शुङ्ग इत्यादि विशेषनाम ॥१६॥

**वसुमित्रो भद्रकश्च पुलिन्दो भविता ततः।**
**ततो घोषः सुतस्तस्माद् वज्रमित्रो भविष्यति ॥१७॥**

**ततो भागवतस्तस्माद् देवभूतिः कुरूद्वहः।**
**शुङ्गा दशैते भोक्ष्यन्ति भूमिं वर्षशताधिकम् ॥१८॥**

**ततः कण्वानियं भूमिर्यास्यत्यल्पगुणान् नृपान्।**
**शुङ्गं हत्वा देवभूतिं कण्वोऽमात्यस्तु कामिनम् ॥१९॥**

**स्वयं करिष्यते राज्यं वसुदेवो महामतिः।**
**तस्य पुत्रस्तु भूमित्रस्तस्य नारायणः सुतः।**
**नारायणस्य भविता सुशर्मा नाम विश्रुतः ॥२०॥**

**काण्वायना इमे भूमिं चत्वारिंशच्च पञ्च च।**
**शतानि त्रीणि भोक्ष्यन्ति वर्षाणां च कलौ युगे ॥२१॥**

---

1 A B पुष्य 2 A omits दशैत 3 A पुष्य 4 H V क 5 H V यास 6 H V भवत 7 H V हनि 8 A B G J इति श्रुत 9 H V मही 10 W का 11 M Ma पान् 12 H V हनि 13 H M Ma v तनी * This half verse is not fond in H T V W edns 14-14 M Ma सुशर्माख्योऽथ नृपति कण्वाना भविनाम 15 H V क

**हत्वा काण्वं सुशर्माणं तद्भृत्यो वृषलो बली ।**
**गां भोक्ष्यत्यन्ध्रजातीयः कश्चित् कालमसत्तमः ॥२२।**

**कृष्णनामाऽथ तद्भ्राता भवि[illegible] पृथिवीपतिः ।**
**श्रीशान्तकर्णस्तत्पुत्रः पौर्णमासस्तु तत्सुतः ॥२३॥**

**लम्बोदरस्तु तत्पुत्रस्तस्माच्छिबिलको नृपः ।**
**मेघस्वाति शिबिलकादटमानस्तु तत्सुतः ॥२४॥**

**श्रीध० तत** इति। ततोऽग्निमित्रादयो नवेत्येवं शुंगा दश [illegible] इति च पाठान्तरम् वर्षशतम् ॥१८॥

**तत** इति। कथं कण्वान्यास्यति तदाह। शुंगमिति। परस्त्रीकामिनं देवभूतिनामानं शुंगं हत्वा तदमात्यो वसुदेवनामा कण्वो राज्यं करिष्यति ॥१९॥

**स्वयमिति**। कण्वानां चतुर्थः सुशर्मा [illegible]ज्ञेयः ॥२०॥

**काण्वायना** इति। इमे वसुदेवादयः काण्वायना वर्षाणां त्रीणि शतानि पंच चत्वारिंशद्वर्षाणि च भूमिं भोक्ष्यन्ति ॥२१॥

**हत्वेति**। कण्वानामन्तिमं सुशर्माणं हत्वा बली बलिनामा तद्भृत्यो गां भोक्ष्यति ॥२२-२४॥

**वीर० ततः का[illegible]निनि[illegible]** हे नृप! अल्पगुणान् गुणहीनान् काण्वसंज्ञान् यास्यति तदधीना भविष्यति तैः पालिता भविष्यतीति यावत्। के पुनस्ते काण्वाः? कथं च तान्यास्यतीत्यत्राह - **शुङ्गमिति** सार्द्धद्वयेन। यः शुंगसंज्ञो देवभूतिस्तं कामिनं स्त्रीलालसं हत्वा तदमात्यः काण्वः वसुदेवो नाम स्वयमेव करिष्यति। महामत इति पाठे सम्बोधनं तस्येति इमे वसुदेवादयः काण्वायनसंज्ञाः पञ्चचत्वारिंशदधिक शतत्रयं समाः भोक्ष्यन्तीत्यर्थः। अत्र नारायणस्य सुतः सुशर्मनामा द्रष्टव्यः "हत्वा **काण्वं** सुशर्माणं" इत्युत्तरग्रन्थानुरोधात् ॥१७-२०॥

तद्भृत्यः सुशर्मणो भृत्यः, बली बलीकनामा, गां पृथिवीं, कश्चित्कालमिति अत्यल्पत्वात् द्वीगकालस्यानादरेण सङ्ख्या न कृता ॥११॥

**कृष्णनामेति**। तद्भ्राता बलीकभ्राता ॥२३, २४॥

1 MMa क', 2 W 'यभो', 3 W क्ष्मां, 4 H V 'त्या', 5 M Ma मा च, 6 H V 'त', 7 A B G J च्चबि, W च्यिबि', 8 MMa W नृप', 9 M Ma स्वनं, 10 W 'च्चिबि', 11 H V दण्डमान, 12 A B G J M Ma तस्य च, 13 ABJ add द्वादशाधिक, 14--14 ABJ omit, 15 H V omit ज्ञेयः, 16 H V क', 17 A B J omit बली

**विज०** शुङ्गाः शुङ्गवंशजाः ॥१७-१९॥

कण्वाः कण्ववंशजाः, तान्नृपान् यास्यति अल्पगुणाः ओषध्यादि गुणसम्पत्तिरहिता कथं कण्वान् यास्यतीत्यत आह - शुङ्गमिति। शुङ्गं शुङ्गाख्यं राजानं देवभूतिं हत्वा नाम्ना वसुदेवः कण्वः तस्य शुंगस्यामात्यः, कामिनं ग्राम्यकर्मासक्तम् ॥२०॥

काण्वायनाः कण्ववंशभवाः कण्वानां चतुर्थः सुशर्मा इमे च वसुदेवादयः काण्वायनाः वर्षाणां त्रीणि शतानि पञ्चचत्वारिंश-द्वर्षाणि भूमिं भोक्ष्यन्ति, तस्य सुशर्मणो भृत्यः ॥२१-२२॥

तस्य वृषलस्य भ्राता ॥२३,२४॥

**अनिष्टकर्मा[1] हालेयस्तलकस्तस्य[2] चात्मजः।**
**पुरीषभीरुस्तत्पुत्र[3] स्ततो राजा सुनन्दनः[4] ॥२५॥**

**चकोर[5] श्चरमो यत्र शिवस्वातिररिन्दमः[6]।**
**तस्यापि गोमतिः[7] पुत्रः पुरीमान् भविता ततः ॥२६॥**

**मेदशिराः[8] शिवस्कन्दो[9] यज्ञश्रीस्तत्सुतस्ततः[10]।***
**विजयस्तत्सुतो[11] भाव्यश्चन्द्रविज्ञः[12] सलोमधीः ॥२७॥**

**एते त्रिंशन्नृपतयः चत्वार्यब्दशतानि च।**
**षट् पञ्चाशच्च पृथिवीं भोक्ष्यन्ति कुरुनन्दनः ॥२८॥**

**सप्ताभीरा आवभृत्या दश गर्दभिनो नृपाः।**
**कङ्काः[13] षोडशभूपाला भविष्यन्त्यातिलोलुपाः ॥२९॥**

**ततोऽष्टौ यवना भाव्या श्चतुर्दश[14] तुरुष्ककाः।**
**त्रयोदश[15] मुरुण्डाश्च[16] मौना एकादशैव तु ॥३०॥**

**एते भोक्ष्यन्ति पृथिवीं दशवर्षशतानि च।**
**नवाधिकां च नवतिं मौना एकादश क्षितिम् ॥३१॥**

---

1 H.V अरि°, 2 H.V °स्तिल°, 3 H.V सेतु, W भानु, 4 H.V सुदर्शन, 5 A.B.G.J.M.Ma °रो बाहवो, 6 W °मा।, 7 A.B.G.J.M.Ma °मती, 8 H.V वीरो वेदः, A.B.G.J मेदःशिराः, 9 W °स्कन्धो; 10-10 यज्ञशीलस्तु तत्सुत, * The following extra half verse is found in H.V editions only सितोऽसित कृतस्कन्धो यज्ञशत्रु स्तदात्मजः।, 11 H.V बीजः सु, 12 A.B.G.J.M.Ma °मधि, 13 W °ति च, 14 H.V च बर्बराः, 15 A.B.G.J.M.Ma भू, 16 A.B.G.J.M.Ma गुरु°

**भोक्ष्यन्त्यब्दशतान्यङ्ग त्रीणि तैः संस्थिते[1] ततः ।**
**किलिंकिलायां[2] नृपतयो भूतनन्दोऽयवं[3] हरः ॥३२॥**

**श्रीध० चकोर** इति। यत्र येषु बहुसंज्ञेसु चरमः शिव ष्वष्टसु स्वाति नामा भविता ॥२५-१८॥

**सप्तेति**। आवभृत्या अवभृति नाम नगरी तद्राजानः ॥२९,३०॥

**एते** इति। एते आभीरादयो मौनव्यतिरिक्ताः पञ्च[4] षष्टि नृपा एकोनशताधिकं वर्षसहस्रं पृथिवीं भोक्ष्यन्ति। ततः पूर्वोक्ता एवैकादश मौनास्त्रीण्यब्दशतानि क्षितिं भोक्ष्यन्तीति ॥३१॥

**भोक्ष्यन्तीति** तैः संस्थिते तेषु मौनेषु[5] मृतेषु[6] किलिंकिलायां पुर्यां नृपतयो भविष्यन्तीत्युत्तरेणान्वयः। किल्किलायां[7] इति च पाठान्तरम् ॥३२॥

**वीर० अनिष्टकर्मेति**। तस्याटमानस्यानिष्टकर्मा सुत इति पूर्वेण सम्बन्धः। हालेयोऽनिष्टकर्मणः सुत इति ॥२५॥

**चकोर** इति। यत्र येषु बलीकसंज्ञेषु शिवस्वातिर्नाम चरमो भविता इत्यर्थः। अरिन्दमेति सम्बोधनम्। सविसर्ग पाठे शिवस्वातेर्विशेषणम् ॥२६,२७॥

**एत** इति। एते बलीकनामानः पञ्चविंशतिनृपतयः पृथिवीं भोक्ष्यन्तीति सम्बन्धः। वर्षसङ्ख्यामाह - त्रिशच्चत्वार्यब्दशतानि षट्पञ्चाशच्चेति षडशीत्युत्तरचतुश्शतं वर्षाणीत्यर्थः ॥२८॥

**सप्तेति**। ततःसप्ताभीरसंज्ञा भाव्या इत्युत्तरेणान्वयः। तान् विशिष्टि - **आवभृत्याः** अवभृतिर्नगरी तस्या राजानः। यद्वा, आवभृत्यसंज्ञा वा सप्त भाव्या। तान् विशिनष्टि - आभीराः आभीरजातीयाः। ततो दशगर्दभिनः तत्सञ्ज्ञा, एवमग्रेऽपि योज्यम्। लोलुपाः कामिनः ॥२९,३०॥

**एते भोक्ष्यन्तीति**। मौना एकादश क्षितिम् इति मौनानां कालावधेः पृथगेव वक्ष्यमाणत्वादेत इत्यनेन तेभ्योऽन्ये परामृश्यन्ते। दशवर्षशतानि नवाधिकाश्च नवति इत्येकोनैकादशशतवर्षाणि इत्यर्थः ॥३१॥

अङ्ग! हे राजन्! संस्थिते इति भावे क्तः। तैर्मौनैः संस्थिते तत्कर्तृके मरणे तेषु मृतेषु तेष्विति यावत् किलिं किलायामिति। किलिंकिलाख्या पुरी तस्यां भूतनन्द इत्यादयो नृपतयः। भूतनन्दाख्या षडुत्तरशतं वर्षाणि भोक्ष्यमाणा भविष्यन्ति इत्यर्थः[8] ॥३२॥

1. H.V 'तेषु च'। 2 A B G.J.M Ma किलि, 3 A B G J M.Ma ०ऽथ वज्रिरि ।, 4 H V अष्ट, 5 A B J omit मौनेषु, 6 A B J किलि, 7--7 A B J omit, 8. A.B.omit इत्यर्थः

**विज०** हालेयः हलान्मेयः ॥२५-३०॥

एते आभीरादयो मौनव्यतिरिक्ताः। पञ्चषष्टिनृपाः एकोनशताधिकं वर्षसहस्रं पृथिवीं भोक्ष्यन्ति। ततः पूर्वोक्ता एव एकादश मौनाः त्रीण्यब्दशतानि क्षितिं भोक्ष्यन्ति। मौनाः मौनकुले जाताः। एकादश त्रीणि अब्दशतानि ॥३१॥

कुले मौनकुले, संस्थिते नष्टे, किलिंकिलायां नगर्यां तस्य शिशुनन्दे भ्राता भूतवंशोपवक्त्रैर्युक्ताः षट् षट् वर्षाण्यधिकानि ॥३२॥

**शिशुनन्दिश्च तद्भ्राता यशोनन्दिः प्रवीरकः।**
**इत्येते वै वर्षशतं भविष्यन्त्यधिकानि षट् ॥३३॥**

**तेषां त्रयोदश सुता भवितारश्च बाह्लिकाः।**
**पुष्यमित्रोऽथ राजन्यो दुर्मित्रोऽस्य तथैव च ॥३४॥**

**एककाला इमे भूपाः सप्तान्ध्राः सप्त कोसलाः।**
**विदूरपतयो भाव्याः निषधास्तत एव हि ॥३५॥**

**मागधानां तु भविता विश्वस्फूर्जिः पुरञ्जयः।**
**करिष्यत्यपरो वर्णान् पुलिन्दयदुमद्रकान् ॥३६॥**

**प्रजाश्चा ब्रह्म भूयिष्ठाः स्थापयिष्यति दुर्मतिः।**
**वीर्यवान् क्षत्र मुत्साद्य पद्मवत्यां स वै पुरि।**
**अनुगङ्गामाप्रयागं गुप्तां भोक्ष्यति मेदिनीम् ॥३७॥**

**सौराष्ट्रावन्त्याभीराश्च शूद्रा अर्बुदमालवाः।**
**ब्रात्या द्विजा भविष्यन्ति शूद्रप्राया जनाधिपाः ॥३८॥**

**सिन्धोस्तटं चन्द्रभागां कौन्तीं काश्मीरमण्डलम्।**
**भोक्ष्यन्ति शूद्रा ब्रात्याद्याः म्लेच्छा शाब्रह्मवर्चसः ॥३९॥**

---

1 TW नन्द 2 HV युक्ता एते 3 A B G J M Ma पुष्य 4 HV स्तस्य चात्मज 5 M Ma कौशला 6 HV वैहुर्य TW वैदू 7 HV नैषधा 8 HV स्फूर्ज 9 TW यात् 10 TW तिपरो 11 HV न्त्यकाभीरा W न्त्य भीराश्च 12 A B G J M Ma शूरा 13 HV काशी 14 TW त्यार्याः 15 HV अब्रह्म

**तुल्यकाला इमे राजन्! म्लेच्छप्रायाश्च भूभृतः।**

**एतेऽधर्मानृतपराः फल्गुदास्तीव्रमन्यवः ॥४०॥**

**श्रीध० शिशुनन्दिश्चेति।** अधिकानि च षड्वर्षाणि ॥३३॥

**तेषामिति।** तेषां भूतनन्दादीनां यथायथं बाह्लिकाः[1] तन्नामानस्त्रयोदश सुता भविष्यन्ति। अथ पुष्यमित्रो[2] नामान्यो राजन्यः[3] अस्य च दुर्मित्रो नाम पुत्रः ॥३४॥

**एककाला** इति। तथा आंध्राः[4] कोसलाः[5] विदूरपतयो[6] निषधाश्च। एते च तत्तद्देशनामभिः प्रख्यातास्तुल्यकालाः। खण्डमण्डलेषु भूपास्तत एव तेभ्यो बाह्लिकेभ्यः एव भाव्या भविष्यन्ति ॥३५॥

**मागधानामिति।** ततश्च मागधानां तु राजा विश्वस्फूर्जिर्नाम[7] भविता तस्यैव[8] विश्वमूर्तिरिति च नामान्तरम्[8]। स च पूर्वोक्तात्पुरं जयादपरः पुरंजय इति प्रसिद्धः सन् वर्णान्ब्राह्मणादीन्पुलिन्द यदुमद्रकसंज्ञान्म्लेच्छप्रायान्करिष्यति[9][10]। अपरानिति पाठे अन्यान्पुलिंदादिसंज्ञान्वर्णान्करिष्यतीत्यर्थः ॥३६॥

किञ्च - **प्रजा** इति। स चैवं कृत्वाऽब्रह्मभूयिष्ठा अत्रैवर्ण्यप्रचुराः सतीः प्रजाः स्थापयिष्यति पालयिष्यति। स च पद्मवत्यां पुरि पुर्यां[11] वसन् अनुगंगां गंगाद्वारमारभ्य आप्रयागं[12] प्रयागपर्यन्तं गुप्तां पालितां मेदिनीं भोक्ष्यति ॥३७॥

**सौराष्ट्रेति।** तदनंतरं च सौराष्ट्रादिदेशवर्तिनो नृपाः[13] शूद्रपा याः[13] द्विजा व्रात्या उपनयनरहिता भविष्यन्ति ॥३८॥

**सिन्धोरिति।** अब्रह्मवर्चसः वेदाचारशून्याः ॥३९॥

**तुल्येति।** इमे च म्लेच्छप्राया भूभृतस्तुल्यकालाः भविष्यन्ति। किं च एते सर्वेऽधर्मानृतपरा अधर्मेऽनृते च परिनिष्ठिताः फल्गुदा अल्पदातारः ॥४०॥

**वीर०** तेषां भूतनन्दादीनां बाह्लीकसञ्ज्ञास्त्रयोदशसुताः, भवितारो भविष्यन्ति इति तथा पुष्यमित्रो[14] नामाऽन्यो राजन्यः अस्य दुर्मित्रनामा पुत्रः ॥३३, ३४॥

तथाऽन्ध्राः कोसलाः वैदूरपतयः निषधाश्च तत्तद्देशनामभिः प्रख्याताः। खण्डमण्डलेषु भूपास्तत एव बाह्लीकेभ्यः एव भविष्यन्ति तेभ्यो जनिष्यन्ते इत्यर्थः ॥३५॥

1 A.B.J "कनामा", 2. A.B.J पुष्य, 3 H V तस्य, 4 H V अ", 5 H V वैदूर्य", 6 H V नै", 7 H V स्पूर्ज, 8--8 A B J omit, 9 A B J omit क, 10 A.B.J "ज्ञान्, 11 A B.J omit पुर्यां, 12 A B J omit आप्रयागं, 13--13 A B J omit, 14 A पुष्य"

**मागधानामिति**। ततस्तु मागधानां राजा विश्वस्फूर्जिर्नाम भविता, स च पूर्वोक्तात्पुरञ्जयात् परः पुरञ्जयादति प्रसिद्धस्सन् वर्णान् ब्राह्मणादीन् पुलिन्दयदुमद्रकसञ्ज्ञान् म्लेच्छप्रायान् करिष्यति। अपरानिति पाठे अन्यान् पुलिन्दसञ्ज्ञान् करिष्यतीत्यर्थः ॥३६॥

स चैवं कृत्वा प्रजाः अब्रह्मभूयिष्ठा अत्रैवर्ण्यप्रचुरान् स्थापयिष्यति पालयिष्यति। किञ्च, वीर्यवानिति। स वै विश्वस्फूर्जिः क्षत्रमुत्साद्य निर्मूल्य पद्मवत्यां पुरि, वसन्निति शेषः। अनुगङ्गं गङ्गाद्वारमारभ्य प्रयागपर्यन्तां गुप्तां मेदिनीं भोक्ष्यति। तदनन्तरं च सौराष्ट्रादिदेशवर्तिनो द्विजा व्रात्याः उपनयनादिसंस्काररहिताः अत एव शूद्रप्राया भविष्यन्ति। जनाधिपेति सम्बोधनम्। जनाधिपा इति पाठे ते शूद्रप्रायाः शूद्रप्रचुरा भविष्यन्तीत्यर्थः ॥३७,३८॥

**सिन्धोरिति**। व्रात्याद्या व्रात्या ब्राह्मणा येषां ते शूद्रा म्लेच्छाश्च, अब्रह्मवर्चस इति असामर्थ्येऽप्युचितत्वाद् व्रात्यविशेषणम्। चन्द्रभागानदी तथा तत्तीरं लक्ष्यते, कौन्तीन्। देशान्, कौन्तीमिति पाठे कुन्तिदेशेषु भवां कौन्तीमिति चन्द्रभागाविशेषणम् ॥३९॥

**तुल्यकाला** इति। एते म्लेच्छप्राया भूभृतस्तुल्यकाला भविष्यन्तीत्यर्थः। किञ्च, एते इति अधर्मे अनृते च परिनिष्ठिताः। फल्गुदाः अल्पदातारः, तीव्रः उग्रो मन्युर्येषां ते। स्त्रीबालेति परदारधनयोगदृता आदरयुक्ताः तद्ग्रहणशीला इत्यर्थः। उदिता - स्तमितप्राया उदितप्रायाश्चास्तमितप्राया। क्षणे तुष्टा क्षणे रुष्टा चेत्यर्थः। अल्पसत्त्वा अल्पबला अल्पायुषश्च। असंस्कृताः गर्भाधानादिसंस्काररहिताः प्रजा इति। एवंविधा ते प्रजा भक्षयिष्यन्ति पीडयिष्यन्ति ॥४०॥

**विज०** बाह्लीका बाह्लीकदेशपतय ॥३३,३४॥

तथा आन्ध्रा आन्ध्रदेशपतय, कोसला कोसलविषयपतय, वैदूर्य विदूर्याख्यनगरपतयो निषधाश्च एते तत्तद्देशनामभिः प्रख्याता। तुल्यकालाः खण्डमण्डलेषु भूपाः तत एव तेभ्यो बाह्लीकेभ्यः एव भाव्या भविष्यन्ति ॥३५॥

ततश्च नैषधानां विषयाणां राजा पुरञ्जयः, शत्रूणामिति शेषः। स पुलिन्द यदुमद्रकानवगत्रीचान् वर्णान् करिष्यति। किं बहुना? सर्वाः प्रजाश्चाऽपि विवक्षिता ॥३६॥

ब्रह्मभूयिष्ठाः बहुलवेदविदः स्थापयिष्यति स्थिरीकरिष्यति। अनुगङ्गं गङ्गासमीपे, आप्रयागं प्रयागाख्यक्षेत्रपर्यन्तं दीर्घां मेदिनीं पद्मवत्यां पुरि स्थितिं कृत्वा आप्रयागं गुप्तां पालिताम् ॥३७॥

W र्या, 2 W omits इत्यर्थ 3-3 W omits 4 W omits ते

तदनन्तरं सौराष्ट्राश्च आवन्त्याश्च आभीराश्च शूद्राश्च अर्बुदाश्च मालवाश्च व्रात्याः संस्कारहीनाः द्विजाः शूद्रप्रायाः जनाधिपतयो भविष्यन्ति ॥३८,३९॥

किञ्च, एते सर्वे अधर्मानृतपराः अधर्मे अनृते च परिनिष्ठिताः, फल्गुदाः अल्पदातारः ॥४०॥

**स्त्रीबालगोद्विजघ्नाश्च परदारधनादृताः ।**
**उदितास्तमितप्राया अल्पसत्त्वाल्पकायुषः ॥४१॥**

**असंस्कृताः क्रियाहीनाः रजसा तमसाऽऽवृताः ।**
**प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छा राजन्यरूपिणः ॥४२॥**

**तन्नाथास्ते जनपदास्तच्छीलाचारवादिनः ।**
**अन्योन्यतो राजभिश्च क्षयं यास्यन्ति पीडिताः ॥४३॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
द्वादशस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

**श्रीध० स्त्रीति**। उदितास्तमितप्राया हर्षशोकादिबहुलाः ॥४१॥

**असंस्कृता इति**। असंस्कृता गर्भाधानदिसंस्काररहिताः प्रजा भक्षयिष्यन्ति धनाद्यपहारादिना पीडयिष्यन्ति ॥४२॥

किं च **तदिति**। तन्नाथाः ते नाथा येषां ते जानपदा देशवर्तिनो मनुष्याः तच्छीलाचारवादिनः तेषामिव शीलमाचारो वादश्च तद्वन्तः ॥४३॥

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

**वीर० तन्नाथा** इति । ते म्लेच्छा नाथा येषां ते। जनपदा देशवर्तिनः तेषामेवं शीलं स्वभावः आचारो वादश्च येषां सन्तीति तथाऽन्योन्यतः राजतः राजभिश्च पीडिताः नाशं यास्यन्ति ॥४१-४३॥

---

1 HV जान°, 2 ABJ जन

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

**विज०** उदितास्तमितप्रायाः बहुलं सूर्योदयमस्तमित मेव जानन्ति नापरं अल्पकालावस्थायिनो वा ॥४१॥

असंस्कृता गर्भाधानादिसंस्कारहीना प्रजाः भक्षयिष्यन्ति धनाद्यपहारादिना पीडयिष्यन्ति ॥४२॥

किञ्च, एवं विधा ये ते एव नाथा येषां ते तन्नाथा जनपदा देशवर्तिनो मनुष्या तच्छीलाचारवादिनः तेषां शीलं आचारश्च वादश्च तद्वन्त ॥४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
द्वादशस्कन्धे प्रथमोऽध्याय ॥१॥

**(श्रीविजयध्वजतीर्थरीत्या प्रथमोऽध्याय न समाप्तः)**

# द्वितीयोऽध्यायः

## श्रीशुक उवाच

ततश्चानुदिनं धर्मः सत्यं शौचं क्षमा दया ।
कालेन बलिना राजन्[1] नङ्क्ष्यत्यायुर्बलं स्मृतिः ॥१॥

वित्तमेव कलौ नृणां जन्माचारगुणोदयाः[2] ।
धर्मन्यायव्यवस्थायां कारणं बलमेव हि ॥२॥

दाम्पत्येऽभिरुचिर्हेतुः[3]मायैव व्यावहारिके ।
स्त्रीत्वे पुंस्त्वे[4] च हि रतिर्विप्रत्वे सूत्रमेव हि ॥३॥

लिङ्गमेवाश्रमख्यातावन्योन्यापत्तिकारणम् ।
अवृत्त्या[5] न्यायदौर्बल्यं पाण्डित्ये चापलं वचः ॥४॥

अनाढ्यतैवासाधुत्वे साधुत्वे दम्भ[6] एव तु ।
स्वीकार एव चोद्वाहे स्नानमेव प्रसाधनम् ॥५॥

दूरे[7] वार्ययनं[8] तीर्थं लावण्ये[9] केशधारणम् ।
उदरम्भरता[10] स्वार्थः सत्यत्वे[11] धाष्ट्र्यमेव हि ॥६॥

दाक्ष्यं[12] कुटुम्बभरणं यशोऽर्थे धर्मसेवनम् ।
एवं प्रजाभिर्दुष्टाभिराकीर्णे[13] क्षितिमण्डले[14] ॥७॥

ब्रह्मविद्क्षत्रशूद्राणां यो बली भविता नृपः ।
प्रजा हि[16] लुब्धै राजन्यैर्निर्घृणैर्दस्युधर्मिभिः[17] ॥८॥

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्वितीये तु कलेर्दोषवृद्धौ कल्क्यवतारतः । अधर्मिष्ठे जने नष्टे पुनः कृतयुगागमः ॥

---

1 HV क°, 2 W °गुणावहम्, 3 HV वाक्छौर्यं, 4 HV चाभि, M चाति 5 HVW आ° 6 Hv चाढ्यतैव हि 7 HV दू° 8 M °टनं°, 9 ABGJ °ण्य, 10 W °राभरण, 11 HV सभ्यत्वे, 12 W दाक्ष्ये, 13 HV इत्थ, 14 HV °र्ण, 15 HV °ल, 16 HV °स्तु, 17 ABGJM धर्मभिः

कलिधर्मान् प्रपंचयति **ततश्चेत्यादिना** ॥१॥

जन्माचारगुणानां उदयः उत्कर्षहेतुः । **वित्तमिति** धर्मन्याययोर्व्यवस्थायां बलमेव ॥२॥

**दाम्पत्य** इति। दांपत्ये भार्यापतिभावेऽभिरुचिरेव हेतुर्न कुलगोत्रादिः। व्यावहारिके क्रयविक्रयादौ। स्त्रीत्वे पुंस्त्वे च तयोः श्रेष्ठ्ये रतिकौशलमेव हेतुर्नतुकुलमाचारो वा ॥३॥

**लिङ्गमिति**। आश्रमाणां ख्यातौ ज्ञाने लिंगमेव दंडाजिनादिकं हेतुर्नत्वाचारविशेषः। अन्योन्यापत्तिकारणं चाश्रमादाश्रमां-तरप्राप्तौ च कारणम्। यद्वा बहूदकहंसादीनामन्योन्यापत्तौ नमस्कारादिव्यवहारे कारणम्। आवृत्त्या मुद्रार्पणादिदानसामर्थ्ये न्याय्य दौर्बल्यं पराजयः। चापलं वचो बहुभाषणम् ॥४॥

**अनाढ्यतेति**। असाधुत्वे चौर्याद्यभियोगे। प्रसाधनमलंकारः ॥५॥

**दूर इति**। दूरे वर्तमानं वार्ययनं जलाशयस्तीर्थे न तु शुद्ध्यादि गुर्वादिर्व उदरंभरता कुक्षिपूरणम् स्वार्थः पुरुषार्थः ॥६॥

**दाक्ष्यमिति**। कुटुम्बभरण एव दाक्ष्यं पटुत्वम् ॥७,८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

"**तच्छीलाचार वादिनः**" (भाग. 12 । 43) इत्येतदेव प्रपञ्चयन् कृतयुगप्रवृत्तिसमीपकालं लक्षयन् तत्प्रवृत्तिप्रकारं कलियुगप्राद्रुर्भावलक्षणञ्च वदन् राजवंशानुकीर्तनमुपसंहरति द्वितीयेन - **ततश्चेत्यादिना** हे राजन्! बलिना बलीयसा कालेन निमित्तेनानुदिनं धर्मादयो नङ्क्ष्यन्ति ॥१॥

**वित्तमेवेति**। जन्माभिजात्यं गुणः सद्गुणः तदावहं वित्तमेवेत्यर्थः। तथा धर्मन्याययोर्व्यवस्थायां बलं धनबलमेव कारणं हेतुः ॥२॥

**दाम्पत्ये** इति। दाम्पत्ये भर्तृभार्यात्वे अभिरुचिरेव कारणं, न त्वाभिजात्यादिः। व्यावहारिके क्रयविक्रयादिव्यापारे माया वञ्चनमेव न तु निष्कापट्यम् व्यावहारिकीति पाठे लोकव्यवहारसिद्धा मायैव विवेकप्रतिबन्धिनीत्यर्थः। स्त्रीत्वे पुंस्त्वे च तयोः प्राशस्त्ये रतिकौशलमेव हेतुर्न तु स्त्रीत्वपुंस्त्वैकान्तगुणवृत्तयः। सूत्रमेव न तु उपनयनादि ॥३॥

---

1-1 A B J omit. 2 A B J अ 3 A B J "नामा" 4 A B J "ये 5 A B J omit शुद्ध्यादि 6-6 A B J omit

**लिङ्गमेवेति**। आश्रमाणां ख्यातौ ज्ञाने लिङ्गमेव दण्डाजिनादिकमेव हेतुः न त्वाचारविशेषः। अन्योन्यापत्तिकारणं आश्रमादाश्रमान्तरप्राप्तौ च कारणं, वर्णान्तरात् वर्णान्तरप्राप्तौ नीचोत्तमभावप्राप्तौ वा कारणमित्यर्थः। अवृत्तिः दरिद्रता तथा न्यायदौर्बल्यं पराजयः। सप्तम्यन्तपाठे तस्यां सत्यां न्यायदौर्बल्यं सा न्यायदौर्बल्ये हेतुरित्यर्थः। पाण्डित्ये चापलं वचः, बहुभाषणं हेतुः ॥४॥

**अनाढ्यतैवेति**। असाधुत्वे निकृष्टत्वे अनाढ्यतैव हेतुः। न तु कुलहीनता, साधुत्वे उत्कृष्टत्वे दम्भः देहालङ्कारः, उद्वाहे विवाहे स्वीकरणमेव, न तु शास्त्रीयविधिः। प्रसाधनं शरीरमलापनयनमेव स्नानं नतु विशुद्धतीर्थावगाहनम् ॥५॥

**दूर** इति। यद्दूरे वर्तमानं बार्ययनं जलाशयस्तत् तीर्थं न तु गङ्गादिः न तु गुर्वादिर्वा। लावण्ये निमित्ते केशधारणं न तु शास्त्रविहिताक्षौरं, उदरभरणमेव सर्वपुरुषार्थः, सत्यत्वे सत्यवादित्वे, धार्ष्ट्यं प्रसहिष्णुत्वं न तु अननृतवादित्वम् ॥६॥

दाक्ष्ये समर्थत्वे कुटुम्बभरणं नतु धर्मादिपुरुषार्थसम्पादनं, यशोर्थे न तु परलोकार्थे एवं इत्थम्भूताभिः प्रजाभिराकीर्णे क्षितिमण्डले ॥७॥

ये ब्राह्मणादयस्तेषां मध्ये यो बली स एव नृपो भविता, प्रजा इति, लुब्धैरर्थकामपरैः अत एव निर्घृणैर्निष्कृपैः दस्युर्मिभिः चौरव्याघ्रप्रवृत्तिभिः राजन्यैः ॥८॥

## श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

कल्क्यवतारं तच्चरितं च युगविभागलक्षणं च वक्त्यस्मिन्नध्याये, तत्रादौ कलिवैभवमाह - **ततश्चेति**। कालक्षयानन्तरं धर्मादयो नङ्क्ष्यन्तीत्यन्वयः। कारकाभावादिति शेषः ॥१॥

यदि कलौ नृणां वित्तमस्ति तर्ह्येव तेषां जन्मादयः पूज्याः स्युरिति शेषः। अयं धर्मः अयं न्याय इति व्यवस्थायां बलमेव कारणं, धनमिति वा पाठः ॥२॥

अभिरुचिरन्योन्यस्नेहलक्षणेच्छा हेतुः, न कुलगोत्रादिशास्त्रीययोगः। व्यावहारिके क्रयविक्रयादिव्यवहारविषये मायैव हेतुः। अतिरतिः अतितरां मनोदर्शनीयताविशेषः, सूत्रं तन्तुलक्षणम् ॥३॥

आश्रमाणां ख्यातौ ज्ञाने ब्रह्मचर्याद्याश्रम इति वक्तव्ये अन्योन्यापत्तिकारणं आश्रमादाश्रमान्तरप्राप्तिकारणं, लिङ्गमुपाध्यायादिलक्षणं लाञ्छनं अन्यायदौर्बल्ये अन्यायाकरणे अवृत्तिः वृत्तिराहित्यं वृत्यभाव एव हेतुः कृतो न्यायो न्याय

1. W "कार एव", 2. A omits वार्ययनं, 3 A B भूमण्डले, 4 A.B धर्म", 5 W. चो"

इत्यर्थः। अचापलं अचञ्चलतालक्षणं वचः, कारणमित्यनुवर्तते ॥४॥

अनाढ्यता दरिद्रत्वं असाधुत्वे दुष्टत्वे, त्वं मम जाया इति स्वीकारः हेतुः। प्रसाधनं शरीरस्य शुद्धिरलङ्कारो वा ॥५॥

दूरे वार्यटनं दूरतरजलयात्रा यत्र क्रियते तत्तीर्थं न तु गुर्वादि। केशधारणं धम्मिल्लधारणं, उदरम्भरता स्वोदरपूर्णता, स्वार्थः स्वप्रयोजनम् ॥६,७॥

ब्रह्म ब्राह्मणः, दस्यूनां धर्माणि चौर्यादीनि येषां ते तथा तैः ॥८॥

आच्छिन्नदारद्रविणा यास्यन्ति गिरिकाननम्।
शाकमूलामिषक्षौद्रफलपुष्पाष्टिभोजनाः ॥९॥

अनावृष्ट्या विनङ्क्ष्यन्ति दुर्भिक्षकरपीडिताः।
शीतवातातपप्रावृड् हिमै रन्योन्यतः प्रजाः ॥१०॥

क्षुत्तृड्भ्यां व्याधिभिश्चैव सन्तप्स्यन्ते च चिन्तया।
त्रिंशद्विंशतिवर्षाणि परमायुः कलौ नृणाम् ॥११॥

क्षीयमाणेषु देहेषु देहिनां कलिदोषतः।
वर्णाश्रमवतां धर्मे नष्टे वेदपथे नृणाम् ॥१२॥

पाषण्डप्रचुरे धर्मे दस्युप्रायेषु राजसु।
चौर्यानृतवृथाहिंसानानावृत्तिषु वै नृषु ॥१३॥

शूद्रप्रायेषु वर्णेषु, च्छागप्रायासु धेनुषु।
गृहप्रायेष्वाश्रमेषु यौनप्रायेषु बन्धुषु ॥१४॥

अणुप्रायास्वोषधीषु शमीप्रायेषु स्थास्नुषु।
विद्युत्प्रायेषु मेघेषु शून्यप्रायेषु सद्मसु ॥१५॥

इत्थं कलौ गतप्राये जनेतु खरधर्मिणि।
धर्मत्राणाय सत्त्वेन भगवानवतरिष्यति ॥१६॥

1 A omits दुष्टत्वे. 2 A 'य'. 3 M 'दि'. 4 HV ज्वर 5 HV भी' 6 M 'नृषा 7 M सन्तप्यन्ते W सन्तापन. [illegible] J M 'ख'. 10 M योनि'. 11 M प्रायेष्वौषधीषु. 12 HVM जनेषु. 13 M पर धर्मेषु HV खरधर्मसु

**श्रीध० आच्छिन्नेति**। आच्छिन्नानि अपहृतानि दारा द्रविणानि च यासां ताः। अष्टिर्बीजम् ॥९-११॥

**क्षीयमाणेष्विति**। क्षीयमाणेष्विति[1]दीनामित्थं कलौ गतप्राये इति पञ्चमेनाऽन्वयः। क्षीयमाणेष्वल्पप्रायेषु ॥१२॥

**पाषण्डेति**। दस्युप्रायेषु चौर[2]तुल्येषु चौर्यानृतवृथाहिंसाद्या नानावृत्तयो येषां तेषु ॥१३॥

**शूद्रप्रायेष्विति**। छागप्रायासु प्रमाणतः क्षीरतश्च अजातुल्यासु[3] गृहप्रायेषु परिग्रहादि बाहुल्येन गृहतुल्येषु यौनप्रायेषु स्यालादिप्रायेषु[3] ॥१४॥

अण्विति। अणुप्रायासु श्यामाकतुल्यासु। स्थास्नुषु[4] वृक्षेषु विद्युत्प्रायेषु[4] तटिद्[5]बहुलेषु। शून्यप्रायेषु धर्मादिरहितेषु सद्मसु गृहेषु ॥१५॥

**इत्थमिति**। जनेषु[6] खरधर्मिषु[7] दुस्सहचेष्टितेषु[8] कलौ[9] इत्थं गतप्राये समाप्तप्राये[10] ॥१६॥

**वीर०** आच्छिन्नाः अपहृता दाराः द्रविणनिचया यासां ताः प्रजाः गिरिकाननं यास्यन्ति, तत्र शाकादिभोजनाः, तत्र क्षौद्रं मधु, अष्टिर्बीजम् ॥९॥

तत्राप्यनावृष्ट्या यः दुर्भिक्षकरः शाकाद्यभावकरः कालस्तेन, यद्वा दुर्भिक्षे यः करःस्वामिग्राह्यो भागः तेन पीडिताः शीतादिभिरन्योन्यतश्च पीडिताः नङ्क्ष्यन्ति, प्रावृषि[11] हिममेव केवलं न तु वृष्टिरित्यभिप्रायेण प्रावृडित्युक्तं[11] तृतीयान्ता नाम[12] सामर्थ्येऽपि[12] सामर्थ्यात्पीडिता इत्यनेन सम्बन्धः। तत्र सन्तापस्त्रिविधः तापः इत्थं पीडितानां नृणां परमायुः विंशति त्रिंशद्वर्षाणि ॥१०-११॥

**क्षीयमाणेष्विति** - सप्तम्यन्तानां इत्थं कलौ गतप्राये सतीति पञ्चमेन सम्बन्धः। वर्णाश्रमाचारार्हाणामपि वेदपथे वेदमार्गे तदुक्ते धर्मे, च नष्टे सति ॥१२॥

राजसु दस्युप्रायेषु चोरधर्मसु[13] सत्सु तदेव विवृणोति - **चौर्येति**। चौर्यादि[14] नानावृत्तयो येषां तेषु ॥१३॥

धेनुषु छागप्रायासु प्रमाणतः क्षीरतश्चाजातुल्यासु, आश्रमेषु गृहप्रायेषु, तद्वन्मैथुन्यधर्म[15] पदेषु सत्सु, बन्धुषु यौनप्रायेषु योनिसम्बन्धमात्रप्रधानेषु ॥१४॥

---

1. A "णे", 2. A.H.V. चो", 3--3 A B.J omit, 4--4 A omits, 5 A.B.J "दि", 6 A B.J जने तु, 7 A.B.J "णि, 8 A B.J "ते, 9 A.B J omit इत्थं, 10. A. omits समाप्तप्राये, 11--11 W omit, 12--12 A B omit, 13 A B omits चोरधर्मसु, 14 A B "दिना वृ", 15. W परे"

ओषधीषु धान्येष्वणुप्रायासु अतिसूक्ष्मासु, स्थास्नुषु वृक्षेषु शमीप्रायेषु परिमाणतः छायातः फलतश्च? तुल्येषु गृहेषु[1] इत्यर्थः। मेघेषु विद्युत्प्रायेषु, तटिद्बहुलेषु। सद्यसु शून्यप्रायेषु अतिथिभोजनादिधर्मरहितेषु सत्सु ॥१५॥

इतीत्थं रवरधर्मिणि दुःसहचेष्टिते कलौ सत्त्वेन शुद्धसत्त्वमयेन देहेन ॥१६॥

**विज०** आछिन्नदारद्रविणाः बलादाकृष्टभार्यावित्ताः क्षौद्रं मधु "मधु मद्यं मधु क्षौद्रं मधु पुष्परसं विदुः" इत्यभिधानम्। शाकादिभोजनं येषां ते तथा ॥९॥

दुर्भिक्षकरनिमित्तपीडिताः हिमं नीहारः ॥१०॥

तृषया तृष्णया, व्याधिभिः कुष्ठादिभिः ॥११,१२॥

चौर्याद्यर्थं[2] नानावृत्तयो येषां ते तथा ॥१३॥

छाग, अत्र तुगभावो लिङ्गव्यत्यासं प्रति गृहा योनिः[3] एव बन्धुत्वं योनिसम्बन्धमात्रम् ॥१४॥

अणुप्रायेषु कक्षमाषप्रचुरासु, जनशून्यप्रायेषु ॥१५-१६॥

**चराचर गुरोर्विष्णोरीश्वरस्याखिलात्मनः।**
**धर्मत्राणाय साधूनां जन्म कर्मापनुत्तये ॥१७॥**

**शम्भलग्राममुख्यस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः।**
**भवने विष्णुयशसः कल्किः प्रादुर्भविष्यति ॥१८॥**

**अश्वमाशुगमारुह्य देवदत्तं जगत्पतिः।**
**असिनाऽसाधुदमनमष्टैश्वर्यगुणान्वितः ॥१९॥**

**विचरन्नाशुना क्षोण्यां हयेनाप्रतिमद्युतिः।**
**नृपलिङ्गच्छदो दस्यून् कोटिशो निहनिष्यति ॥२०॥**

**अथ तेषां भविष्यन्ति मनांसि विशदानि वै।**
**वासुदेवाङ्गरागातिपुण्यगन्धानिलस्पृशाम्।**
**पौरजानपदानां वै हतेष्वखिलदस्युषु ॥२१॥**

---

1 AB omit गृहेषु. 2 A 'र्थे. 3 AB भावना. 4 W पराव' 5 ABGJ शम्भल' 6 M 'न्नमिमान्. 7 W अथैतेषां

**तेषां प्रजाविसर्गश्च स्थविष्ठः सम्भविष्यति ।**
**वासुदेवे भगवति सत्त्वमूर्तौ हृदि स्थिते ॥२२॥**

**यदावतीर्णो भगवान् कल्किर्धर्मपतिर्हरिः ।**
**कृतं भविष्यति तदा प्रजासूतिश्च सात्त्विकी ॥२३॥**

**यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च तथातिष्ये बृहस्पतिः ।**
**एकराशौ समेष्यन्ति तदा भवति तत् कृतम् ॥२४॥**

**श्रीध०** एतत्प्रपञ्चयति चतुर्भिः चराचरेति। चराचरगुरोरीश्वरस्येति च धर्मत्राणे हेतुः गुरुत्वेश्वरत्वयोरुपपादनमखिलस्य विश्वस्यात्मनः कारणस्येति। एवम्भूतस्य विष्णोर्जन्म साधूनां धर्मत्राणाय । धर्मत्राणप्रयोजनमाह - कर्मापनुत्तये मोक्षाय ॥१७॥

**शम्बलेति**। शंबलग्रामे मुख्यस्य प्रधानस्य नाम्ना विष्णुयशसो ब्राह्मणस्य भवने गृहे ॥१८॥

धर्मत्राणप्रकारमाह **अश्वमिति**। असाधवो दम्यन्ते येन तमश्वमारुह्यासिना दस्यून्कोटिशो निहनिष्यतीत्युत्तरेणान्वयः। द्यसाधुदमन इति पाठे कल्किविशेषणम्। अणिमाद्यष्टैश्वर्याणि गुणाश्च सत्यसंकल्पत्वादयः तैः अन्वितः ॥१९॥

दुष्टदमनं प्रपञ्चति **विचरन्निति**। आशुना शीघ्रगामिना तेन हयेन अश्वेन क्षोण्यां पृथिव्यां विचरन्। नृपलिङ्गच्छदो राजवेषान् छन्नान् ॥२०॥

ततश्च पुनः कृतयुगप्रवृत्तिं वक्तुमाह । **अथेति** सार्धद्वाभ्याम्। तेषां पौरजानपदानां मनांसि विशदानि भविष्यन्ति। तत्र हेतुः। वासुदेवस्यानुरागेण चंदनादिनाऽतिपुण्यगंधो योऽनिलस्तं स्पृशंतीति तथा तेषाम् ॥२१॥

**तेषामिति**। स्थविष्ठः स्थूलः ॥२२॥

कृतयुगप्रवृत्तिमाह। **यदावतीर्ण** इति। प्रजानां सूतिः प्रजासूतिः ॥२३॥

तदवतारकालोपलक्षणमाह । यदा चंद्रश्चेति। तिष्यः पुष्यः। अयमर्थः। चंद्रसूर्यबृहस्पतीनां यदापुष्यनक्षत्रे योगस्तदा तत्कृतयुगं भविष्यति। यद्यपि च प्रतिद्वादशाब्दं कटकराशौ बृहस्पतौ वर्तमाने द्वित्रासु अमावास्यासु तेषां त्रयाणामपि पुष्ययोगः सम्भवति। तथाऽपि तेषां सहप्रवेशोऽत्र विवक्षितः। समेष्यन्तीति वचनात्। अतो नातिप्रसंगः ॥२४॥

---

1 HV ॰स्तु, 2 ABGJ तिष्यबृहस्पती।, 3 ABJ शम्भ॰, 4 HV ॰त्पादय, 5 ABJ omit तैः अन्वितः, 6 ABJ तत्प्रपञ्च॰, 7 HV omit ाश्वेन, 8 HV omit पृथिव्यां, 9-9 HV omit, 10 ABJ कर्क॰

**वीर०** धर्मत्राणायेत्यनेन धर्मपरित्राणमेवावतारप्रयोजनं इत्युक्तं तदेव सहेतुक मुपपादयति - **परावरगुरोरिति**। विशेषणानि हेतु, गर्भाणि[1] विशेषणानि, गुरुशब्देन हितप्रवर्तकत्वमभिप्रेतं, तस्य सर्वविषयकत्वस्फोरणायाखिलात्मन इत्युक्तं, आत्मत्वं न केवलमन्तः प्रविश्य धारकत्वमेवापितु तत्प्रशासनगर्भमिति द्योतनायेश्वरस्येत्युक्तम्। एवम्भूतस्य विष्णोर्जन्मावतारः साधूनां धर्मत्राणाय। तत्प्रयोजनमाह - कर्मापनुत्तये इति। निःश्रेयसप्रतिबन्धिकर्मनिवर्तनाय, यद्वा दुष्कर्मनिवर्तनाय वा। "विनाशाय च दुष्कृतां" (भ.गी. 4- इत्युक्तेः ॥१७॥

क्वावतरिष्यति? किं तस्य नाम? इत्यत आह ।**शम्बलेति**[2]। शम्बलाख्यग्रामे[3] मुख्यस्य श्रेष्ठस्य विष्णुयशसः, भवने गृहे, कल्किः, तत्रामावतरिष्यति ॥१८॥

तस्य चेष्टितमनुवर्णयति द्वाभ्यां **अश्वमिति**। देवदत्तनामानं आशु गच्छतीति तथा तमश्वमारुह्य असिनाऽसाधून् दमयतीति तथा दस्यून् कोटिशो निहनिष्यतीति उत्तरेण सम्बन्धः। अष्टैश्वर्याण्यणिमादीनि गुणाः शौर्यवीर्यादयः तैरन्वितः आशुना आशुगतिनाऽश्वेन, क्षोण्यां[4] पृथिव्यां विचरन् नृपलिङ्गच्छदः राजवेषच्छन्नान् ॥१९-२०॥

**अथेति**। अखिलेषु दस्युषु हतेषु सत्सु, अथ तेषां पौरजानपदानां, वासुदेवस्य कल्केः योऽनुरागः तस्य योऽतिशयितः पुण्यगन्धवायुः तं स्पृशन्तीति तथा तेषां, हेतुगर्भमिदं, अतः मनांसि विशदानि निर्मलानि भविष्यन्ति ॥२१॥

तेषां विशदमानसानां प्रजाविसर्गः पुत्रादिरूपः प्रपञ्चः, स्थविष्टः स्थूलः, सम्भविष्यति वासुदेव इति हृदिस्थित इत्यस्य मनश्च सात्त्विकं भविष्यतीति शेषः ॥२२॥

तदा पुनः कृतयुगप्रवृत्तिमाह - **यदेति**। धर्मपतिर्धर्मगोप्ता कल्किर्यदाऽवतीर्णः तदा कृतयुगं भविष्यति, तदा प्रजानां सूतिः प्रसूतिः, सात्त्विकी सत्त्वगुणप्रधाना ॥२३॥

कृतयुगप्रवृत्तिकालोपलक्षणमाह[5] यदेति। तिष्यः पुष्यः यदा सूर्यादयः एकराशौ सङ्गता भवन्ति, तदा तत्ततः कृतयुगं प्रवर्त्तते इत्यर्थः। यद्यपि प्रतिद्वादशाब्दं कटकराशौ[6] बृहस्पतौ वर्तमाने, द्वित्रासु अमावास्यासु तेषां त्रयाणामपि पुष्ययोगस्सम्भवति, तथापि तेषां सहप्रवेशोऽत्र विवक्षितः **समेष्यन्ति** इति वचनात्। अतो नातिप्रसङ्गः ॥२४॥

**विज०** विष्णोर्जन्म कर्म च साधूनां धर्मत्राणाय दुष्कर्मापनुत्तये च स्यादिति शेषः ॥१७॥

शम्बलग्रामे[7], मुख्यस्य प्रधानस्य नाम्ना विष्णुयशसः ब्राह्मणस्य, भवने गृहे ॥१८॥

---

1 A B गर्भवि' 2 A B शम्भ' 3 A B शम्भ . 4 W omit क्षोण्या . 5 W omit युग . 6 A कर्कट . 7 A B 'म्भ'

आशुगं शीघ्रगामिनम् ॥१९॥

नृपलिङ्गच्छदः राजलक्षणच्छन्नान्[1] ॥२०॥

वासुदेवस्य अङ्गरागस्य चन्दनाद्यनुलेपनस्य प्रशस्तपुण्यगन्धेन युक्तं वायुं स्पृशन्तीति वासुदेवाङ्गरागातिपुण्य - ग-धानिलस्पृशः तेषाम् ॥२१॥

प्रजाविसर्गः सन्ततीनामुत्पत्तिः, स्थविष्ठः बहुलः ॥२२॥

प्रजासूतिः सन्तानोत्पत्तिः ॥२३॥

कृतप्रारम्भे लक्षणान्तरमाह - यदेति। तिष्यः पुष्यः चन्द्रसूर्यबृहस्पतीनां यदा पुष्यनक्षत्रयोगः, तदा कृतयुगं भविष्यति यद्यपि प्रतिद्वादशाब्दे अर्कराशौ बृहस्पतौ वर्तमाने द्वित्रास्वमावास्यासु तेषां त्रयाणामपि पुष्ये योगः सम्भवति तथापि तेषां सहप्रयोगोऽत्र विवक्षितः समेष्यन्ति इति वचनात् ॥२४॥

येऽतीता वर्तमाना ये ये भविष्यन्ति[2] पार्थिवाः।
ते त उद्देशतः प्रोक्ताः वंशजाः[3] सोमसूर्ययोः ॥२५॥

आरभ्य भवतो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम् ।
एतद् वर्षसहस्रं तु शतं पञ्चदशोत्तरम् ॥२६॥

सप्तर्षीणां तु यौ पूर्वौ दृश्येते उदितौ दिवि ।
तयोस्तु मध्ये नक्षत्रं दृश्यते यत् समं निशि ॥२७॥

तेनैव[4] ऋषयो युक्तास्तिष्ठन्त्यब्दशतं नृणाम् ।
ते त्वदीये द्विजाः काले अधुना चाश्रिता मघाः[5] ॥२८॥

विष्णोर्भगवतो[6] भानुः कृष्णाख्योऽसौ दिवं गतः।
तदाविशत् कलिर्लोकं पापे यद्रमते[7] जनः ॥२९॥

यावत् स पादपद्माभ्यां स्पृशन्नास्ते रमापतिः ।
तावत् कलिर्वै पृथिवीं पराक्रान्तुं न चाशकत् ॥३०॥

---

1 A 'णा', 2 ABGJ भविष्यन्ति च, 3 ABGJW वंशीयाः, 4 ABGJM तेनैते, 5 MW मघाम्, 6 M विष्णुस्तु भगवान्, 7 HV भनः

**यदा देवर्षयः सप्त मघासु विचरन्ति हि ।**

**तदा प्रवृत्तस्तु कलिर्द्वादशाब्दशतात्मकः ॥३१॥**

**यदा मघाभ्यो यास्यन्ति पूर्वाषाढां महर्षयः ।**

**तदा नन्दात् प्रभृत्येषः कलिर्वृद्धिं गमिष्यति ॥३२॥**

**श्रीध०** एवं नवमस्कन्धमारभ्यानुक्रान्तं वैवस्वतमनोर्वंशद्वयं निगमयति - **येऽतीता** इति। उद्देशतः संक्षेपतः ॥२५॥

कलियुगावान्तरविशेषं वक्तु माह - **आरभ्येत्यादिना**। वर्षसहस्रं पञ्चदशोत्तरं शतं चेति कयापि विवक्षयाऽवांतरसंख्येयम्। वस्तुतस्तु परीक्षिन्नन्दयोरन्तरं द्वाभ्यां न्यूनं वर्षाणां सार्धसहस्रं भवति। यतः परीक्षित्समकालं मागधं मार्जारिमारभ्य रिपुंजयान्ता विंशतिराजानः सहस्रसंवत्सरान् भोक्ष्यन्तीत्युक्तं नवमस्कन्धे "एते बार्हद्रथा भूपा भाव्याः साहस्रवत्सरम्" इति। ततः परं पंच प्रद्योतना अष्टत्रिंशोत्तरं शतम्। शिशुनागाश्च 'षष्ट्युत्तरशतत्रयं भोक्ष्यन्ति पृथिवी" मित्यत्रैवोक्तत्वात् ॥२६॥

कलियुगस्य प्रवृत्तिं वृद्धिं च निरूपयितुं कालज्ञानोपलक्षणमाह - **सप्तर्षीणां त्विति**। अयमर्थः। प्रागग्रशकटाकारं तारासप्तकं सप्तर्षिमण्डलम्। तत्र किंचिदुन्नतेषाऽग्रस्थानीयो मरीचिः। ततः पश्चादानम्रयुगकंधराकारो वसिष्ठः सभार्यः। ततः पश्चादीषदुन्नतेषामूलस्थानीयोऽगिराः। ततः पश्चाच्चतुरस्रताराचतुष्के ईशान्यामत्रिः, ततो दक्षिणतः पुलस्त्यः, पुलस्त्यात्पश्चिमतः पुलहः, तत उत्तरतः क्रतुः। एवं स्थिते तेषां मध्ये यौ पूर्वौ उदयसमये प्रथममुदितौ दृश्येते तौ पुलहक्रतुसंज्ञौ तयोस्तु मध्ये तयोस्तु पूर्वयोस्तु मध्ये तत्समं दक्षिणोरखायां समदेशावस्थितमश्विन्यादिषु यदन्यतमं नक्षत्रं दृश्यते तेन तथैव युक्ता नृणामब्दशतं तिष्ठंति ते च द्विजास्त्वदीये कालेऽधुना मघाः आश्रिता वर्तन्ते ॥२७-२८॥

**विष्णोरिति**। तेषु मघासु वर्तमानेषु सत्सु यदा विष्णो र्भानुः भातीति भानुः शुद्धसत्त्वात्मको देहो दिवं वैकुंठं गतस्तदा कलियुगमविशत्। यद्यस्मिन्युगे जनः पापे रमत इति कलियुगस्य लक्षणम् ॥२९॥

ननु श्रीकृष्णे पृथिव्यां वर्तमानेऽपि सन्ध्यापेणकलिः प्रविष्ट एवासीत्। सत्यम्। तथापि तावत्तस्य पराक्रमो नाऽभवदित्याह- **यावदिति**। पराक्रान्तुमभिभवितुम् ॥३०॥

अतो यथोक्त एव कलिप्रवेशकाल इत्याह - **यदा देवर्षय इति**। द्वादशाब्दं शतात्मक इति। दिव्येन मानेन संध्यासंध्यांशाभ्यां सह यो द्वादशाब्दशतात्मकः स कलिस्तदा संध्यामतिक्रम्य प्रविष्ट इत्यर्थः ॥३१॥

---

1 HV 'ध्योप' 2 HV ऊने 3 ABJ 'र 4 ABJ कले 5 HV 'दुन्नम्या' 6 HV ऐ 7-7 HV दक्षिणत 8 HV मन

कलेः प्रवेशकालमुक्त्वा तस्य वृद्धिकालमाह - **यदेति**। तदा प्रद्योतनात्प्रभृति वृद्धिं गच्छन् नन्दात्प्रभृत्यतिवृद्धिं गमिष्यतीत्यर्थः ॥३२॥

**वीर०** स्कन्धत्रयार्थमुपसंहरति - **येऽतीता** इति। सोमसूर्ययोर्वंशीया वंशप्रभवाः, ते तुभ्यं, उद्देशतः उत्पत्तिक्रमतः संक्षेपतो वा प्रोक्ताः ॥२५॥

मज्जन्म प्रभृतियावत्सोमवंशसमाप्ति, कियान् कालो भविष्यति इत्यभिप्रायमालक्ष्याह - **आरभ्येति**। नन्दाभिषेचनपर्यन्तैव सोमवंशस्यानुवृत्तिरतो यावन्नन्दाभिषेचन मित्युक्तं, एतदन्तरं वर्षाणां पञ्चदशोत्तरशतं सहस्रं चेत्यर्थः। वर्षसहस्रं पञ्चदशोत्तरं शतं चेति कयापि विवक्षयाऽवान्तरसंङ्ख्येयं, वस्तुतः परीक्षिन्नन्दयोरन्तरं द्वाभ्यां न्यूनं वर्षाणां सार्धसहस्रं भवति, यतः परीक्षित्समकालं मागधं मार्जारिमारभ्य रिपुंजयान्ता विंशति राजानः सहस्रसंवत्सरान् भोक्ष्यन्तीत्युक्तं नवमस्कन्धे "एते बार्हद्रथा भूपा भाव्यास्साहस्र वत्सरम्" (भाग.9.22.49) इति, ततःपरं, च - प्रद्योतना अष्टत्रिंशोत्तरं शतं शिशुनागाश्च "षष्ट्युत्तरशतत्रयं भोक्ष्यन्ति पृथिवी" (भाग. 4.27.13) मित्यत्रैवोक्तत्वात् ॥२६॥

कदा तर्हि कलियुगारम्भ इत्यभिप्रायमालक्ष्य तद्वृद्धिकालं च विवक्षुस्तावदारम्भकालमुपलक्षणेनाह - **सप्तर्षीणामिति** द्वाभ्याम्। अयमर्थः - प्रागग्रशकटाकारं तारासप्तकं सप्तर्षिमण्डलं तत्र किञ्चिदुन्नतेषाग्रस्थानीयो मरीचिः, ततः पश्चादानम्रयुगकन्धराकारो वसिष्ठः सभार्यः, ततः पश्चादीषदुन्नतेषामूलस्थानीयोऽङ्गिराः, ततः पश्चाच्चतुरश्रताराच्चतुष्के ईशान्येऽत्रिः, ततो दक्षिणतः पुलस्त्यः, पुलस्त्यात्पश्चिमतः पुलहः, तत उत्तरतः क्रतुः एवं स्थिते तेषां मध्ये यौ पूर्वौ उदयसमये प्रथममुदितौ पुलहक्रतुसंज्ञौ तयोस्तु मध्ये तयोः पूर्वयोस्तु मध्ये यत्समं दक्षिणतः समदेशावस्थितमश्विन्यादिषु यदन्यतमं नक्षत्रं दृश्यते तेन तथैव युक्ता ऋषयः नृणामब्दशतं तिष्ठन्ति, ते च द्विजा ऋषयःत्वदीये काले अधुना मघामाश्रित्य वर्तन्ते पूर्वयोर्मघानां च साम्यावस्थित्युपक्रमकालः कलियुगारम्भकाल इति सूचितं, तदग्रे स्पष्टमेव वदिष्यति ॥२७-२८॥

कदा तर्हि युगाभिमानिपुरुषप्रवेश हत्यतस्तमुपलक्षणेनाह - **विष्णोरिति**। भानुः, भातीति भानुः प्रकाशबहुलः कृष्णाख्यो भगवतो देहः यदा दिवं वैकुण्ठं गतस्तदा कलिरिमं लोकं अविशत् यद्यस्मात् युगाभिमानिपुरुषाद्धेतोः जनः पापे रमते युगसन्धौ हि भगवदवतारः। प्रवृत्तेपि कलौ युगे भगवतः स्वधामानुगमनात् पूर्वं कलिपुरुषो न प्रबभूवेत्यनेन सूच्यते ॥२९॥

तत् स्पष्टमेवाह - **यावदिति**। सः श्रीकृष्णः, कलिपुरुषः पृथिवीं पराक्रान्तुमभिभवितुं नाशकन्नस्वकार्यक्षमो बभूवेत्यर्थः ॥३०॥

सूचितमर्थं स्पष्टमाह - यदा देवर्षय इति। मघासु विचरन्ति तासां समजवे चरितुमारब्धवन्त इत्यर्थः। तदा कलियुगं तस्य परिमाणं द्वादशाब्दशतात्मक इति दिव्येन मानेन सन्ध्यासन्ध्यांशाभ्यां सह यो द्वादशाब्दशतात्मकः स कलिः प्रवृत्त इति सम्बन्धः ॥३१॥

कदा तर्हि कलिधर्माभिवृद्धिरित्यतस्तामुपलक्षणेनाह - यदा मघाभ्य इति। मघाभ्यः इति पञ्चमी, तत्समं देशं विहाय पूर्वाषाढानां (पूर्वफल्गुन्योः) समदेशं यास्यन्ति तदा ॥३२॥

विज० एवं नवमस्कन्धमारभ्याऽनुक्रान्त वैवस्वतमनोर्वंशद्वयमुपसंहरति - येऽतीता इति। उद्देशतः सङ्क्षेपतः ॥२५॥

कलियुगावान्तरविशेषमाह - आरभ्येति। वर्षसहस्रं पञ्चदशोत्तरशतं चेति कयापि विवक्षयाऽवान्तरसङ्ख्येयम्। वस्तुतः परीक्षिन्नन्दयोरन्तरं द्वाभ्यामूनं वर्षाणां सार्धसहस्रं भवति। यतः परीक्षित्समकालं मागधमार्जारिमारभ्य रिपुञ्जयान्ता विंशतिराजानः सहस्रवत्सरं भोक्ष्यन्तीत्युक्तं नवमस्कन्ध "एतद्वार्हद्रथा भूपा भाव्याः साहस्रवत्सरम्" (भाग.9-22-49) इति। ततः परं च प्रद्योतना अष्टत्रिंशच्छतं, शिशुनागाश्च षष्ट्युत्तरशतत्रयं भोक्ष्यन्ति पृथिवीमित्यत्रैवोक्तम् ॥२६॥ (भाग.4-27-13)

कलेः प्रवृत्तिं वृद्धिं च निरूपयितुं कालज्ञानोपलक्षणमाह - सप्तर्षीणामिति। अयमर्थः प्रागग्रं शकटाकारं तारासप्तकं सप्तर्षिमण्डलं तत्र किञ्चिदुन्नतरेखाया अग्रस्थानीयो मरीचिः, ततः पश्चादानम्रयुगकन्धराकारो वसिष्ठः सभार्यः, ततः पश्चा - दीषदुन्नतस्तेषां मूलस्थानीयोऽङ्गिराः, ततः पश्चाच्चतुरस्र ताराचतुष्के ईशान्येऽत्रिः, ततो दक्षिणतः पुलस्त्यः, पुलस्त्यात्पश्चिमतः पुलहः, तत उत्तरतः क्रतुः। एवं स्थिते तेषां मध्ये यौ पूर्वौ उदयसमये प्रथममुदितौ पुलहक्रतुसंज्ञौ तयोस्तु मध्ये तयोः पूर्वयोश्च मध्ये यत्समं दक्षिणतः समदेशावस्थितमश्विन्यादिषु यदन्यतमं नक्षत्रं दृश्यते ॥२७॥

यत्तेन तथैव युक्ताः नृणामब्दशतं तिष्ठन्ति ते च द्विजास्त्वदीये काले अधुना मघां आश्रिता वर्तन्ते ॥२८॥

तेषु ऋषिषु मघासु वर्तमानेषु सत्सु ॥२९॥

पराक्रान्तुं स्वसामर्थ्यं दर्शयितुम् ॥३०॥

कियन्तं कालं विचरणमित्यतः उक्तं - द्वादशेति ॥३१॥

अस्तु कलेः परं कश्चित्कालं हित्वा पश्चाद् वृत्तिः सा कदेति तत्राह - यदेति ॥३२॥

**यस्मिन् कृष्णो दिवं यातः तस्मिन्नेव तदाऽहनि।**
**प्रतिपन्नं कलियुगमिति प्राहुः पुराविदः ॥३३॥**

दिव्याब्दानां सहस्रान्ते चतुर्थे तु पुनः कृतम्।[1]
भविष्यति यदा नृणां मन आत्मप्रकाशकम् ॥३४॥

इत्येष मानवो वंशो यथा संख्यायते भुवि ।
तथा विट्शूद्रविप्राणां वंशाः[3] ज्ञेया[4] युगे युगे ॥३५॥

एतेषां नामलिङ्गानां पुरुषाणां महात्मनाम् ।
कथामात्रावशिष्टानां कीर्तिरेव स्थिता भुवि ॥३६॥

देवापिः शन्तनोर्भ्राता मरुश्चेक्ष्वाकुवंशजः।
कलापग्राम आसाते महायोगबलान्वितौ ॥३७॥

ताविहैत्य कलेरन्ते वासुदेवानुशिक्षितौ ।
वर्णाश्रमयुतं धर्मं पूर्ववत् प्रथयिष्यतः ॥३८॥

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम् ।
अनेन क्रमयोगेन भुवि प्राणिषु वर्तते ॥३९॥

राजन्नेते मया प्रोक्ता नरदेवास्तथाऽपरे।
भूमौ ममत्वं कृत्वान्ते हित्वेमां निधनं गताः[5] ॥४०॥

**श्रीध०** ननु यदा कलेर्लिङ्गमुपलब्धं तदैव प्रविष्ट इति युक्तं, ततः पूर्वमेव प्रवेशः, ततः परं वृद्धिरित्यत्र किं प्रमाणं तत्राह **यस्मिन्निति**। प्रतिपन्नं प्रविष्टमिति ज्ञातम्[6]। पुराविदः पूर्वज्ञातारः ॥३३॥

कलेरनन्तरं[7] कृतयुगप्रवेशमाह - **दिव्याब्दानामिति**। चतुर्थे कलौ प्रवेशनाब्दपरिमितेनांशेनाऽपि सह अतीते[8] सतीत्यर्थः। कृतयुगप्रवेशचिह्नमाह। यदा नृणां मन आत्मप्रकाशकं भविष्यति तदेति ॥३४॥

राजवंशोक्तां स्थितिं ब्राह्मणादिवंशेष्वप्यतिदिशति - **इत्येष इति**। यथा याभिरुच्चनीचावस्थाभिः। तास्ता अवस्थाः। वंशा इति वा पाठः ॥३५॥

---

1--1 M 'ञे तु प्रतियाते, 2 HV तदा, 3 ABGJW तास्ताः; 4 W बोध्याः, 5 W हित्वा ते, 6 HV 'न', 7 HV 'रन्तं, 8 HV गते

एतत्कीर्तनस्य वैराग्योपयोगितामाह - **एतेषामिति**। नामैव लिंगं[1] ज्ञापकं येषां तेषां कथामात्रेणैव अवशिष्टानां कीर्तिरेव स्थिता न तु राज्यं पुत्रादयो वा ॥३६॥

कलावुत्सन्नानां राजवंशानां[2] पुनः प्रवृत्तिप्रकारमाह - **देवापिरिति**। देवापिः सोमवंशजः। [3]मरुस्तु सूर्यवंशजः[3]। कलापग्रामो नाम योगिनामावासः प्रसिद्धः ॥३७-३८॥

इममेव प्रकारं प्रतिचतुर्युगं दर्शयति। **कृतमिति**॥३९॥

"एतेषां नामलिंगानां" भाग (12 2 36) इत्यादि यदुक्तं तत्प्रपञ्चयति - **राजन्निति** पञ्चभिः ॥४०॥

**वीर०** "पराक्रान्तुं न चाशकदि" (भाग. 12 2 30) त्यनेन प्रविष्टस्याऽपि कलिपुरुषस्य भगवत्पादपद्मस्पर्शप्रभावात् स्वकार्याक्षमत्वमुक्तं, तत्राभिज्ञान् संवादयति - **यस्मिन्निति**। यस्मिन्नहनि जातः तस्मिन्नेवाहनि तत्राऽपि[4] तस्मिन्नेव क्षणे कलियुगे प्रतिपन्ने[4] स्वकार्यकरणे प्राप्तं प्राहुः पुराविदः कालाभिज्ञा ॥३३॥

कलेरनन्तरं कृतयुगप्रवेशमाह - **दिव्याब्दानामिति**। चतुर्थे कलौ युगे दिव्यानामब्दानां यत्सहस्रं तस्यान्ते दिव्येन मानेन सहस्राब्दपरिमिते चतुर्थे युगेऽतिक्रान्ते सति इत्यर्थः। द्वादशाब्दशतात्मक इति सन्धिभ्यां सङ्कलय्योक्तं, अत्र तु तौ विना मध्यकाल परिमाण मुक्तं इत्यतो न विरोधः। कृतयुगारम्भकालमुपलक्षणेनाह - यदा नृणां मन आत्मप्रकाशकमिति आत्मस्वरूपगोचरक्षमं भविष्यति तदा कृतयुगं भविष्यतीत्यर्थः ॥३४॥

तत्र प्रजाः कीदृश्यः इत्यभिप्रायमालक्ष्याह - **इत्येष** इति इत्थम्भूत एष मानवः वैवस्वतमनुवंशः यथासङ्ख्यायते याभिरुच्चनीचावस्थाभिः सम्यक् ख्यायते कथ्यते तदा विट्शूद्रविप्राणां तास्ता अवस्था युगे युगे बोध्या इत्यर्थः ॥३५॥

किं बहुना वंशानुकीर्तनेनेति तटस्थशङ्कां वारयति - **एतेषा मिति** । नामलिङ्गशब्दो मत्वर्थीयाऽर्श आद्यजन्तः एवंविधनामरूपवतां इत्यर्थः। महात्मनां इत्यनेन तत्र केषाञ्चिद्भागवतत्व तत एव तच्चरित्रस्यावश्य श्रोतव्यत्वादिकञ्च सूच्यते, कथामात्रेणैवावशिष्टानां न तु नामारूपाभ्याम् अनेन, तयोरनित्यत्वं सूच्यते, तेन च तात्पर्यालोचनतया वैराग्यहेतुत्वं फलितम् कीर्तिरेव स्थिता भुवीत्यनेनावश्यं राजभिः कीर्तिमद्भिर्भवितव्यं इति व्यज्यते ॥३६॥

ननु, कलावुत्सन्नराजवंशतद्धर्माणां कुतः पुनः कृते प्रवृत्तिरित्यभिप्रायमालक्ष्याह - **देवापिरिति**। शन्तनोर्भ्राता देवापिर्नाम

---

1 H V ०न°. 2 H V ०शादीना 3- -3 H V omits. 4- -4 W omits

सोमवंश्यः मरुनमिक्ष्वाकुवंशजः सूर्यवंश्यः इत्यर्थः। तावुभावधुना कलापग्रामे आसाते कलापग्रामो बदर्याश्रमस्थो योगिनामावासः प्रसिद्धः, कथम्भूतौ, महता योगबलेनान्वितौ ॥३७॥

ततः किमत आह - **ताविति**। कलेरन्तः कृतयुगादिः तदा भगवता अनुशिक्षितौ उपदिष्टवर्णाश्रमधर्मौ आदिष्टौ चेह लोके एत्य आगत्य वर्णाश्रमधर्मं पूर्ववत् प्रथयिष्यतः प्रकटीकरिष्यतः ॥३८॥

प्रति चतुर्युगरीतिः कीदृशीत्यभिप्रायमालक्ष्याह - **कृतमिति**। अनेन क्रमयोगेन निरूपिता चतुर्युगक्रमयोगरीत्यैव प्रतिचतुर्युगं प्राणिषु वर्तते निमित्ततया प्रवर्त्तत इत्यर्थः। इयमेव रीतिः प्रतिचतुर्युगमिति भावः। यद्यप्यत्र त्रेताद्वापरयोः प्रकारो नोक्तः इत्यनेन क्रमयोगेनेत्यसङ्गतं, तथाप्याद्यन्त युग[2]रीतिनिरूपणे मध्ययोरपि [3]युगयोर्निरूपितप्रायतैव इत्यभिप्रायेण तथोक्तम् ॥३९॥

कथामात्रावशिष्टानां इत्यनेन सूचितं विवृणोति - **राजन्निति**। हे राजन्! एते मयाऽधुना निरूपिता वैवस्वत-मन्वन्तराऽवस्थाश्च राजानस्तावद्भूमौ ममत्वं ममताबुद्धिं कृत्वान्ते तद्भोगनिमित्तपुण्यावसाने निधनं [4]नाशङ्गताः, तेनैव ममत्वेन युता निरयं प्राप्ता इति भावः ॥४०॥

**विज०** कृष्णस्वर्गारोहणानन्तरं कश्चित्कालं हित्वा पश्चादाविष्टः किं कलिरुत तस्मिन्नेवाहनीति सन्देहं व्यवच्छिनत्ति - **यस्मिन्निति** ॥३३॥

ततः कियान् कालः कृतप्रारम्भायेति तत्राह - **दिव्येति**। यदा यस्मिन् कृतयुगे आत्मप्रकाशकं परमात्मप्रकाशकं, भवतीति शेषः ॥३४॥

इति शब्दः समाप्तिपर्यन्तं कथितः। एष मानवो वंशः वैवस्वतमनुसम्बन्धी भुवि यथा सङ्ख्यायते तथा विट्शूद्रविप्राणां वंशा अपि युगे युगे ज्ञेयाः बोद्धव्याः इत्यतिदेशोऽयम् ॥३५॥

एतेषां सत्त्वे किं ज्ञापकमत्राह - **एतेषामिति**। नामलिङ्गयुक्तानां, अनेनैतिह्यं प्रमाणमुक्तं भवति ॥३६॥

कृते धर्मप्रतिष्ठापकः क इति तत्राह - **देवापिरिति**। महायोगबलान्वितौ महाज्ञानबलयुक्तौ अणिमाद्यैश्वर्ययुक्तौ वा ॥३७-३८॥

कति युगानीत्यत्राह - **कृतमिति** ॥३९॥

एषामज्ञान माह - **राजन्निति** ॥४०॥

1--1 W. omits, 2 W. omits रीति, 3 W omits युगयो., 4 W omits नाशं

क्रिमिविड्भस्मसंज्ञान्ते राजानाम्नोपि यस्य च ।
भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेदनिरयो यतः ॥४१॥

कथं सेयमखण्डा भूः पूर्वैर्मे पुरुषैर्धृता ।
तत्पुत्रस्य च पौत्रस्य मत्पूर्वा वंशजस्य च ॥४२॥

तेजोऽबन्नमयं कायं गृहीत्वाऽऽत्मतयाऽबुधाः ।
महीं ममतया चोभौ हित्वान्तेऽदर्शनं गताः ॥४३॥

ये ये भूपतयो राजन्! भुञ्जाते भुवमोजसा ।
कालेन ते कृताः सर्वे कथामात्राः कथासु च ॥४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
द्वादशस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

**श्रीध०** 'ममत्वं कृत्वे' त्यनेन सूचितां भूतद्रोहप्रवृत्तिं निन्दति। क्रिमीति।राजनाम्नो राजेति नाम यस्य तस्यापि देहस्यान्ते क्रिमयो विट् विष्टा भस्मेति वा संज्ञा भविष्यति। तत्कृते तदर्थं यो भूतद्रुक् भूतेभ्यो ध्रुह्यति स किं स्वार्थं वेद किंतु न वेदैव। कुत इत्यपेक्षायां हेतुत्वेन भूतद्रोहं विशिनष्टि। यतो भूतद्रोहान्निरयो भवति ॥४१॥

ममत्वप्रकारं प्रपंचयति। **कथमिति**। सेयमखण्डा भूः मे पूर्वजैः धृता सती इदानीं मत्पूर्वा च सती मत्पुत्रादेः कथं स्यादित्येवम् ॥४२॥

**तेज** इति।उभौ महीं कायं च अदर्शनं मृत्युम् ॥४३॥

उपसंहरति - **ये ये इति**। ते सर्वे च कथासु क्रियमाणासु। कथामात्राः कालेन कृताः ॥४४॥

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

**वीर०** एतदेव विशदयति - **क्रिमीति**। यस्य राजनाम्नोऽपि शरीरस्यान्ते क्रिमयो विष्ठा भस्मेति वा संज्ञा भविष्यति तत्कृते तदर्थं भूतेभ्यो दुह्यतीति तथा। स किं स्वार्थं स्वहितं वेद? तत्र हेतुत्वेन भूतद्रोहं विशिनष्टि -यतो भूतद्रोहान्निरयो भवति ॥४१॥

---

1 A.B.G.J.M कृ°, 2 B "ज्ञा", 3 M मनुते, 4 M "मंत्पु", 5 A.B.G.H.J वा, 6 M यामुधा, 7--7 H V कृत्वा हित्वोभौ विधनं, 8 A.B.G.J.W. "न्ति, 9 M वै, 10 A.B.J कृ°, 11 A.B.J omit विट्, 12 H V निधन

ममतां कृत्वेत्युक्तं ममताप्रकारं प्रपञ्चयति - **कथमिति**। सेयमखण्डा भूमिर्मम पूर्वजैर्धृता सती, मदनन्तरं मत्पूर्व महमेव पूर्वो धर्ता यस्यास्तथाभूता सती, मत्पुत्रादेः कथं स्यादित्येवम् ॥४२॥

किञ्च, **तेज** इति। अबुधाः देहातिरिक्तात्मज्ञानविधुराः, अत एव तेजोऽबन्नपरिणामरूपं कायं शरीरमात्मतया गृहीत्वाऽभिमत्य महीं तु ममतया गृहीत्वा उभौ पृथ्वीकायौ हित्वाऽन्ते प्रारब्धान्तेऽदर्शनं लयं गताः प्राप्ताः ॥४३॥

कथामात्रावशिष्टानां इत्यस्य प्रपञ्च मुपसंहरति - **ये ये** इति। हे **राजन्**! ये ये राजानो भुवमोजसा पौरुषेण भुञ्जन्ति ते सर्वे कालेन कृताः समाप्ताः। कथासु क्रियमाणासु कथामात्ररूपाः कृताश्च ॥४४॥

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

**विज०** राजनाम्नोपि यस्य शरीरस्यान्ते नाशे कृमिविड् भस्मसंज्ञा तादृशं शरीरं प्राप्य भूतध्रुक् स्वार्थं मनुते न परप्रयोजनं यतो भूतद्रोहान्निरयो भवति तं वेद किन्न, वेदैव। यस्य पुरुषशरीरस्यान्ते इति वा ॥४२॥

स्वार्थमननप्रकारमाह - **कथमिति**। भवन्त्यस्यां सत्त्वानीति भूः येयं मत्पूर्वैः पुरुषैः, धृता सेयं भूर्ममाखण्डा राजान्तरानधिकृता कथं स्यान्मत्पुत्रस्य मत्पौत्रस्य च मद्वंशजस्य, अहं पूर्वो यस्यां सा मत्पूर्वा च कथं स्यादिति मत्वा ॥४२॥

तेजोऽबन्नमिदं कायमात्मतया नित्यत्वेन मुधा गृहीत्वा अमी राजानो ममत्वेन गृहीत्वा उभौ महीं च देहं च हित्वा अदर्शनं मरणं गता भवन्तीत्यन्वयः ॥४३॥

साम्प्रतं तेष्वेकोऽपि नास्तीत्याशयेनाह **य** इति। पुराणादिगतकथासु कथामात्राः सर्वात्मना कथैव येषां ते तथाकृताः स्वरूपतो न सन्तीति शेषः ॥४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
द्वादशस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

**(श्रीविजयध्वजतीर्थरीत्या नवमोऽध्यायः न समाप्तः)**

# तृतीयोऽध्यायः

## श्रीशुक उवाच

दृष्ट्वाऽऽत्मनि जये व्यग्रान् नृपान् हसति भूरियम् ।
अहो मां विजिगीषन्ति मृत्योः क्रीडनका नृपाः ॥१॥

काम एष नरेन्द्राणां मोघः स्याद् विदुषामपि ।
येन फेनोपमे पिण्डे येऽतिविस्रंभिता नृपाः ॥२॥

पूर्वं निर्जित्य षड्वर्गं जेष्यामो राजमन्त्रिणः ।
ततः सचिवपौरामात्यान्द्रानथ कण्टकान् ॥३॥

एवं क्रमेण जेष्यामः पृथ्वीं सागरमेखलाम् ।
इत्याशाबद्धहृदया न पश्यन्त्यन्तिकेऽन्तकम् ॥४॥

समुद्रावरणां जित्वा मां विशन्त्यब्धिमोजसा ।
कियदात्मजयस्यैतन्मुक्तिरात्मजये फलम् ॥५॥

यां विसृज्यैव मनवस्तत्सुताश्च कुरूद्वह ।
गता यथागतं युद्धे तां मां जेष्यन्त्यबुद्धयः ॥६॥

मत्कृते पितृपुत्राणां भ्रातॄणां चाऽपि विग्रहः ।
जायते ह्यसतां राज्ये ममताबद्धचेतसाम् ॥७॥

ममैवेयं मही कृत्स्ना न ते मूढेति वादिनः ।
स्पर्धमाना मिथो घ्नन्ति म्रियन्ते मत्कृते नृपाः ॥८॥

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तृतीये भूमिगीतैस्तु राज्यदोषादि वर्ण्यते । कलौ च दोषभूयिष्ठे दोषहन्त्री हरेर्नतिः ॥

देहेऽहन्तां भूमौ च ममतां कुर्वन्त्यतोऽबुधा इत्युक्तम् । तदेव भूमिगीतं प्रपञ्चयति **दृष्ट्वेत्यादिना** । आत्मनि पृथिव्यां जये व्यग्रानुद्युक्तान् । हासप्रकारमेवाह अहो इति । मा माम् ॥१॥

---

1 W विजये M Ma °नि जय°, 2 M Ma येन, 3 A B G J °श्र, 4 H V °मान्, 5 A B G H J V °नम्य, 6 W वापि, 7 A B J श्र
8- -8 H V कुर्वन्तोऽबुधा ; 9 H V omits मा माम्

**काम इति**। येन कामेन फेनोपमे पिण्डे देहेऽतिविस्रम्भिता विश्वासं नीता ये तेषां नरेन्द्राणां[1] स एष कामो, मोघ एव[2] स्यात् ॥२॥

कामेमेव दर्शयति द्वाभ्यां, पूर्वमिति। इन्द्रियार्थलम्पटस्य न राज्यप्राप्तिः स्यादिति प्रथममिन्द्रियषड्वर्गं निर्जित्य राजमन्त्रिणो जेष्यामो, वशीकरिष्यामः। सचिवा अमात्याः, करीन्द्रा हस्तिपाः तांश्च जेष्यामः। कण्टकान् प्रतिपक्षान्। अस्य अपास्य। अथ कण्टकानिति वा पाठः ॥३॥

**एवमिति**। एवं केचिदाशाबद्धहृदया एवं केचिन्मां पुनर्जित्वाऽप्यतितृष्णयाऽब्धिं विशन्ति तदेवमिन्द्रियजयेन ये राज्यं साधयितुमिच्छन्ति तेऽतिमन्दा इत्याह किर्यदिति ॥४,५॥

अन्तकं न पश्यन्तीत्युक्तं, तदेवाह **यामिति**। कुरूद्वहेति भूमिगीतं कथयन् शुकः सम्बोधयति। 'कुलोद्वह!' इति तु पाठः सुगमः ॥६॥

अबुद्धय इत्युक्तं, तत्प्रपञ्चयति **मत्कृत** इति ॥ ७,८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

प्रपञ्चितां ममतां महीहासेन संवादयन् वैराग्यमुत्पादयन् कलिदोषान् प्रपञ्चयन् च तन्निरसनोपाय मुपदिशति तृतीयेन - **दृष्ट्वात्मविजये** इत्यादिना। आत्मनि भूमौ निमित्ते यो विजयः तस्मिन् व्यग्रान् उद्युक्तान् दृष्ट्वा इयं[3] भूर्हसति। हासमेव प्रपञ्चयति अहो इत्यादिभिः सार्द्धैः द्वादशभिः। मृत्योः क्रीडनकाः तदधीनाः इमे नृपाः मां विजिगीषन्ति विजयेन मां भोक्तुमिच्छन्तीत्यर्थः ॥१॥

**काम इति**। विदुषामपि। पित्रादिदृष्टान्तेन मृत्युवश्यतां पश्यतामपि, अयं कामः विजिगीषात्मकेच्छाविशेषः मोघः व्यर्थः, मोघत्वे हेतुतया[4] कामं विशिनष्टि - येन कामेन फेनोपमे जलबुद्बुदतुल्ये पिण्डे शरीरे ये नृपाः अतीव विस्रम्भिताः विश्वासं नीताः तेषां नरेन्द्राणामिति पूर्वेण सम्बन्धः ॥२॥

विजिगीषुतां प्रपञ्चयति - सार्द्धद्वाभ्यां **पूर्वमिति**। इन्द्रियलम्पटस्य न राज्यप्राप्तिः स्यादिति तावत् षड्वर्गं इन्द्रियषट्कं जित्वा तद्द्वारा देवताप्रसादमधिगत्येति भावः। क्रमेण राजमन्त्रिप्रभृतीनस्य भूमण्डलस्य कण्टकतुल्यान् जेष्यामः। तत्र सचिवा अमात्या अवान्तरव्यापारिणः, पौराः पुरे भवाः, तेषामाप्ताः करीन्द्रा हस्तिपाश्च तान् ॥३॥

---

1 A B J omit सः ; 2. H V omit एव ; 3 W omits इयं ; भू 4 A त्वात्

ततः सागराः मेखला यस्यास्तां मेखलयेव सागरेण परिवृतां इत्यर्थः। पृथ्वीं जेष्यामः स्वाधीनां करिष्यामः इति इत्थम्भूताशया बद्धं हृदयं येषां ते, अन्तिके, समीपे वर्तमानं अन्तकं मृत्युं न पश्यन्ति नावलोकयन्ति[1]; किन्तु मां समुद्रावरणां जित्वा ततोऽब्धिं विशन्ति द्वीपान्तराणि प्रविशन्ति तान् विजिगीषन्तीत्यर्थः। तावत्कृतस्य इन्द्रियजयस्य नेदं फलमित्याह - कियदिति। एतत् कृत्स्नभूमण्डलस्य सप्तद्वीपस्य आत्माधीनताप्रापणमित्येतत् कियत्फलं न किञ्चिदेतदित्यर्थः। तत्फलस्य नश्वरत्वादिति भावः। किं तर्हि फलमित्यत आह - मुक्तिरात्मजये तावत्[2] फलमिति ॥४,५॥

एतदेवोपपादयति - **यामिति**। कुरूद्वहेति सम्बोधनं, भूमिगीर्ति[3] कथयन् शुकः सम्बोधयति[3]। कुलोद्वहेत्यपि पाठः सुगमः, तत्सुता मनुपुत्राश्च यां मां विसृज्यैव गताः मृताः तथा तां विजित्य विसृष्टामपि अबुद्धयो बुद्धिरहिताः युद्धे जेष्यन्ति, युद्धेन वशीकरिष्यन्तीत्यर्थः। गतमित्यस्य तैरिति शेषः। तेष्येवमेव गमिष्यन्तीत्यर्थः। अत्यन्तसादृश्येन अभेदमारोप्य गतमिति भूतनिर्देशः ॥६॥

अबुद्धितां प्रपञ्चयति **मत्कृते** इति। मत्कृते मदर्थं, विग्रहः विरोधः जायते, तत्र हेतुत्वेन तान् विशिनष्टि। राज्ये ममताभिमानेन बद्धं चेतो येषां तेषां अत एव च असतां दुरात्मनाम् ॥७॥

ममताबद्धचेतस्त्वमेव अभिनयेन दर्शयन्ती तत्प्रयुक्तमसत्कर्म दर्शयति - **ममैवेति** हे मूढ! ते तवेयं भूमिर्न भवति, किन्तु ममैवेति। वादान्[4] कुर्वतः[5] मिथः घ्नन्ति[5] ॥८॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

चतुर्युगधर्मविभागः कलिदोषपरिहारश्चेत्येतदस्मिन् अध्यायेऽभिधीयते। तत्रादौ राज्ञां मौढ्यदर्शनेन भूमेः परिहासप्रकार माह - **दृष्ट्वेति**। आत्मनो नितरां जये व्यग्रांस्तदेकपरायणान् ॥१॥

मौढ्यत्वमुपपादयति, **येनेति** ॥२॥

कीदृशस्तेषां कामः? इति तत्राह **पूर्वमिति**। षड्वर्गं सन्ध्यादिलक्षणं निर्जयो नामोत्कर्षः षडिन्द्रियविषयं वा। अनेन भूम्येक साधनाग्रहं सूचयति - राजमन्त्रिणः राजा च मन्त्रिणश्च राजमन्त्रिणः। मन्त्री बुद्धिसहायः स्यादिति, ततो मन्त्रिजयानन्तरं सचिवः कर्मसहायः "अमात्याः कर्मसचिवाः" इत्यमरः। आप्ताः विश्वस्ताः अथपश्चात्कण्टकान्, क्षुद्रशत्रून् ॥३॥

एवं क्रमेण राज्ञो जित्वा पृथिवीं जेष्यामः वशीकरिष्यामः इत्याशयाऽति तृष्णया अन्तकं मृत्यु[illegible] ॥

---

1 W [illegible]; 2 W omits तावत्; 3-3 W omits; 4 W वादिन; 5-5 W omits

एवं केचित् पुनः मां जित्वाप्यतितृष्णया ऽब्धिं विशन्तीत्यनेन द्वितीयादिजयाद्यं सूचयति भूजयादिना, न किमपि प्रयोजनमपि त्वन्ततोऽनर्थ एवावसिष्यते। मनोजयफलापेक्षयेत्याह किंयदिति। आत्मजयस्य मनोजयस्य फलापेक्षयैतद् भूजयादिकं कियत्फलं, आत्मजये किं फलं येनायमत्र साध्य स्यादिति तत्राह मुक्तिरिति। आत्मजये मुक्तिरेव फलं, यस्मात्तस्मादिति शेषः ॥५॥

इतोऽपि मज्जयकामा अज्ञा एवेत्याह यामिति। मनवः तत्सुताश्च यां मां विसृज्य यथा गता याताः अबुद्धयः तां मां जेष्यन्तीत्यन्वयः। आत्मजयवतां त्यागशक्तिरन्येषा मन्यथेति सूचयति ॥६॥

न केवलमितरेषां मत्कृते विग्रहोऽपि तु शरीरसम्बन्धिनामपि स्यादित्याह - मत्कृत इति। अपिशब्दः पुत्रादीनामित्यनेन सम्बन्धयितव्यः। अयमपि प्रायिक इत्याह - असतामिति। असतामप्रशस्तकर्मणाम् ॥७॥

किंप्रकारो विग्रह इति तत्राह - ममेति ॥८॥

पृथुः पुरूरवा गाधिर्नहुषो भरतोऽर्जुनः।
मान्धाता सगरो रामः खट्वाङ्गो धुन्धुहा रघुः ॥९॥

तृणबिन्दुर्ययातिश्च शर्यातिः शन्तनुर्गयः।
भगीरथः कुवलयाश्वः ककुत्स्थो नैषधो नृगः ॥१०॥

हिरण्यकशिपुर्वृत्रो रावणो लोकरावणः।
नमुचिः शम्बरो भौमो हिरण्याक्षोऽथ तारकः ॥११॥

अन्ये च बहवो दैत्या राजानो ये जनेश्वराः।
सर्वे सर्वविदः शूराः सर्वे सर्वजितोऽजिताः ॥१२॥

ममतां मय्य मर्त्यायां कृत्वोच्चैर्मर्त्यधर्मिणः।
कथावशेषाः कालेन ह्यकृतार्थाः कृता विभो ॥१३॥

कथा इमास्ते कथिता महीयसां विताय लोकेषु यशः परेयुषाम्।
विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम् ॥१४॥

---

1 M.Ma 'पः, 2 A B G J महे', M Ma प्रजे' 3 A B G J W 'वर्तन्त, 4 M Ma आहो, 5 o M Ma यशो, 6 H V W 'ति'

**यस्तूत्तमश्लोकगुणानुवादः सङ्गीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः।**
**तमेव नित्यं श्रुणुयादभीक्ष्णं कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः ॥१५॥**

**राजोवाच**

**केनोपायेन भगवन्! कलेर्दोषान् कलौ जनाः।**
**विधमिष्यन्त्युपचितांस्तन्मे ब्रूहि यथा मुने ॥१६॥**

**श्रीध० पृथुरिति**। रामो नाम कश्चिद्राजा। यद्वा लोकदृष्ट्या दाशरथिरेव निर्दिष्ट ॥९,१०॥

**हिरण्यकशिपुरिति**। लोकान् रावयति रोदयतीति लोकरावण ॥११,१२॥

**ममतामिति**। मयि उच्चैर्ममतां कृत्वा येऽवर्तन्त ते कालेन कथावशेषा कृता । विभो! इति संबोधनं कुरूद्वहेतिवत् ॥१३॥

राजवंशानुकथनस्य तात्पर्यमाह - **कथा इमा** इति। विज्ञानं विषयासाग्रताज्ञानं ततो वैराग्यं तयोर्विवक्षया परेयुषां मृतानां वचोविभूतीर्वाग्विलासमात्ररूपा न तु पारमार्थ्यं परमार्थे युक्तं कथनं न भवतीत्यर्थ ॥१४॥

कस्तर्हि पुरुषाणामुपादेय परमार्थस्तमाह **यस्त्विति**। नित्यं प्रत्यहं, तत्राप्यभीक्ष्णम् ॥१५॥

कलिदोषोपचये सति भक्तेरसम्भवं मन्यमान पृच्छति - **केनोपायेनेति**। विधमिष्यन्ति नाशयिष्यन्ति। यथा यथावत् ॥१६॥

**वीर० इतरै** रजिताश्च के पुनस्ते नृपा इत्यतस्तान् कांश्चिद्दर्शयति, **पृथुरिति**। अर्जुन कार्त्तवीर्य , रामो नाम कश्चिद्राजा, न तु दाशरथिः। धुन्धुहा धुन्धुमार ॥९,१०॥

लोकं रावयति रोदयतीति लोकरावणो रावण , भौमो नरकासुर ॥११॥

उक्तेभ्योऽन्ये दैत्या राजानश्च महीश्वरा पृथिवीपतय ते सर्व एव यद्यपि सर्वजित इतरैरजिताश्च ॥२१॥

मय्यप्युच्चैरधिकां ममतां कृत्वाऽवर्तन्त कञ्चित्कालमिति शेष । मर्त्यधर्मिण इति हेतुगर्भं अत कालेनाकृतार्थाः असमापित भोगाभिलाषाः कृताः। विभो इति सम्बोधनं कुरूद्वहेतिवत् योज्यम् ॥१३॥

---

1 M Ma यत्रोत 2 H v सम्नृप 3 H V च 4 A B J लोक 5 W omits धुन्धुहा 6 W नरक 7 W omits एव

राजवंशानुकीर्तनस्य तात्पर्यफलमाह-**कथा** इति। लोकेषु यशो विताय विस्तार्य, परेयुषां परलोकं प्राप्तानां, महीयसां माहात्म्ययुक्तानां इमाः कथाः ते तुभ्यं कथिताः विज्ञान वैराग्यविवक्षया विज्ञानं विषयाणामसारत्वज्ञानं ततो वैराग्यं तयोर्विवक्षया कथिता इति सम्बन्धः, तत्र हेतुत्वेन कथा विशिनष्टि - वचोविभूतिः व्यत्ययेन प्रथमार्थे द्वितीया वाग्वैभवविषयाः अनेन विशेषणेनाभिप्रेतं विशदयति, न तु पारमार्थ्यमिति, परमोऽर्थः पुरुषार्थः तस्य भावः पारमार्थ्यं तन्न तु नहीत्यर्थः। नह्योभिर्भुक्तेषु भोग्येषु पारमार्थ्यं अस्तीति भावः ॥१४॥

कस्तर्हि परमार्थोपाय इत्यत आह-**यस्त्विति**। सन्नीयते इत्यस्य सद्भिरित्यादिः। उत्तमश्लोकस्य भगवतो गुणाना मनुवादः स च अमङ्गलं संसृत्यापादक मशुभं कर्म हन्तीति तथा, तमेवमन्वहं तत्राप्यभीक्ष्णं श्रुणुयात् श्रवणप्रयोजनं दर्शयन्नधिकारिणं विशिनष्टि, कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः अमलामनन्यप्रयोजनां भक्तिमभीप्समानः कामयमानः, श्रवणपरम्परया भगवति दृढा भक्तिं विधयतीति भावः ॥१५॥

"तदा नन्दात्प्रभृत्येष कलिर्वृद्धिं गमिष्यति" (भाग.12-2-32) इत्युक्तम्। तत्रावसरप्राप्तनिरूपणानन्तरं के पुनस्ते कलिवृद्धिप्रयुक्तदोषाः? कश्च तन्निस्तरणोपायः? के पुनस्तद्युगा साधारणगुणाः? यावदेतच्चतुर्युगप्रवृत्तिस्ततः कथं वा प्रलयः? स च कतिविधः? इति पृच्छति राजा **केनेति** द्वाभ्याम्। हे भगवन्! कलौ युगे उपचितान् कलेर्दोषान् केनोपयेन साधनेन विधमिष्यन्ति नाशयिष्यन्ति तत्साधनं मे मह्यं यथावत् ब्रूहि ॥१६॥

**विज०** तत्र कांश्चिन्नृपान् निर्दिशति - **पृथुरित्यादिना** ॥ ९-१२॥

एते मर्त्यशरीरधर्मिणः सर्वेप्यमर्त्यायां नित्यायां मयि विषये ममतां कृत्वा अकृतार्थाः असाधितपुरुषार्थाः कालेन बलिना कथावशेषाः कृताः, हि यस्मात्तस्मादमीषां अज्ञानमहो। अत आत्मजयेन भाव्यमित्यर्थः ॥१३॥

निगमयति - **कथा** इति। लोकेषु यशो विताय विस्तृत्य, परेयुषां लोकं प्राप्तानां महीयसां मन्वादीनां उत्तमानां पुरुषाणामिमाः कथास्ते कथिताः मयेति शेषः। किमर्थं कथिता इति तत्राह - विज्ञानेति। वचोविभूतिः वचसां विभूतयो विविधभवनविषया वा। विज्ञानवैराग्यविवक्षया योग्यस्य पुंसो विज्ञानवैराग्ये स्यातामित्यभिप्रेत्य विवृताः न तु पारमार्थ्ये परमार्थ उत्तमार्थो वेदमुख्यार्थो भगवांस्तत् सम्बन्धविवक्षया नैव तस्य विधिनिषेधाविषयत्वात् विज्ञानविवक्षया अपि मदुक्त एव ग्राह्यो

1 W omits फल°. 2 W °स्तृत्य. 3 W omits कथा 4 AB omit अस्ति 5 W पारमार्थ्योपाय. 6 AB omit प्राप्त 7 W निस्तारोपा°. 8 W omits राजा. 9 B M Ma °मार्थ्यं

नान्योक्त इत्याह वचोविभूतीरिति। अन्यवाचो विभूतयो वचसां बहुत्वान्न पारमार्थ्यमुत्तमपुरुषार्थसाधनज्ञानमुद्दिश्य न भवन्तीत्यर्थः। "वाचो विम्लापनं हि तत्" इति श्रुतेः ॥१४॥

कुत इतरा वाचोविभूतयः पुरुषार्थोपयोगिन्यो न स्युरित्यत आह - **यत्रेति**। यत्र यस्यां वाचि उत्तमश्लोकगुणानुवादः सन्नीयते पुरुषस्तामेव वाचं श्रुणुयात् श्रुणोत्वित्यर्थः। श्री हरिभक्त्यनुत्पादकत्वादितरा वाचो हेया इत्यर्थः "अन्या वाचो विमुञ्चथ" इति श्रुतेः ॥१५॥

ज्ञातकलिदोषपरिहारोऽपि राजा लोकोपकाराय पृच्छति - **केनेति**। कलेरुत्पन्नान् दोषान् **विधमिष्यन्ति** परिहरिष्यन्ति। उपचितान् समृद्धान्, तदुपायस्वरूपं यथा यथावत् ॥१६॥

**युगानि युगधर्मांश्च मानं प्रलयकल्पयोः ।**
**कालस्येश्वररूपस्य गतिं विष्णोर्महात्मनः ॥१७॥**

**श्रीशुक उवाच**

**कृते प्रवर्तते धर्मः चतुष्पात्तज्जनैर्धृतः।**
**सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप! ॥१८॥**

**सन्तुष्टाः करुणा मैत्राः शान्ता दान्तास्तितिक्षवः ।**
**आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणा जनाः ॥१९॥**

**त्रेतायां धर्मपादानां तुर्यांशो हीयते शनैः।**
**अधर्मपादैरनृतहिंसासन्तोषविग्रहैः ॥२०॥**

**तदा क्रिया तपोनिष्ठा नातिहिंस्रा न लम्पटाः ।**
**त्रैवर्गिकास्त्रयीवृद्धा वर्णा ब्रह्मोत्तरा नृप! ॥२१॥**

**तपस्सत्यदयादानेष्वर्धं ह्रसति द्वापरे ।**
**हिंसातुष्ट्यनृतद्वेषैर्धर्मस्याधर्मलक्षणैः ॥२२॥**

**यशस्विनो महाशीलाः स्वाध्यायाध्ययने रताः ।**
**आढ्याः कुटुम्बिनो दृप्ता वर्णाः क्षत्रद्विजोत्तमाः ॥२३॥**

---

1 M Ma 'तात्, 2 H V जनैः, 3 M Ma नृपाः, 4 A B G J M Ma दृप्ता 5 A B G H J V ग

**कलौ तु धर्महेतूनां तुर्यांशोऽधर्महेतुभिः।**
**एधमानैः क्षीयमाणो ह्यन्ते सोऽपि विनङ्क्ष्यति ॥२४॥**

**श्रीध०** कलियुगे कः परो धर्म इति बुभुत्सया पृच्छति - **युगानीति**। ब्रूहीत्यनुषंगः। आत्यंतिकप्रलयजिज्ञासया पुनः पृच्छति प्रलयकल्पयोः संहारस्थितिकालयोः न चायं बहिर्मुख प्रश्न इत्याह - कालस्येति ॥१७॥

तत्र युगधर्मास्तावदाह - **कृत** इति। तज्जनैः तद्युगवर्तिभि जनैः। दानं अरागद्वेषतयाऽभयदानम्। तदेव प्रथमस्कन्धे शौचशब्देनोक्तम्। विभोः सम्पूर्णस्य धर्मस्य ॥१८॥

तदानीन्तनजनानाह - **सन्तुष्टा** इति। मैत्रा भूतमैत्रीयुक्ताः। श्रमणा आत्मज्ञानाभ्यासवन्तः ॥१९॥

**त्रेतायामिति**। अनृतेन सत्यं, हिंसया दया, असन्तोषेण तपः, विग्रहेण दानमिति यथायोग्यं योज्यम् ॥२०॥

**तदेति**। ब्रह्मोत्तराः ब्राह्मणादिकाः ॥२१॥

**तप** इति। हिंसाऽनुष्ठ्यनृत द्वेषैरित्ययं क्रमो न विवक्षितः। धर्मस्यार्धं ह्रसति क्षीयते। अधर्मस्य लक्षणैश्चिह्नैः पादैरित्यर्थः ॥२१॥

**यशस्विन** इति। यशस्विनः कीर्तिप्रियाः। क्षत्रद्विजोत्तराः क्षत्रियब्राह्मणप्रधानाः ॥२३॥

**कलाविति**। कलौ धर्मपादानां तुर्यांशः चतुर्थांशोऽवशिष्यते ॥२४॥

**वीर०** प्रलयस्य मानं वैविध्यं, मानं विशिनष्टि - **कालस्येति**। ईश्वरस्य रूपं शरीरं तस्य कालस्य गतिं प्रवृत्तिं ब्रूहीति सम्बन्धः महात्मन इति अस्य शेषणसामर्थ्यादीश्वरस्यैव विशेषणम् ॥१७॥

तत्र तावद्युगधर्मानाह - **कृत** इत्यादिना यन्नामधेयमित्यतः प्राक्तनेन। चत्वारः पादाः यस्य स चतुष्पाद्धर्मः, तज्जनैः कृतयुगजनैः धृतः प्रवर्त्तते, के पुनस्ते पादाः इत्यत आह - सत्यमिति। हे नृप! विभोः पूर्णस्य धर्मस्य ॥१८॥

कार्तयुगान् जनान् वर्णयति - **सन्तुष्टा** इति। अस्य दैवाल्लब्धेनेत्यादिः। करुणाः परदुःखनिराचिकीर्षवः भूतमैत्रीयुक्ताः, तितिक्षवः द्वन्द्वसहिष्णवः, समदृशः जातिगुणादितारतम्यानादरेण सर्वस्य श्रीभगवदात्मकत्वदर्शनाः, श्रमणाः तपश्चर्यादिप्रयुक्त-कायक्लेशयुक्ताः, ननु सर्वेष्येवं विधाश्चेन्मुक्ता एव स्युरिति न युगान्तरप्रवृत्तिरित्याशङ्क्य व्यावृत्तये प्रायश इत्युक्तं एवं विधा इत्यर्थः ॥१९॥

**त्रेतायामिति**। अधर्मस्य पादैरनृतादिभिर्धर्मस्य पादानां तुर्यांशः शनै र्हीयते प्रतिपादं चतुर्थांशः क्षीयते, असन्तोषेति छेदः। विग्रहः भूतविरोधः क्रमेणैतैः सत्यादीनां तुरीयांशाः ह्रीयन्त इत्यर्थः ॥२०॥

---

1 H V पादाना, 2 M Ma पर्यासो 3 H V ये 4 H V कल्पयो 5-5 A B J तत्कालीनै 6 ABJ आत्माभ्यास 7 A B J सख्य 8 W स्य 9 W शङ्काल्या

तात्कालिकान् जनान् आह - **तदेति**। न लम्पटाः नातीव विषयलोलुपाः ब्रह्मोत्तरा ब्राह्मणाधिकाः त्रयीवृद्धाः वैदिककर्मवृद्धाः ॥२१॥

द्वापरे युगे अधर्मस्य लक्षणैश्चिह्नैः पादैरिति यावत्, हिंसादिभिश्चतुर्भिर्धर्मस्य पादेषु अर्धं अर्धं ह्रसति हिंसाऽतुष्ट्यनृतद्वैधैरिति क्रमो न विवक्षितः. अनृतेन सत्यं, हिंसया दया, असन्तोषेण तपः, विग्रहेण दानं, इति यथार्हं योज्यम् ॥२२॥

तादात्मिक जनानाह - **यशस्विन** इति। महाशीलाः महायज्ञानुष्ठानशीलाः, महाश्रोत्रियाः, क्षत्रद्विजोत्तमाः क्षत्रिय ब्राह्मणप्रधानाः ॥२३॥

**कलाविति**। एव मग्रेप्यनुक्तमप्यवगन्तव्यम्। धर्महेतूनां धर्मपादानां तुर्यांशः कलाववशिष्यते सोऽपि एधमानैः वर्धमानैः अधर्मस्य हेतुभिः पादैरहरहः क्षीयमाणोऽन्ते सावशेषं विनङ्क्ष्यति ॥२४॥

**विज०** कालस्य विष्णोर्गतिं गमनप्रकारं च ॥१७॥

सूचीकटाहन्यायेन युगधर्मस्वरूपमादौ वक्ति - **कृत** इति । तज्जनैः कृतयुगजनैः। के चत्वारः पादाः? इत्यत्राह - सत्यमिति। विभोः धर्मस्य ते पादाः ॥१८॥

तत्राश्रमिणां स्वभावमाह - **सन्तुष्टा** इति। समदृशः वस्तुयाथार्थ्यज्ञानिनः, करुणयन्तीति करुणा । आश्रमिण इत्यनेन भार्याद्यवियोगमाह - नित्यगृहस्था इत्यर्थः ॥१९॥

तुर्यांशश्चतुर्थांशो दानलक्षणः पादो हीयते ह्रसति। पादहानौ प्रतिपक्षमाह - अधर्मेति ॥२०॥

तदा त्रेतायां यज्ञादिक्रिया तपोनिष्ठा भवन्ति, न लम्पटाः विषयरागिणो न भवन्ति। त्रैवर्गिकाः त्रिवर्गसहिताः, त्रयीवृद्धाः वेदविद्यायां विशारदा, त्रैविद्या इत्यर्थः, ब्रह्मोत्तराः ब्राह्मणोत्तराः ब्राह्मणाधिका ॥२१॥

अधर्मलक्षणैः अधर्मस्वरूपपादैः हिंसातुष्ट्यनृतद्वैधैः हिंसातुष्ट्यनृतलक्षणद्वैधं द्वित्वं येषां ते तथा तैः। अतुष्टियुत मनृतम् अतुष्ट्यनृतं, धर्मस्य तपस्सत्यदयादानेषु पादेष्वर्धं ह्रसति, अनेन द्वापरशब्दो निरुक्तः ॥२२॥

महाशाला इत्यनेन यज्ञकर्तारः ॥२३॥

पर्यासो निरासः, सोऽपि सत्यलक्षणोऽपि धर्मो वा ॥२४॥

**तस्मिंल्लुब्धा दुराचारा निर्दयाः शुष्कवैरिणः।**
**दुर्भगा भूरितर्षाश्च शूद्रदाशोत्तराः प्रजाः ॥२५॥**

**सत्त्वं रजस्तम इति दृश्यन्ते पुरुषे गुणाः ।**
**कालसञ्चोदितास्ते वै परिवर्तन्त आत्मनि ॥२६॥**

1 A B add पादादिषु . 2-2 A B omit 3 M Ma दर्पाश्च 4 W जना

प्रभवन्ति[1] यदा सत्त्वे[2] मनो बुद्धीन्द्रियाणि च ।
तदा कृतयुगं विद्याज्ञाने तपसि यद् रुचिः ॥२७॥

यदा धर्मार्थकामेषु[3] भक्तिर्भवति[4] देहिनाम्[5] ।
तदा त्रेता रजोवृत्तिरिति जानीहि बुद्धिमन्[6] ॥२८॥

यदा लोभस्त्वसन्तोषो मानो दम्भोऽथ मत्सरः ।
कर्मणां चापि काम्यानां द्वापरं तद् रजस्तमः ॥२९॥

यदा मायाऽनृतं तन्द्रा निद्रा हिंसा विषादनम् ।
शोकमोहौ[7] भयं दैन्यं स कलिस्तामसः स्मृतः ॥३०॥

यस्मात् क्षुद्रदृशो मर्त्याः क्षुद्रभाग्या महाशनाः ।
कामिनो वित्तहीनाश्च स्वैरिण्यश्च स्त्रियोऽसतीः[8] ॥३१॥

दस्यूत्कृष्टा जनपदा वेदाः पाषण्डदूषिताः[9] ।
राजानश्च प्रजाभक्षाः शिश्नोदरपरा द्विजाः ॥३२॥

**श्रीध० तस्मिन्निति।** शूद्रदासोत्तराः शूद्रकैवर्तादिप्रधानाः ॥२५॥

युगानामेवम्भूतवैषम्ये कारणमाह - **सत्त्वमिति** पंचभिः ॥२६॥

**प्रभवन्तीति।** मनश्च बुद्धिश्चेंद्रियाणि च सत्त्वे यदा प्रभवन्ति अतिशयेन वर्तन्ते ॥२७॥

**यदेति।** यदा धर्मादिषु भक्तिः प्रीतिस्तदा रजोवृत्तिप्रधानं त्रेतायुगमिति जानीहि ॥२७॥

**यदेति।** काम्यानां कर्मणां विषये यदा प्रीतिः तत्तदा रजस्तमःप्रधानं द्वापरं जानीहि इति पूर्वेणानुषंगः[10-10] ॥२९॥

**यदेति।** विषादनं दुःखम् ॥३०॥

कलिदोषान् प्रपंचयति - **यस्मादित्यादिना।** यस्मात्कलेर्हेतोः क्षुद्रदृशो मन्दमतयः। क्षुद्रभाग्या अल्पभाग्याः। महाशना बह्वाहाराः वित्तहीना अपि कामिनश्च। स्वैरिण्यः पुंश्चल्यः असतीरसत्यः ॥३१॥

**दस्यिवति।** दस्यवः उत्कृष्टाः प्रचुरा येषु ते ॥३२॥

---

1 M Ma प्रसीदन्ति, 2 M Ma सत्वं, 3 M.Ma धर्मेषु कामेषु, H V कर्मसु कालेषु W कर्मसु काम्येषु, 4 M Ma 'र्यशसि, 5 W न, 6 M Ma 'त्त, 7 A.B.G J.M Ma शोको मोहो, 8 M Ma वृत्ति', 9 A B G J.M Ma 'स्व', 10- -10 H V. omit

**वीर०** जनानाह - **तस्मिन्नित्यादिना**। शुष्कवैरिणः निर्हेतुकवैरिणः, दुर्भगा भाग्यहीनाः, भूरिः तर्षा अर्थकामतृष्णा येषां ते शूद्रदाशोत्तरा जनाः शूद्रा दाशाः कैवर्तादयश्च ते उत्तराः प्रधाना येषां ते, प्रजा इत्यपि पाठः, यद्वा शुष्कवैरिण इति लिङ्गव्यत्यय आर्षः ॥२५॥

किं तर्हि युगेष्वेवंविधवैषम्ये कारणमित्यपेक्षायां "कलौ कृतयुगं तस्य कलिस्तस्य कृते युगे। यस्य चेतसि गोविन्दो, हृदि यस्य न केशवः" इत्युक्तरीत्या कालानुगुणसत्त्वादिगुणोल्लासहासप्रयुक्तकार्यवैविध्यमेवेत्याह - **सत्त्वमिति** पञ्चभिः। दृश्यन्तां ततः किमत आह - कालसञ्चोदिता इति। ते वै सत्त्वादयो गुणाः कालेन सञ्चोदिताह्वा आत्मनि परिवर्तन्ते सोल्लासाभ्यां मनसि स्व स्व कार्यकराः प्रवर्तन्ते इत्यर्थः ॥२६॥

तत्र मनश्च तद्वश्यानि बुद्धीन्द्रियाणि च यदा सत्त्वे प्रभवन्ति अतिशयेन वर्तन्ते उद्रिक्तसत्त्वप्रधाना भवन्तीत्यर्थः। तदा कृतयुगं विद्यात् जानीयात्, यद्यतः सत्त्वोल्लासकार्ये ज्ञाने तपसि च कार्तयुगधर्मे रुचिः, कार्यविशेषेणैव कालविशेषानुमानमिति भावः ॥२७॥

**यदा कर्मस्विति**। भक्तिः अभिरुचिः तदा रजोवृत्तिप्रधानं त्रेतायुगमिति जानीहि । बुद्धिमन्निति सम्बोधनम् ॥२८॥

**यदा लोभ** इति। मानो गर्वः स चोत्तमेष्ववमतिहेतुः चित्तविकारः कर्मणामिति विषयविषयिभावसम्बन्धे षष्ठी अनुषक्तेन भक्तिपदेन सम्बन्धः काम्यकर्मस्वभिरुचिरित्यर्थः। तत्तदा रजस्तमोवृत्तिप्रधानं द्वापरयुगं जानीहि इति पूर्वेण सम्बन्धः ॥२९॥

**यदेति**। माया कापट्यं, विषाद नं आन्तरं दुःखं, शोको बाह्यमश्रुविमोचनादिरूपं, दैन्यं कार्पण्यं, तदा तामसः केवलतमोगुणवृत्तिप्रधानः कलिः स्मृतः ॥३०॥

अथ कलिं विशिषंस्तद्दोषान् प्रपंचयति **यस्मादित्यादिना**। यस्मात् मर्त्याः वक्ष्यमाणविधाः स कलिरिति पूर्वेण सम्बन्धः। क्षुद्रदृशः मन्दमतयः, क्षुद्रभाग्या अल्पभाग्याः, असतीरसत्यः "दुःशीला कर्कशा चण्डी नित्यं कलहकारिणी" इत्युक्तविधाः ॥३१॥

जनपदाः देशवासिनः, दस्युभिः चोरादिभिः, उत्कृष्टाः उपद्रुताः प्रजाभक्षाः प्रजापीडनपराः, द्विजास्तु शिश्नोदर-पोषणपराः ॥३२॥

**विज०** शुष्कवैरिणः निष्प्रयोजनवैरिणः शूद्रदाशोत्तराः प्राधान्येन शूद्राणां दासाः ॥२५॥

सत्त्वादयो गुणा आत्मनि मनसि परिवर्तन्ते पर्यायेण वर्तन्ते ॥२६॥

कथं तत्राह - **प्रसीदतीति**। यदा सत्त्वं प्रसीदति तदा मन आदीनि प्रसन्नानि भवन्ति। लक्षणान्तरमाह ज्ञान इति। यद्यदा ज्ञानादिरुचिस्तदा कुत एतत्कल्प्यत इत्यत्राह - यदिति। मन आदिप्रसादेन ज्ञानाद्यभिरुचिर्ज्ञायत इति, यद्यस्मात्तत्तस्मात् इति ॥२७॥

देहिनां यदा, काम्यन्त इति कामाः तेषु कर्मसु यशसि च आपादनीयामिति स्नेहविशेषो भवति तदा बुद्धिमान्[1] रजोवृत्तिः त्रेतेति जानीत जानातु ॥२८॥

यदा आत्मनि लोभादयो दृश्यन्ते तदा रजस्तमः रजस्तमोगुणवृत्तियुतं द्वापरं जानातु ॥२९॥

यदा मायादयो दृश्यन्ते यत्र स कलि स्तामसः तमोगुणवृत्तिमानित्युपलक्ष्यते। विषादनं विषण्णता ॥३०॥

यस्मात् कलिदोषात् क्षुद्रदृशः अल्पज्ञानाः लोकोपद्रवकर्मज्ञाना वा। वृत्तिहीना जीवनोपायरहिताः। असतीरसत्यः ॥३१॥

दस्युत्कृष्टाः दस्युपद्रुताः "कृष-हिंसायां" इति धातुः ॥३२॥

अव्रता वटवोऽशौचा भिक्षवश्च कुटुम्बिनः।
तपस्विनो ग्रामवासा न्यसिनोऽत्यर्थलोलुपाः ॥३३॥

ह्रस्वकाया महाहारा भूर्यपत्या गतह्रियः।
शश्वत्कटुकभाषिण्यश्चौर्यमायोरुसाहसाः ॥३४॥

पणयिष्यन्ति वै क्षुद्राः किराटाः कूटकारिणः।
अनापद्यपि मन्यन्ते वार्तां साधुजुगुप्सिताम् ॥३५॥

पतिं त्यक्ष्यन्ति निर्द्रव्यं भृत्या अप्यखिलोत्तमम्।
भृत्यं विपन्नं पतयः कौलं गाश्चापयस्विनीः ॥३६॥

पितृभ्रातृस्वसृज्ञातीन् हित्वा सौरतसौहृदाः।
ननान्दृश्यालसंवादा दीनाः स्त्रैणाः कलौ नराः ॥३७॥

शूद्राः प्रतिग्रहीष्यन्ति तपोवेषोपजीविनः।
धर्मं वक्ष्यन्त्यधर्मज्ञा अधिरुह्योत्तमासनम् ॥३८॥

नित्यमुद्विग्नमनसो दुर्भिक्षकरकर्शिताः।
निरन्ने भूतले राजन्ननावृष्टिभयातुराः ॥३९॥

वासोऽन्नपानशयनव्यवायस्नानभूषणैः।
हीनाः पिशाचसन्दर्शा भविष्यन्ति कलौ प्रजाः ॥४०॥

---

1 W ह्यर्थ, 2 H V स्त्रिय ब, 3 M Ma 'टान्, 4 H V माविन, 5 A B G J M Ma मन्यन्ते, 6-6 A B G J W पितृभ्रातृसुहृज्ज्ञातीन्, 7 M Ma श्वशुरश्याल, W ननन्दाश्याल, 8 W विशोष, 9 H V भय

**श्रीध० अव्रता इति** । अव्रता विहिताचारशून्याः, अशौचाः शौचशून्याश्च वटवो ब्रह्मचारिणो भविष्यन्ति। कुटुंबिनश्च गृहस्थाः स्वयं भिक्षाटनपरा भविष्यन्ति, न तु भिक्षां दास्यन्ति। तपस्विनो वनस्थाः वनं हित्वा ग्रामवासा भविष्यन्ति। न्यासिनो यतयोऽतीवार्थलोलुपा भविष्यन्ति ॥३३॥

पुनरपि स्त्रीणां स्वभावमाह - **ह्रस्वकाया** इति। कटुकभाषिण्यः अप्रियवादिन्यः । चौर्यं च माया च कपटमुरुच साहसं यासां ताः ॥३४॥

किं च **पणयिष्यन्तीति**। किराटा वणिजः। पणयिष्यन्ति क्रयविक्रयादिव्यवहारं प्रवर्तयिष्यन्ति। किं च सर्वे जनाः अनापद्यपि जुगुप्सितां निंदितां वार्तां वृत्तिं साधु मन्यन्ते ॥३५॥

**पतिमिति**। सर्वोत्तममपि पतिं द्रव्यहीनं भृत्यास्त्यक्ष्यन्ति पतयश्च विपन्नं रोगादिभिर्व्यापारक्षमं कौलं कुलपरम्परायातं त्यक्ष्यंति। अपयस्विनीः दुग्धदोहाः ॥३६॥

**पित्रिति**। पितृभ्रात्रादीन् हित्वा सौरतं सुरतनिमित्तं सौहृदं येषां ते। अत एव ननान्दरोऽत्र भार्याभगिन्यः श्यालाः भार्याभ्रातरस्तैः संवादो मन्त्रालोचनं येषां ते। ननन्दृ इति वा पाठः ॥३७-३९॥

**वास** इति। पिशाचसंदर्शाः पिशाचवत् दृश्याः ॥४०॥

**वीर** । वटवो ब्रह्मचर्याश्रमिणः, अव्रताः स्वाश्रमोचितव्रतहीनाः, अशौचाः शौचहीनाश्च, भविष्यन्ति। कुटुम्बिनो गृहस्थाः, भिक्षवः भिक्षाटनपरा, तपस्विनो वानप्रस्थाः ग्रामो वासो येषां ते। वामशब्दोऽधिकरणघञ्प्यन्तः, न्यासिनः तुर्याश्रमिणः, अर्थलोलुपाः वित्ताभिलाषिण इत्यर्थः ॥३३॥

पुनरपि स्त्रीणां स्वभावमाह - ह्रस्वकायाः अल्पपरिमाणाः, भूरीण्यपत्यानि यासां ताः। त्यक्तलज्जाः कटुकभाषिण्यः अप्रियवादिन्यः चौर्यं च माया कापट्यं च उरु साहसञ्चेति द्वन्द्वः ततो मत्वर्थीयोऽच् ॥३४॥

किराटाः वणिजः संहत्य व्यापारिणः पणयिष्यन्ति क्रयविक्रयादिव्यापारं प्रवर्तयिष्यन्ति क्षुद्राः मतिं व्यत्यासे क्षुद्रचेष्टा भवन्ति किञ्च अनापद्यपि जुगुप्सितां निन्दितां वृत्तिं साधु मन्यन्ते ॥३५॥

अखिलोत्तमं सर्वोत्तममपि पतिं स्वामिनं भृत्यास्त्यक्ष्यन्ति तथा पतयोऽपि भृत्यं विपन्नं रोगादिभिर्व्यापारक्षमं त्यक्ष्यन्ति, कौलं कुलपरम्परागतं महाभागवतं धर्मं गाश्चापयस्विनीः दुग्धदोहाः त्यक्ष्यन्ति इति सम्बन्धः ॥३६॥

1 A B J मन्यन्ते. 2- -2 A B J omit. 3- -3 H V omit 4- -4 A B J च मदृशा। 5 T W यन्ति

**पित्रिति**। सौरतं सुरतनिमित्तं सौहृदं येषां ते अत एव ननान्दरोऽत्र भार्याभगिन्यः श्याला भार्याभ्रातरश्च तैः संवादो मन्त्रालोचनं येषां ते कुतः? स्त्रैणाः स्त्रीवश्याः ॥३७॥

**शूद्रा** इति। तपोवेषेण उपजीवन्तीति तथा प्रतिग्रहीष्यन्ति तथा स्वयमधर्मज्ञा अपि उत्तमासनमधिरुह्य धर्मं वक्ष्यन्ति उपदेक्ष्यन्ति वेत्यर्थः। अत्राव्रता वटव इत्यनेनाश्रमिणां कलिकृतदोषसंकीर्तनं, सिंहावलोकनन्यायेन ह्रस्वकाया इति तत्कृतस्त्रीदोषकथनं, तत एकेन तत्कृतवर्णिदोषकीर्तनं, ततो द्वाभ्यां चातुर्वर्ण्यतद्दोषकथनं, तत एकेन शूद्रदोषकीर्तनं इति विभागः ॥३८॥

अथ चातुर्वर्ण्यासाधारणानृतकृतदोषानाह - **नित्यमिति** षड्भिः। उद्विग्नमनसः चञ्चलमानसाः भीतमानसा वा निरन्नेऽन्नरहिते दुर्भिक्षेण करेण स्वामिग्राह्यभागेन च कर्शिताः पीडिताः अनावृष्टिभयेनाप्यातुराः दुःखिताः ॥३९॥

**वास** इति। व्यवायो मैथुनं वास आदिभिर्हीनाः पिशाचसन्दर्शाः पिशाचसदृश्यः ॥४०॥

**विज०** वटवो ब्रह्मचारिणः, अव्रताः महाव्रतादिव्रतहीनाः अग्निकार्यादिव्रतहीना वा ॥३३॥

भूर्यपत्याः बहुसन्तानाः ॥३४॥

क्षुद्राः दरिद्राः किराटान् परिणतफलानि, पणयिष्यन्ति विक्रेष्यन्ति, कूटकारिणः धातुर्वादकरणशीलाः, वार्तां कुसीदादि वैश्यवृत्तिम् ॥३५॥

अखिलोत्तमं, कुलादिनेति शेषः। कौलं कुले विद्यमानं, विपन्नं आपदं प्राप्तं, भृत्यं पतयः त्यक्ष्यन्ति, अपयस्विनीः क्षीररहिता गाश्च, त्यक्ष्यन्तीति शेषः ॥३६॥

सौरते सुरतमन्त्रविषये, सौहृदं प्रेम येषां ते तथा। श्वशुरश्यालाभ्यां सह सम्यक् वादो येषां ते तथा ॥३७-३९॥

पिशाचवत्सन्दर्शो दर्शनं येषां तथा ॥४०॥

**कलौ काकणिकेऽप्यर्थे विगृह्य त्यक्तसौहृदाः ।**
**त्यक्ष्यन्ति हि प्रियान् प्राणान् हनिष्यन्ति स्वकानपि ॥४१॥**

**न रक्षिष्यन्ति मनुजाः स्थविरौ पितरावपि ।**
**पुत्रान् सर्वार्थकुशलान् क्षुद्राः शिश्नोदरम्भराः ॥४२॥**

1 AB नन. 2 TW omit इत्यर्थ . 3-3 TW omit . 4 AB टा . 5 ABGJMMa कि 6 ABGJ च 7 HV च रक्षन्ति 8 MMa पुत्री 9 HV भार्याश्च कुलजा . MMa भार्याश्च कुलजा . W भार्याश्च कुशला

कलौ न राजन्! जगतां परं गुरुं त्रिलोकनाथाऽऽनत पादपङ्कजम् ।
प्रायेण मर्त्या भगवन्तमच्युतं यक्ष्यन्ति पाषण्डविभिन्नचेतसः ॥४३॥

यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान् ।
विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः ॥४४॥

पुंसां कलिकृतान् दोषान् द्रव्यदेशात्मसम्भवान् ।
सर्वान् हरति चित्तस्थो भगवान् पुरुषोत्तमः ॥४५॥

श्रुतः सङ्कीर्तितो ध्यातः पूजितश्चादृतोऽपि वा ।
नृणां धुनोति भगवान् हृत्स्थो जन्मायुताशुभम् ॥४६॥

यथा हेम्नि स्थितो वह्निर्दुर्वर्णं हन्ति धातुजम् ।
एवमात्मगतो विष्णुर्योगिनामशुभाशयम् ॥४७॥

विद्या तपःप्राणनिरोधमैत्री तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः ।
नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते ॥४८॥

**श्रीध० कलाविति**। कार्कणिके विंशतिवराटिकामात्रेऽप्यर्थे विषयभूते। विगृह्य वैरं कृत्वा ॥४१,४२॥

महान्तमनर्थं अन्याय्यश्चाह द्वाभ्यां, **कलाविति**। त्रिलोकनाथैर्गनतं नमस्कृत पादपङ्कजं पादपद्मं यस्य तम्। न यक्ष्यन्ति न पूजयिष्यन्ति। पाषण्डैर्विभिन्नमन्यथा कृतं चेतो येषां ते ॥४३॥

**यदिति**। विवशोऽपि गृणन् सन्। विमुक्ता कर्मरूपा अर्गला प्रतिबन्धा यस्य स ॥४४॥

तदेवं कलिदोषान् प्रपंच्य प्रस्तुतं तन्निस्तारोपायमाह - **पुंसामिति** षड्भिः । द्रव्यदेशात्मसम्भवान् द्रव्यं अन्नादि, देशः कीकटादि आत्मशब्देन इन्द्रियाणि तैः संभवो येषां तान्। चित्तस्थोऽन्तः स्फुरन् ॥४५,४६॥

अयमेवोपायो नान्य इति सदृष्टान्तमाह **यथेति**। धातुजं ताम्रादिसंश्लेषाज्जातं, हेम्नो दुर्वर्णं मालिन्यं तत्र स्थितो वह्निरेव हन्ति हरति, न तु तोयादि, एवं योगिनामपि विष्णुरेव, न तु योगादिकमित्यर्थः ॥४७॥

एतदेव विवृणोति। **विद्येति**। विद्या नानादेवतोपासना ॥४८॥

---

1 M Ma 'नाथ नत' 2 A G J M Ma 'ख' 3 H V ना 4 M Ma मर्त्य 5 ABJ 'कि 6 A B J omit अन्याय्य 7 A B J omit पादपद्म 8 A B J पाख 9-9 A B J द्रव्यदेशात्मभि 10 A B J 'चङ्गात 11 H V हाम्नि 12 H V omit हरति 13 ABJ omit नाना'

**वीर० कलाविति**। काकणिके वराटिकामात्रेऽप्यर्थे विषये विगृह्य विरोधं कृत्वाऽतः त्यक्तं सौहृदं यैः ते ॥४१॥

**नेति**। स्थविरौ वृद्धौ "पितृ वृद्धौ च मातापितरौ" इत्यादि शास्त्रार्थोल्लङ्घनं सूचितं सर्वार्थेषु कुशलानपि पुत्रान् न रक्षिष्यन्ति अपि तु तेभ्यो विभज्य वर्तिष्यन्ते इति भावः ॥४२॥

महान्तमनर्थमाह - **कलौ नेति** द्वाभ्याम्। हे राजन्! त्रैलोक्यनाथेन ब्रह्मणा आनतं नमस्कृतं पादपद्मं यस्य तं अच्युतं न यक्ष्यन्ति नागधयिष्यन्ति । तत्र हेतुः पाषण्डैर्विभिन्नमन्यथाकृतं चेतो येषां ते ॥४३॥

**यन्नामधेयमिति**। म्रियमाणाद्यन्यतमः पुमान् यस्य भगवतो नामधेयं गृणन् कीर्तयन् विमुक्ताः कर्मरूपा अर्गलाः प्रतिबन्धाः यस्य सः, उत्तमां गतिं मुक्तिं प्राप्नोति। तं भगवन्तं न यक्ष्यन्ति अत्रानुगे रोगादिपीडितः पतच्छब्देन पतितो विवक्षितः स्खलच्छब्देन स्ववर्णाश्रमाचारविधुरः तत्र म्रियमाणो मरणानन्तरमेवोत्तमां गतिं प्राप्नोति इतरेत्वाप्रयाणानुवृत्तेनेति भावः। यद्वा, आतुरगद्यन्यतमोऽपि म्रियमाणो गृणन् प्राप्नोतीति सम्बन्धः ॥४४॥

तदेव कलिदोषान् प्रपञ्च्य तन्निस्तारोपायमाह - **पुंसामिति** षड्भिः। द्रव्यदेशात्मभिः सम्भवो येषां तान्, तत्र द्रव्यदेशौ निषिद्धौ आत्मा विषयप्रवणं मनः, चित्तस्थः ध्यानेन चित्ते स्थिरीकृतः, हरति क्षपयति ॥४५॥

कथं चित्तस्थो भवतीत्यत आह **श्रुत** इति। श्रवणादिविषयः मनः हृत्स्थो भवति ततो जन्मायुतस्यापि अशुभं जन्मायुतार्जितमपि पापमित्यर्थः। धुनोति नाशयति ॥४६॥

तदेव दृष्टान्तेनोपपादयति - **यथेति**। धातुजं ताम्रादिसंश्लेषजातं हेम्नो दुर्वर्णं तत्र स्थितो वह्निर्हरति, एवं योगिनामात्मगतो मनसि स्थितो विष्णुरशुभाशयं हन्ति आशयो मनः तत्स्थं मालिन्यं हन्तीत्यर्थः ॥४७॥

इतोऽन्य उपायो नास्ति इत्याह **विद्येति**। यथा त्रिविधपरिच्छेदरहितेऽप्युपासकानुग्रहार्थं हृदिस्थे सति अन्तरात्मा मन अत्यन्तशुद्धिं लभते। तथा विद्यादिभिर्न लभते, तत्र विद्या शास्त्राध्ययनं, तपोऽनशनादि वर्णाश्रमधर्मो वा, प्राणनिरोधः प्राणजयः, मैत्री अहिंसा, व्रतं एकादशीव्रतादि, जप्यं मन्त्रजपः ॥४८॥

**विज०** विगृह्य विग्रहं वैरं कृत्वा, काकिणिके अर्थे अत्यल्पधनविषये ॥४१,४२॥

पाषण्डशास्त्रेणाद्वैतविषयेण विभिन्नचेतसः व्यामोहितचित्ताः ॥४३॥

किम्माहात्म्योऽयं भगवान् येन तद्यजनं सप्रयोजनं स्यादिति तत्राह - **यन्नामधेयमिति**। विमुक्त कर्मलक्षणमर्गलं तालकीलं यस्य स तथा, विध्वस्तकर्मबन्धन इत्यर्थः ॥४४॥

केनोपायेनेत्यादिना पृष्टं परिहर्तुमाह - **पुंसामित्यादिना**। द्रव्यदेशात्मसम्भवान् द्रव्यदेशस्वभावोद्भूतान् किमपि नावशिष्यतेऽतः सर्वमित्युक्तम् ॥४५॥

1 A B किं 2 A B भोक्ष 3 T W पद्मज 4 T W omit मुक्ति 5 A B दुता 6-6 T W omit 7-7 A B धातुस्नाग्रादि तत्सम्लेष 8 M Ma रख

चित्तस्थितिभावे नानासाधनमाह - **श्रुत** इत्यादिना। अशुभं इत्युपलक्षणं प्रथमकर्मभोगायतनप्रारम्भप्रभृतिसम्पादिता-शुभमित्यर्थः ॥४६॥

मन्दाधिकारिणः क्षिप्रप्रवृत्त्यर्थं सदृष्टान्तमाह - **यथेति**। शास्त्रोक्ता अष्टादशदोषा दुर्वर्णमित्यनेन गृह्यन्ते। धातुजं गैरिकसमुद्भवं वा। आत्मगतः चित्तगतः, अशुभाशयं पापराशिं पापसंपृक्तजडमनो वा ॥४७॥

विद्यादिनाऽन्तःकरणशुद्ध्या श्रेयः स्यान्किंचित्तत्स्थेन हरिणेति तत्राह - **विशेत्यादिना**। प्राणनिरोधः प्राणायामः, अन्तरात्मा अन्तःकरणं, हृदिस्थे सति ॥४८॥

**तस्मात् सर्वात्मना राजन्! हृदिस्थं कुरु केशवम् ।**
**म्रियमाणो ह्यवहित स्ततो याति परां गतिम् ॥४९॥**

**म्रियमाणैरभिध्येयो भगवान् परमेश्वरः ।**
**आत्मभावं नयत्यङ्ग सर्वात्मा सर्वसम्भवः ॥५०॥**

**कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः ।**
**कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत् ॥५१॥**

**कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।**
**द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥५२॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्या अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्याया पारमहंस्यां संहितायां
द्वादशस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

**श्रीध० म्रियमाणैरिति** आत्मभावं स्वस्वरूपम् ॥४९-५०॥

इदानीं कलिं स्तौति द्वाभ्याम् **कलेर्दोषनिधे राजन्निति** ॥५१॥

**कृत** इति। तत्सर्वं हरिकीर्तनादेव कलौ भवति नान्यस्मिन् युगे। उक्तं च "ध्यायन् कृते, यजन्यज्ञै त्रेतायां, द्वापरेऽर्चयन्। यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्" (विष्णु. पु.6.2-12) इति ॥५२॥

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

---

1 HV "णोऽव्यव" 2 ABGJMMa यामि 3 HV ध्यात 4 HV योगाद्या 5 ABGJW मन्त्रय 6 ABGJ मन्त्र 7 -7 HV omit

**वीर०** उपायोपदेशमुपसंहरति - **तस्मादिति**। हि यस्मात्ततो हृद्यवस्थापनादवहितचित्तो म्रियमाणः परां गतिं याति तस्मात्त्वं हृदिस्थं केशवं कुरु इत्यर्थः ॥४९॥

इममेवार्थं दृढीकर्तुं पुनरप्याह - **म्रियमाणैरिति**। आत्मभाव मात्मस्वभावं साम्यापत्तिमित्यर्थः। "मद्भाव भावमापन्नः" इत्यादि शास्त्रैकार्थ्यात् तत्र हि प्रथमभावशब्दः स्वभाववाची अन्यथा द्वितीयभावशब्दानन्वयात् । अनेति सम्बोधनद्योतकम्। ब्रह्मभावं नयतीत्यत्र हेतुत्वेन तं विशिनष्टि सर्वात्मा सर्वेषामात्मनामात्मा आत्मनो हि शरीरं निरतशयप्रियमतस्तदृतमनर्थं दूरीकरोतीति भावः। अनेन प्राप्यत्वोपयुक्तनिरतिशयपुरुषार्थरूपत्वं चोक्तम्। आत्मा हि निरतिशयप्रीतिविषयः प्रापकत्वोपयुक्तं सौलभ्यमाह - सर्वसंश्रय इति। आत्मत्वादेव सर्वैः संश्रीयते इति संश्रयः स्वात्मा हि स्वस्मिन्नेव सुलभ इति भावः ॥५०॥

अथ बहुदोषाकरोऽयं कलिः सर्वथा भगवत्प्राप्तिं निरुन्ध्यात् इत्यभिप्रायमालक्ष्याह **कलेरिति**। दोषनिधेरपि कलेः कश्चिदनितरसाधारणो महान् गुणोऽस्ति, कोऽसौ? भगवतः कीर्तनादेव मुक्तबन्धः निरस्तप्राप्तिप्रतिबन्धकः परं परमपुरुषं व्रजे दित्यर्थः ॥५१॥

कृतादिषु ध्यानयागार्चनानां यत्फलं तत्सर्वं कलौ हरिकीर्तनादेव भवति कीर्तनं त्वत्र आप्रयाणानुवृत्तमित्यवगन्तव्यम्॥५२॥

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

**विज०** उपसंहरति - **तस्मादिति** ॥४९॥

आत्मभावं आत्मनि भक्तिं नयति प्रापयति सर्वमादत्त इति सर्वात्मा। सर्वस्य सम्भवो यस्मात्स सर्वसम्भवः ॥५०॥

कलिः केवलं न दोषाकर एवापि तु गुणापादकोऽपि भवति औषधोपचितद्रव्यवदित्याह **कलेरिति** ॥५१॥

ध्यानादिप्रधानसाधनमन्तरेण कीर्तनमात्रेण संसारबन्धनिर्मोकः कथमित्याशङ्क्य तत्तद्युगेषु भगवत्क्लृप्तत्वेन भगवत्क्लृप्तत्वेन युक्तमित्यभिप्रेत्याह - **कृत इति**। कृते यत्त त्स्यादित्यर्थः ॥५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
द्वादशस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

**(श्रीविजयध्वजतीर्थरीत्या तृतीयोऽध्यायः न समाप्तः)**

# चतुर्थोऽध्यायः

**श्रीशुक उवाच**

कालस्ते परमाण्वादिर्द्विपरार्धावधिर्नृप ।
कथितो युगमानं च शृणु कल्पलयावपि ॥१॥

चतुर्युगसहस्रं तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते ।
स कल्पो यत्र मनवः चतुर्दश विशांपते ॥२॥

तदन्ते प्रलयस्तावान् ब्राह्मी रात्रिरुदाहृता ।
त्रयो लोका इमे यत्र कल्पन्ते प्रलयाय हि ॥३॥

एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक् ।
शेतेऽनन्तासनो विश्वमात्मसात्कृत्य चात्मभूः ॥४॥

द्विपरार्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।
तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय हि ॥५॥

एष प्राकृतिको राजन् प्रलयो यत्र लीयते ।
अण्डकोशस्तु सङ्घातो विघात उपसादिते ॥६॥

पर्जन्यः शतवर्षाणि भूमौ राजन् न वर्षति ।
तदा निरन्ने ह्यन्योन्यं भक्षमाणाः क्षुधार्दिताः ॥७॥

क्षयं यास्यन्ति शनकैः कालेनोपद्रुताः प्रजाः ।
सामुद्रं दैहिकं भौमं रसं सांवर्तको रविः ।
रश्मिभिः पिबते घोरैः सर्वं नैव विमुञ्चति ॥८॥

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुर्थे तु चतुर्धोक्ता लया नैमित्तिकादय । तत्र संसारनिस्तारो हरिकीर्त्यैव वर्ण्यते ॥

---

1 M Ma "वध", 2 A B G J च 3 M Ma यद" 4 A B G J तत्र 5 H V "द" 6 A B G J [illegible] 7 A B G [illegible] 8 W [illegible]
9 H V तावन्त", 10 H V "रन्नाह्य" W "रन्नैर" 11 H V W भक्ष्य" 12 H V सत्कालोप"

**कलिदोषनिवर्तकं** हरिनाममंकीर्तनादिकं, स एव च कलौ परमो धर्म इति प्रश्नद्वयस्योत्तरमुक्तम्। यच्चान्यत्पृष्टं **प्रलयकल्पयोर्मानं ब्रूहीति**, तदिदानीं तृतीयस्कन्धोक्तकालमानानुवादपूर्वकं निरूपयति - **काल** इति। "स कालः परमाणुर्वै यो **भुंक्ते परमाणुताम्**" (भाग.3-11-4) इत्यादिना कालः कथितः। "**चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम्। संख्यातानि सहस्राणि द्विगुणानि शतानि च**"। (भाग.3-11-19) इति युगमानं च कथितम् ॥१॥

तत्र कल्पमानमाह - **चतुर्युगेति**। यत्र चतुर्दश मनवः क्रमेण भवन्ति ॥२॥

प्रलयस्तु चतुर्विधः नैमित्तिकः, प्राकृतिकः, आत्यन्तिको, नित्यश्चेति। तत्र **नैमित्तिकं** प्रलयं मानसहितमाह - **तदन्त** इति द्वाभ्याम्। चतुर्दशमनवः यत्र वर्तन्ते तावान् चतुर्युगसहस्रप्रमाणः। **सैव ब्राह्मी रात्रिः** ॥३॥

**एष इति**। नैमित्तिकत्वं दर्शयति। यत्र यदा विश्वसृट् श्रीनारायणो विश्वं आत्मसात्कृत्य स्वस्मिन्नुपसंहृत्य शेते। आत्मभूः ब्रह्मा च तस्मिन् शेते। तयोरभेदविवक्षया वा ब्रह्मण एवानन्तासनत्वमुक्तम्। ब्रह्मणो निद्रां निमित्तीकृत्य प्रवर्तमानो लोकत्रयप्रलयो नैमित्तिक इत्यर्थः ॥४॥

प्राकृतिकं प्रलयमाह द्वाभ्याम् - **द्विपरार्धं इति**। द्विपरार्धे तु ब्रह्मण आयुषि अतिक्रान्ते सति समप्रकृतयो महदहंकारपञ्च तन्मात्राणि ॥५॥

**एष इति**। सङ्घाते महदादिकार्यभूत प्रकृतीनां तत्कार्यब्रह्माण्डस्य च प्रलयात् प्राकृतिक इत्यर्थः। विघाते विघातकारणे उपसादिते कालेन प्रापिते सति ॥६॥

तदेवाह - **पर्जन्य** इत्यादिना, बुद्धीन्द्रियार्थरूपेणेत्यत प्राक्तनेन ग्रन्थेन ॥७॥

**सामुद्रमिति**। सामुद्रादिकं सर्वं रसं रविः पिबते, आकर्षति न पुनः प्रयच्छत्येव ॥८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ यत्पृष्टं प्रलयकल्पयोर्मानं ब्रूहीति तत्तृतीयस्कन्धोक्तकालस्वरूपानुवादपूर्वकं निरूपयितुमारभते - **काल** इति। ते तुभ्यं, कथित इति सम्बन्धः। परमाणुः आदिर्यस्य, द्विपरार्द्धमवधिरुत्तरावधिर्यस्य सः कालः कथितः। "स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम्" (भाग.३-११-४) इत्यादिना कथितः तथा "चत्वारि त्रीणि, द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम्। सङ्ख्यातानि

---

1--1 A B J omit 2 A B J वि 3 H V omit वो 4--4 A B J omit 5 H V omit प्र 6--6 A B J omit 7--7 A B J omit

सहस्राणि द्विगुणानि शतानि च" इति (भाग 3.11.19) युगमानं च कथितं इत्यर्थः। इदानीं कलालयावपि शृणु तयोर्मानं शृणु इत्यर्थः ॥१॥

अत्र तावत् कल्पमानमाह - **चतुर्युगसहस्रमिति**। कल्पो द्विविधः, दैनन्दिनो महांश्चेति। तत्राद्यो ब्रह्मणो दिनात्मक एव कल्प इत्यभिधीयते, तं विशिनष्टि - हे विशाम्पते। यत्र कल्पे चतुर्दशमनव क्रमेण भवन्ति, मन्वन्तरमानं तु "स्वं स्वं कालं मनुर्भङ्क्ते युगानामेकसप्ततिम्" (भाग.3.11.24) इति तृतीयस्कन्ध एवोक्तमप्यनुसन्धेयम् इति ॥२॥

प्रलयस्तु चतुर्विधः। नैमित्तिकः, प्राकृतिकः, आत्यन्तिको, नित्यश्चेति। तत्र नैमित्तिकं प्रलयं निरूपयति - **तदन्ते इति द्वाभ्याम्**। तदन्ते चतुर्युगसहस्रान्ते प्रलयस्तावान् चतुर्युगसहस्रपरिमाण सैव ब्राह्मी रात्रि, दिनान्ते चतुर्युगसहस्रान्ते निवृत्त जगद्व्यापारः चतुर्मुखश्शेते स नैमित्तिकः प्रलय इत्यर्थः। तदेवाह-त्रय इति। यत्र रात्रौ इमे भूरादयस्त्रयो लोका प्रलयाय कल्पन्ते प्रलीना भवन्तीत्यर्थः ॥३॥

**एष नैमित्तिकः** प्रलयः प्रोक्तः। तत्र नैमित्तिकशब्दस्य प्रवृत्तौ निमित्तमाह - **यत्र विश्वसृगिति**। विश्वसृज शयननिमित्तं कृत्वा तस्य प्रलयस्य नैमित्तिकत्वम्, कथम्भूत शेते? इत्यत्राह - अनन्त शेष आसनं शय्या यस्य स। विश्वमात्मसात्कृत्य आत्मगतं कृत्वा स्वस्मिन्नुपसंहृत्येति यावत्। अत्र विश्वसृगात्मभूशब्दयो चतुर्मुखपरत्वेऽपि तस्यानन्तशयत्वं प्रासादखट्वापर्यङ्कन्यायादुपपद्यते "कृष्ण नाभिह्रदोद्भूतकमलोदरशायन" इत्यनन्तशयनभगवन्नाभिपद्मशायित्वं ब्रह्मण स्मर्यते इति ॥४॥

एवं दैनन्दिनकल्प नैमित्तिकप्रलयश्च निरूपित। अथ महाकल्पं प्राकृतप्रलय च निरूपयति - **द्विपरार्ध इति**। द्विपरार्द्ध इत्यनेनायमेव महाकल्प इति सूचितम्। सप्तप्रकृतय महदहङ्कारौ भूतपञ्चकश्चेति सप्त। अय सप्तप्रकृतीना लयात्मकत्वात् प्राकृतिको लय इत्युच्यत इत्यर्थः ॥५॥

प्रकृतयः सप्त कथं लीयन्ते इत्यत्र तत्प्रकारं वक्तुं प्रस्तौति - यत्र लीयते इत्यादिना। विघाते विनाशनिमित्ते उपसादिते उपगते सति सङ्घातः प्रकृतिसप्तकसङ्घात परिणामरूपोऽण्डकोश यत्र प्राकृतिके प्रलये लीयते ॥६॥

कोऽसौ विघात इत्यत आह - **पर्जन्य** इति। अवर्षतीति सप्तम्यन्त शतवर्षाणि पर्जन्ये अवर्षति सतीत्यर्थ। निरग्नैरिति लिङ्गव्यत्यय आर्षः। अन्योन्यं भक्ष्यमाणा प्रजा एवमुपद्रुता कालेन शनै क्षय याम्यन्तीति सम्बन्ध। सामुद्रमिति समुद्रादिषु भवं रसं जलं, साम्वर्तको रविः प्रलयादित्य ॥७-८॥

---

1 W omits अपि. 2 W omits शेते

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भगवत्कटाक्षप्रेक्षणाक्षिप्तकल्पप्रलयप्रकारं तत्स्वरूपं भागवतप्रवृत्तिं च कथयत्यस्मिन्नध्याये तत्रादावुक्तमनूद्य वक्तव्यं प्रतिविधत्ते - काल इति कथितस्तृतीयस्कन्धे। अथ कल्पप्रलययोरपि कालाधीनत्वेन तस्त्वरूपश्रवणानन्तरम् ॥१॥

यत्र दिने ॥२॥

यस्य दिनस्यान्ते ब्राह्मी ब्रह्मसम्बन्धिनी यत्र रात्रौ ॥३॥

यत्र प्रलये आत्मसात्कृत्य आत्मनि निधाय ॥४॥

सप्त प्रकृतयः महादहङ्कारौ आकाशादिपञ्चभूतानि ॥५॥

यत्र प्रकृति प्रलये सङ्घातः चतुर्विंशतितत्त्वसमूहात्मकः, प्रलयप्रकारमाह - विघात इति। विघाते प्रलये उपसादिते आसन्ने सति ॥६-७॥

"कल द्रवणे" इति धातोः कालेन द्रवणहेतुना सामुद्रं समुद्रस्य विद्यमानं रसं जलं, दैहिकं देहस्य विद्यमानं रसं रेतो लक्षणं वीर्यं, भूमे रसं तिक्तादिलक्षणम् ॥८॥

ततः सांवर्तको वह्निः सङ्कर्षणमुखोत्थितः ।
दहन्निलवेगोत्थः शून्यान् भूविवरानथ ॥९॥

उपर्यधः समन्ताच्च शिखाभिर्वह्निसूर्ययोः ।
दह्यमानं विभात्यण्डं दग्धगोमयपिण्डवत् ॥१०॥

ततः प्रचण्डपवनो वर्षाणामधिकं शतम् ।
परः सांवर्तको वाति धूम्रं खं रजसाऽऽवृतम् ॥११॥

ततो मेघकुलान्यङ्ग चित्रवर्णान्यनेकशः ।
शतवर्षाणि वर्षन्ति नदन्ति रभसस्वनैः ॥१२॥

तत एकोदकं विश्वं ब्रह्माण्डविवरान्तरम् ।
तदा भूमेर्गन्धगुणं ग्रसन्त्याप उदप्लुवे ॥१३॥

---

1 A B G H J V स°, 2 H V °हत, 3 W °वै शु°, 4 H V स°, 5 A B G J शत°, 6 M Ma °स्वरै, 7 H V उदा°, M Ma उप°

ग्रस्तगन्धा तु पृथिवी प्रलयत्वाय कल्पते ।
अपां रसमयो तेजस्ता लीयन्तेऽथ नीरसाः ॥१४॥

ग्रसते तेजसो रूपं वायुस्तद्रहितं तदा ।
लीयेते चानिले तेजो वायोः खं ग्रसते गुणम् ॥१५॥

स वै विशति खं राजंस्ततश्च नभसो गुणम् ।
शब्दं ग्रसति भूतादिर्नभस्तमनुलीयते ॥१६॥

**श्रीध० तत** इति। अनिलवेगोत्थो वायुवेगोद्भूतः। अनिलवेगो वा इति पाठे अनिलेन वेगो यस्य सः। वाः रविणा रश्मिभिः पीतमुदकं च दहतीत्यर्थः। अनिलवेगो वै इति तु पाठः सुगमः। भूविवरान् पातालादीन्[1] शून्यान् रविणा दैहिकरसाकर्षणात् प्राणिरहितान्। शिखाभिर्ज्वालाभिः ॥९॥

**उपरीति**। शिखाभिर्ज्वालाभिः ॥१०॥

**तत** इति। किञ्चिदधिकं वर्षाणां शतम्। [3]सांवर्तकः [4]प्रलयहेतुकः परो वायुर्वाति तदा रजसाऽऽवृतं खं धूम्रं भवति ॥११॥

**तत इति**। रभसस्वनैः तीव्रगर्जितैः ॥१२॥

**तत** इति। [5]ब्रह्माण्डविवरान्तरं [5]ब्रह्माण्डविवरमध्यगतं विश्वमेकोदकमेकार्णवोदकव्याप्तं ॥१२॥ भवति उदाप्लवे उदकेना[6]ऽप्लाविते सति ॥१३॥

**ग्रस्तेति**। प्रलयत्वाय अभावाय ॥१४-१५॥

**स वै** इति। भूतादिः तामसोऽहङ्कारः ॥१६॥

**वीर०** दुस्सहैः रश्मिभिः पिबते न त्वधुनैव पीत्वा विमुञ्चतीत्यर्थः। **तत** इति। अनिलवेगोत्थः वायुवेगोत्थः प्रलयाग्निः। "अनिलवेगो वारिति" पाठे वार्जलं रविणा पीतावशिष्टोदकं च दहतीत्यर्थः। वै शब्दपाठस्तु सुगमः। अनिलेन वेगो यस्य स इति पाठद्वयेप्यर्थः। ततः शून्यान् [8]निर्लोकान् भूविवरान् पातालादीनि च दहतीति सम्बन्धः। इत्थमुपर्यध समन्ताच्च वह्निसूर्ययो[9]शिखाभिः ज्वालाभिः दह्यमानं ब्रह्माण्डं दग्धगोमयपिण्डवत् विभाति वर्तिष्यते। तत इति वर्षाणामधिकं शतं किञ्चिदधिकं वर्षाणां शतमित्यर्थः। प्रचण्डः [10]अतिनिष्ठुरः ॥९-११॥

---

1 H V रसं होरसे'. 2 H V 'वतेऽथा'. 3 B H J V सं'. 4 H V omit प्रलयहेतुक. 5-5 A B J omit. 6 A B J S प्लवे. 7 W omits।
8 A B त्रिलोकान्. 9 W omits ज्वालाभि 10 W omits अति

परः बलीयान् संवर्तकः प्रलयवायुर्वाति तदा रजसावृतं खमाकाशं धूम्रं भविष्यति। ततो मेघकुलानीति। अत्र हे राजन्! रभसम्वनैः तीव्रगर्जितैः, नदन्ति गर्जितानि करिष्यन्ति चेत्यर्थः। व्यत्ययेन तृतीया।ततो ब्रह्माण्डविवरमध्यगतं विश्वं एकोदकं एकार्णवोदकव्याप्तं भविष्यति। तदेत्थम् उदपप्ले उदकप्लवरूपे सति जगति भूमेर्गन्धगुणमापो ग्रसन्ते (न्ति) सोऽप्सु लीयते इत्यर्थः। ग्रस्तः गन्धो यस्याः सा पृथिवी प्रलयत्वाय अभावाय कल्पते।अपामिति अथोऽनन्तरमपां रसगुणं तेजो ग्रसतीति वचनविपरिणामेन अनुषक्तेन सम्बन्धः। अथ नीरसास्ता आपः लीयन्ते तेजसीति विभक्तिविपरिणामेन आवृत्तेन सम्बन्धः ॥१२-१४॥

ततस्तेजसो रूपं वायुर्ग्रसते,तदा तद्रहितं रूपरहितं तेजः वायौ लीयत इत्युत्तरेण सम्बन्धः। वायोर्गुणं स्पर्शं खमाकाशो ग्रसते ॥१५॥

स वै स्पर्शरहितो वायुः। हे राजन्! खमाकाशं विशति तत्र लीयत इत्यर्थः। ततश्च नभसो गुणं शब्दं भूतादिस्तामसाहङ्कारो ग्रसति। तदनु स्वगुणग्रसनानन्तरं तस्मिन् भूतादौ लीयत इत्यर्थः ॥१६॥

**विज० साम्वर्तकः**। प्रलयकालीनः ॥९॥

सत्त्वशून्यान् प्राणिरहितान् भूविवरान् पातालादीन् ॥१०-११॥

रजसावृतं खं धूम्रवर्णं न चित्रवर्णं न नीलादिनानाविधानि ॥१२॥

**ब्रह्माण्डविवरान्तरं** ब्रह्माण्डोबिलविशेषं ब्रह्माण्डबिलोदरं वा। एकोदकं उदकात्मकं भवति ॥१३॥

पञ्चभूतगुणलयप्रकारमाह - **तदेति**।

उपप्लवे प्रलये ॥१४॥

नीरसा आपः तद्रहितं रूपरहितम् ॥१५॥

तेजो वायौ लीयते स वायुः खं विशति तदनु शब्दगुणलयानन्तरं तैजसानीन्द्रियाणि तैजसाहङ्कारे लीयन्ते इति शेषः ॥१६॥

**तैजसानीन्द्रियाण्यङ्ग देवान् वैकारिको गुणैः।**
**महान् ग्रसत्यहङ्कारं गुणाः सत्त्वादयश्च तम् ॥१७॥**

---

1 W omits प्रलय 2-2 W omits 3-3 W omits 4 AB तदा 5-5 AB omit 6 ABGJW तदेति 7 MMa वा वै 8 HV कम् MMa का

**ग्रसतेऽव्याकृतं बीजं गुणान् कालेन चोदितम् ।**
**न यस्य कालावयवैः परिणामादयो गुणाः ॥१८॥**

**अनाद्यनन्तमव्यक्तं नित्यं कारणमव्ययम् ॥१९॥**

**न यत्र वाचो न मनो न सत्त्वं तमो रजो वा महदादयोऽमी।**
**न प्राणबुद्धीन्द्रियदेवता वा न सन्निवेशः खलु लोककल्पः ॥२०॥**

**श्रीध० तैजसानीति**। गुणै वृत्तिभि सह ॥१७॥

**ग्रसते** इति। अव्याकृतं प्रधानम् ।

तस्य तु लयो नास्तीत्याह। - **न तस्येति**। कालावयवै अहोरात्रादिभि । गुणा षड्भावविकारा । परिणामो विपरिणामः ॥१८॥

**अनादीति**। अव्यक्तमस्तित्वव्यक्तिविकारशून्यम् नित्य सर्वदा एकरूप ह्रासवृद्धिरहितमित्यर्थ । अव्ययमपक्षयशून्यम्। सर्वत्र हेतु - कारणमिति ॥१९॥

किञ्च वागादिगोचरस्य सविशेषस्य विकारा भवन्ति, इदं तु न तथेत्याह - **न यत्रेति** द्वाभ्याम्। लोककल्पो लोकरूप , सन्निवेशो रचनाविशेषो नास्ति ॥२०॥

**वीर० तैजसश्चेति**। चशब्द साहित्यद्योतक । राजसाहङ्कारसहित वैकारिक सात्त्विकाहङ्कार गुणैर्वृत्तिभिस्सह देवान् । इन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि ग्रसते । ततोऽहङ्कार त्रिविध, महान् ग्रसते, तत सत्त्वादयो गुणा त महान्त ग्रसन्ति, गुणा ग्रसन्तीत्युपचार गुणमयी प्रकृतिरेव महान्त ग्रसतीत्यर्थ ॥१७॥

**ग्रसत** इति। हे राजन्! कालेन चोदित अव्याकृत प्रधान गुणान् ग्रसति, विषमान् गुणान् समीकरोति समीकृतगुण भवतीति यावत्, तन्महदादिनामरूपविभागरहित गुणसाम्यावस्थं प्रधानमव्याकृतशब्देनाभिधीयते । ननु, तत् क लीयते? इत्यभिप्रायमालक्ष्य परस्मिन् देव एवेति वदन् तस्यापि क्वचिल्लयशङ्का वारयितु परमात्मस्वरूप शोधयति - न **यस्येति** त्रिभि । यच्छब्दस्य "तन्मूलभूत पदमामनन्ति" (भाग 12-4-21) इति तृतीयन सम्बन्ध । पदशब्देन अव्याकृतलयस्थान विवक्षित

1 A B G J W राजन् 6 A यस्य ति कुत्रचित्पाठ वीप्रगाधत स्वीकृत 2 H V क्रमेणी 3 ABJ omit षट् 4 ABJ omit र्यति. 5 H V ह्रास 6 H V omit नास्ति

अव्यक्तस्य लयो नाम अविभक्तनामरूपतया तमोवस्थापत्तिः यस्य परमात्मस्वरूपस्य कालावयवैः अहोरात्रादिभिः परिणामादयो गुणा न सन्ति परिणामशब्दो वृद्धेः पूर्वावस्थापरः। तत्र हेतुः - अनाद्यन्तं आद्यन्तरहितं अत एवाऽव्यक्तं व्यक्तैः इन्द्रियैः न व्यज्यत इति तथा। नित्यमित्यनाद्यन्तत्वस्यैव विवरणम्। यद्वा, स्वरूपतः स्वभावतश्च नित्यं कारणमव्यक्तादिपृथिव्यन्त जगत्कारणं, अनेन अव्यक्तलयस्थानत्वयोग्यत्वं सूच्यते, तथाप्यव्ययं कार्यगतैर्दोषैर्न व्येति न वैविध्यं गच्छतीति तथा ॥१८-१९॥

किञ्च, **न यत्रेति**। जायते वर्द्धते इत्यादिवाचः तद्गोचरं मनश्च यत्र न वर्तन्ते, यत्र स्वरूपे सत्त्वादयो न सन्ति सत्त्वादिशब्दैः साम्यवैषम्यावस्थं गुणत्रयं विवक्षितम्। अनेन गुणत्रयवश्यत्वव्युदासः। देवताशब्दो ज्ञानेन्द्रियपरः, इन्द्रियशब्दः कर्मेन्द्रियपरः, महदादयो न सन्तीत्यनेन कर्मायत्तमहदादि सङ्घातात्मकदेहसम्बन्धव्युदासः करणायत्तज्ञानवत्ताव्युदासो वा लोकाः कल्प्यन्ते यत्र स लोककल्पः, सन्निवेशः ब्रह्माण्डात्मकः यत्र नेत्यनेन सन्निवेशस्य परमात्मस्वरूपगतत्वव्युदासः। तस्य प्रकृतिस्वरूपगतत्वादिति भावः ॥२०॥

**विज०** वैकारिका देवाः वैकारिकाहङ्कारे स्वगुणैस्सह ॥१७॥

तं महान्तं बीजं व्यञ्जकं अव्याकृतं मूलप्रकृतिः कालेन हरिणा चोदितं प्रेरितं सत्त्वादिगुणान् ग्रसते मूलप्रकृतिस्वरूपं वक्ति - **न तस्येति**। तस्याव्यक्तस्य त्रुटिलवादिकालावयवैः परिणामादयो गुणा न सन्ति तदव्यक्तं मूलप्रकृतिविश्वसृजां कारणं आमनन्तीति शेषः इतरविशेषणं उक्तयोः सममित्याशयेनाह - **अनादीति** ॥१८-१९॥

कालेनेत्युक्तस्य हरेः स्वरूपं दर्शयति न यत्रेति। वागादयो यत्र कञ्चन विशेषं नापादयन्तीति शेषः ॥२०॥

**न स्वप्नजाग्रन्न च तत् सुषुप्तं न खं जलं भूरनिलोऽग्निरर्कः।**
**सुषुप्तवच्छून्यवदप्रतर्क्यं तन्मूलभूतं पदमामनन्ति ॥२१॥**

**लयः प्राकृतिको ह्येष पुरुषाव्यक्तयोर्यदा।**
**शक्तयः सम्प्रलीयन्ते विवशाः कालविद्रुताः ॥२२॥**

**बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण ज्ञानं भाति तदाश्रयम्।**
**दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्यामाद्यन्तवदवस्तु यत् ॥२३॥**

---

1 W omits इति भाव। 2 A B G J W ससु° 3 MMa अन्वयव्य° 4 W °स्मुक्त

**दीपश्चक्षुश्च रूपं च ज्योतिषो न पृथक् भवेत् ।**
**एवं धीः खानि मात्राश्च न स्युरन्यतमादृतात् ॥२४॥**

**श्रीध० नेति**। स्वप्नजाग्रत् स्वप्नजागरावस्था युक्तम् । सुषुप्तवत् इन्द्रियाद्यभावात्। शून्यसादृश्ये हेतुः। अप्रतर्क्यम्, न पुनः शून्यमेवेत्याह तदिति ॥२१॥

उपसंहरति लय इति। शक्तयः सत्त्वादय ॥२२॥

आत्यन्तिकं लयमाह - **बुद्धीन्द्रियेति** द्वादशभि.। आत्यन्तिकलयो नाम मोक्षः स च ब्रह्मज्ञानेन सर्वप्रपञ्चलयात्मकः। न च प्रपंचस्य आत्मवत्सत्यत्वे लयः सम्भवतीति ज्ञानरूपाद् ब्रह्मण पृथग्भूतस्य तस्याऽसत्यत्वमुपपादयति। बुद्धिश्च इन्द्रियाणि च आर्थाश्चेत्येवं ग्राहककरणग्राह्यरूपेण तेषामाश्रयभूतं ज्ञानमेव भाति न पृथक्। तत्र हेतुमाह । दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्यामिति। अतो यदाद्यन्तवत्तदवस्तु। अत्रैवं प्रयोगः विमतं सन्न भवति। दृश्यत्वात् कारणाव्यतिरेकात् आद्यन्तवत्वाच्च रज्जुसर्पादिवदिति ॥२३॥

तत्राव्यतिरेकं दृष्टान्तेन प्रपञ्चयति - **दीप** इति। दीपचक्षूरूपाणा तेजोविशेषाणां तेजसो यथा न व्यतिरेक स्तथा धीः कर्त्री खानि करणानि मात्रा विषयाः ऋताद् ब्रह्मण पृथङ् न स्यु ब्रह्मकार्यत्वात्। नन्वेवं कार्यकारणयोरभेदे कार्यासत्वे कारणस्याऽप्यसत्त्वं प्रसज्येत तत्राह अन्यतमादिति। कार्यत अन्यतमा दन्य-तव्यतिरिक्ताद् ब्रह्मण प्रपंचाद् ब्रह्मणोऽस्ति व्यतिरेकः, प्रपंचस्य तु ततो नास्ति व्यतिरेक इत्यर्थ ॥२४॥

**वीर० नेति**। स्वप्नजाग्रज्जीववत्स्वप्नजागरादिरूप सङ्कोचविकासार्हधर्मभूतज्ञानानाश्रयं नित्या सङ्कुचित ज्ञानाऽश्रयमिति यावत् न च तत् सुषुप्तं सुषुप्त्यवस्थारहितं स्वप्नादपि सुषुप्तौ अत्यन्तज्ञानसङ्कोच तद्रहितं चेत्यर्थ । न खं इत्यादिनाऽऽकाश - जलाग्निवाय्वर्कविजातीयत्वं विवक्षितम्। अनेन जडप्रकृतिविलक्षणत्वमुक्तम्। न यत्र वाचो न मनश्चेत्यादिना न च तत्सुषुप्तमित्यन्तेन जीववैजात्यमुक्तम्। इत्थं जीवजडाभ्यां विलक्षणं परमात्मस्वरूपं शोधितं किंबहुनेत्यभिप्रेत्याह - संसुप्त वच्छून्यवदप्रतर्क्यं यथा संसुप्तस्तद्वत्, शून्यशब्देनाकाशो विवक्षित , तद्वच्च संसुप्ते हि जीवे देहान्तरसंस्थितेऽपि बाह्याभ्यन्तर ब्राह्मणत्वादिविभाग सुख दुःखादिविकारानवभासः, आकाशस्य सर्वगतत्वेऽपि व्याप्यगतदोषास्पर्शश्च दृष्टः। एवं परमात्मस्वरूपमपि

---

1 M Ma 'रप्युत' 2 M Ma मावृतात् W मावृते 3 A 'ससुप्त' 4 A B J 'वाभा' 5 A B J omit नाम 6 H V सकल 7 H V अत्र 8 A B J सर्वो' 9 A B J omit अन्यतमात् 10 H V 'न्न 11-11 W omits 12-12 W 'णत्वसुख'

चिदचिदात्मकजगदन्तरात्मकतयाऽवस्थितमपि बाह्याभ्यन्तर विकारविधुरमाकाशवन्निर्मलज्ञेयर्थः। अप्रतर्क्यं जडजीवसजातीयत्वेन तर्कयितु मशक्यं तदेतन्मूलं सर्वकारणं परमात्मस्वरूपं पदमव्यक्त लयस्थानमामनन्ति, वेदान्ता इति शेषः। "महानव्यक्ते लीयते, अक्षरं तमसि लीयते, तमःपरे देव एकी भवति" (सुबा. उ.2.2) इत्याद्या वेदान्ताः उपपादित जडजीव वैजात्यस्याप्रतर्क्य-मित्युपसंहार इत्यतो न पौनरुक्त्यम् ॥२१॥

प्राकृतिकप्रलयनिरूपणमुपसंहरति - **लय** इति। यदा पुरुषाव्यक्तयोर्लयः यदा च शक्तयः पृथिव्यादिमहदन्ताः कालेन विद्रुता चालिता (चोदिता) स्वस्वकारणेषु प्रलीयन्ते, स एव प्राकृतिको लय इत्यर्थः। तत्र पुरुषस्य लयो नामात्यन्त ज्ञानसङ्कोचेन परमात्मसंश्लेषविशेषः। अव्यक्तस्य लयस्तु अविभक्ततमोऽवस्थापत्तिरूप इत्युक्त एव। लयो नामाविभक्तनामरूपतमोव-स्थाप्राप्तिरेवेति तदर्थः। शक्ति शब्देन पृथिव्यादिमर्वपदार्थानां परमात्मानं प्रति अपृथक् सिद्धविशेषणत्वं सूचितम्। कार्योपयुक्त मपृथक्सिद्धविशेषणं शक्ति ॥२२॥

एतदेव सुस्पष्टं प्रपञ्चयति - **बुद्धीन्द्रियार्थरूपेणेति**। ज्ञानशब्द परमात्मवाची "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" (तैत्ति उ. 2.1.1) इति प्रयोगात्। बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण बुद्ध्यादयो रूपं शरीरं यस्य तस्य भावस्तत् तथा बुद्ध्यादि सर्ववस्तुशरीरकतया एवेत्यर्थः। तदाश्रयं बुद्ध्यादिमर्ववस्त्वाश्रयं अनेन धारकत्व मुक्तं, पूर्वेण तु नियन्तृत्वं, नियाम्यं हि शरीरं भाति, प्रामाणिकानामिति शेषः। प्रामाणिकैस्तथा ज्ञायत इत्यर्थः। अत्र हेतुमाह - दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्यामिति। "यस्य चक्षुः शरीरम्" (बृह उ 3.7.18) इत्यादिप्रमाणैः परमात्मशरीरत्वेन ज्ञायमानत्वादत एव परमात्मानं विनाऽवस्थानायोगाच्च स एव तच्छरीरको भातीत्यर्थः। परशरीरत्वेऽपि शरीरशरीरिणोः स्वभावभेदमाह - आद्यन्तवदवस्तुवदिति। बुद्धीन्द्रियादिकं न परमात्मस्वरूपवन्नित्यमपितु आद्यन्तवत्, अत एव तदवस्तु, न वसत्येकरूपेणेत्यवस्तु सततपरिणामि ॥२३॥

**एवं** सर्ववस्तुशरीरकत्वादपृथग्भाव उक्तः। अथ विश्वशरीरकस्य तस्य कारणत्वादुपकारकत्वाद्धारकत्वाच्च अव्यतिरेकमाह - **दीप** इति। तेजः कार्यं हि दीपः, तेजोनुग्राह्यं चक्षुः, इन्द्रियाणि तेजः कारणभूताहङ्कारकार्याणि इति यस्याश्रितं रूपं तद्धर्मः, अतो दीपादेर्न तेजो हित्वाऽवस्थानं, दीपशब्दोपलक्षितं बुद्धिरूपान्तःकरणं बुद्धीन्द्रियार्थरूपेणेति पूर्वमुक्तत्वात्। एवं इन्द्रियान्तःकरणविषयाणां परमात्मसृष्टत्वात् तदनुग्राह्यत्वात् तदाश्रितत्वाच्च अन्यतमाद् बुद्ध्यादिभ्योऽपि विलक्षणतमात् ज्ञानशब्दवाच्यात् परमात्मन ऋते तेषां नावस्थानं इत्यर्थः ॥२४॥

**विज०** आकाशाद्यन्यतमवच्च न भवतीत्याह - **न स्वप्नेति**। "स वा एष आत्मा नेति नेति" इति श्रुतेः।

सुषुप्तवत्सुखरूपं सुखमस्वाप्समिति सुषुप्तिपदेन सुखं लक्ष्यते। शून्यवत्सूक्ष्मं अतएव अप्रतर्क्यं तर्कागोचरं मूलभूतं सर्वस्य प्रधानकारणं पद्यत इति पदं गम्यमित्यर्थः ॥२१॥

कालाख्यपरमात्मस्वरूपमुक्त्वा लयं निर्दिशति - लय इति। यदा यस्मिन् लये कालविद्रुताः कालेन समाप्तजीवनावधयः अतएव विवशाः हर्यधीनाः पुरुषाव्यक्तयो ब्रह्मप्रकृत्योः शक्तयः पृथिव्यादयः सम्प्रलीयन्ते एष लयः प्राकृतिको हि नामेति शेषः ॥२२॥

चराचरेऽवशिष्यमाणं किम्? तत्राह - बुद्धीति। तदा प्रलये आश्रयन्तेऽनेन चराचरेणेत्याश्रय प्रपञ्चाधारभूतं, ज्ञानं, नित्यनिर्दोषज्ञानात्मकं ब्रह्म बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण बुद्ध्या ज्ञानात्मिकया लक्ष्म्या ज्ञानहेतुत्वेन बुद्धिशब्दवाच्यया त्रय्या मुक्तश्रेण्या वा चक्षुरादीन्द्रियविषयसौन्दर्यातिशयेन भाति ज्योतीरूपेण वर्तते कथकारं वर्तत इति तत्राह - अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिति। प्रपञ्च सद्भावासद्भावाभ्यां कालाभ्यां वर्तत इति। यद्वा, बुद्धीन्द्रियात्मकदेहाकारेण "बुद्धिर्वान्मनोवान्" इत्यादि श्रुतेः। अनेन "सविदेव परितो विराजते" इति पूर्वाचार्यवचनात् ज्ञातृज्ञेयविवर्जितज्ञानमिति व्याख्यान प्रत्युक्त तादृक् ज्ञानस्य पाषाणकल्पत्वेन हेयत्वात् "नासदासीत्" (ऋक्. सं 10.129.1.) इतीतरवस्तुनिषेधात् धात्रादिसद्भाव कथमत्राह - आद्यन्तवदिति। यच्छरीरयोगवियोग-वत्तदवस्त्वस्वतन्त्रं यदादौ अन्ते च वर्तमानं लक्ष्म्यादि तत्त्वम् तदपि अस्वतन्त्रम् यदादिनिधनयुक्तं उत्पत्ति नाशवत्तद्वस्तुनो ब्रह्मणो व्यतिरिक्तं न भवति तदध्यस्तत्वेन तज्ज्ञाने लीयत इति यन्मत तदासुरम्। तदुक्तम् - जीवविष्ण्वोरभेदश्च देहयोगवियोजने। विष्णोर्दुःख व्रणित्वादिपराभावस्तथैव च ॥ अस्वातन्त्र्य च वेदादावुक्तश्चाप्रमत विभो । कचित्कचिद्विमोहाय दैत्यादीना दुरात्मनाम्॥ (ब्रह्माण्डे )इति ॥२३॥

एतमर्थं सोदाहरणमाह - दीप इति। दीपादिक ज्योतिष तेजस , तत्स्वातन्त्र्येण प्रकाशकं न भवेत् एवं बुध्यादिकमपि मारुतात् मुख्यप्राणादपि पृथक् ज्ञान जननशक्तिमन्न वायुना वै गौतमम्प्रेण "प्राणेन हीदम्" इत्यादि श्रुतेः। किमुत परब्रह्मण ? "एतस्माज्जायते प्राण आत्मन एव प्राणो जायते, ब्रह्मणो वा एतानि करणानि" इति श्रुतेः ॥२४॥

**बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरितिचोच्यते ।**
**मायामात्रमिदं राजन्[1] नानात्वं प्रत्यगात्मनि ॥२५॥**

---

1 MMa 'प्न' 2 MMa रोच्यते

**यथा जलधरा व्योम्नि भवन्ति न भवन्ति च ।**
**ब्रह्मणीदं तथा विश्वमवयव्युदयाप्ययात् ॥२६॥**

**सत्यं ह्यवयवाः प्रोक्ताः सर्वावयविनामिह ।**
**विनार्थेन प्रतीयेरन् पटस्येवाङ्ग तन्तवः ॥२७॥**

**यत् सामान्यविशेषाभ्यामुपलभ्येत स भ्रमः ।**
**अन्योन्यापाश्रयात् सर्वमाद्यन्तवदवस्तु यत् ॥२८॥**

**श्रीध०** यदा तु बुद्धेः असत्वं तदा तदवस्थानां सुतरामसत्त्वमित्याशयेनाह - **बुद्धेरिति**। ननु विश्वतैजस प्राज्ञाना मेव। एता अवस्था न बुद्धेरित्याशंक्यांह - **मायामात्रमिति**। इदं विश्वतैजसप्राज्ञरूपम् ॥२५॥

आद्यन्तवत्त्वात् इत्यस्य हेतोः असिद्धिमाशंक्य सावयवत्वेन साधयति । **यथेति**। अवयवीति यत्सावयवं तदात्यन्तवत् घटादिवदित्यर्थः। अत उदयाप्ययादाद्यन्तवत्त्वात् विश्वं सन्न भवतीत्यर्थः। यद्वा, पृथगेवागमापायित्वात् विश्वं मिथ्या। ब्रह्म तु तदवधित्वात् सत्यमित्यनेन साध्यते । दृष्टांतस्तु पूर्वोक्त एव। **रज्जु सर्पवदिति**। यथा जलधरा व्योम्नीति दृष्टान्तस्तु आगमापायावधित्वमात्रे न तु मिथ्यात्वे ॥२६॥

अन्यतमादृतादिति, प्रतिज्ञातं कारणस्य सत्यत्वमुपपादयति - **सत्यमिति**। अवयवः कारणं प्रोक्तः "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छन्दोग्य ३ ९ 6.1 4) इत्यादि श्रुतिभिः। अत्र युक्तिमपि दर्शयति। विनेति। अत्र हे राजन्! हि यस्मात् अर्थेन अवयविना विना पृथगेवावयवाः प्रतीयेरन्। यथा पटस्याऽवयवाः तन्तवः पटात्पृथक् प्रतीयन्ते तद्वदिति ॥२७॥

ननु कार्याभावे कारणत्वं ब्रह्मणः कुतो घटेत। सत्यम्। तदपि नातीव सत्यमित्याह - **यदिति**। सामान्यं कारणं, विशेषः कार्यं तद्रूपेणान्योन्यापाश्रयात् परस्परापेक्षत्वेन निरूपणानर्हत्वादित्यर्थः। अतः कारणत्वमवधित्वं व्यापकत्वमित्यादिकमपि यत्परापेक्षत्वाद्यन्तवत्तत्सर्वमवस्त्वित्यर्थः। यद्वा अत्रैव हेत्वन्तर मेवैतत्। यदुपलभ्येत स भ्रमः, सामान्यविशेषरूपत्वात् स्वप्नवत्। अन्योऽन्यापाश्रयादितीदमपि हेत्वंतरं गुणगुणिविशेषणविशेष्य व्याप्यव्यापकत्व विशेषाऽवधित्व कार्यकारणत्वा दिरूपेण परस्पराधीनसिद्धित्वात्। तथाभूतस्वप्नवदिति निगमनम्। अतो यदाद्यन्तवत्तत्सर्व मवस्त्विति ॥२८॥

1- -1 M Ma 'मुपयान्युदया व्ययम्। 2 M Ma एते 3- -3 ABGHJV 'व प्रोक्त 4 H M Ma V च 5 A B J omit एव 6- -6 A B J omit 7- -7 A B J पायि तदवधि' 8 A B J omit विना 9 A B J 'णामह' 10 A B J तत्रैव 11 A B J 'मेतत् 12 H V omit स्वप्नवत् 13 A B J omit विशेषेण 14 A B J omit व्याप्य 15- -15 A B J omit

वीर० एवं सर्वस्य परमात्मायत्तसत्तास्थितिप्रवृत्तिकत्वे स्थिते सति जीवगतावस्थानामपि तथात्वं सिद्धम्। तत्राधिकं विशेषमाह - बुद्धेरिति। अत्र बुद्धिशब्दो जीवात्मधर्मभूतज्ञानपरः। जीवस्य ज्ञानविकाससङ्कोचविशेषरूप जागराणादिकमवस्थानानात्वं प्रत्यगात्मनि जीवे मायामात्रं प्रकृतिसम्बन्धमात्रकृतमित्यर्थः ॥२५॥

एवंविधा दोषाः सर्वाधारमपि परमात्मानं न स्पृशन्तीत्याह - यद्येति। इदन्तया भासमानं प्रत्यक्षादिप्रमाणगम्यं विश्व मवयविनि ब्रह्मणि उदयाद्भवति तस्मिन्नेव लयान्न भवति च। शरीरभूतचिदचिद्गता विकाराः स्वरूपन्तु आकाशवत् निर्मलमिति भावः ॥२६॥

इत्थं जगतो ब्रह्मकार्यत्वाभिधानात्सत्कार्यवाद फलितः, तद्विरुद्धमसत्कार्यवाद निरस्यति - सत्यमिति। अवयविनामवयवाः तावत्सत्यं प्रोक्ताः अबाधिता व्यवह्रियन्त इत्यर्थः। अवयवी तु न तेभ्योऽतिरिक्त, अतिरिक्तत्वे तु पटावयविनः पृथगवयवा उपलभ्येरन्, न च तथोपलभ्यन्ते। न हि पटद्रव्यातिरेकेण तन्तव उपलभ्यन्त इत्यर्थः। तथा सच्छब्दवाच्यात् ब्रह्मणो न पृथग्भूतं जगद्रूपं कार्यमिति सत्कारणमेव जगदित्यर्थः। अत्रेति सम्बोधनद्योतकम्। अबाधित तन्त्वात्मकावयवसमुदाय एव व्यतिषक्तविशेषं गत पट इत्युच्यते, प्रतीयते च तत्र पटरूप कार्यं न तन्तुभ्योऽतिरिक्त, तथा प्रमाणप्रतिपन्नं चिदचिदीश्वरसमुदायात्मकं "सदेवेद सौम्येदम्" (छान्दो. 3.6.2.1) इत्यादिषु सच्छब्दवाच्यं जगद्रूपपरिणामविशेषमापन्नं कार्यमित्युच्यते प्रामाणिकै तथा तेषां प्रतीयते चातो नासत्कार्यत्वमिति भाव। अत्र "पटवच्च" (ब्र.सू. 2.1.19) इति सूत्रार्थः स्मारितः ॥२७॥

ननु, बुद्धिशब्दान्तरादिभिः कार्यकारणयोर्भेद एवेत्यसत्कार्यत्वमेवोचित मित्यत आह - यदिति घटशरावादिषु मृदयं घट इति सामानाधिकरण्येन प्रतीतिविषयं यत्सामान्यशब्देन मृदादिक कारण विवक्षितं, विशेषशब्देन घटशरावादिविशेषाकारो विवक्षितः। स च मृद्गतो विकारः, ताभ्यां यदन्यबुद्धिशब्दान्तरादिभिर्द्रव्यान्तरमुपलभ्यते। असत्कार्यवादिनां स भ्रमः कार्यस्य द्रव्यान्तरत्वोपलम्भो भ्रमात्मकः, कुतः? अन्योन्यापाश्रयत्वात्। सामान्यविशेषयोरेव परस्परमाधाराधेयभावेनाश्रितत्वात् सामान्यत स्तद्गतविकारापेक्षया द्रव्यान्तरस्य अनुपलम्भाद् बुद्धिशब्दान्तरादीना विकारनिबन्धनत्वेनापि उपपत्तेरिति भावः। एवं चिदचिदीश्वरसङ्घातस्य कार्यकारणोभयावस्थत्वं तयोरभेदश्चेति उपपादितम् असत्कार्य्यवादश्च प्रतिक्षिप्तः। अथ कार्यावस्थानामपि चिदचिदीश्वराणां मिथो व्यावृत्ताकारतां विवक्षुस्तावत् आत्मस्वरूपाद् देहस्य व्यावृत्ताकारमाह - सर्वमिति। यत्सर्वं शरीरमाद्यन्तवद्धेतु गर्भमिदम्। अतः अवस्तु अनात्मवस्त्वित्यर्थः ॥२८॥

---

1--1 W 'नम्।

**विज०** न स्वप्नेत्यत्र स्वप्नाद्यवस्था अपि न ब्रह्मण इत्युक्तम्। तर्हि कस्य ता इति तत्राह - **बुद्धेरिति**। बुधं ज्ञानं धीयतेऽस्मिन्निति बुद्धिर्जीवः तस्य जागरणादिकमुच्यते "सता सौम्य" (छान्दो. उ.6-8-1) इत्यादि श्रुतिसिद्धम् "अथ है तत्पुरुषः स्वपिति नामे"(बृ.उ. 2.1.17)च अनेन जाग्रदादीनां निरालम्बनतया मिथ्यात्वमपास्तम् ननु, सुषुप्त्याद्यवस्थावद्विश्वादीनामपि नानात्वं सत्यं स्यादिति तत्राह मायामात्रमिति। प्रत्यगात्मनि परमात्मनि स्थितं नानात्वं मायया स्वेच्छया मात्रं निर्मितं न्नातं न स्वाभाविकम् एतेन कृष्णरामादिरूपाणां मिथो मूलरूपेण भेदो निरस्तः। तदुक्तम् -

प्रत्येकं विष्णुरूपाणां भ्रान्तिमात्राभिदा मता। जगतश्चैव विष्णोस्तु सत्यो भेदः सदैव तु ॥

यथाकाशधनौ नित्यं भिन्नावेव परस्परम्। एवं मीशो जगच्चैव भिन्नावेव परस्परम् ॥ (तत्त्व संहितायाम्) इति ॥२५॥

नन्वेवं तर्हि जगद्ब्रह्मणोश्च भेदो न पारमार्थिकः स्यादित्यतः सोदाहरणं भेदस्य सत्यत्वं समर्थयते - **यथेति**। उदयाप्ययोर्मिथो विरुद्धधर्मत्वादेकत्वद्भाव । इदं विश्वं ब्रह्माधारतया सृष्टिसंहारौ याति गगनघनयोराधाराधेययो र्भेदो यथा सत्यस्तथा जगद्ब्रह्मणोरपीति एतदप्युक्तं यथाकाशघनावित्यादिना ॥२६॥

ननु, जगद्ब्रह्मणोरिवावयवावयविनामपि भेदः सन्नेव किं न स्यात् पटस्यामी तन्तव इति तत्प्रतीतेरिति? तत्राह - **एत** इति। सर्वेषामवयविनां महदादीनां ये अवयवाः प्रोक्ताः खादयः एतेऽर्थेन विना भेदव्यवहारमन्तरेण प्रतीयेरन् हि यस्मात्तस्मादभिन्ना इति शेष । कथमभेद ? इत्यत्राह - **पटस्येति**। पटस्यावयवाः तन्तवोऽवयविना पटेनाऽभिन्ना इति यथाङ्गीकर्तव्यम् । तन्तुः पटः मृद्घटः शुक्लः पट इत्याद्यभेदव्यवहार दर्शनात्। प्रत्येकं तन्तुना भेदेऽपि समुदायरूपेणाभेद इति प्रकटनाय तन्तव इति बहुवचनम्। अत एव -अवयव्यवयवाभेदात् कोट्यंशो भेद ईरितः। सोऽपि भेदो न चाभेदात्पृथगेव प्रवर्तते ॥ (तत्त्वसंहितायाम्)। इति वाक्यमत्र गृहीतं, अनेन कार्यकारणादीनां भेद इति मतमपास्तं, पटस्य तन्तव इति प्रयोगः पटस्य शौक्ल्यमितिव न्निष्कर्षणार्थः। सोऽपि श्रीहरिर्नियत इति न युक्तिविरोधः "अवयव्यवयवानान्तु कार्यकारणवस्तुनाम्। एक एव नियन्ताऽसौ हरि र्नारायणः परः" (तत्त्वसंहितायाम्) इति वाक्यादवगन्तव्यः ॥२७॥

नन्वेवं चेद् अवयविनि सति अवयवनाशे तस्याऽपि तदभेदः स्यादत्राह - **यदिति**। यावद् द्रव्यभाविसामान्यमित्युच्यते अयावद्द्रव्यभाविविशेषः इति तत्र यद्वस्तु नष्टावयवाभिन्नमित्युपलभ्येत सामान्यावयववत् स बुद्धेर्भ्रमः कुतः अन्योन्यापाश्रयात् विश्लेषात् तस्मादाद्यन्तवदवस्त्वेव यद्वा हनुमद् भीमांशानां वाय्वाद्यंशिनां सामान्यविशेषशक्ति दर्शनाद् कथमभेदः सम्भवेत्? इति तत्राह - **यदिति**। अन्योन्यापाश्रयात् अन्योन्याभेदविषयप्रमाणात्, असुरजनमोहाधिकृतत्वेन आद्यन्तवत्वात् अवस्तु सर्वमविद्यमानमेव ॥२८॥

**विकारः ख्यायमानोऽपि प्रत्यगात्मानमन्तरा।**
**न निरूप्योऽस्त्यणुरपि स्याच्चेच्चित्सम आत्मवत् ॥२९॥**

**न हि सत्यस्य नानात्वमविद्वान् यदि मन्यते ।**
**नानात्वं छिद्रयोर्यद्वज्ज्योतिषोर्वातयोरिव ॥३०॥**

**यथा हिरण्यं बहुधा समीयते नृभिः क्रियाभिर्व्यवहारवर्त्मसु ।**
**एवं वचोभिर्भगवानधोक्षजो व्याख्यायते लौकिकवैदिकैर्जनैः ॥३१॥**

**यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्कदर्शितो ह्यर्काशभूतस्य च चक्षुषस्तमः ।**
**एवं त्वहं ब्रह्मगुणस्तदीक्षितो ब्रह्मांशकस्यात्मन आत्मबन्धनः ॥३२॥**

**श्रीध०** तदेवमनेकैर्हेतुभिः प्रपंचस्यासत्त्वं प्रसाधितम्। अत्र शंका। ननु प्रपंचस्यापि प्रकाशमानत्वादात्मवत्सत्त्वं किं न स्यादिति तत्राह - **विकार इति**। ख्यायमानः प्रकाशमानोऽपि विकारः प्रपंचः प्रत्यगात्मप्रकाशं विनाऽणुमात्रोऽपि न निरूप्योऽस्ति। तं विना निरूप्यः स्यात्चेत्तर्हि सोऽपि चित्समः स्यात् चिद्रूपेणात्मना समः स्वप्रकाशो भवेत्। तथा च सति सोऽप्यात्मवत्स्यात्। एकरूपः स्यादित्यर्थः ॥२९॥

कुत इत्यत आह - **न हीति**। ननु सत्यस्याप्यात्मनो जीवब्रह्मरूपनानात्वमस्त्येव तत्राह । यद्येव नानात्वं मन्यते तर्ह्यविद्वान्। कथं तर्हि तयोर्भेदव्यवहारः उपाधिकृत इत्याह - नानात्वमिति। तत्तच्छिद्रयोर्घटाकाशमहाकाशयोरिवेति परिच्छेदापरिच्छेदे दृष्टांतः। ज्योतिषोराकाशजलस्थसूर्ययोरिवेत्युपाधिकृतविकारसदसद्भावे। वातयोर्बाह्यशरीरस्य वाय्वोरिवेति क्रियाभेदे ॥३०॥

ब्रह्मण एव प्रपंचव्यवहारालम्बनत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति - **यथेति**। क्रियाभिः तत्तद्रचनाभेदैः बहुधा कटककुंडलादिरूपेण। लौकिकवैदिकैर्वचोभिः । जनैरहंकारोपहतैः ॥३१॥

नन्वहंकारस्य कथं ब्रह्मस्वरूपावरणेन भेदव्यवहारहेतुत्वम्। तस्य स्वकारणभूतब्रह्मावरकत्वासंभवादावरणं वा स्वस्यापि प्रकाशासम्भवादित्याशंक्य सदृष्टान्तमाह - **यथेति**। अर्कोद्भव एव मेघरूपेण परिणतो वर्षति। "अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः" (मैत्र.३.६.३२) इत्यादिवचनात् तस्मादर्कप्रभवः । अर्केणैव दर्शितः प्रकाशितश्च। तमः स्वरूपभूतार्कदर्शनप्रतिबन्धको भवति अहमहंकारो, ब्रह्मगुणो ब्रह्मकार्यभूतः तदीक्षितस्तेनैव प्रकाशितश्चाऽऽत्मनो जीवस्यात्मबन्धनः ब्रह्मस्वरूपदर्शनप्रतिबन्धको भवति ॥३२॥

1--1 M Ma °द्या°, 2--2 MMa °त्मभ्रम आत्मन । 3 H M MaV °पि, 4 M Ma °वा 5 A B J omit प 6 A B J °त्र 7 A B J °
H V omit अपरिच्छेदे 9 A B J स्थयो मू 10 H V °वा

**वीर०** किञ्च न देहविकारा आत्मनि सन्तीत्याह - **विकार** इति। विकारः जातिगुणक्रिया जन्मवृद्ध्यादिविकारः ख्यायमानः आत्मनि देहात्माभिमानिना प्रतीयमानोऽपि प्रत्यगात्मानमन्तरा तं विनैव भवति न तस्मिन्नास्तीत्यर्थः। तदाह - **नेति**। न तस्मिन् विकारो निरूप्योऽस्तीत्यर्थः; विपर्ययेऽतिष्प्रापादयति स्यादित्यादिना चेत् यदि। अणुरल्पोऽपि विकारः आत्मनि स्यात् भ्रान्तिवान्, प्राशस्त्ये मतुप्। मुक्तोऽप्यात्मा तत्समः देहसमः अचिज्जातीय एव स्यादित्यर्थः। चित्समः आत्मवदिति पाठान्तरम्। तदा विकारोऽप्यात्मस्वरूपवत्सदैकरूपः चित्समः ज्ञानात्मकात्मस्वरूपतुल्यः, तद्वत्स्वयंप्रकाशश्च स्यात्, मुक्तावप्येकरूपतया स्वप्रकाशतया च प्रतीयेतेत्यर्थः। न हि तथा प्रतीतिः प्रमितेति भावः ॥२९॥

ननु, ख्यायमानोऽपि विकारः कृत आत्मनि नेत्युच्यते इत्यत्रौपाधिकत्वादित्याह - **नहीति**। सत्यशब्दोऽत्र जीवपरः "तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चा भवत्, विज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यानृतं च इति" (तैत्ति उ. 2.67) "प्राणा वै सत्यम्" (बृह. उ. 4.3.6) इति च प्रयोगात्। नहि परिशुद्धजीवात्मस्वरूपस्य देवमनुष्यादिनानात्वमस्ति। यस्तु यद्येवं नानात्वं मन्यते तर्हि न स विद्वान् न देहविलक्षणात्मयाथात्म्यवित्, अपि तु देहात्माभिमानीति भावः। औपाधिक भेदस्य जीवस्वरूपास्पर्शित्वे नभस्तेजो वायवो दृष्टान्ताः इत्यभिप्रायेणाह - **च्छिद्रयोरिति**। यद्वद्यथा च्छिद्रयोराकाशयोः ज्योतिषोर्वातयोर्वाय्वोश्च यथा न नानात्वं तद्वदात्मनोः पूर्वापरदेहवर्तितया अभिन्नत्वेन प्रतीयमानयोरात्मनोरभेदे दृष्टान्तत्वाभिप्रायेण च्छिद्रयोरित्यादिद्विवचन निर्देशः। इयान् विशेषः भिन्नकालोपाधिभेदराहित्ये तुल्यकालोपाधिकृत भेदरहितं वस्तु दृष्टान्तितमिति छिद्रयोरिति द्विवचनान्तेन मेघाद्युपहितावाकाश प्रदेशौ विविक्षितौ घटाकाशमहाकाशौ वा। ज्योतिश्शब्देन, सूर्यादिबिम्बप्रतिबिम्बौ, वातशब्देन बाह्यशरीरौ ॥३०॥

एवं मात्मनो देहाद्व्यावृत्ताकारत्वप्रतिपादनेनैव देहस्याऽपि ततो व्यावृत्ताकारत्वमर्थसिद्धं ताभ्यां परमात्मनो व्यावृत्ताकारता तु "न तस्यकालावयवैः" (भाग. 12-4-19) इत्यादिभिस्त्रिभिः प्रतिपादितैव। अथोपपादितं चिदचिद्विशिष्टस्य विचित्रजगद्रूपेण परिणामं कार्यकारणयोरनन्यत्वं चोपसंहरन् कार्यमिथ्यात्वपक्षप्रतिक्षेपाय तत्सत्यताञ्च सदृष्टान्तमाह - **यथा हिरण्यमिति**। व्यवहारवर्त्मसु व्यवहारमार्गेषु निमित्तभूतेषु व्यवहारशब्दः प्रयोजनस्याप्युपलक्षणार्थः। 'कुण्डलमानय' कटकमानय बिभृहीत्यादि व्यवहारार्थं धारणादिप्रयोजनार्थं चेत्यर्थः। क्रियाभिः रचनाविशेषैः एकमेव सुवर्णं बहुधा कुण्डलादिरूपेण (भेदेन) नृभिः समीयते प्रमीयते, रचनाविशेषादि क्रियार्हत्वात् धारणादिप्रयोजनार्हत्वाच्च कटकादिकं सत्यमेव कारणात् सुवर्णात् अनन्यच्च। न हि शुक्तिरजतादिकमर्थक्रियार्हमिति भावः। एवं सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टो भगवानेक एव लौकिकैर्वैदिकैश्च वचोभिः जनैर्विशिष्टा द्वैतादिभिश्च व्याख्यायते विविधमाख्यायते विचित्रजगद्रूपेण परिणतः ख्यायते "कटकमुकुटकर्णिकादिभेदैः कनकमभेदमपीष्यते यथैकम्।

1 W omits विचित्र

सुरनरपशुपादपादिभेदैर्हरिरजितोऽपि उदीर्यते तथैकः" (विष्णु. पु. 3.7.16) इत्यादीनि लौकिकवचांसि। "यथा सौम्येकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्" (छान्दो.उ.6..1.5) "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमणिरित्येव सत्यम्" (छान्दो उ. 6.1.4) इत्यादीनि वैदिकानि। भगवानित्यनेन कारणत्वाशङ्कित हेयास्पदत्वव्यावृत्तिः सूच्यते ॥३१॥

अथ मोक्षापरपर्यायसंसृतिबन्धनिवृत्तिरेवात्यन्तिकः प्रलय इति विवक्षुस्तावत् कोऽसौ देहाद्व्यावृत्तस्यात्मनो बन्ध इत्यत्राह - **यथेति**। मेघस्य अर्कप्रभवत्वमर्करश्मिमिश्रितधूमादि तमोद्रव्यारब्धत्वादवगन्तव्यम्। आदित्याधिष्ठितत्वाच्चक्षुषोऽर्कांशत्वं यथा अर्कप्रभवोऽर्केणैव प्रकाशितश्च मेघोऽर्कांशभूतस्य चक्षुषस्तमः। तमोवदर्कदर्शन प्रतिबन्धकस्तिरोधायक इति यावत्। अहंशब्दोऽत्र देहात्माभिमानिनामहमभिमानविषयत्वात् देहपर, ब्रह्मगुण परमात्मविशेषणभूत उदीक्षितः, तेन परमात्मना प्रकाशितः ब्रह्मांशकस्यात्मनः जीवस्यात्मबन्धनः ज्ञानप्रतिबन्धकः यथा अर्कांशस्य चक्षुषाऽर्क दर्शने तत्प्रभवो मेघः प्रतिबन्धकः। एवं परमात्मशरीरभूतस्य जीवस्य परमात्मदर्शनं तद्गुणभूतो देहः प्रतिबध्नातीत्यर्थः। तत्प्रतिबन्ध एव संसृतिप्रतिबन्धो नामेति भावः ॥३२॥

**विज०** यथाऽवयव्यवयववादीनां अभेदो दुरवबोधः एवं पदार्थानामनन्तत्वात् तत्त्वरूपभेदोपि परमात्मानमन्तरेण दुर्ज्ञेय इत्याशयेनाह - **विकार** इति। 'वि निषेधे पृथग्भावे' इत्यत पृथक्कारो नानाविधो भेद प्रत्यगात्मानं साक्षीभूतं श्रीनारायणं अन्तरेण अणुरल्पोऽपि निरूप्यो नास्ति स एव निरूपयितु शक्त नासत्त्वा न्नेत्याह ख्यायमान इति। प्रतीयमानस्यामत्त्वं जुगुप्सितं प्रमाणविरोधात् इति अपिशब्दः ॥२९॥

नन्वेकस्य प्रतिभानं तु कृतकान्न विशिष्यत इतिवन्निर्धारणायोग्य इति तत्राह - **नहीति**। यद्यविद्वान् ब्रह्मरूपाणां नानात्वं मन्यते तर्ह्यपि सत्यस्य ब्रह्मणो रूपाणां मन्यते तर्ह्यपि सत्यस्य ब्रह्मणो रूपाणा नानात्वं सत्यं न भवति अविद्वन्मतत्वात्। ननु, "युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश" इति श्रुतेः। कथं सत्यं नेत्यत्राह - नानात्वमिति। नेत्यनुवर्तते छिद्रयोर्बाह्यान्त स्थाकाशयोः यद्वद्यथा नानात्वं नास्ति एक एव महाकाशो घटे जायमाने बहिरन्तश्चेति द्वित्वसंख्यामुपैति उत्पद्यमानो नीलिमाकारोप्याकाशो द्वित्व मेति तत्र प्रागुक्तो हरेरुपमितिं यात पश्चा दुक्तो जीवाना मित्यर्थविशेषो हि शब्देनोपात - उक्तञ्च "महाकाशो बहिस्थश्च घटाद्यन्तःस्थ एव च। द्वेधा समुदितोऽन्यौ च द्वावाकाशौ प्रकीर्तितौ ॥ घटरूपस्तदन्यश्च महाकाशात्परो लघु। महाकाशवदेवा परमात्मा सनातनः ॥ घटान्तस्थमहाकाशप्रतिमान्तर्गतो विभु। घटस्यान्तर्गताकाशो महाकाशात्परो मतः ॥ तद्वद्देवादय सर्वे जीवा मुक्त्युपयोगिनः। तमो गाश्चैव ये सर्वे घटरूपस्तवन्नग" ॥ (तन्त्रसंहितायाम्) इति। ज्योतिषारधिदैवाध्यात्मसञ्ज्ञयो "सहस्रं वा आदित्यस्य रश्मय आसु नाडिष्वातता" इति श्रुतेर्वा तयोर्वातप्राणसञ्ज्ञयो इति "अधिदैव आध्यात्म" श्रुतेश्च। अत्राऽपि विशेषः पूर्ववदवगन्तव्य इति ॥३०॥

**बहुत्वसंख्यावाचिन्याः श्रुतेः किं विनिगमकं? अत्राह - यथेति।** बहुधा कटककुण्डलाद्यात्मना हेमनानासंज्ञाविषयं समीयते तथा भगवानपि देवो नरो वराहः शुक्लः पीतो ह्रस्वोऽणु दीर्घो महानिति विविधाकारेण व्याख्यायते प्रकाश्यत इति ॥३१॥

हरे स्तत्त्वस्वरूपं निरूप्य संसारप्रकारमाह - **यथेति।** अर्कशब्देन अग्नेजोवायव उच्यन्ते तेजः सम्बन्धेन धूम उपलक्ष्यते अर्कप्रभवः धूमतेजो जलमरुद्भ्यः प्रभव उत्पत्तिः यस्य स तथा अर्केण नभसि दर्शितः सूर्यप्रकाशे सत्येव दृश्यते नान्यथा, यथा धनः सूर्यदर्शनप्रतिबन्धकः "आपो वा अर्कः" (बृह. 3.1.2.2) इति श्रुतेः। यथाऽर्कांशस्य चक्षुषस्तमः सूर्यदर्शने प्रतिबन्धकम्। "आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्" (ऐत. 3. 2.4) इति श्रुतेः। एवमेवाऽहङ्कारो ब्रह्मापेक्ष्य गुणोऽमुख्यः तदीक्षितः तेन प्रकाशितः ब्रह्मांशकस्य जीवस्य "पादोऽस्य विश्वा भूतानि" (पु. सू.2) इति श्रुतेः। ब्रह्मणो भिन्नांशस्य आत्मनो जीवस्यात्मानं मतिं ज्ञानं बध्नातीत्यात्मबन्धनः "आत्मा देहे धृतौ जीवे" (वैज. को.6-1-6) इत्यादौ यादवप्रकाशेन मतौ प्रयुक्तत्वात् "तदब्रह्मा वेदाहं ब्रह्माऽस्मि" इति श्रुतेः। ब्रह्मणो विशेषभूत इति वा ॥३२॥

**घनो यदाऽर्कप्रभवो विदीर्यते चक्षुः स्वरूपं रविमीक्षते तदा ।**
**यथा ह्यहङ्कार उपाधिरात्मनो जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरेत् ॥३३॥**

**यदैवमेतेन विवेकहेतिना मायामयाहङ्करणात्मबन्धनम् ।**
**छित्वाच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते तमाहुरात्यन्तिकमङ्गसम्प्लवम् ॥३४॥**

**नित्यदा सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां परन्तप ।**
**उत्पत्तिप्रलयावेके सूक्ष्मज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥३५॥**

**कालस्रोतोजवेनाशु ह्रियमाणस्य नित्यदा ।**
**परिणामिनामवस्थास्ता जन्मप्रलयहेतवः ॥३६॥**

**श्रीध०** अत एवाहंकारनाशे स्वरूपदर्शनं भवतीति तेनैव दृष्टांतेनाह । **घन इति** । आत्मन उपाधिः। जिज्ञासया विचारेण। तर्हि तदाऽनुस्मरेत्। ब्रह्माहमिति पश्यतीत्यर्थः ॥३३॥

सोयमात्यन्तिकः प्रलय इत्युपसंहरति। **यथैवमिति।** विवेकहेतिना ज्ञानशस्त्रेण। अहंकरणमेवात्मबन्धनम्। अच्युतं परिपूर्णमात्मान मनुभवतीति तथा ॥३४॥

नित्यप्रलयमाह। नित्यदेति ॥३५॥

---

1 M Ma °भया . 2 W °त्वाह° 3 W यदेव 4 H V °यावेव 5 M Ma °नामाद्यवस्थास्ता

कुत इत्यत आह - **कालेति**। परिणामिनां नदीप्रवाहप्रदीपज्वालादीनां या उच्चनीचावस्थाः ताः कालरूपस्रोतसो वेगेनाशु ह्रियमाणस्य देहादेः दृश्यमानाः तद्वदेव नित्यदा जन्मप्रलयहेतवो भवन्ति। देह प्रतिक्षणं प्रध्वंसी प्रतिक्षणमवस्थाभेदास्पदत्वात्प्रदीपादिवदित्यनुमानम् ॥३६॥

**वीर०** मेघविनाशे चक्षुषो रविदर्शनवद् देहतिरोधानविगमे जीवस्य परमात्मावलोकनमित्याह - **घनो यदेति**। विदीर्यते वायुना विशीर्यते तदा चक्षुस्स्वरूपं रविं पश्यति, एवं यदा अहङ्कार अहंकारपरिणामात्मक अहमभिमानविषयो वा देहः स एवोपाधिरात्मनो जिज्ञासया विचारपूर्वकोपासनया नश्यति, तदा अनुस्मरेत् परमात्मानं साक्षात् कुर्यादित्यर्थः। यद्वा आत्मनो जिज्ञासया विचारेणानुस्मरेत् आत्मानमुपासीत तदोपाधिर्नश्यति, ततश्च परमात्मानं ईक्षते इत्यर्थ। "तमेतस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" (मुण्ड. उ.३.१.८) इति श्रुतेः इति भावः ॥३३॥

एव मुपाधिविलय एवात्यन्तिकः प्रलय इत्याह - **यदेवेति**। एतेन विवेकहेतिना विवेकादि साधनसमकानुगृहीत भगवदुपासनरूपेण खड्गेन मायाविकाराहङ्कारपरिणामरूपदेहसम्बन्ध एवात्मनो बन्धस्त छित्वा अच्युते स्वान्तरात्मनि (स्वान्तर्यामिणि) अनुभवो यस्य स अवतिष्ठत इति यत्रमेव, अत्र हे राजन्[3] आत्यन्तिक सप्तम प्रलयमाहु। तद्याथात्म्यविद इति कर्तृपदाध्याहारः ॥३४॥

अथ नित्यं प्रलयं निरूपयति - **नित्यदेति**। हे परन्तप, राजन्[3] ब्रह्मादीना सर्वभूताना नित्यदा प्रतिक्षणं उत्पत्तिप्रलयौ प्रचक्षते (पूर्वपूर्वावस्था एके केचित्संप्रचक्षते) ब्रह्मादिसर्वक्षेत्रज्ञशरीराणा सततपरिणामस्वभावत्वात्तत्रोत्तरावस्थाप्राप्तिरुत्पत्ति पूर्वपूर्वावस्थात्यागः प्रलय इत्याचक्षत, इमावेव नित्योत्पत्तिप्रलयावित्ति भाव। स्थूलदृष्टिभिस्तौ न ज्ञायेते इत्यभिप्रायेण सूक्ष्मज्ञा इत्युक्तम् ॥३५॥

एतदेवोपपदयति - **कालेति**। काल एव स्रोत प्रवाह तस्य जवेन वेगेन, आशु शीघ्र, ह्रियमाणस्येतीवार्थगर्भो विवक्षितः। नदीप्रवाहवेगेन ह्रियमाणस्य तृणकाष्ठादेरुच्चनीचाद्यवस्था इवेत्यर्थ। परिणामिनां देहानां नित्य या या अवस्थाः तास्ताः जन्मप्रलयहेतवः संयोगवियोगविषयतया हेतव इत्यर्थ ॥३६॥

**विज०** यदा घनोऽर्कप्रभया तीव्रया सूर्यप्रभया विदीर्यते नष्टो भवति तदा सूर्यांश चक्षु स्वरूप स्वबिम्बं रविमीक्षते, यथा यदा जीवस्यात्मनः परमात्मनो दर्शने उपाधिनिमित्तभूतोहङ्कारो जिज्ञासया परमात्मोपासनया तथा नश्यति तर्हि तदा जीवः परं

1 A.B.J ता एव. 2 A omits विशीर्यते 3 W omits राजन्

परमात्मानमनुस्मरेत् अनुकूलस्मरणसमर्थो भवतीत्यन्वयः। हि शब्देन "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः" (मुण्ड. उ. 2.2.8) इतीदं वाक्यमग्राहि ॥३३॥

असंप्रज्ञातसमाधिस्थलक्षणमाह यदेति। एवमुक्तविधयोद्धृतयैतया विवेकहेतिना निशितज्ञानायुधेन माया-मयाहङ्करणात्मबन्धनं भगवदिच्छानिर्मितं लिङ्गशरीरलक्षणाहङ्कारजनितसंसारहेतुं छित्वा अच्युतात्मानुभवः नित्यमुक्त परमात्माऽपरोक्षदर्शनेनासम्प्रज्ञातसमाधिस्थो निर्मुक्तलिङ्गशरीराभिमानोऽवतिष्ठते एतमङ्ग! आत्यन्तिकं संप्लवं प्रलयमाहुः असंप्रज्ञातसमाधिस्थावस्थायाः नामान्तरमिदम् ॥३४॥

इदानीं दैनन्दिनजन्मप्रलयावाह - **नित्यदेति**। दिने दिने ब्रह्मादीनां सर्वभूतानामुत्पत्तिलयौ स्त इति एके सूक्ष्मज्ञाः वदन्तीत्यनेनान्वयः ॥३५॥

चेतनानां निर्विकारत्वेन जन्माद्यसम्भवात् कथमुच्यते नित्यदा जन्माद्यस्तीति, तत्राह - **कालेति**। कालस्रोतोजवेन कालनदीप्रावाहवेगेन क्षिप्रं ह्रियमाणस्य नीयमानस्य देहस्य ॥३६॥

**अनाद्यन्तवताऽनेन कालेनेश्वरमूर्तिना ।**
**अवस्था नैव दृश्यन्ते वियति ज्योतिषामिव ॥३७॥**

**[illegible] यो नैमित्तिकश्चैव तथा प्राकृतिको लयः ।**
**आत्य[illegible] . कथितः कालस्य गतिरीदृशी ॥३८॥**

**एताः कुरुश्रेष्ठ, जगद्विधातुर्नारायणस्याखिलसत्त्वधाम्नः ।**
**लीलाकथास्ते कथिथास्समासतः कार्त्स्न्येन नाजोऽप्यभिधातुमीशः ॥३९॥**

**संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षोर्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य ।**
**लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण पुंसो भवेत् विविध दुःखदवार्दितस्य ॥४०॥**

**श्रीध०** ननु यदि प्रतिक्षणमवस्था भवन्ति, तर्हि किं न दृश्यन्ते अतो हेतुरसिद्ध इत्याशंक्याह - **अनाद्यन्तवतेति**। अनाद्यन्तवता कालेन जायमाना अवस्था नैव लक्ष्यन्ते। आकाशे गच्छतां ज्योतिषां चन्द्रादीनां गमनाद्यवस्थाविशेषा यथा नैव [illegible]न्ते तद्वत्। अतो यथा तेषां प्रदेशान्तरप्रप्त्या प्रतिक्षणं गत्यवस्थाः कल्यन्ते तद्वदत्राऽपि बाल्यतारुण्यादिदर्शनेन

तेन . 2 HV omit ननु . 3 ABJ 'नाव'

मध्यवर्तिन्योऽवस्थाः कल्यन्त इति न हेतुरसिद्ध इत्यर्थः ॥३७॥

उपसंहरति - **नित्य** इति ॥३८॥

पुराणार्थमुपसंहरति - **एता** इति। लीलाविषया कथा अजो ब्रह्माऽपि कार्त्स्न्येनाभिधातुं नेशः ॥३९॥

ननु यदि साकल्येन केनापि अभिधातुं न शक्यते तर्हि किं तदभिधानेन तत्राह - **संसारेति**। विविधं दुःखमेव दवो दावानलः, तेन अर्दितस्य पीडितस्य, अतःउत्तितीर्षोः पुंसो भगवतो या लीला तासां कथाः तासां रसः तन्निषेवणमन्तरेण अन्यःप्लवः तरणसाधनं न भवेत्। उपायान्तरासम्भवात् तत्कथाश्रवणमेव यथाशक्ति निषेव्यमित्यर्थः ॥४०॥

**वीर०** यदि प्रतिक्षणमवस्था भवन्ति तर्हि किं न लक्ष्यन्ते दृश्यन्ते ? इत्यत्राह **अनाद्यन्तवतेति**। नित्येन ईश्वरमूर्तिना पुंस्त्वमार्षम्। ईश्वरमूर्तिना (तेन) कालेन या या नित्यमवस्थास्ता नैव दृश्यन्ते । दुर्दर्शत्वे दृष्टान्तमाह - **वियतीति**। यथा वियत्याकाशे चरतां ज्योतिषां सूर्यादीनां प्रतिक्षणं देशान्तरप्राप्तिर्न दृश्यते, तद्वत् ॥३७॥

चतुर्विधप्रलयनिरूपणं निगमयति - **नित्य** इत्यादि ॥३८॥

"तस्मात्सर्वात्मना राजन्, हरिः सर्वत्र सर्वदा । श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च, स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम्" ॥ (भाग.2.2.36) इति द्वीतीये स्कन्धे मुमुक्षोरवश्यश्रोतव्यतया प्रतिज्ञातभगवत्कथानिरूपणं निगमयति - **एता** इति। जगद्विधातुः जगत्स्रष्टुः अत एव नारायणस्य नराणां प्राप्यस्य प्रापकस्य अखिलसत्त्वधाम्नोऽखिलाधारस्य भगवतः एता लीलाकथा लीलारूपाणां चेष्टितानां कथाः ते तुभ्यं समासतः संक्षेपतः कथिताः, तर्हि विस्तरतः कथयेत्यत्राह - कार्त्स्न्येनेति। अजो ब्रह्माऽपि कार्त्स्न्येन विस्तरेण अभिधातुं नेश्वरः, न प्रभुः ॥३९॥

सत्यं कथिताः, किमतः इत्यत आह - **संसारेति**। विविधं दुःखमेव दवो दावानलः, तेन अर्दितस्य पीडितस्य अतएव अतिदुस्तरं संसारसागरं उत्तितीर्षोः (तर्तुमिच्छोः) पुंसो या भगवतो लीलाकथा तासां रसं तन्निषेवणमन्तरेण अन्यः प्लवः उत्तारणोपायः न भवेत् ॥४०॥

**विज०** प्रतिदिनं जीवस्योर्वारुकविकारवत्प्राणिमात्रावस्थाः किं न स्युरिति तत्राह - अनाद्यन्तवतेति। आकाशे ज्योतिषां नक्षत्राणां यथा स्थितेर्लयो नास्ति तथा चेतनस्येति शेषः ॥३७॥

---

1 A.B.J omit केनापि ; 2 W omits विस्तरेण

उक्तमुपसंहरति **नित्य** इत्यादिना। कालस्य कालान्तर्यामिणो हरेः गतिः स्थितिः **ईदृशी दुखबोधेति** ॥३८॥

परमप्रमेयमुपसंहरति - **एता** इति। "यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय बिभ्रत्क्रोडीं तनुं" इत्यारभ्य याः कथाः एताः जगद्विधातृत्वं चतुर्मुखस्याऽस्तीति अतोऽखिलसन्व"म्नः इति सत्त्वगर्भमुदरम्भरत्वमित्यतो नारायणस्येति " सत्त्वोऽस्त्री जन्तुषु क्लीबे" (वैज. को.6.5.9?) इति यादवः। विस्तरतः कथनं किं न स्यादिति तत्राह, कार्त्स्न्येनेति अजो ब्रह्मा ॥३९॥

कथाकथनप्रयोजनमाह - संसारेति। प्लवो नौः ॥४०॥

**पुराण संहिता मेता मृषिर्नारायणोऽव्ययः।**
**नारदाय पुरा प्राह कृष्णद्वैपायनाय सः ॥४१॥**

**स वै महां महाराज, भगवान् बादरायणः ।**
**इमां भगवतीं प्रीतः संहितां वेदसम्मिताम् ॥४२॥**

**एतां वक्ष्यत्यसौ सूत, ऋषिभ्यो नैमिशालये ।**
**दीर्घसत्रे कुरुश्रेष्ठ सम्पृष्टः शौनकादिभिः ॥४३॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
द्वादशस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

**श्रीध०** श्रोतुगदरदार्ढ्याय संप्रदायप्रवृत्तिमाह - **पुराणसंहितामिति** त्रिभिः ॥४१॥

**स** इति। स वै बादरायणः प्रीतः सन् मह्यमिमां संहितां प्राहेति पूर्वेणान्वयः ॥४२॥

**एतामिति**। असौ सूत इति पुरतः स्थितमन्वल्या निर्दिश्याह। नैमिशालये नैमिशारण्यस्थाने ॥४३॥

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

---

1 HV 'भाग' . 2 MMa निमिषालये ABGJ नैमिषालये 3 A B J 'चा' 4 A B J 'च'

**वीर०** श्रोतुरादरदार्ढ्याय सम्प्रदायप्रवृत्तिमाह - त्रिभिः[1] **पुराणसंहितामिति**। एतां भागवतीं ऋषिः सर्वज्ञो नारायणः अनिरुद्धरूपी नारदाय प्राह, चतुर्मुखद्वारा चतुःश्लोकीरूपेण प्राहेत्यर्थः। यद्वा, ऋषिचतुर्मुखशरीरकः अथवा पूर्वं चतुर्मुखेनोपदिष्टां चतुःश्लोकीं बदर्याश्रमवासी नारायणो प्राहेत्यर्थः, अन्यथा द्वितीयस्कन्धान्तसन्दर्भविरोधात् स नारदः कृष्णद्वैपायनाय ॥४१॥

स कृष्णद्वैपायनः बादरायणो व्यासः इमामष्टादशसहस्रग्रन्थसंख्यां, निर्मायेति शेषः। वेदसम्मितां वेदतुल्यां, मह्यं प्राह ॥४२॥

अथ भाविनीं प्रवृत्तिमाह - **एतामिति**। असौ सूत इति पुरतः स्थितस्य अङ्गुल्या निर्देशः नैमिशाल्ये[3] नैमिशारण्यक्षेत्रे[5] ॥४३॥

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

**विज०** कथारसनिषेवणाय भागवतपुराणमेव मुख्यसाधनमित्यभिप्रेत्य तस्याऽपि मूलत्वज्ञापनाय मूलं दर्शयति, पुराणेति ॥४१॥

संहितायां वेदसंहितात्वज्ञापनाय वेदसम्मितामिति ॥४२-४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे परमहंस्या संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
द्वादशस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

**(श्रीविजयध्वजतीर्थरीत्या चतुर्थोऽध्यायः न समाप्तः)**

---

1 W omits त्रिभि 2 B W चोऽपि 3-3 A omits 4 A नैमिषा 5 W स्थाने

# पञ्चमोऽध्यायः

## श्रीशुक उवाच

अत्रानुवर्ण्यतेऽभीक्ष्णं विश्वात्मा भगवान् हरिः ।
यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रः क्रोधसमुद्भवः ॥१॥

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि ।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि ॥२॥

न भविष्यसि भूत्वा त्वं पुत्रपौत्रादिरूपवान् ।
बीजाङ्कुरवद् देहादे र्व्यतिरिक्तो यथानलः ॥३॥

स्वप्ने यथा शिरश्छेदं पश्यत्वाद्यात्मनः स्वयम् ।
यस्मात् पश्यति देहस्य तत आत्मा ह्यजोऽमरः ॥४॥

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भवार्थदीपिका

पञ्चमे तु समासेन परब्रह्मोपदेशतः । राज्ञस्तक्षकसंदंशान्मृत्युभीतिनिवारणम् ॥

एतत्पुराणं शृण्वन्नभयं प्राप्नोतीत्यभिप्रेत्य पुराणार्थमनुस्मारयति। अत्रेति। अयं भावः। जगतः कर्ता ब्रह्माऽपि यस्य प्रसादजः। प्रसादोऽत्र रजोवृत्तिर्हर्षः। ततो जातत्वात्परतंत्रः। सर्वसंहर्ता रुद्रश्च यस्य क्रोधसमुद्भवो, न तु स्वतन्त्रः। स विश्वस्यात्मा नियन्ता भगवानत्रानुवर्ण्यते। अत एवं भूतं भागवतं शृण्वतः कुतोऽन्यस्माद्भयशंकेति ॥१॥

त्वं तु पुनः कृतार्थ एवेत्यनुस्मारयति। त्वं त्विति। पशुबुद्धिमविवेकं। यस्मान्न नङ्क्ष्यसि। कुत इत्यत आह। न जात इति। यथा देहः प्रागभूत एवाद्यजातो नङ्क्ष्यति च। न चैवं त्वं पूर्वं नाभूर्नचाद्य जातोऽसि अतो न नङ्क्ष्यसि ॥२॥

ननु बीजादंकुरवत् स्वस्मात्पुत्ररूपेणापि स्वयमेव भवति। यथाऽऽह श्रुतिः। "अंगादंगात्संभवसि हृदयादभिजायसे। आत्मा वै पुत्रनामाऽसि स जीव शरदः शतम्" (बृह. उ.6-4-9) इति ततः पुनरङ्कुराद्बीजमिव पैत्रादिरूपेणाऽपि स्वयमेव भवति। 'पिता पुत्रेण पितृमान्योनियोनौ' इति श्रुतेः। अतस्तेषु नश्यत्सु कथं न नंक्ष्यामीति चेत्राह। न भविष्यसीति। भूत्वा पुत्रपौत्रादिरूपवान् बीजादंकुरवत् न भविष्यसि यस्माद्देहादेर्व्यतिरिक्तस्त्वं यथाऽनलः काष्ठात्। देहाद्देहो जायते नात्मेति भावः ॥३॥

---

1--1 M Ma omit * विजयध्वजरीत्या त्रयोदशश्लोकात्मक अयं पञ्चमाध्यायः चतुर्थोऽध्याये अन्तर्भावित . 2 M Ma च 3 M Ma 'द 4 M Ma तथा 5 M Ma 'सि . 6 H V 'त्कर्ता . 7 H V 'त्वात्तत्प' . 8 A B J भगवन्तं 9 H V 'त्रु'

जन्मादीनां देहधर्मत्वं दृष्टान्तेन प्रपंचयति। स्वप्न इति। स्वप्ने यथाऽऽत्मनः शिरश्छेदं स्वयं पश्यति एवं जागरणेऽपि। यस्माद्देहस्य पंचत्वादिकं पश्यति ततस्तद्वदेवात्मनः इदं भ्रममात्रम्। वस्तुतस्तु अत्माऽजोऽमरश्चेत्यर्थः। तदुक्तम् - "आत्मनः पितृपुत्राभ्या मनुमेयौ भवाप्ययौ। न भवाप्ययवस्तूना मभिज्ञोऽद्वयलक्षणः" (भाग. 11-24-48) इत्यादि ॥४॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं भागवतीं संहितां संश्राव्य अथ स्मर्तव्यं प्राधान्येन प्रतिपाद्यं निष्कृष्य दर्शयन् देहात्मयाथात्म्यविमर्शनपूर्वकं स्वशरीरकपरब्रह्मानुसंधाननिष्ठोऽस्पृष्टलौकिकदुःखो मुक्तो भविष्यसीत्याह पञ्चमेन - अत्रेत्यादिना - अत्र अस्यां संहितायां हरिराश्रितबन्धहरो भगवाननुवर्ण्यते, ततः किमत इत्यत्र तस्यैव- "कारणं तु ध्येय" (अथ शिक्षा.3.2-17) इत्युक्तरीत्या अवश्यध्येयत्वख्यापनाय सर्वकारणत्वमाह - यस्येति। यस्य हरे, सोऽनुवर्ण्यत इति सम्बन्धः ॥१॥

निष्कृष्य त्याज्योपादेयविभाग माह - त्वन्त्विति। अनासन्नमरणानां तु सन्त्युपाया, आसन्नमरणस्त्वं इति तुशब्दाभिप्रायः। हे राजन्, मरिष्ये इत्येवंविधां पशुबुद्धिं मविवेकं जहि, अहम्प्रत्ययवेद्यस्यात्मनो नित्यत्वात् मरणाभावादिति भावः। तदाह - न जात इति। न त्वं देहवत् प्रागभूतोऽविद्यमानः, अद्य न जात, नोत्पन्न, नापि नङ्क्ष्यसि न मरिष्यसीत्यर्थः ॥२॥

भूत्वा उत्पद्य पुनर्बीजाङ्कुरवत् पुत्रपौत्रादिरूपवान् न भविष्यसि, तत्र हेतुत्वेन विशिनष्टि - देहात् व्यतिरिक्त इति। तत्र दृष्टान्तः - यथाऽनल इति, काष्ठादिति शेष। यथा काष्ठादग्नि व्यतिरिक्त तथेत्यर्थ ॥३॥

स्वप्नदेहादिवत् जाग्रद्देहादपि आत्मा विलक्षण इत्याह - स्वप्न इति। स्वप्ने यथा आत्मनः शिरश्छेदं स्वयं पश्यति एवं जागरणेऽपि, तत्र यथा द्रष्टा छिद्यमानाद्देहाद्विलक्षण, एवं जागरेऽपीति भाव। यस्मानु देहस्य पञ्चत्वादिकं मरणादिकं पश्यति, ततः आत्मा देहाद्विलक्षणः (देहाद्व्यतिरिक्तः) अतो न जायत इति तथाऽमरः मरणरहितश्च ॥४॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अस्याः विषयमाह - अत्रेति। कुतोऽस्या इतरेभ्यः श्रेष्ठ्यं येनादरेण ग्राह्या स्यादित्यतो वाऽऽह - अत्रेति। विष्ण्वभिन्नत्वेन इतरेभ्यः ब्रह्मान्यतमः किं न स्यादित्यत्राह - यस्येति। अनेन 'आत्मा वै पुत्रनामासि' (कौषी. 3.2-11) इति वाक्यप्राप्त तदात्म शङ्काऽपि दूरीकृतेति ॥१॥

---

1 H V omit ततः. 2 A B J 'तस्य 3 W omits अथ 4 W omits हे राजन्' 5 M Ma 'त्यन'

ननु, जातो मृतोऽहमिति बुद्धेर्विक्रियायाः कथं चेतनस्य परिणामाद्यवस्थाभाव इत्याशङ्क्य सिंहावलोकनन्यायेन तस्याविकारित्वमाह - **स्वप्नेति**। प्रतीत्येति सन्धिभावेन। घटादिनाशवैलक्षण्यं देहवियोगस्य दर्शयति वैलक्षण्यमेव दर्शयति - नेति। 'न जायते म्रियते वा कदाचित्' इत्यादेः देहवदित्येतद् प्रत्येकमभिसम्बध्यते नेति च त्वद्देहवत् न जातः तर्हि प्रागासन्नेत्याह, प्रागिति। देहवत्प्रागभूतोऽनुमन्न अद्य देहवन्न परिणमसि ॥२॥

देहान्तरवत् न भविष्यसि पुत्रपौत्रादिरूपवान् भूत्वा त्वं देहवत् न नङ्क्ष्यसि कथमिव पुत्रादिरूपवानिति तत्राह - **बीजेति**। बीजाङ्कुरपरम्परा यथा तथा कस्मान्नाशाभाव इति तत्राह, देहादेरिति। हेतुगर्भं विशेषणं, अत्रापि निदर्शनं यथाऽनल इति। दावदिरिति शेषः। पुत्रादिरूपत्वे तु अभेदोऽपि प्राप्त इत्यतो वाऽऽह, यथा बीजपरम्पराया भेदः प्रमितः तथा प्रकृत इति शेषः प्राग्वत् ॥३॥

ननु, जातो मृत इत्यभेदप्रतीतेःतद्व्यतिरेकः कथमनलदृष्टान्तः परमात्मनि सङ्गत इति तत्राह-**स्वप्न** इति। आत्मनो जीवस्य स्वप्ने स्वशिरश्छेदो यथा मिथ्या पश्यत्वादि, इदं स्वानुभवसिद्धमित्याह, यस्मादिति। त्वं देहस्य पश्यत्वादि पश्यसीति यस्मात्तत आत्मा अजो न जातोऽमरो न मृतश्चेति तस्माद्देहस्यैव जन्मादयो न चेतनस्येति सिद्धम् ॥४॥

**घटे भिन्ने यथाऽऽकाश आकाशः स्याद् यथा पुरा।**
**एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते पुनः ॥५॥**

**मनः सृजति वै देहान् गुणान् कर्माणि चात्मनः ।**
**तन्मनः सृजते माया ततो जीवस्य संसृतिः ॥६॥**

**स्नेहाधिष्ठान वर्त्यग्निसंयोगो यावदीयते ।**
**ततो दीपस्य दीपत्वमेवं देहकृतो भवः ।**
**रजस्सत्त्वतमोवृत्त्या जायतैधेथ नश्यति ॥७॥**

**न तत्रात्मा स्वयंज्योति यो व्यक्ताव्यक्तयोः परः ।**
**आकाश इव चाधारो ध्रुवोऽनन्तोपमस्ततः ॥८॥**

**श्रीध०** यस्मा देहोपाधिकोऽयमात्मनो जन्मादि संसारभ्रमः तस्मा दुपाधिनिवृत्तौ मुच्यत इति सदृष्टांतमाह । **घट इति**।

1 H V 'दिष्यते . 2 M Ma ताव दीप' . 3 A B G J W 'तेऽधकि' 4- -4 M Ma 'चद्वाधारो 5- -5 H V ध्रुवोऽनन्तोपमो विभु . M Ma ध्रुवो नानामितस्तत . W ध्रुवोऽनन्तोऽव्यवास्थित

यथा पुरा घटोपाधेः पूर्वमिव पुनर्घटे भिन्ने तदन्तर्वर्त्यवकाश आकाश एव स्याद्यथा। एवं देहे मृते तत्त्वज्ञानेन लीने सति तद्वत्[1] ॥५॥

ज्ञानेन लयं भावयितुं[2] मायाकृतमात्मनो देहाद्युपाधि संबंधप्रकार माह। **मन इति**। मन आत्मनो देहादीन् सृजति। तच्च मनो माया सृजति। ततो मायाद्युपाधिसमुदायात् जीवस्य संसृतिर्[3] स्वतः ॥६॥

[4]यस्मादुपाधिनिबन्धनो जीवस्य संसारोऽतस्तन्नाशे जीवत्वं गच्छतीति एतदेव सदृष्टांतमाह सार्धेन। **स्नेहेति**। ततो दीपस्य ज्योतिषो दीपत्वं ज्वालारूपः परिणामः। तत्र तैलस्थानीयं कर्म। तदधिष्ठानस्थानीयं मनः। वर्तिस्थानीयो देहः। अग्नि संयोगस्थानीयः चैतन्याध्यासः। दीपस्थानीयः संसार इति योज्यम्। देहकृतो देहनिबंधनः। यद्वा देहकृतो मनसो न त्वात्मनः ॥७॥

अतो दीपवत्संसार एव नश्यति न त्वात्मा ज्योतिर्वदित्याह - **नेति**। ननु[6] तत्र प्रतीयमान आत्मा कुत इत्यत आह - य इति। व्यक्ताव्यक्तयोः स्थूलसूक्ष्मदेहयोः परोऽन्यः। यतः स्वयं ज्योतिः। परत्वं प्रपंचयति। आकाश इवेति। आधारो देहादेः प्रपंचस्य। ध्रुवो निर्विकारः। नास्त्यन्त उपमा च यस्य सोऽनन्तोपमः। ततो विभुः ॥८॥

**वीर०** अस्त्वेवं, ततः किमित्यत्रैवंविधविवेकयुक्तस्य मुक्तिरेव स्यादित्याह - **घट** इति। यथाऽऽकाशः घटोपहिताकाशः घटे भिन्ने सति यथापुरा आकाशः स्यात् पूर्ववन्निरुपाधिक आकाश स्यादेव जीवोऽपि देहे मृते परमात्मोपासनया निरवशेषं, प्रकृतिसम्बन्धविगमे सति ब्रह्म सम्पद्यते, संशुद्धावस्थो भवतीत्यर्थः। ब्रह्मशब्दोऽत्र मुक्तात्मवाची। "ब्रह्मभूयाय कल्पते" (भ.गी.18-53), "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्" (भ.गी. 14-27) इति प्रयोगात् ॥५॥

कथमनादेर्बन्धस्य निवृत्तिरित्यत्रौपाधिकत्वादित्यभिप्रेत्य तदुपपादयति **मन** इति। गुणान् सत्त्वादिगुणमयान् आत्मनो जीवस्य देहान् सृजति, मनसो देहसृष्टिहेतुत्वं पुण्यपापद्वारेत्याह, कर्माणीति। तन्मन कर्म माया सृजति, ततो माया मनो देहकर्मभ्यः जीवस्य संसृति र्भवति ॥६॥

एतदेव सदृष्टान्तमुपपादयति - सार्धेन **स्नेहेति**। दीपस्य ज्योतिषः, दीपत्वं ज्वालारूप परिणामः, तत्र तैलस्थानीयं कर्म, तदधिष्ठानस्थानीयं मनः, वर्तिस्थानीयो देहः अग्निसंयोगस्थानीयो देहात्माभिमानः, दीपस्थानीय ससारः इति योज्यम्। एवं भवः संसारः देहकृतः कर्मारब्धदेहेन्द्रियावधिभोग इत्यर्थः। अतो रजस्सत्त्वतमोवृत्या गुणत्रयसंसर्गात् उपाधेरात्मनो जन्ममरणादि, स्वतस्तु, तद्रहितोऽस्तीत्यर्थः। तदेवाह-नेति। तत्र देहे जायमाने नश्यति च सति आत्मा न जायते न नश्यति च तत्र हेतुः-

1 A.B.J omit तद्वत्. 2 H V सम्भा° 3 H V वस्तुत 4-4 H V omit 5 A B J omit तत 6 A B J ननु 7 H V दिप्र° 8 A निरवशेष

व्यक्ताव्यक्तयोः परः व्यक्तं शरीरमव्यक्तं मूलप्रकृतिः ताभ्यां परोऽन्यः। तत्र हेतुः - स्वयं ज्योतिः। स्वयं प्रकाशः विजातीयत्वादिति भावः ॥७-८॥

विज० अधुना प्रसङ्गात्सामान्यविशेषमरणावस्थामाह - घट इति। घटे भिन्ने कपालीभूते घटाकारपरिमितो घटाकाशो नीलिमाकारबहिस्थाकाशः स्यात्पुरा यथा तथेत्यर्थः। एवं देहे मृते सति जीवः संसारी ब्रह्मतत्त्वं यथाकर्म स्वर्गनरकादिकं सम्पद्यते घटान्तस्थमहाकाशैकदेशो बहिस्थव्यामाकाशो भवति यथा, तथा पुरा जीवः प्राणधारकः परमात्मान्तर्यामी ब्रह्म व्याप्तस्वरूपमाप्नोति घटान्तर्गत भूताकाशः पुरा यथा महाकाशाधीनः पश्चादपि तदधीनतामापद्यते तथा चरमदेहान्तलिङ्गशरीरे मृते नष्टे जीवो मुक्तियोग्यः। आत्मा परं ज्योतिः सम्पद्यते अयमर्थो 'महाकाशो बहिःस्थश्च घटाद्यन्तस्थ एव च" इति तत्त्वसंहिता वचनादवगन्तव्य इति ब्रह्ममोक्षं पुनरावृत्तिशून्यं वा ॥५॥

प्रकारान्तरेण संसारावस्थामाह - मन इति। आत्मनो जीवस्य मनः सुरनरादिदेहान् गुणान् कर्माणि आवृत्तिहेतु भूतानि पुण्यपापलक्षणानि च सृजति आपादयति शब्दादिविषयासक्तिहेतुभूतानि वा। एवं विधं मनः सत् किं तत्राह, तदिति। मायाजडप्रकृतिः तन्मन उत्पादयति सृजते,इत्यात्मनेपदप्रयोगेण चिन्मिश्रं मन इति सूचयति ततो जडमनसो जीवस्य संसारो वर्तत इति शेषः ॥६॥

कियन्तं कालं जन्मात्मकः संसार इति तत्राह - स्नेहेति। यावत् यावन्तं कालं तैलादिस्नेहद्रव्याधिष्ठानस्थितवर्त्यग्निसंयोगः तावत् तावन्तं कालं दीपस्य दीपत्वं प्रकाशसामर्थ्यम् । एवं देहकृतो देहादिकर्मनिमित्तकृतो भव इत्यन्वयः। तैलाद्यभावेन यथा दीपादेः शून्यता एवं जीवस्यापि देहाद्यभावेन शून्यत्वं आयातं अत्राह, रज इति। मनसो रजआदिगुणोपजीवनेन देहो जायते (?) इत्यादि ॥७॥

तत्र तस्यामवस्थायामपि योऽव्यक्ताव्यक्तयोः देहप्रकृत्योः परो विलक्षणः स आत्मा जीवो न जायते, न वर्धते, न नश्यति कुतः? स्वयं ज्योतिर्ज्ञानात्मा इदानीमुपास्तिप्रकारं विधत्ते, आकाश इति। आकाशवत्ततो व्याप्तो ध्रुवाधारो नित्याधारो ध्रुवो नित्यश्च यः नानामितः तत्तद्वस्तुपरिमाणपरिमितश्च ॥८॥

**एवमात्मान मात्मस्थमात्मनैवामृश प्रभो।**
**बुद्ध्यानुमानगर्भिण्या वासुदेवानुचिन्तया ॥९॥**

1. W. omits परः

**चोदितो विप्रवाक्येन न त्वां धक्ष्यति तक्षकः ।**
**मृत्यवो नोपसर्पन्ति मृत्यूनां मृत्युमीश्वरम् ॥१०॥**

**अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम् ।**
**एवं समीक्षन्नात्मानमात्मन्याधाय निष्कले ॥११॥**

**दशन्तं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः ।**
**न द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथगात्मनः ॥१२॥**

**एतत्ते कथितं तात यथाऽऽत्मा पृष्टवान्, नृप ।**
**हरेर्विश्वात्मनश्चेष्टां किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥१३॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
द्वादशस्कन्धे पञ्चमोऽध्याय ॥५॥

**श्रीध०** अतस्त्वमेवं चिन्तयेत्याह। **एवमिति**। आत्मस्थं देहाद्युपाधिस्थितम्। आमृश विचारय। अनुमानगर्भिण्या द्रष्टृदृश्यान्वयव्यतिरेकयुक्तया ॥९॥

एवं च सति त्वां तक्षको न दहेदित्याह - **चोदित** इति। तत्र हेतवः। मृत्यव इति मृत्युहेतवः ॥१०॥

विमर्शप्रकारं दर्शयन् तक्षकादर्शनं दर्शयति द्वाभ्याम् **अहमिति** योऽसावहं स ब्रह्मैव यद् ब्रह्म तदहमेवेति समीक्षन्। तत्राहं ब्रह्मेति भावनया जीवस्य शोकादिनिवृत्तिः ब्रह्माहमिति भावनया च ब्रह्मण पारोक्ष्यनिवृत्तिर्भवतीति व्यतिहारदर्शितः। निष्कले निरुपाधौ। आत्मनि ब्रह्मणि ॥११॥

**दशन्तमिति**। विषयुक्तैराननैर्दशन्तं ग्रसन्तं तक्षकम्। लेलिहानं सर्पम्। यद्वा लेलिहानं जिह्वाभिरोष्ठप्रान्तम् सनिष्ठेवमास्वादयन्तम्। आत्मनः पृथक् ॥१२॥

**एतदिति**। हरेश्चेष्टां लीलां प्रति आत्मा त्वं यत्पृष्टवांस्तत्ते कथितम्। शिष्यस्य कृतार्थतापरीक्षणाय पृच्छति। किमिति ॥१३॥

---

1 A B G J W यद्यवन्ति. 2 M Ma "ब्रह्म चात्मा" 3 MMa "यात्म". 4 H V "मनमेव 5 H V "स्थाम्" 6 H V "स्थाप्यन्". 7 ABJ योह. 8 H V व्यतीहारार्थः 9 A B J omit लीला प्रति

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

**वीर०** तत्र दृष्टान्तः आकाश इवेति। यथा घटाद्युपाधेः आकाशः परः तद्वदाधारः, देहस्य धारकः अनन्तः स्वभावतोऽपरिच्छिन्नः, अव्ययः स्वरूपतो विकाररहितः ॥९॥

ततः किमत आह - **एवमिति**। एवं विधमात्मस्थं परमात्मस्थं देहस्थं वा आत्मानं आत्मनैवामृश विचारय प्रत्यक्षत्वादात्मनैवेत्युक्तिः। **बुद्ध्येति** - अनुमानगर्भिण्या अनुमीयतेऽनेन सूक्ष्मार्थं इत्यनुमानम्। शास्त्रं तद्गर्भिण्या शास्त्रजन्यज्ञानयुक्तयेत्यर्थः। बुद्ध्या आत्मविमर्शनात्मिकया वासुदेवानुचिन्तया च वासुदेवानुचिन्तारूपया बुद्ध्या वा उपलक्षितं त्वां विप्रवाक्येन प्रचोदितोऽपि तक्षकः न धक्ष्यति तव वेदनां न जनयिष्यति इत्यर्थः। मृत्यव इति। ईश्वरो हि मृत्यूनां मृत्युः अतस्ते मृत्यवः मृत्युहेतवः न धक्ष्यन्ति, एवं तद्भावमर्पात्यभिप्रायः ॥१०॥

**अहमिति**। अहं ब्रह्मेति, ब्रह्माहऽमिति च तात्पर्यभेदेन विशेषणप्रधानो विशेष्यप्रधानश्च निर्देशभेदः, परंधाम परमं पदमिति च ब्रह्म विशेषणं, परमं पदं परमं[1] प्राप्यं एवमित्थं समीक्षन् सन्दधानः निष्फले प्राकृतशरीररहिते आत्मनि परमात्मन्यात्मानं प्रत्यगात्मानमाधाय परमात्मशेषतैकरसं ध्यात्वेत्यर्थः। यद्वा[2] अनादिमायाविद्यया जतदेहात्मबुद्ध्यभिभूतनिजस्वरूपं राजानं नित्यं श्रीभगवच्छेषभूतमात्मान देहद्वयविलक्षणं गुणत्रयातीतं जडविलक्षणं सदैव चेतनं नित्यं सदा परमात्मस्वरूपाधीन सत्तास्वरूपं विद्धीत्युपदिशति - अहं ब्रह्मेत्यादिना। धाम निरुपाधिकचेतनं प्रकाशबहुलं तेजोमयं ज्योतिस्स्वरूपं परमं श्रेष्ठं जडविलक्षणं अत एव जडवर्गादतिश्रेष्ठमपि पदं स्वरूपं यस्य तत्, अहं अहंतत्त्वं, जीवस्वरूपं ब्रह्मपरं, प्रधानं श्रेष्ठं, मान्यं पूज्यं सेव्यं, यस्य तत् अत एव ब्रह्माहं ब्रह्मणः अहं ब्रह्माहं ब्रह्मणः परमात्मनः शेषिण एवाहं शेषो नान्यस्य तदितरस्य सर्वस्यापि चेतनाचेतनस्य शेषरूपत्वादिति तदभिप्रायः, मम च शेषी ब्रह्मैव परमात्मैव नान्यः। तथा सति सर्वेपि शेषिण एव स्युः, अतो न शेषस्य शेषीति श्रुतावेक एव शेषी वर्णितः "एक मेवाद्वितीयं ब्रह्म, (छान्दो.3.6-2-1) नेह नानास्ति किञ्चन" ( बृह.3. 4-4-9) "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" इत्यदिश्रुतिः। "न त्वत्समोस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः" (भगी. 11-43) इत्यादि श्रीगीतोपनिषत्सु च शेषी एक एव श्रीमन्नारायणः, शेषास्तु बहव एवेति सर्वशेषिणो नियन्तुः आज्ञा शेषभूतैस्सदैव पालनीयेति सूक्ष्मदृशातु अवधारणीयः। अन्यथा शेषस्वरूपमेव न सिद्ध्यतीति दिक्। एवञ्च सर्वस्य शेषी परब्रह्म श्रीमन्नारायण एव नान्य इति। यथा राजपुरुष

1 A.B omits परमं ; 2- -2 W omits

इत्यादौ षष्ठीसमासघटितपुरुषस्य अप्राधान्यं प्रसिद्धं, तत्र भेदवादिनः भ्रान्ता एवेति परब्रह्म पराधीनमेतादृशस्वरूपं जीवतत्त्व यत्तस्मिन् स्वस्वरूपे निष्कले आत्मनि जीवस्वरूपे आत्मानमन्तर्यामिणं परमात्मानं श्रीमन्नारायणं निजस्वामिनं श्रीरमानाथं निजनाथं (परमात्मस्वरूपे वा आत्मानं व्याप्य शेषभूतं) समीक्षन् सम्यक् पश्यन् नित्यस्वामिसेवकभावेन सम्यगालोकयन् ध्यानेन दृशा प्रत्यक्षमिव कुर्वन् विश्वासश्रद्धावैराग्यज्ञानानुरागभक्तिनयनैः प्रत्यक्षमेव कुर्वन्नप्यहं जडदेहादिविलक्षणो निर्गुणः शुद्धो भुक्तस्वरूप चिदात्माप्यहं न स्वयं ब्रह्मा ब्रह्माहमस्मि किन्तु स्वयं ब्रह्मण सर्वशेषिणः श्रीस्वामिनो दास एवाह मस्मि इति सर्व श्रुतिशास्त्रार्थसारोऽयमर्थः। एतादृशबोधपूर्वकं श्रीभगवध्यानानुरागी त्वं देहं स्थूलदेहं दशन्तं तक्षकं स्थूलं सूक्ष्मं च शरीरमुभयदेहोत्पादकमविद्याप्रधानादिकं सर्वं जगद्विश्वं च तन्नाशादिकरं कालं च न द्रक्ष्यसीत्यनेन श्रीभगवद्व्यतिरिक्तं किमपि न वेत्स्यसि परमात्मानमेव नित्यमात्मन्यन्तर्यामिणं परमात्मनि व्यापके श्रीस्वामिनि वा नित्यव्याप्यभूतं सदा शेषरूपनिजस्वरूपं सम्यगालोचयिष्यसीति सर्वमञ्जलमनवद्यम् ॥११॥

**दशन्तमिति**। विषयुक्तै राननै र्मुखै लेलिहानमास्वाद्यमानं दशन्तं च तक्षकमात्मनः परमात्मनः पृथक्सिद्धं शरीरं विश्वं च न द्रक्ष्यसि भगवत्स्मृत्याह्लादे मग्नतया दुःखादि हेतुभूत मन्यन्न वेत्स्यसीत्यर्थः ॥१२॥

अखिलप्रश्नोत्तरं निगमयति - **एतदिति**। हे तात ! हे नृप ! हरेश्चेष्टा प्रति यद्यत् आत्मा त्वं पृष्टवान् तत्सर्वं ते तुभ्यं कथितं, कृतार्थतापरीक्षायै पृच्छति - किं भूयः श्रोतुमिच्छसीति। भूयः पुनः ॥१३॥

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

**विज०** एवं विधमाहात्म्योपेतमात्मस्थं स्वहृदयकुहरनिलयमात्मानं परमात्मानमात्मनैव सर्वप्रयत्नेनामृश सम्यग्विचार्योपास्व प्रभो, इत्युपास्ति साम्यार्थमाह - दुर्मरणदोषदुष्टस्य मम देहत्यागोपि मोक्षो नास्तीति न चिन्तयेत्याशयेनाह, बुद्ध्येति। आत्मा स्वस्वेतरवृत्तित्वानाक्रान्तनित्यनिष्ठाधिकरणं मेयत्वादात्मवदिति देहः स्वस्वेतरवृत्तित्वानाक्रान्त नित्यनिष्ठाधिकरणं, मेयत्वात् घटवदित्यनुमानगर्भिण्या वासुदेवानुचिन्तया हरेर्निरन्तरमदुपासनया वर्तमान त्वाम् ॥९॥

विप्रकुमारवाक्येन चोदितः प्रेरितस्तक्षको न धक्ष्यति दष्टदोष नापादयतीत्यन्वयः। मृत्युना मारकाणां मृत्युं मारकं ईश्वरं उप समीपे स्थितं मृत्यवो न सर्पन्ति त्वां न प्राप्नुवन्ति ॥१०॥

**दंशदोषास्पर्शने प्रकारान्तरेणोपायमाह** - अहमिति। न हन्यत इत्यहं न हीयत इति वा कदापि न जहाति स्वशक्ति इति वा, एवंविधमीश्वरं विहाय कदापि न तिष्ठन्त्यस्मात्स्थातिश्चर्यः। उपासनाफलमाह - एवमिति। एवंविधस्त्वं निष्फले आत्मनि परमात्मानं समाधाय संयुज्य समीक्ष्य पृथक् स्वाधीनं ॥११॥

**विषयुक्ताननैः पदे दशन्तं तक्षकं लोलिहानं सर्पं न द्रक्ष्यसि इतरसर्पवदिति शेषः। आत्मनो हरेः पृथक् स्वातन्त्र्येण स्थितं विश्वं शरीरं च न पश्यसीत्यन्वयः ॥१२॥**

**विज०** अवान्तरप्रमेयमुपसंहरति - एतदिति। चेष्टेति पाठे सा कथितेति शेषः ॥१३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
द्वादशस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

**(श्रीविजयध्वजतीर्थरीत्या पञ्चमोऽध्यायः न समाप्तः)**

# षष्ठोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या पञ्चमाध्यायः षष्ठोऽध्यायश्च )

सूत उवाच

एतन्निशम्य मुनिनाभिहितं परीक्षिद् व्यासात्मजेन निखिलात्मदृशा समेन ।
तत्पादपद्ममुपसृत्य नतेन मूर्ध्ना बद्धाञ्जलिस्तमिदमाह स विष्णुरातः ॥१॥

राजोवाच

सिद्धोस्म्यनुगृहीतोऽस्मि भवता करुणात्मना ।
श्रावितो यच्च मे साक्षादनादिनिधनो हरिः ॥२॥

नात्यद्भुतमिदं मन्ये महतामच्युतात्मनाम् ।
अज्ञेषु तापतप्तेषु भूतेषु यदनुग्रहः ॥३॥

पुराणसंहितामेतामश्रौष्म भवतो वयम् ।
यस्यां खलूत्तमश्लोको भगवाननुवर्ण्यते ॥४॥

भगवंस्तक्षकादिभ्यो मृत्युभ्यो न बिभेम्यहम् ।
प्रविष्टो ब्रह्म निर्वाणमभयं दर्शितं त्वया ॥५॥

अनुजानीहि मां ब्रह्मन् वाचं यच्छाम्यधोक्षजे ।
मुक्तकामाशयं चेतः प्रवेश्य विसृजाम्यसून् ॥६॥

अज्ञानं च निरस्तं मे ज्ञानविज्ञाननिष्ठया ।
भवता दर्शितं क्षेमं परं भगवतः पदम् ॥७॥

सूत उवाच

इत्युक्तस्तमनुज्ञाय भगवान् बादरायणिः ।
जगाम भिक्षुभिस्साकं नरदेवेन पूजितः ॥८॥

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

षष्ठे परीक्षितो मोक्षः सर्पहोमादि तत्सुतात् । वेदशाखाविभागौ त्रि वेदीव्यासवर्णनम् ॥

1--1 W omits 2 B G H J V मूल 3--3 H V omit M Ma परीक्षिदुवाच 4 A B G J W "मह" 5 H V भवता" 6 M Ma "मन्त्रीच भवतो ब्रह्म्। 8 A B G J "ज्ञाप्य" 9 A साधं 10 A B J शाख 11 H V "वेद"

**एतदिति**। एतत्पुराणं निशम्य निखिलात्मा हरिः तं पश्यति निखिलं वाऽत्मनि पश्यतीति तथा तेन अतः समेन पादपद्ममुपसृत्य नतेन अवनतेन मूर्ध्ना, तत्पादमूलमुपसृत्य तस्य पादौ शिरसि निधायेत्यर्थः ॥१॥

**सिद्ध इति**। सिद्धः कृतार्थोऽस्मि। यतोऽनुगृहीतोऽस्मि, अनुग्रहमेवाह। यद् यस्मात् श्रावितः, चशब्दात् प्राप्तिसाधनं च श्रावितम् ॥२॥

करुणात्मतामभिनन्दति द्वाभ्याम् - **नात्यद्भुतमिति** ॥३॥

**पुराणेति**। अश्रौष्म श्रुतवन्तः। वयं भवतः सकाशात् ॥४॥

सिद्धोऽस्मीत्युक्तं तदेवाविष्करोति - **भगवन्निति**। यतस्त्वया दर्शितं ब्रह्म प्रविष्टः। कथं भूतम्। अभयम्। यतो निर्वाणं कैवल्यरूपम् ॥५॥

'किं भूयः श्रोतुमिच्छसि' (भाग.12-5-13) इति यदुक्तं तत्र सिद्धोऽहं न किञ्चिच्छ्रोतुमिच्छामि केवलमनुज्ञां देहीत्याह - **अनुजानीहि** इति। वाचमित्युपलक्षणं सर्वेन्द्रियाणाम्। वाचं नियम्य किं करिष्यसि तदाह। मुक्ताः कामाशयाः तद्वासना येन तच्चेतोऽधोक्षजे प्रवेश्य असून् विसृजामि ॥६॥

ननु किं प्राणत्यागेन किञ्चित्कालं ज्ञाननिष्ठो भवेति चेत्तत्राह - **अज्ञानं चेति**। अज्ञानं चकारात् तत्संस्कारश्च तच्च त्वत्कृपयैवेत्याह - भवतेति ॥७,८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

आत्मनः सिद्धार्थतां कृतज्ञतां चाविष्कुर्वन्नाह राजा इत्याह सूतः - **एतदिति**। मुनिना शुकेन अभिहितं "एतत् किं भूयः श्रोतुमिच्छसि" (भाग.12-5-13) इत्येतन्निशम्य कथम्भूतेन समेनेति भावप्रधानो निर्देशः साम्येन निखिलात्मनः पश्यतीति तथा, तेन नतेन नम्रेण मूर्ध्ना तस्य पादपद्ममुपसृत्य संस्पृश्य स विष्णुरातः परीक्षित् तं मुनिं प्रति इदं वक्ष्यमाणमाह ॥१॥

उक्तिमेवाह - **सिद्ध इति**। सिद्धोऽस्मि सिद्धार्थोऽस्मि। कुतः? यतः भवताऽनुगृहीतोऽस्मि कोऽसावनुग्रहः? मे मह्यं अनादिनिधनो हरिः चशब्दात् तत्प्राप्त्युपायश्च श्रावित इति यदेषः ॥२॥

करुणात्मतामाविष्करोति - **नेति**। अच्युते आत्ममनो येषां तेषां, अत एव महतां यत् वात्सल्यसौशील्यादि - गुणोत्कृष्टानां भवतां, इदं नात्यद्भुतम्। किं तत्? यदशेषु अत एव तापत्रयतप्तेषु भूतेष्वनुग्रह इत्येतत् ॥३॥

---

1-1 H V स्वात्मनि. 2 A B J तत. 3 ABJ तत्पा' 4 H V omit श्रावितम् 5 ABJ omit वयं. 6 H V कथि' 7 A.B J omit अज्ञानं. 8-8 TW omit

**पुराणसंहितामिति**। भवतः सकाशात् अश्रौष्म श्रुतवन्तः। कथम्भूताम्? यस्यां संहितायाम् ॥४॥

**सिद्धोऽस्मीत्येतदुपपादयति - भगवन्निति**। अभयहेतुत्वेन आत्मानं विशिनष्टि, त्वया दर्शितमभयं निर्वाणमानन्दरूपं (मात्रं) ब्रह्म प्रविष्टः तदनुभवमग्न इत्यर्थः ॥५॥

यदुक्तं "किं भूयः श्रोतुमिच्छसि" इति (भाग.12-5-13) तत्र सिद्धोऽहं न किञ्चित् श्रोतुमिच्छामि किन्तु अनुज्ञां देहीत्याह - **अनुजानीहीति**। हे ब्रह्मन्! वाचं यच्छामि मौनं बिभर्मि, मुक्ता कामा आशया तद्वासनाश्च यस्मात्तच्चेत अधोक्षजे निवेश्यासून् प्राणान् विसृजामि तदर्थं मामनुजानीहि ॥६॥

पुनः सिद्धार्थतामेव आविष्करोति - **अज्ञानमिति**। ज्ञानमुपदेशजन्यं विज्ञानं भगवदनुभवात्मकं तन्निष्ठया अज्ञानं देहात्मभ्रमस्वतन्त्रात्मभ्रममूलं निरस्तं भवता क्षेमं केवलसुखरूपं भगवत पदं स्वरूपं यतो दर्शितम् ॥७॥

**इतीति**। तं राजानं अनुज्ञाय अनुज्ञाप्य नरदेवेन राज्ञा पूजित भिक्षुभि मुनिभि सह जगाम ॥८॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

श्रीनारायणानुग्रहेण परीक्षितो देहवियोगलक्षणं मरण जनमेजयस्य पितृभक्तिप्रदर्शनाय सर्पयाग शक्रस्य च शक्रस्य स्वविमानपातोपेक्षां कथयत्यस्मिन्नध्याये। तत्रादौ परीक्षित शुकानुज्ञानदानप्रार्थनाप्रकार तत्कुमाह - **एतदिति**। एतत्पुराणं निखिलं पूर्णमात्मानं पश्यतीति निखिलात्मदृक् तेन समस्तस्वामिदृशा वा ॥१॥

सिद्धः सम्पादितपुरुषार्थदहः ॥२॥

दीनेष्वनुग्रह इति यत्तदिदम् ॥३॥

को ऽयमनुग्रह इति तमाह - **पुराणेति** ॥४॥

भयाभावे निमित्तमाह - प्रविष्ट इति। निर्वाणमानन्द प्राकृतशर्मरहित वा ॥५॥

कामानामाशयः शयनं यस्मात्तज्जडचेतो निगृह्याऽधोक्षजे प्रवेक्ष्ये ॥६॥

क्षेमं मङ्गलं 'क्षेमो ना प्राप्तरक्षाया मोक्षेप्यस्त्री तु मङ्गले' इति यादव ॥७,८॥

**परीक्षिदपि राजर्षिरात्मन्यात्मानमात्मना।**
**समाधाय परं दध्यावस्पन्दासुर्यथा तरुः ॥९॥**

प्राक्कूले बर्हिष्यासीनो गङ्गाकूल उदङ्मुखः ।
ब्रह्मभूतो महायोगी निःसङ्गश्छिन्नसंशयः ॥१०॥

तक्षकप्रहितो विप्राः क्रुद्धेन द्विजसूनुना ।
हन्तुकामो नृपं गच्छन् ददर्श पथि काश्यपम् ॥११॥

तं तर्पयित्वा द्रविणैर्निवर्त्य विषहारिणम् ।
द्विजरूपप्रतिच्छन्नः कामरूपोऽदशन्नृपम् ॥१२॥

ब्रह्मभूतस्य राजर्षेर्देहोऽहिगरलाग्निना ।
बभूव भस्मसात् सद्यः पश्यतां सर्वदेहिनाम् ॥१३॥

हाहाकारो महानासीद् भुवि खे दिक्षु सर्वतः ।
विस्मिता ह्यभवन् सर्वे देवासुरनरादयः ॥१४॥

देवदुन्दुभयो नेदुर्गन्धर्वाप्सरसो जगुः ।
ववृषुः पुष्पवर्षाणि विबुधाः साधुवादिनः ॥१५॥

जनमेजयः स्वपितरं श्रुत्वा तक्षकभक्षितम् ।
यथा जुहाव संक्रुद्धः सर्पान् सत्रे सहद्विजैः ॥१६॥

**श्रीध० परीक्षिदिति**। आत्मना बुद्ध्या आत्मानं मन आत्मनि प्रत्यक्प्रकाशे समाधाय परमात्मानं दध्यौ। अस्पन्दासुः लीनप्राणः यथा नु तरुः स्थाणुः ॥९॥

तमेव विशिनष्टि - **प्रागिति**। प्राक्कूले प्राग्ग्रे बर्हिषि दर्भे ॥१०॥

तदेवं ब्रह्मभूते तस्मिन्, तक्षकागमनादिकं पिष्टपेषणमिवाभवदिति दर्शयति **तक्षक** इति त्रिभिः। हे विप्राः ॥११॥

**तमिति**। तं विषचिकित्सया परीक्षिद्रक्षणेन द्रव्यार्जनाय आगच्छन्तं, तत्र मार्गे स्वालीढवटवृक्षस्य भस्मीभूतस्य पुनरंकुरादिक्रमेण उत्थापनाद् विषहारिणं तदपेक्षितद्रविणैः संतर्प्य ततो निवर्त्य द्विजरूपेण तिरोहितस्सन् अदशत् ॥१२॥

तच्च पुत्रकृत्यमिव जातमित्याह - **ब्रह्मभूतस्येति** ॥१३॥

तत्र क्षणं सर्वेषां दुःखं च ततः परमुत्सवं चाह द्वाभ्याम् - **हाहाकार** इति ॥१४,१५॥

---

1 HV ब्रह्म 2 AB क्रु 3 HV रूप्यद 4 HMMaV भ 5 W तदाऽजुहाव 6 ABGJW नागान् 7 W महाद्विजै 8 ABJ omit मार्गे

प्रासंगिकमाह **जनमेजय** इत्यादि सत्रे[1] सर्पाभिचारसत्रे द्विजैः सह वर्तमानो यथा - **यथावदाजुहाव जुहावेति वा**।[2] सर्वसर्पाह्वाने[3] कारणमाह। संक्रुद्ध इति ॥१६॥

**वीर० परीक्षिदपि** इति। आत्मनि परमात्मनि, आत्मानमात्मनैव सम्यगाधाय परमात्मशेषतैकरसं स्वात्मानमेव ध्यात्वेत्यर्थः ॥९॥

गङ्गातीरे प्रागग्रदर्भेषु उदङ्मुख आसीन यथा तरु तद्वदस्पन्दासु निरोहितसर्वेन्द्रियव्यापार निस्सङ्ग देहतदनुबन्ध्यभिमान-रहितः छिन्नाः संशयाः देहात्मजीवपरमात्मभेदाभेदादिसंशयाः येन स, महायोगी महासमाधियुक्त ब्राह्मभूत संशुद्धावस्थ ब्राह्मशब्दो मुक्तावस्थ जीवपरः मुक्तोऽभवदिति यावत् ॥१०॥

तदा हे विप्राः! क्रुद्धेन द्विजसूनुना, प्रचोदित तक्षक नृपं हन्तुकामो गच्छन् पथि काश्यपं ददर्श ॥११॥

तं विषचिकित्सया परीक्षिद्रक्षणेन (निर्धार्य तत्) द्रव्यार्जनाय गच्छन्त स्वालीढस्य वृक्षस्य भस्मीभूतस्य पुनरङ्कुरादि क्रमेणोत्पादनात् विषहारिणं तदपेक्षितद्रविणैः सन्तर्प्य निवर्त्य द्विजरूपेण निरोहित सन् अदशत् ॥१२॥

निर्जीवस्य शरीरस्य दंशनेन भस्मीकरणं पुत्रकृत्यमिव जातमित्याह - **ब्राह्मभूतस्येति**। मुक्तावस्थां प्राप्तस्य राजर्षे देह सर्वदेहिनां पश्यतां सतां सद्य एव गरलाग्निना भस्मसादभवत् ॥१३॥

तत् क्षणं सर्वेषां दुःखं, तत परमुत्सवञ्चाह - द्वाभ्याम्[4] **हा हाकार** इति। भुवि खे आकाशे सर्वत सर्वासु दिक्षु ॥१४॥

**देवदुन्दुभयः**[5] इति। स्वदनेन ध्वनु[5] ॥१५॥

प्रासङ्गिकमाह - **जनमेजय** इत्यादिना। तदा सत्रे क्रोधेन प्रारब्ध सर्पाभिचारयागे सर्पानाजुहाव मन्त्रैराचकर्ष सर्वसर्पाह्वाने कारणं सङ्क्रुद्ध इति ॥१६॥

**विज०** अस्पन्दासु निश्चलेन्द्रिय विषयव्यापारशून्येन्द्रिय इत्यर्थ ॥९॥

**ब्राह्मणि भूतः** ॥१०॥

हे विप्राः! ॥ ११,१२ ॥

अहिगरलाग्निना सर्पविषाग्निना ॥१३-१५॥

---

A B J omit सत्रे . 2 A B J omit यथावत् . 3 H V सर्पाह्वाने 4 T W omit द्वाभ्याम् 5- 5 T W omit

कथान्तरमारभ्यते - जनमेजय इत्यादिना ॥१६॥

सर्पसत्रे सम्प्रदीप्तेऽग्नौ दह्यमानान् महोरगान् ।
दृष्ट्वेन्द्रं भयसंविग्नः तक्षकः शरणं ययौ ॥१७॥

अपश्यंस्तक्षकं तत्र राजा पारीक्षितो द्विजान् ।
उवाच तक्षकः कस्मान्न दह्येतोरगाधमः ॥१८॥

तं गोपायति राजेन्द्र! शक्रश्शरणमागतम् ।
तेन संस्तम्भितस्सर्पस्तस्मान्नाग्नौ पतत्यसौ ॥१९॥

पारीक्षित इति श्रुत्वा प्राहर्त्विज उदारधीः ।
सहेन्द्रस्तक्षको विप्राः नाग्नौ किमिति पात्यते ॥२०॥

तच्छ्रुत्वाऽऽजुहुवुर्विप्राः सहेन्द्रं तक्षकं मखे ।
तक्षकाशु पतस्वेह सहेन्द्रेण मरुत्वता ॥२१॥

इति ब्रह्मोदिताक्षेपैः स्थानादिन्द्रः प्रचालितः ।
बभूव सम्भ्रान्तमतिः सविमानस्सतक्षकः ॥२२॥

[illegible] विमानेन सहतक्षकमम्बरात् ।
विलोक्याङ्गिरसः प्राह राजानं तं बृहस्पतिः ॥२३॥

नैच त्वया मनुष्येन्द्र वधमर्हति सर्पराट् ।
अनेन पीतममृतं मतोऽयमजरामरः ॥२४॥

**श्रीध०** कस्मात्तक्षको न दह्येतेत्युक्ताः सन्तो द्विजा ऊचुः - **तमिति**। तेनेन्द्रेण। असौ सर्पः ॥१७-१९॥

**पारीक्षित** इति। ऋत्विजः प्रत्याह सहेन्द्र इन्द्रसहितः किमिति न पात्यते ॥२०॥

तद्राज्ञो वचः श्रुत्वा आजुहुवुः -**तदिति** साक्षेपमाह्वानं दर्शयति - तक्षकेति। इहाग्नावाशु पतस्व। मरुत्वता मरुद्गणवतेन्द्रेण सह ॥२१॥

---

1 A.B.G.J "[illegible]", 2 HV सर्प[illegible]ः, 3-3 HV "[illegible]", M.Ma "[illegible]", 4 HV [illegible], 5 M.Ma इन्द्र, 6 A.B.G.J [illegible], M.Ma [illegible], 7 H V प्रति[illegible]

इतीति। ब्राह्मणैरुक्तैराक्षेपैः परुषवाक्यैः ॥२२॥

तमिति। तं तक्षकं अंगिरसः पुत्रो बृहस्पतिः प्राह ॥२३,२४॥

वीर० सर्पसत्र इति। समिद्धे प्रज्वलिते दह्यमानान् दृष्ट्वा तक्षकाख्यः सर्पः इन्द्रं शरणं ययौ ॥१७॥

अपश्यन्निति। पारीक्षितः परीक्षितः पुत्रः तक्षकमपश्यन् उवाच। उक्तिमेवाह तक्षक इति ॥१८॥

इत्थं पृष्टाः प्राहुः विप्राः, किमिति? हे राजेन्द्र! तं तक्षकं शरणं गतं शक्र इन्द्रः गोपायति रक्षति तस्मात्तेन शक्रेण संस्तम्भितः निवारितोऽसौ तक्षकः सर्पोऽग्नौ न पतति ॥१९॥

इति विप्रवचः श्रुत्वा पारीक्षित उदारधीः विपुलबुद्धिः पुनः ऋत्विजः प्राह तदेवाह - सहेन्द्र इति। हे विप्राः! इन्द्रसहितः तक्षकः किमिति न पात्यते ॥२०॥

तत्पारीक्षितोक्तं श्रुत्वा विप्राः ऋत्विजः मखे यागे सहेन्द्रं तक्षकमाजुहुवुः आह्वान प्रकारं दर्शयति - तक्षकेति। हे तक्षक, मरुत्वता मरुद्गणावृतेनेन्द्रेण सहाऽग्नावाशु पतस्वेति ॥२१॥

इत्थंभूतैः ब्राह्मणोदिताक्षेपैः ब्राह्मणोक्तपरुषवाक्यैः सविमानः सतक्षकः स्थानात् प्रच्यावितः सम्भ्रान्त मतिः भीतचित्तो बभूव ॥२२॥

तमिति। तमिन्द्रमम्बरात्पतन्तमवलोक्याङ्गिरसः पुत्रो बृहस्पतिः राजानं जनमेजयं प्राह ॥२३॥

तदाह चतुर्भिः - नेति। हे मनुष्येन्द्र! एष सर्पराट् तक्षकः त्वया वधं नार्हति न वध्य इत्यर्थः। तत्र हेतुः अनेन तक्षकेण ॥२४॥

विज० तत्र यज्ञे कुण्डाग्नौ ॥१७-१९॥

हे विप्राः शीघ्रमात्यतामिति शेषः ॥२०॥

मरुत्वता मरुद्भिर्युक्तेन ॥२१॥

ब्रह्मोदिताक्षेपैः ब्राह्मणोत्कर्षणमन्त्रवचनैः ॥२२॥

आङ्गिरसोऽङ्गिरोगोत्रप्रभवः किमिति अत्र इन्द्रेणोपेक्षाकारि स्वपातेन हि इन्द्रस्य ब्राह्मणेभ्योऽभिभवो भवेद्देवोत्तमत्वादिति शङ्का न कार्या, जनमेजयस्य ससन्तानोद्भवत्वेन तत्प्रीतिकामेनेन्द्रेण इय मुपेक्षा कृता 'ध्वसन्तानोद्भवं कीर्त्या याजयन् जनमेजयम्।

---

1 TW उक्त, 2 TW शक्र, 3 TW omit रक्षति 4 TW omit तदेवाऽह 5 TW omit आशु, 6 TW omit चतुर्भि

शक्तोप्यशक्तवद्यष्टुरिन्द्र आसीदुपेक्षकः ॥ एवमेव ऋषीणाञ्च कीर्तिं योजयताऽमुना । कृतोपेक्षा महेन्द्रेण किमु विष्णुः परात्परः ॥ तस्माद्विष्णोरशक्यं न भूतभव्यभवत्स्वपि। न चानिष्टं गुणैरेव पूर्णो नारायणस्सदा ॥" (वामने) इति ॥२३॥

अथ तस्मात् ॥२४॥

जीवितं मरणं जन्तोर्गतिः स्वेनैव कर्मणा ।
राजं स्ततोऽन्यो नान्यस्य प्रदाता सुखदुःखयोः ॥२५॥
सर्पचौरादि ग्रहन्यम्बु क्षुत्तृड्व्याध्यादिभिर्नृप!।
पशत्वमृच्छते जन्तुः भुङ्क्ते ह्यारब्धकर्म तत् ॥२६॥
तस्मात् सत्रमिदं राजन् संस्थीयेताभिचारिकम् ।
सर्पा अनागसो दग्धा जनैर्दिष्टं हि भुज्यते ॥२७॥

सूत उवाच

इत्युक्तः स तथेत्याह महर्षेर्मानयन् वचः ।
सर्पसत्रादुपरतः पूजयामास वाक्पतिम् ॥२८॥

**श्रीध०** भवतु नामाजरामरः तथाऽपि पितृमारकं धक्ष्यामीति चेत्तत्राह - **जीवितमिति**। गतिः परलोकः अतो दुर्मरणनिमित्ता पितुर्दुर्गतिरनेन कृतेत्यपि न शङ्कनीयमित्यर्थः ॥२५॥

**कथमन्यः** सुखदुःखप्रदाता नास्ति सर्पादीनामुपलभ्यमानत्वादिति चेत्तत्राह । **सर्पेति** सर्पादिना जन्तुः पशुत्वं मृत्यु मृच्छते ऋच्छति प्राप्नोतीति यत् तदारब्धं कर्मैव भुङ्क्ते। स्वकृतकर्मप्रयुक्ता एव सर्पादयो न स्वतन्त्रा इति भावः ॥२६॥

**तस्मादिति**। संस्थीयेत समाप्यताम्। आभिचारिकं हिंसादिफलकम्। दिष्टं प्राचीनं कर्म।अतः सर्पादृष्टप्रयुक्तस्य तवाप्ययं नापराध इति भावः ॥२७॥

**इतीति**। वाक्पतिं बृहस्पतिम् ॥२८॥

**वीर०** पितृघातुकतक्षकविषयक्रोधशान्तये तत्त्वमुपदिशति - **जीवित मिति**। जन्तोः प्राणिनः गतिः स्वर्गनरकादिगतिश्च

---

1- -1 H V राजस्तोऽन्यो नास्यस्य . MgMa राजस्तेन विना नान्य 2 A B G J चौ 3 A B G J विषुद्ध्य 4 A B G J भङ्क्त आ' . MMa भङ्क्ते. आ W भङ्क्ते प्रा' 5 H V च। 6- -6 H M Ma V W omits 7 A B J omit कृत 8 A B J 'साफलम्

अतो हे राजन्, तेन स्वकर्मणा विना सुखदुःखप्रदः नान्योऽस्तीत्यर्थः ॥२५॥

नन्वपरोक्षं तक्षकेण मत्पिता दग्धो दृष्टः न तु कर्मणेत्यत आह **सर्पेति**। सर्पादिभिः जन्तुः मरणमृच्छति प्राप्नोति इति यत्तदारब्धं कर्मैव भुङ्क्ते स्वकृतकर्मप्रयुक्ताः सर्पादयो न स्वतन्त्रा इति भावः ॥२६॥

**तस्मादिति**। यत एवं तस्माद्धेराजन्, इदमाभिचारिकं सत्रं संस्थीयेत समाप्यतां, वृथा निरपराधाः सर्पा दग्धाः, कुतः? हि यस्माज्जनैर्दिष्टं प्रारब्धमेव भुज्यते ॥२७॥

**इतीति**। स जनमेजयः महर्षेर्बृहस्पतेर्वचो मानयन् तथेत्याह, सर्पसत्रं समाप्यतां इत्याह - सर्पसत्रादिति। वाक्पतिं, बृहस्पतिम् ॥२८॥

**विज०** मरणं देहवियोगलक्षणं, गतिः परलोकावाप्तिलक्षणा, स्वेन स्वतन्त्रेण हरिणैवोद्बोधितेन स्वानुष्ठितेन कर्मणा तेन स्वकर्मोद्बोधकेन हरिणा विना सुखदुःखयोः प्रदाताऽन्यो नास्ति ॥२५॥

कर्मणः कारणत्वे सर्पादिना मृतो विष्णुमित्र इति कथमुपपद्येतेत्याशङ्क्य तेऽपि कर्म निमित्तीकृत्य कारणमिति भावेनाह - **सर्पेति**। आदिशब्देन वृक्षादिभ्यः पतनं गृह्यते, सुखादिभोगहेतुत्वाच्च कर्म प्रधानकारणमित्याह भुङ्क्त इति ॥२६॥

फलितमाह - **तस्मादिति**। संस्थीयेत समाप्तं भवतु आभिचारिकं जनोपद्रवकारकं कर्म एकस्यापराधेन अनपराधिबहुजननाशेन पापमेव स्यादिति भावेनाह - सर्पा इति। ननु, तज्जातित्वात् तक्षकापराध एषामपराधः तस्मादनागसो न स्युः "एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजन" इत्याशङ्क्य तक्षकस्याप्यपराधो नास्ति, दैवेन तद्दंशनेन स्वकृतकर्मपूर्वकेण परीक्षितो मरणस्य क्लृप्तत्वादिति भावेनाह, जनैरिति। दिष्टं दैवकृतं कर्मफलम् ॥२७॥

इत्यादि युक्तिपूर्वकेण वचसा वाक्पतिं बृहस्पतिं "वाग्वै बृहती" (वार्तिक. Under अष्टा 6.1.157) इति श्रुतेः। "तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः" रिति सुट्तलोपश्च ॥२८॥

**सैषा विष्णोर्महामाया बाध्यबाधक लक्षणा।**
**यया मुह्यत्यसावात्मा भूतेषु गुणवृत्तिभिः ॥२९॥**

---

1 TW omit इत्यर्थ 2 TW omit मत् 3 TW omit सर्प 4 4 A omits 5 5 A B G J बाध्यया ऽलक्षणा यया H V बाध्यया चाप्यलक्षणा 6-6 A.B.G J मुह्यन्त्यवैवात्मभूता H V यया मुह्यन्त्यात्मभूता

न यत्र दुर्माव्यतया[1] विराजिता[2], मायाऽऽत्मवादेऽसकृदात्मवादिभिः[3]।
न यद्विवादो विविधस्तदाश्रयो[4], मनश्च सङ्कल्पविकल्पवृत्ति यत् ॥३०॥

न यत्र सृज्यं सृजतोभयोः परं, श्रेयश्च जीवस्त्रिभिरन्वितस्स्वयम्[5]।
तदेतदुत्सादितबाध्यबाधकं निषिध्य चोर्मीन् विरमेत तन्मुनिः[7] ॥३१॥

परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्, यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्य सौहृदा हृदोपगुह्यावसितं समाहितैः ॥३२॥

**श्रीध०** ननु कथं विदुषामप्येवं संमोहो यतो ब्रह्मकोपात्परीक्षितो मृत्युर्जनमेजयकोपात्सर्पाणामित्यादि तत्राह। **सैषेति**। तस्या महत्त्वं दर्शयति। अलक्षणा न लक्ष्यत इत्यलक्षणा अप्रतर्क्येत्यर्थः। काऽसावित्यत आह। ययाऽस्य विष्णोरेवात्मभूता आत्मांशभूताः प्राणिनो गुणवृत्तिभिः क्रोधादिभिः सह भूतेषु देहेषु मुह्यंति बाध्यबाधकतां व्रजन्तीत्यर्थः। ननु, श्रवणादिना बाधितया तया कुतो मोहः स्यात्तत्राह - अबाध्यया बाधितुमशक्यया ॥२९॥

कथं तर्हि मायातत्कार्य निवृत्तिरित्याशङ्क्य श्रीविष्णुस्वरूपनिरूपणपूर्वकं तद्भजनात् सर्वानर्थनिवृत्तिरिति शास्त्रार्थमुपसंहरति **न यत्रेति** पञ्चभिः। दम्भीति या माया कपटवानयं पुमानित्येवम्भूतायां बुद्धावसकृदुल्लिख्यमाना या मायेत्यर्थः। साऽऽत्मवादे क्रियमाणे आत्मवादिभिर्यत्राभया न विराजिता न प्रकाशिता किन्तु भीतेव स्वकार्यं मोहादिकमकुर्वती कथंचिद्वर्तत इति प्रतिपादितेत्यर्थः। तदुक्तम्। 'तस्मै नमो भगवते वासुदेवाय धीमहि। यन्मायया दुर्जयया मां ब्रुवन्ति जगद्गुरुम्। विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया। विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः'। (भाग.2-5-12,13) इति। किञ्च यद्यस्मिंस्तदाश्रयो मायाश्रयो विविधो विवादोऽपि नास्ति। विशेषविषयत्वात् विवादानां तस्य च विशेषातीतत्वादिति भावः। संकल्पविकल्पावृत्तयो यस्य तन्मनोऽपि यत् यत्र नास्ति। संकल्पविकल्पानामपि विशेषविषयत्वात् ॥३०॥

किञ्च **नेति**। सृज्यं कर्म सृजता कारकवर्गेण सहोभयोः सृज्यस्रष्टोः परं साध्यं श्रेयः फलमपि। अतस्त्रिभिः सृज्यस्रष्टृफलैरन्वितो जीवश्चाहंकारात्मको यत्र नास्ति। अत एव उत्सादितौ निरस्तौ बाध्यबाधकौ यस्मिंस्तदेतत्

---

1 A,B,G,H,J,V दम्भीत्यभया . 2 M&Ms 'राजते . W 'भाव्यते . 3 H V वादेन कृतात्य' . 4 W 'कारो 5 W वयश्च . 6 A,B,G,J 'स्वयम् . 7 A,B,G,J 'त् स्वयं मुनिः 8 A,B,J omit यत्

स्वयमात्मस्वरूपमित्यर्थः। ततस्मात्, ऊर्मीन् अहंकारादीन् निषिध्य मुनिः[1] विरमेत्। विशेषेण क्रीडेदित्यर्थः ॥३१॥

**यतस्तद्वैष्णवं पदमामनन्तीत्याह - परमिति।** यदेतत्तदेव परं वैष्णवं पदं स्वरूपमामन्ति। के ? अतत् आत्मव्यतिरिक्त मुत्सिसृक्षवः त्यक्तुमिच्छवः। यतोऽनन्यसौहृदाः नास्त्यन्यस्मिन् सौहृदं येषां ते, कुतः दौरात्म्यं देहाद्यहंभावं विसृज्य देहेऽहं - काराभावादन्यत्र सौहृदं नास्ति, अतः त्यक्तुमिच्छव इत्यर्थः। कथं नेति नेतीत्येवम्। अत्र विद्वदनुभवमपि प्रमाणयति। हृदोपगुह्य ध्यानादिना ततः समाहितैः अवसितं निश्चितम्। यद्वा अवसितमवबद्धं आत्मतया गृहीतमित्यर्थः ॥३२॥

**वीर०** ननु, कथं विदुषामप्येवं सम्मोहनं यतो ब्राह्मणक्रोधात्[2] परीक्षितो मृत्युः, जनमेजयकोपाच्च सर्पाणामित्यदि तत्राह - **सैषेति।** बाध्यबाधकेति भावप्रधानो निर्देशः बाध्यत्वबाधकत्वे लक्षयति आपादयति तथा, तत्त्वं न साक्षात् किन्तु जीवमोहनद्वारा इत्यभिप्रेत्याह - ययेति। यया माययां निदानभूतया, भूतेषु, क्रीडाविषयेषु[3] गुणवृत्तिभिः क्रीडादिभिः[4] असावात्मा मुह्यति ॥२९॥

विष्णोर्महामायेति सम्बन्धोक्त्या तस्यापि तया मोहादि शङ्कां वारयन् समाधिदशायां अनुसन्धेयं परमात्मस्वरूपमाह - **न यत्रेति।** आत्मवादिभिः परमात्मस्वरूपनिरूपकैः सकृदप्यात्मवादे परमात्मस्वरूपनिरूपणे क्रियमाणे दुर्भाव्यतया दुर्विभाव्यत्वेन न विभाव्यते न स्वकार्यकरणेनावतिष्ठते सा माया यत्र परमात्मस्वरूपे न स्वकार्यक्षमेति किं पुनर्वक्तव्यमित्यर्थः। किं च **यद्यत्र** परमात्मनि तदाश्रयः मायाश्रयः मायाप्रयुक्तमोहमूलेकः त्रिविधो विकारः कुतर्करूपो नास्ति तस्य तदविषयत्वादिति भावः। **यद्यत्र** सङ्कल्पविकल्पाभ्यां वर्तत इति तथा, तन्मनश्च नास्ति, न तद्विषयीकरोति निवृत्तसङ्कल्पविकल्पयोगपरिशुद्ध मनोविषयत्वादिति भावः ॥३०॥

**किञ्च नेति।** सृज्यं शरीरं सृजतीति सृजत् कर्म तेन सह सृज्यं यत्र नास्ति कर्म तदायत्तं शरीरं च यत्र नास्तीत्यर्थः। उभयोः कर्म तत्कल्पितदेहयोः परं ताभ्यां साध्यं सुखदुःखादिरूपं फलं च यत्र नास्तीत्यर्थः। वचश्च देवमनुष्यादिशब्दजातं च यत्र न वर्त्तते तदित्थंभूतं परमात्मस्वरूपमित्यर्थः। ततः किमत आह - जीवः स्वयं त्रिभिरन्वितोऽपि गुणत्रयवश्योऽपि तन्मुनिः तादृशपरमात्मस्वरूपमननपरः एतत्पृथिव्याद्यचित्तत्वं निषिध्य परिहृत्य ऊर्मीन् अशनायापिपासा शोकमोहजरामृत्यून् च निषिध्य विरमेत् समाहितमनस्कतया निवृत्तव्यापारो भवेत् उत्सादितबाध्यबाधकमिति क्रियाविशेषणं परस्परं उद्भवाभिभवहेतुभूतं गुणत्रयं यथोत्सादितं स्यात्तथा निषिध्येत्यर्थः ॥३१॥

---

1 B H J V omit मुनि। 2 T W कोपात्। 3 T W omit क्रीडा। 4 T W omit क्रीडादिभि

किञ्च तदेव वैष्णवं पदं परमामनन्ति वैष्णवमित्यभेदसम्बन्धे विशेषणं परं प्रकृतिपुरुषविलक्षणं परं सर्वोत्कृष्टं वा, पश्यत इति पदं स्वरूपं किं तत् यन्नेति नेति प्रकृतिप्राकृत जडाजडवस्तु यादृशं तादृशं न भवतीत्यत उत्सिसृक्षवः तद्व्यतिरिक्त चेतनाचेतनं व्यावर्तयितुमिच्छवः दौरात्म्यं रागद्वेषादिकं अहममाभिमानं वा विसृज्य अनन्यसौहृदाः नान्यस्मिन् भगवद्व्यतिरिक्ते सौहृदं येषां ते, हृदोपगूह्य ध्यानादिना संश्लिष्य समाहितैः समाधिनिष्ठैः अवसितं निश्चितम् ॥३२॥

विज० सुखादे जीवादृष्टमेव मुख्यं कारणं नान्यदित्याशङ्कां परिहरति - सैषेति। याऽदृष्टोद्बोधिका सैषा महामाया महत् अपरिमितं माहात्म्यं तस्य विष्णोः तस्मात् न दुर्गा अत्रोच्यते, बाध्ये स्थितत्वात्। बाध्यात्मत्वेन जानाति सत्त्वादिगुणवृत्तिभिः कारणैः विषयवृत्तिभिः, व्यापारैरिति शेषः ॥२९॥

मुह्यन् आत्मा परमात्मेति शङ्कामपाकरोति - नेति। आत्मवादिभिः उपनिषद्विचारचतुरैः पुरुषैः असकृत् बहुवारमात्मवादे परमात्मविचारे कृते सति मायामोहनशक्तिः यत्र हरौ न विराजते मोहकत्वेन न प्रवर्तते अन्यैर्दुर्विभाव्यतया स्थिता उपक्रमादि तात्पर्यलिङ्गैः क्रियमाण एव विचारो निर्णायको न तु यथाप्रतीतार्थ इत्याह, नेति। विविधो यद्विवादः तदाश्रयो ब्रह्मविषयो न भवति 'अश्रद्धाचानभ्युदितम्" (केन.उ -1-4) इति श्रुतेः। तर्हि मनन समर्थस्य मनसो विषयत्वं स्यादत्राह - मनश्चेति। चोप्यर्थः मनोऽपि यद्ब्रह्म न विषयीकरोति। "यन्मनसा न मनुते" (केन. उ. 1-6) इति श्रुतेः सङ्कल्पविकल्पाभ्यां वृत्तिर्यस्य तत्तथा, अनेन मनसोऽस्थिरत्वेन विषयीकरणसामर्थ्यं नास्तीति सूचितम् "मनसा वा अग्रे सङ्कल्पयत्यथ वाचा व्याहरति" (ऐत. उ.1-1-2) इति श्रुतेः। वाचो विषयो नेति किं वक्तव्यमिति कैमुत्यन्याययोप्यदर्शि। अत्र वागादिशब्देन तदभिमानिदेवता व्यपदिश्यन्ते, तासां जडत्वेन प्रवृत्त्यनुपपत्तेः ॥३०॥

सृज्यं विश्वं यत्र न वर्तते, बाधकतयेति शेषः। उभयोर्देवासुरयोः परं विलक्षणं आनन्दलक्षणं श्रेयः सृजता ददता येन वैषम्यनैर्घृण्ये, नाप्येते इति शेषः। त्रिभिः सत्त्वादिगुणैः धर्मार्थकामैर्वा अन्वितो जीवः स्वयं च यत्र न कञ्चन, विशेषमापादयतीति शेषः। यस्तदेतत् ब्रह्म जानाति तन्मुनिः स ज्ञानी षड्भींन् निषिध्य विरमेत, कृत्यादिति शेषः। कीदृशं ब्रह्म? उत्सादितबाध्य बाधकं उत्सादितौ बाध्यबाधकौ येन तत्तथा ॥३१॥

किन्नामधेयं ब्रह्मेति तत्राह- परं पदमिति। यन्नेति नेति इति अतदुत्सिसृक्षवो विचक्षणाः यदेवं स्थितं तद्वैष्णवं पदमामनन्ति वदन्तीत्यन्वयः। कीदृशम्? तस्मिन्नेव समाहितैः करणैरवसितं सम्यग्वशीकृतम् ॥३२॥

[1]त एतदधिगच्छन्ति विष्णोर्यत् परमं पदम् ।
अहं ममेति दौर्जन्यं न येषां देहगेहजम् ॥३३॥

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥३४॥

नमो भगवते तस्मै कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
यत्पादाम्बुरुहध्यानात् संहितामध्यगामिमाम् ॥३५॥ *

(विजयध्वजरीत्या षष्ठोध्याय आरभ्यते)

शौनक उवाच

पैलादिभिर्व्यासशिष्यै र्वेदाचार्यैर्महात्मभिः ।
[2]वेदाश्च कतिधा व्यस्ता एतत्सौम्याभिधेहि नः ॥३६॥

सूत उवाच

[3]समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।
हृद्याकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद्विभाव्यते ॥३७॥

यदुपासनया ब्रह्मन् योगिनो मलमात्मनः ।
द्रव्यक्रियाकारकाख्यं [4]धूत्वा यान्त्यपुनर्भवम् ॥३८॥

ततोऽभून्निवृदोङ्कारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट् ।
यत्तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः ॥३९॥

[5]शृणोति य इमं स्फोटं सुप्त श्रोत्रे च शून्यदृक् ।
येन वाग् व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः ॥४०॥

श्रीध० एतत्प्राप्तावधिकारिणो दर्शयति। त एतदिति। देहजमहमिति। गेहजं ममेति ॥३३॥

तत्र प्राप्युपायमाह - अतिवादानिति ॥३४॥

शास्त्रसमाप्तौ गुरुं प्रणमति - नम इति। कृष्णाय व्यासाय। अध्यगामधीतवानस्मि ॥३५॥

1 MMa तदेतद्‌ * अत्र विजयध्वजरीत्या षष्ठाध्याय समाप्त 2 H M Ma V "दा वै 3 H V हृदा" 4 H V हित्वा 5 H V श्रोत्राऽपि MMa श्रोते वा W श्रोत्रेण 6 ABJ "मधिगतवा"

**इमां संहितां अध्यगामित्युक्तं तत्र पुराणसंहिताविभागं विशेषतो बुभुत्सुः वेदविभागमपि प्रसन्नात्पृथक् पृच्छति। पैलादिभिरिति। हे सौम्य !** ॥३६॥

तत्र प्रथमं वेदाविर्भावप्रकारमाह **समाहितात्मन** इत्यष्टभिः। ब्रह्मणो हृदि य आकाशः तस्मान्नादोऽभूत्। यः कर्णपुटपिधानेन श्रोत्रवृत्ति[1] निरोधात् अस्मदादिष्वपि विभाव्यते वितर्क्यते ॥३७॥

प्रसन्नान्नादोपासनया[2] मोक्षफलमाह - **यदिति**। यस्य नादस्य उपासनयाऽऽत्मनो मलं धूत्वा[3] अपोह्य कथम्भूतं मलं, तदाह। द्रव्यमधिभूतं, क्रियाऽध्यात्मं कारकमधिदैवं एवं त्रिधाभूता आख्या यस्येति तथा तत् ॥३८॥

**तत इति**। ततः नादात् त्रिवृत् त्रिमात्रः कंठोष्ठादिभिः उच्चार्यमाणस्य ओंकारस्य अक्षरसमाम्नायान्तर्भावात् सूक्ष्मतया तं विशिनष्टि। अव्यक्तः प्रभवो यस्य सः। तदेवाह। स्वराट् स्वत एव हृदि प्रकाशमानः। तमेव कार्येण लक्षयति यत्तदिति। नपुंसकत्वं लिङ्गशब्दविशेषणत्वात्। लिङ्गं गमकम् ॥३९॥

कोऽसौ परमात्मा ? तमाह। **शृणोतीति**। इमं स्फोटमव्यक्तमोंकारम्। ननु जीव एव तं शृणोतु, नेत्याह। सुप्तश्रोत्रे कर्णविधानादिना अवृत्तिकेऽपि श्रोत्रे सति। जीवस्तु करणाधीनज्ञानत्वात् न तदा श्रोता। तदुपलब्धिस्तु तस्य परमात्मद्वारिकैवेति भावः। ईश्वरस्तु नैवम्। यतः शून्यदृक्। शून्येऽपीन्द्रियवर्गे दृक् ज्ञानं यस्य। तथाहि सुप्तो यदा शब्दं श्रुत्वा प्रबुध्यते न तदा जीवः श्रोता लीनेन्द्रियत्वात्। अतो यस्तदा शब्दं श्रुत्वा जीवं प्रबोधयति स यथा परमात्मैव तद्वत्। कोऽसावोंकारः तं विशिनष्टि सार्धेन। येन वाक् बृहती व्यज्यते। यस्य च हृदयाकाशे आत्मनः सकाशात् व्यक्तिरभिव्यक्तिः ॥४०॥

**वीर०** दौरात्म्यं विसृज्येत्युक्त्वा तत्त्यागस्य साधननिष्पादनद्वारा भगवत्प्राप्तिसाधनत्वं सूचितं तत्स्पष्टमेवाह - **एतदिति**। येषां देहगेहजं देहगेहविषयं अहममेति दौर्जन्यं नास्तीति एते तद्विष्णोः परमं पदं अधिगच्छन्ति उपासनया साक्षात्कुर्वन्ति गत्यर्थाः बुद्ध्यर्थाः यद्वा प्राप्नुवन्ति ॥३३॥

तदेवं बाध्यबाधकभावस्य भागवन्मायाप्रयुक्तत्वं अभिधायाऽथ तदनुप्रसक्तं च परिहृतं तन्मायातितीर्षूणां वृत्तिमाह - **अतिवादानिति**। अतिक्रान्तवादान् विरुद्धवादान् परुषवचांसीति यावत् इमं मर्त्यं देहमाश्रित्य आत्मत्वेन (आत्मीयत्वेन) अभिसन्धाय केनचिदपि वैरं न कुर्यात् ॥३४॥

शास्त्रसमाप्तौ गुरुनमस्कारात्मकं मङ्गलमाचरति - **नम इति**। कृष्णाय कृष्णद्वैपायनाय अकुण्ठमेधसे असङ्कुचितबुद्धये अध्यगां अधिगतवानस्मि ॥३५॥

---

1 A B J omit प्र. 2 A B J "सकाना". 3 H V omit धूत्वा . 4-4 A B J omit

इमां संहितां अध्यगां इत्युक्तं तत्र पुराणसंहिताविभागं विशेषतो बुभुत्सुः तावत्तन्मूलभूत वेदविभागं पृच्छति शौनक - पैलादिभिरिति। वेदाचार्यैः वेदाचारनिरतैः तत्प्रवर्तकैश्च कतिधा व्यक्ताः विभक्ताः एतद्विभागवैविध्यं, नोऽस्मभ्यमभिधेहि ॥३६॥

इत्थमापृष्टः तं विभागं विवक्षुः तावत् (यावत्) बादरायणजन्मविभागेनैव प्रवृत्त इति वक्तुं तावद्वेदाविर्भावक्रममाह अष्टाभिः समाहितेति। हे ब्रह्मन्! शौनक! भगवति समाहित आत्मा मनो येन तस्य परमेष्ठिनश्चतुर्मुखस्य हृदि य आकाशः तस्मात् नादोऽभूत् । आकाशसंसृष्टवायुपरिणामात्मकप्राणघोष अभूत् आविर्बभूव, नादं विशिनष्टि - यो वृत्तिरोधात् श्रोत्र वृत्तिनिरोधात् विभाव्यते श्रोत्रपिधानात् श्रूयते इत्यर्थः ॥३७॥

किञ्च यस्य नादस्योपासनया योगिन योगीश्वराः द्रव्यक्रियाकारकाख्यमात्मनो मलं विधूय अपुनर्भवं मोक्षं प्राप्नुवन्ति, ज्ञानोत्पाददकत्वात् तदुपासनाया इति भावः । द्रव्यं शरीरं, क्रिया पुण्यापुण्यात्मकं कर्म, कारकं इन्द्रियं, एवं त्रिधा ख्यायते इति तथा देहेन्द्रियतदुभयनिष्पाद्यकर्माख्यं मलमित्यर्थः ॥३८॥

तत इति। ततो नादात् त्रिवृदोंकारोऽभवत्प्रथमं साधारणरूपेण प्रतिपन्न शब्दः प्रणवरूपेण व्यक्तो बभूवेत्यर्थः । त्रिवृत् त्रयाणां अकारोकारमकाराणां वृद्वर्तनं यस्मिन् स , त्रिमात्रो वा। तमेव विशिनष्टि - अव्यक्तप्रभव अयोगिभिर्ज्ञातुमशक्यप्रभव स्वयमेव राजत इति स्वराट् यत्तद्ब्रह्मण परमात्मनो लिङ्गं ज्ञापकं वाचकम्। यत्तदिति नपुसकत्वं लिङ्गविशेषणत्वात् ॥३९॥

कोऽसौ परमात्मेत्यतस्तं वदन् प्रणवस्य तद्वाचकतामाह - शृणोतीति सार्धेन। सुमश्रोत्रेणेति समस्तं पदं य इमं स्फोटं प्रणवरूपं शब्दं सुमश्रोत्रेणाऽपि श्रृणोति श्रोत्रे पिहिते सत्यपि शृणोतीत्यर्थ । य श्रोत्रयोर्दृढपिहितयो सतोरिमं स्फोटं शृणोति स परमात्मैव न तु जीवः तस्य करणायत्तज्ञानत्वादिति भाव । परमात्मा तु अकरणायत्तज्ञान इत्याह शून्यदृगिति। शून्येऽपीन्द्रि - यवर्गे पश्यतीति शून्यदृक् जीवस्य नादोपलब्धिस्तु परमात्मद्वारिकेति भाव । यद्वा प्रणवमेव विशिनष्टि शृणोतीति। शून्यदृगर्थान्तर ज्ञान रहितः पिहितकर्णेन विषयान्तरागोचरतया श्रूयमाण इत्यर्थ । येन वाग्व्यज्यते प्रचोदिता मती अभिव्यज्यते यस्यात्मन आकाशो व्यक्तिः शरीरं (स्वरूपम्) यद्वा, येन प्रणवेन वाग्व्यज्यते लौकिकवैदिकराशि अभिव्यज्यते यस्यात्मन प्रणवस्वरूपस्य आकाशः हृदयाकाशव्यक्तिः अभिव्यक्तिस्थानम् ॥४०॥

विज० अत्र प्रमाणमाह - तदेतदिति ॥३३॥

अतिवादान् दुष्टवचनानि ॥३४॥

---

1 W omits शौनक  2 W omits अभूत  3 W omits योगीश्वरा

**श्रेयःप्राप्तौ** तस्मादिदं प्रकृष्टमाधनमित्याशयेनाह - **नम इति**। श्रीकृष्णचरणारविन्दप्रणतिस्मरणपूर्वकं **भागवतपुराणलक्षणसंहिता** श्रवणमननादिकं पुरुषसाधनमित्यर्थः ॥३५॥

(विजयध्वजतीर्थगम्भीरायां पञ्चमोऽध्यायस्समाप्यते)

**भगवन्माहात्म्यप्रकटनाय** तत्प्रेरितेन चतुर्मुखेन नादादि वेदान्तशब्दराशि मुद्धृत्य अध्यापनेन पुत्रेभ्यो विश्राणनं तच्छिष्येभ्यो विभज्य दानमनुयुगं, पुनरपि तद्विभागं पुराणप्रवर्तनं च निगदति अनेनाध्यायेन। तत्रादौ शौनकः सूतं वेदविभागं पृच्छति **पैलादिभिरिति**। वैपदेन वेदादेर्गभिव्यक्तिमूलवेदविभक्तिश्च कथङ्केनेति सूचयति - व्यासशिष्यैरित्यनेन । कस्मिन् युगे किं विभक्तवेदान्व्यस्यन् उत अविभक्तानिति । वेदाचार्यैरित्यनेन वेदोपयोगिकल्पप्रणयननिपुणैः इति । महात्मभिरित्यनेन तपोबलात् **वेददर्शनसमर्थैरिति**। अभिधेहीत्यनेन अन्वर्थनामपूर्वकं वदेति ॥३६॥

तत्रादौ सूचितः सूतः प्रश्नं परिहर्तुं कथामाह - **समाहितात्मन** इति। सं समीचीने निर्दुःखानन्दानुभवे हरावाहित आत्मा मनो यस्य स तथा तस्य ब्रह्मपदस्य अनेकार्थे वृत्तेर्विवक्षितमर्थमाह - परमेष्ठिन इति। शब्दस्य आकाशविशेषगुणत्वेन ततोऽभिव्यक्तिर्युक्तेति सूचयति- हृद्याकाशादिति। तत्सत्त्वे किं प्रमाणम्? अत्राह वृत्तिरोधादिति। स नादः सर्वेन्द्रियवृत्तिस्तम्भाद् वायुवृत्तिनिरोधाच्च विभाव्यते ज्ञायते, योगिनेति शेषः ॥३७॥

किममुना नादेन शून्यकल्पेन फलमिति तत्राह - **यदुपासनयेति**। यस्य नादस्य उपासनया योगिनो द्रव्याणि पञ्चभूतानि तन्निर्मितदेहो वा । क्रिया कर्मेन्द्रियं, कारकं ज्ञानेन्द्रियं, एभ्य आख्यातं प्रकाशितं उत्पन्नमिति यावत्, आत्मनो मनसो मलं धूत्वा अपुनर्भवं मोक्षं यान्तीत्यवन्य । "स्त्रीपुन्नपुंसकात्माऽयं नादो ब्रह्मविनिर्मितः । घण्टादिनादसदृशो मुक्तिस्वर्गादिदो विभुः" ॥ इति वचनादपुनर्भवं तारतम्योपेतं फलमाप्नुवन्तीति भावः ॥३८॥

ततो नादात् घण्टानादानुकारात् त्रीन् अकारोकारामकारख्यान् वर्णान् वृणोतीति त्रिवृत् ओंकारोऽभूदभिव्यक्तः व्यक्तस्य प्रपञ्चस्य प्रभव उत्पत्तिर्यस्य स तथा, "भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वं मोंकार एव" (नृसिंह पू. ता.उ.4-2) इति श्रुतिः। वर्णपक्षे अव्यक्तस्य हरेः सकाशात् प्रभवो यस्य स तथा, स्वत एव राजतीति स्वराट् स्वयं प्रकाशमानः स्वयं परमात्मानं राजयतीति वा । एतदेवाह - यत्तदिति। यत्तदोंकाराख्यं वस्तु हरेर्लिङ्गं ज्ञापकं "ओं तत्त्ववाची ह्योङ्कारो वक्त्यसौ तदुणोतताम्" इति वचनात्। चतुर्मुखव्यावृत्तये परमात्मन इति ॥३९॥

शं ऊनं यापयति दैत्यादिरिति शून्यं परंब्रह्म पश्यतीति शून्यदृक्, स ब्रह्मा परोक्षीयश्च सुप्तः ब्रह्मप्राप्तः स इमं स्फोटं

प्रणवलक्षणं ध्वनिं शृणोति, क इव श्रोतेव भगवानिव, "श्रोता मन्ता" इति श्रुतेः। अनेनास्य सत्त्वे प्रमाणमुक्तं भवति। किञ्च, येनौङ्कारेण वाग्वेदलक्षणा व्यज्यते अकारस्य प्रणवात्मकत्वात् 'अकारो वै सर्वा वाक्' (ऐत. 3.3-6-7) इति श्रुतेः। प्रणवस्य वेदादित्वात् अकारस्यापि सर्वादित्वात् आप्नेरादिमत्त्वाद्वेति श्रुतेः। आत्मनः परमात्मनः उत्पद्यामान आकाशो यस्य, व्यक्तिः स्थानं "आत्मन आकाशस्सम्भूतः" (तैति 3.2-1-1) इति श्रुतिः। आकाशात् सर्वमुत्पद्यते इति च ॥४०॥

स्वधाम्नो ब्रह्मणस्साक्षात् वाचकः परमात्मनः।
स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनम् ॥४१॥

तस्य ह्यासं स्त्रयो वर्णा अकाराद्या भृगूद्वह।
धार्यन्ते यैस्त्रयो भावा गुणनामार्थवृत्तयः ॥४२॥

ततोऽक्षरसमाम्नायमसृजद् भगवानजः।
अन्तःस्थोष्मस्वरस्पर्शह्रस्वदीर्घादिलक्षणम् ॥४३॥

तेनाऽसौ चतुरो वेदान् चतुर्भिर्वदनैर्विभुः।
सव्याहृतिकान् सोङ्कारान् चातुर्होत्रविवक्षया ॥४४॥

पुत्रानध्यापयत्तांस्तु ब्रह्मर्षीन्ब्रह्मकोविदान्।
ते तु धर्मोपदेष्टारः स्वपुत्रेभ्यस्समादिशन् ॥४५॥

ते परम्परया प्राप्ताः तत्तच्छिष्यैर्धृतव्रतैः।
चतुर्युगेष्वथ व्यस्ता द्वापरादौ महर्षिभिः ॥४६॥

क्षीणायुषः क्षीणसत्त्वान् दुर्मेधान् वीक्ष्य कालतः।
वेदान् ब्रह्मर्षयो व्यस्यन् हृदिस्थाच्युतचोदिताः ॥४७॥

अस्मिन्नप्यन्तरे ब्रह्मन् भगवांल्लोकभावनः।
ब्रह्मेशाद्यैर्लोकपालैः याचितो धर्मगुप्तये ॥४८॥

श्रीध० किं च स्वधाम्न इति। स्वधाम्न स्वस्याश्रय कारण यद्ब्रह्म तस्य, किं च परमात्माशभूत समस्त

1 MMa गुणानाम्. 2 H V ततोऽसौ W तेनैवाऽसौ 3 W चतुर्वेदान् 4 H V स्त्रीह्मः सौ 5 H V 'यामास 6 A M Ma महर्षीन्ह H V तानृषिः
7 MMa 'तनोदिता।

**देवतावाचकोऽपीत्याशयेनाह - स इति।** सर्वमन्त्राणामुपनिषद्रहस्यं सूक्ष्मरूपमित्यर्थः। तत्र हेतुः। वेदानां **बीजं कारणं। बीजत्वेऽप्यवि**कारितामाह। सनातनं सदैकरूपम्। तस्य ब्रह्मरूपत्वात् ॥४१॥

इदानीं ततः सर्वप्रपञ्चोत्पत्तिप्रकारमाह - **तस्य हीति।** त्रयस्त्रिसंख्या युक्ता भावा यैरकारोकारमकारैः धार्यन्ते, तत्कारणत्वात्। तानेवाह - गुणाः मन्त्रादयः, नामानि ऋग्यजुस्सामानि। अर्था भूर्भुवःस्वर्लोकाः। वृत्तयो जाग्रदाद्याः ॥४२॥

**तत इति।** ततस्तेभ्यो वर्णेभ्यः अक्षराणां समाम्नायं समाहारम्। तमेवाह। अन्तःस्था यरलवाः। ऊष्माणः शषसहाः। स्वरा अकारादयः। स्पर्शा कादयो मावसानाः ह्रस्वदीर्घादिश्च, आदिशब्दात् जिह्वामूलीयादयः, त एव लक्षणं स्वरूपं यस्य तम् ॥४३॥

**तेनेति।** विभुश्चतुर्मुखस्वरूपो भगवान्। असृजदिति पूर्वस्यैवानुषङ्गः। चातुर्होत्रविवक्षया चत्वारो होत्रोपलक्षिता ऋत्विजः चतुर्होतारः, तैरनुष्ठेयं हौत्राध्वर्यवादिकं कर्म चातुर्होत्रं, तद्विवक्षया ॥४४॥

**पुत्रानिति।** पुत्रान् मरीच्यादीन्, तान् वेदान् ब्रह्मकोविदान् वेदोच्चारणादिनिपुणान् ॥४५॥

**त इति।** एवं चतुर्युगेषु प्राप्ताः। द्वापरादौ द्वापरमादिर्यस्य, तदन्त्यांशलक्षणस्य कालस्य तस्मिन्। द्वापरान्ते वेदविभागप्रसिद्धेः, शन्तनुसमकालं, व्यासावतार प्रसिद्धेश्च, व्यस्ता विभक्ताः ॥४६॥

तत्र वेदविभागे हेतुः। **क्षीणायुष इति।** क्षीणायुषो जनान् तर्हि पुरुषबुद्धिप्रभवत्वात् अनादरणीयत्वं स्यादित्याशं - क्याह - हृदिस्थेति ॥४७॥

एवं सामान्यतो वेदविभागक्रममुक्त्वा वैवस्वतमन्वन्तरे विशेषतो निरूपयितुमाह **अस्मिन्नपीति** ॥४८॥

**वीर०** स्वधाम्नः स्वमहिम्नि। प्रतिष्ठितस्य ब्रह्मणः परमात्मनो वाचकः। किञ्च स इति सर्वेषां मन्त्राणामुपनिषदां वेदानां च बीजं कारणं सनातनं इत्यनेन तस्य हृदयाकाशेऽभिव्यक्ति मात्रं न तु उत्पत्तिरित्यभिप्रेतम् ॥४१॥

**तस्येति।** हे भृगूद्वह, तस्य प्रणवस्य अवयवाः त्रयः अकाराद्याः, अकारोकारमकाराः वर्णा आसन् आविर्बभूवुः, यद्वा तस्य प्रणवस्य प्रकृतिभूतास्त्रयो वर्णाः, तान् विशिनष्टि - धार्यन्ते इति। यैरकारादिभिः त्रयो भावा अर्थाः अनन्यार्हशेषत्वानन्यशरणत्वानन्यभोग्यत्वरूपाः गुणनाम्नां प्राप्यत्वप्रापकत्वाधारत्वादिगुणप्रतिपादकानां नारायणादिनाम्नां स्वार्थेषु या वृत्तयोऽभिधाश्च धार्यन्ते प्रकाशकतया कारणतया वेति भावः ॥४२॥

---

1 H V 'दादय 2 A B J omit वेदविभागे

ततः प्रणवात् अक्षरसमाम्नायं अक्षरसमाहारं असृजत्। अजः चतुर्मुखशरीरकः परमपुरुषः अक्षरसमाम्नायमेव विभज्य विशिनष्टि - अन्तःस्थेति। यरलवा अन्तस्स्थाः, शषसहा ऊष्माणः, अचः स्वराः, कादयो मावसानाः स्पर्शाः, ह्रस्वदीर्घशब्दौ भावप्रधानौ आदिशब्देन प्लुतत्वोदात्तत्वस्वरितत्वादिस्वरधर्मसंग्रहः जिह्वामूलीयोपध्मानीय सङ्ग्रहश्च अन्तः स्थादयो लक्षणं स्वरूपं यस्य तम्। अक्षरसमाम्नायमिति सम्बन्धः ॥४३॥

तेनैवेति। तेनाक्षरसमाम्नायेनैवासौ चतुर्मुखशरीरको विभुश्चतुरो वेदानाविष्कृतवानिति शेषः। ततश्चातुर्होत्रविवक्षया चत्वारो होतारः अध्वर्यूपलक्षिता ऋत्विजः तैरनुष्ठेयं कर्म चातुर्होत्रं, तद्विवक्षया यज्ञप्रकाशनेच्छया इत्यर्थः। सव्याहृतिकान् सप्रणवान् चतुरो वेदान्, पुत्रान् मरीच्यादीनध्यापयत् ॥४४॥

पुत्रानिति। "गति बुद्धि" (अष्टा:1-4-52) इत्यादिना कर्मत्वे द्वितीया। पुत्रान् विशिनष्टि - ब्रह्मकोविदान् वेदोच्चारणादिनिपुणान्। ते तु मरीच्यादयोऽपि वैदिकधर्मोपदेष्टारः स्वपुत्रेभ्यः कश्यपादिभ्य समादिशन् उपदिदिशुः ॥४५॥

एवं परम्परया तत्तच्छिष्यैः तेषां तेषां शिष्यैः धृतव्रतै महर्षिभि चतुर्षु युगेषु प्रतिचतुर्युगपर्यायं प्राप्तास्तत्र प्रतिद्वापरादौ प्रतिद्वापरमादिर्यस्य तत्सम्बन्धितलक्षणकालस्य तस्मिन् द्वापरान्ते वेदविभागप्रसिद्धे शन्तनुसमकालं व्यासावतारप्रसिद्धेश्च ॥४६॥

कालतः युगधर्मतः क्षीणायुषः अल्पायुष्कान् क्षीणसत्त्वान् अल्पबलान् अल्पबुद्धींश्च जनानवलोक्य व्यस्ता विभक्ता इत्यन्वयः। व्यसनं नामाऽपारेभ्यः चतुर्भ्यो वेदराशिभ्य उद्धृत्य संहिताकरणेन प्रवर्तनम्। तर्हि पुरुषबुद्धि प्रभवत्वात् अनादरणीयत्वं स्यादित्याशङ्क्याह वेदानिति। हृदिस्थेन अच्युतेन चोदिताः वेदान् व्यस्यन् विभक्तवन्त न तु स्वबुद्ध्येति भाव ॥४७॥

तत्र वैवस्वतमन्वन्तरद्वापरादौ वेदविभागक्रमं विशेषतो निरूपयति - * एतस्मिन्नित्यादिना। एतस्मिन्नन्तरे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतिचतुर्युगद्वापरादौ इत्यर्थः। लोकभावनः लोकान् भावयति अभ्युदितान् करोतीति तथा हेतुगर्भमिदं अतः ब्राह्मे शाखीरित्यर्थः ॥४८॥

विज० पूर्वं लिङ्गत्वेन तद्विषयत्वमुक्तं अधुना वाचकत्वेनाह - स्वधाम्न स्वयं प्रकाशस्य ओंकारस्य, सर्वानुमतत्वमाह- स इति। स ओंकारः सनातनं सदातनं सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदानां बीजं फललक्षणाङ्कुरजनकशुक्रस्थानीयं स्त्रीघण्टानादवत् अच्छिन्नत्वेनोच्चार्यमाणं सर्वमन्त्रादीनां जप्तानां फलदानसामर्थ्यं जनयतीति भाव ॥४९॥

---

W omits एव * एतस्मिन् इति वीराघवादद्धृत पाठ इति ज्ञातव्यं ।

त्रिवृदित्युक्तं विवृणोति - तस्येति। अकारद्यास्त्रयो वर्णाः, तस्य ओंकारस्य अवयवा आसन्नित्यन्वयः। हे त्यनेन सोऽयमात्मा आद्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पादानां मन्त्राः अकारोकारमकारा इत्यादि प्रसिद्धिमाह। यद्वा, वृत्त्यभिव्यक्तौ प्रत्यारम्भः क्रियत इति सूचयति। "प्रत्यारम्भे प्रसिद्धौ है" (वैज. को 8-7-8)इ। त्यभिधानम्। एभ्यः भूर्भुवःस्वरिति नामाभिव्यक्तिं वक्ति धार्यन्त इति। यैरकाराद्यैः त्रयो भावा व्याहृतिलक्षणा धार्यन्ते व्याहृतिभ्योऽक्षर समाम्नायो व्यज्यते ज्ञानादिगुणानामर्थे विषयभूते हरौ वृत्तिर्येषां ते तथोक्ताः, सर्ववेदोक्तगुणार्णवनारायणलीलाव्याहरणात् व्याहृतय इत्यर्थः। यद्वा भूरादिलोकेषु शब्दादिगुणानां भोगलक्षणप्रायो जनप्रवर्तकाः ॥४२॥

ततो व्याहृतिभ्योऽक्षरसमाम्नायमकारादिहकारान्तानामक्षराणां समीचीनं संप्रदायं गुरुपारम्पर्यक्रममसृजदित्यन्वयः। कोऽसौ क्रम इति तं स्पष्टयति - अन्तःस्थेति। यरलवा अन्तःस्थाः, शषसहा ऊष्माणः, अचः स्वराः, कादयो माऽवसानाः स्पर्शाः, "एकमात्रो भवेत् ह्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते। त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो, व्यञ्जनं त्वर्धमात्रकम्"॥ इत्यत आदिशब्दो विवृतः ॥४३॥

तेनाक्षरसामाम्नायेन सव्याहृतिकान् "भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्त्रिस्रो व्याहृतयः" (तैत्ति.- उ.1-5-1) इत्यादि व्याहृतिसहितान् साङ्कारान् ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमित्याद्योंकारसहितान् विनियोगमाह - चातुर्होत्रेति। चतुर्भिः होतृभिः क्रियमाणं कर्म चातुर्होत्रम् ॥४४॥

ब्रह्मकोविदान् वेद, [illegible] क्षणान् ते पुत्राः ॥४५॥

ते वेदाः चतुर्युगेषु तत्तच्छिष्यैः परम्परयाप्राप्ताः यथा चतुर्मुखेनाधीता अध्यापितास्तथा अध्ययनं प्राप्ताः इत्यर्थः। उक्तापवादमाह - अथेति। अथ त्रेतानन्तरं द्वापरादौ महर्षिभिर्वेदा व्यस्ता अभूवन् ॥४६॥

एतदेव विवृणोति - क्षीणायुष इति। नन्वेषां स्वातन्त्र्यमापतितमिति तत्राह - हृदिस्थेति ॥४७॥

ननु, सत्यवतीसुतेन वेदाः कस्मिन् युगे व्यस्ता इत्यत्राह - अस्मिन्निति। अस्मिन् श्राद्धदेवमन्वन्तरे ॥४८॥

**पराशरात् सत्यवत्यामंशांशकलया विभुः।**
**अवतीर्णो महाभाग, वेदं चक्रे चतुर्विधम् ॥४९॥**

**ऋगथर्वयजुःसाम्नां राशीनुद्धृत्य वर्गशः।**
**चतस्रः संहिताश्चक्रे मन्त्रैर्मणिगणा इव ॥५०॥**

1 A omit प्राप्ता 2 H V भागो 3 H V सूत्रैर्म M Ma सूत्रैर्म W मालाम 4 H M Ma V नानिव W नादिव

तासां स चतुरश्शिष्यानुपहूय महामतिः ।
एकैकां संहितां ब्रह्मन्, एकैकस्मै ददौ विभुः ॥५१॥

पैलाय संहितामाद्यां बह्वृचाख्यामुवाच ह ।
वैशम्पायनसंज्ञाय निगदाख्यं यजुर्गणम् ॥५२॥

साम्नां जैमिनये प्राह तथा छन्दोगसंहिताम् ।
अथर्वाङ्गिरसं नाम स्वशिष्याय सुमन्तवे ॥५३॥

पैलः स्वं संहितामूचे इन्द्रप्रमितये मुनिः ।
बाष्कलाय च सोऽप्याह शिष्येभ्यः संहितां स्वकाम् ॥५४॥

चतुर्धा व्यस्य बोध्याय याज्ञवल्क्याय भार्गव ।
पराशराग्निमित्राभ्यामिन्द्रप्रमितिरात्मवान् ॥५५॥

अध्यापयत्संहितां स्वां माण्डूकेयमृषिं कविम् ।
तस्य शिष्यो वेदमित्रः सौभर्यादिभ्य ऊचिवान् ॥५६॥

**श्रीध० पराशराग्निति**। अंशो माया, तस्याः अंशः सत्त्व तस्य कलया अंशेन अवतीर्णः सन् ॥४९॥

चातुर्विध्यमेवाह **ऋग्भि**। ऋगादिमन्त्राणां राशीन् वर्गश तत्तत्प्रकरणभेदे उद्धृत्य यथा अनेकविधमणिराशेर्मणिगणाः पद्मरागादयो विविच्योद्ध्रियन्ते तद्वदुद्धृत्य तैर्मन्त्रैः चतस्रः ऋगादिसंहिताश्चक्रे ॥५०॥

**तासामिति**। तासां संहितानां मध्ये एकैकाम् ॥५१॥

**पैलायेति**। ऋक्समुदाय रूपत्वाद्बह्वृचाख्याम्। नितरां प्रश्लेषेण गद्यमानत्वात् निगदाख्यम् ॥५२॥

**साम्नामिति**। साम्नां सम्बन्धिनीं छन्दस्सु गीयमानत्वात् छन्दोगाख्यां संहिताम् ॥५३॥

तत्र ऋग्वेदशाखाविभागमाह - **पैल** इति। स्वसंहितां द्वेधा विभज्य इन्द्रप्रमितये बाष्कलाय च ऊचे, स बाष्कलोऽपि स्वकां संहितां चतुर्धा व्यस्य बोध्यादिभ्यः चतुर्भ्यः शिष्येभ्य आह। हे भार्गव ! इन्द्रप्रमितिरपि स्वां संहितां स्वसुतं

1 A B G J W 'पाहूय', 2 A B G J 'सौ' M Ma 'रसा' 3 A W 'स्वा म' 4 A B G J M Ma w 'मन्त्र' 5 A B G H J V 'देव' 6 H V 'तव्याख्या' 7--7 A B J omit, 8 A B J 'द्विधा', 9 A B J omit 'चतुर्भ्य'

माण्डूकेयमध्यापयामास। तस्य माण्डूकेयस्य शिष्यो देवमित्रः ॥५४-५६॥

**वीर०** अतः सत्यवत्यां अंशांशकलयाऽवतीर्णः हे महाभाग, शौनक! ॥४९॥

चातुर्विध्यमेवाह - **ऋगिति**। ऋगादीनां राशान् स्वयं साक्षात्कृत्येति शेषः। वर्गशः प्रकरणभेदेन राशिभ्यः उद्धृत्य चतस्रः संहिताश्चक्रे। राशेरुधृत्येति पाठः सुगमः। दृष्टान्ते तथा दर्शनात्। यथानेकविधमणिराशेर्मणिगणानुद्धृत्य मालाः कुर्वन्ति तद्वत् ॥५०॥

अथ तासां संहितानां चतसृणां मध्ये एकैकां संहितां चतुरः शिष्यानुपाहूय तत्रैकैकस्मै एकैकां संहितां महामतिः पाराशर्यः ददौ उपदिष्टवान् ॥५१॥

कस्मै कां ददौ इत्यत्राह - **पैलायेति** द्वाभ्याम्। अनेकऋक्समुदायरूपत्वाद्बह्वृचाख्यां "तेषां ऋङ्मन्त्रार्थवशेन पादव्यवस्था" इति ऋग्लक्षणं तेषां मन्त्रब्राह्मणात्मकवेदैकदेशरूपाणां मध्ये यत्र येष्वर्थभेदेन विशिष्टैकार्थ प्रतिपादकत्वेप्यवान्तरार्थभेदवशात् पादव्यवस्था सा ऋगिति तदर्थः। यजुर्गणस्य नितरां गद्यमानत्वात् निगदाख्यत्वम्। यद्यपि ऋक्सामभ्यां अन्यत् यद् प्रश्लिष्टपठितं मन्त्रजातं तदेव यजुस्तथा च सूचितम् "शेषे यजुः शब्दः" इति 'उच्चैर्ऋचा क्रियते उपांशु यजुषां' इति यजुष उपांशुपाठस्यैव श्रवणान्निगदाख्यसंज्ञाविरोधश्च तथाऽपि निगदत्वमत्र न यजुषः लक्षणं उच्यते किन्तु यजुस्संज्ञेष्वेव केषुचिन्मन्त्रेषु परसम्बोधन-रूपेषु "प्रोक्षणीरासादय "त्येवमादि" परसम्बोधनाय नितरां गद्यन्ते इति व्युत्पत्त्या वाचनिकोपांशुत्वबाधेन कार्यबलादुच्चैर्धर्म योग उक्तः ॥५२॥

**साम्नामिति**। अत्र गीत्याधारभूता ऋचः सामशब्दविवक्षिताः 'गीतिषु सामाख्या' इति गीतिमात्रस्य सामत्वसूत्रणात् साम्नां सम्बन्धिनीं छन्दोगसंहिता[1] छन्दोगाख्यां संहिता[1] जैमिनये प्राह, अथर्वांगिरसं नाम शाखां सुमन्तवे, पैलादयो[2]ऽपि स्व स्वशाखां स्वशिष्येभ्यः ऊचुरित्याह - पैल इति। स्वसंहितां बह्वृचाख्यां द्वेधा विभज्य स्वपुत्राय इन्द्रप्रमितये शिष्याय बाष्कलाय च ऊचे, स च बाष्कलोऽपि स्विकां संहिताम् ॥५३,५४॥

चतुर्द्धा व्यस्य विभज्य, हे भार्गव! बोध्यादिभ्यः चतुर्भ्य आह आत्मवान् धीमान् इन्द्रप्रमितिरपि ॥५५॥

स्वां संहितां स्वसुतं कविं विद्वांसं मण्डूकेयमृषिं अध्यापयामास तस्य मण्डूकेयस्य शिष्यो वेदमित्रः सौभर्यादिभ्यः शिष्येभ्यः ॥५६॥

---

1--1 W omits, 2 W omits अपि

विज० एतदेव विवृणोति - ऋगिति। ऋगादीनां राशीन् वर्गशो वर्गसङ्ख्यबोद्धृत्य चतस्रः संहिताश्चक्रे सूत्रैः स्वसूतान् ॥४९,५०॥

तासां संहितानां मध्ये एकैकाम् ॥५१॥

एकैकामित्युक्तं विशिनष्टि, पैलादेति ॥५२॥

तथा साम्नामुद्धृतां छन्दोगसंहितां जैमिनये प्राह ॥५३-५४॥

इन्द्रप्रमितिरपि स्वसंहितां चतुर्द्धा व्यस्य विभज्य शिष्यान् नाम्ना निर्दिशति - बोध्यायेति। हे भार्गव! इन्द्रप्रमितिरपि, आत्मवान् परमात्मज्ञानी ॥५५॥

कविनाम्ना माण्डूकेयमृषिं च स्वसंहितां अध्यापयत्, तस्य माण्डूकेयस्य ॥५६॥

शाकल्यस्तत्सुतः स्वान्तु पञ्चधा व्यस्य संहिताम् ।
वात्स्यमौद्गल्यशालीयगोखल्यशिशिरेष्वधात् ॥५७॥

जातुकर्णस्तु तच्छिष्यः सनिरुक्तां स्वसंहिताम् ।
बलाकपैजवैताल विरजेभ्यो ददौ मुनिः ॥५८॥

बाष्कलिः प्रतिशाखाभ्यो बालखिल्याख्यसंहिताम् ।
चक्रे बालायनिर्गार्गिः, कासारश्चैव तां दधुः ॥५९॥

बह्वृचाः संहिता होता एभिर्ब्रह्मर्षिभिर्धृताः ।
श्रुत्वैतच्छन्दसां व्यासं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥६०॥

वैशम्पायनशिष्या वै चरकाध्वर्यवोऽभवन्।
यच्चेरुर्ब्रह्महत्यांहः क्षपणं स्वगुरोर्वृतम् ॥६१॥

याज्ञवल्क्यस्तु तच्छिष्यः आहाहो भगवन् कियत् ।
चरितेनाल्पसाराणां चरिष्येऽहं सुदुश्चरम् ॥६२॥

इत्युक्तो गुरुरप्याह कुपितो याह्यलं त्वया।
विप्रावमन्त्रा शिष्येण मदधीतं त्यजाशिति ॥६३॥

1 MMe तान्तु . 2 A B G J W मुद्गल 3 H V बिन्य M Me सन्य 4 A B G J M Me बातकर्ण्यश्च W जातुकर्णश्च 5-6 H V बलाकपैज वैताल . M Me बलीकपैजिपैताल . W बालाक पैज्य वैताल 6-6 A B G J बालायनिर्गार्ग्य M Me बालायनिर्गार्ग्य . W पैलायनिर्गार्गि . 7 M Me 'रा' . 8 A B G J W 'श्च . 9 H V स आह . M Me आहाहो 10 M Me दुश्चर 11 H V तोऽप्रमत्त

**देवरातसुतस्सोऽपि छर्दित्वा यजुषां गणम् ।**
**ततो गतोऽथ मुनयो ददृशुस्तान्यजुर्गणान् ॥६४॥**

**श्रीध० शाकल्य** इति। तत्सुतो माण्डूकेयसुतः। शाकल्यो वास्यादिषु पंचस्वधात्। तानध्यापयामासेत्यर्थः ॥५७॥

**जातुकर्ण** इति। तच्छिष्यः शाकल्यशिष्यः स्वसंहितां त्रेधा विभज्य चतुर्थं वैदिकपदार्थव्याख्यानरूपं निरुक्तं च कृत्वा बलाकादिभ्यश्चतुर्भ्यो ददौ ॥५८॥

**बाष्कलिरिति**। बाष्कलिः पूर्वोक्तस्य बाष्कलस्य पुत्रः। प्रतिशाखाध्यः उक्तसर्वशाखाध्यः। बालायन्यादयः तां दधुः अधीतवन्तः ॥५९॥

ऋक्शाखोपसंहारपूर्वकं तच्छ्रवणफलमाह - **बह्वृचा** इति। एतच्छन्दसां एतेषां छंदसाम् ॥६०॥

यजुर्वेदे तैत्तिरीयशाखोत्पत्तिप्रस्तावमाह **वैशम्पायनशिष्या** इत्यादिना। चरकनामनिरुक्तिमाह। यच्चेरुरिति। यद् यस्माद् ब्रह्महत्यारूपमंहः क्षपयतीति तथा। तत्स्वगुरोरनुष्ठेयं व्रतं तद्व्रतचराणाच्चरका इत्यर्थः ॥६१॥

**याज्ञवल्क्य** इति। तच्छिष्यो वैशम्पायनशिष्यः। अल्पसाराणामेतेषां चरितेन किम्यत्। सुदुश्चरमहं चरिष्यामीति ॥६२॥

**इतीति**। विप्राणामवमन्त्रा अवज्ञाकर्त्रा मत्तोऽधीतमाशु त्यजेति ॥६३॥

**देवरातेति**। देवराजसुतो याज्ञवल्क्यः ॥६४॥

**वीर०** तत्सुतः माण्डूकेयसुतः। शाकल्यस्तु स्वां संहितां पञ्चधा विभज्य वात्स्यादिषु पञ्चस्वधात् तानध्यापयामासेत्यर्थः ॥५७॥

तच्छिष्यः शाकल्यशिष्यो जातुकर्ण्यस्तु निरुक्तां संहितां विभज्य निरुक्तं नाम वैदिकपदव्याख्यानं तेन साकं चतुर्धा विभज्येत्यर्थः। बालाकादिभ्यश्चतुर्भ्यो ददौ ॥५८॥

बाष्कलिः पूर्वोक्तबाष्कलस्य पुत्रः प्रतिशाखाध्यः उक्त सर्वशाखाध्यः, उद्धृत्येति शेषः। वालखिल्याख्यां शाखां चक्रे ताश्च पैलायन्यादयः त्रय आददुः ॥५९॥

एवमृक्शाखाविभागप्रकारमभिधाय तच्छ्रवणफलमाह **बह्वृचा** इति। एतच्छन्दसां एतेषां छन्दसां व्यासं विभागं श्रुत्वा सर्वैः पापैः प्रमुच्यते ॥६०॥

---

1 HV omit बाष्कलिः, 2 ABJ तच्च°

अथ तैत्तिरीयशाखोत्पत्तिं प्रस्तौति - **वैशम्पायनशिष्या** इति। चरकाध्वर्यवः अध्वर्युशाखाध्ययनादध्वर्यवश्चरका आसन्। तत्र चरकशब्दं निर्वक्ति - ये चेरुरिति। ब्रह्महत्यारूपं अंहःपापं क्षपयतीति तथा, तत्स्वगुरोरनुष्ठेयं व्रतं चेरुः - व्रतचरणात् चरकसंज्ञाश्चाभवन् इत्यर्थः ॥६१॥

**याज्ञवल्क्य** इति। तच्छिष्यः वैशम्पायनशिष्यः याज्ञवल्क्यः अयं पूर्वोक्तादन्यः आह, गुरुमिति शेषः। उक्तिमेवाह - अहो इत्यादिना सुदुष्करं इत्यन्तेन। हे भगवन्, अहो अल्पसाराणां अल्पतपसामेतेषां चरितेन कियदहन्तु सुदुष्करं व्रतं चरिष्यामीति ॥६२॥

**इत्युक्त** इति। विप्रावमन्त्रा विप्रावमानकर्त्रा हेतुगर्भमिदं शिष्येण याज्ञवल्क्येनेतीत्थं उक्तः कुपितो गुरुरप्याह, किमिति त्वयाऽलं, याहि मदधीतं मत्तोऽधीतमाशु त्यजेति ॥६३॥

अथ देवरातसुतो याज्ञवल्क्यः यजुषां गणं छर्दिर्न्योर्ग्यं गतः ॥६४॥

**विज०** तस्य सुतो वेदमित्रस्य पुत्रः वात्स्यादिषु पञ्चसु अधात् अदात् ॥५७॥

तस्य शाकल्यस्य शिष्यः, सनिरुक्तां निरुक्तसहिताम् ॥५८॥

बाष्कलिः पूर्वोक्तबाष्कलपुत्रः प्रतिशाखाभ्यः पूर्वोक्तसर्वशाखाभ्यः उद्धृत्य बालखिल्याख्यसंहितां चक्रे तां नाम्ना बालखिल्याख्यसंहितां बालायनिप्रभृतयो दधुः अधीतवन्तः ॥५९॥

उक्ता एताः संहिता नाम्ना विशिनष्टि - **बहवृचा** इति। ऋग्वेदसंहिता किमनेन छन्दसां व्यासेन श्रुतेनाधीतेन निःश्रेयसानुपयुक्तेनेति तत्राह, श्रुत्वेति ॥६०॥

चरकास्तीर्थसेवकाः अध्वर्यवो यज्ञकर्मणि निपुणाः, कलिम्बिशेषाः ॥६१॥

तस्य वैशम्पायनस्य शिष्यो याज्ञवल्क्यो गुरुमित्याह - हे भगवन्, गुरो! ब्रह्महत्यांहः क्षपणाय व्रतं चेरुरिति यस्मात्तस्मादंहः प्रत्यल्पसाराणां मेतेषां चरितेन कियत् किं प्रयोजनं स्यात्, अहं दुष्करं व्रतं चरिष्ये करिष्यामीति ॥६२॥

ततो गुरुणा किमुक्तमत्राह - **इतीति**। विप्रावमन्त्रा ब्राह्मणावज्ञाकर्त्रा शिष्येण त्वयाऽलं, इतो याहि, किं च मदधीतं आशु त्यज उत्सृजेति ॥६३॥

देवरातसुतः याज्ञवल्क्यः, ततो गुरुकुलात् ॥६४॥

[2] **भूत्वा तित्तिरयो ब्रह्मन् तल्लोलुपतयाऽऽददुः।**
[3] **तैत्तिरीया इति यजुश्शाखा आसन् सुपंशलाः ॥६५॥**

---

1 W 'त्वाभवन्'; 2-2 A B G J W यजूंषि तित्तिरा भूत्वा 3 A तित्ति'

याज्ञवल्क्यस्ततो ब्रह्मन् छन्दांस्यधिगवेषयन् ।
गुरोरविद्यमानानि सूपतस्थेऽर्कमीश्वरम् ॥६६॥

याज्ञवल्क्य उवाच

ओं नमो भगवते आदित्यायाखिलजगतामात्मस्वरूपेण कालस्वरूपेण च चतुर्विधभूतनिकायानां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानामन्तर्हृदयेषु बहिरपि चावकाश इवोपाधिना व्यवधीयमानो भवानेक एव क्षणलवनिमेषावयवोपचित संवत्सर गणेन तोयादानविसर्गाभ्यामिमां लोकयात्रामनुवहति ॥६७॥

य दु ह वाव विबुधर्षभ, सवितरदस्तपत्यनुसवन महरहराम्नायविधिनोपतिष्ठमानानामखिलदुरित वृजिनबीजावभर्जनम् भगवतः समभिधीमहि तपनमण्डलम् ॥६८॥

य इह वाव स्थिरचरनिकराणां निजनिकेतनानां मन इन्द्रियासुगणाननात्मनः स्वयमात्मान्तर्यामी प्रचोदयति ॥६९॥

यएवेमं लोकमतिकरालवदनान्धकारं संज्ञाऽजगर ग्रहगृहीतं मृतक मिव विचेतनमवलोक्यानुकम्पया परमकारुणिक ईक्षयैवोत्थाप्याहरहरनुसवनं श्रेयसि स्वधर्माख्यात्मावस्थाने प्रवर्तयति; अनिमिषाधिपतिः अवनिपतिरिवासाधूनां भयमुदीरयन्नटति ॥७०॥

परित आशापालै स्तत्र तत्र कमलकोशाञ्जलिभिरुपहृतार्हणः ॥७१॥

अथ ह भगवंस्तव चरणनलिनयुगलं त्रिभुवनगुरुभिरभिवन्दितमहमयात याम यजुः कामं उपसरामीति ॥७२॥

श्रीध० भूत्वेति। छर्दितस्यादानं विप्ररूपेणानुचितमिति मत्वा तित्तिरयो पक्षिविशेषा भूत्वाऽऽददुः, ततश्च तैत्तिरीया इति प्रसिद्धाः। सुपेशला अतिरम्याः। बहुवचनमवान्तरभेदविवक्षया ॥६५॥

कण्वमाध्यंदिनादिशाखा प्रसन्नमाह याज्ञवल्क्य इत्यादिना। गुरोर्वैशम्पायनस्य व्यासेन विभज्यानुक्तत्वादविद्यमानान्यधि अधिकानि गवेषयन् मृगयन् सूपतस्थे सम्यक् तुष्टाव। ईश्वरं ऋगादिवेदानाम्। तथा च श्रुतिः "ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिविदेव ईयते, यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः। सामवेदेनास्तमये महीयते, वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः" (सू.ता.उ.1-5) इति ॥६६॥

---

1 W गुरोरधीतान्यपश्यन्, 2 M Ma "दात्य", 3 M Ma omit स्व, 4 A B G J "चावयवो", 5 A B G H J V "नापामादा", 6 H V "दुत", 7 A B G H J V "ना, 8 W "त्यधी", 9. H V add तच, 10 W 3, 11 W omit मन, 12 AB "जानात्म, 13 H V add एक, 14 A B G J गिलित। 15 A B G H J V omit अनिमिषाधिपतिः, 16. M Ma omit अवनिपतिरिव, 17 A B G J W omit अधि, 18 A B J omit मत्वा, 19 A B J तित्तिराः, 20 A B J omit अधि

**ओं नम इति**। ओं नमो भगवते तुभ्यमादित्याय। यो भवानेक एव इमां लोकयात्रामनुवहतीत्यन्वयः। तेदेव दर्शयति। अखिलजगतामात्मस्वरूपेणान्तर्हृदयेषु, कालस्वरूपेण च बहिरपि वर्तमान इति। अखिलजगतामित्यस्य प्रपंचः चतुर्विधेति। हृदयान्तर्वर्तित्वेऽपि जीववत्तेनोपाधिना अव्यवधीयमानः अनाच्छाद्यमानः। कालस्वरूपेण चेत्यस्य प्रपंचः क्षणेति। क्षणलवावयो येऽवयवाः तैरुपचिताः संवत्सरा स्तेषां गणेन प्रत्यब्दम् अपामादानं शोषणं विसर्गो वृष्टिस्तान्याम्। अनेन गायत्री प्रथमपादोक्त वरेण्यताऽनुवर्णिता[1] ॥६७॥

द्वितीयपादार्थानुवर्णनेन स्तौति - **यदुहेति** । हे विबुधर्षभ! हे सवितः, यदप्यदो भगवतस्तव मंडलं तपति, तत्समभिधीमहीति सम्यगाभिमुख्येन ध्यायेम। पुनस्तस्यैव संबोधनम्। प्रत्यहं त्रिषवणं वैदिककर्ममार्गेण स्तुवतां भक्तानां यान्यखिलानि दुरितानि तत्फलानि च वृजिनानि, दुःखानि, तेषां बीजमज्ञानं च, तेषामवभर्जन ! विनाशक, हे तपनेति ॥६८॥

तृतीयपादेन स्तौति। **य इहेति**। यो भवान् स्थावरजंगमसमूहानां स्वाश्रयाणां जीवानां मनइन्द्रियप्राणगणान् अनात्मनो जडान् स्वयमात्मैवान्तर्यामी सन् प्रचोदयति प्रवर्तयति ॥६९॥

तृतीयपादमेव मंडलस्थपरतया व्याचक्षाणः स्तौति - **य एवेति**। य एक एव भगवान् अतिकरालवदनो योन्धकारसंज्ञोऽज गरग्रहः[2] तेन गिलितं, अत एव मृतकमिव विचेतनं स्वधर्माख्यं यदात्मावस्थानं प्रत्यक्प्रवणत्वं तदेव श्रेयः तस्मिन् प्रवर्तयति। किञ्च यो भवानवनिपतिरिवाटति गच्छति ॥७०॥

**परित** इति। आशापालैरिन्द्रादिभिः। कमलकोशयुक्तैः ततुल्यैर्वाऽञ्जलिभिः उपहृताहणो[3] दत्तार्घः ॥७१॥

**अथेति**। यत एवम्भूतस्त्वमथातः ह स्फुटमयातयामानि अन्यैर्यथावदविज्ञातानि[4] यजूंषि तत्कामोऽह मुपसरामि भजामि ॥७२॥

**वीर०** अथ मुनयः छर्दितानामादानं विप्ररूपेणाऽनुचितं इति मन्वानाः तित्तिराख्य पक्षिविशेषा भूत्वालोलुपतया[5]ऽऽददुः जगृहु ।:अतो यजुश्शाखाः तैत्तिरीयसंज्ञा आसन् सुपेशला अतिरम्याः बहुवचनमवान्तरभेदविवक्षया ॥६५॥

काण्वमाध्यन्दिनशाखाप्रवृत्तिं प्रस्तौति **याज्ञवल्क्य** इत्यादिना। हे ब्रह्मन्! गुरोरधीतानि छन्दांस्यधिगवेषयन् अन्वेषयन्नप्यपश्यन्, छर्दितत्वादिति भावः। अर्कमादित्यमण्डलान्तर्वर्तिनमीश्वरं सुष्ठु उपतस्थे तुष्टाव ॥६६॥

स्तुतिमेवाह - **ओं नम** इत्यादिना। यो लोकयात्रामनुवहति तस्मै भगवते आदित्याय तुभ्यं नमः इति सम्बन्धः। तदेव

---

1 HV दर्शिता . 2 HV गृहीत . 3 HV दत्तार्घ्य 4 HV "दनभि" . 5 AB add ततदा

दर्शयति अखिलेत्यादिना। अखिलजगदात्मत्वमेव प्रपंचयति चतुर्विधभूतनिकायानां देवमनुष्यपशुपादपभेदेन जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जरूपेण वा चतुर्विधानां भूतसमुदायानां किं बहुना ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां अन्तर्हृदयेष्वाकाश इव व्याप्याप्युपाधिना ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेन अव्यवधीयमानः अनपोद्यमानः अस्पृष्टव्याप्यगतदोष इत्यर्थः। कालरूपतां प्रपञ्चयति - बहिःक्षणादिभिरवयवैरुपचितेन संवत्सरगणेन तोयादानविसर्गाभ्यामिमां लोकयात्रां लोकवृत्तिमनुवहति निर्वहति ॥६७॥

अखिलजगदात्मस्वरूपेणेत्यनेन अन्तःप्रविश्यप्रेरकत्वरूपो गायत्रीप्रथमपादस्य सवितृशब्दार्थ उक्तः। अथ द्वितीयपादस्य भार्गवशब्दार्थवर्णनेन स्तौति - **यदु ह वेति**। उ ह वावेति प्रसिद्धिद्योतको निपातसमुदायः भगवतस्तव यन्मण्डलमधस्तपति तत्स्वधीमहीति सम्बन्धः। स्वधीमहि सुष्ठु ध्यायेमेत्यर्थः। हे विबुधर्षभ! हे सवित हे तपनेति त्रीणि सम्बोधनानि। मण्डलं विशिनष्टि - अहरहरनुसवनं त्रिसन्ध्यमाम्नायविधिना वैदिकमार्गेण उपतिष्ठमानानां जनानां यान्यखिलानि दुरितानि पापानि वृजिनानि तन्मूलानि दुःखानि न तान्येव बीजानि। यद्वा दुरितानां बीजमज्ञानं च भर्जयतीति भर्जनं तद्भर्गः तेजो यस्य तत् ॥६८॥

अथ तृतीयपादार्थसर्वधीप्रचोदयितृत्वकथनेन स्तौति, **यदु ह वावेति** उयहवावेति। पूर्ववत् यो भवान् निजनिकेतनानां स्वशरीराणां स्थावरजङ्गमसमूहानां मन इन्द्रियप्राणगणात्मनो जीवांश्च स्वयमात्माधारकोऽन्तर्यामी च सन् प्रचोदयति ॥६९॥

चतुर्विधपुरुषार्थप्रदत्वमाविष्कुर्वन् स्वाभिप्रेतं निवेदयति - **य एवेति**। अतिकरालवदनो योऽन्धकारसञ्ज्ञोऽजगरग्रहस्तेन गृहीतं गिलितमत एव मृतकमिवाचेतनं निःसञ्ज्ञमिमं लोकं अवलोक्यानितरसाधारण्या कृपादृष्ट्या उत्थाप्य अहरहस्त्रिसन्ध्यं स्वधर्माख्यात्मावस्थाने स्वधर्माख्यं स्वाराधनधर्माख्यं यदात्मावस्थानं चित्तसमाधानं तस्मिन् श्रेयसि प्रवर्तयिष्यति। यश्च भवानवनीपतिरिव अनिमिषाणां देवानामधिपतिरसाधूनां दुष्टसत्त्वानां भयमुदीरयन् उत्थापयन्नटति। यश्च परित आशापालैर्दिक्पालैः कर्तृभिः कमलकोशाञ्जलिभिः कमलकोशाकारैः अञ्जलिभिरुपहृतं समर्पितमर्हणं यस्य सः, अटतीति पूर्वेणान्वयः ॥७०,७१॥

अथ ह ननु, खलु हे भगवंस्त्रिभुवनगुरुभिः ब्रह्मादिभिरभिवन्दितमुक्तविधस्य तव पदकमलयुगलमहमयात याम यजुःकामः अयातयामानि अन्यैर्यथावदविज्ञातान्यगतसाराणि वा यजूंषि कामयमान उपसरामि भजामीत्युपतस्थे इति पूर्वेणान्वयः ॥७२॥

**विज०** तल्लोलुपतया यजुर्गणग्रहणेच्छावत्त्वेनाददुः स्वीचक्रुः ॥६५॥

---

1 W omits भूत. 2 A B 'धभू'. 3-3 W omits 4 W omits इमा 5 W तत्फ' 6 A B 'खयाव'. 7-7 AB omit. 8 A B omit तव

छन्दांस्यधिगवेषयन्नभ्येतुं मृगयन्नर्कं परमानन्दरूपत्वादद्भिरात्मार्चनाच्च सूर्यान्तर्यामित्वाच्च तन्नामान मीश्वरं नारायणं सुहृपतस्थे तुष्टाव ॥६६॥

ओं ब्रह्मनाम्ने "ओं स्याद्ब्रह्मण्यनुज्ञायाम्" (वैज. को.8-7-3) इति यादवः "अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेति, बृहन्तो ह्यस्मिन् गुणाः' इति श्रुतेः। गुणैरोतत्वादोङ्कारस्याप्ययमेवार्थः। इममेवार्थं सूचयति, भगवत इति। भगवते षड्गुणपूर्णाय अयं वसिष्ठादिवदिदानीन्तनो भगवान्नेत्याह, आदित्याय आदिभवाय पुरातनाय। यद्वा, अखण्डितैश्वर्याय, एतत् द्वयमुपपादयति - अखिलेति। यो भगवान् ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां अण्डजादिभेदेन चतुर्विधभूतसमूहानां हृदयेष्वन्तरखिलजगदात्मस्वरूपेण समस्तजगदन्तर्यामिस्वरूपेण स्थितो बहिरपि क्षणलवनिमेषाद्यवयवोपचितसंवत्स-रगणलक्षणेन कालरूपेणाकाश इव व्यवधीयमानः तोयादानविसर्गाभ्यां प्रत्यब्दं तोयस्य आदानं शोषणं विसर्गो वृष्टिः ताभ्यामिमां लोकयात्रामनुवहति। यद्वा, घटाद्युपाधिना आकाश इव सुरनरादि शरीरोपाधिना व्यवधीयमानः परिच्छिद्यमान इति ॥६७॥

हे विबुधर्षभ! हे सवितः! तव यददोमण्डलमनुसवनं तपति प्रकाशते इह वा, वेत्यलङ्कारार्थः। हे तपन! प्रकाशनशील! तत्समभिधीमहि सम्यक् चिन्तयामः। कीदृशं मण्डलमहरहराम्नायविधिना वेदोक्तप्रकारेण उपतिष्ठमानानां सेवमानाना मखिलानां दुरितानां दुष्पापानां दुःसहानां वृजिनानां दुःखानां बीजानि दुष्कर्माण्यवभर्जयितुं शीलमस्यास्तीति अस्मिन्नेवार्थे त्युट्प्रत्ययः ॥६८॥

इह भुवि यो वाव स्वनिकेतनानां स्वाश्रयाणां स्थिरचरनिकराणामात्मा स्वामी अन्तः स्थित्वा सुखप्रेरकश्च तत्त्वमनारोपित स्वभावः स्वयं तेषामनात्मन अचेतनप्रायान् मन इन्द्रियासुगणान् प्रचोदयति प्रेरयति । अनेन विशेषण द्वयेन "तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्" (मना. 3.11-7)इत्ययं विवृतः यो नो धियो ज्ञानसाधनन्त्वादिन्द्रियाणि प्रचोदयात्तस्य सवितुर्जगत्स्रष्टुः भर्गः सकलदुःख बीजभर्जनकं वरेण्यं रमणीयं तन्मण्डलं धीमहीति "आप्राद्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" (ऋक् मण्ड 1-115-1) इति ॥६९,७०॥

अतिकरालं वदनं यस्य स तथा स एवान्धकारः अज्ञानलक्षणः तन्नाम्नाऽजगरग्रहेण गृहीतं ग्रस्तं मृतकमिव शव - वदचेतनकलामिमं लोकं जनमवलोक्य द्रवीकृतचित्तवृत्त्या परमकारुणिको यो भवानीक्षयैव कटाक्षनिरीक्षणेनैव समुत्थाप्यानुदिन

1 AB omit प्रेरयति

मात्मनः परमात्मनोऽवस्थानं प्राप्तिर्यस्मात्तत्तथा तस्मिन् स्वधर्माख्ये श्रेयांस प्रवर्तयत्येव "चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः" (ऋक्. मण्ड.1-115-1) इति श्रुतेः। कालप्रणायको यश्च भवानाशापालैरिन्द्रादिभिः कमलकुट्मलाञ्जलिभिः तत्र तत्र समुपचितोऽसाधूनां मरणभयमुदीरयन् परितः अटति परिवर्तते "आप्राद्यावापृथिवी अन्तरिक्षं" (ऋक्. मण्ड 1-115-1) इति श्रुतिः। तस्मै तुभ्यं नम इति पूर्वेणान्वयः ॥७१॥

स्वाभिप्रायमुद्वलयति - अथेति। यस्मादयातयामयजुष्कामोऽथ तस्मात्त्रिभुवनगुरुभिरभिवन्दितं तव चरणनलिनयुगल-मुपसरामि शरणं गतोऽस्मीति तुष्टावेत्यर्थः ॥७२॥

सूत उवाच

एवं स्तुतस्स भगवान् वाजिरूपधरो हरिः।
यजूंष्ययातयामानि मुनयेऽदात्प्रसादितः ॥७३॥

यजुर्भिरकरोच्छाखा दशपञ्चशतैः विभुः।
जगृहुर्वाजसन्यस्ताः काण्वमाध्यन्दिनादयः ॥७४॥

जैमिनेस्सामगस्यासी त्सुमन्तुस्तनयो मुनिः।
सुतन्वां तत्सुतस्ताभ्यामेकैकां प्राह संहिताम् ॥७५॥

सुकर्मा चाऽपि तच्छिष्यः सामवेदतरोर्महान्।
सहस्रं संहिताभेदं चक्रे साम्नां ततो द्विजः ॥७६॥

श्रीध० एवमिति। एवं स्तुतः प्रसादितश्च ॥७३॥

यजुर्भिरिति। पञ्चदशशाखाः याः शतैरपरिमितैर्यजुर्भिरकरोत्। स तैरिति पाठे स एषः याज्ञवल्क्यः तैर्यजुर्भिरकरोदिति। जगृहुरधीतवन्तः। रविणाऽश्वरूपेण वाजेभ्यः केसरेभ्यो वाजेन वेगेन वा संन्यस्ताः त्यक्ताः शाखा वाजसनेयसंज्ञाः ताः शाखा इति वा ॥७४॥

सामशाखाविभागमाह - जैमिनेरिति। तत्सुतः सुमन्तुसुतः। ताभ्यां पुत्रपौत्राभ्यां क्रमेणैकैकां प्राह। तच्छिष्यो जैमिनेः शिष्यः। महानतिमेधावी। स हस्र संहितारूपं भेदं चक्रे। साम्नां तं संहिताभेदं ततस्तदनन्तरम्। सुकर्मणः शिष्यः एकः कौशल्यो

1--1 W omits. 2 A H J M Ma रवि°. 3 M Ma "सु तै 4 A प्रभु 5 W "जि" 6 H M Ma V मुने 7 M Ma सुमन्वांस्त. H V सुकर्मास्त". 8 H V "चरो महान्. 9 A B G J सहस्रस". 10 H V ततस्तु तम्। 11 H V omit एष 12 H V वाजि". 13 A B J "सनी स". 14 H V "हस्रं स"

हिरण्यनाभः पौष्यंजिर्नामैकस्तौ जगृहतुः। आवंत्यश्चान्यस्तस्यैव शिष्यः सोऽपि जग्राह ॥७५,७६॥

**वीर० एवमिति**। स्तुतः प्रसादितश्च। हरिरादित्यशरीरकः भगवान् वाजिरूपधरो मुनये याज्ञवल्क्याय अदात् उपदिदेश॥७३॥

**यजुर्भिरिति**। विभुर्याज्ञवल्क्यः शतैरपरिमितैः यजुर्भिः दशपञ्च पञ्चदश शाखा अकरोत्। स तैरिति पाठे तु स विभुस्तैः वाजिरूपेण हरिणा दत्तैर्यजुर्भिः अकरोत्। ततो वाजिना संन्यस्ताः सम्यक् याज्ञवल्क्ये निहिताः शाखास्ततस्ता काण्वा माध्यन्दिनाश्च जगृहुरधीतवन्तः ॥७४॥

जैमिनेः साम्नां विभागमाह **जैमिनेरिति**। सामगस्य जैमिनेर्मुनेस्तनयः सुमन्तुर्नामासीत्, तत्सुतः सुमन्तुसुतः सुतन्वांस्ताभ्यां तत्पुत्रपौत्राभ्यां चतुर्थ्यन्तमिदं, द्वेधा विभज्येकैकां प्राहेत्यर्थः ॥७५॥

[2]तच्छिष्यः तस्य जैमिनेः शिष्यः महान् माहात्म्ययुक्तः सुकर्मानाम सामवेद एव तरुस्तस्मात्साम्नां सहस्रं संहितानां शाखानां भेदं चक्रे! हे द्विज! ॥७६॥

**विज०** वाजिरूपधरः अश्वरूपधरः अयातयामानि अगतसाराणि वीर्यवन्तीत्यर्थः ॥७३॥

वाजसनः सूर्यः तत आगताः शाखा वाजसन्यः ताः शाखाः काण्वादयो माध्यन्दिनादयश्च ॥७४॥

साम गायतीति सामगः तस्य जैमिनेस्तनयः सुमन्तुर्नाम, तस्य सुमन्तोः सुतः सुमन्वान्नाम, ताभ्यां सुमन्तुसुमन्वाभ्यां पुत्रपौत्राभ्यां क्रमेणैकामेकां प्राह ॥७५॥

सुकर्माऽपि तस्य जैमिनेः शिष्यः महानतिप्रज्ञावान् सामवेदाग्ध्यतरो साम्नां सहस्रं संहितारूपं भेदं चक्रे ॥७६॥

**हिरण्यनाभः [3]कौसल्यः [4]पौष्यिञ्जिश्च सुकर्मणः ।**
**शिष्यौ जगृहतुश्चान्य आवन्त्यो ब्रह्मवित्तमः ॥७७॥**

**उदीच्या स्सामगाश्शिष्या आसन्पञ्चशतानि वै ।**
**[5]पौष्यिञ्ज्यावन्त्ययोश्चापि तांश्च [6]प्राच्यान्प्रचक्षते ॥७८॥**

---

1 H V पौष्यिं, 2 A B omits तच्छिष्यः 3 B ॰ग॰ 4 A B G J M Ma ॰ष्य॰ 5 A B G J M Ma पौष्य॰, 6 H M Ma W M उदीच्यान्

**लोकाक्षिर्नाङ्गलिः कुल्यः कुसीदः कुक्षिरेव च ।**
**पौष्पिञ्जिशिष्या जगृहुः संहितास्ते शतं शतम् ॥७९॥**

**कृतो हिरण्यनाभस्य चतुर्विंशतिसंहिताः ।**
**शिष्य ऊचे स्वशिष्येभ्यः शेषा आवन्त्य आत्मवान् ॥८०॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां परमहंस्यां संहितायां
द्वादशस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

**श्रीध० उदीच्या** इति। पौष्यंञ्जयावंत्ययोरपि। चकाराद्धिरण्यनाभस्यापि पञ्चशतानि शिष्या आसन्। ते तावतीः शाखा यथायथं जगृहुः। तानुदीच्यान्सत कालत कांश्चित्प्राच्यांश्च प्रचक्षते इत्यर्थः। यथैवोक्तं वैष्णवे - "उदीच्या सामगाः शिष्यास्तस्य पञ्चशतं स्मृताः। हिरण्यनाभानावन्त्य संहिता यैर्द्विजोत्तमै । गृहीतास्तेऽपि चोच्यन्ते पण्डितैः प्राच्यसामगाः" (विष्णु. पु. 3-6-4,5) इति ॥७७,७८॥

पुनरप्येतेषां त्रयाणां सुकर्मणः शिष्याणां शिष्यान्तरै शाखाबाहुल्यं दर्शयति - **लौगाक्षिरिति द्वाभ्याम्** ॥७९॥

**कृत** इति। कृतो नाम हिरण्यनाभस्य शिष्यः स्वशिष्येभ्य ऊचे। शेषा अन्या अपि याः प्रसिद्धा शशाखाः ता आवन्त्यः स्वशिष्येभ्य ऊचे इति ॥८०॥

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

**वीर०** हिरण्यनाभ इति कौसल्य इति हिरण्यनामविशेषणम् पौष्पिञ्जो नामैकः तौ सुकर्मणः शिष्यौ जगृहतुः। तथा आवन्त्यश्चान्यस्तस्यैव शिष्य , स च ब्रह्मवित्तम सोऽपि जग्राहेत्यर्थः ॥७७॥

**उदीच्या** इति। पौष्पिञ्जावन्त्ययोश्चापि, अपिशब्दाद्धिरण्यनाभस्यापि पञ्चशतानि शिष्या आसन्। तांश्चोदीच्यान् सतः कांश्चित् प्राच्यांश्च प्रचक्षत इत्यर्थः। यथोक्तं वैष्णवे - "उदीच्यास्सामगाशिष्याः तस्य पञ्चशतं स्मृताः। हिरण्यनाभश्चावन्त्यः

---

1 ABGJMma लौगा' , 2 ABGJ मांङ्गलि , HV लांङ्गलि 3 ABGJMma पौष्य 4 HV 'ताना' 5 HV पौष्य' 6 AB पौष्पिञ्जो, 7 AB पौष्पिञ्जो

संहिता यैर्द्विजोत्तमैः ॥ गृहीतास्तेऽपि चोच्यन्ते पण्डितैःप्राच्यसामगा" (विष्णु.पु.3-6-4,5) इति ॥७८॥

पुनरप्येतेषां त्रयाणां सुकर्मणः शिष्याणां[1] शिष्यान्तरैः शाखाबाहुल्यं दर्शयति -लोकाक्षिरिति द्वाभ्याम्। लोकाक्ष्यादयश्चत्वारः पौष्यिञ्जिशिष्याः[2] शतं शतं संहिता जगृहुरित्यर्थः[3] ॥७९॥

कृतो नाम हिरण्यनाभस्य शिष्यः स च स्वशिष्येभ्यः चतुर्विंशाति संहिता ऊचे। शेषा अन्या अपि याः प्रसिद्धाश्शाखाः ता आवन्त्यः स्वशिष्येभ्यः ऊचे ॥८०॥

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

**विज०** कौसल्यः कोसलपुत्रः हिरण्यनाभश्च पौष्यञ्जिश्च, सुकर्मणः शिष्यौ जगृहतुः सामशाखामिति शेषः। अन्य आवन्त्य उदीच्यश्च, सामशाखां जगृहतुरिति शेषः। पौष्यञ्ज्यावन्त्ययोश्चाऽपि सामगाः पञ्चशतानि शिष्या आसन् ॥७७,७८॥

तेषां समुदितानां मतानां नामानीति पौष्यञ्जिशिष्या लौगाक्ष्यादयः नाम्ना शतं शतं संहिता जगृहुः ॥७९॥

हिरण्यनाभस्य शिष्यः नाम्ना कृतः चतुर्विंशति संहिताः स्वशिष्येभ्यः ऊचे, शेषा अन्याः संहिता आत्मज्ञानवानावन्त्यः स्वशिष्येभ्य ऊचे ॥८०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
द्वादशस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

**(श्रीविजयध्वजतीर्थरीत्या षष्ठोऽध्यायः न समाप्तः)**

---

1 AB omit शिष्याणां ; 2 A B पौष्यि; 3 W omits इत्यर्थ ।

# सप्तमोऽध्यायः

(विजयध्वजरीत्या षष्ठोऽध्यायः अनुवर्तते)

सूत उवाच

अथर्ववित् सुमन्तुश्च शिष्यमध्यापयत् स्वकाम् ।
संहितां सोऽपि पथ्याय वेददर्शाय चोक्तवान् ॥१॥

शौक्लायनिर्ब्रह्मबलिः मोदोषः पिप्पलायनिः ।
वेददर्शस्य शिष्यास्ते पथ्यशिष्यानथो शृणु ॥२॥

कुमुदः शुनको ब्रह्मन् जाजलिश्चाप्यथर्ववित् ।
बभ्रुः शिष्योऽथाङ्गिरसः सैन्धवायन एव च ।
अधीयेतां संहिते द्वे सावर्ण्याद्यास्तथा परे ॥३॥

नक्षत्रकल्पः शान्तिश्च काश्यपाङ्गिरसादयः ।
एते चाथर्वणाचार्याः शृणु पौराणिकान् मुने ॥४॥

त्रय्यारुणिः कश्यपश्च सावर्णिरकृतव्रणः ।
वैशम्पायनहारीतौ षड्वैपौराणिका इमे ॥५॥

अधीयन्त व्यासशिष्यात् संहितां मत्पितुर्मुखात् ।
एकैकामहमेतेषां शिष्यः सर्वा समध्यगाम् ॥६॥

काश्यपोऽहं च सावर्णी रामशिष्योऽकृतव्रणः ।
अधीमहि व्यासपुत्रा च्चतस्रो मूलसंहिताः ॥७॥

पुराणलक्षणं ब्रह्मन् । ब्रह्मर्षिभिर्निरूपितम् ।
शृणुष्व बुद्धिमाश्रित्य वेदशास्त्रानुसारतः ॥८॥

---

1 W स्वि', 2 M Ma बालि W बिलि 3 H V निर्दोष W मौद्गल 4 H V 'न', 5 H V 'न', 6 H V 'बा', 7 H V 'ऽप्या' M Ma 'ऽप्या', 8 A B G J M Ma क' 9 A B G J M Ma आ' 10 M Ma शिशपा' 11 A B G H J V सर्वा 12 A B G J क' 13 A B G J W शिष्या', 14 A त्वं

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

सप्तमेऽथर्वविस्तारः पुराणव्यसनं ततः। पुराणलक्षणादीनि फलं भागवतश्रुतेः॥

क्रमप्राप्तमथर्ववेदविभागमाह **अथर्वविदिति** शिष्यं कबन्धनामानम् स्वकां स्वकीयां संहिताम्। सोऽपि शिष्योऽपि तां द्विधा विभज्य। तदुक्तं वैष्णवे "अथर्ववेदं स मुनिः सुमन्तुरमितद्युतिः। शिष्यमध्यापयामास कबन्धं सोऽपि च द्विधा। कृत्वा तु वेददर्शाय तथा पथ्याय दत्तवान्" (विष्णु.पु.3-6) इति॥

तत्र वेददर्शः स्वसंहितां चतुर्धा विभज्य चतुरः शिष्यानध्यापयामास। पथ्यश्च त्रिधा विभज्य त्रीनित्याह सार्धेन - **शौक्लायनिरिति** ॥२॥

**कुमुद** इति। अङ्गिरसः शुनकस्य शिष्यो बभ्रुः सैन्धवायनश्च। तदुक्तं "शुनकस्तु द्विधा कृत्वा ददावेका बभ्रवे। द्वितीयां संहितां प्रादात् सैन्धवायनसंज्ञिने" (विष्णु. पु.3-6-12) इति सावर्ण्याद्याः सैन्धवायनादीनां शिष्याः ॥३॥

**नक्षत्रेति**। नक्षत्रकल्पः शान्तिकल्पश्चेति द्वौ। तदुक्तम् "नक्षत्रकल्पो वेदानां संहितानां तथैव च। चतुर्थः स्यादाङ्गिरसः शान्तिकल्पश्च पञ्चमः" (विष्णु. पु.3-6-13,14) इति। नक्षत्रकल्पादीनां कर्तारस्तन्नामभिरुच्यन्ते ॥४,५॥

**अधीयन्तेति**। मत्पितुर्मुखादिति। प्रथमं व्यासः षट्संहिताः कृत्वा मत्पित्रे रोमहर्षणाय प्रादात्, तस्य च मुखादेते त्रय्यारुण्यादय एकैकां संहितामधीयन्त। एतेषां षण्णां शिष्योऽहं, ताः सर्वाः समधीतवान् ॥६॥

**काश्यप** इति। रामशिष्यो योऽकृतव्रणः एवं चत्वारो वयम्। मूलसंहिता इत्यनेन ततः संहिताबाहुल्यं सूचितम् ॥७॥

शुकपरीक्षित्संवादे निरूपितमपि पुराणलक्षणं तद्भेदकथनाय दर्शयति - **पुराणेति** ॥८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ क्रमप्राप्तमथर्ववेदविभागमाह - **अथर्वविदित्यादिना**। शिष्यं कबन्धनामानं स्वकां संहितामध्यापयत् सोऽपि शिष्योऽपि तां द्विधा विभज्य, तदुक्तं वैष्णवे - "अथर्ववेदं स मुनिः सुमन्तुरमितद्युतिः। शिष्यमध्यापयामास कबन्धं सोऽपि च द्विधा। कृत्वा तु वेददर्शाय तथा पथ्याय दत्तवान्" (विष्णु.पु.३-६-५) इति ॥१॥

स्वसंहितां चतुर्द्धा विभज्य शौक्लयन्यादींश्चतुरोऽध्याययामास पथ्यस्तु त्रिधा विभज्य त्रीनित्याह - सार्धेन, शौक्लायनिरिति। हे ब्रह्मन्! ॥२॥

तत्र शुनकेन द्विधा विभक्तां स्वसंहितां ततो बभ्रुः सैन्धवायनौ अधीतवन्तौ इत्याह - **कुमुद** इति। बभ्रुः।

---

1 HV चोर्धर्म, 2 HV द्वेधा, 3 HV तद्विधा 4 ABJ omit तत्

सैन्धवायनश्चाङ्गिरसगोत्रप्रभवः शौनकशिष्यावित्यर्थः। सावर्ण्याद्याः सैन्धवायनबभ्रोः शिष्याः ॥३॥

आद्यशब्दविवक्षितानाह - नक्षत्रकल्प इति। नक्षत्रकल्पः शान्तिश्च नक्षत्रकल्पः शान्तिकल्पश्चेति द्वौ तदुक्तं नक्षत्रकल्पो वेदज्ञो शान्तिकल्पस्तथैव च" (विष्णु.पु.3-6-13) इति। काश्यपाः कश्यपगोत्रोद्भवाः आङ्गिरसाः तद्गोत्रोद्भवाः। एते नक्षत्रकल्पादीनां कर्तृत्वात्तन्नामभिरुच्यन्ते ते अथर्वणाचार्या अथर्ववेदशाखाविभजनेन तत्प्रवर्तका इत्यर्थः। इत्थं वेदसंहिताविभागमभिधायाऽथ पुराणसंहिताप्रपञ्चं शुश्रूषामालक्ष्य तावन्तप्रवर्तकान् श्रोतुं प्रचोदयति - शृणु पौराणिकान्मुने इति। हे मुने! ॥४॥

के पुनस्ते इत्यत्राह - त्रय्यारुणिरिति। त्रय्यारुण्यादय इमे षट् मत्पितुर्मुखादेकैकां संहितां पुराणसंहितामधीयन्त मत्पितुर्मुखादित्यनेन तावद्बादरायणः षट् संहिता रोमहर्षणाय प्रोवाच। तस्मादेते षडध्यैषत इति सूच्यते। अहन्तु एतेषां षण्णां शिष्यो भूत्वा सर्वा षडपि संहिता अध्यागामधीतवानस्मि ॥५-६॥

किञ्च, काश्यप इति रामस्य भार्गवस्य शिष्यो योऽकृतव्रणः त एते चत्वारो वयं व्यासपुत्रात् श्रीशुकाच्चतस्रो मूलसंहिता अधीमहि ॥७॥

'अधीमहि मूलसंहिता' इत्यनेन पुराणसंहिताबाहुल्यं सूच्यते तदग्रे स्पष्टीकरिष्यन् तावत् शुकपरीक्षित्संवादनिरूपितमपि पुराणलक्षणं तद्भेदकथनाय दर्शयति, पुराणेत्यादिना। वेदशास्त्रानुसारेण निरूपितं पुराणलक्षणं बुद्धिमाश्रित्य शृणु अवहितमनाः शृणु इत्यर्थः ॥८॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

सोऽपि सुमन्तो शिष्योऽपि पथ्याय ॥१॥

कुमुदादय पथ्यशिष्या बभ्रुसैन्धवायनौ पथ्यशिष्यस्य अङ्गिरसोऽङ्गिरो गोत्रे विद्यमानस्य शुनकस्य शिष्यौ अधीयेतां अधीतवन्तौ - "शुनकस्तु द्विधा कृत्वा ददावेकान्तु बभ्रवे। द्वितीयां संहितां प्रादात्सैन्धवायनसञ्ज्ञिने" (विष्णु.पु.3-6-12) इति॥ सावर्ण्याद्याश्च सैन्धवायनादीनां शिष्याः ॥२,३॥

आथर्वणाचार्याः अथर्ववेदाचार्याः पाठतोऽर्थतश्च अथर्ववेदप्रवर्तका इत्यर्थः। पौराणिकान् पुराणाचार्यान् ॥४-५॥

मत्पितुर्मुखात्पुराणसंहितामधीयन्त त्रय्यारुण्यादयः कथं एकैकामधीतवन्तःत्वन्तु कथं सर्वानधीतवानिति? तत्राह अहमिति। अहमेतेषां शिष्यः सर्वां पुराणसंहितामपठम् ॥६॥

व्यासपुत्रात् श्रीशुकात् ॥७॥

---

1 W वेदानां, 2-2 A B विभागजनेन

प्रसङ्गात्पुराणलक्षणं वक्तुं प्रतिजानीते, पुराणेति ॥८॥

**सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्तिरक्षान्तराणि च ।**
**वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः ॥९॥**

**दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः ।**
**क्वचित् पञ्चविधं ब्रह्मन् महदल्पव्यवस्थया ॥१०॥**

**अव्याकृतगुणक्षोभान्महतस्त्रिवृतोऽहमः ।**
**भूतसूक्ष्मेन्द्रियार्थानां सम्भवस्सर्ग उच्यते ॥११॥**

**पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः ।**
**विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद्बीजं चराचरम् ॥१२॥**

**श्रीध० सर्ग** इति। अस्य विश्वस्य। "अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थान पोषणमूतयः। मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः (भाग.2-10-1) इत्यत्रोक्ते स्थानपोषणे वृत्तिरक्षाशब्दाभ्यां उच्येते। अन्तराणि मन्वन्तराणि, वंशो वंश्यानुचरितं इतीशानुकथाः संस्था निरोधः। अनेनैवात्यन्तिकी लयरूपा मुक्तिरप्युक्ता। हेतुशब्देन जीवाश्रयवासनाशब्दवाच्या ऊतयो गृहीताः ॥९॥

**दशभिरिति**। दशभिरेतैर्लक्षणैरर्थैर्युक्तं महापुराणं विदुः। क्वचित्पञ्चविधम्। "सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंश्यानुचरितं चेति पुराणां पञ्चलक्षणम् इति"। पुराणं महत् अल्पं चेति व्यवस्थया। यत्र दशापि लक्षणानि पृथक् पृथङ् निरूप्यन्ते तन्महापुराणम्। यत्र त्वन्यषां पञ्चस्वेवान्तर्भावस्य विवक्षा तदल्पमिति व्यवस्थयेत्यर्थः ॥१०॥

सर्गादिलक्षणानि व्याचष्टे - **अव्याकृतेत्यादिना**। अव्याकृतस्य प्रधानस्य गुणानां क्षोभाद् यो महान् तस्माद् यः त्रिवृदहंकारः तस्मात् भूतमात्राणां सूक्ष्माणामिन्द्रियाणाञ्च तदर्थानाञ्च स्थूलानां तन्मात्राणाञ्च सम्भवः, सर्ग कारणसृष्टिसर्ग इत्यर्थः। उच्यत इति यथाऽपेक्षमुत्तरत्राप्यनुषङ्गः ॥११॥

विसर्गं व्याचष्टे **पुरुषेति**। पुरुषेण ईश्वरेण अनुगृहीतानामेतेषां महदादीनां पूर्वकर्मवासनाप्रधानोऽयं समाहारः। कार्यभूतश्चराचरप्राणिरूपो बीजाद्बीजमिव प्रवाहापन्नो विसर्ग उच्यत इत्यर्थः ॥१२॥

**वीर०** किं तदित्यत्राह - **सर्गश्चेवेति** दशभिः। सर्गादिभिर्लक्षणैर्युक्तं तदेव पुराणमिति तद्विदः पुराणलक्षणविदः अत्र

---

1 H V सर्गोऽप्यस्य, M Ma सर्गश्चैव W सर्गश्चाथ. 2 A G वृत्ती 3 A B G J के 4 B G J मात्रा 5 M Ma सर्गो य 6-6 M Ma जीवो जीवश्चराचर. 7 B omits वंश. 8 H V 'क'. 9 A B J के. 10 H V omit पृथक् 11-11 H V omit 12 A B J omit तन्

विदुः। स्थानपोषणे वृत्तिरक्षाशब्दाभ्यामुच्येते। अन्तराणि मन्वन्तराणि, वंशो वंश्यानुचरितं च, संस्था निरोधः, अनेनैव आत्यन्तिकप्रलयरूपा मुक्तिरप्युक्ता, हेतुशब्देनोतयः पृथग्गृहीताः। क्वचिदिति ब्रह्मन्! महदल्पव्यवस्थया क्वचित्पञ्चविधश्च लक्षणम्, महापुराणस्योक्तानि दशलक्षणानि, अल्पपुराणस्तु - सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंश्यानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥ इत्युक्तविधमित्यर्थः ॥९-१०॥

क्रमेण सर्गादीनां स्वरूपं निरूपयति - **अव्याकृतेत्यादिना**। अव्याकृतस्य मूलप्रकृतेः गुणानां सत्त्वरजस्तमसां क्षोभाद् यो महान् गुणत्रयपरिणामरूपः तस्मादहङ्कारः तथाभूतः तस्माच्च भूतानामाकाशादीनां तत्सूक्ष्माणां शब्दादीनां इन्द्रियाणां चेत्यर्थानां वस्तूनां य सम्भवः स सर्ग इत्युच्यते ॥११॥

विसर्गं निरूपयति - **पुरुषानुगृहीतानामिति**। पुरुषेण परमपुरुषेण अनुगृहीतानामाहितसृष्टिसामर्थ्यानां, एतेषां महदादितत्त्वानां, य समाहारः महत्तत्परिणामः, स विसर्ग इत्यर्थः। कोऽसौ समाहारः? इत्यतस्तं दर्शयति, चराचरात्मकमिति। चराचरात्मकं जगदेव तत्समाहार इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः बीजाद्बीजमिति। कारणबीजात् कार्यबीजमिव कारणादव्याकृतान्महदादि क्रमेण चराचरात्मकं यत्कार्यजातं स विसर्ग इत्यर्थः। विसर्गस्य जीवकर्मवासनाप्रयुक्तत्वात् वासनामयत्वम् ॥१२॥

**विज०** वृत्तिश्च रक्षा च अन्तराणि च वृत्तिरक्षान्तराणि ॥९॥

पुराणस्य महदल्पव्यवस्थया क्वचित्स्थले पञ्चविधं पञ्चलक्षणप्रकारोपेतम् ॥१०॥

तत्र सर्गादिकं क्रमेण [illegible] - **अव्याकृतेति**। अव्याकृतगुणक्षोभात् प्रकृतिगुणानां अन्योन्यसंयोगलक्षणसञ्चलनात् मातः महत्तत्त्वस्य वैकारिकादिभेदेन त्रिवृतोऽहम अहङ्कारस्य भूतसूक्ष्मेन्द्रियार्थानां पञ्चभूतसूक्ष्मेन्द्रियविषयाणां सम्भवो जन्मभूतमात्रेन्द्रियधियां जन्मेत्यधस्तादुक्तम् ॥११॥

पुरुषेण भगवतानुगृहीतानां अनुप्रवेशलक्षणानुग्रहवतामेतेषां तत्त्वानां सकाशात् वासनामयो य समाहारः तत्कर्मवासनानुसृतिः सृष्टिः स विसर्गो, जीव अजीवश्च चेतनाचेतनलक्षणः चराचर चराचरात्मको ब्रह्माण्डसर्ग "ब्रह्मणो वपुषः सम्यात् विसर्गः पौरुषः स्मृतः (भाग.2-10-3) इति ॥१२॥

**वृत्तिर्वृत्तानि भूतानां चराणामचराणि च।**
**कृता स्वेन नृणां तत्र कामाच्चोदनयाऽपि वा ॥१३॥**

---

1 M Ma कृतेशेन

रक्षाऽच्युतावतारेहा विश्वस्यानु युगे युगे ।
तिर्यङ्मर्त्यर्षिदेवेषु हन्यन्ते यैस्त्रयीद्विषः ॥१४॥

मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्रा स्सुरेश्वराः ।
ऋषयोंऽशावतारश्च हरेश्चेद्विधमुच्यते ॥१५॥

राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः ।
वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये ॥१६॥

**श्रीध०** **वृत्तिरिति**। चराणां भूतानां सामान्यतोऽचराणि। चकाराच्चराणि च कामात् वृत्तिः। तत्र तु नृणां स्वेन स्वभावेन कामाच्चोदनयापि वा या नियता वृत्तिः जीविका कृता, सा वृत्तिरुच्यत इत्यर्थः ॥१३॥

**रक्षेति**। तिर्यङ्मर्त्यर्षिदेवेषु येऽच्युतावताराः तेषामीहा लीला, सा विश्वस्य रक्षोच्यते इत्यर्थः। यैरवतारैरिति समासान्निष्कृष्य कथंचित्सम्बन्धः। त्रयीद्विषो दैत्याः ॥१४॥

**मन्वन्तरमिति**। षड्विधं मन्वन्तरमुच्यते। षड्विधत्वमेवाह - मनुरिति। मन्वादयः षडेते वर्गाः स्वस्वाधिकारेण यत्र प्रवर्तन्ते तन्मन्वन्तरमित्यर्थः ॥१५॥

वंशमाह- **राज्ञामिति**। ब्रह्मणः सकाशात्प्रसूतिर्येषां शुद्धानामित्यर्थः। तेषामन्वयो वंशः तेषां वृत्तम्। ये च तद्वंशधराः तेषां च वृत्तं वंशानुचरितमुच्यते। वंश्यानुचरितम् इति पाठे वंशे भवाः वंश्याः, तेषां वृत्तमित्यर्थः ॥१६॥

**वीर०** वृत्तिं निरूपयति - **वृत्तिरिति**। चराणां भूतानां, अचराणि भूतानि वृत्तिर्जीवनोपाय इत्यर्थः। सा च ईशेन ईश्वरेण कृता, सा च नृणां कामात् रागाद् तत्राऽपि चोदनया विधिना, न केवलं रागप्राप्ता शास्त्राविरूद्धा चेत्यर्थः। कृता स्वेनेति पाठे स्वेन ईश्वरेणैव कृतेत्यर्थः ॥१३॥

अथ रक्षामाह - प्रतियुगं तिर्यगादिषु अच्युतस्य अवतारः तच्चेष्टा विश्वस्य रक्षेत्यर्थः। अवतारतच्चेष्टितानां विश्वरक्षारूपत्वं दर्शयति, हन्यन्त इति। **यैरवतारैः** तच्चेष्टितैः त्रयीद्विषः वैदिकधर्मविरोधिनः हन्यन्ते ॥१४॥

अन्तराणि लक्षयति- मन्वन्तरमिति। षड्विधं मन्वन्तरमुच्यते इति सम्बन्धः। मन्वादयः षडेते यत्र तन्मन्वन्तरमुच्यत इत्यर्थः। षड्विधत्वमेवाह, मनुरिति। हरेरंशावताराश्चेति सम्बन्धः। सुरेश्वरा इन्द्राः ॥१५॥

---

1 A.G.H.J.V "रः", 2 M Ms मनु, 3 H V "तौ", 4 H V omit स्व, 5 ABJ यदा, 6-6 A omit, 7 A B "तार चेष्टि"

**वंशमाह राज्ञामित्यर्धेन**। मनोः प्रसूतानां राज्ञां यः त्रैकालिकः कालत्रयगोचरोऽन्वयः स वंशः इत्यर्थः। तदनुचरित मेवाह, **वंशानुचरितमिति**। ये च वंशधराः वंशनिर्वाहकाः तेषां वृत्तं वंशानुचरितं उच्यत इत्यर्थः ॥१६॥

**विज०** पञ्चानां भूतानां पञ्चभूतान्येवान्यं वृनिर्जीवनमन्नमित्यः। तेजोवृत्तिः पार्थिवानि दारुणीत्यादि। यद्वा, भूतानां पिशाचानां, भूतानि मनुष्यलोकस्थानि शरीररुधिराणि "पिशाचो गुह्यकःसिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः" (अमःको.1-1-11) इत्यमरः। चराणां गतिमतां, अचराणि स्थावरतुल्यानि व्रीह्यादीनि वृत्तिः ईशेन हरिणा कृता कल्पिता- अहस्तानि सहस्तानां सहस्तानि चतुष्पदाम्। अणूनि तात! महतां जीवो जीवस्य जीवनम् ॥ (भाग.1-13-46.) इत्युक्तम्। तत्रैवं स्थितिर्नृणां वृत्तिः कामादिच्छातः फलमूलादीनि चोदनया विधिना तत्तत्क्रियानुसारेण विहिता चरुपुरोडा- शादिलक्षणा ॥१३॥

युगे युगे विश्वस्य अनुयोग्या अच्युतावतारेहा हरे रवतारेण चेष्टा परिरक्षणं रक्षा, "यदा यदा हि धर्मस्य" (भ.गी.4-7) इति गीतायाम्। कुत्रेति तत्राह - निर्यगिति। यैरवतारैः, त्रयीद्विषः वेदवैरिणोऽसुराः हन्यन्ते तेषां चरितवर्णनं रक्षणमित्यर्थः। "स्थितिर्वैकुण्ठ विजयः" इति। 'पोषणं तदनुग्रह" इति च ॥१४॥

एतन्मन्वन्तरं षड्विधमुच्यते, षण्णां कथाकथनं मन्वन्तरमित्यर्थः। तत्रांशकानामिति शेषः। मन्वन्तरेषु तद्धर्मा **इति**, मन्वादिधर्मकथनमित्यर्थः ॥१५॥

मनुप्रसूतानां राज्ञां अन्वयो वंशः इत्युच्यते। कीदृशः? त्रैकालिको भूतभविष्यद्वर्तमानविषयः, एतत्कथनमत्रेति, वंशस्यानुचरितं नाम तेषां राज्ञां वृत्तिकथनं, ये वंशधरा उत्सन्नवंशं धृतवन्तस्तेषां च वृत्तम् ॥१६॥

**नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः।**
**संस्थेति कविभिः प्रोक्ता चतुर्धाऽस्य स्वभावतः ॥१७॥**

**हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्याकर्मकारकः।**
**यं वानुशायिनं प्राहुरव्याकृतमुतापरे ॥१८॥**

**व्यतिरेकान्वयौ यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।**
**मायामयेषु तद्ब्रह्म जीववृत्तिष्वपाश्रयः ॥१९॥**

---

1. MMa वृत्तं ; 2 MMa °वस्य , 3. M Ma वा°. 4 A.B.G.H.J.V शा° 5 A B G J °च . 6 M Ma मयासु

**पदार्थेषु यथा द्रव्यं तन्मात्रं रूपनामसु ।**
**बीजादि पञ्चतान्तासु ह्यवस्थासु युतायुतम् ॥२०॥**

**श्रीध० नैमित्तिक** इति। अस्य विश्वस्य। स्वभावतो मायातो निष्पन्नस्य यद्वा मायातः यश्चतुर्विधो लय इति ॥१७॥

**हेतुरिति**। अस्य जगतः सगदिर्हेतुर्निमित्तं जीवः। सोऽत्र हेतु रुच्यत इत्यर्थः। तस्य निमित्तताम्राह। अविद्यया कर्मकारकः कर्मकर्ता। जीवादृष्टप्रयुक्तत्वाद्विश्वसगदिः स तु तत्र हेतुरित्यर्थः नन्वनुशयी निमित्तमिति केचित्। अव्याकृतमित्यपरे। तत्राऽह - यमिति चैतन्यप्राधान्येनअनुशयिनमुपाधिप्राधान्यविवक्षयाऽव्याकृतम् ॥१८॥

अपाश्रयमाह **व्यतिरेकेति**। जाग्रदादिष्ववस्थासु जीवतया वर्तन्त इति जीववृत्तयो, विश्वतैजसप्राज्ञास्तेषु मायामयेषु साक्षितयाऽन्वयः, समाध्यादौ च व्यतिरेको यस्य तद्ब्रह्म संसारप्रतीतिबाधयोरधिष्ठानावधिभूतमपाश्रय उच्यत इत्यर्थः ॥१९॥

एत देव सदृष्टान्तं प्रपञ्चयति - **पदार्थेषविति**। पदार्थेषु घटादिषु द्रव्यं मृदादि यथा युतमन्वितमयुतं च बहिरप्यवस्थानात्। रूपनामसु च सन्मात्रं सत्तामात्रं यथा। एवं बीजं गर्भाधानमादि यासां, पञ्चता अन्ते च यासां तासु देहावस्थासु "निषेकगर्भजन्मानि बाल्यकौमार यौवनम्। वयो मध्यं जरामृत्युरित्यवस्थास्तनोर्नव" एतासु नवस्वप्यधिष्ठानत्वेन साक्षित्वेन च युतमयुतं च यत्तदपाश्रय इति ॥२०॥

**वीर०** संस्थामाह - **नैमित्तिक** इति। स्वभावतः कालकर्मस्वभावत् अस्य विश्वस्य सर्गादिः चतुर्धा चतुर्विधः **नैमित्तिकादिरूपो** लयः संस्थेति कविभिः प्रोक्तः ॥१७॥

हेतुं निरूपयति, **हेतुरिति**। अविद्याकर्मकारकः अज्ञानमूलकं पुण्यापुण्यात्मकं कर्म करोतीति तथा स जीवः एकत्वं जात्यभिप्रायकं अस्य विश्वस्य सगदि र्हेतुर्जीवस्य कर्मफलानुभवार्थत्वात्सर्गदिस्तन्निमित्तत्वं तस्यातः स हेतुरित्यर्थः। हेतुत्वख्यापनाय जीवं विशिनष्टि, यमिति। अनुशयो भुक्तफलकर्मावशेषः सोऽस्यास्तीति अनुशयी तथाभूतं यं जीवं प्राहुः भुक्तावशेषकर्मवासनायुक्तं प्राहुः उतापि चापरेयमव्याकृतं देवादिनामरूपरहितं प्राहुः सृष्टेः पूर्वं देवादि(वासना) नामरूपरहितं प्राहुः, सृष्टेः पूर्वं देवादिनामरूप रहिता वासनायुक्ताः जीवा अस्य सगदिर्निमित्तमिति सहेतुरित्यर्थः ॥१८॥

अथापाश्रयमाह - द्वाभ्याम्। **व्यतिरेकान्वयाविति**। मायामयेषु प्रकृतिकार्येषु शरीरेषु जाग्रदादिषु जीवस्य वृत्तिषु यस्यान्वयव्यतिरेकौ तद्ब्रह्म अपाश्रयः सर्वाधारत्वादपाश्रय इत्युच्यत इत्यर्थः। ब्रह्मणो जीववृत्तिनिर्वाहकतयाऽवस्थानात्तास्वन्वयः।

1 W परा°. 2 A B G H J V स°. 3 H V विस°. 4-4 A B J omit. 5 W omits सगदि

अवस्थाभिरस्पृष्टत्वात् व्यतिरेकश्च भवति, ब्रह्मणस्तत्तच्चिदचिद्विशिष्टतारूपेण सर्वावस्थान्वयः स्वेन रूपेण ताभिर्व्यतिरेकश्चेत्युक्तं भवति ॥१९॥

अत्र दृष्टान्तमाह - **पदार्थेष्विति**। बीजादि पञ्चत्वान्तास्ववस्थासु जन्मादिविनाशान्तासु अवस्थासु रूपनामसु नामरूपवत्सु पदार्थेषु घटपटादिषु यद्द्रव्यं तन्मात्रं तद् द्रव्यमात्रं जन्माद्यवस्थाभिः युतायुतं तत्त्वादिविशिष्टतारूपेण जन्मादियुतं तत्प्रहाणदशायां विशेष्यमात्ररूपेण जन्मादिरहितं च तद्वदित्यर्थः ॥२०॥

**विज०** अस्य जगतः स्वभावतश्चतुर्धा लयः संस्थेति कविभिः प्रोक्ता ॥१७॥

यं च प्रलये परमात्मानमनुविश्य शायिनं स्वपन्तमाहुः अपरे अव्याकृतं अव्याकृताकाशवन्निर्विकारं प्राहुः, सोऽविद्यया कर्मकारकः कर्मकर्ता अस्य जगतः सर्गादिनिमित्तभूतो जीवो हेतुरित्युच्यते जीवसमुदायः सुखदुःखप्राप्तये तं हेतुं कृत्वा जगतः सृष्ट्यादिकं प्रवर्तत इति। "निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः" (भाग.2.10.6) इति ॥१८॥

अपाश्रयं लक्षयति - **व्यतिरेकान्वयाविति**। अपगत आश्रयो यस्य स तथा अद्वितीय इत्यर्थः। अद्वितीयत्वं कथमुच्यते, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञायत इति यस्य हरेर्जीववृत्तिषु जीवानां जीवनोपायभूतासु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु व्यतिरेकान्वयौ स्तः, जाग्रदाद्यभावेपि विद्यत इति। व्यतिरेकः तद्भावेऽप्यस्तीत्यन्वयः। मया मायासु श्रीहरीच्छाश्रचितासु तद्ब्रह्मव्यपाश्रय इत्युच्यते ॥१९॥

प्रकारान्तरेण आश्रयं लक्षयति - **पदार्थेष्विति**। रूपनामयुक्तेषु पदार्थेषु यद्द्रव्यमुपादानादिकारणभूतं प्रकृत्याख्यं तन्मात्रं पदार्थस्वरूपं तस्मिन् द्रव्ये बीजादि पञ्चतान्तासु जन्मादिमरणावसानाम्ववस्थासु युतायुतं अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यद्वर्तते तद्ब्रह्मापाश्रयम्। यद्वा, रूपनामप्रपञ्चपदार्थेषु युतायुतमन्वयव्यतिरेकलक्षणानुमानेन यत्तन्मात्रं विज्ञानानन्दमात्रं द्रव्यं द्रुतं ज्ञेयं यत् बीजत्वाद्यवस्थासु वस्तुनः पञ्चत्वावसानलक्षणावस्थासु युतायुतं वर्तते तद्ब्रह्मेति ॥२०॥

**विरमेत यदा चित्तं हित्वा वृत्तित्रयाश्रयम्।**
**योगेन वा तदाऽऽत्मा नं वेदेहाया निवर्तते ॥२१॥**

**एवं लक्षणलक्ष्याणि पुराणानि पुराविदः।**
**मुनयोऽष्टादश प्राहुः क्षुल्लकानि महान्ति च ॥२२॥**

---

1--1 W omits. 2 A मर्वासु. 3 A B G H J V अय स्वयम् * वेदात्मा तन्निवर्तते वीरराघवव्याख्यानुसारेण तदादृत पाठ। 4 M Ma वेदनात्मा

**ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं लैङ्गं सगारुडम् ।**
**नारदीयं भागवतमाग्नेयं स्कान्दसंज्ञितम् ॥२३॥**

**भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं सवामनम् ।**
**वाराहं मात्स्यं कौर्मं च ब्रह्माण्डाख्यमिति त्रिषट् ॥२४॥**

**ब्रह्मन्निदं समाख्यातं शाखाप्रणयनं मुनेः ।**
**शिष्याशिष्य च प्रशिष्याणां ब्रह्मतेजोविदीपनम् ॥२५॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
द्वादशस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

**श्रीध०** एवं दशाऽपि लक्षणानि व्याख्याय इदानीं "दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्। वर्णयन्ति महात्मानः" (भाग.2-10-2) इति यदुक्तं तदाह - **विरमेतेति**। यदा सर्गादीनां मायामयत्वानुसन्धानेन वामदेवादेरिव स्वयमेव चित्तं विरमेत इहैवानुष्ठितेन योगेन वा देवहूत्यादिवत् तदा विक्षेपाभावादात्मानं वेद। तदा चाविद्यानिवृत्तेरीहायाः संसाररूपाया निवर्तत इत्यर्थः ॥२१॥

पुराणविभागप्रस्तावेन तल्लक्षणादिकं प्रासंगिकमुक्त्वा प्रस्तुतमाह **एवमिति**। एवं विधैर्लक्षणैर्लक्ष्याणि ॥२२-२३॥

**भविष्यमिति**। त्रिषडष्टादश ॥२४॥

उपसंहरति - **ब्रह्मन्निति**। मुनेर्व्यासस्य शिष्यादीनां च ब्रह्मतेजो ब्रह्मवर्चसम्। तद्विवर्धनम्, श्रोतॄणामिति शेषः ॥२५॥

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

**वीर०** यदुक्तं "दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्" (भाग.2-10-2) इति। तदाह- **विरमेतेति**। वृत्तित्रयाश्रयमिति भावप्रधानो निर्देशः। यदा चित्तं जाग्रदादिवृत्तित्रयाश्रयत्वं हित्वा स्वयमयत्नतः योगेन योगाभ्यासयत्नेन वा विरमेत विषयेभ्य इति शेषः। तदात्मानमाश्रयाख्यं वेद आत्मा चित्तं तत् ततः निवर्तते वेदेहाया निवर्तते इति पाठान्तरं, तदा आत्मानं वेद ततः ईहायाः संसाररूपायाः निवर्तत इत्यर्थः। वैदेहाया निवर्तत इति पाठान्तरं तदा यस्य चित्तं विरमेत स आत्मानं वेदेति शेषः। ततः वैदेहाय विदेहभावाय प्राकृतदेहाभावायेति यावत्। निवर्तते संसारबन्धान्निवर्तते मुच्यत इत्यर्थः ॥२१॥

---

1 M Ma लिङ्ग . 2 H M Ma V च . 3 M Ma स्क' . 4 H V 'ध्यत् . 5 H V W कै' . 6-6 W 'रमात्म्यकौर्माणि 7 H V 'न्नेतत् . M Ma 'नैतत् . 8 M Ma मुने '. 9 A B G J M Ma शिष्यशिष्यप्र' . 10 A B J omit इदानीं' 11 H V 'त् . 12 A B J omit क

तदेवं पुराणसंहिताविभागप्रसङ्गेन तल्लक्षणान्यभिधाय प्रस्तुतमाह - **एवमिति**। एवंविधैः दशभिः पञ्चभिर्वा लक्षणैः लक्ष्याणि महान्ति क्षुल्लकानि अल्पानि च अष्टादशपुराणानि पुराणविदः पूर्वकालाभिज्ञाः मुनयो विदुः ॥२२॥

कानि पुनस्तानि अष्टादशेत्यत्राह - **ब्राह्ममिति** द्वाभ्याम्। मात्स्यकौर्म्यमिति समाहारद्वन्द्वः मात्स्यं कौर्म्यं चेत्यर्थः। इतीत्थं त्रिषट् अष्टादश ॥२३-२४॥

वेदपुराणसंहिताविभागोपपादनं निगमयति - **ब्रह्मन्निति**। हे ब्रह्मन्! मुनेर्बादरायणस्य शिष्याणां प्रशिष्याणां शाखाप्रणयनं वेदपुराणसंहिताप्रवर्तनं तच्च श्रोतॄणां ब्रह्मतेजसः ब्रह्मवर्चसस्य विदीपनमुद्दीपनमिति फलकीर्तनम् ॥१५॥

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

**विज०** एतादृशब्रह्मप्राप्तिः कदा स्यादिति तत्राह - **विरमेतेति**। वृत्तित्रयाश्रयं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिलक्षणवृत्तित्रयविरूढं चित्तं हित्वा वृत्तित्रयाद्विरमेत उपरतं भवति, तदा योगेन ध्यानलक्षणया उपासनया निरन्तरं श्रीनारायणकथाश्रवणलक्षणोपासनया चात्मानं परमात्मानं वेद जानाति, लभते प्राप्नोति च। ततः किमत्राह - नेति। आत्मा जीवः पुनर्निवर्तते नैव "न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते" (छान्दो.उ.8-15-1) इति श्रुतेः ॥२१॥

उपसंहरन्नेव पुराणानां क्षिप्रप्रवृत्तये संख्यामाह - **एवमिति**। क्षुल्लकानि लोकसंख्यापरिमितानि नत्वर्थतः, कानिचिदर्थतः शब्दतः फलतोऽपि महान्ति ॥२२॥

तानि क्रमेण निर्दिशति - **ब्राह्ममित्यादिना** ॥२३॥

त्रिषट् अष्टादश ॥२४॥

अत्र शिष्यप्रशिष्यैः शाखाप्रणयनं वेदपुराणकर्तृब्रह्मणोऽनभिमतं कृतमिति माशङ्कीत्याह - **ब्रह्मणेति**। शिष्यादीनामेतच्छाखाप्रणयनं ब्रह्मणैव समाख्यातं, कथितं कीदृशं ब्रह्मतेजोविदीपनं, ब्रह्मतेजसः प्रकाशकं निरर्थकं प्रणयनं, किमर्थं कृतमित्यतो वाह - **ब्रह्मेति**। ब्रह्मणः परमात्मनस्तेजसः प्रभावस्य विदीपनं प्रकाशनकरम् ॥२५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
द्वादशस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

**(श्रीविजयध्वजतीर्थरीत्या नवमोऽध्यायः न समाप्तः)**

---

1 A.B "सः, 2 A.B add इति

# अष्टमोऽध्यायः

## शौनक उवाच

सूत जीव चिरं साधो वद नो वदतां वर ।
तमस्यपारे भ्रमतां नृणां त्वं पारदर्शनः ॥१॥

आहुश्चिरायुषमृषिं मृकण्डुतनयं जनाः ।
यः कल्पान्तेप्युर्वरितो येन ग्रस्तमिदं जगत् ॥२॥

स वा अस्मत्कुलोत्पन्नः कल्पेऽस्मिन् भार्गवर्षभः ।
नैवाधुनापि भूतानां सम्प्लवः कोऽपि जायते ॥३॥

एक एवार्णवे भ्राम्यन् ददर्श पुरुषं किल ।
वटपत्रपुटे तोकं शयानं त्वेकमद्भुतम् ॥४॥

एष नः संशयो भूयान् सूत कौतूहलं यतः ।
तं नश्छिन्धि महायोगिन्, पुराणेष्वपि सम्मतः ॥५॥

## सूत उवाच

प्रश्नस्त्वया महर्षेऽयं कृतो लोकभ्रमापहः ।
नारायणकथा यत्र गीता कलिमलापहा ॥६॥

प्राप्तद्विजातिसंस्कारो मार्कण्डेयः पितुः क्रमात् ।
छन्दांस्यधीत्य धर्मेण तपःस्वाध्यायसंयुतः ॥७॥

बृहद्व्रतधरः शान्तो जटिलो वल्कलाम्बरः ।
बिभ्रत् कमण्डलुं दण्डमुपवीतं समेखलम् ॥८॥

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अष्टमे तु तपश्चर्या मार्कण्डेयस्य मोहकैः ।
कामादिभिरसंमोहो नरनारायणस्तुतिः ॥१॥

पुराणविभागप्रसंगेन पुराणकर्तुर्मार्कण्डेयस्य चरितप्रश्नमाह - सूतेति । त्वमेव वक्तुं योग्य इत्याह । तमसि संसारे भ्रमतां

---

1 A "ण्ड . 2 A B G J "न्तेप्युर्व". 3 W आत्मकु". 4 W "भ । 5 M Ma जात 6 H V भया" . W मला" 7 H V "ता . 8 H.V "ता", 9 H V त पृच्छति

पारदर्शनस्तन्निवर्तकः ॥१॥

वक्तव्यमाह - **आहुरिति**। उर्वरितोऽवशिष्टः। येन कल्पान्तेन। एतत्कथं घटत इत्येकः प्रश्नः ॥२॥

प्रलयाभावादप्येतन्न घटत इत्याह - **स वा** इति। यतो भार्गवर्षभः। कोऽपि प्राकृतिको नैमित्तिको वा ॥३॥

अन्यदप्यघटितमेवेत्याह - **एक एवेति**। तोकं बालकम् ॥४॥

**एष** इति। कौतूहलमौत्सुक्यम्। तं संशयम्। न केवलं त्वं महायोगी, किन्तु पुराणेष्वपि ज्ञातृत्वेन सम्मतः ॥५॥

प्रश्नमभिनन्दति - **प्रश्न** इति। हे महर्षे! अयं प्रश्नः। तत्र हेतुः नारायणेति। यत्र प्रश्नविषये ॥६॥

तत्र मार्कण्डेयस्तपसा भगवन्तमाराध्य मायाप्रदर्शनं वव्रे। ततश्च तेनैव भगवन्मायया सप्तकल्पाः दृष्टा नान्यैरित्युत्तरं वक्तुमादित आरभ्य तस्य चरितमाह - **प्राप्त** इत्यादिना। मार्कण्डेयो मृत्युं जिग्ये इति पंचमश्लोकेनान्वयः। मध्यमग्रन्थेन तस्य धर्मः कथ्यते। प्राप्तो द्विजातिसंस्कार उपनयनाख्यो येन सः। पितुः सकाशाद् गर्भाधानादिक्रमात्, छन्दांसि वेदान् ॥७॥

**बृहद्व्रतधर** इति। बृहद्व्रतधरो नैष्ठिको ब्रह्मचारी सन् ॥८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

पुराणगणनायां मार्कण्डेयपुराणमित्युक्तं, तत्र तत्पुराणकर्तुः मार्कण्डेयस्य मुनेः चरित्रं बुभुत्सुः तत्कथनाय सूतं स्तौति शौनकः - **सूतेति**। हे सूत! हे साधो! वदतां वर! चिरञ्जीव। नोऽस्मभ्यं वद, यदन्यच्छुश्रूषितं तद्वदेत्यर्थः। यतस्त्वमपारे तमसि अज्ञाने, तत्कार्ये संसारे वा भ्रमतां नृणां जनानां तत्पारं दर्शयतीति तथाभूतस्त्वमेव; अतो वदेत्यर्थः ॥१॥

किं तच्छुश्रूषितमित्यत्राऽह - **आहुरिति**। चिरायुषमेव दर्शयितुं विशिनष्टि - यः कल्पान्तेऽप्युर्वरितः अवशिष्टः, येन भगवतेदं जगत् ग्रस्तं, तञ्च ददर्शेति शेषः। यद्वा, येनेदं जगत् कल्पान्ते ग्रस्तं, तेनोर्वरितोऽवशेषितो यः इति सम्बन्धः। मार्कण्डेयस्य एतत्कल्पप्रसूतत्वे शास्त्रान्तरविरोधपरिहारो द्रष्टव्यः। एतत्कल्पप्रसूतो मार्कण्डेयोऽन्यो वा स्यादित्यविरोधः ॥२॥

तत्र आत्मनस्संशयमुद्घाटयति - **स वा** इति। हे भार्गवर्षभ! स वै मार्कण्डेयः अस्मिन्नेव कल्पे स्वकुलोत्पन्नः, ततः किम्, अत आह - नैवेति। अधुनाऽपि भूतानां सम्प्लवः प्रलयः कोऽपि नैव जायते। अस्मिन्नेव कल्पे जातः। कथ मसञ्जातं सम्प्लवमद्राक्षीदिति संशय इत्यर्थः ॥३॥

उर्वरितत्वमेव प्रपञ्चयति - **एक** एवेति। अर्णवे प्रलयार्णवे भ्राम्यन् वटपत्रस्य पुटे तले शयानं तोकमर्भकं बालकं पुरुषं

---

1 HV कर्तव्य. 2 J मि. 3 HV "क्त. 4 W "वमि". 5 W omit मुने. 6 AB चरित. 7 W omit जनानां. 8 AB अस्मत्कु". 9 AB संवर्तम"

ददर्श। बालस्याल्पत्वसूचनाय तोकमित्युक्तम्। अतो न पौनरुक्त्यम् ॥४॥

**इत्थं संशयमाविष्कृत्य तन्निरासाय चोदयति - एष इति।** एषः "स वा आत्मकुलोत्पन्नः" इत्यादिनोक्तः, यतः संशयात् महत्कौतूहलं यद्वृत्तान्तश्रवणौत्सुक्यं भवति तन्नोऽस्माकं संशयं छिन्धि। न केवलं त्वं योगी किन्तु पुराणेष्वपि ज्ञातृत्वेन सम्मतः ॥५॥

**इत्थमापृष्टस्तच्चरित्रं विस्तरतो विवक्षुः, तावत्प्रश्नमभिनन्दति सूतः, - प्रश्न इति।** हे महर्षे! त्वया कृतोऽयं प्रश्नः लोकस्य मलमपहन्तीति तथा। तत्र हेतुः, यत्र यत् प्रश्नोत्तरे कलिमलं कलियुगप्रयुक्तं मलमपहन्तीति तथाभूता नारायणकथा गीता भविष्यति ॥६॥

आदितस्तच्चरित्रं वर्णयति - **प्राप्तेत्यादिना** यावद्दशमाध्यायसमाप्ति। मार्कण्डेयो मृत्युं विजिग्ये इति पञ्चमेनाऽन्वयः। क्रमाद्गर्भाधानादि संस्कारक्रमात्प्राप्तः द्विजातिसंस्कारः उपनयनसंस्कारो येन सः धर्मेण शास्त्रोक्तविधिना छन्दांसि वेदानधीत्य तपसा स्ववर्णाश्रमोचितेन स्वाध्यायेन वेदेन च संयुक्तः ॥७॥

बृहद्व्रतधरः नैष्ठिकब्रह्मचर्यव्रतधरः नियमर्द्धये नियमस्य स्वधर्मस्य ऋद्धिः वृद्धि स्तस्यै कमण्डल्वादिकं बिभ्राणः सन्ध्ययोस्सायंप्रातस्सन्ध्ययोः अन्यादिषु हरि मर्चयन् तत्रात्मा स्वहृदयं गुर्वर्थं भैक्षमाहृत्य तेनाऽनुज्ञातश्चेत्तर्हि बुभुजे, सकृदेकवारं[1] नो चेदननुज्ञातश्चेदुपोषितो भवति ॥८॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अस्मिन्नध्याये मार्कण्डेयकथाव्याजेन हरेर्निरतिशयमाहात्म्यं ब्रूते। पुराणविभागप्रसङ्गेन पुराणकर्तुर्मार्कण्डेयस्य चरित तत्र शौनकः सूतं पृच्छति - **सूतेति**। वद भगवत्कथाद्योतिनीं, कथामिति शेषः ॥१॥

येन कल्पान्तेन इदं जगद्ग्रस्तं तस्मिन् कल्पान्तेऽप्युर्वरितः अवशिष्टः ॥२॥

अस्मत्कुलसम्बन्धित्वात्तच्चरितमवश्यं श्रवणार्हमित्याशयवानाह - **स वा** इति। तस्य भूतानां मध्ये कोपि सम्प्लवो नाश इति वा ॥३॥

तस्यामवस्थायां प्रलय इवार्णवे पुरुषं ददर्श किलेति वा ॥४॥

यतः संशयान्महाकौतूहलविषयोऽर्थः मम संशयच्छेदनं कथमुपपद्यत इति तत्राह - **पुराणेष्विति**। ज्ञातृत्वेन सम्मतो भवानिति ॥५॥

---

1. W omits एकवारं

मार्कण्डेयकथाया लोकज्ञाननिवारणसामर्थ्यं कुतः? इत्यत्राह - नारायणेति। यत्र मार्कण्डेयकथायां तत्कथाविषयः प्रश्नः ॥९॥

पितुर्मृकण्डोः प्राग्द्विजातिसंस्कारः अन्नप्राशनोपनयनान्तब्राह्मण संस्कारान्प्राप्तः ॥७॥

बृहद्व्रतधरः ब्रह्मचारिव्रतधरः ॥८॥

कृष्णाजिनं साक्षसूत्रं कुशांश्च नियमर्द्धये ।
अग्न्यर्कगुरुविप्रात्मस्वर्चयन् सन्ध्ययोर्हरिम् ॥९॥

सायं प्रातस्स गुरवे भैक्ष्यमाहृत्य वाग्यतः ।
बुभुजे गुर्वनुज्ञातः सकृन्नो चेदुपोषितः ॥१०॥

एवं तपःस्वाध्यायपरो वर्षाणामयुतायुतम् ।
आराधयन् हृषीकेशं जिग्ये मृत्युं सुदुर्जयम् ॥११॥

* ब्रह्मा भृगुर्भवो दक्षो ब्रह्मपुत्राश्च येऽपरे ।
नृदेवपितृभूतानि तेनाऽसन्नतिविस्मिताः ॥१२॥

इत्थं बृहद्व्रतधरः तपःस्वाध्यायसंयमैः ।
दध्यावधोक्षजं योगी ध्वस्तक्लेशान्तरात्मना ॥१३॥

तस्यैवं युञ्जतश्चित्तं महायोगेन योगिनः ।
व्यतीयाय महान्कालो मन्वन्तरषडात्मकः ॥१४॥

एतत्पुरन्दरो ज्ञात्वा सप्तमेऽस्मिन्किलान्तरे ।
तपोविशङ्कितो ब्रह्मन्नारेभे तद्विघातनम् ॥१५॥

गन्धर्वाप्सरसः कामं वसन्तमलयानिलौ ।
मुनये प्रेषयामास रजस्तोकमदौ तथा ॥१६॥

श्रीध० कृष्णाजिनमिति। तन्नियमर्द्धये धर्माभिवृद्धये। अग्न्यादिषु पञ्चसु हरिमर्चयन् ॥९॥

सायमिति। भैक्ष्यं गुर्वर्थमाहृत्य तेनाऽनुज्ञातश्चेत्तर्हि बुभुजे। नो चेत् सकृत् कदाचित् उपोषितो भवति ॥१०,११॥

ब्रह्मेति। तेन मृत्युंजयेन ॥१२॥

1. H V कुशान्सत्रि'. 2 M Ma ०प्रांश 3 H V 'तस्स्व' 4 H V 'रतो * This verse is not found in W edition. 5 H V ब्रह्मव्रत. 6 H V ०ग M.Ma गात्, 7 M.Ma 'शोऽन्त'. 8 H M Ma V 'न्त मलयानिलम्'। 9 H V तदा। 10 A B J omit तत्, 11 A B.J धर्मवृ'. 12 A B J मृत्यु

**इत्थमिति**। योगेन[1] ध्वस्ताः क्लेशाः रागादयो यस्य तेनान्तरात्मना प्रत्याहृतेन[2] मनसा ॥१३,१४॥

तस्य तपोनिष्ठामितिहासेनवर्णयति - **एतदित्यादिना**। अस्मिन् सप्तमे मन्वन्तरे। तपसा मत्पदं ग्रहीष्यतीति विशङ्कितः ॥१५॥

**गन्धर्वेति**। मुनये मुनिं भ्रंशयितुम्। रजसस्तोकमतिप्रियमपत्यं[3], लोभो मदश्च तौ ॥१६॥

**वीर०** एवमिति सुदुर्जयं सुतरां दुःखेनापि जेतुमशक्यं मृत्युं जिग्ये, जितवानित्यर्थः ॥९-१२॥

**इत्थ** मिति। योगेन ध्वस्ताः क्लेशा रागादयो यस्य तेनाऽन्तरात्मना प्रत्याहृतेन मनसा अधोक्षजं दध्यौ ध्यातवान् ॥१३॥

**तस्येति**। युञ्जतः समादधतः सतः महान् भूयान् तदेवाह मन्वन्तरषडात्मकः व्यतीयाय व्यतिक्रान्तोऽभूत् ॥१४॥

तस्य तपोनिष्ठादार्ढ्यमितिहासेन वर्णयति - **एत दित्यादिना**। पुरन्दर इन्द्रः एतत्तपश्चरणं ज्ञात्वा सप्तमेऽस्मिन् मन्वन्तरे वैवस्वतमन्वन्तरे हे ब्रह्मन् तपसा विशङ्कितः किं वाऽयं मत्पदं जिघृक्षेदिति सञ्जातशङ्कः[4] तद्विघातनं[5] तपोविघातमारब्धवान् ॥१५॥

**गन्धर्वांश्चाऽप्सरसश्च** ताः मुनये मुनिं भ्रंशयितुं गन्धर्वादीन् प्रेषयामास स्वयं रजस्तोकमदौ रजस्तोको लोभः तस्य रजोगुणप्रभवत्वात्, तश्च मदश्च तौ प्रेषयामास ॥१६॥

**विज०** हरिं, स्मरन्निति शेषः ॥९॥

नो चेदनुज्ञाभावे ॥१०,११॥

तेन कर्मणा ॥१२॥

मनोयोगादन्तरात्मनाऽन्तर्यामिणा ध्वस्तक्लेशः ॥१३,१४॥

अस्मिन् सप्तमे मन्वन्तरे तपसो विशङ्कितः तद्विघातनं तस्य तपसो विघ्नम् ॥१५॥

रजोगुणं स्तोकमदौ व्यर्थकर्मदर्पौच। अत्र कामादयो मूर्तिमन्तो निर्दिश्यन्ते ॥१६॥

**ते वै तदाश्रमं जग्मुर्हिमाद्रेः पार्श्व उत्तरे ।**
**पुष्पभद्रा[6] नदी यत्र चित्राख्या च शिला विभो! ॥१७॥**

---

1 A.B J omit योगेन. 2 ABJ "हृतम्". 3 B रज. 4- 4 AB सशयं प्राप्त 5 W तस्य 6 M Ma पुष्प

तदाश्रमपदं पुण्यं पुण्यद्रुमलताञ्चितम् ।
पुण्यद्विजकुलाकीर्णं पुण्यामलजलाशयम् ॥१८॥

मत्तभ्रमरसङ्गीतं मत्तकोकिलकूजितम् ।
मत्तबर्हिनटाटोपं मत्तद्विजकुलाकुलम् ॥१९॥

वायुः प्रविष्ट आदाय हिमनिर्झरशीकरान् ।
सुमनोभिः परिष्वक्तो ववावुत्तम्भयन् स्मरम् ॥२०॥

उद्यच्चन्द्रनिशावक्त्रः प्रवालस्तबकालिभिः ।
गोपद्रुमलताजालैस्तत्राऽसीत्कुसुमाकरः ॥२१॥

अन्वीयमानो गन्धर्वैर्गीतवादित्रयूथिकैः ।
अदृश्यताऽऽत्तचापेषुः स्वःस्त्रीयूथपतिः स्मरः ॥२२॥

हुत्वाग्निं समुपासीनं ददृशुश्शक्रकिङ्कराः ।
मिलिताक्षं दुराधर्षं मूर्तिमन्तमिवाऽनलम् ॥२३॥

ननृतुस्तस्य पुरतः स्त्रियोथो गायका जगुः ।
मृदङ्गवीणापणवैः वाद्यं चक्रुर्मनोरमम् ॥२४॥

**श्रीध० तदिति**। तदाश्रमं पदं प्रविष्टो वायुर्ववाविति तृतीयेनाऽन्वयः। पुण्यै र्लताभिश्चार्चितम् पूजितम्। पुण्यानां द्विजानामृषीणां कुलैः आकीर्णम् व्याप्तम् पुण्या अमला जलाशया यस्मिन् तत् ॥१७,१८॥

**मत्तेति**। मत्तभ्रमराणां सङ्गीतं यस्मिन्, मत्तकोकिलानां कूजितं यस्मिन्, मत्ता बर्हिण एव नटा स्तेषामाटोपो नृत्यसम्भ्रमो यस्मिन्। मत्तानां द्विजानां पक्षिणां कुलैराकुलं व्याप्तम् ॥१९॥

**वायुरिति**। एवम्भूतं तदाश्रमपदं प्रविष्टस्सन् वायुः मलयाऽनिलो ववौ प्रससार। उत्तम्भयन् उद्दीपयन्, तत्र वृक्षेषु प्रवेशान्मान्द्यं, हिमनिर्झरकणानामादानाच्छैत्यं,पुष्पपरिष्वङ्गात्सौगन्ध्यञ्चोक्तम् ॥२०॥

किञ्च **उद्यदिति**। उद्यंश्चन्द्रो यस्मिन् तत् निशावक्त्रं रजनीमुखं यस्मिन्सः। प्रवालस्तबकानामालयः श्रेणयो येषु

1 M Ma तत्राश्र° , W गत्वाश्र 2 H V °तार्चितम् M Ma °तान्वितम्, 3 MMa गावन्दुम°, 4 A B G J यूथकै ; MMa यूथपैः, 5 H V तमु°, 6 H V °वै, 7 H V हरम्, 8 A B J °ऽञ्चितम्, 9 A B J °व्यप्ति°, 10 A omits व्याप्तम्, 11 H V omit नृत्य, 12 H V °लद्वि°

तैः। गुप्यन्ति विटपैः संश्लिष्यन्तीति गोपा, द्रुमा लताश्च तेषां जालैः समूहैरुपलक्षितकुसुमाकरः वसन्तः आसीत् आविर्बभूव ॥२१॥

किञ्च **अन्वीयमान** इति। तदा गीतवादित्रयूथिकैगायकादिसमुदायिभिर्गन्धर्वैरन्वीयमानः। तथा स्वःस्त्रियोऽप्सरसः, तासां यूथस्य पतिः आत्तः चापः इषुश्च येन स, स्मरश्च तत्राऽदृश्यत ॥२२॥

**हुत्वेति**। दुराधर्षमभिभवितुमशक्यम् ॥२३,२४॥

**वीर०** ते वा इति। गन्धर्वादयः हिमाचलस्योत्तरे पार्श्वे तत्राऽपि यत्र पुष्पभद्रा नाम नदी तत्रापि, यत्र च चित्राख्याशिला तत्र तदाश्रमं मार्कण्डेयाश्रमं जग्मुः। हे विभो इति सम्बोधनम् ॥१७॥

**तादिति**। तस्य मार्कण्डेयस्य आश्रमपदं प्रविष्टो वायुर्ववाविति तृतीयेनान्वयः। आश्रमपदं विशिनष्टि - पुण्यं पुण्यावहं पुण्यैर्द्रुमैर्लतादिभिश्चाऽञ्चितं पूजितं आकुलमिति पाठान्तरम्। पुण्यानां द्विजानामृषीणां कुलैस्समूहैराकीर्णं, पुण्या अमलाश्च जलाशया यस्मिंस्तत् ॥१८॥

मधुपानमत्तानां भ्रमराणां सङ्गीतं यस्मिन्, मत्तकोकिलानां कूजितं यस्मिन्, मत्ता बर्हिणो मयूरा एव नटाः तेषामाटोपः सम्भ्रमो यस्मिन् मत्तानां द्विजानां पक्षिणां कुलैः आकुलं व्याप्तम् ॥१९॥

इत्थम्भूतं तदाश्रमपदं मलयानिलः शीतलगिरिनदीशीकरानादाय सुमनोभिः कुसुमैः परिष्वक्तः स्मरं काममुत्तम्भयन् उद्दीपयन् ववौ ससार। एवं मलयानिलस्य व्यापार उक्तः ॥२०॥

अथ वसन्तस्य तमाह **उद्यदिति**। उद्यश्चन्द्रो यस्मिंस्तत् निशावक्त्रं रजनीमुखं यस्मिन् स प्रवालानां पल्लवानां स्तबकानां गुच्छानाञ्च अलयः श्रेणयो येषु तैः। गोपद्रुमलताजालैः गुप्यन्ते विटपैः संश्लिष्यन्ते इति गोपाः द्रुमा लताश्चेति तेषां जालैः समूहैरुपलक्षितः कुसुमाकरो वसन्तः तत्र प्रादुर्बभूव ॥२१॥

अथ कामस्य तमाह - **अन्वीयमान** इतिगीत। वादित्राणां मृदङ्गादीनां यूथं येषामस्तीति तथा तैः मत्वर्थीयष्टन्, गन्धर्वैरन्वीयमानः युज्यमानः गृहीतधनुर्बाणः स्वःस्त्रीणामप्सरसां यूथस्य पतिः स्मरः काम अदृश्यतालक्ष्यत ॥२२॥

**हुत्वेति**। उपासीनं तं मार्कण्डेयं मूर्तिमन्तं पुंविग्रहधारिणम् अनलमिव स्थितं ददृशुः ॥२३॥

**ननृतु**रिति तस्य मार्कण्डेयस्य अथो अथ वाद्यं स्तुतिसूचकं ध्वनिं चक्रुः ॥२४॥

1--1 A B J omit. 2 ABJ "च". 3 ABJ आत्त चाप. 4 W भद्राख्या. 5--5 W omits. 6 -6 W omits. 7 W omits व्याप्तम्. 8 W omits काम

**विज०** आटोपं सविलासनृत्यम् ॥१७-१९॥

उत्तम्भयन् वर्धयन् ॥२०॥

**उद्यच्चन्द्रो** यस्य स तथा, स च निशावक्त्रः प्रदोषो यस्य स तथा, कुसुमाकरः वसन्तः प्रवालस्तबकालिभिः भृङ्गैः गायन् द्रुमलतामुकुलैः सहाऽसीत् 'आवि' रिति शेषः ॥२१॥

आत्तचापेषुः धनुर्ज्यासहितबाणः, स्वःस्त्रीयूथपतिः स्वर्गस्त्रीगणनाथः ॥२२॥

अग्निं हुत्वोपासीनमग्निसमीपं तिष्ठन्तं, दुराधर्षं चलितेन्द्रियं कर्तुमशक्यम् ॥२३,२४॥

सन्दधेऽस्त्रं स्वधनुषि कामः पञ्चमुखं तदा।
मधुर्मदोरजस्तोक इन्द्रधृत्या व्यकम्पयन् ॥२५॥

क्रीडन्त्याः पुञ्जिकस्थल्याः कन्दुकैः स्तनगौरवात्।
भृशमुद्विग्नमध्यायाः केशविस्रंसितस्रजः ॥२६॥

इतस्ततो भ्रमद्दृष्टेश्चलन्त्या अनुकन्दुकम्।
वायुर्जहार तद्वासः सूक्ष्मं त्रुटितमेखलम् ॥२७॥

वि[illegible] पर्ज तदा [illegible] मत्वा तं स्वजितं स्मरः।
सर्वं तत्र [illegible] यमनीशस्य यथोद्यमः ॥२८॥

त इत्थमपकुर्वन्तो मुनेस्तत्तेजसा मुने।
दह्यमाना निववृतुः प्रबोध्याहिमिवार्भकाः ॥२९॥

इतीन्द्रानुचरैर्ब्रह्मन् धर्षितोऽपि महामुनिः।
यन्नागादहमो भावं न तच्चित्रं महत्सु हि ॥३०॥

दृष्ट्वा निस्तेजसं कामं सगणं भगवान् स्वराट्।
श्रुत्वाऽनु भावं ब्रह्मर्षेर्विस्मयं समगात्परम् ॥३१॥

तस्यैवं युञ्जतश्चित्तं तपः स्वाध्यायसंयमैः।
अनुग्रहायाऽविरासीन्नरनारायणो हरिः ॥३२॥

A [illegible] JHJV मंनो, 2 M Ma पुञ्जक, 3 M Ma विश्व', 4 HV वंलन्त्या, 5 M Ma ततो 6 HV स इन्द्रानु', 7 M Ma 'हत्स्वपि।

**श्रीध०** सन्धते इति। शोषण दीपन सम्मोहन तापनोन्मादनाख्यानि पञ्चमुखानि यस्य तदस्त्रं सन्दधे। तदैव मधुर्वसन्तः रजस्तोकश्च, पुंस्त्वमार्षम्। अन्येचेन्द्रभृत्यास्तस्य मनो व्यकम्पयन् ॥२५,२६॥

किञ्च इत इति वायुर्मलयानिलः पुञ्जिकस्थल्या स्तत्सूक्ष्मं वासो जहार ॥२७॥

**विससर्जेति**। सर्वं तेषां कर्म तत्र तस्मिन्, मोघं व्यर्थम्, अनीशस्य निर्दैवस्य ॥२८॥

त इति। मुनेरपकुर्वन्तः प्रतिकूलमाचरन्तः। हे मुने ॥२९॥

**इतीति**। अहमोऽहङ्कारस्य। भावं विकारम् ॥३०॥

**दृष्ट्वेति**। निस्तेजसं म्लानवदनम्। स्वराडिन्द्रः ॥३१॥

**तस्यैति**। नरनारायणरूपो हरिः ॥३२॥

**वीर०** सन्दध इति। पञ्च अरविन्दादीनि मुखानि यस्य तदस्त्रं स्वे धनुषि सन्दधे। मधुर्वसन्तः रजस्तोको लोभो मदश्चेति एते इन्द्रभृत्याः व्यकम्पयन् अक्षोभयन् ॥२५॥

क्रीडन्त्या इति। पुञ्जिकस्थलीनामाऽप्सराः तस्याः कन्दुकैः क्रीडन्त्याः स्तनभाराद्भृश मुद्विग्नमध्यायाः चलन्मध्यायाः केशेभ्यो विस्रंसिता। स्रक् यस्या स्तस्याः ॥२६॥

कन्दुकमनुसृत्य इतस्ततो भ्रमन्त्यौ दृष्टी यस्याः तस्याः चलन्त्याः अत एव त्रुटिता मेखला यस्मिन् तत् सूक्ष्मं वासो वस्त्रं वायुर्जहार ॥२७॥

**विससर्जेति**। तदा पुञ्जिकस्थल्याः नग्नतादशायां तत्र तस्मिन् मुनौ सर्वमेतत्कृत्यं मोघ व्यर्थमभवत्। यथा अनीशस्य निर्धनस्य उद्यमस्तद्वत् ॥२८॥

त इति। हे मुने! मुनेः मुनये इत्थमपकुर्वन्तः तस्य मुनेस्तेजसा दह्यमाना निववृतुः निवृत्ता बभूवुः। यथाऽर्भकाःऽहिं सर्पं प्रबोध्य ततो निवर्तन्ते तद्वत् ॥२९॥

चित्रमेतदहो तस्य जितेन्द्रियत्वमिति विस्मयमानमालोक्याऽह - **इतीति**। हे ब्रह्मन् धर्षितः प्रलोभितोऽपि यदहमोऽहङ्कारस्य भावं विकारं मोहं नाऽगादिति न प्रापेत्येतन्महत्सु न चित्रम् ॥३०॥

**दृष्ट्वेति**। स्वराडिन्द्रः निस्तेजसं परिम्लानवदनं कामं दृष्ट्वा, ब्रह्मर्षे मार्कण्डेयस्य प्रभावं श्रुत्वा च परंभृशं विस्मय मगात् ॥३१॥

---

1--1 HV मोहन सन्दीपन

तस्येति नरनारायणो नरसहितः श्रीनारायणः ॥३२॥

विज० पुञ्जिकस्थल्याः अप्सरसां प्रधानायाः कस्याश्चिदप्सरसः केशविभ्रंशितस्रजः केशभागात् विभ्रंशिता विभ्रष्टा स्रक् यस्याः सा तथा तस्याः ॥२६॥

अनुकन्दुकं उत्पतत् कन्दुकानुकूलं यथा भवति तथा चलन्त्याः सूक्ष्ममणुतरं त्रुटितमेखलं त्रुटिता छिन्ना मेखला काञ्ची यस्याः तत्तथा तत् ॥२७॥

स्वेन आत्मना जितम् ॥२८॥

अर्भका अहिं प्रबोध्येव ॥२९॥

अहमोऽहङ्कारस्य भावं नाऽगात् कपालमुक्तनारिकेलफलवद्देहाभिमानरहित इत्यर्थः ॥३०॥

निस्तेजसं दुर्बलम्। स्वर्गाडिन्द्रः ॥३१॥

नरेण युक्तो नारायणः नरनारायणः ॥३२॥

तौ शुक्लकृष्णौ नवकञ्जलोचनौ चतुर्भुजौ रौरववल्कलाम्बरौ ।
पवित्रपाणी उपवीतकं त्रिवृत् कमण्डलुं दण्डमृजुञ्च वैणवम् ॥३३॥

पद्माक्षमाला मुत जन्तुमार्जनं वेदञ्च साक्षात्तप एकरूपिणौ ।
[2]जटिर्दुर्णि[3] शङ्करोचिषा प्रांशू दधानौ विबुधर्षभार्चितौ ॥३४॥

ते वै भगवतो रूपे नरनारायणावृषी ।
वीक्ष्योत्थायादरेणोच्चैर्ननामाङ्गेन दण्डवत् ॥३५॥

स तत्सन्दर्शनानन्दनिर्वृतात्मेन्द्रियाशयः।
हृष्टरोमाश्रुपूर्णाक्षो न सेहे तावुदीक्षितुम् ॥३६॥

उत्थाय प्राञ्जलिः प्रह्व औत्सुक्यादाश्लिषन्निव।
नमो नम इतीशानौ बभाषे गद्गदाक्षरम् ॥३७॥

तयो रासन मादाय पादयो रवनिज्य च।
अर्हणेनाऽनुलेपेन धूपमाल्यै रपूजयत् ॥३८॥

---

1 ABGHJV एव. 2 ABGJMMa जटि 3 HV तौ 4 ABGJ दृष्ट्वा 5 MMa एतत्स 6 MMa नियता 7 ABGHJV ने। 8 HV मानीय

**सुखमासनमासीनौ प्रसादाभिमुखौ मुनिः ।**

**पुनरानम्य पादाभ्यां गरिष्ठाविदमब्रवीत् ॥३९॥**

**मार्कण्डेय उवाच**

**किं वर्णये तव विभो यदुदीरितोऽसुः संस्पन्दते तमनुवाङ्मन इन्द्रियाणि ।**

**स्पन्दन्ति वै तनुभृतामजशर्वयोश्च स्वस्याप्यथापि भजतामसि भावबन्धुः ॥४०॥**

**श्रीध०** तावनुवर्णयति द्वाभ्यां ताविति। रौरवं कृष्णाजिनं, वल्कलश्चाऽम्बरं ययो स्तौ, पवित्रे पाण्यो र्ययोस्तौ। त्रिवृत् त्रिगुणं, नवतन्तुकमिति वा। 'त्रिवृद्वहिः पवमान' मित्यादौ नवके प्रयोगात्। उपवीतकादीन्दधानौ ॥३३॥

**पद्मेति।** जन्तुमार्जनं सूक्ष्मतन्त्वादिमयम्। वेदं दर्भमुष्टिम्। किञ्च साक्षात्तप एव तौ। तत्र हेतुः तपत्तटिद्वर्णं देदीप्यमानविद्युत्सङ्काशं यत्पिशङ्गं रोचिः तेन, रुपिणौ मूर्तिमन्तौ। तादृक्तेजोयुक्तमूर्तिभ्यां तपोमयत्वेन प्रकाशमानावित्यर्थः। प्रांशू उन्नतौ ॥३४॥

**ते इति** उच्चैर्महताऽऽदरेण ॥३५॥

**स इति।** तयोस्सन्दर्शनेन य आनन्दस्तेन निर्वृता उपशान्ता आत्मेन्द्रियाशया देहेन्द्रियमनांसि यस्य सः। न सेहे नाऽशक्नोत् ॥३६॥

**उत्थायेति।** आश्लिष्यन्नाऽलिङ्गन्निव ॥३७॥

**तयोरिति।** पादयो रवनिज्य पादौ प्रक्षाल्य। अर्हणेनाऽर्घ्येण। ३८॥

**सुखमिति।** पादाभ्यां पादावानम्य गरिष्ठौ पूज्यतमौ तौ प्रति ॥३९॥

अन्तर्यामिण स्तस्यैव प्राणादिप्रवर्तकत्वादात्मन तत्स्तुतावस्वातन्त्र्यं पश्यन्नाह - **किमिति** हे विभो तव त्वां किं महं वर्णये कथं स्तौमि। यत् येन त्वयैवोदीरितः प्रेरितोऽसुः प्राणः संस्पन्दते प्रवर्तते, तमनु च वागादयः स्पन्दन्ति। अत्र हेतुः, वै अन्वयव्यतिरेकाभ्यां 'श्रोत्रस्य श्रोत्रं' मित्यादि श्रुतिभिश्चैतत्प्रसिद्ध मित्यर्थ । न केवलं प्राकृतानां तनुभृतां, किन्तु अजशर्वयोश्च, अतः स्वस्य ममापि तथैव। एवं यद्यपि न कचिदपि कस्याऽपि स्वातन्त्र्यमथापि दारुयन्त्रवच्चत्प्रवर्तितैरपि वागादिभिः भजतां पुंसां त्वं भावबन्धु रात्मबन्धुरसि, न तु पित्रादिवद्देहमात्रबन्धुः। अहो कृपालुता तवेत्यर्थः ॥४०॥

---

1 W "ने आ", 2 MMs मुखो, 3 A B G J मुनौ, 4 MMs "बद्ध 5 H V "तक द" 6- 6 ABJ omit, 7 H V omit तौ 8 H V omit तत्, 9 A B J omits हे विभो, 10 B omits प्रेरित , 11 A B J omit कचिदपि, 13 A B J omit त्व

**चीर०** ताविति। तौ नरनारायणौ वीक्ष्य, उत्थायेत्युपरिष्टात्सम्बन्धः। कथम्भूतौ[1] शुक्लकृष्णौ। तत्र नरः शुक्लः श्रीनारायणः कृष्णवर्णः रौरवं कृष्णाजनं वल्कलश्च ते अम्बरे ययोस्तौ पवित्रे पाण्योः ययोस्तौ त्रिवृत् त्रिगुणं, नवतन्तुकमिति वा, तदुपवीतम्। द्वितीयान्तानां दधाना वित्युपरिष्टात्सम्बन्धः। ऋजुमवक्रं वैणवं दण्डम् ॥३३॥

पद्माक्षाणां मालाम् उताऽपि च जन्तुमार्जनं मशकादि जन्त्वपनोदनक्षमं वेदं दर्भमुष्टिश्च दधानौ[2], साक्षात्तप एव एकं रूपं मूर्तिरनयोरस्तीति तथा, तपनटिट्टणं दीप्यमानतटिट्टणसदृशं यत्पिशङ्गरोचिस्तेन प्रांशू प्रगता व्याप्ता[3] अंशवो ययो स्तौ विबुधश्रेष्ठैः ब्रह्मादिभिरर्चितौ[4] ॥३४॥

ते इति। रूपापेक्षया नपुंसकनिर्देशः, वीक्ष्येति। उच्चैर्महताऽनेन[5] देहेन ॥३५॥

स मार्कण्डेयस्तयोः मन्दर्शनेन यो आनन्दस्तेन निर्वृताः सुखिताः शान्ता वा आत्मेन्द्रियाशयाः देहेन्द्रियमनांसि यस्य सः दृष्टानि उत्पुलकितानि रोमाणि यस्य सः तावन्तौ[6] नरनारायणौ[7] द्रष्टुमपि न सेहे न शशाक ॥३६॥

उत्थायेति। प्रह्वः नम्रः आश्लिष्यन्निव परिरम्भमाण इव केवलं गद्गदाक्षरं नमो नम इति वाक्यम् ईश्वरौ प्रति आबभाषे। गद्गदाक्षरमिति क्रियाविशेषणम् वा ॥३७॥

तयो रिति। आधाय निधाय पादयो स्वनिज्य पादौ प्रक्षाल्य अर्हणेन योग्येनाऽनुलेपेन चन्दनेन धूपैर्माल्यैः कुसुमैश्च अपूजयत् ॥३८॥

सुखं यथा तथा आसीनः गरिष्ठौ पूज्यतमौ प्रति इदं वक्ष्यमाणमब्रवीत् ॥३९॥

उक्तिमेवाह - किमित्यादिना यावदध्यायसमाप्ति। युवयोर्दर्शनं न मे तपःफलं तस्याऽपि सर्वेन्द्रियप्राणप्रचोदयित्रा त्वयैव कारितत्वात्। अतः केवलं त्वत्कृपाफल मेवेत्यभिप्रेत्याह - किमिति। हे विभो! तव त्वां किं वर्णये कथं स्तौमि, यतः स्वस्य मम तनुभृतां, किं बहुना, अजशर्वयोः ब्रह्मरुद्रयोश्च असुः प्राणः यतो येन त्वयोदीरितः प्रेरितः संस्पन्दते चलति स्वव्यापारक्षमो भवति तं स्पन्दमानं प्राणमनुसृत्य वागादीनि स्पन्दन्ति। अनुदात्तेत्वलक्षणस्याऽत्मनेपदस्य अनित्यत्वात्परस्मैपदम्। यद्येवं तर्हि सर्वेऽपि त्वमिव किं न मा मुपासते इत्यत्राह - अथाऽपीति। प्राणिमात्रस्य प्राणादिप्रचोदयितृत्वेऽपि भजतां पुंसामेव भावबन्धुः, भाव स्त्वदुपासनारूपोऽभिप्रायविशेषः, तं बध्नाति स्थिरीकरोतीति तथा त्वयि किञ्चिदानुकूल्ययुक्तानामेव भावबन्धुस्त्वमिति भावः ॥४०॥

---

1. W omits कथम्भूतौ, 2 W omits दधानौ। 3 W omits व्याप्ता 4 W omits ब्रह्मादिभि, 5 W omits देहेन, 6-6 W omits, 7 W omits अब्रवीत्

विज० रुरोर्विद्युमानं रौरवं वल्कलञ्च अम्बरं वा ययोस्तौ ॥३३॥

जन्तुमार्जनं पिञ्जरचितपुञ्जि चामरविशेषमित्यर्थः। वेदं दर्भमुष्टिं,तपती प्रकाशमाना तडित्तपत्तडित् तद्वद्वर्णेन पिशङ्गरोचिषा कपिलप्रभया तप एकरूपिणौ प्रांशू अत्युच्छ्रितौ दधानौ, जग्मतुरिति शेषः। उपवीतादिकञ्च दधानौ, रूपविशेषणम् ॥३४॥

तौ नरनारायणावृषी वीक्ष्य ननाम। नमने हेतुमाह ते इति। ते हरे रूपे वै यस्मा त्तस्मात् ॥३५॥

तयो स्सन्दर्शनादुत्पन्नेनानन्देन नियतात्मेन्द्रियाशया यस्य स तथा ॥३६॥

गद्गदाक्षरं वचः ॥३७,३८॥

पादाभ्यां पादावुद्दिश्य, गरिष्ठौ गुरुणां ब्रह्मादीनामपि गुरुः ॥३९॥

अपरिमितमहिम्नोर्युवयोः पुरतो यत्किञ्चि द्वर्णनं किं वर्णये न किमपि; माहात्म्यानामनन्तत्वात्तदेकदेशमपि वर्णयितुं न शक्तोऽस्मि वागादीन्द्रियाणां त्वन्नियतत्वेन, त्वत्प्रसादायत्तत्वादिति शेषः। एतत्कथमित्याशङ्क्य सर्वेन्द्रियनायकः प्राणोऽपि भगवन्नियत एव चेष्टते किमुतान्यानीति भावेनाह - यदुदीरित इति। येन त्वयोदीरितः प्रेरितोऽसुः प्राणः तमनु प्राणमनु तनुभृतां मन इन्द्रियाणि यत्प्रेरितानि स्पन्दन्ति चेष्टन्ते किञ्च। अजशर्वयोश्चेन्द्रियाणि येन प्रेरितानि अनेनाऽजशर्वयोः समत्वेन त्वदप्रेरितानि विषयेषु प्रवर्तन्ते। अतो व्यभिचीर्णो हेतुरिति निरस्तम्। अथाऽपि त्वदिन्द्रियप्रवृत्तौ हेतोर्व्यभिचारस्तदवस्थ इति मन्दाशङ्कां परिहरति - स्वस्येति। स्वस्येन्द्रियाण्यपि त्वत्प्रेरितानि यद्यप्येवं स्वतन्त्रोऽसि, स्वतन्त्रोऽपि भजतां पुंसां भावबद्धोऽसि भक्तिबद्धोऽसि तस्मात्परतन्त्र इव प्रतीयसे मादृशानामित्यर्थः ॥४०॥

**मूर्ती इमे भगवतो भगवं स्त्रिलोक्याः क्षेमाय तापविरमाय च मृत्युजित्यौ।**
**नाना बिभर्ष्यवितुमन्यतनूर्यथेदं सृष्ट्वा पुनर्ग्रससि सर्वमिवोर्णनाभिः ॥४१॥**

**तस्याऽवितुः स्थिरचरेशितुरङ्घ्रिमूलं यत्स्थं न कर्मगुणकालरजः[1] स्पृशन्ति[2]।**
**यद्वै स्तुवन्ति विनमन्ति यजन्त्यभीक्ष्णं ध्यायन्ति वेदहृदया मुनयस्तदाप्त्यै ॥४२॥**

**नाऽन्यं[3] तवाङ्घ्र्युपनयादपवर्गमूर्तेः क्षेमं जनस्य परितोभिय[4] ईश विद्मः।**
**ब्रह्मा बिभेत्यलमतो द्विपरार्थधिष्ण्यः[5] कालस्य ते किमुत तत्कृतभौतिकानाम् ॥४३॥**

---

1 W वस्माच्च, 2 A G J "रजः, 3 M Ma नान्यत्र, 4 M Ma "भय, 5 A B J M Ma "रार्ध्य"

*** तद्वै भजाम्यृतधियस्तव पादमूलं हित्वैनदात्मच्छदिमाऽत्मगुरोः परस्य।**
**देहाद्यपार्थमसदन्त्यमभिज्ञमात्रं विन्देत तेतर्हि सर्वमनीषितार्थम् ॥४४॥**

**श्रीध०** ननु कथमावां प्राणादिप्रवर्तकौ धर्मपुत्रत्वादावयोरिति चेत् न कस्यापि पुत्रः इत्याऽऽह - **मूर्ती** इति। हे भगवन्! भगवतस्तव इमे मूर्ती त्रिलोक्याः क्षेमाय पालनाय तापविरमाय च दुःखनिवृत्यै मृत्युजित्यै मोक्षाय च। न तु त्वं कस्याऽऽपि पुत्र इत्यर्थः। अत्र दृष्टान्तः यथेदं विश्वमविनु मन्या स्तनू मूर्तीः मत्स्यकूर्मादिलक्षणा नाना अनेकप्रकारा बिभर्षि, तद्वत्। न केवलं पालनादिमात्रं तव कर्म किन्तु सृष्टिलयावपीत्याह सृष्ट्वेति। तत्राऽप्यन्यनिरपेक्षत्वे दृष्टान्तः ऊर्णनाभिरिवेति ॥४१॥

यस्मा देवम्भूतस्त्वं, तस्मात्तवाङ्घ्रिमूलं भजामीत्याह - **तस्येति**। तस्याऽवितुः पालकस्य स्थावरजङ्गमानामीश्वरस्य अङ्घ्रिमूलं भजमीति तृतीयश्लोकस्थस्याऽनुषङ्गः। कथम्भूतमङ्घ्रिमूलम्? यत्स्थं यत्र स्थितम्। कर्मगुणकालानां रजो मलम्। अन्ये च पूर्वोक्तास्तापादयो न स्पृशन्ति रुज इति वा पाठः। यतो वेदाः हृदये येषां ते वेदतात्पर्यविदो मुनयो यदेव स्तुवन्ति नितरां नमन्ति तदाप्त्यै तत्प्राप्तये एव स्तवनानि कुर्वन्ति ॥४२॥

ततोऽन्यः पुरुषार्थो नाऽस्तीत्याह - **नाऽन्यमिति**। तव अङ्घ्र्युपनयात् श्रीमच्चरणप्राप्तेरन्यं विद्याः क्षेमं। परितः सर्वेष्वपि लोकेषु भीर्यस्य तस्य जनस्य। तदेवाह। द्विपरार्धं धिष्ण्यं स्थानं यस्य स ब्रह्माऽपि ते कालस्य त्वद्भ्रूविजृम्भरूपात्कालादलं बिभेति। अतः किमुत वक्तव्यं तेनैव ब्रह्मणा कृतानां भौतिकानां प्राणिनां भयमिति ॥४३॥

यस्मादेवं तदिति तत्तस्मात्तव पादमूलमेव भजामि। कथम्भूतस्य? ऋतधियः सत्यज्ञानस्वरूपस्य। यद्वा ऋता सत्या धीर्यस्य यस्मिन्वा तस्यात्मगुरोः जीवनियन्तुः अतः कारणात्परस्य। किं कृत्वा आत्मच्छदिं स्वात्मावारकमपार्थञ्च निष्फलमसञ्च तुच्छमन्त्यञ्च नश्वरमिदं देहगेहादिकं हित्वा देहादिभजनं त्यक्त्वा। असच्चेत् कथं प्रतीयेत? तत्राह - अभिज्ञमात्रम्। नाह्यत्यन्तमसत्, किन्त्वात्ममात्रम्, न ततः पृथगस्तीत्यर्थः। नन्वपवर्गायभवतु मद्भजनं, फलान्तरार्थं त्वन्यभजनं कार्यमेव। तत्राह तर्हीति। यदि त्वां भजति पुरुषस्तर्हि ते त्वत्त एव सर्वं मनीषितमर्थं विन्देतेति ॥४४॥

**वीर०** ननु प्राणादीनामुद्दीपयिता ईश्वरः नाह मित्यत्र भगवदवतारभूतावेव युवामित्यभिप्रयन् अवतार प्रयोजनमाह -

---

1 A B G J "त्वैवमा", H V त्वेदमा, 2 A B G J च्छदि चाऽऽत्म, M Ma "च्छिदमाऽऽत्म", W "हितमात्म" 3 M Ma "समदित्वनभि" W दमत्यमभि", 4-4 H V विन्देत तर्हिन्देसतु, MMa विदेय चेत्तर्हि, 5-5 A B J omit 6 A B J तद्वाऽऽह 7 A B J omit मूर्ती, 8 A B J पालनमा", 9 H V "केनानु", 10 H V. omit तदाप्त्यै, 11 H V व, 5 A B J "नादि, 12 A B J omit तव 13 A B J तेन, 14 A B J omit एव, 15 A B J omit ऋता, 16 A B J "व", 17 A B J "हादि, 18 H V प्रतीयते * Viraraghavs commentory records it as तद्वा

मूर्ती इति। हे भगवन्! भगवतः वात्सल्यपूर्णस्यैव इमे मूर्ती अवतारौ किमर्थं त्रिलोक्याः क्षेमाय सुखाय तापविरमाय ज्ञानोपदेशेन आध्यात्मिकादि तापविघाताय, मृत्युजित्यै मृत्युजयाय, मोक्षायेति यावत्। अत्र दृष्टान्तान्तरालाभात् तदवतारा नेव दृष्टान्तयति नाना बिभर्षि इति। यथा नाना विधा अन्यतनूः रामकृष्णादितनू इदं जगदवितुं रक्षितुं विभर्षि तद्वत्। न केवलं जगद्रक्षैव त्वद्व्यापारः, किन्तु सृष्टि संहारावपीत्याह, सर्वं इदं जगत्सृष्ट्वा पुनर्ग्रससि। ननु किं तवैकस्यैव स्रष्टृत्वं, पुन रत्तृत्वं च दृष्टम्। इत्यतो दृष्टान्तमाह - इवोर्णनाभिरिति, ऊर्णनाभिरिवेत्यर्थः ॥४१॥

यतः सर्वजगत्कारणभूतःअत स्त्वामेव कारणं तु ध्येयः (अथ.शिखां 3. 2.17) इत्यादिवेदार्थतात्पर्यज्ञा ध्यायन्तीत्याह - तस्येति। तस्य सृष्टिसंहारकर्तुरवितुः स्वाऽवतारै रक्षितुः चराचराणामन्तः प्रविश्य धारणेन नियन्तुश्च तव यत्पादमूलं तद्वै भजामीति उपरिष्टात् सम्बन्धः। कथम्भूतम्? यस्माद्यदुपासनादित्यर्थः। न कर्मगुणकालरजः स्पृशन्ति कर्मगुणकालानां रजो मलं यदुपासकान् न स्पृशन्ति 'रुज' इति पाठे[1] तदा कर्मादयो यदुपासकं न स्पृशन्ति[2]। यदुपासका कर्मादीन् न स्पृशन्तीति वा। तत्र कर्म पुण्यपापात्मकं तस्य कर्मणो[3] रजः रजोवत् ज्ञानावारकत्वात् सुखदुःखे गुण रजश्शब्देन रज आदि गुणकार्यं कामक्रोधादिकं विवक्षितम्[4]। कालशब्देन तत्प्रयुक्तशीतातपवर्षादयो विवक्षिताः। रुज इति पाठे रुजो रोगाः। किञ्च वेदहृदयाः वेदा हृदये येषान्ते, वेदतात्पर्यविदो मुनय इत्यर्थः। यजन्ति आराधयन्ति च। किमर्थम्? तदाप्त्यै तत्पादमूलप्राप्त्यै ॥४२॥

किं तदाप्त्या? इत्यतः तस्या एव निरतिशयपुरुषार्थरूपतामाह - नाऽन्यमिति। 'अभिय' इति छेदः। हे अपवर्ग - मूर्ते! निरतिशय पुरुषार्थरूप! हे ईश परितो न भीर्भयं यस्मात्त्वदङ्घ्र्युपनयात् त्वदङ्घ्रिप्राप्ते रन्यं क्षेमं श्रेयो न विद्मः। भिय इति छेदः, परितोभिय इति समस्तं पदं जनस्य विशेषणम्। ननु चतुर्मुखलोकप्राप्तिरपि क्षेम एवेत्यत आह - आब्रह्मेति। अलं नितरां कालस्य कालरूपस्य ते त्वत्तः बिभेति। कुतः? यतस्सोऽपि द्विपरार्धधिष्ण्यः द्विपरार्धकालावस्थायिलोकः, अतो बिभेतीति सम्बन्धः। यतो ब्रह्मण एव भयं, किमुत तत्कृतानां तत्सृष्टानां भौतिकानां भूतपरिणामात्मकदेहभाजाम् ॥४३॥

यतस्त्वदङ्घ्र्युपनय एव क्षेमः। ततस्तव पादमूलमेव तत्प्राप्तये भजामीत्याह - तद्वा इति। ऋतधियः सत्यसङ्कल्पस्य परमात्मनो गुरोश्च परस्य सर्वस्मात्परस्य च तवाऽत्महितं तदेतत्पादमूलं भजामि। ऋतधिय इत्यनेन "तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्" (भ.गी.12-7) इत्युक्तविधसत्यसङ्कल्पत्वं विवक्षितम्। आत्मगुरोरित्यनेन अन्तः प्रविश्य नियमनेन साधुकर्मकारयितृत्वं, ज्ञानोपदेशेन उपकर्तृत्वञ्च प्राप्यत्वोपयुक्तम्। तथोक्तम् - "हित्वैतदात्महितमात्मगुरोः परस्य देहाद्यपार्थ मसदत्यमभिज्ञमात्रम्"[5] इति पाठे अत्यमत्यन्तम् असद्दृष्टमपार्थं निष्फलञ्च देहादि हित्वा अपास्य आत्महितं पादमूलं भजामीति

1 W adds क्वचित्, 2 W पाठान्तरम् 3 A B तथा 4- -4 W omits कर्मण 5 W omit 6 A B omits किमर्थम्?

सम्बन्धः। हित्वेदमात्मच्छदिमात्मगुरोः इति पाठेतु आत्मच्छदिमात्मज्ञानावरकं देहादि हित्वा भजामीत्यर्थः। 'देहापार्थ प्रसदित्यनभिज्ञमात्रम्' इति च क्वचित्पाठः। तथा अपार्थमस दिनिच भवत्यभिज्ञामात्रम्। यस्मात्तद्देहादि हित्वेत्यर्थः। ज्ञान शब्दस्य आर्षो ह्रस्वः। यद्येवं ते त्वां, यो भजेदिति शेषः। तर्हि स एव सर्वं मनीषितार्थं मभिमतं सर्वं पुरुषार्थं विन्देत लभेत। आद्यपाठेतु यस्येति शेषः। यस्य ते अभिज्ञामात्रं त्वत्पादमूलविषयक ज्ञानमात्रमस्ति तर्हि स एव सर्वमनीषितार्थं विन्देत । विन्दन्ति ते सर्वमनीषितार्थम् इति च पाठो दृश्यते। तदा अभिज्ञमात्रमित्यस्य येषामित्यादिः ते विन्दन्ति लभन्त इति सम्बन्धः ॥४४॥

विज० भावबद्धत्वं दर्शयति - मूर्ती इति। हे भगवन्! भक्तवत्सलस्य भगवत इमे मूर्ती नरनारायणसंज्ञे त्रिलोक्याः क्षेमाय रक्षायै, शत्रुकृतसन्तापनाशाय, मृत्युजित्यै संसाराख्य शत्रुजयाय भवतः। किञ्च त्वं नाना अनुपमाऽन्यतनूः नानाविधा अनुपमा असदृशी रन्या अनयो रितरा स्तनू मूर्ति बिभर्षि, त्रिलोकीक्षेमादिकार्यायेति शेषः। किञ्च ऊर्णनाभिरिव इदं सर्वं यथापूर्वं सृष्ट्वा पुनर्यथापूर्वं ग्रसांस। अनेन मायाविवृतबहुरूपग्रहणं न चित्रं स्यादिति शङ्का परिहृता। सत्यप्रपञ्चस्रष्टुरीश्वरस्य तन्नियमनार्थं तावद्रूपग्रहणोपपत्तेः, "तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत्" (तैति.उ.2.6) इति श्रुतेः। यद्वा। अतनूः अप्राकृतशरीरस्त्वं यथा सर्वमिदं सृष्ट्वा पुन र्ग्रससि तथाऽनुपमानि नानाविधानि शरीराणि बिभर्षि ग्रससि अन्तर्गतानि करोषि त्रिलोकीक्षेमोदये भरणं क्षेमाद्यनन्तरमेकीकरणमिति विशेषः। भगवत इमे मूर्ती च तथेति ॥४१॥

एत मर्थं प्रमाणयति - तस्येति। यत्स्थं यस्मिन् पादमूले स्थितं पुरुषं कर्म गुणकालरजः दुष्कर्मगुणाः सत्त्वादयः कालो जन्मादिहेतुः रजः आर्तवम् शुक्रशोणिताख्यम् एकवद्भावविवक्षया एकवचनम्, न स्पृशन्ति नोत्तपन्ति, न दुःख मापादयन्ति। वेदस्य हृदयं येषान्ते वेदहृदयाः वेदतात्पर्यज्ञा मुनयो ब्रह्मादयः स्थिरचरेशितुरवितुः पालकस्य तव अङ्घ्रिमूलं स्तुवन्ति। "[1]पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि" (पु.सू.2) इति नितरां नमन्ति 'नमो विष्णवे महते करोमि' (सह.वै.उ.16) इति यजन्ति 'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्' (मना.उ.13-187) इति ध्यायन्ति। आत्मानमेव लोकमुपास्ते इति यद्यस्मात् तस्मात्त्वदङ्घ्रिसेवायां तदेव मानं वा इत्यर्थः। तस्य यदङ्घ्रिमूलं यत्स्थं कर्मादयो - न स्पृशन्ति तत्तव पादमूलं भजामीत्येकवाक्यं वा ॥४२॥

किमर्थमेतदेव स्तुवन्ति, निर्दुःखसुखावाप्तये अन्यत्किं न स्यात् इति तत्राऽह - नेति। ईश। अपवर्गमूर्ते! पुरुषार्थस्वरूप! यस्त्वं परितोऽभयः सर्वस्मादभयः जनस्य तवाङ्घ्र्युपनयात् अङ्घ्रिशरणप्राप्तेरन्यत् क्षेमं न विद्मः। परितो भिय इति वा पाठः,

---

1 w ध

जनस्येति विशेषणम्। सर्वस्माद्भीर्भयं यस्य स तथा तस्य। ननु त्वदन्यः क्षेमकर्ता ब्रह्माऽस्ति "प्रजापते न त्वदेतान्यन्यः" (मना.उ.13.16) इति श्रुतेः। अत्राह ब्रह्मेति। यतः परितो भयः अतो द्विपरार्धसम्बन्धि धिष्ण्यं यस्य सः तथा। स ब्रह्मा कालस्य ते तव सकाशाद्बिभेति "यन्मां निशम्य सदनादुरुकम्पमानम्" "यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः" (तैत्रि. उ.1.2.13) इति श्रुतेः। भूतग्रामस्य विचित्रादृष्टत्वात्कस्यचिन्निर्भयत्वोपपत्तेः ब्रह्मणस्तु लोकविडम्बनत्वेन तथा भावः किं न स्यात् इति मन्दाशङ्कां कैमुत्यन्यायेन परिहरति किमुतेति। अत इत्युत्तरत्रापि सम्बध्यते। ब्रह्माऽप्यलं बिभेति यतोऽतः तत्कृतभौतिकानां तेन ब्रह्मणा कृतानि भौतिकानि शरीराणि येषां ते तथा तेषां प्राणिनां भयमस्तीति किमुतेत्यन्वयः ॥४३॥

सेवायामित्थम्भावमाह - तद्वै इति। ऋतधियः एक प्रकार बुद्धेर्निश्चलबुद्धेरित्यर्थः। आत्मगुरोः जीवगुरोः परस्य परमात्मन स्तव पादमूल मेतद्देहाद्यभिमानं हित्वा यदि भजामि तर्हि ते तव प्रसादात्सर्वं मनीषितार्थं विन्देय इत्यन्वयः। कीदृशम्? आत्मच्छिदम् आत्मनाशहेतुम् अत एवाऽपार्थं पुरुषार्थलक्षणप्रयोजनशून्यम्, असदभद्रम्, अनभिज्ञमात्रं केवलाज्ञाननिर्मितं केवलाविद्वत्कृतं वा। अनेन देहेऽहम्भावो मुक्तिहेतुरिति कथितं भवति ॥४४॥

सत्त्वं रजस्तम इतीश तवात्मबन्धो[1] मायाकृताः स्थितिलयोद्भवहेतवोऽस्य[2] ।
लीला धृता यदपि सत्त्वमयी प्रशान्त्यै[4] नान्येनृणां व्यसनमोहभियश्च याभ्याम्[5] ॥४५॥

तस्मात्तवेह भगवन्नथ तावकानां[6] शुक्लां तनुं स्वदयितां[7] कुशला भजन्ति ।
यत्सात्त्वताः पुरुषरूपमुशन्ति सत्त्वं लोको यतोऽभय मुतात्मसुखं न चाऽन्यत् ॥४६॥

तस्मै नमो भगवते पुरुषाय भूम्ने विश्वाय विश्वगुरवे परदेवतायै ।
नारायणाय ऋषये च नरोत्तमाय हंसाय संयतगिरे निगमेश्वराय ॥४७॥

यं वै न वेद वितथाक्षपथैर्भ्रमद्धीः[8] सन्तं स्वकेष्वसुषु हृद्यपि दृक्पथेषु[9] ।
त्वन्माययाऽऽवृतमतिः स उ[10] एव साक्षा दा'द्य स्तवाखिलगुरो रुप साद्य[11]' वेदम् ॥४८॥

यद्दर्शनं निगम आत्मरहःप्रकाशं[12] मुह्यन्ति यत्र कवयोऽजपरा यतन्तः[13] ।
तं सर्ववादविषयप्रतिरूपशीलं[14] वन्दे महापुरुषमात्मनिगूढबोधम् ॥४९॥

---

1 H V बन्धो । 2 A B G J M Ma "मया 3 A B G J M Ma "दय 4 M Ma "मय 5 W ताभ्याम् 6 H V च द" 7 W लोकाय" 8 A B G J M Ma स्वसो" 9 A B G H J V तन्मा" 10 H V वेद 11 M Ma "पद्य" 12 W काशो 13 M Ma वन्दामहे 14 W आ"

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
द्वादशस्कन्धे अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

**श्रीध०** ननु ब्रह्मरुद्रावपि ममैव मूर्ती, अतो मामेव किमित्यत्यन्तमाद्रियसे तत्राह - **सत्त्व** मिति। यदपि यद्यपि तवैव माया कृता एता लीला स्त्वयैव धृताः तथाऽपि या सत्त्वमयी सैव प्रशान्त्यै मोक्षाय, न केवलमस्य[1] प्रशान्त्यभावमात्रमन्यभजने, किन्तु अनिष्टश्च[2] किञ्चित् अन्यथात्वे भवेदित्याह - व्यसनेति ॥४५॥

तदेव सदाचारेण द्रढयति - **तस्मा दिति**। हे भगवन् तव शुक्लां तनुं श्रीनारायणाख्याम्। अथ तावकानाञ्च शुक्लां तनुं नराख्याम्। यत् यस्मात् सात्त्विता सत्त्वमेव पुरुषस्याधीश्वरस्य[3] रूपमुशन्ति मन्यन्ते। न त्वन्यत् रजस्तमश्चेति। अत्र हेतुः यतः सत्त्वात् लोको वैकुण्ठाख्यः लोकत्वे सत्यपि अभयश्च, भोगे सत्यपि आत्मसुखञ्च ॥४६॥

अतस्तं प्रणमति - **तस्मै नम** इति। हंसाय शुद्धाय संयतगिरे नियतवाचे[4]। अथ च निगमेश्वराय वेदमार्गप्रवर्तकाय ॥४७॥

वेदार्थसम्प्रदायप्रवर्तने हेतुत्वं वदन् स्तौति - **यमिति**। वितथाक्षपथैः[5] कपटेन्द्रियमार्गैः[5] भ्रमद्धीः विक्षिप्तबुद्धिः **प्रमान्** स्वेन्द्रियादिषु नियन्तृत्वेन सन्तमपि यं त्वां न वेद। दृक्पथेषु विषयेषु बुद्धिविक्षेपे हेतुः। तन्मायया तस्य तवैव मायया आवृता आत्मनिष्ठा मतिर्यस्य, स उ सोऽपि आद्य एव पूर्व मविद्वानेव[6] अखिलगुरोस्तव त्वत्प्रवर्तितं वेदमुपसाद्य प्राप्य तं त्वां साक्षाद्वेद ॥४८॥

वेदेनैव त्वज्ज्ञानमिति उपपादयन्प्रणमति - **यदिति**। यस्य तव दर्शनं निगमे भवति। कथम्भूतम्? आत्मनस्तव[7] रहो रहस्यं तस्य प्रकाशकम्[8]। अन्यथा[9] दुर्ज्ञेयतामाह। अजपरा ब्रह्ममुख्याः कवयोऽपि सांख्ययोगादिभिर्यतमाना यत्र त्वयि स्वयं[10] मुह्यन्ति। कुत इत्यत आह सर्वेषां सांख्यादिवादानां[11] ये विषया[11] भेदादयः तेषां प्रतिरूपं तत्तदनुसारि शीलं स्वभावो यस्य तम्। कुतः आत्मना देहादिसङ्घातेन निगूढो बोधो यस्य तम्। एवम्भूतं महापुरुषं त्वां वन्दे इति ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

---

1 H V omit अस्य, 2- -2 A B J omit, 3 A B J स्वेश्व°, 4 H V °यमित, 5- -5 H V omit, 6 H V मज्ञातैव, 7 H V रह प्रका°, 8 H V add सत्त्वप्रकाशकम्, 9 H V अस्य, 10 ABJ omit स्वय, 11- -11 A B J °वादिनां ये वादास्तेषां विषया

**वीर०** ननु ब्रह्मरुद्रावपि ममैव मूर्ती। अतस्तौ हित्वा मामेव किमिति भजसे इत्यत आह - **सत्त्व मिति**। हे ईश! हे आत्म बन्धो! जीवसखे! यदपि यद्यपि अस्य जगतः स्थितिलयोदयहेतवः तव विद्याः। रुद्रब्रह्मतनव इति विशेष्यमध्याहर्तव्यम्। शुक्लां तनुमित्यग्रे दर्शनात् ताश्च सत्त्वं रजस्तम इति। या तव माया तथैव कृताः, लीलाधृताः लीलयैव धृताः। लीलापदेन विष्ण्वाद्याख्य तनुसम्बन्धस्य कर्ममूलत्वव्यावृत्तिः तथापि तत्र सत्त्वमयी या तनुः सैव नृणामुपास्यमाना शान्त्यै मोक्षोपयुक्त शान्तये भवति नान्ये अन्ये ब्रह्मरुद्राख्ये तन्वौ न प्रशान्त्यै भवतः, प्रत्युत ताभ्याम् उपास्यामानाभ्यां व्यसनमोहभियो भवेयु। व्यसनं दुःखं, भी र्भयम्। यद्यप्यत्र स्थितिहेतुभूताया विष्ण्वाख्यतनोरपि मायाकृतत्वोक्त्या अप्राकृतसत्त्वगुणपरिणामरूपत्व मवगम्यते। तच्च "सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः" इति श्रीभगवद्विग्रहे प्रतिषिद्धं, तथाप्यत्र सत्त्वमिति या माया रजस्तमश्चेति च या माया ताभ्यां मायाभ्यां कृता इति योज्यम्। तत्र तन्वशब्देन स्वसत्ताभासकं सत्त्वं गुणसत्त्वाद्विलक्षणमित्युक्तम्। शुद्धसत्त्वमयं त्रिगुणात्मकप्रकृतिद्रव्यविलक्षणं विवक्षितम्। इत्थं योजनार्थ मेव सत्त्वं रज स्तम इति व्यस्तनिर्देशः कृतः। प्रबन्धोपक्रमेऽपि "सत्त्वं रज स्तम इति" (भगी. 14.5) "प्रकृते र्गुणास्तैर्युक्त परः पुरुष एक इहाऽस्य धत्ते (भाग.1.2.23) इत्यत्रायमेवार्थः। रजस्तमश्शब्दाभ्यां सत्त्वमिश्रौ तौ विवक्षितौ ॥४५॥

यतस्सत्त्वमय्येव प्रशान्त्यै नत्वन्ये। तस्मात् निपुणबुद्धयस्तामेव उपासते - **तस्मादिति**। अथ, ननु हे भगवन्! तावकानां त्वद्भक्तानां स्वदयितां स्वस्य तव च दयितां शुक्लां शुद्धसत्त्वमयीं तनुं कुशला भजन्ति। काऽसौ शुक्ला तव तनुरित्याह। यत्सात्त्वताः पुरुषरूपमुशन्ति सत्त्वं लोका इति सात्त्वताः पञ्चरात्रसिद्धान्ततन्त्राभिज्ञालोका जना नरनारायणाख्य यत्पुरुषरूपं पुरुषाकृत्याऽवस्थितं रूपं पुरुषस्य तव रूपं वा सत्त्वं विशुद्धं सत्त्वमुशन्ति, उपास्यत्वेनेच्छन्ति सैव शुक्ला तनुरित्य तद्विशिनष्टि-यतः पुरुषरूपात् सत्त्वादुपास्यमानादभयं संसृतिभयाभाव उतापि चात्मसुखं आत्मानुभवसुखं न चान्यदन्यद्भय मिश्रसुखं नास्ति ॥४६॥

इत्थमनन्तकल्याणगुणगणं त्वां स्तोतुमहं न शक्नोमीत्यभिप्रेत्य उपस्थितै र्गुणै र्विशिषन् प्रणमति - **तस्मा** इति। पुरुषाय पुरु विणोसि ददासीति तथा। चतुर्विधपुरुषार्थप्रदायेत्यर्थः। भूम्ने सर्वान्तरात्मत्वेन भूमगुणविशिष्टाय, अत एव विश्व विश्वरूपेणावस्थिताय, अत एव विश्वगुरवे विश्वस्य हितकराय, आत्मनः शरीरहिताचरणशीलत्वादिति भाव। परदेवतायै इत्यनेन ततोऽधिक देवतान्तरयावृत्तिः, नारायणायेत्यनेन प्राप्यत्वं प्रापकत्वञ्च विवक्षितम्। ऋषय इत्यनेन सर्वज्ञत्वं नारायण

1 W omits एव 2 W अत 3-3 W omits 4-4 W omits 5 A B omits त्वां 6 W ति 7 W ति 8 A omits प्रापकत्व

समभिव्याहृतनरोत्तमशब्देन शिष्याचार्यरूपेण अखिलाध्यात्मविद्या प्रत्यक्षवरवर्तनद्वारा जगदुज्जीवयितृत्वं विवक्षितम्[1]। हंसायेत्यनेन आश्रित दोषनिराकर्तृत्वं, संयतगिर इत्यनेन "सर्व मिद मध्यानोऽवाक्यानादरः (छान्दो.3.3.14.2,3) इत्यत्रेव परिपूर्णता प्रयुक्तमजल्पाकत्वं निगमेश्वगयेत्यनेन वेदाचार्यत्वञ्च विवक्षितमिति[2] ॥४७॥

ननु त्वमिव मामित्थम्भूतं सर्वेऽपि किं न विदन्ति अत आह - यं वा इति। त्वन्माययाऽऽवृतामतिर्यस्य, अत एव वितथै निरर्थकै रसपथैरिन्द्रियमार्गैर्भ्रमन्ती धीर्यस्य स , देहात्मभिमानिनी धीर्यस्येत्यर्थः। भ्रमद्भिरिति पाठे विषयप्रावण्येन चलद्भि र्वितथाक्षपथैः। यं त्वां न वेद, कथम्भूत मपि, स्वखेषु स्वेन्द्रियादिषु स्वकेष्वसुषु प्राणेषु हृदि हृदये दृक्पथेषु विषयेषु नियन्तृतया सन्तमपि। तर्हि न कोऽपि वेदेत्यत्राह - य - स्त्वाखिलगुरो गद्यः प्रथमं त्वत्प्रवर्तितो यः तं वेद मुपसाद्य, स्थित इति शेषः। स उ स एव सद्योव त्वां साक्षा द्वेदवेदान्तविहितोपासनाविशुद्धमनसा वेदेत्यर्थः ॥४८॥

वेदेनैव ज्ञानमित्युपपादयन् प्रणमति - यदिति। यस्य दर्शनोपायभूतो निगमो वेद आत्मरहस्यप्रकाशकः। अन्यथा दुर्ज्ञेयतामाह - अनपरा इति। अजो ब्रह्मा पर उत्कृष्ट प्रधानो येषां ते ब्रह्ममुख्याः[4] कवयो यतन्तः सांख्ययोगादिभिर्यतमाना अपि। यद्वा। हिरण्यगर्भकपिलादय योगसांख्यादितन्त्रप्रणयनेन त्वत्स्वरूपविमर्शनाय यतमाना अपि यत्र त्वयि विषयभूते मुह्यन्ति, त मित्थम्भूतं सर्ववादविषयप्रतिरूपशीलं सर्वेषां वादा योगसांख्यादिवादा प्रकृत्युपादानत्वलपुरुषनिमित्तत्वादिवादाः तेषां प्रतिक्षेपकं रूपं स्वरूपं शीलं स्वभाव सार्वज्ञ्य सर्वशक्तित्वादि प्रकृतिपुरुषादिष्वसम्भावितो। यस्य तम् आत्मनि स्वस्मिन् गूढ स्तैरविज्ञातः बोधः अपरिच्छेद्यज्ञान वैभवो यस्य तं महापुरुषं वन्दे ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवत चन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां अष्टमोऽध्याय ॥ ८ ॥

विज० देहाहम्भावस्य निमित्ते रजस्तमसी तदभावस्य सत्त्वं त्वन्नियतमिति भावेनाऽह - सत्त्व मिति। हे ईश! आत्मबन्धो सत्त्वं रजस्तम इति गुणास्त्वया लीलाधृता जगन्निर्माण क्रीडायै धृता अङ्गीकृताः। ननु जीववदनिष्टं किं कर्तुं शक्ताः, येन धार्याः स्युरिति तत्राऽह - स्थितीति। अस्य जगत स्थित्यादिहेतवः किमात्मका इति तत्राऽह मायामया इति। इच्छात्मकाः यदपि यद्यपि तथाऽपि सत्त्वमय सात्त्विकः प्रशान्त्यै मुक्तये भवति, अन्ये राजसतामसाः प्रशान्त्यै न स्युः, किन्तु देहाहम्भावेन संसाराय स्युरित्यर्थः। यद्वा, सत्त्वादन्ये रजस्तमसी शान्त्यै न स्यातां, पुनः कस्मै भवत इति तत्राह नृणामिति। याभ्यां रजस्तमोभ्यां नृणां

1 W omits विवक्षितम् . 2--2 W omits. 3--3 W omits. 4 W मुखा

व्यसनादयःस्युः। च एवार्थे। त्रिविधानां नृणां मध्ये सत्त्वमय एव इति वा ॥४५॥

उपसंहरन्नेव सत्त्वं स्तौति - **तस्मादिति**। यस्मात्सत्त्वमेव निःश्रेयसहेतुस्तस्मादिह कुशलाः। भगवन् अथ कल्याणानां तावकानां उपासायोग्यां स्वतो दयितां शुक्लां तव तनुं भजन्ति। तावकानामिति किं विशिष्योच्यत इति तत्राह - यत्सात्त्वता इति। सात्त्वताः साधुगुणयुक्ताः पुरुषाः सत्त्वं सत्त्वगुणप्रवर्तकं पुरुष इति रूपं शब्दो यस्य तत्तथा पुरुषशब्दवाच्यमित्यर्थः। उशन्ति कामयन्त इति यद्यस्मात्तस्मात् विशेषवचनम्। यतः पुरुषरूपात् लोकोऽभयं विन्दति आत्मसुखम् उतापि लभते, तस्मादन्य दभयादिदं न। यद्वा, यतः सत्वाल्लोको रक्षितो भवति अभय मुताऽत्मसुखमाप्नोति अन्यद्रजस्तम इति यद्द्वयं स्वरूपसुखादिहेतुर्न भवति ॥४६॥

निरन्तरध्यानासमर्थस्य उपास्तिप्रकार माह - **तस्मा** इति। विश्वाय विश्वनाम्ने। अस्य सर्वनामसंज्ञा नास्ति, अर्थान्तरत्वात्, तत्प्रेक्षणशीलत्वेन संयतगिरे मितभाषणाय ॥४७॥

भवत्साक्षात्कारो भवत्प्रसादायत्तो न स्वप्रयत्नसाध्यः इत्याह - **यमिति**। हे वितत यः पुरुषोऽक्षपथैः शब्दादिभिः भ्रमद्धीर्यं त्वां न वेद। कीदृशम्? स्वखेषु स्वेन्द्रियेषु असुषु प्राणेषु हृद्यपि दृक्पथेषु दृग्विषयेषु वसन्तं निर्दोषत्वेन वर्तमानं, ज्ञापकाभावान्न जानन्तीति नेत्याह - तवेति। अखिलगुरो स्तवेदं ज्ञापकप्रमाणं उपपद्याऽपि सः साक्षादद्यः अदनयोग्यः विषय भोगशीलः तस्य तव मायया बन्धकशक्तया आवृतमतिः आच्छादितज्ञानः तस्मा स्त्वत्प्रसादेन त्वज्ज्ञानं सुलभमित्यर्थः ॥४८॥

त्वज्ज्ञानस्य किं माहात्म्यं येन त्वदनुग्रहेण सर्वथाऽऽपाद्यं स्यादिति तत्राह - **यद्दर्शन** मिति। यस्य तव दर्शनं ज्ञाननिगमे तत्त्वनिर्णायके वेदे प्रतिपादितम्।आत्मरहः प्रकाशो यस्मात्तत्तथा तत्, अजपराः विष्णुपरायणा यतन्तः कृतोपास्तिप्रयत्नाः कवयो यत्र परमात्मरहस्ये मुह्यन्ति इदमित्थमिति ज्ञातुं उपदेष्टुञ्च न श न्ति तं भगवन्तं वन्दामह इत्यन्वयः। सर्ववादानां सर्वसिद्धान्तानां विषयाणां प्रतिपाद्यानां अर्थानां प्रतिरूपशीलं विरुद्धस्वभावं तदुक्तान्यथास्थितस्वभावमित्यर्थः। आत्मनि जीवविषये गूढबोधं जीवेनाऽज्ञातस्वरूपमित्यर्थः। आत्मना स्वेनेति ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां

द्वादशस्कन्धे अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

**(श्रीविजयध्वजतीर्थरीत्या अष्टमोऽध्यायः न समाप्तः)**

# नवमोऽध्यायः

## सूत उवाच

संस्तुतो भगवानित्थं मार्कण्डेयेन धीमता ।
नारायणो नरसखः प्रीत आह भृगूद्वह! ॥१॥

### श्रीभगवानुवाच

भो भो ब्रह्मर्षिवर्योऽसि सिद्ध आत्मसमाधिना ।
मयि भक्त्याऽनपायिन्या तपःस्वाध्यायसंयमैः ॥२॥

वयं ते परितुष्टा स्माः त्वद्गृहद्वृतचर्यया ।
वरं प्रतीच्छ भद्रं ते वरदेशादभीप्सितम् ॥३॥

### ऋषि रुवाच

जितं ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराऽच्युत ।
वरेणैतावताऽलं नो यद्भवान् समदृश्यत ॥४॥

वाञ्छन्त्यजादयो यस्य श्रीमत्पादाब्जदर्शनम् ।
मनसा योगपक्वेन स भवान् मेऽक्षिगोचरः ॥५॥

अथाऽप्यम्बुजपत्राक्ष पुण्यश्लोकशिखामणे ।
द्रक्ष्ये मायां यया लोकः सपालो वेद सद्भिदाम् ॥६॥

### सूत उवाच

इतीडितोऽर्चितः काममृषिणा भगवान्मुने ।
तथेति स स्मयन् प्रागात् बदर्याश्रममीश्वरः ॥७॥

तमेव चिन्तयन्नर्थमृषिः स्वाश्रम एव सः ।
वसन्नग्न्यर्कसोमाम्बुभूवायुवियदात्मसु ॥८॥

ध्यायन् सर्वत्र च हरिं भावद्रव्यैरपूजयत् ।
क्वचित्पूजां विसस्मार भक्तिप्रसरसम्प्लुतः ॥९॥

---

1 HV °तः प्राह, 2 A B G J M Ma °गुद्वहम्, 3 A B G J वर्याऽसि, H V °वर्य त्वं, 4 W °ड्डात्म, 5 A B G H J M MaV स्म 6 H V °द्वहव्रत, 7 H V मार्कण्डेय, 8 W मे 9- -9 A B G J गृहीत्वाजादयो 10 W बुक्तेन, 11 A B G J M Ma °ऽक्ष, 12 M Ma ईक्ष्ये 13 M Ma इतीरितो, 14 W सस्मयं; 15 M Ma °च, 16 A B G J प्रेम°,

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

नवमे भगवन्मायादिदृक्षोर्दर्शने[1] मुहुः। मायाशिशो र्लयाब्धौ च मुनेर्निर्वेशनिर्गमैः ॥

भगवतः परितोषपूर्वकं तदपेक्षितवरदानं कथयितुमाह **संस्तुतः इत्यादिना** ॥१॥

**भो भो इति**। आत्मसमाधिना चित्तैकाग्र्येण ॥२॥

**वयमिति**। वयं ते परितुष्टाः स्म इति बहुवचनं सर्वदेवाभिप्रायेण। वरदेशादित्येकवचनं द्वयो रैक्याभिप्रायेण। प्रतीच्छ गृहाण ॥३॥

**जितमिति**। वरेण छन्दयता त्वया जित मुत्कर्षो दर्शितः मम तु वराकाङ्क्षा नाऽस्तीत्याह - वरेणेति ॥४॥

**वाञ्छन्तीति**। यस्य तव श्रीमत्पादाब्जदर्शनं अजादयो[2] ब्रह्मादयो[3] वाञ्छन्ति[4]। स भवान् मेऽक्षिगोचरो[5] जातोऽस्ति। किमतः परं वरेणेत्यर्थः ॥५॥

**अथेति**। द्रक्ष्ये द्रष्टुमिच्छामि लोकपालैर्ब्रह्मादिभिः सहितोऽयं लोको जनो सद्भिदां सति वस्तुनि भिदां[6] भेदम् वेदेति ॥६॥

**इतीति**। तथेति द्रक्ष्यसीति। स ईश्वरः स्मयन्[8] स्मयमान[9] सस्मयमिति प्रागात्। पाठान्तरे क्रियाविशेषणम् ॥७॥

**तमिति**। तमेवाऽर्थं मायादर्शनरूपम्। अग्न्यादि अष्टमूर्तिषु[10] ॥८॥

**ध्यायन्निति**। भावद्रव्यै र्मनोमयै र्द्रव्यैः। क्वचित्कदाचित्[11] भक्तिप्रसरसम्प्लुतः[12] भक्त्युद्रेकव्याप्तः[12] ॥९॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थं संस्तुतस्तदभिमतं प्रायच्छदित्याह - **संस्तुत** इत्यादिना। हे भृगूद्वह! [13] द्वितीयान्तपाठे भृगूद्वहं मार्कण्डेय मित्याह[13]॥१॥

उक्तिमेवाऽऽह - **भो भो इति** द्वाभ्याम्। आत्मसमाधिना चित्तैकाग्र्येण अनपायिन्या अविच्छिन्नया मयि भक्त्या च तप आदिभिश्च सिद्धो ब्रह्मर्षिश्रेष्ठश्चाऽसि ॥२॥

तव बृहद्व्रतचर्यया नैष्ठिकाकामधर्मचर्यया वयं परितुष्टाः स्म। वय मिति बहुवचनं सर्व देवाभिप्रायकम्। वरदाना मीशान्मत्तः वरं प्रतीच्छ वृणीहि। ते तुभ्यं भद्रं शुभमस्तु ॥३॥

---

1 J.H.V न. 2 A.B.J add मनसाऽपि गृहीत्वा प्राप्य कृतार्थाः 3 A B J omits ब्रह्मादयो 4 B J भवन्ति 5 A B J ऽक्षि. 6 A B J omit भिदां। 7 A B J omit वेदेति। 8 A B J omit स्मयमान. 9 A B J omit सस्मयमिति 10 A B J omit अष्ट 11 ABJ प्रम 12 -12 ABJ प्रेमोद्रेक प्राप्त. 13 -3 W. omits

**इत्थं वराय प्रचोदितः प्राह - जितं ते इति।** त्रिभिः[1]। देवदेवो ब्रह्मा तस्यापीश! प्रपन्नाना मार्तिं क्लेशं हरतीति तथाभूत! अश्रितान्न च्यावयतीति तथा नोऽस्मभ्यं भवान् सम्यगदृश्यतेति यदेतावतैव वरेणाऽलम् ॥४॥

**तत्र हेतुतया तद्दर्शनस्य दुर्लभतामाह - वाञ्छन्तीति।** अजादयो ब्रह्मादयः योगयुक्तेन[2] योगविशुद्धेन मनसा यस्य श्रीमत्पादाब्जदर्शनं केवलं वाञ्छन्ति, न तु पश्यन्ति। स भवान् ममाऽक्षिगोचरोऽसि ॥५॥

**अथापीति।** यद्यपि त्वद्दर्शनमेव वरस्तथाऽपि तव मायां आश्चर्यशक्तिं द्रक्ष्ये द्रष्टुमिच्छामि इत्यर्थः। तां विशिनष्टि यया मायया लोकपालैर्ब्रह्मादिभिः सहितो लोको जनः सद्भिदां सच्छब्दवाच्ये त्वयि भिदां भेदं देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरभेदं वेद। यया कृतां भिदां वेद तां मायामित्यर्थः ॥६॥

**इतीति।** ईडित उक्तोऽर्चितश्च भगवान्, हे मुने! स्मयो मन्दहासः, तेन सहितं यथा तथा, तथेति द्रक्ष्यसीत्यनुगृह्य बदर्याऽऽश्रमं प्रति प्रागात् ॥७॥

**तमेवेति।** तमेवाऽर्थं मायादर्शनरूपमर्थं चिन्तयन् कदा द्रक्ष्यामीति चिन्तयन्नित्यर्थः। अम्यादिषु अष्टसु, तत्राऽऽत्मा हृदयम् ॥८॥

सर्वत्र गोविप्रादिषु हरिं ध्यायन् भावद्रव्यै र्मनोमयैर्द्रव्यैः अपूजयत्, मानसोपचारैः अपूजयदित्यर्थः। क्वचिदिति। भक्ति प्रसरेण प्रीत्यात्मकभक्तिपरीवाहेण सम्प्लुतः व्याप्तः तां पूजामपि विस्मृतवान् ॥९॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

संस्तुत इति ॥१॥

आत्मनो हरेः समाधिनोपासनाजन्यज्ञानेन सिद्धः कृतकृत्यः ॥२॥

प्रतीच्छ स्वीकुरु ॥३॥

भवन्माहात्म्यप्रकटनं वरं वरयिष्यन्नपि भगवद्दर्शनादितरो वरोऽनभीष्टो मुमुक्षोरिति हृदि कृत्वा प्रतिवक्ति - जितमिति ॥४॥

यदाकाङ्क्षापूरकं प्राय स्तदेव साध्य मस्य, तदभावात्पथि तृणमिवेदमपि वन्ध्यमिति तत्राऽऽह - वाञ्छन्तीति। भक्ति योगपक्वेन भक्त्युपासनाभ्यां परिपाकं प्रापेन वाऽक्षिगोचरोऽभूदिति शेषः ॥५॥

---

1 W omits त्रिभिः, 2 A B पक्वेन

ननूक्तं सत्यम्, तथाऽपि भवत्समाधेरेतदेव फलं नाऽन्यदस्तीति भाति किमत्राऽऽह - अथाऽपीति। मायां घटमानघटकशक्तिलक्षणां लोकोपकारक यथार्थज्ञान जनकत्वेनेन्द्रजाललक्षणा नेति भावेनाऽऽह ययेति। सतः परब्रह्मणः सर्वस्मात् भिदां वैलक्षण्यं वेद तादृशीं द्रष्टुमिच्छामि नेन्द्रजाललक्षणामित्यर्थः ॥६॥

सस्मयं सस्मितं तथा द्रक्ष्यसीत्युक्त्वा ॥७॥

आत्मनि स्वस्मिन् ॥८॥

किं बहुना सर्वत्र च व्याप्तं भावद्रव्यैः मनःकल्प्यपुष्पादिद्रव्यैः अहिंसाद्यैरित्यर्थः। क्वचित्कदाचित् विस्मरणे कारणं भक्तिप्रसरसम्प्लुत इति ॥९॥

**तस्यैकदा भृगुश्रेष्ठ पुष्पभद्रा[2]तटे मुनेः[2]।**
**उपासीनस्य सन्ध्यायां ब्रह्मन् वायुरभून्महान् ॥१०॥**

**तं चण्डशब्दं समुदीरयन्तं बलाहका अन्वभवन् कराला[1]ः।**
**अक्षस्थविष्ठा मुमुचुस्तटिद्भिः स्वनन्त उच्चैरभिवर्षधाराः ॥११॥**

**तत[3]ो व्यदृश्यन्त चतुस्समुद्राः[5] समन्ततः क्ष्मातलमाग्रसन्तः[4]।**
**समीरवेगोर्मिभिरुग्रनक्रभयानकावर्तगभीरघोषाः[6] ॥१२॥**

**श्रीध०** मायादर्शन माह - **तस्येत्यादिना** ॥१०॥

**तमिति**। तं वायुमनु बलाहकाः मेघा अभवन्नाविर्बभूवु । ते च तटिद्भिः[7] विद्युद्भि[8] सहिता उच्चैः स्वनन्तो गर्जन्तः। अक्षो रथाङ्गः, तद्वत्स्थविष्ठा अभितो वर्षधारा मुमुचुः ॥११॥

**तत इति**। चतुर्दिक्षु वर्तमानास्समुद्राः समीरवेगेनोर्मयः तैर्भृतलं उद्गमन्तः[9] उग्रा नक्रा येषु भयानका[10] आवर्ता येषु गभीरो घोषो येषु, ते च ते च ते च ॥१२॥

**वीर०** मायादर्शन मुपवर्णयति - **तस्येत्यादिना** यावदध्यायम्[11]माप्ति[11]। हे भृगुश्रेष्ठ तस्य मुने मार्कण्डेयस्य उपासीनस्य सतः हे ब्रह्मन्! महान्वायुरभूत् ॥१०॥

**तमिति**। तं वायुमनु बलाहका मेघाः कराला भयङ्कराः अभवन्नाविर्बभूवुः। ते च तटिद्भिः[12] सहिता उच्चैर्ध्वनन्तो

1 A.B omit भाति, 2--2 H V "नदीतटे", 3 H V "उध्वदृश्यन्त 4 H V ०मुद्र, 5 w "नक्रै 6--6 A B G J W महाभयावर्त, 7 A B J तडि, 8 A.B J omit विद्युद्भिः, 9 A.B J ग्रसन्त, 10 A.B J महाभया, 11--11 W omits 12 A B तडि

गर्जन्तः अक्षः शकटाक्षः तद्वत् स्थविष्ठाः अतिस्थूला अभितो वर्षधारा मुमुचुः ॥११॥

**तत इति**। चतुर्दिक्षु वर्तमानास्समुद्राः परितः क्ष्मामलं भूमण्डलम्, उग्रा नक्रा येषु तैः समीरवेगोत्थितै रूर्मिभिर्ग्रसन्तः भयानका आवर्ता येषु, गभीरो घोषो येषु ते च व्यदृश्यन्त ॥१२॥

**विज०** वरदानफलं वक्तु मुपक्रमते - तस्येति। तस्याऽश्रमे महान्वायु रभूत् ॥१०॥

तं वायुमनु अनन्तरं ते बलाहकाः अभि अभितः अक्षस्थविष्ठाः अक्षो रथाङ्गनीपो दण्डः, तद्वत्स्थूलतमा वर्षधारा मुमुचुः तटिद्भिस्सह ॥११॥

समीरवेगेनोन्नतोर्मिभिस्सह उग्रनक्रैर्भयानकस्य भयङ्करस्याऽवर्तस्य गभीरा गम्भीरा घोषा येषां ते तथा ॥१२॥

**अन्तर्बहिश्चाऽद्भिरतिद्युभिः खरै श्शतह्रदाभीरुपतापितं जगत् ।**
**चतुर्विधं वीक्ष्य सहात्मना मुनिर्जलाप्लुतां क्ष्मां विमनाः समत्रसत् ॥१३॥**

**तस्यैव मुद्वीक्षत ऊर्मिभीषणः प्रभञ्जनाघूर्णितवार्महार्णवः ।**
**आपूर्यमाणो वरवद्भि रम्बुदै क्ष्मामप्यधाद्द्वीपवर्षाद्रिभिस्समम् ॥१४॥**

**सक्ष्मान्तरिक्षं सदिवं सभागणं त्रैलोक्यमासीत् सह साद्भिराप्लुतम् ।**
**स एक एवोर्व[1] तो महामुनिर्बभ्राम विक्षिप्तजटो जाडान्धवत् ॥१५॥**

**क्षुत्तृट्परीतो मकरैस्तिमिङ्गिलैरुपद्रुतो वीचिनभस्वता हतः ।**
**तमस्यपारे पतितो भ्रमन् दिशो न वेद खं गाञ्च परिश्रमेचितः ॥१६॥**

**श्रीध० अन्तरिति**। आत्मना सह जरायुजादि चतुर्विधं जगदन्तर्बहिश्च उपतापितं वीक्ष्य क्ष्मां च जलाप्लुतां वीक्ष्य मुनिः समत्रसत् भयं प्राप। केनोपतापितम्? अद्भिः कथम्भूताभिः अतिद्युभिः अतिक्रान्ता द्यौः याभिः खरैश्च सूर्यरश्मिभिः वायुभिर्वेति शेषः। शतह्रदाभिश्च विद्युद्भि । दीर्घत्व मार्षम्। छन्दोनुसारेण ॥१३॥

**तस्येति**। प्रभञ्जनेनाऽऽघूर्णितं प्रकम्पितं वाः उदकं यस्मिन् सः, अप्यधात् छादयामास। समं सह ॥१४॥

**सक्ष्मेति**। सहसा सक्ष्मान्तरिक्षं भूम्यन्तरिक्षस्थप्राणिसहितम्। सदिवं स्वर्गस्थदेवसहितम्। भागाणा ज्योतिर्गणास्तैः सहि[illegible]। जटाः विक्षिप्य विकीर्य ॥१५॥

1 1 M Ma महामनामुनि 2 M Ma 'ल' 3 H V W वर्षद्भि MMa प्रवर्षद्भि 4 H M Ma V वर्षादिभि 5 A B G J W मारुतिभिरा' 6 H V एवोर्मिजाले महा' 7 A B G H J V विक्षिप्यजटा 8 H V स्वदा हत। MMa स्वताहत 9 H V परितो 10 M Ma 'मदिशो' 11 M Ma 'श्रमोचित। 12 A B J omit सहसा

**क्षुदिति**। परिश्रमेण इषितो गतः प्राप्त इत्यर्थः। इषुसर्पणे इत्यस्मात् ॥१६॥

**घौर० अन्तर्बहिरिति**। खरै रित्यस्य सूर्यरश्मिभिरिति शेषः। शतह्रदाभिः विद्युद्भिः। छन्दोनुसारेण दीर्घत्व मार्षम्।अतिद्युभिः अतिक्रान्ता द्यौर्याभिस्ताभिः अद्भिर्जलैश्च अन्तर्बहिरुपतापितं चतुर्विधं देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मकजगत् जलाप्लुतां क्ष्मां भूमिञ्च वीक्ष्य मुनिर्विमनाः समत्रसदभैषीत् ॥१३॥

**तस्येति**। तस्य मुनेरित्थमुद्वीक्षतस्सतः वर्षद्भिरम्बुदैरापूर्यमाणः प्रभञ्जनेन वायुना आघूर्णतं भ्रामितं वाः उदकं यस्मिन् ऊर्मिभि र्भीषणश्चाऽर्णवः द्वीपवर्षाद्रिभिस्समं सह सहितामित्यर्थः। क्ष्मामप्यधात् छादयामास ॥१४॥

**सक्ष्मान्तरिक्षमिति**। भूम्यन्तरिक्षसहितं सदिवं स्वर्गसहितं सभागणं नक्षत्रगणसहितं, त्रैलोक्यमद्भिः आप्लुतमासीत्। तदा स मुनि रेक एव उर्वरितः अवशेषितः विक्षिप्ताः जटाः येन सः, जडवदन्धवच्च विचचाल ॥१५॥

किञ्च क्षुत्तृड्भ्यां परीतो व्याप्तः। तृतीयान्तपाठे (परीतैः) मकरादीनां विशेषणम्। वीचिभिस्तरङ्गै र्नभस्वता वायुना च हतः ताडितः अत एव परिश्रमेणेषितो व्याप्तः, दिवमन्तरिक्षं खमाकाशं गां भूमिञ्च न वेद ॥१६॥

**विज०** घनै र्मेघै रभिवृष्टाभिः अद्भिः उपतापितमाप्लावितमभितो द्युतिमतीभिः शतह्रदाभिस्तटिद्भिश्चोपतापितं दग्ध वत्कृतं क्ष्मामब्धिजलप्लुतां वीक्ष्य ॥१३॥

अप्यधात् छादितवान् ।तस्य मुनेरुद्वीक्षतः ॥१४॥

सदिवं स्वर्गेण सहितं, सभागणं सनक्षत्रगणं,जडवत् अन्धवत् ॥१५॥

वीचिनभस्वता तरङ्गवायुना भ्रमन्त्यो दिशो यस्य सः तथा '[वष्टि भागुरिरल्लोपम्'] (सि.कौ. अष्ट. 2-4-82) इति वचनात् टाबन्तो दिशाशब्दः। परिश्रमोषितः दुःखसमुद्रवासी ॥१६॥

**क्वचिद्गतो महावर्ते तरलैस्ताडितः क्वचित्।**
**यादोभिर्भक्षितः क्वाऽपि स्वयमन्योन्यघातिभिः ॥१७॥**

**क्वचिच्छोकं क्वचिन्मोहं क्वचिद्दुःखं सुखं भयम्।**
**क्वचिन्मृत्युमवाप्नोति व्याध्यादिभिरुपद्रुतः ॥१७॥**

---

1 H V व्याप्त . 2 w omits परितः. 3 W omits वायुना 4 W omits खं अन्तरिक्षं. 5 H V "भ्रम्य . M Ma "न्यम्य . 6 W गर्ते . 7 H V तरङ्गै". 8 A.B.G.J M.a "र्भक्षयते. 9 W "क्वचिद्". 10 H V "त्यु समाप्नो" 11 M Ma नाभिश्च"

अयुतायुतवर्षाणां सहस्राणि शतानि च ।
व्यतीयुर्भ्रमतस्तस्मिन् विष्णुमायावृतात्मनः ॥१९॥

स कदाचिद्भ्रमंस्तस्मिन् पृथिव्याः ककुदि द्विजः ।
न्यग्रोधपोतं ददृशे फलपल्लवशोभितम् ॥२०॥

प्रागुत्तरस्यां शाखायां तस्याऽपि ददृशे शिशुम् ।
शयानं पर्णपुटके ग्रसन्तं प्रभया तमः ॥२१॥

महामरकतश्यामं श्रीमद्वदनपङ्कजम् ।
कम्बुग्रीवं महोरस्कं सुनासं सुन्दरभ्रुवम् ॥२२॥

श्वासैजदलकाभातं कम्बुश्रीकर्णदाडिमम् ।
विद्रुमाधरभासेषच्छोणायितसुधास्मितम् ॥२३॥

पद्मगर्भारुणापाङ्गं हृद्यहासावलोकनम् ।
श्वासैजद्वलिसंविग्ननिम्ननाभिदलोदरम् ॥२४॥

**श्रीध० क्वचिदिति**। अन्योन्यघातिभि स्तद्रक्षणाय परस्परं युध्यद्भिः ॥१७,१८॥

**अयुतेति**। विष्णुमायाऽवृतात्मन इति। स तथा दृष्टवानित्यर्थः ॥१९॥

**स इति**। ककुदि उन्नतप्रदेशे न्यग्रोधपोतं कोमलवटम् ॥२०॥

**प्रागिति**। तस्येशानदिक्शाखायां शिशुमपि ॥२१॥

**महामरकतेति**। श्रीमद्रम्यं वदनपङ्कजं यस्य तम्। कम्बुवत् त्रिरेखावृता ग्रीवा यस्य तम्। महोरस्कम्, विशालवक्षसम्। सुनासं शोभना नासा यस्य तम्, सुन्दरे भ्रुवौ यस्य तम् ॥२२॥

**श्वासेति**। श्वासैरेजन्तः कम्पमाना ये अलकास्तैराभातं शोभितम्। कम्बुवत् अन्तर्वलयेन श्रीर्ययोस्तौ कम्बुश्रियौ तयोः कर्णयोः दाडिमपुष्पे यस्य तम्। विद्रुमतुल्याधरभासा ईषच्छोणायितं सुधातुल्यं स्मितं यस्य तम् ॥२३॥

**पद्मेति**। पद्मगर्भवत्, आ ईषत् अरुणावपाङ्गौ नेत्रप्रान्तौ यस्य तम्, हृद्यो हासो यस्मिं स्तदवलोकनं यस्य तम्। श्वासै

---

1--1. M.Ma "कौ ज्ञात मिश्र", 2 W शुचि", 3 M.Ma नाभिश", 4 B J "स्तद्रक्ष", 5 H V "वृता, 6 H V "प्रान्तौ

रेजन्त्यश्चलन्त्यो वलयस्तिर्यङ्निम्नरेखा स्ताभिः संविग्ना चञ्चला निम्ना गम्भीरा नाभिर्यस्मिं स्तत्, दलवत् अश्वत्थपत्रसङ्काश मुदरं यस्य तम् ॥२४॥

**वीर० क्वचिदिति**। तरलैस्तरङ्गैः अन्योन्यघातिभिः अन्योन्यं युध्यमानैः यादोभिर्जलजन्तुभिः स्वयं भक्षितश्च ॥१७॥

**क्वचित् शोकमिति**। मृत्युं मृत्यु मिव ॥१८॥

**अयुतायुतवर्षाणामिति**। विष्णोर्मायया हृतः आत्मा मनो यस्य तस्य मुनेः तस्मिन् जले भ्रमतः सतः महान् कालो व्यतीयायेत्यर्थः ॥१९॥

**स इति**। पृथिव्याः ककुदि तद्वदुन्नतस्थले फलैः पल्लवैश्च शोभितं न्यग्रोधपोतं कोमलवटवृक्षं ददृशे पश्यतिस्म ॥२०॥

**प्रागिति**। तस्य न्यग्रोधपोतस्य प्रागुत्तरस्यामीशान्यां दिशि या शाखा तस्यां शिशुमपि ददृशे। तं विशिनष्टि - शयान-मित्यादिना। तमोऽन्धकारं ग्रसन्तं निराकुर्वन्तम् ॥२१॥

इन्द्रनीलवत् श्यामं श्रीमद्रम्यं वदनपङ्कजं यस्य तम्, कम्बुवच्छङ्खवत् त्रिरेखावृता ग्रीवा यस्य तम्। महोरस्कं विशाल वक्षसम् शोभना नासा यस्य तम् । सुन्दरे भ्रुवौ यस्य तम् ॥२२॥

निःश्वासैरेजन्तः कम्पमाना ये अलकाः तैराभातम्, (शोभमानम्), शोभितं कम्बुवदन्तर्वलयेन श्रीर्ययोस्तौ कम्बु श्रियौ तयोः कर्णयोर्दाडिमपुष्पसदृशमाभरणं यस्य तम्, विद्रुमवत् योऽधरः तस्य भासा ईषच्छोणायितं शुचि शुभ्रं स्मितं यस्य तम् ॥२३॥

पद्मगर्भा विव अरुणावपाङ्गौ नेत्रान्तौ यस्य तम् हृद्यं हासयुक्तं अवलोकनं यस्य श्वासै रेजन्त्यश्च लन्त्यः वलयः तिर्यङ्निम्नरेखा याः ताभिः संविग्ना चञ्चला निम्ना च नाभि र्यस्मिन् तदश्वत्थस्य पत्रसङ्काशम् उदरं यस्य तम् ॥२४॥

**विज० तरलैस्तरङ्गैः** ॥१७-१९॥

ककुदि उन्नतस्थले ॥२०॥

तस्य वटस्य ॥२१,२२॥

श्वासेन मुखवायुना एजतां कम्पमानाना मलकानां व्रातेन मिश्रया श्रिया श्रिया युक्तं कर्णदाडिमं कर्णाभरणं यस्य स तथा तम्। ईषच्छोणाश्लिष्टा ॥२३॥

---

1. H.V. वस

पद्मगर्भवत् अरुणावपाङ्गौ नेत्रान्तौ यस्य तम् श्वासैरेजन्त्यश्चलन्त्यो बलयः तिर्यग्रेखास्ताभिः संविग्नगम्भीरा नाभिर्यस्य स तथा। चलमुदरं यस्य स तथा। श्वासैजद्वलिसंविग्ननिम्ननाभिश्चलोदरश्च स तथा तम्। दलोदरमिति वा पाठः दलवत् अश्वत्थदलवत् पत्रवत् उदरं यस्येति ॥२४॥

चार्वङ्गुलिभ्यां पाणिभ्यामुन्नीय चरणाम्बुजम्।
मुखे निधाय विप्रेन्द्र धयन्तं वीक्ष्य विस्मितः ॥२५॥

तद्दर्शनाह्लादपरिश्रमो मुदा प्रोत्फुल्लहृत्पद्मविलोचनाम्बुजः।
प्रहृष्टरोमाद्भुत भावशङ्कितः प्रष्टुं पुरस्तं प्रससार बालकम् ॥२६॥

तावच्छिशोर्वै श्वसितेन भार्गवः सोऽन्तश्शरीरं मशको यथाऽविशत्।
तत्राप्यदोऽन्यस्तमचष्टकृत्स्नशो यथा पुराऽमुह्यदतीव विस्मितः ॥२७॥

खं रोदसी भगणानद्रिसागरान् द्वीपान्सवर्षान् ककुभः सुरासुरान्।
वनानि देशान्सरितः पुराकरान् खेटान्व्रजानाश्रमवर्णवृत्तयः ॥२८॥

महान्ति भूतान्यथ भौतिकान्यसौ कालश्च नानायुगकल्पकल्पनम्।
यत्किञ्चिदन्यत् व्यवहारकारणं ददर्श विश्वं सदिवाऽवभासितम् ॥२९॥

हिमालयं पुष्पवहाञ्च तां नदीं निजाश्रमं यत्र ऋषीनपश्यत्।
विश्वं विपश्यञ्छ्वसिता च्छिशोर्वै बहिर्निरस्तो न्यपतल्लयाब्धौ ॥३०॥

तस्मिन् पृथिव्याः ककुदि प्ररूढं वटञ्च तत्पर्णपुटेशयानम्।
तोकञ्च तत्प्रेमसुधास्मितेन निरीक्षितोऽपाङ्ग निरीक्षणेन ॥३१॥

अथ तं बालकं वीक्ष्य नेत्राभ्यां धिष्टितं हृदि।
अभ्ययादतिसंहृष्टः परिष्वक्तु मधोक्षजम् ॥३२॥

**श्रीध० चार्विति**। चारवोऽङ्गुलयो ययोस्ताभ्यामुन्नीयाऽऽकृष्य धयन्तं पिबन्तम् ॥२५॥

---

1. A.B.G.J "न्नो", 2 W प्रष्टुं, 3 H.V "शोः निव", 4 W "न्व तम", 5 H.V मुदीक्ष्य, 6 M.Ma सारान्, 7 MMa दन्य "व", 8 A "बालमं, 9. A.B.G.J तत्र, 10. H.V. ऋषिस्वपश्यत, W ऋषी अपश्यत्। 11 M.Ma च्छ्वसत शि", 12 H.V "स्तोऽन्", 13 W पस्वन्, 14 H.V तत्पत्र", 15 H.V बालश्च; 16. W दृष्ट्वा, 17. W वेष्टितं, 18 M.Ma "गा", 19 A.B.G.J सहिवलष्ट

**तदिति**। हृत्पद्मश्च विलोचनाम्बुजे च प्रोत्फुल्लानि तानि यस्य सः। अद्भुतभावोऽत्याश्चर्यरूपं तेन शङ्कितस्सन्नपि तं प्रष्टुं पुरः- प्रससार समीपं गतः ॥२६॥

**तावदिति**। अदः इदं जगत् यथा पुरा प्रलयात्पूर्वं न्यस्तं विन्यस्तं दृष्ट्वा चाऽतीव विस्मितस्सन्नमुह्यत् ॥२७॥

कृत्स्नशो दर्शनं प्रपञ्चयति **खमित्यादिना**। ककुभो दिशः, पुराण्याकरांश्च खेटान्कर्षकग्रामान्। व्रजान्गोकुलानि आश्रमांश्च वर्णांश्च तेषां वृत्तीश्चेत्यर्थः ॥२८॥

**महान्तीति**। नानायुगानि कल्पांश्च कल्पयति, तै र्वा कल्प्यत इति तथा। तं कालश्च। सदिव परमार्थमिव अवभासितं तेनैव ॥२९,३०॥

**तस्मिन्निति**। वटश्च तोकश्च वीक्ष्य तस्य प्रेम्णा सुधातुल्यस्मितयुक्तेन अपाङ्गनिरीक्षणेन निरीक्षितस्सन् ॥३१॥

**अथेति**। अथ तं बालकमधोक्षजं परिष्वक्तुमभ्ययादिति। द्वयोरन्वयः। कथम्भूतम्? नेत्राभ्यां हृदि धिष्ठित-मधिष्ठितम् ॥३२॥

**वीर०** चारवः सुन्दर्यः अङ्गुलयो ययोस्ताभ्यां पाणिभ्यां चरणाम्बुजं उन्नीय उद्धृत्य मुखे निधाय तदङ्गुष्ठं धयन्तं पिबन्तम्। इथम्भूतं शिशुं विलोक्य विस्मितो बभूवेत्यर्थः ॥२५॥

**तद्दर्शना** दिति। तस्य शिशोर्दर्शनात्, वीतो गत परिश्रमो यस्य सः प्रोत्फुल्लानि हृत्पद्मं विलोचनाम्बुजे च यस्य सः। अद्भुतभावेन अत्याश्चर्यरूपेण शक्तितोऽपि तं बालकं द्रष्टुं पुर प्रससार समीपं गत इत्यर्थः ॥२६॥

**तावदिति**। ताव त्तदा हे भार्गव! स मुनिः शिशोः श्वसितेन मशकवदन्तश्शरीरं माविशत्, शिशोःश्वासवातेन तच्छरीरान्तः प्राविशदित्यर्थः। तत्रापि तद्गर्भेऽपि अक्षेऽन्यं अमुष्मा दन्यं तं तथाविधं शिशुमचष्ट। यथा पुरा तच्छरीरान्तःप्रवेशात्पूर्वं यथा कृत्स्नशः कृत्स्नमचष्ट तद्वदेवं दृष्ट्वा अतीव विस्मितोऽमुह्यत् ॥२७॥

कृत्स्नशो दर्शनं प्रपञ्चयति - **खमिति**। खम् अन्तरिक्षं गोदसी द्यावापृथिव्यौ भगणान् नक्षत्रगणान् अद्रींश्च सागरांश्च ककुभो दिशः सुरां श्चाऽसुरांश्च तान्, पुराणि अट्टादिमन्ति आकरान् रत्नाद्युत्पत्तिस्थानानि खेटान् कर्षकग्रामान् व्रजान् गोष्ठानि आश्रमांश्चतुरो वर्णान् तेषां वृत्तीश्चेत्यर्थः ॥२८॥

महान्ति भूतानि आकाशादीनि पञ्चभौतिकान् देवमनुष्यादीनसौ मुनिः नानायुगानि कल्पांश्च कल्पयतीति तथा तं कालश्च किं बहुना, यत्किञ्चिद्व्यवहारकारणं व्यवहारविषयं, विषयस्याऽपि व्यवहारं प्रति कारणत्वात्कारणमित्युक्तम्। सदिव

1 ABJ इव 2 ABJ °गादिति 3 HV omits द्वयो 4 HV omit नेत्राभ्या 5 W omits पाणिभ्या 6 A आकृष्ट 7 W omits इत्यर्थ ।. 8 AB °व

अवभासितम् अज्ञानां नित्यमिव प्रतीयमानं विश्वं तत्सर्वं ददर्श ॥१९॥

किञ्च। हिमालयमिति। ऋषी नरनारायणौ इत्थं विश्वं विपश्यन् शिशोः श्वसितात् श्वासाद्बहिर्निरस्तः निष्कासितः पुनः[1] प्रलयाब्धौ न्यपतत् ॥३०॥

पश्य त्रिति। तत्पर्णपुटेशयानम् इति वटपत्रपुटे शयानं तोकं शिशुञ्च पश्यन् तस्य शिशोः प्रेम्णा सुधास्मितेन च युक्ते नाऽपाङ्गनिरीक्षणेन निरीक्षितो बभूवेति[2] शेषः ॥३१॥

अथेति। नेत्राभ्यां हृदि वेष्टित मालिङ्गितं बालकमधोक्षजं पुनर्बहिः परिष्वक्तु मभ्ययात् अभिमुखं जगाम ॥३२॥

विज० धयन्तं पिबन्तम् ॥२५॥

अद्भुतभावेन आश्चर्यलीलाचेष्टया शङ्कितस्सन्नपि पुरः प्रससार समीपङ्गतः ॥२६॥

स भार्गवः मार्कण्डेयः ताव ततःपूर्वमेव श्वसितेनाऽन्तर्गच्छता सह शिशोरन्त श्शरीरं मशको यथा तथाऽविशदित्यन्वयः। तत्रोदरान्ते विन्यस्तमदो विश्वं कुत्स्नशोऽचष्ट दृष्टवान्। दृष्ट्वा च पुरा यथा बहिर्विस्मितोऽमुह्यत्तथाऽमुह्यदित्यन्वयः। अत्र मोहो नाम आश्चर्यबुद्धिरेव न त्वन्यथाज्ञानम्, तथात्वे प्राचीनाचीर्णपुण्यराशे र्वैयर्थ्यापत्तेरिति ॥२७॥

विश्वं विशिनष्टि - खं रोदसी इत्यादिना। आश्रमवर्णवृत्तयो यास्ताश्च ॥२८॥

महान्ति भूतानि पञ्चभूतानि नानायुगकल्पनं येन सं तच्च तं कालञ्च अन्यद्यत्किञ्चि व्यवहारकारणं हानोपादानादि समर्थं तच्चाऽद्राक्षीत्। सदिव सत्त्वेन यथार्थत्वेनैवाऽवभासितं प्रकाशितं न मिथ्याभूतत्वेन ॥२९॥

पुनः किमभूदत्राऽऽह - विश्वमिति। बहिः श्वसतः शिशोः श्वासेन बहि र्निरस्तो नुन्नः प्रलयाब्धौ न्यपतत् ॥३०॥

वटञ्च तोकञ्च वीक्ष्य तस्य शिशोः प्रेमसुधायाः प्रेमामृतादुद्भूतस्मितसहितेन अपाङ्गनिरीक्षणेन निरीक्षितोऽभू दित्यन्वयः ॥३१॥

अथ तं बालकं परिष्वक्तुमभ्यगात् ॥३२॥

**स्वावत्स भगवान् साक्षा द्योगाधीशो गुहाशयः।**
**अन्तर्दधे ऋषेः[4] सद्यो यथेहाऽनीशनिर्मिता ॥३३॥**

**तमन्वथ वटो ब्रह्मन् सलिलं लोकसम्प्लवः[5]।**
**तिरोधायि क्षणादस्य स्वाश्रमे पूर्ववत् स्थितः[6] ॥३४॥**

---

1 omits पुनः, 2 W omits इति शेषः। 3 A.B G J W अन्तर्दध, 4 H V तस्व, 5 W °वम्, 6 W °नात्मबोपि

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
द्वादशस्कन्धे नवमोऽध्यायः ॥९॥

**श्रीध० तावदिति**। तावत्परिष्वङ्गलाभात्पूर्वमेव ऋषे स्तस्याऽन्तर्हितो बभूव। तदुद्यमवैपल्ये दृष्टान्तः। अनीशो निर्दैव तेन निर्मिता ईहा क्रिया[1] यथेति ॥३३॥

**तमिति**। तं[2] अन्तर्हितं भगवन्तमनु वटः सलिलं लोकसम्प्लवश्च तिरोऽधायि अन्तर्हितः। स च स्वाश्रम एव यथापूर्वं स्थित इति ॥३४॥

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां नवमोऽध्यायः ॥९॥

**वीर० तावदिति**। तावद्भगवान् अचिन्त्यविविधविचित्रशक्त्यादिगुणगणपूर्णः योगाधीशः आश्चर्यशक्तियोगनिर्वाहकः गुहाशयः सर्वान्तरात्मा अन्तर्हितवान्। तदा ऋषे रीहा आलिङ्गनेच्छा यथा अनीशनिर्मिता निर्धनेन कृता तद्वदासीदित्यर्थः ॥३३॥

**तमिति**। तं तिरोदधतं शिशुमनु लोकासप्लवं सलिलं तिरोधाय तत्क्षणात्तस्य मुनेस्सकाशात् वटोऽप्यन्तर्दध इति पूर्वेण सम्बन्धः। यद्वा भगवान् सलिलं तिरोधायाऽन्तर्दधे। तमनु वटोऽपि अन्तर्दध इति सम्बन्धः। मुनिस्तु स्वाश्रमे पूर्ववत् स्थितः। अल्पदेशे विपुलदेशान्तर्भावः, अल्पकाले बहुकालान्तर्भावः तदितरजनादृश्यतद्व्यतिरिक्तमूर्तामूर्तपदार्थव्रातहेतु तत्कालावसायि सलिलादिसृष्टिश्चेति सर्वमीश्वरस्य सर्वशक्तित्वादुपपन्नम् ॥३४॥

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां नवमोऽध्यायः ॥९॥

**विज०** अनीशेनाऽसमर्थेन निर्मिता ईहा मायालक्षणा चेष्टा यथा क्षिप्रमन्तर्दधाति तथेयमन्तर्धानशैघ्र्यार्थे निदर्शनमिदं न तु मिथ्यात्वे ॥३३॥

अन्तर्हितं भगवन्तमनु लोकस्य सम्प्लवो यस्मात्तत्तथा। तिरोधायि तिरोहितमभूत् ॥३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थविरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
द्वादशस्कन्धे नवमोऽध्यायः ॥९॥

**(श्रीविजयध्वजतीर्थरीत्या नवमोऽध्यायः न समाप्तः)**

1 A.B.J क्रीडा , 2 A.B.J omits तं

# दशमोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या नवमोऽध्यायः)

### सूत उवाच

स एवमनुभूयेदं नारायणविनिर्मितम्।
वैभवं योगमायायास्तमेव शरणं ययौ ॥१॥

### [1]मार्कण्डेय उवाच

प्रपन्नोऽस्म्यङ्घ्रिमूलन्ते प्रपन्नाभयदं हरे ।
यन्माययाऽपि विबुधा मुहन्त्यज्ञानकातराः ॥२॥

### सूत उवाच

[3]तमेत्रं निभृतात्मानं वृषेण दिवि पर्यटन्।
रुद्राण्या भगवान्रुद्रो ददर्श स्वगणैर्वृतः ॥३॥

अथोमा तमृषिं वीक्ष्य गिरिशं समभाषत ।
पश्येमं भगवन्विप्रं निभृतात्मेन्द्रियाशयम् ॥४॥

निभृतोदङ्मरुद्व्रातो वातापाये यथार्णवः ।
कुर्वस्य तपसः साक्षात्संसिद्धिं सिद्धिदो भवान् ॥५॥

### [10]रुद्र उवाच

नैवेच्छत्याशिषः क्वाऽपि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत ।
भक्तिं परां भगवति लब्धवान् पुरुषेऽव्यये ॥६॥

[11]अथाऽपि संवदिष्यामो भवान्येतेन साधुना ।
अयं हि परमो लाभो नृणां साधुसमागमः ॥७॥

### सूत उवाच

इत्युक्त्वा [12]तमुपेयाय भगवान् स सतां गतिः ।
ईशानस्सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वदेहिनाम् ॥८॥

---

1 H V ऋषिरुवाच , 2-2 A B G H J V "ज्ञानि ज्ञानकाशावाः" , 3 M Ma तमित्थं, 4 H V "गणावृतः, 5 A "रीं, 6 W पश्येम , 7 B G J "दङ्मरुद्व्रातं , H V "र्मि ङ्मरुद्व्रातो , M Ma न-वृषिव्रात , 8 M Ma तपापाये, 9 B G J "वम्, 10 A B G H J M Ma V श्रीभगवानुवाच, 11 W तथापि 12 MMa समु"

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

दशमे शिव आगत्य मुनेस्तुष्टो वरानदात्। तेन साकमतिप्रीत्या समाभाष्य सभाजयन् ॥

**प्रपन्नोऽस्मीति**। ज्ञानकाशया ज्ञानवत्प्रकाशमानया त्वद्भजनं विना विद्वांसोऽपि यस्य तव मायया ज्ञानिनो वय मित्यहङ्कारेण[1] विमुह्यन्तीन्यर्थः ॥१,२॥

श्रीनारायण एव स्वमायादर्शनश्रान्तं शिवरूपेण सान्त्वयामास तदाह - **तमेवमित्यादिना**। निभृतात्मानं समाहित-चित्तं रुद्राण्या भवान्या ॥३॥

**अथेति**। निभृता निश्चला आत्मेन्द्रियाशया देहेन्द्रियमनांसि यस्य तम् ॥४॥

**निभृतेति**। [2]निभृतं निश्चलम् उदकं[2] झषव्रातश्च यस्मिंस्तम्। संसिद्धिं फलं साक्षात्कुरु प्रकटीकुरु यतो भवान् सिद्धिदः ॥५॥

**नेति**। आशिषोऽभ्युदयलक्षणाः। उत[3] निश्चितम्। अत्र हेतुः भक्तिमिति ॥६॥

**अथेति**। संवदिष्यामः संवादं करिष्यामः ॥७॥

**इतीति**। सताम्[4] सात्त्वतां गतित्वे हेतुः, ईशानेति ॥८॥

## श्रीवीरराघवविदुषालिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थं भगवता दत्तं तद्योगमायादर्शनात्मकं वरं प्राप्य ततो रुद्राद्भगवद्भक्तिस्थैर्यमाकल्पान्तमायु:, त्रैकालिकं ज्ञानं विरक्तं ब्रह्मवर्चस्विनां पुराणाचार्यत्वञ्च लेभ इति वक्तुं प्रस्तौति - **स एवमित्यादिना**। नारायणेन विनिर्मितमाश्चर्यशक्तेर्वैभव मनुभूय तमेव नारायणमेव तन्मायातरणाय शरणं ययौ ॥१॥

**तदेवाऽऽह प्रपन्नोऽस्मीति**। प्रपन्नानामभयं संसृतिभयाभावं प्रयच्छतीति तथा, यस्य तव मायया हेतुभूतया यदज्ञानं तेन कातराः विक्षिप्तचित्तास्सन्तो मुह्यन्ति, तां ततुं प्रपन्नोऽस्मीति भावः ॥२॥

**तमिति**। इत्थं निभृतात्मानं समाहितचित्तं मुनिं रुद्रो ददर्शेति सम्बन्धः। दिवि[5] अन्तरिक्षे[6] ॥३॥

**अथेति**। उमा रुद्राणी। उक्ति मेवाऽऽह - पश्येमेति। यथा निभृतं निश्चलं उदकं झषव्रातश्च यस्मिन्। पारावारोऽपारोर्णव समुद्रः (तथा क्षीरसागरो वा) तथा निभृतात्मेन्द्रियाशयं निश्चल देहेन्द्रियमानसं मुनिं पश्येम अस्य मुने स्तपसः संसिद्धिं फलं कुरु यतो भवान्[6] सिद्धिदः ॥४,५॥

---

1 H V omit वि, 2- -2 H V निभृत निश्चल ऊर्मि, 3 H V °म्बित् 4 B H J V omit सात्वता 5- -5 W omits, 6 A B add म

एवमुक्तः प्राह रुद्रः - **नेति** द्वाभ्याम्। आशिषः कामान् उतापि च मोक्षमप्ययं ब्रह्मर्षिः नैवेच्छति। तत्र हेतुः परा मनन्यप्रयोजनां भगवति भक्तिं लब्धवान्। न हि भगवदेकान्तभक्ताः किञ्चिदपि वाञ्छन्तीति भावः ॥६॥

तथाऽपि यद्यपि एवं, तथाऽपि हे भवानि! साधुनाऽनेन मुनिना संवदिष्यामः संवादं करिष्यामः। किं तावन्मात्रेण - तस्येत्यत्राऽऽह - अयं हीति। नृणामयं अयमेव परमो लाभः, कोऽसौ? यस्साधुसमागमः न तस्य लाभः, किन्त्वस्माकमेवेति भावः। यद्वा अन्योऽन्यस्य समागमोऽन्योन्यस्य लाभ इति भावः। नृणामिति पारोक्ष्यनिर्देशो लोकपरिपाटी प्रदर्शनाभिप्रायकः ॥७॥

**इतीति**। स भगवान् रुद्रः सनाम्नतित्वसर्वविद्यानिर्वाहकत्वसर्वदेहीश्वरत्वजगदात्मत्वान्यात्मभूतपरमपुरुष द्वारकाणीति विवक्षितानि - "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" (ब्र. सू.1-1-31) इति न्यायात् भगवदावेशावतारत्वाद्वा तानि विवक्षितानि ॥८॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

मार्कण्डेयः पुनः किमकार्षीत् यत्कथां शृण्वतां हरौ भक्तिसमुद्रेककरीति हार्दं शौनकादीनां चोद्यं परिहरति - **स एव** - मिति। यः पूर्ववत् स्वाश्रमे स्थितः सः योगमायायाः आणिमादिविभूतेः वैभवं व्याप्तिं स्वरूपशक्तेः प्रभावं वा ॥१॥

यस्य हरेर्मायया मोहनशक्त्या विबुधा अज्ञानकातराः इति पदद्वयेन अन्योन्यविरुद्धेन मायाशब्दो व्याख्यात इति ज्ञातव्यम् ॥२॥

निभृतात्मानं पूर्णमनसं हरावेव नितरां धृतमनसं वा, दिवि व्योम्नि ॥३,४॥

निभृतो ननु पूर्ण एव तपापाये वर्षाकाले ऋषीणां व्रातो व्रतसमूहो यस्य सः तथा, पूर्वविशेषणार्थे हेतुरयम्, अस्य मुनेः ॥५॥

रुद्रः प्रतिवक्ति- **नैवेति**। मोक्षमपि नेच्छति। किमुताऽन्या आशिषः। तत्र हेतुमाह - भक्तिमिति ॥६॥

यद्यप्येवं तथाऽपि भवत्या वचनगौरवाद्यतिष्यामहे इत्याशयेनाऽऽह - **अथापीति**। हे भवानीति। एतेन साधुना मुनिना सह सङ्गथनेन किं प्रयोजनम्? अत्राऽऽह - अयं हीति। साधूनां समागमः सङ्गतिः ॥७॥

समुपेयाय सम्प्राप। अयं साधारणो भगवान्न, किन्तु वेदसिद्ध एवेत्याशयेनाऽऽह - ईशान इति।अनेन श्रीहरिज्ञानमपि रुद्रप्रसादात्फलवत्स्यादित्युक्तं भवति। तत्कुत इत्यत्राह - ईश्वर इति। श्रोत्रादीन्द्रियवतां जीवानां शिवाधीनत्वेन तत्तदिन्द्रियसाध्यस्य ज्ञानस्याऽपि तत्प्रसादायत्तत्वं युक्तम् ॥८॥

**तयोरागमनं साक्षादीशयोर्जगदात्मनोः।**

**न वेद रुद्धधीवृत्तिरात्मानं विश्वमेव च ॥९॥**

---

1. W. omits द्वाभ्याम् 2 A "दशाव"

भगवांस्तदभिज्ञाय गिरिशो योगमायया ।
आविशत्तद्गुहाकाशं वायुश्छिद्रमिवेश्वरः ॥१०॥

आत्मन्यपि शिवं प्राप्तं तटित्पिङ्गजटाधरम् ।
त्र्यक्षमष्टभुजं प्रांशुमुद्यन्तमिव भास्करम् ॥११॥

व्याघ्रचर्माम्बरं शूलधनुरिष्वसि चर्मभिः ।
अक्षमालां डमरुकं कपालं परशुं सह ॥१२॥

बिभ्राणं सहसा भातं व्यचष्ट हृदि विस्मितः ।
किमिदं कुत एवेति समाधेर्विरतो मुनिः ॥१३॥

नेत्रे उन्मील्य ददृशे सगणं सोमयाऽऽगतम् ।
रुद्रं त्रिलोकैकगुरुं ननाम शिरसा मुनिः ॥१४॥

तस्मै सपर्यां व्यदधात् सगणाय सहोमया ।
स्वागतासनपाद्यार्घ्य गन्धस्रग्धूपदीपकैः ॥१५॥

आह चाऽऽत्मानुभावेन पूर्णकामस्य ते विभो !
करवाम किमीशान! येनेदं निर्वृतं जगत् ॥१६॥

**श्रीथ० तयोरिति**। रुद्धाः धियोऽन्तःकरणस्य वृत्तयो येन स ॥९,१०॥

**आत्मनीति**। न केवलं बहिरेव किन्तु आत्मन्यपि प्राप्तं शिवं विचक्ष्य विस्मित । कथं प्राप्तम्? सहसा अकस्मादेव हृदि भान्तम्। कथम्भूतम्? तटित्पिङ्गा जटा धारयतीति तथा तम्। त्रीण्यक्षाणि यस्य तम्। शूलादिभिः सहाऽक्षमालादीन् बिभ्राणमित्यन्वयः। अक्षमालादीनां द्वन्द्वैक्यम् ॥११,१२॥

**बिभ्राणमिति** विस्मयपूर्वकं बहिर्दर्शनमाह - किमिदमिति ॥१३॥

**नेत्रे** इति । सोमया उमया सहाऽऽगतम् रुद्रं ददृशे। ततो ननाम ॥१४,१५॥

**आहेति**। पूर्णकामत्वं व्यनक्ति। येन त्वया जगन्निर्वृतं भवतीति ॥१६॥

---

1 ABGHJV 'री' 2 HV अवि' 3 ABGJ MMa 'हि' 4 ABGJW व्यक्ष दशा' 5 M Ma शम्भु 6 ABGJ 'धर' 7- ' BG ' ''' ता
8- -8 ABGHJV 'माला डमरुक क' 9 ABGJ 'लामिधनु MMa 'न परशु 10 HV भान 11 ABGHJV विचक्ष्य 12 HV 'माधि वि
13 HV 'ममागतम् W ०मयान्वितम् 14 AHV 'णि 15 ABJ omit किन्तु 16 ABJ भातम् 17 ABJ नहि' 18 HV सोम उमया

**वीर० तयोरिति**। तयोश्शर्वशर्वाण्योर्गगमनमात्मानं देहं विश्वं च न वेद। मार्कण्डेय इति कर्तृपदाध्याहारः। अवेदने हेतुत्वेन मार्कण्डेयमेव विशिनष्टि रुद्धधीवृत्तिः रुद्धाः धीवृत्तयः अन्तःकरणवृत्तयः येन सः ॥९॥

ततो रुद्रः किञ्चकारेत्यत आह - **भगवानिति**। योगमायया भगवदुपासनप्रभवया परकायप्रवेशसामर्थ्यात्मिकया आश्चर्यशक्त्या तस्य मुनेर्गुहाकाशं हृदयाकाशमाविशत्, यथा वायुः छिद्रमाविशति तद्वत् ॥१०॥

**आत्मन्यपीति**। अपिः त्वर्थः। आत्मशब्दो हृदयपरः। निरुद्धधीवृत्तित्वात् बहिस्तु न वेद आत्मनि तु अचष्ट इति सम्बन्धः। कथम्भूतम् तटित इव पिङ्गा जटा धारयतीति तथा तम्। त्रीण्यक्षीणि यस्य, अष्टौ भुजा यस्य तम्। उद्यन्तं भास्करमिव स्थितं प्रांशुं प्रकृष्टरश्मिम् ॥११॥

व्याघ्रचर्मैवाम्बरं, शूलं च बाणखड्गखेटैश्च सह, धनुश्चाक्षमालादींश्च ॥१२॥

बिभ्राणं सहसा अकस्मादेव हृद्यवभातं स मुनिर्व्यचष्टेति सम्बन्धः। ततः किमिदं कुत एवेति विस्मितः समाधेरुपरतः ॥१३॥

**नेत्रे इति**। स मुनिरुमया भवान्या, अन्वितम्। सोमयेति सन्धिरार्षः, सगणं रुद्रं ददृशे शिरसा ननाम च ॥१४॥

**तस्मा** इति। स्वागतादिभिः सपर्यां व्यदधात् उकरोत्, स्वागतं कुशलागमनप्रश्नः ॥१५॥

**आह** चेति। उक्तिमेवाऽऽह - आत्मानुभावेनेत्यादिना। आत्मानुभावेन स्वप्रभावेन पूर्णाः समग्राः कामाः यस्य तस्य तव, हे ईशान! किं करवाम किमिष्टं करवाम, न किञ्चिदित्यर्थः। कर्तव्यमिष्टं हि सुखं, सर्वस्य जगतः सुखमापादयितुः किमस्माभिः कर्तव्यमस्तीत्याह - येनेदमिति। येन त्वयेदं जगन्निर्वृतं सुखितं पूर्ववत्, "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" (ब्र.सू.1-1-31) इति न्यायेन अन्तरात्मभूतपरमपुरुषदृष्ट्या पूर्णकामत्वजगदानन्दकरत्वे विवक्षिते एवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम् ॥१६॥

**विज०** तदा मुनिना किमकारीति तत्राऽऽह - **तयोरिति**। अहङ्काररूपेण जगदात्मनोरिति अज्ञाने किं कारणम्? अत्राऽऽह - **रुद्धधीवृत्तिरिति**। धीपूर्वकत्वादिन्द्रियवृत्तेस्तद्रोधे सर्वेन्द्रियरोधो युक्त इति रुद्धधीवृत्तिरित्युक्तम्। आत्मानं स्वं विश्वं पुरोवर्ति सर्वम् ॥९॥

योगमायया अणिमादियोगसामर्थ्येन छिद्रं रोमकूपादिसुषिरम् ॥१०॥

न केवलं बहिरेव आत्मनि स्वस्मिन्नपि ॥११॥

---

1- -1 W omits. 2- -2 W omits 3 W omits हृदयाकाशं 4 A B तडि°. 5 W °गम प्र° 6 W omits द्रष्टव्यम्।

इषुयुक्तं धनुश्च असिश्च चर्म च तानि तैर्युक्तं करे डमरुकं अणुतरं तन्तुपूर्वाढ्यं चर्म पिनद्धमुखं दारुवाद्यम् ॥१२॥

व्यचष्ट अपश्यत् ॥१३॥

सह उमया, सोमामविन्ददित्यादेः ॥१४,१५॥

पूर्णकामत्वं व्यनक्ति येन त्वया जगन्निर्वृतं भवति ॥१६॥

नमश्शिवाय शान्ताय सत्त्वाय प्रमृडाय च ।
रजोजुषेऽथ घोराय नमस्तुभ्यं तमो जुषे ॥१७॥

सूत उवाच

एवं स्तुत स्स भगवान् महादेवसतां गतिः ।
परितुष्टः प्रसन्नात्मा प्रहसंस्तमभाषत ॥१८॥

श्रीरुद्र उवाच

वरं वृणीष्व नः कामं वरदेशा वयं त्रयः ।
अमोघं दर्शनं येषां मर्त्यो यद्विन्दतेऽमृतम् ॥१९॥

ब्राह्मणा साधवश्शान्ता निस्सङ्गा भूतवत्सलाः ।
एकान्तभक्ता अस्मासु निर्वैरास्समदर्शिनः ॥२०॥

सलोका लोकपालास्तान् वन्दन्त्यर्चन्त्युपासते ।
अहञ्च भगवान् ब्रह्मा स्वयञ्च हरिरीश्वरः ॥२१॥

न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते ।
नाऽऽत्मनश्च जनस्याऽपि तद्युष्मान् वयमीमहि ॥२२॥

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवाश्चेतनोज्झिताः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन यूयं दर्शनमात्रतः ॥२३॥

ब्राह्मणेभ्यो नमस्यामो येऽस्मद्रूपं त्रयीमयम् ।
बिभ्रत्यात्मसमाधानतपःस्वाध्यायसंयमैः ॥२४॥

---

A. 3ति , B.G.J M.Ma 3व्य" , 2 B G J W आदि" , 3 A G J प्रशान्तात्मा , 4 A श्रीभव B G H J V श्रीभगवान् , MMa श्रीमहादेव , 5 H V ते मं ; W मत्कामं , 6 H.V भक्त्या ह्यस्मासु , 7 M.Ma दर्शना , 8 H V स्नकन्त्य" 9 H V परस्यापि , 10 A य" , 11- -11 M Ma "वा मृच्छिलामया , - -12 H V. दर्शनादेव साधवः , 13 BMMa "धान

**श्रीध०** निर्गुणत्वेन त्रिगुणत्वेन च नमस्करोति - **नम** इति। नम शिवाय निर्गुणाय। सत्त्वाय सत्त्वाधिष्ठात्रे। अत एव प्रमृडयति प्रकर्षेण सुखयतीति तथा तस्मै नमः ॥१७,१८॥

**वरमिति**। नोऽस्मत्तः। त्रयो ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः। यद्याभ्यः। ते वयम् ॥१९॥

वरदानादिना भवत्सेवैवास्माभिः क्रियते न त्वनुग्रहो जगद्वन्द्यत्वाद्भवतामिति ब्राह्मणान् स्तौति **ब्राह्मणा** इत्यादि। ये साधवः सदाचाराः शान्ताः मत्सरादिरहिताः। निर्मन्त्रा निष्कामाः ॥२०॥

**सलोका** इति। न केवलं त एव, किन्त्वहञ्चेत्यादि ॥२१॥

पूज्यतमत्वे हेत्वन्तरमाह - **नेति**। अण्वपि अणुमात्रमपि न चक्षते न पश्यन्ति, तत्तस्मादेवम्भूतान्युष्मान् ईमहि भजेमहि ॥२२,२३॥

**ब्राह्मणेभ्य** इति। ब्राह्मणेभ्यो ब्राह्मणान्। आत्मसमाधानं चित्तैकाग्र्यम्। तप आलोचनम्। स्वाध्यायोऽध्ययनम्। संयमो वागादिनियमः, तैः ॥२४॥

**वीर०** यतो न किञ्चित्करवाम, अतः केवलमञ्जलिमात्रं करवामेत्यभिप्रेत्य प्रणमति - **नम** इति। शिवाय लोकमङ्गलकराय शान्तायोर्मिषट्करहिताय प्रमृडाय प्रकर्षेण मृडयति सुखयतीति प्रमृडस्तस्मै। सत्त्वाय शुद्धसत्त्वमयशरीर-विष्णुरूपायेत्यर्थः। रजोजुषे ब्रह्मरूपाय, तमोजुषे प्रकृतरुद्ररूपाय अत एव घोराय घोररूपाय तुभ्यं नमस्करोमीत्यर्थः ॥१७॥

इत्थं मार्कण्डेयेन स्तुतो भगवान् भाषत इत्याह सूतः - **एवमिति**। प्रसन्नात्मा प्रसन्नचित्तः स भगवान् रुद्रः ॥१८॥

भाषण मेवाऽऽह - **वरमिति** सप्तभिः। मत् मत्तः (नोऽस्मभ्यं) कामं यथेष्टं वरं वृणीष्व यतो वयं त्रयः ब्रह्मविष्णुरुद्राः वरदेशाः वरदश्रेष्ठाः। न मे किञ्चिदपेक्षितमित्यत आह - अमोघमिति। येषां त्रयाणामस्माकं दर्शनममोघमव्यर्थम्, अतो यत्किञ्चित् वृणीष्वेति भावः। तर्हि अमृतत्वं दातुं प्रभवसि किमित्यत्राऽऽह - मर्त्यो यद्विन्दतेऽमृतमिति। यत् येभ्यस्त्रिभ्यः अमृतं मोक्षं विन्दते सद्वारकाद्वारकेभ्यासनाभ्यामिति भावः। साक्षाच्छ्रीभगवदुपासकस्याऽपि ब्रह्मरुद्रयोः श्रीभगवद्विभूतित्वानुसन्धा - नस्याऽऽवश्यकत्वात् ॥१९॥

यथा मुनिः शास्त्रदृष्ट्या आत्मानं तुष्टाव तथा स्वयमपि तद्दृष्ट्या ब्राह्मणान् स्तौति - **ब्राह्मणा** इति द्वाभ्याम्। ये साधवः " साधुत्वादि गुणयुक्ताः ब्राह्मणास्तान् सलोका लोकपाला इन्द्रादयः वन्दन्त्यर्चन्त्युपासते इति सम्बन्धः।

---

1 H V सगुण, 2. A.B.J omits प्रकर्षेण, 3. ABJ omit नमः, 4- -4 H V omit, 5 A B J भजेम, 6- -6 W omits, 7- -7 W omits, 8- -8 W omits, 9 W omits सप्तभिः, 10 W त्र, 11 A B "कोपास", 12 A.B "सन", 13- -13 W इत्यादि, 14 A B omit साधवः।, 15- -15 W omits, 16 W omits इन्द्रादयः

साधुलक्षणविवक्षया ब्राह्मणान् विशिनष्टि - शान्ताः रागावद्यकलुषितचित्ताः निस्सङ्गाः विषयसङ्गरहिताः। एकान्तभक्ता इत्यस्य भगवतीत्यादि[1] ज्ञेयम्[1] अस्मासु रुद्रादिषु निर्वैराः। श्रीभगवद्विभूतित्वानुसन्धानेन वैररहिताः। कुतः[2]? भूतवत्सलाः सर्वभूतेषु वात्सल्य युक्ताः[2], किं बहुना, समदर्शनाः कृत्स्नस्यापि जगतो भगवद्विभूतित्वानुसन्धानेन समबुद्धयः ॥२०॥

सलोकाः देवमनुष्यादिजनसहिताः लोकपालाः इन्द्रादयः किं बहुना वर्णनेनेत्याऽऽह[3] - अहमिति। वयमपि त्रयो रुद्रादयः[4] तान् वन्दामहे अर्चयामहे उपास्महे चेत्यर्थः ॥२१॥

तत्र हेतुमाह - नैते इति। एते साधवो ब्राह्मणाः। न ते इति पाठे ते ब्राह्मणाः अजे अच्युते मयि चाच्युते चेत्यन्वयः। ब्रह्मशरीरके मच्छरीरके चाऽच्युते इत्यर्थः। अण्वपि ईषदपि यथातथा भिदां भेदं न चक्षते न पश्यन्ति। अजं माञ्च अच्युतातृथ क्सिद्धं न पश्यन्तीति विवक्षितार्थः 'स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः[5]" (नृ.पू.ता.3-1)इत्यादि श्रुत्या श्रीभगवतो ब्रह्मादिशरीरकत्वेन शरीरात्मभावनिबन्धने सामानाधिकरण्यावगमात् परतन्त्रभेदस्याऽनिषेध्यत्वात् स्वतन्त्रभेददर्शनमेवाऽत्र निषिध्यते। इममर्थं स्वयमेव स्फुटीकुर्वन्नाऽऽह - नेति। आत्मनः स्वस्य जनस्य स्वेतरजनस्य चाऽपि अच्युते भिदां न चक्षते इत्यन्वय[6]। आत्मजन शब्दाभ्याम् अचित्संसृष्टजीवा उच्यन्ते। न हि तैस्सह ब्रह्मणः स्वरूपाभेदोऽभेदवादिनोऽपि सम्मत। अचिदंशेन तादात्म्यस्य तन्मतेऽप्यनिष्टत्वात् न हि जनशब्दः चेतनमात्रे[7] स्वारसिकः, येन तत्स्वरूपाभेदः सिध्येत। अतोऽत्राऽचिदंशेन यादृशो भेदनिषेधः स्वातन्त्र्यविषयः तादृश एव चिदंशेनाऽपीति दिक्। यतो भिदां च न चक्षते, तत् तस्माद्वयमपि युष्मान् ईमहि भजाम। तत्र सलोका लोकपाला अहं ब्रह्मा चेति वयं भगवद्विशेषाधिष्ठानत्वबुद्ध्या युष्मान् भजाम। अच्युतस्तु "ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्" (भ.गी.7-18) इति। "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तां स्तथैव भजाम्यहम्[8]" (भ.गी. 4-11) इत्युक्त्यभिसन्धिविशेषेण भजतीति विशेष इति भावः ॥२२॥

तद्दर्शनेन आत्मनः कृतज्ञतामभिप्रेत्य स्तौति - न हीति। अम्मयानि[9] जलमयानि तीर्थानि न दर्शनमात्रत पुनन्ति। किन्तु चिरं स्नानादिभिस्तानि पुनन्ति। तथा मृच्छिलामया देवताप्रतिकृतयश्च न दर्शनमात्रत पुनन्ति, किन्तु[10] चिरम् आवाहनादिषोडशो-पचारपूजादिभिरिति भावः। यूयं[11] तु दर्शन मात्रादेव पुनीथ[12] इति विशिष्टास्तीर्थादिभ्यो यूयमिति भावः ॥२३॥

यथा तेन "नमश्शिवाय" इत्यादिना नमस्कृतं तथा स्वयमेव प्रणमति ब्राह्मणेभ्य इति। नमस्यामो नमस्कुर्मः। तान्विशिनष्टि ये ब्राह्मणाः त्रयीमयं[13] वेदमयं वेदत्रयीप्रचुरमात्मसमाध्यादिभिः[14] सहितं रूपं बिभ्रति, स्मेति विस्मये ॥२४॥

---

1--1 W इत्यादिः, 2--2 W omits. 3 W omist वर्णनेन 4 W omits रुद्रादय 5 A B omit भव 6 A B 'रम्य 7 A B omit मात्रे. 8 A B "कत्व", 9 W omits अलमयानि. 10 A B omit किन्तु. 11 A B omit तु 12--12 W omits 13 A B omit वेदमय 14 W omits त्रयी

**विज०** सत्त्वाय पराक्रमयुक्ताय सद्ब्रह्म शरणं याति गच्छन्तीति सत्त्वः तस्मै वा। प्रमृडाय प्रकृष्टपालाय तत्तद्वस्तुयोग्यतानुसारेण रक्षाद्यर्थं सत्त्वादिगुणप्रवर्तकत्वात् सत्त्वाय रजोजुषे इत्युक्तम् ॥१७,१८॥

त्रयो ब्रह्मादयो येषां त्रयाणां दर्शनममोघं तद्धेतुमाह मर्त्य इति। मर्त्योऽमृतं मुक्तिं विन्दते, यत् यस्माद्दर्शनात् येभ्योऽमृतं वा ॥१९॥

**ब्राह्मणभक्तिं दर्शयति - ब्राह्मणा इति।** ब्राह्मणा ब्रह्मवादैकनिष्ठाः साधवो रागादिदोषविधुराः शान्ताः भगवन्निष्ठापारङ्गताः अत एव निस्सङ्गाः दुष्टसङ्गरहिताः अत एव भूतेषु सज्जनेषु वत्सलाः स्निग्धा एकान्तेन विष्णुरेव सर्वोत्तमो नाऽन्य इति निर्णयेन अस्मासु भक्ताः योग्यतातिरेकेण वैरशून्याः समं ब्रह्म, तद्दर्शनं येषां ते तथा ॥२०॥

य एवंविधान् तान्वदन्ति स्तुवन्तीत्यादिसपर्या कुर्वन्त इत्यर्थः। अहं ब्रह्मा च हरेः पृथक् स्वतन्त्रौ न तदधीना वेव, तत्र हेतुरीश्वर इति। ईर्लक्ष्मीः शंरूपः शतानन्दः तयोर्वर, ईशादीशानाच्च वर इति यस्मात्तस्मात् द्वयोर्वर इत्युक्तम्। यूयं के इत्यतो वाऽऽह - अहमिति। स्वय मित्यनेन हरेरेव स्वातन्त्र्यं नाऽऽवयोः, आवां तदधीना विति स्पष्टमुक्तम्। अत्राऽप्ययमेव हेतुरीश्वर इति। 'ईश ऐश्वर्ये' इति धातोः अनुपहतैश्वर्यमूर्तित्वादीश्वर इत्युच्यते ॥२१॥

इतोऽपि ब्राह्मणा एव पूज्या, यत एवं विधं तत्त्वं त एव जानन्तीत्याह - **न ते** इति। ते ब्राह्मणा मयि स्थितत्वान्मयीत्युच्यमाने हरावजे च स्थितत्वात् अंशशब्दवाच्ये च पृथक् स्थिते अच्युते च भिदामपि परमाणुमात्रमपि न चक्षते न पश्यन्ति। किं च जनस्य जननवतः स्थावरजङ्गमरूपस्य प्रपञ्चस्य आत्मनोऽन्तर्यामिणश्च भिदां न पश्यन्ति। अपिशब्देन "एको देवः" इति श्रुति प्रमाणयन्ति। तत् तस्मात् वयं युष्मानखिलैः पूज्यान् ईमहि बुध्यामहे। यद्वा मयि भिदामन्यथाज्ञानं विष्णुरय मिति किञ्चित्साम्येनाऽपि न पश्यन्ति, अपि तु ततो विलक्षणत्वेन तत्कटाक्षाहितशक्तित्वेन जगत्संहर्तृत्वेन ततोऽनन्तांशहीनत्वेनैव मनत्त्वं पश्यन्ति चतुर्मुखे यथास्थितं पश्यन्ति। अच्युते च तथा यथाश्रुतिविहितमात्मनश्चेतनसमुदायस्य जन्यते इति जनो देह स्तदादिजडस्याऽपि तत्त्वं यथा तथा अन्यथा न पश्यन्ति ॥२२॥

सर्वस्माच्छुद्धि हेतुत्वाच्च ब्राह्मणा एव पूज्या इत्याऽऽह - **न हीति** ॥२३॥

अस्माभिश्च सम्भाव्यत्वात् विप्रा एव श्रेयांस इत्याह **ब्राह्मणेभ्य** इति। त्रयीमयं वेदमुख्यप्रतिपाद्यं आत्मनि सम्यगाधानमवस्थानं सन्निधानलक्षणं यस्य तत्तथा। तप आलोचनम्। स्वाध्यायोऽध्ययनं, संयमो वागादिनियमः तैर्बिभ्रति "आचार हीनं न पुनन्ति वेदाः (वसिष्ठ स्मृतिः6-3) इत्यतस्तप इत्यादि ॥२४॥

---

1 M Ma तव

श्रवणाद्दर्शनाद्वापि महापातकिनोऽपि वः।
शुध्येरन्नन्त्यजाश्चाऽपि किमु सम्भाषणादिभिः ॥२५॥

सूत उवाच

इति चन्द्रललामस्य धर्मगुह्योपबृंहितम्।
वचोऽमृतायनमृषिर्नातृप्यत् कर्णयोः पिबन् ॥२६॥

स चिरं मायया विष्णोर्भ्रामितः कर्शितो भृशम्।
शिववागमृतध्वस्तक्लेशपुञ्जस्तमब्रवीत् ॥२७॥

ऋषि रुवाच

अहो ईश्वरचर्येयं दुर्विभाव्या शरीरिणाम्।
यन्नमन्तीशितव्यानि स्तुवन्ति जगदीश्वराः ॥२८॥

धर्मं ग्राहयितुं प्रायः प्रवक्तारश्च देहिनाम्।
आचरन्त्यनुमोदन्ते क्रियमाणं स्तुवन्ति च ॥२९॥

नैतावता भगवतः स्वमायामयवृत्तिभिः।
न दुष्येतानुभावैस्तैर्मायिनः कुहकैर्यथा ॥३०॥

सृष्ट्वेदं मनसा विश्वमात्मनाऽनुप्रविश्य यः।
गुणैः कुर्वद्भिराभाति कर्तेव स्वप्नदृग्यथा ॥३१॥

तस्मै नमो भगवते त्रिगुणाय महात्मने।
केवलायाऽद्वितीयाय गुरवे ब्रह्ममूर्तये ॥३२॥

श्रीध० किञ्च - श्रवणादित्यादि ॥२५॥

इतीति। चन्द्रो ललामं भूषणं यस्य तस्य धर्मरहस्ययुक्तममृतास्पदं वचः कर्णाभ्यां पिबन्नाऽऽतृप्यत् अलमिति नाऽमन्यत। कर्णयोरमृतायनमिति वाऽन्वयः ॥२६॥

स इति। शिवस्य वागेवाऽमृतं तेन ध्वस्तः क्लेशपुञ्जो यस्य सः ॥२७॥

---

1--1. W. दर्शनाच्चापि, 2. H.V. वे।, W वा।, 3 W "गुप्तोप", 4 H V मार्कण्डेय उवाच, 5 A.B.G.J लीलेव, 6 A तै।, 7 M.Ma प्र", 8 M.Ma क्वस्ते, 9. A.B.G.H.J V कुहकं वचा, 10 MMa "वं स्वात्म", 11 W कतृवत्स्व", 12 A B G J M Ma गुणा", 13 A.B.J "लामो

**अहो इति**। इयं ईश्वरलीला[1] दुर्विभाव्याऽवितर्क्या। यत् यया ईशितव्यानि स्वनियम्यानि[2] यानि भूतानि तानि जगदीश्वराः स्वयं नमन्ति स्तुवन्ति चेति ॥२८॥

अथवा लोकसङ्ग्रहमात्रमेतदित्याह - **धर्ममिति**। प्रवक्तारोऽपि यत्स्वयं[4] देहिनां धर्मं[5] ग्राहयितुं आचरन्ति ॥२९॥

नन्वेतत्स्वप्रभावतिरस्कारकं कथं मया क्रियते? तत्राऽऽह - **नैतावतेति**। एतावता लोकसङ्ग्रहमात्रेण तैर्नमनादिभिः, कथम्भूतैः, स्वमायामयीवृत्तिर्येषु तैर्भगवतो मायिन स्तवाऽनुभावो न दुष्येत, यतः प्रसिद्धस्य मायिनः कुहकं[6] कपटं यथा तथा एतानि नमनादीनि। अतस्तस्य तथा कुहकैरात्मानुभावो न दुष्यति[7], तद्वदिति[8]। प्रदुष्येताऽनुभाव इति[9] पाठे नकारस्य वृष्टान्तेऽप्यनुषङ्गः[10] ॥३०॥

माया चेष्टितं प्रपञ्चयति **सृष्ट्वेति**। स्वप्नदृग्यथेति अविद्याचेष्टिते दृष्टान्तः ॥३१॥

**तस्मै** इति। त्रिगुणत्वेऽपि न जीववत्तदभिभूताय, किन्तु महात्मने[11] गुणात्मने[12] इति पाठे गुणानामात्मने नियन्त्रे ॥३२॥

**वीर०** येषाञ्च दर्शनश्रवणात् दर्शनात् श्रवणाच्च। महापातकिनोऽन्त्यजाश्च विशुध्येरन् सम्भाषणादिभिः विशुध्येरन् इति किमु वक्तव्यम्। तेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो नमस्याम इति सम्बन्धः ॥२५॥

**इतीति**। चन्द्रो ललामं भूषणं यस्य तस्य रुद्रस्य इत्थम्भूतं धर्मगुप्तोपबृंहितं[13] सत्सेवात्मकधर्मरहस्ययुक्तं कर्णयोरमृताय मानं वचः पिबन्नाऽतृप्यत्, कर्णाभ्यां पिबन्वा ॥२६॥

**स इति**। स मुनिः विष्णोर्मायया आश्चर्यशक्त्या चिरं भ्रामितः अत एव नितरां कर्शितश्च। शिवस्य वागेव अमृतं तेन ध्वस्तः क्लेशपुञ्जः भ्रमणप्रयुक्तक्लेशसमुदायो यस्य सः, तं शिवं इदं वक्ष्यमाणमब्रवीत् ॥२७॥

तदेवाऽऽह - **अहो इति**। यदुक्तं "वरं वृणीष्व" (भाग.12-10-19) "अमोघं दर्शनं येषां" (भाग.12-10-19) इति। तत्र तद्बहुमानाय किञ्चित्प्रार्थयितु मिच्छुः तावद्यथोक्तं - "ब्राह्मणास्साधवः" (भाग.12-10-20) इत्यादिना, तथा "परस्परं भावयन्तः श्रेयःपर मवाप्स्यथ" (भ.गी.3-11) इत्युक्तरीत्या स्वयमप्याह- अहो इति पञ्चभिः। इयमीश्वराणामीश्वरविभूतिभूतानां चर्या चेष्टा शरीरिणां दुर्विभाव्या दुर्विज्ञेया अभिप्रायाः[14]। दुर्विभाव्यतामेव प्रकटयति। यत् यतः स्वयं जगदीश्वराः ज गत्युत्कृष्टा[15] अपि ईशितव्यानि अपकृष्टानि भूतानि नमन्ति स्तुवन्ति चेति आत्मनो नैच्यमनुसंहितम्। इत्थम्भूतैव हि भागवतानां परिपाटी ॥२८॥

---

1. A.B.J omit ईश्वर, 2. H.V. omit स्व, 3. H.V. "हार्थमे", 4. H.V. omit यत्, 5. H.V. omit ग्राहयितुं, 6. H.V. omit तथा, 7. H.V. कुहकेन, 8. H.V. दुष्येत, 9. A.B.J omit इति; 10. H.V. "नानुषङ्गः; 11. A.B.J omit महात्मने, 12. A.B.J omit इति पाठे, 13. A.B. गुह्योप; 14. A.B. omit अभिप्रायाः; 15. A.B. "गत्प्रकृ"

कस्तर्हीशितव्यप्रणामादावभिप्राय इति विचार्य निश्चिन्वन् आह - धर्मानिति । देहिनां प्रवक्तारः धर्मोपदेष्टारोऽपि धर्मान् ग्राहयितुं[2] स्वयं[3] प्रायशोऽनुतिष्ठन्ति क्रियमाणधर्मं तत्कर्तारं वाऽनुमोदन्ते अभिनन्दन्ति स्तुवन्ति, अभिनन्दनं सन्तोषः[4] ॥२९॥

**नैतावतेति**। यद्यप्येवम् अथाऽप्येतावता आचारानुमोदनस्तुतिमात्रेण तैरीशितव्यप्रणाम स्तुत्यादिभिश्च, कथम्भूतैः? भगवतः पूज्यस्य स्वमायामयीवृत्तिराश्चर्यमयी चेष्टा येषु तैः। प्रभावो न दुष्येत न विहन्येत यथा मायिनः लोकप्रसिद्धमायाविनः कुहकै श्छद्मव्यापारैः तस्य प्रभावो न दुष्येत[4] न विहन्येत[4], प्रत्युत स्वमायाविश्वरूपप्रभावाविष्कारः, तद्वत् ॥३०॥

शास्त्रदृष्ट्या भगवदात्मकत्वं मन्वानः सर्वकारणत्वादिभिर्विशिषन्प्रणमति - **सृष्ट्वेति** द्वाभ्याम्। यो मनसा सङ्कल्पमात्रेणेदं जगत् सृष्ट्वा आत्मना स्वेन अन्तःप्रविश्य कुर्वद्भिः पूर्वकर्मवासनानुगुणपरिणामिभिरुत्तरोत्तरपुण्य पुण्यात्मकविषमसृष्टिं कुर्वद्भिर्गुणैःस्वयं कर्तेवाऽऽभाति। इवशब्देन परमार्थतः पुण्यापुण्यात्मककर्मकर्तृत्वाभाव परमात्मन सूच्यत, जीवस्यैव तत्र कर्तृत्वात्। अकर्तुरपि कर्तृत्वाभासे दृष्टान्तः स्वप्नदृग्यथेति। न हि स्वप्नार्थसृष्टिकर्ता स्वप्नं दर्शयितुं तत्कर्मानुगुण तत्तदेवानुभाव्यतत्कालमात्रावस्थायिस्वाप्नप्रपञ्चस्रष्टा परमपुरुषं[5] "न तत्र रथा नारथयोगा" इत्यारभ्य "सृजते सहि कर्तेति" (बृह उ. 4-3-10) "य एषु सुप्तेषु जागर्ति कामं पुरुषो निर्मिमाण स्तद् ब्रह्म" इति च श्रवणात् यथा स्वप्नार्थसृष्टेः परमात्मकर्तृकत्वेऽपि तदनभिज्ञानां तस्या जीवकर्तृकत्वाभिमानः तथा पुण्यापुण्यकर्तृत्वादेर्जीवगतत्वमजानतां ब्रह्मण एव जीवभावेन तत्कर्तृत्वाभिमानमात्रमिति विवक्षितार्थः ॥३१॥

**तस्मै** इति। त्रिगुणाय त्रैगुण्यनियन्त्रे महात्मने अप्रतिहतसङ्कल्पाय केवलाय निरस्तनिखिलदोषायाऽद्वितीयाय स्वतुल्य वस्त्वन्तररहिताय ब्रह्ममूर्तये वेदनिर्वाहकाय रूपतोऽपि विभवे वा ॥३२॥

**विज०** न केवलं दर्शनाच्छुद्धिः, अपि तु श्रवणादपीति समुचितत्वा दाह - **श्रवणादिति**। तर्ह्यधिकशुद्धिः कस्मा दिति तत्राऽऽह - किम्विति। आदिपदेन नामस्मरणं गृह्यते ॥२५॥

चन्द्रललामस्य चन्द्रशेखरस्य धर्मगुह्योपबृंहितं धर्मरहस्यगूढं अमृतायनममृतद्वर्तमानं कर्णयोर्हितम् ॥२६॥

भ्रामितः समाधे स्सञ्चालितः, अत एव कर्शितः अनेन संयमिनां समाधेरन्यत्सुखं नाऽस्तीति ज्ञापितम् ॥२७॥

इयं वाग्लक्षणा चेष्टा ईशितव्यानि भवद्भिर्नियम्यानि ब्रह्मकुलानि स्तुवन्ति, यद्यस्मात्तस्मात् ॥२८॥

मुनिस्स्वयमेव स्तवनादेरभिप्रायं वक्ति - **धर्मानिति**। न केवलं देहिनां धर्मस्य प्रवक्तारः आचरन्ति च आचरतोऽनुमो दन्ते क्रियमाणं धर्मं स्तुवन्ति च ॥२९॥

1 A "शिष्टम्, 2 A.B omit स्वयं, 3- -3 W omits, 4- -4 W omits, 5 AB "चरूप

ननु विध्यादिवर्जितानां भवतां धर्माचरणादिना तेजःक्षतिः स्यादित्यत्राऽऽह - **नेति**। "वृत्तिस्तु ग्रन्थसन्दर्भे" इति वचनात् स्वमायामयवृत्तिभिः स्वेच्छया कृता वृत्तिर्येषां ते तथा तैः मन्त्रादिभिर्विवृतेन एतावता कर्मणा भगवतोऽनुभावः प्रभावो न प्रदुष्येत प्रदुष्टो न भवति, कुहकैरिन्द्रजालव्यापारैः मायिनोऽनुभावः निश्चयो यथा तथेति ॥३०॥

प्रकारान्तरेण दोषाभावं वक्ति **सृष्ट्वेति**। यो भगवान् मनसा स्वेच्छया इदं विश्वं सृष्ट्वा अन्तर्यामिरूपेण अन्तःप्रविश्य दर्शनादि कुर्वद्भि र्गुणैः इन्द्रियैः अहङ्कर्तेति निरूप्य जीव इव आभातीत्येतावता जीववत् दुष्टो न भवति। कथमिव स्वप्नदृक् भगवदिच्छया उद्बोधितमानसवासनया करितुरागादिपदार्थान् सृष्ट्वा यथा तद्वदेव लिप्तो न भवति ॥३१॥

तस्मै भगवते नम इत्यन्वयः। त्रयस्सन्वादयो गुणा यस्य स तथा तस्मै गुणित्वं दोषत्वेन व्याप्तं दृष्टत्वादत्राऽऽह - केवलायेति। निर्दोषाय, निर्दोषत्वं मुक्तस्या प्यस्तीति तत्राऽऽह - अद्वितीयायेति। मुक्तनिर्दोषत्वं हरिप्रसादायत्तं न हरेस्तथा तस्य समाधिकशून्यत्वात्, कथमयमर्थः सम्पद्यते इत्यत्राऽऽह - गुरव इति। ब्रह्मादीनां स्वात्मरहस्योपदेष्टृत्वेन गुरुत्वात्तेषां सिद्धः इत्यर्थः। निराकारस्योपदेष्टृत्वं कथं घटत इति तत्राऽऽह - ब्रह्मेति। ज्ञानादिगुणाकाराय बृहन्तो ह्यस्मिन् गुणा इति श्रुता वस्मि न्निति वचनादाकारः सिद्ध इति ॥३२॥

**कं वृणेऽतः परं भूमन् वरं त्वद्वरदर्शनात्।**
**यद्दर्शनात्पूर्णकामः सत्यकामः पुमान्भवेत् ॥३३॥**

**वरमेतं वृणेऽथाऽपि पूर्णकामाभिवर्षणात्।**
**भगवत्यच्युते भक्तिं तत्परेषु तथा त्वयि ॥३४॥**

**सूत उवाच**

**इत्यर्थितोऽभिष्टुतश्च मुनिना सूक्तया गिरा।**
**तमाह भगवाञ्छर्वः शर्वया चाऽभिनन्दितः ॥३५॥**

**(श्रीरुद्र उवाच)**

**कामो महर्षे सर्वोऽयं भक्तिमांस्त्वमधोक्षजे।**
**आ कल्पान्ताद्यशः पुण्यमजरामरता तथा ॥३६॥**

---

1 A.B.G.H.J.V नु, 2 H.V वरं ब्रह्मन्, 3 H.V पर, 4 W दर्शनात्, 5 W यदीशान "", 6 A.B.J.G.H.J.V वरमेकं, 7 A.B.G.J पूर्णात्का", 8 W वर्षुकात् ; 9 A.B.G.J.W "च्चु, 10 H.V वधा, 11 A.B.G.J.W इत्यर्थि", 12 H.V शर्वाण्या चा, 13--13 H.V कामस्सर्वो महर्षेर्वो, MMa कामस्ते महर्षे सत्वो, W कामं तेऽयं महर्षेऽस्तु, 14 H.V कल्प ते यशः, MMa कल्पान्त यश

ज्ञानं त्रैकालिकं ब्रह्मन् विज्ञानञ्च विरक्तिमत्।
ब्रह्मवर्चस्विनो[1] भूयात् पुराणाचार्य[2]तास्तु ते ॥३७॥

**श्रीध०** वरं वृणीष्वेति यदुक्तं तत्राऽह - **कमिति**। वरं दर्शनं यस्य तस्मात् त्वत्[3] त्वत्तः परं कं नु वरं वृणे। यस्य तव दर्शनाद्[4]वलोकनात् पूर्णकामः सर्वानन्दसन्दोहरूपः सत्यकामो यथेच्छं प्राप्तसर्वानन्दः ॥३३,३४॥

**इतीति**। वरदानाय स्वयमेव प्रवृत्तः शर्वया[5] उमया चाऽभिनन्दितोऽनुमोदितस्सन्नाऽऽह ॥३५॥

**काम** इति। कामोऽयं सर्वोऽप्यन्यच्च यत्पुण्यं[6] यश इत्यादि ब्रह्मवचस्विनस्ते भूया दित्युत्तरेणाऽन्वयः। यतस्त्व[7] मधोक्षजे भक्तिमान् ॥३६,३७॥

**वीर०** यदुक्तं वरं वृणीष्वेति तत्रोत्तरमाह - **कमिति**। हे भूमन्! वरदर्षभात् त्वत्[8] त्वत्तः अतः परमन्यं कं वरं वृणे वरिष्यमाणं वरं बुद्ध्या सन्निधाप्यत इति निर्देशः कृतः। वरदर्शनादिति पाठे वरं श्रेष्ठं दर्शनं यस्य तस्मात्त्वत्तः।अतश्शब्दविवक्षितं विशिनष्टि यदीशानः पूर्णकाम इति। यत् यतः पुमान् ईशानः ईश्वरः स्वतन्त्रः अकर्मवश्य इति यावत्, पूर्णकामः सत्यकामश्च भवेत् तस्मादत इति सम्बन्धः ॥३३॥

यद्यप्यतःपरो वरणीयो वरो नाऽस्ति, तथाऽपि पूर्णकामाभिवर्षुकात् त्वत्त एतं वरं वृणे। एनादेशाभावः आर्षः। कोऽसौ? भगवत्यच्युते तत्परेषु तद्भक्तेषु - तथा त्वयि च भक्तिमित्येतं वरमिति सम्बन्धः। तत्परेष्वित्यनेन गतार्थत्वेऽपि पुन स्त्वयीत्युक्तिः तत्प्राधान्यविवक्षया। गोबलीवर्दन्यायात्तत्र भगवद्भक्तेषु भक्तिर्नाम भगवद्विभूतित्वानुसन्धानात्मिका ॥३४॥

**इतीति**। सूक्तया मधुरया शर्वया शर्वाण्या अभिनन्दितस्तं मुनि माह ॥३५॥

उक्ति मेवाऽऽह द्वाभ्यां **काममिति**। विभौ भगवति कामं नितरां श्रोतृणां पुण्यावहं यशः ॥३६॥

त्रैकालिकं भूतादिकालत्रयगोचरवस्तुज्ञानं, ब्रह्मविज्ञानं ब्रह्मस्वरूपरूपादिगोचरं विज्ञानं, विरक्तिमत् विरक्तियुक्तम् ॥३७॥

**विज०** यत एवं निरूप्यमाणे हरेरधिकस्समो वा नाऽस्ति सर्वप्रेष्ठश्च अत स्तद्भक्तिमन्तरेण त्वत्परमन्यं कं वरं वृणे वरं वरेण्यं दर्शनं ज्ञानं यस्य स तथा तस्मादेतदेवाऽऽह यद्दर्शनात् येनोपदिष्टज्ञानाद्वा पुमान् पूर्णकामः स्यात् अत एव सत्यकामश्च ॥३३॥

---

1. Mills 'ता, 2. A 'ता च ते।, 3. A.B.J omit त्वत्, 4. H V omit अवलोकनात्, 5. H V शर्वाण्या, 6. H V omit यत्, 7. H V यस्त्वं, 8. A.B. omit त्वत्

मद्दर्शनात्पूर्णकामत्वे वरं वृणीष्वेति मद्वचनं व्यर्थमभूदिति मा शङ्कीत्याह - **वरमिति**। यद्यपि वरो न प्रार्थनीयः तथाऽपि त्वद्वचनसाफल्यायैतं वरं वृणे, पूर्णकामाभिवर्षणादिति शेषः। कोऽसौ वर इति तत्राऽऽह -भगवतीति। तत्परेषु तद्भक्तश्रेष्ठे त्वयि च ॥३४॥

शर्वया पार्वत्या सह ॥३५॥

त्वम् अधोक्षजे भक्तिमान् भूया इति शेषः। आकल्पान्तं पुण्यम् यशोऽजरामरता[1] च भूयात्तवेति शेषः ॥३६॥

किञ्च। वरान्तरश्च स्या दित्याह - **ज्ञानमिति** ॥३७॥

**सूत उवाच**

**एवं वरान् स मुनये दत्त्वाऽगात्त्र्यक्ष ईश्वरः।**
**देव्यैतत्कर्म कथयन्ननुभूतं पुराऽमुना ॥३८॥**

**सोऽप्यवाप्तमहायोगमहिमा भार्गवोत्तमः।**
**विचरत्यधुनाऽप्यद्धा हरावेकान्ततां गतः ॥३९॥**

**अनुवर्णितमेतत्ते मार्कण्डेयस्य धीमतः।**
**अनुभूतं भगवतो मायावैभवमद्भुतम् ॥४०॥**

**एतत्केचि दविद्वांसो माया[2]संसृति[3] मात्मनः।**
**अनाद्यावर्तितं[4] नृणां कादाचित्कं प्रचक्षते ॥४१॥**

**य एवमेत द्भृगुवर्य[5]वर्णितं रथाङ्गपाणेरनुभावभावितम्।**
**संश्रावयेत्संशृणुयादुतोभयोस्तयोर्न कर्माशयसंसृतिर्भवेत् ॥४२॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
द्वादशस्कन्धे दशमोऽध्यायः ॥१०॥

**श्रीध० एवमिति**। तस्य कर्म तप आदि। अमुना पुराऽनुभूतं यद्भगवन्मायावैभवं तच्च कथयन् ॥३८॥

**स इति**। अवाप्तो महायोगमहिमा येन सः ॥३९॥

**अनुवर्णितमिति**। एतन्मार्कण्डेयस्य चरितं तेनाऽनुभूतञ्च भगवन्मायावैभवं तेऽनुवर्णितम्[7] ॥४०॥

---

1. M.Ma 'रणता'; 2. M.Ma प्रवृति, 3. H V रात्मनः, 4. M.Ma वर्तिनं, 5. H V वर्तितं, 6. A B G J W दु तावुभौ तयोर्न, 7. H V omit ते

नन्वेवमपि अस्मत्कुलोत्पन्नस्याऽस्य[1] सप्तकल्पायुष्टं वृद्धैरुच्यमानं विरुद्धमेव तत्राऽऽह - **एतदिति**।एतन्मार्कण्डे - येनाऽनुभूतं भगवन्मायावैभवं नानाकल्परूपं कादाचित्कमीश्वरेच्छया तस्यैवाऽऽकस्मिकं न तु सर्वसाधारणम्। एतत्केचि दनादि बहुकालमावर्तितं दैवयुगसहस्रद्वयमानेन पुनः पुनः परिवर्तितं प्रचक्षते। के ते? नृणां संसृति[2] सर्गप्रलयादि[3] लक्षणां आत्मनो भगवतो मायेत्येव मविद्वांसः। विद्वांसस्तु मायाशिशोः श्वासोच्छ्वासाभ्यां सप्तकृत्वस्तदुदरप्रवेशनिर्गमनतः[4] सप्तकल्पत्व[5] लक्षणमात्रमेवेति वदन्ति, अतो न विरोध इत्यर्थः ॥४१॥

**य इति**। भृगुवर्यस्य[6] वर्तितं वृत्तं[6] इत्यर्थः।यः[7] संशृणुयात्[7]। उ इति हर्षे[8] संश्रावयेद्वा[8]। यौ तावुभौ[9] तयोः[9] कर्म वासनाकृता संसृति र्न[9] भवेदिति ॥४२॥

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां दशमोऽध्यायः ॥१०॥

**वीर० एवमिति**। सः त्र्यक्षस्त्रिलोचन ईश्वरः रुद्रः मुनये[10] मार्कण्डेयाय[10] वरान्दत्वाऽमुना मुनिना यत्पुरा अनुभूतं तत्कर्म भगवन्मायाप्रदर्शनात्मकं कर्म देव्यै शर्वाण्यै कथयन् अगात् जगाम ॥३८॥

**सोऽपीति**। भार्गवोत्तमो मार्कण्डेयः अवाप्तः महायोगवैभवो येन सः हरौ भगवति एकान्तितामनन्यप्रयोजनभक्तिम्[a] गतः अधुनाऽपि चरति। अद्धा स्फुटं, नाऽत्र संशयः इति भावः ॥३९॥

उपसंहरति. **अनुवर्णितमिति**। यन्मार्कण्डेयस्य तेनाऽनुभूतमद्भुतं भगवतो मायाया आश्चर्यशक्ते र्वैभवं, तत्ते तुभ्य मनुवर्णितम् ॥४०॥

प्रसङ्गान्मार्कण्डेयस्य कादाचित्क मायावैभवदर्शनवज्जीवस्याऽपि संसारः पूर्वमविद्यमान एव कदाचित् श्रीभगवन्मायया भवतीति केषाञ्चिन्मतं प्रतिक्षिपति - **एतदिति**। केचिदविद्वांसः संसारानादित्वानभिज्ञाः नृणां जीवाना मात्मनो भगवतो मायया संसृति कादाचित्कं यथा तथा प्रचक्षते इत्यनुवादः, तद्दर्शयति एतदनाद्यावर्तितमिति। संसरणमित्यध्याहार्यम्। एत त्संसरण मनादितया आवर्तितं परिवर्तितं भवति; अन्यथा "न कर्माऽविभागात्" (ब्र.सू.2-1-35) इत्याद्यधिकरणविरोधात् इति ॥४१॥

---

1 H.V omit अस्य. 2 H V "संसृतिः. 3 H V लक्षणा 4 A B J "मत 5 A B J "त्यत्व तल्लक्षणमात्रेणेति. 6-6 A B J omit. 7-7 H V उत. 8-8 H.V यः तयोः उभयोः. 9 H V भवति। 10-10 W omits

प्रकृतमार्कण्डेयचरित्र श्रवणश्रवणादिफलमाह - य इति। भृगुवर्यस्व मार्कण्डेयस्य वर्णितं वृत्तमित्यर्थः। कथम्भूतम्? रथाङ्गपाणेर्भगवतः अनुभावेन भावितं प्रकाशितं यः संश्रावयेत्, यः शृणुयात् तयोरुभयोः कर्माश्रया कर्मनिमित्ता संसृतिर्न भवेत् ॥४२॥

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

विज० अमुना मार्कण्डेयेन ॥३८॥

अवाप्तमहायोगमहिमा प्राप्तमहाज्ञानमहिमा प्राप्तमहाणिमादियोगमहिमा वा एकान्ततां नियतभक्तताम् ॥३९॥

ज्ञानवतो मार्कण्डेयस्य यदेतदनुभूतं हरे र्मायावैभवं तेऽनुवर्णित मेतद्भृणां मध्ये केचिदविद्वांसः आत्मनो हरेर्मायाप्रसृतिं सामर्थ्यविस्तारं कादाचित्कं प्रचक्षते। अकाले प्रदर्शितत्वेन कादाचित्कं किं न स्या दत्राऽऽह - अनादीति, अनादिकालवर्तिनं न नूतनम्। यद्वोपसंहरति **अनुवर्णित** मिति। मार्कण्डेयस्यैतच्चरितं तेऽनुवर्णितम्। किन्तच्चरित मत्राऽऽह - अनुभूतमिति। श्रद्धेयत्वे मतभेदमाह - एतदिति ॥४०,४१॥

इतोऽप्येतच्छ्रद्धेयमिति फलमाह - य इति। अनुभावेन भावितं संवर्धितम्। तयो रुभयोः श्रावयितृश्रोत्रोः कर्माशयसंसृतिः कर्मणामाशयः स्थानं देहस्तन्निमित्तसंसारो न भवेदिति स्वरूपनाश एवोच्यते अस्य श्रीहरिभक्तिर्मुख्यहेतुरतोऽच्युतां भक्ति मित्याह ॥४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
द्वादशस्कन्धे दशमोऽध्यायः ॥१०॥

**(श्रीविजयध्वजतीर्थरीत्या दशमोऽध्यायः न समाप्तः)**

1--1 W श्रावणफल. 2 W omits प्रकाशितं

# एकादशोऽध्यायः

## (विजयध्वजरीत्या दशमोऽध्यायः प्रारभ्यते)

### शौनक उवाच

अथेममर्थं पृच्छामो भवन्तं बहुवित्तमम्।
समस्ततन्त्रराद्धान्ते भवान् भागवततत्त्ववित् ॥१॥

तान्त्रिकाः परिचर्यायां केवलस्य श्रियःपतेः ।
अङ्गोपाङ्गायुधाकल्पं कल्पयन्ति यथैव यैः ॥२॥

तन्नो वर्णय भद्रं ते क्रियायोगं बुभुत्सताम्।
येन क्रियानैपुणेन मर्त्यो यायादमर्त्यताम् ॥३॥

### सूत उवाच

नमस्कृत्य गुरून्वक्ष्ये विभूतीर्वैष्णवीरपि ।
या वेदागमतन्त्राभ्यामाचार्यैः पद्मजादिभिः ॥४॥

मायाद्यैर्नवभिस्तत्त्वैः स विकारमयो विराट्।
निर्मितो दृश्यते यत्र सचित्के भुवनत्रयम् ॥५॥

एतद्वै पौरुषं रूपं भूः पादौ द्यौः शिरो नभः ।
नाभिस्सूर्योऽक्षिणी नासे वायुः कर्णौ दिशः प्रभो ॥६॥

प्रजापतिः प्रजननमपानं मृत्युरीशितुः।
तद्बाहवो लोकपाला मनश्चन्द्रो भ्रुवौ यमः ॥७॥

लज्जोत्तरोऽधरो लोभो दन्ता ज्योत्स्ना स्मयो भ्रमः।
रोमाणि भूरुहा भूम्नो मेघाः पुरुषमूर्धजाः ॥८॥

### श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एकादशे तु पूजार्थं महापुरुषवर्णनम् ।रवेर्व्यूहस्यचाऽऽख्यानं प्रतिमासं पृथक्पृथक् ॥

---

1 H V ब्रह्म, 2 M Ma केशवस्य 3 B G J यथा च 4 M Ma ता 5 M Ma त्वा 6-6 A B G J प्रोक्ता वद 7 M Ma
8 H V तस्मिन् M Ma यस्मिन् 9 B H J M Ma V प्रभो 10 A B G J M Ma नो 11 W शिश 12 M Ma वो 13-13 M Ma धृतिर्ज्यो

येनाऽमर्त्यत्वमापन्नो मर्त्योऽसौ भार्गवोत्तमः। तं पृच्छति क्रियायोगं साङ्गोपाङ्गादिकल्पितम् ॥

**अथेति**। अथेति हेतौ। हे भागवत! यतो भवान् समग्रतन्त्रराद्धान्ते तत्त्ववित् रहस्यज्ञः ॥१॥

प्रष्टव्यमाह - **तान्त्रिका** इति। पाञ्चरात्रागमोपनायां विषये। केवलस्य चैतन्यघनस्य। अङ्गानि पादादीन्युपाङ्गानि गरुडादीनि, आयुधानि सुदर्शनादीनि, आकल्पाः कौस्तुभादयः तेषां द्वन्द्वैक्यम्. तद्यथा कल्पयन्ति यैश्च तत्त्वैः कल्पयन्ति, तन्नो वर्णयेति ॥२,३॥

गुरूपदेशगम्यत्वादस्यार्थस्य तन्नमस्कारपूर्वकमाह - **नमस्कृत्येति**। विभूतीर्विराड्विग्रहाद्याः ॥४॥

अङ्गादिकल्पनां भृगादिभिर्दर्शयितुं प्रथमं तावद्यथा कल्पयन्तीति प्रश्नस्य वैराजरूपेणेत्युत्तरं वक्तुं विराड्विग्रहमाह - **मायेति**। मायाद्यैः प्रकृतिसूत्रमहदहङ्कारपञ्चतन्मात्रै र्नवभिस्तत्त्वैः। विकारा एकादशेन्द्रियाणि, पञ्चमहाभूतानीति षोडश तन्मयो विराट् स प्रसिद्धो निर्मितः. यत्र विराजि सचित्के चेतनाधिष्ठिते भुवनत्रयं दृश्यते। अनेन अङ्गादिकल्पना सौलभ्यं दर्शितम् ॥५॥

**एतदिति**। एतद्वै पौरुषं रूपम्। पुरुषस्य वैराजस्य रूपमेवेश्वरेणाऽधिष्ठितत्वात् तदभेदविवक्षया तस्यापि रूपमुच्यते। अङ्गकल्पनामाह-भृः पादावित्यादिभिर्भिभि । भृगाद्यनुवादेन भगवत्पादादिभावना विधीयते ॥६॥

**प्रजेति**। प्रजननं मेढ्रम्। अपानः पायुः ॥७-८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थं परिपृष्टं मार्कण्डेयवृत्तान्तं अनुवर्ण्य कृत्स्नप्रबन्धार्थमुपसञ्जिहीर्षुः सूतमालक्ष्य निमिजायन्तेय श्रीभगवदुद्धव संवादादि मुखेनोक्ते श्रीभगवत्पूजात्मककर्मयोगे समाराध्य श्रीभगवदङ्गोपाङ्गास्त्रभूषणाद्यभिमन्तव्यानि तत्त्वानि बुभुत्सुः पृच्छति - अथेत्यादिना। इमं वक्ष्यमाणमर्थं वस्तु बहुवित्तमत्वमेव प्रपञ्चयति - समस्ततन्त्रेत्यादि। हे भागवत ! भवान् समस्ततन्त्राणां पुराणपञ्चरात्रादीनां यो रोद्धान्त स्तस्मिंस्तत्त्ववित् ॥१॥

कोऽसावर्थ इत्यतस्तमाह - **तान्त्रिका** इति। केवलस्य केवलशुद्धसत्त्वमयदिव्यमङ्गलविग्रहस्य श्रियःपतेः परिचर्यायां तान्त्रिकाः श्रीभगवदाराधनात्मतन्त्रपरिनिष्ठाः यथैव यै स्तत्त्वैः अङ्गोपाङ्गायुधाकल्पम् अङ्गानि पाणिपादादीनि, उपाङ्गानि हृदयादीनि, आयुधानि सुदर्शनादीनि, आकल्पा भूषणानि तेषां द्वन्द्वैक्यम्। तत्कल्पयन्ति यत्तत्त्वाभिमानिदेवतात्वेन ध्यायन्तीति यत् तदेत न्नोऽस्माकं वर्णयेत्युत्तरेण सम्बन्धः ॥२॥

---

1-1 ABJ omit. 2 H V omit तन्त्र . 3 H V omit रहस्यज्ञ 4 A B J omit रूपम्। . 5 A B J omit अपि . 6 A B J 'दिभिभि । 7 TW वर्णय

कथम्भूतानां क्रियायोगं श्रीभगवदाराधनात्मकक्रियायोगापेक्षितं बोद्धुमिच्छताम् किं तत इत्यत्राऽऽह - येनेति। येन क्रियानैपुणेन तत्त्वात्मकाङ्गादि कल्पनोपेतरूपेण क्रिया कौशलेन अमर्त्यतां जरामरणाद्यतीततां मुक्तिं यायात्प्राप्नुयात् ॥३॥

तद्वर्णयितुं प्रतिजानीते - नमस्कृत्येति। वैष्णवीः विषण्वङ्गादिभिरभिमन्तव्याः विभूतीस्तद्विभूतीरहं वक्ष्ये ता विशिनष्टि पद्मजादिभिः ब्रह्मनारदादिभिराचार्यैः वेदरूप आगमः तन्त्रं पञ्चरात्रं ताभ्यां। पञ्चम्यन्तमिदम्। या विभूतयो, विज्ञाता इति शेषः ॥४॥

तावद्ब्रह्माण्डं श्रीभगवद्विग्रहाभिमन्तव्य मित्याह - मायाद्यै रिति। मायासंज्ञा प्रकृतिः महान् अहङ्कारः भूतानि पञ्च, कालश्चेति नवभिस्सविकारैः एतद्विकारसहितैः तत्त्वैः, विकारशब्देन एकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि च विवक्षितानि निर्मितो यो विराट् ब्रह्माण्डं दृश्यते शास्त्रेण ज्ञायते यत्र यस्मिन् विराजि सचित्के सजीवे भुवनत्रयं दृश्यते ॥५॥

एतद्ब्रह्माण्डं पौरुषं परमपुरुषसम्बन्धिरूपम्। सर्वत्र सामानाधिकरण्यं अभिमान्यभिमन्तव्ययोरभेदविवक्षानिबन्धनम्, श्रीभगवद्व्यमङ्गलविग्रहाभिमन्तव्यं ब्रह्माण्डमित्यर्थः। एवमग्रेऽपि। एतदेव विभज्य दर्शयति - भूरित्यादिना। भूशब्देन अतलादिभिस्सह सप्तलोका विवक्षिताः। नभो नाभिः हे शौनक! ॥६॥

प्रजापतिः प्रजननं मेढ्रम् ईक्षितु परमपुरुषस्य मृत्युरपानं गुदं यमो भ्रुवौ भ्रूलते ॥७॥

उत्तरोष्ठः लोभस्त्वधरोष्ठः ज्योत्स्ना, दन्ता भ्रमः, भ्रम्न परमात्मन स्मय स्मितं, भूरुहा वृक्षा रोमाणि, मेघा पुरुषस्य परमपुरुषस्य मूर्धजाः केशाः ॥८॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

स्थूलमतीना मुपासनार्थं पुरुषरूपस्य हरे र्यजनप्रकारं वदत्यस्मिन्नध्याये। तत्र तद्भुत्सया शौनकः पृच्छति - अर्थाति बुद्धिसन्निहितत्वादिममित्युक्तम्। समस्ततन्त्रराद्धान्ते सर्वपञ्चरात्रतन्त्रलक्षणशास्त्रोक्तसिद्धान्ते उक्तं यद्भागवतं भगवद्विषयं तत्त्वं तद्वेत्तीति ॥१॥

तान्त्रिकाः श्रीनारायणपूजाविधायकशास्त्रपटवः शाय पतेः पत्युः प्रयोगस्यैः प्राबल्याद्धिसंज्ञा वैकल्पिकी इति बोद्धव्यः। परिचर्यायां पूजायां यै र्भूम्यादिपदार्थैः अङ्गोपाङ्गायुधाकल्पम् - अङ्गानि पादादीनि, उपाङ्गानि गरुडादीनि, कल्पयन्त्याकल्प माभः कौस्तुभादि ॥२॥

---

1 A,B omit अभिमानि. 2 T W ''न त''. 3-3 T W omit 4 AB ''शि

तान् पदार्थान् क्रियायोगं पूजालक्षणं बुभुत्सतां ज्ञातुकामानां क्रियानैपुण्येन क्रियापटुत्वेन अमर्त्यतां मरणराहित्यं मुक्त्याख्यम् ॥३॥

वेदागमतन्त्राभ्यां वेदाख्यागमेन तन्त्रशास्त्रेण च पद्मजादिभिराचार्यैः प्रतिपादिता याः ता विभूतीः ॥४॥

माया प्रकृतिः, आदिशब्देन महदहङ्कारमनांसि पञ्चभूतानि च गृह्यन्ते। विकारा इन्द्रियादयः विराट् ब्रह्माण्डं सचित्के चेतनसहिते यस्मिन् ब्रह्माण्डे भुवनत्रयं दृश्यते ॥५॥

एतद्ब्रह्माण्डं पौरुषं रूपं पुरुषसन्निधानयोग्य प्रतिमारूपं यैः अङ्गादिकं कल्पयन्ति तानाह - **भूरिति**। अत्र विवरणं पूर्ववद्द्रष्टव्यम् ॥६॥

प्रजापतिर्दक्षः प्रजननमुपस्थम् ॥७॥

उत्तरोष्ठो लोभः लज्जा अधरोष्ठो, द्युतिः स्वरूपकान्तिः ज्योत्स्ना, भ्रमो भ्रान्तिः, स्मयो दर्पविशेषः, एतावती अङ्गकल्पना ॥८॥

**यावानयं वै पुरुषो यावत्या संस्थया मितः।**
**तावानसावपि महान्पुरुषो लोकसंस्थया ॥९॥**

**कौस्तुभव्यपदेशेन स्वात्मज्योतिर्बिभर्त्यजः।**
**तत्प्रभा व्यापिनी साक्षात् श्रीवत्समुरसा विभुः ॥१०॥**

**स्वमायां वनमालाख्यां नानागुणमयीं दधत्।**
**वासश्छन्दोमयं पीतं ब्रह्मसूत्रं त्रिवृत्स्वरम् ॥११॥**

**बिभर्ति सांख्यं योगञ्च देवो मकरकुण्डले।**
**मौलिं पदं पारमेष्ठ्यं सर्वलोकनमस्कृतम् ॥१२॥**

**अव्याकृतमनन्ताख्यमासनं यदधिष्ठितम्।**
**धर्मज्ञानादिभिर्युक्तं सत्त्वं पद्ममिहोच्यते ॥१३॥**

**ओजस्सहो बलयुतं मुख्यतत्त्वं गदां दधत्।**
**अपां तत्त्वं दरवरं तेजस्तत्त्वं सुदर्शनम् ॥१४॥**

---

1 M Ma स. 2 ABGJ महापु. 3 H V भो 4 H V नी 5 W प्रभु 6 H V स्वा। 7 W बेद. 8 B G J W काभवङ्गरम्. 9 A BG H J V त

**नभोनिभं नभस्तत्त्व मसिं चर्म तमोमयम्।**
**कालरूपं धनुश्शार्ङ्गं तथा कर्ममयेषुधिम् ॥१५॥**

**इन्द्रियाणि शरानाहुराकृतीस्तस्य स्यन्दनम्।**
**तन्मात्राण्यस्याऽभिव्यक्तिः इन्द्रियार्थाः क्रिया मताः ॥१६॥**

**श्रीध०** अनुक्तमन्यदप्येवमूह्यमित्याह - **यावानिति**। यावानयं व्यष्टि पुरुष तावान् समष्टिपुरुषः, स्वमानतः सप्तवितस्तिः संज्ञया संस्थयाऽवयवसन्निवेशेन मितः परिमितः ॥९॥

**भूषणादीन्याह - कौस्तुभेत्यादिना**। स्वात्मज्योतिः शुद्ध जीवचैतन्यम्। या तस्य कौस्तुभस्य प्रभा तामेव श्रीवत्सं बिभर्ति ॥१०॥

**स्वेति**। त्रिवृत्स्वरम् त्रिमात्रं प्रणवम् ॥११॥

**बिभर्तीति**। पारमेष्ठ्यं पदं ब्रह्मलोकम् ॥१२॥

**अव्याकृतमिति**। अव्याकृतं प्रधानम्। यदधिष्ठितोऽधिष्ठाय स्थित । तदा सम्भूतं पद्म, सत्त्वं सत्त्वगुण ॥१३॥

**ओज इति**। मुख्यतत्त्वं प्राणतत्त्वं। "प्राणो वै मुख्यः" इति श्रुते । दरवरं शङ्खम् ॥१४,१५॥

**इन्द्रियाणीति**। आकूतीः क्रियाशक्तियुक्तं मन। अस्य रथस्याऽभिव्यक्तिः बहिरभिव्यक्तं रूपम्। मुद्रया धृतयाऽर्थ क्रियात्मतां वरदाभयदादिरूपत्वं बिभर्ति। तत्तन्मुद्रया तथा तथा भावयेदित्यर्थ ॥१६॥

**वीर०** अनुक्तमन्यदपि एव मूह्यमित्याह - **यावानिति**। अय व्यष्टिपुरुष यावान् यावदवयववान् यावत्या स्वमानतः सप्तवितस्तिपरिमाणया संस्थया अवयवसंस्थानेन मितः परिमितोऽसौ महापुरुष परमपुरुषोऽपि लोकसंस्थया लोकाभिमानि देवतात्मकपादाद्यवयवसंस्थाने (तावान्) तावदवयववान्, मानन्तु आगधकबुद्ध्यनुगुणमिति भाव ॥९॥

तदेव मन्त्रोपात्ताद्यभिमन्तव्यानि तत्त्वानीत्युक्त्याऽथ भूषणाद्य भिमानिदेवतात्मकमन्तव्यान्याह - कौस्तुभव्यपदेशेनेत्यादिना। अजः परमपुरुषः कौस्तुभव्याजेन स्वात्मज्योति बिभर्ति स्वात्मज्योतिः स्वशेषभूत ज्ञानाकार चिदात्मस्वरूपं कौस्तुभो जीववर्गाभिमानी देवतेत्यर्थः। तत्प्रभा जीवस्य प्रभा धर्मभूतज्ञानमित्यर्थः। व्यापिनी विभ्वी तां प्रभुर्भगवानुरसा श्रीवत्सं बिभर्ति श्रीवत्सः तत्प्रभाभिमानिदेवतेत्यर्थः। पुराणान्तरविरोधस्तु श्रुतिवैविध्यसम्भावनया तन्मूलतया परिहर्तव्य ॥१०॥

---

1 W "भो ; 2 MMa "धी , W "धि ; 3 A.B.J "कूतीनस्य H V "कृतिर्यस्य M Ma "कृतिस्य , 4 A B G J "कि., 5- 5 A B G H J V मुद्रयार्थक्रियात्मताम्, 6- -6 A.B.J omit, 7 A B J omit संस्थया ; 8 ABJ "क , 9 H V omit बिभर्ति , 10 T W omits परिमित , 11- -11 T W "द्यभिमन्त"

नानागुणमयीं पञ्चभूताख्यकार्यावस्थां भूतपञ्चकमयीं स्वमायां वैषम्यावस्थसत्त्वादिगुणत्रयमयीं वा प्रकृतिं वनमालाख्यां द ग्तू बिभ्राणः आख्याशब्दः पूर्ववत् अभेदविवक्षाभिप्रायकः। पीतं पिशङ्गं, वासो वस्त्रं, छन्दोमयं गायत्र्यादिच्छन्दोमयं, वासः छन्दाभिमानिनी देवतेत्यर्थः। त्रिवृत् त्रिमात्रं अकारोकारमकारात्मकं वा स्वरं प्रणवं ब्रह्मसूत्रं बिभर्ति ॥११॥

साङ्ख्यञ्च योगश्चेति द्वन्द्वैक्यम्। तत् वेदश्चेत्युभे मकरकुण्डले सर्वलोकोत्तरं पारमेष्ठ्यं पदं ब्रह्मलोकं मौलिं किरीटं बिभर्ति ॥१२॥

यद्येन परमपुरुषेण अधिष्ठितमनन्ताख्यं शेषाख्यमासनमव्याकृतं मूलप्रकृतिःयत्सत्त्वं विशुद्धं सत्त्वं तद्धर्मज्ञानादिभि र्युक्तं पद्ममुच्यते। आदिशब्देन वैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्य विमलोत्कर्षिणीज्ञानाक्रियायोगा प्रह्वीसत्येशानानुग्रहाः सङ्गृह्यन्ते ॥१३॥

ओजः इन्द्रियशक्तिः, सहो मनश्शक्तिः, बलं दैहिकं, तैर्युतं मुख्यं तत्त्वं मुख्यप्राणः "प्राणो वै मुख्यः" इति श्रुतेः। ओज आदीनां प्राणायत्तत्वात्तस्य तद्युक्तत्वम्। तदेव गदां दधत्। यद्वा मुख्यतत्त्वं प्रथमोन्नतत्त्वं महत्तत्त्वं बुद्धिरिति यावत्। 'महान्वै बुद्धिलक्षणः" इत्यादिस्मृतेः। तस्यां प्रसृतायामेवोजःप्रभृतीनि भवन्तीति तस्यास्तद्युक्तत्वम्। अपां तत्त्वं जलतत्त्वं दरवरः शङ्खः ॥१४॥

नभोनिभो नभोवन्नीलतनुर्भगवान् नभस्तत्त्वं असिं खड्गं तमोमयं चर्मखेटञ्च दधदित्यनुषक्तेनाऽन्वयः। शार्ङ्गनाम धनुः कालरूपं कालाभिमानिधनु रित्यर्थः। तथा कर्ममयः इषुधिर्बाणकोशो यस्य सः ॥१५॥

**इन्द्रियाणीति**। [illegible] आकृतिर्मनः अस्य परमपुरुषस्य स्यन्दनं रथः। यद्वा आकूति र्देहात्माभिमानो भगवद्रथ इत्यर्थः। अस्याऽभिव्यक्तिः अर्चावतारेष्वाहितांशः तन्मात्राणि इन्द्रियार्थाः इन्द्रियप्रयोजनानि इन्द्रियादिव्यापारा इति यावत्। तन्मात्राण्यस्याऽभिव्यक्तिरिति शब्दादीना मुक्तत्वात् ते अस्य क्रियाः तत्क्रियाभिमन्तव्या इत्यर्थः। मुद्रात्वर्थक्रियात्मतेति पाठे मुद्रावरदाभयादिमुद्राभिमानिनी देवता अर्थक्रियात्मता प्रयोजनतत्क्रियास्वरूपता तु अभिमन्तव्या 'मुद्रयार्था क्रियात्मताम्' इति पाठे तया तां बिभर्ति इति शेषः ॥१६॥

**विज०** सोऽयं पुरुषः ब्रह्माण्डाख्यः लोकसंस्थया यावत्या संस्थया मितः परिमितोऽसौ महान्पुरुषः तदन्तःस्थपुरुषो भगवानपि तावान् तावत्परिमाणोपेतः ॥९॥

उपाख्यान्याह - **कौस्तुभेति**। अजो विष्णुः स्वात्मज्योतिः ज्योतिस्वरूपः। यद्वा, स्वाधीनब्रह्माख्यज्योतिः, श्री रित्यध्याहार्यं साक्षाच्छ्रीस्तस्य श्रीवत्सस्य प्रभां व्याप्नोतीति तत्प्रभाव्यपिनीति, तादृशं श्रीवत्समुरसा बिभर्ति ॥१०॥

---

1 TW प्रह्वा'; 2 TW omit चर्म; 3 TW omit आदि ; 4 TW 'निदे'

स्वां मायां श्रियं नानावर्णगुणमयीं, छन्दोमयं वेदस्वरूपं, त्रिवृत् त्रिवर्णात्मकं, स्वरं प्रणवलक्षणं ब्रह्मसूत्रं दधत् ॥११॥

साङ्ख्यं ज्ञानं योगं कर्म एतद्द्वयाख्ये मकरकुण्डले पारमेष्ठ्यं पदं स्थानं, मौलिं किरीटम् ॥

यदधिष्ठितमासनं पीठं तदनन्ताख्यं अव्याकृतं विकाररहितं सत्त्वं सत्त्वगुणाभिमानिनी श्री पद्मम् ॥१३॥

मुख्यतत्त्वं मुख्यप्राणरूपं गदां दधत् ॥१४॥

नभोनिभमाकाशवत् नीलवर्णं नभस्तत्त्वरूपमसिं नन्दकं तमोमयं तमोगुणवदाच्छादनकरं चर्म दधत्, पुण्यकर्मस्वरूपे इषुधी च ॥१५॥

अस्य हरेः स्यन्दन माकृतिः पृथिवी अस्याभिव्यक्तिः, तन्मात्राणि शब्दादीनि इन्द्रियार्थाः कर्मेन्द्रियविषयाः क्रियामताः विसर्गादीनि कर्माणि ज्ञातव्यानि ॥१६॥

मण्डलं देवयजनं दीक्षा संस्कार आत्मनः।
परिचर्या भगवत आत्मनो दुरितक्षयः ॥१७॥

भगवान्[1] भगशब्दार्थं लीलाकमलमुद्वहन्।
धर्मं यशश्च भगवांश्चामरव्यजनेऽभजत् ॥१८॥

आतपत्रं तु[2] वैकुण्ठं द्विजाधामाऽकुतोभयम्।
त्रिवृद्वेदः सुपर्णाख्यो यज्ञं वहति पूरुषम् ॥१९॥

अनपायिनी[4] भगवती श्रीः साक्षादात्मनो हरेः।
विष्वक्सेनस्तन्त्रमूर्तिः विदितः पार्षदाधिपः ॥
नन्दादयोऽष्टौ द्वाःस्थाश्च तेऽणिमाद्या हरेर्गुणाः ॥२०॥

वासुदेव स्सङ्कर्षणः प्रद्युम्नः पुरुषः स्वयम्।
अनिरुद्ध इति ब्रह्मन् मूर्तिव्यूहोऽभिधीयते ॥२१॥

स विश्वस्तैजसः प्राज्ञः तुरीय इति वृत्तिभिः।
अर्थेन्द्रियाशयज्ञानैर्भगवान् परिभाव्यते ॥२२॥

अङ्गोपाङ्गायुधाकल्पैर्भगवां स्तच्चतुष्टयम्।
बिभर्ति स्म चतुर्मूर्तिर्भगवान् हरिरीश्वरः ॥२३॥

---

1 M Ma 'वान् भगशब्दात्मा, W 'वच्छब्दशब्दार्था 2 M Ma नद्वै 3 M Ma निन निजधा 4 H V 'नी मा शक्ति W 'न्यात्मभूता 5 W 'न प्रभा। 6 W 'स्तस्य भूति 7 A G J ब्रह्मम् 8 A B G J W व्यूहो 9 M Ma नैजमप्राज्ञ 10 A B G J परिभाव्यते MMa भाव्यते तत

**द्विज ऋषभ स एष ब्रह्मयोनिः स्वयंदृक् स्वमहिमपरिपूर्णो मायया च स्वयैतत्।**
**सृजति हरति पातीत्याख्ययाऽनावृताक्षो विवृत इव निरुक्तस्तत्परैरात्मलभ्यः ॥२४॥**

**श्रीध० मण्डलमिति**। मण्डलं, देवयजनं देवपूजाभूमिं, सूर्यमण्डलत्वेन भावयेदित्यर्थः। अन्तर्वह्निमण्डलं वा। दीक्षासंस्कार आत्मनो गुरुकृतां मन्त्रदीक्षामेव आत्मनस्तु तत्पूजायोग्यतां भावयेदित्यर्थः। परिचर्येति भगवतस्तां परिचर्यां स्वस्य सकलपापक्षयायेत्येवं रूपांभावयेदित्यर्थः ॥१७॥

पूर्वं मासनपद्ममुक्तम्, इदानीं करस्थं पद्ममाह - **भगवानिति**। भगशब्दार्थमैश्वर्यादि षाड्गुण्यम् ॥१८॥

**आतपत्रमिति**। हे द्विजाः! एकवचनान्तो वा पाठः। अकुतोभयं कैवल्यं, धाम गृहमभजत्। यद्वा वैकुण्ठस्यैव विशेषणमकुतोभयं यद्धामेति। त्रिवृत् ऋग्यजुस्सामरूपो वेदः। "सुपर्णोऽसि गुरुत्मांस्त्रिवृत्ते शिरः" (गरुड उ.-14) इत्यादिमन्त्रलिङ्गात्। यज्ञं यज्ञरूपं पुरुषम्। "यज्ञो वै विष्णुः" (तैत्ति. ब्रा.1-2-8) इति श्रुतेः ॥१९॥

**अनपायिनीति**। अनपायिनी हरेः शक्तिः। तत्र हेतुः साक्षादात्मनः स्वरूपस्य चिद्रूपत्वा त्तस्या स्तदभेदादित्यर्थः। तन्त्रमूर्तिः पञ्चरात्राद्यागमरूपः येऽणिमादयोऽष्टौ गुणास्ते हरेर्द्वारपाला नन्दादयः ॥२०॥

तस्यैव चतुर्व्यूहोपासनामाह **वासुदेव इति**। वासुदेवादिशब्दैः पुरुषः श्रीनारायण एव स्वयं मूर्तिभेदैरुपास्यः इत्यभिधीयते ॥२१॥

तस्यैवाऽध्यात्मनि चतुर्व्यूहोपासना माह **स इति**। स एव भगवान्विश्वादिशब्दैर्वृत्तिभि र्जाग्रदाद्यवस्थाभिः परिभाव्यते। तद्वृत्युपाधीनाह अर्था बाह्याः, इन्द्रियं मनः आशयस्तदुभयं संस्कारयुक्त मज्ञानं ज्ञानं त्रितय साक्षितैः ॥२२॥

उक्त चतुर्व्यूहाध्यात्मोपासना द्वयेऽपि पूर्वोक्तमन्नाद्युपासन माह **अङ्गेति**। अन्नादिभि रुपलक्षितो भगवान्हरि र्वासुदेवादि चतुर्मूर्तिस्सन् विश्वादिचतुष्टयं बिभर्ति स्म विश्वादिभावेऽपि तन्नियन्तुस्तस्य न जीवत्वमित्याह - विश्वादिचतुष्टयं बिभ्रदपि भगवा नीश्वर एवेति ॥२३॥

**तस्यैव ब्रह्मादित्रिमूर्तिता माह - द्विजऋषभेति**। स एष एव भगवान् ब्रह्मयोनिर्वेदस्य कारणमित्यादि हेतुत्रयम्। वस्तुतो भेदाभावेऽपि च एतज्जगत् स्वगतमायया सृजति हरति पातीति कृत्वा आख्यया ब्रह्मादिरूपयाऽनावृताक्षः अनाच्छन्न ज्ञानोऽपि, विवृत इव भिन्न इव, निरुक्तः शास्त्रेषु न तु भिन्नः, अत्र विद्वदनुभवं प्रमाणयति यतस्तत्परै रात्मत्वेनैव लभ्यत इति ॥२४॥

---

1 M Ma वृषभ . 2 M Ma "वाऽऽऽ . H V "वा च 3 MMa विसृजत 4 A B J omit. 5 A B J omit तु . 6 ABJ omit रूपां. 7 H V अन्तस्थ . 8 A B J omit एव . 9 H V व्यूहे . 10 H V "त्म च". 11 A B J भाव्यते . 12-12 A B J "हद्वयोपासनेऽपि . 13 H V "क्त"

**वीर०** मण्डलं तस्याऽऽसनस्थं, पद्माकारं मण्डलं, देवयजनं यज्ञभूम्यभिमानिदेवताः आत्मनः यजमानस्य दीक्षा[1] यागदीक्षा संस्कारः प्रोक्षणावघातादिश्च, भगवतः परिचर्या तयोरभिमानिदेवता परिचर्येत्यर्थः, सैव दुरितक्षयाभिमानिनीति[2] ॥१७॥

**भगवच्छब्दर्थं** भगवच्छब्दस्य यः शब्दो भगवच्छब्दः तदवयवभूतः तस्यार्थं ज्ञानादिषाड्गुण्यं तल्लीलार्थं कमलं तदभिमन्तव्यं लीलाकमलमित्यर्थः। लीलाकमलाभिमन्तव्यं षाड्गुण्यं वा उद्वहन्! बिभ्राणः हे भगवः! हे भगवन्! धर्मो यश श्चेत्येते चामरव्यजने अभजत् प्राप्तवान्। भगवांश्चेति पाठान्तरम् ॥१८॥

**आतपत्रमिति** द्विजा इति सम्बोधनम्। द्विजेत्यपि क्वचित्पाठः, निजधामेत्यपि पाठ । नाऽस्ति कुतोऽपि भयं यस्मिन् तद्वैकुण्ठं नाम यन्निजधाम तदातपत्रमभजदिति सम्बन्धः। वैकुण्ठाभिमानिनी देवता आतपत्र मित्यर्थः। यो यज्ञं यज्ञाराध्यं परमपुरुषं वहति तद्वाहनभूत इत्यर्थः। कोऽसौ सुपर्णाख्यो गरुडः स त्रिवृद्वेद ऋग्यजुस्सामत्रयात्मको वेदः वेदाभिमानिनी देवता गरुड इत्यर्थः ॥१९॥

**श्रीर्लक्ष्मीः** हरेरनपायिनी शक्तिः। तत्र हेतु साक्षात्परमात्मन आत्मभूता स्वभावः धर्मभूतेति यावत्। प्रभेत्यस्य भास्क रस्य[4] यथा इत्यादिः[5] स्मर्तव्यः। यः पार्षदाधिपः सेनानी विष्वक्सेन स तस्य मूर्तिर्विग्रहविशेष इत्यर्थ ॥२०॥

नन्दादयोऽष्टौ हरेर्द्वारपालाः, अणिमाद्या गुणाः अणिमाद्यष्टैश्वर्याभिमानिन्यो देवता इत्यर्थः। वासुदेव इति यो वासुदेव इत्यादिमूर्तिव्यूहः मूर्तिसमूहः स परमपुरुषः स्वयमेवाऽभिधीयते। न तत्राऽभिमान्यभिमन्तव्यभावोऽस्तीत्यर्थः। ब्रह्म त्रिति सम्बोधनम्। स इति वासुदेवादि चतुर्मूर्तिव्यूहः वृत्तिभिः जागरस्वप्नसुषुप्तिमुक्त्यवस्थाभि र्यो विश्वस्तैजस प्राज्ञस्तुरीय मुक्त इति कथ्यते। जीव स्तदभिमानी विश्वादिशब्दैः जागराद्यवस्थावस्थिता जीवा उच्यन्ते। यद्यप्येकैकस्यैव जीवस्य अवस्थाचतुष्टयान्वयः, तथाऽपि एकैकस्यैव तत्तदवस्थायां विश्वादिशब्दैर्व्यवहारः जागराद्यवस्थाप्रयुक्त विश्वादिसंज्ञकजीवाभिमानिन्यो वासुदेवादय इत्यर्थः, क्रमस्त्वविवक्षितः। तत्र मुक्त्यवस्थाभिमानिनी देवता वासुदेव, सङ्कर्षणस्तु स्वप्नावस्थस्य (प्रद्युम्नो जाग्रदवस्थाभिमानी सुषुप्त्यवस्थाभिमानी वाऽनिरुद्ध इति ज्ञेय मिति भावः) इतरौ इतरयोरित्युह्यम् ॥२१॥

तदेवाह - अर्थेन्द्रिय इति।अर्थशब्दो बाह्येन्द्रियै रर्थावभासलक्षणजागरावस्थापरः इन्द्रियशब्देन मनोविषयेण स्वप्नहेतुना स्वप्नावस्था द्योत्यते। मनस्युपरते वासनामात्रविशेषा सुषुप्त्यवस्था आशयशब्देन ज्ञाप्यते। परिशुद्धानवच्छिन्नज्ञानं च मुक्त्यवस्थाज्ञानशब्देन प्रदर्श्यते, तत्तदवस्थाभिमानी भगवान् परिभाष्यते[6] इत्यर्थः ॥२२॥

---

1 W omits दीक्षा . 2 W omits इति 3 A B 'मात्म' 4 - 4 A B 'रित्यादि 5 W omits स्मर्तव्य । . 6 A B भाव्यते

तदेवं तत्त्वाभिमानितया निरूपितैरङ्गादिभिः वैशिष्ट्यमाह - अङ्गेति। अङ्गोपाङ्गायुधाकल्पै र्विशिष्टो भगवान् वासुदेवा दिचतुर्मूर्तिधरः तत्प्रसिद्धं चतुष्टयं सृष्टिस्थितिसंहारमोक्षात्मकं बिभर्ति निर्वहति। तत्र अनिरुद्धः सृजति, प्रद्युम्नः पालयति, सङ्कर्षणः संहरति, वासुदेवो मोक्षयतीत्यर्थः ॥२३॥

तस्यै तस्यैव ब्रह्मरुद्रान्तर्यामितया स्रष्टृत्वसंहर्तृत्वे स्वावताररूपेण रक्षितृत्वञ्चाऽऽह - द्विजऋषभेति। हे द्विजऋषभ! एष भगवान्, कोऽसौ? यः स्वमायया सृष्ट्यादिकं करोतीति हेतोः आख्यया ब्रह्मरुद्रादिसंज्ञयोपलक्षितः ब्रह्मरूपेण गुणैश्च निरतिशयबृहत्त्वयुक्तः योनिः सर्वकारणभूतः, स्वयंदृक् स्वयं सर्वं युगपत्साक्षात्पश्यतीति तथा, स्वयं प्रकाशो वा, अनेन अचेतन व्यावृत्तिरुक्ता, स्वमहिम्नैवं पूर्णः अवाप्तसमस्तकामः, अनेन मुक्तनित्यसिद्धजीवव्यावृत्तिः तयोः परिपूर्णतायाः भगवत्सङ्कल्पायत्तत्वेन स्वमहिमायत्तत्त्वाभावादिति भावः। अनावृताक्षः असङ्कुचितज्ञानः अनेन बद्धजीवव्यावृत्तिः इत्थम्भूतं किं सर्वैर्न ज्ञायते इत्यत्राऽऽह - विवृत इव गूढ इव निरुक्तः "तं दुर्दर्शं गूढ मनुप्रविष्टम्" (कठ.उ.2-12) "गूढात्मा न प्रकाशते" इत्यादिभिः शास्त्रैः गूढत्वेनोक्त इत्यर्थः। तर्हि कैरपि दुर्दर्शः स्या दित्यत्राऽऽह - तत्परै स्तदुपासकैरात्मना योगपरिशुद्धमनसा लभ्यते इति ॥२४॥

विज० देवयजनं हरेः पूजास्थानं, चक्राब्जादिकं मण्डलम्, आत्मनः परमात्मनः सकाशात्, संस्कारः शरीरशुद्धिः, दीक्षा दीक्षया हि देहशुद्धिः भगवतः परिचर्या आत्मनः स्वस्य दुरितक्षयः पापनाशनम् ॥१७॥

भगवान्पूज्यः भगशब्दात्मा भगशब्दस्वरूप ऐश्वर्यादिगुणस्वरूप इत्यर्थः। धर्मयश आख्ये चामरव्यजने ॥१८॥

निजधाम तद्वैकुण्ठं तदभिमानिदेवता आतपत्रं, त्रिवृत् त्रिविधो वेदः सुपर्णाख्यो यज्ञं पुरुषं यज्ञपुरुषं वहति ॥१९॥

साक्षादनपायिनी नित्यावियोगिनी श्रीहरे रात्मभूतार्धदेहा नाम, विष्वक्सेनः पार्षदाधिपो विदितः तन्त्रमूर्तिः तन्त्रग्रन्थाभिमानी ॥२०।

अष्टौ नन्दादयो द्वाःस्थाः हरेः अणिमाद्या गुणाः तदाश्रिताः मूर्तिव्यूहे मूर्तिस्थापने वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नोऽनिरुद्धः स्वय मभिधीयते ॥२१॥

स भगवानेव विश्वादिशब्दवाच्य इति भाव्यते। अर्थेन्द्रियाशयज्ञानैः वृत्तिभिः अर्थज्ञानलक्षणवृत्त्या जाग्रदवस्थया विश्वः मनादीन्द्रियगतवासनालक्षणज्ञानवृत्त्या स्वप्नावस्थया तैजसः आशयः सुषुप्ति स्तदवस्थाज्ञानलक्षणवृत्त्या वर्तमानः प्राज्ञः एतावन्तं

---

1--1 AB omits. 2--2 W लभ्य:. 3 A B भाव्यते

कालं सुख मस्वाप्सम् इत्यनुभवात्, किमेते भिन्ना इत्यत्राऽऽह - तत इति। ततो व्याप्तोऽपरिच्छिन्न इत्यर्थः। बहुत्वसंख्यामात्रयोगित्वं न तु मिथो भिन्नत्वम् ॥२२॥

अन्नादिकथनस्योपयोगमाह - अङ्गेति।अन्नादिशब्दवाच्यवासुदेवाद्यावरणैः भगवान्पूज्य इत्येतदर्थत्वेन कथनमित्यर्थः। अन्नादिचतुष्टयस्याऽपि हरि रेवाऽऽधार इत्याह - तदिति। चतुर्मूर्तिर्भगवान् अन्नादिचतुष्टयं बिभर्ति। तत्राऽयं विभागः अन्नात्मनाः वासुदेवाद्याः स्वय मुपान्नादिषु ब्रह्मादिषु सन्निहितत्वेन पूजाकाले तथा स्मरणार्थं स्मेत्युक्तं, भगवान्वसिष्ठाद्यन्यतमो नेत्याह - हरि रिति। हरिरपि पुरन्दराद्यन्यतमः किं नस्यादित्यत उक्त मीश्वर इति। सोऽपि सदाशिवः स्यादत उक्तं चतुर्मूर्तिरिति, सोष्टमूर्तिरिति प्रसिद्धः ॥२३॥

यद्वेदान्तवेद्यं तदेवाऽत्र पुरुषरूपेणोच्यते। तस्मादिदं मुमुक्षुभिः श्रद्धयोपास्यमिति श्लोकद्वयेनाऽऽह - द्विजवृषभेति। हे द्विजवृषभ[1] तत्परैस्तद्भक्तैः आत्मलभ्यः आत्मनि मनसि लभ्य प्रकाश्यो भवति। यद्वा, आत्मनैव स्वानुग्रहेणैव लभ्यः प्राप्यः "यमेवैष वृणुतेः तेन लभ्यः" (कठ.3.2-22) इति श्रुते । किंलक्षणकः कोऽयं पुरुष इति तत्राऽऽह - माययेति। स्वया मायया स्वेच्छयैव सृजतीत्याद्याख्यया निरुक्त कथम्? सृजतीति स्रष्टा, हरतीति हर पातीति पाता। "स्रष्टा पाता तथैवाऽन्ता निखिलस्यैक एव तु" इत्यादे । अत्र किं प्रमाणम्? तत्राऽऽह - ब्रह्मेति। ब्रह्म वेदादिशब्दराशिर्योनिर्जन्मिकारणं यस्य स तथा, वेदादिशब्दराशि रस्मिन्नर्थे मानमित्यर्थः। चतुर्मुखस्याऽपि सृष्ट्यादिकर्तृत्वस्य प्रमितत्वात्कथं हरेरेवेति निश्चीयते - "ब्रह्मा देवानां प्रथमस्सम्बभूव" (मुण्ड.3.1-1) इति श्रुतिरित्यतोवाऽऽह - ब्रह्मेति। ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्य योनिः कारणं "यो ब्रह्माणं विदधाति" (श्वेता.3.6 18) इति श्रुतेः। लोकवत्पगोपदेशेन कर्मणि न प्रवर्तते, किन्तु स्वरूपज्ञानेनेत्याशयेनाऽऽह - स्वयं दृगिति स्वयं भूतज्ञानत्वेपि कर्मण्यपेक्षाऽविनाभूतं दृष्टं अत्राऽऽह - स्वमहिमेति। स्वे महिम्नि (छान्दो.3 7 24 1) इति श्रुते । स्वयं प्रकाशमानस्य प्रद्योतमानस्य मेघाद्यावरणेनेव हरेर्ज्ञानस्याऽपि तत्स्यादित्यत्राऽऽह - अनावृताक्ष इति। आवरणरहितदृष्टि कथं प्रकाश्यत इत्यत्राऽऽह - विसृजत इति। स्रष्टा अयमित्युपासमानस्य विविधं सृजत इति प्रकाशते, संहर्ता अयमिति ज्ञानवत , संहरतीव रक्षतीव। इतरस्य उपलक्षण मेतत्, यान् यान् गुणानुपसंहृत्योपास्ते, तत्तद्गुणत्वेन प्रकाशत इति ॥२४॥

**श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्णिवृषाऽवनिध्रुग्राजन्यवंशदहनानपवर्ग वीर्य।**
**गोविन्द गोद्विजसुरार्तिहरावतार नीर्थश्रवः श्रवणमङ्गल पाहि भृत्यान् ॥२५॥**

---

1 A B G H J V वृष्ण्यृषभाऽव' 2 -2 A B G J गोपवनितार्थ भृत्यार्तिन

य इद कल्य उत्थाय महापुरुषलक्षणम्।
तच्चित्तः प्रयतो जप्त्वा ब्रह्म वेद गुहाशयम् ॥२६॥

(विजयध्वजरीत्या दशमोऽध्यायः समाप्यते)

(विजयध्वजरीत्या एकादशोऽध्यायः प्रारभ्यते)

शौनक उवाच

शुको यदाऽऽह भगवान् विष्णुराताय शृण्वते।
सौरो गणो मासिमासि नाना वसति सप्तकः ॥२७॥

तेषां नामानि कर्माणि नियुक्तानामधीश्वरैः।
ब्रूहि नः श्रद्धधानानां व्यूहं सूर्यात्मनो हरेः ॥२८॥

सूत उवाच

अनाद्यविद्यया विष्णो रात्मन स्मर्वदेहिनाम्।
निर्मितो लोकतन्त्रोऽयं लोकेषु परिवर्तते ॥२९॥

एक एव हि लोकानां सूर्य आत्माऽऽदिकृद्धरिः।
सर्ववेदक्रियामूलमृषिभि र्बहुधोदितः ॥३०॥

कालो देशः क्रियाकर्ता करणं कार्यमागमः।
द्रव्यं फलमिति ब्रह्मन् नवधोक्तोऽजया हरिः ॥३१॥

मध्वादिषु द्वादशसु भगवान् कालरूपधृत्।
लोकतन्त्राय चरति पृथग् द्वादशभिर्गुणैः ॥३२॥

**श्रीध०** यस्येदमुपासनमुक्तं तं श्रीकृष्णं प्रार्थयते **श्रीकृष्ण** इति। कृष्णसख! अर्जुनस्य सखे! वृष्णिश्रेष्ठ! अवनि द्रुहो ये राजन्याः तेषां वंशस्य दहन! अनपवर्ग मक्षीणं वीर्यं यस्य गोपवनितानां व्रजाः समूहाः भृत्याश्च नारदादयस्तैर्गीतं तीर्थ भूतं श्रवः कीर्तिः यस्य, श्रवणमेव मङ्गलं यस्य ॥२५॥

---

1 M Ma कल्य 2 M Ma पृच्छते 3 W सौर्य 4 W वसति 5 A B G J W स' 6 W निर्गतो 7 B M Ma का' 8 H V सज्ञो 9 A B G J M Ma क 10 A B G J र्गणै 11 H V 'नस'

एतज्जपमात्रस्याऽपि ब्रह्मज्ञानं फलमित्याह-**य** इति। कल्ये उषःकाले यस्तच्चित्तः प्रयतः शुचिस्सन् स जपि[1] त्वा[2] गुहाशयं हृदिस्थं ब्रह्म पश्यति ॥२६॥

मण्डलं देवयजनमित्युक्त्या बुद्धिमागता सौरी तनुः वासुदेवादि[3] मूर्तिव्यूहप्रसङ्गेन[4] सूर्यव्यूहः[5] अनुस्मृतः[6] अतः तं पृच्छति - **शुक** इति। पञ्चमे यदाह "तथाऽन्ये च ऋषयो गन्धर्वा अप्सरसो नागा ग्रामण्यो यातुधाना देवा इत्येकैकशो गणाः सप्तेत्यादिना सौरः सूर्यसम्बन्धी सप्तकः[8] सप्तानां गणः ॥२७॥

**तेषामिति**। तेषां सप्तानामधीश्वरैस्तत्तत्पतिभिस्तत्तन्मासाधिकृतसूर्यै[9] र्वा व्यूहं विभागम् ॥२८॥

तत्र[10] तावत् व्यूहं निरूपयितुं प्रथमं सूर्यस्वरूपमाह - **अनादीति** अनाद्यविद्यया मायया अयं सूर्य लोकतन्त्रो लोकयात्राप्रवर्तकः ॥२९॥

अतस्तस्य क्रियाभेदोपाधिकमेव नानात्वं दृश्यते[11] न स्वत इत्याह - **एक एवेति**, "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" (ऐत. उ. 2-4-3) इति श्रुतेः। लोकानां[12] जगतां आत्मा आदिकृत् सृष्टिकर्ता हरिरेव सूर्य सच सर्वासां वेदोक्तक्रियाणां मूल सन्[13] तेन तेनोपाधिना बहुधा उदित[14] उक्त ॥३०॥

कालरूपधारिणो हरेर्द्वादशादित्यरूपं[15] भेदं क्रियोपाधिक दर्शयितुं प्रथमं सर्वकर्मप्रवृत्तये मायाकृतं नवधा भेदमाह - **काल इति**। कालः प्रातरादिः १) देश समादि २) क्रिया अनुष्ठानम् ३) कर्ता ब्राह्मणादि ४) करणं स्रुगादि ५) कार्यं यागादि[16] ६) आगमो मन्त्रादि ७) द्रव्यं व्रीह्यादि ८) फल स्वर्गादि ९। ॥३१॥

**मध्वादिष्विति**। तत्र च कालस्वरूपधारी भगवान् पृथक् चरति मध्वादिषु चैत्रादिषु लोकतन्त्राय लोकयात्रानिर्वाहाय ॥३२॥

**वीर०** तदेवं तत्तत्त्वात्मक श्रीभगवदङ्गादीनि निरूप्य कृत्स्नप्रबन्धार्थानुपसंहर्तुं तावत्स्वेष्टदेवता स्वभक्तरक्षायै प्रार्थयते श्रीकृष्णेत्यादि - "कृषिर्भूवाचक शब्दो णश्च निर्वृतिवाचक[17] । तयोरैक्यं पर ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते" (भारत.5-68-5) इति व्युत्पत्त्या तादृशार्थो ज्ञेय इत्यर्थः[17]। इमानि नवसम्बोधनानि। तत्राऽऽद्येन सर्वानन्दयितृत्वं, द्वितीयेन सौशील्यं, तृतीयेन सौलभ्यं, तुरीयेन दुष्कृद्विनाशकत्वं, पञ्चमेनाऽपारवीर्यत्वं, षष्ठेन सर्वाधारत्वं, सप्तमेन माधुर्यपात्रातृत्वम्, अष्टमेन पावनकीर्तिमत्त्वं, नवमेन

---

1 A B ञ्च 2-2 B स जप्त्वा H V omit सजपित्वा 3-3 A B omit 4 H V omit मूर्ति 5 H V महाकन्या 6 H V रवि 7 A B J omit अनुस्मृत 8 H V omit सप्ताना 9 H V न्मायाधि 10 A B यत्र 11 A B omit दृश्यते 12 A B omit लोकाना 13 A B omit तेन 14 AB omit उदित 15 H V पभे 16-16 H V omit 17 17 W omits

अत्यादरेण श्रोतव्यत्वं विवक्षितम्। कृष्णोऽर्जुनस्तस्य सखे! तथा अवन्यै द्रुह्यन्तीति तथा, ते राजन्या एव वंशा वेणवः तेषां दहन! नाशन! यद्वा अवनिध्रुग्राजन्यानां वंशः सन्तानः तस्य दहन! अनपवर्गवीर्येति पाठः। अमरवन्द्यवीर्येति पाठे परत्वं विवक्षितम्। गवां द्विजानां सुराणाञ्चाऽर्तिं हरतीति तथाभूतोऽवतारो यस्य, तीर्थं पुण्यावहं श्रवः यशो यस्य श्रवणमात्रेण मङ्गलप्रद। भृत्यान् सेवकान् रक्ष ॥२५॥

प्रकृतभगवदङ्गादिनिरूपणप्रकरणकीर्तनफल माह - **य** इति। कल्ये (प्रातः) प्रभाते उत्थाय इदं महापुरुषस्य लक्षणं चिह्नभूताङ्गोपाङ्गादिनिरूपणपरप्रकरणं तस्मिन् परमपुरुष एव चित्तं यस्य सः। समाहितेन्द्रियश्च यः स जप्त्वा गुहाशयं हृदयगुहाशयस्थितं ब्रह्म वेद यथाव द्विद्यादित्यर्थः ॥२६॥

अत्र क्वचिदध्यायसमाप्ति र्दृश्यते, क्वचिन्नेति द्रष्टव्यम्। पुनरुपसञ्जिहीर्षा मालक्ष्य वासुदेवादि व्यूहप्रसङ्गात् स्मारितान् सूर्योपासकान् व्यूहान् पञ्चमे स्कन्धे दिङ्मात्रेण प्रदर्शितान् विस्तरतो बुभुत्सुः पृच्छति शौनकः **शुक** इति द्वाभ्याम्। शृण्वते श्रवणं कुर्वते विष्णुगताय परीक्षिते श्रीशुको यदाह किन्तत् सौर्यः सूर्यागधको गणः समकः समानामादित्यानां समूहात्मकः मासि मासि नानावहति नानाविधं कर्म वहतीतियत्, यथाह्येव मुक्तं पञ्चमे - "तथाऽन्ये च ऋषयो गन्धर्वा अप्सरसो नागा ग्रामण्यो यातुधाना देवा इत्येकैकशो गणाः समचतुर्दश मासि मासि भगवन्तं सूर्यमात्मानं पृथक् नामानः पृथक्कर्मभिः द्वन्द्वश उपासते" (भाग.5-21-18) इति ॥२७॥

**तेषामिति**। सप्तानां सौर्यगणानां अधीश्वरैः नियुक्तानां तत्तत्पतिभिः तत्तन्नामाधिकृतसूर्यैर्नियुक्ताना मित्यर्थः। प्रतिमासं सूर्यस्य नामभेदाभिप्रायकं अधीश्वरैरिति बहुवचनम्। स्वान्तरात्मभूत परमात्मोपासनार्थं सूर्यस्याऽपि तेषां नामान्तरेण गणमध्ये प्रविष्टत्वात्तदभिप्रायकं वा। अतस्तेन सहैव सप्त वक्ष्यन्ते। सूर्यात्मनः सूर्यशरीरस्य हरेरुपासकं तेषां गणानां व्यूहं तन्नामानि कर्माणि च श्रद्दधानानां नोऽस्माकं ब्रूहीति सम्बन्धः ॥२८॥

तत्र व्यूहान्निरूपयितुं तावत्सूर्यस्य तत्त्वमाह - **अनाद्येति**। सर्वदेहिना मन्तरात्मनो विष्णोर्नियाम्यया अनाद्यविद्यया आदिरहितया ज्ञानविरोधिन्या प्रकृत्या निर्मितोऽयं सूर्यः लोकतन्त्रः लोकयात्राप्रवर्तकः, अत एव लोकेषु प्रवर्तते परिभ्रमति। अनाद्यविद्यया निर्मित इत्यनेन सूर्यबिम्बस्य प्रकृतिपरिणामविशेषात्मकत्वमुच्यते ॥२९॥

तस्य भगवदात्मकत्वं वदन् लोकतन्त्रता मुपपादयति **एक एवहीति**। यो लोकाना मादिकृत् सृष्टिकर्ता एकः अद्वितीयः स्वतुल्यवस्त्वन्तररहितः सर्वान्तरात्मा हरिः स एव सूर्यो हरिरेव, सूर्यशरीरकत्वेन अवस्थित इत्यर्थः। कथम्भूतः? सर्वासां वेदक्रियाणां

1 W omits नाशन!. 2 W omits 3 W omits प्रभाते 4 W omits शौनक 5 W omits द्वाभ्याम् 6 W त

मूलभूतः वैदिकक्रियामूलत्वं कालावच्छेदकतया अवगन्तव्यम् ऋषिभिः पराशरादिभिः बहुधा द्वादशधा उदित उक्तः ॥३०॥

तत्र दृष्टान्त माह - **काल** इति। हे ब्रह्मन्! यथा हरिरेक एव कालादिशरीरकत्वेन नवधा उक्तः, **तद्वदित्यर्थः**। तत्र कालो वसन्तादिः। देशः "समे यजेत" इत्याद्युक्तः। क्रिया यागादिरूपा, करणं साधनं, कार्यं स्थायिकार्यमपूर्वाख्यं, आगमः प्रमाणभूतो वेदः, द्रव्यं चरुपुरोडाशादि, फलं स्वर्गादि। "ययोक्तो बहुधा हरिः"[1] इति पाठान्तरम्, देशकालादिफलपर्यन्तमिदं सर्वं साधनत्वेन साध्यत्वेन च क्रियान्तर्भूतम्। एभिर्विशिष्टा क्रिया इत्यर्थः। यया क्रियया हरिर्बहुधोक्तः द्रव्यादि शरीरकत्वादिति भावः ॥३१॥

विवक्षितमर्थन्तावत्सङ्ग्रहेणाऽऽह - **मध्वादिष्विति**। मध्वादिषु चैत्रादिषु द्वादशसु मासेषु कालरूपधृत् (कृ) कालावच्छेदकरूपधृत् (कृ) भगवान् सूर्यः लोकतन्त्राय लोकयात्रा निर्वाहकाय पृथग्द्वादशभिर्गणैस्सह चरति। एकैकस्मिन् मासे एकैको गणः प्रतिगणं गणिनस्तु सप्त सप्तेत्यर्थः। यद्यपि पञ्चमे स्कन्धे चतुर्दशोक्ताः तथाऽऽपि तत्र प्रधानाः सप्त सप्तैवेति तत्र एवोच्यन्ते इति भावः ॥३२॥

**विज०** श्रीकृष्ण कृष्णेत्युक्तार्थः ॥२५॥

एव मुपास्तिं कुर्वतः फल माह - **य इदमिति**। कल्ये उषसि महापुरुषलक्षणं जपति। स जप्त्वा हृदयगुहायां शेत इति हृदयगुहाशयं ब्रह्म जानाति, कुशेशय मितिवत् ॥२६॥

(विजयध्वजतीर्थरीत्याऽत्रैव दशमाध्यायस्य समाप्तिः)

(विजयध्वजतीर्थ रीत्या एकशोऽध्यायः आरभ्यते)

सर्वोपास्यत्वेऽपि आदित्यस्थस्यैव हरेर्गृहस्थैर्विशेषत उपास्तिः कर्तव्येति तत्स्थितिप्रकारं कथयत्यस्मिन्नध्याये। तत्र शौनकः पृच्छति - **शुक** इति। शुको भगवा न्विष्णुराताय पृथङ्नामरूपादिसप्तको गणो मासि मासि नानानामानं सूर्यं भगवन्तं निषेवमाणः सौरैः सूर्यस्य विद्यमाने स्यन्दने रथे नाना वसति। "तथा अन्ये च ऋषयो गन्धर्वाप्सरसो नागाः" (भाग. 1-21-18) इत्यादि पञ्चमस्कन्धे यदाह ॥२७॥

तदा तेषां पृथङ्नामानि पृथक्कर्माणि चानुक्तानि अतः श्रद्धधानानां नोऽस्माकं तानि ब्रूहीत्यन्वयः सूर्यात्मनः सूर्यान्तर्यामिणो हरेः व्यूहं स्थितिविशेषञ्च वद। सूर्यात्मनो हरेः परितः स्थितं तेषां व्यूहं पृथक् पृथक् इति शेष,इति वा ॥२८॥

---

1 W omits इत्यर्थ । 2 W "शमा". 3 W omits इत्यर्थ 4-4 W omits

अयं कल्पो हरेर्बुद्धिपूर्वं प्रणीतत्वात् न मिथ्याभूत इति भावेनाऽऽह - **अनादीति**। लोकं तन्त्रयति व्यापारयतीति लोकतन्त्रो लोकप्रवृत्तिहेतुरयं सूर्यादिः लोकेषु परि परितो वर्तते उदयादिनिमित्तव्यापाराय उदयादिकं गच्छतीत्यर्थः। कीदृशः? सर्वदेहिनामात्मनो विष्णोः अनाद्यविद्यया करणशून्यच्छया निर्मितः, "सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" (मना.उ.6-3) इति श्रुतेः ॥२९॥

सरतीति सूर्य इति, सूरिप्राप्यत्वा त्सूर्य इति तच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य तदेकाधीनत्वान्मुख्यकर्ता हरिः एक एवेत्याह - **एक एवेति**। लोकाना मुभयेषां आत्मा "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" इति श्रुतिः दिनस्यादिकृत् "कृती च्छेदने" इति धातोः दिनादिच्छित् अस्तकर्ता च "प्रातरुत्थायाऽथ सन्ध्यामुपासीन" इति श्रुतेः, सर्ववेदोक्तक्रियामूल मत एव ऋषिभिर्बहुधोदितः, उदित मिति पाठे तत्स्वरूपं नानात्वेन कथितम्। अत्र द्वादशसूर्येष्वेकः स्वयं हरि, रन्यत्राऽन्तर्यामित्वेनेति विशेषः ॥३०॥

नानात्वमुपपादयति - **काल** इति। अजया मायया अनाद्यविद्यया नवधोक्तः। कालः प्रातरादिः, देशः समादिः, क्रिया अनुष्ठानं, कर्ता ब्राह्मणादिः, कारण मिन्द्रियं, कार्यं देहः, द्रव्यं चर्वादि, भूतपञ्चकं वा, आगमो वेदादिशास्त्रं फलं स्वर्गादि, कालादिषु स्थित्वा तत्कर्मकारकत्वेन कालादिशब्दवाच्यत्वेन नवधा हरिरुक्तः इति ज्ञातव्यम् ॥३१॥

एक एव हरिः सर्वं प्रेरयतीत्युक्तं तत्प्रकारं दर्शयति **मध्वादिष्विति**। कालरूपधृक् भगवान् लोकतन्त्राय लोकव्यापाराय मध्वादिषु चैत्रादिषु द्वादशसु मासेषु द्वादशभिर्गणैर्द्वादशविधकालगुणैः पृथक्पृथक् चरतीत्यन्वयः ॥३२॥

**धाता कृतस्थली हेति वासुकी रथकृन्मुने।**
**पुलस्त्य स्तुम्बुरुरिति मधुमासं नयन्त्यमी ॥३३॥**

**अर्यमा पुलहोऽथौजाः प्रहेतिः पुञ्जिकस्थली।**
**नारदः कच्छनीरश्च नयन्त्येते स्म माधवम् ॥३४॥**

**मित्रोऽत्रिः पौरुषेयोऽथ तक्षको मेनका हहाः।**
**रथस्वन इति होते शुक्रमासं नयन्त्यमी ॥३५॥**

**वसिष्ठो वरुणो रम्भा सहजन्यस्तथा हुहूः।**
**शुक्रश्चित्रस्वनश्चैव शुचिमासं नयन्त्यमी ॥३६॥**

---

1--1 AB omit. 2 A,B 'शगणै. 3 H V कच्छ' 4 M Ma हा' 5 M Ma हू' 6 W शुक'

इन्द्रो विश्वावसुः श्रोता एलापुत्रस्तथाऽङ्गिराः।
प्रम्लोचा राक्षसाश्चर्यो नभोमासं नयन्त्यमी ॥३७॥

विवस्वा नुग्रसेनश्च व्याघ्र आसारणो भृगुः।
अनुम्लोचा शङ्खपालो नभस्याख्यं नयन्त्यमी ॥३८॥

पूषा धनञ्जयो वातः सुषेणः सुरुचिस्तथा।
घृताची गौतमश्चेति तपोमासं नयन्त्यमी ॥३९॥

ऋतुवर्चा भरद्वाजः पर्जन्यस्सेनजित्तथा।
विश्व ऐरावतश्चैव तपस्याऽऽख्यं नयन्त्यमी ॥४०॥

**श्रीध०** तानेव गणानाह **धातेति** द्वादशभिः धाता सूर्यः। कृतस्थली अप्सरा। हेती राक्षसः वासुकिर्नागः। रथकृद्यक्षः पुलस्त्य ऋषिः। तुम्बुरुर्गन्धर्वः। मधुमासं चैत्रम्। नयन्ति अनुवर्तयन्ति ॥३३॥

**अर्यमेति**। अर्यौजा यक्षः पाठान्तरे जात इति। प्रहेतो राक्षसः, नारदो गन्धर्वः, कञ्जनीसे नागः, पाठान्तरे कच्छनीर इति। माधवं वैशाखम् ॥३४॥

**मित्र इति**। मित्रः सूर्यः, पौरुषेयो राक्षसः, रथस्वनो यक्षः, शुक्रमासं ज्येष्ठम् नयन्ति अनुवर्तयन्ति ॥३५॥

**वसिष्ठ इति**। वरुणःसूर्यः, सहजन्यो यक्षः, शुक्रो नागः, चित्रस्वनो राक्षसः शुचिमासमाषाढमासम् ॥३६॥

**इन्द्र इति**। इन्द्रः सूर्यः, विश्वावसुः गन्धर्वः, श्रोता यक्षः, एलापुत्रो नागः, चर्यो राक्षस इति स्वयमेव व्याख्यातम्, नभोमासं श्रावणम् ॥३७॥

**विवस्वान् इति**। विवस्वान् सूर्यः, उग्रसेनो गन्धर्वः, व्याघ्रो राक्षसः, आसारणो यक्षः भृगुः ऋषिः, अनुम्लोचा अप्सरा शङ्खपालो नागः, नभस्याख्यं भाद्रपदम् ॥३८॥

**पूषेति**। धनञ्जयो नागः। वातो राक्षसः। सुषेणो गन्धर्वः। सुरुचिर्यक्षः। तपोमासं माघम्। मासक्रमातिलङ्घनं तु कौर्मोक्तादित्याऽनुक्रमानुसारेण। वैष्णवे तु मासक्रमेणैवोक्तिः। क्वचिन्नामव्यत्ययस्तु कल्पभेदेनेति ज्ञेयम् ॥३९॥

---

1 A B G J M Ma पत्र°. 2 A B G J °सो वर्यो M Ma °स स्वर्यो 3 A B G H J V °तुर्वचा M Ma °तुर्वची 4 4 H V omit. 5 5 A B omit. 6 A B कच्छ. 7--7 A B omit 8--8 A B omit 9 A B °दम् 10 A B °ः 11 A B °ः 12--12 A B omit 13 H 14 A b °ोक्ति

**ऋतुरिति**। क्रतुः (ऋतुः) यक्षः। वर्चा राक्षसः। वर्च इति पाठान्तरे। पर्जन्यः सूर्यः। सेनजिदप्सराः। विश्वो गन्धर्वः। ऐरावतो नागः। तपस्याख्यं फाल्गुनम् ॥४०॥

**वीर०** के पुनस्ते प्रतिगणं समगणिन इन्द्रप्राऽऽह - **धातेत्यादिना**। धाता आदित्यः, कृतस्थली अप्सराः, हेती राक्षसः, वासुकिः भुजगः, रथकृद्यक्ष , हेमुने! शौनक! पुलस्त्य ऋषिः, तुम्बुरुर्गन्धर्वः इत्येवं सप्त मधुमासं चैत्रमासं नयन्ति स्वस्वकर्मभिः सूर्यं गमयन्तीत्यर्थः। मधुमासमित्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया। एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् ॥३३॥

**अर्यमेति**। अर्यमा सूर्यः, पुलहः ऋषि , रथौजाः यक्षः, प्रहेतिः राक्षसः, पुञ्जिकस्थली अप्सराः, नारदो यक्षः गन्धर्वः कच्छनीरो नागः, एते माधवं वैशाखमासम् ॥३४॥

मित्रः सूर्यः, अत्रि ऋषि , पौरुषेयो राक्षसः, तक्षको नागः, मेनका अप्सराः, हाहाः गन्धर्वः, रथस्वनो यक्षः, शुक्रमासं ज्येष्ठमासम् ॥३५॥

वसिष्ठः ऋषिः, वरुणः सूर्यः, रम्भा अप्सराः, सहजन्यो यक्षः, हूहूर्गन्धर्वः, शुक्रो नागः, चित्रस्वनो राक्षसः, शुचिमासम् आषाढमासम् ॥३६॥

इन्द्र सूर्यः विश्वावसुर्गन्धर्वः श्रोता यक्षः, एला(प) पुत्रो नागः, अङ्गिरा ऋषिः, प्रम्लोचा अप्सराः, चर्यो राक्षसः नभोमासं श्रावणमासम् ॥३७

विवस्वान् सूर्य , उग्रसेनो गन्धर्व , व्याघ्रो राक्षसः, आसारणो यक्षः, भृगुः ऋषिः, अनुम्लोचा अप्सराः शङ्खपालो नागः, नभस्याख्यं भाद्रपदं मासम् ॥३८॥

पूषा सूर्यः, धनञ्जयो नागः, वातो राक्षसः, सुषेणो गन्धर्वः, सुरुचिर्यक्षः, घृताची अप्सराः, गौतम ऋषिः, तपोमासं माघमासम्। मासक्रमविलङ्घनन्तु कूर्मोक्तादित्यक्रमानुसारेण, यद्वा, मासक्रमो न विवक्षितः, यथा गणिनां, अथवा अर्थक्रमानुरोधेन पूषेत्यादिश्लोकद्वयं तदनन्तरश्लोकद्वयात्परतो योज्यं, त्वष्टेत्यादि श्लोकद्वयन्तु तत्पूर्वश्लोकद्वयात्पूर्वं योज्यम् ॥ ३९॥

क्रतुवर्चा राक्षसः, भरद्वाजः ऋषिः, पर्जन्यः सूर्यः, सेनजित् अप्सराः, विश्वो गन्धर्वः ऐरावतो नागः, तपस्याख्यं फाल्गुनं मासम् ॥४०॥

**विज०** इदानीं तेषां नामान्याह - धातेत्यादिना। धाता सूर्यः, कृतस्थली अप्सराः, हेतिः राक्षसः, वासुकिः

---

1- -1 A omits . 2 W omits शौनक। 3- -3 W omits 4- -4 W omits 5 W omits एते. 6 AB वर्यो

नागः, रथकृत्तक्षा, पुलस्त्यः ऋषिः, तुम्बुरुर्गन्धर्वः, अमी धात्रादयो मधुमासं नयन्ति, ते उक्तक्रियाप्रवर्तकत्वेन तन्मास मतिपारयन्ति ॥३३॥

अर्यमा सूर्यः पुलहः ऋषिः-, अथौजाः तक्षा, प्रहेतिः राक्षसः, पुञ्जकस्थली अप्सराः, नारदो गन्धर्वः, कच्छनीरो नागः, एते माधवमासाधिपतिं माधवनामानं नयन्ति शरणं प्राप्योपासते। एव मुत्तरत्राऽप्यनुसन्धेयम् ॥३४॥

मित्रः सूर्यः, अत्रिः ऋषिः, पौरुषेयो राक्षसः, तक्षको नागः, मेनका अप्सराः, हाहा गन्धर्वः, रथस्वन स्तक्षा ॥३५॥

वसिष्ठ ऋषिः, वरुणः सूर्यः, रम्भा अप्सराः, सहजन्यो राक्षसः हूहू र्गन्धर्वः, शुक्रोनागः, चित्रस्वन स्तक्षा ॥३६॥

इन्द्रः सूर्यः, विश्वावसु र्गन्धर्वः, स्रोता तक्षा, एलापत्रो नागः, अङ्गिरा ऋषिः, प्रम्लोचा अप्सराः, स्वर्यो नाम राक्षसः ॥३७॥

विवस्वानादित्यः, उग्रसेनो गन्धर्वः, व्याघ्रो राक्षसः, आसारगणस्तक्षा, भृगुः ऋषिः, अनुम्लोचा अप्सराः शङ्खपालो नागः ॥३८॥

पूषा आदित्यः, धनञ्जयो नागः, वातो राक्षसः, सुषेणस्तक्षा, सुरुचिर्गन्धर्वः, घृताची अप्सराः, गौतम ऋषिः ॥३९॥

ऋतु रप्सराः वर्चा गन्धर्वः, भरद्वाज ऋषिः, पर्जन्य आदित्य , सेनजिनक्षा, विद्यो राक्षसः, ऐरावतो नागः ॥४०॥

**अथांऽशुः कश्यपस्तार्क्ष्य ऋतसेन स्तथोर्वशी।**
**विद्युच्छत्रुर्महाशङ्खः सहोमासं नयन्त्यमी ॥४१॥**

**भगः स्फूर्जोऽरिष्टनेमि रूर्णा आयुश्च पञ्चमः।**
**कर्कोटकः पूर्वचित्तिः पौषमासं नयन्त्यमी ॥४२॥**

**त्वष्टा ऋचीकतनयः कम्बलाश्वस्तिलोत्तमा।**
**ब्रह्मापेतोऽथ शतजित् धृतराष्ट्रइषम्भराः ॥४३॥**

**विष्णु रश्वतरोरम्भा सूर्यवर्चाश्च सत्यजित्।**
**विश्वामित्रो मखापेत ऊर्जमासं नयन्त्यमी ॥४४॥**

**एता भगवतो विष्णोरादित्यस्य विभूतयः।**
**स्मरतां सन्ध्ययोर्नृणां हरन्त्यंहो दिने दिने ॥४५॥**

---

1 MMa पुञ्जि°, 2 M.Ma धृ°, 3 M.Ma °हु°, 4 A B G J पुष्यमास M Ma महाव्याख्य 5 A B G J M Ma °लक्षति°, 6 M.Ma *: वर्चोश, 8 M.Ma °की; 9 M.Ma °त्र मुखा एत, 10 H V मया

द्वादशस्वपि मासेषु देवोऽसौ षड्भिरस्य वै ।
चरन् समन्तान्नुदते सप्तहं च सनातिम् ॥४६॥

सामगैर्यजुर्भिः स्तुतिभिः ऋषयः संस्तुवन्त्यमुम् ।
गन्धर्वास्तं प्रगायन्ति नृत्यन्त्यप्सरसोऽग्रतः ॥४७॥

उन्नह्यन्ति रथं नागा ग्रामण्यो रथयोजकाः ।
चोदयन्ति रथं पृष्ठे नैर्ऋता बलशालिनः ॥४८॥

**श्रीध० अथेति**। अंशुस्सूर्य । अंश इति वा पाठः । तार्क्ष्यो यक्षः, ऋतसेनो गन्धर्वः । विद्युच्छत्रू राक्षसः, महाशङ्खो नागः, सहोमासं मार्गशीर्षम् ॥४१॥

**भग इति**। भगस्सूर्यः । स्फूर्जो राक्षसः । अरिष्टनेमिर्गन्धर्वः । ऊर्णो यक्षः, आयु र्ऋषिः, कर्कोटको नागः पूर्वचित्तिः अप्सराः ॥४२॥

**त्वष्टेति**। त्वष्टा सूर्यः, ऋचीकतनयो जमदग्निः, कम्बलाश्वो नागः, ब्रह्मापेतो राक्षसः, शतजिद्यक्षः, धृतराष्ट्रो गन्धर्वः । इषम्भरा आश्वयुजपालकाः ॥४३॥

**विष्णुरिति**। विष्णु रादित्यः, अश्वतरो नागः, सूर्यवर्चा गन्धर्वः, सत्यजिद्यक्षः, मघापेतो राक्षसः, ऊर्जमासं कार्तिकं मासम् । एते चादित्यादयः कौर्मे विभज्योक्ताः "धाताऽर्यमा च मित्रश्च वरुणश्चेन्द्र एव च । विवस्वानथ पूषा च पर्जन्यश्चांऽशु रेव च । भगस्त्वष्टा च विष्णुश्च आदित्या द्वादश स्मृताः । पुलस्त्यः पुलहश्चाऽत्रिर्वसिष्ठोऽथाङ्गिरा भृगुः । गौतमोऽथ भरद्वाजः कश्यपः क्रतुरेवच । जमदग्निः कौशिकश्च मुनयो ब्रह्मवादिनः । रथकृर्चोरिष्टनेमिः ग्रामणीश्च रथस्वनः । रथचित्रस्वनः श्रोता अरुणः सेनजित्तथा । तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च ऋतजित्सत्यजित्तथा । - एते यक्षाः । अथ हेतिः प्रहेतिश्च पौरुषेयो वध स्तथा । वर्योव्याघ्रस्तथा यश्च वायुर्विद्युद्दिवाकरः । ब्रह्मापेतश्च विप्रेन्द्रा यज्ञापेतश्च राक्षसाः । वासुकिः कच्छनीरश्च तक्षकः सर्पपुङ्गवः । एला पत्र शशङ्खपालस्तथैरावतसंज्ञितः । धनञ्जयो महापद्मस्तथा कर्कोटको द्विजाः । कम्बलोऽश्वतरश्चैववहन्त्येमं यथाक्रमम् । तुम्बुरु र्नारदो हाहा हू हू विश्वावसु स्तथा । उग्रसेनो वसुरुचि र्विश्वावसुरथापरः । चित्रसेनस्तथोर्णायुर्धृतराष्ट्रो द्विजोत्तमाः । सूर्यवर्चा द्वादशेति

---

1--1 AB omit, 2--2 HV omit, 3 AB 'लोना', 4 AB आश्विन, 5 AB मखा, 6 HV 'कम्, 7--7 HV कृच्च रथोजारश्च, 8--8 HV सहजन्यस्सतः, 9--9 HV सारणः सुरजित्तथा, 10--10 HV क्रतुस्तर्क्ष्योऽथ ऊर्जश्च शतजि, 11 HV रथस्वनः, 12--12 HV चर्यो व्याघ्रो मरुद् चौ विद्युस्फूर्जस्तथैवच, 13 HV 'न्द्र, 14 HV add पाठान्तरे वर्यरति, 15--15 HV शुक्र एव च, 16 HV पु 17 AB शङ्ख 18--18 HV 'लास्वश्वास्तरो 19 HV ते 20 HV add पाठान्तरो कम्बनीर इति 21--21 HV ॰नस्सुषेणश्च विश्वोऽथऋतसेनक

गन्धर्वा गायतां वराः। कृतस्थल्यप्सरो वर्या तथाऽन्या पुञ्जिकस्थली। मेनका सहजन्याच प्रम्लोचा च द्विजोत्तमाः। अनुम्लोचा घृताची च विश्वाची चोर्वशी तथा। अन्या च पूर्वचित्तिः स्या दन्याचैव तिलोत्तमा। रम्भा चेति द्विजश्रेष्ठा स्तथैवाऽप्सरसः स्मृताः" इति ॥४४,४५॥

एतेषां पृथक्कर्माणि निरूपयति **द्वादशस्वपीति** त्रिभि । असौ देव सूर्य षड्भिर्गन्धर्वादिभि अस्य जनस्य समन्ताच्चरन् शुभां मतिं तनुते। गायत्र्यर्थोऽनेन सूचितः ॥४६॥

**सामेति**। तल्लिङ्गैः सूर्यप्रकाशकैः ॥४७॥

**उन्नह्यन्तीति**। उन्नह्यन्ति दृढं बध्नन्ति। ग्रामण्यो यक्षा । नैर्ऋता राक्षसा ॥४८॥

**वीर०** अंशुमान् सूर्यः, कश्यपः ऋषिः, तार्क्ष्यो यक्षः, क्रतुमेनो गन्धर्व , ऊर्वशी अप्सराः, विद्युच्छत्रुः राक्षसः, महाशङ्खो नागः, सहोमासं मार्गशीर्षं नयन्ति ॥४१॥

भगस्सूर्यः, स्फूर्जो राक्षसः, अरिष्टनेमिर्गन्धर्व , ऊर्णो यक्ष , आयु ऋषि , कर्कोटको नाग , पूर्वचित्ति अप्सरा , पुष्यमासं पौषमासं नयन्ति ॥४२॥

त्वष्टा सूर्यः, ऋचीकतनयः जमदग्नि ऋषिः, कम्बलाश्वो नाग , तिलोत्तमा अप्सरा , ब्रह्मापेतो राक्षस , क्रतुचित्रयक्ष , धृतराष्ट्रो गन्धर्वः, इषम्भराः - एते आश्विनमासनिर्वाहकाः ॥४३॥

विष्णुरादित्यः, अश्वतरो नागः, रम्भा अप्सराः, सूर्यवर्चा गन्धर्व , सत्यजित्यक्ष , विश्वामित्र ऋषि , सत्यापेतो राक्षस ऊर्जमासं कार्तिकमासं नयन्ति ॥४४॥

अथ व्यूहसमूह (निरूपण) मुपसंहरन् तत्स्मरण फलमाह - **एता** इति। हे विप्र आदित्यस्वरूपिण भगवत एता स्समाख्याताः विभूतयः ताः सन्ध्ययोः स्मरतां नृणामंह पाप हरन्ति ॥४५॥

अथैषां पृथक्कर्माण्याह त्रिभिः - **द्वादशस्वपीति**। असावादित्यरूपो देवो द्वादशस्वपि मासेष्वेभि उक्तै षड्भि प्रतिगणमादित्येन विना षड् भवन्तीति षड्भि रित्युक्तम्। तेन सह सप्त भवन्तीति तदभिप्रायेण "भाना वहति सप्तक" इत्युक्तं पुरस्तात्। यद्वा वालखिल्यगणेन सह सप्तत्वमिति तेन विनाऽत्र षड्भि रित्युक्तम्। प्रतिगणमादित्यकीर्तनन्तु नामभेदविवक्षया प्राधान्यविवक्षया वा विग्रहान्तरेण स्वान्तरात्मभूतभगवदुपासकत्वविवक्षया वेति विभावनीयम्। समन्तात्परित चरन् अस्य जनस्य इह लोके परत्र च लोके सद्गतिं शुभां गतिं तनुते। मन्मतिमिति पाठे इहाऽमुत्र श्रेयोविषया मतिं तनुते इत्यर्थ ॥४६॥

1- -1 W omits ; 2- -2 W omits; 3 W omits नयन्ति, 4 W omits अथ, 5 5 W आदित्यस्य, 6 W omits ती

सामभिः ऋग्भिः यजुर्भिश्च तल्लिङ्गैः सूर्यप्रकाशकैरमुं सूर्यमृषयः स्तुवन्ति ॥४७॥

नागाः रथमुन्नह्यन्ति दृढं बध्नन्ति। ग्रामण्यो यक्षाः, नैर्ऋताः राक्षसाः, पृष्ठे पश्चाद्रथं चोदयन्ति गमयन्ति प्रेरयन्ति ॥४८॥

विज० अंशुरादित्यः कश्यपऋषिः, तार्क्ष्यस्तक्षा, धृतसेनो गन्धर्वः, उर्वशी अप्सराः, विद्युच्छत्रुः राक्षसः, महाशङ्खो नागः ॥४१॥

भग आदित्यः, स्फूर्जो राक्षसः, अरिष्टनेमिः ऋषिः, ऊर्णो गन्धर्वः, आयु स्तक्षा, कर्कोटको नागः पूर्वचित्तिरप्सरा ॥४२॥

त्वष्टा आदित्यः, ऋचीकतनयो राक्षसः, कम्बलाख्यो नागः, तिलोत्तमाऽप्सराः, ब्रह्मरात ऋषिः, शतजित्तक्षा, धृतराष्ट्रो गन्धर्वः, इषं बिभ्रतीति इषम्भराः इषमास प्रणेतार इत्यर्थः ॥४३॥

विष्णुरादित्यः, अश्वतरो नागः, रम्भाऽप्सराः, सूर्यवर्चो गन्धर्वः, अश्वो राक्षसः, सत्यक स्तक्षा, विश्वामित्र ऋषिः ॥४४॥

उपसंहरन्नेव तत्कथनप्रयोजनमाह - एता इति। आदित्यान्तर्यामिणो हरेः "ध्येय स्सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती" इति वचनमत्र प्रमाणम् ॥४५॥

एतदभिप्रेत्य पुनरपि लोकद्वयोपभोज्यफलमाह - द्वादशस्विति। द्वादशसु मासेषु षड्भिर्गणैः धात्रादीनृते षट्संख्यामुपगतैस्सह समन्ताच्चरन् देवोऽस्य सेवकस्येह परत्र च सन्मतिं निर्दुःखास्वानन्दानुभवलक्षणां तनुते यथायोग्यं विस्तृत्य ददातीत्यर्थः ॥४६॥

इदानीं तेषां कर्म. गाह - सामे ।, सामर्ग्यजुर्भिस्तल्लिङ्गैस्तल्लक्षणैः तत्तच्चगमकैः वाक्यैर्वा उन्नह्यन्ति सम्यक्नियोजयन्ति। ग्रामण्यस्तक्षाणः, नैर्ऋता राक्षसाः ॥४७,४८॥

**वालखिल्यास्सहस्राणि षष्टिर्ब्रह्मर्षयोऽमलाः।**
**पुरतोऽभिमुखं यान्ति स्तुवन्तस्स्तुतिभिर्विभुम् ॥४९॥**

**एवं ह्यनादिनिधनो भगवान् हरिरीश्वरः।**
**कल्पे कल्पे स्वमात्मानं व्यूह्य लोकानवत्यजः ॥५०॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
द्वादशस्कन्धे एकादशोऽध्यायः ॥११॥

---

1 W omits ; 2 M Ma वियो ; 3 A B G J W स्तुवन्ति स्तु ; 4 H V लोकं नयत्यज . M Ma लोकांस्तपत्यज

**श्रीध०** किञ्च, **वालखिल्या इति**। एवं प्रतिमासं त एव स्तुवन्ति। विभुम् सूर्यं ॥४९॥

**एवमिति**। व्यूह्य विभज्य ॥५०॥

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्याया एकादशोऽध्याय ॥११॥

**वीर० वालखिल्या** इति। पुरतोऽभिमुखं सूर्यमावृत्य स्थित्वा तेन सह यान्ति गच्छन्ति विभुं सूर्यं स्तुतिभिः स्तुवन्ति स्तुतीः कुर्वन्ति चेत्यर्थः ॥४९॥

उपसंहरति - **एवमिति** । अनादिनिधनः आद्यन्तरहित नित्यो यो भगवानित्थं प्रतिकल्पं स्वमात्मानं प्रकृतिपुरुष शरीरकं स्वमात्मानं व्यूह्य एकादशगणरूपेण विभज्य लोकान्नयति स्वे स्वे कर्मणि प्रवर्तयति ॥५०॥

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां एकादशोऽध्याय ॥ ११ ॥

**विज०** एवं गणन मन्तरेणाऽन्येऽपि सन्तीत्याह - **वालखिल्या** इति ॥४९॥

अध्यायार्थ मुपसंहरति - **एवमिति**। तपति आवर्तयति ॥५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे परमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
द्वादशस्कन्धे एकादशोऽध्याय ॥११॥

**(श्रीविजयध्वजतीर्थरीत्या एकादशोऽध्यायः न समाप्तः)**

---

1 H.V एते, 2 H V omit स्तुवन्ति, 3 AB omit विभुं, 4 AB omit स्तुतिभि 5 AB स्तुतिः

# द्वादशोऽध्यायः

## सूत उवाच

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे ।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥१॥

एत द्वः कथितं विप्रा विष्णोश्चरितमद्भुतम् ।
भवद्भिर्यदहं पृष्टो नराणां पुरुषोचितम् ॥२॥

अत्र सङ्कीर्त्यते साक्षात् सर्वपापहरो हरिः ।
नारायणो हृषीकेशो भगवान्सात्त्वतां पतिः ॥३॥

अत्र ब्रह्म परं गुह्यं जगतः प्रभवाप्ययम् ।
ज्ञानञ्च तदुपाख्यानं प्रोक्तं विज्ञानसंयुतम् ॥४॥

भक्तियोगस्समाख्यातो वैराग्यञ्च तदाश्रयम् ।
पारीक्षितमुपाख्यानं नारदाख्यानमेव च ॥५॥

प्रायोपवेशो राजर्षे र्विप्रशापात्परीक्षितः ।
एकस्य ब्रह्म' ।भस्य संवादश्च परीक्षितः ॥६॥

योगधारणयोत्क्रान्तिः संवादो नारदाजयोः ।
अवतारानुगीतञ्च सर्गः प्राधानिकोऽग्रतः ॥७॥

विदुरोद्धवसंवादः क्षत्तृमैत्रेययोस्ततः ।
पुराणसंहिताप्रश्नो महापुरुषसंस्थितिः ॥८॥

## श्रीश्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्वादशे तु पुराणोक्तसर्वार्थानुक्रमः कृतः । प्रथमस्कन्धमारभ्य प्राधान्येन समासतः ॥

तदेवमस्मिन् पुराणे विस्तरेणोक्तानर्थान् संक्षेपतो वर्णयिष्यन् धर्मादीन्प्रणमति - **नम** इति। महते हरि भक्तिलक्षणाय

---

1--1 A B G J M Ma वक्ष्ये सनातनान् . 2 A B G J "र्तिते . 3 H V अनादिनिधनो . 4--4 H V अत्र ते परमं . MMa यत्तद्ब्रह्मपरं . W यच्च ब्रह्मपरं . 5 H V विश्वस्य . 6 MMa सदुपां . W साधूपा" . 7--7 H V व्याख्यातो भक्तियोगश्च . MMa भक्तियोगश्च व्याख्यातो . 8 W "ता . 9 H V सर्गप्रा" 10 H V "स्तथा

ब्राह्मणेभ्यो ब्राह्मणान्[1] शाश्वतान् अनादीन्, धर्मानित्युपलक्षणम् पुराणोक्तार्थानाम् ॥१॥

**एतदिति**। नराणां[2] जीवानां[2] पुरुषत्वे उचितं श्रवणादियोग्यम् ॥२॥

एतत्प्रपञ्चयति - **अत्रेति**। भगवानैश्वर्यादिषड्गुणक[3] साक्षात्सङ्कीर्त्यते[4] इति देवताकाण्डार्थः ॥३॥

ब्रह्मकाण्डार्थमाह - **अत्र ब्रह्मेति**। गुह्यं निर्गुणम्। प्रभवाप्ययं प्रभवत्यस्मादिति प्रभवम्। अप्येत्यस्मिन्नित्यप्ययं तच्च तच्च। अनेनाश्रयशब्दार्थो दर्शितः। विज्ञानसंयुतमपरोक्षज्ञानपर्यन्तं ज्ञानम्। तदुपाख्यानं तज्ज्ञानमुपाख्यायते प्रकाश्यते येन तज्ज्ञानसाधनमित्यर्थः ॥४॥

कर्मकाण्डार्थमाह - **व्याख्यात** इति। भक्तियोगश्च साध्यसाधनरूप । तदाश्रयं भक्तियोगेन निष्पादितम्। एवं सामान्यतो निरूप्य इदानीं द्वादशस्कन्धप्रकरणार्थाननुक्रामति। पारीक्षितमुपाख्यानं परीक्षिज्जन्मादि तत्प्रस्तावाय नारदाख्यानञ्च ॥५॥

**प्रायोपवेश** इति।[6]ब्रह्मर्षभस्य ब्राह्मणोत्तमस्य इति प्रथमस्कन्धार्थ ॥६॥

**योगेति**। उत्क्रान्तिरर्चिरादिगतिः। प्राधानिकः प्रधानकार्यविगड्रूप सर्ग[8] । अग्रतः आदितो महदादिक्रमेणेत्यर्थः। इति द्वितीयस्कन्धार्थः ॥७॥

**विदुरेति**। महापुरुषस्य संस्थितिः प्रलये तूष्णीमवस्थानम् ॥८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदेवं कार्त्स्न्येन शान्तां बुभुत्सामालक्ष्य सुखग्रहणाय आदित प्रबन्धार्थान् सङ्ग्रहेणाऽनुक्रमिष्यन् तावदस्य प्रबन्धरूपस्य[7] महावाक्यस्यार्थो नारायण एव वेदान्तवेद्यो जगत्कारणभूत ब्रह्मशब्दाभिधेय इति प्रवक्तु[8] स्वगुरुदेवता नमस्कारपूर्वकं प्रतिजानीते **नम** इति। कृष्णशब्देनाऽत्र भगवान्नारायणो बादरायणो वा विवक्षितः। तत्राऽऽद्ये धर्माय सिद्धरूपधर्माय कृष्णाय, द्वितीये धर्मप्रवर्तकाय कृष्णाय, भगवद्भक्तिलक्षणधर्माय चेति वा। वेधसे ब्रह्मणे चतुर्मुखाय ब्राह्मणेभ्यो[9] नारद बादरायणश्रीशुकादिभ्यः शाश्वतानविच्छिन्नोपदेश परम्पराप्राप्तान् धर्मानितत्प्रबन्धप्रतिपाद्यान् भागवतान् धर्मान् वक्ष्यामि, सङ्ग्रहेणेति शेषः ॥१॥

महावाक्यार्थमाह - **एतदिति**। एतत्कथितं परमाद्भुत पुराण विष्णोश्चरितं चारित्रप्रतिपादकं तद्विशिनष्टि - यत्प्रत्यहं भवद्भिः पृष्टः यच्च नराणां जीवानां पुरुषोचितं पुरुषत्वे मनुष्यत्वे मति उचितं श्रवणादियोग्यम् ॥२॥

विष्णोश्चरित्रत्वमेवोपपादयति - **अत्रेति**। अत्र पुराणे श्रवणमात्रेण सर्वाणि पापानि हरतीति तथा हरिराश्रितबन्धहरः

---

1 A.B.J स्नातनाम्, 2-2 A.B.J omit. 3 ABJ °गुण 4 A B J °र्तित 5 B J ब्राह्मणं 6 H V omit सर्ग 7 A B °न्धस्य 8 W omits प्र. 9 W °तथ

इन्द्रियाधीशः भगवान् षाड्गुण्यपरिपूर्णः भक्तपालकः श्रीनारायणः कीर्त्यते ॥३॥

तमेव विशिनष्टि - **यदिति**। गुह्यं वेदान्तरहस्यं जगतः प्रभवाप्ययं प्रभवत्यस्मादिति प्रभवम्, अप्येत्यस्मिन्निति अप्ययं तच्च तच्च तत्सृष्टिसंहारकारणमित्यर्थः। अथवा, अवान्तर वाक्यार्थाननुक्रमिष्यं स्तावत्प्रथमस्कन्धार्थाननुक्रमते - **द्वयेन ज्ञानमिति**। अत्रेत्यनुषज्यते। साधूपाख्यानं साधूनां भवतामुपाख्यानं प्रश्नात्मकमुपाख्यानं विज्ञानसंयुतं ज्ञानञ्च प्रोक्तम्। तत्र ज्ञानं प्रकृतिपुरुष विवेचनात्मकं, विज्ञानं परमात्मस्वरूपगुणविचारात्मकम् ॥४॥

तदाश्रयं भक्तियोगाङ्गं वैराग्यञ्च समाख्यातम्। पारीक्षितं परीक्षिज्जन्मादिः तावत्तत्प्रस्तावाय नारदस्याऽऽख्यानञ्च ॥५॥

राजर्षेः परीक्षितो विप्रशापात्प्रायोपवेशश्च व्याख्यातशब्दस्याऽनुषक्तस्य यथायोग्यलिङ्गेन विपरिणतस्य प्रथमान्तै - म्सम्बन्धः। अथ द्वितीय स्कन्धार्थाननुक्रमति मार्धेन शुक्रस्येति। ब्रह्मर्षभस्य ब्राह्मणोनमस्य शुकस्य परीक्षिता सहैं संवाद इति कृत्स्नस्कन्धार्थः ॥६॥

तदल[illegible] **योगधारणयेति**। उत्क्रान्ति र्चिरादिना गतिः नारदाऽजयोर्नारदचतुर्मुखयोः संवादः तत्राऽप्यव ताराणामनुगीतमनुयायिनम्। अनुचरितमिति पाठे अवतारास्तदनुचरितञ्च अग्रतः व्यष्टिसृष्टेः पूर्वं प्राधानिकः प्राकृतः सर्गः महदादितत्त्वसर्गः ॥७॥

अथ तार्तीयार्थाननुक्रामति - षड्भिः। **विदुरोद्धवसंवाद** इत्यादि तृतीयतुरीयस्कन्धद्वयस्वरूप प्रदर्शनं, पुराणात्मिका या संहिता तस्याः प्रश्नः तदर्थप्रश्नः महापुरुषस्य भगवतः संस्थितिः सम्यक् प्रलयेऽवस्थानम् ॥८॥

## श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

उपसंहारमुखेनाऽनुसन्धातुं द्वादशस्कन्धात्मकं भागवतार्थं संक्षिप्य कथयत्यस्मिन्नध्याये **एतद्व** इत्यादिना। एतद्विष्णोश्चरितं तद्वक्तव्यत्वे हेतुमाह - भवद्भिरिति। प्रश्नेन विस्मितं सूचयति - नगाणामिति। नगाणां मध्ये सतां पुरुषाणां मध्ये श्रोतुमुचितम्। अनेन अधिकारसामर्थ्यं सूचितम् ॥१,२॥

श्रोतव्यार्थे मुख्यहेतुमाह - **अत्रेति**। अत्र श्रीभागवते कस्मान्मुख्यत्वं अत्राऽह - सर्वेति। वृत्रादिसर्वपापहन्तृत्व मिन्द्रस्याऽप्यस्तीति अत उक्तं नारायण इति। नाऽयं साङ्केतिकनारायण इत्याह - हृषीकेश इति। हृषीकाणामीशो जीवोऽपि स्या दत आह भगवानीति। ऐश्वर्यादिगुणसमुद्रो हि भगवान्, एवं विधो नाऽन्य इत्याह सात्त्वतां पतिरिति ॥३॥

सगुणमेवोक्तं निर्गुणमतं नेत्याह - **यत्तदिति**। जगतः प्रभवाप्ययकृत् यत्परं गुह्यं ब्रह्मतत्प्रोक्तं तद्विषये ज्ञानं सता मुपाख्यानं येन तत् ॥४॥

---

1 W ब्राह्मणम् . 2 AB चय

सा भक्तिराश्रयो यस्य तत्तदाश्रयम्। अत्रेत्येतत्प्रतिवाक्य मनुसन्धातव्यम् ॥५,६॥

योगधारणया अखण्डस्मरणलक्षणया नारदाजयोर्नारदब्रह्मणोः अवताराणामनुगीतं कथनं प्राधानिकः प्रकृतिसर्गः सिसृक्षुत्वविशेषः ॥७,८॥

ततः प्राकृतिकस्सर्गस्सप्त वैकृतिकाश्च ये।[1]
ततो ब्रह्माण्डसम्भूतिर्विराजः पुरुषो यतः ॥९॥

कालस्य स्थूलसूक्ष्मस्य गतिः पद्मसमुद्भवः।[2]
भुव उद्धरणाम्भोधेर्हिरण्याक्षवधो यतः[3] ॥१०॥

ऊर्ध्वतिर्यगधस्सर्गो[5] रुद्रसर्गस्तथैव च।
अर्धनारीनरस्याऽथ यतः[6] स्वायम्भुवो मनुः ॥११॥

शतरूपा च या स्त्रीणा माद्या प्रकृतिरुत्तमा।
सन्तानो धर्मपत्नीनां कर्दमस्य प्रजापतेः ॥१२॥

अवतारो भगवतः कपिलस्य महात्मनः।
देवहूत्याश्च संवादः कपिलेन च धीमता ॥१३॥

नवब्रह्मसमुत्पत्तिर्दक्षयज्ञविनाशनम्।
ध्रुवस्य चरितं पश्चात् पृथोः प्राचीनबर्हिषः ॥१४॥

नारदस्य च संवादस्ततः प्रैयव्रतं[8] द्विजाः।
नाभेस्ततोऽनुचरितमृषभस्य[9] भरतस्य[9] च ॥१५॥

द्वीपवर्षसमुद्राणां[10] गिरि[10] नद्युपवर्णनम्।
ज्योतिश्चक्रस्य संस्थानं पातालनरकस्थितिः ॥१६॥

**श्रीध० तत** इति। प्राकृतिकः प्रकृतिभवो गुणक्षोभरूप। वैकृतिका महदादय, चकारादहंकाराश्च ये तेषां च सर्गः ॥९॥

---

1 M.Ma "कास्तथा। 2 W सत्व" 3 B G H J V "जेऽम्भोधे" 4 A B G J यथा 5 A B G H J V गवाक्सर्गो. 6 H V यत्र. MMa यथा". 7 H V चैव. 8 W व्रतो. 9- -9 H V "तभरतस्य र्षभस्य च W "तभरतस्यार्षभस्य च. 10- -10 W ततो द्वीपसमुद्रादिवर्णन"

**कालस्येति**। गतिः स्वरूपम्। उद्धरणे उद्धारणे ॥१०॥

**ऊर्ध्वेति**। अर्धाभ्यां नारी च नरश्च तस्य सर्गः ॥११॥

**शतरूपेति**। सन्तानो धर्मपत्नीनामिति नवब्रह्मसमुत्पत्तिरित्यस्याऽनन्तरं द्रष्टव्यम् इति तृतीयस्कन्धार्थः ॥१२,१३॥

चतुर्थस्कन्धार्थं माह **नवेति**। नवब्रह्मणां मरीच्यादीनां समुत्पत्तिः सन्तानः ॥१४॥

पञ्चमस्कन्धार्थं माह **नारदस्येति**। तत इति। ततः प्रैयव्रतं प्रियव्रतस्य चरितम् ॥१५॥

**द्वीपेति**। द्वीपाद्युपवर्णनं प्रथमं संक्षेपतस्ततो द्वीपादीनां ये गिरयो नद्यश्च तेषा मुपवर्णनम्। पाताल नरकादीनाञ्च स्थितिः। अनेनैव नरकनिवर्तक मजामिलोपाख्यानं गृहीतं ततः पराचीनम् ॥१६॥

**वीर०** प्राकृतिक प्रकृतिगुणक्षोभात्मकः ततो वैकृतिकाः सप्त महदहङ्कार भूतपञ्चकात्मका व्याख्याता इत्यर्थः। तत स्तेभ्यो वैकृतिकेभ्यो ब्रह्माण्डस्योत्पत्तिः तद्विशिनष्टि यतो यत्र ब्रह्माण्डे ब्रह्मा वैराजः पुरुषः चतुर्मुखाज्जात इत्यर्थः। स्थूलसूक्ष्मस्य परमाण्वादिवत्सरान्त सूक्ष्मस्थूल रूपेणाऽवस्थितस्य कालस्य गतिः सर्वेषां सत्वानां व्यष्टिभूतानामुत्पत्तिः अम्भोधेः भुव उद्धरणा उद्धरणम् ॥९,१०॥

ऊर्ध्वतिर्यगधस्सर्गः देवतिर्यगधोलोकसर्गः अर्धाभ्यां नारी नरश्च तयो स्समाहारः तत्तस्य सर्गः तद्विशिनष्टि - यतः यत्र नारीनरे स्वायम्भुवो मनुः ॥११॥

तस्य या पत्नी शतरूपा स्त्रीणामाद्या प्रकृतिगाकृतिरत एवोत्तमा तस्य नारीनरस्य सर्ग इति सम्बन्धः। ततः कर्दमस्य। धर्मपत्नीनामिति बहुवचनं पूज्याभिप्रायकम्। धर्मपत्न्या देवहूत्याः सन्तानः कलाऽनसूयादिनवकन्यकारूपः सन्तानः तथा कपिलाख्यस्य भगवतोऽवतारः, कपिलेन साकं देवहूत्यास्संवादश्चोक्त इत्यर्थः ॥१२,१३॥

अथ चतुर्थार्थाननुक्रामति - नवब्रह्म समुत्पत्तिरित्यादिना, नारदस्य च संवाद इत्यन्तेन। पञ्चमार्था ननुक्रमते प्रैयव्रत इत्यादिना, पातालनरकस्थितिरित्यन्तेन। द्विजा इति सम्बोधनम्। प्रैयव्रतः प्रियव्रतवृत्तान्तः आर्षभस्य भरतस्य चाऽनुचरितमिति सम्बन्धः ॥१४,१५॥

द्वीपादीनामुपवर्णनम् ॥१६॥

**विज०** प्राकृतिकः प्रकृतिविकृतः ते सप्त महदहङ्कार पञ्चभूतानीति। वैकृतिकाः इन्द्रियविषयाः यतो यत्र ब्रह्माण्डे ॥९॥

1 H V omit सर्गः. 2--2 H V omit. 3 H V omit ततः. 4 A B J 'लानां न' 5 A B J add स. 6 W omits ब्रह्मा. 7 W 'खो जात 8 W 'वाद

पद्मसमुद्भवो नाभेरिति शेषः, अम्भोधेः भुव उद्धरणा उद्धारः ॥१०॥

ऊर्ध्वतिर्यगधस्सर्गः देवतिर्यगसुरसृष्टिः अर्धनारीनरस्य ब्रह्मणः सकाशात्स्वायम्भुवो मनुर्यथोत्पन्नस्तथा ॥११॥

या स्त्रीणां मध्ये आद्या प्रकृतिः स्त्री सा शतरूपा च यथोत्पन्ना तथा ॥१२,१३॥

नवब्रह्मसमुत्पत्तिः नवप्रजापतीनां मरीच्यादीनां सकाशात्सृष्टिः तेषामुत्पत्तिर्वा ॥१४-१६॥

दक्षजन्म प्रचेतोभ्यस्तत्पुत्त्रीणाञ्च सन्ततिः।
यतो देवासुरनरा स्तिर्यङ्नागखगादयः ॥१७॥

त्वाष्ट्रस्य जन्मनिधनं पुत्रयोश्च दितेर्द्विजाः।
दैत्येश्वरस्य चरितं प्रह्लादस्य महात्मनः ॥१८॥

मन्वन्तरानुचरितं गजेन्द्रस्य विमोक्षणम्।
मन्वन्तरावताराश्च विष्णोर्हयशिरादयः ॥१९॥

कौर्मं मात्स्यं नारसिंहं वामनञ्च जगत्पतीः।
क्षीरोद मथनं तद्वदमृतार्थे दिवौकसाम् ॥२०॥

देवासुरमहायुद्धं राजवंशानुकीर्तनम्।
इक्ष्वाकुजन्म तद्वंशे सुद्युम्नस्य महात्मनः ॥२१॥

इलोपाख्यानमत्रोक्तं तारोपाख्यानमेव च।
सूर्यवंशानुकथनं शशादाद्या नृपा यतः ॥२२॥

सौकन्यञ्चाऽथ शर्यातेः ककुत्स्थस्य च धीमतः।
खट्वाङ्गस्य च मान्धातुस्सौभरे स्सगरस्य च ॥२३॥

रामस्य कोसलेन्द्रस्य चरितं किल्बिषापहम्।
निमेरङ्गपरित्यागो जनकानाञ्च सम्भवः ॥२४॥

---

1 MMa त्पुत्राणाञ्च 2 W मस्थिति 3 A B G J M Ma ङ्नगा 4 B G J कथन 5 H V च 6 H V ग्रह 7 H V गादय 8 MMa कौर्म्मं. 9- -9 B G J धान्वन्तरं मात्स्य . 10 W मन्थन 11 MMa नार्थं 12 A B G J M Ma तद्वंश 13 H V चरित 14 B G J नृगादय . MMa नृपादय . 15 M Ma मथ शार्यातं 16- -16 M Ma कोसलेन्द्रस्य चरितमद्भुत किल्बिषापहम्

**श्रीध०** षष्ठ स्कन्धार्थमाह **दक्षजन्मेति** ॥१७॥

**त्वाष्ट्रस्येति**। सप्तम स्कन्धार्थमाह - पुत्रयोश्चेति ॥१८॥

अष्टमस्कन्धार्थमाह - **मन्वन्तरानुकथनमिति**। क्वचित्कस्यचिदनुक्तिर्व्युत्क्रमोक्तिश्च भक्तिरसानु कूलत्वेनेति द्रष्टव्यम् ॥१९,२०॥

**देवासुरेति**। नवमस्कन्धार्थमाह - राजवंशेति ॥२१-२४॥

**वीर०** षष्ठार्थाननुक्रामति सार्धेन **दक्षजन्मेति**। तत्पुत्रीणां दक्षपुत्रीणम्। ताः विशिनष्टि - यतो याभ्यो दक्षपुत्रीभ्यो देवादयो बभूवुरित्यर्थः ॥१७॥

त्वाष्ट्रस्य वृत्रासुरस्य जन्म, निधनं मरणञ्च अथ सप्तमार्थाननुक्रमति पुत्रयोश्चेति दैत्येश्वरस्येत्यर्धेन। हिरण्यकशिपोः प्रह्लादस्य चरितम् ॥१८॥

अष्टमार्थानाह **मन्वन्तरेत्यादिना** देवासुर महायुद्धमित्यन्तेन। विष्णोः हयग्रीवादयः मन्वन्तरेष्ववताराः ॥१९॥

तथा जगत्पते कौर्मादीनि रूपाणि दिवौकसां देवादीनाममृतार्थे क्षीरोदमन्थनम् ॥२०॥

नवमार्थाननुक्रमते - राजवंशानुकीर्तनमित्यादिना, वृद्धिश्च गोकुले इत्यन्तेन। अत्र क्वचित्कस्य चिदनुक्तिः व्युत्क्रमोक्तिश्च प्रसिद्धिकृतादनादरात् इति ज्ञेयम्। तद्वंशे इक्ष्वाकुवंशे ॥२१,२२॥

सौकन्यं सुकन्याचरितम् ॥२३,२४॥

**विज०** यतस्सन्ततेः देवासुरनरादयः आसन् ॥१७,१८॥

मन्वन्तरानुचरितं मन्वन्तरराजानुचरितम् ॥१९-२१॥

तारोपाख्यानं तारायाः देव्या उपाख्यानम् ॥२२॥

सौकन्यं सुकन्यायाश्चरितम्, ककुत्स्थस्य चरितम् ॥२३,२४॥

**रामस्य भार्गवेन्द्रस्य निःक्षत्रीकरणं भुवः।**
**ऐलस्य सोमवंशस्य ययातेर्नहुषस्य च ॥२५॥**

**दौष्यन्तेर्भरतस्याऽपि शन्तनोस्तत्सुतस्य च।**
**ययातेर्ज्येष्ठपुत्रस्य यदोर्वंशोऽनुकीर्तितः ॥२६॥**

---

1 W षाष्ठानर्था", 2 W क्रमते, 3- -3 W omits, 4- -4 W मन्वन्तरेति। 5- -5 W omits, 6- -6 W omits, 7- -7 W omits, 8 A B G J "क्षत्र", 9 H V "शानुकीर्तनम्

यत्राऽवतीर्णो भगवान्कृष्णाख्यो जगदीश्वरः।
वसुदेवगृहे जन्म तस्य वृद्धिश्च गोकुले ॥२७॥

तस्य कर्माण्युदाराणि कीर्तितान्यसुरद्विषः।
पूतनासुपयःपानं शकटोच्चाटनं शिशोः ॥२८॥

तृणावर्तस्य निष्पेष स्तथैव बकवत्सयोः।
* अघासुरासुसंहारः कस्य माया प्रदर्शनम्।
धेनुकस्य सहभ्रातुः प्रलम्बस्य च संक्षयः ॥२९॥

गोपानाञ्च परित्राणं दावाग्नेः परिसर्पतः।
दमनं कालियस्याऽहेः महाहेर्नन्दमोक्षणम् ॥३०॥

व्रतचर्या च कन्यानां यत्र तुष्टोऽच्युतो व्रतैः।
प्रसादो यज्ञपत्नीभ्यो विप्राणाञ्चाऽनुतापनम् ॥३१॥

गोवर्धनोद्धारणञ्च शक्रस्य सुरभेरथ।
यज्ञाभिषेकं कृष्णस्य स्त्रीभिः क्रीडा च रात्रिषु ॥३२॥

**श्रीध० रामस्येति**। सोमवंशादुद्भूतस्यैलस्य च ययातेर्नहुषस्य चरितम् ॥२५॥

**दौष्यन्तेरिति**। तत्सुतस्य भीष्मस्य ॥२६,२७॥

दशमस्कन्धार्थं माह - **तस्य कर्माणीति**। पूतनाया असुसम्बन्धिनस्य स्तन्यपयस पानम् ॥२८॥

**तृणावर्तस्येति**। सहभ्रातुः ससखस्य ॥२९-३१॥

**गोवर्धनेति**। यज्ञाभिषेकं यज्ञः पूजा अभिषेकाश्च, तयोर्द्वन्द्वैक्यम् ॥३२॥

**वीर०** अथ दशमार्थाननुक्रामति **तस्य कर्माणी**त्यादिना विप्रशापोपदंशेनेत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन ॥२५-२८॥

निष्पेषो वधः। अघासुरस्याऽसुसंहारः प्राणापहारः कस्य चतुर्मुखस्य स्वमाया प्रदर्शनं, सहभ्रातुः सबलस्य धेनुकस्य प्रलम्बस्य च संक्षयः वधः। परिसर्पतो दवाग्नेः सकाशाद्गोपानां परित्राणं दमनमनुशिक्षणम्।अहो इत्याश्चर्ये। नन्दस्य वरुणस्य

1 A B G J W ततो, 2 A B G J M Ma °ख्यपाराणि, 3 W °त्पाटन, 4 H V स्तदैव * This half verse is not found in AGJ MMa Editions 5 H V °रस्य, 6 W S होः, 7 A B G J तु, 8-8 M Ma व्रतै प्रभु, 9 H V विप्र° 10 W °स्याद्धारणम् श° 11 A B J °दिभू° 12-12 ABJ omit 13-13 H V °तस्तन्यपानम्, 14 A omits पूजा 15 W omits स्व

मोक्षणं, सकाशादिति शेषः। कन्यानां गोपकन्यानां व्रतचर्या, तां विशिनष्टि, यतो यस्यां व्रजैरच्युतस्तुष्टः यज्ञपत्नीभ्य इति चतुर्थ्यन्तं, प्रसादोऽनुग्रहः, शक्रस्येत्यस्य परिभवायेति शेषः, यज्ञाभिषेकः यज्ञः पूजा अभिषेकश्च, तयोर्द्वन्द्वैक्यम् ॥२९-३२॥

विज० सोमवंशोद्भवस्य ऐलस्येलाहमपुत्रस्य चरितम् ॥२५-३०॥

यत्र व्रतचर्यायम् ॥३१॥

यज्ञः पूजा अभिषेकः तयोर्द्वन्द्वैक्यम् ॥३२॥

शङ्खचूडस्य दुर्बुद्धेर्वधोऽरिष्टस्य केशिनः।
अक्रूरागमनं पश्चात् प्रस्थानं रामकृष्णयोः ॥३३॥

व्रजस्त्रीणां विलापश्च मथुरालोकनं ततः।
गजमुष्टिकचाणूरकंसादीनां तथा वधः ॥३४॥

मृतस्याऽऽनयनं सूनोः पुनस्सान्दीपनेर्गुरोः।
मथुरायां निवसता यदुचक्रस्य यत्प्रियम् ॥
कृतमुद्धवरामाभ्यां युतेन हरिणा द्विजाः ॥३५॥

जरासन्धसमानीतसैन्यस्य बहुशो वधः।
घातनं यवनेन्द्रस्य कुशस्थल्या निवेशनम् ॥३६॥

आदानं पारिजातस्य सुधर्मायाः सुरालयात्।
रुक्मिण्या हरणं युद्धे प्रमथ्य द्विषतो हरेः ॥३७॥

हरस्य जृम्भणं युद्धे बाणस्य भुजकृन्तनम्।
प्राग्ज्योतिषपतिं हत्वा कन्यानां हरणञ्च यत् ॥३८॥

चैद्यपौण्ड्रकसाल्वानां दन्तवक्त्रस्य दुर्मतेः।
शम्बरो द्विविदः पीठो मुरः पञ्चजनादयः ॥३९॥

माहात्म्यञ्च वधस्तेषां वाराणस्याश्च दाहनम्।
भारावतरणं भूमेः निमित्तीकृत्य पाण्डवान् ॥४०॥

1 ABGHJV चयो 2 ABGJMMa मधु 3 MMa पातन 4 HV ण तथा। 5 ABGJMMa शा

**श्रीध०** आदानमिति। द्विषतः शत्रून् प्रमथ्य ॥३३-३७॥

**चैद्य इति**। ये च शम्बरादयस्तेषां महात्म्यं प्रभावो वधश्च ॥३९,४०॥

**वीर०** गजः कुवलयापीडाख्यः। सान्दीपनेर्गुरोः पुत्रस्य मृतस्य पुनरानयनं, यमस्य सकाशादिति शेषः। मधुरायामिति। हे द्विजाः! उद्धवरामाभ्यां युतेन हरिणा मधुरायां निवसता यदूनां समूहस्य यत्प्रियं कृतं तच्च यवनेन्द्रस्य कालयवनस्य, कुशस्थल्यां द्वारकायाम् ॥३३-३६॥

सुधर्मायाश्चाऽऽदानमिति सम्बन्धः। द्विषतश्शत्रून् प्रमथ्य हरे र्हरिणा रुक्मिण्या हरणम् ॥३७॥

प्राग्ज्योतिषपतिं भौमम् ॥३८॥

ये शम्बरादयः तेषां माहात्म्यं, वधश्चेति सम्बन्धः ॥३९॥

निमित्तीकृत्य द्वारीकृत्य ॥४०॥

**विज०** दाहनं दहनम् ॥३३-४०॥

**विप्रशापापदेशेन संहारः स्वकुलस्य च।**
**वासुदेवस्य संवादो नारदेन सुरर्षिणा ॥**
**उद्धवस्य च संवादो वासुदेवस्य चाऽद्भुतः ॥४१॥**

**यत्राऽऽत्मविद्या ह्यखिला प्रोक्ता धर्मविनिर्णयः।**
**ततो मर्त्यपरित्याग आत्मयोगानुभावतः ॥४२॥**

**युगलक्षणवृत्तिश्च कलौ नृणामुपप्लवः।**
**चतुर्विधश्च प्रलय उत्पत्ति स्त्रिविधा तथा ॥४३॥**

**देहत्यागश्च राजर्षेर्विष्णुरातस्य धीमतः।**
**शाखाप्रणयनमृषेर्मार्कण्डेयस्य सत्कथा।**
**महापुरुषविन्यासस्सूर्यस्य जगदात्मनः ॥४४॥**

**इति चोक्तं द्विजश्रेष्ठा यत्पृष्टोऽहमिहास्मि वः।**
**लीलावतारकर्माणि कीर्तितानीह सर्वशः ॥४५॥**

---

1--1 W omits. 2 AB °पु. 3 AB °पु 4-4 W omits 5 HV 7 6-6 ABGJ W omit 7 MMa °या. 8 HV स्मृत, 9 MMa वधस्य, 10. AW °त

**पतितः स्खलितो वाऽर्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन् ।**
**हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात् ॥४६॥**

**सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्तः श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम् ।**
**प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवाऽतिवातः ॥४७॥**

**मृषागिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः ।**
**तदेव सत्यं तदुहैव मङ्गलं तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम् ॥४८॥**

**श्रीध०** एकादशस्कन्धार्थमाह- **विप्रशापेति** ॥४१॥

**यत्रेति**। धर्मविनिर्णयो वर्णाश्रमधर्मविनिश्चयः मर्त्यपरित्यागो मनुष्यत्वस्यान्तर्धानम् ॥४२॥

द्वादशस्कन्धार्थमाह - **युगेति**। युगलक्षणं तदनुरूपा वृत्तिश्चेत्यर्थः। त्रिविधा प्राकृतिकी नैमित्तिकी नित्या चेति ॥४३॥

**देहत्यागेति**। कर्षेर्व्यामस्य सूर्यस्य च विन्यास इत्यर्थः ॥४४॥

**इतीति**। इति चोक्तमिति चकारादन्यदपि वो युष्माभिरिह यत्पृष्टोऽस्मि तदुक्तमिति। ननु किमेवं नानार्थकथनेन तत्राऽऽह - लीलेति। सर्वश तत्तदर्थकीर्तनद्वारेणेत्यर्थः ॥४५॥

एतत्कीर्तनेनाऽपि किमित्यपेक्षायां तत्फलमाह द्वाभ्याम् **पतित** इति। पतितः कूपादिषु स्खलितः सोपानादिषु। आर्तो दुःखितः। क्षुत्त्वा क्षुतं कृत्वा विवशोऽपि ॥४६॥

**सङ्कीर्त्यमान** इति। सङ्कीर्त्यमानो यद्वा श्रुतोऽनुभावो यस्य स पुंसां चित्तं प्रविश्य निश्शेषं दुःखं विधुनोति। हीति सता मनुभवं प्रमाणयति। अर्को गिरिं गुहादिध्वान्तं न धुनोति निवर्तयति इत्यपरितोषा दृष्टान्तान्तरमाह- अतिवातोऽभ्रमिवेति ॥४७॥

हरिसङ्कीर्तनमेव महाफलं तद्व्यतिरिक्तं सर्वं मिथ्यालापमात्रमिति प्रपञ्चयति **मृषा गिर** इति चतुर्भिः। मृषागिरो मिथ्यावाचः। असतीरसत्यः। असतां कथा यासु ताः यद्यासु उत्तमश्लोकस्य यशोऽनु गीयत इति यत्तदेव सत्यं तदेव हि मङ्गलम्। उ ह इति हर्षे, भगवद्गुणानामुदयो यस्मात् तत् ॥४८॥

**वीर०** एकादशार्थाननुक्रमते - **विप्रशापेति** द्वाभ्याम्। अपदेशो व्याजस्तेन ॥४१॥

---

1 BGJ तत्राऽऽर्तः 2 HV ०र्ऽपि 3 HV कै 4 W स्तह्यं 5 ABJ omit ननु 6 ABJ तत् 7 HV omit धुनोति 8 ABJ omit निवर्तयति 9 HV तपस

**संवादं विशिनष्टि - यत्रेति**। धर्मविनिर्णयः वर्णाश्रमधर्म निर्णयः मर्त्यपरित्यागः, मर्त्यलोकपरित्यागः। भूमिपरित्याग इति पाठान्तरम् ॥४२॥

द्वादशार्था ननुक्रमते - **युगेति** (सार्धद्वयेन)। युगलक्षणानि तेषु वृत्तयश्च उपप्लवः कलिदोषैरुपद्रवः चतुर्विधः प्राकृतिको नैमित्तिकः आत्यन्तिको नित्यश्चेति चतुर्विधः। प्रलयः त्रिविधा प्राकृतिकी नित्या नैमित्तिकी चेति त्रिविधा, उत्पत्तिः ॥४३॥

विष्णुदत्तस्य परीक्षितः महापुरुषविन्यासः अङ्गोपाङ्गादिविन्यासः जगदात्मनः लोकयात्राप्रवर्तनेन नियामकस्य सूर्यस्य गणविभाग इत्यर्थः। इति चोक्तमिति चकारादन्यदपि। हे द्विजश्रेष्ठा ! वो युष्माभिः यत्प्रति अहं पृष्टोऽस्मि, तदुक्तम्। इतीत्थम्, इह पुराणे सर्वशः कार्त्स्न्येन हरेर्लीलारूपाणि अवतारकर्माणि एव कीर्तितानि ॥४४,४५॥

एतत्पुराण कथनश्रवणफलं वक्तुं भगवत्कीर्तन श्रवणानुभावमाह - **पतित** इति। क्षुत्त्वा क्षुत्कृत्य। श्रुत्वेति वा पाठः। तदा हरये नम इति श्रुत्वेत्यर्थः। हरये नम इत्युच्चैर्ब्रुवन्निति सम्बन्धः ॥४६॥

किञ्च। **सङ्कीर्त्यमान** इति। श्रुतोऽनुभावो यस्य तथा भूतो वा हरिः पुंसा सङ्कीर्तयता श्रृण्वता वा अन्तः चित्तं प्रविश्य अशेषं व्यसनं दुःखं, तद्धेतुदुरितं वा धुनोति। यथाऽर्कः सूर्यः तमो धुनोति। यथा वाऽतिवातः चण्डवायुरभ्रं धुनोति, तद्वत् ॥४७॥

किञ्च। भगवत्सङ्कीर्तनमेव महाफलं तद्व्यतिरिक्तं सर्वं मिथ्यालापमात्र मिति प्रपञ्चयति चतुर्भिः **मृषागिर** इति। यद्वा। भगवानधोक्षजो न कथ्यते न प्रतिपाद्यते ता मृषागिरः मिथ्यावाचः प्रत्युत असती रमत्यः दोषावहाः यद्भगवद्गुणानामुदयः प्रकाशो यस्मिन् तत् यत् वच तदेव सत्यं मङ्गलावहं पुण्यावहञ्च अन्यादगात्प्रतिपदं तच्छब्दप्रयोगः ॥४८॥

**विज०** यत्रोद्धववासुदेवसंवादे आत्मविद्या परमात्मविद्या अखिला अनुर्वीतत्सोका वर्णाश्रमविनिर्णयश्चोक्तः ॥४५,४६॥

युगलक्षणं, तदनुरूपा वृत्तिश्च उपप्लवो नाशः राजसादिभेदेनोत्पत्तिः त्रिविधा प्राकृतिकी, नैमित्तिकी, नित्या वा ॥४३॥

विष्णुदत्तस्य परीक्षितः महापुरुष विन्यासः महापुरुषस्य अङ्गोपाङ्गादि स्थितिविशेषः सूर्यस्य स्थितिश्च इति सर्वमपि पर्यन्तं सर्वमुक्तम् ॥४४,४५॥

क्षुत्त्वा क्षुतं कृत्वा ॥४६॥

अतिशयितो वातः अभ्रं सनीरं नीरदमिव ॥४७॥

---

1- -1 W omits 2- -2 W omits 3 W omits इत्यर्थः। 4 W omits 4 5 W omits इतीत्थम् 6 W omits एतत्, W 7 8 A B omit तत् यत्

अधोऽक्षजो भगवान् याभिर्गीर्भिः न कीर्त्यते, ता गिरोऽमन्कथाः मृषा निष्फलाः, असतीरसत्योऽमङ्गलाः। यद्वचो भगवद्गुणोदयं तदेव सत्यं यथोक्तफलम् ॥४८॥

तदेव रम्यं[1] रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णव शोषणं नृणां यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते[2] ॥४९॥

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत[3] कर्हिचित्[4]।
तद्ध्वाङ्क्षतीर्थं न तु हंससेवितं यत्राऽच्युतस्तत्र हि साधवोऽमलाः[5] ॥५०॥

स वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो[6] यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि[7]।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यच्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥५१॥

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनश्शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं[8] कर्म[9] यदप्यनुत्तमम् ॥५२॥

यशः श्रियामेव परिश्रमः परो वर्णाश्रमाचारतपःश्रुतादिषु।
अविस्मृतिः श्रीधरपादपद्मयोर्गुणानुवादश्रवणादिभिर्हरेः[10] ॥५३॥

अविस्मृतिः[11] कृष्णपदारविन्दयोः क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्र[12] भक्तिं ज्ञानञ्च[13] विज्ञानविरागयुक्तम् ॥५४॥

यूयं द्विजाग्र्या बत भूरिभागा यच्छश्वदात्मन्यखिलात्मभूतम्।
नारायणं देवमदेवमीशं[14] भजस्रभावा[15] भजताऽधिवेश्य[16] ॥५५॥

अहञ्च संस्मारित आत्मतत्त्वं श्रुतं पुरा मे परमर्षिवक्त्रात्।
प्रायोपवेशे नृपतेः परीक्षितः सदस्यृषीणां महताञ्च शृण्वताम् ॥५६॥

**श्रीध० तदिति**। नवं नवं यथा भवति तथा रुचिरं रुचिप्रदम्। महानुत्सवो यस्मात् ॥४९॥

उपक्रमोपसंहारयोः एकरूपता प्रदर्शनाय पूर्वोक्ता एव श्लोकाः पठ्यन्ते **नेति**। चित्राणि पदानि यस्मिन्। तदपि जग-

---

1 M Ma पुण्यं, 2 M Ma यशो', 3 B G J त', 4-4 M Ma यदि कर्हिचिद्वदेत्। 5 H V जना, 6 A W तद्वाग्वि', 7 B G J स 8 A B G J ह' 9 M Ma 'प्यकारणम्, 10 M Ma द 11 H V 'णादगदिभि, 12 B G J W 'मात्म, 13 H V विरक्ति' 14-14 H V 'मनन्वभावा, M Ma 'मवाह्य भावा, W 'मवाह्य भाजो 15 A B G J 'तावि W ताऽभि'

त्पवित्रयतीति तथा तद्धरेर्यशो न प्रगृणीत न वर्णयेत्, तद्वचो ध्वाङ्क्षतीर्थं काकतुल्यनराणां रतिस्थानं, न तु हंसैर्ज्ञानिभि स्सेवितम्। तत्र हेतुः यत्रेति ॥५०॥

**स इति**। स वाग्विसर्गः स एव वाचः प्रयोगो जनताघविप्लवो जनसमूहाघनाशकः। यद्यस्मात् तान्येवाऽन्यैः कीर्त्यमानानि शृण्वन्ति, श्रोतरि सति गायन्ति, नो चेत्स्वयमेव गृणन्ति ॥५१॥

इदानीं ज्ञानकर्मादरादपि भगवत्कीर्तनादिष्वेव आदरः कर्तव्य इत्याह त्रिभिः **नैष्कर्म्यमिति**। नैष्कर्म्यं ब्रह्म तत्प्रकाशकं यज्ज्ञानं यतो निरञ्जनमुपाधिनिवर्तकं तदप्यच्युतभक्ति वर्जितं चेत्, न शोभते नाऽपरोक्षपर्यन्तं भवतीत्यर्थ। ईश्वरे न चेदर्पितं तर्हि यदनुत्तमं सर्वोत्तममपि कर्म तदपि पुनः कुतश्शोभते। यतः शश्वत्साधनकाले फलकाले चाऽभद्रं दुःखात्मकम् ॥५२॥

किञ्च **यशश्श्रियामिति**। वर्णाश्रमाचारादिषु यः परो महान् परिश्रमः स यशो युक्तायां श्रियामेव। कीर्तिः सम्पत्तिश्च केवलं न परम पुरुषार्थं इत्यर्थः। गुणानुवादादिभिस्तु श्रीधरपादपद्मयोरविस्मृतिर्भवति ॥५३॥

ततः किमत आह - **अविस्मृति रिति**। क्षिणोति नाशयति ॥५४॥

अथेदानीं श्रोतृनात्मानं चाभिनन्दन्नाह **यूयमिति** द्वाभ्याम् हे द्विजाग्र्या! यद्यस्मात् आत्मन्यन्तःकरणे श्रीनारायण मधिवेश्य शश्वद्भजत। सम्भावनायां लोट्। अतो भूरिभागाः बहुपुण्या। कथम्भूतम्? अखिलात्मभूतं सर्वान्तर्यामिणम्। अत एव देवं सर्वोपास्यम्। अदेवम्, न देवोऽन्यो यस्य तम्। कुतः? ईशम्। यद्वा, यस्माद्यूयं भूरिभागाः तपआदिसम्पन्नाः ततो नारायणं भजतेति विधिः ॥५५॥

**अहमिति**। मे मया श्रुतम् ॥५६॥

**वीर०** रमणीयं नवं नवं रुचिरं रुचिजनकं तदेव शश्वत्सदा मनसो महोत्सव महानन्दकरं शोकार्णवस्य शोषणं किं तत् यद्यत्र उत्तमश्लोकस्य भगवतो यशोऽनुवर्ण्यते, भगवद्गुणोदयमित्युक्तत्वे प्यादगत्पुनरुक्तम् ॥४९॥

एत देव भङ्ग्यन्तरेणाऽऽह द्वाभ्याम् - **नेति**। यद्वचः चित्राणि पदानि यस्मिंस्तथाभूत मपि जगत्पावित्रं हरेर्यशः कीर्तिं न वक्ति न प्रतिपादयति, तद्वचः ध्वाङ्क्षतीर्थं काकतुल्यानां कामिनां रतिस्थानं, न तु हंससदृशैर्ज्ञानिभिः सेवितम्, तत्र हेतुः - यत्र प्रबन्धे, अच्युतः प्रतिपाद्य इति शेषः, तत्रैव ह्यमलाः निर्मलान्तःकरणाः माधवं रमन्त इति शेषः ॥५०॥

तद्वाग्विसर्गः स एव वाचः प्रयोगः जनतायाः जनसमूहस्य अघविप्लवः पापविनाशकः। कोऽसौ? यस्मिन्वाग्विसर्गे प्रतिश्लोकं अबद्धवत्यपि अबद्धप्रयुक्तेऽपि अनन्तस्य भगवतो यशसा अङ्कितानि यशः प्रकाशकानि नामानि वर्तन्ते, यत एव

---

1 A.B.J. सम्प्लवो, 2 H V "व अ", 3-3 H V omits फलकाले 4-4 H V कीर्तिः सम्पत्तिश्च 5 5 A B J पर पुरुषार्थ 6 H V "नन्दय" 7 A B J "माधि", 8. W omits रमणीय, 9 W omits भगवत 10 W अघ 11 W omits 'प'

मतस्साधवः तद्वाग्विसर्गं शृण्वन्ति, वक्तृसान्निध्ये श्रोतृसान्निध्ये सति कथयन्ति, तदुभयविरहे केवलं गायन्तीत्यर्थः ॥५१॥

विशुद्धज्ञानयोगनिष्ठाऽपि भगवदृणादिश्रवणादिविधुरं न शोभते, किम्पुनः कर्मयोगनिष्ठेत्याह - **नैष्कर्म्यमिति**। निर्गतं कर्म यस्मात्तत् निष्कर्म, तदेव नैष्कर्म्यम्, सकलकर्मबन्धध्वंसकमित्यर्थः। तन्निरञ्जनं प्रकृतिसम्बन्धध्वंसकम् अत एव निर्मलं ज्ञान मपि अच्युतभाववर्जित मच्युतगुणानुश्रवणाद्यभि सन्धिविधुरञ्चेत्, अलं नितरां न शोभते, ततः प्रच्युतिसम्भावनयेति भावः। यतो ज्ञानमेवाऽलं न शोभते, कुतः पुनः कर्म शोभेत? कथम्भूतम्? ईश्वरे न चाऽर्पितं नाऽर्पितं अत एव शश्वत्सदा अभद्र मनुष्ठान दशायाञ्च पतनशङ्कया दुःखावहम्। किं बहुना, यदप्यनुत्तमं सर्वोत्तम मपि कर्म कुतः पुनः शोभेत? अहैतुक मिति पाठे अनभिसंहितफलमर्पीत्यर्थः ॥५२॥

किञ्च, **यशःश्रियामिति**। यशोयुक्ता या श्रीः सम्पत् तस्यां निमित्तभूतायां, तदर्थमित्यर्थः। यो वर्णाश्रमधर्म तपोऽध्ययनादिषु, निष्ठाविशेष इति शेषः। स परो महान् परिश्रमः परिश्रमफलक एव यशःश्रियोः क्षयिष्णुत्वेन पुरुषार्था भासत्वा दिति भावः। तर्हि तस्य किं फल मित्यत्राऽऽह - गुणानुवादश्रवणादरादिभिः श्रीधरपादपद्मयो रविस्मृतिः, यदि वर्णाश्रमाचारादिषु निष्ठा तर्हि तया भगवदृणानुवादादिभिः भवितव्यं, ततस्तत्पादपद्मयोरविस्मृत्या एव श्रेयन्निष्ठा सफलेत्यर्थः ॥५३॥

किमविस्मृत्येत्यत आह - **अविस्मृतिरिति**। अभद्राणि दुःखनिमित्तानि दुरितानि धुनोति शमं शान्तिं रागाद्यकलुषिताञ्च तनोति। सत्त्वस्य शुद्धिं रजस्तमोभ्यामनभिभूतिं, सत्त्वगुणाभिवृद्धिमिति यावत्। ततः परमां भक्तिं प्रेमलक्षणां, ज्ञानं यथावस्थितभगवत्स्वरूपज्ञानं, [illegible] ज्ञानेन प्रकारज्ञानेन विरागेण तदितरविषयान्तरवैमुख्येन च युक्तं, तनोतीत्यनुषङ्गः ॥५४॥

यतो भगवदृणानुवादादिर्महाफलस्ततो यूयमहञ्च कृतार्था बभूविमेत्याह द्वाभ्याम्- **यूय मिति**। हे द्विजाग्र्याः! यूयं भूरिभागाः महाभाग्यवन्तः। कुतः? यत् यतः अबाह्यभाजः न बाह्यानि विषयान्तराणि भजन्तीति अबाह्यभाजः, बाह्यविषयचिन्तारहिता इत्यर्थः। नारायणमात्मनि हृदये अभिनिवेश्य तदृणश्रवणादिद्वारा मनसि स्थिरं कृत्वा अभजत, लोट् मध्यम पुरुषबहुवचनम्। कथम्भूतम्? अखिलानां अन्तरात्मभूतं देवं स्वतेजसा दीप्यमानम्, अदेवं यस्याऽऽराधनीयो देवो नाऽस्ति इति। तं अत एव ईशं सर्वनियन्तारम् ॥५५॥

यूयं महोपकर्तार इत्यभिप्रेत्याऽऽह - **अह मिति**। युष्माभिः संस्मारितम् आत्मतत्त्वमात्मतत्त्वप्रकाशकं पुराणं यस्य सोऽहं च कृतार्थ इति भावः। स्मृतेरनुभूतविषयज्ञानात्मकत्वात् केदं श्रुतं त्वयेत्यत्राऽऽह - श्रुत मिति। मे मया महर्षिवक्त्रात् श्रीशुकमुखात् महतामृषीणाञ्च शृण्वतां सतां परीक्षितः प्रायोपवेशे सभायां मया श्रुतमिति सम्बन्धः ॥५६॥

---

1. omits इत्यर्थः। 2. W omits इति 3-3 W omits

**विज०** पुनरपि स्तौति - **तदेवेति**। तदेव पुण्यं पुण्यकरं रुचिरं सुन्दरं महानुत्सवो येन त तथा ॥४९॥

न यद्वच इत्यादिश्लोकत्रयं व्याख्यातार्थम् ॥५०-५२॥

ननु वर्णाश्रमाचारादिना निःश्रेयसं स्यात् वर्णाश्रमाचारयुतो गृहस्थोऽपि विमुच्यत इत्यतोऽच्युतभावेन किं? तत्राऽऽह - **यश इति**। यद्यच्युतभाववर्जितस्तर्हि वर्णाश्रमाचारतपःश्रुतादिषु परः परिश्रमः यश श्रियामेवाऽर्थे न त्वात्यन्तिकसिद्धये भवति। ननु अच्युतभावःकेन स्या दत्राऽऽह - अविस्मृतिरिति। गुणानुवादश्रवणादिभिरुद्धतान्यभक्तेः पुंसः श्रीधरपादपद्मयोः अविस्मृतिः निरन्तराभ्यासलक्षणं स्मरणं भवति ॥५३॥

सा कर्तुः किं करोति फलमित्याह - **अविस्मृतिरिति**। मन्त्रस्याऽन्त करणस्य ॥५४॥

यूयमबाह्यभावा अनन्यभक्ताः। अदेवं देवेभ्योऽन्यं नारायणं देव मात्मनि मनसि अधिवेश्य भजतेति यद्यस्मात्तस्मात् भूरिभागा अतिभाग्यवन्तः ॥५५॥

अहश्च भूरिभाग इति ध्वनयति - **अहश्चेति**। भवद्भिरहश्चात्मतत्त्वं संसारितः ममाऽपीदमात्मतत्त्वमाम्नायतः प्राप्त मित्याह - श्रुतमिति। प्रसङ्गोऽप्यनुकूल इत्याह - प्रायेति ॥५६॥

एत द्वःकथितं विप्राः कथनीयोरुकर्मणः।
माहात्म्यं वासुदेवस्य सर्वाऽशुभविनाशनम् ॥५७॥

य एवं श्रावयेन्नित्यं यामक्षणमनन्यधीः।
* श्रद्धावान् योऽनुशृणुयात् पुनात्यात्मानमेव सः ॥५८॥

द्वादश्यामेकादश्यां वा शृण्व न्नायुष्यवा न्भवेत्।
पठत्यनश्नन् प्रयतः पूतो भवति पातकी ॥५९॥

पुष्करे मधुरायाश्च द्वारवत्यां यतात्मवान्।
उपोष्य संहितामेतां पठित्वा मुच्यते भयात् ॥६०॥

देवतामुनयस्सिद्धाः पितरो मनवो नृपाः।
यच्छन्ति कामान् गृणतः शृण्वतो यत्र ऽत कीर्तिताः ॥६१॥

---

1 W विष्णोः. 2 A य एतच्छ्रा M Ma यश्च मन्त्रा * An additional half verse is found only in H V Editions श्लोकमेकं तदर्धं वा पादं पादार्धमेव वा. 3 M Ma यश्च शृ 4 W च 5 H V पठदनश्नन् M Ma पठन्नश्न W पाठन्यनन्य 6 A B G J तनो 7 A B G J M Ma "त्वपातकी H V "ति किल्बिषी 8 A B G J M Ma "धु 9--9 W ऋषय पितरो 10 M Ma बहुलान् 11 11 A B G J यस्य कीर्तनात् H V यत्र कीर्तिता

ऋचो यजूंषि सामानि द्विजोऽधीत्यानुविन्दते।
* मधुकुल्या घृतकुल्याः पयःकुल्याश्च तत्फलम् ॥६२॥

पुराणसंहितामेतामधीत्य [illegible]तो द्विजः।
प्रोक्तं भगवता यत्तु तत्पदं परमं व्रजेत् ॥६३॥

विप्रोऽधीत्याऽऽप्नुयात् प्रज्ञां राजन्योऽम्बुधिमेखलाम्।
वैश्यो निधिपतित्वञ्च शूद्रः शुध्येत पातकात् ॥६४॥

**श्रीध०** एतत्पुराणकीर्तनादिफलं प्रपञ्चयितुमाह - **एतदिति** अष्टभिः ॥५७॥

**य इति**। यामक्षणं यामं क्षणञ्चेत्यर्थः। आत्मान मेव साक्षात्पुनाति, न तु स्नानादिव देहमात्रम् ॥५८-६१॥

**ऋच इति**। ऋगाद्यधीत्य द्विजो मधुकुल्यादि यदनुविन्दते तत्फल मेतां पठित्वा अनुविन्दत इति ॥६२॥

**पुराणमिति**। किञ्च - प्रोक्तमिति ॥६३॥

**विप्र इति**। राजन्य उदधिमेखलाम् पृथ्वीम् इति सन्धिरार्षः ॥६८॥

**वीर०** एत[illegible]राणकीर्तनादिफलं प्रपञ्चयति - अष्टभिः **एतदिति**। कथनीयानि उरूणि अपरिमितानि कर्मणि चेष्टितानि यस्य तस्य विष्णोर्वासुद[illegible]त्यप्रकाशकं वो युष्मभ्यं कथितमेतत्पुराणं सर्वाशुभविनाशकं कीर्तयतां सर्वामङ्गल विघातकम् ॥५७॥

श्रवणफलमाह - **य एव मिति**। यामं क्षणञ्चेत्यर्थः। स आत्मानं पुनात्येव ॥५८॥

कालविशेषयोगात्फलविशेषानाह - **द्वादश्या मिति**। यः पातक्यपि प्रयतः समहितचित्तः अनन्यः प्रयोजनान्तररहित-स्सन् पठति स पूतो भवति। अनश्नन्निति पाठान्तरम् ॥५९॥

**पुष्कर इति**। यतात्मवान् समाहितमनाः ॥६०॥

सर्वफलसाधनत्वं वदन् फलदानाह-देवतादय इति। येऽत्र पुराणेऽनुकीर्तिताः ते देवादयः गृणतः कथयतः शृण्वतो वा पुरुषस्य कामानिष्टार्थान् यच्छन्ति देवताद्यन्तर्यामी भगवान् यच्छतीति भावः ॥६१॥

---

*) The following half verse is found only in H V Editions Thus तत्फलं यदवाप्नोति शृण्वन्नेतां तु संहिताम्। 1 M Ma प्रोक्तां, 2 H V तेन M Ma विष्णोः, 3-3 H V यत्परं तत्पदं, 4 H V राज्ञां, 5 A B G H J V न्योदधि, 6 H V धनसमृद्धिञ्च, 7 H V "हादि", 8 H V अधीत्य, 9 W "नं, 10 W "णं वेत्य", 11 W पठेत्

फलातिशयमाह - **ऋच** इति। वेदत्रयमधीत्य यत्फलं प्राप्नुयात् मधुकुल्यादिभ्यो यत्फलं मध्वादिप्रवाह बुक्ताप्रदानात् यत्फलमित्यर्थः। तत्फलं प्राप्नुयात् ॥६२॥

किञ्च, एतां पुराणसंहितामधीत्य यद्भगवतो विष्णोः परमं पदं प्रोक्तं प्रतिपादितं तद्व्रजेत्प्राप्नुयात् ॥६३॥

अधिकारानुरूपान् फलविशेषानाह - **विप्र** इति। राजन्यः अम्बुधिमेखलां पृथ्वीं, शूद्रः श्रुत्वा पातकात् मुच्यत इत्यर्थः ॥६४॥

**विज०** यामं क्षणं च नान्यानन्तरितार्था द्वितीया आत्मानं मनः ॥५७,५८॥

कालविशेषमाह - **द्वादश्यामिति** ॥५९॥

देश विशेषमाह - **पुष्कर** इति। पुष्करे वराहक्षेत्रे, भयात् संसारभयात् ॥६०॥

अत्र ये देवादयः कीर्तिताः तेऽपि संहितापाठादि कुर्वतोऽभीष्टानि ददतीत्याह - **देवता** इति ॥६१॥

किञ्च, ऋगादीनि अधीत्य यत्फलं स्यात् तदेतत्संहितां अधीत्य स्यादित्याह - **ऋच** इति। मधुकुल्या मधुनद्यः, मधुनद्यादिकथनं सुखविशेषार्थम् ॥६२॥

न केवलं ऐहिकं फलं किन्तु मुक्तिरपीति कथयति - **पुराणेति**। यद्विष्णोः परमं पदम् तद्व्रजेत् ॥६३॥

अम्बुधिमेखलां भूमिम् ॥६४॥

**कलिमलसंहतिकालनोऽखिलेशो हरिरितरत्र न गीयते ह्यभीक्ष्णम्।**
**इह तु पुनर्भगवानशेषमूर्तिः परिपठितोऽनुपदं कथाप्रसङ्गैः ॥६५॥**

*** तमहमजमनन्तमात्मतत्त्वं जगदुदयस्थितिसंयमात्मशक्तिम्।**
**द्युपतिभिरजशक्रशङ्कराद्यैर्दुरवसितस्तवमच्युतं नतोऽस्मि ॥६६॥**

**△ उपचितनवशक्तिभिः स्व आत्मन्युपरचितस्थिरजङ्गमालयाय।**
**भगवत उपलब्धिमात्रधाम्ने सुरऋषभाय नमस्सनातनाय ॥६७॥**

**○ स्वसुखनिभृतचेता स्तद्व्युदस्तान्यभावोऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसार स्तदीयम्।**
**व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि ॥६८॥**

---

1. M.Ma omit फलं, 2 M Ma संसृति * अयं श्लोकः M Ma प्रकाशयोः सप्तपष्टितमत्वेन मुद्रितः। 3 M Ma तन्त्र, △ अयं श्लोकः M Ma प्रकाशयोः अष्टषष्टितमत्वेन मुद्रितः।, 4 M.Ma मपालनाय, ○ अयं श्लोकः M Ma प्रकाशयो षट्षष्टि। W प्रकाशे अशीति सङ्ख्या अङ्कित तद्व्याख्या च तत्रैव अस्ति। W.. प्रकाशे द्वादशोऽध्यायः अत्र समाप्तिं न नीत, अपि तु A B G J M Ma प्रकाशस्थित त्रयोदशोऽध्याय द्वादशाध्यायोत्तरभागत्वेन स्वीकृत। तथा च W प्रकाशे द्वादशस्कन्धे द्वादशैवाध्यायाः इति परिगणिताः।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्या अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
द्वादशस्कन्धे द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

**श्रीध०** अस्य पुराणस्यैवं प्रभावातिरेके कारणमाह - **कलिमलेति**। कलिमलानां संहतिं समूहं कालयति विनाशयतीति तथा। इतरत्र शास्त्रान्तरे ॥६५॥

शास्त्रप्रतिपादितं भगवन्तं नमस्करोति **तमिति** द्वाभ्याम्। जगदुदयस्थितिसंयमात्मनो रज आदय शशक्तयो यस्य तम्। द्युपतिभिर्देवैरपि दुरवसितः अविज्ञातः[1] स्तवः स्तोत्रं यस्य तम् ॥६६॥

**उपचितेति**। उपचिताभिः उद्रिक्ताभिर्नवशक्तिभिः प्रकृतिपुरुष महदहङ्कार पञ्चतन्मात्ररूपाभिः[2] स्वे आत्मन्येव उपरचितं स्थिरं जन्ममश्च आलयो यस्य तस्मै भगवते ॥६७॥

श्रीगुरुं नमस्करोति **स्वसुखेति**। स्वसुखेनैव निभृतं पूर्णं चेतो यस्य सः। तेनैव व्युदस्तोऽन्यस्मिन् भावो यस्य तथाभूतोऽपि अजितस्य श्रीकृष्णरुचिराभिः[3] लीलाभिः आकृष्टः सारः स्वमुखगतं स्थैर्यं यस्य सः। तत्त्वदीपं परमार्थप्रकाशकं श्रीभागवतं पुराणं[4] यो व्यतनुत नतोऽस्मीति ॥६८॥

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामि विरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

**वीर०** एतत्प्रबन्धस्योक्तविध प्रभावातिशयकारणं प्रबन्धान्तर वैलक्षण्यमाह - **कलीति**। कलिमलानां संहतिं कालयति विनाशयतीति तथा। सोऽखिलाना मीश्वरो हरिरितरत्र राजसादिप्रबन्धान्तरेषु अभीक्ष्णं पुनः पुनः न गीयते। अत्र तु तत्तत्कथाप्रसङ्गै रनुपदं पठितः प्रतिपादितः ॥६५॥

एतत्प्रबन्धप्रतिपादितं भगवन्तं नमस्करोति द्वाभ्याम् - **तमिति**। जगदुदयस्थितिलया जगदुदयादि हेतवः आत्मनः रजआदयशशक्तयो यस्य तं, देवैरप्यनवसितः स्तवः स्तोत्रं यस्य तं नतोऽस्मि[5] ॥६६॥

किञ्च उपचिताभिः ऋद्धियुक्ताभिः कालप्रकृतिमहदहङ्कार पञ्चभूतात्मिकाभिः[6] नवभिः शक्तिभिः[6] आत्मन्येव उपरचिताः स्थिराः[7] स्थावरा जन्ममाश्च आलयो यस्य तस्मै, उपलब्धिमात्र धाम्ने जाड्याप्रसङ्गरहित ज्ञानात्मकतेजःस्वरूपाय, सुरऋषभाय

---

1. A.B.J अज्ञातः, 2. A.B.J omit पञ्च, 3. A.B.J omit श्रीकृष्णस्य, 4. A.B.J omit पुराणं, 5. W omits नतोऽस्मि; 6-6. A.B "का नवशक्तयः ताभिः, 7. W omits स्थावराः

देवश्रेष्ठाय सनातनाय भगवते नम इति । अत्र क्वचिदध्यायसमाप्तिः क्वचिन्नेति द्रष्टव्यम् ॥६७॥

ग्रन्थान्ते स्वगुरुनमस्कारात्मकं मङ्गलमाचरति **स्वसुखेति**। स्वसुखं स्वान्त रात्मानुसन्धान सुखं तेन निभृतं पूर्णं चेतो यस्य सः, तेन स्वसुखेन व्युदस्तान्यभावः निरस्तभगवद्व्यतिरिक्तसङ्गः। अपिशब्दः समुच्चये। यद्वा सुलभतरसमाधितया साक्षात्कृतान्तरात्मस्वरूपोऽपि भगवल्लीलाभिराकृष्टचित्त इत्यर्थः। तदीयमजितस्वरूपरूपगुण विभूतिप्रकाशकं तत्त्वानां चिदचिद्गतानां मनारोपिताऽऽकाराणां दीपमिव प्रकाशक मत एवाऽखिलपापघ्नम्, इदं पुराणं यः कृपया व्यतनुत प्रकाशितवान् तं व्याससूनुं श्रीशुकं नतोऽस्मि ॥६८॥

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीवीरराघवविदुषा लिखितायां भागवत चन्द्रचन्द्रिकायां
व्याख्यायां द्वादशोऽध्याय ॥ १२ ॥

**विज०** इतरपुराणेभ्योऽस्य माहात्म्याधिक्यात् फलाधिक्यम् माहात्म्याधिक्यं च प्रतिपदं प्रत्यक्षरञ्च श्रीनारायणस्य गुणरागप्रतिपादकत्वेनेत्याह - **कलिमलेति**। कलिमलं संसारञ्च कालयति नाशयतीति कलिमल संसृतिकालन । इतरत्र पुराणेषु। इह पुराणे अशेषमूर्तिः कथाप्रसङ्गैः ॥६५॥

गुरुनमस्कारानन्तरं तदुपदिष्टस्वरूपं श्रीनारायणं नमति **तमिति**। यो भागवतस्याऽऽद्यपद्यमारभ्य प्रतिपादितस्तं नतोऽस्मीत्यन्वयः। जगदुदयादिषु आत्मशक्तिं स्वरूपशक्तिम्, आत्मतन्त्रं स्वतन्त्रम् अजं सर्वज्ञ देहवतेव ज्ञानोत्पत्ते अस्य तदभावात् स्वज्ञानेनैव सर्वं जानानीति देशतः कालतो गुणतश्चाऽनन्तं, द्युपतिभिर्ज्ञानपतिभिरजशङ्करादीः दु ग्वमितस्तवम् अनिश्चितस्तुतिम् अच्युतं मायानिमित्तच्युतिरहितम् ॥६६॥

उपचितनवशक्तिभिः मूलप्रकृतिमहदहङ्कारमनःपञ्चभूताख्यनवशक्तिभि आत्मनि स्वाधारतया उपचितयो स्थिरजङ्गमयो पालनं येन स तथा तस्मै उपलब्धिमात्रधाम्ने केवलज्ञानस्वरूपाय, मुग्धकृष्णाय, देवोत्तमाय, सनातनाय सदातनाय शब्दमात्रैकविषयाय नमः। अनेन श्लोकद्वयेन 'जन्माद्यस्य यत ' इत्यादेरर्थो दर्शित इति ॥६७॥

सूतो ग्रन्थावसानेऽपि गुरुनमस्कारं करोति - **स्वसुखेति**। स्वान्तस्थात् स्व परमात्मा तन्निष्ठ सुखं स्वसुखं तेन निभृतं पूर्णं चेतो यस्य स तथा। स्वरूप सुखञ्च निभृतज्ञानञ्च स्वसुख निभृतचेता । चेतो ज्ञानमिति वा। तेन सुखेन व्युदस्तान्यभावः निरस्तान्यविषयबुद्धिः तेन विज्ञानेन निरस्तान्यज्ञान इति वा। अपि कृतकृत्योऽपि अजितस्य हरे रुचिरया लीलया आकृष्टसारः

1 W omits इति 2 W omits श्रीशुक 3 AB omit पालन 4 A B omit सदातनाय

विवशीकृतचित्तस्थैर्यः तस्य हरेः सम्बन्धि अत एव तत्त्वदीपकं पुराणं व्यतनुत व्याख्यया विस्तृतवान् तं व्याससूनुं शुकं नतोऽस्मि ॥६८॥

सत्यं ज्ञान मनन्त मच्युत मजं निर्दुःख सौख्योदधिं निर्दोषामितवेदवेदितमहं वन्दे मुकुन्दं सदा ।
यद्भक्त्या कमलाब्जजेरगिरिशानन्तादि देवाः पदं सायुज्यं प्रसरन्त्यनेकविधया सत्यो विरत्या च तम् ॥
व्याख्या भागवतस्य कृष्ण रचिता त्वत्प्रीतिकामात्मना प्रीतश्चेत्प्रददासि तत्प्रतिनिधिं तन्नीन्वरिष्ये वरान् ।
प्राङ्निष्किञ्चनतां तव प्रतिभवं पादारविन्दात्मना संसक्तिं सुखतीर्थशास्त्रविजराहारस्य पारं तया ॥
पदरत्नावली कण्ठे राजतां हि सुरद्विषः । वनमालेव मालेव मौक्तिकी कृष्णवल्लभा ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
द्वादशस्कन्धे द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

**(श्रीविजयध्वजतीर्थरीत्या द्वादशोऽध्यायः न समाप्तः)**

# त्रयोदशोऽध्यायः

## सूत उवाच

* यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै -
वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुस्सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥१॥

पृष्ठे भ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयना
न्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः ।
यत्संस्कारकलानुवर्तनवशाद्वेलानिलेनाम्भसां
यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नाद्यापि विश्राम्यति ॥२॥

△पुराणसंख्यासम्भूतिमस्य वाच्यप्रयोजने ।
दानं दानस्य माहात्म्यं पाठादेश्च निबोधत ॥३॥

ब्राह्मं दश सहस्राणि पाद्मं पञ्चोनषष्टि च ।
श्रीवैष्णवं त्रयोविंशच्चतुर्विंशति शैवकम् ॥४॥

दशाष्टौ श्रीभागवतं नारदं पञ्चविंशतिः ।
मार्कण्डेयं नवाग्नेयं दशपञ्च चतुश्शतम् ॥५॥

चतुर्दश भविष्यं स्यात्तथा पञ्चशतानि च ।
दशाष्टौ ब्रह्मवैवर्तं लैङ्गमेकादशैव तु ॥६॥

चतुर्विंशति वाराहमेकाशीतिसहस्रकम् ।
स्कान्दं शतं तथाचैकं वामनं दश कीर्तितम् ॥७॥

कौर्मं सप्तदशाऽऽख्यातं मात्स्यं तत्तु चतुर्दश ।
एकोनविंशत्सौपर्णं ब्रह्माण्डं द्वादशैव तु ॥८॥

---

* W प्रकाशरीत्या द्वादशोऽध्याय अनुवर्तते । 1 W श्री . 2 H V न △ W adds सूत उवाच 3 M Ma "कम्। . 4-4 A B G J W मार्कण्ड नव वाह्नेय . 5. H V "भवत्, 6 A,B,G,J,M,Ma लिं . 7 M Ma दशख्यातं

## श्रीश्रीधरस्वामि विरचिता भावार्थदीपिका

त्रयोदशे पुराणानां संख्यामाह यथाक्रम्। दानं दानस्य माहात्म्यं श्रीमद्भागवतस्य च ॥

सर्वपुराणसंख्यादीनुपवर्णयिष्यन् तत्प्रतिपाद्यं देवं प्रणमति **यमिति**। स्तवैर्वेदैश्च स्तुन्वन्ति स्तुवन्ति उपनिषच्छब्दस्याऽकारान्तत्वं छन्दोनुरोधेन। ध्यानेनावस्थितं निश्चलं तद्गतं यन्मनस्तेन यस्याऽन्तं न विदुः सुरासुरगणाः ॥१॥

क्षीरोदमथनादौ दुर्ज्ञेयत्वमेव प्रदर्शयितुं कूर्मावतारमनुस्मारयन्नाशिषः प्रार्थयते **पृष्ठ** इति। पृष्ठे भ्राम्यन् अमन्दो यो मन्दरगिरिः गरिष्ठो मन्दराचलः तस्य ये ग्रावाणः तेषामग्राणि तैः कण्डूयनात् तेन सुखेन निद्रालोः निद्राशीलस्य येषां श्वासानिलानां संस्काराः तेषां कलाश्च लेशाः तदनुवर्तनवशात् जलनिधेरम्भसां यातायातं न विश्राम्यति। ननु समुद्रक्षोभादेव तत् न संस्कारवशात् तत्राऽऽह - वेलाक्षोभस्तस्य निभेन मिषेण ॥२॥

**पुराणेति**। पुराणसंख्यास्तासां सम्भृतिं समाहारश्चास्य तु श्रीभागवतस्य वाच्यं विषयः प्रयोजनश्च दानश्चतस्य पाठादेश्च माहात्म्यं निबोधत ॥३॥

**ब्राह्ममिति**। त्रायोविंशत् त्रयोविंशतिः वैष्णवम्। चतुर्विंशति चतुर्विंशतिः सहस्राणि शैवकम् शिवपुराणम् ॥४॥

**दशेति**। आग्नेय अग्निपुराणन्तु दशपञ्चसहस्राणि चत्वारि शतानि च ॥५,६॥

**चतुर्विंशतीति**। स्कान्दं शताधिकैकाशीतिसहस्रकम् ॥७॥

**कौर्ममिति**। सौपर्णं गरुडपुराण मेकोनविंशत् एकोनविंशतिः ॥८॥

## श्रीवीरराघवविदुषा लिखिता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

कियदेतत्प्रबन्धग्रन्थसंख्यापरिमाणमिति पुनर्बुभुत्सामालक्ष्य तद्वक्तुं तत्प्रसङ्गात्तावत्पुराणान्तराणि तत्परिमाणञ्च वक्तुं तावत् तत्प्रतिपाद्यं देवं प्रणमति - **य मिति**। यं ब्रह्मादयः स्तवैर्वेदैः स्तुन्वन्ति स्तुवन्ति। कथम्भूतैरङ्गादिभिः सहितैः। उपनिषच्छब्दस्याऽकारान्तत्वं छन्दोनुरोधात्। ध्यानेनाऽवस्थितं निश्चलञ्च तेन तद्गतेन मनसा यं योगिनः पश्यन्ति साक्षात्कुर्वन्ति सुरासुरगणा यस्यान्तं प्रभावेयत्तां न विदुः, अमृतमथनादौ इति शेषः ॥१॥(६८)*

दुर्विज्ञेयत्वमेव प्रदर्शयितुं कूर्मावतारमनुस्मरन् आशिषं प्रार्थयते **पृष्ठेति**। पृष्ठे भ्राम्यन्नमन्दो गरिष्ठो मन्दरगिरिस्तस्य ग्रावाणः तेषामग्राणि तैः कण्डयनात् तेन सुखेन निद्रालोर्निद्राशीलस्य भगवतः कमठाकृतेः कूर्मरूपस्य हरेः श्वासानिलाः श्वासवायवः

---

1 HV °स्मरन् . 2 HV °षं 3 Hv omit मन्दराचल . 4 B °णसहितानां सं . 5 HV °य . 6 HV दानस्य 7 A HV omit वैष्णव . 8 A B वाह्नन्तु . 9 W omit तावत् . 10 A B omit स्तुवन्ति . * अत्र कुण्डलीकृता क्रमसख्या W प्रकाशानुसारेण . 11 W omits तेन . 12--12 W omits

पान्तु। तान् विशिनष्टि - येषां श्वासानिलानां संस्कारः तेषां लेशः तदनुवर्तनवशाज्जलधेरम्भसां यातायातं गमनागमनं अतन्द्रितं यथातथा, अद्याऽपि न विश्राम्यति। ननु समुद्रक्षोभादेव तत् न संस्कारवशात्, तत्राऽऽह - वेलाच्छलेनेति। वेलाक्षोभः तस्य छलेन मिषेण ॥२॥(६९)

किञ्च **पुराणेति**। पुराणानां संख्यास्तासां सम्भूतिं समाहारश्चाऽस्य श्रीभागवतस्य वाच्यं विषय स्तत्प्रयोजनञ्च दानं पुस्तकदानं,दानस्य पाठादेश्च माहात्म्यं निबोधत शृणुत इत्यर्थ ॥३॥ (७०)

**ब्राह्ममिति**। वैष्णवम् त्रयोविंशत् त्रयेविंशति शैवम् चतुर्विंशति स्सहस्राणि ॥४॥ (७१)

वाह्नमाग्नेयं पुराणं, पञ्चदश सहस्राणि चत्वारि शतानि च ॥५॥ (६२)

(भविष्यं पुराणं चतुर्दशसहस्राणि पञ्च शतानि च) ब्रह्मकैवर्तं दशसहस्राण्यष्टौ (लैङ्गं) एकादशैव एकादश सहस्राण्येव ॥६॥ (७३)

स्कान्दं तु शताधिकैकाशीतिसहस्रम् ॥७॥ (६४)

सौपर्णं गारुडं पुराणम्। एकोनविंशत् एकोनविंशति सहस्राणि भारतरामायणे तु इतिहासौ, अतस्तयोरियत्ता नोक्ता ॥८॥ (६५)

**विज०** स्तवैर्वेदैश्च स्तुन्वन्ति स्तुवन्ति। उपनिषच्छब्दस्य अकारान्तत्वम्। ध्यानेनाऽवस्थित निश्चलं तद्गतं यन्मनः तेन यस्यान्तं न विदुः, सुरासुरगणा ॥१॥

पृष्ठे भ्राम्यन् अमन्दो गरिष्ठो मन्दरगिरिस्तस्य ग्रावाण तेषा मग्राणि तै कण्डूयनानेन मुखेन निद्रालो निद्रार्शालस्य येषां श्वासानिलानां संस्कारास्तेषां कलाश्च लेशास्तदनुवर्तनवशात् जलनिधेरम्भसा यातायातं न विश्राम्यति समुद्रक्षोभादेव तत्, न संस्कारवशात् तत्राऽऽह वेलाक्षोभस्तस्य निभेन मिषेण ॥२॥

पुराणसंख्यास्तासां सम्भूतिं समाहारं वा अस्य श्रीभागवतस्य वाच्य विषय प्रयोजन दानञ्च तस्य पाठादेश्च माहात्म्यं निबोधत ॥३॥

त्रयोविंशत् त्रयो विंशतिः, चतुर्विंशतिसहस्राणि शैवकं शिवपुराणम् ॥४॥

मार्कण्डेयं नव वाह्नन्त्विति वा पाठः, अग्निपुराणं दशपञ्च सहस्राणि चत्वारि शतानि ॥५,६॥

---

1 W 'नसं' 2 W omits इत्यर्थ 3 A B ब्रह्मवै

स्कान्दं शताधिकैकाशीतिसाहस्रम् ॥७॥

सौपर्णं गरुडपुराणं एकोनविंशत् एकोनविंशतिः ॥८॥

एवं पुराणसन्दोहश्चतुर्लक्ष उदाहृतः।
तत्राऽष्टादश साहस्रं श्रीभागवत मुच्यते ॥९॥

इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे।
स्थिताय भवभीताय कारुण्यात्सम्प्रदर्शितम् ॥१०॥

आदिमध्यावसानेषु वैराग्याख्यानसंयुतम्।
हरिलीलाकथाव्राताऽमृतानन्दितसत्सुरम् ॥११॥

सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम् ॥१२॥

प्रोष्ठपद्यां पौर्णमास्यां हेमसिंहसमन्वितम्।
ददाति यो भागवतं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

राजन्ते तावदन्यानि पुराणानि सतां गणे।
यावन्न दृश्यते साक्षाच्छ्रीमद्भागवतं परम् ॥१४॥

सर्ववेदान्तसारं यत् श्रीभागवतमिष्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नाऽन्यत्र स्याद्रतिः क्वचित् ॥१५॥

निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामच्युतो यथा।
वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा ॥१६॥

**श्रीध० एवमिति**। महाभारतन्त्विविहासः। रामायणञ्च ऋषिप्रोक्तं काव्यम्। अतः पुरणानां सन्दोहः समूहश्चतुर्लक्षसंख्याक एव। इदानीमस्य वाच्यप्रयोजनादीन् दर्शयितुमाह तत्रेत्यादिना ॥९,१०॥

**आदीति**। हरिलीलाकथानां व्रातस्समूहः स एवाऽमृतं तेनानन्दिताः सन्तः सुराश्च येन तत् ॥११॥

**सर्वेति**। तन्निष्ठं तद्विषयम् ॥१२॥

---

1 H.V. 'दौ', 2 A B G J M.Ma 'मिष्यते', 3 A B G J M Ma 'काशितम्', 4 A B G J M Ma प्रौ', 5 A B G J M Ma हि 6 H V 'मुच्यते', 7 H V तस्य वि'

**प्रौष्ठपद्यामिति**। **प्रौष्ठपद्यां**[1] भाद्रपद्याम्। हेमसिंहसमन्वितं[2] सुवर्णसिंहासनारूढम् ॥१३,१४॥

**सर्वेति**। तद्रस एवाऽमृतं तेन तृप्तस्य निर्वृतस्य ॥१५,१६॥

**वीर० एवमिति**। अतः पुराणानां सन्दोहः समूहः चतुर्लक्षसंख्याक एव। इदानीमस्य वाच्यादीन् दर्शयितुमाह तत्रेत्यादिना ॥९॥ (७६)

**इदमिति**। [3]भगवता श्रीनारायणेन[3] सम्प्रदर्शितं चतुःश्लोकरूपेणेति शेषः ॥१०॥ (७७)

यद्यप्यत्र आदिमध्यावसानेषु पृथगाख्यानैर्नानाविधैराख्यानैः संयुतं तथाऽपि सर्वत्र हरिलीलाकथानां व्रातस्समूह एव अमृतं तेनाऽनन्दिताः सन्तश्च सुराश्च येन तत् ॥११॥ (७८)

अनेन वाच्यं प्रधानं सूचितं, तत्स्पष्टमेवाऽऽह - **सर्वेति**। सर्ववेदान्तेषु यत् सारभूतं ब्रह्म आत्मा च तयोर्भावः ब्रह्मात्मत्वं स्वरूपतो गुणतश्च निरतिशयबृहत्वमन्तःप्रविश्य प्रशासनेन भर्तृत्वं च. तदेवैकं लक्षणस साधारणधर्मो यस्य तत्। यद्वा, ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणमिति ब्रह्मात्मशब्दवाच्यम्, यदेकं वस्तु तस्य भावस्तत्त्वं तल्लक्षणं यस्य तत् द्वितीयं स्वतुल्यवस्त्वन्तररहितं वस्तुप्रतिपाद्यो विषय इत्यर्थः। तन्निष्ठं तादृशवस्त्वधीनं कैवल्य प्रकृतिसम्बन्धराहित्यं मुक्तिरिति यावत् तदेवैकं प्रयोजनं दानपाठादिप्रयोजनं यस्य तत् ॥१२-१६॥ (७९)

*इतः परं श्रीवीराघव व्याख्या नास्ति । शेषं श्रीधरीयव्याख्यायामेव द्रष्टव्यम्*

*श्रीवीराघवीयरीत्या द्वादशोऽध्यायः समाप्यते।*

योऽसौ तुरङ्गवदनो हृदि सन्निविष्ट सञ्चोद्य बुद्धिमसकृत्कृपया स्वया मे ।
प्रालीलिरत्करतलेन्द्रियदैवतेन्द्र मूर्तिस्तमेन मनघं मनवै परेशम् ॥

योऽसौ पिशङ्ग परिधि वनमाल्युदारं मन्दस्मिताकलितवीक्षणवीक्षितेन ।
सञ्चोदितेन च मया परिदृष्टमूर्तिं । स्वप्ने तमेमि शरणं वसुदेवसूनुम् ॥

क्वेदं गभीरनिगमान्त (मोक्त) रहस्यमारम्। क्वाऽहं सुमन्दमति रत्र परं निदानम्।
वीक्षा यदीयकरुणाकलिता तमेव श्रीशैलदेशिकवरं शरणं गतोऽस्मि ॥
चिकीर्षाऽमोघा सा निरवधिकृपालोककलिता
यया यस्याम्यान्तं विवृतिरचनाया समगमम्।

1 H V omit भाद्रपद्याम् 2 H V स्वर्ण° 3-3 W omits

स एष श्रीशैलो गुरुरखिलविद्याजलनिधिः ममाध्यास्थां स्वान्तश्चरणयुगलीं सम्प्रकटयन् ॥

इति श्रीवत्सान्वयाब्धिः पारावाराकासुधाकरस्य सर्वविद्यानिधेः चक्रवर्तिनः
श्रीशैलगुरोः सुतेन तच्चरणकमलपरिचर्याप्रसादिततत्सूक्तिसमधिगत श्रीमद्भागवतार्थहृदयेन
श्रीवैष्णवदासेन श्रीवीराघवविदुषा लिखितायां श्रीमद्भागवत चन्द्रचन्द्रिकाख्यायां
श्रीमद्भागवतव्याख्यायां द्वादशस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

**विज०** पुराणानां सन्दोहः समूहः चतुर्लक्षसंख्याक एव ॥९,१०॥

हरिलीलाकथानां व्रातः स एवाऽमृतं तेनाऽऽनन्दिताः सन्तः सुराश्च येन तत्। तन्निष्ठं तद्विषयम् ॥११।

प्रौष्ठपद्यां भाद्रपद्यां हेमसिंहसमन्वितं स्वर्णसिंहासनारूढम् ॥१२,१३॥

तद्रस एवाऽमृतं, तेन तृप्तस्य ॥१४-१६॥

*क्षेत्राणाञ्चैव सर्वेषां यथा काशी ह्यनुत्तमा।
तथा पुराणव्रातानां श्रीमद्भागवतं द्विजाः ॥१७॥

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन् पारमहंस्य मेतदखिलं ज्ञानं परं गीयते।
यत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः ॥१८॥

कस्मै येन विभासितोऽय मतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा
तद्रूपेण च नरदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा ।
योगीन्द्राय तदात्मना च भगवद्रातायकारुण्यत -
स्तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि ॥१९॥

नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय साक्षिणे ।
य इदं कृपया कस्मै व्याचचक्षे मुमुक्षवे ॥२०॥

---

1 AB मम स्थातां . 2 AB कमल . 3-3 A omits * This verse is not found in H V W Edns 4 A B G J M Ma °कमल . 5 A B G J तत्र . 6 H V W °तै . 7 A B G J M Ma °नाऽथ

**योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे।**
**संसारसर्पदष्टं यो विष्णुरातममूमुचत् ॥२१॥***

**भवे भवे यथा भक्तिः पादयोस्तव जायते ।**
**तथा कुरुष्व देवेश नाथस्त्वं नो यतः प्रभो ॥२२॥**

**नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।**
**प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम् ॥२३॥**

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीवैयासिक्यां अष्टादशसाहस्र्यां
श्रीहयग्रीवब्रह्मविद्यायां पारमहंस्यां संहितायां
द्वादशस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

**श्रीध० श्रीमदिति**। पारमहंस्यं परमहंसैः प्राप्यम्। नैष्कर्म्यं सर्वकर्मोपरम । भक्त्या तच्छ्रवणादिपरो विमुच्यते ॥१७,१८

श्रीभागवतसम्प्रदाय प्रवर्तकरूपेण भगवद्ध्यानलक्षणं मङ्गलमाचरति **कस्मै** इति। कस्मै कायब्राह्मणे। अतुलोऽसम । अयं श्रीभागवतरूपः। पुरा कल्पादौ तद्रूपेण ब्रह्मरूपेण नारदाय (तद्रूपिणा नारदरूपिणा कृष्णाय व्यासाय। तद्रूपिणा) योगीन्द्राय शुकाय। कृष्णरूपेणेति सिद्धम्। तदात्मना शुकरूपेण। तत्परं सत्यं श्रीनारायणाख्यं तत्त्वं धीमहि। इति गायत्र्यैव यथोपक्रम मुपसंहरन्गायत्र्याख्य ब्रह्मविद्येयमिति दर्शयति ॥१९॥

तमेव देवतारूपेण गुरुरूपेण च प्रणमति **नम** इति द्वाभ्याम्। व्याचचक्षे व्याख्यातवान् ॥२०-२३॥

भावार्थदीपिका मेतां भगवद्भक्तवत्सलाम्। श्रीपरानन्दपादाब्जभृङ्गश्री श्रीधरोऽकरोत् ॥
क्वाहं मन्दमतिः क्वेदं मथनं क्षीरवारिधेः। किं तत्र परमाणुस्यां यत्र मज्जति मन्दरः ॥
स्वबालचपलालापैः स्वलीलापरिनर्तितैः। प्रीयतां परमानन्दो नृहरिः मदुरः स्वयम् ॥
श्रीपरानन्दसम्प्रीत्यै गुह्यं भागवतं मया। तन्मतेनेदमाख्यातं ननु मन्मति वैभवात् ॥
क्वेदं नानानिगूढार्थं श्रीमद्भागवतं क्वनु। मन्दबुद्धिरहं कृष्णप्रेम किं किं न कारयेत् ॥

---

* The verse beginning with भवे भवे and नाममङ्कीर्तनं are not found in H V W Edns 1 M Ma योगश 2 M M- 3 A त्येत 4 A E omit काय , 5--5 A B J omit , 6 H V भक्तिदाम् 7 A B J परमान 8--8 H V विवृत तन्मते नेद 9--9 A B J omits

इति श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धे
श्रीश्रीधरस्वामिविरचितायां भावार्थदीपिकायां
व्याख्यायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

**विज०** पारमहंस्यं परमहंसः प्राप्यम् ॥१६-२३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
श्रीविजयध्वजतीर्थ विरचितायां पदरत्नावल्यां टीकायां
द्वादशस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

**(श्रीविजयध्वजतीर्थरीत्या त्रयोदशोऽध्यायः न समाप्तः)**

# श्रीमद्भागवत द्वादशस्कन्धस्थ श्लोकपादानुक्रमणिका

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **अ** | | | |
| अकाराद्या भृगूद्वह! | 6 | 42 | b |
| अकृतार्थाः कृता विभो! | 3 | 13 | d |
| अक्रूरागमनं पश्चात् | 12 | 33 | c |
| अक्षमालां डमरुकम् | 10 | 12 | c |
| अक्षस्थविष्टा मुमुचुस्तटिद्भिः | 9 | 11 | c |
| अग्निमित्रस्ततस्तस्मात् | 1 | 16 | G |
| अग्न्यर्कगुरु विप्रात्मसु | 8 | 9 | c |
| अघासुरासुसंहारः | 12 | 29 | c |
| अक्रोपाक्रायुधाकल्पम् | 11 | 2 | c |
| अक्रोपाक्रायुधाकल्पम् | 11 | 23 | a |
| अजरामरता तथा | 10 | 36 | d |
| अजस्रभावा भजताऽधिवेश्य | 12 | 55 | d |
| अजातशत्रुर्भविष्यति | 1 | 6 | b |
| अजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम् | 12 | 68 | b |
| अज्ञानञ्च निरस्तं मे | 6 | 7 | a |
| अज्ञेषु तापतप्तेषु | 6 | 3 | c |
| अटमानस्तु तत्सुतः | 1 | 24 | d |
| अणुप्रायास्वोषधीषु | 2 | 15 | a |
| अण्डकोशस्तु सञ्जातः | 4 | 6 | c |
| अतिवादां स्तितिक्षेत | 6 | 34 | a |
| अतोऽयमजरामरः | 6 | 24 | d |
| अत्र ब्रह्मपरं गुह्यम् | 12 | 4 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अत्र सङ्कीर्त्यते साक्षात् | 12 | 3 | a |
| अत्रानुवर्ण्यतेऽभीक्ष्णम् | 5 | 1 | a |
| अथ तं बालकं वीक्ष्य | 9 | 32 | a |
| अथ तेषां भविष्यति | 2 | 21 | a |
| अथर्ववित् सुमन्तुश्च | 7 | 1 | a |
| अथर्वाङ्गिरसं नाम | 6 | 53 | c |
| अथ ह भगवस्तव चरण | 6 | 72 | a |
| अथापि सर्वदिष्याम | 10 | 7 | a |
| अथाप्यम्बुजपत्राक्ष | 9 | 6 | a |
| अथाशु कश्यपस्तार्क्ष्य | 11 | 41 | a |
| अथेममर्थं पप्रच्छाम | 11 | 1 | a |
| अथो मा तमृषिं वीक्ष्य | 10 | 4 | a |
| अदृश्यताऽतनयाऽपि | 8 | 22 | c |
| अधर्मपादैरनृत | 3 | 20 | c |
| अधिरुह्यानमासनम् | 3 | 38 | d |
| अधीत्य प्रयतो द्विज | 12 | 63 | b |
| अधीमहि व्यासपुत्रात् | 7 | 7 | c |
| अधीयन्त व्यासशिष्यात् | 7 | 6 | a |
| अधीयेतां संहिते द्वे | 7 | 3 | c |
| अधुना चाश्रिता मघा | 2 | 28 | d |
| अध्यापयत्संहितां स्वाम् | 6 | 56 | a |
| अनपायिनी भगवती | 11 | 20 | a |
| अनाद्यनैवासाधुत्वे | 2 | 5 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ादिनिधनो हरिः | 6 | 2 | d | अन्तस्स्थोष्मस्वरस्पर्श | 6 | 43 | c |
| अनाद्यनन्तमव्यक्तम् | 4 | 19 | a | अन्ते सोऽपि विनङ्क्ष्यति | 3 | 24 | d |
| अनाद्यन्तवताऽनेन | 4 | 37 | a | अन्ये च बहवो दैत्याः | 3 | 12 | a |
| अनाद्यविद्यया विष्णो | 11 | 29 | a | अन्योन्यतो राजभिश्च | 1 | 43 | c |
| अनाद्यावर्तितं नृणाम् | 10 | 41 | c | अन्योन्यापत्तिकारणम् | 2 | 4 | b |
| अनापद्यपि मन्यन्ते | 3 | 35 | c | अन्योन्यापाश्रयात्सर्वम् | 4 | 28 | c |
| अनावृष्टि भयातुराः | 3 | 39 | d | अन्वीयमानो गन्धर्वैः | 8 | 22 | a |
| अनावृष्ट्या विनङ्क्ष्यन्ति | 2 | 10 | a | अपश्यंस्तक्षकं तत्र | 6 | 19 | a |
| अनिरुद्ध इति ब्रह्मन् | 11 | 21 | c | अपानं मृत्युरीशितुम् | 11 | 7 | b |
| अनिष्ट कर्मा ज्ञानेय | 1 | 25 | a | अपां तत्त्वं दरवरम् | 11 | 14 | c |
| अनीशस्य यथोद्यम | 8 | 28 | d | अपां रसमयो तेजः | 4 | 14 | c |
| अनुग्रहामाप्रयाणम् | 1 | 37 | c | अभयं दर्शितं त्वया | 6 | 5 | d |
| अनुग्रहायाऽविरमीत् | 8 | 32 | c | अभ्ययादतिसंहृष्टः | 9 | 32 | c |
| अनुजानीहि मा ब्रह्मन् | 6 | 6 | a | अमृतानन्दितसत्सुरम् | 13 | 11 | d |
| अनुभूतं पुराऽमुना | 10 | 38 | d | अमृतार्थे दिवौकसाम् | 12 | 20 | d |
| अनुभूतं भगवतः | 10 | 40 | c | अमोघं दर्शनं येषाम् | 10 | 19 | c |
| अनुम्लोचा शङ्खपालः | 11 | 38 | c | अयं हि परमो लाभः | 10 | 7 | c |
| अनुद्धृतितशासन | 1 | 10 | b | अयुतायुतवर्षाणाम् | 9 | 19 | a |
| अनुवर्णितमेतत्ते | 10 | 40 | a | अर्कांशभूतस्य च चुक्षुषस्तम | 4 | 32 | b |
| अनेन क्रमयोगेन | 2 | 39 | c | अर्चयन् सन्ध्ययोर्हरिम् | 8 | 9 | d |
| अनेन पीतममृतम् | 6 | 24 | c | अर्थेन्द्रियाशयज्ञानैः | 11 | 22 | c |
| तर्दधे ऋषेस्सद्य | 9 | 33 | c | अर्धनारीनरस्याऽथ | 12 | 11 | c |
| अन्तर्बहिश्चऽद्भिरति द्युभिः खरै | 9 | 13 | a | अर्धं हसति द्वापरे | 3 | 22 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| अर्यमा पुलहोऽथौजाः | 11 | 34 | a |
| अर्हणेनाऽनुलेपेन | 8 | 38 | c |
| अल्पसत्त्वाल्पकायुषः | 1 | 41 | d |
| अवतारानुगीतश्च | 12 | 7 | c |
| अवतारो भगवतः | 12 | 13 | a |
| अवतीर्णो महाभाग | 6 | 49 | c |
| अवयव्युदयाप्ययात् | 4 | 26 | d |
| अवस्था नैव दृश्यन्ते | 4 | 37 | c |
| अवस्थासु युतायुतम् | 7 | 20 | d |
| अविद्याकर्मकारकः | 7 | 18 | b |
| अविद्वान् यदि मन्यते | 4 | 30 | b |
| अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः | 12 | 54 | a |
| अवृत्त्या न्यायदौर्बल्यम् | 2 | 4 | c |
| अव्रता वटवोऽशौचा | 3 | 33 | a |
| अव्याकृतगुणक्षोभात् | 7 | 11 | a |
| अव्याकृतमनन्ताख्यम् | 11 | 13 | a |
| अव्याकृतमुतापरे | 7 | 18 | d |
| अश्रौष्म भवतो वयम् | 6 | 4 | b |
| अश्वमाशुगमारुह्य | 2 | 19 | a |
| अष्टत्रिंशोत्तरशतम् | 1 | 4 | c |
| अष्टैश्वर्यगुणान्वितः | 2 | 19 | d |
| असंस्कृताः क्रियाहीना | 1 | 42 | a |
| असिनाऽसाधुदमनम् | 2 | 19 | c |
| असिं चर्म तमोमयम् | 11 | 15 | b |
| असृजद्भगवानज | 6 | 43 | b |
| अस्ति लोको महान्गुण | 3 | 51 | b |
| अस्पन्दामूर्यथा तरु | 6 | 9 | d |
| अस्मिन्नप्यन्तरे ब्रह्मन् | 6 | 48 | a |
| अस्य वाऽन्यपयोजने | 13 | 3 | b |
| अहं भगवान् ब्रह्मा | 10 | 21 | c |
| अहं सम्भावितः आत्मतन्त्रम् | 12 | 56 | a |
| अहं ब्रह्म परं धाम | 8 | 11 | a |
| अहं ममेति दौर्जन्यम् | 6 | 33 | c |
| अहो ऐश्वर्यमैश्वरम् | 10 | 28 | a |
| अहो मा विजिगीषन्ति | 3 | 1 | c |
| अहोरात्रं कलया विभुः | 6 | 49 | b |
| **आ** | | | |
| आ कल्पान्तादश पुण्यम् | 10 | 36 | c |
| आकाश इव नाधारः | 8 | 8 | c |
| आकाशस्थान् यथा पृथ | 8 | 8 | b |
| आकीर्णं क्षितिपमण्डलं | 2 | 7 | d |
| आकूतीनां स्यन्दनम् | 11 | 16 | b |
| आग्नेय स्कन्दसंज्ञितम् | 7 | 23 | d |
| आचरन्त्यनुमोदन्त | 10 | 29 | c |
| आचार्यं पद्मजादिभिः | 11 | 4 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| आच्छिन्नदाग्द्रविणः | 2 | 9 | a |
| आढ्याः कुटुम्बिनो दृप्ता | 3 | 23 | c |
| आतपत्रं तु वैकुण्ठम् | 11 | 19 | a |
| आत्मनस्सर्वदेहिनाम् | 11 | 29 | b |
| आत्मनाऽनुप्रविश्य यः | 10 | 31 | b |
| आत्मनैवाभृशं प्रभो! | 5 | 9 | b |
| आत्मनो दुरितक्षय | 11 | 17 | d |
| आत्मन्यपि शिवं प्राप्तम् | 10 | 11 | a |
| आत्मन्यात्मानमात्मना | 6 | 9 | b |
| आत्मन्याधाय निष्कले | 5 | 11 | d |
| आत्मभावं नयन्यङ्ग! | 3 | 50 | c |
| आत्मयोगानुभावतः | 12 | 42 | d |
| आत्मसात्कृत्य चात्मभूः | 2 | 4 | d |
| आत्मानं विश्वमेव च | 10 | 9 | d |
| आत्मारामा समदृशः | 3 | 19 | c |
| आत्यन्तिकश्च कथितः | 4 | 38 | c |
| आदानं पारिजातस्य | 12 | 37 | a |
| आदित्यस्य विभूतयः | 11 | 45 | a |
| आदिमध्यावसानेषु | 13 | 11 | a |
| आद्यन्तवदवस्तु यत् | 4 | 28 | d |
| आद्यन्तवदवस्तु यत् | 4 | 23 | d |
| आद्यन्तवाऽखिलं गुरोरुपसाद्य | 8 | 48 | d |
| आद्या प्रकृतिरुत्तमा | 12 | 12 | b |
| आपूर्यमाणो वरषद्भिरम्बुदैः | 9 | 14 | c |
| आरभ्य भवतो जन्म | 2 | 26 | a |
| आराधयन् हृषीकेशम् | 8 | 11 | c |
| आरेभे तद्विघातनम् | 8 | 15 | d |
| आवन्त्यो ब्रह्मवित्तमः | 6 | 77 | d |
| आविशन्तदुहाकाशम् | 10 | 10 | c |
| आसनं यदधिष्ठितम् | 11 | 13 | b |
| आसन्पञ्चशतानि वै | 6 | 78 | b |
| आह चाऽऽत्मानुभावेन | 10 | 16 | a |
| आहाहो भगवन् कियत् | 6 | 62 | b |
| आहुश्चिरायुषमृषिम् | 8 | 2 | a |
| **इ** | | | |
| इक्ष्वाकुजन्म तद्वंशे | 12 | 21 | c |
| इतस्ततो भ्रमद्दृष्टेः | 8 | 27 | a |
| इति चन्द्रललामस्य | 10 | 26 | a |
| इति चोक्तं द्विजश्रेष्ठाः | 12 | 45 | a |
| इति जानीहि बुद्धिमन् | 3 | 28 | d |
| इति पादा विभो नृप! | 3 | 18 | d |
| इति प्राहुः पुराविदः | 2 | 33 | d |
| इति ब्रह्मोदितास्तेषैः | 6 | 22 | a |
| इतीडितोऽर्चितः कामम् | 9 | 7 | a |
| इतीन्द्रानुचरैर्ब्रह्मन्! | 8 | 30 | a |
| इत्थं कलौ गतप्राये | 2 | 16 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| इत्थं बृहद्व्रतधरः | 8 | 13 | a |
| इत्यर्थितोऽभिष्टुतश्च | 10 | 35 | a |
| इत्याशाबद्धहृदयाः | 3 | 4 | c |
| इत्युक्तस्तमनुज्ञाय | 6 | 8 | a |
| इत्युक्तस्स तथेत्याह | 6 | 28 | a |
| इत्युक्तो गुरुरप्याह | 6 | 63 | a |
| इत्युक्त्वा तमुपेयाय | 10 | 8 | a |
| इत्येते वै वर्षशतम् | 1 | 33 | c |
| इत्येष मानवो वंशः | 2 | 35 | a |
| इदं भगवता पूर्वम् | 13 | 10 | a |
| इन्द्रप्रमितये मुनि | 6 | 54 | b |
| इन्द्रप्रमितिरात्मवान् | 6 | 55 | d |
| इन्द्रभृत्या व्यकम्पयन् | 8 | 25 | d |
| इन्द्रियाणि शरानाहुः | 11 | 16 | a |
| इन्द्रियार्थक्रिया मताः | 11 | 16 | d |
| इन्द्रो विश्वावसुःश्रोता | 11 | 37 | a |
| इमां भगवतीं प्रीतः | 4 | 42 | c |
| इलोपाख्यानमत्रोक्तम् | 12 | 22 | a |
| इह तु पुनर्भगवानशेष मूर्तिः | 12 | 65 | c |
| **ई** | | | |
| ईशयोर्जगदात्मनोः | 10 | 9 | b |
| ईशानस्सर्वविद्यानाम् | 10 | 8 | c |
| ईश्वरस्याखिलात्मनः | 2 | 17 | b |
| ईश्वरः सर्वदेहिनाम् | 10 | 8 | d |
| **उ** | | | |
| उत्थाय प्राञ्जलिः प्रह्व | 8 | 37 | a |
| उत्पत्तिप्रलयावेके | 4 | 35 | c |
| उत्पत्तिस्त्रिविधा तथा | 12 | 43 | d |
| उदरम्भरता स्वार्थ | 2 | 6 | c |
| उदितास्तमितप्रायाः | 1 | 41 | c |
| उदीच्यास्सामगाशिष्याः | 6 | 78 | a |
| उद्धवस्य च संवाद | 12 | 41 | c |
| उद्यच्चन्द्रनिशावक्त्र | 8 | 21 | a |
| उद्यन्तमिव भास्करम् | 10 | 11 | d |
| उन्नद्यन्ति रथ नागा | 11 | 48 | a |
| उन्नीय शरणाम्बुजम् | 9 | 25 | b |
| उपचितनवशक्तिभिः स्व आत्मनि | 12 | 67 | a |
| उपद्रुतो वीचिनभस्वता हत | 9 | 16 | b |
| उपरचितस्थिरजङ्गमाऽलयाय | 12 | 67 | b |
| उपर्यधस्समन्ताच्च | 4 | 10 | a |
| उपलभ्येत स भ्रम | 4 | 28 | b |
| उपवीतं समेखलम् | 8 | 8 | d |
| उपासीनस्य मन्ध्यायाम् | 9 | 10 | c |
| उपाहृय महामति | 6 | 51 | b |
| उपोष्य सहितामेताम् | 12 | 60 | c |
| उवाच तक्षक कस्मात् | 6 | 18 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| **ऊ** | | | |
| ऊर्जमासं नयन्त्यमी | 11 | 44 | d |
| ऊर्ण आयुश्च पञ्चमः | 11 | 42 | b |
| ऊर्ध्वतिर्यगधस्सर्गः | 12 | 11 | a |
| **ऋ** | | | |
| ऋगथर्वयजुस्साम्नाम् | 6 | 50 | a |
| ऋचो यजूंषि सामानि | 12 | 62 | a |
| ऋतसेन स्तथोर्वशी | 11 | 41 | b |
| ऋतुवर्चा भरद्वाज | 11 | 40 | a |
| ऋषभस्य भरतस्य च | 12 | 15 | d |
| ऋषयस्संस्तुवन्त्यमुम् | 11 | 47 | b |
| ऋषयोऽशावतारश्च | 7 | 15 | c |
| ऋषिणा भगवान्मुने | 9 | 7 | b |
| ऋषिभिर्बहुधोदित | 11 | 30 | d |
| ऋषिभ्यो नैमिशालये | 4 | 43 | b |
| ऋषिर्नारायणोऽव्ययः | 4 | 41 | b |
| ऋषिस्स्वाश्रम एव सः | 9 | 8 | b |
| **ए** | | | |
| एक एव हि लोकानाम् | 11 | 30 | a |
| एक एवार्णवे भ्राम्यन् | 8 | 4 | a |
| एक काला इमे भूपाः | 1 | 35 | a |
| एकराशौ समेष्यन्ति | 2 | 24 | c |
| एकान्तभक्ता अस्मासु | 10 | 20 | c |
| एकाशीतिसहस्रकम् | 13 | 7 | b |
| एकैकस्मै ददौ विभुः | 6 | 51 | d |
| एकैकामहमेतेषाम् | 7 | 6 | c |
| एकैकां प्राह संहिताम् | 6 | 75 | d |
| एकैकां संहितां ब्रह्मन् | 6 | 51 | c |
| एकोनविंशत्सौपर्णम् | 13 | 8 | c |
| एतत्केचिदविद्वांसः | 10 | 41 | a |
| एतत्ते कथितं तात! | 5 | 13 | a |
| एतत्पुरन्दरो ज्ञात्वा | 8 | 15 | a |
| एतत्सौम्याभिधेहिनः | 6 | 36 | d |
| एतदाचक्ष्व मे मुने | 1 | 1 | d |
| एतद्वः कथितं विप्राः | 12 | 2 | a |
| एतद्वः कथितं विप्राः | 12 | 57 | a |
| एतद्वर्षसहस्रं तु | 2 | 26 | c |
| एतद्वै पौरुषं रूपम् | 11 | 6 | a |
| एतन्निशम्य मुनिनाऽभिहितं | 6 | 1 | a |
| एतां वक्ष्यत्यसौ सूत | 4 | 43 | a |
| एता भगवतो विष्णोः | 11 | 45 | a |
| एताः कुरुश्रेष्ठ जगद्विधातुः | 4 | 39 | a |
| एते चाथर्वणचार्याः | 7 | 4 | c |
| एते त्रिंशन्नृपतयः | 1 | 28 | a |
| एतेऽधर्मानृतपराः | 1 | 40 | c |
| एते भोक्ष्यन्ति पृथिवीम् | 1 | 31 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| एतेषां नामलिङ्गानाम् | 2 | 36 | a |
| एतेषां वासनामयः | 7 | 12 | b |
| एधमानैः क्षीयमाणो हि | 3 | 24 | c |
| एभिर्ब्रह्मर्षिभिर्धृताः | 6 | 60 | b |
| एलापुत्रस्तथाङ्गिरा | 11 | 37 | b |
| एवमात्मगतो विष्णु | 3 | 47 | b |
| एवमात्मानमात्मस्थम् | 5 | 9 | a |
| एवं क्रमेण जेष्यामः | 3 | 4 | a |
| एवं तपस्स्वाध्यायपरः | 8 | 11 | a |
| एवं त्वहं ब्रह्मगुणस्तदीक्षित | 4 | 32 | c |
| एवं देहकृतो भव | 5 | 7 | d |
| एवं देहे मृते जीव | 5 | 5 | c |
| एवं धी स्वानि मात्राश्च | 4 | 24 | c |
| एवं पुराणसन्दोह | 13 | 9 | a |
| एवं प्रजाभिर्दुष्टाभि | 2 | 7 | c |
| एवं लक्षणलक्ष्याणि | 7 | 22 | a |
| एवं वचोभिर्भगवानधोक्षज | 4 | 31 | c |
| एवं वगन् स मुनये | 10 | 38 | a |
| एव समीक्षन्नात्मानम् | 5 | 11 | c |
| एव स्तुतस्स भगवान् | 6 | 73 | a |
| एव स्तुतस्स भगवान् | 10 | 18 | a |
| एवं ह्यनादिनिधन | 11 | 50 | a |
| एष न संशयो भूयान् | 8 | 5 | a |
| एष नैमित्तिकः प्रोक्तः | 4 | 4 | a |
| एष प्रकृतिको राजन् ! | 4 | 6 | a |
| **ऐ** | | | |
| ऐलस्य सोमवंशस्य | 12 | 25 | b |
| **ओ** | | | |
| ओजस्सहोबलयुतम् | 11 | 14 | a |
| ओं नमो भगवते | | | |
| आदित्याय लोकयात्रामनु | 6 | 67 | a |
| **औ** | | | |
| औत्सुक्यादास्तिवर्यन्निव | 8 | 37 | b |
| **क** | | | |
| ककुत्स्थस्य च धीमत | 12 | 23 | b |
| ककुत्स्थो नैषधो नृग | 3 | 10 | d |
| कङ्का षोडशभूपाला | 1 | 29 | c |
| कञ्चित्काल मसनम | 1 | 22 | d |
| कण्वोऽमात्यस्तु कामिनम् | 1 | 19 | d |
| कथनीयोरुकर्मण | 12 | 57 | b |
| कथं मेयमखण्डा भू | 2 | 42 | a |
| कथा इमास्ते कथिता महीयसाम् | 3 | 14 | a |
| कथामात्रावशिष्टानाम् | 2 | 36 | c |
| कथामात्रा कथासु च | 2 | 44 | d |
| कथावशेषा कालेन हि | 3 | 13 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कथितो युगमानश्च | 4 | 1 | c | कलिश्चेति चतुर्युगम् | 2 | 39 | b |
| कन्दुकैः स्तनगौरवात् | 8 | 25 | d | कले दोषनिधे राजन् | 3 | 51 | a |
| कन्दुकैः स्तनगौरवात् | 8 | 26 | a | कलेर्दोषान् कलौ जनाः | 3 | 16 | b |
| कन्यानां हरणञ्च यत् | 12 | 38 | d | कलौ काकणिकेऽप्यर्थे | 3 | 41 | a |
| कपालपरशु सह | 10 | 12 | d | कलौ कुरुकुलोद्वह! | 1 | 16 | b |
| कपिलस्य महात्मन | 12 | 13 | b | कलौ तद्धरिकीर्तनात् | 3 | 52 | d |
| कपिलेन च धीमता | 12 | 13 | d | कलौ तु धर्महेतूनाम् | 3 | 24 | a |
| कमण्डलुं दण्डमृजुञ्च वैणवम् | 8 | 33 | d | कलौ न राजन् जगतां परं गुरुम् | 3 | 43 | a |
| कम्बलाश्वस्तिलोनमा. | 11 | 43 | b | कलौ नृणामुपप्लवः | 12 | 43 | b |
| कम्बुग्रीवं महोरस्कम् | 9 | 22 | c | कल्किर्धर्मपतिर्हरिः | 2 | 23 | b |
| कम्बु श्रीकर्णदाडिमम् | 9 | 23 | b | कल्किः प्रादुर्भविष्यति | 2 | 18 | d |
| करणं कार्यमागम | 11 | 31 | b | कल्पन्ते प्रलयाय हि | 4 | 3 | d |
| करवाम किमीशान | 10 | 16 | c | कल्पन्ते प्रलयाय हि | 4 | 5 | d |
| करिष्यत्यपरो वर्णान् | 1 | 36 | c | कल्पयन्ति यथैव यैः | 11 | 2 | d |
| करीन्द्रानथ कण्टकान् | 3 | 3 | d | कल्पे कल्पे स्वमात्मानम् | 11 | 50 | c |
| कर्कोटकः पूर्वचित्ति. | 11 | 42 | c | कल्पेऽस्मिन्भार्गवर्षभः | 8 | 3 | b |
| कर्ता यत् पालकस्सुतः | 1 | 3 | b | कस्मै येन विभासितोऽय मतुलो | 13 | 19 | a |
| कर्तेव स्वप्नदृग्यथा | 10 | 31 | d | कस्य माया प्रदर्शनम् | 12 | 29 | d |
| कर्दमस्य प्रजापतेः | 12 | 12 | d | कस्य वंशोऽभवत् पृथ्व्याम् | 1 | 1 | c |
| कर्मणाञ्चापि काम्यानाम् | 3 | 29 | c | कं वृणेऽतःपरं भूमन्! | 10 | 33 | a |
| कलापग्राम आसाते | 2 | 37 | c | कंसादीनां तथा वधः | 12 | 34 | d |
| कलिमलसंहतिकालनोऽखिलेशः | 12 | 65 | a | काकवर्णस्तु तत्सुतः | 1 | 5 | b |
| कलिर्वृद्धिं गमिष्यति | 2 | 32 | d | काण्वमाध्यन्दिनादयः | 6 | 74 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| काण्वायना इमे भूमिम् | 1 | 21 | a | कालो देशः क्रिया कर्ता | 11 | 31 | a |
| कादाचित्कं प्रचक्षते | 10 | 41 | d | काश्यपाद्रि रसादयः | 7 | 4 | b |
| काम एष नरेन्द्राणाम् | 3 | 2 | a | काश्यपोऽहश्च सावर्णी | 7 | 7 | a |
| कामरूपोऽदशन्नृपम् | 6 | 12 | d | कासारश्चैव तां दधुः | 6 | 59 | d |
| कामः पञ्चमुखं तदा | 8 | 25 | b | किमिदं कुत एवेति | 10 | 13 | c |
| कामाच्चोदनयाऽपि वा | 7 | 13 | d | किमु सम्भाषणादिभि | 10 | 25 | d |
| कामिनो वित्तहीनाश्च | 3 | 31 | c | कियदात्मजयस्यैतत् | 3 | 5 | c |
| कामो महर्षे सर्वोऽयम् | 10 | 36 | a | किराटा कूटकारिण | 3 | 35 | b |
| कारणं बलमेव हि | 2 | 2 | d | किलि किलाया नृपतय | 1 | 32 | c |
| कारुण्यात्सम्प्रदर्शितम् | 13 | 10 | d | किं भय श्रोतुमिच्छसि | 5 | 13 | d |
| कार्त्स्न्येन नाजोऽप्यभिधातुमीश | 4 | 39 | d | किं वर्णये तव विभो | 8 | 40 | a |
| कालश्च नानायुगकल्पकल्पनम् | 9 | 29 | b | किं वेदनिग्रो यत | 2 | 41 | d |
| कालरूपं धनुश्शार्ङ्गम् | 11 | 15 | c | कीर्तनादेव कृष्णस्य | 3 | 51 | c |
| कालसञ्चोदितास्ते वै | 3 | 26 | c | कीर्तितानीह सर्वश | 12 | 45 | d |
| कालस्ते परमाण्वादि | 4 | 1 | a | कीर्तितान्यसुरद्विष | 12 | 28 | b |
| कालस्य गतिरीदृशी | 4 | 38 | d | कीर्तिरिव स्थिता भुवि | 2 | 36 | d |
| कालस्य स्थूलसूक्ष्मस्य | 12 | 10 | a | कुत पुनश्शशदभद्रमीश्वरे | 12 | 52 | c |
| कालस्येश्वररूपस्य | 3 | 17 | c | कुतो हिरण्यनाभस्य | 6 | 80 | a |
| कालस्रोतो जवेनाशु | 4 | 36 | a | कुपितो याद्यलं त्वया | 6 | 63 | b |
| कालेन ते कृतास्सर्वे | 2 | 44 | c | कुमुद शुनको ब्रह्मन् | 7 | 3 | a |
| कालेन बलिना राजन्! | 2 | 1 | c | कुरुश्रेष्ठ कलौ नृपा | 1 | 8 | b |
| कालेनेश्वरमूर्तिना | 4 | 37 | b | कुर्वस्य तपसस्साक्षात् | 10 | 5 | c |
| कालेनोपद्रुताः प्रजा | 4 | 8 | b | कुशस्थल्या निवेशनम् | 12 | 36 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| कुशांश्च नियमद्धये | 8 | 9 | b |
| कुसीदः कुक्षिरेव च | 6 | 79 | b |
| कृतमुद्धवरामाभ्याम् | 12 | 35 | c |
| कृतं त्रेता द्वापरश्च | 2 | 39 | a |
| कृतं भविष्यति तदा | 2 | 23 | c |
| कृता स्वेन नृणां तत्र | 7 | 13 | c |
| कृते प्रवर्तते धर्मः | 3 | 18 | a |
| कृते यत् ध्यायतो विष्णुम् | 3 | 52 | a |
| कृतो लोकः भ्रमापहः | 8 | 6 | b |
| कृत्वोच्चैर्मर्त्यधर्मिण | 3 | 13 | b |
| कृष्णद्वैपायनाय मः | 4 | 41 | a |
| कृष्णनामाऽथ तद्भ्राता | 1 | 23 | a |
| कृष्णाख्यो जगदीश्वरः | 12 | 27 | b |
| कृष्णाख्योऽसौ दिवं गतः | 2 | 29 | b |
| कृष्णाजिनं साक्षसूत्रम् | 8 | 9 | a |
| कृष्णायाकुण्ठमेधसे | 6 | 35 | b |
| कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः | 3 | 15 | d |
| केनोपायेन भगवन् | 3 | 16 | a |
| केवलस्य श्रियःपतेः | 11 | 2 | b |
| केवलायाऽद्वितीयाय | 10 | 32 | c |
| केशविस्रंसितस्रजः | 8 | 26 | d |
| कैवल्यैकप्रयोजनम् | 13 | 12 | d |
| कोटिशो निहनिष्यति | 2 | 20 | d |
| कौन्तीं काश्मीरमण्डलम् | 1 | 39 | b |
| कौर्मं मात्स्यं नारसिंहम् | 12 | 20 | a |
| कौर्मं सप्तदशाऽऽख्यातम् | 13 | 8 | a |
| कौलं गाश्चापयस्विनीः | 3 | 36 | d |
| कौस्तुभव्यपदेशेन | 11 | 10 | a |
| क्रिमिविड्भस्मसंज्ञान्ते | 2 | 41 | a |
| क्रियमाणं स्तुवन्ति च | 10 | 29 | d |
| क्रियायोगं बुभुत्सताम् | 11 | 3 | b |
| क्रीडन्त्याः पुञ्जिकस्थल्याः | 8 | 26 | a |
| क्रुद्धेन द्विजसूनुना | 6 | 11 | b |
| क्लेशपुञ्जस्तमब्रवीत् | 10 | 27 | d |
| क्वचिच्छोकं क्वचिन्मोहम् | 9 | 18 | a |
| क्वचित्पञ्चविधं ब्रह्मन् | 7 | 10 | c |
| क्वचित्पूजां विसस्मार | 9 | 9 | c |
| क्वचिद्रतो महावर्ते | 9 | 17 | a |
| क्वचिद्दुःखं सुखं भयम् | 9 | 18 | b |
| क्वचिन्मृत्युमवाप्नोति | 9 | 18 | c |
| **क्ष** | | | |
| क्षत्तृमैत्रेययोस्तत | 12 | 8 | b |
| क्षपणं स्वगुरोर्वृतम् | 6 | 61 | d |
| क्षयं यास्यन्ति पीडिताः | 1 | 43 | d |
| क्षयं यास्यन्ति शनकैः | 4 | 8 | a |
| क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च | 12 | 54 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| क्षीणायुषः क्षीणसत्त्वान् | 6 | 47 | a |
| क्षीयमाणेषु देहेषु | 2 | 12 | a |
| क्षीरोदमथनं तद्वत् | 12 | 20 | c |
| क्षुत्तृट्परीतो प्रकरैस्तिमिङ्गलैः | 9 | 16 | a |
| क्षुत्तृड्भ्यां व्याधिभिश्चैव | 2 | 11 | a |
| क्षुत्तृड् व्याध्यादिभिर्नृप! | 6 | 26 | b |
| क्षुत्त्वा वा विशो ब्रुवन् | 12 | 46 | b |
| क्षुद्रभाग्या महाशनाः | 3 | 31 | b |
| क्षुद्राः शिश्नोदरम्भराः | 3 | 42 | d |
| क्षुल्लकानि महान्ति च | 7 | 22 | d |
| क्षेत्रज्ञः क्षेमधर्मजः | 1 | 5 | d |
| क्षेत्राणाञ्चैव सर्वेषाम् | 13 | 17 | a |
| क्षेमधर्मा तस्य सुत | 1 | 5 | c |
| क्षेमं जनस्य परितोभियईश विद्य | 8 | 43 | b |
| क्षेमाय तापविरमाय च मृत्युजित्यै | 8 | 41 | b |
| क्ष्मामप्यधाद्द्वीपवर्षाद्रिभिस्समम् | 9 | 14 | d |
| **ख** | | | |
| खट्वाङ्गस्य च मान्धातुः | 12 | 23 | c |
| खट्वाङ्गो धुन्धुहा रघुः | 3 | 9 | d |
| खं रोदसी भगणानद्रिसागरान् | 9 | 28 | a |
| खेटान्व्रजानाश्रमवर्णवृत्तय | 9 | 28 | d |
| **ग** | | | |
| गङ्गाकूल उदङ्मुखः | 6 | 10 | b |
| गजमुष्टिकचाणूर | 12 | 34 | c |
| गजेन्द्रस्य विमोक्षणम् | 12 | 19 | b |
| गता यथागतं युद्धे | 3 | 6 | c |
| गतिं विष्णो र्महात्मन | 3 | 17 | d |
| गतिं परासमुद्भवः | 12 | 10 | b |
| गतिस्त्वेनैव कर्मणा | 6 | 25 | b |
| गन्धर्वाप्सरस कामम् | 8 | 16 | a |
| गन्धर्वाप्सरसो जगु | 6 | 15 | b |
| गन्धर्वास्त प्रगायन्ति | 11 | 47 | c |
| गन्धस्रग्धूपदीपकै | 10 | 15 | d |
| गरिष्ठाविदमब्रवीत् | 8 | 39 | d |
| गां भोक्ष्यत्यन्धजातीय | 1 | 22 | c |
| गिरिनद्युपवर्णनम् | 12 | 16 | b |
| गिरिश समभाषत | 10 | 4 | b |
| गिरिशो योगमायया | 10 | 10 | b |
| गीतवादित्र यूथिकै | 8 | 22 | b |
| गीता कलिमलापहा | 8 | 6 | d |
| गुणनामार्थवृत्तय | 6 | 42 | d |
| गुणानुवादश्रवणादिभिर्हरेः | 12 | 53 | d |
| गुणान्कर्माणि चात्मनः | 5 | 6 | b |
| गुणान्कालेन चोदितम् | 4 | 18 | b |
| गुणाम्सत्त्वादयश्च तम् | 4 | 17 | d |
| गुणैः कुर्वद्भिरगभाति | 10 | 31 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| गुप्तां भोक्ष्यति मेदिनीम् | 1 | 37 | d | चक्रे बालायनिर्गार्गिः | 6 | 58 | c |
| गुरवे ब्रह्ममूर्तये | 10 | 32 | d | चक्रे साम्नां ततो द्विज· | 6 | 76 | d |
| गुरो रविद्यमानानि | 6 | 66 | c | चक्षुस्स्वरूपं रविमीक्षते तदा | 4 | 33 | b |
| गृहप्रायेष्वाश्रमेषु | 2 | 14 | c | चतस्रः संहिताश्चक्रे | 6 | 50 | c |
| गृहीत्वाऽऽत्मतयाऽबुधाः | 2 | 43 | b | चतस्रो मूलसंहिताः | 7 | 7 | d |
| गोखल्य शिशिरेष्वधात् | 6 | 57 | d | चतुर्थे तु पुनः कृतम् | 2 | 34 | b |
| गोपद्रुमलताजालैः | 8 | 21 | c | चतुर्दश तुरुष्ककाः | 1 | 30 | b |
| गोपानाञ्च परित्राणम् | 12 | 30 | a | चतुर्दश भविष्यं स्यात् | 13 | 6 | a |
| गोवर्धनोद्धारणञ्च | 12 | 32 | a | चतुर्दश विशाम्पते | 4 | 2 | d |
| गोविन्दगोद्विजसुरार्तिहरावतार | 11 | 25 | c | चतुर्धा व्यस्य बोध्याय | 6 | 55 | a |
| ग्रसते तेजसो रूपम् | 4 | 15 | a | चतुर्धाऽस्य स्वभावतः | 7 | 17 | d |
| ग्रसतेऽव्याकृतं बीजम् | 4 | 18 | a | चतुर्भिः वदनैर्विभुः | 6 | 44 | b |
| ग्रसन्तं प्रभया तमः | 9 | 21 | d | चतुर्भुजौ रौरववल्कलाम्बरौ | 8 | 33 | b |
| ग्रसन्त्याप उदप्लवे | 4 | 13 | d | चतुर्युगसहस्रं तु | 4 | 2 | a |
| ग्रसत गन्धा तु पृथिवी | 4 | 14 | a | चतुर्युगेष्वथ व्यस्ता | 6 | 46 | c |
| ग्रामण्यो रथयोजकाः | 11 | 48 | b | चतुर्लक्ष उदाहृतः | 13 | 9 | b |
| **घ** | | | | चतुर्विधश्च प्रलय· | 12 | 43 | c |
| घटे भिन्ने यथाऽऽकाशः | 5 | 5 | a | चतुर्विधं वीक्ष्य सहात्मना मुनि· | 9 | 13 | c |
| घनो यदार्कप्रभवो विदीर्यते | 4 | 33 | a | चतुर्विंशति वाराहम् | 13 | 7 | a |
| घातनं यवनेन्द्रस्य | 12 | 36 | b | चतुर्विंशति संहिताः | 6 | 80 | b |
| घृताची गौतमश्चेति | 11 | 39 | c | चतुष्पात्तज्जनैर्धतः | 3 | 18 | b |
| **च** | | | | चत्वारिंशच्च पञ्च च | 1 | 21 | b |
| चकोरश्चरमो यत्र | 1 | 26 | a | चत्वार्यब्दशतानि च | 1 | 28 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| चन्द्रविज्ञः सलोमधीः | 1 | 27 | d |
| चरकाध्वर्यवोऽभवन् | 6 | 61 | b |
| चरन्समन्तात्तनुते | 11 | 46 | c |
| चराचरगुरोर्विष्णोः | 2 | 17 | a |
| चराणामचराणि च | 7 | 13 | b |
| चरितं किल्बिषापहम् | 12 | 24 | b |
| चरितेनात्पसाराणाम् | 6 | 62 | c |
| चरिष्येऽहं सुदुश्चरम् | 6 | 62 | d |
| चलन्त्या अनुकन्दुकम् | 8 | 27 | b |
| चातुर्होत्र वितक्षया | 6 | 44 | d |
| चामरव्यजनेऽभजत् | 11 | 18 | d |
| चार्वङ्गुलिभ्यां पाणिभ्यां | 9 | 25 | a |
| चित्रवर्णान्यनेकशः | 4 | 12 | b |
| चित्राख्या च शिला विभो | 8 | 17 | d |
| चैद्यपौण्ड्रकसाल्वानाम् | 12 | 39 | a |
| चोदयन्ति रथं पृष्ठे | 11 | 48 | c |
| चोदितो विप्रवाक्येन | 5 | 10 | a |
| चौर्यमायोरुसाहसा | 3 | 34 | d |
| चौर्यानृतवृथाहिंसाः | 2 | 13 | c |
| **छ** | | | |
| छन्दांस्यधिगवेषयन् | 6 | 66 | b |
| छन्दांस्यधीत्य धर्मेण | 8 | 7 | c |
| छर्दित्वा यजुषां गणम् | 6 | 64 | b |
| छागप्रायासु धेनुषु | 2 | 14 | b |
| छित्वाऽच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते | 4 | 34 | c |
| **ज** | | | |
| जगतः प्रभवाप्ययम् | 12 | 4 | b |
| जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित् | 12 | 50 | b |
| जगदुदयस्थितिसंयमात्म शक्तिम् | 12 | 66 | b |
| जगाम भिक्षुभिस्साकम् | 6 | 8 | d |
| जगृहुर्वाजसन्यस्ताः | 6 | 74 | c |
| जटिलो वल्कलाम्बर | 8 | 8 | b |
| जनकानाञ्च सम्भव | 12 | 24 | d |
| जनमेजयः स्वपितरम् | 6 | 16 | a |
| जने तु खरधर्मिणि | 2 | 16 | b |
| जनैर्दिष्टं हि भुज्यते | 6 | 27 | d |
| जन्मकर्मापनुतमे | 2 | 17 | d |
| जन्मप्रलय हेतव | 4 | 36 | d |
| जन्माचारगुणोदया | 2 | 2 | b |
| जगमन्धममानीत | 12 | 36 | a |
| जलाप्लुतां क्षमां विमना समग्रमत् | 9 | 13 | d |
| जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु | 7 | 19 | b |
| जाजलिश्चाप्यथर्ववित् | 7 | 3 | b |
| जातुकर्णस्तु तच्छिष्या | 6 | 58 | a |
| जायते ह्यमतो राज्ये | 3 | 7 | |
| जायतेऽथ विनश्यति | 5 | [illegible] | [illegible] |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| जिग्ये मृत्युं सुदुर्जयम् | 8 | 11 | d |
| जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरन् | 4 | 23 | d |
| जितं ते देवदेवेश | 9 | 4 | a |
| जीववृत्तिष्वपाश्रया | 7 | 19 | d |
| जिवितं मरणं जन्तो | 6 | 25 | a |
| जेष्यामो गजमन्त्रिण | 3 | 3 | b |
| जैमिनेस्सामगस्यासीत् | 6 | 75 | a |
| **ज्ञ** | | | |
| ज्ञानञ्च तदुपाख्यानम् | 12 | 4 | c |
| ज्ञानञ्च विज्ञानविभागयुक्तम् | 12 | 54 | d |
| ज्ञानविज्ञान निष्ठया | 6 | 7 | b |
| ज्ञान त्रैकालिकं ब्रह्मन्' | 10 | 37 | a |
| ज्ञान भाति तदाश्रयम् | 4 | 23 | b |
| ज्ञाने तपसि यद्रुचि | 3 | 27 | d |
| ज्योतिश्चक्रस्य संस्थानम् | 12 | 16 | c |
| ज्योतिषो न पृथक् भवेत् | 4 | 24 | b |
| ज्योतिषोर्वर्तियोरिव | 4 | 30 | d |
| **त** | | | |
| त इत्थमुपकुर्वन्तो | 8 | 29 | a |
| त एतदधिगच्छन्ति | 6 | 33 | a |
| तक्षक प्रहितो विप्रा | 6 | 11 | a |
| तक्षकः शरणं ययौ | 6 | 17 | d |
| तक्षकाशु पतस्वेह | 6 | 21 | c |
| तक्षको मेनका हाहाः | 11 | 35 | b |
| तच्चित्त प्रयतो जप्त्वा | 11 | 26 | b |
| तच्छीलाचारवादिनः | 1 | 43 | b |
| तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं | 13 | 19 | d |
| तच्छृण्वन् विपठन् | 13 | 18 | a |
| तच्छ्रुत्वाऽऽजुहुवुर्विप्राः | 6 | 21 | a |
| तटित्पिङ्गजटाधरम् | 10 | 11 | b |
| तत आत्मा ह्यजोऽमरः | 5 | 4 | d |
| तत एकोदकं विश्वं | 4 | 13 | a |
| ततश्च नभसो गुणम् | 4 | 16 | b |
| ततश्चानुदिनं धर्मः | 2 | 1 | a |
| ततश्चाशोकवर्धनः | 1 | 13 | d |
| ततः कण्वानियं भूमिः | 1 | 19 | a |
| ततः प्रचण्डपवनो | 4 | 11 | a |
| तत प्राकृतिकस्सर्गः | 12 | 9 | a |
| तत प्रैयव्रतं द्विजाः | 12 | 15 | b |
| तत स्सचिव पौराम | 3 | 3 | c |
| तत स्सांवर्तको वह्नि | 4 | 9 | a |
| ततोऽक्षरसमाम्नाय | 6 | 43 | a |
| ततो गतोऽथ मुनयो | 6 | 64 | c |
| ततो घोषः सुतस्तस्मात् | 1 | 17 | c |
| ततो जीवस्य संसृतिः | 5 | 6 | d |
| ततो दीपस्य दीपत्वं | 5 | 7 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ततो नृपा भविष्यन्ति | 1 | 9 | c | तथा कुरुष्व देवेश | 13 | 22 | c |
| ततो ब्रह्माण्ड सम्भूतिः | 12 | 9 | c | तथा छन्दोग संहिताम् | 6 | 53 | b |
| ततो भागवतस्तस्मात् | 1 | 18 | a | तथा तिष्ये बृहस्पतिः | 2 | 24 | b |
| ततोऽभूत्त्रिवृदोङ्कारो | 6 | 39 | a | तथा पञ्चशतानि च | 13 | 6 | b |
| ततो मर्त्यपरित्यागः | 12 | 42 | c | तथा पुगणव्रातानाम् | 13 | 17 | c |
| ततो मेघकुलान्यत्र | 4 | 12 | a | तथा प्राकृतिको लय | 4 | 38 | b |
| ततो याति परां गतिम् | 3 | 49 | d | तथा विट्शूद्र विप्राणां | 2 | 35 | c |
| ततो राजा सुनन्दनः | 1 | 25 | d | तथेति स स्मरन् प्रागात | 9 | 7 | c |
| ततो व्यदृश्यन्त चतुस्समुद्राः | 9 | 12 | a | तथैव बकवत्सयो | 12 | 29 | b |
| ततोऽष्टौ यवना भाव्याः | 1 | 30 | a | तदन्ते प्रलयस्तावान् | 4 | 3 | a |
| ततश्छिष्यै धृतव्रतैः | 6 | 46 | b | तदा कृतयुगं विद्यात् | 3 | 37 | c |
| तत्पदं परमं व्रजेत् | 12 | 63 | d | तदा क्रियातपो निष्ठा | 3 | 21 | a |
| तत्परेषु तथा त्वयि | 10 | 34 | d | तदा त्रेता रजो वृत्ति | 3 | 28 | c |
| तत्पादपद्ममुपसृत्य नतेन मूर्ध्ना | 6 | 1 | c | तदा नन्दात् प्रभृत्येष | 2 | 32 | c |
| तत्पुत्रस्य च पौत्रस्य | 2 | 42 | c | तदा निरये ह्यन्योन्य | 4 | 7 | c |
| तत्पुत्रीणाञ्च सन्तति | 12 | 17 | b | तदा प्रकृतय सप्त | 4 | 5 | c |
| तत्प्रभा व्यापिनी साक्षात् | 11 | 10 | c | तदा प्रवृत्तस्तु कलि | 2 | 31 | c |
| तत्राऽप्यदोन्यस्तमचष्टकृत्स्नशो | 9 | 27 | c | तदा भवति तत् कृतम् | 2 | 24 | d |
| तत्राऽष्टादशसाहस्रम् | 13 | 9 | c | तदा भूमेर्गन्धगुण | 4 | 13 | c |
| तत्राऽसीत्कुसुमाकरः | 8 | 21 | d | तदाविशत् कलिर्लोकं | 2 | 29 | c |
| तत्सुताश्च कुरूद्वह | 3 | 6 | b | तदाश्रमपदं पुण्यं | 8 | 18 | a |
| तत्सुतो वारिसाग्स्तु | 1 | 13 | c | तदेतदुन्मादित बाध्यबाधकं | 6 | 31 | c |
| तथा कर्ममयेषुधिम् | 11 | 15 | d | तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम् | 12 | 16 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवम् | 12 | 49 | a | तपः स्वाध्याय संयमैः | 8 | 13 | b |
| तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम् | 12 | 49 | b | तपः स्वाध्याय संयमैः | 8 | 32 | b |
| तदेव शोकार्णवशोषणं नृणाम् | 12 | 49 | c | तपः स्वाध्याय संयमैः | 9 | 2 | d |
| तदेव सत्यं तदुहैव मङ्गलम् | 12 | 48 | c | तपः स्वाध्याय संयमैः | 10 | 24 | d |
| तद्दर्शनाद्वीतपरिश्रमो मुदा | 9 | 26 | a | तपः स्वाध्याय संयुतः | 8 | 7 | d |
| तद्ध्वाङ्क्षतीर्थं न तु हंससेवितम् | 12 | 50 | c | तपो मासं नयन्त्यमी | 11 | 39 | d |
| तद्वाहवो लोकपाला | 11 | 7 | c | तपो विशङ्कितो ब्रह्मन् | 8 | 15 | c |
| तद्भृत्यो वृषलो बली | 1 | 22 | b | तपो वेषापजीविनः | 3 | 38 | d |
| तद्युष्मान् वयमीमहि | 10 | 22 | d | तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं | 12 | 68 | d |
| तद्रसामृततृप्तस्य | 13 | 15 | c | तमन्वय वटो ब्रह्मन् | 9 | 34 | a |
| तद्रूपेण च नारदाय मुनये | 13 | 19 | b | तमस्यपारे पतितो भ्रमन् दिशो | 9 | 16 | c |
| तद्वै भजाम्यृतधियस्तव पादमूलं | 8 | 44 | a | तमस्यपारे भ्रमतां | 8 | 1 | c |
| तन्नाथास्ते जनपदाः | 1 | 43 | a | तमहमजमनन्तमात्मतत्त्वम् | 12 | 66 | a |
| तन्नो वर्णय भद्रं ते | 11 | 3 | a | तमाह भगवाञ्छर्वः | 10 | 35 | c |
| तन्मनः सृजते माया | 5 | 6 | c | तमाहुरात्यन्तिकमङ्गसम्प्लवम् | 4 | 34 | d |
| तन्मात्रं रूपनामसु | 7 | 20 | b | तमेव चिन्तयन्नर्थं | 9 | 8 | a |
| तन्मात्राण्यस्याऽभिव्यक्तिः | 11 | 16 | c | तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं | 3 | 15 | c |
| तन्मूलभूतं पदमामनन्ति | 4 | 21 | d | तमेव शरणं ययौ | 10 | 1 | c |
| तन्मे ब्रूहि यथा मुने | 3 | 16 | d | तमेवं निभृतात्मानं | 10 | 3 | a |
| तपत्तटिद्वर्णपिशङ्गरोचिषा | 8 | 34 | c | तमो रजो वा महदादयोऽमी | 4 | 20 | b |
| तपस्याऽऽख्यं नयन्त्यमी | 11 | 40 | d | तयो रागमनं राक्षात् | 10 | 9 | a |
| तपस्विनो ग्रामवासा | 3 | 33 | c | तयो रासन मादाय | 8 | 38 | a |
| तपस्सत्यदया दानेषु | 3 | 22 | a | तयो र्न कर्माशय संसृतिर्भवेत् | 10 | 42 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तयोस्तु मध्ये नक्षत्रं | 2 | 27 | c | तस्यापि गोमतिः पुत्रः | 1 | 26 | c |
| तरलैस्ताडितः क्वचित् | 9 | 17 | b | तस्यापि ददृशे शिशुम् | 9 | 21 | b |
| तलकस्तस्य चात्मजः | 1 | 25 | b | तस्यामात्यस्तु शुनको | 1 | 2 | c |
| तल्लोलुपतयाऽऽददुः | 6 | 65 | b | तस्याऽवितु स्थिरचरेशितु रङ्घ्रिमूलं | 8 | 42 | a |
| तस्माच्छिविलको नृपः | 1 | 24 | b | तस्यैकदा भृगुश्रेष्ठ | 9 | 10 | a |
| तस्मात्तवेह भगवन्नथ तावकानां | 8 | 46 | a | तस्यैवमुद्वीक्षत ऊर्मिभीषणं | 9 | 14 | a |
| तस्मात् सत्त्वमिदं राजन् | 6 | 27 | a | तस्यैवं युञ्जत शिन | 8 | 14 | a |
| तस्मात्राग्नौ पतत्यसौ | 6 | 19 | d | तस्यैवं युञ्जतश्चित्तं | 8 | 31 | a |
| तस्मात् सर्वात्मना राजन् | 3 | 49 | a | तस्यैव युञ्जत शिनं | 8 | 32 | a |
| तस्मिन्नेव तदाहनि | 2 | 33 | b | त गोपायति राजेन्द्र | 6 | 19 | a |
| तस्मिन् पृथिव्याः ककुदि प्ररूढं | 9 | 31 | a | त चण्डशब्दं समुदीरयन्त | 9 | 11 | a |
| तस्मिंल्लब्धा दुराचारा | 3 | 24 | a | त तर्पयित्वा द्रविणै | 6 | 12 | a |
| तस्मै नमो भगवते | 10 | 32 | a | त नमामि हरिं परम | 13 | 23 | d |
| तस्मै नमो भगवते पुरुषाय भूम्ने | 8 | 47 | a | त नष्टलिप्त महायोगिन् | 8 | 5 | c |
| तस्मै सपर्यां व्यदधात् | 10 | 15 | a | त पतन्तं विमानेन | 6 | 23 | a |
| तस्य कर्माण्युदाराणि | 12 | 28 | a | त सर्वेषाद विषयप्रतिरूपशील | 8 | 49 | c |
| तस्य चाष्टौ भविष्यन्ति | 1 | 11 | a | तान्त्रिकी पाञ्चरात्रीयां | 11 | 2 | a |
| तस्य नारायणः सुतः | 1 | 20 | d | तारोपाख्यानमेव च | 12 | 22 | b |
| तस्य पुत्रस्तु भूमित्रः | 1 | 20 | c | ता लीयन्तेऽथ नीरन्ध्रा | 4 | 14 | d |
| तस्य वृद्धिश्च गोकुले | 12 | 27 | d | तावत् कलिर्वै पृथिवीं | 2 | 30 | c |
| तस्य शिष्यो वेदमित्र | 6 | 56 | c | तावच्छिशो वै श्वसितेन भार्गव | 9 | 27 | a |
| तस्य सेनापतिः कलौ | 1 | 16 | d | तावन्न भगवान् साक्षात् | 9 | 33 | a |
| तस्यः ह्यासंख्ययो वर्णाः | 6 | 42 | a | तावानसावपि महान् | 11 | 9 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ताविहैत्य कलेरन्ते | 2 | 38 | a | तेनाऽऽसन्नति विस्मिताः | 8 | 12 | d |
| तासां स चतुरश्शिष्यान् | 6 | 51 | a | तेनाऽसौ चतुरो वेदान् | 6 | 44 | a |
| तां मां ज्येष्यन्त्यबुद्धयः | 3 | 6 | d | तेनैव ऋषयो युक्ताः | 2 | 28 | a |
| तांश्च प्राच्यान्प्रचक्षते | 6 | 78 | d | ते परम्परया प्राप्ताः | 6 | 46 | a |
| तिरोधायि क्षणादस्य | 9 | 34 | c | ते पुनन्त्युरुकालेन | 10 | 23 | c |
| तिर्यङ्नागखगादय | 12 | 17 | d | ते वै तदाश्रमं जग्मुः | 8 | 17 | a |
| तिर्यङ्मर्त्यर्षिदेवेषु | 7 | 14 | c | ते वै भगवतो रूपे | 3 | 35 | a |
| तिष्ठन्त्यब्दशतं नृणां | 2 | 28 | b | तेषामभावे जगतीं | 1 | 12 | c |
| तीर्थश्रव श्रवणमङ्गलपाणिभृत्यान् | 11 | 25 | d | तेषां त्रयोदश सुताः | 1 | 34 | a |
| तीर्थाभिषेक व्रतदान जप्यै | 3 | 48 | b | तेषां नामानि कर्माणि | 11 | 28 | a |
| तुरीय इति वृत्तिभिः | 11 | 22 | b | तेषां प्रजाविसर्गश्च | 2 | 22 | a |
| तुर्यांशोऽधर्म हेतुभिः | 3 | 24 | b | तैजसानीन्द्रियाण्यङ्ग | 4 | 17 | a |
| तुर्यांशो हीयते शनैः | 3 | 20 | b | तैत्तिरीया इति यजुः | 6 | 65 | c |
| तुल्यकाला इमे राजन् | 1 | 40 | a | तोकश्च तत्प्रेमसुधास्मितेन | 9 | 31 | c |
| तृण बिन्दु र्ययातिश्च | 3 | 10 | a | तौ शुक्लकृष्णौ नवकञ्जलोचनौ | 8 | 33 | a |
| तृणावर्तस्य निष्पेष | 12 | 29 | a | त्यक्ष्यन्ति हि प्रियान् | 3 | 41 | c |
| तेजस्तत्त्वं सुदर्शनम् | 11 | 14 | d | त्रयोदश मुरुण्डाश्च | 1 | 30 | c |
| तेजोऽबन्नमयं कायं | 2 | 43 | a | त्रयो लोका इमे यत्र | 4 | 3 | c |
| तेऽणिमाद्या हरेर्गुणाः | 11 | 20 | f | त्रय्यारुणिः कश्यपश्च | 7 | 5 | a |
| ते त उद्देशतः प्रोक्ताः | 2 | 25 | c | त्रिगुणाय महात्मने | 10 | 32 | b |
| ते तु धर्मोपदेष्टारः | 6 | 45 | c | त्रिलोकनाथाऽऽनतपादपङ्कजम् | 3 | 43 | b |
| ते त्वदीये द्विजाः काले | 2 | 28 | c | त्रिवृद्वेदः सुपर्णाख्यो | 11 | 19 | c |
| तेन संस्तम्भितस्सर्पः | 6 | 19 | c | त्रिंशद्विंशति वर्षाणि | 2 | 11 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| त्रीणि तैः संस्थिते ततः | 1 | 32 | b | दध्या वधोक्षज योगी | 8 | 13 | c |
| त्रेतायां धर्मपादानां | 3 | 20 | a | दन्तवक्त्रस्य दुर्मते | 12 | 39 | b |
| त्रेतायां यजतो मखैः | 3 | 52 | b | दन्ता ज्योत्स्ना स्मयो भ्रम | 11 | 8 | b |
| त्रैलोक्यमासीत् सहसाद्भिराप्लुतम् | 9 | 15 | b | दमनं कालियस्याऽहे | 12 | 30 | c |
| त्रैवर्गिकास्त्रयी वृद्धा | 3 | 21 | c | दर्भकस्तत्सुतो भाव्यो | 1 | 6 | c |
| त्र्यक्षमष्टभुजं प्रांशुं | 10 | 11 | c | दर्भकस्याजय स्मृत | 1 | 6 | d |
| त्वद्बृहद्व्रतचर्यया | 9 | 3 | b | दशगर्दभिनो नृपा | 1 | 29 | b |
| त्वन्माययाऽऽवृतमतिः स उ | 8 | 48 | c | दशन्त तक्षक पादे | 5 | 12 | a |
| त्वष्टा ऋचीक तनयः | 11 | 43 | a | दशपञ्च चतुश्शतम् | 13 | 5 | d |
| त्वं तु राजन् मरिष्येति | 5 | 2 | a | दशपञ्चशते विभु | 6 | 74 | b |
| त्वाष्ट्रस्य जन्मनिधनं | 12 | 18 | a | दशभिर्लक्षणै र्युक्त | 7 | 10 | a |
| द | | | | दश वर्षशतानि च | 1 | 31 | b |
| दक्षजन्मप्रचेतोभ्य | 12 | 17 | a | दशाष्टौ ब्रह्मवैवर्तम् | 13 | 6 | c |
| दक्षयज्ञ विनाशनम् | 12 | 14 | b | दशाष्टौ श्रीभागवतम् | 13 | 5 | a |
| दग्धगोमयिपिण्डवत् | 4 | 10 | d | दस्युप्रायेषु राजसु | 2 | 13 | b |
| दत्त्वाऽगात्र्यक्ष ईश्वरः | 10 | 38 | b | दस्यूत्कृष्टा जनपदा | 3 | 32 | a |
| ददर्श पथि काश्यपम् | 6 | 11 | d | दहत्यनिल वेगोत्थ | 4 | 9 | c |
| ददर्श पुरुषं किल | 8 | 4 | b | दह्यमान विभात्यण्ड | 4 | 10 | c |
| ददर्श विश्वं सदिवाऽवभासितम् | 9 | 29 | d | दह्यमाना निवर्तन्तु | 8 | 29 | c |
| ददर्श स्वगणै र्वृतः | 10 | 3 | d | दह्यमानान् महोरगान् | 6 | 17 | b |
| ददाति यो भागवतम् | 13 | 13 | c | दाक्ष्य कुटुम्बभरण | 2 | 7 | a |
| ददृशुश्शक्र किङ्कराः | 8 | 23 | b | दान दानस्य माहात्म्यम् | 13 | 3 | c |
| ददृशुस्तान्यजुर्गणान् | 6 | 64 | d | दाम्पत्याभिरुचिर्हेतु | 2 | 3 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| दावाग्नेः परिसर्पतः | 12 | 30 | b | देवदुन्दुभयो नेदुः | 6 | 15 | a |
| दिव्याब्दानां सहस्रान्ते | 2 | 34 | a | देवभूतिः कुरूद्वह | 1 | 18 | b |
| दीक्षा संस्कार आत्मनः | 11 | 17 | b | देवरातसुतस्सोऽपि | 6 | 64 | a |
| दीना स्त्रैणाः कलौ नराः | 3 | 37 | d | देवहूत्याश्च संवादः | 12 | 13 | c |
| दीपश्चक्षुश्च रूपं च | 4 | 24 | a | देवानामच्युतो यथा | 13 | 16 | b |
| दीर्घसत्रे कुरुश्रेष्ठ! | 4 | 43 | c | देवान् वैकारिको गुणैः | 4 | 17 | b |
| दूरे चार्ययनं तीर्थं | 2 | 6 | a | देवापिः शन्तनोर्भ्राता | 2 | 37 | a |
| दुर्भगा भूरितर्षाश्च | 3 | 25 | c | देवासुर नरादयः | 6 | 14 | d |
| दुर्भिक्षकर्षपीडिता | 2 | 10 | b | देवासुर महायुद्धम् | 12 | 21 | a |
| दुर्भिक्षकरकर्शिता | 3 | 39 | b | देवो मकरकुण्डले | 11 | 12 | b |
| दुर्मित्रोऽस्य तथैव च | 1 | 34 | d | देवोऽसौ षड्भिरस्य वै | 11 | 46 | b |
| दुर्मेधान् वीक्ष्य कालत | 6 | 47 | b | देव्यै तत्कर्म कथयन् | 10 | 38 | c |
| दुर्वर्णं हन्ति धातुजम् | 3 | 47 | b | देहत्यागश्च राजर्षेः | 12 | 44 | a |
| दुर्वासितस्तवमच्युतं नतोऽ- | 1 | 66 | d | देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यति | 5 | 2 | d |
| दुर्विभाव्या शरीरिणाम् | 10 | 28 | b | देहाद्यपार्थम सदन्त्यमभिज्ञमात्रं | 8 | 44 | c |
| दुश्यते यत् समं निशि | 2 | 27 | d | देहिनां कलिदोषतः | 2 | 12 | b |
| दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्यां | 4 | 23 | c | देहोऽहि गरलाग्निना | 6 | 13 | b |
| दृश्यन्ते पुरुषे गुणाः | 3 | 26 | b | दैत्येश्वरस्य चरितम् | 12 | 18 | c |
| दृश्येते उदितौ दिवि | 2 | 27 | b | दौष्यन्तेर्भरतस्यापि | 12 | 26 | a |
| दृष्ट्वाऽऽत्मनि जये व्यग्रात् | 3 | 1 | a | द्युपतिभिरजशक्रशङ्करादैः | 12 | 66 | c |
| दृष्ट्वेऽ भयसंविग्नः | 6 | 17 | c | द्रक्ष्ये मायां यया लोकः | 9 | 6 | c |
| देवता मुनयस्सिद्धाः | 12 | 61 | a | द्रव्यक्रियाकारकाख्यं | 6 | 38 | c |
| देवदत्तं जगत्पतिः | 2 | 19 | b | द्रव्यदेशात्मसम्भवान् | 3 | 45 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| द्रव्यं फलमिति ब्रह्मन् | 11 | 31 | c |
| द्वादशस्वपि मासेषु | 11 | 46 | a |
| द्वादशाब्दशतात्मकः | 2 | 31 | d |
| द्वादश्यामेकादश्यां वा | 12 | 59 | a |
| द्वापरं तद् रजस्तमः | 3 | 29 | d |
| द्वापरादौ महर्षिभि | 6 | 46 | d |
| द्वापरे परिचर्यायां | 3 | 52 | c |
| द्वारवत्यां यतात्मवान् | 12 | 60 | b |
| [illegible] | 11 | 21 | a |
| द्विजं [illegible] | 6 | [illegible] | c |
| द्विजा धामाऽकुतोभयं | 11 | [illegible] | b |
| द्विजोऽधीत्यानुविन्दते | 12 | 62 | b |
| द्विजो राज्येऽभिषेक्ष्यति | 1 | 13 | b |
| द्विताय इव भार्गव | 1 | 10 | d |
| द्विपरार्धावधिर्नृप | 4 | 1 | b |
| द्विपरार्धे त्वतिक्रान्ते | 4 | 5 | a |
| द्वीपवर्जसमुद्राणाम् | 12 | 16 | a |
| द्वीपान्सवर्षान् ककुभः सुरगमुरान् | 9 | 28 | b |
| **ध** | | | |
| धनुष्विसि चर्मभि | 10 | 12 | b |
| धयन्तं वीक्ष्य विस्मितः | 9 | 25 | d |
| धर्मगुह्योपबृंहितम् | 10 | 26 | b |
| धर्मज्ञानादिभि र्युक्तं | 11 | 13 | c |
| धर्मत्राणाय सत्त्वेन | 2 | 16 | c |
| धर्मत्राणाय साधूना | 2 | 17 | c |
| धर्मन्याय व्यवस्थायां | 2 | 2 | c |
| धर्मस्याधर्मलक्षणैः | 3 | 22 | d |
| धर्मं ग्राहयितुं प्राय | 10 | 29 | a |
| धर्मं यशश्च भगवान् | 11 | 18 | c |
| धर्मं वक्ष्यन्त्य धर्मज्ञा | 3 | 38 | c |
| धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान् | 12 | 1 | d |
| धर्षितोऽपि महामुनि | 8 | 30 | b |
| धाता कृतस्थली हेति | 11 | 33 | a |
| [illegible] | 6 | 12 | c |
| धृत्या यत्यपृथग्भावम् | 6 | 38 | d |
| धूपमाल्यै रपूजयत् | 8 | 38 | d |
| धूम्र स्य [illegible] | 4 | 11 | d |
| धृतराष्ट्र इमम्भया | 11 | 43 | d |
| धेनुकस्य महाभ्रातु | 12 | 29 | c |
| ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा | 13 | 1 | c |
| ध्यायन्ति वेद हृदया मुनयस्तदाप्त्यै | 8 | 42 | d |
| ध्यायन् सर्वत्र च हरिं | 9 | 9 | a |
| ध्रुवस्य चरित पश्चात् | 12 | 14 | c |
| ध्रुवोऽनन्तोपमस्तत | 5 | 8 | d |
| ध्वस्तक्लेशान्तरात्मना | 8 | 13 | d |
| **न** | | | |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः | 12 | 48 | b | नन्दः क्षत्रविनाशकृत् | 1 | 9 | b |
| नक्षत्रकल्पः शान्तिश्च | 7 | 4 | a | नन्दादयोऽष्टौ द्वाः स्थाश्च | 11 | 20 | c |
| न खं जलं भूरनिलोऽग्निरर्कः | 4 | 21 | b | नन्दिवर्धन आजेयो | 1 | 7 | a |
| नङ्क्ष्यत्यायुर्बलं स्मृतिः | 2 | 1 | d | नन्दिवर्धनस्तत्पुत्रः | 1 | 4 | a |
| न चार्पितं कर्म यदप्यनुत्तमम् | 12 | 52 | d | न पश्यन्त्यन्तिकेऽन्तकम् | 3 | 4 | d |
| न चेमं देहमाश्रित्य | 6 | 34 | c | न प्राणबुद्धीन्द्रियदेवता वा | 4 | 20 | c |
| न जातः प्रागभूतोऽद्य | 5 | 2 | c | न भविष्यति भूत्वा त्वं | 5 | 3 | a |
| न तच्चित्रं महत्सु हि | 8 | 30 | d | नभस्तमनुलीयते | 4 | 16 | d |
| न तत्रात्मा स्वयं ज्योतिः | 5 | 8 | a | नभस्याख्यं नयन्त्यमी | 11 | 38 | d |
| न तस्य कालावयवैः | 4 | 18 | c | नभो निभं नभस्तत्त्वं | 11 | 15 | a |
| न ते मय्यच्युतेऽजे च | 10 | 22 | a | नभोमासं नयन्त्यमी | 11 | 37 | d |
| न ते मृढेति वादिनः | 3 | 8 | b | नम शिवाय शान्ताय | 10 | 17 | a |
| न त्वां धक्ष्यति तक्षकः | 5 | 10 | b | नमस्कृत्य गुरून्वक्ष्ये | 11 | 4 | a |
| नदन्ति रभसस्वनैः | 4 | 12 | d | नमस्तस्मै भगवते | 13 | 20 | a |
| न दह्येतोरगाधमः | 6 | 18 | d | नमस्तुभ्यं तमो जुषे | 10 | 17 | d |
| न दुष्येतानुभावस्तैः | 10 | 30 | c | नमः कृष्णाय वेधसे | 12 | 1 | b |
| न देवा श्चेतनोज्झिताः | 10 | 23 | b | नमुचिः शम्बरो भौमो | 3 | 11 | c |
| न द्रक्ष्यसि शरीरं च | 5 | 12 | c | नमो धर्माय महते | 12 | 1 | a |
| ननान्दृश्याल संवादाः | 3 | 37 | c | नमो नम इतीशानौ | 3 | 37 | c |
| ननाम शिरसा मुनिः | 10 | 14 | d | नमो भगवते तस्मै | 6 | 35 | a |
| ननामाग्रेन दण्डवत् | 8 | 35 | d | न यत्र दुर्भाव्यतया विराजिता | 6 | 30 | a |
| न निरूप्योऽस्त्यणुरपि | 4 | 29 | c | न यत्र वाचो न मनो न सत्त्वं | 4 | 20 | a |
| ननृतु स्तस्य पुरतः | 8 | 24 | a | न यत्र सृज्यं सृजतोभयोः परं | 6 | 31 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशः | 12 | 50 | a |
| न यद्विवादो विविध स्तदाश्रमो | 6 | 30 | c |
| नयन्त्येते स्म माधवम् | 11 | 34 | d |
| न येषां देहगेहजम् | 6 | 33 | d |
| न रक्षिष्यन्ति मनुजा | 3 | 42 | a |
| नरदेवास्तथा परे | 2 | 40 | b |
| नरदेवेन पूजित | 6 | 8 | d |
| नर नारायणावृषी | 8 | 35 | b |
| नर नारायणौ हरि | 8 | 32 | d |
| नराणा पुरुषोचितम् | 12 | 2 | d |
| नवयोगीन्द्रोऽजया हरि | 11 | 31 | d |
| नव नन्दान् द्विज कश्चित् | 1 | 12 | a |
| नवब्रह्म समुत्पन्नि | 12 | 14 | a |
| नवाधिका च नवति | 1 | 31 | c |
| न वेद खु गा च परिश्रमेषित | 9 | 16 | d |
| न वेद रुद्धधी वृत्ति | 10 | 9 | c |
| न शोभते ज्ञानमल निरञ्जनम् | 12 | 52 | b |
| नष्टे वेदपथे नृणाम् | 2 | 12 | d |
| न सन्निवेश खलु लोककल्प | 4 | 20 | d |
| न सेहे तावुदीक्षितुम् | 8 | 36 | d |
| न स्वप्नजाग्रन्न च तत् सुषुप्त | 4 | 21 | a |
| न स्युरन्यतमादृतात् | 4 | 24 | d |
| न हि सत्यस्य नानात्वं | 4 | 30 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| नहुषो भरतोऽर्जुन | 3 | 9 | b |
| न ह्यम्मयानि तीर्थानि | 10 | 23 | a |
| नाग्नो किमिति पान्त्यते | 6 | 20 | d |
| नाति हिंसा न लम्पटा | 3 | 21 | b |
| नातृप्यत् कर्णयो पिबत् | 10 | 26 | d |
| नाऽऽत्मनश्च जनस्यापि | 10 | 22 | c |
| नात्यद्भुतमिद मन्ये | 6 | 3 | a |
| नात्यन्त शुद्धि लभतेऽनन्तरामा | 3 | 48 | c |
| नात्मस्थ नो यत प्रभा | 13 | 22 | d |
| नानागुणमयी दधत् | 11 | 11 | b |
| नानात्व द्विद्वयोर्यद्वत् | 4 | 30 | c |
| नानात्व प्रत्यगात्मनि | 4 | 28 | d |
| नानाविधार्थोक्तिभिरन्यतन्त्रैर्यथेद | 8 | 4 | c |
| नाना धर्माति मग्न क | 11 | 22 | d |
| नानाधीषु [illegible] | 7 | 13 | d |
| नान्यत्र मद्यादति कश्चित् | 13 | 18 | d |
| नान्य तथादृश्यपनयादपवर्गो मृतो | 8 | 43 | a |
| नान्य [illegible] भगवत | 4 | 40 | b |
| नान्ये नृणा व्यसनमोह | 8 | 45 | d |
| नाभिम्मृर्योऽक्षिणी नाम | 11 | 6 | c |
| नाभेस्तनोऽनुर्वीतम् | 12 | 15 | c |
| नाममङ्कीर्तन यस्य | 13 | 23 | a |
| नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि | 12 | 51 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| नारदस्य च संवाद | 12 | 15 | a |
| नारद पञ्चविंशति | 13 | 5 | b |
| नारदः कच्छनीश्च | 11 | 34 | c |
| नारदाख्यानमेव च | 12 | 5 | d |
| नारदाय पुरा प्राह | 4 | 41 | c |
| नारदीयं भागवतं | 7 | 23 | b |
| नारदेन सुरर्षिणा | 12 | 41 | d |
| नारायणकथा यत्र | 8 | 6 | c |
| नारायण विनिर्मितम् | 10 | 1 | b |
| नारायणस्य भविता | 1 | 20 | c |
| नारायणस्याखिल सत्त्वधाम्नः | 4 | 39 | b |
| नारायणं देवमदेवमीशम् | 12 | 55 | c |
| नारायणाय ऋषये च नरोत्तमाय | 8 | 47 | c |
| नारायणो नरसखः | 9 | 1 | c |
| नारायणो हृषीकेशः | 12 | 3 | c |
| नावमन्येत कञ्चन | 6 | 34 | b |
| निगदाख्यं य गुर्गुणम् | 6 | 52 | d |
| निजाश्रमं यत्र ऋषीनपश्यत् | 9 | 30 | b |
| नित्य आत्यन्तिको लयः | 7 | 17 | b |
| नित्यदा सर्वभूतानां | 4 | 35 | a |
| नित्यमुद्विग्न मनसो | 3 | 39 | a |
| नित्यं कारणमव्ययम् | 4 | 19 | d |
| नित्यो नैमित्तिकश्चैव | 4 | 38 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|
| निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः | 13 | 2 | b |
| निद्रा हिंसा विषादनम् | 3 | 30 | b |
| निभृतात्मेन्द्रियाशयम् | 10 | 4 | d |
| निभृतोद झष व्रातो | 10 | 5 | a |
| निमिनीकृत्य पाण्डवान् | 12 | 40 | d |
| निमेरक्ष परित्यागः | 12 | 24 | c |
| निम्नगानां यथा गङ्गा | 13 | 16 | a |
| निम्न नाभिदलोदरम् | 9 | 24 | d |
| नियुक्तानामधीश्वरैः | 11 | 28 | b |
| निरले भूतले राजन् | 3 | 39 | c |
| निरीक्षितोऽपाङ्गनिरीक्षणेन | 9 | 31 | d |
| निर्घृणैर्दस्यु धर्मिभिः | 2 | 8 | d |
| निर्दयाः शुष्कवैरिणः | 3 | 25 | b |
| निर्मितो दृश्यते यत्र | 11 | 5 | c |
| निर्मितो लोकतन्त्रोऽयं | 11 | 29 | c |
| निवृतात्मेन्द्रियाशयः | 8 | 36 | b |
| निर्वैरास्समदर्शिनः | 10 | 20 | d |
| निवर्त्य विषहारिणम् | 6 | 12 | b |
| निषधास्तत एव हि | 1 | 35 | d |
| निषिध्य चोर्मीन् विरमेततन्मुनिः | 6 | 31 | d |
| निस्सन्नाच्छिन्नसंशयः | 6 | 10 | d |
| निस्सन्ना भूतवत्सलः | 10 | 20 | b |
| निः क्षत्रीकरणं भुवः | 12 | 25 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| नृणां त्वं पारदर्शनः | 8 | 1 | d |
| नृणां धुनोति भगवान् | 3 | 46 | c |
| नृणां साधु समागमः | 10 | 7 | d |
| नृत्यन्त्यप्सरसोऽग्रतः | 11 | 47 | d |
| नृदेव पितृभूतानि | 8 | 12 | c |
| नृपलिङ्गच्छदो दस्यून् | 2 | 20 | c |
| नृपान् हसति भूरियम् | 3 | 1 | b |
| नृभिः क्रियाभिर्व्यवहारवर्त्मसु | 4 | 31 | b |
| नेत्राभ्यां धिष्ठितं हृदि | 9 | 32 | b |
| नेत्रे त्रिलोकैकगुरुं | 10 | 14 | c |
| नैतावता भगवतः | 10 | 30 | 1 |
| नैमित्तिकः प्राकृतिको | 7 | 17 | a |
| नैर्ऋता बलशालिनः | 11 | 48 | d |
| नैवाधुनापि भूतानां | 8 | 3 | c |
| नैवेच्छत्याशिषः क्वापि | 10 | 6 | a |
| नैष त्वया मनुष्येन्द्र | 6 | 24 | a |
| नैष्कर्म्यमप्यच्युत भाववर्जितम् | 12 | 52 | a |
| न्यग्रोधपोतं ददृशे | 9 | 20 | c |
| न्यासिनोऽत्यर्थलोलुपा | 3 | 33 | d |
| **प** | | | |
| पञ्चत्वमृच्छते जन्तु | 6 | 26 | c |
| पञ्चत्वाद्यात्मन स्वयम् | [illegible] | 4 | b |
| पञ्चधा व्यस्य संहिताम् | 6 | 57 | b |
| पञ्च प्रद्योतना इमे | 1 | 4 | b |
| पटस्येवाङ्ग तन्तव | 4 | 27 | d |
| पठत्यनश्नन् प्रयत | 12 | 59 | c |
| पठित्वा मुच्यते भयात् | 12 | 60 | d |
| पणयिष्यन्ति वै क्षुद्राः | 3 | 35 | a |
| पतन् स्खलन् वा विवशो | 3 | 44 | b |
| पतितस्खलितो वाऽऽर्त | 12 | 46 | a |
| पति त्यक्ष्यन्ति निर्द्रव्य | 3 | 36 | a |
| पथ्यशिष्यानथो शृणु | 7 | 2 | d |
| पदार्थेषु यथा द्रव्य | 7 | 20 | a |
| पद्मगर्भारुणापाङ्ग | 9 | 24 | a |
| पद्मवत्या स वै पुरि | 1 | 37 | d |
| पद्माक्षमालामृतजन्तु मार्जन | 8 | 34 | a |
| पय [illegible] तत्फलम् | 12 | 62 | d |
| परत्रेह च सन्मतिम् | 11 | 46 | d |
| परदारधनादृता | 1 | 41 | b |
| परमायु कलौ नृणाम् | 2 | 11 | d |
| पर पद वैष्णवमामनन्ति तद् | 6 | 32 | a |
| परं भगवत पदम् | 6 | 7 | d |
| पर मायर्तको वाति | 4 | 11 | c |
| [illegible] | 2 | 30 | d |
| परशरात् सत्यवत्या | 6 | 49 | a |
| परशरायाग्निमित्राभ्यां | 6 | 55 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| परिचर्या भगवतः | 11 | 17 | c | पापे यद्रामते जनः | 2 | 29 | d |
| परिणामादयो गुणाः | 4 | 18 | d | पारीक्षित इति श्रुत्वा | 6 | 20 | a |
| परिणामिनामवस्थास्ता | 4 | 36 | c | पाषण्ड प्रचुरे धर्मे | 2 | 13 | a |
| परित आशापालैः तत्र | 6 | 71 | a | पितरो मनवो नृपाः | 12 | 61 | b |
| परितुष्टः प्रसन्नात्मा | 10 | 18 | c | पितृन्भ्रातृन्स्वसृर्ज्ञातीन् | 3 | 37 | a |
| परिपाठितोऽनुपदं कथाप्रसङ्गैः | 12 | 65 | d | पुण्यगन्धानिलस्पृशाम् | 2 | 21 | d |
| परिवर्तन्त आत्मनि | 3 | 26 | d | पुण्यद्रुमलताश्चितम् | 8 | 18 | b |
| परिष्वक्तु मधोक्षजम् | 9 | 32 | d | पुण्यद्विजकुलाकीर्णं | 8 | 18 | c |
| परिक्षितमुपाख्यानम् | 12 | 5 | c | पुण्यश्लोक शिखामणे | 9 | 6 | b |
| परिक्षिदपि राजर्षिः | 6 | 9 | a | पुण्यामलजलाशयम् | 8 | 18 | d |
| पर्जन्यश्शतवर्षाणि | 4 | 7 | a | पुत्रपौत्रादि रूपवान् | 5 | 3 | b |
| पर्जन्यस्सेनजित्तथा | 11 | 40 | b | पुत्रयोश्च दितेर्द्विजः | 12 | 8 | b |
| पवित्रपाणी उपवीतकं त्रिवृत् | 8 | 33 | c | पुत्रानध्यापयत्तांस्तु | 6 | 45 | a |
| पशुबुद्धिमिमां जहि | 5 | 2 | b | पुत्रान् सर्वार्थकुशलान् | 3 | 42 | c |
| पश्यतां सर्वदेहिनाम् | 6 | 13 | d | पुनरानम्य पादाभ्यां | 8 | 39 | c |
| पश्येमं भगवन्विप्रं | 10 | 4 | c | पुनस्सन्दीपनेर्गुरोः | 12 | 35 | b |
| पाठादेश्च निबोधत | 13 | 3 | d | पुनात्यात्मानमेव सः | 12 | 58 | d |
| पाण्डित्यं चापलं वचः | 2 | 4 | d | पुरतोऽभिमुखं यान्ति | 11 | 49 | c |
| पातालनरकस्थितिः | 12 | 16 | d | पुराणलक्षणं ब्रह्मन् | 7 | 8 | a |
| पादयोरवनिज्य च | 8 | 38 | b | पुराणसंख्या सम्भूतिम् | 13 | 3 | a |
| पादयोस्तव जायते | 13 | 22 | b | पुराण संहिताप्रश्नः | 12 | 8 | c |
| पाद्मं पञ्चोनषष्टि च | 13 | 4 | b | पुराण संहितामेताम् | 4 | 41 | a |
| पानं प्रलयकल्पयोः | 3 | 17 | b | पुराण संहितामेताम् | 6 | 4 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पुराण संहितामेतम् | 12 | 63 | a | पूजयामास वाक्पतिम् | 6 | 28 | d |
| पुराणं तद्विदो विदुः | 7 | 10 | b | पूजितश्चादृतोऽपि वा | 3 | 46 | b |
| पुराणाचार्यतास्तु ते | 10 | 37 | d | पूतनासुपय पानम् | 12 | 28 | c |
| पुराणानामिदं तथा | 13 | 16 | d | पूतो भवति पातकी | 12 | 59 | d |
| पुराणानि पुराविदः | 7 | 22 | b | पूर्णकामस्य ते विभो | 10 | 16 | b |
| पुराणानि सतां गणे | 13 | 14 | b | पूर्णकामाभिवर्षणात् | 10 | 34 | b |
| पुराणेष्वपि सम्मतः | 8 | 5 | d | पूर्ववत् प्रथयिष्यत | 2 | 38 | d |
| पुरीमान् भविता ततः | 1 | 26 | d | पूर्वं निर्जित्य षड्वर्गं | 3 | 3 | a |
| पुरीषभीरुस्तत्पुत्रः | 1 | 25 | c | पूर्वाषाढा महर्षय | 2 | 32 | b |
| पुरुषाणां महात्मनाम् | 2 | 36 | b | पूर्वे मे पुरुषैर्धृता | 2 | 42 | b |
| पुरुषानुगृहीतानां | 7 | 12 | a | पृथाधनञ्जयो वात | 11 | 39 | a |
| पुरुषाव्यक्तयोर्यदा | 4 | 22 | b | पृथग् द्वादशभिर्गुणै | 11 | 32 | d |
| पुरुषो लोकसंस्थया | 11 | 9 | d | पृथिव्या ककुदि द्विज | 9 | 20 | b |
| पुलस्त्यस्तुम्बुरुरिति | 11 | 33 | c | पृथु पुरुष्या गाधि | 3 | 9 | a |
| पुलिन्दयदुमद्रकान् | 1 | 36 | d | पृथा प्राचीनबर्हिषि | 12 | 14 | d |
| पुलिन्दो भविता ततः | 1 | 17 | b | पृथ्वी सागरमेखलाम् | 3 | 4 | b |
| पुष्करे मधुरायाश्च | 12 | 60 | a | पृष्ठ भ्राम्यदमन्दमन्दरगिरि | 13 | 2 | a |
| पुष्पभद्रा तटे मुनेः | 9 | 10 | b | पैल स्वसंहितामूचे | 6 | 54 | a |
| पुष्पभद्रा नदी यत्र | 8 | 17 | c | पैलादिभिर्व्यासशिष्यै | 6 | 36 | a |
| पुष्यमित्रस्तु शुङ्गाद्ध | 1 | 16 | c | पैलाय संहितामाद्या | 6 | 52 | a |
| पुष्यमित्रोऽथ राजन्यो | 1 | 34 | c | पौरजानपदाना वै | 2 | 21 | c |
| पुंसां कलिकृतान् दोषान् | 3 | 45 | a | पौर्णमासस्तु तत्सुत | 1 | 23 | d |
| पुंसो भवेत् विविधदुःख दवार्दितस्य | 4 | 40 | d | पौषमासं नयन्त्यमी | 11 | 42 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पौष्पिञ्जि शिष्या जगृहुः | 6 | 79 | c | प्रलम्बस्य च संक्षयः | 12 | 29 | f |
| पौष्पिञ्जिश्च सुकर्मणः | 6 | 77 | b | प्रलयत्वाय कल्पते | 4 | 14 | b |
| पौष्पिञ्ज्यावन्त्ययोश्चापि | 6 | 78 | c | प्रलयो यत्र लीयते | 4 | 6 | b |
| प्रजापतिः प्रजननं | 11 | 7 | a | प्रलयो यत्र विश्वसृक् | 4 | 4 | b |
| प्रजाश्चाब्रह्म भूयिष्ठाः | 1 | 37 | a | प्रवक्तारश्च देहिनाम् | 10 | 29 | b |
| प्रजासूतिश्च सात्त्विकी | 2 | 23 | d | प्रवालस्तबकालिभिः | 8 | 21 | b |
| प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति | 1 | 42 | c | प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषम् | 12 | 47 | c |
| प्रजा हि लुब्धै राजन्यै | 2 | 8 | c | प्रविष्टो ब्रह्म निर्वाणं | 6 | 5 | c |
| प्रणामो दुःखशमनः | 13 | 23 | c | प्रवेश्य विसृजाम्यसून् | 6 | 6 | d |
| प्रतिपन्नं कलियुगम् | 2 | 33 | c | प्रश्नस्त्वया महर्षेऽयं | 8 | 6 | a |
| प्रत्यगात्मानमन्तरा | 4 | 29 | b | प्रष्टुं पुरस्तं प्रससारबालकम् | 9 | 26 | d |
| प्रदाता सुखदुःखयोः | 6 | 25 | d | प्रसादाभिमुखौ मुनी | 8 | 39 | b |
| प्रद्युम्नः पुरुषः स्वयम् | 11 | 21 | b | प्रसादो यज्ञपत्नीभ्यः | 12 | 31 | c |
| प्रद्योतसंज्ञं राजानं | 1 | 3 | a | प्रस्थानं रामकृष्णयोः | 12 | 33 | d |
| प्रपन्नानुद्धरिष्यति | 1 | 12 | b | प्रहसंस्तमभाषत | 10 | 18 | d |
| प्रपन्ना भयदं हरे | 10 | 2 | b | प्रहृष्टरोमाद्भुतभावशङ्कितः | 9 | 26 | c |
| प्रपन्नार्तिहराऽच्युत | 9 | 4 | b | प्रहेतिः पुञ्जिकस्थली | 11 | 34 | b |
| प्रपन्नोऽस्म्यङ्घ्रिमूलन्ते | 10 | 2 | a | प्रह्लादस्य महात्मन | 12 | 18 | d |
| प्रबोध्याहिमिवार्भकाः | 8 | 29 | d | प्राकूले बर्हिष्यासीनो | 6 | 10 | a |
| प्रभञ्जनाघूर्णित वार्महार्णवः | 9 | 14 | b | प्रागुत्तरस्यां शाखायां | 9 | 21 | a |
| प्रभवन्ति यदा सत्त्वे | 3 | 27 | a | प्राग्ज्योतिषपतिं हत्वा | 12 | 38 | c |
| प्रमथ्य द्विषतो हरेः | 12 | 37 | d | प्रामद्विजाति संस्कारो | 8 | 7 | a |
| प्रम्लोचा राक्षसाश्चर्यो | 11 | 37 | c | प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः | 3 | 44 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| प्रायशः श्रमणा जनाः | 3 | 19 | d |
| प्रायेणमर्त्या भगवन्तमच्युतं | 3 | 43 | c |
| प्रायोपवेशे नृपतेः परीक्षितः | 12 | 56 | c |
| प्रायोपवेशो राजर्षेः | 12 | 6 | a |
| प्राहर्त्विज उदारधीः | 6 | 20 | b |
| प्रांशू दधानौ विबुधर्षभार्चितौ | 8 | 34 | d |
| प्रीत आह भृगूद्वह | 9 | 1 | d |
| प्रोक्तं भगवता यत्तु | 12 | 63 | c |
| प्रोक्तं विज्ञानसंयुतम् | 12 | 4 | d |
| प्रोक्ता धर्मविनिर्णय | 12 | 42 | b |
| प्रोत्फुल्ल हृत्पद्म विलोचनाम्बुज | 9 | 26 | b |
| प्रोष्ठपद्यां पौर्णमास्याम् | 13 | 13 | a |
| **फ** | | | |
| फलफल्लव शोभितम् | 9 | 20 | d |
| फलपुष्पाष्टि भोजनाः | 2 | 9 | d |
| फल्गुदास्तीव्रमन्यवः | 1 | 40 | d |
| **ब** | | | |
| बदर्याश्रममीश्वर | 9 | 7 | d |
| बद्धाञ्जलिस्तमिदमाह स | 6 | 1 | d |
| बभाषे गद्गदाक्षरम् | 8 | 37 | d |
| बभूव भस्मसात् सद्य | 6 | 13 | c |
| बभूव सम्भ्रान्तमति | 6 | 22 | c |
| बभ्राम विक्षिप्त जटो जडान्धवत् | 9 | 15 | d |
| बभ्रुः शिष्योऽथाङ्गिरसः | 7 | 3 | c |
| बलाहका अन्वभवन् कुशला | 9 | 11 | b |
| बहिर्निरस्तो न्यपतल्लयाब्धौ | 9 | 30 | d |
| बहचाख्यामुवाच ह | 6 | 52 | b |
| बह्वृचा संहिता तेन | 6 | 60 | a |
| बाणस्य भुजकृन्तनम् | 12 | 38 | b |
| बाध्यबाधकलक्षणा | 6 | 29 | b |
| बालस्य ते किमुत | 8 | 43 | d |
| बाष्कलाय च सोऽप्याह | 6 | 54 | c |
| बिभर्ति माय्य योगश्च | 11 | 12 | a |
| बिभर्ति स्म चतुर्मूर्ति | 11 | 23 | c |
| बिभ्रत् कमण्डलुं दण्ड | 8 | 8 | c |
| बिभ्रत्यात्म समाधान | 10 | 24 | c |
| बिभ्राण महमा भात | 10 | 13 | a |
| बीजाङ्कुरवदेतादे | 5 | 3 | c |
| बीजादिपञ्चतान्तासु हि | 7 | 20 | c |
| बीजाद्बीज चराचरम् | 7 | 12 | c |
| बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण | 4 | 23 | a |
| बुद्ध्या नीमण स्वप्न | 4 | 28 | a |
| बुद्ध्यानुमानसंभिण्या | 5 | 9 | c |
| बृभुः स पुर्वनुज्ञात | 8 | 10 | c |
| बृहद्व्रतधर शान्ती | 8 | 8 | c |
| ब्रह्मण परमात्मन | 6 | 39 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ब्रह्मणः परमेष्ठिनः | 4 | 5 | b | ब्रह्मादीनां परन्तप | 4 | 35 | b |
| ब्रह्मणः परमेष्ठिनः | 6 | 37 | b | ब्रह्मापेतोऽथ शतजित् | 11 | 43 | c |
| ब्रह्मणीदं तथा विश्वं | 4 | 26 | c | ब्रह्मा बिभेत्यलमतो | 8 | 43 | c |
| ब्रह्मणं नाभि पङ्कजे | 13 | 10 | b | ब्रह्मा भृगुर्भवो दक्षो | 8 | 12 | a |
| ब्रह्मणो दिनमुच्यते | 4 | 2 | b | ब्रह्माहं परमं पदम् | 5 | 11 | b |
| ब्रह्मतेजो विदीपनम् | 7 | 25 | d | ब्रह्मांशकस्यात्मन आत्मबन्धनः | 4 | 32 | d |
| ब्रह्मत्रिदं समाख्यातं | 7 | 25 | a | ब्रह्मेशाद्यैर्लोकपालैः | 6 | 48 | c |
| ब्रह्मन् वायुर्भृन्महान् | 9 | 10 | d | ब्राह्मणस्य महात्मनः | 2 | 18 | b |
| ब्रह्मपुत्राश्च ये परे | 8 | 12 | b | ब्राह्मणा साधवश्शान्ताः | 10 | 20 | a |
| ब्रह्मभूतस्य रा जर्षे | 6 | 13 | a | ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य | 12 | 1 | c |
| ब्रह्मभूतो महायोगी | 6 | 10 | c | ब्राह्मणेभ्यो नमस्यामो | 10 | 24 | a |
| ब्रह्मर्षिभिर्निरूपितम् | 7 | 8 | b | ब्राह्मं दश सहस्राणि | 13 | 4 | a |
| ब्रह्मर्षिमोक्षमप्युत | 10 | 6 | b | ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च | 7 | 23 | a |
| ब्रह्मर्षीन्ब्रह्मकोविदान् | 6 | 45 | b | ब्राह्मी रात्रिरुदाहृता | 4 | 3 | b |
| ब्रह्मवर्चस्विनो भूयात् | 10 | 37 | c | ब्रूहि नः श्रद्दधानानां | 11 | 28 | c |
| ब्रह्मविट्क्षत्र शूद्राणां | 2 | 8 | a | **भ** | | | |
| ब्रह्मवेदगुहाशयम् | 11 | 26 | d | भक्ति प्रसरसम्प्लुतः | 9 | 9 | d |
| ब्रह्मसम्पद्यते पुनः | 5 | 5 | d | भक्तिमांस्त्वमधोक्षजे | 10 | 36 | b |
| ब्रह्मसूत्रं त्रिवृत्स्वरम् | 11 | 11 | d | भक्तियोगस्समाख्यातः | 12 | 5 | a |
| ब्रह्माण्ड विवरान्तरम् | 4 | 13 | b | भक्तिर्भवति देहिनाम् | 3 | 28 | b |
| ब्रह्माण्डं द्वादशैव तु | 13 | 8 | d | भक्तिं परां भगवति | 16 | 6 | c |
| ब्रह्माण्डाख्यमिति त्रिषट् | 7 | 24 | d | भक्षमाणाः क्षुधार्दिताः | 4 | 7 | d |
| ब्रह्मात्मैकत्व लक्षणम् | 13 | 12 | b | भगवत उपलब्धिमात्रधाम्ने | 12 | 67 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| भगवत्यच्युते भक्तिं | 10 | 34 | c | भवद्भिर्यदहं पृष्ट | 12 | 2 | c |
| भगवंस्तक्षकादिभ्यो | 6 | 5 | a | भवने विष्णुयशस. | 2 | 18 | c |
| भगवाननुवर्ण्यते | 6 | 4 | d | भवन्तं बहुवित्तमम् | 11 | 1 | b |
| भगवानवतरिष्यति | 2 | 16 | d | भवन्ति न भवन्ति च | 4 | 26 | b |
| भगवान् कालरूपधृत् | 11 | 32 | b | भवान् भागवततत्त्ववित् | 11 | 1 | d |
| भगवान् परमेश्वरः | 3 | 50 | b | भवान्येतेन साधुना | 10 | 7 | b |
| भगवान् परिभाष्यते | 11 | 22 | d | भविता तद्बृहद्रथ | 1 | 15 | b |
| भगवान् पुरुषोत्तमः | 3 | 45 | d | भविता पृथिवीपति | 1 | 23 | b |
| भगवान् बादरायणः | 4 | 42 | b | भवितारश्च बाह्लिका | 1 | 34 | b |
| भगवान् बादरायणिः | 6 | 8 | b | भविता राजकस्तत | 1 | 3 | d |
| भगवान् भगशब्दार्थं | 11 | 18 | a | भविष्यति यदा नृणां | 2 | 34 | c |
| भगवान् स सतांगतिः | 10 | 8 | b | भविष्यन्ति कलौ प्रजा | 3 | 40 | d |
| भगवान्सात्वतां पतिः | 12 | 3 | d | भविष्यन्त्यतिलोलुपा | 1 | 29 | d |
| भगवान् हरिरीश्वरः | 11 | 23 | d | भविष्यन्त्यधिकानि षट् | 1 | 33 | d |
| भगवान् हरिरीश्वरः | 11 | 50 | b | भविष्य ब्रह्मवैवर्ते | 7 | 24 | a |
| भगवांल्लोकभावनः | 6 | 48 | b | भवे भवे यथा भक्तिः | 13 | 22 | a |
| भगवांस्तच्चतुष्टयम् | 11 | 23 | b | भागवतगणभूमे | 12 | 40 | c |
| भगवांस्तदभिज्ञाय | 10 | 10 | a | भावद्वयं प्रजयन् | 9 | 9 | b |
| भगः स्फूर्जोऽरिष्टनेमिः | 11 | 42 | a | भाव्यो बार्हद्रथो नृप | 1 | 2 | b |
| भगीरथः कुवलयाश्वः | 3 | 10 | c | भिक्षवश्च कुटुम्बिनः | 3 | 33 | b |
| भयानकावर्त गभीरघोषाः | 9 | 12 | d | भिदामण्वपि चक्षते | 10 | 22 | b |
| भवता करुणात्मना | 6 | 2 | b | भुङ्क्ते ह्यान्धकर्म तत् | 6 | 26 | d |
| भवता दर्शितं क्षेमं | 6 | 7 | c | भुञ्जते भुवमोजसा | 2 | [illegible] | [illegible] |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| भुव उद्धरणाम्भोधेः | 12 | 10 | c |
| भुवि खे दिक्षु सर्वत | 6 | 14 | b |
| भुवि प्राणिषु वर्तते | 2 | 39 | d |
| भृत ध्रुक् तत्कृते स्वार्थं | 2 | 41 | c |
| भृतनन्दोऽथ वीरारि | 1 | 32 | d |
| भृतसृक्ष्मेन्द्रियार्थाना | 7 | 11 | c |
| भृतेषु गुणवृत्तिभि | 6 | 29 | d |
| भृतेषु यदनुग्रह | 6 | 3 | d |
| भृत्वा तिनिग्यो ब्रह्मन् | 6 | 65 | a |
| भमौ ममत्वं कृत्वान्ते | 2 | 40 | c |
| भूमौ राजन् न वर्षति | 4 | 7 | b |
| भूमि वर्षशताधिकम् | 1 | 18 | d |
| भूर्यपत्या गतोऽथ | 3 | 34 | b |
| भूवायुत्रियदात्मम् | 9 | 8 | d |
| भू पादौ द्यौ शिरो नभः | 11 | 6 | b |
| भृत्यं विपन्नं पतय | 3 | 36 | c |
| भृत्या अप्यखिलोत्तमम् | 3 | 36 | b |
| भृशमुद्विग्नमध्याया | 8 | 26 | c |
| भैक्ष्यमाहृत्य वाग्यत | 8 | 10 | b |
| भोक्ष्यन्ति कुरुनन्दन! | 1 | 28 | d |
| भोक्ष्यन्ति पृथिवीं नृपाः | 1 | 4 | d |
| भोक्ष्यन्ति शूद्रा व्रात्याद्याः | 1 | 39 | c |
| भोक्ष्यन्त्यब्दशतान्यत्र | 1 | 32 | a |
| भो भो ब्रह्मर्षिवर्योऽसि | 9 | 2 | a |
| भ्रातृणां चापि विग्रहः | 3 | 7 | b |
| भ्रामितः कर्शितो भृशम् | 10 | 27 | b |
| **म** | | | |
| मघासु विचरन्ति हि | 2 | 31 | b |
| मण्डल देवयजनं | 11 | 17 | a |
| मत्कृते पितृपुत्राणां | 3 | 7 | a |
| मत्तकोकिल कूजितम् | 8 | 19 | b |
| मत्तद्विजकुलाकुलम् | 8 | 19 | d |
| मत्तबर्हिनटाटोपं | 8 | 19 | c |
| मत्तभ्रमर सङ्गीतं | 8 | 19 | a |
| मत्पूर्वा वंशजस्य च | 2 | 42 | d |
| मत्वा तं स्वजितं स्मरः | 8 | 28 | b |
| मथुरालोकनं ततः | 12 | 34 | b |
| मदर्थीतं त्यजाश्विति | 6 | 63 | d |
| मधुकुल्या धृतकुल्याः | 12 | 62 | c |
| मधुमासं नयन्त्यमी | 11 | 33 | d |
| मधुरायां निवसता | 12 | 35 | c |
| मधुर्मदो रजस्तोक | 8 | 25 | c |
| मध्वादिषु द्वादशसु | 11 | 32 | a |
| मन आत्मप्रकाशकम् | 2 | 34 | d |
| मनश्चन्द्रो भ्रुवौ यमः | 11 | 7 | d |
| मनश्च सङ्कल्प विकल्प वृत्ति यत् | 6 | 30 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मनसा योगपक्वेन | 9 | 5 | c | महानन्दिसुतस्तु | 1 | [illegible] | b |
| मनस्सृजति वै देहान् | 5 | 6 | a | महान् गमस्त्यहङ्कार | 4 | 17 | c |
| मनांसि विशदानि वै | 2 | 21 | b | महान्ति भूतान्यथ भौतिकान्यसौ | 9 | 29 | a |
| मनुपुत्र स्सुरेश्वरः | 7 | 15 | b | महापद्मपतिः कश्चित् | 1 | 9 | a |
| मनोबुद्धीन्द्रियाणि च | 3 | 27 | b | महापातकिनोऽपि च | 10 | 25 | b |
| मन्त्रैर्मणिगणा इव | 6 | 50 | d | महापुरुषा ऽभ्याम | 12 | 44 | c |
| मन्वन्तरषडात्मकः | 8 | 14 | d | महापुरुषमभ्यर्चति | 12 | 8 | d |
| मन्वन्तरं मनुर्देवाः | 7 | 15 | a | महामकरतश्याम | 9 | 22 | a |
| मन्वन्तरानुचरितम् | 12 | 10 | a | महायामवलान्विनी | [illegible] | 37 | d |
| मन्वन्तरावतारांश्च | 12 | 10 | c | महायामन स्थायिन | 8 | 11 | b |
| ममतावद्धचेतसाम् | 3 | 7 | d | महाविभूतिमोक्षणम् | 12 | 30 | d |
| ममतां मय्यमर्त्यायां | 3 | 13 | a | महिमा भार्गवानाम | 10 | 39 | b |
| ममैवेयं महीकृत्स्ना | 3 | 8 | a | महीं ममतया चाभौ | [illegible] | 34 | c |
| मयि भक्त्याऽनपायिन्या | 9 | 2 | c | माघमासे तु भविता | 1 | 36 | a |
| मरुश्चेक्ष्वाकुवंशजाः | 2 | 37 | b | माण्डूक्यमांसं कविम् | 6 | 56 | b |
| मर्त्यो यद्विन्दतेऽमृतम् | 10 | 19 | d | मान्य तनु चतुर्दश | 13 | 8 | a |
| मर्त्यो यायादमर्त्यताम् | 11 | 3 | d | मानी दम्भोऽथ मत्सर | 3 | 29 | b |
| महतस्त्रिवृतोऽहम | 7 | 11 | b | मान्धाता मगधा मौर्य | 3 | 9 | c |
| महतामच्युतात्मनाम् | 6 | 3 | b | मायाकला मिथितस्तयोद्भव | 5 | 18 | b |
| महदल्पव्यवस्थया | 7 | 10 | d | मायाऽऽत्मयाऽऽत्मकु | 6 | 30 | b |
| महर्षे मानयन् वचः | 6 | 28 | b | मायादैर्नाभिमन्तो | 11 | 5 | a |
| महादेवस्सतां गतिः | 10 | 18 | b | मायामयाहङ्कारणान्म बन्धनम् | 4 | 34 | b |
| महानन्दि सुतो राजन् | 1 | 8 | c | मायामयेषु तद्धत्य | 7 | 19 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मायामात्रमिदं गजन् | 4 | 25 | c | मुनये प्रेषयामास | 8 | 16 | c |
| माया वैभवमद्भुतम् | 10 | 40 | d | मुनयोऽष्टादशप्राहुः | 7 | 22 | c |
| माया संसृतिमात्मनः | 10 | 41 | b | मुनिना सूक्तया गिरा | 10 | 35 | b |
| मायिन कुहकैर्यथा | 10 | 30 | d | मुनेस्तेजसा मुने | 8 | 29 | b |
| मायैव व्यावहारिके | 2 | 3 | b | मुरः पञ्चजनादयः | 12 | 39 | d |
| मार्कण्डेयस्य धीमतः | 10 | 40 | b | मुह्यन्ति यत्र कवयोऽजपरा यतन्तः | 8 | 49 | b |
| मार्कण्डेयस्य सत्कथा | 12 | 44 | d | मुह्यन्त्यज्ञानकातराः | 10 | 2 | d |
| मार्कण्डेयं नवाग्रेयञ्च | 13 | 5 | c | मूर्तिमन्तमिवाऽनलम् | 8 | 23 | d |
| मार्कण्डेय स वामनम् | 7 | 24 | b | मूर्तिव्यूहोऽभिधीयते | 11 | 21 | d |
| मार्कण्डेय पितुः क्रमात् | 8 | 7 | b | मूर्ती इमे भगवतो भगवंस्त्रिलोक्या | 8 | 41 | a |
| मार्कण्डेयेन धीमता | 9 | 1 | b | मृकण्डुतनयं जनाः | 8 | 2 | b |
| माहात्म्यञ्च वधस्तेषाः | 12 | 40 | a | मृतस्याऽऽनयनं सूनोः | 12 | 35 | a |
| माहात्म्यं वासुदेवस्य | 12 | 57 | c | मृत्यवो नोपसर्पन्ति | 5 | 10 | c |
| मां विशन्त्यविधमोजसा | 3 | 5 | b | मृत्युभ्यो न बिभेम्यहम् | 6 | 5 | b |
| मित्रोऽत्रि पौरुषेयोऽथ | 11 | 35 | a | मृत्यूनां मृत्युमीश्वरम् | 5 | 10 | d |
| मीलिताक्षं दुराधर्षं | 8 | 23 | c | मृत्योः क्रीडनका नृपाः | 3 | 1 | d |
| मुक्तकामाशयं चेत | 6 | 6 | c | मृदङ्गवीणापणवैर्वाद्यं | 8 | 24 | c |
| मुक्तबन्धः परं व्रजेत् | 3 | 51 | d | मृषागिरस्ता ह्यसतीरसत्कथाः | 12 | 48 | a |
| मुक्तिगत्यजये फलम् | 3 | 5 | d | मेघस्वातिश्चिबिलकात् | 1 | 24 | c |
| मुखे निधाय विप्रेन्द्रः | 9 | 25 | c | मेघाः पुरुषमूर्धजाः | 11 | 8 | d |
| मुख्यतत्त्वं गदां दधत् | 11 | 14 | b | मेदशिराः शिवस्कन्दो | 1 | 27 | a |
| मुच्यते सर्वपातकात् | 12 | 46 | d | मेघः स्याद् विदुषामपि | 3 | 2 | b |
| मुनयेऽदात्प्रसादितः | 6 | 73 | d | मोदोषः पिप्पलायनिः | 7 | 2 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| मौना एकादश क्षितिम् | 1 | 31 | d |
| मौना एकादशैव तु | 1 | 30 | d |
| मौर्या भोक्ष्यन्ति वै कलौ | 1 | 12 | d |
| मौर्या होते दश नृपा | 1 | 15 | c |
| मौलिं पद पारमेष्ठ्य | 11 | 12 | c |
| म्लेच्छप्रायाश्च भूभृत | 1 | 40 | b |
| म्लेच्छा राजन्यरूपिण | 1 | 42 | d |
| म्लेच्छाश्चाब्रह्मवर्चस | 1 | 39 | d |
| म्रियन्ते मत्कृते नृपा | 3 | 8 | d |
| म्रियमाणै रभिध्येयो | 3 | 50 | a |
| म्रियमाणो ह्यवहित | 3 | 49 | c |
| **य** | | | |
| य इद कल्य उत्थाय | 11 | 26 | a |
| य इद कृपया कस्मै | 13 | 20 | c |
| य इमां भोक्ष्यन्ति महीं | 1 | 11 | c |
| य इह वावस्थि चर | 6 | 69 | a |
| य एव मतद्भगुवर्यवर्णित | 10 | 42 | a |
| य एव श्रावयेन्नित्यम् | 12 | 58 | a |
| य एवेम लोकमतिकराल | 6 | 70 | a |
| यक्ष्यन्ति पाषण्डविभिन्नचेतस | 3 | 43 | d |
| यच्चेरुर्ब्रह्महत्याह | 6 | 61 | c |
| यच्छन्ति कामान् गृणत | 12 | 61 | c |
| यच्छ्रवदात्मन्यखिलात्मभूतम् | 12 | 55 | b |
| यच्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति | 12 | 51 | d |
| यज्ञानुशायिन प्राहु | 7 | 18 | c |
| यजुर्भिरकगोत्छास्ता | 6 | 74 | a |
| यजूंष्ययात यामानि | 6 | 73 | c |
| यज श्रीस्तत्सुतस्तत | 1 | 27 | b |
| यज [illegible] पुरुषम् | 11 | 19 | d |
| यज्ञाभिष [illegible] कृष्णस्य | 12 | 32 | c |
| यत [illegible] मायम्भु [illegible] मनु | 12 | 11 | d |
| यती [illegible] | 12 | 17 | c |
| यत्किञ्चिदन्यत् व्यवहारकारण | 9 | 29 | c |
| यत्सद्भि भगवता | 6 | 39 | c |
| यत्पादाम्बुरुहध्यानात् | 6 | 35 | c |
| यत्पृथ [illegible] | 12 | 45 | b |
| यत्र [illegible] भक्ति [illegible] | 13 | 18 | c |
| यत्र [illegible] | 13 | 51 | b |
| यत्रा [illegible] | 12 | 50 | d |
| यत्रा [illegible] | 12 | 42 | a |
| यत्रायताणी भगवान् | 12 | 27 | a |
| यत्समस्त [illegible] | 13 | 2 | c |
| यत्सान्वता पुरुषरूप [illegible] सत्त्व | 8 | 46 | c |
| यत् सामान्यविशेषाभ्या | 4 | 28 | a |
| यत्स्थ [illegible] | 8 | 42 | b |
| यथा काशा ह्यनुनमा | 13 | 17 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्क | 4 | 32 | a |
| यथा जलधरा व्योम्नि | 4 | 26 | a |
| यथा जुहाव संक्रुद्धः | 6 | 16 | c |
| यथा तमोऽर्कोऽभिभवोऽतिवात | 12 | 47 | d |
| यथाऽऽत्मा पृष्टवान् नृप | 5 | 13 | b |
| यथा पुराऽमुह्यदतीव विस्मित | 9 | 27 | d |
| यथा संख्यायते भुवि | 2 | 35 | b |
| यथा हिरण्यं बहुधा समीयते | 4 | 31 | a |
| यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते | 3 | 48 | d |
| यथा हेम्नि स्थितो वह्नि | 3 | 47 | a |
| यथा ह्यहङ्कार उपाधिरात्मनो | 4 | 33 | c |
| यथेहाऽनीशनिर्मिता | 9 | 33 | d |
| यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च | 2 | 24 | a |
| यदा देवर्षय सप्त | 2 | 31 | a |
| यदा धर्मार्थकामेषु | 3 | 28 | a |
| यदामघाभ्यो यास्यन्ति | 2 | 32 | a |
| यदा मायानृतं तन्द्रा | 3 | 30 | a |
| यदा लोभस्त्वसन्तोषो | 3 | 29 | a |
| यदाऽवतीर्णो भगवान् | 2 | 23 | a |
| यदुचक्रस्य यत्प्रियम् | 12 | 35 | d |
| यदुनमश्लोक यशोऽनुगीयते | 12 | 49 | d |
| यदुपासनया ब्रह्मन् | 6 | 38 | a |
| यदवंशविभूषणे | 1 | 1 | b |
| यदुह वाव विबुधर्षभ | 6 | 68 | a |
| यदैवमेतेन विवेकहेतिना | 4 | 34 | a |
| यदोर्वंशोऽनुकीर्तितः | 12 | 26 | d |
| यद्दर्शनं निगम आत्म रहःप्रकाशं | 8 | 49 | a |
| यद्दर्शनात्पूर्णकामः | 10 | 33 | c |
| यद्भवान् समदृश्यत | 9 | 4 | d |
| यद्वै स्तुवन्ति निनमन्ति | 8 | 42 | c |
| यन्नमन्तीशितव्यानि | 10 | 28 | c |
| यन्नागादहमो भावं | 8 | 30 | c |
| यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः | 3 | 44 | a |
| यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः | 6 | 32 | b |
| यन्माययाऽपि विबुधाः | 10 | 2 | c |
| ययातेर्ज्येष्ठपुत्रस्य | 12 | 26 | c |
| ययातेर्नहुषस्य च | 12 | 25 | d |
| यथा मुह्यत्यसावात्मा | 6 | 29 | c |
| यशश्रियामेव परिश्रमः परः | 12 | 53 | a |
| यशस्विनो महाशीला | 3 | 23 | a |
| यशोनन्दिः प्रवीरकः | 1 | 33 | b |
| यशोऽर्थे धर्म सेवनम् | 2 | 7 | b |
| यस्तूत्तमश्लोक गुणानुवादः | 3 | 15 | a |
| यस्मात् क्षुद्रदृशो मर्त्याः | 3 | 31 | a |
| यस्मात् पश्यति देहस्य | 5 | 4 | c |
| यस्मिन् कृष्णो दिवं यातः | 2 | 33 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| यस्मिन् पारमहंस्यमेतदखिलं | 13 | 18 | b | यां विसृज्यैव मनवः | 3 | 6 | a |
| यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि | 12 | 51 | b | युगलक्षण वृत्तिश्च | 12 | 43 | a |
| यस्य प्रसादजो ब्रह्मा | 5 | 1 | c | युगानि युगधर्माश्च | 3 | 17 | a |
| यस्यान्तं नविदुस्सुरासुर गणा | 13 | 1 | d | युतेन हरिणा द्विजा | 12 | 35 | 1 |
| यस्यां खलूत्तमश्लोको | 6 | 4 | c | यूयं दर्शनमात्रत | 10 | 23 | d |
| यं ब्रह्मा वरुणेन्द्र रुद्रमरुतः | 13 | 1 | a | यूय द्विजाग्र्या बत भूरिभागा | 12 | 55 | a |
| यं वै न वेद वितथाक्षपथैर्भ्रमद्धीः | 8 | 48 | a | येति विमम्भिता नपा | 3 | 2 | d |
| यः कल्पान्तेप्युर्वरितो | 8 | 2 | c | येऽतीता वर्तमाना ये | 2 | 25 | a |
| याचितो धर्मगुप्तये | 6 | 48 | d | येन क्रिया नैपुणेन | 11 | 3 | c |
| याज्ञवल्क्यस्ततो ब्रह्मन् | 6 | 66 | a | येन ग्रस्तमिदं जगत् | 8 | 2 | d |
| याज्ञवल्क्यस्तु तच्छिष्य | 6 | 62 | a | येन फेनोपमे पिण्डे | 3 | 2 | c |
| याज्ञवल्क्याय भार्गव | 6 | 55 | b | येन यागव्यज्यते यस्य | 6 | 40 | c |
| यातायातमतन्द्रितं जलनिधे | 13 | 2 | d | येनेदं निर्वृतं जगत् | 10 | 16 | d |
| यादोभिर्भक्षितः क्वाऽपि | 9 | 17 | c | ये भविष्यन्ति पार्थिवा | 2 | 25 | b |
| यमक्षणमनन्यधी | 12 | 58 | b | ये ये भूपतयो यजन् | 2 | 44 | a |
| यावत् स पादपद्माभ्यां | 2 | 30 | a | येऽस्मद्रूप त्रयीमयम् | 10 | 24 | b |
| यावत्या संस्थयामित | 11 | 9 | b | योगधारणयोऽक्रान्ति | 12 | 7 | a |
| यावन्न दृश्यते साक्षात् | 13 | 14 | c | योगार्थांशो गुहाशय | 9 | 33 | b |
| यावन्नन्दाभिषेचनम् | 2 | 26 | b | योगिनामशुभाशुभम् | 3 | 47 | d |
| यावानयं वै पुरुषो | 11 | 9 | a | योगिनोऽमलमात्मन | 6 | 38 | b |
| या वेदागमतन्त्राभ्यां | 11 | 4 | c | योगीन्द्राय तदात्मना च | 13 | 19 | c |
| यास्यत्यल्पगुणान् नृप! | 1 | 19 | b | योगीन्द्राय नमस्तस्मै | 13 | 21 | a |
| यास्यन्ति गिरिकाननम् | 2 | 9 | b | योगेन वा तदाऽऽत्मानं | 7 | 21 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| योऽन्त्यः पुरञ्जयो नाम | 1 | 2 | a | राजानश्च प्रजाभक्षाः | 3 | 32 | c |
| यो बलीभविता नृपः | 2 | 8 | b | राजानं तं बृहस्पतिः | 6 | 23 | d |
| योऽव्यक्त प्रभवः स्वराट् | 6 | 39 | b | राजानः स्म शतं समाः | 1 | 11 | d |
| यो व्यक्ताव्यक्तयोः परः | 5 | 8 | b | राजानो ये जनेश्वराः | 3 | 12 | b |
| यौनप्रायेषु बन्धुषु | 2 | 14 | d | राजा पारीक्षितो द्विजान् | 6 | 18 | b |
| र | | | | राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां | 7 | 16 | a |
| रक्षाऽच्युतावतारे हा | 7 | 14 | a | रामशिष्योऽकृतव्रणः | 7 | 7 | b |
| रजसा तमसाऽऽवृताः | 1 | 42 | b | रामस्य कोसलेन्द्रस्य | 12 | 24 | a |
| रजस्तोकमदौ तथा | 8 | 16 | d | रामस्य भार्गवेन्द्रस्य | 12 | 25 | a |
| रजस्सत्त्वतमोवृत्या | 5 | 7 | e | रावणो लोकरावणः | 3 | 11 | b |
| रजोजुषेऽथ घोराय | 10 | 17 | c | राशीनुद्धृत्य वर्गशः | 6 | 50 | b |
| रतिर्विप्रत्वे सूत्रमेव हि | 2 | 3 | d | रुक्मिण्या हरणं युद्धे | 12 | 37 | c |
| रथस्वन इति होते | 11 | 35 | c | रुद्रसर्गस्तथैव च | 12 | 11 | b |
| रथाङ्गपाणेरनुभावभावितम् | 10 | 41 | b | रुद्रः क्रोधसमुद्भवः | 5 | 1 | d |
| रश्मिभिः पिबते घोरैः | 4 | 8 | e | रुद्राण्या भगवान्रुद्रो | 10 | 3 | c |
| रसं सांवर्तको रविः | 4 | 8 | d | रोमाणि भूरुहा भूम्नो | 11 | 8 | c |
| राजनाम्नोपि यस्य च | 2 | 41 | b | ल | | | |
| राजन्ते तावदन्यानि | 13 | 14 | a | लज्जोत्तरोऽधरोलोभो | 11 | 8 | a |
| राजन्नेते मया प्रोक्ता | 2 | 40 | a | लब्धवान् पुरुषेऽव्यये | 10 | 6 | d |
| राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य | 11 | 25 | b | लम्बोदरस्तु तत्पुत्रः | 1 | 24 | a |
| राजन्योऽम्बुधिमेखलाम् | 12 | 64 | b | लयः प्राकृतिको होष | 4 | 22 | a |
| राजवंशानुकीर्तनम् | 12 | 21 | b | लावण्ये केशधारणम् | 2 | 6 | b |
| राजंस्ततोऽन्यो नान्यस्य | 6 | 25 | c | लिङ्गमेवाश्रमख्यातौ | 2 | 4 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| लीयते चानिले तेजो | 4 | 15 | c |
| लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण | 4 | 40 | c |
| लीलाकथास्ते कथितास्समासतः | 4 | 39 | c |
| लीलाकमलमुद्वहन् | 11 | 18 | b |
| लीला धृता यदपि सत्त्वमयी | 8 | 45 | c |
| लीलावतारकर्माणि | 12 | 45 | c |
| लेलिहानं विषाननैः | 5 | 12 | b |
| लैङ्गमेकादशैव तु | 13 | 6 | d |
| लोकतन्त्राय चरति | 11 | 32 | c |
| लोकाक्षिर्लाङ्गलि कुल्यः | 6 | 79 | a |
| लोकेषु परिवर्तते | 11 | 29 | d |
| लोको यतोऽभयमुतात्म | 8 | 46 | d |
| **व** | | | |
| वचोऽमृतायनमृषिः | 10 | 26 | c |
| वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यं | 3 | 14 | d |
| वज्रमित्रो भविष्यति | 1 | 17 | d |
| वटश्च तत्पर्णपुटेशयानम् | 9 | 31 | b |
| वटपत्रपुटे तोकं | 8 | 4 | c |
| वदनो वदतां वर | 8 | 1 | b |
| वधमर्हति सर्पराट् | 6 | 24 | b |
| वधोऽरिष्टस्य केशिन | 12 | 33 | b |
| वनानि देशान्सरितः पुराकरान् | 9 | 28 | c |
| वन्दन्त्यर्चन्त्युपासते | 10 | 21 | b |
| वन्दे महापुरुषमात्मनि गूढबोधम् | 8 | 49 | d |
| वयं ते परितुष्टाः स्मः | 9 | 3 | a |
| वरदेशादभीप्सितम् | 9 | 3 | d |
| वरदेशा वयं त्वय | 10 | 19 | b |
| वरमेतं वृणेऽथापि | 10 | 34 | a |
| वरं त्वद्वरदर्शनात् | 10 | 33 | b |
| वरं प्रतीच्छ भद्रं ते | 9 | 3 | c |
| वरं वृणीष्व नः काम | 10 | 19 | a |
| वरेणैतावताऽलं नो | 9 | 4 | c |
| वर्णा ब्रह्मोनगं नृप | 3 | 21 | d |
| वर्णाश्रमयुतं धर्मं | 2 | 38 | c |
| वर्णाश्रमवता धर्मे | 2 | 12 | c |
| वर्णाश्रमाचारतपः श्रुतादिषु | 12 | 53 | b |
| वर्णाः क्षत्रद्विजोनमा | 3 | 23 | d |
| वर्षाणां च कलौ युगे | 1 | 21 | d |
| वर्षाणामधिकं शतम् | 4 | 11 | b |
| वर्षाणामयुतं युतम् | 8 | 11 | b |
| वर्षावुनम्भयन् स्मरम् | 8 | 20 | d |
| ववृषुः पुष्पवर्षाणि | 6 | 15 | c |
| वसन्तमलयानिलौ | 8 | 16 | b |
| वसन्त्र्यर्कसोमाम्बु | 9 | 8 | c |
| वसिष्ठो वरुणो रम्भा | 11 | 36 | a |
| वसुदेवगृहे जन्म | 12 | 27 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वसुदेवो महामतिः | 1 | 20 | b | वाराणस्याश्च दाहनम् | 12 | 40 | b |
| वसुमित्रो भद्रकश्च | 1 | 17 | a | वाराहं मात्स्यं कौर्मं च | 7 | 24 | c |
| वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठम् | 13 | 12 | c | वार्तां साधुजुगुप्सिताम् | 3 | 35 | d |
| वंशजाः सोमसूर्ययो | 2 | 25 | d | वालखिल्या स्सहस्राणि | 11 | 49 | a |
| वंशश्चैकालिकोऽन्वय | 7 | 16 | b | वासश्छन्दोमयं पीतं | 11 | 11 | c |
| वंशानुचरितं तेषां | 7 | 16 | c | वासुकी रथकृन्मुने | 11 | 33 | b |
| वंशा ज्ञेया युगे युगे | 2 | 35 | d | वासुदेवस्य चाद्भुतः | 12 | 41 | f |
| वंशो वंशानुचरितं | 7 | 9 | c | वासुदेवस्य संवादः | 12 | 41 | c |
| वाचकः परमात्मनः | 6 | 41 | b | वासुदेवस्सङ्कर्षणः | 11 | 21 | a |
| वाचं यच्छाम्यधोक्षजे | 6 | 6 | b | वासुदेवाङ्गरागानि | 2 | 21 | c |
| वाजिरूपधरो हरिः | 6 | 73 | b | वासुदेवानुचिन्तया | 5 | 9 | d |
| वाञ्छन्त्यजादयो यस्य | 9 | 5 | a | वासुदेवानुशिक्षितौ | 2 | 38 | b |
| वातापायं यथार्णवः | 10 | 5 | b | वासुदेवाय साक्षिणे | 13 | 20 | b |
| वात्स्य मौद्गल्यशालीय | 6 | 57 | c | वासुदेवे भगवति | 2 | 22 | c |
| वाद्यं चक्रुर्मनोरमम् | 8 | 24 | d | वासोऽन्नपान शयन | 3 | 40 | a |
| वामनश्च जगत्पते | 12 | 20 | b | विकारः ख्यायमानोऽपि | 4 | 29 | a |
| वामनं दश कीर्तितम् | 13 | 7 | d | विगृह्य त्यक्तसौहृदाः | 3 | 41 | b |
| वायुर्जहार तद्वासः | 8 | 27 | c | विघात उपसादिते | 4 | 6 | d |
| वायुश्छिद्र मिवेश्वरः | 10 | 10 | d | विचरत्यधुनाऽप्यद्धा | 10 | 39 | c |
| वायुस्तद्रहितं तदा | 4 | 15 | b | विचरन्नाशुना क्षोण्यां | 2 | 20 | a |
| वायुः कर्णौ दिशः प्रभो | 11 | 6 | d | विजयस्तत्सुतो भाव्यः | 1 | 27 | c |
| वायुःप्रविष्ट आदाय | 8 | 20 | a | विज्ञानञ्च विरुक्तिमत् | 10 | 37 | b |
| वायोः खं ग्रसते गुणम् | 4 | 15 | d | विज्ञान वैराग्य विवक्षया विभो | 3 | 14 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| विताय लोकेषु यशः परेयुषाम् | 3 | 14 | b | विलोक्याब्निरस प्राह | 6 | 23 | c |
| वित्तमेव कलौ नृणां | 2 | 2 | a | विवशाः कालविद्रुता | 4 | 22 | d |
| विदितः पार्षदाधिपः | 11 | 20 | d | विवस्वानुग्रसेनश्च | 11 | 38 | a |
| विदुरोद्धवसंवादः | 12 | 8 | a | विवृत इव निरुक्त स्तत्परै | 11 | 24 | d |
| विदूरपतयो भाव्याः | 1 | 35 | c | विशाखयूपस्तत्पुत्रो | 1 | 3 | c |
| विद्यातपः प्राणनिरोधमैत्री | 3 | 48 | a | विश्व ऐरावतश्चैव | 11 | 40 | c |
| विद्युच्छत्रुर्महाशङ्ख | 11 | 41 | c | विश्वञ्च पृथगात्मन | 8 | 12 | d |
| विद्युत्प्रायेषु मेघेषु | 2 | 15 | c | विश्वस्फूर्जि पुरञ्जय | 1 | 36 | b |
| विद्रुमाधारभासेषत् | 9 | 23 | c | विश्वस्यानु युगे युगे | 7 | 14 | b |
| विधमिष्यन्त्युपचितां | 3 | 16 | c | विश्व विपश्यञ्छ्वसिताच्छशी वै | 9 | 30 | c |
| विधिमार मृतस्तस्य | 1 | 6 | a | विश्वात्मा भगवान् हरि | 8 | 1 | b |
| विनार्थेन प्रतीयेरन् | 4 | 27 | c | विश्वामित्रो मम्रापेत | 11 | 44 | c |
| विन्देत ते तर्हि सर्वमनीषितार्थम् | 8 | 44 | d | विश्वाय विश्वगुरवे परदेवतायै | 8 | 47 | b |
| विप्रशापात्परीक्षितः | 12 | 6 | b | विष्णुमायावृतात्मन | 9 | 19 | d |
| विप्रशापापदेशेन | 12 | 41 | a | विष्णुरश्वतरो गम्भा | 11 | 14 | a |
| विप्राणाञ्चाऽनुतापनम् | 12 | 31 | d | विष्णुरातममुमुचत् | 13 | 21 | d |
| विप्रावमन्त्रा शिष्येण | 6 | 63 | c | विष्णुरातस्य धीमत | 12 | 44 | b |
| विप्रोऽर्धात्याऽऽप्नुयात् प्रज्ञाम् | 12 | 64 | a | विष्णुरातायं शृण्वत | 11 | 27 | b |
| विबुधा साधुवादिन | 6 | 15 | d | विष्णोर्भगवतो भानु | 2 | 29 | a |
| विभूती वैष्णवी रपि | 11 | 4 | b | विष्णोर्यत् परम पदम् | 6 | 33 | a |
| विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं | 3 | 44 | c | विष्णोर्वयशिगदय | 12 | 19 | d |
| वियति ज्योतिषमिव | 4 | 37 | d | विष्णोश्चरितमद्भुतम् | 12 | 2 | b |
| विरमेत यदा चित्तं | 7 | 21 | a | विष्वक्सेनस्तन्त्रमूर्ति | 11 | 20 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| विसर्गोऽयं समाहारो | 7 | 12 | c |
| विससर्ज तदा बाणं | 8 | 28 | a |
| विसृज्य दौरात्म्यमन्यसौहृदा | 6 | 32 | c |
| विस्मयं समगात्परं | 8 | 31 | d |
| विस्मिता ह्यभवन् सर्वे | 6 | 14 | c |
| वीक्ष्योत्थायादरेणोच्चै | 8 | 35 | c |
| वीर्यवान् क्षत्रमुत्साद्य | 1 | 37 | c |
| वृतं वंशधराश्च ये | 7 | 16 | d |
| वृत्तिरक्षान्तराणि च | 7 | 9 | b |
| वृत्तिरोधाद्विभाव्यते | 6 | 37 | d |
| वृत्तिर्वृत्तानि भूतानां | 7 | 13 | a |
| वृषेण दिवि पर्यटन् | 10 | 3 | b |
| वेदश्च साक्षात्तप एकरूपिणौ | 8 | 34 | b |
| वेददर्शस्य शिष्यास्ते | 7 | 2 | c |
| वेददर्शाय चोक्तवान् | 7 | 1 | d |
| वेदबीजं सनातनम् | 6 | 41 | d |
| वेदशास्त्रानु सारतः | 7 | 8 | d |
| वेदा चक्रे चतुर्विधम् | 6 | 49 | d |
| वेद चार्यै र्महात्मभिः | 6 | 36 | b |
| वेदान् ब्रह्मर्षयो व्यस्यन् | 6 | 47 | c |
| वेदाश्च कतिधा व्यस्ता | 6 | 36 | c |
| वेदाः पाषण्डदूषिताः | 3 | 32 | b |
| वेदेहाया निवर्तते | 7 | 21 | d |
| वेदैः साङ्गपदक्रमोप - निषदैर्गायन्ति यं सामगाः | 12 | 1 | b |
| वैभवं योगमायायाः | 10 | 1 | c |
| वैरं कुर्वीत केनचित् | 6 | 34 | d |
| वैराग्यश्च तदाश्रयम् | 12 | 5 | b |
| वैराग्याख्यानसंयुतम् | 13 | 11 | b |
| वैराजः पुरुषो यतः | 12 | 9 | d |
| वैशम्पायनशिष्या वै | 6 | 61 | a |
| वैशम्पायन संज्ञाय | 6 | 52 | c |
| वैशम्पायनहारीतौ | 7 | 5 | c |
| वैश्यो निधिपतित्वञ्च | 12 | 64 | c |
| वैष्णवानां यथा शम्भुः | 13 | 16 | c |
| व्यक्तिराकाश आत्मनः | 6 | 40 | d |
| व्यचष्ट हृदि विस्मितः | 10 | 13 | b |
| व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराण | 12 | 68 | c |
| व्यतिरिक्तो यथाऽनलः | 5 | 3 | d |
| व्यतिरेकालयौ यस्य | 7 | 19 | a |
| व्यतीयाय महान्कालो | 8 | 14 | c |
| व्यतीयुर्ध्रमतस्तस्मिन् | 9 | 19 | c |
| व्यवाय स्नानभूषणैः | 3 | 40 | b |
| व्याख्यायते लौकिकवैदिकैर्जनैः | 4 | 31 | d |
| व्याघ्र आसारणो भृगुः | 11 | 38 | b |
| व्याघ्र चर्माम्बरं शूल | 10 | 12 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| व्याचचक्षे मुमुक्षवे | 13 | 20 | d |
| व्याध्यादिभिरुपदृतः | 9 | 18 | d |
| व्यासात्मजेन निखिलात्मदृशा समेन | 6 | 1 | b |
| व्यूहं सूर्यात्मनो हरेः | 11 | 28 | d |
| व्यूह्य लोकानवत्यजः | 11 | 50 | d |
| व्रजस्त्रीणां विलापश्च | 12 | 34 | a |
| व्रतचर्या च कन्यानाम् | 12 | 31 | a |
| व्रात्या द्विजा भविष्यन्ति | 1 | 38 | c |
| **श** | | | |
| शकटोच्चाटनं शिशोः | 12 | 28 | d |
| शक्तयः सम्प्रलीयन्ते | 4 | 22 | c |
| शक्रश्शरणमागतम् | 6 | 19 | b |
| शक्रस्य सुरभेरथ | 12 | 32 | b |
| शङ्खचूडस्य दुर्बुद्धेः | 12 | 33 | a |
| शतधन्वा ततस्तस्य | 1 | 15 | a |
| शतरूपा च या स्त्रीणाम् | 12 | 12 | a |
| शतवर्षाणि वर्षन्ति | 4 | 12 | c |
| शतह्रदा भीरुपतापितं जगत् | 9 | 13 | b |
| शतं पञ्चदशोत्तरम् | 2 | 26 | d |
| शतानि त्रीणि भोक्ष्यन्ति | 1 | 21 | c |
| शन्तनोस्तत्सुतस्य च | 12 | 26 | b |
| शब्दं ग्रसति भूतादिः | 4 | 16 | c |
| शमीप्रायेषु स्थास्नुषु | 2 | 15 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|
| शम्बरो द्विविदः पीठः | 12 | 39 | c |
| शम्बलग्राममुख्यस्य | 2 | 18 | a |
| शयानं त्वेकमद्भुतम् | 8 | 4 | d |
| शयानं पर्णपुटके | 9 | 21 | c |
| शर्याति. शन्तनुर्गय | 3 | 10 | b |
| शर्वया चाऽभिनन्दित | 10 | 35 | d |
| शशादाद्या नृपा यत | 12 | 22 | d |
| शश्वत्कटुकभाषिण्य | 3 | 34 | c |
| शाकमूलामिषक्षौद्र | 2 | 9 | c |
| शाकल्यस्तत्सुतस्स्वान्तु | 6 | 57 | a |
| शाखा आसन् सुपेशला | 6 | 65 | d |
| शाखाप्रणयनमृषे | 12 | 44 | c |
| शाखा प्रणयनं मुने | 7 | 25 | b |
| शान्ता शान्तामितिक्षव | 3 | 19 | b |
| शालि शकस्तनस्तस्य | 1 | 14 | c |
| शामिष्यति महापद्म | 1 | 10 | c |
| शिखाभिर्वह्निमूर्धयो | 4 | 10 | b |
| शिवयागमृतध्वस्त | 10 | 27 | c |
| शिवस्वातिरिन्दिम | 1 | 26 | b |
| शिशुनन्दिश्च तद्भ्राता | 1 | 33 | a |
| शिशुनागस्ततो भाव्य | 1 | 5 | a |
| शिशुनामा दशैवेते | 1 | 7 | c |
| शिश्नोदरपरा द्विजा | 3 | 32 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| शिष्य ऊचे स्वशिष्येभ्यः | 6 | 80 | c | शूद्रागर्भोद्भवो बली | 1 | 8 | d |
| शिष्यमध्यापयत्स्वकाम् | 7 | 1 | b | शूद्राः प्रतिग्रहीष्यन्ति | 3 | 38 | a |
| शिष्यस्सर्वां समध्यगाम् | 7 | 6 | d | शून्यप्रायेषु सद्मसु | 2 | 15 | d |
| शिष्याणाञ्च प्रशिष्याणाम् | 7 | 25 | c | शून्यान्भूविवरानथ | 4 | 9 | d |
| शिष्येभ्यस्संहितां स्वकाम् | 6 | 54 | d | शृणु कल्पलयावपि | 4 | 1 | d |
| शिष्यौ जगृहतु श्चान्य | 6 | 77 | c | शृणु पौराणिकान्मुने | 7 | 4 | d |
| शीतवातातपप्रावृट् | 2 | 10 | c | शृणुष्व बुद्धिमाश्रित्य | 7 | 8 | c |
| शुकस्य ब्रह्मर्षभस्य | 12 | 6 | c | शृणोति य इमं स्फोटम् | 6 | 40 | a |
| शुकाय ब्रह्मरूपिणे | 13 | 21 | b | शृण्वतो येऽत्र कीर्तिताः | 12 | 61 | d |
| शुको यदाह भगवान् | 11 | 27 | a | शृण्वन्नायुष्यवान्भवेत् | 12 | 59 | b |
| शुक्रमास नयन्त्यमी | 11 | 35 | d | शेतेऽनन्तासनो विश्वम् | 4 | 4 | c |
| शुक्रश्चित्रस्वनश्चैव | 11 | 36 | c | शेषा आवन्त्य आत्मवान् | 6 | 80 | d |
| शुक्लां तनुं स्वदयितां | 8 | 46 | b | शैवं लैङ्गं सगारुडम् | 7 | 23 | b |
| शुभ्रं हत्वा देवभूतिम् | 1 | 19 | c | शोकमोहौ भयं दैन्यम् | 3 | 30 | c |
| शुभ्रा दशैते भोक्ष्यन्ति | 1 | 18 | c | शोणायित सुधास्मितम् | 9 | 23 | d |
| शुचिमासं नयन्त्यमी | 11 | 36 | d | शौक्लायनिर्ब्रह्मबलिः | 7 | 2 | a |
| शुध्येरन्नन्त्यजाश्चाऽपि | 10 | 25 | c | श्रद्धावान् योऽनुशृणुयात् | 12 | 58 | c |
| शूद्रदाशोत्तराः प्रजाः | 3 | 25 | d | श्रवणाद्दर्शनाद्वापि | 10 | 25 | a |
| शूद्रप्राया अधार्मिका | 1 | 9 | d | श्रावितो यच्च मे साक्षात् | 6 | 2 | c |
| शूद्रप्राया जनाधिपाः | 1 | 38 | d | श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्णि | 11 | 25 | a |
| शूद्रप्रायेषु वर्णेषु | 2 | 14 | a | श्रीभागवतमिष्यते | 13 | 15 | b |
| शूद्रः शुध्येत पातकात् | 12 | 64 | d | श्रीभागवतमुच्यते | 13 | 9 | d |
| शूद्रा अर्बुदमालवाः | 1 | 38 | b | श्रीमत्पादाब्जदर्शनम् | 9 | 5 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| श्रीमद्भागवतं द्विजाः | 13 | 17 | d |
| श्रीमद्भागवतं परम् | 13 | 14 | d |
| श्रीमद्भागवतं पुराणममलं | 13 | 18 | a |
| श्रीमद्वदन पङ्कजम् | 9 | 22 | b |
| श्रीवत्समुरसा विभुः | 11 | 10 | d |
| श्रीवैष्णवं त्रयोविंशत् | 13 | 4 | c |
| श्रीशान्तकर्णस्तत्पुत्रः | 1 | 23 | c |
| श्रीस्साक्षादात्मनो हरेः | 11 | 20 | b |
| श्रुतं पुरा मे परमर्षिवक्त्रात् | 12 | 56 | b |
| श्रुतस्सङ्कीर्तितो ध्यातः | 3 | 46 | a |
| श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम् | 12 | 47 | b |
| श्रुत्वा तक्षकभक्षितम् | 6 | 16 | b |
| श्रुत्वानुभावं ब्रह्मर्षे | 8 | 31 | c |
| श्रुत्वैतच्छन्दसां व्यासम् | 6 | 60 | c |
| श्रेयश्च जीवस्त्रिभिरन्वितमन्वयम् | 6 | 31 | b |
| श्वासैजदलकाभातम् | 9 | 23 | a |
| श्वासैजद्वलिसंविग्न | 9 | 24 | c |
| **ष** | | | |
| षट् पञ्चाशच्च पृथिवीम् | 1 | 28 | c |
| षड्वै पौराणिका इमे | 7 | 5 | d |
| षष्टिर्ब्रह्मर्षयोऽमला | 11 | 49 | b |
| षष्ट्युत्तरशतत्रयम् | 1 | 7 | d |
| **स** | | | |
| स एक एवोर्वरितो महामुनि | 9 | 15 | c |
| स एकच्छत्रां पृथिवीम् | 1 | 10 | a |
| स एव चन्द्रगुप्तं वै | 1 | 13 | a |
| स एवमनुभूयेदम् | 10 | 1 | a |
| स कदाचिद्भ्रमंस्तस्मिन् | 9 | 20 | a |
| स कलिस्तामस स्मृत | 3 | 30 | d |
| स कल्पो यत्र मनव | 4 | 2 | c |
| सकृन्नो वेदुपोषित | 8 | 10 | d |
| सगणं भगवान् स्मरन् | 8 | 31 | b |
| सगणाय सहोमया | 10 | 15 | b |
| सङ्घर्षणमुखोत्थित | 4 | 9 | b |
| सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्त | 12 | 47 | a |
| सङ्गत सूयशस्सुत | 1 | 14 | b |
| सङ्गायतः प्रीक्षणमप्रमत्त | 3 | 18 | b |
| सञ्चिन्त्य भूतनयम् | 11 | 5 | d |
| सन्निग मायया विष्णो | 10 | 27 | a |
| सतत्सन्दर्शनानन्द | 8 | 36 | a |
| सत्त्वमूर्ती हृदि स्थिते | 2 | 22 | d |
| सत्त्वस्य शुद्धि परमा च भक्तिम | 12 | 54 | c |
| सत्त्व पदमिहोच्यते | 11 | 13 | d |
| सत्त्व न जस्तम इति | 3 | 26 | a |
| सत्त्व न जस्तम इतीश तथाऽऽत्मबन्धो | 8 | 45 | c |
| सत्त्वाय प्रमृडाय च | 10 | 17 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सत्यकामः पुमान्भवेत् | 10 | 33 | d | समाधेर्विरतो मुनिः | 10 | 13 | d |
| सत्यत्वे धार्ष्ट्यमेव हि | 2 | 6 | d | समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीम् | 1 | 8 | a |
| सत्यं दया तपो दानम् | 3 | 18 | c | समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीम् | 1 | 16 | a |
| सत्यं शौचं क्षमा दया | 2 | 1 | b | समाहितात्मनो ब्रह्मन्! | 6 | 37 | a |
| सत्यं ह्यवयवा प्रोक्ता | 4 | 27 | a | समीरवेगोर्मिभिरुग्रनक्र | 9 | 12 | c |
| सदस्यृषीणां महतां च शृण्वताम् | 12 | 56 | d | समुद्रावरणां जित्वा | 3 | 5 | a |
| सनिरुक्तां स्वसंहिताम् | 6 | 58 | b | सम्पृष्टः शौनकादिभिः | 4 | 43 | d |
| सन्तप्यन्ते च चिन्तया | 2 | 11 | b | सम्प्लव कोऽपि जायते | 8 | 3 | d |
| सन्तं स्वकेष्वसुषु | 8 | 48 | b | सम्भवस्सर्ग उच्यते | 7 | 11 | d |
| सन्तानो धर्मपत्नीनाम् | 12 | 12 | c | स याति परमां गतिम् | 13 | 13 | d |
| सन्तुष्टा करुणा मैत्रा | 3 | 19 | a | सर्गः प्राधानिकोऽग्रतः | 12 | 7 | d |
| सन्दधेऽम्बं स्वधनुषि | 8 | 25 | a | सर्गोऽस्थाथ विसर्गश्च | 7 | 9 | a |
| स पालो वेद सद्विदाम् | 9 | 6 | d | सर्पचोरादि वन्ह्यम्बु | 6 | 26 | a |
| सप्त त्रिंशच्छतोत्तरम् | 1 | 15 | d | सर्पत्रादुपरतः | 6 | 28 | c |
| सप्तमेऽस्मिन्किलान्तरे | 8 | 15 | b | सर्पसत्रे समिद्धेऽग्नौ | 6 | 17 | c |
| सप्तर्षीणां तु यौ पूर्वौ | 2 | 27 | a | सर्पा अनागसो दग्धाः | 6 | 27 | c |
| सप्त वैकृतिकाश्च ये | 12 | 9 | b | सर्पान्सत्रे सहद्विजैः | 6 | 16 | d |
| सप्तान्ध्राः सप्तकोसलाः | 1 | 35 | b | सर्वपापप्रणाशनम् | 13 | 23 | b |
| सप्ताभीरा आवभृत्याः | 1 | 29 | a | सर्वपापहरो हरिः | 12 | 3 | b |
| स भवान् मेऽक्षिगोचरः | 9 | 5 | d | सर्वपापैः प्रमुच्यते | 6 | 60 | d |
| समन्ततः क्ष्मातलमाग्रसन्तः | 9 | 12 | b | सर्वलोक नमस्कृतम् | 11 | 12 | d |
| समस्त तन्त्रराद्धान्ते | 11 | 1 | c | सर्ववेद क्रियामूलम् | 11 | 30 | c |
| समाधाय परं दध्यौ | 6 | 9 | c | सर्ववेदान्तसारं यत् | 13 | 12 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सर्ववेदान्तसारं यत् | 13 | 15 | a | सहस्राणि शतानि च | 9 | 18 | b |
| सर्वं तत्राऽभवन्मोचम् | 8 | 28 | c | सहेन्द्रस्तक्षको विप्रा | 6 | 20 | c |
| सर्वं नैव विमुञ्चति | 4 | 8 | f | सहेन्द्रं तक्षकं मखे | 6 | 21 | b |
| सर्वात्मा सर्वसम्भवः | 3 | 50 | d | सहेन्द्रेण मरुत्वता | 6 | 21 | d |
| सर्वान्हरति चित्तस्थः | 3 | 45 | c | सहोमासं नयन्त्यमी | 11 | 41 | d |
| सर्वावयविनामिह | 4 | 27 | b | सयोगो यावदीयते | 5 | 7 | b |
| सर्वाऽशुभविनाशनम् | 12 | 57 | d | संवादश्च परीक्षित | 12 | 6 | d |
| सर्वे सर्वजितोऽजिताः | 3 | 12 | d | संवादो नारदाजयो | 12 | 7 | b |
| सर्वे सर्वविदश्शूराः | 3 | 12 | c | संश्राव्येत्संशृणुयादुतोभयो | 10 | 42 | c |
| सलिलं लोकसम्प्लवः | 9 | 34 | b | समाप सर्पदष्ट य | 13 | 21 | c |
| सलोकाः लोकपालास्सन् | 10 | 21 | a | समाप सिन्धुमतिदुस्तर मुत्तितीर्षो | 4 | 40 | a |
| स वा अस्मत्कुलोत्पन्नः | 8 | 3 | a | संसिद्धि सिद्धिदो भवान् | 10 | 5 | d |
| स वाग्विसर्गो जनताघविप्लवः | 12 | 51 | a | संस्तुतो भगवानित्थम् | 9 | 1 | a |
| स विकारमयो विगट् | 11 | 5 | b | संस्था हेतुरुपाश्रय | 7 | 9 | d |
| सविमानस्सतक्षक | 6 | 22 | d | संस्थायेताभिचारिकम् | 6 | 27 | b |
| स विश्वस्तैजसः प्राज्ञः | 11 | 22 | a | संस्थेति कर्तृभिः प्राप्ता | 7 | 17 | c |
| स वै मह्यं महाराज | 4 | 42 | a | संस्पन्दते तमनु वायुन इन्द्रियाणि | 8 | 40 | b |
| स वै विशति खं राजन्! | 4 | 16 | a | सत्राय स्वकुलस्य च | 12 | 41 | c |
| स व्याहृतिकान्सोङ्कारान् | 6 | 44 | c | संहितामध्यगामिमाम् | 6 | 35 | d |
| स सर्वमन्त्रोपनिषत् | 6 | 41 | c | संहितास्ते शतं शतम् | 6 | 79 | d |
| सहजन्यस्तथा हुहू | 11 | 36 | b | संहिता मत्पितुर्मुखात् | 7 | 6 | b |
| सहतक्षक सम्बरात् | 6 | 23 | b | संहितां वेदसम्मिताम् | 4 | 42 | a |
| सहस्रं संहिताभेदम् | 6 | 76 | c | संहिता मोऽपि पथ्याय | 7 | 1 | c |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः | | अध्यायः | श्लोकः | पाद |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| साधुत्वे दम्भ एव तु | 2 | 5 | b | सुरऋषभाय नमस्सनातनाय | 12 | 67 | d |
| सामर्ग्यजुभिस्तल्लिङ्गैः | 11 | 47 | a | सुशर्मा नाम विश्रुतः | 1 | 20 | f |
| सामवेदतरोर्महान् | 6 | 76 | b | सुषुम्नवच्छून्यवदप्रतर्क्यं | 4 | 21 | c |
| सामुद्रं दैहिकं भौमम् | 4 | 8 | c | सुषुम्निरिति चोच्यते | 4 | 25 | b |
| साम्नां जैमिनये प्राह | 6 | 53 | a | सुषेणः सुरुचिस्तथा | 11 | 39 | b |
| सायं प्रातस्सगुरवे | 8 | 10 | a | सूक्ष्मज्ञाः सम्प्रचक्षते | 4 | 35 | d |
| सावर्णिरकृतव्रण | 7 | 5 | b | सूक्ष्मं त्रुटितमेखलम् | 8 | 27 | d |
| सावर्ण्याद्यास्तथापरे | 7 | 3 | f | सूक्ष्मान्तरिक्षं सदिवं सभागणम् | 9 | 15 | a |
| सिद्ध आत्मसमाधिना | 9 | 2 | b | सूतजीवचरं साधो | 8 | 1 | a |
| सिद्धोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि | 6 | 2 | a | सूत कौतूहलं यतः | 8 | 5 | b |
| सिन्धोस्तटं चन्द्रभागाम् | 1 | 39 | a | सृपतस्थेऽर्कमीश्वरम् | 6 | 66 | d |
| सुकर्मा चापि तच्छिष्यः | 6 | 76 | a | सूर्य आत्माऽऽदिकृद्धरिः | 11 | 30 | b |
| सुखमासन मासीनो | 8 | 39 | a | सूर्यवर्चाश्च सत्यजित् | 11 | 44 | a |
| सुज्येष्ठो भविता ततः | 1 | 16 | b | सूर्यवंशानुकथनम् | 12 | 22 | c |
| सुतन्वास्तत्सुत स्ताभ्याम् | 6 | 75 | c | सूर्यस्य जगदात्मनः | 12 | 44 | f |
| सुद्युम्नस्य महात्मनः | 12 | 21 | d | सृजति हरति पातीत्या | 11 | 24 | c |
| सुधर्माया सुगालयात् | 12 | 37 | b | सृष्ट्वा पुनर्ग्रससि सर्व मिवोर्णनाभिः | 8 | 41 | d |
| सुनासं सुन्दरभ्रुवम् | 9 | 22 | d | सृष्ट्वेदं मनसा विश्वम् | 10 | 31 | a |
| सुप्रश्रोत्रे च शून्यदृक् | 6 | 40 | b | सैन्धवायन एव च | 7 | 3 | d |
| सुमनोभिः परिष्वक्तः | 8 | 20 | c | सैन्यस्य बहुशो वधः | 12 | 36 | b |
| सुमन्तुस्तनयो मुनि | 6 | 75 | b | सैषा विष्णोर्महामाया | 6 | 29 | a |
| सुमालि प्रमुखाः सुताः | 1 | 11 | b | सोऽन्तश्शरीरं मशको यथाऽविशत् | 9 | 27 | b |
| सुयशा भविता तस्य | 1 | 14 | a | सोऽप्यवाप्तमहायोग | 10 | 39 | a |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| सोमशर्मा भविष्यति | 1 | 14 | d |
| सौकन्यश्चाऽथ शर्यातेः | 12 | 23 | a |
| सौभरेस्सगरस्य च | 12 | 23 | d |
| सौभर्यादिभ्यः ऊचिवान् | 6 | 56 | d |
| सौराष्ट्रावन्त्या भीराश्च | 1 | 38 | a |
| सौरो गणो मासि मासि | 11 | 27 | c |
| स्कान्दं शतं तथा चैकम् | 13 | 7 | c |
| स्तुवन्तः स्तुतिभिर्विभुम् | 11 | 49 | d |
| स्तुवन्ति जगदीश्वराः | 10 | 28 | d |
| स्त्रियोऽथो गायका जगुः | 8 | 24 | b |
| स्त्रीत्वे पुंस्त्वे च हि | 2 | 3 | c |
| स्त्रीबालगोद्विजघ्नाश्च | 1 | 41 | a |
| स्त्रीभिः क्रीडा च रात्रिषु | 12 | 32 | d |
| स्थविरौ पितरावपि | 3 | 42 | b |
| स्थविष्ठः सम्भविष्यति | 2 | 22 | b |
| स्थानादिन्द्रः प्रचालितः | 6 | 22 | b |
| स्थापयिष्यति दुर्मतिः | 1 | 37 | b |
| स्थिताय भवभीताय | 13 | 10 | c |
| स्नानमेव प्रसाधनम् | 2 | 5 | d |
| स्नेहाधिष्ठानवर्त्यग्नि | 5 | 7 | a |
| स्पन्दन्ति वै तनुभृता मजशर्वयोश्च | 8 | 40 | c |
| स्पर्धमानाः मिथो घ्नन्ति | 3 | 8 | c |
| स्पृशन्नास्ते रमापतिः | 2 | 30 | b |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| स्मरतां सन्ध्ययोर्नृणाम् | 11 | 45 | c |
| स्याच्येच्चित्समम आत्मवत् | 4 | 29 | d |
| स्व धामानुगते कृष्णे | 1 | 1 | a |
| स्वधाम्नो ब्रह्मणस्साक्षात् | 6 | 41 | a |
| स्वनन्त उच्चैरभिवर्षधाराः | 9 | 11 | d |
| स्वपुत्रेभ्यस्समादिशन् | 6 | 45 | d |
| स्वप्ने यथा शिरश्छेदम् | 5 | 4 | a |
| स्वमहिमपरिपूर्णो मायया | 11 | 24 | b |
| स्वमायामयवर्तिभि | 10 | 30 | b |
| स्वमायावनमालाभ्याम् | 11 | 11 | a |
| स्वयं तीर्थेश्वर | 10 | 21 | d |
| स्वयमन्यान्यपातिभि | 9 | 17 | d |
| स्वयं [illegible] | 1 | 20 | a |
| स्वयं [illegible] | 1 | 16 | 1 |
| स्वशिष्याय [illegible] | 6 | 53 | d |
| स्वसुः [illegible] | 12 | 68 | a |
| स्वसौधपतिस्सम | 8 | 22 | d |
| स्वस्याऽप्यथापि भजतामि | 8 | 40 | d |
| स्वागतासनपाद्यार्घ्य | 10 | 18 | c |
| स्वाभ्यां ज्योतिर्विभर्त्येज | 11 | 10 | b |
| स्वाध्यायाध्ययने रता | 3 | 23 | b |
| स्वाश्रम पूर्ववत् मिथ | 9 | 34 | d |
| स्वीकार [illegible] | 2 | 5 | c |
| स्वैरिण्यश्च प्रियोऽमानी | 3 | 31 | d |

| | अध्यायः | श्लोकः | पादः |
|---|---|---|---|
| ह | | | |
| हतेष्वखिल दस्युषु | 2 | 22 | f |
| हत्वा काण्वं सुशर्माणं | 1 | 22 | a |
| हत्वा बृहद्रथं मौर्यं | 1 | 16 | c |
| हत्वा स्वामिनमात्मजम् | 1 | 2 | d |
| हनिष्यन्ति स्वकानपि | 3 | 41 | d |
| हन्तुकामो नृपं गच्छन् | 6 | 11 | c |
| हन्यन्ते यैस्त्रयीद्विषः | 7 | 14 | d |
| हयेनाप्रतिमद्युतिः | 2 | 20 | b |
| हरन्त्यहो दिने दिने | 11 | 45 | d |
| हरये नम इत्युच्चैः | 12 | 46 | c |
| हरस्य जृम्भणं युद्धे | 12 | 38 | a |
| हरावेकान्तता गतः | 10 | 39 | d |
| हरिरितत्र न गीयते ह्यभी[illegible] | 12 | 65 | b |
| हरिलीला कथाव्राता | 13 | 11 | c |
| हरेर्विश्वात्मनश्चेष्टा | 5 | 13 | c |
| हरेष्षड्विधमुच्यते | 7 | 15 | d |
| हंसाय संयतगिरे निगमेश्वराय | 8 | 47 | d |
| हाहाकारो महानासीत् | 6 | 14 | a |
| हित्वान्तेऽदर्शनं गताः | 2 | 43 | d |
| हित्वा वृत्तित्रयाश्रयम् | 7 | 21 | b |
| हित्वा सौरतसौहृदाः | 3 | 37 | b |
| हित्वे मां निधनं गताः | 2 | 40 | d |
| हित्वै तदात्मच्छदिमात्म | 8 | 44 | b |
| हिमनिर्झर शीकरान् | 8 | 20 | b |
| हिमाद्रेः पार्श्व उत्तरे | 8 | 17 | b |
| हिमालयं पुष्पवहाश्च तां नदीं | 9 | 30 | a |
| हिमैरन्योन्यतः प्रजाः | 2 | 10 | d |
| हिरण्यकशिपुर्वृत्रः | 3 | 11 | a |
| हिरण्यनाभः कौसल्यः | 6 | 77 | a |
| हिरण्याक्षवधो यतः | 12 | 10 | d |
| हिरण्याक्षोऽथ तारकः | 3 | 11 | d |
| हिंसा तुष्ट्यनृत द्वेषैः | 3 | 22 | c |
| हिंसा सन्तोष विग्रहैः | 3 | 20 | d |
| हीनाः पिशाच सन्दर्शा | 3 | 40 | c |
| हुत्वाऽग्निंसमुपासीनं | 8 | 33 | a |
| हृत्स्थो जन्मायुताशुभम् | 3 | 46 | d |
| हृदिस्थं कुरु केशवम् | 3 | 49 | b |
| हृदिस्थाच्युत चोदिताः | 6 | 47 | d |
| हृदोपगुह्यावसितं समाहितैः | 6 | 32 | d |
| हृद्यहासावलोकनम् | 9 | 24 | b |
| हृद्याकाशादभून्नादो | 6 | 37 | c |
| हृष्टरोमाऽश्रुपूर्णाक्षो | 8 | 36 | c |
| हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादिः | 7 | 18 | a |
| हेमसिंहसमन्वितम् | 13 | 13 | b |
| ह्रस्वकाया महाहारा | 3 | 34 | a |
| ह्रस्वदीर्घादि लक्षणम् | 6 | 43 | d |
| ह्रियमाणस्य नित्यदा | 4 | 36 | b |

# श्रीमद्भागवत द्वादशस्कन्धस्थ व्याख्यानोद्धृतानां प्रमाणवचनानां आकरनिर्देशनी

| Sl. No. | Adhyaya No. | Sloka No. | Text quoted | In commentary | Particulars of sources etc |
|---|---|---|---|---|---|
| 1 | 6 | 40 | अकारो वै सर्वा वाक् | विज | ऐत.उ.3-6-7 |
| 2 | 4 | 32 | अग्नौ प्रास्ताहुतिः | श्रीध० | मैत्रा उ. 6-37 |
| 3 | 5 | 3 | अन्नादन्नात्सम्भवसि | श्रीध० | बृह. उ. 6-4-9 |
| 4 | 7 | 9 | अत्र सर्गो विसर्गश्च | श्रीध० | भाग. 2-10-1 |
| 5 | 6 | 67 | अथ कस्मादुच्यते | विज | |
| 6 | 7 | 1 | अथर्ववेदं स मुनिः | श्रीध० | विष्णु. पु. 3-6-9 |
| 7 | 7 | 1 | अथर्ववेदं स मुनिः | वीर | विष्णु. पु. 3-6-9 |
| 8 | 4 | 25 | अथ है तत्पुरुष स्वपिति | विज | |
| 9 | 4 | 30 | अधिदैवं अथाध्यात्मम् | विज | |
| 10 | 10 | 28 | अमोघं दर्शनं येषां | वीर० | भाग.12-10-19 |
| 11 | 4 | 27 | अवयव्यवयवानान्तु | विज० | तत्त्वसंहितायाम् |
| 12 | 4 | 27 | अवयव्यवयवा भेदात् | विज | तत्त्वसंहितायाम् |
| 13 | 7 | 13 | अश्मानि सहस्तानां | विज | भाग.1-13-46 |
| 14 | 10 | 24 | आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः | विज | वसिष्ठ.स्मृ 6-3 |
| 15 | 6 | 40 | आत्मन आकाशस्सम्भूत. | विज | तैत्ति.उ.2-1-1 |
| 16 | 5 | 4 | आत्मनः पितृपुत्राभ्यां | श्रीध | भाग .11-24-48 |
| 17 | 4 | 32 | आत्मा देहे धृतौ जीवे | विज | वैज. को.6-1-6 |
| 18 | 7 | 12 | आत्मा वै पुत्र(नामासि) | वीर | कौषी.उ.2-11 |
| 19 | 5 | 1 | आत्मा वै पुत्रनामासि | विज | कौषी.उ.2-11 |
| 20 | 4 | 32 | आदित्यश्चक्षु र्भूत्वाऽक्षिणी प्रविशत् | विज | ऐत.उ.2-4 |
| 21 | 4 | 32 | आपो वा अर्कः | विज | बृह.उ.1-2-2 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 22 | 6 | 69 | आ प्रा द्यावा पृथिवी | विज | ऋक् मण्ड.1-115-1 |
| 23 | 6 | 71 | आ प्रा द्यावा पृथिवी | विज | ऋक्. मण्ड.1-115-1 |
| 24 | 6 | 52 | उच्चै ऋचा क्रियते उपांशु | वीर | |
| 25 | 6 | 77 | उदीच्या स्सामगाः | श्रीध | विष्णु.पु. 3 -6-4,5 |
| 26 | 6 | 77 | उदीच्यास्सामगाः | वीर | विष्णु.पु.3-6-4,5 |
| 27 | 6 | 66 | ऋग्भिः पूर्वाह्णो | श्रीध | सूर्य.ता.उ.1-5 |
| 28 | 6 | 43 | एकमातो भवेत् ह्रस्वो | विज | |
| 29 | 5 | 11 | एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म | वीर | छान्दो. उ.6-2-1 |
| 30 | 6 | 27 | एकः पापानि कुरुते | विज | |
| 31 | 10 | 22 | एको देवः | विज | |
| 32 | 4 | 24 | एतस्माज्जायते | विज | |
| 33 | 2 | 26 | एते बार्हद्रथा भूपाः भाव्याः | श्रीध | भाग.9-22-49 |
| 34 | 2 | 26 | (एते) बार्हद्रथा भूपाः | वीर | भाग.9-22-49 |
| 35 | 2 | 26 | ते बार्हद्रथा भूपाः | विज | भाग.9-22-49 |
| 36 | 2 | 40 | एतेषां नामलिङ्गानां | श्रीध | भाग.12-2-36 |
| 37 | 6 | 39 | ओं तत्त्ववाची ह्योङ्कारो | विज | |
| 38 | 6 | 67 | ओं स्याद्ब्रह्मण्यनुज्ञायाम् | विज | वैज. को.8-7-3 |
| 39 | 4 | 31 | कटकमुकुट कर्णिकादि | वीर | विष्णु.पु. 3-7-16 |
| 40 | 3 | 26 | कलौ कृतयुगं तस्य | वीर | |
| 41 | 5 | 1 | कारणं तु ध्येयः | वीर | अथ. शिखा.उ.2-17 |
| 42 | 8 | 42 | कारणं तु ध्येयः | वीर | अथ शिखा.उ.2-17 |
| 43 | 6 | 1 | किं भूय : श्रोतुमिच्छसि | वीर | भाग.12-5-13 |
| 44 | 6 | 6 | किं भूयः श्रोतुमिच्छसि | श्रीध | भाग.12-5-13 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 45 | 6 | 6 | किं भूयः श्रोतुमिच्छसि | वीर | भाग.12-5-13 |
| 46 | 11 | 25 | कषिर्भूवाचकश्शब्दो | वीर | भार.5-68-5 |
| 47 | 4 | 4 | कृष्णनाभिह्रदो कमलोदरशायिनः | वीर | |
| 48 | 6 | 45 | गति बुद्धि | वीर | अष्टा.1-4-52 |
| 49 | 6 | 53.54 | गीतिषु सामा | वीर | |
| 50 | 11 | 24 | गूढात्मा न प्रकाशते | वीर | |
| 51 | 4 | 1 | चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं | श्रीध | भाग.3-11-19 |
| 52 | 4 | 1 | चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं | वीर | भाग.3-11-19 |
| 53 | 6 | 71 | चित्रं देवानामुदगात् | विज | ऋक्. मण्ड.1-115-1 |
| 54 | 4 | 23 | जीव विष्ण्वोरभेदश्च | विज | ब्रह्माण्डे |
| 55 | 10 | 22 | ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् | वीर | भ.गी.7-18 |
| 56 | 2 | 1 | तच्छीलाचारवादिनः | वीर | भाग. 12-1-43 |
| 57 | 4 | 33 | ततस्तु तं पश्यते निष्कलं | वीर | मुण्ड.3. 3 -1-8 |
| 58 | 6 | 69 | तत्सवितुर्वरेण्यं | विज | म.ना.3.11-7 |
| 59 | 8 | 41 | तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् | विज | तैत्ति.3.2-6 |
| 60 | 11 | 27 | तथाऽन्ये च ऋषयो गन्धर्वा | वीर | भाग.5-21-18 |
| 61 | 11 | 27 | तथाऽन्ये च ऋषयो गन्धर्वा- | विज | भाग.5-21-18 |
| 62 | 4 | 30 | तदनु प्रविश्य सच्च | वीर | तैत्ति.3.2-6 |
| 63 | 3 | 16 | तदा नन्दात्प्रभृत्येष कलिर्वृद्धि | वीर | भाग.12-2-32 |
| 64 | 6 | 28 | तद्वहतोः करपत्योश्चोरदेवतायोः | विज | अष्टा. 6.1.157 वार्तिक. 3713 |
| 65 | 4 | 32 | तद्ब्रह्मा वेदाहं ब्रह्मास्मि | विज | |
| 66 | 3 | 50 | तद्भाव भावमापन्नः | वीर | |
| 67 | 4 | 18/19 | तन्मूलभूतं पदमामनन्ति | वीर | भाग. 12-4-21 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 68 | 4 | 39 | तस्मात्सर्वात्मना राजन् | वीर | भाग.2-2-36 |
| 69 | 6 | 30 | तस्मै नमो भगवते | श्रीध | भाग.2-5-12,13 |
| 70 | 11 | 24 | तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टम् | वीर | कठ.उ.2-12 |
| 71 | 6 | 53 | तेषां ऋक्षन्त्रार्थवशेन पादव्यवस्था | वीर | |
| 72 | 8 | 44 | तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु | वीर | भगी.12-7 |
| 73 | 8 | 42 | त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं | विज | म.ना.3-13-18 |
| 74 | 7 | 21 | दशमस्य विशुद्ध्यर्थे | श्रीध | भाग.2-10-2 |
| 75 | 7 | 21 | दशमस्य विशुद्ध्यर्थे | वीर | भाग.2-10-2 |
| 76 | 3 | 31 | दुश्शीला कर्कशा चण्डी नित्यं | वीर | |
| 77 | 11 | 45 | धाताऽर्यमा च मित्रश्च | श्रीध | |
| 78 | 3 | 52 | ध्यायन् कृते यजन्यज्ञैः | श्रीध | विष्णु.पु.6-2-17 |
| 79 | 10 | 41 | न कर्माऽविभागात् | वीर | ब्र.सू.2-1-35 |
| 80 | 7 | 4/5 | न क्षत्रकल्पो वेदानां | श्रीध | विष्णु.पु.3-6-13/14 |
| 81 | 7 | 4 | न क्षत्रकल्पो वेदज्ञो | वीर | विष्णु.पु..3-6-13 |
| 82 | 7 | 21 | न च पुनरावर्तते न च | विज | छान्दो.उ..8-15-1 |
| 83 | 10 | 31 | न तत्र रथा न रथयोगा | वीर | बृह.उ.4-3-10 |
| 84 | 4 | 31 | न तस्य कालावयवैः | वीर | भाग.12-4-19 |
| 85 | 5 | 11 | न त्वत्समोस्त्यभ्यधिकः | वीर | भगी.11-43 |
| 86 | 8 | 42 | नमो विष्णवे महते करोमि | विज | सह.वा.3-16 |
| 87 | 4 | 23 | नासदासीत् | विज | ऋक्.सं.10-129-1 |
| 88 | 7 | 18 | निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः | विज | भाग. 2-10-6 |
| 89 | 5 | 11 | नेह नानास्ति किञ्चन | वीर | बृह.उ. 4 -4-9 |
| 90 | 4 | 27 | पटवच्च | वीर | ब्र.सू.2-1-19 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 91 | 10 | 28 | परस्परं भावयन्तः श्रेयः | वीर | भ.गी.3-11 |
| 92 | 4 | 32 | पादोऽस्य विश्वाभूतानि | विज | पु.सू. 2 |
| 93 | 8 | 42 | पादोऽस्य विश्वाभूतानि | विज | पु.सू. 2 |
| 94 | 5 | 3 | पिता पुत्रेण पितृमान्योनि | श्रीध | श्रुतिः |
| 95 | 7 | 13 | पिशाचो गुह्यकः सिद्धो | विज | अम.को.1-1-13 |
| 96 | 8 | 43 | प्रजापते न त्वदेतान्यन्यः | विज | मना.उ.13-16 |
| 97 | 4 | 25 | प्रत्येकं विष्णुरूपाणां | विज | तत्त्वसंहितायाम् |
| 98 | 2 | 26 | प्रद्योतना अष्टत्रिंशोत्तरं | वीर | भाग.4-27-13 |
| 99 | 4 | 30 | प्राणा प्राणा वै सत्यम् | वीर | बृह.उ. 4-3-6 |
| 100 | 4 | 24 | प्राणेन हीदम् | विज | |
| 101 | 11 | 30 | प्रातरुत्तथायाऽथ सन्ध्यामुपासीत | विज | |
| 102 | 6 | 52 | प्रोक्षणीरासादय | वीर | |
| 103 | 4 | 23 | बुद्धिवान्मनोवान् | विज | |
| 104 | 7 | 12 | ब्रह्मणो गुणवैषम्यात् | विज | भाग. 2-10-3 |
| 105 | 5 | 5 | ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम् | वीर | भ.गी.14-27 |
| 106 | 5 | 5 | ब्रह्मभूयाय कल्पते | वीर | भ.गी.18-53 |
| 107 | 11 | 24 | ब्रह्मा देवानां प्रथमस्सम्बभूव | विज | मुण्ड.उ.1-1 |
| 108 | 10 | 28 | ब्राह्मणास्साधवः | वीर | भाग.12-10-20 |
| 109 | 4 | 33 | भिद्यते हृदयग्रन्थिश्च | विज | मुण्ड.उ.2-2-8 |
| 110 | 1 | 4 | भुजोऽनवने | विज | अष्टा.1-3-66 |
| 111 | 6 | 39 | भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वं | विज | नृ.पूर्व.ता.उ.4-2 |
| 112 | 6 | 44 | भूर्भुवः सुवः | विज | तैत्ति.उ..1-5-1 |
| 113 | 2 | 9 | मधुमद्यं मधु क्षौद्रं मधु | विज | अभिधानम् |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 114 | 6 | 30 | मनसा वा अग्रे | विज | ऐत.उ.1-1-2 |
| 115 | 4 | 30 | महाकाशो बहिस्थश्च | विज | तत्त्वसंहितायां |
| 116 | 4 | 21 | महानव्यक्ते लीयते | वीर | सुबा.उ.2-2 |
| 117 | 11 | 14 | महान्वै बुद्धिलक्षणः | वीर | |
| 118 | 11 | 19 | यज्ञो वै विष्णुः | श्रीध | तैत्ति ब्रा.1-2-5 |
| 119 | 4 | 39 | यत्रोदद्यतः क्षितितलोद्धरणाय | विज | |
| 120 | 4 | 31 | यथा सौम्येकेन | वीर | छान्दो उ.6-1-5 |
| 121 | 7 | 14 | यदा यदा हि धर्मस्य | विज | भ.गी. 4 -7 |
| 122 | 6 | 30 | यद्वाचानभ्युदितम् | विज | केन.उ..1-4 |
| 123 | 6 | 30 | यन्मनसा न मनुते | विज | केन.उ.1-6 |
| 124 | 8 | 43 | यन्मां निशाम्य सदनादुरुकम्प | विज | |
| 125 | 11 | 24 | यमैवेष वृणुते तेन लभ्यः | विज | कठ.उ..2-22 |
| 126 | 4 | 23 | यस्य चक्षुः शरीरम् | वीर | बृह.उ. 3-7-18 |
| 127 | 8 | 45 | युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते | वीर | भाग.1-2-23 |
| 128 | 4 | 30 | युक्तह्यस्य हरयः शतादर्शः | विज | श्रुतिः |
| 129 | 10 | 22 | ये यथा मां प्रपद्यन्ते तां | वीर | भ.गी.4-11 |
| 130 | 8 | 43 | यो अस्कभायदुत्तरं | विज | तैत्ति.उ.1-2-13 |
| 131 | 11 | 24 | यो ब्रह्माणं विदधाति | विज | श्वेता.उ. 6-18 |
| 132 | 10 | 28 | वरं वृणीष्व | वीर | भाग.12-10-19 |
| 133 | 9 | 16 | वष्टिभागुरिरल्लोपम् | विज | सि.कौ.अष्टा.2-4-82 |
| 134 | 6 | 28 | वाग्वै बृहती | विज | श्रुतेः |
| 135 | 4 | 27 | वाचारम्भणं विकारो नामधेयं | श्रीध | छान्दो.उ.6-1-4 |
| 136 | 4 | 31 | वाचारम्भणं विकारः | वीर | छान्दो.उ.6-1-4 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 137 | 3 | 14 | वाचो विम्लापनं हि तत् | विज | |
| 138 | 2 | 17 | विनाशाय च दुष्कृताम् | वीर | भ.गी.4-8 |
| 139 | 10 | 30 | वृत्तिस्तु ग्रन्थसन्दर्भे | विज | |
| 140 | 10 | 8 | शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् | वीर | ब्र.सू. 1-1-31 |
| 141 | 10 | 16 | शास्त्र दृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् | वीर | ब्र.सू.1-1-31 |
| 142 | 7 | 3 | शुनकस्तु द्विधा कृत्वा | श्रीध | विष्णु.पु.3-6-12 |
| 143 | 7 | 2/3 | शुनकस्तु द्विधा कृत्वा | विज | विष्णु.पु.3-6-12 |
| 144 | 6 | 52 | शेते यजुः शब्दः | वीर | |
| 145 | 6 | 40 | श्रोता मन्ता | विज | श्रुति |
| 146 | 4 | 1 | स कालः परमाणु र्वै | श्रीध | भाग.3-11-4 |
| 147 | 4 | 1 | स कालः परमाणु र्वै | वीर | भाग.3-11-4 |
| 148 | 4 | 25 | सता सौम्य | विज | छान्दो.3.6-8-1 |
| 149 | 4 | 23 | सत्यं ज्ञानमनन्तम् | वीर | तैत्ति.3.2-1-1 |
| 150 | 4 | 27 | स देवेदं सौम्येदम् | वीर | छान्दो.3.6-2-1 |
| 151 | 8 | 45 | सत्त्वं रजस्तम इति | वीर | भ.गी.14-5 |
| 152 | 8 | 45 | सत्त्वादयो न सन्तीशे | वीर | |
| 153 | 4 | 39 | सन्त्वोऽस्त्री जन्तुषु क्लीबे | विज | वैज को. 6-5-93 |
| 154 | 10 | 22 | स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः | वीर | ना.पू.ता.3.3-1 |
| 155 | 11 | 31 | समे यजेत | वीर | |
| 156 | 2 | 24 | समेष्यति | वीर | |
| 157 | 2 | 24 | समेष्यति | विज | |
| 158 | 7 | 10 | सर्गश्च प्रतिसर्गश्च | श्रीध | |
| 159 | 7 | 9 | सर्गश्च प्रतिसर्गश्च | वीर | |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 160 | 8 | 47 | सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यानादरः | वीर | छान्दो.उ.3-14-2,3 |
| 161 | 8 | 5 | स वा आत्मकुलोत्पन्नः | वीर | |
| 162 | 4 | 21 | स वा एष आत्मा नेति नेति | विज | |
| 163 | 4 | 30 | सहस्रं वा आदित्यस्य | विज | |
| 164 | 4 | 23 | संविदेव परितो विराजते | विज | |
| 165 | 11 | 19 | सुपर्णोऽसि गरुत्मान् | श्रीध | गरुड.उ.14 |
| 166 | 11 | 30 | सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च | श्रीध | ऐत.उ.2-4-3 |
| 167 | 11 | 29 | सूर्या चन्द्रमसौ धाता | विज | म.ना.उ.6-3 |
| 168 | 6 | 38 | स्त्रीपुन्नपुंसकात्मायं | विज | |
| 169 | 11 | 24 | पाता तथैवाऽत्ता निखिलस्य | विज | |
| 170 | 7 | 14 | स्थितिर्वैकुण्ठ विजयः | विज | |
| 1/1 | 6 | 23 | स्वसन्तानोद्भवं कीर्त्या | विज | वामने |
| 172 | 4 | 2 | स्वं स्वं कालं | वीर | भाग.उ. 3-11-24 |
| 173 | 11 | 24 | स्वे महिम्नि | विज | छान्दो.उ.7-24-1 |

T.T.D. Religious Publications Series No:
Price : Rs.

Published by Sri A.P.V.N.Sarma, I.A.S., Executive Officer, Tirumala Tirupati Devasthanams,
Tirupati and Printed at AIRISRI Screens, Tirupati

# Srimad Bhagavata Mahapurana

Translations by His Divine Grace A.C. Bhaktivedanta Swami Prabhupada

**Hare Kṛṣṇa, Hare Kṛṣṇa, Kṛṣṇa Kṛṣṇa, Hare Hare**
**Hare Rāma, Hare Rāma, Rāma Rāma, Hare Hare**

Mangalacarana

**oṁ ajñāna-timirāndhasya**
**jñānāñjana-śalākayā**
**cakṣur unmīlitaṁ yena**
**tasmai śrī-gurave namaḥ**

I was born in the darkest ignorance, and my spiritual master opened my eyes with the torch of knowledge. I offer my respectful obeisances unto him.

**śrī-caitanya-mano-'bhīṣṭaṁ**
**sthāpitaṁ yena bhū-tale**
**svayaṁ rūpaḥ kadā mahyaṁ**
**dadāti sva-padāntikam**

When will Srila Rupa Goswami Prabhupada, who has established within this material world the mission to fulfill the desire of Lord Chaitanya, give me shelter under his lotus feet?

**vande 'haṁ śrī-guroḥ śrī-yuta-pada-kamalaṁ śrī-gurūn vaiṣṇavāṁś ca**
**śrī-rūpaṁ sāgrajātaṁ saha-gaṇa-raghunāthānvitaṁ taṁ sa-jīvam**
**sādvaitaṁ sāvadhūtaṁ parijana-sahitaṁ kṛṣṇa-caitanya-devaṁ**
**śrī-rādhā-kṛṣṇa-pādān saha-gaṇa-lalitā-śrī-viśākhānvitāṁś ca**

I offer my respectful obeisances unto the lotus feet of my spiritual master and unto the feet of all vaiṣṇavas, I offer my respectful obeisances unto the lotus feet of Srila Rupa Goswami along with his elder brother Sanatan Goswami, as well as Raghunath Das and Raghunath Bhatta, Gopal Bhatta, and Srila Jiva Goswami. I offer my respectful obeisances to Lord Krishna Chaitanya and Lord Nityananda along with Adwaita Acharya, Gadadhar, Srivas, and other associates. I offer my respectful obeisances to Srimati Radharani and Sri Krishna along with Their associates Sri Lalita and Visakha.

**he kṛṣṇa karuṇā-sindho**
**dīna-bandho jagat-pate**
**gopeśa gopikā-kānta**
**rādhā-kānta namo'stu te**

O my dear Krishna, O ocean of mercy, You are the friend of the distressed and the source of creation. You are the master of the gopīs and the lover of Radharani. I offer my respectful obeisances unto you.

**tapta-kāñcana-gaurāṅgi**
**rādhe vṛndāvaneśvari**
**vṛṣabhānu-sute devi**
**praṇamāmi hari-priye**

I offer my respects to Radharani, whose bodily complexion is like molten gold and who is the Queen of Vrindavan. You are the daughter of King Vrishabhanu, and you are very dear to Lord Krishna.

**vāñchā-kalpatarubhyaś ca**
**kṛpā-sindhubhya eva ca**
**patitānāṁ pāvanebhyo**
**vaiṣṇavebhyo namo namaḥ**

I offer my respectful obeisances unto all the vaiṣṇava devotees of the Lord. They can fulfill the desires of everyone, just like desire trees, and they are full of compassion for the fallen souls.

**namo mahā-vadānyāya**
**kṛṣṇa-prema-pradāya te**
**kṛṣṇāya kṛṣṇa-caitanya-**
**nāmne gaura-tviṣe namaḥ**

O most munificent incarnation! You are Krishna Himself appearing as Sri Krishna Chaitanya Mahaprabhu. You have assumed the golden color of Srimati Radharani, and You are widely distributing pure love of Krishna. We offer our respectful obeisances unto You. — Cc. madhya 19.53

**yad advaitaṁ brahmopaniṣadi tad apy asya tanu-bhā**
**ya ātmāntaryāmī puruṣa iti so 'syāṁśa-vibhavaḥ**
**ṣaḍ-aiśvaryaiḥ pūrṇo ya iha bhagavān sa svayam ayaṁ**
**na caitanyāt kṛṣṇāj jagati para-tattvaṁ param iha**

What the Upaniṣads describe as the impersonal Brahman is but the effulgence of His body, and the Lord known as the Supersoul is but His localized plenary portion. He is the Supreme Personality of Godhead Himself, full with six opulences. He is the absolute truth, and no other truth is greater than or equal to Him. — Cc. ādi 1.3

**rādhā kṛṣṇa-praṇaya-vikṛtir hlādinīśaktir asmād**
**ekātmānāv api bhuvi purā deha-bhedaṁ gatau tau**
**caitanyākhyaṁ prakaṭam adhunā tad-dayaṁ caikyam āptaṁ**
**rādhā-bhāva-dyuti-suvalitaṁ naumi kṛṣṇa-svarūpam**

The loving affairs of Sri Radha and Krishna are transcendental manifestations of the Lord's internal pleasure giving potency. Although Radha and Krishna are one in Their identity, They separated Themselves eternally. Now these two transcendental identities have again united in the form of Sri Krishna Chaitanya. I bow down to Him, who has manifested Himself with the sentiment and complexion of Srimati Radharani although He is Krishna Himself. — Cc. ādi 1.5

**cirād adattaṁ nija-gupta-vittaṁ**
**svaprema-nāmāmṛtam atyudāraḥ**
**āpāmaraṁ yo vitatāra gauraḥ**
**kṛṣṇo janebhyas tam ahaṁ prapadye**

The most munificent Supreme Personality of Godhead, known as Gaurakrishna, distributed to everyone—even the lowest of men—His own confidential treasury in the form of the nectar of love of Himself and the holy name. This was never given to the people at any time before. I therefore offer my respectful obeisances unto Him. — Cc. madhya 23.1

**gauraḥ sac-caritāmṛtāmṛta-nidhiḥ gauraṁ sadaiva-stuve**
**gaureṇa prathitaṁ rahasya-bhajanaṁ gaurāya sarvaṁ dade**
**gaurādasti kṛpālu-ratra na paro gaurasya bhrityo bhavaṁ**
**gaure gauravamācarāmi bhagavan gaura-prabho rakṣa mām**

I pray to Sriman Gauranga Mahaprabhu whose ecstatic transcendental pastimes are like a river of nectar. Gaura has given the path of confidential devotional service. I will completely surrender to Gaura. Is there anyone more merciful than Gaura? I will become a servant of Gaura. I shall preach the glory of Gaura. May my Lord Gaura protect me. — Gaurāṅga-virudāvalī by Srila Raghunandan Goswami

**mādhuryyaiḥ-madhubhiḥ sugambhi-bhajana śvarṇambhujānāṁ vanam**
**kāruṇyāmṛta nirjharai-rupacitah sat-prema hemacālaḥ**

**bhaktāmbodhara dharaṇī vijayanī niskampa sampāvalī**
**daivo na kula daivatāṁ vijayatāṁ caitanya-kṛṣṇa-hariḥ**

I worship the golden hued Sri Chaitanya Mahaprabhu Who is absorbed in the enchanting mellows of madhurya rasa. May the transcendental love of Krishna that Mahaprabhu is distributing, pour down on this earth like a waterfall of nectar. All glories to that Sri Krishna Chaitanya Mahaprabhu.

**ājānu-lambita-bhujau kanakāva-dātau**
**saṅkīrtanaika-pitarau kamalāya-tāksau**
**visvambharau dvijavarau yuga-dharma-pālau**
**vande jagat priyakarau karuṇāvatārau**

I worship Their Lordships Sri Chaitanya Mahaprabhu and Nityananda Prabhu whose long arms extend down to Their knees, whose beautiful complexions are radiant yellow like molten gold and whose elongated eyes are like red lotuses. They are the topmost brāhmaṇas, the guardians of religious principles for this age, the most munificent benefactors of all living entities, and the most compassionate incarnations of Godhead. They initiated the congregational chanting of the names of Lord Krishna. — Caitanya-bhāgavata ādi 1.1

**anarpita-carīṁ cirāt karuṇayāvatīrṇaḥ kalau**
**samarpayitum unnatojjvala-rasāṁ sva-bhakti-śriyam**
**hariḥ puraṭa-sundara-dyuti-kadamba-sandīpitaḥ**
**sadā hṛdaya-kandare sphuratu vaḥ śacī-nandanaḥ**

May that Lord, who is known as the son of Srimati Sacidevi, be transcendentally situated in the innermost chambers of your heart. Resplendent with the radiance of molten gold, He has appeared in the age of Kali by His causeless mercy to bestow what no incarnation ever offered before: the most sublime and radiant spiritual knowledge of the mellow taste of His service. — Vidagdha-mādhava 1.2

The following three verses are from Prema-bhakti-chandrikā by Srila Narottama Das Thakur section 10, verses 12-14.

**śrī-kṛṣṇa-caitanyadeva rati-mati bhave bhaja**
**prema-kalpa-taru-bara-dātā**
**śrī-vraja-rāja-nandana rādhikā-jīvana-dhana**
**aparūpa ei saba kathā**

O brother, always worship Sri Krishna Caitanyadeva who is the great philanthropist giving away the treasure of the desire tree of pure love for Krishna. This Lord Chaitanya is actually Lord Krishna, the prince of Vraja and the life of Srimati Radharani. Descriptions of Him are spiritual sounds. They are not at all material. — verse 12

**navadvīpe avatari´ rādhā-bhāva aṅgīkari´**
**tāṅra kānti aṅgera bhūṣaṇa**
**tina vāñchā abhilāṣī´ śacī-garbhe parakāśi´**
**saṅge lañā pariṣada-gaṇa**

Lord Krishna desired to appear in Nabadwip to understand the intense love Srimati Radharani felt for Him, and accept Her golden complexion as His bodily ornament. In order to fulfill these three desires, the Lord appeared in Sacidevi's womb. When the Lord appeared like this in the material world, all His associates followed Him, and also appeared in the world. — verse 13

**gaura-hari avatari ´premera vādara kari´**
**sādhilā manera tina kāja**

**rādhikāra prāṇa-pati kivā bhāve kāṅde niti**
**ihā bujhe bhakata-samāja**

The Lord appeared in the golden form of Lord Chaitanya, and preached the message of pure love for Krishna. In this way He fulfilled the three desires in His mind. Only the devotees are able to understand in what a wonderful way Krishna, who is the Lord of Srimati Radharani's life, continually cried in ecstatic love of God. — verse 14

**uttama adhama kichu na bāchila yāciyā dilaka kola**
**kahe premānanda emana gaurāṅga hṛdaye dhariyā bola**
**bhaja gaurāṅga kaha gaurāṅga laha gaurāṅga nāma (re)**
**ye jana gaurāṅga bhaje sei haya āmāra prāṇa (re)**

Never discriminating who was a fit candidate, elevated or degraded, the son of mother Sachi magnanimously accepts one and all onto His lap in a loving embrace crying, "Come to My fold, come to My fold!" The poet Premananda Das begs you all to constantly chant the sweet name of Krishna while holding tightly to that son of mother Sachi in the innermost core of your heart. Worship Gauranga! Speak about Gauranga! Oh please take to gaura-nāma! Whoever worships Gauranga is my life and soul.

**yasyaiva pādāmbuja-bhakti-lābhyaḥ**
**premābhidhānaḥ paramaḥ pum-arthaḥ**
**tasmai jagan-maṅgala-maṅgalāya**
**caitanya-candrāya namo namas te**

O Lord Chaitanyachandra, by devotedly serving Your lotus feet one can attain the pure love for Lord Krishna that is the ultimate goal of all endeavors. O Lord Chaitanyachandra, O great auspiciousness of the world, I offer my respectful obeisances unto You. I offer my respectful obeisances unto You. — Srila Prabhodhananda Saraswati, Śrī Caitanya-candrāmṛta text 9

**ānanda-līlāmaya-vigrahāya**
**hemābha-divya-cchavi-sundarāya**
**tasmai mahā-prema-rasa-pradāya**
**caitanyacandrāya namo namas te**

O Lord Chaitanyachandra, O Lord whose form is full of blissful pastimes, O Lord whose complexion is as splendid as gold, O Lord who gives in charity the nectar of pure love for Lord Krishna. I offer my respectful obeisances unto You. I offer my respectful obeisances unto You. — Śrī Caitanya-candrāmṛta text 11

**yan nāptaṁ karma-niṣṭhair na ca samadhi-gataṁ yat tapo dhyāna-yogair**
**vairāgyais tyāga-tattva-stutibhir api na yat tarkitaṁ cāpi kaiścit**
**govinda-prema-bhājām api na ca kalitaṁ yad rahasyaṁ svayaṁ tan**
**nāmnaiva prādurāsīd avatarati pare yatra taṁ naumi gauram**

Not attainable by the faithful performers of pious deeds, not understood by those engaged in austerity, meditation, and yoga, not guessed by those absorbed in detachment, renunciation of the fruits of work, philosophical speculation or recitation of prayers, and unknown even to the devotees full of love for Lord Govinda, the secret of pure devotional service has been revealed by the holy name during Lord Gaura's advent. Let me glorify that Lord Gaura.

— Śrī Caitanya-candrāmṛta text 3

**Srimad Bhagavata Mahatayam** ……..17

**Śrīmad-Bhāgavatam Canto 1: "Creation"**

1. Questions by the Sages……..50

2. Divinity and Divine Service……51

3. Kṛṣṇa Is the Source of All Incarnations……54

4. The Appearance of Śrī Nārada……58

5. Nārada's Instructions on Śrīmad-Bhāgavatam for Vyāsadeva……60

6. Conversation Between Nārada and Vyāsadeva……63

7. The Son of Droṇa Punished……66

8. Prayers by Queen Kuntī and Parīkṣit Saved……70

9. The Passing Away of Bhīṣmadeva in the Presence of Lord Kṛṣṇa……74

10. Departure of Lord Kṛṣṇa for Dvārakā……78

11. Lord Kṛṣṇa's Entrance into Dvārakā……80

12. Birth of Emperor Parīkṣit……83

13. Dhṛtarāṣṭra Quits Home……86

14. The Disappearance of Lord Kṛṣṇa……90

15. The Pāṇḍavas Retire Timely……93

16. How Pariksit Received the age of Kali……97

17. Punishment and Reward of Kali……100

18. Mahārāja Parīkṣit Cursed by a Brāhmaṇa Boy……103

19. The Appearance of Śukadeva Gosvāmī……107

**Śrīmad-Bhāgavatam Canto 2: "The Cosmic Manifestation"**

1. The First Step in God Realization……110

2. The Lord in the Heart……113

3. Pure Devotional Service: The Change in Heart……117

4. The Process of Creation……119

5. The Cause of All Causes……121

6. Puruṣa-sūkta Confirmed……124

7. Scheduled Incarnations with Specific Functions……127

8. Questions by King Parīkṣit……132

9. Answers by Citing the Lord's Version……135

10. Bhāgavatam Is the Answer to All Questions……138

**Śrīmad-Bhāgavatam Canto 3: "The Status Quo"**

1. Questions by Vidura……142

2. Remembrance of Lord Kṛṣṇa……146

3. The Lord's Pastimes Out of Vṛndāvana……148

4. Vidura Approaches Maiteya……150

5. Vidura's Talks with Maitreya……153

6. Creation of the Universal Form……157

7. Further Inquires by Vidura……160

8. Manifestation of Brahmā from Garbhodakaśāyī Viṣṇu……163

9. Brahmā's Prayers for Creative Energy……166

10. Divisions of the Creation……169

11. Calculation of Time, from the Atom……171

12. Creation of the Kumāras and Others……175

13. The Appearance of Lord Varāha……178

14. Pregnancy of Diti in the Evening……182

15. Description of the Kingdom of God……185

16. The Two Doorkeepers of Vaikuṇṭha, Jaya and Vijaya, Cursed by the sages……190

17. Victory of Hiraṇyākṣa Over All the Directions of the Universe……193

18. The Battle Between Lord Boar and the Demon Hiraṇyākṣa……195

19. The Killing of the Demon Hiraṇyākṣa……197

20. Conversation Between Maitreya and Vidura……200

21. Conversation Between Manu and Kardama……204

22. The Marriage of Kardama Muni and Devahūti……207

23. Devahūti's Lamentation……210

24. The Renunciation of Kardama Muni……214

25. The Glories of Devotional Service……217

26. Fundamental Principles of Material Nature……221

27. Understanding Material Nature……226

28. Kapila's Instructions on the Execution of Devotional Service……228

29. Explanation of Devotional Service by Lord Kapila……232

30. Description by Lord Kapila of Adverse Fruitive Activities……235

31. Lord Kapila's Instructions on the Movements of the Living Entities……237

32. Entanglement in Fruitive Activities……241

33. Activities of Kapila……244

**Śrīmad-Bhāgavatam Canto 4: "The Creation of the Fourth Order"**

1. Genealogical Table of the Daughters of Manu……247

2. Dakṣa Curses Lord Śiva……251

3. Talks Between Lord Śiva and Satī……254

4. Satī Quits Her Body……256

5. Frustration of the Sacrifice of Dakṣa……258

6. Brahmā Satisfies Lord Śiva……260

7. The Sacrifice Performed by Dakṣa……264

8. Dhruva Mahārāja Leaves Home for the Forest……270

9. Dhruva Mahārāja Returns Home ……277

10. Dhruva Mahārāja's Fight With the Yakṣas……283

11. Svāyambhuva Manu Advises Dhruva Mahārāja to Stop Fighting……285

12. Dhruva Mahārāja Goes Back to Godhead……287

13. Description of the Descendants of Dhruva Mahārāja……292

14. The Story of King Vena……295

15. King Pṛthu's Appearance and Coronation……299

16. Praise of King Pṛthu by the Professional Reciters……301

17. Mahārāja Pṛthu Becomes Angry at the Earth……304

18. Pṛthu Mahārāja Milks the Earth Planet……306

19. King Pṛthu's One Hundred Horse Sacrifices……309

20. Lord Viṣṇu's Appearance in the Sacrificial Arena of Mahārāja Pṛthu……312

21. Instructions by Mahārāja Pṛthu……316

22. Pṛthu Mahārāja's Meeting with the Four Kumāras……321

23. Mahārāja Pṛthu's Going Back Home……326

24. Chanting the Song Sung by Lord Śiva……329

25. The Descriptions of the Characteristics of King Purañjana……336

26. King Purañjana Goes to the Forest to Hunt, and His Queen Becomes Angry……341

27. Attack by Caṇḍavega on the City of King Purañjana: the Character of Kālakanyā……343

28. Purañjana Becomes a Woman in the Next Life……345

29. Talks Between Nārada and King Prācīnabarhi……350

30. The Activities of the Pracetās……357

31. Nārada Instructs the Pracetās ……362

**Śrīmad-Bhāgavatam Canto 5: "The Creative Impetus"**

1. The Activities of Mahārāja Priyavrata……365

2. The Activities of Mahārāja Āgnīdhra……370

3. Ṛṣabhadeva's Appearance in the Womb of Merudevī, the Wife of King Nābhi……373

4. The Characteristics of Ṛṣabhadeva, the Supreme Personality of Godhead……375

5. Lord Ṛṣabhadeva's Teachings to His Sons……378

6. The Activities of Lord Ṛṣabhadeva……383

7. The Activities of King Bharata……386

8. A Description of the Character of Bharata Mahārāja……388

9. The Supreme Character of Jaḍa Bharata……392

10. The Discussion Between Jaḍa Bharata and Mahārāja Rahūgaṇa……395

11. Jaḍa Bharata Instructs King Rahūgaṇa……399

12. Conversation Between Mahārāja Rahūgaṇa and Jaḍa Bharata……401

13. Further Talks Between King Rahūgaṇa and Jaḍa Bharata……404

14. The Material World as the Great Forest of Enjoyment……408

15. The Glories of the Descendants of King Priyavrata……415

16. A Description of Jambūdvīpa……417

17. The Descent of the River Ganges……421

18. The Prayers Offered to the Lord by the Residents of Jambūdvīpa……425

19. A Description of the Island of Jambūdvīpa……430

20. Studying the Structure of the Universe……435

21. The Movements of the Sun……441

22. The Orbits of the Planets……444

23. The Śiśumāra Planetary Systems……446

24. The Subterranean Heavenly Planets ……448

25. The Glories of Lord Ananta……453

26. A Description of the Hellish Planets……455

**Śrīmad-Bhāgavatam Canto 6: "Prescribed Duties for Mankind"**

1. The History of the Life of Ajāmila……460

2. Ajāmila Delivered by the Viṣṇudūtas……466

3. Yamarāja Instructs His Messengers……470

4. The Haṁsa-guhya Prayers ……475

5. Nārada Muni Cursed by Prajāpati Dakṣa……481

6. The Progeny of the Daughters of Dakṣa……485

7. Indra Offends His Spiritual Master, Bṛhaspati……488

8. The Nārāyaṇa-kavaca Shield……492

9. Appearance of the Demon Vṛtrāsura……496

10. The Battle Between the Demigods and Vṛtrāsura……502

11. The Transcendental Qualities of Vṛtrāsura……..505

12. Vṛtrāsura's Glorious Death……..508

13. King Indra Afflicted by Sinful Reaction……..511

14. King Citraketu's Lamentation……513

15. The Saints Nārada and Aṅgirā Instruct King Citraketu……..518

16. King Citraketu Meets the Supreme Lord……..521

17. Mother Pārvatī Curses Citraketu……..528

18. Diti Vows to Kill King Indra……532

19. Performing the Puṁsavana Ritualistic Ceremony……..539

**Śrīmad-Bhāgavatam Canto 7: "The Science of God"**

1. The Supreme Lord Is Equal to Everyone……542

2. Hiraṇyakaśipu, King of the Demons……546

3. Hiraṇyakaśipu's Plan to Become Immortal……...552

4. Hiraṇyakaśipu Terrorizes the Universe……556

5. Prahlāda Mahārāja, the Saintly Son of Hiraṇyakaśipu……560

6. Prahlāda Instructs His Demoniac Schoolmates……566

7. What Prahlāda Learned in the Womb……569

8. Lord Nṛsiṁhadeva Slays the King of the Demons……574

9. Prahlāda Pacifies Lord Nṛsiṁhadeva with Prayers……581

10. Prahlāda, the Best Among Exalted Devotees……588

11. The Perfect Society: Four Social Classes……..595

12. The Perfect Society: Four Spiritual Classes……..598

13. The Behavior of a Perfect Person……602

14. Ideal Family Life……606

15. Instructions for Civilized Human Beings……611

**Śrīmad-Bhāgavatam Canto 8: "Withdrawal of the Cosmic Creations"**

1. The Manus, Administrators of the Universe……..619

2. The Elephant Gajendra's Crisis……623

3. Gajendra's Prayers of Surrender……..625

4. Gajendra Returns to the Spiritual World……630

5. The Demigods Appeal to the Lord for Protection……...632

6. The Demigods and Demons Declare a Truce……..637

7. Lord Śiva Saves the Universe by Drinking Poison……..641

8. The Churning of the Milk Ocean……..645

9. The Lord Incarnates as Mohinī-Mūrti……649

10. The Battle Between the Demigods and the Demons……652

11. King Indra Annihilates the Demons……656

12. The Mohinī-mūrti Incarnation Bewilders Lord Śiva……660

13. Description of Future Manus……664

14. The System of Universal Management……667

15. Bali Mahārāja Conquers the Heavenly Planets……668

16. Executing the Payo-vrata Process of Worship……671

17. The Supreme Lord Agrees to Become Aditi's Son……676

18. Lord Vāmanadeva, the Dwarf Incarnation……679

19. Lord Vāmanadeva Begs Charity from Bali Mahārāja……682

20. Bali Mahārāja Surrenders the Universe……685

21. Bali Mahārāja Arrested by the Lord……689

22. Bali Mahārāja Surrenders His Life……691

23. The Demigods Regain the Heavenly Planets……695

24. Matsya, the Lord's Fish Incarnation……698

**Śrīmad-Bhāgavatam Canto 9: "Liberation"**

1. King Sudyumna Becomes a Woman……703

2. The Dynasties of the Sons of Manu……706

3. The Marriage of Sukanyā and Cyavana Muni……709

4. Ambarīṣa Mahārāja Offended by Durvāsā Muni……713

5. Durvāsā Muni's Life Spared……719

6. The Downfall of Saubhari Muni……722

7. The Descendants of King Māndhātā……727

8. The Sons of Sagara Meet Lord Kapiladeva……729

9. The Dynasty of Aṁśumān……732

10. The Pastimes of the Supreme Lord, Rāmacandra……737

11. Lord Rāmacandra Rules the World……743

12. The Dynasty of Kuśa, the Son of Lord Rāmacandra……746

13. The Dynasty of Mahārāja Nimi……748

14. King Purūravā Enchanted by Urvaśī……750

15. Paraśurāma, the Lord's Warrior Incarnation……755

16. Lord Paraśurāma Destroys the World's Ruling Class……758

17. The Dynasties of the Sons of Purūravā……761

18. King Yayāti Regains His Youth……763

19. King Yayāti Achieves Liberation……767

20. The Dynasty of Pūru……770

21. The Dynasty of Bharata……773

22. The Descendants of Ajamīḍha……777

23. The Dynasties of the Sons of Yayāti……781

24. Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead……784

**Śrīmad-Bhāgavatam Canto 10: "The Summum Bonum"**

1. The Advent of Lord Kṛṣṇa: Introduction……789

2. Prayers by the Demigods for Lord Kṛṣṇa in the Womb……796

3. The Birth of Lord Kṛṣṇa……801

4. The Atrocities of King Kaṁsa……826

5. The Meeting of Nanda Mahārāja and Vasudeva……810

6. The Killing of the Demon Pūtanā……813

7. The Killing of the Demon Tṛṇāvarta……817

8. Lord Kṛṣṇa Shows the Universal Form Within His Mouth……821

9. Mother Yaśodā Binds Lord Kṛṣṇa……826

10. Deliverance of the Yamala-arjuna Trees……829

11. The Childhood Pastimes of Kṛṣṇa……833

12. The Killing of the Demon Aghāsura……838

13. The Stealing of the Boys and Calves by Brahmā……843

14. Brahmā's Prayers to Lord Kṛṣṇa……849

15. The Killing of Dhenuka, the Ass Demon……855

16. Kṛṣṇa Chastises the Serpent Kāliya……859

17. The History of Kāliya……866

18. Lord Balarāma Slays the Demon Pralamba……868

19. Swallowing the Forest Fire……871

20. The Rainy Season and Autumn in Vṛndāvana……872

21. The Gopīs Glorify the Song of Kṛṣṇa's Flute……876

22. Kṛṣṇa Steals the Garments of the Unmarried Gopīs……878

23. The Brāhmaṇas' Wives Blessed……882

24. Worshiping Govardhana Hill……886

25. Lord Kṛṣṇa Lifts Govardhana Hill……889

26. Wonderful Kṛṣṇa……892

27. Lord Indra and Mother Surabhi Offer Prayers……894

28. Kṛṣṇa Rescues Nanda Mahārāja from the Abode of Varuṇa……897

29. Kṛṣṇa and the Gopīs Meet for the Rāsa Dance……899

30. The Gopīs Search for Kṛṣṇa……903

31. The Gopīs' Songs of Separation……906

32. The Reunion……908

33. The Rāsa Dance……911

34. Nanda Mahārāja Saved and Śaṅkhacūḍa Slain……914

35. The Gopīs Sing of Kṛṣṇa as He Wanders in the Forest……917

36. The Slaying of Ariṣṭā, the Bull Demon……919

37. The Killing of the Demons Keśi and Vyoma……922

38. Akrūra's Arrival in Vṛndāvana……924

39. Akrūra's Vision……928

40. The Prayers of Akrūra……933

41. Kṛṣṇa and Balarāma Enter Mathurā……935

42. The Breaking of the Sacrificial Bow……939

43. Kṛṣṇa Kills the Elephant Kuvalayāpīḍa……942

44. The Killing of Kaṁsa……945

45. Kṛṣṇa Rescues His Teacher's Son……949

46. Uddhava Visits Vṛndāvana……954

47. The Song of the Bee……958

48. Kṛṣṇa Pleases His Devotees……964

49. Akrūra's Mission in Hastināpura……967

50. Kṛṣṇa Establishes the City of Dvārakā……969

51. The Deliverance of Mucukunda……974

52. Rukmiṇī's Message to Lord Kṛṣṇa……978

53. Kṛṣṇa Kidnaps Rukmiṇī……982

54. The Marriage of Kṛṣṇa and Rukmiṇī……986

55. The History of Pradyumna……991

56. The Syamantaka Jewel……994

57. Satrājit Murdered, the Jewel Returned……998

58. Kṛṣṇa Marries Five Princesses……1002

59. The Killing of the Demon Naraka……1006

60. Lord Kṛṣṇa Teases Queen Rukmiṇī……1010

61. Lord Balarāma Slays Rukmī……1015

62. The Meeting of Ūṣā and Aniruddha……...1019

63. Lord Kṛṣṇa Fights with Bāṇāsura……1021

64. The Deliverance of King Nṛga……1026

65. Lord Balarāma Visits Vṛndāvana……1029

66. Pauṇḍraka, the False Vasudeva……1032

67. Lord Balarāma Slays Dvivida Gorilla……1035

68. The Marriage of Sāmba……...1038

69. Nārada Muni Visits Lord Kṛṣṇa's Palaces in Dvārakā……1042

70. Lord Kṛṣṇa's Daily Activities……1045

71. The Lord Travels to Indraprastha……1049

72. The Slaying of the Demon Jarāsandha……1053

73. Lord Kṛṣṇa Blesses the Liberated Kings……1057

74. The Deliverance of Śiśupāla at the Rājasūya Sacrifice……1059

75. Duryodhana Humiliated……1063

76. The Battle Between Śālva and the Vṛṣṇis……1066

77. Lord Kṛṣṇa Slays the Demon Śālva……1069

78. The Killing of Dantavakra, Vidūratha and Romaharṣaṇa……...1072

79. Lord Balarāma Goes on Pilgrimage……1075

80. The Brāhmaṇa Sudāmā Visits Lord Kṛṣṇa in Dvārakā……1077

81. The Lord Blesses Sudāmā Brāhmaṇa……1080

82. Kṛṣṇa and Balarāma Meet the Inhabitants of Vṛndāvana……1084

83. Draupadī Meets the Queens of Kṛṣṇa……1087

84. The Sages' Teachings at Kurukṣetra……..1092

85. Lord Kṛṣṇa Instructs Vasudeva and Retrieves Devakī's Sons……..1097

86. Arjuna Kidnaps Subhadrā, and Kṛṣṇa Blesses His Devotees ……1102

87. The Prayers of the Personified Vedas……1106

88. Lord Śiva Saved from Vṛkāsura……..1112

89. Kṛṣṇa and Arjuna Retrieve a Brāhmaṇa's Sons……1116

90. Summary of Lord Kṛṣṇa's Glories……1121

**Śrīmad-Bhāgavatam Canto 11: "General History"**

1. The Curse Upon the Yadu Dynasty……1124

2. Mahārāja Nimi Meets the Nine Yogendras……1126

3. Liberation from the Illusory Energy……1131

4. Drumila Explains the Incarnations of Godhead to King Nimi…….....1137

5. Nārada Concludes His Teachings to Vasudeva……..……..1139

6. The Yadu Dynasty Retires to Prabhāsa…….....1144

7. Lord Kṛṣṇa Instructs Uddhava……...1148

8. The Story of Piṅgalā……1154

9. Detachment from All that Is Material……1157

10. The Nature of Fruitive Activity…….....1160

11. The Symptoms of Conditioned and Liberated Living Entities…….……1164

12. Beyond Renunciation and Knowledge…….……1168

13. The Haṁsa-avatāra Answers the Questions of the Sons of Brahmā…….……...1170

14. Lord Kṛṣṇa Explains the Yoga System to Śrī Uddhava…….……1174

15. Lord Kṛṣṇa's Description of Mystic Yoga Perfections…….…….……1177

16. The Lord's Opulence…….…….……..1180

17. Lord Kṛṣṇa's Description of the Varṇāśrama System……..……1183

18. Description of Varṇāśrama-dharma……...……1187

19. The Perfection of Spiritual Knowledge……...……1191

20. Pure Devotional Service Surpasses Knowledge and Detachment……..1194

21. Lord Kṛṣṇa's Explanation of the Vedic Path…….……1197

22. Enumeration of the Elements of Material Creation ……1200

23. The Song of the Avantī Brāhmaṇa…….…..……..1205

24. The Philosophy of Sāṅkhya…….....1209

25. The Three Modes of Nature and Beyond……...1212

26. The Aila-gītā……..1214

27. Lord Kṛṣṇa's Instructions on the Process of Deity Worship…….……1217

28. Jñāna-yoga……1221

29. Bhakti-yoga……...1224

30. The Disappearance of the Yadu Dynasty……..1228

31. The Disappearance of Lord Śrī Kṛṣṇa……1231

**Śrīmad-Bhāgavatam Canto 12: "The Age of Deterioration"**

1. The Degraded Dynasties of Kali-yuga……..1233

2. The Symptoms of Kali-yuga……...1235

3. The Bhūmi-gītā……1238

4. The Four Categories of Universal Annihilation……1242

5. Śukadeva Gosvāmī's Final Instructions to Mahārāja Parīkṣit……1245

6. Mahārāja Parīkṣit Passes Away……..1246

7. The Purāṇic Literatures……..1251

8. Mārkaṇḍeya's Prayers to Nara-Nārāyaṇa Ṛṣi……..1253

9. Mārkaṇḍeya Ṛṣi Sees the Illusory Potency of the Lord……..1257

10. Lord Śiva and Umā Glorify Mārkaṇḍeya Ṛṣi……..1259

11. Summary Description of the Mahāpuruṣa……..1262

12. The Topics of Śrīmad-Bhāgavatam Summarized…….....1265

13. The Glories of Śrīmad-Bhāgavatam…….....1270

**Śrīmad-Bhāgavatam-Māhātmya…….....1273**

**Srimad Bhagavata Mahatmyam**

**The Glories of Srimad Bhagavatam**

**Translated by Sri Satyanarayan Dasa**

## Introduction

In the dark age of Kali, bhakti is the only process for getting free from material conditioning. Bhakti is achieved only by the holy association of a pure devotee of the Supreme Lord. Specifically, one must hear krsna-katha from such a devotee. Srimad Bhagavatam is the best source of krsna katha. It presents questions and answers related to Lord Krsna, His name, form, pastimes, energies, and various incarnations. It was compiled by Srila Vyasa, and is the essence of all Vedic Literature.

Srimad Bhagavatam is so potent that it captivated the heart of Sukadeva Gosvami, a self realised soul completely absorbed in Brahman. He ran away from home after his birth, but returned as soon as he heard a few verses of Srimad Bhagavatam. Although he renounced everything including even a kaupin, he could not give up Srimad-Bhagavatam. he was very fond of forest life (aranya-priya), but after hearing Srimad-Bhagavatam from his father, he became very dear to the devotees (visnujana-priya), by reciting the Srimad-Bhagavatam. He was so renounced that he did not distinguish between male and female, yet he relished narrating the most intimate pastimes of Lord Krsna with the cowherd damsels.

Srimad-Bhagavatam is the very life and soul of the Vaisnavas, especially the Gaudiya Vaisnavas. Lord Caitanya Mahaprabhu called it spotless (amala Purana). He would hear it from His dear associate, Sri Gadadhara Pandita at Narendra Sarovara in Jagannatha Puri. In Bhakti-rasamrta sindhu, Srila Rupa Gosvami lists hearing Srimad Bhagavatam as one of the five essential processes of devotional service. Indeed, it is so wonderful that even impersonalists, who do not consider the Lord's form or abode transcendental, cannot resist studying and commenting upon it.

Srila Prabhupada carried Srimad Bhagavatam aboard the Jaladuta to the United States and with this weapon he conquered the world. He blessed many thousands with the wealth of Srimad Bhagavatam. He referred to his Bhaktivedanta purports on Srimad Bhagavatam as his "emotional ecstasies". He made it mandatory for his followers to hear Srimad Bhagavatam daily. Wherever he went he spoke on Srimad Bhagavatam, he sometimes relished hearing it from his disciples as well.

Srila Bhaktisiddhanta Saraswati said that if all the books in the world were destroyed, and only Srimad Bhagavatam remained, there would be no loss. It will be clear from this booklet that this is no over statement.

This translation of six chapters of the Padma Purana, Uttara-khanda, entitled Srimad-bhagavat-mahatmya, the glory of Srimad Bhagavatam. Srimad Bhagavatam is the mature fruit of the Vedic tree and therefore, can grant all desires. The process of hearing Srimad Bhagavatam is seven days (Saptaha-Yajna) is the means for attaining all desires. Generally pure devotees of the Lord, being free from all material desires, do not engage in such recitation

or rituals, but they use the Saptaha process for preaching to the masses. Therefore, they are not concerned with all the details of the rituals, as the real purpose is to convey the importance of hearing the Srimad Bhagavatam

The Puranas sometimes instruct through the indirect method of story telling (paroksavada). As Sri Narada Muni informed King Pracinbarhi (S.B. 4.28.65), "My dear King, in this way I have indirectly instructed you in the science of self-realisation. The Supreme Personality of Godhead, the creator and controller of the universe, is very much pleased with indirect explanations, paroksavada." This does not mean, however, that this narration is a fable. It is factual, but there is a moral to the story. To give some insight, brief comments are given at the end of each chapter.

Within these chapters there is a lucid description and incidental predictions for the modern age. Unscrupulous scholars should not consider them interpolations because even according to modern historians the Puranas existed prior to the activities narrated herein. This is a confirmed historical fact. For example, the first chapter states that Yavanas will take control of holy places and demolish temples. This is a reference to Muslim rulers like Aurangazeb, who destroyed the major temples in Vrndavana, Mathura, and other holy places. There is also an implicit prediction that Srila Prabhupada would preach in the west. This should make atheists, agnostics, and sceptics reconsider their convictions.

I hope this booklet will create interest in studying Srimad Bhagavatam and bolster the faith of those who already study it.

## Chapter One

## The Meeting of Narada Muni and Bhakti Devi

### Invocation

We offer our humble obeisances unto Lord Sri Krsna, whose transcendental form is bliss personified. He is the cause of the creation, maintenance and destruction of the universe and the destroyer of the three types of miseries.

We pay our humble obeisances to Sri Sukadeva Gosvami who is like the Supersoul. He left home immediately after taking birth, though he had not undergone any samskaras, or purificatory ceremonies. Upon his departure,, his father out of separation followed him calling, "O my son! O my son," but only the trees responded.

Once in the forest of Naimisaranya, Sri Saunaka Rsi, the best of sages who are expert in tasting krsna-katha, put some questions to Suta Gosvami after paying obeisances. Sri Saunaka said, "O Suta Gosvami, your knowledge dispels the darkness of ignorance like millions of suns. Please recite the nectarean pastimes of Lord Krsna, which are like tonic for the ears. How can one increase the discrimination that results from knowledge of devotion and renunciation of the material world?1 How do Vaisnavas get relief from the illusion created by Maya? In Kali-yuga the general populace is demonic, please explain, therefore, the best means to purify those who are troubled by various types of tribulations. O Suta Gosvami, please describe that sadhana, or most auspicious purifying process that will take one to Krsna. A touch-stone can give only

material happiness and the kalpa-vrksa tree can at most grant heavenly opulence, however, when the spiritual master is pleased he can give the eternal abode of the Lord - the Vaikuntha planet -- which is not achieved even by the yogis."

Sri Suta Gosvami said, "O Saunaka, your heart is full of love for the Personality of Godhead. After proper deliberation, therefore I will give you the essence of all conclusions, which will destroy the fear of birth and death and increase the flow of devotion which is the chief cause of Lord Sri Krsna's happiness. Please hear it attentively. Sri Sukadeva Gosvami recited Srimad Bhagavatam in Kali yuga to absolutely destroy fear of the snake of death. There is no superior means than this for the purification of the mind. One attains the Srimad Bhagavatam, however, only after accumulating pious activities for many life times.

"When Sukadeva Gosvami sat among the sages and prepared to recite Srimad Bhagavatam to Pariksita Maharaja,2 the demigods, who are expert in accomplishing their work, approached him with a pot of nectar. They offered humble obeisances and said, 'Please accept this pot of nectar and in exchange give us the nectar of hari-katha. Let King Pariksita drink this, and let us drink the nectar of Srimad Bhagavatam.'

"At that time Sri Sukadeva Gosvami thought, 'Where is a piece of glass and where is a transcendental gem? How can one compare these two? What is the question of comparing this material nectar, though celestial, with the transcendental nectar of Srimad Bhagavatam?'3 In this way Sukadeva Gosvami made fun of the demigods. He did not consider them proper recipients of hari-katha, because they are devoid of pure devotional service. Hence, hearing the Srimad Bhagavatam is rare even among the demigods.

"Lord Brahma was astonished to learn that Pariksita Maharaja became liberated just by hearing Srimad Bhagavatam. In Satyaloka, he put the Srimad Bhagavatam on one end of a scale and all other processes for obtaining liberation on the other. Upon seeing the Srimad Bhagavatam tilt the scale, all the sages present were struck with wonder. They asserted that in Kali-yuga only hearing and reciting Srimad Bhagavatam, which is non different from the Personality of Godhead, can immediately relieve one from material distress. If one hears it according to the proper process (as described in chapter six), it will certainly grant bhakti. Previously the most merciful Kumara brothers recited Srimad Bhagavatam to the sage Narada. Although Sri Narada had heard it from lord Brahma, the Kumaras gave him the opportunity to hear it according to the recommended process."4

Sri Saunaka asked, "Where did the learned Narada, who is free from material bondage and constantly travels all over the universe, meet those great sages? How did his interest in hearing hari-katha and in knowing the specific rules and regulations for hearing it develop?"

Suta Gosvami replied, "Now I will narrate an episode that is full of devotion. Sri Sukadeva, who considers me his surrendered disciple, told it to me in confidence. Once, the Kumaras went to Visala (Badrinatha) to get the holy association of saintly people.5 There they met Narada Muni.

"The Kumaras said, 'O brahmana, why do you appear so dejected and full of anxiety? Where have you come from, and where are you going so quickly? You appear like a person in

complete anxiety owing to loss of wealth.6 This is not befitting a person like you, who is completely free from material attachment. Please explain the reason for this.'

"Sri Narada replied, 'I came here considering the earth to be the best of planets. Although I travelled to Puskara, Prayaga, Kasi, Godavari, Haridvara, Kuruksetra, Sriranga and Setubandha, I could not find peace in any of those holy places. At present, Kali yuga the friend of irreligion, has completely afflicted the whole earth. Now truthfulness, austerity, cleanliness, mercy and charity are nowhere to be seen. The fallen living entities take pleasure in telling lies and are simply engaged in filling their bellies.7 They are lazy, less intelligent, unfortunate, and always disturbed. Those who are called saintly are actually pretenders. Though they appear renounced, they accumulate wealth, women, and paraphernalia for sense pleasure. Women rule the family and the brother-in-law is the consultant. People sell their daughters out of greed, and husbands and wives always quarrel. The holy places, asramas of saintly people, and rivers are under the control of the yavanas, who are against Vedic religion.8 They have destroyed many temples and therefore yogis, siddhas, jnanis and religious people are not to be seen. The processes of liberation are completely burnt to ashes in the fire of Kali-yuga. In this age people sell grains in the market, the brahmanas charge fees to teach,9 and women thrive by prostitution.10

"Thus witnessing the defects of Kali-yuga and wandering over the face of the earth, I reached the bank of the Yamuna where Lord Krsna had performed various pastimes. O best of sages, please hear about the wonder I saw there. A beautiful woman was sitting in a dejected mood while two old men lay unconscious in front of her breathing very quickly. While trying to bring them to consciousness, the young women would sometimes cry. At times she would look around as if searching for her protector, the Supersoul. She was served by hundreds of women who were fanning and trying to console her. I saw this whole scene from afar and out of curiosity went near them. Upon seeing me, the young lady stood up and spoke very piteously. She said: "O saintly person, please stay here for a moment11 and dispel my distress. Your auspicious vision destroys the sins of materialistic people. By your words I will get relief from misery and become peaceful. Only by great fortune can one get darsana of a person like you."

I inquired, "O virtuous lady, who are you and who are these two men lying here? Who are these ladies serving you? Please explain the cause of your distress in detail."

The lady said, "My name is Bhakti, and these two are my sons Jnana and Vairagya.12 By the influence of time they have become old and decrepit.13 These women are the holy rivers, such as the Ganges. They have come here to serve me.14 Although I am directly being served by these ladies, still I am not peaceful.15 O sage, whose only wealth is austerity, though it is well known, please hear my story carefully and grant me solace. I was born in the land of Dravida, in South India, and I grew up in Karnataka. I was respected in the state of Maharastra, but when I came to Gujarata, I lost my youth.16 Rogues influenced by Kali-yuga broke my limbs and for a long time I remained in that condition and thus, along with my sons, I have become very weak and impotent. Upon coming to Vrndavana, I regained my youth and beauty, but my two sons, who are lying here, are still old and tired.17 I will leave this place and travel to foreign lands,18 but I feel sad owing to the plight of my sons. We always remain together, so why is it that I am young and they are old? It should be that the sons are young

while the mother is old. I am astonished by this and so I lament. You have mystic power and are most intelligent, therefore, please explain this to me."

Narada said, "O chaste lady, from within my heart I see the cause of your misery, therefore I advise you not to lament. Lord Hari will shower all auspiciousness upon you."

Suta Gosvami said, "The best of sages, Sri Narada, understood the reason in a moment and said, 'O beautiful lady, hear attentively from me. Because of this ruthless age (Kali-yuga), good behaviour, yoga, and austerities have all become lost. People are addicted to cheating, irreligious behaviour, and are like the demon Agha, sin personified.19 At present, saintly people are unhappy and demonic people are enjoying sense gratification. Under these circumstances, if an intelligent man maintains his fortitude, then he is considered a scholar. By and by the earth is becoming a burden for Lord Sesa. At present it is not even worth seeing, what to speak of touching, and I see no auspiciousness anywhere. Everyone neglects you and your two sons. Because of worldly attachment to sense gratification, people are blind. Owing to their negligence,, you have become decrepit. It is only due to the glory of Vrndavana that you have become young again. This land is very auspicious because devotion always dances here. However, your two sons are being neglected and thus their health is failing,20 but by the touch of Vrndavana they remain asleep and breathing."

Bhakti said, "Why is it that King Pariksita did not kill this sinful Kali-yuga? Because of Kali-yuga all objects have lost their essence. Why does the most merciful Lord Hari tolerate irreligion? O sage, please remove this doubt. I feel pacified by hearing your sweet words."

Narada said, "O auspicious young lady, now that you have asked, please hear me with attention as I explain everything and thus relieve your misery. Kali-yuga took control and started obstructing auspiciousness the day Lord Krsna left this planet for His abode. When King Pariksita travelled on earth, conquering all the kings, he met Kali, who fell at his feet and took shelter of him. The king, who understood the essence of things just like the bumble bee, decided not to kill him because that goal which is not attainable by penance, yoga meditation, or samadhi, is easily attained in Kali-yuga simply by performing hari-kirtana.21 Although the king knew that Kali-yuga was useless, he spotted this one essential good quality, and understanding that this would make the living beings happy, he spared him. Because humanity is engaged in irreligious and immoral acts, everything has lost its essence. All objects, including the seeds of the earth, are ineffective.22 The brahmanas, being greedy for wealth, are performing Bhagavata-katha in peoples houses and therefore the essence of katha is lost.23 Immoral, atheistic, and sinful people have begun to reside in the holy places, causing the influence of those places to be lost. Those people whose hearts are always filled with lust, greed and anger make a show of performing austerities, thereby causing the essence of penance to be lost. Because people are unable to control their mind, they have taken shelter of greed, pretence, and immorality, and have given up the study of scriptures, causing the influence of jnana-yoga to be lost. Moreover, the pandits, or scholars, are only expert in producing children and enjoying sex like buffaloes. They are no longer expert in the process of liberation.24 Furthermore, there are hardly any Vaisnavas coming in bonafide sampradayas and there, everywhere all objects have become ineffective. This indeed, is due to the influence of Kali and is not the defect of anyone else. Therefore, although the lotus-eyed Lord resides near by, He tolerates this."

Suta Gosvami said, " O Saunaka, hearing these revealing words of Sri Narada Muni, Bhakti was very surprised. She replied, 'O saintly person, you are very glorious and it is my good fortune to have met you. Within this material world, association with a saintly person is indeed the cause of all perfection. Just by once meeting you, Sri Prahlada, the son of Kayadhu, conquered Maya, and by your mercy Dhruva Maharaja gained the Dhruva planet. You are the personification of all auspiciousness. I offer my obeisances unto you, the direct son of Lord Brahma.'"

**Comments on Chapter One**

1 That discrimination which is not related to Bhakti is useless. It can only make a person materially wise, because it has no superior purpose. Similarly, knowledge and renunciation are useful only when they arise from devotion, otherwise they make the heart dry and hard.

2 Pariksita Maharaja was cursed by the son of Samika Rsi to be bitten by a snake called Taksaka and die after seven days. When the king heard this, he renounced his kingdom and sat on the bank of Ganges intending to fast until death. Upon Sukadeva Gosvami's arrival, Pariksita Maharaja asked him to recite Srimad Bhagavatam. Actually every living entity is cursed to die within seven days (from Sunday to Saturday). Death is compared to a snake that will pay everyone a visit. While everyone fears death, they do not use this fear to cultivate detachment. Rather, owing to ignorance, they become more attached. This is the difference between Pariksita Maharaja and the common man. Hearing Srimad Bhagavatam makes a person free from the fear of death. That Pariksita Maharaja heard Srimad Bhagavatam for seven days signifies that we should hear it everyday until our death.

3 Srimad Bhagavatam is the property of the devotees of the Supreme Lord. Although demigods are also devotees, they are selfish and attached to enjoyment. This disqualifies them from drinking the nectar of Srimad Bhagavatam. When one drinks heavenly nectar he loses his piety, but when one hears krsna-katha, he is freed from sin and his heart becomes purified, punya sravana kirtana (S.B. 1.2.17). This is the difference between heavenly nectar and the nectar of krsna-katha.

4 According to the Second Canto, Lord Brahma spoke the original four verses of the Srimad Bhagavatam to Narada, who in turn instructed them to Sri Vyasa. The "proper process" refers to hearing the complete Srimad Bhagavatam in seven days according to the guidelines given in chapter six.

5 Visala is another name for Badrinatha. Lord Nara-Narayana, the presiding deity of Bharata-varsa resides there and this it is visited by many saintly people.

6 Generally a saintly person has no reason to feel either dejected or elated but when he sees the living entities suffering, he feels unhappy for them.

7 This is the prediction for the present age.

8 Yavanas refers to the Muslim rulers who invaded India at various times, beginning from the 11th century. They were inimical to Vedic religion and culture. Some were tolerant, some

were atrocious. Some Muslim destroyed temples and even forcibly converted Hindus to Islam. They even imposed taxes on visitors to the holy places.

9 According to Vedic custom a brahmana should not charge for giving knowledge. He is allowed to accept donations for his maintenance or send his students to householders for begging food. This custom insured that only those who had interest in teaching would perform this service and unqualified people would not be interest. Because students did not pay fees, they remained indebted and obedient to their teachers. This system continued in India up until about 150 years ago when British rulers introduced change. Under the present system, good relations between student and teachers are non-existent and thus the whole educational process is degraded.

10 The exact Sanskrit is kaminyah kesasulinyah, which can also mean that women will cut their hair.

11 A saintly person does not speak with women unnecessarily.

12 Jnana and Vairagya are the natural offspring of devotion to the Lord (S.B. 1.2.7.).

13 "By the influence of time" indicates the age of Kali, in which people lose interest in transcendental knowledge and renunciation.

14 All the holy places are subservient to devotional service. They follow Bhakti. Therefore wherever a devotee goes, that places becomes holy.

15 Transcendental knowledge and detachment from sense gratification naturally follow Bhakti. (S.B. 11.2.43). And discrepancy in this principle implies disturbance in devotional service.

16 This briefly describes the history of the Bhakti movement in the age of Kali. There were many great Vaisnavas who appeared in the land of Dravida. Later on Ramanujacarya organised and propagated Vaisnavism under the banner of the Sri Sampradaya (S.B. 11.5.38-40). Madhvacarya appeared in the state of Karnataka and preached very vigorously, nurturing bhakti. In Maharastra there were some saints such as Tukarma in Pandarpura who propagated bhakti. But in Gujarata the people were more interested in accumulating wealth and thus bhakti was neglected. When one worships the deha (the body), the worship of Deva (the Lord), is neglected. When bhakti is weak then jnana and vairagya are automatically emaciated.

17 Vrndavana is the eternal abode of Lord Krsna and thus Bhakti naturally flourishes there. But, if one neglects hearing krsna-katha, then Jnana and Vairagya remain in a fainted state. They get covered by Maya. As Lord Krsna says in Bhagavad-gita (5.15) ajnanenavrtam jnanam tena muhynati jantavah.

18 Idam sthanam parityajya videsam gamyate maya. This statement hints at Srila Prabhupada's travel to the western world from Vrndavana. It is interesting to note that the Sanskrit proverb used in this sentence is in the passive voice (gamyate). This signifies that she (Bhakti) will be carried by someone. Because the Puranas are compiled by Srila Vyasa, who is an incarnation of the Lord, it is not impossible for him to make such predictive statements.

19 Aghasura was a demon with the body of a python. He swallowed the innocent cowherd friends of Krsna, who later on killed him. Demonic persons, who trouble innocent people and seize their wealth, are like Aghasura.

20 At present in Vrndavana the study of devotional literature such as Srimad Bhagavatam is being neglected and Vairagya is being replaced with cosy life. Yet the land has not lost its power.

21 Sage Karbhajana confirms this (S.B. 11.5.36).

22 The new varieties of grains, fruits and vegetables are hybrids. They yield more produce but are not as nutritious and delicious as the original varieties, which existed since time immemorial. We have experienced this ourselves because the hybrid seeds were introduced very late in India. For example chapatis made from contemporary wheat flour have less flavour, and the texture is not as pleasing as those of bygone years. They become dry and hard very quickly and are not as conducive to health as those made of the desi grain which is now extinct.

23 The purpose of Hari-katha is not to solve economic problems. Its real purpose is to nourish Bhakti along with Jnana and Vairagya.

24 All the above predictions can be confirmed by paying a visit to holy places like Vrndavana. That the "essence is lost" means one no longer sees their influence. If, however, one performs these activities as prescribed in the scriptures, he will fell the positive influence.

## Chapter Two

### Narada Endeavours to Remove Bhakti's Distress

Sri Narada said, "O young lady, why are you in so much anxiety? Don't be melancholy unnecessary. Just meditate on the lotus feet of Lord Sri Krsna and by His mercy you will be free from all misery.1 Lord Krsna, who protected Draupadi from the atrocities of the Kauravas and who is the lover of the damsels of Vraja, has not gone far away. Besides, you are Bhakti and more dear to Him than His very life. On your request He even goes to the house of low born people.2 In Satya, Treta and Dvapara-yugas, jnana and vairagya were the means of liberation, but in Kali-yuga only bhakti can grant liberation. Thinking in this way, Lord Hari, the transcendental personification of knowledge, manifested you. You are the very dear beloved of Lord Krsna.

"Once you approached the Lord with folded hands and asked Him what you should do. He said, "Go and nourish My devotees". You accepted this order which pleased Him very much. To assist you, the Lord sent Mukti as your maidservant and Jnana and Vairagya as your sons.3 You directly reside in Vaikuntha dhama where you nourish the devotees and you expand yourself on this earthly planet for their nourishment as well.4 You came and happily resided on this earth along with Mukti, Jnana and Vairagya from Satya-yuga to Dvapara-yuga. But in Kali-yuga, Mukti contracted the disease of irreligious pretence and languished, and with your permission, went back to Vaikuntha. Now whenever you remember her, she comes to this planet briefly and returns to Vaikuntha, but Jnana and Vairagya remain with you always

because they are like your sons. Being neglected by the people of Kali-yuga, they have become old and weak, but will soon recuperate, so you need not worry. I will find a solution to rejuvenate their bodies.

O beautiful faced one, there is no other age like Kali-yuga5 because you will be established in every house as well as in the heart of every person.6 Hear my vow. If I do not preach your message, subdue all other religions and make devotional festivals predominant then I shall not be considered the servant of Lord Hari. In Kali-yuga those people who follow you, even if they are sinful, will attain the abode of Lord Krsna without fear.7 The people in whose heart you reside become purified and they will not see Yamaraja, the Lord of Death, even in their dreams. Even ghostly beings like pretas, pisacas, raksasas and daityas are not able to trouble those whose hearts are imbued with devotion. The Lord cannot be controlled by austerities, study of the Vedas. by culture of knowledge, or by the fruitive activities described in the Vedas. He is controlled only by bhakti and the gopis are the evidence (pramana) of this.8 On the strength of pious activities performed for hundreds of lives one becomes attracted to bhakti, which is the only essence in Kali-yuga. On the strength of bhakti, Lord Krsna Himself appears to the devotee. Those people who are envious of devotion are always miserable no matter where they go within the three planetary systems. In the past, the great sage Durvasa suffered immense misery for offending a devotee.9 What more can I say? All vratas, tirthas, yogas, sacrifices and talks of knowledge are not needed. Bhakti alone can grant liberation."

Suta Gosvami continued, "Narada's conclusion glorified Bhakti and nurtured her. Then Bhakti spoke as follows. 'O Narada, you are very glorious and have unflinching faith in me. Thus I will always reside in your heart and never leave. O saintly person, you are most merciful. Just in a matter of moments you have removed my misery. But my sons have not yet regained their consciousness. Please quickly bring them back to normal.'"

Suta Gosvami said, "Upon hearing these words of Bhakti, Narada felt very compassionate and attempted to wake them up by shaking them with his hands.10 He put his mouth to their ears and said, 'O Jnana wake up, O Vairagya please arise."11 Then he chanted Vedic Mantras, the Vedanta Sutras, and the Upanisads. He recited Bhagavad-gita again and again. With great difficulty, they were revived, but overcome by lethargy, they yawned and were unable to even open their eyes.12 Their hair was a white as the feathers of ducks and their bodily limbs were emaciated and powerless. Owing to hunger and thirst they were weak and sleepy. Seeing this, Narada fell into anxiety and contemplated further ways to revive them from old age and sleep. O Saunaka, as the sage Narada, deliberated, meditating on the Supreme Lord, he heard a voice emanating from the sky.13 'O Devarsi, do not worry, your endeavour will be successful. O sage you must perform one specific noble act that will be revealed to you by some great saintly person.14 As soon as you complete that activity, Jnana and Vairagya will be released from the clutches of sleep and old age, and bhakti will reign everywhere.'15 These words were heard by everyone."

"In astonishment Narada said, 'I cannot understand the meaning of this indirect statement.16 The voice did not clearly explain the path one must follow in order to achieve perfection. Nor do I know where to find those saintly persons who will explain the process to me. What must I do to implement this order?'"

Suta Gosvami said, "O Saunaka, bidding farewell to Jnana and Vairagya, Narada Muni travelled to various holy places and met with the saintly people residing there. He asked them to suggest a process by which Jnana and Vairagya could be revived. Some listened carefully but could not give a definite answer.17 Others stated that it could not be accomplished, while still others remarked that it was not possible to determined a correct answer. Upon being asked the question, several simply kept quiet while others wriggled away to avoid embarrassment. They were all surprised to hear this question and none could offer a satisfactory reply. They began discussing among themselves as follows, 'My dear friends, if Jnana and Vairagya could not be revived after the chanting of the Vedas, Vedanta Sutra and recitation of the Bhagavad-gita, then what can be the solution? And if Narada Muni, who is the chief yogi and saint, does not know, then who can answer?'"18

"In this way, wherever Sri Narada inquired, he got the same answer--that it is very difficult to accomplish. He thus became very worried and decided to go to Badari where he performed penance with the intent to find the solution to revive Jnana and Vairagya. shortly thereafter the Kumaras, headed by Sanaka, appeared there.19 They were effulgent like a million suns. Seeing them Sri Narada again enquired, "O saintly people, it is by great fortune that I have attained your association. Please be merciful to me and explain that noble process. You are the best of yogis, most knowledgeable and scholarly. Although you appear like five year old boys, you are the senior-most saintly persons. You always reside in Vaikuntha and engage in chanting the holy names. You are always intoxicated with the nectar of Lord Hari's pastimes, which are your only sustenance.20 You are always chanting the mantra harih saranam and therefore old age, which is caused by the influence of time, does not approach you. Previously, just by the flick of your eyebrows, you whirled Lord Visnu's gatekeepers, Jaya and Vijaya down to this earth.21 Later they were reinstated by your mercy. I am most lowly and I feel most fortunate to have your darsana. You are very merciful so kindly bestow your mercy on me. Please reveal that process which the voice in the sky directed me to learn from saintly people. Please explain in detail how to follow that path. How can Bhakti, Jnana and Vairagya become happy? How can they be established in all classes of men?"

The Kumaras replied, "O sage, Narada Muni, abandon your anxiety and be happy for the solution is simple. O Narada, glorious crest-jewel among the renunciates, you are the guide of those who walk the path of devotion, indeed you are the sun of bhakti-yoga. It is not very surprising that you have undergone this great endeavour for the sake of Bhakti. It is certainly appropriate for a devotee of the Lord to properly establish Bhakti.22 Various sages have propagated many paths, but they are all troublesome and generally can only elevate one to the heavenly planets. Until now, the process by which one can attain the original Personality of Godhead has remained concealed, and it is rare to find one who knows this practice. We know the procedure the voice in the sky referred to and we will explain it to you.23 Please hear with an attentive mind. O Narada, sacrifice of material objects, penance, yoga, meditation, study of the Vedas and the path of knowledge, generally only lead toward fruitive activities and grant residence in the heavenly planets. Scholars have said that only jnana-yajna, or the sacrifice of knowledge, is the path of liberation.24 This constitutes the study of the Srimad Bhagavatam which has been sung by great personalities like Sukadeva Gosvami. Just by hearing the words of Srimad Bhagavatam, Bhakti, Jnana and Vairagya will be nourished. This will relieve the misery of Jnana and Vairagya and will make Bhakti blissful. As

when a lion roars, wolves flee in fear, so merely by the sound of Srimad Bhagavatam, all the vicious qualities of Kali-yuga are destroyed. Bhakti is the flow of love of God and along with Jnana and Vairagya will enter every house and dance in the heart of every living being."

Sri Narada said. "I have tried to awaken Jnana and Vairagya by chanting the Vedas, Upanisads and Bhagavad-gita with no success. How is it possible that they will re revived by hearing Srimad Bhagavatam?25 After all Srimad Bhagavatam is nothing more than the essence of the Vedas. Your darsana never goes in vain and you always protect those who surrender to you, please, therefore, remove my doubt with delay."

The Kumaras said: "It is a fact that Srimad Bhagavatam is the essence of the Vedas and Upanisads,26 but it is the fruit of the tree of Vedic literature, it is superior. The vital fluid of the tree is spread from the root to the tip though it cannot be tasted. When that same fluid accumulates in the fruit however, it tastes very delicious. Similarly, ghee, which is relishable even to the demigods, is spread throughout cow's milk, but it cannot be savoured until it is extracted. Sugar also exists throughout the cane, yet when extracted, it becomes more succulent. The same applies to the pastimes depicted in Srimad Bhagavatam, which is equal to the Vedas. Srila Vyasadeva has propagated it to establish bhakti, jnana and vairagya. Once Srila Vyasadeva, who knows the essence of all the Vedas and Upanisads, and is the compiler of the Bhagavad-gita felt dejected and was drowning in an ocean of confusion. At that time you spoke the message of the Bhagavatam in just four verses. Upon hearing these verses Vyasa was freed from his lamentation. So why are you doubtful and astonished by this? Recite Srimad Bhagavatam to Jnana and Vairagya and their lamentation and misery will be destroyed."

Narada said, "O saintly people, your darsana immediately shatters all the sins of the living entities and brings solace to those being scorched by the fire of material misery. You are always drinking the nectar of Srimad Bhagavatam, which you heard from Lord Sesa. I have taken shelter of you for the purpose of preaching the message of bhakti, which is characterised by love of God. Only one who has performed greatly pious acts27 for many millions of lifetimes may achieve the association of saintly persons like yourselves and thus get completely free from ignorance caused by material delusion and pride. He then becomes established in proper discrimination."

## Comments on Chapter Two

1. This is the only panacea for anxiety. When the mind is fixed on Krsna, it cannot experience agitation. That's why devotees are always free from anxiety.

2. Lord Krsna is called patita-pavana, the purifier of the fallen, and Dina-bandhu, the friend of the distressed. He does not care for haughty people; He is pleased by humility.

3. The Lord is pleased with His obedient servants. He grants liberation, knowledge and detachment to the surrendered souls even without their asking.

4 Devotional service is the internal potency of the Lord and descends from Him into the material world through disciplic succession.

5. Kali means the age of quarrel and hypocrisy, but it also indicates the age in which the Lord is readily available--kam krsnam lati dadati iti kalih. In other yugas people were healthy, intelligent, alert, and long lived. They had a natural inclination for yoga, penance, study of the Vedas, yajnas and so on. They did not pay heed to devotion, considering it too simplistic. Without bhakti, however, liberation cannot be attained. In previous ages people had to undergo the rigours of the respective processes for many lifetimes in order to realise this fact. But in Kali-yuga there is natural propensity towards bhakti because people in general are not qualified to participate in jnana, yoga, and karma. Therefore this age is glorious. Moreover, Lord Caitanya appeared in Kali-yuga to directly preach the message of bhakti and set the proper example.

6. This statement predicts the appearance of Lord Caitanya who predicted prthivite ache yat nagaradi grama / sarvatra pracara hoibe mora nama. When Narada Muni says that he will establish bhakti, he means it will be done through a devotee. Therefore this verse also hints at the preaching activities of Srila Prabhupada who fulfilled the prophecies of Lord Caitanya and Sri Narada Muni. In fact in America Srila Prabhupada once held a program which very few people attended. When one disciple remarked that not many people had come, Srila Prabhupada said, "That's not true. The great sage Narada Muni was present."

7. Everyone on qualified to take to the process of bhakti, regardless of birth or caste.

8. In Vedic culture, the Vedas are considered to be the supreme pramana, though here Sri Narada asserts that the gopis are. This is because the gopis are the topmost knowers and lovers of Krsna. Besides, among the gopis some are known to be the Vedas personified, hence they are also called pramana.

9. This refers to the story of Ambarisa Maharaja from the Ninth Canto of Srimad Bhagavatam.

10. Narada's attempt to wake Jnana and Vairagya by shaking them with his hands indicates that knowledge cannot be revived by the process of karma.

11. Narada's placing his mouth next to their ear presents the initiation ceremony in which the guru utters mantras into the right ear of the disciple. Mere initiation, however, cannot make one learned or renounced.

12. The lethargy and yawning of Jnana and Vairagya indicate that one can get only a meagre amount of knowledge by recitation of the scriptures mentioned. They do not make one's consciousness crystal clear.

13. The Supersoul guides the sincerely inquisitive person from within.

14. A sincere, inquisitive person should accept the guidance of a bona fide spiritual master. In this way the Lord helps from within and without.

15. This statement predicts the appearance of ISKCON.

16. Personal realisations which lack the guidance of a bona fide teacher and the scriptures are unclear and insufficient.

17 Most people in the garb of saints do not clearly understand the Absolute Reality. They follow hodge-podge philosophy and lacking realisation cannot give satisfactory guidance to their disciples.

18. Here the word "Narada" means the giver of knowledge--naram jnanam dadati iti naradah.

19. The Lord appears in the form of the spiritual master to the sincere seeker.

20. These are the characteristics of a bona fide spiritual master.

21. This story is in the Third Canto of Srimad Bhagavatam.

22. This is the duty of every devotee of the Lord.

23. A guru is able to dispel all the doubts of his disciple.

24. Here the term 'knowledge' is non different from devotion. Knowledge related to the Personality of Godhead is one aspect of bhakti.

25. A disciple should present his doubts to his guru submissively. If he is arrogant a saintly person is not obliged to give the treasure of his knowledge to such an unqualified disciple.

26. The Vedas and Itihasas mainly deal in dharma, artha, kama and moksa, but the Srimad Bhagavatam speaks only of pure devotional service to the Supreme Lord, Krsna.

27. The pious acts mentioned here are those related to devotion such as offering charity to a devotee.

## Chapter Three

## Bhakti's Distress is Dispelled

Sri Narada said, "To establish bhakti, jnana and vairagya, I will perform a jnana-yajna by reciting the Srimad Bhagavatam as was spoken by Sri Sukadeva Gosvami. Please explain where this yajna should be performed. You are the knower of the Vedas, therefore please explain the glories of the Srimad Bhagavatam as spoken by Sri Sukadeva Gosvami. Also please explain the proper procedure and duration for the recitation."

The Kumaras replied, "O Narada, you are very humble and discriminate.1 We will explain everything to you, so kindly hear from us. Near Haridvara there is a bathing place or ghata on the bank of Ganges called Ananda.2 Many saintly persons reside there and demigods and perfected beings visit frequently. The place abounds with various types of trees and creepers and the sand is soft and appealing. The beautiful ghata decorates a solitary point on the river.3 The fragrance of lotus flowers fills the air and lions and tigers dwell with no animosity toward other animals.4 Go there and effortlessly start this jnana-yajna, for by the medium of this katha, a novel rasa will become manifest. You will see Bhakti appear along with Jnana and Vairagya, who have become decrepit. Wherever there is recitation of Srimad Bhagavatam, bhakti, jnana and vairagya automatically become manifest. By the sound of Bhagavatam they will become young and energetic."5

Sri Suta Gosvami said, "After saying this, the Kumaras desiring to drink the nectar of Srimad Bhagavatam, arrived at the bank of the Ganges, along with Narada. The news spread all over the earth and throughout the three planetary systems. Those devotees who harboured any taste for hearing the Lord's pastimes, came in haste to drink the nectar. Sage like Bhrgu, Vasistha, Cyavana, Gautama, Medhatithi, Devala, Devarata, Parasurama, Visvamitra, Sakala, Markandeya, Dattatreya, Pippalada, Vyasa, Parasara, Chayasuka, Jajali, Jahnu, and all such great saintly persons arrived there along with their family members and disciples. Besides them, the Vedas, the Upanisads, Mantra, Tantra, the seventeen Puranas and the six philosophical systems came in their personified forms. Sacred rivers like the Ganges, sacred ponds like Puskara, holy ksetras like Kuruksetra, sanctified forests like Dandaka, all the directions, majestic mountains like the Himalayas, the demigods, Gandharvas, and even Danavas came there to hear hari-katha. Those who were not inclined to come out of excessive pride, were brought by the great sage Bhrgu who had expertly convinced them. The Kumaras then sat on a beautiful seat offered by Sri Narada and resolved themselves to recite Srimad Bhagavatam. In the front of the audience sat Vaisnavas, renunciants, brahmacaris, and Sri Narada Muni sat in front of them. On the one side sat the sages and on the other the demigods. One place hosted the Vedas and Upanisads, and another the holy places. In yet another place sat the women, while all around could be heard, "All glories! All glories!" as conches resounded and people decorated each other with coloured powder and flowers. Some demigods alighted from their airplanes and from the sky others showered flowers on the audience."

Suta Gosvami said, "In this way the worship was performed and then everyone sat with an attentive mind. The Kumaras began reciting the glories of Srimad Bhagavatam before the sage Narada. "Now we will describe the glories of Bhagavatam, which by hearing, one attains liberation. One should always hear Srimad Bhagavatam, for just by doing so, the Lord sits in one's heart. Bhagavatam has 18 000 verses in twelve cantos and is a dialogue between Sri Sukadeva and King Pariksita.6 The living entity wanders in this world owing to ignorance, until he hears the Bhagavatam Sri Sukadeva Gosvami recited. Indeed there is no need to hear many scriptures and Puranas as this simply causes confusion. Srimad Bhagavatam alone is sufficient to grant liberation. That house where Bhagavatam is recited daily becomes a holy place and those who reside there become free from all sins. Thousands of horse sacrifices and hundreds Vajapeya sacrifices cannot compare to one sixteenth of the benefit of hearing Srimad Bhagavatam. O sages, sins reside in a person's body only until he properly hears Srimad Bhagavatam . The benefits offered by the Ganges, Gaya, Kasi, Puskara, or Prayaga cannot compare to those derived from hearing the Bhagavatam. If you at all desire the supreme destination, then you should daily recite at least one half, or even on fourth of a Srimad Bhagavatam sloka. There is no difference between Omkara, Gayatri Mantra, Purusa-sukta, the three Vedas, Srimad Bhagavatam, the twelve syllable mantra, the twelve features of the sun god, Prayaga, Kala which manifests as a year, brahmana, agnihotra sacrifice, a cow, fasting on ekadasi, Tulasi, spring season and the Personality of Godhead, Krsna. A person who hears Srimad Bhagavatam day and night and understands its meaning, becomes free from the sins committed in millions of lives. There is no doubt about it. The person who daily recites even one half or one fourth of a verse of Srimad Bhagavatam gets the benefit of performing the Rajasuya sacrifice (horse sacrifice). Daily recitation of the Bhagavatam, meditation on the Personality of Godhead, the watering of Tulasi, and rendering service to the cow, are all

considered equal. If a person hears a verse from the Srimad Bhagavatam at the time of death, the Lord becomes pleased and grants him residence in Vaikuntha.

Whoever places the Bhagavatam on a golden throne and donates it to a devotee certainly attains the association of the Personality of Godhead. A person who does not hear even a part of Srimad Bhagavatam during the whole of his life, lives just like a candala or an ass. The purpose of his birth is only to give delivery pains to his mother. A person who has not even heard one verse of the Bhagavatam is very sinful and although living, is actually dead. His life is an utter waste and simply a burden for the earth. This is the statement of Lord Indra, the chief among the demigods. Indeed it is not very easy to get an opportunity to hear Srimad Bhagavatam. Only a very pious person gets such an opportunity. O Narada, you are very intelligent and the abode of mysticism. Hear this katha with attention. There are no rules restricting the time or date for hearing Bhagavatam.7 Considered best is that one should hear Bhagavatam while keeping a vow of celibacy and truthfulness.8 But for the people in Kali-yuga this is very difficult. Therefore, Sukadeva Gosvami explained a special process for hearing that should be known. In Kali-yuga the minds of people are always disturbed and thus it is very difficult for them to perform pious activity and follow rules and regulations for a long period. He has recommended, therefore, a process of hearing the Bhagavatam in seven days, which is called saptaha sravana, or saptaha yajna.

Whatever benefit one derives from hearing Bhagavatam during the month of Magha or anytime, Sukadeva says, that one gets the same benefit by the process of Saptaha. Because people in general are short-lived, always sick, and unable to control their minds, the process of hearing Srimad Bhagavatam in seven days is offered in Kali-yuga.9 That benefit which is unattainable through penance, yoga and mystic trance, can be readily attained by properly hearing the Bhagavatam through the process of Saptaha. There is no greater vrata, penance, sacrifice, service to a holy place, meditation, or knowledge than hearing Bhagavatam through the Saptaha Yajna."

Saunaka said, "O Suta Gosvami, you have made very wonderful statements! Certainly Bhagavatam must describe about Lord Krsna, who is the source of Brahma, but how is it possible that this is a better process of liberation then even the path of knowledge?"

Suta Gosvami said, "O Saunaka, when Lord Krsna was about to leave this earthly planet to go to His own abode, He spoke the eleventh canto to Uddhava. Upon hearing it, Uddhava asked, "O Govinda You have fulfilled Your purpose with respect to Your devotees and as You prepare to return to Your abode, there is one doubt in my mind. Please hear it and grant me solace. kali-yuga will begin immediately, and various types of vicious qualities will become manifest. Saintly people will become demonic and the earth will become over burdened. Then who will give her shelter? O lotus-eyed Lord, but for You, I do not see anyone who can protect the earth. O Lord, You are very dear to Your devotees and merciful to the saintly persons, therefore, please do not leave. O Lord, You appeared here only for the benefit of Your devotees, so how will Your devotees maintain their lives in your separation? To meditated on Your impersonal feature is very miserable, therefore please do something.10

"Hearing these words of Uddhava at Prabhasa, the Lord devised a solution to give shelter to His devotees. O Saunaka, He invested all His power in the Srimad Bhagavatam along

with Himself in His unmanifest form. We should know, there, that Srimad Bhagavatam is the personification of the Lord in the form of sound. One who serves, hears, or even sees the Srimad Bhagavatam becomes free from all sin. In Kali-yuga, therefore, hearing Bhagavata Saptaha is the chief religion and superior to all other means. In Kali-yuga this is the only principle which removes sin and relieves the misery of unfortunate people. It gives them the power to conquer lust, anger, and greed. It is very difficult for the demigods to get relief from Maya, so then, how can mortal beings be expected to become free from her? Hearing Saptaha, therefore, is the correct means to be freed from the clutches of Maya."11

Suta Gosvami said, "O Saunaka, while the Kumaras were explaining the glory of Saptaha to Narada Muni, a very wonderful thing happened in that assembly. Bhakti appeared along with her two sons, who had now regained their youth. She was loudly and repeatedly chanting "Sri Krsna! Govinda! Hare! Murare! O Lord Narayana! Vasudeva! All the assembled people saw that Bhakti had become beautiful by wearing the imports of the Srimad Bhagavatam as ornaments.12 The sages then began discussing how it was that Bhakti had manifested herself in the assembly, from where had she come, and so on."

The Kumaras then said, "Bhakti has now appeared from the import of the Bhagavata-katha. Hearing this, Bhakti and her two sons humbly submitted. 'In Kali-yuga we were almost lost but now you have rejuvenated us. Please explain where we can reside.'

The Kumaras responded, "You award the Personality of Godhead to your devotees, and you sever the bonds of this material world, therefore with great patience and fortitude you should reside in the hearts of the devotees of Lord Krsna. The defects of Kali-yuga may overpower the whole universe but they will not be able to so much as glance at you."

Upon hearing the words of the Kumaras, Bhakti entered the hearts of the Lord's devotees. The devotees in whose heart Bhakti resides many appear impoverished, but they are most glorious and opulent, because abandoning His own abode, the Lord Himself comes to reside in their heart, being tied by the rope of devotion. The Bhagavatam is the personification of the Lord on earth and its glory cannot be described in words. Anyone who hears or recites Bhagavatam becomes an associate of the Lord, so what is the purpose of religious principles without it?"

## Comments on Chapter Three

1. Knowledge comes to a humble and discriminate person.

2. Haridvara means the gateway to Lord Hari, and Ananda means bliss. Bliss is in the vicinity of the Lord. Going to Haridvara means becoming favourable to the Lord and giving up the atheistic mentality. In this mood the Bhagavatam reciter will taste bliss.

3. One should bath one's mind with beautiful thoughts of Lord Hari. The Ganges represents the flow of transcendental knowledge. "Solitary place" means the absence of improper association.

4. When one is in transcendental knowledge he gets free from envy and material attachment.

5. Sound, or sabda pramana, is the only means to acquire transcendental knowledge.

6. Some scholars propose that Bhagavatam refers to the Devi-bhagavatam, which also has 18 000 verses and twelve cantos, but this statement soundly defeats their claim because the Devi-bhagavatam was not spoke by Sri Sukadeva Gosvami.

7. Bhagavatam is transcendental and should be heard whenever one has the opportunity, for a moment passed, never returns.

8. If one neglects these rules he will not understand the actual message of Srimad Bhagavatam.

9. Something is better than nothing, therefore, at least for seven days one should follow the rules and regulations for hearing Srimad Bhagavatam. As far as the devotees are concerned however, 'seven days' means everyday just as when people say "I do this seven days a week", and what they mean is I do this every day of the year.

10. Worship of impersonal Brahman is very difficult, and more so for the people of Kali-yuga. Therefore, no one should waste valuable and limited life in such a fruitless pursuit.

11. This statement is directed to the common man, for if he is instructed to hear Srimad Bhagavatam daily, he will immediately reject the proposal. But after deliberation he may conclude, "If hearing it for only one week has so many wonderful benefits, then why not hear it everyday?" Therefore, Saptaha is a preaching technique for dull people. Moreover, if one submissively hears Srimad Bhagavatam from a pure devotee, he will surely get free from the clutches of Maya. There is no exaggeration in this statement.

12. Just hearing Srimad Bhagavatam is devotional service, but understanding it and meditating on its meaning is like decorating Bhakti.

nimna-ganam yatha ganga

devanam acyuto yatha

vaisnavanam yatha sambhuh

purananam idam tatha

Just as the Ganga is the greatest of all rivers, Lord Acyuta the supreme among deities and Lord Sambhu (Siva) the greatest of Vaishnavas, so Srimad Bhagavatam is the greatest of all Puranas.

(Srimad Bhagavatam 12.13.16)

## Chapter Four

## The Story of Gokarna

Suta Gosvami continued, "O Saunaka, when the Supreme Lord, who is very dear to His devotees, saw transcendental bhakti manifest within their hearts, He left His abode and appeared in the assembly at Ananda. He wore a garland made of forest flowers, and His bodily hue was just like that of a monsoon cloud. He was dressed in dazzling yellow garments

and wore a belt studded with gems. A crown decorated His head and His earrings moved to and fro. He stood in a beautiful threefold bending form that stole the hearts of everyone. The Kaustubha gem glittered on His chest and His bodily limbs were anointed with sandalwood pulp. His exquisite beautify defeated millions of Cupids. The transcendental Personality of Godhead, who held a flute, then entered the hearts of His devotees. His intimate associates, such as Uddhava, had come there incognito to hear the bhagavata-katha. As the Lord appeared, in all directions could be heard "All glories! All glories!" There was a wonderful flow of bhakti rasa, the sound of conches, and showers of flowers and coloured water. The entire assembly completely forgot themselves and their possessions and were fully absorbed in hearing the Srimad Bhagavatam."

Seeing their deep absorption, Sri Narada said, "O sages, today I have seen the wonderful glory of Saptaha. Even foolish rogues and animals become purified by hearing it. I have no doubt, therefore, that in Kali-yuga, bhagavata-katha is the most powerful process for purifying the heart. O most merciful saintly persons, only to show kindness upon the suffering living entities in the material world have you revealed this wonderful process. Now please narrate histories regarding those who have become purified by performing Saptaha Yajna."1

The Kumaras said, "Those crooked people who always transgress the rules of the scriptures and engage in various types of sinful acts, burning in the fire of anger, and are always given to lust, will be purified by the Saptaha Yajna.

Those who are outside the varnasrama system, devoid of truth, and troubled by material desires, who always criticise their parents, who are envious, hypocritical and bent on giving misery to others, will be purified by the Saptaha Yajna.

Those who steal gold, drink liquor, kill brahmanas, and who have sex with the wife of their spiritual master, who are very cruel, merciless, treacherous, immoral, demonic, always prone to cheating and live off the wealth of brahmanas, will be purified by the Saptaha Yajna.

Those who are very obstinate and thus always engage in sinful activities with their body, mind and speech, who always live on the wealth of others, and whose hearts are very impure will get purified by the Saptaha Yajna.

O Narada, in this context, I will recite a history which simply by hearing one will become free from sin.

Once there was a beautiful settlement on the bank of the Tungabhadra. The people of that city were truthful, religious and dedicated to executing their prescribed duties. In that city lived a brahmana named Atma Deva, who was expert in studying the Vedas and performing karma-kanda activities. He was brilliant like the sun and although rich, he lived by begging. He had a beautiful wife named Dhundhuli, who came from a good family, but was very obstinate. By nature she was very cruel, talkative and took great pleasure in gossiping with others. although expert in household duties, she was miserly and quarrelsome.2 This brahmana and his wife lived together lovingly, owning ample wealth and objects for sense enjoyment. Though their house was very beautiful, they were not happy because they had no son.3 As old age crept up on Atma Deva, he engaged in various pious activities for getting a son. He distributed charity to the poor and donated cows, land, gold, cloth and so on. In this

way he spent half of his wealth on religious activities. Still he could not get a child and thus he was filled with anxiety.

"One day, feeling very disheartened, he left home and went to the forest. As the sun reached its zenith he was thirsty and approached a pond. Owing to lack of progeny he was depressed, weak and tired,4 and after drinking he sat down to rest.5 By and by a sannyasi came there to drink. The brahmana approached him and fell at his feet breathing heavily. The sannyasi asked, "O brahmana, why are you crying so anxiously? Tell me what is your problem?"

The brahmana said, "O Maharaja, I am suffering from sins committed in my past life. Even my forefathers are in such anxiety that when I offer oblations of water, they accept, but remain full of worry. The demigods and brahmanas do not happily accept my offerings of food. I am so miserable for want of children that my life appears wasted. I have come here to give up my useless life, as I have no son. A house without children is like a forest, and wealth loses all value. Indeed a family without children is very inauspicious. O Maharaja, even the cows I acquire become barren! When I plant a tree, it yields no fruits or flowers. And when I bring fruit to my home, it spoils very quickly. I am most unfortunate because I have no son, therefore my life has no purpose."

Saying this, the brahmana began crying piteously and the saint's heart became filled with compassion.6 He was a perfected yogi and by seeing the lines on the brahmana's forehead, he could understand everything about his life.

The sannyasi said, "O brahmana, give up your attachment and desire for children, for Fate is very powerful. Take shelter of discrimination and give up attachment to this world. O brahmana, I can understand your fate and am certain that you will have no son for the next seven lives. Previously, King Sagara and King Anga had to suffer repeated miseries because of not having a son. Therefore, brahmana, give up all hope for success in family life. Happiness is only in the life of renunciation."

The brahmana said, "O Swamiji, what is the value of such discrimination? There is simply no spice in sannyasa life. Somehow or another give me a son, otherwise, I will plunge into lamentation and give up my life. One who does not experience the happiness of wife and children lives in a desert. Happiness exists only when the house is filled with wife, sons, and grandsons.7

Seeing Atma Deva's great attachment, the saint said, "O brahmana, King Citraketu had to suffer excessively because he wanted to undo his fate.8 Providence is very powerful, hence none of your endeavours will be successful. For this reason you will not get the happiness of a son, but I see that you are very obstinate, and since you have approached me desiring a son, what can I say in these circumstances?"

Understanding the brahmana's determination the saint offered him a fruit and said, "Your wife will surely get pregnant and bear you a son upon her eating this fruit. She should follow a vow of truthfulness, cleanliness, mercy, and charity and eat only one meal a day for one year. By doing so, she will have a son who will be pious and righteous."

After saying this the sannyasi disappeared and the brahmana joyfully returned to his house. He gave the fruit to his wife and left for another place. His wife, whose nature was crooked, began crying and spoke to her associate: "My dear friend, I am in great anxiety! My husband has brought a fruit which has the potency to give me a son. If I eat it, I will become pregnant,, my womb will grow, and not being able to eat properly I will become weak and unable to perform my household duties. If by ill fortune dacoits attack, I will not be able to run in my pregnant condition. And if during the time of delivery, the child gets stuck in the birth canal, I will lose my life. Or if he remains in my womb for an extended period, like Sukadeva how much will I have to suffer. I am very tender by nature, how will I be able to tolerate all this? During the pregnancy I will be weak, then my sister-in-law is sure to come and pilfer all my wealth. Moreover, I will have to follow so many rules and regulations which will create difficulty. Child-bearing is very painful, and upbringing more painful still.9 I think only barren women and widows live happily."

Thinking in this way she did not eat the fruit. Yet when her husband asked her, she deceitfully said, "Yes, I have eaten it."10

One day her sister visited and Dhundhuli confided the whole story to her, revealing her distress. Dhundhuli said, "O dead sister, owing to anxiety, day by day I am becoming weaker. Please tell me what I should do?"

Her sister replied: "I am now pregnant so when I deliver this child, I will secretly give him to you. Meanwhile you pose yourself as pregnant and offer some wealth to my husband, thus he will not mind giving his child to you. Somehow or another we will arrange for everyone to think that I suffered a miscarriage after six months. Later I will arrange to nourish the baby at your house.11 Now, to test this fruit, let us give it to this cow."

Dhundhuli fed the fruit to a cow and in due course her sister gave birth to a son. The child's father quietly delivered it to Dhundhuli who informed Atma Deva that she had delivered a son. hearing this Atma Deva became very jubilant. he performed the birth ceremony along with various other auspicious activities, gave charity to the brahmanas, and arranged musicians to celebrate the birth of his son.

Dhundhuli said to her husband, "There is no milk in my breast and I think it is not possible to feed cow's milk to the child yet. What shall I do? My sister's child was still-born so if you call her, she can breast-feed my son."

Atma Deva took her suggestion, and Dhundhuli named the boy Dhundhukari. After three more months the cow that ate the fruit also delivered a beautiful human child. He was peaceful and divine looking and his face was very brilliant. Seeing this, the brahmana became very ecstatic.12 He performed all the appropriate ceremonies for this new baby. Hearing this, all the people were astonished and all came to see the baby born of the cow. They started talking among themselves, "Just see how fortunate Atma Deva has become. Even his cow has borne him a son!"

By the will of the Divine no one could understand the secret behind the intrigue. Atma Deva named the cow's son Gokarna because his ears resembled those of a cow. In time both boys grew up. Gokarna was intelligent and scholarly, while Dhundhukari was a rogue. He

would not perform any brahmanical duties or follow the rules of cleanliness. he used no discrimination when eating and was irate. He would accumulate useless articles and would even eat food touched by a dead body. He was expert in stealing and envious of others. Sometimes he would quietly go and set fire to another's house, or he would abduct a baby and throw it in a well. He took pleasure in violent activities and always carried weapons. He happily troubled blind and handicapped people and kept special friendships with candalas. He also kept a pack of dogs and would often go hunting. He was attached to prostitutes and thus he wasted all his father's wealth. One day he severely beat his parents, took all the pots and utensils in the house and sold them. In this way, all of Atma Deva's property was lost. he began lamenting, "Alas! alas! I was better off when my wife was barren! Oh! to have a rascal son is worse than having no son at all. Where shall I go? What shall I do? Who will help me in this unfavourable situation? O misery! I am being tormented by my own son and I'm prepared to give up my life!13

While he lamented in this way, Gokarna arrived and began instructing him:14 "O father, this world is full of delusion and misery, and is useless. You should deliberate upon who is the real owner of sons and wealth. Those who are attached to material things burn day and night like a ghee lamp. Neither Lord Indra nor the emperor of the whole universe can find happiness. Only those who are renounced and live in a solitary place have peace. Therefore give up this ignorance, thinking that this is your wife, this is your son, and so on. Owing to such delusion one goes to hell. This body will one day be lost, therefore, go and live in the forest."

Hearing the words of Gokarna, Atma Deva decided to go to the forest. He asked, "My dear son, please explain what I should do in the forest. I am very foolish and very much attached to karma-kanda activities. Now I have lost everything and am bound in this well of household life. You are very merciful - please deliver me."

Gokarna said, "O father, this body is nothing but a combination of bones, fat, blood, and flesh. Therefore, do not consider that you are this body and that this wife and children are yours. Day and night meditate on the ephemeral nature of this material world and thus do not become attached to anything. Become renounced and perform devotional service unto the Personality of Godhead. Devotion is the greatest religion, therefore take shelter of it, and give up all other material religious principles. Render service to saintly people and give up all thoughts of sense gratification and greed for wealth. Do not meditate on the defects of others, fully engage in the service of the Lord, and always drink the nectar of His holy pastimes."

Influenced by the preaching of his son, Atma Deva left home and though he was sixty years old went to the forest with great determination. Day and night he remained engaged in the service of the Lord.15 He regularly recited the tenth canto of Srimad Bhagavatam until finally he attained the lotus feet of Lord Sri Krsna.

**Comments on Chapter Four**

1. After explaining a particular philosophical conclusion, (siddhanta), it is customary to corroborate it with an example. This strengthens the faith of the audience.

2. While this is a true story, it has a philosophical interpretation. Atma Deva (lit. divine soul) is the living entity. Tungabhadra (very auspicious) signifies the material body. In Bhagavad-gita (5.13) the material body is compared to a city of nine gates which hosts the living entity. This city is very auspicious, because it gives facility to understand the scriptures and thus attain the lotus feet of the Lord. Although it is temporary, it can award permanent benefits, adhruva-marthadam (S.B. 7.6.1).

Karma-kanda activities signify all endeavours for sense gratification. Some people work hard to enjoy in this life, and others to enjoy in the next. A person is rich because he can elevate himself to spiritual life. but one is called krpana or miserly, if he uses his intelligence and energy for sense pleasure, which is available even to dogs and hogs.

Dhundhuli (lit. unclear) represents the intelligence which should work under the guidance of the soul. However, if she henpecks her husband, the living entity, he becomes like her slave. Contaminated intelligence takes pleasure in material thoughts which are compared to gossiping. Hatred and envy are compared to cruelty and quarrelling. Material intelligence is expertly used in material affairs (household duties).

3. Happiness does not depend on wealth. Everyone remains dissatisfied despite his high or low material standards.

4. A materialistic person is always full of stress and anxiety running after sense pleasure, like a deer running after the water in a mirage.

5. Drinking water and relaxing represents temporarily stopping material pursuits. This is compared to shifting a heavy load from one shoulder to the other, it gives only a momentary feeling of relief.

6. The sannyasi signifies the spiritual master.

7. Generally a materialistic person approaches a guru to satisfy his own material desires. The intelligence develops discrimination only through holy association, but when the intelligence is overly attached to sense pleasure, one cannot understand the value of detachment or transcendental knowledge. Such people consider devotional life extremely miserable.

8. Unless one takes to spiritual life he must suffer or enjoy the fruits of his past karma.

9. The general tendency of the human being is to enjoy the fruits of labour without undergoing any endeavour. This is compared to a woman desiring to bear a son without labour pains.

10. Material intelligence always cheats the living entity.

11. The sister signifies the mind. The mind and intelligence conspire against the conditioned soul.

12. A materialistic person feels elated with material success, but it does not last very long.

13. In the Bhagavad-gita Lord Krsna explains that happiness in the mode of passion is like a nectar in the beginning and poison at the end; it always ends in misery.

14. Gokarna was born from the fruit given by the sannyasi, thus the association of a saint never goes in vain. Even if one approaches a devotee or Krsna with vested interest, he will benefit spiritually in due course of time.

15. Practice with determination and enthusiasm is the key to success.

yasyam vai sruyamanayam

krsne parama-puruse

bhaktir utpadyate pumsah

soka-moha-bhayapaha

Simply by giving aural reception to this Vedic literature, the feeling for loving devotional service to Lord Krsna, the Supreme Personality of Godhead, sprouts up at once to extinguish the fire of lamentation, illusion and fearfulness.

Srimad Bhagavatam 1.7.7

## Chapter Five

## Dhundhukari gets a ghostly body and is delivered by Gokarna

Suta Gosvami said, "O Saunaka, one day, after Atma Deva went to the forest, Dhundhukari beat his mother severely, demanded her wealth and threatened to burn her. Being overly troubled and afraid of her son, one night Dhundhuli stole out of the house, threw herself into a well and drowned. The saintly Gokarna, who was not troubled by happiness or distress and did not consider anyone his friend or enemy, left to go on pilgrimage.

Dhundhukari remained living in their house with five prostitutes and constantly worried how to accumulate wealth for sense gratification.1 Owing to this he lost all his intelligence and thus engaged in cruel and heinous activities.2

One day the prostitutes requested that he give them various ornaments. Dhundhukari completely blinded by lust and forgetful of death, left to fulfil their desire by hook or crook. In his attempt to please them, he stole some wealth and used it to buy beautiful clothes and ornaments. After receiving the stolen goods, one night the prostitutes began to consider, "Dhundhukari is always plundering others and in time will surely get caught by the king, who will confiscate his wealth and hang him. We might as well kill him ourselves, take his wealth and move to a distant place." Thinking in this way, one night while Dhundhukari was sleeping, they tied him with ropes, put a noose around his neck and tried to strangle him. he would not die easily and this worried the prostitutes.3 They then brought burning wood, shoved it into his mouth. The wood burned him to death and they buries his dead body. Indeed women are very courageous and it is difficult to understand their mind. No one could understand what happened to Dhundhukari. When asked, the prostitutes said he had gone far away to collect some wealth and would return after a year.

An intelligent person should never believe an unchaste woman. Any foolish man who puts his faith in such women will suffer like Dhundhukari. The voice of an unchaste woman appears as sweet as nectar to a lusty man. Actually her heart is as sharp as a razor. Unchaste women have no love for anyone - they only value wealth. The prostitutes, who had experienced many lovers, thus took all Dhundhukari's wealth and disappeared.

Owing to his misdeeds Dhundhukari attained a ghost body,4 and remaining within a whirlwind wandered here and there suffering from hunger and thirst, and lamenting his misfortune. He could find no shelter anywhere. After some time the news of Dhundukari's death reached Gokarna, so he went to Gaya to perform sraddha, considering his brother destitute. Later, while travelling to the holy places, Gokarna reached his home town and hiding from everyone, went to his former house to pass the night. Dhundhukari's ghost observed Gokarna return so he assumed very fierce forms and appeared before him. sometimes he took the form of a dreadful sheep, then an elephant, or a buffalo, or like Indra sometimes like fire.5 Finally he appeared as a human being. Seeing this, Gokarna realised that a ghost must be making this display. With courage and patience he spoke, "Who are you? Why are you exhibiting all these fearsome forms? How did you fall into this condition? Tell me clearly are you a ghost, goblin, or a demon?"

Suta Gosvami said, "When Gokarna questioned him, the ghost started crying loudly. He did not have the power to speak, so he gestured with his hands. Gokarna sprinkled some water on the ghost. This relieved him of enough sinful reactions that he was able to speak. "I am your brother Dhundhukari," the ghost said. "Because of my misdeeds I have fallen from my respectable birth as a brahmana. Owing to complete ignorance I killed many people. It is not possible to count my sins. I was addicted to five prostitutes who finally killed me, and as a result I am suffering the reactions for my ill activities and have thus gotten this ghost body. Somehow, by the will of the Lord, I am now surviving only on air. My dear brother, you are an ocean of mercy. Please somehow deliver me from this ghostly form."

Gokarna replied, "Dear brother, I am very surprised. I duly performed oblations for you in Gaya and it is a wonder that you still have not been relieved from this ghostly form. If you cannot be delivered by performing sacrifice in Gaya, then I do not know what to do. Tell me what is the solution?"

The ghost said, "I cannot be relieved of this condition even by the performance of hundreds of sraddhas at Gaya. You must think of some more powerful practice."

Gokarna, astonished to hear this, said, "If you cannot be delivered by hundreds of sraddhas in Gaya, then your liberation is practically impossible. anyway, do not fear. Stay here and I will think of some procedure to deliver you."

The ghost left and Gokarna passed the night in deep thought but did not discover a solution. The next morning many people including scholars, savants, knowers of the Vedas, and yogis came to see him and he explained the incident which had occurred the previous night. They all consulted their particular scriptures but could not suggest a suitable means to deliver Dhundhukari. They finally decided to follow whatever Surya-narayana, the sun-god would order. By the power of his accumulated penance, Gokarna checked the movements of

the sun-god and prayed, "O Lord, you are the witness of the whole universe, I offer my obeisances unto you. Please be merciful and tell me the process to deliver Dhundhukari."

The sun-god replied, "Only one thing can be done to deliver him - recitation of Srimad Bhagavatam for one week."

The assembly heard this statement of the sun-god and agreed that this simple process should be executed. Thus the news spread that Gokarna would perform the Saptaha Yajna. From the nearby villages many people came who were lame, blind, aged and less intelligent, all had the desire to become free from their sins. Such a crowd assembled that even the demigods were surprised.6 Gokarna took his seat on the vyasasana and began reciting the pastimes of Lord Krsna as described in the Bhagavatam. At that time the ghost also came and searched for a place to sit. Because he had an airy body he could not sit outside, so he entered a bamboo rod which had seven knots and thus began hearing Srimad Bhagavatam.

After Gokarna appointed one Vaisnava brahmana as the chief of the assembly, in a clear sweet voice he started reciting Srimad Bhagavatam from the first canto. That evening during a pause in the katha, a wonderful incident occurred. The people in the assemble noticed that one of the knots in the bamboo cracked and burst. In this way, at the end of each day, a knot would burst and on the seventh day, when the recitation was complete, all the knots were cracked. Dhundhukari was delivered from his ghostly form.7 He attained a divine body, which was blackish like rain clouds. He was clad in yellow garments, a Tulasi garland around his neck, a crown adorning his head and beautiful earrings dangling from his ears.

He immediately offered obeisances to Gokarna and said, "My dear brother, by your mercy I have been released from the ghostly body. This ceremony of Saptaha is so glorious that it can destroy ghostly forms and elevate one to the abode of Lord Krsna. When a person starts hearing the Saptaha, sins tremble in fear anticipating that the bhagavatam-katha will burn them to ashes. In the same way that fire burns a twig or a tree so, this Saptaha burns all big or small sins, performed with the body, mind and speech. Scholars in the assembly of demigods have said that the lives of those Indians who do not hear Srimad Bhagavatam are an utter waste. What is the value of making this temporary body stout and strong? If one does not hear Srimad Bhagavatam, then there is no gain from this so-called beautiful body? This body is supported by bones, which are like pillars and tied together with the ropes of nerves and veins. It is covered with skin and is filled with flesh and every part reeks being nothing more than a pot of stool and urine. In old age it is the cause of lamentation and misery. Indeed it is a residence of ailments and to maintain it is a great burden. It is continuously troubled by desires that can never be satisfied. Every pore is full of defects and it can be destroyed within a moment. When buried, it is eaten by worms; if thrown out, it is eaten by vultures and transformed into stool; and if burned, it turns to ashes. Indeed these are the only destinations of this body. who is that sane person who will not utilise this temporary body to gain permanent benefit? Food which is cooked in the morning is putrid by evening, so how can this body be considered eternal, since it is nourished by elements that decompose?

In this material world people can very quickly attain the lotus feet of the Lord by hearing Bhagavata Saptaha. This is the only means to get rid of the defects of human birth. Those people who do not hear bhagavata-katha are just like bubbles in water, or like

mosquitoes, who take birth only to die uselessly. If this bhagavata-katha can burst the knots of bamboo, then why can it not burst those in the heart? By hearing Srimad Bhagavatam, one's doubts are removed, the karma is slackened and one becomes relieved of the knots in the heart. Bhagavata-katha is like a tirtha that cleanses one from all impurities. Scholars say that when the Bhagavatam becomes fixed in the heart, one's liberation is definite."

When Dhundhukari was speaking in this way, the sky became effulgent and a Vaikuntha airplane appeared carrying associates of the Lord.8 In front of the whole assembly, Dhundhukari boarded the airplane.

Gokarna posed a question, "O dear associates of the Lord, in this assembly there are many pure heart people and all of them heard the Bhagavata Saptaha. Why is it that this airplane has come exclusively for Dhundhukari? Why are the others not getting the same result?"

The servants of the Lord spoke, "O Gokarna, the difference lies in the quality of their hearing. Although it is true that everyone heard the katha, everyone did not meditate on it equally. For this reason the results of performing bhajana or devotional service are different.9 The ghost fasted for seven days and heard Bhagavatam with a completely fixed and attentive mind. That knowledge which is not stable is useless. In the same way, if one does not hear attentively or if one harbours doubts or lets his mind wander here and there, then he will not get the benefit of chanting his mantra. Land devoid of Vaisnavas, Sraddha offered to unqualified persons, charity given to ill behaved brahmanas who do not know the Vedas, are all useless. Faith in the words of the spiritual master, humility, control of the mind's defects and attentive hearing of bhagavata-katha all grant the full result. If one hears the Bhagavatam attentively he certainly attains Vaikuntha. O Gokarna, as far as you are concerned, the Lord Himself will come to take you to Goloka." Thereafter the associates of the Lord, performing hari-kirtana ascended to the Vaikuntha.

In the month of Sravana Gokarna again performed the Saptaha Yajna of Srimad Bhagavatam and those people listened to it.

O Narada, please listen what happened at the end of that Saptaha. The Lord appeared in a plane filled with devotees. From all quarters could be heard, "All glories! All glories!" and people were paying obeisances. The Lord blew His conch shell named Pancajanya and embraced Gokarna. In a moment He granted everyone who listened to the Srimad Bhagavatam a body just like His own. They all acquired a blackish body and wore yellow garments, helmets and earrings. By the mercy of Gokarna all the living entities in that village, including dogs and even the dog-eaters, ascended in that airship. They were carried to the place where only devotees go--the abode of the Lord.

In this way, Lord Krsna being very pleased by His katha took Gokarna with Him to Goloka Dhama, which is most dear to the cowherd people. In the past Lord Ramacandra took all the residents of Ayodhya to His abode, Saketa.10 In the same way, Lord Krsna took everyone to Goloka Dhama, which is not attained even by great yogis,, the Sun God, Moon God, or even perfected beings, but is attained only by hearing Srimad Bhagavatam. O Narada, what can we say about the wonderful result which one attains by hearing Bhagavata-Saptaha?

Even those who have heard a fraction of the history of Gokarna do not take birth again. That destination which can not be attained by those who live on air, water or dry leaves, executing extended penance or the practice of yoga, is easily attained simply by hearing Bhagavata-Saptaha. The great sage Sandilya, who is always absorbed in transcendental bliss, engages in reciting this pious history at Citrakuta.11 This story is so purifying that anyone who hears it even once becomes free from all sin. If it is recited during the Sraddha ceremony, the forefathers are very pleased. Anyone who recites Srimad Bhagavatam daily attains liberation.

**Comments on Chapter Five:**

1. Dhundhukari represents the materialistic man. The five prostitutes indicate the five senses which always demand their respective objects and cause the living entity to work hard for their satisfaction.

2. When a person is attached to sense gratification he is almost crazy and loses all sense of morality.

3. Demoniac people do not die easily. They suffer immense pain even in their sojourn to Yamaloka.

4. A sinful person is like a ghost while living and becomes a ghost after death.

5. Human beings have an unstable mind in a stable body, but ghosts have an unstable mind in an unstable body.

6. The demigods were surprised, because they had not seen such gatherings even in big sacrifices that were considered highly religious.

7. The bamboo with seven knots represents the material body comprised of five gross material elements and the mind and false ego, all of which cover and bind the living entity. it can also represent the material body which is seven vitasti in height. A vitasti is the distance between tip of the little finger and the tip of the thumb on an outstretched hand. Every normal person's body is the length of seven vitasti of his own had. The even knots can also refer to ignorance, lust, anger, greed, delusion, pride and envy.

8. This narration should not be considered as a fable or exaggerated. Even in modern times such effects of hearing Srimad Bhagavatam have been witnessed.

9. Consciousness is the most important factor in devotional service.

10. This story is narrated in the Valmiki Ramayana.

11. This is sadhu pramana.

## Chapter Six

## The Process of Saptaha Yajna

The Kumaras said, "O Narada, now we will explain the process of performing Saptaha. Generally this process requires wealth and the assistance of others.1 First one should determine an auspicious times with the help of a good astrologer. If the Saptaha begins in the months of Bhadra, Asvina, Kartika, Margasirsa, Asadha or Sravana, the audience will get liberation.2 Even during these months, however, inauspicious periods such as Bhadra vyatipata should be avoided.

With the help of enthusiastic people, one should acquire as much wealth as needed to perform a marriage ceremony. he should then graciously invite various families, including women and sudras, to hear Hari-katha.3 One should publicly announce the event and send written invitations to Vaisnavas and other lovers of Hari-kirtana.

One should announce in writing that for seven day the rare opportunity to hear the transcendental message of Srimad Bhagavatam and to associate with saintly persons is being made available. it should be explained that if one is unable to attend for the entire period, he should come for at least one day to give blessings. In this way one should humbly send invitations to Vaisnavas and make proper arrangements for their board and lodging.

The recitation of Bhagavatam should be done either in a holy place, a forest, or in one's house. It should be performed on an open ground that is properly cleaned and decorated. if performed in one's house, all household articles should be removed from the room used for the recitation.

One should start making arrangements five days in advance. A nice podium should be arranged and decorated with fruits, leaves, flowers, banana trees, and so forth. On the stage one should imagine the seven planetary systems. Proper seats should be offered to saintly persons and there should be a nice vyasasana for the speaker.

It is the opinion of scholars that if the speaker faces north, the audience should face eastwards; if the speaker faces east, the audience should face north; or both can face the east.

The speaker should be learned, expert, and able to explain the essence of Vedic literature and give proper examples. He should be a renounced brahmana, a devotee of the Lord and free from material desires. Those who are cheaters, attached to women, and who do not know the essence of religion, should not be invited to speak on Srimad Bhagavatam. The speaker may have a learned assistant to remove doubts whenever necessary.

One day before the recitation the speaker should shave his head. He should take morning bath, chant Gayatri, perform other morning duties and then worship Ganesa for removing any obstacles in the Saptaha Yajna. He should offer oblations to the forefathers, perform prayascitta, and establish Lord Hari on the Mandala. Thereafter, he should worship Lord Krsna by chanting proper mantras and offer sixteen articles of worship. He should circumambulate the Lord and beseech Him in the following way, "O most merciful Lord, I am drowning in the ocean of this material world. I am very fallen and caught in the network of karma, which is like a crocodile. Please deliver me from this world."

Following the procedure, he should then worship Srimad Bhagavatam with incense, ghee lamp, and so on. He should place one coconut in front of the book, pay obeisances, and

offer the following prayer: "O Lord Krsna, You are directly the Srimad Bhagavatam. I take shelter of You so I can free myself from this world. Please remove all obstacles so this ceremony may be successfully completed. O Lord Kesava, I am your servant."

Thereafter, the host should worship the speaker, give him nice cloth, and offer the following prayer, "You are the personification of Sukadeva and are expert in explaining the meaning of Srimad Bhagavatam. Please reveal this knowledge to us and dispel our ignorance.

Then in a blissful mood, one should take a vow for his own good and maintain it for seven days without fail.4 To dispel all obstacles in the katha, five brahmanas should be selected to daily chant the twelve syllable mantra composed of names of Lord Hari. After this, the host should worship the brahmanas, the devotees, and give charity to the kirtana performers. He should offer them obeisances and with their permission, be seated.

Those who hear the katha attentively, with great faith and a pure mind, who have give up attachment to home, wealth, family, and so on, will receive the highest benefit.

The intelligent speaker will start the katha at sunrise and continue for nine hours. He should recite in a sweet medium tone and observe a one hour lapse at noon. During this interim the Vaisnavas should glorify the various names of Lord Hari associated with the particular history being narrated and there should be no idle talk. To avoid passing stool and urine during the time of katha, one should consume only light food. If possible, one should fast for seven days, or subsist only on ghee, or milk and happily listen to the Bhagavatam. Alternatively one can eat once a day or subsist only on fruit. One should observe a procedure that can be followed without much difficulty. I consider eating better than fasting if it helps one concentrate and hear properly. If fasting disturbs one's hearing, then he should avoid it.

O Narada, now listen to the principles to be observed while hearing Saptaha. A person who is not initiated into Vaisnava mantra is not qualified to hear it. A person who wants to properly hear the Saptaha should observe celibacy and sleep on the floor. After the recitation he should eat food served on leaves. He should not eat dhal, honey, oil, heavy, stale, or contaminated food.

He should completely avoid lust, pride, greed, envy, anger, illusion, hypocrisy and so on. He should also avoid criticising or hearing criticism of the Vedas, Vaisnavas, brahmanas, the guru, women, the king, great personalities, or those who render service to the cow.

He should also avoid contacting women during menstruation, a mleccha, a fallen person, a brahmana who is not initiated into Gayatri mantra, those who are antagonistic toward brahmanas, and those who do not accept the Vedas. He should always be clean, truthful, silent, simple, humble, merciful and generous.

Even those who are poor, sick, unfortunate, childless, and desirous of liberation, are qualified to hear this katha. Women who are barren, who have only one child, whose child had died, who have reached menopause, or who always suffer miscarriages, should also hear this katha. If they hear attentively, they will attain imperishable benefit. The recitation of Bhagavatam gives the highest benefit to the human being.

After observing these rules, one should perform the concluding ceremony of the Saptaha. Those who desire special benefit should observe this just like the Janmastami celebration. However, it is not necessary for renunciates to observe it.5 They are purified just by hearing the Saptaha.

When the Saptaha Yajna is over, the audience should worship the book and the speaker with great devotion. The speaker should distribute prasada, Tulasi leaves, and the offered garlands to the audience. Everyone should perform kirtana with mrdanga and karatalas and sing with beautiful voices. The Jaya Dhvani should be chanted, obeisances should be offered, conches should be blown, and food and charity should be distributed to the brahmanas and beggars.

On the following day a renounced person from the audience should recite Bhagavad-gita to create peace and remove all improprieties. If one is a householder, he should perform a sacrifice, recite slokas from the tenth canto, and offer oblations to the fire. Or he should chant Gayatri mantra with a concentrated mind and perform sacrifice. In reality, Srimad Bhagavatam is the personification of the Gayatri mantra.

A person who does not have the means to perform sacrifice, should give charity to the brahmanas and recite Visnu sahasranama, to remove all deficiencies. This will bring him all success. Thereafter he should fee twelve brahmanas with sweet rice, honey, and delicious foodstuffs. He should give cows and gold in charity. If he has the means, he should place the Srimad Bhagavatam on a throne made of thirty-six grams of gold and donate it to the spiritual master. By this he will become free from the cycle of birth and death.

This process of performing Saptaha removes all sins. If performed properly, the most auspicious Bhagavatam will bestow whatever one desires, be it dharma, artha, kama or moksa.6 There is no doubt about it."

The Kumaras continued, "O Narada, in this way I have explained hearing Bhagavatam-Saptaha. The Srimad Bhagavatam can deliver both bhoga and moksa. What more do you want to know?"

Suta Gosvami said, "O Saunaka, after saying this, the Kumaras recited Srimad Bhagavatam for one week. This is most pure, dispels all sins, and is capable of granting sense enjoyment as well as liberation. While they observed all the rules and regulations, the assembly listened attentively. After this, they worshipped the Personality of Godhead according to the scriptural injunctions. After recitation, Jnana, Vairagya, and Bhakti were rejuvenated. Being young and enthusiastic, they attracted the hearts of all living entities.7 Seeing his desire fulfilled, Narada Muni was completely absorbed in bliss and his hairs stood up in ecstasy.

Narada, who is very dear to the Lord, spoke to the Kumaras in a sweet loving voice with folded hands, "Indeed I am very fortunate to get your mercy. Today I have attained Lord Hari who is the dispeller of sins. O austere sages, hearing this Bhagavatam is the best religious act, as by doing so, one attains Lord Krsna, who always resides in Goloka."

Suta Gosvami said, "O Saunaka, while the topmost Vaisnava, Narada, was speaking in this way, Sukadeva Gosvami, the best of the yogis appeared there. He was completely satisfied within himself and looked just like a sixteen year old youth. He appeared like a full moon to bring tide in the ocean of knowledge. He was blissfully reciting Bhagavatam in a very low voice. Upon seeing Sukadeva Gosvami, the entire assembly stood up and offered him an elevated seat. Then Sri Narada Muni worshipped him with love and affection."

When Sukadeva Gosvami was comfortably seated, he said, "Dear ones, please hear my words. O devotees who taste devotional mellows, Srimad Bhagavatam is the mature fruit of the wish fulfilling tree of the Vedas. It has come from my mouth and is full of nectar. This fruit has no skin or stone -- it is pure nectar and is easily available only on earth.8 Therefore, as long as you are conscious, please drink it again and again.

"The great sage Vyasa compiled this Maha Purana which describes the highest religious process, and is free from all cheating propensities. It explains the absolute reality and is meant for those whose hearts are pure. It relieves one of the three miseries. If one takes shelter of the Srimad Bhagavatam, there is no need for any other scripture or process. Whenever a pious soul desires to hear it, the Personality of Godhead immediately appears within his heart.

Srimad Bhagavatam is the crest-jewel among the Puranas and the wealth of the Vaisnavas. It describes that pure knowledge is dear to the paramahamsas and illuminates the path of detachment along with Bhakti, Jnana and Vairagya.9 Those who hear, read, or meditate on its meaning, are liberated. This nectar is not available in heaven, Satya-loka, Kailasa, or Vaikuntha. Therefore, O fortunate listeners, please drink it again and again and never leave it."

Suta Gosvami said, "While Sri Sukadeva spoke in the midst of that assembly, Lord Hari appeared along with Prahlada, Bali, Uddhava, Arjuna and other associates.10 Sri Narada then worshipped the Lord along with His devotees. Seeing the Lord in a blissful mood, Narada Muni gave Him a nice seat and then everyone performed kirtana. Lord Siva, Parvati, and Lord Brahma came there to listen. Prahlada, who is very swift, played the karatalas and Uddhava played big cymbals. Narada Muni played his vina and Arjuna, who is adept in ragas, sang melodiously. Indra played the mrdanga, and the Kumaras shouted Jaya! Jaya! Sri Sukadeva Gosvami moved his limbs in an ecstatic trance. In the midst of everyone, Bhakti, Jnana and Vairagya danced like expert actors."

Observing this, the Lord said, "I am very pleased with this recitation and kirtana. all of you have controlled Me by your love and affection therefore you may ask some boon from Me."

Everyone was pleased to hear this and with love-laden hearts they requested, "O Lord, we desire that whenever and wherever there is recitation of the Saptaha, You kindly appear along with your associates."

The Lord said, "Let it be so", and then disappeared. After that Narada Muni paid obeisances in the direction which the Lord and His devotees departed. He offered obeisances to Sukadeva Gosvami and the assembled saints. Everyone was in ecstasy after drinking the

nectar of Srimad Bhagavatam and were free from delusion. Thereafter, everyone returned to their respective places.

At that time Sri Sukadeva Gosvami established Bhakti and her two sons in the Srimad Bhagavatam. By rendering service to the Bhagavatam Lord Hari becomes fixed in. he heart of the Vaisnavas. The Srimad Bhagavatam bestows auspiciousness to those burning in misery, troubled by Maya, or drowning in an ocean of nescience.

Saunaka asked, "O Suta Gosvami, when did Sukadeva recite the Bhagavatam to Pariksita, Gokarna to Dhundhukari, and the Kumaras to Narada Muni?"

Suta Gosvami replied, "About thirty years after Lord Krsna's departure to His abode,11 on the ninth day of the bright fortnight in the month of Bhadra, Sukadeva recited Bhagavatam to Pariksita. Two hundred years later in the month of Asadha, on the ninth day of the bright fortnight Gokarna recited Bhagavatam to Dhundhukari. Thirty years later, in the month of Kartika on the ninth day of the bright fortnight, the Kumaras recited it to Narada Muni.

"O sinless Saunaka, I have replied to everything you have asked. Bhagavata-katha is the panacea for all problems in Kali-yuga. All of you are saintly, therefore, please drink it. Bhagavatam destroys all sins and is very dear to Lord Krsna. It increases one's devotion and is the only means to attain liberation. What is the value of serving the holy places or engaging in other processes of liberation?

When the Yamadutas are sent to arrest someone with ropes Yamaraja instructs them, 'Don't approach those who are maddened by hearing the pastimes of Lord Hari. I do not have the power to chastise them, for Vaisnavas are beyond my jurisdiction.'

"The nectar which came from the mouth of Sukadeva Gosvami brings all auspciousness to those who are attached to the poison of sense gratification. My dear friends, why wander in the forest of sense enjoyment and hear useless talks? As soon as this katha enters the ears, one is liberated. The proof is Pariksita Maharaja.

Sri Sukadeva Gosvami spoke the Bhagavatam while in ecstasy. anyone who recites the Bhagavatam is qualified to go to Vaikuntha. O Saunaka, after studying the various scriptures, I have revealed this secret to you. This is the essence of all scriptures. There is nothing superior to this Bhagavatam which was spoken by Sukadeva Gosvami.

For the attainment of transcendental bliss, you should always drink the Bhagavatam which is composed of twelve cantos. anyone who hears the Bhagavatam from the lips of a devotee, with faith, and a pure heart, or recites it to the devotees, will attain the supreme goal. In the three worlds there is nothing unattainable for them.

**Comments on Chapter Six**

1. Generally karma-kanda activities and spiritual festivals require the assistance and co-operation of other people.

2. An auspicious time is not required for performing pure devotional service, but sometimes devotees follow such rules to set a good example.

3. Women and sudras are not allowed to hear the Vedas, but there is no such restriction for Srimad Bhagavatam, although it is considered the mature fruit of the Vedas. In the same way there are restrictions for chanting Vedic mantras, but none for chanting the holy name of the Lord, which is the essence of Vedic mantras.

4. Vows help one to control the flickering mind.

5. The concluding ceremony requires great wealth, which renunciates cannot afford, therefore, it is not compulsory for him."

6. Because Srimad Bhagavatam is the personification of Lord Krsna, it can fulfil ones material as well as spiritual desires.

7. It means that after hearing Srimad Bhagavatam, one develops a taste for Bhakti, Jnana and Vairagya.

8. Srimad Bhagavatam is like a very juicy fruit. Though it is a fruit, it has no skin or stone. And though it is only juice, it is a fruit.

9. Detachment without bhakti is worthless.

10. The Lord is omnipresent and manifests Himself wherever His devotees sing His glories.

11. Lord Sri Krsna left the earth 5 091 years ago.

## Canto 1: Creation

### SB 1.1: Questions by the Sages

1 O my Lord, ŚrīKṛṣṇa, son of Vasudeva, O allpervading Personality of Godhead, I offer my respectful obeisances unto You. I meditate upon Lord ŚrīKṛṣṇa because He is the Absolute Truth and the primeval cause of all causes of the creation, sustenance and destruction of the manifested universes. He is directly and indirectly conscious of all manifestations, and He is independent because there is no other cause beyond Him. It is He only who first imparted the Vedic knowledge unto the heart of Brahmājī, the original living being. By Him even the great sages and demigods are placed into illusion, as one is bewildered by the illusory representations of water seen in fire, or land seen on water. Only because of Him do the material universes, temporarily manifested by the reactions of the three modes of nature, appear factual, although they are unreal. I therefore meditate upon Him, Lord ŚrīKṛṣṇa, who is eternally existent in the transcendental abode, which is forever free from the illusory representations of the material world. I meditate upon Him, for He is the Absolute Truth.

2: Completely rejecting all religious activities which are materially motivated, this BhāgavataPurāṇa propounds the highest truth, which is understandable by those devotees who are fully pure in heart. The highest truth is reality distinguished from illusion for the welfare of all. Such truth uproots the threefold miseries. This beautiful Bhāgavatam, compiled by the great sage Vyāsadeva [in his maturity], is sufficient in itself for God realization. What is the need of any other scripture? As soon as one attentively and submissively hears the message of Bhāgavatam, by this culture of knowledge the Supreme Lord is established within his heart.

3: O expert and thoughtful men, relish ŚrīmadBhāgavatam, the mature fruit of the desire tree of Vedic literatures. It emanated from the lips of ŚrīŚukadeva Gosvāmī. Therefore this fruit has become even more tasteful, although its nectarean juice was already relishable for all, including liberated souls.

4: Once, in a holy place in the forest of Naimiṣāraṇya, great sages headed by the sage Śaunaka assembled to perform a great thousandyear sacrifice for the satisfaction of the Lord and His devotees.

5: One day, after finishing their morning duties by burning a sacrificial fire and offering a seat of esteem to ŚrīlaSūta Gosvāmī, the great sages made inquiries, with great respect, about the following matters.

6: The sages said: Respected Sūta Gosvāmī, you are completely free from all vice. You are well versed in all the scriptures famous for religious life, and in the Purāṇas and the histories as well, for you have gone through them under proper guidance and have also explained them.

7: Being the eldest learned Vedāntist, O Sūta Gosvāmī, you are acquainted with the knowledge of Vyāsadeva, who is the incarnation of Godhead, and you also know other sages who are fully versed in all kinds of physical and metaphysical knowledge.

8: And because you are submissive, your spiritual masters have endowed you with all the favors bestowed upon a gentle disciple. Therefore you can tell us all that you have scientifically learned from them.

9: Please, therefore, being blessed with many years, explain to us, in an easily understandable way, what you have ascertained to be the absolute and ultimate good for the people in general.

10: O learned one, in this iron age of Kali men have but short lives. They are quarrelsome, lazy,

misguided, unlucky and, above all, always disturbed.11: There are many varieties of scriptures, and in all of them there are many prescribed duties, which can be learned only after many years of study in their various divisions. Therefore, O sage, please select the essence of all these scriptures and explain it for the good of all living beings, that by such instruction their hearts may be fully satisfied.

12: All blessings upon you, O Sūta Gosvāmī. You know for what purpose the Personality of Godhead appeared in the womb of Devakī as the son of Vasudeva.

13: O Sūta Gosvāmī, we are eager to learn about the Personality of Godhead and His incarnations. Please explain to us those teachings imparted by previous masters [ācāryas], for one is uplifted both by speaking them and by hearing them.

14: Living beings who are entangled in the complicated meshes of birth and death can be freed immediately by even unconsciously chanting the holy name of Kṛṣṇa, which is feared by fear personified.

15: O Sūta, those great sages who have completely taken shelter of the lotus feet of the Lord can at once sanctify those who come in touch with them, whereas the waters of the Ganges can sanctify only after prolonged use.

16: Who is there, desiring deliverance from the vices of the age of quarrel, who is not willing to hear the virtuous glories of the Lord?

17: His transcendental acts are magnificent and gracious, and great learned sages like Nārada sing of them. Please, therefore, speak to us, who are eager to hear about the adventures He performs in His various incarnations.

18: O wise Sūta, please narrate to us the transcendental pastimes of the Supreme Godhead's multiincarnations. Such auspicious adventures and pastimes of the Lord, the supreme controller, are performed by His internal powers.

19: We never tire of hearing the transcendental pastimes of the Personality of Godhead, who is glorified by hymns and prayers. Those who have developed a taste for transcendental relationships with Him relish hearing of His pastimes at every moment.

20: Lord ŚrīKṛṣṇa, the Personality of Godhead, along with Balarāma, played like a human being, and so masked He performed many superhuman acts.

21: Knowing well that the age of Kali has already begun, we are assembled here in this holy place to hear at great length the transcendental message of Godhead and in this way perform sacrifice.

22: We think that we have met Your Goodness by the will of providence, just so that we may accept you as captain of the ship for those who desire to cross the difficult ocean of Kali, which deteriorates all the good qualities of a human being.

23: Since ŚrīKṛṣṇa, the Absolute Truth, the master of all mystic powers, has departed for His own abode, please tell us to whom the religious principles have now gone for shelter

### SB 1.2: Divinity and Divine Service

1 Ugraśravā [Sūta Gosvāmī], the son of Romaharṣaṇa, being fully satisfied by the perfect questions of the brāhmaṇas, thanked them and thus attempted to reply.

2Śrīla Sūta Gosvāmī said: Let me offer my respectful obeisances unto that great sage [Śukadeva Gosvāmī] who can enter the hearts of all. When he went away to take up the renounced order of life [sannyāsa], leaving home without undergoing reformation by the sacred thread or the ceremonies observed by the higher castes, his father, Vyāsadeva, fearing separation from him, cried out, "O my son!" Indeed, only the trees, which were absorbed in the same feelings of separation, echoed in response to the begrieved father.

3 Let me offer my respectful obeisances unto him [Śuka], the spiritual master of all sages, the son of Vyāsadeva, who, out of his great compassion for those gross materialists who struggle to cross over the darkest regions of material existence, spoke this most confidential supplement to the cream of Vedic knowledge, after having personally assimilated it by experience.

4 Before reciting this ŚrīmadBhāgavatam, which is the very means of conquest, one should offer respectful obeisances unto the Personality of Godhead, Nārāyaṇa, unto Naranārāyaṇa Ṛṣi, the supermost human being, unto mother Sarasvatī, the goddess of learning, and unto Śrīla Vyāsadeva, the author.

5 O sages, I have been justly questioned by you. Your questions are worthy because they relate to Lord Kṛṣṇa and so are of relevance to the world's welfare. Only questions of this sort are capable of completely satisfying the self.

6 The supreme occupation [dharma] for all humanity is that by which men can attain to loving devotional service unto the transcendent Lord. Such devotional service must be unmotivated and uninterrupted to completely satisfy the self.

7 By rendering devotional service unto the Personality of Godhead, Śrī Kṛṣṇa, one immediately acquires causeless knowledge and detachment from the world.

8 The occupational activities a man performs according to his own position are only so much useless labor if they do not provoke attraction for the message of the Personality of Godhead.

9 All occupational engagements are certainly meant for ultimate liberation. They should never be performed for material gain. Furthermore, according to sages, one who is engaged in the ultimate occupational service should never use material gain to cultivate sense gratification.

10 Life's desires should never be directed toward sense gratification. One should desire only a healthy life, or selfpreservation, since a human being is meant for inquiry about the Absolute Truth. Nothing else should be the goal of one's works.

11 Learned transcendentalists who know the Absolute Truth call this nondual substance Brahman, Paramātmā or Bhagavān.

12 The seriously inquisitive student or sage, well equipped with knowledge and detachment, realizes that Absolute Truth by rendering devotional service in terms of what he has heard from the Vedāntaśruti.

13 O best among the twiceborn, it is therefore concluded that the highest perfection one can achieve by discharging the duties prescribed for one's own occupation according to caste divisions and orders of life is to please the Personality of Godhead.

14 Therefore, with onepointed attention, one should constantly hear about, glorify, remember and worship the Personality of Godhead, who is the protector of the devotees.

15 With sword in hand, intelligent men cut through the binding knots of reactionary work [karma] by remembering the Personality of Godhead. Therefore, who will not pay attention to His message?

16 O twiceborn sages, by serving those devotees who are completely freed from all vice, great service is done. By such service, one gains affinity for hearing the messages of Vāsudeva.

17Śrī Kṛṣṇa, the Personality of Godhead, who is the Paramātmā [Supersoul] in everyone's heart and the benefactor of the truthful devotee, cleanses desire for material enjoyment from the heart of the devotee who has developed the urge to hear His messages, which are in themselves virtuous when properly heard and chanted.

18 By regular attendance in classes on the Bhāgavatam and by rendering of service to the pure devotee, all that is troublesome to the heart is almost completely destroyed, and loving service unto the Personality of Godhead, who is praised with transcendental songs, is established as an irrevocable fact.

19 As soon as irrevocable loving service is established in the heart, the effects of nature's modes of passion and ignorance, such as lust, desire and hankering, disappear from the heart. Then the devotee is established in goodness, and he becomes completely happy.

20 Thus established in the mode of unalloyed goodness, the man whose mind has been enlivened by contact with devotional service to the Lord gains positive scientific knowledge of the Personality of Godhead in the stage of liberation from all material association.

21 Thus the knot in the heart is pierced, and all misgivings are cut to pieces. The chain of fruitive actions is terminated when one sees the self as master.

22 Certainly, therefore, since time immemorial, all transcendentalists have been rendering devotional service to Lord Kṛṣṇa, the Personality of Godhead, with great delight, because such devotional service is enlivening to the self.

23 The transcendental Personality of Godhead is indirectly associated with the three modes of material nature, namely passion, goodness and ignorance, and just for the material world's creation, maintenance and destruction He accepts the three qualitative forms of Brahmā, Viṣṇu and Śiva. Of these three, all human beings can derive ultimate benefit from Viṣṇu, the form of the quality of goodness.

24 Firewood is a transformation of earth, but smoke is better than the raw wood. And fire is still better, for by fire we can derive the benefits of superior knowledge [through Vedic sacrifices]. Similarly, passion [rajas] is better than ignorance [tamas], but goodness [sattva] is best because by goodness one can come to realize the Absolute Truth.

25 Previously all the great sages rendered service unto the Personality of Godhead due to His existence above the three modes of material nature. They worshiped Him to become free from material conditions and thus derive the ultimate benefit. Whoever follows such great authorities is also eligible for liberation from the material world.

26 Those who are serious about liberation are certainly nonenvious, and they respect all. Yet they reject the horrible and ghastly forms of the demigods and worship only the allblissful forms of Lord Viṣṇu and His plenary portions.

27 Those who are in the modes of passion and ignorance worship those in the same category namely the forefathers, other living beings and the demigods who are in charge of cosmic activities for they are urged by a desire to be materially benefited with women, wealth, power and progeny.

28-29 In the revealed scriptures, the ultimate object of knowledge is Śrī Kṛṣṇa, the Personality of Godhead. The purpose of performing sacrifice is to please Him. Yoga is for realizing Him. All fruitive activities are ultimately rewarded by Him only. He is supreme knowledge, and all severe austerities are performed to know Him. Religion [dharma] is rendering loving service unto Him. He is the supreme goal of life.
30 In the beginning of the material creation, that Absolute Personality of Godhead [Vāsudeva], in His transcendental position, created the energies of cause and effect by His own internal energy.

31 After creating the material substance, the Lord [Vāsudeva] expands Himself and enters into it. And although He is within the material modes of nature and appears to be one of the created beings, He is always fully enlightened in His transcendental position.

32 The Lord, as Supersoul, pervades all things, just as fire permeates wood, and so He appears to be of many varieties, though He is the absolute one without a second.

33 The Supersoul enters into the bodies of the created beings who are influenced by the modes of material nature and causes them to enjoy the effects of these modes by the subtle mind.

34 Thus the Lord of the universes maintains all planets inhabited by demigods, men and lower animals. Assuming the roles of incarnations, He performs pastimes to reclaim those in the mode of pure goodness.

## SB 1.3: Kṛṣṇa Is the Source of All Incarnations

1 Sūta said: In the beginning of the creation, the Lord first expanded Himself in the universal form of the puruṣa incarnation and manifested all the ingredients for the material creation. And thus at first there was the creation of the sixteen principles of material action. This was for the purpose of creating the material universes.

2 A part of the puruṣa lies down within the water of the universe, from the navel lake of His body sprouts a lotus stem, and from the lotus flower atop this stem, Brahmā, the master of all engineers in the universe, becomes manifest.

3 It is believed that all the universal planetary systems are situated on the extensive body of the puruṣa, but He has nothing to do with the created material ingredients. His body is eternally in spiritual existence par excellence.

4 The devotees, with their perfect eyes, see the transcendental form of the puruṣa who has thousands of legs, thighs, arms and faces all extraordinary. In that body there are thousands of heads, ears, eyes and noses. They are decorated with thousands of helmets and glowing earrings and are adorned with garlands.

5 This form [the second manifestation of the puruṣa] is the source and indestructible seed of multifarious incarnations within the universe. From the particles and portions of this form,

different living entities, like demigods, men and others, are created.
6 First of all, in the beginning of creation, there were the four unmarried sons of Brahmā [the Kumāras], who, being situated in a vow of celibacy, underwent severe austerities for realization of the Absolute Truth.

7 The supreme enjoyer of all sacrifices accepted the incarnation of a boar [the second incarnation], and for the welfare of the earth He lifted the earth from the nether regions of the universe.

8 In the millennium of the ṛṣis, the Personality of Godhead accepted the third empowered incarnation in the form of Devarṣi Nārada, who is a great sage among the demigods. He collected expositions of the Vedas which deal with devotional service and which inspire nonfruitive action.

9 In the fourth incarnation, the Lord became Nara and Nārāyaṇa, the twin sons of the wife of King Dharma. Thus He undertook severe and exemplary penances to control the senses.

10 The fifth incarnation, named Lord Kapila, is foremost among perfected beings. He gave an exposition of the creative elements and metaphysics to Āsuri Brāhmaṇa, for in course of time this knowledge had been lost.

11 The sixth incarnation of the puruṣa was the son of the sage Atri. He was born from the womb of Anasūyā, who prayed for an incarnation. He spoke on the subject of transcendence to Alarka, Prahlāda and others [Yadu, Haihaya, etc.].

12 The seventh incarnation was Yajṣa, the son of Prajāpati Ruci and his wife Ākūti. He controlled the period during the change of the Svāyambhuva Manu and was assisted by demigods such as His son Yāma.

13 The eighth incarnation was King Ṛṣabha, son of King Nābhi and his wife Merudevī. In this incarnation the Lord showed the path of perfection, which is followed by those who have fully controlled their senses and who are honored by all orders of life.

14 O brāhmaṇas, in the ninth incarnation, the Lord, prayed for by sages, accepted the body of a king [Pṛthu] who cultivated the land to yield various produce, and for that reason the earth was beautiful and attractive.

15 When there was a complete inundation after the period of the Cākṣuṣa Manu and the whole world was deep within water, the Lord accepted the form of a fish and protected Vaivasvata Manu, keeping him up on a boat.

16 The eleventh incarnation of the Lord took the form of a tortoise whose shell served as a pivot for the Mandarācala Hill, which was being used as a churning rod by the theists and atheists of the universe.

17 In the twelfth incarnation, the Lord appeared as Dhanvantari, and in the thirteenth He allured the atheists by the charming beauty of a woman and gave nectar to the demigods to drink.
18 In the fourteenth incarnation, the Lord appeared as Nṛsiṁha and bifurcated the strong body of the atheist Hiraṇyakaśipu with His nails, just as a carpenter pierces cane.

19 In the fifteenth incarnation, the Lord assumed the form of a dwarf brāhmaṇa [Vāmana] and visited the arena of sacrifice arranged by Mahārāja Bali. Although at heart He was willing to regain the kingdom of the three planetary systems, He simply asked for a donation of three steps of land.

20 In the sixteenth incarnation of the Godhead, the Lord [as Bhṛgupati] annihilated the administrative class [kṣatriyas] twentyone times, being angry with them because of their rebellion against the brāhmaṇas [the intelligent class].

21 Thereafter, in the seventeenth incarnation of Godhead, Śrī Vyāsadeva appeared in the womb of Satyavatī through Parāśara Muni, and he divided the one Veda into several branches and subbranches, seeing that the people in general were less intelligent.

22 In the eighteenth incarnation, the Lord appeared as King Rāma. In order to perform some pleasing work for the demigods, He exhibited superhuman powers by controlling the Indian Ocean and then killing the atheist King Rāvaṇa, who was on the other side of the sea.

23 In the nineteenth and twentieth incarnations, the Lord advented Himself as Lord Balarāma and Lord Kṛṣṇa in the family of Vṛṣṇi [the Yadu dynasty], and by so doing He removed the burden of the world.

24 Then, in the beginning of Kaliyuga, the Lord will appear as Lord Buddha, the son of Aṣjanā, in the province of Gayā, just for the purpose of deluding those who are envious of the faithful theist.

25 Thereafter, at the conjunction of two yugas, the Lord of the creation will take His birth as the Kalki incarnation and become the son of Viṣṇu Yaśā. At this time almost all the rulers of the earth will have degenerated into plunderers.

26 O brāhmaṇas, the incarnations of the Lord are innumerable, like rivulets flowing from inexhaustible sources of water.

27 All the ṛṣis, Manus, demigods and descendants of Manu, who are especially powerful, are plenary portions or portions of the plenary portions of the Lord. This also includes the Prajāpatis.

28 All of the abovementioned incarnations are either plenary portions or portions of the plenary portions of the Lord, but Lord Śrī Kṛṣṇa is the original Personality of Godhead. All of them appear on planets whenever there is a disturbance created by the atheists. The Lord incarnates to protect the theists.

29 Whoever carefully recites the mysterious appearances of the Lord, with devotion in the morning and in the evening, gets relief from all miseries of life.
30 The conception of the virāṭ universal form of the Lord, as appearing in the material world, is imaginary. It is to enable the less intelligent [and neophytes] to adjust to the idea of the Lord's having form. But factually the Lord has no material form.

31 Clouds and dust are carried by the air, but less intelligent persons say that the sky is cloudy and the air is dirty. Similarly, they also implant material bodily conceptions on the spirit self.

32 Beyond this gross conception of form is another, subtle conception of form which is

without formal shape and is unseen, unheard and unmanifest. The living being has his form beyond this subtlety, otherwise he could not have repeated births.

33 Whenever a person experiences, by selfrealization, that both the gross and subtle bodies have nothing to do with the pure self, at that time he sees himself as well as the Lord.

34 If the illusory energy subsides and the living entity becomes fully enriched with knowledge by the grace of the Lord, then he becomes at once enlightened with selfrealization and thus becomes situated in his own glory.

35 Thus learned men describe the births and activities of the unborn and inactive, which is undiscoverable even in the Vedic literatures. He is the Lord of the heart.

36 The Lord, whose activities are always spotless, is the master of the six senses and is fully omnipotent with six opulences. He creates the manifested universes, maintains them and annihilates them without being in the least affected. He is within every living being and is always independent.

37 The foolish with a poor fund of knowledge cannot know the transcendental nature of the forms, names and activities of the Lord, who is playing like an actor in a drama. Nor can they express such things, neither in their speculations nor in their words.

38 Only those who render unreserved, uninterrupted, favorable service unto the lotus feet of Lord Kṛṣṇa, who carries the wheel of the chariot in His hand, can know the creator of the universe in His full glory, power and transcendence.

39 Only by making such inquiries in this world can one be successful and perfectly cognizant, for such inquiries invoke transcendental ecstatic love unto the Personality of Godhead, who is the proprietor of all the universes, and guarantee centpercent immunity from the dreadful repetition of birth and death.

40 This ŚrīmadBhāgavatam is the literary incarnation of God, and it is compiled by Śrīla Vyāsadeva, the incarnation of God. It is meant for the ultimate good of all people, and it is allsuccessful, allblissful and allperfect.
41Śrī Vyāsadeva delivered it to his son, who is the most respected among the selfrealized, after extracting the cream of all Vedic literatures and histories of the universe.

42Śukadeva Gosvāmī, the son of Vyāsadeva, in his turn delivered the Bhāgavatam to the great Emperor Parīkṣit, who sat surrounded by sages on the bank of the Ganges, awaiting death without taking food or drink.

43 This Bhāgavata Purāṇa is as brilliant as the sun, and it has arisen just after the departure of Lord Kṛṣṇa to His own abode, accompanied by religion, knowledge, etc. Persons who have lost their vision due to the dense darkness of ignorance in the Age of Kali shall get light from this Purāṇa.

44 O learned brāhmaṇas, when Śukadeva Gosvāmī recited Bhāgavatam there [in the presence of Emperor Parīkṣit], I heard him with rapt attention, and thus, by his mercy, I learned the Bhāgavatam from that great and powerful sage. Now I shall try to make you hear the very same thing as I learned it from him and as I have realized it.

## SB 1.4: The Appearance of Śrī Nārada

1 Vyāsadeva said: On hearing Sūta Gosvāmī speak thus, Śaunaka Muni, who was the elderly, learned leader of all the ṛṣis engaged in that prolonged sacrificial ceremony, congratulated Sūta Gosvāmī by addressing him as follows.

2Śaunaka said: O Sūta Gosvāmī, you are the most fortunate and respected of all those who can speak and recite. Please relate the pious message of ŚrīmadBhāgavatam, which was spoken by the great and powerful sage Śukadeva Gosvāmī.

3 In what period and at what place was this first begun, and why was this taken up? From where did Kṛṣṇadvaipāyana Vyāsa, the great sage, get the inspiration to compile this literature?

4 His [Vyāsadeva's] son was a great devotee, an equibalanced monist, whose mind was always concentrated in monism. He was transcendental to mundane activities, but being unexposed, he appeared like an ignorant person.

5 While Śrī Vyāsadeva was following his son, beautiful young damsels who were bathing naked covered their bodies with cloth, although Śrī Vyāsadeva himself was not naked. But they had not done so when his son had passed. The sage inquired about this, and the young ladies replied that his son was purified and when looking at them made no distinction between male and female. But the sage made such distinctions.

6 How was he [Śrīla Śukadeva, the son of Vyāsa] recognized by the citizens when he entered the city of Hastināpura [now Delhi], after wandering in the provinces of Kuru and Jāṅgala, appearing like a madman, dumb and retarded?
7 How did it so happen that King Parīkṣit met this great sage, making it possible for this great transcendental essence of the Vedas [Bhāgavatam] to be sung to him?

8 He [Śukadeva Gosvāmī] was accustomed to stay at the door of a householder only long enough for a cow to be milked. And he did this just to sanctify the residence.

9 It is said that Mahārāja Parīkṣit is a great firstclass devotee of the Lord and that his birth and activities are all wonderful. Please tell us about him.

10 He was a great emperor and possessed all the opulences of his acquired kingdom. He was so exalted that he was increasing the prestige of the Pāṇḍu dynasty. Why did he give up everything to sit down on the bank of the Ganges and fast until death?

11 He was such a great emperor that all his enemies would come and bow down at his feet and surrender all their wealth for their own benefit. He was full of youth and strength, and he possessed kingly opulences that were difficult to give up. Why did he want to give up everything, including his life?

12 Those who are devoted to the cause of the Personality of Godhead live only for the welfare, development and happiness of others. They do not live for any selfish interest. So even though the Emperor [Parīkṣit] was free from all attachment to worldly possessions, how could he give up his mortal body, which was the shelter for others?

13 We know that you are expert in the meaning of all subjects, except some portions of the Vedas, and thus you can clearly explain the answers to all the questions we have just put to

you.

14 Sūta Gosvāmī said: When the second millennium overlapped the third, the great sage [Vyāsadeva] was born to Parāśara in the womb of Satyavatī, the daughter of Vasu.

15 Once upon a time he [Vyāsadeva], as the sun rose, took his morning ablution in the waters of the Sarasvatī and sat alone to concentrate.

16 The great sage Vyāsadeva saw anomalies in the duties of the millennium. This happens on the earth in different ages, due to the unseen force of time.

17-18 The great sage, who was fully equipped in knowledge, could see through his transcendental vision the deterioration of everything material due to the influence of the age. He could also see that the faithless people in general would be reduced in duration of life and would be impatient due to lack of goodness. Thus he contemplated for the welfare of men in all statuses and orders of life.

19 He saw that the sacrifices mentioned in the Vedas were means by which the people's occupations could be purified. And to simplify the process he divided the one Veda into four, in order to expand them among men.

20 The four divisions of the original sources of knowledge [the Vedas] were made separately. But the historical facts and authentic stories mentioned in the Purāṇas are called the fifth Veda.

21 After the Vedas were divided into four divisions, Paila Ṛṣi became the professor of the Ṛg Veda, Jaimini the professor of the Sāma Veda, and Vaiśampāyana alone became glorified by the Yajur Veda.

22 The Sumantu Muni Aṅgirā, who was very devotedly engaged, was entrusted with the Atharva Veda. And my father, Romaharṣaṇa, was entrusted with the Purāṇas and historical records.

23 All these learned scholars, in their turn, rendered their entrusted Vedas unto their many disciples, granddisciples and greatgranddisciples, and thus the respective branches of the followers of the Vedas came into being.

24 Thus the great sage Vyāsadeva, who is very kind to the ignorant masses, edited the Vedas so they might be assimilated by less intellectual men.

25 Out of compassion, the great sage thought it wise that this would enable men to achieve the ultimate goal of life. Thus he compiled the great historical narration called the Mahābhārata for women, laborers and friends of the twiceborn.

26 O twiceborn brāhmaṇas, still his mind was not satisfied, although he engaged himself in working for the total welfare of all people.

27 Thus the sage, being dissatisfied at heart, at once began to reflect, because he knew the essence of religion, and he said within himself:

28-29 I have, under strict disciplinary vows, unpretentiously worshiped the Vedas, the spiritual masters and the altar of sacrifice. I have also abided by the rulings and have shown the import

of disciplic succession through the explanation of the Mahābhārata, by which even women, śūdras and others [friends of the twiceborn] can see the path of religion.

30 I am feeling incomplete, though I myself am fully equipped with everything required by the Vedas.

31 This may be because I did not specifically point out the devotional service of the Lord, which is dear both to perfect beings and to the infallible Lord.

32 As mentioned before, Nārada reached the cottage of Kṛṣṇadvaipāyana Vyāsa on the banks of the Sarasvatī just as Vyāsadeva was regretting his defects.

33 At the auspicious arrival of Śrī Nārada, Śrī Vyāsadeva got up respectfully and worshiped him, giving him veneration equal to that given to Brahmājī, the creator.

**SB 1.5: Nārada's Instructions on ŚrīmadBhāgavatam for Vyāsadeva**

1 Sūta Gosvāmī said: Thus the sage amongst the gods [Nārada], comfortably seated and apparently smiling, addressed the ṛṣi amongst the brāhmaṇas [Vedavyāsa].

2 Addressing Vyāsadeva, the son of Parāśara, Nārada inquired: Are you satisfied by identifying with the body or the mind as objects of selfrealization?

3 Your inquiries were full and your studies were also well fulfilled, and there is no doubt that you have prepared a great and wonderful work, the Mahābhārata, which is full of all kinds of Vedic sequences elaborately explained.

4 You have fully delineated the subject of impersonal Brahman as well as the knowledge derived therefrom. Why should you be despondent in spite of all this, thinking that you are undone, my dear prabhu?

5Śrī Vyāsadeva said: All you have said about me is perfectly correct. Despite all this, I am not pacified. I therefore question you about the root cause of my dissatisfaction, for you are a man of unlimited knowledge due to your being the offspring of one [Brahmā] who is selfborn [without mundane father and mother].

6 My lord! Everything that is mysterious is known to you because you worship the creator and destroyer of the material world and the maintainer of the spiritual world, the original Personality of Godhead, who is transcendental to the three modes of material nature.

7 Like the sun, Your Goodness can travel everywhere in the three worlds, and like the air you can penetrate the internal region of everyone. As such, you are as good as the allpervasive Supersoul. Please, therefore, find out the deficiency in me, despite my being absorbed in transcendence under disciplinary regulations and vows.

8Śrī Nārada said: You have not actually broadcast the sublime and spotless glories of the Personality of Godhead. That philosophy which does not satisfy the transcendental senses of the Lord is considered worthless.

9 Although, great sage, you have very broadly described the four principles beginning with religious performances, you have not described the glories of the Supreme Personality, Vāsudeva.

10 Those words which do not describe the glories of the Lord, who alone can sanctify the atmosphere of the whole universe, are considered by saintly persons to be like unto a place of pilgrimage for crows. Since the allperfect persons are inhabitants of the transcendental abode, they do not derive any pleasure there.

11 On the other hand, that literature which is full of descriptions of the transcendental glories of the name, fame, forms, pastimes, etc., of the unlimited Supreme Lord is a different creation, full of transcendental words directed toward bringing about a revolution in the impious lives of this world's misdirected civilization. Such transcendental literatures, even though imperfectly composed, are heard, sung and accepted by purified men who are thoroughly honest.

12 Knowledge of selfrealization, even though free from all material affinity, does not look well if devoid of a conception of the Infallible [God]. What, then, is the use of fruitive activities, which are naturally painful from the very beginning and transient by nature, if they are not utilized for the devotional service of the Lord?

13 O Vyāsadeva, your vision is completely perfect. Your good fame is spotless. You are firm in vow and situated in truthfulness. And thus you can think of the pastimes of the Lord in trance for the liberation of the people in general from all material bondage.

14 Whatever you desire to describe that is separate in vision from the Lord simply reacts, with different forms, names and results, to agitate the mind, as the wind agitates a boat which has no resting place.

15 The people in general are naturally inclined to enjoy, and you have encouraged them in that way in the name of religion. This is verily condemned and is quite unreasonable. Because they are guided under your instructions, they will accept such activities in the name of religion and will hardly care for prohibitions.

16 The Supreme Lord is unlimited. Only a very expert personality, retired from the activities of material happiness, deserves to understand this knowledge of spiritual values. Therefore those who are not so well situated, due to material attachment, should be shown the ways of transcendental realization, by Your Goodness, through descriptions of the transcendental activities of the Supreme Lord.

17 One who has forsaken his material occupations to engage in the devotional service of the Lord may sometimes fall down while in an immature stage, yet there is no danger of his being unsuccessful. On the other hand, a nondevotee, though fully engaged in occupational duties, does not gain anything.

18 Persons who are actually intelligent and philosophically inclined should endeavor only for that purposeful end which is not obtainable even by wandering from the topmost planet [Brahmaloka] down to the lowest planet [Pātāla]. As far as happiness derived from sense enjoyment is concerned, it can be obtained automatically in course of time, just as in course of time we obtain miseries even though we do not desire them.

19 My dear Vyāsa, even though a devotee of Lord Kṛṣṇa sometimes falls down somehow or other, he certainly does not undergo material existence like others [fruitive workers, etc.] because a person who has once relished the taste of the lotus feet of the Lord can do nothing but remember that ecstasy again and again.

20 The Supreme Lord Personality of Godhead is Himself this cosmos, and still He is aloof from it. From Him only has this cosmic manifestation emanated, in Him it rests, and unto Him it enters after annihilation. Your good self knows all about this. I have given only a synopsis.

21 Your Goodness has perfect vision. You yourself can know the Supersoul Personality of Godhead because you are present as the plenary portion of the Lord. Although you are birthless, you have appeared on this earth for the wellbeing of all people. Please, therefore, describe the transcendental pastimes of the Supreme Personality of Godhead, Śrī Kṛṣṇa more vividly.

22 Learned circles have positively concluded that the infallible purpose of the advancement of knowledge, namely austerities, study of the Vedas, sacrifice, chanting of hymns and charity, culminates in the transcendental descriptions of the Lord, who is defined in choice poetry.

23 O Muni, in the last millennium I was born as the son of a certain maidservant engaged in the service of brāhmaṇas who were following the principles of Vedānta. When they were living together during the four months of the rainy season, I was engaged in their personal service.

24 Although they were impartial by nature, those followers of the Vedānta blessed me with their causeless mercy. As far as I was concerned, I was selfcontrolled and had no attachment for sports, even though I was a boy. In addition, I was not naughty, and I did not speak more than required.
25 Once only, by their permission, I took the remnants of their food, and by so doing all my sins were at once eradicated. Thus being engaged, I became purified in heart, and at that time the very nature of the transcendentalist became attractive to me.

26 O Vyāsadeva, in that association and by the mercy of those great Vedāntists, I could hear them describe the attractive activities of Lord Kṛṣṇa. And thus listening attentively, my taste for hearing of the Personality of Godhead increased at every step.

27 O great sage, as soon as I got a taste of the Personality of Godhead, my attention to hear of the Lord was unflinching. And as my taste developed, I could realize that it was only in my ignorance that I had accepted gross and subtle coverings, for both the Lord and I are transcendental.

28 Thus during two seasons the rainy season and autumn I had the opportunity to hear these greatsouled sages constantly chant the unadulterated glories of the Lord Hari. As the flow of my devotional service began, the coverings of the modes of passion and ignorance vanished.

29 I was very much attached to those sages. I was gentle in behavior, and all my sins were eradicated in their service. In my heart I had strong faith in them. I had subjugated the senses, and I was strictly following them with body and mind.

30 As they were leaving, those bhaktivedāntas, who are very kind to poorhearted souls, instructed me in that most confidential subject which is instructed by the Personality of Godhead Himself.

31 By that confidential knowledge, I could understand clearly the influence of the energy of Lord Śrī Kṛṣṇa, the creator, maintainer and annihilator of everything. By knowing that, one can return to Him and personally meet Him.

32 O Brāhmaṇa Vyāsadeva, it is decided by the learned that the best remedial measure for removing all troubles and miseries is to dedicate one's activities to the service of the Supreme Lord Personality of Godhead [Śrī Kṛṣṇa].

33 O good soul, does not a thing, applied therapeutically, cure a disease which was caused by that very same thing?

34 Thus when all a man's activities are dedicated to the service of the Lord, those very activities which caused his perpetual bondage become the destroyer of the tree of work.

35 Whatever work is done here in this life for the satisfaction of the mission of the Lord is called bhaktiyoga, or transcendental loving service to the Lord, and what is called knowledge becomes a concomitant factor.
36 While performing duties according to the order of Śrī Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, one constantly remembers Him, His names and His qualities.

37 Let us all chant the glories of Vāsudeva along with His plenary expansions Pradyumna, Aniruddha and Saṅkarṣaṇa.

38 Thus he is the actual seer who worships, in the form of transcendental sound representation, the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, who has no material form.
39 O brāhmaṇa, thus by the Supreme Lord Kṛṣṇa I was endowed first with the transcendental knowledge of the Lord as inculcated in the confidential parts of the Vedas, then with the spiritual opulences, and then with His intimate loving service.
40 Please, therefore, describe the almighty Lord's activities which you have learned by your vast knowledge of the Vedas, for that will satisfy the hankerings of great learned men and at the same time mitigate the miseries of the masses of common people who are always suffering from material pangs. Indeed, there is no other way to get out of such miseries.

## SB 1.6: Conversation Between Nārada and Vyāsadeva

1 Sūta said: O brāhmaṇas, thus hearing all about Śrī Nārada's birth and activities, Vyāsadeva, the incarnation of God and son of Satyavatī, inquired as follows.

2Śrī Vyāsadeva said: What did you [Nārada] do after the departure of the great sages who had instructed you in scientific transcendental knowledge before the beginning of your present birth?

3 O son of Brahmā, how did you pass your life after initiation, and how did you attain this body, having quit your old one in due course?

4 O great sage, time annihilates everything in due course, so how is it that this subject matter, which happened prior to this day of Brahmā, is still fresh in your memory, undisturbed by time?

5Śrī Nārada said: The great sages, who had imparted scientific knowledge of transcendence to me, departed for other places, and I had to pass my life in this way.

6 I was the only son of my mother, who was not only a simple woman but a maidservant as well. Since I was her only offspring, she had no other alternative for protection: she bound me with the tie of affection.

7 She wanted to look after my maintenance properly, but because she was not independent, she was not able to do anything for me. The world is under the full control of the Supreme Lord; therefore everyone is like a wooden doll in the hands of a puppet master.

8 When I was a mere child of five years, I lived in a brāhmaṇa school. I was dependent on my mother's affection and had no experience of different lands.

9 Once upon a time, my poor mother, when going out one night to milk a cow, was bitten on the leg by a serpent, influenced by supreme time.

10 I took this as the special mercy of the Lord, who always desires benediction for His devotees, and so thinking, I started for the north.

11 After my departure, I passed through many flourishing metropolises, towns, villages, animal farms, mines, agricultural lands, valleys, flower gardens, nursery gardens and natural forests.

12 I passed through hills and mountains full of reservoirs of various minerals like gold, silver and copper, and through tracts of land with reservoirs of water filled with beautiful lotus flowers, fit for the denizens of heaven, decorated with bewildered bees and singing birds.

13 I then passed alone through many forests of rushes, bamboo, reeds, sharp grass, weeds and caves, which were very difficult to go through alone. I visited deep, dark and dangerously fearful forests, which were the play yards of snakes, owls and jackals.

14 Thus traveling, I felt tired, both bodily and mentally, and I was both thirsty and hungry. So I took a bath in a river lake and also drank water. By contacting water, I got relief from my exhaustion.

15 After that, under the shadow of a banyan tree in an uninhabited forest I began to meditate upon the Supersoul situated within, using my intelligence, as I had learned from liberated souls.

16 As soon as I began to meditate upon the lotus feet of the Personality of Godhead with my mind transformed in transcendental love, tears rolled down my eyes, and without delay the Personality of Godhead, Śrī Kṛṣṇa, appeared on the lotus of my heart.

17 O Vyāsadeva, at that time, being exceedingly overpowered by feelings of happiness, every part of my body became separately enlivened. Being absorbed in an ocean of ecstasy, I could not see both myself and the Lord.
18 The transcendental form of the Lord, as it is, satisfies the mind's desire and at once erases all mental incongruities. Upon losing that form, I suddenly got up, being perturbed, as is usual when one loses that which is desirable.

19 I desired to see again that transcendental form of the Lord, but despite my attempts to concentrate upon the heart with eagerness to view the form again, I could not see Him any more, and thus dissatisfied, I was very much aggrieved.

20 Seeing my attempts in that lonely place, the Personality of Godhead, who is transcendental to all mundane description, spoke to me with gravity and pleasing words, just to mitigate my grief.

21 O Nārada [the Lord spoke], I regret that during this lifetime you will not be able to see Me anymore. Those who are incomplete in service and who are not completely free from all material taints can hardly see Me.

22 O virtuous one, you have only once seen My person, and this is just to increase your desire for Me, because the more you hanker for Me, the more you will be freed from all material desires.

23 By service of the Absolute Truth, even for a few days, a devotee attains firm and fixed intelligence in Me. Consequently he goes on to become My associate in the transcendental world after giving up the present deplorable material worlds.

24 Intelligence engaged in My devotion cannot be thwarted at any time. Even at the time of creation, as well as at the time of annihilation, your remembrance will continue by My mercy.

25 Then that supreme authority, personified by sound and unseen by eyes, but most wonderful, stopped speaking. Feeling a sense of gratitude, I offered my obeisances unto Him, bowing my head.

26 Thus I began chanting the holy name and fame of the Lord by repeated recitation, ignoring all the formalities of the material world. Such chanting and remembering of the transcendental pastimes of the Lord are benedictory. So doing, I traveled all over the earth, fully satisfied, humble and unenvious.

27 And so, O Brāhmaṇa Vyāsadeva, in due course of time I, who was fully absorbed in thinking of Kṛṣṇa and who therefore had no attachments, being completely freed from all material taints, met with death, as lightning and illumination occur simultaneously.

28 Having been awarded a transcendental body befitting an associate of the Personality of Godhead, I quit the body made of five material elements, and thus all acquired fruitive results of work [karma] stopped.
29 At the end of the millennium, when the Personality of Godhead, Lord Nārāyaṇa, lay down within the water of devastation, Brahmā began to enter into Him along with all creative elements, and I also entered through His breathing.

30 After 4,300,000,000 solar years, when Brahmā awoke to create again by the will of the Lord, all the ṛṣis like Marīci, Aṅgirā, Atri and so on were created from the transcendental body of the Lord, and I also appeared along with them.

31 Since then, by the grace of the almighty Viṣṇu, I travel everywhere without restriction both in the transcendental world and in the three divisions of the material world. This is because I am fixed in unbroken devotional service of the Lord.

32 And thus I travel, constantly singing the transcendental message of the glories of the Lord, vibrating this instrument called a vīṇā, which is charged with transcendental sound and which was given to me by Lord Kṛṣṇa.

33 The Supreme Lord Śrī Kṛṣṇa, whose glories and activities are pleasing to hear, at once appears on the seat of my heart, as if called for, as soon as I begin to chant His holy activities.

34 It is personally experienced by me that those who are always full of cares and anxieties due

to desiring contact of the senses with their objects can cross the ocean of nescience on a most suitable boat the constant chanting of the transcendental activities of the Personality of Godhead.

35 It is true that by practicing restraint of the senses by the yoga system one can get relief from the disturbances of desire and lust, but this is not sufficient to give satisfaction to the soul, for this [satisfaction] is derived from devotional service to the Personality of Godhead.

36 O Vyāsadeva, you are freed from all sins. Thus I have explained my birth and activities for selfrealization, as you asked. All this will be conducive for your personal satisfaction also.

37 Sūta Gosvāmī said: Thus addressing Vyāsadeva, Śrīla Nārada Muni took leave of him, and vibrating on his vīṇā instrument, he left to wander at his free will.

38 All glory and success to Śrīla Nārada Muni because he glorifies the activities of the Personality of Godhead, and so doing he himself takes pleasure and also enlivens all the distressed souls of the universe.

**SB 1.7: The Son of Droṇa Punished**

1Ṛṣi Śaunaka asked: O Sūta, the great and transcendentally powerful Vyāsadeva heard everything from Śrī Nārada Muni. So after Nārada's departure, what did Vyāsadeva do?

2Śrī Sūta said: On the western bank of the river Sarasvatī, which is intimately related with the Vedas, there is a cottage for meditation at Śamyāprāsa which enlivens the transcendental activities of the sages.

3 In that place, Śrīla Vyāsadeva, in his own āśrama, which was surrounded by berry trees, sat down to meditate after touching water for purification.

4 Thus he fixed his mind, perfectly engaging it by linking it in devotional service [bhaktiyoga] without any tinge of materialism, and thus he saw the Absolute Personality of Godhead along with His external energy, which was under full control.

5 Due to this external energy, the living entity, although transcendental to the three modes of material nature, thinks of himself as a material product and thus undergoes the reactions of material miseries.

6 The material miseries of the living entity, which are superfluous to him, can be directly mitigated by the linking process of devotional service. But the mass of people do not know this, and therefore the learned Vyāsadeva compiled this Vedic literature, which is in relation to the Supreme Truth.

7 Simply by giving aural reception to this Vedic literature, the feeling for loving devotional service to Lord Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, sprouts up at once to extinguish the fire of lamentation, illusion and fearfulness.

8 The great sage Vyāsadeva, after compiling the ŚrīmadBhāgavatam and revising it, taught it to his own son, ŚrīŚukadeva Gosvāmī, who was already engaged in selfrealization.

9ŚrīŚaunaka asked Sūta Gosvāmī: ŚrīŚukadeva Gosvāmī was already on the path of

selfrealization, and thus he was pleased with his own self. So why did he take the trouble to undergo the study of such a vast literature?

10 Sūta Gosvāmī said: All different varieties of ātmārāmas [those who take pleasure in the ātmā, or spirit self], especially those established on the path of selfrealization, though freed from all kinds of material bondage, desire to render unalloyed devotional service unto the Personality of Godhead. This means that the Lord possesses transcendental qualities and therefore can attract everyone, including liberated souls.

11Śrīla Śukadeva Gosvāmī, son of Śrīla Vyāsadeva, was not only transcendentally powerful. He was also very dear to the devotees of the Lord. Thus he underwent the study of this great narration [ŚrīmadBhāgavatam].

12 Sūta Gosvāmī thus addressed the ṛṣis headed by Śaunaka: Now I shall begin the transcendental narration of the Lord Śrī Kṛṣṇa and topics of the birth, activities and deliverance of King Parīkṣit, the sage amongst kings, as well as topics of the renunciation of the worldly order by the sons of Pāṇḍu.

13-14 When the respective warriors of both camps, namely the Kauravas and the Pāṇḍavas, were killed on the Battlefield of Kurukṣetra and the dead warriors obtained their deserved destinations, and when the son of Dhṛtarāṣṭra fell down lamenting, his spine broken, being beaten by the club of Bhīmasena, the son of Droṇācārya [Aśvatthāmā] beheaded the five sleeping sons of Draupadī and delivered the heads as a prize to his master, foolishly thinking that he would be pleased. Duryodhana, however, disapproved of the heinous act, and he was not pleased in the least.

15 Draupadī, the mother of the five children of the Pāṇḍavas, after hearing of the massacre of her sons, began to cry in distress with eyes full of tears. Trying to pacify her in her great loss, Arjuna spoke to her thus:

16 O gentle lady, when I present you with the head of that brāhmaṇa, after beheading him with arrows from my Gāṇḍīva bow, I shall then wipe the tears from your eyes and pacify you. Then, after burning your sons' bodies, you can take your bath standing on his head.

17 Arjuna, who is guided by the infallible Lord as friend and driver, thus satisfied the dear lady by such statements. Then he dressed in armor and armed himself with furious weapons, and getting into his chariot, he set out to follow Aśvatthāmā, the son of his martial teacher.

18 Aśvatthāmā, the murderer of the princes, seeing from a great distance Arjuna coming at him with great speed, fled in his chariot, panic stricken, just to save his life, as Brahmā fled in fear from Śiva.

19 When the son of the brāhmaṇa [Aśvatthāmā] saw that his horses were tired, he considered that there was no alternative for protection outside of his using the ultimate weapon, the brahmāstra [nuclear weapon].

20 Since his life was in danger, he touched water in sanctity and concentrated upon the chanting of the hymns for throwing nuclear weapons, although he did not know how to withdraw such weapons.

21 Thereupon a glaring light spread in all directions. It was so fierce that Arjuna thought his

own life in danger, and so he began to address Lord Śrī Kṛṣṇa.

22 Arjuna said: O my Lord Śrī Kṛṣṇa, You are the almighty Personality of Godhead. There is no limit to Your different energies. Therefore only You are competent to instill fearlessness in the hearts of Your devotees. Everyone in the flames of material miseries can find the path of liberation in You only.

23 You are the original Personality of Godhead who expands Himself all over the creations and is transcendental to material energy. You have cast away the effects of the material energy by dint of Your spiritual potency. You are always situated in eternal bliss and transcendental knowledge.

24 And yet, though You are beyond the purview of the material energy, You execute the four principles of liberation characterized by religion and so on for the ultimate good of the conditioned souls.

25 Thus You descend as an incarnation to remove the burden of the world and to benefit Your friends, especially those who are Your exclusive devotees and are constantly rapt in meditation upon You.

26 O Lord of lords, how is it that this dangerous effulgence is spreading all around? Where does it come from? I do not understand it.

27 The Supreme Personality of Godhead said: Know from Me that this is the act of the son of Droṇa. He has thrown the hymns of nuclear energy [brahmāstra], and he does not know how to retract the glare. He has helplessly done this, being afraid of imminent death.

28 O Arjuna, only another brahmāstra can counteract this weapon. Since you are expert in the military science, subdue this weapon's glare with the power of your own weapon.

29Śrī Sūta Gosvāmī said: Hearing this from the Personality of Godhead, Arjuna touched water for purification, and after circumambulating Lord Śrī Kṛṣṇa, he cast his brahmāstra weapon to counteract the other one.

30 When the rays of the two brahmāstras combined, a great circle of fire, like the disc of the sun, covered all outer space and the whole firmament of planets.

31 All the population of the three worlds was scorched by the combined heat of the weapons. Everyone was reminded of the sāṁvartaka fire which takes place at the time of annihilation.
32 Thus seeing the disturbance of the general populace and the imminent destruction of the planets, Arjuna at once retracted both brahmāstra weapons, as Lord Śrī Kṛṣṇa desired.

33 Arjuna, his eyes blazing in anger like two red balls of copper, dexterously arrested the son of Gautamī and bound him with ropes like an animal.

34 After binding Aśvatthāmā, Arjuna wanted to take him to the military camp. The Personality of Godhead Śrī Kṛṣṇa, looking on with His lotus eyes, spoke to Arjuna in an angry mood.

35 Lord Śrī Kṛṣṇa said: O Arjuna, you should not show mercy by releasing this relative of a brāhmaṇa [brahmabandhu], for he has killed innocent boys in their sleep.

36 A person who knows the principles of religion does not kill an enemy who is careless, intoxicated, insane, asleep, afraid or devoid of his chariot. Nor does he kill a boy, a woman, a foolish creature or a surrendered soul.

37 A cruel and wretched person who maintains his existence at the cost of others' lives deserves to be killed for his own wellbeing, otherwise he will go down by his own actions.

38 Furthermore, I have personally heard you promise Draupadī that you would bring forth the head of the killer of her sons.

39 This man is an assassin and murderer of your own family members. Not only that, but he has also dissatisfied his master. He is but the burnt remnants of his family. Kill him immediately.

40 Sūta Gosvāmī said: Although Kṛṣṇa, who was examining Arjuna in religion, encouraged Arjuna to kill the son of Droṇācārya, Arjuna, a great soul, did not like the idea of killing him, although Aśvatthāmā was a heinous murderer of Arjuna's family members.

41 After reaching his own camp, Arjuna, along with his dear friend and charioteer [Śrī Kṛṣṇa], entrusted the murderer unto his dear wife, who was lamenting for her murdered sons.

42Śrī Sūta Gosvāmī said: Draupadī then saw Aśvatthāmā, who was bound with ropes like an animal and silent for having enacted the most inglorious murder. Due to her female nature, and due to her being naturally good and wellbehaved, she showed him due respects as a brāhmaṇa.
43 She could not tolerate Aśvatthāmā's being bound by ropes, and being a devoted lady, she said: Release him, release him, for he is a brāhmaṇa, our spiritual master.

44 It was by Droṇācārya's mercy that you learned the military art of throwing arrows and the confidential art of controlling weapons.

45 He [Droṇācārya] is certainly still existing, being represented by his son. His wife Kṛpī did not undergo a satī with him because she had a son.

46 O most fortunate one who know the principles of religion, it is not good for you to cause grief to glorious family members who are always respectable and worshipful.

47 My lord, do not make the wife of Droṇācārya cry like me. I am aggrieved for the death of my sons. She need not cry constantly like me.

48 If the kingly administrative order, being unrestricted in sense control, offends the brāhmaṇa order and enrages them, then the fire of that rage burns up the whole body of the royal family and brings grief upon them all.

49 Sūta Gosvāmī said: O brāhmaṇas, King Yudhiṣṭhira fully supported the statements of the Queen, which were in accordance with the principles of religion and were justified, glorious, full of mercy and equity, and without duplicity.

50 Nakula and Sahadeva [the younger brothers of the King] and also Sātyaki, Arjuna, the Personality of Godhead Lord Sri Kṛṣṇa, son of Devakī, and the ladies and others all unanimously agreed with the King.

51 Bhīma, however, angrily disagreed with them and recommended killing this culprit, who had murdered sleeping children for no purpose and for neither his nor his master's interest.

52 Caturbhuja [the fourarmed one], or the Personality of Godhead, after hearing the words of Bhīma, Draupadī and others, saw the face of His dear friend Arjuna, and He began to speak as if smiling.

53-54 The Personality of Godhead, Śrī Kṛṣṇa said: A friend of a brāhmaṇa is not to be killed, but if he is an aggressor he must be killed. All these rulings are in the scriptures, and you should act accordingly. You have to fulfill your promise to your wife, and you must also act to the satisfaction of Bhīmasena and Me.
55 Sūta Gosvāmī said: Just then Arjuna could understand the motive of the Lord by His equivocal orders, and thus with his sword he severed both hair and jewel from the head of Aśvatthāmā.

56 He [Aśvatthāmā] had already lost his bodily luster due to infanticide, and now, moreover, having lost the jewel from his head, he lost even more strength. Thus he was unbound and driven out of the camp.

57 Cutting the hair from his head, depriving him of his wealth and driving him from his residence are the prescribed punishments for the relative of a brāhmaṇa. There is no injunction for killing the body.

58 Thereafter, the sons of Pāṇḍu, and Draupadī, overwhelmed with grief, performed the proper rituals for the dead bodies of their relatives.

**SB 1.8: Prayers by Queen Kuntī and Parīkṣit Saved**

1Sūta Gosvāmī said: Thereafter the Pāṇḍavas, desiring to deliver water to the dead relatives who had desired it, went to the Ganges with Draupadī. The ladies walked in front.

2Having lamented over them and sufficiently offered Ganges water, they bathed in the Ganges, whose water is sanctified due to being mixed with the dust of the lotus feet of the Lord.

3There sat the King of the Kurus, Mahārāja Yudhiṣṭhira, along with his younger brothers and Dhṛtarāṣṭra, Gāndhārī, Kuntī and Draupadī, all overwhelmed with grief. Lord Kṛṣṇa was also there.

4Citing the stringent laws of the Almighty and their reactions upon living beings, Lord Śrī Kṛṣṇa and the munis began to pacify those who were shocked and affected.

5The clever Duryodhana and his party cunningly usurped the kingdom of Yudhiṣṭhira, who had no enemy. By the grace of the Lord, the recovery was executed, and the unscrupulous kings who joined with Duryodhana were killed by Him. Others also died, their duration of life having decreased for their rough handling of the hair of Queen Draupadī.

6Lord Śrī Kṛṣṇa caused three wellperformed aśvamedhayajṣas [horse sacrifices] to be conducted by Mahārāja Yudhiṣṭhira and thus caused his virtuous fame to be glorified in all directions, like that of Indra, who had performed one hundred such sacrifices.

7Lord Śrī Kṛṣṇa then prepared for His departure. He invited the sons of Pāṇḍu, after having

been worshiped by the brāhmaṇas, headed by Śrīla Vyāsadeva. The Lord also reciprocated greetings.

8As soon as He seated Himself on the chariot to start for Dvārakā, He saw Uttarā hurrying toward Him in fear.

9Uttarā said: O Lord of lords, Lord of the universe! You are the greatest of mystics. Please protect me, protect me, for there is no one else who can save me from the clutches of death in this world of duality.

10O my Lord, You are allpowerful. A fiery iron arrow is coming towards me fast. My Lord, let it burn me personally, if You so desire, but please do not let it burn and abort my embryo. Please do me this favor, my Lord.

11Sūta Gosvāmī said: Having patiently heard her words, Lord Śrī Kṛṣṇa, who is always very affectionate to His devotees, could at once understand that Aśvatthāmā, the son of Droṇācārya, had thrown the brahmāstra to finish the last life in the Pāṇḍava family.

12O foremost among the great thinkers [munis] [Śaunaka], seeing the glaring brahmāstra proceeding towards them, the Pāṇḍavas took up their five respective weapons.

13The almighty Personality of Godhead, Śrī Kṛṣṇa, having observed that a great danger was befalling His unalloyed devotees, who were fully surrendered souls, at once took up His Sudarśana disc to protect them.

14The Lord of supreme mysticism, Śrī Kṛṣṇa, resides within everyone's heart as the Paramātmā. As such, just to protect the progeny of the Kuru dynasty, He covered the embryo of Uttarā by His personal energy.

15O Śaunaka, glory of Bhṛgu's family, although the supreme brahmāstra weapon released by Aśvatthāmā was irresistible and without check or counteraction, it was neutralized and foiled when confronted by the strength of Viṣṇu [Lord Kṛṣṇa].

16O brāhmaṇas, do not think this to be especially wonderful in the activities of the mysterious and infallible Personality of Godhead. By His own transcendental energy He creates, maintains and annihilates all material things, although He Himself is unborn.

17Thus saved from the radiation of the brahmāstra, Kuntī, the chaste devotee of the Lord, and her five sons and Draupadī addressed Lord Kṛṣṇa as He started for home.

18Śrīmatī Kuntī said: O Kṛṣṇa, I offer my obeisances unto You because You are the original personality and are unaffected by the qualities of the material world. You are existing both within and without everything, yet You are invisible to all.

19Being beyond the range of limited sense perception, You are the eternally irreproachable factor covered by the curtain of deluding energy. You are invisible to the foolish observer, exactly as an actor dressed as a player is not recognized.

20You Yourself descend to propagate the transcendental science of devotional service unto the hearts of the advanced transcendentalists and mental speculators, who are purified by being able to discriminate between matter and spirit. How then can we women know You perfectly?

21Let me therefore offer my respectful obeisances unto the Lord, who has become the son of Vasudeva, the pleasure of Devakī, the boy of Nanda and the other cowherd men of Vṛndāvana, and the enlivener of the cows and the senses.

22My respectful obeisances are unto You, O Lord, whose abdomen is marked with a depression like a lotus flower, who are always decorated with garlands of lotus flowers, whose glance is as cool as the lotus and whose feet are engraved with lotuses.

23O Hṛṣīkeśa, master of the senses and Lord of lords, You have released Your mother, Devakī, who was long imprisoned and distressed by the envious King Kaṁsa, and me and my children from a series of constant dangers.

24My dear Kṛṣṇa, Your Lordship has protected us from a poisoned cake, from a great fire, from cannibals, from the vicious assembly, from sufferings during our exile in the forest and from the battle where great generals fought. And now You have saved us from the weapon of Aśvatthāmā.

25I wish that all those calamities would happen again and again so that we could see You again and again, for seeing You means that we will no longer see repeated births and deaths.

26My Lord, Your Lordship can easily be approached, but only by those who are materially exhausted. One who is on the path of [material] progress, trying to improve himself with respectable parentage, great opulence, high education and bodily beauty, cannot approach You with sincere feeling.

27My obeisances are unto You, who are the property of the materially impoverished. You have nothing to do with the actions and reactions of the material modes of nature. You are selfsatisfied, and therefore You are the most gentle and are master of the monists.

28My Lord, I consider Your Lordship to be eternal time, the supreme controller, without beginning and end, the allpervasive one. In distributing Your mercy, You are equal to everyone. The dissensions between living beings are due to social intercourse.

29O Lord, no one can understand Your transcendental pastimes, which appear to be human and so are misleading. You have no specific object of favor, nor do You have any object of envy. People only imagine that You are partial.

30Of course it is bewildering, O soul of the universe, that You work, though You are inactive, and that You take birth, though You are the vital force and the unborn. You Yourself descend amongst animals, men, sages and aquatics. Verily, this is bewildering.

31My dear Kṛṣṇa, Yaśodā took up a rope to bind You when You committed an offense, and Your perturbed eyes overflooded with tears, which washed the mascara from Your eyes. And You were afraid, though fear personified is afraid of You. This sight is bewildering to me.

32Some say that the Unborn is born for the glorification of pious kings, and others say that He is born to please King Yadu, one of Your dearest devotees. You appear in his family as sandalwood appears in the Malaya hills.

33Others say that since both Vasudeva and Devakī prayed for You, You have taken Your birth as their son. Undoubtedly You are unborn, yet You take Your birth for their welfare and to kill those who are envious of the demigods.

34Others say that the world, being overburdened like a boat at sea, is much aggrieved, and that Brahmā, who is Your son, prayed for You, and so You have appeared to diminish the trouble.

35And yet others say that You appeared for the sake of rejuvenating the devotional service of hearing, remembering, worshiping and so on in order that the conditioned souls suffering from material pangs might take advantage and gain liberation.

36O Kṛṣṇa, those who continuously hear, chant and repeat Your transcendental activities, or take pleasure in others' doing so, certainly see Your lotus feet, which alone can stop the repetition of birth and death.

37O my Lord, You have executed all duties Yourself. Are you leaving us today, though we are completely dependent on Your mercy and have no one else to protect us, now when all kings are at enmity with us?

38As the name and fame of a particular body is finished with the disappearance of the living spirit, similarly if You do not look upon us, all our fame and activities, along with the Pāṇḍavas and Yadus, will end at once.

39O Gadādhara [Kṛṣṇa], our kingdom is now being marked by the impressions of Your feet, and therefore it appears beautiful. But when You leave, it will no longer be so.

40All these cities and villages are flourishing in all respects because the herbs and grains are in abundance, the trees are full of fruits, the rivers are flowing, the hills are full of minerals and the oceans full of wealth. And this is all due to Your glancing over them.

41O Lord of the universe, soul of the universe, O personality of the form of the universe, please, therefore, sever my tie of affection for my kinsmen, the Pāṇḍavas and the Vṛṣṇis.

42O Lord of Madhu, as the Ganges forever flows to the sea without hindrance, let my attraction be constantly drawn unto You without being diverted to anyone else.

43O Kṛṣṇa, O friend of Arjuna, O chief amongst the descendants of Vṛṣṇi, You are the destroyer of those political parties which are disturbing elements on this earth. Your prowess never deteriorates. You are the proprietor of the transcendental abode, and You descend to relieve the distresses of the cows, the brāhmaṇas and the devotees. You possess all mystic powers, and You are the preceptor of the entire universe. You are the almighty God, and I offer You my respectful obeisances.

44Sūta Gosvāmī said: The Lord, thus hearing the prayers of Kuntīdevī, composed in choice words for His glorification, mildly smiled. That smile was as enchanting as His mystic power.

45Thus accepting the prayers of Śrīmatī Kuntīdevī, the Lord subsequently informed other ladies of His departure by entering the palace of Hastināpura. But upon preparing to leave, He was stopped by King Yudhiṣṭhira, who implored Him lovingly.

46King Yudhiṣṭhira, who was much aggrieved, could not be convinced, despite instructions by great sages headed by Vyāsa and the Lord Kṛṣṇa Himself, the performer of superhuman feats, and despite all historical evidence.

47King Yudhiṣṭhira, son of Dharma, overwhelmed by the death of his friends, was aggrieved just like a common, materialistic man. O sages, thus deluded by affection, he began to speak.

48King Yudhiṣṭhira said: O my lot! I am the most sinful man! Just see my heart, which is full of ignorance! This body, which is ultimately meant for others, has killed many, many phalanxes of men.

49I have killed many boys, brāhmaṇas, wellwishers, friends, parents, preceptors and brothers. Though I live millions of years, I will not be relieved from the hell that awaits me for all these sins.

50There is no sin for a king who kills for the right cause, who is engaged in maintaining his citizens. But this injunction is not applicable to me.

51I have killed many friends of women, and I have thus caused enmity to such an extent that it is not possible to undo it by material welfare work.

52As it is not possible to filter muddy water through mud, or purify a winestained pot with wine, it is not possible to counteract the killing of men by sacrificing animals.

**SB 1.9: The Passing Away of Bhīṣmadeva in the Presence of Lord Kṛṣṇa**

1Sūta Gosvāmī said: Being afraid for having killed so many subjects on the Battlefield of Kurukṣetra, Mahārāja Yudhiṣṭhira went to the scene of the massacre. There, Bhīṣmadeva was lying on a bed of arrows, about to pass away.

2At that time all his brothers followed him on beautiful chariots drawn by firstclass horses decorated with gold ornaments. With them were Vyāsa and ṛṣis like Dhaumya [the learned priest of the Pāṇḍavas] and others.

3O sage amongst the brāhmaṇas, Lord Śrī Kṛṣṇa, the Personality of Godhead, also followed, seated on a chariot with Arjuna. Thus King Yudhiṣṭhira appeared very aristocratic, like Kuvera surrounded by his companions [the Guhyakas].

4Seeing him [Bhīṣma] lying on the ground, like a demigod fallen from the sky, the Pāṇḍava King Yudhiṣṭhira, along with his younger brothers and Lord Kṛṣṇa, bowed down before him.

5Just to see the chief of the descendants of King Bharata [Bhīṣma], all the great souls in the universe, namely the ṛṣis amongst the demigods, brāhmaṇas and kings, all situated in the quality of goodness, were assembled there.

6-7All the sages like Parvata Muni, Nārada, Dhaumya, Vyāsa the incarnation of God, Bṛhadaśva, Bharadvāja and Paraśurāma and disciples, Vasiṣṭha, Indrapramada, Trita, Gṛtsamada, Asita, Kakṣīvān, Gautama, Atri, Kauśika and Sudarśana were present.

8And many others like Śukadeva Gosvāmīand other purified souls, Kaśyapa and Āṅgirasa and others, all accompanied by their respective disciples, arrived there.

9Bhīṣmadeva, who was the best amongst the eight Vasus, received and welcomed all the great and powerful ṛṣis who were assembled there, for he knew perfectly all the religious principles according to time and place.

10Lord Śrī Kṛṣṇa is situated in everyone's heart, yet He manifests His transcendental form by His internal potency. This very Lord was sitting before Bhīṣmadeva, and since Bhīṣmadeva knew of His glories, he worshiped Him duly.

11The sons of Mahārāja Pāṇḍu were sitting silently nearby, overtaken with affection for their dying grandfather. Seeing this, Bhīṣmadeva congratulated them with feeling. There were tears of ecstasy in his eyes, for he was overwhelmed by love and affection.

12Bhīṣmadeva said: Oh, what terrible sufferings and what terrible injustices you good souls suffer for being the sons of religion personified. You did not deserve to remain alive under those tribulations, yet you were protected by the brāhmaṇas, God and religion.

13As far as my daughterinlaw Kuntī is concerned, upon the great General Pāṇḍu's death, she became a widow with many children, and therefore she suffered greatly. And when you were grown up she suffered a great deal also because of your actions.

14In my opinion, this is all due to inevitable time, under whose control everyone in every planet is carried, just as the clouds are carried by the wind.

15Oh, how wonderful is the influence of inevitable time! It is irreversible otherwise, how can there be reverses in the presence of King Yudhiṣṭhira, the son of the demigod controlling religion; Bhīma, the great fighter with a club; the great bowman Arjuna with his mighty weapon Gāṇḍīva; and above all, the Lord, the direct wellwisher of the Pāṇḍavas?

16O King, no one can know the plan of the Lord [Śrī Kṛṣṇa]. Even though great philosophers inquire exhaustively, they are bewildered.

17O best among the descendants of Bharata [Yudhiṣṭhira], I maintain, therefore, that all this is within the plan of the Lord. Accepting the inconceivable plan of the Lord, you must follow it. You are now the appointed administrative head, and, my lord, you should now take care of those subjects who are now rendered helpless.

18This Śrī Kṛṣṇa is no other than the inconceivable, original Personality of Godhead. He is the first Nārāyaṇa, the supreme enjoyer. But He is moving amongst the descendants of King Vṛṣṇi just like one of us, and He is bewildering us with His selfcreated energy.

19O King, Lord Śiva, Nārada the sage amongst the demigods, and Kapila, the incarnation of Godhead, all know very confidentially about His glories through direct contact.

20O King, that personality whom, out of ignorance only, you thought to be your maternal cousin, your very dear friend, wellwisher, counselor, messenger, benefactor, etc., is that very Personality of Godhead Śrī Kṛṣṇa.

21Being the Absolute Personality of Godhead, He is present in everyone's heart. He is equally kind to everyone, and He is free from the false ego of differentiation. Therefore whatever He does is free from material inebriety. He is equibalanced.

22Yet, despite His being equally kind to everyone, He has graciously come before me while I am ending my life, for I am His unflinching servitor.

23The Personality of Godhead, who appears in the mind of the devotee by attentive devotion and meditation and by chanting of the holy name, releases the devotee from the bondage of fruitive activities at the time of his quitting the material body.

24May my Lord, who is fourhanded and whose beautifully decorated lotus face, with eyes as red as the rising sun, is smiling, kindly await me at that moment when I quit this material body.

25Sūta Gosvāmī said: Mahārāja Yudhiṣṭhira, after hearing Bhīṣmadeva speak in that appealing tone, asked him, in the presence of all the great ṛṣis, about the essential principles of various religious duties.

26At Mahārāja Yudhiṣṭhira's inquiry, Bhīṣmadeva first defined all the classifications of castes and orders of life in terms of the individual's qualifications. Then he systematically, in twofold divisions, described counteraction by detachment and interaction by attachment.

27He then explained, by divisions, acts of charity, the pragmatic activities of a king and activities for salvation. Then he described the duties of women and devotees, both briefly and extensively.

28Then he described the occupational duties of different orders and statuses of life, citing instances from history, for he was himself well acquainted with the truth.

29While Bhīṣmadeva was describing occupational duties, the sun's course ran into the northern hemisphere. This period is desired by mystics who die at their will.

30Thereupon that man who spoke on different subjects with thousands of meanings, and who fought on thousands of battlefields and protected thousands of men, stopped speaking and, being completely freed from all bondage, withdrew his mind from everything else and fixed his wideopen eyes upon the original Personality of Godhead, Śrī Kṛṣṇa, who stood before him, fourhanded, dressed in yellow garments that glittered and shined.

31By pure meditation, looking at Lord Śrī Kṛṣṇa, he at once was freed from all material inauspiciousness and was relieved of all bodily pains caused by the arrow wounds. Thus all the external activities of his senses at once stopped, and he prayed transcendentally to the controller of all living beings while quitting his material body.

32Bhīṣmadeva said: Let me now invest my thinking, feeling and willing, which were so long engaged in different subjects and occupational duties, in the allpowerful Lord Śrī Kṛṣṇa. He is always selfsatisfied, but sometimes, being the leader of the devotees, He enjoys transcendental pleasure by descending to the material world, although from Him only the material world is created.

33Śrī Kṛṣṇa is the intimate friend of Arjuna. He has appeared on this earth in His transcendental body, which resembles the bluish color of the tamāla tree. His body attracts everyone in the three planetary systems [upper, middle and lower]. May His glittering yellow dress and His lotus face, covered with paintings of sandalwood pulp, be the object of my attraction, and may I not desire fruitive results.

34On the battlefield [where Śrī Kṛṣṇa attended Arjuna out of friendship], the flowing hair of Lord Kṛṣṇa turned ashen due to the dust raised by the hoofs of the horses. And because of His labor, beads of sweat wetted His face. All these decorations, intensified by the wounds dealt by my sharp arrows, were enjoyed by Him. Let my mind thus go unto Śrī Kṛṣṇa.

35In obedience to the command of His friend, Lord Śrī Kṛṣṇa entered the arena of the Battlefield of Kurukṣetra between the soldiers of Arjuna and Duryodhana, and while there He shortened the life spans of the opposite party by His merciful glance. This was done simply by His looking at the enemy. Let my mind be fixed upon that Kṛṣṇa.

36When Arjuna was seemingly polluted by ignorance upon observing the soldiers and

commanders before him on the battlefield, the Lord eradicated his ignorance by delivering transcendental knowledge. May His lotus feet always remain the object of my attraction.

37Fulfilling my vow and sacrificing His own promise, He got down from the chariot, took up its wheel, and ran towards me hurriedly, just as a lion goes to kill an elephant. He even dropped His outer garment on the way.

38May He, Lord Śrī Kṛṣṇa, the Personality of Godhead, who awards salvation, be my ultimate destination. On the battlefield He charged me, as if angry because of the wounds dealt by my sharp arrows. His shield was scattered, and His body was smeared with blood due to the wounds.

39At the moment of death, let my ultimate attraction be to Śrī Kṛṣṇa, the Personality of Godhead. I concentrate my mind upon the chariot driver of Arjuna who stood with a whip in His right hand and a bridle rope in His left, who was very careful to give protection to Arjuna's chariot by all means. Those who saw Him on the Battlefield of Kurukṣetra attained their original forms after death.

40Let my mind be fixed upon Lord Śrī Kṛṣṇa, whose motions and smiles of love attracted the damsels of Vrajadhāma [the gopīs]. The damsels imitated the characteristic movements of the Lord [after His disappearance from the rāsa dance].

41At the Rājasūyayajṣa [sacrifice] performed by Mahārāja Yudhiṣṭhira, there was the greatest assembly of all the elite men of the world, the royal and learned orders, and in that great assembly Lord Śrī Kṛṣṇa was worshiped by one and all as the most exalted Personality of Godhead. This happened during my presence, and I remembered the incident in order to keep my mind upon the Lord.

42Now I can meditate with full concentration upon that one Lord, Śrī Kṛṣṇa, now present before me because now I have transcended the misconceptions of duality in regard to His presence in everyone's heart, even in the hearts of the mental speculators. He is in everyone's heart. The sun may be perceived differently, but the sun is one.

43Sūta Gosvāmī said: Thus Bhīṣmadeva merged himself in the Supersoul, Lord Śrī Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, with his mind, speech, sight and actions, and thus he became silent, and his breathing stopped.

44Knowing that Bhīṣmadeva had merged into the unlimited eternity of the Supreme Absolute, all present there became silent like birds at the end of the day.

45Thereafter, both men and demigods sounded drums in honor, and the honest royal order commenced demonstrations of honor and respect. And from the sky fell showers of flowers.

46O descendant of Bhṛgu [Śaunaka], after performing funeral rituals for the dead body of Bhīṣmadeva, Mahārāja Yudhiṣṭhira was momentarily overtaken with grief.

47All the great sages then glorified Lord Śrī Kṛṣṇa, who was present there, by confidential Vedic hymns. Then all of them returned to their respective hermitages, bearing always Lord Kṛṣṇa within their hearts.

48Thereafter, Mahārāja Yudhiṣṭhira at once went to his capital, Hastināpura, accompanied by Lord Śrī Kṛṣṇa, and there he consoled his uncle and aunt Gāndhārī, who was an ascetic.

49After this, the great religious King, Mahārāja Yudhiṣṭhira, executed the royal power in the kingdom strictly according to the codes of royal principles approved by his uncle and confirmed by Lord Śrī Kṛṣṇa.

**SB 1.10: Departure of Lord Kṛṣṇa for Dvārakā**

1Śaunaka Muni asked: After killing his enemies who desired to usurp his rightful inheritance, how did the greatest of all religious men, Mahārāja Yudhiṣṭhira, assisted by his brothers, rule his subjects? Surely he could not freely enjoy his kingdom with unrestricted consciousness.

2Sūta Gosvāmī said: Lord Śrī Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, who is the maintainer of the world, became pleased after reestablishing Mahārāja Yudhiṣṭhira in his own kingdom and after restoring the Kuru dynasty, which had been exhausted by the bamboo fire of anger.

3Mahārāja Yudhiṣṭhira, after being enlightened by what was spoken by Bhīṣmadeva and Lord Śrī Kṛṣṇa, the infallible, engaged himself in matters of perfect knowledge because all his misgivings were eradicated. Thus he ruled over the earth and seas and was followed by his younger brothers.

4During the reign of Mahārāja Yudhiṣṭhira, the clouds showered all the water that people needed, and the earth produced all the necessities of man in profusion. Due to its fatty milk bag and cheerful attitude, the cow used to moisten the grazing ground with milk.

5The rivers, oceans, hills, mountains, forests, creepers and active drugs, in every season, paid their tax quota to the King in profusion.

6Because of the King's having no enemy, the living beings were not at any time disturbed by mental agonies, diseases, or excessive heat or cold.

7Śrī Hari, Lord Śrī Kṛṣṇa, resided at Hastināpura for a few months to pacify His relatives and please His own sister [Subhadrā].

8Afterwards, when the Lord asked permission to depart and the King gave it, the Lord offered His respects to Mahārāja Yudhiṣṭhira by bowing down at his feet, and the King embraced Him. After this the Lord, being embraced by others and receiving their obeisances, got into His chariot.

9-10At that time Subhadrā, Draupadī, Kuntī, Uttarā, Gāndhārī, Dhṛtarāṣṭra, Yuyutsu, Kṛpācārya, Nakula, Sahadeva, Bhīmasena, Dhaumya and Satyavatī all nearly fainted because it was impossible for them to bear separation from Lord Kṛṣṇa.

11-12The intelligent, who have understood the Supreme Lord in association with pure devotees and have become freed from bad materialistic association, can never avoid hearing the glories of the Lord, even though they have heard them only once. How then could the Pāṇḍavas tolerate His separation, for they had been intimately associated with His person, seeing Him face to face, touching Him, conversing with Him, and sleeping, sitting and dining with Him?

13All their hearts were melting for Him on the pot of attraction. They looked at Him without blinking their eyes, and they moved hither and thither in perplexity.

14The female relatives, whose eyes were flooded with tears out of anxiety for Kṛṣṇa, came out of the palace. They could stop their tears only with great difficulty. They feared that tears would cause misfortune at the time of departure.

15While the Lord was departing from the palace of Hastināpura, different types of drums like the mṛdaṅga, dhola, nagra, dhundhurī and dundubhi and flutes of different types, the vīṇā, gomukha and bherī, all sounded together to show Him honor.

16Out of a loving desire to see the Lord, the royal ladies of the Kurus got up on top of the palace, and smiling with affection and shyness, they showered flowers upon the Lord.

17At that time Arjuna, the great warrior and conqueror of sleep, who is the intimate friend of the most beloved Supreme Lord, took up an umbrella which had a handle of jewels and was embroidered with lace and pearls.

18Uddhava and Sātyaki began to fan the Lord with decorated fans, and the Lord, as the master of Madhu, seated on scattered flowers, commanded them along the road.

19It was being heard here and there that the benedictions being paid to Kṛṣṇa were neither befitting nor unbefitting because they were all for the Absolute, who was now playing the part of a human being.

20Absorbed in the thought of the transcendental qualities of the Lord, who is sung in select poetry, the ladies on the roofs of all the houses of Hastināpura began to talk of Him. This talk was more attractive than the hymns of the Vedas.

21They said: Here He is, the original Personality of Godhead as we definitely remember Him. He alone existed before the manifested creation of the modes of nature, and in Him only, because He is the Supreme Lord, all living beings merge, as if sleeping at night, their energy suspended.

22The Personality of Godhead, again desiring to give names and forms to His parts and parcels, the living entities, placed them under the guidance of material nature. By His own potency, material nature is empowered to recreate.

23Here is the same Supreme Personality of Godhead whose transcendental form is experienced by the great devotees who are completely cleansed of material consciousness by dint of rigid devotional service and full control of life and the senses. And that is the only way to purify existence.

24O dear friends, here is that very Personality of Godhead whose attractive and confidential pastimes are described in the confidential parts of Vedic literature by His great devotees. It is He only who creates, maintains and annihilates the material world and yet remains unaffected.

25Whenever there are kings and administrators living like animals in the lowest modes of existence, the Lord in His transcendental form manifests His supreme power, the Truth Positive, shows special mercy to the faithful, performs wonderful activities and manifests various transcendental forms as is necessary in different periods and ages.

26Oh, how supremely glorified is the dynasty of King Yadu, and how virtuous is the land of Mathurā, where the supreme leader of all living beings, the husband of the goddess of fortune, has taken His birth and wandered in His childhood.

27Undoubtedly it is wonderful that Dvārakā has defeated the glories of the heavenly planets and has enhanced the celebrity of the earth. The inhabitants of Dvārakā are always seeing the soul of all living beings [Kṛṣṇa] in His loving feature. He glances at them and favors them with sweet smiles.

28O friends, just think of His wives, whose hands He has accepted. How they must have undergone vows, baths, fire sacrifices and perfect worship of the Lord of the universe to constantly relish now the nectar from His lips [by kissing]. The damsels of Vrajabhūmi would often faint just by expecting such favors.

29The children of these ladies are Pradyumna, Sāmba, Amba, etc. Ladies like Rukmiṇī, Satyabhāmā and Jāmbavatī were forcibly taken away by Him from their svayaṁvara ceremonies after He defeated many powerful kings, headed by Śiśupāla. And other ladies were also forcibly taken away by Him after He killed Bhaumāsura and thousands of his assistants. All of these ladies are glorious.

30All these women auspiciously glorified their lives despite their being without individuality and without purity. Their husband, the lotuseyed Personality of Godhead, never left them alone at home. He always pleased their hearts by making valuable presentations.

31While the ladies of the capital [Hastināpura] were greeting Him and talking in this way, the Lord, smiling, accepted their good greetings, and casting the grace of His glance over them, He departed from the city.

32Mahārāja Yudhiṣṭhira, although no one's enemy, engaged four divisions of defense [horse, elephant, chariot and army] to accompany Lord Kṛṣṇa, the enemy of the asuras [demons]. The Mahārāja did this because of the enemy, and also out of affection for the Lord.

33Out of profound affection for Lord Kṛṣṇa, the Pāṇḍavas, who were of the Kuru dynasty, accompanied Him a considerable distance to see Him off. They were overwhelmed with the thought of future separation. The Lord, however, persuaded them to return home, and He proceeded towards Dvārakā with His dear companions.

34-35O Śaunaka, the Lord then proceeded towards Kurujāṅgala, Pāṣcālā, Śūrasenā, the land on the bank of the river Yamunā, Brahmāvarta, Kurukṣetra, Matsya, Sārasvata, the province of the desert and the land of scanty water. After crossing these provinces He gradually reached the Sauvīra and Ābhīra provinces, then, west of these, reached Dvārakā at last.

36On His journey through these provinces He was welcomed, worshiped and given various presentations. In the evening, in all places, the Lord suspended His journey to perform evening rites. This was regularly observed after sunset.

### SB 1.11: Lord Kṛṣṇa's Entrance into Dvārakā

1Sūta Gosvāmī said: Upon reaching the border of His most prosperous metropolis, known as the country of the Ānartas [Dvārakā], the Lord sounded His auspicious conchshell, heralding His arrival and apparently pacifying the dejection of the inhabitants.

2The white and fatbowled conchshell, being gripped by the hand of Lord Kṛṣṇa and sounded by Him, appeared to be reddened by the touch of His transcendental lips. It seemed that a white swan was playing in the stems of red lotus flowers.

3The citizens of Dvārakā, having heard that sound which threatens fear personified in the material world, began to run towards Him fast, just to have a long desired audience with the Lord, who is the protector of all devotees.

45The citizens arrived before the Lord with their respective presentations, offering them to the fully satisfied and selfsufficient one, who, by His own potency, incessantly supplies others. These presentations were like the offering of a lamp to the sun. Yet the citizens began to speak in ecstatic language to receive the Lord, just as wards welcome their guardian and father.

6The citizens said: O Lord, You are worshiped by all demigods like Brahmā, the four Sanas and even the King of heaven. You are the ultimate rest for those who are really aspiring to achieve the highest benefit of life. You are the supreme transcendental Lord, and inevitable time cannot exert its influence upon You.

7O creator of the universe, You are our mother, wellwisher, Lord, father, spiritual master and worshipable Deity. By following in Your footsteps we have become successful in every respect. We pray, therefore, that You continue to bless us with Your mercy.

8Oh, it is our good luck that we have come again today under Your protection by Your presence, for Your Lordship rarely visits even the denizens of heaven. Now it is possible for us to look into Your smiling face, which is full of affectionate glances. We can now see Your transcendental form, full of all auspiciousness.

9O lotuseyed Lord, whenever You go away to MathurāVṛndāvana or Hastināpura to meet Your friends and relatives, every moment of Your absence seems like millions of years. O infallible one, at that time our eyes become useless, as if bereft of sun.

10O master, if You live abroad all the time, then we cannot look at Your attractive face, whose smiles vanquish all our sufferings. How can we exist without Your presence?

11As Bhogavatī, the capital of Nāgaloka, is protected by the Nāgas, so was Dvārakā protected by the descendants of Vṛṣṇi Bhoja, Madhu, Daśārha, Arha, Kukura, Andhaka, etc. who were as strong as Lord Kṛṣṇa.

12The city of Dvārakāpurī was filled with the opulences of all seasons. There were hermitages, orchards, flower gardens, parks and reservoirs of water breeding lotus flowers all over.

13The city gateway, the household doors and festooned arches along the roads were all nicely decorated with festive signs like plantain trees and mango leaves, all to welcome the Lord. Flags, garlands and painted signs and slogans all combined to shade the sunshine.

14The highways, subways, lanes, markets and public meeting places were all thoroughly cleansed and then moistened with scented water. And to welcome the Lord, fruits, flowers and unbroken seeds were strewn everywhere.

15In each and every door of the residential houses, auspicious things like curd, unbroken fruits, sugarcane and full waterpots with articles for worship, incense and candles were all displayed.

16-17On hearing that the most dear Kṛṣṇa was approaching Dvārakādhāma, magnanimous Vasudeva, Akrūra, Ugrasena, Balarāma (the superhumanly powerful), Pradyumna, Cārudeṣṇa and Sāmba the son of Jāmbavatī, all extremely happy, abandoned resting, sitting and dining.

18They hastened toward the Lord on chariots with brāhmaṇas bearing flowers. Before them were elephants, emblems of good fortune. Conchshells and bugles were sounded, and Vedic hymns were chanted. Thus they offered their respects, which were saturated with affection.

19At the same time, many hundreds of wellknown prostitutes began to proceed on various vehicles. They were all very eager to meet the Lord, and their beautiful faces were decorated with dazzling earrings, which enhanced the beauty of their foreheads.

20Expert dramatists, artists, dancers, singers, historians, genealogists and learned speakers all gave their respective contributions, being inspired by the superhuman pastimes of the Lord. Thus they proceeded on and on.

21Lord Kṛṣṇa, the Personality of Godhead, approached them and offered due honor and respect to each and every one of the friends, relatives, citizens and all others who came to receive and welcome Him.

22The almighty Lord greeted everyone present by bowing His head, exchanging greetings, embracing, shaking hands, looking and smiling, giving assurances and awarding benedictions, even to the lowest in rank.

23Then the Lord personally entered the city accompanied by elderly relatives and invalid brāhmaṇas with their wives, all offering benedictions and singing the glories of the Lord. Others also praised the glories of the Lord.

24When Lord Kṛṣṇa passed over the public roads, all the ladies from the respectable families of Dvārakā went up to the roofs of their palaces just to have a look at the Lord. They considered this to be the greatest festival.

25The inhabitants of Dvārakā were regularly accustomed to look upon the reservoir of all beauty, the infallible Lord, yet they were never satiated.

26The Lord's chest is the abode of the goddess of fortune. His moonlike face is the drinking vessel for eyes which hanker after all that is beautiful. His arms are the resting places for the administrative demigods. And His lotus feet are the refuge of pure devotees who never talk or sing of any subject except His Lordship.

27As the Lord passed along the public road of Dvārakā, His head was protected from the sunshine by a white umbrella. White feathered fans moved in semicircles, and showers of flowers fell upon the road. His yellow garments and garlands of flowers made it appear as if a dark cloud were surrounded simultaneously by sun, moon, lightning and rainbows.

28After entering the house of His father, He was embraced by the mothers present, and the Lord offered His obeisances unto them by placing His head at their feet. The mothers were headed by Devakī [His real mother].

29The mothers, after embracing their son, sat Him on their laps. Due to pure affection, milk sprang from their breasts. They were overwhelmed with delight, and the tears from their eyes wetted the Lord.

30Thereafter, the Lord entered His palaces, which were perfect to the fullest extent. His wives lived in them, and they numbered over sixteen thousand.

31The queens of Lord Śrī Kṛṣṇa rejoiced within their minds to see their husband home after a

long period abroad. The queens got up at once from their seats and meditations. As was socially customary, they covered their faces shyly and looked about coyly.

32The insuperable ecstasy was so strong that the queens, who were shy, first embraced the Lord in the innermost recesses of their hearts. Then they embraced Him visually, and then they sent their sons to embrace Him [which is equal to personal embracing]. But, O chief amongst the Bhṛgus, though they tried to restrain their feelings, they inadvertently shed tears.

33Although Lord Śrī Kṛṣṇa was constantly by their sides, as well as exclusively alone, His feet appeared to them to be newer and newer. The goddess of fortune, although by nature always restless and moving, could not quit the Lord's feet. So what woman can be detached from those feet, having once taken shelter of them?

34The Lord was pacified after killing those kings who were burdensome to the earth. They were puffed up with their military strength, their horses, elephants, chariots, infantry, etc. He Himself was not a party in the fight. He simply created hostility between the powerful administrators, and they fought amongst themselves. He was like the wind which causes friction between bamboos and so sparks a fire.

35That Supreme Personality of Godhead, Śrī Kṛṣṇa, out of His causeless mercy, appeared on this planet by His internal potency and enjoyed Himself amongst competent women as if He were engaging in mundane affairs.

36Although the queens' beautiful smiles and furtive glances were all spotless and exciting, and although they could conquer Cupid himself by making him give up his bow in frustration, and although even the tolerant Śiva could fall victim to them, still, despite all their magical feats and attractions, they could not agitate the senses of the Lord.

37The common materialistic conditioned souls speculate that the Lord is one of them. Out of their ignorance they think that the Lord is affected by matter, although He is unattached.

38This is the divinity of the Personality of Godhead: He is not affected by the qualities of material nature, even though He is in contact with them. Similarly, the devotees who have taken shelter of the Lord do not become influenced by the material qualities.

39The simple and delicate women truly thought that Lord Śrī Kṛṣṇa, their beloved husband, followed them and was dominated by them. They were unaware of the extent of the glories of their husband, as the atheists are unaware of Him as the supreme controller.

## SB 1.12: Birth of Emperor Parīkṣit

1The sage Śaunaka said: The womb of Uttarā, mother of Mahārāja Parīkṣit, was spoiled by the dreadful and invincible brahmāstra weapon released by Aśvatthāmā. But Mahārāja Parīkṣit was saved by the Supreme Lord.

2How was the great emperor Parīkṣit, who was a highly intelligent and great devotee, born in that womb? How did his death take place, and what did he achieve after his death?

3We all respectfully want to hear about him [Mahārāja Parīkṣit] to whom Śukadeva Gosvāmī imparted transcendental knowledge. Please speak on this matter.

4Śrī Sūta Gosvāmī said: Emperor Yudhiṣṭhira administered generously to everyone during his reign. He was exactly like his father. He had no personal ambition and was freed from all sorts

of sense gratification because of his continuous service unto the lotus feet of the Lord Śrī Kṛṣṇa.

5News even reached the celestial planets about Mahārāja Yudhiṣṭhira's worldly possessions, the sacrifices by which he would attain a better destination, his queen, his stalwart brothers, his extensive land, his sovereignty over the planet earth, his fame, etc.

6O brāhmaṇas, the opulence of the King was so enchanting that the denizens of heaven aspired for it. But because he was absorbed in the service of the Lord, nothing could satisfy him except the Lord's service.

7O son of Bhṛgu [Śaunaka], when the child Parīkṣit, the great fighter, was in the womb of his mother, Uttarā, and was suffering from the burning heat of the brahmāstra [thrown by Aśvatthāmā], he could observe the Supreme Lord coming to him.

8He [the Lord] was only thumb high, but He was all transcendental. He had a very beautiful, blackish, infallible body, and He wore a dress of lightning yellow and a helmet of blazing gold. Thus He was seen by the child.

9The Lord was enriched with four hands, earrings of molten gold and eyes blood red with fury. As He loitered about, His club constantly encircled Him like a shooting star.

10The Lord was thus engaged in vanquishing the radiation of the brahmāstra, just as the sun evaporates a drop of dew. He was observed by the child, who thought about who He was.

11While thus being observed by the child, the Supreme Lord Personality of Godhead, the Supersoul of everyone and the protector of the righteous, who stretches in all directions and who is unlimited by time and space, disappeared at once.

12Thereupon, when all the good signs of the zodiac gradually evolved, the heir apparent of Pāṇḍu, who would be exactly like him in prowess, took birth.

13King Yudhiṣṭhira, who was very satisfied with the birth of Mahārāja Parīkṣit, had the purificatory process of birth performed. Learned brāhmaṇas, headed by Dhaumya and Kṛpa, recited auspicious hymns.

14Upon the birth of a son, the King, who knew how, where and when charity should be given, gave gold, land, villages, elephants, horses and good food grains to the brāhmaṇas.

15The learned brāhmaṇas, who were very satisfied with the charities of the King, addressed him as the chief amongst the Pūrus and informed him that his son was certainly in the line of descent from the Pūrus.

16The brāhmaṇas said: This spotless son has been restored by the allpowerful and allpervasive Lord Viṣṇu, the Personality of Godhead, in order to oblige you. He was saved when he was doomed to be destroyed by an irresistible supernatural weapon.

17For this reason this child will be well known in the world as one who is protected by the Personality of Godhead. O most fortunate one, there is no doubt that this child will become a firstclass devotee and will be qualified with all good qualities.

18The good King [Yudhiṣṭhira] inquired: O great souls, will he become as saintly a king, as pious in his very name and as famous and glorified in his achievements, as others who appeared in this great royal family?

19The learned brāhmaṇas said: O son of Pṛthā, this child shall be exactly like King Ikṣvāku, son of Manu, in maintaining all those who are born. And as for following the brahminical principles, especially in being true to his promise, he shall be exactly like Rāma, the Personality of Godhead, the son of Mahārāja Daśaratha.

20This child will be a munificent donor of charity and protector of the surrendered, like the famous King Śibi of the Uśīnara country. And he will expand the name and fame of his family like Bharata, the son of Mahārāja Duṣyanta.

21Amongst great bowmen, this child will be as good as Arjuna. He will be as irresistible as fire and as unsurpassable as the ocean.

22This child will be as strong as a lion, and as worthy a shelter as the Himālaya Mountains. He will be forbearing like the earth, and as tolerant as his parents.

23This child will be like his grandfather Yudhiṣṭhira or Brahmā in equanimity of mind. He will be munificent like the lord of the Kailāsa Hill, Śiva. And he will be the resort of everyone, like the Supreme Personality of Godhead, Nārāyaṇa, who is even the shelter of the goddess of fortune.

24This child will be almost as good as Lord Śrī Kṛṣṇa by following in His footsteps. In magnanimity he will become as great as King Rantideva. And in religion he will be like Mahārāja Yayāti.

25This child will be like Bali Mahārāja in patience, a staunch devotee of Lord Kṛṣṇa like Prahlāda Mahārāja, a performer of many aśvamedha [horse] sacrifices and a follower of the old and experienced men.

26This child will be the father of kings who will be like sages. For world peace and for the sake of religion, he will be the chastiser of the upstarts and the quarrelsome.

27After hearing about his death, which will be caused by the bite of a snakebird sent by a son of a brāhmaṇa, he will get himself freed from all material attachment and surrender unto the Personality of Godhead, taking shelter of Him.

28After inquiring about proper selfknowledge from the son of Vyāsadeva, who will be a great philosopher, he will renounce all material attachment and achieve a life of fearlessness.

29Thus those who were expert in astrological knowledge and in performance of the birth ceremony instructed King Yudhiṣṭhira about the future history of his child. Then, being sumptuously remunerated, they all returned to their respective homes.

30So his son would become famous in the world as Parīkṣit [examiner] because he would come to examine all human beings in his search after that personality whom he saw before his birth. Thus he would come to constantly contemplate Him.

31As the moon, in its waxing fortnight, develops day after day, so the royal prince [Parīkṣit] very soon developed luxuriantly under the care and full facilities of his guardian grandfathers.

32Just at this time, King Yudhiṣṭhira was considering performing a horse sacrifice to get freed from sins incurred from fighting with kinsmen. But he became anxious to get some wealth, for there were no surplus funds outside of fines and tax collection.

33Understanding the hearty wishes of the King, his brothers, as advised by the infallible Lord Kṛṣṇa, collected sufficient riches from the north [left by King Marutta].

34By those riches, the King could procure the ingredients for three horse sacrifices. Thus the pious King Yudhiṣṭhira, who was very fearful after the Battle of Kurukṣetra, pleased Lord Hari, the Personality of Godhead.

35Lord Śrī Kṛṣṇa, the Personality of Godhead, being invited to the sacrifices by Mahārāja Yudhiṣṭhira, saw to it that they were performed by qualified [twiceborn] brāhmaṇas. After that, for the pleasure of the relatives, the Lord remained a few months.

36O Śaunaka, thereafter the Lord, having bade farewell to King Yudhiṣṭhira, Draupadī and other relatives, started for the city of Dvārakā, accompanied by Arjuna and other members of the Yadu dynasty.

**SB 1.13: Dhṛtarāṣṭra Quits Home**

1Śrī Sūta Gosvāmī said: While traveling on a pilgrimage, Vidura received knowledge of the destination of the self from the great sage Maitreya and then returned to Hastināpura. He became as well versed in the subject as he desired.

2After asking various questions and becoming established in the transcendental loving service of Lord Kṛṣṇa, Vidura retired from putting questions to Maitreya Muni.

34When they saw Vidura return to the palace, all the inhabitants Mahārāja Yudhiṣṭhira, his younger brothers, Dhṛtarāṣṭra, Sātyaki, Saṣjaya, Kṛpācārya, Kuntī, Gāndhārī, Draupadī, Subhadrā, Uttarā, Kṛpī, many other wives of the Kauravas, and other ladies with children all hurried to him in great delight. It so appeared that they had regained their consciousness after a long period.

5With great delight they all approached him, as if life had returned to their bodies. They exchanged obeisances and welcomed each other with embraces.

6Due to anxieties and long separation, they all cried out of affection. King Yudhiṣṭhira then arranged to offer sitting accommodations and a reception.

7After Vidura ate sumptuously and took sufficient rest, he was comfortably seated. Then the King began to speak to him, and all who were present there listened.

8Mahārāja Yudhiṣṭhira said: My uncle, do you remember how you always protected us, along with our mother, from all sorts of calamities? Your partiality, like the wings of a bird, saved us from poisoning and arson.

9While traveling on the surface of the earth, how did you maintain your livelihood? At which holy places and pilgrimage sites did you render service?

10My lord, devotees like your good self are verily holy places personified. Because you carry the Personality of Godhead within your heart, you turn all places into places of pilgrimage.

11My uncle, you must have visited Dvārakā. In that holy place are our friends and wellwishers, the descendants of Yadu, who are always rapt in the service of the Lord Śrī Kṛṣṇa. You might have seen them or heard about them. Are they all living happily in their abodes?

12Thus being questioned by Mahārāja Yudhiṣṭhira, Mahātmā Vidura gradually described everything he had personally experienced, except news of the annihilation of the Yadu dynasty.

13Compassionate Mahātmā Vidura could not stand to see the Pāṇḍavas distressed at any time. Therefore he did not disclose this unpalatable and unbearable incident because calamities come of their own accord.

14Thus Mahātmā Vidura, being treated just like a godly person by his kinsmen, remained there for a certain period just to rectify the mentality of his eldest brother and in this way bring happiness to all the others.

15As long as Vidura played the part of a śūdra, being cursed by Maṇḍūka Muni, Aryamā officiated at the post of Yamarāja to punish those who committed sinful acts.

16Having won his kingdom and observed the birth of one grandson competent to continue the noble tradition of his family, Mahārāja Yudhiṣṭhira reigned peacefully and enjoyed uncommon opulence in cooperation with his younger brothers, who were all expert administrators to the common people.

17Insurmountable eternal time imperceptibly overcomes those who are too much attached to family affairs and are always engrossed in their thought.

18Mahātmā Vidura knew all this, and therefore he addressed Dhṛtarāṣṭra, saying: My dear King, please get out of here immediately. Do not delay. Just see how fear has overtaken you.

19This frightful situation cannot be remedied by any person in this material world. My lord, it is the Supreme Personality of Godhead as eternal time [kāla] that has approached us all.

20Whoever is under the influence of supreme kāla [eternal time] must surrender his most dear life, and what to speak of other things, such as wealth, honor, children, land and home.

21Your father, brother, wellwishers and sons are all dead and passed away. You yourself have expended the major portion of your life, your body is now overtaken by invalidity, and you are living in the home of another.

22You have been blind from your very birth, and recently you have become hard of hearing. Your memory is shortened, and your intelligence is disturbed. Your teeth are loose, your liver is defective, and you are coughing up mucus.

23Alas, how powerful are the hopes of a living being to continue his life. Verily, you are living just like a household dog and are eating remnants of food given by Bhīma.

24There is no need to live a degraded life and subsist on the charity of those whom you tried to kill by arson and poisoning. You also insulted their married wife and usurped their kingdom and wealth.

25Despite your unwillingness to die and your desire to live even at the cost of honor and prestige, your miserly body will certainly dwindle and deteriorate like an old garment.

26He is called undisturbed who goes to an unknown, remote place and, freed from all obligations, quits his material body when it has become useless.

27He is certainly a firstclass man who awakens and understands, either by himself or from others, the falsity and misery of this material world and thus leaves home and depends fully on the Personality of Godhead residing within his heart.

28Please, therefore, leave for the North immediately, without letting your relatives know, for soon that time will approach which will diminish the good qualities of men.

29Thus Mahārāja Dhṛtarāṣṭra, the scion of the family of Ajamīḍha, firmly convinced by introspective knowledge [prajṣā], broke at once the strong network of familial affection by his resolute determination. Thus he immediately left home to set out on the path of liberation, as directed by his younger brother Vidura.

30The gentle and chaste Gāndhārī, who was the daughter of King Subala of Kandahar [or Gāndhāra], followed her husband, seeing that he was going to the Himālaya Mountains, which are the delight of those who have accepted the staff of the renounced order like fighters who have accepted a good lashing from the enemy.

31Mahārāja Yudhiṣṭhira, whose enemy was never born, performed his daily morning duties by praying, offering fire sacrifice to the sungod, and offering obeisances, grains, cows, land and gold to the brāhmaṇas. He then entered the palace to pay respects to the elderly. However, he could not find his uncles or aunt, the daughter of King Subala.

32Mahārāja Yudhiṣṭhira, full of anxiety, turned to Saṣjaya, who was sitting there, and said: O Saṣjaya, where is our uncle, who is old and blind?

33Where is my wellwisher, uncle Vidura, and mother Gāndhārī, who is very afflicted due to all her sons' demise? My uncle Dhṛtarāṣṭra was also very mortified due to the death of all his sons and grandsons. Undoubtedly I am very ungrateful. Did he, therefore, take my offenses very seriously and, along with his wife, drown himself in the Ganges?

34When my father, Pāṇḍu, fell down and we were all small children, these two uncles gave us protection from all kinds of calamities. They were always our good wellwishers. Alas, where have they gone from here?

35Sūta Gosvāmī said: Because of compassion and mental agitation, Saṣjaya, not having seen his own master, Dhṛtarāṣṭra, was aggrieved and could not properly reply to Mahārāja Yudhiṣṭhira.

36First he slowly pacified his mind by intelligence, and wiping away his tears and thinking of the feet of his master, Dhṛtarāṣṭra, he began to reply to Mahārāja Yudhiṣṭhira.

37Saṣjaya said: My dear descendant of the Kuru dynasty, I have no information of the determination of your two uncles and Gāndhārī. O King, I have been cheated by those great souls.

38While Saṣjaya was thus speaking, Śrī Nārada, the powerful devotee of the Lord, appeared on the scene carrying his tumburu. Mahārāja Yudhiṣṭhira and his brothers received him properly by getting up from their seats and offering obeisances.

39Mahārāja Yudhiṣṭhira said: O godly personality, I do not know where my two uncles have gone. Nor can I find my ascetic aunt who is griefstricken by the loss of all her sons.

40You are like a captain of a ship in a great ocean and you can direct us to our destination.

Thus addressed, the godly personality, Devarṣi Nārada, greatest of the philosopher devotees, began to speak.

41Śrī Nārada said: O pious King, do not lament for anyone, for everyone is under the control of the Supreme Lord. Therefore all living beings and their leaders carry on worship to be well protected. It is He only who brings them together and disperses them.

42As a cow, bound through the nose by a long rope, is conditioned, so also human beings are bound by different Vedic injunctions and are conditioned to obey the orders of the Supreme.

43As a player sets up and disperses his playthings according to his own sweet will, so the supreme will of the Lord brings men together and separates them.

44O King, in all circumstances, whether you consider the soul to be an eternal principle, or the material body to be perishable, or everything to exist in the impersonal Absolute Truth, or everything to be an inexplicable combination of matter and spirit, feelings of separation are due only to illusory affection and nothing more.

45Therefore give up your anxiety due to ignorance of the self. You are now thinking of how they, who are helpless poor creatures, will exist without you.

46This gross material body made of five elements is already under the control of eternal time [kāla], action [karma] and the modes of material nature [guṇa]. How then can it, being already in the jaws of the serpent, protect others?

47Those who are devoid of hands are prey for those who have hands; those devoid of legs are prey for the fourlegged. The weak are the subsistence of the strong, and the general rule holds that one living being is food for another.

48Therefore, O King, you should look to the Supreme Lord only, who is one without a second and who manifests Himself by different energies and is both within and without.

49That Supreme Personality of Godhead, Lord Śrī Kṛṣṇa, in the guise of alldevouring time [kālarūpa] has now descended to the earth to eliminate the envious from the world.

50The Lord has already performed His duties to help the demigods, and He is awaiting the rest. You Pāṇḍavas may wait as long as the Lord is here on earth.

51O King, your uncle Dhṛtarāṣṭra, his brother Vidura and his wife Gāndhārīhave gone to the southern side of the Himālaya Mountains, where there are shelters of the great sages.

52The place is called Saptasrota ["divided by seven"] because there the waters of the sacred Ganges were divided into seven branches. This was done for the satisfaction of the seven great ṛṣis.

53On the banks at Saptasrota, Dhṛtarāṣṭra is now engaged in beginning aṣṭāṅgayoga by bathing three times daily, in the morning, noon and evening, by performing the Agnihotra sacrifice with fire and by drinking only water. This helps one control the mind and the senses and frees one completely from thoughts of familial affection.

54One who has controlled the sitting postures [the yogic āsanas] and the breathing process can turn the senses toward the Absolute Personality of Godhead and thus become immune to the contaminations of the modes of material nature, namely mundane goodness, passion and

ignorance.

55Dhṛtarāṣṭra will have to amalgamate his pure identity with intelligence and then merge into the Supreme Being with knowledge of his qualitative oneness, as a living entity, with the Supreme Brahman. Being freed from the blocked sky, he will have to rise to the spiritual sky.

56He will have to suspend all the actions of the senses, even from the outside, and will have to be impervious to interactions of the senses, which are influenced by the modes of material nature. After renouncing all material duties, he must become immovably established, beyond all sources of hindrances on the path.

57O King, he will quit his body, most probably on the fifth day from today. And his body will turn to ashes.

58While outside observing her husband, who will burn in the fire of mystic power along with his thatched cottage, his chaste wife will enter the fire with rapt attention.

59Vidura, being affected with delight and grief, will then leave that place of sacred pilgrimage.

60Having spoken thus, the great sage Nārada, along with his vīṇā, ascended into outer space. Yudhiṣṭhira kept his instruction in his heart and so was able to get rid of all lamentations.

**SB 1.14: The Disappearance of Lord Kṛṣṇa**

1Śrī Sūta Gosvāmī said: Arjuna went to Dvārakā to see Lord Śrī Kṛṣṇa and other friends and also to learn from the Lord of His next activities.

2A few months passed, and Arjuna did not return. Mahārāja Yudhiṣṭhira then began to observe some inauspicious omens, which were fearful in themselves.

3He saw that the direction of eternal time had changed, and this was very fearful. There were disruptions in the seasonal regularities. The people in general had become very greedy, angry and deceitful. And he saw that they were adopting foul means of livelihood.

4All ordinary transactions and dealings became polluted with cheating, even between friends. And in familial affairs, there was always misunderstanding between fathers, mothers and sons, between wellwishers, and between brothers. Even between husband and wife there was always strain and quarrel.

5In course of time it came to pass that people in general became accustomed to greed, anger, pride, etc. Mahārāja Yudhiṣṭhira, observing all these omens, spoke to his younger brother.

6Mahārāja Yudhiṣṭhira said to his younger brother Bhīmasena: I sent Arjuna to Dvārakā to meet his friends and to learn from the Personality of Godhead, Kṛṣṇa, of His program of work.

7Since he departed, seven months have passed, yet he has not returned. I do not know factually how things are going there.

8Is He going to quit His earthly pastimes, as Devarṣi Nārada indicated? Has that time already arrived?

9From Him only, all our kingly opulence, good wives, lives, progeny, control over our subjects, victory over our enemies, and future accommodations in higher planets have become possible.

All this is due to His causeless mercy upon us.

10Just see, O man with a tiger's strength, how many miseries due to celestial influences, earthly reactions and bodily pains all very dangerous in themselves are foreboding danger in the near future by deluding our intelligence.

11The left side of my body my thighs, arms and eyes are all quivering again and again. I am having heart palpitations due to fear. All this indicates undesirable happenings.

12Just see, O Bhīma, how the shejackal cries at the rising sun and vomits fire, and how the dog barks at me fearlessly.

13O Bhīmasena, tiger amongst men, now useful animals like cows are passing me on my left side, and lower animals like the asses are circumambulating me. My horses appear to weep upon seeing me.

14Just see! This pigeon is like a messenger of death. The shrieks of the owls and their rival crows make my heart tremble. It appears that they want to make a void of the whole universe.

15Just see how the smoke encircles the sky. It appears that the earth and mountains are throbbing. Just hear the cloudless thunder and see the bolts from the blue.

16The wind blows violently, blasting dust everywhere and creating darkness. Clouds are raining everywhere with bloody disasters.

17The rays of the sun are declining, and the stars appear to be fighting amongst themselves. Confused living entities appear to be ablaze and weeping.

18Rivers, tributaries, ponds, reservoirs and the mind are all perturbed. Butter no longer ignites fire. What is this extraordinary time? What is going to happen?

19The calves do not suck the teats of the cows, nor do the cows give milk. They are standing, crying, tears in their eyes, and the bulls take no pleasure in the pasturing grounds.

20The Deities seem to be crying in the temple, lamenting and perspiring. They seem about to leave. All the cities, villages, towns, gardens, mines and hermitages are now devoid of beauty and bereft of all happiness. I do not know what sort of calamities are now awaiting us.

21I think that all these earthly disturbances indicate some greater loss to the good fortune of the world. The world was fortunate to have been marked with the footprints of the lotus feet of the Lord. These signs indicate that this will no longer be.

22O Brāhmaṇa Śaunaka, while Mahārāja Yudhiṣṭhira, observing the inauspicious signs on the earth at that time, was thus thinking to himself, Arjuna came back from the city of the Yadus [Dvārakā].

23When he bowed at his feet, the King saw that his dejection was unprecedented. His head was down, and tears glided from his lotus eyes.

24Seeing Arjuna pale due to heartfelt anxieties, the King, remembering the indications of the sage Nārada, questioned him in the midst of friends.

25Mahārāja Yudhiṣṭhira said: My dear brother, please tell me whether our friends and relatives,

such as Madhu, Bhoja, Daśārha, Ārha, Sātvata, Andhaka and the members of the Yadu family are all passing their days in happiness.

26Is my respectable grandfather Śūrasena in a happy mood? And are my maternal uncle Vasudeva and his younger brothers all doing well?

27His seven wives, headed by Devakī, are all sisters. Are they and their sons and daughtersinlaw all happy?

28-29Are Ugrasena, whose son was the mischievous Kaṁsa, and his younger brother still living? Are Hṛdīka and his son Kṛtavarmā happy? Are Akrūra, Jayanta, Gada, Sāraṇa and Śatrujit all happy? How is Balarāma, the Personality of Godhead and the protector of devotees?

30How is Pradyumna, the great general of the Vṛṣṇi family? Is He happy? And is Aniruddha, the plenary expansion of the Personality of Godhead, faring well?

31Are all the chieftain sons of Lord Kṛṣṇa, such as Suṣeṇa, Cārudeṣṇa, Sāmba the son of Jāmbavatī, and Ṛṣabha, along with their sons, all doing well?

32-33Also, Śrutadeva, Uddhava and others, Nanda, Sunanda and other leaders of liberated souls who are constant companions of the Lord are protected by Lord Balarāma and Kṛṣṇa. Are they all doing well in their respective functions? Do they, who are all eternally bound in friendship with us, remember our welfare?

34Is Lord Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, who gives pleasure to the cows, the senses and the brāhmaṇas, who is very affectionate towards His devotees, enjoying the pious assembly at Dvārakā Purī surrounded by friends?

3536The original Personality of Godhead, the enjoyer, and Balarāma, the primeval Lord Ananta, are staying in the ocean of the Yadu dynasty for the welfare, protection and general progress of the entire universe. And the members of the Yadu dynasty, being protected by the arms of the Lord, are enjoying life like the residents of the spiritual sky.

37Simply by administering comforts at the lotus feet of the Lord, which is the most important of all services, the queens at Dvārakā, headed by Satyabhāmā, induced the Lord to conquer the demigods. Thus the queens enjoy things which are prerogatives of the wives of the controller of thunderbolts.

38The great heroes of the Yadu dynasty, being protected by the arms of Lord Śrī Kṛṣṇa, always remain fearless in every respect. And therefore their feet trample over the Sudharmā assembly house, which the best demigods deserved but which was taken away from them.

39My brother Arjuna, please tell me whether your health is all right. You appear to have lost your bodily luster. Is this due to others disrespecting and neglecting you because of your long stay at Dvārakā?

40Has someone addressed you with unfriendly words or threatened you? Could you not give charity to one who asked, or could you not keep your promise to someone?

41You are always the protector of the deserving living beings, such as brāhmaṇas, children, cows, women and the diseased. Could you not give them protection when they approached you for shelter?

42Have you contacted a woman of impeachable character, or have you not properly treated a deserving woman? Or have you been defeated on the way by someone who is inferior or equal to you?

43Have you not taken care of old men and boys who deserve to dine with you? Have you left them and taken your meals alone? Have you committed some unpardonable mistake which is considered to be abominable?

44Or is it that you are feeling empty for all time because you might have lost your most intimate friend, Lord Kṛṣṇa? O my brother Arjuna, I can think of no other reason for your becoming so dejected.

**SB 1.15: The Pāṇḍavas Retire Timely**

1Sūta Gosvāmī said: Arjuna, the celebrated friend of Lord Kṛṣṇa, was griefstricken because of his strong feeling of separation from Kṛṣṇa, over and above all Mahārāja Yudhiṣṭhira's speculative inquiries.

2Due to grief, Arjuna's mouth and lotuslike heart had dried up. Therefore his body lost all luster. Now, remembering the Supreme Lord, he could hardly utter a word in reply.

3With great difficulty he checked the tears of grief that smeared his eyes. He was very distressed because Lord Kṛṣṇa was out of his sight, and he increasingly felt affection for Him.

4Remembering Lord Kṛṣṇa and His well wishes, benefactions, intimate familial relations and His chariot driving, Arjuna, overwhelmed and breathing very heavily, began to speak.

5Arjuna said: O King! The Supreme Personality of Godhead, Hari, who treated me exactly like an intimate friend, has left me alone. Thus my astounding power, which astonished even the demigods, is no longer with me.

6I have just lost Him whose separation for a moment would render all the universes unfavorable and void, like bodies without life.

7Only by His merciful strength was I able to vanquish all the lusty princes assembled at the palace of King Drupada for the selection of the bridegroom. With my bow and arrow I could pierce the fish target and thereby gain the hand of Draupadī.

8Because He was near me, it was possible for me to conquer with great dexterity the powerful King of heaven, Indradeva, along with his demigod associates and thus enable the firegod to devastate the Khāṇḍava Forest. And only by His grace was the demon named Maya saved from the blazing Khāṇḍava Forest, and thus we could build our assembly house of wonderful architectural workmanship, where all the princes assembled during the performance of Rājasūyayajṣa and paid you tributes.

9Your respectable younger brother, who possesses the strength of ten thousand elephants, killed, by His grace, Jarāsandha, whose feet were worshiped by many kings. These kings had been brought for sacrifice in Jarāsandha's Mahābhairavayajṣa, but they were thus released. Later they paid tribute to Your Majesty.

10It was He only who loosened the hair of all the wives of the miscreants who dared open the cluster of your Queen's hair, which had been nicely dressed and sanctified for the great Rājasūya sacrificial ceremony. At that time she fell down at the feet of Lord Kṛṣṇa with tears in

her eyes.

11During our exile, Durvāsā Muni, who eats with his ten thousand disciples, intrigued with our enemies to put us in dangerous trouble. At that time He [Lord Kṛṣṇa], simply by accepting the remnants of food, saved us. By His accepting food thus, the assembly of munis, while bathing in the river, felt sumptuously fed. And all the three worlds were also satisfied.

12It was by His influence only that in a fight I was able to astonish the personality of god Lord Śiva and his wife, the daughter of Mount Himālaya. Thus he [Lord Śiva] became pleased with me and awarded me his own weapon. Other demigods also delivered their respective weapons to me, and in addition I was able to reach the heavenly planets in this present body and was allowed a halfelevated seat.

13When I stayed for some days as a guest in the heavenly planets, all the heavenly demigods, including King Indradeva, took shelter of my arms, which were marked with the Gāṇḍīva bow, to kill the demon named Nivātakavaca. O King, descendant of Ajamīḍha, at the present moment I am bereft of the Supreme Personality of Godhead, by whose influence I was so powerful.

14The military strength of the Kauravas was like an ocean in which there dwelled many invincible existences, and thus it was insurmountable. But because of His friendship, I, seated on the chariot, was able to cross over it. And only by His grace was I able to regain the cows and also collect by force many helmets of the kings, which were bedecked with jewels that were sources of all brilliance.

15It was He only who withdrew the duration of life from everyone and who, in the battlefield, withdrew the speculative power and strength of enthusiasm from the great military phalanx made by the Kauravas, headed by Bhīṣma, Karṇa, Droṇa, Śalya, etc. Their arrangement was expert and more than adequate, but He [Lord Śrī Kṛṣṇa], while going forward, did all this.

16Great generals like Bhīṣma, Droṇa, Karṇa, Bhūriśravā, Suśarmā, Śalya, Jayadratha and Bāhlika all directed their invincible weapons against me. But by His [Lord Kṛṣṇa's] grace they could not even touch a hair on my head. Similarly, Prahlāda Mahārāja, the supreme devotee of Lord Nṛsiṁhadeva, was unaffected by the weapons the demons used against him.

17It was by His mercy only that my enemies neglected to kill me when I descended from my chariot to get water for my thirsty horses. And it was due to my lack of esteem for my Lord that I dared engage Him as my chariot driver, for He is worshiped and offered services by the best men to attain salvation.

18O King! His jokings and frank talks were pleasing and beautifully decorated with smiles. His addresses unto me as "O son of Pṛthā, O friend, O son of the Kuru dynasty," and all such heartiness are now remembered by me, and thus I am overwhelmed.

19Generally both of us used to live together and sleep, sit and loiter together. And at the time of advertising oneself for acts of chivalry, sometimes, if there were any irregularity, I used to reproach Him by saying, "My friend, You are very truthful." Even in those hours when His value was minimized, He, being the Supreme Soul, used to tolerate all those utterings of mine, excusing me exactly as a true friend excuses his true friend, or a father excuses his son.

20O Emperor, now I am separated from my friend and dearmost wellwisher, the Supreme Personality of Godhead, and therefore my heart appears to be void of everything. In His

absence I have been defeated by a number of infidel cowherd men while I was guarding the bodies of all the wives of Kṛṣṇa.

21I have the very same Gāṇḍīva bow, the same arrows, the same chariot drawn by the same horses, and I use them as the same Arjuna to whom all the kings offered their due respects. But in the absence of Lord Kṛṣṇa, all of them, at a moment's notice, have become null and void. It is exactly like offering clarified butter on ashes, accumulating money with a magic wand or sowing seeds on barren land.

22-23O King, since you have asked me about our friends and relatives in the city of Dvārakā, I will inform you that all of them were cursed by the brāhmaṇas, and as a result they all became intoxicated with wine made of putrefied rice and fought among themselves with sticks, not even recognizing one another. Now all but four or five of them are dead and gone.

24Factually this is all due to the supreme will of the Lord, the Personality of Godhead. Sometimes people kill one another, and at other times they protect one another.

25-26O King, as in the ocean the bigger and stronger aquatics swallow up the smaller and weaker ones, so also the Supreme Personality of Godhead, to lighten the burden of the earth, has engaged the stronger Yadu to kill the weaker, and the bigger Yadu to kill the smaller.

27Now I am attracted to those instructions imparted to me by the Personality of Godhead [Govinda] because they are impregnated with instructions for relieving the burning heart in all circumstances of time and space.

28Sūta Gosvāmī said: Thus being deeply absorbed in thinking of the instructions of the Lord, which were imparted in the great intimacy of friendship, and in thinking of His lotus feet, Arjuna's mind became pacified and free from all material contamination.

29Arjuna's constant remembrance of the lotus feet of Lord Śrī Kṛṣṇa rapidly increased his devotion, and as a result all the trash in his thoughts subsided.

30Because of the Lord's pastimes and activities and because of His absence, it appeared that Arjuna forgot the instructions left by the Personality of Godhead. But factually this was not the case, and again he became lord of his senses.

31Because of his possessing spiritual assets, the doubts of duality were completely cut off. Thus he was freed from the three modes of material nature and placed in transcendence. There was no longer any chance of his becoming entangled in birth and death, for he was freed from material form.

32Upon hearing of Lord Kṛṣṇa's returning to His abode, and upon understanding the end of the Yadu dynasty's earthly manifestation, Mahārāja Yudhiṣṭhira decided to go back home, back to Godhead.

33Kuntī, after overhearing Arjuna's telling of the end of the Yadu dynasty and disappearance of Lord Kṛṣṇa, engaged in the devotional service of the transcendental Personality of Godhead with full attention and thus gained release from the course of material existence.

34The supreme unborn, Lord Śrī Kṛṣṇa, caused the members of the Yadu dynasty to relinquish their bodies, and thus He relieved the burden of the world. This action was like picking out a thorn with a thorn, though both are the same to the controller.

35The Supreme Lord relinquished the body which He manifested to diminish the burden of the earth. Just like a magician, He relinquishes one body to accept different ones, like the fish incarnation and others.

36When the Personality of Godhead, Lord Kṛṣṇa, left this earthly planet in His selfsame form, from that very day Kali, who had already partially appeared, became fully manifest to create inauspicious conditions for those who are endowed with a poor fund of knowledge.

37Mahārāja Yudhiṣṭhira was intelligent enough to understand the influence of the Age of Kali, characterized by increasing avarice, falsehood, cheating and violence throughout the capital, state, home and among individuals. So he wisely prepared himself to leave home, and he dressed accordingly.

38Thereafter, in the capital of Hastināpura, he enthroned his grandson, who was trained and equally qualified, as the emperor and master of all land bordered by the seas.

39Then he posted Vajra, the son of Aniruddha [grandson of Lord Kṛṣṇa], at Mathurā as the King of Śūrasena. Afterwards Mahārāja Yudhiṣṭhira performed a Prājāpatya sacrifice and placed in himself the fire for quitting household life.

40Mahārāja Yudhiṣṭhira at once relinquished all his garments, belt and ornaments of the royal order and became completely disinterested and unattached to everything.

41Then he amalgamated all the sense organs into the mind, then the mind into life, life into breathing, his total existence into the embodiment of the five elements, and his body into death. Then, as pure self, he became free from the material conception of life.

42Thus annihilating the gross body of five elements into the three qualitative modes of material nature, he merged them in one nescience and then absorbed that nescience in the self, Brahman, which is inexhaustible in all circumstances.

43After that, Mahārāja Yudhiṣṭhira dressed himself in torn clothing, gave up eating all solid foods, voluntarily became dumb and let his hair hang loose. All this combined to make him look like an urchin or madman with no occupation. He did not depend on his brothers for anything. And, just like a deaf man, he heard nothing.

44He then started towards the north, treading the path accepted by his forefathers and great men, to devote himself completely to the thought of the Supreme Personality of Godhead. And he lived in that way wherever he went.

45The younger brothers of Mahārāja Yudhiṣṭhira observed that the Age of Kali had already arrived throughout the world and that the citizens of the kingdom were already affected by irreligious practice. Therefore they decided to follow in the footsteps of their elder brother.

46They all had performed all the principles of religion and as a result rightly decided that the lotus feet of the Lord Śrī Kṛṣṇa are the supreme goal of all. Therefore they meditated upon His feet without interruption.

47-48Thus by pure consciousness due to constant devotional remembrance, they attained the spiritual sky, which is ruled over by the Supreme Nārāyaṇa, Lord Kṛṣṇa. This is attained only by those who meditate upon the one Supreme Lord without deviation. This abode of the Lord Śrī Kṛṣṇa, known as Goloka Vṛndāvana, cannot be attained by persons who are absorbed in the material conception of life. But the Pāṇḍavas, being completely washed of all material

contamination, attained that abode in their very same bodies.

49Vidura, while on pilgrimage, left his body at Prabhāsa. Because he was absorbed in thought of Kṛṣṇa, he was received by the denizens of the Pitṛloka planet, where he returned to his original post.

50Draupadī also saw that her husbands, without caring for her, were leaving home. She knew well about Lord Vāsudeva, Kṛṣṇa, the Personality of Godhead. Both she and Subhadrā became absorbed in thoughts of Kṛṣṇa and attained the same results as their husbands.

51The subject of the departure of the sons of Pāṇḍu for the ultimate goal of life, back to Godhead, is fully auspicious and is perfectly pure. Therefore anyone who hears this narration with devotional faith certainly gains the devotional service of the Lord, the highest perfection of life.

## SB 1.16: How Parīkṣit Received the Age of Kali

1Sūta Gosvāmī said: O learned brāhmaṇas, Mahārāja Parīkṣit then began to rule over the world as a great devotee of the Lord under the instructions of the best of the twiceborn brāhmaṇas. He ruled by those great qualities which were foretold by expert astrologers at the time of his birth.

2King Parīkṣit married the daughter of King Uttara and begot four sons, headed by Mahārāja Janamejaya.

3Mahārāja Parīkṣit, after having selected Kṛpācārya for guidance as his spiritual master, performed three horse sacrifices on the banks of the Ganges. These were executed with sufficient rewards for the attendants. And at these sacrifices, even the common man could see demigods.

4Once, when Mahārāja Parīkṣit was on his way to conquer the world, he saw the master of Kaliyuga, who was lower than a śūdra, disguised as a king and hurting the legs of a cow and bull. The King at once caught hold of him to deal sufficient punishment.

5Śaunaka Ṛṣi inquired: Why did Mahārāja Parīkṣit simply punish him, since he was the lowest of the śūdras, having dressed as a king and having struck a cow on the leg? Please describe all these incidents if they relate to the topics of Lord Kṛṣṇa.

6The devotees of the Lord are accustomed to licking up the honey available from the lotus feet of the Lord. What is the use of topics which simply waste one's valuable life?

7O Sūta Gosvāmī, there are those amongst men who desire freedom from death and get eternal life. They escape the slaughtering process by calling the controller of death, Yamarāja.

8As long as Yamarāja, who causes everyone's death, is present here, no one shall meet with death. The great sages have invited the controller of death, Yamarāja, who is the representative of the Lord. Living beings who are under his grip should take advantage by hearing the deathless nectar in the form of this narration of the transcendental pastimes of the Lord.

9Lazy human beings with paltry intelligence and a short duration of life pass the night sleeping and the day performing activities that are for naught.

10Sūta Gosvāmī said: While Mahārāja Parīkṣit was residing in the capital of the Kuru empire, the symptoms of the Age of Kali began to infiltrate within the jurisdiction of his state. When he learned about this, he did not think the matter very palatable. This did, however, give him a chance to fight. He took up his bow and arrows and prepared himself for military activities.

11Mahārāja Parīkṣit sat on a chariot drawn by black horses. His flag was marked with the sign of a lion. Being so decorated and surrounded by charioteers, cavalry, elephants and infantry soldiers, he left the capital to conquer in all directions.

12Mahārāja Parīkṣit then conquered all parts of the earthly planet Bhadrāśva, Ketumāla, Bhārata, the northern Kuru, Kimpuruṣa, etc. and exacted tributes from their respective rulers.

1315Wherever the King visited, he continuously heard the glories of his great forefathers, who were all devotees of the Lord, and also of the glorious acts of Lord Kṛṣṇa. He also heard how he himself had been protected by the Lord from the powerful heat of the weapon of Aśvatthāmā. People also mentioned the great affection between the descendants of Vṛṣṇi and Pṛthā due to the latter's great devotion to Lord Keśava. The King, being very pleased with the singers of such glories, opened his eyes in great satisfaction. Out of magnanimity he was pleased to award them very valuable necklaces and clothing.

16Mahārāja Parīkṣit heard that out of His causeless mercy Lord Kṛṣṇa [Viṣṇu], who is universally obeyed, rendered all kinds of service to the malleable sons of Pāṇḍu by accepting posts ranging from chariot driver to president to messenger, friend, night watchman, etc., according to the will of the Pāṇḍavas, obeying them like a servant and offering obeisances like one younger in years. When he heard this, Mahārāja Parīkṣit became overwhelmed with devotion to the lotus feet of the Lord.

17Now you may hear from me of what happened while Mahārāja Parīkṣit was passing his days hearing of the good occupations of his forefathers and being absorbed in thought of them.

18The personality of religious principles, Dharma, was wandering about in the form of a bull. And he met the personality of earth in the form of a cow who appeared to grieve like a mother who had lost her child. She had tears in her eyes, and the beauty of her body was lost. Thus Dharma questioned the earth as follows.

19Dharma [in the form of a bull] asked: Madam, are you not hale and hearty? Why are you covered with the shadow of grief? It appears by your face that you have become black. Are you suffering from some internal disease, or are you thinking of some relative who is away in a distant place?

20I have lost my three legs and am now standing on one only. Are you lamenting for my state of existence? Or are you in great anxiety because henceforward the unlawful meateaters will exploit you? Or are you in a sorry plight because the demigods are now bereft of their share of sacrificial offerings because no sacrifices are being performed at present? Or are you grieving for living beings because of their sufferings due to famine and drought?

21Are you feeling compunction for the unhappy women and children who are left forlorn by unscrupulous persons? Or are you unhappy because the goddess of learning is being handled by brāhmaṇas addicted to acts against the principles of religion? Or are you sorry to see that the brāhmaṇas have taken shelter of administrative families that do not respect brahminical culture?

22The socalled administrators are now bewildered by the influence of this Age of Kali, and

thus they have put all state affairs into disorder. Are you now lamenting this disorder? Now the general populace does not follow the rules and regulations for eating, sleeping, drinking, mating, etc., and they are inclined to perform such anywhere and everywhere. Are you unhappy because of this?

23O mother earth, the Supreme Personality of Godhead, Hari, incarnated Himself as Lord Śrī Kṛṣṇa just to unload your heavy burden. All His activities here are transcendental, and they cement the path of liberation. You are now bereft of His presence. You are probably now thinking of those activities and feeling sorry in their absence.

24Mother, you are the reservoir of all riches. Please inform me of the root cause of your tribulations by which you have been reduced to such a weak state. I think that the powerful influence of time, which conquers the most powerful, might have forcibly taken away all your fortune, which was adored even by the demigods.

25The earthly deity [in the form of a cow] thus replied to the personality of religious principles [in the form of a bull]: O Dharma, whatever you have inquired from me shall be known to you. I shall try to reply to all those questions. Once you too were maintained by your four legs, and you increased happiness all over the universe by the mercy of the Lord.

26-30In Him reside (1) truthfulness, (2) cleanliness, (3) intolerance of another's unhappiness, (4) the power to control anger, (5) selfsatisfaction, (6) straightforwardness, (7) steadiness of mind, (8) control of the sense organs, (9) responsibility, (10) equality, (11) tolerance, (12) equanimity, (13) faithfulness, (14) knowledge, (15) absence of sense enjoyment, (16) leadership, (17) chivalry, (18) influence, (19) the power to make everything possible, (20) the discharge of proper duty, (21) complete independence, (22) dexterity, (23) fullness of all beauty, (24) serenity, (25) kindheartedness, (26) ingenuity, (27) gentility, (28) magnanimity, (29) determination, (30) perfection in all knowledge, (31) proper execution, (32) possession of all objects of enjoyment, (33) joyfulness, (34) immovability, (35) fidelity, (36) fame, (37) worship, (38) pridelessness, (39) being (as the Personality of Godhead), (40) eternity, and many other transcendental qualities which are eternally present and never to be separated from Him. That Personality of Godhead, the reservoir of all goodness and beauty, Lord Śrī Kṛṣṇa, has now closed His transcendental pastimes on the face of the earth. In His absence the Age of Kali has spread its influence everywhere, so I am sorry to see this condition of existence.

31I am thinking about myself and also, O best amongst the demigods, about you, as well as about all the demigods, sages, denizens of Pitṛloka, devotees of the Lord and all men obedient to the system of varṇa and āśrama in human society.

32-33Lakṣmījī, the goddess of fortune, whose glance of grace was sought by demigods like Brahmā and for whom they surrendered many a day unto the Personality of Godhead, gave up her own abode in the forest of lotus flowers and engaged herself in the service of the lotus feet of the Lord. I was endowed with specific powers to supersede the fortune of all the three planetary systems by being decorated with the impressions of the flag, thunderbolt, elephantdriving rod and lotus flower, which are signs of the lotus feet of the Lord. But at the end, when I felt I was so fortunate, the Lord left me.

34O personality of religion, I was greatly overburdened by the undue military phalanxes arranged by atheistic kings, and I was relieved by the grace of the Personality of Godhead. Similarly you were also in a distressed condition, weakened in your standing strength, and thus He also incarnated by His internal energy in the family of the Yadus to relieve you.

35Who, therefore, can tolerate the pangs of separation from that Supreme Personality of Godhead? He could conquer the gravity and passionate wrath of His sweethearts like Satyabhāmā by His sweet smile of love, pleasing glance and hearty appeals. When He traversed my [earth's] surface, I would be immersed in the dust of His lotus feet and thus would be sumptuously covered with grass which appeared like hairs standing on me out of pleasure.

36While the earth and the personality of religion were thus engaged in conversation, the saintly King Parīkṣit reached the shore of the Sarasvatī River, which flowed towards the east.

**SB 1.17: Punishment and Reward of Kali**

1Sūta Gosvāmī said: After reaching that place, Mahārāja Parīkṣit observed that a lowercaste śūdra, dressed like a king, was beating a cow and a bull with a club, as if they had no owner.

2The bull was as white as a white lotus flower. He was terrified of the śūdra who was beating him, and he was so afraid that he was standing on one leg, trembling and urinating.

3Although the cow is beneficial because one can draw religious principles from her, she was now rendered poor and calfless. Her legs were being beaten by a śūdra. There were tears in her eyes, and she was distressed and weak. She was hankering after some grass in the field.

4Mahārāja Parīkṣit, well equipped with arrows and bow and seated on a goldembossed chariot, spoke to him [the śūdra] with a deep voice sounding like thunder.

5Oh, who are you? You appear to be strong and yet you dare kill, within my protection, those who are helpless! By your dress you pose yourself to be a godly man [king], but by your deeds you are opposing the principles of the twiceborn kṣatriyas.

6You rogue, do you dare beat an innocent cow because Lord Kṛṣṇa and Arjuna, the carrier of the Gāṇḍīva bow, are out of sight? Since you are beating the innocent in a secluded place, you are considered a culprit and therefore deserve to be killed.

7Then he [Mahārāja Parīkṣit] asked the bull: Oh, who are you? Are you a bull as white as a white lotus, or are you a demigod? You have lost three of your legs and are moving on only one. Are you some demigod causing us grief in the form of a bull?

8Now for the first time in a kingdom well protected by the arms of the kings of the Kuru dynasty, I see you grieving with tears in your eyes. Up till now no one on earth has ever shed tears because of royal negligence.

9O son of Surabhi, you need lament no longer now. There is no need to fear this lowclass śūdra. And, O mother cow, as long as I am living as the ruler and subduer of all envious men, there is no cause for you to cry. Everything will be good for you.

10-11O chaste one, the king's good name, duration of life and good rebirth vanish when all kinds of living beings are terrified by miscreants in his kingdom. It is certainly the prime duty of the king to subdue first the sufferings of those who suffer. Therefore I must kill this most wretched man because he is violent against other living beings.

12He [Mahārāja Parīkṣit] repeatedly addressed and questioned the bull thus: O son of Surabhi, who has cut off your three legs? In the state of the kings who are obedient to the laws of the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, there is no one as unhappy as you.

13O bull, you are offenseless and thoroughly honest; therefore I wish all good to you. Please tell me of the perpetrator of these mutilations, which blacken the reputation of the sons of Pṛthā.

14Whoever causes offenseless living beings to suffer must fear me anywhere and everywhere in the world. By curbing dishonest miscreants, one automatically benefits the offenseless.

15An upstart living being who commits offenses by torturing those who are offenseless shall be directly uprooted by me, even though he be a denizen of heaven with armor and decorations.

16The supreme duty of the ruling king is to give all protection to lawabiding persons and to chastise those who stray from the ordinances of the scriptures in ordinary times, when there is no emergency.

17The personality of religion said: These words just spoken by you befit a person of the Pāṇḍava dynasty. Captivated by the devotional qualities of the Pāṇḍavas, even Lord Kṛṣṇa, the Personality of Godhead, performed duties as a messenger.

18O greatest among human beings, it is very difficult to ascertain the particular miscreant who has caused our sufferings, because we are bewildered by all the different opinions of theoretical philosophers.

19Some of the philosophers, who deny all sorts of duality, declare that one's own self is responsible for his personal happiness and distress. Others say that superhuman powers are responsible, while yet others say that activity is responsible, and the gross materialists maintain that nature is the ultimate cause.

20There are also some thinkers who believe that no one can ascertain the cause of distress by argumentation, nor know it by imagination, nor express it by words. O sage amongst kings, judge for yourself by thinking over all this with your own intelligence.

21Sūta Gosvāmī said: O best among the brāhmaṇas, the Emperor Parīkṣit, thus hearing the personality of religion speak, was fully satisfied, and without mistake or regret he gave his reply.

22The King said: O you, who are in the form of a bull! You know the truth of religion, and you are speaking according to the principle that the destination intended for the perpetrator of irreligious acts is also intended for one who identifies the perpetrator. You are no other than the personality of religion.

23Thus it is concluded that the Lord's energies are inconceivable. No one can estimate them by mental speculation or by word jugglery.

24In the age of Satya [truthfulness] your four legs were established by the four principles of austerity, cleanliness, mercy and truthfulness. But it appears that three of your legs are broken due to rampant irreligion in the form of pride, lust for women, and intoxication.

25You are now standing on one leg only, which is your truthfulness, and you are somehow or other hobbling along. But quarrel personified [Kali], flourishing by deceit, is also trying to destroy that leg.

26The burden of the earth was certainly diminished by the Personality of Godhead and by others as well. When He was present as an incarnation, all good was performed because of His

auspicious footprints.

27Now she, the chaste one, being unfortunately forsaken by the Personality of Godhead, laments her future with tears in her eyes, for now she is being ruled and enjoyed by lowerclass men who pose as rulers.

28Mahārāja Parīkṣit, who could fight one thousand enemies singlehandedly, thus pacified the personality of religion and the earth. Then he took up his sharp sword to kill the personality of Kali, who is the cause of all irreligion.

29When the personality of Kali understood that the King was willing to kill him, he at once abandoned the dress of a king and, under pressure of fear, completely surrendered to him, bowing his head.

30Mahārāja Parīkṣit, who was qualified to accept surrender and worthy of being sung in history, did not kill the poor surrendered and fallen Kali, but smiled compassionately, for he was kind to the poor.

31The King thus said: We have inherited the fame of Arjuna; therefore since you have surrendered yourself with folded hands you need not fear for your life. But you cannot remain in my kingdom, for you are the friend of irreligion.

32If the personality of Kali, irreligion, is allowed to act as a mangod or an executive head, certainly irreligious principles like greed, falsehood, robbery, incivility, treachery, misfortune, cheating, quarrel and vanity will abound.

33Therefore, O friend of irreligion, you do not deserve to remain in a place where experts perform sacrifices according to truth and religious principles for the satisfaction of the Supreme Personality of Godhead.

34In all sacrificial ceremonies, although sometimes a demigod is worshiped, the Supreme Lord Personality of Godhead is worshiped because He is the Supersoul of everyone, and exists both inside and outside like the air. Thus it is He only who awards all welfare to the worshiper.

35Śrī Sūta Gosvāmī said: The personality of Kali, thus being ordered by Mahārāja Parīkṣit, began to tremble in fear. Seeing the King before him like Yamarāja, ready to kill him, Kali spoke to the King as follows.

36O Your Majesty, though I may live anywhere and everywhere under your order, I shall but see you with bow and arrows wherever I look.

37Therefore, O chief amongst the protectors of religion, please fix some place for me where I can live permanently under the protection of your government.

38Sūta Gosvāmī said: Mahārāja Parīkṣit, thus being petitioned by the personality of Kali, gave him permission to reside in places where gambling, drinking, prostitution and animal slaughter were performed.

39The personality of Kali asked for something more, and because of his begging, the King gave him permission to live where there is gold because wherever there is gold there is also falsity, intoxication, lust, envy and enmity.

40Thus the personality of Kali, by the directions of Mahārāja Parīkṣit, the son of Uttarā, was

allowed to live in those five places.

41Therefore, whoever desires progressive wellbeing, especially kings, religionists, public leaders, brāhmaṇas and sannyāsīs, should never come in contact with the four abovementioned irreligious principles.

42Thereafter the King reestablished the lost legs of the personality of religion [the bull], and by encouraging activities he sufficiently improved the condition of the earth.

43-44The most fortunate emperor Mahārāja Parīkṣit, who was entrusted with the kingdom of Hastināpura by Mahārāja Yudhiṣṭhira when he desired to retire to the forest, is now ruling the world with great success due to his being glorified by the deeds of the kings of the Kuru dynasty.

45Mahārāja Parīkṣit, the son of Abhimanyu, is so experienced that by dint of his expert administration and patronage, it has been possible for you to perform a sacrifice such as this.

**SB 1.18: Mahārāja Parīkṣit Cursed by a Brāhmaṇa Boy**

1Śrī Sūta Gosvāmī said: Due to the mercy of the Personality of Godhead, Śrī Kṛṣṇa, who acts wonderfully, Mahārāja Parīkṣit, though struck by the weapon of the son of Droṇa in his mother's womb, could not be burned.

2Furthermore, Mahārāja Parīkṣit was always consciously surrendered to the Personality of Godhead, and therefore he was neither afraid nor overwhelmed by fear due to a snakebird which was to bite him because of the fury of a brāhmaṇa boy.

3Furthermore, after leaving all his associates, the King surrendered himself as a disciple to the son of Vyāsa [Śukadeva Gosvāmī], and thus he was able to understand the actual position of the Personality of Godhead, and at last gave up his material body on the bank of the Ganges.

4This was so because those who have dedicated their lives to the transcendental topics of the Personality of Godhead, of whom the Vedic hymns sing, and who are constantly engaged in remembering the lotus feet of the Lord, do not run the risk of having misconceptions even at the last moment of their lives.

5As long as the great, powerful son of Abhimanyu remains the Emperor of the world, there is no chance that the personality of Kali will flourish.

6The very day and moment the Personality of Godhead, Lord Śrī Kṛṣṇa, left this earth, the personality of Kali, who promotes all kinds of irreligious activities, came into this world.

7Mahārāja Parīkṣit was a realist, like the bees who only accept the essence [of a flower]. He knew perfectly well that in this Age of Kali, auspicious things produce good effects immediately, whereas inauspicious acts must be actually performed [to render effects]. So he was never envious of the personality of Kali.

8Mahārāja Parīkṣit considered that less intelligent men might find the personality of Kali to be very powerful, but that those who are selfcontrolled would have nothing to fear. The King was powerful like a tiger and took care for the foolish, careless persons.

9O sages, as you did ask me, now I have described almost everything regarding the narrations about Lord Kṛṣṇa in connection with the history of the pious Mahārāja Parīkṣit.

10Those who are desirous of achieving complete perfection in life must submissively hear all topics that are connected with the transcendental activities and qualities of the Personality of Godhead, who acts wonderfully.

11The good sages said: O grave Sūta Gosvāmī! May you live many years and have eternal fame, for you are speaking very nicely about the activities of Lord Kṛṣṇa, the Personality of Godhead. This is just like nectar for mortal beings like us.

12We have just begun the performance of this fruitive activity, a sacrificial fire, without certainty of its result due to the many imperfections in our action. Our bodies have become black from the smoke, but we are factually pleased by the nectar of the lotus feet of the Personality of Godhead, Govinda, which you are distributing.

13The value of a moment's association with the devotee of the Lord cannot even be compared to the attainment of heavenly planets or liberation from matter, and what to speak of worldly benedictions in the form of material prosperity, which are for those who are meant for death.

14The Personality of Godhead, Lord Kṛṣṇa [Govinda], is the exclusive shelter for all great living beings, and His transcendental attributes cannot even be measured by such masters of mystic powers as Lord Śiva and Lord Brahmā. Can anyone who is expert in relishing nectar [rasa] ever be fully satiated by hearing topics about Him?

15O Sūta Gosvāmī, you are a learned and pure devotee of the Lord because the Personality of Godhead is your chief object of service. Therefore please describe to us the pastimes of the Lord, which are above all material conception, for we are anxious to receive such messages.

16O Sūta Gosvāmī, please describe those topics of the Lord by which Mahārāja Parīkṣit, whose intelligence was fixed on liberation, attained the lotus feet of the Lord, who is the shelter of Garuḍa, the king of birds. Those topics were vibrated by the son of Vyāsa [Śrīla Śukadeva].

17Thus please narrate to us the narrations of the Unlimited, for they are purifying and supreme. They were spoken to Mahārāja Parīkṣit, and they are very dear to the pure devotees, being full of bhaktiyoga.

18Śrī Sūta Gosvāmī said: O God, although we are born in a mixed caste, we are still promoted in birthright simply by serving and following the great who are advanced in knowledge. Even by conversing with such great souls, one can without delay cleanse oneself of all disqualifications resulting from lower births.

19And what to speak of those who are under the direction of the great devotees, chanting the holy name of the Unlimited, who has unlimited potency? The Personality of Godhead, unlimited in potency and transcendental by attributes, is called Ananta [Unlimited].

20It is now ascertained that He [the Personality of Godhead] is unlimited and there is none equal to Him. Consequently no one can speak of Him adequately. Great demigods cannot obtain the favor of the goddess of fortune even by prayers, but this very goddess renders service unto the Lord, although He is unwilling to have such service.

21Who can be worthy of the name of the Supreme Lord but the Personality of Godhead, Śrī Kṛṣṇa? Brahmājī collected the water emanating from the nails of His feet in order to award it to Lord Śiva as a worshipful welcome. This very water [the Ganges] is purifying the whole universe, including Lord Śiva.

22Selfcontrolled persons who are attached to the Supreme Lord Śrī Kṛṣṇa can all of a sudden give up the world of material attachment, including the gross body and subtle mind, and go away to attain the highest perfection of the renounced order of life, by which nonviolence and renunciation are consequential.

23O ṛṣis, who are as powerfully pure as the sun, I shall try to describe to you the transcendental pastimes of Viṣṇu as far as my knowledge is concerned. As the birds fly in the sky as far as their capacity allows, so do the learned devotees describe the Lord as far as their realization allows.

24-25Once upon a time Mahārāja Parīkṣit, while engaged in hunting in the forest with bow and arrows, became extremely fatigued, hungry and thirsty while following the stags. While searching for a reservoir of water, he entered the hermitage of the wellknown Śamīka Ṛṣi and saw the sage sitting silently with closed eyes.

26The muni's sense organs, breath, mind and intelligence were all restrained from material activities, and he was situated in a trance apart from the three [wakefulness, dream and unconsciousness], having achieved a transcendental position qualitatively equal with the Supreme Absolute.

27The sage, in meditation, was covered by the skin of a stag, and long, compressed hair was scattered all over him. The King, whose palate was dry from thirst, asked him for water.

28The King, not received by any formal welcome by means of being offered a seat, place, water and sweet addresses, considered himself neglected, and so thinking he became angry.

29O brāhmaṇas, the circumstances having distressed him with extreme hunger and thirst, the King directed toward the sage his anger and envy, which he had never before directed toward a brāhmaṇa.

30While leaving, the King, being so insulted, picked up a lifeless snake with his bow and angrily placed it on the shoulder of the sage. Then he returned to his palace.

31Upon returning, he began to contemplate and argue within himself whether the sage had actually been in meditation, with senses concentrated and eyes closed, or whether he had just been feigning trance just to avoid receiving a lower kṣatriya.

32The sage had a son who was very powerful, being a brāhmaṇa's son. While he was playing with inexperienced boys, he heard of his father's distress, which was occasioned by the King. Then and there the boy spoke as follows.

33[The brāhmaṇa's son, Śṛṅgi, said:] O just look at the sins of the rulers who, like crows and watchdogs at the door, perpetrate sins against their masters, contrary to the principles governing servants.

34The descendants of the kingly orders are definitely designated as watchdogs, and they must keep themselves at the door. On what grounds can dogs enter the house and claim to dine with the master on the same plate?

35After the departure of Lord Śrī Kṛṣṇa, the Personality of Godhead and supreme ruler of everyone, these upstarts have flourished, our protector being gone. Therefore I myself shall take up this matter and punish them. Just witness my power.

36The son of the ṛṣi, his eyes redhot with anger, touched the water of the River Kauśika while speaking to his playmates and discharged the following thunderbolt of words.

37The brāhmaṇa's son cursed the King thus: On the seventh day from today a snakebird will bite the most wretched one of that dynasty [Mahārāja Parīkṣit] because of his having broken the laws of etiquette by insulting my father.

38Thereafter, when the boy returned to the hermitage, he saw a snake on his father's shoulder, and out of his grief he cried very loudly.

39O brāhmaṇas, the ṛṣi, who was born in the family of Aṅgirā Muni, hearing his son crying, gradually opened his eyes and saw the dead snake around his neck.

40He threw the dead snake aside and asked his son why he was crying, whether anyone had done him harm. On hearing this, the son explained to him what had happened.

41The father heard from his son that the King had been cursed, although he should never have been condemned, for he was the best amongst all human beings. The ṛṣi did not congratulate his son, but, on the contrary, began to repent, saying: Alas! What a great sinful act was performed by my son. He has awarded heavy punishment for an insignificant offense.

42O my boy, your intelligence is immature, and therefore you have no knowledge that the king, who is the best amongst human beings, is as good as the Personality of Godhead. He is never to be placed on an equal footing with common men. The citizens of the state live in prosperity, being protected by his unsurpassable prowess.

43My dear boy, the Lord, who carries the wheel of a chariot, is represented by the monarchical regime, and when this regime is abolished the whole world becomes filled with thieves, who then at once vanquish the unprotected subjects like scattered lambs.

44Due to the termination of the monarchical regimes and the plundering of the people's wealth by rogues and thieves, there will be great social disruptions. People will be killed and injured, and animals and women will be stolen. And for all these sins we shall be responsible.

45At that time the people in general will fall systematically from the path of a progressive civilization in respect to the qualitative engagements of the castes and the orders of society and the Vedic injunctions. Thus they will be more attracted to economic development for sense gratification, and as a result there will be an unwanted population on the level of dogs and monkeys.

46The Emperor Parīkṣit is a pious king. He is highly celebrated and is a firstclass devotee of the Personality of Godhead. He is a saint amongst royalty, and he has performed many horse sacrifices. When such a king is tired and fatigued, being stricken with hunger and thirst, he does not at all deserve to be cursed.

47Then the ṛṣi prayed to the allpervading Personality of Godhead to pardon his immature boy, who had no intelligence and who committed the great sin of cursing a person who was completely free from all sins, who was subordinate and who deserved to be protected.

48The devotees of the Lord are so forbearing that even though they are defamed, cheated, cursed, disturbed, neglected or even killed, they are never inclined to avenge themselves.

49The sage thus regretted the sin committed by his own son. He did not take the insult paid by

the King very seriously.

50Generally the transcendentalists, even though engaged by others in the dualities of the material world, are not distressed. Nor do they take pleasure [in worldly things], for they are transcendentally engaged.

**SB 1.19: The Appearance of Śukadeva Gosvāmī**

1Śrī Sūta Gosvāmī said: While returning home, the King [Mahārāja Parīkṣit] felt that the act he had committed against the faultless and powerful brāhmaṇa was heinous and uncivilized. Consequently he was distressed.

2[King Parīkṣit thought:] Due to my neglecting the injunctions of the Supreme Lord I must certainly expect some difficulty to overcome me in the near future. I now desire without reservation that the calamity come now, for in this way I may be freed of the sinful action and not commit such an offense again.

3I am uncivilized and sinful due to my neglect of brahminical culture, God consciousness and cow protection. Therefore I wish that my kingdom, strength and riches burn up immediately by the fire of the brāhmaṇa's wrath so that in the future I may not be guided by such inauspicious attitudes.

4While the King was thus repenting, he received news of his imminent death, which would be due to the bite of a snakebird, occasioned by the curse spoken by the sage's son. The King accepted this as good news, for it would be the cause of his indifference toward worldly things.

5Mahārāja Parīkṣit sat down firmly on the banks of the Ganges to concentrate his mind in Kṛṣṇa consciousness, rejecting all other practices of selfrealization, because transcendental loving service to Kṛṣṇa is the greatest achievement, superseding all other methods.

6The river [by which the King sat to fast] carries the most auspicious water, which is mixed with the dust of the lotus feet of the Lord and tulasī leaves. Therefore that water sanctifies the three worlds inside and outside and even sanctifies Lord Śiva and other demigods. Consequently everyone who is destined to die must take shelter of this river.

7Thus the King, the worthy descendant of the Pāṇḍavas, decided once and for all and sat on the Ganges' bank to fast until death and give himself up to the lotus feet of Lord Kṛṣṇa, who alone is able to award liberation. So, freeing himself from all kinds of associations and attachments, he accepted the vows of a sage.

8At that time all the great minds and thinkers, accompanied by their disciples, and sages who could verily sanctify a place of pilgrimage just by their presence, arrived there on the plea of making a pilgrim's journey.

9-10From different parts of the universe there arrived great sages like Atri, Cyavana, Śaradvān, Ariṣṭanemi, Bhṛgu, Vasiṣṭha, Parāśara, Viśvāmitra, Aṅgirā, Paraśurāma, Utathya, Indrapramada, Idhmavāhu, Medhātithi, Devala, Ārṣṭiṣeṇa, Bhāradvāja, Gautama, Pippalāda, Maitreya, Aurva, Kavaṣa, Kumbhayoni, Dvaipāyana and the great personality Nārada.

11There were also many other saintly demigods, kings and special royal orders called aruṇādayas [a special rank of rājarṣis] from different dynasties of sages. When they all assembled together to meet the Emperor [Parīkṣit], he received them properly and bowed his

head to the ground.

12After all the ṛṣis and others had seated themselves comfortably, the King, humbly standing before them with folded hands, told them of his decision to fast until death.

13The fortunate King said: Indeed, we are the most grateful of all the kings who are trained to get favors from the great souls. Generally you [sages] consider royalty as refuse to be rejected and left in a distant place.

14The Supreme Personality of Godhead, the controller of both the transcendental and mundane worlds, has graciously overtaken me in the form of a brāhmaṇa's curse. Due to my being too much attached to family life, the Lord, in order to save me, has appeared before me in such a way that only out of fear I will detach myself from the world.

15O brāhmaṇas, just accept me as a completely surrendered soul, and let mother Ganges, the representative of the Lord, also accept me in that way, for I have already taken the lotus feet of the Lord into my heart. Let the snakebird or whatever magical thing the brāhmaṇa created bite me at once. I only desire that you all continue singing the deeds of Lord Viṣṇu.

16Again, offering obeisances unto all you brāhmaṇas, I pray that if I should again take my birth in the material world I will have complete attachment to the unlimited Lord Kṛṣṇa, association with His devotees and friendly relations with all living beings.

17In perfect selfcontrol, Mahārāja Parīkṣit sat down on a seat of straw, with strawroots facing the east, placed on the southern bank of the Ganges, and he himself faced the north. Just previously he had given charge of his kingdom over to his son.

18Thus the King, Mahārāja Parīkṣit, sat to fast until death. All the demigods of the higher planets praised the King's actions and in pleasure continually scattered flowers over the earth and beat celestial drums.

19All the great sages who were assembled there also praised the decision of Mahārāja Parīkṣit, and they expressed their approval by saying "Very good." Naturally the sages are inclined to do good to common men, for they have all the qualitative powers of the Supreme Lord. Therefore they were very much pleased to see Mahārāja Parīkṣit, a devotee of the Lord, and they spoke as follows.

20[The sages said:] O chief of all the saintly kings of the Pāṇḍu dynasty who are strictly in the line of Lord Śrī Kṛṣṇa! It is not at all astonishing that you give up your throne, which is decorated with the helmets of many kings, to achieve eternal association with the Personality of Godhead.

21We shall all wait here until the foremost devotee of the Lord, Mahārāja Parīkṣit, returns to the supreme planet, which is completely free from all mundane contamination and all kinds of lamentation.

22All that was spoken by the great sages was very sweet to hear, full of meaning and appropriately presented as perfectly true. So after hearing them, Mahārāja Parīkṣit, desiring to hear of the activities of Lord Śrī Kṛṣṇa, the Personality of Godhead, congratulated the great sages.

23The King said: O great sages, you have all very kindly assembled here, having come from all

parts of the universe. You are all as good as supreme knowledge personified, who resides in the planet above the three worlds [Satyaloka]. Consequently you are naturally inclined to do good to others, and but for this you have no interest, either in this life or in the next.

24O trustworthy brāhmaṇas, I now ask you about my immediate duty. Please, after proper deliberation, tell me of the unalloyed duty of everyone in all circumstances, and specifically of those who are just about to die.

25At that moment there appeared the powerful son of Vyāsadeva, who traveled over the earth disinterested and satisfied with himself. He did not manifest any symptoms of belonging to any social order or status of life. He was surrounded with women and children, and he dressed as if others had neglected him.

26This son of Vyāsadeva was only sixteen years old. His legs, hands, thighs, arms, shoulders, forehead and the other parts of his body were all delicately formed. His eyes were beautifully wide, and his nose and ears were highly raised. He had a very attractive face, and his neck was well formed and beautiful like a conchshell.

27His collarbone was fleshy, his chest broad and thick, his navel deep and his abdomen beautifully striped. His arms were long, and curly hair was strewn over his beautiful face. He was naked, and the hue of his body reflected that of Lord Kṛṣṇa.

28He was blackish and very beautiful due to his youth. Because of the glamor of his body and his attractive smiles, he was pleasing to women. Though he tried to cover his natural glories, the great sages present there were all expert in the art of physiognomy, and so they honored him by rising from their seats.

29Mahārāja Parīkṣit, who is also known as Viṣṇurāta [one who is always protected by Viṣṇu], bowed his head to receive the chief guest, Śukadeva Gosvāmī. At that time all the ignorant women and boys ceased following Śrīla Śukadeva. Receiving respect from all, Śukadeva Gosvāmī took his exalted seat.

30Śukadeva Gosvāmī was then surrounded by saintly sages and demigods just as the moon is surrounded by stars, planets and other heavenly bodies. His presence was gorgeous, and he was respected by all.

31The sage ŚrīŚukadeva Gosvāmī sat perfectly pacified, intelligent and ready to answer any question without hesitation. The great devotee, Mahārāja Parīkṣit, approached him, offered his respects by bowing before him, and politely inquired with sweet words and folded hands.

32The fortunate King Parīkṣit said: O brāhmaṇa, by your mercy only, you have sanctified us, making us like unto places of pilgrimage, all by your presence here as my guest. By your mercy, we, who are but unworthy royalty, become eligible to serve the devotee.

33Simply by our remembering you, our houses become instantly sanctified. And what to speak of seeing you, touching you, washing your holy feet and offering you a seat in our home?

34Just as the atheist cannot remain in the presence of the Personality of Godhead, so also the invulnerable sins of a man are immediately vanquished in your presence, O saint! O great mystic!

35Lord Kṛṣṇa, the Personality of Godhead, who is very dear to the sons of King Pāṇḍu, has accepted me as one of those relatives just to please His great cousins and brothers.

36Otherwise [without being inspired by Lord Kṛṣṇa] how is it that you have voluntarily appeared here, though you are moving incognito to the common man and are not visible to us who are on the verge of death?

37You are the spiritual master of great saints and devotees. I am therefore begging you to show the way of perfection for all persons, and especially for one who is about to die.

38Please let me know what a man should hear, chant, remember and worship, and also what he should not do. Please explain all this to me.

39O powerful brāhmaṇa, it is said that you hardly stay in the houses of men long enough to milk a cow.

40Śrī Sūta Gosvāmī said: The King thus spoke and questioned the sage, using sweet language. Then the great and powerful personality, the son of Vyāsadeva, who knew the principles of religion, began his reply.

## Canto 2: The Cosmic Manifestation

### SB 2.1: The First Step in God Realization

Invocation O my Lord, the all-pervading Personality of Godhead, I offer my respectful obeisances unto You.

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: My dear King, your question is glorious because it is very beneficial to all kinds of people. The answer to this question is the prime subject matter for hearing, and it is approved by all transcendentalists.

2 Those persons who are materially engrossed, being blind to the knowledge of ultimate truth, have many subject matters for hearing in human society, O Emperor.

3 The lifetime of such an envious householder is passed at night either in sleeping or in sex indulgence, and in the daytime either in making money or maintaining family members.

4 Persons devoid of ātma-tattva do not inquire into the problems of life, being too attached to the fallible soldiers like the body, children and wife. Although sufficiently experienced, they still do not see their inevitable destruction.

5 O descendant of King Bharata, one who desires to be free from all miseries must hear about, glorify and also remember the Personality of Godhead, who is the Supersoul, the controller and the savior from all miseries.

6 The highest perfection of human life, achieved either by complete knowledge of matter and spirit, by practice of mystic powers, or by perfect discharge of occupational duty, is to remember the Personality of Godhead at the end of life.

7 O King Parīkṣit, mainly the topmost transcendentalists, who are above the regulative principles and restrictions, take pleasure in describing the glories of the Lord.

8 At the end of the Dvāpara-yuga, I studied this great supplement of Vedic literature named Śrīmad-Bhāgavatam, which is equal to all the Vedas, from my father, Śrīla Dvaipāyana Vyāsadeva.

9 O saintly King, I was certainly situated perfectly in transcendence, yet I was still attracted by the delineation of the pastimes of the Lord, who is described by enlightened verses.
10 That very Śrīmad-Bhāgavatam I shall recite before you because you are the most sincere devotee of Lord Kṛṣṇa. One who gives full attention and respect to hearing Śrīmad-Bhāgavatam achieves unflinching faith in the Supreme Lord, the giver of salvation.

11 O King, constant chanting of the holy name of the Lord after the ways of the great authorities is the doubtless and fearless way of success for all, including those who are free from all material desires, those who are desirous of all material enjoyment, and also those who are self-satisfied by dint of transcendental knowledge.

12 What is the value of a prolonged life which is wasted, inexperienced by years in this world? Better a moment of full consciousness, because that gives one a start in searching after his supreme interest.

13 The saintly King Khaṭvāṅga, after being informed that the duration of his life would be only a moment more, at once freed himself from all material activities and took shelter of the supreme safety, the Personality of Godhead.

14 Mahārāja Parīkṣit, now your duration of life is limited to seven more days, so during this time you can perform all those rituals which are needed for the best purpose of your next life.

15 At the last stage of one's life, one should be bold enough not to be afraid of death. But one must cut off all attachment to the material body and everything pertaining to it and all desires thereof.

16 One should leave home and practice self-control. In a sacred place he should bathe regularly and sit down in a lonely place duly sanctified.

17 After sitting in the above manner, make the mind remember the three transcendental letters [a-u-m], and by regulating the breathing process, control the mind so as not to forget the transcendental seed.

18 Gradually, as the mind becomes progressively spiritualized, withdraw it from sense activities, and by intelligence the senses will be controlled. The mind too absorbed in material activities can be engaged in the service of the Personality of Godhead and become fixed in full transcendental consciousness.

19 Thereafter, you should meditate upon the limbs of Viṣṇu, one after another, without being deviated from the conception of the complete body. Thus the mind becomes free from all sense objects. There should be no other thing to be thought upon. Because the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, is the Ultimate Truth, the mind becomes completely reconciled in Him only.

20 One's mind is always agitated by the passionate mode of material nature and bewildered by the ignorant mode of nature. But one can rectify such conceptions by the relation of Viṣṇu and thus become pacified by cleansing the dirty things created by them.

21 O King, by this system of remembrance and by being fixed in the habit of seeing the all-good personal conception of the Lord, one can very soon attain devotional service to the Lord, under His direct shelter.

22 The fortunate King Parīkṣit, inquiring further, said: O brāhmaṇa, please describe in full detail how and where the mind has to be applied and how the conception can be fixed so that the dirty things in a person's mind can be removed.

23Śukadeva Gosvāmī answered: One should control the sitting posture, regulate the breathing process by the yogic prāṇāyāma and thus control the mind and senses and with intelligence apply the mind to the gross potencies of the Lord [called the virāṭ-rūpa].

24 This gigantic manifestation of the phenomenal material world as a whole is the personal body of the Absolute Truth, wherein the universal resultant past, present and future of material time is experienced.

25 The gigantic universal form of the Personality of Godhead, within the body of the universal shell, which is covered by sevenfold material elements, is the subject for the virāṭ conception.

26 Persons who have realized it have studied that the planets known as Pātāla constitute the bottoms of the feet of the universal Lord, and the heels and the toes are the Rasātala planets. The ankles are the Mahātala planets, and His shanks constitute the Talātala planets.

27 The knees of the universal form are the planetary system of the name Sutala, and the two thighs are the Vitala and Atala planetary systems. The hips are Mahītala, and outer space is the depression of His navel.

28 The chest of the Original Personality of the gigantic form is the luminary planetary system, His neck is the Mahar planets, His mouth is the Janas planets, and His forehead is the Tapas planetary system. The topmost planetary system, known as Satyaloka, is the head of He who has one thousand heads.

29 His arms are the demigods headed by Indra, the ten directional sides are His ears, and physical sound is His sense of hearing. His nostrils are the two Aśvinī-kumāras, and material fragrance is His sense of smell. His mouth is the blazing fire.

30 The sphere of outer space constitutes His eyepits, and the eyeball is the sun as the power of seeing. His eyelids are both the day and night, and in the movements of His eyebrows, Brahmā and similar supreme personalities reside. His palate is the director of water, Varuṇa, and the juice or essence of everything is His tongue.

31 They say that the Vedic hymns are the cerebral passage of the Lord, and His jaws of teeth are Yama, god of death, who punishes the sinners. The art of affection is His set of teeth, and the most alluring illusory material energy is His smile. This great ocean of material creation is but the casting of His glance over us.

32 Modesty is the upper portion of His lips, hankering is His chin, religion is the breast of the Lord, and irreligion is His back. Brahmājī, who generates all living beings in the material world, is His genitals, and the Mitrā-varuṇas are His two testicles. The ocean is His waist, and the hills and mountains are the stacks of His bones.

33 O King, the rivers are the veins of the gigantic body, the trees are the hairs of His body, and the omnipotent air is His breath. The passing ages are His movements, and His activities are the reactions of the three modes of material nature.

34 O best amongst the Kurus, the clouds which carry water are the hairs on His head, the terminations of days or nights are His dress, and the supreme cause of material creation is His intelligence. His mind is the moon, the reservoir of all changes.

35 The principle of matter [mahat-tattva] is the consciousness of the omnipresent Lord, as asserted by the experts, and Rudradeva is His ego. The horse, mule, camel and elephant are His nails, and wild animals and all quadrupeds are situated in the belt zone of the Lord.

36 Varieties of birds are indications of His masterful artistic sense. Manu, the father of mankind, is the emblem of His standard intelligence, and humanity is His residence. The celestial species of human beings, like the Gandharvas, Vidyādharas, Cāraṇas and angels, all represent His musical rhythm, and the demoniac soldiers are representations of His wonderful prowess.

37 The virāṭ-puruṣa's face is the brāhmaṇas, His arms are the kṣatriyas, His thighs are the vaiśyas, and the śūdras are under the protection of His feet. All the worshipable demigods are also overtaken by Him, and it is the duty of everyone to perform sacrifices with feasible goods to appease the Lord.

38 I have thus explained to you the gross material gigantic conception of the Personality of Godhead. One who seriously desires liberation concentrates his mind on this form of the Lord, because there is nothing more than this in the material world.

39 One should concentrate his mind upon the Supreme Personality of Godhead, who alone distributes Himself in so many manifestations just as ordinary persons create thousands of manifestations in dreams. One must concentrate the mind on Him, the only all-blissful Absolute Truth. Otherwise one will be misled and will cause his own degradation.

**SB 2.2: The Lord in the Heart**

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: Formerly, prior to the manifestation of the cosmos, Lord Brahmā, by meditating on the virāṭ-rūpa, regained his lost consciousness by appeasing the Lord. Thus he was able to rebuild the creation as it was before.

2 The way of presentation of the Vedic sounds is so bewildering that it directs the intelligence of the people to meaningless things like the heavenly kingdoms. The conditioned souls hover in dreams of such heavenly illusory pleasures, but actually they do not relish any tangible happiness in such places.

3 For this reason the enlightened person should endeavor only for the minimum necessities of life while in the world of names. He should be intelligently fixed and never endeavor for unwanted things, being competent to perceive practically that all such endeavors are merely hard labor for nothing.

4 When there are ample earthly flats to lie on, what is the necessity of cots and beds? When one can use his own arms, what is the necessity of a pillow? When one can use the palms of his hands, what is the necessity of varieties of utensils? When there is ample covering, or the skins of trees, what is the necessity of clothing?

5 Are there no torn clothes lying on the common road? Do the trees, which exist for maintaining others, no longer give alms in charity? Do the rivers, being dried up, no longer supply water to the thirsty? Are the caves of the mountains now closed? Or above all, does the Almighty Lord not protect the fully surrendered souls? Why then do the learned sages go to

flatter those who are intoxicated by hard-earned wealth?

6 Thus being fixed, one must render service unto the Supersoul situated in one's own heart by His omnipotency. Because He is the Almighty Personality of Godhead, eternal and unlimited, He is the ultimate goal of life, and by worshiping Him one can end the cause of the conditioned state of existence.

7 Who else but the gross materialists will neglect such transcendental thought and take to the nonpermanent names only, seeing the mass of people fallen in the river of suffering as the consequence of accruing the result of their own work?

8 Others conceive of the Personality of Godhead residing within the body in the region of the heart and measuring only eight inches, with four hands carrying a lotus, a wheel of a chariot, a conchshell and a club respectively.

9 His mouth expresses His happiness. His eyes spread like the petals of a lotus, and His garments, yellowish like the saffron of a kadamba flower, are bedecked with valuable jewels. His ornaments are all made of gold, set with jewels, and He wears a glowing headdress and earrings.

10 His lotus feet are placed over the whorls of the lotuslike hearts of great mystics. On His chest is the Kaustubha jewel, engraved with a beautiful calf, and there are other jewels on His shoulders. His complete torso is garlanded with fresh flowers.

11 He is well decorated with an ornamental wreath about His waist and rings studded with valuable jewels on His fingers. His leglets, His bangles, His oiled hair, curling with a bluish tint, and His beautiful smiling face are all very pleasing.

12 The Lord's magnanimous pastimes and the glowing glancing of His smiling face are all indications of His extensive benedictions. One must therefore concentrate on this transcendental form of the Lord, as long as the mind can be fixed on Him by meditation.

13 The process of meditation should begin from the lotus feet of the Lord and progress to His smiling face. The meditation should be concentrated upon the lotus feet, then the calves, then the thighs, and in this way higher and higher. The more the mind becomes fixed upon the different parts of the limbs, one after another, the more the intelligence becomes purified.

14 Unless the gross materialist develops a sense of loving service unto the Supreme Lord, the seer of both the transcendental and material worlds, he should remember or meditate upon the universal form of the Lord at the end of his prescribed duties.

15 O King, whenever the yogī desires to leave this planet of human beings, he should not be perplexed about the proper time or place, but should comfortably sit without being disturbed and, regulating the life air, should control the senses by the mind.

16 Thereafter, the yogī should merge his mind, by his unalloyed intelligence, into the living entity, and then merge the living entity into the Superself. And by doing this, the fully satisfied living entity becomes situated in the supreme stage of satisfaction, so that he ceases from all other activities.

17 In that transcendental state of labdhopaśānti, there is no supremacy of devastating time, which controls even the celestial demigods who are empowered to rule over mundane

creatures. (And what to speak of the demigods themselves?) Nor is there the mode of material goodness, nor passion, nor ignorance, nor even the false ego, nor the material Causal Ocean, nor the material nature.

18 The transcendentalists desire to avoid everything godless, for they know that supreme situation in which everything is related with the Supreme Lord Viṣṇu. Therefore a pure devotee who is in absolute harmony with the Lord does not create perplexities, but worships the lotus feet of the Lord at every moment, taking them into his heart.

19 By the strength of scientific knowledge, one should be well situated in absolute realization and thus be able to extinguish all material desires. One should then give up the material body by blocking the air hole [through which stool is evacuated] with the heel of one's foot and by lifting the life air from one place to another in the six primary places.

20 The meditative devotee should slowly push up the life air from the navel to the heart, from there to the chest, and from there to the root of the palate. He should search out the proper places with intelligence.

21 Thereafter the bhakti-yogī should push the life air up between the eyebrows, and then, blocking the seven outlets of the life air, he should maintain his aim for going back home, back to Godhead. If he is completely free from all desires for material enjoyment, he should then reach the cerebral hole and give up his material connections, having gone to the Supreme.

22 However, O King, if a yogī maintains a desire for improved material enjoyments, like transference to the topmost planet, Brahmaloka, or the achievement of the eightfold perfections, travel in outer space with the Vaihāyasas, or a situation in one of the millions of planets, then he has to take away with him the materially molded mind and senses.

23 The transcendentalists are concerned with the spiritual body. As such, by the strength of their devotional service, austerities, mystic power and transcendental knowledge, their movements are unrestricted, within and beyond the material worlds. The fruitive workers, or the gross materialists, can never move in such an unrestricted manner.

24 O King, when such a mystic passes over the Milky Way by the illuminating Suṣumṇā to reach the highest planet, Brahmaloka, he goes first to Vaiśvānara, the planet of the deity of fire, wherein he becomes completely cleansed of all contaminations, and thereafter he still goes higher, to the circle of Śiśumāra, to relate with Lord Hari, the Personality of Godhead.

25 This Śiśumāra is the pivot for the turning of the complete universe, and it is called the navel of Viṣṇu [Garbhodakaśāyī Viṣṇu]. The yogī alone goes beyond this circle of Śiśumāra and attains the planet [Maharloka] where purified saints like Bhṛgu enjoy a duration of life of 4,300,000,000 solar years. This planet is worshipable even for saints who are transcendentally situated.

26 At the time of the final devastation of the complete universe [the end of the duration of Brahmā's life], a flame of fire emanates from the mouth of Ananta [from the bottom of the universe]. The yogī sees all the planets of the universe burning to ashes, and thus he leaves for Satyaloka by airplanes used by the great purified souls. The duration of life in Satyaloka is calculated to be 15,480,000,000,000 years.

27 In that planet of Satyaloka, there is neither bereavement, nor old age nor death. There is no

pain of any kind, and therefore there are no anxieties, save that sometimes, due to consciousness, there is a feeling of compassion for those unaware of the process of devotional service, who are subjected to unsurpassable miseries in the material world.

28 After reaching Satyaloka, the devotee is specifically able to be incorporated fearlessly by the subtle body in an identity similar to that of the gross body, and one after another he gradually attains stages of existence from earthly to watery, fiery, glowing and airy, until he reaches the ethereal stage.

29 The devotee thus surpasses the subtle objects of different senses like aroma by smelling, the palate by tasting, vision by seeing forms, touch by contacting, the vibrations of the ear by ethereal identification, and the sense organs by material activities.

30 The devotee, thus surpassing the gross and the subtle forms of coverings, enters the plane of egoism. And in that status he merges the material modes of nature [ignorance and passion] in this point of neutralization and thus reaches egoism in goodness. After this, all egoism is merged in the mahat-tattva, and he comes to the point of pure self-realization.

31 Only the purified soul can attain the perfection of associating with the Personality of Godhead in complete bliss and satisfaction in his constitutional state. Whoever is able to renovate such devotional perfection is never again attracted by this material world, and he never returns.

32 Your Majesty Mahārāja Parīkṣit, know that all that I have described in reply to your proper inquiry is just according to the version of the Vedas, and it is eternal truth. This was described personally by Lord Kṛṣṇa unto Brahmā, with whom the Lord was satisfied upon being properly worshiped.

33 For those who are wandering in the material universe, there is no more auspicious means of deliverance than what is aimed at in the direct devotional service of Lord Kṛṣṇa.

34 The great personality Brahmā, with great attention and concentration of the mind, studied the Vedas three times, and after scrutinizingly examining them, he ascertained that attraction for the Supreme Personality of Godhead Śrī Kṛṣṇa is the highest perfection of religion.

35 The Personality of Godhead Lord Śrī Kṛṣṇa is in every living being along with the individual soul. And this fact is perceived and hypothesized in our acts of seeing and taking help from the intelligence.
36 O King, it is therefore essential that every human being hear about, glorify and remember the Supreme Lord, the Personality of Godhead, always and everywhere.

37 Those who drink through aural reception, fully filled with the nectarean message of Lord Kṛṣṇa, the beloved of the devotees, purify the polluted aim of life known as material enjoyment and thus go back to Godhead, to the lotus feet of Him [the Personality of Godhead].

### SB 2.3: Pure Devotional Service: The Change in Heart

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: Mahārāja Parīkṣit, as you have inquired from me as to the duty of the intelligent man who is on the threshold of death, so I have answered you.

2-7 One who desires to be absorbed in the impersonal brahmajyoti effulgence should worship

the master of the Vedas [Lord Brahmā or Bṛhaspati, the learned priest], one who desires powerful sex should worship the heavenly King, Indra, and one who desires good progeny should worship the great progenitors called the Prajāpatis. One who desires good fortune should worship Durgādevī, the superintendent of the material world. One desiring to be very powerful should worship fire, and one who aspires only after money should worship the Vasus. One should worship the Rudra incarnations of Lord Śiva if he wants to be a great hero. One who wants a large stock of grains should worship Aditi. One who desires to attain the heavenly planets should worship the sons of Aditi. One who desires a worldly kingdom should worship Viśvadeva, and one who wants to be popular with the general mass of population should worship the Sādhya demigod. One who desires a long span of life should worship the demigods known as the Aśvinī-kumāras, and a person desiring a strongly built body should worship the earth. One who desires stability in his post should worship the horizon and the earth combined. One who desires to be beautiful should worship the beautiful residents of the Gandharva planet, and one who desires a good wife should worship the Apsarās and the Urvaśī society girls of the heavenly kingdom. One who desires domination over others should worship Lord Brahmā, the head of the universe. One who desires tangible fame should worship the Personality of Godhead, and one who desires a good bank balance should worship the demigod Varuṇa. If one desires to be a greatly learned man he should worship Lord Śiva, and if one desires a good marital relation he should worship the chaste goddess Umā, the wife of Lord Śiva.

8 One should worship Lord Viṣṇu or His devotee for spiritual advancement in knowledge, and for protection of heredity and advancement of a dynasty one should worship the various demigods.

9 One who desires domination over a kingdom or an empire should worship the Manus. One who desires victory over an enemy should worship the demons, and one who desires sense gratification should worship the moon. But one who desires nothing of material enjoyment should worship the Supreme Personality of Godhead.

10 A person who has broader intelligence, whether he be full of all material desire, without any material desire, or desiring liberation, must by all means worship the supreme whole, the Personality of Godhead.

11 All the different kinds of worshipers of multidemigods can attain the highest perfectional benediction, which is spontaneous attraction unflinchingly fixed upon the Supreme Personality of Godhead, only by the association of the pure devotee of the Lord.

12 Transcendental knowledge in relation with the Supreme Lord Hari is knowledge resulting in the complete suspension of the waves and whirlpools of the material modes. Such knowledge is self-satisfying due to its being free from material attachment, and being transcendental it is approved by authorities. Who could fail to be attracted?

13Śaunaka said: The son of Vyāsadeva, Śrīla Śukadeva Gosvāmī, was a highly learned sage and was able to describe things in a poetic manner. What did Mahārāja Parīkṣit again inquire from him after hearing all that he had said?

14 O learned Sūta Gosvāmī! Please continue to explain such topics to us because we are all eager to hear. Besides that, topics which result in the discussion of the Lord Hari should certainly be discussed in the assembly of devotees.

15 Mahārāja Parīkṣit, the grandson of the Pāṇḍavas, was from his very childhood a great devotee of the Lord. Even while playing with dolls, he used to worship Lord Kṛṣṇa by imitating

the worship of the family Deity.

16Śukadeva Gosvāmī, the son of Vyāsadeva, was also full in transcendental knowledge and was a great devotee of Lord Kṛṣṇa, son of Vasudeva. So there must have been discussion of Lord Kṛṣṇa, who is glorified by great philosophers and in the company of great devotees.

17 Both by rising and by setting, the sun decreases the duration of life of everyone, except one who utilizes the time by discussing topics of the all-good Personality of Godhead.

18 Do the trees not live? Do the bellows of the blacksmith not breathe? All around us, do the beasts not eat and discharge semen?

19 Men who are like dogs, hogs, camels and asses praise those men who never listen to the transcendental pastimes of Lord Śrī Kṛṣṇa, the deliverer from evils.

20 One who has not listened to the messages about the prowess and marvelous acts of the Personality of Godhead and has not sung or chanted loudly the worthy songs about the Lord is to be considered to possess earholes like the holes of snakes and a tongue like the tongue of a frog.

21 The upper portion of the body, though crowned with a silk turban, is only a heavy burden if not bowed down before the Personality of Godhead who can award mukti [freedom]. And the hands, though decorated with glittering bangles, are like those of a dead man if not engaged in the service of the Personality of Godhead Hari.

22 The eyes which do not look at the symbolic representations of the Personality of Godhead Viṣṇu [His forms, name, quality, etc.] are like those printed on the plumes of the peacock, and the legs which do not move to the holy places [where the Lord is remembered] are considered to be like tree trunks.

23 The person who has not at any time received the dust of the feet of the Lord's pure devotee upon his head is certainly a dead body. And the person who has never experienced the aroma of the tulasī leaves from the lotus feet of the Lord is also a dead body, although breathing.

24 Certainly that heart is steel-framed which, in spite of one's chanting the holy name of the Lord with concentration, does not change when ecstasy takes place, tears fill the eyes and the hairs stand on end.

25 O Sūta Gosvāmī, your words are pleasing to our minds. Please therefore explain this to us as it was spoken by the great devotee Śukadeva Gosvāmī, who is very expert in transcendental knowledge, and who spoke to Mahārāja Parīkṣit upon being asked.

## SB 2.4: The Process of Creation

1 Sūta Gosvāmī said: Mahārāja Parīkṣit, the son of Uttarā, after hearing the speeches of Śukadeva Gosvāmī, which were all about the truth of the self, applied his concentration faithfully upon Lord Kṛṣṇa.

2 Mahārāja Parīkṣit, as a result of his wholehearted attraction for Lord Kṛṣṇa, was able to give up all deep-rooted affection for his personal body, his wife, his children, his palace, his animals like horses and elephants, his treasury house, his friends and relatives, and his undisputed kingdom.

3-4 O great sages, the great soul Mahārāja Parīkṣit, constantly rapt in thought of Lord Kṛṣṇa, knowing well of his imminent death, renounced all sorts of fruitive activities, namely acts of

religion, economic development and sense gratification, and thus fixed himself firmly in his natural love for Kṛṣṇa and asked all these questions, exactly as you are asking me.

5 Mahārāja Parīkṣit said: O learned brāhmaṇa, you know everything because you are without material contamination. Therefore whatever you have spoken to me appears perfectly right. Your speeches are gradually destroying the darkness of my ignorance, for you are narrating the topics of the Lord.

6 I beg to know from you how the Personality of Godhead, by His personal energies, creates these phenomenal universes as they are, which are inconceivable even to the great demigods.

7 Kindly describe how the Supreme Lord, who is all-powerful, engages His different energies and different expansions in maintaining and again winding up the phenomenal world in the sporting spirit of a player.

8 O learned brāhmaṇa, the transcendental activities of the Lord are all wonderful, and they appear inconceivable because even great endeavors by many learned scholars have still proved insufficient for understanding them.

9 The Supreme Personality of Godhead is one, whether He alone acts with the modes of material nature, or simultaneously expands in many forms, or expands consecutively to direct the modes of nature.

10 Kindly clear up all these doubtful inquiries, because you are not only vastly learned in the Vedic literatures and self-realized in transcendence, but are also a great devotee of the Lord and are therefore as good as the Personality of Godhead.

11 Sūta Gosvāmī said: When Śukadeva Gosvāmī was thus requested by the King to describe the creative energy of the Personality of Godhead, he then systematically remembered the master of the senses [Śrī Kṛṣṇa], and to reply properly he spoke thus.

12Śukadeva Gosvāmī said: Let me offer my respectful obeisances unto the Supreme Personality of Godhead, who, for the creation of the material world, accepts the three modes of nature. He is the complete whole residing within the body of everyone, and His ways are inconceivable.

13 I again offer my respectful obeisances unto the form of complete existence and transcendence, who is the liberator of the pious devotees from all distresses and the destroyer of the further advances in atheistic temperament of the nondevotee-demons. For the transcendentalists who are situated in the topmost spiritual perfection, He grants their specific destinations.

14 Let me offer my respectful obeisances unto Him who is the associate of the members of the Yadu dynasty and who is always a problem for the nondevotees. He is the supreme enjoyer of both the material and spiritual worlds, yet He enjoys His own abode in the spiritual sky. There is no one equal to Him because His transcendental opulence is immeasurable.

15 Let me offer my respectful obeisances unto the all-auspicious Lord Śrī Kṛṣṇa, about whom glorification, remembrances, audience, prayers, hearing and worship can at once cleanse the effects of all sins of the performer.

16 Let me offer my respectful obeisances again and again unto the all-auspicious Lord Śrī Kṛṣṇa. The highly intellectual, simply by surrendering unto His lotus feet, are relieved of all attachments to present and future existences and without difficulty progress toward spiritual existence.

17 Let me offer my respectful obeisances unto the all-auspicious Lord Śrī Kṛṣṇa again and again because the great learned sages, the great performers of charity, the great workers of distinction, the great philosophers and mystics, the great chanters of the Vedic hymns and the great followers of Vedic principles cannot achieve any fruitful result without dedication of such great qualities to the service of the Lord.

18 Kirāta, Hūṇa, Āndhra, Pulinda, Pulkaśa, Ābhīra, Śumbha, Yavana, members of the Khasa races and even others addicted to sinful acts can be purified by taking shelter of the devotees of the Lord, due to His being the supreme power. I beg to offer my respectful obeisances unto Him.

19 He is the Supersoul and the Supreme Lord of all self-realized souls. He is the personification of the Vedas, religious scriptures and austerities. He is worshiped by Lord Brahmā and Śiva and all those who are transcendental to all pretensions. Being so revered with awe and veneration, may that Supreme Absolute be pleased with me.

20 May Lord Śrī Kṛṣṇa, who is the worshipable Lord of all devotees, the protector and glory of all the kings like Andhaka and Vṛṣṇi of the Yadu dynasty, the husband of all goddesses of fortune, the director of all sacrifices and therefore the leader of all living entities, the controller of all intelligence, the proprietor of all planets, spiritual and material, and the supreme incarnation on the earth (the supreme all in all), be merciful upon me.

21 It is the Personality of Godhead Śrī Kṛṣṇa who gives liberation. By thinking of His lotus feet at every second, following in the footsteps of authorities, the devotee in trance can see the Absolute Truth. The learned mental speculators, however, think of Him according to their whims. May the Lord be pleased with me.

22 May the Lord, who in the beginning of the creation amplified the potent knowledge of Brahmā from within his heart and inspired him with full knowledge of creation and of His own Self, and who appeared to be generated from the mouth of Brahmā, be pleased with me.

23 May the Supreme Personality of Godhead, who enlivens the materially created bodies of the elements by lying down within the universe, and who in His puruṣa incarnation causes the living being to be subjected to the sixteen divisions of material modes which are his generator, be pleased to decorate my statements.

24 I offer my respectful obeisances unto Śrīla Vyāsadeva, the incarnation of Vāsudeva who compiled the Vedic scriptures. The pure devotees drink up the nectarean transcendental knowledge dropping from the lotuslike mouth of the Lord.

25 My dear King, Brahmā, the firstborn, on being questioned by Nārada, exactly apprised him on this subject as it had been directly spoken by the Lord to His own son, who was impregnated with Vedic knowledge from his very birth.

### SB 2.5: The Cause of All Causes

1Śrī Nārada Muni asked Brahmājī: O chief amongst the demigods, O firstborn living entity, I beg to offer my respectful obeisances unto you. Please tell me that transcendental knowledge which specifically directs one to the truth of the individual soul and the Supersoul.

2 My dear father, please describe factually the symptoms of this manifest world. What is its background? How is it created? How is it conserved? And under whose control is all this being done?

3 My dear father, all this is known to you scientifically because whatever was created in the past, whatever will be created in the future, or whatever is being created at present, as well as everything within the universe, is within your grip, just like a walnut.

4 My dear father, what is the source of your knowledge? Under whose protection are you standing? And under whom are you working? What is your real position? Do you alone create all entities with material elements by your personal energy?

5 As the spider very easily creates the network of its cobweb and manifests its power of creation without being defeated by others, so also you yourself, by employment of your self-sufficient energy, create without any other's help.

6 Whatever we can understand by the nomenclature, characteristics and features of a particular thing superior, inferior or equal, eternal or temporary is not created from any source other than that of Your Lordship, thou so great.

7 Yet we are moved to wonder about the existence of someone more powerful than you when we think of your great austerities in perfect discipline, although your good self is so powerful in the matter of creation.

8 My dear father, you know everything, and you are the controller of all. Therefore, may all that I have inquired from you be kindly instructed to me so that I may be able to understand it as your student.

9 Lord Brahmā said: My dear boy Nārada, being merciful to all (including me) you have asked all these questions because I have been inspired to see into the prowess of the Almighty Personality of Godhead.

10 Whatever you have spoken about me is not false because unless and until one is aware of the Personality of Godhead, who is the ultimate truth beyond me, one is sure to be illusioned by observing my powerful activities.

11 I create after the Lord's creation by His personal effulgence [known as the brahmajyoti], just as when the sun manifests its fire, the moon, the firmament, the influential planets and the twinkling stars also manifest their brightness.

12 I offer my obeisances and meditate upon Lord Kṛṣṇa [Vāsudeva], the Personality of Godhead, whose invincible potency influences them [the less intelligent class of men] to call me the supreme controller.

13 The illusory energy of the Lord cannot take precedence, being ashamed of her position, but those who are bewildered by her always talk nonsense, being absorbed in thoughts of "It is I" and "It is mine."

14 The five elementary ingredients of creation, the interaction thereof set up by eternal time, and the intuition or nature of the individual living beings are all differentiated parts and parcels of the Personality of Godhead, Vāsudeva, and in truth there is no other value in them.

15 The Vedic literatures are made by and are meant for the Supreme Lord, the demigods are also meant for serving the Lord as parts of His body, the different planets are also meant for the sake of the Lord, and different sacrifices are performed just to please Him.

16 All different types of meditation or mysticism are means for realizing Nārāyaṇa. All austerities are aimed at achieving Nārāyaṇa. Culture of transcendental knowledge is for getting a glimpse of Nārāyaṇa, and ultimately salvation is entering the kingdom of Nārāyaṇa.

17 Inspired by Him only, I discover what is already created by Him [Nārāyaṇa] under His vision as the all-pervading Supersoul, and I also am created by Him only.

18 The Supreme Lord is pure, spiritual form, transcendental to all material qualities, yet for the sake of the creation of the material world and its maintenance and annihilation, He accepts through His external energy the material modes of nature called goodness, passion and ignorance.

19 These three modes of material nature, being further manifested as matter, knowledge and activities, put the eternally transcendental living entity under conditions of cause and effect and make him responsible for such activities.

20 O Brāhmaṇa Nārada, the Superseer, the transcendent Lord, is beyond the perception of the material senses of the living entities because of the above-mentioned three modes of nature. But He is the controller of everyone, including me.

21 The Lord, who is the controller of all energies, thus creates, by His own potency, eternal time, the fate of all living entities, and their particular nature, for which they were created, and He again merges them independently.

22 After the incarnation of the first puruṣa [Kāraṇārṇavaśāyī Viṣṇu], the mahat-tattva, or the principles of material creation, take place, and then time is manifested, and in course of time the three qualities appear. Nature means the three qualitative appearances. They transform into activities.

23 Material activities are caused by the mahat-tattva's being agitated. At first there is transformation of the modes of goodness and passion, and later due to the mode of ignorance matter, its knowledge, and different activities of material knowledge come into play.

24 The self-centered materialistic ego, thus being transformed into three features, becomes known as the modes of goodness, passion and ignorance in three divisions, namely the powers that evolve matter, knowledge of material creations, and the intelligence that guides such materialistic activities. Nārada, you are quite competent to understand this.

25 From the darkness of false ego, the first of the five elements, namely the sky, is generated. Its subtle form is the quality of sound, exactly as the seer is in relationship with the seen.

26-29 Because the sky is transformed, the air is generated with the quality of touch, and by previous succession the air is also full of sound and the basic principles of duration of life: sense perception, mental power and bodily strength. When the air is transformed in course of time and nature's course, fire is generated, taking shape with the sense of touch and sound. Since fire is also transformed, there is a manifestation of water, full of juice and taste. As previously, it also has form and touch and is also full of sound. And water, being transformed from all variegatedness on earth, appears odorous and, as previously, becomes qualitatively full of juice, touch, sound and form respectively.

30 From the mode of goodness the mind is generated and becomes manifest, as also the ten demigods controlling the bodily movements. Such demigods are known as the controller of directions, the controller of air, the sun-god, the father of Dakṣa Prajāpati, the Aśvinī-kumāras, the fire-god, the King of heaven, the worshipable deity in heaven, the chief of the Ādityas, and Brahmājī, the Prajāpati. All come into existence.

31 By further transformation of the mode of passion, the sense organs like the ear, skin, nose, eyes, tongue, mouth, hands, genitals, legs, and the outlet for evacuating, together with

intelligence and living energy, are all generated.

32 O Nārada, best of the transcendentalists, the forms of the body cannot take place as long as these created parts, namely the elements, senses, mind and modes of nature, are not assembled.

33 Thus when all these became assembled by force of the energy of the Supreme Personality of Godhead, this universe certainly came into being by accepting both the primary and secondary causes of creation.

34 Thus all the universes remained thousands of aeons within the water [the Causal Ocean], and the Lord of living beings, entering in each of them, caused them to be fully animated.

35 The Lord [Mahā-Viṣṇu], although lying in the Causal Ocean, came out of it, and dividing Himself as Hiraṇyagarbha, He entered into each universe and assumed the virāṭ-rūpa, with thousands of legs, arms, mouths, heads, etc.

36 Great philosophers imagine that the complete planetary systems in the universe are displays of the different upper and lower limbs of the universal body of the Lord.

37 The brāhmaṇas represent His mouth, the kṣatriyas His arms, the vaiśyas His thighs, and the śūdras are born of His legs.

38 The lower planetary systems, up to the limit of the earthly stratum, are said to be situated in His legs. The middle planetary systems, beginning from Bhuvarloka, are situated in His navel. And the still higher planetary systems, occupied by the demigods and highly cultured sages and saints, are situated in the chest of the Supreme Lord.

39 From the forefront of the chest up to the neck of the universal form of the Lord are situated the planetary systems named Janaloka and Tapoloka, whereas Satyaloka, the topmost planetary system, is situated on the head of the form. The spiritual planets, however, are eternal.

40-41 My dear son Nārada, know from me that there are seven lower planetary systems out of the total fourteen. The first planetary system, known as Atala, is situated on the waist; the second, Vitala, is situated on the thighs; the third, Sutala, on the knees; the fourth, Talātala, on the shanks; the fifth, Mahātala, on the ankles; the sixth, Rasātala, on the upper portion of the feet; and the seventh, Pātāla, on the soles of the feet. Thus the virāṭ form of the Lord is full of all planetary systems.

42 Others may divide the whole planetary system into three divisions, namely the lower planetary systems on the legs [up to the earth], the middle planetary systems on the navel, and the upper planetary systems [Svarloka] from the chest to the head of the Supreme Personality.

### SB 2.6: Puruṣa-sūkta Confirmed

1 Lord Brahmā said: The mouth of the virāṭ-puruṣa [the universal form of the Lord] is the generating center of the voice, and the controlling deity is Fire. His skin and six other layers are the generating centers of the Vedic hymns, and His tongue is the productive center of different foodstuffs and delicacies for offering to the demigods, the forefathers and the general mass of people.

2 His two nostrils are the generating centers of our breathing and of all other airs, His smelling powers generate the Aśvinī-kumāra demigods and all kinds of medicinal herbs, and His breathing energies produce different kinds of fragrance.

3 His eyes are the generating centers of all kinds of forms, and they glitter and illuminate. His eyeballs are like the sun and the heavenly planets. His ears hear from all sides and are receptacles for all the Vedas, and His sense of hearing is the generating center of the sky and of all kinds of sound.

4 His bodily surface is the breeding ground for the active principles of everything and for all kinds of auspicious opportunities. His skin, like the moving air, is the generating center for all kinds of sense of touch and is the place for performing all kinds of sacrifice.

5 The hairs on His body are the cause of all vegetation, particularly of those trees which are required as ingredients for sacrifice. The hairs on His head and face are reservoirs for the clouds, and His nails are the breeding ground of electricity, stones and iron ores.

6 The Lord's arms are the productive fields for the great demigods and other leaders of the living entities who protect the general mass.

7 Thus the forward steps of the Lord are the shelter for the upper, lower and heavenly planets, as well as for all that we need. His lotus feet serve as protection from all kinds of fear.

8 From the Lord's genitals originate water, semen, generatives, rains and the procreators. His genitals are the cause of a pleasure that counteracts the distress of begetting.

9 O Nārada, the evacuating outlet of the universal form of the Lord is the abode of the controlling deity of death, Mitra, and the evacuating hole and the rectum of the Lord is the place of envy, misfortune, death, hell, etc.

10 The back of the Lord is the place for all kinds of frustration and ignorance, as well as for immorality. From His veins flow the great rivers and rivulets, and on His bones are stacked the great mountains.

11 The impersonal feature of the Lord is the abode of great oceans, and His belly is the resting place for the materially annihilated living entities. His heart is the abode of the subtle material bodies of living beings. Thus it is known by the intelligent class of men.

12 Also, the consciousness of that great personality is the abode of religious principles mine, yours, and those of the four bachelors Sanaka, Sanātana, Sanat-kumāra and Sanandana. That consciousness is also the abode of truth and transcendental knowledge.

13-16 Beginning from me [Brahmā] down to you and Bhava [Śiva], all the great sages who were born before you, the demigods, the demons, the Nāgas, the human beings, the birds, the beasts, as well as the reptiles, etc., and all phenomenal manifestations of the universes, namely the planets, stars, asteroids, luminaries, lightning, thunder, and the inhabitants of the different planetary systems, namely the Gandharvas, Apsarās, Yakṣas, Rakṣas, Bhūtagaṇas, Uragas, Paśus, Pitās, Siddhas, Vidyādharas, Cāraṇas, and all other different varieties of living entities, including the birds, beasts, trees and everything that be, are all covered by the universal form of the Lord at all times, namely past, present and future, although He is transcendental to all of them, eternally existing in a form not exceeding nine inches.

17 The sun illuminates both internally and externally by expanding its radiation; similarly, the Supreme Personality of Godhead, by expanding His universal form, maintains everything in the creation both internally and externally.

18 The Supreme Personality of Godhead is the controller of immortality and fearlessness, and He is transcendental to death and the fruitive actions of the material world. O Nārada, O brāhmaṇa, it is therefore difficult to measure the glories of the Supreme Person.

19 The Supreme Personality of Godhead is to be known as the supreme reservoir of all material opulences by the one fourth of His energy in which all the living entities exist. Deathlessness, fearlessness and freedom from the anxieties of old age and disease exist in the kingdom of God, which is beyond the three higher planetary systems and beyond the material coverings.

20 The spiritual world, which consists of three fourths of the Lord's energy, is situated beyond this material world, and it is especially meant for those who will never be reborn. Others, who are attached to family life and who do not strictly follow celibacy vows, must live within the three material worlds.

21 By His energies, the all-pervading Personality of Godhead is thus comprehensively the master in the activities of controlling and in devotional service. He is the ultimate master of both nescience and factual knowledge of all situations.

22 From that Personality of Godhead, all the universal globes and the universal form with all material elements, qualities and senses are generated. Yet He is aloof from such material manifestations, like the sun, which is separate from its rays and heat.

23 When I was born from the abdominal lotus flower of the Lord [Mahā-Viṣṇu], the great person, I had no ingredients for sacrificial performances except the bodily limbs of the great Personality of Godhead.

24 For performing sacrificial ceremonies, one requires sacrificial ingredients, such as flowers, leaves and straw, along with the sacrificial altar and a suitable time [spring].

25 Other requirements are utensils, grains, clarified butter, honey, gold, earth, water, the Ṛg Veda, Yajur Veda and Sāma Veda and four priests to perform the sacrifice.

26 Other necessities include invoking the different names of the demigods by specific hymns and vows of recompense, in accordance with the particular scripture, for specific purposes and by specific processes.

27 Thus I had to arrange all these necessary ingredients and paraphernalia of sacrifice from the personal bodily parts of the Personality of Godhead. By invocation of the demigods' names, the ultimate goal, Viṣṇu, was gradually attained, and thus compensation and ultimate offering were complete.

28 Thus I created the ingredients and paraphernalia for offering sacrifice out of the parts of the body of the Supreme Lord, the enjoyer of the sacrifice, and I performed the sacrifice to satisfy the Lord.

29 My dear son, thereafter your nine brothers, who are the masters of living creatures, performed the sacrifice with proper rituals to satisfy both the manifested and nonmanifested personalities.

30 Thereafter, the Manus, the fathers of mankind, the great sages, the forefathers, the learned scholars, the Daityas and mankind performed sacrifices meant to please the Supreme Lord.

31 All the material manifestations of the universes are therefore situated in His powerful material energies, which He accepts self-sufficiently, although He is eternally without affinity for the material modes.

32 By His will, I create, Lord Śiva destroys, and He Himself, in His eternal form as the Personality of Godhead, maintains everything. He is the powerful controller of these three

energies.

33 My dear son, whatever you inquired from me I have thus explained unto you, and you must know for certain that whatever there is (either as cause or as effect, both in the material and spiritual worlds) is dependent on the Supreme Personality of Godhead.

34 O Nārada, because I have caught hold of the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead, Hari, with great zeal, whatever I say has never proved to have been false. Nor is the progress of my mind ever deterred. Nor are my senses ever degraded by temporary attachment to matter.

35 Although I am known as the great Brahmā, perfect in the disciplic succession of Vedic wisdom, and although I have undergone all austerities and am an expert in mystic powers and self-realization, and although I am recognized as such by the great forefathers of the living entities, who offer me respectful obeisances, still I cannot understand Him, the Lord, the very source of my birth.

36 Therefore it is best for me to surrender unto His feet, which alone can deliver one from the miseries of repeated birth and death. Such surrender is all-auspicious and allows one to perceive all happiness. Even the sky cannot estimate the limits of its own expansion. So what can others do when the Lord Himself is unable to estimate His own limits?

37 Since neither Lord Śiva nor you nor I could ascertain the limits of spiritual happiness, how can other demigods know it? And because all of us are bewildered by the illusory, external energy of the Supreme Lord, we can see only this manifested cosmos according to our individual ability.

38 Let us offer our respectful obeisances unto that Supreme Personality of Godhead, whose incarnations and activities are chanted by us for glorification, though He can hardly be fully known as He is.

39 That supreme original Personality of Godhead, Lord Śrī Kṛṣṇa, expanding His plenary portion as Mahā-Viṣṇu, the first incarnation, creates this manifested cosmos, but He is unborn. The creation, however, takes place in Him, and the material substance and manifestations are all Himself. He maintains them for some time and absorbs them into Himself again.

40-41 The Personality of Godhead is pure, being free from all contaminations of material tinges. He is the Absolute Truth and the embodiment of full and perfect knowledge. He is all-pervading, without beginning or end, and without rival. O Nārada, O great sage, the great thinkers can know Him when completely freed from all material hankerings and when sheltered under undisturbed conditions of the senses. Otherwise, by untenable arguments, all is distorted, and the Lord disappears from our sight.

42 Kāraṇārṇavaśāyī Viṣṇu is the first incarnation of the Supreme Lord, and He is the master of eternal time, space, cause and effects, mind, the elements, the material ego, the modes of nature, the senses, the universal form of the Lord, Garbhodakaśāyī Viṣṇu, and the sum total of all living beings, both moving and nonmoving.

43-45 I myself [Brahmā], Lord Śiva, Lord Viṣṇu, great generators of living beings like Dakṣa and Prajāpati, yourselves [Nārada and the Kumāras], heavenly demigods like Indra and Candra, the leaders of the Bhūrloka planets, the leaders of the earthly planets, the leaders of the lower planets, the leaders of the Gandharva planets, the leaders of the Vidyādhara planets, the leaders of the Cāraṇaloka planets, the leaders of the Yakṣas, Rakṣas and Uragas, the great sages, the great demons, the great atheists and the great spacemen, as well as the dead bodies,

evil spirits, satans, jinn, kūṣmāṇḍas, great aquatics, great beasts and great birds, etc. in other words, anything and everything which is exceptionally possessed of power, opulence, mental and perceptual dexterity, strength, forgiveness, beauty, modesty, opulence, and breeding, whether in form or formless may appear to be the specific truth and the form of the Lord, but actually they are not so. They are only a fragment of the transcendental potency of the Lord.

46 O Nārada, now I shall state, one after another, the transcendental incarnations of the Lord known as līlā-avatāras. Hearing of their activities counteracts all foul matters accumulated in the ear. These pastimes are pleasing to hear and are to be relished. Therefore they are in my heart.

**SB 2.7: Scheduled Incarnations with Specific Functions**

1 Lord Brahmā said: When the unlimitedly powerful Lord assumed the form of a boar as a pastime, just to lift the planet earth, which was drowned in the great ocean of the universe called the Garbhodaka, the first demon [Hiraṇyākṣa] appeared, and the Lord pierced him with His tusk.

2 The Prajāpati first begot Suyajṣa in the womb of his wife Ākūti, and then Suyajṣa begot demigods, headed by Suyama, in the womb of his wife Dakṣiṇā. Suyajṣa, as the Indradeva, diminished very great miseries in the three planetary systems [upper, lower and intermediate], and because he so diminished the miseries of the universe, he was later called Hari by the great father of mankind, namely Svāyambhuva Manu.

3 The Lord then appeared as the Kapila incarnation, being the son of the prajāpati brāhmaṇa Kardama and his wife, Devahūti, along with nine other women [sisters]. He spoke to His mother about self-realization, by which, in that very lifetime, she became fully cleansed of the mud of the material modes and thereby achieved liberation, the path of Kapila.

4 The great sage Atri prayed for offspring, and the Lord, being satisfied with him, promised to incarnate as Atri's son, Dattātreya [Datta, the son of Atri]. And by the grace of the lotus feet of the Lord, many Yadus, Haihayas, etc., became so purified that they obtained both material and spiritual blessings.

5 To create different planetary systems I had to undergo austerities and penance, and the Lord, thus being pleased with me, incarnated in four sanas [Sanaka, Sanatkumāra, Sanandana and Sanātana]. In the previous creation the spiritual truth was devastated, but the four sanas explained it so nicely that the truth at once became clearly perceived by the sages.

6 To exhibit His personal way of austerity and penance, He appeared in twin forms as Nārāyaṇa and Nara in the womb of Mūrti, the wife of Dharma and the daughter of Dakṣa. Celestial beauties, the companions of Cupid, went to try to break His vows, but they were unsuccessful, for they saw that many beauties like them were emanating from Him, the Personality of Godhead.

7 Great stalwarts like Lord Śiva can, by their wrathful glances, overcome lust and vanquish him, yet they cannot be free from the overwhelming effects of their own wrath. Such wrath can never enter into the heart of Him [the Lord], who is above all this. So how can lust take shelter in His mind?

8 Being insulted by sharp words spoken by the co-wife of the king, even in his presence, Prince Dhruva, though only a boy, took to severe penances in the forest. And the Lord, being satisfied by his prayer, awarded him the Dhruva planet, which is worshiped by great sages, both upward and downward.

9 Mahārāja Vena went astray from the path of righteousness, and the brāhmaṇas chastised him by the thunderbolt curse. By this King Vena was burnt with his good deeds and opulence and was en route to hell. The Lord, by His causeless mercy, descended as his son, by the name of Pṛthu, delivered the condemned King Vena from hell, and exploited the earth by drawing all kinds of crops as produce.

10 The Lord appeared as the son of Sudevī, the wife of King Nābhi, and was known as Ṛṣabhadeva. He performed materialistic yoga to equibalance the mind. This stage is also accepted as the highest perfectional situation of liberation, wherein one is situated in one's self and is completely satisfied.

11 The Lord appeared as the Hayagrīva incarnation in a sacrifice performed by me [Brahmā]. He is the personified sacrifices, and the hue of His body is golden. He is the personified Vedas as well, and the Supersoul of all demigods. When He breathed, all the sweet sounds of the Vedic hymns came out of His nostrils.

12 At the end of the millennium, the would-be Vaivasvata Manu, of the name Satyavrata, would see that the Lord in the fish incarnation is the shelter of all kinds of living entities, up to those in the earthly planets. Because of my fear of the vast water at the end of the millennium, the Vedas come out of my [Brahmā's] mouth, and the Lord enjoys those vast waters and protects the Vedas.

13 The primeval Lord then assumed the tortoise incarnation in order to serve as a resting place [pivot] for the Mandara Mountain, which was acting as a churning rod. The demigods and demons were churning the Ocean of Milk with the Mandara Mountain in order to extract nectar. The mountain moved back and forth, scratching the back of Lord Tortoise, who, while partially sleeping, was experiencing an itching sensation.

14 The Personality of Godhead assumed the incarnation of Nṛsiṁhadeva in order to vanquish the great fears of the demigods. He killed the king of the demons [Hiraṇyakaśipu], who challenged the Lord with a club in his hand, by placing the demon on His thighs and piercing him with His nails, rolling His eyebrows in anger and showing His fearful teeth and mouth.

15 The leader of the elephants, whose leg was attacked in a river by a crocodile of superior strength, was much aggrieved. Taking a lotus flower in his trunk, he addressed the Lord, saying, "O original enjoyer, Lord of the universe! O deliverer, as famous as a place of pilgrimage! All are purified simply by hearing Your holy name, which is worthy to be chanted."

16 The Personality of Godhead, after hearing the elephant's plea, felt that the elephant needed His immediate help, for he was in great distress. Thus at once the Lord appeared there on the wings of the king of birds, Garuḍa, fully equipped with His weapon, the wheel [cakra]. With the wheel He cut to pieces the mouth of the crocodile to save the elephant, and He delivered the elephant by lifting him by his trunk.

17 The Lord, although transcendental to all material modes, still surpassed all the qualities of the sons of Aditi, known as the Ādityas. The Lord appeared as the youngest son of Aditi. And because He surpassed all the planets of the universe, He is the Supreme Personality of Godhead. On the pretense of asking for a measurement of three footsteps of land, He took away all the lands of Bali Mahārāja. He asked simply because without begging, no authority can take one's rightful possession.

18 Bali Mahārāja, who put on his head the water washed from the lotus feet of the Lord, did not think of anything besides his promise, in spite of being forbidden by his spiritual master. The king dedicated his own personal body to fulfill the measurement of the Lord's third step.

For such a personality, even the kingdom of heaven, which he conquered by his strength, was of no value.

19 O Nārada, you were taught about the science of God and His transcendental loving service by the Personality of Godhead in His incarnation of Haṁsāvatāra. He was very much pleased with you, due to your intense proportion of devotional service. He also explained unto you, lucidly, the full science of devotional service, which is especially understandable by persons who are souls surrendered unto Lord Vāsudeva, the Personality of Godhead.

20 As the incarnation of Manu, the Lord became the descendant of the Manu dynasty and ruled over the miscreant kingly order, subduing them by His powerful wheel weapon. Undeterred in all circumstances, His rule was characterized by His glorious fame, which spread over the three lokas, and above them to the planetary system of Satyaloka, the topmost in the universe.

21 The Lord in His incarnation of Dhanvantari very quickly cures the diseases of the ever-diseased living entities simply by His fame personified, and only because of Him do the demigods achieve long lives. Thus the Personality of Godhead becomes ever glorified. He also exacted a share from the sacrifices, and it is he only who inaugurated the medical science or the knowledge of medicine in the universe.

22 When the ruling administrators, who are known as the kṣatriyas, turned astray from the path of the Absolute Truth, being desirous to suffer in hell, the Lord, in His incarnation as the sage Paraśurāma, uprooted those unwanted kings, who appeared as the thorns of the earth. Thus He thrice seven times uprooted the kṣatriyas with His keenly sharpened chopper.

23 Due to His causeless mercy upon all living entities within the universe, the Supreme Personality of Godhead, along with His plenary extensions, appeared in the family of Mahārāja Ikṣvāku as the Lord of His internal potency, Sītā. Under the order of His father, Mahārāja Daśaratha, He entered the forest and lived there for considerable years with His wife and younger brother. Rāvaṇa, who was very materially powerful, with ten heads on his shoulders, committed a great offense against Him and was thus ultimately vanquished.

24 The Personality of Godhead Rāmacandra, being aggrieved for His distant intimate friend [Sītā], glanced over the city of the enemy Rāvaṇa with red-hot eyes like those of Hara [who wanted to burn the kingdom of heaven]. The great ocean, trembling in fear, gave Him His way because its family members, the aquatics like the sharks, snakes and crocodiles, were being burnt by the heat of the angry red-hot eyes of the Lord.

25 When Rāvaṇa was engaged in the battle, the trunk of the elephant which carried the King of heaven, Indra, broke in pieces, having collided with the chest of Rāvaṇa, and the scattered broken parts illuminated all directions. Rāvaṇa therefore felt proud of his prowess and began to loiter in the midst of the fighting soldiers, thinking himself the conqueror of all directions. But his laughter, overtaken by joy, along with his very air of life, suddenly ceased with the tingling sound of the bow of Rāmacandra, the Personality of Godhead.

26 When the world is overburdened by the fighting strength of kings who have no faith in God, the Lord, just to diminish the distress of the world, descends with His plenary portion. The Lord comes in His original form, with beautiful black hair. And just to expand His transcendental glories, He acts extraordinarily. No one can properly estimate how great He is.

27 There is no doubt about Lord Kṛṣṇa's being the Supreme Lord. Otherwise, how was it possible for Him to kill a giant demon like Pūtanā when He was just on the lap of His mother,

to overturn a cart with His leg when He was only three months old, or to uproot a pair of arjuna trees so high that they touched the sky, when He was only crawling? All these activities are impossible for anyone other than the Lord Himself.

28 Then also when the cowherd boys and their animals drank the poisoned water of the river Yamunā, and after the Lord [in His childhood] revived them by His merciful glance, just to purify the water of the river Yamunā He jumped into it as if playing and chastised the venomous Kāliya snake, which was lurking there, its tongue emitting waves of poison. Who can perform such herculean tasks but the Supreme Lord?

29 On the very night of the day of the chastisement of the Kāliya snake, when the inhabitants of Vrajabhūmi were sleeping carefreely, there was a forest fire ablaze due to dry leaves, and it appeared that all the inhabitants were sure to meet their death. But the Lord, along with Balarāma, saved them simply by closing His eyes. Such are the superhuman activities of the Lord.

30 When the cowherd woman [Kṛṣṇa's foster mother, Yaśodā] was trying to tie the hands of her son with ropes, she found the rope to be always insufficient in length, and when she finally gave up, Lord Kṛṣṇa, by and by, opened His mouth, wherein the mother found all the universes situated. Seeing this, she was doubtful in her mind, but she was convinced in a different manner of the mystic nature of her son.

31 Lord Kṛṣṇa saved His foster father, Nanda Mahārāja, from the fear of the demigod Varuṇa and released the cowherd boys from the caves of the mountain, for they were placed there by the son of Maya. Also, to the inhabitants of Vṛndāvana, who were busy working during daytime and sleeping soundly at night because of their hard labor in the day, Lord Kṛṣṇa awarded promotion to the highest planet in the spiritual sky. All these acts are transcendental and certainly prove without any doubt His Godhood.

32 When the cowherd men of Vṛndāvana, under instruction of Kṛṣṇa, stopped offering sacrifice to the heavenly King, Indra, the whole tract of land known as Vraja was threatened with being washed away by constant heavy rains for seven days. Lord Kṛṣṇa, out of His causeless mercy upon the inhabitants of Vraja, held up the hill known as Govardhana with one hand only, although He was only seven years old. He did this to protect the animals from the onslaught of water.

33 When the Lord was engaged in His pastimes of the rāsa dance in the forest of Vṛndāvana, enlivening the sexual desires of the wives of the inhabitants of Vṛndāvana by sweet and melodious songs, a demon of the name Śaṅkhacūḍa, a rich follower of the treasurer of heaven [Kuvera], kidnapped the damsels, and the Lord severed his head from his trunk.

34-35 All demonic personalities like Pralamba, Dhenuka, Baka, Keśī, Ariṣṭa, Cāṇūra, Muṣṭika, Kuvalayāpīḍa elephant, Kaṁsa, Yavana, Narakāsura and Pauṇḍraka, great marshals like Śālva, Dvivida monkey and Balvala, Dantavakra, the seven bulls, Śambara, Vidūratha and Rukmī, as also great warriors like Kāmboja, Matsya, Kuru, Sṛṣjaya and Kekaya, would all fight vigorously, either with the Lord Hari directly or with Him under His names of Baladeva, Arjuna, Bhīma, etc. And the demons, thus being killed, would attain either the impersonal brahmajyoti or His personal abode in the Vaikuṇṭha planets.

36 The Lord Himself in His incarnation as the son of Satyavatī [Vyāsadeva] will consider his compilation of the Vedic literature to be very difficult for the less intelligent persons with short life, and thus He will divide the tree of Vedic knowledge into different branches, according to the circumstances of the particular age.

37 When the atheists, after being well versed in the Vedic scientific knowledge, annihilate inhabitants of different planets, flying unseen in the sky on well-built rockets prepared by the great scientist Maya, the Lord will bewilder their minds by dressing Himself attractively as Buddha and will preach on subreligious principles.

38 Thereafter, at the end of Kali-yuga, when there exist no topics on the subject of God, even at the residences of so-called saints and respectable gentlemen of the three higher castes, and when the power of government is transferred to the hands of ministers elected from the lowborn śūdra class or those less than them, and when nothing is known of the techniques of sacrifice, even by word, at that time the Lord will appear as the supreme chastiser.

39 At the beginning of creation there are penance, myself [Brahmā] and the Prajāpatis, the great sages who generate; then, during the maintenance of the creation, there are Lord Viṣṇu, the demigods with controlling powers, and the kings of different planets. But at the end there is irreligion, and then Lord Śiva and the atheists full of anger, etc. All of them are different representative manifestations of the energy of the supreme power, the Lord.

40 Who can describe completely the prowess of Viṣṇu? Even the scientist, who might have counted the particles of the atoms of the universe, cannot do so. Because it is He only who in His form of Trivikrama moved His leg effortlessly beyond the topmost planet, Satyaloka, up to the neutral state of the three modes of material nature. And all were moved.

41 Neither I nor all the sages born before you know fully the omnipotent Personality of Godhead. So what can others, who are born after us, know about Him? Even the first incarnation of the Lord, namely Śeṣa, has not been able to reach the limit of such knowledge, although He is describing the qualities of the Lord with ten hundred faces.

42 But anyone who is specifically favored by the Supreme Lord, the Personality of Godhead, due to unalloyed surrender unto the service of the Lord, can overcome the insurmountable ocean of illusion and can understand the Lord. But those who are attached to this body, which is meant to be eaten at the end by dogs and jackals, cannot do so.

43-45 O Nārada, although the potencies of the Lord are unknowable and immeasurable, still, because we are all surrendered souls, we know how He acts through yoga-māyā potencies. And, similarly, the potencies of the Lord are also known to the all-powerful Śiva, the great king of the atheist family, namely Prahlāda Mahārāja, Svāyambhuva Manu, his wife Śatarūpā, his sons and daughters like Priyavrata, Uttānapāda, Ākūti, Devahūti and Prasūti, Prācīnabarhi, Ṛbhu, Aṅga the father of Vena, Mahārāja Dhruva, Ikṣvāku, Aila, Mucukunda, Mahārāja Janaka, Gādhi, Raghu, Ambarīṣa, Sagara, Gaya, Nāhuṣa, Māndhātā, Alarka, Śatadhanve, Anu, Rantideva, Bhīṣma, Bali, Amūrttaraya, Dilīpa, Saubhari, Utaṅka, Śibi, Devala, Pippalāda, Sārasvata, Uddhava, Parāśara, Bhūriṣeṇa, Vibhīṣaṇa, Hanumān, Śukadeva Gosvāmī, Arjuna, Ārṣṭiṣeṇa, Vidura, Śrutadeva, etc.

46 Surrendered souls, even from groups leading sinful lives, such as women, the laborer class, the mountaineers and the Siberians, or even the birds and beasts, can also know about the science of Godhead and become liberated from the clutches of the illusory energy by surrendering unto the pure devotees of the Lord and by following in their footsteps in devotional service.

47 What is realized as the Absolute Brahman is full of unlimited bliss without grief. That is certainly the ultimate phase of the supreme enjoyer, the Personality of Godhead. He is eternally void of all disturbances and is fearless. He is complete consciousness as opposed to matter. Uncontaminated and without distinctions, He is the principle primeval cause of all

causes and effects, in whom there is no sacrifice for fruitive activities and in whom the illusory energy does not stand.

48 In such a transcendental state there is no need of artificial control of the mind, mental speculation or meditation, as performed by the jṣānīs and yogīs. One gives up such processes, as the heavenly King, Indra, forgoes the trouble to dig a well.

49 The Personality of Godhead is the supreme master of everything auspicious because the results of whatever actions are performed by the living being, in either the material or spiritual existence, are awarded by the Lord. As such, He is the ultimate benefactor. Every individual living entity is unborn, and therefore even after the annihilation of the material elementary body, the living entity exists, exactly like the air within the body.

50 My dear son, I have now explained in brief the Supreme Personality of Godhead, who is creator of the manifested worlds. Without Him (Hari, the Lord), there are no other causes of the phenomenal and noumenal existences.

51 O Nārada, this science of God, Śrīmad-Bhāgavatam, was spoken to me in summary by the Supreme Personality of Godhead, and it was spoken as the accumulation of His diverse potencies. Please expand this science yourself.

52 Please describe the science of Godhead with determination and in a manner by which it will be quite possible for the human being to develop transcendental devotional service unto the Personality of Godhead Hari, the Supersoul of every living being and the summum bonum source of all energies.

53 The Lord's activities in association with His different energies should be described, appreciated and heard in accordance with the teachings of the Supreme Lord. If this is done regularly with devotion and respect, one is sure to get out of the illusory energy of the Lord.

**SB 2.8: Questions by King Parīkṣit**

1 King Parīkṣit inquired from Śukadeva Gosvāmī: How did Nārada Muni, whose hearers are as fortunate as those instructed by Lord Brahmā, explain the transcendental qualities of the Lord, who is without material qualities, and before whom did he speak?

2 The King said: I wish to know. Narrations concerning the Lord, who possesses wonderful potencies, are certainly auspicious for living beings in all planets.

3 O greatly fortunate Śukadeva Gosvāmī, please continue narrating Śrīmad-Bhāgavatam so that I can place my mind upon the Supreme Soul, Lord Kṛṣṇa, and, being completely freed from material qualities, thus relinquish this body.

4 Persons who hear Śrīmad-Bhāgavatam regularly and are always taking the matter very seriously will have the Personality of Godhead Śrī Kṛṣṇa manifested in their hearts within a short time.

5 The sound incarnation of Lord Kṛṣṇa, the Supreme Soul [i.e., Śrīmad-Bhāgavatam], enters into the heart of a self-realized devotee, sits on the lotus flower of his loving relationship, and thus cleanses the dust of material association, such as lust, anger and hankering. Thus it acts like autumnal rains upon pools of muddy water.

6 A pure devotee of the Lord whose heart has once been cleansed by the process of devotional service never relinquishes the lotus feet of Lord Kṛṣṇa, for they fully satisfy him, as a traveler is satisfied at home after a troubled journey.

7 O learned brāhmaṇa, the transcendental spirit soul is different from the material body. Does he acquire the body accidentally or by some cause? Will you kindly explain this, for it is known to you.

8 If the Supreme Personality of Godhead, from whose abdomen the lotus stem sprouted, is possessed of a gigantic body according to His own caliber and measurement, then what is the specific difference between the body of the Lord and those of common living entities?

9 Brahmā, who was not born of a material source but of the lotus flower coming out of the navel abdomen of the Lord, is the creator of all those who are materially born. Of course, by the grace of the Lord, Brahmā was able to see the form of the Lord.

10 Please also explain the Personality of Godhead, who lies in every heart as the Supersoul, and as the Lord of all energies, but is untouched by His external energy.

11 O learned brāhmaṇa, it was formerly explained that all the planets of the universe with their respective governors are situated in the different parts of the gigantic body of the virāṭ-puruṣa. I have also heard that the different planetary systems are supposed to be in the gigantic body of the virāṭ-puruṣa. But what is their actual position? Will you please explain that?

12 Also please explain the duration of time between creation and annihilation, and that of other subsidiary creations, as well as the nature of time, indicated by the sound of past, present and future. Also, please explain the duration and measurement of life of the different living beings known as the demigods, the human beings, etc., in different planets of the universe.

13 O purest of the brāhmaṇas, please also explain the cause of the different durations of time, both short and long, as well as the beginning of time, following the course of action.

14 Then again, kindly describe how the proportionate accumulation of the reactions resulting from the different modes of material nature act upon the desiring living being, promoting or degrading him among the different species of life, beginning from the demigods down to the most insignificant creatures.

15 O best of the brāhmaṇas, please also describe how the creation of the globes throughout the universe, the four directions of the heavens, the sky, the planets, the stars, the mountains, the rivers, the seas and the islands, as well as their different kinds of inhabitants, takes place.

16 Also, please describe the inner and outer space of the universe by specific divisions, as well as the character and activities of the great souls, and also the characteristics of the different classifications of the castes and orders of social life.

17 Please explain all the different ages in the duration of the creation, and also the duration of such ages. Also tell me about the different activities of the different incarnations of the Lord in different ages.

18 Please also explain what may generally be the common religious affiliations of human society, as well as their specific occupational duties in religion, the classification of the social orders as well as the administrative royal orders, and the religious principles for one who may be in distress.

19 Kindly explain all about the elementary principles of creation, the number of such elementary principles, their causes, and their development, and also the process of devotional service and the method of mystic powers.

20 What are the opulences of the great mystics, and what is their ultimate realization? How

does the perfect mystic become detached from the subtle astral body? What is the basic knowledge of the Vedic literatures, including the branches of history and the supplementary Purāṇas?

21 Please explain unto me how the living beings are generated, how they are maintained, and how they are annihilated. Tell me also of the advantages and disadvantages of discharging devotional service unto the Lord. What are the Vedic rituals and injunctions of the supplementary Vedic rites, and what are the procedures of religion, economic development and sense satisfaction?

22 Please also explain how, merged in the body of the Lord, living beings are created, and how the infidels appear in the world. Also please explain how the unconditioned living entities exist.

23 The independent Personality of Godhead enjoys His pastimes by His internal potency and at the time of annihilation gives them up to the external potency, and He remains a witness to it all.

24 O great sage, representative of the Lord, kindly satisfy my inquisitiveness in all that I have inquired from you and all that I may not have inquired from you from the very beginning of my questionings. Since I am a soul surrendered unto you, please impart full knowledge in this connection.

25 O great sage, you are as good as Brahmā, the original living being. Others follow custom only, as followed by the previous philosophical speculators.

26 O learned brāhmaṇa, because of my drinking the nectar of the message of the infallible Personality of Godhead, which is flowing down from the ocean of your speeches, I do not feel any sort of exhaustion due to my fasting.

27 Sūta Gosvāmī said: Thus Śukadeva Gosvāmī, being invited by Mahārāja Parīkṣit to speak on topics of the Lord Śrī Kṛṣṇa with the devotees, was very much pleased.

28 He began to reply to the inquiries of Mahārāja Parīkṣit by saying that the science of the Personality of Godhead was spoken first by the Lord Himself to Brahmā when he was first born. Śrīmad-Bhāgavatam is the supplementary Vedic literature, and it is just in pursuance of the Vedas.

29 He also prepared himself to reply to all that King Parīkṣit had inquired from him. Mahārāja Parīkṣit was the best in the dynasty of the Pāṇḍus, and thus he was able to ask the right questions from the right person.

### SB 2.9: Answers by Citing the Lord's Version

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: O King, unless one is influenced by the energy of the Supreme Personality of Godhead, there is no meaning to the relationship of the pure soul in pure consciousness with the material body. That relationship is just like a dreamer's seeing his own body working.

2 The illusioned living entity appears in so many forms offered by the external energy of the Lord. While enjoying in the modes of material nature, the encaged living entity misconceives, thinking in terms of "I" and "mine."

3 As soon as the living entity becomes situated in his constitutional glory and begins to enjoy the transcendence beyond time and material energy, he at once gives up the two

misconceptions of life [I and mine] and thus becomes fully manifested as the pure self.

4 O King, the Personality of Godhead, being very much pleased with Lord Brahmā because of his nondeceptive penance in bhakti-yoga, presented His eternal and transcendental form before Brahmā. And that is the objective goal for purifying the conditioned soul.

5 Lord Brahmā, the first spiritual master, supreme in the universe, could not trace out the source of his lotus seat, and while thinking of creating the material world, he could not understand the proper direction for such creative work, nor could he find out the process for such creation.

6 While thus engaged in thinking, in the water, Brahmājī heard twice from nearby two syllables joined together. One of the syllables was taken from the sixteenth and the other from the twenty-first of the sparśa alphabets, and both joined to become the wealth of the renounced order of life.

7 When he heard the sound, he tried to find the speaker, searching on all sides. But when he was unable to find anyone besides himself, he thought it wise to sit down on his lotus seat firmly and give his attention to the execution of penance, as he was instructed.

8 Lord Brahmā underwent penances for one thousand years by the calculations of the demigods. He heard this transcendental vibration from the sky, and he accepted it as divine. Thus he controlled his mind and senses, and the penances he executed were a great lesson for the living entities. Thus he is known as the greatest of all ascetics.

9 The Personality of Godhead, being thus very much satisfied with the penance of Lord Brahmā, was pleased to manifest His personal abode, Vaikuṇṭha, the supreme planet above all others. This transcendental abode of the Lord is adored by all self-realized persons freed from all kinds of miseries and fear of illusory existence.

10 In that personal abode of the Lord, the material modes of ignorance and passion do not prevail, nor is there any of their influence in goodness. There is no predominance of the influence of time, so what to speak of the illusory, external energy; it cannot enter that region. Without discrimination, both the demigods and the demons worship the Lord as devotees.

11 The inhabitants of the Vaikuṇṭha planets are described as having a glowing sky-bluish complexion. Their eyes resemble lotus flowers, their dress is of yellowish color, and their bodily features very attractive. They are just the age of growing youths, they all have four hands, they are all nicely decorated with pearl necklaces with ornamental medallions, and they all appear to be effulgent.

12 Some of them are effulgent like coral and diamonds in complexion and have garlands on their heads, blooming like lotus flowers, and some wear earrings.

13 The Vaikuṇṭha planets are also surrounded by various airplanes, all glowing and brilliantly situated. These airplanes belong to the great mahātmās or devotees of the Lord. The ladies are as beautiful as lightning because of their celestial complexions, and all these combined together appear just like the sky decorated with both clouds and lightning.

14 The goddess of fortune in her transcendental form is engaged in the loving service of the Lord's lotus feet, and being moved by the black bees, followers of spring, she is not only engaged in variegated pleasure service to the Lord, along with her constant companions but is also engaged in singing the glories of the Lord's activities.

15 Lord Brahmā saw in the Vaikuṇṭha planets the Personality of Godhead, who is the Lord of the entire devotee community, the Lord of the goddess of fortune, the Lord of all sacrifices, and the Lord of the universe, and who is served by the foremost servitors like Nanda, Sunanda, Prabala and Arhaṇa, His immediate associates.

16 The Personality of Godhead, seen leaning favorably towards His loving servitors, His very sight intoxicating and attractive, appeared to be very much satisfied. He had a smiling face decorated with an enchanting reddish hue. He was dressed in yellow robes and wore earrings and a helmet on his head. He had four hands, and His chest was marked with the lines of the goddess of fortune.

17 The Lord was seated on His throne and was surrounded by different energies like the four, the sixteen, the five, and the six natural opulences, along with other insignificant energies of the temporary character. But He was the factual Supreme Lord, enjoying His own abode.

18 Lord Brahmā, thus seeing the Personality of Godhead in His fullness, was overwhelmed with joy within his heart, and thus in full transcendental love and ecstasy, his eyes filled with tears of love. He thus bowed down before the Lord. That is the way of the highest perfection for the living being [paramahaṁsa].

19 And seeing Brahmā present before Him, the Lord accepted him as worthy to create living beings, to be controlled as He desired, and thus being much satisfied with him, the Lord shook hands with Brahmā and, slightly smiling, addressed him thus.

20 The beautiful Personality of Godhead addressed Lord Brahmā: O Brahmā, impregnated with the Vedas, I am very much pleased with your long-accumulated penance with the desire for creation. Hardly am I pleased with the pseudo mystics.

21 I wish you good luck. O Brahmā, you may ask from Me, the giver of all benediction, all that you may desire. You may know that the ultimate benediction, as the result of all penances, is to see Me by realization.

22 The highest perfectional ingenuity is the personal perception of My abodes, and this has been possible because of your submissive attitude in the performance of severe penance according to My order.

23 O sinless Brahmā, you may know from Me that it was I who first ordered you to undergo penance when you were perplexed in your duty. Such penance is My heart and soul, and therefore penance and I are nondifferent.

24 I create this cosmos by such penance, I maintain it by the same energy, and I withdraw it all by the same energy. Therefore the potency is penance only.

25 Lord Brahmā said: O Personality of Godhead, You are situated in every living entity's heart as the supreme director, and therefore You are aware of all endeavors by Your superior intelligence, without any hindrance whatsoever.

26 In spite of that, my Lord, I am praying to You to kindly fulfill my desire. May I please be informed how, in spite of Your transcendental form, You assume the mundane form, although You have no such form at all.

27 And [please inform me] how You, by Your own Self, manifest different energies for annihilation, generation, acceptance and maintenance by combination and permutation.

28 O master of all energies, please tell me philosophically all about them. You play like a

spider that covers itself by its own energy, and Your determination is infallible.

29 Please tell me so that I may be taught in the matter by the instruction of the Personality of Godhead and may thus act instrumentally to generate living entities, without being conditioned by such activities.

30 O my Lord, the unborn, You have shaken hands with me just as a friend does with a friend [as if equal in position]. I shall be engaged in the creation of different types of living entities, and I shall be occupied in Your service. I shall have no perturbation, but I pray that all this may not give rise to pride, as if I were the Supreme.

31 The Personality of Godhead said: Knowledge about Me as described in the scriptures is very confidential, and it has to be realized in conjunction with devotional service. The necessary paraphernalia for that process is being explained by Me. You may take it up carefully.

32 All of Me, namely My actual eternal form and My transcendental existence, color, qualities and activities let all be awakened within you by factual realization, out of My causeless mercy.

33 Brahmā, it is I, the Personality of Godhead, who was existing before the creation, when there was nothing but Myself. Nor was there the material nature, the cause of this creation. That which you see now is also I, the Personality of Godhead, and after annihilation what remains will also be I, the Personality of Godhead.

34 O Brahmā, whatever appears to be of any value, if it is without relation to Me, has no reality. Know it as My illusory energy, that reflection which appears to be in darkness.

35 O Brahmā, please know that the universal elements enter into the cosmos and at the same time do not enter into the cosmos; similarly, I Myself also exist within everything created, and at the same time I am outside of everything.

36 A person who is searching after the Supreme Absolute Truth, the Personality of Godhead, must certainly search for it up to this, in all circumstances, in all space and time, and both directly and indirectly.

37 O Brahmā, just follow this conclusion by fixed concentration of mind, and no pride will disturb you, neither in the partial nor in the final devastation.

38Śukadeva Gosvāmī said to Mahārāja Parīkṣit: The Supreme Personality of Godhead, Hari, after being seen in His transcendental form, instructing Brahmājī, the leader of the living entities, disappeared.

39 On the disappearance of the Supreme Personality of Godhead, Hari, who is the object of transcendental enjoyment for the senses of devotees, Brahmā, with folded hands, began to re-create the universe, full with living entities, as it was previously.

40 Thus once upon a time the forefather of living entities and the father of religiousness, Lord Brahmā, situated himself in acts of regulative principles, desiring self-interest for the welfare of all living entities.

41 Nārada, the most dear of the inheritor sons of Brahmā, always ready to serve his father, strictly follows the instructions of his father by his mannerly behavior, meekness and sense control.

42 Nārada very much pleased his father and desired to know all about the energies of Viṣṇu,

the master of all energies, for Nārada was the greatest of all sages and greatest of all devotees, O King.

43 The great sage Nārada also inquired in detail from his father, Brahmā, the great-grandfather of all the universe, after seeing him well satisfied.

44 Thereupon the supplementary Vedic literature, Śrīmad-Bhāgavatam, which was described by the Personality of Godhead and which contains ten characteristics, was told with satisfaction by the father [Brahmā] to his son Nārada.

45 In succession, O King, the great sage Nārada instructed Śrīmad-Bhāgavatam unto the unlimitedly powerful Vyāsadeva, who meditated in devotional service upon the Supreme Personality of Godhead, the Absolute Truth, on the bank of the river Sarasvatī.

46 O King, your questions as to how the universe became manifested from the gigantic form of the Personality of Godhead, as well as other questions, I shall answer in detail by explanation of the four verses already mentioned.

**SB 2.10: Bhāgavatam Is the Answer to All Questions**

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: In the Śrīmad-Bhāgavatam there are ten divisions of statements regarding the following: the creation of the universe, subcreation, planetary systems, protection by the Lord, the creative impetus, the change of Manus, the science of God, returning home, back to Godhead, liberation, and the summum bonum.

2 To isolate the transcendence of the summum bonum, the symptoms of the rest are described sometimes by Vedic inference, sometimes by direct explanation, and sometimes by summary explanations given by the great sages.

3 The elementary creation of sixteen items of matter namely the five elements [fire, water, land, air and sky], sound, form, taste, smell, touch, and the eyes, ears, nose, tongue, skin and mind is known as sarga, whereas subsequent resultant interaction of the modes of material nature is called visarga.

4 The right situation for the living entities is to obey the laws of the Lord and thus be in perfect peace of mind under the protection of the Supreme Personality of Godhead. The Manus and their laws are meant to give right direction in life. The impetus for activity is the desire for fruitive work.

5 The science of God describes the incarnations of the Personality of Godhead and His different activities together with the activities of His great devotees.

6 The merging of the living entity, along with his conditional living tendency, with the mystic lying down of the Mahā-Viṣṇu is called the winding up of the cosmic manifestation. Liberation is the permanent situation of the form of the living entity after he gives up the changeable gross and subtle material bodies.

7 The supreme one who is celebrated as the Supreme Being or the Supreme Soul is the supreme source of the cosmic manifestation as well as its reservoir and winding up. Thus He is the Supreme Fountainhead, the Absolute Truth.

8 The individual person possessing different instruments of senses is called the adhyātmic person, and the individual controlling deity of the senses is called adhidaivic. The embodiment seen on the eyeballs is called the adhibhautic person.

9 All three of the above-mentioned stages of different living entities are interdependent. In the absence of one, another is not understood. But the Supreme Being who sees every one of them as the shelter of the shelter is independent of all, and therefore He is the supreme shelter.

10 After separating the different universes, the gigantic universal form of the Lord [Mahā-Viṣṇu], which came out of the Causal Ocean, the place of appearance for the first puruṣa-avatāra, entered into each of the separate universes, desiring to lie on the created transcendental water [Garbhodaka].

11 That Supreme Person is not impersonal and therefore is distinctively a nara, or person. Therefore the transcendental water created from the Supreme Nara is known as nāra. And because He lies down on that water, He is known as Nārāyaṇa.

12 One should definitely know that all material ingredients, activities, time and modes, and the living entities who are meant to enjoy them all, exist by His mercy only, and as soon as He does not care for them, everything becomes nonexistent.

13 The Lord, while lying on His bed of mystic slumber, generated the seminal symbol, golden in hue, through external energy out of His desire to manifest varieties of living entities from Himself alone.

14 Just hear from me how the potency of His Lordship divides one into three, called the controlling entities, the controlled entities and the material bodies, in the manner mentioned above.

15 From the sky situated within the transcendental body of the manifesting Mahā-Viṣṇu, sense energy, mental force and bodily strength are all generated, as well as the sum total of the fountainhead of the total living force.

16 As the followers of a king follow their lord, similarly when the total energy is in motion, all other living entities move, and when the total energy stops endeavoring, all other living entities stop sensual activities.

17 The living force, being agitated by the virāṭ-puruṣa, generated hunger and thirst, and when He desired to drink and eat, the mouth opened.

18 From the mouth the palate became manifested, and thereupon the tongue was also generated. After this all the different tastes came into existence so that the tongue can relish them.

19 When the Supreme desired to speak, speeches were vibrated from the mouth. Then the controlling deity Fire was generated from the mouth. But when He was lying in the water, all these functions remained suspended.

20 Thereafter, when the supreme puruṣa desired to smell odors, the nostrils and respiration were generated, the nasal instrument and odors came into existence, and the controlling deity of air, carrying smell, also became manifested.

21 Thus when everything existed in darkness, the Lord desired to see Himself and all that was created. Then the eyes, the illuminating god Sun, the power of vision and the object of sight all became manifested.

22 By development of the desire of the great sages to know, the ears, the power of hearing, the controlling deity of hearing, and the objects of hearing became manifested. The great sages desired to hear about the Self.

23 When there was a desire to perceive the physical characteristics of matter, such as softness, hardness, warmth, cold, lightness and heaviness, the background of sensation, the skin, the skin pores, the hairs on the body and their controlling deities (the trees) were generated. Within and outside the skin is a covering of air through which sense perception became prominent.

24 Thereafter when the Supreme Person desired to perform varieties of work, the two hands and their controlling strength, and Indra, the demigod in heaven, became manifested, as also the acts dependent on both the hands and the demigod.

25 Thereupon, because of His desiring to control movement, His legs became manifested, and from the legs the controlling deity named Viṣṇu was generated. By His personal supervision of this act, all varieties of human being are busily engaged in dutiful occupational sacrifice.

26 Thereupon, for sexual pleasure, begetting offspring and tasting heavenly nectar, the Lord developed the genitals, and thus there is the genital organ and its controlling deity, the Prajāpati. The object of sexual pleasure and the controlling deity are under the control of the genitals of the Lord.

27 Thereafter, when He desired to evacuate the refuse of eatables, the evacuating hole, anus, and the sensory organ thereof developed along with the controlling deity Mitra. The sensory organ and the evacuating substance are both under the shelter of the controlling deity.

28 Thereafter, when He desired to move from one body to another, the navel and the air of departure and death were combinedly created. The navel is the shelter for both, namely death and the separating force.

29 When there was a desire to have food and drink, the abdomen and the intestines and also the arteries became manifested. The rivers and seas are the source of their sustenance and metabolism.

30 When there was a desire to think about the activities of His own energy, then the heart (the seat of the mind), the mind, the moon, determination and all desire became manifested.

31 The seven elements of the body, namely the thin layer on the skin, the skin itself, the flesh, blood, fat, marrow and bone, are all made of earth, water and fire, whereas the life breath is produced by the sky, water and air.

32 The sense organs are attached to the modes of material nature, and the modes of material nature are products of the false ego. The mind is subjected to all kinds of material experiences (happiness and distress), and the intelligence is the feature of the mind's deliberation.

33 Thus by all this, the external feature of the Personality of Godhead is covered by gross forms such as those of planets, which were explained to you by me.

34 Therefore beyond this [gross manifestation] is a transcendental manifestation finer than the finest form. It has no beginning, no intermediate stage and no end; therefore it is beyond the limits of expression or mental speculation and is distinct from the material conception.

35 Neither of the above forms of the Lord, as just described unto you from the material angle of vision, is accepted by the pure devotees of the Lord who know Him well.

36 He, the Personality of Godhead, manifests Himself in a transcendental form, being the subject of His transcendental name, quality, pastimes, entourage and transcendental variegatedness. Although He is unaffected by all such activities, He appears to be so engaged.

37-40 O King, know from me that all living entities are created by the Supreme Lord according to their past deeds. This includes Brahmā and his sons like Dakṣa, the periodical heads like Vaivasvata Manu, the demigods like Indra, Candra and Varuṇa, the great sages like Bhṛgu, Vyāsa and Vasiṣṭha, the inhabitants of Pitṛloka and Siddhaloka, the Cāraṇas, Gandharvas, Vidyādharas, Asuras, Yakṣas, Kinnaras and angels, the serpentines, the monkey-shaped Kimpuruṣas, the human beings, the inhabitants of Mātṛloka, the demons, Piśācas, ghosts, spirits, lunatics and evil spirits, the good and evil stars, the goblins, the animals in the forest, the birds, the household animals, the reptiles, the mountains, the moving and standing living entities, the living entities born from embryos, from eggs, from perspiration and from seeds, and all others, whether they be in the water, land or sky, in happiness, in distress or in mixed happiness and distress. All of them, according to their past deeds, are created by the Supreme Lord.

41 According to the different modes of material nature the mode of goodness, the mode of passion and the mode of darkness there are different living creatures, who are known as demigods, human beings and hellish living entities. O King, even a particular mode of nature, being mixed with the other two, is divided into three, and thus each kind of living creature is influenced by the other modes and acquires its habits also.

42 He, the Personality of Godhead, as the maintainer of all in the universe, appears in different incarnations after establishing the creation, and thus He reclaims all kinds of conditioned souls amongst the humans, the nonhumans and the demigods.

43 Thereafter, at the end of the millennium, the Lord Himself in the form of Rudra, the destroyer, will annihilate the complete creation as the wind displaces the clouds.

44 The great transcendentalists thus describe the activities of the Supreme Personality of Godhead, but the pure devotees deserve to see more glorious things in transcendence, beyond these features.

45 There is no direct engineering by the Lord for the creation and destruction of the material world. What is described in the Vedas about His direct interference is simply to counteract the idea that material nature is the creator.

46 This process of creation and annihilation described in summary herein is the regulative principle during the duration of Brahmā's one day. It is also the regulative principle in the creation of mahat, in which the material nature is dispersed.

47 O King, I shall in due course explain the measurement of time in its gross and subtle features with the specific symptoms of each, but for the present let me explain unto you the Pādma-kalpa.

48Śaunaka Ṛṣi, after hearing all about the creation, inquired from Sūta Gosvāmī about Vidura, for Sūta Gosvāmī had previously informed him how Vidura left home, leaving aside all his relatives, who were very difficult to leave.

49-50Śaunaka Ṛṣi said: Let us know, please, what topics were discussed between Vidura and Maitreya, who talked on transcendental subjects, and what was inquired by Vidura and replied by Maitreya. Also please let us know the reason for Vidura's giving up the connection of his family members, and why he again came home. Please also let us know the activities of Vidura while he was in the places of pilgrimage.

51Śrī Sūta Gosvāmī explained: I shall now explain to you the very subjects explained by the great sage in answer to King Parīkṣit's inquiries. Please hear them attentively.

## Canto 3: The Status Quo

### SB 3.1: Questions by Vidura

1Śukadeva Gosvāmī said: After renouncing his prosperous home and entering the forest, King Vidura, the great devotee, asked this question of His Grace Maitreya Ṛṣi.

2 What else is there to say about the residential house of the Pāṇḍavas? Śrī Kṛṣṇa, the Lord of everything, acted as your minister. He used to enter that house as if it were His own, and He did not take any care of Duryodhana's house.

3 The King asked Śukadeva Gosvāmī: Where and when did the meeting and discussion take place between Saint Vidura and His Grace Maitreya Muni? Kindly oblige, my lord, and describe this to us.

4 Saint Vidura was a great and pure devotee of the Lord, and therefore his questions to His Grace Ṛṣi Maitreya must have been very purposeful, on the highest level, and approved by learned circles.

5Śrī Suta Gosvāmī said: The great sage Śukadeva Gosvāmī was highly experienced and was pleased with the King. Thus being questioned by the King, he said to him, "Please hear the topics attentively."

6ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: King Dhṛtarāṣṭra became blind under the influence of impious desires to nourish his dishonest sons, and thus he set fire to the lacquer house to burn his fatherless nephews, the Pāṇḍavas.

7 The King did not forbid his son Duḥśāsana's abominable action of grabbing the hair of Draupadī, the wife of the godly King Yudhiṣṭhira, even though her tears washed the red dust on her breast.

8 Yudhiṣṭhira, who was born without any enemy, was unfairly defeated in gambling. But because he had taken the vow of truthfulness, he went off to the forest. When he came back in due course and begged the return of his rightful share of the kingdom, he was refused by Dhṛtarāṣṭra, who was overwhelmed by illusion.

9 Lord Kṛṣṇa was sent by Arjuna into the assembly as the spiritual master of the whole world, and although His words were heard by some [like Bhīṣma] as pure nectar, it was not so for the others, who were completely bereft of the last farthing of past pious works. The King [Dhṛtarāṣṭra or Duryodhana] did not take the words of Lord Kṛṣṇa very seriously.

10 When Vidura was invited by his elder brother [Dhṛtarāṣṭra] for consultation, he entered the house and gave instructions which were exactly to the point. His advice is well known, and instructions by Vidura are approved by expert ministers of state.

11 [Vidura said:] You must now return the legitimate share to Yudhiṣṭhira, who has no enemies and who has been forbearing through untold sufferings due to your offenses. He is waiting with his younger brothers, among whom is the revengeful Bhīma, breathing heavily like a snake. Surely you are afraid of him.

12 Lord Kṛṣṇa, the Personality of Godhead, has accepted the sons of Pṛthā as His kinsmen, and all the kings of the world are with Lord Śrī Kṛṣṇa. He is present in His home with all His family members, the kings and princes of the Yadu dynasty, who have conquered an unlimited number of rulers, and He is their Lord.

13 You are maintaining offense personified, Duryodhana, as your infallible son, but he is envious of Lord Kṛṣṇa. And because you are thus maintaining a nondevotee of Kṛṣṇa, you are devoid of all auspicious qualities. Relieve yourself of this ill fortune as soon as possible and do good to the whole family!

14 While speaking thus, Vidura, whose personal character was esteemed by respectable persons, was insulted by Duryodhana, who was swollen with anger and whose lips were trembling. Duryodhana was in company with Karṇa, his younger brothers and his maternal uncle Śakuni.

15 Who asked him to come here, this son of a kept mistress? He is so crooked that he spies in the interest of the enemy against those on whose support he has grown up. Toss him out of the palace immediately and leave him with only his breath.

16 Thus being pierced by arrows through his ears and afflicted to the core of his heart, Vidura placed his bow on the door and quit his brother's palace. He was not sorry, for he considered the acts of the external energy to be supreme.

17 By his piety, Vidura achieved the advantages of the pious Kauravas. After leaving Hastināpura, he took shelter of many places of pilgrimages, which are the Lord's lotus feet. With a desire to gain a high order of pious life, he traveled to holy places where thousands of transcendental forms of the Lord are situated.

18 He began to travel alone, thinking only of Kṛṣṇa, through various holy places like Ayodhyā, Dvārakā and Mathurā. He traveled where the grove, hill, orchard, river and lake are all pure and sinless and where the forms of the Unlimited decorate the temples. Thus he performed the pilgrim's progress.

19 While so traversing the earth, he simply performed duties to please the Supreme Lord Hari. His occupation was pure and independent. He was constantly sanctified by taking his bath in holy places, although he was in the dress of a mendicant and had no hair dressing nor a bed on which to lie. Thus he was always unseen by his various relatives.

20 Thus, when he was in the land of Bhāratavarṣa traveling to all the places of pilgrimage, he visited Prabhāsakṣetra. At that time Mahārāja Yudhiṣṭhira was the emperor and held the world under one military strength and one flag.

21 At the place of pilgrimage at Prabhāsa, it came to his knowledge that all his relatives had died due to violent passion, just as an entire forest burns due to fire produced by the friction of bamboos. After this he proceeded west, where the river Sarasvatī flows.

22 On the bank of the river Sarasvatī there were eleven places of pilgrimage, namely (1) Trita, (2) Uśanā, (3) Manu, (4) Pṛthu, (5) Agni, (6) Asita, (7) Vāyu, (8) Sudāsa, (9) Go, (10) Guha and (11) Śrāddhadeva. Vidura visited all of them and duly performed rituals.

23 There were also many other temples of various forms of the Supreme Personality of Godhead Viṣṇu, established by great sages and demigods. These temples were marked with the chief emblems of the Lord, and they reminded one always of the original Personality of Godhead, Lord Kṛṣṇa.

24 Thereafter he passed through very wealthy provinces like Surat, Sauvīra and Matsya and through western India, known as Kurujāṅgala. At last he reached the bank of the Yamunā, where he happened to meet Uddhava, the great devotee of Lord Kṛṣṇa.

25 Then, due to his great love and feeling, Vidura embraced him [Uddhava], who was a constant companion of Lord Kṛṣṇa and formerly a great student of Bṛhaspati's. Vidura then asked him for news of the family of Lord Kṛṣṇa, the Personality of Godhead.

26 [Please tell me] whether the original Personalities of Godhead, who incarnated Themselves at the request of Brahmā [who is born out of the lotus flower from the Lord] and who have increased the prosperity of the world by elevating everyone, are doing well in the house of Śūrasena.

27 [Please tell me] whether the best friend of the Kurus, our brother-in-law Vasudeva, is doing well. He is very munificent. He is like a father to his sisters, and he is always pleasing to his wives.

28 O Uddhava, please tell me, How is Pradyumna, the commander in chief of the Yadus, who was Cupid in a former life? Rukmiṇī bore him as her son from Lord Kṛṣṇa, by the grace of brāhmaṇas whom she pleased.

29 O my friend, [tell me] whether Ugrasena, the King of the Sātvatas, Vṛṣṇis, Bhojas and Dāśārhas, is now doing well. He went far away from his kingdom, leaving aside all hopes of his royal throne, but Lord Kṛṣṇa again installed him.

30 O gentle one, does Sāmba fare well? He exactly resembles the son of the Personality of Godhead. In a previous birth he was born as Kārttikeya in the womb of the wife of Lord Śiva, and now he has been born in the womb of Jāmbavatī, the most enriched wife of Kṛṣṇa.

31 O Uddhava, does Yuyudhāna fare well? He learned the intricacies of the military art from Arjuna and attained the transcendental destination which is very difficult to reach even for great renouncers.

32 Please tell me whether Akrūra, the son of Śvaphalka, is doing well. He is a faultless soul surrendered unto the Personality of Godhead. He once lost his mental equilibrium due to his ecstasy of transcendental love and fell down on the dust of a road which was marked with the footprints of Lord Kṛṣṇa.

33 As the Vedas are the reservoir of sacrificial purposes, so the daughter of King Devaka-bhoja conceived the Supreme Personality of Godhead in her womb, as did the mother of the demigods. Is she [Devakī] doing well?

34 May I inquire whether Aniruddha is doing well? He is the fulfiller of all the desires of the pure devotees and has been considered from yore to be the cause of the Ṛg Veda, the creator of the mind and the fourth plenary expansion of Viṣṇu.

35 O sober one, others, such as Hṛdīka, Cārudeṣṇa, Gada and the son of Satyabhāmā, who accept Lord Śrī Kṛṣṇa as the soul of the self and thus follow His path without deviation are they well?

36 Also let me inquire whether Mahārāja Yudhiṣṭhira is now maintaining the kingdom according to religious principles and with respect for the path of religion. Formerly Duryodhana was burning with envy because Yudhiṣṭhira was being protected by the arms of Kṛṣṇa and Arjuna as if they were his own arms.

37 [Please tell me] whether the unconquerable Bhīma, who is like a cobra, has released his long-cherished anger upon the sinners? The field of battle could not tolerate even the wonderful playing of his club when he stepped on the path.

38 [Please tell me] whether Arjuna, whose bow bears the name Gāṇḍīva and who is always famous amongst the chariot warriors for vanquishing his enemies, is doing well. He once satisfied Lord Śiva by covering him with arrows when Śiva came as an unidentified false hunter.

39 Are the twin brothers who are protected by their brothers doing well? Just as the eye is always protected by the eyelid, they are protected by the sons of Pṛthā, who snatched back their rightful kingdom from the hands of their enemy Duryodhana, just as Garuḍa snatched nectar from the mouth of Indra, the thunderbolt carrier.

40 O my lord, is Pṛthā still living? She lived only for the sake of her fatherless children; otherwise it was impossible for her to live without King Pāṇḍu, who was the greatest commander and who alone conquered the four directions simply with the help of a second bow.

41 O gentle one, I simply lament for him [Dhṛtarāṣṭra] who rebelled against his brother after death. By him I was driven out of my own house, although I am his sincere well-wisher, because he accepted the line of action adopted by his own sons.

42 I am not astonished at this, having traveled over the world without being seen by others. The activities of the Personality of Godhead, which are like those of a man in this mortal world, are bewildering to others, but I know of His greatness by His grace, and thus I am happy in all respects.

43 Despite His being the Lord and being always willing to relieve the distress of sufferers, He [Kṛṣṇa] refrained from killing the Kurus, although they committed all sorts of sins and although He saw other kings constantly agitating the earth by their strong military movements carried out under the dictation of three kinds of false pride.

44 The appearance of the Lord is manifested for the annihilation of the upstarts. His activities are transcendental and are enacted for the understanding of all persons. Otherwise, since the Lord is transcendental to all material modes, what purpose could He serve by coming to earth?

45 O my friend, please, therefore, chant the glories of the Lord, who is meant to be glorified in the places of pilgrimage. He is unborn, and yet He appears by His causeless mercy upon the surrendered rulers of all parts of the universe. Only for their interest did He appear in the family of His unalloyed devotees the Yadus.

### SB 3.2: Remembrance of Lord Kṛṣṇa

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: When the great devotee Uddhava was asked by Vidura to speak on the messages of the dearest [Lord Kṛṣṇa], Uddhava was unable to answer immediately due to excessive anxiety at the remembrance of the Lord.

2 He was one who even in his childhood, at the age of five years, was so absorbed in the service of Lord Kṛṣṇa that when he was called by his mother for morning breakfast, he did not wish to have it.

3 Uddhava thus served the Lord continually from childhood, and in his old age that attitude of service never slackened. As soon as he was asked about the message of the Lord, he at once remembered all about Him.

4 For a moment he remained dead silent, and his body did not move. He became absorbed in the nectar of remembering the Lord's lotus feet in devotional ecstasy, and he appeared to be

going increasingly deeper into that ecstasy.

5 It was so observed by Vidura that Uddhava had all the transcendental bodily changes due to total ecstasy, and he was trying to wipe away tears of separation from his eyes. Thus Vidura could understand that Uddhava had completely assimilated extensive love for the Lord.

6 The great devotee Uddhava soon came back from the abode of the Lord to the human plane, and wiping his eyes, he awakened his reminiscence of the past and spoke to Vidura in a pleasing mood.

7Śrī Uddhava said: My dear Vidura, the sun of the world, Lord Kṛṣṇa, has set, and our house has now been swallowed by the great snake of time. What can I say to you about our welfare?

8 This universe with all its planets is most unfortunate. And even more unfortunate are the members of the Yadu dynasty because they could not identify Lord Hari as the Personality of Godhead, any more than the fish could identify the moon.

9 The Yadus were all experienced devotees, learned and expert in psychic study. Over and above this, they were always with the Lord in all kinds of relaxations, and still they were only able to know Him as the one Supreme who dwells everywhere.

10 Under no circumstances can the words of persons bewildered by the illusory energy of the Lord deviate the intelligence of those who are completely surrendered souls.

11 Lord Śrī Kṛṣṇa, who manifested His eternal form before the vision of all on the earth, performed His disappearance by removing His form from the sight of those who were unable to see Him [as He is] due to not executing required penance.

12 The Lord appeared in the mortal world by His internal potency, yoga-māyā. He came in His eternal form, which is just suitable for His pastimes. These pastimes were wonderful for everyone, even for those proud of their own opulence, including the Lord Himself in His form as the Lord of Vaikuṇṭha. Thus His [Śrī Kṛṣṇa's] transcendental body is the ornament of all ornaments.

13 All the demigods from the upper, lower and middle universal planetary systems assembled at the altar of the rājasūya sacrifice performed by Mahārāja Yudhiṣṭhira. After seeing the beautiful bodily features of Lord Kṛṣṇa, they all contemplated that He was the ultimate dexterous creation of Brahmā, the creator of human beings.

14 The damsels of Vraja, after pastimes of laughter, humor and exchanges of glances, were anguished when Kṛṣṇa left them. They used to follow Him with their eyes, and thus they sat down with stunned intelligence and could not finish their household duties.

15 The Personality of Godhead, the all-compassionate controller of both the spiritual and material creations, is unborn, but when there is friction between His peaceful devotees and persons who are in the material modes of nature, He takes birth just like fire, accompanied by the mahat-tattva.

16 When I think of Lord Kṛṣṇa how He was born in the prison house of Vasudeva although He is unborn, how He went away from His father's protection to Vraja and lived there incognito out of fear of the enemy, and how, although unlimitedly powerful, He fled from Mathurā in fear all these bewildering incidents give me distress.

17 Lord Kṛṣṇa begged pardon from His parents for Their [Kṛṣṇa and Balarāma's] inability to serve their feet, due to being away from home because of great fear of Kaṁsa. He said, "O

mother, O father, please excuse Us for this inability." All this behavior of the Lord gives me pain at heart.

18 Who, after smelling the dust of His lotus feet even once, could ever forget it? Simply by expanding the leaves of His eyebrows, Kṛṣṇa has given the deathblow to those who were burdening the earth.

19 You have personally seen how the King of Cedi [Śiśupāla] achieved success in yoga practice, although he hated Lord Kṛṣṇa. Even the actual yogīs aspire after such success with great interest by performance of their various practices. Who can tolerate separation from Him?

20 Certainly others who were fighters on the Battlefield of Kurukṣetra were purified by the onslaught of Arjuna's arrows, and while seeing the lotuslike face of Kṛṣṇa, so pleasing to the eyes, they achieved the abode of the Lord.

21 Lord Śrī Kṛṣṇa is the Lord of all kinds of threes and is independently supreme by achievement of all kinds of fortune. He is worshiped by the eternal maintainers of the creation, who offer Him the paraphernalia of worship by touching their millions of helmets to His feet.

22 Therefore, O Vidura, does it not pain us, His servitors, when we remember that He [Lord Kṛṣṇa] used to stand before King Ugrasena, who was sitting on the royal throne, and used to submit explanations before him, saying, "O My lord, please let it be known to you"?

23 Alas, how shall I take shelter of one more merciful than He who granted the position of mother to a she-demon [Pūtanā] although she was unfaithful and she prepared deadly poison to be sucked from her breast?

24 I consider the demons, who are inimical toward the Lord, to be more than the devotees because while fighting with the Lord, absorbed in thoughts of enmity, they are able to see the Lord carried on the shoulder of Garuḍa, the son of Tārkṣya [Kaśyapa], and carrying the wheel weapon in His hand.

25 The Personality of Godhead, Lord Śrī Kṛṣṇa, being prayed to by Brahmā to bring welfare to the earth, was begotten by Vasudeva in the womb of his wife Devakī in the prison of the King of Bhoja.

26 Thereafter, His father, being afraid of Kaṁsa, brought Him to the cow pastures of Mahārāja Nanda, and there He lived for eleven years like a covered flame with His elder brother, Baladeva.

27 In His childhood, the Almighty Lord was surrounded by cowherd boys and calves, and thus He traveled on the shore of the Yamunā river, through gardens densely covered with trees and filled with vibrations of chirping birds.

28 When the Lord displayed His activities just suitable for childhood, He was visible only to the residents of Vṛndāvana. Sometimes He would cry and sometimes laugh, just like a child, and while so doing He would appear like a lion cub.

29 While herding the very beautiful bulls, the Lord, who was the reservoir of all opulence and fortune, used to blow His flute, and thus He enlivened His faithful followers, the cowherd boys.

30 The great wizards who were able to assume any form were engaged by the King of Bhoja, Kaṁsa, to kill Kṛṣṇa, but in the course of His pastimes the Lord killed them as easily as a child

breaks dolls.

31 The inhabitants of Vṛndāvana were perplexed by great difficulties because a certain portion of the Yamunā was poisoned by the chief of the reptiles [Kāliya]. The Lord chastised the snake-king within the water and drove him away, and after coming out of the river, He caused the cows to drink the water and proved that the water was again in its natural state.

32 The Supreme Lord, Kṛṣṇa, desired to utilize the opulent financial strength of Mahārāja Nanda for worship of the cows, and also He wanted to give a lesson to Indra, the King of heaven. Thus He advised His father to perform worship of go, or the pasturing land and the cows, with the help of learned brāhmaṇas.

33 O sober Vidura, King Indra, his honor having been insulted, poured water incessantly on Vṛndāvana, and thus the inhabitants of Vraja, the land of cows, were greatly distressed. But the compassionate Lord Kṛṣṇa saved them from danger with His pastime umbrella, the Govardhana Hill.

34 In the third season of the year, the Lord enjoyed as the central beauty of the assembly of women by attracting them with His pleasing songs in an autumn night brightened by moonshine.

### SB 3.3: The Lord's Pastimes Out of Vṛndāvana

1Śrī Uddhava said: Thereafter Lord Kṛṣṇa went to Mathurā City with Śrī Baladeva, and to please Their parents They dragged Kaṁsa, the leader of public enemies, down from his throne and killed him, pulling him along the ground with great strength.

2 The Lord learned all the Vedas with their different branches simply by hearing them once from His teacher, Sāndīpani Muni, whom He rewarded by bringing back his dead son from the region of Yamaloka.

3 Attracted by the beauty and fortune of Rukmiṇī, the daughter of King Bhīṣmaka, many great princes and kings assembled to marry her. But Lord Kṛṣṇa, stepping over the other hopeful candidates, carried her away as His own share, as Garuḍa carried away nectar.

4 By subduing seven bulls whose noses were not pierced, the Lord achieved the hand of Princess Nāgnijitī in the open competition to select her bridegroom. Although the Lord was victorious, His competitors asked the hand of the princess, and thus there was a fight. Well equipped with weapons, the Lord killed or wounded all of them, but He Himself was not hurt.

5 Just to please His dear wife, the Lord brought back the pārijāta tree from heaven, just as an ordinary husband would do. But Indra, the King of heaven, induced by his wives (henpecked as he was), ran after the Lord with full force to fight Him.

6 Narakāsura, the son of Dharitrī, the earth, tried to grasp the whole sky, and for this he was killed by the Lord in a fight. His mother then prayed to the Lord. This led to the return of the kingdom to the son of Narakāsura, and thus the Lord entered the house of the demon.

7 There in the house of the demon, all the princesses kidnapped by Narakāsura at once became alert upon seeing the Lord, the friend of the distressed. They looked upon Him with eagerness, joy and shyness and offered to be His wives.

8 All those princesses were lodged in different apartments, and the Lord simultaneously assumed different bodily expansions exactly matching each and every princess. He accepted

their hands in perfect rituals by His internal potency.

9 Just to expand Himself according to His transcendental features, the Lord begot in each and every one of them ten offspring with exactly His own qualities.

10 Kālayavana, the King of Magadha and Sālva attacked the city of Mathurā, but when the city was encircled by their soldiers, the Lord refrained from killing them personally, just to show the power of His own men.

11 Of kings like Śambara, Dvivida, Bāṇa, Mura, Balvala and many other demons, such as Dantavakra, some He killed Himself, and some He caused to be killed by others [Śrī Baladeva, etc.].

12 Then, O Vidura, the Lord caused all the kings, both the enemies and those on the side of your fighting nephews, to be killed in the Battle of Kurukṣetra. All those kings were so great and strong that the earth seemed to shake as they traversed the warfield.

13 Duryodhana was bereft of his fortune and duration of life because of the intricacy of ill advice given by Karṇa, Duḥśāsana and Saubala. When he lay on the ground with his followers, his thighs broken although he was powerful, the Lord was not happy to see the scene.

14 [After the end of the Battle of Kurukṣetra, the Lord said:] The abatement of the earth's great burden, eighteen akṣauhiṇīs, has now been effected with the help of Droṇa, Bhīṣma, Arjuna and Bhīma. But what is this? There is still the great strength of the Yadu dynasty, born of Myself, which may be a more unbearable burden.

15 When they quarrel among themselves, influenced by intoxication, with their eyes red like copper because of drinking [madhu], then only will they disappear; otherwise, it will not be possible. On My disappearance, this incident will take place.

16 Lord Śrī Kṛṣṇa, thus thinking to Himself, established Mahārāja Yudhiṣṭhira in the position of supreme control of the world in order to show the ideal of administration on the path of piety.

17 The embryo of Pūru's descendant begotten by the great hero Abhimanyu in the womb of Uttarā, his wife, was burnt by the weapon of the son of Droṇa, but later he was again protected by the Lord.

18 The Supreme Lord induced the son of Dharma to perform three horse sacrifices, and Mahārāja Yudhiṣṭhira, constantly following Kṛṣṇa, the Personality of Godhead, protected and enjoyed the earth, assisted by his younger brothers.

19 Simultaneously, the Personality of Godhead enjoyed life in the city of Dvārakā, strictly in conformity with the Vedic customs of society. He was situated in detachment and knowledge, as enunciated by the Sāṅkhya system of philosophy.

20 He was there in His transcendental body, the residence of the goddess of fortune, with His usual gentle and sweetly smiling face, His nectarean words and His flawless character.

21 The Lord enjoyed His pastimes, both in this world and in other worlds [higher planets], specifically in the association of the Yadu dynasty. At leisure hours offered by night, He enjoyed the friendship of conjugal love with women.

22 The Lord was thus engaged in household life for many, many years, but at last His detachment from ephemeral sex life was fully manifested.

23 Every living entity is controlled by a supernatural force, and thus his sense enjoyment is also under the control of that supernatural force. No one, therefore, can put his faith in Lord Kṛṣṇa's transcendental sense activities but one who has become a devotee of the Lord by rendering devotional service.

24 Once upon a time, great sages were made angry by the sporting activities of the princely descendants of the Yadu and Bhoja dynasties, and thus, as desired by the Lord, the sages cursed them.

25 A few months passed, and then, bewildered by Kṛṣṇa, all the descendants of Vṛṣṇi, Bhoja and Andhaka who were incarnations of demigods went to Prabhāsa, while those who were eternal devotees of the Lord did not leave but remained in Dvārakā.

26 After arriving there, all of them took bath, and with the water of this place of pilgrimage they offered their respects to the forefathers, demigods and great sages and thus satisfied them. They gave cows to the brāhmaṇas in royal charity.

27 The brāhmaṇas were not only given well-fed cows in charity, but also gold, gold coins, bedding, clothing, animal-skin seats, blankets, horses, elephants, girls and sufficient land for maintenance.

28 Thereafter they offered the brāhmaṇas highly delicious foodstuffs first offered to the Personality of Godhead and offered their respectful obeisances by touching their heads to the ground. They lived perfectly by protecting the cows and the brāhmaṇas.

### SB 3.4: Vidura Approaches Maitreya

1 Thereafter, all of them [the descendants of Vṛṣṇi and Bhoja], being permitted by the brāhmaṇas, partook of the remnants of prasāda and also drank liquor made of rice. By drinking they all became delirious, and, bereft of knowledge, they touched the cores of each other's hearts with harsh words.

2 As by the friction of bamboos destruction takes place, so also, at sunset, by the interaction of the faults of intoxication, all their minds became unbalanced, and destruction took place.

3 The Personality of Godhead, Lord Śrī Kṛṣṇa, after foreseeing the end [of His family] by His internal potency, went to the bank of the river Sarasvatī, sipped water, and sat down underneath a tree.

4 The Lord is the vanquisher of the distresses of one who is surrendered unto Him. Thus He who desired to destroy His family told me previously to go to Badarikāśrama.

5 Yet in spite of my knowing His desire [to destroy the dynasty], O Arindama [Vidura], I followed Him because it was impossible for me to bear separation from the lotus feet of the master.

6 Thus following, I saw my patron and master [Lord Śrī Kṛṣṇa] sitting alone and deeply thinking, taking shelter on the bank of the river Sarasvatī although He is the shelter of the goddess of fortune.

7 The Lord's body is blackish, but is eternal, full of bliss and knowledge, and very, very beautiful. His eyes are always peaceful, and they are reddish like the rising morning sun. I could immediately recognize Him as the Supreme Personality of Godhead by His four hands, different symbolic representations, and yellow silk garments.

8 The Lord was sitting, taking rest against a young banyan tree, with His right lotus foot on His left thigh, and although He had left all household comforts, He looked quite cheerful in that posture.

9 At that time, after traveling in many parts of the world, Maitreya, a great devotee of the Lord and a friend and well-wisher of the great sage Kṛṣṇa-dvaipāyana Vyāsa, reached that spot out of his own perfect accord.

10 Maitreya Muni was greatly attached to Him [the Lord], and he was listening in a pleasing attitude, with his shoulder lowered. With a smile and a particular glance upon me, having allowed me to rest, the Lord spoke as follows.

11 O Vasu, I know from within your mind what you desired in the days of yore when the Vasus and other demigods responsible for expanding the universal affairs performed sacrifices. You particularly desired to achieve My association. This is very difficult for others to obtain, but I award it unto you.

12 O honest one, your present life is the last and the supermost because in this term of life you have been awarded My ultimate favor. Now you can go to My transcendental abode, Vaikuṇṭha, by leaving this universe of conditioned living entities. Your visit to Me in this lonely place because of your pure and unflinching devotional service is a great boon for you.

13 O Uddhava, in the lotus millennium in the days of yore, at the beginning of the creation, I spoke unto Brahmā, who is situated on the lotus that grows out of My navel, about My transcendental glories, which the great sages describe as Śrīmad-Bhāgavatam.

14 Uddhava said: O Vidura, when I was thus favored at every moment by the Supreme Personality of Godhead and addressed by Him with great affection, my words failed in tears, and the hairs on my body erupted. After smearing my tears, I, with folded hands, spoke like this.

15 O my Lord, devotees who engage in the transcendental loving service of Your lotus feet have no difficulty in achieving anything within the realm of the four principles of religiosity, economic development, sense gratification and liberation. But, O great one, as far as I am concerned, I have preferred only to engage in the loving service of Your lotus feet.

16 My Lord, even the learned sages become disturbed in their intelligence when they see that Your Greatness engages in fruitive work although You are free from all desires, that You take birth although You are unborn, that You flee out of fear of the enemy and take shelter in a fort although You are the controller of invincible time, and that You enjoy householder life surrounded by many women although You enjoy in Your Self.

17 O my Lord, Your eternal Self is never divided by the influence of time, and there is no limitation to Your perfect knowledge. Thus You were sufficiently able to consult with Yourself, yet You called upon me for consultation, as if bewildered, although You are never bewildered. And this act of Yours bewilders me.

18 My Lord, kindly explain to us, if You think us competent to receive it, that transcendental knowledge which gives enlightenment about Yourself and which You explained before to Brahmājī.

19 When I thus expressed my heartfelt desires unto the Supreme Personality of Godhead, the lotus-eyed Lord instructed me about His transcendental situation.

20 I have studied the path of understanding self-knowledge from my spiritual master, the

Personality of Godhead, and thus after circumambulating Him I have come to this place, very much aggrieved due to separation.

21 My dear Vidura, now I am mad for want of the pleasure of seeing Him, and just to mitigate this I am now proceeding to Badarikāśrama in the Himālayas for association, as I have been instructed by Him.

22 There in Badarikāśrama the Personality of Godhead, in His incarnation as the sages Nara and Nārāyaṇa, has been undergoing great penance since time immemorial for the welfare of all amiable living entities.

23ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: After hearing from Uddhava all about the annihilation of his friends and relatives, the learned Vidura pacified his overwhelming bereavement by dint of his transcendental knowledge.

24 While Uddhava, the chief and most confidential amongst the devotees of the Lord, was going away, Vidura, in affection and confidence, questioned him.

25 Vidura said: O Uddhava, because the servants of Viṣṇu, the Lord, wander in the interest of serving others, it is quite fit that you kindly describe the self-knowledge with which you have been enlightened by the Lord Himself.

26Śrī Uddhava said: You may take lessons from the great learned sage Maitreya, who is nearby and who is worshipable for reception of transcendental knowledge. He was directly instructed by the Personality of Godhead while He was about to quit this mortal world.

27Śukadeva Gosvāmī said: O King, after thus discussing with Vidura the transcendental name, fame, qualities, etc., on the bank of the Yamunā, Uddhava was overwhelmed with great affliction. He passed the night as if it were a moment, and thereafter he went away.

28 The King inquired: At the end of the pastimes of the Lord of the three worlds, Śrī Kṛṣṇa, and after the disappearance of the members of the Vṛṣṇi and Bhoja dynasties, who were the best of the great commanders, why did Uddhava alone remain?

29Śukadeva Gosvāmī replied: My dear King, the cursing of the brāhmaṇas was only a plea, but the actual fact was the supreme desire of the Lord. He wanted to disappear from the face of the earth after dispatching His excessively numerous family members. He thought to Himself as follows.

30 Now I shall leave the vision of this mundane world, and I see that Uddhava, the foremost of My devotees, is the only one who can be directly entrusted with knowledge about Me.

31 Uddhava is not inferior to Me in any way because he is never affected by the modes of material nature. Therefore he may remain in this world in order to disseminate specific knowledge of the Personality of Godhead.

32Śukadeva Gosvāmī informed the King that Uddhava, being thus instructed by the Supreme Personality of Godhead, who is the source of all Vedic knowledge and the spiritual master of the three worlds, reached the pilgrimage site of Badarikāśrama and engaged himself there in trance to satisfy the Lord.

33 Vidura also heard from Uddhava about the appearance and disappearance of Lord Kṛṣṇa, the Supersoul, in the mortal world, which is a subject matter sought after with great perseverance by the great sages.

34 The Lord's glorious acts and His acceptance of various transcendental forms for the performance of extraordinary pastimes in the mortal world are very difficult for anyone other than His devotees to understand, and for the beasts they are simply a mental disturbance.

35 Understanding that he was remembered by Lord Kṛṣṇa [while quitting this world], Vidura began to cry loudly, overwhelmed by the ecstasy of love.

36 After passing a few days on the bank of the river Yamunā, Vidura, the self-realized soul, reached the bank of the Ganges, where the great sage Maitreya was situated.

**SB 3.5: Vidura's Talks with Maitreya**

1Śukadeva Gosvāmī said: Vidura, the best amongst the Kuru dynasty, who was perfect in devotional service to the Lord, thus reached the source of the celestial Ganges river [Hardwar], where Maitreya, the great, fathomless learned sage of the world, was seated. Vidura, who was perfect in gentleness and satisfied in transcendence, inquired from him.

2 Vidura said: O great sage, everyone in this world engages in fruitive activities to attain happiness, but one finds neither satiation nor the mitigation of distress. On the contrary, one is only aggravated by such activities. Please, therefore, give us directions on how one should live for real happiness.

3 O my lord, great philanthropic souls travel on the earth on behalf of the Supreme Personality of Godhead to show compassion to the fallen souls who are averse to the sense of subordination to the Lord.

4 Therefore, O great sage, please give me instruction on the transcendental devotional service of the Lord, so that He who is situated in the heart of everyone can be pleased to impart, from within, knowledge of the Absolute Truth in terms of the ancient Vedic principles delivered only to those who are purified by the process of devotional service.

5 O great sage, kindly narrate how the Supreme Personality of Godhead, who is the independent, desireless Lord of the three worlds and the controller of all energies, accepts incarnations and creates the cosmic manifestation with perfectly arranged regulative principles for its maintenance.

6 He lies down on His own heart spread in the form of the sky, and thus placing the whole creation in that space, He expands Himself into many living entities, which are manifested as different species of life. He does not have to endeavor for His maintenance, because He is the master of all mystic powers and the proprietor of everything. Thus He is distinct from the living entities.

7 You may narrate also about the auspicious characteristics of the Lord in His different incarnations for the welfare of the twice-born, the cows and the demigods. Our minds are never satisfied completely, although we continuously hear of His transcendental activities.

8 The Supreme King of all kings has created different planets and places of habitation where living entities are situated in terms of the modes of nature and work, and He has created their different kings and rulers.

9 O chief amongst the brāhmaṇas, please also describe how Nārāyaṇa, the creator of the universe and the self-sufficient Lord, has differently created the natures, activities, forms, features and names of the different living creatures.

10 O my lord, I have repeatedly heard about these higher and lower statuses of human society

from the mouth of Vyāsadeva, and I am quite satiated with all these lesser subject matters and their happiness. They have not satisfied me with the nectar of topics about Kṛṣṇa.

11 Who in human society can be satisfied without hearing sufficient talk of the Lord, whose lotus feet are the sum total of all places of pilgrimage and who is worshiped by great sages and devotees? Such topics can cut off one's bondage to family affection simply by entering the holes of one's ears.

12 Your friend the great sage Kṛṣṇa-dvaipāyana Vyāsa has already described the transcendental qualities of the Lord in his great work the Mahābhārata. But the whole idea is to draw the attention of the mass of people to kṛṣṇa-kathā [Bhagavad-gītā] through their strong affinity for hearing mundane topics.

13 For one who is anxious to engage constantly in hearing such topics, kṛṣṇa-kathā gradually increases his indifference towards all other things. Such constant remembrance of the lotus feet of Lord Kṛṣṇa by the devotee who has achieved transcendental bliss vanquishes all his miseries without delay.

14 O sage, persons who because of their sinful activities are averse to the topics of Transcendence and thus ignorant of the purpose of the Mahābhārata [Bhagavad-gītā] are pitied by the pitiable. I also pity them because I see how their duration of life is spoiled by eternal time while they involve themselves in presentations of philosophical speculation, theoretical ultimate goals of life, and different modes of ritual.

15 O Maitreya, O friend of the distressed, the glories of the Supreme Lord can alone do good for people all over the world. Therefore, just as bees collect honey from flowers, kindly describe the essence of all topics the topics of the Lord.

16 Kindly chant all those superhuman transcendental activities of the supreme controller, the Personality of Godhead, who accepted incarnations fully equipped with all potency for the full manifestation and maintenance of the cosmic creation.

17Śukadeva Gosvāmī said: The great sage Maitreya Muni, after honoring Vidura very greatly, began to speak, at Vidura's request, for the greatest welfare of all people.

18Śrī Maitreya said: O Vidura, all glory unto you. You have inquired from me of the greatest of all goodness, and thus you have shown your mercy both to the world and to me because your mind is always absorbed in thoughts of the Transcendence.

19 O Vidura, it is not at all wonderful that you have so accepted the Lord without deviation of thought, for you were born from the semen of Vyāsadeva.

20 I know that you are now Vidura due to the cursing of Māṇḍavya Muni and that formerly you were King Yamarāja, the great controller of living entities after their death. You were begotten by the son of Satyavatī, Vyāsadeva, in the kept wife of his brother.

21 Your good self is one of the eternal associates of the Supreme Personality of Godhead for whose sake the Lord, while going back to His abode, left instructions with me.

22 I shall therefore describe to you the pastimes by which the Personality of Godhead extends His transcendental potency for the creation, maintenance and dissolution of the cosmic world as they occur one after another.

23 The Personality of Godhead, the master of all living entities, existed prior to the creation as one without a second. It is by His will only that creation is made possible and again everything

merges in Him. This Supreme Self is symptomized by different names.

24 The Lord, the undisputed proprietor of everything, was the only seer. The cosmic manifestation was not present at that time, and thus He felt imperfect without His plenary and separated parts and parcels. The material energy was dormant, whereas the internal potency was manifested.

25 The Lord is the seer, and the external energy, which is seen, works as both cause and effect in the cosmic manifestation. O greatly fortunate Vidura, this external energy is known as māyā or illusion, and through her agency only is the entire material manifestation made possible.

26 The Supreme Living Being in His feature as the transcendental puruṣa incarnation, who is the Lord's plenary expansion, impregnates the material nature of three modes, and thus by the influence of eternal time the living entities appear.

27 Thereafter, influenced by the interactions of eternal time, the supreme sum total of matter, called the mahat-tattva, became manifested, and in this mahat-tattva the unalloyed goodness, the Supreme Lord, sowed the seeds of universal manifestation out of His own body.

28 Thereafter the mahat-tattva differentiated itself into many different forms as the reservoir of the would-be entities. The mahat-tattva is chiefly in the mode of ignorance, and it generates the false ego. It is a plenary expansion of the Personality of Godhead, with full consciousness of creative principles and time for fructification.

29 Mahat-tattva, or the great causal truth, transforms into false ego, which is manifested in three phases cause, effect and the doer. All such activities are on the mental plane and are based on the material elements, gross senses and mental speculation. The false ego is represented in three different modes goodness, passion and ignorance.

30 The false ego is transformed into mind by interaction with the mode of goodness. All the demigods who control the phenomenal world are also products of the same principle, namely the interaction of false ego and the mode of goodness.

31 The senses are certainly products of the mode of passion in false ego, and therefore philosophical speculative knowledge and fruitive activities are predominantly products of the mode of passion.

32 The sky is a product of sound, and sound is the transformation of egoistic ignorance. In other words, the sky is the symbolic representation of the Supreme Soul.

33 Thereafter the Personality of Godhead glanced over the sky, partly mixed with eternal time and external energy, and thus developed the touch sensation, from which the air in the sky was produced.

34 Thereafter the extremely powerful air, interacting with the sky, generated the form of sense perception, and the perception of form transformed into electricity, the light to see the world.

35 When electricity was surcharged in the air and was glanced over by the Supreme, at that time, by a mixture of eternal time and external energy, there occurred the creation of water and taste.

36 Thereafter the water produced from electricity was glanced over by the Supreme Personality of Godhead and mixed with eternal time and external energy. Thus it was transformed into the earth, which is qualified primarily by smell.

37 O gentle one, of all the physical elements, beginning from the sky down to the earth, all the inferior and superior qualities are due only to the final touch of the glance of the Supreme Personality of Godhead.

38 The controlling deities of all the above-mentioned physical elements are empowered expansions of Lord Viṣṇu. They are embodied by eternal time under the external energy, and they are His parts and parcels. Because they were entrusted with different functions of universal duties and were unable to perform them, they offered fascinating prayers to the Lord as follows.

39 The demigods said: O Lord, Your lotus feet are like an umbrella for the surrendered souls, protecting them from all the miseries of material existence. All the sages under that shelter throw off all material miseries. We therefore offer our respectful obeisances unto Your lotus feet.

40 O Father, O Lord, O Personality of Godhead, the living entities in the material world can never have any happiness because they are overwhelmed by the three kinds of miseries. Therefore they take shelter of the shade of Your lotus feet, which are full of knowledge, and we also thus take shelter of them.

41 The lotus feet of the Lord are by themselves the shelter of all places of pilgrimage. The great clear-minded sages, carried by the wings of the Vedas, always search after the nest of Your lotuslike face. Some of them surrender to Your lotus feet at every step by taking shelter of the best of rivers [the Ganges], which can deliver one from all sinful reactions.

42 Simply by hearing about Your lotus feet with eagerness and devotion and by meditating upon them within the heart, one at once becomes enlightened with knowledge, and on the strength of detachment one becomes pacified. We must therefore take shelter of the sanctuary of Your lotus feet.

43 O Lord, You assume incarnations for the creation, maintenance and dissolution of the cosmic manifestation, and therefore we all take shelter of Your lotus feet because they always award remembrance and courage to Your devotees.

44 O Lord, persons who are entangled by undesirable eagerness for the temporary body and kinsmen, and who are bound by thoughts of "mine" and "I," are unable to see Your lotus feet, although Your lotus feet are situated within their own bodies. But let us take shelter of Your lotus feet.

45 O great Supreme Lord, offensive persons whose internal vision has been too affected by external materialistic activities cannot see Your lotus feet, but they are seen by Your pure devotees, whose one and only aim is to transcendentally enjoy Your activities.

46 O Lord, persons who, because of their serious attitude, attain the stage of enlightened devotional service achieve the complete meaning of renunciation and knowledge and attain the Vaikuṇṭhaloka in the spiritual sky simply by drinking the nectar of Your topics.

47 Others, who are pacified by means of transcendental self-realization and have conquered over the modes of nature by dint of strong power and knowledge, also enter into You, but for them there is much pain, whereas the devotee simply discharges devotional service and thus feels no such pain.

48 O Original Person, we are therefore but Yours only. Although we are Your creatures, we are born one after another under the influence of the three modes of nature, and for this reason we are separated in action. Therefore, after the creation we could not act concertedly for Your

transcendental pleasure.

49 O unborn one, please enlighten us regarding the ways and means by which we can offer You all enjoyable grains and commodities so that both we and all other living entities in this world can maintain ourselves without disturbance and can easily accumulate the necessities of life both for You and for ourselves.

50 You are the original personal founder of all the demigods and the orders of different gradations, yet You are the oldest and are unchanged. O Lord, You have no source or superior. You have impregnated the external energy with the semen of the total living entities, yet You are unborn.

51 O Supreme Self, please give us, who are created in the beginning from the mahat-tattva, the total cosmic energy, Your kind directions on how we shall act. Kindly award us Your perfect knowledge and potency so that we can render You service in the different departments of subsequent creation.

## SB 3.6: Creation of the Universal Form

1 The Ṛṣi Maitreya said: The Lord thus heard about the suspension of the progressive creative functions of the universe due to the noncombination of His potencies, such as the mahat-tattva.

2 The Supreme Powerful Lord then simultaneously entered into the twenty-three elements with the goddess Kālī, His external energy, who alone amalgamates all the different elements.

3 Thus when the Personality of Godhead entered into the elements by His energy, all the living entities were enlivened into different activities, just as one is engaged in his work after awakening from sleep.

4 When the twenty-three principal elements were set in action by the will of the Supreme, the gigantic universal form, or the viśvarūpa body of the Lord, came into existence.

5 As the Lord, in His plenary portion, entered into the elements of the universal creation, they transformed into the gigantic form in which all the planetary systems and all movable and immovable creations rest.

6 The gigantic virāṭ-puruṣa, known as Hiraṇmaya, lived for one thousand celestial years on the water of the universe, and all the living entities lay with Him.

7 The total energy of the mahat-tattva, in the form of the gigantic virāṭ-rūpa, divided Himself by Himself into the consciousness of the living entities, the life of activity, and self-identification, which are subdivided into one, ten and three respectively.

8 The gigantic universal form of the Supreme Lord is the first incarnation and plenary portion of the Supersoul. He is the Self of an unlimited number of living entities, and in Him rests the aggregate creation, which thus flourishes.

9 The gigantic universal form is represented by three, ten and one in the sense that He is the body and the mind and the senses, He is the dynamic force for all movements by ten kinds of life energy, and He is the one heart where life energy is generated.

10 The Supreme Lord is the Supersoul of all the demigods entrusted with the task of constructing the cosmic manifestation. Being thus prayed to [by the demigods], He thought to Himself and thus manifested the gigantic form for their understanding.

11 Maitreya said: You may now hear from me how the Supreme Lord separated Himself into the diverse forms of the demigods after the manifestation of the gigantic universal form.

12 Agni, or heat, separated from His mouth, and all the directors of material affairs entered into it in their respective positions. By that energy the living entity expresses himself in words.

13 When the palate of the gigantic form was separately manifested, Varuṇa, the director of water in the planetary systems, entered therein, and thus the living entity has the facility to taste everything with his tongue.

14 When the Lord's two nostrils separately manifested themselves, the dual Aśvinī-kumāras entered them in their proper positions, and because of this the living entities can smell the aromas of everything.

15 Thereafter, the two eyes of the gigantic form of the Lord were separately manifested. The sun, the director of light, entered them with the partial representation of eyesight, and thus the living entities can have vision of forms.

16 When there was a manifestation of skin separated from the gigantic form, Anila, the deity directing the wind, entered with partial touch, and thus the living entities can realize tactile knowledge.

17 When the ears of the gigantic form became manifested, all the controlling deities of the directions entered into them with the hearing principles, by which all the living entities hear and take advantage of sound.

18 When there was a separate manifestation of skin, the controlling deities of sensations and their different parts entered into it, and thus the living entities feel itching and happiness due to touch.

19 When the genitals of the gigantic form separately became manifest, then Prajāpati, the original living creature, entered into them with his partial semen, and thus the living entities can enjoy sex pleasure.

20 The evacuating channel separately became manifest, and the director named Mitra entered into it with partial organs of evacuation. Thus the living entities are able to pass stool and urine.

21 Thereafter, when the hands of the gigantic form separately became manifested, Indra, the ruler of the heavenly planets, entered into them, and thus the living entity is able to transact business for his livelihood.

22 Thereafter the legs of the gigantic form separately became manifest, and the demigod named Viṣṇu [not the Personality of Godhead] entered with partial movement. This helps the living entity move to his destination.

23 When the intelligence of the gigantic form separately became manifest, Brahmā, the lord of the Vedas, entered into it with the partial power of understanding, and thus an object of understanding is experienced by the living entities.

24 After that, the heart of the gigantic form separately manifested itself, and into it entered the moon demigod with partial mental activity. Thus the living entity can conduct his mental speculations.

25 Thereafter the materialistic ego of the gigantic form separately manifested itself, and into it entered Rudra, the controller of false ego, with his own partial activities, by which the living

entity transacts his objective actions.

26 Thereafter, when His consciousness separately manifested itself, the total energy, mahat-tattva, entered with His conscious part. Thus the living entity is able to conceive specific knowledge.

27 Thereafter, from the head of the gigantic form, the heavenly planets were manifested, and from His legs the earthly planets and from His abdomen the sky separately manifested themselves. Within them the demigods and others also were manifested in terms of the modes of material nature.

28 The demigods, qualified by the superexcellent quality of the mode of goodness, are situated in the heavenly planets, whereas the human beings, because of their nature in the mode of passion, live on the earth in company with their subordinates.

29 Living entities who are associates of Rudra develop in the third mode of material nature, or ignorance. They are situated in the sky between the earthly planets and the heavenly planets.

30 O chief of the Kuru dynasty, the Vedic wisdom became manifested from the mouth of the virāṭ, the gigantic form. Those who are inclined to this Vedic knowledge are called brāhmaṇas, and they are the natural teachers and spiritual masters of all the orders of society.

31 Thereafter the power of protection was generated from the arms of the gigantic virāṭ form, and in relation to such power the kṣatriyas also came into existence by following the kṣatriya principle of protecting society from the disturbance of thieves and miscreants.

32 The means of livelihood of all persons, namely production of grains and their distribution to the prajās, was generated from the thighs of the Lord's gigantic form. The mercantile men who take charge of such execution are called vaiśyas.

33 Thereafter, service was manifested from the legs of the Personality of Godhead for the sake of perfecting the religious function. Situated on the legs are the śūdras, who satisfy the Lord by service.

34 All these different social divisions are born, with their occupational duties and living conditions, from the Supreme Personality of Godhead. Thus for unconditional life and self-realization one has to worship the Supreme Lord under the direction of the spiritual master.

35 O Vidura, who can estimate or measure the transcendental time, work and potency of the gigantic form manifested by the internal potency of the Supreme Personality of Godhead?

36 In spite of my inability, whatever I have been able to hear [from the spiritual master] and whatever I could assimilate I am now describing in glorification of the Lord by pure speech, for otherwise my power of speaking would remain unchaste.

37 The highest perfectional gain of humanity is to engage in discussions of the activities and glories of the Pious Actor. Such activities are so nicely arranged in writing by the greatly learned sages that the actual purpose of the ear is served just by being near them.

38 O my son, the original poet, Brahmā, after mature meditation for one thousand celestial years, could know only that the glories of the Supreme Soul are inconceivable.

39 The wonderful potency of the Supreme Personality of Godhead is bewildering even to the jugglers. That potency is unknown even to the self-sufficient Lord, so it is certainly unknown to others.

40 Words, mind and ego, with their respective controlling demigods, have failed to achieve success in knowing the Supreme Personality of Godhead. Therefore, we simply have to offer our respectful obeisances unto Him as a matter of sanity.

**SB 3.7: Further Inquires by Vidura**

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: O King, while Maitreya, the great sage, was thus speaking, Vidura, the learned son of Dvaipāyana Vyāsa, expressed a request in a pleasing manner by asking this question.

2Śrī Vidura said: O great brāhmaṇa, since the Supreme Personality of Godhead is the complete spiritual whole and is unchangeable, how is He connected with the material modes of nature and their activities? If this is His pastime, how do the activities of the unchangeable take place and exhibit qualities without the modes of nature?

3 Boys are enthusiastic to play with other boys or with various diversions because they are encouraged by desire. But there is no possibility of such desire for the Lord because He is self-satisfied and detached from everything at all times.

4 By His self-sheltered potency of the three modes of material nature, the Lord has caused the creation of this universe. By her He maintains the creation and conversely dissolves it, again and again.

5 The pure soul is pure consciousness and is never out of consciousness, either due to circumstances, time, situations, dreams or other causes. How then does he become engaged in nescience?

6 The Lord, as the Supersoul, is situated in every living being's heart. Why then do the living entities' activities result in misfortune and misery?

7 O great and learned one, my mind is greatly illusioned by the distress of this nescience, and I therefore request you to clear it up.

8ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: O King, Maitreya, being thus agitated by the inquisitive Vidura, at first seemed astonished, but then he replied to him without hesitation, since he was fully God conscious.

9Śrī Maitreya said: Certain conditioned souls put forward the theory that the Supreme Brahman, or the Personality of Godhead, is overcome by illusion, or māyā, and at the same time they maintain that He is unconditioned. This is against all logic.

10 The living entity is in distress regarding his self-identity. He has no factual background, like a man who dreams that he sees his head cut off.

11 As the moon reflected on water appears to the seer to tremble due to being associated with the quality of the water, so the self associated with matter appears to be qualified as matter.

12 But that misconception of self-identity can be diminished gradually by the mercy of the Personality of Godhead, Vāsudeva, through the process of devotional service to the Lord in the mode of detachment.

13 When the senses are satisfied in the seer-Supersoul, the Personality of Godhead, and merge in Him, all miseries are completely vanquished, as after a sound sleep.

14 Simply by chanting and hearing of the transcendental name, form, etc., of the Personality of

Godhead, Śrī Kṛṣṇa, one can achieve the cessation of unlimited miserable conditions. Therefore what to speak of those who have attained attraction for serving the flavor of the dust of the Lord's lotus feet?

15 Vidura said: O powerful sage, my lord, all my doubts about the Supreme Personality of Godhead and the living entities have now been removed by your convincing words. My mind is now perfectly entering into them.

16 O learned sage, your explanations are very good, as they should be. Disturbances to the conditioned soul have no other basis than the movement of the external energy of the Lord.

17 Both the lowest of fools and he who is transcendental to all intelligence enjoy happiness, whereas persons between them suffer the material pangs.

18 But, my dear sir, I am obliged to you because now I can understand that this material manifestation is without substance, although it appears real. I am confident that by serving your feet it will be possible for me to give up the false idea.

19 By serving the feet of the spiritual master, one is enabled to develop transcendental ecstasy in the service of the Personality of Godhead, who is the unchangeable enemy of the Madhu demon and whose service vanquishes one's material distresses.

20 Persons whose austerity is meager can hardly obtain the service of the pure devotees who are progressing on the path back to the kingdom of Godhead, the Vaikuṇṭhas. Pure devotees engage one hundred percent in glorifying the Supreme Lord, who is the Lord of the demigods and the controller of all living entities.

21 After creating the total material energy, the mahat-tattva, and thereby manifesting the gigantic universal form with senses and sense organs, the Supreme Lord entered within it.

22 The puruṣa incarnation lying on the Causal Ocean is called the original puruṣa in the material creations, and in His virāṭ form, in whom all the planets and their inhabitants live, He has many thousands of legs and hands.

23 O great brāhmaṇa, you have told me that the gigantic virāṭ form and His senses, sense objects and ten kinds of life air exist with three kinds of life vigor. Now, if you will, kindly explain to me the different powers of the specific divisions.

24 O my lord, I think that the process manifest in the forms of sons, grandsons and family members has spread all over the universe in different varieties and species.

25 O learned brāhmaṇa, please describe how the leader of all the demigods, namely the Prajāpati, Brahmā, decided to establish the various Manus, the heads of the ages. Please describe the Manus also, and please describe the descendants of those Manus.

26 O son of Mitrā, kindly describe how the planets are situated above the earth as well as underneath it, and also please mention their measurement as well as that of the earthly planets.

27 Also please describe the living beings under different classifications: subhumans, humans, those born of the embryo, those born of perspiration, those who are twice-born [birds], and the plants and vegetables. Kindly describe their generations and subdivisions also.

28 Please also describe the incarnations of the material modes of nature Brahmā, Viṣṇu and Maheśvara and please describe the incarnation of the Supreme Personality of Godhead and His magnanimous activities.

29 O great sage, kindly describe the divisions and orders of human society in terms of symptoms, behavior and the characteristics of mental equilibrium and sense control. Also please describe the births of the great sages and the categorical divisions of the Vedas.

30 Please also describe the expansions of different sacrifices and the paths of mystic powers, analytical study of knowledge, and devotional service, all with their respective regulations.

31 Please also describe the imperfections and contradictions of the faithless atheists, the situation of crosSBreeding, and the movements of the living entities in various species of life according to their particular modes of nature and work.

32 You may also describe the noncontradictory causes of religiosity, economic development, sense gratification and salvation and also the different means of livelihood and different processes of law and order as mentioned in the revealed scriptures.

33 Please also explain the regulations for offering respects to the forefathers, the creation of the Pitṛloka, the time schedule in the planets, stars and luminaries, and their respective situations.

34 Please also describe the fruitive results of charity and penance and of digging reservoirs of water. Please describe the situation of persons who are away from home and also the duty of a man in an awkward position.

35 O sinless one, because the Personality of Godhead, the controller of all living entities, is the father of all religion and all those who are candidates for religious activities, kindly describe how He can be completely satisfied.

36 O best among the brāhmaṇas, those who are spiritual masters are very kind to the needy. They are always kind to their followers, disciples and sons, and without being asked by them, the spiritual master describes all that is knowledge.

37 Please describe how many dissolutions there are for the elements of material nature and who survives after the dissolutions to serve the Lord while He is asleep.

38 What are the truths regarding the living entities and the Supreme Personality of Godhead? What are their identities? What are the specific values in the knowledge in the Vedas, and what are the necessities for the spiritual master and his disciples?

39 Spotless devotees of the Lord have mentioned the source of such knowledge. How could one have knowledge of devotional service and detachment without the help of such devotees?

40 My dear sage, I have put all these questions before you with a view to knowing the pastimes of Hari, the Supreme Personality of Godhead. You are the friend of all, so kindly describe them for all those who have lost their vision.

41 O spotless one, your answers to all these questions will grant immunity from all material miseries. Such charity is greater than all Vedic charities, sacrifices, penances, etc.

42ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: Thus the chief of the sages, who was always enthusiastic about describing topics regarding the Personality of Godhead, began to narrate the descriptive explanation of the Purāṇas, being so infused by Vidura. He was very much enlivened by speaking on the transcendental activities of the Lord.

**SB 3.8: Manifestation of Brahmā from Garbhodakaśāyī Viṣṇu**

1 The great sage Maitreya Muni said to Vidura: The royal dynasty of King Pūru is worthy to serve the pure devotees because all the descendants of that family are devoted to the Personality of Godhead. You are also born in that family, and it is wonderful that because of your attempt the transcendental pastimes of the Lord are becoming newer and newer at every moment.

2 Let me now begin speaking on the Bhāgavata Purāṇa, which was directly spoken to the great sages by the Personality of Godhead for the benefit of those who are entangled in extreme miseries for the sake of very little pleasure.

3 Some time ago, being inquisitive to know, Sanat-kumāra, the chief of the boy-saints, accompanied by other great sages, inquired exactly like you about the truths regarding Vāsudeva, the Supreme, from Lord Saṅkarṣaṇa, who is seated at the bottom of the universe.

4 At that time Lord Saṅkarṣaṇa was meditating upon His Supreme Lord, whom the learned esteem as Lord Vāsudeva, but for the sake of the advancement of the great learned sages He slightly opened His lotus like eyes and began to speak.

5 The sages came from the highest planets down to the lower region through the water of the Ganges, and therefore the hair on their heads was wet. They touched the lotus feet of the Lord, which are worshiped with various paraphernalia by the daughters of the serpent-king when they desire good husbands.

6 The four Kumāras, headed by Sanat-kumāra, who all knew the transcendental pastimes of the Lord, glorified the Lord in rhythmic accents with selected words full of affection and love. At that time Lord Saṅkarṣaṇa, with His thousands of raised hoods, began to radiate an effulgence from the glowing stones on His head.

7 Lord Saṅkarṣaṇa thus spoke the purport of Śrīmad-Bhāgavatam to the great sage Sanat-kumāra, who had already taken the vow of renunciation. Sanat-kumāra also, in his turn, when inquired of by Sāṅkhyāyana Muni, explained Śrīmad-Bhāgavatam as he had heard it from Saṅkarṣaṇa.

8 The great sage Sāṅkhyāyana was the chief amongst the transcendentalists, and when he was describing the glories of the Lord in terms of Śrīmad-Bhāgavatam, it so happened that my spiritual master, Parāśara, and Bṛhaspati both heard him.

9 The great sage Parāśara, as aforementioned, being so advised by the great sage Pulastya, spoke unto me the foremost of the Purāṇas [Bhāgavatam]. I shall also describe this before you, my dear son, in terms of my hearing, because you are always my faithful follower.

10 At that time when the three worlds were submerged in water, Garbhodakaśāyī Viṣṇu was alone, lying on His bedstead, the great snake Ananta, and although He appeared to be in slumber in His own internal potency, free from the action of the external energy, His eyes were not completely closed.

11 Just like the strength of fire within fuel wood, the Lord remained within the water of dissolution, submerging all the living entities in their subtle bodies. He lay in the self-invigorated energy called kāla.

12 The Lord lay down for a thousand cycles of four yugas in His internal potency, and by His external energy He appeared to be sleeping within the water. When the living entities were coming out for further development of their fruitive activities, actuated by the energy called kāla-śakti, He saw His transcendental body as bluish.

13 The subtle subject matter of creation, on which the Lord's attention was fixed, was agitated by the material mode of passion, and thus the subtle form of creation pierced through His abdomen.

14 Piercing through, this sum total form of the fruitive activity of the living entities took the shape of the bud of a lotus flower generated from the Personality of Viṣṇu, and by His supreme will it illuminated everything, like the sun, and dried up the vast waters of devastation.

15 Into that universal lotus flower Lord Viṣṇu personally entered as the Supersoul, and when it was thus impregnated with all the modes of material nature, the personality of Vedic wisdom, whom we call the self-born, was generated.

16 Brahmā, born out of the lotus flower, could not see the world, although he was situated in the whorl. He therefore circumambulated all of space, and while moving his eyes in all directions he achieved four heads in terms of the four directions.

17 Lord Brahmā, situated in that lotus, could not perfectly understand the creation, the lotus or himself. At the end of the millennium the air of devastation began to move the water and the lotus in great circular waves.

18 Lord Brahmā, in his ignorance, contemplated: Who am I that am situated on the top of this lotus? Wherefrom has it sprouted? There must be something downwards, and that from which this lotus has grown must be within the water.

19 Lord Brahmā, thus contemplating, entered the water through the channel of the stem of the lotus. But in spite of entering the stem and going nearer to the navel of Viṣṇu, he could not trace out the root.

20 O Vidura, while searching in that way about his existence, Brahmā reached his ultimate time, which is the eternal wheel in the hand of Viṣṇu and which generates fear in the mind of the living entity like the fear of death.

21 Thereafter, being unable to achieve the desired destination, he retired from such searching and came back again to the top of the lotus. Thus, controlling all objectives, he concentrated his mind on the Supreme Lord.

22 At the end of Brahmā's one hundred years, when his meditation was complete, he developed the required knowledge, and as a result he could see in his heart the Supreme within himself, whom he could not see before with the greatest endeavor.

23 Brahmā could see that on the water there was a gigantic lotuslike white bedstead, the body of Śeṣa-nāga, on which the Personality of Godhead was lying alone. The whole atmosphere was illuminated by the rays of the jewels bedecking the hood of Śeṣa-nāga, and that illumination dissipated all the darkness of those regions.

24 The luster of the transcendental body of the Lord mocked the beauty of the coral mountain. The coral mountain is very beautifully dressed by the evening sky, but the yellow dress of the Lord mocked its beauty. There is gold on the summit of the mountain, but the Lord's helmet, bedecked with jewels, mocked it. The mountain's waterfalls, herbs, etc., with a panorama of flowers, seem like garlands, but the Lord's gigantic body, and His hands and legs, decorated with jewels, pearls, tulasī leaves and flower garlands, mocked the scene on the mountain.

25 His transcendental body, unlimited in length and breadth, occupied the three planetary systems, upper, middle and lower. His body was self-illuminated by unparalleled dress and

variegatedness and was properly ornamented.

26 The Lord showed His lotus feet by raising them. His lotus feet are the source of all awards achieved by devotional service free from material contamination. Such awards are for those who worship Him in pure devotion. The splendor of the transcendental rays from His moonlike toenails and fingernails appeared like the petals of a flower.

27 He also acknowledged the service of the devotees and vanquished their distress by His beautiful smile. The reflection of His face, decorated with earrings, was so pleasing because it dazzled with the rays from His lips and the beauty of His nose and eyebrows.

28 O my dear Vidura, the Lord's waist was covered with yellow cloth resembling the saffron dust of the kadamba flower, and it was encircled by a well-decorated belt. His chest was decorated with the śrīvatsa marking and a necklace of unlimited value.

29 As a sandalwood tree is decorated with fragrant flowers and branches, the Lord's body was decorated with valuable jewels and pearls. He was the self-situated tree, the Lord of all others in the universe. And as a sandalwood tree is covered with many snakes, so the Lord's body was also covered by the hoods of Ananta.

30 Like a great mountain, the Lord stands as the abode for all moving and nonmoving living entities. He is the friend of the snakes because Lord Ananta is His friend. As a mountain has thousands of golden peaks, so the Lord was seen with the thousands of golden-helmeted hoods of Ananta-nāga; and as a mountain is sometimes filled with jewels, so also His transcendental body was fully decorated with valuable jewels. As a mountains is sometimes submerged in the ocean water, so the Lord is sometimes submerged in the water of devastation.

31 Lord Brahmā, thus looking upon the Lord in the shape of a mountain, concluded that He was Hari, the Personality of Godhead. He saw that the garland of flowers on His chest glorified Him with Vedic wisdom in sweet songs and looked very beautiful. He was protected by the Sudarśana wheel for fighting, and even the sun, moon, air, fire, etc., could not have access to Him.

32 When Lord Brahmā, the maker of the universal destination, thus saw the Lord, he simultaneously glanced over creation. Lord Brahmā saw the lake in Lord Viṣṇu's navel, and the lotus flower, as well as the devastating water, the drying air and the sky. All became visible to him.

33 Lord Brahmā, thus being surcharged with the mode of passion, became inclined to create, and after seeing the five causes of creation indicated by the Personality of Godhead, he began to offer his respectful prayers on the path of the creative mentality.

### SB 3.9: Brahmā's Prayers for Creative Energy

1 Lord Brahmā said: O my Lord, today, after many, many years of penance, I have come to know about You. Oh, how unfortunate the embodied living entities are that they are unable to know Your personality! My Lord, You are the only knowable object because there is nothing supreme beyond You. If there is anything supposedly superior to You, it is not the Absolute. You exist as the Supreme by exhibiting the creative energy of matter.

2 The form which I see is eternally freed from material contamination and has advented to show mercy to the devotees as a manifestation of internal potency. This incarnation is the origin of many other incarnations, and I am born from the lotus flower grown from Your navel

home.

3 O my Lord, I do not see a form superior to Your present form of eternal bliss and knowledge. In Your impersonal Brahman effulgence in the spiritual sky, there is no occasional change and no deterioration of internal potency. I surrender unto You because whereas I am proud of my material body and senses, Your Lordship is the cause of the cosmic manifestation and yet You are untouched by matter.

4 This present form, or any transcendental form expanded by the Supreme Personality of Godhead, Śrī Kṛṣṇa, is equally auspicious for all the universes. Since You have manifested this eternal personal form upon whom Your devotees meditate, I therefore offer my respectful obeisances unto You. Those who are destined to be dispatched to the path of hell neglect Your personal form because of speculating on material topics.

5 O my Lord, persons who smell the aroma of Your lotus feet, carried by the air of Vedic sound through the holes of the ears, accept Your devotional service. For them You are never separated from the lotus of their hearts.

6 O my Lord, the people of the world are embarrassed by all material anxieties they are always afraid. They always try to protect wealth, body and friends, they are filled with lamentation and unlawful desires and paraphernalia, and they avariciously base their undertakings on the perishable conceptions of "my" and "mine." As long as they do not take shelter of Your safe lotus feet, they are full of such anxieties.

7 O my Lord, persons who are bereft of the all-auspicious performance of chanting and hearing about Your transcendental activities are certainly unfortunate and are also bereft of good sense. They engage in inauspicious activities, enjoying sense gratification for a very little while.

8 O great actor, my Lord, all these poor creatures are constantly perplexed by hunger, thirst, severe cold, secretion and bile, attacked by coughing winter, blasting summer, rains and many other disturbing elements, and overwhelmed by strong sex urges and indefatigable anger. I take pity on them, and I am very much aggrieved for them.

9 O my Lord, the material miseries are without factual existence for the soul. Yet as long as the conditioned soul sees the body as meant for sense enjoyment, he cannot get out of the entanglement of material miseries, being influenced by Your external energy.

10 Such nondevotees engage their senses in very troublesome and extensive work, and they suffer insomnia at night because their intelligence constantly breaks their sleep with various mental speculations. They are frustrated in all their various plans by supernatural power. Even great sages, if they are against Your transcendental topics, must rotate in this material world.

11 O my Lord, Your devotees can see You through the ears by the process of bona fide hearing, and thus their hearts become cleansed, and You take Your seat there. You are so merciful to Your devotees that You manifest Yourself in the particular eternal form of transcendence in which they always think of You.

12 My Lord, You are not very much satisfied by the worship of the demigods, who arrange for Your worship very pompously, with various paraphernalia, but who are full of material hankerings. You are situated in everyone's heart as the Supersoul just to show Your causeless mercy, and You are the eternal well-wisher, but You are unavailable for the nondevotee.

13 But the pious activities of the people, such as performance of Vedic rituals, charity, austere penances and transcendental service, performed with a view to worship You and satisfy You

by offering You the fruitive results, are also beneficial. Such acts of religion never go in vain.

14 Let me offer my obeisances unto the Supreme Transcendence, who is eternally distinguished by His internal potency. His indistinguishable impersonal feature is realized by intelligence for self-realization. I offer my obeisances unto Him who by His pastimes enjoys the creation, maintenance and dissolution of the cosmic manifestation.

15 Let me take shelter of the lotus feet of Him whose incarnations, qualities and activities are mysterious imitations of worldly affairs. One who invokes His transcendental names, even unconsciously, at the time he quits this life, is certainly washed immediately of the sins of many, many births and attains Him without fail.

16 Your Lordship is the prime root of the tree of the planetary systems. This tree has grown by first penetrating the material nature in three trunks as me, Śiva and You, the Almighty for creation, maintenance and dissolution, and we three have grown with many branches. Therefore I offer my obeisances unto You, the tree of the cosmic manifestation.

17 People in general all engage in foolish acts, not in the really beneficial activities enunciated directly by You for their guidance. As long as their tendency for foolish work remains powerful, all their plans in the struggle for existence will be cut to pieces. I therefore offer my obeisances unto Him who acts as eternal time.

18 Your Lordship, I offer my respectful obeisances unto You who are indefatigable time and the enjoyer of all sacrifices. Although I am situated in an abode which will continue to exist for a time duration of two parārdhas, although I am the leader of all other planets in the universe, and although I have undergone many, many years of penance for self-realization, still I offer my respects unto You.

19 O my Lord, by Your own will You appear in the various species of living entities, among animals lower than human beings as well as among the demigods, to perform Your transcendental pastimes. You are not affected by material contamination. You come just to fulfill the obligations of Your own principles of religion, and therefore, O Supreme Personality, I offer my obeisances unto You for manifesting such different forms.

20 My Lord, You accept the pleasure of sleeping in the water of devastation, where there are violent waves, and You enjoy pleasure on the bed of snakes, showing the happiness of Your sleep to intelligent persons. At that time, all the universal planets are stationed within Your abdomen.

21 O object of my worship, I am born from the house of Your lotus navel for the purpose of creating the universe by Your mercy. All these planets of the universe were stationed within Your transcendental abdomen while You were enjoying sleep. Now, Your sleep having ended, Your eyes are open like blossoming lotuses in the morning.

22 Let the Supreme Lord be merciful towards me. He is the one friend and soul of all living entities in the world, and He maintains all, for their ultimate happiness, by His six transcendental opulences. May He be merciful towards me so that I, as before, may be empowered with the introspection to create, for I am also one of the surrendered souls who are dear to the Lord.

23 The Supreme Lord, the Personality of Godhead, is always the benefactor of the surrendered souls. His activities are always enacted through His internal potency, Ramā, or the goddess of fortune. I pray only to engage in His service in the creation of the material world, and I pray that I not be materially affected by my works, for thus I may be able to give up the false

prestige of being the creator.

24 The Lord's potencies are innumerable. As He lies down in the water of devastation, I am born as the total universal energy from the navel lake in which the lotus sprouts. I am now engaged in manifesting His diverse energies in the form of the cosmic manifestation. I therefore pray that in the course of my material activities I may not be deviated from the vibration of the Vedic hymns.

25 The Lord, who is supreme and is the oldest of all, is unlimitedly merciful. I wish that He may smilingly bestow His benediction upon me by opening His lotus eyes. He can uplift the entire cosmic creation and remove our dejection by kindly speaking His directions.

26 The sage Maitreya said: O Vidura, after observing the source of his appearance, namely the Personality of Godhead, Brahmā prayed for His mercy as far as his mind and words would permit him. Thus having prayed, he became silent, as if tired from his activities of penance, knowledge and mental concentration.

27-28 The Lord saw that Brahmā was very anxious about the planning and construction of the different planetary systems and was depressed upon seeing the devastating water. He could understand the intention of Brahmā, and thus He spoke in deep, thoughtful words, removing all the illusion that had arisen.

29 The Supreme Personality of Godhead then said: O Brahmā, O depth of Vedic wisdom, be neither depressed nor anxious about the execution of creation. What you are begging from Me has already been granted before.

30 O Brahmā, situate yourself in penance and meditation and follow the principles of knowledge to receive My favor. By these actions you will be able to understand everything from within your heart.

31 O Brahmā, when you are absorbed in devotional service, in the course of your creative activities, you will see Me in you and throughout the universe, and you will see that you yourself, the universe and the living entities are all in Me.

32 You will see Me in all living entities as well as all over the universe, just as fire is situated in wood. Only in that state of transcendental vision will you be able to be free from all kinds of illusion.

33 When you are free from the conception of gross and subtle bodies and when your senses are free from all influences of the modes of material nature, you will realize your pure form in My association. At that time you will be situated in pure consciousness.

34 Since you have desired to increase the population innumerably and expand your varieties of service, you shall never be deprived in this matter because My causeless mercy upon you will always increase for all time.

35 You are the original ṛṣi, and because your mind is always fixed on Me, even though you will be engaged in generating various progeny the vicious mode of passion will never encroach upon you.

36 Although I am not easily knowable by the conditioned soul, you have known Me today because you know that My personality is not constituted of anything material, and specifically not of the five gross and three subtle elements.

37 When you were contemplating whether there was a source to the stem of the lotus of your

birth and you even entered into that stem, you could not trace out anything. But at that time I manifested My form from within.

38 O Brahmā, the prayers that you have chanted praising the glories of My transcendental activities, the penances you have undertaken to understand Me, and your firm faith in Me all these are to be considered My causeless mercy.

39 I am very much pleased by your description of Me in terms of My transcendental qualities, which appear mundane to the mundaners. I grant you all benedictions in your desire to glorify all the planets by your activities.

40 Any human being who prays like Brahmā, and who thus worships Me, shall very soon be blessed with the fulfillment of all his desires, for I am the Lord of all benediction.

41 It is the opinion of expert transcendentalists that the ultimate goal of performing all traditional good works, penances, sacrifices, charities, mystic activities, trances, etc., is to invoke My satisfaction.

42 I am the Supersoul of every individual. I am the supreme director and the dearest. People are wrongly attached to the gross and subtle bodies, but they should be attached to Me only.

43 By following My instructions you can now generate the living entities as before, by dint of your complete Vedic wisdom and the body you have directly received from Me, the supreme cause of everything.

44 The sage Maitreya said: After instructing Brahmā, the creator of the universe, to expand, the primeval Lord, the Personality of Godhead in His personal form as Nārāyaṇa, disappeared.

## SB 3.10: Divisions of the Creation

1Śrī Vidura said: O great sage, please let me know how Brahmā, the grandfather of the planetary inhabitants, created the bodies of the living entities from his own body and mind after the disappearance of the Supreme Personality of Godhead.

2 O greatly learned one, kindly eradicate all my doubts, and let me know of all that I have inquired from you from the beginning to the end.

3 Sūta Gosvāmī said: O son of Bhṛgu, the great sage Maitreya Muni, thus hearing from Vidura, felt very much enlivened. Everything was in his heart, and thus he began to reply to the questions one after another.

4 The greatly learned sage Maitreya said: O Vidura, Brahmā thus engaged himself in penances for one hundred celestial years, as advised by the Personality of Godhead, and applied himself in devotional service to the Lord.

5 Thereafter Brahmā saw that both the lotus on which he was situated and the water on which the lotus was growing were trembling due to a strong, violent wind.

6 Long penance and transcendental knowledge of self-realization had matured Brahmā in practical knowledge, and thus he drank the wind completely, along with the water.

7 Thereafter he saw that the lotus on which he was situated was spread throughout the universe, and he contemplated how to create all the planets, which were previously merged in that very same lotus.

8 Thus engaged in the service of the Supreme Personality of Godhead, Lord Brahmā entered into the whorl of the lotus, and as it spread all over the universe he divided it into three divisions of worlds and later into fourteen divisions.

9 Lord Brahmā is the most exalted personality in the universe because of his causeless devotional service unto the Lord in mature transcendental knowledge. He therefore created all the fourteen planetary divisions for inhabitation by the different types of living entities.

10 Vidura inquired from Maitreya: O my lord, O greatly learned sage, kindly describe eternal time, which is another form of the Supreme Lord, the wonderful actor. What are the symptoms of that eternal time? Please describe them to us in detail.

11 Maitreya said: Eternal time is the primeval source of the interactions of the three modes of material nature. It is unchangeable and limitless, and it works as the instrument of the Supreme Personality of Godhead for His pastimes in the material creation.

12 This cosmic manifestation is separated from the Supreme Lord as material energy by means of kāla, which is the unmanifested, impersonal feature of the Lord. It is situated as the objective manifestation of the Lord under the influence of the same material energy of Viṣṇu.

13 This cosmic manifestation is as it is now, it was the same in the past, and it will continue in the same way in the future.

14 There are nine different kinds of creations besides the one which naturally occurs due to the interactions of the modes. There are three kinds of annihilations due to eternal time, the material elements and the quality of one's work.

15 Of the nine creations, the first one is the creation of the mahat-tattva, or the sum total of the material ingredients, wherein the modes interact due to the presence of the Supreme Lord. In the second, the false ego is generated, in which the material ingredients, material knowledge and material activities arise.

16 The sense perceptions are created in the third creation, and from these the elements are generated. The fourth creation is the creation of knowledge and of working capacity.

17 The fifth creation is that of the controlling deities by the interaction of the mode of goodness, of which the mind is the sum total. The sixth creation is the ignorant darkness of the living entity, by which the master acts as a fool.

18 All the above are natural creations by the external energy of the Lord. Now hear from me about the creations by Brahmā, who is an incarnation of the mode of passion and who, in the matter of creation, has a brain like that of the Personality of Godhead.

19 The seventh creation is that of the immovable entities, which are of six kinds: the fruit trees without flowers, trees and plants which exist until the fruit is ripe, creepers, pipe plants, creepers which have no support, and trees with flowers and fruits.

20 All the immovable trees and plants seek their subsistence upwards. They are almost unconscious but have feelings of pain within. They are manifested in variegatedness.

21 The eighth creation is that of the lower species of life, and they are of different varieties, numbering twenty-eight. They are all extensively foolish and ignorant. They know their desirables by smell, but are unable to remember anything within the heart.

22 O purest Vidura, of the lower animals the cow, goat, buffalo, kṛṣṇa stag, hog, gavaya

animal, deer, lamb and camel all have cloven hooves.

23 The horse, mule, ass, gaura, śarabha bison and wild cow all have only one hoof. Now you may hear from me about the animals who have five nails.

24 The dog, jackal, tiger, fox, cat, rabbit, sajāru, lion, monkey, elephant, tortoise, alligator, gosāpa, etc., all have five nails in their claws. They are known as paṣca-nakhas, or animals having five nails.

25 The heron, vulture, crane, hawk, bhāsa, bhallūka, peacock, swan, sārasa, cakravāka, crow, owl and others are the birds.

26 The creation of the human beings, who are of one species only and who stock their eatables in the belly, is the ninth in the rotation. In the human race, the mode of passion is very prominent. Humans are always busy in the midst of miserable life, but they think themselves happy in all respects.

27 O good Vidura, these last three creations and the creation of demigods (the tenth creation) are vaikṛta creations, which are different from the previously described prākṛta (natural) creations. The appearance of the Kumāras is both.

28-29 The creation of the demigods is of eight varieties: (1) the demigods, (2) the forefathers, (3) the asuras, or demons, (4) the Gandharvas and Apsarās, or angels, (5) the Yakṣas and Rākṣasas, (6) the Siddhas, Cāraṇas and Vidyādharas, (7) the Bhūtas, Pretas and Piśācas, and (8) the superhuman beings, celestial singers, etc. All are created by Brahmā, the creator of the universe.

30 Now I shall describe the descendants of the Manus. The creator, Brahmā, as the incarnation of the passion mode of the Personality of Godhead, creates the universal affairs with unfailing desires in every millennium by the force of the Lord's energy.

### SB 3.11: Calculation of Time, from the Atom

1 The material manifestation's ultimate particle, which is indivisible and not formed into a body, is called the atom. It exists always as an invisible identity, even after the dissolution of all forms. The material body is but a combination of such atoms, but it is misunderstood by the common man.

2 Atoms are the ultimate state of the manifest universe. When they stay in their own forms without forming different bodies, they are called the unlimited oneness. There are certainly different bodies in physical forms, but the atoms themselves form the complete manifestation.

3 One can estimate time by measuring the movement of the atomic combination of bodies. Time is the potency of the almighty Personality of Godhead, Hari, who controls all physical movement although He is not visible in the physical world.

4 Atomic time is measured according to its covering a particular atomic space. That time which covers the unmanifest aggregate of atoms is called the great time.

5 The division of gross time is calculated as follows: two atoms make one double atom, and three double atoms make one hexatom. This hexatom is visible in the sunshine which enters through the holes of a window screen. One can clearly see that the hexatom goes up towards the sky.

6 The time duration needed for the integration of three trasareṇus is called a truṭi, and one

hundred truṭis make one vedha. Three vedhas make one lava.

7 The duration of time of three lavas is equal to one nimeṣa, the combination of three nimeṣas makes one kṣaṇa, five kṣaṇas combined together make one kāṣṭhā, and fifteen kāṣṭhās make one laghu.

8 Fifteen laghus make one nāḍikā, which is also called a daṇḍa. Two daṇḍas make one muhūrta, and six or seven daṇḍas make one fourth of a day or night, according to human calculation.

9 The measuring pot for one nāḍikā, or daṇḍa, can be prepared with a six-pala-weight [fourteen ounce] pot of copper, in which a hole is bored with a gold probe weighing four māṣa and measuring four fingers long. When the pot is placed on water, the time before the water overflows in the pot is called one daṇḍa.

10 It is calculated that there are four praharas, which are also called yāmas, in the day and four in the night of the human being. Similarly, fifteen days and nights are a fortnight, and there are two fortnights, white and black, in a month.

11 The aggregate of two fortnights is one month, and that period is one complete day and night for the Pitā planets. Two of such months comprise one season, and six months comprise one complete movement of the sun from south to north.

12 Two solar movements make one day and night of the demigods, and that combination of day and night is one complete calendar year for the human being. The human being has a duration of life of one hundred years.

13 Influential stars, planets, luminaries and atoms all over the universe are rotating in their respective orbits under the direction of the Supreme, represented by eternal kāla.

14 There are five different names for the orbits of the sun, moon, stars and luminaries in the firmament, and they each have their own saṁvatsara.

15 O Vidura, the sun enlivens all living entities with his unlimited heat and light. He diminishes the duration of life of all living entities in order to release them from their illusion of material attachment, and he enlarges the path of elevation to the heavenly kingdom. He thus moves in the firmament with great velocity, and therefore everyone should offer him respects once every five years with all ingredients of worship.

16 Vidura said: I now understand the life durations of the residents of the Pitā planets and heavenly planets as well as that of the human beings. Now kindly inform me of the durations of life of those greatly learned living entities who are beyond the range of a kalpa.

17 O spiritually powerful one, you can understand the movements of eternal time, which is the controlling form of the Supreme Personality of Godhead. Because you are a self-realized person, you can see everything by the power of mystic vision.

18 Maitreya said: O Vidura, the four millenniums are called the Satya-, Tretā-, Dvāpara- and Kali-yuga. The aggregate number of years of all of these combined is equal to twelve thousand years of the demigods.

19 The duration of the Satya millennium equals 4,800 years of the years of the demigods; the duration of the Tretā millennium equals 3,600 years of the demigods; the duration of the Dvāpara millennium equals 2,400 years; and that of the Kali millennium is 1,200 years of the

demigods.

20 The transitional periods before and after every millennium, which are a few hundred years as aforementioned, are known as yuga-sandhyās, or the conjunctions of two millenniums, according to the expert astronomers. In those periods all kinds of religious activities are performed.

21 O Vidura, in the Satya millennium mankind properly and completely maintained the principles of religion, but in other millenniums religion gradually decreased by one part as irreligion was proportionately admitted.

22 Outside of the three planetary systems [Svarga, Martya and Pātāla], the four yugas multiplied by one thousand comprise one day on the planet of Brahmā. A similar period comprises a night of Brahmā, in which the creator of the universe goes to sleep.

23 After the end of Brahmā's night, the creation of the three worlds begins again in the daytime of Brahmā, and they continue to exist through the life durations of fourteen consecutive Manus, or fathers of mankind.

24 Each and every Manu enjoys a life of a little more than seventy-one sets of four millenniums.

25 After the dissolution of each and every Manu, the next Manu comes in order, along with his descendants, who rule over the different planets; but the seven famous sages, and demigods like Indra and their followers, such as the Gandharvas, all appear simultaneously with Manu.

26 In the creation, during Brahmā's day, the three planetary systems Svarga, Martya and Pātāla revolve, and the inhabitants, including the lower animals, human beings, demigods and Pitās, appear and disappear in terms of their fruitive activities.

27 In each and every change of Manu, the Supreme Personality of Godhead appears by manifesting His internal potency in different incarnations, as Manu and others. Thus He maintains the universe by discovered power.

28 At the end of the day, under the insignificant portion of the mode of darkness, the powerful manifestation of the universe merges in the darkness of night. By the influence of eternal time, the innumerable living entities remain merged in that dissolution, and everything is silent.

29 When the night of Brahmā ensues, all the three worlds are out of sight, and the sun and the moon are without glare, just as in the due course of an ordinary night.

30 The devastation takes place due to the fire emanating from the mouth of Saṅkarṣaṇa, and thus great sages like Bhṛgu and other inhabitants of Maharloka transport themselves to Janaloka, being distressed by the warmth of the blazing fire which rages through the three worlds below.

31 At the beginning of the devastation all the seas overflow, and hurricane winds blow very violently. Thus the waves of the seas become ferocious, and in no time at all the three worlds are full of water.

32 The Supreme Lord, the Personality of Godhead, lies down in the water on the seat of Ananta, with His eyes closed, and the inhabitants of the Janaloka planets offer unto the Lord their glorious prayers with folded hands.

33 Thus the process of the exhaustion of the duration of life exists for every one of the living

beings, including Lord Brahmā. One's life endures for only one hundred years, in terms of the times in the different planets.

34 The one hundred years of Brahmā's life are divided into two parts, the first half and the second half. The first half of the duration of Brahmā's life is already over, and the second half is now current.

35 In the beginning of the first half of Brahmā's life, there was a millennium called Brāhma-kalpa, wherein Lord Brahmā appeared. The birth of the Vedas was simultaneous with Brahmā's birth.

36 The millennium which followed the first Brāhma millennium is known as the Pādma-kalpa because in that millennium the universal lotus flower grew out of the navel reservoir of water of the Personality of Godhead, Hari.

37 O descendant of Bharata, the first millennium in the second half of the life of Brahmā is also known as the Vārāha millennium because the Personality of Godhead appeared in that millennium as the hog incarnation.

38 The duration of the two parts of Brahmā's life, as above mentioned, is calculated to be equal to one nimeṣa [less than a second] for the Supreme Personality of Godhead, who is unchanging and unlimited and is the cause of all causes of the universe.

39 Eternal time is certainly the controller of different dimensions, from that of the atom up to the superdivisions of the duration of Brahmā's life; but, nevertheless, it is controlled by the Supreme. Time can control only those who are body conscious, even up to the Satyaloka or the other higher planets of the universe.

40 This phenomenal material world is expanded to a diameter of four billion miles, as a combination of eight material elements transformed into sixteen further categories, within and without, as follows.

41 The layers or elements covering the universes are each ten times thicker than the one before, and all the universes clustered together appear like atoms in a huge combination.

42 The Supreme Personality of Godhead, Śrī Kṛṣṇa, is therefore said to be the original cause of all causes. Thus the spiritual abode of Viṣṇu is eternal without a doubt, and it is also the abode of Mahā-Viṣṇu, the origin of all manifestations.

## SB 3.12: Creation of the Kumāras and Others

1Śrī Maitreya said: O learned Vidura, so far I have explained to you the glories of the form of the Supreme Personality of Godhead in His feature of kāla. Now you can hear from me about the creation of Brahmā, the reservoir of all Vedic knowledge.

2 Brahmā first created the nescient engagements like self-deception, the sense of death, anger after frustration, the sense of false ownership, and the illusory bodily conception, or forgetfulness of one's real identity.

3 Seeing such a misleading creation as a sinful task, Brahmā did not feel much pleasure in his activity, and therefore he purified himself by meditation on the Personality of Godhead. Then he began another term of creation.

4 In the beginning, Brahmā created four great sages named Sanaka, Sananda, Sanātana and Sanat-kumāra. All of them were unwilling to adopt materialistic activities because they were highly elevated due to their semen's flowing upwards.

5 Brahmā spoke to his sons after generating them. "My dear sons," he said, "now generate progeny." But due to their being attached to Vāsudeva, the Supreme Personality of Godhead, they aimed at liberation, and therefore they expressed their unwillingness.

6 On the refusal of the sons to obey the order of their father, there was much anger generated in the mind of Brahmā, which he tried to control and not express.

7 Although he tried to curb his anger, it came out from between his eyebrows, and a child mixed blue and red was immediately generated.

8 After his birth he began to cry: O destiny maker, teacher of the universe, kindly designate my name and place.

9 The all-powerful Brahmā, who was born from the lotus flower, pacified the boy with gentle words, accepting his request, and said: Do not cry. I shall certainly do as you desire.

10 Thereafter Brahmā said: O chief of the demigods, you shall be called by the name Rudra by all people because you have so anxiously cried.

11 My dear boy, I have already selected the following places for your residence: the heart, the senses, the air of life, the sky, the air, the fire, the water, the earth, the sun, the moon and austerity.

12 Lord Brahmā said: My dear boy Rudra, you have eleven other names: Manyu, Manu, Mahinasa, Mahān, Śiva, Ṛtadhvaja, Ugraretā, Bhava, Kāla, Vāmadeva and Dhṛtavrata.

13 O Rudra, you also have eleven wives, called the Rudrāṇīs, and they are as follows: Dhī, Dhṛti, Rasalā, Umā, Niyut, Sarpi, Ilā, Ambikā, Irāvatī, Svadhā and Dīkṣā.

14 My dear boy, you may now accept all the names and places designated for you and your different wives, and since you are now one of the masters of the living entities, you may increase the population on a large scale.

15 The most powerful Rudra, whose bodily color was blue mixed with red, created many offspring exactly resembling him in features, strength and furious nature.

16 The sons and grandsons generated by Rudra were unlimited in number, and when they assembled together they attempted to devour the entire universe. When Brahmā, the father of the living entities, saw this, he became afraid of the situation.

17 Brahmā told Rudra: O best among the demigods, there is no need for you to generate living entities of this nature. They have begun to devastate everything on all sides with the fiery flames from their eyes, and they have even attacked me.

18 My dear son, you had better situate yourself in penance, which is auspicious for all living entities and which will bring all benediction upon you. By penance only shall you be able to create the universe as it was before.

19 By penance only can one even approach the Personality of Godhead, who is within the heart of every living entity and at the same time beyond the reach of all senses.

20Śrī Maitreya said: Thus Rudra, having been ordered by Brahmā, circumambulated his father, the master of the Vedas. Addressing him with words of assent, he entered the forest to perform austere penances.

21 Brahmā, who was empowered by the Supreme Personality of Godhead, thought of generating living entities and begot ten sons for the extension of the generations.

22 Marīci, Atri, Aṅgirā, Pulastya, Pulaha, Kratu, Bhṛgu, Vasiṣṭha, Dakṣa, and the tenth son, Nārada, were thus born.

23 Nārada was born from the deliberation of Brahmā, which is the best part of the body. Vasiṣṭha was born from his breathing, Dakṣa from a thumb, Bhṛgu from his touch, and Kratu from his hand.

24 Pulastya was generated from the ears, Aṅgirā from the mouth, Atri from the eyes, Marīci from the mind and Pulaha from the navel of Brahmā.

25 Religion was manifested from the breast of Brahmā, wherein is seated the Supreme Personality of Godhead Nārāyaṇa, and irreligion appeared from his back, where horrible death takes place for the living entity.

26 Lust and desire became manifested from the heart of Brahmā, anger from between his eyebrows, greed from between his lips, the power of speaking from his mouth, the ocean from his penis, and low and abominable activities from his anus, the source of all sins.

27 Sage Kardama, husband of the great Devahūti, was manifested from the shadow of Brahmā. Thus all became manifested from either the body or the mind of Brahmā.

28 O Vidura, we have heard that Brahmā had a daughter named Vāk who was born from his body and who attracted his mind toward sex, although she was not sexually inclined towards him.

29 Thus, finding their father so deluded in an act of immorality, the sages headed by Marīci, all sons of Brahmā, spoke as follows with great respect.

30 O father, this performance in which you are endeavoring to complicate yourself was never attempted by any other Brahmā, nor by anyone else, nor by you in previous kalpas, nor will anyone dare to attempt it in the future. You are the supreme being in the universe, so how is it that you want to have sex with your daughter and cannot control your desire?

31 Even though you are the most powerful being, this act does not suit you because your character is followed for spiritual improvement by people in general.

32 Let us offer our respectful obeisances unto the Personality of Godhead, who, by His own effulgence, while situated in Himself, has manifested this cosmos. May He also protect religion for all goodness.

33 The father of all Prajāpatis, Brahmā, thus seeing all his Prajāpati sons speaking in that way, became very much ashamed and at once gave up the body he had accepted. Later that body appeared in all directions as the dangerous fog in darkness.

34 Once upon a time, when Brahmā was thinking of how to create the worlds as in the past millennium, the four Vedas, which contain all varieties of knowledge, became manifested from his four mouths.

35 The four kinds of paraphernalia for conducting the fire sacrifice became manifest: the performer [the chanter], the offerer, the fire, and the action performed in terms of the supplementary Vedas. Also the four principles of religiosity [truth, austerity, mercy and cleanliness] and the duties in the four social orders all became manifest.

36 Vidura said: O great sage whose only wealth is penance, kindly explain to me how and with whose help Brahmā established the Vedic knowledge which emanated from his mouth.

37 Maitreya said: Beginning from the front face of Brahmā, gradually the four Vedas Ṛk, Yajur, Sāma and Atharva became manifest. Thereafter, Vedic hymns which had not been pronounced before, priestly rituals, the subject matters of the recitation, and transcendental activities were all established, one after another.

38 He also created the medical science, military art, musical art and architectural science, all from the Vedas. They all emanated one after another, beginning from the front face.

39 Then he created the fifth Veda the Purāṇas and the histories from all his mouths, since he could see all the past, present and future.

40 All the different varieties of fire sacrifices [ṣoḍaśī, uktha, purīṣi, agniṣṭoma, āptoryāma, atirātra, vājapeya and gosava] became manifested from the eastern mouth of Brahmā.

41 Education, charity, penance and truth are said to be the four legs of religion, and to learn this there are four orders of life with different classifications of castes according to vocation. Brahmā created all these in systematic order.

42 Then the thread ceremony for the twice-born was inaugurated, as were the rules to be followed for at least one year after acceptance of the Vedas, rules for observing complete abstinence from sex life, vocations in terms of Vedic injunctions, various professional duties in household life, and the method of maintaining a livelihood without anyone's cooperation by picking up rejected grains.

43 The four divisions of retired life are the vaikhānasas, vālakhilyas, audumbaras and phenapas. The four divisions of the renounced order of life are the kuṭīcakas, bahvodas, haṁsas and niṣkriyas. All these were manifested from Brahmā.

44 The science of logical argument, the Vedic goals of life, and also law and order, moral codes and the celebrated hymns bhūḥ, bhuvaḥ and svaḥ all became manifested from the mouths of Brahmā, and the praṇava oṁkāra was manifested from his heart.

45 Thereafter the art of literary expression, uṣṇik, was generated from the hairs on the body of the almighty Prajāpati. The principal Vedic hymn, gāyatrī, was generated from the skin, triṣṭup from the flesh, anuṣṭup from the veins, and jagatī from the bones of the lord of the living entities.

46 The art of writing verse, paṅkti, became manifested from the bone marrow, and that of bṛhatī, another type of verse, was generated from the life-breath of the lord of the living entities.

47 Brahmā's soul was manifested as the touch alphabets, his body as the vowels, his senses as the sibilant alphabets, his strength as the intermediate alphabets and his sensual activities as the seven notes of music.

48 Brahmā is the personal representation of the Supreme Personality of Godhead as the source

of transcendental sound and is therefore above the conception of manifested and unmanifested. Brahmā is the complete form of the Absolute Truth and is invested with multifarious energies.

49 Thereafter Brahmā accepted another body, in which sex life was not forbidden, and thus he engaged himself in the matter of further creation.

50 O son of the Kurus, when Brahmā saw that in spite of the presence of sages of great potency there was no sufficient increase in population, he seriously began to consider how the population could be increased.

51 Brahmā thought to himself: Alas, it is wonderful that in spite of my being scattered all over, there is still insufficient population throughout the universe. There is no other cause for this misfortune but destiny.

52 While he was thus absorbed in contemplation and was observing the supernatural power, two other forms were generated from his body. They are still celebrated as the body of Brahmā.

53 The two newly separated bodies united together in a sexual relationship.

54 Out of them, the one who had the male form became known as the Manu named Svāyambhuva, and the woman became known as Śatarūpā, the queen of the great soul Manu.

55 Thereafter, by sex indulgence, they gradually increased generations of population one after another.

56 O son of Bharata, in due course of time he [Manu] begot in Śatarūpā five children two sons, Priyavrata and Uttānapāda, and three daughters, Ākūti, Devahūti and Prasūti.

57 The father, Manu, handed over his first daughter, Ākūti, to the sage Ruci, the middle daughter, Devahūti, to the sage Kardama, and the youngest, Prasūti, to Dakṣa. From them, all the world filled with population.

## SB 3.13: The Appearance of Lord Varāha

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: O King, after hearing all these most virtuous topics from the sage Maitreya, Vidura inquired further on the topics of the Supreme Personality of Godhead, which he adored to hear.

2 Vidura said: O great sage, what did Svāyambhuva, the dear son of Brahmā, do after obtaining his very loving wife?

3 O best of the virtuous, the original king of kings [Manu] was a great devotee of the Personality of Godhead Hari, and thus it is worth hearing of his sublime character and activities. Please describe them. I am very eager to hear.

4 Persons who hear from a spiritual master with great labor and for a long time must hear from the mouths of pure devotees about the character and activities of pure devotees. Pure devotees always think within their hearts of the lotus feet of the Personality of Godhead, who awards His devotees liberation.

5ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: The Personality of Godhead, Śrī Kṛṣṇa, was pleased to place His lotus feet on the lap of Vidura because Vidura was very meek and gentle. The sage Maitreya was very pleased with Vidura's words, and, being influenced by his spirit, he attempted to

speak.

6 The sage Maitreya said to Vidura: After his appearance, Manu, the father of mankind, along with his wife, thus addressed the reservoir of Vedic wisdom, Brahmā, with obeisances and folded hands.

7 You are the father of all living entities and the source of their subsistence because they are all born of you. Please order us how we may be able to render service unto you.

8 O worshipful one, please give us your direction for the execution of duty within our working capacity so that we can follow it for fame in this life and progress in the next.

9 Lord Brahmā said: My dear son, O lord of the world, I am very pleased with you, and I desire all blessings for both you and your wife. You have without reservation surrendered yourself unto me with your heart for my instructions.

10 O hero, your example is quite befitting a son in relationship with his father. This sort of adoration for the superior is required. One who is beyond the limit of envy and who is sane accepts the order of his father with great delight and executes it to his full capacity.

11 Since you are my very obedient son, I ask you to beget children qualified like yourself in the womb of your wife. Rule the world in pursuance of the principles of devotional service unto the Supreme Personality of Godhead, and thus worship the Lord by performances of yajṣa.

12 O King, if you can give proper protection to the living beings in the material world, that will be the best service for me. When the Supreme Lord sees you to be a good protector of the conditioned souls, certainly the master of the senses will be very pleased with you.

13 The Supreme Personality of Godhead, Janārdana [Lord Kṛṣṇa], is the form to accept all the results of sacrifice. If He is not satisfied, then one's labor for advancement is futile. He is the ultimate Self, and therefore one who does not satisfy Him certainly neglects his own interests.

14Śrī Manu said: O all-powerful lord, O killer of all sins, I shall abide by your order. Now please let me know my place and that of the living entities born of me.

15 O master of the demigods, please attempt to lift the earth, which is merged in the great water, because it is the dwelling place for all the living entities. It can be done by your endeavor and by the mercy of the Lord.

16Śrī Maitreya said: Thus, seeing the earth merged in the water, Brahmā gave his attention for a long time to how it could be lifted.

17 Brahmā thought: While I have been engaged in the process of creation, the earth has been inundated by a deluge and has gone down into the depths of the ocean. What can we do who are engaged in this matter of creation? It is best to let the Almighty Lord direct us.

18 O sinless Vidura, all of a sudden, while Brahmā was engaged in thinking, a small form of a boar came out of his nostril. The measurement of the creature was not more than the upper portion of a thumb.

19 O descendant of Bharata, while Brahmā was observing Him, that boar became situated in the sky in a wonderful manifestation as gigantic as a great elephant.

20 Struck with wonder at observing the wonderful boarlike form in the sky, Brahmā, with

great brāhmaṇas like Marīci, as well as the Kumāras and Manu, began to argue in various ways.

21 Is this some extraordinary entity come in the pretense of a boar? It is very wonderful that He has come from my nose.

22 First of all this boar was seen no bigger than the tip of a thumb, and within a moment He was as large as a stone. My mind is perturbed. Is He the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu?

23 While Brahmā was deliberating with his sons, the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, roared tumultuously like a great mountain.

24 The omnipotent Supreme Personality of Godhead enlivened Brahmā and the other highly elevated brāhmaṇas by again roaring with His uncommon voice, which echoed in all directions.

25 When the great sages and thinkers who are residents of Janaloka, Tapoloka and Satyaloka heard the tumultuous voice of Lord Boar, which was the all-auspicious sound of the all-merciful Lord, they chanted auspicious chants from the three Vedas.

26 Playing like an elephant, He entered into the water after roaring again in reply to the Vedic prayers by the great devotees. The Lord is the object of the Vedic prayers, and thus He understood that the devotees' prayers were meant for Him.

27 Before entering the water to rescue the earth, Lord Boar flew in the sky, slashing His tail, His hard hairs quivering. His very glance was luminous, and He scattered the clouds in the sky with His hooves and His glittering white tusks.

28 He was personally the Supreme Lord Viṣṇu and was therefore transcendental, yet because He had the body of a hog, He searched after the earth by smell. His tusks were fearful, and He glanced over the devotee-brāhmaṇas engaged in offering prayers. Thus He entered the water.

29 Diving into the water like a giant mountain, Lord Boar divided the middle of the ocean, and two high waves appeared as the arms of the ocean, which cried loudly as if praying to the Lord, "O Lord of all sacrifices, please do not cut me in two! Kindly give me protection!"

30 Lord Boar penetrated the water with His hooves, which were like sharp arrows, and found the limits of the ocean, although it was unlimited. He saw the earth, the resting place for all living beings, lying as it was in the beginning of creation, and He personally lifted it.

31 Lord Boar very easily took the earth on His tusks and got it out of the water. Thus He appeared very splendid. Then, His anger glowing like the Sudarśana wheel, He immediately killed the demon [Hiraṇyākṣa], although he tried to fight with the Lord.

32 Thereupon Lord Boar killed the demon within the water, just as a lion kills an elephant. The cheeks and tongue of the Lord became smeared with the blood of the demon, just as an elephant becomes reddish from digging in the purple earth.

33 Then the Lord, playing like an elephant, suspended the earth on the edge of His curved white tusks. He assumed a bluish complexion like that of a tamāla tree, and thus the sages, headed by Brahmā, could understand Him to be the Supreme Personality of Godhead and offered respectful obeisances unto the Lord.

34 All the sages uttered with great respect: O unconquerable enjoyer of all sacrifices, all glories and all victories unto You! You are moving in Your form of the personified Vedas, and in the

hair holes of Your body the oceans are submerged. For certain reasons [to uplift the earth] You have now assumed the form of a boar.

35 O Lord, Your form is worshipable by performances of sacrifice, but souls who are simply miscreants are unable to see it. All the Vedic hymns, Gāyatrī and others, are in the touch of Your skin. In Your bodily hairs is the kuśa grass, in Your eyes is the clarified butter, and in Your four legs are the four kinds of fruitive activities.

36 O Lord, Your tongue is a plate of sacrifice, Your nostril is another plate of sacrifice, in Your belly is the eating plate of sacrifice, and another plate of sacrifice is the holes of Your ears. In Your mouth is the Brahmā plate of sacrifice, Your throat is the plate of sacrifice known as soma, and whatever You chew is known as agni-hotra.

37 Moreover, O Lord, the repetition of Your appearance is the desire for all kinds of initiation. Your neck is the place for three desires, and Your tusks are the result of initiation and the end of all desires. Your tongue is the prior activities of initiation, Your head is the fire without sacrifice as well as the fire of worship, and Your living forces are the aggregate of all desires.

38 O Lord, Your semen is the sacrifice called soma-yajṣa. Your growth is the ritualistic performances of the morning. Your skin and touch sensations are the seven elements of the agniṣṭoma sacrifice. Your bodily joints are symbols of various other sacrifices performed in twelve days. Therefore You are the object of all sacrifices called soma and asoma, and You are bound by yajṣas only.

39 O Lord, You are the Supreme Personality of Godhead and are worshipable by universal prayers, Vedic hymns and sacrificial ingredients. We offer our obeisances unto You. You can be realized by the pure mind freed from all visible and invisible material contamination. We offer our respectful obeisances to You as the supreme spiritual master of knowledge in devotional service.

40 O lifter of the earth, the earth with its mountains, which You have lifted with Your tusks, is situated as beautifully as a lotus flower with leaves sustained by an infuriated elephant just coming out of the water.

41 O Lord, as the peaks of great mountains become beautiful when decorated with clouds, Your transcendental body has become beautiful because of Your lifting the earth on the edge of Your tusks.

42 O Lord, for the residential purposes of all inhabitants, both moving and nonmoving, this earth is Your wife, and You are the supreme father. We offer our respectful obeisances unto You, along with mother earth, in whom You have invested Your own potency, just as an expert sacrificer puts fire in the araṇi wood.

43 Who else but You, the Supreme Personality of Godhead, could deliver the earth from within the water? It is not very wonderful for You, however, because You acted most wonderfully in the creation of the universe. By Your energy You have created this wonderful cosmic manifestation.

44 O Supreme Lord, undoubtedly we are inhabitants of the most pious planets the Jana, Tapas and Satya lokas but still we have been purified by the drops of water sprinkled from Your shoulder hairs by the shaking of Your body.

45 O Lord, there is no limit to Your wonderful activities. Anyone who desires to know the limit of Your activities is certainly nonsensical. Everyone in this world is conditioned by the

powerful mystic potencies. Please bestow Your causeless mercy upon these conditioned souls.

46 The sage Maitreya said: The Lord, being thus worshiped by all the great sages and transcendentalists, touched the earth with His hooves and placed it on the water.

47 In this manner the Personality of Godhead, Lord Viṣṇu, the maintainer of all living entities, raised the earth from within the water, and having placed it afloat on the water, He returned to His own abode.

48 If one hears and describes in a devotional service attitude this auspicious narration of Lord Boar, which is worthy of description, the Lord, who is within the heart of everyone, is very pleased.

49 Nothing remains unachieved when the Supreme Personality of Godhead is pleased with someone. By transcendental achievement one understands everything else to be insignificant. One who engages in transcendental loving service is elevated to the highest perfectional stage by the Lord Himself, who is seated in everyone's heart.

50 Who, other than one who is not a human being, can exist in this world and not be interested in the ultimate goal of life? Who can refuse the nectar of narrations about the Personality of Godhead's activities, which by itself can deliver one from all material pangs?

## SB 3.14: Pregnancy of Diti in the Evening

1Śukadeva Gosvāmī said: After hearing from the great sage Maitreya about the Lord's incarnation as Varāha, Vidura, who had taken a vow, begged him with folded hands to please narrate further transcendental activities of the Lord, since he [Vidura] did not yet feel satisfied.

2Śrī Vidura said: O chief amongst the great sages, I have heard by disciplic succession that Hiraṇyākṣa, the original demon, was slain by the same form of sacrifices, the Personality of Godhead [Lord Boar].

3 What was the reason, O brāhmaṇa, for the fight between the demon king and Lord Boar while the Lord was lifting the earth as His pastime?

4 My mind has become very inquisitive, and therefore I am not satisfied with hearing the narration of the Lord's appearance. Please, therefore, speak more and more to a devotee who is faithful.

5 The great sage Maitreya said: O warrior, the inquiry made by you is just befitting a devotee because it concerns the incarnation of the Personality of Godhead. He is the source of liberation from the chain of birth and death for all those who are otherwise destined to die.

6 By hearing these topics from the sage [Nārada], the son of King Uttānapāda [Dhruva] was enlightened regarding the Personality of Godhead, and he ascended to the abode of the Lord, placing his feet over the head of death.

7 This history of the fight between the Lord as a boar and the demon Hiraṇyākṣa was heard by me in a year long ago as it was described by the foremost of the demigods, Brahmā, when he was questioned by the other demigods.

8 Diti, daughter of Dakṣa, being afflicted with sex desire, begged her husband, Kaśyapa, the son of Marīci, to have intercourse with her in the evening in order to beget a child.

9 The sun was setting, and the sage was sitting in trance after offering oblations to the

Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, whose tongue is the sacrificial fire.

10 In that place the beautiful Diti expressed her desire: O learned one, Cupid is taking his arrows and distressing me forcibly, as a mad elephant troubles a banana tree.

11 Therefore you should be kind towards me by showing me complete mercy. I desire to have sons, and I am much distressed by seeing the opulence of my co-wives. By performing this act, you will become happy.

12 A woman is honored in the world by the benediction of her husband, and a husband like you will become famous by having children because you are meant for the expansion of living entities.

13 In days long ago, our father, the most opulent Dakṣa, who was affectionate to his daughters, asked each of us separately whom we would prefer to select as our husband.

14 Our well-wishing father, Dakṣa, after knowing our intentions, handed over thirteen of his daughters unto you, and since then we have all been faithful.

15 O lotus-eyed one, kindly bless me by fulfilling my desire. When someone in distress approaches a great person, his pleas should never go in vain.

16 O hero [Vidura], Diti, being thus afflicted by the contamination of lust, and therefore poor and talkative, was pacified by the son of Marīci in suitable words.

17 O afflicted one, I shall forthwith gratify whatever desire is dear to you, for who else but you is the source of the three perfections of liberation?

18 As one can cross over the ocean with seagoing vessels, one can cross the dangerous situation of the material ocean by living with a wife.

19 O respectful one, a wife is so helpful that she is called the better half of a man's body because of her sharing in all auspicious activities. A man can move without anxiety entrusting all responsibilities to his wife.

20 As a fort commander very easily conquers invading plunderers, by taking shelter of a wife one can conquer the senses, which are unconquerable in the other social orders.

21 O queen of the home, we are not able to act like you, nor could we repay you for what you have done, even if we worked for our entire life or even after death. To repay you is not possible, even for those who are admirers of personal qualities.

22 Even though it is not possible to repay you, I shall satisfy your sex desire immediately for the sake of begetting children. But you must wait for only a few seconds so that others may not reproach me.

23 This particular time is most inauspicious because at this time the horrible-looking ghosts and constant companions of the lord of the ghosts are visible.

24 Lord Śiva, the king of the ghosts, sitting on the back of his bull carrier, travels at this time, accompanied by ghosts who follow him for their welfare.

25 Lord Śiva's body is reddish, and he is unstained, but he is covered with ashes. His hair is dusty from the whirlwind dust of the burning crematorium. He is the younger brother of your husband, and he sees with his three eyes.

26 Lord Śiva regards no one as his relative, yet there is no one who is not connected with him. He does not regard anyone as very favorable or abominable. We respectfully worship the remnants of his foodstuff, and we vow to accept what is rejected by him.

27 Although no one in the material world is equal to or greater than Lord Śiva, and although his unimpeachable character is followed by great souls to dismantle the mass of nescience, he nevertheless remains as if a devil to give salvation to all devotees of the Lord.

28 Unfortunate, foolish persons, not knowing that he is engaged in his own self, laugh at him. Such foolish persons engage in maintaining the body which is eatable by dogs with dresses, ornaments, garlands and ointments.

29 Demigods like Brahmā also follow the religious rites observed by him. He is the controller of the material energy, which causes the creation of the material world. He is great, and therefore his devilish characteristics are simply imitation.

30 Maitreya said: Diti was thus informed by her husband, but she was pressed by Cupid for sexual satisfaction. She caught hold of the clothing of the great brāhmaṇa sage, just like a shameless public prostitute.

31 Understanding his wife's purpose, he was obliged to perform the forbidden act, and thus after offering his obeisances unto worshipable fate, he lay with her in a secluded place.

32 Thereafter the brāhmaṇa took his bath in the water and controlled his speech by practicing trance, meditating on the eternal effulgence and chanting the holy Gāyatrī hymns within his mouth.

33 O son of the Bharata family, Diti, after this, went nearer to her husband, her face lowered because of her faulty action. She spoke as follows.

34 The beautiful Diti said: My dear brāhmaṇa, kindly see that my embryo is not killed by Lord Śiva, the lord of all living entities, because of the great offense I have committed against him.

35 Let me offer my obeisances unto the angry Lord Śiva, who is simultaneously the very ferocious great demigod and the fulfiller of all material desires. He is all-auspicious and forgiving, but his anger can immediately move him to chastise.

36 Let him be pleased with us, since he is my brother-in-law, the husband of my sister Satī. He is also the worshipable lord of all women. He is the personality of all opulences and can show mercy towards women, who are excused even by the uncivilized hunters.

37 Maitreya said: The great sage Kaśyapa thus addressed his wife, who was trembling because of fear that her husband was offended. She understood that he had been dissuaded from his daily duties of offering evening prayers, yet she desired the welfare of her children in the world.

38 The learned Kaśyapa said: Because of your mind's being polluted, because of defilement of the particular time, because of your negligence of my directions, and because of your being apathetic to the demigods, everything was inauspicious.

39 O haughty one, you will have two contemptuous sons born of your condemned womb. Unlucky woman, they will cause constant lamentation to all the three worlds!

40 They will kill poor, faultless living entities, torture women and enrage the great souls.

41 At that time the Lord of the universe, the Supreme Personality of Godhead, who is the well-wisher of all living entities, will descend and kill them, just as Indra smashes the mountains with his thunderbolts.

42 Diti said: It is very good that my sons will be magnanimously killed by the arms of the Personality of Godhead with His Sudarśana weapon. O my husband, may they never be killed by the wrath of the brāhmaṇa devotees.

43 A person who is condemned by a brāhmaṇa or is always fearful to other living entities is not favored either by those who are already in hell or by those in the species in which he is born.

44-45 The learned Kaśyapa said: Because of your lamentation, penitence and proper deliberation, and also because of your unflinching faith in the Supreme Personality of Godhead and your adoration for Lord Śiva and me, one of the sons [Prahlāda] of your son [Hiraṇyakaśipu] will be an approved devotee of the Lord, and his fame will be broadcast equally with that of the Personality of Godhead.

46 In order to follow in his footsteps, saintly persons will try to emulate his character by practicing freedom from animosity, just as the purifying processes rectify gold of inferior quality.

47 Everyone will be pleased with him because the Personality of Godhead, the supreme controller of the universe, is always satisfied with a devotee who does not wish for anything beyond Him.

48 That topmost devotee of the Lord will have expanded intelligence and expanded influence and will be the greatest of the great souls. Due to matured devotional service, he will certainly be situated in transcendental ecstasy and will enter the spiritual sky after quitting this material world.

49 He will be a virtuously qualified reservoir of all good qualities; he will be jolly and happy in others' happiness, distressed in others' distress, and will have no enemies. He will be a destroyer of the lamentation of all the universes, like the pleasant moon after the summer sun.

50 Your grandson will be able to see, inside and outside, the Supreme Personality of Godhead, whose wife is the beautiful goddess of fortune. The Lord can assume the form desired by the devotee, and His face is always beautifully decorated with earrings.

51 The sage Maitreya said: Hearing that her grandson would be a great devotee and that her sons would be killed by Kṛṣṇa, Diti was highly pleased in mind.

## SB 3.15: Description of the Kingdom of God

1Śrī Maitreya said: My dear Vidura, Diti, the wife of the sage Kaśyapa, could understand that the sons within her womb would be a cause of disturbance to the demigods. As such, she continuously bore the powerful semen of Kaśyapa Muni, which was meant to give trouble to others, for one hundred years.

2 By the force of the pregnancy of Diti, the light of the sun and moon was impaired in all the planets, and the demigods of various planets, being disturbed by that force, asked the creator of the universe, Brahmā, "What is this expansion of darkness in all directions?"

3 The fortunate demigods said: O great one, just see this darkness, which you know very well and which is causing us anxieties. Because the influence of time cannot touch you, there is

nothing unmanifest before you.

4 O god of the demigods, sustainer of the universe, head jewel of all the demigods in other planets, you know the intentions of all living entities, in both the spiritual and material worlds.

5 O original source of strength and scientific knowledge, all obeisances unto you! You have accepted the differentiated mode of passion from the Supreme Personality of Godhead. With the help of external energy you are born of the unmanifested source. All obeisances unto you!

6 O lord, all these planets exist within your self, and all the living entities are generated from you. Therefore you are the cause of this universe, and anyone who meditates upon you without deviation attains devotional service.

7 There is no defeat in this material world for persons who control the mind and senses by controlling the breathing process and who are therefore experienced, mature mystics. This is because by such perfection in yoga they have attained your mercy.

8 All the living entities within the universe are conducted by the Vedic directions, as a bull is directed by the rope attached to its nose. No one can violate the rules laid down in the Vedic literatures. To the chief person, who has contributed the Vedas, we offer our respect!

9 The demigods prayed to Brahmā: Please look upon us mercifully, for we have fallen into a miserable condition; because of the darkness, all our work has been suspended.

10 As fuel overloads a fire, so the embryo created by the semen of Kaśyapa in the womb of Diti has caused complete darkness throughout the universe.

11Śrī Maitreya said: Thus Lord Brahmā, who is understood by transcendental vibration, tried to satisfy the demigods, being pleased with their words of prayer.

12 Lord Brahmā said: My four sons Sanaka, Sanātana, Sanandana and Sanat-kumāra, who were born from my mind, are your predecessors. Sometimes they travel throughout the material and spiritual skies without any definite desire.

13 After thus traveling all over the universes, they also entered into the spiritual sky, for they were freed from all material contamination. In the spiritual sky there are spiritual planets known as Vaikuṇṭhas, which are the residence of the Supreme Personality of Godhead and His pure devotees and are worshiped by the residents of all the material planets.

14 In the Vaikuṇṭha planets all the residents are similar in form to the Supreme Personality of Godhead. They all engage in devotional service to the Lord without desires for sense gratification.

15 In the Vaikuṇṭha planets is the Supreme Personality of Godhead, who is the original person and who can be understood through the Vedic literature. He is full of the uncontaminated mode of goodness, with no place for passion or ignorance. He contributes religious progress for the devotees.

16 In those Vaikuṇṭha planets there are many forests which are very auspicious. In those forests the trees are desire trees, and in all seasons they are filled with flowers and fruits because everything in the Vaikuṇṭha planets is spiritual and personal.

17 In the Vaikuṇṭha planets the inhabitants fly in their airplanes, accompanied by their wives and consorts, and eternally sing of the character and activities of the Lord, which are always devoid of all inauspicious qualities. While singing the glories of the Lord, they deride even the

presence of the blossoming mādhavī flowers, which are fragrant and laden with honey.

18 When the king of bees hums in a high pitch, singing the glories of the Lord, there is a temporary lull in the noise of the pigeon, the cuckoo, the crane, the cakravāka, the swan, the parrot, the partridge and the peacock. Such transcendental birds stop their own singing simply to hear the glories of the Lord.

19 Although flowering plants like the mandāra, kunda, kurabaka, utpala, campaka, arṇa, punnāga, nāgakeśara, bakula, lily and pārijāta are full of transcendental fragrance, they are still conscious of the austerities performed by tulasī, for tulasī is given special preference by the Lord, who garlands Himself with tulasī leaves.

20 The inhabitants of Vaikuṇṭha travel in their airplanes made of lapis lazuli, emerald and gold. Although crowded by their consorts, who have large hips and beautiful smiling faces, they cannot be stimulated to passion by their mirth and beautiful charms.

21 The ladies in the Vaikuṇṭha planets are as beautiful as the goddess of fortune herself. Such transcendentally beautiful ladies, their hands playing with lotuses and their leg bangles tinkling, are sometimes seen sweeping the marble walls, which are bedecked at intervals with golden borders, in order to receive the grace of the Supreme Personality of Godhead.

22 The goddesses of fortune worship the Lord in their own gardens by offering tulasī leaves on the coral-paved banks of transcendental reservoirs of water. While offering worship to the Lord, they can see on the water the reflection of their beautiful faces with raised noses, and it appears that they have become more beautiful because of the Lord's kissing their faces.

23 It is very much regrettable that unfortunate people do not discuss the description of the Vaikuṇṭha planets but engage in topics which are unworthy to hear and which bewilder one's intelligence. Those who give up the topics of Vaikuṇṭha and take to talk of the material world are thrown into the darkest region of ignorance.

24 Lord Brahmā said: My dear demigods, the human form of life is of such importance that we also desire to have such life, for in the human form one can attain perfect religious truth and knowledge. If one in this human form of life does not understand the Supreme Personality of Godhead and His abode, it is to be understood that he is very much affected by the influence of external nature.

25 Persons whose bodily features change in ecstasy and who breathe heavily and perspire due to hearing the glories of the Lord are promoted to the kingdom of God, even though they do not care for meditation and other austerities. The kingdom of God is above the material universes, and it is desired by Brahmā and other demigods.

26 Thus the great sages Sanaka, Sanātana, Sanandana and Sanat-kumāra, upon reaching the above-mentioned Vaikuṇṭha in the spiritual world by dint of their mystic yoga performance, perceived unprecedented happiness. They found that the spiritual sky was illuminated by highly decorated airplanes piloted by the best devotees of Vaikuṇṭha and was predominated by the Supreme Personality of Godhead.

27 After passing through the six entrances of Vaikuṇṭha-purī, the Lord's residence, without feeling astonishment at all the decorations, they saw at the seventh gate two shining beings of the same age, armed with maces and adorned with most valuable jewelry, earrings, diamonds, helmets, garments, etc.

28 The two doormen were garlanded with fresh flowers which attracted intoxicated bees and

which were placed around their necks and between their four blue arms. From their arched eyebrows, discontented nostrils and reddish eyes, they appeared somewhat agitated.

29 The great sages, headed by Sanaka, had opened doors everywhere. They had no idea of "ours" and "theirs." With open minds, they entered the seventh door out of their own will, just as they had passed through the six other doors, which were made of gold and diamonds.

30 The four boy-sages, who had nothing to cover their bodies but the atmosphere, looked only five years old, even though they were the oldest of all living creatures and had realized the truth of the self. But when the porters, who happened to possess a disposition quite unpalatable to the Lord, saw the sages, they blocked their way with their staffs, despising their glories, although the sages did not deserve such treatment at their hands.

31 When the Kumāras, although by far the fittest persons, were thus forbidden entrance by the two chief doorkeepers of Śrī Hari while other divinities looked on, their eyes suddenly turned red because of anger due to their great eagerness to see their most beloved master, Śrī Hari, the Personality of Godhead.

32 The sages said: Who are these two persons who have developed such a discordant mentality even though they are posted in the service of the Lord in the highest position and are expected to have developed the same qualities as the Lord? How are these two persons living in Vaikuṇṭha? Where is the possibility of an enemy's coming into this kingdom of God? The Supreme Personality of Godhead has no enemy. Who could be envious of Him? Probably these two persons are imposters; therefore they suspect others to be like themselves.

33 In the Vaikuṇṭha world there is complete harmony between the residents and the Supreme Personality of Godhead, just as there is complete harmony within space between the big and the small skies. Why then is there a seed of fear in this field of harmony? These two persons are dressed like inhabitants of Vaikuṇṭha, but wherefrom can their disharmony come into existence?

34 Therefore let us consider how these two contaminated persons should be punished. The punishment should be apt, for thus benefit can eventually be bestowed upon them. Since they find duality in the existence of Vaikuṇṭha life, they are contaminated and should be removed from this place to the material world, where the living entities have three kinds of enemies.

35 When the doormen of Vaikuṇṭhaloka, who were certainly devotees of the Lord, found that they were going to be cursed by the brāhmaṇas, they at once became very much afraid and fell down at the feet of the brāhmaṇas in great anxiety, for a brāhmaṇa's curse cannot be counteracted by any kind of weapon.

36 After being cursed by the sages, the doormen said: It is quite apt that you have punished us for neglecting to respect sages like you. But we pray that due to your compassion at our repentance, the illusion of forgetting the Supreme Personality of Godhead will not come upon us as we go progressively downward.

37 At that very moment, the Lord, who is called Padmanābha because of the lotus grown from His navel and who is the delight of the righteous, learned about the insult offered by His own servants to the saints. Accompanied by His spouse, the goddess of fortune, He went to the spot on those very feet sought for by recluses and great sages.

38 The sages, headed by Sanaka Ṛṣi, saw that the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, who was formerly visible only within their hearts in ecstatic trance, had now actually become visible to their eyes. As He came forward, accompanied by His own associates bearing all

paraphernalia, such as an umbrella and a cāmara fan, the white bunches of hair moved very gently, like two swans, and due to their favorable breeze the pearls garlanding the umbrella also moved, like drops of nectar falling from the white full moon or ice melting due to a gust of wind.

39 The Lord is the reservoir of all pleasure. His auspicious presence is meant for everyone's benediction, and His affectionate smiling and glancing touch the core of the heart. The Lord's beautiful bodily color is blackish, and His broad chest is the resting place of the goddess of fortune, who glorifies the entire spiritual world, the summit of all heavenly planets. Thus it appeared that the Lord was personally spreading the beauty and good fortune of the spiritual world.

40 He was adorned with a girdle that shone brightly on the yellow cloth covering His large hips, and He wore a garland of fresh flowers which was distinguished by humming bees. His lovely wrists were graced with bracelets, and He rested one of His hands on the shoulder of Garuḍa, His carrier, and twirled a lotus with another hand.

41 His countenance was distinguished by cheeks that enhanced the beauty of His alligator-shaped pendants, which outshone lightning. His nose was prominent, and His head was covered with a gem-studded crown. A charming necklace hung between His stout arms, and His neck was adorned with the gem known by the name Kaustubha.

42 The exquisite beauty of Nārāyaṇa, being many times magnified by the intelligence of His devotees, was so attractive that it defeated the pride of the goddess of fortune in being the most beautiful. My dear demigods, the Lord who thus manifested Himself is worshipable by me, by Lord Śiva and by all of you. The sages regarded Him with unsated eyes and joyously bowed their heads at His lotus feet.

43 When the breeze carrying the aroma of tulasī leaves from the toes of the lotus feet of the Personality of Godhead entered the nostrils of those sages, they experienced a change both in body and in mind, even though they were attached to the impersonal Brahman understanding.

44 The Lord's beautiful face appeared to them like the inside of a blue lotus, and the Lord's smile appeared to be a blossoming jasmine flower. After seeing the face of the Lord, the sages were fully satisfied, and when they wanted to see Him further, they looked upon the nails of His lotus feet, which resembled rubies. Thus they viewed the Lord's transcendental body again and again, and so they finally achieved meditation on the Lord's personal feature.

45 This is the form of the Lord which is meditated upon by the followers of the yoga process, and it is pleasing to the yogīs in meditation. It is not imaginary but factual, as proved by great yogīs. The Lord is full in eight kinds of achievement, but for others these achievements are not possible in full perfection.

46 The Kumāras said: Our dear Lord, You are not manifested to rascals, even though You are seated within the heart of everyone. But as far as we are concerned, we see You face to face, although You are unlimited. The statements we have heard about You from our father, Brahmā, through the ears have now been actually realized by Your kind appearance.

47 We know that You are the Supreme Absolute Truth, the Personality of Godhead, who manifests His transcendental form in the uncontaminated mode of pure goodness. This transcendental, eternal form of Your personality can be understood only by Your mercy, through unflinching devotional service, by great sages whose hearts have been purified in the devotional way.

48 Persons who are very expert and most intelligent in understanding things as they are engage in hearing narrations of the auspicious activities and pastimes of the Lord, which are worth chanting and worth hearing. Such persons do not care even for the highest material benediction, namely liberation, to say nothing of other less important benedictions like the material happiness of the heavenly kingdom.

49 O Lord, we pray that You let us be born in any hellish condition of life, just as long as our hearts and minds are always engaged in the service of Your lotus feet, our words are made beautiful [by speaking of Your activities] just as tulasī leaves are beautified when offered unto Your lotus feet, and as long as our ears are always filled with the chanting of Your transcendental qualities.

50 O Lord, we therefore offer our respectful obeisances unto Your eternal form as the Personality of Godhead, which You have so kindly manifested before us. Your supreme, eternal form cannot be seen by unfortunate, less intelligent persons, but we are so much satisfied in our mind and vision to see it.

## SB 3.16:

## The Two Doorkeepers of Vaikuṇṭha, Jaya and Vijaya, Cursed by the Sages

1 Lord Brahmā said: After thus congratulating the sages for their nice words, the Supreme Personality of Godhead, whose abode is in the kingdom of God, spoke as follows.

2 The Personality of Godhead said: These attendants of Mine, Jaya and Vijaya by name, have committed a great offense against you because of ignoring Me.

3 O great sages, I approve of the punishment that you who are devoted to Me have meted out to them.

4 To Me, the brāhmaṇa is the highest and most beloved personality. The disrespect shown by My attendants has actually been displayed by Me because the doormen are My servitors. I take this to be an offense by Myself; therefore I seek your forgiveness for the incident that has arisen.

5 A wrong act committed by a servant leads people in general to blame his master, just as a spot of white leprosy on any part of the body pollutes all of the skin.

6 Anyone in the entire world, even down to the caṇḍāla, who lives by cooking and eating the flesh of the dog, is immediately purified if he takes bath in hearing through the ear the glorification of My name, fame, etc. Now you have realized Me without doubt; therefore I will not hesitate to lop off My own arm if its conduct is found hostile to you.

7 The Lord continued: Because I am the servitor of My devotees, My lotus feet have become so sacred that they immediately wipe out all sin and I have acquired such a disposition that the goddess of fortune does not leave Me, even though I have no attachment for her, while others praise her beauty and observe sacred vows to secure from her even a slight favor.

8 I do not enjoy the oblations offered by the sacrificers in the sacrificial fire, which is one of My own mouths, with the same relish as I do the delicacies overflowing with ghee which are offered to the mouths of the brāhmaṇas who have dedicated to Me the results of their activities and who are ever satisfied with My prasāda.

9 I am the master of My unobstructed internal energy, and the water of the Ganges is the remnant left after My feet are washed. That water sanctifies the three worlds, along with Lord

Śiva, who bears it on his head. If I can take the dust of the feet of the Vaiṣṇava on My head, who will refuse to do the same?

10 The brāhmaṇas, the cows and the defenseless creatures are My own body. Those whose faculty of judgment has been impaired by their own sin look upon these as distinct from Me. They are just like furious serpents, and they are angrily torn apart by the bills of the vulturelike messengers of Yamarāja, the superintendent of sinful persons.

11 On the other hand, they captivate My heart who are gladdened in heart and who, their lotus faces enlightened by nectarean smiles, respect the brāhmaṇas, even though the brāhmaṇas utter harsh words. They look upon the brāhmaṇas as My own Self and pacify them by praising them in loving words, even as a son would appease an angry father or as I am pacifying you.

12 These servants of Mine have transgressed against you, not knowing the mind of their master. I shall therefore deem it a favor done to Me if you order that, although reaping the fruit of their transgression, they may return to My presence soon and the time of their exile from My abode may expire before long.

13 Brahmā continued: Even though the sages had been bitten by the serpent of anger, their souls were not satiated with hearing the Lord's lovely and illuminating speech, which was like a series of Vedic hymns.

14 The Lord's excellent speech was difficult to comprehend because of its momentous import and its most profound significance. The sages heard it with wide-open ears and pondered it as well. But although hearing, they could not understand what He intended to do.

15 The four brāhmaṇa sages were nevertheless extremely delighted to behold Him, and they experienced a thrill throughout their bodies. They then spoke as follows to the Lord, who had revealed the multiglories of the Supreme Personality through His internal potency, yoga-māyā.

16 The sages said: O Supreme Personality of Godhead, we are unable to know what You intend for us to do, for even though You are the supreme ruler of all, You speak in our favor as if we had done something good for You.

17 O Lord, You are the supreme director of the brahminical culture. Your considering the brāhmaṇas to be in the highest position is Your example for teaching others. Actually You are the supreme worshipable Deity, not only for the gods but for the brāhmaṇas also.

18 You are the source of the eternal occupation of all living entities, and by Your multimanifestations of Personalities of Godhead, You have always protected religion. You are the supreme objective of religious principles, and in our opinion You are inexhaustible and unchangeable eternally.

19 Mystics and transcendentalists, by the mercy of the Lord, cross beyond nescience by ceasing all material desires. It is not possible, therefore, that the Supreme Lord can be favored by others.

20 The goddess of fortune, Lakṣmī, the dust of whose feet is worn on the head by others, waits upon You, as appointed, for she is anxious to secure a place in the abode of the king of bees, who hovers on the fresh wreath of tulasī leaves offered at Your feet by some blessed devotee.

21 O Lord, You are exceedingly attached to the activities of Your pure devotees, yet You are never attached to the goddesses of fortune who constantly engage in Your transcendental loving service. How can You be purified, therefore, by the dust of the path traversed by the

brāhmaṇas, and how can You be glorified or made fortunate by the marks of Śrīvatsa on Your chest?

22 O Lord, You are the personification of all religion. Therefore You manifest Yourself in three millenniums, and thus You protect this universe, which consists of animate and inanimate beings. By Your grace, which is of pure goodness and is the bestower of all blessings, kindly drive away the elements of rajas and tamas for the sake of the demigods and twice-born.

23 O Lord, You are the protector of the highest of the twice-born. If You do not protect them by offering worship and mild words, then certainly the auspicious path of worship will be rejected by people in general, who act on the strength and authority of Your Lordship.

24 Dear Lord, You never want the auspicious path to be destroyed, for You are the reservoir of all goodness. Just to benefit people in general, You destroy the evil element by Your mighty potency. You are the proprietor of the three creations and the maintainer of the entire universe. Therefore Your potency is not reduced by Your submissive behavior. Rather, by submission You exhibit Your transcendental pastimes.

25 O Lord, whatever punishment You wish to award to these two innocent persons, or also to us, we shall accept without duplicity. We understand that we have cursed two faultless persons.

26 The Lord replied: O brāhmaṇas, know that the punishment you inflicted on them was originally ordained by Me, and therefore they will fall to a birth in a demoniac family. But they will be firmly united with Me in thought through mental concentration intensified by anger, and they will return to My presence shortly.

27 Lord Brahmā said: After seeing the Lord of Vaikuṇṭha, the Supreme Personality of Godhead, in the self-illuminated Vaikuṇṭha planet, the sages left that transcendental abode.

28 The sages circumambulated the Supreme Lord, offered their obeisances and returned, extremely delighted at learning of the divine opulences of the Vaiṣṇava.

29 The Lord then said to His attendants, Jaya and Vijaya: Depart this place, but fear not. All glories unto you. Though I am capable of nullifying the brāhmaṇas' curse, I would not do so. On the contrary, it has My approval.

30 This departure from Vaikuṇṭha was foretold by Lakṣmī, the goddess of fortune. She was very angry because when she left My abode and then returned, you stopped her at the gate while I was sleeping.

31 The Lord assured the two Vaikuṇṭha inhabitants, Jaya and Vijaya: By practicing the mystic yoga system in anger, you will be cleansed of the sin of disobeying the brāhmaṇas and within a very short time return to Me.

32 After thus speaking at the door of Vaikuṇṭha, the Lord returned to His abode, where there are many celestial airplanes and all-surpassing wealth and splendor.

33 But those two gatekeepers, the best of the demigods, their beauty and luster diminished by the curse of the brāhmaṇas, became morose and fell from Vaikuṇṭha, the abode of the Supreme Lord.

34 Then, as Jaya and Vijaya fell from the Lord's abode, a great roar of disappointment arose from all the demigods, who were sitting in their splendid airplanes.

35 Lord Brahmā continued: Those two principal doorkeepers of the Personality of Godhead have now entered the womb of Diti, the powerful semen of Kaśyapa Muni having covered them.

36 It is the prowess of these twin asuras [demons] that has disturbed you, for it has minimized your power. There is no remedy within my power, however, for it is the Lord Himself who desires to do all this.

37 My dear sons, the Lord is the controller of the three modes of nature and is responsible for the creation, preservation and dissolution of the universe. His wonderful creative power, yoga-māyā, cannot be easily understood even by the masters of yoga. That most ancient person, the Personality of Godhead, will alone come to our rescue. What purpose can we serve on His behalf by deliberating on the subject?

**SB 3.17: Victory of Hiraṇyākṣa Over All the Directions of the Universe**

1Śrī Maitreya said: The demigods, the inhabitants of the higher planets, were freed from all fear upon hearing the cause of the darkness explained by Brahmā, who was born from Viṣṇu. Thus they all returned to their respective planets.

2 The virtuous lady Diti had been very apprehensive of trouble to the gods from the children in her womb, and her husband predicted the same. She brought forth twin sons after a full one hundred years of pregnancy.

3 On the birth of the two demons there were many natural disturbances, all very fearful and wonderful, in the heavenly planets, the earthly planets and in between them.

4 There were earthquakes along the mountains on the earth, and it appeared that there was fire everywhere. Many inauspicious planets like Saturn appeared, along with comets, meteors and thunderbolts.

5 There blew winds which were most uninviting to the touch, hissing again and again and uprooting gigantic trees. They had storms for their armies and clouds of dust for their ensigns.

6 The luminaries in the heavens were screened by masses of clouds, in which lightning sometimes flashed as though laughing. Darkness reigned everywhere, and nothing could be seen.

7 The ocean with its high waves wailed aloud as if stricken with sorrow, and there was a commotion among the creatures inhabiting the ocean. The rivers and lakes were also agitated, and lotuses withered.

8 Misty halos appeared around the sun and the moon during solar and lunar eclipses again and again. Claps of thunder were heard even without clouds, and sounds like those of rattling chariots emerged from the mountain caves.

9 In the interior of the villages she-jackals yelled portentously, vomiting strong fire from their mouths, and jackals and owls also joined them with their cries.

10 Raising their necks, dogs cried here and there, now in the manner of singing and now of wailing.

11 O Vidura, the asses ran hither and thither in herds, striking the earth with their hard hooves and wildly braying.

12 Frightened by the braying of the asses, birds flew shrieking from their nests, while cattle in the cowsheds as well as in the woods passed dung and urine.

13 Cows, terrified, yielded blood in place of milk, clouds rained pus, the images of the gods in the temples shed tears, and trees fell down without a blast of wind.

14 Ominous planets such as Mars and Saturn shone brighter and surpassed the auspicious ones such as Mercury, Jupiter and Venus as well as a number of lunar mansions. Taking seemingly retrograde courses, the planets came in conflict with one another.

15 Marking these and many other omens of evil times, everyone but the four sage sons of Brahmā, who were aware of the fall of Jaya and Vijaya and of their birth as Diti's sons, was seized with fear. They did not know the secrets of these portents and thought that the dissolution of the universe was at hand.

16 These two demons who appeared in ancient times soon began to exhibit uncommon bodily features; they had steel-like frames which began to grow just like two great mountains.

17 Their bodies became so tall that they seemed to kiss the sky with the crests of their gold crowns. They blocked the view of all directions and while walking shook the earth at every step. Their arms were adorned with brilliant bracelets, and they stood as if covering the sun with their waists, which were bound with excellent and beautiful girdles.

18 Prajāpati Kaśyapa, the creator of the living entities, gave his twin sons their names; the one who was born first he named Hiraṇyākṣa, and the one who was first conceived by Diti he named Hiraṇyakaśipu.

19 The elder child, Hiraṇyakaśipu, was unafraid of death from anyone within the three worlds because he received a benediction from Lord Brahmā. He was proud and puffed up due to this benediction and was able to bring all three planetary systems under his control.

20 His younger brother, Hiraṇyākṣa, was always ready to satisfy his elder brother by his activities. Hiraṇyākṣa took a club on his shoulder and traveled all over the universe with a fighting spirit just to satisfy Hiraṇyakaśipu.

21 Hiraṇyākṣa's temper was difficult to control. He had anklets of gold tinkling about his feet, he was adorned with a gigantic garland, and he rested his huge mace on one of his shoulders.

22 His mental and bodily strength as well as the boon conferred upon him had made him proud. He feared death at the hands of no one, and there was no checking him. The gods, therefore, were seized with fear at his very sight, and they hid themselves even as snakes hide themselves for fear of Garuḍa.

23 On not finding Indra and the other demigods, who had previously been intoxicated with power, the chief of the Daityas, seeing that they had all vanished before his might, roared loudly.

24 After returning from the heavenly kingdom, the mighty demon, who was like an elephant in wrath, for the sake of sport dived into the deep ocean, which was roaring terribly.

25 On his entering the ocean, the aquatic animals who formed the host of Varuṇa were stricken with fear and ran far away. Thus Hiraṇyākṣa showed his splendor without dealing a blow.

26 Moving about in the ocean for many, many years, the mighty Hiraṇyākṣa smote the gigantic

wind-tossed waves again and again with his iron mace and reached Vibhāvarī, the capital of Varuṇa.

27 Vibhāvarī is the home of Varuṇa, lord of the aquatic creatures and guardian of the lower regions of the universe, where the demons generally reside. There Hiraṇyākṣa fell at Varuṇa's feet like a lowborn man, and to make fun of him he said with a smile, "Give me battle, O Supreme Lord!"

28 You are the guardian of an entire sphere and a ruler of wide fame. Having crushed the might of arrogant and conceited warriors and having conquered all the Daityas and Dānavas in the world, you once performed a Rājasūya sacrifice to the Lord.

29 Thus mocked by an enemy whose vanity knew no bounds, the worshipful lord of the waters waxed angry, but by dint of his reason he managed to curb the anger that had sprung up in him, and he replied: O dear one, we have now desisted from warfare, having grown too old for combat.

30 You are so skilled in war that I do not see anyone else but the most ancient person, Lord Viṣṇu, who can give satisfaction in battle to you. Therefore, O chief of the asuras, approach Him, whom even heroes like you mention with praise.

31 Varuṇa continued: On reaching Him you will be rid of your pride at once and will lie down on the field of battle, surrounded by dogs, for eternal sleep. It is in order to exterminate wicked fellows like you and to show His grace to the virtuous that He assumes His various incarnations like Varāha.

### SB 3.18: The Battle Between Lord Boar and the Demon Hiraṇyākṣa

1 Maitreya continued: The proud and falsely glorious Daitya paid little heed to the words of Varuṇa. O dear Vidura, he learned from Nārada the whereabouts of the Supreme Personality of Godhead and hurriedly betook himself to the depths of the ocean.

2 He saw there the all-powerful Personality of Godhead in His boar incarnation, bearing the earth upward on the ends of His tusks and robbing him of his splendor with His reddish eyes. The demon laughed: Oh, an amphibious beast!

3 The demon addressed the Lord: O best of the demigods, dressed in the form of a boar, just hear me. This earth is entrusted to us, the inhabitants of the lower regions, and You cannot take it from my presence and not be hurt by me.

4 You rascal, You have been nourished by our enemies to kill us, and You have killed some demons by remaining invisible. O fool, Your power is only mystic, so today I shall enliven my kinsmen by killing You.

5 The demon continued: When You fall dead with Your skull smashed by the mace hurled by my arms, the demigods and sages who offer You oblations and sacrifice in devotional service will also automatically cease to exist, like trees without roots.

6 Although the Lord was pained by the shaftlike abusive words of the demon, He bore the pain. But seeing that the earth on the ends of His tusks was frightened, He rose out of the water just as an elephant emerges with its female companion when assailed by an alligator.

7 The demon, who had golden hair on his head and fearful tusks, gave chase to the Lord while He was rising from the water, even as an alligator would chase an elephant. Roaring like thunder, he said: Are You not ashamed of running away before a challenging adversary? There

is nothing reproachable for shameless creatures!

8 The Lord placed the earth within His sight on the surface of the water and transferred to her His own energy in the form of the ability to float on the water. While the enemy stood looking on, Brahmā, the creator of the universe, extolled the Lord, and the other demigods rained flowers on Him.

9 The demon, who had a wealth of ornaments, bangles and beautiful golden armor on his body, chased the Lord from behind with a great mace. The Lord tolerated his piercing ill words, but in order to reply to him, He expressed His terrible anger.

10 The Personality of Godhead said: Indeed, We are creatures of the jungle, and We are searching after hunting dogs like you. One who is freed from the entanglement of death has no fear from the loose talk in which you are indulging, for you are bound up by the laws of death.

11 Certainly We have stolen the charge of the inhabitants of Rasātala and have lost all shame. Although bitten by your powerful mace, I shall stay here in the water for some time because, having created enmity with a powerful enemy, I now have no place to go.

12 You are supposed to be the commander of many foot soldiers, and now you may take prompt steps to overthrow Us. Give up all your foolish talk and wipe out the cares of your kith and kin by slaying Us. One may be proud, yet he does not deserve a seat in an assembly if he fails to fulfill his promised word.

13Śrī Maitreya said: The demon, being thus challenged by the Personality of Godhead, became angry and agitated, and he trembled in anger like a challenged cobra.

14 Hissing indignantly, all his senses shaken by wrath, the demon quickly sprang upon the Lord and dealt Him a blow with his powerful mace.

15 The Lord, however, by moving slightly aside, dodged the violent mace-blow aimed at His breast by the enemy, just as an accomplished yogī would elude death.

16 The Personality of Godhead now exhibited His anger and rushed to meet the demon, who bit his lip in rage, took up his mace again and began to repeatedly brandish it about.

17 Then with His mace the Lord struck the enemy on the right of his brow, but since the demon was expert in fighting, O gentle Vidura, he protected himself by a maneuver of his own mace.

18 In this way, the demon Haryakṣa and the Lord, the Personality of Godhead, struck each other with their huge maces, each enraged and seeking his own victory.

19 There was keen rivalry between the two combatants; both had sustained injuries on their bodies from the blows of each other's pointed maces, and each grew more and more enraged at the smell of blood on his person. In their eagerness to win, they performed maneuvers of various kinds, and their contest looked like an encounter between two forceful bulls for the sake of a cow.

20 O descendant of Kuru, Brahmā, the most independent demigod of the universe, accompanied by his followers, came to see the terrible fight for the sake of the world between the demon and the Personality of Godhead, who appeared in the form of a boar.

21 After arriving at the place of combat, Brahmā, the leader of thousands of sages and transcendentalists, saw the demon, who had attained such unprecedented power that no one

could fight with him. Brahmā then addressed Nārāyaṇa, who was assuming the form of a boar for the first time.

22-23 Lord Brahmā said: My dear Lord, this demon has proved to be a constant pinprick to the demigods, the brāhmaṇas, the cows and innocent persons who are spotless and always dependent upon worshiping Your lotus feet. He has become a source of fear by unnecessarily harassing them. Since he has attained a boon from me, he has become a demon, always searching for a proper combatant, wandering all over the universe for this infamous purpose.

24 Lord Brahmā continued: My dear Lord, there is no need to play with this serpentine demon, who is always very skilled in conjuring tricks and is arrogant, self-sufficient and most wicked.

25 Brahmā continued: My dear Lord, You are infallible. Please kill this sinful demon before the demoniac hour arrives and he presents another formidable approach favorable to him. You can kill him by Your internal potency without doubt.

26 My Lord, the darkest evening, which covers the world, is fast approaching. Since You are the Soul of all souls, kindly kill him and win victory for the demigods.

27 The auspicious period known as abhijit, which is most opportune for victory, commenced at midday and has all but passed; therefore, in the interest of Your friends, please dispose of this formidable foe quickly.

28 This demon, luckily for us, has come of his own accord to You, his death ordained by You; therefore, exhibiting Your ways, kill him in the duel and establish the worlds in peace.

## SB 3.19: The Killing of the Demon Hiraṇyākṣa

1Śrī Maitreya said: After hearing the words of Brahmā, the creator, which were free from all sinful purposes and as sweet as nectar, the Lord heartily laughed and accepted his prayer with a glance laden with love.

2 The Lord, who had appeared from the nostril of Brahmā, sprang and aimed His mace at the chin of His enemy, the Hiraṇyākṣa demon, who was stalking fearlessly before Him.

3 Struck by the demon's mace, however, the Lord's mace slipped from His hand and looked splendid as it fell down whirling. This was miraculous, for the mace was blazing wonderfully.

4 Even though the demon had an excellent opportunity to strike his unarmed foe without obstruction, he respected the law of single combat, thereby kindling the fury of the Supreme Lord.

5 As the Lord's mace fell to the ground and a cry of alarm arose from the witnessing crowd of gods and ṛṣis, the Personality of Godhead acknowledged the demon's love of righteousness and therefore invoked His Sudarśana discus.

6 As the discus began to revolve in the Lord's hands and the Lord contended at close quarters with the chief of His Vaikuṇṭha attendants, who had been born as Hiraṇyākṣa, a vile son of Diti, there issued from every direction strange expressions uttered by those who were witnessing from airplanes. They had no knowledge of the Lord's reality, and they cried, "May victory attend You! Pray dispatch him. Play no more with him."

7 When the demon saw the Personality of Godhead, who had eyes just like lotus petals, standing in position before him, armed with His Sudarśana discus, his senses were overpowered by indignation. He began to hiss like a serpent, and he bit his lip in great

resentment.

8 The demon, who had fearful tusks, stared at the Personality of Godhead as though to burn Him. Springing into the air, he aimed his mace at the Lord, exclaiming at the same time, "You are slain!"

9 O saintly Vidura, while His enemy looked on, the Lord in His boar form, the enjoyer of all sacrificial offerings, playfully knocked down the mace with His left foot, even as it came upon Him with the force of a tempest.

10 The Lord then said: "Take up your weapon and try again, eager as you are to conquer Me." Challenged in these words, the demon aimed his mace at the Lord and once more loudly roared.

11 When the Lord saw the mace flying toward Him, He stood firmly where He was and caught it with the same ease as Garuḍa, the king of birds, would seize a serpent.

12 His valor thus frustrated, the great demon felt humiliated and was put out of countenance. He was reluctant to take back the mace when it was offered by the Personality of Godhead.

13 He now took a trident which was as rapacious as a flaming fire and hurled it against the Lord, the enjoyer of all sacrifices, even as one would use penance for a malevolent purpose against a holy brāhmaṇa.

14 Hurled by the mighty demon with all his strength, the flying trident shone brightly in the sky. The Personality of Godhead, however, tore it to pieces with His discus Sudarśana, which had a sharp-edged rim, even as Indra cut off a wing of Garuḍa.

15 The demon was enraged when his trident was cut to pieces by the discus of the Personality of Godhead. He therefore advanced toward the Lord and, roaring aloud, struck his hard fist against the Lord's broad chest, which bore the mark of Śrīvatsa. Then he went out of sight.

16 Hit in this manner by the demon, O Vidura, the Lord, who had appeared as the first boar, did not feel the least quaking in any part of His body, any more than an elephant would when struck with a wreath of flowers.

17 The demon, however, employed many conjuring tricks against the Personality of Godhead, who is the Lord of yoga-māyā. At the sight of this the people were filled with alarm and thought that the dissolution of the universe was near.

18 Fierce winds began to blow from all directions, spreading darkness occasioned by dust and hail storms; stones came in volleys from every corner, as if thrown by machine guns.

19 The luminaries in outer space disappeared due to the sky's being overcast with masses of clouds, which were accompanied by lightning and thunder. The sky rained pus, hair, blood, stool, urine and bones.

20 O sinless Vidura, mountains discharged weapons of various kinds, and naked demonesses armed with tridents appeared with their hair hanging loose.

21 Cruel and savage slogans were uttered by hosts of ruffian Yakṣas and Rākṣasas, who all either marched on foot or rode on horses, elephants or chariots.

22 The Lord, the personal enjoyer of all sacrifices, now discharged His beloved Sudarśana, which was capable of dispersing the magical forces displayed by the demon.

23 At that very moment, a shudder suddenly ran through the heart of Diti, the mother of Hiraṇyākṣa. She recalled the words of her husband, Kaśyapa, and blood flowed from her breasts.

24 When the demon saw his magic forces dispelled, he once again came into the presence of the Personality of Godhead, Keśava, and, full of rage, tried to embrace Him within his arms to crush Him. But to his great amazement he found the Lord standing outside the circle of his arms.

25 The demon now began to strike the Lord with his hard fists, but Lord Adhokṣaja slapped him in the root of the ear, even as Indra, the lord of the Maruts, hit the demon Vṛtra.

26 Though struck indifferently by the Lord, the conqueror of all, the demon's body began to wheel. His eyeballs bulged out of their sockets. His arms and legs broken and the hair on his head scattered, he fell down dead, like a gigantic tree uprooted by the wind.

27 Aja [Brahmā] and others arrived on the spot to see the fearfully tusked demon lying on the ground, biting his lip. The glow of his face was yet unfaded, and Brahmā admiringly said: Oh, who could meet such blessed death?

28 Brahmā continued: He was struck by a forefoot of the Lord, whom yogīs, seeking freedom from their unreal material bodies, meditate upon in seclusion in mystic trance. While gazing on His countenance, this crest jewel of Diti's sons has cast off his mortal coil.

29 These two personal assistants of the Supreme Lord, having been cursed, have been destined to take birth in demoniac families. After a few such births, they will return to their own positions.

30 The demigods addressed the Lord: All obeisances unto You! You are the enjoyer of all sacrifices, and You have assumed the form of a boar, in pure goodness, for the purpose of maintaining the world. Fortunately for us, this demon, who was a torment to the worlds, has been slain by You, and we too, O Lord, are now at ease, in devotion to Your lotus feet.

31Śrī Maitreya continued: After thus killing the most formidable demon Hiraṇyākṣa, the Supreme Lord Hari, the origin of the boar species, returned to His own abode, where there is always an uninterrupted festival. The Lord was praised by all the demigods, headed by Brahmā.

32 Maitreya continued: My dear Vidura, I have explained to you the Personality of Godhead's coming down as the first boar incarnation and killing in a great fight a demon of unprecedented prowess as if he were just a plaything. This has been narrated by me as I heard it from my predecessor spiritual master.

33Śrī Sūta Gosvāmī continued: My dear brāhmaṇa, Kṣattā [Vidura] the great devotee of the Lord achieved transcendental bliss by hearing the narration of the pastimes of the Supreme Personality of Godhead from the authoritative source of the sage Kauṣārava [Maitreya], and he was very pleased.

34 What to speak of hearing the pastimes of the Lord, whose chest is marked with Śrīvatsa, people may take transcendental pleasure even in hearing of the works and deeds of the devotees, whose fame is immortal.

35 The Personality of Godhead delivered the king of the elephants, who was attacked by an alligator and who meditated upon the lotus feet of the Lord. At that time the female elephants

who accompanied him were crying, and the Lord saved them from the impending danger.

36 What grateful soul is there who would not render his loving service to such a great master as the Personality of Godhead? The Lord can be easily pleased by spotless devotees who resort exclusively to Him for protection, though the unrighteous man finds it difficult to propitiate Him.

37 O brāhmaṇas, anyone who hears, chants, or takes pleasure in the wonderful narration of the killing of the Hiraṇyākṣa demon by the Lord, who appeared as the first boar in order to deliver the world, is at once relieved of the results of sinful activities, even the killing of a brāhmaṇa.

38 This most sacred narrative confers extraordinary merit, wealth, fame, longevity and all the objects of one's desire. On the field of battle it promotes the strength of one's vital organs and organs of action. One who listens to it at the last moment of his life is transferred to the supreme abode of the Lord, O dear Śaunaka.

**SB 3.20: Conversation Between Maitreya and Vidura**

1ŚrīŚaunaka inquired: O Sūta Gosvāmī, after the earth was again situated in its orbit, what did Svāyambhuva Manu do to show the path of liberation to persons who were to take birth later on?

2Śaunaka Ṛṣi inquired about Vidura, who was a great devotee and friend of Lord Kṛṣṇa and who gave up the company of his elder brother because the latter, along with his sons, played tricks against the desires of the Lord.

3 Vidura was born from the body of Vedavyāsa and was not less than he. Thus he accepted the lotus feet of Kṛṣṇa wholeheartedly and was attached to His devotees.

4 Vidura was purified of all passion by wandering in sacred places, and at last he reached Hardwar, where he met the great sage who knew the science of spiritual life, and he inquired from him. Śaunaka Ṛṣi therefore asked: What more did Vidura inquire from Maitreya?

5Śaunaka inquired about the conversation between Vidura and Maitreya: There must have been many narrations of the spotless pastimes of the Lord. The hearing of such narrations is exactly like bathing in the water of the Ganges, for it can free one from all sinful reactions.

6 O Sūta Gosvāmī, all good fortune to you! Please narrate the activities of the Lord, which are all magnanimous and worth glorifying. What sort of devotee can be satiated by hearing the nectarean pastimes of the Lord?

7 On being asked to speak by the great sages of Naimiṣāraṇya, the son of Romaharṣaṇa, Sūta Gosvāmī, whose mind was absorbed in the transcendental pastimes of the Lord, said: Please hear what I shall now speak.

8 Sūta Gosvāmī continued: Vidura, the descendant of Bharata, was delighted to hear the story of the Lord, who, having assumed by His own divine potency the form of a boar, had enacted the sport of lifting the earth from the bottom of the ocean and indifferently killing the demon Hiraṇyākṣa. Vidura then spoke to the sage as follows.

9 Vidura said: Since you know of matters inconceivable to us, tell me, O holy sage, what did Brahmā do to create living beings after evolving the Prajāpatis, the progenitors of living beings?

10 Vidura inquired: How did the Prajāpatis [such progenitors of living entities as Marīci and

Svāyambhuva Manu] create according to the instruction of Brahmā, and how did they evolve this manifested universe?

11 Did they evolve the creation in conjunction with their respective wives, did they remain independent in their action, or did they all jointly produce it?

12 Maitreya said: When the equilibrium of the combination of the three modes of nature was agitated by the unseen activity of the living entity, by Mahā-Viṣṇu and by the force of time, the total material elements were produced.

13 As impelled by the destiny of the jīva, the false ego, which is of three kinds, evolved from the mahat-tattva, in which the element of rajas predominates. From the ego, in turn, evolved many groups of five principles.

14 Separately unable to produce the material universe, they combined with the help of the energy of the Supreme Lord and were able to produce a shining egg.

15 For over one thousand years the shiny egg lay on the waters of the Causal Ocean in the lifeless state. Then the Lord entered it as Garbhodakaśāyī Viṣṇu.

16 From the navel of the Personality of Godhead Garbhodakaśāyī Viṣṇu sprouted a lotus flower effulgent like a thousand blazing suns. This lotus flower is the reservoir of all conditioned souls, and the first living entity who came out of the lotus flower was the omnipotent Brahmā

17 When that Supreme Personality of Godhead who is lying on the Garbhodaka Ocean entered the heart of Brahmā, Brahmā brought his intelligence to bear, and with the intelligence invoked he began to create the universe as it was before.

18 First of all, Brahmā created from his shadow the coverings of ignorance of the conditioned souls. They are five in number and are called tāmisra, andha-tāmisra, tamas, moha and mahā-moha.

19 Out of disgust, Brahmā threw off the body of ignorance, and taking this opportunity, Yakṣas and Rākṣasas sprang for possession of the body, which continued to exist in the form of night. Night is the source of hunger and thirst.

20 Overpowered by hunger and thirst, they ran to devour Brahmā from all sides and cried, "Spare him not! Eat him up!"

21 Brahmā, the head of the demigods, full of anxiety, asked them, "Do not eat me, but protect me. You are born from me and have become my sons. Therefore you are Yakṣas and Rākṣasas."

22 He then created the chief demigods, who were shining with the glory of goodness. He dropped before them the effulgent form of daytime, and the demigods sportingly took possession of it.

23 Lord Brahmā then gave birth to the demons from his buttocks, and they were very fond of sex. Because they were too lustful, they approached him for copulation.

24 The worshipful Brahmā first laughed at their stupidity, but finding the shameless asuras close upon him, he grew indignant and ran in great haste out of fear.

25 He approached the Personality of Godhead, who bestows all boons and who dispels the

agony of His devotees and of those who take shelter of His lotus feet. He manifests His innumerable transcendental forms for the satisfaction of His devotees.

26 Lord Brahmā, approaching the Lord, addressed Him thus: My Lord, please protect me from these sinful demons, who were created by me under Your order. They are infuriated by an appetite for sex and have come to attack me.

27 My Lord, You are the only one capable of ending the affliction of the distressed and inflicting agony on those who never resort to Your feet.

28 The Lord, who can distinctly see the minds of others, perceived Brahmā's distress and said to him: "Cast off this impure body of yours." Thus commanded by the Lord, Brahmā cast off his body.

29 The body given up by Brahmā took the form of the evening twilight, when the day and night meet, a time which kindles passion. The asuras, who are passionate by nature, dominated as they are by the element of rajas, took it for a damsel, whose lotus feet resounded with the tinkling of anklets, whose eyes were wide with intoxication and whose hips were covered by fine cloth, over which shone a girdle.

30 Her breasts projected upward because of their clinging to each other, and they were too contiguous to admit any intervening space. She had a shapely nose and beautiful teeth, a lovely smile played on her lips, and she cast a sportful glance at the asuras.

31 Adorned with dark tresses, she hid herself, as it were, out of shyness. Upon seeing that girl, the asuras were all infatuated with an appetite for sex.

32 The demons praised her: Oh, what a beauty! What rare self-control! What a budding youth! In the midst of us all, who are passionately longing for her, she is moving about like one absolutely free from passion.

33 Indulging in various speculations about the evening twilight, which appeared to them endowed with the form of a young woman, the wicked-minded asuras treated her with respect and fondly spoke to her as follows.

34 Who are you, O pretty girl? Whose wife or daughter are you, and what can be the object of your appearing before us? Why do you tantalize us, unfortunate as we are, with the priceless commodity of your beauty?

35 Whosoever you may be, O beautiful girl, we are fortunate in being able to see you. While playing with a ball, you have agitated the minds of all onlookers.

36 O beautiful woman, when you strike the bouncing ball against the ground with your hand again and again, your lotus feet do not stay in one place. Oppressed by the weight of your full-grown breasts, your waist becomes fatigued, and your clear vision grows dull, as it were. Pray braid your comely hair.

37 The asuras, clouded in their understanding, took the evening twilight to be a beautiful woman showing herself in her alluring form, and they seized her.

38 With a laugh full of deep significance, the worshipful Brahmā then evolved by his own loveliness, which seemed to enjoy itself by itself, the hosts of Gandharvas and Apsarās.

39 After that, Brahmā gave up that shining and beloved form of moonlight. Viśvāvasu and other Gandharvas gladly took possession of it.

40 The glorious Brahmā next evolved from his sloth the ghosts and fiends, but he closed his eyes when he saw them stand naked with their hair scattered.

41 The ghosts and hobgoblins took possession of the body thrown off in the form of yawning by Brahmā, the creator of the living entities. This is also known as the sleep which causes drooling. The hobgoblins and ghosts attack men who are impure, and their attack is spoken of as insanity.

42 Recognizing himself to be full of desire and energy, the worshipful Brahmā, the creator of the living entities, evolved from his own invisible form, from his navel, the hosts of Sādhyas and Pitās.

43 The Pitās themselves took possession of the invisible body, the source of their existence. It is through the medium of this invisible body that those well versed in the rituals offer oblations to the Sādhyas and Pitās [in the form of their departed ancestors] on the occasion of śrāddha.

44 Then Lord Brahmā, by his ability to be hidden from vision, created the Siddhas and Vidyādharas and gave them that wonderful form of his known as the Antardhāna.

45 One day, Brahmā, the creator of the living entities, beheld his own reflection in the water, and admiring himself, he evolved Kimpuruṣas as well as Kinnaras out of that reflection.

46 The Kimpuruṣas and Kinnaras took possession of that shadowy form left by Brahmā. That is why they and their spouses sing his praises by recounting his exploits at every daybreak.

47 Once Brahmā lay down with his body stretched at full length. He was very concerned that the work of creation had not proceeded apace, and in a sullen mood he gave up that body too.

48 O dear Vidura, the hair that dropped from that body transformed into snakes, and even while the body crawled along with its hands and feet contracted, there sprang from it ferocious serpents and Nāgas with their hoods expanded.

49 One day Brahmā, the self-born, the first living creature, felt as if the object of his life had been accomplished. At that time he evolved from his mind the Manus, who promote the welfare activities or the universe.

50 The self-possessed creator gave them his own human form. On seeing the Manus, those who had been created earlier the demigods, the Gandharvas and so on applauded Brahmā, the lord of the universe.

51 They prayed: O creator of the universe, we are glad; what you have produced is well done. Since ritualistic acts have now been established soundly in this human form, we shall all share the sacrificial oblations.

52 Having equipped himself with austere penance, adoration, mental concentration and absorption in devotion, accompanied by dispassion, and having controlled his senses, Brahmā, the self-born living creature, evolved great sages as his beloved sons.

53 To each one of these sons the unborn creator of the universe gave a part of his own body, which was characterized by deep meditation, mental concentration, supernatural power, austerity, adoration and renunciation.

### SB 3.21: Conversation Between Manu and Kardama

1 Vidura said: The line of Svāyambhuva Manu was most esteemed. O worshipful sage, I beg

you: Give me an account of this race, whose progeny multiplied through sexual intercourse.

2 The two great sons of Svāyambhuva Manu Priyavrata and Uttānapāda ruled the world, consisting of seven islands, just according to religious principles.

3 O holy brāhmaṇa, O sinless one, you have spoken of his daughter, known by the name Devahūti, as the wife of the sage Kardama, the lord of created beings.

4 How many offspring did that great yogī beget through the princess, who was endowed with eightfold perfection in the yoga principles? Oh, pray tell me this, for I am eager to hear it.

5 O holy sage, tell me how the worshipful Ruci and Dakṣa, the son of Brahmā, generated children after securing as their wives the other two daughters of Svāyambhuva Manu.

6 The great sage Maitreya replied: Commanded by Lord Brahmā to beget children in the worlds, the worshipful Kardama Muni practiced penance on the bank of the river Sarasvatī for a period of ten thousand years.

7 During that period of penance, the sage Kardama, by worship through devotional service in trance, propitiated the Personality of Godhead, who is the quick bestower of all blessings upon those who flee to Him for protection.

8 Then, in the Satya-yuga, the lotus-eyed Supreme Personality of Godhead, being pleased, showed Himself to that Kardama Muni and displayed His transcendental form, which can be understood only through the Vedas.

9 Kardama Muni saw the Supreme Personality of Godhead, who is free from material contamination, in His eternal form, effulgent like the sun, wearing a garland of white lotuses and water lilies. The Lord was clad in spotless yellow silk, and His lotus face was fringed with slick dark locks of curly hair.

10 Adorned with a crown and earrings, He held His characteristic conch, disc and mace in three of His hands and a white lily in the fourth. He glanced about in a happy, smiling mood whose sight captivates the hearts of all devotees.

11 A golden streak on His chest, the famous Kaustubha gem suspended from His neck, He stood in the air with His lotus feet placed on the shoulders of Garuḍa.

12 When Kardama Muni actually realized the Supreme Personality of Godhead in person, he was greatly satisfied because his transcendental desire was fulfilled. He fell on the ground with his head bowed to offer obeisances unto the lotus feet of the Lord. His heart naturally full of love of God, with folded hands he satisfied the Lord with prayers.

13 The great sage Kardama said: O supreme worshipful Lord, my power of sight is now fulfilled, having attained the greatest perfection of the sight of You, who are the reservoir of all existences. Through many successive births of deep meditation, advanced yogīs aspire to see Your transcendental form.

14 Your lotus feet are the true vessel to take one across the ocean of mundane nescience. Only persons deprived of their intelligence by the spell of the deluding energy will worship those feet with a view to attain the trivial and momentary pleasures of the senses, which even persons rotting in hell can attain. However, O my Lord, You are so kind that You bestow mercy even upon them.

15 Therefore, desiring to marry a girl of like disposition who may prove to be a veritable cow

of plenty in my married life, to satisfy my lustful desire I too have sought the shelter of Your lotus feet, which are the source of everything, for You are like a desire tree.

16 O my Lord, You are the master and leader of all living entities. Under Your direction, all conditioned souls, as if bound by rope, are constantly engaged in satisfying their desires. Following them, O embodiment of religion, I also bear oblations for You, who are eternal time.

17 However, persons who have given up stereotyped worldly affairs and the beastly followers of these affairs, and who have taken shelter of the umbrella of Your lotus feet by drinking the intoxicating nectar of Your qualities and activities in discussions with one another, can be freed from the primary necessities of the material body.

18 Your wheel, which has three naves, rotates around the axis of the imperishable Brahman. It has thirteen spokes, 360 joints, six rims and numberless leaves carved upon it. Though its revolution cuts short the life span of the entire creation, this wheel of tremendous velocity cannot touch the life span of the devotees of the Lord.

19 My dear Lord, You alone create the universes. O Personality of Godhead, desiring to create these universes, You create them, maintain them and again wind them up by Your own energies, which are under the control of Your second energy, called yoga-māyā, just as a spider creates a cobweb by its own energy and again winds it up.

20 My dear Lord, although it is not Your desire, You manifest this creation of gross and subtle elements just for our sensual satisfaction. Let Your causeless mercy be upon us, for You have appeared before us in Your eternal form, adorned with a splendid wreath of tulasī leaves.

21 I continuously offer my respectful obeisances unto Your lotus feet, of which it is worthy to take shelter, because You shower all benedictions on the insignificant. To give all living entities detachment from fruitive activity by realizing You, You have expanded these material worlds by Your own energy.

22 Maitreya resumed: Sincerely extolled in these words, Lord Viṣṇu, shining very beautifully on the shoulders of Garuḍa, replied with words as sweet as nectar. His eyebrows moved gracefully as He looked at the sage with a smile full of affection.

23 The Supreme Lord said: Having come to know what was in your mind, I have already arranged for that for which you have worshiped Me well through your mental and sensory discipline.

24 The Lord continued: My dear ṛṣi, O leader of the living entities, for those who serve Me in devotion by worshiping Me, especially persons like you who have given up everything unto Me, there is never any question of frustration.

25 The Emperor Svāyambhuva Manu, the son of Lord Brahmā, who is well known for his righteous acts, has his seat in Brahmāvarta and rules over the earth with its seven oceans.

26 The day after tomorrow, O brāhmaṇa, that celebrated emperor, who is expert in religious activities, will come here with his queen, Śatarūpā, wishing to see you.

27 He has a grown-up daughter whose eyes are black. She is ready for marriage, and she has good character and all good qualities. She is also searching for a good husband. My dear sir, her parents will come to see you, who are exactly suitable for her, just to deliver their daughter as your wife.

28 That princess, O holy sage, will be just the type you have been thinking of in your heart for

all these long years. She will soon be yours and will serve you to your heart's content.

29 She will bring forth nine daughters from the seed sown in her by you, and through the daughters you beget, the sages will duly beget children.

30 With your heart cleansed by properly carrying out My command, resigning to Me the fruits of all your acts, you will finally attain to Me.

31 Showing compassion to all living entities, you will attain self-realization. Giving assurance of safety to all, you will perceive your own self as well as all the universes in Me, and Myself in you.

32 O great sage, I shall manifest My own plenary portion through your wife, Devahūti, along with your nine daughters, and I shall instruct her in the system of philosophy that deals with the ultimate principles or categories.

33 Maitreya went on: Thus having spoken to Kardama Muni, the Lord, who reveals Himself only when the senses are in Kṛṣṇa consciousness, departed from that lake called Bindu-sarovara, which was encircled by the river Sarasvatī.

34 While the sage stood looking on, the Lord left by the pathway leading to Vaikuṇṭha, a path extolled by all great liberated souls. The sage stood listening as the hymns forming the basis of the Sāma Veda were vibrated by the flapping wings of the Lord's carrier, Garuḍa.

35 Then, after the departure of the Lord, the worshipful sage Kardama stayed on the bank of Bindu-sarovara, awaiting the time of which the Lord had spoken.

36 Svāyambhuva Manu, with his wife, mounted his chariot, which was decorated with golden ornaments. Placing his daughter on it with them, he began traveling all over the earth.

37 O Vidura, they reached the hermitage of the sage, who had just completed his vows of austerity on the very day foretold by the Lord.

38-39 The holy Lake Bindu-sarovara, flooded by the waters of the river Sarasvatī, was resorted to by hosts of eminent sages. Its holy water was not only auspicious but as sweet as nectar. It was called Bindu-sarovara because drops of tears had fallen there from the eyes of the Lord, who was overwhelmed by extreme compassion for the sage who had sought His protection.

40 The shore of the lake was surrounded by clusters of pious trees and creepers, rich in fruits and flowers of all seasons, that afforded shelter to pious animals and birds, which uttered various cries. It was adorned by the beauty of groves of forest trees.

41 The area resounded with the notes of overjoyed birds. Intoxicated bees wandered there, intoxicated peacocks proudly danced, and merry cuckoos called one another.

42-43 Lake Bindu-sarovara was adorned by flowering trees such as kadamba, campaka, aśoka, karaṣja, bakula, āsana, kunda, mandāra, kuṭaja and young mango trees. The air was filled with the pleasing notes of kāraṇḍava ducks, plavas, swans, ospreys, waterfowl, cranes, cakravākas and cakoras.

44 Its shores abounded with deer, boars, porcupines, gavayas, elephants, baboons, lions, monkeys, mongooses and musk deer.

45-47 Entering that most sacred spot with his daughter and going near the sage, the first monarch, Svāyambhuva Manu, saw the sage sitting in his hermitage, having just propitiated the

sacred fire by pouring oblations into it. His body shone most brilliantly; though he had engaged in austere penance for a long time, he was not emaciated, for the Lord had cast His affectionate sidelong glance upon him and he had also heard the nectar flowing from the moonlike words of the Lord. The sage was tall, his eyes were large, like the petals of a lotus, and he had matted locks on his head. He was clad in rags. Svāyambhuva Manu approached and saw him to be somewhat soiled, like an unpolished gem.

48 Seeing that the monarch had come to his hermitage and was bowing before him, the sage greeted him with benediction and received him with due honor.

49 After receiving the sage's attention, the King sat down and was silent. Recalling the instructions of the Lord, Kardama then spoke to the King as follows, delighting him with his sweet accents.

50 The tour you have undertaken, O lord, is surely intended to protect the virtuous and kill the demons, since you embody the protecting energy of Śrī Hari.

51 When necessary, You assume the part of the sun-god; the moon-god; Agni, the god of fire; Indra, the lord of paradise; Vāyu, the wind-god; Yama, the god of punishment; Dharma, the god of piety; and Varuṇa, the god presiding over the waters. All obeisances to you, who are none other than Lord Viṣṇu!

52-54 If you did not mount your victorious jeweled chariot, whose mere presence threatens culprits, if you did not produce fierce sounds by the twanging of your bow, and if you did not roam about the world like the brilliant sun, leading a huge army whose trampling feet cause the globe of the earth to tremble, then all the moral laws governing the varṇas and āśramas created by the Lord Himself would be broken by the rogues and rascals.

55 If you gave up all thought of the world's situation, unrighteousness would flourish, for men who hanker only after money would be unopposed. Such miscreants would attack, and the world would perish.

56 In spite of all this, I ask you, O valiant King, the purpose for which you have come here. Whatever it may be, we shall carry it out without reservation.

### SB 3.22: The Marriage of Kardama Muni and Devahūti

1Śrī Maitreya said: After describing the greatness of the Emperor's manifold qualities and activities, the sage became silent, and the Emperor, feeling modesty, addressed him as follows.

2 Manu replied: To expand himself in Vedic knowledge, Lord Brahmā, the personified Veda, from his face created you, the brāhmaṇas, who are full of austerity, knowledge and mystic power and are averse to sense gratification.

3 For the protection of the brāhmaṇas, the thousand-legged Supreme Being created us, the kṣatriyas, from His thousand arms. Hence the brāhmaṇas are said to be His heart and the kṣatriyas His arms.

4 That is why the brāhmaṇas and kṣatriyas protect each other, as well as themselves; and the Lord Himself, who is both the cause and effect and is yet immutable, protects them through each other.

5 Now I have resolved all my doubts simply by meeting you, for Your Lordship has very kindly and clearly explained the duty of a king who desires to protect his subjects.

6 It is my good fortune that I have been able to see you, for you cannot easily be seen by persons who have not subdued the mind or controlled the senses. I am all the more fortunate to have touched with my head the blessed dust of your feet.

7 I have fortunately been instructed by you, and thus great favor has been bestowed upon me. I thank God that I have listened with open ears to your pure words.

8 O great sage, graciously be pleased to listen to the prayer of my humble self, for my mind is troubled by affection for my daughter.

9 My daughter is the sister of Priyavrata and Uttānapāda. She is seeking a suitable husband in terms of age, character and good qualities.

10 The moment she heard from the sage Nārada of your noble character, learning, beautiful appearance, youth and other virtues, she fixed her mind upon you.

11 Therefore please accept her, O chief of the brāhmaṇas, for I offer her with faith and she is in every respect fit to be your wife and take charge of your household duties.

12 To deny an offering that has come of itself is not commendable even for one absolutely free from all attachment, much less one addicted to sensual pleasure.

13 One who rejects an offering that comes of its own accord but later begs a boon from a miser thus loses his widespread reputation, and his pride is humbled by the neglectful behavior of others.

14 Svāyambhuva Manu continued: O wise man, I heard that you were prepared to marry. Please accept her hand, which is being offered to you by me, since you have not taken a vow of perpetual celibacy.

15 The great sage replied: Certainly I have a desire to marry, and your daughter has not yet married or given her word to anyone. Therefore our marriage according to the Vedic system can take place.

16 Let your daughter's desire for marriage, which is recognized in the Vedic scriptures, be fulfilled. Who would not accept her hand? She is so beautiful that by her bodily luster alone she excels the beauty of her ornaments.

17 I have heard that Viśvāvasu, the great Gandharva, his mind stupefied with infatuation, fell from his airplane after seeing your daughter playing with a ball on the roof of the palace, for she was indeed beautiful with her tinkling ankle bells and her eyes moving to and fro.

18 What wise man would not welcome her, the very ornament of womanhood, the beloved daughter of Svāyambhuva Manu and sister of Uttānapāda? Those who have not worshiped the gracious feet of the goddess of fortune cannot even perceive her, yet she has come of her own accord to seek my hand.

19 Therefore I shall accept this chaste girl as my wife, on the condition that after she bears semen from my body, I shall accept the life of devotional service accepted by the most perfect human beings. That process was described by Lord Viṣṇu. It is free from envy.

20 The highest authority for me is the unlimited Supreme Personality of Godhead, from whom this wonderful creation emanates and in whom its sustenance and dissolution rest. He is the origin of all Prajāpatis, the personalities meant to produce living entities in this world.

21Śrī Maitreya said: O great warrior Vidura, the sage Kardama said this much only and then became silent, thinking of his worshipable Lord Viṣṇu, who has a lotus on His navel. As he silently smiled, his face captured the mind of Devahūti, who began to meditate upon the great sage.

22 After having unmistakably known the decision of the Queen, as well as that of Devahūti, the Emperor most gladly gave his daughter to the sage, whose host of virtues was equaled by hers.

23 Empress Śatarūpā lovingly gave most valuable presents, suitable for the occasion, such as jewelry, clothes and household articles, in dowry to the bride and bridegroom.

24 Thus relieved of his responsibility by handing over his daughter to a suitable man, Svāyambhuva Manu, his mind agitated by feelings of separation, embraced his affectionate daughter with both his arms.

25 The Emperor was unable to bear the separation of his daughter. Therefore tears poured from his eyes again and again, drenching his daughter's head as he cried, "My dear mother! My dear daughter!"

26-27 After asking and obtaining the great sage's permission to leave, the monarch mounted his chariot with his wife and started for his capital, followed by his retinue. Along the way he saw the prosperity of the tranquil seers' beautiful hermitages on both the charming banks of the Sarasvatī, the river so agreeable to saintly persons.

28 Overjoyed to know of his arrival, his subjects came forth from Brahmāvarta to greet their returning lord with songs, prayers and musical instruments.

29-30 The city of Barhiṣmatī, rich in all kinds of wealth, was so called because Lord Viṣṇu's hair dropped there from His body when He manifested Himself as Lord Boar. As He shook His body, this very hair fell and turned into blades of evergreen kuśa grass and kāśa [another kind of grass used for mats], by means of which the sages worshiped Lord Viṣṇu after defeating the demons who had interfered with the performance of their sacrifices.

31 Manu spread a seat of kuśas and kāśas and worshiped the Lord, the Personality of Godhead, by whose grace he had obtained the rule of the terrestrial globe.

32 Having entered the city of Barhiṣmatī, in which he had previously lived, Manu entered his palace, which was filled with an atmosphere that eradicated the three miseries of material existence.

33 Emperor Svāyambhuva Manu enjoyed life with his wife and subjects and fulfilled his desires without being disturbed by unwanted principles contrary to the process of religion. Celestial musicians and their wives sang in chorus about the pure reputation of the Emperor, and early in the morning, every day, he used to listen to the pastimes of the Supreme Personality of Godhead with a loving heart.

34 Thus Svāyambhuva Manu was a saintly king. Although absorbed in material happiness, he was not dragged to the lowest grade of life, for he always enjoyed his material happiness in a Kṛṣṇa conscious atmosphere.

35 Consequently, although his duration of life gradually came to an end, his long life, consisting of a Manvantara era, was not spent in vain, since he ever engaged in hearing, contemplating, writing down and chanting the pastimes of the Lord.

36 He passed his time, which lasted seventy-one cycles of the four ages [71 ẽ 4,320,000 years], always thinking of Vāsudeva and always engaged in matters regarding Vāsudeva. Thus he transcended the three destinations.

37 Therefore, O Vidura, how can persons completely under the shelter of Lord Kṛṣṇa in devotional service be put into miseries pertaining to the body, the mind, nature, and other men and living creatures?

38 In reply to questions asked by certain sages, he [Svāyambhuva Manu], out of compassion for all living entities, taught the diverse sacred duties of men in general and the different varṇas and āśramas.

39 I have spoken to you of the wonderful character of Svāyambhuva Manu, the original king, whose reputation is worthy of description. Please hear as I speak of the flourishing of his daughter Devahūti.

## SB 3.23: Devahūti's Lamentation

1 Maitreya continued: After the departure of her parents, the chaste woman Devahūti, who could understand the desires of her husband, served him constantly with great love, as Bhavānī, the wife of Lord Śiva, serves her husband.

2 O Vidura, Devahūti served her husband with intimacy and great respect, with control of the senses, with love and with sweet words.

3 Working sanely and diligently, she pleased her very powerful husband, giving up all lust, pride, envy, greed, sinful activities and vanity.

4-5 The daughter of Manu, who was fully devoted to her husband, looked upon him as greater even than providence. Thus she expected great blessings from him. Having served him for a long time, she grew weak and emaciated due to her religious observances. Seeing her condition, Kardama, the foremost of celestial sages, was overcome with compassion and spoke to her in a voice choked with great love.

6 Kardama Muni said: O respectful daughter of Svāyambhuva Manu, today I am very much pleased with you for your great devotion and most excellent loving service. Since the body is so dear to embodied beings, I am astonished that you have neglected your own body to use it on my behalf.

7 Kardama Muni continued: I have achieved the blessings of the Lord in discharging my own religious life of austerity, meditation and Kṛṣṇa consciousness. Although you have not yet experienced these achievements, which are free from fear and lamentation, I shall offer them all to you because you are engaged in my service. Now just look at them. I am giving you the transcendental vision to see how nice they are.

8 Kardama Muni continued: What is the use of enjoyments other than the Lord's grace? All material achievements are subject to be annihilated simply by a movement of the eyebrows of Lord Viṣṇu, the Supreme Personality of Godhead. By your principles of devotion to your husband, you have achieved and can enjoy transcendental gifts very rarely obtained by persons proud of aristocracy and material possessions.

9 Upon hearing the speaking of her husband, who excelled in knowledge of all kinds of transcendental science, innocent Devahūti was very satisfied. Her smiling face shining with a slightly bashful glance, she spoke in a choked voice because of great humility and love.

10Śrī Devahūti said: My dear husband, O best of brāhmaṇas, I know that you have achieved perfection and are the master of all the infallible mystic powers because you are under the protection of yoga-māyā, the transcendental nature. But you once made a promise that our bodily union should now fulfill, since children are a great quality for a chaste woman who has a glorious husband.

11 Devahūti continued: My dear lord, I am struck by excited emotion for you. Therefore kindly make what arrangements must be made according to the scriptures so that my skinny body, emaciated through unsatisfied passion, may be rendered fit for you. Also, my lord, please think of a suitable house for this purpose.

12 Maitreya continued: O Vidura, seeking to please his beloved wife, the sage Kardama exercised his yogic power and instantly produced an aerial mansion that could travel at his will.

13 It was a wonderful structure, bedecked with all sorts of jewels, adorned with pillars of precious stones, and capable of yielding whatever one desired. It was equipped with every form of furniture and wealth, which tended to increase in the course of time.

14-15 The castle was fully equipped with all necessary paraphernalia, and it was pleasing in all seasons. It was decorated all around with flags, festoons and artistic work of variegated colors. It was further embellished with wreaths of charming flowers that attracted sweetly humming bees and with tapestries of linen, silk and various other fabrics.

16 The palace looked charming, with beds, couches, fans and seats, all separately arranged in seven stories.

17 Its beauty was enhanced by artistic engravings here and there on the walls. The floor was of emerald, with coral daises.

18 The palace was very beautiful, with its coral thresholds at the entrances and its doors bedecked with diamonds. Gold pinnacles crowned its domes of sapphire.

19 With the choicest rubies set in its diamond walls, it appeared as though possessed of eyes. It was furnished with wonderful canopies and greatly valuable gates of gold.

20 Here and there in that palace were multitudes of live swans and pigeons, as well as artificial swans and pigeons so lifelike that the real swans rose above them again and again, thinking them live birds like themselves. Thus the palace vibrated with the sounds of these birds.

21 The castle had pleasure grounds, resting chambers, bedrooms and inner and outer yards designed with an eye to comfort. All this caused astonishment to the sage himself.

22 When he saw Devahūti looking at the gigantic opulent palace with a displeased heart, Kardama Muni could understand her feelings because he could study the heart of anyone. Thus he personally addressed his wife as follows.

23 My dear Devahūti, you look very much afraid. First bathe in Lake Bindu-sarovara, created by Lord Viṣṇu Himself, which can grant all the desires of a human being, and then mount this airplane.

24 The lotus-eyed Devahūti accepted the order of her husband. Because of her dirty dress and the locks of matted hair on her head, she did not look very attractive.

25 Her body was coated with a thick layer of dirt, and her breasts were discolored. She dove,

however, into the lake, which contained the sacred waters of the Sarasvatī.

26 In a house inside the lake she saw one thousand girls, all in the prime of youth and fragrant like lotuses.

27 Seeing her, the damsels suddenly rose and said with folded hands, "We are your maidservants. Tell us what we can do for you."

28 The girls, being very respectful to Devahūti, brought her forth, and after bathing her with valuable oils and ointments, they gave her fine, new, spotless cloth to cover her body.

29 They then decorated her with very excellent and valuable jewels, which shone brightly. Next they offered her food containing all good qualities, and a sweet inebriating drink called āsavam.

30 Then in a mirror she beheld her own reflection. Her body was completely freed from all dirt, and she was adorned with a garland. Dressed in unsullied robes and decorated with auspicious marks of tilaka, she was served very respectfully by the maids.

31 Her entire body, including her head, was completely bathed, and she was decorated all over with ornaments. She wore a special necklace with a locket. There were bangles on her wrists and tinkling anklets of gold about her ankles.

32 About her hips she wore a girdle of gold, set with numerous jewels, and she was further adorned with a precious pearl necklace and auspicious substances.

33 Her countenance shone, with beautiful teeth and charming eyebrows. Her eyes, distinguished by lovely moist corners, defeated the beauty of lotus buds. Her face was surrounded by dark curling tresses.

34 When she thought of her great husband, the best of the sages, Kardama Muni, who was very dear to her, she, along with all the maidservants, at once appeared where he was.

35 She was amazed to find herself surrounded by a thousand maids in the presence of her husband and to witness his yogic power.

36-37 The sage could see that Devahūti had washed herself clean and was shining forth as though no longer his former wife. She had regained her own original beauty as the daughter of a prince. Dressed in excellent robes, her charming breasts duly girded, she was waited upon by a thousand Gandharva girls. O destroyer of the enemy, his fondness for her grew, and he placed her on the aerial mansion.

38 Though seemingly attached to his beloved consort while served by the Gandharva girls, the sage did not lose his glory, which was mastery over his self. In the aerial mansion, Kardama Muni with his consort shone as charmingly as the moon in the midst of the stars in the sky, which causes rows of lilies to open in ponds at night.

39 In that aerial mansion he traveled to the pleasure valleys of Mount Meru, which were rendered all the more beautiful by cool, gentle, fragrant breezes that stimulated passion. In these valleys, the treasurer of the gods, Kuvera, surrounded by beautiful women and praised by the Siddhas, generally enjoys pleasure. Kardama Muni also, surrounded by the beautiful damsels and his wife, went there and enjoyed for many, many years.

40 Satisfied by his wife, he enjoyed in that aerial mansion not only on Mount Meru but in different gardens known as Vaiśrambhaka, Surasana, Nandana, Puṣpabhadraka and

Caitrarathya, and by the Mānasa-sarovara Lake.

41 He traveled in that way through the various planets, as the air passes uncontrolled in every direction. Coursing through the air in that great and splendid aerial mansion, which could fly at his will, he surpassed even the demigods.

42 What is difficult to achieve for determined men who have taken refuge of the Supreme Personality of Godhead's lotus feet? His feet are the source of sacred rivers like the Ganges, which put an end to the dangers of mundane life.

43 After showing his wife the globe of the universe and its different arrangements, full of many wonders, the great yogī Kardama Muni returned to his own hermitage.

44 After coming back to his hermitage, he divided himself into nine personalities just to give pleasure to Devahūti, the daughter of Manu, who was eager for sex life. In that way he enjoyed with her for many, many years, which passed just like a moment.

45 In that aerial mansion, Devahūti, in the company of her handsome husband, situated on an excellent bed that increased sexual desires, could not realize how much time was passing.

46 While the couple, who eagerly longed for sexual pleasure, were thus enjoying themselves by virtue of mystic powers, a hundred autumns passed like a brief span of time.

47 The powerful Kardama Muni was the knower of everyone's heart, and he could grant whatever one desired. Knowing the spiritual soul, he regarded her as half of his body. Dividing himself into nine forms, he impregnated Devahūti with nine discharges of semen.

48 Immediately afterward, on the same day, Devahūti gave birth to nine female children, all charming in every limb and fragrant with the scent of the red lotus flower.

49 When she saw her husband about to leave home, she smiled externally, but at heart she was agitated and distressed.

50 She stood and scratched the ground with her foot, which was radiant with the luster of her gemlike nails. Her head bent down, she spoke in slow yet charming accents, suppressing her tears.

51Śrī Devahūti said: My lord, you have fulfilled all the promises you gave me, yet because I am your surrendered soul, you should give me fearlessness too.

52 My dear brāhmaṇa, as far as your daughters are concerned, they will find their own suitable husbands and go away to their respective homes. But who will give me solace after your departure as a sannyāsī?

53 Until now we have simply wasted so much of our time in sense gratification, neglecting to cultivate knowledge of the Supreme Lord.

54 Not knowing your transcendental situation, I have loved you while remaining attached to the objects of the senses. Nonetheless, let the affinity I have developed for you rid me of all fear.

55 Association for sense gratification is certainly the path of bondage. But the same type of association, performed with a saintly person, leads to the path of liberation, even if performed without knowledge.

56 Anyone whose work is not meant to elevate him to religious life, anyone whose religious

ritualistic performances do not raise him to renunciation, and anyone situated in renunciation that does not lead him to devotional service to the Supreme Personality of Godhead, must be considered dead, although he is breathing.

57 My lord, surely I have been solidly cheated by the insurmountable illusory energy of the Supreme Personality of Godhead, for in spite of having obtained your association, which gives liberation from material bondage, I did not seek such liberation.

**SB 3.24: The Renunciation of Kardama Muni**

1 Recalling the words of Lord Viṣṇu, the merciful sage Kardama replied as follows to Svāyambhuva Manu's praiseworthy daughter, Devahūti, who was speaking words full of renunciation.

2 The sage said: Do not be disappointed with yourself, O princess. You are actually praiseworthy. The infallible Supreme Personality of Godhead will shortly enter your womb as your son.

3 You have undertaken sacred vows. God will bless you. Hence you should worship the Lord with great faith, through sensory control, religious observances, austerities and gifts of your money in charity.

4 The Personality of Godhead, being worshiped by you, will spread my name and fame. He will vanquish the knot of your heart by becoming your son and teaching knowledge of Brahman.

5Śrī Maitreya said: Devahūti was fully faithful and respectful toward the direction of her husband, Kardama, who was one of the Prajāpatis, or generators of human beings in the universe. O great sage, she thus began to worship the master of the universe, the Supreme Personality of Godhead, who is situated in everyone's heart.

6 After many, many years, the Supreme Personality of Godhead, Madhusūdana, the killer of the demon Madhu, having entered the semen of Kardama, appeared in Devahūti just as fire comes from wood in a sacrifice.

7 At the time of His descent on earth, demigods in the form of raining clouds sounded musical instruments in the sky. The celestial musicians, the Gandharvas, sang the glories of the Lord, while celestial dancing girls known as Apsarās danced in joyful ecstasy.

8 At the time of the Lord's appearance, the demigods flying freely in the sky showered flowers. All the directions, all the waters and everyone's mind became very satisfied.

9 Brahmā, the first-born living being, went along with Marīci and other sages to the place of Kardama's hermitage, which was surrounded by the river Sarasvatī.

10 Maitreya continued: O killer of the enemy, the unborn Lord Brahmā, who is almost independent in acquiring knowledge, could understand that a portion of the Supreme Personality of Godhead, in His quality of pure existence, had appeared in the womb of Devahūti just to explain the complete state of knowledge known as sāṅkhya-yoga.

11 After worshiping the Supreme Lord with gladdened senses and a pure heart for His intended activities as an incarnation, Brahmā spoke as follows to Kardama and Devahūti.

12 Lord Brahmā said: My dear son Kardama, since you have completely accepted my instructions without duplicity, showing them proper respect, you have worshiped me properly.

Whatever instructions you took from me you have carried out, and thereby you have honored me.

13 Sons ought to render service to their father exactly to this extent. One should obey the command of his father or spiritual master with due deference, saying, "Yes, sir."

14 Lord Brahmā then praised Kardama Muni's nine daughters, saying: All your thin-waisted daughters are certainly very chaste. I am sure they will increase this creation by their own descendants in various ways.

15 Therefore, today please give away your daughters to the foremost of the sages, with due regard for the girls' temperaments and likings, and thereby spread your fame all over the universe.

16 O Kardama, I know that the original Supreme Personality of Godhead has now appeared as an incarnation by His internal energy. He is the bestower of all that is desired by the living entities, and He has now assumed the body of Kapila Muni.

17 By mystic yoga and the practical application of knowledge from the scriptures, Kapila Muni, who is characterized by His golden hair, His eyes just like lotus petals and His lotus feet, which bear the marks of lotus flowers, will uproot the deep-rooted desire for work in this material world.

18 Lord Brahmā then told Devahūti: My dear daughter of Manu, the same Supreme Personality of Godhead who killed the demon Kaiṭabha is now within your womb. He will cut off all the knots of your ignorance and doubt. Then He will travel all over the world.

19 Your son will be the head of all the perfected souls. He will be approved by the ācāryas expert in disseminating real knowledge, and among the people He will be celebrated by the name Kapila. As the son of Devahūti, He will increase your fame.

20Śrī Maitreya said: After thus speaking to Kardama Muni and his wife Devahūti, Lord Brahmā, the creator of the universe, who is also known as Haṁsa, went back to the highest of the three planetary systems on his swan carrier with the four Kumāras and Nārada.

21 O Vidura, after the departure of Brahmā, Kardama Muni, having been ordered by Brahmā, handed over his nine daughters, as instructed, to the nine great sages who created the population of the world.

22-23 Kardama Muni handed over his daughter Kalā to Marīci, and another daughter, Anasūyā, to Atri. He delivered Śraddhā to Aṅgirā, and Havirbhū to Pulastya. He delivered Gati to Pulaha, the chaste Kriyā to Kratu, Khyāti to Bhṛgu, and Arundhatī to Vasiṣṭha.

24 He delivered Śānti to Atharvā. Because of Śānti, sacrificial ceremonies are well performed. Thus he got the foremost brāhmaṇas married, and he maintained them along with their wives.

25 Thus married, the sages took leave of Kardama and departed full of joy, each for his own hermitage, O Vidura.

26 When Kardama Muni understood that the Supreme Personality of Godhead, the chief of all the demigods, Viṣṇu, had descended, Kardama approached Him in a secluded place, offered obeisances and spoke as follows.

27 Kardama Muni said: Oh, after a long time the demigods of this universe have become pleased with the suffering souls who are in material entanglement because of their own

misdeeds.

28 After many births, mature yogīs, by complete trance in yoga, endeavor in secluded places to see the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead.

29 Not considering the negligence of ordinary householders like us, that very same Supreme Personality of Godhead appears in our homes just to support His devotees.

30 Kardama Muni said: You, my dear Lord, who are always increasing the honor of Your devotees, have descended in my home just to fulfill Your word and disseminate the process of real knowledge.

31 My dear Lord, although You have no material form, You have Your own innumerable forms. They truly are Your transcendental forms, which are pleasing to Your devotees.

32 My dear Lord, Your lotus feet are the reservoir that always deserves to receive worshipful homage from all great sages eager to understand the Absolute Truth. You are full in opulence, renunciation, transcendental fame, knowledge, strength and beauty, and therefore I surrender myself unto Your lotus feet.

33 I surrender unto the Supreme Personality of Godhead, descended in the form of Kapila, who is independently powerful and transcendental, who is the Supreme Person and the Lord of the sum total of matter and the element of time, who is the fully cognizant maintainer of all the universes under the three modes of material nature, and who absorbs the material manifestations after their dissolution.

34 Today I have something to ask from You, who are the Lord of all living entities. Since I have now been liberated by You from my debts to my father, and since all my desires are fulfilled, I wish to accept the order of an itinerant mendicant. Renouncing this family life, I wish to wander about, free from lamentation, thinking always of You in my heart.

35 The Personality of Godhead Kapila said: Whatever I speak, whether directly or in the scriptures, is authoritative in all respects for the people of the world. O Muni, because I told you before that I would become your son, I have descended to fulfill this truth.

36 My appearance in this world is especially to explain the philosophy of Sāṅkhya, which is highly esteemed for self-realization by those desiring freedom from the entanglement of unnecessary material desires.

37 This path of self-realization, which is difficult to understand, has now been lost in the course of time. Please know that I have assumed this body of Kapila to introduce and explain this philosophy to human society again.

38 Now, being sanctioned by Me, go as you desire, surrendering all your activities to Me. Conquering insurmountable death, worship Me for eternal life.

39 In your own heart, through your intellect, you will always see Me, the supreme self-effulgent soul dwelling within the hearts of all living entities. Thus you will achieve the state of eternal life, free from all lamentation and fear.

40 I shall also describe this sublime knowledge, which is the door to spiritual life, to My mother, so that she also can attain perfection and self-realization, ending all reactions to fruitive activities. Thus she also will be freed from all material fear.

41Śrī Maitreya said: Thus when Kardama Muni, the progenitor of human society, was spoken

to in fullness by his son, Kapila, he circumambulated Him, and with a good, pacified mind he at once left for the forest.

42 The sage Kardama accepted silence as a vow in order to think of the Supreme Personality of Godhead and take shelter of Him exclusively. Without association, he traveled over the surface of the globe as a sannyāsī, devoid of any relationship with fire or shelter.

43 He fixed his mind upon the Supreme Personality of Godhead, Parabrahman, who is beyond cause and effect, who manifests the three modes of material nature, who is beyond those three modes, and who is perceived only through unfailing devotional service.

44 Thus he gradually became unaffected by the false ego of material identity and became free from material affection. Undisturbed, equal to everyone and without duality, he could indeed see himself also. His mind was turned inward and was perfectly calm, like an ocean unagitated by waves.

45 He thus became liberated from conditioned life and became self-situated in transcendental devotional service to the Personality of Godhead, Vāsudeva, the omniscient Supersoul within everyone.

46 He began to see that the Supreme Personality of Godhead is seated in everyone's heart, and that everyone is existing on Him, because He is the Supersoul of everyone.

47 Freed from all hatred and desire, Kardama Muni, being equal to everyone because of discharging uncontaminated devotional service, ultimately attained the path back to Godhead.

## SB 3.25: The Glories of Devotional Service

1ŚrīŚaunaka said: Although He is unborn, the Supreme Personality of Godhead took birth as Kapila Muni by His internal potency. He descended to disseminate transcendental knowledge for the benefit of the whole human race.

2Śaunaka continued: There is no one who knows more than the Lord Himself. No one is more worshipable or more mature a yogī than He. He is therefore the master of the Vedas, and to hear about Him always is the actual pleasure of the senses.

3 Therefore please precisely describe all the activities and pastimes of the Personality of Godhead, who is full of self-desire and who assumes all these activities by His internal potency.

4Śrī Sūta Gosvāmī said: The most powerful sage Maitreya was a friend of Vyāsadeva. Being encouraged and pleased by Vidura's inquiry about transcendental knowledge, Maitreya spoke as follows.

5 Maitreya said: When Kardama left for the forest, Lord Kapila stayed on the strand of the Bindu-sarovara to please His mother, Devahūti.

6 When Kapila, who could show her the ultimate goal of the Absolute Truth, was sitting leisurely before her, Devahūti remembered the words Brahmā had spoken to her, and she therefore began to question Kapila as follows.

7 Devahūti said: I am very sick of the disturbance caused by my material senses, for because of this sense disturbance, my Lord, I have fallen into the abyss of ignorance.

8 Your Lordship is my only means of getting out of this darkest region of ignorance because

You are my transcendental eye, which, by Your mercy only, I have attained after many, many births.

9 You are the Supreme Personality of Godhead, the origin and Supreme Lord of all living entities. You have arisen to disseminate the rays of the sun in order to dissipate the darkness of the ignorance of the universe.

10 Now be pleased, my Lord, to dispel my great delusion. Due to my feeling of false ego, I have been engaged by Your māyā and have identified myself with the body and consequent bodily relations.

11 Devahūti continued: I have taken shelter of Your lotus feet because You are the only person of whom to take shelter. You are the ax which can cut the tree of material existence. I therefore offer my obeisances unto You, who are the greatest of all transcendentalists, and I inquire from You as to the relationship between man and woman and between spirit and matter.

12 Maitreya said: After hearing of His mother's uncontaminated desire for transcendental realization, the Lord thanked her within Himself for her questions, and thus, His face smiling, He explained the path of the transcendentalists, who are interested in self-realization.

13 The Personality of Godhead answered: The yoga system which relates to the Lord and the individual soul, which is meant for the ultimate benefit of the living entity, and which causes detachment from all happiness and distress in the material world, is the highest yoga system.

14 O most pious mother, I shall now explain unto you the ancient yoga system, which I explained formerly to the great sages. It is serviceable and practical in every way.

15 The stage in which the consciousness of the living entity is attracted by the three modes of material nature is called conditional life. But when that same consciousness is attached to the Supreme Personality of Godhead, one is situated in the consciousness of liberation.

16 When one is completely cleansed of the impurities of lust and greed produced from the false identification of the body as "I" and bodily possessions as "mine," one's mind becomes purified. In that pure state he transcends the stage of so-called material happiness and distress.

17 At that time the soul can see himself to be transcendental to material existence and always self-effulgent, never fragmented, although very minute in size.

18 In that position of self-realization, by practice of knowledge and renunciation in devotional service, one sees everything in the right perspective; he becomes indifferent to material existence, and the material influence acts less powerfully upon him.

19 Perfection in self-realization cannot be attained by any kind of yogī unless he engages in devotional service to the Supreme Personality of Godhead, for that is the only auspicious path.

20 Every learned man knows very well that attachment for the material is the greatest entanglement of the spirit soul. But that same attachment, when applied to the self-realized devotees, opens the door of liberation.

21 The symptoms of a sādhu are that he is tolerant, merciful and friendly to all living entities. He has no enemies, he is peaceful, he abides by the scriptures, and all his characteristics are sublime.

22 Such a sādhu engages in staunch devotional service to the Lord without deviation. For the

sake of the Lord he renounces all other connections, such as family relationships and friendly acquaintances within the world.

23 Engaged constantly in chanting and hearing about Me, the Supreme Personality of Godhead, the sādhus do not suffer from material miseries because they are always filled with thoughts of My pastimes and activities.

24 O My mother, O virtuous lady, these are the qualities of great devotees who are free from all attachment. You must seek attachment to such holy men, for this counteracts the pernicious effects of material attachment.

25 In the association of pure devotees, discussion of the pastimes and activities of the Supreme Personality of Godhead is very pleasing and satisfying to the ear and the heart. By cultivating such knowledge one gradually becomes advanced on the path of liberation, and thereafter he is freed, and his attraction becomes fixed. Then real devotion and devotional service begin.

26 Thus consciously engaged in devotional service in the association of devotees, a person gains distaste for sense gratification, both in this world and in the next, by constantly thinking about the activities of the Lord. This process of Kṛṣṇa consciousness is the easiest process of mystic power; when one is actually situated on that path of devotional service, he is able to control the mind.

27 Thus by not engaging in the service of the modes of material nature but by developing Kṛṣṇa consciousness, knowledge in renunciation, and by practicing yoga, in which the mind is always fixed in devotional service unto the Supreme Personality of Godhead, one achieves My association in this very life, for I am the Supreme Personality, the Absolute Truth.

28 On hearing this statement of the Lord, Devahūti inquired: What kind of devotional service is worth developing and practicing to help me easily and immediately attain the service of Your lotus feet?

29 The mystic yoga system, as You have explained, aims at the Supreme Personality of Godhead and is meant for completely ending material existence. Please let me know the nature of that yoga system. How many ways are there by which one can understand in truth that sublime yoga?

30 My dear son, Kapila, after all, I am a woman. It is very difficult for me to understand the Absolute Truth because my intelligence is not very great. But if You will kindly explain it to me, even though I am not very intelligent, I can understand it and thereby feel transcendental happiness.

31Śrī Maitreya said: After hearing the statement of His mother, Kapila could understand her purpose, and He became compassionate towards her because of being born of her body. He described the Sāṅkhya system of philosophy, which is a combination of devotional service and mystic realization, as received by disciplic succession.

32 Lord Kapila said: The senses are symbolic representations of the demigods, and their natural inclination is to work under the direction of the Vedic injunctions. As the senses are representatives of the demigods, so the mind is the representative of the Supreme Personality of Godhead. The mind's natural duty is to serve. When that service spirit is engaged in devotional service to the Personality of Godhead, without any motive, that is far better even than salvation.

33 Bhakti, devotional service, dissolves the subtle body of the living entity without separate

effort, just as fire in the stomach digests all that we eat.

34 A pure devotee, who is attached to the activities of devotional service and who always engages in the service of My lotus feet, never desires to become one with Me. Such a devotee, who is unflinchingly engaged, always glorifies My pastimes and activities.

35 O My mother, My devotees always see the smiling face of My form, with eyes like the rising morning sun. They like to see My various transcendental forms, which are all benevolent, and they also talk favorably with Me.

36 Upon seeing the charming forms of the Lord, smiling and attractive, and hearing His very pleasing words, the pure devotee almost loses all other consciousness. His senses are freed from all other engagements, and he becomes absorbed in devotional service. Thus in spite of his unwillingness, he attains liberation without separate endeavor.

37 Thus because he is completely absorbed in thought of Me, the devotee does not desire even the highest benediction obtainable in the upper planetary systems, including Satyaloka. He does not desire the eight material perfections obtained from mystic yoga, nor does he desire to be elevated to the kingdom of God. Yet even without desiring them, the devotee enjoys, even in this life, all the offered benedictions.

38 The Lord continued: My dear mother, devotees who receive such transcendental opulences are never bereft of them; neither weapons nor the change of time can destroy such opulences. Because the devotees accept Me as their friend, their relative, their son, preceptor, benefactor and Supreme Deity, they cannot be deprived of their possessions at any time.

39-40 Thus the devotee who worships Me, the all-pervading Lord of the universe, in unflinching devotional service, gives up all aspirations to be promoted to heavenly planets or to become happy in this world with wealth, children, cattle, home or anything in relationship with the body. I take him to the other side of birth and death.

41 The terrible fear of birth and death can never be forsaken by anyone who resorts to any shelter other than Myself, for I am the almighty Lord, the Supreme Personality of Godhead, the original source of all creation, and also the Supreme Soul of all souls.

42 It is because of My supremacy that the wind blows, out of fear of Me; the sun shines out of fear of Me, and the lord of the clouds, Indra, sends forth showers out of fear of Me. Fire burns out of fear of Me, and death goes about taking its toll out of fear of Me.

43 The yogīs, equipped with transcendental knowledge and renunciation and engaged in devotional service for their eternal benefit, take shelter of My lotus feet, and since I am the Lord, they are thus eligible to enter into the kingdom of Godhead without fear.

44 Therefore persons whose minds are fixed on the Lord engage in the intensive practice of devotional service. That is the only means for attainment of the final perfection of life.

## SB 3.26: Fundamental Principles of Material Nature

1 The Personality of Godhead, Kapila, continued: My dear mother, now I shall describe unto you the different categories of the Absolute Truth, knowing which any person can be released from the influence of the modes of material nature.

2 Knowledge is the ultimate perfection of self-realization. I shall explain that knowledge unto

you by which the knots of attachment to the material world are cut.

3 The Supreme Personality of Godhead is the Supreme Soul, and He has no beginning. He is transcendental to the material modes of nature and beyond the existence of this material world. He is perceivable everywhere because He is self-effulgent, and by His self-effulgent luster the entire creation is maintained.

4 As His pastime, that Supreme Personality of Godhead, the greatest of the great, accepted the subtle material energy, which is invested with three material modes of nature and which is related with Viṣṇu.

5 Divided into varieties by her threefold modes, material nature creates the forms of the living entities, and the living entities, seeing this, are illusioned by the knowledge-covering feature of the illusory energy.

6 Because of his forgetfulness, the transcendental living entity accepts the influence of material energy as his field of activities, and thus actuated, he wrongly applies the activities to himself.

7 Material consciousness is the cause of one's conditional life, in which conditions are enforced upon the living entity by the material energy. Although the spirit soul does not do anything and is transcendental to such activities, he is thus affected by conditional life.

8 The cause of the conditioned soul's material body and senses, and the senses' presiding deities, the demigods, is the material nature. This is understood by learned men. The feelings of happiness and distress of the soul, who is transcendental by nature, are caused by the spirit soul himself.

9 Devahūti said: O Supreme Personality of Godhead, kindly explain the characteristics of the Supreme Person and His energies, for both of these are the causes of this manifest and unmanifest creation.

10 The Supreme Personality of Godhead said: The unmanifested eternal combination of the three modes is the cause of the manifest state and is called pradhāna. It is called prakṛti when in the manifested stage of existence.

11 The aggregate elements, namely the five gross elements, the five subtle elements, the four internal senses, the five senses for gathering knowledge and the five outward organs of action, are known as the pradhāna.

12 There are five gross elements, namely earth, water, fire, air and ether. There are also five subtle elements: smell, taste, color, touch and sound.

13 The senses for acquiring knowledge and the organs for action number ten, namely the auditory sense, the sense of taste, the tactile sense, the sense of sight, the sense of smell, and the active organs for speaking, working, traveling, generating and evacuating.

14 The internal, subtle senses are experienced as having four aspects, in the shape of mind, intelligence, ego and contaminated consciousness. Distinctions between them can be made only by different functions, since they represent different characteristics.

15 All these are considered the qualified Brahman. The mixing element, which is known as time, is counted as the twenty-fifth element.

16 The influence of the Supreme Personality of Godhead is felt in the time factor, which causes fear of death due to the false ego of the deluded soul who has contacted material

nature.

17 My dear mother, O daughter of Svāyambhuva Manu, the time factor, as I have explained, is the Supreme Personality of Godhead, from whom the creation begins as a result of the agitation of the neutral, unmanifested nature.

18 By exhibiting His potencies, the Supreme Personality of Godhead adjusts all these different elements, keeping Himself within as the Supersoul and without as time.

19 After the Supreme Personality of Godhead impregnates material nature with His internal potency, material nature delivers the sum total of the cosmic intelligence, which is known as Hiraṇmaya. This takes place in material nature when she is agitated by the destinations of the conditioned souls.

20 Thus, after manifesting variegatedness, the effulgent mahat-tattva, which contains all the universes within itself, which is the root of all cosmic manifestations and which is not destroyed at the time of annihilation, swallows the darkness that covered the effulgence at the time of dissolution.

21 The mode of goodness, which is the clear, sober status of understanding the Personality of Godhead and which is generally called vāsudeva, or consciousness, becomes manifest in the mahat-tattva.

22 After the manifestation of the mahat-tattva, these features appear simultaneously. As water in its natural state, before coming in contact with earth, is clear, sweet and unruffled, so the characteristic traits of pure consciousness are complete serenity, clarity, and freedom from distraction.

23-24 The material ego springs up from the mahat-tattva, which evolved from the Lord's own energy. The material ego is endowed predominantly with active power of three kinds: good, passionate and ignorant. It is from these three types of material ego that the mind, the senses of perception, the organs of action, and the gross elements evolve.

25 The threefold ahaṅkāra, the source of the gross elements, the senses and the mind, is identical with them because it is their cause. It is known by the name of Saṅkarṣaṇa, who is directly Lord Ananta with a thousand heads.

26 This false ego is characterized as the doer, as an instrument and as an effect. It is further characterized as serene, active or dull according to how it is influenced by the modes of goodness, passion and ignorance.

27 From the false ego of goodness, another transformation takes place. From this evolves the mind, whose thoughts and reflections give rise to desire.

28 The mind of the living entity is known by the name of Lord Aniruddha, the supreme ruler of the senses. He possesses a bluish-black form resembling a lotus flower growing in the autumn. He is found slowly by the yogīs.

29 By transformation of the false ego in passion, intelligence takes birth, O virtuous lady. The functions of intelligence are to help in ascertaining the nature of objects when they come into view, and to help the senses.

30 Doubt, misapprehension, correct apprehension, memory and sleep, as determined by their different functions, are said to be the distinct characteristics of intelligence.

31 Egoism in the mode of passion produces two kinds of senses: the senses for acquiring knowledge and the senses of action. The senses of action depend on the vital energy, and the senses for acquiring knowledge depend on intelligence.

32 When egoism in ignorance is agitated by the sex energy of the Supreme Personality of Godhead, the subtle element sound is manifested, and from sound come the ethereal sky and the sense of hearing.

33 Persons who are learned and who have true knowledge define sound as that which conveys the idea of an object, indicates the presence of a speaker screened from our view and constitutes the subtle form of ether.

34 The activities and characteristics of the ethereal element can be observed as the accommodation of room for the external and internal existences of all living entities, namely the field of activities of the vital air, the senses and the mind.

35 From ethereal existence, which evolves from sound, the next transformation takes place under the impulse of time, and thus the subtle element touch and thence the air and sense of touch become prominent.

36 Softness and hardness and cold and heat are the distinguishing attributes of touch, which is characterized as the subtle form of air.

37 The action of the air is exhibited in movements, mixing, allowing approach to the objects of sound and other sense perceptions, and providing for the proper functioning of all other senses.

38 By interactions of the air and the sensations of touch, one receives different forms according to destiny. By evolution of such forms, there is fire, and the eye sees different forms in color.

39 My dear mother, the characteristics of form are understood by dimension, quality and individuality. The form of fire is appreciated by its effulgence.

40 Fire is appreciated by its light and by its ability to cook, to digest, to destroy cold, to evaporate, and to give rise to hunger, thirst, eating and drinking.

41 By the interaction of fire and the visual sensation, the subtle element taste evolves under a superior arrangement. From taste, water is produced, and the tongue, which perceives taste, is also manifested.

42 Although originally one, taste becomes manifold as astringent, sweet, bitter, pungent, sour and salty due to contact with other substances.

43 The characteristics of water are exhibited by its moistening other substances, coagulating various mixtures, causing satisfaction, maintaining life, softening things, driving away heat, incessantly supplying itself to reservoirs of water, and refreshing by slaking thirst.

44 Due to the interaction of water with the taste perception, the subtle element odor evolves under superior arrangement. Thence the earth and the olfactory sense, by which we can variously experience the aroma of the earth, become manifest.

45 Odor, although one, becomes many as mixed, offensive, fragrant, mild, strong, acidic and so on according to the proportions of associated substances.

46 The characteristics of the functions of earth can be perceived by modeling forms of the

Supreme Brahman, by constructing places of residence, by preparing pots to contain water, etc. In other words, the earth is the place of sustenance for all elements.

47 The sense whose object of perception is sound is called the auditory sense, and that whose object of perception is touch is called the tactile sense.

48 The sense whose object of perception is form, the distinctive characteristic of fire, is the sense of sight. The sense whose object of perception is taste, the distinctive characteristic of water, is known as the sense of taste. Finally, the sense whose object of perception is odor, the distinctive characteristic of earth, is called the sense of smell.

49 Since the cause exists in its effect as well, the characteristics of the former are observed in the latter. That is why the peculiarities of all the elements exist in the earth alone.

50 When all these elements were unmixed, the Supreme Personality of Godhead, the origin of creation, along with time, work, and the qualities of the modes of material nature, entered into the universe with the total material energy in seven divisions.

51 From these seven principles, roused into activity and united by the presence of the Lord, an unintelligent egg arose, from which appeared the celebrated Cosmic Being.

52 This universal egg, or the universe in the shape of an egg, is called the manifestation of material energy. Its layers of water, air, fire, sky, ego and mahat-tattva increase in thickness one after another. Each layer is ten times bigger than the previous one, and the final outside layer is covered by pradhāna. Within this egg is the universal form of Lord Hari, of whose body the fourteen planetary systems are parts.

53 The Supreme Personality of Godhead, the virāṭ-puruṣa, situated Himself in that golden egg, which was lying on the water, and He divided it into many departments.

54 First of all a mouth appeared in Him, and then came forth the organ of speech, and with it the god of fire, the deity who presides over that organ. Then a pair of nostrils appeared, and in them appeared the olfactory sense, as well as prāṇa, the vital air.

55 In the wake of the olfactory sense came the wind-god, who presides over that sense. Thereafter a pair of eyes appeared in the universal form, and in them the sense of sight. In the wake of this sense came the sun-god, who presides over it. Next there appeared in Him a pair of ears, and in them the auditory sense and in its wake the Dig-devatās, or the deities who preside over the directions.

56 Then the universal form of the Lord, the virāṭ-puruṣa, manifested His skin, and thereupon the hair, mustache and beard appeared. After this all the herbs and drugs became manifested, and then His genitals also appeared.

57 After this, semen (the faculty of procreation) and the god who presides over the waters appeared. Next appeared an anus and then the organs of defecation and thereupon the god of death, who is feared throughout the universe.

58 Thereafter the two hands of the universal form of the Lord became manifested, and with them the power of grasping and dropping things, and after that Lord Indra appeared. Next the legs became manifested, and with them the process of movement, and after that Lord Viṣṇu appeared.

59 The veins of the universal body became manifested and thereafter the red corpuscles, or blood. In their wake came the rivers (the deities presiding over the veins), and then appeared

an abdomen.

60 Next grew feelings of hunger and thirst, and in their wake came the manifestation of the oceans. Then a heart became manifest, and in the wake of the heart the mind appeared.

61 After the mind, the moon appeared. Intelligence appeared next, and after intelligence, Lord Brahmā appeared. Then the false ego appeared and then Lord Śiva, and after the appearance of Lord Śiva came consciousness and the deity presiding over consciousness.

62 When the demigods and presiding deities of the various senses were thus manifested, they wanted to wake their origin of appearance. But upon failing to do so, they reentered the body of the virāṭ-puruṣa one after another in order to wake Him.

63 The god of fire entered His mouth with the organ of speech, but the virāṭ-puruṣa could not be aroused. Then the god of wind entered His nostrils with the sense of smell, but still the virāṭ-puruṣa refused to be awakened.

64 The sun-god entered the eyes of the virāṭ-puruṣa with the sense of sight, but still the virāṭ-puruṣa did not get up. Similarly, the predominating deities of the directions entered through His ears with the sense of hearing, but still He did not get up.

65 The predominating deities of the skin, herbs and seasoning plants entered the skin of the virāṭ-puruṣa with the hair of the body, but the Cosmic Being refused to get up even then. The god predominating over water entered His organ of generation with the faculty of procreation, but the virāṭ-puruṣa still would not rise.

66 The god of death entered His anus with the organ of defecation, but the virāṭ-puruṣa could not be spurred to activity. The god Indra entered the hands with their power of grasping and dropping things, but the virāṭ-puruṣa would not get up even then.

67 Lord Viṣṇu entered His feet with the faculty of locomotion, but the virāṭ-puruṣa refused to stand up even then. The rivers entered His blood vessels with the blood and the power of circulation, but still the Cosmic Being could not be made to stir.

68 The ocean entered His abdomen with hunger and thirst, but the Cosmic Being refused to rise even then. The moon-god entered His heart with the mind, but the Cosmic Being would not be roused.

69 Brahmā also entered His heart with intelligence, but even then the Cosmic Being could not be prevailed upon to get up. Lord Rudra also entered His heart with the ego, but even then the Cosmic Being did not stir.

70 However, when the inner controller, the deity presiding over consciousness, entered the heart with reason, at that very moment the Cosmic Being arose from the causal waters.

71 When a man is sleeping, all his material assets namely the vital energy, the senses for recording knowledge, the senses for working, the mind and the intelligence cannot arouse him. He can be aroused only when the Supersoul helps him.

72 Therefore, through devotion, detachment and advancement in spiritual knowledge acquired through concentrated devotional service, one should contemplate that Supersoul as present in this very body although simultaneously apart from it.

**SB 3.27: Understanding Material Nature**

1 The Personality of Godhead Kapila continued: When the living entity is thus unaffected by the modes of material nature, because he is unchanging and does not claim proprietorship, he remains apart from the reactions of the modes, although abiding in a material body, just as the sun remains aloof from its reflection on water.

2 When the soul is under the spell of material nature and false ego, identifying his body as the self, he becomes absorbed in material activities, and by the influence of false ego he thinks that he is the proprietor of everything.

3 The conditioned soul therefore transmigrates into different species of life, higher and lower, because of his association with the modes of material nature. Unless he is relieved of material activities, he has to accept this position because of his faulty work.

4 Actually a living entity is transcendental to material existence, but because of his mentality of lording it over material nature, his material existential condition does not cease, and just as in a dream, he is affected by all sorts of disadvantages.

5 It is the duty of every conditioned soul to engage his polluted consciousness, which is now attached to material enjoyment, in very serious devotional service with detachment. Thus his mind and consciousness will be under full control.

6 One has to become faithful by practicing the controlling process of the yoga system and must elevate himself to the platform of unalloyed devotional service by chanting and hearing about Me.

7 In executing devotional service, one has to see every living entity equally, without enmity towards anyone yet without intimate connections with anyone. One has to observe celibacy, be grave and execute his eternal activities, offering the results to the Supreme Personality of Godhead.

8 For his income a devotee should be satisfied with what he earns without great difficulty. He should not eat more than what is necessary. He should live in a secluded place and always be thoughtful, peaceful, friendly, compassionate and self-realized.

9 One's seeing power should be increased through knowledge of spirit and matter, and one should not unnecessarily identify himself with the body and thus become attracted by bodily relationships.

10 One should be situated in the transcendental position, beyond the stages of material consciousness, and should be aloof from all other conceptions of life. Thus realizing freedom from false ego, one should see his own self just as he sees the sun in the sky.

11 A liberated soul realizes the Absolute Personality of Godhead, who is transcendental and who is manifest as a reflection even in the false ego. He is the support of the material cause and He enters into everything. He is absolute, one without a second, and He is the eyes of the illusory energy.

12 The presence of the Supreme Lord can be realized just as the sun is realized first as a reflection on water, and again as a second reflection on the wall of a room, although the sun itself is situated in the sky.

13 The self-realized soul is thus reflected first in the threefold ego and then in the body, senses and mind.

14 Although a devotee appears to be merged in the five material elements, the objects of

material enjoyment, the material senses and material mind and intelligence, he is understood to be awake and to be freed from the false ego.

15 The living entity can vividly feel his existence as the seer, but because of the disappearance of the ego during the state of deep sleep, he falsely takes himself to be lost, like a man who has lost his fortune and feels distressed, thinking himself to be lost.

16 When, by mature understanding, one can realize his individuality, then the situation he accepts under false ego becomes manifest to him.

17Śrī Devahūti inquired: My dear brāhmaṇa, does material nature ever give release to the spirit soul? Since one is attracted to the other eternally, how is their separation possible?

18 As there is no separate existence of the earth and its aroma or of water and its taste, there cannot be any separate existence of intelligence and consciousness.

19 Hence even though he is the passive performer of all activities, how can there be freedom for the soul as long as material nature acts on him and binds him?

20 Even if the great fear of bondage is avoided by mental speculation and inquiry into the fundamental principles, it may still appear again, since its cause has not ceased.

21 The Supreme Personality of Godhead said: One can get liberation by seriously discharging devotional service unto Me and thereby hearing for a long time about Me or from Me. By thus executing one's prescribed duties, there will be no reaction, and one will be freed from the contamination of matter.

22 This devotional service has to be performed strongly in perfect knowledge and with transcendental vision. One must be strongly renounced and must engage in austerity and perform mystic yoga in order to be firmly fixed in self-absorption.

23 The influence of material nature has covered the living entity, and thus it is as if the living entity were always in a blazing fire. But by the process of seriously discharging devotional service, this influence can be removed, just as wooden sticks which cause a fire are themselves consumed by it.

24 By discovering the faultiness of his desiring to lord it over material nature and by therefore giving it up, the living entity becomes independent and stands in his own glory.

25 In the dreaming state one's consciousness is almost covered, and one sees many inauspicious things, but when he is awakened and fully conscious, such inauspicious things cannot bewilder him.

26 The influence of material nature cannot harm an enlightened soul, even though he engages in material activities, because he knows the truth of the Absolute, and his mind is fixed on the Supreme Personality of Godhead.

27 When a person thus engages in devotional service and self-realization for many, many years and births, he becomes completely reluctant to enjoy any one of the material planets, even up to the highest planet, which is known as Brahmaloka; he becomes fully developed in consciousness.

28-29 My devotee actually becomes self-realized by My unlimited causeless mercy, and thus, when freed from all doubts, he steadily progresses towards his destined abode, which is directly under the protection of My spiritual energy of unadulterated bliss. That is the ultimate

perfectional goal of the living entity. After giving up the present material body, the mystic devotee goes to that transcendental abode and never comes back.

30 When a perfect yogī's attention is no longer attracted to the by-products of mystic powers, which are manifestations of the external energy, his progress towards Me becomes unlimited, and thus the power of death cannot overcome him.

**SB 3.28: Kapila's Instructions on the Execution of Devotional Service**

1 The Personality of Godhead said: My dear mother, O daughter of the King, now I shall explain to you the system of yoga, the object of which is to concentrate the mind. By practicing this system one can become joyful and progressively advance towards the path of the Absolute Truth.

2 One should execute his prescribed duties to the best of his ability and avoid performing duties not allotted to him. One should be satisfied with as much gain as he achieves by the grace of the Lord, and one should worship the lotus feet of a spiritual master.

3 One should cease performing conventional religious practices and should be attracted to those which lead to salvation. One should eat very frugally and should always remain secluded so that he can achieve the highest perfection of life.

4 One should practice nonviolence and truthfulness, should avoid thieving and be satisfied with possessing as much as he needs for his maintenance. He should abstain from sex life, perform austerity, be clean, study the Vedas and worship the supreme form of the Supreme Personality of Godhead.

5 One must observe silence, acquire steadiness by practicing different yogic postures, control the breathing of the vital air, withdraw the senses from sense objects and thus concentrate the mind on the heart.

6 Fixing the vital air and the mind in one of the six circles of vital air circulation within the body, thus concentrating one's mind on the transcendental pastimes of the Supreme Personality of Godhead, is called samādhi, or samādhāna, of the mind.

7 By these processes, or any other true process, one must control the contaminated, unbridled mind, which is always attracted by material enjoyment, and thus fix himself in thought of the Supreme Personality of Godhead.

8 After controlling one's mind and sitting postures, one should spread a seat in a secluded and sanctified place, sit there in an easy posture, keeping the body erect, and practice breath control.

9 The yogī should clear the passage of vital air by breathing in the following manner: first he should inhale very deeply, then hold the breath in, and finally exhale. Or, reversing the process, the yogi can first exhale, then hold the breath outside, and finally inhale. This is done so that the mind may become steady and free from external disturbances.

10 The yogīs who practice such breathing exercises are very soon freed from all mental disturbances, just as gold, when put into fire and fanned with air, becomes free from all impurities.

11 By practicing the process of prāṇāyāma, one can eradicate the contamination of his physiological condition, and by concentrating the mind one can become free from all sinful activities. By restraining the senses one can free himself from material association, and by

meditating on the Supreme Personality of Godhead one can become free from the three modes of material attachment.

12 When the mind is perfectly purified by this practice of yoga, one should concentrate on the tip of the nose with half-closed eyes and see the form of the Supreme Personality of Godhead.

13 The Supreme Personality of Godhead has a cheerful, lotuslike countenance with ruddy eyes like the interior of a lotus, and a swarthy body like the petals of a blue lotus. He bears a conch, discus and mace in three of His hands.

14 His loins are covered by a shining cloth, yellowish like the filaments of a lotus. On His breast He bears the mark of Śrīvatsa, a curl of white hair. The brilliant Kaustubha gem is suspended from His neck.

15 He also wears around His neck a garland of attractive sylvan flowers, and a swarm of bees, intoxicated by its delicious fragrance, hums about the garland. He is further superbly adorned with a pearl necklace, a crown and pairs of armlets, bracelets and anklets.

16 His loins and hips encircled by a girdle, He stands on the lotus of His devotee's heart. He is most charming to look at, and His serene aspect gladdens the eyes and souls of the devotees who behold Him.

17 The Lord is eternally very beautiful, and He is worshipable by all the inhabitants of every planet. He is ever youthful and always eager to bestow His blessing upon His devotees.

18 The glory of the Lord is always worth singing, for His glories enhance the glories of His devotees. One should therefore meditate upon the Supreme Personality of Godhead and upon His devotees. One should meditate on the eternal form of the Lord until the mind becomes fixed.

19 Thus always merged in devotional service, the yogī visualizes the Lord standing, moving, lying down or sitting within him, for the pastimes of the Supreme Lord are always beautiful and attractive.

20 In fixing his mind on the eternal form of the Lord, the yogī should not take a collective view of all His limbs, but should fix the mind on each individual limb of the Lord.

21 The devotee should first concentrate his mind on the Lord's lotus feet, which are adorned with the marks of a thunderbolt, a goad, a banner and a lotus. The splendor of their beautiful ruby nails resembles the orb of the moon and dispels the thick gloom of one's heart.

22 The blessed Lord Śiva becomes all the more blessed by bearing on his head the holy waters of the Ganges, which has its source in the water that washed the Lord's lotus feet. The Lord's feet act like thunderbolts hurled to shatter the mountain of sin stored in the mind of the meditating devotee. One should therefore meditate on the lotus feet of the Lord for a long time.

23 The yogī should fix in his heart the activities of Lakṣmī, the goddess of fortune, who is worshiped by all demigods and is the mother of the supreme person, Brahmā. She can always be found massaging the legs and thighs of the transcendental Lord, very carefully serving Him in this way.

24 Next, the yogi should fix his mind in meditation on the Personality of Godhead's thighs, the storehouse of all energy. The Lord's thighs are whitish blue, like the luster of the linseed flower, and appear most graceful when the Lord is carried on the shoulders of Garuḍa. Also the yogī should contemplate His rounded hips, which are encircled by a girdle that rests on the

exquisite yellow silk cloth that extends down to His ankles.

25 The yogī should then meditate on His moonlike navel in the center of His abdomen. From His navel, which is the foundation of the entire universe, sprang the lotus stem containing all the different planetary systems. The lotus is the residence of Brahmā, the first created being. In the same way, the yogī should concentrate his mind on the Lord's nipples, which resemble a pair of most exquisite emeralds and which appear whitish because of the rays of the milk-white pearl necklaces adorning His chest.

26 The yogī should then meditate on the chest of the Supreme Personality of Godhead, the abode of goddess Mahā-Lakṣmī. The Lord's chest is the source of all transcendental pleasure for the mind and full satisfaction for the eyes. The yogī should then imprint on his mind the neck of the Personality of Godhead, who is adored by the entire universe. The neck of the Lord serves to enhance the beauty of the Kaustubha gem, which hangs on His chest.

27 The yogī should further meditate upon the Lord's four arms, which are the source of all the powers of the demigods who control the various functions of material nature. Then the yogi should concentrate on the polished ornaments, which were burnished by Mount Mandara as it revolved. He should also duly contemplate the Lord's discus, the Sudarśana cakra, which contains one thousand spokes and a dazzling luster, as well as the conch, which looks like a swan in His lotuslike palm.

28 The yogī should meditate upon His club, which is named Kaumodakī and is very dear to Him. This club smashes the demons, who are always inimical soldiers, and is smeared with their blood. One should also concentrate on the nice garland on the neck of the Lord, which is always surrounded by bumblebees, with their nice buzzing sound, and one should meditate upon the pearl necklace on the Lord's neck, which is considered to represent the pure living entities who are always engaged in His service.

29 The yogī should then meditate on the lotuslike countenance of the Lord, who presents His different forms in this world out of compassion for the anxious devotees. His nose is prominent, and His crystal-clear cheeks are illuminated by the oscillation of His glittering alligator-shaped earrings.

30 The yogi then meditates upon the beautiful face of the Lord, which is adorned with curly hair and decorated by lotuslike eyes and dancing eyebrows. A lotus surrounded by swarming bees and a pair of swimming fish would be put to shame by its elegance.

31 The yogīs should contemplate with full devotion the compassionate glances frequently cast by the Lord's eyes, for they soothe the most fearful threefold agonies of His devotees. His glances, accompanied by loving smiles, are full of abundant grace.

32 A yogī should similarly meditate on the most benevolent smile of Lord Śrī Hari, a smile which, for all those who bow to Him, dries away the ocean of tears caused by intense grief. The yogī should also meditate on the Lord's arched eyebrows, which are manifested by His internal potency in order to charm the sex-god for the good of the sages.

33 With devotion steeped in love and affection, the yogī should meditate within the core of his heart upon the laughter of Lord Viṣṇu. The laughter of Viṣṇu is so captivating that it can be easily meditated upon. When the Supreme Lord is laughing, one can see His small teeth, which resemble jasmine buds rendered rosy by the splendor of His lips. Once devoting his mind to this, the yogī should no longer desire to see anything else.

34 By following this course, the yogī gradually develops pure love for the Supreme Personality

of Godhead, Hari. In the course of his progress in devotional service, the hairs on his body stand erect through excessive joy, and he is constantly bathed in a stream of tears occasioned by intense love. Gradually, even the mind, which he used as a means to attract the Lord, as one attracts a fish to a hook, withdraws from material activity.

35 When the mind is thus completely freed from all material contamination and detached from material objectives, it is just like the flame of a lamp. At that time the mind is actually dovetailed with that of the Supreme Lord and is experienced as one with Him because it is freed from the interactive flow of the material qualities.

36 Thus situated in the highest transcendental stage, the mind ceases from all material reaction and becomes situated in its own glory, transcendental to all material conceptions of happiness and distress. At that time the yogī realizes the truth of his relationship with the Supreme Personality of Godhead. He discovers that pleasure and pain as well as their interactions, which he attributed to his own self, are actually due to the false ego, which is a product of ignorance.

37 Because he has achieved his real identity, the perfectly realized soul has no conception of how the material body is moving or acting, just as an intoxicated person cannot understand whether or not he has clothing on his body.

38 The body of such a liberated yogī, along with the senses, is taken charge of by the Supreme Personality of Godhead, and it functions until its destined activities are finished. The liberated devotee, being awake to his constitutional position and thus situated in samādhi, the highest perfectional stage of yoga, does not accept the by-products of the material body as his own. Thus he considers his bodily activities to be like the activities of a body in a dream.

39 Because of great affection for family and wealth, one accepts a son and some money as his own, and due to affection for the material body, one thinks that it is his. But actually, as one can understand that his family and wealth are different from him, the liberated soul can understand that he and his body are not the same.

40 The blazing fire is different from the flames, from the sparks and from the smoke, although all are intimately connected because they are born from the same blazing wood.

41 The Supreme Personality of Godhead, who is known as Parambrahma, is the seer. He is different from the jīva soul, or individual living entity, who is combined with the senses, the five elements and consciousness.

42 A yogi should see the same soul in all manifestations, for all that exists is a manifestation of different energies of the Supreme. In this way the devotee should see all living entities without distinction. That is realization of the Supreme Soul.

43 As fire is exhibited in different forms of wood, so, under different conditions of the modes of material nature, the pure spirit soul manifests itself in different bodies.

44 Thus the yogī can be in the self-realized position after conquering the insurmountable spell of māyā, who presents herself as both the cause and effect of this material manifestation and is therefore very difficult to understand.

### SB 3.29: Explanation of Devotional Service by Lord Kapila

1-2 Devahūti inquired: My dear Lord, You have already very scientifically described the symptoms of the total material nature and the characteristics of the spirit according to the Sāṅkhya system of philosophy. Now I shall request You to explain the path of devotional

service, which is the ultimate end of all philosophical systems.

3 Devahūti continued: My dear Lord, please also describe in detail, both for me and for people in general, the continual process of birth and death, for by hearing of such calamities we may become detached from the activities of this material world.

4 Please also describe eternal time, which is a representation of Your form and by whose influence people in general engage in the performance of pious activities.

5 My dear Lord, You are just like the sun, for You illuminate the darkness of the conditional life of the living entities. Because their eyes of knowledge are not open, they are sleeping eternally in that darkness without Your shelter, and therefore they are falsely engaged by the actions and reactions of their material activities, and they appear to be very fatigued.

6Śrī Maitreya said: O best amongst the Kurus, the great sage Kapila, moved by great compassion and pleased by the words of His glorious mother, spoke as follows.

7 Lord Kapila, the Personality of Godhead, replied: O noble lady, there are multifarious paths of devotional service in terms of the different qualities of the executor.

8 Devotional service executed by a person who is envious, proud, violent and angry, and who is a separatist, is considered to be in the mode of darkness.

9 The worship of Deities in the temple by a separatist, with a motive for material enjoyment, fame and opulence, is devotion in the mode of passion.

10 When a devotee worships the Supreme Personality of Godhead and offers the results of his activities in order to free himself from the inebrieties of fruitive activities, his devotion is in the mode of goodness.

11-12 The manifestation of unadulterated devotional service is exhibited when one's mind is at once attracted to hearing the transcendental name and qualities of the Supreme Personality of Godhead, who is residing in everyone's heart. Just as the water of the Ganges flows naturally down towards the ocean, such devotional ecstasy, uninterrupted by any material condition, flows towards the Supreme Lord.

13 A pure devotee does not accept any kind of liberation sālokya, sārṣṭi, sāmīpya, sārūpya or ekatva even though they are offered by the Supreme Personality of Godhead.

14 By attaining the highest platform of devotional service, as I have explained, one can overcome the influence of the three modes of material nature and be situated in the transcendental stage, as is the Lord.

15 A devotee must execute his prescribed duties, which are glorious, without material profit. Without excessive violence, one should regularly perform one's devotional activities.

16 The devotee should regularly see My statues in the temple, touch My lotus feet and offer worshipable paraphernalia and prayer. He should see in the spirit of renunciation, from the mode of goodness, and see every living entity as spiritual.

17 The pure devotee should execute devotional service by giving the greatest respect to the spiritual master and the ācāryas. He should be compassionate to the poor and make friendship with persons who are his equals, but all his activities should be executed under regulation and with control of the senses.

18 A devotee should always try to hear about spiritual matters and should always utilize his

time in chanting the holy name of the Lord. His behavior should always be straightforward and simple, and although he is not envious but friendly to everyone, he should avoid the company of persons who are not spiritually advanced.

19 When one is fully qualified with all these transcendental attributes and his consciousness is thus completely purified, he is immediately attracted simply by hearing My name or hearing of My transcendental quality.

20 As the chariot of air carries an aroma from its source and immediately catches the sense of smell, similarly, one who constantly engages in devotional service, in Kṛṣṇa consciousness, can catch the Supreme Soul, who is equally present everywhere.

21 I am present in every living entity as the Supersoul. If someone neglects or disregards that Supersoul everywhere and engages himself in the worship of the Deity in the temple, that is simply imitation.

22 One who worships the Deity of Godhead in the temples but does not know that the Supreme Lord, as Paramātmā, is situated in every living entity's heart, must be in ignorance and is compared to one who offers oblations into ashes.

23 One who offers Me respect but is envious of the bodies of others and is therefore a separatist never attains peace of mind, because of his inimical behavior towards other living entities.

24 My dear mother, even if he worships with proper rituals and paraphernalia, a person who is ignorant of My presence in all living entities never pleases Me by the worship of My Deities in the temple.

25 Performing his prescribed duties, one should worship the Deity of the Supreme Personality of Godhead until one realizes My presence in his own heart and in the hearts of other living entities as well.

26 As the blazing fire of death, I cause great fear to whoever makes the least discrimination between himself and other living entities because of a differential outlook.

27 Therefore, through charitable gifts and attention, as well as through friendly behavior and by viewing all to be alike, one should propitiate Me, who abide in all creatures as their very Self.

28 Living entities are superior to inanimate objects, O blessed mother, and among them, living entities who display life symptoms are better. Animals with developed consciousness are better than them, and better still are those who have developed sense perception.

29 Among the living entities who have developed sense perception, those who have developed the sense of taste are better than those who have developed only the sense of touch. Better than them are those who have developed the sense of smell, and better still are those who have developed the sense of hearing.

30 Better than those living entities who can perceive sound are those who can distinguish between one form and another. Better than them are those who have developed upper and lower sets of teeth, and better still are those who have many legs. Better than them are the quadrupeds, and better still are the human beings.

31 Among human beings, the society which is divided according to quality and work is best, and in that society, the intelligent men, who are designated as brāhmaṇas, are best. Among the

brāhmaṇas, one who has studied the Vedas is the best, and among the brāhmaṇas who have studied the Vedas, one who knows the actual purport of Veda is the best.

32 Better than the brāhmaṇa who knows the purpose of the Vedas is he who can dissipate all doubts, and better than him is one who strictly follows the brahminical principles. Better than him is one who is liberated from all material contamination, and better than him is a pure devotee, who executes devotional service without expectation of reward.

33 Therefore I do not find a greater person than he who has no interest outside of Mine and who therefore engages and dedicates all his activities and all his life everything unto Me without cessation.

34 Such a perfect devotee offers respects to every living entity because he is under the firm conviction that the Supreme Personality of Godhead has entered the body of every living entity as the Supersoul, or controller.

35 My dear mother, O daughter of Manu, a devotee who applies the science of devotional service and mystic yoga in this way can achieve the abode of the Supreme Person simply by that devotional service.

36 This puruṣa whom the individual soul must approach is the eternal form of the Supreme Personality of Godhead, who is known as Brahman and Paramātmā. He is the transcendental chief personality, and His activities are all spiritual.

37 The time factor, who causes the transformation of the various material manifestations, is another feature of the Supreme Personality of Godhead. Anyone who does not know that time is the same Supreme Personality is afraid of the time factor.

38 Lord Viṣṇu, the Supreme Personality of Godhead, who is the enjoyer of all sacrifices, is the time factor and the master of all masters. He enters everyone's heart, He is the support of everyone, and He causes every being to be annihilated by another.

39 No one is dear to the Supreme Personality of Godhead, nor is anyone His enemy or friend. But He gives inspiration to those who have not forgotten Him and destroys those who have.

40 Out of fear of the Supreme Personality of Godhead the wind blows, out of fear of Him the sun shines, out of fear of Him the rain pours forth showers, and out of fear of Him the host of heavenly bodies shed their luster.

41 Out of fear of the Supreme Personality of Godhead the trees, creepers, herbs and seasonal plants and flowers blossom and fructify, each in its own season.

42 Out of fear of the Supreme Personality of Godhead the rivers flow, and the ocean never overflows. Out of fear of Him only does fire burn and does the earth, with its mountains, not sink in the water of the universe.

43 Subject to the control of the Supreme Personality of Godhead, the sky allows outer space to accommodate all the various planets, which hold innumerable living entities. The total universal body expands with its seven coverings under His supreme control.

44 Out of fear of the Supreme Personality of Godhead, the directing demigods in charge of the modes of material nature carry out the functions of creation, maintenance and destruction; everything animate and inanimate within this material world is under their control.

45 The eternal time factor has no beginning and no end. It is the representative of the Supreme

Personality of Godhead, the maker of the criminal world. It brings about the end of the phenomenal world, it carries on the work of creation by bringing one individual into existence from another, and likewise it dissolves the universe by destroying even the lord of death, Yamarāja.

### SB 3.30: Description by Lord Kapila of Adverse Fruitive Activities

1 The Personality of Godhead said: As a mass of clouds does not know the powerful influence of the wind, a person engaged in material consciousness does not know the powerful strength of the time factor, by which he is being carried.

2 Whatever is produced by the materialist with great pain and labor for so-called happiness, the Supreme Personality, as the time factor, destroys, and for this reason the conditioned soul laments.

3 The misguided materialist does not know that his very body is impermanent and that the attractions of home, land and wealth, which are in relationship to that body, are also temporary. Out of ignorance only, he thinks that everything is permanent.

4 The living entity, in whatever species of life he appears, finds a particular type of satisfaction in that species, and he is never averse to being situated in such a condition.

5 The conditioned living entity is satisfied in his own particular species of life; while deluded by the covering influence of the illusory energy, he feels little inclined to cast off his body, even when in hell, for he takes delight in hellish enjoyment.

6 Such satisfaction with one's standard of living is due to deep-rooted attraction for body, wife, home, children, animals, wealth and friends. In such association, the conditioned soul thinks himself quite perfect.

7 Although he is always burning with anxiety, such a fool always performs all kinds of mischievous activities, with a hope which is never to be fulfilled, in order to maintain his so-called family and society.

8 He gives heart and senses to a woman, who falsely charms him with māyā. He enjoys solitary embraces and talking with her, and he is enchanted by the sweet words of the small children.

9 The attached householder remains in his family life, which is full of diplomacy and politics. Always spreading miseries and controlled by acts of sense gratification, he acts just to counteract the reactions of all his miseries, and if he can successfully counteract such miseries, he thinks that he is happy.

10 He secures money by committing violence here and there, and although he employs it in the service of his family, he himself eats only a little portion of the food thus purchased, and he goes to hell for those for whom he earned the money in such an irregular way.

11 When he suffers reverses in his occupation, he tries again and again to improve himself, but when he is baffled in all attempts and is ruined, he accepts money from others because of excessive greed.

12 Thus the unfortunate man, unsuccessful in maintaining his family members, is bereft of all beauty. He always thinks of his failure, grieving very deeply.

13 Seeing him unable to support them, his wife and others do not treat him with the same respect as before, even as miserly farmers do not accord the same treatment to their old and

worn-out oxen.

14 The foolish family man does not become averse to family life although he is maintained by those whom he once maintained. Deformed by the influence of old age, he prepares himself to meet ultimate death.

15 Thus he remains at home just like a pet dog and eats whatever is so negligently given to him. Afflicted with many illnesses, such as dyspepsia and loss of appetite, he eats only very small morsels of food, and he becomes an invalid who cannot work any more.

16 In that diseased condition, one's eyes bulge due to the pressure of air from within, and his glands become congested with mucus. He has difficulty breathing, and upon exhaling and inhaling he produces a sound like ghura-ghura, a rattling within the throat.

17 In this way he comes under the clutches of death and lies down, surrounded by lamenting friends and relatives, and although he wants to speak with them, he no longer can because he is under the control of time.

18 Thus the man, who engaged with uncontrolled senses in maintaining a family, dies in great grief, seeing his relatives crying. He dies most pathetically, in great pain and without consciousness.

19 At death, he sees the messengers of the lord of death come before him, their eyes full of wrath, and in great fear he passes stool and urine.

20 As a criminal is arrested for punishment by the constables of the state, a person engaged in criminal sense gratification is similarly arrested by the Yamadūtas, who bind him by the neck with strong rope and cover his subtle body so that he may undergo severe punishment.

21 While carried by the constables of Yamarāja, he is overwhelmed and trembles in their hands. While passing on the road he is bitten by dogs, and he can remember the sinful activities of his life. He is thus terribly distressed.

22 Under the scorching sun, the criminal has to pass through roads of hot sand with forest fires on both sides. He is whipped on the back by the constables because of his inability to walk, and he is afflicted by hunger and thirst, but unfortunately there is no drinking water, no shelter and no place for rest on the road.

23 While passing on that road to the abode of Yamarāja, he falls down in fatigue, and sometimes he becomes unconscious, but he is forced to rise again. In this way he is very quickly brought to the presence of Yamarāja.

24 Thus he has to pass ninety-nine thousand yojanas within two or three moments, and then he is at once engaged in the torturous punishment which he is destined to suffer.

25 He is placed in the midst of burning pieces of wood, and his limbs are set on fire. In some cases he is made to eat his own flesh or have it eaten by others.

26 His entrails are pulled out by the hounds and vultures of hell, even though he is still alive to see it, and he is subjected to torment by serpents, scorpions, gnats and other creatures that bite him.

27 Next his limbs are lopped off and torn asunder by elephants. He is hurled down from hilltops, and he is also held captive either in water or in a cave.

28 Men and women whose lives were built upon indulgence in illicit sex life are put into many

kinds of miserable conditions in the hells known as Tāmisra, Andha-tāmisra and Raurava.

29 Lord Kapila continued: My dear mother, it is sometimes said that we experience hell or heaven on this planet, for hellish punishments are sometimes visible on this planet also.

30 After leaving this body, the man who maintained himself and his family members by sinful activities suffers a hellish life, and his relatives suffer also.

31 He goes alone to the darkest regions of hell after quitting the present body, and the money he acquired by envying other living entities is the passage money with which he leaves this world.

32 Thus, by the arrangement of the Supreme Personality of Godhead, the maintainer of kinsmen is put into a hellish condition to suffer for his sinful activities, like a man who has lost his wealth.

33 Therefore a person who is very eager to maintain his family and kinsmen simply by black methods certainly goes to the darkest region of hell, which is known as Andha-tāmisra.

34 Having gone through all the miserable, hellish conditions and having passed in a regular order through the lowest forms of animal life prior to human birth, and having thus been purged of his sins, one is reborn again as a human being on this earth.

### SB 3.31: Lord Kapila's Instructions on the Movements of the Living Entities

1 The Personality of Godhead said: Under the supervision of the Supreme Lord and according to the result of his work, the living entity, the soul, is made to enter into the womb of a woman through the particle of male semen to assume a particular type of body.

2 On the first night, the sperm and ovum mix, and on the fifth night the mixture ferments into a bubble. On the tenth night it develops into a form like a plum, and after that, it gradually turns into a lump of flesh or an egg, as the case may be.

3 In the course of a month, a head is formed, and at the end of two months the hands, feet and other limbs take shape. By the end of three months, the nails, fingers, toes, body hair, bones and skin appear, as do the organ of generation and the other apertures in the body, namely the eyes, nostrils, ears, mouth and anus.

4 Within four months from the date of conception, the seven essential ingredients of the body, namely chyle, blood, flesh, fat, bone, marrow and semen, come into existence. At the end of five months, hunger and thirst make themselves felt, and at the end of six months, the fetus, enclosed by the amnion, begins to move on the right side of the abdomen.

5 Deriving its nutrition from the food and drink taken by the mother, the fetus grows and remains in that abominable residence of stools and urine, which is the breeding place of all kinds of worms.

6 Bitten again and again all over the body by the hungry worms in the abdomen itself, the child suffers terrible agony because of his tenderness. He thus becomes unconscious moment after moment because of the terrible condition.

7 Owing to the mother's eating bitter, pungent foodstuffs, or food which is too salty or too sour, the body of the child incessantly suffers pains which are almost intolerable.

8 Placed within the amnion and covered outside by the intestines, the child remains lying on one side of the abdomen, his head turned towards his belly and his back and neck arched like

a bow.

9 The child thus remains just like a bird in a cage, without freedom of movement. At that time, if the child is fortunate, he can remember all the troubles of his past one hundred births, and he grieves wretchedly. What is the possibility of peace of mind in that condition?

10 Thus endowed with the development of consciousness from the seventh month after his conception, the child is tossed downward by the airs that press the embryo during the weeks preceding delivery. Like the worms born of the same filthy abdominal cavity, he cannot remain in one place.

11 The living entity in this frightful condition of life, bound by seven layers of material ingredients, prays with folded hands, appealing to the Lord, who has put him in that condition.

12 The human soul says: I take shelter of the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead, who appears in His various eternal forms and walks on the surface of the world. I take shelter of Him only, because He can give me relief from all fear and from Him I have received this condition of life, which is just befitting my impious activities.

13 I, the pure soul, appearing now bound by my activities, am lying in the womb of my mother by the arrangement of māyā. I offer my respectful obeisances unto Him who is also here with me but who is unaffected and changeless. He is unlimited, but He is perceived in the repentant heart. To Him I offer my respectful obeisances.

14 I am separated from the Supreme Lord because of my being in this material body, which is made of five elements, and therefore my qualities and senses are being misused, although I am essentially spiritual. Because the Supreme Personality of Godhead is transcendental to material nature and the living entities, because He is devoid of such a material body, and because He is always glorious in His spiritual qualities, I offer my obeisances unto Him.

15 The human soul further prays: The living entity is put under the influence of material nature and continues a hard struggle for existence on the path of repeated birth and death. This conditional life is due to his forgetfulness of his relationship with the Supreme Personality of Godhead. Therefore, without the Lord's mercy, how can he again engage in the transcendental loving service of the Lord?

16 No one other than the Supreme Personality of Godhead, as the localized Paramātmā, the partial representation of the Lord, is directing all inanimate and animate objects. He is present in the three phases of time past, present and future. Therefore, the conditioned soul is engaged in different activities by His direction, and in order to get free from the threefold miseries of this conditional life, we have to surrender unto Him only.

17 Fallen into a pool of blood, stool and urine within the abdomen of his mother, his own body scorched by the mother's gastric fire, the embodied soul, anxious to get out, counts his months and prays, "O my Lord, when shall I, a wretched soul, be released from this confinement?"

18 My dear Lord, by Your causeless mercy I am awakened to consciousness, although I am only ten months old. For this causeless mercy of the Supreme Personality of Godhead, the friend of all fallen souls, there is no way to express my gratitude but to pray with folded hands.

19 The living entity in another type of body sees only by instinct; he knows only the agreeable and disagreeable sense perceptions of that particular body. But I have a body in which I can control my senses and can understand my destination; therefore, I offer my respectful obeisances to the Supreme Personality of Godhead, by whom I have been blessed with this

body and by whose grace I can see Him within and without.

20 Therefore, my Lord, although I am living in a terrible condition, I do not wish to depart from my mother's abdomen to fall again into the blind well of materialistic life. Your external energy, called deva-māyā, at once captures the newly born child, and immediately false identification, which is the beginning of the cycle of continual birth and death, begins.

21 Therefore, without being agitated any more, I shall deliver myself from the darkness of nescience with the help of my friend, clear consciousness. Simply by keeping the lotus feet of Lord Viṣṇu in my mind, I shall be saved from entering into the wombs of many mothers for repeated birth and death.

22 Lord Kapila continued: The ten-month-old living entity has these desires even while in the womb. But while he thus extols the Lord, the wind that helps parturition propels him forth with his face turned downward so that he may be born.

23 Pushed downward all of a sudden by the wind, the child comes out with great trouble, head downward, breathless and deprived of memory due to severe agony.

24 The child thus falls on the ground, smeared with stool and blood, and plays just like a worm germinated from the stool. He loses his superior knowledge and cries under the spell of māyā.

25 After coming out of the abdomen, the child is given to the care of persons who are unable to understand what he wants, and thus he is nursed by such persons. Unable to refuse whatever is given to him, he falls into undesirable circumstances.

26 Laid down on a foul bed infested with sweat and germs, the poor child is incapable of scratching his body to get relief from his itching sensation, to say nothing of sitting up, standing or even moving.

27 In his helpless condition, gnats, mosquitoes, bugs and other germs bite the baby, whose skin is tender, just as smaller worms bite a big worm. The child, deprived of his wisdom, cries bitterly.

28 In this way, the child passes through his childhood, suffering different kinds of distress, and attains boyhood. In boyhood also he suffers pain over desires to get things he can never achieve. And thus, due to ignorance, he becomes angry and sorry.

29 With the growth of the body, the living entity, in order to vanquish his soul, increases his false prestige and anger and thereby creates enmity towards similarly lusty people.

30 By such ignorance the living entity accepts the material body, which is made of five elements, as himself. With this misunderstanding, he accepts nonpermanent things as his own and increases his ignorance in the darkest region.

31 For the sake of the body, which is a source of constant trouble to him and which follows him because he is bound by ties of ignorance and fruitive activities, he performs various actions which cause him to be subjected to repeated birth and death.

32 If, therefore, the living entity again associates with the path of unrighteousness, influenced by sensually minded people engaged in the pursuit of sexual enjoyment and the gratification of the palate, he again goes to hell as before.

33 He becomes devoid of truthfulness, cleanliness, mercy, gravity, spiritual intelligence,

shyness, austerity, fame, forgiveness, control of the mind, control of the senses, fortune and all such opportunities.

34 One should not associate with a coarse fool who is bereft of the knowledge of self-realization and who is no more than a dancing dog in the hands of a woman.

35 The infatuation and bondage which accrue to a man from attachment to any other object is not as complete as that resulting from attachment to a woman or to the fellowship of men who are fond of women.

36 At the sight of his own daughter, Brahmā was bewildered by her charms and shamelessly ran up to her in the form of a stag when she took the form of a hind.

37 Amongst all kinds of living entities begotten by Brahmā, namely men, demigods and animals, none but the sage Nārāyaṇa is immune to the attraction of māyā in the form of woman.

38 Just try to understand the mighty strength of My māyā in the shape of woman, who by the mere movement of her eyebrows can keep even the greatest conquerors of the world under her grip.

39 One who aspires to reach the culmination of yoga and has realized his self by rendering service unto Me should never associate with an attractive woman, for such a woman is declared in the scripture to be the gateway to hell for the advancing devotee.

40 The woman, created by the Lord, is the representation of māyā, and one who associates with such māyā by accepting services must certainly know that this is the way of death, just like a blind well covered with grass.

41 A living entity who, as a result of attachment to a woman in his previous life, has been endowed with the form of a woman, foolishly looks upon māyā in the form of a man, herhusband, as the bestower of wealth, progeny, house and other material assets.

42 A woman, therefore, should consider her husband, her house and her children to be the arrangement of the external energy of the Lord for her death, just as the sweet singing of the hunter is death for the deer.

43 Due to his particular type of body, the materialistic living entity wanders from one planet to another, following fruitive activities. In this way, he involves himself in fruitive activities and enjoys the result incessantly.

44 In this way the living entity gets a suitable body with a material mind and senses, according to his fruitive activities. When the reaction of his particular activity comes to an end, that end is called death, and when a particular type of reaction begins, that beginning is called birth.

45-46 When the eyes lose their power to see color or form due to morbid affliction of the optic nerve, the sense of sight becomes deadened. The living entity, who is the seer of both the eyes and the sight, loses his power of vision. In the same way, when the physical body, the place where perception of objects occurs, is rendered incapable of perceiving, that is known as death. When one begins to view the physical body as one's very self, that is called birth.

47 Therefore, one should not view death with horror, nor have recourse to defining the body as soul, nor give way to exaggeration in enjoying the bodily necessities of life. Realizing the true nature of the living entity, one should move about in the world free from attachment and steadfast in purpose.

48 Endowed with right vision and strengthened by devotional service and a pessimistic attitude towards material identity, one should relegate his body to this illusory world through his reason. Thus one can be unconcerned with this material world.

**SB 3.32: Entanglement in Fruitive Activities**

1 The Personality of Godhead said: The person who lives in the center of household life derives material benefits by performing religious rituals, and thereby he fulfills his desire for economic development and sense gratification. Again and again he acts the same way.

2 Such persons are ever bereft of devotional service due to being too attached to sense gratification, and therefore, although they perform various kinds of sacrifices and take great vows to satisfy the demigods and forefathers, they are not interested in Kṛṣṇa consciousness, devotional service.

3 Such materialistic persons, attracted by sense gratification and devoted to the forefathers and demigods, can be elevated to the moon, where they drink an extract of the soma plant. They again return to this planet.

4 All the planets of the materialistic persons, including all the heavenly planets, such as the moon, are vanquished when the Supreme Personality of Godhead, Hari, goes to His bed of serpents, which is known as Ananta Śeṣa.

5 Those who are intelligent and are of purified consciousness are completely satisfied in Kṛṣṇa consciousness. Freed from the modes of material nature, they do not act for sense gratification; rather, since they are situated in their own occupational duties, they act as one is expected to act.

6 By executing one's occupational duties, acting with detachment and without a sense of proprietorship or false egoism, one is posted in one's constitutional position by dint of complete purification of consciousness, and by thus executing so-called material duties he can easily enter into the kingdom of God.

7 Through the path of illumination, such liberated persons approach the complete Personality of Godhead, who is the proprietor of the material and spiritual worlds and is the supreme cause of their manifestation and dissolution.

8 Worshipers of the Hiraṇyagarbha expansion of the Personality of Godhead remain within this material world until the end of two parārdhas, when Lord Brahmā also dies.

9 After experiencing the inhabitable time of the three modes of material nature, known as two parārdhas, Lord Brahmā closes the material universe, which is covered by layers of earth, water, air, fire, ether, mind, ego, etc., and goes back to Godhead.

10 The yogīs who become detached from the material world by practice of breathing exercises and control of the mind reach the planet of Brahmā, which is far, far away. After giving up their bodies, they enter into the body of Lord Brahmā, and therefore when Brahmā is liberated and goes to the Supreme Personality of Godhead, who is the Supreme Brahman, such yogīs can also enter into the kingdom of God.

11 Therefore, My dear mother, by devotional service take direct shelter of the Supreme Personality of Godhead, who is seated in everyone's heart.

12-15 My dear mother, someone may worship the Supreme Personality of Godhead with a special self-interest, but even demigods such as Lord Brahmā, great sages such as Sanat-kumāra

and great munis such as Marīci have to come back to the material world again at the time of creation. When the interaction of the three modes of material nature begins, Brahmā, who is the creator of this cosmic manifestation and who is full of Vedic knowledge, and the great sages, who are the authors of the spiritual path and the yoga system, come back under the influence of the time factor. They are liberated by their nonfruitive activities and attain the first incarnation of the puruṣa, but at the time of creation they come back in exactly the same forms and positions they previously had.

16 Persons who are too addicted to this material world execute their prescribed duties very nicely and with great faith. They daily perform all such prescribed duties with attachment to the fruitive result.

17 Such persons, impelled by the mode of passion, are full of anxieties and always aspire for sense gratification due to uncontrolled senses. They worship the forefathers and are busy day and night improving the economic condition of their family, social or national life.

18 Such persons are called trai-vargika because they are interested in the three elevating processes. They are averse to the Supreme Personality of Godhead, who can give relief to the conditioned soul. They are not interested in the Supreme Personality's pastimes, which are worth hearing because of His transcendental prowess.

19 Such persons are condemned by the supreme order of the Lord. Because they are averse to the nectar of the activities of the Supreme Personality of Godhead, they are compared to stool-eating hogs. They give up hearing the transcendental activities of the Lord and indulge in hearing of the abominable activities of materialistic persons.

20 Such materialistic persons are allowed to go to the planet called Pitṛloka by the southern course of the sun, but they again come back to this planet and take birth in their own families, beginning again the same fruitive activities from birth to the end of life.

21 When the results of their pious activities are exhausted, they fall down by higher arrangement and again come back to this planet, just as any person raised to a high position sometimes all of a sudden falls.

22 My dear mother, I therefore advise that you take shelter of the Supreme Personality of Godhead, for His lotus feet are worth worshiping. Accept this with all devotion and love, for thus you can be situated in transcendental devotional service.

23 Engagement in Kṛṣṇa consciousness and application of devotional service unto Kṛṣṇa make it possible to advance in knowledge and detachment, as well as in self-realization.

24 The exalted devotee's mind becomes equipoised in sensory activities, and he is transcendental to that which is agreeable and not agreeable.

25 Because of his transcendental intelligence, the pure devotee is equipoised in his vision and sees himself to be uncontaminated by matter. He does not see anything as superior or inferior, and he feels himself elevated to the transcendental platform of being equal in qualities with the Supreme Person.

26 The Supreme Personality of Godhead alone is complete transcendental knowledge, but according to the different processes of understanding He appears differently, either as impersonal Brahman, as Paramātmā, as the Supreme Personality of Godhead or as the puruṣa-avatāra.

27 The greatest common understanding for all yogīs is complete detachment from matter,

which can be achieved by different kinds of yoga.

28 Those who are averse to the Transcendence realize the Supreme Absolute Truth differently through speculative sense perception, and therefore, because of mistaken speculation, everything appears to them to be relative.

29 From the total energy, the mahat-tattva, I have manifested the false ego, the three modes of material nature, the five material elements, the individual consciousness, the eleven senses and the material body. Similarly, the entire universe has come from the Supreme Personality of Godhead.

30 This perfect knowledge can be achieved by a person who is already engaged in devotional service with faith, steadiness and full detachment, and who is always absorbed in thought of the Supreme. He is aloof from material association.

31 My dear respectful mother, I have already described the path of understanding the Absolute Truth, by which one can come to understand the real truth of matter and spirit and their relationship.

32 Philosophical research culminates in understanding the Supreme Personality of Godhead. After achieving this understanding, when one becomes free from the material modes of nature, he attains the stage of devotional service. Either by devotional service directly or by philosophical research, one has to find the same destination, which is the Supreme Personality of Godhead.

33 A single object is appreciated differently by different senses due to its having different qualities. Similarly, the Supreme Personality of Godhead is one, but according to different scriptural injunctions He appears to be different.

34-36 By performing fruitive activities and sacrifices, by distributing charity, by performing austerities, by studying various literatures, by conducting philosophical research, by controlling the mind, by subduing the senses, by accepting the renounced order of life, by performing the prescribed duties of one's social order, by performing the different divisions of yoga practice, by performing devotional service, by exhibiting the process of devotional service containing the symptoms of both attachment and detachment, by understanding the science of self-realization, and by developing a strong sense of detachment, one who is expert in understanding the different processes of self-realization realizes the Supreme Personality of Godhead as He is represented in the material world as well as in transcendence.

37 My dear mother, I have explained to you the process of devotional service and its identity in four different social divisions. I have explained to you as well how eternal time is chasing the living entities, although it is imperceptible to them.

38 There are varieties of material existence for the living entity according to the work he performs in ignorance or forgetfulness of his real identity. My dear mother, if anyone enters into that forgetfulness, he is unable to understand where his movements will end.

39 Lord Kapila continued: This instruction is not meant for the envious, for the agnostics or for persons who are unclean in their behavior. Nor is it for hypocrites or for persons who are proud of material possessions.

40 It is not to be instructed to persons who are too greedy and too attached to family life, nor to persons who are nondevotees and who are envious of the devotees and of the Personality of Godhead.

41 Instruction should be given to the faithful devotee who is respectful to the spiritual master, nonenvious, friendly to all kinds of living entities and eager to render service with faith and sincerity.

42 This instruction should be imparted by the spiritual master to persons who have taken the Supreme Personality of Godhead to be more dear than anything, who are not envious of anyone, who are perfectly cleansed and who have developed detachment for that which is outside the purview of Kṛṣṇa consciousness.

43 Anyone who once meditates upon Me with faith and affection, who hears and chants about Me, surely goes back home, back to Godhead.

## SB 3.33: Activities of Kapila

1Śrī Maitreya said: Thus Devahūti, the mother of Lord Kapila and wife of Kardama Muni, became freed from all ignorance concerning devotional service and transcendental knowledge. She offered her obeisances unto the Lord, the author of the basic principles of the Sāṅkhya system of philosophy, which is the background of liberation, and she satisfied Him with the following verses of prayer.

2 Devahūti said: Brahmā is said to be unborn because he takes birth from the lotus flower which grows from Your abdomen while You lie in the ocean at the bottom of the universe. But even Brahmā simply meditated upon You, whose body is the source of unlimited universes.

3 My dear Lord, although personally You have nothing to do, You have distributed Your energies in the interactions of the material modes of nature, and for that reason the creation, maintenance and dissolution of the cosmic manifestation take place. My dear Lord, You are self-determined and are the Supreme Personality of Godhead for all living entities. For them You created this material manifestation, and although You are one, Your diverse energies can act multifariously. This is inconceivable to us.

4 As the Supreme Personality of Godhead, You have taken birth from my abdomen. O my Lord, how is that possible for the supreme one, who has in His belly all the cosmic manifestation? The answer is that it is possible, for at the end of the millennium You lie down on a leaf of a banyan tree, and just like a small baby, You lick the toe of Your lotus foot.

5 My dear Lord, You have assumed this body in order to diminish the sinful activities of the fallen and to enrich their knowledge in devotion and liberation. Since these sinful people are dependent on Your direction, by Your own will You assume incarnations as a boar and as other forms. Similarly, You have appeared in order to distribute transcendental knowledge to Your dependents.

6 To say nothing of the spiritual advancement of persons who see the Supreme Person face to face, even a person born in a family of dog-eaters immediately becomes eligible to perform Vedic sacrifices if he once utters the holy name of the Supreme Personality of Godhead or chants about Him, hears about His pastimes, offers Him obeisances or even remembers Him.

7 Oh, how glorious are they whose tongues are chanting Your holy name! Even if born in the families of dog-eaters, such persons are worshipable. Persons who chant the holy name of Your Lordship must have executed all kinds of austerities and fire sacrifices and achieved all the good manners of the Āryans. To be chanting the holy name of Your Lordship, they must have bathed at holy places of pilgrimage, studied the Vedas and fulfilled everything required.

8 I believe, my Lord, that You are Lord Viṣṇu Himself under the name of Kapila, and You are

the Supreme Personality of Godhead, the Supreme Brahman! The saints and sages, being freed from all the disturbances of the senses and mind, meditate upon You, for by Your mercy only can one become free from the clutches of the three modes of material nature. At the time of dissolution, all the Vedas are sustained in You only.

9 Thus the Supreme Personality of Godhead Kapila, satisfied by the words of His mother, towards whom He was very affectionate, replied with gravity.

10 The Personality of Godhead said: My dear mother, the path of self-realization which I have already instructed to you is very easy. You can execute this system without difficulty, and by following it you shall very soon be liberated, even within your present body.

11 My dear mother, those who are actually transcendentalists certainly follow My instructions as I have given them to you. You may rest assured that if you traverse this path of self-realization perfectly, surely you shall be freed from fearful material contamination and shall ultimately reach Me. Mother, persons who are not conversant with this method of devotional service certainly cannot get out of the cycle of birth and death.

12Śrī Maitreya said: The Supreme Personality of Godhead Kapila, after instructing His beloved mother, took permission from her and left His home, His mission having been fulfilled.

13 As instructed by her son, Devahūti also began to practice bhakti-yoga in that very āśrama. She practiced samādhi in the house of Kardama Muni, which was so beautifully decorated with flowers that it was considered the flower crown of the river Sarasvatī.

14 She began to bathe three times daily, and thus her curling black hair gradually became gray. Due to austerity, her body gradually became thin, and she wore old garments.

15 The home and household paraphernalia of Kardama, who was one of the Prajāpatis, was developed in such a way, by dint of his mystic powers of austerity and yoga, that his opulence was sometimes envied by those who travel in outer space in airplanes.

16 The opulence of the household of Kardama Muni is described herein. The bedsheets and mattresses were all as white as the foam of milk, the chairs and benches were made of ivory and were covered by cloths of lace with golden filigree, and the couches were made of gold and had very soft pillows.

17 The walls of the house were made of first-class marble, decorated with valuable jewels. There was no need of light, for the household was illuminated by the rays of these jewels. The female members of the household were all amply decorated with jewelry.

18 The compound of the main household was surrounded by beautiful gardens with sweet, fragrant flowers and many trees which produced fresh fruit and were tall and beautiful. The attraction of such gardens was that singing birds would sit on the trees, and their chanting voices, as well as the humming sound of the bees, made the whole atmosphere as pleasing as possible.

19 When Devahūti would enter that lovely garden to take her bath in the pond filled with lotus flowers, the associates of the denizens of heaven, the Gandharvas, would sing about Kardama's glorious household life. Her great husband, Kardama, gave her all protection at all times.

20 Although her position was unique from all points of view, saintly Devahūti, in spite of all her possessions, which were envied even by the ladies of the heavenly planets, gave up all such comforts. She was only sorry that her great son was separated from her.

21 Devahūti's husband had already left home and accepted the renounced order of life, and then her only son, Kapila, left home. Although she knew all the truths of life and death, and although her heart was cleansed of all dirt, she was very aggrieved at the loss of her son, just as a cow is affected when her calf dies.

22 O Vidura, thus always meditating upon her son, the Supreme Personality of Godhead Kapiladeva, she very soon became unattached to her nicely decorated home.

23 Thereafter, having heard with great eagerness and in all detail from her son, Kapiladeva, the eternally smiling Personality of Godhead, Devahūti began to meditate constantly upon the Viṣṇu form of the Supreme Lord.

24-25 She did so with serious engagement in devotional service. Because she was strong in renunciation, she accepted only the necessities of the body. She became situated in knowledge due to realization of the Absolute Truth, her heart became purified, she became fully absorbed in meditation upon the Supreme Personality of Godhead, and all misgivings due to the modes of material nature disappeared.

26 Her mind became completely engaged in the Supreme Lord, and she automatically realized the knowledge of the impersonal Brahman. As a Brahman-realized soul, she was freed from the designations of the materialistic concept of life. Thus all material pangs disappeared, and she attained transcendental bliss.

27 Situated in eternal trance and freed from illusion impelled by the modes of material nature, she forgot her material body, just as one forgets his different bodies in a dream.

28 Her body was being taken care of by the spiritual damsels created by her husband, Kardama, and since she had no mental anxiety at that time, her body did not become thin. She appeared just like a fire surrounded by smoke.

29 Because she was always absorbed in the thought of the Supreme Personality of Godhead, she was not aware that sometimes her hair was loosened or her garments were disarrayed.

30 My dear Vidura, by following the principles instructed by Kapila, Devahūti soon became liberated from material bondage and achieved the Supreme Personality of Godhead, as Supersoul, without difficulty.

31 The place where Devahūti achieved her perfection, my dear Vidura, is understood to be a most sacred spot. It is known all over the three worlds as Siddhapada.

32 Dear Vidura, the material elements of her body have melted into water and are now a flowing river, which is the most sacred of all rivers. Anyone who bathes in that river also attains perfection, and therefore all persons who desire perfection go bathe there.

33 My dear Vidura, the great sage Kapila, the Personality of Godhead, left His father's hermitage with the permission of His mother and went towards the northeast.

34 While He was passing in the northern direction, all the celestial denizens known as Cāraṇas and Gandharvas, as well as the munis and the damsels of the heavenly planets, prayed and offered Him all respects. The ocean offered Him oblations and a place of residence.

35 Even now Kapila Muni is staying there in trance for the deliverance of the conditioned souls in the three worlds, and all the ācāryas, or great teachers, of the system of Sāṅkhya philosophy are worshiping Him.

36 My dear son, since you have inquired from me, I have answered. O sinless one, the descriptions of Kapiladeva and His mother and their activities are the purest of all pure discourses.

37 The description of the dealings of Kapiladeva and His mother is very confidential, and anyone who hears or reads this narration becomes a devotee of the Supreme Personality of Godhead, who is carried by Garuḍa, and he thereafter enters into the abode of the Supreme Lord to engage in the transcendental loving service of the Lord.

## Canto 4: The Creation of the Fourth Order

### SB 4.1: Genealogical Table of the Daughters of Manu

1Śrī Maitreya said: Svāyambhuva Manu begot three daughters in his wife, Śatarūpā, and their names were Ākūti, Devahūti and Prasūti.

2Ākūti had two brothers, but in spite of her brothers, King Svāyambhuva Manu handed her over to Prajāpati Ruci on the condition that the son born of her be returned to Manu as his son. This he did in consultation with his wife, Śatarūpā.

3 Ruci, who was very powerful in his brahminical qualifications and was appointed one of the progenitors of the living entities, begot one son and one daughter by his wife, Ākūti.

4 Of the two children born of Ākūti, the male child was directly an incarnation of the Supreme Personality of Godhead, and His name was Yajṣa, which is another name of Lord Viṣṇu. The female child was a partial incarnation of Lakṣmī, the goddess of fortune, the eternal consort of Lord Viṣṇu.

5 Svāyambhuva Manu very gladly brought home the beautiful boy named Yajṣa, and Ruci, his son-in-law, kept with him the daughter, Dakṣiṇā.

6 The Lord of the ritualistic performance of yajṣa later married Dakṣiṇā, who was anxious to have the Personality of Godhead as her husband, and in this wife the Lord was also very much pleased to beget twelve children.

7 The twelve boys born of Yajṣa and Dakṣiṇā were named Toṣa, Pratoṣa, Santoṣa, Bhadra, Śānti, Iḍaspati, Idhma, Kavi, Vibhu, Svahna, Sudeva and Rocana.

8 During the time of Svāyambhuva Manu, these sons all became the demigods collectively named the Tuṣitas. Marīci became the head of the seven ṛṣis, and Yajṣa became the king of the demigods, Indra.

9 Svāyambhuva Manu's two sons, Priyavrata and Uttānapāda, became very powerful kings, and their sons and grandsons spread all over the three worlds during that period.

10 My dear son, Svāyambhuva Manu handed over his very dear daughter Devahūti to Kardama Muni. I have already spoken to you about them, and you have heard about them almost in full.

11 Svāyambhuva Manu handed over his daughter Prasūti to the son of Brahmā named Dakṣa, who was also one of the progenitors of the living entities. The descendants of Dakṣa are spread throughout the three worlds.

12 You have already been informed about the nine daughters of Kardama Muni, who were handed over to nine different sages. I shall now describe the descendants of those nine daughters. Please hear from me.

13 Kardama Muni's daughter Kalā, who was married to Marīci, gave birth to two children, whose names were Kaśyapa and Pūrṇimā. Their descendants are spread all over the world.

14 My dear Vidura, of the two sons, Kaśyapa and Pūrṇimā, Pūrṇimā begot three children, namely Viraja, Viśvaga and Devakulyā. Of these three, Devakulyā was the water which washed the lotus feet of the Personality of Godhead and which later on transformed into the Ganges of the heavenly planets.

15 Anasūyā, the wife of Atri Muni, gave birth to three very famous sons Soma, Dattātreya and Durvāsā who were partial representations of Lord Viṣṇu, Lord Śiva and Lord Brahmā. Soma was a partial representation of Lord Brahmā, Dattātreya was a partial representation of Lord Viṣṇu, and Durvāsā was a partial representation of Lord Śiva.

16 After hearing this, Vidura inquired from Maitreya: My dear master, how is it that the three deities Brahmā, Viṣṇu and Śiva, who are the creator, maintainer and destroyer of the whole creation, became the offspring of the wife of Atri Muni?

17 Maitreya said: When Lord Brahmā ordered Atri Muni to create generations after marrying Anasūyā, Atri Muni and his wife went to perform severe austerities in the valley of the mountain known as Ṛkṣa.

18 In that mountain valley flows a river named Nirvindhyā. On the bank of the river are many aśoka trees and other plants full of palāśa flowers, and there is always the sweet sound of water flowing from a waterfall. The husband and wife reached that beautiful place.

19 There the great sage concentrated his mind by the yogic breathing exercises, and thereby controlling all attachment, he remained standing on one leg only, eating nothing but air, and stood there on one leg for one hundred years.

20 He was thinking: May the Lord of the universe, of whom I have taken shelter, kindly be pleased to offer me a son exactly like Him.

21 While Atri Muni was engaged in these severe austerities, a blazing fire came out of his head by virtue of his breathing exercise, and that fire was seen by the three principal deities of the three worlds.

22 At that time, the three deities approached the hermitage of Atri Muni, accompanied by the denizens of the heavenly planets, such as the celestial beauties, the Gandharvas, the Siddhas, the Vidyādharas and the Nāgas. Thus they entered the āśrama of the great sage, who had become famous by his austerities.

23 The sage was standing on one leg, but as soon as he saw that the three deities had appeared before him, he was so pleased to see them all together that despite great difficulty he approached them on one leg.

24 Thereafter he began to offer prayers to the three deities, who were seated on different carriers a bull, a swan and Garuḍa and who held in their hands a drum, kuśa grass and a discus. The sage offered them his respects by falling down like a stick.

25 Atri Muni was greatly pleased to see that the three devas were gracious towards him. His eyes were dazzled by the effulgence of their bodies, and therefore he closed his eyes for the time being.

26-27 But since his heart was already attracted by the deities, somehow or other he gathered

his senses, and with folded hands and sweet words he began to offer prayers to the predominating deities of the universe. The great sage Atri said: O Lord Brahmā, Lord Viṣṇu and Lord Śiva, you have divided yourself into three bodies by accepting the three modes of material nature, as you do in every millennium for the creation, maintenance and dissolution of the cosmic manifestation. I offer my respectful obeisances unto all of you and beg to inquire whom of you three I have called by my prayer.

28 I called for the Supreme Personality of Godhead, desiring a son like Him, and I thought of Him only. But although He is far beyond the mental speculation of man, all three of you have come here. Kindly let me know how you have come, for I am greatly bewildered about this.

29 The great sage Maitreya continued: Upon hearing Atri Muni speak in that way, the three great deities smiled, and they replied in the following sweet words.

30 The three deities told Atri Muni: Dear brāhmaṇa, you are perfect in your determination, and therefore as you have decided, so it will happen; it will not happen otherwise. We are all the same person upon whom you were meditating, and therefore we have all come to you.

31 You will have sons who will represent a partial manifestation of our potency, and because we desire all good fortune for you, those sons will glorify your reputation throughout the world.

32 Thus, while the couple looked on, the three deities Brahmā, Viṣṇu and Maheśvara disappeared from that place after bestowing upon Atri Muni the benediction.

33 Thereafter, from the partial representation of Brahmā, the moon-god was born of them; from the partial representation of Viṣṇu, the great mystic Dattātreya was born; and from the partial representation of Śaṅkara [Lord Śiva], Durvāsā was born. Now you may hear from me of the many sons of Aṅgirā.

34 Aṅgirā's wife, Śraddhā, gave birth to four daughters, named Sinīvālī, Kuhū, Rākā and Anumati.

35 Besides these four daughters, she also had another two sons. One of them was known as Utathya, and the other was the learned scholar Bṛhaspati.

36 Pulastya begot in his wife, Havirbhū, one son of the name Agastya, who in his next birth became Dahrāgni. Besides him, Pulastya begot another very great and saintly son, whose name was Viśravā.

37 Viśravā had two wives. The first wife was Iḍaviḍā, from whom Kuvera, the master of all Yakṣas, was born, and the next wife was named Keśinī, from whom three sons were born Rāvaṇa, Kumbhakarṇa and Vibhīṣaṇa.

38 Gati, the wife of the sage Pulaha, gave birth to three sons, named Karmaśreṣṭha, Varīyān and Sahiṣṇu, and all of them were great sages.

39 Kratu's wife, Kriyā, gave birth to sixty thousand great sages, named the Vālakhilyas. All these sages were greatly advanced in spiritual knowledge, and their bodies were illuminated by such knowledge.

40 The great sage Vasiṣṭha begot in his wife, Ūrjā [sometimes called Arundhatī], seven spotlessly great sages, headed by the sage named Citraketu.

41 The names of these seven sages are as follows: Citraketu, Suroci, Virajā, Mitra, Ulbaṇa, Vasubhṛdyāna and Dyumān. Some other very competent sons were born from Vasiṣṭha's other wife.

42 Citti, wife of the sage Atharvā, gave birth to a son named Aśvaśirā by accepting a great vow called Dadhyaṣca. Now you may hear from me about the descendants of the sage Bhṛgu.

43 The sage Bhṛgu was highly fortunate. In his wife, known as Khyāti, he begot two sons, named Dhātā and Vidhātā, and one daughter, named Śrī, who was very much devoted to the Supreme Personality of Godhead.

44 The sage Meru had two daughters, named Āyati and Niyati, whom he gave in charity to Dhātā and Vidhātā. Āyati and Niyati gave birth to two sons, Mṛkaṇḍa and Prāṇa.

45 From Mṛkaṇḍa, Mārkaṇḍeya Muni was born, and from Prāṇa, the sage Vedaśirā, whose son was Uśanā [Śukrācārya], also known as Kavi. Thus Kavi also belonged to the descendants of the Bhṛgu dynasty.

46-47 My dear Vidura, the population of the universe was thus increased by the descendants of these sages and the daughters of Kardama. Anyone who hears the descriptions of this dynasty with faith will be relieved from all sinful reactions. Another of Manu's daughters, known as Prasūti, married the son of Brahmā named Dakṣa.

48 Dakṣa begot sixteen very beautiful daughters with lotuslike eyes in his wife Prasūti. Of these sixteen daughters, thirteen were given in marriage to Dharma, and one daughter was given to Agni.

49-52 One of the remaining two daughters was given in charity to the Pitṛloka, where she resides very amicably, and the other was given to Lord Śiva, who is the deliverer of sinful persons from material entanglement. The names of the thirteen daughters of Dakṣa who were given to Dharma are Śraddhā, Maitrī, Dayā, Śānti, Tuṣṭi, Puṣṭi, Kriyā, Unnati, Buddhi, Medhā, Titikṣā, Hrī and Mūrti. These thirteen daughters produced the following sons: Śraddhā gave birth to Śubha, Maitrī produced Prasāda, Dayā gave birth to Abhaya, Śānti gave birth to Sukha, Tuṣṭi gave birth to Muda, Puṣṭi gave birth to Smaya, Kriyā gave birth to Yoga, Unnati gave birth to Darpa, Buddhi gave birth to Artha, Medhā gave birth to Smṛti, Titikṣā gave birth to Kṣema, and Hrī gave birth to Praśraya. Mūrti, a reservoir of all respectable qualities, gave birth to Śrī Nara-Nārāyaṇa, the Supreme Personality of Godhead.

53 On the occasion of the appearance of Nara-Nārāyaṇa, the entire world was full of joy. Everyone's mind became tranquil, and thus in all directions the air, the rivers and the mountains became pleasant.

54-55 In the heavenly planets, bands began to play, and they showered flowers from the sky. The pacified sages chanted Vedic prayers, the denizens of heaven known as the Gandharvas and Kinnaras sang, the beautiful damsels of the heavenly planets danced, and in this way, at the time of the appearance of Nara-Nārāyaṇa, all signs of good fortune were visible. Just at that time, great demigods like Brahmā also offered their respectful prayers.

56 The demigods said: Let us offer our respectful obeisances unto the transcendental Personality of Godhead, who created as His external energy this cosmic manifestation, which is situated in Him as the air and clouds are situated in space, and who has now appeared in the form of Nara-Nārāyaṇa Ṛṣi in the house of Dharma.

57 Let that Supreme Personality of Godhead, who is understood by truly authorized Vedic literature and who has created peace and prosperity to destroy all calamities of the created world, be kind enough to bestow His glance upon the demigods. His merciful glance can supersede the beauty of the spotless lotus flower which is the home of the goddess of fortune.

58 [Maitreya said:] O Vidura, thus the demigods worshiped with prayers the Supreme Personality of Godhead appearing as the sage Nara-Nārāyaṇa. The Lord glanced upon them with mercy and then departed for Gandhamādana Hill.

59 That Nara-Nārāyaṇa Ṛṣi, who is a partial expansion of Kṛṣṇa, has now appeared in the dynasties of Yadu and Kuru, in the forms of Kṛṣṇa and Arjuna respectively, to mitigate the burden of the world.

60 The predominating deity of fire begot in his wife, Svāhā, three children, named Pāvaka, Pavamāna and Śuci, who exist by eating the oblations offered to the fire of sacrifice.

61 From those three sons another forty-five descendants were generated, who are also fire-gods. The total number of fire-gods is therefore forty-nine, including the fathers and the grandfather.

62 These forty-nine fire-gods are the beneficiaries of the oblations offered in the Vedic sacrificial fire by impersonalist brāhmaṇas.

63 The Agniṣvāttas, the Barhiṣadas, the Saumyas and the Ājyapas are the Pitās. They are either sāgnika or niragnika. The wife of all these Pitās is Svadhā, who is the daughter of King Dakṣa.

64 Svadhā, who was offered to the Pitās, begot two daughters named Vayunā and Dhāriṇī, both of whom were impersonalists and were expert in transcendental and Vedic knowledge.

65 The sixteenth daughter, whose name was Satī, was the wife of Lord Śiva. She could not produce a child, although she always faithfully engaged in the service of her husband.

66 The reason is that Satī's father, Dakṣa, used to rebuke Lord Śiva in spite of Śiva's faultlessness. Consequently, before attaining a mature age, Satī gave up her body by dint of yogic mystic power.

## SB 4.2: Dakṣa Curses Lord Śiva

1 Vidura inquired: Why was Dakṣa, who was so affectionate towards his daughter, envious of Lord Śiva, who is the best among the gentle? Why did he neglect his daughter Satī?

2 Lord Śiva, the spiritual master of the entire world, is free from enmity, is a peaceful personality, and is always satisfied in himself. He is the greatest among the demigods. How is it possible that Dakṣa could be inimical towards such an auspicious personality?

3 My dear Maitreya, to part with one's life is very difficult. Would you kindly explain to me how such a son-in-law and father-in-law could quarrel so bitterly that the great goddess Satī could give up her life?

4 The sage Maitreya said: In a former time, the leaders of the universal creation performed a great sacrifice in which all the great sages, philosophers, demigods and fire-gods assembled with their followers.

5 When Dakṣa, the leader of the Prajāpatis, entered that assembly, his personal bodily luster as bright as the effulgence of the sun, the entire assembly was illuminated, and all the assembled

personalities became insignificant in his presence.

6 Influenced by his personal bodily luster, all the fire-gods and other participants in that great assembly, with the exceptions of Lord Brahmā and Lord Śiva, gave up their own sitting places and stood in respect for Dakṣa.

7 Dakṣa was adequately welcomed by the president of the great assembly, Lord Brahmā. After offering Lord Brahmā respect, Dakṣa, by the order of Brahmā, properly took his seat.

8 Before taking his seat, however, Dakṣa was very much offended to see Lord Śiva sitting and not showing him any respect. At that time, Dakṣa became greatly angry, and, his eyes glowing, he began to speak very strongly against Lord Śiva.

9 All sages, brāhmaṇas and fire-gods present, please hear me with attention, for I speak about the manners of gentle persons. I do not speak out of ignorance or envy.

10Śiva has spoiled the name and fame of the governors of the universe and has polluted the path of gentle manners. Because he is shameless, he does not know how to act.

11 He has already accepted himself as my subordinate by marrying my daughter in the presence of fire and brāhmaṇas. He has married my daughter, who is equal to Gāyatrī, and has pretended to be just like an honest person.

12 He has eyes like a monkey's, yet he has married my daughter, whose eyes are just like those of a deer cub. Nevertheless he did not stand up to receive me, nor did he think it fit to welcome me with sweet words.

13 I had no desire to give my daughter to this person, who has broken all rules of civility. Because of not observing the required rules and regulations, he is impure, but I was obliged to hand over my daughter to him just as one teaches the messages of the Vedas to a śūdra.

14-15 He lives in filthy places like crematoriums, and his companions are the ghosts and demons. Naked like a madman, sometimes laughing and sometimes crying, he smears crematorium ashes all over his body. He does not bathe regularly, and he ornaments his body with a garland of skulls and bones. Therefore only in name is he śiva, or auspicious; actually, he is the most mad and inauspicious creature. Thus he is very dear to crazy beings in the gross mode of ignorance, and he is their leader.

16 On the request of Lord Brahmā I handed over my chaste daughter to him, although he is devoid of all cleanliness and his heart is filled with nasty things.

17 The sage Maitreya continued: Thus Dakṣa, seeing Lord Śiva sitting as if against him, washed his hands and mouth and cursed him in the following words.

18 The demigods are eligible to share in the oblations of sacrifice, but Lord Śiva, who is the lowest of all the demigods, should not have a share.

19 Maitreya continued: My dear Vidura, in spite of the requests of all the members of the sacrificial assembly, Dakṣa, in great anger, cursed Lord Śiva and then left the assembly and went back to his home.

20 Upon understanding that Lord Śiva had been cursed, Nandīśvara, one of Lord Śiva's principal associates, became greatly angry. His eyes became red, and he prepared to curse Dakṣa and all the brāhmaṇas present there who had tolerated Dakṣa's cursing Śiva in harsh words.

21 Anyone who has accepted Dakṣa as the most important personality and neglected Lord Śiva because of envy is less intelligent and, because of visualizing in duality, will be bereft of transcendental knowledge.

22 Pretentiously religious householder life, in which one is attracted to material happiness and thus also attracted to the superficial explanation of the Vedas, robs one of all intelligence and attaches one to fruitive activities as all in all.

23 Dakṣa has accepted the body as all in all. Therefore, since he has forgotten the viṣṇu-pāda, or viṣṇu-gati, and is attached to sex life only, within a short time he will have the face of a goat.

24 Those who have become as dull as matter by cultivating materialistic education and intelligence are nesciently involved in fruitive activities. Such men have purposely insulted Lord Śiva. May they continue in the cycle of repeated birth and death.

25 May those who are envious of Lord Śiva, being attracted by the flowery language of the enchanting Vedic promises, and who have thus become dull, always remain attached to fruitive activities.

26 These brāhmaṇas take to education, austerity and vows only for the purpose of maintaining the body. They shall be devoid of discrimination between what to eat and what not to eat. They will acquire money, begging from door to door, simply for the satisfaction of the body.

27 When all the hereditary brāhmaṇas were thus cursed by Nandīśvara, the sage Bhṛgu, as a reaction, condemned the followers of Lord Śiva with this very strong brahminical curse.

28 One who takes a vow to satisfy Lord Śiva or who follows such principles will certainly become an atheist and be diverted from transcendental scriptural injunctions.

29 Those who vow to worship Lord Śiva are so foolish that they imitate him by keeping long hair on their heads. When initiated into worship of Lord Śiva, they prefer to live on wine, flesh and other such things.

30 Bhṛgu Muni continued: Since you blaspheme the Vedas and the brāhmaṇas, who are followers of the Vedic principles, it is understood that you have already taken shelter of the doctrine of atheism.

31 The Vedas give the eternal regulative principles for auspicious advancement in human civilization which have been rigidly followed in the past. The strong evidence of this principle is the Supreme Personality of Godhead, who is called Janārdana, the well-wisher of all living entities.

32 By blaspheming the principles of the Vedas, which are the pure and supreme path of the saintly persons, certainly you followers of Bhūtapati, Lord Śiva, will descend to the standard of atheism without a doubt.

33 The sage Maitreya said: When such cursing and countercursing was going on between Lord Śiva's followers and the parties of Dakṣa and Bhṛgu, Lord Śiva became very morose. Not saying anything, he left the arena of the sacrifice, followed by his disciples.

34 The sage Maitreya continued: O Vidura, all the progenitors of the universal population thus executed a sacrifice for thousands of years, for sacrifice is the best way to worship the Supreme Lord, Hari, the Personality of Godhead.

35 My dear Vidura, carrier of bows and arrows, all the demigods who were performing the

sacrifice took their bath at the confluence of the Ganges and the Yamunā after completing the yajṣa performance. Such a bath is called avabhṛtha-snāna. After thus becoming purified in heart, they departed for their respective abodes.

### SB 4.3: Talks Between Lord Śiva and Satī

1 Maitreya continued: In this manner the tension between the father-in-law and son-in-law, Dakṣa and Lord Śiva, continued for a considerably long period.

2 When Lord Brahmā appointed Dakṣa the chief of all the Prajāpatis, the progenitors of population, Dakṣa became very much puffed up.

3 Dakṣa began a sacrifice named vājapeya, and he became excessively confident of his support by Lord Brahmā. He then performed another great sacrifice, named bṛhaspati-sava.

4 While the sacrifice was being performed, many brahmarṣis, great sages, ancestral demigods and other demigods, their wives all very nicely decorated with ornaments, attended from different parts of the universe.

5-7 The chaste lady Satī, the daughter of Dakṣa, heard the heavenly denizens flying in the sky conversing about the great sacrifice being performed by her father. When she saw that from all directions the beautiful wives of the heavenly denizens, their eyes very beautifully glittering, were near her residence and were going to the sacrifice dressed in fine clothing and ornamented with earrings and necklaces with lockets, she approached her husband, the master of the bhūtas, in great anxiety, and spoke as follows.

8 Satī said: My dear Lord Śiva, your father-in-law is now executing great sacrifices, and all the demigods, having been invited by him, are going there. If you desire, we may also go.

9 I think that all my sisters must have gone to this great sacrificial ceremony with their husbands just to see their relatives. I also desire to decorate myself with the ornaments given to me by my father and go there with you to participate in that assembly.

10 My sisters, my mother's sisters and their husbands, and other affectionate relatives must be assembled there, so if I go I shall be able to see them, and I shall be able to see the flapping flags and the performance of the sacrifice by the great sages. For these reasons, my dear husband, I am very much anxious to go.

11 This manifested cosmos is a wonderful creation of the interaction of the three material modes, or the external energy of the Supreme Lord. This truth is fully known to you. Yet I am but a poor woman, and, as you know, I am not conversant with the truth. Therefore I wish to see my birthplace once more.

12 O never-born, O blue-throated one, not only my relatives but also other women, dressed in nice clothes and decorated with ornaments, are going there with their husbands and friends. Just see how their flocks of white airplanes have made the entire sky very beautiful.

13 O best of the demigods, how can the body of a daughter remain undisturbed when she hears that some festive event is taking place in her father's house? Even though you may be considering that I have not been invited, there is no harm if one goes to the house of one's friend, husband, spiritual master or father without invitation.

14 O immortal Śiva, please be kind towards me and fulfill my desire. You have accepted me as half of your body; therefore please show kindness towards me and accept my request.

15 The great sage Maitreya said: Lord Śiva, the deliverer of the hill Kailāsa, having thus been addressed by his dear wife, replied smilingly, although at the same time he remembered the malicious, heart-piercing speeches delivered by Dakṣa before the guardians of the universal affairs.

16 The great lord replied: My dear beautiful wife, you have said that one may go to a friend's house without being invited, and this is true, provided such a friend does not find fault with the guest because of bodily identification and thereby become angry towards him.

17 Although the six qualities education, austerity, wealth, beauty, youth and heritage are for the highly elevated, one who is proud of possessing them becomes blind, and thus he loses his good sense and cannot appreciate the glories of great personalities.

18 One should not go to anyone's house, even on the consideration of his being a relative or a friend, when the man is disturbed in his mind and looks upon the guest with raised eyebrows and angry eyes.

19 Lord Śiva continued: If one is hurt by the arrows of an enemy, one is not as aggrieved as when cut by the unkind words of a relative, for such grief continues to rend one's heart day and night.

20 My dear white-complexioned wife, it is clear that of the many daughters of Dakṣa you are the pet, yet you will not be honored at his house because of your being my wife. Rather, you will be sorry that you are connected with me.

21 One who is conducted by false ego and thus always distressed, both mentally and sensually, cannot tolerate the opulence of self-realized persons. Being unable to rise to the standard of self-realization, he envies such persons as much as demons envy the Supreme Personality of Godhead.

22 My dear young wife, certainly friends and relatives offer mutual greetings by standing up, welcoming one another and offering obeisances. But those who are elevated to the transcendental platform, being intelligent, offer such respects to the Supersoul, who is sitting within the body, not to the person who identifies with the body.

23 I am always engaged in offering obeisances to Lord Vāsudeva in pure Kṛṣṇa consciousness. Kṛṣṇa consciousness is always pure consciousness, in which the Supreme Personality of Godhead, known as Vāsudeva, is revealed without any covering.

24 Therefore you should not see your father, although he is the giver of your body, because he and his followers are envious of me. Because of his envy, O most worshipful one, he has insulted me with cruel words although I am innocent.

25 If in spite of this instruction you decide to go, neglecting my words, the future will not be good for you. You are most respectable, and when you are insulted by your relative, this insult will immediately be equal to death.

## SB 4.4: Satī Quits Her Body

1 The sage Maitreya said: Lord Śiva was silent after speaking to Satī, seeing her between decisions. Satī was very much anxious to see her relatives at her father's house, but at the same time she was afraid of Lord Śiva's warning. Her mind unsettled, she moved in and out of the room as a swing moves this way and that.

2 Satī felt very sorry at being forbidden to go see her relatives at her father's house, and due to affection for them, tears fell from her eyes. Shaking and very much afflicted, she looked at her uncommon husband, Lord Śiva, as if she were going to blast him with her vision.

3 Thereafter Satī left her husband, Lord Śiva, who had given her half his body due to affection. Breathing very heavily because of anger and bereavement, she went to the house of her father. This less intelligent act was due to her being a weak woman.

4 When they saw Satī leaving alone very rapidly, thousands of Lord Śiva's disciples, headed by Maṇimān and Mada, quickly followed her with his bull Nandi in front and accompanied by the Yakṣas.

5 The disciples of Lord Śiva arranged for Satī to be seated on the back of a bull and gave her the bird which was her pet. They bore a lotus flower, a mirror and all such paraphernalia for her enjoyment and covered her with a great canopy. Followed by a singing party with drums, conchshells and bugles, the entire procession was as pompous as a royal parade.

6 She then reached her father's house, where the sacrifice was being performed, and entered the arena where everyone was chanting the Vedic hymns. The great sages, brāhmaṇas and demigods were all assembled there, and there were many sacrificial animals, as well as pots made of clay, stone, gold, grass and skin, which were all requisite for the sacrifice.

7 When Satī, with her followers, reached the arena, because all the people assembled were afraid of Dakṣa, none of them received her well. No one welcomed her but her mother and sisters, who, with tears in their eyes and with glad faces, welcomed her and talked with her very pleasingly.

8 Although she was received by her sisters and mother, she did not reply to their words of reception, and although she was offered a seat and presents, she did not accept anything, for her father neither talked with her nor welcomed her by asking about her welfare.

9 Present in the arena of sacrifice, Satī saw that there were no oblations for her husband, Lord Śiva. Next she realized that not only had her father failed to invite Lord Śiva, but when he saw Lord Śiva's exalted wife, Dakṣa did not receive her either. Thus she became greatly angry, so much so that she looked at her father as if she were going to burn him with her eyes.

10 The followers of Lord Śiva, the ghosts, were ready to injure or kill Dakṣa, but Satī stopped them by her order. She was very angry and sorrowful, and in that mood she began to condemn the process of sacrificial fruitive activities and persons who are very proud of such unnecessary and troublesome sacrifices. She especially condemned her father, speaking against him in the presence of all.

11 The blessed goddess said: Lord Śiva is the most beloved of all living entities. He has no rival. No one is very dear to him, and no one is his enemy. No one but you could be envious of such a universal being, who is free from all enmity.

12 Twice-born Dakṣa, a man like you can simply find fault in the qualities of others. Lord Śiva, however, not only finds no faults with others' qualities, but if someone has a little good quality, he magnifies it greatly. Unfortunately, you have found fault with such a great soul.

13 It is not wonderful for persons who have accepted the transient material body as the self to engage always in deriding great souls. Such envy on the part of materialistic persons is very good because that is the way they fall down. They are diminished by the dust of the feet of great personalities.

14 Satī continued: My dear father, you are committing the greatest offense by envying Lord Śiva, whose very name, consisting of two syllables, śi and va, purifies one of all sinful activities. His order is never neglected. Lord Śiva is always pure, and no one but you envies him.

15 You are envious of Lord Śiva, who is the friend of all living entities within the three worlds. For the common man he fulfills all desires, and because of their engagement in thinking of his lotus feet, he also blesses higher personalities who are seeking after brahmānanda [transcendental bliss].

16 Do you think that greater, more respectable personalities than you, such as Lord Brahmā, do not know this inauspicious person who goes under the name Lord Śiva? He associates with the demons in the crematorium, his locks of hair are scattered all over his body, and he is garlanded with human skulls and smeared with ashes from the crematorium, but in spite of all these inauspicious qualities, great personalities like Brahmā honor him by accepting the flowers offered to his lotus feet and placing them with great respect on their heads.

17 Satī continued: If one hears an irresponsible person blaspheme the master and controller of religion, one should block his ears and go away if unable to punish him. But if one is able to kill, then one should by force cut out the blasphemer's tongue and kill the offender, and after that one should give up his own life.

18 Therefore I shall no longer bear this unworthy body, which has been received from you, who have blasphemed Lord Śiva. If someone has taken food which is poisonous, the best treatment is to vomit.

19 It is better to execute one's own occupational duty than to criticize others'. Elevated transcendentalists may sometimes forgo the rules and regulations of the Vedas, since they do not need to follow them, just as the demigods travel in space whereas ordinary men travel on the surface of the earth.

20 In the Vedas there are directions for two kinds of activities activities for those who are attached to material enjoyment and activities for those who are materially detached. In consideration of these two kinds of activities, there are two kinds of people, who have different symptoms. If one wants to see two kinds of activities in one person, that is contradictory. But both kinds of activities may be neglected by a person who is transcendentally situated.

21 My dear father, the opulence we possess is impossible for either you or your flatterers to imagine, for persons who engage in fruitive activities by performing great sacrifices are concerned with satisfying their bodily necessities by eating foodstuff offered as a sacrifice. We can exhibit our opulences simply by desiring to do so. This can be achieved only by great personalities who are renounced, self-realized souls.

22 You are an offender at the lotus feet of Lord Śiva, and unfortunately I have a body produced from yours. I am very much ashamed of our bodily relationship, and I condemn myself because my body is contaminated by a relationship with a person who is an offender at the lotus feet of the greatest personality.

23 Because of our family relationship, when Lord Śiva addresses me as Dākṣāyaṇī I at once become morose, and my jolliness and my smile at once disappear. I feel very much sorry that my body, which is just like a bag, has been produced by you. I shall therefore give it up.

24 Maitreya the sage told Vidura: O annihilator of enemies, while thus speaking to her father in the arena of sacrifice, Satī sat down on the ground and faced north. Dressed in saffron garments, she sanctified herself with water and closed her eyes to absorb herself in the process

of mystic yoga.

25 First of all she sat in the required sitting posture, and then she carried the life air upwards and placed it in the position of equilibrium near the navel. Then she raised her life air, mixed with intelligence, to the heart and then gradually towards the pulmonary passage, and from there to between her eyebrows.

26 Thus, in order to give up her body, which had been so respectfully and affectionately seated on the lap of Lord Śiva, who is worshiped by great sages and saints, Satī, due to anger towards her father, began to meditate on the fiery air within the body.

27 Satī concentrated all her meditation on the holy lotus feet of her husband, Lord Śiva, who is the supreme spiritual master of all the world. Thus she became completely cleansed of all taints of sin and quit her body in a blazing fire by meditation on the fiery elements.

28 When Satī annihilated her body in anger, there was a tumultuous roar all over the universe. Why had Satī, the wife of the most respectable demigod, Lord Śiva, quit her body in such a manner?

29 It was astonishing that Dakṣa, who was Prajāpati, the maintainer of all living entities, was so disrespectful to his own daughter Satī, who was not only chaste but was also a great soul, that she gave up her body because of his neglect.

30 Dakṣa, who is so hardhearted that he is unworthy to be a brāhmaṇa, will gain extensive ill fame because of his offenses to his daughter, because of not having prevented her death, and because of his great envy of the Supreme Personality of Godhead.

31 While people were talking among themselves about the wonderful voluntary death of Satī, the attendants who had come with her readied themselves to kill Dakṣa with their weapons.

32 They came forward forcibly, but Bhṛgu Muni saw the danger and, offering oblations into the southern side of the sacrificial fire, immediately uttered mantric hymns from the Yajur Veda by which the destroyers of yajṣic performances could be killed immediately.

33 When Bhṛgu Muni offered oblations in the fire, immediately many thousands of demigods named Ṛbhus became manifested. All of them were powerful, having achieved strength from Soma, the moon.

34 When the Ṛbhu demigods attacked the ghosts and Guhyakas with half-burned fuel from the yajṣa fire, all these attendants of Satī fled in different directions and disappeared. This was possible simply because of brahma-tejas, brahminical power.

### SB 4.5: Frustration of the Sacrifice of Dakṣa

1 Maitreya said: When Lord Śiva heard from Nārada that Satī, his wife, was now dead because of Prajāpati Dakṣa's insult to her and that his soldiers had been driven away by the Ṛbhu demigods, he became greatly angry.

2 Thus Lord Śiva, being extremely angry, pressed his lips with his teeth and immediately snatched from his head a strand of hair which blazed like electricity or fire. He stood up at once, laughing like a madman, and dashed the hair to the ground.

3 A fearful black demon as high as the sky and as bright as three suns combined was thereby created, his teeth very fearful and the hairs on his head like burning fire. He had thousands of arms, equipped with various weapons, and he was garlanded with the heads of men.

4 When that gigantic demon asked with folded hands, "What shall I do, my lord?" Lord Śiva, who is known as Bhūtanātha, directly ordered, "Because you are born from my body, you are the chief of all my associates. Therefore, kill Dakṣa and his soldiers at the sacrifice."

5 Maitreya continued: My dear Vidura, that black person was the personified anger of the Supreme Personality of Godhead, and he was prepared to execute the orders of Lord Śiva. Thus, considering himself capable of coping with any power offered against him, he circumambulated Lord Śiva.

6 Many other soldiers of Lord Śiva followed the fierce personality in a tumultuous uproar. He carried a great trident, fearful enough to kill even death, and on his legs he wore bangles which seemed to roar.

7 At that time, all the persons assembled in the sacrificial arena the priests, the chief of the sacrificial performance, and the brāhmaṇas and their wives wondered where the darkness was coming from. Later they could understand that it was a dust storm, and all of them were full of anxiety.

8 Conjecturing on the origin of the storm, they said: There is no wind blowing, and no cows are passing, nor is it possible that this dust storm could be raised by plunderers, for there is still the strong King Barhi, who would punish them. Where is this dust storm blowing from? Is the dissolution of the planet now to occur?

9 Prasūti, the wife of Dakṣa, along with the other women assembled, became very anxious and said: This danger has been created by Dakṣa because of the death of Satī, who, even though completely innocent, quit her body as her sisters looked on.

10 At the time of dissolution, Lord Śiva's hair is scattered, and he pierces the rulers of the different directions with his trident. He laughs and dances proudly, scattering their hands like flags, as thunder scatters the clouds all over the world.

11 The gigantic black man bared his fearful teeth. By the movements of his brows he scattered the luminaries all over the sky, and he covered them with his strong, piercing effulgence. Because of the miSBehavior of Dakṣa, even Lord Brahmā, Dakṣa's father, could not have been saved from the great exhibition of anger.

12 While all the people talked amongst themselves, Dakṣa saw dangerous omens from all sides, from the earth and from the sky.

13 My dear Vidura, all the followers of Lord Śiva surrounded the arena of sacrifice. They were of short stature and were equipped with various kinds of weapons; their bodies appeared to be like those of sharks, blackish and yellowish. They ran all around the sacrificial arena and thus began to create disturbances.

14 Some of the soldiers pulled down the pillars which were supporting the pandal of sacrifice, some of them entered the female quarters, some began destroying the sacrificial arena, and some entered the kitchen and the residential quarters.

15 They broke all the pots made for use in the sacrifice, and some of them began to extinguish the sacrificial fire. Some tore down the boundary line of the sacrificial arena, and some passed urine on the arena.

16 Some blocked the way of the fleeing sages, some threatened the women assembled there, and some arrested the demigods who were fleeing the pandal.

17 Maṇimān, one of the followers of Lord Śiva, arrested Bhṛgu Muni, and Vīrabhadra, the black demon, arrested Prajāpati Dakṣa. Another follower, who was named Caṇḍeśa, arrested Pūṣā. Nandīśvara arrested the demigod Bhaga.

18 There was a continuous shower of stones, and all the priests and other members assembled at the sacrifice were put into immense misery. For fear of their lives, they dispersed in different directions.

19 Vīrabhadra tore off the mustache of Bhṛgu, who was offering the sacrificial oblations with his hands in the fire.

20 Vīrabhadra immediately caught Bhaga, who had been moving his eyebrows during Bhṛgu's cursing of Lord Śiva, and out of great anger thrust him to the ground and forcibly put out his eyes.

21 Just as Baladeva knocked out the teeth of Dantavakra, the King of Kaliṅga, during the gambling match at the marriage ceremony of Aniruddha, Vīrabhadra knocked out the teeth of both Dakṣa, who had shown them while cursing Lord Śiva, and Pūṣā, who by smiling sympathetically had also shown his teeth.

22 Then Vīrabhadra, the giantlike personality, sat on the chest of Dakṣa and tried to separate his head from his body with sharp weapons, but was unsuccessful.

23 He tried to cut the head of Dakṣa with hymns as well as weapons, but still it was hard to cut even the surface of the skin of Dakṣa's head. Thus Vīrabhadra was exceedingly bewildered.

24 Then Vīrabhadra saw the wooden device in the sacrificial arena by which the animals were to have been killed. He took the opportunity of this facility to behead Dakṣa.

25 Upon seeing the action of Vīrabhadra, the party of Lord Śiva was pleased and cried out joyfully, and all the bhūtas, ghosts and demons that had come made a tumultuous sound. On the other hand, the brāhmaṇas in charge of the sacrifice cried out in grief at the death of Dakṣa.

26 Vīrabhadra then took the head and with great anger threw it into the southern side of the sacrificial fire, offering it as an oblation. In this way the followers of Lord Śiva devastated all the arrangements for sacrifice. After setting fire to the whole arena, they departed for their master's abode, Kailāsa.

### SB 4.6: Brahmā Satisfies Lord Śiva

1-2 All the priests and other members of the sacrificial assembly and all the demigods, having been defeated by the soldiers of Lord Śiva and injured by weapons like tridents and swords, approached Lord Brahmā with great fear. After offering him obeisances, they began to speak in detail of all the events which had taken place.

3 Both Lord Brahmā and Viṣṇu had already known that such events would occur in the sacrificial arena of Dakṣa, and knowing beforehand, they did not go to the sacrifice.

4 When Lord Brahmā heard everything from the demigods and the members who had attended the sacrifice, he replied: You cannot be happy in executing a sacrifice if you blaspheme a great personality and thereby offend his lotus feet. You cannot have happiness in that way.

5 You have excluded Lord Śiva from taking part in the sacrificial results, and therefore you are

all offenders at his lotus feet. Still, if you go without mental reservations and surrender unto him and fall down at his lotus feet, he will be very pleased.

6 Lord Brahmā also advised them that Lord Śiva is so powerful that by his anger all the planets and their chief controllers can be destroyed immediately. Also, he said that Lord Śiva was especially sorry because he had recently lost his dear wife and was also very much afflicted by the unkind words of Dakṣa. Under the circumstances, Lord Brahmā suggested, it would behoove them to go at once and beg his pardon.

7 Lord Brahmā said that no one not even himself, Indra, all the members assembled in the sacrificial arena or all the sages could know how powerful Lord Śiva is. Under the circumstances, who would dare to commit an offense at his lotus feet?

8 After thus instructing all the demigods, the Pitās and the lords of the living entities, Lord Brahmā took them with him and left for the abode of Lord Śiva, known as the Kailāsa Hill.

9 The abode known as Kailāsa is full of different herbs and vegetables, and it is sanctified by Vedic hymns and mystic yoga practice. Thus the residents of that abode are demigods by birth and have all mystic powers. Besides them there are other human beings, who are known as Kinnaras and Gandharvas and are accompanied by their beautiful wives, who are known as Apsarās, or angels.

10 Kailāsa is full of mountains filled with all kinds of valuable jewels and minerals and surrounded by all varieties of valuable trees and plants. The top of the hill is nicely decorated by various types of deer.

11 There are many waterfalls, and in the mountains there are many beautiful caves in which the very beautiful wives of the mystics are found.

12 On Kailāsa Hill there is always the rhythmical sound of the peacocks' sweet vibrations and the bees' humming. Cuckoos are always singing, and other birds whisper amongst themselves.

13 There are tall trees with straight branches that appear to call the sweet birds, and when herds of elephants pass through the hills, it appears that the Kailāsa Hill moves with them. When the waterfalls resound, it appears that Kailāsa Hill does also.

14-15 The whole of Kailāsa Hill is decorated with various kinds of trees, of which the following names may be mentioned: mandāra, pārijāta, sarala, tamāla, tāla, kovidāra, āsana, arjuna, āmra-jāti [mango], kadamba, dhūli-kadamba, nāga, punnāga, campaka, pāṭala, aśoka, bakula, kunda and kurabaka. The entire hill is decorated with such trees, which produce flowers with fragrant aromas.

16 There are other trees also which decorate the hill, such as the golden lotus flower, the cinnamon tree, mālatī, kubja, mallikā and mādhavī.

17 Kailāsa Hill is also decorated with such trees as kata, jackfruit, julara, banyan trees, plakṣas, nyagrodhas and trees producing asafetida. Also there are trees of betel nuts and bhūrja-patra, as well as rājapūga, blackberries and similar other trees.

18 There are mango trees, priyāla, madhuka and iṅguda. Besides these there are other trees, like thin bamboos, kīcaka and varieties of other bamboo trees, all decorating the tract of Kailāsa Hill.

19-20 There are different kinds of lotus flowers, such as kumuda, utpala and śatapatra. The

forest appears to be a decorated garden, and the small lakes are full of various kinds of birds who whisper very sweetly. There are many kinds of other animals also, like deer, monkeys, boars, lions, ṛkṣas, śalyakas, forest cows, forest asses, tigers, small deer, buffalo and many other animals, who are fully enjoying their lives.

21 There are varieties of deer, such as karṇāntra, ekapada, aśvāsya, vṛka and kastūrī, the deer which bears musk. Besides the deer there are many banana trees which decorate the small hillside lakes very nicely.

22 There is a small lake named Alakanandā in which Satī used to take her bath, and that lake is especially auspicious. All the demigods, after seeing the specific beauty of Kailāsa Hill, were struck with wonder at the great opulence to be found there.

23 Thus the demigods saw the wonderfully beautiful region known as Alakā in the forest known as Saugandhika, which means "full of fragrance." The forest is known as Saugandhika because of its abundance of lotus flowers.

24 They also saw the two rivers named Nandā and Alakanandā. These two rivers are sanctified by the dust of the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead, Govinda.

25 My dear Kṣattā, Vidura, the celestial damsels come down to those rivers in their airplanes with their husbands, and after sexual enjoyment, they enter the water and enjoy sprinkling their husbands with water.

26 After the damsels of the heavenly planets bathe in the water, it becomes yellowish and fragrant due to the kuṅkuma from their bodies. Thus the elephants come to bathe there with their wives, the she-elephants, and they also drink the water, although they are not thirsty.

27 The airplanes of the heavenly denizens are bedecked with pearls, gold and many valuable jewels. The heavenly denizens are compared to clouds in the sky decorated with occasional flashes of electric lightning.

28 While traveling, the demigods passed over the forest known as Saugandhika, which is full of varieties of flowers, fruits and desire trees. While passing over the forest, they also saw the regions of Yakṣeśvara.

29 In that celestial forest there were many birds whose necks were colored reddish and whose sweet sounds mixed with the humming of the bees. The lakes were abundantly decorated with crying swans as well as strong-stemmed lotus flowers.

30 All these atmospheric influences unsettled the forest elephants who flocked together in the sandalwood forest, and the blowing wind agitated the minds of the damsels there for further sexual enjoyment.

31 They also saw that the bathing ghāṭas and their staircases were made of vaidūrya-maṇi. The water was full of lotus flowers. Passing by such lakes, the demigods reached a place where there was a great banyan tree.

32 That banyan tree was eight hundred miles high, and its branches spread over six hundred miles around. The tree cast a fine shade which permanently cooled the temperature, yet there was no noise of birds.

33 The demigods saw Lord Śiva sitting under that tree, which was competent to give perfection to mystic yogīs and deliver all people. As grave as time eternal, he appeared to have given up all anger.

34 Lord Śiva sat there, surrounded by saintly persons like Kuvera, the master of the Guhyakas, and the four Kumāras, who were already liberated souls. Lord Śiva was grave and saintly.

35 The demigods saw Lord Śiva situated in his perfection as the master of the senses, knowledge, fruitive activities and the path of achieving perfection. He was the friend of the entire world, and by virtue of his full affection for everyone, he was very auspicious.

36 He was seated on a deerskin and was practicing all forms of austerity. Because his body was smeared with ashes, he looked like an evening cloud. On his hair was the sign of a half-moon, a symbolic representation.

37 He was seated on a straw mattress and speaking to all present, including the great sage Nārada, to whom he specifically spoke about the Absolute Truth.

38 His left leg was placed on his right thigh, and his left hand was placed on his left thigh. [This sitting posture is called vīrāsana.] In his right hand he held rudrākṣa beads, and his finger was in the mode of argument.

39 All the sages and demigods, headed by Indra, offered their respectful obeisances unto Lord Śiva with folded hands. Lord Śiva was dressed in saffron garments and absorbed in trance, thus appearing to be the foremost of all sages.

40 Lord Śiva's lotus feet were worshiped by both the demigods and demons, but still, in spite of his exalted position, as soon as he saw that Lord Brahmā was there among all the other demigods, he immediately stood up and offered him respect by bowing down and touching his lotus feet, just as Vāmanadeva offered His respectful obeisances to Kaśyapa Muni.

41 All the sages who were sitting with Lord Śiva, such as Nārada and others, also offered their respectful obeisances to Lord Brahmā. After being so worshiped, Lord Brahmā, smiling, began to speak to Lord Śiva.

42 Lord Brahmā said: My dear Lord Śiva, I know that you are the controller of the entire material manifestation, the combination father and mother of the cosmic manifestation, and the Supreme Brahman beyond the cosmic manifestation as well. I know you in that way.

43 My dear lord, you create this cosmic manifestation, maintain it, and annihilate it by expansion of your personality, exactly as a spider creates, maintains and winds up its web.

44 My dear lord, Your Lordship has introduced the system of sacrifices through the agency of Dakṣa, and thus one may derive the benefits of religious activities and economic development. Under your regulative principles, the institution of the four varṇās and āśramas is respected. The brāhmaṇas therefore vow to follow this system strictly.

45 O most auspicious lord, you have ordained the heavenly planets, the spiritual Vaikuṇṭha planets and the impersonal Brahman sphere as the respective destinations of the performers of auspicious activities. Similarly, for others, who are miscreants, you have destined different kinds of hells which are horrible and ghastly. Yet sometimes it is found that their destinations are just the opposite. It is very difficult to ascertain the cause of this.

46 My dear Lord, devotees who have fully dedicated their lives unto your lotus feet certainly observe your presence as Paramātmā in each and every being, and as such they do not differentiate between one living being and another. Such persons treat all living entities equally. They never become overwhelmed by anger like animals, who can see nothing without differentiation.

47 Persons who observe everything with differentiation, who are simply attached to fruitive activities, who are mean-minded, who are always pained to see the flourishing condition of others and who thus give distress to them by uttering harsh and piercing words have already been killed by providence. Thus there is no need for them to be killed again by an exalted personality like you.

48 My dear lord, if in some places materialists, who are already bewildered by the insurmountable illusory energy of the Supreme Godhead, sometimes commit offenses, a saintly person, with compassion, does not take this seriously. Knowing that they commit offenses because they are overpowered by the illusory energy, he does not show his prowess to counteract them.

49 My dear lord, you are never bewildered by the formidable influence of the illusory energy of the Supreme Personality of Godhead. Therefore you are omniscient and should be merciful and compassionate toward those who are bewildered by the same illusory energy and are very much attached to fruitive activities.

50 My dear Lord Śiva, you are a shareholder of a portion of the sacrifice, and you are the giver of the result. The bad priests did not deliver your share, and therefore you destroyed everything, and the sacrifice remains unfinished. Now you can do the needful and take your rightful share.

51 My dear lord, by your mercy the performer of the sacrifice [King Dakṣa] may get back his life, Bhaga may get back his eyes, Bhṛgu his mustache, and Pūṣā his teeth.

52 O Lord Śiva, may the demigods and the priests whose limbs have been broken by your soldiers recover from the injuries by your grace.

53 O destroyer of the sacrifice, please take your portion of the sacrifice and let the sacrifice be completed by your grace.

## SB 4.7: The Sacrifice Performed by Dakṣa

1 The sage Maitreya said: O mighty-armed Vidura, Lord Śiva, being thus pacified by the words of Lord Brahmā, spoke as follows in answer to Lord Brahmā's request.

2 Lord Śiva said: My dear father, Brahmā, I do not mind the offenses created by the demigods. Because these demigods are childish and less intelligent, I do not take a serious view of their offenses, and I have punished them only in order to right them.

3 Lord Śiva continued: Since the head of Dakṣa has already been burned to ashes, he will have the head of a goat. The demigod known as Bhaga will be able to see his share of sacrifice through the eyes of Mitra.

4 The demigod Pūṣā will be able to chew only through the teeth of his disciples, and if alone, he will have to satisfy himself by eating dough made from chickpea flour. But the demigods who have agreed to give me my share of the sacrifice will recover from all their injuries.

5 Those who have had their arms cut off will have to work with the arms of Aśvinī-kumāra, and those whose hands were cut off will have to do their work with the hands of Pūṣā. The priests will also have to act in that manner. As for Bhṛgu, he will have the beard from the goat's head.

6 The great sage Maitreya said: My dear Vidura, all the personalities present were very much satisfied in heart and soul upon hearing the words of Lord Śiva, who is the best among the

benedictors.

7 Thereafter, Bhṛgu, the chief of the great sages, invited Lord Śiva to come to the sacrificial arena. Thus the demigods, accompanied by the sages, Lord Śiva, and Lord Brahmā, all went to the place where the great sacrifice was being performed.

8 After everything was executed exactly as directed by Lord Śiva, Dakṣa's body was joined to the head of the animal meant to be killed in the sacrifice.

9 When the animal's head was fixed on the body of King Dakṣa, Dakṣa was immediately brought to consciousness, and as he awakened from sleep, the King saw Lord Śiva standing before him.

10 At that time, when Dakṣa saw Lord Śiva, who rides upon a bull, his heart, which was polluted by envy of Lord Śiva, was immediately cleansed, just as the water in a lake is cleansed by autumn rains.

11 King Dakṣa wanted to offer prayers to Lord Śiva, but as he remembered the ill-fated death of his daughter Satī, his eyes filled with tears, and in bereavement his voice choked up and he could not say anything.

12 At this time, King Dakṣa, afflicted by love and affection, was very much awakened to his real senses. With great endeavor, he pacified his mind, checked his feelings, and with pure consciousness began to offer prayers to Lord Śiva.

13 King Dakṣa said: My dear Lord Śiva, I committed a great offense against you, but you are so kind that instead of withdrawing your mercy, you have done me a great favor by punishing me. You and Lord Viṣṇu never neglect even useless, unqualified brāhmaṇas. Why, then, should you neglect me, who am engaged in performing sacrifices?

14 My dear great and powerful Lord Śiva, you were created first from the mouth of Lord Brahmā in order to protect the brāhmaṇas in pursuing education, austerities, vows and self-realization. As protector of the brāhmaṇas, you always protect the regulative principles they follow, just as a cowherd boy keeps a stick in his hand to give protection to the cows.

15 I did not know your full glories. For this reason, I threw arrows of sharp words at you in the open assembly, although you did not take them into account. I was going down to hell because of my disobedience to you, who are the most respectable personality, but you took compassion upon me and saved me by awarding punishment. I request that you be pleased by your own mercy, since I cannot satisfy you by my words.

16 The great sage Maitreya said: Thus being pardoned by Lord Śiva, King Dakṣa, with the permission of Lord Brahmā, again began the performance of the yajṣa, along with the great learned sages, the priests and others.

17 Thereafter, in order to resume the activities of sacrifice, the brāhmaṇas first arranged to purify the sacrificial arena of the contamination caused by the touch of Vīrabhadra and the other ghostly followers of Lord Śiva. Then they arranged to offer into the fire the oblations known as puroḍāśa.

18 The great sage Maitreya said to Vidura: My dear Vidura, as soon as King Dakṣa offered the clarified butter with Yajur Veda mantras in sanctified meditation, Lord Viṣṇu appeared there in His original form as Nārāyaṇa.

19 Lord Nārāyaṇa was seated on the shoulder of Stotra, or Garuḍa, who had big wings. As soon as the Lord appeared, all directions were illuminated, diminishing the luster of Brahmā and the others present.

20 His complexion was blackish, His garment yellow like gold, and His helmet as dazzling as the sun. His hair was bluish, the color of black bees, and His face was decorated with earrings. His eight hands held a conchshell, wheel, club, lotus flower, arrow, bow, shield and sword, and they were decorated with golden ornaments such as bangles and bracelets. His whole body resembled a blossoming tree beautifully decorated with various kinds of flowers.

21 Lord Viṣṇu looked extraordinarily beautiful because the goddess of fortune and a garland were situated on His chest. His face was beautifully decorated with a smiling attitude which can captivate the entire world, especially the devotees. Fans of white hair appeared on both sides of the Lord like white swans, and the white canopy overhead looked like the moon.

22 As soon as Lord Viṣṇu was visible, all the demigods Lord Brahmā and Lord Śiva, the Gandharvas and all present there immediately offered their respectful obeisances by falling down straight before Him.

23 In the presence of the glaring effulgence of the bodily luster of Nārāyaṇa, everyone else's luster faded away, and everyone stopped speaking. Fearful with awe and veneration, all present touched their hands to their heads and prepared to offer their prayers to the Supreme Personality of Godhead, Adhokṣaja.

24 Although the mental scope of even demigods like Brahmā was unable to comprehend the unlimited glories of the Supreme Lord, they were all able to perceive the transcendental form of the Supreme Personality of Godhead by His grace. Only by such grace could they offer their respectful prayers according to their different capacities.

25 When Lord Viṣṇu accepted the oblations offered in the sacrifice, Dakṣa, the Prajāpati, began with great pleasure to offer respectful prayers unto Him. The Supreme Personality of Godhead is actually the master of all sacrifices and preceptor of all the Prajāpatis, and He is served even by such personalities as Nanda and Sunanda.

26 Dakṣa addressed the Supreme Personality of Godhead: My dear Lord, You are transcendental to all speculative positions. You are completely spiritual, devoid of all fear, and You are always in control of the material energy. Even though You appear in the material energy, You are situated transcendentally. You are always free from material contamination because You are completely self-sufficient.

27 The priests addressed the Lord, saying: O Lord, transcendental to material contamination, by the curse offered by Lord Śiva's men we have become attached to fruitive activities, and thus we are now fallen and therefore do not know anything about You. On the contrary, we are now involved in the injunctions of the three departments of the Vedic knowledge under the plea of executing rituals in the name of yajṣa. We know that You have made arrangements for distributing the respective shares of the demigods.

28 The members of the assembly addressed the Lord: O exclusive shelter for all who are situated in troubled life, in this formidable fort of conditional existence the time element, like a snake, is always looking for an opportunity to strike. This world is full of ditches of so-called distress and happiness, and there are many ferocious animals always ready to attack. The fire of lamentation is always blazing, and the mirage of false happiness is always alluring, but one has no shelter from them. Thus foolish persons live in the cycle of birth and death, always overburdened in discharging their so-called duties, and we do not know when they will accept

the shelter of Your lotus feet.

29 Lord Śiva said: My dear Lord, my mind and consciousness are always fixed on Your lotus feet, which, as the source of all benediction and the fulfillment of all desires, are worshiped by all liberated great sages because Your lotus feet are worthy of worship. With my mind fixed on Your lotus feet, I am no longer disturbed by persons who blaspheme me, claiming that my activities are not purified. I do not mind their accusations, and I excuse them out of compassion, just as You exhibit compassion toward all living entities.

30Śrī Bhṛgu said: My dear Lord, all living entities, beginning from the highest, namely Lord Brahmā, down to the ordinary ant, are under the influence of the insurmountable spell of illusory energy, and thus they are ignorant of their constitutional position. Everyone believes in the concept of the body, and all are thus submerged in the darkness of illusion. They are actually unable to understand how You live in every living entity as the Supersoul, nor can they understand Your absolute position. But You are the eternal friend and protector of all surrendered souls. Therefore, please be kind toward us and forgive all our offenses.

31 Lord Brahmā said: My dear Lord, Your personality and eternal form cannot be understood by any person who is trying to know You through the different processes of acquiring knowledge. Your position is always transcendental to the material creation, whereas the empiric attempt to understand You is material, as are its objectives and instruments.

32 King Indra said: My dear Lord, Your transcendental form with eight hands and weapons in each of them appears for the welfare of the entire universe, and it is very pleasing to the mind and eyes. In such a form, Your Lordship is always prepared to punish the demons, who are envious of Your devotees.

33 The wives of the performers of the sacrifice said: My dear Lord, this sacrifice was arranged under the instruction of Brahmā, but unfortunately Lord Śiva, being angry at Dakṣa, devastated the entire scene, and because of his anger the animals meant for sacrifice are lying dead. Therefore the preparations of the yajṣa have been lost. Now, by the glance of Your lotus eyes, the sanctity of this sacrificial arena may be again invoked.

34 The sages prayed: Dear Lord, Your activities are most wonderful, and although You do everything by Your different potencies, You are not at all attached to such activities. You are not even attached to the goddess of fortune, who is worshiped by the great demigods like Brahmā, who pray to achieve her mercy.

35 The Siddhas prayed: Like an elephant that has suffered in a forest fire but can forget all its troubles by entering a river, our minds, O Lord, always merge in the nectarean river of Your transcendental pastimes, and they desire never to leave such transcendental bliss, which is as good as the pleasure of merging in the Absolute.

36 The wife of Dakṣa prayed as follows: My dear Lord, it is very fortunate that You have appeared in this arena of sacrifice. I offer my respectful obeisances unto You, and I request that You be pleased on this occasion. The sacrificial arena is not beautiful without You, just as a body is not beautiful without the head.

37 The governors of various planets spoke as follows: Dear Lord, we believe only in our direct perception, and therefore we see You as a creation of the material world. But under the circumstances we do not know whether we have actually seen You with our material senses. By our material senses we can simply perceive the cosmic manifestation, but You are beyond the five elements. You are the sixth.

38 The great mystics said: Dear Lord, persons who see You as nondifferent from themselves, knowing that You are the Supersoul of all living entities, are certainly very, very dear to You. You are very favorable toward those who engage in devotional service, accepting You as the Lord and themselves as the servants. By Your mercy, You are always inclined in their favor.

39 We offer our respectful obeisances unto the Supreme, who has created varieties of manifestations and put them under the spell of the three qualities of the material world in order to create, maintain and annihilate them. He Himself is not under the control of the external energy: in His personal feature He is completely devoid of the variegated manifestation of material qualities, and He is under no illusion of false identification.

40 The personified Vedas said: We offer our respectful obeisances unto You, the Lord, the shelter of the quality of goodness and therefore the source of all religion, austerity and penance, for You are transcendental to all material qualities and no one knows You or Your actual situation.

41 The fire-god said: My dear Lord, I offer my respectful obeisances unto You because by Your favor I am as luminous as blazing fire and I accept the offerings mixed with butter and offered in sacrifice. The five kinds of offerings according to the Yajur Veda are all Your different energies, and You are worshiped by five kinds of Vedic hymns. Sacrifice means You, the Supreme Personality of Godhead.

42 The demigods said: Dear Lord, formerly, when there was a devastation, You conserved all the different energies of material manifestation. At that time, all the inhabitants of the higher planets, represented by such liberated souls as Sanaka, were meditating on You by philosophical speculation. You are therefore the original person, and You rest in the water of devastation on the bed of the Śeṣa snake. Now, today, You are visible to us, who are all Your servants. Please give us protection.

43 The Gandharvas said: Dear Lord, all the demigods, including Lord Śiva, Lord Brahmā and Indra, along with Marīci and the other great sages, are all only differentiated parts and parcels of Your body. You are the Supreme Almighty Great; the whole creation is just like a plaything for You. We always accept You as the Supreme Personality of Godhead, and we offer our respectful obeisances unto You.

44 The Vidyādharas said: Dear Lord, this human form of body is meant for attaining the highest perfectional objective, but, impelled by Your external energy, the living entity misidentifies himself with his body and with the material energy, and therefore, influenced by māyā, he wants to become happy by material enjoyment. He is misled and always attracted by temporary, illusory happiness. But Your transcendental activities are so powerful that if one engages in hearing and chanting such topics, he can be delivered from illusion.

45 The brāhmaṇas said: Dear Lord, You are sacrifice personified. You are the offering of clarified butter, You are the fire, You are the chanting of Vedic hymns by which the sacrifice is conducted, You are the fuel, You are the flame, You are the kuśa grass, and You are the sacrificial pots. You are the priests who perform the yajṣa, You are the demigods headed by Indra, and You are the sacrificial animal. Everything that is sacrificed is You or Your energy.

46 Dear Lord, O personified Vedic knowledge, in the past millennium, long, long ago, when You appeared as the great boar incarnation, You picked up the world from the water, as an elephant picks up a lotus flower from a lake. When You vibrated transcendental sound in that gigantic form of a boar, the sound was accepted as a sacrificial hymn, and great sages like Sanaka meditated upon it and offered prayers for Your glorification.

47 Dear Lord, we were awaiting Your audience because we have been unable to perform the yajṣas according to the Vedic rituals. We pray unto You, therefore, to be pleased with us. Simply by chanting Your holy name, one can surpass all obstacles. We offer our respectful obeisances unto You in Your presence.

48Śrī Maitreya said: After Lord Viṣṇu was glorified by all present, Dakṣa, his consciousness purified, arranged to begin again the yajṣa which had been devastated by the followers of Lord Śiva.

49 Maitreya continued: My dear sinless Vidura, Lord Viṣṇu is actually the enjoyer of the results of all sacrifices, yet because of His being the Supersoul of all living entities, He was satisfied simply with His share of the sacrificial offerings. He therefore addressed Dakṣa in a pleasing attitude.

50 Lord Viṣṇu replied: Brahmā, Lord Śiva and I are the supreme cause of the material manifestation. I am the Supersoul, the self-sufficient witness. But impersonally there is no difference between Brahmā, Lord Śiva and Me.

51 The Lord continued: My dear Dakṣa Dvija, I am the original Personality of Godhead, but in order to create, maintain and annihilate this cosmic manifestation, I act through My material energy, and according to the different grades of activity, My representations are differently named.

52 The Lord continued: One who is not in proper knowledge thinks that demigods like Brahmā and Śiva are independent, or he even thinks that the living entities are independent.

53 A person with average intelligence does not think the head and other parts of the body to be separate. Similarly, My devotee does not differentiate Viṣṇu, the all-pervading Personality of Godhead, from any thing or any living entity.

54 The Lord continued: One who does not consider Brahmā, Viṣṇu, Śiva or the living entities in general to be separate from the Supreme, and who knows Brahman, actually realizes peace; others do not.

55 The sage Maitreya said: Thus Dakṣa, the head of all Prajāpatis, having been nicely instructed by the Supreme Personality of Godhead, worshiped Lord Viṣṇu. After worshiping Him by performing the prescribed sacrificial ceremonies, Dakṣa separately worshiped Lord Brahmā and Lord Śiva.

56 With all respect, Dakṣa worshiped Lord Śiva with his share of the remnants of the yajṣa. After finishing the ritualistic sacrificial activities, he satisfied all the other demigods and the other people assembled there. Then, after finishing all these duties with the priests, he took a bath and was fully satisfied.

57 Thus worshiping the Supreme Lord Viṣṇu by the ritualistic performance of sacrifice, Dakṣa was completely situated on the religious path. Moreover, all the demigods who had assembled at the sacrifice blessed him that he might increase his piety, and then they left.

58 Maitreya said: I have heard that after giving up the body she had received from Dakṣa, Dākṣāyaṇī (his daughter) took her birth in the kingdom of the Himālayas. She was born as the daughter of Menā. I heard this from authoritative sources.

59 Ambikā [goddess Durgā], who was known as Dākṣāyiṇī [Satī], again accepted Lord Śiva as her husband, just as different energies of the Supreme Personality of Godhead act during the

course of a new creation.

60 Maitreya said: My dear Vidura, I heard this story of the Dakṣa yajṣa, which was devastated by Lord Śiva, from Uddhava, a great devotee and a disciple of Bṛhaspati.

61 The great sage Maitreya concluded: If one hears and again narrates, with faith and devotion, this story of the Dakṣa yajṣa as it was conducted by the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, then certainly one is cleared of all contamination of material existence, O son of Kuru.

### SB 4.8: Dhruva Mahārāja Leaves Home for the Forest

1 The great sage Maitreya said: The four great Kumāra sages headed by Sanaka, as well as Nārada, Ṛbhu, Haṁsa, Aruṇi and Yati, all sons of Brahmā, did not live at home, but became ūrdhva-retā, or naiṣṭhika-brahmacārīs, unadulterated celibates.

2 Another son of Lord Brahmā was Irreligion, whose wife's name was Falsity. From their combination were born two demons named Dambha, or Bluffing, and Māyā, or Cheating. These two demons were taken by a demon named Nirṛti, who had no children.

3 Maitreya told Vidura: O great soul, from Dambha and Māyā were born Greed and Nikṛti, or Cunning. From their combination came children named Krodha [Anger] and Hiṁsā [Envy], and from their combination were born Kali and his sister Durukti (Harsh Speech).

4 O greatest of all good men, by the combination of Kali and Harsh Speech were born children named Mṛtyu (Death) and Bhīti (Fear). From the combination of Mṛtyu and Bhīti came children named Yātanā (Excessive Pain) and Niraya (Hell).

5 My dear Vidura, I have summarily explained the causes of devastation. One who hears this description three times attains piety and washes the sinful contamination from his soul.

6 Maitreya continued: O best of the Kuru dynasty, I shall now describe to you the descendants of Svāyambhuva Manu, who was born of a part of a plenary expansion of the Supreme Personality of Godhead.

7 Svāyambhuva Manu had two sons by his wife, Śatarūpā, and the names of the sons were Uttānapāda and Priyavrata. Because both of them were descendants of a plenary expansion of Vāsudeva, the Supreme Personality of Godhead, they were very competent to rule the universe to maintain and protect the citizens.

8 King Uttānapāda had two queens, named Sunīti and Suruci. Suruci was much more dear to the King; Sunīti, who had a son named Dhruva, was not his favorite.

9 Once upon a time, King Uttānapāda was patting the son of Suruci, Uttama, placing him on his lap. Dhruva Mahārāja was also trying to get on the King's lap, but the King did not very much welcome him.

10 While the child, Dhruva Mahārāja, was trying to get on the lap of his father, Suruci, his stepmother, became very envious of the child, and with great pride she began to speak so as to be heard by the King himself.

11 Queen Suruci told Dhruva Mahārāja: My dear child, you do not deserve to sit on the throne or on the lap of the King. Surely you are also the son of the King, but because you did not take your birth from my womb, you are not qualified to sit on your father's lap.

12 My dear child, you are unaware that you were born not of my womb but of another woman. Therefore you should know that your attempt is doomed to failure. You are trying to fulfill a desire which is impossible to fulfill.

13 If you at all desire to rise to the throne of the King, then you have to undergo severe austerities. First of all you must satisfy the Supreme Personality of Godhead, Nārāyaṇa, and then, when you are favored by Him because of such worship, you shall have to take your next birth from my womb.

14 The sage Maitreya continued: My dear Vidura, as a snake, when struck by a stick, breathes very heavily, Dhruva Mahārāja, having been struck by the strong words of his stepmother, began to breathe very heavily because of great anger. When he saw that his father was silent and did not protest, he immediately left the palace and went to his mother.

15 When Dhruva Mahārāja reached his mother, his lips were trembling in anger, and he was crying very grievously. Queen Sunīti immediately lifted her son onto her lap, while the palace residents who had heard all the harsh words of Suruci related everything in detail. Thus Sunīti also became greatly aggrieved.

16 This incident was unbearable to Sunīti's patience. She began to burn as if in a forest fire, and in her grief she became just like a burnt leaf and so lamented. As she remembered the words of her co-wife, her bright, lotuslike face filled with tears, and thus she spoke.

17 She also was breathing very heavily, and she did not know the factual remedy for the painful situation. Not finding any remedy, she said to her son: My dear son, don't wish for anything inauspicious for others. Anyone who inflicts pains upon others suffers himself from that pain.

18 Sunīti said: My dear boy, whatever has been spoken by Suruci is so, because the King, your father, does not consider me his wife or even his maidservant. He feels ashamed to accept me. Therefore it is a fact that you have taken birth from the womb of an unfortunate woman, and by being fed from her breast you have grown up.

19 My dear boy, whatever has been spoken by Suruci, your stepmother, although very harsh to hear, is factual. Therefore, if you desire at all to sit on the same throne as your stepbrother, Uttama, then give up your envious attitude and immediately try to execute the instructions of your stepmother. Without further delay, you must engage yourself in worshiping the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead.

20 Sunīti continued: The Supreme Personality of Godhead is so great that simply by worshiping His lotus feet, your great-grandfather, Lord Brahmā, acquired the necessary qualifications to create this universe. Although he is unborn and is the chief of all living creatures, he is situated in that exalted post because of the mercy of the Supreme Personality of Godhead, whom even great yogīs worship by controlling the mind and regulating the life air [prāṇa].

21 Sunīti informed her son: Your grandfather Svāyambhuva Manu executed great sacrifices with distribution of charity, and thereby, with unflinching faith and devotion, he worshiped and satisfied the Supreme Personality of Godhead. By acting in that way, he achieved the greatest success in material happiness and afterwards achieved liberation, which is impossible to obtain by worshiping the demigods.

22 My dear boy, you also should take shelter of the Supreme Personality of Godhead, who is very kind to His devotees. Persons seeking liberation from the cycle of birth and death always

take shelter of the lotus feet of the Lord in devotional service. Becoming purified by executing your allotted occupation, just situate the Supreme Personality of Godhead in your heart, and without deviating for a moment, engage always in His service.

23 My dear Dhruva, as far as I am concerned, I do not find anyone who can mitigate your distress but the Supreme Personality of Godhead, whose eyes are like lotus petals. Many demigods such as Lord Brahmā seek the pleasure of the goddess of fortune, but the goddess of fortune herself, with a lotus flower in her hand, is always ready to render service to the Supreme Lord.

24 The great sage Maitreya continued: The instruction of Dhruva Mahārāja's mother, Sunīti, was actually meant for fulfilling his desired objective. Therefore, after deliberate consideration and with intelligence and fixed determination, he left his father's house.

25 The great sage Nārada overheard this news, and understanding all the activities of Dhruva Mahārāja, he was struck with wonder. He approached Dhruva, and touching the boy's head with his all-virtuous hand, he spoke as follows.

26 How wonderful are the powerful kṣatriyas! They cannot tolerate even a slight infringement upon their prestige. Just imagine! This boy is only a small child, yet harsh words from his stepmother proved unbearable to him.

27 The great sage Nārada told Dhruva: My dear boy, you are only a little boy whose attachment is to sports and other frivolities. Why are you so affected by words insulting your honor?

28 My dear Dhruva, if you feel that your sense of honor has been insulted, you still have no cause for dissatisfaction. This kind of dissatisfaction is another feature of the illusory energy; every living entity is controlled by his previous actions, and therefore there are different varieties of life for enjoying or suffering.

29 The process of the Supreme Personality of Godhead is very wonderful. One who is intelligent should accept that process and be satisfied with whatever comes, favorable or unfavorable, by His supreme will.

30 Now you have decided to undertake the mystic process of meditation under the instruction of your mother, just to achieve the mercy of the Lord, but in my opinion such austerities are not possible for any ordinary man. It is very difficult to satisfy the Supreme Personality of Godhead.

31 Nārada Muni continued: After trying this process for many, many births and remaining unattached to material contamination, placing themselves continually in trance and executing many types of austerities, many mystic yogīs were unable to find the end of the path of God realization.

32 For this reason, my dear boy, you should not endeavor for this; it will not be successful. It is better that you go home. When you are grown up, by the mercy of the Lord you will get a chance for these mystic performances. At that time you may execute this function.

33 One should try to keep himself satisfied in any condition of life whether distress or happiness which is offered by the supreme will. A person who endures in this way is able to cross over the darkness of nescience very easily.

34 Every man should act like this: when he meets a person more qualified than himself, he should be very pleased; when he meets someone less qualified than himself, he should be compassionate toward him; and when he meets someone equal to himself, he should make

friendship with him. In this way one is never affected by the threefold miseries of this material world.

35 Dhruva Mahārāja said: My dear Lord Nāradajī, for a person whose heart is disturbed by the material conditions of happiness and distress, whatever you have so kindly explained for attainment of peace of mind is certainly a very good instruction. But as far as I am concerned, I am covered by ignorance, and this kind of philosophy does not touch my heart.

36 My dear lord, I am very impudent for not accepting your instructions, but this is not my fault. It is due to my having been born in a kṣatriya family. My stepmother, Suruci, has pierced my heart with her harsh words. Therefore your valuable instruction does not stand in my heart.

37 O learned brāhmaṇa, I want to occupy a position more exalted than any yet achieved within the three worlds by anyone, even by my father and grandfather. If you will oblige, kindly advise me of an honest path to follow by which I can achieve the goal of my life.

38 My dear lord, you are a worthy son of Lord Brahmā, and you travel, playing on your musical instrument, the vīṇā, for the welfare of the entire universe. You are like the sun, which rotates in the universe for the benefit of all living beings.

39 The sage Maitreya continued: The great personality Nārada Muni, upon hearing the words of Dhruva Mahārāja, became very compassionate toward him, and in order to show him his causeless mercy, he gave him the following expert advice.

40 The great sage Nārada told Dhruva Mahārāja: The instruction given by your mother, Sunīti, to follow the path of devotional service to the Supreme Personality of Godhead, is just suitable for you. You should therefore completely absorb yourself in the devotional service of the Lord.

41 Any person who desires the fruits of the four principles religiosity, economic development, sense gratification and, at the end, liberation, should engage himself in the devotional service of the Supreme Personality of Godhead, for worship of His lotus feet yields the fulfillment of all of these.

42 My dear boy, I therefore wish all good fortune for you. You should go to the bank of the Yamunā, where there is a virtuous forest named Madhuvana, and there be purified. Just by going there, one draws nearer to the Supreme Personality of Godhead, who always lives there.

43 Nārada Muni instructed: My dear boy, in the waters of the Yamunā River, which is known as Kālindī, you should take three baths daily because the water is very auspicious, sacred and clear. After bathing, you should perform the necessary regulative principles for aṣṭāṅga-yoga and then sit down on your āsana [sitting place] in a calm and quiet position.

44 After sitting on your seat, practice the three kinds of breathing exercises, and thus gradually control the life air, the mind and the senses. Completely free yourself from all material contamination, and with great patience begin to meditate on the Supreme Personality of Godhead.

45 [The form of the Lord is described herein.] The Lord's face is perpetually very beautiful and pleasing in attitude. To the devotees who see Him, He appears never to be displeased, and He is always prepared to award benedictions to them. His eyes, His nicely decorated eyebrows, His raised nose and His broad forehead are all very beautiful. He is more beautiful than all the demigods.

46 Nārada Muni continued: The Lord's form is always youthful. Every limb and every part of

His body is properly formed, free from defect. His eyes and lips are pinkish like the rising sun. He is always prepared to give shelter to the surrendered soul, and anyone so fortunate as to look upon Him feels all satisfaction. The Lord is always worthy to be the master of the surrendered soul, for He is the ocean of mercy.

47 The Lord is further described as having the mark of Śrīvatsa, or the sitting place of the goddess of fortune, and His bodily hue is deep bluish. The Lord is a person, He wears a garland of flowers, and He is eternally manifest with four hands, which hold [beginning from the lower left hand] a conchshell, wheel, club and lotus flower.

48 The entire body of the Supreme Personality of Godhead, Vāsudeva, is decorated. He wears a valuable jeweled helmet, necklaces and bracelets, His neck is adorned with the Kaustubha jewel, and He is dressed in yellow silk garments.

49 The Lord is decorated with small golden bells around His waist, and His lotus feet are decorated with golden ankle bells. All His bodily features are very attractive and pleasing to the eyes. He is always peaceful, calm and quiet and very pleasing to the eyes and the mind.

50 Real yogīs meditate upon the transcendental form of the Lord as He stands on the whorl of the lotus of their hearts, the jewellike nails of His lotus feet glittering.

51 The Lord is always smiling, and the devotee should constantly see the Lord in this form, as He looks very mercifully toward the devotee. In this way the meditator should look toward the Supreme Personality of Godhead, the bestower of all benedictions.

52 One who meditates in this way, concentrating his mind upon the always auspicious form of the Lord, is very soon freed from all material contamination, and he does not come down from meditation upon the Lord.

53 O son of the King, now I shall speak unto you the mantra which is to be chanted with this process of meditation. One who carefully chants this mantra for seven nights can see the perfect human beings flying in the sky.

54 Oṁ namo bhagavate vāsudevāya. This is the twelve-syllable mantra for worshiping Lord Kṛṣṇa. One should install the physical forms of the Lord, and with the chanting of the mantra one should offer flowers and fruits and other varieties of foodstuffs exactly according to the rules and regulations prescribed by authorities. But this should be done in consideration of place, time, and attendant conveniences and inconveniences.

55 One should worship the Lord by offering pure water, pure flower garlands, fruits, flowers and vegetables which are available in the forest, or by collecting newly grown grasses, small buds of flowers or even the skins of trees, and if possible, by offering tulasī leaves, which are very dear to the Supreme Personality of Godhead.

56 It is possible to worship a form of the Lord made of physical elements such as earth, water, pulp, wood and metal. In the forest one can make a form with no more than earth and water and worship Him according to the above principles. A devotee who has full control over his self should be very sober and peaceful and must be satisfied simply with eating whatever fruits and vegetables are available in the forest.

57 My dear Dhruva, besides worshiping the Deity and chanting the mantra three times a day, you should meditate upon the transcendental activities of the Supreme Personality of Godhead in His different incarnations, as exhibited by His supreme will and personal potencies.

58 One should follow in the footsteps of previous devotees regarding how to worship the

Supreme Lord with the prescribed paraphernalia, or one should offer worship within the heart by reciting the mantra to the Personality of Godhead, who is nondifferent from the mantra.

59-60 Anyone who thus engages in the devotional service of the Lord, seriously and sincerely, with his mind, words and body, and who is fixed in the activities of the prescribed devotional methods, is blessed by the Lord according to his desire. If a devotee desires material religiosity, economic development, sense gratification or liberation from the material world, he is awarded these results.

61 If one is very serious about liberation, he must stick to the process of transcendental loving service, engaging twenty-four hours a day in the highest stage of ecstasy, and he must certainly be aloof from all activities of sense gratification.

62 When Dhruva Mahārāja, the son of the King, was thus advised by the great sage Nārada, he circumambulated Nārada, his spiritual master, and offered him respectful obeisances. Then he started for Madhuvana, which is always imprinted with the lotus footprints of Lord Kṛṣṇa and which is therefore especially auspicious.

63 After Dhruva entered Madhuvana Forest to execute devotional service, the great sage Nārada thought it wise to go to the King to see how he was faring within the palace. When Nārada Muni approached, the King received him properly, offering him due obeisances. After being seated comfortably, Nārada began to speak.

64 The great sage Nārada inquired: My dear King, your face appears to be withering up, and you look like you have been thinking of something for a very long time. Why is that? Have you been hampered in following your path of religious rites, economic development and sense gratification?

65 The King replied: O best of the brāhmaṇas, I am very much addicted to my wife, and I am so fallen that I have abandoned all merciful behavior, even to my son, who is only five years old. I have banished him and his mother, even though he is a great soul and a great devotee.

66 My dear brāhmaṇa, the face of my son was just like a lotus flower. I am thinking of his precarious condition. He is unprotected, and he might be very hungry. He might have lain down somewhere in the forest, and the wolves might have attacked him to eat his body.

67 Alas, just see how I was conquered by my wife! Just imagine my cruelty! Out of love and affection the boy was trying to get up on my lap, but I did not receive him, nor did I even pat him for a moment. Just imagine how hardhearted I am.

68 The great sage Nārada replied: My dear King, please do not be aggrieved about your son. He is well protected by the Supreme Personality of Godhead. Although you have no actual information of his influence, his reputation is already spread all over the world.

69 My dear King, your son is very competent. He will perform activities which would be impossible even for great kings and sages. Very soon he will complete his task and come back home. You should know that he will also spread your reputation all over the world.

70 The great Maitreya continued: The King, Uttānapāda, after being advised by Nārada Muni, practically gave up all duties in relation with his kingdom, which was very vast and wide, opulent like the goddess of fortune, and he simply began to think of his son Dhruva.

71 Elsewhere, Dhruva Mahārāja, having arrived at Madhuvana, took his bath in the river Yamunā and observed fasting in the night with great care and attention. After that, as advised

by the great sage Nārada, he engaged himself in worshiping the Supreme Personality of Godhead.

72 For the first month Dhruva Mahārāja ate only fruits and berries on every third day, only to keep his body and soul together, and in this way he progressed in his worship of the Supreme Personality of Godhead.

73 In the second month Dhruva Mahārāja ate only every six days, and for his eatables he took dry grass and leaves. Thus he continued his worship.

74 In the third month he drank water only every nine days. Thus he remained completely in trance and worshiped the Supreme Personality of Godhead, who is adored by selected verses.

75 In the fourth month Dhruva Mahārāja became a complete master of the breathing exercise, and thus he inhaled air only every twelfth day. In this way he became completely fixed in his position and worshiped the Supreme Personality of Godhead.

76 By the fifth month, Mahārāja Dhruva, the son of the King, had controlled his breathing so perfectly that he was able to stand on only one leg, just as a column stands, without motion, and concentrate his mind fully on the Parabrahman.

77 He completely controlled his senses and their objects, and in this way he fixed his mind, without diversion to anything else, upon the form of the Supreme Personality of Godhead.

78 When Dhruva Mahārāja thus captured the Supreme Personality of Godhead, who is the refuge of the total material creation and who is the master of all living entities, the three worlds began to tremble.

79 As Dhruva Mahārāja, the King's son, kept himself steadily standing on one leg, the pressure of his big toe pushed down half the earth, just as an elephant being carried on a boat rocks the boat left and right with his every step.

80 When Dhruva Mahārāja became practically one in heaviness with Lord Viṣṇu, the total consciousness, due to his fully concentrating and his closing all the holes of his body, the total universal breathing became choked up, and all the great demigods in all the planetary systems felt suffocated and thus took shelter of the Supreme Personality of Godhead.

81 The demigods said: Dear Lord, You are the refuge of all moving and nonmoving living entities. We feel all living entities to be suffocating, their breathing processes choked up. We have never experienced such a thing. Since You are the ultimate shelter of all surrendered souls, we have therefore approached You; kindly save us from this danger.

82 The Supreme Personality of Godhead replied: My dear demigods, do not be perturbed by this. It is due to the severe austerity and full determination of the son of King Uttānapāda, who is now fully absorbed in thought of Me. He has obstructed the universal breathing process. You can safely return to your respective homes. I shall stop this boy in his severe acts of austerities, and you will be saved from this situation.

### SB 4.9: Dhruva Mahārāja Returns Home

1 The great sage Maitreya told Vidura: When the demigods were thus reassured by the Personality of Godhead, they were freed from all fears, and after offering their obeisances they returned to their heavenly planets. Then the Lord, who is nondifferent from the Sahasraśīrṣā incarnation, got on the back of Garuḍa, who carried Him to the Madhuvana Forest to see His servant Dhruva.

2 The form of the Lord, which was brilliant like lightning and in which Dhruva Mahārāja, in his mature yogic process, was fully absorbed in meditation, all of a sudden disappeared. Thus Dhruva was perturbed, and his meditation broke. But as soon as he opened his eyes he saw the Supreme Personality of Godhead personally present, just as he had been seeing the Lord in his heart.

3 When Dhruva Mahārāja saw his Lord just in front of him, he was greatly agitated and offered Him obeisances and respect. He fell flat before Him like a rod and became absorbed in love of Godhead. Dhruva Mahārāja, in ecstasy, looked upon the Lord as if he were drinking the Lord with his eyes, kissing the lotus feet of the Lord with his mouth, and embracing the Lord with his arms.

4 Although Dhruva Mahārāja was a small boy, he wanted to offer prayers to the Supreme Personality of Godhead in suitable language. But because he was inexperienced, he could not adjust himself immediately. The Supreme Personality of Godhead, being situated in everyone's heart, could understand Dhruva Mahārāja's awkward position. Out of His causeless mercy He touched His conchshell to the forehead of Dhruva Mahārāja, who stood before Him with folded hands.

5 At that time Dhruva Mahārāja became perfectly aware of the Vedic conclusion and understood the Absolute Truth and His relationship with all living entities. In accordance with the line of devotional service to the Supreme Lord, whose fame is widespread, Dhruva, who in the future would receive a planet which would never be annihilated, even during the time of dissolution, offered his deliberate and conclusive prayers.

6 Dhruva Mahārāja said: My dear Lord, You are all-powerful. After entering within me, You have enlivened all my sleeping senses my hands, legs, ears, touch sensation, life force and especially my power of speech. Let me offer my respectful obeisances unto You.

7 My Lord, You are the supreme one, but by Your different energies You appear differently in the spiritual and material worlds. You create the total energy of the material world by Your external potency, and after creation You enter within the material world as the Supersoul. You are the Supreme Person, and through the temporary modes of material nature You create varieties of manifestation, just as fire, entering into wood of different shapes, burns brilliantly in different varieties.

8 O my master, Lord Brahmā is fully surrendered unto You. In the beginning You gave him knowledge, and thus he could see and understand the entire universe, just as a person awakens from sleep and visualizes his immediate duties. You are the only shelter of all persons who desire liberation, and You are the friend of all who are distressed. How, therefore, can a learned person who has perfect knowledge ever forget You?

9 Persons who worship You simply for the sense gratification of this bag of skin are certainly influenced by Your illusory energy. In spite of having You, who are like a desire tree and are the cause of liberation from birth and death, foolish persons, such as me, desire benedictions from You for sense gratification, which is available even for those who live in hellish conditions.

10 My Lord, the transcendental bliss derived from meditating upon Your lotus feet or hearing about Your glories from pure devotees is so unlimited that it is far beyond the stage of brahmānanda, wherein one thinks himself merged in the impersonal Brahman as one with the Supreme. Since brahmānanda is also defeated by the transcendental bliss derived from devotional service, then what to speak of the temporary blissfulness of elevating oneself to the

heavenly planets, which is ended by the separating sword of time? Although one may be elevated to the heavenly planets, he falls down in due course of time.

11 Dhruva Mahārāja continued: O unlimited Lord, kindly bless me so that I may associate with great devotees who engage in Your transcendental loving service constantly, as the waves of a river constantly flow. Such transcendental devotees are completely situated in an uncontaminated state of life. By the process of devotional service I shall surely be able to cross the nescient ocean of material existence, which is filled with the waves of blazing, firelike dangers. It will be very easy for me, for I am becoming mad to hear about Your transcendental qualities and pastimes, which are eternally existent.

12 O Lord who have a lotus navel, if a person happens to associate with a devotee whose heart always hankers after Your lotus feet, seeking always their fragrance, he is never attached to the material body or, in a bodily relationship, to offspring, friends, home, wealth and wife, which are very, very dear to materialistic persons. Indeed, he does not care for them.

13 My dear Lord, O Supreme Unborn, I know that the different varieties of living entities, such as animals, trees, birds, reptiles, demigods and human beings, are spread throughout the universe, which is caused by the total material energy, and I know that they are sometimes manifest and sometimes unmanifest; but I have never experienced the supreme form I behold as I see You now. Now all kinds of methods of theorizing have come to an end.

14 My dear Lord, at the end of each millennium the Supreme Personality of Godhead Garbhodakaśāyī Viṣṇu dissolves everything manifested within the universe into His belly. He lies down on the lap of Śeṣa Nāga, from His navel sprouts a golden lotus flower on a stem, and on that lotus Lord Brahmā is created. I can understand that You are the same Supreme Godhead. I therefore offer my respectful obeisances unto You.

15 My Lord, by Your unbroken transcendental glance You are the supreme witness of all stages of intellectual activities. You are eternally liberated, Your existence is situated in pure goodness, and You are existent in the Supersoul without change. You are the original Personality of Godhead, full with six opulences, and You are eternally the master of the three modes of material nature. Thus, You are always different from the ordinary living entities. As Lord Viṣṇu, You maintain all the affairs of the entire universe, and yet You stand aloof and are the enjoyer of the results of all sacrifices.

16 My dear Lord, in Your impersonal manifestation of Brahman there are always two opposing elements knowledge and ignorance. Your multi-energies are continually manifest, but the impersonal Brahman, which is undivided, original, changeless, unlimited and blissful, is the cause of the material manifestation. Because You are the same impersonal Brahman, I offer my respectful obeisances unto You.

17 My Lord, O Supreme Lord, You are the supreme personified form of all benediction. Therefore, for one who abides in Your devotional service with no other desire, worshiping Your lotus feet is better than becoming king and lording it over a kingdom. That is the benediction of worshiping Your lotus feet. To ignorant devotees like me, You are the causelessly merciful maintainer, just like a cow, who takes care of the newly born calf by supplying milk and giving it protection from attack.

18 The great sage Maitreya continued: My dear Vidura, when Dhruva Mahārāja, who had good intentions in his heart, finished his prayer, the Supreme Lord, the Personality of Godhead, who is very kind to His devotees and servants, congratulated him, speaking as follows.

19 The Personality of Godhead said: My dear Dhruva, son of the King, you have executed

pious vows, and I also know the desire within your heart. Although your desire is very ambitious and very difficult to fulfill, I shall favor you with its fulfillment. All good fortune unto you.

20-21 The Supreme Personality of Godhead continued: My dear Dhruva, I shall award you the glowing planet known as the polestar, which will continue to exist even after the dissolution at the end of the millennium. No one has ever ruled this planet, which is surrounded by all the solar systems, planets and stars. All the luminaries in the sky circumambulate this planet, just as bulls tread around a central pole for the purpose of crushing grains. Keeping the polestar to their right, all the stars inhabited by the great sages like Dharma, Agni, Kaśyapa and Śukra circumambulate this planet, which continues to exist even after the dissolution of all others.

22 After your father goes to the forest and awards you the rule of his kingdom, you will rule continuously the entire world for thirty-six thousand years, and all your senses will continue to be as strong as they are now. You will never become old.

23 The Lord continued: Sometime in the future your brother, Uttama, will go hunting in the forest, and while absorbed in hunting, he will be killed. Your stepmother, Suruci, being maddened upon the death of her son, will go to search him out in the forest, but she will be devoured by a forest fire.

24 The Lord continued: I am the heart of all sacrifices. You will be able to perform many great sacrifices and also give great charities. In this way you will be able to enjoy the blessings of material happiness in this life, and at the time of your death you will be able to remember Me.

25 The Personality of Godhead continued: My dear Dhruva, after your material life in this body, you will go to My planet, which is always offered obeisances by the residents of all other planetary systems. It is situated above the planets of the seven ṛṣis, and having gone there you will never have to come back again to this material world.

26 The great sage Maitreya said: After being worshiped and honored by the boy [Dhruva Mahārāja], and after offering him His abode, Lord Viṣṇu, on the back of Garuḍa, returned to His abode as Dhruva Mahārāja looked on.

27 Despite having achieved the desired result of his determination by worshiping the lotus feet of the Lord, Dhruva Mahārāja was not very pleased. Thus he returned to his home.

28Śrī Vidura inquired: My dear brāhmaṇa, the abode of the Lord is very difficult to attain. It can be attained only by pure devotional service, which alone pleases the most affectionate, merciful Lord. Dhruva Mahārāja achieved this position even in one life, and he was very wise and conscientious. Why, then, was he not very pleased?

29 Maitreya answered: Dhruva Mahārāja's heart, which was pierced by the arrows of the harsh words of his stepmother, was greatly aggrieved, and thus when he fixed upon his goal of life he did not forget her miSBehavior. He did not demand actual liberation from this material world, but at the end of his devotional service, when the Supreme Personality of Godhead appeared before him, he was simply ashamed of the material demands he had in his mind.

30 Dhruva Mahārāja thought to himself: To endeavor to be situated in the shade of the lotus feet of the Lord is not an ordinary task, because even the great brahmacārīs headed by Sanandana, who practiced aṣṭāṅga-yoga in trance, attained the shelter of the Lord's lotus feet only after many, many births. Within six months I achieved the same result, yet due to my thinking differently from the Lord, I fell down from my position.

31 Alas, just look at me! I am so unfortunate. I approached the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead, who can immediately cut the chain of the repetition of birth and death, but still, out of my foolishness, I prayed for things which are perishable.

32 Since all the demigods who are situated in the higher planetary system will have to come down again, they are all envious of my being elevated to Vaikuṇṭhaloka by devotional service. These intolerant demigods have dissipated my intelligence, and only for this reason could I not accept the genuine benediction of the instructions of Sage Nārada.

33 Dhruva Mahārāja lamented: I was under the influence of the illusory energy; being ignorant of the actual facts, I was sleeping on her lap. Under a vision of duality, I saw my brother as my enemy, and falsely I lamented within my heart, thinking, "They are my enemies."

34 It is very difficult to satisfy the Supreme Personality of Godhead, but in my case, although I have satisfied the Supersoul of the whole universe, I have prayed only for useless things. My activities were exactly like treatment given to a person who is already dead. Just see how unfortunate I am, for in spite of meeting the Supreme Lord, who can cut one's link with birth and death, I have prayed for the same conditions again.

35 Because of my state of complete foolishness and paucity of pious activities, although the Lord offered me His personal service, I wanted material name, fame and prosperity. My case is just like that of the poor man who, when he satisfied a great emperor who wanted to give him anything he might ask, out of ignorance asked only a few broken grains of husked rice.

36 The great sage Maitreya continued: My dear Vidura, persons like you, who are pure devotees of the lotus feet of Mukunda [the Supreme Personality of Godhead, who can offer liberation] and who are always attached to the honey of His lotus feet, are always satisfied in serving at the lotus feet of the Lord. In any condition of life, such persons remain satisfied, and thus they never ask the Lord for material prosperity.

37 When King Uttānapāda heard that his son Dhruva was coming back home, as if coming back to life after death, he could not put his faith in this message, for he was doubtful of how it could happen. He considered himself the most wretched, and therefore he thought that it was not possible for him to attain such good fortune.

38 Although he could not believe the words of the messenger, he had full faith in the word of the great sage Nārada. Thus he was greatly overwhelmed by the news, and he immediately offered the messenger a highly valuable necklace in great satisfaction.

39-40 Then King Uttānapāda, being very eager to see the face of his lost son, mounted a chariot drawn by excellent horses and bedecked with golden filigree. Taking with him many learned brāhmaṇas, all the elderly personalities of his family, his officers, his ministers and his immediate friends, he immediately left the city. As he proceeded in this parade, there were auspicious sounds of conchshells, kettledrums, flutes, and the chanting of Vedic mantras to indicate all good fortune.

41 Both the queens of King Uttānapāda, namely Sunīti and Suruci, along with his other son, Uttama, appeared in the procession. The queens were seated on a palanquin.

42-43 Upon seeing Dhruva Mahārāja approaching the neighboring small forest, King Uttānapāda with great haste got down from his chariot. He had been very anxious for a long time to see his son Dhruva, and therefore with great love and affection he went forward to embrace his long-lost boy. Breathing very heavily, the King embraced him with both arms. But Dhruva Mahārāja was not the same as before; he was completely sanctified by spiritual

advancement due to having been touched by the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead.

44 Reunion with Dhruva Mahārāja fulfilled King Uttānapāda's long-cherished desire, and for this reason he smelled Dhruva's head again and again and bathed him with torrents of very cold tears.

45 Then Dhruva Mahārāja, the foremost of all nobles, first of all offered his obeisances at the feet of his father and was honored by his father with various questions. He then bowed his head at the feet of his two mothers.

46 Suruci, the younger mother of Dhruva Mahārāja, seeing that the innocent boy had fallen at her feet, immediately picked him up, embracing him with her hands, and with tears of feeling she blessed him with the words "My dear boy, long may you live!"

47 Unto one who has transcendental qualities due to friendly behavior with the Supreme Personality of Godhead, all living entities offer honor, just as water automatically flows down by nature.

48 The two brothers Uttama and Dhruva Mahārāja also exchanged their tears. They were overwhelmed by the ecstasy of love and affection, and when they embraced one another, the hair on their bodies stood up.

49 Sunīti, the real mother of Dhruva Mahārāja, embraced the tender body of her son, who was dearer to her than her own life, and thus forgot all material grief, for she was very pleased.

50 My dear Vidura, Sunīti was the mother of a great hero. Her tears, together with the milk flowing from her breasts, wet the whole body of Dhruva Mahārāja. This was a great, auspicious sign.

51 The residents of the palace praised the Queen: Dear Queen, your beloved son was lost a long time ago, and it is your great fortune that he now has come back. It appears, therefore, that your son will be able to protect you for a very long time and will put an end to all your material pangs.

52 Dear Queen, you must have worshiped the Supreme Personality of Godhead, who delivers His devotees from the greatest danger. Persons who constantly meditate upon Him surpass the course of birth and death. This perfection is very difficult to achieve.

53 The sage Maitreya continued: My dear Vidura, when everyone was thus praising Dhruva Mahārāja, the King was very happy, and he had Dhruva and his brother seated on the back of a she-elephant. Thus he returned to his capital, where he was praised by all classes of men.

54 The whole city was decorated with columns of banana trees containing bunches of fruits and flowers, and betel-nut trees with leaves and branches were seen here and there. There were also many gates set up which were structured to give the appearance of sharks.

55 At each and every gate there were burning lamps and big waterpots decorated with differently colored cloth, strings of pearls, flower garlands and hanging mango leaves.

56 In the capital city there were many palaces, city gates and surrounding walls, which were already very, very beautiful, and on this occasion all of them were decorated with golden ornaments. The domes of the city palaces glittered, as did the domes of the beautiful airplanes which hovered over the city.

57 All the quadrangles, lanes and streets in the city, and the raised sitting places at the crossings, were thoroughly cleansed and sprinkled with sandalwood water; and auspicious grains such as rice and barley, and flowers, fruits and many other auspicious presentations, were scattered all over the city.

58-59 Thus as Dhruva Mahārāja passed on the road, from every place in the neighborhood all the gentle household ladies assembled to see him, and out of maternal affection they offered their blessings, showering him with white mustard seed, barley, curd, water, newly grown grass, fruits and flowers. In this way Dhruva Mahārāja, while hearing the pleasing songs sung by the ladies, entered the palace of his father.

60 Dhruva Mahārāja thereafter lived in his father's palace, which had walls bedecked with highly valuable jewels. His affectionate father took particular care of him, and he dwelled in that house just as the demigods live in their palaces in the higher planetary systems.

61 The bedding in the palace was as white as the foam of milk and was very soft. The bedsteads were made of ivory with embellishments of gold, and the chairs, benches and other sitting places and furniture were made of gold.

62 The palace of the King was surrounded by walls made of marble with many engravings made of valuable jewels like sapphires, which depicted beautiful women with shining jewel lamps in their hands.

63 The King's residence was surrounded by gardens wherein there were varieties of trees brought from the heavenly planets. In those trees there were pairs of sweetly singing birds and almost-mad bumblebees, which made a very relishable buzzing sound.

64 There were emerald staircases which led to lakes full of variously colored lotus flowers and lilies, and swans, kāraṇḍavas, cakravākas, cranes and similar other valuable birds were visible in those lakes.

65 The saintly King Uttānapāda, hearing of the glorious deeds of Dhruva Mahārāja and personally seeing also how influential and great he was, felt very satisfied, for Dhruva's activities were wonderful to the supreme degree.

66 When, after concentration, King Uttānapāda saw that Dhruva Mahārāja was suitably mature to take charge of the kingdom and that his ministers were agreeable and the citizens were also very fond of him, he enthroned Dhruva as emperor of this planet.

67 After considering his advanced age and deliberating on the welfare of his spiritual self, King Uttānapāda detached himself from worldly affairs and entered the forest.

## SB 4.10: Dhruva Mahārāja's Fight with the Yakṣas

1 The great sage Maitreya said: My dear Vidura, thereafter Dhruva Mahārāja married the daughter of Prajāpati Śiśumāra, whose name was Bhrami, and two sons named Kalpa and Vatsara were born of her.

2 The greatly powerful Dhruva Mahārāja had another wife, named Ilā, who was the daughter of the demigod Vāyu. By her he begot a son named Utkala and a very beautiful daughter.

3 Dhruva Mahārāja's younger brother Uttama, who was still unmarried, once went on a hunting excursion and was killed by a powerful Yakṣa in the Himālaya Mountains. Along with him, his mother, Suruci, also followed the path of her son [she died].

4 When Dhruva Mahārāja heard of the killing of his brother Uttama by the Yakṣas in the Himālaya Mountains, being overwhelmed with lamentation and anger, he got on his chariot and went out for victory over the city of the Yakṣas, Alakāpurī.

5 Dhruva Mahārāja went to the northern direction of the Himālayan range. In a valley he saw a city full of ghostly persons who were followers of Lord Śiva.

6 Maitreya continued: My dear Vidura, as soon as Dhruva Mahārāja reached Alakāpurī, he immediately blew his conchshell, and the sound reverberated throughout the entire sky and in every direction. The wives of the Yakṣas became very much frightened. From their eyes it was apparent that they were full of anxiety.

7 O hero Vidura, the greatly powerful heroes of the Yakṣas, unable to tolerate the resounding vibration of the conchshell of Dhruva Mahārāja, came forth from their city with weapons and attacked Dhruva.

8 Dhruva Mahārāja, who was a great charioteer and certainly a great bowman also, immediately began to kill them by simultaneously discharging arrows three at a time.

9 When the heroes of the Yakṣas saw that all their heads were being thus threatened by Dhruva Mahārāja, they could very easily understand their awkward position, and they concluded that they would certainly be defeated. But, as heroes, they lauded the action of Dhruva.

10 Just like serpents, who cannot tolerate being trampled upon by anyone's feet, the Yakṣas, being intolerant of the wonderful prowess of Dhruva Mahārāja, threw twice as many arrows six from each of their soldiers and thus they very valiantly exhibited their prowess.

11-12 The Yakṣa soldiers were 130,000 strong, all greatly angry and all desiring to defeat the wonderful activities of Dhruva Mahārāja. With full strength they showered upon Mahārāja Dhruva, along with his chariot and charioteer, various types of feathered arrows, parighas [iron bludgeons], nistriṁśas [swords], prāsaśūlas [tridents], paraśvadhas [lances], śaktis [pikes], ṛṣṭis [spears] and bhuśuṇḍī weapons.

13 Dhruva Mahārāja was completely covered by an incessant shower of weapons, just as a mountain is covered by incessant rainfall.

14 All the Siddhas from the higher planetary systems were observing the fight from the sky, and when they saw that Dhruva Mahārāja had been covered by the incessant arrows of the enemy, they roared tumultuously, "The grandson of Manu, Dhruva, is now lost!" They cried that Dhruva Mahārāja was just like the sun and that now he had set within the ocean of the Yakṣas.

15 The Yakṣas, being temporarily victorious, exclaimed that they had conquered Dhruva Mahārāja. But in the meantime Dhruva's chariot suddenly appeared, just as the sun suddenly appears from within foggy mist.

16 Dhruva Mahārāja's bow and arrows twanged and hissed, causing lamentation in the hearts of his enemies. He began to shoot incessant arrows, shattering all their different weapons, just as the blasting wind scatters the assembled clouds in the sky.

17 The sharp arrows released from the bow of Dhruva Mahārāja pierced the shields and bodies of the enemy, like the thunderbolts released by the King of heaven, which dismantle the bodies of the mountains.

18-19 The great sage Maitreya continued: My dear Vidura, the heads of those who were cut to pieces by the arrows of Dhruva Mahārāja were decorated very beautifully with earrings and turbans. The legs of their bodies were as beautiful as golden palm trees, their arms were decorated with golden bracelets and armlets, and on their heads there were very valuable helmets bedecked with gold. All these ornaments lying on that battlefield were very attractive and could bewilder the mind of a hero.

20 The remaining Yakṣas who somehow or other were not killed had their limbs cut to pieces by the arrows of the great warrior Dhruva Mahārāja. Thus they began to flee, just as elephants flee when defeated by a lion.

21 Dhruva Mahārāja, the best of human beings, observed that in that great battlefield not one of the opposing soldiers was left standing with proper weapons. He then desired to see the city of Alakāpurī, but he thought to himself, "No one knows the plans of the mystic Yakṣas."

22 In the meantime, while Dhruva Mahārāja, doubtful of his mystic enemies, was talking with his charioteer, they heard a tremendous sound, as if the whole ocean were there, and they found that from the sky a great dust storm was coming over them from all directions.

23 Within a moment the whole sky was overcast with dense clouds, and severe thundering was heard. There was glittering electric lightning and severe rainfall.

24 My dear faultless Vidura, in that rainfall there was blood, mucus, pus, stool, urine and marrow falling heavily before Dhruva Mahārāja, and there were trunks of bodies falling from the sky.

25 Next, a great mountain was visible in the sky, and from all directions hailstones fell, along with lances, clubs, swords, iron bludgeons and great pieces of stone.

26 Dhruva Mahārāja also saw many big serpents with angry eyes, vomiting forth fire and coming to devour him, along with groups of mad elephants, lions and tigers.

27 Then, as if it were the time of the dissolution of the whole world, the fierce sea with foaming waves and great roaring sounds came forward before him.

28 The demon Yakṣas are by nature very heinous, and by their demoniac power of illusion they can create many strange phenomena to frighten one who is less intelligent.

29 When the great sages heard that Dhruva Mahārāja was overpowered by the illusory mystic tricks of the demons, they immediately assembled to offer him auspicious encouragement.

30 All the sages said: Dear Dhruva, O son of King Uttānapāda, may the Supreme Personality of Godhead known as Śārṅgadhanvā, who relieves the distresses of His devotees, kill all your threatening enemies. The holy name of the Lord is as powerful as the Lord Himself. Therefore, simply by chanting and hearing the holy name of the Lord, many men can be fully protected from fierce death without difficulty. Thus a devotee is saved.

### SB 4.11: Svāyambhuva Manu Advises Dhruva Mahārāja to Stop Fighting

1Śrī Maitreya said: My dear Vidura, when Dhruva Mahārāja heard the encouraging words of the great sages, he performed the ācamana by touching water and then took up his arrow made by

Lord Nārāyaṇa and fixed it upon his bow.

2 As soon as Dhruva Mahārāja joined the nārāyaṇāstra arrow to his bow, the illusion created by the Yakṣas was immediately vanquished, just as all material pains and pleasures are vanquished when one becomes fully cognizant of the self.

3 Even as Dhruva Mahārāja fixed the weapon made by Nārāyaṇa Ṛṣi onto his bow, arrows with golden shafts and feathers like the wings of a swan flew out from it. They entered the enemy soldiers with a great hissing sound, just as peacocks enter a forest with tumultuous crowing.

4 Those sharp arrows dismayed the enemy soldiers, who became almost unconscious, but various Yakṣas on the battlefield, in a rage against Dhruva Mahārāja, somehow or other collected their weapons and attacked. Just as serpents agitated by Garuḍa rush towards Garuḍa with upraised hoods, all the Yakṣa soldiers prepared to overcome Dhruva Mahārāja with their upraised weapons.

5 When Dhruva Mahārāja saw the Yakṣas coming forward, he immediately took his arrows and cut the enemies to pieces. Separating their arms, legs, heads and bellies from their bodies, he delivered the Yakṣas to the planetary system which is situated above the sun globe and which is attainable only by first-class brahmacārīs, who have never discharged their semen.

6 When Svāyambhuva Manu saw that his grandson Dhruva Mahārāja was killing so many of the Yakṣas who were not actually offenders, out of his great compassion he approached Dhruva with great sages to give him good instruction.

7 Lord Manu said: My dear son, please stop. It is not good to become unnecessarily angry it is the path to hellish life. Now you are going beyond the limit by killing Yakṣas who are actually not offenders.

8 My dear son, the killing of the sinless Yakṣas which you have undertaken is not at all approved by authorities, and it does not befit our family, which is supposed to know the laws of religion and irreligion.

9 My dear son, it has been proved that you are very much affectionate towards your brother and are greatly aggrieved at his being killed by the Yakṣas, but just consider: for one Yakṣa's offense, you have killed many others, who are innocent.

10 One should not accept the body as the self and thus, like the animals, kill the bodies of others. This is especially forbidden by saintly persons, who follow the path of devotional service to the Supreme Personality of Godhead.

11 It is very difficult to achieve the spiritual abode of Hari, in the Vaikuṇṭha planets, but you are so fortunate that you are already destined to go to that abode by worshiping Him as the supreme abode of all living entities.

12 Because you are a pure devotee of the Lord, the Lord is always thinking of you, and you are also recognized by all His confidential devotees. Your life is meant for exemplary behavior. I am therefore surprised why have you undertaken such an abominable task?

13 The Lord is very satisfied with His devotee when the devotee greets other people with tolerance, mercy, friendship and equality.

14 One who actually satisfies the Supreme Personality of Godhead during one's lifetime becomes liberated from the gross and subtle material conditions. Thus being freed from all

material modes of nature, he achieves unlimited spiritual bliss.

15 The creation of the material world begins with the five elements, and thus everything, including the body of a man or a woman, is created of these elements. By the sexual life of man and woman, the number of men and women in this material world is further increased.

16 Manu continued: My dear King Dhruva, it is simply by the illusory material energy of the Supreme Personality of Godhead and by the interaction of the three modes of material nature that creation, maintenance and annihilation take place.

17 My dear Dhruva, the Supreme Personality of Godhead is uncontaminated by the material modes of nature. He is the remote cause of the creation of this material cosmic manifestation. When He gives the impetus, many other causes and effects are produced, and thus the whole universe moves, just as iron moves by the integrated force of a magnet.

18 The Supreme Personality of Godhead, by His inconceivable supreme energy, time, causes the interaction of the three modes of material nature, and thus varieties of energy become manifest. It appears that He is acting, but He is not the actor. He is killing, but He is not the killer. Thus it is understood that only by His inconceivable power is everything happening.

19 My dear Dhruva, the Supreme Personality of Godhead is ever existing, but in the form of time He is the killer of everything. He has no beginning, although He is the beginning of everything, nor is He ever exhaustible, although everything is exhausted in due course of time. The living entities are created through the agency of the father and killed through the agency of death, but He is perpetually free of birth and death.

20 The Supreme Personality of Godhead, in His feature of eternal time, is present in the material world and is neutral towards everyone. No one is His ally, and no one is His enemy. Within the jurisdiction of the time element, everyone enjoys or suffers the result of his own karma, or fruitive activities. As, when the wind blows, small particles of dust fly in the air, so, according to one's particular karma, one suffers or enjoys material life.

21 The Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, is all-powerful, and He awards the results of one's fruitive activities. Thus, although one living entity's duration of life is very small whereas that of another is very great, He is always in His transcendental position, and there is no question of lessening or increasing His duration of life.

22 The differentiation among varieties of life and their suffering and enjoyment is explained by some to be the result of karma. Others say it is due to nature, others due to time, others due to fate, and still others say that it is due to desire.

23 The Absolute Truth, Transcendence, is never subject to the understanding of imperfect sensory endeavor, nor is He subject to direct experience. He is the master of varieties of energies, like the full material energy, and no one can understand His plans or actions; therefore it should be concluded that although He is the original cause of all causes, no one can know Him by mental speculation.

24 My dear son, those Yakṣas, who are descendants of Kuvera, are not actually the killers of your brother; the birth and death of every living entity are caused by the Supreme, who is certainly the cause of all causes.

25 The Supreme Personality of Godhead creates this material world, maintains it, and annihilates it in due course of time, but because He is transcendental to such activities, He is never affected by ego in such action or by the modes of material nature.

26 The Supreme Personality of Godhead is the Supersoul of all living entities. He is the controller and maintainer of everyone; through the agency of His external energy, He creates, maintains and annihilates everyone.

27 My dear boy Dhruva, please surrender unto the Supreme Personality of Godhead, who is the ultimate goal of the progress of the world. Everyone, including the demigods headed by Lord Brahmā, is working under His control, just as a bull, prompted by a rope in its nose, is controlled by its owner.

28 My dear Dhruva, at the age of only five years you were very grievously afflicted by the words of your mother's co-wife, and you very boldly gave up the protection of your mother and went to the forest to engage in the yogic process for realization of the Supreme Personality of Godhead. As a result of this you have already achieved the topmost position in all the three worlds.

29 Therefore, my dear Dhruva, please turn your attention to the Supreme Person, who is the infallible Brahman. Face the Supreme Personality of Godhead in your original position, and thus, by self-realization, you will find this material differentiation to be merely flickering.

30 Thus regaining your natural position and rendering service unto the Supreme Lord, who is the all-powerful reservoir of all pleasure and who lives in all living entities as the Supersoul, you will very soon forget the illusory understanding of "I" and "my."

31 My dear King, just consider what I have said to you, which will act as medicinal treatment upon disease. Control your anger, for anger is the foremost enemy on the path of spiritual realization. I wish all good fortune for you. Please follow my instructions.

32 A person who desires liberation from this material world should not fall under the control of anger because when bewildered by anger one becomes a source of dread for all others.

33 My dear Dhruva, you thought that the Yakṣas killed your brother, and therefore you have killed great numbers of them. But by this action you have agitated the mind of Lord Śiva's brother Kuvera, who is the treasurer of the demigods. Please note that your actions have been very disrespectful to Kuvera and Lord Śiva.

34 For this reason, my son, you should immediately pacify Kuvera with gentle words and prayers, and thus his wrath may not affect our family.

35 Thus Svāyambhuva Manu, after giving instruction to Dhruva Mahārāja, his grandson, received respectful obeisances from him. Then Lord Manu and the great sages went back to their respective homes.

### SB 4.12: Dhruva Mahārāja Goes Back to Godhead

1 The great sage Maitreya said: My dear Vidura, Dhruva Mahārāja's anger subsided, and he completely ceased killing Yakṣas. When Kuvera, the most blessed master of the treasury, learned this news, he appeared before Dhruva. While being worshiped by Yakṣas, Kinnaras and Cāraṇas, he spoke to Dhruva Mahārāja, who stood before him with folded hands.

2 The master of the treasury, Kuvera, said: O sinless son of a kṣatriya, I am very glad to know that under the instruction of your grandfather you have given up your enmity, although it is very difficult to avoid. I am very pleased with you.

3 Actually, you have not killed the Yakṣas, nor have they killed your brother, for the ultimate cause of generation and annihilation is the eternal time feature of the Supreme Lord.

4 Misidentification of oneself and others as "I" and "you" on the basis of the bodily concept of life is a product of ignorance. This bodily concept is the cause of repeated birth and death, and it makes us go on continuously in material existence.

5 My dear Dhruva, come forward. May the Lord always grace you with good fortune. The Supreme Personality of Godhead, who is beyond our sensory perception, is the Supersoul of all living entities, and thus all entities are one, without distinction. Therefore begin rendering service unto the transcendental form of the Lord, who is the ultimate shelter of all living entities.

6 Engage yourself fully, therefore, in the devotional service of the Lord, for only He can deliver us from this entanglement of materialistic existence. Although the Lord is attached to His material potency, He is aloof from her activities. Everything in this material world is happening by the inconceivable potency of the Supreme Personality of Godhead.

7 My dear Dhruva Mahārāja, son of Mahārāja Uttānapāda, we have heard that you are constantly engaged in transcendental loving service to the Supreme Personality of Godhead, who is known for His lotus navel. You are therefore worthy to take all benedictions from us. Please, therefore, ask without hesitation whatever benediction you want from me.

8 The great sage Maitreya continued: My dear Vidura, when thus asked to accept a benediction from Kuvera the Yakṣarāja [King of the Yakṣas], Dhruva Mahārāja, that most elevated pure devotee, who was an intelligent and thoughtful king, begged that he might have unflinching faith in and remembrance of the Supreme Personality of Godhead, for thus a person can cross over the ocean of nescience very easily, although it is very difficult for others to cross.

9 The son of Iḍaviḍā, Lord Kuvera, was very pleased, and happily he gave Dhruva Mahārāja the benediction he wanted. Thereafter he disappeared from Dhruva's presence, and Dhruva Mahārāja returned to his capital city.

10 As long as he remained at home, Dhruva Mahārāja performed many great ceremonial sacrifices in order to please the enjoyer of all sacrifices, the Supreme Personality of Godhead. Prescribed ceremonial sacrifices are especially meant to please Lord Viṣṇu, who is the objective of all such sacrifices and who awards the resultant benedictions.

11 Dhruva Mahārāja rendered devotional service unto the Supreme, the reservoir of everything, with unrelenting force. While carrying out his devotional service to the Lord, he could see that everything is situated in Him only and that He is situated in all living entities. The Lord is called Acyuta because He never fails in His prime duty, to give protection to His devotees.

12 Dhruva Mahārāja was endowed with all godly qualities; he was very respectful to the devotees of the Supreme Lord and very kind to the poor and innocent, and he protected religious principles. With all these qualifications, he was considered to be the direct father of all the citizens.

13 Dhruva Mahārāja ruled over this planet for thirty-six thousand years; he diminished the reactions of pious activities by enjoyment, and by practicing austerities he diminished inauspicious reactions.

14 The self-controlled great soul Dhruva Mahārāja thus passed many, many years favorably executing three kinds of worldly activities, namely religiosity, economic development and satisfaction of all material desires. Thereafter he handed over the charge of the royal throne to

his son.

15Śrīla Dhruva Mahārāja realized that this cosmic manifestation bewilders living entities like a dream or phantasmagoria because it is a creation of the illusory, external energy of the Supreme Lord.

16 Thus Dhruva Mahārāja, at the end, left his kingdom, which extended all over the earth and was bounded by the great oceans. He considered his body, his wives, his children, his friends, his army, his rich treasury, his very comfortable palaces and his many enjoyable pleasure-grounds to be creations of the illusory energy. Thus in due course of time he retired to the forest in the Himālayas known as Badarikāśrama.

17 In Badarikāśrama Dhruva Mahārāja's senses became completely purified because he bathed regularly in the crystal-clear, purified water. He fixed his sitting position and by yogic practice controlled the breathing process and the air of life; in this way his senses were completely withdrawn. Then he concentrated his mind on the arcā-vigraha form of the Lord, which is the exact replica of the Lord and, thus meditating upon Him, entered into complete trance.

18 Because of his transcendental bliss, incessant tears flowed from his eyes, his heart melted, and there was shivering and standing of the hairs all over his body. Thus transformed, in a trance of devotional service, Dhruva Mahārāja completely forgot his bodily existence, and thus he immediately became liberated from material bondage.

19 As soon as the symptoms of his liberation were manifest, he saw a very beautiful airplane coming down from the sky, as if the brilliant full moon were coming down, illuminating all the ten directions.

20 Dhruva Mahārāja saw two very beautiful associates of Lord Viṣṇu in the plane. They had four hands and a blackish bodily luster, they were very youthful, and their eyes were just like reddish lotus flowers. They held clubs in their hands, and they were dressed in very attractive garments with helmets and were decorated with necklaces, bracelets and earrings.

21 Dhruva Mahārāja, seeing that these uncommon personalities were direct servants of the Supreme Personality of Godhead, immediately stood up. But, being puzzled, in hastiness he forgot how to receive them in the proper way. Therefore he simply offered obeisances with folded hands and chanted and glorified the holy names of the Lord.

22 Dhruva Mahārāja was always absorbed in thinking of the lotus feet of Lord Kṛṣṇa. His heart was full with Kṛṣṇa. When the two confidential servants of the Supreme Lord, who were named Nanda and Sunanda, approached him, smiling happily, Dhruva stood with folded hands, bowing humbly. They then addressed him as follows.

23 Nanda and Sunanda, the two confidential associates of Lord Viṣṇu, said: Dear King, let there be all good fortune unto you. Please attentively hear what we shall say. When you were only five years old, you underwent severe austerities, and you thereby greatly satisfied the Supreme Personality of Godhead.

24 We are representatives of the Supreme Personality of Godhead, the creator of the whole universe, who carries in His hand the bow named Śārṅga. We have been specifically deputed to take you to the spiritual world.

25 To achieve Viṣṇuloka is very difficult, but by your austerity you have conquered. Even the great ṛṣis and demigods cannot achieve this position. Simply to see the supreme abode [the Viṣṇu planet], the sun and moon and all the other planets, stars, lunar mansions and solar

systems are circumambulating it. Now please come; you are welcome to go there.

26 Dear King Dhruva, neither your forefathers nor anyone else before you ever achieved such a transcendental planet. The planet known as Viṣṇuloka, where Lord Viṣṇu personally resides, is the highest of all. It is worshipable by the inhabitants of all other planets within the universe. Please come with us and live there eternally.

27 O immortal one, this unique airplane has been sent by the Supreme Personality of Godhead, who is worshiped by selected prayers and who is the chief of all living entities. You are quite worthy to board such a plane.

28 The great sage Maitreya continued: Mahārāja Dhruva was very dear to the Supreme Personality of Godhead. When he heard the sweet speeches of the Lord's chief associates in the Vaikuṇṭha planet, he immediately took his sacred bath, dressed himself with suitable ornaments, and performed his daily spiritual duties. Thereafter he offered his respectful obeisances to the great sages present there and accepted their blessings.

29 Before getting aboard, Dhruva Mahārāja worshiped the airplane, circumambulated it, and also offered obeisances to the associates of Viṣṇu. In the meantime he became as brilliant and illuminating as molten gold. He was thus completely prepared to board the transcendental plane.

30 When Dhruva Mahārāja was attempting to get on the transcendental plane, he saw death personified approach him. Not caring for death, however, he took advantage of the opportunity to put his feet on the head of death, and thus he got up on the airplane, which was as big as a house.

31 At that time drums and kettledrums resounded from the sky, the chief Gandharvas began to sing, and other demigods showered flowers like torrents of rain upon Dhruva Mahārāja.

32 Dhruva was seated in the transcendental airplane, which was just about to start, when he remembered his poor mother, Sunīti. He thought to himself, "How shall I go alone to the Vaikuṇṭha planet and leave behind my poor mother?"

33 The great associates of Vaikuṇṭhaloka, Nanda and Sunanda, could understand the mind of Dhruva Mahārāja, and thus they showed him that his mother, Sunīti, was going forward in another plane.

34 While Dhruva Mahārāja was passing through space, he gradually saw all the planets of the solar system, and on the path he saw all the demigods in their airplanes showering flowers upon him like rain.

35 Dhruva Mahārāja thus surpassed the seven planetary systems of the great sages who are known as saptarṣi. Beyond that region, he achieved the transcendental situation of permanent life in the planet where Lord Viṣṇu lives.

36 The self-effulgent Vaikuṇṭha planets, by whose illumination alone all the illuminating planets within this material world give off reflected light, cannot be reached by those who are not merciful to other living entities. Only persons who constantly engage in welfare activities for other living entities can reach the Vaikuṇṭha planets.

37 Persons who are peaceful, equipoised, cleansed and purified, and who know the art of pleasing all other living entities, keep friendship only with devotees of the Lord; they alone can very easily achieve the perfection of going back home, back to Godhead.

38 In this way, the fully Kṛṣṇa conscious Dhruva Mahārāja, the exalted son of Mahārāja Uttānapāda, attained the summit of the three statuses of planetary systems.

39 Saint Maitreya continued: My dear Vidura, descendant of Kuru, as a herd of bulls circumambulates a central pole on their right side, all the luminaries within the universal sky unceasingly circumambulate the abode of Dhruva Mahārāja with great force and speed.

40 After observing the glories of Dhruva Mahārāja, the great sage Nārada, playing his vīṇā, went to the sacrificial arena of the Pracetās and very happily chanted the following three verses.

41 The great sage Nārada said: Simply by the influence of his spiritual advancement and powerful austerity, Dhruva Mahārāja, the son of Sunīti, who was devoted to her husband, acquired an exalted position not possible to attain even for the so-called Vedāntists or strict followers of the Vedic principles, not to speak of ordinary human beings.

42 The great sage Nārada continued: Just see how Dhruva Mahārāja, aggrieved at the harsh words of his stepmother, went to the forest at the age of only five years and under my direction underwent austerity. Although the Supreme Personality of Godhead is unconquerable, Dhruva Mahārāja defeated Him with the specific qualifications possessed by the Lord's devotees.

43 Dhruva Mahārāja attained an exalted position at the age of only five or six years, after undergoing austerity for six months. Alas, a great kṣatriya cannot achieve such a position even after undergoing austerities for many, many years.

44 The great sage Maitreya continued: My dear Vidura, whatever you have asked from me about the great reputation and character of Dhruva Mahārāja I have explained to you in all detail. Great saintly persons and devotees very much like to hear about Dhruva Mahārāja.

45 By hearing the narration of Dhruva Mahārāja one can fulfill desires for wealth, reputation and increased duration of life. It is so auspicious that one can even go to a heavenly planet or attain Dhruvaloka, which was achieved by Dhruva Mahārāja, just by hearing about him. The demigods also become pleased because this narration is so glorious, and it is so powerful that it can counteract all the results of one's sinful actions.

46 Anyone who hears the narration of Dhruva Mahārāja, and who repeatedly tries with faith and devotion to understand his pure character, attains the pure devotional platform and executes pure devotional service. By such activities one can diminish the threefold miserable conditions of material life.

47 Anyone who hears this narration of Dhruva Mahārāja acquires exalted qualities like him. For anyone who desires greatness, prowess or influence, here is the process by which to acquire them, and for thoughtful men who want adoration, here is the proper means.

48 The great sage Maitreya recommended: One should chant of the character and activities of Dhruva Mahārāja both in the morning and in the evening, with great attention and care, in a society of brāhmaṇas or other twice-born persons.

49-50 Persons who have completely taken shelter of the lotus feet of the Lord should recite this narration of Dhruva Mahārāja without taking remuneration. Specifically, recitation is recommended on the full-moon or dark-moon day, on the day after Ekādaśī, on the appearance of the Śravaṇa star, at the end of a particular tithi, or the occasion of Vyatīpāta, at the end of the month, or on Sunday. Such recitation should of course be performed before a favorable audience. When recitation is performed this way, without professional motive, the

reciter and audience become perfect.

51 The narration of Dhruva Mahārāja is sublime knowledge for the attainment of immortality. Persons unaware of the Absolute Truth can be led to the path of truth. Those who out of transcendental kindness take on the responsibility of becoming master-protectors of the poor living entities automatically gain the interest and blessings of the demigods.

52 The transcendental activities of Dhruva Mahārāja are well known all over the world, and they are very pure. In childhood Dhruva Mahārāja rejected all kinds of toys and playthings, left the protection of his mother and seriously took shelter of the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu. My dear Vidura, I therefore conclude this narration, for I have described to you all its details.

### SB 4.13: Description of the Descendants of Dhruva Mahārāja

1 Sūta Gosvāmī, continuing to speak to all the ṛṣis, headed by Śaunaka, said: After hearing Maitreya Ṛṣi describe Dhruva Mahārāja's ascent to Lord Viṣṇu's abode, Vidura became very much enlightened in devotional emotion, and he inquired from Maitreya as follows.

2 Vidura inquired from Maitreya: O greatly advanced devotee, who were the Pracetās? To which family did they belong? Whose sons were they, and where did they perform the great sacrifices?

3 Vidura continued: I know that the great sage Nārada is the greatest of all devotees. He has compiled the pāṣcarātrika procedure of devotional service and has directly met the Supreme Personality of Godhead.

4 While all the Pracetās were executing religious rituals and sacrificial ceremonies and thus worshiping the Supreme Personality of Godhead for His satisfaction, the great sage Nārada described the transcendental qualities of Dhruva Mahārāja.

5 My dear brāhmaṇa, how did Nārada Muni glorify the Supreme Personality of Godhead, and what pastimes were described in that meeting? I am very eager to hear of them. Kindly explain fully about that glorification of the Lord.

6 The great sage Maitreya replied: My dear Vidura, when Mahārāja Dhruva departed for the forest, his son, Utkala, did not desire to accept the opulent throne of his father, which was meant for the ruler of all the lands of this planet.

7 From his very birth, Utkala was fully satisfied and unattached to the world. He was equipoised, for he could see everything resting in the Supersoul and the Supersoul present in everyone's heart.

8-9 By expansion of his knowledge of the Supreme Brahman, he had already attained liberation from the bondage of the body. This liberation is known as nirvāṇa. He was situated in transcendental bliss, and he continued always in that blissful existence, which expanded more and more. This was possible for him by continual practice of bhakti-yoga, which is compared to fire because it burns away all dirty, material things. He was always situated in his constitutional position of self-realization, and he could not see anything else but the Supreme Lord and himself engaged in discharging devotional service.

10 Utkala appeared to the less intelligent persons on the road to be foolish, blind, dumb, deaf and mad, although actually he was not so. He remained like fire covered with ashes, without blazing flames.

11 For this reason the ministers and all the elderly members of the family thought Utkala to be without intelligence and, in fact, mad. Thus his younger brother, named Vatsara, the son of Bhrami, was elevated to the royal throne, and he became king of the world.

12 King Vatsara had a very dear wife whose name was Svarvīthi, and she gave birth to six sons, named Puṣpārṇa, Tigmaketu, Iṣa, Ūrja, Vasu and Jaya.

13 Puṣpārṇa had two wives, named Prabhā and Doṣā. Prabhā had three sons, named Prātar, Madhyandinam and Sāyam.

14 Doṣā had three sons Pradoṣa, Niśitha and Vyuṣṭa. Vyuṣṭa's wife was named Puṣkariṇī, and she gave birth to a very powerful son named Sarvatejā.

15-16 Sarvatejā's wife, Ākūti, gave birth to a son named Cākṣuṣa, who became the sixth Manu at the end of the Manu millennium. Naḍvalā, the wife of Cākṣuṣa Manu, gave birth to the following faultless sons: Puru, Kutsa, Trita, Dyumna, Satyavān, Ṛta, Vrata, Agniṣṭoma, Atīrātra, Pradyumna, Śibi and Ulmuka.

17 Of the twelve sons, Ulmuka begot six sons in his wife Puṣkariṇī. They were all very good sons, and their names were Aṅga, Sumanā, Khyāti, Kratu, Aṅgirā and Gaya.

18 The wife of Aṅga, Sunīthā, gave birth to a son named Vena, who was very crooked. The saintly King Aṅga was very disappointed with Vena's bad character, and he left home and kingdom and went out to the forest.

19-20 My dear Vidura, when great sages curse, their words are as invincible as a thunderbolt. Thus when they cursed King Vena out of anger, he died. After his death, since there was no king, all the rogues and thieves flourished, the kingdom became unregulated, and all the citizens suffered greatly. On seeing this, the great sages took the right hand of Vena as a churning rod, and as a result of their churning, Lord Viṣṇu in His partial representation made His advent as King Pṛthu, the original emperor of the world.

21 Vidura inquired from the sage Maitreya: My dear brāhmaṇa, King Aṅga was very gentle. He had high character and was a saintly personality and lover of brahminical culture. How is it that such a great soul got a bad son like Vena, because of whom he became indifferent to his kingdom and left it?

22 Vidura also inquired: How is it that the great sages, who were completely conversant with religious principles, desired to curse King Vena, who himself carried the rod of punishment, and thus awarded him the greatest punishment [brahma-śāpa]?

23 It is the duty of all citizens in a state never to insult the king, even though he sometimes appears to have done something very sinful. Because of his prowess, the king is always more influential than all other ruling chiefs.

24 Vidura requested Maitreya: My dear brāhmaṇa, you are well conversant with all subjects, both past and future. Therefore I wish to hear from you all the activities of King Vena. I am your faithful devotee, so please explain this.

25Śrī Maitreya replied: My dear Vidura, once the great King Aṅga arranged to perform the great sacrifice known as aśvamedha. All the expert brāhmaṇas present knew how to invite the demigods, but in spite of their efforts, no demigods participated or appeared in that sacrifice.

26 The priests engaged in the sacrifice then informed King Aṅga: O King, we are properly

offering the clarified butter in the sacrifice, but despite all our efforts the demigods do not accept it.

27 O King, we know that the paraphernalia to perform the sacrifice is well collected by you with great faith and care and is not polluted. Our chanting of the Vedic hymns is also not deficient in any way, for all the brāhmaṇas and priests present here are expert and are executing the performances properly.

28 Dear King, we do not find any reason that the demigods should feel insulted or neglected in any way, but still the demigods who are witnesses for the sacrifice do not accept their shares. We do not know why this is so.

29 Maitreya explained that King Aṅga, after hearing the statements of the priests, was greatly aggrieved. At that time he took permission from the priests to break his silence and inquired from all the priests who were present in the sacrificial arena.

30 King Aṅga addressed the priestly order: My dear priests, kindly tell me what offense I have committed. Although invited, the demigods are neither taking part in the sacrifice nor accepting their shares.

31 The head priests said: O King, in this life we do not find any sinful activity, even within your mind, so you are not in the least offensive. But we can see that in your previous life you performed sinful activities due to which, in spite of your having all qualifications, you have no son.

32 O King, we wish all good fortune for you. You have no son, but if you pray at once to the Supreme Lord and ask for a son, and if you execute the sacrifice for that purpose, the enjoyer of the sacrifice, the Supreme Personality of Godhead, will fulfill your desire.

33 When Hari, the supreme enjoyer of all sacrifices, is invited to fulfill your desire for a son, all the demigods will come with Him and take their shares in the sacrifice.

34 The performer of the sacrifices [under karma-kāṇḍa activities] achieves the fulfillment of the desire for which he worships the Lord.

35 Thus for the sake of a son for King Aṅga, they decided to offer oblations to Lord Viṣṇu, who is situated in the hearts of all living entities.

36 As soon as the oblation was offered in the fire, a person appeared from the fire altar wearing a golden garland and a white dress. He was carrying a golden pot filled with rice boiled in milk.

37 The King was very liberal, and after taking permission from the priests, he took the preparation in his joined palms, and after smelling it he offered a portion to his wife.

38 Although the Queen had no son, after eating that food, which had the power to produce a male child, she became pregnant by her husband, and in due course of time she gave birth to a son.

39 That boy was born partially in the dynasty of irreligion. His grandfather was death personified, and the boy grew up as his follower; he became a greatly irreligious person.

40 After fixing his bow and arrow, the cruel boy used to go to the forest and unnecessarily kill innocent deer, and as soon as he came all the people would cry, “Here comes cruel Vena! Here comes cruel Vena!”

41 The boy was so cruel that while playing with young boys of his age he would kill them very mercilessly, as if they were animals meant for slaughter.

42 After seeing the cruel and merciless behavior of his son, Vena, King Aṅga punished him in different ways to reform him, but was unable to bring him to the path of gentleness. He thus became greatly aggrieved.

43 The King thought to himself: Persons who have no son are certainly fortunate. They must have worshiped the Lord in their previous lives so that they would not have to suffer the unbearable unhappiness caused by a bad son.

44 A sinful son causes a person's reputation to vanish. His irreligious activities at home cause irreligion and quarrel among everyone, and this creates only endless anxiety.

45 Who, if he is considerate and intelligent, would desire such a worthless son? Such a son is nothing but a bond of illusion for the living entity, and he makes one's home miserable.

46 Then the King thought: A bad son is better than a good son because a good son creates an attachment for home, whereas a bad son does not. A bad son creates a hellish home from which an intelligent man naturally becomes very easily detached.

47 Thinking like that, King Aṅga could not sleep at night. He became completely indifferent to household life. Once, therefore, in the dead of night, he got up from bed and left Vena's mother [his wife], who was sleeping deeply. He gave up all attraction for his greatly opulent kingdom, and, unseen by anyone, he very silently gave up his home and opulence and proceeded towards the forest.

48 When it was understood that the King had indifferently left home, all the citizens, priests, ministers, friends, and people in general were greatly aggrieved. They began to search for him all over the world, just as a less experienced mystic searches out the Supersoul within himself.

49 When the citizens could not find any trace of the King after searching for him everywhere, they were very disappointed, and they returned to the city, where all the great sages of the country assembled because of the King's absence. With tears in their eyes the citizens offered respectful obeisances and informed the sages in full detail that they were unable to find the King anywhere.

## SB 4.14: The Story of King Vena

1 The great sage Maitreya continued: O great hero Vidura, the great sages, headed by Bhṛgu, were always thinking of the welfare of the people in general. When they saw that in the absence of King Aṅga there was no one to protect the interests of the people, they understood that without a ruler the people would become independent and nonregulated.

2 The great sages then called for the Queen Mother, Sunīthā, and with her permission they installed Vena on the throne as master of the world. All the ministers, however, disagreed with this.

3 It was already known that Vena was very severe and cruel; therefore, as soon as all the thieves and rogues in the state heard of his ascendance to the royal throne, they became very much afraid of him. Indeed, they hid themselves here and there as rats hide themselves from snakes.

4 When the King ascended to the throne, he became all-powerful with eight kinds of opulences. Consequently he became too proud. By virtue of his false prestige, he considered

himself to be greater than anyone. Thus he began to insult great personalities.

5 When he became overly blind due to his opulences, King Vena mounted a chariot and, like an uncontrolled elephant, began to travel through the kingdom, causing the sky and earth to tremble wherever he went.

6 All the twice-born [brāhmaṇas] were forbidden henceforward to perform any sacrifice, and they were also forbidden to give charity or offer clarified butter. Thus King Vena sounded kettledrums throughout the countryside. In other words, he stopped all kinds of religious rituals.

7 Therefore all the great sages assembled together and, after observing cruel Vena's atrocities, concluded that a great danger and catastrophe was approaching the people of the world. Thus out of compassion they began to talk amongst themselves, for they themselves were the performers of the sacrifices.

8 When the great sages consulted one another, they saw that the people were in a dangerous position from both directions. When a fire blazes on both ends of a log, the ants in the middle are in a very dangerous situation. Similarly, at that time the people in general were in a dangerous position due to an irresponsible king on one side and thieves and rogues on the other.

9 Thinking to save the state from irregularity, the sages began to consider that it was due to a political crisis that they made Vena king although he was not qualified. But alas, now the people were being disturbed by the king himself. Under such circumstances, how could the people be happy?

10 The sages began to think within themselves: Because he was born from the womb of Sunīthā, King Vena is by nature very mischievous. Supporting this mischievous king is exactly like maintaining a snake with milk. Now he has become a source of all difficulties.

11 We appointed this Vena king of the state in order to give protection to the citizens, but now he has become the enemy of the citizens. Despite all these discrepancies, we should at once try to pacify him. By doing so, we may not be touched by the sinful results caused by him.

12 The saintly sages continued thinking: Of course, we were completely aware of his mischievous nature, yet we nevertheless enthroned Vena. If we cannot persuade King Vena to accept our advice, he will be condemned by the public, and we will join them. Thus by our prowess we shall burn him to ashes.

13 The great sages, having thus decided, approached King Vena. Concealing their real anger, they pacified him with sweet words and then spoke as follows.

14 The great sages said: Dear King, we have come to give you good advice. Kindly hear us with great attention. By doing so, your duration of life and your opulence, strength and reputation will increase.

15 Those who live according to religious principles and who follow them by words, mind, body and intelligence are elevated to the heavenly kingdom, which is devoid of all miseries. Being thus rid of the material influence, they achieve unlimited happiness in life.

16 The sages continued: O great hero, for this reason you should not be the cause of spoiling the spiritual life of the general populace. If their spiritual life is spoiled because of your activities, you will certainly fall down from your opulent and royal position.

17 The saintly persons continued: When the king protects the citizens from the disturbances of mischievous ministers as well as from thieves and rogues, he can, by virtue of such pious activities, accept taxes given by his subjects. Thus a pious king can certainly enjoy himself in this world as well as in the life after death.

18 The king is supposed to be pious in whose state and cities the general populace strictly observes the system of eight social orders of varṇa and āśrama, and where all citizens engage in worshiping the Supreme Personality of Godhead by their particular occupations.

19 O noble one, if the king sees that the Supreme Personality of Godhead, the original cause of the cosmic manifestation and the Supersoul within everyone, is worshiped, the Lord will be satisfied.

20 The Supreme Personality of Godhead is worshiped by the great demigods who are controllers of universal affairs. When He is satisfied, nothing is impossible to achieve. For this reason all the demigods, presiding deities of different planets, as well as the inhabitants of their planets, take great pleasure in offering all kinds of paraphernalia for His worship.

21 Dear King, the Supreme Personality of Godhead, along with the predominating deities, is the enjoyer of the results of all sacrifices in all planets. The Supreme Lord is the sum total of the three Vedas, the owner of everything, and the ultimate goal of all austerity. Therefore your countrymen should engage in performing various sacrifices for your elevation. Indeed, you should always direct them towards the offering of sacrifices.

22 When all the brāhmaṇas engage in performing sacrifices in your kingdom, all the demigods, who are plenary expansions of the Lord, will be very much satisfied by their activities and will give you your desired result. Therefore, O hero, do not stop the sacrificial performances. If you stop them, you will disrespect the demigods.

23 King Vena replied: You are not at all experienced. It is very much regrettable that you are maintaining something which is not religious and are accepting it as religious. Indeed, I think you are giving up your real husband, who maintains you, and are searching after some paramour to worship.

24 Those who, out of gross ignorance, do not worship the king, who is actually the Supreme Personality of Godhead, experience happiness neither in this world nor in the world after death.

25 You are so much devoted to the demigods, but who are they? Indeed, your affection for these demigods is exactly like the affection of an unchaste woman who neglects her married life and gives all attention to her paramour.

26-27 Lord Viṣṇu; Lord Brahmā; Lord Śiva; Lord Indra; Vāyu, the master of air; Yama, the superintendent of death; the sun-god; the director of rainfall; Kuvera, the treasurer; the moon-god; the predominating deity of the earth; Agni, the fire-god; Varuṇa, the lord of waters; and all others who are great and competent to bestow benedictions or to curse all abide in the body of the king. For this reason the king is known as the reservoir of all demigods, who are simply parts and parcels of the king's body.

28 King Vena continued: For this reason, O brāhmaṇas, you should abandon your envy of me, and by your ritualistic activities you should worship me and offer me all paraphernalia. If you are intelligent, you should know that there is no personality superior to me who can accept the first oblations of all sacrifices.

29 The great sage Maitreya continued: Thus the King, who became unintelligent due to his sinful life and deviation from the right path, became actually bereft of all good fortune. He could not accept the requests of the great sages, which the sages put before him with great respect, and therefore he was condemned.

30 My dear Vidura, all good fortune unto you. The foolish King, who thought himself very learned, thus insulted the great sages, and the sages, being brokenhearted by the King's words, became very angry at him.

31 All the great saintly sages immediately cried: Kill him! Kill him! He is the most dreadful, sinful person. If he lives, he will certainly turn the whole world into ashes in no time.

32 The saintly sages continued: This impious, impudent man does not deserve to sit on the throne at all. He is so shameless that he even dared insult the Supreme Personality of Godhead, Lord Viṣṇu.

33 But for King Vena, who is simply inauspicious, who would blaspheme the Supreme Personality of Godhead, by whose mercy one is awarded all kinds of fortune and opulence?

34 The great sages, thus manifesting their covert anger, immediately decided to kill the King. King Vena was already as good as dead due to his blasphemy against the Supreme Personality of Godhead. Thus without using any weapons, the sages killed King Vena simply by high-sounding words.

35 After all the sages returned to their respective hermitages, the mother of King Vena, Sunīthā, became very much aggrieved because of her son's death. She decided to preserve the dead body of her son by the application of certain ingredients and by chanting mantras [mantra-yogena].

36 Once upon a time, the same saintly persons, after taking their bath in the river Sarasvatī, began to perform their daily duties by offering oblations into the sacrificial fires. After this, sitting on the bank of the river, they began to talk about the transcendental person and His pastimes.

37 In those days there were various disturbances in the country that were creating a panic in society. Therefore all the sages began to talk amongst themselves: Since the King is dead and there is no protector in the world, misfortune may befall the people in general on account of rogues and thieves.

38 When the great sages were carrying on their discussion in this way, they saw a dust storm arising from all directions. This storm was caused by the running of thieves and rogues, who were engaged in plundering the citizens.

39-40 Upon seeing the dust storm, the saintly persons could understand that there were a great deal of irregularities due to the death of King Vena. Without government, the state was devoid of law and order, and consequently there was a great uprising of murderous thieves and rogues, who were plundering the riches of the people in general. Although the great sages could subdue the disturbance by their powers just as they could kill the King they considered it improper on their part to do so. Thus they did not attempt to stop the disturbance.

41 The great sages began to think that although a brāhmaṇa is peaceful and impartial because he is equal to everyone, it is still not his duty to neglect poor humans. By such neglect, a brāhmaṇa's spiritual power diminishes, just as water kept in a cracked pot leaks out.

42 The sages decided that the descendants of the family of the saintly King Aṅga should not be

stopped, for in this family the semen was very powerful and the children were prone to become devotees of the Lord.

43 After making a decision, the saintly persons and sages churned the thighs of the dead body of King Vena with great force and according to a specific method. As a result of this churning, a dwarflike person was born from King Vena's body.

44 This person born from King Vena's thighs was named Bāhuka, and his complexion was as black as a crow's. All the limbs of his body were very short, his arms and legs were short, and his jaws were large. His nose was flat, his eyes were reddish, and his hair copper-colored.

45 He was very submissive and meek, and immediately after his birth he bowed down and inquired, "Sirs, what shall I do?" The great sages replied, "Please sit down [niṣīda]." Thus Niṣāda, the father of the Naiṣāda race, was born.

46 After his [Niṣāda's] birth, he immediately took charge of all the resultant actions of King Vena's sinful activities. As such, this Naiṣāda class are always engaged in sinful activities like stealing, plundering and hunting. Consequently they are only allowed to live in the hills and forests.

### SB 4.15: King Pṛthu's Appearance and Coronation

1 The great sage Maitreya continued: My dear Vidura, thus the brāhmaṇas and the great sages again churned the two arms of King Vena's dead body. As a result a male and female couple came out of his arms.

2 The great sages were highly learned in Vedic knowledge. When they saw the male and female born of the arms of Vena's body, they were very pleased, for they could understand that the couple was an expansion of a plenary portion of Viṣṇu, the Supreme Personality of Godhead.

3 The great sages said: The male is a plenary expansion of the power of Lord Viṣṇu, who maintains the entire universe, and the female is a plenary expansion of the goddess of fortune, who is never separated from the Lord.

4 Of the two, the male will be able to expand his reputation throughout the world. His name will be Pṛthu. Indeed, he will be the first among kings.

5 The female has such beautiful teeth and beautiful qualities that she will actually beautify the ornaments she wears. Her name will be Arci. In the future she will accept King Pṛthu as her husband.

6 In the form of King Pṛthu, the Supreme Personality of Godhead has appeared through a part of His potency to protect the people of the world. The goddess of fortune is the constant companion of the Lord, and therefore she has incarnated partially as Arci to become King Pṛthu's queen.

7 The great sage Maitreya continued: My dear Vidurajī, at that time all the brāhmaṇas highly praised and glorified King Pṛthu, and the best singers of Gandharvaloka chanted his glories. The inhabitants of Siddhaloka showered flowers, and the beautiful women in the heavenly planets danced in ecstasy.

8 Conchshells, bugles, drums and kettledrums vibrated in outer space. Great sages, forefathers and personalities from the heavenly planets all came to earth from various planetary systems.

9-10 Lord Brahmā, the master of the entire universe, arrived there accompanied by all the demigods and their chiefs. Seeing the lines of Lord Viṣṇu's palm on King Pṛthu's right hand and impressions of lotus flowers on the soles of his feet, Lord Brahmā could understand that King Pṛthu was a partial representation of the Supreme Personality of Godhead. One whose palm bears the sign of a disc, as well as other such lines, should be considered a partial representation or incarnation of the Supreme Lord.

11 The learned brāhmaṇas, who were very attached to the Vedic ritualistic ceremonies, then arranged for the King's coronation. People from all directions collected all the different paraphernalia for the ceremony. Thus everything was complete.

12 All the rivers, seas, hills, mountains, serpents, cows, birds, animals, heavenly planets, the earthly planet and all other living entities collected various presentations, according to their ability, to offer the King.

13 Thus the great King Pṛthu, exquisitely dressed with garments and ornaments, was coronated and placed on the throne. The King and his wife, Arci, who was also exquisitely ornamented, appeared exactly like fire.

14 The great sage continued: My dear Vidura, Kuvera presented the great King Pṛthu with a golden throne. The demigod Varuṇa presented him with an umbrella that constantly sprayed fine particles of water and was as brilliant as the moon.

15 The demigod of air, Vāyu, presented King Pṛthu with two whisks [cāmaras] of hair; the King of religion, Dharma, presented him with a flower garland which would expand his fame; the King of heaven, Indra, presented him with a valuable helmet; and the superintendent of death, Yamarāja, presented him with a scepter with which to rule the world.

16 Lord Brahmā presented King Pṛthu with a protective garment made of spiritual knowledge. Bhāratī [Sarasvatī], the wife of Brahmā, gave him a transcendental necklace. Lord Viṣṇu presented him with a Sudarśana disc, and Lord Viṣṇu's wife, the goddess of fortune, gave him imperishable opulences.

17 Lord Śiva presented him with a sword within a sheath marked with ten moons, and his wife, the goddess Durgā, presented him with a shield marked with one hundred moons. The moon-demigod presented him with horses made of nectar, and the demigod Viśvakarmā presented him with a very beautiful chariot.

18 The demigod of fire, Agni, presented him with a bow made of the horns of goats and cows. The sun-god presented him with arrows as brilliant as sunshine. The predominating deity of Bhūrloka presented him with slippers full of mystic power. The demigods from outer space brought him presentations of flowers again and again.

19 The demigods who always travel in outer space gave King Pṛthu the arts to perform dramas, sing songs, play musical instruments and disappear at his will. The great sages also offered him infallible blessings. The ocean offered him a conchshell produced from the ocean.

20 The seas, mountains and rivers gave him room to drive his chariot without impediments, and a sūta, a māgadha and a vandī offered prayers and praises. They all presented themselves before him to perform their respective duties.

21 Thus when the greatly powerful King Pṛthu, the son of Vena, saw the professionals before him, to congratulate them he smiled, and with the gravity of the vibrating sounds of clouds he spoke as follows.

22 King Pṛthu said: O gentle sūta, māgadha and other devotee offering prayers, the qualities of which you have spoken are not distinct in me. Why then should you praise me for all these qualities when I do not shelter these features? I do not wish for these words meant for me to go in vain, but it is better that they be offered to someone else.

23 O gentle reciters, offer such prayers in due course of time, when the qualities of which you have spoken actually manifest themselves in me. The gentle who offer prayers to the Supreme Personality of Godhead do not attribute such qualities to a human being, who does not actually have them.

24 How could an intelligent man competent enough to possess such exalted qualities allow his followers to praise him if he did not actually have them? Praising a man by saying that if he were educated he might have become a great scholar or great personality is nothing but a process of cheating. A foolish person who agrees to accept such praise does not know that such words simply insult him.

25 As a person with a sense of honor and magnanimity does not like to hear about his abominable actions, a person who is very famous and powerful does not like to hear himself praised.

26 King Pṛthu continued: My dear devotees, headed by the sūta, just now I am not very famous for my personal activities because I have not done anything praiseworthy you could glorify. Therefore how could I engage you in praising my activities exactly like children?

### SB 4.16: Praise of King Pṛthu by the Professional Reciters

1 The great sage Maitreya continued: While King Pṛthu thus spoke, the humility of his nectarean speeches pleased the reciters very much. Then again they continued to praise the King highly with exalted prayers, as they had been instructed by the great sages.

2 The reciters continued: Dear King, you are a direct incarnation of the Supreme Personality of Godhead, Lord Viṣṇu, and by His causeless mercy you have descended to this earth. Therefore it is not possible for us to actually glorify your exalted activities. Although you have appeared through the body of King Vena, even great orators and speakers like Lord Brahmā and other demigods cannot exactly describe the glorious activities of Your Lordship.

3 Although we are unable to glorify you adequately, we nonetheless have a transcendental taste for glorifying your activities. We shall try to glorify you according to the instructions received from authoritative sages and scholars. Whatever we speak, however, is always inadequate and very insignificant. Dear King, because you are a direct incarnation of the Supreme Personality of Godhead, all your activities are liberal and ever laudable.

4 This King, Mahārāja Pṛthu, is the best amongst those who are following religious principles. As such, he will engage everyone in the pursuit of religious principles and give those principles all protection. He will also be a great chastiser to the irreligious and atheistic.

5 This King alone, in his own body, will be able in due course of time to maintain all living entities and keep them in a pleasant condition by manifesting himself as different demigods to perform various departmental activities. Thus he will maintain the upper planetary system by inducing the populace to perform Vedic sacrifices. In due course of time he will also maintain this earthly planet by discharging proper rainfall.

6 This King Pṛthu will be as powerful as the sun-god, and just as the sun-god equally distributes his sunshine to everyone, King Pṛthu will distribute his mercy equally. Similarly, just

as the sun-god evaporates water for eight months and, during the rainy season, returns it profusely, this King will also exact taxes from the citizens and return these monies in times of need.

7 This King Pṛthu will be very, very kind to all citizens. Even though a poor person may trample over the King's head by violating the rules and regulations, the King, out of his causeless mercy, will be forgetful and forgiving. As a protector of the world, he will be as tolerant as the earth itself.

8 When there is no rainfall and the citizens are in great danger due to the scarcity of water, this royal Personality of Godhead will be able to supply rains exactly like the heavenly King Indra. Thus he will very easily be able to protect the citizens from drought.

9 This King, Pṛthu Mahārāja, by virtue of his affectionate glances and beautiful moonlike face, which is always smiling with great affection for the citizens, will enhance everyone's peaceful life.

10 The reciters continued: No one will be able to understand the policies the King will follow. His activities will also be very confidential, and it will not be possible for anyone to know how he will make every activity successful. His treasury will always remain unknown to everyone. He will be the reservoir of unlimited glories and good qualities, and his position will be maintained and covered just as Varuṇa, the deity of the seas, is covered all around by water.

11 King Pṛthu was born of the dead body of King Vena as fire is produced from araṇi wood. Thus King Pṛthu will always remain just like fire, and his enemies will not be able to approach him. Indeed, he will be unbearable to his enemies, for although staying very near him, they will never be able to approach him but will have to remain as if far away. No one will be able to overcome the strength of King Pṛthu.

12 King Pṛthu will be able to see all the internal and external activities of every one of his citizens. Still, no one will be able to know his system of espionage, and he himself will remain neutral regarding all matters of glorification or vilification paid to him. He will be exactly like air, the life force within the body, which is exhibited internally and externally but is always neutral to all affairs.

13 Since this King will always remain on the path of piety, he will be neutral to both his son and the son of his enemy. If the son of his enemy is not punishable, he will not punish him, but if his own son is punishable, he will immediately punish him.

14 Just as the sun-god expands his shining rays up to the Arctic region without impedance, the influence of King Pṛthu will cover all tracts of land up to the Arctic region and will remain undisturbed as long as he lives.

15 This King will please everyone by his practical activities, and all of his citizens will remain very satisfied. Because of this the citizens will take great satisfaction in accepting him as their ruling king.

16 The King will be firmly determined and always situated in truth. He will be a lover of the brahminical culture and will render all service to old men and give shelter to all surrendered souls. Giving respect to all, he will always be merciful to the poor and innocent.

17 The King will respect all women as if they were his own mother, and he will treat his own wife as the other half of his body. He will be just like an affectionate father to his citizens, and he will treat himself as the most obedient servant of the devotees, who always preach the

glories of the Lord.

18 The King will consider all embodied living entities as dear as his own self, and he will always be increasing the pleasures of his friends. He will intimately associate with liberated persons, and he will be a chastising hand to all impious persons.

19 This King is the master of the three worlds, and he is directly empowered by the Supreme Personality of Godhead. He is without change, and he is an incarnation of the Supreme known as a śaktyāveśa-avatāra. Being a liberated soul and completely learned, he sees all material varieties as meaningless because their basic principle is nescience.

20 This King, being uniquely powerful and heroic, will have no competitor. He will travel around the globe on his victorious chariot, holding his invincible bow in his hand and appearing exactly like the sun, which rotates in its own orbit from the south.

21 When the King travels all over the world, other kings, as well as the demigods, will offer him all kinds of presentations. Their queens will also consider him the original king, who carries in His hands the emblems of club and disc, and will sing of his fame, for he will be as reputable as the Supreme Personality of Godhead.

22 This King, this protector of the citizens, is an extraordinary king and is equal to the Prajāpati demigods. For the living facility of all citizens, he will milk the earth, which is like a cow. Not only that, but he will level the surface of the earth with the pointed ends of his bow, breaking all the hills exactly as King Indra, the heavenly King, breaks mountains with his powerful thunderbolt.

23 When the lion travels in the forest with its tail turned upward, all menial animals hide themselves. Similarly, when King Pṛthu will travel over his kingdom and vibrate the string of his bow, which is made of the horns of goats and bulls and is irresistible in battle, all demoniac rogues and thieves will hide themselves in all directions.

24 At the source of the river Sarasvatī, this King will perform one hundred sacrifices known as aśvamedha. In the course of the last sacrifice, the heavenly King Indra will steal the sacrificial horse.

25 This King Pṛthu will meet Sanat-kumāra, one of the four Kumāras, in the garden of his palace compound. The King will worship him with devotion and will be fortunate to receive instructions by which one can enjoy transcendental bliss.

26 In this way, when the chivalrous activities of King Pṛthu come to be known to the people in general, King Pṛthu will always hear about himself and his uniquely powerful activities.

27 No one will be able to disobey the orders of Pṛthu Mahārāja. After conquering the world, he will completely eradicate the threefold miseries of the citizens. Then he will be recognized all over the world. At that time both the suras and the asuras will undoubtedly glorify his magnanimous activities.

### SB 4.17: Mahārāja Pṛthu Becomes Angry at the Earth

1 The great sage Maitreya continued: In this way the reciters who were glorifying Mahārāja Pṛthu readily described his qualities and chivalrous activities. At the end, Mahārāja Pṛthu offered them various presentations with all due respect and worshiped them adequately.

2 King Pṛthu thus satisfied and offered all respect to all the leaders of the brāhmaṇas and other castes, to his servants, to his ministers and to the priests, citizens, general countrymen, people

from other communities, admirers and others, and thus they all became happy.

3 Vidura inquired from the great sage Maitreya: My dear brāhmaṇa, since mother earth can appear in different shapes, why did she take the shape of a cow? And when King Pṛthu milked her, who became the calf, and what was the milking pot?

4 The surface of the earth is by nature low in some places and high in others. How did King Pṛthu level the surface of the earth, and why did the King of heaven, Indra, steal the horse meant for the sacrifice?

5 The great saintly King, Mahārāja Pṛthu, received knowledge from Sanat-kumāra, who was the greatest Vedic scholar. After receiving knowledge to be applied practically in his life, how did the saintly King attain his desired destination?

6-7 Pṛthu Mahārāja was a powerful incarnation of Lord Kṛṣṇa's potencies; consequently any narration concerning his activities is surely very pleasing to hear, and it produces all good fortune. As far as I am concerned, I am always your devotee as well as a devotee of the Lord, who is known as Adhokṣaja. Please therefore narrate all the stories of King Pṛthu, who, in the form of the son of King Vena, milked the cow-shaped earth.

8 Sūta Gosvāmī continued: When Vidura became inspired to hear of the activities of Lord Kṛṣṇa in His various incarnations, Maitreya, also being inspired and being very pleased with Vidura, began to praise him. Then Maitreya spoke as follows.

9 The great sage Maitreya continued: My dear Vidura, at the time King Pṛthu was enthroned by the great sages and brāhmaṇas and declared to be the protector of the citizens, there was a scarcity of food grains. The citizens actually became skinny due to starvation. Therefore they came before the King and informed him of their real situation.

10-11 Dear King, just as a tree with a fire burning in the hollow of the trunk gradually dries up, we are drying up due to the fire of hunger in our stomachs. You are the protector of surrendered souls, and you have been appointed to give employment to us. Therefore we have all come to you for protection. You are not only a king, but the incarnation of God as well. Indeed, you are the king of all kings. You can give us all kinds of occupational engagements, for you are the master of our livelihood. Therefore, O king of all kings, please arrange to satisfy our hunger by the proper distribution of food grains. Please take care of us, lest we soon die for want of food.

12 After hearing this lamentation and seeing the pitiable condition of the citizens, King Pṛthu contemplated this matter for a long time to see if he could find out the underlying causes.

13 Having arrived at a conclusion, the King took up his bow and arrow and aimed them at the earth, exactly like Lord Śiva, who destroys the whole world out of anger.

14 When the earth saw that King Pṛthu was taking his bow and arrow to kill her, she became very much afraid and began to tremble. She then began to flee, exactly like a deer, which runs very swiftly when followed by a hunter. Being afraid of King Pṛthu, she took the shape of a cow and began to run.

15 Seeing this, Mahārāja Pṛthu became very angry, and his eyes became as red as the early-morning sun. Placing an arrow on his bow, he chased the cow-shaped earth wherever she would run.

16 The cow-shaped earth ran here and there in outer space between the heavenly planets and

the earth, and wherever she ran, the King chased her with his bow and arrows.

17 Just as a man cannot escape the cruel hands of death, the cow-shaped earth could not escape the hands of the son of Vena. At length the earth, fearful, her heart aggrieved, turned back in helplessness.

18 Addressing the great, opulent King Pṛthu as the knower of religious principles and shelter of the surrendered, she said: Please save me. You are the protector of all living entities. Now you are situated as the King of this planet.

19 The cow-shaped earth continued to appeal to the King: I am very poor and have not committed any sinful activities. I do not know why you want to kill me. Since you are supposed to be the knower of all religious principles, why are you so envious of me, and why are you so anxious to kill a woman?

20 Even if a woman does commit some sinful activity, no one should place his hand upon her. And what to speak of you, dear King, who are so merciful. You are a protector, and you are affectionate to the poor.

21 The cow-shaped earth continued: My dear King, I am just like a strong boat, and all the paraphernalia of the world is standing upon me. If you break me to pieces, how can you protect yourself and your subjects from drowning?

22 King Pṛthu replied to the earthly planet: My dear earth, you have disobeyed my orders and rulings. In the form of a demigod you accepted your share of the yajṣas we performed, but in return you have not produced sufficient food grains. For this reason I must kill you.

23 Although you are eating green grass every day, you are not filling your milk bag so we can utilize your milk. Since you are willfully committing offenses, it cannot be said that you are not punishable due to your assuming the form of a cow.

24 You have so lost your intelligence that, despite my orders, you do not deliver the seeds of herbs and grains formerly created by Brahmā and now hidden within yourself.

25 Now, with the help of my arrows, I shall cut you to pieces and with your flesh satisfy the hunger-stricken citizens, who are now crying for want of grains. Thus I shall satisfy the crying citizens of my kingdom.

26 Any cruel person be he a man, woman or impotent eunuch who is only interested in his personal maintenance and has no compassion for other living entities may be killed by the king. Such killing can never be considered actual killing.

27 You are very much puffed up with pride and have become almost insane. Presently you have assumed the form of a cow by your mystic powers. Nonetheless I shall cut you into small pieces like grain, and I will uphold the entire population by my personal mystic powers.

28 At this time Pṛthu Mahārāja became exactly like Yamarāja, and his whole body appeared very angry. In other words, he was anger personified. After hearing him, the planet earth began to tremble. She surrendered, and with folded hands began to speak as follows.

29 The planet earth spoke: My dear Lord, O Supreme Personality of Godhead, You are transcendental in Your position, and by Your material energy You have expanded Yourself in various forms and species of life through the interaction of the three modes of material nature. Unlike some other masters, You always remain in Your transcendental position and are not affected by the material creation, which is subject to different material interactions.

Consequently You are not bewildered by material activities.

30 The planet earth continued: My dear Lord, You are the complete conductor of the material creation. You have created this cosmic manifestation and the three material qualities, and therefore You have created me, the planet earth, the resting place of all living entities. Yet You are always fully independent, my Lord. Now that You are present before me and ready to kill me with Your weapons, let me know where I should go to take shelter, and tell me who can give me protection.

31 In the beginning of creation You created all these moving and nonmoving living entities by Your inconceivable energy. Through this very same energy You are now prepared to protect the living entities. Indeed, You are the supreme protector of religious principles. Why are You so anxious to kill me, even though I am in the form of a cow?

32 My dear Lord, although You are one, by Your inconceivable potencies You have expanded Yourself in many forms. Through the agency of Brahmā, You have created this universe. You are therefore directly the Supreme Personality of Godhead. Those who are not sufficiently experienced cannot understand Your transcendental activities because these persons are covered by Your illusory energy.

33 My dear Lord, by Your own potencies You are the original cause of the material elements, the performing instruments (the senses), the workers of the senses (the controlling demigods), the intelligence and the ego, as well as everything else. By Your energy You manifest this entire cosmic creation, maintain it and dissolve it. Through Your energy alone everything is sometimes manifest and sometimes not manifest. You are therefore the Supreme Personality of Godhead, the cause of all causes. I offer my respectful obeisances unto You.

34 My dear Lord, You are always unborn. Once, in the form of the original boar, You rescued me from the waters in the bottom of the universe. Through Your own energy You created all the physical elements, the senses and the heart, for the maintenance of the world.

35 My dear Lord, in this way You once protected me by rescuing me from the water, and consequently Your name has been famous as Dharādhara He who holds the planet earth. Yet at the present moment, in the form of a great hero, You are about to kill me with sharpened arrows. I am, however, just like a boat on the water, keeping everything afloat.

36 My dear Lord, I am also the creation of one of Your energies, composed of the three modes of material nature. Consequently I am bewildered by Your activities. Even the activities of Your devotees cannot be understood, and what to speak of Your pastimes. Thus everything appears to us to be contradictory and wonderful.

## SB 4.18: Pṛthu Mahārāja Milks the Earth Planet

1 The great saint Maitreya continued to address Vidura: My dear Vidura, at that time, after the planet earth finished her prayers, King Pṛthu was still not pacified, and his lips trembled in great anger. Although the planet earth was frightened, she made up her mind and began to speak as follows in order to convince the King.

2 My dear Lord, please pacify your anger completely and hear patiently whatever I submit before you. Please turn your kind attention to this. I may be very poor, but a learned man takes the essence of knowledge from all places, just as a bumblebee collects honey from each and every flower.

3 To benefit all human society, not only in this life but in the next, the great seers and sages have prescribed various methods conducive to the prosperity of the people in general.

4 One who follows the principles and instructions enjoined by the great sages of the past can utilize these instructions for practical purposes. Such a person can very easily enjoy life and pleasures.

5 A foolish person who manufactures his own ways and means through mental speculation and does not recognize the authority of the sages who lay down unimpeachable directions is simply unsuccessful again and again in his attempts.

6 My dear King, the seeds, roots, herbs and grains, which were created by Lord Brahmā in the past, are now being used by nondevotees, who are devoid of all spiritual understanding.

7 My dear King, not only are grains and herbs being used by nondevotees, but, as far as I am concerned, I am not being properly maintained. Indeed, I am being neglected by kings who are not punishing these rascals who have turned into thieves by using grains for sense gratification. Consequently I have hidden all these seeds, which were meant for the performance of sacrifice.

8 Due to being stocked for a very long time, all the grain seeds within me have certainly deteriorated. Therefore you should immediately arrange to take these seeds out by the standard process, which is recommended by the ācāryas or śāstras.

9-10 O great hero, protector of living entities, if you desire to relieve the living entities by supplying them sufficient grain, and if you desire to nourish them by taking milk from me, you should make arrangements to bring a calf suitable for this purpose and a pot in which the milk can be kept, as well as a milkman to do the work. Since I will be very much affectionate towards my calf, your desire to take milk from me will be fulfilled.

11 My dear King, may I inform you that you have to make the entire surface of the globe level. This will help me, even when the rainy season has ceased. Rainfall comes by the mercy of King Indra. Rainfall will remain on the surface of the globe, always keeping the earth moistened, and thus it will be auspicious for all kinds of production.

12 After hearing the auspicious and pleasing words of the planet earth, the King accepted them. He then transformed Svāyambhuva Manu into a calf and milked all the herbs and grains from the earth in the form of a cow, keeping them in his cupped hands.

13 Others, who were as intelligent as King Pṛthu, also took the essence out of the earthly planet. Indeed, everyone took this opportunity to follow in the footsteps of King Pṛthu and get whatever he desired from the planet earth.

14 All the great sages transformed Bṛhaspati into a calf, and making the senses into a pot, they milked all kinds of Vedic knowledge to purify words, mind and hearing.

15 All the demigods made Indra, the King of heaven, into a calf, and from the earth they milked the beverage soma, which is nectar. Thus they became very powerful in mental speculation and bodily and sensual strength.

16 The sons of Diti and the demons transformed Prahlāda Mahārāja, who was born in an asura family, into a calf, and they extracted various kinds of liquor and beer, which they put into a pot made of iron.

17 The inhabitants of Gandharvaloka and Apsaroloka made Viśvāvasu into a calf, and they drew the milk into a lotus-flower pot. The milk took the shape of sweet musical art and beauty.

18 The fortunate inhabitants of Pitṛloka, who preside over the funeral ceremonies, made

Aryamā into a calf. With great faith they milked kavya, food offered to the ancestors, into an unbaked earthen pot.

19 After this, the inhabitants of Siddhaloka, as well as the inhabitants of Vidyādhara-loka, transformed the great sage Kapila into a calf, and making the whole sky into a pot, they milked out specific yogic mystic powers, beginning with aṇimā. Indeed, the inhabitants of Vidyādhara-loka acquired the art of flying in the sky.

20 Others also, the inhabitants of planets known as Kimpuruṣa-loka, made the demon Maya into a calf, and they milked out mystic powers by which one can disappear immediately from another's vision and appear again in a different form.

21 Then the Yakṣas, Rākṣasas, ghosts and witches, who are habituated to eating flesh, transformed Lord Śiva's incarnation Rudra [Bhūtanātha] into a calf and milked out beverages made of blood and put them in a pot made of skulls.

22 Thereafter cobras and snakes without hoods, large snakes, scorpions and many other poisonous animals took poison out of the planet earth as their milk and kept this poison in snake holes. They made a calf out of Takṣaka.

23-24 The four-legged animals like the cows made a calf out of the bull who carries Lord Śiva and made a milking pot out of the forest. Thus they got fresh green grasses to eat. Ferocious animals like tigers transformed a lion into a calf, and thus they were able to get flesh for milk. The birds made a calf out of Garuḍa and took milk from the planet earth in the form of moving insects and nonmoving plants and grasses.

25 The trees made a calf out of the banyan tree, and thus they derived milk in the form of many delicious juices. The mountains transformed the Himālayas into a calf, and they milked a variety of minerals into a pot made of the peaks of hills.

26 The planet earth supplied everyone his respective food. During the time of King Pṛthu, the earth was fully under the control of the King. Thus all the inhabitants of the earth could get their food supply by creating various types of calves and putting their particular types of milk in various pots.

27 My dear Vidura, chief of the Kurus, in this way King Pṛthu and all the others who subsist on food created different types of calves and milked out their respective eatables. Thus they received their various foodstuffs, which were symbolized as milk.

28 Thereafter King Pṛthu was very satisfied with the planet earth, for she sufficiently supplied all food to various living entities. Thus he developed an affection for the planet earth, just as if she were his own daughter.

29 After this, the king of all kings, Mahārāja Pṛthu, leveled all rough places on the surface of the globe by breaking up the hills with the strength of his bow. By his grace the surface of the globe almost became flat.

30 To all the citizens of the state, King Pṛthu was as good as a father. Thus he was visibly engaged in giving them proper subsistence and proper employment for subsistence. After leveling the surface of the globe, he earmarked different places for residential quarters, inasmuch as they were desirable.

31 In this way the King founded many types of villages, settlements and towns and built forts, residences for cowherdsmen, stables for the animals, places for the royal camps, mining places,

agricultural towns and mountain villages.

32 Before the reign of King Pṛthu there was no planned arrangement for different cities, villages, pasturing grounds, etc. Everything was scattered, and everyone constructed his residential quarters according to his own convenience. However, from the time of King Pṛthu, plans were made for towns and villages.

### SB 4.19: King Pṛthu's One Hundred Horse Sacrifices

1 The great sage Maitreya continued: My dear Vidura, King Pṛthu initiated the performance of one hundred horse sacrifices at the spot where the river Sarasvatī flows towards the east. This piece of land is known as Brahmāvarta, and it was controlled by Svāyambhuva Manu.

2 When the most powerful Indra, the King of heaven, saw this, he considered the fact that King Pṛthu was going to exceed him in fruitive activities. Thus Indra could not tolerate the great sacrificial ceremonies performed by King Pṛthu.

3 The Supreme Personality of Godhead, Lord Viṣṇu, is present in everyone's heart as the Supersoul, and He is the proprietor of all planets and the enjoyer of the results of all sacrifices. He was personally present at the sacrifices made by King Pṛthu.

4 When Lord Viṣṇu appeared in the sacrificial arena, Lord Brahmā, Lord Śiva and all the chief predominating personalities of every planet, as well as their followers, came with Him. When He appeared on the scene, the residents of Gandharvaloka, the great sages, and the residents of Apsaroloka all praised Him.

5 The Lord was accompanied by the residents of Siddhaloka and Vidyādhara-loka, all the descendants of Diti, and the demons and the Yakṣas. He was also accompanied by His chief associates, headed by Sunanda and Nanda.

6 Great devotees, who were always engaged in the service of the Supreme Personality of Godhead, as well as the great sages named Kapila, Nārada and Dattātreya, and masters of mystic powers, headed by Sanaka Kumāra, all attended the great sacrifice with Lord Viṣṇu.

7 My dear Vidura, in that great sacrifice the entire land came to be like the milk-producing kāma-dhenu, and thus, by the performance of yajṣa, all daily necessities for life were supplied.

8 The flowing rivers supplied all kinds of tastes sweet, pungent, sour, etc. and very big trees supplied fruit and honey in abundance. The cows, having eaten sufficient green grass, supplied profuse quantities of milk, curd, clarified butter and similar other necessities.

9 King Pṛthu was presented with various gifts from the general populace and predominating deities of all planets. The oceans and seas were full of valuable jewels and pearls, and the hills were full of chemicals and fertilizers. Four kinds of edibles were produced profusely.

10 King Pṛthu was dependent on the Supreme Personality of Godhead, who is known as Adhokṣaja. Because King Pṛthu performed so many sacrifices, he was superhumanly enhanced by the mercy of the Supreme Lord. King Pṛthu's opulence, however, could not be tolerated by the King of heaven, Indra, who tried to impede the progress of his opulence.

11 When Pṛthu Mahārāja was performing the last horse sacrifice [aśvamedha-yajṣa], King Indra, invisible to everyone, stole the horse intended for sacrifice. He did this because of his great envy of King Pṛthu.

12 When King Indra was taking away the horse, he dressed himself to appear as a liberated person. Actually this dress was a form of cheating, for it falsely created an impression of religion. When Indra went into outer space in this way, the great sage Atri saw him and understood the whole situation.

13 When the son of King Pṛthu was informed by Atri of King Indra's trick, he immediately became very angry and followed Indra to kill him, calling, "Wait! Wait!"

14 King Indra was fraudulently dressed as a sannyāsī, having knotted his hair on his head and smeared ashes all over his body. Upon seeing such dress, the son of King Pṛthu considered Indra a religious man and pious sannyāsī. Therefore he did not release his arrows.

15 When Atri Muni saw that the son of King Pṛthu did not kill Indra but returned deceived by him, Atri Muni again instructed him to kill the heavenly King because he thought that Indra had become the lowliest of all demigods due to his impeding the execution of King Pṛthu's sacrifice.

16 Being thus informed, the grandson of King Vena immediately began to follow Indra, who was fleeing through the sky in great haste. He was very angry with him, and he chased him just as the king of the vultures chased Rāvaṇa.

17 When Indra saw that the son of Pṛthu was chasing him, he immediately abandoned his false dress and left the horse. Indeed, he disappeared from that very spot, and the great hero, the son of Mahārāja Pṛthu, returned the horse to his father's sacrificial arena.

18 My dear Lord Vidura, when the great sages observed the wonderful prowess of the son of King Pṛthu, they all agreed to give him the name Vijitāśva.

19 My dear Vidura, Indra, being the King of heaven and very powerful, immediately brought a dense darkness upon the sacrificial arena. Covering the whole scene in this way, he again took away the horse, which was chained with golden shackles near the wooden instrument where animals were sacrificed.

20 The great sage Atri again pointed out to the son of King Pṛthu that Indra was fleeing through the sky. The great hero, the son of Pṛthu, chased him again. But when he saw that Indra was carrying in his hand a staff with a skull at the top and was again wearing the dress of a sannyāsī, he still chose not to kill him.

21 When the great sage Atri again gave directions, the son of King Pṛthu became very angry and placed an arrow on his bow. Upon seeing this, King Indra immediately abandoned the false dress of a sannyāsī and, giving up the horse, made himself invisible.

22 Then the great hero, Vijitāśva, the son of King Pṛthu, again took the horse and returned to his father's sacrificial arena. Since that time, certain men with a poor fund of knowledge have adopted the dress of a false sannyāsī. It was King Indra who introduced this.

23 Whatever different forms Indra assumed as a mendicant because of his desire to seize the horse were symbols of atheistic philosophy.

24-25 In this way King Indra, in order to steal the horse from King Pṛthu's sacrifice, adopted several orders of sannyāsa. Some sannyāsīs go naked, and sometimes they wear red garments and pass under the name of kāpālika. These are simply symbolic representations of their sinful activities. These so-called sannyāsīs are very much appreciated by sinful men because they are all godless atheists and very expert in putting forward arguments and reasons to support their

case. We must know, however, that they are only passing as adherents of religion and are not so in fact. Unfortunately, bewildered persons accept them as religious, and being attracted to them, they spoil their life.

26 Mahārāja Pṛthu, who was celebrated as very powerful, immediately took up his bow and arrows and prepared to kill Indra himself, because Indra had introduced such irregular sannyāsa orders.

27 When the priests and all the others saw Mahārāja Pṛthu very angry and prepared to kill Indra, they requested him: O great soul, do not kill him, for only sacrificial animals can be killed in a sacrifice. Such are the directions given by śāstra.

28 Dear King, Indra's powers are already reduced due to his attempt to impede the execution of your sacrifice. We shall call him by Vedic mantras which were never before used, and certainly he will come. Thus by the power of our mantra, we shall cast him into the fire because he is your enemy.

29 My dear Vidura, after giving the King this advice, the priests who had been engaged in performing the sacrifice called for Indra, the King of heaven, in a mood of great anger. When they were just ready to put the oblation in the fire, Lord Brahmā appeared on the scene and forbade them to start the sacrifice.

30 Lord Brahmā addressed them thus: My dear sacrificial performers, you cannot kill Indra, the King of heaven. It is not your duty. You should know that Indra is as good as the Supreme Personality of Godhead. Indeed, he is one of the most powerful assistants of the Personality of Godhead. You are trying to satisfy all the demigods by the performance of this yajṣa, but you should know that all these demigods are but parts and parcels of Indra, the King of heaven. How, then, can you kill him in this great sacrifice?

31 In order to make trouble and impede the performance of King Pṛthu's great sacrifice, King Indra has adopted some means that in the future will destroy the clear path of religious life. I draw your attention to this fact. If you oppose him any further, he will further misuse his power and introduce many other irreligious systems.

32 "Let there be only ninety-nine sacrificial performances for Mahārāja Pṛthu," Lord Brahmā concluded. Lord Brahmā then turned towards Mahārāja Pṛthu and informed him that since he was thoroughly aware of the path of liberation, what was the use in performing more sacrifices?

33 Lord Brahmā continued: Let there be good fortune to both of you, for you and King Indra are both part and parcel of the Supreme Personality of Godhead. Therefore you should not be angry with King Indra, who is nondifferent from you.

34 My dear King, do not be agitated and anxious because your sacrifices have not been properly executed due to providential impediments. Kindly take my words with great respect. We should always remember that if something happens by providential arrangement, we should not be very sorry. The more we try to rectify such reversals, the more we enter into the darkest region of materialistic thought.

35 Lord Brahmā continued: Stop the performance of these sacrifices, for they have induced Indra to introduce so many irreligious aspects. You should know very well that even amongst the demigods there are many unwanted desires.

36 Just see how Indra, the King of heaven, was creating a disturbance in the midst of the

sacrifice by stealing the sacrificial horse. These attractive sinful activities he has introduced will be carried out by the people in general.

37 O King Pṛthu, son of Vena, you are the part-and-parcel expansion of Lord Viṣṇu. Due to the mischievous activities of King Vena, religious principles were almost lost. At that opportune moment you descended as the incarnation of Lord Viṣṇu. Indeed, for the protection of religious principles you have appeared from the body of King Vena.

38 O protector of the people in general, please consider the purpose of your being incarnated by Lord Viṣṇu. The irreligious principles created by Indra are but mothers of so many unwanted religions. Please therefore stop these imitations immediately.

39 The great sage Maitreya continued: When King Pṛthu was thus advised by the supreme teacher, Lord Brahmā, he abandoned his eagerness to perform yajṣas and with great affection concluded a peace with King Indra.

40 After this, Pṛthu Mahārāja took his bath, which is customarily taken after the performance of a yajṣa, and received the benedictions and due blessings of the demigods, who were very pleased by his glorious activities.

41 With great respect, the original king, Pṛthu, offered all kinds of rewards to the brāhmaṇas present at the sacrifice. Since all these brāhmaṇas were very much satisfied, they gave their heartfelt blessings to the King.

42 All the great sages and brāhmaṇas said: O mighty King, by your invitation all classes of living entities have attended this assembly. They have come from Pitṛloka and the heavenly planets, and great sages as well as common men have attended this meeting. Now all of them are very much satisfied by your dealings and your charity towards them.

### SB 4.20: Lord Viṣṇu's Appearance in the Sacrificial Arena of Mahārāja Pṛthu

1 The great sage Maitreya continued: My dear Vidura, being very much satisfied by the performance of ninety-nine horse sacrifices, the Supreme Personality of Godhead, Lord Viṣṇu, appeared on the scene. Accompanying Him was King Indra. Lord Viṣṇu then began to speak.

2 Lord Viṣṇu, the Supreme Personality of Godhead, said: My dear King Pṛthu, Indra, the King of heaven, has disturbed your execution of one hundred sacrifices. Now he has come with Me to be forgiven by you. Therefore excuse him.

3 O King, one who is advanced in intelligence and eager to perform welfare activities for others is considered best amongst human beings. An advanced human being is never malicious to others. Those with advanced intelligence are always conscious that this material body is different from the soul.

4 If a personality like you, who are so much advanced because of executing the instructions of the previous ācāryas, is carried away by the influence of My material energy, then all your advancement may be considered simply a waste of time.

5 Those who are in full knowledge of the bodily conception of life, who know that this body is composed of nescience, desires and activities resulting from illusion, do not become addicted to the body.

6 How can a highly learned person who has absolutely no affinity for the bodily conception of life be affected by the bodily conception in regard to house, children, wealth and similar other

bodily productions?

7 The individual soul is one, pure, nonmaterial and self-effulgent. He is the reservoir of all good qualities, and He is all-pervading. He is without material covering, and He is the witness of all activities. He is completely distinguished from other living entities, and He is transcendental to all embodied souls.

8 Although within the material nature, one who is thus situated in full knowledge of the Paramātmā and ātmā is never affected by the modes of material nature, for he is always situated in My transcendental loving service.

9 The Supreme Personality of Godhead, Lord Viṣṇu, continued: My dear King Pṛthu, when one situated in his occupational duty engages in My loving service without motive for material gain, he gradually becomes very satisfied within.

10 When the heart is cleansed of all material contamination, the devotee's mind becomes broader and transparent and he can see things equally. At that stage of life there is peace, and one is situated equally with Me as sac-cid-ānanda-vigraha.

11 Anyone who knows that this material body, made of the five gross elements, the sense organs, the working senses and the mind, is simply supervised by the fixed soul is eligible to be liberated from material bondage.

12 Lord Viṣṇu told King Pṛthu: My dear King, the constant change of this material world is due to the interaction of the three modes of material nature. The five elements, the senses, the demigods who control the senses, as well as the mind, which is agitated by the spirit soul all these taken together comprise the body. Since the spirit soul is completely different from this combination of gross and subtle material elements, My devotee who is connected with Me in intense friendship and affection, being completely in knowledge, is never agitated by material happiness and distress.

13 My dear heroic King, please keep yourself always equipoised and treat people equally, whether they are greater than you, in the intermediate stage or lower than you. Do not be disturbed by temporary distress or happiness. Fully control your mind and senses. In this transcendental position, try to execute your duty as king in whatever condition of life you may be posted by My arrangement, for your only duty here is to give protection to the citizens of your kingdom.

14 To give protection to the general mass of people who are citizens of the state is the prescribed occupational duty for a king. By acting in that way, the king in his next life shares one sixth of the result of the pious activities of the citizens. But a king or executive head of state who simply collects taxes from the citizens but does not give them proper protection as human beings has the results of his own pious activities taken away by the citizens, and in exchange for his not giving protection he becomes liable to punishment for the impious activities of his subjects.

15 Lord Viṣṇu continued: My dear King Pṛthu, if you continue to protect the citizens according to the instructions of the learned brāhmaṇa authorities, as they are received by the disciplic succession by hearing from master to disciple, and if you follow the religious principles laid down by them, without attachment to ideas manufactured by mental concoction, then every one of your citizens will be happy and will love you, and very soon you will be able to see such already liberated personalities as the four Kumāras [Sanaka, Sanātana, Sanandana and Sanat-kumāra].

16 My dear King, I am very captivated by your elevated qualities and excellent behavior, and thus I am very favorably inclined toward you. You may therefore ask from Me any benediction you like. One who does not possess elevated qualities and behavior cannot possibly achieve My favor simply by performance of sacrifices, severe austerities or mystic yoga. But I always remain equipoised in the heart of one who is also equipoised in all circumstances.

17 The great saint Maitreya continued: My dear Vidura, in this way Mahārāja Pṛthu, the conqueror of the entire world, accepted the instructions of the Supreme Personality of Godhead on his head.

18 As King Indra was standing by, he became ashamed of his own activities and fell down before King Pṛthu to touch his lotus feet. But Pṛthu Mahārāja immediately embraced him in great ecstasy and gave up all envy against him for his having stolen the horse meant for the sacrifice.

19 King Pṛthu abundantly worshiped the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead, who was so merciful to him. While worshiping the lotus feet of the Lord, Pṛthu Mahārāja gradually increased his ecstasy in devotional service.

20 The Lord was just about to leave, but because He was so greatly inclined toward the behavior of King Pṛthu, He did not depart. Seeing the behavior of Mahārāja Pṛthu with His lotus eyes, He was detained because He is always the well-wisher of His devotees.

21 The original king, Mahārāja Pṛthu, his eyes full of tears and his voice faltering and choked up, could neither see the Lord very distinctly nor speak to address the Lord in any way. He simply embraced the Lord within his heart and remained standing in that way with folded hands.

22 The Supreme Personality of Godhead stood with His lotus feet almost touching the ground while He rested the front of His hand on the raised shoulder of Garuḍa, the enemy of the snakes. Mahārāja Pṛthu, wiping the tears from his eyes, tried to look upon the Lord, but it appeared that the King was not fully satisfied by looking at Him. Thus the King offered the following prayers.

23 My dear Lord, You are the best of the demigods who can offer benedictions. Why, therefore, should any learned person ask You for benedictions meant for living entities bewildered by the modes of nature? Such benedictions are available automatically, even in the lives of living entities suffering in hellish conditions. My dear Lord, You can certainly bestow merging into Your existence, but I do not wish to have such a benediction.

24 My dear Lord, I therefore do not wish to have the benediction of merging into Your existence, a benediction in which there is no existence of the nectarean beverage of Your lotus feet. I want the benediction of at least one million ears, for thus I may be able to hear about the glories of Your lotus feet from the mouths of Your pure devotees.

25 My dear Lord, You are glorified by the selected verses uttered by great personalities. Such glorification of Your lotus feet is just like saffron particles. When the transcendental vibration from the mouths of great devotees carries the aroma of the saffron dust of Your lotus feet, the forgetful living entity gradually remembers his eternal relationship with You. Devotees thus gradually come to the right conclusion about the value of life. My dear Lord, I therefore do not need any other benediction but the opportunity to hear from the mouth of Your pure devotee.

26 My dear highly glorified Lord, if one, in the association of pure devotees, hears even once the glories of Your activities, he does not, unless he is nothing but an animal, give up the

association of devotees, for no intelligent person would be so careless as to leave their association. The perfection of chanting and hearing about Your glories was accepted even by the goddess of fortune, who desired to hear of Your unlimited activities and transcendental glories.

27 Now I wish to engage in the service of the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead and to serve just like the goddess of fortune, who carries a lotus flower in her hand, because His Lordship, the Supreme Personality of Godhead, is the reservoir of all transcendental qualities. I am afraid that the goddess of fortune and I would quarrel because both of us would be attentively engaged in the same service.

28 My dear Lord of the universe, the goddess of fortune, Lakṣmī, is the mother of the universe, and yet I think that she may be angry with me because of my intruding upon her service and acting on that very platform to which she is so much attached. Yet I am hopeful that even though there is some misunderstanding, You will take my part, for You are very much inclined to the poor, and You always magnify even insignificant service unto You. Therefore even though she becomes angry, I think that there is no harm for You, because You are so self-sufficient that You can do without her.

29 Great saintly persons who are always liberated take to Your devotional service because only by devotional service can one be relieved from the illusions of material existence. O my Lord, there is no reason for the liberated souls to take shelter at Your lotus feet except that such souls are constantly thinking of Your feet.

30 My dear Lord, what You have said to Your unalloyed devotee is certainly very much bewildering. The allurements You offer in the Vedas are certainly not suitable for pure devotees. People in general, bound by the sweet words of the Vedas, engage themselves again and again in fruitive activities, enamored by the results of their actions.

31 My Lord, due to Your illusory energy, all living beings in this material world have forgotten their real constitutional position, and out of ignorance they are always desirous of material happiness in the form of society, friendship and love. Therefore, please do not ask me to take some material benefits from You, but as a father, not waiting for the son's demand, does everything for the benefit of the son, please bestow upon me whatever You think best for me.

32 The great sage Maitreya continued by saying that the Lord, the seer of the universe, after hearing Pṛthu Mahārāja's prayer, addressed the King: My dear King, may you always be blessed by engaging in My devotional service. Only by such purity of purpose, as you yourself very intelligently express, can one cross over the insurmountable illusory energy of māyā.

33 My dear King, O protector of the citizens, henceforward be very careful to execute My orders and not be misled by anything. Anyone who lives in that way, simply carrying out My orders faithfully, will always find good fortune all over the world.

34 The great saint Maitreya told Vidura: The Supreme Personality of Godhead amply appreciated the meaningful prayers of Mahārāja Pṛthu. Thus, after being properly worshiped by the King, the Lord blessed him and decided to depart.

35-36 King Pṛthu worshiped the demigods, the great sages, the inhabitants of Pitṛloka, the inhabitants of Gandharvaloka, and those of Siddhaloka, Cāraṇaloka, Pannagaloka, Kinnaraloka, Apsaroloka, the earthly planets and the planets of the birds. He also worshiped many other living entities who presented themselves in the sacrificial arena. With folded hands he worshiped all these, as well as the Supreme Personality of Godhead and the personal associates of the Lord, by offering sweet words and as much wealth as possible. After this

function, they all went back to their respective abodes, following in the footsteps of Lord Viṣṇu.

37 The infallible Supreme Personality of Godhead, having captivated the minds of the King and the priests who were present, returned to His abode in the spiritual sky.

38 King Pṛthu then offered his respectful obeisances unto the Supreme Personality of Godhead, who is the Supreme Lord of all demigods. Although not an object of material vision, the Lord revealed Himself to the sight of Mahārāja Pṛthu. After offering obeisances to the Lord, the King returned to his home.

## SB 4.21: Instructions by Mahārāja Pṛthu

1 The great sage Maitreya told Vidura: When the King entered his city, it was very beautifully decorated to receive him with pearls, flower garlands, beautiful cloth and golden gates, and the entire city was perfumed with highly fragrant incense.

2 Fragrant water distilled from sandalwood and aguru herb was sprinkled everywhere on the lanes, roads and small parks throughout the city, and everywhere were decorations of unbroken fruits, flowers, wetted grains, varied minerals, and lamps, all presented as auspicious paraphernalia.

3 At the street crossings there were bunches of fruits and flowers, as well as pillars of banana trees and betel nut branches. All these combined decorations everywhere looked very attractive.

4 As the King entered the gate of the city, all the citizens received him with many auspicious articles like lamps, flowers and yogurt. The King was also received by many beautiful unmarried girls whose bodies were bedecked with various ornaments, especially with earrings which collided with one another.

5 When the King entered the palace, conchshells and kettledrums were sounded, priests chanted Vedic mantras, and professional reciters offered different prayers. But in spite of all this ceremony to welcome him, the King was not the least bit affected.

6 Both the important citizens and the common citizens welcomed the King very heartily, and he also bestowed upon them their desired blessings.

7 King Pṛthu was greater than the greatest soul and was therefore worshipable by everyone. He performed many glorious activities in ruling over the surface of the world and was always magnanimous. After achieving such great success and a reputation which spread throughout the universe, he at last obtained the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead.

8 Sūta Gosvāmī continued: O Śaunaka, leader of the great sages, after hearing Maitreya speak about the various activities of King Pṛthu, the original king, who was fully qualified, glorified and widely praised all over the world, Vidura, the great devotee, very submissively worshiped Maitreya Ṛṣi and asked him the following question.

9 Vidura said: My dear brāhmaṇa Maitreya, it is very enlightening to understand that King Pṛthu was enthroned by the great sages and brāhmaṇas. All the demigods presented him with innumerable gifts, and he also expanded his influence upon personally receiving strength from Lord Viṣṇu. Thus he greatly developed the earth.

10 Pṛthu Mahārāja was so great in his activities and magnanimous in his method of ruling that

all the kings and demigods on the various planets still follow in his footsteps. Who is there who will not try to hear about his glorious activities? I wish to hear more and more about Pṛthu Mahārāja because his activities are so pious and auspicious.

11 The great saintly sage Maitreya told Vidura: My dear Vidura, King Pṛthu lived in the tract of land between the two great rivers Ganges and Yamunā. Because he was very opulent, it appeared that he was enjoying his destined fortune in order to diminish the results of his past pious activities.

12 Mahārāja Pṛthu was an unrivaled king and possessed the scepter for ruling all the seven islands on the surface of the globe. No one could disobey his irrevocable orders but the saintly persons, the brāhmaṇas and the descendants of the Supreme Personality of Godhead [the Vaiṣṇavas].

13 Once upon a time King Pṛthu initiated the performance of a very great sacrifice in which great saintly sages, brāhmaṇas, demigods from higher planetary systems and great saintly kings known as rājarṣis all assembled together.

14 In that great assembly, Mahārāja Pṛthu first of all worshiped all the respectable visitors according to their respective positions. After this, he stood up in the midst of the assembly, and it appeared that the full moon had arisen amongst the stars.

15 King Pṛthu's body was tall and sturdy, and his complexion was fair. His arms were full and broad and his eyes as bright as the rising sun. His nose was straight, his face very beautiful, and his personality grave. His teeth were set beautifully in his smiling face.

16 The chest of Mahārāja Pṛthu was very broad, his waist was very thick, and his abdomen, wrinkled by lines of skin, resembled in construction a leaf of a banyan tree. His navel was coiled and deep, his thighs were of a golden hue, and his instep was arched.

17 The black, slick hair on his head was very fine and curly, and his neck, like a conchshell, was decorated with auspicious lines. He wore a very valuable dhotī, and there was a nice wrapper on the upper part of his body.

18 As Mahārāja Pṛthu was being initiated to perform the sacrifice, he had to leave aside his valuable dress, and therefore his natural bodily beauty was visible. It was very pleasing to see him put on a black deerskin and wear a ring of kuśa grass on his finger, for this increased the natural beauty of his body. It appears that Mahārāja Pṛthu observed all the regulative principles before he performed the sacrifice.

19 Just to encourage the members of the assembly and to enhance their pleasure, King Pṛthu glanced over them with eyes that seemed like stars in a sky wet with dew. He then spoke to them in a great voice.

20 Mahārāja Pṛthu's speech was very beautiful, full of metaphorical language, clearly understandable and very pleasing to hear. His words were all grave and certain. It appears that when he spoke, he expressed his personal realization of the Absolute Truth in order to benefit all who were present.

21 King Pṛthu said: O gentle members of the assembly, may all good fortune be upon you! May all of you great souls who have come to attend this meeting kindly hear my prayer attentively. A person who is actually inquisitive must present his decision before an assembly of noble souls.

22 King Pṛthu continued: By the grace of the Supreme Lord I have been appointed the king of this planet, and I carry the scepter to rule the citizens, protect them from all danger, and give them employment according to their respective positions in the social order established by Vedic injunction.

23 Mahārāja Pṛthu said: I think that upon the execution of my duties as king, I shall be able to achieve the desirable objectives described by experts in Vedic knowledge. This destination is certainly achieved by the pleasure of the Supreme Personality of Godhead, who is the seer of all destiny.

24 Any king who does not teach his citizens about their respective duties in terms of varṇa and āśrama but who simply exacts tolls and taxes from them is liable to suffer for the impious activities which have been performed by the citizens. In addition to such degradation, the king also loses his own fortune.

25 Pṛthu Mahārāja continued: Therefore, my dear citizens, for the welfare of your king after his death, you should execute your duties properly in terms of your positions of varṇa and āśrama and should always think of the Supreme Personality of Godhead within your hearts. By doing so, you will protect your own interests, and you will bestow mercy upon your king for his welfare after death.

26 I request all the purehearted demigods, forefathers and saintly persons to support my proposal, for after death the result of an action is equally shared by its doer, its director and its supporter.

27 My dear respectable ladies and gentlemen, according to the authoritative statements of śāstra, there must be a supreme authority who is able to award the respective benefits of our present activities. Otherwise, why should there be persons who are unusually beautiful and powerful both in this life and in the life after death?

28-29 This is confirmed not only by the evidence of the Vedas but also by the personal behavior of great personalities like Manu, Uttānapāda, Dhruva, Priyavrata and my grandfather Aṅga, as well as by many other great personalities and ordinary living entities, exemplified by Mahārāja Prahlāda and Bali, all of whom are theists, believing in the existence of the Supreme Personality of Godhead, who carries a club.

30 Although abominable persons like my father, Vena, the grandson of death personified, are bewildered on the path of religion, all the great personalities like those mentioned agree that in this world the only bestower of the benedictions of religion, economic development, sense gratification, liberation or elevation to the heavenly planets is the Supreme Personality of Godhead.

31 By the inclination to serve the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead, suffering humanity can immediately cleanse the dirt which has accumulated in their minds during innumerable births. Like the Ganges water, which emanates from the toes of the lotus feet of the Lord, such a process immediately cleanses the mind, and thus spiritual or Kṛṣṇa consciousness gradually increases.

32 When a devotee takes shelter at the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead, he is completely cleansed of all misunderstanding or mental speculation, and he manifests renunciation. This is possible only when one is strengthened by practicing bhakti-yoga. Once having taken shelter at the root of the lotus feet of the Lord, a devotee never comes back to this material existence, which is full of the threefold miseries.

33 Pṛthu Mahārāja advised his citizens: Engaging your minds, your words, your bodies and the results of your occupational duties, and being always open-minded, you should all render devotional service to the Lord. According to your abilities and the occupations in which you are situated, you should engage your service at the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead with full confidence and without reservation. Then you will surely be successful in achieving the final objective in your lives.

34 The Supreme Personality of Godhead is transcendental and not contaminated by this material world. But although He is concentrated spirit soul without material variety, for the benefit of the conditioned soul He nevertheless accepts different types of sacrifice performed with various material elements, rituals and mantras and offered to the demigods under different names according to the interests and purposes of the performers.

35 The Supreme Personality of Godhead is all-pervading, but He is also manifested in different types of bodies which arise from a combination of material nature, time, desires and occupational duties. Thus different types of consciousness develop, just as fire, which is always basically the same, blazes in different ways according to the shape and dimension of firewood.

36 The Supreme Personality of Godhead is the master and enjoyer of the results of all sacrifices, and He is the supreme spiritual master as well. All of you citizens on the surface of the globe who have a relationship with me and are worshiping Him by dint of your occupational duties are bestowing your mercy upon me. Therefore, O my citizens, I thank you.

37 The brāhmaṇas and Vaiṣṇavas are personally glorified by their characteristic powers of tolerance, penance, knowledge and education. By dint of all these spiritual assets, Vaiṣṇavas are more powerful than royalty. It is therefore advised that the princely order not exhibit its material prowess before these two communities and should avoid offending them.

38 The Supreme Personality of Godhead, the ancient, eternal Godhead, who is foremost amongst all great personalities, obtained the opulence of His staunch reputation, which purifies the entire universe, by worshiping the lotus feet of those brāhmaṇas and Vaiṣṇavas.

39 The Supreme Personality of Godhead, who is everlastingly independent and who exists in everyone's heart, is very pleased with those who follow in His footsteps and engage without reservation in the service of the descendants of brāhmaṇas and Vaiṣṇavas, for He is always dear to brāhmaṇas and Vaiṣṇavas and they are always dear to Him.

40 By regular service to the brāhmaṇas and Vaiṣṇavas, one can clear the dirt from his heart and thus enjoy supreme peace and liberation from material attachment and be satisfied. In this world there is no fruitive activity superior to serving the brāhmaṇa class, for this can bring pleasure to the demigods, for whom the many sacrifices are recommended.

41 Although the Supreme Personality of Godhead, Ananta, eats through the fire sacrifices offered in the names of the different demigods, He does not take as much pleasure in eating through fire as He does in accepting offerings through the mouths of learned sages and devotees, for then He does not leave the association of devotees.

42 In brahminical culture a brāhmaṇa's transcendental position is eternally maintained because the injunctions of the Vedas are accepted with faith, austerity, scriptural conclusions, full sense and mind control, and meditation. In this way the real goal of life is illuminated, just as one's face is fully reflected in a clear mirror.

43 O respectable personalities present here, I beg the blessings of all of you that I may perpetually carry on my crown the dust of the lotus feet of such brāhmaṇas and Vaiṣṇavas until

the end of my life. He who can carry such dust on his head is very soon relieved of all the reactions which arise from sinful life, and eventually he develops all good and desirable qualities.

44 Whoever acquires the brahminical qualifications whose only wealth is good behavior, who is grateful, and who takes shelter of experienced persons gets all the opulence of the world. I therefore wish that the Supreme Personality of Godhead and His associates be pleased with the brāhmaṇa class, with the cows and with me.

45 The great sage Maitreya said: After hearing King Pṛthu speak so nicely, all the demigods, the denizens of Pitṛloka, the brāhmaṇas and the saintly persons present at the meeting congratulated him by expressing their good will.

46 They all declared that the Vedic conclusion that one can conquer the heavenly planets by the action of a putra, or son, was fulfilled, for the most sinful Vena, who had been killed by the curse of the brāhmaṇas, was now delivered from the darkest region of hellish life by his son, Mahārāja Pṛthu.

47 Similarly, Hiraṇyakaśipu, who by dint of his sinful activities always defied the supremacy of the Supreme Personality of Godhead, entered into the darkest region of hellish life; but by the grace of his great son, Prahlāda Mahārāja, he also was delivered and went back home, back to Godhead.

48 All the saintly brāhmaṇas thus addressed Pṛthu Mahārāja: O best of the warriors, O father of this globe, may you be blessed with a long life, for you have great devotion to the infallible Supreme Personality of Godhead, who is the master of all the universe.

49 The audience continued: Dear King Pṛthu, your reputation is the purest of all, for you are preaching the glories of the most glorified of all, the Supreme Personality of Godhead, the Lord of the brāhmaṇas. Since, due to our great fortune, we have you as our master, we think that we are living directly under the agency of the Lord.

50 Our dear lord, it is your occupational duty to rule over your citizens. That is not a very wonderful task for a personality like you, who are so affectionate in seeing to the interests of the citizens, because you are full of mercy. That is the greatness of your character.

51 The citizens continued: Today you have opened our eyes and revealed how to cross to the other side of the ocean of darkness. By our past deeds and by the arrangement of superior authority, we are entangled in a network of fruitive activities and have lost sight of the destination of life; thus we have been wandering within the universe.

52 Dear lord, you are situated in your pure existential position of goodness; therefore you are the perfect representative of the Supreme Lord. You are glorified by your own prowess, and thus you are maintaining the entire world by introducing brahminical culture and protecting everyone in your line of duty as a kṣatriya.

### SB 4.22: Pṛthu Mahārāja's Meeting with the Four Kumāras

1 The great sage Maitreya said: While the citizens were thus praying to the most powerful King Pṛthu, the four Kumāras, who were as bright as the sun, arrived on the spot.

2 Seeing the glowing effulgence of the four Kumāras, the masters of all mystic power, the King and his associates could recognize them as they descended from the sky.

3 Seeing the four Kumāras, Pṛthu Mahārāja was greatly anxious to receive them. Therefore the King, with all his officers, very hastily got up, as anxiously as a conditioned soul whose senses are immediately attracted by the modes of material nature.

4 When the great sages accepted their reception, according to the instructions of the śāstras, and finally took their seats offered by the King, the King, influenced by the glories of the sages, immediately bowed down. Thus he worshiped the four Kumāras.

5 After this, the King took the water which had washed the lotus feet of the Kumāras and sprinkled it over his hair. By such respectful actions, the King, as an exemplary personality, showed how to receive a spiritually advanced personality.

6 The four great sages were elder to Lord Śiva, and when they were seated on the golden throne, they appeared just like fire blazing on an altar. Mahārāja Pṛthu, out of his great gentleness and respect for them, began to speak with great restraint as follows.

7 King Pṛthu spoke: My dear great sages, auspiciousness personified, it is very difficult for even the mystic yogīs to see you. Indeed, you are very rarely seen. I do not know what kind of pious activity I performed for you to grace me by appearing before me without difficulty.

8 Any person upon whom the brāhmaṇas and Vaiṣṇavas are pleased can achieve anything which is very rare to obtain in this world as well as after death. Not only that, but one also receives the favor of the auspicious Lord Śiva and Lord Viṣṇu, who accompany the brāhmaṇas and Vaiṣṇavas.

9 Pṛthu Mahārāja continued: Although you are traveling in all planetary systems, people cannot know you, just as they cannot know the Supersoul, although He is within everyone's heart as the witness of everything. Even Lord Brahmā and Lord Śiva cannot understand the Supersoul.

10 A person who is not very rich and is attached to family life becomes highly glorified when saintly persons are present in his home. The master and servants who are engaged in offering the exalted visitors water, a sitting place and paraphernalia for reception are glorified, and the home itself is also glorified.

11 On the contrary, even though full of all opulence and material prosperity, any householder's house where the devotees of the Lord are never allowed to come in, and where there is no water for washing their feet, is to be considered a tree in which all venomous serpents live.

12 Mahārāja Pṛthu offered his welcome to the four Kumāras, addressing them as the best of the brāhmaṇas. He welcomed them, saying: From the beginning of your birth you strictly observed the vows of celibacy, and although you are experienced in the path of liberation, you are keeping yourselves just like small children.

13 Pṛthu Mahārāja inquired from the sages about persons entangled in this dangerous material existence because of their previous actions. Could such persons, whose only aim is sense gratification, be blessed with any good fortune?

14 Pṛthu Mahārāja continued: My dear sirs, there is no need to ask about your good and bad fortune because you are always absorbed in spiritual bliss. The mental concoction of the auspicious and inauspicious does not exist in you.

15 I am completely assured that personalities like you are the only friends for persons who are blazing in the fire of material existence. I therefore ask you how in this material world we can

very soon achieve the ultimate goal of life.

16 The Supreme Personality of Godhead is always anxious to elevate the living entities, who are His parts and parcels, and for their special benefit the Lord travels all over the world in the form of self-realized persons like you.

17 The great sage Maitreya continued: Thus Sanat-kumāra, the best of the celibates, after hearing the speech of Pṛthu Mahārāja, which was meaningful, appropriate, full of precise words and very sweet to hear, smiled with full satisfaction and began to speak as follows.

18 Sanat-kumāra said: My dear King Pṛthu, I am very nicely questioned by you. Such questions are beneficial for all living entities, especially because they are raised by you, who are always thinking of the good of others. Although you know everything, you ask such questions because that is the behavior of saintly persons. Such intelligence is befitting your position.

19 When there is a congregation of devotees, their discussions, questions and answers become conclusive to both the speaker and the audience. Thus such a meeting is beneficial for everyone's real happiness.

20 Sanat-kumāra continued: My dear King, you already have an inclination to glorify the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead. Such attachment is very difficult to achieve, but when one has attained such unflinching faith in the Lord, it automatically cleanses lusty desires from the core of the heart.

21 It has been conclusively decided in the scriptures, after due consideration, that the ultimate goal for the welfare of human society is detachment from the bodily concept of life and increased and steadfast attachment for the Supreme Lord, who is transcendental, beyond the modes of material nature.

22 Attachment for the Supreme can be increased by practicing devotional service, inquiring about the Supreme Personality of Godhead, applying bhakti-yoga in life, worshiping the Yogeśvara, the Supreme Personality of Godhead, and by hearing and chanting about the glories of the Supreme Personality of Godhead. These actions are pious in themselves.

23 One has to make progress in spiritual life by not associating with persons who are simply interested in sense gratification and making money. Not only such persons, but one who associates with such persons should be avoided. One should mold his life in such a way that he cannot live in peace without drinking the nectar of the glorification of the Supreme Personality of Godhead, Hari. One can be thus elevated by being disgusted with the taste for sense enjoyment.

24 A candidate for spiritual advancement must be nonviolent, must follow in the footsteps of great ācāryas, must always remember the nectar of the pastimes of the Supreme Personality of Godhead, must follow the regulative principles without material desire and, while following the regulative principles, should not blaspheme others. A devotee should lead a very simple life and not be disturbed by the duality of opposing elements. He should learn to tolerate them.

25 The devotee should gradually increase the culture of devotional service by constant hearing of the transcendental qualities of the Supreme Personality of Godhead. These pastimes are like ornamental decorations on the ears of devotees. By rendering devotional service and transcending the material qualities, one can easily be fixed in transcendence in the Supreme Personality of Godhead.

26 Upon becoming fixed in his attachment to the Supreme Personality of Godhead by the

grace of the spiritual master and by awakening knowledge and detachment, the living entity, situated within the heart of the body and covered by the five elements, burns up his material surroundings exactly as fire, arising from wood, burns the wood itself.

27 When a person becomes devoid of all material desires and liberated from all material qualities, he transcends distinctions between actions executed externally and internally. At that time the difference between the soul and the Supersoul, which was existing before self-realization, is annihilated. When a dream is over, there is no longer a distinction between the dream and the dreamer.

28 When the soul exists for sense gratification, he creates different desires, and for that reason he becomes subjected to designations. But when one is in the transcendental position, he is no longer interested in anything except fulfilling the desires of the Lord.

29 Only because of different causes does a person see a difference between himself and others, just as one sees the reflection of a body appearing differently manifested on water, on oil or in a mirror.

30 When one's mind and senses are attracted to sense objects for enjoyment, the mind becomes agitated. As a result of continually thinking of sense objects, one's real consciousness almost becomes lost, like the water in a lake that is gradually sucked up by the big grass straws on its bank.

31 When one deviates from his original consciousness, he loses the capacity to remember his previous position or recognize his present one. When remembrance is lost, all knowledge acquired is based on a false foundation. When this occurs, learned scholars consider that the soul is lost.

32 There is no stronger obstruction to one's self-interest than thinking other subject matters to be more pleasing than one's self-realization.

33 For human society, constantly thinking of how to earn money and apply it for sense gratification brings about the destruction of everyone's interests. When one becomes devoid of knowledge and devotional service, he enters into species of life like those of trees and stones.

34 Those who strongly desire to cross the ocean of nescience must not associate with the modes of ignorance, for hedonistic activities are the greatest obstructions to realization of religious principles, economic development, regulated sense gratification and, at last, liberation.

35 Out of the four principles namely religion, economic development, sense gratification and liberation liberation has to be taken very seriously. The other three are subject to destruction by the stringent law of nature death.

36 We accept as blessings different states of higher life, distinguishing them from lower states of life, but we should know that such distinctions exist only in relation to the interchange of the modes of material nature. Actually these states of life have no permanent existence, for all of them will be destroyed by the supreme controller.

37 Sanat-kumāra advised the King: Therefore, my dear King Pṛthu, try to understand the Supreme Personality of Godhead, who is living within everyone's heart along with the individual soul, in each and every body, either moving or not moving. The individual souls are fully covered by the gross material body and subtle body made of the life air and intelligence.

38 The Supreme Personality of Godhead manifests Himself as one with the cause and effect

within this body, but one who has transcended the illusory energy by deliberate consideration, which clears the misconception of a snake for a rope, can understand that the Paramātmā is eternally transcendental to the material creation and situated in pure internal energy. Thus the Lord is transcendental to all material contamination. Unto Him only must one surrender.

39 The devotees, who are always engaged in the service of the toes of the lotus feet of the Lord, can very easily overcome hard-knotted desires for fruitive activities. Because this is very difficult, the nondevotees the jṣānīs and yogīs although trying to stop the waves of sense gratification, cannot do so. Therefore you are advised to engage in the devotional service of Kṛṣṇa, the son of Vasudeva.

40 The ocean of nescience is very difficult to cross because it is infested with many dangerous sharks. Although those who are nondevotees undergo severe austerities and penances to cross that ocean, we recommend that you simply take shelter of the lotus feet of the Lord, which are like boats for crossing the ocean. Although the ocean is difficult to cross, by taking shelter of His lotus feet you will overcome all dangers.

41 The great sage Maitreya continued: Being thus enlightened in complete spiritual knowledge by the son of Brahmā one of the Kumāras, who was complete in spiritual knowledge the King worshiped them in the following words.

42 The King said: O brāhmaṇa, O powerful one, formerly Lord Viṣṇu showed me His causeless mercy, indicating that you would come to my house, and to confirm that blessing, you have all come.

43 My dear brāhmaṇa, you have carried out the order thoroughly because you are also as compassionate as the Lord. It is my duty, therefore, to offer you something, but all I possess are but remnants of food taken by great saintly persons. What shall I give?

44 The King continued: Therefore, my dear brāhmaṇas, my life, wife, children, home, furniture and household paraphernalia, my kingdom, strength, land and especially my treasury are all offered unto you.

45 Since only a person who is completely educated according to the principles of Vedic knowledge deserves to be commander-in-chief, ruler of the state, the first to chastise or the proprietor of the whole planet, Pṛthu Mahārāja offered everything to the Kumāras.

46 The kṣatriyas, vaiśyas and śūdras eat their food by virtue of the brāhmaṇas' mercy. It is the brāhmaṇas who enjoy their own property, clothe themselves with their own property and give charity with their own property.

47 Pṛthu Mahārāja continued: How can such persons, who have rendered unlimited service by explaining the path of self-realization in relation to the Supreme Personality of Godhead, and whose explanations are given for our enlightenment with complete conviction and Vedic evidence, be repaid except by folded palms containing water for their satisfaction? Such great personalities can be satisfied only by their own activities, which are distributed amongst human society out of their unlimited mercy.

48 The great sage Maitreya continued: Being thus worshiped by Mahārāja Pṛthu, the four Kumāras, who were masters of devotional service, became very pleased. Indeed, they appeared in the sky and praised the character of the King, and everyone observed them.

49 Amongst great personalities, Mahārāja Pṛthu was the chief by virtue of his fixed position in relation to spiritual enlightenment. He remained satisfied as one who has achieved all success

in spiritual understanding.

50 Being self-satisfied, Mahārāja Pṛthu executed his duties as perfectly as possible according to the time and his situation, strength and financial position. His only aim in all his activities was to satisfy the Absolute Truth. In this way, he duly acted.

51 Mahārāja Pṛthu completely dedicated himself to be an eternal servant of the Supreme Personality of Godhead, transcendental to material nature. Consequently all the fruits of his activities were dedicated to the Lord, and he always thought of himself as the servant of the Supreme Personality of Godhead, who is the proprietor of everything.

52 Mahārāja Pṛthu, who was very opulent due to the prosperity of his entire empire, remained at home as a householder. Since he was never inclined to utilize his opulences for the gratification of his senses, he remained unattached, exactly like the sun, which is unaffected in all circumstances.

53 Being situated in the liberated position of devotional service, Pṛthu Mahārāja not only performed all fruitive activities but also begot five sons by his wife, Arci. Indeed, all his sons were begotten according to his own desire.

54 After begetting five sons, named Vijitāśva, Dhūmrakeśa, Haryakṣa, Draviṇa and Vṛka, Pṛthu Mahārāja continued to rule the planet. He accepted all the qualities of the deities who governed all other planets.

55 Since Mahārāja Pṛthu was a perfect devotee of the Supreme Personality of Godhead, he wanted to protect the Lord's creation by pleasing the various citizens according to their various desires. Therefore Pṛthu Mahārāja used to please them in all respects by his words, mentality, works and gentle behavior.

56 Mahārāja Pṛthu became as celebrated a king as Soma-rāja, the king of the moon. He was also powerful and exacting, just like the sun-god, who distributes heat and light and at the same time exacts all the planetary waters.

57 Mahārāja Pṛthu was so strong and powerful that no one could disobey his orders, any more than one could conquer fire itself. He was so strong that he was compared to Indra, the King of heaven, whose power is insuperable. On the other hand, Mahārāja Pṛthu was also as tolerant as the earth, and in fulfilling various desires of human society, he was like heaven itself.

58 Just as rainfall satisfies everyone's desires, Mahārāja Pṛthu used to satisfy everyone. He was like the sea in that no one could understand his depths, and he was like Meru, the king of hills, in the fixity of his purpose.

59 Mahārāja Pṛthu's intelligence and education were exactly like that of Yamarāja, the superintendent of death. His opulence was comparable to the Himālaya Mountains, where all valuable jewels and metals are stocked. He possessed great riches like Kuvera, the treasurer of the heavenly planets, and no one could reveal his secrets, for they were like the demigod Varuṇa's.

60 In his bodily strength and in the strength of his senses, Mahārāja Pṛthu was as strong as the wind, which can go anywhere and everywhere. As far as his intolerance was concerned, he was just like the all-powerful Rudra expansion of Lord Śiva, or Sadāśiva.

61 In his bodily beauty he was just like Cupid, and in his thoughtfulness he was like a lion. In his affection he was just like Svāyambhuva Manu, and in his ability to control he was like Lord

Brahmā.

62 In his personal behavior, Pṛthu Mahārāja exhibited all good qualities, and in spiritual knowledge he was exactly like Bṛhaspati. In self-control he was like the Supreme Personality of Godhead Himself. As far as his devotional service was concerned, he was a great follower of devotees who were attached to cow protection and the rendering of all service to the spiritual master and the brāhmaṇas. He was perfect in his shyness and in his gentle behavior, and when he engaged in some philanthropic activity, he worked as if he were working for his own personal self.

63 Throughout the whole universe in the higher, lower and middle planetary systems Pṛthu Mahārāja's reputation was loudly declared, and all ladies and saintly persons heard his glories, which were as sweet as the glories of Lord Rāmacandra.

**SB 4.23: Mahārāja Pṛthu's Going Back Home**

1-3 At the last stage of his life, when Mahārāja Pṛthu saw himself getting old, that great soul, who was king of the world, divided whatever opulence he had accumulated amongst all kinds of living entities, moving and nonmoving. He arranged pensions for everyone according to religious principles, and after executing the orders of the Supreme Personality of Godhead in complete coordination with Him, he dedicated his sons unto the earth, which was considered to be his daughter. Then Mahārāja Pṛthu left the presence of his citizens, who were almost lamenting and crying from feeling separation from the King, and went to the forest alone with his wife to perform austerities.

4 After retiring from family life, Mahārāja Pṛthu strictly followed the regulations of retired life and underwent severe austerities in the forest. He engaged in these activities as seriously as he had formerly engaged in leading the government and conquering everyone.

5 In the tapo-vana, Mahārāja Pṛthu sometimes ate the trunks and roots of trees, sometimes he ate fruit and dried leaves, and for some weeks he drank only water. Finally he lived simply by breathing air.

6 Following the principles of forest living and the footsteps of the great sages and munis, Pṛthu Mahārāja accepted five kinds of heating processes during the summer season, exposed himself to torrents of rain in the rainy season and, in the winter, stood in water up to his neck. He also used to simply lie down on the floor to sleep.

7 Mahārāja Pṛthu underwent all these severe austerities in order to control his words and his senses, to refrain from discharging his semen and to control the life air within his body. All this he did for the satisfaction of Kṛṣṇa. He had no other purpose.

8 By thus practicing severe austerities, Mahārāja Pṛthu gradually became steadfast in spiritual life and completely free of all desires for fruitive activities. He also practiced breathing exercises to control his mind and senses, and by such control he became completely free from all desires for fruitive activity.

9 Thus the best amongst human beings, Mahārāja Pṛthu, followed that path of spiritual advancement which was advised by Sanat-kumāra. That is to say, he worshiped the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa.

10 Mahārāja Pṛthu thus engaged completely in devotional service, executing the rules and regulations strictly according to principles, twenty-four hours daily. Thus his love and devotion unto the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, developed and became unflinching and

fixed.

11 By regularly discharging devotional service, Pṛthu Mahārāja became transcendental in mind and could therefore constantly think of the lotus feet of the Lord. Because of this, he became completely detached and attained perfect knowledge by which he could transcend all doubt. Thus he was freed from the clutches of false ego and the material conception of life.

12 When he became completely free from the conception of bodily life, Mahārāja Pṛthu realized Lord Kṛṣṇa sitting in everyone's heart as the Paramātmā. Being thus able to get all instructions from Him, he gave up all other practices of yoga and Jnana. He was not even interested in the perfection of the yoga and Jnana systems, for he thoroughly realized that devotional service to Kṛṣṇa is the ultimate goal of life and that unless the yogīs and jṣānīs become attracted to kṛṣṇa-kathā [narrations about Kṛṣṇa], their illusions concerning existence can never be dispelled.

13 In due course of time, when Pṛthu Mahārāja was to give up his body, he fixed his mind firmly upon the lotus feet of Kṛṣṇa, and thus, completely situated on the brahma-bhūta platform, he gave up the material body.

14 When Mahārāja Pṛthu practiced a particular yogic sitting posture, he blocked the door of his anus with his ankles, pressed his right and left calves and gradually raised his life air upward, passing it on to the circle of his navel, up to his heart and throat, and finally pushed it upward to the central position between his two eyebrows.

15 In this way, Pṛthu Mahārāja gradually raised his air of life up to the hole in his skull, whereupon he lost all desire for material existence. Gradually he merged his air of life with the totality of air, his body with the totality of earth, and the fire within his body with the totality of fire.

16 In this way, according to the different positions of the various parts of the body, Pṛthu Mahārāja merged the holes of his senses with the sky; his bodily liquids, such as blood and various secretions, with the totality of water; and he merged earth with water, then water with fire, fire with air, air with sky, and so on.

17 He amalgamated the mind with the senses and the senses with the sense objects, according to their respective positions, and he also amalgamated the material ego with the total material energy, mahat-tattva.

18 Pṛthu Mahārāja then offered the total designation of the living entity unto the supreme controller of illusory energy. Being released from all the designations by which the living entity became entrapped, he became free by knowledge and renunciation and by the spiritual force of his devotional service. In this way, being situated in his original constitutional position of Kṛṣṇa consciousness, he gave up this body as a prabhu, or controller of the senses.

19 The Queen, the wife of Pṛthu Mahārāja, whose name was Arci, followed her husband into the forest. Since she was a queen, her body was very delicate. Although she did not deserve to live in the forest, she voluntarily touched her lotus feet to the ground.

20 Although she was not accustomed to such difficulties, Queen Arci followed her husband in the regulative principles of living in the forest like great sages. She lay down on the ground and ate only fruits, flowers and leaves, and because she was not fit for these activities, she became frail and thin. Yet because of the pleasure she derived in serving her husband, she did not feel any difficulties.

21 When Queen Arci saw that her husband, who had been so merciful to her and the earth, no longer showed symptoms of life, she lamented for a little while and then built a fiery pyre on top of a hill and placed the body of her husband on it.

22 After this, the Queen executed the necessary funerary functions and offered oblations of water. After bathing in the river, she offered obeisances to various demigods situated in the sky in the different planetary systems. She then circumambulated the fire and, while thinking of the lotus feet of her husband, entered its flames.

23 After observing this brave act performed by the chaste wife Arci, the wife of the great King Pṛthu, many thousands of the wives of the demigods, along with their husbands, offered prayers to the Queen, for they were very much satisfied.

24 At that time the demigods were situated on the top of Mandara Hill, and all their wives began to shower flowers on the funeral pyre and began to talk amongst themselves as follows.

25 The wives of the demigods said: All glories to Queen Arci! We can see that this queen of the great King Pṛthu, the emperor of all the kings of the world, has served her husband with mind, speech and body exactly as the goddess of fortune serves the Supreme Personality of Godhead, Yajṣeśa, or Viṣṇu.

26 The wives of the demigods continued: Just see how this chaste lady, Arci, by dint of her inconceivable pious activities, is still following her husband upward, as far as we can see.

27 In this material world, every human being has a short span of life, but those who are engaged in devotional service go back home, back to Godhead, for they are actually on the path of liberation. For such persons, there is nothing which is not available.

28 Any person who engages himself within this material world in performing activities that necessitate great struggle, and who, after obtaining a human form of life which is a chance to attain liberation from miseries undertakes the difficult tasks of fruitive activities, must be considered to be cheated and envious of his own self.

29 The great sage Maitreya continued speaking: My dear Vidura, when the wives of the denizens of heaven were thus talking amongst themselves, Queen Arci reached the planet which her husband, Mahārāja Pṛthu, the topmost self-realized soul, had attained.

30 Maitreya continued: The greatest of all devotees, Mahārāja Pṛthu, was very powerful, and his character was liberal, magnificent and magnanimous. Thus I have described him to you as far as possible.

31 Any person who describes the great characteristics of King Pṛthu with faith and determination whether he reads or hears of them himself or helps others to hear of them is certain to attain the very planet which Mahārāja Pṛthu attained. In other words, such a person also returns home to the Vaikuṇṭha planets, back to Godhead.

32 If one hears of the characteristics of Pṛthu Mahārāja and is a brāhmaṇa, he becomes perfectly qualified with brahminical powers; if he is a kṣatriya, he becomes a king of the world; if he is a vaiśya, he becomes a master of other vaiśyas and many animals; and if he is a śūdra, he becomes the topmost devotee.

33 It does not matter whether one is a man or woman. Anyone who, with great respect, hears this narration of Mahārāja Pṛthu will become the parent of many children if without children, and will become the richest if without money.

34 Also, one who hears this narration three times will become very reputable if he is not recognized in society, and he will become a great scholar if he is illiterate. In other words, hearing of the narrations of Pṛthu Mahārāja is so auspicious that it drives away all bad luck.

35 By hearing the narration of Pṛthu Mahārāja, one can become great, increase his duration of life, gain promotion to the heavenly planets and counteract the contaminations of this Age of Kali. In addition, one can promote the causes of religion, economic development, sense gratification and liberation. Therefore from all sides it is advisable for a materialistic person who is interested in such things to read and hear the narrations of the life and character of Pṛthu Mahārāja.

36 If a king, who is desirous of attaining victory and ruling power, chants the narration of Pṛthu Mahārāja three times before going forth on his chariot, all subordinate kings will automatically render all kinds of taxes unto him as they rendered them unto Mahārāja Pṛthu simply upon his order.

37 A pure devotee who is executing the different processes of devotional service may be situated in the transcendental position, being completely absorbed in Kṛṣṇa consciousness, but even he, while discharging devotional service, must hear, read and induce others to hear about the character and life of Pṛthu Mahārāja.

38 The great sage Maitreya continued: My dear Vidura, I have as far as possible spoken the narrations about Pṛthu Mahārāja, which enrich one's devotional attitude. Whoever takes advantage of these benefits also goes back home, back to Godhead, like Mahārāja Pṛthu.

39 Whoever, with great reverence and adoration, regularly reads, chants and describes the history of Mahārāja Pṛthu's activities will certainly increase unflinching faith and attraction for the lotus feet of the Lord. The Lord's lotus feet are the boat by which one can cross the ocean of nescience.

### SB 4.24: Chanting the Song Sung by Lord Śiva

1 The great sage Maitreya continued: Vijitāśva, the eldest son of Mahārāja Pṛthu, who had a reputation like his father's, became emperor and gave his younger brothers different directions of the world to govern, for he was very affectionate toward his brothers.

2 Mahārāja Vijitāśva offered the eastern part of the world to his brother Haryakṣa, the southern part to Dhūmrakeśa, the western part to Vṛka and the northern part to Draviṇa.

3 Formerly, Mahārāja Vijitāśva pleased the King of heaven, Indra, and from him received the title Antardhāna. His wife's name was Śikhaṇḍinī, and by her he begot three good sons.

4 The three sons of Mahārāja Antardhāna were named Pāvaka, Pavamāna and Śuci. Formerly these three personalities were the demigods of fire, but due to the curse of the great sage Vasiṣṭha, they became the sons of Mahārāja Antardhāna. As such, they were as powerful as the fire-gods, and they attained the destination of mystic yoga power, being again situated as the demigods of fire.

5 Mahārāja Antardhāna had another wife, named Nabhasvatī, and by her he was happy to beget another son, named Havirdhāna. Since Mahārāja Antardhāna was very liberal, he did not kill Indra while the demigod was stealing his father's horse at the sacrifice.

6 Whenever Antardhāna, the supreme royal power, had to exact taxes, punish his citizens or fine them severely, he was not willing to do so. Consequently he retired from the execution of

such duties and engaged himself in the performance of different sacrifices.

7 Although Mahārāja Antardhāna was engaged in performing sacrifices, because he was a self-realized soul he very intelligently rendered devotional service to the Lord, who eradicates all the fears of His devotees. By thus worshiping the Supreme Lord, Mahārāja Antardhāna, rapt in ecstasy, attained His planet very easily.

8 Havirdhāna, the son of Mahārāja Antardhāna, had a wife named Havirdhānī, who gave birth to six sons, named Barhiṣat, Gaya, Śukla, Kṛṣṇa, Satya and Jitavrata.

9 The great sage Maitreya continued: My dear Vidura, Havirdhāna's very powerful son named Barhiṣat was very expert in performing various kinds of fruitive sacrifices, and he was also expert in the practice of mystic yoga. By his great qualifications, he became known as Prajāpati.

10 Mahārāja Barhiṣat executed many sacrifices all over the world. He scattered kuśa grasses and kept the tops of the grasses pointed eastward.

11 Mahārāja Barhiṣat henceforward known as Prācīnabarhi was ordered by the supreme demigod Brahmā to marry the daughter of the ocean named Śatadruti. Her bodily features were completely beautiful, and she was very young. She was decorated with the proper garments, and when she came into the marriage arena and began circumambulating it, the fire-god Agni became so attracted to her that he desired her company, exactly as he had formerly desired to enjoy Śukī.

12 While Śatadruti was thus being married, the demons, the denizens of Gandharvaloka, the great sages, and the denizens of Siddhaloka, the earthly planets and Nāgaloka, although highly exalted, were all captivated by the tinkling of her ankle bells.

13 King Prācīnabarhi begot ten children in the womb of Śatadruti. All of them were equally endowed with religiosity, and all of them were known as the Pracetās.

14 When all these Pracetās were ordered by their father to marry and beget children, they all entered the ocean and practiced austerities and penances for ten thousand years. Thus they worshiped the master of all austerity, the Supreme Personality of Godhead.

15 When all the sons of Prācīnabarhi left home to execute austerities, they met Lord Śiva, who, out of great mercy, instructed them about the Absolute Truth. All the sons of Prācīnabarhi meditated upon the instructions, chanting and worshiping them with great care and attention.

16 Vidura asked Maitreya: My dear brāhmaṇa, why did the Pracetās meet Lord Śiva on the way? Please tell me how the meeting happened, how Lord Śiva became very pleased with them and how he instructed them. Certainly such talks are important, and I wish that you please be merciful upon me and describe them.

17 The great sage Vidura continued: O best of the brāhmaṇas, it is very difficult for living entities encaged within this material body to have personal contact with Lord Śiva. Even great sages who have no material attachments do not contact him, despite their always being absorbed in meditation to attain his personal contact.

18 Lord Śiva, the most powerful demigod, second only to Lord Viṣṇu, is self-sufficient. Although he has nothing to aspire for in the material world, for the benefit of those in the material world he is always busily engaged everywhere and is accompanied by his dangerous energies like the goddess Kālī and the goddess Durgā.

19 The great sage Maitreya continued: My dear Vidura, because of their pious nature, all the sons of Prācīnabarhi very seriously accepted the words of their father with heart and soul, and with these words on their heads, they went toward the west to execute their father's order.

20 While traveling, the Pracetās happened to see a great reservoir of water which seemed almost as big as the ocean. The water of this lake was so calm and quiet that it seemed like the mind of a great soul, and its inhabitants, the aquatics, appeared very peaceful and happy to be under the protection of such a watery reservoir.

21 In that great lake there were different types of lotus flowers. Some of them were bluish, and some of them were red. Some of them grew at night, some in the day and some, like the indīvara lotus flower, in the evening. Combined together, the lotus flowers filled the lake so full that the lake appeared to be a great mine of such flowers. Consequently, on the shores there were swans and cranes, cakravākas, kāraṇḍavas and other beautiful water birds standing about.

22 There were various trees and creepers on all sides of the lake, and there were mad bumblebees humming all about them. The trees appeared to be very jolly due to the sweet humming of the bumblebees, and the saffron, which was contained in the lotus flowers, was being thrown into the air. These all created such an atmosphere that it appeared as though a festival were taking place there.

23 The sons of the King became very much amazed when they heard vibrations from various drums and kettledrums along with other orderly musical sounds pleasing to the ear.

24-25 The Pracetās were fortunate to see Lord Śiva, the chief of the demigods, emerging from the water with his associates. His bodily luster was just like molten gold, his throat was bluish, and he had three eyes, which looked very mercifully upon his devotees. He was accompanied by many musicians, who were glorifying him. As soon as the Pracetās saw Lord Śiva, they immediately offered their obeisances in great amazement and fell down at the lotus feet of the lord.

26 Lord Śiva became very pleased with the Pracetās because generally Lord Śiva is the protector of pious persons and persons of gentle behavior. Being very much pleased with the princes, he began to speak as follows.

27 Lord Śiva said: You are all the sons of King Prācīnabarhi, and I wish all good fortune to you. I also know what you are going to do, and therefore I am visible to you just to show my mercy upon you.

28 Lord Śiva continued: Any person who is surrendered to the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, the controller of everything material nature as well as the living entity is actually very dear to me.

29 A person who executes his occupational duty properly for one hundred births becomes qualified to occupy the post of Brahmā, and if he becomes more qualified, he can approach Lord Śiva. A person who is directly surrendered to Lord Kṛṣṇa, or Viṣṇu, in unalloyed devotional service is immediately promoted to the spiritual planets. Lord Śiva and other demigods attain these planets after the destruction of this material world.

30 You are all devotees of the Lord, and as such I appreciate that you are as respectable as the Supreme Personality of Godhead Himself. I know in this way that the devotees also respect me and that I am dear to them. Thus no one can be as dear to the devotees as I am.

31 Now I shall chant one mantra which is not only transcendental, pure and auspicious, but is the best prayer for anyone who is aspiring to attain the ultimate goal of life. When I chant this mantra, please hear it carefully and attentively.

32 The great sage Maitreya continued: Out of his causeless mercy, the exalted personality Lord Śiva, a great devotee of Lord Nārāyaṇa, continued to speak to the King's sons, who were standing with folded hands.

33 Lord Śiva addressed the Supreme Personality of Godhead with the following prayer: O Supreme Personality of Godhead, all glories unto You. You are the most exalted of all self-realized souls. Since You are always auspicious for the self-realized, I wish that You be auspicious for me. You are worshipable by virtue of the all-perfect instructions You give. You are the Supersoul; therefore I offer my obeisances unto You as the supreme living being.

34 My Lord, You are the origin of the creation by virtue of the lotus flower which sprouts from Your navel. You are the supreme controller of the senses and the sense objects, and You are also the all-pervading Vāsudeva. You are most peaceful, and because of Your self-illuminated existence, You are not disturbed by the six kinds of transformations.

35 My dear Lord, You are the origin of the subtle material ingredients, the master of all integration as well as the master of all disintegration, the predominating Deity named Saṅkarṣaṇa, and the master of all intelligence, known as the predominating Deity Pradyumna. Therefore, I offer my respectful obeisances unto You.

36 My Lord, as the supreme directing Deity known as Aniruddha, You are the master of the senses and the mind. I therefore offer my obeisances unto You again and again. You are known as Ananta as well as Saṅkarṣaṇa because of Your ability to destroy the whole creation by the blazing fire from Your mouth.

37 My Lord, O Aniruddha, You are the authority by which the doors of the higher planetary systems and liberation are opened. You are always within the pure heart of the living entity. Therefore I offer my obeisances unto You. You are the possessor of semen which is like gold, and thus, in the form of fire, You help the Vedic sacrifices, beginning with cātur-hotra. Therefore I offer my obeisances unto You.

38 My Lord, You are the provider of the Pitṛlokas as well as all the demigods. You are the predominating deity of the moon and the master of all three Vedas. I offer my respectful obeisances unto You because You are the original source of satisfaction for all living entities.

39 My dear Lord, You are the gigantic universal form which contains all the individual bodies of the living entities. You are the maintainer of the three worlds, and as such You maintain the mind, senses, body, and air of life within them. I therefore offer my respectful obeisances unto You.

40 My dear Lord, by expanding Your transcendental vibrations, You reveal the actual meaning of everything. You are the all-pervading sky within and without, and You are the ultimate goal of pious activities executed both within this material world and beyond it. I therefore offer my respectful obeisances again and again unto You.

41 My dear Lord, You are the viewer of the results of pious activities. You are inclination, disinclination and their resultant activities. You are the cause of the miserable conditions of life caused by irreligion, and therefore You are death. I offer You my respectful obeisances.

42 My dear Lord, You are the topmost of all bestowers of all benediction, the oldest and

supreme enjoyer amongst all enjoyers. You are the master of all the worlds' metaphysical philosophy, for You are the supreme cause of all causes, Lord Kṛṣṇa. You are the greatest of all religious principles, the supreme mind, and You have a brain which is never checked by any condition. Therefore I repeatedly offer my obeisances unto You.

43 My dear Lord, You are the supreme controller of the worker, sense activities and results of sense activities [karma]. Therefore You are the controller of the body, mind and senses. You are also the supreme controller of egotism, known as Rudra. You are the source of knowledge and the activities of the Vedic injunctions.

44 My dear Lord, I wish to see You exactly in the form that Your very dear devotees worship. You have many other forms, but I wish to see Your form that is especially liked by the devotees. Please be merciful upon me and show me that form, for only that form worshiped by the devotees can perfectly satisfy all the demands of the senses.

45-46 The Lord's beauty resembles a dark cloud during the rainy season. As the rainfall glistens, His bodily features also glisten. Indeed, He is the sum total of all beauty. The Lord has four arms and an exquisitely beautiful face with eyes like lotus petals, a beautiful highly raised nose, a mind-attracting smile, a beautiful forehead and equally beautiful and fully decorated ears.

47-48 The Lord is superexcellently beautiful on account of His open and merciful smile and His sidelong glance upon His devotees. His black hair is curly, and His garments, waving in the wind, appear like flying saffron pollen from lotus flowers. His glittering earrings, shining helmet, bangles, garland, ankle bells, waist belt and various other bodily ornaments combine with conchshell, disc, club and lotus flower to increase the natural beauty of the Kaustubha pearl on His chest.

49 The Lord has shoulders just like a lion's. Upon these shoulders are garlands, necklaces and epaulets, and all of these are always glittering. Besides these, there is the beauty of the Kaustubha-maṇi pearl, and on the dark chest of the Lord there are streaks named Śrīvatsa, which are signs of the goddess of fortune. The glittering of these streaks excels the beauty of the golden streaks on a gold-testing stone. Indeed, such beauty defeats a gold-testing stone.

50 The Lord's abdomen is beautiful due to three ripples in the flesh. Being so round, His abdomen resembles the leaf of a banyan tree, and when He exhales and inhales, the movement of the ripples appears very, very beautiful. The coils within the navel of the Lord are so deep that it appears that the entire universe sprouted out of it and yet again wishes to go back.

51 The lower part of the Lord's waist is dark and covered with yellow garments and a belt bedecked with golden embroidery work. His symmetrical lotus feet and the calves, thighs and joints of His legs are extraordinarily beautiful. Indeed, the Lord's entire body appears to be well built.

52 My dear Lord, Your two lotus feet are so beautiful that they appear like two blossoming petals of the lotus flower which grows during the autumn season. Indeed, the nails of Your lotus feet emanate such a great effulgence that they immediately dissipate all the darkness in the heart of a conditioned soul. My dear Lord, kindly show me that form of Yours which always dissipates all kinds of darkness in the heart of a devotee. My dear Lord, You are the supreme spiritual master of everyone; therefore all conditioned souls covered with the darkness of ignorance can be enlightened by You as the spiritual master.

53 My dear Lord, those who desire to purify their existence must always engage in meditation

upon Your lotus feet, as described above. Those who are serious about executing their occupational duties and who want freedom from fear must take to this process of bhakti-yoga.

54 My dear Lord, the king in charge of the heavenly kingdom is also desirous of obtaining the ultimate goal of life devotional service. Similarly, You are the ultimate destination of those who identify themselves with You [ahaṁ brahmāsmi]. However, it is very difficult for them to attain You, whereas a devotee can very easily attain Your Lordship.

55 My dear Lord, pure devotional service is even difficult for liberated persons to discharge, but devotional service alone can satisfy You. Who will take to other processes of self-realization if he is actually serious about the perfection of life?

56 Simply by expansion of His eyebrows, invincible time personified can immediately vanquish the entire universe. However, formidable time does not approach the devotee who has taken complete shelter at Your lotus feet.

57 If one by chance associates with a devotee, even for a fraction of a moment, he no longer is subject to attraction by the results of karma or Jnana. What interest then can he have in the benedictions of the demigods, who are subject to the laws of birth and death?

58 My dear Lord, Your lotus feet are the cause of all auspicious things and the destroyer of all the contamination of sin. I therefore beg Your Lordship to bless me by the association of Your devotees, who are completely purified by worshiping Your lotus feet and who are so merciful upon the conditioned souls. I think that Your real benediction will be to allow me to associate with such devotees.

59 The devotee whose heart has been completely cleansed by the process of devotional service and who is favored by Bhaktidevī does not become bewildered by the external energy, which is just like a dark well. Being completely cleansed of all material contamination in this way, a devotee is able to understand very happily Your name, fame, form, activities, etc.

60 My dear Lord, the impersonal Brahman spreads everywhere, like the sunshine or the sky. And that impersonal Brahman, which spreads throughout the universe and in which the entire universe is manifested, is You.

61 My dear Lord, You have manifold energies, and these energies are manifested in manifold forms. With such energies You have also created this cosmic manifestation, and although You maintain it as if it were permanent, You ultimately annihilate it. Although You are never disturbed by such changes and alterations, the living entities are disturbed by them, and therefore they find the cosmic manifestation to be different or separated from You. My Lord, You are always independent, and I can clearly see this fact.

62 My dear Lord, Your universal form consists of all five elements, the senses, mind, intelligence, false ego (which is material) and the Paramātmā, Your partial expansion, who is the director of everything. Yogīs other than the devotees namely the karma-yogī and Jnana-yogī worship You by their respective actions in their respective positions. It is stated both in the Vedas and in the śāstras that are corollaries of the Vedas, and indeed everywhere, that it is only You who are to be worshiped. That is the expert version of all the Vedas.

63 My dear Lord, You are the only Supreme Person, the cause of all causes. Before the creation of this material world, Your material energy remains in a dormant condition. When Your material energy is agitated, the three qualities namely goodness, passion and ignorance act, and as a result the total material energy egotism, ether, air, fire, water, earth and all the various demigods and saintly persons becomes manifest. Thus the material world is created.

64 My dear Lord, after creating by Your own potencies, You enter within the creation in four kinds of forms. Being within the hearts of the living entities, You know them and know how they are enjoying their senses. The so-called happiness of this material creation is exactly like the bees' enjoyment of honey after it has been collected in the honeycomb.

65 My dear Lord, Your absolute authority cannot be directly experienced, but one can guess by seeing the activities of the world that everything is being destroyed in due course of time. The force of time is very strong, and everything is being destroyed by something else just as one animal is being eaten by another animal. Time scatters everything, exactly as the wind scatters clouds in the sky.

66 My dear Lord, all living entities within this material world are mad after planning for things, and they are always busy with a desire to do this or that. This is due to uncontrollable greed. The greed for material enjoyment is always existing in the living entity, but Your Lordship is always alert, and in due course of time You strike him, just as a snake seizes a mouse and very easily swallows him.

67 My dear Lord, any learned person knows that unless he worships You, his entire life is spoiled. Knowing this, how could he give up worshiping Your lotus feet? Even our father and spiritual master, Lord Brahmā, unhesitatingly worshiped You, and the fourteen Manus followed in his footsteps.

68 My dear Lord, all actually learned persons know You as the Supreme Brahman and the Supersoul. Although the entire universe is afraid of Lord Rudra, who ultimately annihilates everything, for the learned devotees You are the fearless destination of all.

69 My dear sons of the King, just execute your occupational duty as kings with a pure heart. Just chant this prayer fixing your mind on the lotus feet of the Lord. That will bring you all good fortune, for the Lord will be very much pleased with you.

70 Therefore, O sons of the King, the Supreme Personality of Godhead, Hari, is situated in everyone's heart. He is also within your hearts. Therefore chant the glories of the Lord and always meditate upon Him continuously.

71 My dear princes, in the form of a prayer I have delineated the yoga system of chanting the holy name. All of you should take this important stotra within your minds and promise to keep it in order to become great sages. By acting silently like a great sage and by giving attention and reverence, you should practice this method.

72 This prayer was first spoken to us by Lord Brahmā, the master of all creators. The creators, headed by Bhṛgu, were instructed in these prayers because they wanted to create.

73 When all the Prajāpatis were ordered to create by Lord Brahmā, we chanted these prayers in praise of the Supreme Personality of Godhead and became completely free from all ignorance. Thus we were able to create different types of living entities.

74 A devotee of Lord Kṛṣṇa whose mind is always absorbed in Him, who with great attention and reverence chants this stotra [prayer], will achieve the greatest perfection of life without delay.

75 In this material world there are different types of achievement, but of all of them the achievement of knowledge is considered to be the highest because one can cross the ocean of nescience only on the boat of knowledge. Otherwise the ocean is impassable.

76 Although rendering devotional service to the Supreme Personality of Godhead and

worshiping Him are very difficult, if one vibrates or simply reads this stotra [prayer] composed and sung by me, he will very easily be able to invoke the mercy of the Supreme Personality of Godhead.

77 The Supreme Personality of Godhead is the dearmost objective of all auspicious benedictions. A human being who sings this song sung by me can please the Supreme Personality of Godhead. Such a devotee, being fixed in the Lord's devotional service, can acquire whatever he wants from the Supreme Lord.

78 A devotee who rises early in the morning and with folded hands chants these prayers sung by Lord Śiva, and gives facility to others to hear them, certainly becomes free from all bondage to fruitive activities.

79 My dear sons of the King, the prayers I have recited to you are meant for pleasing the Supreme Personality of Godhead, the Supersoul. I advise you to recite these prayers, which are as effective as great austerities. In this way, when you are mature, your life will be successful, and you will certainly achieve all your desired objectives without fail.

### SB 4.25: The Descriptions of the Characteristics of King Puraṣjana

1 The great sage Maitreya continued speaking to Vidura: My dear Vidura, in this way Lord Śiva instructed the sons of King Barhiṣat. The sons of the King also worshiped Lord Śiva with great devotion and respect. Finally, Lord Śiva became invisible to the princes.

2 All the Pracetā princes simply stood in the water for ten thousand years and recited the prayers given to them by Lord Śiva.

3 While the princes were undergoing severe austerities in the water, their father was performing different types of fruitive activities. At this time the great saint Nārada, master and teacher of all spiritual life, became very compassionate upon the King and decided to instruct him about spiritual life.

4 Nārada Muni asked King Prācīnabarhiṣat: My dear King, what do you desire to achieve by performing these fruitive activities? The chief aim of life is to get rid of all miseries and enjoy happiness, but these two things cannot be realized by fruitive activity.

5 The King replied: O great soul, Nārada, my intelligence is entangled in fruitive activities; therefore I do not know the ultimate goal of life. Kindly instruct me in pure knowledge so that I can get out of the entanglement of fruitive activities.

6 Those who are interested only in a so-called dutiful life namely remaining as a householder entangled by sons and a wife and searching after wealth think that such things are life's ultimate goal. Such people simply wander in different types of bodies throughout this material existence without finding out the ultimate goal of life.

7 The great saint Nārada said: O ruler of the citizens, my dear King, please see in the sky those animals which you have sacrificed without compassion and without mercy in the sacrificial arena.

8 All these animals are awaiting your death so that they can avenge the injuries you have inflicted upon them. After you die, they will angrily pierce your body with iron horns.

9 In this connection I wish to narrate an old history connected with the character of a king called Puraṣjana. Please try to hear me with great attention.

10 My dear King, once in the past lived a king named Puraṣjana, who was celebrated for his great activities. He had a friend named Avijṣāta ["the unknown one"]. No one could understand the activities of Avijṣāta.

11 King Puraṣjana began to search for a suitable place to live, and thus he traveled all over the world. Even after a great deal of traveling, he could not find a place just to his liking. Finally he became morose and disappointed.

12 King Puraṣjana had unlimited desires for sense enjoyment; consequently he traveled all over the world to find a place where all his desires could be fulfilled. Unfortunately he found a feeling of insufficiency everywhere.

13 Once, while wandering in this way, he saw on the southern side of the Himālayas, in a place named Bhārata-varṣa [India], a city that had nine gates all about and was characterized by all auspicious facilities.

14 That city was surrounded by walls and parks, and within it were towers, canals, windows and outlets. The houses there were decorated with domes made of gold, silver and iron.

15 The floors of the houses in that city were made of sapphire, crystal, diamonds, pearls, emeralds and rubies. Because of the luster of the houses in the capital, the city was compared to the celestial town named Bhogavatī.

16 In that city there were many assembly houses, street crossings, streets, restaurants, gambling houses, markets, resting places, flags, festoons and beautiful parks. All these surrounded the city.

17 On the outskirts of that city were many beautiful trees and creepers encircling a nice lake. Also surrounding that lake were many groups of birds and bees that were always chanting and humming.

18 The branches of the trees standing on the bank of the lake received particles of water carried by the spring air from the falls coming down from the icy mountain.

19 In such an atmosphere even the animals of the forest became nonviolent and nonenvious like great sages. Consequently, the animals did not attack anyone. Over and above everything was the cooing of the cuckoos. Any passenger passing along that path was invited by that atmosphere to take rest in that nice garden.

20 While wandering here and there in that wonderful garden, King Puraṣjana suddenly came in contact with a very beautiful woman who was walking there without any engagement. She had ten servants with her, and each servant had hundreds of wives accompanying him.

21 The woman was protected on all sides by a five-hooded snake. She was very beautiful and young, and she appeared very anxious to find a suitable husband.

22 The woman's nose, teeth and forehead were all very beautiful. Her ears were equally very beautiful and were bedecked with dazzling earrings.

23 The waist and hips of the woman were very beautiful. She was dressed in a yellow sārī with a golden belt. While she walked, her ankle bells rang. She appeared exactly like a denizen of the heavens.

24 With the end of her sārī the woman was trying to cover her breasts, which were equally round and well placed side by side. She again and again tried to cover them out of shyness

while she walked exactly like a great elephant.

25 Puraṣjana, the hero, became attracted by the eyebrows and smiling face of the very beautiful girl and was immediately pierced by the arrows of her lusty desires. When she smiled shyly, she looked very beautiful to Puraṣjana, who, although a hero, could not refrain from addressing her.

26 My dear lotus-eyed, kindly explain to me where you are coming from, who you are, and whose daughter you are. You appear very chaste. What is the purpose of your coming here? What are you trying to do? Please explain all these things to me.

27 My dear lotus-eyed, who are those eleven strong bodyguards with you, and who are those ten specific servants? Who are those women following the ten servants, and who is the snake that is preceding you?

28 My dear beautiful girl, you are exactly like the goddess of fortune or the wife of Lord Śiva or the goddess of learning, the wife of Lord Brahmā. Although you must be one of them, I see that you are loitering in this forest. Indeed, you are as silent as the great sages. Is it that you are searching after your own husband? Whoever your husband may be, simply by understanding that you are so faithful to him, he will come to possess all opulences. I think you must be the goddess of fortune, but I do not see the lotus flower in your hand. Therefore I am asking you where you have thrown that lotus.

29 O greatly fortunate one, it appears that you are none of the women I have mentioned because I see that your feet are touching the ground. But if you are some woman of this planet, you can, like the goddess of fortune who, accompanied by Lord Viṣṇu, increases the beauty of the Vaikuṇṭha planets also increase the beauty of this city by associating with me. You should understand that I am a great hero and a very powerful king on this planet.

30 Certainly your glancing upon me today has very much agitated my mind. Your smile, which is full of shyness but at the same time lusty, is agitating the most powerful cupid within me. Therefore, O most beautiful, I ask you to be merciful upon me.

31 My dear girl, your face is so beautiful with your nice eyebrows and eyes and with your bluish hair scattered about. In addition, very sweet sounds are coming from your mouth. Nonetheless, you are so covered with shyness that you do not see me face to face. I therefore request you, my dear girl, to smile and kindly raise your head to see me.

32 Nārada continued: My dear King, when Puraṣjana became so attracted and impatient to touch the girl and enjoy her, the girl also became attracted by his words and accepted his request by smiling. By this time she was certainly attracted by the King.

33 The girl said: O best of human beings, I do not know who has begotten me. I cannot speak to you perfectly about this. Nor do I know the names or the origin of the associates with me.

34 O great hero, we only know that we are existing in this place. We do not know what will come after. Indeed, we are so foolish that we do not care to understand who has created this beautiful place for our residence.

35 My dear gentleman, all these men and women with me are known as my friends, and the snake, who always remains awake, protects this city even during my sleeping hours. So much I know. I do not know anything beyond this.

36 O killer of the enemy, you have somehow or other come here. This is certainly great fortune for me. I wish all auspicious things for you. You have a great desire to satisfy your

senses, and all my friends and I shall try our best in all respects to fulfill your desires.

37 My dear lord, I have just arranged this city of nine gates for you so that you can have all kinds of sense gratification. You may live here for one hundred years, and everything for your sense gratification will be supplied.

38 How can I expect to unite with others, who are neither conversant about sex nor capable of knowing how to enjoy life while living or after death? Such foolish persons are like animals because they do not know the process of sense enjoyment in this life and after death.

39 The woman continued: In this material world, a householder's life brings all kinds of happiness in religion, economic development, sense gratification and the begetting of children, sons and grandsons. After that, one may desire liberation as well as material reputation. The householder can appreciate the results of sacrifices, which enable him to gain promotion to superior planetary systems. All this material happiness is practically unknown to the transcendentalists. They cannot even imagine such happiness.

40 The woman continued: According to authorities, the householder life is pleasing not only to oneself but to all the forefathers, demigods, great sages, saintly persons and everyone else. A householder life is thus beneficial.

41 O my dear hero, who in this world will not accept a husband like you? You are so famous, so magnanimous, so beautiful and so easily gotten.

42 O mighty-armed, who in this world will not be attracted by your arms, which are just like the bodies of serpents? Actually you relieve the distress of husbandless women like us by your attractive smile and your aggressive mercy. We think that you are traveling on the surface of the earth just to benefit us only.

43 The great sage Nārada continued: My dear King, those two the man and the woman supporting one another through mutual understanding, entered that city and enjoyed life for one hundred years.

44 Many professional singers used to sing about the glories of King Puraṣjana and his glorious activities. When it was too hot in the summer, he used to enter a reservoir of water. He would surround himself with many women and enjoy their company.

45 Of the nine gates in that city, seven were on the surface and two were subterranean. A total of nine doors were constructed, and these led to different places. All the gates were used by the city's governor.

46 My dear King, of the nine doors, five led toward the eastern side, one led toward the northern side, one led toward the southern side, and two led toward the western side. I shall try to give the names of these different doors.

47 The two gates named Khadyotā and Āvirmukhī were situated facing the eastern side, but they were constructed in one place. Through those two gates the King used to go to the city of Vibhrājita accompanied by a friend whose name was Dyumān.

48 Similarly in the east there were two sets of gates named Nalinī and Nālinī, and these were also constructed in one place. Through these gates the King, accompanied by a friend named Avadhūta, used to go to the city of Saurabha.

49 The fifth gate situated on the eastern side was named Mukhyā, or the chief. Through this gate, accompanied by his friends named Rasajṣa and Vipaṇa, he used to visit two places named

Bahūdana and Āpaṇa.

50 The southern gate of the city was known as Pitṛhū, and through that gate King Puraṣjana used to visit the city named Dakṣiṇa-paṣcāla, accompanied by his friend Śrutadhara.

51 On the northern side was the gate named Devahū. Through that gate, King Puraṣjana used to go with his friend Śrutadhara to the place known as Uttara-paṣcāla.

52 On the western side was a gate named Āsurī. Through that gate King Puraṣjana used to go to the city of Grāmaka, accompanied by his friend Durmada.

53 Another gate on the western side was known as Nirṛti. Puraṣjana used to go through this gate to the place known as Vaiśasa, accompanied by his friend Lubdhaka.

54 Of the many inhabitants of this city, there are two persons named Nirvāk and Peśaskṛt. Although King Puraṣjana was the ruler of citizens who possessed eyes, he unfortunately used to associate with these blind men. Accompanied by them, he used to go here and there and perform various activities.

55 Sometimes he used to go to his private home with one of his chief servants [the mind], who was named Viṣūcīna. At that time, illusion, satisfaction and happiness used to be produced from his wife and children.

56 Being thus entangled in different types of mental concoction and engaged in fruitive activities, King Puraṣjana came completely under the control of material intelligence and was thus cheated. Indeed, he used to fulfill all the desires of his wife, the Queen.

57-61 When the Queen drank liquor, King Puraṣjana also engaged in drinking. When the Queen dined, he used to dine with her, and when she chewed, King Puraṣjana used to chew along with her. When the Queen sang, he also sang. Similarly, when the Queen cried, he also cried, and when the Queen laughed, he also laughed. When the Queen talked loosely, he also talked loosely, and when the Queen walked, the King walked behind her. When the Queen would stand still, the King would also stand still, and when the Queen would lie down in bed, he would also follow and lie down with her. When the Queen sat, he would also sit, and when the Queen heard something, he would follow her to hear the same thing. When the Queen saw something, the King would also look at it, and when the Queen smelled something, the King would follow her to smell the same thing. When the Queen touched something, the King would also touch it, and when the dear Queen was lamenting, the poor King also had to follow her in lamentation. In the same way, when the Queen felt enjoyment, he also enjoyed, and when the Queen was satisfied, the King also felt satisfaction.

62 In this way, King Puraṣjana was captivated by his nice wife and was thus cheated. Indeed, he became cheated in his whole existence in the material world. Even against that poor foolish King's desire, he remained under the control of his wife, just like a pet animal that dances according to the order of its master.

### SB 4.26: King Puraṣjana Goes to the Forest to Hunt, and His Queen Becomes Angry

1-3 The great sage Nārada continued: My dear King, once upon a time King Puraṣjana took up his great bow, and equipped with golden armor and a quiver of unlimited arrows and accompanied by eleven commanders, he sat on his chariot driven by five swift horses and went to the forest named Paṣca-prastha. He took with him in that chariot two explosive arrows. The chariot itself was situated on two wheels and one revolving axle. On the chariot were three flags, one rein, one chariot driver, one sitting place, two poles to which the harness was fixed,

five weapons and seven coverings. The chariot moved in five different styles, and five obstacles lay before it. All the decorations of the chariot were made of gold.

4 It was almost impossible for King Puraṣjana to give up the company of his Queen even for a moment. Nonetheless, on that day, being very much inspired by the desire to hunt, he took up his bow and arrow with great pride and went to the forest, not caring for his wife.

5 At that time King Puraṣjana was very much influenced by demoniac propensities. Because of this, his heart became very hard and merciless, and with sharp arrows he killed many innocent animals in the forest, taking no consideration.

6 If a king is too attracted to eating flesh, he may, according to the directions of the revealed scriptures on sacrificial performances, go to the forest and kill some animals that are recommended for killing. One is not allowed to kill animals unnecessarily or without restrictions. The Vedas regulate animal-killing to stop the extravagance of foolish men influenced by the modes of passion and ignorance.

7 Nārada Muni continued to speak to King Prācīnabarhiṣat: My dear King, any person who works according to the directions of the Vedic scriptures does not become involved in fruitive activities.

8 Otherwise, a person who acts whimsically falls down due to false prestige. Thus he becomes involved in the laws of nature, which are composed of the three qualities [goodness, passion and ignorance]. In this way a living entity becomes devoid of his real intelligence and becomes perpetually lost in the cycle of birth and death. Thus he goes up and down from a microbe in stool to a high position in the Brahmaloka planet.

9 When King Puraṣjana was hunting in this way, many animals within the forest lost their lives with great pain, being pierced by the sharp arrowheads. Upon seeing these devastating, ghastly activities performed by the King, all the people who were merciful by nature became very unhappy. Such merciful persons could not tolerate seeing all this killing.

10 In this way King Puraṣjana killed many animals, including rabbits, boars, buffalo, bison, black deer, porcupines and other game animals. After killing and killing, the King became very tired.

11 After this, the King, very much fatigued, hungry and thirsty, returned to his royal palace. After returning, he took a bath and had an appropriate dinner. Then he took rest and thus became freed from all restlessness.

12 After this, King Puraṣjana decorated his body with suitable ornaments. He also smeared scented sandalwood pulp over his body and put on flower garlands. In this way he became completely refreshed. After this, he began to search out his Queen.

13 After taking his dinner and having his thirst and hunger satisfied, King Puraṣjana felt some joy within his heart. Instead of being elevated to a higher consciousness, he became captivated by Cupid, and was moved by a desire to find his wife, who kept him satisfied in his household life.

14 At that time King Puraṣjana was a little anxious, and he inquired from the household women: My dear beautiful women, are you and your mistress all very happy like before, or not?

15 King Puraṣjana said: I do not understand why my household paraphernalia does not attract me as before. I think that if there is neither a mother nor devoted wife at home, the home is

like a chariot without wheels. Where is the fool who will sit down on such an unworkable chariot?

16 Kindly let me know the whereabouts of that beautiful woman who always saves me when I am drowning in the ocean of danger. By giving me good intelligence at every step, she always saves me.

17 All the women addressed the King: O master of the citizens, we do not know why your dear wife has taken on this sort of existence. O killer of enemies, kindly look! She is lying on the ground without bedding. We cannot understand why she is acting this way.

18 The great sage Nārada continued: My dear King Prācīnabarhi, as soon as King Puraṣjana saw his Queen lying on the ground, appearing like a mendicant, he immediately became bewildered.

19 The King, with aggrieved mind, began to speak to his wife with very pleasing words. Although he was filled with regret and tried to pacify her, he could not see any symptom of anger caused by love within the heart of his beloved wife.

20 Because the King was very expert in flattery, he began to pacify his Queen very slowly. First he touched her two feet, then embraced her nicely, seating her on his lap, and began to speak as follows.

21 King Puraṣjana said: My dear beautiful wife, when a master accepts a servant as his own man, but does not punish him for his offenses, the servant must be considered unfortunate.

22 My dear slender maiden, when a master chastises his servant, the servant should accept this as great mercy. One who becomes angry must be very foolish not to know that such is the duty of his friend.

23 My dear wife, your teeth are very beautifully set, and your attractive features make you appear very thoughtful. Kindly give up your anger, be merciful upon me, and please smile upon me with loving attachment. When I see a smile on your beautiful face, and when I see your hair, which is as beautiful as the color blue, and see your raised nose and hear your sweet talk, you will become more beautiful to me and thus attract me and oblige me. You are my most respected mistress.

24 O hero's wife, kindly tell me if someone has offended you. I am prepared to give such a person punishment as long as he does not belong to the brāhmaṇa caste. But for the servant of Muraripu [Kṛṣṇa], I excuse no one within or beyond these three worlds. No one can freely move after offending you, for I am prepared to punish him.

25 My dear wife, until this day I have never seen your face without tilaka decorations, nor have I seen you so morose and without luster or affection. Nor have I seen your two nice breasts wet with tears from your eyes. Nor have I ever before seen your lips, which are ordinarily as red as the bimba fruit, without their reddish hue.

26 My dear Queen, due to my sinful desires I went to the forest to hunt without asking you. Therefore I must admit that I have offended you. Nonetheless, thinking of me as your most intimate subordinate, you should still be very much pleased with me. Factually I am very much bereaved, but being pierced by the arrow of Cupid, I am feeling lusty. But where is the beautiful woman who would give up her lusty husband and refuse to unite with him?

**SB 4.27: Attack by Caṇḍavega on the City of King Puraṣjana; the Character of Kālakanyā**

1 The great sage Nārada continued: My dear King, after bewildering her husband in different ways and bringing him under her control, the wife of King Puraṣjana gave him all satisfaction and enjoyed sex life with him.

2 The Queen took her bath and dressed herself nicely with all auspicious garments and ornaments. After taking food and becoming completely satisfied, she returned to the King. Upon seeing her beautifully decorated attractive face, the King welcomed her with all devotion.

3 Queen Puraṣjanī embraced the King, and the King also responded by embracing her shoulders. In this way, in a solitary place, they enjoyed joking words. Thus King Puraṣjana became very much captivated by his beautiful wife and deviated from his good sense. He forgot that the passing of days and nights meant that his span of life was being reduced without profit.

4 In this way, increasingly overwhelmed by illusion, King Puraṣjana, although advanced in consciousness, remained always lying down with his head on the pillow of his wife's arms. In this way he considered woman to be his ultimate life and soul. Becoming thus overwhelmed by the mode of ignorance, he could not understand the meaning of self-realization, whether regarding his own self or the Supreme Personality of Godhead.

5 My dear King Prācīnabarhiṣat, in this way King Puraṣjana, with his heart full of lust and sinful reactions, began to enjoy sex with his wife, and in this way his new life and youth expired in half a moment.

6 The great sage Nārada then addressed King Prācīnabarhiṣat: O one whose life span is great [virāṭ], in this way King Puraṣjana begot 1,100 sons within the womb of his wife, Puraṣjanī. However, in this business he passed away half of his life span.

7 O Prajāpati, King Prācīnabarhiṣat, in this way King Puraṣjana also begot 110 daughters. All of these were equally glorified like the father and mother. Their behavior was gentle, and they possessed magnanimity and other good qualities.

8 After this, King Puraṣjana, King of the Paṣcāla country, in order to increase the descendants of his paternal family, married his sons with qualified wives and married his daughters with qualified husbands.

9 Of these many sons, each produced hundreds and hundreds of grandsons. In this way the whole city of Paṣcāla became overcrowded by these sons and grandsons of King Puraṣjana.

10 These sons and grandsons were virtually plunderers of King Puraṣjana's riches, including his home, treasury, servants, secretaries and all other paraphernalia. Puraṣjana's attachment for these things was very deep-rooted.

11 The great sage Nārada continued: My dear King Prācīnabarhiṣat, like you King Puraṣjana also became implicated in so many desires. Thus he worshiped demigods, forefathers and social leaders with various sacrifices which were all very ghastly because they were inspired by the desire to kill animals.

12 Thus King Puraṣjana, being attached to fruitive activities [karma-kāṇḍīya] as well as kith and kin, and being obsessed with polluted consciousness, eventually arrived at that point not very much liked by those who are overly attached to material things.

13 O King! In Gandharvaloka there is a king named Caṇḍavega. Under him there are 360 very

powerful Gandharva soldiers.

14 Along with Caṇḍavega were as many female Gandharvīs as there were soldiers, and all of them repetitively plundered all the paraphernalia for sense enjoyment.

15 When King Gandharva-rāja [Caṇḍavega] and his followers began to plunder the city of Puraṣjana, a snake with five hoods began to defend the city.

16 The five-hooded serpent, the superintendent and protector of the city of King Puraṣjana, fought with the Gandharvas for one hundred years. He fought alone, with all of them, although they numbered 720.

17 Because he had to fight alone with so many soldiers, all of whom were great warriors, the serpent with five hoods became very weak. Seeing that his most intimate friend was weakening, King Puraṣjana and his friends and citizens living within the city all became very anxious.

18 King Puraṣjana collected taxes in the city known as Paṣcāla and thus was able to engage in sexual indulgence. Being completely under the control of women, he could not understand that his life was passing away and that he was reaching the point of death.

19 My dear King Prācīnabarhiṣat, at this time the daughter of formidable Time was seeking her husband throughout the three worlds. Although no one agreed to accept her, she came.

20 The daughter of Time [Jarā] was very unfortunate. Consequently she was known as Durbhagā ["ill-fated"]. However, she was once pleased with a great king, and because the king accepted her, she granted him a great benediction.

21 When I once came to this earth from Brahmaloka, the highest planetary system, the daughter of Time, wandering over the universe, met me. Knowing me to be an avowed brahmacārī, she became lusty and proposed that I accept her.

22 The great sage Nārada continued: When I refused to accept her request, she became very angry at me and cursed me severely. Because I refused her request, she said that I would not be able to stay in one place for a long time.

23 After she was thus disappointed by me, with my permission she approached the King of the Yavanas, whose name was Bhaya, or Fear, and she accepted him as her husband.

24 Approaching the King of the Yavanas, Kālakanyā addressed him as a great hero, saying: My dear sir, you are the best of the untouchables. I am in love with you, and I want you as my husband. I know that no one is baffled if he makes friends with you.

25 One who does not give charity according to the customs or injunctions of the scriptures and one who does not accept charity in that way are considered to be in the mode of ignorance. Such persons follow the path of the foolish. Surely they must lament at the end.

26 Kālakanyā continued: O gentle one, I am now present before you to serve you. Please accept me and thus show me mercy. It is a gentleman's greatest duty to be compassionate upon a person who is distressed.

27 After hearing the statement of Kālakanyā, daughter of Time, the King of the Yavanas began to smile and devise a means for executing his confidential duty on behalf of providence. He then addressed Kālakanyā as follows.

28 The King of the Yavanas replied: After much consideration, I have arrived at a husband for you. Actually, as far as everyone is concerned, you are inauspicious and mischievous. Since no one likes you, how can anyone accept you as his wife?

29 This world is a product of fruitive activities. Therefore you may imperceptibly attack people in general. Helped by my soldiers, you can kill them without opposition.

30 The King of the Yavanas continued: Here is my brother Prajvāra. I now accept you as my sister. I shall employ both of you, as well as my dangerous soldiers, to act imperceptibly within this world.

### SB 4.28: Puraṣjana Becomes a Woman in the Next Life

1 The great sage Nārada continued: My dear King Prācīnabarhiṣat, afterward the King of the Yavanas, whose name is fear itself, as well as Prajvāra, Kālakanyā, and his soldiers, began to travel all over the world.

2 Once the dangerous soldiers attacked the city of Puraṣjana with great force. Although the city was full of paraphernalia for sense gratification, it was being protected by the old serpent.

3 Gradually Kālakanyā, with the help of dangerous soldiers, attacked all the inhabitants of Puraṣjana's city and thus rendered them useless for all purposes.

4 When Kālakanyā, daughter of Time, attacked the body, the dangerous soldiers of the King of the Yavanas entered the city through different gates. They then began to give severe trouble to all the citizens.

5 When the city was thus endangered by the soldiers and Kālakanyā, King Puraṣjana, being overly absorbed in affection for his family, was placed in difficulty by the attack of Yavana-rāja and Kālakanyā.

6 When King Puraṣjana was embraced by Kālakanyā, he gradually lost all his beauty. Having been too much addicted to sex, he became very poor in intelligence and lost all his opulence. Being bereft of all possessions, he was conquered forcibly by the Gandharvas and the Yavanas.

7 King Puraṣjana then saw that everything in his town was scattered and that his sons, grandsons, servants and ministers were all gradually opposing him. He also noted that his wife was becoming cold and indifferent.

8 When King Puraṣjana saw that all his family members, relatives, followers, servants, secretaries and everyone else had turned against him, he certainly became very anxious. But he could not counteract the situation because he was thoroughly overwhelmed by Kālakanyā.

9 The objects of enjoyment became stale by the influence of Kālakanyā. Due to the continuance of his lusty desires, King Puraṣjana became very poor in everything. Thus he did not understand the aim of life. He was still very affectionate toward his wife and children, and he worried about maintaining them.

10 The city of King Puraṣjana was overcome by the Gandharva and Yavana soldiers, and although the King had no desire to leave the city, he was circumstantially forced to do so, for it was smashed by Kālakanyā.

11 Under the circumstances, the elder brother of Yavana-rāja, known as Prajvāra, set fire to the city to please his younger brother, whose other name is fear itself.

12 When the city was set ablaze, all the citizens and servants of the King, as well as all family members, sons, grandsons, wives and other relatives, were within the fire. King Puraṣjana thus became very unhappy.

13 The city's superintendent of police, the serpent, saw that the citizens were being attacked by Kālakanyā, and he became very aggrieved to see his own residence set ablaze after being attacked by the Yavanas.

14 As a serpent living within the cavity of a tree wishes to leave when there is a forest fire, so the city's police superintendent, the snake, wished to leave the city due to the fire's severe heat.

15 The limbs of the serpent's body were slackened by the Gandharvas and Yavana soldiers, who had thoroughly defeated his bodily strength. When he attempted to leave the body, he was checked by his enemies. Being thus baffled in his attempt, he began to cry loudly.

16 King Puraṣjana then began to think of his daughters, sons, grandsons, daughters-in-law, sons-in-law, servants and other associates, as well as his house, his household paraphernalia and his little accumulation of wealth.

17 King Puraṣjana was overly attached to his family and conceptions of "I" and "mine." Because he was overly attracted to his wife, he was already quite poverty-stricken. At the time of separation, he became very sorry.

18 King Puraṣjana was anxiously thinking, "Alas, my wife is encumbered by so many children. When I pass from this body, how will she be able to maintain all these family members? Alas, she will be greatly harassed by thoughts of family maintenance."

19 King Puraṣjana then began to think of his past dealings with his wife. He recalled that his wife would not take her dinner until he had finished his, that she would not take her bath until he had finished his, and that she was always very much attached to him, so much so that if he would sometimes become angry and chastise her, she would simply remain silent and tolerate his miSBehavior.

20 King Puraṣjana continued thinking how, when he was in a state of bewilderment, his wife would give him good counsel and how she would become aggrieved when he was away from home. Although she was the mother of so many sons and heroes, the King still feared that she would not be able to maintain the responsibility of household affairs.

21 King Puraṣjana continued worrying: "After I pass from this world, how will my sons and daughters, who are now fully dependent on me, live and continue their lives? Their position will be similar to that of passengers aboard a ship wrecked in the midst of the ocean."

22 Although King Puraṣjana should not have lamented over the fate of his wife and children, he nonetheless did so due to his miserly intelligence. In the meantime, Yavana-rāja, whose name was fear itself, immediately drew near to arrest him.

23 When the Yavanas were taking King Puraṣjana away to their place, binding him like an animal, the King's followers became greatly aggrieved. While they lamented, they were forced to go along with him.

24 The serpent, who had already been arrested by the soldiers of Yavana-rāja and was out of the city, began to follow his master along with the others. As soon as they all left the city, it was immediately dismantled and smashed to dust.

25 When King Puraṣjana was being dragged with great force by the powerful Yavana, out of his gross ignorance he still could not remember his friend and well-wisher, the Supersoul.

26 That most unkind king, Puraṣjana, had killed many animals in various sacrifices. Now, taking advantage of this opportunity, all these animals began to pierce him with their horns. It was as though he were being cut to pieces by axes.

27 Due to his contaminated association with women, a living entity like King Puraṣjana eternally suffers all the pangs of material existence and remains in the dark region of material life, bereft of all remembrance for many, many years.

28 King Puraṣjana gave up his body while remembering his wife, and consequently in his next life he became a very beautiful and well-situated woman. He took his next birth as the daughter of King Vidarbha in the very house of the King.

29 It was fixed that Vaidarbhī, daughter of King Vidarbha, was to be married to a very powerful man, Malayadhvaja, an inhabitant of the Pāṇḍu country. After conquering other princes, he married the daughter of King Vidarbha.

30 King Malayadhvaja fathered one daughter, who had very black eyes. He also had seven sons, who later became rulers of that tract of land known as Draviḍa. Thus there were seven kings in that land.

31 My dear King Prācīnabarhiṣat, the sons of Malayadhvaja gave birth to many thousands and thousands of sons, and all of these have been protecting the entire world up to the end of one Manu's life span and even afterward.

32 The great sage named Agastya married the first-born daughter of Malayadhvaja, the avowed devotee of Lord Kṛṣṇa. From her one son was born, whose name was Dṛḍhacyuta, and from him another son was born, whose name was Idhmavāha.

33 After this, the great saintly King Malayadhvaja divided his entire kingdom among his sons. Then, in order to worship Lord Kṛṣṇa with full attention, he went to a solitary place known as Kulācala.

34 Just as the moonshine follows the moon at night, immediately after King Malayadhvaja departed for Kulācala, his devoted wife, whose eyes were very enchanting, followed him, giving up all homely happiness, despite family and children.

35-36 In the province of Kulācala, there were rivers named Candravasā, Tāmraparṇī and Vaṭodakā. King Malayadhvaja used to go to those pious rivers regularly and take his bath there. Thus he purified himself externally and internally. He took his bath and ate bulbs, seeds, leaves, flowers, roots, fruits and grasses and drank water. In this way he underwent severe austerities. Eventually he became very skinny.

37 Through austerity, King Malayadhvaja in body and mind gradually became equal to the dualities of cold and heat, happiness and distress, wind and rain, hunger and thirst, the pleasant and the unpleasant. In this way he conquered all relativities.

38 By worshiping, executing austerities and following the regulative principles, King Malayadhvaja conquered his senses, his life and his consciousness. Thus he fixed everything on the central point of the Supreme Brahman [Kṛṣṇa].

39 In this way he stayed immovable in one place for one hundred years by the calculation of the demigods. After this time, he developed pure devotional attraction for Kṛṣṇa, the Supreme

Personality of Godhead, and remained fixed in that position.

40 King Malayadhvaja attained perfect knowledge by being able to distinguish the Supersoul from the individual soul. The individual soul is localized, whereas the Supersoul is all-pervasive. He became perfect in knowledge that the material body is not the soul but that the soul is the witness of the material body.

41 In this way King Malayadhvaja attained perfect knowledge because in his pure state he was directly instructed by the Supreme Personality of Godhead. By means of such enlightening transcendental knowledge, he could understand everything from all angles of vision.

42 King Malayadhvaja could thus observe that the Supersoul was sitting by his side, and that he, as the individual soul, was sitting by the side of the Supersoul. Since both were together, there was no need for separate interests; thus he ceased from such activities.

43 The daughter of King Vidarbha accepted her husband all in all as the Supreme. She gave up all sensual enjoyment and in complete renunciation followed the principles of her husband, who was so advanced. Thus she remained engaged in his service.

44 The daughter of King Vidarbha wore old garments, and she was lean and thin because of her vows of austerity. Since she did not arrange her hair, it became entangled and twisted in locks. Although she remained always near her husband, she was as silent and unagitated as the flame of an undisturbed fire.

45 The daughter of King Vidarbha continued as usual to serve her husband, who was seated in a steady posture, until she could ascertain that he had passed away from the body.

46 While she was serving her husband by massaging his legs, she could feel that his feet were no longer warm and could thus understand that he had already passed from the body. She felt great anxiety upon being left alone. Bereft of her husband's company, she felt exactly as the deer feels upon being separated from its mate.

47 Being now alone and a widow in that forest, the daughter of Vidarbha began to lament, incessantly shedding tears, which soaked her breasts, and crying very loudly.

48 O best of kings, please get up! Get up! Just see this world surrounded by water and infested with rogues and so-called kings. This world is very much afraid, and it is your duty to protect her.

49 That most obedient wife thus fell down at the feet of her dead husband and began to cry pitifully in that solitary forest. Thus the tears rolled down from her eyes.

50 She then prepared a blazing fire with firewood and placed the dead body of her husband upon it. When this was finished, she lamented severely and prepared herself to perish in the fire with her husband.

51 My dear King, one brāhmaṇa, who was an old friend of King Puraṣjana, came to that place and began to pacify the Queen with sweet words.

52 The brāhmaṇa inquired as follows: Who are you? Whose wife or daughter are you? Who is the man lying here? It appears you are lamenting for this dead body. Don't you recognize Me? I am your eternal friend. You may remember that many times in the past you have consulted Me.

53 The brāhmaṇa continued: My dear friend, even though you cannot immediately recognize Me, can't you remember that in the past you had a very intimate friend? Unfortunately, you

gave up My company and accepted a position as enjoyer of this material world.

54 My dear gentle friend, both you and I are exactly like two swans. We live together in the same heart, which is just like the Mānasa Lake. Although we have been living together for many thousands of years, we are still far away from our original home.

55 My dear friend, you are now My very same friend. Since you left Me, you have become more and more materialistic, and not seeing Me, you have been traveling in different forms throughout this material world, which was created by some woman.

56 In that city [the material body] there are five gardens, nine gates, one protector, three apartments, six families, five stores, five material elements, and one woman who is lord of the house.

57 My dear friend, the five gardens are the five objects of sense enjoyment, and the protector is the life air, which passes through the nine gates. The three apartments are the chief ingredients fire, water and earth. The six families are the aggregate total of the mind and five senses.

58 The five stores are the five working sensory organs. They transact their business through the combined forces of the five elements, which are eternal. Behind all this activity is the soul. The soul is a person and an enjoyer in reality. However, because he is now hidden within the city of the body, he is devoid of knowledge.

59 My dear friend, when you enter such a body along with the woman of material desires, you become overly absorbed in sense enjoyment. Because of this, you have forgotten your spiritual life. Due to your material conceptions, you are placed in various miserable conditions.

60 Actually, you are not the daughter of Vidarbha, nor is this man, Malayadhvaja, your well-wishing husband. Nor were you the actual husband of Puraṣjanī. You were simply captivated in this body of nine gates.

61 Sometimes you think yourself a man, sometimes a chaste woman and sometimes a neutral eunuch. This is all because of the body, which is created by the illusory energy. This illusory energy is My potency, and actually both of us you and I are pure spiritual identities. Now just try to understand this. I am trying to explain our factual position.

62 My dear friend, I, the Supersoul, and you, the individual soul, are not different in quality, for we are both spiritual. In fact, My dear friend, you are qualitatively not different from Me in your constitutional position. Just try to consider this subject. Those who are actually advanced scholars, who are in knowledge, do not find any qualitative difference between you and Me.

63 As a person sees the reflection of his body in a mirror to be one with himself and not different, whereas others actually see two bodies, so in our material condition, in which the living being is affected and yet not affected, there is a difference between God and the living entity.

64 In this way both swans live together in the heart. When the one swan is instructed by the other, he is situated in his constitutional position. This means he regains his original Kṛṣṇa consciousness, which was lost because of his material attraction.

65 My dear King Prācīnabarhi, the Supreme Personality of Godhead, the cause of all causes, is celebrated to be known indirectly. Thus I have described the story of Puraṣjana to you. Actually it is an instruction for self-realization.

**SB 4.29: Talks Between Nārada and King Prācīnabarhi**

1 King Prācīnabarhi replied: My dear lord, we could not appreciate completely the purport of your allegorical story of King Puraṣjana. Actually, those who are perfect in spiritual knowledge can understand, but for us, who are overly attached to fruitive activities, to realize the purpose of your story is very difficult.

2 The great sage Nārada Muni continued: You must understand that Puraṣjana, the living entity, transmigrates according to his own work into different types of bodies, which may be one-legged, two-legged, three-legged, four-legged, many-legged or simply legless. Transmigrating into these various types of bodies, the living entity, as the so-called enjoyer, is known as Puraṣjana.

3 The person I have described as unknown is the Supreme Personality of Godhead, the master and eternal friend of the living entity. Since the living entities cannot realize the Supreme Personality of Godhead by material names, activities or qualities, He remains everlastingly unknown to the conditioned soul.

4 When the living entity wants to enjoy the modes of material nature in their totality, he prefers, out of many bodily forms, to accept that body which has nine gates, two hands and two legs. Thus he prefers to become a human being or a demigod.

5 The great sage Nārada continued: The word pramadā mentioned in this regard refers to material intelligence, or ignorance. It is to be understood as such. When one takes shelter of this kind of intelligence, he identifies himself with the material body. Influenced by the material consciousness of "I" and "mine," he begins to enjoy and suffer through his senses. Thus the living entity is entrapped.

6 The five working senses and the five senses that acquire knowledge are all male friends of Puraṣjanī. The living entity is assisted by these senses in acquiring knowledge and engaging in activity. The engagements of the senses are known as girlfriends, and the serpent, which was described as having five heads, is the life air acting within the five circulatory processes.

7 The eleventh attendant, who is the commander of the others, is known as the mind. He is the leader of the senses both in the acquisition of knowledge and in the performance of work. The Paṣcāla kingdom is that atmosphere in which the five sense objects are enjoyed. Within that Paṣcāla kingdom is the city of the body, which has nine gates.

8 The eyes, nostrils and ears are pairs of gates situated in one place. The mouth, genitals and rectum are also different gates. Being placed into a body having these nine gates, the living entity acts externally in the material world and enjoys sense objects like form and taste.

9 Two eyes, two nostrils and a mouth all together five are situated in the front. The right ear is accepted as the southern gate, and the left ear is the northern gate. The two holes, or gates, situated in the west are known as the rectum and genital organ.

10 The two gates named Khadyotā and Āvirmukhī, which have been spoken of, are the two eyes side by side in one place. The town named Vibhrājita should be understood as form. In this way the two eyes are always engaged in seeing different kinds of forms.

11 The two doors named Nalinī and Nālinī should be known as the two nostrils, and the city named Saurabha represents aroma. The companion spoken of as Avadhūta is the sense of smell. The door called Mukhyā is the mouth, and Vipaṇa is the faculty of speech. Rasajṣa is the sense of taste.

12 The city called Āpaṇa represents engagement of the tongue in speech, and Bahūdana is the

variety of foodstuffs. The right ear is called the gate of Pitṛhū, and the left ear is called the gate of Devahū.

13 Nārada Muni continued: The city spoken of as Dakṣiṇa-paṣcāla represents the scriptures meant for directing pravṛtti, the process of sense enjoyment in fruitive activities. The other city, named Uttara-paṣcāla, represents the scriptures meant for decreasing fruitive activities and increasing knowledge. The living entity receives different kinds of knowledge by means of two ears, and some living entities are promoted to Pitṛloka and some to Devaloka. All this is made possible by the two ears.

14 The city called Grāmaka, which is approached through the lower gate of Āsurī [the genital organ], is meant for sex, which is very pleasing to common men who are simply fools and rascals. The faculty of procreation is called Durmada, and the rectum is called Nirṛti.

15 When it is said that Puraṣjana goes to Vaiśasa, it is meant that he goes to hell. He is accompanied by Lubdhaka, which is the working sense in the rectum. Formerly I have also spoken of two blind associates. These associates should be understood to be the hands and legs. Being helped by the hands and legs, the living entity performs all kinds of work and moves hither and thither.

16 The word antaḥ-pura refers to the heart. The word viṣūcīna, meaning "going everywhere," indicates the mind. Within the mind the living entity enjoys the effects of the modes of material nature. These effects sometimes cause illusion, sometimes satisfaction and sometimes jubilation.

17 Formerly it was explained that the Queen is one's intelligence. While one is awake or asleep, that intelligence creates different situations. Being influenced by contaminated intelligence, the living entity envisions something and simply imitates the actions and reactions of his intelligence.

18-20 Nārada Muni continued: What I referred to as the chariot was in actuality the body. The senses are the horses that pull that chariot. As time passes, year after year, these horses run without obstruction, but in fact they make no progress. Pious and impious activities are the two wheels of the chariot. The three modes of material nature are the chariot's flags. The five types of life air constitute the living entity's bondage, and the mind is considered to be the rope. Intelligence is the chariot driver. The heart is the sitting place in the chariot, and the dualities of life, such as pleasure and pain, are the knotting place. The seven elements are the coverings of the chariot, and the working senses are the five external processes. The eleven senses are the soldiers. Being engrossed in sense enjoyment, the living entity, seated on the chariot, hankers after fulfillment of his false desires and runs after sense enjoyment life after life.

21 What was previously explained as Caṇḍavega, powerful time, is covered by days and nights, named Gandharvas and Gandharvīs. The body's life span is gradually reduced by the passage of days and nights, which number 360.

22 What was described as Kālakanyā should be understood as old age. No one wants to accept old age, but Yavaneśvara [Yavana-rāja], who is death, accepts Jarā [old age] as his sister.

23-25 The followers of Yavaneśvara [Yamarāja] are called the soldiers of death, and they are known as the various types of disturbances that pertain to the body and mind. Prajvāra represents the two types of fever: extreme heat and extreme cold typhoid and pneumonia. The living entity lying down within the body is disturbed by many tribulations pertaining to providence, to other living entities and to his own body and mind. Despite all kinds of

tribulations, the living entity, subjected to the necessities of the body, mind and senses and suffering from various types of disease, is carried away by many plans due to his lust to enjoy the world. Although transcendental to this material existence, the living entity, out of ignorance, accepts all these material miseries under the pretext of false egoism ("I" and "mine"). In this way he lives for a hundred years within this body.

26-27 The living entity by nature has minute independence to choose his own good or bad fortune, but when he forgets his supreme master, the Personality of Godhead, he gives himself up unto the modes of material nature. Being influenced by the modes of material nature, he identifies himself with the body and, for the interest of the body, becomes attached to various activities. Sometimes he is under the influence of the mode of ignorance, sometimes the mode of passion and sometimes the mode of goodness. The living entity thus gets different types of bodies under the modes of material nature.

28 Those who are situated in the mode of goodness act piously according to Vedic injunctions. Thus they are elevated to the higher planetary systems where the demigods live. Those who are influenced by the mode of passion engage in various types of productive activities in the planetary systems where human beings live. Similarly, those influenced by the mode of darkness are subjected to various types of misery and live in the animal kingdom.

29 Covered by the mode of ignorance in material nature, the living entity is sometimes a male, sometimes a female, sometimes a eunuch, sometimes a human being, sometimes a demigod, sometimes a bird, an animal, and so on. In this way he is wandering within the material world. His acceptance of different types of bodies is brought about by his activities under the influence of the modes of nature.

30-31 The living entity is exactly like a dog who, overcome with hunger, goes from door to door for some food. According to his destiny, he sometimes receives punishment and is driven out and at other times receives a little food to eat. Similarly, the living entity, being influenced by so many desires, wanders in different species of life according to destiny. Sometimes he is high, and sometimes he is low. Sometimes he goes to the heavenly planets, sometimes to hell, sometimes to the middle planets, and so on.

32 The living entities are trying to counteract different miserable conditions pertaining to providence, other living entities or the body and mind. Still, they must remain conditioned by the laws of nature, despite all attempts to counter these laws.

33 A man may carry a burden on his head, and when he feels it to be too heavy, he sometimes gives relief to his head by putting the burden on his shoulder. In this way he tries to relieve himself of the burden. However, whatever process he devises to counteract the burden does nothing more than put the same burden from one place to another.

34 Nārada continued: O you who are free from all sinful activity! No one can counteract the effects of fruitive activity simply by manufacturing a different activity devoid of Kṛṣṇa consciousness. All such activity is due to our ignorance. When we have a troublesome dream, we cannot relieve it with a troublesome hallucination. One can counteract a dream only by awaking. Similarly, our material existence is due to our ignorance and illusion. Unless we awaken to Kṛṣṇa consciousness, we cannot be relieved of such dreams. For the ultimate solution to all problems, we must awaken to Kṛṣṇa consciousness.

35 Sometimes we suffer because we see a tiger in a dream or a snake in a vision, but actually there is neither a tiger nor a snake. Thus we create some situation in a subtle form and suffer the consequences. These sufferings cannot be mitigated unless we are awakened from our dream.

36-37 The real interest of the living entity is to get out of the nescience that causes him to endure repeated birth and death. The only remedy is to surrender unto the Supreme Personality of Godhead through His representative. Unless one renders devotional service unto the Supreme Personality of Godhead, Vāsudeva, one cannot possibly become completely detached from this material world, nor can he possibly manifest real knowledge.

38 O best of kings, one who is faithful, who is always hearing the glories of the Supreme Personality of Godhead, who is always engaged in the culture of Kṛṣṇa consciousness and in hearing of the Lord's activities, very soon becomes eligible to see the Supreme Personality of Godhead face to face.

39-40 My dear King, in the place where pure devotees live, following the rules and regulations and thus purely conscious and engaged with great eagerness in hearing and chanting the glories of the Supreme Personality of Godhead, in that place if one gets a chance to hear their constant flow of nectar, which is exactly like the waves of a river, one will forget the necessities of life, namely hunger and thirst, and become immune to all kinds of fear, lamentation and illusion.

41 Because the conditioned soul is always disturbed by the bodily necessities such as hunger and thirst, he has very little time to cultivate attachment to hearing the nectarean words of the Supreme Personality of Godhead.

42-44 The most powerful Lord Brahmā, the father of all progenitors; Lord Śiva; Manu, Dakṣa and the other rulers of humankind; the four saintly first-class brahmacārīs headed by Sanaka and Sanātana; the great sages Marīci, Atri, Aṅgirā, Pulastya, Pulaha, Kratu, Bhṛgu and Vasiṣṭha; and my humble self [Nārada] are all stalwart brāhmaṇas who can speak authoritatively on Vedic literature. We are very powerful because of austerities, meditation and education. Nonetheless, even after inquiring about the Supreme Personality of Godhead, whom we always see, we do not know perfectly about Him.

45 Despite the cultivation of Vedic knowledge, which is unlimited, and the worship of different demigods by the symptoms of Vedic mantras, demigod worship does not help one to understand the supreme powerful Personality of Godhead.

46 When a person is fully engaged in devotional service, he is favored by the Lord, who bestows His causeless mercy. At such a time, the awakened devotee gives up all material activities and ritualistic performances mentioned in the Vedas.

47 My dear King Barhiṣmān, you should never out of ignorance take to the Vedic rituals or to fruitive activity, which may be pleasing to hear about or which may appear to be the goal of self-interest. You should never take these to be the ultimate goal of life.

48 Those who are less intelligent accept the Vedic ritualistic ceremonies as all in all. They do not know that the purpose of the Vedas is to understand one's own home, where the Supreme Personality of Godhead lives. Not being interested in their real home, they are illusioned and search after other homes.

49 My dear King, the entire world is covered with the sharp points of kuśa grass, and on the strength of this you have become proud because you have killed various types of animals in sacrifices. Because of your foolishness, you do not know that devotional service is the only way one can please the Supreme Personality of Godhead. You cannot understand this fact. Your only activities should be those that can please the Personality of Godhead. Our education should be such that we can become elevated to Kṛṣṇa consciousness.

50Śrī Hari, the Supreme Personality of Godhead, is the Supersoul and guide of all living entities who have accepted material bodies within this world. He is the supreme controller of all material activities in material nature. He is also our best friend, and everyone should take shelter at His lotus feet. In doing so, one's life will be auspicious.

51 One who is engaged in devotional service has not the least fear in material existence. This is because the Supreme Personality of Godhead is the Supersoul and friend of everyone. One who knows this secret is actually educated, and one thus educated can become the spiritual master of the world. One who is an actually bona fide spiritual master, representative of Kṛṣṇa, is not different from Kṛṣṇa.

52 The great saint Nārada continued: O great personality, I have replied properly about all that you have asked me. Now hear another narration that is accepted by saintly persons and is very confidential.

53 My dear King, please search out that deer who is engaged in eating grass in a very nice flower garden along with his wife. That deer is very much attached to his business, and he is enjoying the sweet singing of the bumblebees in his garden. Just try to understand his position. He is unaware that before him is a tiger, which is accustomed to living at the cost of another's flesh. Behind the deer is a hunter, who is threatening to pierce him with sharp arrows. Thus the deer's death is imminent.

54 My dear King, woman, who is very attractive in the beginning but in the end very disturbing, is exactly like the flower, which is attractive in the beginning and detestable at the end. With woman, the living entity is entangled with lusty desires, and he enjoys sex, just as one enjoys the aroma of a flower. He thus enjoys a life of sense gratification from his tongue to his genitals and in this way the living entity considers himself very happy in family life. United with his wife, he always remains absorbed in such thoughts. He feels great pleasure in hearing the talks of his wife and children, which are like the sweet humming of bumblebees that collect honey from flower to flower. He forgets that before him is time, which is taking away his life span with the passing of day and night. He does not see the gradual diminishing of his life, nor does he care about the superintendent of death, who is trying to kill him from behind. Just try to understand this. You are in a precarious position and are threatened from all sides.

55 My dear King, just try to understand the allegorical position of the deer. Be fully conscious of yourself, and give up the pleasure of hearing about promotion to heavenly planets by fruitive activity. Give up household life, which is full of sex, as well as stories about such things, and take shelter of the Supreme Personality of Godhead through the mercy of the liberated souls. In this way, please give up your attraction for material existence.

56 The King replied: My dear brāhmaṇa, whatever you have said I have heard with great attention and, considering all of it, have come to the conclusion that the ācāryas [teachers] who engaged me in fruitive activity did not know this confidential knowledge. If they were aware of it, why did they not explain it to me?

57 My dear brāhmaṇa, there are contradictions between your instructions and those of my spiritual teachers who engaged me in fruitive activities. I now can understand the distinction between devotional service, knowledge and renunciation. I had some doubts about them, but you have now very kindly dissipated all these doubts. I can now understand how even the great sages are bewildered by the real purpose of life. Of course, there is no question of sense gratification.

58 The results of whatever a living entity does in this life are enjoyed in the next life.

59 The expert knowers of the Vedic conclusions say that one enjoys or suffers the results of his past activities. But practically it is seen that the body that performed the work in the last birth is already lost. So how is it possible to enjoy or suffer the reactions of that work in a different body?

60 The great sage Nārada continued: The living entity acts in a gross body in this life. This body is forced to act by the subtle body, composed of mind, intelligence and ego. After the gross body is lost, the subtle body is still there to enjoy or suffer. Thus there is no change.

61 The living entity, while dreaming, gives up the actual living body. Through the activities of his mind and intelligence, he acts in another body, either as a god or a dog. After giving up this gross body, the living entity enters either an animal body or a demigod's body on this planet or on another planet. He thus enjoys the results of the actions of his past life.

62 The living entity labors under the bodily conception of "I am this, I am that. My duty is this, and therefore I shall do it." These are all mental impressions, and all these activities are temporary; nonetheless, by the grace of the Supreme Personality of Godhead, the living entity gets a chance to execute all his mental concoctions. Thus he gets another body.

63 One can understand the mental or conscious position of a living entity by the activities of two kinds of senses the knowledge-acquiring senses and the executive senses. Similarly, by the mental condition or consciousness of a person, one can understand his position in the previous life.

64 Sometimes we suddenly experience something that was never experienced in the present body by sight or hearing. Sometimes we see such things suddenly in dreams.

65 Therefore, my dear King, the living entity, who has a subtle mental covering, develops all kinds of thoughts and images because of his previous body. Take this from me as certain. There is no possibility of concocting anything mentally without having perceived it in the previous body.

66 O King, all good fortune unto you! The mind is the cause of the living entity's attaining a certain type of body in accordance with his association with material nature. According to one's mental composition, one can understand what the living entity was in his past life as well as what kind of body he will have in the future. Thus the mind indicates the past and future bodies.

67 Sometimes in a dream we see something never experienced or heard of in this life, but all these incidents have been experienced at different times, in different places and in different conditions.

68 The mind of the living entity continues to exist in various gross bodies, and according to one's desires for sense gratification, the mind records different thoughts. In the mind these appear together in different combinations; therefore these images sometimes appear as things never seen or never heard before.

69 Kṛṣṇa consciousness means constantly associating with the Supreme Personality of Godhead in such a mental state that the devotee can observe the cosmic manifestation exactly as the Supreme Personality of Godhead does. Such observation is not always possible, but it becomes manifest exactly like the dark planet known as Rāhu, which is observed in the presence of the full moon.

70 As long as there exists the subtle material body composed of intelligence, mind, senses, sense objects, and the reactions of the material qualities, the consciousness of false

identification and its relative objective, the gross body, exist as well.

71 When the living entity is in deep sleep, when he faints, when there is some great shock on account of severe loss, at the time of death, or when the body temperature is very high, the movement of the life air is arrested. At that time the living entity loses knowledge of identifying the body with the self.

72 When one is a youth, all the ten senses and the mind are completely visible. However, in the mother's womb or in the boyhood state, the sense organs and the mind remain covered, just as the full moon is covered by the darkness of the dark-moon night.

73 When the living entity dreams, the sense objects are not actually present. However, because one has associated with the sense objects, they become manifest. Similarly, the living entity with undeveloped senses does not cease to exist materially, even though he may not be exactly in contact with the sense objects.

74 The five sense objects, the five sense organs, the five knowledge-acquiring senses and the mind are the sixteen material expansions. These combine with the living entity and are influenced by the three modes of material nature. Thus the existence of the conditioned soul is understood.

75 By virtue of the processes of the subtle body, the living entity develops and gives up gross bodies. This is known as the transmigration of the soul. Thus the soul becomes subjected to different types of so-called enjoyment, lamentation, fear, happiness and unhappiness.

76-77 The caterpillar transports itself from one leaf to another by capturing one leaf before giving up the other. Similarly, according to his previous work, the living entity must capture another body before giving up the one he has. This is because the mind is the reservoir of all kinds of desires.

78 As long as we desire to enjoy sense gratification, we create material activities. When the living entity acts in the material field, he enjoys the senses, and while enjoying the senses, he creates another series of material activities. In this way the living entity becomes entrapped as a conditioned soul.

79 You should always know that this cosmic manifestation is created, maintained and annihilated by the will of the Supreme Personality of Godhead. Consequently, everything within this cosmic manifestation is under the control of the Lord. To be enlightened by this perfect knowledge, one should always engage himself in the devotional service of the Lord.

80 The great sage Maitreya continued: The supreme devotee, the great saint Nārada, thus explained to King Prācīnabarhi the constitutional position of the Supreme Personality of Godhead and the living entity. After giving an invitation to the King, Nārada Muni left to return to Siddhaloka.

81 In the presence of his ministers, the saintly King Prācīnabarhi left orders for his sons to protect the citizens. He then left home and went off to undergo austerities in a holy place known as Kapilāśrama.

82 Having undergone austerities and penances at Kapilāśrama, King Prācīnabarhi attained full liberation from all material designations. He constantly engaged in the transcendental loving service of the Lord and attained a spiritual position qualitatively equal to that of the Supreme Personality of Godhead.

83 My dear Vidura, one who hears this narration concerning the understanding of the living

entity's spiritual existence, as described by the great sage Nārada, or who relates it to others, will be liberated from the bodily conception of life.

84 This narration spoken by the great sage Nārada is full of the transcendental fame of the Supreme Personality of Godhead. Consequently this narration, when described, certainly sanctifies this material world. It purifies the heart of the living entity and helps him attain his spiritual identity. One who relates this transcendental narration will be liberated from all material bondage and will no longer have to wander within this material world.

85 The allegory of King Puraṣjana, described herein according to authority, was heard by me from my spiritual master, and it is full of spiritual knowledge. If one can understand the purpose of this allegory, he will certainly be relieved from the bodily conception and will clearly understand life after death. Although one may not understand what transmigration of the soul actually is, one can fully understand it by studying this narration.

Texts 29.1a-2a A desire to maintain body, wife and children is also observed in animal society. The animals have full intelligence to manage such affairs. If a human being is simply advanced in this respect, what is the difference between him and an animal? One should be very careful to understand that this human life is attained after many, many births in the evolutionary process. A learned man who gives up the bodily conception of life, both gross and subtle, will, by the enlightenment of spiritual knowledge, become a prominent individual spirit soul, as the Supreme Lord is also.

Text 29.1b If a living entity is developed in Kṛṣṇa consciousness and is merciful to others, and if his spiritual knowledge of self-realization is perfect, he will immediately attain liberation from the bondage of material existence.

Text 29.2b Everything happening within time, which consists of past, present and future, is merely a dream. That is the secret understanding in all Vedic literature.

## SB 4.30: The Activities of the Pracetās

1 Vidura inquired from Maitreya: O brāhmaṇa, you formerly spoke about the sons of Prācīnabarhi and informed me that they satisfied the Supreme Personality of Godhead by chanting a song composed by LordŚiva. What did they achieve in this way?

2 My dear Bārhaspatya, what did the sons of King Barhiṣat, known as the Pracetās, obtain after meeting Lord Śiva, who is very dear to the Supreme Personality of Godhead, the bestower of liberation? Certainly they were transferred to the spiritual world, but apart from that, what did they obtain within this material world, either in this life or in other lives?

3 The great sage Maitreya said: The sons of King Prācīnabarhi, known as the Pracetās, underwent severe austerities within the seawater to carry out the order of their father. By chanting and repeating the mantras given by Lord Śiva, they were able to satisfy Lord Viṣṇu, the Supreme Personality of Godhead.

4 At the end of ten thousand years of severe austerities performed by the Pracetās, the Supreme Personality of Godhead, to reward their austerities, appeared before them in His very pleasing form. This appealed to the Pracetās and satisfied the labor of their austerities.

5 The Personality of Godhead, appearing on the shoulder of Garuḍa, seemed like a cloud resting on the summit of the mountain known as Meru. The transcendental body of the Personality of Godhead was covered by attractive yellow garments, and His neck was decorated with the jewel known as Kaustubha-maṇi. The bodily effulgence of the Lord

dissipated all the darkness of the universe.

6 The Lord's face was very beautiful, and His head was decorated with a shining helmet and golden ornaments. The helmet was dazzling and was very beautifully situated on His head. The Lord had eight arms, which each held a particular weapon. The Lord was surrounded by demigods, great sages and other associates. These were all engaged in His service. Garuḍa, the carrier of the Lord, glorified the Lord with Vedic hymns by flapping his wings. Garuḍa appeared to be an inhabitant of the planet known as Kinnaraloka.

7 Around the neck of the Personality of Godhead hung a flower garland that reached to His knees. His eight stout and elongated arms were decorated with that garland, which challenged the beauty of the goddess of fortune. With a merciful glance and a voice like thunder, the Lord addressed the sons of King Prācīnabarhiṣat, who were very much surrendered unto Him.

8 The Supreme Personality of Godhead said: My dear sons of the King, I am very much pleased by the friendly relationships among you. All of you are engaged in one occupation devotional service. I am so pleased with your mutual friendship that I wish you all good fortune. Now you may ask a benediction of Me.

9 The Lord continued: Those who remember you every evening of every day will become friendly with their brothers and with all other living entities.

10 Those who will offer Me the prayers composed by Lord Śiva, both in the morning and in the evening, will be given benedictions by Me. In this way they can both fulfill their desires and attain good intelligence.

11 Because you have with pleasure accepted within your hearts the orders of your father and have executed those orders very faithfully, your attractive qualities will be celebrated all over the world.

12 You will have a nice son, who will be in no way inferior to Lord Brahmā. Consequently, he will be very famous all over the universe, and the sons and grandsons generated by him will fill the three worlds.

13 O sons of King Prācīnabarhiṣat, the heavenly society girl named Pramlocā kept the lotus-eyed daughter of Kaṇḍu in the care of the forest trees. Then she went back to the heavenly planet. This daughter was born by the coupling of the Apsarā named Pramlocā with the sage Kaṇḍu.

14 Thereafter the child, who was left to the care of the trees, began to cry in hunger. At that time the king of the forest, namely the king of the moon planet, out of compassion placed his finger, which poured forth nectar, within the child's mouth. Thus the child was raised by the mercy of the king of the moon.

15 Since all of you are very much obedient to My orders, I ask you to immediately marry that girl, who is so well qualified with beauty and good qualities. According to the order of your father, create progeny through her.

16 You brothers are all of the same nature, being My devotees and obedient sons of your father. Similarly, that girl is also of the same type and is dedicated to all of you. Thus both the girl and you, the sons of Prācīnabarhiṣat, are on the same platform, being united on a common principle.

17 The Lord then blessed all the Pracetās, saying: My dear princes, by My mercy you can enjoy

all the facilities of this world as well as the heavenly world. Indeed, you can enjoy all of them without hindrance and with full strength for one million celestial years.

18 Thereafter you will develop unadulterated devotional service unto Me and be freed from all material contamination. At that time, being completely unattached to material enjoyment in the so-called heavenly planets as well as in hellish planets, you will return home, back to Godhead.

19 Those who are engaged in auspicious activities in devotional service certainly understand that the ultimate enjoyer or beneficiary of all activities is the Supreme Personality of Godhead. Thus when one acts, he offers the results to the Supreme Personality of Godhead and passes life always engaged in the topics of the Lord. Even though such a person may be participating in family life, he is not affected by the results of his actions.

20 Always engaging in the activities of devotional service, devotees feel ever-increasingly fresh and new in all their activities. The all-knower, the Supersoul within the heart of the devotee, makes everything increasingly fresh. This is known as the Brahman position by the advocates of the Absolute Truth. In such a liberated stage [brahma-bhūta], one is never bewildered. Nor does one lament or become unnecessarily jubilant. This is due to the brahma-bhūta situation.

21 The great sage Maitreya said: After the Personality of Godhead spoke thus, the Pracetās began to offer Him prayers. The Lord is the bestower of all success in life and is the supreme benefactor. He is also the supreme friend who takes away all miserable conditions experienced by a devotee. In a faltering voice, due to ecstasy, the Pracetās began to offer prayers. They were purified by the presence of the Lord, who was before them face to face.

22 The Pracetās spoke as follows: Dear Lord, You relieve all kinds of material distress. Your magnanimous transcendental qualities and holy name are all-auspicious. This conclusion is already settled. You can go faster than the speed of mind and words. You cannot be perceived by material senses. We therefore offer You respectful obeisances again and again.

23 Dear Lord, we beg to offer our obeisances unto You. When the mind is fixed upon You, the world of duality, although a place for material enjoyment, appears meaningless. Your transcendental form is full of transcendental bliss. We therefore offer our respects unto You. Your appearances as Lord Brahmā, Lord Viṣṇu and Lord Śiva are meant for the purpose of creating, maintaining and annihilating this cosmic manifestation.

24 Dear Lord, we offer our respectful obeisances unto You because Your existence is completely independent of all material influences. Your Lordship always takes away the devotee's miserable conditions, for Your brain plans how to do so. You live everywhere as Paramātmā; therefore You are known as Vāsudeva. You also accept Vasudeva as Your father, and You are celebrated by the name Kṛṣṇa. You are so kind that You always increase the influence of all kinds of devotees.

25 Dear Lord, we offer our respectful obeisances unto You because from Your abdomen sprouts the lotus flower, the origin of all living entities. You are always decorated with a lotus garland, and Your feet resemble the lotus flower with all its fragrance. Your eyes are also like the petals of a lotus flower. Therefore we always offer our respectful obeisances unto You.

26 Dear Lord, the garment You have put on is yellowish in color, like the saffron of a lotus flower, but it is not made of anything material. Since You live in everyone's heart, You are the direct witness of all the activities of all living entities. We offer our respectful obeisances unto You again and again.

27 Dear Lord, we conditioned souls are always covered by ignorance in the bodily conception of life. We therefore always prefer the miserable conditions of material existence. To deliver us from these miserable conditions, You have advented Yourself in this transcendental form. This is evidence of Your unlimited causeless mercy upon those of us who are suffering in this way. Then what to speak of the devotees to whom You are always so favorably disposed?

28 Dear Lord, You are the killer of all inauspicious things. You are compassionate upon Your poor devotees through the expansion of Your arcā-vigraha. You should certainly think of us as Your eternal servants.

29 When the Lord, out of His natural compassion, thinks of His devotee, by that process only are all desires of the neophyte devotee fulfilled. The Lord is situated in every living entity's heart, although the living entity may be very insignificant. The Lord knows everything about the living entity, including all his desires. Although we are very insignificant, why should the Lord not know our desires?

30 O Lord of the universe, You are the actual teacher of the science of devotional service. We are satisfied that Your Lordship is the ultimate goal of our life, and we pray that You will be satisfied with us. That is our benediction. We do not desire anything other than Your full satisfaction.

31 Dear Lord, we shall therefore pray for Your benediction because You are the Supreme, beyond all transcendence, and because there is no end to Your opulences. Consequently, You are celebrated by the name Ananta.

32 Dear Lord, when the bee approaches the celestial tree called the pārijāta, it certainly does not leave the tree, because there is no need for such action. Similarly, when we have approached Your lotus feet and taken shelter of them, what further benediction may we ask of You?

33 Dear Lord, as long as we have to remain within this material world due to our material contamination and wander from one type of body to another and from one planet to another, we pray that we may associate with those who are engaged in discussing Your pastimes. We pray for this benediction life after life, in different bodily forms and on different planets.

34 Even a moment's association with a pure devotee cannot be compared to being transferred to heavenly planets or even merging into the Brahman effulgence in complete liberation. For living entities who are destined to give up the body and die, association with pure devotees is the highest benediction.

35 Whenever pure topics of the transcendental world are discussed, the members of the audience forget all kinds of material hankerings, at least for the time being. Not only that, but they are no longer envious of one another, nor do they suffer from anxiety or fear.

36 The Supreme Lord, Nārāyaṇa, is present among devotees who are engaged in hearing and chanting the holy name of the Supreme Personality of Godhead. Lord Nārāyaṇa is the ultimate goal of sannyāsīs, those in the renounced order of life, and Nārāyaṇa is worshiped through this saṅkīrtana movement by those who are liberated from material contamination. Indeed, they recite the holy name again and again.

37 Dear Lord, Your personal associates, devotees, wander all over the world to purify even the holy places of pilgrimage. Is not such activity pleasing to those who are actually afraid of material existence?

38 Dear Lord, by virtue of a moment's association with Lord Śiva, who is very dear to You and who is Your most intimate friend, we were fortunate to attain You. You are the most expert physician, capable of treating the incurable disease of material existence. On account of our great fortune, we have been able to take shelter at Your lotus feet.

39-40 Dear Lord, we have studied the Vedas, accepted a spiritual master and offered respect to brāhmaṇas, advanced devotees and aged personalities who are spiritually very advanced. We have offered our respects to them, and we have not been envious of any brother, friends or anyone else. We have also undergone severe austerities within the water and have not taken food for a long time. All these spiritual assets of ours are simply offered for Your satisfaction. We pray for this benediction only, and nothing more.

41 Dear Lord, even great yogīs and mystics who are very much advanced by virtue of austerities and knowledge and who have completely situated themselves in pure existence, as well as great personalities like Manu, Lord Brahmā and Lord Śiva, cannot fully understand Your glories and potencies. Nonetheless they have offered their prayers according to their own capacities. In the same way, we, although much lower than these personalities, also offer our prayers according to our own capability.

42 Dear Lord, You have no enemies or friends. Therefore You are equal to everyone. You cannot be contaminated by sinful activities, and Your transcendental form is always beyond the material creation. You are the Supreme Personality of Godhead because You remain everywhere within all existence. You are consequently known as Vāsudeva. We offer You our respectful obeisances.

43 The great sage Maitreya continued: My dear Vidura, the Supreme Personality of Godhead, who is the protector of surrendered souls, being thus addressed by the Pracetās and worshiped by them, replied, "May whatever you have prayed for be fulfilled." After saying this, the Supreme Personality of Godhead, whose prowess is never defeated, left. The Pracetās were unwilling to be separated from Him because they had not seen Him to their full satisfaction.

44 Thereafter all the Pracetās emerged from the waters of the sea. They then saw that all the trees on land had grown very tall, as if to obstruct the path to the heavenly planets. These trees had covered the entire surface of the world. At this time the Pracetās became very angry.

45 My dear King, at the time of devastation, Lord Śiva emits fire and air from his mouth out of anger. To make the surface of the earth completely treeless, the Pracetās also emitted fire and air from their mouths.

46 After seeing that all the trees on the surface of the earth were being turned to ashes, Lord Brahmā immediately came to the sons of King Barhiṣmān and pacified them with words of logic.

47 The remaining trees, being very much afraid of the Pracetās, immediately delivered their daughter at the advice of Lord Brahmā.

48 Following the order of Lord Brahmā, all the Pracetās accepted the girl as their wife. From the womb of this girl, the son of Lord Brahmā named Dakṣa took birth. Dakṣa had to take birth from the womb of Māriṣā due to his disobeying and disrespecting Lord Mahādeva [Śiva]. Consequently he had to give up his body twice.

49 His previous body had been destroyed, but he, the same Dakṣa, inspired by the supreme will, created all the desired living entities in the Cākṣuṣa manvantara.

50-51 After being born, Dakṣa, by the superexcellence of his bodily luster, covered all others' bodily opulence. Because he was very expert in performing fruitive activity, he was called by the name Dakṣa, meaning "the very expert." Lord Brahmā therefore engaged Dakṣa in the work of generating living entities and maintaining them. In due course of time, Dakṣa also engaged other Prajāpatis [progenitors] in the process of generation and maintenance.

**SB 4.31: Nārada Instructs the Pracetās**

1 The great saint Maitreya continued: After that, the Pracetās lived at home for thousands of years and developed perfect knowledge in spiritual consciousness. At last they remembered the blessings of the Supreme Personality of Godhead and left home, putting their wife in charge of a perfect son.

2 The Pracetās went to the seashore in the west where the great liberated sage Jājali was residing. After perfecting the spiritual knowledge by which one becomes equal toward all living entities, the Pracetās became perfect in Kṛṣṇa consciousness.

3 After practicing the yogāsana for mystic yoga, the Pracetās managed to control their life air, mind, words and external vision. Thus by the prāṇāyāma process they were completely relieved of material attachment. By remaining perpendicular, they could concentrate their minds on the uppermost Brahman. While they were practicing this prāṇāyāma, the great sage Nārada, who is worshiped both by demons and by demigods, came to see them.

4 As soon as the Pracetās saw that the great sage Nārada had appeared, they immediately got up even from their āsanas. As required, they immediately offered obeisances and worshiped him, and when they saw that Nārada Muni was properly seated, they began to ask him questions.

5 All the Pracetās began to address the great sage Nārada: O great sage, O brāhmaṇa, we hope you met with no disturbances while coming here. It is due to our great fortune that we are now able to see you. By the traveling of the sun, people are relieved from the fear of the darkness of night a fear brought about by thieves and rogues. Similarly, your traveling is like the sun's, for you drive away all kinds of fear.

6 O master, may we inform you that because of our being overly attached to family affairs, we almost forgot the instructions we received from Lord Śiva and Lord Viṣṇu.

7 Dear master, kindly enlighten us in transcendental knowledge, which may act as a torchlight by which we may cross the dark nescience of material existence.

8 The great sage Maitreya continued: My dear Vidura, being thus petitioned by the Pracetās, the supreme devotee Nārada, who is always absorbed in thoughts of the Supreme Personality of Godhead, began to reply.

9 The great sage Nārada said: When a living entity is born to engage in the devotional service of the Supreme Personality of Godhead, who is the supreme controller, his birth, all his fruitive activities, his life span, his mind and his words are all factually perfect.

10 A civilized human being has three kinds of births. The first birth is by a pure father and mother, and this birth is called birth by semen. The next birth takes place when one is initiated by the spiritual master, and this birth is called sāvitra. The third birth, called yājṣika, takes place when one is given the opportunity to worship Lord Viṣṇu. Despite the opportunities for attaining such births, even if one gets the life span of a demigod, if one does not actually engage in the service of the Lord, everything is useless. Similarly, one's activities may be

mundane or spiritual, but they are useless if they are not meant for satisfying the Lord.

11 Without devotional service, what is the meaning of severe austerities, the process of hearing, the power of speech, the power of mental speculation, elevated intelligence, strength, and the power of the senses?

12 Transcendental practices that do not ultimately help one realize the Supreme Personality of Godhead are useless, be they mystic yoga practices, the analytical study of matter, severe austerity, the acceptance of sannyāsa, or the study of Vedic literature. All these may be very important aspects of spiritual advancement, but unless one understands the Supreme Personality of Godhead, Hari, all these processes are useless.

13 Factually the Supreme Personality of Godhead is the original source of all self-realization. Consequently, the goal of all auspicious activities karma, Jnana, yoga and bhakti is the Supreme Personality of Godhead.

14 As pouring water on the root of a tree energizes the trunk, branches, twigs and everything else, and as supplying food to the stomach enlivens the senses and limbs of the body, simply worshiping the Supreme Personality of Godhead through devotional service automatically satisfies the demigods, who are parts of that Supreme Personality.

15 During the rainy season, water is generated from the sun, and in due course of time, during the summer season, the very same water is again absorbed by the sun. Similarly, all living entities, moving and inert, are generated from the earth, and again, after some time, they all return to the earth as dust. Similarly, everything emanates from the Supreme Personality of Godhead, and in due course of time everything enters into Him again.

16 Just as the sunshine is nondifferent from the sun, the cosmic manifestation is also nondifferent from the Supreme Personality of Godhead. The Supreme Personality is therefore all-pervasive within this material creation. When the senses are active, they appear to be part and parcel of the body, but when the body is asleep, their activities are unmanifest. Similarly, the whole cosmic creation appears different and yet nondifferent from the Supreme Person.

17 My dear Kings, sometimes in the sky there are clouds, sometimes there is darkness, and sometimes there is illumination. The appearance of all these takes place consecutively. Similarly, in the Supreme Absolute, the modes of passion, darkness and goodness appear as consecutive energies. Sometimes they appear, and sometimes they disappear.

18 Because the Supreme Lord is the cause of all causes, He is the Supersoul of all individual living entities, and He exists as both the remote and immediate cause. Since He is aloof from the material emanations, He is free from their interactions and is Lord of material nature. You should therefore engage in His devotional service, thinking yourself qualitatively one with Him.

19 By showing mercy to all living entities, being satisfied somehow or other, and restricting the senses from sense enjoyment, one can very quickly satisfy the Supreme Personality of Godhead, Janārdana.

20 Being completely cleansed of all material desires, the devotees are freed from all mental contamination. Thus they can always think of the Lord constantly and address Him very feelingly. The Supreme Personality of Godhead, knowing Himself to be controlled by His devotees, does not leave them for a second, just as the sky overhead never becomes invisible.

21 The Supreme Personality of Godhead becomes very dear to those devotees who have no material possessions but are fully happy in possessing the devotional service of the Lord.

Indeed, the Lord relishes the devotional activities of such devotees. Those who are puffed up with material education, wealth, aristocracy and fruitive activity are very proud of possessing material things, and they often deride the devotees. Even if such people offer the Lord worship, the Lord never accepts them.

22 Although the Supreme Personality of Godhead is self-sufficient, He becomes dependent on His devotees. He does not care for the goddess of fortune, nor for the kings and demigods who are after the favors of the goddess of fortune. Where is that person who is actually grateful and will not worship the Personality of Godhead?

23 The great sage Maitreya continued: My dear King Vidura, Śrī Nārada Muni, the son of Lord Brahmā, thus described all these relationships with the Supreme Personality of Godhead to the Pracetās. Afterward, he returned to Brahmaloka.

24 Hearing from Nārada's mouth the glories of the Lord, which vanquish all the ill fortune of the world, the Pracetās also became attached to the Supreme Personality of Godhead. Meditating on His lotus feet, they advanced to the ultimate destination.

25 My dear Vidura, I have told you everything you wanted to know about the conversation between Nārada and the Pracetās, the conversation describing the glories of the Lord. I have related this as far as possible.

26Śukadeva Gosvāmī continued: O best of kings [King Parīkṣit], I have now finished telling about the descendants of the first son of Svāyambhuva Manu, Uttānapāda. I shall now try to relate the activities of the descendants of Priyavrata, the second son of Svāyambhuva Manu. Please hear them attentively.

27 Although Mahārāja Priyavrata received instructions from the great sage Nārada, he still engaged in ruling the earth. After fully enjoying material possessions, he divided his property among his sons. He then attained a position by which he could return home, back to Godhead.

28 My dear King, in this way, after hearing the transcendental messages of the Supreme Personality of Godhead and His devotees from the great sage Maitreya, Vidura was overwhelmed with ecstasy. With tears in his eyes, he immediately fell down at the lotus feet of his guru, his spiritual master. He then fixed the Supreme Personality of Godhead within the core of his heart.

29Śrī Vidura said: O great mystic, O greatest of all devotees, by your causeless mercy I have been shown the path of liberation from this world of darkness. By following this path, a person liberated from the material world can return home, back to Godhead.

30Śukadeva Gosvāmī continued: Vidura thus offered obeisances unto the great sage Maitreya and, taking his permission, started for the city of Hastināpura to see his own kinsmen, although he had no material desires.

31 O King, those who hear these topics about kings who are completely surrendered to the Supreme Personality of Godhead obtain without difficulty a long life, wealth, good reputation, good fortune and, ultimately, the opportunity to return home, back to Godhead.

## Canto 5: The Creative Impetus

### SB 5.1: The Activities of Mahārāja Priyavrata

This chapter describes how King Priyavrata enjoyed royal opulence and majesty and then returned to full knowledge. King Priyavrata was detached from worldly opulence, and then he

became attached to his kingdom, but finally he again became detached from material enjoyment and thus achieved liberation. When King Parīkṣit heard about this, he was struck with wonder, but he was somewhat bewildered as to how a devotee with no attachment for material enjoyment could later become attached to it. Thus in astonishment he questioned Śukadeva Gosvāmī about this.

In response to the King's inquiries, Śukadeva Gosvāmī said that devotional service, being transcendental, cannot be deviated by any material influences. Priyavrata had received transcendental knowledge from the instructions of Nārada, and therefore he did not want to enter a materialistic life of enjoyment in a kingdom. He accepted the kingdom, however, at the request of such superior demigods as Lord Brahmā and Lord Indra, the King of heaven.

Everything is under the control of the Supreme Personality of Godhead, the supreme controller, and everyone must work accordingly. Just as a bull is controlled by a rope tied to its nose, so all conditioned souls are forced to work under the spells of the modes of nature. A civilized man, therefore, works according to the institution of *varṇa* and *āśrama*. Even in materialistic life, however, no one is free to act. Everyone is compelled to accept a certain type of body offered by the Supreme Lord and thus be allotted different grades of happiness and distress. Therefore even if one artificially leaves home and goes to the forest, he again becomes attached to materialistic life. Family life is compared to a fortress for practicing sense control. When the senses are controlled, one may live either at home or in the forest; there is no difference.

When Mahārāja Priyavrata, following the instruction of Lord Brahmā, accepted the royal throne, his father, Manu, left home for the forest. Mahārāja Priyavrata then married Barhiṣmatī, the daughter of Viśvakarmā. In the womb of Barhiṣmatī he begot ten sons, named Āgnīdhra, Idhmajihva, Yajṣabāhu, Mahāvīra, Hiraṇyaretā, Ghṛtapṛṣṭha, Savana, Medhātithi, Vītihotra and Kavi. He also begot one daughter, whose name was Ūrjasvatī. Mahārāja Priyavrata lived with his wife and family for many thousands of years. The impressions from the rims of Mahārāja Priyavrata's chariot wheels created seven oceans and seven islands. Of the ten sons of Priyavrata, three sons named Kavi, Mahāvīra and Savana accepted *sannyāsa,* the fourth order of life, and the remaining seven sons became the rulers of the seven islands. Mahārāja Priyavrata also had a second wife, in whom he begot three sons named Uttama, Raivata and Tāmasa. All of them were elevated to the post of Manu. Śukadeva Gosvāmī thus described how Mahārāja Priyavrata achieved liberation.

1King Parīkṣit inquired from Śukadeva Gosvāmī: O great sage, why did King Priyavrata, who was a great, self-realized devotee of the Lord, remain in household life, which is the root cause of the bondage of karma [fruitive activities] and which defeats the mission of human life?

2Devotees are certainly liberated persons. Therefore, O greatest of the brāhmaṇas, they cannot possibly be absorbed in family affairs.

3Elevated mahātmās who have taken shelter of the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead are fully satiated by the shade of those lotus feet. Their consciousness cannot possibly become attached to family members.

4The King continued: O great brāhmaṇa, this is my great doubt. How was it possible for a person like King Priyavrata, who was so attached to wife, children and home, to achieve the topmost infallible perfection in Kṛṣṇa consciousness?

5ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: What you have said is correct. The glories of the Supreme Personality of Godhead, who is praised in eloquent, transcendental verses by such exalted

personalities as Brahmā, are very pleasing to great devotees and liberated persons. One who is attached to the nectarean honey of the Lord's lotus feet, and whose mind is always absorbed in His glories, may sometimes be checked by some impediment, but he still never gives up the exalted position he has acquired.

6Śukadeva Gosvāmī continued: My dear King, Prince Priyavrata was a great devotee because he sought the lotus feet of Nārada, his spiritual master, and thus achieved the highest perfection in transcendental knowledge. With advanced knowledge, he always engaged in discussing spiritual subjects and did not divert his attention to anything else. The Prince's father then asked him to take charge of ruling the world. He tried to convince Priyavrata that this was his duty as indicated in the revealed scriptures. Prince Priyavrata, however, was continuously practicing bhakti-yoga by constantly remembering the Supreme Personality of Godhead, thus engaging all his senses in the service of the Lord. Therefore, although the order of his father could not be rejected, the Prince did not welcome it. Thus he very conscientiously raised the question of whether he might be diverted from devotional service by accepting the responsibility of ruling over the world.

7ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: The first created being and most powerful demigod in this universe is Lord Brahmā, who is always responsible for developing universal affairs. Born directly from the Supreme Personality of Godhead, he dedicates his activities to the welfare of the entire universe, for he knows the purpose of the universal creation. This supremely powerful Lord Brahmā, accompanied by his associates and the personified Vedas, left his own abode in the highest planetary system and descended to the place of Prince Priyavrata's meditation.

8As Lord Brahmā descended on his carrier, the great swan, all the residents of the planets named Siddhaloka, Gandharvaloka, Sādhyaloka and Cāraṇaloka, as well as great sages and demigods flying in their different airplanes, assembled within the canopy of the sky to receive Lord Brahmā and worship him. As he received respect and adoration from the residents of the various planets, Lord Brahmā appeared just like the full moon surrounded by illuminating stars. Lord Brahmā's great swan then arrived at the border of Gandhamādana Hill and approached Prince Priyavrata, who was sitting there.

9Lord Brahmā, the father of Nārada Muni, is the supreme person within this universe. As soon as Nārada saw the great swan, he could understand that Lord Brahmā had arrived. Therefore he immediately stood up, along with Svāyambhuva Manu and his son Priyavrata, whom Nārada was instructing. Then they folded their hands and began to worship Lord Brahmā with great respect.

10My dear King Parīkṣit, because Lord Brahmā had finally descended from Satyaloka to Bhūloka, Nārada Muni, Prince Priyavrata and Svāyambhuva Manu came forward to offer him objects of worship and to praise him in highly qualified language, according to Vedic etiquette. At that time, Lord Brahmā, the original person of this universe, felt compassion for Priyavrata and, looking upon him with a smiling face, spoke to him as follows.

11Lord Brahmā, the supreme person within this universe, said: My dear Priyavrata, kindly hear attentively what I shall say to you. Do not be jealous of the Supreme Lord, who is beyond our experimental measurements. All of us, including Lord Śiva, your father and the great sage Mahārṣi Nārada, must carry out the order of the Supreme. We cannot deviate from His order.

12One cannot avoid the order of the Supreme Personality of Godhead, not by the strength of severe austerities, an exalted Vedic education, or the power of mystic yoga, physical prowess or intellectual activities. Nor can one use his power of religion, his material opulence or any

other means, either by himself or with the help of others, to defy the orders of the Supreme Lord. That is not possible for any living being, from Brahmā down to the ant.

13My dear Priyavrata, by the order of the Supreme Personality of Godhead, all living entities accept different types of bodies for birth and death, activity, lamentation, illusion, fear of future dangers, and happiness and distress.

14My dear boy, all of us are bound by the Vedic injunctions to the divisions of varṇāśrama according to our qualities and work. These divisions are difficult to avoid because they are scientifically arranged. We must therefore carry out our duties of varṇāśrama-dharma, like bulls obliged to move according to the direction of a driver pulling on ropes knotted to their noses.

15My dear Priyavrata, according to our association with different modes of material nature, the Supreme Personality of Godhead gives us our specific bodies and the happiness and distress we achieve. One must therefore remain situated as he is and be conducted by the Supreme Personality of Godhead, exactly as a blind man is led by a person who has eyes with which to see.

16Even if one is liberated, he nevertheless accepts the body he has received according to his past karma. Without misconceptions, however, he regards his enjoyment and suffering due to that karma the way an awakened person regards a dream he had while sleeping. He thus remains steadfast and never works to achieve another material body under the influence of the three modes of material nature.

17Even if he goes from forest to forest, one who is not self-controlled must always fear material bondage because he is living with six co-wivesthe mind and knowledge-acquiring senses. Even householder life, however, cannot harm a self-satisfied, learned man who has conquered his senses.

18One who is situated in household life and who systematically conquers his mind and five sense organs is like a king in his fortress who conquers his powerful enemies. After one has been trained in household life and his lusty desires have decreased, he can move anywhere without danger.

19Lord Brahmā continued: My dear Priyavrata, seek shelter inside the opening in the lotus of the feet of the Lord, whose navel is also like a lotus. Thus conquer the six sense organs [the mind and knowledge-acquiring senses]. Accept material enjoyment because the Lord, extraordinarily, has ordered you to do this. You will thus always be liberated from material association and be able to carry out the Lord's orders in your constitutional position.

20ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: After thus being fully instructed by Lord Brahmā, who is the spiritual master of the three worlds, Priyavrata, his own position being inferior, offered obeisances, accepted the order and carried it out with great respect.

21Lord Brahmā was then worshiped by Manu, who respectfully satisfied him as well as he could. Priyavrata and Nārada also looked upon Brahmā with no tinges of resentment. Having engaged Priyavrata in accepting his father's request, Lord Brahmā returned to his abode, Satyaloka, which is indescribable by the endeavor of mundane mind or words.

22Svāyambhuva Manu, with the assistance of Lord Brahmā, thus fulfilled his desires. With the permission of the great sage Nārada, he delivered to his son the governmental responsibility for maintaining and protecting all the planets of the universe. He thus achieved relief from the most dangerous, poisonous ocean of material desires.

23Following the order of the Supreme Personality of Godhead, Mahārāja Priyavrata fully engaged in worldly affairs, yet he always thought of the lotus feet of the Lord, which are the cause of liberation from all material attachment. Although Priyavrata Mahārāja was completely freed from all material contamination, he ruled the material world just to honor the orders of his superiors.

24Thereafter, Mahārāja Priyavrata married Barhiṣmatī, the daughter of the prajāpati named Viśvakarmā. In her he begot ten sons equal to him in beauty, character, magnanimity and other qualities. He also begot a daughter, the youngest of all, named Ūrjasvatī.

25The ten sons of Mahārāja Priyavrata were named Āgnīdhra, Idhmajihva, Yajṣabāhu, Mahāvīra, Hiraṇyaretā, Ghṛtapṛṣṭha, Savana, Medhātithi, Vītihotra and Kavi. These are also names of Agni, the fire-god.

26Three among these tennamely Kavi, Mahāvīra and Savanalived in complete celibacy. Thus trained in brahmacārī life from the beginning of childhood, they were very conversant with the highest perfection, known as the paramahaṁsa-āśrama.

27Thus situated in the renounced order from the beginning of their lives, all three of them completely controlled the activities of their senses and thus became great saints. They concentrated their minds always upon the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead, who is the resting place of the totality of living entities and who is therefore celebrated as Vāsudeva. Lord Vāsudeva is the only shelter of those who are actually afraid of material existence. By constantly thinking of His lotus feet, these three sons of Mahārāja Priyavrata became advanced in pure devotional service. By the prowess of their devotional service, they could directly perceive the Supreme Personality of Godhead, who is situated in everyone's heart as the Supersoul, and realize that there was qualitatively no difference between themselves and Him.

28In his other wife, Mahārāja Priyavrata begot three sons, named Uttama, Tāmasa and Raivata. All of them later took charge of manvantara millenniums.

29After Kavi, Mahāvīra and Savana were completely trained in the paramahaṁsa stage of life, Mahārāja Priyavrata ruled the universe for eleven arbudas of years. Whenever he was determined to fix his arrow upon his bowstring with his two powerful arms, all opponents of the regulative principles of religious life would flee from his presence in fear of the unparalleled prowess he displayed in ruling the universe. He greatly loved his wife Barhiṣmatī, and with the increase of days, their exchange of nuptial love also increased. By her feminine behavior as she dressed herself, walked, got up, smiled, laughed, and glanced about, Queen Barhiṣmatī increased his energy. Thus although he was a great soul, he appeared lost in the feminine conduct of his wife. He behaved with her just like an ordinary man, but actually he was a great soul.

30While so excellently ruling the universe, King Priyavrata once became dissatisfied with the circumambulation of the most powerful sun-god. Encircling Sumeru Hill on his chariot, the sun-god illuminates all the surrounding planetary systems. However, when the sun is on the northern side of the hill, the south receives less light, and when the sun is in the south, the north receives less. King Priyavrata disliked this situation and therefore decided to make daylight in the part of the universe where there was night. He followed the orbit of the sun-god on a brilliant chariot and thus fulfilled his desire. He could perform such wonderful activities because of the power he had achieved by worshiping the Supreme Personality of Godhead.

31When Priyavrata drove his chariot behind the sun, the rims of his chariot wheels created

impressions that later became seven oceans, dividing the planetary system known as Bhū-maṇḍala into seven islands.

32The names of the islands are Jambū, Plakṣa, Śālmali, Kuśa, Krauṣca, Śāka and Puṣkara. Each island is twice as large as the one preceding it, and each is surrounded by a liquid substance, beyond which is the next island.

33The seven oceans respectively contain salt water, sugarcane juice, liquor, clarified butter, milk, emulsified yogurt, and sweet drinking water. All the islands are completely surrounded by these oceans, and each ocean is equal in breadth to the island it surrounds. Mahārāja Priyavrata, the husband of Queen Barhiṣmatī, gave sovereignty over these islands to his respective sons, namely Āgnīdhra, Idhmajihva, Yajṣabāhu, Hiraṇyaretā, Ghṛtapṛṣṭha, Medhātithi and Vītihotra. Thus they all became kings by the order of their father.

34King Priyavrata then gave his daughter, Ūrjasvatī, in marriage to Śukrācārya, who begot in her a daughter named Devayānī.

35My dear King, a devotee who has taken shelter of the dust from the lotus feet of the Lord can transcend the influence of the six material wavesnamely hunger, thirst, lamentation, illusion, old age and deathand he can conquer the mind and five senses. However, this is not very wonderful for a pure devotee of the Lord because even a person beyond the jurisdiction of the four castesin other words, an untouchableis immediately relieved of bondage to material existence if he utters the holy name of the Lord even once.

36While enjoying his material opulences with full strength and influence, Mahārāja Priyavrata once began to consider that although he had fully surrendered to the great saint Nārada and was actually on the path of Kṛṣṇa consciousness, he had somehow become again entangled in material activities. Thus his mind now became restless, and he began to speak in a spirit of renunciation.

37The King thus began criticizing himself: Alas, how condemned I have become because of my sense gratification! I have now fallen into material enjoyment, which is exactly like a covered well. I have had enough! I am not going to enjoy any more. Just see how I have become like a dancing monkey in the hands of my wife. Because of this, I am condemned.

38By the grace of the Supreme Personality of Godhead, Mahārāja Priyavrata reawakened to his senses. He divided all his earthly possessions among his obedient sons. He gave up everything, including his wife, with whom he had enjoyed so much sense gratification, and his great and opulent kingdom, and he completely renounced all attachment. His heart, having been cleansed, became a place of pastimes for the Supreme Personality of Godhead. Thus he was able to return to the path of Kṛṣṇa consciousness, spiritual life, and resume the position he had attained by the grace of the great saint Nārada.

39There are many famous verses regarding Mahārāja Priyavrata's activities:

40"To stop the quarreling among different peoples, Mahārāja Priyavrata marked boundaries at rivers and at the edges of mountains and forests so that no one would trespass upon another's property."

41"As a great follower and devotee of the sage Nārada, Mahārāja Priyavrata considered hellish the opulences he had achieved by dint of fruitive activities and mystic power, whether in the lower or heavenly planetary systems or in human society."

**SB 5.2: The Activities of Mahārāja Āgnīdhra**

In this chapter, the character of Mahārāja Āgnīdhra is described. When Mahārāja Priyavrata went off for spiritual realization, his son Āgnīdhra became the ruler of Jambūdvīpa, in accordance with Mahārāja Priyavrata's instructions, and maintained its residents with the same affection a father feels for his sons. Once Mahārāja Āgnīdhra desired to have a son, and therefore he entered a cave of Mandara Mountain to practice austerity. Understanding his desire, Lord Brahmā sent a celestial girl named Pūrvacitti to Āgnīdhra's hermitage. After dressing herself very attractively, she presented herself before him with various feminine movements, and Āgnīdhra was naturally attracted to her. The girl's actions, expressions, smile, sweet words and moving eyes were fascinating to him. Āgnīdhra was expert in flattery. Thus he attracted the celestial girl, who was pleased to accept him as her husband because of his mellifluous words. She enjoyed royal happiness with Āgnīdhra for many years before returning to her abode in the heavenly planets. In her womb Āgnīdhra begot nine sonsNābhi, Kiṁpuruṣa, Harivarṣa, Ilāvṛta, Ramyaka, Hiraṇmaya, Kuru, Bhadrāśva and Ketumāla. He gave them nine islands with names corresponding to theirs. Āgnīdhra, however, his senses unsatisfied, was always thinking of his celestial wife, and therefore in his next life he was born in her celestial planet. After the death of Āgnīdhra, his nine sons married nine daughters of Meru named Merudevī, Pratirūpā, Ugradaṁṣṭrī, Latā, Ramyā, Śyāmā, Nārī, Bhadrā and Devavīti.

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: After his father, Mahārāja Priyavrata, departed to follow the path of spiritual life by undergoing austerities, King Āgnīdhra completely obeyed his order. Strictly observing the principles of religion, he gave full protection to the inhabitants of Jambūdvīpa as if they were his own begotten sons.

2Desiring to get a perfect son and become an inhabitant of Pitṛloka, Mahārāja Āgnīdhra once worshiped Lord Brahmā, the master of those in charge of material creation. He went to a valley of Mandara Hill, where the damsels of the heavenly planets come down to stroll. There he collected garden flowers and other necessary paraphernalia and then engaged in severe austerities and worship.

3Understanding King Āgnīdhra's desire, the first and most powerful created being of this universe, Lord Brahmā, selected the best of the dancing girls in his assembly, whose name was Pūrvacitti, and sent her to the King.

4The Apsarā sent by Lord Brahmā began strolling in a beautiful park near the place where the King was meditating and worshiping. The park was beautiful because of its dense green foliage and golden creepers. There were pairs of varied birds such as peacocks, and in a lake there were ducks and swans, all vibrating very sweet sounds. Thus the park was magnificently beautiful because of the foliage, the clear water, the lotus flowers and the sweet singing of various kinds of birds.

5As Pūrvacitti passed by on the road in a very beautiful style and mood of her own, the pleasing ornaments on her ankles tinkled with her every step. Although Prince Āgnīdhra was controlling his senses, practicing yoga with half-open eyes, he could see her with his lotuslike eyes, and when he heard the sweet tinkling of her bangles, he opened his eyes slightly more and could see that she was just nearby.

6Like a honeybee, the Apsarā smelled the beautiful and attractive flowers. She could attract the minds and vision of both humans and demigods by her playful movements, her shyness and humility, her glances, the very pleasing sounds that poured from her mouth as she spoke, and the motion of her limbs. By all these qualities, she opened for Cupid, who bears an arrow of flowers, a path of aural reception into the minds of men. When she spoke, nectar seemed to flow from her mouth. As she breathed, the bees, mad for the taste of her breath, tried to hover

about her beautiful lotuslike eyes. Disturbed by the bees, she tried to move hastily, but as she raised her feet to walk quickly, her hair, the belt on her hips, and her breasts, which were like water jugs, also moved in a way that made her extremely beautiful and attractive. Indeed, she seemed to be making a path for the entrance of Cupid, who is most powerful. Therefore the prince, completely subdued by seeing her, spoke to her as follows.

7The Prince mistakenly addressed the Apsarā: O best of saintly persons, who are you? Why are you on this hill, and what do you want to do? Are you one of the illusory potencies of the Supreme Personality of Godhead? You seem to be carrying two bows without strings. What is the reason you carry these bows? Is it for some purpose of your own or for the sake of a friend? Perhaps you carry them to kill the mad animals in this forest.

8Then Āgnīdhra observed the glancing eyes of Pūrvacitti and said: My dear friend, you have two very powerful arrows, namely your glancing eyes. Those arrows have feathers like the petals of a lotus flower. Although they have no shafts, they are very beautiful, and they have very sharp, piercing points. They appear very peaceful, and thus it seems that they will not be shot at anyone. You must be loitering in this forest to shoot those arrows at someone, but I cannot understand whom. My intelligence is dull, and I cannot combat you. Indeed, no one can equal you in prowess, and therefore I pray that your prowess will be for my good fortune.

9Seeing the bumblebees following Pūrvacitti, Mahārāja Āgnīdhra said: My dear Lord, the bumblebees surrounding your body are like disciples surrounding your worshipable self. They are incessantly chanting the mantras of the Sāma Veda and the Upaniṣads, thus offering prayers to you. Just as great sages resort to the branches of Vedic literatures, the bumblebees are enjoying the showers of flowers falling from your hair.

10O brāhmaṇa, I can simply hear the tinkling of your ankle bells. Within those bells, tittiri birds seem to be chirping among themselves. Although I do not see their forms, I can hear how they are chirping. When I look at your beautiful circular hips, I see they are the lovely color of kadamba flowers, and your waist is encircled by a belt of burning cinders. Indeed, you seem to have forgotten to dress yourself.

11Āgnīdhra then praised Pūrvacitti's raised breasts. He said: My dear brāhmaṇa your waist is very thin, yet with great difficulty you are carefully carrying two horns, to which my eyes have become attracted. What is filling those two beautiful horns? You seem to have spread fragrant red powder upon them, powder that is like the rising morning sun. O most fortunate one, I beg to inquire where you have gotten this fragrant powder that is perfuming my āśrama, my place of residence.

12O best friend, will you kindly show me the place where you reside? I cannot imagine how the residents of that place have gotten such wonderful bodily features as your raised breasts, which agitate the mind and eyes of a person like me who sees them. Judging by the sweet speech and kind smiles of those residents, I think that their mouths must contain nectar.

13My dear friend, what do you eat to maintain your body? Because you are chewing betel, a pleasing scent is emanating from your mouth. This proves that you always eat the remnants of food offered to Viṣṇu. Indeed, you must also be an expansion of Lord Viṣṇu's body. Your face is as beautiful as a pleasing lake. Your jeweled earrings resemble two brilliant sharks with unblinking eyes like those of Viṣṇu, and your own eyes resemble two restless fish. Simultaneously, therefore, two sharks and two restless fish are swimming in the lake of your face. Besides them, the white rows of your teeth seem like rows of very beautiful swans in the water, and your scattered hair resembles swarms of bumblebees following the beauty of your face.

14My mind is already restless, and by playing with a ball, moving it all about with your lotuslike palm, you are also agitating my eyes. Your curling black hair is now scattered, but you are not attentive to arranging it. Are you not going to arrange it? Like a man attached to women, the most cunning wind is trying to take off your lower garment. Are you not mindful of it?

15O best among those performing austerities, where did you get this wonderful beauty that dismantles the austerities performed by others? Where have you learned this art? What austerity have you undergone to achieve this beauty, my dear friend? I desire that you join me to perform austerity and penance, for it may be that the creator of the universe, Lord Brahmā, being pleased with me, has sent you to become my wife.

16Lord Brahmā, who is worshiped by the brāhmaṇas, has very mercifully given you to me, and that is why I have met you. I do not want to give up your company, for my mind and eyes are fixed upon you and cannot be drawn away. O woman with beautiful raised breasts, I am your follower. You may take me wherever you like, and your friends may also follow me.

17Śukadeva Gosvāmī continued: Mahārāja Āgnīdhra, whose intelligence was like that of a demigod, knew the art of flattering women to win them to his side. He therefore pleased that celestial girl with his lusty words and gained her favor.

18Attracted by the intelligence, learning, youth, beauty, behavior, opulence and magnanimity of Āgnīdhra, the King of Jambūdvīpa and master of all heroes, Pūrvacitti lived with him for many thousands of years and luxuriously enjoyed both worldly and heavenly happiness.

19In the womb of Pūrvacitti, Mahārāja Āgnīdhra, the best of kings, begot nine sons, named Nābhi, Kiṁpuruṣa, Harivarṣa, Ilāvṛta, Ramyaka, Hiraṇmaya, Kuru, Bhadrāśva and Ketumāla.

20Pūrvacitti gave birth to these nine sons, one each year, but after they grew up she left them at home and again approached Lord Brahmā to worship him.

21Because of drinking the breast milk of their mother, the nine sons of Āgnīdhra naturally had strong, well-built bodies. Their father gave them each a kingdom in a different part of Jambūdvīpa. The kingdoms were named according to the names of the sons. Thus the sons of Āgnīdhra ruled the kingdoms they received from their father.

22After Pūrvacitti's departure, King Āgnīdhra, his lusty desires not at all satisfied, always thought of her. Therefore, in accordance with the Vedic injunctions, the King, after his death, was promoted to the same planet as his celestial wife. That planet, which is called Pitṛloka, is where the pitās, the forefathers, live in great delight.

23After the departure of their father, the nine brothers married the nine daughters of Meru named Merudevī, Pratirūpā, Ugradaṁṣṭrī, Latā, Ramyā, Śyāmā, Nārī, Bhadrā and Devavīti.

### SB 5.3: Ṛṣabhadeva's Appearance in the Womb of Merudevī, the Wife of King Nābhi

In this chapter the spotless character of King Nābhi, the oldest son of Āgnīdhra, is described. Wanting to have sons, Mahārāja Nābhi underwent severe austerities and penances. He performed many sacrifices along with his wife and worshiped Lord Viṣṇu, master of all sacrifices. Being very kind to His devotees, the Supreme Personality of Godhead was very pleased with the austerities of Mahārāja Nābhi. He personally appeared before the King in His four-handed feature, and the priests who were performing the sacrifices, began to offer their prayers unto Him. They prayed for a son like the Lord, and Lord Viṣṇu agreed to take birth in the womb of Merudevī, the wife of King Nābhi, and incarnate as King Ṛṣabhadeva.

1Śukadeva Gosvāmī continued to speak: Mahārāja Nābhi, the son of Āgnīdhra, wished to have sons, and therefore he attentively began to offer prayers and worship the Supreme Personality of Godhead, Lord Viṣṇu, the master and enjoyer of all sacrifices. Mahārāja Nābhi's wife, Merudevī, who had not given birth to any children at that time, also worshiped Lord Viṣṇu along with her husband.

2In the performance of a sacrifice, there are seven transcendental means to obtain the mercy of the Supreme Personality of Godhead: (1) by sacrificing valuable things or eatables, (2) by acting in terms of place, (3) by acting in terms of time, (4) by offering hymns, (5) by going through the priest, (6) by offering gifts to the priests and (7) by observing the regulative principles. However, one cannot always obtain the Supreme Lord through this paraphernalia. Nonetheless, the Lord is affectionate to His devotee; therefore when Mahārāja Nābhi, who was a devotee, worshiped and offered prayers to the Lord with great faith and devotion and with a pure uncontaminated mind, superficially performing some yajṣa in the line of pravargya, the kind Supreme Personality of Godhead, due to His affection for His devotees, appeared before King Nābhi in His unconquerable and captivating form with four hands. In this way, to fulfill the desire of His devotee, the Supreme Personality of Godhead manifested Himself in His beautiful body before His devotee. This body pleases the mind and eyes of the devotees.

3Lord Viṣṇu appeared before King Nābhi with four arms. He was very bright, and He appeared to be the best of all personalities. Around the lower portion of His body, He wore a yellow silken garment. On His chest was the mark of Śrīvatsa, which always displays beauty. He carried a conchshell, lotus flower, disc and club, and He wore a garland of forest flowers and the Kaustubha gem. He was beautifully decorated with a helmet, earrings, bangles, belt, pearl necklace, armlets, ankle bells and other bodily ornaments bedecked with radiant jewels. Seeing the Lord present before them, King Nābhi and his priests and associates felt just like poor people who have suddenly attained great riches. They received the Lord and respectfully bent their heads and offered Him things in worship.

4-5The priests began to offer prayers to the Lord, saying: O most worshipable one, we are simply Your servants. Although You are full in Yourself, please, out of Your causeless mercy, accept a little service from us, Your eternal servants. We are not actually aware of Your transcendental form, but we can simply offer our respectful obeisances again and again, as instructed by the Vedic literatures and authorized ācāryas. Materialistic living entities are very much attracted to the modes of material nature, and therefore they are never perfect, but You are above the jurisdiction of all material conceptions. Your name, form and qualities are all transcendental and beyond the conception of experimental knowledge. Indeed, who can conceive of You? In the material world we can perceive only material names and qualities. We have no other power than to offer our respectful obeisances and prayers unto You, the transcendental person. The chanting of Your auspicious transcendental qualities will wipe out the sins of all mankind. That is the most auspicious activity for us, and we can thus partially understand Your supernatural position.

6O Supreme Lord, You are full in every respect. You are certainly very satisfied when Your devotees offer You prayers with faltering voices and in ecstasy bring You tulasī leaves, water, twigs bearing new leaves, and newly grown grass. This surely makes You satisfied.

7We have engaged in Your worship with many things and have offered sacrifices unto You, but we think that there is no need for so many arrangements to please Your Lordship.

8All of life's goals and opulences are directly, self-sufficiently, unceasingly and unlimitedly increasing in You at every moment. Indeed, You are unlimited enjoyment and blissful existence itself. As far as we are concerned, O Lord, we are always after material enjoyment.

You do not need all these sacrificial arrangements, but they are meant for us so that we may be benedicted by Your Lordship. All these sacrifices are performed for our fruitive results, and they are not actually needed by You.

9O Lord of lords, we are completely ignorant of the execution of dharma, artha, kāma and mokṣa, the process of liberation, because we do not actually know the goal of life. You have appeared personally before us like a person soliciting worship, but actually You are present here just so we can see You. You have come out of Your abundant and causeless mercy in order to serve our purpose, our interest, and give us the benefit of Your personal glory called apavarga, liberation. You have come, although You are not properly worshiped by us due to our ignorance.

10O most worshipable of all, You are the best of all benefactors, and Your appearance at saintly King Nābhi's sacrificial arena is meant for our benediction. Because You have been seen by us, You have bestowed upon us the most valuable benediction.

11Dear Lord, all the great sages who are thoughtful and saintly persons incessantly recount Your spiritual qualities. These sages have already burned up all the unlimited dirty things and, by the fire of knowledge, strengthened their detachment from the material world. Thus they have attained Your qualities and are self-satisfied. Yet even for those who feel spiritual bliss in chanting Your attributes, Your personal presence is very rare.

12Dear Lord, we may not be able to remember Your name, form and qualities due to stumbling, hunger, falling down, yawning or being in a miserable diseased condition at the time of death when there is a high fever. We therefore pray unto You, O Lord, for You are very affectionate to Your devotees. Please help us remember You and utter Your holy names, attributes and activities, which can dispel all the reactions of our sinful lives.

13Dear Lord, here is the great King Nābhi, whose ultimate goal in life is to have a son like You. Your Lordship, his position is like that of a person approaching a very rich man and begging for a little grain. Mahārāja Nābhi is so desirous of having a son that he is worshiping You for a son, although You can offer him any exalted position, including elevation to the heavenly planets or liberation back to Godhead.

14Dear Lord, unless one worships the lotus feet of great devotees, one will be conquered by the illusory energy, and his intelligence will be bewildered. Indeed, who has not been carried away by the waves of material enjoyment, which are like poison? Your illusory energy is unconquerable. No one can see the path of this material energy or tell how it is working.

15O Lord, You perform many wonderful activities. Our only aim was to acquire a son by performing this great sacrifice; therefore our intelligence is not very sharp. We are not experienced in ascertaining life's goal. By inviting You to this negligible sacrifice for some material motive, we have certainly committed a great offense at Your lotus feet. Therefore, O Lord of lords, please excuse our offense because of Your causeless mercy and equal mind.

16ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: The priests, who were even worshiped by King Nābhi, the Emperor of Bhārata-varṣa, offered prayers in prose [generally they were in poetry] and bowed down at the Lord's lotus feet. The Lord of lords, the ruler of the demigods, was very pleased with them, and He began to speak as follows.

17The Supreme Personality of Godhead replied: O great sages, I am certainly very pleased with your prayers. You are all truthful. You have prayed for the benediction of a son like Me for King Nābhi, but this is very difficult to obtain. Since I am the Supreme Person without a second and since no one is equal to Me, another personality like Me is not possible to find. In any

case, because you are all qualified brāhmaṇas, your vibrations should not prove untrue. I consider the brāhmaṇas who are well qualified with brahminical qualities to be as good as My own mouth.

18Since I cannot find anyone equal to Me, I shall personally expand Myself into a plenary portion and thus advent Myself in the womb of Merudevī, the wife of Mahārāja Nābhi, the son of Āgnīdhra.

19Śukadeva Gosvāmī continued: After saying this, the Lord disappeared. The wife of King Nābhi, Queen Merudevī, was sitting by the side of her husband, and consequently she could hear everything the Supreme Lord had spoken.

20O Viṣṇudatta, Parīkṣit Mahārāja, the Supreme Personality of Godhead was pleased by the great sages at that sacrifice. Consequently the Lord decided to personally exhibit the method of executing religious principles [as observed by brahmacārīs, sannyāsīs, vānaprasthas and gṛhasthas engaged in rituals] and also satisfy Mahārāja Nābhi's desire. Consequently He appeared as the son of Merudevī in His original spiritual form, which is above the modes of material nature.

### SB 5.4: The Characteristics of Ṛṣabhadeva, the Supreme Personality of Godhead

In this chapter, Ṛṣabhadeva, the son of Mahārāja Nābhi, begot a hundred sons, and during the reign of those sons the world was very happy in all respects. When Ṛṣabhadeva appeared as the son of Mahārāja Nābhi, He was appreciated by the people as the most exalted and beautiful personality of that age. His poise, influence, strength, enthusiasm, bodily luster and other transcendental qualities were beyond compare. The word *ṛṣabha* refers to the best, or the supreme. Due to the superexcellent attributes of the son of Mahārāja Nābhi, the King named his son Ṛṣabha, or "the best." His influence was incomparable. Although there was a scarcity of rain, Ṛṣabhadeva did not care for Indra, the King of heaven, who is in charge of supplying rain. Through His own potency, Ṛṣabhadeva sumptuously covered Ajanābha with ample rain. Upon receiving Ṛṣabhadeva, who is the Supreme Personality of Godhead, as his son, King Nābhi began to raise Him very carefully. After that, he entrusted the ruling power to Him and, retiring from family life, lived at Badarikāśrama completely engaged in the worship of Vāsudeva, the Supreme Lord. To follow social customs, Lord Ṛṣabhadeva for a while became a student in the *gurukula,* and after returning, He followed the orders of His *guru* and accepted a wife named Jayantī, who had been given to Him by the King of heaven, Indra. He begot a hundred sons in the womb of Jayantī. Of these hundred sons, the eldest was known as Bharata. Since the reign of Mahārāja Bharata, this planet has been called Bhārata-varṣa. Ṛṣabhadeva's other sons were headed by Kuśāvarta, Ilāvarta, Brahmāvarta, Malaya, Ketu, Bhadrasena, Indraspṛk, Vidarbha and Kīkaṭa. There were also other sons named Kavi, Havi, Antarikṣa, Prabuddha, Pippalāyana, Āvirhotra, Drumila, Camasa and Karabhājana. Instead of ruling the kingdom, these nine became mendicant preachers of Kṛṣṇa consciousness, following the religious precepts of the *Bhāgavatam*. Their characteristics and activities are described in the Eleventh Canto of *Śrīmad-Bhāgavatam* during the talks between Vasudeva and Nārada at Kurukṣetra. To teach the general populace, King Ṛṣabhadeva performed many sacrifices and taught His sons how to rule the citizens.

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: As soon as the Lord was born as the son of Mahārāja Nābhi, He manifested symptoms of the Supreme Lord, such as marks on the bottoms of His feet [the flag, thunderbolt, etc.]. This son was equal to everyone and very peaceful. He could control His senses and His mind, and, possessing all opulence, He did not hanker for material enjoyment. Endowed with all these attributes, the son of Mahārāja Nābhi became more powerful day after

day. Due to this, the citizens, learned brāhmaṇas, demigods and ministers wanted Ṛṣabhadeva to be appointed ruler of the earth.

2When the son of Mahārāja Nābhi became visible, He evinced all good qualities described by the great poetsnamely, a well-built body with all the symptoms of the Godhead, prowess, strength, beauty, name, fame, influence and enthusiasm. When the father, Mahārāja Nābhi, saw all these qualities, he thought his son to be the best of human beings or the supreme being. Therefore he gave Him the name Ṛṣabha.

3Indra, the King of heaven, who is very materially opulent, became envious of King Ṛṣabhadeva. Consequently he stopped pouring water on the planet known as Bhārata-varṣa. At that time the Supreme Lord, Ṛṣabhadeva, the master of all mystic power, understood King Indra's purpose and smiled a little. Then, by His own prowess, through yoga-māyā [His internal potency], He profusely poured water upon His own place, which was known as Ajanābha.

4Due to getting a perfect son according to his desire, King Nābhi was always overwhelmed with transcendental bliss and was very affectionate to his son. It was with ecstasy and a faltering voice that he addressed Him, "My dear son, my darling." This mentality was brought about by yoga-māyā, whereby he accepted the Supreme Lord, the supreme father, as his own son. Out of His supreme good will, the Lord became his son and dealt with everyone as if He were an ordinary human being. Thus King Nābhi began to raise his transcendental son with great affection, and he was overwhelmed with transcendental bliss, joy and devotion.

5King Nābhi understood that his son, Ṛṣabhadeva, was very popular among the citizens and among government officers and ministers. Understanding the popularity of his son, Mahārāja Nābhi enthroned Him as the emperor of the world to give protection to the general populace in terms of the Vedic religious system. To do this, he entrusted Him into the hands of learned brāhmaṇas, who would guide Him in administrating the government. Then Mahārāja Nābhi and his wife, Merudevī, went to Badarikāśrama in the Himālaya Mountains, where the King engaged Himself very expertly in austerities and penances with great jubilation. In full samādhi he worshiped the Supreme Personality of Godhead, Nara-Nārāyaṇa, who is Kṛṣṇa in His plenary expansion. By doing so, in course of time Mahārāja Nābhi was elevated to the spiritual world known as Vaikuṇṭha.

6O Mahārāja Parīkṣit, to glorify Mahārāja Nābhi the old sages composed two verses. One of them is this: "Who can attain the perfection of Mahārāja Nābhi? Who can attain his activities? Because of his devotional service, the Supreme Personality of Godhead agreed to become his son."

7[The second prayer is this.] "Who is a better worshiper of brāhmaṇas than Mahārāja Nābhi? Because he worshiped the qualified brāhmaṇas to their full satisfaction, the brāhmaṇas, by their brahminical prowess, showed Mahārāja Nābhi the Supreme Personality of Godhead, Nārāyaṇa, in person."

8After Nābhi Mahārāja departed for Badarikāśrama, the Supreme Lord, Ṛṣabhadeva, understood that His kingdom was His field of activities. He therefore showed Himself as an example and taught the duties of a householder by first accepting brahmacarya under the direction of spiritual masters. He also went to live at the spiritual masters' place, gurukula. After His education was finished, He gave gifts (guru-dakṣiṇā) to His spiritual masters and then accepted the life of a householder. He took a wife named Jayantī and begot one hundred sons who were as powerful and qualified as He Himself. His wife Jayantī had been offered to Him by Indra, the King of heaven. Ṛṣabhadeva and Jayantī performed householder life in an exemplary way,

carrying out ritualistic activities ordained by the śruti and smṛti śāstra.

9Of Ṛṣabhadeva's one hundred sons, the eldest, named Bharata, was a great, exalted devotee qualified with the best attributes. In his honor, this planet has become known as Bhārata-varṣa.

10Following Bharata, there were ninety-nine other sons. Among these were nine elderly sons, named Kuśāvarta, Ilāvarta, Brahmāvarta, Malaya, Ketu, Bhadrasena, Indraspṛk, Vidarbha and Kīkaṭa.

11-12In addition to these sons were Kavi, Havi, Antarikṣa, Prabuddha, Pippalāyana, Āvirhotra, Drumila, Camasa and Karabhājana. These were all very exalted, advanced devotees and authorized preachers of Śrīmad-Bhāgavatam. These devotees were glorified due to their strong devotion to Vāsudeva, the Supreme Personality of Godhead. Therefore they were very exalted. To satisfy the mind perfectly, I [Śukadeva Gosvāmī] shall hereafter describe the characteristics of these nine devotees when I discuss the conversation between Nārada and Vasudeva.

13In addition to these nineteen sons mentioned above, there were eighty-one younger ones, all born of Ṛṣabhadeva and Jayantī. According to the order of their father, they became well-cultured, well-behaved, very pure in their activities and expert in Vedic knowledge and the performance of Vedic rituals. Thus they all became perfectly qualified brāhmaṇas.

14Being an incarnation of the Supreme Personality of Godhead, Lord Ṛṣabhadeva was fully independent because His form was spiritual, eternal and full of transcendental bliss. He eternally had nothing to do with the four principles of material misery [birth, death, old age and disease]. Nor was He materially attached. He was always equipoised, and He saw everyone on the same level. He was unhappy to see others unhappy, and He was the well-wisher of all living entities. Although He was a perfect personality, the Supreme Lord and controller of all, He nonetheless acted as if He were an ordinary conditioned soul. Therefore He strictly followed the principles of varṇāśrama-dharma and acted accordingly. In due course of time, the principles of varṇāśrama-dharma had become neglected; therefore through His personal characteristics and behavior, He taught the ignorant public how to perform duties within the varṇāśrama-dharma. In this way He regulated the general populace in householder life, enabling them to develop religion and economic well-being and to attain reputations, sons and daughters, material pleasure and finally eternal life. By His instructions, He showed how people could remain householders and at the same time become perfect by following the principles of varṇāśrama-dharma.

15Whatever action is performed by a great man, common men follow.

16Although Lord Ṛṣabhadeva knew everything about confidential Vedic knowledge, which includes information about all types of occupational duties, He still maintained Himself as a kṣatriya and followed the instructions of the brāhmaṇas as they related to mind control, sense control, tolerance and so forth. Thus He ruled the people according to the system of varṇāśrama-dharma, which enjoins that the brāhmaṇas instruct the kṣatriyas and the kṣatriyas administer to the state through the vaiśyas and śūdras.

17Lord Ṛṣabhadeva performed all kinds of sacrifices one hundred times according to the instructions of the Vedic literatures. Thus He satisfied Lord Viṣṇu in every respect. All the rituals were enriched by first-class ingredients. They were executed in holy places according to the proper time by priests who were all young and faithful. In this way Lord Viṣṇu was worshiped, and the prasāda was offered to all the demigods. Thus the functions and festivals were all successful.

18No one likes to possess anything that is like a will-o'-the-wisp or a flower in the sky, for everyone knows very well that such things do not exist. When Lord Ṛṣabhadeva ruled this planet of Bhāratavarṣa, even common men did not want to ask for anything, at any time or by any means. No one ever asks for a will-o'-the-wisp. In other words, everyone was completely satisfied, and therefore there was no chance of anyone's asking for anything. The people were absorbed in great affection for the King. Since this affection was always expanding, they were not inclined to ask for anything.

19Once while touring the world, Lord Ṛṣabhadeva, the Supreme Lord, reached a place known as Brahmāvarta. There was a great conference of learned brāhmaṇas at that place, and all the King's sons attentively heard the instructions of the brāhmaṇas there. At that assembly, within the hearing of the citizens, Ṛṣabhadeva instructed His sons, although they were already very well-behaved, devoted and qualified. He instructed them so that in the future they could rule the world very perfectly. Thus he spoke as follows.

## SB 5.5: Lord Ṛṣabhadeva's Teachings to His Sons

In this chapter there is a description of *bhāgavata-dharma,* religious principles in devotional service that transcend religious principles for liberation and the mitigation of material misery. It is stated in this chapter that a human being should not work hard like dogs and hogs for sense gratification. The human life is especially meant for the revival of our relationship with the Supreme Lord, and to this end all kinds of austerities and penances should be accepted. By austere activities, one's heart can be cleansed of material contamination, and as a result one can be situated on the spiritual platform. To attain this perfection, one has to take shelter of a devotee and serve him. Then the door of liberation will be open. Those who are materially attached to women and sense gratification gradually become entangled in material consciousness and suffer the miseries of birth, old age, disease and death. Those who are engaged in the general welfare of all and who are not attached to children and family are called *mahātmās*. Those who are engaged in sense gratification, who act piously or impiously, cannot understand the purpose of the soul. Therefore they should approach a highly elevated devotee and accept him as a spiritual master. By his association, one will be able to understand the purpose of life. Under the instructions of such a spiritual master, one can attain devotional service to the Lord, detachment from material things, and tolerance of material misery and distress. One can then see all living entities equally, and one becomes very eager to know about transcendental subject matters. Endeavoring persistently for the satisfaction of Kṛṣṇa, one becomes detached from wife, children and home. He is not interested in wasting time. In this way one becomes self-realized. A person advanced in spiritual knowledge does not engage anyone in material activity. And one who cannot deliver another person by instructing him in devotional service should not become a spiritual master, father, mother, demigod or husband. Instructing His one hundred sons, Lord Ṛṣabhadeva advised them to accept their eldest brother, Bharata, as their guide and lord, and thereby serve him. Of all living entities, the *brāhmaṇas* are the best, and above the *brāhmaṇas* the Vaiṣṇavas are situated in an even better position. Serving a Vaiṣṇava means serving the Supreme Personality of Godhead. Thus Śukadeva Gosvāmī describes the characteristics of Bharata Mahārāja and the sacrificial performance executed by Lord Ṛṣabhadeva for the instruction of the general populace.

1Lord Ṛṣabhadeva told His sons: My dear boys, of all the living entities who have accepted material bodies in this world, one who has been awarded this human form should not work hard day and night simply for sense gratification, which is available even for dogs and hogs that eat stool. One should engage in penance and austerity to attain the divine position of

devotional service. By such activity, one's heart is purified, and when one attains this position, he attains eternal, blissful life, which is transcendental to material happiness and which continues forever.

2One can attain the path of liberation from material bondage only by rendering service to highly advanced spiritual personalities. These personalities are impersonalists and devotees. Whether one wants to merge into the Lord's existence or wants to associate with the Personality of Godhead, one should render service to the mahātmās. For those who are not interested in such activities, who associate with people fond of women and sex, the path to hell is wide open. The mahātmās are equipoised. They do not see any difference between one living entity and another. They are very peaceful and are fully engaged in devotional service. They are devoid of anger, and they work for the benefit of everyone. They do not behave in any abominable way. Such people are known as mahātmās.

3Those who are interested in reviving Kṛṣṇa consciousness and increasing their love of Godhead do not like to do anything that is not related to Kṛṣṇa. They are not interested in mingling with people who are busy maintaining their bodies, eating, sleeping, mating and defending. They are not attached to their homes, although they may be householders. Nor are they attached to wives, children, friends or wealth. At the same time, they are not indifferent to the execution of their duties. Such people are interested in collecting only enough money to keep the body and soul together.

4When a person considers sense gratification the aim of life, he certainly becomes mad after materialistic living and engages in all kinds of sinful activity. He does not know that due to his past misdeeds he has already received a body which, although temporary, is the cause of his misery. Actually the living entity should not have taken on a material body, but he has been awarded the material body for sense gratification. Therefore I think it not befitting an intelligent man to involve himself again in the activities of sense gratification by which he perpetually gets material bodies one after another.

5As long as one does not inquire about the spiritual values of life, one is defeated and subjected to miseries arising from ignorance. Be it sinful or pious, karma has its resultant actions. If a person is engaged in any kind of karma, his mind is called karmātmaka, colored with fruitive activity. As long as the mind is impure, consciousness is unclear, and as long as one is absorbed in fruitive activity, he has to accept a material body.

6When the living entity is covered by the mode of ignorance, he does not understand the individual living being and the supreme living being, and his mind is subjugated by fruitive activity. Therefore, until one has love for Lord Vāsudeva, who is none other than Myself, he is certainly not delivered from having to accept a material body again and again.

7Even though one may be very learned and wise, he is mad if he does not understand that the endeavor for sense gratification is a useless waste of time. Being forgetful of his own interest, he tries to be happy in the material world, centering his interests around his home, which is based on sexual intercourse and which brings him all kinds of material miseries. In this way one is no better than a foolish animal.

8The attraction between male and female is the basic principle of material existence. On the basis of this misconception, which ties together the hearts of the male and female, one becomes attracted to his body, home, property, children, relatives and wealth. In this way one increases life's illusions and thinks in terms of "I and mine."

9When the strong knot in the heart of a person implicated in material life due to the results of past action is slackened, one turns away from his attachment to home, wife and children. In

this way, one gives up the basic principle of illusion [I and mine] and becomes liberated. Thus one goes to the transcendental world.

10-13O My sons, you should accept a highly elevated paramahaṁsa, a spiritually advanced spiritual master. In this way, you should place your faith and love in Me, the Supreme Personality of Godhead. You should detest sense gratification and tolerate the duality of pleasure and pain, which are like the seasonal changes of summer and winter. Try to realize the miserable condition of living entities, who are miserable even in the higher planetary systems. Philosophically inquire about the truth. Then undergo all kinds of austerities and penances for the sake of devotional service. Give up the endeavor for sense enjoyment and engage in the service of the Lord. Listen to discussions about the Supreme Personality of Godhead, and always associate with devotees. Chant about and glorify the Supreme Lord, and look upon everyone equally on the spiritual platform. Give up enmity and subdue anger and lamentation. Abandon identifying the self with the body and the home, and practice reading the revealed scriptures. Live in a secluded place and practice the process by which you can completely control your life air, mind and senses. Have full faith in the revealed scriptures, the Vedic literatures, and always observe celibacy. Perform your prescribed duties and avoid unnecessary talks. Always thinking of the Supreme Personality of Godhead, acquire knowledge from the right source. Thus practicing bhakti-yoga, you will patiently and enthusiastically be elevated in knowledge and will be able to give up the false ego.

14As I have advised you, My dear sons, you should act accordingly. Be very careful. By these means you will be freed from the ignorance of the desire for fruitive activity, and the knot of bondage in the heart will be completely severed. For further advancement, you should also give up the means. That is, you should not become attached to the process of liberation itself.

15If one is serious about going back home, back to Godhead, he must consider the mercy of the Supreme Personality of Godhead the summum bonum and chief aim of life. If he is a father instructing his sons, a spiritual master instructing his disciples, or a king instructing his citizens, he must instruct them as I have advised. Without being angry, he should continue giving instructions, even if his disciple, son or citizen is sometimes unable to follow his order. Ignorant people who engage in pious and impious activities should be engaged in devotional service by all means. They should always avoid fruitive activity. If one puts into the bondage of karmic activity his disciple, son or citizen who is bereft of transcendental vision, how will one profit? It is like leading a blind man to a dark well and causing him to fall in.

16Due to ignorance, the materialistic person does not know anything about his real self-interest, the auspicious path in life. He is simply bound to material enjoyment by lusty desires, and all his plans are made for this purpose. For temporary sense gratification, such a person creates a society of envy, and due to this mentality, he plunges into the ocean of suffering. Such a foolish person does not even know about this.

17If someone is ignorant and addicted to the path of saṁsāra, how can one who is actually learned, merciful and advanced in spiritual knowledge engage him in fruitive activity and thus further entangle him in material existence? If a blind man is walking down the wrong path, how can a gentleman allow him to continue on his way to danger? How can he approve this method? No wise or kind man can allow this.

18One who cannot deliver his dependents from the path of repeated birth and death should never become a spiritual master, a father, a husband, a mother or a worshipable demigod.

19My transcendental body [sac-cid-ānanda-vigraha] looks exactly like a human form, but it is not a material human body. It is inconceivable. I am not forced by nature to accept a particular type of body; I take on a body by My own sweet will. My heart is also spiritual, and I always

think of the welfare of My devotees. Therefore within My heart can be found the process of devotional service, which is meant for the devotees. Far from My heart have I abandoned irreligion [adharma] and nondevotional activities. They do not appeal to Me. Due to all these transcendental qualities, people generally pray to Me as Ṛṣabhadeva, the Supreme Personality of Godhead, the best of all living entities.

20My dear boys, you are all born of My heart, which is the seat of all spiritual qualities. Therefore you should not be like materialistic and envious men. You should accept your eldest brother, Bharata, who is exalted in devotional service. If you engage yourselves in Bharata's service, your service to him will include My service, and you will rule the citizens automatically.

21-22Of the two energies manifest [spirit and dull matter], beings possessing living force [vegetables, grass, trees and plants] are superior to dull matter [stone, earth, etc.]. Superior to nonmoving plants and vegetables are worms and snakes, which can move. Superior to worms and snakes are animals that have developed intelligence. Superior to animals are human beings, and superior to human beings are ghosts because they have no material bodies. Superior to ghosts are the Gandharvas, and superior to them are the Siddhas. Superior to the Siddhas are the Kinnaras, and superior to them are the asuras. Superior to the asuras are the demigods, and of the demigods, Indra, the King of heaven, is supreme. Superior to Indra are the direct sons of Lord Brahmā, sons like King Dakṣa, and supreme among Brahmā's sons is Lord Śiva. Since Lord Śiva is the son of Lord Brahmā, Brahmā is considered superior, but Brahmā is also subordinate to Me, the Supreme Personality of Godhead. Because I am inclined to the brāhmaṇas, the brāhmaṇas are best of all.

23O respectful brāhmaṇas, as far as I am concerned, no one is equal or superior to the brāhmaṇas in this world. I do not find anyone comparable to them. When people know My motive, after performing rituals according to the Vedic principles they offer food to Me with faith and love through the mouth of a brāhmaṇa. When food is thus offered unto Me, I eat it with full satisfaction. Indeed, I derive more pleasure from food offered in that way than from the food offered in the sacrificial fire.

24The Vedas are My eternal transcendental sound incarnation. Therefore the Vedas are śabda-brahma. In this world, the brāhmaṇas thoroughly study all the Vedas, and because they assimilate the Vedic conclusions, they are also to be considered the Vedas personified. The brāhmaṇas are situated in the supreme transcendental mode of naturesattva-guṇa. Because of this, they are fixed in mind control [śama], sense control [dama], and truthfulness [satya]. They describe the Vedas in their original sense, and out of mercy [anugraha] they preach the purpose of the Vedas to all conditioned souls. They practice penance [tapasya] and tolerance [titikṣā], and they realize the position of the living entity and the Supreme Lord [anubhava]. These are the eight qualifications of the brāhmaṇas. Therefore among all living entities, no one is superior to the brāhmaṇas.

25I am fully opulent, almighty and superior to Lord Brahmā and Indra, the King of the heavenly planets. I am also the bestower of all happiness obtained in the heavenly kingdom and by liberation. Nonetheless, the brāhmaṇas do not seek material comforts from Me. They are very pure and do not want to possess anything. They simply engage in My devotional service. What is the need of their asking for material benefits from anyone else?

26My dear sons, you should not envy any living entitybe he moving or nonmoving. Knowing that I am situated in them, you should offer respect to all of them at every moment. In this way, you offer respect to Me.

27The true activity of the sense organsmind, sight, words and all the knowledge-gathering and working sensesis to engage fully in My service. Unless his senses are thus engaged, a living entity cannot think of getting out of the great entanglement of material existence, which is exactly like Yamarāja's stringent rope.

28Śukadeva Gosvāmī said: Thus the great well-wisher of everyone, the Supreme Lord Ṛṣabhadeva, instructed His own sons. Although they were perfectly educated and cultured, He instructed them just to set an example of how a father should instruct his sons before retiring from family life. Sannyāsīs, who are no longer bound by fruitive activity and who have taken to devotional service after all their material desires have been vanquished, also learn by these instructions. Lord Ṛṣabhadeva instructed His one hundred sons, of whom the eldest, Bharata, was a very advanced devotee and a follower of Vaiṣṇavas. In order to rule the whole world, the Lord enthroned His eldest son on the royal seat. Thereafter, although still at home, Lord Ṛṣabhadeva lived like a madman, naked and with disheveled hair. Then the Lord took the sacrificial fire within Himself, and He left Brahmāvarta to tour the whole world.

29After accepting the feature of avadhūta, a great saintly person without material cares, Lord Ṛṣabhadeva passed through human society like a blind, deaf and dumb man, an idle stone, a ghost or a madman. Although people called Him such names, He remained silent and did not speak to anyone.

30Ṛṣabhadeva began to tour through cities, villages, mines, countrysides, valleys, gardens, military camps, cow pens, the homes of cowherd men, transient hotels, hills, forests and hermitages. Wherever He traveled, all bad elements surrounded Him, just as flies surround the body of an elephant coming from a forest. He was always being threatened, beaten, urinated upon and spat upon. Sometimes people threw stones, stool and dust at Him, and sometimes people passed foul air before Him. Thus people called Him many bad names and gave Him a great deal of trouble, but He did not care about this, for He understood that the body is simply meant for such an end. He was situated on the spiritual platform, and, being in His spiritual glory, He did not care for all these material insults. In other words, He completely understood that matter and spirit are separate, and He had no bodily conception. Thus, without being angry at anyone, He walked through the whole world alone.

31Lord Ṛṣabhadeva's hands, feet and chest were very long. His shoulders, face and limbs were all very delicate and symmetrically proportioned. His mouth was beautifully decorated with His natural smile, and He appeared all the more lovely with His reddish eyes spread wide like the petals of a newly grown lotus flower covered with dew in the early morning. The irises of His eyes were so pleasing that they removed all the troubles of everyone who saw Him. His forehead, ears, neck, nose and all His other features were very beautiful. His gentle smile always made His face beautiful, so much so that He even attracted the hearts of married women. It was as though they had been pierced by arrows of Cupid. About His head was an abundance of curly, matted brown hair. His hair was disheveled because His body was dirty and not taken care of. He appeared as if He were haunted by a ghost.

32When Lord Ṛṣabhadeva saw that the general populace was very antagonistic to His execution of mystic yoga, He accepted the behavior of a python in order to counteract their opposition. Thus He stayed in one place and lay down. While lying down, He ate and drank, and He passed stool and urine and rolled in it. Indeed, He smeared His whole body with His own stool and urine so that opposing elements might not come and disturb Him.

33Because Lord Ṛṣabhadeva remained in that condition, the public did not disturb Him, but no bad aroma emanated from His stool and urine. Quite the contrary, His stool and urine were so aromatic that they filled eighty miles of the countryside with a pleasant fragrance.

34In this way Lord Ṛṣabhadeva followed the behavior of cows, deer and crows. Sometimes He moved or walked, and sometimes He sat down in one place. Sometimes He lay down, behaving exactly like cows, deer and crows. In that way, He ate, drank, passed stool and urine and cheated the people in this way.

35O King Parīkṣit, just to show all the yogīs the mystic process, Lord Ṛṣabhadeva, the plenary expansion of Lord Kṛṣṇa, performed wonderful activities. Actually He was the master of liberation and was fully absorbed in transcendental bliss, which increased a thousandfold. Lord Kṛṣṇa, Vāsudeva, the son of Vasudeva, is the original source of Lord Ṛṣabhadeva. There is no difference in Their constitution, and consequently Lord Ṛṣabhadeva awakened the loving symptoms of crying, laughing and shivering. He was always absorbed in transcendental love. Due to this, all mystic powers automatically approached Him, such as the ability to travel in outer space at the speed of mind, to appear and disappear, to enter the bodies of others, and to see things far, far away. Although He could do all this, He did not exercise these powers.

## SB 5.6: The Activities of Lord Ṛṣabhadeva

This chapter tells how Lord Ṛṣabhadeva left His body. He was not attached to His body even when it was being burned up in a forest fire. When the seed of fruitive activity is burned by the fire of knowledge, the spiritual properties and mystic powers are automatically manifest, yet *bhakti-yoga* is not affected by these mystic powers. An ordinary *yogī* is captivated by mystic powers and his progress checked; therefore a perfect *yogī* does not welcome them. Because the mind is restless and undependable, it must remain always under control. Even the mind of the advanced *yogī* Saubhari created such a disturbance that he lost his yogic mystic powers. Due to a restless mind, even a very advanced *yogī* can fall down. The mind is so restless that it induces even a perfect *yogī* to be controlled by the senses. Therefore Lord Ṛṣabhadeva, for the instruction of all *yogīs,* showed the process of quitting the body. While traveling in South India, through the provinces of Karṇāṭa, Koṅka, Veṅka and Kuṭaka, Lord Ṛṣabhadeva arrived in the neighborhood of Kuṭakācala. Suddenly there was a forest fire that burned the forest and Lord Ṛṣabhadeva's body to ashes. The pastimes of Lord Ṛṣabhadeva as a liberated soul were known by the King of Koṅka, Veṅka and Kuṭaka. This King's name was Arhat. He later became captivated by the illusory energy, and in this condition he set forth the basic principles of Jainism. Lord Ṛṣabhadeva set forth the principles of religion that can free one from material bondage, and He put an end to all kinds of atheistic activities. On this earth, the place known as Bhārata-varṣa was a very pious land because the Supreme Lord appeared there when He wanted to incarnate.

Lord Ṛṣabhadeva neglected all the mystic powers for which the so-called *yogīs* hanker. Because of the beauty of devotional service, devotees are not at all interested in so-called mystic power. The master of all yogic power, Lord Kṛṣṇa, can exhibit all powers on behalf of His devotee. Devotional service is more valuable than yogic mystic powers. Devotees who are sometimes misled aspire for liberation and mystic powers. The Supreme Lord gives these devotees whatever they desire, but they cannot attain the most important function of devotional service. Devotional service to the Lord is guaranteed for those who do not desire liberation and mystic power.

1King Parīkṣit asked Śukadeva Gosvāmī: My dear Lord, for those who are completely pure in heart, knowledge is attained by the practice of bhakti-yoga, and attachment for fruitive activity is completely burned to ashes. For such people, the powers of mystic yoga automatically arise. They do not cause distress. Why, then, did Ṛṣabhadeva neglect them?

2Śrīla Śukadeva Gosvāmī replied: My dear King, you have spoken correctly. However, after

capturing animals, a cunning hunter does not put faith in them, for they might run away. Similarly, those who are advanced in spiritual life do not put faith in the mind. Indeed, they always remain vigilant and watch the mind's action.

3All the learned scholars have given their opinion. The mind is by nature very restless, and one should not make friends with it. If we place full confidence in the mind, it may cheat us at any moment. Even Lord Śiva became agitated upon seeing the Mohinī form of Lord Kṛṣṇa, and Saubhari Muni also fell down from the mature stage of yogic perfection.

4An unchaste woman is very easily carried away by paramours, and it sometimes happens that her husband is violently killed by her paramours. If the yogī gives his mind a chance and does not restrain it, his mind will give facility to enemies like lust, anger and greed, and they will doubtlessly kill the yogī.

5The mind is the root cause of lust, anger, pride, greed, lamentation, illusion and fear. Combined, these constitute bondage to fruitive activity. What learned man would put faith in the mind?

6Lord Ṛṣabhadeva was the head of all kings and emperors within this universe, but assuming the dress and language of an avadhūta, He acted as if dull and materially bound. Consequently no one could observe His divine opulence. He adopted this behavior just to teach yogīs how to give up the body. Nonetheless, He maintained His original position as a plenary expansion of Lord Vāsudeva, Kṛṣṇa. Remaining always in that state, He gave up His pastimes as Lord Ṛṣabhadeva within the material world. If, following in the footsteps of Lord Ṛṣabhadeva, one can give up his subtle body, there is no chance that one will accept a material body again.

7Actually Lord Ṛṣabhadeva had no material body, but due to yoga-māyā He considered His body material, and therefore, because He played like an ordinary human being, He gave up the mentality of identifying with it. Following this principle, He began to wander all over the world. While traveling, He came to the province of Karṇāṭa in South India and passed through Koṅka, Veṅka and Kuṭaka. He had no plan to travel this way, but He arrived near Kuṭakācala and entered a forest there. He placed stones within His mouth and began to wander through the forest, naked and with His hair disheveled like a madman.

8While He was wandering about, a wild forest fire began. This fire was caused by the friction of bamboos, which were being blown by the wind. In that fire, the entire forest near Kuṭakācala and the body of Lord Ṛṣabhadeva were burnt to ashes.

9Śukadeva Gosvāmī continued speaking to Mahārāja Parīkṣit: My dear King, the King of Koṅka, Veṅka and Kuṭaka whose name was Arhat, heard of the activities of Ṛṣabhadeva and, imitating Ṛṣabhadeva's principles, introduced a new system of religion. Taking advantage of Kali-yuga, the age of sinful activity, King Arhat, being bewildered, gave up the Vedic principles, which are free from risk, and concocted a new system of religion opposed to the Vedas. That was the beginning of the Jain dharma. Many other so-called religions followed this atheistic system.

10People who are lowest among men and bewildered by the illusory energy of the Supreme Lord will give up the original varṇāśrama-dharma and its rules and regulations. They will abandon bathing three times daily and worshiping the Lord. Abandoning cleanliness and neglecting the Supreme Lord, they will accept nonsensical principles. Not regularly bathing or washing their mouths regularly, they will always remain unclean, and they will pluck out their hair. Following a concocted religion, they will flourish. During this Age of Kali, people are more inclined to irreligious systems. Consequently these people will naturally deride Vedic authority, the followers of Vedic authority, the brāhmaṇas, the Supreme Personality of

Godhead and the devotees.

11Low-class people, due to their gross ignorance, introduce a system of religion that deviates from the Vedic principles. Following their own mental concoctions, they automatically fall down into the darkest regions of existence.

12In this Age of Kali, people are overwhelmed by the modes of passion and ignorance. Lord Ṛṣabhadeva incarnated Himself to deliver them from the clutches of māyā.

13Learned scholars chant about the transcendental qualities of Lord Ṛṣabhadeva in this way: "Oh, this earthly planet contains seven seas and many islands and lands, of which Bhārata-varṣa is considered the most pious. People of Bhārata-varṣa are accustomed to glorifying the activities of the Supreme Personality of Godhead in His incarnations as Lord Ṛṣabhadeva and others. All these activities are very auspicious for the welfare of humanity.

14"Oh, what shall I say of the dynasty of Priyavrata, which is pure and very much celebrated. In that dynasty, the Supreme Person, the original Personality of Godhead, descended as an incarnation and executed religious principles that could free one from the results of fruitive activity.

15"Who is that mystic yogī who can follow the examples of Lord Ṛṣabhadeva even with his mind? Lord Ṛṣabhadeva rejected all kinds of yogic perfection, which other yogīs hanker to attain. Who is that yogī who can compare to Lord Ṛṣabhadeva?"

16Śukadeva Gosvāmī continued: Lord Ṛṣabhadeva is the master of all Vedic knowledge, human beings, demigods, cows and brāhmaṇas. I have already explained His pure, transcendental activities, which will vanquish the sinful activities of all living entities. This narration of Lord Ṛṣabhadeva's pastimes is the reservoir of all auspicious things. Whoever attentively hears or speaks of them, following in the footsteps of the ācāryas, will certainly attain unalloyed devotional service at the lotus feet of Lord Vāsudeva, the Supreme Personality of Godhead.

17Devotees always bathe themselves in devotional service in order to be relieved from the various tribulations of material existence. By doing this, the devotees enjoy supreme bliss, and liberation personified comes to serve them. Nonetheless, they do not accept that service, even if it is offered by the Supreme Personality of Godhead Himself. For the devotees, liberation [mukti] is very unimportant because, having attained the Lord's transcendental loving service, they have attained everything desirable and have transcended all material desires.

18Śukadeva Gosvāmī continued: My dear King, the Supreme Person, Mukunda, is actually the maintainer of all the members of the Pāṇḍava and Yadu dynasties. He is your spiritual master, worshipable Deity, friend, and the director of your activities. To say nothing of this, He sometimes serves your family as a messenger or servant. This means He worked just as ordinary servants do. Those engaged in getting the Lord's favor attain liberation from the Lord very easily, but He does not very easily give the opportunity to render direct service unto Him.

19The Supreme Personality of Godhead, Lord Ṛṣabhadeva, was fully aware of His true identity; therefore He was self-sufficient, and He did not desire external gratification. There was no need for Him to aspire for success, since He was complete in Himself. Those who unnecessarily engage in bodily conceptions and create an atmosphere of materialism are always ignorant of their real self-interest. Out of His causeless mercy, Lord Ṛṣabhadeva taught the self's real identity and the goal of life. We therefore offer our respectful obeisances unto the Lord, who appeared as Lord Ṛṣabhadeva.

## SB 5.7: The Activities of King Bharata

In this chapter, the activities of King Bharata Mahārāja, the emperor of the whole world, are described. Bharata Mahārāja performed various ritualistic ceremonies (Vedic *yajṣas*) and satisfied the Supreme Lord by his different modes of worship. In due course of time, he left home and resided in Hardwar and passed his days in devotional activities. Being ordered by his father, Lord Ṛṣabhadeva, Bharata Mahārāja married Paṣcajanī, the daughter of Viśvarūpa. After this, he ruled the whole world peacefully. Formerly this planet was known as Ajanābha, and after the reign of Bharata Mahārāja it became known as Bhārata-varṣa. Bharata Mahārāja begot five sons in the womb of Paṣcajanī, and he named the sons Sumati, Rāṣṭrabhṛta, Sudarśana, Āvaraṇa and Dhūmraketu. Bharata Mahārāja was very rigid in executing religious principles and following in the footsteps of his father. He therefore ruled the citizens very successfully. Because he performed various *yajṣas* to satisfy the Supreme Lord, he was personally very satisfied. Being of undisturbed mind, he increased his devotional activities unto Lord Vāsudeva. Bharata Mahārāja was competent in understanding the principles of saintly persons like Nārada, and he followed in the footsteps of the sages. He also kept Lord Vāsudeva constantly within his heart. After finishing his kingly duties, he divided his kingdom among his five sons. He then left home and went to the place of Pulaha known as Pulahāśrama. There he ate forest vegetables and fruits, and worshiped Lord Vāsudeva with everything available. Thus he increased his devotion toward Vāsudeva, and he automatically began to realize further his transcendental, blissful life. Due to his highly advanced spiritual position, there were sometimes visible in his body the *aṣṭa-sāttvika* transformations, such as ecstatic crying and bodily trembling, which are symptoms of love of Godhead. It is understood that Mahārāja Bharata worshiped the Supreme Lord with the *mantras* mentioned in the *Ṛg Veda,* generally known as Gāyatrī*mantra,* which aim at the Supreme Nārāyaṇa situated within the sun.

1Śukadeva Gosvāmī continued speaking to Mahārāja Parīkṣit: My dear King, Bharata Mahārāja was a topmost devotee. Following the orders of his father, who had already decided to install him on the throne, he began to rule the earth accordingly. When Bharata Mahārāja ruled the entire globe, he followed the orders of his father and married Paṣcajanī, the daughter of Viśvarūpa.

2Just as the false ego creates the subtle sense objects, Mahārāja Bharata created five sons in the womb of Paṣcajanī, his wife. These sons were named Sumati, Rāṣṭrabhṛta, Sudarśana, Āvaraṇa and Dhūmraketu.

3Formerly this planet was known as Ajanābha-varṣa, but since Mahārāja Bharata's reign it has become known as Bhārata-varṣa.

4Mahārāja Bharata was a very learned and experienced king on this earth. He perfectly ruled the citizens, being himself engaged in his own respective duties. Mahārāja Bharata was as affectionate to the citizens as his father and grandfather had been. Keeping them engaged in their occupational duties, he ruled the earth.

5With great faith King Bharata performed various kinds of sacrifice. He performed the sacrifices known as agni-hotra, darśa, pūrṇamāsa, cāturmāsya, paśu-yajṣa [wherein a horse is sacrificed] and soma-yajṣa [wherein a kind of beverage is offered]. Sometimes these sacrifices were performed completely and sometimes partially. In any case, in all the sacrifices the regulations of cāturhotra were strictly followed. In this way Bharata Mahārāja worshiped the Supreme Personality of Godhead.

6After performing the preliminaries of various sacrifices, Mahārāja Bharata offered the results in

the name of religion to the Supreme Personality of Godhead, Vāsudeva. In other words, he performed all the yajṣas for the satisfaction of Lord Vāsudeva, Kṛṣṇa. Mahārāja Bharata thought that since the demigods were different parts of Vāsudeva's body, He controls those who are explained in the Vedic mantras. By thinking in this way, Mahārāja Bharata was freed from all material contamination, such as attachment, lust and greed. When the priests were about to offer the sacrificial ingredients into the fire, Mahārāja Bharata expertly understood how the offering made to different demigods was simply an offering to the different limbs of the Lord. For instance, Indra is the arm of the Supreme Personality of Godhead, and Sūrya [the sun] is His eye. Thus Mahārāja Bharata considered that the oblations offered to different demigods were actually offered unto the different limbs of Lord Vāsudeva.

7In this way, being purified by ritualistic sacrifices, the heart of Mahārāja Bharata was completely uncontaminated. His devotional service unto Vāsudeva, Lord Kṛṣṇa, increased day after day. Lord Kṛṣṇa, the son of Vasudeva, is the original Personality of Godhead manifest as the Supersoul [Paramātmā] as well as the impersonal Brahman. Yogīs meditate upon the localized Paramātmā situated in the heart, jṣānīs worship the impersonal Brahman as the Supreme Absolute Truth, and devotees worship Vāsudeva, the Supreme Personality of Godhead, whose transcendental body is described in the śāstras. His body is decorated with the Śrīvatsa, the Kaustubha jewel and a flower garland, and His hands hold a conchshell, disc, club and lotus flower. Devotees like Nārada always think of Him within their hearts.

8Destiny fixed the time for Mahārāja Bharata's enjoyment of material opulence at one thousand times ten thousand years. When that period was finished, he retired from family life and divided the wealth he had received from his forefathers among his sons. He left his paternal home, the reservoir of all opulence, and started for Pulahāśrama, which is situated in Hardwar. The śālagrāma-śilās are obtainable there.

9At Pulaha-āśrama, the Supreme Personality of Godhead, Hari, out of His transcendental affection for His devotee, becomes visible to His devotee, satisfying His devotee's desires.

10In Pulaha-āśrama is the Gaṇḍakī River, which is the best of all rivers. The śālagrāma-śilā, the marble pebbles, purify all those places. On each and every marble pebble, up and down, circles like navels are visible.

11In the gardens of Pulaha-āśrama, Mahārāja Bharata lived alone and collected a variety of flowers, twigs and tulasī leaves. He also collected the water of the Gaṇḍakī River, as well as various roots, fruits and bulbs. With these he offered food to the Supreme Personality of Godhead, Vāsudeva, and, worshiping Him, he remained satisfied. In this way his heart was completely uncontaminated, and he did not have the least desire for material enjoyment. All material desires vanished. In this steady position, he felt full satisfaction and was situated in devotional service.

12That most exalted devotee, Mahārāja Bharata, in this way engaged constantly in the devotional service of the Lord. Naturally his love for Vāsudeva, Kṛṣṇa, increased more and more and melted his heart. Consequently he gradually lost all attachment for regulative duties. The hairs of his body stood on end, and all the ecstatic bodily symptoms were manifest. Tears flowed from his eyes, so much so that he could not see anything. Thus he constantly meditated on the reddish lotus feet of the Lord. At that time, his heart, which was like a lake, was filled with the water of ecstatic love. When his mind was immersed in that lake, he even forgot the regulative service to the Lord.

13Mahārāja Bharata appeared very beautiful. He had a wealth of curly hair on his head, which

was wet from bathing three times daily. He dressed in a deerskin. He worshiped Lord Nārāyaṇa, whose body was composed of golden effulgence and who resided within the sun. Mahārāja Bharata worshiped Lord Nārāyaṇa by chanting the hymns given in the Ṛg Veda, and he recited the following verse as the sun rose.

14"The Supreme Personality of Godhead is situated in pure goodness. He illuminates the entire universe and bestows all benedictions upon His devotees. The Lord has created this universe from His own spiritual potency. According to His desire, the Lord entered this universe as the Supersoul, and by virtue of His different potencies He is maintaining all living entities desiring material enjoyment. Let me offer my respectful obeisances unto the Lord, who is the giver of intelligence."

## SB 5.8: A Description of the Character of Bharata Mahārāja

Although Bharata Mahārāja was very elevated, he fell down due to his attachment to a young deer. One day after Bharata Mahārāja had taken his bath as usual in the river Gaṇḍakī and was chanting his *mantra,* he saw a pregnant deer come to the river to drink water. Suddenly there could be heard the thundering roar of a lion, and the deer was so frightened that it immediately gave birth to its calf. It then crossed the river, but died immediately thereafter. Mahārāja Bharata took compassion upon the motherless calf, rescued it from the water, took it to his *āśrama* and cared for it affectionately. He gradually became attached to this young deer and always thought of it affectionately. As it grew up, it became Mahārāja Bharata's constant companion, and he always took care of it. Gradually he became so absorbed in thinking of this deer that his mind became agitated. As he became more attached to the deer, his devotional service slackened. Although he was able to give up his opulent kingdom, he became attached to the deer. Thus he fell down from his mystic *yoga* practice. Once when the deer was absent, Mahārāja Bharata was so disturbed that he began to search for it. While searching and lamenting the deer's absence, Mahārāja Bharata fell down and died. Because his mind was fully absorbed thinking of the deer, he naturally took his next birth from the womb of a deer. However, because he was considerably advanced spiritually, he did not forget his past activities, even though he was in the body of a deer. He could understand how he had fallen down from his exalted position, and remembering this, he left his mother deer and again went to Pulaha-āśrama. He finally ended his fruitive activities in the form of a deer, and when he died he was released from the deer's body.

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: My dear King, one day, after finishing his morning dutiesevacuating, urinating and bathingMahārāja Bharata sat down on the bank of the river Gaṇḍakī for a few minutes and began chanting his mantra, beginning with oṁkāra.

2O King, while Bharata Mahārāja was sitting on the bank of that river, a doe, being very thirsty, came there to drink.

3While the doe was drinking with great satisfaction, a lion, which was very close, roared very loudly. This was frightful to every living entity, and it was heard by the doe.

4By nature the doe was always afraid of being killed by others, and it was always looking about suspiciously. When it heard the lion's tumultuous roar, it became very agitated. Looking here and there with disturbed eyes, the doe, although it had not fully satisfied itself by drinking water, suddenly leaped across the river.

5The doe was pregnant, and when it jumped out of fear, the baby deer fell from its womb into

the flowing waters of the river.

6Being separated from its flock and distressed by its miscarriage, the black doe, having crossed the river, was very much distressed. Indeed, it fell down in a cave and died immediately.

7The great King Bharata, while sitting on the bank of the river, saw the small deer, bereft of its mother, floating down the river. Seeing this, he felt great compassion. Like a sincere friend, he lifted the infant deer from the waves, and, knowing it to be motherless, brought it to his āśrama.

8Gradually Mahārāja Bharata became very affectionate toward the deer. He began to raise it and maintain it by giving it grass. He was always careful to protect it from the attacks of tigers and other animals. When it itched, he petted it, and in this way he always tried to keep it in a comfortable condition. He sometimes kissed it out of love. Being attached to raising the deer, Mahārāja Bharata forgot the rules and regulations for the advancement of spiritual life, and he gradually forgot to worship the Supreme Personality of Godhead. After a few days, he forgot everything about his spiritual advancement.

9The great King Mahārāja Bharata began to think: Alas, this helpless young deer, by the force of time, an agent of the Supreme Personality of Godhead, has now lost its relatives and friends and has taken shelter of me. It does not know anyone but me, as I have become its father, mother, brother and relatives. This deer is thinking in this way, and it has full faith in me. It does not know anyone but me; therefore I should not be envious and think that for the deer my own welfare will be destroyed. I should certainly raise, protect, gratify and fondle it. When it has taken shelter with me, how can I neglect it? Even though the deer is disturbing my spiritual life, I realize that a helpless person who has taken shelter cannot be neglected. That would be a great fault.

10Even though one is in the renounced order, one who is advanced certainly feels compassion for suffering living entities. One should certainly neglect his own personal interests, although they may be very important, to protect one who has surrendered.

11Due to attachment for the deer, Mahārāja Bharata lay down with it, walked about with it, bathed with it and even ate with it. Thus his heart became bound to the deer in affection.

12When Mahārāja Bharata wanted to enter the forest to collect kuśa grass, flowers, wood, leaves, fruits, roots and water, he would fear that dogs, jackals, tigers and other ferocious animals might kill the deer. He would therefore always take the deer with him when entering the forest.

13When entering the forest, the animal would appear very attractive to Mahārāja Bharata due to its childish behavior. Mahārāja Bharata would even take the deer on his shoulders and carry it due to affection. His heart was so filled with great love for the deer that he would sometimes keep it on his lap or, when sleeping, on his chest. In this way he felt great pleasure in fondling the animal.

14When Mahārāja Bharata was actually worshiping the Lord or was engaged in some ritualistic ceremony, although his activities were unfinished, he would still, at intervals, get up and see where the deer was. In this way he would look for it, and when he could see that the deer was comfortably situated, his mind and heart would be very satisfied, and he would bestow his blessings upon the deer, saying, “My dear calf, may you be happy in all respects.”

15If Bharata Mahārāja sometimes could not see the deer, his mind would be very agitated. He would become like a miser, who, having obtained some riches, had lost them and had then

become very unhappy. When the deer was gone, he would be filled with anxiety and would lament due to separation. Thus he would become illusioned and speak as follows.

16Bharata Mahārāja would think: Alas, the deer is now helpless. I am now very unfortunate, and my mind is like a cunning hunter, for it is always filled with cheating propensities and cruelty. The deer has put its faith in me, just as a good man who has a natural interest in good behavior forgets the miSBehavior of a cunning friend and puts his faith in him. Although I have proved faithless, will this deer return and place its faith in me?

17Alas, is it possible that I shall again see this animal protected by the Lord and fearless of tigers and other animals? Shall I again see him wandering in the garden eating soft grass?

18I do not know, but the deer might have been eaten by a wolf or a dog or by the boars that flock together or the tiger who travels alone.

19Alas, when the sun rises, all auspicious things begin. Unfortunately, they have not begun for me. The sun-god is the Vedas personified, but I am bereft of all Vedic principles. That sun-god is now setting, yet the poor animal who trusted in me since its mother died has not returned.

20That deer is exactly like a prince. When will it return? When will it again display its personal activities, which are so pleasing? When will it again pacify a wounded heart like mine? I certainly must have no pious assets, otherwise the deer would have returned by now.

21Alas, the small deer, while playing with me and seeing me feigning meditation with closed eyes, would circumambulate me due to anger arising from love, and it would fearfully touch me with the points of its soft horns, which felt like drops of water.

22When I placed all the sacrificial ingredients on the kuśa grass, the deer, when playing, would touch the grass with its teeth and thus pollute it. When I chastised the deer by pushing it away, it would immediately become fearful and sit down motionless, exactly like the son of a saintly person. Thus it would stop its play.

23After speaking like a madman in this way, Mahārāja Bharata got up and went outside. Seeing the footprints of the deer on the ground, he praised the footprints out of love, saying: O unfortunate Bharata, your austerities and penances are very insignificant compared to the penance and austerity undergone by this earth planet. Due to the earth's severe penances, the footprints of this deer, which are small, beautiful, most auspicious and soft, are imprinted on the surface of this fortunate planet. This series of footprints show a person like me, who am bereaved due to loss of the deer, how the animal has passed through the forest and how I can regain my lost wealth. By these footprints, this land has become a proper place for brāhmaṇas who desire heavenly planets or liberation to execute sacrifices to the demigods.

24Mahārāja Bharata continued to speak like a madman. Seeing above his head the dark marks on the rising moon, which resembled a deer, he said: Can it be that the moon, who is so kind to an unhappy man, might also be kind upon my deer, knowing that it has strayed from home and has become motherless? This moon has given the deer shelter near itself just to protect it from the fearful attacks of a lion.

25After perceiving the moonshine, Mahārāja Bharata continued speaking like a crazy person. He said: The deer's son was so submissive and dear to me that due to its separation I am feeling separation from my own son. Due to the burning fever of this separation, I am suffering as if inflamed by a forest fire. My heart, which is like the lily of the land, is now burning. Seeing me so distressed, the moon is certainly splashing its shining nectar upon mejust as a friend throws water on another friend who has a high fever. In this way, the moon is bringing me

happiness.

26Śukadeva Gosvāmī continued: My dear King, in this way Bharata Mahārāja was overwhelmed by an uncontrollable desire which was manifest in the form of the deer. Due to the fruitive results of his past deeds, he fell down from mystic yoga, austerity and worship of the Supreme Personality of Godhead. If it were not due to his past fruitive activity, how could he have been attracted to the deer after giving up the association of his own son and family, considering them stumbling blocks on the path of spiritual life? How could he show such uncontrollable affection for a deer? This was definitely due to his past karma. The King was so engrossed in petting and maintaining the deer that he fell down from his spiritual activities. In due course of time, insurmountable death, which is compared to a venomous snake that enters the hole created by a mouse, situated itself before him.

27At the time of death, the King saw that the deer was sitting by his side, exactly like his own son, and was lamenting his death. Actually the mind of the King was absorbed in the body of the deer, and consequentlylike those bereft of Kṛṣṇa consciousnesshe left the world, the deer, and his material body and acquired the body of a deer. However, there was one advantage. Although he lost his human body and received the body of a deer, he did not forget the incidents of his past life.

28Although in the body of a deer, Bharata Mahārāja, due to his rigid devotional service in his past life, could understand the cause of his birth in that body. Considering his past and present life, he constantly repented his activities, speaking in the following way.

29In the body of a deer, Bharata Mahārāja began to lament: What misfortune! I have fallen from the path of the self-realized. I gave up my real sons, wife and home to advance in spiritual life, and I took shelter in a solitary holy place in the forest. I became self-controlled and self-realized, and I engaged constantly in devotional servicehearing, thinking, chanting, worshiping and remembering the Supreme Personality of Godhead, Vāsudeva. I was successful in my attempt, so much so that my mind was always absorbed in devotional service. However, due to my personal foolishness, my mind again became attachedthis time to a deer. Now I have obtained the body of a deer and have fallen far from my devotional practices.

30Although Bharata Mahārāja received the body of a deer, by constant repentance he became completely detached from all material things. He did not disclose these things to anyone, but he left his mother deer in a place known as Kālaṣjara Mountain, where he was born. He again went to the forest of Śālagrāma and to the āśrama of Pulastya and Pulaha.

31Remaining in that āśrama, the great King Bharata Mahārāja was now very careful not to fall victim to bad association. Without disclosing his past to anyone, he remained in that āśrama and ate dry leaves only. He was not exactly alone, for he had the association of the Supersoul. In this way he waited for death in the body of a deer. Bathing in that holy place, he finally gave up that body.

### SB 5.9: The Supreme Character of Jaḍa Bharata

In this chapter Bharata Mahārāja's attainment of the body of a *brāhmaṇa* is described. In this body he remained like one dull, deaf and dumb, so much so that when he was brought before the goddess Kālī to be killed as a sacrifice, he never protested but remained silent. After having given up the body of a deer, he took birth in the womb of the youngest wife of a *brāhmaṇa*. In this life he could also remember the activities of his past life, and in order to avoid the influence of society, he remained like a deaf and dumb person. He was very careful not to fall down again. He did not mix with anyone who was not a devotee. This process should be

adopted by every devotee. As advised by Śrī Caitanya Mahāprabhu: *asat-saṅga-tyāgaei vaiṣṇava-ācāra*. One should strictly avoid the company of nondevotees, even though they may be family members. When Bharata Mahārāja was in the body of a *brāhmaṇa,* the people in the neighborhood thought of him as a crazy, dull fellow, but within he was always chanting and remembering Vāsudeva, the Supreme Personality of Godhead. Although his father wanted to give him an education and purify him as a *brāhmaṇa* by offering him the sacred thread, he remained in such a way that his father and mother could understand that he was crazy and not interested in the reformatory method. Nonetheless, he remained fully Kṛṣṇa conscious, even without undergoing such official ceremonies. Due to his silence, some people who were no better than animals began to tease him in many ways, but he tolerated this. After the death of his father and mother, his stepmother and stepbrothers began to treat him very poorly. They would give him the most condemned food, but still he did not mind; he remained completely absorbed in Kṛṣṇa consciousness. He was ordered by his stepbrothers and mother to guard a paddy field one night, and at that time the leader of a dacoit party took him away and tried to kill him by offering him as a sacrifice before Bhadra Kālī. When the dacoits brought Bharata Mahārāja before the goddess Kālī and raised a chopper to kill him, the goddess Kālī became immediately alarmed due to the mistreatment of a devotee. She came out of the deity and, taking the chopper in her own hands, killed all the dacoits there. Thus a pure devotee of the Supreme Personality of Godhead can remain silent despite the mistreatment of nondevotees. Rogues and dacoits who miSBehave toward a devotee are punished at last by the arrangement of the Supreme Personality of Godhead.

1-2Śrīla Śukadeva Gosvāmī continued: My dear King, after giving up the body of a deer, Bharata Mahārāja took birth in a very pure brāhmaṇa family. There was a brāhmaṇa who belonged to the dynasty of Aṅgirā. He was fully qualified with brahminical qualifications. He could control his mind and senses, and he had studied the Vedic literatures and other subsidiary literatures. He was expert in giving charity, and he was always satisfied, tolerant, very gentle, learned and nonenvious. He was self-realized and engaged in the devotional service of the Lord. He remained always in a trance. He had nine equally qualified sons by his first wife, and by his second wife he begot twinsa brother and a sister, of which the male child was said to be the topmost devotee and foremost of saintly kingsBharata Mahārāja. This, then, is the story of the birth he took after giving up the body of a deer.

3Due to his being especially gifted with the Lord's mercy, Bharata Mahārāja could remember the incidents of his past life. Although he received the body of a brāhmaṇa, he was still very much afraid of his relatives and friends who were not devotees. He was always very cautious of such association because he feared that he would again fall down. Consequently he manifested himself before the public eye as a madmandull, blind and deafso that others would not try to talk to him. In this way he saved himself from bad association. Within he was always thinking of the lotus feet of the Lord and chanting the Lord's glories, which save one from the bondage of fruitive action. In this way he saved himself from the onslaught of nondevotee associates.

4The brāhmaṇa father's mind was always filled with affection for his son, Jaḍa Bharata [Bharata Mahārāja]. Therefore he was always attached to Jaḍa Bharata. Because Jaḍa Bharata was unfit to enter the gṛhastha-āśrama, he simply executed the purificatory process up to the end of the brahmacarya-āśrama. Although Jaḍa Bharata was unwilling to accept his father's instructions, the brāhmaṇa nonetheless instructed him in how to keep clean and how to wash, thinking that the son should be taught by the father.

5Jaḍa Bharata behaved before his father like a fool, despite his father's adequately instructing him in Vedic knowledge. He behaved in that way so that his father would know that he was

unfit for instruction and would abandon the attempt to instruct him further. He would behave in a completely opposite way. Although instructed to wash his hands after evacuating, he would wash them before. Nonetheless, his father wanted to give him Vedic instructions during the spring and summer. He tried to teach him the Gāyatrī mantra along with oṁkāra and vyāhṛti, but after four months his father still was not successful in instructing him.

6The brāhmaṇa father of Jaḍa Bharata considered his son his heart and soul, and therefore he was very much attached to him. He thought it wise to educate his son properly, and being absorbed in this unsuccessful endeavor, he tried to teach his son the rules and regulations of brahmacaryaincluding the execution of the Vedic vows, cleanliness, study of the Vedas, the regulative methods, service to the spiritual master and the method of offering a fire sacrifice. He tried his best to teach his son in this way, but all his endeavors failed. In his heart he hoped that his son would be a learned scholar, but all his attempts were unsuccessful. Like everyone, this brāhmaṇa was attached to his home, and he had forgotten that someday he would die. Death, however, was not forgetful. At the proper time, death appeared and took him away.

7Thereafter, the brāhmaṇa's younger wife, after entrusting her twin childrenthe boy and girlto the elder wife, departed for Patiloka, voluntarily dying with her husband.

8After the father died, the nine stepbrothers of Jaḍa Bharata, who considered Jaḍa Bharata dull and brainless, abandoned the father's attempt to give Jaḍa Bharata a complete education. The stepbrothers of Jaḍa Bharata were learned in the three Vedasthe Ṛg Veda, Sāma Veda and Yajur Vedawhich very much encourage fruitive activity. The nine brothers were not at all spiritually enlightened in devotional service to the Lord. Consequently they could not understand the highly exalted position of Jaḍa Bharata.

9-10Degraded men are actually no better than animals. The only difference is that animals have four legs and such men have only two. These two-legged, animalistic men used to call Jaḍa Bharata mad, dull, deaf and dumb. They mistreated him, and Jaḍa Bharata behaved for them like a madman who was deaf, blind or dull. He did not protest or try to convince them that he was not so. If others wanted him to do something, he acted according to their desires. Whatever food he could acquire by begging or by wages, and whatever came of its own accordbe it a small quantity, palatable, stale or tastelesshe would accept and eat. He never ate anything for sense gratification because he was already liberated from the bodily conception, which induces one to accept palatable or unpalatable food. He was full in the transcendental consciousness of devotional service, and therefore he was unaffected by the dualities arising from the bodily conception. Actually his body was as strong as a bull's, and his limbs were very muscular. He didn't care for winter or summer, wind or rain, and he never covered his body at any time. He lay on the ground, and never smeared oil on his body or took a bath. Because his body was dirty, his spiritual effulgence and knowledge were covered, just as the splendor of a valuable gem is covered by dirt. He only wore a dirty loincloth and his sacred thread, which was blackish. Understanding that he was born in a brāhmaṇa family, people would call him a brahma-bandhu and other names. Being thus insulted and neglected by materialistic people, he wandered here and there.

11Jaḍa Bharata used to work only for food. His stepbrothers took advantage of this and engaged him in agricultural field work in exchange for some food, but actually he did not know how to work very well in the field. He did not know where to spread dirt or where to make the ground level or uneven. His brothers used to give him broken rice, oil cakes, the chaff of rice, worm-eaten grains and burned grains that had stuck to the pot, but he gladly accepted all this as if it were nectar. He did not hold any grudges and ate all this very gladly.

12At this time, being desirous of obtaining a son, a leader of dacoits who came from a śūdra

family wanted to worship the goddess Bhadra Kālī by offering her in sacrifice a dull man, who is considered no better than an animal.

13The leader of the dacoits captured a man-animal for sacrifice, but he escaped, and the leader ordered his followers to find him. They ran in different directions but could not find him. Wandering here and there in the middle of the night, covered by dense darkness, they came to a paddy field where they saw the exalted son of the Āṅgirā family [Jaḍa Bharata], who was sitting in an elevated place guarding the field against the attacks of deer and wild pigs.

14The followers and servants of the dacoit chief considered Jaḍa Bharata to possess qualities quite suitable for a man-animal, and they decided that he was a perfect choice for sacrifice. Their faces bright with happiness, they bound him with ropes and brought him to the temple of the goddess Kālī.

15After this, all the thieves, according to their imaginative ritual for killing animalistic men, bathed Jaḍa Bharata, dressed him in new clothes, decorated him with ornaments befitting an animal, smeared his body with scented oils and decorated him with tilaka, sandalwood pulp and garlands. They fed him sumptuously and then brought him before the goddess Kālī, offering her incense, lamps, garlands, parched grain, newly grown twigs, sprouts, fruits and flowers. In this way they worshiped the deity before killing the man-animal, and they vibrated songs and prayers and played drums and bugles. Jaḍa Bharata was then made to sit down before the deity.

16At this time, one of the thieves, acting as the chief priest, was ready to offer the blood of Jaḍa Bharata, whom they imagined to be an animal-man, to the goddess Kālī to drink as a liquor. He therefore took up a very fearsome sword, which was very sharp and, consecrating it by the mantra of Bhadra Kālī, raised it to kill Jaḍa Bharata.

17All the rogues and thieves who had made arrangements for the worship of Goddess Kālī were low minded and bound to the modes of passion and ignorance. They were overpowered by the desire to become very rich; therefore they had the audacity to disobey the injunctions of the Vedas, so much so that they were prepared to kill Jaḍa Bharata, a self-realized soul born in a brāhmaṇa family. Due to their envy, these dacoits brought him before the goddess Kālī for sacrifice. Such people are always addicted to envious activities, and therefore they dared to try to kill Jaḍa Bharata. Jaḍa Bharata was the best friend of all living entities. He was no one's enemy, and he was always absorbed in meditation on the Supreme Personality of Godhead. He was born of a good brāhmaṇa father, and killing him was forbidden, even though he might have been an enemy or aggressive person. In any case, there was no reason to kill Jaḍa Bharata, and the goddess Kālī could not bear this. She could immediately understand that these sinful dacoits were about to kill a great devotee of the Lord. Suddenly the deity's body burst asunder, and the goddess Kālī personally emerged from it in a body burning with an intense and intolerable effulgence.

18Intolerant of the offenses committed, the infuriated Goddess Kālī flashed her eyes and displayed her fierce, curved teeth. Her reddish eyes glowed, and she displayed her fearsome features. She assumed a frightening body, as if she were prepared to destroy the entire creation. Leaping violently from the altar, she immediately decapitated all the rogues and thieves with the very sword with which they had intended to kill Jaḍa Bharata. She then began to drink the hot blood that flowed from the necks of the beheaded rogues and thieves, as if this blood were liquor. Indeed, she drank this intoxicant with her associates, who were witches and female demons. Becoming intoxicated with this blood, they all began to sing very loudly and dance as though prepared to annihilate the entire universe. At the same time, they began to

play with the heads of the rogues and thieves, tossing them about as if they were balls.

19When an envious person commits an offense before a great personality, he is always punished in the way mentioned above.

20Śukadeva Gosvāmī then said to Mahārāja Parīkṣit: O Viṣṇudatta, those who already know that the soul is separate from the body, who are liberated from the invincible knot in the heart, who are always engaged in welfare activities for all living entities and who never contemplate harming anyone are always protected by the Supreme Personality of Godhead, who carries His disc [the Sudarśana cakra] and acts as supreme time to kill the demons and protect His devotees. The devotees always take shelter at the lotus feet of the Lord. Therefore at all times, even if threatened by decapitation, they remain unagitated. For them, this is not at all wonderful.

### SB 5.10: The Discussion Between Jaḍa Bharata and Mahārāja Rahūgaṇa

In this chapter Bharata Mahārāja, now Jaḍa Bharata, was successfully accepted by King Rahūgaṇa, ruler of the states known as Sindhu and Sauvīra. The King forced Jaḍa Bharata to carry his palanquin and chastised him because he did not carry it properly. A carrier of King Rahūgaṇa's palanquin was needed, and to fulfill this need the chief carriers found Jaḍa Bharata as the most likely person to do the work. He was therefore forced to carry the palanquin. Jaḍa Bharata, however, did not protest this proud order, but humbly accepted the job and carried the palanquin. While carrying it, however, he was very careful to see that he did not step on an ant, and whenever he saw one he would stop until the ant had passed. Because of this, he could not keep pace with the other carriers. The King within the palanquin became very disturbed and chastised Jaḍa Bharata with filthy language, but Jaḍa Bharata, being completely freed from the bodily conception, did not protest; he proceeded carrying the palanquin. When he continued as before, the King threatened him with punishment, and being threatened by the King, Jaḍa Bharata began to talk. He protested against the filthy language used by the King when the King chastised him, and the King, hearing the instructions of Jaḍa Bharata, was awakened to his real knowledge. When he came to his consciousness, he understood that he had offended a great, learned and saintly person. At that time he very humbly and respectfully prayed to Jaḍa Bharata. He now wanted to understand the deep meaning of the philosophical words used by Jaḍa Bharata, and with great sincerity he begged his pardon. He admitted that if one offends the lotus feet of a pure devotee he is certainly punished by the trident of Lord Śiva.

1Śukadeva Gosvāmī continued: My dear King, after this, King Rahūgaṇa, ruler of the states known as Sindhu and Sauvīra, was going to Kapilāśrama. When the King's chief palanquin carriers reached the banks of the river Ikṣumatī, they needed another carrier. Therefore they began searching for someone, and by chance they came upon Jaḍa Bharata. They considered the fact that Jaḍa Bharata was very young and strong and had firm limbs. Like cows and asses, he was quite fit to carry loads. Thinking in this way, although the great soul Jaḍa Bharata was unfit for such work, they nonetheless unhesitatingly forced him to carry the palanquin.

2The palanquin, however, was very erratically carried by Jaḍa Bharata due to his sense of nonviolence. As he stepped forward, he checked before him every three feet to see whether he was about to step on ants. Consequently he could not keep pace with the other carriers. Due to this, the palanquin was shaking, and King Rahūgaṇa immediately asked the carriers, "Why are you carrying this palanquin unevenly? Better carry it properly."

3When the palanquin carriers heard the threatening words of Mahārāja Rahūgaṇa, they became very afraid of his punishment and began to speak to him as follows.

4O lord, please note that we are not at all negligent in discharging our duties. We have been faithfully carrying this palanquin according to your desire, but this man who has been recently engaged to work with us cannot walk very swiftly. Therefore we are not able to carry the palanquin with him.

5King Rahūgaṇa could understand the speeches given by the carriers, who were afraid of being punished. He could also understand that simply due to the fault of one person, the palanquin was not being carried properly. Knowing this perfectly well and hearing their appeal, he became a little angry, although he was very advanced in political science and was very experienced. His anger arose due to his inborn nature as a king. Actually King Rahūgaṇa's mind was covered by the mode of passion, and he therefore spoke as follows to Jaḍa Bharata, whose Brahman effulgence was not clearly visible, being covered like a fire covered by ashes.

6King Rahūgaṇa told Jaḍa Bharata: How troublesome this is, my dear brother. You certainly appear very fatigued because you have carried this palanquin alone without assistance for a long time and for a long distance. Besides that, due to your old age you have become greatly troubled. My dear friend, I see that you are not very firm, nor very strong and stout. Aren't your fellow carriers cooperating with you?

7Thereafter, when the King saw that his palanquin was still being shaken by the carriers, he became very angry and said: You rascal, what are you doing? Are you dead despite the life within your body? Do you not know that I am your master? You are disregarding me and are not carrying out my order. For this disobedience I shall now punish you just as Yamarāja, the superintendent of death, punishes sinful people. I shall give you proper treatment so that you will come to your senses and do the correct thing.

8Thinking himself a king, King Rahūgaṇa was in the bodily conception and was influenced by material nature's modes of passion and ignorance. Due to madness, he chastised Jaḍa Bharata with uncalled-for and contradictory words. Jaḍa Bharata was a topmost devotee and the dear abode of the Supreme Personality of Godhead. Although considering himself very learned, the King did not know about the position of an advanced devotee situated in devotional service, nor did he know his characteristics. Jaḍa Bharata was the residence of the Supreme Personality of Godhead; he always carried the form of the Lord within his heart. He was the dear friend of all living beings, and he did not entertain any bodily conception. He therefore smiled and spoke the following words.

9The great brāhmaṇa Jaḍa Bharata said: My dear King and hero, whatever you have spoken sarcastically is certainly true. Actually these are not simply words of chastisement, for the body is the carrier. The load carried by the body does not belong to me, for I am the spirit soul. There is no contradiction in your statements because I am different from the body. I am not the carrier of the palanquin; the body is the carrier. Certainly, as you have hinted, I have not labored carrying the palanquin, for I am detached from the body. You have said that I am not stout and strong, and these words are befitting a person who does not know the distinction between the body and the soul. The body may be fat or thin, but no learned man would say such things of the spirit soul. As far as the spirit soul is concerned, I am neither fat nor skinny; therefore you are correct when you say that I am not very stout. Also, if the object of this journey and the path leading there were mine, there would be many troubles for me, but because they relate not to me but to my body, there is no trouble at all.

10Fatness, thinness, bodily and mental distress, thirst, hunger, fear, disagreement, desires for material happiness, old age, sleep, attachment for material possessions, anger, lamentation, illusion and identification of the body with the self are all transformations of the material covering of the spirit soul. A person absorbed in the material bodily conception is affected by

these things, but I am free from all bodily conceptions. Consequently I am neither fat nor skinny nor anything else you have mentioned.

11My dear King, you have unnecessarily accused me of being dead though alive. In this regard, I can only say that this is the case everywhere because everything material has its beginning and end. As far as your thinking that you are the king and master and are thus trying to order me, this is also incorrect because these positions are temporary. Today you are a king and I am your servant, but tomorrow the position may be changed, and you may be my servant and I your master. These are temporary circumstances created by providence.

12My dear King, if you still think that you are the King and that I am your servant, you should order me, and I should follow your order. I can then say that this differentiation is temporary, and it expands only from usage or convention. I do not see any other cause. In that case, who is the master, and who is the servant? Everyone is being forced by the laws of material nature; therefore no one is master, and no one is servant. Nonetheless, if you think that you are the master and that I am the servant, I shall accept this. Please order me. What can I do for you?

13My dear King, you have said, "You rascal, you dull, crazy fellow! I am going to chastise you, and then you will come to your senses." In this regard, let me say that although I live like a dull, deaf and dumb man, I am actually a self-realized person. What will you gain by punishing me? If your calculation is true and I am a madman, then your punishment will be like beating a dead horse. There will be no effect. When a madman is punished, he is not cured of his madness.

14Śukadeva Gosvāmī said: O Mahārāja Parīkṣit, when King Rahūgaṇa chastised the exalted devotee Jaḍa Bharata with harsh words, that peaceful, saintly person tolerated it all and replied properly. Nescience is due to the bodily conception, and Jaḍa Bharata was not affected by this false conception. Out of his natural humility, he never considered himself a great devotee, and he agreed to suffer the results of his past karma. Like an ordinary man, he thought that by carrying the palanquin he was destroying the reactions of his past misdeeds. Thinking in this way, he began to carry the palanquin as before.

15Śukadeva Gosvāmī continued: O best of the Pāṇḍu dynasty [Mahārāja Parīkṣit], the King of the Sindhu and Sauvīra states [Mahārāja Rahūgaṇa] had great faith in discussions of the Absolute Truth. Being thus qualified, he heard from Jaḍa Bharata that philosophical presentation which is approved by all scriptures on the mystic yoga process and which slackens the knot in the heart. His material conception of himself as a king was thus destroyed. He immediately descended from his palanquin and fell flat on the ground with his head at the lotus feet of Jaḍa Bharata in such a way that he might be excused for his insulting words against the great brāhmaṇa. He then prayed as follows.

16King Rahūgaṇa said: O brāhmaṇa, you appear to be moving in this world very much covered and unknown to others. Who are you? Are you a learned brāhmaṇa and saintly person? I see that you are wearing a sacred thread. Are you one of those exalted, liberated saints such as Dattātreya and other highly advanced, learned scholars? May I ask whose disciple you are? Where do you live? Why have you come to this place? Is your mission in coming here to do good for us? Please let me know who you are.

17My dear sir, I am not at all afraid of the thunderbolt of King Indra, nor am I afraid of the serpentine, piercing trident of Lord Śiva. I do not care about the punishment of Yamarāja, the superintendent of death, nor am I afraid of fire, scorching sun, moon, wind, nor the weapons of Kuvera. Yet I am afraid of offending a brāhmaṇa. I am very much afraid of this.

18My dear sir, it appears that the influence of your great spiritual knowledge is hidden. Factually you are bereft of all material association and fully absorbed in the thought of the Supreme. Consequently you are unlimitedly advanced in spiritual knowledge. Please tell me why you are wandering around like a dullard. O great saintly person, you have spoken words approved by the yogic process, but it is not possible for us to understand what you have said. Therefore kindly explain it.

19I consider your good self the most exalted master of mystic power. You know the spiritual science perfectly well. You are the most exalted of all learned sages, and you have descended for the benefit of all human society. You have come to give spiritual knowledge, and you are a direct representative of Kapiladeva, the incarnation of God and the plenary portion of knowledge. I am therefore asking you, O spiritual master, what is the most secure shelter in this world?

20Is it not a fact that your good self is the direct representative of Kapiladeva, the incarnation of the Supreme Personality of Godhead? To examine people and see who is actually a human being and who is not, you have presented yourself to be a deaf and dumb person. Are you not moving this way upon the surface of the world? I am very attached to family life and worldly activities, and I am blind to spiritual knowledge. Nonetheless, I am now present before you and am seeking enlightenment from you. How can I advance in spiritual life?

21You have said, "I am not fatigued from labor." Although the soul is different from the body, there is fatigue because of bodily labor, and it appears to be the fatigue of the soul. When you are carrying the palanquin, there is certainly labor for the soul. This is my conjecture. You have also said that the external behavior exhibited between the master and the servant is not factual, but although in the phenomenal world it is not factual, the products of the phenomenal world can actually affect things. That is visible and experienced. As such, even though material activities are impermanent, they cannot be said to be untrue.

22King Rahūgaṇa continued: My dear sir, you have said that designations like bodily fatness and thinness are not characteristics of the soul. That is incorrect because designations like pain and pleasure are certainly felt by the soul. You may put a pot of milk and rice within fire, and the milk and rice are automatically heated one after the other. Similarly, due to bodily pains and pleasures, the senses, mind and soul are affected. The soul cannot be completely detached from this conditioning.

23My dear sir, you have said that the relationship between the king and the subject or between the master and the servant are not eternal, but although such relationships are temporary, when a person takes the position of a king his duty is to rule the citizens and punish those who are disobedient to the laws. By punishing them, he teaches the citizens to obey the laws of the state. Again, you have said that punishing a person who is deaf and dumb is like chewing the chewed or grinding the pulp; that is to say, there is no benefit in it. However, if one is engaged in his own occupational duty as ordered by the Supreme Lord, his sinful activities are certainly diminished. Therefore if one is engaged in his occupational duty by force, he benefits because he can vanquish all his sinful activities in that way.

24Whatever you have spoken appears to me to be contradictory. O best friend of the distressed, I have committed a great offense by insulting you. I was puffed up with false prestige due to possessing the body of a king. For this I have certainly become an offender. Therefore I pray that you kindly glance at me with your causeless mercy. If you do so, I can be relieved from sinful activities brought about by insulting you.

25O my dear lord, you are the friend of the Supreme Personality of Godhead, who is the friend of all living entities. You are therefore equal to everyone, and you are free from the bodily

conception. Although I have committed an offense by insulting you, I know that there is no loss or gain for you due to my insult. You are fixed in your determination, but I have committed an offense. Because of this, even though I may be as strong as Lord Śiva, I shall be vanquished without delay due to my offense at the lotus feet of a Vaiṣṇava.

**SB 5.11: Jaḍa Bharata Instructs King Rahūgaṇa**

In this chapter the *brāhmaṇa* Jaḍa Bharata instructs Mahārāja Rahūgaṇa in detail. He tells the King: "You are not very experienced, yet you pose yourself as a learned person because you are very proud of your knowledge. Actually a person who is on the transcendental platform does not care for social behavior that sacrifices spiritual advancement. Social behavior comes within the jurisdiction of *karma-kāṇḍa,* material benefit. No one can spiritually advance by such activities. The conditioned soul is always overpowered by the modes of material nature, and consequently he is simply concerned with material benefits and auspicious and inauspicious material things. In other words, the mind, which is the leader of the senses, is absorbed in material activities life after life. Thus he continuously gets different types of bodies and suffers miserable material conditions. On the basis of mental concoction, social behavior has been formulated. If one's mind is absorbed in these activities, he certainly remains conditioned within the material world. According to different opinions, there are eleven or twelve mental activities, which can be transformed into hundreds and thousands. A person who is not Kṛṣṇa conscious is subjected to all these mental concoctions and is thus governed by the material energy. The living entity who is free from mental concoctions attains the platform of pure spirit soul, devoid of material contamination. There are two types of living entities: *jīvātmā* and *Paramātmā,* the individual soul and the Supreme Soul. That Supreme Soul in His ultimate realization is Lord Vāsudeva, Kṛṣṇa. He enters into everyone's heart and controls the living entity in his different activities. He is therefore the supreme shelter of all living entities. One can understand the Supreme Soul and one's position in relationship with Him when one is completely freed from the unwanted association of ordinary men. In this way one can become fit to cross the ocean of nescience. The cause of conditional life is attachment to the external energy. One has to conquer these mental concoctions: unless one does so, he will never be freed from material anxieties. Although mental concoctions have no value, their influence is still very formidable. No one should neglect to control the mind. If one does, the mind becomes so powerful that one immediately forgets his real position. Forgetting that he is an eternal servant of Kṛṣṇa and that service to Kṛṣṇa is his only business, one is doomed by material nature to serve the objects of the senses. One should kill mental concoctions by the sword of service to the Supreme Personality of Godhead and His devotee (*guru-kṛṣṇa-prasāde pāya bhakti-latā-bīja*)."

1The brāhmaṇa Jaḍa Bharata said: My dear King, although you are not at all experienced, you are trying to speak like a very experienced man. Consequently you cannot be considered an experienced person. An experienced person does not speak the way you are speaking about the relationship between a master and a servant or about material pains and pleasures. These are simply external activities. Any advanced, experienced man, considering the Absolute Truth, does not talk in this way.

2My dear King, talks of the relationship between the master and the servant, the king and the subject and so forth are simply talks about material activities. People interested in material activities which are expounded in the Vedas are intent on performing material sacrifices and placing faith in their material activities. For such people, spiritual advancement is definitely not manifest.

3A dream becomes automatically known to a person as false and immaterial, and similarly one eventually realizes that material happiness in this life or the next, on this planet or a higher

planet, is insignificant. When one realizes this, the Vedas, although an excellent source, are insufficient to bring about direct knowledge of the truth.

4As long as the mind of the living entity is contaminated by the three modes of material nature (goodness, passion and ignorance), his mind is exactly like an independent, uncontrolled elephant. It simply expands its jurisdiction of pious and impious activities by using the senses. The result is that the living entity remains in the material world to enjoy and suffer pleasures and pains due to material activity.

5Because the mind is absorbed in desires for pious and impious activities, it is naturally subjected to the transformations of lust and anger. In this way, it becomes attracted to material sense enjoyment. In other words, the mind is conducted by the modes of goodness, passion and ignorance. There are eleven senses and five material elements, and out of these sixteen items, the mind is the chief. Therefore the mind brings about birth in different types of bodies among demigods, human beings, animals and birds. When the mind is situated in a higher or lower position, it accepts a higher or lower material body.

6The materialistic mind covering the living entity's soul carries it to different species of life. This is called continued material existence. Due to the mind, the living entity suffers or enjoys material distress and happiness. Being thus illusioned, the mind further creates pious and impious activities and their karma, and thus the soul becomes conditioned.

7The mind makes the living entity within this material world wander through different species of life, and thus the living entity experiences mundane affairs in different forms as a human being, demigod, fat person, skinny person and so forth. Learned scholars say that bodily appearance, bondage and liberation are caused by the mind.

8When the living entity's mind becomes absorbed in the sense gratification of the material world, it brings about his conditioned life and suffering within the material situation. However, when the mind becomes unattached to material enjoyment, it becomes the cause of liberation. When the flame in a lamp burns the wick improperly, the lamp is blackened, but when the lamp is filled with ghee and is burning properly, there is bright illumination. Similarly, when the mind is absorbed in material sense gratification, it causes suffering, and when detached from material sense gratification it brings about the original brightness of Kṛṣṇa consciousness.

9There are five working senses and five knowledge-acquiring senses. There is also the false ego. In this way, there are eleven items for the mind's functions. O hero, the objects of the senses [such as sound and touch], the organic activities [such as evacuation] and the different types of bodies, society, friendship and personality are considered by learned scholars the fields of activity for the functions of the mind.

10Sound, touch, form, taste and smell are the objects of the five knowledge-acquiring senses. Speech, touch, movement, evacuation and sexual intercourse are the objects of the working senses. Besides this, there is another conception by which one thinks, "This is my body, this is my society, this is my family, this is my nation," and so forth. This eleventh function of the mind is called the false ego. According to some philosophers, this is the twelfth function, and its field of activity is the body.

11The physical elements, nature, the original cause, culture, destiny and the time element are all material causes. Agitated by these material causes, the eleven functions transform into hundreds of functions and then into thousands and then into millions. But all these transformations do not take place automatically by mutual combination. Rather, they are under the direction of the Supreme Personality of Godhead.

12The individual soul bereft of Kṛṣṇa consciousness has many ideas and activities created in the mind by the external energy. They have been existing from time immemorial. Sometimes they are manifest in the wakening state and in the dream state, but during deep sleep [unconsciousness] or trance, they disappear. A person who is liberated in this life [jīvan-mukta] can see all these things vividly.

13-14There are two kinds of kṣetrajṣathe living entity, as explained above, and the Supreme Personality of Godhead, who is explained as follows. He is the all-pervading cause of creation. He is full in Himself and is not dependent on others. He is perceived by hearing and direct perception. He is self-effulgent and does not experience birth, death, old age or disease. He is the controller of all the demigods, beginning with Lord Brahmā. He is called Nārāyaṇa, and He is the shelter of living entities after the annihilation of this material world. He is full of all opulences, and He is the resting place of everything material. He is therefore known as Vāsudeva, the Supreme Personality of Godhead. By His own potency, He is present within the hearts of all living entities, just as the air or vital force is within the bodies of all beings, moving and nonmoving. In this way He controls the body. In His partial feature, the Supreme Personality of Godhead enters all bodies and controls them.

15My dear King Rahūgaṇa, as long as the conditioned soul accepts the material body and is not freed from the contamination of material enjoyment, and as long as he does not conquer his six enemies and come to the platform of self-realization by awakening his spiritual knowledge, he has to wander among different places and different species of life in this material world.

16The soul's designation, the mind, is the cause of all tribulations in the material world. As long as this fact is unknown to the conditioned living entity, he has to accept the miserable condition of the material body and wander within this universe in different positions. Because the mind is affected by disease, lamentation, illusion, attachment, greed and enmity, it creates bondage and a false sense of intimacy within this material world.

17This uncontrolled mind is the greatest enemy of the living entity. If one neglects it or gives it a chance, it will grow more and more powerful and will become victorious. Although it is not factual, it is very strong. It covers the constitutional position of the soul. O King, please try to conquer this mind by the weapon of service to the lotus feet of the spiritual master and of the Supreme Personality of Godhead. Do this with great care.

### SB 5.12: Conversation Between Mahārāja Rahūgaṇa and Jaḍa Bharata

Because Mahārāja Rahūgaṇa was still doubtful about his enlightenment, he asked the *brāhmaṇa* Jaḍa Bharata to repeat his instructions and clarify ideas he could not understand. In this chapter, Mahārāja Rahūgaṇa offers his respectful obeisances to Jaḍa Bharata, who was concealing his real position. The King could understand by his speech how exalted and advanced he was in spiritual knowledge. He very much regretted his offense against him. Mahārāja Rahūgaṇa was bitten by the serpent of ignorance, but was cured by the nectarean words of Jaḍa Bharata. Later, because he was doubtful about the subjects discussed, he made further inquiries, one question after another. First he wanted to be released from the offense he had committed at the lotus feet of Jaḍa Bharata.

Mahārāja Rahūgaṇa was somewhat unhappy at not being able to grasp Jaḍa Bharata's instructions, which were full of meaning that could not be understood by a materialistic person. Therefore Jaḍa Bharata repeated his instructions more clearly. He said that on the surface of the globe all living entities, moving and unmoving, were but transformations of the earth in different ways. The King was very proud of his king's body, but that body was simply another transformation of the earth. Out of his false prestige, the King was miSBehaving

toward the palanquin carrier, as a master toward a servant, and he was actually very unkind to other living entities. Consequently King Rahūgaṇa was unfit to give protection to the citizens, and because he was ignorant, he was unfit to be counted among advanced philosophers. Everything in the material world is but a transformation of the earth, although things have different names according to their transformations. Actually the varieties are one and the same, and ultimately all these varieties are vanquished into atoms. Nothing is permanent in this material world. The variety of things and their distinctions are simply mental concoctions. The Absolute Truth is beyond illusion and is manifest in three featuresimpersonal Brahman, localized Paramātmā and the Supreme Personality of Godhead. Ultimate realization of the Absolute Truth is the Supreme Personality of Godhead, called Vāsudeva by His devotees. Unless one is blessed with the dust from the feet of a pure devotee on his head, one cannot possibly become a devotee of the Supreme Personality of Godhead.

Jaḍa Bharata also told about his own previous birth and informed the King that by the grace of the Lord he still remembered all the incidents of his past life. Due to the activities of his past life, Jaḍa Bharata was being very cautious and was therefore assuming the characteristics of a deaf and dumb man to avoid mingling with the material world. Association with the material modes of nature is very powerful. The bad association of materialistic men can be avoided only in the association of devotees. In the association of devotees, one is given an opportunity to render devotional service in nine different ways*śravaṇaṁ kīrtanaṁ viṣṇoḥ smaraṇaṁ pāda-sevanam arcanaṁ vandanaṁ dāsyaṁ sakhyam ātma-nivedanam.* In this way, in the association of devotees, one can pass over material association, cross over the ocean of nescience and return home, back to Godhead.

1King Rahūgaṇa said: O most exalted personality, you are not different from the Supreme Personality of Godhead. By the influence of your true self, all kinds of contradiction in the śāstras have been removed. In the dress of a friend of a brāhmaṇa, you are hiding your transcendental blissful position. I offer my respectful obeisances unto you.

2O best of the brāhmaṇas, my body is filled with dirty things, and my vision has been bitten by the serpent of pride. Due to my material conceptions, I am diseased. Your nectarean instructions are the proper medicine for one suffering from such a fever, and they are cooling waters for one scorched by the heat.

3Whatever doubts I have about a particular subject matter I shall ask you about later. For the time being, these mysterious yoga instructions you have given me for self-realization appear very difficult to understand. Please repeat them in a simple way so that I can understand them. My mind is very inquisitive, and I want to understand this clearly.

4O master of yogic power, you said that fatigue resulting from moving the body here and there is appreciated by direct perception but actually there is no fatigue. It simply exists as a matter of formality. By such inquiries and answers, no one can come to the conclusion of the Absolute Truth. Because of your presentation of this statement, my mind is a little disturbed.

5-6The self-realized brāhmaṇa Jaḍa Bharata said: Among the various material combinations and permutations, there are various forms and earthly transformations. For some reason, these move on the surface of the earth and are called palanquin carriers. Those material transformations which do not move are gross material objects like stones. In any case, the material body is made of earth and stone in the form of feet, ankles, calves, knees, thighs, torso, throat and head. Upon the shoulders is the wooden palanquin, and within the palanquin is the so-called King of Sauvīra. The body of the King is simply another transformation of earth, but within that body Your Lordship is situated and falsely thinking that you are the King of the state of Sauvīra.

7It is a fact, however, that these innocent people carrying your palanquin without payment are certainly suffering due to this injustice. Their condition is very lamentable because you have forcibly engaged them in carrying your palanquin. This proves that you are cruel and unkind, yet due to false prestige you were thinking that you were protecting the citizens. This is ludicrous. You were such a fool that you could not have been adored as a great man in an assembly of persons advanced in knowledge.

8All of us on the surface of the globe are living entities in different forms. Some of us are moving and some not moving. All of us come into existence, remain for some time and are annihilated when the body is again mingled with the earth. We are all simply different transformations of the earth. Different bodies and capacities are simply transformations of the earth that exist in name only, for everything grows out of the earth and when everything is annihilated it again mingles with the earth. In other words, we are but dust, and we shall but be dust. Everyone can consider this point.

9One may say that varieties arise from the planet earth itself. However, although the universe may temporarily appear to be the truth, it ultimately has no real existence. The earth was originally created by a combination of atomic particles, but these particles are impermanent. Actually the atom is not the cause of the universe, although some philosophers think so. It is not a fact that the varieties found in this material world simply result from atomic juxtaposition or combination.

10Since this universe has no real ultimate existence, the things within itshortness, differences, grossness, skinniness, smallness, bigness, result, cause, living symptoms, and materialsare all imagined. They are all pots made of the same substance, earth, but they are named differently. The differences are characterized by the substance, nature, predisposition, time and activity. You should know that all these are simply mechanical manifestations created by material nature.

11What, then, is the ultimate truth? The answer is that nondual knowledge is the ultimate truth. It is devoid of the contamination of material qualities. It gives us liberation. It is the one without a second, all-pervading and beyond imagination. The first realization of that knowledge is Brahman. Then Paramātmā, the Supersoul, is realized by the yogīs who try to see Him without grievance. This is the second stage of realization. Finally, full realization of the same supreme knowledge is realized in the Supreme Person. All learned scholars describe the Supreme Person as Vāsudeva, the cause of Brahman, Paramātmā and others.

12My dear King Rahūgaṇa, unless one has the opportunity to smear his entire body with the dust of the lotus feet of great devotees, one cannot realize the Absolute Truth. One cannot realize the Absolute Truth simply by observing celibacy [brahmacarya], strictly following the rules and regulations of householder life, leaving home as a vānaprastha, accepting sannyāsa, or undergoing severe penances in winter by keeping oneself submerged in water or surrounding oneself in summer by fire and the scorching heat of the sun. There are many other processes to understand the Absolute Truth, but the Absolute Truth is only revealed to one who has attained the mercy of a great devotee.

13Who are the pure devotees mentioned here? In an assembly of pure devotees, there is no question of discussing material subjects like politics and sociology. In an assembly of pure devotees, there is discussion only of the qualities, forms and pastimes of the Supreme Personality of Godhead. He is praised and worshiped with full attention. In the association of pure devotees, by constantly hearing such topics respectfully, even a person who wants to merge into the existence of the Absolute Truth abandons this idea and gradually becomes attached to the service of Vāsudeva.

14In a previous birth I was known as Mahārāja Bharata. I attained perfection by becoming completely detached from material activities through direct experience, and through indirect experience I received understanding from the Vedas. I was fully engaged in the service of the Lord, but due to my misfortune, I became very affectionate to a small deer, so much so that I neglected my spiritual duties. Due to my deep affection for the deer, in my next life I had to accept the body of a deer.

15My dear heroic King, due to my past sincere service to the Lord, I could remember everything of my past life even while in the body of a deer. Because I am aware of the falldown in my past life, I always keep myself separate from the association of ordinary men. Being afraid of their bad, materialistic association, I wander alone unnoticed by others.

16Simply by associating with exalted devotees, anyone can attain perfection of knowledge and with the sword of knowledge can cut to pieces the illusory associations within this material world. Through the association of devotees, one can engage in the service of the Lord by hearing and chanting [śravaṇaṁ kīrtanam]. Thus one can revive his dormant Kṛṣṇa consciousness and, sticking to the cultivation of Kṛṣṇa consciousness, return home, back to Godhead, even in this life.

### SB 5.13: Further Talks Between King Rahūgaṇa and Jaḍa Bharata

The *brāhmaṇa* Jaḍa Bharata became very kind to King Rahūgaṇa, and to disassociate him from the material world, he spoke figuratively of the forest of the material world. He explained that this material world is like a great forest in which one becomes entangled due to association with material life. In this forest there are plunderers (the six senses) as well as carnivorous animals like jackals, wolves and lions (wife, children and other relatives) who are always anxious to suck the blood from the head of the family. The forest plunderers and the carnivorous blood-sucking animals combine to exploit the energy of a man within this material world. In this forest there is also a black hole, covered by grass, into which one may fall. Coming into the forest and being captivated by so many material attractions, one identifies himself with this material world, society, friendship, love and family. Having lost the path and not knowing where to go, being harassed by animals and birds, one is also victimized by many desires. Thus one works very hard within the forest and wanders here and there. He becomes captivated by temporary happiness and becomes aggrieved by so-called distress. Actually one simply suffers in the forest from so-called happiness and distress. Sometimes he is attacked by a snake (deep sleep), and due to the snakebite he loses consciousness and becomes puzzled and bewildered about discharging his duties. Sometimes he is attracted by women other than his wife, and thus be thinks he enjoys extramarital love with another woman. He is attacked by various diseases, by lamentation and by summer and winter. Thus one within the forest of the material world suffers the pains of material existence. Expecting to become happy, the living entity changes his position from one place to another, but actually a materialistic person within the material world is never happy. Being constantly engaged in materialistic activities, he is always disturbed. He forgets that one day he has to die. Although he suffers severely, being illusioned by the material energy, he still hankers after material happiness. In this way he completely forgets his relationship with the Supreme Personality of Godhead.

By hearing this from Jaḍa Bharata, Mahārāja Rahūgaṇa revived his Kṛṣṇa consciousness and thus benefited from Jaḍa Bharata's association. He could understand that his illusion was over, and he begged pardon from Jaḍa Bharata for his miSBehavior. All this was told to Mahārāja Parīkṣit by Śukadeva Gosvāmī.

1Jaḍa Bharata, who had fully realized Brahman, continued: My dear King Rahūgaṇa, the living entity wanders on the path of the material world, which is very difficult for him to traverse, and

he accepts repeated birth and death. Being captivated by the material world under the influence of the three modes of material nature (sattva-guṇa, rajo-guṇa and tamo-guṇa), the living entity can see only the three fruits of activities under the spell of material nature. These fruits are auspicious, inauspicious and mixed. He thus becomes attached to religion, economic development, sense gratification and the monistic theory of liberation (merging with the Supreme). He works very hard day and night exactly like a merchant who enters a forest to acquire some articles to sell later for profit. However, he cannot really achieve happiness within this material world.

2O King Rahūgaṇa, in this forest of material existence there are six very powerful plunderers. When the conditioned soul enters the forest to acquire some material gain, the six plunderers misguide him. Thus the conditioned merchant does not know how to spend his money, and it is taken away by these plunderers. Like tigers, jackals and other ferocious animals in a forest that are ready to take away a lamb from the custody of its protector, the wife and children enter the heart of the merchant and plunder him in so many ways.

3In this forest there are dense bowers composed of thickets of bushes, grass and creepers. In these bowers the conditioned soul is always disturbed by cruelly biting mosquitoes [envious people]. Sometimes he sees an imaginary palace in the forest, and sometimes he is bewildered by seeing a fleeting fiend or ghost, which appears like a meteor in the sky.

4My dear King, the merchant on the forest path of the material world, his intelligence victimized by home, wealth, relatives and so forth, runs from one place to another in search of success. Sometimes his eyes are covered by the dust of a whirlwindthat is to say, in his lust he is captivated by the beauty of his wife, especially during her menstrual period. Thus his eyes are blinded, and he cannot see where to go or what he is doing.

5Wandering in the forest of the material world, the conditioned soul sometimes hears an invisible cricket making harsh sounds, and his ears become very much aggrieved. Sometimes his heart is pained by the sounds of owls, which are just like the harsh words of his enemies. Sometimes he takes shelter of a tree that has no fruits or flowers. He approaches such a tree due to his strong appetite, and thus he suffers. He would like to acquire water, but he is simply illusioned by a mirage, and he runs after it.

6Sometimes the conditioned soul jumps into a shallow river, or being short of food grains, he goes to beg food from people who are not at all charitable. Sometimes he suffers from the burning heat of household life, which is like a forest fire, and sometimes he becomes sad to have his wealth, which is as dear as life, plundered by kings in the name of heavy income taxes.

7Sometimes, being defeated or plundered by a superior, powerful agent, a living entity loses all his possessions. He then becomes very morose, and lamenting their loss, he sometimes becomes unconscious. Sometimes he imagines a great palatial city in which he desires to live happily with his family members and riches. He thinks himself fully satisfied if this is possible, but such so-called happiness continues only for a moment.

8Sometimes the merchant in the forest wants to climb the hills and mountains, but due to insufficient footwear, his feet are pricked by small stone fragments and by thorns on the mountain. Being pricked by them, he becomes very aggrieved. Sometimes a person who is very attached to his family becomes overwhelmed with hunger, and due to his miserable condition he becomes furious with his family members.

9The conditioned soul in the material forest is sometimes swallowed by a python or crushed. At such a time he is left lying in the forest like a dead person, devoid of consciousness and

knowledge. Sometimes other poisonous snakes bite him. Being blind to his consciousness, he falls down into a dark well of hellish life with no hope of being rescued.

10Sometimes, in order to have a little insignificant sex enjoyment, one searches after debauched women. In this attempt, one is insulted and chastised by the women's kinsmen. This is like going to take honey from a beehive and being attacked by the bees. Sometimes, after spending lots of money, one may acquire another woman for some extra sense enjoyment. Unfortunately, the object of sense enjoyment, the woman, is taken away or kidnapped by another debauchee.

11Sometimes the living entity is busy counteracting the natural disturbances of freezing cold, scorching heat, strong wind, excessive rainfall and so forth. When he is unable to do so, he becomes very unhappy. Sometimes he is cheated in business transactions one after another. In this way, by cheating, living entities create enmity among themselves.

12On the forest path of material existence, sometimes a person is without wealth and due to this does not have a proper home, bed or sitting place, nor proper family enjoyment. He therefore goes to beg money from others, but when his desires are not fulfilled by begging, he wants to borrow or steal the property of others. Thus he is insulted in society.

13Due to monetary transactions, relationships become very strained and end in enmity. Sometimes the husband and wife walk on the path of material progress, and to maintain their relationship they work very hard. Sometimes due to scarcity of money or due to diseased conditions, they are embarrassed and almost die.

14My dear King, on the forest path of material life, first a person is bereft of his father and mother, and after their death he becomes attached to his newly born children. In this way he wanders on the path of material progress and is eventually embarrassed. Nonetheless, no one knows how to get out of this, even up to the moment of death.

15There were and are many political and social heroes who have conquered enemies of equal power, yet due to their ignorance in believing that the land is theirs, they fight one another and lay down their lives in battle. They are not able to take up the spiritual path accepted by those in the renounced order. Although they are big heroes and political leaders, they cannot take to the path of spiritual realization.

16Sometimes the living entity in the forest of material existence takes shelter of creepers and desires to hear the chirping of the birds in those creepers. Being afraid of roaring lions in the forest, he makes friends with cranes, herons and vultures.

17Being cheated by them, the living entity in the forest of the material world tries to give up the association of these so-called yogīs, svāmīs and incarnations and come to the association of real devotees, but due to misfortune he cannot follow the instructions of the spiritual master or advanced devotees; therefore he gives up their company and again returns to the association of monkeys who are simply interested in sense gratification and women. He derives satisfaction by associating with sense gratifiers and enjoying sex and intoxication. In this way he spoils his life simply by indulging in sex and intoxication. Looking into the faces of other sense gratifiers, he becomes forgetful and thus approaches death.

18When the living entity becomes exactly like a monkey jumping from one branch to another, he remains in the tree of household life without any profit but sex. Thus he is kicked by his wife just like the he-ass. Unable to gain release, he remains helplessly in that position. Sometimes he falls victim to an incurable disease, which is like falling into a mountain cave. He becomes afraid of death, which is like the elephant in the back of that cave, and he remains

stranded, grasping at the twigs and branches of a creeper.

19O killer of enemies, Mahārāja Rahūgaṇa, if the conditioned soul somehow or other gets out of his dangerous position, he again returns to his home to enjoy sex life, for that is the way of attachment. Thus, under the spell of the Lord's material energy, he continues to loiter in the forest of material existence. He does not discover his real interest even at the point of death.

20My dear King Rahūgaṇa, you are also a victim of the external energy, being situated on the path of attraction to material pleasure. So that you may become an equal friend to all living entities, I now advise you to give up your kingly position and the rod by which you punish criminals. Give up attraction to the sense objects and take up the sword of knowledge sharpened by devotional service. Then you will be able to cut the hard knot of illusory energy and cross to the other side of the ocean of nescience.

21King Rahūgaṇa said: This birth as a human being is the best of all. Even birth among the demigods in the heavenly planets is not as glorious as birth as a human being on this earth. What is the use of the exalted position of a demigod? In the heavenly planets, due to profuse material comforts, there is no possibility of associating with devotees.

22It is not at all wonderful that simply by being covered by the dust of your lotus feet, one immediately attains the platform of pure devotional service to Adhokṣaja, which is not available even to great demigods like Brahmā. By associating with you just for a moment, I am now freed from all argument, false prestige and lack of discrimination, which are the roots of entanglement in the material world. Now I am free from all these problems.

23I offer my respectful obeisances unto the great personalities, whether they walk on the earth's surface as children, young boys, avadhūtas or great brāhmaṇas. Even if they are hidden under different guises, I offer my respects to all of them. By their mercy, may there be good fortune in the royal dynasties that are always offending them.

24Śrīla Śukadeva Gosvāmī continued: My dear King, O son of mother Uttarā, there were some waves of dissatisfaction in the mind of Jaḍa Bharata due to his being insulted by King Rahūgaṇa, who made him carry his palanquin, but Jaḍa Bharata neglected this, and his heart again became calm and quiet like an ocean. Although King Rahūgaṇa had insulted him, he was a great paramahaṁsa. Being a Vaiṣṇava, he was naturally very kindhearted, and he therefore told the King about the constitutional position of the soul. He then forgot the insult because King Rahūgaṇa pitifully begged pardon at his lotus feet. After this, he began to wander all over the earth, just as before.

25After receiving lessons from the great devotee Jaḍa Bharata, King Rahūgaṇa of the state of Sauvīra became completely aware of the constitutional position of the soul. He thus gave up the bodily conception completely. My dear King, whoever takes shelter of the servant of the servant of the Lord is certainly glorified because he can without difficulty give up the bodily conception.

26King Parīkṣit then told Śukadeva Gosvāmī: My dear lord, O great devotee sage, you are omniscient. You have very nicely described the position of the conditioned soul, who is compared to a merchant in the forest. From these instructions intelligent men can understand that the senses of a person in the bodily conception are like rogues and thieves in that forest, and one's wife and children are like jackals and other ferocious animals. However, it is not very easy for the unintelligent to understand the purport of this story because it is difficult to extricate the exact meaning from the allegory. I therefore request Your Holiness to give the direct meaning.

### SB 5.14: The Material World as the Great Forest of Enjoyment

The direct meaning of the forest of material existence is given in this chapter. Merchants sometimes enter the forest to collect many rare things and sell them at a good profit in the city, but the forest path is always bedecked with dangers. When the pure soul wants to give up the Lord's service to enjoy the material world, Kṛṣṇa certainly gives him a chance to enter the material world. As stated in the *Prema-vivarta:kṛṣṇa-bahirmukha haṣā bhoga vāṣchā kare.* This is the reason the pure spirit soul falls down to the material world. Due to his activities under the influence of the three modes of material nature, the living entity takes different positions in different species. Sometimes he is a demigod in the heavenly planets and sometimes a most insignificant creature in the lower planetary systems. In this regard, Śrīla Narottama dāsa Ṭhākura says, *nānāyoni sadā phire:* the living entity passes through various species. *Kardarya bhakṣaṇa kare:* he is obliged to eat and enjoy abominable things. *Tāra janma adhaḥ-pāte yāya:* in this way his whole life is spoiled. Without the protection of an all-merciful Vaiṣṇava. the conditioned soul cannot get out of the clutches of *māyā*. As stated in *Bhagavad-gītā* (*manaḥṣaṣṭhānīndriyāṇi prakṛti-sthāni karṣati*), the living entity begins material life with his mind and the five knowledge-acquiring senses, and with these he struggles for existence within the material world. These senses are compared to rogues and thieves within the forest. They take away a man's knowledge and place him in a network of nescience. Thus the senses are like rogues and thieves that plunder his spiritual knowledge. Over and above this, there are family members, wife and children, who are exactly like ferocious animals in the forest. The business of such ferocious animals is to eat a man's flesh. The living entity allows himself to be attacked by jackals and foxes (wife and children), and thus his real spiritual life is finished. In the forest of material life, everyone is envious like mosquitoes, and rats and mice are always creating disturbances. Everyone in this material world is placed in many awkward positions and surrounded by envious people and disturbing animals. The result is that the living entity in the material world is always plundered and bitten by many living entities. Nonetheless, despite these disturbances, he does not want to give up his family life, and he continues his fruitive activities in an attempt to become happy in the future. He thus becomes more and more entangled in the results of *karma,* and thus he is forced to act impiously. His witnesses are the sun during the day and the moon during the night. The demigods also witness, but the conditioned soul thinks that his attempts at sense gratification are not being witnessed by anyone. Sometimes, when he is detected, he temporarily renounces everything, but due to his great attachment for the body, his renunciation is given up before he can attain perfection.

In this material world there are many envious people. There is the tax-exacting government, which is compared to an owl, and there are invisible crickets that create unbearable sounds. The conditioned soul is certainly greatly harassed by the agents of material nature, but his intelligence is lost due to undesirable association. In an attempt to gain relief from the disturbances of material existence, he falls victim to so-called *yogīs, sādhus* and incarnations who can display some magic but who do not understand devotional service. Sometimes the conditioned soul is bereft of all money, and consequently he becomes unkind to his family members. In this material world there is not a pinch of actual happiness, for which the conditioned soul is longing life after life. The government officials are like carnivorous Rākṣasas who exact heavy taxes for the maintenance of the government. The hard-working conditioned soul is very saddened due to these heavy taxes.

The path of fruitive activities leads to difficult mountains, and sometimes the conditioned soul wants to cross these mountains, but he is never successful, and consequently he becomes more and more aggrieved and disappointed. Becoming materially and financially embarrassed, the conditioned soul unnecessarily chastises his family. In the material condition there are four

principal needs, out of which sleep is compared to a python. When asleep, the conditioned soul completely forgets his real existence, and in sleep he does not feel the tribulations of material life. Sometimes, being in need of money, the conditioned soul steals and cheats, although he may apparently be associated with devotees for spiritual advancement. His only business is getting out of the clutches of *māyā,* but due to improper guidance he becomes more and more entangled in material dealings. This material world is simply an embarrassment and is composed of tribulations presented as happiness, distress, attachment, enmity and envy. On the whole it is simply full of tribulation and misery. When a person loses his intelligence due to attachment to wife and sex, his entire consciousness becomes polluted. He thus only thinks of the association of women. The time factor, which is like a serpent, takes away everyone's life, including that of Lord Brahmā and the insignificant ant. Sometimes the conditioned soul tries to save himself from inexorable time and thus takes shelter of some bogus savior. Unfortunately, the bogus savior cannot even save himself. How, then, can he protect others? The bogus saviors do not care for bona fide knowledge received from qualified *brāhmaṇas* and Vedic sources. Their only business is indulging in sex and recommending sexual freedom even for widows. Thus they are like monkeys in the forest. Śrīla Śukadeva Gosvāmī thus explains the material forest and its difficult path to Mahārāja Parīkṣit.

1When King Parīkṣit asked Śukadeva Gosvāmī about the direct meaning of the material forest, Śukadeva Gosvāmī replied as follows: My dear King, a man belonging to the mercantile community [vaṇik] is always interested in earning money. Sometimes he enters the forest to acquire some cheap commodities like wood and earth and sell them in the city at good prices. Similarly, the conditioned soul, being greedy, enters this material world for some material profit. Gradually he enters the deepest part of the forest, not really knowing how to get out. Having entered the material world, the pure soul becomes conditioned by the material atmosphere, which is created by the external energy under the control of Lord Viṣṇu. Thus the living entity comes under the control of the external energy, daivī māyā. Living independently and bewildered in the forest, he does not attain the association of devotees who are always engaged in the service of the Lord. Once in the bodily conception, he gets different types of bodies one after the other under the influence of material energy and impelled by the modes of material nature [sattva-guṇa, rajo-guṇa and tamo-guṇa]. In this way the conditioned soul goes sometimes to the heavenly planets, sometimes to the earthly planets and sometimes to the lower planets and lower species. Thus he suffers continuously due to different types of bodies. These sufferings and pains are sometimes mixed. Sometimes they are very severe, and sometimes they are not. These bodily conditions are acquired due to the conditioned soul's mental speculation. He uses his mind and five senses to acquire knowledge, and these bring about the different bodies and different conditions. Using the senses under the control of the external energy, māyā, the living entity suffers the miserable conditions of material existence. He is actually searching for relief, but he is generally baffled, although sometimes he is relieved after great difficulty. Struggling for existence in this way, he cannot get the shelter of pure devotees, who are like bumblebees engaged in loving service at the lotus feet of Lord Viṣṇu.

2In the forest of material existence, the uncontrolled senses are like plunderers. The conditioned soul may earn some money for the advancement of Kṛṣṇa consciousness, but unfortunately the uncontrolled senses plunder his money through sense gratification. The senses are plunderers because they make one spend his money unnecessarily for seeing, smelling, tasting, touching, hearing, desiring and willing. In this way the conditioned soul is obliged to gratify his senses, and thus all his money is spent. This money is actually acquired for the execution of religious principles, but it is taken away by the plundering senses.

3My dear King, family members in this material world go under the names of wife and children, but actually they behave like tigers and jackals. A herdsman tries to protect his sheep

to the best of his ability, but the tigers and foxes take them away by force. Similarly, although a miserly man wants to guard his money very carefully, his family members take away all his assets forcibly, even though he is very vigilant.

4Every year the plowman plows over his grain field, completely uprooting all weeds. Nonetheless, the seeds lie there and, not being completely burned, again come up with the plants sown in the field. Even after being plowed under, the weeds come up densely. Similarly, the gṛhastha-āśrama [family life] is a field of fruitive activity. Unless the desire to enjoy family life is completely burned out, it grows up again and again. Even though camphor may be removed from a pot, the pot nonetheless retains the aroma of camphor. As long as the seeds of desire are not destroyed, fruitive activities are not destroyed.

5Sometimes the conditioned soul in household life, being attached to material wealth and possessions, is disturbed by gadflies and mosquitoes, and sometimes locusts, birds of prey and rats give him trouble. Nonetheless, he still wanders down the path of material existence. Due to ignorance he becomes lusty and engages in fruitive activity. Because his mind is absorbed in these activities, he sees the material world as permanent, although it is temporary like a phantasmagoria, a house in the sky.

6Sometimes in this house in the sky [gandharva-pura] the conditioned soul drinks, eats and has sex. Being overly attached, he chases after the objects of the senses just as a deer chases a mirage in the desert.

7Sometimes the living entity is interested in the yellow stool known as gold and runs after it. That gold is the source of material opulence and envy, and it can enable one to afford illicit sex, gambling, meat-eating and intoxication. Those whose minds are overcome by the mode of passion are attracted by the color of gold, just as a man suffering from cold in the forest runs after a phosphorescent light in a marshy land, considering it to be fire.

8Sometimes the conditioned soul is absorbed in finding residential quarters or apartments and getting a supply of water and riches to maintain his body. Absorbed in acquiring a variety of necessities, he forgets everything and perpetually runs around the forest of material existence.

9Sometimes, as if blinded by the dust of a whirlwind, the conditioned soul sees the beauty of the opposite sex, which is called pramadā. Being thus bewildered, he is raised upon the lap of a woman, and at that time his good senses are overcome by the force of passion. He thus becomes almost blind with lusty desire and disobeys the rules and regulations governing sex life. He does not know that his disobedience is witnessed by different demigods, and he enjoys illicit sex in the dead of night, not seeing the future punishment awaiting him.

10The conditioned soul sometimes personally appreciates the futility of sense enjoyment in the material world, and he sometimes considers material enjoyment to be full of miseries. However, due to his strong bodily conception, his memory is destroyed, and again and again he runs after material enjoyment, just as an animal runs after a mirage in the desert.

11Sometimes the conditioned soul is very aggrieved by the chastisement of his enemies and government servants, who use harsh words against him directly or indirectly. At that time his heart and ears become very saddened. Such chastisement may be compared to the sounds of owls and crickets.

12Due to his pious activities in previous lives, the conditioned soul attains material facilities in this life, but when they are finished, he takes shelter of wealth and riches, which cannot help him in this life or the next. Because of this, he approaches the living dead who possess these things. Such people are compared to impure trees, creepers and poisonous wells.

13Sometimes, to mitigate distresses in this forest of the material world, the conditioned soul receives cheap blessings from atheists. He then loses all intelligence in their association. This is exactly like jumping in a shallow river. As a result one simply breaks his head. He is not able to mitigate his sufferings from the heat, and in both ways he suffers. The misguided conditioned soul also approaches so-called sādhus and svāmīs who preach against the principles of the Vedas. He does not receive benefit from them, either in the present or in the future.

14In this material world, when the conditioned soul cannot arrange for his own maintenance, despite exploiting others, he tries to exploit his own father or son, taking away that relative's possessions, although they may be very insignificant. If he cannot acquire things from his father, son or other relatives, he is prepared to give them all kinds of trouble.

15In this world, family life is exactly like a blazing fire in the forest. There is not the least happiness, and gradually one becomes more and more implicated in unhappiness. In household life, there is nothing favorable for perpetual happiness. Being implicated in home life, the conditioned soul is burned by the fire of lamentation. Sometimes he condemns himself as being very unfortunate, and sometimes he claims that he suffers because he performed no pious activities in his previous life.

16Government men are always like carnivorous demons called Rākṣasas [man-eaters]. Sometimes these government men turn against the conditioned soul and take away all his accumulated wealth. Being bereft of his life's reserved wealth, the conditioned soul loses all enthusiasm. Indeed, it is as though he loses his life.

17Sometimes the conditioned soul imagines that his father or grandfather has again come in the form of his son or grandson. In this way he feels the happiness one sometimes feels in a dream, and the conditioned soul sometimes takes pleasure in such mental concoctions.

18In household life one is ordered to execute many yajṣas and fruitive activities, especially the vivāha-yajṣa [the marriage ceremony for sons and daughters] and the sacred thread ceremony. These are all the duties of a gṛhastha, and they are very extensive and troublesome to execute. They are compared to a big hill over which one must cross when one is attached to material activities. A person desiring to cross over these ritualistic ceremonies certainly feels pains like the piercing of thorns and pebbles endured by one attempting to climb a hill. Thus the conditioned soul suffers unlimitedly.

19Sometimes, due to bodily hunger and thirst, the conditioned soul becomes so disturbed that he loses his patience and becomes angry with his own beloved sons, daughters and wife. Thus, being unkind to them, he suffers all the more.

20Śukadeva Gosvāmī continued speaking to Mahārāja Parīkṣit: My dear King, sleep is exactly like a python. Those who wander in the forest of material life are always devoured by the python of sleep. Being bitten by this python, they always remain in the darkness of ignorance. They are like dead bodies thrown in a distant forest. Thus the conditioned souls cannot understand what is going on in life.

21In the forest of the material world, the conditioned soul is sometimes bitten by envious enemies, which are compared to serpents and other creatures. Through the tricks of the enemy, the conditioned soul falls from his prestigious position. Being anxious, he cannot even sleep properly. He thus becomes more and more unhappy, and he gradually loses his intelligence and consciousness. In that state he becomes almost perpetually like a blind man who has fallen into a dark well of ignorance.

22The conditioned soul is sometimes attracted to the little happiness derived from sense

gratification. Thus he has illicit sex or steals another's property. At such a time he may be arrested by the government or chastised by the woman's husband or protector. Thus simply for a little material satisfaction, he falls into a hellish condition and is put into jail for rape, kidnapping, theft and so forth.

23Learned scholars and transcendentalists therefore condemn the materialistic path of fruitive activity because it is the original source and breeding ground of material miseries, both in this life and in the next.

24Stealing or cheating another person out of his money, the conditioned soul somehow or other keeps it in his possession and escapes punishment. Then another man, named Devadatta, cheats him and takes the money away. Similarly, another man, named Viṣṇumitra, steals the money from Devadatta and takes it away. In any case, the money does not stay in one place. It passes from one hand to another. Ultimately no one can enjoy the money, and it remains the property of the Supreme Personality of Godhead.

25Being unable to protect himself from the threefold miseries of material existence, the conditioned soul becomes very morose and lives a life of lamentation. These threefold miseries are miseries suffered by mental calamity at the hands of the demigods [such as freezing wind and scorching heat], miseries offered by other living entities, and miseries arising from the mind and body themselves.

26As far as transactions with money are concerned, if one person cheats another by a farthing or less, they become enemies.

27In this materialistic life, there are many difficulties, as I have just mentioned, and all of these are insurmountable. In addition, there are difficulties arising from so-called happiness, distress, attachment, hate, fear, false prestige, illusion, madness, lamentation, bewilderment, greed, envy, enmity, insult, hunger, thirst, tribulation, disease, birth, old age and death. All these combine together to give the materialistic conditioned soul nothing but misery.

28Sometimes the conditioned soul is attracted by illusion personified (his wife or girlfriend) and becomes eager to be embraced by a woman. Thus he loses his intelligence as well as knowledge of life's goal. At that time, no longer attempting spiritual cultivation, he becomes overly attached to his wife or girlfriend and tries to provide her with a suitable apartment. Again, he becomes very busy under the shelter of that home and is captivated by the talks, glances and activities of his wife and children. In this way he loses his Kṛṣṇa consciousness and throws himself in the dense darkness of material existence.

29The personal weapon used by Lord Kṛṣṇa, the disc, is called hari-cakra, the disc of Hari. This cakra is the wheel of time. It expands from the beginning of the atoms up to the time of Brahmā's death, and it controls all activities. It is always revolving and spending the lives of the living entities, from Lord Brahmā down to an insignificant blade of grass. Thus one changes from infancy, to childhood, to youth and maturity, and thus one approaches the end of life. It is impossible to check this wheel of time. This wheel is very exacting because it is the personal weapon of the Supreme Personality of Godhead. Sometimes the conditioned soul, fearing the approach of death, wants to worship someone who can save him from imminent danger. Yet he does not care for the Supreme Personality of Godhead, whose weapon is the indefatigable time factor. The conditioned soul instead takes shelter of a man-made god described in unauthorized scriptures. Such gods are like buzzards, vultures, herons and crows. Vedic scriptures do not refer to them. Imminent death is like the attack of a lion, and neither vultures, buzzards, crows nor herons can save one from such an attack. One who takes shelter of unauthorized man-made gods cannot be saved from the clutches of death.

30The pseudo svāmīs, yogīs and incarnations who do not believe in the Supreme Personality of Godhead are known as pāṣaṇḍīs. They themselves are fallen and cheated because they do not know the real path of spiritual advancement, and whoever goes to them is certainly cheated in his turn. When one is thus cheated, he sometimes takes shelter of the real followers of Vedic principles [brāhmaṇas or those in Kṛṣṇa consciousness], who teach everyone how to worship the Supreme Personality of Godhead according to the Vedic rituals. However, being unable to stick to these principles, these rascals again fall down and take shelter among śūdras who are very expert in making arrangements for sex indulgence. Sex is very prominent among animals like monkeys, and such people who are enlivened by sex may be called descendants of monkeys.

31In this way the descendants of the monkeys intermingle with each other, and they are generally known as śūdras. Without hesitating, they live and move freely, not knowing the goal of life. They are captivated simply by seeing the faces of one another, which remind them of sense gratification. They are always engaged in material activities, known as grāmya-karma, and they work hard for material benefit. Thus they forget completely that one day their small life spans will be finished and they will be degraded in the evolutionary cycle.

32Just as a monkey jumps from one tree to another, the conditioned soul jumps from one body to another. As the monkey is ultimately captured by the hunter and is unable to get out of captivity, the conditioned soul, being captivated by momentary sex pleasure, becomes attached to different types of bodies and is encaged in family life. Family life affords the conditioned soul a festival of momentary sex pleasure, and thus he is completely unable to get out of the material clutches.

33In this material world, when the conditioned soul forgets his relationship with the Supreme Personality of Godhead and does not care for Kṛṣṇa consciousness, he simply engages in different types of mischievous and sinful activities. He is then subjected to the threefold miseries, and, out of fear of the elephant of death, he falls into the darkness found in a mountain cave.

34The conditioned soul suffers many miserable bodily conditions, such as being affected by severe cold and strong winds. He also suffers due to the activities of other living beings and due to natural disturbances. When he is unable to counteract them and has to remain in a miserable condition, he naturally becomes very morose because he wants to enjoy material facilities.

35Sometimes conditioned souls exchange money, but in due course of time, enmity arises because of cheating. Although there may be a tiny profit, the conditioned souls cease to be friends and become enemies.

36Sometimes, having no money, the conditioned soul does not get sufficient accommodations. Sometimes he doesn't even have a place to sit, nor does he have the other necessities. In other words, he falls into scarcity, and at that time, when he is unable to secure the necessities by fair means, he decides to seize the property of others unfairly. When he cannot get the things he wants, he simply receives insults from others and thus becomes very morose.

37Although people may be enemies, in order to fulfill their desires again and again, they sometimes get married. Unfortunately, these marriages do not last very long, and the people involved are separated again by divorce or other means.

38The path of this material world is full of material miseries, and various troubles disturb the conditioned souls. Sometimes he loses, and sometimes he gains. In either case, the path is full of danger. Sometimes the conditioned soul is separated from his father by death or other

circumstances. Leaving him aside he gradually becomes attached to others, such as his children. In this way, the conditioned soul is sometimes illusioned and afraid. Sometimes he cries loudly out of fear. Sometimes he is happy maintaining his family, and sometimes he is overjoyed and sings melodiously. In this way he becomes entangled and forgets his separation from the Supreme Personality of Godhead since time immemorial. Thus he traverses the dangerous path of material existence, and on this path he is not at all happy. Those who are self-realized simply take shelter of the Supreme Personality of Godhead in order to get out of this dangerous material existence. Without accepting the devotional path, one cannot get out of the clutches of material existence. The conclusion is that no one can be happy in material life. One must take to Kṛṣṇa consciousness.

39Saintly persons, who are friends to all living entities, have a peaceful consciousness. They have controlled their senses and minds, and they easily attain the path of liberation, the path back to Godhead. Being unfortunate and attached to the miserable material conditions, a materialistic person cannot associate with them.

40There were many great saintly kings who were very expert in performing sacrificial rituals and very competent in conquering other kingdoms, yet despite their power they could not attain the loving service of the Supreme Personality of Godhead. This is because those great kings could not even conquer the false consciousness of "I am this body, and this is my property." Thus they simply created enmity with rival kings, fought with them and died without having discharged life's real mission.

41When the conditioned soul accepts the shelter of the creeper of fruitive activity, he may be elevated by his pious activities to higher planetary systems and thus gain liberation from hellish conditions, but unfortunately he cannot remain there. After reaping the results of his pious activities, he has to return to the lower planetary systems. In this way he perpetually goes up and comes down.

42Having summarized the teachings of Jaḍa Bharata, Śukadeva Gosvāmī said: My dear King Parīkṣit, the path indicated by Jaḍa Bharata is like the path followed by Garuḍa, the carrier of the Lord, and ordinary kings are just like flies. Flies cannot follow the path of Garuḍa, and to date none of the great kings and victorious leaders could follow this path of devotional service, not even mentally.

43While in the prime of life, the great Mahārāja Bharata gave up everything because he was fond of serving the Supreme Personality of Godhead, Uttamaśloka. He gave up his beautiful wife, nice children, great friends and an enormous empire. Although these things were very difficult to give up, Mahārāja Bharata was so exalted that he gave them up just as one gives up stool after evacuating. Such was the greatness of His Majesty.

44Śukadeva Gosvāmī continued: My dear King, the activities of Bharata Mahārāja are wonderful. He gave up everything difficult for others to give up. He gave up his kingdom, his wife and his family. His opulence was so great that even the demigods envied it, yet he gave it up. It was quite befitting a great personality like him to be a great devotee. He could renounce everything because he was so attracted to the beauty, opulence, reputation, knowledge, strength and renunciation of the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa. Kṛṣṇa is so attractive that one can give up all desirable things for His sake. Indeed, even liberation is considered insignificant for those whose minds are attracted to the loving service of the Lord.

45Even though in the body of a deer, Mahārāja Bharata did not forget the Supreme Personality of Godhead; therefore when he was giving up the body of a deer, he loudly uttered the following prayer: "The Supreme Personality of Godhead is sacrifice personified. He gives the

results of ritualistic activity. He is the protector of religious systems, the personification of mystic yoga, the source of all knowledge, the controller of the entire creation, and the Supersoul in every living entity. He is beautiful and attractive. I am quitting this body offering obeisances unto Him and hoping that I may perpetually engage in His transcendental loving service." Uttering this, Mahārāja Bharata left his body.

46Devotees interested in hearing and chanting [śravaṇaṁ kīrtanam] regularly discuss the pure characteristics of Bharata Mahārāja and praise his activities. If one submissively hears and chants about the all-auspicious Mahārāja Bharata, one's life span and material opulences certainly increase. One can become very famous and easily attain promotion to the heavenly planets, or attain liberation by merging into the existence of the Lord. Whatever one desires can be attained simply by hearing, chanting and glorifying the activities of Mahārāja Bharata. In this way, one can fulfill all his material and spiritual desires. One does not have to ask anyone else for these things, for simply by studying the life of Mahārāja Bharata, one can attain all desirable things.

## SB 5.15: The Glories of the Descendants of King Priyavrata

In this chapter the descendants of Bharata Mahārāja and many other kings are described. The son of Mahārāja Bharata was named Sumati. He followed the path of liberation given by Ṛṣabhadeva. Some people mistakenly thought Sumati to be the direct incarnation of Lord Buddha. The son of Sumati was Devatājit, and his son was Devadyumna. Devadyumna's son was Parameṣṭhī, and his son was Pratīha. Pratīha was a very great devotee of Lord Viṣṇu, and he had three sons, named Pratihartā, Prastotā and Udgātā. Pratihartā had two sons, Aja and Bhūmā. The son of Bhūmā was Udgītha, and the son of Udgītha was Prastāva. The son of Prastāva was Vibhu, and the son of Vibhu was Pṛthuṣeṇa, whose son was Nakta. The wife of Nakta, Druti, gave birth to Gaya, who was a very famous and saintly king. Actually King Gaya was a partial incarnation of Lord Viṣṇu, and because of his great devotion to Lord Viṣṇu he received the title Mahāpuruṣa. King Gaya had sons named Citraratha, Sumati and Avarodhana. The son of Citraratha was the emperor Samrāṭ, and his son was Marīci, whose son was Bindu. Bindu's son was Madhu, and Madhu's son was Vīravrata. Vīravrata's two sons were Manthu and Pramanthu, and the son of Manthu was Bhauvana. The son of Bhauvana was Tvaṣṭā, and the son of Tvaṣṭā was Viraja, who glorified the whole dynasty. Viraja had one hundred sons and one daughter. Of these, the son named Śatajit became very famous.

1Śrīla Śukadeva Gosvāmī continued: The son of Mahārāja Bharata known as Sumati followed the path of Ṛṣabhadeva, but in the Age of Kali some unscrupulous people will imagine him to be Lord Buddha himself. These people, who will actually be atheistic and of bad character, will interpret the Vedic principles in an imaginary, infamous way to support their activities. Thus these sinful people will accept Sumati as Lord Buddhadeva and propagate the theory that everyone should follow the principles of Sumati. In this way they will be carried away by mental concoction.

2From Sumati, a son named Devatājit was born by the womb of his wife named Vṛddhasenā.

3Thereafter, in the womb of Āsurī, the wife of Devatājit, a son named Devadyumna was begotten. Devadyumna begot in the womb of his wife, Dhenumatī, a son named Parameṣṭhī. Parameṣṭhī begot a son named Pratīha in the womb of his wife, Suvarcalā.

4King Pratīha personally propagated the principles of self-realization. In this way, not only was he purified, but he became a great devotee of the Supreme Person, Lord Viṣṇu, and directly realized Him.

5In the womb of his wife Suvarcalā, Pratīha begot three sons, named Pratihartā, Prastotā and Udgātā. These three sons were very expert in performing Vedic rituals. Pratihartā begot two sons, named Aja and Bhūmā, in the womb of his wife, named Stutī.

6In the womb of his wife, Ṛṣikulyā, King Bhūmā begot a son named Udgītha. From Udgītha's wife, Devakulyā, a son named Prastāva was born, and Prastāva begot a son named Vibhu through his wife, Niyutsā. In the womb of his wife, Ratī, Vibhu begot a son named Pṛthuṣeṇa. Pṛthuṣeṇa begot a son named Nakta in the womb of his wife, named Ākūti. Nakta's wife was Druti, and from her womb the great King Gaya was born. Gaya was very famous and pious; he was the best of saintly kings. Lord Viṣṇu and His expansions, who are meant to protect the universe, are always situated in the transcendental mode of goodness, known as viśuddha-sattva. Being the direct expansion of Lord Viṣṇu, King Gaya was also situated in the viśuddha-sattva. Because of this, Mahārāja Gaya was fully equipped with transcendental knowledge. Therefore he was called Mahāpuruṣa.

7King Gaya gave full protection and security to the citizens so that their personal property would not be disturbed by undesirable elements. He also saw that there was sufficient food to feed all the citizens. [This is called poṣaṇa.] He would sometimes distribute gifts to the citizens to satisfy them. [This is called prīṇana.] He would sometimes call meetings and satisfy the citizens with sweet words. [This is called upalālana.] He would also give them good instructions on how to become first-class citizens. [This is called anuśāsana.] Such were the characteristics of King Gaya's royal order. Besides all this, King Gaya was a householder who strictly observed the rules and regulations of household life. He performed sacrifices and was an unalloyed pure devotee of the Supreme Personality of Godhead. He was called Mahāpuruṣa because as a king he gave the citizens all facilities, and as a householder he executed all his duties so that at the end he became a strict devotee of the Supreme Lord. As a devotee, he was always ready to give respect to other devotees and to engage in the devotional service of the Lord. This is the bhakti-yoga process. Due to all these transcendental activities, King Gaya was always free from the bodily conception. He was full in Brahman realization, and consequently he was always jubilant. He did not experience material lamentation. Although he was perfect in all respects, he was not proud, nor was he anxious to rule the kingdom.

8My dear King Parīkṣit, those who are learned scholars in the histories of the Purāṇas eulogize and glorify King Gaya with the following verses.

9The great King Gaya used to perform all kinds of Vedic rituals. He was highly intelligent and expert in studying all the Vedic literatures. He maintained the religious principles and possessed all kinds of opulence. He was a leader among gentlemen and a servant of the devotees. He was a totally qualified plenary expansion of the Supreme Personality of Godhead. Therefore who could equal him in the performance of gigantic ritualistic ceremonies?

10All the chaste and honest daughters of Mahārāja Dakṣa, such as Śraddhā, Maitrī and Dayā, whose blessings were always effective, bathed Mahārāja Gaya with sanctified water. Indeed, they were very satisfied with Mahārāja Gaya. The planet earth personified came as a cow, and, as though she saw her calf, she delivered milk profusely when she saw all the good qualities of Mahārāja Gaya. In other words, Mahārāja Gaya was able to derive all benefits from the earth and thus satisfy the desires of his citizens. However, he personally had no desire.

11Although King Gaya had no personal desire for sense gratification, all his desires were fulfilled by virtue of his performance of Vedic rituals. All the kings with whom Mahārāja Gaya had to fight were forced to fight on religious principles. They were very satisfied with his fighting, and they would present all kinds of gifts to him. Similarly, all the brāhmaṇas in his

kingdom were very satisfied with King Gaya's munificent charities. Consequently the brāhmaṇas contributed a sixth of their pious activities for King Gaya's benefit in the next life.

12In Mahārāja Gaya's sacrifices, there was a great supply of the intoxicant known as soma. King Indra used to come and become intoxicated by drinking large quantities of soma-rasa. Also, the Supreme Personality of Godhead, Lord Viṣṇu [the yajṣa-puruṣa] also came and personally accepted all the sacrifices offered unto Him with pure and firm devotion in the sacrificial arena.

13When the Supreme Lord is pleased by a person's actions, automatically all the demigods, human beings, animals, birds, bees, creepers, trees, grass and all other living entities, beginning with Lord Brahmā, are pleased. The Supreme Personality of Godhead is the Supersoul of everyone, and He is by nature fully pleased. Nonetheless, He came to the arena of Mahārāja Gaya and said, "I am fully pleased."

14-15In the womb of Gayantī, Mahārāja Gaya begot three sons, named Citraratha, Sugati and Avarodhana. In the womb of his wife Ūrṇā, Citraratha begot a son named Samrāṭ. The wife of Samrāṭ was Utkalā, and in her womb Samrāṭ begot a son named Marīci. In the womb of his wife Bindumatī, Marīci begot a son named Bindu. In the womb of his wife Saraghā, Bindu begot a son named Madhu. In the womb of his wife named Sumanā, Madhu begot a son named Vīravrata. In the womb of his wife Bhojā, Vīravrata begot two sons named Manthu and Pramanthu. In the womb of his wife Satyā, Manthu begot a son named Bhauvana, and in the womb of his wife Dūṣaṇā, Bhauvana begot a son named Tvaṣṭā. In the womb of his wife Virocanā, Tvaṣṭā begot a son named Viraja. The wife of Viraja was Viṣūcī, and in her womb Viraja begot one hundred sons and one daughter. Of all these sons, the son named Śatajit was predominant.

16There is a famous verse about King Viraja. "Because of his high qualities and wide fame, King Viraja became the jewel of the dynasty of King Priyavrata, just as Lord Viṣṇu, by His transcendental potency, decorates and blesses the demigods."

## SB 5.16: A Description of Jambūdvīpa

While describing the character of Mahārāja Priyavrata and his descendants, Śukadeva Gosvāmī also described Meru Mountain and the planetary system known as Bhū-maṇḍala. Bhū-maṇḍala is like a lotus flower, and its seven islands are compared to the whorl of the lotus. The place known as Jambūdvīpa is in the middle of that whorl. In Jambūdvīpa there is a mountain known as Sumeru, which is made of solid gold. The height of this mountain is 84,000 *yojanas,* of which 16,000 *yojanas* are below the earth. Its width is estimated to be 32,000 *yojanas* at its summit and 16,000 *yojanas* at its foot. (One *yojana* equals approximately eight miles.) This king of mountains, Sumeru, is the support of the planet earth.

On the southern side of the land known as Ilāvṛta-varṣa are the mountains known as Himavān, Hemakūṭa and Niṣadha, and on the northern side are the mountains Nīla, Śveta and Śṛṅga. Similarly, on the eastern and western side there are Mālyavān and Gandhamādana, two large mountains. Surrounding Sumeru Mountain are four mountains known as Mandara, Merumandara, Supārśva and Kumuda, each 10,000 *yojanas* long and 10,000 *yojanas* high. On these four mountains there are trees 1,100 *yojanas* higha mango tree, a rose apple tree, a kadamba tree and a banyan tree. There are also lakes full of milk, honey, sugarcane juice and pure water. These lakes can fulfill all desires. There are also gardens named Nandana, Citraratha, Vaibhrājaka and Sarvatobhadra. On the side of Supārśva Mountain is a *kadamba*

tree with streams of honey flowing from its hollows, and on Kumuda Mountain there is a banyan tree named Śatavalśa, from whose roots flow rivers containing milk, yogurt and many other desirable things. Surrounding Sumeru Mountain like filaments of the whorl of a lotus are twenty mountain ranges such as Kuraṅga, Kurara, Kusumbha, Vaikaṅka and Trikūṭa. To the east of Sumeru are the mountains Jaṭhara and Devakūṭa, to the west are Pavana and Pāriyātra, to the south are Kailāsa and Karavīra, and to the north are Triśṛṅga and Makara. These eight mountains are about 18,000 *yojanas* long, 2,000 *yojanas* wide and 2,000 *yojanas* high. On the summit of Mount Sumeru is Brahmapurī, the residence of Lord Brahmā. Each of its four sides is 10,000 *yojanas* long. Surrounding Brahmapurī are the cities of King Indra and seven other demigods. These cities are one fourth the size of Brahmapurī.

1King Parīkṣit said to Śukadeva Gosvāmī: O brāhmaṇa, you have already informed me that the radius of Bhū-maṇḍala extends as far as the sun spreads its light and heat and as far as the moon and all the stars can be seen.

2My dear Lord, the rolling wheels of Mahārāja Priyavrata's chariot created seven ditches, in which the seven oceans came into existence. Because of these seven oceans, Bhū-maṇḍala is divided into seven islands. You have given a very general description of their measurement, names and characteristics. Now I wish to know of them in detail. Kindly fulfill my desire.

3When the mind is fixed upon the Supreme Personality of Godhead in His external feature made of the material modes of naturethe gross universal formit is brought to the platform of pure goodness. In that transcendental position, one can understand the Supreme Personality of Godhead, Vāsudeva, who in His subtler form is self-effulgent and beyond the modes of nature. O my lord, please describe vividly how that form, which covers the entire universe, is perceived.

4The great ṛṣi Śukadeva Gosvāmī said: My dear King, there is no limit to the expansion of the Supreme Personality of Godhead's material energy. This material world is a transformation of the material qualities [sattva-guṇa, rajo-guṇa and tamo-guṇa], yet no one could possibly explain it perfectly, even in a lifetime as long as that of Brahmā. No one in the material world is perfect, and an imperfect person could not describe this material universe accurately, even after continued speculation. O King, I shall nevertheless try to explain to you the principal regions, such as Bhūloka, with their names, forms, measurements and various symptoms.

5The planetary system known as Bhū-maṇḍala resembles a lotus flower, and its seven islands resemble the whorl of that flower. The length and breadth of the island known as Jambūdvīpa, which is situated in the middle of the whorl, are one million yojanas [eight million miles]. Jambūdvīpa is round like the leaf of a lotus flower.

6In Jambūdvīpa there are nine divisions of land, each with a length of 9,000 yojanas [72,000 miles]. There are eight mountains that mark the boundaries of these divisions and separate them nicely.

7Amidst these divisions, or varṣas, is the varṣa named Ilāvṛta, which is situated in the middle of the whorl of the lotus. Within Ilāvṛta-varṣa is Sumeru Mountain, which is made of gold. Sumeru Mountain is like the pericarp of the lotuslike Bhū-maṇḍala planetary system. The mountain's height is the same as the width of Jambūdvīpaor, in other words, 100,000 yojanas [800,000 miles]. Of that, 16,000 yojanas [128,000 miles] are within the earth, and therefore the mountain's height above the earth is 84,000 yojanas [672,000 miles]. The mountain's width is 32,000 yojanas [256,000 miles] at its summit and 16,000 yojanas at its base.

8Just north of Ilāvṛta-varṣaand going further northward, one after anotherare three mountains

named Nīla, Śveta and Śṛṅgavān. These mark the borders of the three varṣas named Ramyaka, Hiraṇmaya and Kuru and separate them from one another. The width of these mountains is 2,000 yojanas [16,000 miles]. Lengthwise, they extend east and west to the beaches of the ocean of salt water. Going from south to north, the length of each mountain is one tenth that of the previous mountain, but the height of them all is the same.

9Similarly, south of Ilāvṛta-varṣa and extending from east to west are three great mountains named (from north to south) Niṣadha, Hemakūṭa and Himālaya. Each of them is 10,000 yojanas [80,000 miles] high. They mark the boundaries of the three varṣas named Hari-varṣa, Kimpuruṣa-varṣa and Bhārata-varṣa [India].

10In the same way, west and east of Ilāvṛta-varṣa are two great mountains named Mālyavān and Gandhamādana respectively. These two mountains, which are 2,000 yojanas [16,000 miles] high, extend as far as Nīla Mountain in the north and Niṣadha in the south. They indicate the borders of Ilāvṛta-varṣa and also the varṣas known as Ketumāla and Bhadrāśva.

11On the four sides of the great mountain known as Sumeru are four mountainsMandara, Merumandara, Supārśva and Kumudawhich are like its belts. The length and height of these mountains are calculated to be 10,000 yojanas [80,000 miles].

12Standing like flagstaffs on the summits of these four mountains are a mango tree, a rose apple tree, a kadamba tree and a banyan tree. Those trees are calculated to have a width of 100 yojanas [800 miles] and a height of 1,100 yojanas [8,800 miles]. Their branches also spread to a radius of 1,100 yojanas.

13-14O Mahārāja Parīkṣit, best of the Bharata dynasty, between these four mountains are four huge lakes. The water of the first tastes just like milk; the water of the second, like honey; and that of the third, like sugarcane juice. The fourth lake is filled with pure water. The celestial beings such as the Siddhas, Cāraṇas and Gandharvas, who are also known as demigods, enjoy the facilities of those four lakes. Consequently they have the natural perfections of mystic yoga, such as the power to become smaller than the smallest or greater than the greatest. There are also four celestial gardens named Nandana, Caitraratha, Vaibhrājaka and Sarvatobhadra.

15The best of the demigods, along with their wives, who are like ornaments of heavenly beauty, meet together and enjoy within those gardens, while their glories are sung by lesser demigods known as Gandharvas.

16On the lower slopes of Mandara Mountain is a mango tree named Devacūta. It is 1,100 yojanas high. Mangoes as big as mountain peaks and as sweet as nectar fall from the top of this tree for the enjoyment of the denizens of heaven.

17When all those solid fruits fall from such a height, they break, and the sweet, fragrant juice within them flows out and becomes increasingly more fragrant as it mixes with other scents. That juice cascades from the mountain in waterfalls and becomes a river called Aruṇodā, which flows pleasantly through the eastern side of Ilāvṛta.

18The pious wives of the Yakṣas act as personal maidservants to assist Bhavānī, the wife of Lord Śiva. Because they drink the water of the river Aruṇodā, their bodies become fragrant, and as the air carries away that fragrance, it perfumes the entire atmosphere for eighty miles around.

19Similarly, the fruits of the jambū tree, which are full of pulp and have very small seeds, fall from a great height and break to pieces. Those fruits are the size of elephants, and the juice

gliding from them becomes a river named Jambū-nadī. This river falls a distance of 10,000 yojanas, from the summit of Merumandara to the southern side of Ilāvṛta, and floods the entire land of Ilāvṛta with juice.

20-21The mud on both banks of the river Jambū-nadī, being moistened by the flowing juice and then dried by the air and the sunshine, produces huge quantities of gold called Jāmbū-nada. The denizens of heaven use this gold for various kinds of ornaments. Therefore all the inhabitants of the heavenly planets and their youthful wives are fully decorated with golden helmets, bangles and belts, and thus they enjoy life.

22On the side of Supārśva Mountain stands a big tree called Mahākadamba, which is very celebrated. From the hollows of this tree flow five rivers of honey, each about five vyāmas wide. This flowing honey falls incessantly from the top of Supārśva Mountain and flows all around Ilāvṛta-varṣa, beginning from the western side. Thus the whole land is saturated with the pleasing fragrance.

23The air carrying the scent from the mouths of those who drink that honey perfumes the land for a hundred yojanas around.

24Similarly, on Kumuda Mountain there is a great banyan tree, which is called Śatavalśa because it has a hundred main branches. From those branches come many roots, from which many rivers are flowing. These rivers flow down from the top of the mountain to the northern side of Ilāvṛta-varṣa for the benefit of those who live there. Because of these flowing rivers, all the people have ample supplies of milk, yogurt, honey, clarified butter [ghee], molasses, food grains, clothes, bedding, sitting places and ornaments. All the objects they desire are sufficiently supplied for their prosperity, and therefore they are very happy.

25The residents of the material world who enjoy the products of these flowing rivers have no wrinkles on their bodies and no grey hair. They never feel fatigue, and perspiration does not give their bodies a bad odor. They are not afflicted by old age, disease or untimely death, they do not suffer from chilly cold or scorching heat, nor do their bodies lose their luster. They all live very happily, without anxieties, until death.

26There are other mountains beautifully arranged around the foot of Mount Meru like the filaments around the whorl of a lotus flower. Their names are Kuraṅga, Kurara, Kusumbha, Vaikaṅka, Trikūṭa, Śiśira, Pataṅga, Rucaka, Niṣadha, Sinīvāsa, Kapila, Śaṅkha, Vaidūrya, Jārudhi, Haṁsa, Ṛṣabha, Nāga, Kālaṣjara and Nārada.

27On the eastern side of Sumeru Mountain are two mountains named Jaṭhara and Devakūṭa, which extend to the north and south for 18,000 yojanas [144,000 miles]. Similarly, on the western side of Sumeru are two mountains named Pavana and Pāriyātra, which also extend north and south for the same distance. On the southern side of Sumeru are two mountains named Kailāsa and Karavīra, which extend east and west for 18,000 yojanas, and on the northern side of Sumeru, extending for the same distance east and west, are two mountains named Triśṛṅga and Makara. The width and height of all these mountains is 2,000 yojanas [16,000 miles]. Sumeru, a mountain of solid gold shining as brilliantly as fire, is surrounded by these eight mountains.

28In the middle of the summit of Meru is the township of Lord Brahmā. Each of its four sides is calculated to extend for ten million yojanas [eighty million miles]. It is made entirely of gold, and therefore learned scholars and sages call it Śātakaumbhī.

29Surrounding Brahmapurī in all directions are the residences of the eight principal governors

of the planetary systems, beginning with King Indra. These abodes are similar to Brahmapurī but are one fourth the size.

**SB 5.17: The Descent of the River Ganges**

The Seventeenth Chapter describes the origin of the Ganges River and how it flows in and around Ilāvṛta-varṣa. There is also a description of the prayers Lord Śiva offers to Lord Saṅkarṣaṇa, part of the quadruple expansions of the Supreme Personality of Godhead. Lord Viṣṇu once approached Bali Mahārāja while the King was performing a sacrifice. The Lord appeared before him as Trivikrama, or Vāmana, and begged alms from the King in the form of three steps of land. With two steps, Lord Vāmana covered all three planetary systems and pierced the covering of the universe with the toes of His left foot. A few drops of water from the Causal Ocean leaked through this hole and fell on the head of Lord Śiva, where they remained for one thousand millenniums. These drops of water are the sacred Ganges River. It first flows onto the heavenly planets, which are located on the soles of Lord Viṣṇu's feet. The Ganges River is known by many names, such as the Bhāgīrathī and the Jāhnavī. It purifies Dhruvaloka and the planets of the seven sages because both Dhruva and the sages have no other desire than to serve the Lord's lotus feet.

The Ganges River, emanating from the lotus feet of the Lord, inundates the heavenly planets, especially the moon, and then flows through Brahmapurī atop Mount Meru. Here the river divides into four branches (known as Sītā, Alakanandā, Cakṣu and Bhadrā), which then flow down to the ocean of salt water. The branch known as Sītā flows through Śekhara-parvata and Gandhamādana-parvata and then flows down to Bhadrāśva-varṣa, where it mixes with the ocean of salt water in the west. The Cakṣu branch flows through Mālyavān-giri and, after reaching Ketumāla-varṣa, mixes with the ocean of salt water in the west. The branch known as Bhadrā flows onto Mount Meru, Mount Kumuda, and the Nīla, Śveta and Śṛṅgavān mountains before it reaches Kuru-deśa, where it flows into the ocean of salt water in the north. The Alakanandā branch flows through Brahmālaya, crosses over many mountains, including Hemakūṭa and Himakūṭa, and then reaches Bhārata-varṣa, where it flows into the southern side of the ocean of salt water. Many other rivers and their branches flow through the nine *varṣas.*

The tract of land known as Bhārata-varṣa is the field of activities, and the other eight *varṣas* are for persons who are meant to enjoy heavenly comfort. In each of these eight beautiful provinces, the celestial denizens enjoy various standards of material comfort and pleasure. A different incarnation of the Supreme Personality of Godhead distributes His mercy in each of the nine *varṣas* of Jambūdvīpa.

In the Ilāvṛta-varṣa, Lord Śiva is the only male. There he lives with his wife, Bhavānī, who is attended by many maidservants. If any other male enters that province, Bhavānī curses him to become a woman. Lord Śiva worships Lord Saṅkarṣaṇa by offering various prayers, one of which is as follows: "My dear Lord, please liberate all Your devotees from material life and bind all the nondevotees to the material world. Without Your mercy, no one can be released from the bondage of material existence."

1Śukadeva Gosvāmī said: My dear King, Lord Viṣṇu, the enjoyer of all sacrifices, appeared as Vāmanadeva in the sacrificial arena of Bali Mahārāja. Then He extended His left foot to the end of the universe and pierced a hole in its covering with the nail of His big toe. Through the hole, the pure water of the Causal Ocean entered this universe as the Ganges River. Having washed the lotus feet of the Lord, which are covered with reddish powder, the water of the Ganges acquired a very beautiful pink color. Every living being can immediately purify his mind of material contamination by touching the transcendental water of the Ganges, yet its waters

remain ever pure. Because the Ganges directly touches the lotus feet of the Lord before descending within this universe, she is known as Viṣṇupadī. Later she received other names like Jāhnavī and Bhāgīrathī. After one thousand millenniums, the water of the Ganges descended to Dhruvaloka, the topmost planet in this universe. Therefore all learned sages and scholars proclaim Dhruvaloka to be Viṣṇupada ["situated on Lord Viṣṇu's lotus feet"].

2Dhruva Mahārāja, the famous son of Mahārāja Uttānapāda, is known as the most exalted devotee of the Supreme Lord because of his firm determination in executing devotional service. Knowing that the sacred Ganges water washes the lotus feet of Lord Viṣṇu, Dhruva Mahārāja, situated on his own planet, to this very day accepts that water on his head with great devotion. Because he constantly thinks of Kṛṣṇa very devoutly within the core of his heart, he is overcome with ecstatic anxiety. Tears flow from his half-open eyes, and eruptions appear on his entire body.

3The seven great sages [Marīci, Vasiṣṭha, Atri and so on] reside on planets beneath Dhruvaloka. Well aware of the influence of the water of the Ganges, to this day they keep Ganges water on the tufts of hair on their heads. They have concluded that this is the ultimate wealth, the perfection of all austerities, and the best means of prosecuting transcendental life. Having obtained uninterrupted devotional service to the Supreme Personality of Godhead, they neglect all other beneficial processes like religion, economic development, sense gratification and even merging into the Supreme. Just as jṣānīs think that merging into the existence of the Lord is the highest truth, these seven exalted personalities accept devotional service as the perfection of life.

4After purifying the seven planets near Dhruvaloka [the polestar], the Ganges water is carried through the spaceways of the demigods in billions of celestial airplanes. Then it inundates the moon [Candraloka] and finally reaches Lord Brahmā's abode atop Mount Meru.

5On top of Mount Meru, the Ganges divides into four branches, each of which gushes in a different direction [east, west, north and south]. These branches, known by the names Sītā, Alakanandā, Cakṣu and Bhadrā, flow down to the ocean.

6The branch of the Ganges known as the Sītā flows through Brahmapurī atop Mount Meru, and from there it runs down to the nearby peaks of the Kesarācala Mountains, which stand almost as high as Mount Meru itself. These mountains are like a bunch of filaments around Mount Meru. From the Kesarācala Mountains, the Ganges falls to the peak of Gandhamādana Mountain and then flows into the land of Bhadrāśva-varṣa. Finally it reaches the ocean of salt water in the west.

7The branch of the Ganges known as Cakṣu falls onto the summit of Mālyavān Mountain and from there cascades onto the land of Ketumāla-varṣa. The Ganges flows incessantly through Ketumāla-varṣa and in this way also reaches the ocean of salt water in the west.

8The branch of the Ganges known as Bhadrā flows from the northern side of Mount Meru. Its waters fall onto the peaks of Kumuda Mountain, Mount Nīla, Śveta Mountain and Śṛṅgavān Mountain in succession. Then it runs down into the province of Kuru and, after crossing through that land, flows into the saltwater ocean in the north.

9Similarly, the branch of the Ganges known as Alakanandā flows from the southern side of Brahmapurī [Brahma-sadana]. Passing over the tops of mountains in various lands, it falls down with fierce force upon the peaks of the mountains Hemakūṭa and Himakūṭa. After inundating the tops of those mountains, the Ganges falls down onto the tract of land known as Bhārata-varṣa, which she also inundates. Then the Ganges flows into the ocean of salt water in the

south. Persons who come to bathe in this river are fortunate. It is not very difficult for them to achieve with every step the results of performing great sacrifices like the Rājasūya and Aśvamedha yajṣas.

10Many other rivers, both big and small, flow from the top of Mount Meru. These rivers are like daughters of the mountain, and they flow to the various tracts of land in hundreds of branches.

11Among the nine varṣas, the tract of land known as Bhārata-varṣa is understood to be the field of fruitive activities. Learned scholars and saintly persons declare the other eight varṣas to be meant for very highly elevated pious persons. After returning from the heavenly planets, they enjoy the remaining results of their pious activities in these eight earthly varṣas.

12In these eight varṣas, or tracts of land, human beings live ten thousand years according to earthly calculations. All the inhabitants are almost like demigods. They have the bodily strength of ten thousand elephants. Indeed, their bodies are as sturdy as thunderbolts. The youthful duration of their lives is very pleasing, and both men and women enjoy sexual union with great pleasure for a long time. After years of sensual pleasurewhen a balance of one year of life remainsthe wife conceives a child. Thus the standard of pleasure for the residents of these heavenly regions is exactly like that of the human beings who lived during Tretā-yuga.

13In each of those tracts of land, there are many gardens filled with flowers and fruits according to the season, and there are beautifully decorated hermitages as well. Between the great mountains demarcating the borders of those lands lie enormous lakes of clear water filled with newly grown lotus flowers. Aquatic birds such as swans, ducks, water chickens, and cranes become greatly excited by the fragrance of lotus flowers, and the charming sound of bumblebees fills the air. The inhabitants of those lands are important leaders among the demigods. Always attended by their respective servants, they enjoy life in gardens alongside the lakes. In this pleasing situation, the wives of the demigods smile playfully at their husbands and look upon them with lusty desires. All the demigods and their wives are constantly supplied with sandalwood pulp and flower garlands by their servants. In this way, all the residents of the eight heavenly varṣas enjoy, attracted by the activities of the opposite sex.

14To show mercy to His devotees in each of these nine tracts of land, the Supreme Personality of Godhead known as Nārāyaṇa expands Himself in His quadruple principles of Vāsudeva, Saṅkarṣaṇa, Pradyumna and Aniruddha. In this way He remains near His devotees to accept their service.

15Śukadeva Gosvāmī said: In the tract of land known as Ilāvṛta-varṣa, the only male person is Lord Śiva, the most powerful demigod. Goddess Durgā, the wife of Lord Śiva, does not like any man to enter that land. If any foolish man dares to do so, she immediately turns him into a woman. I shall explain this later [in the Ninth Canto of Śrīmad-Bhāgavatam].

16In Ilāvṛta-varṣa, Lord Śiva is always encircled by ten billion maidservants of Goddess Durgā, who minister to him. The quadruple expansion of the Supreme Lord is composed of Vāsudeva, Pradyumna, Aniruddha and Saṅkarṣaṇa. Saṅkarṣaṇa, the fourth expansion, is certainly transcendental, but because His activities of destruction in the material world are in the mode of ignorance, He is known as tāmasī, the Lord's form in the mode of ignorance. Lord Śiva knows that Saṅkarṣaṇa is the original cause of his own existence, and thus he always meditates upon Him in trance by chanting the following mantra.

17The most powerful Lord Śiva says: O Supreme Personality of Godhead, I offer my respectful obeisances unto You in Your expansion as Lord Saṅkarṣaṇa. You are the reservoir of all transcendental qualities. Although You are unlimited, You remain unmanifest to the

nondevotees.

18O my Lord, You are the only worshipable person, for You are the Supreme Personality of Godhead, the reservoir of all opulences. Your secure lotus feet are the only source of protection for all Your devotees, whom You satisfy by manifesting Yourself in various forms. O my Lord, You deliver Your devotees from the clutches of material existence. Nondevotees, however, remain entangled in material existence by Your will. Kindly accept me as Your eternal servant.

19We cannot control the force of our anger. Therefore when we look at material things, we cannot avoid feeling attraction or repulsion for them. But the Supreme Lord is never affected in this way. Although He glances over the material world for the purpose of creating, maintaining and destroying it, He is not affected, even to the slightest degree. Therefore, one who desires to conquer the force of the senses must take shelter of the lotus feet of the Lord. Then he will be victorious.

20For persons with impure vision, the Supreme Lord's eyes appear like those of someone who indiscriminately drinks intoxicating beverages. Thus bewildered, such unintelligent persons become angry at the Supreme Lord, and due to their angry mood the Lord Himself appears angry and very fearful. However, this is an illusion. When the wives of the serpent demon were agitated by the touch of the Lord's lotus feet, due to shyness they could proceed no further in their worship of Him. Yet the Lord remained unagitated by their touch, for He is equipoised in all circumstances. Therefore who will not worship the Supreme Personality of Godhead?

21Lord Śiva continued: All the great sages accept the Lord as the source of creation, maintenance and destruction, although He actually has nothing to do with these activities. Therefore the Lord is called unlimited. Although the Lord in His incarnation as Śeṣa holds all the universes on His hoods, each universe feels no heavier than a mustard seed to Him. Therefore, what person desiring perfection will not worship the Lord?

22-23From that Supreme Personality of Godhead appears Lord Brahmā, whose body is made from the total material energy, the reservoir of intelligence predominated by the passionate mode of material nature. From Lord Brahmā, I myself am born as a representation of false ego known as Rudra. By my own power I create all the other demigods, the five elements and the senses. Therefore, I worship the Supreme Personality of Godhead, who is greater than any of us and under whose control are situated all the demigods, material elements and senses, and even Lord Brahmā and I myself, like birds bound by a rope. Only by the Lord's grace can we create, maintain and annihilate the material world. Therefore I offer my respectful obeisances unto the Supreme Being.

24The illusory energy of the Supreme Personality of Godhead binds all of us conditioned souls to this material world. Therefore, without being favored by Him, persons like us cannot understand how to get out of that illusory energy. Let me offer my respectful obeisances unto the Lord, who is the cause of creation and annihilation.

### SB 5.18: The Prayers Offered to the Lord by the Residents of Jambūdvīpa

In this chapter Śukadeva Gosvāmī describes the different *varṣas* of Jambūdvīpa and the incarnation of the Supreme Lord worshiped in each. The predominating ruler of Bhadrāśva-varṣa is Bhadraśravā. He and his many servants always worship the incarnation known as Lord Hayagrīva. At the end of each *kalpa,* when the demon AJnana steals the Vedic knowledge, Lord Hayagrīva appears and preserves it. Then He delivers it to Lord Brahmā. In the land known as Hari-varṣa, the exalted devotee Prahlāda Mahārāja worships Lord Nṛsiṁhadeva. (The

appearance of Lord Nṛsiṁhadeva is described in the Seventh Canto of *Śrīmad-Bhāgavatam.*) Following in the footsteps of Prahlāda Mahārāja, the inhabitants of Hari-varṣa always worship Lord Nṛsiṁhadeva to receive from Him the benediction of being engaged in His loving service. In the tract of land known as Ketumāla-varṣa, the Supreme Personality of Godhead (Lord Hṛṣīkeśa) appears in the form of Cupid. The goddess of fortune and the demigods living there engage in His service day and night. Manifesting Himself in sixteen parts, Lord Hṛṣīkeśa is the source of all encouragement, strength and influence. The conditioned living entity has the defect of being always fearful, but simply by the mercy of the Supreme Personality of Godhead, he can rid himself of this defect of material life. Therefore the Lord alone can be addressed as master. In the tract of land known as Ramyaka-varṣa, Manu and all the inhabitants worship Matsyadeva to this very day. Matsyadeva, whose form is pure goodness, is the ruler and maintainer of the whole universe, and as such He is the director of all the demigods, headed by King Indra. In Hiraṇmaya-varṣa Lord Viṣṇu has assumed the form of a tortoise (Kūrma *mūrti*) and is worshiped there by Aryamā, along with all the other residents. Similarly, in the tract of land known as Uttarakuru-varṣa, Lord Śrī Hari has assumed the form of a boar, and in that form He accepts service from all the inhabitants living there.

All the information in this chapter can be fully realized by one who associates with devotees of the Lord. Therefore in the *śāstras* it is recommended that one associate with devotees. This is better than residing on the banks of the Ganges. In the hearts of pure devotees reside all good sentiments as well as all the superior qualities of the demigods. In the hearts of nondevotees, however, there cannot be any good qualities, for such people are simply enchanted by the external, illusory energy of the Lord. Following in the footsteps of devotees, one should know that the Supreme Personality of Godhead is the only worshipable Deity. Everyone should accept this proposal and worship the Lord. As stated in *Bhagavad-gītā* (15.15), *vedaiś ca sarvair aham eva vedyaḥ:* the purpose of studying all Vedic literature is to worship the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa. If after studying all the Vedic literature, one does not awaken his dormant love for the Supreme Lord, it is to be understood that he has labored for nothing. He has simply wasted his time. Lacking attachment for the Supreme Personality of Godhead, he remains attached to family life in this material world. Thus the lesson of this chapter is that one should get out of family life and completely take shelter of the lotus feet of the Lord.

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: Bhadraśravā, the son of Dharmarāja, rules the tract of land known as Bhadrāśva-varṣa. Just as Lord Śiva worships Saṅkarṣaṇa in Ilāvṛta-varṣa, Bhadraśravā, accompanied by his intimate servants and all the residents of the land, worships the plenary expansion of Vāsudeva known as Hayaśīrṣa. Lord Hayaśīrṣa is very dear to the devotees, and He is the director of all religious principles. Fixed in the topmost trance, Bhadraśravā and his associates offer their respectful obeisances to the Lord and chant the following prayers with careful pronunciation.

2The ruler Bhadraśravā and his intimate associates utter the following prayer: We offer our respectful obeisances unto the Supreme Personality of Godhead, the reservoir of all religious principles, who cleanses the heart of the conditioned soul in this material world. Again and again we offer our respectful obeisances unto Him.

3Alas! How wonderful it is that the foolish materialist does not heed the great danger of impending death! He knows that death will surely come, yet he is nevertheless callous and neglectful. If his father dies, he wants to enjoy his father's property, and if his son dies, he wants to enjoy his son's possessions as well. In either case, he heedlessly tries to enjoy material happiness with the acquired money.

4O unborn one, learned Vedic scholars who are advanced in spiritual knowledge certainly know that this material world is perishable, as do other logicians and philosophers. In trance they realize the factual position of this world, and they preach the truth as well. Yet even they are sometimes bewildered by Your illusory energy. This is Your own wonderful pastime. Therefore, I can understand that Your illusory energy is very wonderful, and I offer my respectful obeisances unto You.

5O Lord, although You are completely detached from the creation, maintenance and annihilation of this material world and are not directly affected by these activities, they are all attributed to You. We do not wonder at this, for Your inconceivable energies perfectly qualify You to be the cause of all causes. You are the active principle in everything, although You are separate from everything. Thus we can realize that everything is happening because of Your inconceivable energy.

6At the end of the millennium, ignorance personified assumed the form of a demon, stole all the Vedas and took them down to the planet of Rasātala. The Supreme Lord, however, in His form of Hayagrīva retrieved the Vedas and returned them to Lord Brahmā when he begged for them. I offer my respectful obeisances unto the Supreme Lord, whose determination never fails.

7Śukadeva Gosvāmī continued: My dear King, Lord Nṛsiṁhadeva resides in the tract of land known as Hari-varṣa. In the Seventh Canto of Śrīmad-Bhāgavatam, I shall describe to you how Prahlāda Mahārāja caused the Lord to assume the form of Nṛsiṁhadeva. Prahlāda Mahārāja, the topmost devotee of the Lord, is a reservoir of all the good qualities of great personalities. His character and activities have delivered all the fallen members of his demoniac family. Lord Nṛsiṁhadeva is very dear to this exalted personality. Thus Prahlāda Mahārāja, along with his servants and all the denizens of Hari-varṣa, worships Lord Nṛsiṁhadeva by chanting the following mantra.

8I offer my respectful obeisances unto Lord Nṛsiṁhadeva, the source of all power. O my Lord who possess nails and teeth just like thunderbolts, kindly vanquish our demonlike desires for fruitive activity in this material world. Please appear in our hearts and drive away our ignorance so that by Your mercy we may become fearless in the struggle for existence in this material world.

9May there be good fortune throughout the universe, and may all envious persons be pacified. May all living entities become calm by practicing bhakti-yoga, for by accepting devotional service they will think of each other's welfare. Therefore let us all engage in the service of the supreme transcendence, Lord Śrī Kṛṣṇa, and always remain absorbed in thought of Him.

10My dear Lord, we pray that we may never feel attraction for the prison of family life, consisting of home, wife, children, friends, bank balance, relatives and so on. If we do have some attachment, let it be for devotees, whose only dear friend is Kṛṣṇa. A person who is actually self-realized and who has controlled his mind is perfectly satisfied with the bare necessities of life. He does not try to gratify his senses. Such a person quickly advances in Kṛṣṇa consciousness, whereas others, who are too attached to material things, find advancement very difficult.

11By associating with persons for whom the Supreme Personality of Godhead, Mukunda, is the all in all, one can hear of His powerful activities and soon come to understand them. The activities of Mukunda are so potent that simply by hearing of them one immediately associates with the Lord. For a person who constantly and very eagerly hears narrations of the Lord's powerful activities, the Absolute Truth, the Personality of Godhead in the form of sound

vibrations, enters within his heart and cleanses it of all contamination. On the other hand, although bathing in the Ganges diminishes bodily contaminations and infections, this process and the process of visiting holy places can cleanse the heart only after a long time. Therefore who is the sane man who will not associate with devotees to quickly perfect his life?

12All the demigods and their exalted qualities, such as religion, knowledge and renunciation, become manifest in the body of one who has developed unalloyed devotion for the Supreme Personality of Godhead, Vāsudeva. On the other hand, a person devoid of devotional service and engaged in material activities has no good qualities. Even if he is adept at the practice of mystic yoga or the honest endeavor of maintaining his family and relatives, he must be driven by his own mental speculations and must engage in the service of the Lord's external energy. How can there be any good qualities in such a man?

13Just as aquatics always desire to remain in the vast mass of water, all conditioned living entities naturally desire to remain in the vast existence of the Supreme Lord. Therefore if someone very great by material calculations fails to take shelter of the Supreme Soul but instead becomes attached to material household life, his greatness is like that of a young, low-class couple. One who is too attached to material life loses all good spiritual qualities.

14Therefore, O demons, give up the so-called happiness of family life and simply take shelter of the lotus feet of Lord Nṛsiṁhadeva, which are the actual shelter of fearlessness. Entanglement in family life is the root cause of material attachment, indefatigable desires, moroseness, anger, despair, fear and the desire for false prestige, all of which result in the repetition of birth and death.

15Śukadeva Gosvāmī continued: In the tract of land called Ketumāla-varṣa, Lord Viṣṇu lives in the form of Kāmadeva, only for the satisfaction of His devotees. These include Lakṣmījī [the goddess of fortune], the Prajāpati Saṁvatsara and all of Saṁvatsara's sons and daughters. The daughters of Prajāpati are considered the controlling deities of the nights, and his sons are considered the controllers of the days. The Prajāpati's offspring number 36,000, one for each day and each night in the lifetime of a human being. At the end of each year, the Prajāpati's daughters become very agitated upon seeing the extremely effulgent disc of the Supreme Personality of Godhead, and thus they all suffer miscarriages.

16In Ketumāla-varṣa, Lord Kāmadeva [Pradyumna] moves very graciously. His mild smile is very beautiful, and when He increases the beauty of His face by slightly raising His eyebrows and glancing playfully, He pleases the goddess of fortune. Thus He enjoys His transcendental senses.

17Accompanied during the daytime by the sons of the Prajāpati [the predominating deities of the days] and accompanied at night by his daughters [the deities of the nights], Lakṣmīdevī worships the Lord during the period known as the Saṁvatsara in His most merciful form as Kāmadeva. Fully absorbed in devotional service, she chants the following mantras.

18Let me offer my respectful obeisances unto the Supreme Personality of Godhead, Lord Hṛṣīkeśa, the controller of all my senses and the origin of everything. As the supreme master of all bodily, mental and intellectual activities, He is the only enjoyer of their results. The five sense objects and eleven senses, including the mind, are His partial manifestations. He supplies all the necessities of life, which are His energy and thus nondifferent from Him, and He is the cause of everyone's bodily and mental prowess, which is also nondifferent from Him. Indeed, He is the husband and provider of necessities for all living entities. The purpose of all the Vedas is to worship Him. Therefore let us all offer Him our respectful obeisances. May He always be favorable toward us in this life and the next.

19My dear Lord, You are certainly the fully independent master of all the senses. Therefore all women who worship You by strictly observing vows because they wish to acquire a husband to satisfy their senses are surely under illusion. They do not know that such a husband cannot actually give protection to them or their children. Nor can he protect their wealth or duration of life, for he himself is dependent on time, fruitive results and the modes of nature, which are all subordinate to You.

20He alone who is never afraid but who, on the contrary, gives complete shelter to all fearful persons can actually become a husband and protector. Therefore, my Lord, You are the only husband, and no one else can claim this position. If You were not the only husband, You would be afraid of others. Therefore persons learned in all Vedic literature accept only Your Lordship as everyone's master, and they think no one else a better husband and protector than You.

21My dear Lord, You automatically fulfill all the desires of a woman who worships Your lotus feet in pure love. However, if a woman worships Your lotus feet for a particular purpose, You also quickly fulfill her desires, but in the end she becomes broken-hearted and laments. Therefore one need not worship Your lotus feet for some material benefit.

22O supreme unconquerable Lord, when they become absorbed in thoughts of material enjoyment, Lord Brahmā and Lord Śiva, as well as other demigods and demons, undergo severe penances and austerities to receive my benedictions. But I do not favor anyone, however great he may be, unless he is always engaged in the service of Your lotus feet. Because I always keep You within my heart, I cannot favor anyone but a devotee.

23O infallible one, Your lotus palm is the source of all benediction. Therefore Your pure devotees worship it, and You very mercifully place Your hand on their heads. I wish that You may also place Your hand on My head, for although You already bear my insignia of golden streaks on Your chest, I regard this honor as merely a kind of false prestige for me. You show Your real mercy to Your devotees, not to me. Of course, You are the supreme absolute controller, and no one can understand Your motives.

24Śukadeva Gosvāmī continued: In Ramyaka-varṣa, where Vaivasvata Manu rules, the Supreme Personality of Godhead appeared as Lord Matsya at the end of the last era [the Cākṣuṣa-manvantara]. Vaivasvata Manu now worships Lord Matsya in pure devotional service and chants the following mantra.

25I offer my respectful obeisances unto the Supreme Personality of Godhead, who is pure transcendence. He is the origin of all life, bodily strength, mental power and sensory ability. Known as Matsyāvatāra, the gigantic fish incarnation, He appears first among all the incarnations. Again I offer my obeisances unto Him.

26My dear Lord, just as a puppeteer controls his dancing dolls and a husband controls his wife, Your Lordship controls all the living entities in the universe, such as the brāhmaṇas, kṣatriyas, vaiśyas and śūdras. Although You are in everyone's heart as the supreme witness and commander and are outside everyone as well, the so-called leaders of societies, communities and countries cannot realize You. Only those who hear the vibration of the Vedic mantras can appreciate You.

27My Lord, from the great leaders of the universe, such as Lord Brahmā and other demigods, down to the political leaders of this world, all are envious of Your authority. Without Your help, however, they could neither separately nor concertedly maintain the innumerable living entities within the universe. You are actually the only maintainer of all human beings, of animals like cows and asses, and of plants, reptiles, birds, mountains and whatever else is

visible within this material world.

28O almighty Lord, at the end of the millennium this planet earth, which is the source of all kinds of herbs, drugs and trees, was inundated by water and drowned beneath the devastating waves. At that time, You protected me along with the earth and roamed the sea with great speed. O unborn one, You are the actual maintainer of the entire universal creation, and therefore You are the cause of all living entities. I offer my respectful obeisances unto You.

29Śukadeva Gosvāmī continued: In Hiraṇmaya-varṣa, the Supreme Lord, Viṣṇu, lives in the form of a tortoise [kūrma-śarīra]. This most dear and beautiful form is always worshiped there in devotional service by Aryamā, the chief resident of Hiraṇmaya-varṣa, along with the other inhabitants of that land. They chant the following hymns.

30O my Lord, I offer my respectful obeisances unto You, who have assumed the form of a tortoise. You are the reservoir of all transcendental qualities, and being entirely untinged by matter, You are perfectly situated in pure goodness. You move here and there in the water, but no one can discern Your position. Therefore I offer my respectful obeisances unto You. Because of Your transcendental position, You are not limited by past, present and future. You are present everywhere as the shelter of all things, and therefore I offer my respectful obeisances unto You again and again.

31My dear Lord, this visible cosmic manifestation is a demonstration of Your own creative energy. Since the countless varieties of forms within this cosmic manifestation are simply a display of Your external energy, this virāṭ-rūpa [universal body] is not Your real form. Except for a devotee in transcendental consciousness, no one can perceive Your actual form. Therefore I offer my respectful obeisances unto You.

32My dear Lord, You manifest Your different energies in countless forms: as living entities born from wombs, from eggs and from perspiration; as plants and trees that grow out of the earth; as all living entities, both moving and standing, including the demigods, the learned sages and the pitās; as outer space, as the higher planetary system containing the heavenly planets, and as the planet earth with its hills, rivers, seas, oceans and islands. Indeed, all the stars and planets are simply manifestations of Your different energies, but originally You are one without a second. Therefore there is nothing beyond You. This entire cosmic manifestation is therefore not false but is simply a temporary manifestation of Your inconceivable energy.

33O my Lord, Your name, form and bodily features are expanded in countless forms. No one can determine exactly how many forms exist, yet You Yourself, in Your incarnation as the learned scholar Kapiladeva, have analyzed the cosmic manifestation as containing twenty-four elements. Therefore if one is interested in Sāṅkhya philosophy, by which one can enumerate the different truths, he must hear it from You. Unfortunately, nondevotees simply count the different elements and remain ignorant of Your actual form. I offer my respectful obeisances unto You.

34Śukadeva Gosvāmī said: Dear King, the Supreme Lord in His boar incarnation, who accepts all sacrificial offerings, lives in the northern part of Jambūdvīpa. There, in the tract of land known as Uttarakuru-varṣa, mother earth and all the other inhabitants worship Him with unfailing devotional service by repeatedly chanting the following Upaniṣadic mantra.

35O Lord, we offer our respectful obeisances unto You as the gigantic person. Simply by chanting mantras, we shall be able to understand You fully. You are yajṣa [sacrifice], and You are the kratu [ritual]. Therefore all the ritualistic ceremonies of sacrifice are part of Your transcendental body, and You are the only enjoyer of all sacrifices. Your form is composed of

transcendental goodness. You are known as tri-yuga because in Kali-yuga You appeared as a concealed incarnation and because You always fully possess the three pairs of opulences.

36By manipulating a fire-generating stick, great saints and sages can bring forth the fire lying dormant within wood. In the same way, O Lord, those expert in understanding the Absolute Truth try to see You in everythingeven in their own bodies. Yet you remain concealed. You are not to be understood by indirect processes involving mental or physical activities. Because You are self-manifested, only when You see that a person is wholeheartedly engaged in searching for You do You reveal Yourself. Therefore I offer my respectful obeisances unto You.

37The objects of material enjoyment [sound, form, taste, touch and smell], the activities of the senses, the controllers of sensory activities [the demigods], the body, eternal time and egotism are all creations of Your material energy. Those whose intelligence has become fixed by perfect execution of mystic yoga can see that all these elements result from the actions of Your external energy. They can also see Your transcendental form as Supersoul in the background of everything. Therefore I repeatedly offer my respectful obeisances unto You.

38O Lord, You do not desire the creation, maintenance or annihilation of this material world, but You perform these activities for the conditioned souls by Your creative energy. Exactly as a piece of iron moves under the influence of a lodestone, inert matter moves when You glance over the total material energy.

39My Lord, as the original boar within this universe, You fought and killed the great demon Hiraṇyakṣa. Then You lifted me [the earth] from the Garbhodaka Ocean on the end of Your tusk, exactly as a sporting elephant plucks a lotus flower from the water. I bow down before You.

### SB 5.19: A Description of the Island of Jambūdvīpa

This chapter describes the glories of Bhārata-varṣa, and it also describes how Lord Rāmacandra is being worshiped in the tract of land known as Kimpuruṣa-varṣa. The inhabitants of Kimpuruṣa-varṣa are fortunate because they worship Lord Rāmacandra with His faithful servant Hanumān. Lord Rāmacandra exemplifies an incarnation of Godhead who descends for the mission of *paritrāṇāya sādhūnāṁ vināśāya ca duṣkṛtām*protecting the devotees and destroying the miscreants. Lord Rāmacandra exhibits the actual purpose of an incarnation of the Supreme Personality of Godhead, and the devotees take the opportunity to offer loving transcendental service to Him. One should surrender fully to the Lord, forgetting one's so-called material happiness, opulence and education, which are not at all useful for pleasing the Lord. The Lord is pleased only by the process of surrender unto Him.

When Devarṣi Nārada descended to instruct Sārvaṇi Manu, he described the opulence of Bhārata-varṣa, India. Sārvaṇi Manu and the inhabitants of Bhārata-varṣa engage in devotional service to the Supreme Personality of Godhead, who is the origin of creation, maintenance and annihilation and who is always worshiped by self-realized souls. In the planet known as Bhārata-varṣa there are many rivers and mountains, as there are in other tracts of land, yet Bhārata-varṣa has special significance because in this tract of land there exists the Vedic principle of *varṇāśrama-dharma,* which divides society into four *varṇas* and four *āśramas.* Furthermore, Nārada Muni's opinion is that even if there is some temporary disturbance in the execution of the *varṇāśrama-dharma* principles, they can be revived at any moment. The effect of adhering to the institution of *varṇāśrama* is gradual elevation to the spiritual platform and liberation from material bondage. By following the principles of *varṇāśrama-dharma,* one gets the opportunity to associate with devotees. Such association gradually awakens one's dormant propensity to serve the Supreme Personality of Godhead and frees one from all the

basic principles of sinful life. One then gets the opportunity to offer unalloyed devotional service to the Supreme Lord, Vāsudeva. Because of this opportunity, the inhabitants of Bhārata-varṣa are praised even in the heavenly planets. Even in the topmost planet of this universe, Brahmaloka, the position of Bhārata-varṣa is discussed with great relish.

All the conditioned living entities are evolving within the universe in different planets and different species of life. Thus one may be elevated to Brahmaloka, but then one must again descend to earth, as confirmed in *Śrīmad Bhagavad-gītā* (*ābrahma-bhuvanāl lokāḥ punar āvartino 'rjuna*). If those who live in Bhārata-varṣa rigidly follow the principles of *varṇāśrama-dharma* and develop their dormant Kṛṣṇa consciousness, they need not return to this material world after death. Any place where one cannot hear about the Supreme Personality of Godhead from realized souls, even if it be Brahmaloka, is not very congenial to the living entity. If one who has taken birth in the land of Bhārata-varṣa as a human being does not take advantage of the opportunity for spiritual elevation, his position is certainly the most miserable. In the land known as Bhāratavarṣa, even if one is a *sarva-kāma-bhakta,* a devotee seeking the fulfillment of some material desire, he is freed from all material desires by his association with devotees, and ultimately he becomes a pure devotee and returns home, back to Godhead, without difficulty.

At the end of this chapter, ŚrīŚukadeva Gosvāmī describes to Mahārāja Parīkṣit the eight sub-islands within the island of Jambūdvīpa.

1Śrīla Śukadeva Gosvāmī said: My dear King, in Kimpuruṣa-varṣa the great devotee Hanumān is always engaged with the inhabitants of that land in devotional service to Lord Rāmacandra, the elder brother of Lakṣmaṇa and dear husband of Sītādevī.

2A host of Gandharvas is always engaged in chanting the glories of Lord Rāmacandra. That chanting is always extremely auspicious. Hanumānjī and Arṣṭiṣeṇa, the chief person in Kimpuruṣa-varṣa, constantly hear those glories with complete attention. Hanumān chants the following mantras.

3Let me please Your Lordship by chanting the bīja-mantra oṁkāra. I wish to offer my respectful obeisances unto the Personality of Godhead, who is the best among the most highly elevated personalities. Your Lordship is the reservoir of all the good qualities of Āryans, people who are advanced. Your character and behavior are always consistent, and You always control Your senses and mind. Acting just like an ordinary human being, You exhibit exemplary character to teach others how to behave. There is a touchstone that can be used to examine the quality of gold, but You are like a touchstone that can verify all good qualities. You are worshiped by brāhmaṇas who are the foremost of all devotees. You, the Supreme Person, are the King of kings, and therefore I offer my respectful obeisances unto You.

4The Lord, whose pure form [sac-cid-ānanda-vigraha] is uncontaminated by the modes of material nature, can be perceived by pure consciousness. In the Vedānta He is described as being one without a second. Because of His spiritual potency, He is untouched by the contamination of material nature, and because He is not subjected to material vision, He is known as transcendental. He has no material activities, nor has He a material form or name. Only in pure consciousness, Kṛṣṇa consciousness, can one perceive the transcendental form of the Lord. Let us be firmly fixed at the lotus feet of Lord Rāmacandra, and let us offer our respectful obeisances unto those transcendental lotus feet.

5It was ordained that Rāvaṇa, chief of the Rākṣasas, could not be killed by anyone but a man, and for this reason Lord Rāmacandra, the Supreme Personality of Godhead, appeared in the

form of a human being. Lord Rāmacandra's mission, however, was not only to kill Rāvaṇa but also to teach mortal beings that material happiness centered around sex life or centered around one's wife is the cause of many miseries. He is the self-sufficient Supreme Personality of Godhead, and nothing is lamentable for Him. Therefore why else could He be subjected to tribulations by the kidnapping of mother Sītā?

6Since Lord Śrī Rāmacandra is the Supreme Personality of Godhead, Vāsudeva, He is not attached to anything in this material world. He is the most beloved Supersoul of all self-realized souls, and He is their very intimate friend. He is full of all opulences. Therefore He could not possibly have suffered because of separation from His wife, nor could He have given up His wife and Lakṣmaṇa, His younger brother. To give up either would have been absolutely impossible.

7One cannot establish a friendship with the Supreme Lord Rāmacandra on the basis of material qualities such as one's birth in an aristocratic family, one's personal beauty, one's eloquence, one's sharp intelligence or one's superior race or nation. None of these qualifications is actually a prerequisite for friendship with Lord Śrī Rāmacandra. Otherwise how is it possible that although we uncivilized inhabitants of the forest have not taken noble births, although we have no physical beauty and although we cannot speak like gentlemen, Lord Rāmacandra has nevertheless accepted us as friends?

8Therefore, whether one is a demigod or a demon, a man or a creature other than man, such as a beast or bird, everyone should worship Lord Rāmacandra, the Supreme Personality of Godhead, who appears on this earth just like a human being. There is no need of great austerities or penances to worship the Lord, for He accepts even a small service offered by His devotee. Thus He is satisfied, and as soon as He is satisfied, the devotee is successful. Indeed, Lord Śrī Rāmacandra brought all the devotees of Ayodhyā back home, back to Godhead [Vaikuṇṭha].

9[Śukadeva Gosvāmī continued:] The glories of the Supreme Personality of Godhead are inconceivable. He has appeared in the form of Nara-Nārāyaṇa in the land of Bhārata-varṣa, at the place known as Badarikāśrama, to favor His devotees by teaching them religion, knowledge, renunciation, spiritual power, sense control and freedom from false ego. He is advanced in the opulence of spiritual assets, and He engages in executing austerity until the end of this millennium. This is the process of self-realization.

10In his own book, known as Nārada Paṣcarātra, Bhagavān Nārada has very vividly described how to work to achieve the ultimate goal of lifedevotionthrough knowledge and through execution of the mystic yoga system. He has also described the glories of the Lord, the Supreme Personality of Godhead. The great sage Nārada instructed the tenets of this transcendental literature to Sāvarṇi Manu in order to teach those inhabitants of Bhārata-varṣa who strictly follow the principles of varṇāśrama-dharma how to achieve the devotional service of the Lord. Thus Nārada Muni, along with the other inhabitants of Bhārata-varṣa, always engages in the service of Nara-Nārāyaṇa, and he chants as follows.

11Let me offer my respectful obeisances unto Nara-Nārāyaṇa, the best of all saintly persons, the Supreme Personality of Godhead. He is the most self-controlled and self-realized, He is free from false prestige, and He is the asset of persons who have no material possessions. He is the spiritual master of all paramahaṁsas, who are the most exalted human beings, and He is the master of the self-realized. Let me offer my repeated obeisances at His lotus feet.

12Nārada, the most powerful saintly sage, also worships Nara-Nārāyaṇa by chanting the following mantra: The Supreme Personality of Godhead is the master of the creation,

maintenance and annihilation of this visible cosmic manifestation, yet He is completely free from false prestige. Although to the foolish He appears to have accepted a material body like us, He is unaffected by bodily tribulations like hunger, thirst and fatigue. Although He is the witness who sees everything, His senses are unpolluted by the objects He sees. Let me offer my respectful obeisances unto that unattached, pure witness of the world, the Supreme Soul, the Personality of Godhead.

13O my Lord, master of all mystic yoga, this is the explanation of the yogic process spoken of by Lord Brahmā [Hiraṇyagarbha], who is self-realized. At the time of death, all yogīs give up the material body with full detachment simply by placing their minds at Your lotus feet. That is the perfection of yoga.

14Materialists are generally very attached to their present bodily comforts and to the bodily comforts they expect in the future. Therefore they are always absorbed in thoughts of their wives, children and wealth and are afraid of giving up their bodies, which are full of stool and urine. If a person engaged in Kṛṣṇa consciousness, however, is also afraid of giving up his body, what is the use of his having labored to study the śāstras? It was simply a waste of time.

15Therefore, O Lord, O Transcendence, kindly help us by giving us the power to execute bhakti-yoga so that we can control our restless minds and fix them upon You. We are all infected by Your illusory energy; therefore we are very attached to the body, which is full of stool and urine, and to anything related with the body. Except for devotional service, there is no way to give up this attachment. Therefore kindly bestow upon us this benediction.

16In the tract of land known as Bhārata-varṣa, as in Ilāvṛta-varṣa, there are many mountains and rivers. Some of the mountains are known as Malaya, Maṅgala-prastha, Maināka, Trikūṭa, Ṛṣabha, Kūṭaka, Kollaka, Sahya, Devagiri, Ṛṣyamūka, Śrī-śaila, Veṅkaṭa, Mahendra, Vāridhāra, Vindhya, Śuktimān, Ṛkṣagiri, Pāriyātra, Droṇa, Citrakūṭa, Govardhana, Raivataka, Kakubha, Nīla, Gokāmukha, Indrakīla and Kāmagiri. Besides these, there are many other hills, with many large and small rivers flowing from their slopes.

17-18Two of the riversthe Brahmaputra and the Śoṇaare called nadas, or main rivers. These are other great rivers that are very prominent: Candravasā, Tāmraparṇī, Avaṭodā, Kṛtamālā, Vaihāyasī, Kāverī, Veṇī, Payasvinī, Śarkarāvartā, Tuṅgabhadrā, Kṛṣṇāveṇyā, Bhīmarathī, Godāvarī, Nirvindhyā, Payoṣṇī, Tāpī, Revā, Surasā, Narmadā, Carmaṇvatī, Mahānadī, Vedasmṛti, Ṛṣikulyā, Trisāmā, Kauśikī, Mandākinī, Yamunā, Sarasvatī, Dṛṣadvatī, Gomatī, Sarayū, Rodhasvatī, Saptavatī, Suṣomā, Śatadrū, Candrabhāgā, Marudvṛdhā, Vitastā, Asiknī and Viśvā. The inhabitants of Bhārata-varṣa are purified because they always remember these rivers. Sometimes they chant the names of these rivers as mantras, and sometimes they go directly to the rivers to touch them and bathe in them. Thus the inhabitants of Bhārata-varṣa become purified.

19The people who take birth in this tract of land are divided according to the qualities of material naturethe modes of goodness [sattva-guṇa], passion [rajo-guṇa], and ignorance [tamo-guṇa]. Some of them are born as exalted personalities, some are ordinary human beings, and some are extremely abominable, for in Bhārata-varṣa one takes birth exactly according to one's past karma. If one's position is ascertained by a bona fide spiritual master and one is properly trained to engage in the service of Lord Viṣṇu according to the four social divisions [brāhmaṇa, kṣatriya, vaiśya and śūdra] and the four spiritual divisions [brahmacārī, gṛhastha, vānaprastha and sannyāsa], one's life becomes perfect.

20After many, many births, when the results of one's pious activities mature, one gets an opportunity to associate with pure devotees. Then one is able to cut the knot of bondage to

ignorance, which bound him because of varied fruitive activities. As a result of associating with devotees, one gradually renders service to Lord Vāsudeva, who is transcendental, free from attachment to the material world, beyond the mind and words, and independent of everything else. That bhakti-yoga, devotional service to Lord Vāsudeva, is the real path of liberation.

21Since the human form of life is the sublime position for spiritual realization, all the demigods in heaven speak in this way: How wonderful it is for these human beings to have been born in the land of Bhārata-varṣa. They must have executed pious acts of austerity in the past, or the Supreme Personality of Godhead Himself must have been pleased with them. Otherwise, how could they engage in devotional service in so many ways? We demigods can only aspire to achieve human births in Bhārata-varṣa to execute devotional service, but these human beings are already engaged there.

22The demigods continue: After performing the very difficult tasks of executing Vedic ritualistic sacrifices, undergoing austerities, observing vows and giving charity, we have achieved this position as inhabitants of the heavenly planets. But what is the value of this achievement? Here we are certainly very engaged in material sense gratification, and therefore we can hardly remember the lotus feet of Lord Nārāyaṇa. Indeed, because of our excessive sense gratification, we have almost forgotten His lotus feet.

23A short life in the land of Bharata-varṣa is preferable to a life achieved in Brahmaloka for millions and billions of years because even if one is elevated to Brahmaloka, he must return to repeated birth and death. Although life in Bhārata-varṣa, in a lower planetary system, is very short, one who lives there can elevate himself to full Kṛṣṇa consciousness and achieve the highest perfection, even in this short life, by fully surrendering unto the lotus feet of the Lord. Thus one attains Vaikuṇṭhaloka, where there is neither anxiety nor repeated birth in a material body.

24An intelligent person does not take interest in a place, even in the topmost planetary system, if the pure Ganges of topics concerning the Supreme Lord's activities does not flow there, if there are not devotees engaged in service on the banks of such a river of piety, or if there are no festivals of saṅkīrtana-yajṣa to satisfy the Lord [especially since saṅkīrtana-yajṣa is recommended in this age].

25Bhārata-varṣa offers the proper land and circumstances in which to execute devotional service, which can free one from the results of Jnana and karma. If one obtains a human body in the land of Bhārata-varṣa, with clear sensory organs with which to execute the saṅkīrtana-yajṣa, but in spite of this opportunity he does not take to devotional service, he is certainly like liberated forest animals and birds that are careless and are therefore again bound by a hunter.

26In India [Bhārata-varṣa], there are many worshipers of the demigods, the various officials appointed by the Supreme Lord, such as Indra, Candra and Sūrya, all of whom are worshiped differently. The worshipers offer the demigods their oblations, considering the demigods part and parcel of the whole, the Supreme Lord. Therefore the Supreme Personality of Godhead accepts these offerings and gradually raises the worshipers to the real standard of devotional service by fulfilling their desires and aspirations. Because the Lord is complete, He offers the worshipers the benedictions they desire even if they worship only part of His transcendental body.

27The Supreme Personality of Godhead fulfills the material desires of a devotee who approaches Him with such motives, but He does not bestow benedictions upon the devotee that will cause him to demand more benedictions again. However, the Lord willingly gives the devotee shelter at His own lotus feet, even though such a person does not aspire for it, and that

shelter satisfies all his desires. That is the Supreme Personality's special mercy.

28We are now living in the heavenly planets, undoubtedly as a result of our having performed ritualistic ceremonies, pious activities and yajṣas and having studied the Vedas. However, our lives here will one day be finished. We pray that at that time, if any merit remains from our pious activities, we may again take birth in Bhārata-varṣa as human beings able to remember the lotus feet of the Lord. The Lord is so kind that He personally comes to the land of Bhārata-varṣa and expands the good fortune of its people.

29-30ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: My dear King, in the opinion of some learned scholars, eight smaller islands surround Jambūdvīpa. When the sons of Mahārāja Sagara were searching all over the world for their lost horse, they dug up the earth, and in this way eight adjoining islands came into existence. The names of these islands are Svarṇaprastha, Candraśukla, Āvartana, Ramaṇaka, Mandara-hariṇa, Pāṣcajanya, Siṁhala and Laṅkā.

31My dear King Parīkṣit, O best of the descendants of Bharata Mahārāja, I have thus described to you, as I myself have been instructed, the island of Bhārata-varṣa and its adjoining islands. These are the islands that constitute Jambūdvīpa.

**SB 5.20: Studying the Structure of the Universe**

In this chapter there is a description of various islands, beginning with Plakṣadvīpa, and the oceans that surround them. There is also a description of the location and dimensions of the mountain known as Lokāloka. The island of Plakṣadvīpa is twice as broad as Jambūdvīpa, which is surrounded by an ocean of salt water. The master of this island is Idhmajihva, one of the sons of Mahārāja Priyavrata. The island is divided into seven regions, each with a mountain and a large river.

The second island is called Śālmalīdvīpa. It is surrounded by an ocean of liquor and is 3,200,000 miles wide, twice as wide as Plakṣadvīpa. The master of this island is Yajṣabāhu, one of the sons of Mahārāja Priyavrata. Like Plakṣadvīpa, this island is also divided into seven regions, each with a mountain and a very large river. The inhabitants of this island worship the Supreme Personality of Godhead in the form of Candrātmā.

The third island, which is surrounded by an ocean of clarified butter and is also divided into seven regions, is called Kuśadvīpa. Its master is Hiraṇyaretā, another son of Mahārāja Priyavrata, and its inhabitants worship the Supreme Personality of Godhead in the form of Agni, the fire-god. The width of this island is 6,400,000 miles, or, in other words, twice the width of Sālmalīdvīpa.

The fourth island, Krauṣcadvīpa, which is surrounded by an ocean of milk, is 12,800,000 miles wide and is also divided, like the others, into seven regions, each with a large mountain and a large river. The master of this island is Ghṛtapṛṣṭha, another son of Mahārāja Priyavrata. The inhabitants of this island worship the Supreme Personality of Godhead in the form of water.

The fifth island, Śākadvīpa, which is 25,600,000 miles wide, is surrounded by an ocean of yogurt. Its master is Medhātithi, another son of Mahārāja Priyavrata. It is also divided into seven regions, each with a large mountain and a large river. Its inhabitants worship the Supreme Personality of Godhead in the form of Vāyu, air.

The sixth island, Puṣkaradvīpa, which is twice as wide as the previous island, is surrounded by an ocean of clear water. Its master is Vītihotra, another son of Mahārāja Priyavrata. The island is divided in two by a large mountain named Mānasottara. The inhabitants of this island worship

Svayambhū, another feature of the Supreme Personality of Godhead. Beyond Puṣkaradvīpa there are two islands, one always lit by the sunshine and the other always dark. Between them is a mountain called Lokāloka, which is situated one billion miles from the edge of the universe. Lord Nārāyaṇa, expanding His opulence, resides upon this mountain. The area beyond Lokāloka Mountain is called Aloka-varṣa, and beyond Aloka-varṣa is the pure destination of persons who desire liberation.

Vertically, the sun-globe is situated just in the middle of the universe, in Antarikṣa, the space between Bhūrloka and Bhuvarloka. The distance between the sun and the circumference of Aṇḍa-golaka, the globe of the universe, is estimated to be twenty-five *koṭi yojanas* (two billion miles). Because the sun enters the universe and divides the sky, it is known as Mārtaṇḍa, and because it is produced from Hiraṇyagarbha, the body of the *mahat-tattva,* it is also called Hiraṇyagarbha.

1The great sage Śukadeva Gosvāmī said: Hereafter I shall describe the dimensions, characteristics and forms of the six islands beginning with the island of Plakṣa.

2As Sumeru Mountain is surrounded by Jambūdvīpa, Jambūdvīpa is also surrounded by an ocean of salt water. The breadth of Jambūdvīpa is 100,000 yojanas [800,000 miles], and the breadth of the saltwater ocean is the same. As a moat around a fort is sometimes surrounded by gardenlike forest, the saltwater ocean surrounding Jambūdvīpa is itself surrounded by Plakṣadvīpa. The breadth of Plakṣadvīpa is twice that of the saltwater oceanin other words 200,000 yojanas [1,600,000 miles]. On Plakṣadvīpa there is a tree shining like gold and as tall as the jambū tree on Jambūdvīpa. At its root is a fire with seven flames. It is because this tree is a plakṣa tree that the island is called Plakṣadvīpa. Plakṣadvīpa was governed by Idhmajihva, one of the sons of Mahārāja Priyavrata. He endowed the seven islands with the names of his seven sons, divided the islands among the sons, and then retired from active life to engage in the devotional service of the Lord.

3-4The seven islands [varṣas] are named according to the names of those seven sonsŚiva, Yavasa, Subhadra, Śānta, Kṣema, Amṛta and Abhaya. In those seven tracts of land, there are seven mountains and seven rivers. The mountains are named Maṇikūṭa, Vajrakūṭa, Indrasena, Jyotiṣmān, Suparṇa, Hiraṇyaṣṭhīva and Meghamāla, and the rivers are named Aruṇā, Nṛmṇā, Āṅgirasī, Sāvitrī, Suptabhātā, Ṛtambharā and Satyambharā. One can immediately be free from material contamination by touching or bathing in those rivers, and the four castes of people who live in Plakṣadvīpathe Haṁsas, Pataṅgas, Ūrdhvāyanas and Satyāṅgaspurify themselves in that way. The inhabitants of Plakṣadvīpa live for one thousand years. They are beautiful like the demigods, and they also beget children like the demigods. By completely performing the ritualistic ceremonies mentioned in the Vedas and by worshiping the Supreme Personality of Godhead as represented by the sun-god, they attain the sun, which is a heavenly planet.

5[This is the mantra by which the inhabitants of Plakṣadvīpa worship the Supreme Lord.] Let us take shelter of the sun-god, who is a reflection of Lord Viṣṇu, the all-expanding Supreme Personality of Godhead, the oldest of all persons. Viṣṇu is the only worshipable Lord. He is the Vedas, He is religion, and He is the origin of all auspicious and inauspicious results.

6O King, longevity, sensory prowess, physical and mental strength, intelligence and bravery are naturally and equally manifested in all the inhabitants of the five islands headed by Plakṣadvīpa.

7Plakṣadvīpa is surrounded by an ocean of sugarcane juice, equal in breadth to the island itself. Similarly, there is then another islandSālmalīdvīpatwice as broad as Plakṣadvīpa [400,000

yojanas, or 3,200,000 miles] and surrounded by an equally broad body of water called Surāsāgara, the ocean that tastes like liquor.

8On Sālmalīdvīpa there is a śālmalī tree, from which the island takes its name. That tree is as broad and tall as the plakṣa treein other words 100 yojanas [800 miles] broad and 1,100 yojanas [8,800 miles] tall. Learned scholars say that this gigantic tree is the residence of Garuḍa, the king of all birds and carrier of Lord Viṣṇu. In that tree, Garuḍa offers Lord Viṣṇu his Vedic prayers.

9The son of Mahārāja Priyavrata named Yajṣabāhu, the master of Sālmalīdvīpa, divided the island into seven tracts of land, which he gave to his seven sons. The names of those divisions, which correspond to the names of the sons, are Surocana, Saumanasya, Ramaṇaka, Deva-varṣa, Pāribhadra, Āpyāyana and Avijṣāta.

10In those tracts of land there are seven mountainsSvarasa, Śataśṛṅga, Vāmadeva, Kunda, Mukunda, Puṣpa-varṣa and Sahasra-śruti. There are also seven riversAnumati, Sinīvālī, Sarasvatī, Kuhū, Rajanī, Nandā and Rākā. They are still existing.

11Strictly following the cult of varṇāśrama-dharma, the inhabitants of those islands, who are known as Śrutidharas, Vīryadharas, Vasundharas and Iṣandharas, all worship the expansion of the Supreme Personality of Godhead named Soma, the moon-god.

12[The inhabitants of Śālmalīdvīpa worship the demigod of the moon in the following words.] By his own rays, the moon-god has divided the month into two fortnights, known as śukla and kṛṣṇa, for the distribution of food grains to the pitās and the demigods. The demigod of the moon is he who divides time, and he is the king of all the residents of the universe. We therefore pray that he may remain our king and guide, and we offer him our respectful obeisances.

13Outside the ocean of liquor is another island, known as Kuśadvīpa, which is 800,000 yojanas [6,400,000 miles] wide, twice as wide as the ocean of liquor. As Śālmalīdvīpa is surrounded by a liquor ocean, Kuśadvīpa is surrounded by an ocean of liquid ghee as broad as the island itself. On Kuśadvīpa there are clumps of kuśa grass, from which the island takes its name. This kuśa grass, which was created by the demigods by the will of the Supreme Lord, appears like a second form of fire, but with very mild and pleasing flames. Its young shoots illuminate all directions.

14O King, another son of Mahārāja Priyavrata, Hiraṇyaretā, was the king of this island. He divided it into seven parts, which he delivered to his seven sons according to the rights of inheritance. The King then retired from family life to engage in austerities. The names of those sons are Vasu, Vasudāna, Dṛḍharuci, Stutyavrata, Nābhigupta, Vivikta and Vāmadeva.

15In those seven islands there are seven boundary mountains, known as Cakra, Catuḥśṛṅga, Kapila, Citrakūṭa, Devānīka, Ūrdhvaromā and Draviṇa. There are also seven rivers, known as Ramakulyā, Madhukulyā, Mitravindā, Śrutavindā, Devagarbhā, Ghṛtacyutā and Mantramālā.

16The inhabitants of the island of Kuśadvīpa are celebrated as the Kuśalas, Kovidas, Abhiyuktas and Kulakas. They are like the brāhmaṇas, kṣatriyas, vaiśyas and śūdras respectively. By bathing in the waters of those rivers, they all become purified. They are expert in performing ritualistic ceremonies according to the orders of the Vedic scriptures. Thus they worship the Lord in His aspect as the demigod of fire.

17[This is the mantra by which the inhabitants of Kuśadvīpa worship the fire-god.] O fire-god, you are a part of the Supreme Personality of Godhead, Hari, and you carry to Him all the

offerings of sacrifices. Therefore we request you to offer to the Supreme Personality of Godhead the yajṣic ingredients we are offering the demigods, for the Lord is the real enjoyer.

18Outside the ocean of clarified butter is another island, known as Krauṣcadvīpa, which has a width of 1,600,000 yojanas [12,800,000 miles], twice the width of the ocean of clarified butter. As Kuśadvīpa is surrounded by an ocean of clarified butter, Krauṣcadvīpa is surrounded by an ocean of milk as broad as the island itself. On Krauṣcadvīpa there is a great mountain known as Krauṣca, from which the island takes its name.

19Although the vegetables living on the slopes of Mount Krauṣca were attacked and devastated by the weapons of Kārttikeya, the mountain has become fearless because it is always bathed on all sides by the Ocean of Milk and protected by Varuṇadeva.

20The ruler of this island was another son of Mahārāja Priyavrata. His name was Ghṛtapṛṣṭha, and he was a very learned scholar. He also divided his own island among his seven sons. After dividing the island into seven parts, named according to the names of his sons, Ghṛtapṛṣṭha Mahārāja completely retired from family life and took shelter at the lotus feet of the Lord, the soul of all souls, who has all auspicious qualities. Thus he attained perfection.

21The sons of Mahārāja Ghṛtapṛṣṭha were named Āma, Madhuruha, Meghapṛṣṭha, Sudhāmā, Bhrājiṣṭha, Lohitārṇa and Vanaspati. In their island there are seven mountains, which indicate the boundaries of the seven tracts of land, and there are also seven rivers. The mountains are named Śukla, Vardhamāna, Bhojana, Upabarhiṇa, Nanda, Nandana and Sarvatobhadra. The rivers are named Abhayā, Amṛtaughā, Āryakā, Tīrthavatī, Rūpavatī, Pavitravatī and Śuklā.

22The inhabitants of Krauṣcadvīpa are divided into four castes, called the Puruṣas, Ṛṣabhas, Draviṇas and Devakas. Using the waters of those sanctified rivers, they worship the Supreme Personality of Godhead by offering a palmful of water at the lotus feet of Varuṇa, the demigod who has a form of water.

23[The inhabitants of Krauṣcadvīpa worship with this mantra.] O water of the rivers, you have obtained energy from the Supreme Personality of Godhead. Therefore you purify the three planetary systems, known as Bhūloka, Bhuvarloka and Svarloka. By your constitutional nature, you take away sins, and that is why we are touching you. Kindly continue to purify us.

24Outside the Ocean of Milk is another island, Śākadvīpa, which has a width of 3,200,000 yojanas [25,600,000 miles]. As Krauṣcadvīpa is surrounded by its own ocean of milk, Śākadvīpa is surrounded by an ocean of churned yogurt as broad as the island itself. In Śākadvīpa there is a big śāka tree, from which the island takes its name. This tree is very fragrant. Indeed, it lends its scent to the entire island.

25The master of this island, also one of the sons of Priyavrata, was known as Medhātithi. He also divided his island into seven sections, named according to the names of his own sons, whom he made the kings of that island. The names of those sons are Purojava, Manojava, Pavamāna, Dhūmrānīka, Citrarepha, Bahurūpa and Viśvadhāra. After dividing the island and situating his sons as its rulers, Medhātithi personally retired, and to fix his mind completely upon the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead, he entered a forest suitable for meditation.

26For these lands also, there are seven boundary mountains and seven rivers. The mountains are Īśāna, Uruśṛṅga, Balabhadra, Śatakesara, Sahasrasrota, Devapāla and Mahānasa. The rivers are Anaghā, Āyurdā, Ubhayaspṛṣṭi, Aparājitā, Paṣcapadī, Sahasra-śruti and Nijadhṛti.

27The inhabitants of those islands are also divided into four castesṚtavrata, Satyavrata, Dānavrata and Anuvratawhich exactly resemble brāhmaṇa, kṣatriya, vaiśya and śūdra. They practice prāṇāyāma and mystic yoga, and in trance they worship the Supreme Lord in the form of Vāyu.

28[The inhabitants of Śākadvīpa worship the Supreme Personality of Godhead in the form of Vāyu in the following words.] O Supreme Person, situated as the Supersoul within the body, You direct the various actions of the different airs, such as prāṇa, and thus You maintain all living entities. O Lord, O Supersoul of everyone, O controller of the cosmic manifestation under whom everything exists, may You protect us from all dangers.

29Outside the ocean of yogurt is another island, known as Puṣkaradvīpa, which is 6,400,000 yojanas [51,200,000 miles] wide, twice as wide as the ocean of yogurt. It is surrounded by an ocean of very tasteful water as broad as the island itself. On Puṣkaradvīpa there is a great lotus flower with 100,000,000 pure golden petals, as effulgent as the flames of fire. That lotus flower is considered the sitting place of Lord Brahmā, who is the most powerful living being and who is therefore sometimes called bhagavān.

30In the middle of that island is a great mountain named Mānasottara, which forms the boundary between the inner side and the outer side of the island. Its breadth and height are 10,000 yojanas [80,000 miles]. On that mountain, in the four directions, are the residential quarters of demigods such as Indra. In the chariot of the sun-god, the sun travels on the top of the mountain in an orbit called the Saṁvatsara, encircling Mount Meru. The sun's path on the northern side is called Uttarāyaṇa, and its path on the southern side is called Dakṣiṇāyana. One side represents a day for the demigods, and the other represents their night.

31The ruler of this island, the son of Mahārāja Priyavrata named Vītihotra, had two sons named Ramaṇaka and Dhātaki. He granted the two sides of the island to these two sons and then personally engaged himself in activities for the sake of the Supreme Personality of Godhead like his elder brother Medhātithi.

32For the fulfillment of material desires, the inhabitants of this tract of land worship the Supreme Personality of Godhead as represented by Lord Brahmā. They offer prayers to the Lord as follows.

33Lord Brahmā is known as karma-maya, the form of ritualistic ceremonies, because by performing ritualistic ceremonies one may attain his position and because the Vedic ritualistic hymns become manifest from him. He is devoted to the Supreme Personality of Godhead without deviation, and therefore in one sense he is not different from the Lord. Nevertheless, he should be worshiped not as the monists worship him, but in duality. One should always remain a servitor of the Supreme Lord, the supreme worshipable Deity. We therefore offer our respectful obeisances unto Lord Brahmā, the form of manifest Vedic knowledge.

34Thereafter, beyond the ocean of sweet water and fully surrounding it, is a mountain named Lokāloka, which divides the countries that are full of sunlight from those not lit by the sun.

35Beyond the ocean of sweet water is a tract of land as broad as the area between the middle of Mount Sumeru and the boundary of Mānasottara Mountain. In that tract of land there are many living beings. Beyond it, extending to Lokāloka Mountain, is another land, which is made of gold. Because of its golden surface, it reflects light like the surface of a mirror, and any physical article that falls on that land can never be perceived again. All living entities, therefore, have abandoned that golden land.

36Between the lands inhabited by living entities and those that are uninhabited stands the great mountain which separates the two and which is therefore celebrated as Lokāloka.

37By the supreme will of Kṛṣṇa, the mountain known as Lokāloka has been installed as the outer border of the three worldsBhūrloka, Bhuvarloka and Svarlokato control the rays of the sun throughout the universe. All the luminaries, from the sun up to Dhruvaloka, distribute their rays throughout the three worlds, but only within the boundary formed by this mountain. Because it is extremely high, extending even higher than Dhruvaloka, it blocks the rays of the luminaries, which therefore can never extend beyond it.

38Learned scholars who are free from mistakes, illusions and propensities to cheat have thus described the planetary systems and their particular symptoms, measurements and locations. With great deliberation, they have established the truth that the distance between Sumeru and the mountain known as Lokāloka is one fourth of the diameter of the universeor, in other words, 125,000,000 yojanas [1 billion miles].

39On the top of Lokāloka Mountain are the four gaja-patis, the best of elephants, which were established in the four directions by Lord Brahmā, the supreme spiritual master of the entire universe. The names of those elephants are Ṛṣabha, Puṣkaracūḍa, Vāmana and Aparājita. They are responsible for maintaining the planetary systems of the universe.

40The Supreme Personality of Godhead is the master of all transcendental opulences and the master of the spiritual sky. He is the Supreme Person, Bhagavān, the Supersoul of everyone. The demigods, led by Indra, the King of heaven, are entrusted with seeing to the affairs of the material world. To benefit all living beings in all the varied planets and to increase the power of those elephants and of the demigods, the Lord manifests Himself on top of that mountain in a spiritual body, uncontaminated by the modes of material nature. Surrounded by His personal expansions and assistants like Viṣvaksena, He exhibits all His perfect opulences, such as religion and knowledge, and His mystic powers such as aṇimā, laghimā and mahimā. He is beautifully situated, and He is decorated by the different weapons in His four hands.

41The various forms of the Supreme Personality of Godhead, such as Nārāyaṇa and Viṣṇu, are beautifully decorated with different weapons. The Lord exhibits those forms to maintain all the varied planets created by His personal potency, yoga-māyā.

42My dear King, outside Lokāloka Mountain is the tract of land known as Aloka-varṣa, which extends for the same breadth as the area within the mountainin other words, 125,000,000 yojanas [one billion miles]. Beyond Aloka-varṣa is the destination of those who aspire for liberation from the material world. It is beyond the jurisdiction of the material modes of nature, and therefore it is completely pure. Lord Kṛṣṇa took Arjuna through this place to bring back the sons of the brāhmaṇa.

43The sun is situated [vertically] in the middle of the universe, in the area between Bhūrloka and Bhuvarloka, which is called antarikṣa, outer space. The distance between the sun and the circumference of the universe is twenty-five koṭi yojanas [two billion miles].

44The sun-god is also known as Vairāja, the total material body for all living entities. Because he entered this dull egg of the universe at the time of creation, he is also called Mārtaṇḍa. He is also known as Hiraṇyagarbha because he received his material body from Hiraṇyagarbha [Lord Brahmā].

45O King, the sun-god and the sun planet divide all the directions of the universe. It is only because of the presence of the sun that we can understand what the sky, the higher planets,

this world and the lower planets are. It is also only because of the sun that we can understand which places are for material enjoyment, which are for liberation, which are hellish and subterranean.

46All living entities, including demigods, human beings, animals, birds, insects, reptiles, creepers and trees, depend upon the heat and light given by the sun-god from the sun planet. Furthermore, it is because of the sun's presence that all living entities can see, and therefore he is called dṛg-īśvara, the Personality of Godhead presiding over sight.

**SB 5.21: The Movements of the Sun**

This chapter informs us of the movements of the sun. The sun is not stationary; it is also moving like the other planets. The sun's movements determine the duration of night and day. When the sun travels north of the equator, it moves slowly during the day and very quickly at night, thus increasing the duration of the daytime and decreasing the duration of night. Similarly, when the sun travels south of the equator, the exact opposite is truethe duration of the day decreases, and the duration of night increases. When the sun enters Karkaṭa-rāśi (Cancer) and then travels to Siṁha-rāśi (Leo) and so on through Dhanuḥ-rāśi (Sagittarius), its course is called Dakṣiṇāyana, the southern way, and when the sun enters Makara-rāśi (Capricorn) and thereafter travels through Kumbharāśi (Aquarius) and so on through Mithuna-rāśi (Gemini), its course is called Uttarāyaṇa, the northern way. When the sun is in Meṣa-rāśi (Aries) and Tulā-rāśi (Libra), the duration of day and night are equal.

On Mānasottara Mountain are the abodes of four demigods. East of Sumeru Mountain is Devadhānī, where King Indra lives, and south of Sumeru is Saṁyamanī, the abode of Yamarāja, the superintendent of death. Similarly, west of Sumeru is Nimlocanī, the abode of Varuṇa, the demigod who controls the water, and north of Sumeru is Vibhāvarī, where the demigod of the moon lives. Sunrise, noon, sunset and midnight occur in all these places because of the movements of the sun. Diametrically opposite the place where the sunrise takes places and the sun is seen by human eyes, the sun will be setting and passing away from human vision. Similarly, the people residing diametrically opposite the point where it is midday will be experiencing midnight. The sun rises and sets with all the other planets, headed by the moon and other luminaries.

The entire *kāla-cakra,* or wheel of time, is established on the wheel of the sun-god's chariot. This wheel is known as Saṁvatsara. The seven horses pulling the chariot of the sun are known as Gāyatrī, Bṛhatī, Uṣṇik, Jagatī, Triṣṭup, Anuṣṭup and Paṅkti. They are harnessed by a demigod known as Aruṇadeva to a yoke 900,000 *yojanas* wide. Thus the chariot carries Ādityadeva, the sun-god. Always staying in front of the sun-god and offering their prayers are sixty thousand sages known as Vālikhilyas. There are fourteen Gandharvas, Apsarās and other demigods, who are divided into seven parties and who perform ritualistic activities every month to worship the Supersoul through the sun-god according to different names. Thus the sun-god travels through the universe for a distance of 95,100,000 *yojanas* (760,800,000 miles) at a speed of 16,004 miles at every moment.

1Śukadeva Gosvāmī said: My dear King, I have thus far described the diameter of the universe [fifty crores of yojanas, or four billion miles] and its general characteristics, according to the estimations of learned scholars.

2As a grain of wheat is divided into two parts and one can estimate the size of the upper part by knowing that of the lower, so, expert geographers instruct, one can understand the measurements of the upper part of the universe by knowing those of the lower part. The sky between the earthly sphere and heavenly sphere is called antarikṣa, or outer space. It adjoins

the top of the sphere of earth and the bottom of that of heaven.

3In the midst of that region of outer space [antarikṣa] is the most opulent sun, the king of all the planets that emanate heat, such as the moon. By the influence of its radiation, the sun heats the universe and maintains its proper order. It also gives light to help all living entities see. While passing toward the north, toward the south or through the equator, in accordance with the order of the Supreme Personality of Godhead, it is said to move slowly, swiftly or moderately. According to its movements in rising above, going beneath or passing through the equatorand correspondingly coming in touch with various signs of the zodiac, headed by Makara [Capricorn]days and nights are short, long or equal to one another.

4When the sun passes through Meṣa [Aries] and Tulā [Libra], the durations of day and night are equal. When it passes through the five signs headed by Vṛṣabha [Taurus], the duration of the days increases [until Cancer], and then it gradually decreases by half an hour each month, until day and night again become equal [in Libra].

5When the sun passes through the five signs beginning with Vṛścika [Scorpio], the duration of the days decreases [until Capricorn], and then gradually it increases month after month, until day and night become equal [in Aries].

6Until the sun travels to the south the days grow longer, and until it travels to the north the nights grow longer.

7Śukadeva Gosvāmī continued; My dear King, as stated before, the learned say that the sun travels over all sides of Mānasottara Mountain in a circle whose length is 95,100,000 yojanas [760,800,000 miles]. On Mānasottara Mountain, due east of Mount Sumeru, is a place known as Devadhānī, possessed by King Indra. Similarly, in the south is a place known as Saṁyamanī, possessed by Yamarāja, in the west is a place known as Nimlocanī, possessed by Varuṇa, and in the north is a place named Vibhāvarī, possessed by the moon-god. Sunrise, midday, sunset and midnight occur in all those places according to specific times, thus engaging all living entities in their various occupational duties and also making them cease such duties.

8-9The living entities residing on Sumeru Mountain are always very warm, as at midday, because for them the sun is always overhead. Although the sun moves counterclockwise, facing the constellations, with Sumeru Mountain on its left, it also moves clockwise and appears to have the mountain on its right because it is influenced by the dakṣiṇāvarta wind. People living in countries at points diametrically opposite to where the sun is first seen rising will see the sun setting, and if a straight line were drawn from a point where the sun is at midday, the people in countries at the opposite end of the line would be experiencing midnight. Similarly, if people residing where the sun is setting were to go to countries diametrically opposite, they would not see the sun in the same condition.

10When the sun travels from Devadhānī, the residence of Indra, to Saṁyamanī, the residence of Yamarāja, it travels 23,775,000 yojanas [190,200,000 miles] in fifteen ghaṭikās [six hours].

11From the residence of Yamarāja the sun travels to Nimlocanī, the residence of Varuṇa, from there to Vibhāvarī, the residence of the moon-god, and from there again to the residence of Indra. In a similar way, the moon, along with the other stars and planets, becomes visible in the celestial sphere and then sets and again becomes invisible.

12Thus the chariot of the sun-god, which is trayīmaya, or worshiped by the words om bhūr bhuvaḥ svaḥ, travels through the four residences mentioned above at a speed of 3,400,800 yojanas [27,206,400 miles] in a muhūrta.

13The chariot of the sun-god has only one wheel, which is known as Saṁvatsara. The twelve months are calculated to be its twelve spokes, the six seasons are the sections of its rim, and the three cātur-māsya periods are its three-sectioned hub. One side of the axle carrying the wheel rests upon the summit of Mount Sumeru, and the other rests upon Mānasottara Mountain. Affixed to the outer end of the axle, the wheel continuously rotates on Mānasottara Mountain like the wheel of an oil-pressing machine.

14As in an oil-pressing machine, this first axle is attached to a second axle, which is one-fourth as long [3,937,500 yojanas, or 31,500,000 miles]. The upper end of this second axle is attached to Dhruvaloka by a rope of wind.

15My dear King, the carriage of the sun-god's chariot is estimated to be 3,600,000 yojanas [28,800,000 miles] long and one-fourth as wide [900,000 yojanas, or 7,200,000 miles]. The chariot's horses, which are named after Gāyatrī and other Vedic meters, are harnessed by Aruṇadeva to a yoke that is also 900,000 yojanas wide. This chariot continuously carries the sun-god.

16Although Aruṇadeva sits in front of the sun-god and is engaged in driving the chariot and controlling the horses, he looks backward toward the sun-god.

17There are sixty thousand saintly persons named Vālikhilyas, each the size of a thumb, who are located in front of the sun-god and who offer him eloquent prayers of glorification.

18Similarly, fourteen other saints, Gandharvas, Apsarās, Nāgas, Yakṣas, Rākṣasas and demigods, who are divided into groups of two, assume different names every month and continuously perform different ritualistic ceremonies to worship the Supreme Lord as the most powerful demigod Sūryadeva, who holds many names.

19My dear King, in his orbit through Bhū-maṇḍala, the sun-god traverses a distance of 95,100,000 yojanas [760,800,000 miles] at the speed of 2,000 yojanas and two krośas [16,004 miles] in a moment.

## SB 5.22: The Orbits of the Planets

In this chapter the orbits of the planets are described. According to the movements of the moon and other planets, all the inhabitants of the universe are prone to auspicious and inauspicious situations. This is referred to as the influence of the stars.

The sun-god, who controls the affairs of the entire universe, especially in regard to heat, light, seasonal changes and so on, is considered an expansion of Nārāyaṇa. He represents the three *VedasṚg, Yajur* and *Sāma*and therefore he is known as Trayīmaya, the form of Lord Nārāyaṇa. Sometimes the sun-god is also called Sūrya Nārāyaṇa. The sun-god has expanded himself in twelve divisions, and thus he controls the six seasonal changes and causes winter, summer, rain and so on. *Yogīs* and *karmīs* following the *varṇāśrama* institution, who practice *haṭha* or *aṣṭāṅga-yoga* or who perform *agnihotra* sacrifices, worship Sūrya Nārāyaṇa for their own benefit. The demigod Sūrya is always in touch with the Supreme Personality of Godhead, Nārāyaṇa. Residing in outer space, which is in the middle of the universe, between Bhūloka and Bhuvarloka, the sun rotates through the time circle of the zodiac, represented by twelve *rāśis,* or signs, and assumes different names according to the sign he is in. For the moon, every month is divided into two fortnights. Similarly, according to solar calculations, a month is equal to the time the sun spends in one constellation; two months constitute one season, and there are twelve months in a year. The entire area of the sky is divided into two halves, each representing an *ayana,* the course traversed by the sun within a period of six months. The sun

travels sometimes slowly, sometimes swiftly and sometimes at a moderate speed. In this way it travels within the three worlds, consisting of the heavenly planets, the earthly planets and outer space. These orbits are referred to by great learned scholars by the names Saṁvatsara, Parivatsara, Iḍāvatsara, Anuvatsara and Vatsara.

The moon is situated 100,000 *yojanas* above the rays of the sunshine. Day and night on the heavenly planets and Pitṛloka are calculated according to its waning and waxing. Above the moon by a distance of 200,000 *yojanas* are some stars, and above these stars is Śukra-graha (Venus), whose influence is always auspicious for the inhabitants of the entire universe. Above Śukra-graha by 200,000 *yojanas* is Budha-graha (Mercury), whose influence is sometimes auspicious and sometimes inauspicious. Next, above Budha-graha by 200,000 *yojanas,* is Aṅgāraka (Mars), which almost always has an unfavorable influence. Above Aṅgāraka by another 200,000 *yojanas* is the planet called Bṛhaspati-graha (Jupiter), which is always very favorable for qualified *brāhmaṇas.* Above Bṛhaspati-graha is the planet Śanaiścara (Saturn), which is very inauspicious, and above Saturn is a group of seven stars occupied by great saintly persons who are always thinking of the welfare of the entire universe. These seven stars circumambulate Dhruvaloka, which is the residence of Lord Viṣṇu within this universe.

1King Parīkṣit inquired from Śukadeva Gosvāmī: My dear lord, you have already affirmed the truth that the supremely powerful sun-god travels around Dhruvaloka with both Dhruvaloka and Mount Sumeru on his right. Yet at the same time the sun-god faces the signs of the zodiac and keeps Sumeru and Dhruvaloka on his left. How can we reasonably accept that the sun-god proceeds with Sumeru and Dhruvaloka on both his left and right simultaneously?

2ŚrīŚukadeva Gosvāmī clearly answered: When a potter's wheel is moving and small ants located on that big wheel are moving with it, one can see that their motion is different from that of the wheel because they appear sometimes on one part of the wheel and sometimes on another. Similarly, the signs and constellations, with Sumeru and Dhruvaloka on their right, move with the wheel of time, and the antlike sun and other planets move with them. The sun and planets, however, are seen in different signs and constellations at different times. This indicates that their motion is different from that of the zodiac and the wheel of time itself.

3The original cause of the cosmic manifestation is the Supreme Personality of Godhead, Nārāyaṇa. When great saintly persons, fully aware of the Vedic knowledge, offered prayers to the Supreme Person, He descended to this material world in the form of the sun to benefit all the planets and purify fruitive activities. He divided Himself into twelve parts and created seasonal forms, beginning with spring. In this way He created the seasonal qualities, such as heat, cold and so on.

4According to the system of four varṇas and four āśramas, people generally worship the Supreme Personality of Godhead, Nārāyaṇa, who is situated as the sun-god. With great faith they worship the Supreme Personality as the Supersoul according to ritualistic ceremonies handed down in the three Vedas, such as agnihotra and similar higher and lower fruitive acts, and according to the process of mystic yoga. In this way they very easily attain the ultimate goal of life.

5The sun-god, who is Nārāyaṇa, or Viṣṇu, the soul of all the worlds, is situated in outer space between the upper and lower portions of the universe. Passing through twelve months on the wheel of time, the sun comes in touch with twelve different signs of the zodiac and assumes twelve different names according to those signs. The aggregate of those twelve months is called a saṁvatsara, or an entire year. According to lunar calculations, two fortnightsone of the waxing moon and the other of the waningform one month. That same period is one day and night for the planet Pitṛloka. According to stellar calculations, a month equals two and one

quarter constellations. When the sun travels for two months, a season passes, and therefore the seasonal changes are considered parts of the body of the year.

6Thus the time the sun takes to rotate through half of outer space is called an ayana, or its period of movement [in the north or in the south].

7The sun-god has three speedsslow, fast and moderate. The time he takes to travel entirely around the spheres of heaven, earth and space at these three speeds is referred to, by learned scholars, by the five names Saṁvatsara, Parivatsara, Iḍāvatsara, Anuvatsara and Vatsara.

8Above the rays of the sunshine by a distance of 100,000 yojanas [800,000 miles] is the moon, which travels at a speed faster than that of the sun. In two lunar fortnights the moon travels through the equivalent of a saṁvatsara of the sun, in two and a quarter days it passes through a month of the sun, and in one day it passes through a fortnight of the sun.

9When the moon is waxing, the illuminating portions of it increase daily, thus creating day for the demigods and night for the pitās. When the moon is waning, however, it causes night for the demigods and day for the pitās. In this way the moon passes through each constellation of stars in thirty muhūrtas [an entire day]. The moon is the source of nectarean coolness that influences the growth of food grains, and therefore the moon-god is considered the life of all living entities. He is consequently called Jīva, the chief living being within the universe.

10Because the moon is full of all potentialities, it represents the influence of the Supreme Personality of Godhead. The moon is the predominating deity of everyone's mind, and therefore the moon-god is called Manomaya. He is also called Annamaya because he gives potency to all herbs and plants, and he is called Amṛtamaya because he is the source of life for all living entities. The moon pleases the demigods, pitās, human beings, animals, birds, reptiles, trees, plants and all other living entities. Everyone is satisfied by the presence of the moon. Therefore the moon is also called Sarvamaya [all-pervading].

11There are many stars located 200,000 yojanas [1,600,000 miles] above the moon. By the supreme will of the Supreme Personality of Godhead, they are fixed to the wheel of time, and thus they rotate with Mount Sumeru on their right, their motion being different from that of the sun. There are twenty-eight important stars, headed by Abhijit.

12Some 1,600,000 miles above this group of stars is the planet Venus, which moves at almost exactly the same pace as the sun according to swift, slow and moderate movements. Sometimes Venus moves behind the sun, sometimes in front of the sun and sometimes along with it. Venus nullifies the influence of planets that are obstacles to rainfall. Consequently its presence causes rainfall, and it is therefore considered very favorable for all living beings within this universe. This has been accepted by learned scholars.

13Mercury is described to be similar to Venus, in that it moves sometimes behind the sun, sometimes in front of the sun and sometimes along with it. It is 1,600,000 miles above Venus, or 7,200,000 miles above earth. Mercury, which is the son of the moon, is almost always very auspicious for the inhabitants of the universe, but when it does not move along with the sun, it forbodes cyclones, dust, irregular rainfall, and waterless clouds. In this way it creates fearful conditions due to inadequate or excessive rainfall.

14Situated 1,600,000 miles above Mercury, or 8,800,000 miles above earth, is the planet Mars. If this planet does not travel in a crooked way, it crosses through each sign of the zodiac in three fortnights and in this way travels through all twelve, one after another. It almost always creates unfavorable conditions in respect to rainfall and other influences.

15Situated 1,600,000 miles above Mars, or 10,400,000 miles above earth, is the planet Jupiter, which travels through one sign of the zodiac within the period of a Parivatsara. If its movement is not curved, the planet Jupiter is very favorable to the brāhmaṇas of the universe.

16Situated 1,600,000 miles above Jupiter, or 12,000,000 miles above earth, is the planet Saturn, which passes through one sign of the zodiac in thirty months and covers the entire zodiac circle in thirty Anuvatsaras. This planet is always very inauspicious for the universal situation.

17Situated 8,800,000 miles above Saturn, or 20,800,000 miles above earth, are the seven saintly sages, who are always thinking of the well-being of the inhabitants of the universe. They circumambulate the supreme abode of Lord Viṣṇu, known as Dhruvaloka, the polestar.

## SB 5.23: The Śiśumāra Planetary Systems

This chapter describes how all the planetary systems take shelter of the polestar, Dhruvaloka. It also describes the totality of these planetary systems to be Śiśumāra, another expansion of the external body of the Supreme Personality of Godhead. Dhruvaloka, the abode of Lord Viṣṇu within this universe, is situated 1,300,000 *yojanas* from the seven stars. In the planetary system of Dhruvaloka are the planets of the fire-god, Indra, Prajāpati, Kaśyapa and Dharma, all of whom are very respectful to the great devotee Dhruva, who lives on the polestar. Like bulls yoked to a central pivot, all the planetary systems revolve around Dhruvaloka, impelled by eternal time. Those who worship the *virāṭ-puruṣa,* the universal form of the Lord, conceive of this entire rotating system of planets as an animal known as *śiśumāra*. This imaginary *śiśumāra* is another form of the Lord. The head of the *śiśumāra* form is downward, and its body appears like that of a coiled snake. On the end of its tail is Dhruvaloka, on the body of the tail are Prajāpati, Agni, Indra and Dharma, and on the root of the tail are Dhātā and Vidhātā. On its waist are the seven great sages. The entire body of the *śiśumāra* faces toward its right and appears like a coil of stars. On the right side of this coil are the fourteen prominent stars from Abhijit to Punarvasu, and on the left side are the fourteen prominent stars from Puṣyā to Uttarāṣāḍhā. The stars known as Punarvasu and Puṣyā are on the right and left hips of the *śiśumāra,* and the stars known as Ārdrā and Aśleṣā are on the right and left feet of the *śiśumāra*. Other stars are also fixed on different sides of the Śiśumāra planetary system according to the calculations of Vedic astronomers. To concentrate their minds, *yogīs* worship the Śiśumāra planetary system, which is technically known as the *kuṇḍalini-cakra*.

1Śukadeva Gosvāmī continued: My dear King, 1,300,000 yojanas [10,400,000 miles] above the planets of the seven sages is the place that learned scholars describe as the abode of Lord Viṣṇu. There the son of Mahārāja Uttānapāda, the great devotee Mahārāja Dhruva, still resides as the life source of all the living entities who live until the end of the creation. Agni, Indra, Prajāpati, Kaśyapa and Dharma all assemble there to offer him honor and respectful obeisances. They circumambulate him with their right sides toward him. I have already described the glorious activities of Mahārāja Dhruva [in the Fourth Canto of Śrīmad-Bhāgavatam].

2Established by the supreme will of the Supreme Personality of Godhead, the polestar, which is the planet of Mahārāja Dhruva, constantly shines as the central pivot for all the stars and planets. The unsleeping, invisible, most powerful time factor causes these luminaries to revolve around the polestar without cessation.

3When bulls are yoked together and tied to a central post to thresh rice, they tread around that pivot without deviating from their proper positionsone bull being closest to the post, another in the middle, and a third on the outside. Similarly, all the planets and all the hundreds and

thousands of stars revolve around the polestar, the planet of Mahārāja Dhruva, in their respective orbits, some higher and some lower. Fastened by the Supreme Personality of Godhead to the machine of material nature according to the results of their fruitive acts, they are driven around the polestar by the wind and will continue to be so until the end of creation. These planets float in the air within the vast sky, just as clouds with hundreds of tons of water float in the air or as the great śyena eagles, due to the results of past activities, fly high in the sky and have no chance of falling to the ground.

4This great machine, consisting of the stars and planets, resembles the form of a śiśumāra [dolphin] in the water. It is sometimes considered an incarnation of Kṛṣṇa, Vāsudeva. Great yogīs meditate upon Vāsudeva in this form because it is actually visible.

5This form of the śiśumāra has its head downward and its body coiled. On the end of its tail is the planet of Dhruva, on the body of its tail are the planets of the demigods Prajāpati, Agni, Indra and Dharma, and at the base of its tail are the planets of the demigods Dhātā and Vidhātā. Where the hips might be on the śiśumāra are the seven saintly sages like Vasiṣṭha and Aṅgirā. The coiled body of the Śiśumāra-cakra turns toward its right side, on which the fourteen constellations from Abhijit to Punarvasu are located. On its left side are the fourteen stars from Puṣyā to Uttarāṣāḍhā. Thus its body is balanced because its sides are occupied by an equal number of stars. On the back of the śiśumāra is the group of stars known as Ajavīthī, and on its abdomen is the Ganges that flows in the sky [the Milky Way].

6On the right and left sides of where the loins might be on the Śiśumāra-cakra are the stars named Punarvasu and Puṣyā. Ārdrā and Aśleṣā are on its right and left feet, Abhijit and Uttarāṣāḍhā are on its right and left nostrils, Śravaṇā and Pūrvāṣāḍhā are at its right and left eyes, and Dhaniṣṭhā and Mūlā are on its right and left ears. The eight stars from Maghā to Anurādhā, which mark the southern course, are on the ribs of the left of its body, and the eight stars from Mṛgaśīrṣā to Pūrvabhādra, which mark the northern course, are on the ribs on the right side. Śatabhiṣā and Jyeṣṭhā are on the right and left shoulders.

7On the upper chin of the śiśumāra is Agasti; on its lower chin, Yamarāja; on its mouth, Mars; on its genitals, Saturn; on the back of its neck, Jupiter; on its chest, the sun; and within the core of its heart, Nārāyaṇa. Within its mind is the moon; on its navel, Venus; and on its breasts, the Aśvinī-kumāras. Within its life air, which is known as prāṇāpāna, is Mercury, on its neck is Rāhu, all over its body are comets, and in its pores are the numerous stars.

8My dear King, the body of the śiśumāra, as thus described, should be considered the external form of Lord Viṣṇu, the Supreme Personality of Godhead. Morning, noon and evening, one should silently observe the form of the Lord as the Śiśumāra-cakra and worship Him with this mantra: "O Lord who have assumed the form of time! O resting place of all the planets moving in different orbits! O master of all demigods, O Supreme Person, I offer my respectful obeisances unto You and meditate upon You."

9The body of the Supreme Lord, Viṣṇu, which forms the Śiśumāra-cakra, is the resting place of all the demigods and all the stars and planets. One who chants this mantra to worship that Supreme Person three times a daymorning, noon and eveningwill surely be freed from all sinful reactions. If one simply offers his obeisances to this form or remembers this form three times a day, all his recent sinful activities will be destroyed.

### SB 5.24: The Subterranean Heavenly Planets

This chapter describes the planet Rāhu, which is 10,000 *yojanas* (80,000 miles) below the sun,

and it also describes Atala and the other lower planetary systems. Rāhu is situated below the sun and moon. It is between these two planets and the earth. When Rāhu conceals the sun and moon, eclipses occur, either total or partial, depending on whether Rāhu moves in a straight or curving way.

Below Rāhu by another 1,000,000 *yojanas* are the planets of the Siddhas, Cāraṇas and Vidyādharas, and below these are planets such as Yakṣaloka and Rakṣaloka. Below these planets is the earth, and 70,000 *yojanas* below the earth are the lower planetary systemsAtala, Vitala, Sutala, Talātala, Mahātala, Rasātala and Pātāla. Demons and Rakṣasas live in these lower planetary systems with their wives and children, always engaged in sense gratification and not fearing their next births. The sunshine does not reach these planets, but they are illuminated by jewels fixed upon the hoods of snakes. Because of these shining gems there is practically no darkness. Those living in these planets do not become old or diseased, and they are not afraid of death from any cause but the time factor, the Supreme Personality of Godhead.

In the planet Atala, the yawning of a demon has produced three kinds of women, called *svairiṇī* (independent), *kāmiṇī* (lusty) and *puṁścalī* (very easily subdued by men). Below Atala is the planet Vitala, wherein Lord Śiva and his wife Gaurī reside. Because of their presence, a kind of gold is produced called *hāṭaka*. Below Vitala is the planet Sutala, the abode of Bali Mahārāja, the most fortunate king. Bali Mahārāja was favored by the Supreme Personality of Godhead, Vāmanadeva, because of his intense devotional service. The Lord went to the sacrificial arena of Bali Mahārāja and begged him for three paces of land, and on this plea the Lord took from him all his possessions. When Bali Mahārāja agreed to all this, the Lord was very pleased, and therefore the Lord serves as his doorkeeper. The description of Bali Mahārāja appears in the Eighth Canto of *Śrīmad-Bhāgavatam*.

When the Supreme Personality of Godhead offers a devotee material happiness, this is not His real favor. The demigods, who are very puffed up by their material opulence, pray to the Lord only for material happiness, not knowing anything better. Devotees like Prahlāda Mahārāja, however, do not want material happiness. Not to speak of material happiness, they do not want even liberation from material bondage, although one can achieve this liberation simply by chanting the holy name of the Lord, even with improper pronunciation.

Below Sutala is the planet Talātala, the abode of the demon Maya. This demon is always materially happy because he is favored by Lord Śiva, but he cannot achieve spiritual happiness at any time. Below Talātala is the planet Mahātala, where there are many snakes with hundreds and thousands of hoods. Below Mahātala is Rasātala, and below that is Pātāla, where the serpent Vasukī lives with his associates.

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: My dear King, some historians, the speakers of the Purāṇas, say that 10,000 yojanas [80,000 miles] below the sun is the planet known as Rāhu, which moves like one of the stars. The presiding deity of that planet, who is the son of Siṁhikā, is the most abominable of all asuras, but although he is completely unfit to assume the position of a demigod or planetary deity, he has achieved that position by the grace of the Supreme Personality of Godhead. Later I shall speak further about him.

2The sun globe, which is a source of heat, extends for 10,000 yojanas [80,000 miles]. The moon extends for 20,000 yojanas [160,000 miles], and Rāhu extends for 30,000 yojanas [240,000 miles]. Formerly, when nectar was being distributed, Rāhu tried to create dissension between the sun and moon by interposing himself between them. Rāhu is inimical toward both the sun and the moon, and therefore he always tries to cover the sunshine and moonshine on the dark-moon day and full-moon night.

3After hearing from the sun and moon demigods about Rāhu's attack, the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, engages His disc, known as the Sudarśana cakra, to protect them. The Sudarśana cakra is the Lord's most beloved devotee and is favored by the Lord. The intense heat of its effulgence, meant for killing non-Vaiṣṇavas, is unbearable to Rāhu, and he therefore flees in fear of it. During the time Rāhu disturbs the sun or moon, there occurs what people commonly know as an eclipse.

4Below Rāhu by 10,000 yojanas [80,000 miles] are the planets known as Siddhaloka, Cāraṇaloka and Vidyādhara-loka.

5Beneath Vidyādhara-loka, Cāraṇaloka and Siddhaloka, in the sky called antarikṣa, are the places of enjoyment for the Yakṣas, Rākṣasas, Piśācas, ghosts and so on. Antarikṣa extends as far as the wind blows and the clouds float in the sky. Above this there is no more air.

6Below the abodes of the Yakṣas and Rākṣasas by a distance of 100 yojanas [800 miles] is the planet earth. Its upper limits extend as high as swans, hawks, eagles and similar large birds can fly.

7My dear King, beneath this earth are seven other planets, known as Atala, Vitala, Sutala, Talātala, Mahātala, Rasātala and Pātāla. I have already explained the situation of the planetary systems of earth. The width and length of the seven lower planetary systems are calculated to be exactly the same as those of earth.

8In these seven planetary systems, which are also known as the subterranean heavens [bila-svarga], there are very beautiful houses, gardens and places of sense enjoyment, which are even more opulent than those in the higher planets because the demons have a very high standard of sensual pleasure, wealth and influence. Most of the residents of these planets, who are known as Daityas, Dānavas and Nāgas, live as householders. Their wives, children, friends and society are all fully engaged in illusory material happiness. The sense enjoyment of the demigods is sometimes disturbed, but the residents of these planets enjoy life without disturbances. Thus they are understood to be very attached to illusory happiness.

9My dear King, in the imitation heavens known as bila-svarga there is a great demon named Maya Dānava, who is an expert artist and architect. He has constructed many brilliantly decorated cities. There are many wonderful houses, walls, gates, assembly houses, temples, yards and temple compounds, as well as many hotels serving as residential quarters for foreigners. The houses for the leaders of these planets are constructed with the most valuable jewels, and they are always crowded with living entities known as Nāgas and Asuras, as well as many pigeons, parrots and similar birds. All in all, these imitation heavenly cities are most beautifully situated and attractively decorated.

10The parks and gardens in the artificial heavens surpass in beauty those of the upper heavenly planets. The trees in those gardens, embraced by creepers, bend with a heavy burden of twigs with fruits and flowers, and therefore they appear extraordinarily beautiful. That beauty could attract anyone and make his mind fully blossom in the pleasure of sense gratification. There are many lakes and reservoirs with clear, transparent water, agitated by jumping fish and decorated with many flowers such as lilies, kuvalayas, kahlāras and blue and red lotuses. Pairs of cakravākas and many other water birds nest in the lakes and always enjoy in a happy mood, making sweet, pleasing vibrations that are very satisfying and conducive to enjoyment of the senses.

11Since there is no sunshine in those subterranean planets, time is not divided into days and nights, and consequently fear produced by time does not exist.

12Many great serpents reside there with gems on their hoods, and the effulgence of these gems dissipates the darkness in all directions.

13Since the residents of these planets drink and bathe in juices and elixirs made from wonderful herbs, they are freed from all anxieties and physical diseases. They have no experience of grey hair, wrinkles or invalidity, their bodily lusters do not fade, their perspiration does not cause a bad smell, and they are not troubled by fatigue or by lack of energy or enthusiasm due to old age.

14They live very auspiciously and do not fear death from anything but death's established time, which is the effulgence of the Sudarśana cakra of the Supreme Personality of Godhead.

15When the Sudarśana disc enters those provinces, the pregnant wives of the demons all have miscarriages due to fear of its effulgence.

16My dear King, now I shall describe to you the lower planetary systems, one by one, beginning from Atala. In Atala there is a demon, the son of Maya Dānava named Bala, who created ninety-six kinds of mystic power. Some so-called yogīs and svāmīs take advantage of this mystic power to cheat people even today. Simply by yawning, the demon Bala created three kinds of women, known as svairiṇī, kāmiṇī and puṁścalī. The svairiṇīs like to marry men from their own group, the kāmiṇīs marry men from any group, and the puṁścalīs change husbands one after another. If a man enters the planet of Atala, these women immediately capture him and induce him to drink an intoxicating beverage made with a drug known as hāṭaka [cannabis indica]. This intoxicant endows the man with great sexual prowess, of which the women take advantage for enjoyment. A woman will enchant him with attractive glances, intimate words, smiles of love and then embraces. In this way she induces him to enjoy sex with her to her full satisfaction. Because of his increased sexual power, the man thinks himself stronger than ten thousand elephants and considers himself most perfect. Indeed, illusioned and intoxicated by false pride, he thinks himself God, ignoring impending death.

17The next planet below Atala is Vitala, wherein Lord Śiva, who is known as the master of gold mines, lives with his personal associates, the ghosts and similar living entities. Lord Śiva, as the progenitor, engages in sex with Bhavānī, the progenitress, to produce living entities, and from the mixture of their vital fluid the river named Hāṭakī is generated. When fire, being made to blaze by the wind, drinks of this river and then sizzles and spits it out, it produces gold called Hāṭaka. The demons who live on that planet with their wives decorate themselves with various ornaments made from that gold, and thus they live there very happily.

18Below the planet Vitala is another planet, known as Sutala, where the great son of Mahārāja Virocana, Bali Mahārāja, who is celebrated as the most pious king, resides even now. For the welfare of Indra, the King of heaven, Lord Viṣṇu appeared in the form of a dwarf brahmacārī as the son of Aditi and tricked Bali Mahārāja by begging for only three paces of land but taking all the three worlds. Being very pleased with Bali Mahārāja for giving all his possessions, the Lord returned his kingdom and made him richer than the opulent King Indra. Even now, Bali Mahārāja engages in devotional service by worshiping the Supreme Personality of Godhead in the planet of Sutala.

19My dear King, Bali Mahārāja donated all his possessions to the Supreme Personality of Godhead, Vāmanadeva, but one should certainly not conclude that he achieved his great worldly opulence in bila-svarga as a result of his charitable disposition. The Supreme Personality of Godhead, who is the source of life for all living entities, lives within everyone as the friendly Supersoul, and under His direction a living entity enjoys or suffers in the material world. Greatly appreciating the transcendental qualities of the Lord, Bali Mahārāja offered

everything at His lotus feet. His purpose, however, was not to gain anything material, but to become a pure devotee. For a pure devotee, the door of liberation is automatically opened. One should not think that Bali Mahārāja was given so much material opulence merely because of his charity. When one becomes a pure devotee in love, he may also be blessed with a good material position by the will of the Supreme Lord. However, one should not mistakenly think that the material opulence of a devotee is the result of his devotional service. The real result of devotional service is the awakening of pure love for the Supreme Personality of Godhead, which continues under all circumstances.

20If one who is embarrassed by hunger or who falls down or stumbles chants the holy name of the Lord even once, willingly or unwillingly, he is immediately freed from the reactions of his past deeds. Karmīs entangled in material activities face many difficulties in the practice of mystic yoga and other endeavors to achieve that same freedom.

21The Supreme Personality of Godhead, who is situated in everyone's heart as the Supersoul, sells Himself to His devotees such as Nārada Muni. In other words, the Lord gives pure love to such devotees and gives Himself to those who love Him purely. Great, self-realized mystic yogīs such as the four Kumāras also derive great transcendental bliss from realizing the Supersoul within themselves.

22The Supreme Personality of Godhead did not award His mercy to Bali Mahārāja by giving him material happiness and opulence, for these make one forget loving service to the Lord. The result of material opulence is that one can no longer absorb his mind in the Supreme Personality of Godhead.

23When the Supreme Personality of Godhead could see no other means of taking everything away from Bali Mahārāja, He adopted the trick of begging from him and took away all the three worlds. Thus only his body was left, but the Lord was still not satisfied. He arrested Bali Mahārāja, bound him with the ropes of Varuṇa and threw him in a cave in a mountain. Nevertheless, although all his property was taken and he was thrown into a cave, Bali Mahārāja was such a great devotee that he spoke as follows.

24Alas, how pitiable it is for Indra, the King of heaven, that although he is very learned and powerful and although he chose Bṛhaspati as his prime minister to instruct him, he is completely ignorant concerning spiritual advancement. Bṛhaspati is also unintelligent because he did not properly instruct his disciple Indra. Lord Vāmanadeva was standing at Indra's door, but King Indra, instead of begging Him for an opportunity to render transcendental loving service, engaged Him in asking me for alms to gain the three worlds for his sense gratification. Sovereignty over the three worlds is very insignificant because whatever material opulence one may possess lasts only for an age of Manu, which is but a tiny fraction of endless time.

25Bali Mahārāja said: My grandfather Prahlāda Mahārāja is the only person who understood his own self-interest. Upon the death of Prahlāda's father, Hiraṇyakaśipu, Lord Nṛsiṁhadeva wanted to offer Prahlāda his father's kingdom and even wanted to grant him liberation from material bondage, but Prahlāda accepted neither. Liberation and material opulence, he thought, are obstacles to devotional service, and therefore such gifts from the Supreme Personality of Godhead are not His actual mercy. Consequently, instead of accepting the results of karma and Jnana, Prahlāda Mahārāja simply begged the Lord for engagement in the service of His servant.

26Bali Mahārāja said: Persons like us, who are still attached to material enjoyment, who are contaminated by the modes of material nature and who lack the mercy of the Supreme Personality of Godhead, cannot follow the supreme path of Prahlāda Mahārāja, the exalted

devotee of the Lord.

27Śukadeva Gosvāmī continued: My dear King, how shall I glorify the character of Bali Mahārāja? The Supreme Personality of Godhead, the master of the three worlds, who is most compassionate to His own devotee, stands with club in hand at Bali Mahārāja's door. When Rāvaṇa, the powerful demon, came to gain victory over Bali Mahārāja, Vāmanadeva kicked him a distance of eighty thousand miles with His big toe. I shall explain the character and activities of Bali Mahārāja later [in the Eighth Canto of Śrīmad-Bhāgavatam].

28Beneath the planet known as Sutala is another planet, called Talātala, which is ruled by the Dānava demon named Maya. Maya is known as the ācārya [master] of all the māyāvīs, who can invoke the powers of sorcery. For the benefit of the three worlds, Lord Śiva, who is known as Tripurāri, once set fire to the three kingdoms of Maya, but later, being pleased with him, he returned his kingdom. Since that time, Maya Dānava has been protected by Lord Śiva, and therefore he falsely thinks that he need not fear the Sudarśana cakra of the Supreme Personality of Godhead.

29The planetary system below Talātala is known as Mahātala. It is the abode of many-hooded snakes, descendants of Kadrū, who are always very angry. The great snakes who are prominent are Kuhaka, Takṣaka, Kāliya and Suṣeṇa. The snakes in Mahātala are always disturbed by fear of Garuḍa, the carrier of Lord Viṣṇu, but although they are full of anxiety, some of them nevertheless sport with their wives, children, friends and relatives.

30Beneath Mahātala is the planetary system known as Rasātala, which is the abode of the demoniac sons of Diti and Danu. They are called Paṇis, Nivāta-kavacas, Kāleyas and Hiraṇya-puravāsīs [those living in Hiraṇya-pura]. They are all enemies of the demigods, and they reside in holes like snakes. From birth they are extremely powerful and cruel, and although they are proud of their strength, they are always defeated by the Sudarśana cakra of the Supreme Personality of Godhead, who rules all the planetary systems. When a female messenger from Indra named Saramā chants a particular curse, the serpentine demons of Mahātala become very afraid of Indra.

31Beneath Rasātala is another planetary system, known as Pātāla or Nāgaloka, where there are many demoniac serpents, the masters of Nāgaloka, such as Śaṅkha, Kulika, Mahāśaṅkha, Śveta, Dhanaṣjaya, Dhṛtarāṣṭra, Śaṅkhacūḍa, Kambala, Aśvatara and Devadatta. The chief among them is Vāsuki. They are all extremely angry, and they have many, many hoodssome snakes five hoods, some seven, some ten, others a hundred and others a thousand. These hoods are bedecked with valuable gems, and the light emanating from the gems illuminates the entire planetary system of bila-svarga.

## SB 5.25: The Glories of Lord Ananta

In this chapter, Śukadeva Gosvāmī describes Ananta, the source of Lord Śiva. Lord Ananta, whose body is completely spiritual, resides at the root of the planet Pātāla. He always lives in the core of Lord Śiva's heart, and He helps him destroy the universe. Ananta instructs Lord Śiva how to destroy the cosmos, and thus He is sometimes called *tāmasī,* or "one who is in the mode of darkness." He is the original Deity of material consciousness, and because He attracts all living entities, He is sometimes known as Saṅkarṣaṇa. The entire material world is situated on the hoods of Lord Saṅkarṣaṇa. From His forehead He transmits to Lord Śiva the power to destroy this material world. Because Lord Saṅkarṣaṇa is an expansion of the Supreme Personality of Godhead, many devotees offer Him prayers, and in the planetary system of Pātāla, all the *suras, asuras,* Gandharvas, Vidyādharas and learned sages offer Him their

respectful obeisances. The Lord talks with them in a sweet voice. His bodily construction is completely spiritual and very, very beautiful. Anyone who hears about Him from a proper spiritual master becomes free from all material conceptions of life. The entire material energy is working according to the plans of Anantadeva. Therefore we should regard Him as the root cause of the material creation. There is no end to His strength, and no one can fully describe Him, even with countless mouths. Therefore He is called Ananta (unlimited). Being very merciful toward all living entities, He has exhibited His spiritual body. Śukadeva Gosvāmī describes the glories of Anantadeva to Mahārāja Parīkṣit in this way.

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said to Mahārāja Parīkṣit: My dear King, approximately 240,000 miles beneath the planet Pātāla lives another incarnation of the Supreme Personality of Godhead. He is the expansion of Lord Viṣṇu known as Lord Ananta or Lord Saṅkarṣaṇa. He is always in the transcendental position, but because He is worshiped by Lord Śiva, the deity of tamo-guṇa or darkness, He is sometimes called tāmasī. Lord Ananta is the predominating Deity of the material mode of ignorance as well as the false ego of all conditioned souls. When a conditioned living being thinks, "I am the enjoyer, and this world is meant to be enjoyed by me," this conception of life is dictated to him by Saṅkarṣaṇa. Thus the mundane conditioned soul thinks himself the Supreme Lord.

2Śukadeva Gosvāmī continued: This great universe, situated on one of Lord Anantadeva's thousands of hoods, appears just like a white mustard seed. It is infinitesimal compared to the hood of Lord Ananta.

3At the time of devastation, when Lord Anantadeva desires to destroy the entire creation, He becomes slightly angry. Then from between His two eyebrows appears three-eyed Rudra, carrying a trident. This Rudra, who is known as Sāṅkarṣaṇa, is the embodiment of the eleven Rudras, or incarnations of Lord Śiva. He appears in order to devastate the entire creation.

4The pink, transparent toenails on the Lord's lotus feet are exactly like valuable gems polished to a mirror finish. When the unalloyed devotees and the leaders of the snakes offer their obeisances to Lord Saṅkarṣaṇa with great devotion, they become very joyful upon seeing their own beautiful faces reflected in His toenails. Their cheeks are decorated with glittering earrings, and the beauty of their faces is extremely pleasing to see.

5Lord Ananta's arms are attractively long, beautifully decorated with bangles and completely spiritual. They are white, and so they appear like silver columns. When the beautiful princesses of the serpent kings, hoping for the Lord's auspicious blessing, smear His arms with aguru pulp, sandalwood pulp and kuṅkuma, the touch of His limbs awakens lusty desires within them. Understanding their minds, the Lord looks at the princesses with a merciful smile, and they become bashful, realizing that He knows their desires. Then they smile beautifully and look upon the Lord's lotus face, which is beautified by reddish eyes rolling slightly from intoxication and delighted by love for His devotees.

6Lord Saṅkarṣaṇa is the ocean of unlimited spiritual qualities, and thus He is known as Anantadeva. He is nondifferent from the Supreme Personality of Godhead. For the welfare of all living entities within this material world, He resides in His abode, restraining His anger and intolerance.

7Śukadeva Gosvāmī continued: The demigods, the demons, the Uragas [serpentine demigods], the Siddhas, the Gandharvas, the Vidyādharas and many highly elevated sages constantly offer prayers to the Lord. Because He is intoxicated, the Lord looks bewildered, and His eyes, appearing like flowers in full bloom, move to and fro. He pleases His personal associates, the heads of the demigods, by the sweet vibrations emanating from His mouth. Dressed in bluish

garments and wearing a single earring, He holds a plow on His back with His two beautiful and well-constructed hands. Appearing as white as the heavenly King Indra, He wears a golden belt around His waist and a vaijayantī garland of ever-fresh tulasī blossoms around His neck. Bees intoxicated by the honeylike fragrance of the tulasī flowers hum very sweetly around the garland, which thus becomes more and more beautiful. In this way, the Lord enjoys His very magnanimous pastimes.

8If persons who are very serious about being liberated from material life hear the glories of Anantadeva from the mouth of a spiritual master in the chain of disciplic succession, and if they always meditate upon Saṅkarṣaṇa, the Lord enters the cores of their hearts, vanquishes all the dirty contamination of the material modes of nature, and cuts to pieces the hard knot within the heart, which has been tied tightly since time immemorial by the desire to dominate material nature through fruitive activities. Nārada Muni, the son of Lord Brahmā, always glorifies Anantadeva in his father's assembly. There he sings blissful verses of his own composition, accompanied by his stringed instrument [or a celestial singer] known as Tumburu.

9By His glance, the Supreme Personality of Godhead enables the modes of material nature to act as the causes of universal creation, maintenance and destruction. The Supreme Soul is unlimited and beginningless, and although He is one, He has manifested Himself in many forms. How can human society understand the ways of the Supreme?

10This manifestation of subtle and gross matter exists within the Supreme Personality of Godhead. Out of causeless mercy toward His devotees, He exhibits various forms, which are all transcendental. The Supreme Lord is most liberal, and He possesses all mystic power. To conquer the minds of His devotees and give pleasure to their hearts, He appears in different incarnations and manifests many pastimes.

11Even if he be distressed or degraded, any person who chants the holy name of the Lord, having heard it from a bona fide spiritual master, is immediately purified. Even if he chants the Lord's name jokingly or by chance, he and anyone who hears him are freed from all sins. Therefore how can anyone seeking disentanglement from the material clutches avoid chanting the name of Lord Śeṣa? Of whom else should one take shelter?

12Because the Lord is unlimited, no one can estimate His power. This entire universe, filled with its many great mountains, rivers, oceans, trees and living entities, is resting just like an atom on one of His many thousands of hoods. Is there anyone, even with thousands of tongues, who can describe His glories?

13There is no end to the great and glorious qualities of that powerful Lord Anantadeva. Indeed, His prowess is unlimited. Though self-sufficient, He Himself is the support of everything. He resides beneath the lower planetary systems and easily sustains the entire universe.

14My dear King, as I heard of it from my spiritual master, I have fully described to you the creation of this material world according to the fruitive activities and desires of the conditioned souls. Those conditioned souls, who are full of material desires, achieve various situations in different planetary systems, and in this way they live within this material creation.

15My dear King, I have thus described how people generally act according to their different desires and, as a result, get different types of bodies in higher or lower planets. You inquired of these things from me, and I have explained to you whatever I have heard from authorities. What shall I speak of now?

## SB 5.26: A Description of the Hellish Planets

1King Parīkṣit inquired from Śukadeva Gosvāmī: My dear sir, why are the living entities put into different material situations? Kindly explain this to me.

2The great sage Śukadeva Gosvāmīsaid: My dear King, in this material world there are three kinds of activitiesthose in the mode of goodness, the mode of passion and the mode of ignorance. Because all people are influenced by the three modes of material nature, the results of their activities are also divided into three. One who acts in the mode of goodness is religious and happy, one who acts in passion achieves mixed misery and happiness, and one who acts under the influence of ignorance is always unhappy and lives like an animal. Because of the varying degrees to which the living entities are influenced by the different modes of nature, their destinations are also of different varieties.

3Just as by executing various pious activities one achieves different positions in heavenly life, by acting impiously one achieves different positions in hellish life. Those who are activated by the material mode of ignorance engage in impious activities, and according to the extent of their ignorance, they are placed in different grades of hellish life. If one acts in the mode of ignorance because of madness, his resulting misery is the least severe. One who acts impiously but knows the distinction between pious and impious activities is placed in a hell of intermediate severity. And for one who acts impiously and ignorantly because of atheism, the resultant hellish life is the worst. Because of ignorance, every living entity has been carried by various desires into thousands of different hellish planets since time immemorial. I shall try to describe them as far as possible.

4King Parīkṣit inquired from Śukadeva Gosvāmī: My dear lord, are the hellish regions outside the universe, within the covering of the universe, or in different places on this planet?

5The great sage Śukadeva Gosvāmī answered: All the hellish planets are situated in the intermediate space between the three worlds and the Garbhodaka Ocean. They lie on the southern side of the universe, beneath Bhū-maṇḍala, and slightly above the water of the Garbhodaka Ocean. Pitṛloka is also located in this region between the Garbhodaka Ocean and the lower planetary systems. All the residents of Pitṛloka, headed by Agniṣvāttā, meditate in great samādhi on the Supreme Personality of Godhead and always wish their families well.

6The King of the pitās is Yamarāja, the very powerful son of the sun-god. He resides in Pitṛloka with his personal assistants and, while abiding by the rules and regulations set down by the Supreme Lord, has his agents, the Yamadūtas, bring all the sinful men to him immediately upon their death. After bringing them within his jurisdiction, he properly judges them according to their specific sinful activities and sends them to one of the many hellish planets for suitable punishments.

7Some authorities say that there is a total of twenty-one hellish planets, and some say twenty-eight. My dear King, I shall outline all of them according to their names, forms and symptoms. The names of the different hells are as follows: Tāmisra, Andhatāmisra, Raurava, Mahāraurava, Kumbhīpāka, Kālasūtra, Asipatravana, Sūkaramukha, Andhakūpa, Kṛmibhojana, Sandaṁśa, Taptasūrmi, Vajrakaṇṭaka-śālmalī, Vaitaraṇī, Pūyoda, Prāṇarodha, Viśasana, Lālābhakṣa, Sārameyādana, Avīci, Ayaḥpāna, Kṣārakardama, Rakṣogaṇa-bhojana, Śūlaprota, Dandaśūka, Avaṭa-nirodhana, Paryāvartana and Sūcīmukha. All these planets are meant for punishing the living entities.

8My dear King, a person who appropriates another's legitimate wife, children or money is arrested at the time of death by the fierce Yamadūtas, who bind him with the rope of time and forcibly throw him into the hellish planet known as Tāmisra. On this very dark planet, the sinful man is chastised by the Yamadūtas, who beat and rebuke him. He is starved, and he is

given no water to drink. Thus the wrathful assistants of Yamarāja cause him severe suffering, and sometimes he faints from their chastisement.

9The destination of a person who slyly cheats another man and enjoys his wife and children is the hell known as Andhatāmisra. There his condition is exactly like that of a tree being chopped at its roots. Even before reaching Andhatāmisra, the sinful living being is subjected to various extreme miseries. These afflictions are so severe that he loses his intelligence and sight. It is for this reason that learned sages call this hell Andhatāmisra.

10A person who accepts his body as his self works very hard day and night for money to maintain his own body and the bodies of his wife and children. While working to maintain himself and his family, he may commit violence against other living entities. Such a person is forced to give up his body and his family at the time of death, when he suffers the reaction for his envy of other creatures by being thrown into the hell called Raurava.

11In this life, an envious person commits violent acts against many living entities. Therefore after his death, when he is taken to hell by Yamarāja, those living entities who were hurt by him appear as animals called rurus to inflict very severe pain upon him. Learned scholars call this hell Raurava. Not generally seen in this world, the ruru is more envious than a snake.

12Punishment in the hell called Mahāraurava is compulsory for a person who maintains his own body by hurting others. In this hell, ruru animals known as kravyāda torment him and eat his flesh.

13For the maintenance of their bodies and the satisfaction of their tongues, cruel persons cook poor animals and birds alive. Such persons are condemned even by man-eaters. In their next lives they are carried by the Yamadūtas to the hell known as Kumbhīpāka, where they are cooked in boiling oil.

14The killer of a brāhmaṇa is put into the hell known as Kālasūtra, which has a circumference of eighty thousand miles and which is made entirely of copper. Heated from below by fire and from above by the scorching sun, the copper surface of this planet is extremely hot. Thus the murderer of a brāhmaṇa suffers from being burned both internally and externally. Internally he is burning with hunger and thirst, and externally he is burning from the scorching heat of the sun and the fire beneath the copper surface. Therefore he sometimes lies down, sometimes sits, sometimes stands up and sometimes runs here and there. He must suffer in this way for as many thousands of years as there are hairs on the body of an animal.

15If a person deviates from the path of the Vedas in the absence of an emergency, the servants of Yamarāja put him into the hell called Asi-patravana, where they beat him with whips. When he runs hither and thither, fleeing from the extreme pain, on all sides he runs into palm trees with leaves like sharpened swords. Thus injured all over his body and fainting at every step, he cries out, “Oh, what shall I do now! How shall I be saved!” This is how one suffers who deviates from the accepted religious principles.

16In his next life, a sinful king or governmental representative who punishes an innocent person, or who inflicts corporal punishment upon a brāhmaṇa, is taken by the Yamadūtas to the hell named Sūkaramukha, where the most powerful assistants of Yamarāja crush him exactly as one crushes sugarcane to squeeze out the juice. The sinful living entity cries very pitiably and faints, just like an innocent man undergoing punishments. This is the result of punishing a faultless person.

17By the arrangement of the Supreme Lord, low-grade living beings like bugs and mosquitoes suck the blood of human beings and other animals. Such insignificant creatures are unaware

that their bites are painful to the human being. However, first-class human beingsbrāhmaṇas, kṣatriyas and vaiśyasare developed in consciousness, and therefore they know how painful it is to be killed. A human being endowed with knowledge certainly commits sin if he kills or torments insignificant creatures, who have no discrimination. The Supreme Lord punishes such a man by putting him into the hell known as Andhakūpa, where he is attacked by all the birds and beasts, reptiles, mosquitoes, lice, worms, flies, and any other creatures he tormented during his life. They attack him from all sides, robbing him of the pleasure of sleep. Unable to rest, he constantly wanders about in the darkness. Thus in Andhakūpa his suffering is just like that of a creature in the lower species.

18A person is considered no better than a crow if after receiving some food, he does not divide it among guests, old men and children, but simply eats it himself, or if he eats it without performing the five kinds of sacrifice. After death he is put into the most abominable hell, known as Kṛmibhojana. In that hell is a lake 100,000 yojanas [800,000 miles] wide and filled with worms. He becomes a worm in that lake and feeds on the other worms there, who also feed on him. Unless he atones for his actions before his death, such a sinful man remains in the hellish lake of Kṛmibhojana for as many years as there are yojanas in the width of the lake.

19My dear King, a person who in the absence of an emergency robs a brāhmaṇaor, indeed, anyone elseof his gems and gold is put into a hell known as Sandaṁśa. There his skin is torn and separated by red-hot iron balls and tongs. In this way, his entire body is cut to pieces.

20A man or woman who indulges in sexual intercourse with an unworthy member of the opposite sex is punished after death by the assistants of Yamarāja in the hell known as Taptasūrmi. There such men and women are beaten with whips. The man is forced to embrace a red-hot iron form of a woman, and the woman is forced to embrace a similar form of a man. Such is the punishment for illicit sex.

21A person who indulges in sex indiscriminatelyeven with animalsis taken after death to the hell known as Vajrakaṇṭaka-śālmalī. In this hell there is a silk-cotton tree full of thorns as strong as thunderbolts. The agents of Yamarāja hang the sinful man on that tree and pull him down forcibly so that the thorns very severely tear his body.

22A person who is born into a responsible familysuch as a kṣatriya, a member of royalty or a government servantbut who neglects to execute his prescribed duties according to religious principles, and who thus becomes degraded, falls down at the time of death into the river of hell known as Vaitaraṇī. This river, which is a moat surrounding hell, is full of ferocious aquatic animals. When a sinful man is thrown into the river Vaitaraṇī, the aquatic animals there immediately begin to eat him, but because of his extremely sinful life, he does not leave his body. He constantly remembers his sinful activities and suffers terribly in that river, which is full of stool, urine, pus, blood, hair, nails, bones, marrow, flesh and fat.

23The shameless husbands of lowborn śūdra women live exactly like animals, and therefore they have no good behavior, cleanliness or regulated life. After death, such persons are thrown into the hell called Pūyoda, where they are put into an ocean filled with pus, stool, urine, mucus, saliva and similar things. Śūdras who could not improve themselves fall into that ocean and are forced to eat those disgusting things.

24If in this life a man of the higher classes [brāhmaṇa, kṣatriya and vaiśya] is very fond of taking his pet dogs, mules or asses into the forest to hunt and kill animals unnecessarily, he is placed after death into the hell known as Prāṇarodha. There the assistants of Yamarāja make him their targets and pierce him with arrows.

25A person who in this life is proud of his eminent position, and who heedlessly sacrifices animals simply for material prestige, is put into the hell called Viśasana after death. There the assistants of Yamarāja kill him after giving him unlimited pain.

26If a foolish member of the twice-born classes [brāhmaṇa, kṣatriya and vaiśya] forces his wife to drink his semen out of a lusty desire to keep her under control, he is put after death into the hell known as Lālābhakṣa. There he is thrown into a flowing river of semen, which he is forced to drink.

27In this world, some persons are professional plunderers who set fire to others' houses or administer poison to them. Also, members of the royalty or government officials sometimes plunder mercantile men by forcing them to pay income tax and by other methods. After death such demons are put into the hell known as Sārameyādana. On that planet there are 720 dogs with teeth as strong as thunderbolts. Under the orders of the agents of Yamarāja, these dogs voraciously devour such sinful people.

28A person who in this life bears false witness or lies while transacting business or giving charity is severely punished after death by the agents of Yamarāja. Such a sinful man is taken to the top of a mountain eight hundred miles high and thrown headfirst into the hell known as Avīcimat. This hell has no shelter and is made of strong stone resembling the waves of water. There is no water there, however, and thus it is called Avīcimat [waterless]. Although the sinful man is repeatedly thrown from the mountain and his body broken to tiny pieces, he still does not die but continuously suffers chastisement.

29Any brāhmaṇa or brāhmaṇa's wife who drinks liquor is taken by the agents of Yamarāja to the hell known as Ayaḥpāna. This hell also awaits any kṣatriya, vaiśya, or person under a vow who in illusion drinks soma-rasa. In Ayaḥpāna the agents of Yamarāja stand on their chests and pour hot melted iron into their mouths.

30A lowborn and abominable person who in this life becomes falsely proud, thinking "I am great," and who thus fails to show proper respect to one more elevated than he by birth, austerity, education, behavior, caste or spiritual order, is like a dead man even in this lifetime, and after death he is thrown headfirst into the hell known as Kṣārakardama. There he must suffer great tribulation at the hands of the agents of Yamarāja.

31There are men and women in this world who sacrifice human beings to Bhairava or Bhadra Kālī and then eat their victims' flesh. Those who perform such sacrifices are taken after death to the abode of Yamarāja, where their victims, having taken the form of Rākṣasas, cut them to pieces with sharpened swords. Just as in this world the man-eaters drank their victims' blood, dancing and singing in jubilation, their victims now enjoy drinking the blood of the sacrificers and celebrating in the same way.

32In this life some people give shelter to animals and birds that come to them for protection in the village or forest, and after making them believe that they will be protected, such people pierce them with lances or threads and play with them like toys, giving them great pain. After death such people are brought by the assistants of Yamarāja to the hell known as Śūlaprota, where their bodies are pierced with sharp, needlelike lances. They suffer from hunger and thirst, and sharp-beaked birds such as vultures and herons come at them from all sides to tear at their bodies. Tortured and suffering, they can then remember the sinful activities they committed in the past.

33Those who in this life are like envious serpents, always angry and giving pain to other living entities, fall after death into the hell known as Dandaśūka. My dear King, in this hell there are

serpents with five or seven hoods. These serpents eat such sinful persons just as snakes eat mice.

34Those who in this life confine other living entities in dark wells, granaries or mountain caves are put after death into the hell known as Avaṭa-nirodhana. There they themselves are pushed into dark wells, where poisonous fumes and smoke suffocate them and they suffer very severely.

35A householder who receives guests or visitors with cruel glances, as if to burn them to ashes, is put into the hell called Paryāvartana, where he is gazed at by hard-eyed vultures, herons, crows and similar birds, which suddenly swoop down and pluck out his eyes with great force.

36One who in this world or this life is very proud of his wealth always thinks, "I am so rich. Who can equal me?" His vision is twisted, and he is always afraid that someone will take his wealth. Indeed, he even suspects his superiors. His face and heart dry up at the thought of losing his wealth, and therefore he always looks like a wretched fiend. He is not in any way able to obtain actual happiness, and he does not know what it is to be free from anxiety. Because of the sinful things he does to earn money, augment his wealth and protect it, he is put into the hell called Sūcīmukha, where the officials of Yamarāja punish him by stitching thread through his entire body like weavers manufacturing cloth.

37My dear King Parīkṣit, in the province of Yamarāja there are hundreds and thousands of hellish planets. The impious people I have mentionedand also those I have not mentionedmust all enter these various planets according to the degree of their impiety. Those who are pious, however, enter other planetary systems, namely the planets of the demigods. Nevertheless, both the pious and impious are again brought to earth after the results of their pious or impious acts are exhausted.

38In the beginning [the second and third Cantos of Śrīmad-Bhāgavatam] I have already described how one can progress on the path of liberation. In the Purāṇas the vast universal existence, which is like an egg divided into fourteen parts, is described. This vast form is considered the external body of the Lord, created by His energy and qualities. It is generally called the virāṭ-rūpa. If one reads the description of this external form of the Lord with great faith, or if one hears about it or explains it to others to propagate bhāgavata-dharma, or Kṛṣṇa consciousness, his faith and devotion in spiritual consciousness, Kṛṣṇa consciousness, will gradually increase. Although developing this consciousness is very difficult, by this process one can purify himself and gradually come to an awareness of the Supreme Absolute Truth.

39One who is interested in liberation, who accepts the path of liberation and is not attracted to the path of conditional life, is called yati, or a devotee. Such a person should first control his mind by thinking of the virāṭ-rūpa, the gigantic universal form of the Lord, and then gradually think of the spiritual form of Kṛṣṇa [sac-cid-ānanda-vigraha] after hearing of both forms. Thus one's mind is fixed in samādhi. By devotional service one can then realize the spiritual form of the Lord, which is the destination of devotees. Thus his life becomes successful.

40My dear King, I have now described for you this planet earth, other planetary systems, and their lands [varṣas], rivers and mountains. I have also described the sky, the oceans, the lower planetary systems, the directions, the hellish planetary systems and the stars. These constitute the virāṭ-rūpa, the gigantic material form of the Lord, on which all living entities repose. Thus I have explained the wonderful expanse of the external body of the Lord.

**Canto 6: Prescribed Duties for Mankind**

## SB 6.1: The History of the Life of Ajāmila

1 Mahārāja Parīkṣit said: O my lord, O Śukadeva Gosvāmī, you have already described [in the Second Canto] the path of liberation [nivṛtti-mārga]. By following that path, one is certainly elevated gradually to the highest planetary system, Brahmaloka, from which one is promoted to the spiritual world along with Lord Brahmā. Thus one's repetition of birth and death in the material world ceases.

2O great sage Śukadeva Gosvāmī, unless the living entity is freed from the infection of the material modes of nature, he receives different types of bodies in which to enjoy or suffer, and according to the body, he is understood to have various inclinations. By following these inclinations he traverses the path called pravṛtti-mārga, by which one may be elevated to the heavenly planets, as you have already described [in the Third Canto].

3You have also described [at the end of the Fifth Canto] the varieties of hellish life that result from impious activities, and you have described [in the Fourth Canto] the first manvantara, which was presided over by Svāyambhuva Manu, the son of Lord Brahmā.

4-5My dear lord, you have described the dynasties and characteristics of King Priyavrata and King Uttānapāda. The Supreme Personality of Godhead created this material world with various universes, planetary systems, planets and stars, with varied lands, seas, oceans, mountains, rivers, gardens and trees, all with different characteristics. These are divided among this planet earth, the luminaries in the sky and the lower planetary systems. You have very clearly described these planets and the living entities who live on them.

6O greatly fortunate and opulent Śukadeva Gosvāmī, now kindly tell me how human beings may be saved from having to enter hellish conditions in which they suffer terrible pains.

7Śukadeva Gosvāmī replied: My dear King, if before one's next death whatever impious acts one has performed in this life with his mind, words and body are not counteracted through proper atonement according to the description of the Manu-saṁhitā and other dharma-śāstras, one will certainly enter the hellish planets after death and undergo terrible suffering, as I have previously described to you.

8Therefore, before one's next death comes, as long as one's body is strong enough, one should quickly adopt the process of atonement according to śāstra; otherwise one's time will be lost, and the reactions of his sins will increase. As an expert physician diagnoses and treats a disease according to its gravity, one should undergo atonement according to the severity of one's sins.

9Mahārāja Parīkṣit said: One may know that sinful activity is injurious for him because he actually sees that a criminal is punished by the government and rebuked by people in general and because he hears from scriptures and learned scholars that one is thrown into hellish conditions in the next life for committing sinful acts. Nevertheless, in spite of such knowledge, one is forced to commit sins again and again, even after performing acts of atonement. Therefore, what is the value of such atonement?

10Sometimes one who is very alert so as not to commit sinful acts is victimized by sinful life again. I therefore consider this process of repeated sinning and atoning to be useless. It is like the bathing of an elephant, for an elephant cleanses itself by taking a full bath, but then throws dust over its head and body as soon as it returns to the land.

11Śukadeva Gosvāmī, the son of Vedavyāsa, answered: My dear King, since acts meant to neutralize impious actions are also fruitive, they will not release one from the tendency to act fruitively. Persons who subject themselves to the rules and regulations of atonement are not at

all intelligent. Indeed, they are in the mode of darkness. Unless one is freed from the mode of ignorance, trying to counteract one action through another is useless because this will not uproot one's desires. Thus even though one may superficially seem pious, he will undoubtedly be prone to act impiously. Therefore real atonement is enlightenment in perfect knowledge, Vedānta, by which one understands the Supreme Absolute Truth.

12My dear King, if a diseased person eats the pure, uncontaminated food prescribed by a physician, he is gradually cured, and the infection of disease can no longer touch him. Similarly, if one follows the regulative principles of knowledge, he gradually progresses toward liberation from material contamination.

13-14To concentrate the mind, one must observe a life of celibacy and not fall down. One must undergo the austerity of voluntarily giving up sense enjoyment. One must then control the mind and senses, give charity, be truthful, clean and nonviolent, follow the regulative principles and regularly chant the holy name of the Lord. Thus a sober and faithful person who knows the religious principles is temporarily purified of all sins performed with his body, words and mind. These sins are like the dried leaves of creepers beneath a bamboo tree, which may be burned by fire although their roots remain to grow again at the first opportunity.

15Only a rare person who has adopted complete, unalloyed devotional service to Kṛṣṇa can uproot the weeds of sinful actions with no possibility that they will revive. He can do this simply by discharging devotional service, just as the sun can immediately dissipate fog by its rays.

16My dear King, if a sinful person engages in the service of a bona fide devotee of the Lord and thus learns how to dedicate his life unto the lotus feet of Kṛṣṇa, he can be completely purified. One cannot be purified merely by undergoing austerity, penance, brahmacarya and the other methods of atonement I have previously described.

17The path followed by pure devotees, who are well-behaved and fully endowed with the best qualifications, is certainly the most auspicious path in this material world. It is free from fear, and it is authorized by the śāstras.

18My dear King, as a pot containing liquor cannot be purified even if washed in the waters of many rivers, nondevotees cannot be purified by processes of atonement even if they perform them very well.

19Although not having fully realized Kṛṣṇa, persons who have even once surrendered completely unto His lotus feet and who have become attracted to His name, form, qualities and pastimes are completely freed of all sinful reactions, for they have thus accepted the true method of atonement. Even in dreams, such surrendered souls do not see Yamarāja or his order carriers, who are equipped with ropes to bind the sinful.

20In this regard, learned scholars and saintly persons describe a very old historical incident involving a discussion between the order carriers of Lord Viṣṇu and those of Yamarāja. Please hear of this from me.

21In the city known as Kānyakubja there was a brāhmaṇa named Ajāmila who married a prostitute maidservant and lost all his brahminical qualities because of the association of that low-class woman.

22This fallen brāhmaṇa, Ajāmila, gave trouble to others by arresting them, by cheating them in gambling or by directly plundering them. This was the way he earned his livelihood and maintained his wife and children.

23My dear King, while he thus spent his time in abominable, sinful activities to maintain his family of many sons, eighty-eight years of his life passed by.

24That old man Ajāmila had ten sons, of whom the youngest was a baby named Nārāyaṇa. Since Nārāyaṇa was the youngest of all the sons, he was naturally very dear to both his father and his mother.

25Because of the child's broken language and awkward movements, old Ajāmila was very much attached to him. He always took care of the child and enjoyed the child's activities.

26When Ajāmila chewed food and ate it, he called the child to chew and eat, and when he drank he called the child to drink also. Always engaged in taking care of the child and calling his name, Nārāyaṇa, Ajāmila could not understand that his own time was now exhausted and that death was upon him.

27When the time of death arrived for the foolish Ajāmila, he began thinking exclusively of his son Nārāyaṇa.

28-29Ajāmila then saw three awkward persons with deformed bodily features, fierce, twisted faces, and hair standing erect on their bodies. With ropes in their hands, they had come to take him away to the abode of Yamarāja. When he saw them he was extremely bewildered, and because of attachment to his child, who was playing a short distance away, Ajāmila began to call him loudly by his name. Thus with tears in his eyes he somehow or other chanted the holy name of Nārāyaṇa.

30My dear King, the order carriers of Viṣṇu, the Viṣṇudūtas, immediately arrived when they heard the holy name of their master from the mouth of the dying Ajāmila, who had certainly chanted without offense because he had chanted in complete anxiety.

31The order carriers of Yamarāja were snatching the soul from the core of the heart of Ajāmila, the husband of the prostitute, but with resounding voices the messengers of Lord Viṣṇu, the Viṣṇudūtas, forbade them to do so.

32When the order carriers of Yamarāja, the son of the sun-god, were thus forbidden, they replied: Who are you, sirs, that have the audacity to challenge the jurisdiction of Yamarāja?

33Dear sirs, whose servants are you, where have you come from, and why are you forbidding us to touch the body of Ajāmila? Are you demigods from the heavenly planets, are you sub-demigods, or are you the best of devotees?

34-36The order carriers of Yamarāja said: Your eyes are just like the petals of lotus flowers. Dressed in yellow silken garments, decorated with garlands of lotuses, and wearing very attractive helmets on your heads and earrings on your ears, you all appear fresh and youthful. Your four long arms are decorated with bows and quivers of arrows and with swords, clubs, conchshells, discs and lotus flowers. Your effulgence has dissipated the darkness of this place with extraordinary illumination. Now, sirs, why are you obstructing us?

37Śukadeva Gosvāmī continued: Being thus addressed by the messengers of Yamarāja, the servants of Vāsudeva smiled and spoke the following words in voices as deep as the sound of rumbling clouds.

38The blessed messengers of Lord Viṣṇu, the Viṣṇudūtas, said: If you are actually servants of Yamarāja, you must explain to us the meaning of religious principles and the symptoms of irreligion.

39What is the process of punishing others? Who are the actual candidates for punishment? Are all karmīs engaged in fruitive activities punishable, or only some of them?

40The Yamadūtas replied: That which is prescribed in the Vedas constitutes dharma, the religious principles, and the opposite of that is irreligion. The Vedas are directly the Supreme Personality of Godhead, Nārāyaṇa, and are self-born. This we have heard from Yamarāja.

41The supreme cause of all causes, Nārāyaṇa, is situated in His own abode in the spiritual world, but nevertheless He controls the entire cosmic manifestation according to the three modes of material naturesattva-guṇa, rajo-guṇa and tamo-guṇa. In this way all living entities are awarded different qualities, different names [such as brāhmaṇa, kṣatriya and vaiśya], different duties according to the varṇāśrama institution, and different forms. Thus Nārāyaṇa is the cause of the entire cosmic manifestation.

42The sun, fire, sky, air, demigods, moon, evening, day, night, directions, water, land and Supersoul Himself all witness the activities of the living entity.

43The candidates for punishment are those who are confirmed by these many witnesses to have deviated from their prescribed regulative duties. Everyone engaged in fruitive activities is suitable to be subjected to punishment according to his sinful acts.

44O inhabitants of Vaikuṇṭha, you are sinless, but those within this material world are all karmīs, whether acting piously or impiously. Both kinds of action are possible for them because they are contaminated by the three modes of nature and must act accordingly. One who has accepted a material body cannot be inactive, and sinful action is inevitable for one acting under the modes of material nature. Therefore all the living entities within this material world are punishable.

45In proportion to the extent of one's religious or irreligious actions in this life, one must enjoy or suffer the corresponding reactions of his karma in the next.

46O best of the demigods, we can see three different varieties of life, which are due to the contamination of the three modes of nature. The living entities are thus known as peaceful, restless and foolish; as happy, unhappy or in-between; or as religious, irreligious and semireligious. We can deduce that in the next life these three kinds of material nature will similarly act.

47Just as springtime in the present indicates the nature of springtimes in the past and future, so this life of happiness, distress or a mixture of both gives evidence concerning the religious and irreligious activities of one's past and future lives.

48The omnipotent Yamarāja is as good as Lord Brahmā, for while situated in his own abode or in everyone's heart like the Paramātmā, he mentally observes the past activities of a living entity and thus understands how the living entity will act in future lives.

49As a sleeping person acts according to the body manifested in his dreams and accepts it to be himself, so one identifies with his present body, which he acquired because of his past religious or irreligious actions, and is unable to know his past or future lives.

50Above the five senses of perception, the five working senses and the five objects of the senses is the mind, which is the sixteenth element. Above the mind is the seventeenth element, the soul, the living being himself, who, in cooperation with the other sixteen, enjoys the material world alone. The living being enjoys three kinds of situations, namely happy, distressful and mixed.

51The subtle body is endowed with sixteen partsthe five knowledge-acquiring senses, the five working senses, the five objects of sense gratification, and the mind. This subtle body is an effect of the three modes of material nature. It is composed of insurmountably strong desires, and therefore it causes the living entity to transmigrate from one body to another in human life, animal life and life as a demigod. When the living entity gets the body of a demigod, he is certainly very jubilant, when he gets a human body he is always in lamentation, and when he gets the body of an animal, he is always afraid. In all conditions, however, he is actually miserable. His miserable condition is called saṁsṛti, or transmigration in material life.

52The foolish embodied living entity, inept at controlling his senses and mind, is forced to act according to the influence of the modes of material nature, against his desires. He is like a silkworm that uses its own saliva to create a cocoon and then becomes trapped in it, with no possibility of getting out. The living entity traps himself in a network of his own fruitive activities and then can find no way to release himself. Thus he is always bewildered, and repeatedly he dies.

53Not a single living entity can remain unengaged even for a moment. One must act by his natural tendency according to the three modes of material nature because this natural tendency forcibly makes him work in a particular way.

54The fruitive activities a living being performs, whether pious or impious, are the unseen cause for the fulfillment of his desires. This unseen cause is the root for the living entity's different bodies. Because of his intense desire, the living entity takes birth in a particular family and receives a body which is either like that of his mother or like that of his father. The gross and subtle bodies are created according to his desire.

55Since the living entity is associated with material nature, he is in an awkward position, but if in the human form of life he is taught how to associate with the Supreme Personality of Godhead or His devotee, this position can be overcome.

56-57In the beginning this brāhmaṇa named Ajāmila studied all the Vedic literatures. He was a reservoir of good character, good conduct and good qualities. Firmly established in executing all the Vedic injunctions, he was very mild and gentle, and he kept his mind and senses under control. Furthermore, he was always truthful, he knew how to chant the Vedic mantras, and he was also very pure. Ajāmila was very respectful to his spiritual master, the fire-god, guests, and the elderly members of his household. Indeed, he was free from false prestige. He was upright, benevolent to all living entities, and well-behaved. He would never speak nonsense or envy anyone.

58-60Once this brāhmaṇa Ajāmila, following the order of his father, went to the forest to collect fruit, flowers and two kinds of grass, called samit and kuśa. On the way home, he came upon a śūdra, a very lusty, fourth-class man, who was shamelessly embracing and kissing a prostitute. The śūdra was smiling, singing and enjoying as if this were proper behavior. Both the śūdra and the prostitute were drunk. The prostitute's eyes were rolling in intoxication, and her dress had become loose. Such was the condition in which Ajāmila saw them.

61The śūdra, his arm decorated with turmeric powder, was embracing the prostitute. When Ajāmila saw her, the dormant lusty desires in his heart awakened, and in illusion he fell under their control.

62As far as possible he patiently tried to remember the instructions of the śāstras not even to see a woman. With the help of this knowledge and his intellect, he tried to control his lusty desires, but because of the force of Cupid within his heart, he failed to control his mind.

63In the same way that the sun and moon are eclipsed by a low planet, the brāhmaṇa lost all his good sense. Taking advantage of this situation, he always thought of the prostitute, and within a short time he took her as a servant in his house and abandoned all the regulative principles of a brāhmaṇa.

64Thus Ajāmila began spending whatever money he had inherited from his father to satisfy the prostitute with various material presentations so that she would remain pleased with him. He gave up all his brahminical activities to satisfy the prostitute.

65Because his intelligence was pierced by the lustful glance of the prostitute, the victimized brāhmaṇa Ajāmila engaged in sinful acts in her association. He even gave up the company of his very beautiful young wife, who came from a very respectable brāhmaṇa family.

66Although born of a brāhmaṇa family, this rascal, bereft of intelligence because of the prostitute's association, earned money somehow or other, regardless of whether properly or improperly, and used it to maintain the prostitute's sons and daughters.

67This brāhmaṇa irresponsibly spent his long lifetime transgressing all the rules and regulations of the holy scripture, living extravagantly and eating food prepared by a prostitute. Therefore he is full of sins. He is unclean and is addicted to forbidden activities.

68This man Ajāmila did not undergo atonement. Therefore because of his sinful life, we must take him into the presence of Yamarāja for punishment. There, according to the extent of his sinful acts, he will be punished and thus purified.

### SB 6.2: Ajāmila Delivered by the Viṣṇudūtas

In this chapter the messengers from Vaikuṇṭha explain to the Yamadūtas the glories of chanting the holy name of the Lord. The Viṣṇudūtas said, "Now impious acts are being performed even in an assembly of devotees, for a person who is not punishable is going to be punished in the assembly of Yamarāja. The mass of people are helpless and must depend upon the government for their safety and security, but if the government takes advantage of this to harm the citizens, where will they go? We see perfectly that Ajāmila should not be punished, although you are attempting to take him to Yamarāja for punishment."

It was due to Ajāmila's glorifying the holy name of the Supreme Lord that he was not punishable. The Viṣṇudūtas explained this as follows: "Simply by once chanting the holy name of Nārāyaṇa, this *brāhmaṇa* has become free from the reactions of sinful life. Indeed, he has been freed not only from the sins of this life, but from the sins of many, many thousands of other lives. He has already undergone true atonement for all his sinful actions. If one atones according to the directions of the *śāstras,* one does not actually become free from sinful reactions, but if one chants the holy name of the Lord, even a glimpse of such chanting can immediately free one from all sins. Chanting the glories of the Lord's holy name awakens all good fortune. Therefore there is no doubt that Ajāmila, being completely free from all sinful reactions, should not be punished by Yamarāja."

As they were saying this, the Viṣṇudūtas released Ajāmila from the ropes of the Yamadūtas and left for their own abode. The *brāhmaṇa* Ajāmila, however, offered his respectful obeisances to the Viṣṇudūtas. He could understand how fortunate he was to have chanted the holy name of Nārāyaṇa at the end of his life. Indeed, he could realize the full significance of this good fortune. Having thoroughly understood the discussion between the Yamadūtas and the Viṣṇudūtas, he became a pure devotee of the Supreme Personality of Godhead. He lamented very much for how very sinful he had been, and he condemned himself again and again.

Finally, because of his association with the Viṣṇudūtas, Ajāmila, his original consciousness aroused, gave up everything and went to Hardwar, where he engaged in devotional service without deviation, always thinking of the Supreme Personality of Godhead. Thus the Viṣṇudūtas went there, seated him on a golden throne and took him away to Vaikuṇṭhaloka.

In summary, although the sinful Ajāmila meant to call his son, the holy name of Lord Nārāyaṇa, even though chanted in the preliminary stage, *nāmābhāsa,* was able to give him liberation. Therefore one who chants the holy name of the Lord with faith and devotion is certainly exalted. He is protected even in his material, conditional life.

1Śukadeva Gosvāmī said: My dear King, the servants of Lord Viṣṇu are always very expert in logic and arguments. After hearing the statements of the Yamadūtas, they replied as follows.

2The Viṣṇudūtas said: Alas, how painful it is that irreligion is being introduced into an assembly where religion should be maintained. Indeed, those in charge of maintaining the religious principles are needlessly punishing a sinless, unpunishable person.

3A king or governmental official should be so well qualified that he acts as a father, maintainer and protector of the citizens because of affection and love. He should give the citizens good advice and instructions according to the standard scriptures and should be equal to everyone. Yamarāja does this, for he is the supreme master of justice, and so do those who follow in his footsteps. However, if such persons become polluted and exhibit partiality by punishing an innocent, blameless person, where will the citizens go to take shelter for their maintenance and security?

4The mass of people follow the example of a leader in society and imitate his behavior. They accept as evidence whatever the leader accepts.

5-6People in general are not very advanced in knowledge by which to discriminate between religion and irreligion. The innocent, unenlightened citizen is like an ignorant animal sleeping in peace with its head on the lap of its master, faithfully believing in the master's protection. If a leader is actually kindhearted and deserves to be the object of a living entity's faith, how can he punish or kill a foolish person who has fully surrendered in good faith and friendship?

7Ajāmila has already atoned for all his sinful actions. Indeed, he has atoned not only for sins performed in one life but for those performed in millions of lives, for in a helpless condition he chanted the holy name of Nārāyaṇa. Even though he did not chant purely, he chanted without offense, and therefore he is now pure and eligible for liberation.

8The Viṣṇudūtas continued: Even previously, while eating and at other times, this Ajāmila would call his son, saying, "My dear Nārāyaṇa, please come here." Although calling the name of his son, he nevertheless uttered the four syllables nā-rā-ya-ṇa. Simply by chanting the name of Nārāyaṇa in this way, he sufficiently atoned for the sinful reactions of millions of lives.

9-10The chanting of the holy name of Lord Viṣṇu is the best process of atonement for a thief of gold or other valuables, for a drunkard, for one who betrays a friend or relative, for one who kills a brāhmaṇa, or for one who indulges in sex with the wife of his guru or another superior. It is also the best method of atonement for one who murders women, the king or his father, for one who slaughters cows, and for all other sinful men. Simply by chanting the holy name of Lord Viṣṇu, such sinful persons may attract the attention of the Supreme Lord, who therefore considers, "Because this man has chanted My holy name, My duty is to give him protection."

11By following the Vedic ritualistic ceremonies or undergoing atonement, sinful men do not become as purified as by chanting once the holy name of Lord Hari. Although ritualistic

atonement may free one from sinful reactions, it does not awaken devotional service, unlike the chanting of the Lord's names, which reminds one of the Lord's fame, qualities, attributes, pastimes and paraphernalia.

12The ritualistic ceremonies of atonement recommended in the religious scriptures are insufficient to cleanse the heart absolutely because after atonement one's mind again runs toward material activities. Consequently, for one who wants liberation from the fruitive reactions of material activities, the chanting of the Hare Kṛṣṇa mantra, or glorification of the name, fame and pastimes of the Lord, is recommended as the most perfect process of atonement because such chanting eradicates the dirt from one's heart completely.

13At the time of death, this Ajāmila helplessly and very loudly chanted the holy name of the Lord, Nārāyaṇa. That chanting alone has already freed him from the reactions of all sinful life. Therefore, O servants of Yamarāja, do not try to take him to your master for punishment in hellish conditions.

14One who chants the holy name of the Lord is immediately freed from the reactions of unlimited sins, even if he chants indirectly [to indicate something else], jokingly, for musical entertainment, or even neglectfully. This is accepted by all the learned scholars of the scriptures.

15If one chants the holy name of Hari and then dies because of an accidental misfortune, such as falling from the top of a house, slipping and suffering broken bones while traveling on the road, being bitten by a serpent, being afflicted with pain and high fever, or being injured by a weapon, one is immediately absolved from having to enter hellish life, even though he is sinful.

16Authorities who are learned scholars and sages have carefully ascertained that one should atone for the heaviest sins by undergoing a heavy process of atonement and one should atone for lighter sins by undergoing lighter atonement. Chanting the Hare Kṛṣṇa mantra, however, vanquishes all the effects of sinful activities, regardless of whether heavy or light.

17Although one may neutralize the reactions of sinful life through austerity, charity, vows and other such methods, these pious activities cannot uproot the material desires in one's heart. However, if one serves the lotus feet of the Personality of Godhead, he is immediately freed from all such contaminations.

18As a fire burns dry grass to ashes, so the holy name of the Lord, whether chanted knowingly or unknowingly, burns to ashes, without fail, all the reactions of one's sinful activities.

19If a person unaware of the effective potency of a certain medicine takes that medicine or is forced to take it, it will act even without his knowledge because its potency does not depend on the patient's understanding. Similarly, even though one does not know the value of chanting the holy name of the Lord, if one chants knowingly or unknowingly, the chanting will be very effective.

20ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: My dear King, having thus perfectly judged the principles of devotional service with reasoning and arguments, the order carriers of Lord Viṣṇu released the brāhmaṇa Ajāmila from the bondage of the Yamadūtas and saved him from imminent death.

21My dear Mahārāja Parīkṣit, O subduer of all enemies, after the servants of Yamarāja had been answered by the order carriers of Lord Viṣṇu, they went to Yamarāja and explained to him everything that had happened.

22Having been released from the nooses of Yamarāja's servants, the brāhmaṇa Ajāmila, now free from fear, came to his senses and immediately offered obeisances to the Viṣṇudūtas by bowing his head at their lotus feet. He was extremely pleased by their presence, for he had seen them save his life from the hands of the servants of Yamarāja.

23O sinless Mahārāja Parīkṣit, the order carriers of the Supreme Personality of Godhead, the Viṣṇudūtas, saw that Ajāmila was attempting to say something, and thus they suddenly disappeared from his presence.

24-25After hearing the discourses between the Yamadūtas and the Viṣṇudūtas, Ajāmila could understand the religious principles that act under the three modes of material nature. These principles are mentioned in the three Vedas. He could also understand the transcendental religious principles, which are above the modes of material nature and which concern the relationship between the living being and the Supreme Personality of Godhead. Furthermore, Ajāmila heard glorification of the name, fame, qualities and pastimes of the Supreme Personality of Godhead. He thus became a perfectly pure devotee. He could then remember his past sinful activities, which he greatly regretted having performed.

26Ajāmila said: Alas, being a servant of my senses, how degraded I became! I fell down from my position as a duly qualified brāhmaṇa and begot children in the womb of a prostitute.

27Alas, all condemnation upon me! I acted so sinfully that I degraded my family tradition. Indeed, I gave up my chaste and beautiful young wife to have sexual intercourse with a fallen prostitute accustomed to drinking wine. All condemnation upon me!

28My father and mother were old and had no other son or friend to look after them. Because I did not take care of them, they lived with great difficulty. Alas, like an abominable lower-class man, I ungratefully left them in that condition.

29It is now clear that as a consequence of such activities, a sinful person like me must be thrown into hellish conditions meant for those who have broken religious principles and must there suffer extreme miseries.

30Was this a dream I saw, or was it reality? I saw fearsome men with ropes in their hands coming to arrest me and drag me away. Where have they gone?

31And where have those four liberated and very beautiful persons gone who released me from arrest and saved me from being dragged down to the hellish regions?

32I am certainly most abominable and unfortunate to have merged in an ocean of sinful activities, but nevertheless, because of my previous spiritual activities, I could see those four exalted personalities who came to rescue me. Now I feel exceedingly happy because of their visit.

33Were it not for my past devotional service, how could I, a most unclean keeper of a prostitute, have gotten an opportunity to chant the holy name of Vaikuṇṭhapati when I was just ready to die? Certainly it could not have been possible.

34Ajāmila continued: I am a shameless cheater who has killed his brahminical culture. Indeed, I am sin personified. Where am I in comparison to the all-auspicious chanting of the holy name of Lord Nārāyaṇa?

35I am such a sinful person, but since I have now gotten this opportunity, I must completely control my mind, life and senses and always engage in devotional service so that I may not fall

again into the deep darkness and ignorance of material life.

36-37Because of identifying oneself with the body, one is subjected to desires for sense gratification, and thus one engages in many different types of pious and impious action. This is what constitutes material bondage. Now I shall disentangle myself from my material bondage, which has been caused by the Supreme Personality of Godhead's illusory energy in the form of a woman. Being a most fallen soul, I was victimized by the illusory energy and have become like a dancing dog led around by a woman's hand. Now I shall give up all lusty desires and free myself from this illusion. I shall become a merciful, well-wishing friend to all living entities and always absorb myself in Kṛṣṇa consciousness.

38Simply because I chanted the holy name of the Lord in the association of devotees, my heart is now becoming purified. Therefore I shall not fall victim again to the false lures of material sense gratification. Now that I have become fixed in the Absolute Truth, henceforward I shall not identify myself with the body. I shall give up false conceptions of "I" and "mine" and fix my mind on the lotus feet of Kṛṣṇa.

39Because of a moment's association with devotees [the Viṣṇudūtas], Ajāmila detached himself from the material conception of life with determination. Thus freed from all material attraction, he immediately started for Hardwar.

40In Hardwar, Ajāmila took shelter at a Viṣṇu temple, where he executed the process of bhakti-yoga. He controlled his senses and fully applied his mind in the service of the Lord.

41Ajāmila fully engaged in devotional service. Thus he detached his mind from the process of sense gratification and became fully absorbed in thinking of the form of the Lord.

42When his intelligence and mind were fixed upon the form of the Lord, the brāhmaṇa Ajāmila once again saw before him four celestial persons. He could understand that they were those he had seen previously, and thus he offered them his obeisances by bowing down before them.

43Upon seeing the Viṣṇudūtas, Ajāmila gave up his material body at Hardwar on the bank of the Ganges. He regained his original spiritual body, which was a body appropriate for an associate of the Lord.

44Accompanied by the order carriers of Lord Viṣṇu, Ajāmila boarded an airplane made of gold. Passing through the airways, he went directly to the abode of Lord Viṣṇu, the husband of the goddess of fortune.

45Ajāmila was a brāhmaṇa who because of bad association had given up all brahminical culture and religious principles. Becoming most fallen, he stole, drank and performed other abominable acts. He even kept a prostitute. Thus he was destined to be carried away to hell by the order carriers of Yamarāja, but he was immediately rescued simply by a glimpse of the chanting of the holy name Nārāyaṇa.

46Therefore one who desires freedom from material bondage should adopt the process of chanting and glorifying the name, fame, form and pastimes of the Supreme Personality of Godhead, at whose feet all the holy places stand. One cannot derive the proper benefit from other methods, such as pious atonement, speculative knowledge and meditation in mystic yoga, because even after following such methods one takes to fruitive activities again, unable to control his mind, which is contaminated by the base qualities of nature, namely passion and ignorance.

47-48Because this very confidential historical narration has the potency to vanquish all sinful

reactions, one who hears or describes it with faith and devotion is no longer doomed to hellish life, regardless of his having a material body and regardless of how sinful he may have been. Indeed, the Yamadūtas, who carry out the orders of Yamarāja, do not approach him even to see him. After giving up his body, he returns home, back to Godhead, where he is very respectfully received and worshiped.

49While suffering at the time of death, Ajāmila chanted the holy name of the Lord, and although the chanting was directed toward his son, he nevertheless returned home, back to Godhead. Therefore if one faithfully and inoffensively chants the holy name of the Lord, where is the doubt that he will return to Godhead?

**SB 6.3: Yamarāja Instructs His Messengers**

As related in this chapter, the Yamadūtas approached Yamarāja, who very exhaustively explained *bhāgavata-dharma,* the religious principle of devotional service. Yamarāja thus satisfied the Yamadūtas, who had been very disappointed. Yamarāja said, "Although Ajāmila was calling for his son, he chanted the holy name of the Lord, Nārāyaṇa, and simply by a glimpse of the chanting of the holy name, he immediately achieved the association of Lord Viṣṇu's order carriers, who saved him from your attempt to arrest him. This is quite all right. It is a fact that even a chronically sinful person who chants the holy name of the Lord, although not completely without offenses, does not take another material birth."

By chanting the holy name of the Lord, Ajāmila had met four order carriers of Lord Viṣṇu. They were very beautiful and had quickly come to rescue him. Yamarāja now described them. "The Viṣṇudūtas are all pure devotees of the Lord, the Supreme Person in regard to the creation, maintenance and annihilation of this cosmic manifestation. Neither King Indra, Varuṇa, Śiva, Brahmā, the seven *ṛṣis* nor I myself can understand the transcendental activities of the Supreme Lord, who is self-sufficient and beyond the reach of the material senses. With material senses, no one can attain enlightenment about Him. The Lord, the master of the illusory energy, possesses transcendental qualities for the good fortune of everyone, and His devotees are also qualified in that way. The devotees, concerned only with rescuing the fallen souls from this material world, apparently take birth in different places in the material world just to save the conditioned souls. If one is somewhat interested in spiritual life, the devotees of the Lord protect him in many ways."

Yamarāja continued, "The essence of *sanātana-dharma,* or eternal religion, is extremely confidential. No one but the Lord Himself can deliver that confidential religious system to human society. It is by the mercy of the Lord that the transcendental system of religion can be understood by His pure devotees, and specifically by the twelve *mahājanas*Lord Brahmā, Nārada Muni, Lord Śiva, the Kumāras, Kapila, Manu, Prahlāda, Janaka, Bhīṣma, Bali, Śukadeva Gosvāmī and me. Other learned scholars, headed by Jaimini, are almost always covered by the illusory energy, and therefore they are more or less attracted by the flowery language of the three *Vedas,* namely *Ṛg, Yajur* and *Sāma,* which are called *trayī*. Instead of becoming pure devotees, people captivated by the flowery words of these three *Vedas* are interested in the Vedic ritualistic ceremonies. They cannot understand the glories of chanting the holy name of the Lord. Intelligent persons, however, take to the devotional service of the Lord. When they chant the holy name of the Lord without offenses, they are no longer subject to my rulings. If by chance they commit some sinful act, they are protected by the holy name of the Lord because that is where their interest lies. The four weapons of the Lord, especially the club and the Sudarśana *cakra,* always protect the devotees. One who chants, hears or remembers the holy name of the Lord without duplicity, or who prays or offers obeisances to the Lord, becomes perfect, whereas even a learned person may be called to hell if he is bereft of

devotional service."

After Yamarāja thus described the glories of the Lord and His devotees, Śukadeva Gosvāmī further explained the potency of chanting the holy name and the futility of performing Vedic ritualistic ceremonies and pious activities for atonement.

1King Parīkṣit said: O my lord, O Śukadeva Gosvāmī, Yamarāja is the controller of all living entities in terms of their religious and irreligious activities, but his order had been foiled. When his servants, the Yamadūtas, informed him of their defeat by the Viṣṇudūtas, who had stopped them from arresting Ajāmila, what did he reply?

2O great sage, never before has it been heard anywhere that an order from Yamarāja has been baffled. Therefore I think that people will have doubts about this that no one but you can eradicate. Since that is my firm conviction, kindly explain the reasons for these events.

3ŚrīŚukadeva Gosvāmī replied: My dear King, when the order carriers of Yamarāja were baffled and defeated by the order carriers of Viṣṇu, they approached their master, the controller of Saṁyamanī-purī and master of sinful persons, to tell him of this incident.

4The Yamadūtas said: Our dear lord, how many controllers or rulers are there in this material world? How many causes are responsible for manifesting the various results of activities performed under the three modes of material nature [sattva-guṇa, rajo-guṇa and tamo-guṇa]?

5If in this universe there are many rulers and justices who disagree about punishment and reward, their contradictory actions will neutralize each other, and no one will be punished or rewarded. Otherwise, if their contradictory acts fail to neutralize each other, everyone will have to be both punished and rewarded.

6The Yamadūtas continued: Since there are many different karmīs, or workers, there may be different judges or rulers to give them justice, but just as one central emperor controls different departmental rulers, there must be one supreme controller to guide all the judges.

7The supreme judge must be one, not many. It was our understanding that you are that supreme judge and that you have jurisdiction even over the demigods. Our impression was that you are the master of all living entities, the supreme authority who discriminates between the pious and impious activities of all human beings.

8But now we see that the punishment ordained under your authority is no longer effective, since your order has been transgressed by four wonderful and perfect persons.

9We were bringing the most sinful Ajāmila toward the hellish planets, following your order, when those beautiful persons from Siddhaloka forcibly cut the knots of the ropes with which we were arresting him.

10As soon as the sinful Ajāmila uttered the name Nārāyaṇa, these four beautiful men immediately arrived and reassured him, saying, "Do not fear. Do not fear." We wish to know about them from Your Lordship. If you think we are able to understand them, kindly describe who they are.

11ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: Thus having been questioned, Lord Yamarāja, the supreme controller of the living entities, was very pleased with his order carriers because of hearing from them the holy name of Nārāyaṇa. He remembered the lotus feet of the Lord and began to reply.

12Yamarāja said: My dear servants, you have accepted me as the Supreme, but factually I am not. Above me, and above all the other demigods, including Indra and Candra, is the one supreme master and controller. The partial manifestations of His personality are Brahmā, Viṣṇu and Śiva, who are in charge of the creation, maintenance and annihilation of this universe. He is like the two threads that form the length and breadth of a woven cloth. The entire world is controlled by Him just as a bull is controlled by a rope in its nose.

13Just as the driver of a bullock cart ties ropes through the nostrils of his bulls to control them, the Supreme Personality of Godhead binds all men through the ropes of His words in the Vedas, which set forth the names and activities of the distinct orders of human society [brāhmaṇa, kṣatriya, vaiśya and śūdra]. In fear, the members of these orders all worship the Supreme Lord by offering Him presentations according to their respective activities.

14-15I, Yamarāja; Indra, the King of heaven; Nirṛti; Varuṇa; Candra, the moon-god; Agni; Lord Śiva; Pavana; Lord Brahmā; Sūrya, the sun-god; Viśvāsu; the eight Vasus; the Sādhyas; the Maruts; the Rudras; the Siddhas; and Marīci and the other great ṛṣis engaged in maintaining the departmental affairs of the universe, as well as the best of the demigods headed by Bṛhaspati, and the great sages headed by Bhṛgu are all certainly freed from the influence of the two base material modes of nature, namely passion and ignorance. Nevertheless, although we are in the mode of goodness, we cannot understand the activities of the Supreme Personality of Godhead. What, then, is to be said of others, who, under illusion, merely speculate to know God?

16As the different limbs of the body cannot see the eyes, the living entities cannot see the Supreme Lord, who is situated as the Supersoul in everyone's heart. Not by the senses, by the mind, by the life air, by thoughts within the heart, or by the vibration of words can the living entities ascertain the real situation of the Supreme Lord.

17The Supreme Personality of Godhead is self-sufficient and fully independent. He is the master of everyone and everything, including the illusory energy. He has His form, qualities and features; and similarly His order carriers, the Vaiṣṇavas, who are very beautiful, possess bodily features, transcendental qualities and a transcendental nature almost like His. They always wander within this world with full independence.

18The order carriers of Lord Viṣṇu, who are worshiped even by the demigods, possess wonderful bodily features exactly like those of Viṣṇu and are very rarely seen. The Viṣṇudūtas protect the devotees of the Lord from the hands of enemies, from envious persons and even from my jurisdiction, as well as from natural disturbances.

19Real religious principles are enacted by the Supreme Personality of Godhead. Although fully situated in the mode of goodness, even the great ṛṣis who occupy the topmost planets cannot ascertain the real religious principles, nor can the demigods or the leaders of Siddhaloka, to say nothing of the asuras, ordinary human beings, Vidyādharas and Cāraṇas.

20-21Lord Brahmā, Bhagavān Nārada, Lord Śiva, the four Kumāras, Lord Kapila [the son of Devahūti], Svāyambhuva Manu, Prahlāda Mahārāja, Janaka Mahārāja, Grandfather Bhīṣma, Bali Mahārāja, Śukadeva Gosvāmī and I myself know the real religious principle. My dear servants, this transcendental religious principle, which is known as bhāgavata-dharma, or surrender unto the Supreme Lord and love for Him, is uncontaminated by the material modes of nature. It is very confidential and difficult for ordinary human beings to understand, but if by chance one fortunately understands it, he is immediately liberated, and thus he returns home, back to Godhead.

22Devotional service, beginning with the chanting of the holy name of the Lord, is the ultimate religious principle for the living entity in human society.

23My dear servants, who are as good as my sons, just see how glorious is the chanting of the holy name of the Lord. The greatly sinful Ajāmila chanted only to call his son, not knowing that he was chanting the Lord's holy name. Nevertheless, by chanting the holy name of the Lord, he remembered Nārāyaṇa, and thus he was immediately saved from the ropes of death.

24Therefore it should be understood that one is easily relieved from all sinful reactions by chanting the holy name of the Lord and chanting of His qualities and activities. This is the only process recommended for relief from sinful reactions. Even if one chants the holy name of the Lord with improper pronunciation, he will achieve relief from material bondage if he chants without offenses. Ajāmila, for example, was extremely sinful, but while dying he merely chanted the holy name, and although calling his son, he achieved complete liberation because he remembered the name of Nārāyaṇa.

25Because they are bewildered by the illusory energy of the Supreme Personality of Godhead, Yājṣavalkya and Jaimini and other compilers of the religious scriptures cannot know the secret, confidential religious system of the twelve mahājanas. They cannot understand the transcendental value of performing devotional service or chanting the Hare Kṛṣṇa mantra. Because their minds are attracted to the ritualistic ceremonies mentioned in the Vedasespecially the Yajur Veda, Sāma Veda and Ṛg Vedatheir intelligence has become dull. Thus they are busy collecting the ingredients for ritualistic ceremonies that yield only temporary benefits, such as elevation to Svargaloka for material happiness. They are not attracted to the saṅkīrtana movement; instead, they are interested in dharma, artha, kāma and mokṣa.

26Considering all these points, therefore, intelligent men decide to solve all problems by adopting the devotional service of chanting the holy name of the Lord, who is situated in everyone's heart and who is a mine of all auspicious qualities. Such persons are not within my jurisdiction for punishment. Generally they never commit sinful activities, but even if by mistake or because of bewilderment or illusion they sometimes commit sinful acts, they are protected from sinful reactions because they always chant the Hare Kṛṣṇa mantra.

27My dear servants, please do not approach such devotees, for they have fully surrendered to the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead. They are equal to everyone, and their narrations are sung by the demigods and the inhabitants of Siddhaloka. Please do not even go near them. They are always protected by the club of the Supreme Personality of Godhead, and therefore Lord Brahmā and I and even the time factor are not competent to chastise them.

28Paramahaṁsas are exalted persons who have no taste for material enjoyment and who drink the honey of the Lord's lotus feet. My dear servants, bring to me for punishment only persons who are averse to the taste of that honey, who do not associate with paramahaṁsas and who are attached to family life and worldly enjoyment, which form the path to hell.

29My dear servants, please bring to me only those sinful persons who do not use their tongues to chant the holy name and qualities of Kṛṣṇa, whose hearts do not remember the lotus feet of Kṛṣṇa even once, and whose heads do not bow down even once before Lord Kṛṣṇa. Send me those who do not perform their duties toward Viṣṇu, which are the only duties in human life. Please bring me all such fools and rascals.

30[Then Yamarāja, considering himself and his servants to be offenders, spoke as follows, begging pardon from the Lord.] O my Lord, my servants have surely committed a great offense

by arresting a Vaiṣṇava such as Ajāmila. O Nārāyaṇa, O supreme and oldest person, please forgive us. Because of our ignorance, we failed to recognize Ajāmila as a servant of Your Lordship, and thus we have certainly committed a great offense. Therefore with folded hands we beg Your pardon. My Lord, since You are supremely merciful and are always full of good qualities, please pardon us. We offer our respectful obeisances unto You.

31Śukadeva Gosvāmī continued: My dear King, the chanting of the holy name of the Lord is able to uproot even the reactions of the greatest sins. Therefore the chanting of the saṅkīrtana movement is the most auspicious activity in the entire universe. Please try to understand this so that others will take it seriously.

32One who constantly hears and chants the holy name of the Lord and hears and chants about His activities can very easily attain the platform of pure devotional service, which can cleanse the dirt from one's heart. One cannot achieve such purification merely by observing vows and performing Vedic ritualistic ceremonies.

33Devotees who always lick the honey from the lotus feet of Lord Kṛṣṇa do not care at all for material activities, which are performed under the three modes of material nature and which bring only misery. Indeed, devotees never give up the lotus feet of Kṛṣṇa to return to material activities. Others, however, who are addicted to Vedic rituals because they have neglected the service of the Lord's lotus feet and are enchanted by lusty desires, sometimes perform acts of atonement. Nevertheless, being incompletely purified, they return to sinful activities again and again.

34After hearing from the mouth of their master about the extraordinary glories of the Lord and His name, fame and attributes, the Yamadūtas were struck with wonder. Since then, as soon as they see a devotee, they fear him and dare not look at him again.

35When the great sage Agastya, the son of Kumbha, was residing in the Malaya Hills and worshiping the Supreme Personality of Godhead, I approached him, and he explained to me this confidential history.

### SB 6.4: The Haṁsa-guhya Prayers Offered to the Lord by Prajāpati Dakṣa

After Mahārāja Parīkṣit appealed to Śukadeva Gosvāmī to describe in further detail the creation of the living entities within this universe, Śukadeva Gosvāmī informed him that when the Pracetās, the ten sons of Prācīnabarhi, entered the sea to execute austerities, the planet earth was neglected because of the absence of a king. Naturally many weeds and unnecessary trees grew, and no food grains were produced. Indeed, all the land became like a forest. When the ten Pracetās came out of the sea and saw the entire world full of trees, they were very angry with the trees and decided to destroy them all to rectify the situation. Thus the Pracetās created wind and fire to burn the trees to ashes. Soma, however, the king of the moon and the king of all vegetation, forbade the Pracetās to destroy the trees, since the trees are the source of fruit and flowers for all living beings. Just to satisfy the Pracetās, Soma gave them a beautiful girl born of Pramlocā Apsarā. By the semen of all the Pracetās, Dakṣa was born of that girl.

In the beginning, Dakṣa created all the demigods, demons and human beings, but when he found the population not increasing properly, he took *sannyāsa* and went to Vindhya Mountain, where be underwent severe austerities and offered Lord Viṣṇu a particular prayer known as *Haṁsa-guhya,* by which Lord Viṣṇu became very pleased with him. The contents of the prayer were as follows.

"The Supreme Personality of Godhead, the Supersoul, Lord Hari, is the controller of both the

living entities and the material nature. He is self-sufficient and self-effulgent. As the subject matter of perception is not the cause of our perceiving senses, so the living entity, although within his body, does not cause his eternal friend the Supersoul, who is the cause of creation of all the senses. Because of the living entity's ignorance, his senses are engaged with material objects. Since the living entity is alive, he can understand the creation of this material world to some extent, but he cannot understand the Supreme Personality of Godhead, who is beyond the conception of the body, mind and intelligence. Nevertheless, great sages who are always in meditation can see the personal form of the Lord within their hearts.

"Since an ordinary living being is materially contaminated, his words and intelligence are also material. Therefore he cannot ascertain the Supreme Personality of Godhead by manipulating his material senses. The conception of God derived through the material senses is inaccurate because the Supreme Lord is beyond the material senses, but when one engages his senses in devotional service, the eternal Supreme Personality of Godhead is revealed on the platform of the soul. When that Supreme Godhead becomes the aim of one's life, one is said to have attained spiritual knowledge.

"The Supreme Brahman is the cause of all causes because He originally existed before the creation. He is the original cause of everything, both material and spiritual, and His existence is independent. However, the Lord has a potency called *avidyā,* the illusory energy, which induces the false arguer to think himself perfect and which induces the illusory energy to bewilder the conditioned soul. That Supreme Brahman, the Supersoul, is very affectionate to His devotees. To bestow mercy upon them, He discloses His form, name, attributes and qualities to be worshiped within this material world.

"Unfortunately, however, those who are materially absorbed worship various demigods. As the air passes over a lotus flower and carries the scent of the flower with it, or as the air sometimes carries dust and therefore assumes colors, the Supreme Personality of Godhead appears as the various demigods according to the desires of His various foolish worshipers, but actually He is the supreme truth, Lord Viṣṇu. To fulfill the desires of His devotees, He appears in various incarnations, and therefore there is no need to worship the demigods."

Being very satisfied by the prayers of Dakṣa, Lord Viṣṇu appeared before Dakṣa with eight arms. The Lord was dressed in yellow garments and had a blackish complexion. Understanding that Dakṣa was very eager to follow the path of enjoyment, the Lord awarded him the potency to enjoy the illusory energy. The Lord offered him the daughter of Paṣcajana named Asiknī, who was suitable for Mahārāja Dakṣa to enjoy in sex. Indeed, Dakṣa received his name because he was very expert in sex life. After awarding this benediction, Lord Viṣṇu disappeared.

1-2The blessed King said to Śukadeva Gosvāmī: My dear lord, the demigods, demons, human beings, Nāgas, beasts and birds were created during the reign of Svāyambhuva Manu. You have spoken about this creation briefly [in the Third Canto]. Now I wish to know about it elaborately. I also wish to know about the potency of the Supreme Personality of Godhead by which He brought about the secondary creation.

3Sūta Gosvāmī said: O great sages [assembled at Naimiṣāraṇya], after the great yogi Śukadeva Gosvāmī heard King Parīkṣit's inquiry, he praised it and thus replied.

4Śukadeva Gosvāmī said: When the ten sons of Prācīnabarhi emerged from the waters, in which they were performing austerities, they saw that the entire surface of the world was covered by trees.

5Because of having undergone long austerities in the water, the Pracetās were very angry at the

trees. Desiring to burn them to ashes, they generated wind and fire from their mouths.

6My dear King Parīkṣit, when Soma, the king of the trees and predominating deity of the moon, saw the fire and wind burning all the trees to ashes, he felt great sympathy because he is the maintainer of all herbs and trees. To appease the anger of the Pracetās, Soma spoke as follows.

7O greatly fortunate ones, you should not kill these poor trees by burning them to ashes. Your duty is to wish the citizens [prajās] all prosperity and to act as their protectors.

8The Supreme Personality of Godhead, Śrī Hari, is the master of all living entities, including all the prajāpatis, such as Lord Brahmā. Because He is the all-pervading and indestructible master, He has created all these trees and vegetables as eatables for other living entities.

9By nature's arrangement, fruits and flowers are considered the food of insects and birds; grass and other legless living entities are meant to be the food of four-legged animals like cows and buffalo; animals that cannot use their front legs as hands are meant to be the food of animals like tigers, which have claws; and four-legged animals like deer and goats, as well as food grains, are meant to be the food of human beings.

10O pure-hearted ones, your father, Prācīnabarhi, and the Supreme Personality of Godhead have ordered you to generate population. Therefore how can you burn to ashes these trees and herbs, which are needed for the maintenance of your subjects and descendants?

11The path of goodness traversed by your father, grandfather and great-grandfathers is that of maintaining the subjects [prajās], including the men, animals and trees. That is the path you should follow. Unnecessary anger is contrary to your duty. Therefore I request you to control your anger.

12As the father and mother are the friends and maintainers of their children, as the eyelid is the protector of the eye, as the husband is the maintainer and protector of a woman, as the householder is the maintainer and protector of beggars, and as the learned is the friend of the ignorant, so the king is the protector and giver of life to all his subjects. The trees are also subjects of the king. Therefore they should be given protection.

13The Supreme Personality of Godhead is situated as the Supersoul within the cores of the hearts of all living entities, whether moving or nonmoving, including men, birds, animals, trees and, indeed, all living entities. Therefore you should consider every body a residence or temple of the Lord. By such vision you will satisfy the Lord. You should not angrily kill these living entities in the forms of trees.

14One who inquires into self-realization and thus subdues his powerful angerwhich awakens suddenly in the body as if falling from the skytranscends the influence of the modes of material nature.

15There is no need to burn these poor trees any longer. Let whatever trees still remain be happy. Indeed, you should also be happy. Now, here is a beautiful, well-qualified girl named Māriṣā, who was raised by the trees as their daughter. You may accept this beautiful girl as your wife.

16Śukadeva Gosvāmī continued: My dear King, after thus pacifying the Pracetās, Soma, the king of the moon, gave them the beautiful girl born of Pramlocā Apsarā. The Pracetās all received Pramlocā's daughter, who had high, very beautiful hips, and married her according to the religious system.

17In the womb of that girl the Pracetās all begot a son named Dakṣa, who filled the three worlds with living entities.

18Śukadeva Gosvāmī continued: Please hear from me with great attention how Prajāpati Dakṣa, who was very affectionate to his daughters, created different types of living entities through his semen and through his mind.

19With his mind, Prajāpati Dakṣa first created all kinds of demigods, demons, human beings, birds, beasts, aquatics and so on.

20But when Prajāpati Dakṣa saw that he was not properly generating all kinds of living entities, he approached a mountain near the Vindhya mountain range, and there he executed very difficult austerities.

21Near that mountain was a very holy place named Aghamarṣaṇa. There Prajāpati Dakṣa executed ritualistic ceremonies and satisfied the Supreme Personality of Godhead, Hari, by engaging in great austerities to please Him.

22My dear King, I shall fully explain to you the Haṁsa-guhya prayers, which were offered to the Supreme Personality of Godhead by Dakṣa, and I shall explain how the Lord was pleased with him for those prayers.

23Prajāpati Dakṣa said: The Supreme Personality of Godhead is transcendental to the illusory energy and the physical categories it produces. He possesses the potency for unfailing knowledge and supreme willpower, and He is the controller of the living entities and the illusory energy. The conditioned souls who have accepted this material manifestation as everything cannot see Him, for He is above the evidence of experimental knowledge. Self-evident and self-sufficient, He is not caused by any superior cause. Let me offer my respectful obeisances unto Him.

24As the sense objects [form, taste, touch, smell and sound] cannot understand how the senses perceive them, so the conditioned soul, although residing in his body along with the Supersoul, cannot understand how the supreme spiritual person, the master of the material creation, directs his senses. Let me offer my respectful obeisances unto that Supreme Person, who is the supreme controller.

25Because they are only matter, the body, the life airs, the external and internal senses, the five gross elements and the subtle sense objects [form, taste, smell, sound and touch] cannot know their own nature, the nature of the other senses or the nature of their controllers. But the living being, because of his spiritual nature, can know his body, the life airs, the senses, the elements and the sense objects, and he can also know the three qualities that form their roots. Nevertheless, although the living being is completely aware of them, he is unable to see the Supreme Being, who is omniscient and unlimited. I therefore offer my respectful obeisances unto Him.

26When one's consciousness is completely purified of the contamination of material existence, gross and subtle, without being agitated as in the working and dreaming states, and when the mind is not dissolved as in suṣupti, deep sleep, one comes to the platform of trance. Then one's material vision and the memories of the mind, which manifests names and forms, are vanquished. Only in such a trance is the Supreme Personality of Godhead revealed. Thus let us offer our respectful obeisances unto the Supreme Personality of Godhead, who is seen in that uncontaminated, transcendental state.

27-28Just as great learned brāhmaṇas who are expert in performing ritualistic ceremonies and

sacrifices can extract the fire dormant within wooden fuel by chanting the fifteen Sāmidhenī mantras, thus proving the efficacy of the Vedic mantras, so those who are actually advanced in consciousnessin other words, those who are Kṛṣṇa consciouscan find the Supersoul, who by His own spiritual potency is situated within the heart. The heart is covered by the three modes of material nature and the nine material elements [material nature, the total material energy, the ego, the mind and the five objects of sense gratification], and also by the five material elements and the ten senses. These twenty-seven elements constitute the external energy of the Lord. Great yogīs meditate upon the Lord, who is situated as the Supersoul, Paramātmā, within the core of the heart. May that Supersoul be pleased with me. The Supersoul is realized when one is eager for liberation from the unlimited varieties of material life. One actually attains such liberation when he engages in the transcendental loving service of the Lord and realizes the Lord because of his attitude of service. The Lord may be addressed by various spiritual names, which are inconceivable to the material senses. When will that Supreme Personality of Godhead be pleased with me?

29Anything expressed by material vibrations, anything ascertained by material intelligence and anything experienced by the material senses or concocted within the material mind is but an effect of the modes of material nature and therefore has nothing to do with the real nature of the Supreme Personality of Godhead. The Supreme Lord is beyond the creation of this material world, for He is the source of the material qualities and creation. As the cause of all causes, He exists before the creation and after the creation. I wish to offer my respectful obeisances unto Him.

30The Supreme Brahman, Kṛṣṇa, is the ultimate resting place and source of everything. Everything is done by Him, everything belongs to Him, and everything is offered to Him. He is the ultimate objective, and whether acting or causing others to act, He is the ultimate doer. There are many causes, high and low, but since He is the cause of all causes, He is well known as the Supreme Brahman who existed before all activities. He is one without a second and has no other cause. I therefore offer my respects unto Him.

31Let me offer my respectful obeisances unto the all-pervading Supreme Personality of Godhead, who possesses unlimited transcendental qualities. Acting from within the cores of the hearts of all philosophers, who propagate various views, He causes them to forget their own souls while sometimes agreeing and sometimes disagreeing among themselves. Thus He creates within this material world a situation in which they are unable to come to a conclusion. I offer my obeisances unto Him.

32There are two partiesnamely, the theists and the atheists. The theist, who accepts the Supersoul, finds the spiritual cause through mystic yoga. The Sāṅkhyite, however, who merely analyzes the material elements, comes to a conclusion of impersonalism and does not accept a supreme causewhether Bhagavān, Paramātmā or even Brahman. Instead, he is preoccupied with the superfluous, external activities of material nature. Ultimately, however, both parties demonstrate the Absolute Truth because although they offer opposing statements, their object is the same ultimate cause. They are both approaching the same Supreme Brahman, to whom I offer my respectful obeisances.

33The Supreme Personality of Godhead, who is inconceivably opulent, who is devoid of all material names, forms and pastimes, and who is all-pervading, is especially merciful to the devotees who worship His lotus feet. Thus He exhibits transcendental forms and names with His different pastimes. May that Supreme Personality of Godhead, whose form is eternal and full of knowledge and bliss, be merciful to me.

34As the air carries various characteristics of the physical elements, like the aroma of a flower

or colors resulting from a mixture of dust in the air, the Lord appears through lower systems of worship according to one's desires, although He appears as the demigods and not in His original form. What is the use of these other forms? May the original Supreme Personality of Godhead please fulfill my desires.

35-39ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: The Supreme Personality of Godhead, Hari, who is extremely affectionate to His devotees, was very pleased by the prayers offered by Dakṣa, and thus He appeared at that holy place known as Aghamarṣaṇa. O Mahārāja Parīkṣit, best of the Kuru dynasty, the Lord's lotus feet rested on the shoulders of His carrier, Garuḍa, and He appeared with eight long, mighty, very beautiful arms. In His hands He held a disc, conchshell, sword, shield, arrow, bow, rope and clubin each hand a different weapon, all brilliantly shining. His garments were yellow and His bodily hue deep bluish. His eyes and face were very cheerful, and from His neck to His feet hung a long garland of flowers. His chest was decorated with the Kaustubha jewel and the mark of Śrīvatsa. On His head was a gorgeous round helmet, and His ears were decorated with earrings resembling sharks. All these ornaments were uncommonly beautiful. The Lord wore a golden belt on His waist, bracelets on His arms, rings on His fingers, and ankle bells on His feet. Thus decorated by various ornaments, Lord Hari, who is attractive to all the living entities of the three worlds, is known as Puruṣottama, the best personality. He was accompanied by great devotees like Nārada, Nanda and all the principal demigods, led by the heavenly king, Indra, and the residents of various upper planetary systems such as Siddhaloka, Gandharvaloka and Cāraṇaloka. Situated on both sides of the Lord and behind Him as well, these devotees offered Him prayers continuously.

40Seeing that wonderful and effulgent form of the Supreme Personality of Godhead, Prajāpati Dakṣa was first somewhat afraid, but then he was very pleased to see the Lord, and he fell to the ground like a stick to offer his respects to the Lord.

41As rivers are filled by water flowing from a mountain, all of Dakṣa's senses were filled with pleasure. Because of his highly elevated happiness, Dakṣa could not say anything, but simply remained flat on the ground.

42Although Prajāpati Dakṣa could not say anything, when the Lord, who knows everyone's heart, saw His devotee prostrate in that manner and desiring to increase the population, He addressed him as follows.

43The Supreme Personality of Godhead said: O most fortunate Prācetasa, because of your great faith in Me, you have attained the supreme devotional ecstasy. Indeed, because of your austerities, combined with exalted devotion, your life is now successful. You have achieved complete perfection.

44My dear Prajāpati Dakṣa, you have performed extreme austerities for the welfare and growth of the world. My desire also is that everyone within this world be happy. I am therefore very pleased with you because you are endeavoring to fulfill My desire for the welfare of the entire world.

45Lord Brahmā, Lord Śiva, the Manus, all the other demigods in the higher planetary systems, and you prajāpatis, who are increasing the population, are working for the benefit of all living entities. Thus you expansions of My marginal energy are incarnations of My various qualities.

46My dear brāhmaṇa, austerity in the form of meditation is My heart, Vedic knowledge in the form of hymns and mantras constitutes My body, and spiritual activities and ecstatic emotions are My actual form. The ritualistic ceremonies and sacrifices, when properly conducted, are the various limbs of My body, the unseen good fortune proceeding from pious or spiritual activities

constitutes My mind, and the demigods who execute My orders in various departments are My life and soul.

47Before the creation of this cosmic manifestation, I alone existed with My specific spiritual potencies. Consciousness was then unmanifested, just as one's consciousness is unmanifested during the time of sleep.

48I am the reservoir of unlimited potency, and therefore I am known as unlimited or all-pervading. From My material energy the cosmic manifestation appeared within Me, and in this universal manifestation appeared the chief being, Lord Brahmā, who is your source and is not born of a material mother.

49-50When the chief lord of the universe, Lord Brahmā [Svayambhū], having been inspired by My energy, was attempting to create, he thought himself incapable. Therefore I gave him advice, and in accordance with My instructions he underwent extremely difficult austerities. Because of these austerities, the great Lord Brahmā was able to create nine personalities, including you, to help him in the functions of creation.

51O My dear son Dakṣa, Prajāpati Paṣcajana has a daughter named Asiknī, whom I offer to you so that you may accept her as your wife.

52Now unite in sexual life as man and woman, and in this way, by sexual intercourse, you will be able to beget hundreds of children in the womb of this girl to increase the population.

53After you give birth to many hundreds and thousands of children, they will also be captivated by My illusory energy and will engage, like You, in sexual intercourse. But because of My mercy to you and them, they will also be able to give Me presentations in devotion.

54Śukadeva Gosvāmī continued: After the creator of the entire universe, the Supreme Personality of Godhead, Hari, had spoken in this way in the presence of Prajāpati Dakṣa, He immediately disappeared as if He were an object experienced in a dream.

## SB 6.5: Nārada Muni Cursed by Prajāpati Dakṣa

This chapter relates how all the sons of Dakṣa were delivered from the clutches of the material energy by following the advice of Nārada, who was therefore cursed by Dakṣa.

Influenced by the external energy of Lord Viṣṇu, Prajāpati Dakṣa begot ten thousand sons in the womb of his wife, Pāṣcajanī. These sons, who were all of the same character and mentality, were known as the Haryaśvas. Ordered by their father to create more and more population, the Haryaśvas went west to the place where the river Sindhu (now the Indus) meets the Arabian Sea. In those days this was the site of a holy lake named Nārāyaṇa-saras, where there were many saintly persons. The Haryaśvas began practicing austerities, penances and meditation, which are the engagements of the highly exalted renounced order of life. However, when Śrīla Nārada Muni saw these boys engaged in such commendable austerities simply for material creation, he thought it better to release them from this tendency. Nārada Muni described to the boys their ultimate goal of life and advised them not to become ordinary *karmīs* to beget children. Thus all the sons of Dakṣa became enlightened and left, never to return.

Prajāpati Dakṣa, who was very sad at the loss of his sons, begot one thousand more sons in the womb of his wife, Pāṣcajanī, and ordered them to increase progeny. These sons, who were named the Savalāśvas, also engaged in worshiping Lord Viṣṇu to beget children, but Nārada Muni convinced them to become mendicants and not beget children. Foiled twice in his

attempts to increase population, Prajāpati Dakṣa became most angry at Nārada Muni and cursed him, saying that in the future he would not be able to stay anywhere. Since Nārada Muni, being fully qualified, was fixed in tolerance, he accepted Dakṣa's curse.

1Śrīla Śukadeva Gosvāmī continued: Impelled by the illusory energy of Lord Viṣṇu, Prajāpati Dakṣa begot ten thousand sons in the womb of Pāṣcajanī [Asiknī]. My dear King, these sons were called the Haryaśvas.

2My dear King, all the sons of Prajāpati Dakṣa were alike in being very gentle and obedient to the orders of their father. When their father ordered them to beget children, they all went in the western direction.

3In the west, where the river Sindhu meets the sea, there is a great place of pilgrimage known as Nārāyaṇa-saras. Many sages and others advanced in spiritual consciousness live there.

4-5In that holy place, the Haryaśvas began regularly touching the lake's waters and bathing in them. Gradually becoming very much purified, they became inclined toward the activities of paramahaṁsas. Nevertheless, because their father had ordered them to increase the population, they performed severe austerities to fulfill his desires. One day, when the great sage Nārada saw those boys performing such fine austerities to increase the population, Nārada approached them.

6-8The great sage Nārada said: My dear Haryaśvas, you have not seen the extremities of the earth. There is a kingdom where only one man lives and where there is a hole from which, having entered, no one emerges. A woman there who is extremely unchaste adorns herself with various attractive dresses, and the man who lives there is her husband. In that kingdom, there is a river flowing in both directions, a wonderful home made of twenty-five materials, a swan that vibrates various sounds, and an automatically revolving object made of sharp razors and thunderbolts. You have not seen all this, and therefore you are inexperienced boys without advanced knowledge. How, then, will you create progeny?

9Alas, your father is omniscient, but you do not know his actual order. Without knowing the actual purpose of your father, how will you create progeny?

10ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: Hearing these enigmatic words of Nārada Muni, the Haryaśvas considered them with their natural intelligence, without help from others.

11[The Haryaśvas understood the meaning of Nārada's words as follows.] The word "bhūḥ" ["the earth"] refers to the field of activities. The material body, which is a result of the living being's actions, is his field of activities, and it gives him false designations. Since time immemorial, he has received various types of material bodies, which are the roots of bondage to the material world. If one foolishly engages in temporary fruitive activities and does not look toward the cessation of this bondage, what will be the benefit of his actions?

12[Nārada Muni had said that there is a kingdom where there is only one male. The Haryaśvas realized the purport of this statement.] The only enjoyer is the Supreme Personality of Godhead, who observes everything, everywhere. He is full of six opulences and fully independent of everyone else. He is never subject to the three modes of material nature, for He is always transcendental to this material creation. If the members of human society do not understand Him, the Supreme, through their advancement in knowledge and activities, but simply work very hard like cats and dogs all day and night for temporary happiness, what will be the benefit of their activities?

13[Nārada Muni had described that there is a bila, or hole, from which, having entered, one

does not return. The Haryaśvas understood the meaning of this allegory.] Hardly once has a person who has entered the lower planetary system called Pātāla been seen to return. Similarly, if one enters the Vaikuṇṭha-dhāma [pratyag-dhāma], he does not return to this material world. If there is such a place, from which, having gone, one does not return to the miserable material condition of life, what is the use of jumping like monkeys in the temporary material world and not seeing or understanding that place? What will be the profit?

14[Nārada Muni had described a woman who is a professional prostitute. The Haryaśvas understood the identity of this woman.] Mixed with the mode of passion, the unsteady intelligence of every living entity is like a prostitute who changes dresses just to attract one's attention. If one fully engages in temporary fruitive activities, not understanding how this is taking place, what does he actually gain?

15[Nārada Muni had also spoken of a man who is the husband of the prostitute. The Haryaśvas understood this as follows.] If one becomes the husband of a prostitute, he loses all independence. Similarly, if a living entity has polluted intelligence, he prolongs his materialistic life. Frustrated by material nature, he must follow the movements of the intelligence, which brings various conditions of happiness and distress. If one performs fruitive activities under such conditions, what will be the benefit?

16[Nārada Muni had said that there is a river flowing in both directions. The Haryaśvas understood the purport of this statement.] Material nature functions in two waysby creation and dissolution. Thus the river of material nature flows both ways. A living entity who unknowingly falls in this river is submerged in its waves, and since the current is swifter near the banks of the river, he is unable to get out. What will be the benefit of performing fruitive activities in that river of māyā?

17[Nārada Muni had said that there is a house made of twenty-five elements. The Haryaśvas understood this analogy.] The Supreme Lord is the reservoir of the twenty-five elements, and as the Supreme Being, the conductor of cause and effect, He causes their manifestation. If one engages in temporary fruitive activities, not knowing that Supreme Person, what benefit will he derive?

18[Nārada Muni had spoken of a swan. That swan is explained in this verse.] The Vedic literatures [śāstras] vividly describe how to understand the Supreme Lord, the source of all material and spiritual energy. Indeed, they elaborately explain these two energies. The swan [haṁsa] is one who discriminates between matter and spirit, who accepts the essence of everything, and who explains the means of bondage and the means of liberation. The words of scriptures consist of variegated vibrations. If a foolish rascal leaves aside the study of these śāstras to engage in temporary activities, what will be the result?

19[Nārada Muni had spoken of a physical object made of sharp blades and thunderbolts. The Haryaśvas understood this allegory as follows.] Eternal time moves very sharply, as if made of razors and thunderbolts. Uninterrupted and fully independent, it drives the activities of the entire world. If one does not try to study the eternal element of time, what benefit can he derive from performing temporary material activities?

20[Nārada Muni had asked how one could ignorantly defy one's own father. The Haryaśvas understood the meaning of this question.] One must accept the original instructions of the śāstra. According to Vedic civilization, one is offered a sacred thread as a sign of second birth. One takes his second birth by dint of having received instructions in the śāstra from a bona fide spiritual master. Therefore, śāstra, scripture, is the real father. All the śāstras instruct that one should end his material way of life. If one does not know the purpose of the father's orders, the

śāstras, he is ignorant. The words of a material father who endeavors to engage his son in material activities are not the real instructions of the father.

21Śukadeva Gosvāmī continued: My dear King, after hearing the instructions of Nārada, the Haryaśvas, the sons of Prajāpati Dakṣa, were firmly convinced. They all believed in his instructions and reached the same conclusion. Having accepted him as their spiritual master, they circumambulated that great sage and followed the path by which one never returns to this world.

22The seven musical notesṣa, ṛ, gā, ma, pa, dha and niare used in musical instruments, but originally they come from the Sāma Veda. The great sage Nārada vibrates sounds describing the pastimes of the Supreme Lord. By such transcendental vibrations, such as Hare Kṛṣṇa, Hare Kṛṣṇa, Kṛṣṇa Kṛṣṇa, Hare Hare/ Hare Rāma, Hare Rāma, Rāma Rāma, Hare Hare, he fixes his mind at the lotus feet of the Lord. Thus he directly perceives Hṛṣīkeśa, the master of the senses. After delivering the Haryaśvas, Nārada Muni continued traveling throughout the planetary systems, his mind always fixed at the lotus feet of the Lord.

23The Haryaśvas, the sons of Prajāpati Dakṣa, were very well-behaved, cultured sons, but unfortunately, because of the instructions of Nārada Muni, they deviated from the order of their father. When Dakṣa heard this news, which was brought to him by Nārada Muni, he began to lament. Although he was the father of such good sons, he had lost them all. Certainly this was lamentable.

24When Prajāpati Dakṣa was lamenting for his lost children, Lord Brahmā pacified him with instructions, and thereafter Dakṣa begot one thousand more children in the womb of his wife, Pāṣcajanī. This time his sons were known as the Savalāśvas.

25In accordance with their father's order to beget children, the second group of sons also went to Nārāyaṇa-saras, the same place where their brothers had previously attained perfection by following the instructions of Nārada. Undertaking great vows of austerity, the Savalāśvas remained at that holy place.

26At Nārāyaṇa-saras, the second group of sons performed penances in the same way as the first. They bathed in the holy water, and by its touch all the dirty material desires in their hearts were cleansed away. They murmured mantras beginning with oṁkāra and underwent a severe course of austerities.

27-28For a few months the sons of Prajāpati Dakṣa drank only water and ate only air. Thus undergoing great austerities, they recited this mantra: "Let us offer our respectful obeisances unto Nārāyaṇa, the Supreme Personality of Godhead, who is always situated in His transcendental abode. Since He is the Supreme Person [paramahaṁsa], let us offer our respectful obeisances unto Him."

29O King Parīkṣit, Nārada Muni approached these sons of Prajāpati Dakṣa, who were engaged in tapasya to beget children, and spoke enigmatic words to them just as he had spoken to their elder brothers.

30O sons of Dakṣa, please hear my words of instruction attentively. You are all very affectionate to your elder brothers, the Haryaśvas. Therefore you should follow their path.

31A brother aware of the principles of religion follows in the footsteps of his elder brothers. Because of being highly elevated, such a pious brother gets the opportunity to associate and enjoy with demigods like the Maruts, who are all affectionate to their brothers.

32Śukadeva Gosvāmī continued: O best of the advanced Āryans, after saying this much to the sons of Prajāpati Dakṣa, Nārada Muni, whose merciful glance never goes in vain, left as he had planned. The sons of Dakṣa followed their elder brothers. Not attempting to produce children, they engaged themselves in Kṛṣṇa consciousness.

33The Savalāśvas took to the correct path, which is obtainable by a mode of life meant to achieve devotional service, or the mercy of the Supreme Personality of Godhead. Like nights that have gone to the west, they have not returned even until now.

34At this time, Prajāpati Dakṣa observed many inauspicious signs, and he heard from various sources that his second group of sons, the Savalāśvas, had followed the path of their elder brothers in accordance with the instructions of Nārada.

35When he heard that the Savalāśvas had also left this world to engage in devotional service, Dakṣa was angry at Nārada, and he almost fainted due to lamentation. When Dakṣa met Nārada, Dakṣa's lips began trembling in anger, and he spoke as follows.

36Prajāpati Dakṣa said: Alas, Nārada Muni, you wear the dress of a saintly person, but you are not actually a saint. Indeed, although I am now in gṛhastha life, I am a saintly person. By showing my sons the path of renunciation, you have done me an abominable injustice.

37Prajāpati Dakṣa said: My sons were not at all freed from their three debts. Indeed, they did not properly consider their obligations. O Nārada Muni, O personality of sinful action, you have obstructed their progress toward good fortune in this world and the next because they are still indebted to the saintly persons, the demigods and their father.

38Prajāpati Dakṣa continued: Thus committing violence against other living entities and yet claiming to be an associate of Lord Viṣṇu, you are defaming the Supreme Personality of Godhead. You needlessly created a mentality of renunciation in innocent boys, and therefore you are shameless and devoid of compassion. How could you travel with the personal associates of the Supreme Lord?

39All the devotees of the Lord but you are very kind to the conditioned souls and are eager to benefit others. Although you wear the dress of a devotee, you create enmity with people who are not your enemies, or you break friendship and create enmity between friends. Are you not ashamed of posing as a devotee while performing these abominable actions?

40Prajāpati Dakṣa continued: If you think that simply awakening the sense of renunciation will detach one from the material world, I must say that unless full knowledge is awakened, simply changing dresses as you have done cannot possibly bring detachment.

41Material enjoyment is indeed the cause of all unhappiness, but one cannot give it up unless one has personally experienced how much suffering it is. Therefore one should be allowed to remain in so-called material enjoyment while simultaneously advancing in knowledge to experience the misery of this false material happiness. Then, without help from others, one will find material enjoyment detestful. Those whose minds are changed by others do not become as renounced as those who have personal experience.

42Although I live in household life with my wife and children, I honestly follow the Vedic injunctions by engaging in fruitive activities to enjoy life without sinful reactions. I have performed all kinds of yajṣas, including the deva-yajṣa, ṛṣi-yajṣa, pitṛ-yajṣa and nṛ-yajṣa. Because these yajṣas are called vratas [vows], I am known as a gṛhavrata. Unfortunately, you have given me great displeasure by misguiding my sons, for no reason, to the path of

renunciation. This can be tolerated once.

43You have made me lose my sons once, and now you have again done the same inauspicious thing. Therefore you are a rascal who does not know how to behave toward others. You may travel all over the universe, but I curse you to have no residence anywhere.

44ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: My dear King, since Nārada Muni is an approved saintly person, when cursed by Prajāpati Dakṣa he replied, "tad bāḍham: Yes, what you have said is good. I accept this curse." He could have cursed Prajāpati Dakṣa in return, but because he is a tolerant and merciful sādhu, he took no action.

## SB 6.6: The Progeny of the Daughters of Dakṣa

As described in this chapter, Prajāpati Dakṣa begot sixty daughters in the womb of his wife Asiknī. These daughters were given in charity to various persons to increase the population. Since these offspring of Dakṣa were women, Nārada Muni did not try to lead them toward the renounced order of life. Thus the daughters were saved from Nārada Muni. Ten of the daughters were given in marriage to Dharmarāja, thirteen to Kaśyapa Muni, and twenty-seven to the moon-god, Candra. In this way fifty daughters were distributed, and of the other ten daughters, four were given to Kaśyapa and two each to Bhūta, Aṅgirā and Kṛśāśva. One should know that it is because of the union of these sixty daughters with various exalted personalities that the entire universe was filled with various kinds of living entities, such as human beings, demigods, demons, beasts, birds and serpents.

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: My dear King, thereafter, at the request of Lord Brahmā, Prajāpati Dakṣa, who is known as Prācetasa, begot sixty daughters in the womb of his wife Asiknī. All the daughters were very affectionate toward their father.

2He gave ten daughters in charity to Dharmarāja [Yamarāja], thirteen to Kaśyapa [first twelve and then one more], twenty-seven to the moon-god, and two each to Aṅgirā, Kṛśāśva and Bhūta. The other four daughters were given to Kaśyapa. [Thus Kaśyapa received seventeen daughters in all.]

3Now please hear from me the names of all these daughters and their descendants, who filled all the three worlds.

4The ten daughters given to Yamarāja were named Bhānu, Lambā, Kakud, Yāmi, Viśvā, Sādhyā, Marutvatī, Vasu, Muhūrtā and Saṅkalpā. Now hear the names of their sons.

5O King, a son named Deva-ṛṣabha was born from the womb of Bhānu, and from him came a son named Indrasena. From the womb of Lambā came a son named Vidyota, who generated all the clouds.

6From the womb of Kakud came the son named Saṅkaṭa, whose son was named Kīkaṭa. From Kīkaṭa came the demigods named Durgā. From Yāmi came the son named Svarga, whose son was named Nandi.

7The sons of Viśvā were the Viśvadevas, who had no progeny. From the womb of Sādhyā came the Sādhyas, who had a son named Arthasiddhi.

8The two sons who took birth from the womb of Marutvatī were Marutvān and Jayanta. Jayanta, who is an expansion of Lord Vāsudeva, is known as Upendra.

9The demigods named the Mauhūrtikas took birth from the womb of Muhūrtā. These demigods

deliver the results of actions to the living entities of their respective times.

10-11The son of Saṅkalpā was known as Saṅkalpa, and from him lust was born. The sons of Vasu were known as the eight Vasus. Just hear their names from me: Droṇa, Prāṇa, Dhruva, Arka, Agni, Doṣa, Vāstu and Vibhāvasu. From Abhimati, the wife of the Vasu named Droṇa, were generated the sons named Harṣa, Śoka, Bhaya and so on.

12Ūrjasvatī, the wife of Prāṇa, gave birth to three sons, named Saha, Āyus and Purojava. The wife of Dhruva was known as Dharaṇi, and from her womb various cities took birth.

13From the womb of Vāsanā, the wife of Arka, came many sons, headed by Tarṣa. Dhārā, the wife of the Vasu named Agni, gave birth to many sons, headed by Draviṇaka.

14From Kṛttikā, another wife of Agni, came the son named Skanda, Kārttikeya, whose sons were headed by Viśākha. From the womb of Śarvarī, the wife of the Vasu named Doṣa, came the son named Śiśumāra, who was an expansion of the Supreme Personality of Godhead.

15From Āṅgirasī, the wife of the Vasu named Vāstu, was born the great architect Viśvakarmā. Viśvakarmābecame the husband of Ākṛtī, from whom the Manu named Cākṣuṣa was born. The sons of Manu were known as the Viśvadevas and Sādhyas.

16Ūṣā, the wife of Vibhāvasu, gave birth to three sonsVyuṣṭa, Rociṣa and Ātapa. From Ātapa came Paṣcayāma, the span of day, who awakens all living entities to material activities.

17-18Sarūpā, the wife of Bhūta, gave birth to the ten million Rudras, of whom the eleven principle Rudras were Raivata, Aja, Bhava, Bhīma, Vāma, Ugra, Vṛṣākapi, Ajaikapāt, Ahirbradhna, Bahurūpa and Mahān. Their associates, the ghosts and goblins, who are very fearful, were born of the other wife of Bhūta.

19The prajāpati Aṅgirā had two wives, named Svadhā and Satī. The wife named Svadhā accepted all the Pitās as her sons, and Satī accepted the Atharvāṅgirasa Veda as her son.

20Kṛśāśva had two wives, named Arcis and Dhiṣaṇā. In the wife named Arcis he begot Dhūmaketu and in Dhiṣaṇā he begot four sons, named Vedaśirā, Devala, Vayuna and Manu.

21-22Kaśyapa, who is also named Tārkṣya, had four wivesVinatā [Suparṇā], Kadrū, Pataṅgī and Yāminī. Pataṅgī gave birth to many kinds of birds, and Yāminī gave birth to locusts. Vinatā [Suparṇā] gave birth to Garuḍa, the carrier of Lord Viṣṇu, and to Anūru, or Aruṇa, the chariot driver of the sun-god. Kadrū gave birth to different varieties of serpents.

23O Mahārāja Parīkṣit, best of the Bhāratas, the constellations named Kṛttikā were all wives of the moon-god. However, because Prajāpati Dakṣa had cursed him to suffer from a disease causing gradual destruction, the moon-god could not beget children in any of his wives.

24-26Thereafter the King of the moon pacified Prajāpati Dakṣa with courteous words and thus regained the portions of light he had lost during his disease. Nevertheless he could not beget children. The moon loses his shining power during the dark fortnight, and in the bright fortnight it is manifest again. O King Parīkṣit, now please hear from me the names of Kaśyapa's wives, from whose wombs the population of the entire universe has come. They are the mothers of almost all the population of the entire universe, and their names are very auspicious to hear. They are Aditi, Diti, Danu, Kāṣṭhā, Ariṣṭā, Surasā, Ilā, Muni, Krodhavaśā, Tāmrā, Surabhi, Saramā and Timi. From the womb of Timi all the aquatics took birth, and from the womb of Saramā the ferocious animals like the tigers and lions took birth.

27My dear King Parīkṣit, from the womb of Surabhi the buffalo, cow and other animals with cloven hooves took birth, from the womb of Tāmrā the eagles, vultures and other large birds of prey took birth, and from the womb of Muni the angels took birth.

28The sons born of Krodhavaśā were the serpents known as dandaśūka, as well as other serpents and the mosquitoes. All the various creepers and trees were born from the womb of Ilā. The Rākṣasas, bad spirits, were born from the womb of Surasā.

29-31The Gandharvas were born from the womb of Ariṣṭā, and animals whose hooves are not split, such as the horse, were born from the womb of Kāṣṭhā. O King, from the womb of Danu came sixty-one sons, of whom these eighteen were very important: Dvimūrdhā, Śambara, Ariṣṭa, Hayagrīva, Vibhāvasu, Ayomukha, Śaṅkuśirā, Svarbhānu, Kapila, Aruṇa, Pulomā, Vṛṣaparvā, Ekacakra, Anutāpana, Dhūmrakeśa, Virūpākṣa, Vipracitti and Durjaya.

32The daughter of Svarbhānu named Suprabhā was married by Namuci. The daughter of Vṛṣaparvā named Śarmiṣṭhā was given to the powerful King Yayāti, the son of Nahuṣa.

33-36Vaiśvānara, the son of Danu, had four beautiful daughters, named Upadānavī, Hayaśirā, Pulomā and Kālakā. Hiraṇyākṣa married Upadānavī, and Kratu married Hayaśirā. Thereafter, at the request of Lord Brahmā, Prajāpati Kaśyapa married Pulomā and Kālakā, the other two daughters of Vaiśvānara. From the wombs of these two wives of Kaśyapa came sixty thousand sons, headed by Nivātakavaca, who are known as the Paulomas and the Kālakeyas. They were physically very strong and expert in fighting, and their aim was to disturb the sacrifices performed by the great sages. My dear King, when your grandfather Arjuna went to the heavenly planets, he alone killed all these demons, and thus King Indra became extremely affectionate toward him.

37In his wife Siṁhikā, Vipracitti begot one hundred and one sons, of whom the eldest is Rāhu and the others are the one hundred Ketus. All of them attained positions in the influential planets.

38-39Now please hear me as I describe the descendants of Aditi in chronological order. In this dynasty the Supreme Personality of Godhead Nārāyaṇa descended by His plenary expansion. The names of the sons of Aditi are as follows: Vivasvān, Aryamā, Pūṣā, Tvaṣṭā, Savitā, Bhaga, Dhātā, Vidhātā, Varuṇa, Mitra, Śatru and Urukrama.

40Saṁjṣā, the wife of Vivasvān, the sun-god, gave birth to the Manu named Śrāddhadeva, and the same fortunate wife also gave birth to the twins Yamarāja and the river Yamunā. Then Yamī, while wandering on the earth in the form of a mare, gave birth to the Aśvinī-kumāras.

41Chāyā, another wife of the sun-god, begot two sons named Śanaiścara and Sāvarṇi Manu, and one daughter, Tapatī, who married Saṁvaraṇa.

42From the womb of Mātṛkā, the wife of Aryamā, were born many learned scholars. Among them Lord Brahmā created the human species, which are endowed with an aptitude for self-examination.

43Pūṣā had no sons. When Lord Śiva was angry at Dakṣa, Pūṣā had laughed at LordŚiva and shown his teeth. Therefore he lost his teeth and had to live by eating only ground flour.

44Racanā, the daughter of the Daityas, became the wife of Prajāpati Tvaṣṭā. By his semen he begot in her womb two very powerful sons named Sanniveśa and Viśvarūpa.

45Although Viśvarūpa was the son of the daughter of their eternal enemies the demons, the demigods accepted him as their priest in accordance with the order of Brahmā when they were abandoned by their spiritual master, Bṛhaspati, whom they had disrespected.

**SB 6.7: Indra Offends His Spiritual Master, Bṛhaspati.**

As related in this chapter, Indra, the King of heaven, committed an offense at the feet of his spiritual master, Bṛhaspati. Bṛhaspati therefore left the demigods, who then had no priest. However, at the request of the demigods, Viśvarūpa, the son of the *brāhmaṇa* Tvaṣṭā, became their priest.

Once upon a time, Indra, the King of the demigods, was sitting with his wife Śacīdevī and being praised by various demigods like the Siddhas, Cāraṇas and Gandharvas when Bṛhaspati, the spiritual master of the demigods, entered the assembly. Indra, being too absorbed in material opulence, forgot himself and did not respect Bṛhaspati, who thus became aware of Indra's pride in his material opulence and immediately disappeared from the assembly to teach him a lesson. Indra became most repentant, understanding that because of his opulence he had forgotten to respect his spiritual master. He left the palace to beg pardon from his spiritual master, but could not find Bṛhaspati anywhere.

Because of his disrespectful behavior toward his spiritual master. Indra lost all his opulence and was conquered by the demons, who defeated the demigods in a great fight and occupied Indra's throne. King Indra, along with the other demigods, later took shelter of Lord Brahmā. Understanding the situation, Lord Brahmā chastised the demigods for their offense to their spiritual master. Following Lord Brahmā's orders, the demigods accepted Viśvarūpa, who was a *brāhmaṇa* and the son of Tvaṣṭā, as their priest. Then they performed *yajṣas* under the priesthood of Viśvarūpa and were able to conquer the demons.

1Mahārāja Parīkṣit inquired from Śukadeva Gosvāmī: O great sage, why did the spiritual master of the demigods, Bṛhaspati, reject the demigods, who were his own disciples? What offense did the demigods commit against their spiritual master? Please describe to me this incident.

2-8Śukadeva Gosvāmī said: O King, once upon a time, the King of heaven, Indra, being extremely proud because of his great opulence of the three worlds, transgressed the law of Vedic etiquette. Seated on his throne, he was surrounded by the Maruts, Vasus, Rudras, Ādityas, Ṛbhus, Viśvadevas, Sādhyas, Aśvinī-kumāras, Siddhas, Cāraṇas and Gandharvas and by great saintly persons. Also surrounding him were the Vidyādharas, Apsarās, Kinnaras, Patagas [birds] and Uragas [snakes]. All of them were offering Indra their respects and services, and the Apsarās and Gandharvas were dancing and singing with very sweet musical instruments. Over Indra's head was a white umbrella as effulgent as the full moon. Fanned by yak-tail whisks and served with all the paraphernalia of a great king, Indra was sitting with his wife, Śacīdevī, who occupied half the throne, when the great sage Bṛhaspati appeared in that assembly. Bṛhaspati, the best of the sages, was the spiritual master of Indra and the demigods and was respected by the demigods and demons alike. Nevertheless, although Indra saw his spiritual master before him, he did not rise from his own seat or offer a seat to his spiritual master, nor did Indra offer him a respectful welcome. Indra did nothing to show him respect.

9Bṛhaspati knew everything that would happen in the future. Seeing Indra's transgression of etiquette, he completely understood that Indra was puffed up by his material opulence. Although able to curse Indra, he did not do so. Instead, he left the assembly and in silence returned to his home.

10Indra, the King of heaven, could immediately understand his mistake. Realizing he had

disrespected his spiritual master, he condemned himself in the presence of all the members of the assembly.

11Alas, what a regrettable deed I have committed because of my lack of intelligence and my pride in my material opulences. I failed to show respect to my spiritual master when he entered this assembly, and thus I have insulted him.

12Although I am King of the demigods, who are situated in the mode of goodness, I was proud of a little opulence and polluted by false ego. Under the circumstances, who in this world would accept such riches at the risk of falling down? Alas! I condemn my wealth and opulence.

13If a person says, "One who is situated on the exalted throne of a king should not stand up to show respect to another king or a brāhmaṇa," it is to be understood that he does not know the superior religious principles.

14Leaders who have fallen into ignorance and who mislead people by directing them to the path of destruction [as described in the previous verse] are, in effect, boarding a stone boat, and so too are those who blindly follow them. A stone boat would be unable to float and would sink in the water with its passengers. Similarly, those who mislead people go to hell, and their followers go with them.

15King Indra said: Therefore with great frankness and without duplicity I shall now bow my head at the lotus feet of Bṛhaspati, the spiritual master of the demigods. Because he is in the mode of goodness, he is fully aware of all knowledge and is the best of the brāhmaṇas. Now I shall touch his lotus feet and offer my obeisances unto him to try to satisfy him.

16While Indra, the King of the demigods, thought in this way and repented in his own assembly, Bṛhaspati, the most powerful spiritual master, understood his mind. Thus he became invisible to Indra and left home, for Bṛhaspati was spiritually more powerful than King Indra.

17Although Indra searched vigorously with the assistance of the other demigods, he could not find Bṛhaspati. Then Indra thought, "Alas, my spiritual master has become dissatisfied with me, and now I have no means of achieving good fortune." Although Indra was surrounded by demigods, he could not find peace of mind.

18Hearing of the pitiable condition of King Indra, the demons, following the instructions of their guru, Śukrācārya, equipped themselves with weapons and declared war against the demigods.

19The demigods' heads, thighs and arms and the other parts of their bodies were injured by the sharp arrows of the demons. The demigods, headed by Indra, saw no other course than to immediately approach Lord Brahmā with bowed heads for shelter and proper instruction.

20When the most powerful Lord Brahmā saw the demigods coming toward him, their bodies gravely injured by the arrows of the demons, he pacified them by his great causeless mercy and spoke as follows.

21Lord Brahmā said: O best of the demigods, unfortunately, because of madness resulting from your material opulence, you failed to receive Bṛhaspati properly when he came to your assembly. Because he is aware of the Supreme Brahman and fully in control of his senses, he is the best of the brāhmaṇas. Therefore it is very astonishing that you have acted impudently toward him.

22Because of your miSBehavior toward Bṛhaspati, you have been defeated by the demons. My

dear demigods, since the demons were weak, having been defeated by you several times, how else could you, who were so advanced in opulence, be defeated by them?

23O Indra, your enemies, the demons, were extremely weak because of their disrespect toward Śukrācārya, but since they have now worshiped Śukrācārya with great devotion, they have again become powerful. By their devotion to Śukrācārya, they have increased their strength so much that now they are even able to easily seize my abode from me.

24Because of their firm determination to follow the instructions of Śukrācārya, his disciples, the demons, are now unconcerned about the demigods. In fact, kings or others who have determined faith in the mercy of brāhmaṇas, cows and the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, and who always worship these three are always strong in their position.

25O demigods, I instruct you to approach Viśvarūpa, the son of Tvaṣṭā, and accept him as your guru. He is a pure and very powerful brāhmaṇa undergoing austerity and penances. Pleased by your worship, he will fulfill your desires, provided that you tolerate his being inclined to side with the demons.

26Śrīla Śukadeva Gosvāmī continued: Thus advised by Lord Brahmā and relieved of their anxiety, all the demigods went to the sage Viśvarūpa, the son of Tvaṣṭā. My dear King, they embraced him and spoke as follows.

27The demigods said: Beloved Viśvarūpa, may there be all good fortune for you. We, the demigods, have come to your āśrama as your guests. Please try to fulfill our desires according to the time, since we are on the level of your parents.

28O brāhmaṇa, the highest duty of a son, even though he has sons of his own, is to serve his parents, and what to speak of a son who is a brahmacārī?

29-30The ācārya, the spiritual master who teaches all the Vedic knowledge and gives initiation by offering the sacred thread, is the personification of all the Vedas. Similarly, a father personifies Lord Brahmā; a brother, King Indra; a mother, the planet earth; and a sister, mercy. A guest personifies religious principles, an invited guest personifies the demigod Agni, and all living entities personify Lord Viṣṇu, the Supreme Personality of Godhead.

31Dear son, we have been defeated by our enemies, and therefore we are very much aggrieved. Please mercifully fulfill our desires by relieving our distress through the strength of your austerities. Please fulfill our prayers.

32Since you are completely aware of the Supreme Brahman, you are a perfect brāhmaṇa, and therefore you are the spiritual master of all orders of life. We accept you as our spiritual master and director so that by the power of your austerity we may easily defeat the enemies who have conquered us.

33The demigods continued: Do not fear criticism for being younger than us. Such etiquette does not apply in regard to Vedic mantras. Except in relationship to Vedic mantras, seniority is determined by age, but one may offer respectful obeisances even to a younger person who is advanced in chanting Vedic mantras. Therefore although you are junior in relationship to us, you may become our priest without hesitation.

34Śukadeva Gosvāmī continued: When all the demigods requested the great Viśvarūpa to be their priest, Viśvarūpa, who was advanced in austerities, was very pleased. He replied to them as follows.

35Śrī Viśvarūpa said: O demigods, although the acceptance of priesthood is decried as causing the loss of previously acquired brahminical power, how can someone like me refuse to accept your personal request? You are all exalted commanders of the entire universe. I am your disciple and must take many lessons from you. Therefore I cannot refuse you. I must agree for my own benefit.

36O exalted governors of various planets, the true brāhmaṇa, who has no material possessions, maintains himself by the profession of accepting śiloṣchana. In other words, he picks up grains left in the field and on the ground in the wholesale marketplace. By this means, householder brāhmaṇas who actually abide by the principles of austerity and penance maintain themselves and their families and perform all necessary pious activities. A brāhmaṇa who desires to achieve happiness by gaining wealth through professional priesthood must certainly have a very low mind. How shall I accept such priesthood?

37All of you are my superiors. Therefore although accepting priesthood is sometimes reproachable, I cannot refuse even a small request from you. I agree to be your priest. I shall fulfill your request by dedicating my life and possessions.

38ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: O King, after making this promise to the demigods, the exalted Viśvarūpa, surrounded by the demigods, performed the necessary priestly activities with great enthusiasm and attention.

39The opulence of the demons, who are generally known as the enemies of the demigods, was protected by the talents and tactics of Śukrācārya, but Viśvarūpa, who was most powerful, composed a protective prayer known as the Nārāyaṇa-kavaca. By this intelligent mantra, he took away the opulence of the demons and gave it to Mahendra, the King of heaven.

40Viśvarūpa, who was most liberal, spoke to King Indra [Sahasrākṣa] the secret hymn that protected Indra and conquered the military power of the demons.

## SB 6.8: The Nārāyaṇa-kavaca Shield

This chapter describes how Indra, the King of heaven, was victorious over the soldiers of the demons, and it also describes the shield of the Viṣṇu *mantra.*

To take protection from this shield, one must first touch *kuśa* grass and wash one's mouth with *ācamana-mantras.* One should observe silence and then place the eight-syllable Viṣṇu *mantra* on the parts of his body and place the twelve-syllable *mantra* on his hands. The eight-syllable *mantra* is *oṁ namo nārāyaṇāya.* This *mantra* should be distributed all over the front and back of the body. The twelve-syllable *mantra,* which begins with the *praṇava, oṁkāra,* is *oṁ namo bhagavate vāsudevāya.* One syllable should be placed on each of the fingers and should be preceded by the *praṇava, oṁkāra.* Thereafter, one must chant *oṁ viṣṇave namaḥ,* which is a six-syllable *mantra.* One must progressively place the syllables of the *mantra* on the heart, the head, between the two eyebrows, on the *śikhā* and between the eyes, and then one should chant *maḥ astrāya phaṭ* and with this *mantra* protect himself from all directions. *Nādevo devam arcayet:* one who has not risen to the level of a *deva* cannot chant this *mantra.* According to this direction of the *śāstra,* one must think himself qualitatively nondifferent from the Supreme.

After finishing this dedication, one must offer a prayer to the eight-armed Lord Viṣṇu, who sits on the shoulders of Garuḍadeva. One also has to think of the fish incarnation, Vāmana, Kūrma,

Nṛsiṁha, Varāha, Paraśurāma, Rāmacandra (the elder brother of Lakṣmaṇa), Nara-Nārāyaṇa, Dattātreya (an empowered incarnation), Kapila, Sanat-kumāra, Hayagrīva, Nāradadeva (the incarnation of a devotee), Dhanvantari, Ṛṣabhadeva, Yajṣa, Balarāma, Vyāsadeva, Buddhadeva and Keśava. One should also think of Govinda, the master of Vṛndāvana, and one should think of Nārāyaṇa, the master of the spiritual sky. One should think of Madhusūdana, Tridhāmā, Mādhava, Hṛṣīkeśa, Padmanābha, Janārdana, Dāmodara and Viśveśvara, as well as the Supreme Personality of Godhead Kṛṣṇa Himself. After offering prayers to the Lord's personal expansions known as the *svāṁśa* and *śaktyāveśa-avatāras,* one should pray to the weapons of Lord Nārāyaṇa, such as the Sudarśana, *gadā, śaṅkha, khaḍga* and bow.

After explaining this process, Śukadeva Gosvāmī told Mahārāja Parīkṣit how Viśvarūpa, the brother of Vṛtrāsura, described the glories of the Nārāyaṇa-kavaca to Indra.

1-2King Parīkṣit inquired from Śukadeva Gosvāmī: My lord, kindly explain the Viṣṇu mantra armor that protected King Indra and enabled him to conquer his enemies, along with their carriers, and enjoy the opulence of the three worlds. Please explain to me that Nārāyaṇa armor, by which King Indra achieved success in battle, conquering the enemies who were endeavoring to kill him.

3ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: King Indra, the leader of the demigods, inquired about the armor known as Nārāyaṇa-kavaca from Viśvarūpa, who was engaged by the demigods as their priest. Please hear Viśvarūpa's reply with great attention.

4-6Viśvarūpa said: If some form of fear arrives, one should first wash his hands and legs clean and then perform ācamana by chanting this mantra: om apavitraḥ pavitro vā sarvāvasthāṁ gato 'pi vā/ yaḥ smaret puṇḍarīkākṣaṁ sa bahyābhyantaraḥśuciḥ/ śrī-viṣṇu śrī-viṣṇu śrī-viṣṇu. Then one should touch kuśa grass and sit gravely and silently, facing north. When completely purified, one should touch the mantra composed of eight syllables to the eight parts of his body and touch the mantra composed of twelve syllables to his hands. Thus, in the following manner, he should bind himself with the Nārāyaṇa coat of armor. First, while chanting the mantra composed of eight syllables [oṁ namo nārāyaṇāya], beginning with the praṇava, the syllable om, one should touch his hands to eight parts of his body, starting with the two feet and progressing systematically to the knees, thighs, abdomen, heart, chest, mouth and head. Then one should chant the mantra in reverse, beginning from the last syllable [ya], while touching the parts of his body in the reverse order. These two processes are known as utpatti-nyāsa and saṁhāra-nyāsa respectively.

7Then one should chant the mantra composed of twelve syllables [oṁ namo bhagavate vāsudevāya]. Preceding each syllable by the oṁkāra, one should place the syllables of the mantra on the tips of his fingers, beginning with the index finger of the right hand and concluding with the index finger of the left. The four remaining syllables should be placed on the joints of the thumbs.

8-10One must then chant the mantra of six syllables [oṁ viṣṇave namaḥ]. One should place the syllable om on his heart, the syllable vi on the top of his head, the syllable sa between his eyebrows, the syllable na on his tuft of hair [śikhā], and the syllable ve between his eyes. The chanter of the mantra should then place the syllable na on all the joints of his body and meditate on the syllable ma as being a weapon. He should thus become the perfect personification of the mantra. Thereafter, adding visarga to the final syllable ma he should chant the mantra maḥ astrāya phaṭ in all directions, beginning from the east. In this way, all directions will be bound by the protective armor of the mantra.

11After finishing this chanting, one should think himself qualitatively one with the Supreme Personality of Godhead, who is full in six opulences and is worthy to be meditated upon. Then one should chant the following protective prayer to Lord Nārāyaṇa, the Nārāyaṇa-kavaca.

12The Supreme Lord, who sits on the back of the bird Garuḍa, touching him with His lotus feet, holds eight weaponsthe conchshell, disc, shield, sword, club, arrows, bow and ropes. May that Supreme Personality of Godhead protect me at all times with His eight arms. He is all-powerful because He fully possesses the eight mystic powers [aṇimā, laghimā, etc.].

13May the Lord, who assumes the body of a great fish, protect me in the water from the fierce animals that are associates of the demigod Varuṇa. By expanding His illusory energy, the Lord assumed the form of the dwarf Vāmana. May Vāmana protect me on the land. Since the gigantic form of the Lord, Viśvarūpa, conquers the three worlds, may He protect me in the sky.

14May Lord Nṛsiṁhadeva, who appeared as the enemy of Hiraṇyakaśipu, protect me in all directions. His loud laughing vibrated in all directions and caused the pregnant wives of the asuras to have miscarriages. May that Lord be kind enough to protect me in difficult places like the forest and battlefront.

15The Supreme indestructible Lord is ascertained through the performance of ritualistic sacrifices and is therefore known as Yajṣeśvara. In His incarnation as Lord Boar, He raised the planet earth from the water at the bottom of the universe and kept it on His pointed tusks. May that Lord protect me from rogues on the street. May Paraśurāma protect me on the tops of mountains, and may the elder brother of Bharata, Lord Rāmacandra, along with His brother Lakṣmaṇa, protect me in foreign countries.

16May Lord Nārāyaṇa protect me from unnecessarily following false religious systems and falling from my duties due to madness. May the Lord in His appearance as Nara protect me from unnecessary pride. May Lord Dattātreya, the master of all mystic power, protect me from falling while performing bhakti-yoga, and may Lord Kapila, the master of all good qualities, protect me from the material bondage of fruitive activities.

17May Sanat-kumāra protect me from lusty desires. As I begin some auspicious activity, may Lord Hayagrīva protect me from being an offender by neglecting to offer respectful obeisances to the Supreme Lord. May Devarṣi Nārada protect me from committing offenses in worshiping the Deity, and may Lord Kūrma, the tortoise, protect me from falling to the unlimited hellish planets.

18May the Supreme Personality of Godhead in His incarnation as Dhanvantari relieve me from undesirable eatables and protect me from physical illness. May Lord Ṛṣabhadeva, who conquered His inner and outer senses, protect me from fear produced by the duality of heat and cold. May Yajṣa protect me from defamation and harm from the populace, and may Lord Balarāma as Śeṣa protect me from envious serpents.

19May the Personality of Godhead in His incarnation as Vyāsadeva protect me from all kinds of ignorance resulting from the absence of Vedic knowledge. May Lord Buddhadeva protect me from activities opposed to Vedic principles and from laziness that causes one to madly forget the Vedic principles of knowledge and ritualistic action. May Kalkideva, the Supreme Personality of Godhead, who appeared as an incarnation to protect religious principles, protect me from the dirt of the Age of Kali.

20May Lord Keśava protect me with His club in the first portion of the day, and may Govinda, who is always engaged in playing His flute, protect me in the second portion of the day. May

Lord Nārāyaṇa, who is equipped with all potencies, protect me in the third part of the day, and may Lord Viṣṇu, who carries a disc to kill His enemies, protect me in the fourth part of the day.

21May Lord Madhusūdana, who carries a bow very fearful for the demons, protect me during the fifth part of the day. In the evening, may Lord Mādhava, appearing as Brahmā, Viṣṇu and Maheśvara, protect me, and in the beginning of night may Lord Hṛṣīkeśa protect me. At the dead of night [in the second and third parts of night] may Lord Padmanābha alone protect me.

22May the Supreme Personality of Godhead, who bears the Śrīvatsa on His chest, protect me after midnight until the sky becomes pinkish. May Lord Janārdana, who carries a sword in His hand, protect me at the end of night [during the last four ghaṭikās of night]. May Lord Dāmodara protect me in the early morning, and may Lord Viśveśvara protect me during the junctions of day and night.

23Set into motion by the Supreme Personality of Godhead and wandering in all the four directions, the disc of the Supreme Lord has sharp edges as destructive as the fire of devastation at the end of the millennium. As a blazing fire burns dry grass to ashes with the assistance of the breeze, may that Sudarśana cakra burn our enemies to ashes.

24O club in the hand of the Supreme Personality of Godhead, you produce sparks of fire as powerful as thunderbolts, and you are extremely dear to the Lord. I am also His servant. Therefore kindly help me pound to pieces the evil living beings known as Kuṣmāṇḍas, Vaināyakas, Yakṣas, Rākṣasas, Bhūtas and Grahas. Please pulverize them.

25O best of conchshells, O Pāṣcajanya in the hands of the Lord, you are always filled with the breath of Lord Kṛṣṇa. Therefore you create a fearful sound vibration that causes trembling in the hearts of enemies like the Rākṣasas, pramatha ghosts, Pretas, Mātās, Piśācas and brāhmaṇa ghosts with fearful eyes.

26O king of sharp-edged swords, you are engaged by the Supreme Personality of Godhead. Please cut the soldiers of my enemies to pieces. Please cut them to pieces! O shield marked with a hundred brilliant moonlike circles, please cover the eyes of the sinful enemies. Pluck out their sinful eyes.

27-28May the glorification of the transcendental name, form, qualities and paraphernalia of the Supreme Personality of Godhead protect us from the influence of bad planets, meteors, envious human beings, serpents, scorpions, and animals like tigers and wolves. May it protect us from ghosts and the material elements like earth, water, fire and air, and may it also protect us from lightning and our past sins. We are always afraid of these hindrances to our auspicious life. Therefore, may they all be completely destroyed by the chanting of the Hare Kṛṣṇa mahā-mantra.

29Lord Garuḍa, the carrier of Lord Viṣṇu, is the most worshipable lord, for he is as powerful as the Supreme Lord Himself. He is the personified Vedas and is worshiped by selected verses. May he protect us from all dangerous conditions, and may Lord Viṣvaksena, the Personality of Godhead, also protect us from all dangers by His holy names.

30May the Supreme Personality of Godhead's holy names, His transcendental forms, His carriers and all the weapons decorating Him as personal associates protect our intelligence, senses, mind and life air from all dangers.

31The subtle and gross cosmic manifestation is material, but nevertheless it is nondifferent from the Supreme Personality of Godhead because He is ultimately the cause of all causes.

Cause and effect are factually one because the cause is present in the effect. Therefore the Absolute Truth, the Supreme Personality of Godhead, can destroy all our dangers by any of His potent parts.

32-33The Supreme Personality of Godhead, the living entities, the material energy, the spiritual energy and the entire creation are all individual substances. In the ultimate analysis, however, together they constitute the supreme one, the Personality of Godhead. Therefore those who are advanced in spiritual knowledge see unity in diversity. For such advanced persons, the Lord's bodily decorations, His name, His fame, His attributes and forms and the weapons in His hand are manifestations of the strength of His potency. According to their elevated spiritual understanding, the omniscient Lord, who manifests various forms, is present everywhere. May He always protect us everywhere from all calamities.

34Prahlāda Mahārāja loudly chanted the holy name of Lord Nṛsiṁhadeva. May Lord Nṛsiṁhadeva, roaring for His devotee Prahlāda Mahārāja, protect us from all fear of dangers created by stalwart leaders in all directions through poison, weapons, water, fire, air and so on. May the Lord cover their influence by His own transcendental influence. May Nṛsiṁhadeva protect us in all directions and in all corners, above, below, within and without.

35Viśvarūpa continued: O Indra, this mystic armor related to Lord Nārāyaṇa has been described by me to you. By putting on this protective covering, you will certainly be able to conquer the leaders of the demons.

36If one employs this armor, whomever he sees with his eyes or touches with his feet is immediately freed from all the above-mentioned dangers.

37This prayer, Nārāyaṇa-kavaca, constitutes subtle knowledge transcendentally connected with Nārāyaṇa. One who employs this prayer is never disturbed or put in danger by the government, by plunderers, by evil demons or by any type of disease.

38O King of heaven, a brāhmaṇa named Kauśika formerly used this armor when he purposely gave up his body in the desert by mystic power.

39Surrounded by many beautiful women, Citraratha, the King of Gandharvaloka, was once passing in his airplane over the brāhmaṇa's body at the spot where the brāhmaṇa had died.

40Suddenly Citraratha was forced to fall from the sky headfirst with his airplane. Struck with wonder, he was ordered by the great sages named the Vālikhilyas to throw the brāhmaṇa's bones in the nearby river Sarasvatī. He had to do this and bathe in the river before returning to his own abode.

41ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: My dear Mahārāja Parīkṣit, one who employs this armor or hears about it with faith and veneration when afraid because of any conditions in the material world is immediately freed from all dangers and is worshiped by all living entities.

42King Indra, who performed one hundred sacrifices, received this prayer of protection from Viśvarūpa. After conquering the demons, he enjoyed all the opulences of the three worlds.

### SB 6.9: Appearance of the Demon Vṛtrāsura

As described in this chapter, Indra, the King of heaven, killed Viśvarūpa, and therefore Viśvarūpa's father performed a *yajṣa* to kill Indra. When Vṛtrāsura appeared from that *yajṣa,* the demigods, in fear, sought shelter of the Supreme Personality of Godhead and glorified Him.

Because of affection for the demons, Viśvarūpa secretly supplied them the remnants of *yajṣa.* When Indra learned about this, he beheaded Viśvarūpa, but he later regretted killing Viśvarūpa because Viśvarūpa was a *brāhmaṇa.* Although competent to neutralize the sinful reactions for killing a *brāhmaṇa,* Indra did not do so. Instead he accepted the reactions. Later, he distributed these reactions among the land, water, trees and women in general. Since the land accepted one fourth of the sinful reactions, a portion of the land turned into desert. The trees were also given one fourth of the sinful reactions, and therefore they drip sap, which is prohibited for drinking. Because women accepted one fourth of the sinful reactions, they are untouchable during their menstrual period. Since water was also infested with sinful reactions, when bubbles appear in water it cannot be used for any purpose.

After Viśvarūpa was killed, his father, Tvaṣṭā, performed a sacrifice to kill King Indra. Unfortunately, if *mantras* are chanted irregularly, they yield an opposite result. This happened when Tvaṣṭā performed this *yajṣa.* While performing the sacrifice to kill Indra, Tvaṣṭā chanted a *mantra* to increase Indra's enemies, but because he chanted the *mantra* wrong, the sacrifice produced an *asura* named Vṛtrāsura, of whom Indra was the enemy. When Vṛtrāsura was generated from the sacrifice, his fierce features made the whole world afraid, and his personal effulgence diminished even the power of the demigods. Finding no other means of protection, the demigods began to worship the Supreme Personality of Godhead, the enjoyer of all the results of sacrifice, who is supreme throughout the entire universe. The demigods all worshiped Him because ultimately no one but Him can protect a living entity from fear and danger. Seeking shelter of a demigod instead of worshiping the Supreme Personality of Godhead is compared to trying to cross the ocean by grasping the tail of a dog. A dog can swim, but that does not mean that one can cross the ocean by grasping a dog's tail.

Being pleased with the demigods, the Supreme Personality of Godhead advised them to approach Dadhīci to beg him for the bones of his own body. Dadhīci would comply with the request of the demigods, and with the help of his bones Vṛtrāsura could be killed.

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: Viśvarūpa, who was engaged as the priest of the demigods, had three heads. He used one to drink the beverage soma-rasa, another to drink wine and the third to eat food. O King Parīkṣit, thus I have heard from authorities.

2O Mahārāja Parīkṣit, the demigods were related to Viśvarūpa from his father's side, and therefore he visibly offered clarified butter in the fire while chanting mantras such as indrāya idaṁ svāhā ["this is meant for King Indra"] and idam agnaye ["this is for the demigod of fire"]. He loudly chanted these mantras and offered each of the demigods his proper share.

3Although offering clarified butter in the sacrificial fire in the name of the demigods, without the knowledge of the demigods he also offered oblations to the demons because they were his relatives through his mother.

4Once upon a time, however, the King of heaven, Indra, understood that Viśvarūpa was secretly cheating the demigods by offering oblations on behalf of the demons. He became extremely afraid of being defeated by the demons, and in great anger at Viśvarūpa he cut Viśvarūpa's three heads from his shoulders.

5Thereafter, the head meant for drinking soma-rasa was transformed into a kapiṣjala [francolin partridge]. Similarly, the head meant for drinking wine was transformed into a kalaviṅka [sparrow], and the head meant for eating food became a tittiri [common partridge].

6Although Indra was so powerful that he could neutralize the sinful reactions for killing a brāhmaṇa, he repentantly accepted the burden of these reactions with folded hands. He

suffered for one year, and then to purify himself he distributed the reactions for this sinful killing among the earth, water, trees and women.

7In return for King Indra's benediction that ditches in the earth would be filled automatically, the land accepted one fourth of the sinful reactions for killing a brāhmaṇa. Because of those sinful reactions, we find many deserts on the surface of the earth.

8In return for Indra's benediction that their branches and twigs would grow back when trimmed, the trees accepted one fourth of the reactions for killing a brāhmaṇa. These reactions are visible in the flowing of sap from trees. [Therefore one is forbidden to drink this sap.]

9In return for Lord Indra's benediction that they would be able to enjoy lusty desires continuously, even during pregnancy for as long as sex is not injurious to the embryo, women accepted one fourth of the sinful reactions. As a result of those reactions, women manifest the signs of menstruation every month.

10And in return for King Indra's benediction that water would increase the volume of other substances with which it was mixed, water accepted one fourth of the sinful reactions. Therefore there are bubbles and foam in water. When one collects water, these should be avoided.

11After Viśvarūpa was killed, his father, Tvaṣṭā, performed ritualistic ceremonies to kill Indra. He offered oblations in the sacrificial fire, saying, "O enemy of Indra, flourish to kill your enemy without delay."

12Thereafter, from the southern side of the sacrificial fire known as Anvāhārya came a fearful personality who looked like the destroyer of the entire creation at the end of the millennium.

13-17Like arrows released in the four directions, the demon's body grew, day after day. Tall and blackish, he appeared like a burnt hill and was as lustrous as a bright array of clouds in the evening. The hair on the demon's body and his beard and moustache were the color of melted copper, and his eyes were piercing like the midday sun. He appeared unconquerable, as if holding the three worlds on the points of his blazing trident. Dancing and shouting with a loud voice, he made the entire surface of the earth tremble as if from an earthquake. As he yawned again and again, he seemed to be trying to swallow the whole sky with his mouth, which was as deep as a cave. He seemed to be licking up all the stars in the sky with his tongue and eating the entire universe with his long, sharp teeth. Seeing this gigantic demon, everyone, in great fear, ran here and there in all directions.

18That very fearful demon, who was actually the son of Tvaṣṭā, covered all the planetary systems by dint of austerity. Therefore he was named Vṛtra, or one who covers everything.

19The demigods, headed by Indra, charged the demon with their soldiers, striking him with their own transcendental bows and arrows and other weapons but Vṛtrāsura swallowed all their weapons.

20Struck with wonder and disappointment upon seeing the strength of the demon, the demigods lost their own strength. Therefore they all met together to try to please the Supersoul, the Supreme Personality of Godhead, Nārāyaṇa, by worshiping Him.

21The demigods said: The three worlds are created by the five elementsnamely ether, air, fire, water and earthwhich are controlled by various demigods, beginning from Lord Brahmā. Being very much afraid that the time factor will end our existence, we offer presentations unto time by performing our work as time dictates. The time factor himself, however, is afraid of the

Supreme Personality of Godhead. Therefore let us now worship that Supreme Lord, who alone can give us full protection.

22Free from all material conceptions of existence and never wonder-struck by anything, the Lord is always jubilant and fully satisfied by His own spiritual perfection. He has no material designations, and therefore He is steady and unattached. That Supreme Personality of Godhead is the only shelter of everyone. Anyone desiring to be protected by others is certainly a great fool who desires to cross the sea by holding the tail of a dog.

23The Manu named King Satyavrata formerly saved himself by tying the small boat of the entire world to the horn of the Matsya avatāra, the fish incarnation. By the grace of the Matsya avatāra, Manu saved himself from the great danger of the flood. May that same fish incarnation save us from the great and fearful danger caused by the son of Tvaṣṭā.

24In the beginning of creation, a tremendous wind caused fierce waves of inundating water. The great waves made such a horrible sound that Lord Brahmā almost fell from his seat on the lotus into the water of devastation, but he was saved with the help of the Lord. Thus we also expect the Lord to protect us from this dangerous condition.

25The Supreme Personality of Godhead, who created us by His external potency and by whose mercy we expand the creation of the universe, is always situated before us as the Supersoul, but we cannot see His form. We are unable to see Him because all of us think that we are separate and independent gods.

26-27By His inconceivable internal potency, the Supreme Personality of Godhead expands into various transcendental bodies as Vāmanadeva, the incarnation of strength among the demigods; Paraśurāma, the incarnation among saints; Nṛsiṁhadeva and Varāha, incarnations among animals; and Matsya and Kūrma, incarnations among aquatics. He accepts various transcendental bodies among all types of living entities, and among human beings He especially appears as Lord Kṛṣṇa and Lord Rāma. By His causeless mercy, He protects the demigods, who are always harassed by the demons. He is the supreme worshipable Deity of all living entities. He is the supreme cause, represented as the male and female creative energies. Although different from this universe, He exists in His universal form [virāṭ-rūpa]. In our fearful condition, let us take shelter of Him, for we are sure that the Supreme Lord, the Supreme Soul, will give us His protection.

28ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: My dear King, when all the demigods offered Him their prayers, the Supreme Personality of Godhead, Lord Hari, carrying His weapons, the conchshell, disc and club, appeared first within their hearts and then before them.

29-30Surrounding and serving the Supreme Personality of Godhead, Nārāyaṇa, were sixteen personal attendants, decorated with ornaments and appearing exactly like Him but without the mark of Śrīvatsa and the Kaustubha jewel. O King, when all the demigods saw the Supreme Lord in that posture, smiling with eyes like the petals of lotuses grown in autumn, they were overwhelmed with happiness and immediately fell down like rods, offering daṇḍavats. Then they slowly rose and pleased the Lord by offering Him prayers.

31The demigods said: O Supreme Personality of Godhead, You are competent to give the results of sacrifice, and You are also the time factor that destroys all such results in due course. You are the one who releases the cakra to kill the demons. O Lord, who possess many varieties of names, we offer our respectful obeisances unto You.

32O supreme controller, You control the three destinations [promotion to the heavenly planets,

birth as a human being, and condemnation in hell], yet Your supreme abode is Vaikuṇṭha-dhāma. Since we appeared after You created this cosmic manifestation, Your activities are impossible for us to understand. We therefore have nothing to offer You but our humble obeisances.

33O Supreme Personality of Godhead, O Nārāyaṇa, O Vāsudeva, original person! O most exalted person, supreme experience, welfare personified! O supreme benediction, supremely merciful and changeless! O support of the cosmic manifestation, sole proprietor of all planetary systems, master of everything and husband of the goddess of fortune! Your Lordship is realized by the topmost sannyāsīs, who wander about the world to preach Kṛṣṇa consciousness, fully absorbed in samādhi through bhakti-yoga. Because their minds are concentrated upon You, they can receive the conception of Your personality in their fully purified hearts. When the darkness in their hearts is completely eradicated and You are revealed to them, the transcendental bliss they enjoy is the transcendental form of Your Lordship. No one but such persons can realize You. Therefore we simply offer You our respectful obeisances.

34O Lord, You need no support, and although You have no material body, You do not need cooperation from us. Since You are the cause of the cosmic manifestation and You supply its material ingredients without being transformed, You create, maintain and annihilate this cosmic manifestation by Yourself. Nevertheless, although You appear engaged in material activity, You are transcendental to all material qualities. Consequently these transcendental activities of Yours are extremely difficult to understand.

35These are our inquiries. The ordinary conditioned soul is subject to the material laws, and he thus receives the fruits of his actions. Does Your Lordship, like an ordinary human being, exist within this material world in a body produced by the material modes? Do You enjoy or suffer the good or bad results of actions under the influence of time, past work and so forth? Or, on the contrary, are You present here only as a neutral witness who is self-sufficient, free from all material desires, and always full of spiritual potency? We certainly cannot understand Your actual position.

36O Supreme Personality of Godhead, all contradictions can be reconciled in You. O Lord, since You are the Supreme Person, the reservoir of unlimited spiritual qualities, the supreme controller, Your unlimited glories are inconceivable to the conditioned souls. Many modern theologians argue about right and wrong without knowing what is actually right. Their arguments are always false and their judgments inconclusive because they have no authorized evidence with which to gain knowledge of You. Because their minds are agitated by scriptures containing false conclusions, they are unable to understand the truth concerning You. Furthermore, because of polluted eagerness to arrive at the right conclusion, their theories are incapable of revealing You, who are transcendental to their material conceptions. You are one without a second, and therefore in You contradictions like doing and not doing, happiness and distress, are not contradictory. Your potency is so great that it can do and undo anything as You like. With the help of that potency, what is impossible for You? Since there is no duality in Your constitutional position, You can do everything by the influence of Your energy.

37A rope causes fear for a bewildered person who considers it a snake, but not for a person with proper intelligence who knows it to be only a rope. Similarly, You, as the Supersoul in everyone's heart, inspire fear or fearlessness according to one's intelligence, but in You there is no duality.

38With deliberation, one will see that the Supreme Soul, although manifested in different ways, is actually the basic principle of everything. The total material energy is the cause of the material manifestation, but the material energy is caused by Him. Therefore He is the cause of

all causes, the manifester of intelligence and the senses. He is perceived as the Supersoul of everything. Without Him, everything would be dead. You, as that Supersoul, the supreme controller, are the only one remaining.

39Therefore, O killer of the Madhu demon, incessant transcendental bliss flows in the minds of those who have even once tasted but a drop of the nectar from the ocean of Your glories. Such exalted devotees forget the tiny reflection of so-called material happiness produced from the material senses of sight and sound. Free from all desires, such devotees are the real friends of all living entities. Offering their minds unto You and enjoying transcendental bliss, they are expert in achieving the real goal of life. O Lord, You are the soul and dear friend of such devotees, who never need return to this material world. How could they give up engagement in Your devotional service?

40O Lord, O personified three worlds, father of the three worlds! O strength of the three worlds, in the form of the Vāmana incarnation! O three-eyed form of Nṛsiṁhadeva! O most beautiful person within the three worlds! Everything and everyone, including human beings and even the Daitya demons and the Dānavas, is but an expansion of Your energy. O supremely powerful one, You have always appeared in Your forms as the various incarnations to punish the demons as soon as they become very powerful. You appear as Lord Vāmanadeva, Lord Rāma and Lord Kṛṣṇa. You appear sometimes as an animal like Lord Boar, sometimes a mixed incarnation like Lord Nṛsiṁhadeva and Lord Hayagrīva, and sometimes an aquatic like Lord Fish and Lord Tortoise. Assuming such various forms, You have always punished the demons and Dānavas. We therefore pray that Your Lordship appear today as another incarnation, if You so desire, to kill the great demon Vṛtrāsura.

41O supreme protector, O grandfather, O supreme pure, O Lord! We are all surrendered souls at Your lotus feet. Indeed, our minds are bound to Your lotus feet in meditation by chains of love. Now please manifest Your incarnation. Accepting us as Your own eternal servants and devotees, be pleased with us and sympathetic toward us. By Your love-filled glance, with its cool and pleasing smile of sympathy, and by the sweet, nectarean words emanating from Your beautiful face, free us from the anxiety caused by this Vṛtrāsura, who always pains the cores of our hearts.

42O Lord, as the small sparks of a fire cannot possibly perform the actions of the whole fire, we sparks of Your Lordship cannot inform You of the necessities of our lives. You are the complete whole. Therefore, of what do we need to inform You? You know everything because You are the original cause of the cosmic manifestation, the maintainer and the annihilator of the entire universal creation. You always engage in Your pastimes with Your spiritual and material energies, for You are the controller of all these varied energies. You exist within all living entities, within the cosmic manifestation, and also beyond them. You exist internally as Parabrahman and externally as the ingredients of the material creation. Therefore, although manifested in various stages, at different times and places, and in various bodies, You, the Personality of Godhead, are the original cause of all causes. Indeed, You are the original element. You are the witness of all activities, but because You are as great as the sky, You are never touched by any of them. You are the witness of everything as Parabrahman and Paramātmā. O Supreme Personality of Godhead, nothing is unknown to You.

43Dear Lord, You are omniscient, and therefore You know very well why we have taken shelter at Your lotus feet, which provide shade that gives relief from all material disturbances. Since You are the supreme spiritual master and You know everything, we have sought shelter of Your lotus feet for instruction. Please give us relief by counteracting our present distress. Your lotus feet are the only shelter for a fully surrendered devotee and are the only means for subduing all the tribulations of this material world.

44Therefore, O Lord, O supreme controller, O Lord Kṛṣṇa, please annihilate this dangerous demon Vṛtrāsura, Tvaṣṭā's son, who has already swallowed all our weapons, our paraphernalia for fighting, and our strength and influence.

45O Lord, O supreme pure, You live within the core of everyone's heart and observe all the desires and activities of the conditioned souls. O Supreme Personality of Godhead known as Lord Kṛṣṇa, Your reputation is bright and illuminating. You have no beginning, for You are the beginning of everything. This is understood by pure devotees because You are easily accessible to the pure and truthful. When the conditioned souls are liberated and sheltered at Your lotus feet after roving throughout the material world for many millions of years, they attain the highest success of life. Therefore, O Lord, O Supreme Personality of Godhead, we offer our respectful obeisances at Your lotus feet.

46ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: O King Parīkṣit, when the demigods offered the Lord their sincere prayers in this way, the Lord listened by His causeless mercy. Being pleased, He then replied to the demigods.

47The Supreme Personality of Godhead said: O beloved demigods, you have offered your prayers to Me with great knowledge, and I am certainly most pleased with you. A person is liberated by such knowledge, and thus he remembers My exalted position, which is above the conditions of material life. Such a devotee is fully purified by offering prayers in full knowledge. This is the source of devotional service to Me.

48O best of the intelligent demigods, although it is true that nothing is difficult for one to obtain when I am pleased with him, a pure devotee, whose mind is exclusively fixed upon Me, does not ask Me for anything but the opportunity to engage in devotional service.

49Those who think material assets to be everything or to be the ultimate goal of life are called misers [kṛpaṇas]. They do not know the ultimate necessity of the soul. Moreover, if one awards that which is desired by such fools, he must also be considered foolish.

50A pure devotee who is fully accomplished in the science of devotional service will never instruct a foolish person to engage in fruitive activities for material enjoyment, not to speak of helping him in such activities. Such a devotee is like an experienced physician, who never encourages a patient to eat food injurious to his health, even if the patient desires it.

51O Maghavan [Indra], all good fortune unto you. I advise you to approach the exalted saint Dadhyaṣca [Dadhīci]. He has become very accomplished in knowledge, vows and austerities, and his body is very strong. Go ask him for his body without delay.

52That saintly Dadhyaṣca, who is also known as Dadhīci, personally assimilated the spiritual science and then delivered it to the Aśvinī-kumāras. It is said that Dadhyaṣca gave them mantras through the head of a horse. Therefore the mantras are called Aśvaśira. After obtaining the mantras of spiritual science from Dadhīci, the Aśvinī-kumāras became jīvan-mukta, liberated even in this life.

53Dadhyaṣca's invincible protective covering known as the Nārāyaṇa-kavaca was given to Tvaṣṭā, who delivered it to his son Viśvarūpa, from whom you have received it. Because of this Nārāyaṇa-kavaca, Dadhīci's body is now very strong. You should therefore beg him for his body.

54When the Aśvinī-kumāras beg for Dadhyaṣca's body on your behalf, he will surely give it because of affection. Do not doubt this, for Dadhyaṣca is very experienced in religious understanding. When Dadhyaṣca awards you his body, Viśvakarmā will prepare a thunderbolt

from his bones. This thunderbolt will certainly kill Vṛtrāsura because it will be invested with My power.

55When Vṛtrāsura is killed because of My spiritual strength, you will regain your strength, weapons and wealth. Thus there will be all good fortune for all of you. Although Vṛtrāsura can destroy all the three worlds, do not fear that he will harm you. He is also a devotee and will never be envious of you.

**SB 6.10: The Battle Between the Demigods and Vṛtrāsura**

As described in this chapter, after Indra obtained the body of Dadhīci, a thunderbolt was prepared from Dadhīci's bones, and a fight took place between Vṛtrāsura and the demigods.

Following the order of the Supreme Personality of Godhead, the demigods approached Dadhīci Muni and begged for his body. Dadhīci Muni, just to hear from the demigods about the principles of religion, jokingly refused to relinquish his body, but for higher purposes he thereafter agreed to give it up, for after death the body is usually eaten by low animals like dogs and jackals. Dadhīci Muni first merged his gross body made of five elements into the original stock of five elements and then engaged his soul at the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead. Thus he gave up his gross body. With the help of Viśvakarmā, the demigods then prepared a thunderbolt from Dadhīci's bones. Armed with the thunderbolt weapon, they prepared themselves to fight and got up on the backs of elephants.

At the end of Satya-yuga and the beginning of Tretā-yuga, a great fight took place between the demigods and the *asuras*. Unable to tolerate the effulgence of the demigods, the *asuras* fled the battle, leaving Vṛtrāsura, their commander in chief, to fight for himself. Vṛtrāsura, however, seeing the demons fleeing, instructed them in the importance of fighting and dying in the battlefield. One who is victorious in battle gains material possessions, and one who dies in the battlefield attains a residence at once in the celestial heavens. In either way, the fighter benefits.

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: After instructing Indra in this way, the Supreme Personality of Godhead, Hari, the cause of the cosmic manifestation, then and there disappeared from the presence of the onlooking demigods.

2O King Parīkṣit, following the Lord's instructions, the demigods approached Dadhīci, the son of Atharvā. He was very liberal, and when they begged him to give them his body, he at once partially agreed. However, just to hear religious instructions from them, he smiled and jokingly spoke as follows.

3O elevated demigods, at the time of death, severe, unbearable pain takes away the consciousness of all living entities who have accepted material bodies. Don't you know about this pain?

4In this material world, every living entity is very much addicted to his material body. Struggling to keep his body forever, everyone tries to protect it by all means, even at the sacrifice of all his possessions. Therefore, who would be prepared to deliver his body to anyone, even if it were demanded by Lord Viṣṇu?

5The demigods replied: O exalted brāhmaṇa, pious persons like you, whose activities are praiseworthy, are very kind and affectionate to people in general. What can't such pious souls give for the benefit of others? They can give everything, including their bodies.

6Those who are too self-interested beg something from others, not knowing of others' pain.

But if the beggar knew the difficulty of the giver, he would not ask for anything. Similarly, he who is able to give charity does not know the beggar's difficulty, for otherwise he would not refuse to give the beggar anything he might want as charity.

7The great sage Dadhīci said: Just to hear from you about religious principles, I refused to offer my body at your request. Now, although my body is extremely dear to me, I must give it up for your better purposes since I know that it will leave me today or tomorrow.

8O demigods, one who has no compassion for humanity in its suffering and does not sacrifice his impermanent body for the higher causes of religious principles or eternal glory is certainly pitied even by the immovable beings.

9If one is unhappy to see the distress of other living beings and happy to see their happiness, his religious principles are appreciated as imperishable by exalted persons who are considered pious and benevolent.

10This body, which is eatable by jackals and dogs after death, does not actually do any good for me, the spirit soul. It is usable only for a short time and may perish at any moment. The body and its possessions, its riches and relatives, must all be engaged for the benefit of others, or else they will be sources of tribulation and misery.

11ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: Dadhīci Muni, the son of Atharvā, thus resolved to give his body to the service of the demigods. He placed himself, the spirit soul, at the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead and in this way gave up his gross material body made of five elements.

12Dadhīci Muni controlled his senses, life force, mind and intelligence and became absorbed in trance. Thus he cut all his material bonds. He could not perceive how his material body became separated from his self.

13-14Thereafter, King Indra very firmly took up the thunderbolt manufactured by Viśvakarmā from the bones of Dadhīci. Charged with the exalted power of Dadhīci Muni and enlightened by the power of the Supreme Personality of Godhead, Indra rode on the back of his carrier, Airāvata, surrounded by all the demigods, while all the great sages offered him praise. Thus he shone very beautifully, pleasing the three worlds as he rode off to kill Vṛtrāsura.

15My dear King Parīkṣit, as Rudra, being very angry at Antaka [Yamarāja] had formerly run toward Antaka to kill him, Indra angrily and with great force attacked Vṛtrāsura, who was surrounded by the leaders of the demoniac armies.

16Thereafter, at the end of Satya-yuga and the beginning of Tretā-yuga, a fierce battle took place between the demigods and the demons on the bank of the Narmadā.

17-18O King, when all the asuras came onto the battlefield, headed by Vṛtrāsura, they saw King Indra carrying the thunderbolt and surrounded by the Rudras, Vasus, Ādityas, Aśvinī-kumāras, Pitās, Vahnis, Maruts, Ṛbhus, Sādhyas and Viśvadevas. Surrounded by his company, Indra shone so brightly that his effulgence was intolerable to the demons.

19-22Many hundreds and thousands of demons, demi-demons, Yakṣas, Rākṣasas [man-eaters] and others, headed by Sumāli and Māli, resisted the armies of King Indra, which even death personified cannot easily overcome. Among the demons were Namuci, Śambara, Anarvā, Dvimūrdhā, Ṛṣabha, Asura, Hayagrīva, Śaṅkuśirā, Vipracitti, Ayomukha, Pulomā, Vṛṣaparvā, Praheti, Heti and Utkala. Roaring tumultuously and fearlessly like lions, these invincible demons, all dressed in golden ornaments, gave pain to the demigods with weapons like clubs,

bludgeons, arrows, barbed darts, mallets and lances.

23Armed with lances, tridents, axes, swords and other weapons like śataghnīs and bhuśuṇḍis, the demons attacked from different directions and scattered all the chiefs of the demigod armies.

24As the stars in the sky cannot be seen when covered by dense clouds, the demigods, being completely covered by networks of arrows falling upon them one after another, could not be seen.

25The showers of various weapons and arrows released to kill the soldiers of the demigods did not reach them because the demigods, acting quickly, cut the weapons into thousands of pieces in the sky.

26As their weapons and mantras decreased, the demons began showering mountain peaks, trees and stones upon the demigod soldiers, but the demigods were so powerful and expert that they nullified all these weapons by breaking them to pieces in the sky as before.

27When the soldiers of the demons, commanded by Vṛtrāsura, saw that the soldiers of King Indra were quite well, having not been injured at all by their volleys of weapons, not even by the trees, stones and mountain peaks, the demons were very much afraid.

28When insignificant persons use rough words to cast false, angry accusations against saintly persons, their fruitless words do not disturb the great personalities. Similarly, all the efforts of the demons against the demigods, who were favorably situated under the protection of Kṛṣṇa, were futile.

29The asuras, who are never devotees of Lord Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, lost their pride in fighting when they found all their endeavors futile. Leaving aside their leader even in the very beginning of the fight, they decided to flee because all their prowess had been taken away by the enemy.

30Seeing his army broken and all the asuras, even those known as great heroes, fleeing the battlefield out of intense fear, Vṛtrāsura, who was truly a great-minded hero, smiled and spoke the following words.

31According to his position and the time and circumstances, Vṛtrāsura, the hero among heroes, spoke words that were much to be appreciated by thoughtful men. He called to the heroes of the demons, "O Vipracitti! O Namuci! O Pulomā! O Maya, Anarvā and Śambara! Please hear me and do not flee."

32Vṛtrāsura said: All living entities who have taken birth in this material world must die. Surely, no one in this world has found any means to be saved from death. Even providence has not provided a means to escape it. Under the circumstances, death being inevitable, if one can gain promotion to the higher planetary systems and be always celebrated here by dying a suitable death, what man will not accept such a glorious death?

33There are two ways to meet a glorious death, and both are very rare. One is to die after performing mystic yoga, especially bhakti-yoga, by which one can control the mind and living force and die absorbed in thought of the Supreme Personality of Godhead. The second is to die on the battlefield, leading the army and never showing one's back. These two kinds of death are recommended in the śāstra as glorious.

**SB 6.11: The Transcendental Qualities of Vṛtrāsura**

This chapter describes Vṛtrāsura's great qualities. When the prominent commanders of the demons fled, not hearing Vṛtrāsura's advice. Vṛtrāsura condemned them all as cowards. Speaking very bravely, he stood alone to face the demigods. When the demigods saw Vṛtrāsura's attitude, they were so afraid that they practically fainted, and Vṛtrāsura began trampling them down. Unable to tolerate this, Indra, the King of the demigods, threw his club at Vṛtrāsura, but Vṛtrāsura was such a great hero that he easily caught the club with his left hand and used it to beat Indra's elephant. Struck by the blow of Vṛtrāsura, the elephant was pushed back fourteen yards and fell, with Indra on its back.

King Indra had first accepted Viśvarūpa as his priest and thereafter killed him. Reminding Indra of his heinous activities, Vṛtrāsura said, "If one is a devotee of the Supreme Personality of Godhead, Lord Viṣṇu, and depends on Lord Viṣṇu in every respect, then victory, opulence and peace of mind are all inevitably available. Such a person has nothing for which to aspire in the three worlds. The Supreme Lord is so kind that He especially favors such a devotee by not giving him opulence that will hamper his devotional service. Therefore I wish to give up everything for the service of the Lord. I wish always to chant the glories of the Lord and engage in His service. Let me become unattached to my worldly family and make friendships with the devotees of the Lord. I do not desire to be promoted to the higher planetary systems, even to Dhruvaloka or Brahmaloka, nor do I desire an unconquerable position within this material world. I have no need for such things."

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: O King, Vṛtrāsura, the commander in chief of the demons, advised his lieutenants in the principles of religion, but the cowardly demoniac commanders, intent upon fleeing the battlefield, were so disturbed by fear that they could not accept his words.

2-3O King Parīkṣit, the demigods, taking advantage of a favorable opportunity presented by time, attacked the army of the demons from the rear and began driving away the demoniac soldiers, scattering them here and there as if their army had no leader. Seeing the pitiable condition of his soldiers, Vṛtrāsura, the best of the asuras, who was called Indraśatru, the enemy of Indra, was very much aggrieved. Unable to tolerate such reverses, he stopped and forcefully rebuked the demigods, speaking the following words in an angry mood.

4O demigods, these demoniac soldiers have taken birth uselessly. Indeed, they have come from the bodies of their mothers exactly like stool. What is the benefit of killing such enemies from behind while they are running in fear? One who considers himself a hero should not kill an enemy who is afraid of losing his life. Such killing is never glorious, nor can it promote one to the heavenly planets.

5O insignificant demigods, if you truly have faith in your heroism, if you have patience in the cores of your hearts and if you are not ambitious for sense gratification, please stand before me for a moment.

6Śukadeva Gosvāmī said: Vṛtrāsura, the angry and most powerful hero, terrified the demigods with his stout and strongly built body. When he roared with a resounding voice, nearly all living entities fainted.

7When all the demigods heard Vṛtrāsura's tumultuous roar, which resembled that of a lion, they fainted and fell to the ground as if struck by thunderbolts.

8As the demigods closed their eyes in fear, Vṛtrāsura, taking up his trident and making the earth tremble with his great strength, trampled the demigods beneath his feet on the battlefield the way a mad elephant tramples hollow bamboos in the forest.

9Seeing Vṛtrāsura's disposition, Indra, the King of heaven, became intolerant and threw at him one of his great clubs, which are extremely difficult to counteract. However, as the club flew toward him, Vṛtrāsura easily caught it with his left hand.

10O King Parīkṣit, the powerful Vṛtrāsura, the enemy of King Indra, angrily struck the head of Indra's elephant with that club, making a tumultuous sound on the battlefield. For this heroic deed, the soldiers on both sides glorified him.

11Struck with the club by Vṛtrāsura like a mountain struck by a thunderbolt, the elephant Airāvata, feeling great pain and spitting blood from its broken mouth, was pushed back fourteen yards. In great distress, the elephant fell, with Indra on its back.

12When he saw Indra's carrier elephant thus fatigued and injured and when he saw Indra morose because his carrier had been harmed in that way, the great soul Vṛtrāsura, following religious principles, refrained from again striking Indra with the club. Taking this opportunity, Indra touched the elephant with his nectar-producing hand, thus relieving the animal's pain and curing its injuries. Then the elephant and Indra both stood silently.

13O King, when the great hero Vṛtrāsura saw Indra, his enemy, the killer of his brother, standing before him with a thunderbolt in his hand, desiring to fight, Vṛtrāsura remembered how Indra had cruelly killed his brother. Thinking of Indra's sinful activities, he became mad with lamentation and forgetfulness. Laughing sarcastically, he spoke as follows.

14Śrī Vṛtrāsura said: He who has killed a brāhmaṇa, he who has killed his spiritual masterindeed, he who has killed my brotheris now, by good fortune, standing before me face to face as my enemy. O most abominable one, when I pierce your stonelike heart with my trident, I shall be freed from my debt to my brother.

15Only for the sake of living in the heavenly planets, you killed my elder brothera self-realized, sinless, qualified brāhmaṇa who had been appointed your chief priest. He was your spiritual master, but although you entrusted him with the performance of your sacrifice, you later mercilessly severed his heads from his body the way one butchers an animal.

16Indra, you are bereft of all shame, mercy, glory and good fortune. Deprived of these good qualities by the reactions of your fruitive activities, you are to be condemned even by the man-eaters [Rākṣasas]. Now I shall pierce your body with my trident, and after you die with great pain, even fire will not touch you; only the vultures will eat your body.

17You are naturally cruel. If the other demigods, unaware of my prowess, follow you by attacking me with raised weapons, I shall sever their heads with this sharp trident. With those heads I shall perform a sacrifice to Bhairava and the other leaders of the ghosts, along with their hordes.

18But if in this battle you cut off my head with your thunderbolt and kill my soldiers, O Indra, O great hero, I shall take great pleasure in offering my body to other living entities [such as jackals and vultures]. I shall thus be relieved of my obligations to the reactions of my karma, and my fortune will be to receive the dust from the lotus feet of great devotees like Nārada Muni.

19O King of the demigods, since I, your enemy, am standing before you, why don't you hurl your thunderbolt at me? Although your attack upon me with your club was certainly useless, like a request of money from a miser, the thunderbolt you carry will not be useless. You need have no doubts about this.

20O Indra, King of heaven, the thunderbolt you carry to kill me has been empowered by the prowess of Lord Viṣṇu and the strength of Dadhīci's austerities. Since you have come here to kill me in accordance with Lord Viṣṇu's order, there is no doubt that I shall be killed by the release of your thunderbolt. Lord Viṣṇu has sided with you. Therefore your victory, opulence and all good qualities are assured.

21By the force of your thunderbolt, I shall be freed of material bondage and shall give up this body and this world of material desires. Fixing my mind upon the lotus feet of Lord Saṅkarṣaṇa, I shall attain the destination of such great sages as Nārada Muni, just as Lord Saṅkarṣaṇa has said.

22Persons who fully surrender at the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead and always think of His lotus feet are accepted and recognized by the Lord as His own personal assistants or servants. The Lord never bestows upon such servants the brilliant opulences of the upper, lower and middle planetary systems of this material world. When one possesses material opulence in any of these three divisions of the universe, his possessions naturally increase his enmity, anxiety, mental agitation, pride and belligerence. Thus one goes through much endeavor to increase and maintain his possessions, and he suffers great unhappiness when he loses them.

23Our Lord, the Supreme Personality of Godhead, forbids His devotees to endeavor uselessly for religion, economic development and sense gratification. O Indra, one can thus infer how kind the Lord is. Such mercy is obtainable only by unalloyed devotees, not by persons who aspire for material gains.

24O my Lord, O Supreme Personality of Godhead, will I again be able to be a servant of Your eternal servants who find shelter only at Your lotus feet? O Lord of my life, may I again become their servant so that my mind may always think of Your transcendental attributes, my words always glorify those attributes, and my body always engage in the loving service of Your Lordship?

25O my Lord, source of all opportunities, I do not desire to enjoy in Dhruvaloka, the heavenly planets or the planet where Lord Brahmā resides, nor do I want to be the supreme ruler of all the earthly planets or the lower planetary systems. I do not desire to be master of the powers of mystic yoga, nor do I want liberation if I have to give up Your lotus feet.

26O lotus-eyed Lord, as baby birds that have not yet developed their wings always look for their mother to return and feed them, as small calves tied with ropes await anxiously the time of milking, when they will be allowed to drink the milk of their mothers, or as a morose wife whose husband is away from home always longs for him to return and satisfy her in all respects, I always yearn for the opportunity to render direct service unto You.

27O my Lord, my master, I am wandering throughout this material world as a result of my fruitive activities. Therefore I simply seek friendship in the association of Your pious and enlightened devotees. My attachment to my body, wife, children and home is continuing by the spell of Your external energy, but I wish to be attached to them no longer. Let my mind, my consciousness and everything I have be attached only to You.

## SB 6.12: Vṛtrāsura's Glorious Death

This chapter describes how Indra, the King of heaven, killed Vṛtrāsura despite great reluctance.

After Vṛtrāsura finished speaking, he released his trident against King Indra with great anger, but Indra, using his thunderbolt, which was many times more powerful than the trident, broke

the trident to pieces and cut off one of Vṛtrāsura's arms. Nevertheless, Vṛtrāsura used his remaining arm to strike Indra with an iron mace, making the thunderbolt fall from Indra's hand. Indra, being very ashamed of this, did not pick up the thunderbolt from the ground, but Vṛtrāsura encouraged King Indra to pick it up and fight. Vṛtrāsura then spoke to King Indra as follows, instructing him very well.

"The Supreme Personality of Godhead," he said, "is the cause of victory and defeat. Not knowing that the Supreme Lord is the cause of all causes, fools and rascals try to take credit for victory or defeat themselves, but everything is actually under the control of the Lord. No one but Him has any independence. The *puruṣa* (the enjoyer) and *prakṛti* (the enjoyed) are under the control of the Lord, for it is by His supervision that everything works systematically. Not seeing the hand of the Supreme in every action, a fool considers himself the ruler and controller of everything. When one understands, however, that the real controller is the Supreme Personality of Godhead, he is freed from the relativities of the world, such as distress, happiness, fear and impurity." Thus Indra and Vṛtrāsura not only fought, but also engaged in philosophical discourses. Then they began to fight again.

This time Indra was more powerful, and he severed Vṛtrāsura's remaining arm. Vṛtrāsura then assumed a gigantic form and swallowed King Indra, but Indra, being protected by the talisman known as Nārāyaṇa-kavaca, was able to protect himself even within Vṛtrāsura's body. Thus he emerged from Vṛtrāsura's abdomen and severed the demon's head from his body with his powerful thunderbolt. Severing the demon's head took one complete year to accomplish.

1Śukadeva Gosvāmī said: Desiring to give up his body, Vṛtrāsura considered death in the battle preferable to victory. O King Parīkṣit, he vigorously took up his trident and with great force attacked Lord Indra, the King of heaven, just as Kaiṭabha had forcefully attacked the Supreme Personality of Godhead when the universe was inundated.

2Then Vṛtrāsura, the great hero of the demons, whirled his trident, which had points like the flames of the blazing fire at the end of the millennium. With great force and anger he threw it at Indra, roaring and exclaiming loudly, "O sinful one, thus shall I kill you!"

3Flying in the sky, Vṛtrāsura's trident resembled a brilliant meteor. Although the blazing weapon was difficult to look upon, King Indra, unafraid, cut it to pieces with his thunderbolt. Simultaneously, he cut off one of Vṛtrāsura's arms, which was as thick as the body of Vāsuki, the King of the serpents.

4Although one of his arms was severed from his body, Vṛtrāsura angrily approached King Indra and struck him on the jaw with an iron mace. He also struck the elephant that carried Indra. Thus Indra dropped the thunderbolt from his hand.

5The denizens of various planets, like the demigods, demons, Cāraṇas and Siddhas, praised Vṛtrāsura's deed, but when they observed that Indra was in great danger, they lamented, "Alas! Alas!"

6Having dropped the thunderbolt from his hand in the presence of his enemy, Indra was practically defeated and was very much ashamed. He dared not pick up his weapon again. Vṛtrāsura, however, encouraged him, saying, "Take up your thunderbolt and kill your enemy. This is not the time to lament your fate."

7Vṛtrāsura continued: O Indra, no one is guaranteed of being always victorious but the original enjoyer, the Supreme Personality of Godhead, Bhagavān. He is the cause of creation, maintenance and annihilation, and He knows everything. Being dependent and being obliged

to accept material bodies, belligerent subordinates are sometimes victorious and sometimes defeated.

8All living beings in all the planets of this universe, including the presiding deities of all the planets, are fully under the control of the Lord. They work like birds caught in a net, who cannot move independently.

9Our sensory prowess, mental power, bodily strength, living force, immortality and mortality are all subject to the superintendence of the Supreme Personality of Godhead. Not knowing this, foolish people think the dull material body to be the cause of their activities.

10O King Indra, as a wooden doll that looks like a woman or as an animal made of grass and leaves cannot move or dance independently, but depends fully on the person who handles it, all of us dance according to the desire of the supreme controller, the Personality of Godhead. No one is independent.

11The three puruṣasKāraṇodakaśāyī Viṣṇu, Garbhodakaśāyī Viṣṇu and Kṣīrodakaśāyī-Viṣṇuthe material nature, the total material energy, the false ego, the five material elements, the material senses, the mind, the intelligence and consciousness cannot create the material manifestation without the direction of the Supreme Personality of Godhead.

12A foolish, senseless person cannot understand the Supreme Personality of Godhead. Although always dependent, he falsely thinks himself the Supreme. If one thinks, "According to one's previous fruitive actions, one's material body is created by the father and mother, and the same body is annihilated by another agent, as another animal is devoured by a tiger," this is not proper understanding. The Supreme Personality of Godhead Himself creates and devours the living beings through other living beings.

13Just as a person not inclined to die must nonetheless give up his longevity, opulence, fame and everything else at the time of death, so, at the appointed time of victory, one can gain all these when the Supreme Lord awards them by His mercy.

14Since everything is dependent on the supreme will of the Personality of Godhead, one should be equipoised in fame and defamation, victory and defeat, life and death. In their effects, represented as happiness and distress, one should maintain oneself in equilibrium, without anxiety.

15One who knows that the three qualitiesgoodness, passion and ignoranceare not qualities of the soul but qualities of material nature, and who knows that the pure soul is simply an observer of the actions and reactions of these qualities, should be understood to be a liberated person. He is not bound by these qualities.

16O my enemy, just look at me. I have already been defeated, for my weapon and arm have been cut to pieces. You have already overwhelmed me, but nonetheless, with a desire to kill you, I am trying my best to fight. I am not at all morose, even under such adverse conditions. Therefore you should give up your moroseness and continue fighting.

17O my enemy, consider this battle a gambling match in which our lives are the stakes, the arrows are the dice, and the animals acting as carriers are the game board. No one can understand who will be defeated and who will be victorious. It all depends on providence.

18Śukadeva Gosvāmī said: Hearing the straightforward, instructive words of Vṛtrāsura, King Indra praised him and again took the thunderbolt in his hand. Without bewilderment or duplicity, he then smiled and spoke to Vṛtrāsura as follows.

19Indra said: O great demon, I see by your discrimination and endurance in devotional service, despite your dangerous position, that you are a perfect devotee of the Supreme Personality of Godhead, the Supersoul and friend of everyone.

20You have surmounted the illusory energy of Lord Viṣṇu, and because of this liberation, you have given up the demoniac mentality and have attained the position of an exalted devotee.

21O Vṛtrāsura, demons are generally conducted by the mode of passion. Therefore, what a great wonder it is that although you are a demon, you have adopted the mentality of a devotee and have fixed your mind on the Supreme Personality of Godhead, Vāsudeva, who is always situated in pure goodness.

22A person fixed in the devotional service of the Supreme Lord, Hari, the Lord of the highest auspiciousness, swims in the ocean of nectar. For him what is the use of the water in small ditches?

23ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: Vṛtrāsura and King Indra spoke about devotional service even on the battlefield, and then as a matter of duty they again began fighting. My dear King, both of them were great fighters and were equally powerful.

24O Mahārāja Parīkṣit, Vṛtrāsura, who was completely able to subdue his enemy, took his iron club, whirled it around, aimed it at Indra and then threw it at him with his left hand.

25With his thunderbolt named Śataparvan, Indra simultaneously cut to pieces Vṛtrāsura's club and his remaining hand.

26Vṛtrāsura, bleeding profusely, his two arms cut off at their roots, looked very beautiful, like a flying mountain whose wings have been cut to pieces by Indra.

27-29Vṛtrāsura was very powerful in physical strength and influence. He placed his lower jaw on the ground and his upper jaw in the sky. His mouth became very deep, like the sky itself, and his tongue resembled a large serpent. With his fearful, deathlike teeth, he seemed to be trying to devour the entire universe. Thus assuming a gigantic body, the great demon Vṛtrāsura shook even the mountains and began crushing the surface of the earth with his legs, as if he were the Himālayas walking about. He came before Indra and swallowed him and Airāvata, his carrier, just as a big python might swallow an elephant.

30When the demigods, along with Brahmā, other prajāpatis and other great saintly persons, saw that Indra had been swallowed by the demon, they became very morose. "Alas," they lamented. "What a calamity! What a calamity!"

31The protective armor of Nārāyaṇa, which Indra possessed, was identical with Nārāyaṇa Himself, the Supreme Personality of Godhead. Protected by that armor and by his own mystic power, King Indra, although swallowed by Vṛtrāsura, did not die within the demon's belly.

32With his thunderbolt, King Indra, who was also extremely powerful, pierced through Vṛtrāsura's abdomen and came out. Indra, the killer of the demon Bala, then immediately cut off Vṛtrāsura's head, which was as high as the peak of a mountain.

33Although the thunderbolt revolved around Vṛtrāsura's neck with great speed, separating his head from his body took one complete year360 days, the time in which the sun, moon and other luminaries complete a northern and southern journey. Then, at the suitable time for Vṛtrāsura to be killed, his head fell to the ground.

34When Vṛtrāsura was killed, the Gandharvas and Siddhas in the heavenly planets beat kettledrums in jubilation. With Vedic hymns they celebrated the prowess of Indra, the killer of Vṛtrāsura, praising Indra and showering flowers upon him with great pleasure.

35O King Parīkṣit, subduer of enemies, the living spark then came forth from Vṛtrāsura's body and returned home, back to Godhead. While all the demigods looked on, he entered the transcendental world to become an associate of Lord Saṅkarṣaṇa.

**SB 6.13: King Indra Afflicted by Sinful Reaction**

This chapter describes Indra's fear at having killed a *brāhmaṇa* (Vṛtrāsura), and it also describes how he fled and was saved by the grace of Lord Viṣṇu.

When all the demigods requested Indra to kill Vṛtrāsura, he refused because Vṛtrāsura was a*brāhmaṇa*. The demigods, however, encouraged Indra not to fear killing him because Indra was protected by the Nārāyaṇa-kavaca, or the Supreme Personality of Godhead Himself, Lord Nārāyaṇa. Even by a glimpse of the chanting of Nārāyaṇa's name, one becomes free from all the sinful reactions of killing a woman, a cow or a *brāhmaṇa*. The demigods advised Indra to perform an *aśvamedha* sacrifice, by which Nārāyaṇa would be pleased, for the performer of such a sacrifice is not implicated in sinful reactions even if he kills the entire universe.

Following this instruction from the demigods, King Indra fought Vṛtrāsura, but when Vṛtrāsura was killed, everyone was satisfied but King Indra, who knew Vṛtrāsura's position. This is the nature of a great personality. Even if a great personality acquires some opulence, he is always ashamed and regretful if he acquires it illegally. Indra could understand that he was certainly entangled by sinful reactions for killing a *brāhmaṇa*. Indeed, he could see sinful reaction personified following him, and thus he fled here and there in fear, thinking of how to rid himself of his sins. He went to Mānasa-sarovara, and there, under the protection of the goddess of fortune, he meditated for one thousand years. During this time, Nahuṣa reigned over the heavenly planets as the representative of Indra. Unfortunately, however, he was attracted by the beauty of Indra's wife, Śacīdevī, and because of his sinful desire he had to accept the body of a serpent in his next life. Indra later performed a great sacrifice with the help of exalted *brāhmaṇas* and saints. In this way he was released from the reactions of his sinful killing of a *brāhmaṇa*.

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: O King Parīkṣit, who are so charitably disposed, when Vṛtrāsura was killed, all the presiding deities and everyone else in the three planetary systems was immediately pleased and free from troubleeveryone, that is, except Indra.

2Thereafter, the demigods, the great saintly persons, the inhabitants of Pitṛloka and Bhūtaloka, the demons, the followers of the demigods, and also Lord Brahmā, Lord Śiva and the demigods subordinate to Indra all returned to their respective homes. While departing, however, no one spoke to Indra.

3Mahārāja Parīkṣit inquired from Śukadeva Gosvāmī: O great sage, what was the reason for Indra's unhappiness? I wish to hear about this. When he killed Vṛtrāsura, all the demigods were extremely happy. Why, then, was Indra himself unhappy?

4ŚrīŚukadeva Gosvāmī answered: When all the great sages and demigods were disturbed by the extraordinary power of Vṛtrāsura, they had assembled to ask Indra to kill him. Indra, however, being afraid of killing a brāhmaṇa, declined their request.

5King Indra replied: When I killed Viśvarūpa, I received extensive sinful reactions, but I was

favored by the women, land, trees and water, and therefore I was able to divide the sin among them. But now if I kill Vṛtrāsura, another brāhmaṇa, how shall I free myself from the sinful reactions?

6ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: Hearing this, the great sages replied to King Indra, "O King of heaven, all good fortune unto you. Do not fear. We shall perform an aśvamedha sacrifice to release you from any sin you may accrue by killing the brāhmaṇa."

7The ṛṣis continued: O King Indra, by performing an aśvamedha sacrifice and thereby pleasing the Supreme Personality of Godhead, who is the Supersoul, Lord Nārāyaṇa, the supreme controller, one can be relieved even of the sinful reactions for killing the entire world, not to speak of killing a demon like Vṛtrāsura.

8-9One who has killed a brāhmaṇa, one who has killed a cow or one who has killed his father, mother or spiritual master can be immediately freed from all sinful reactions simply by chanting the holy name of Lord Nārāyaṇa. Other sinful persons, such as dog-eaters and caṇḍālas, who are less than śūdras, can also be freed in this way. But you are a devotee, and we shall help you by performing the great horse sacrifice. If you please Lord Nārāyaṇa in that way, why should you be afraid? You will be freed even if you kill the entire universe, including the brāhmaṇas, not to speak of killing a disturbing demon like Vṛtrāsura.

10ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: Encouraged by the words of the sages, Indra killed Vṛtrāsura, and when he was killed the sinful reaction for killing a brāhmaṇa [brahma-hatyā] certainly took shelter of Indra.

11Following the advice of the demigods, Indra killed Vṛtrāsura, and he suffered because of this sinful killing. Although the other demigods were happy, he could not derive happiness from the killing of Vṛtrāsura. Indra's other good qualities, such as tolerance and opulence, could not help him in his grief.

12-13Indra saw personified sinful reaction chasing him, appearing like a caṇḍāla woman, a woman of the lowest class. She seemed very old, and all the limbs of her body trembled. Because she was afflicted with tuberculosis, her body and garments were covered with blood. Breathing an unbearable fishy odor that polluted the entire street, she called to Indra, "Wait! Wait!"

14O King, Indra first fled to the sky, but there also he saw the woman of personified sin chasing him. This witch followed him wherever he went. At last he very quickly went to the northeast and entered the Mānasa-sarovara Lake.

15Always thinking of how he could be relieved from the sinful reaction for killing a brāhmaṇa, King Indra, invisible to everyone, lived in the lake for one thousand years in the subtle fibers of the stem of a lotus. The fire-god used to bring him his share of all yajṣas, but because the fire-god was afraid to enter the water, Indra was practically starving.

16As long as King Indra lived in the water, wrapped in the stem of the lotus, Nahuṣa was equipped with the ability to rule the heavenly kingdom, due to his knowledge, austerity and mystic power. Nahuṣa, however, blinded and maddened by power and opulence, made undesirable proposals to Indra's wife with a desire to enjoy her. Thus Nahuṣa was cursed by a brāhmaṇa and later became a snake.

17Indra's sins were diminished by the influence of Rudra, the demigod of all directions. Because Indra was protected by the goddess of fortune, Lord Viṣṇu's wife, who resides in the

lotus clusters of Mānasa-sarovara Lake, Indra's sins could not affect him. Indra was ultimately relieved of all the reactions of his sinful deeds by strictly worshiping Lord Viṣṇu. Then he was called back to the heavenly planets by the brāhmaṇas and reinstated in his position.

18O King, when Lord Indra reached the heavenly planets, the saintly brāhmaṇas approached him and properly initiated him into a horse sacrifice [aśvamedha-yajṣa] meant to please the Supreme Lord.

19-20The horse sacrifice performed by the saintly brāhmaṇas relieved Indra of the reactions to all his sins because he worshiped the Supreme Personality of Godhead in that sacrifice. O King, although he had committed a gravely sinful act, it was nullified at once by that sacrifice, just as fog is vanquished by the brilliant sunrise.

21King Indra was favored by Marīci and the other great sages. They performed the sacrifice just according to the rules and regulations, worshiping the Supreme Personality of Godhead, the Supersoul, the original person. Thus Indra regained his exalted position and was again honored by everyone.

22-23In this very great narrative there is glorification of the Supreme Personality of Godhead, Nārāyaṇa, there are statements about the exaltedness of devotional service, there are descriptions of devotees like Indra and Vṛtrāsura, and there are statements about King Indra's release from sinful life and about his victory in fighting the demons. By understanding this incident, one is relieved of all sinful reactions. Therefore the learned are always advised to read this narration. If one does so, one will become expert in the activities of the senses, his opulence will increase, and his reputation will become widespread. One will also be relieved of all sinful reactions, he will conquer all his enemies, and the duration of his life will increase. Because this narration is auspicious in all respects, learned scholars regularly hear and repeat it on every festival day.

## SB 6.14: King Citraketu's Lamentation

In this Fourteenth Chapter, Parīkṣit Mahārāja asks his spiritual master, Śukadeva Gosvāmī, how such a demon as Vṛtrāsura could become an exalted devotee. In this connection the previous life of Vṛtrāsura is discussed. This involves the story of Citraketu and how he was victimized by lamentation because of the death of his son.

Among many millions of living entities, the number of human beings is extremely small, and among human beings who are actually religious, only some are eager to be liberated from material existence. Among many thousands of people who desire relief from material existence, one is freed from the association of unwanted persons or is relieved of material contamination. And among many millions of such liberated persons, one may become a devotee of Lord Nārāyaṇa. Therefore such devotees are extremely rare. Since *bhakti,* devotional service, is not ordinary, Parīkṣit Mahārāja was astonished that an *asura* could rise to the exalted position of a devotee. Being doubtful, Parīkṣit Mahārāja inquired from Śukadeva Gosvāmī, who then described Vṛtrāsura with reference to his previous birth as Citraketu, the King of Śūrasena.

Citraketu, who had no sons, got an opportunity to meet the great sage Aṅgirā. When Aṅgirā inquired from the King about his welfare, the King expressed his moroseness, and therefore by the grace of the great sage, the King's first wife, Kṛtadyuti, gave birth to a son, who was the cause of both happiness and lamentation. Upon the birth of this son, the King and all the residents of the palace were very happy. The co-wives of Kṛtadyuti, however, were envious, and later they administered poison to the child. Citraketu was overwhelmed by shock at his

son's death. Then Nārada Muni and Aṅgirā went to see him.

1King Parīkṣit inquired from Śukadeva Gosvāmī: O learned brāhmaṇa, demons are generally sinful, being obsessed with the modes of passion and ignorance. How, then, could Vṛtrāsura have attained such exalted love for the Supreme Personality of Godhead, Nārāyaṇa?

2Demigods situated in the mode of goodness and great saints cleansed of the dirt of material enjoyment hardly ever render pure devotional service at the lotus feet of Mukunda. [Therefore how could Vṛtrāsura have become such a great devotee?]

3In this material world there are as many living entities as atoms. Among these living entities, a very few are human beings, and among them, few are interested in following religious principles.

4O best of the brāhmaṇas, Śukadeva Gosvāmī, out of many persons who follow religious principles, only a few desire liberation from the material world. Among many thousands who desire liberation, one may actually achieve liberation, giving up material attachment to society, friendship, love, country, home, wife and children. And among many thousands of such liberated persons, one who can understand the true meaning of liberation is very rare.

5O great sage, among many millions who are liberated and perfect in knowledge of liberation, one may be a devotee of Lord Nārāyaṇa, or Kṛṣṇa. Such devotees, who are fully peaceful, are extremely rare.

6Vṛtrāsura was situated in the blazing fire of battle and was an infamous, sinful demon, always engaged in giving troubles and anxieties to others. How could such a demon become so greatly Kṛṣṇa conscious?

7My dear lord, Śukadeva Gosvāmī, although Vṛtrāsura was a sinful demon, he showed the prowess of a most exalted kṣatriya and satisfied Lord Indra in battle. How could such a demon be a great devotee of Lord Kṛṣṇa? These contradictions have caused me great doubt, and they have made me eager to hear of this from you.

8Śrī Sūta Gosvāmī said: After hearing Mahārāja Parīkṣit's very intelligent question, Śukadeva Gosvāmī, the most powerful sage, began answering his disciple with great affection.

9ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: O King, I shall speak to you the same history I have heard from the mouths of Vyāsadeva, Nārada and Devala. Please listen with attention.

10O King Parīkṣit, in the province of Śūrasena there was a king named Citraketu, who ruled the entire earth. During his reign, the earth produced all the necessities for life.

11This Citraketu had ten million wives, but although he was capable of producing children, he did not receive a child from any of them. By chance, all the wives were barren.

12Citraketu, the husband of these millions of wives, was endowed with a beautiful form, magnanimity and youth. He was born in a high family, he had a complete education, and he was wealthy and opulent. Nevertheless, in spite of being endowed with all these assets, he was full of anxiety because he did not have a son.

13His queens all had beautiful faces and attractive eyes, yet neither his opulences, his hundreds and thousands of queens, nor the lands of which he was the supreme proprietor were sources of happiness for him.

14Once upon a time, when the powerful sage named Aṅgirā was traveling all over the universe

without engagement, by his sweet will he came to the palace of King Citraketu.

15Citraketu immediately stood up from his throne and offered him worship. He offered drinking water and eatables and in this way performed his duty as a host to a great guest. When the ṛṣi was seated very comfortably, the King, restraining his mind and senses, sat on the ground at the side of the ṛṣi's feet.

16O King Parīkṣit, when Citraketu, bent low in humility, was seated at the lotus feet of the great sage, the sage congratulated him for his humility and hospitality. The sage addressed him in the following words.

17The great sage Aṅgirā said: My dear King, I hope that your body and mind and your royal associates and paraphernalia are well. When the seven properties of material nature [the total material energy, the ego and the five objects of sense gratification] are in proper order, the living entity within the material elements is happy. Without these seven elements one cannot exist. Similarly, a king is always protected by seven elementshis instructor (svāmī or guru), his ministers, his kingdom, his fort, his treasury, his royal order and his friends.

18O King, O lord of humanity, when a king directly depends upon his associates and follows their instructions, he is happy. Similarly, when his associates offer their gifts and activities to the king and follow his orders, they are also happy.

19O King, are your wives, citizens, secretaries and servants and the merchants who sell spices and oil under your control? Are you also in full control of ministers, the inhabitants of your palace, your provincial governors, your sons and your other dependents?

20If the king's mind is fully controlled, all his family members and governmental officers are subordinate to him. His provincial governors present taxes on time, without resistance, and what to speak of lesser servants?

21O King Citraketu, I can observe that your mind is not pleased. You seem not to have achieved your desired goal. Is this because of you yourself, or has it been caused by others? Your pale face reflects your deep anxiety.

22Śukadeva Gosvāmī said: O King Parīkṣit, although the great sage Aṅgirā knew everything, he inquired from the King in this way. Thus King Citraketu, desiring a son, bent low in great humility and spoke to the great sage as follows.

23King Citraketu said: O great lord Aṅgirā, because of austerity, knowledge and transcendental samādhi, you are freed from all the reactions of sinful life. Therefore, as a perfect yogī, you can understand everything external and internal regarding embodied, conditioned souls like us.

24O great soul, you are aware of everything, yet you are asking me why I am full of anxiety. Therefore, in response to your order, let me disclose the cause.

25As a person aggrieved by hunger and thirst is not pleased by the external gratification of flower garlands or sandalwood pulp, I am not pleased with my empire, opulence or possessions, which are desirable even for great demigods, because I have no son.

26Therefore, O great sage, please save me and my forefathers, who are descending to the darkness of hell because I have no progeny. Kindly do something so that I may have a son to deliver us from hellish conditions.

27In response to the request of Mahārāja Citraketu, AṅgirāṚṣi, who was born of Lord Brahmā's mind, was very merciful toward him. Because the sage was a greatly powerful personality, he

performed a sacrifice by offering oblations of sweetrice to Tvaṣṭā.

28O Parīkṣit Mahārāja, best of the Bhāratas, the remnants of the food offered in the yajṣa were given by the great sage Aṅgirā to the first and most perfect among Citraketu's millions of queens, whose name was Kṛtadyuti.

29Thereafter, the great sage told the King, "O great King, now you will have a son who will be the cause of both jubilation and lamentation." The sage then left, without waiting for Citraketu's response.

30As Kṛttikādevī, after receiving the semen of Lord Śiva from Agni, conceived a child named Skanda [Kārttikeya], Kṛtadyuti, having received semen from Citraketu, became pregnant after eating remnants of food from the yajṣa performed by Aṅgirā.

31After receiving semen from Mahārāja Citraketu, the King of Śūrasena, Queen Kṛtadyuti gradually developed in her pregnancy, O King Parīkṣit, just as the moon develops during the bright fortnight.

32Thereafter, in due course of time, a son was born to the King. Hearing news of this, all the inhabitants of the state of Śūrasena were extremely pleased.

33King Citraketu was especially pleased. After purifying himself by bathing and by decorating himself with ornaments, he engaged learned brāhmaṇas in offering benedictions to the child and performing the birth ceremony.

34Unto the brāhmaṇas who took part in the ritualistic ceremony the King gave charity of gold, silver, garments, ornaments, villages, horses and elephants, as well as sixty crores of cows [six hundred million cows].

35As a cloud indiscriminately pours water on the earth, the beneficent King Citraketu, to increase the reputation, opulence and longevity of his son, distributed like rainfall all desirable things to everyone.

36When a poor man gets some money after great difficulty, his affection for the money increases daily. Similarly, when King Citraketu, after great difficulty, received a son, his affection for the son increased day after day.

37The mother's attraction and attention to the son, like that of the child's father, excessively increased. The other wives, seeing Kṛtadyuti's son, were very much agitated, as if by high fevers, with a desire to have sons.

38As King Citraketu fostered his son very carefully, his affection for Queen Kṛtadyuti increased, but gradually he lost affection for the other wives, who had no sons.

39The other queens were extremely unhappy due to their being sonless. Because of the King's negligence toward them, they condemned themselves in envy and lamented.

40A wife who has no sons is neglected at home by her husband and dishonored by her co-wives exactly like a maidservant. Certainly such a woman is condemned in every respect because of her sinful life.

41Even maidservants who are constantly engaged in rendering service to the husband are honored by the husband, and thus they have nothing for which to lament. Our position, however, is that we are maidservants of the maidservant. Therefore we are most unfortunate.

42ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: Being neglected by their husband and seeing Kṛtadyuti's opulence in possessing a son, Kṛtadyuti's co-wives always burned in envy, which became extremely strong.

43As their envy increased, they lost their intelligence. Being extremely hardhearted and unable to tolerate the King's neglect, they finally administered poison to the son.

44Unaware of the poison administered by her co-wives, Queen Kṛtadyuti walked within the house, thinking that her son was sleeping deeply. She did not understand that he was dead.

45Thinking that her child had been sleeping for a long time, Queen Kṛtadyuti, who was certainly very intelligent, ordered the nurse, "My dear friend, please bring my son here."

46When the maidservant approached the child, who was lying down, she saw that his eyes were turned upward. There were no signs of life, all his senses having stopped, and she could understand that the child was dead. Seeing this, she immediately cried, "Now I am doomed," and fell to the ground.

47In great agitation, the maidservant struck her breast with both hands and cried loudly in regretful words. Hearing her loud voice, the Queen immediately came, and when she approached her son, she saw that he was suddenly dead.

48In great lamentation, her hair and dress in disarray, the Queen fell to the ground unconscious.

49O King Parīkṣit, hearing the loud crying, all the inhabitants of the palace came, both men and women. Being equally aggrieved, they also began to cry. The queens who had administered the poison also cried pretentiously, knowing full well their offense.

50-51When King Citraketu heard of his son's death from unknown causes, he became almost blind. Because of his great affection for his son, his lamentation grew like a blazing fire, and as he went to see the dead child, he kept slipping and falling on the ground. Surrounded by his ministers and other officers and the learned brāhmaṇas present, the King approached and fell unconscious at the child's feet, his hair and dress scattered. When the King, breathing heavily, regained consciousness, his eyes were tearful, and he could not speak.

52When the Queen saw her husband, King Citraketu, merged in great lamentation and saw the dead child, who was the only son in the family, she lamented in various ways. This increased the pain in the cores of the hearts of all the inhabitants of the palace, the ministers and all the brāhmaṇas.

53The garland of flowers decorating the Queen's head fell, and her hair scattered. Falling tears melted the collyrium on her eyes and moistened her breasts, which were covered with kuṅkuma powder. As she lamented the loss of her son, her loud crying resembled the sweet sound of a kurarī bird.

54Alas, O Providence, O Creator, You are certainly inexperienced in creation, for during the lifetime of a father You have caused the death of his son, thus acting in opposition to Your creative laws. If You are determined to contradict these laws, You are certainly the enemy of living entities and are never merciful.

55My Lord, You may say that there is no law that a father must die in the lifetime of his son and that a son must be born in the lifetime of his father, since everyone lives and dies according to his own fruitive activity. However, if fruitive activity is so strong that birth and death depend upon it, there is no need of a controller, or God. Again, if You say that a controller is needed

because the material energy does not have the power to act, one may answer that if the bonds of affection You have created are disturbed by fruitive action, no one will raise children with affection; instead, everyone will cruelly neglect his children. Since You have cut the bonds of affection that compel a parent to raise his child, You appear inexperienced and unintelligent.

56My dear son, I am helpless and very much aggrieved. You should not give up my company. Just look at your lamenting father. We are helpless because without a son we shall have to suffer the distress of going to the darkest hellish regions. You are the only hope by which we can get out of these dark regions. Therefore I request you not to go any further with the merciless Yama.

57My dear son, you have slept a long time. Now please get up. Your playmates are calling you to play. Since you must be very hungry, please get up and suck my breast and dissipate our lamentation.

58My dear son, I am certainly most unfortunate, for I can no longer see your mild smiling. You have closed your eyes forever. I therefore conclude that you have been taken from this planet to another, from which you will not return. My dear son, I can no longer hear your pleasing voice.

59ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: Accompanied by his wife, who was thus lamenting for her dead son, King Citraketu began crying loudly with an open mouth, being greatly aggrieved.

60As the King and Queen lamented, all their male and female followers joined them in crying. Because of the sudden accident, all the citizens of the kingdom were almost unconscious.

61When the great sage Aṅgirāunderstood that the King was almost dead in an ocean of lamentation, he went there with Nārada Ṛṣi.

### SB 6.15: The Saints Nārada and Aṅgirā Instruct King Citraketu

In this chapter, AṅgirāṚṣi, along with Nārada, consoles Citraketu as far as possible. Aṅgirā and Nārada Ṛṣi came to relieve the King from excessive lamentation by instructing him about the spiritual significance of life.

The great saints Aṅgirā and Nārada explained that the relationship between father and son is not factual; it is simply a representation of the illusory energy. The relationship did not exist before, nor will it stay in the future. By the arrangement of time, the relationship exists only in the present. One should not lament for temporary relationships. The entire cosmic manifestation is temporary; although not unreal, it is not factual. By the direction of the Supreme Personality of Godhead, everything created in the material world is transient. By a temporary arrangement, a father begets a child, or a living entity becomes the child of a so-called father. This temporary arrangement is made by the Supreme Lord. Neither the father nor the son exists independently.

As the King listened to the great sages, he was relieved from his false lamentation, and then he inquired about their identity. The great sages presented who they were and instructed that all sufferings are due to the bodily conception of life. When one understands his spiritual identity and surrenders to the Supreme Personality of Godhead, the supreme spiritual person, one becomes actually happy. When one searches for happiness in matter, one must certainly lament for bodily relationships. Self-realization means spiritual realization of one's relationship with Kṛṣṇa. Such realization ends one's miserable material life.

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: While King Citraketu, overcome by lamentation, lay like a dead

body at the side of the dead body of his son, the two great sages Nārada and Aṅgirā instructed him about spiritual consciousness as follows.

2O King, what relationship does the dead body for which you lament have with you, and what relationship do you have with him? You may say that you are now related as father and son, but do you think this relationship existed before? Does it truly exist now? Will it continue in the future?

3O King, as small particles of sand sometimes come together and are sometimes separated due to the force of the waves, the living entities who have accepted material bodies sometimes come together and are sometimes separated by the force of time.

4When seeds are sown in the ground, they sometimes grow into plants and sometimes do not. Sometimes the ground is not fertile, and the sowing of seeds is unproductive. Similarly, sometimes a prospective father, being impelled by the potency of the Supreme Lord, can beget a child, but sometimes conception does not take place. Therefore one should not lament over the artificial relationship of parenthood, which is ultimately controlled by the Supreme Lord.

5O King, both you and weyour advisers, wives and ministersas well as everything moving and not moving throughout the entire cosmos at this time, are in a temporary situation. Before our birth this situation did not exist, and after our death it will exist no longer. Therefore our situation now is temporary, although it is not false.

6The Supreme Personality of Godhead, the master and proprietor of everything, is certainly not interested in the temporary cosmic manifestation. Nonetheless, just as a boy at the beach creates something in which he is not interested, the Lord, keeping everything under His control, causes creation, maintenance and annihilation. He creates by engaging a father to beget a son, He maintains by engaging a government or king to see to the public's welfare, and He annihilates through agents for killing, such as snakes. The agents for creation, maintenance and annihilation have no independent potency, but because of the spell of the illusory energy, one thinks himself the creator, maintainer and annihilator.

7As from one seed another seed is generated, O King, so from one body [the body of the father], through another body [the body of the mother], a third body is generated [the body of a son]. As the elements of the material body are eternal, the living entity who appears through these material elements is also eternal.

8Divisions of generalization and specification, such as nationality and individuality, are the imaginations of persons who are not advanced in knowledge.

9ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: Thus enlightened by the instructions of Nārada and Aṅgirā, King Citraketu became hopeful with knowledge. Wiping his shriveled face with his hand, the King began to speak.

10King Citraketu said: You have both come here dressed like avadhūtas, liberated persons, just to cover your identities, but I see that of all men, you are the most elevated in awareness. You know everything as it is. Therefore you are the greatest of all great personalities.

11Brāhmaṇas who are exalted to the position of Vaiṣṇavas, the most dear servants of Kṛṣṇa, sometimes dress like madmen. Just to benefit materialists like us, who are always attached to sense gratification, and just to dissipate our ignorance, these Vaiṣṇavas wander on the surface of the globe according to their desire.

12-15O great souls, I have heard that among the great and perfect persons wandering the

surface of the earth to instruct knowledge to people covered by ignorance are Sanat-kumāra, Nārada, Ṛbhu, Aṅgirā, Devala, Asita, Apāntaratamā [Vyāsadeva], Mārkaṇḍeya, Gautama, Vasiṣṭha, Bhagavān Paraśurāma, Kapila, Śukadeva, Durvāsā, Yājṣavalkya, Jātukarṇa and Aruṇi. Others are Romaśa, Cyavana, Dattātreya, Āsuri, Pataṣjali, the great sage Dhaumya who is like the head of the Vedas, the sage Paṣcaśikha, Hiraṇyanābha, Kauśalya, Śrutadeva and Ṛtadhvaja. You must certainly be among them.

16Because you are great personalities, you can give me real knowledge. I am as foolish as a village animal like a pig or dog because I am merged in the darkness of ignorance. Therefore, please ignite the torch of knowledge to save me.

17Aṅgirā said: My dear King, when you desired to have a son, I approached you. Indeed, I am the same AṅgirāṚṣi who gave you this son. As for this ṛṣi, he is the great sage Nārada, the direct son of Lord Brahmā.

18-19My dear King, you are an advanced devotee of the Supreme Personality of Godhead. To be absorbed in lamentation for the loss of something material is unsuitable for a person like you. Therefore we have both come to relieve you from this false lamentation, which is due to your being merged in the darkness of ignorance. For those who are advanced in spiritual knowledge to be affected by material loss and gain is not at all desirable.

20When I first came to your home, I could have given you the supreme transcendental knowledge, but when I saw that your mind was absorbed in material things, I gave you only a son, who caused you jubilation and lamentation.

21-23My dear King, now you are actually experiencing the misery of a person who has sons and daughters. O King, owner of the state of Śūrasena, one's wife, his house, the opulence of his kingdom, and his various other opulences and objects of sense perception are all the same in that they are temporary. One's kingdom, military power, treasury, servants, ministers, friends and relatives are all causes of fear, illusion, lamentation and distress. They are like a gandharva-nagara, a nonexistent palace that one imagines to exist in the forest. Because they are impermanent, they are no better than illusions, dreams and mental concoctions.

24These visible objects like wife, children and property are like dreams and mental concoctions. Actually what we see has no permanent existence. It is sometimes seen and sometimes not. Only because of our past actions do we create such mental concoctions, and because of these concoctions, we perform further activities.

25The living entity in the bodily conception of life is absorbed in the body, which is a combination of the physical elements, the five senses for gathering knowledge, and the five senses of action, along with the mind. Through the mind the living entity suffers three kinds of tribulationsadhibhautika, adhidaivika and adhyātmika. Therefore this body is a source of all miseries.

26Therefore, O King Citraketu, carefully consider the position of the ātmā. In other words, try to understand who you arewhether body, mind or soul. Consider where you have come from, where you are going after giving up this body, and why you are under the control of material lamentation. Try to understand your real position in this way, and then you will be able to give up your unnecessary attachment. You will also be able to give up the belief that this material world, or anything not directly in touch with service to Kṛṣṇa, is eternal. Thus you will obtain peace.

27The great sage Nārada continued: My dear King, attentively receive from me a mantra, which is most auspicious. After accepting it from me, in seven nights you will be able to see the Lord

face to face.

28My dear King, in former days Lord Śiva and other demigods took shelter of the lotus feet of Saṅkarṣaṇa. Thus they immediately got free from the illusion of duality and achieved unequaled and unsurpassed glories in spiritual life. You will very soon attain that very same position.

**SB 6.16: King Citraketu Meets the Supreme Lord**

As related in this chapter, Citraketu was able to talk with his dead son and hear from him the truth of life. When Citraketu was appeased, the great sage Nārada gave him a *mantra,* and by chanting this *mantra* Citraketu found shelter at the lotus feet of Saṅkarṣaṇa.

The living entity is eternal. Thus he has neither birth nor death (*na hanyate hanyamāne śarīre*). According to the reactions of one's fruitive activities, one takes birth in various species of life among the birds, beasts, trees, human beings, demigods and so on, thus rotating through various bodies. For a certain period of time, one receives a particular type of body as a son or father in a false relationship. All our relationships in this material world with friends, relatives or enemies consist of duality, in which one feels happy and distressed on the basis of illusion. The living entity is actually a spiritual soul who is part and parcel of God and has nothing to do with relationships in the world of duality. Therefore Nārada Muni advised Citraketu not to lament for his so-called dead son.

After hearing instructions from their dead child, Citraketu and his wife could understand that all relationships in this material world are causes of misery. The queens who had administered poison to the son of Kṛtadyuti were very much ashamed. They atoned for the sinful act of killing a child and gave up their aspiration to have sons. Thereafter, Nārada Muni chanted prayers to Nārāyaṇa, who exists as *catur-vyūha,* and instructed Citraketu about the Supreme Lord, who creates, maintains and annihilates everything and who is the master of the material nature. After instructing King Citraketu in this way, he returned to Brahmaloka. These instructions about the Absolute Truth are called the *mahā-vidyā*. After being initiated by Nārada Muni, King Citraketu chanted the *mahā-vidyā,* and after one week he attained the presence of Lord Saṅkarṣaṇa, who was surrounded by the four Kumāras. The Lord was nicely dressed in bluish garments, with a helmet and ornaments of gold. His face appeared very happy. In the presence of Lord Saṅkarṣaṇa, Citraketu offered his obeisances and began to offer prayers.

In his prayers, Citraketu said that millions of universes rest in the pores of Saṅkarṣaṇa, who is limitless, having no beginning and end. The Lord is well known to the devotees for His eternity. The difference between worshiping the Lord and worshiping the demigods is that the worshiper of the Lord also becomes eternal, whereas whatever benedictions one can get from the demigods are impermanent. Unless one becomes a devotee, one cannot understand the Supreme Personality of Godhead.

After Citraketu finished his prayers, the unlimited Supreme Lord explained knowledge of Himself to Citraketu.

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: My dear King Parīkṣit, by his mystic power the great sage Nārada brought the dead son into the vision of all the lamenting relatives and then spoke as follows.

2Śrī Nārada Muni said: O living entity, all good fortune unto you. Just see your father and mother. All your friends and relatives are overwhelmed with grief because of your passing away.

3Because you died untimely, the balance of your lifetime still remains. Therefore you may reenter your body and enjoy the remainder of your life, surrounded by your friends and relatives. Accept the royal throne and all the opulences given by your father.

4By the mystic power of Nārada Muni, the living entity reentered his dead body for a short time and spoke in reply to Nārada Muni's request. He said: According to the results of my fruitive activities, I, the living being, transmigrate from one body to another, sometimes going to the species of the demigods, sometimes to the species of lower animals, sometimes among the vegetables, and sometimes to the human species. Therefore, in which birth were these my mother and father? No one is actually my mother and father. How can I accept these two people as my parents?

5In this material world, which advances like a river that carries away the living entity, all people become friends, relatives and enemies in due course of time. They also act neutrally, they mediate, they despise one another, and they act in many other relationships. Nonetheless, despite these various transactions, no one is permanently related.

6Just as gold and other commodities are continually transferred from one place to another in due course of purchase and sale, so the living entity, as a result of his fruitive activities, wanders throughout the entire universe, being injected into various bodies in different species of life by one kind of father after another.

7A few living entities are born in the human species, and others are born as animals. Although both are living entities, their relationships are impermanent. An animal may remain in the custody of a human being for some time, and then the same animal may be transferred to the possession of other human beings. As soon as the animal goes away, the former proprietor no longer has a sense of ownership. As long as the animal is in his possession he certainly has an affinity for it, but as soon as the animal is sold, the affinity is lost.

8Even though one living entity becomes connected with another because of a relationship based on bodies that are perishable, the living entity is eternal. Actually it is the body that is born or lost, not the living entity. One should not accept that the living entity takes birth or dies. The living being actually has no relationship with so-called fathers and mothers. As long as he appears as the son of a certain father and mother as a result of his past fruitive activities, he has a connection with the body given by that father and mother. Thus he falsely accepts himself as their son and acts affectionately. After he dies, however, the relationship is finished. Under these circumstances, one should not be falsely involved with jubilation and lamentation.

9The living entity is eternal and imperishable because he actually has no beginning and no end. He never takes birth or dies. He is the basic principle of all types of bodies, yet he does not belong to the bodily category. The living being is so sublime that he is equal in quality to the Supreme Lord. Nonetheless, because he is extremely small, he is prone to be illusioned by the external energy, and thus he creates various bodies for himself according to his different desires.

10For this living entity, no one is dear, nor is anyone unfavorable. He makes no distinction between that which is his own and that which belongs to anyone else. He is one without a second; in other words, he is not affected by friends and enemies, well-wishers or mischief-mongers. He is only an observer, a witness, of the different qualities of men.

11The Supreme Lord [ātmā], the creator of cause and effect, does not accept the happiness and distress that result from fruitive actions. He is completely independent of having to accept a material body, and because He has no material body, He is always neutral. The living entities, being part and parcel of the Lord, possess His qualities in a minute quantity. Therefore one

should not be affected by lamentation.

12ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: When the conditioned soul [jīva] in the form of Mahārāja Citraketu's son had spoken in this way and then left, Citraketu and the other relatives of the dead son were all astonished. Thus they cut off the shackles of their affection, which was due to their relationship with him, and gave up their lamentation.

13After the relatives had discharged their duties by performing the proper funeral ceremonies and burning the dead child's body, they gave up the affection that leads to illusion, lamentation, fear and pain. Such affection is undoubtedly difficult to give up, but they gave it up very easily.

14Queen Kṛtyadyuti's co-wives, who had poisoned the child, were very much ashamed, and they lost all their bodily luster. While lamenting, O King, they remembered the instructions of Aṅgirā and gave up their ambition to bear children. Following the directions of the brāhmaṇas, they went to the bank of the Yamunā, where they bathed and atoned for their sinful activities.

15Thus enlightened by the instructions of the brāhmaṇas Aṅgirā and Nārada, King Citraketu became fully aware of spiritual knowledge. As an elephant becomes free from a muddy reservoir of water, King Citraketu came out of the dark well of family life.

16The King bathed in the water of the Yamunā, and according to prescribed duties, he offered oblations of water to the forefathers and demigods. Very gravely controlling his senses and mind, he then offered his respects and obeisances to the sons of Lord Brahmā [Aṅgirā and Nārada].

17Thereafter, being very much pleased with Citraketu, who was a self-controlled devotee and surrendered soul, Nārada, the most powerful sage, spoke to him the following transcendental instructions.

18-19[Nārada gave Citraketu the following mantra.] O Lord, O Supreme Personality of Godhead, who are addressed by the oṁkāra [praṇava], I offer my respectful obeisances unto You. O Lord Vāsudeva, I meditate upon You. O Lord Pradyumna, Lord Aniruddha and Lord Saṅkarṣaṇa, I offer You my respectful obeisances. O reservoir of spiritual potency, O supreme bliss, I offer my respectful obeisances unto You, who are self-sufficient and most peaceful. O ultimate truth, one without a second, You are realized as Brahman, Paramātmā and Bhagavān and are therefore the reservoir of all knowledge. I offer my respectful obeisances unto You.

20Perceiving Your personal bliss, You are always transcendental to the waves of material nature. Therefore, my Lord, I offer my respectful obeisances unto You. You are the supreme controller of the senses, and Your expansions of form are unlimited. You are the greatest, and therefore I offer my respectful obeisances unto You.

21The words and mind of the conditioned soul cannot approach the Supreme Personality of Godhead, for material names and forms are not applicable to the Lord, who is entirely spiritual, beyond the conception of gross and subtle forms. The impersonal Brahman is another of His forms. May He, by His pleasure, protect us.

22As pots made completely of earth are situated on earth after being created and are transformed into earth again when broken, this cosmic manifestation is caused by the Supreme Brahman, situated in the Supreme Brahman, and annihilated in the same Supreme Brahman. Therefore, since the Supreme Lord is the cause of Brahman, let us offer Him our respectful obeisances.

23The Supreme Brahman emanates from the Supreme Personality of Godhead and expands like the sky. Although untouched by anything material, it exists within and without. Nonetheless, the mind, intelligence, senses and living force can neither touch Him nor know Him. I offer unto Him my respectful obeisances.

24As iron has the power to burn when made red-hot in the association of fire, so the body, senses, living force, mind and intelligence, although merely lumps of matter, can function in their activities when infused with a particle of consciousness by the Supreme Personality of Godhead. As iron cannot burn unless heated by fire, the bodily senses cannot act unless favored by the Supreme Brahman.

25O transcendental Lord, who are situated in the topmost planet of the spiritual world, Your two lotus feet are always massaged by a multitude of the best devotees with their lotus-bud hands. You are the Supreme Personality of Godhead, complete in six opulences. You are the supreme person mentioned in the Puruṣa-sūkta prayers. You are the most perfect, self-realized master of all mystic power. Let me offer my respectful obeisances unto You.

26ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: Nārada, having become the spiritual master of Citraketu, instructed him fully in this prayer because Citraketu was fully surrendered. O King Parīkṣit, Nārada then left with the great sage Aṅgirā for the topmost planet, known as Brahmaloka.

27Fasting and drinking only water, Citraketu for one week continuously chanted with great care and attention the mantra given by Nārada Muni.

28O King Parīkṣit, after only one week of repeatedly practicing the mantra received from the spiritual master, Citraketu achieved the rule of the planet of the Vidyādharas as an intermediate product of his spiritual advancement in knowledge.

29Thereafter, within a very few days, by the influence of the mantra that Citraketu had practiced, his mind became increasingly enlightened in spiritual progress, and he attained shelter at the lotus feet of Anantadeva.

30Upon reaching the shelter of Lord Śeṣa, the Supreme Personality of Godhead, Citraketu saw that He was as white as the white fibers of a lotus flower. He was dressed in bluish garments and adorned with a brilliantly glittering helmet, armlets, belt and bangles. His face was smiling, and His eyes were reddish. He was surrounded by such exalted liberated persons as Sanat-kumāra.

31As soon as Mahārāja Citraketu saw the Supreme Lord, he was cleansed of all material contamination and situated in his original Kṛṣṇa consciousness, being completely purified. He became silent and grave, and because of love for the Lord, tears fell from his eyes, and his hairs stood on end. With great devotion and love, he offered his respectful obeisances unto the original Personality of Godhead.

32With tears of love and affection, Citraketu repeatedly moistened the resting place of the Supreme Lord's lotus feet. Because his voice was choked in ecstasy, for a considerable time he was unable to utter any of the letters of the alphabet to offer the Lord suitable prayers.

33Thereafter, by controlling his mind with his intelligence and thus restricting his senses from external engagements, he recovered suitable words with which to express his feelings. Thus he began offering prayers to the Lord, who is the personification of the holy scriptures [the sātvata-saṁhitās like the Brahma-saṁhitā and the Nārada-paṣcarātra] and who is the spiritual master of all. He offered his prayers as follows.

34Citraketu said: O unconquerable Lord, although You cannot be conquered by anyone, You are certainly conquered by devotees who have control of the mind and senses. They can keep You under their control because You are causelessly merciful to devotees who desire no material profit from You. Indeed, You give Yourself to them, and because of this You also have full control over Your devotees.

35My dear Lord, this cosmic manifestation and its creation, maintenance and annihilation are all but Your opulences. Since Lord Brahmā and the other creators are nothing but small portions of a portion of You, their partial power to create does not make them God [īśvara]. Their consciousness of themselves as separate Lords is therefore merely false prestige. It is not valid.

36You exist in the beginning, middle and end of everything, from the most minute particle of the cosmic manifestationthe atomto the gigantic universes and total material energy. Nonetheless, You are eternal, having no beginning, end or middle. You are perceived to exist in these three phases, and thus You are permanent. When the cosmic manifestation does not exist, You exist as the original potency.

37Every universe is covered by seven layersearth, water, fire, air, sky, the total energy and false egoeach ten times greater than the previous one. There are innumerable universes besides this one, and although they are unlimitedly large, they move about like atoms in You. Therefore You are called unlimited [ananta].

38O Lord, O Supreme, unintelligent persons who thirst for sense enjoyment and who worship various demigods are no better than animals in the human form of life. Because of their animalistic propensities, they fail to worship Your Lordship, and instead they worship the insignificant demigods, who are but small sparks of Your glory. With the destruction of the entire universe, including the demigods, the benedictions received from the demigods also vanish, just like the nobility when a king is no longer in power.

39O Supreme Lord, if persons obsessed with material desires for sense gratification through material opulence worship You, who are the source of all knowledge and are transcendental to material qualities, they are not subject to material rebirth, just as sterilized or fried seeds do not produce plants. Living entities are subjected to the repetition of birth and death because they are conditioned by material nature, but since You are transcendental, one who is inclined to associate with You in transcendence escapes the conditions of material nature.

40O unconquerable one, when You spoke about bhāgavata-dharma, which is the uncontaminated religious system for achieving the shelter of Your lotus feet, that was Your victory. Persons who have no material desires, like the Kumāras, who are self-satisfied sages, worship You to be liberated from material contamination. In other words, they accept the process of bhāgavata-dharma to achieve shelter at Your lotus feet.

41Being full of contradictions, all forms of religion but bhāgavata-dharma work under conceptions of fruitive results and distinctions of "you and I" and "yours and mine." The followers of Śrīmad-Bhāgavatam have no such consciousness. They are all Kṛṣṇa conscious, thinking that they are Kṛṣṇa's and Kṛṣṇa is theirs. There are other, low-class religious systems, which are contemplated for the killing of enemies or the gain of mystic power, but such religious systems, being full of passion and envy, are impure and temporary. Because they are full of envy, they are full of irreligion.

42How can a religious system that produces envy of one's self and of others be beneficial for oneself and for them? What is auspicious about following such a system? What is actually to be gained? By causing pain to one's own self due to self-envy and by causing pain to others, one

arouses Your anger and practices irreligion.

43My dear Lord, one's occupational duty is instructed in Śrīmad-Bhāgavatam and Bhagavad-gītā according to Your point of view, which never deviates from the highest goal of life. Those who follow their occupational duties under Your supervision, being equal to all living entities, moving and nonmoving, and not considering high and low, are called Āryans. Such Āryans worship You, the Supreme Personality of Godhead.

44My Lord, it is not impossible for one to be immediately freed from all material contamination by seeing You. Not to speak of seeing You personally, merely by hearing the holy name of Your Lordship only once, even caṇḍālas, men of the lowest class, are freed from all material contamination. Under the circumstances, who will not be freed from material contamination simply by seeing You?

45Therefore, my dear Lord, simply seeing You has now wiped away all the contamination of sinful activities and their results of material attachment and lusty desires, which always filled my mind and the core of my heart. Whatever is predicted by the great sage Nārada Muni cannot be otherwise. In other words, I have obtained Your audience as a result of being trained by Nārada Muni.

46O unlimited Supreme Personality of Godhead, whatever a living entity does in this material world is well known to You because You are the Supersoul. In the presence of the sun there is nothing to be revealed by the light of a glowworm. Similarly, because You know everything, in Your presence there is nothing for me to make known.

47My dear Lord, You are the creator, maintainer and annihilator of this cosmic manifestation, but persons who are too materialistic and who always see separateness do not have eyes with which to see You. They cannot understand Your real position, and therefore they conclude that the cosmic manifestation is independent of Your opulence. My Lord, You are the supreme pure, and You are full in all six opulences. Therefore I offer my respectful obeisances unto You.

48My dear Lord, it is after You endeavor that Lord Brahmā, Indra and the other directors of the cosmic manifestation become occupied with their activities. It is after You perceive the material energy, My Lord, that the senses begin to perceive. The Supreme Personality of Godhead holds all the universes on His heads like seeds of mustard. I offer my respectful obeisances unto You, that Supreme Personality, who has thousands of hoods.

49Śukadeva Gosvāmī continued: The Lord, the Supreme Personality of Godhead, Anantadeva, being very much pleased with the prayers offered by Citraketu, the King of the Vidyādharas, replied to him as follows, O best of the Kuru dynasty, Mahārāja Parīkṣit.

50The Supreme Personality of Godhead, Anantadeva, replied as follows: O King, as a result of your having accepted the instructions spoken about Me by the great sages Nārada and Aṅgirā, you have become completely aware of transcendental knowledge. Because you are now educated in the spiritual science, you have seen Me face to face. Therefore you are now completely perfect.

51All living entities, moving and nonmoving, are My expansions and are separate from Me. I am the Supersoul of all living beings, who exist because I manifest them. I am the form of the transcendental vibrations like oṁkāra and Hare Kṛṣṇa Hare Rāma, and I am the Supreme Absolute Truth. These two forms of Minenamely, the transcendental sound and the eternally blissful spiritual form of the Deity, are My eternal forms; they are not material.

52In this world of matter, which the conditioned soul accepts as consisting of enjoyable resources, the conditioned soul expands, thinking that he is the enjoyer of the material world. Similarly, the material world expands in the living entity as a source of enjoyment. In this way they both expand, but because they are My energies, they are both pervaded by Me. As the Supreme Lord, I am the cause of these effects, and one should know that both of them rest in Me.

53-54When a person is in deep sleep, he dreams and sees in himself many other objects, such as great mountains and rivers or perhaps even the entire universe, although they are far away. Sometimes when one awakens from a dream he sees that he is in a human form, lying in his bed in one place. Then he sees himself, in terms of various conditions, as belonging to a particular nationality, family and so on. All the conditions of deep sleep, dreaming and wakefulness are but energies of the Supreme Personality of Godhead. One should always remember the original creator of these conditions, the Supreme Lord, who is unaffected by them.

55Know Me to be the Supreme Brahman, the all-pervading Supersoul through whom the sleeping living entity can understand his dreaming condition and his happiness beyond the activities of the material senses. That is to say, I am the cause of the activities of the sleeping living being.

56If one's dreams during sleep are merely subject matters witnessed by the Supersoul, how can the living entity, who is different from the Supersoul, remember the activities of dreams? The experiences of one person cannot be understood by another. Therefore the knower of the facts, the living entity who inquires into the incidents manifested in dreams and wakefulness, is different from the circumstantial activities. That knowing factor is Brahman. In other words, the quality of knowing belongs to the living entities and to the Supreme Soul. Thus the living entity can also experience the activities of dreams and wakefulness. In both stages the knower is unchanged, but is qualitatively one with the Supreme Brahman.

57When a living entity, thinking himself different from Me, forgets his spiritual identity of qualitative oneness with Me in eternity, knowledge and bliss, his material, conditional life begins. In other words, instead of identifying his interest with Mine, he becomes interested in his bodily expansions like his wife, children and material possessions. In this way, by the influence of his actions, one body comes from another, and after one death, another death takes place.

58A human being can attain perfection in life by self-realization through the Vedic literature and its practical application. This is possible especially for a human being born in India, the land of piety. A man who obtains birth in such a convenient position but does not understand his self is unable to achieve the highest perfection, even if he is exalted to life in the higher planetary systems.

59Remembering the great trouble found in the field of activities performed for fruitive results, and remembering how one receives the reverse of the results one desireswhether from material actions or from the fruitive activities recommended in the Vedic literaturesan intelligent man should cease from the desire for fruitive actions, for by such endeavors one cannot achieve the ultimate goal of life. On the other hand, if one acts without desires for fruitive resultsin other words, if one engages in devotional activitieshe can achieve the highest goal of life with freedom from miserable conditions. Considering this, one should cease from material desires.

60As husband and wife, a man and woman plan together to attain happiness and decrease unhappiness, working jointly in many ways, but because their activities are full of desires, these activities are never a source of happiness, and they never diminish distress. On the

contrary, they are a cause of great unhappiness.

61-62One should understand that the activities of persons who are proud of their material experience bring only results contradictory to those such persons conceive while awake, sleeping and deeply sleeping. One should further understand that the spirit soul, although very difficult for the materialist to perceive, is above all these conditions, and by the strength of one's discrimination, one should give up the desire for fruitive results in the present life and in the next. Thus becoming experienced in transcendental knowledge, one should become My devotee.

63Persons who try to reach the ultimate goal of life must expertly observe the Supreme Absolute Person and the living entity, who are one in quality in their relationship as part and whole. This is the ultimate understanding of life. There is no better truth than this.

64O King, if you accept this conclusion of Mine, being unattached to material enjoyment, adhering to Me with great faith and thus becoming proficient and fully aware of knowledge and its practical application in life, you will achieve the highest perfection by attaining Me.

65ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: After thus instructing Citraketu and assuring him of perfection in this way, the Supreme Personality of Godhead, who is the supreme spiritual master, the supreme soul, Saṅkarṣaṇa, disappeared from that place as Citraketu looked on.

### SB 6.17: Mother Pārvatī Curses Citraketu

The Seventeenth Chapter is summarized as follows. This chapter describes Citraketu's receiving the body of an *asura,* or demon, because of joking with Lord Śiva.

After personally talking with the Supreme Personality of Godhead, King Citraketu enjoyed life in his airplane with the women of the Vidyādhara planet. Engaging in the congregational chanting of the glories of the Lord, he began flying his plane and traveling in outer space. One day while traveling like this, he wandered into the bowers of Sumeru Mountain, where he came upon Lord Śiva embracing Pārvatī, surrounded by an assembly of Siddhas, Cāraṇas and great sages. Seeing Lord Śiva in that situation, Citraketu laughed very loudly, but Pārvatī became very angry at him and cursed him. Because of this curse, Citraketu later appeared as the demon Vṛtrāsura.

Citraketu, however, was not at all afraid of Pārvatī's curse, and thus he spoke as follows: "Everyone in human society enjoys happiness and distress according to his past deeds and in this way travels in the material world. Therefore no one is responsible for his happiness and distress. One is controlled by the influence of material nature in the material world, yet one thinks himself the doer of everything. In this material world, which is made of the external energy of the Supreme Lord, one is sometimes cursed and sometimes favored, and thus he sometimes enjoys in the upper planetary systems and sometimes suffers in the lower planets, but all these situations are the same because they are within this material world. None of these positions has any factual existence, for all of them are temporary. The Supreme Personality of Godhead is the ultimate controller because the material world is created, maintained and annihilated under His control while He nonetheless remains neutral to these different transformations of the material world in time and space. The material, external energy of the Supreme Personality of Godhead is in charge of this material world. The Lord helps the world by creating situations for the living entities within it."

When Citraketu spoke in this way, all the members in the great assembly in which Lord Śiva and Pārvatī were present were astonished. Then Lord Śiva began speaking about the devotees of the Lord. A devotee is neutral in all conditions of life, whether in the heavenly planets or

hellish planets, whether liberated from the material world or conditioned by it, and whether blessed with happiness or subjected to distress. These are all merely dualities created by the external energy. Being influenced by the external energy, the living entity accepts a gross and subtle material body, and in this illusory position he apparently suffers miseries, although everyone is part and parcel of the Supreme Lord. The so-called demigods consider themselves independent lords, and in this way they are misled from understanding that all living entities are part of the Supreme. This chapter concludes by glorifying the devotee and the Supreme Personality of Godhead.

1Śrīla Śukadeva Gosvāmī said: After offering obeisances to the direction from which Ananta, the Supreme Personality of Godhead, had disappeared, Citraketu began traveling in outer space as the head of the Vidyādharas.

2-3Being praised by great sages and saints and by the inhabitants of Siddhaloka and Cāraṇaloka, Citraketu, the most powerful mystic yogī, wandered about enjoying life for millions of years. With bodily strength and senses free from deterioration, he traveled within the valleys of Sumeru Mountain, which is the place of perfection for various kinds of mystic power. In those valleys he enjoyed life with the women of Vidyādhara-loka by chanting the glories of the Supreme Lord, Hari.

4-5One time while King Citraketu was traveling in outer space on a brilliantly effulgent airplane given to him by Lord Viṣṇu, he saw Lord Śiva, surrounded by Siddhas and Cāraṇas. Lord Śiva was sitting in an assembly of great saintly persons and embracing Pārvatī on his lap with his arm. Citraketu laughed loudly and spoke, within the hearing of Pārvatī.

6Citraketu said: Lord Śiva, the spiritual master of the general populace, is the best of all living entities who have accepted material bodies. He enunciates the system of religion. Yet how wonderful it is that he is embracing his wife, Pārvatī, in the midst of an assembly of great saintly persons.

7Lord Śiva, whose hair is matted on his head, has certainly undergone great austerities and penances. Indeed, he is the president in the assembly of strict followers of Vedic principles. Nonetheless, he is seated with his wife on his lap in the midst of saintly persons and is embracing her as if he were a shameless, ordinary human being.

8Ordinary conditioned persons generally embrace their wives and enjoy their company in solitary places. How wonderful it is that Lord Mahādeva, although a great master of austerity, is embracing his wife openly in the midst of an assembly of great saints.

9Śrīla Śukadeva Gosvāmī continued: My dear King, after hearing Citraketu's statement, Lord Śiva, the most powerful personality, whose knowledge is fathomless, simply smiled and remained silent, and all the members of the assembly followed the lord by not saying anything.

10Not knowing the prowess of Lord Śiva and Pārvatī, Citraketu strongly criticized them. His statements were not at all pleasing, and therefore the goddess Pārvatī, being very angry, spoke as follows to Citraketu, who thought himself better than Lord Śiva in controlling the senses.

11The goddess Pārvatī said: Alas, has this upstart now received a post from which to punish shameless persons like us? Has he been appointed ruler, carrier of the rod of punishment? Is he now the only master of everything?

12Alas, Lord Brahmā, who has taken his birth from the lotus flower, does not know the principles of religion, nor do the great saints like Bhṛgu and Nārada, nor the four Kumāras,

headed by Sanat-kumāra. Manu and Kapila have also forgotten the religious principles. I suppose it to be because of this that they have not tried to stop Lord Śiva from behaving improperly.

13This Citraketu is the lowest of kṣatriyas, for he has impudently overridden Brahmā and the other demigods by insulting Lord Śiva, upon whose lotus feet they always meditate. Lord Śiva is personified religion and the spiritual master of the entire world, and therefore Citraketu must be punished.

14This person is puffed up because of his achievements, thinking, "I am the best." He does not deserve to approach the shelter of Lord Viṣṇu's lotus feet, which are worshiped by all saintly persons, for he is impudent, thinking himself greatly important.

15O impudent one, my dear son, now take birth in a low, sinful family of demons so that you will not commit such an offense again toward exalted, saintly persons in this world.

16ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: My dear King Parīkṣit, when Citraketu was cursed by Pārvatī, he descended from his airplane, bowed before her with great humility and pleased her completely.

17Citraketu said: My dear mother, with my own hands folded together I accept the curse upon me. I do not mind the curse, for happiness and distress are given by the demigods as a result of one's past deeds.

18Deluded by ignorance, the living entity wanders in the forest of this material world, enjoying the happiness and distress resulting from his past deeds, everywhere and at all times. [Therefore, my dear mother, neither you nor I am to be blamed for this incident.]

19In this material world, neither the living entity himself nor others [friends and enemies] are the cause of material happiness and distress. But because of gross ignorance, the living entity thinks that he and others are the cause.

20This material world resembles the waves of a constantly flowing river. Therefore, what is a curse and what is a favor? What are the heavenly planets, and what are the hellish planets? What is actually happiness, and what is actually distress? Because the waves flow constantly, none of them has an eternal effect.

21The Supreme Personality of Godhead is one. Unaffected by the conditions of the material world, He creates all the conditioned souls by His own personal potency. Because of being contaminated by the material energy, the living entity is put into ignorance and thus into different conditions of bondage. Sometimes, by knowledge, the living entity is given liberation. In sattva-guṇa and rajo-guṇa, he is subjected to happiness and distress.

22The Supreme Personality of Godhead is equally disposed toward all living entities. Therefore no one is very dear to Him, and no one is a great enemy for Him; no one is His friend, and no one is His relative. Being unattached to the material world, He has no affection for so-called happiness or hatred for so-called distress. The two terms happiness and distress are relative. Since the Lord is always happy, for Him there is no question of distress.

23Although the Supreme Lord is unattached to our happiness and distress according to karma, and although no one is His enemy or favorite, He creates pious and impious activities through the agency of His material potency. Thus for the continuation of the materialistic way of life He creates happiness and distress, good fortune and bad, bondage and liberation, birth and death.

24O mother, you are now unnecessarily angry, but since all my happiness and distress are

destined by my past activities, I do not plead to be excused or relieved from your curse. Although what I have said is not wrong, please let whatever you think is wrong be pardoned.

25ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: O King Parīkṣit, subduer of the enemy, after Citraketu satisfied Lord Śiva and his wife, Pārvatī, he boarded his airplane and left as they looked on. When Lord Śiva and Pārvatī saw that Citraketu, although informed of the curse, was unafraid, they smiled, being fully astonished by his behavior.

26Thereafter, in the presence of the great sage Nārada, the demons, the inhabitants of Siddhaloka, and his personal associates, Lord Śiva, who is most powerful, spoke to his wife, Pārvatī, while they all listened.

27Lord Śiva said: My dear beautiful Pārvatī, have you seen the greatness of the Vaiṣṇavas? Being servants of the servants of the Supreme Personality of Godhead, Hari, they are great souls and are not interested in any kind of material happiness.

28Devotees solely engaged in the devotional service of the Supreme Personality of Godhead, Nārāyaṇa, never fear any condition of life. For them the heavenly planets, liberation and the hellish planets are all the same, for such devotees are interested only in the service of the Lord.

29Because of the actions of the Supreme Lord's external energy, the living entities are conditioned in contact with material bodies. The dualities of happiness and distress, birth and death, curses and favors, are natural by-products of this contact in the material world.

30As one mistakenly considers a flower garland to be a snake or experiences happiness and distress in a dream, so, in the material world, by a lack of careful consideration, we differentiate between happiness and distress, considering one good and the other bad.

31Persons engaged in devotional service to Lord Vāsudeva, Kṛṣṇa, have naturally perfect knowledge and detachment from this material world. Therefore such devotees are not interested in the so-called happiness or so-called distress of this world.

32Neither I [Lord Śiva], nor Brahmā, nor the Aśvinī-kumāras, nor Nārada or the other great sages who are Brahmā's sons, nor even the demigods can understand the pastimes and personality of the Supreme Lord. Although we are part of the Supreme Lord, we consider ourselves independent, separate controllers, and thus we cannot understand His identity.

33He holds no one as very dear and no one as inimical. He has no one for His own relative, and no one is alien to Him. He is actually the soul of the soul of all living entities. Thus He is the auspicious friend of all living beings and is very near and dear to all of them.

34-35This magnanimous Citraketu is a dear devotee of the Lord. He is equal to all living entities and is free from attachment and hatred. Similarly, I am also very dear to Lord Nārāyaṇa. Therefore, no one should be astonished to see the activities of the most exalted devotees of Nārāyaṇa, for they are free from attachment and envy. They are always peaceful, and they are equal to everyone.

36ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: O King, after hearing this speech by her husband, the demigoddess [Umā, the wife of Lord Śiva] gave up her astonishment at the behavior of King Citraketu and became steady in intelligence.

37The great devotee Citraketu was so powerful that he was quite competent to curse mother Pārvatī in retaliation, but instead of doing so he very humbly accepted the curse and bowed his head before Lord Śiva and his wife. This is very much to be appreciated as the standard

behavior of a Vaiṣṇava.

38Being cursed by mother Durgā [Bhavānī, the wife of Lord Śiva], that same Citraketu accepted birth in a demoniac species of life. Although still fully equipped with transcendental knowledge and practical application of that knowledge in life, he appeared as a demon at the fire sacrifice performed by Tvaṣṭā, and thus he became famous as Vṛtrāsura.

39My dear King Parīkṣit, you inquired from me how Vṛtrāsura, a great devotee, took birth in a demoniac family. Thus I have tried to explain to you everything about this.

40Citraketu was a great devotee [mahātmā]. If one hears this history of Citraketu from a pure devotee, the listener also is freed from the conditional life of material existence.

41One who rises from bed early in the morning and recites this history of Citraketu, controlling his words and mind and remembering the Supreme Personality of Godhead, will return home, back to Godhead, without difficulty.

## SB 6.18: Diti Vows to Kill King Indra

This chapter gives the history of Diti, the wife of Kaśyapa, and how she followed a vow to have a son who would kill Indra. It also describes how Indra attempted to foil her plan by cutting to pieces the son within her womb.

In relation to Tvaṣṭāand his descendants, there is a description of the dynasty of the Ādityas (sons of Aditi) and other demigods. Pṛśni, the wife of Aditi's fifth son named Savitā, had three daughtersSāvitrī, Vyāhṛti and Trayīand very exalted sons named Agnihotra, Paśu, Soma, Cāturmāsya and the five Mahāyajṣas. Siddhi, the wife of Bhaga, had three sons, named Mahimā, Vibhu and Prabhu, and she also had one daughter, whose name was Āśī. Dhātā had four wivesKuhū, Sinīvālī, Rākā and Anumatiwho had four sons, named Sāyam, Darśa, Prātaḥ and Pūrṇamāsa respectively. Kriyā, the wife of Vidhātā, gave birth to the five Purīṣyas, who are representatives of five kinds of fire-gods. Bhṛgu, the mind-born son of Brahmā, took his birth again from Carṣaṇī, the wife of Varuṇa, and the great sage Vālmīki appeared from Varuṇa's semen. Agastya and Vasiṣṭha were two sons of Varuṇa and Mitra. Upon seeing the beauty of Urvaśī, Mitra and Varuṇa discharged semen, which they kept in an earthen pot. From that pot, Agastya and Vasiṣṭha appeared. Mitra had a wife named Revatī, who gave birth to three sonsUtsarga, Ariṣṭa and Pippala. Aditi had twelve sons, of whom Indra was the eleventh. Indra's wife was named Paulomī (Śacīdevī). She gave birth to three sonsJayanta, Ṛṣabha and Mīḍhuṣa. By His own powers, the Supreme Personality of Godhead appeared as Vāmanadeva. From His wife, whose name was Kīrti, appeared a son named Bṛhatśloka. Bṛhatśloka's first son was known as Saubhaga. This is a description of the sons of Aditi. A description of Āditya Urukrama, who is an incarnation of the Supreme Personality of Godhead, will be offered in the Eighth Canto.

The demons born of Diti are also described in this chapter. In the dynasty of Diti appeared the great saintly devotee Prahlāda and also Bali, Prahlāda's grandson. Hiraṇyakaśipu and Hiraṇyākṣa were the first sons of Diti. Hiraṇyakaśipu and his wife, whose name was Kayādhu, had four sonsSaṁhlāda, Anuhlāda, Hlāda and Prahlāda. They also had one daughter, whose name was Siṁhikā. In association with the demon Vipracit, Siṁhikā bore a son named Rāhu, whose head was severed by the Supreme Personality of Godhead. Kṛti, the wife of Saṁhlāda, bore a son named Paṣcajana. Hlāda's wife, whose name was Dhamani, gave birth to two sonsVātāpi and Ilvala. Ilvala put Vātāpi into the form of a ram and gave him to Agastya to eat. Anuhlāda, in the womb of his wife, Sūryā, begot two sons, named Bāṣkala and Mahiṣa.

Prahlāda's son was known as Virocana, and his grandson was known as Bali Mahārāja. Bali Mahārāja had one hundred sons, of whom Bāṇa was the eldest.

After describing the dynasty of the Ādityas and the other demigods, Śukadeva Gosvāmī describes Diti's sons known as the Maruts and how they were elevated to the position of demigods. Just to help Indra, Lord Viṣṇu had killed Hiraṇyākṣa and Hiraṇyakaśipu. Because of this, Diti was very envious, and she was eager to have a son who could kill Indra. By her service, she enchanted Kaśyapa Muni in order to beg from him a greater son to do this. In corroboration of the Vedic injunction *vidvāṁsam api karṣati,* Kaśyapa Muni was attracted to his beautiful wife and promised to grant her any request. When, however, she requested a son who would kill Indra, he condemned himself, and he advised his wife Diti to follow the Vaiṣṇava ritualistic ceremonies to purify herself. When Diti, following the instructions of Kaśyapa, engaged in devotional service, Indra could understand her purpose, and he began observing all her activities. One day, Indra had the opportunity to see her deviating from devotional service. Thus he entered her womb and cut her son into forty-nine parts. In this way the forty-nine kinds of air known as the Maruts appeared, but because Diti had performed the Vaiṣṇava ritualistic ceremonies, all the sons became Vaiṣṇavas.

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: Pṛśni, who was the wife of Savitā, the fifth of the twelve sons of Aditi, gave birth to three daughtersSāvitrī, Vyāhṛti and Trayīand the sons named Agnihotra, Paśu, Soma, Cāturmāsya and the five Mahāyajṣas.

2O King, Siddhi, who was the wife of Bhaga, the sixth son of Aditi, bore three sons, named Mahimā, Vibhu and Prabhu, and one extremely beautiful daughter, whose name was Āśī.

3-4Dhātā, the seventh son of Aditi, had four wives, named Kuhū, Sinīvālī, Rākā and Anumati. These wives begot four sons, named Sāyam, Darśa, Prātaḥ and Pūrṇamāsa respectively. The wife of Vidhātā, the eighth son of Aditi, was named Kriyā. In her Vidhātā begot the five fire-gods named the Purīṣyas. The wife of Varuṇa, the ninth son of Aditi, was named Carṣaṇī. Bhṛgu, the son of Brahmā, took birth again in her womb.

5By the semen of Varuṇa, the great mystic Vālmīki took birth from an anthill. Bhṛgu and Vālmīki were specific sons of Varuṇa, whereas Agastya and Vasiṣṭha Ṛṣis were the common sons of Varuṇa and Mitra, the tenth son of Aditi.

6Upon seeing Urvaśī, the celestial society girl, both Mitra and Varuṇa discharged semen, which they preserved in an earthen pot. The two sons Agastya and Vasiṣṭha later appeared from that pot, and they are therefore the common sons of Mitra and Varuṇa. Mitra begot three sons in the womb of his wife, whose name was Revatī. Their names were Utsarga, Ariṣṭa and Pippala.

7O King Parīkṣit, Indra, the King of the heavenly planets and eleventh son of Aditi, begot three sons, named Jayanta, Ṛṣabha and Mīḍhuṣa, in the womb of his wife, Paulomī. Thus we have heard.

8By His own potency, the Supreme Personality of Godhead, who has multifarious potencies, appeared in the form of a dwarf as Urukrama, the twelfth son of Aditi. In the womb of His wife, whose name was Kīrti, He begot one son, named Bṛhatśloka, who had many sons, headed by Saubhaga.

9Later [in the Eighth Canto of Śrīmad-Bhāgavatam] I shall describe how Urukrama, Lord Vāmanadeva, appeared as the son of the great sage Kaśyapa and how He covered the three worlds with three steps. I shall describe the uncommon activities He performed, His qualities, His power and how He took birth from the womb of Aditi.

10Now let me describe the sons of Diti, who were begotten by Kaśyapa but who became demons. In this demoniac family the great devotee Prahlāda Mahārāja appeared, and Bali Mahārāja also appeared in that family. The demons are technically known as Daityas because they proceeded from the womb of Diti.

11First the two sons named Hiraṇyakaśipu and Hiraṇyākṣa took birth from Diti's womb. Both of them were very powerful and were worshiped by the Daityas and Dānavas.

12-13The wife of Hiraṇyakaśipu was known as Kayādhu. She was the daughter of Jambha and a descendant of Danu. She gave birth to four consecutive sons, known as Saṁhlāda, Anuhlāda, Hlāda and Prahlāda. The sister of these four sons was known as Siṁhikā. She married the demon named Vipracit and gave birth to another demon, named Rāhu.

14While Rāhu, in disguise, was drinking nectar among the demigods, the Supreme Personality of Godhead severed his head. The wife of Saṁhlāda was named Kṛti. By union with Saṁhlāda, Kṛti gave birth to a son named Paṣcajana.

15The wife of Hlāda was named Dhamani. She gave birth to two sons, named Vātāpi and Ilvala. When Agastya Muni became Ilvala's guest, Ilvala served him a feast by cooking Vātāpi, who was in the shape of a ram.

16The wife of Anuhlāda was named Sūryā. She gave birth to two sons, named Bāṣkala and Mahiṣa. Prahlāda had one son, Virocana, whose wife gave birth to Bali Mahārāja.

17Thereafter, Bali Mahārāja begot one hundred sons in the womb of Aśanā. Of these one hundred sons, King Bāṇa was the eldest. The activities of Bali Mahārāja, which are very laudable, will be described later [in the Eighth Canto].

18Since King Bāṇa was a great worshiper of Lord Śiva, he became one of Lord Śiva's most celebrated associates. Even now, Lord Śiva protects King Bāṇa's capital and always stands beside him.

19The forty-nine Marut demigods were also born from the womb of Diti. None of them had sons. Although they were born of Diti, King Indra gave them a position as demigods.

20King Parīkṣit inquired: My dear lord, due to their birth, the forty-nine Maruts must have been obsessed with a demoniac mentality. Why did Indra, the King of heaven, convert them into demigods? Did they perform any rituals or pious activities?

21My dear brāhmaṇa, I and all the sages present with me are eager to know about this. Therefore, O great soul, kindly explain to us the reason.

22Śrī Sūta Gosvāmī said: O great sage Śaunaka, after hearing Mahārāja Parīkṣit speak respectfully and briefly on topics essential to hear, Śukadeva Gosvāmī, who was well aware of everything, praised his endeavor with great pleasure and replied.

23ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: Just to help Indra, Lord Viṣṇu killed the two brothers Hiraṇyākṣa and Hiraṇyakaśipu. Because of their being killed, their mother, Diti, overwhelmed with lamentation and anger, contemplated as follows.

24Lord Indra, who is very much fond of sense gratification, has killed the two brothers Hiraṇyākṣa and Hiraṇyakaśipu by means of Lord Viṣṇu. Therefore Indra is cruel, hardhearted and sinful. When will I, having killed him, rest with a pacified mind?

25When dead, the bodies of all the rulers known as kings and great leaders will be transformed into worms, stool or ashes. If one enviously kills others for the protection of such a body, does he actually know the true interest of life? Certainly he does not, for if one is envious of other entities, he surely goes to hell.

26Diti thought: Indra considers his body eternal, and thus he has become unrestrained. I therefore wish to have a son who can remove Indra's madness. Let me adopt some means to help me in this.

27-28Thinking in this way [with a desire for a son to kill Indra], Diti began constantly acting to satisfy Kaśyapa by her pleasing behavior. O King, Diti always carried out Kaśyapa's orders very faithfully, as he desired. With service, love, humility and control, with words spoken very sweetly to satisfy her husband, and with smiles and glances at him, Diti attracted his mind and brought it under her control.

29Although Kaśyapa Muni was a learned scholar, he was captivated by Diti's artificial behavior, which brought him under her control. Therefore he assured his wife that he would fulfill her desires. Such a promise by a husband is not at all astonishing.

30In the beginning of creation, Lord Brahmā, the father of the living entities of the universe, saw that all the living entities were unattached. To increase population, he then created woman from the better half of man's body, for woman's behavior carries away a man's mind.

31O my dear one, the most powerful sage Kaśyapa, being extremely pleased by the mild behavior of his wife Diti, smiled and spoke to her as follows.

32Kaśyapa Muni said: O beautiful woman, O irreproachable lady, since I am very much pleased by your behavior, you may ask me for any benediction you want. If a husband is pleased, what desires are difficult for his wife to obtain, either in this world or in the next?

33-34A husband is the supreme demigod for a woman. The Supreme Personality of Godhead, Lord Vāsudeva, the husband of the goddess of fortune, is situated in everyone's heart and is worshiped through the various names and forms of the demigods by fruitive workers. Similarly, a husband represents the Lord as the object of worship for a woman.

35My dear wife, whose body is so beautiful, your waist being thin, a conscientious wife should be chaste and should abide by the orders of her husband. She should very devoutly worship her husband as a representative of Vāsudeva.

36My dear gentle wife, because you have worshiped me with great devotion, considering me a representative of the Supreme Personality of Godhead, I shall reward you by fulfilling your desires, which are unobtainable for an unchaste wife.

37Diti replied: O my husband, O great soul, I have now lost my sons. If you want to give me a benediction, I ask you for an immortal son who can kill Indra. I pray for this because Indra, with the help of Viṣṇu, has killed my two sons Hiraṇyākṣa and Hiraṇyakaśipu.

38Upon hearing Diti's request, Kaśyapa Muni was very much aggrieved. "Alas," he lamented, "now I face the danger of the impious act of killing Indra."

39Kaśyapa Muni thought: Alas, I have now become too attached to material enjoyment. Taking advantage of this, my mind has been attracted by the illusory energy of the Supreme Personality of Godhead in the form of a woman [my wife]. Therefore I am surely a wretched person who will glide down toward hell.

40This woman, my wife, has adopted a means that follows her nature, and therefore she is not to be blamed. But I am a man. Therefore, all condemnation upon me! I am not at all conversant with what is good for me, since I could not control my senses.

41A woman's face is as attractive and beautiful as a blossoming lotus flower during autumn. Her words are very sweet, and they give pleasure to the ear, but if we study a woman's heart, we can understand it to be extremely sharp, like the blade of a razor. In these circumstances, who could understand the dealings of a woman?

42To satisfy their own interests, women deal with men as if the men were most dear to them, but no one is actually dear to them. Women are supposed to be very saintly, but for their own interests they can kill even their husbands, sons or brothers, or cause them to be killed by others.

43I promised to give her a benediction, and this promise cannot be violated, but Indra does not deserve to be killed. In these circumstances, the solution I have is quite suitable.

44ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: Kaśyapa Muni, thinking in this way, became somewhat angry. Condemning himself, O Mahārāja Parīkṣit, descendant of Kuru, he spoke to Diti as follows.

45Kaśyapa Muni said: My dear gentle wife, if you follow my instructions regarding this vow for at least one year, you will surely get a son who will be able to kill Indra. However, if you deviate from this vow of following the Vaiṣṇava principles, you will get a son who will be favorable to Indra.

46Diti replied: My dear brāhmaṇa, I must accept your advice and follow the vow. Now let me understand what I have to do, what is forbidden and what will not break the vow. Please clearly state all this to me.

47Kaśyapa Muni said: My dear wife, to follow this vow, do not be violent or cause harm to anyone. Do not curse anyone, and do not speak lies. Do not cut your nails and hair, and do not touch impure things like skulls and bones.

48Kaśyapa Muni continued: My dear gentle wife, never enter the water while bathing, never be angry, and do not even speak or associate with wicked people. Never wear clothes that have not been properly washed, and do not put on a garland that has already been worn.

49Never eat leftover food, never eat prasāda offered to the goddess Kālī [Durgā], and do not eat anything contaminated by flesh or fish. Do not eat anything brought or touched by a śūdra nor anything seen by a woman in her menstrual period. Do not drink water by joining your palms.

50After eating, you should not go out to the street without having washed your mouth, hands and feet. You should not go out in the evening or with your hair loose, nor should you go out unless you are properly decorated with ornaments. You should not leave the house unless you are very grave and are sufficiently covered.

51You should not lie down without having washed both of your feet or without being purified, nor with wet feet or with your head pointed west or north. You should not lie naked, or with other women, or during the sunrise or sunset.

52Putting on washed clothing, being always pure and being adorned with turmeric, sandalwood pulp and other auspicious items, before breakfast one should worship the cows, the brāhmaṇas, the goddess of fortune and the Supreme Personality of Godhead.

53With flower garlands, sandalwood pulp, ornaments and other paraphernalia, a woman

following this vow should worship women who have sons and whose husbands are living. The pregnant wife should worship her husband and offer him prayers. She should meditate upon him, thinking that he is situated in her womb.

54Kaśyapa Muni continued: If you perform this ceremony called puṁsavana, adhering to the vow with faith for at least one year, you will give birth to a son destined to kill Indra. But if there is any discrepancy in the discharge of this vow, the son will be a friend to Indra.

55O King Parīkṣit, Diti, the wife of Kaśyapa, agreed to undergo the purificatory process known as puṁsavana. "Yes," she said, "I shall do everything according to your instructions." With great jubilation she became pregnant, having taken semen from Kaśyapa, and faithfully began discharging the vow.

56O King, who are respectful to everyone, Indra understood Diti's purpose, and thus he contrived to fulfill his own interests. Following the logic that self-preservation is the first law of nature, he wanted to break Diti's promise. Thus he engaged himself in the service of Diti, his aunt, who was residing in an āśrama.

57Indra served his aunt daily by bringing flowers, fruits, roots and wood for yajṣas from the forest. He also brought kuśa grass, leaves, sprouts, earth and water exactly at the proper time.

58O King Parīkṣit, as the hunter of a deer becomes like a deer by covering his body with deerskin and serving the deer, so Indra, although at heart the enemy of the sons of Diti, became outwardly friendly and served Diti in a faithful way. Indra's purpose was to cheat Diti as soon as he could find some fault in the way she discharged the vows of the ritualistic ceremony. However, he wanted to be undetected, and therefore he served her very carefully.

59O master of the entire world, when Indra could find no faults, he thought, "How will there be good fortune for me?" Thus he was full of deep anxiety.

60Having grown weak and thin because of strictly following the principles of the vow, Diti once unfortunately neglected to wash her mouth, hands and feet after eating and went to sleep during the evening twilight.

61Finding this fault, Indra, who has all the mystic powers [the yoga-siddhis such as aṇimā and laghimā], entered Diti's womb while she was unconscious, being fast asleep.

62After entering Diti's womb, Indra, with the help of his thunderbolt, cut into seven pieces her embryo, which appeared like glowing gold. In seven places, seven different living beings began crying. Indra told them, "Do not cry," and then he cut each of them into seven pieces again.

63O King, being very much aggrieved, they pleaded to Indra with folded hands, saying, "Dear Indra, we are the Maruts, your brothers. Why are you trying to kill us?"

64When Indra saw that actually they were his devoted followers, he said to them: If you are all my brothers, you have nothing more to fear from me.

65Śukadeva Gosvāmī said: My dear King Parīkṣit, you were burned by the brahmāstra of Aśvatthāmā, but when Lord Kṛṣṇa entered the womb of your mother, you were saved. Similarly, although the one embryo was cut into forty-nine pieces by the thunderbolt of Indra, they were all saved by the mercy of the Supreme Personality of Godhead.

66-67If one worships the Supreme Personality of Godhead, the original person, even once, he receives the benefit of being promoted to the spiritual world and possessing the same bodily

features as Viṣṇu. Diti worshiped Lord Viṣṇu for almost one year, adhering to a great vow. Because of such strength in spiritual life, the forty-nine Maruts were born. How, then, is it wonderful that the Maruts, although born from the womb of Diti, became equal to the demigods by the mercy of the Supreme Lord?

68Because of worshiping the Supreme Personality of Godhead, Diti was completely purified. When she got up from bed, she saw her forty-nine sons along with Indra. These forty-nine sons were all as brilliant as fire and were in friendship with Indra, and therefore she was very pleased.

69Thereafter, Diti said to Indra: My dear son, I adhered to this difficult vow just to get a son to kill you twelve Ādityas.

70I prayed for only one son, but now I see that there are forty-nine. How has this happened? My dear son Indra, if you know, please tell me the truth. Do not try to speak lies.

71Indra replied: My dear mother, because I was grossly blinded by selfish interests, I lost sight of religion. When I understood that you were observing a great vow in spiritual life, I wanted to find some fault in you. When I found such a fault, I entered your womb and cut the embryo to pieces.

72First I cut the child in the womb into seven pieces, which became seven children. Then I cut each of the children into seven pieces again. By the grace of the Supreme Lord, however, none of them died.

73My dear mother, when I saw that all forty-nine sons were alive, I was certainly struck with wonder. I decided that this was a secondary result of your having regularly executed devotional service in worship of Lord Viṣṇu.

74Although those who are interested only in worshiping the Supreme Personality of Godhead do not desire anything material from the Lord and do not even want liberation, Lord Kṛṣṇa fulfills all their desires.

75The ultimate goal of all ambitions is to become a servant of the Supreme Personality of Godhead. If an intelligent man serves the most dear Lord, who gives Himself to His devotees, how can he desire material happiness, which is available even in hell?

76O my mother, O best of all women, I am a fool. Kindly excuse me for whatever offenses I have committed. Your forty-nine sons have been born unhurt because of your devotional service. As an enemy, I cut them to pieces, but because of your great devotional service they did not die.

77ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: Diti was extremely satisfied by Indra's good behavior. Then Indra offered his respects to his aunt with profuse obeisances, and with her permission he went away to the heavenly planets with his brothers the Maruts.

78My dear King Parīkṣit, I have replied as far as possible to the questions you have asked me, especially in regard to this pure, auspicious narration about the Maruts. Now you may inquire further, and I shall explain more.

### SB 6.19: Performing the Puṁsavana Ritualistic Ceremony

This chapter explains how Diti, Kaśyapa Muni's wife, executed Kaśyapa Muni's instructions on devotional service. During the first day of the bright fortnight of the moon in the month of Agrahāyaṇa (November-December), every woman, following in the footsteps of Diti and

following the instructions of her own husband, should begin this *puṁsavana-vrata*. In the morning, after washing her teeth, bathing and thus becoming purified, she should hear about the birth mystery of the Maruts. Then, covering her body with a white dress and being properly ornamented, before breakfast she should worship Lord Viṣṇu and mother Lakṣmī, the goddess of fortune, Lord Viṣṇu's wife, by glorifying Lord Viṣṇu for His mercy, patience, prowess, ability, greatness and other glories and for how He can bestow all mystic benedictions. While offering the Lord all paraphernalia for worship, such as ornaments, a sacred thread, scents, nice flowers, incense and water for bathing and washing His feet, hands and mouth, one should invite the Lord with this *mantra:oṁ namo bhagavate mahā-puruṣāya mahānubhāvāya mahāvibhūtipataye saha mahā-vibhūtibhir balim upaharāmi*. Then one should offer twelve oblations in the fire while chanting this *mantra:oṁ namo bhagavate mahā-puruṣāya mahāvibhūti-pataye svāhā*. One should offer obeisances while chanting this *mantra* ten times. Then one should chant the Lakṣmī-Nārāyaṇa *mantra*.

If either a pregnant woman or her husband regularly discharges this devotional service, both of them will receive the result. After continuing this process for one full year, the chaste wife should fast on the *pūrṇimā,* the full-moon day, of Kārttika. On the following day, the husband should worship the Lord as before and then observe a festival by cooking nice food and distributing *prasāda* to the *brāhmaṇas*. Then, with the permission of the *brāhmaṇas,* the husband and wife should take *prasāda*. This chapter ends by glorifying the results of the *puṁsavana* function.

1Mahārāja Parīkṣit said: My dear lord, you have already spoken about the puṁsavana vow. Now I want to hear about it in detail, for I understand that by observing this vow one can please the Supreme Lord, Viṣṇu.

2-3Śukadeva Gosvāmī said: On the first day of the bright fortnight of the month of Agrahāyaṇa [November-December], following the instructions of her husband, a woman should begin this regulative devotional service with a vow of penance, for it can fulfill all one's desires. Before beginning the worship of Lord Viṣṇu, the woman should hear the story of how the Maruts were born. Under the instructions of qualified brāhmaṇas, in the morning she should wash her teeth, bathe, and dress herself with white cloth and ornaments, and before taking breakfast she should worship Lord Viṣṇu and Lakṣmī.

4[She should then pray to the Lord as follows.] My dear Lord, You are full in all opulences, but I do not beg You for opulence. I simply offer my respectful obeisances unto You. You are the husband and master of Lakṣmīdevī, the goddess of fortune, who has all opulences. Therefore You are the master of all mystic yoga. I simply offer my obeisances unto You.

5O my Lord, because You are endowed with causeless mercy, all opulences, all prowess and all glories, strength and transcendental qualities, You are the Supreme Personality of Godhead, the master of everyone.

6[After profusely offering obeisances unto Lord Viṣṇu, the devotee should offer respectful obeisances unto mother Lakṣmī, the goddess of fortune, and pray as follows.] O wife of Lord Viṣṇu, O internal energy of Lord Viṣṇu, you are as good as Lord Viṣṇu Himself, for you have all of His qualities and opulences. O goddess of fortune, please be kind to me. O mother of the entire world, I offer my respectful obeisances unto you.

7"My Lord Viṣṇu, full in six opulences, You are the best of all enjoyers and the most powerful. O husband of mother Lakṣmī, I offer my respectful obeisances unto You, who are accompanied by many associates, such as Viśvaksena. I offer all the paraphernalia for

worshiping You." One should chant this mantra every day with great attention while worshiping Lord Viṣṇu with all paraphernalia, such as water for washing His feet, hands and mouth and water for His bath. One must offer Him various presentations for His worship, such as garments, a sacred thread, ornaments, scents, flowers, incense and lamps.

8Śukadeva Gosvāmī continued: After worshiping the Lord with all the paraphernalia mentioned above, one should chant the following mantra while offering twelve oblations of ghee on the sacred fire: oṁ namo bhagavate mahā-puruṣāya mahāvibhūti-pataye svāhā.

9If one desires all opulences, his duty is to daily worship Lord Viṣṇu with His wife, Lakṣmī. With great devotion one should worship Him according to the above-mentioned process. Lord Viṣṇu and the goddess of fortune are an immensely powerful combination. They are the bestowers of all benedictions and the sources of all good fortune. Therefore the duty of everyone is to worship Lakṣmī-Nārāyaṇa.

10One should offer obeisances unto the Lord with a mind humbled through devotion. While offering daṇḍavats by falling on the ground like a rod, one should chant the above mantra ten times. Then one should chant the following prayer.

11My Lord Viṣṇu and mother Lakṣmī, goddess of fortune, you are the proprietors of the entire creation. Indeed, you are the cause of the creation. Mother Lakṣmī is extremely difficult to understand because she is so powerful that the jurisdiction of her power is difficult to overcome. Mother Lakṣmī is represented in the material world as the external energy, but actually she is always the internal energy of the Lord.

12My Lord, You are the master of energy, and therefore You are the Supreme Person. You are sacrifice [yajṣa] personified. Lakṣmī, the embodiment of spiritual activities, is the original form of worship offered unto You, whereas You are the enjoyer of all sacrifices.

13Mother Lakṣmī, who is here, is the reservoir of all spiritual qualities, whereas You manifest and enjoy all these qualities. Indeed, You are actually the enjoyer of everything. You live as the Supersoul of all living entities, and the goddess of fortune is the form of their bodies, senses and minds. She also has a holy name and form, whereas You are the support of all such names and forms and the cause for their manifestation.

14You are both the supreme rulers and benedictors of the three worlds. Therefore, my Lord, Uttamaśloka, may my ambitions be fulfilled by Your grace.

15ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: Thus one should worship Lord Viṣṇu, who is known as Śrīnivāsa, along with mother Lakṣmī, the goddess of fortune, by offering prayers according to the process mentioned above. After removing all the paraphernalia of worship, one should offer them water to wash their hands and mouths, and then one should worship them again.

16Thereafter, with devotion and humility, one should offer prayers to the Lord and mother Lakṣmī. Then one should smell the remnants of the food offered and then again worship the Lord and Lakṣmījī.

17Accepting her husband as the representative of the Supreme Person, a wife should worship him with unalloyed devotion by offering him prasāda. The husband, being very pleased with his wife, should engage himself in the affairs of his family.

18Between the husband and wife, one person is sufficient to execute this devotional service. Because of their good relationship, both of them will enjoy the result. Therefore if the wife is unable to execute this process, the husband should carefully do so, and the faithful wife will

share the result.

19-20One should accept this viṣṇu-vrata, which is a vow in devotional service, and should not deviate from its execution to engage in anything else. By offering the remnants of prasāda, flower garlands, sandalwood pulp and ornaments, one should daily worship the brāhmaṇas and worship women who peacefully live with their husbands and children. Every day the wife must continue following the regulative principles to worship Lord Viṣṇu with great devotion. Thereafter, Lord Viṣṇu should be laid in His bed, and then one should take prasāda. In this way, husband and wife will be purified and will have all their desires fulfilled.

21The chaste wife must perform such devotional service continuously for one year. After one year passes, she should fast on the full-moon day in the month of Kārttika [October-November].

22On the morning of the next day, one should wash oneself, and after worshiping Lord Kṛṣṇa as before, one should cook as one cooks for festivals as stated in the Gṛhya-sūtras. Sweetrice should be cooked with ghee, and with this preparation the husband should offer oblations to the fire twelve times.

23Thereafter, he should satisfy the brāhmaṇas. When the satisfied brāhmaṇas bestow their blessings, he should devotedly offer them respectful obeisances with his head, and with their permission he should take prasāda.

24Before taking his meal, the husband must first seat the ācārya comfortably, and, along with his relatives and friends, should control his speech and offer prasāda to the guru. Then the wife should eat the remnants of the oblation of sweetrice cooked with ghee. Eating the remnants insures a learned, devoted son and all good fortune.

25If this vow or ritualistic ceremony is observed according to the description of śāstra, even in this life a man will be able to achieve all the benedictions he desires from the Lord. A wife who performs this ritualistic ceremony will surely receive good fortune, opulence, sons, a long-living husband, a good reputation and a good home.

26-28If an unmarried girl observes this vrata, she will be able to get a very good husband. If a woman who is avīrāwho has no husband or sonexecutes this ritualistic ceremony, she can be promoted to the spiritual world. A woman whose children have died after birth can get a child with a long duration of life and also become very fortunate in possessing wealth. If a woman is unfortunate she will become fortunate, and if ugly she will become beautiful. By observing this vrata, a diseased man can gain relief from his disease and have an able body with which to work. If one recites this narration while offering oblations to the pitās and demigods, especially during the śrāddha ceremony, the demigods and inhabitants of Pitṛloka will be extremely pleased with him and bestow upon him the fulfillment of all desires. After one performs this ritualistic ceremony, Lord Viṣṇu and His wife, mother Lakṣmī, the goddess of fortune, are very pleased with him. O King Parīkṣit, now I have completely described how Diti performed this ceremony and had good childrenthe Marutsand a happy life. I have tried to explain this to you as elaborately as possible.

## Canto 7: The Science of God

### SB 7.1: The Supreme Lord Is Equal to Everyone

In this chapter, in response to a question by Mahārāja Parīkṣit, Śukadeva Gosvāmī gives his conclusions concerning how the Supreme Personality of Godhead, although the Supersoul, friend and protector of everyone, killed the Daityas, the demons, for the sake of Indra, the King

of heaven. In his statements, he totally refutes the arguments of people in general who accuse the Supreme Lord of partiality. Śukadeva Gosvāmī proves that because the body of the conditioned soul is infected by the three qualities of nature, dualities arise such as enmity and friendship, attachment and detachment. For the Supreme Personality of Godhead, however, there are no such dualities. Even eternal time cannot control the activities of the Lord. Eternal time is created by the Lord, and it acts under His control. The Supreme Personality of Godhead, therefore, is always transcendental to the influence of the modes of nature, *māyā,* the Lord's external energy, which acts in creation and annihilation. Thus all the demons killed by the Supreme Lord attain salvation immediately.

The second question raised by Parīkṣit Mahārāja concerns how Śiśupāla, although inimical toward Kṛṣṇa from his very childhood and always blaspheming Kṛṣṇa, attained salvation in oneness when Kṛṣṇa killed him. Śukadeva Gosvāmī explains that because of their offenses at the feet of devotees, two attendants of the Lord in Vaikuṇṭha named Jaya and Vijaya became Hiraṇyakaśipu and Hiraṇyākṣa in Satya-yuga, Rāvaṇa and Kumbhakarṇa in the next *yuga,* Tretā-yuga, and Śiśupāla and Dantavakra at the end of Dvāpara-yuga. Because of their fruitive acts, Jaya and Vijaya agreed to become the Lord's enemies, and when killed in that mentality, they attained salvation in oneness. Thus even if one thinks of the Supreme Personality of Godhead in envy, he attains salvation. What then is to be said of devotees who always engage in the Lord's service with love and faith?

1King Parīkṣit inquired: My dear brāhmaṇa, the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, being everyone's well-wisher, is equal and extremely dear to everyone. How, then, did He become partial like a common man for the sake of Indra and thus kill Indra's enemies? How can a person equal to everyone be partial to some and inimical toward others?

2Lord Viṣṇu Himself, the Supreme Personality of Godhead, is the reservoir of all pleasure. Therefore, what benefit would He derive from siding with the demigods? What interest would He fulfill in this way? Since the Lord is transcendental, why should He fear the asuras, and how could He be envious of them?

3O greatly fortunate and learned brāhmaṇa, whether Nārāyaṇa is partial or impartial has become a subject of great doubt. Kindly dispel my doubt with positive evidence that Nārāyaṇa is always neutral and equal to everyone.

4-5The great sage Śukadeva Gosvāmī said: My dear King, you have put before me an excellent question. Discourses concerning the activities of the Lord, in which the glories of His devotees are also found, are extremely pleasing to devotees. Such wonderful topics always counteract the miseries of the materialistic way of life. Therefore great sages like Nārada always speak upon Śrīmad-Bhāgavatam because it gives one the facility to hear and chant about the wonderful activities of the Lord. Let me offer my respectful obeisances unto Śrīla Vyāsadeva and then begin describing topics concerning the activities of Lord Hari.

6The Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, is always transcendental to material qualities, and therefore He is called nirguṇa, or without qualities. Because He is unborn, He does not have a material body to be subjected to attachment and hatred. Although the Lord is always above material existence, through His spiritual potency He appeared and acted like an ordinary human being, accepting duties and obligations, apparently like a conditioned soul.

7My dear King Parīkṣit, the material qualitiessattva-guṇa, rajo-guṇa and tamo-guṇaall belong to the material world and do not even touch the Supreme Personality of Godhead. These three guṇas cannot act by increasing or decreasing simultaneously.

8When the quality of goodness is prominent, the sages and demigods flourish with the help of that quality, with which they are infused and surcharged by the Supreme Lord. Similarly, when the mode of passion is prominent the demons flourish, and when ignorance is prominent the Yakṣas and Rākṣasas flourish. The Supreme Personality of Godhead is present in everyone's heart, fostering the reactions of sattva-guṇa, rajo-guṇa and tamo-guṇa.

9The all-pervading Personality of Godhead exists within the heart of every living being, and an expert thinker can perceive how He is present there to a large or small extent. Just as one can understand the supply of fire in wood, the water in a waterpot, or the sky within a pot, one can understand whether a living entity is a demon or a demigod by understanding that living entity's devotional performances. A thoughtful man can understand how much a person is favored by the Supreme Lord by seeing his actions.

10When the Supreme Personality of Godhead creates different types of bodies, offering a particular body to each living entity according to his character and fruitive actions, the Lord revives all the qualities of material naturesattva-guṇa, rajo-guṇa and tamo-guṇa. Then, as the Supersoul, He enters each body and influences the qualities of creation, maintenance and annihilation, using sattva-guṇa for maintenance, rajo-guṇa for creation and tamo-guṇa for annihilation.

11O great King, the Supreme Personality of Godhead, the controller of the material and spiritual energies, who is certainly the creator of the entire cosmos, creates the time factor to allow the material energy and the living entity to act within the limits of time. Thus the Supreme Personality is never under the time factor nor under the material energy.

12O King, this time factor enhances the sattva-guṇa. Thus although the Supreme Lord is the controller, He favors the demigods, who are mostly situated in sattva-guṇa. Then the demons, who are influenced by tamo-guṇa, are annihilated. The Supreme Lord induces the time factor to act in different ways, but He is never partial. Rather, His activities are glorious, and therefore He is called Uruśravā.

13Formerly, O King, when Mahārāja Yudhiṣṭhira was performing the Rājasūya sacrifice, the great sage Nārada, responding to his inquiry, recited historical facts showing how the Supreme Personality of Godhead is always impartial, even when killing demons. In this regard he gave a vivid example.

14-15O King, at the Rājasūya sacrifice, Mahārāja Yudhiṣṭhira, the son of Mahārāja Pāṇḍu, personally saw Śiśupāla merge into the body of the Supreme Lord, Kṛṣṇa. Therefore, struck with wonder, he inquired about the reason for this from the great sage Nārada, who was seated there. While he inquired, all the sages present also heard him ask his question.

16Mahārāja Yudhiṣṭhira inquired: It is very wonderful that the demon Śiśupāla merged into the body of the Supreme Personality of Godhead even though extremely envious. This sāyujya-mukti is impossible to attain even for great transcendentalists. How then did the enemy of the Lord attain it?

17O great sage, we are all eager to know the cause for this mercy of the Lord. I have heard that formerly a king named Vena blasphemed the Supreme Personality of Godhead and that all the brāhmaṇas consequently obliged him to go to hell. Śiśupāla should also have been sent to hell. How then did he merge into the Lord's existence?

18From the very beginning of his childhood, when he could not even speak properly, Śiśupāla, the most sinful son of Damaghoṣa, began blaspheming the Lord, and he continued to be

envious of Śrī Kṛṣṇa until death. Similarly, his brother Dantavakra continued the same habits.

19Although these two menŚiśupāla and Dantavakrarepeatedly blasphemed the Supreme Personality of Godhead, Lord Viṣṇu [Kṛṣṇa], the Supreme Brahman, they were quite healthy. Indeed, their tongues were not attacked by white leprosy, nor did they enter the darkest region of hellish life. We are certainly most surprised by this.

20How was it possible for Śiśupāla and Dantavakra, in the presence of many exalted persons, to enter very easily into the body of Kṛṣṇa, whose nature is difficult to attain?

21This matter is undoubtedly very wonderful. Indeed, my intelligence has become disturbed, just as the flame of a candle is disturbed by a blowing wind. O Nārada Muni, you know everything. Kindly let me know the cause of this wonderful event.

22ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: After hearing the request of Mahārāja Yudhiṣṭhira, Nārada Muni, the most powerful spiritual master, who knew everything, was very pleased. Thus he replied in the presence of everyone taking part in the yajṣa.

23The great sage Śrī Nāradajī said: O King, blasphemy and praise, chastisement and respect, are experienced because of ignorance. The body of the conditioned soul is planned by the Lord for suffering in the material world through the agency of the external energy.

24My dear King, the conditioned soul, being in the bodily conception of life, considers his body to be his self and considers everything in relationship with the body to be his. Because he has this wrong conception of life, he is subjected to dualities like praise and chastisement.

25Because of the bodily conception of life, the conditioned soul thinks that when the body is annihilated the living being is annihilated. Lord Viṣṇu, the Supreme Personality of Godhead, is the supreme controller, the Supersoul of all living entities. Because He has no material body, He has no false conception of "I and mine." It is therefore incorrect to think that He feels pleasure or pain when blasphemed or offered prayers. This is impossible for Him. Thus He has no enemy and no friend. When He chastises the demons it is for their good, and when He accepts the prayers of the devotees it is for their good. He is affected neither by prayers nor by blasphemy.

26Therefore by enmity or by devotional service, by fear, by affection or by lusty desireby all of these or any one of themif a conditioned soul somehow or other concentrates his mind upon the Lord, the result is the same, for the Lord, because of His blissful position, is never affected by enmity or friendship.

27Nārada Muni continued: By devotional service one cannot achieve such intense absorption in thought of the Supreme Personality of Godhead as one can through enmity toward Him. That is my opinion.

28-29A grassworm confined in a hole of a wall by a bee always thinks of the bee in fear and enmity and later becomes a bee simply because of such remembrance. Similarly, if the conditioned souls somehow or other think of Kṛṣṇa, who is sac-cid-ānanda-vigraha, they will become free from their sins. Whether thinking of Him as their worshipable Lord or an enemy, because of constantly thinking of Him they will regain their spiritual bodies.

30Many, many persons have attained liberation simply by thinking of Kṛṣṇa with great attention and giving up sinful activities. This great attention may be due to lusty desires, inimical feelings, fear, affection or devotional service. I shall now explain how one receives Kṛṣṇa's mercy simply by concentrating one's mind upon Him.

31My dear King Yudhiṣṭhira, the gopīs by their lusty desires, Kaṁsa by his fear, Śiśupāla and other kings by envy, the Yadus by their familial relationship with Kṛṣṇa, you Pāṇḍavas by your great affection for Kṛṣṇa, and we, the general devotees, by our devotional service, have obtained the mercy of Kṛṣṇa.

32Somehow or other, one must consider the form of Kṛṣṇa very seriously. Then, by one of the five different processes mentioned above, one can return home, back to Godhead. Atheists like King Vena, however, being unable to think of Kṛṣṇa's form in any of these five ways, cannot attain salvation. Therefore, one must somehow think of Kṛṣṇa, whether in a friendly way or inimically.

33Nārada Muni continued: O best of the Pāṇḍavas, your two cousins Śiśupāla and Dantavakra, the sons of your maternal aunt, were formerly associates of Lord Viṣṇu, but because they were cursed by brāhmaṇas, they fell from Vaikuṇṭha to this material world.

34Mahārāja Yudhiṣṭhira inquired: What kind of great curse could affect even liberated viṣṇu-bhaktas, and what sort of person could curse even the Lord's associates? For unflinching devotees of the Lord to fall again to this material world is impossible. I cannot believe this.

35The bodies of the inhabitants of Vaikuṇṭha are completely spiritual, having nothing to do with the material body, senses or life air. Therefore, kindly explain how associates of the Personality of Godhead were cursed to descend in material bodies like ordinary persons.

36The great saint Nārada said: Once upon a time when the four sons of Lord Brahmā named Sanaka, Sanandana, Sanātana and Sanat-kumāra were wandering throughout the three worlds, they came by chance to Viṣṇuloka.

37Although these four great sages were older than Brahmā's other sons like Marīci, they appeared like small naked children only five or six years old. When Jaya and Vijaya saw them trying to enter Vaikuṇṭhaloka, these two gatekeepers, thinking them ordinary children, forbade them to enter.

38Thus checked by the doorkeepers Jaya and Vijaya, Sanandana and the other great sages very angrily cursed them. "You two foolish doorkeepers," they said. "Being agitated by the material qualities of passion and ignorance, you are unfit to live at the shelter of Madhudviṣa's lotus feet, which are free from such modes. It would be better for you to go immediately to the material world and take your birth in a family of most sinful asuras."

39While Jaya and Vijaya, thus cursed by the sages, were falling to the material world, they were addressed as follows by the same sages, who were very kind to them. "O doorkeepers, after three births you will be able to return to your positions in Vaikuṇṭha, for then the duration of the curse will have ended."

40These two associates of the LordJaya and Vijayalater descended to the material world, taking birth as the two sons of Diti, Hiraṇyakaśipu being the elder and Hiraṇyākṣa the younger. They were very much respected by the Daityas and Dānavas [demoniac species].

41Appearing as Nṛsiṁhadeva, the Supreme Personality of Godhead, Śrī Hari, killed Hiraṇyakaśipu. When the Lord delivered the planet earth, which had fallen in the Garbhodaka Ocean, Hiraṇyākṣa tried to hinder Him, and then the Lord, as Varāha, killed Hiraṇyākṣa.

42Desiring to kill his son Prahlāda, who was a great devotee of Lord Viṣṇu, Hiraṇyakaśipu tortured him in many ways.

43The Lord, the Supersoul of all living entities, is sober, peaceful and equal to everyone. Since the great devotee Prahlāda was protected by the Lord's potency, Hiraṇyakaśipu was unable to kill him, in spite of endeavoring to do so in various ways.

44Thereafter the same Jaya and Vijaya, the two doorkeepers of Lord Viṣṇu, took birth as Rāvaṇa and Kumbhakarṇa, begotten by Viśravā in the womb of Keśinī. They were extremely troublesome to all the people of the universe.

45Nārada Muni continued: My dear King, just to relieve Jaya and Vijaya of the brāhmaṇas' curse, Lord Rāmacandra appeared in order to kill Rāvaṇa and Kumbhakarṇa. It will be better for you to hear narrations about Lord Rāmacandra's activities from Mārkaṇḍeya.

46In their third birth, the same Jaya and Vijaya appeared in a family of kṣatriyas as your cousins, the sons of your aunt. Because Lord Kṛṣṇa has struck them with His disc, all their sinful reactions have been destroyed, and now they are free from the curse.

47These two associates of Lord ViṣṇuJaya and Vijayamaintained a feeling of enmity for a very long time. Because of always thinking of Kṛṣṇa in this way, they regained the shelter of the Lord, having returned home, back to Godhead.

48Mahārāja Yudhiṣṭhira inquired: O my lord, Nārada Muni, why was there such enmity between Hiraṇyakaśipu and his beloved son Prahlāda Mahārāja? How did Prahlāda Mahārāja become such a great devotee of Lord Kṛṣṇa? Kindly explain this to me.

**SB 7.2: Hiraṇyakaśipu, King of the Demons**

As described in this chapter, after the annihilation of Hiraṇyākṣa, Hiraṇyākṣa's sons and his brother Hiraṇyakaśipu were very much aggrieved. Hiraṇyakaśipu reacted very sinfully by trying to diminish the religious activities of people in general. However, he instructed his nephews about a history just to diminish their aggrievement.

When the Supreme Personality of Godhead appeared as the boar and killed Hiraṇyakaśipu's brother Hiraṇyākṣa, Hiraṇyakaśipu was very much aggrieved. In anger, he accused the Supreme Personality of Godhead of being partial to His devotees and derided the Lord's appearance as Varāha to kill his brother. He began to agitate all the demons and Rākṣasas and disturb the ritualistic ceremonies of the peaceful sages and other inhabitants of earth. For want of the performance of *yajṣa,* sacrifice, the demigods began wandering unseen on earth.

After finishing the ritualistic funeral ceremonies of his brother, Hiraṇyakaśipu began speaking to his nephews, quoting from the *śāstras* about the truth of life. To pacify them, he spoke as follows: "My dear nephews, for heroes to die before the enemy is glorious. According to their different fruitive activities, living entities come together within this material world and are again separated by the laws of nature. We should always know, however, that the spirit soul, which is different from the body, is eternal, inadjustable, pure, all-pervading and aware of everything. When bound by the material energy, the soul takes birth in higher or lower species of life according to varying association and in this way receives various types of bodies in which to suffer or enjoy. One's affliction by the conditions of material existence is the cause of happiness and distress; there are no other causes, and one should not be aggrieved upon seeing the superficial actions of *karma*."

Hiraṇyakaśipu then related a historical incident concerning a King Suyajṣa who resided in the country named Uśīnara. When the King was killed, his queens, overwhelmed with grief, received instructions, which Hiraṇyakaśipu quoted to his nephews. Hiraṇyakaśipu related an

account of a *kuliṅga* bird pierced by the arrow of a hunter while lamenting for his wife, who had also been shot by the same hunter. By narrating these stories, Hiraṇyakaśipu pacified his nephews and other relatives and relieved them of lamentation. Thus having been pacified, Diti and Ruṣābhānu, Hiraṇyakaśipu's mother and sister-in-law, engaged their minds in spiritual understanding.

1Śrī Nārada Muni said: My dear King Yudhiṣṭhira, when Lord Viṣṇu, in the form of Varāha, the boar, killed Hiraṇyākṣa, Hiraṇyākṣa's brother Hiraṇyakaśipu was extremely angry and began to lament.

2Filled with rage and biting his lips, Hiraṇyakaśipu gazed at the sky with eyes that blazed in anger, making the whole sky smoky. Thus he began to speak.

3Exhibiting his terrible teeth, fierce glance and frowning eyebrows, terrible to see, he took up his weapon, a trident, and thus began speaking to his associates, the assembled demons.

4-5O Dānavas and Daityas! O Dvimūrdha, Tryakṣa, Śambara and Śatabāhu! O Hayagrīva, Namuci, Pāka and Ilvala! O Vipracitti, Puloman, Śakuna and other demons! All of you, kindly hear me attentively and then act according to my words without delay.

6My insignificant enemies the demigods have combined to kill my very dear and obedient well-wisher, my brother Hiraṇyākṣa. Although the Supreme Lord, Viṣṇu, is always equal to both of usnamely, the demigods and the demonsthis time, being devoutly worshiped by the demigods, He has taken their side and helped them kill Hiraṇyākṣa.

7-8The Supreme Personality of Godhead has given up His natural tendency of equality toward the demons and demigods. Although He is the Supreme Person, now, influenced by māyā, He has assumed the form of a boar to please His devotees, the demigods, just as a restless child leans toward someone. I shall therefore sever Lord Viṣṇu's head from His trunk by my trident, and with the profuse blood from His body I shall please my brother Hiraṇyākṣa, who was so fond of sucking blood. Thus shall I too be peaceful.

9When the root of a tree is cut and the tree falls down, its branches and twigs automatically dry up. Similarly, when I have killed this diplomatic Viṣṇu, the demigods, for whom Lord Viṣṇu is the life and soul, will lose the source of their life and wither away.

10While I am engaged in the business of killing Lord Viṣṇu, go down to the planet earth, which is flourishing due to brahminical culture and a kṣatriya government. These people engage in austerity, sacrifice, Vedic study, regulative vows, and charity. Destroy all the people thus engaged!

11The basic principle of brahminical culture is to satisfy Lord Viṣṇu, the personification of sacrificial and ritualistic ceremonies. Lord Viṣṇu is the personified reservoir of all religious principles, and He is the shelter of all the demigods, the great pitās, and the people in general. When the brāhmaṇas are killed, no one will exist to encourage the kṣatriyas to perform yajṣas, and thus the demigods, not being appeased by yajṣa, will automatically die.

12Immediately go wherever there is good protection for the cows and brāhmaṇas and wherever the Vedas are studied in terms of the varṇāśrama principles. Set fire to those places and cut from the roots the trees there, which are the source of life.

13Thus the demons, being fond of disastrous activities, took Hiraṇyakaśipu's instructions on their heads with great respect and offered him obeisances. According to his directions, they engaged in envious activities directed against all living beings.

14The demons set fire to the cities, villages, pasturing grounds, cowpens, gardens, agricultural fields and natural forests. They burned the hermitages of the saintly persons, the important mines that produced valuable metals, the residential quarters of the agriculturalists, the mountain villages, and the villages of the cow protectors, the cowherd men. They also burned the government capitals.

15Some of the demons took digging instruments and broke down the bridges, the protective walls and the gates [gopuras] of the cities. Some took axes and began cutting the important trees that produced mango, jackfruit and other sources of food. Some of the demons took firebrands and set fire to the residential quarters of the citizens.

16Thus disturbed again and again by the unnatural occurrences caused by the followers of Hiraṇyakaśipu, all the people had to cease the activities of Vedic culture. Not receiving the results of yajṣa, the demigods also became disturbed. They left their residential quarters in the heavenly planets and, unobserved by the demons, began wandering on the planet earth to see the disasters.

17After performing the ritualistic observances for the death of his brother, Hiraṇyakaśipu, being extremely unhappy, tried to pacify his nephews.

18-19O King, Hiraṇyakaśipu was extremely angry, but since he was a great politician, he knew how to act according to the time and situation. With sweet words he began pacifying his nephews, whose names were Śakuni, Śambara, Dhṛṣṭi, Bhūtasantāpana, Vṛka, Kālanābha, Mahānābha, Hariśmaśru and Utkaca. He also consoled their mother, his sister-in-law, Ruṣābhānu, as well as his own mother, Diti. He spoke to them all as follows.

20Hiraṇyakaśipu said: My dear mother, sister-in-law and nephews, you should not lament for the death of the great hero, for a hero's death in front of his enemy is glorious and desirable.

21My dear mother, in a restaurant or place for drinking cold water, many travelers are brought together, and after drinking water they continue to their respective destinations. Similarly, living entities join together in a family, and later, as a result of their own actions, they are led apart to their destinations.

22The spirit soul, the living entity, has no death, for he is eternal and inexhaustible. Being free from material contamination, he can go anywhere in the material or spiritual worlds. He is fully aware and completely different from the material body, but because of being misled by misuse of his slight independence, he is obliged to accept subtle and gross bodies created by the material energy and thus be subjected to so-called material happiness and distress. Therefore, no one should lament for the passing of the spirit soul from the body.

23Because of the movements of the water, the trees on the bank of a river, when reflected on the water, seem to move. Similarly, when the eyes move because of some mental derangement, the land appears to move also.

24In the same way, O my gentle mother, when the mind is agitated by the movements of the modes of material nature, the living entity, although freed from all the different phases of the subtle and gross bodies, thinks that he has changed from one condition to another.

25-26In his bewildered state, the living entity, accepting the body and mind to be the self, considers some people to be his kinsmen and others to be outsiders. Because of this misconception, he suffers. Indeed, the accumulation of such concocted material ideas is the cause of suffering and so-called happiness in the material world. The conditioned soul thus situated must take birth in different species and work in various types of consciousness, thus

creating new bodies. This continued material life is called saṁsāra. Birth, death, lamentation, foolishness and anxiety are due to such material considerations. Thus we sometimes come to a proper understanding and sometimes fall again to a wrong conception of life.

27In this regard, an example is given from an old history. This involves a discourse between Yamarāja and the friends of a dead person. Please hear it attentively.

28In the state known as Uśīnara there was a celebrated king named Suyajṣa. When the King was killed in battle by his enemies, his kinsmen sat down around the dead body and began to lament the death of their friend.

29-31His golden, bejeweled armor smashed, his ornaments and garlands fallen from their places, his hair scattered and his eyes lusterless, the slain King lay on the battlefield, his entire body smeared with blood, his heart pierced by the arrows of the enemy. When he died he had wanted to show his prowess, and thus he had bitten his lips, and his teeth remained in that position. His beautiful lotuslike face was now black and covered with dust from the battlefield. His arms, with his sword and other weapons, were cut and broken. When the queens of the King of Uśīnara saw their husband lying in that position, they began crying, "O lord, now that you have been killed, we also have been killed." Repeating these words again and again, they fell down, pounding their breasts, at the feet of the dead King.

32As the queens loudly cried, their tears glided down their breasts, becoming reddened by kuṅkuma powder, and fell upon the lotus feet of their husband. Their hair became disarrayed, their ornaments fell, and in a way that evoked sympathy from the hearts of others, the queens began lamenting their husband's death.

33O lord, you have now been removed by cruel providence to a state beyond our sight. You had previously sustained the livelihood of the inhabitants of Uśīnara, and thus they were happy, but your condition now is the cause of their unhappiness.

34O King, O hero, you were a very grateful husband and the most sincere friend of all of us. How shall we exist without you? O hero, wherever you are going, please direct us there so that we may follow in your footsteps and engage again in your service. Let us go along with you!

35The time was appropriate for the body to be burned, but the queens, not allowing it to be taken away, continued lamenting for the dead body, which they kept on their laps. In the meantime, the sun completed its movements for setting in the west.

36While the queens were lamenting for the dead body of the King, their loud cries were heard even from the abode of Yamarāja. Assuming the body of a boy, Yamarāja personally approached the relatives of the dead body and advised them as follows.

37Śrī Yamarāja said: Alas, how amazing it is! These persons, who are older than me, have full experience that hundreds and thousands of living entities have taken birth and died. Thus they should understand that they also are apt to die, yet still they are bewildered. The conditioned soul comes from an unknown place and returns after death to that same unknown place. There is no exception to this rule, which is conducted by material nature. Knowing this, why do they uselessly lament?

38It is wonderful that these elderly women do not have a higher sense of life than we do. Indeed, we are most fortunate, for although we are children and have been left to struggle in material life, unprotected by father and mother, and although we are very weak, we have not been vanquished or eaten by ferocious animals. Thus we have a firm belief that the Supreme Personality of Godhead, who has given us protection even in the womb of the mother, will

protect us everywhere.

39The boy addressed the women: O weak women! Only by the will of the Supreme Personality of Godhead, who is never diminished, is the entire world created, maintained and again annihilated. This is the verdict of the Vedic knowledge. This material creation, consisting of the moving and nonmoving, is exactly like His plaything. Being the Supreme Lord, He is completely competent to destroy and protect.

40Sometimes one loses his money on a public street, where everyone can see it, and yet his money is protected by destiny and not seen by others. Thus the man who lost it gets it back. On the other hand, if the Lord does not give protection, even money maintained very securely at home is lost. If the Supreme Lord gives one protection, even though one has no protector and is in the jungle, one remains alive, whereas a person well protected at home by relatives and others sometimes dies, no one being able to protect him.

41Every conditioned soul receives a different type of body according to his work, and when the engagement is finished the body is finished. Although the spirit soul is situated in subtle and gross material bodies in different forms of life, he is not bound by them, for he is always understood to be completely different from the manifested body.

42Just as a householder, although different from the identity of his house, thinks his house to be identical with him, so the conditioned soul, due to ignorance, accepts the body to be himself, although the body is actually different from the soul. This body is obtained through a combination of portions of earth, water and fire, and when the earth, water and fire are transformed in the course of time, the body is vanquished. The soul has nothing to do with this creation and dissolution of the body.

43As fire, although situated in wood, is perceived to be different from the wood, as air, although situated within the mouth and nostrils, is perceived to be separate, and as the sky, although all-pervading, never mixes with anything, so the living entity, although now encaged within the material body, of which it is the source, is separate from it.

44Yamarāja continued: O lamenters, you are all fools! The person named Suyajṣa, for whom you lament, is still lying before you and has not gone anywhere. Then what is the cause for your lamentation? Previously he heard you and replied to you, but now, not finding him, you are lamenting. This is contradictory behavior, for you have never actually seen the person within the body who heard you and replied. There is no need for your lamentation, for the body you have always seen is lying here.

45In the body the most important substance is the life air, but that also is neither the listener nor the speaker. Beyond even the life air, the soul also can do nothing, for the Supersoul is actually the director, in cooperation with the individual soul. The Supersoul conducting the activities of the body is different from the body and living force.

46The five material elements, the ten senses and the mind all combine to form the various parts of the gross and subtle bodies. The living entity comes in contact with his material bodies, whether high or low, and later gives them up by his personal prowess. This strength can be perceived in a living entity's personal power to possess different types of bodies.

47As long as the spirit soul is covered by the subtle body, consisting of the mind, intelligence and false ego, he is bound to the results of his fruitive activities. Because of this covering, the spirit soul is connected with the material energy and must accordingly suffer material conditions and reversals, continually, life after life.

48It is fruitless to see and talk of the material modes of nature and their resultant so-called happiness and distress as if they were factual. When the mind wanders during the day and a man begins to think himself extremely important, or when he dreams at night and sees a beautiful woman enjoying with him, these are merely false dreams. Similarly, the happiness and distress caused by the material senses should be understood to be meaningless.

49Those who have full knowledge of self-realization, who know very well that the spirit soul is eternal whereas the body is perishable, are not overwhelmed by lamentation. But persons who lack knowledge of self-realization certainly lament. Therefore it is difficult to educate a person in illusion.

50There was once a hunter who lured birds with food and captured them after spreading a net. He lived as if appointed by death personified as the killer of the birds.

51While wandering in the forest, the hunter saw a pair of kuliṅga birds. Of the two, the female was captivated by the hunter's lure.

52O queens of Suyajṣa, the male kuliṅga bird, seeing his wife put into the greatest danger in the grip of Providence, became very unhappy. Because of affection, the poor bird, being unable to release her, began to lament for his wife.

53Alas, how merciless is Providence! My wife, unable to be helped by anyone, is in such an awkward position and lamenting for me. What will Providence gain by taking away this poor bird? What will be the profit?

54If unkind Providence takes away my wife, who is half my body, why should He not take me also? What is the use of my living with half of my body, bereaved by loss of my wife? What shall I gain in this way?

55The unfortunate baby birds, bereft of their mother, are waiting in the nest for her to feed them. They are still very small and have not yet grown their wings. How shall I be able to maintain them?

56Because of the loss of his wife, the kuliṅga bird lamented with tears in his eyes. Meanwhile, following the dictations of mature time, the hunter, who was very carefully hidden in the distance, released his arrow, which pierced the body of the kuliṅga bird and killed him.

57Thus Yamarāja, in the guise of a small boy, told all the queens: You are all so foolish that you lament but do not see your own death. Afflicted by a poor fund of knowledge, you do not know that even if you lament for your dead husband for hundreds of years, you will never get him back alive, and in the meantime your lives will be finished.

58Hiraṇyakaśipu said: While Yamarāja, in the form of a small boy, was instructing all the relatives surrounding the dead body of Suyajṣa, everyone was struck with wonder by his philosophical words. They could understand that everything material is temporary, not continuing to exist.

59After instructing all the foolish relatives of Suyajṣa, Yamarāja, in the form of a boy, disappeared from their vision. Then the relatives of King Suyajṣa performed the ritualistic funeral ceremonies.

60Therefore none of you should be aggrieved for the loss of the bodywhether your own or those of others. Only in ignorance does one make bodily distinctions, thinking "Who am I? Who are the others? What is mine? What is for others?"

61Śrī Nārada Muni continued: Diti, the mother of Hiraṇyakaśipu and Hiraṇyākṣa, heard the instructions of Hiraṇyakaśipu along with her daughter-in-law, Ruṣābhānu, Hiraṇyākṣa's wife. She then forgot her grief over her son's death and thus engaged her mind and attention in understanding the real philosophy of life.

**SB 7.3: Hiraṇyakaśipu's Plan to Become Immortal**

This chapter describes how Hiraṇyakaśipu performed a severe type of austerity for material benefit, thus causing great distress throughout the universe. Even Lord Brahmā, the chief personality within this universe, became somewhat disturbed and personally went to see why Hiraṇyakaśipu was engaged in such a severe austerity.

Hiraṇyakaśipu wanted to become immortal. He wanted not to be conquered by anyone, not to be attacked by old age and disease, and not to be harassed by any opponent. Thus he wanted to become the absolute ruler of the entire universe. With this desire, he entered the valley of Mandara Mountain and began practicing a severe type of austerity and meditation. Seeing Hiraṇyakaśipu engaged in this austerity, the demigods returned to their respective homes, but while Hiraṇyakaśipu was thus engaged, a kind of fire began blazing from his head, disturbing the entire universe and its inhabitants, including the birds, beasts and demigods. When all the higher and lower planets became too hot to live on, the demigods, being disturbed, left their abodes in the higher planets and went to see Lord Brahmā, praying to him that he curtail this unnecessary heat. The demigods disclosed to Lord Brahmā Hiraṇyakaśipu's ambition to become immortal, overcoming his short duration of life, and to be the master of all the planetary systems, even Dhruvaloka.

Upon hearing about the purpose of Hiraṇyakaśipu's austere meditation, Lord Brahmā, accompanied by the great sage Bhṛgu and great personalities like Dakṣa, went to see Hiraṇyakaśipu. He then sprinkled water from his *kamaṇḍalu,* a type of waterpot, upon Hiraṇyakaśipu's head.

Hiraṇyakaśipu, the King of the Daityas, bowed down before Lord Brahmā, the creator of this universe, offering respectful obeisances again and again and offering prayers. When Lord Brahmā agreed to give him benedictions, he prayed not be killed by any living entity, not to be killed in any place, covered or uncovered, not to die in the daytime or at night, not to be killed by any weapon, on land or in the air, and not to be killed by any human being, animal, demigod or any other entity, living or nonliving. He further prayed for supremacy over the entire universe and requested the eight yogic perfections, such as *aṇimā* and *laghimā*.

1Nārada Muni said to Mahārāja Yudhiṣṭhira: The demoniac king Hiraṇyakaśipu wanted to be unconquerable and free from old age and dwindling of the body. He wanted to gain all the yogic perfections like aṇimā and laghimā, to be deathless, and to be the only king of the entire universe, including Brahmaloka.

2In the valley of Mandara Hill, Hiraṇyakaśipu began performing his austerities by standing with his toes on the ground, keeping his arms upward and looking toward the sky. This position was extremely difficult, but he accepted it as a means to attain perfection.

3From the hair on Hiraṇyakaśipu's head there emanated an effulgent light as brilliant and intolerable as the rays of the sun at the time of dissolution. Seeing the performance of such austere penances, the demigods, who had been wandering throughout the planets, now returned to their respective homes.

4Because of Hiraṇyakaśipu's severe austerities, fire came from his head, and this fire and its

smoke spread throughout the sky, encompassing the upper and lower planets, which all became extremely hot.

5Because of the power of his severe austerities, all the rivers and oceans were agitated, the surface of the globe, with its mountains and islands, began trembling, and the stars and planets fell. All directions were ablaze.

6Scorched and extremely disturbed because of Hiraṇyakaśipu's severe penances, all the demigods left the planets where they reside and went to the planet of Lord Brahmā, where they informed the creator as follows: O lord of the demigods, O master of the universe, because of the fire emanating from Hiraṇyakaśipu's head as a result of his severe austerities, we have become so disturbed that we could not stay in our planets but have come to you.

7O great person, chief of the universe, if you think it proper, kindly stop these disturbances, meant to destroy everything, before all your obedient subjects are annihilated.

8Hiraṇyakaśipu has undertaken a most severe type of austerity. Although his plan is not unknown to you, kindly listen as we submit his intentions.

9-10"The supreme person within this universe, Lord Brahmā, has gotten his exalted post by dint of severe austerities, mystic power and trance. Consequently, after creating the universe, he has become the most worshipable demigod within it. Since I am eternal and time is eternal, I shall endeavor for such austerity, mystic power and trance for many, many births, and thus I shall occupy the same post occupied by Lord Brahmā.

11"By dint of my severe austerities, I shall reverse the results of pious and impious activities. I shall overturn all the established practices within this world. Even Dhruvaloka will be vanquished at the end of the millennium. Therefore, what is the use of it? I shall prefer to remain in the position of Brahmā."

12O lord, we have heard from reliable sources that in order to obtain your post, Hiraṇyakaśipu is now engaged in severe austerity. You are the master of the three worlds. Please, without delay, take whatever steps you deem appropriate.

13O Lord Brahmā, your position within this universe is certainly most auspicious for everyone, especially the cows and brāhmaṇas. Brahminical culture and the protection of cows can be increasingly glorified, and thus all kinds of material happiness, opulence and good fortune will automatically increase. But unfortunately, if Hiraṇyakaśipu occupies your seat, everything will be lost.

14O King, being thus informed by the demigods, the most powerful Lord Brahmā, accompanied by Bhṛgu, Dakṣa and other great sages, immediately started for the place where Hiraṇyakaśipu was performing his penances and austerities.

15-16Lord Brahmā, who is carried by a swan airplane, at first could not see where Hiraṇyakaśipu was, for Hiraṇyakaśipu's body was covered by an anthill and by grass and bamboo sticks. Because Hiraṇyakaśipu had been there for a long time, the ants had devoured his skin, fat, flesh and blood. Then Lord Brahmā and the demigods spotted him, resembling a cloud-covered sun, heating all the world by his austerity. Struck with wonder, Lord Brahmā began to smile and then addressed him as follows.

17Lord Brahmā said: O son of Kaśyapa Muni, please get up, please get up. All good fortune unto you. You are now perfect in the performance of your austerities, and therefore I may give you a benediction. You may now ask from me whatever you desire, and I shall try to fulfill

your wish.

18I have been very much astonished to see your endurance. In spite of being eaten and bitten by all kinds of worms and ants, you are keeping your life air circulating within your bones. Certainly this is wonderful.

19Even saintly persons like Bhṛgu, born previously, could not perform such severe austerities, nor will anyone in the future be able to do so. Who within these three worlds can sustain his life without even drinking water for one hundred celestial years?

20My dear son of Diti, with your great determination and austerity you have done what was impossible even for great saintly persons, and thus I have certainly been conquered by you.

21O best of the asuras, for this reason I am now prepared to give you all benedictions, according to your desire. I belong to the celestial world of demigods, who do not die like human beings. Therefore, although you are subject to death, your audience with me will not go in vain.

22Śrī Nārada Muni continued: After speaking these words to Hiraṇyakaśipu, Lord Brahmā, the original being of this universe, who is extremely powerful, sprinkled transcendental, infallible, spiritual water from his kamaṇḍalu upon Hiraṇyakaśipu's body, which had been eaten away by ants and moths. Thus he enlivened Hiraṇyakaśipu.

23As soon as he was sprinkled with the water from Lord Brahmā's waterpot, Hiraṇyakaśipu arose, endowed with a full body with limbs so strong that they could bear the striking of a thunderbolt. With physical strength and a bodily luster resembling molten gold, he emerged from the anthill a completely young man, just as fire springs from fuel wood.

24Seeing Lord Brahmā present before him in the sky, carried by his swan airplane, Hiraṇyakaśipu was extremely pleased. He immediately fell flat with his head on the ground and began to express his obligation to the lord.

25Then, getting up from the ground and seeing Lord Brahmā before him, the head of the Daityas was overwhelmed by jubilation. With tears in his eyes, his whole body shivering, he began praying in a humble mood, with folded hands and a faltering voice, to satisfy Lord Brahmā.

26-27Let me offer my respectful obeisances unto the supreme lord within this universe. At the end of each day of his life, the universe is fully covered with dense darkness by the influence of time, and then again, during his next day, that self-effulgent lord, by his own effulgence, manifests, maintains and destroys the entire cosmic manifestation through the material energy, which is invested with the three modes of material nature. He, Lord Brahmā, is the shelter of those modes of naturesattva-guṇa, rajo-guṇa and tamo-guṇa.

28I offer my obeisances to the original personality within this universe, Lord Brahmā, who is cognizant and who can apply his mind and realized intelligence in creating this cosmic manifestation. It is because of his activities that everything within the universe is visible. He is therefore the cause of all manifestations.

29Your Lordship, being the origin of the life of this material world, is the master and controller of the living entities, both moving and stationary, and you inspire their consciousness. You maintain the mind and the acting and knowledge-acquiring senses, and therefore you are the great controller of all the material elements and their qualities, and you are the controller of all desires.

30My dear lord, by your form as the Vedas personified and through knowledge relating to the activities of all the yajṣic brāhmaṇas, you spread the Vedic ritualistic ceremonies of the seven kinds of sacrifices, headed by agniṣṭoma. Indeed, you inspire the yajṣic brāhmaṇas to perform the rituals mentioned in the three Vedas. Being the Supreme Soul, the Supersoul of all living entities, you are beginningless, endless and omniscient, beyond the limits of time and space.

31O my lord, Your Lordship is eternally awake, seeing everything that happens. As eternal time, you reduce the duration of life for all living entities through your different parts, such as moments, seconds, minutes and hours. Nonetheless, you are unchanged, resting in one place as the Supersoul, witness and Supreme Lord, the birthless, all-pervading controller who is the cause of life for all living entities.

32There is nothing separate from you, whether it be better or lower, stationary or moving. The knowledge derived from the Vedic literatures like the Upaniṣads, and from all the sub-limbs of the original Vedic knowledge, form your external body. You are Hiraṇyagarbha, the reservoir of the universe, but nonetheless, being situated as the supreme controller, you are transcendental to the material world, which consists of the three modes of material nature.

33O my lord, being changelessly situated in your own abode, you expand your universal form within this cosmic manifestation, thus appearing to taste the material world. You are Brahman, the Supersoul, the oldest, the Personality of Godhead.

34Let me offer my respectful obeisances unto the Supreme, who in his unlimited, unmanifested form has expanded the cosmic manifestation, the form of the totality of the universe. He possesses external and internal energies and the mixed energy called the marginal potency, which consists of all the living entities.

35O my lord, O best of the givers of benediction, if you will kindly grant me the benediction I desire, please let me not meet death from any of the living entities created by you.

36Grant me that I not die within any residence or outside any residence, during the daytime or at night, nor on the ground or in the sky. Grant me that my death not be brought by any being other than those created by you, nor by any weapon, nor by any human being or animal.

37-38Grant me that I not meet death from any entity, living or nonliving. Grant me, further, that I not be killed by any demigod or demon or by any great snake from the lower planets. Since no one can kill you in the battlefield, you have no competitor. Therefore, grant me the benediction that I too may have no rival. Give me sole lordship over all the living entities and presiding deities, and give me all the glories obtained by that position. Furthermore, give me all the mystic powers attained by long austerities and the practice of yoga, for these cannot be lost at any time.

### SB 7.4: Hiraṇyakaśipu Terrorizes the Universe

This chapter fully describes how Hiraṇyakaśipu obtained power from Lord Brahmā and misused it by harassing all the living entities within this universe.

By severe austerities, Hiraṇyakaśipu satisfied Lord Brahmā and obtained the benedictions he desired. After he received these benedictions, his body, which had been almost entirely consumed, was revived with full beauty and a luster like gold. Nonetheless, he continued to be envious of Lord Viṣṇu, unable to forget Lord Viṣṇu's having killed his brother. Hiraṇyakaśipu conquered everyone in the ten directions and the three worlds and brought all living entities, both demigods and *asuras,* under his control. Becoming the master of all places, including the residence of Indra, whom he had driven out, he began enjoying life in great luxury and thus

became mad. All the demigods but Lord Viṣṇu, Lord Brahmā and Lord Śiva came under his control and began serving him, but despite all his material power he was dissatisfied because he was always puffed up, proud of transgressing the Vedic regulations. All the *brāhmaṇas* were dissatisfied with him, and they cursed him with determination. Eventually, all the living entities within the universe, represented by the demigods and sages, prayed to the Supreme Lord for relief from Hiraṇyakaśipu's rule.

Lord Viṣṇu informed the demigods that they and the other living entities would be saved from the fearful conditions created by Hiraṇyakaśipu. Since Hiraṇyakaśipu was the oppressor of all the demigods, the followers of the *Vedas,* the cows, the *brāhmaṇas* and the religious, saintly persons, and since he was envious of the Supreme Lord, he would naturally be killed very soon. Hiraṇyakaśipu's last exploit would be to torment his own son Prahlāda, who was a *mahā-bhāgavata,* an exalted Vaiṣṇava. Then his life would end. When the demigods were thus reassured by the Supreme Personality of Godhead, everyone was satisfied, knowing that the miseries inflicted upon them by Hiraṇyakaśipu would come to an end.

Finally, Nārada Muni describes the characteristics of Prahlāda Mahārāja, the son of Hiraṇyakaśipu, and describes how his father envied his own qualified son. In this way the chapter ends.

1Nārada Muni continued: Lord Brahmā was very much satisfied by Hiraṇyakaśipu's austerities, which were difficult to perform. Therefore, when solicited for benedictions, he indeed granted them, although they were rarely to be achieved.

2Lord Brahmā said: O Hiraṇyakaśipu, these benedictions for which you have asked are difficult to obtain for most men. Nonetheless, O my son, I shall grant you them although they are generally not available.

3Then Lord Brahmā, who awards infallible benedictions, departed, being worshiped by the best of the demons, Hiraṇyakaśipu, and being praised by great sages and saintly persons.

4The demon Hiraṇyakaśipu, having thus been blessed by Lord Brahmā and having acquired a lustrous golden body, continued to remember the death of his brother and therefore be envious of Lord Viṣṇu.

5-7Hiraṇyakaśipu became the conqueror of the entire universe. Indeed, that great demon conquered all the planets in the three worldsupper, middle and lowerincluding the planets of the human beings, the Gandharvas, the Garuḍas, the great serpents, the Siddhas, Cāraṇas and Vidyādharas, the great saints, Yamarāja, the Manus, the Yakṣas, the Rākṣasas, the Piśācas and their masters, and the masters of the ghosts and Bhūtas. He defeated the rulers of all the other planets where there are living entities and brought them under his control. Conquering the abodes of all, he seized their power and influence.

8Hiraṇyakaśipu, who possessed all opulence, began residing in heaven, with its famous Nandana garden, which is enjoyed by the demigods. In fact, he resided in the most opulent palace of Indra, the King of heaven. The palace had been directly constructed by the demigod architect Viśvakarmā and was as beautifully made as if the goddess of fortune of the entire universe resided there.

9-12The steps of King Indra's residence were made of coral, the floor was bedecked with invaluable emeralds, the walls were of crystal, and the columns of vaidūrya stone. The wonderful canopies were beautifully decorated, the seats were bedecked with rubies, and the silk bedding, as white as foam, was decorated with pearls. The ladies of the palace, who were

blessed with beautiful teeth and the most wonderfully beautiful faces, walked here and there in the palace, their ankle bells tinkling melodiously, and saw their own beautiful reflections in the gems. The demigods, however, being very much oppressed, had to bow down and offer obeisances at the feet of Hiraṇyakaśipu, who chastised the demigods very severely and for no reason. Thus Hiraṇyakaśipu lived in the palace and severely ruled everyone.

13O my dear King, Hiraṇyakaśipu was always drunk on strong-smelling wines and liquors, and therefore his coppery eyes were always rolling. Nonetheless, because he had powerfully executed great austerities in mystic yoga, although he was abominable, all but the three principal demigodsLord Brahmā, Lord Śiva and Lord Viṣṇupersonally worshiped him to please him by bringing him various presentations with their own hands.

14O Mahārāja Yudhiṣṭhira, descendant of Pāṇḍu, by dint of his personal power, Hiraṇyakaśipu, being situated on the throne of King Indra, controlled the inhabitants of all the other planets. The two Gandharvas Viśvāvasu and Tumburu, I myself and the Vidyādharas, Apsarās and sages all offered prayers to him again and again just to glorify him.

15Being worshiped by sacrifices offered with great gifts by those who strictly followed the principles of varṇa and āśrama, Hiraṇyakaśipu, instead of offering shares of the oblations to the demigods, accepted them himself.

16As if in fear of Hiraṇyakaśipu, the planet earth, which consists of seven islands, delivered food grains without being plowed. Thus it resembled cows like the surabhi of the spiritual world or the kāma-dughā of heaven. The earth yielded sufficient food grains, the cows supplied abundant milk, and outer space was beautifully decorated with wonderful phenomena.

17By the flowing of their waves, the various oceans of the universe, along with their tributaries, the rivers, which are compared to their wives, supplied various kinds of gems and jewels for Hiraṇyakaśipu's use. These oceans were the oceans of salt water, sugarcane juice, wine, clarified butter, milk, yogurt, and sweet water.

18The valleys between the mountains became fields of pleasure for Hiraṇyakaśipu, by whose influence all the trees and plants produced fruits and flowers profusely in all seasons. The qualities of pouring water, drying and burning, which are all qualities of the three departmental heads of the universenamely Indra, Vāyu and Agniwere all directed by Hiraṇyakaśipu alone, without assistance from the demigods.

19In spite of achieving the power to control in all directions and in spite of enjoying all types of dear sense gratification as much as possible, Hiraṇyakaśipu was dissatisfied because instead of controlling his senses he remained their servant.

20Hiraṇyakaśipu thus passed a long time being very much proud of his opulences and transgressing the laws and regulations mentioned in the authoritative śāstras. He was therefore subjected to a curse by the four Kumāras, who were great brāhmaṇas.

21Everyone, including the rulers of the various planets, was extremely distressed because of the severe punishment inflicted upon them by Hiraṇyakaśipu. Fearful and disturbed, unable to find any other shelter, they at last surrendered to the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu.

22-23"Let us offer our respectful obeisances unto that direction where the Supreme Personality of Godhead is situated, where those purified souls in the renounced order of life, the great saintly persons, go, and from which, having gone, they never return." Without sleep, fully controlling their minds, and living on only their breath, the predominating deities of the

various planets began worshiping Hṛṣīkeśa with this meditation.

24Then there appeared before them a transcendental sound vibration, emanating from a personality not visible to material eyes. The voice was as grave as the sound of a cloud, and it was very encouraging, driving away all fear.

25-26The voice of the Lord vibrated as follows: O best of learned persons, do not fear! I wish all good fortune to you. Become My devotees by hearing and chanting about Me and offering Me prayers, for these are certainly meant to award benedictions to all living entities. I know all about the activities of Hiraṇyakaśipu and shall surely stop them very soon. Please wait patiently until that time.

27When one is envious of the demigods, who represent the Supreme Personality of Godhead, of the Vedas, which give all knowledge, of the cows, brāhmaṇas, Vaiṣṇavas and religious principles, and ultimately of Me, the Supreme Personality of Godhead, he and his civilization will be vanquished without delay.

28When Hiraṇyakaśipu teases the great devotee Prahlāda, his own son, who is peaceful and sober and who has no enemy, I shall kill Hiraṇyakaśipu immediately, despite the benedictions of Brahmā.

29The great saint Nārada Muni continued: When the Supreme Personality of Godhead, the spiritual master of everyone, thus reassured all the demigods living in the heavenly planets, they offered their respectful obeisances unto Him and returned, confident that the demon Hiraṇyakaśipu was now practically dead.

30Hiraṇyakaśipu had four wonderful, well-qualified sons, of whom the one named Prahlāda was the best. Indeed, Prahlāda was a reservoir of all transcendental qualities because he was an unalloyed devotee of the Personality of Godhead.

31-32[The qualities of Mahārāja Prahlāda, the son of Hiraṇyakaśipu, are described herewith.] He was completely cultured as a qualified brāhmaṇa, having very good character and being determined to understand the Absolute Truth. He had full control of his senses and mind. Like the Supersoul, he was kind to every living entity and was the best friend of everyone. To respectable persons he acted exactly like a menial servant, to the poor he was like a father, to his equals he was attached like a sympathetic brother, and he considered his teachers, spiritual masters and older Godbrothers to be as good as the Supreme Personality of Godhead. He was completely free from unnatural pride that might have arisen from his good education, riches, beauty, aristocracy and so on.

33Although Prahlāda Mahārāja was born in a family of asuras, he himself was not an asura but a great devotee of Lord Viṣṇu. Unlike the other asuras, he was never envious of Vaiṣṇavas. He was not agitated when put into danger, and he was neither directly nor indirectly interested in the fruitive activities described in the Vedas. Indeed, he considered everything material to be useless, and therefore he was completely devoid of material desires. He always controlled his senses and life air, and being of steady intelligence and determination, he subdued all lusty desires.

34O King, Prahlāda Mahārāja's good qualities are still glorified by learned saints and Vaiṣṇavas. As all good qualities are always found existing in the Supreme Personality of Godhead, they also exist forever in His devotee Prahlāda Mahārāja.

35In any assembly where there are discourses about saints and devotees, O King Yudhiṣṭhira, even the enemies of the demons, namely the demigods, what to speak of you, would cite

Prahlāda Mahārāja as an example of a great devotee.

36Who could list the innumerable transcendental qualities of Prahlāda Mahārāja? He had unflinching faith in Vāsudeva, Lord Kṛṣṇa [the son of Vasudeva], and unalloyed devotion to Him. His attachment to Lord Kṛṣṇa was natural because of his previous devotional service. Although his good qualities cannot be enumerated, they prove that he was a great soul [mahātmā].

37From the very beginning of his childhood, Prahlāda Mahārāja was uninterested in childish playthings. Indeed, he gave them up altogether and remained silent and dull, being fully absorbed in Kṛṣṇa consciousness. Since his mind was always affected by Kṛṣṇa consciousness, he could not understand how the world goes on being fully absorbed in the activities of sense gratification.

38Prahlāda Mahārāja was always absorbed in thought of Kṛṣṇa. Thus, being always embraced by the Lord, he did not know how his bodily necessities, such as sitting, walking, eating, lying down, drinking and talking, were being automatically performed.

39Because of advancement in Kṛṣṇa consciousness, he sometimes cried, sometimes laughed, sometimes expressed jubilation and sometimes sang loudly.

40Sometimes, upon seeing the Supreme Personality of Godhead, Prahlāda Mahārāja would loudly call in full anxiety. He sometimes lost his shyness in jubilation and began dancing in ecstasy, and sometimes, being fully absorbed in thoughts of Kṛṣṇa, he felt oneness and imitated the pastimes of the Lord.

41Sometimes, feeling the touch of the Lord's lotus hands, he became spiritually jubilant and remained silent, his hairs standing on end and tears gliding down from his half-closed eyes because of his love for the Lord.

42Because of his association with perfect, unalloyed devotees who had nothing to do with anything material, Prahlāda Mahārāja constantly engaged in the service of the Lord's lotus feet. By seeing his bodily features when he was in perfect ecstasy, persons very poor in spiritual understanding became purified. In other words, Prahlāda Mahārāja bestowed upon them transcendental bliss.

43My dear King Yudhiṣṭhira, the demon Hiraṇyakaśipu tormented this exalted, fortunate devotee, although Prahlāda was his own son.

44Mahārāja Yudhiṣṭhira said: O best of the saints among the demigods, O best of spiritual leaders, how did Hiraṇyakaśipu give so much trouble to Prahlāda Mahārāja, the pure and exalted saint, although Prahlāda was his own son? I wish to know about this subject from you.

45A father and mother are always affectionate to their children. When the children are disobedient the parents chastise them, not due to enmity but only for the child's instruction and welfare. How did Hiraṇyakaśipu, the father of Prahlāda Mahārāja, chastise such a noble son? This is what I am eager to know.

46Mahārāja Yudhiṣṭhira further inquired: How was it possible for a father to be so violent toward an exalted son who was obedient, well-behaved and respectful to his father? O brāhmaṇa, O master, I have never heard of such a contradiction as an affectionate father's punishing his noble son with the intention of killing him. Kindly dissipate our doubts in this regard.

## SB 7.5: Prahlāda Mahārāja, the Saintly Son of Hiraṇyakaśipu

Prahlāda Mahārāja did not carry out the orders of his teachers, for he was always engaged in worshiping Lord Viṣṇu. As described in this chapter, Hiraṇyakaśipu tried to kill Prahlāda Mahārāja, even by having a snake bite him and by putting him under the feet of elephants, yet he was unsuccessful.

Hiraṇyakaśipu's spiritual master, Śukrācārya, had two sons named Ṣaṇḍa and Amarka, to whom Prahlāda Mahārāja was entrusted for education. Although the teachers tried to educate the boy Prahlāda in politics, economics and other material activities, he did not care for their instructions. Instead, he continued to be a pure devotee. Prahlāda Mahārāja never liked the idea of discriminating between one's friends and enemies. Because he was spiritually inclined, he was equal toward everyone.

Once upon a time, Hiraṇyakaśipu inquired from his son what the best thing was that he had learned from his teachers. Prahlāda Mahārāja replied that a man engrossed in the material consciousness of duality, thinking, "This is mine, and that belongs to my enemy," should give up his householder life and go to the forest to worship the Supreme Lord.

When Hiraṇyakaśipu heard from his son about devotional service, he decided that this small boy had been polluted by some friend in school. Thus he advised the teachers to take care of the boy so that he would not become a Kṛṣṇa conscious devotee. However, when the teachers inquired from Prahlāda Mahārāja why he was going against their teachings, Prahlāda Mahārāja taught the teachers that the mentality of ownership is false and that he was therefore trying to become an unalloyed devotee of Lord Viṣṇu. The teachers, being very angry at this answer, chastised and threatened the boy with many fearful conditions. They taught him to the best of their ability and then brought him before his father.

Hiraṇyakaśipu affectionately took his son Prahlāda on his lap and then inquired from him what the best thing was that he had learned from his teachers. As usual, Prahlāda Mahārāja began praising the nine processes of devotional service, such as *śravaṇam* and *kīrtanam*. Thus the King of the demons, Hiraṇyakaśipu, being extremely angry, chastised the teachers, Ṣaṇḍa and Amarka, for having wrongly trained Prahlāda Mahārāja. The so-called teachers informed the King that Prahlāda Mahārāja was automatically a devotee and did not listen to their instructions. When they proved themselves innocent, Hiraṇyakaśipu inquired from Prahlāda where he had learned *viṣṇu-bhakti*. Prahlāda Mahārāja replied that those who are attached to family life do not develop Kṛṣṇa consciousness, either personally or collectively. Instead, they suffer repeated birth and death in this material world and continue simply chewing the chewed. Prahlāda explained that the duty of every man is to take shelter of a pure devotee and thus become eligible to understand Kṛṣṇa consciousness.

Enraged at this answer, Hiraṇyakaśipu threw Prahlāda Mahārāja from his lap. Since Prahlāda was so treacherous that he had become a devotee of Viṣṇu, who had killed his uncle Hiraṇyākṣa, Hiraṇyakaśipu asked his assistants to kill him. The assistants of Hiraṇyakaśipu struck Prahlāda with sharp weapons, threw him under the feet of elephants, subjected him to hellish conditions, threw him from the peak of a mountain and tried to kill him in thousands of other ways, but they were unsuccessful. Hiraṇyakaśipu therefore became increasingly afraid of his son Prahlāda Mahārāja and arrested him. The sons of Hiraṇyakaśipu's spiritual master, Śukrācārya, began teaching Prahlāda in their own way, but Prahlāda Mahārāja did not accept their instructions. While the teachers were absent from the classroom, Prahlāda Mahārāja began to preach Kṛṣṇa consciousness in the school, and by his instructions all his class friends, the sons of the demons, became devotees like him.

1The great saint Nārada Muni said: The demons, headed by Hiraṇyakaśipu, accepted Śukrācārya as their priest for ritualistic ceremonies. Śukrācārya's two sons, Ṣaṇḍa and Amarka, lived near Hiraṇyakaśipu's palace.

2Prahlāda Mahārāja was already educated in devotional life, but when his father sent him to those two sons of Śukrācārya to be educated, they accepted him at their school along with the other sons of the asuras.

3Prahlāda certainly heard and recited the topics of politics and economics taught by the teachers, but he understood that political philosophy involves considering someone a friend and someone else an enemy, and thus he did not like it.

4My dear King Yudhiṣṭhira, once upon a time the King of the demons, Hiraṇyakaśipu, took his son Prahlāda on his lap and very affectionately inquired: My dear son, please let me know what you think is the best of all the subjects you have studied from your teachers.

5Prahlāda Mahārāja replied: O best of the asuras, King of the demons, as far as I have learned from my spiritual master, any person who has accepted a temporary body and temporary household life is certainly embarrassed by anxiety because of having fallen in a dark well where there is no water but only suffering. One should give up this position and go to the forest [vana]. More clearly, one should go to Vṛndāvana, where only Kṛṣṇa consciousness is prevalent, and should thus take shelter of the Supreme Personality of Godhead.

6Nārada Muni continued: When Prahlāda Mahārāja spoke about the path of self-realization in devotional service, thus being faithful to the camp of his father's enemies, Hiraṇyakaśipu, the King of the demons, heard Prahlāda's words and he laughingly said, "Thus is the intelligence of children spoiled by the words of the enemy."

7Hiraṇyakaśipu advised his assistants: My dear demons, give complete protection to this boy at the gurukula where he is instructed, so that his intelligence will not be further influenced by Vaiṣṇavas who may go there in disguise.

8When Hiraṇyakaśipu's servants brought the boy Prahlāda back to the gurukula [the place where the brāhmaṇas taught the boys], the priests of the demons, Ṣaṇḍa and Amarka, pacified him. With very mild voices and affectionate words, they inquired from him as follows.

9Dear son Prahlāda, all peace and good fortune unto you. Kindly do not speak lies; just reply with the truth. These boys you see are not like you, for they do not speak in a deviant way. How have you learned these instructions? How has your intelligence been spoiled in this way?

10O best of your family, has this pollution of your intelligence been brought about by you or by the enemies? We are all your teachers and are very eager to hear about this. Please tell us the truth.

11Prahlāda Mahārāja replied: Let me offer my respectful obeisances unto the Supreme Personality of Godhead, whose external energy has created the distinctions of "my friend" and "my enemy" by deluding the intelligence of men. Indeed, I am now actually experiencing this, although I have previously heard of it from authoritative sources.

12When the Supreme Personality of Godhead is pleased with the living entity because of his devotional service, one becomes a paṇḍita and does not make distinctions between enemies, friends and himself. Intelligently, he then thinks, "Every one of us is an eternal servant of God, and therefore we are not different from one another."

13Persons who always think in terms of "enemy" and "friend" are unable to ascertain the Supersoul within themselves. Not to speak of them, even such exalted persons as Lord Brahmā, who are fully conversant with the Vedic literature, are sometimes bewildered in following the principles of devotional service. The same Supreme Personality of Godhead who has created this situation has certainly given me the intelligence to take the side of your so-called enemy.

14O brāhmaṇas [teachers], as iron attracted by a magnetic stone moves automatically toward the magnet, my consciousness, having been changed by His will, is attracted by Lord Viṣṇu, who carries a disc in His hand. Thus I have no independence.

15The great saint Nārada Muni continued: The great soul Prahlāda Mahārāja became silent after saying this to his teachers, Ṣaṇḍa and Amarka, the seminal sons of Śukrācārya. These so-called brāhmaṇas then became angry at him. Because they were servants of Hiraṇyakaśipu, they were very sorry, and to chastise Prahlāda Mahārāja they spoke as follows.

16Oh, please bring me a stick! This Prahlāda is damaging our name and fame. Because of his bad intelligence, he has become like a cinder in the dynasty of the demons. Now he needs to be treated by the fourth of the four kinds of political diplomacy.

17This rascal Prahlāda has appeared like a thorn tree in a forest of sandalwood. To cut down sandalwood trees, an axe is needed, and the wood of the thorn tree is very suitable for the handle of such an axe. Lord Viṣṇu is the axe for cutting down the sandalwood forest of the family of demons, and this Prahlāda is the handle for that axe.

18Ṣaṇḍa and Amarka, the teachers of Prahlāda Mahārāja, chastised and threatened their disciple in various ways and began teaching him about the paths of religion, economic development and sense gratification. This is the way they educated him.

19After some time, the teachers Ṣaṇḍa and Amarka thought that Prahlāda Mahārāja was sufficiently educated in the diplomatic affairs of pacifying public leaders, appeasing them by giving them lucrative posts, dividing and ruling over them, and punishing them in cases of disobedience. Then, one day, after Prahlāda's mother had personally washed the boy and dressed him nicely with sufficient ornaments, they presented him before his father.

20When Hiraṇyakaśipu saw that his child had fallen at his feet and was offering obeisances, as an affectionate father he immediately began showering blessings upon the child and embraced him with both arms. A father naturally feels happy to embrace his son, and Hiraṇyakaśipu became very happy in this way.

21Nārada Muni continued: My dear King Yudhiṣṭhira, Hiraṇyakaśipu seated Prahlāda Mahārāja on his lap and began smelling his head. With affectionate tears gliding down from his eyes and moistening the child's smiling face, he spoke to his son as follows.

22Hiraṇyakaśipu said: My dear Prahlāda, my dear son, O long-lived one, for so much time you have heard many things from your teachers. Now please repeat to me whatever you think is the best of that knowledge.

23-24Prahlāda Mahārāja said: Hearing and chanting about the transcendental holy name, form, qualities, paraphernalia and pastimes of Lord Viṣṇu, remembering them, serving the lotus feet of the Lord, offering the Lord respectful worship with sixteen types of paraphernalia, offering prayers to the Lord, becoming His servant, considering the Lord one's best friend, and surrendering everything unto Him (in other words, serving Him with the body, mind and words)these nine processes are accepted as pure devotional service. One who has dedicated

his life to the service of Kṛṣṇa through these nine methods should be understood to be the most learned person, for he has acquired complete knowledge.

25After hearing these words of devotional service from the mouth of his son Prahlāda, Hiraṇyakaśipu was extremely angry. His lips trembling, he spoke as follows to Ṣaṇḍa, the son of his guru, Śukrācārya.

26O unqualified, most heinous son of a brāhmaṇa, you have disobeyed my order and taken shelter of the party of my enemies. You have taught this poor boy about devotional service! What is this nonsense?

27In due course of time, various types of diseases are manifest in those who are sinful. Similarly, in this world there are many deceptive friends in false garbs, but eventually, because of their false behavior, their actual enmity becomes manifest.

28The son of Śukrācārya, Hiraṇyakaśipu's spiritual master, said: O enemy of King Indra, O King! Whatever your son Prahlāda has said was not taught to him by me or anyone else. His spontaneous devotional service has naturally developed in him. Therefore, please give up your anger and do not unnecessarily accuse us. It is not good to insult a brāhmaṇa in this way.

29Śrī Nārada Muni continued: When Hiraṇyakaśipu received this reply from the teacher, he again addressed his son Prahlāda. Hiraṇyakaśipu said: You rascal, most fallen of our family, if you have not received this education from your teachers, where have you gotten it?

30Prahlāda Mahārāja replied: Because of their uncontrolled senses, persons too addicted to materialistic life make progress toward hellish conditions and repeatedly chew that which has already been chewed. Their inclinations toward Kṛṣṇa are never aroused, either by the instructions of others, by their own efforts, or by a combination of both.

31Persons who are strongly entrapped by the consciousness of enjoying material life, and who have therefore accepted as their leader or guru a similar blind man attached to external sense objects, cannot understand that the goal of life is to return home, back to Godhead, and engage in the service of Lord Viṣṇu. As blind men guided by another blind man miss the right path and fall into a ditch, materially attached men led by another materially attached man are bound by the ropes of fruitive labor, which are made of very strong cords, and they continue again and again in materialistic life, suffering the threefold miseries.

32Unless they smear upon their bodies the dust of the lotus feet of a Vaiṣṇava completely freed from material contamination, persons very much inclined toward materialistic life cannot be attached to the lotus feet of the Lord, who is glorified for His uncommon activities. Only by becoming Kṛṣṇa conscious and taking shelter at the lotus feet of the Lord in this way can one be freed from material contamination.

33After Prahlāda Mahārāja had spoken in this way and become silent, Hiraṇyakaśipu, blinded by anger, threw him off his lap and onto the ground.

34Indignant and angry, his reddish eyes like molten copper, Hiraṇyakaśipu said to his servants: O demons, take this boy away from me! He deserves to be killed. Kill him as soon as possible!

35This boy Prahlāda is the killer of my brother, for he has given up his family to engage in the devotional service of the enemy, Lord Viṣṇu, like a menial servant.

36Although Prahlāda is only five years old, even at this young age he has given up his affectionate relationship with his father and mother. Therefore, he is certainly untrustworthy.

Indeed, it is not at all believable that he will behave well toward Viṣṇu.

37Although a medicinal herb, being born in the forest, does not belong to the same category as a man, if beneficial it is kept very carefully. Similarly, if someone outside one's family is favorable, he should be given protection like a son. On the other hand, if a limb of one's body is poisoned by disease, it must be amputated so that the rest of the body may live happily. Similarly, even one's own son, if unfavorable, must be rejected, although born of one's own body.

38Just as uncontrolled senses are the enemies of all yogīs engaged in advancing in spiritual life, this Prahlāda, who appears to be a friend, is an enemy because I cannot control him. Therefore this enemy, whether eating, sitting or sleeping, must be killed by all means.

39-40The demons [Rākṣasas], the servants of Hiraṇyakaśipu, thus began striking the tender parts of Prahlāda Mahārāja's body with their tridents. The demons all had fearful faces, sharp teeth and reddish, coppery beards and hair, and they appeared extremely threatening. Making a tumultuous sound, shouting, "Chop him up! Pierce him!" they began striking Prahlāda Mahārāja, who sat silently, meditating upon the Supreme Personality of Godhead.

41Even though a person who has no assets in pious activities performs some good deed, it will have no result. Thus the weapons of the demons had no tangible effects upon Prahlāda Mahārāja because he was a devotee undisturbed by material conditions and fully engaged in meditating upon and serving the Supreme Personality of Godhead, who is unchangeable, who cannot be realized by the material senses, and who is the soul of the entire universe.

42My dear King Yudhiṣṭhira, when all the attempts of the demons to kill Prahlāda Mahārāja were futile, the King of the demons, Hiraṇyakaśipu, being most fearful, began contriving other means to kill him.

43-44Hiraṇyakaśipu could not kill his son by throwing him beneath the feet of big elephants, throwing him among huge, fearful snakes, employing destructive spells, hurling him from the top of a hill, conjuring up illusory tricks, administering poison, starving him, exposing him to severe cold, winds, fire and water, or throwing heavy stones to crush him. When Hiraṇyakaśipu found that he could not in any way harm Prahlāda, who was completely sinless, he was in great anxiety about what to do next.

45Hiraṇyakaśipu thought: I have used many ill names in chastising this boy Prahlāda and have devised many means of killing him, but despite all my endeavors, he could not be killed. Indeed, he saved himself by his own powers, without being affected in the least by these treacheries and abominable actions.

46Although he is very near to me and is merely a child, he is situated in complete fearlessness. He resembles a dog's curved tail, which can never be straightened, because he never forgets my miSBehavior and his connection with his master, Lord Viṣṇu.

47I can see that this boy's strength is unlimited, for he has not feared any of my punishments. He appears immortal. Therefore, because of my enmity toward him, I shall die. Or maybe this will not take place.

48Thinking in this way, the King of the Daityas, morose and bereft of bodily luster, remained silent with his face downward. Then Ṣaṇḍa and Amarka, the two sons of Śukrācārya, spoke to him in secret.

49O lord, we know that when you simply move your eyebrows, all the commanders of the

various planets are most afraid. Without the help of any assistant, you have conquered all the three worlds. Therefore, we do not find any reason for you to be morose and full of anxiety. As for Prahlāda, he is nothing but a child and cannot be a cause of anxiety. After all, his bad or good qualities have no value.

50Until the return of our spiritual master, Śukrācārya, arrest this child with the ropes of Varuṇa so that he will not flee in fear. In any case, by the time he is somewhat grown up and has assimilated our instructions or served our spiritual master, he will change in his intelligence. Thus there need be no cause for anxiety.

51After hearing these instructions of Ṣaṇḍa and Amarka, the sons of his spiritual master, Hiraṇyakaśipu agreed and requested them to instruct Prahlāda in that system of occupational duty which is followed by royal householder families.

52Thereafter, Ṣaṇḍa and Amarka systematically and unceasingly taught Prahlāda Mahārāja, who was very submissive and humble, about mundane religion, economic development and sense gratification.

53The teachers Ṣaṇḍa and Amarka instructed Prahlāda Mahārāja in the three kinds of material advancement called religion, economic development and sense gratification. Prahlāda, however, being situated above such instructions, did not like them, for such instructions are based on the duality of worldly affairs, which involve one in a materialistic way of life marked by birth, death, old age and disease.

54When the teachers went home to attend to their household affairs, the students of the same age as Prahlāda Mahārāja would call him to take the opportunity of leisure hours for play.

55Prahlāda Mahārāja, who was truly the supreme learned person, then addressed his class friends in very sweet language. Smiling, he began to teach them about the uselessness of the materialistic way of life. Being very kind to them, he instructed them as follows.

56-57My dear King Yudhiṣṭhira, all the children were very much affectionate and respectful to Prahlāda Mahārāja, and because of their tender age they were not so polluted by the instructions and actions of their teachers, who were attached to condemned duality and bodily comfort. Thus the boys surrounded Prahlāda Mahārāja, giving up their playthings, and sat down to hear him. Their hearts and eyes being fixed upon him, they looked at him with great earnestness. Prahlāda Mahārāja, although born in a demon family, was an exalted devotee, and he desired their welfare. Thus he began instructing them about the futility of materialistic life.

### SB 7.6: Prahlāda Instructs His Demoniac Schoolmates

This chapter describes Prahlāda Mahārāja's instructions to his class friends. In speaking to his friends, who were all sons of demons, Prahlāda Mahārāja stressed that every living entity, especially in human society, must be interested in spiritual realization from the very beginning of life. When human beings are children, they should be taught that the Supreme Personality of Godhead is the worshipable Deity for everyone. One should not be very much interested in material enjoyment; instead, one should be satisfied with whatever material profits are easily obtainable, and because the duration of one's life is very short, one should utilize every moment for spiritual advancement. One may wrongly think, "In the beginning of our lives let us enjoy material facilities, and in old age we may become Kṛṣṇa conscious." Such materialistic thoughts are always useless because in old age one cannot be trained in the spiritual way of life. Therefore, from the very beginning of life, one should engage in devotional service (*śravaṇaṁ kīrtanaṁ viṣṇoḥ*). This is the duty of all living entities. Material education is infected

by the three modes of nature, but spiritual education, for which there is a great need in human society, is transcendental. Prahlāda Mahārāja disclosed the secret of how he had received instructions from Nārada Muni. By accepting the lotus feet of Prahlāda Mahārāja, who is in the *paramparā* succession, one will be able to understand the mode of spiritual life. In accepting this mode of activity, there is no need for material qualifications.

After Prahlāda Mahārāja's class friends had listened to Prahlāda Mahārāja, they inquired how he had become so learned and advanced. In this way the chapter ends.

1Prahlāda Mahārāja said: One who is sufficiently intelligent should use the human form of body from the very beginning of lifein other words, from the tender age of childhoodto practice the activities of devotional service, giving up all other engagements. The human body is most rarely achieved, and although temporary like other bodies, it is meaningful because in human life one can perform devotional service. Even a slight amount of sincere devotional service can give one complete perfection.

2The human form of life affords one a chance to return home, back to Godhead. Therefore every living entity, especially in the human form of life, must engage in devotional service to the lotus feet of Lord Viṣṇu. This devotional service is natural because Lord Viṣṇu, the Supreme Personality of Godhead, is the most beloved, the master of the soul, and the well-wisher of all other living beings.

3Prahlāda Mahārāja continued: My dear friends born of demoniac families, the happiness perceived with reference to the sense objects by contact with the body can be obtained in any form of life, according to one's past fruitive activities. Such happiness is automatically obtained without endeavor, just as we obtain distress.

4Endeavors merely for sense gratification or material happiness through economic development are not to be performed, for they result only in a loss of time and energy, with no actual profit. If one's endeavors are directed toward Kṛṣṇa consciousness, one can surely attain the spiritual platform of self-realization. There is no such benefit from engaging oneself in economic development.

5Therefore, while in material existence [bhavam āśritaḥ], a person fully competent to distinguish wrong from right must endeavor to achieve the highest goal of life as long as the body is stout and strong and is not embarrassed by dwindling.

6Every human being has a maximum duration of life of one hundred years, but for one who cannot control his senses, half of those years are completely lost because at night he sleeps twelve hours, being covered by ignorance. Therefore such a person has a lifetime of only fifty years.

7In the tender age of childhood, when everyone is bewildered, one passes ten years. Similarly, in boyhood, engaged in sporting and playing, one passes another ten years. In this way, twenty years are wasted. Similarly, in old age, when one is an invalid, unable to perform even material activities, one passes another twenty years wastefully.

8One whose mind and senses are uncontrolled becomes increasingly attached to family life because of insatiable lusty desires and very strong illusion. In such a madman's life, the remaining years are also wasted because even during those years he cannot engage himself in devotional service.

9What person too attached to household life due to being unable to control his senses can liberate himself? An attached householder is bound very strongly by ropes of affection for his

family [wife, children and other relatives].

10Money is so dear that one conceives of money as being sweeter than honey. Therefore, who can give up the desire to accumulate money, especially in household life? Thieves, professional servants [soldiers] and merchants try to acquire money even by risking their very dear lives.

11-13How can a person who is most affectionate to his family, the core of his heart being always filled with their pictures, give up their association? Specifically, a wife is always very kind and sympathetic and always pleases her husband in a solitary place. Who could give up the association of such a dear and affectionate wife? Small children talk in broken language, very pleasing to hear, and their affectionate father always thinks of their sweet words. How could he give up their association? One's elderly parents and one's sons and daughters are also very dear. A daughter is especially dear to her father, and while living at her husband's house she is always in his mind. Who could give up that association? Aside from this, in household affairs there are many decorated items of household furniture, and there are also animals and servants. Who could give up such comforts? The attached householder is like a silkworm, which weaves a cocoon in which it becomes imprisoned, unable to get out. Simply for the satisfaction of two important sensesthe genitals and the tongueone is bound by material conditions. How can one escape?

14One who is too attached cannot understand that he is wasting his valuable life for the maintenance of his family. He also fails to understand that the purpose of human life, a life suitable for realization of the Absolute Truth, is being imperceptibly spoiled. However, he is very cleverly attentive to seeing that not a single farthing is lost by mismanagement. Thus although an attached person in material existence always suffers from threefold miseries, he does not develop a distaste for the way of material existence.

15If a person too attached to the duties of family maintenance is unable to control his senses, the core of his heart is immersed in how to accumulate money. Although he knows that one who takes the wealth of others will be punished by the law of the government, and by the laws of Yamarāja after death, he continues cheating others to acquire money.

16O my friends, sons of demons! In this material world, even those who are apparently advanced in education have the propensity to consider, "This is mine, and that is for others." Thus they are always engaged in providing the necessities of life to their families in a limited conception of family life, just like uneducated cats and dogs. They are unable to take to spiritual knowledge; instead, they are bewildered and overcome by ignorance.

17-18My dear friends, O sons of the demons, it is certain that no one bereft of knowledge of the Supreme Personality of Godhead has been able to liberate himself from material bondage at any time or in any country. Rather, those bereft of knowledge of the Lord are bound by the material laws. They are factually addicted to sense gratification, and their target is woman. Indeed, they are actually playthings in the hands of attractive women. Victimized by such a conception of life, they become surrounded by children, grandchildren and great-grandchildren, and thus they are shackled to material bondage. Those who are very much addicted to this conception of life are called demons. Therefore, although you are sons of demons, keep aloof from such persons and take shelter of the Supreme Personality of Godhead, Nārāyaṇa, the origin of all the demigods, because the ultimate goal for the devotees of Nārāyaṇa is liberation from the bondage of material existence.

19My dear sons of demons, the Supreme Personality of Godhead, Nārāyaṇa, is the original Supersoul, the father of all living entities. Consequently there are no impediments to pleasing Him or worshiping Him under any conditions, whether one be a child or an old man. The

relationship between the living entities and the Supreme Personality of Godhead is always a fact, and therefore there is no difficulty in pleasing the Lord.

20-23The Supreme Personality of Godhead, the supreme controller, who is infallible and indefatigable, is present in different forms of life, from the inert living beings [sthāvara], such as the plants, to Brahmā, the foremost created living being. He is also present in the varieties of material creations and in the material elements, the total material energy and the modes of material nature [sattva-guṇa, rajo-guṇa and tamo-guṇa], as well as the unmanifested material nature and the false ego. Although He is one, He is present everywhere, and He is also the transcendental Supersoul, the cause of all causes, who is present as the observer in the cores of the hearts of all living entities. He is indicated as that which is pervaded and as the all-pervading Supersoul, but actually He cannot be indicated. He is changeless and undivided. He is simply perceived as the supreme sac-cid-ānanda [eternity, knowledge and bliss]. Being covered by the curtain of the external energy, to the atheist He appears nonexistent.

24Therefore, my dear young friends born of demons, please act in such a way that the Supreme Lord, who is beyond the conception of material knowledge, will be satisfied. Give up your demoniac nature and act without enmity or duality. Show mercy to all living entities by enlightening them in devotional service, thus becoming their well-wishers.

25Nothing is unobtainable for devotees who have satisfied the Supreme Personality of Godhead, who is the cause of all causes, the original source of everything. The Lord is the reservoir of unlimited spiritual qualities. For devotees, therefore, who are transcendental to the modes of material nature, what is the use of following the principles of religion, economic development, sense gratification and liberation, which are all automatically obtainable under the influence of the modes of nature? We devotees always glorify the lotus feet of the Lord, and therefore we need not ask for anything in terms of dharma, kāma, artha and mokṣa.

26Religion, economic development and sense gratificationthese are described in the Vedas as tri-varga, or three ways to salvation. Within these three categories are education and self-realization; ritualistic ceremonies performed according to Vedic injunction; logic; the science of law and order; and the various means of earning one's livelihood. These are the external subject matters of study in the Vedas, and therefore I consider them material. However, I consider surrender to the lotus feet of Lord Viṣṇu to be transcendental.

27Nārāyaṇa, the Supreme Personality of Godhead, the well-wisher and friend of all living entities, formerly explained this transcendental knowledge to the great saint Nārada. Such knowledge is extremely difficult to understand without the mercy of a saintly person like Nārada, but everyone who has taken shelter of Nārada's disciplic succession can understand this confidential knowledge.

28Prahlāda Mahārāja continued: I received this knowledge from the great saint Nārada Muni, who is always engaged in devotional service. This knowledge, which is called bhāgavata-dharma, is fully scientific. It is based on logic and philosophy and is free from all material contamination.

29-30The sons of the demons replied: Dear Prahlāda, neither you nor we know any teacher or spiritual master other than Ṣaṇḍa and Amarka, the sons of Śukrācārya. After all, we are children and they our controllers. For you especially, who always remain within the palace, it is very difficult to associate with a great personality. Dear friend, most gentle one, would you kindly explain how it was possible for you to hear Nārada? Kindly dispel our doubts in this regard.

## SB 7.7: What Prahlāda Learned in the Womb

In this chapter, to dissipate the doubts of his class friends, the sons of the demons, Prahlāda Mahārāja states how, within the womb of his mother, he had heard from the mouth of Nārada Muni, who had instructed him in *bhāgavata-dharma.*

When Hiraṇyakaśipu left his kingdom and went to the mountain known as Mandarācala to execute severe austerities, all the demons scattered. Hiraṇyakaśipu's wife, Kayādhu, was pregnant at that time, and the demigods, mistakenly thinking that she carried another demon in her womb, arrested her. Their plan was that as soon as the child took birth they would kill him. While they were taking Kayādhu to the heavenly planets, they met Nārada Muni, who stopped them from taking her away and took her to his *āśrama* until Hiraṇyakaśipu's return. In Nārada Muni's *āśrama,* Kayādhu prayed for the protection of the baby in her womb, and Nārada Muni reassured her and gave her instructions on spiritual knowledge. Taking advantage of those instructions, Prahlāda Mahārāja, although a small baby within the womb, listened very carefully. The spirit soul is always apart from the material body. There is no change in the spiritual form of the living entity. Any person above the bodily conception of life is pure and can receive transcendental knowledge. This transcendental knowledge is devotional service, and Prahlāda Mahārāja, while living in the womb of his mother, received instructions in devotional service from Nārada Muni. Any person engaged in the service of the Lord through the instructions of a bona fide spiritual master is immediately liberated, and being free from the clutches of *māyā,* he is relieved of all ignorance and material desires. The duty of everyone is to take shelter of the Supreme Lord and thus become free from all material desires. Regardless of the material condition in which one is situated, one can achieve this perfection. Devotional service is not dependent on the material activities of austerity, penance, mystic *yoga* or piety. Even without such assets, one can achieve devotional service through the mercy of a pure devotee.

1Nārada Muni said: Although Prahlāda Mahārāja was born in a family of asuras, he was the greatest of all devotees. Having thus been questioned by his class friends, the sons of the asuras, he remembered the words spoken to him by me and replied to his friends as follows.

2Prahlāda Mahārāja said: When our father, Hiraṇyakaśipu, went to Mandarācala Mountain to execute severe austerities, in his absence the demigods, headed by King Indra, made a severe attempt to subdue all the demons in warfare.

3"Alas, as a serpent is eaten by small ants, so the troublesome Hiraṇyakaśipu, who always inflicted miseries upon all types of people, has now been defeated by the reactions of his own sinful activities." Saying this, the demigods, headed by King Indra, arranged to fight the demons.

4-5When the great leaders of the demons, who were being killed one after another, saw the unprecedented exertion of the demigods in fighting, they began to flee, scattering themselves in all directions. Simply to protect their lives, they hastily fled from their homes, wives, children, animals and household paraphernalia. Paying no heed to all these, the demons simply fled.

6The victorious demigods plundered the palace of Hiraṇyakaśipu, the King of the demons, and destroyed everything within it. Then Indra, King of heaven, arrested my mother, the Queen.

7As she was being led away, crying in fear like a kurarī captured by a vulture, the great sage Nārada, who at that time had no engagement, appeared on the scene and saw her in that condition.

8Nārada Muni said: O Indra, King of the demigods, this woman is certainly sinless. You should not drag her off in this merciless way. O greatly fortunate one, this chaste woman is the wife of another. You must immediately release her.

9King Indra said: In the womb of this woman, the wife of the demon Hiraṇyakaśipu, is the seed of that great demon. Therefore, let her remain in our custody until her child is delivered, and then we shall release her.

10Nārada Muni replied: The child within this woman's womb is faultless and sinless. Indeed, he is a great devotee, a powerful servant of the Supreme Personality of Godhead. Therefore you will not be able to kill him.

11When the great saint Nārada Muni had thus spoken, King Indra, being respectful to Nārada's words, immediately released my mother. Because of my being a devotee of the Lord, all the demigods circumambulated her. Then they returned to their celestial kingdom.

12Prahlāda Mahārāja continued: The great saint Nārada Muni brought my mother to his āśrama and assured her of all protection, saying, "My dear child, please remain at my āśrama until the arrival of your husband."

13After accepting the instructions of Devarṣi Nārada, my mother stayed in his care, without fear from any direction, as long as my father, the King of the Daityas, had not become free from his severe austerities.

14My mother, being pregnant, desired the safety of her embryo and desired to give birth after her husband's arrival. Thus she stayed at Nārada Muni's āśrama, where she rendered service unto Nārada Muni with great devotion.

15Nārada Muni delivered his instructions both to me, who was within the womb, and to my mother, who was engaged in rendering him service. Because he is naturally extremely kind to the fallen souls, being in a transcendental position, he gave instructions on religion and transcendental knowledge. These instructions were free from all material contamination.

16Because of the long duration of time that has passed and because of her being a woman and therefore less intelligent, my mother has forgotten all those instructions; but the great sage Nārada blessed me, and therefore I could not forget them.

17Prahlāda Mahārāja continued: My dear friends, if you can place your faith in my words, simply by that faith you can also understand transcendental knowledge, just like me, although you are small children. Similarly, a woman can also understand transcendental knowledge and know what is spirit and what is matter.

18Just as the fruits and flowers of a tree in due course of time undergo six changesbirth, existence, growth, transformation, dwindling and then deaththe material body, which is obtained by the spirit soul under different circumstances, undergoes similar changes. However, there are no such changes for the spirit soul.

19-20"Ātmā" refers to the Supreme Lord or the living entities. Both of them are spiritual, free from birth and death, free from deterioration and free from material contamination. They are individual, they are the knowers of the external body, and they are the foundation or shelter of everything. They are free from material change, they are self-illuminated, they are the cause of all causes, and they are all-pervading. They have nothing to do with the material body, and therefore they are always uncovered. With these transcendental qualities, one who is actually learned must give up the illusory conception of life, in which one thinks, "I am this material

body, and everything in relationship with this body is mine."

21An expert geologist can understand where there is gold and by various processes can extract it from the gold ore. Similarly, a spiritually advanced person can understand how the spiritual particle exists within the body, and thus by cultivating spiritual knowledge he can attain perfection in spiritual life. However, as one who is not expert cannot understand where there is gold, a foolish person who has not cultivated spiritual knowledge cannot understand how the spirit exists within the body.

22The Lord's eight separated material energies, the three modes of material nature and the sixteen transformations [the eleven senses and the five gross material elements like earth and water]within all these, the one spiritual soul exists as the observer. Therefore all the great ācāryas have concluded that the individual soul is conditioned by these material elements.

23There are two kinds of bodies for every individual soula gross body made of five gross elements and a subtle body made of three subtle elements. Within these bodies, however, is the spirit soul. One must find the soul by analysis, saying, "This is not it. This is not it." Thus one must separate spirit from matter.

24Sober and expert persons should search for the spirit soul with minds purified through analytical study in terms of the soul's connection with and distinction from all things that undergo creation, maintenance and destruction.

25Intelligence can be perceived in three states of activitywakefulness, dreaming and deep sleep. The person who perceives these three is to be considered the original master, the ruler, the Supreme Personality of Godhead.

26As one can understand the presence of the air by the aromas it carries, so, under the guidance of the Supreme Personality of Godhead, one can understand the living soul by these three divisions of intelligence. These three divisions, however, are not the soul; they are constituted of the three modes and are born of activities.

27Through polluted intelligence one is subjected to the modes of nature, and thus one is conditioned by material existence. Like a dreaming state in which one falsely suffers, material existence, which is due to ignorance, must be considered unwanted and temporary.

28Therefore, my dear friends, O sons of the demons, your duty is to take to Kṛṣṇa consciousness, which can burn the seed of fruitive activities artificially created by the modes of material nature and stop the flow of the intelligence in wakefulness, dreaming and deep sleep. In other words, when one takes to Kṛṣṇa consciousness, his ignorance is immediately dissipated.

29Of the different processes recommended for disentanglement from material life, the one personally explained and accepted by the Supreme Personality of Godhead should be considered all-perfect. That process is the performance of duties by which love for the Supreme Lord develops.

30-31One must accept the bona fide spiritual master and render service unto him with great devotion and faith. Whatever one has in one's possession should be offered to the spiritual master, and in the association of saintly persons and devotees one should worship the Lord, hear the glories of the Lord with faith, glorify the transcendental qualities and activities of the Lord, always meditate on the Lord's lotus feet, and worship the Deity of the Lord strictly according to the injunctions of the śāstra and guru.

32One should always remember the Supreme Personality of Godhead in His localized

representation as the Paramātmā, who is situated in the core of every living entity's heart. Thus one should offer respect to every living entity according to that living entity's position or manifestation.

33By these activities [as mentioned above] one is able to cut down the influence of the enemies, namely lust, anger, greed, illusion, madness and jealousy, and when thus situated, one can render service to the Lord. In this way one surely attains the platform of loving service to the Supreme Personality of Godhead.

34One who is situated in devotional service is certainly the controller of his senses, and thus he is a liberated person. When such a liberated person, the pure devotee, hears of the transcendental qualities and activities of the Lord's incarnations for the performance of various pastimes, his hair stands on end on his body, tears fall from his eyes, and in his spiritual realization his voice falters. Sometimes he very openly dances, sometimes he sings loudly, and sometimes he cries. Thus he expresses his transcendental jubilation.

35When a devotee becomes like a person haunted by a ghost, he laughs and very loudly chants about the qualities of the Lord. Sometimes he sits to perform meditation, and he offers respects to every living entity, considering him a devotee of the Lord. Constantly breathing very heavily, he becomes careless of social etiquette and loudly chants like a madman, "Hare Kṛṣṇa, Hare Kṛṣṇa! O my Lord, O master of the universe!"

36The devotee is then freed from all material contamination because he constantly thinks of the Lord's pastimes and because his mind and body have been converted to spiritual qualities. Because of his intense devotional service, his ignorance, material consciousness and all kinds of material desires are completely burnt to ashes. This is the stage at which one can achieve the shelter of the Lord's lotus feet.

37The real problem of life is the repetition of birth and death, which is like a wheel rolling repeatedly up and down. This wheel, however, completely stops when one is in touch with the Supreme Personality of Godhead. In other words, by the transcendental bliss realized from constant engagement in devotional service, one is completely liberated from material existence. All learned men know this. Therefore, my dear friends, O sons of the asuras, immediately begin meditating upon and worshiping the Supersoul within everyone's heart.

38O my friends, sons of the asuras, the Supreme Personality of Godhead in His Supersoul feature always exists within the cores of the hearts of all living entities. Indeed, He is the well-wisher and friend of all living entities, and there is no difficulty in worshiping the Lord. Why, then, should people not engage in His devotional service? Why are they so addicted to unnecessarily producing artificial paraphernalia for sense gratification?

39One's riches, beautiful wife and female friends, one's sons and daughters, one's residence, one's domestic animals like cows, elephants and horses, one's treasury, economic development and sense gratificationindeed, even the lifetime in which one can enjoy all these material opulencesare certainly temporary and flickering. Since the opportunity of human life is temporary, what benefit can these material opulences give to a sensible man who has understood himself to be eternal?

40It is learned from Vedic literature that by performing great sacrifices one may elevate himself to the heavenly planets. However, although life on the heavenly planets is hundreds and thousands of times more comfortable than life on earth, the heavenly planets are not pure [nirmalam], or free from the taint of material existence. The heavenly planets are also temporary, and therefore they are not the goal of life. The Supreme Personality of Godhead, however, has never been seen or heard to possess inebriety. Consequently, for your own

benefit and self-realization, you must worship the Lord with great devotion, as described in the revealed scriptures.

41A materialistic person, thinking himself very advanced in intelligence, continually acts for economic development. But again and again, as enunciated in the Vedas, he is frustrated by material activities, either in this life or in the next. Indeed, the results one obtains are inevitably the opposite of those one desires.

42In this material world, every materialist desires to achieve happiness and diminish his distress, and therefore he acts accordingly. Actually, however, one is happy as long as one does not endeavor for happiness; as soon as one begins his activities for happiness, his conditions of distress begin.

43A living entity desires comfort for his body and makes many plans for this purpose, but actually the body is the property of others. Indeed, the perishable body embraces the living entity and then leaves him aside.

44Since the body itself is ultimately meant to become stool or earth, what is the meaning of the paraphernalia related to the body, such as wives, residences, wealth, children, relatives, servants, friends, kingdoms, treasuries, animals and ministers? They are also temporary. What more can be said about this?

45All this paraphernalia is very near and dear as long as the body exists, but as soon as the body is destroyed, all things related to the body are also finished. Therefore, actually one has nothing to do with them, but because of ignorance one accepts them as valuable. Compared to the ocean of eternal happiness, they are most insignificant. What is the use of such insignificant relationships for the eternal living being?

46My dear friends, O sons of the asuras, the living entity receives different types of bodies according to his previous fruitive activities. Thus he is seen to suffer with reference to his particular body in all conditions of life, beginning with his infusion into the womb. Please tell me, therefore, after full consideration, what is the living entity's actual interest in fruitive activities, which result in hardship and misery?

47The living entity, who has received his present body because of his past fruitive activity, may end the results of his actions in this life, but this does not mean that he is liberated from bondage to material bodies. The living entity receives one type of body, and by performing actions with that body he creates another. Thus he transmigrates from one body to another, through repeated birth and death, because of his gross ignorance.

48The four principles of advancement in spiritual lifedharma, artha, kāma and mokṣaall depend on the disposition of the Supreme Personality of Godhead. Therefore, my dear friends, follow in the footsteps of devotees. Without desire, fully depend upon the disposition of the Supreme Lord, worship Him, the Supersoul, in devotional service.

49The Supreme Personality of Godhead, Hari, is the soul and the Supersoul of all living entities. Every living entity is a manifestation of His energy in terms of the living soul and the material body. Therefore the Lord is the most dear, and He is the supreme controller.

50If a demigod, demon, human being, Yakṣa, Gandharva or anyone within this universe renders service to the lotus feet of Mukunda, who can deliver liberation, he is actually situated in the most auspicious condition of life, exactly like us [the mahājanas, headed by Prahlāda Mahārāja].

51-52My dear friends, O sons of the demons, you cannot please the Supreme Personality of

Godhead by becoming perfect brāhmaṇas, demigods or great saints or by becoming perfectly good in etiquette or vast learning. None of these qualifications can awaken the pleasure of the Lord. Nor by charity, austerity, sacrifice, cleanliness or vows can one satisfy the Lord. The Lord is pleased only if one has unflinching, unalloyed devotion to Him. Without sincere devotional service, everything is simply a show.

53My dear friends, O sons of the demons, in the same favorable way that one sees himself and takes care of himself, take to devotional service to satisfy the Supreme Personality of Godhead, who is present everywhere as the Supersoul of all living entities.

54O my friends, O sons of demons, everyone, including you (the Yakṣas and Rākṣasas), the unintelligent women, śūdras and cowherd men, the birds, the lower animals and the sinful living entities, can revive his original, eternal spiritual life and exist forever simply by accepting the principles of bhakti-yoga.

55In this material world, to render service to the lotus feet of Govinda, the cause of all causes, and to see Him everywhere, is the only goal of life. This much alone is the ultimate goal of human life, as explained by all the revealed scriptures.

**SB 7.8: Lord Nṛsiṁhadeva Slays the King of the Demons**

As described in this chapter, Hiraṇyakaśipu was ready to kill his own son Prahlāda Mahārāja, but the Supreme Personality of Godhead appeared in front of the demon as Śrī Nṛkeśarī, half lion and half man, and killed him.

Following the instructions of Prahlāda Mahārāja, all the sons of the demons became attached to Lord Viṣṇu, the Supreme Personality of Godhead. When this attachment became pronounced, their teachers, Ṣaṇḍa and Amarka, were very much afraid that the boys would become more and more devoted to the Lord. In a helpless condition, they approached Hiraṇyakaśipu and described in detail the effect of Prahlāda's preaching. After hearing of this, Hiraṇyakaśipu decided to kill his son Prahlāda. Hiraṇyakaśipu was so angry that Prahlāda Mahārāja fell down at his feet and said many things just to pacify him, but he was unsuccessful in satisfying his demoniac father. Hiraṇyakaśipu, as a typical demon, began to advertise himself as being greater than the Supreme Personality of Godhead, but Prahlāda Mahārāja challenged him, saying that Hiraṇyakaśipu was not God, and began to glorify the Supreme Personality of Godhead, declaring that the Lord is all-pervading, that everything is under Him, and that no one is equal to or greater than Him. Thus he requested his father to be submissive to the omnipotent Supreme Lord.

The more Prahlāda Mahārāja glorified the Supreme Personality of Godhead, the more angry and agitated the demon became. Hiraṇyakaśipu asked his Vaiṣṇava son whether his God existed within the columns of the palace, and Prahlāda Mahārāja immediately accepted that since the Lord is present everywhere, He was also present within the columns. When Hiraṇyakaśipu heard this philosophy from his young son, he derided the boy's statement as just the talk of a child and forcefully struck the pillar with his fist.

As soon as Hiraṇyakaśipu struck the column, there issued forth a tumultuous sound. At first Hiraṇyakaśipu, the King of the demons, could not see anything but the pillar, but to substantiate Prahlāda's statements, the Lord came out of the pillar in His wonderful incarnation as Narasiṁha, half lion and half man. Hiraṇyakaśipu could immediately understand that the extraordinarily wonderful form of the Lord was surely meant for his death, and thus he prepared to fight with the form of half lion and half man. The Lord performed His pastimes by fighting with the demon for some time, and in the evening, on the border between day and

night, the Lord captured the demon, threw him on His lap, and killed him by piercing his abdomen with His nails. The Lord not only killed Hiraṇyakaśipu, the King of the demons, but also killed many of his followers. When there was no one else to fight, the Lord, roaring with anger, sat down on Hiraṇyakaśipu's throne.

The entire universe was thus relieved of the rule of Hiraṇyakaśipu, and everyone was jubilant in transcendental bliss. Then all the demigods, headed by Lord Brahmā, approached the Lord. These included the great saintly persons, the Pitās, the Siddhas, the Vidyādharas, the Nāgas, the Manus, the *prajāpatis,* the Gandharvas, the Cāraṇas, the Yakṣas, the Kimpuruṣas, the Vaitālikas, the Kinnaras and also many other varieties of beings in human form. All of them stood not far from the Supreme Personality of Godhead and began offering their prayers unto the Lord, whose spiritual effulgence was brilliant as He sat on the throne.

1Nārada Muni continued: All the sons of the demons appreciated the transcendental instructions of Prahlāda Mahārāja and took them very seriously. They rejected the materialistic instructions given by their teachers, Ṣaṇḍa and Amarka.

2When Ṣaṇḍa and Amarka, the sons of Śukrācārya, observed that all the students, the sons of the demons, were becoming advanced in Kṛṣṇa consciousness because of the association of Prahlāda Mahārāja, they were afraid. They approached the King of the demons and described the situation as it was.

3-4When Hiraṇyakaśipu understood the entire situation, he was extremely angry, so much so that his body trembled. Thus he finally decided to kill his son Prahlāda. Hiraṇyakaśipu was by nature very cruel, and feeling insulted, he began hissing like a snake trampled upon by someone's foot. His son Prahlāda was peaceful, mild and gentle, his senses were under control, and he stood before Hiraṇyakaśipu with folded hands. According to Prahlāda's age and behavior, he was not to be chastised. Yet with staring, crooked eyes, Hiraṇyakaśipu rebuked him with the following harsh words.

5Hiraṇyakaśipu said: O most impudent, most unintelligent disruptor of the family, O lowest of mankind, you have violated my power to rule you, and therefore you are an obstinate fool. Today I shall send you to the place of Yamarāja.

6My son Prahlāda, you rascal, you know that when I am angry all the planets of the three worlds tremble, along with their chief rulers. By whose power has a rascal like you become so impudent that you appear fearless and overstep my power to rule you?

7Prahlāda Mahārāja said: My dear King, the source of my strength, of which you are asking, is also the source of yours. Indeed, the original source of all kinds of strength is one. He is not only your strength or mine, but the only strength for everyone. Without Him, no one can get any strength. Whether moving or not moving, superior or inferior, everyone, including Lord Brahmā, is controlled by the strength of the Supreme Personality of Godhead.

8The Supreme Personality of Godhead, who is the supreme controller and time factor, is the power of the senses, the power of the mind, the power of the body, and the vital force of the senses. His influence is unlimited. He is the best of all living entities, the controller of the three modes of material nature. By His own power, He creates this cosmic manifestation, maintains it and annihilates it also.

9Prahlāda Mahārāja continued: My dear father, please give up your demoniac mentality. Do not discriminate in your heart between enemies and friends; make your mind equipoised toward everyone. Except for the uncontrolled and misguided mind, there is no enemy within this

world. When one sees everyone on the platform of equality, one then comes to the position of worshiping the Lord perfectly.

10In former times there were many fools like you who did not conquer the six enemies that steal away the wealth of the body. These fools were very proud, thinking, "I have conquered all enemies in all the ten directions." But if a person is victorious over the six enemies and is equipoised toward all living entities, for him there are no enemies. Enemies are merely imagined by one in ignorance.

11Hiraṇyakaśipu replied: You rascal, you are trying to minimize my value, as if you were better than me at controlling the senses. This is over-intelligent. I can therefore understand that you desire to die at my hands, for this kind of nonsensical talk is indulged in by those about to die.

12O most unfortunate Prahlāda, you have always described a supreme being other than me, a supreme being who is above everything, who is the controller of everyone, and who is all-pervading. But where is He? If He is everywhere, then why is He not present before me in this pillar?

13Because you are speaking so much nonsense, I shall now sever your head from your body. Now let me see your most worshipable God come to protect you. I want to see it.

14Being obsessed with anger, Hiraṇyakaśipu, who was very great in bodily strength, thus chastised his exalted devotee-son Prahlāda with harsh words. Cursing him again and again, Hiraṇyakaśipu took up his sword, got up from his royal throne, and with great anger struck his fist against the column.

15Then from within the pillar came a fearful sound, which appeared to crack the covering of the universe. O my dear Yudhiṣṭhira, this sound reached even the abodes of the demigods like Lord Brahmā, and when the demigods heard it, they thought, "Oh, now our planets are being destroyed!"

16While showing his extraordinary prowess, Hiraṇyakaśipu, who desired to kill his own son, heard that wonderful, tumultuous sound, which had never before been heard. Upon hearing the sound, the other leaders of the demons were afraid. None of them could find the origin of that sound in the assembly.

17To prove that the statement of His servant Prahlāda Mahārāja was substantialin other words, to prove that the Supreme Lord is present everywhere, even within the pillar of an assembly hallthe Supreme Personality of Godhead, Hari, exhibited a wonderful form never before seen. The form was neither that of a man nor that of a lion. Thus the Lord appeared in His wonderful form in the assembly hall.

18While Hiraṇyakaśipu looked all around to find the source of the sound, that wonderful form of the Lord, which could not be ascertained to be either a man or a lion, emerged from the pillar. In amazement, Hiraṇyakaśipu wondered, "What is this creature that is half man and half lion?"

19-22Hiraṇyakaśipu studied the form of the Lord, trying to decide who the form of Nṛsiṁhadeva standing before him was. The Lord's form was extremely fearsome because of His angry eyes, which resembled molten gold; His shining mane, which expanded the dimensions of His fearful face; His deadly teeth; and His razor-sharp tongue, which moved about like a dueling sword. His ears were erect and motionless, and His nostrils and gaping mouth appeared like caves of a mountain. His jaws parted fearfully, and His entire body touched the sky. His neck was very short and thick, His chest broad, His waist thin, and the hairs on His

body as white as the rays of the moon. His arms, which resembled flanks of soldiers, spread in all directions as He killed the demons, rogues and atheists with His conchshell, disc, club, lotus and other natural weapons.

23Hiraṇyakaśipu murmured to himself, "Lord Viṣṇu, who possesses great mystic power, has made this plan to kill me, but what is the use of such an attempt? Who can fight with me?" Thinking like this and taking up his club, Hiraṇyakaśipu attacked the Lord like an elephant.

24Just as a small insect falls forcefully into a fire and the insignificant creature becomes invisible, when Hiraṇyakaśipu attacked the Lord, who was full of effulgence, Hiraṇyakaśipu became invisible. This is not at all astonishing, for the Lord is always situated in pure goodness. Formerly, during creation, He entered the dark universe and illuminated it by His spiritual effulgence.

25Thereafter, the great demon Hiraṇyakaśipu, who was extremely angry, swiftly attacked Nṛsiṁhadeva with his club and began to beat Him. Lord Nṛsiṁhadeva, however, captured the great demon, along with his club, just as Garuḍa might capture a great snake.

26O Yudhiṣṭhira, O great son of Bharata, when Lord Nṛsiṁhadeva gave Hiraṇyakaśipu a chance to slip from His hand, just as Garuḍa sometimes plays with a snake and lets it slip from his mouth, the demigods, who had lost their abodes and who were hiding behind the clouds for fear of the demon, did not consider that incident very good. Indeed, they were perturbed.

27When Hiraṇyakaśipu was freed from the hands of Nṛsiṁhadeva, he falsely thought that the Lord was afraid of his prowess. Therefore, after taking a little rest from the fight, he took up his sword and shield and again attacked the Lord with great force.

28Making a loud, shrill sound of laughter, the Supreme Personality of Godhead, Nārāyaṇa, who is extremely strong and powerful, captured Hiraṇyakaśipu, who was protecting himself with his sword and shield, leaving no gaps open. With the speed of a hawk, Hiraṇyakaśipu moved sometimes in the sky and sometimes on the earth, his eyes closed because of fear of Nṛsiṁhadeva's laughter.

29As a snake captures a mouse or Garuḍa captures a very venomous snake, Lord Nṛsiṁhadeva captured Hiraṇyakaśipu, who could not be pierced even by the thunderbolt of King Indra. As Hiraṇyakaśipu moved his limbs here, there and all around, very much afflicted at being captured, Lord Nṛsiṁhadeva placed the demon on His lap, supporting him with His thighs, and in the doorway of the assembly hall the Lord very easily tore the demon to pieces with the nails of His hand.

30Lord Nṛsiṁhadeva's mouth and mane were sprinkled with drops of blood, and His fierce eyes, full of anger, were impossible to look at. Licking the edge of His mouth with His tongue, the Supreme Personality of Godhead, Nṛsiṁhadeva, decorated with a garland of intestines taken from Hiraṇyakaśipu's abdomen, resembled a lion that has just killed an elephant.

31The Supreme Personality of Godhead, who had many, many arms, first uprooted Hiraṇyakaśipu's heart and then threw him aside and turned toward the demon's soldiers. These soldiers had come in thousands to fight with Him with raised weapons and were very faithful followers of Hiraṇyakaśipu, but Lord Nṛsiṁhadeva killed all of them merely with the ends of His nails.

32The hair on Nṛsiṁhadeva's head shook the clouds and scattered them here and there, His glaring eyes stole the effulgence of the luminaries in the sky, and His breathing agitated the

seas and oceans. Because of His roaring, all the elephants in the world began to cry in fear.

33Airplanes were thrown into outer space and the upper planetary system by the hair on Nṛsiṁhadeva's head. Because of the pressure of the Lord's lotus feet, the earth appeared to slip from its position, and all the hills and mountains sprang up due to His intolerable force. Because of the Lord's bodily effulgence, both the sky and all directions diminished in their natural illumination.

34Manifesting a full effulgence and a fearsome countenance, Lord Nṛsiṁha, being very angry and finding no contestant to face His power and opulence, then sat down in the assembly hall on the excellent throne of the king. Because of fear and obedience, no one could come forward to serve the Lord directly.

35Hiraṇyakaśipu had been exactly like a fever of meningitis in the head of the three worlds. Thus when the wives of the demigods in the heavenly planets saw that the great demon had been killed by the personal hands of the Supreme Personality of Godhead, their faces blossomed in great joy. The wives of the demigods again and again showered flowers from heaven upon Lord Nṛsiṁhadeva like rain.

36At that time, the airplanes of the demigods, who desired to see the activities of the Supreme Lord, Nārāyaṇa, crowded the sky. The demigods began beating drums and kettledrums, and upon hearing them the angelic women began to dance, while the chiefs of the Gandharvas sang sweetly.

37-39My dear King Yudhiṣṭhira, the demigods then approached the Lord. They were headed by Lord Brahmā, King Indra and Lord Śiva and included great saintly persons and the residents of Pitṛloka, Siddhaloka, Vidyādhara-loka and the planet of the snakes. The Manus approached, and so did the chiefs of various other planets. The angelic dancers approached, as did the Gandharvas, the Cāraṇas, the Yakṣas, the inhabitants of Kinnaraloka, the Vetālas, the inhabitants of Kimpuruṣa-loka, and the personal servants of Viṣṇu like Sunanda and Kumuda. All of them came near the Lord, who glowed with intense light. They individually offered their obeisances and prayers, their hands folded at their heads.

40Lord Brahmā prayed: My Lord, You are unlimited, and You possess unending potencies. No one can estimate or calculate Your prowess and wonderful influence, for Your actions are never polluted by the material energy. Through the material qualities, You very easily create the universe, maintain it and again annihilate it, yet You remain the same, without deterioration. I therefore offer my respectful obeisances unto You.

41Lord Śiva said: The end of the millennium is the time for Your anger. Now that this insignificant demon Hiraṇyakaśipu has been killed, O my Lord, who are naturally affectionate to Your devotee, kindly protect his son Prahlāda Mahārāja, who is standing nearby as Your fully surrendered devotee.

42King Indra said: O Supreme Lord, You are our deliverer and protector. Our shares of sacrifices, which are actually Yours, have been recovered from the demon by You. Because the demoniac king Hiraṇyakaśipu was most fearsome, our hearts, which are Your permanent abode, were all overtaken by him. Now, by Your presence, the gloom and darkness in our hearts have been dissipated. O Lord, for those who always engage in Your service, which is more exalted than liberation, all material opulence is insignificant. They do not even care for liberation, not to speak of the benefits of kāma, artha and dharma.

43All the saintly persons present offered their prayers in this way: O Lord, O supreme

maintainer of those sheltered at Your lotus feet, O original Personality of Godhead, the process of austerity and penance, in which You instructed us before, is the spiritual power of Your very self. It is by austerity that You create the material world, which lies dormant within You. This austerity was almost stopped by the activities of this demon, but now, by Yourself appearing in the form of Nṛsiṁhadeva, which is meant just to give us protection, and by killing this demon, You have again approved the process of austerity.

44The inhabitants of Pitṛloka prayed: Let us offer our respectful obeisances unto Lord Nṛsiṁhadeva, the maintainer of the religious principles of the universe. He has killed Hiraṇyakaśipu, the demon who by force enjoyed all the offerings of the śrāddha ceremonies performed by our sons and grandsons on the anniversaries of our death and who drank the water with sesame seeds offered in holy places of pilgrimage. By killing this demon, O Lord, You have taken back all this stolen property from his abdomen by piercing it with Your nails. We therefore wish to offer our respectful obeisances unto You.

45The inhabitants of Siddhaloka prayed: O Lord Nṛsiṁhadeva, because we belong to Siddhaloka, we automatically achieve perfection in all eight kinds of mystic power. Yet Hiraṇyakaśipu was so dishonest that by the strength of his power and austerity, he took away our powers. Thus he became very proud of his mystic strength. Now, because this rogue has been killed by Your nails, we offer our respectful obeisances unto You.

46The inhabitants of Vidyādhara-loka prayed: Our acquired power to appear and disappear in various ways according to varieties of meditation was banned by that foolish Hiraṇyakaśipu because of his pride in his superior bodily strength and his ability to conquer others. Now the Supreme Personality of Godhead has killed him just as if the demon were an animal. Unto that supreme pastime form of Lord Nṛsiṁhadeva, we eternally offer our respectful obeisances.

47The inhabitants of Nāgaloka said: The most sinful Hiraṇyakaśipu took away all the jewels on our hoods and all our beautiful wives. Now, since his chest has been pierced by Your nails, You are the source of all pleasure to our wives. Thus we together offer our respectful obeisances unto You.

48All the Manus offered their prayers as follows: As Your order carriers, O Lord, we, the Manus, are the law-givers for human society, but because of the temporary supremacy of this great demon, Hiraṇyakaśipu, our laws for maintaining varṇāśrama-dharma were destroyed. O Lord, now that You have killed this great demon, we are in our normal condition. Kindly order us, Your eternal servants, what to do now.

49The prajāpatis offered their prayers as follows: O Supreme Lord, Lord of even Brahmā and Śiva, we, the prajāpatis, were created by You to execute Your orders, but we were forbidden by Hiraṇyakaśipu to create any more good progeny. Now the demon is lying dead before us, his chest pierced by You. Let us therefore offer our respectful obeisances unto You, whose incarnation in this form of pure goodness is meant for the welfare of the entire universe.

50The inhabitants of Gandharvaloka prayed: Your Lordship, we ever engage in Your service by dancing and singing in dramatic performances, but this Hiraṇyakaśipu, by the influence of his bodily strength and valor, brought us under his subjugation. Now he has been brought to this low condition by Your Lordship. What benefit can result from the activities of such an upstart as Hiraṇyakaśipu?

51The inhabitants of the Cāraṇa planet said: O Lord, because You have destroyed the demon Hiraṇyakaśipu, who was always a stake in the hearts of all honest men, we are now relieved, and we eternally take shelter of Your lotus feet, which award the conditioned soul liberation

from materialistic contamination.

52The inhabitants of Yakṣaloka prayed: O controller of the twenty-four elements, we are considered the best servants of Your Lordship because of rendering services pleasing to You, yet we engaged as palanquin carriers by the order of Hiraṇyakaśipu, the son of Diti. O Lord in the form of Nṛsiṁhadeva, You know how this demon gave trouble to everyone, but now You have killed him, and his body is mixing with the five material elements.

53The inhabitants of Kimpuruṣa-loka said: We are insignificant living entities, and You are the Supreme Personality of Godhead, the supreme controller. Therefore how can we offer suitable prayers unto You? When this demon was condemned by devotees because they were disgusted with him, he was then killed by You.

54The inhabitants of Vaitālika-loka said: Dear Lord, because of chanting Your spotless glories in great assemblies and arenas of sacrifice, we were accustomed to great respect from everyone. This demon, however, usurped that position. Now, to our great fortune, You have killed this great demon, exactly as one cures a chronic disease.

55The Kinnaras said: O supreme controller, we are ever-existing servants of Your Lordship, but instead of rendering service to You, we were engaged by this demon in his service, constantly and without remuneration. This sinful man has now been killed by You. Therefore, O Lord Nṛsiṁhadeva, our master, we offer our respectful obeisances unto You. Please continue to be our patron.

56The associates of Lord Viṣṇu in Vaikuṇṭha offered this prayer: O Lord, our supreme giver of shelter, today we have seen Your wonderful form as Lord Nṛsiṁhadeva, meant for the good fortune of all the world. O Lord, we can understand that Hiraṇyakaśipu was the same Jaya who engaged in Your service but was cursed by brāhmaṇas and who thus received the body of a demon. We understand that his having now been killed is Your special mercy upon him.

**SB 7.9: Prahlāda Pacifies Lord Nṛsiṁhadeva with Prayers**

As related in this chapter, Prahlāda Mahārāja, following the order of Lord Brahmā, pacified the Lord when the Lord was extremely angry after having killed Hiraṇyakaśipu.

After Hiraṇyakaśipu was killed, the Lord continued to be very angry, and the demigods, headed by Lord Brahmā, could not pacify Him. Even mother Lakṣmī, the goddess of fortune, the constant companion of Nārāyaṇa, could not dare come before Lord Nṛsiṁhadeva. Then Lord Brahmā asked Prahlāda Mahārāja to go forward and pacify the Lord's anger. Prahlāda Mahārāja, being confident of the affection of his master, Lord Nṛsiṁhadeva, was not afraid at all. He very gravely appeared before the Lord's lotus feet and offered Him respectful obeisances. Lord Nṛsiṁhadeva, being very much affectionate toward Prahlāda Mahārāja, put His hand on Prahlāda's head, and because of being personally touched by the Lord, Prahlāda Mahārāja immediately achieved *brahma-Jnana,* spiritual knowledge. Thus he offered his prayers to the Lord in full spiritual knowledge and full devotional ecstasy. The instructions given by Prahlāda Mahārāja in the form of his prayers are as follows.

Prahlāda said, "I am not proud of being able to offer prayers to the Supreme Personality of Godhead. I simply take shelter of the mercy of the Lord, for without devotion one cannot appease Him. One cannot please the Supreme Personality of Godhead simply by dint of high parentage or great opulence, learning, austerity, penance or mystic power. Indeed, these are never pleasing to the Supreme Lord, for nothing can please Him but pure devotional service. Even if a nondevotee is a *brāhmaṇa* qualified with the twelve brahminical symptoms, he

cannot be very dear to the Lord, whereas if a person born in a family of dog-eaters is a devotee, the Lord can accept his prayers. The Lord does not need anyone's prayers, but if a devotee offers his prayers to the Lord, the devotee benefits greatly. Ignorant persons born in low families, therefore, can sincerely offer heartfelt prayers to the Lord, and the Lord will accept them. As soon as one offers his prayers to the Lord, he is immediately situated on the Brahman platform."

Lord Nṛsiṁhadeva appeared for the benefit of all human society, not only for Prahlāda's personal benefit. The fierce form of Lord Nṛsiṁhadeva may appear most awful to a nondevotee, but to the devotee the Lord is always affectionate as He is in other forms. Conditioned life in the material world is actually extremely fearful; indeed, a devotee is not afraid of anything else. Fear of material existence is due to false ego. Therefore the ultimate goal of life for every living entity is to attain the position of being servant of the servant of the Lord. The miserable condition of the living entities in the material world can be remedied only by the mercy of the Lord. Although there are so-called material protectors like Lord Brahmā and the other demigods, or even one's own father, they are unable to do anything if one is neglected by the Supreme Personality of Godhead. However, one who has fully taken shelter of the Lord's lotus feet can be saved from the onslaught of material nature. Therefore every living entity should be unattracted by material so-called happiness and should take shelter of the Lord by all means. That is the mission of human life. To be attracted by sense gratification is simply foolish. Whether one is a devotee of the Lord or is a nondevotee does not depend upon one's birth in a high or low family. Even Lord Brahmā and the goddess of fortune cannot achieve the full favor of the Lord, whereas a devotee can very easily attain such devotional service. The Lord's mercy is bestowed equally upon everyone, regardless of whether one is high or low. Because Prahlāda Mahārāja was blessed by Nārada Muni, Prahlāda became a great devotee. The Lord always saves the devotee from impersonalists and voidists. The Lord is present in everyone's heart as the Supersoul to give the living being protection and all benefits. Thus the Lord acts sometimes as the killer and sometimes as the protector. One should not accuse the Lord for any discrepancies. It is His plan that we see varieties of life within this material world. All of them are ultimately His mercy.

Although the entire cosmic manifestation is nondifferent, the material world is nonetheless different from the spiritual world. Only by the mercy of the Supreme Lord can one understand how the wonderful material nature acts. For example, although Lord Brahmā appeared from the lotus seat that had grown from the abdomen of Garbhodakaśāyī Viṣṇu, he could not understand what to do after his appearance. He was attacked by two demons, Madhu and Kaiṭabha, who took away Vedic knowledge, but the Lord killed them and entrusted to Lord Brahmā the Vedic knowledge. Thus the Lord appears in every millennium in the societies of demigods, human beings, animals, saints and aquatics. All such incarnations are meant to protect the devotees and kill the demons, but this killing and protecting does not reflect any sense of partiality on the part of the Supreme Lord. The conditioned soul is always attracted by the external energy. Therefore he is subjected to lust and greed, and he suffers under the conditions of material nature. The Lord's causeless mercy toward His devotee is the only means by which to get out of material existence. Anyone engaged in glorifying the Lord's activities is always unafraid of this material world, whereas one who cannot glorify the Lord in that way is subjected to all lamentation.

Those interested in silently worshiping the Lord in solitary places may be eligible for liberation themselves, but a pure devotee is always aggrieved to see others suffering. Therefore, not caring for his own liberation, he always engages in preaching by glorifying the Lord. Prahlāda Mahārāja, therefore, had tried to deliver his class friends by preaching and had never remained silent. Although being silent, observing austerities and penances, learning the Vedic literature,

undergoing ritualistic ceremonies, living in a solitary place and performing *japa* and transcendental meditation are approved means of liberation, they are meant for nondevotees or for cheaters who want to live at the expense of others. A pure devotee, however, being freed from all such deceptive activities, is able to see the Lord face to face.

The atomic theory of the composition of the cosmic manifestation is not factual. The Lord is the cause of everything, and therefore He is the cause of this creation. One should therefore always engage in devotional service by offering respectful obeisances to the Lord, offering prayers, working for the Lord, worshiping the Lord in the temple, always remembering the Lord and always hearing about His transcendental activities. Without these six kinds of activity, one cannot attain to devotional service.

Prahlāda Mahārāja thus offered his prayers to the Supreme Lord, begging His mercy at every step. Lord Nṛsiṁhadeva was pacified by Prahlāda Mahārāja's prayers and wanted to give him benedictions by which Prahlāda could procure all kinds of material facilities. Prahlāda Mahārāja, however, was not misled by material facilities. Rather, he wanted to remain always a servant of the servant of the Lord.

1The great saint Nārada Muni continued: The demigods, headed by Lord Brahmā, Lord Śiva and other great demigods, dared not come forward before the Lord, who at that time was extremely angry.

2The goddess of fortune, Lakṣmījī, was requested to go before the Lord by all the demigods present, who because of fear could not do so. But even she had never seen such a wonderful and extraordinary form of the Lord, and thus she could not approach Him.

3Thereafter Lord Brahmā requested Prahlāda Mahārāja, who was standing very near him: My dear son, Lord Nṛsiṁhadeva is extremely angry at your demoniac father. Please go forward and appease the Lord.

4Nārada Muni continued: O King, although the exalted devotee Prahlāda Mahārāja was only a little boy, he accepted Lord Brahmā's words. He gradually proceeded toward Lord Nṛsiṁhadeva and fell down to offer his respectful obeisances with folded hands.

5When Lord Nṛsiṁhadeva saw the small boy Prahlāda Mahārāja prostrated at the soles of His lotus feet, He became most ecstatic in affection toward His devotee. Raising Prahlāda, the Lord placed His lotus hand upon the boy's head because His hand is always ready to create fearlessness in all of His devotees.

6By the touch of Lord Nṛsiṁhadeva's hand on Prahlāda Mahārāja's head, Prahlāda was completely freed of all material contaminations and desires, as if he had been thoroughly cleansed. Therefore he at once became transcendentally situated, and all the symptoms of ecstasy became manifest in his body. His heart filled with love, and his eyes with tears, and thus he was able to completely capture the lotus feet of the Lord within the core of his heart.

7Prahlāda Mahārāja fixed his mind and sight upon Lord Nṛsiṁhadeva with full attention in complete trance. With a fixed mind, he began to offer prayers in love with a faltering voice.

8Prahlāda Mahārāja prayed: How is it possible for me, who have been born in a family of asuras, to offer suitable prayers to satisfy the Supreme Personality of Godhead? Even until now, all the demigods, headed by Lord Brahmā, and all the saintly persons, could not satisfy the Lord by streams of excellent words, although such persons are very qualified, being in the mode of goodness. Then what is to be said of me? I am not at all qualified.

9Prahlāda Mahārāja continued: One may possess wealth, an aristocratic family, beauty, austerity, education, sensory expertise, luster, influence, physical strength, diligence, intelligence and mystic yogic power, but I think that even by all these qualifications one cannot satisfy the Supreme Personality of Godhead. However, one can satisfy the Lord simply by devotional service. Gajendra did this, and thus the Lord was satisfied with him.

10If a brāhmaṇa has all twelve of the brahminical qualifications [as they are stated in the book called Sanat-sujāta] but is not a devotee and is averse to the lotus feet of the Lord, he is certainly lower than a devotee who is a dog-eater but who has dedicated everythingmind, words, activities, wealth and lifeto the Supreme Lord. Such a devotee is better than such a brāhmaṇa because the devotee can purify his whole family, whereas the so-called brāhmaṇa in a position of false prestige cannot purify even himself.

11The Supreme Lord, the Supreme Personality of Godhead, is always fully satisfied in Himself. Therefore when something is offered to Him, the offering, by the Lord's mercy, is for the benefit of the devotee, for the Lord does not need service from anyone. To give an example, if one's face is decorated, the reflection of one's face in a mirror is also seen to be decorated.

12Therefore, although I was born in a demoniac family, I may without a doubt offer prayers to the Lord with full endeavor, as far as my intelligence allows. Anyone who has been forced by ignorance to enter the material world may be purified of material life if he offers prayers to the Lord and hears the Lord's glories.

13O my Lord, all the demigods, headed by Lord Brahmā, are sincere servants of Your Lordship, who are situated in a transcendental position. Therefore they are not like us [Prahlāda and his father, the demon Hiraṇyakaśipu]. Your appearance in this fearsome form is Your pastime for Your own pleasure. Such an incarnation is always meant for the protection and improvement of the universe.

14My Lord Nṛsiṁhadeva, please, therefore, cease Your anger now that my father, the great demon Hiraṇyakaśipu, has been killed. Since even saintly persons take pleasure in the killing of a scorpion or a snake, all the worlds have achieved great satisfaction because of the death of this demon. Now they are confident of their happiness, and they will always remember Your auspicious incarnation in order to be free from fear.

15My Lord, who are never conquered by anyone, I am certainly not afraid of Your ferocious mouth and tongue, Your eyes bright like the sun or Your frowning eyebrows. I do not fear Your sharp, pinching teeth, Your garland of intestines, Your mane soaked with blood, or Your high, wedgelike ears. Nor do I fear Your tumultuous roaring, which makes elephants flee to distant places, or Your nails, which are meant to kill Your enemies.

16O most powerful, insurmountable Lord, who are kind to the fallen souls, I have been put into the association of demons as a result of my activities, and therefore I am very much afraid of my condition of life within this material world. When will that moment come when You will call me to the shelter of Your lotus feet, which are the ultimate goal for liberation from conditional life?

17O great one, O Supreme Lord, because of combination with pleasing and displeasing circumstances and because of separation from them, one is placed in a most regrettable position, within heavenly or hellish planets, as if burning in a fire of lamentation. Although there are many remedies by which to get out of miserable life, any such remedies in the material world are more miserable than the miseries themselves. Therefore I think that the only remedy is to engage in Your service. Kindly instruct me in such service.

18O my Lord Nṛsiṁhadeva, by engaging in Your transcendental loving service in the association of devotees who are liberated souls [haṁsas], I shall become completely uncontaminated by the association of the three modes of material nature and be able to chant the glories of Your Lordship, who are so dear to me. I shall chant Your glories, following exactly in the footsteps of Lord Brahmā and his disciplic succession. In this way I shall undoubtedly be able to cross the ocean of nescience.

19My Lord Nṛsiṁhadeva, O Supreme, because of a bodily conception of life, embodied souls neglected and not cared for by You cannot do anything for their betterment. Whatever remedies they accept, although perhaps temporarily beneficial, are certainly impermanent. For example, a father and mother cannot protect their child, a physician and medicine cannot relieve a suffering patient, and a boat on the ocean cannot protect a drowning man.

20My dear Lord, everyone in this material world is under the modes of material nature, being influenced by goodness, passion and ignorance. Everyonefrom the greatest personality, Lord Brahmā, down to the small antworks under the influence of these modes. Therefore everyone in this material world is influenced by Your energy. The cause for which they work, the place where they work, the time when they work, the matter due to which they work, the goal of life they have considered final, and the process for obtaining this goalall are nothing but manifestations of Your energy. Indeed, since the energy and energetic are identical, all of them are but manifestations of You.

21O Lord, O supreme eternal, by expanding Your plenary portion You have created the subtle bodies of the living entities through the agency of Your external energy, which is agitated by time. Thus the mind entraps the living entity in unlimited varieties of desires to be fulfilled by the Vedic directions of karma-kāṇḍa [fruitive activity] and the sixteen elements. Who can get free from this entanglement unless he takes shelter at Your lotus feet?

22My dear Lord, O supreme great, You have created this material world of sixteen constituents, but You are transcendental to their material qualities. In other words, these material qualities are under Your full control, and You are never conquered by them. Therefore the time element is Your representation. My Lord, O Supreme, no one can conquer You. As for me, however, I am being crushed by the wheel of time, and therefore I surrender fully unto You. Now kindly take me under the protection of Your lotus feet.

23My dear Lord, people in general want to be elevated to the higher planetary systems for a long duration of life, opulence and enjoyment, but I have seen all of these through the activities of my father. When my father was angry and he laughed sarcastically at the demigods, they were immediately vanquished simply by seeing the movements of his eyebrows. Yet my father, who was so powerful, has now been vanquished by You within a moment.

24My dear Lord, now I have complete experience concerning the worldly opulence, mystic power, longevity and other material pleasures enjoyed by all living entities, from Lord Brahmā down to the ant. As powerful time, You destroy them all. Therefore, because of my experience, I do not wish to possess them. My dear Lord, I request You to place me in touch with Your pure devotee and let me serve him as a sincere servant.

25In this material world, every living entity desires some future happiness, which is exactly like a mirage in the desert. Where is water in the desert, or, in other words, where is happiness in this material world? As for this body, what is its value? It is merely a source of various diseases. The so-called philosophers, scientists and politicians know this very well, but nonetheless they aspire for temporary happiness. Happiness is very difficult to obtain, but because they are unable to control their senses, they run after the so-called happiness of the material world and

never come to the right conclusion.

26O my Lord, O Supreme, because I was born in a family full of the hellish material qualities of passion and ignorance, what is my position? And what is to be said of Your causeless mercy, which was never offered even to Lord Brahmā, Lord Śiva or the goddess of fortune, Lakṣmī? You never put Your lotus hand upon their heads, but You have put it upon mine.

27Unlike an ordinary living entity, my Lord, You do not discriminate between friends and enemies, the favorable and the unfavorable, because for You there is no conception of higher and lower. Nonetheless, You offer Your benedictions according to the level of one's service, exactly as a desire tree delivers fruits according to one's desires and makes no distinction between the lower and the higher.

28My dear Lord, O Supreme Personality of Godhead, because of my association with material desires, one after another, I was gradually falling into a blind well full of snakes, following the general populace. But Your servant Nārada Muni kindly accepted me as his disciple and instructed me how to achieve this transcendental position. Therefore, my first duty is to serve him. How could I leave his service?

29My Lord, O unlimited reservoir of transcendental qualities, You have killed my father, Hiraṇyakaśipu, and saved me from his sword. He had said very angrily, "If there is any supreme controller other than me, let Him save you. I shall now sever your head from your body." Therefore I think that both in saving me and in killing him, You have acted just to prove true the words of Your devotee. There is no other cause.

30My dear Lord, You alone manifest Yourself as the entire cosmic manifestation, for You existed before the creation, You exist after the annihilation, and You are the maintainer between the beginning and the end. All this is done by Your external energy through actions and reactions of the three modes of material nature. Therefore whatever existsexternally and internallyis You alone.

31My dear Lord, O Supreme Personality of Godhead, the entire cosmic creation is caused by You, and the cosmic manifestation is an effect of Your energy. Although the entire cosmos is but You alone, You keep Yourself aloof from it. The conception of "mine and yours," is certainly a type of illusion [māyā] because everything is an emanation from You and is therefore not different from You. Indeed, the cosmic manifestation is nondifferent from You, and the annihilation is also caused by You. This relationship between Your Lordship and the cosmos is illustrated by the example of the seed and the tree, or the subtle cause and the gross manifestation.

32O my Lord, O Supreme Personality of Godhead, after the annihilation the creative energy is kept in You, who appear to sleep with half-closed eyes. Actually, however, You do not sleep like an ordinary human being, for You are always in a transcendental stage, beyond the creation of the material world, and You always feel transcendental bliss. As Kāraṇodakaśāyī Viṣṇu, You thus remain in Your transcendental status, not touching material objects. Although You appear to sleep, this sleeping is distinct from sleeping in ignorance.

33This cosmic manifestation, the material world, is also Your body. This total lump of matter is agitated by Your potent energy known as kāla-śakti, and thus the three modes of material nature are manifested. You awaken from the bed of Śeṣa, Ananta, and from Your navel a small transcendental seed is generated. It is from this seed that the lotus flower of the gigantic universe is manifested, exactly as a banyan tree grows from a small seed.

34From that great lotus flower, Brahmā was generated, but Brahmā certainly could see nothing

but the lotus. Therefore, thinking You to be outside, Lord Brahmā dove into the water and attempted to find the source of the lotus for one hundred years. He could find no trace of You, however, for when a seed fructifies, the original seed cannot be seen.

35Lord Brahmā, who is celebrated as ātma-yoni, having been born without a mother, was struck with wonder. Thus he took shelter of the lotus flower, and when he had been purified after undergoing severe austerities for many hundreds of years, he could see that the cause of all causes, the Supreme Personality of Godhead, was spread throughout his own body and senses, just as aroma, although very subtle, is perceived in the earth.

36Lord Brahmā could then see You possessing thousands and thousands of faces, feet, heads, hands, thighs, noses, ears and eyes. You were very nicely dressed, being decorated and bedecked with varieties of ornaments and weapons. Seeing You in the form of Lord Viṣṇu, Your symptoms and form being transcendental, Your legs extending from the lower planets, Lord Brahmā achieved transcendental bliss.

37My dear Lord, when You appeared as Hayagrīva, with the head of a horse, You killed two demons known as Madhu and Kaiṭabha, who were full of the modes of passion and ignorance. Then You delivered the Vedic knowledge to Lord Brahmā. For this reason, all the great saints accept Your forms as transcendental, untinged by material qualities.

38In this way, my Lord, You appear in various incarnations as a human being, an animal, a great saint, a demigod, a fish or a tortoise, thus maintaining the entire creation in different planetary systems and killing the demoniac principles. According to the age, O my Lord, You protect the principles of religion. In the Age of Kali, however, You do not assert Yourself as the Supreme Personality of Godhead, and therefore You are known as Triyuga, or the Lord who appears in three yugas.

39My dear Lord of the Vaikuṇṭha planets, where there is no anxiety, my mind is extremely sinful and lusty, being sometimes so-called happy and sometimes so-called distressed. My mind is full of lamentation and fear, and it always seeks more and more money. Thus it has become most polluted and is never satisfied in topics concerning You. I am therefore most fallen and poor. In such a status of life, how shall I be able to discuss Your activities?

40My dear Lord, O infallible one, my position is like that of a person who has many wives, all trying to attract him in their own way. For example, the tongue is attracted to palatable dishes, the genitals to sex with an attractive woman, and the sense of touch to contact with soft things. The belly, although filled, still wants to eat more, and the ear, not attempting to hear about You, is generally attracted to cinema songs. The sense of smell is attracted to yet another side, the restless eyes are attracted to scenes of sense gratification, and the active senses are attracted elsewhere. In this way I am certainly embarrassed.

41My dear Lord, You are always transcendentally situated on the other side of the river of death, but because of the reactions of our own activities, we are suffering on this side. Indeed, we have fallen into this river and are repeatedly suffering the pains of birth and death and eating horrible things. Now kindly look upon usnot only upon me but also upon all others who are sufferingand by Your causeless mercy and compassion, deliver us and maintain us.

42O my Lord, O Supreme Personality of Godhead, original spiritual master of the entire world, what is the difficulty for You, who manage the affairs of the universe, in delivering the fallen souls engaged in Your devotional service? You are the friend of all suffering humanity, and for great personalities it is necessary to show mercy to the foolish. Therefore I think that You will show Your causeless mercy to persons like us, who engage in Your service.

43O best of the great personalities, I am not at all afraid of material existence, for wherever I stay I am fully absorbed in thoughts of Your glories and activities. My concern is only for the fools and rascals who are making elaborate plans for material happiness and maintaining their families, societies and countries. I am simply concerned with love for them.

44My dear Lord Nṛsiṁhadeva, I see that there are many saintly persons indeed, but they are interested only in their own deliverance. Not caring for the big cities and towns, they go to the Himālayas or the forest to meditate with vows of silence [mauna-vrata]. They are not interested in delivering others. As for me, however, I do not wish to be liberated alone, leaving aside all these poor fools and rascals. I know that without Kṛṣṇa consciousness, without taking shelter of Your lotus feet, one cannot be happy. Therefore I wish to bring them back to shelter at Your lotus feet.

45Sex life is compared to the rubbing of two hands to relieve an itch. Gṛhamedhis, so-called gṛhasthas who have no spiritual knowledge, think that this itching is the greatest platform of happiness, although actually it is a source of distress. The kṛpaṇas, the fools who are just the opposite of brāhmaṇas, are not satisfied by repeated sensuous enjoyment. Those who are dhīra, however, who are sober and who tolerate this itching, are not subjected to the sufferings of fools and rascals.

46O Supreme Personality of Godhead, there are ten prescribed methods on the path to liberationto remain silent, not to speak to anyone, to observe vows, to amass all kinds of Vedic knowledge, to undergo austerities, to study the Vedas and other Vedic literatures, to execute the duties of varṇāśrama-dharma, to explain the śāstras, to stay in a solitary place, to chant mantras silently, and to be absorbed in trance. These different methods for liberation are generally only a professional practice and means of livelihood for those who have not conquered their senses. Because such persons are falsely proud, these procedures may not be successful.

47By authorized Vedic knowledge one can see that the forms of cause and effect in the cosmic manifestation belong to the Supreme Personality of Godhead, for the cosmic manifestation is His energy. Both cause and effect are nothing but energies of the Lord. Therefore, O my Lord, just as a wise man, by considering cause and effect, can see how fire pervades wood, those engaged in devotional service understand how You are both the cause and effect.

48O Supreme Lord, You are actually the air, the earth, fire, sky and water. You are the objects of sense perception, the life airs, the five senses, the mind, consciousness and false ego. Indeed, You are everything, subtle and gross. The material elements and anything expressed, either by the words or by the mind, are nothing but You.

49Neither the three modes of material nature [sattva-guṇa, rajo-guṇa and tamo-guṇa], nor the predominating deities controlling these three modes, nor the five gross elements, nor the mind, nor the demigods nor the human beings can understand Your Lordship, for they are all subjected to birth and annihilation. Considering this, the spiritually advanced have taken to devotional service. Such wise men hardly bother with Vedic study. Instead, they engage themselves in practical devotional service.

50Therefore, O Supreme Personality of Godhead, the best of all persons to whom prayers are offered, I offer my respectful obeisances unto You because without rendering six kinds of devotional service unto Youoffering prayers, dedicating all the results of activities, worshiping You, working on Your behalf, always remembering Your lotus feet and hearing about Your glorieswho can achieve that which is meant for the paramahaṁsas?

51The great saint Nārada said: Thus Lord Nṛsiṁhadeva was pacified by the devotee Prahlāda Mahārāja with prayers offered from the transcendental platform. The Lord gave up His anger, and being very kind to Prahlāda, who was offering prostrated obeisances, He spoke as follows.

52The Supreme Personality of Godhead said: My dear Prahlāda, most gentle one, best of the family of the asuras, all good fortune unto you. I am very much pleased with you. It is My pastime to fulfill the desires of all living beings, and therefore you may ask from Me any benediction that you desire to be fulfilled.

53My dear Prahlāda, may you live a long time. One cannot appreciate or understand Me without pleasing Me, but one who has seen or pleased Me has nothing more for which to lament for his own satisfaction.

54My dear Prahlāda, you are very fortunate. Please know from Me that those who are very wise and highly elevated try to please Me in all different modes of mellows, for I am the only person who can fulfill all the desires of everyone.

55Nārada Muni said: Prahlāda Mahārāja was the best person in the family of asuras, who always aspire for material happiness. Nonetheless, although allured by the Supreme Personality of Godhead, who offered him all benedictions for material happiness, because of his unalloyed Kṛṣṇa consciousness he did not want to take any material benefit for sense gratification.

**SB 7.10: Prahlāda, the Best Among Exalted Devotees**

This chapter describes how the Supreme Personality of Godhead Nṛsiṁhadeva disappeared, after pleasing Prahlāda Mahārāja. It also describes a benediction given by Lord Śiva.

Lord Nṛsiṁhadeva wanted to bestow benedictions upon Prahlāda Mahārāja, one after another, but Prahlāda Mahārāja, thinking them impediments on the path of spiritual progress, did not accept any of them. Instead, he fully surrendered at the Lord's lotus feet. He said: "If anyone engaged in the devotional service of the Lord prays for personal sense gratification, he cannot be called a pure devotee or even a devotee. He may be called only a merchant engaged in the business of give and take. Similarly, a master who wants to please his servant after taking service from him is also not a real master." Prahlāda Mahārāja, therefore, did not ask anything from the Supreme Personality of Godhead. Rather, he said that if the Lord wanted to give him a benediction, he wanted the Lord to assure him that he would never be induced to take any benedictions for the sake of material desires. Exchanges of devotional service for lusty desires are always very prominent. As soon as lusty desires awaken, one's senses, mind, life, soul, religious principles, patience, intelligence, shyness, beauty, strength, memory and truthfulness are all vanquished. One can render unalloyed devotional service only when there are no material desires in one's mind.

The Supreme Personality of Godhead was greatly pleased with Prahlāda Mahārāja for his unalloyed devotion, yet the Lord provided him one material benedictionthat he would be perfectly happy in this world and live his next life in Vaikuṇṭha. The Lord gave him the benediction that he would be the king of this material world until the end of the *manvantara* millennium and that although in this material world, he would have the facility to hear the glories of the Lord and depend fully on the Lord, performing service to Him in uncontaminated *bhakti-yoga*. The Lord advised Prahlāda to perform sacrifices through *bhakti-yoga,* for this is the duty of a king.

Prahlāda Mahārāja accepted whatever the Lord had offered him, and he prayed for the Lord to deliver his father. In response to this prayer, the Lord assured him that in the family of such a

pure devotee as he, not only the devotee's father but his forefathers for twenty-one generations are liberated. The Lord also asked Prahlāda to perform the ritualistic ceremonies appropriate after his father's death.

Then Lord Brahmā, who was also present, offered many prayers to the Lord, expressing his obligation to the Lord for having offered benedictions to Prahlāda Mahārāja. The Lord advised Lord Brahmā not to offer benedictions to *asuras* as he had to Hiraṇyakaśipu, for such benedictions indulge them. Then Lord Nṛsiṁhadeva disappeared. On that day, Prahlāda Mahārāja was installed on the throne of the world by Lord Brahmā and Śukrācārya.

Thus Nārada Muni described the character of Prahlāda Mahārāja for Yudhiṣṭhira Mahārāja, and he further described the killing of Rāvaṇa by Lord Rāmacandra and the killing of Śiśupāla and Dantavakra in Dvāpara-yuga. Śiśupāla, of course, had merged into the existence of the Lord and thus achieved *sāyujya-mukti.* Nārada Muni praised Yudhiṣṭhira Mahārāja because the Supreme Lord, Kṛṣṇa, was the greatest well-wisher and friend of the Pāṇḍavas and almost always stayed in their house. Thus the fortune of the Pāṇḍavas was greater than that of Prahlāda Mahārāja.

Later, Nārada Muni described how the demon Maya Dānava constructed Tripura for the demons, who became very powerful and defeated the demigods. Because of this defeat, Lord Rudra, Śiva, dismantled Tripura; thus he became famous as Tripurāri. For this, Rudra is very much appreciated and worshiped by the demigods. This narration occurs at the end of the chapter.

1The saint Nārada Muni continued: Although Prahlāda Mahārāja was only a boy, when he heard the benedictions offered by Lord Nṛsiṁhadeva he considered them impediments on the path of devotional service. Thus he smiled very mildly and spoke as follows.

2Prahlāda Mahārāja said: My dear Lord, O Supreme Personality of Godhead, because I was born in an atheistic family I am naturally attached to material enjoyment. Therefore, kindly do not tempt me with these illusions. I am very much afraid of material conditions, and I desire to be liberated from materialistic life. It is for this reason that I have taken shelter of Your lotus feet.

3O my worshipable Lord, because the seed of lusty desires, which is the root cause of material existence, is within the core of everyone's heart, You have sent me to this material world to exhibit the symptoms of a pure devotee.

4Otherwise, O my Lord, O supreme instructor of the entire world, You are so kind to Your devotee that You could not induce him to do something unbeneficial for him. On the other hand, one who desires some material benefit in exchange for devotional service cannot be Your pure devotee. Indeed, he is no better than a merchant who wants profit in exchange for service.

5A servant who desires material profits from his master is certainly not a qualified servant or pure devotee. Similarly, a master who bestows benedictions upon his servant because of a desire to maintain a prestigious position as master is also not a pure master.

6O my Lord, I am Your unmotivated servant, and You are my eternal master. There is no need of our being anything other than master and servant. You are naturally my master, and I am naturally Your servant. We have no other relationship.

7O my Lord, best of the givers of benediction, if You at all want to bestow a desirable benediction upon me, then I pray from Your Lordship that within the core of my heart there be

no material desires.

8O my Lord, because of lusty desires from the very beginning of one's birth, the functions of one's senses, mind, life, body, religion, patience, intelligence, shyness, opulence, strength, memory and truthfulness are vanquished.

9O my Lord, when a human being is able to give up all the material desires in his mind, he becomes eligible to possess wealth and opulence like Yours.

10O my Lord, full of six opulences, O Supreme Person! O Supreme Soul, killer of all miseries! O Supreme Person in the form of a wonderful lion and man, let me offer my respectful obeisances unto You.

11The Supreme Personality of Godhead said: My dear Prahlāda, a devotee like you never desires any kind of material opulences, either in this life or in the next. Nonetheless, I order you to enjoy the opulences of the demons in this material world, acting as their king until the end of the duration of time occupied by Manu.

12It does not matter that you are in the material world. You should always, continuously, hear the instructions and messages given by Me and always be absorbed in thought of Me, for I am the Supersoul existing in the core of everyone's heart. Therefore, give up fruitive activities and worship Me.

13My dear Prahlāda, while you are in this material world you will exhaust all the reactions of pious activity by feeling happiness, and by acting piously you will neutralize impious activity. Because of the powerful time factor, you will give up your body, but the glories of your activities will be sung in the upper planetary systems, and being fully freed from all bondage, you will return home, back to Godhead.

14One who always remembers your activities and My activities also, and who chants the prayers you have offered, becomes free, in due course of time, from the reactions of material activities.

15-17Prahlāda Mahārāja said: O Supreme Lord, because You are so merciful to the fallen souls, I ask You for only one benediction. I know that my father, at the time of his death, had already been purified by Your glance upon him, but because of his ignorance of Your beautiful power and supremacy, he was unnecessarily angry at You, falsely thinking that You were the killer of his brother. Thus he directly blasphemed Your Lordship, the spiritual master of all living beings, and committed heavily sinful activities directed against me, Your devotee. I wish that he be excused for these sinful activities.

18The Supreme Personality of Godhead said: My dear Prahlāda, O most pure, O great saintly person, your father has been purified, along with twenty-one forefathers in your family. Because you were born in this family, the entire dynasty has been purified.

19Whenever and wherever there are peaceful, equipoised devotees who are well-behaved and decorated with all good qualities, that place and the dynasties there, even if condemned, are purified.

20My dear Prahlāda, King of the Daityas, because of being attached to devotional service to Me, My devotee does not distinguish between lower and higher living entities. In all respects, he is never jealous of anyone.

21Those who follow your example will naturally become My pure devotees. You are the best example of My devotee, and others should follow in your footsteps.

22My dear child, your father has already been purified just by the touch of My body at the time of his death. Nonetheless, the duty of a son is to perform the śrāddha ritualistic ceremony after his father's death so that his father may be promoted to a planetary system where he may become a good citizen and devotee.

23After performing the ritualistic ceremonies, take charge of your father's kingdom. Sit upon the throne and do not be disturbed by materialistic activities. Please keep your mind fixed upon Me. Without transgressing the injunctions of the Vedas, as a matter of formality you may perform your particular duties.

24Śrī Nārada Muni continued: Thus, as the Supreme Personality of Godhead ordered, Prahlāda Mahārāja performed the ritualistic ceremonies for his father. O King Yudhiṣṭhira, he was then enthroned in the kingdom of Hiraṇyakaśipu, as directed by the brāhmaṇas.

25Lord Brahmā, surrounded by the other demigods, was bright-faced because the Lord was pleased. Thus he offered prayers to the Lord with transcendental words.

26Lord Brahmā said: O Supreme Lord of all lords, proprietor of the entire universe, O benedictor of all living entities, O original person [ādi-puruṣa], because of our good fortune You have now killed this sinful demon, who was giving trouble to the entire universe.

27This demon, Hiraṇyakaśipu, received from me the benediction that he would not be killed by any living being within my creation. With this assurance and with strength derived from austerities and mystic power, he became excessively proud and transgressed all the Vedic injunctions.

28By great fortune, Hiraṇyakaśipu's son Prahlāda Mahārāja has now been released from death, for although he is a child, he is an exalted devotee. Now he is fully under the protection of Your lotus feet.

29My dear Lord, O Supreme Personality of Godhead, You are the Supreme Soul. If one meditates upon Your transcendental body, You naturally protect him from all sources of fear, even the imminent danger of death.

30The Personality of Godhead replied: My dear Lord Brahmā, O great lord born from the lotus flower, just as it is dangerous to feed milk to a snake, so it is dangerous to give benedictions to demons, who are by nature ferocious and jealous. I warn you not to give such benedictions to any demon again.

31Nārada Muni continued: O King Yudhiṣṭhira, the Supreme Personality of Godhead, who is not visible to an ordinary human being, spoke in this way, instructing Lord Brahmā. Then, being worshiped by Brahmā, the Lord disappeared from that place.

32Prahlāda Mahārāja then worshiped and offered prayers to all the demigods, such as Brahmā, Śiva and the prajāpatis, who are all parts of the Lord.

33Thereafter, along with Śukrācārya and other great saints, Lord Brahmā, whose seat is on the lotus flower, made Prahlāda the king of all the demons and giants in the universe.

34O King Yudhiṣṭhira, after all the demigods, headed by Lord Brahmā, were properly worshiped by Prahlāda Mahārāja, they offered Prahlāda their utmost benedictions and then returned to their respective abodes.

35Thus the two associates of Lord Viṣṇu who had become Hiraṇyākṣa and Hiraṇyakaśipu, the

sons of Diti, were both killed. By illusion they had thought that the Supreme Lord, who is situated in everyone's heart, was their enemy.

36Being cursed by the brāhmaṇas, the same two associates took birth again as Kumbhakarṇa and the ten-headed Rāvaṇa. These two Rākṣasas were killed by Lord Rāmacandra's extraordinary power.

37Pierced by the arrows of Lord Rāmacandra, both Kumbhakarṇa and Rāvaṇa lay on the ground and left their bodies, fully absorbed in thought of the Lord, just as they had in their previous births as Hiraṇyākṣa and Hiraṇyakaśipu.

38They both took birth again in human society as Śiśupāla and Dantavakra and continued in the same enmity toward the Lord. It is they who merged into the body of the Lord in your presence.

39Not only Śiśupāla and Dantavakra but also many, many other kings who acted as enemies of Kṛṣṇa attained salvation at the time of death. Because they thought of the Lord, they received spiritual bodies and forms the same as His, just as worms captured by a black drone obtain the same type of body as the drone.

40By devotional service, pure devotees who incessantly think of the Supreme Personality of Godhead receive bodies similar to His. This is known as sārūpya-mukti. Although Śiśupāla, Dantavakra and other kings thought of Kṛṣṇa as an enemy, they also achieved the same result.

41Everything you asked me about how Śiśupāla and others attained salvation although they were inimical has now been explained to you by me.

42In this narration about Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, various expansions or incarnations of the Lord have been described, and the killing of the two demons Hiraṇyākṣa and Hiraṇyakaśipu has also been described.

43-44This narration describes the characteristics of the great and exalted devotee Prahlāda Mahārāja, his staunch devotional service, his perfect knowledge, and his perfect detachment from material contamination. It also describes the Supreme Personality of Godhead as the cause of creation, maintenance and annihilation. Prahlāda Mahārāja, in his prayers, has described the transcendental qualities of the Lord and has also described how the various abodes of the demigods and demons, regardless of how materially opulent, are destroyed by the mere direction of the Lord.

45The principles of religion by which one can actually understand the Supreme Personality of Godhead are called bhāgavata-dharma. In this narration, therefore, which deals with these principles, actual transcendence is properly described.

46One who hears and chants this narration about the omnipotence of the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, is certainly liberated from material bondage without fail.

47Prahlāda Mahārāja was the best among exalted devotees. Anyone who with great attention hears this narration concerning the activities of Prahlāda Mahārāja, the killing of Hiraṇyakaśipu, and the activities of the Supreme Personality of Godhead, Nṛsiṁhadeva, surely reaches the spiritual world, where there is no anxiety.

48Nārada Muni continued: My dear Mahārāja Yudhiṣṭhira, all of you [the Pāṇḍavas] are extremely fortunate, for the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, lives in your palace just like a human being. Great saintly persons know this very well, and therefore they constantly

visit this house.

49The impersonal Brahman is Kṛṣṇa Himself because Kṛṣṇa is the source of the impersonal Brahman. He is the origin of the transcendental bliss sought by great saintly persons, yet He, the Supreme Person, is your most dear friend and constant well-wisher and is intimately related to you as the son of your maternal uncle. Indeed, He is always like your body and soul. He is worshipable, yet He acts as your servant and sometimes as your spiritual master.

50Exalted persons like Lord Śiva and Lord Brahmā could not properly describe the truth of the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa. May the Lord, who is always worshiped as the protector of all devotees by great saints who observe vows of silence, meditation, devotional service and renunciation, be pleased with us.

51My dear King Yudhiṣṭhira, long, long ago in history, a demon known as Maya Dānava, who was very expert in technical knowledge, reduced the reputation of Lord Śiva. In that situation, Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, saved Lord Śiva.

52Mahārāja Yudhiṣṭhira said: For what reason did the demon Maya Dānava vanquish Lord Śiva's reputation? How did Lord Kṛṣṇa save Lord Śiva and expand his reputation again? Kindly describe these incidents.

53Nārada Muni said: When the demigods, who are always powerful by the mercy of Lord Kṛṣṇa, fought with the asuras, the asuras were defeated, and therefore they took shelter of Maya Dānava, the greatest of the demons.

54-55Maya Dānava, the great leader of the demons, prepared three invisible residences and gave them to the demons. These dwellings resembled airplanes made of gold, silver and iron, and they contained uncommon paraphernalia. My dear King Yudhiṣṭhira, because of these three dwellings the commanders of the demons remained invisible to the demigods. Taking advantage of this opportunity, the demons, remembering their former enmity, began to vanquish the three worldsthe upper, middle and lower planetary systems.

56Thereafter, when the demons had begun to destroy the higher planetary systems, the rulers of those planets went to Lord Śiva, fully surrendered unto him and said: Dear Lord, we demigods living in the three worlds are about to be vanquished. We are your followers. Kindly save us.

57The most powerful and able Lord Śiva reassured them and said, "Do not be afraid." He then fixed his arrows to his bow and released them toward the three residences occupied by the demons.

58The arrows released by Lord Śiva appeared like fiery beams emanating from the sun globe and covered the three residential airplanes, which could then no longer be seen.

59Attacked by Lord Śiva's golden arrows, all the demoniac inhabitants of those three dwellings lost their lives and fell down. Then the great mystic Maya Dānava dropped the demons into a nectarean well that he had created.

60When the dead bodies of the demons came in touch with the nectar, their bodies became invincible to thunderbolts. Endowed with great strength, they got up like lightning penetrating clouds.

61Seeing Lord Śiva very much aggrieved and disappointed, the Supreme Personality of Godhead, Lord Viṣṇu, considered how to stop this nuisance created by Maya Dānava.

62Then Lord Brahmā became a calf and Lord Viṣṇu a cow, and at noon they entered the residences and drank all the nectar in the well.

63The demons could see the calf and cow, but because of the illusion created by the energy of the Supreme Personality of Godhead, the demons could not forbid them. The great mystic Maya Dānava became aware that the calf and cow were drinking the nectar, and he could understand this to be the unseen power of providence. Thus he spoke to the demons, who were grievously lamenting.

64Maya Dānava said: What has been destined by the Supreme Lord for oneself, for others, or for both oneself and others cannot be undone anywhere or by anyone, whether one be a demigod, a demon, a human being or anyone else.

65-66Nārada Muni continued: Thereafter, Lord Kṛṣṇa, by His own personal potency, consisting of religion, knowledge, renunciation, opulence, austerity, education and activities, equipped Lord Śiva with all the necessary paraphernalia, such as a chariot, a charioteer, a flag, horses, elephants, a bow, a shield and arrows. When Lord Śiva was fully equipped in this way, he sat down on the chariot with his arrows and bow to fight with the demons.

67My dear King Yudhiṣṭhira, the most powerful Lord Śiva joined the arrows to his bow, and at noon he set fire to all three residences of the demons and thus destroyed them.

68Seated in their airplanes in the sky, the inhabitants of the higher planetary systems beat many kettledrums. The demigods, saints, Pitās, Siddhas and various great personalities showered flowers on the head of Lord Śiva, wishing him all victory, and the Apsarās began to chant and dance with great pleasure.

69O King Yudhiṣṭhira, thus Lord Śiva is known as Tripurāri, the annihilator of the three dwellings of the demons, because he burnt these dwellings to ashes. Being worshiped by the demigods, headed by Lord Brahmā, Lord Śiva returned to his own abode.

70The Lord, Śrī Kṛṣṇa, appeared as a human being, yet He performed many uncommon and wonderful pastimes by His own potency. How can I say more about His activities than what has already been said by great saintly persons? Everyone can be purified by His activities, simply by hearing about them from the right source.

## SB 7.11: The Perfect Society: Four Social Classes

This chapter describes the general principles by following which a human being, and specifically one who is interested in advancing in spiritual life, can become perfect.

By hearing about the characteristics of Prahlāda Mahārāja, Mahārāja Yudhiṣṭhira became extremely pleased. Now he inquired from Nārada Muni about the actual religion of a human being and about special characteristics of *varṇāśrama-dharma,* which marks the highest status of human civilization. When Mahārāja Yudhiṣṭhira asked Nārada Muni about these matters, Nārada Muni stopped giving his own statements and quoted statements by Lord Nārāyaṇa, for He is the supreme authority for giving religious codes (*dharmaṁ tu sākṣād bhagavat-praṇītam*). Every human being is expected to acquire thirty qualities, such as truthfulness, mercy and austerity. The process of following the principles of religion is known as *sanātana-dharma,* the eternal religious system.

The *varṇāśrama* system delineates the divisions of *brāhmaṇa, kṣatriya, vaiśya* and *śūdra.* It also sets forth the system of *saṁskāras.* The *garbhādhāna saṁskāra,* the ceremony for begetting a child, must be observed by the higher section of people, namely the *dvijas.* One

who follows the *garbhādhāna saṁskāra* system is actually twice-born, but those who do not, who deviate from the principles of *vaṃāśrama-dharma,* are called *dvija-bandhus.* The principal occupations for a *brāhmaṇa* are worshiping the Deity, teaching others how to worship the Deity, studying the Vedic literatures, teaching the Vedic literatures, accepting charity from others and again giving charity to others. A *brāhmaṇa* should make his livelihood from these six occupational duties. The duty of a *kṣatriya* is to give protection to the citizens and levy taxes upon them, but he is forbidden to tax the *brāhmaṇas.* The members of the Kṛṣṇa consciousness movement should therefore be exempt from government taxation. *Kṣatriyas* may tax everyone but the *brāhmaṇas.Vaiśyas* should cultivate the land, produce food grains and protect the cows, whereas the *śūdras,* who by quality never become *brāhmaṇas, kṣatriyas* or *vaiśyas,* should serve the three higher classes and be satisfied. Other means of livelihood are also prescribed for the *brāhmaṇas,* and these are four*śālīna, yāyāvara, śila,* and *uṣchana.* Each of these occupational duties is successively better.

One who is in a lower grade of social life cannot accept the profession of a higher class unless necessary. In times of emergency, all the classes but the *kṣatriyas* may accept professional duties of others. The means of livelihood known as *ṛta* (*śiloṣchana*), *amṛta* (*ayācita*), *mṛta* (*yācṣā*), *pramṛta* (*karṣaṇa*), and *satyānṛta* (*vāṇijya*) may be accepted by everyone but the *kṣatriyas.* For a *brāhmaṇa* or a *kṣatriya,* engaging in the service of the *vaiśyas* or *śūdras* is considered the profession of dogs.

Nārada Muni also described that the symptom of a *brāhmaṇa* is controlled senses, the symptoms of a *kṣatriya* are power and fame, the symptom of a *vaiśya* is service to the *brāhmaṇas* and *kṣatriyas,* and the symptom of a *śūdra* is service to the three higher classes. The qualification for a woman is to be a very faithful and chaste wife. In this way, Nārada Muni described the characteristics of higher and lower grades of people and recommended that one follow the principles of his caste or his hereditary occupation. One cannot suddenly give up a profession to which he is accustomed, and therefore it is recommended that one gradually be awakened. The symptoms of *brāhmaṇas, kṣatriyas, vaiśyas,* and *śūdras* are very important, and therefore one should be designated only by these symptoms, and not by birth. Designation by birth is strictly forbidden by Nārada Muni and all great personalities.

1Śukadeva Gosvāmī continued: After hearing about the activities and character of Prahlāda Mahārāja, which are adored and discussed among great personalities like Lord Brahmā and Lord Śiva, Yudhiṣṭhira Mahārāja, the most respectful king among exalted personalities, again inquired from the great saint Nārada Muni in a mood of great pleasure.

2Mahārāja Yudhiṣṭhira said: My dear lord, I wish to hear from you about the principles of religion by which one can attain the ultimate goal of lifedevotional service. I wish to hear about the general occupational duties of human society and the system of social and spiritual advancement known as varṇāśrama-dharma.

3O best of the brāhmaṇas, you are directly the son of Prajāpati [Lord Brahmā]. Because of your austerities, mystic yoga and trance, you are considered the best of all of Lord Brahmā's sons.

4No one is superior to you in peaceful life and mercy, and no one knows better than you how to execute devotional service or how to become the best of the brāhmaṇas. Therefore, you know all the principles of confidential religious life, and no one knows them better than you.

5Śrī Nārada Muni said: After first offering my obeisances unto Lord Kṛṣṇa, the protector of the religious principles of all living entities, let me explain the principles of the eternal religious system, of which I have heard from the mouth of Nārāyaṇa.

6Lord Nārāyaṇa, along with His partial manifestation Nara, appeared in this world through the daughter of Dakṣa Mahārāja known as Mūrti. He was begotten by Dharma Mahārāja for the benefit of all living entities. Even now, He is still engaged in executing great austerities near the place known as Badarikāśrama.

7The Supreme Being, the Personality of Godhead, is the essence of all Vedic knowledge, the root of all religious principles, and the memory of great authorities. O King Yudhiṣṭhira, this principle of religion is to be understood as evidence. On the basis of this religious principle, everything is satisfied, including one's mind, soul and even one's body.

8-12These are the general principles to be followed by all human beings: truthfulness, mercy, austerity (observing fasts on certain days of the month), bathing twice a day, tolerance, discrimination between right and wrong, control of the mind, control of the senses, nonviolence, celibacy, charity, reading of scripture, simplicity, satisfaction, rendering service to saintly persons, gradually taking leave of unnecessary engagements, observing the futility of the unnecessary activities of human society, remaining silent and grave and avoiding unnecessary talk, considering whether one is the body or the soul, distributing food equally to all living entities (both men and animals), seeing every soul (especially in the human form) as a part of the Supreme Lord, hearing about the activities and instructions given by the Supreme Personality of Godhead (who is the shelter of the saintly persons), chanting about these activities and instructions, always remembering these activities and instructions, trying to render service, performing worship, offering obeisances, becoming a servant, becoming a friend, and surrendering one's whole self. O King Yudhiṣṭhira, these thirty qualifications must be acquired in the human form of life. Simply by acquiring these qualifications, one can satisfy the Supreme Personality of Godhead.

13Those who have been reformed by the garbhādhāna ceremony and other prescribed reformatory methods, performed with Vedic mantras and without interruption, and who have been approved by Lord Brahmā, are dvijas, or twice-born. Such brāhmaṇas, kṣatriyas and vaiśyas, purified by their family traditions and by their behavior, should worship the Lord, study the Vedas and give charity. In this system, they should follow the principles of the four āśramas [brahmacarya, gṛhastha, vānaprastha and sannyāsa].

14For a brāhmaṇa there are six occupational duties. A kṣatriya should not accept charity, but he may perform the other five of these duties. A king or kṣatriya is not allowed to levy taxes on brāhmaṇas, but he may make his livelihood by levying minimal taxes, customs duties, and penalty fines upon his other subjects.

15The mercantile community should always follow the directions of the brāhmaṇas and engage in such occupational duties as agriculture, trade, and protection of cows. For the śūdras the only duty is to accept a master from a higher social order and engage in his service.

16As an alternative, a brāhmaṇa may also take to the vaiśya's occupational duty of agriculture, cow protection, or trade. He may depend on that which he has received without begging, he may beg in the paddy field every day, he may collect paddy left in a field by its proprietor, or he may collect food grains left here and there in the shops of grain dealers. These are four means of livelihood that may also be adopted by brāhmaṇas. Among these four, each of them in succession is better than the one preceding it.

17Except in a time of emergency, lower persons should not accept the occupational duties of those who are higher. When there is such an emergency, of course, everyone but the kṣatriya may accept the means of livelihood of others.

18-20In time of emergency, one may accept any of the various types of professions known as ṛta, amṛta, mṛta, pramṛta and satyānṛta, but one should not at any time accept the profession of a dog. The profession of uṣchaśila, collecting grains from the field, is called ṛta. Collecting without begging is called amṛta, begging grains is called mṛta, tilling the ground is called pramṛta, and trade is called satyānṛta. Engaging in the service of low-grade persons, however, is called śva-vṛtti, the profession of the dogs. Specifically, brāhmaṇas and kṣatriyas should not engage in the low and abominable service of śūdras. Brāhmaṇas should be well acquainted with all the Vedic knowledge, and kṣatriyas should be well acquainted with the worship of demigods.

21The symptoms of a brāhmaṇa are control of the mind, control of the senses, austerity and penance, cleanliness, satisfaction, forgiveness, simplicity, knowledge, mercy, truthfulness, and complete surrender to the Supreme Personality of Godhead.

22To be influential in battle, unconquerable, patient, challenging and charitable, to control the bodily necessities, to be forgiving, to be attached to the brahminical nature and to be always jolly and truthfulthese are the symptoms of the kṣatriya.

23Being always devoted to the demigods, the spiritual master and the Supreme Lord, Viṣṇu; endeavoring for advancement in religious principles, economic development and sense gratification [dharma, artha and kāma]; believing in the words of the spiritual master and scripture; and always endeavoring with expertise in earning moneythese are the symptoms of the vaiśya.

24Offering obeisances to the higher sections of society [the brāhmaṇas, kṣatriyas and vaiśyas], being always very clean, being free from duplicity, serving one's master, performing sacrifices without uttering mantras, not stealing, always speaking the truth and giving all protection to the cows and brāhmaṇasthese are the symptoms of the śūdra.

25To render service to the husband, to be always favorably disposed toward the husband, to be equally well disposed toward the husband's relatives and friends, and to follow the vows of the husbandthese are the four principles to be followed by women described as chaste.

26-27A chaste woman must dress nicely and decorate herself with golden ornaments for the pleasure of her husband. Always wearing clean and attractive garments, she should sweep and clean the household with water and other liquids so that the entire house is always pure and clean. She should collect the household paraphernalia and keep the house always aromatic with incense and flowers and must be ready to execute the desires of her husband. Being modest and truthful, controlling her senses, and speaking in sweet words, a chaste woman should engage in the service of her husband with love, according to time and circumstances.

28A chaste woman should not be greedy, but satisfied in all circumstances. She must be very expert in handling household affairs and should be fully conversant with religious principles. She should speak pleasingly and truthfully and should be very careful and always clean and pure. Thus a chaste woman should engage with affection in the service of a husband who is not fallen.

29The woman who engages in the service of her husband, following strictly in the footsteps of the goddess of fortune, surely returns home, back to Godhead, with her devotee husband, and lives very happily in the Vaikuṇṭha planets.

30Among the mixed classes known as saṅkara, those who are not thieves are known as antevasāyī or caṇḍālas [dog-eaters], and they also have their hereditary customs.

31My dear King, brāhmaṇas well conversant in Vedic knowledge have given their verdict that in every age [yuga] the conduct of different sections of people according to their material modes of nature is auspicious both in this life and after death.

32If one acts in his profession according to his position in the modes of nature and gradually gives up these activities, he attains the niṣkāma stage.

33-34My dear King, if an agricultural field is cultivated again and again, the power of its production decreases, and whatever seeds are sown there are lost. Just as drops of ghee on a fire never extinguish the fire but a flood of ghee will, similarly, overindulgence in lusty desires mitigates such desires entirely.

35If one shows the symptoms of being a brāhmaṇa, kṣatriya, vaiśya or śūdra, as described above, even if he has appeared in a different class, he should be accepted according to those symptoms of classification.

**SB 7.12: The Perfect Society: Four Spiritual Classes**

This chapter particularly describes the *brahmacārī* and the person in the *vānaprastha* stage, and it also gives a general description of the four *āśramasbrahmacarya, gṛhastha, vānaprastha* and *sannyāsa*. In the previous chapter, the great saint Nārada Muni has described the *varṇa* institution of society, and now, in this chapter, he will describe the stages of spiritual advancement in the four *āśramas,* which are known as *brahmacarya, gṛhastha, vānaprastha* and *sannyāsa*.

The *brahmacārī* should live under the care of the true spiritual master, giving him sincere respect and obeisances, acting as his menial servant, and always carrying out his order. The *brahmacārī* should engage himself in spiritual activities and study the Vedic literature under the direction of the spiritual master. According to the *brahmacarya* system, he should dress with a belt, deerskin, and matted hair and should bear a *daṇḍa,* waterpot and sacred thread. He should collect alms daily in the morning, and in the evening whatever alms he has collected he should offer to the spiritual master. A *brahmacārī* should accept *prasāda* upon the order of the spiritual master, and if the spiritual master sometimes forgets to order the disciple to eat, the disciple should not take *prasāda* on his own initiative; rather, he should fast. The *brahmacārī* should be trained to be satisfied with eating what is absolutely necessary, he should be very expert in executing responsibilities, he should be faithful, and he should control his senses and try to avoid the association of women as far as possible. A *brahmacārī* should very strictly abstain from living with women and should not meet with *gṛhasthas* and those too addicted to women. Nor should a *brahmacārī* speak in a lonely place with a woman.

After completing one's education as a *brahmacārī* in this way, one should give *dakṣiṇā,* an offering of gratitude, to one's *guru,* and then one may leave for home and accept the next *āśrama*the *gṛhastha-āśrama*or else one may continue in the *brahmacarya-āśrama* without adulteration. The duties for the *gṛhastha-āśrama* and *brahmacarya-āśrama,* as well as the duties for *sannyāsīs,* are prescribed in the *śāstras*. A *gṛhastha* is not meant to enjoy sex life without restriction. Indeed, the whole purpose of Vedic life is to become free from sexual indulgence. All the *āśramas* are recognized for spiritual progress, and therefore although the *gṛhastha-āśrama* gives a kind of license for sex life for a certain time, it does not allow unrestricted sex life. Therefore, in *gṛhastha* life also, there is no illicit sex. A *gṛhastha* should not accept a woman for sexual enjoyment. Wasting semen is also illicit sex.

After the *gṛhastha-āśrama* is another *āśrama,* known as *vānaprastha,* which is midway between *gṛhastha* and *sannyāsa*. A person in the *vānaprastha* order is restricted in eating food

grains and forbidden to eat fruits that have not ripened on the tree. Nor should he cook food with fire, although he is allowed to eat *caru,* grains that have been offered in a sacrificial fire. He may also eat fruits and grains that have grown naturally. Living in a thatched cottage, the *vānaprastha* should endure all kinds of heat and cold. He should not cut his nails or hair, and he should give up cleaning his body and teeth. He should wear tree bark, accept a *daṇḍa,* and practice life in the forest, taking a vow to live there for twelve years, eight years, four years, two years or at least one year. At last, when because of old age he can no longer perform the activities of a *vānaprastha,* he should gradually stop everything and in this way give up his body.

1Nārada Muni said: A student should practice completely controlling his senses. He should be submissive and should have an attitude of firm friendship for the spiritual master. With a great vow, the brahmacārī should live at the gurukula, only for the benefit of the guru.

2At both junctions of day and night, namely, in the early morning and in the evening, he should be fully absorbed in thoughts of the spiritual master, fire, the sun-god and Lord Viṣṇu and by chanting the Gāyatrī mantra he should worship them.

3Being called by the spiritual master, the student should study the Vedic mantras regularly. Every day, before beginning his studies and at the end of his studies, the disciple should respectfully offer obeisances unto the spiritual master.

4Carrying pure kuśa grass in his hand, the brahmacārī should dress regularly with a belt of straw and with deerskin garments. He should wear matted hair, carry a rod and waterpot and be decorated with a sacred thread, as recommended in the śāstras.

5The brahmacārī should go out morning and evening to collect alms, and he should offer all that he collects to the spiritual master. He should eat only if ordered to take food by the spiritual master; otherwise, if the spiritual master does not give this order, he may sometimes have to fast.

6A brahmacārī should be quite well-behaved and gentle and should not eat or collect more than necessary. He must always be active and expert, fully believing in the instructions of the spiritual master and the śāstra. Fully controlling his senses, he should associate only as much as necessary with women or those controlled by women.

7A brahmacārī, or one who has not accepted the gṛhastha-āśrama [family life], must rigidly avoid talking with women or about women, for the senses are so powerful that they may agitate even the mind of a sannyāsī, a member of the renounced order of life.

8If the wife of the spiritual master is young, a young brahmacārī should not allow her to care for his hair, massage his body with oil, or bathe him with affection like a mother.

9Woman is compared to fire, and man is compared to a butter pot. Therefore a man should avoid associating even with his own daughter in a secluded place. Similarly, he should also avoid association with other women. One should associate with women only for important business and not otherwise.

10As long as a living entity is not completely self-realizedas long as he is not independent of the misconception of identifying with his body, which is nothing but a reflection of the original body and senseshe cannot be relieved of the conception of duality, which is epitomized by the duality between man and woman. Thus there is every chance that he will fall down because his intelligence is bewildered.

11All the rules and regulations apply equally to the householder and the sannyāsī, the member of the renounced order of life. The gṛhastha, however, is given permission by the spiritual master to indulge in sex during the period favorable for procreation.

12Brahmacārīs or gṛhasthas who have taken the vow of celibacy as described above should not indulge in the following: applying powder or ointment to the eyes, massaging the head with oil, massaging the body with the hands, seeing a woman or painting a woman's picture, eating meat, drinking wine, decorating the body with flower garlands, smearing scented ointment on the body, or decorating the body with ornaments. These they should give up.

13-14According to the rules and regulations mentioned above, one who is twice-born, namely a brāhmaṇa, kṣatriya or vaiśya, should reside in the gurukula under the care of the spiritual master. There he should study and learn all the Vedic literatures along with their supplements and the Upaniṣads, according to his ability and power to study. If possible, the student or disciple should reward the spiritual master with the remuneration the spiritual master requests, and then, following the master's order, the disciple should leave and accept one of the other āśramas, namely the gṛhastha-āśrama, vānaprastha-āśrama or sannyāsa-āśrama, as he desires.

15One should realize that in the fire, in the spiritual master, in one's self and in all living entitiesin all circumstances and conditionsthe Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, has simultaneously entered and not entered. He is situated externally and internally as the full controller of everything.

16By practicing in this way, whether one be in the brahmacārī-āśrama, gṛhastha-āśrama, vānaprastha-āśrama or sannyāsa-āśrama, one must always realize the all-pervading presence of the Supreme Lord, for in this way it is possible to understand the Absolute Truth.

17O King, I shall now describe the qualifications for a vānaprastha, one who has retired from family life. By rigidly following the rules and regulations for the vānaprastha, one can easily be elevated to the upper planetary system known as Maharloka.

18A person in vānaprastha life should not eat grains grown by tilling of the fields. He should also not eat grains that have grown without tilling of the field but are not fully ripe. Nor should a vānaprastha eat grains cooked in fire. Indeed, he should eat only fruit ripened by the sunshine.

19A vānaprastha should prepare cakes to be offered in sacrifice from fruits and grains grown naturally in the forest. When he obtains some new grains, he should give up his old stock of grains.

20A vānaprastha should prepare a thatched cottage or take shelter of a cave in a mountain only to keep the sacred fire, but he should personally practice enduring snowfall, wind, fire, rain and the shining of the sun.

21The vānaprastha should wear matted locks of hair on his head and let his body hair, nails and moustache grow. He should not cleanse his body of dirt. He should keep a waterpot, deerskin and rod, wear the bark of a tree as a covering, and use garments colored like fire.

22Being very thoughtful, a vānaprastha should remain in the forest for twelve years, eight years, four years, two years or at least one year. He should behave in such a way that he will not be disturbed or troubled by too much austerity.

23When because of disease or old age one is unable to perform his prescribed duties for advancement in spiritual consciousness or study of the Vedas, he should practice fasting, not

taking any food.

24He should properly place the fire element in his own self and in this way give up bodily affinity, by which one thinks the body to be one's self or one's own. One should gradually merge the material body into the five elements [earth, water, fire, air and sky].

25A sober, self-realized person who has full knowledge should merge the various parts of the body in their original sources. The holes in the body are caused by the sky, the process of breathing is caused by the air, the heat of the body is caused by fire, and semen, blood and mucus are caused by water. The hard substances, like skin, muscle and bone, are caused by earth. In this way all the constituents of the body are caused by various elements, and they should be merged again into those elements.

26-28Thereafter, the object of speech, along with the sense of speech [the tongue], should be bestowed upon fire. Craftsmanship and the two hands should be given to the demigod Indra. The power of movement and the legs should be given to Lord Viṣṇu. Sensual pleasure, along with the genitals, should be bestowed upon Prajāpati. The rectum, with the power of evacuation, should be bestowed, in its proper place, unto Mṛtyu. The aural instrument, along with sound vibration, should be given to the deities presiding over the directions. The instrument of touch, along with the sense objects of touch, should be given to Vāyu. Form, with the power of sight, should be bestowed upon the sun. The tongue, along with the demigod Varuṇa, should be bestowed upon water, and the power of smell, along with the two Aśvinī-kumāra demigods, should be bestowed upon the earth.

29-30The mind, along with all material desires, should be merged in the moon demigod. All the subject matters of intelligence, along with the intelligence itself, should be placed in Lord Brahmā. False ego, which is under the influence of the material modes of nature and which induces one to think, "I am this body, and everything connected with this body is mine," should be merged, along with material activities, in Rudra, the predominating deity of false ego. Material consciousness, along with the goal of thought, should be merged in the individual living being, and the demigods acting under the modes of material nature should be merged, along with the perverted living being, into the Supreme Being. The earth should be merged in water, water in the brightness of the sun, this brightness into the air, the air into the sky, the sky into the false ego, the false ego into the total material energy, the total material energy into the unmanifested ingredients [the pradhāna feature of the material energy], and at last the ingredient feature of material manifestation into the Supersoul.

31When all the material designations have thus merged into their respective material elements, the living beings, who are all ultimately completely spiritual, being one in quality with the Supreme Being, should cease from material existence, as flames cease when the wood in which they are burning is consumed. When the material body is returned to its various material elements, only the spiritual being remains. This spiritual being is Brahman and is equal in quality with Parabrahman.

## SB 7.13: The Behavior of a Perfect Person

This Thirteenth Chapter describes the regulative principles for *sannyāsīs* and also describes the history of an *avadhūta*. It concludes with a description of perfection for the student in spiritual advancement.

Śrī Nārada Muni has been describing the symptoms of various *āśramas* and *vaṃas*. Now, in this chapter, he specifically describes the regulative principles to be followed by *sannyāsīs*. After retiring from family life, one should accept the status of *vānaprastha,* in which he must

formally accept the body as his means of existence but gradually forget the bodily necessities of life. After *vānaprastha* life, having left home, one should travel to different places as a *sannyāsī*. Without bodily comforts and free from dependence on anyone with respect to bodily necessities, one should travel everywhere, wearing almost nothing or actually walking naked. Without association with ordinary human society, one should beg alms and always be satisfied in himself. One should be a friend to every living entity and be very peaceful in Kṛṣṇa consciousness. A *sannyāsī* should travel alone in this way, not caring for life or death, waiting for the time when he will leave his material body. He should not indulge in unnecessary books or adopt professions like astrology, nor should he try to become a great orator. He should also give up the path of unnecessary argument and should not depend on anyone under any circumstances. He should not try to allure people into becoming his disciples just so that the number of his disciples may increase. He should give up the habit of reading many books as a means of livelihood, and he should not attempt to increase the number of temples and *maṭhas,* or monasteries. When a *sannyāsī* thus becomes completely independent, peaceful and equipoised, he can select the destination he desires after death and follow the principles by which to reach that destination. Although fully learned, he should always remain silent, like a dumb person, and travel like a restless child.

In this regard, Nārada Muni described a meeting between Prahlāda and a saintly person who had adopted the mode of life of a python. In this way he described the symptoms of a *paramahaṁsa*. A person who has attained the *paramahaṁsa* stage knows very well the distinction between matter and spirit. He is not at all interested in gratifying the material senses, for he is always deriving pleasure from devotional service to the Lord. He is not very anxious to protect his material body. Being satisfied with whatever he attains by the grace of the Lord, he is completely independent of material happiness and distress, and thus he is transcendental to all regulative principles. Sometimes he accepts severe austerities, and sometimes he accepts material opulence. His only concern is to satisfy Kṛṣṇa, and for that purpose he can do anything and everything, without reference to the regulative principles. He is never to be equated with materialistic men, nor is he subject to the judgments of such men.

1Śrī Nārada Muni said: A person able to cultivate spiritual knowledge should renounce all material connections, and merely keeping the body inhabitable, he should travel from one place to another, passing only one night in each village. In this way, without dependence in regard to the needs of the body, the sannyāsī should travel all over the world.

2A person in the renounced order of life may try to avoid even a dress to cover himself. If he wears anything at all, it should be only a loincloth, and when there is no necessity, a sannyāsī should not even accept a daṇḍa. A sannyāsī should avoid carrying anything but a daṇḍa and kamaṇḍalu.

3The sannyāsī, completely satisfied in the self, should live on alms begged from door to door. Not being dependent on any person or any place, he should always be a friendly well-wisher to all living beings and be a peaceful, unalloyed devotee of Nārāyaṇa. In this way he should move from one place to another.

4The sannyāsī should always try to see the Supreme pervading everything and see everything, including this universe, resting on the Supreme.

5During unconsciousness and consciousness, and between the two, he should try to understand the self and be fully situated in the self. In this way, he should realize that the conditional and liberated stages of life are only illusory and not actually factual. With such a higher understanding, he should see only the Absolute Truth pervading everything.

6Since the material body is sure to be vanquished and the duration of one's life is not fixed, neither death nor life is to be praised. Rather, one should observe the eternal time factor, in which the living entity manifests himself and disappears.

7Literature that is a useless waste of timein other words, literature without spiritual benefitshould be rejected. One should not become a professional teacher as a means of earning one's livelihood, nor should one indulge in arguments and counterarguments. Nor should one take shelter of any cause or faction.

8A sannyāsī must not present allurements of material benefits to gather many disciples, nor should he unnecessarily read many books or give discourses as a means of livelihood. He must never attempt to increase material opulences unnecessarily.

9A peaceful, equipoised person who is factually advanced in spiritual consciousness does not need to accept the symbols of a sannyāsī, such as the tridaṇḍa and kamaṇḍalu. According to necessity, he may sometimes accept those symbols and sometimes reject them.

10Although a saintly person may not expose himself to the vision of human society, by his behavior his purpose is disclosed. To human society he should present himself like a restless child, and although he is the greatest thoughtful orator, he should present himself like a dumb man.

11As a historical example of this, learned sages recite the story of an ancient discussion between Prahlāda Mahārāja and a great saintly person who was feeding himself like a python.

12-13Prahlāda Mahārāja, the most dear servitor of the Supreme Personality of Godhead, once went out touring the universe with some of his confidential associates just to study the nature of saintly persons. Thus he arrived at the bank of the Kāverī, where there was a mountain known as Sahya. There he found a great saintly person who was lying on the ground, covered with dirt and dust, but who was deeply spiritually advanced.

14Neither by that saintly person's activities, by his bodily features, by his words nor by the symptoms of his varṇāśrama status could people understand whether he was the same person they had known.

15The advanced devotee Prahlāda Mahārāja duly worshiped and offered obeisances to the saintly person who had adopted a python's means of livelihood. After thus worshiping the saintly person and touching his own head to the saint's lotus feet, Prahlāda Mahārāja, in order to understand him, inquired very submissively as follows.

16-17Seeing the saintly person to be quite fat, Prahlāda Mahārāja said: My dear sir, you undergo no endeavor to earn your livelihood, but you have a stout body, exactly like that of a materialistic enjoyer. I know that if one is very rich and has nothing to do, he becomes extremely fat by eating and sleeping and performing no work.

18O brāhmaṇa, fully in knowledge of transcendence, you have nothing to do, and therefore you are lying down. It is also understood that you have no money for sense enjoyment. How then has your body become so fat? Under the circumstances, if you do not consider my question impudent, kindly explain how this has happened.

19Your Honor appears learned, expert and intelligent in every way. You can speak very well, saying things that are pleasing to the heart. You see that people in general are engaged in fruitive activities, yet you are lying here inactive.

20Nārada Muni continued: When the saintly person was thus questioned by Prahlāda Mahārāja, the King of the Daityas, he was captivated by this shower of nectarean words, and he replied to the inquisitiveness of Prahlāda Mahārāja with a smiling face.

21The saintly brāhmaṇa said: O best of the asuras, Prahlāda Mahārāja, who are recognized by advanced and civilized men, you are aware of the different stages of life because of your inherent transcendental eyes, with which you can see a man's character and thus know clearly the results of acceptance and rejection of things as they are.

22Nārāyaṇa, the Supreme Personality of Godhead, who is full of all opulences, is predominant within the core of your heart because of your being a pure devotee. He always drives away all the darkness of ignorance, as the sun drives away the darkness of the universe.

23My dear King, although you know everything, you have posed some questions, which I shall try to answer according to what I have learned by hearing from authorities. I cannot remain silent in this regard, for a personality like you is just fit to be spoken to by one who desires self-purification.

24Because of insatiable material desires, I was being carried away by the waves of material nature's laws, and thus I was engaging in different activities, struggling for existence in various forms of life.

25In the course of the evolutionary process, which is caused by fruitive activities due to undesirable material sense gratification, I have received this human form of life, which can lead to the heavenly planets, to liberation, to the lower species, or to rebirth among human beings.

26In this human form of life, men and women unite for the sensual pleasure of sex, but by actual experience we have observed that none of them are happy. Therefore, seeing the contrary results, I have stopped taking part in materialistic activities.

27The actual form of life for the living entities is one of spiritual happiness, which is real happiness. This happiness can be achieved only when one stops all materialistic activities. Material sense enjoyment is simply an imagination. Therefore, considering this subject matter, I have ceased from all material activities and am lying down here.

28In this way the conditioned soul living within the body forgets his self-interest because he identifies himself with the body. Because the body is material, his natural tendency is to be attracted by the varieties of the material world. Thus the living entity suffers the miseries of material existence.

29Just as a deer, because of ignorance, cannot see the water within a well covered by grass, but runs after water elsewhere, the living entity covered by the material body does not see the happiness within himself, but runs after happiness in the material world.

30The living entity tries to achieve happiness and rid himself of the causes of distress, but because the various bodies of the living entities are under the full control of material nature, all his plans in different bodies, one after another, are ultimately baffled.

31Materialistic activities are always mixed with three kinds of miserable conditionsadhyātmika, adhidaivika and adhibautika. Therefore, even if one achieves some success by performing such activities, what is the benefit of this success? One is still subjected to birth, death, old age, disease and the reactions of his fruitive activities.

32The brāhmaṇa continued: I am actually seeing how a rich man, who is a victim of his senses, is very greedy to accumulate wealth, and therefore suffers from insomnia due to fear from all

sides, despite his wealth and opulence.

33Those who are considered materially powerful and rich are always full of anxieties because of governmental laws, thieves and rogues, enemies, family members, animals, birds, persons seeking charity, the inevitable time factor and even their own selves. Thus they are invariably afraid.

34Those in human society who are intelligent should give up the original cause of lamentation, illusion, fear, anger, attachment, poverty and unnecessary labor. The original cause of all of these is the desire for unnecessary prestige and money.

35The bee and the python are two excellent spiritual masters who give us exemplary instructions regarding how to be satisfied by collecting only a little and how to stay in one place and not move.

36From the bumblebee I have learned to be unattached to accumulating money, for although money is as good as honey, anyone can kill its owner and take it away.

37I do not endeavor to get anything, but am satisfied with whatever is achieved in its own way. If I do not get anything, I am patient and unagitated like a python and lie down in this way for many days.

38Sometimes I eat a very small quantity and sometimes a great quantity. Sometimes the food is very palatable, and sometimes it is stale. Sometimes prasāda is offered with great respect, and sometimes food is given neglectfully. Sometimes I eat during the day and sometimes at night. Thus I eat what is easily available.

39To cover my body I use whatever is available, whether it be linen, silk, cotton, bark or deerskin, according to my destiny, and I am fully satisfied and unagitated.

40Sometimes I lie on the surface of the earth, sometimes on leaves, grass or stone, sometimes on a pile of ashes, or sometimes, by the will of others, in a palace on a first-class bed with pillows.

41O my lord, sometimes I bathe myself very nicely, smear sandalwood pulp all over my body, put on a flower garland, and dress in fine garments and ornaments. Then I travel like a king on the back of an elephant or on a chariot or horse. Sometimes, however, I travel naked, like a person haunted by a ghost.

42Different people are of different mentalities. Therefore it is not my business either to praise them or to blaspheme them. I only desire their welfare, hoping that they will agree to become one with the Supersoul, the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa.

43The mental concoction of discrimination between good and bad should be accepted as one unit and then invested in the mind, which should then be invested in the false ego. The false ego should be invested in the total material energy. This is the process of fighting false discrimination.

44A learned, thoughtful person must realize that material existence is illusion. This is possible only by self-realization. A self-realized person, who has actually seen the truth, should retire from all material activities, being situated in self-realization.

45Prahlāda Mahārāja, you are certainly a self-realized soul and a devotee of the Supreme Lord. You do not care for public opinion or so-called scriptures. For this reason I have described to you without hesitation the history of my self-realization.

46Nārada Muni continued: After Prahlāda Mahārāja, the King of the demons, heard these instructions from the saint, he understood the occupational duties of a perfect person [paramahaṁsa]. Thus he duly worshiped the saint, took his permission and then left for his own home.

**SB 7.14: Ideal Family Life**

This chapter describes the occupational duties of the householder according to the time, the country and the performer. When Yudhiṣṭhira Mahārāja became very much inquisitive about the occupational duties for the householder, Nārada Muni advised him that a *gṛhastha's* first duty is to be fully dependent on Vāsudeva, Kṛṣṇa, and to try to satisfy Him in all respects by executing one's prescribed devotional service. This devotional service will depend on the instructions of authorities and the association of devotees who are actually engaged in devotional service. The beginning of devotional service is *śravaṇam,* or hearing. One must hear from the mouths of realized souls. In this way the *gṛhastha's* attraction to his wife and children will gradually be reduced.

As for the maintenance of his family, a *gṛhastha,* while earning what he requires for his living, must be very conscientious and must not undergo extraordinary endeavor simply to accumulate money and unnecessarily increase in material comforts. Although a *gṛhastha* should externally be very active in earning his livelihood, he should internally be situated as a fully self-realized person, without attachment for material gains. His dealings with family members or friends should be performed simply to fulfill their purpose; one should not be extravagantly engaged in this way. Instructions from family members and society should be accepted superficially, but in essence the *gṛhastha* should be engaged in occupational duties advised by the spiritual master and *śāstra*. Specifically a *gṛhastha* should engage in agricultural activities to earn money. As stated in *Bhagavad-gītā* (18.44), *kṛṣi-go-rakṣya-vāṇijyam*agriculture, cow protection and tradeare special duties of *gṛhasthas*. If by chance or by the grace of the Lord more money comes, it should be properly engaged for the Kṛṣṇa consciousness movement. One should not be eager to earn more money simply for sensual pleasure. A *gṛhastha* should always remember that one who is endeavoring to accumulate more money than necessary is to be considered a thief and is punishable by the laws of nature.

A *gṛhastha* should be very much affectionate toward lower animals, birds and bees, treating them exactly like his own children. A *gṛhastha* should not indulge in killing animals or birds for sense gratification. He should provide the necessities of life even to the dogs and the lowest creatures and should not exploit others for sense gratification. Factually, according to the instructions of *Śrīmad-Bhāgavatam,* every *gṛhastha* is a great communist who provides the means of living for everyone. Whatever a *gṛhastha* may possess he should equally distribute to all living entities, without discrimination. The best process is to distribute *prasāda*.

A *gṛhastha* should not be very much attached to his wife; he should engage even his own wife in serving a guest with all attention. Whatever money a *gṛhastha* accumulates by the grace of God he should spend in five activities, namely worshiping the Supreme Personality of Godhead, receiving Vaiṣṇavas and saintly persons, distributing *prasāda* to the general public and to all living entities, offering *prasāda* to his forefathers, and also offering *prasāda* to his own self. *Gṛhasthas* should always be ready to worship everyone as mentioned above. The *gṛhastha* should not eat anything not offered to the Supreme Personality of Godhead. As it is said in the *Bhagavad-gītā* (3.13), *yajṣa-śiṣṭāśinaḥ santo mucyante sarva-kilbiṣaiḥ:* "The devotees of the Lord are released from all kinds of sins because they eat food that is offered first for sacrifice." The *gṛhastha* should also visit the holy places of pilgrimage mentioned in the *Purāṇas*. In this way he should fully engage in worshiping the Supreme Personality of

Godhead for the benefit of his family, his society, his country, and humanity at large.

1Mahārāja Yudhiṣṭhira inquired from Nārada Muni: O my lord, O great sage, kindly explain how we who are staying at home without knowledge of the goal of life may also easily attain liberation, according to the instructions of the Vedas.

2Nārada Muni replied: My dear King, those who stay at home as householders must act to earn their livelihood, and instead of trying to enjoy the results of their work themselves, they should offer these results to Kṛṣṇa, Vāsudeva. How to satisfy Vāsudeva in this life can be perfectly understood through the association of great devotees of the Lord.

3-4A gṛhastha must associate again and again with saintly persons, and with great respect he must hear the nectar of the activities of the Supreme Lord and His incarnations as these activities are described in Śrīmad-Bhāgavatam and other Purāṇas. Thus one should gradually become detached from affection for his wife and children, exactly like a man awakening from a dream.

5While working to earn his livelihood as much as necessary to maintain body and soul together, one who is actually learned should live in human society unattached to family affairs, although externally appearing very much attached.

6An intelligent man in human society should make his own program of activities very simple. If there are suggestions from his friends, children, parents, brothers or anyone else, he should externally agree, saying, "Yes, that is all right," but internally he should be determined not to create a cumbersome life in which the purpose of life will not be fulfilled.

7The natural products created by the Supreme Personality of Godhead should be utilized to maintain the bodies and souls of all living entities. The necessities of life are of three types: those produced from the sky [from rainfall], from the earth [from the mines, the seas or the fields], and from the atmosphere [that which is obtained suddenly and unexpectedly].

8One may claim proprietorship to as much wealth as required to maintain body and soul together, but one who desires proprietorship over more than that must be considered a thief, and he deserves to be punished by the laws of nature.

9One should treat animals such as deer, camels, asses, monkeys, mice, snakes, birds and flies exactly like one's own son. How little difference there actually is between children and these innocent animals.

10Even if one is a householder rather than a brahmacārī, a sannyāsī or a vānaprastha, one should not endeavor very hard for religiosity, economic development or satisfaction of the senses. Even in householder life, one should be satisfied to maintain body and soul together with whatever is available with minimum endeavor, according to place and time, by the grace of the Lord. One should not engage oneself in ugra-karma.

11Dogs, fallen persons and untouchables, including caṇḍālas [dog-eaters], should all be maintained with their proper necessities, which should be contributed by the householders. Even one's wife at home, with whom one is most intimately attached, should be offered for the reception of guests and people in general.

12One so seriously considers one's wife to be his own that he sometimes kills himself for her or kills others, including even his parents or his spiritual master or teacher. Therefore if one can give up his attachment to such a wife, he conquers the Supreme Personality of Godhead, who is never conquered by anyone.

13Through proper deliberation, one should give up attraction to his wife's body because that body will ultimately be transformed into small insects, stool or ashes. What is the value of this insignificant body? How much greater is the Supreme Being, who is all-pervading like the sky?

14An intelligent person should be satisfied with eating prasāda [food offered to the Lord] or with performing the five different kinds of yajṣa [paṣca-sūnā]. By such activities, one can give up attachment for the body and so-called proprietorship with reference to the body. When one is able to do this, he is firmly fixed in the position of a mahātmā.

15Every day, one should worship the Supreme Being who is situated in everyone's heart, and on this basis one should separately worship the demigods, the saintly persons, ordinary human beings and living entities, one's forefathers and one's self. In this way one is able to worship the Supreme Being in the core of everyone's heart.

16When one is enriched with wealth and knowledge which are under his full control and by means of which he can perform yajṣa or please the Supreme Personality of Godhead, one must perform sacrifices, offering oblations to the fire according to the directions of the śāstras. In this way one should worship the Supreme Personality of Godhead.

17The Supreme Personality of Godhead, Śrī Kṛṣṇa, is the enjoyer of sacrificial offerings. Yet although His Lordship eats the oblations offered in the fire, my dear King, He is still more satisfied when nice food made of grains and ghee is offered to Him through the mouths of qualified brāhmaṇas.

18Therefore, my dear King, first offer prasāda unto the brāhmaṇas and the demigods, and after sumptuously feeding them you may distribute prasāda to other living entities according to your ability. In this way you will be able to worship all living entitiesor, in other words, the supreme living entity within every living entity.

19A brāhmaṇa who is sufficiently rich must offer oblations to the forefathers during the dark-moon fortnight in the latter part of the month of Bhādra. Similarly, he should offer oblations to the relatives of the forefathers during the mahālayā ceremonies in the month of Āśvina.*

20-23One should perform the śrāddha ceremony on the Makara-saṅkrānti [the day when the sun begins to move north] or on the Karkaṭa-saṅkrānti [the day when the sun begins to move south]. One should also perform this ceremony on the Meṣa-saṅkrānti day and the Tulā-saṅkrānti day, in the yoga named Vyatīpāta, on that day in which three lunar tithis are conjoined, during an eclipse of either the moon or the sun, on the twelfth lunar day, and in the Śravaṇa-nakṣatra. One should perform this ceremony on the Akṣaya-tṛtīyā day, on the ninth lunar day of the bright fortnight of the month of Kārtika, on the four aṣṭakās in the winter season and cool season, on the seventh lunar day of the bright fortnight of the month of Māgha, during the conjunction of Maghā-nakṣatra and the full-moon day, and on the days when the moon is completely full, or not quite completely full, when these days are conjoined with the nakṣatras from which the names of certain months are derived. One should also perform the śrāddha ceremony on the twelfth lunar day when it is in conjunction with any of the nakṣatras named Anurādhā, Śravaṇa, Uttara-phalgunī, Uttarāṣāḍhā or Uttara-bhādrapadā. Again, one should perform this ceremony when the eleventh lunar day is in conjunction with either Uttara-phalgunī, Uttarāṣāḍhā or Uttara-bhādrapadā. Finally, one should perform this ceremony on days conjoined with one's own birth star [janma-nakṣatra] or with Śravaṇa-nakṣatra.

24All of these seasonal times are considered extremely auspicious for humanity. At such times, one should perform all auspicious activities, for by such activities a human being attains

success in his short duration of life.

25During these periods of seasonal change, if one bathes in the Ganges, in the Yamunā or in another sacred place, if one chants, offers fire sacrifices or executes vows, or if one worships the Supreme Lord, the brāhmaṇas, the forefathers, the demigods and the living entities in general, whatever he gives in charity yields a permanently beneficial result.

26O King Yudhiṣṭhira, at the time prescribed for reformatory ritualistic ceremonies for one's self, one's wife or one's children, or during funeral ceremonies and annual death ceremonies, one must perform the auspicious ceremonies mentioned above in order to flourish in fruitive activities.

27-28Nārada Muni continued: Now I shall describe the places where religious performances may be well executed. Any place where a Vaiṣṇava is available is an excellent place for all auspicious activities. The Supreme Personality of Godhead is the support of this entire cosmic manifestation, with all its moving and nonmoving living entities, and the temple where the Deity of the Lord is installed is a most sacred place. Furthermore, places where learned brāhmaṇas observe Vedic principles by means of austerity, education and mercy are also most auspicious and sacred.

29Auspicious indeed are the places where there is a temple of the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, in which He is duly worshiped, and also the places where there flow the celebrated sacred rivers mentioned in the Purāṇas, the supplementary Vedic literatures. Anything spiritual done there is certainly very effective.

30-33The sacred lakes like Puṣkara and places where saintly persons live, like Kurukṣetra, Gayā, Prayāga, Pulahāśrama, Naimiṣāraṇya, the banks of the Phālgu River, Setubandha, Prabhāsa, Dvārakā, Vārāṇasī, Mathurā, Pampā, Bindu-sarovara, Badarikāśrama [Nārāyaṇāśrama], the places where the Nandā River flows, the places where Lord Rāmacandra and mother Sītā took shelter, such as Citrakūṭa, and also the hilly tracts of land known as Mahendra and Malayaall of these are to be considered most pious and sacred. Similarly, places outside India where there are centers of the Kṛṣṇa consciousness movement and where Rādhā-Kṛṣṇa Deities are worshiped must all be visited and worshiped by those who want to be spiritually advanced. One who intends to advance in spiritual life may visit all these places and perform ritualistic ceremonies to get results a thousand times better than the results of the same activities performed in any other place.

34O King of the earth, it has been decided by expert, learned scholars that only the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, in whom all that is moving or nonmoving within this universe is resting and from whom everything is coming, is the best person to whom everything must be given.

35O King Yudhiṣṭhira, the demigods, many great sages and saints including even the four sons of Lord Brahmā, and I myself were present at your Rājasūya sacrificial ceremony, but when there was a question of who should be the first person worshiped, everyone decided upon Lord Kṛṣṇa, the Supreme Person.

36The entire universe, which is full of living entities, is like a tree whose root is the Supreme Personality of Godhead, Acyuta [Kṛṣṇa]. Therefore simply by worshiping Lord Kṛṣṇa one can worship all living entities.

37The Supreme Personality of Godhead has created many residential places like the bodies of human beings, animals, birds, saints and demigods. In all of these innumerable bodily forms,

the Lord resides with the living being as Paramātmā. Thus He is known as the puruṣāvatāra.

38O King Yudhiṣṭhira, the Supersoul in every body gives intelligence to the individual soul according to his capacity for understanding. Therefore the Supersoul is the chief within the body. The Supersoul is manifested to the individual soul according to the individual's comparative development of knowledge, austerity, penance and so on.

39My dear King, when great sages and saintly persons saw mutually disrespectful dealings at the beginning of Tretā-yuga, Deity worship in the temple was introduced with all paraphernalia.

40Sometimes a neophyte devotee offers all the paraphernalia for worshiping the Lord, and he factually worships the Lord as the Deity, but because he is envious of the authorized devotees of Lord Viṣṇu, the Lord is never satisfied with his devotional service.

41My dear King, of all persons a qualified brāhmaṇa must be accepted as the best within this material world because such a brāhmaṇa, by practicing austerity, Vedic studies and satisfaction, becomes the counterpart body of the Supreme Personality of Godhead.

42My dear King Yudhiṣṭhira, the brāhmaṇas, especially those engaged in preaching the glories of the Lord throughout the entire world, are recognized and worshiped by the Supreme Personality of Godhead, who is the heart and soul of all creation. The brāhmaṇas, by their preaching, sanctify the three worlds with the dust of their lotus feet, and thus they are worshipable even for Kṛṣṇa.

## SB 7.15: Instructions for Civilized Human Beings

The summary of the Fifteenth Chapter is as follows. In the previous chapter, Śrī Nārada Muni proved the importance of the *brāhmaṇa* in society. Now, in this chapter, he will show the differences between different grades of *brāhmaṇas.* Among the *brāhmaṇas,* some are householders and are mostly attached to fruitive activities or the betterment of social conditions. Above them, however, are *brāhmaṇas* who are very much attracted by austerities and penances and who retire from family life. They are known as *vānaprasthas.* Other *brāhmaṇas* are very much interested in studying the *Vedas* and explaining the purport of the *Vedas* to others. Such *brāhmaṇas* are called *brahmacārīs.* And still other *brāhmaṇas* are interested in different types of *yoga,* especially *bhakti-yoga* and *Jnana-yoga.* Such *brāhmaṇas* are mostly *sannyāsīs,* members of the renounced order of life.

As far as householders are concerned, they engage in different types of scriptural activities, especially in offering oblations to their forefathers and giving as charity to other *brāhmaṇas* the paraphernalia engaged in such sacrifices. Generally the charity is given to *sannyāsīs, brāhmaṇas* in the renounced order of life. If such a *sannyāsī* is not available, the charity is given to *brāhmaṇa* householders engaged in fruitive activities.

One should not make very elaborate arrangements to perform the *śrāddha* ceremony of offering oblations to one's forefathers. The best process for the *śrāddha* ceremony is to distribute *bhāgavata-prasāda* (remnants of food that has first been offered to Kṛṣṇa) to all of one's forefathers and relatives. This makes a first-class *śrāddha* ceremony. In the *śrāddha* ceremony there is no need to offer meat or eat meat. Unnecessary killing of animals must be avoided. Those who are in the lower grades of society prefer to perform sacrifices by killing animals, but one who is advanced in knowledge must avoid such unnecessary violence.

*Brāhmaṇas* should execute their regulative duties in worshiping Lord Viṣṇu. Those who are

advanced in knowledge of religious principles must avoid five kinds of irreligion, known as *vidharma, para-dharma, dharmābhāsa, upadharma* and *chala-dharma.* One must act according to the religious principles that suit his constitutional position; it is not that everyone must adhere to the same type of religion. A general principle is that a poor man should not unnecessarily endeavor for economic development. One who refrains from such endeavors but who engages in devotional service is most auspicious.

One who is not satisfied with the mind must fall to degradation. One must conquer lusty desires, anger, greed, fear, lamentation, illusion, fright, unnecessary talks on material subjects, violence, the four miseries of material existence, and the three material qualities. That is the objective of human life. One who has no faith in the spiritual master, who is identical with Śrī Kṛṣṇa, cannot get any benefit from reading *śāstra.* One should never consider the spiritual master an ordinary human being, even though the members of the spiritual master's family may think of him as such. Meditation and other processes of austerity are useful only if they help in advancement toward Kṛṣṇa consciousness; otherwise, they are simply a waste of time and labor. For those who are not devotees, such meditation and austerity cause falldown.

Every householder should be very careful because even though a householder may try to conquer the senses, he becomes a victim to the association of relatives and falls down. Thus a *gṛhastha* must become a *vānaprastha* or *sannyāsī,* live in a secluded place, and be satisfied with food gotten by begging from door to door. He must chant the *oṁkāra mantra* or Hare Kṛṣṇa *mantra,* and in this way he will perceive transcendental bliss within himself. After taking *sannyāsa,* however, if one returns to *gṛhastha* life, he is called a *vāntāśī,* which means "one who eats his own vomit." Such a person is shameless. A householder should not give up the ritualistic ceremonies, and a *sannyāsī* should not live in society. If a *sannyāsī* is agitated by the senses, he is a cheater influenced by the modes of passion and ignorance. When one assumes a role in goodness by starting philanthropic and altruistic activities, such activities become impediments on the path of devotional service.

The best process for advancing in devotional service is to abide by the orders of the spiritual master, for only by his direction can one conquer the senses. Unless one is completely Kṛṣṇa conscious, there is a chance of falling down. Of course, in performing ritualistic ceremonies and other fruitive activities there are also many dangers at every moment. Fruitive activities have been divided into twelve portions. Because of performing fruitive activities, which are called the path of *dharma,* one has to accept the cycle of birth and death, but when one takes the path of *mokṣa,* or liberation, which is described in *Bhagavad-gītā* as *arcanā-mārga,* one can get relief from the cycle of birth and death. The *Vedas* describe these two paths as *pitṛ-yāna* and *deva-yāna.* Those who follow the paths of *pitṛ-yāna* and *deva-yāna* are never bewildered, even while in the material body. A monistic philosopher who gradually develops control of the senses understands that the objective of all the different *āśramas,* the statuses of life, is salvation. One must live and act according to *śāstras.*

If one who is performing the Vedic ritualistic ceremonies becomes a devotee, even if he is a *gṛhastha,* he can receive the causeless mercy of Kṛṣṇa. The objective of a devotee is to return home, back to Godhead. Such a devotee, even though not performing ritualistic ceremonies, advances in spiritual consciousness by the supreme will of the Personality of Godhead. One may actually become successful in spiritual consciousness by the mercy of devotees, or one may fall from spiritual consciousness by being disrespectful to devotees. In this regard, Nārada Muni narrated the history of how he had fallen from the Gandharva kingdom, how he was born in a *śūdra* family, and how by serving exalted *brāhmaṇas* he became the son of Lord Brahmā and was reinstated in his transcendental position. After narrating all these stories, Nārada Muni praised the mercy received from the Lord by the Pāṇḍavas. Mahārāja Yudhiṣṭhira,

after hearing from Nārada, became ecstatic in love of Kṛṣṇa, and then Nārada Muni left that place and returned to his own place. Thus Śukadeva Gosvāmī, having described various descendants of the daughters of Dakṣa, ends the Seventh Canto of *Śrīmad-Bhāgavatam.*

1Nārada Muni continued: My dear King, some brāhmaṇas are very much attached to fruitive activities, some are attached to austerities and penances, and still others study the Vedic literature, whereas some, although very few, cultivate knowledge and practice different yogas, especially bhakti-yoga.

2A person desiring liberation for his forefathers or himself should give charity to a brāhmaṇa who adheres to impersonal monism [Jnana-niṣṭhā]. In the absence of such an advanced brāhmaṇa, charity may be given to a brāhmaṇa addicted to fruitive activities [karma-kāṇḍa].

3During the period for offering oblations to the demigods, one should invite only two brāhmaṇas, and while offering oblations to the forefathers, one may invite three brāhmaṇas. Or, in either case, only one brāhmaṇa will suffice. Even though one is very opulent, he should not endeavor to invite more brāhmaṇas or make various expensive arrangements on those occasions.

4If one arranges to feed many brāhmaṇas or relatives during the śrāddha ceremony, there will be discrepancies in the time, place, respectability and ingredients, the person to be worshiped, and the method of offering worship.

5When one gets the opportunity of a suitable auspicious time and place, one should, with love, offer food prepared with ghee to the Deity of the Supreme Personality of Godhead and then offer the prasāda to a suitable persona Vaiṣṇava or brāhmaṇa. This will be the cause of everlasting prosperity.

6One should offer prasāda to the demigods, the saintly persons, one's forefathers, the people in general, one's family members, one's relatives and one's friends, seeing them all as devotees of the Supreme Personality of Godhead.

7A person fully aware of religious principles should never offer anything like meat, eggs or fish in the śrāddha ceremony, and even if one is a kṣatriya, he himself should not eat such things. When suitable food prepared with ghee is offered to saintly persons, the function is pleasing to the forefathers and the Supreme Lord, who are never pleased when animals are killed in the name of sacrifice.

8Persons who want to advance in superior religion are advised to give up all envy of other living entities, whether in relationship to the body, words or mind. There is no religion superior to this.

9Because of an awakening of spiritual knowledge, those who are intelligent in regard to sacrifice, who are actually aware of religious principles and who are free from material desires, control the self in the fire of spiritual knowledge, or knowledge of the Absolute Truth. They may give up the process of ritualistic ceremonies.

10Upon seeing the person engaged in performing the sacrifice, animals meant to be sacrificed are extremely afraid, thinking, "This merciless performer of sacrifices, being ignorant of the purpose of sacrifice and being most satisfied by killing others, will surely kill us."

11Therefore, day by day, one who is actually aware of religious principles and is not heinously envious of poor animals should happily perform daily sacrifices and those for certain occasions with whatever food is available easily by the grace of the Lord.

12There are five branches of irreligion, appropriately known as irreligion [vidharma], religious principles for which one is unfit [para-dharma], pretentious religion [ābhāsa], analogical religion [upadharma] and cheating religion [chala-dharma]. One who is aware of real religious life must abandon these five as irreligious.

13Religious principles that obstruct one from following his own religion are called vidharma. Religious principles introduced by others are called para-dharma. A new type of religion created by one who is falsely proud and who opposes the principles of the Vedas is called upadharma. And interpretation by one's jugglery of words is called chala-dharma.

14A pretentious religious system manufactured by one who willfully neglects the prescribed duties of his order of life is called ābhāsa [a dim reflection or false similarity]. But if one performs the prescribed duties for his particular āśrama or varṇa, why are they not sufficient to mitigate all material distresses?

15Even if a man is poor, he should not endeavor to improve his economic condition just to maintain his body and soul together or to become a famous religionist. Just as a great python, although lying in one place, not endeavoring for its livelihood, gets the food it needs to maintain body and soul, one who is desireless also obtains his livelihood without endeavor.

16One who is content and satisfied and who links his activities with the Supreme Personality of Godhead residing in everyone's heart enjoys transcendental happiness without endeavoring for his livelihood. Where is such happiness for a materialistic man who is impelled by lust and greed and who therefore wanders in all directions with a desire to accumulate wealth?

17For a person who has suitable shoes on his feet, there is no danger even when he walks on pebbles and thorns. For him, everything is auspicious. Similarly, for one who is always self-satisfied there is no distress; indeed, he feels happiness everywhere.

18My dear King, a self-satisfied person can be happy even with only drinking water. However, one who is driven by the senses, especially by the tongue and genitals, must accept the position of a household dog to satisfy his senses.

19Because of greed for the sake of the senses, the spiritual strength, education, austerity and reputation of a devotee or brāhmaṇa who is not self-satisfied dwindle, and his knowledge gradually vanishes.

20The strong bodily desires and needs of a person disturbed by hunger and thirst are certainly satisfied when he eats. Similarly, if one becomes very angry, that anger is satisfied by chastisement and its reaction. But as for greed, even if a greedy person has conquered all the directions of the world or has enjoyed everything in the world, still he will not be satisfied.

21O King Yudhiṣṭhira, many persons with varied experience, many legal advisers, many learned scholars and many persons eligible to become presidents of learned assemblies fall down into hellish life because of not being satisfied with their positions.

22By making plans with determination, one should give up lusty desires for sense gratification. Similarly, by giving up envy one should conquer anger, by discussing the disadvantages of accumulating wealth one should give up greed, and by discussing the truth one should give up fear.

23By discussing spiritual knowledge one can conquer lamentation and illusion, by serving a great devotee one can become prideless, by keeping silent one can avoid obstacles on the path of mystic yoga, and simply by stopping sense gratification one can conquer envy.

24By good behavior and freedom from envy one should counteract sufferings due to other living entities, by meditation in trance one should counteract sufferings due to providence, and by practicing haṭha-yoga, prāṇāyāma and so forth one should counteract sufferings due to the body and mind. Similarly, by developing the mode of goodness, especially in regard to eating, one should conquer sleep.

25One must conquer the modes of passion and ignorance by developing the mode of goodness, and then one must become detached from the mode of goodness by promoting oneself to the platform of śuddha-sattva. All this can be automatically done if one engages in the service of the spiritual master with faith and devotion. In this way one can conquer the influence of the modes of nature.

26The spiritual master should be considered to be directly the Supreme Lord because he gives transcendental knowledge for enlightenment. Consequently, for one who maintains the material conception that the spiritual master is an ordinary human being, everything is frustrated. His enlightenment and his Vedic studies and knowledge are like the bathing of an elephant.

27The Supreme Personality of Godhead, Lord Kṛṣṇa, is the master of all other living entities and of the material nature. His lotus feet are sought and worshiped by great saintly persons like Vyāsa. Nonetheless, there are fools who consider Lord Kṛṣṇa an ordinary human being.

28Ritualistic ceremonies, regulative principles, austerities and the practice of yoga are all meant to control the senses and mind, but even after one is able to control the senses and mind, if he does not come to the point of meditation upon the Supreme Lord, all such activities are simply labor in frustration.

29As professional activities or business profits cannot help one in spiritual advancement but are a source of material entanglement, the Vedic ritualistic ceremonies cannot help anyone who is not a devotee of the Supreme Personality of Godhead.

30One who desires to conquer the mind must leave the company of his family and live in a solitary place, free from contaminated association. To maintain the body and soul together, he should beg as much as he needs for the bare necessities of life.

31My dear King, in a sacred and holy place of pilgrimage one should select a place in which to perform yoga. The place must be level and not too high or low. There one should sit very comfortably, being steady and equipoised, keeping his body straight, and thus begin chanting the Vedic praṇava.

32-33While continuously staring at the tip of the nose, a learned yogī practices the breathing exercises through the technical means known as pūraka, kumbhaka and recakacontrolling inhalation and exhalation and then stopping them both. In this way the yogī restricts his mind from material attachments and gives up all mental desires. As soon as the mind, being defeated by lusty desires, drifts toward feelings of sense gratification, the yogīshould immediately bring it back and arrest it within the core of his heart.

34When the yogī regularly practices in this way, in a short time his heart becomes fixed and free from disturbance, like a fire without flames or smoke.

35When one's consciousness is uncontaminated by material lusty desires, it becomes calm and peaceful in all activities, for one is situated in eternal blissful life. Once situated on that platform, one does not return to materialistic activities.

36One who accepts the sannyāsa order gives up the three principles of materialistic activities in which one indulges in the field of household lifenamely religion, economic development and sense gratification. One who first accepts sannyāsa but then returns to such materialistic activities is to be called a vāntāśī, or one who eats his own vomit. He is indeed a shameless person.

37Sannyāsīs who first consider that the body is subject to death, when it will be transformed into stool, worms or ashes, but who again give importance to the body and glorify it as the self, are to be considered the greatest rascals.

38-39It is abominable for a person living in the gṛhastha-āśrama to give up the regulative principles, for a brahmacārī not to follow the brahmacārī vows while living under the care of the guru, for a vānaprastha to live in the village and engage in so-called social activities, or for a sannyāsī to be addicted to sense gratification. One who acts in this way is to be considered the lowest renegade. Such a pretender is bewildered by the external energy of the Supreme Personality of Godhead, and one should either reject him from any position, or taking compassion upon him, teach him, if possible, to resume his original position.

40The human form of body is meant for understanding the self and the Supreme Self, the Supreme Personality of Godhead, both of whom are transcendentally situated. If both of them can be understood when one is purified by advanced knowledge, for what reason and for whom does a foolish, greedy person maintain the body for sense gratification?

41Transcendentalists who are advanced in knowledge compare the body, which is made by the order of the Supreme Personality of Godhead, to a chariot. The senses are like the horses; the mind, the master of the senses, is like the reins; the objects of the senses are the destinations; intelligence is the chariot driver; and consciousness, which spreads throughout the body, is the cause of bondage in this material world.

42The ten kinds of air acting within the body are compared to the spokes of the chariot's wheels, and the top and bottom of the wheel itself are called religion and irreligion. The living entity in the bodily concept of life is the owner of the chariot. The Vedic mantra praṇava is the bow, the pure living entity himself is the arrow, and the target is the Supreme Being.

43-44In the conditioned stage, one's conceptions of life are sometimes polluted by passion and ignorance, which are exhibited by attachment, hostility, greed, lamentation, illusion, fear, madness, false prestige, insults, fault-finding, deception, envy, intolerance, passion, bewilderment, hunger and sleep. All of these are enemies. Sometimes one's conceptions are also polluted by goodness.

45As long as one has to accept a material body, with its different parts and paraphernalia, which are not fully under one's control, one must have the lotus feet of his superiors, namely his spiritual master and the spiritual master's predecessors. By their mercy, one can sharpen the sword of knowledge, and with the power of the Supreme Personality of Godhead's mercy one must then conquer the enemies mentioned above. In this way, the devotee should be able to merge into his own transcendental bliss, and then he may give up his body and resume his spiritual identity.

46Otherwise, if one does not take shelter of Acyuta and Baladeva, then the senses, acting as the horses, and the intelligence, acting as the driver, both being prone to material contamination, inattentively bring the body, which acts as the chariot, to the path of sense gratification. When one is thus attracted again by the rogues of viṣayaeating, sleeping and matingthe horses and chariot driver are thrown into the blinding dark well of material

existence, and one is again put into a dangerous and extremely fearful situation of repeated birth and death.

47According to the Vedas, there are two kinds of activitiespravṛtti and nivṛtti. Pravṛtti activities involve raising oneself from a lower to a higher condition of materialistic life, whereas nivṛtti means the cessation of material desire. Through pravṛtti activities one suffers from material entanglement, but by nivṛtti activities one is purified and becomes fit to enjoy eternal, blissful life.

48-49The ritualistic ceremonies and sacrifices known as agni-hotra-yajṣa, darśa-yajṣa, pūrṇamāsa-yajṣa, cāturmāsya-yajṣa, paśu-yajṣa and soma-yajṣa are all symptomized by the killing of animals and the burning of many valuables, especially food grains, all for the fulfillment of material desires and the creation of anxiety. Performing such sacrifices, worshiping Vaiśvadeva, and performing the ceremony of Baliharaṇa, which all supposedly constitute the goal of life, as well as constructing temples for demigods, building resting houses and gardens, digging wells for the distribution of water, establishing booths for the distribution of food, and performing activities for public welfarethese are all symptomized by attachment to material desires.

50-51My dear King Yudhiṣṭhira, when oblations of ghee and food grains like barley and sesame are offered in sacrifice, they turn into celestial smoke, which carries one to successively higher planetary systems like the kingdoms of Dhumā, Rātri, Kṛṣṇapakṣa, Dakṣiṇam and ultimately the moon. Then, however, the performers of sacrifice descend again to earth to become herbs, creepers, vegetables and food grains. These are eaten by different living entities and turned to semen, which is injected into female bodies. Thus one takes birth again and again.

52A twice-born brāhmaṇa [dvija] gains his life by the grace of his parents through the process of purification known as garbhādhāna. There are also other processes of purification, until the end of life, when the funeral ceremony [antyeṣṭi-kriyā] is performed. Thus in due course a qualified brāhmaṇa becomes uninterested in materialistic activities and sacrifices, but he offers the sensual sacrifices, in full knowledge, into the working senses, which are illuminated by the fire of knowledge.

53The mind is always agitated by waves of acceptance and rejection. Therefore all the activities of the senses should be offered into the mind, which should be offered into one's words. Then one's words should be offered into the aggregate of all alphabets, which should be offered into the concise form oṁkāra. Oṁkāra should be offered into the point bindu, bindu into the vibration of sound, and that vibration into the life air. Then the living entity, who is all that remains, should be placed in Brahman, the Supreme. This is the process of sacrifice.

54On his path of ascent, the progressive living entity enters the different worlds of fire, the sun, the day, the end of the day, the bright fortnight, the full moon, and the passing of the sun in the north, along with their presiding demigods. When he enters Brahmaloka, he enjoys life for many millions of years, and finally his material designation comes to an end. He then comes to a subtle designation, from which he attains the causal designation, witnessing all previous states. Upon the annihilation of this causal state, he attains his pure state, in which he identifies with the Supersoul. In this way the living entity becomes transcendental.

55This gradual process of elevation for self-realization is meant for those who are truly aware of the Absolute Truth. After repeated birth on this path, which is known as deva-yāna, one attains these consecutive stages. One who is completely free from all material desires, being situated in the self, need not traverse the path of repeated birth and death.

56Even though situated in a material body, one who is fully aware of the paths known as pitṛ-yāna and deva-yāna, and who thus opens his eyes in terms of Vedic knowledge, is never bewildered in this material world.

57He who exists internally and externally, at the beginning and end of everything and of all living beings, as that which is enjoyable and as the enjoyer of everything, superior and inferior, is the Supreme Truth. He always exists as knowledge and the object of knowledge, as expression and the object of understanding, as darkness and as light. Thus He, the Supreme Lord, is everything.

58Although one may consider the reflection of the sun from a mirror to be false, it has its factual existence. Accordingly, to prove by speculative knowledge that there is no reality would be extremely difficult.

59In this world there are five elementsnamely earth, water, fire, air and etherbut the body is not a reflection of them, nor a combination or transformation of them. Because the body and its ingredients are neither distinct nor amalgamated, all such theories are insubstantial.

60Because the body is formed of the five elements, it cannot exist without the subtle sense objects. Therefore, since the body is false, the sense objects are also naturally false or temporary.

61When a substance and its parts are separated, the acceptance of similarity between one and the other is called illusion. While dreaming, one creates a separation between the existences called wakefulness and sleep. It is in such a state of mind that the regulative principles of the scriptures, consisting of injunctions and prohibitions, are recommended.

62After considering the oneness of existence, activity and paraphernalia and after realizing the self to be different from all actions and reactions, the mental speculator [muni], according to his own realization, gives up the three states of wakefulness, dreaming and sleep.

63When one understands that result and cause are one and that duality is ultimately unreal, like the idea that the threads of a cloth are different from the cloth itself, one reaches the conception of oneness called bhāvādvaita.

64My dear Yudhiṣṭhira [Pārtha], when all the activities one performs with his mind, words and body are dedicated directly to the service of the Supreme Personality of Godhead, one reaches oneness of activities, called kriyādvaita.

65When the ultimate goal and interest of one's self, one's wife, one's children, one's relatives and all other embodied living beings is one, this is called dravyādvaita, or oneness of interest.

66In normal conditions, in the absence of danger, O King Yudhiṣṭhira, a man should perform his prescribed activities according to his status of life with the things, endeavors, process and living place that are not forbidden for him, and not by any other means.

67O King, one should perform his occupational duties according to these instructions, as well as other instructions given in the Vedic literature, just to remain a devotee of Lord Kṛṣṇa. Thus, even while at home, one will be able to reach the destination.

68O King Yudhiṣṭhira, because of your service to the Supreme Lord, all of you Pāṇḍavas defeated the greatest dangers posed by numerous kings and demigods. By serving the lotus feet of Kṛṣṇa, you conquered great enemies, who were like elephants, and thus you collected ingredients for sacrifice. By His grace, may you be delivered from material involvement.

69Long, long ago, in another mahā-kalpa [millennium of Brahmā], I existed as the Gandharva known as Upabarhaṇa. I was very respected by the other Gandharvas.

70I had a beautiful face and a pleasing, attractive bodily structure. Decorated with flower garlands and sandalwood pulp, I was most pleasing to the women of my city. Thus I was bewildered, always feeling lusty desires.

71Once there was a saṅkīrtana festival to glorify the Supreme Lord in an assembly of the demigods, and the Gandharvas and Apsarās were invited by the prajāpatis to take part in it.

72Nārada Muni continued: Being invited to that festival, I also joined, and, surrounded by women, I began musically singing the glories of the demigods. Because of this, the prajāpatis, the great demigods in charge of the affairs of the universe, forcefully cursed me with these words: "Because you have committed an offense, may you immediately become a śūdra, devoid of beauty."

73Although I took birth as a śūdra from the womb of a maidservant, I engaged in the service of Vaiṣṇavas who were well-versed in Vedic knowledge. Consequently, in this life I got the opportunity to take birth as the son of Lord Brahmā.

74The process of chanting the holy name of the Lord is so powerful that by this chanting even householders [gṛhasthas] can very easily gain the ultimate result achieved by persons in the renounced order. Mahārāja Yudhiṣṭhira, I have now explained to you that process of religion.

75My dear Mahārāja Yudhiṣṭhira, you Pāṇḍavas are so very fortunate in this world that many, many great saints, who can purify all the planets of the universe, come to your house just like ordinary visitors. Furthermore, the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, is living confidentially with you in your house, just like your brother.

76How wonderful it is that the Supreme Personality of Godhead, the Parabrahman, Kṛṣṇa, who is sought by great, great sages for the sake of liberation and transcendental bliss, is acting as your best well-wisher, your friend, your cousin, your heart and soul, your worshipable director, and your spiritual master.

77Present here now is the same Supreme Personality of Godhead whose true form cannot be understood even by such great personalities as Lord Brahmā and Lord Śiva. He is realized by devotees because of their unflinching surrender. May that same Personality of Godhead, who is the maintainer of His devotees and who is worshiped by silence, by devotional service and by cessation of material activities, be pleased with us.

78ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: Mahārāja Yudhiṣṭhira, the best member of the Bharata dynasty, thus learned everything from the descriptions of Nārada Muni. After hearing these instructions, he felt great pleasure from within his heart, and in great ecstasy, love and affection, he worshiped Lord Kṛṣṇa.

79Nārada Muni, being worshiped by Kṛṣṇa and Mahārāja Yudhiṣṭhira, bade them farewell and went away. Yudhiṣṭhira Mahārāja, having heard that Kṛṣṇa, his cousin, is the Supreme Personality of Godhead, was struck with wonder.

80On all the planets within this universe, the varieties of living entities, moving and nonmoving, including the demigods, demons and human beings, were all generated from the daughters of Mahārāja Dakṣa. I have now described them and their different dynasties.

**Canto 8: Withdrawal of the Cosmic Creations**

## SB 8.1: The Manus, Administrators of the Universe

First of all, let me offer my humble, respectful obeisances unto the lotus feet of my spiritual master, His Divine Grace ŚrīŚrīmad Bhaktisiddhānta Sarasvatī Gosvāmī Prabhupāda. Sometime in the year 1935 when His Divine Grace was staying at Rādhā-kuṇḍa, I went to see him from Bombay. At that time, he gave me many important instructions in regard to constructing temples and publishing books. He personally told me that publishing books is more important than constructing temples. Of course, those same instructions remained within my mind for many years. In 1944 I began publishing my *Back to Godhead,* and when I retired from family life in 1958 I began publishing *Śrīmad-Bhāgavatam* in Delhi. When three parts of *Śrīmad-Bhāgavatam* had been published in India, I then started for the United States of America on the thirteenth of August, 1965.

I am continuously trying to publish books, as suggested by my spiritual master. Now, in this year, 1976, I have completed the Seventh Canto of *Śrīmad-Bhāgavatam,* and a summary of the Tenth Canto has already been published as *Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead.* Still, the Eighth Canto, Ninth Canto, Tenth Canto, Eleventh Canto and Twelfth Canto are yet to be published. On this occasion, therefore, I am praying to my spiritual master to give me strength to finish this work. I am neither a great scholar nor a great devotee; I am simply a humble servant of my spiritual master, and to the best of my ability I am trying to please him by publishing these books, with the cooperation of my disciples in America. Fortunately, scholars all over the world are appreciating these publications. Let us cooperatively publish more and more volumes of *Śrīmad-Bhāgavatam* just to please His Divine Grace Bhaktisiddhānta SarasvatīṬhākura.

This First Chapter of the Eighth Canto may be summarized as a description of four Manus, namely Svāyambhuva, Svārociṣa, Uttama and Tāmasa. After hearing descriptions of the dynasty of Svāyambhuva Manu until the end of the Seventh Canto, Mahārāja Parīkṣit desired to know about other Manus. He desired to understand how the Supreme Personality of Godhead descendsnot only in the past but at the present and in the futureand how He acts in various pastimes as Manu. Since Parīkṣit Mahārāja was eager to know all this, Śukadeva Gosvāmī gradually described all the Manus, beginning with the six Manus who had appeared in the past.

The first Manu was Svāyambhuva Manu. His two daughters, namely Ākūti and Devahūti, gave birth to two sons, named Yajṣa and Kapila respectively. Because Śukadeva Gosvāmī had already described the activities of Kapila in the Third Canto, he now described the activities of Yajṣa. The original Manu, along with his wife, Śatarūpā, went into the forest to practice austerities on the bank of the river Sunandā. They practiced austerities for a hundred years, and then Manu, in a trance, formed prayers to the Supreme Personality of Godhead. Rākṣasas and *asuras* then attempted to devour him, but Yajṣa, accompanied by his sons the Yāmas and the demigods, killed them. Then Yajṣa personally took the post of Indra, the King of the heavenly planets.

The second Manu, whose name was Svārociṣa, was the son of Agni, and his sons were headed by Dyumat, Suṣeṇa and Rociṣmat. In the age of this Manu, Rocana became Indra, the ruler of the heavenly planets, and there were many demigods, headed by Tuṣita. There were also many saintly persons, such as Ūrja and Stambha. Among them was Vedaśirā, whose wife, Tuṣitā, gave birth to Vibhu. Vibhu instructed eighty-eight thousand *dṛḍha-vratas,* or saintly persons, on self-control and austerity.

Uttama, the son of Priyavrata, was the third Manu. Among his sons were Pavana, Sṛṣjaya and Yajṣahotra. During the reign of this Manu, the sons of Vasiṣṭha, headed by Pramada, became

the seven saintly persons. The Satyas, Devaśrutas and Bhadras became the demigods, and Satyajit became Indra. From the womb of Sunṛtā, the wife of Dharma, the Lord appeared as Satyasena, and He killed all the Yakṣas and Rākṣasas who were fighting with Satyajit.

Tāmasa, the brother of the third Manu, was the fourth Manu, and he had ten sons, including Pṛthu, Khyāti, Nara and Ketu. During his reign, the Satyakas, Haris, Vīras and others were demigods, the seven great saints were headed by Jyotirdhāma, and Triśikha became Indra. Harimedhā begot a son named Hari in the womb of his wife Hariṇī. This Hari, an incarnation of God, saved the devotee Gajendra. This incident is described as *gajendra-mokṣaṇa*. At the end of this chapter, Parīkṣit Mahārāja particularly asks about this incident.

1King Parīkṣit said: O my lord, my spiritual master, now I have fully heard from Your Grace about the dynasty of Svāyambhuva Manu. But there are also other Manus, and I want to hear about their dynasties. Kindly describe them to us.

2O learned brāhmaṇa, Śukadeva Gosvāmī, the great learned persons who are completely intelligent describe the activities and appearance of the Supreme Personality of Godhead during the various manvantaras. We are very eager to hear about these narrations. Kindly describe them.

3O learned brāhmaṇa, kindly describe to us whatever activities the Supreme Personality of Godhead, who created this cosmic manifestation, has performed in the past manvantaras, is performing at present, and will perform in the future manvantaras.

4Śukadeva Gosvāmī said: In the present kalpa there have already been six Manus. I have described to you Svāyambhuva Manu and the appearance of many demigods. In this kalpa of Brahmā, Svāyambhuva is the first Manu.

5Svāyambhuva Manu had two daughters, named Ākūti and Devahūti. From their wombs, the Supreme Personality of Godhead appeared as two sons named Yajṣamūrti and Kapila respectively. These sons were entrusted with preaching about religion and knowledge.

6O best of the Kurus, I have already described [in the Third Canto] the activities of Kapila, the son of Devahūti. Now I shall describe the activities of Yajṣapati, the son of Ākūti.

7Svāyambhuva Manu, the husband of Śatarūpā, was by nature not at all attached to enjoyment of the senses. Thus he gave up his kingdom of sense enjoyment and entered the forest with his wife to practice austerities.

8O scion of Bharata, after Svāyambhuva Manu had thus entered the forest with his wife, he stood on one leg on the bank of the river Sunandā, and in this way, with only one leg touching the earth, he performed great austerities for one hundred years. While performing these austerities, he spoke as follows.

9Lord Manu said: The supreme living being has created this material world of animation; it is not that He was created by this material world. When everything is silent, the Supreme Being stays awake as a witness. The living entity does not know Him, but He knows everything.

10Within this universe, the Supreme Personality of Godhead in His Supersoul feature is present everywhere, wherever there are animate or inanimate beings. Therefore, one should accept only that which is allotted to him; one should not desire to infringe upon the property of others.

11Although the Supreme Personality of Godhead constantly watches the activities of the world,

no one sees Him. However, one should not think that because no one sees Him, He does not see, for His power to see is never diminished. Therefore, everyone should worship the Supersoul, who always stays with the individual soul as a friend.

12The Supreme Personality of Godhead has no beginning, no end and no middle. Nor does He belong to a particular person or nation. He has no inside or outside. The dualities found within this material world, such as beginning and end, mine and theirs, are all absent from the personality of the Supreme Lord. The universe, which emanates from Him, is another feature of the Lord. Therefore the Supreme Lord is the ultimate truth, and He is complete in greatness.

13The entire cosmic manifestation is the body of the Supreme Personality of Godhead, the Absolute Truth, who has millions of names and unlimited potencies. He is self-effulgent, unborn and changeless. He is the beginning of everything, but He has no beginning. Because He has created this cosmic manifestation by His external energy, the universe appears to be created, maintained and annihilated by Him. Nonetheless, He remains inactive in His spiritual energy and is untouched by the activities of the material energy.

14Therefore, to enable people to reach the stage of activities that are not tinged by fruitive results, great saints first engage people in fruitive activities, for unless one begins by performing activities as recommended in the śāstras, one cannot reach the stage of liberation, or activities that produce no reactions.

15The Supreme Personality of Godhead is full in opulence by His own gain, yet He acts as the creator, maintainer and annihilator of this material world. In spite of acting in that way, He is never entangled. Hence devotees who follow in His footsteps are also never entangled.

16The Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, works just like an ordinary human being, yet He does not desire to enjoy the fruits of work. He is full in knowledge, free from material desires and diversions, and completely independent. As the supreme teacher of human society, He teaches His own way of activities, and thus He inaugurates the real path of religion. I request everyone to follow Him.

17Śukadeva Gosvāmī continued: Svāyambhuva Manu was thus in a trance, chanting the mantras of Vedic instruction known as the Upaniṣads. Upon seeing him, the Rākṣasas and asuras, being very hungry, wanted to devour him. Therefore they ran after him with great speed.

18The Supreme Lord, Viṣṇu, who sits in everyone's heart, appearing as Yajṣapati, observed that the Rākṣasas and demons were going to devour Svāyambhuva Manu. Thus the Lord, accompanied by His sons named the Yāmas and by all the other demigods, killed the demons and Rākṣasas. He then took the post of Indra and began to rule the heavenly kingdom.

19The son of Agni named Svārociṣa became the second Manu. His several sons were headed by Dyumat, Suṣeṇa and Rociṣmat.

20During the reign of Svārociṣa, the post of Indra was assumed by Rocana, the son of Yajṣa. Tuṣita and others became the principal demigods, and Ūrja, Stambha and others became the seven saints. All of them were faithful devotees of the Lord.

21Vedaśirā was a very celebrated ṛṣi. From the womb of his wife, whose name was Tuṣitā, came the avatāra named Vibhu.

22Vibhu remained a brahmacāri and never married throughout his life. From him, eighty-eight thousand other saintly persons took lessons on self-control, austerity and similar behavior.

23O King, the third Manu, Uttama, was the son of King Priyavrata. Among the sons of this Manu were Pavana, Sṛṣjaya and Yajṣahotra.

24During the reign of the third Manu, Pramada and other sons of Vasiṣṭha became the seven sages. The Satyas, Vedaśrutas and Bhadras became demigods, and Satyajit was selected to be Indra, the King of heaven.

25In this manvantara, the Supreme Personality of Godhead appeared from the womb of Sūnṛtā, who was the wife of Dharma, the demigod in charge of religion. The Lord was celebrated as Satyasena, and He appeared with other demigods, known as the Satyavratas.

26Satyasena, along with His friend Satyajit, who was the King of heaven, Indra, killed all the untruthful, impious and miSBehaved Yakṣas, Rākṣasas and ghostly living entities, who gave pains to other living beings.

27The brother of the third Manu, Uttama, was celebrated by the name Tāmasa, and he became the fourth Manu. Tāmasa had ten sons, headed by Pṛthu, Khyāti, Nara and Ketu.

28During the reign of Tāmasa Manu, among the demigods were the Satyakas, Haris and Vīras. The heavenly King, Indra, was Triśikha. The sages in saptarṣi-dhāma were headed by Jyotirdhāma.

29O King, in the Tāmasa manvantara the sons of Vidhṛti, who were known as the Vaidhṛtis, also became demigods. Since in course of time the Vedic authority was lost, these demigods, by their own powers, protected the Vedic authority.

30Also in this manvantara, the Supreme Lord, Viṣṇu, took birth from the womb of Hariṇī, the wife of Harimedhā, and He was known as Hari. Hari saved His devotee Gajendra, the King of the elephants, from the mouth of a crocodile.

31King Parīkṣit said: My lord, Bādarāyaṇi, we wish to hear from you in detail how the King of the elephants, when attacked by a crocodile, was delivered by Hari.

32Any literature or narration in which the Supreme Personality of Godhead, Uttamaśloka, is described and glorified is certainly great, pure, glorious, auspicious and all good.

33Śrī Sūta Gosvāmī said: O brāhmaṇas, when Parīkṣit Mahārāja, who was awaiting impending death, thus requested Śukadeva Gosvāmī to speak, Śukadeva Gosvāmī, encouraged by the King's words, offered respect to the King and spoke with great pleasure in the assembly of sages, who desired to hear him.

## SB 8.2: The Elephant Gajendra's Crisis

The Second, Third and Fourth chapters of this Canto describe how the Lord, during the reign of the fourth Manu, gave protection to the king of the elephants. As described in this Second Chapter, when the King of the elephants, along with his female elephants, was enjoying in the water, a crocodile suddenly attacked him, and the elephant surrendered to the lotus feet of the Personality of Godhead for protection.

In the midst of the Ocean of Milk, there is a very high and beautiful mountain that has an altitude of ten thousand *yojanas,* or eighty thousand miles. This mountain is known as Trikūṭa. In a valley of Trikūṭa there is a nice garden named Ṛtumat, which was constructed by Varuṇa, and in that area there is a very nice lake. Once the chief of the elephants, along with female elephants, went to enjoy bathing in that lake, and they disturbed the inhabitants of the water.

Because of this, the chief crocodile in that water, who was very powerful, immediately attacked the elephant's leg. Thus there ensued a great fight between the elephant and the crocodile. This fight continued for one thousand years. Neither the elephant nor the crocodile died, but since they were in the water, the elephant gradually became weak whereas the power of the crocodile increased more and more. Thus the crocodile became more and more encouraged. Then the elephant, being helpless and seeing that there was no other way for his protection, sought shelter at the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead.

1Śukadeva Gosvāmī said: My dear King, there is a very large mountain called Trikūṭa. It is ten thousand yojanas [eighty thousand miles] high. Being surrounded by the Ocean of Milk, it is very beautifully situated.

2-3The length and breadth of the mountain are of the same measurement [eighty thousand miles]. Its three principal peaks, which are made of iron, silver and gold, beautify all directions and the sky. The mountain also has other peaks, which are full of jewels and minerals and are decorated with nice trees, creepers and shrubs. The sounds of the waterfalls on the mountain create a pleasing vibration. In this way the mountain stands, increasing the beauty of all directions.

4The ground at the foot of the mountain is always washed by waves of milk that produce emeralds all around in the eight directions [north, south, east, west and the directions midway between them].

5The inhabitants of the higher planetsthe Siddhas, Cāraṇas, Gandharvas, Vidyādharas, serpents, Kinnaras and Apsarāsgo to that mountain to sport. Thus all the caves of the mountain are full of these denizens of the heavenly planets.

6Because of the resounding vibrations of the denizens of heaven singing in the caves, the lions there, being very proud of their strength, roar with unbearable envy, thinking that another lion is roaring in that way.

7The valleys beneath Trikūṭa Mountain are beautifully decorated by many varieties of jungle animals, and in the trees, which are maintained in gardens by the demigods, varieties of birds chirp with sweet voices.

8Trikūṭa Mountain has many lakes and rivers, with beaches covered by small gems resembling grains of sand. The water is as clear as crystal, and when the demigod damsels bathe in it, their bodies lend fragrance to the water and the breeze, thus enriching the atmosphere.

9-13In a valley of Trikūṭa Mountain there was a garden called Ṛtumat. This garden belonged to the great devotee Varuṇa and was a sporting place for the damsels of the demigods. Flowers and fruits grew there in all seasons. Among them were mandāras, pārijātas, pāṭalas, aśokas, campakas, cūtas, piyālas, panasas, mangoes, āmrātakas, kramukas, coconut trees, date trees and pomegranates. There were madhukas, palm trees, tamālas, asanas, arjunas, ariṣṭas, uḍumbaras, plakṣas, banyan trees, kiṁśukas and sandalwood trees. There were also picumardas, kovidāras, saralas, sura-dārus, grapes, sugarcane, bananas, jambu, badarīs, akṣas, abhayas and āmalakīs.

14-19In that garden there was a very large lake filled with shining golden lotus flowers and the flowers known as kumuda, kahlāra, utpala and śatapatra, which added excellent beauty to the mountain. There were also bilva, kapittha, jambīra and bhallātaka trees. Intoxicated bumblebees drank honey and hummed with the chirping of the birds, whose songs were very melodious. The lake was crowded with swans, kāraṇḍavas, cakrāvakas, cranes, and flocks of

water chickens, dātyūhas, koyaṣṭis and other murmuring birds. Because of the agitating movements of the fish and tortoises, the water was decorated with pollen that had fallen from the lotus flowers. The lake was surrounded by kadamba flowers, vetasa flowers, nalas, nīpas, vaṣjulakas, kundas, kurubakas, aśokas, śirīṣas, kūṭajas, iṅgudas, kubjakas, svarṇa-yūthīs, nāgas, punnāgas, jātīs, mallikās, śatapatras, jālakās and mādhavī-latās. The banks were also abundantly adorned with varieties of trees that yielded flowers and fruits in all seasons. Thus the entire mountain stood gloriously decorated.

20The leader of the elephants who lived in the forest of the mountain Trikūṭa once wandered toward the lake with his female elephants. He broke many plants, creepers, thickets and trees, not caring for their piercing thorns.

21Simply by catching scent of that elephant, all the other elephants, the tigers and the other ferocious animals, such as lions, rhinoceroses, great serpents and black and white sarabhas, fled in fear. The camarī deer also fled.

22By the mercy of this elephant, animals like the foxes, wolves, buffalos, bears, boars, gopucchas, porcupines, monkeys, rabbits, the other deer and many other small animals loitered elsewhere in the forest. They were not afraid of him.

23-24Surrounded by the herd's other elephants, including females, and followed by the young ones, Gajapati, the leader of the elephants, made Trikūṭa Mountain tremble all around because of the weight of his body. He was perspiring, liquor dripped from his mouth, and his vision was overwhelmed by intoxication. He was being served by bumblebees who drank honey, and from a distance he could smell the dust of the lotus flowers, which was carried from the lake by the breeze. Thus surrounded by his associates, who were afflicted by thirst, he soon arrived at the bank of the lake.

25The King of the elephants entered the lake, bathed thoroughly and was relieved of his fatigue. Then, with the aid of his trunk, he drank the cold, clear, nectarean water, which was mixed with the dust of lotus flowers and water lilies, until he was fully satisfied.

26Like a human being who lacks spiritual knowledge and is too attached to the members of his family, the elephant, being illusioned by the external energy of Kṛṣṇa, had his wives and children bathe and drink the water. Indeed, he raised water from the lake with his trunk and sprayed it over them. He did not mind the hard labor involved in this endeavor.

27By the arrangement of providence, O King, a strong crocodile was angry at the elephant and attacked the elephant's leg in the water. The elephant was certainly strong, and he tried his best to get free from this danger sent by providence.

28Thereafter, seeing Gajendra in that grave condition, his wives felt very, very sorry and began to cry. The other elephants wanted to help Gajendra, but because of the crocodile's great strength, they could not rescue him by grasping him from behind.

29O King, the elephant and the crocodile fought in this way, pulling one another in and out of the water, for one thousand years. Upon seeing the fight, the demigods were very surprised.

30Thereafter, because of being pulled into the water and fighting for many long years, the elephant became diminished in his mental, physical and sensual strength. The crocodile, on the contrary, being an animal of the water, increased in enthusiasm, physical strength and sensual power.

31When the King of the elephants saw that he was under the clutches of the crocodile by the

will of providence and, being embodied and circumstantially helpless, could not save himself from danger, he was extremely afraid of being killed. He consequently thought for a long time and finally reached the following decision.

32The other elephants, who are my friends and relatives, could not rescue me from this danger. What then to speak of my wives? They cannot do anything. It is by the will of providence that I have been attacked by this crocodile, and therefore I shall seek shelter of the Supreme Personality of Godhead, who is always the shelter of everyone, even of great personalities.

33The Supreme Personality of Godhead is certainly not known to everyone, but He is very powerful and influential. Therefore, although the serpent of eternal time, which is fearful in force, endlessly chases everyone, ready to swallow him, if one who fears this serpent seeks shelter of the Lord, the Lord gives him protection, for even death runs away in fear of the Lord. I therefore surrender unto Him, the great and powerful supreme authority who is the actual shelter of everyone.

**SB 8.3: Gajendra's Prayers of Surrender**

In this chapter, the prayers by Gajendra, the King of the elephants, are described. It appears that the King of the elephants was formerly a human being known as Indradyumna and that he learned a prayer to the Supreme Lord. Fortunately he remembered that prayer and began to chant it to himself. First he offered his respectful obeisances to the Supreme Personality of Godhead, and because of his awkward position in having been attacked by the crocodile, he expressed his inability to recite prayers nicely. Nonetheless, he tried to chant the *mantra* and expressed himself in appropriate words as follows.

"The Supreme Personality of Godhead is the cause of all causes, the original person from whom everything has emanated. He is the root cause of this cosmic manifestation, and the entire cosmos rests in Him, yet He is transcendental, for He does everything in relation to the material world through His external energy. He is eternally situated in the spiritual worldin Vaikuṇṭha or Goloka Vṛndāvanawhere He engages in His eternal pastimes. The material world is a product of His external energy, or material nature, which works under His direction. It is thus that creation, maintenance and annihilation take place. The Lord exists at all times. This is extremely difficult for a nondevotee to understand. Although the transcendental Supreme Personality of Godhead is perceivable by everyone, only the pure devotees perceive His presence and activities. The Supreme Personality of Godhead is completely free from material birth, death, old age and disease. Indeed, if anyone in this material world takes shelter of Him, he also becomes situated in that transcendental position. For the satisfaction of the devotee (*paritrāṇāya sādhūnām*), the Lord appears and exhibits His activities. His appearance, disappearance and other pastimes are not at all material. One who knows this secret can enter the kingdom of God. In the Lord, all opposing elements are adjusted. The Lord is situated in everyone's heart. He is the controller of everything, He is the witness of all activities, and He is the original source of all living entities. Indeed, all living entities are parts of Him, for He is the origin of Mahā-Viṣṇu, who is the source of the living entities within this material world. The Lord can observe the activities of our senses, which can work and achieve material results because of His mercy. Although He is the original source of everything, He is untouched by any of His by-products. In this way He is like a gold mine, which is the source of gold in ornaments and yet is different from the ornaments themselves. The Lord is worshiped by the method prescribed in the *Paṣcarātras*. He is the source of our knowledge, and He can give us liberation. Therefore it is our duty to understand Him according to the instructions of devotees, in particular the spiritual master. Although for us the mode of goodness is covered, by following the instructions of saintly persons and the spiritual master we can be freed from

material clutches.

"The self-effulgent material form of the Supreme Personality of Godhead is adored by nondevotees, His impersonal form is adored by those advanced in spiritual knowledge, and His feature as the localized Supersoul is appreciated by *yogīs*. But His original form as a person is understood only by devotees. That Supreme Personality of Godhead is competent to dissipate the darkness of the conditioned soul through His instructions in *Bhagavad-gītā*. He is the ocean of transcendental qualities and can be understood only by liberated persons freed from the bodily concept of life. By His causeless mercy, the Lord can rescue the conditioned soul from the material clutches and enable him to return home, back to Godhead, to become His personal associate. Nonetheless, a pure devotee does not aspire to go back to Godhead; he is simply satisfied with executing his service in this material world. A pure devotee does not ask anything from the Supreme Personality of Godhead. His only prayer is to be freed from the material conception of life and to be engaged in the Lord's transcendental loving service."

In this way the King of the elephants, Gajendra, offered prayers directly to the Supreme Personality of Godhead, without mistaking Him for one of the demigods. None of the demigods came to see him, not even Brahmā or Śiva. Rather, the Supreme Personality of Godhead, Nārāyaṇa, seated on Garuḍa, personally appeared before him. Gajendra, by lifting his trunk, offered obeisances to the Lord, and the Lord immediately pulled him from the water along with the crocodile who had captured his leg. Then the Lord killed the crocodile and thus rescued Gajendra.

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: Thereafter, the King of the elephants, Gajendra, fixed his mind in his heart with perfect intelligence and chanted a mantra which he had learned in his previous birth as Indradyumna and which he remembered by the grace of Kṛṣṇa.

2The King of the elephants, Gajendra, said: I offer my respectful obeisances unto the Supreme Person, Vāsudeva [oṁ namo bhagavate vāsudevāya]. Because of Him this material body acts due to the presence of spirit, and He is therefore the root cause of everyone. He is worshipable for such exalted persons as Brahmā and Śiva, and He has entered the heart of every living being. Let me meditate upon Him.

3The Supreme Godhead is the supreme platform on which everything rests, the ingredient by which everything has been produced, and the person who has created and is the only cause of this cosmic manifestation. Nonetheless, He is different from the cause and the result. I surrender unto Him, the Supreme Personality of Godhead, who is self-sufficient in everything.

4The Supreme Personality of Godhead, by expanding His own energy, keeps this cosmic manifestation visible and again sometimes renders it invisible. He is both the supreme cause and the supreme result, the observer and the witness, in all circumstances. Thus He is transcendental to everything. May that Supreme Personality of Godhead give me protection.

5In due course of time, when all the causative and effective manifestations of the universe, including the planets and their directors and maintainers, are annihilated, there is a situation of dense darkness. Above this darkness, however, is the Supreme Personality of Godhead. I take shelter of His lotus feet.

6An artist onstage, being covered by attractive dresses and dancing with different movements, is not understood by his audience; similarly, the activities and features of the supreme artist cannot be understood even by the demigods or great sages, and certainly not by those who are unintelligent like animals. Neither the demigods and sages nor the unintelligent can understand the features of the Lord, nor can they express in words His actual position. May that Supreme Personality of Godhead give me protection.

7Renunciants and great sages who see all living beings equally, who are friendly to everyone and who flawlessly practice in the forest the vows of brahmacarya, vānaprastha and sannyāsa desire to see the all-auspicious lotus feet of the Supreme Personality of Godhead. May that same Supreme Personality of Godhead be my destination.

8-9The Supreme Personality of Godhead has no material birth, activities, name, form, qualities or faults. To fulfill the purpose for which this material world is created and destroyed, He comes in the form of a human being like Lord Rāma or Lord Kṛṣṇa by His original internal potency. He has immense potency, and in various forms, all free from material contamination, He acts wonderfully. He is therefore the Supreme Brahman. I offer my respects to Him.

10I offer my respectful obeisances unto the Supreme Personality of Godhead, the self-effulgent Supersoul, who is the witness in everyone's heart, who enlightens the individual soul and who cannot be reached by exercises of the mind, words or consciousness.

11The Supreme Personality of Godhead is realized by pure devotees who act in the transcendental existence of bhakti-yoga. He is the bestower of uncontaminated happiness and is the master of the transcendental world. Therefore I offer my respect unto Him.

12I offer my respectful obeisances to Lord Vāsudeva, who is all-pervading, to the Lord's fierce form as Lord Nṛsiṁhadeva, to the Lord's form as an animal [Lord Varāhadeva], to Lord Dattātreya, who preached impersonalism, to Lord Buddha, and to all the other incarnations. I offer my respectful obeisances unto the Lord, who has no material qualities but who accepts the three qualities goodness, passion and ignorance within this material world. I also offer my respectful obeisances unto the impersonal Brahman effulgence.

13I beg to offer my respectful obeisances unto You, who are the Supersoul, the superintendent of everything, and the witness of all that occurs. You are the Supreme Person, the origin of material nature and of the total material energy. You are also the owner of the material body. Therefore, You are the supreme complete. I offer my respectful obeisances unto You.

14My Lord, You are the observer of all the objectives of the senses. Without Your mercy, there is no possibility of solving the problem of doubts. The material world is just like a shadow resembling You. Indeed, one accepts this material world as real because it gives a glimpse of Your existence.

15My Lord, You are the cause of all causes, but You Yourself have no cause. Therefore You are the wonderful cause of everything. I offer my respectful obeisances unto You, who are the shelter of the Vedic knowledge contained in the śāstras like the Paṣcarātras and Vedānta-sūtra, which are Your representations, and who are the source of the paramparā system. Because it is You who can give liberation, You are the only shelter for all transcendentalists. Let me offer my respectful obeisances unto You.

16My Lord, as the fire in araṇi wood is covered, You and Your unlimited knowledge are covered by the material modes of nature. Your mind, however, is not attentive to the activities of the modes of nature. Those who are advanced in spiritual knowledge are not subject to the regulative principles directed in the Vedic literatures. Because such advanced souls are transcendental, You personally appear in their pure minds. Therefore I offer my respectful obeisances unto You.

17Since an animal such as me has surrendered unto You, who are supremely liberated, certainly You will release me from this dangerous position. Indeed, being extremely merciful, You incessantly try to deliver me. By your partial feature as Paramātmā, You are situated in the hearts of all embodied beings. You are celebrated as direct transcendental knowledge, and

You are unlimited. I offer my respectful obeisances unto You, the Supreme Personality of Godhead.

18My Lord, those who are completely freed from material contamination always meditate upon You within the cores of their hearts. You are extremely difficult to attain for those like me who are too attached to mental concoction, home, relatives, friends, money, servants and assistants. You are the Supreme Personality of Godhead, uncontaminated by the modes of nature. You are the reservoir of all enlightenment, the supreme controller. I therefore offer my respectful obeisances unto You.

19After worshiping the Supreme Personality of Godhead, those who are interested in the four principles of religion, economic development, sense gratification and liberation obtain from Him what they desire. What then is to be said of other benedictions? Indeed, sometimes the Lord gives a spiritual body to such ambitious worshipers. May that Supreme Personality of Godhead, who is unlimitedly merciful, bestow upon me the benediction of liberation from this present danger and from the materialistic way of life.

20-21Unalloyed devotees, who have no desire other than to serve the Lord, worship Him in full surrender and always hear and chant about His activities, which are most wonderful and auspicious. Thus they always merge in an ocean of transcendental bliss. Such devotees never ask the Lord for any benediction. I, however, am in danger. Thus I pray to that Supreme Personality of Godhead, who is eternally existing, who is invisible, who is the Lord of all great personalities, such as Brahmā, and who is available only by transcendental bhakti-yoga. Being extremely subtle, He is beyond the reach of my senses and transcendental to all external realization. He is unlimited, He is the original cause, and He is completely full in everything. I offer my obeisances unto Him.

22-24The Supreme Personality of Godhead creates His minor parts and parcels, the jīva-tattva, beginning with Lord Brahmā, the demigods and the expansions of Vedic knowledge [Sāma, Ṛg, Yajur and Atharva] and including all other living entities, moving and nonmoving, with their different names and characteristics. As the sparks of a fire or the shining rays of the sun emanate from their source and merge into it again and again, the mind, the intelligence, the senses, the gross and subtle material bodies, and the continuous transformations of the different modes of nature all emanate from the Lord and again merge into Him. He is neither demigod nor demon, neither human nor bird or beast. He is not woman, man, or neuter, nor is He an animal. He is not a material quality, a fruitive activity, a manifestation or nonmanifestation. He is the last word in the discrimination of "not this, not this," and He is unlimited. All glories to the Supreme Personality of Godhead!

25I do not wish to live anymore after I am released from the attack of the crocodile. What is the use of an elephant's body covered externally and internally by ignorance? I simply desire eternal liberation from the covering of ignorance. That covering is not destroyed by the influence of time.

26Now, fully desiring release from material life, I offer my respectful obeisances unto that Supreme Person who is the creator of the universe, who is Himself the form of the universe and who is nonetheless transcendental to this cosmic manifestation. He is the supreme knower of everything in this world, the Supersoul of the universe. He is the unborn, supremely situated Lord. I offer my respectful obeisances unto Him.

27I offer my respectful obeisances unto the Supreme, the Supersoul, the master of all mystic yoga, who is seen in the core of the heart by perfect mystics when they are completely purified and freed from the reactions of fruitive activity by practicing bhakti-yoga.

28My Lord, You are the controller of formidable strength in three kinds of energy. You appear as the reservoir of all sense pleasure and the protector of the surrendered souls. You possess unlimited energy, but You are unapproachable by those who are unable to control their senses. I offer my respectful obeisances unto You again and again.

29I offer my respectful obeisances unto the Supreme Personality of Godhead, by whose illusory energy the jīva, who is part and parcel of God, forgets his real identity because of the bodily concept of life. I take shelter of the Supreme Personality of Godhead, whose glories are difficult to understand.

30ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: When the King of the elephants was describing the supreme authority, without mentioning any particular person, he did not invoke the demigods, headed by Lord Brahmā, Lord Śiva, Indra and Candra. Thus none of them approached him. However, because Lord Hari is the Supersoul, Puruṣottama, the Personality of Godhead, He appeared before Gajendra.

31After understanding the awkward condition of Gajendra, who had offered his prayers, the Supreme Personality of Godhead, Hari, who lives everywhere, appeared with the demigods, who were offering prayers to Him. Carrying His disc and other weapons, He appeared there on the back of His carrier, Garuḍa, with great speed, according to His desire. Thus He appeared before Gajendra.

32Gajendra had been forcefully captured by the crocodile in the water and was feeling acute pain, but when he saw that Nārāyaṇa, wielding His disc, was coming in the sky on the back of Garuḍa, he immediately took a lotus flower in his trunk, and with great difficulty due to his painful condition, he uttered the following words: "O my Lord, Nārāyaṇa, master of the universe, O Supreme Personality of Godhead, I offer my respectful obeisances unto You."

33Thereafter, seeing Gajendra in such an aggrieved position, the unborn Supreme Personality of Godhead, Hari, immediately got down from the back of Garuḍa by His causeless mercy and pulled the King of the elephants, along with the crocodile, out of the water. Then, in the presence of all the demigods, who were looking on, the Lord severed the crocodile's mouth from its body with His disc. In this way He saved Gajendra, the King of the elephants.

### SB 8.4: Gajendra Returns to the Spiritual World

This Fourth Chapter describes the previous birth of Gajendra and the crocodile. It tells how the crocodile became a Gandharva and how Gajendra became an associate of the Supreme Personality of Godhead.

There was a king on the Gandharva planet whose name was Hūhū. Once this King Hūhū was enjoying with women in the water, and while enjoying he pulled the leg of Devala Ṛṣi, who was also taking a bath in the water. Upon this, the sage became very angry and immediately cursed him to become a crocodile. King Hūhū was very sorry when cursed in that way, and he begged pardon from the sage, who in compassion gave him the benediction that he would be freed when Gajendra was delivered by the Personality of Godhead. Thus the crocodile was delivered when killed by Nārāyaṇa.

When Gajendra, by the mercy of the Lord, became one of the Lord's associates in Vaikuṇṭha, he got four hands. This achievement is called *sārūpya-mukti,* or the liberation of receiving a spiritual body exactly like that of Nārāyaṇa. Gajendra, in his previous birth, had been a great devotee of Lord Viṣṇu. His name was Indradyumna, and he was the King of the Tāmila country. Following the Vedic principles, this King retired from family life and constructed a small

cottage in the Malayācala Hills, where he always worshiped the Supreme Personality of Godhead in silence. Agastya Ṛṣi, along with many disciples, once approached King Indradyumna's *āśrama,* but because the King was meditating on the Supreme Personality of Godhead, he could not receive Agastya Ṛṣi properly. Thus the *ṛṣi* became very angry and cursed the King to become a dull elephant. In accordance with this curse, the King was born as an elephant, and he forgot all about his previous activities in devotional service. Nonetheless, in his birth as an elephant, when he was dangerously attacked by the crocodile, he remembered his past life in devotional service and remembered a prayer he had learned in that life. Because of this prayer, he again received the mercy of the Lord. Thus he was immediately delivered, and he became one of the Lord's four-handed associates.

Śukadeva Gosvāmī ends this chapter by describing the good fortune of the elephant. Śukadeva Gosvāmī says that by hearing the narration of Gajendra's deliverance, one can also get the opportunity to be delivered. Śukadeva Gosvāmī vividly describes this, and thus the chapter ends.

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: When the Lord delivered Gajendra, King of the elephants, all the demigods, sages and Gandharvas, headed by Brahmā and Śiva, praised this activity of the Supreme Personality of Godhead and showered flowers upon both the Lord and Gajendra.

2There was a beating of kettledrums in the heavenly planets, the inhabitants of Gandharvaloka began to dance and sing, while great sages and the inhabitants of Cāraṇaloka and Siddhaloka offered prayers to the Supreme Personality of Godhead, Puruṣottama.

3-4The best of the Gandharvas, King Hūhū, having been cursed by Devala Muni, had become a crocodile. Now, having been delivered by the Supreme Personality of Godhead, he assumed a very beautiful form as a Gandharva. Understanding by whose mercy this had happened, he immediately offered his respectful obeisances with his head and began chanting prayers just suitable for the transcendental Lord, the supreme eternal, who is worshiped by the choicest verses.

5Having been favored by the causeless mercy of the Supreme Personality of Godhead and having regained his original form, King Hūhū circumambulated the Lord and offered his obeisances. Then, in the presence of all the demigods, headed by Brahmā, he returned to Gandharvaloka. He had been freed of all sinful reactions.

6Because Gajendra, King of the elephants, had been touched directly by the hands of the Supreme Personality of Godhead, he was immediately freed of all material ignorance and bondage. Thus he received the salvation of sārūpya-mukti, in which he achieved the same bodily features as the Lord, being dressed in yellow garments and possessing four hands.

7This Gajendra had formerly been a Vaiṣṇava and the king of the country known as Pāṇḍya, which is in the province of Draviḍa [South India]. In his previous life, he was known as Indradyumna Mahārāja.

8Indradyumna Mahārāja retired from family life and went to the Malaya Hills, where he had a small cottage for his āśrama. He wore matted locks on his head and always engaged in austerities. Once, while observing a vow of silence, he was fully engaged in the worship of the Lord and absorbed in the ecstasy of love of Godhead.

9While Indradyumna Mahārāja was engaged in ecstatic meditation, worshiping the Supreme Personality of Godhead, the great sage Agastya Muni arrived there, surrounded by his disciples. When the Muni saw that Mahārāja Indradyumna, who was sitting in a secluded place, remained

silent and did not follow the etiquette of offering him a reception, he was very angry.

10Agastya Muni then spoke this curse against the King: This King Indradyumna is not at all gentle. Being low and uneducated, he has insulted a brāhmaṇa. May he therefore enter the region of darkness and receive the dull, dumb body of an elephant.

11-12Śukadeva Gosvāmī continued: My dear King, after Agastya Muni had thus cursed King Indradyumna, the Muni left that place along with his disciples. Since the King was a devotee, he accepted Agastya Muni's curse as welcome because it was the desire of the Supreme Personality of Godhead. Therefore, although in his next life he got the body of an elephant, because of devotional service he remembered how to worship and offer prayers to the Lord.

13Upon delivering the King of the elephants from the clutches of the crocodile, and from material existence, which resembles a crocodile, the Lord awarded him the status of sārūpya-mukti. In the presence of the Gandharvas, the Siddhas and the other demigods, who were praising the Lord for His wonderful transcendental activities, the Lord, sitting on the back of His carrier, Garuḍa, returned to His all-wonderful abode and took Gajendra with Him.

14My dear King Parīkṣit, I have now described the wonderful power of Kṛṣṇa, as displayed when the Lord delivered the King of the elephants. O best of the Kuru dynasty, those who hear this narration become fit to be promoted to the higher planetary systems. Simply because of hearing this narration, they gain a reputation as devotees, they are unaffected by the contamination of Kali-yuga, and they never see bad dreams.

15Therefore, after getting up from bed in the morning, those who desire their own welfareespecially the brāhmaṇas, kṣatriyas, vaiśyas and in particular the brāhmaṇa Vaiṣṇavasshould chant this narration as it is, without deviation, to counteract the troubles of bad dreams.

16O best of the Kuru dynasty, the Supreme Personality of Godhead, the Supersoul of everyone, being thus pleased, addressed Gajendra in the presence of everyone there. He spoke the following blessings.

17-24The Supreme Personality of Godhead said: Freed from all sinful reactions are those who rise from bed at the end of night, early in the morning, and fully concentrate their minds with great attention upon My form; your form; this lake; this mountain; the caves; the gardens; the cane plants; the bamboo plants; the celestial trees; the residential quarters of Me, Lord Brahmā and Lord Śiva; the three peaks of Trikūṭa Mountain, made of gold, silver and iron; My very pleasing abode [the Ocean of Milk]; the white island, Śvetadvīpa, which is always brilliant with spiritual rays; My mark of Śrīvatsa; the Kaustubha gem; My Vaijayantī garland; My club, Kaumodakī; My Sudarśana disc and Pāṣcajanya conchshell; My bearer, Garuḍa, the king of the birds; My bed, Śeṣa Nāga; My expansion of energy the goddess of fortune; Lord Brahmā; Nārada Muni; Lord Śiva; Prahlāda; My incarnations like Matsya, Kūrma and Varāha; My unlimited all-auspicious activities, which yield piety to he who hears them; the sun; the moon; fire; the mantra oṁkāra; the Absolute Truth; the total material energy; the cows and brāhmaṇas; devotional service; the wives of Soma and Kaśyapa, who are all daughters of King Dakṣa; the rivers Ganges, Sarasvatī, Nandā and Yamunā [Kālindī]; the elephant Airāvata; Dhruva Mahārāja; the seven ṛṣis; and the pious human beings.

25My dear devotee, unto those who rise from bed at the end of night and offer Me the prayers offered by you, I give an eternal residence in the spiritual world at the end of their lives.

26ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: After giving this instruction, the Lord, who is known as

Hṛṣīkeśa, bugled with His Pāṣcajanya conchshell, in this way pleasing all the demigods, headed by Lord Brahmā. Then He mounted the back of His carrier, Garuḍa.

**SB 8.5: The Demigods Appeal to the Lord for Protection**

This chapter describes the fifth and sixth Manus, and it also describes the prayers of the demigods and the curse of Durvāsā Muni.

The brother of Tāmasa, the fourth Manu, who has previously been described, was the fifth Manu, Raivata. The sons of Raivata included Arjuna, Bali and Vindhya. During the reign of this Manu, Indra, the King of heaven, was known as Vibhu. Among the demigods were the Bhūtarayas, and among the seven *ṛṣis* were Hiraṇyaromā, Vedaśirā and Ūrdhvabāhu. The *ṛṣi* known as Śubhra, by his wife, Vikuṇṭhā, gave birth to the Supreme Personality of Godhead, Vaikuṇṭha. This Supreme Personality of Godhead manifested a Vaikuṇṭha planet at the request of Ramādevī. His power and activities are mentioned in the Third Canto.

The sixth Manu was Cākṣuṣa, the son of Cakṣu Manu. Among the sons of the sixth Manu were Pūru, Pūruṣa and Sudyumna. During the reign of this Manu, Mantradruma was Indra, the King of the heavenly planets. Among the demigods were the Āpyas, and among the seven *ṛṣis* were Haviṣmān and Vīraka. The wife of Vairāja, whose name was Devasambhūti, gave birth to Ajita, an incarnation of the Supreme Personality of Godhead. This Ajita, taking the shape of a tortoise and holding the mountain known as Mandara on His back, churned the ocean and produced nectar for the demigods.

Mahārāja Parīkṣit was very eager to hear about the churning of the ocean, and therefore Śukadeva Gosvāmī began to explain to him how the demigods, having been cursed by Durvāsā Muni, were defeated in battle by the *asuras*. When the demigods were deprived of their heavenly kingdom, they went to the assembly house of Lord Brahmā and informed Lord Brahmā of what had happened. Then Brahmā, along with all the demigods, went to the shore of the Ocean of Milk and offered prayers to Kṣīrodakaśāyī Viṣṇu.

1Śukadeva Gosvāmī continued: O King, I have described to you the pastime of Gajendra-mokṣaṇa, which is most pious to hear. By hearing of such activities of the Lord, one can be freed from all sinful reactions. Now please listen as I describe Raivata Manu.

2The brother of Tāmasa Manu was the fifth Manu, named Raivata. His sons were headed by Arjuna, Bali and Vindhya.

3O King, in the millennium of Raivata Manu the King of heaven was known as Vibhu, among the demigods were the Bhūtarayas, and among the seven brāhmaṇas who occupied the seven planets were Hiraṇyaromā, Vedaśirā and Ūrdhvabāhu.

4From the combination of Śubhra and his wife, Vikuṇṭhā, there appeared the Supreme Personality of Godhead, Vaikuṇṭha, along with demigods who were His personal plenary expansions.

5Just to please the goddess of fortune, the Supreme Personality of Godhead, Vaikuṇṭha, at her request, created another Vaikuṇṭha planet, which is worshiped by everyone.

6Although the great activities and transcendental qualities of the Supreme Personality of Godhead's various incarnations are wonderfully described, sometimes we are unable to understand them. Yet everything is possible for Lord Viṣṇu. If one could count the atoms of the universe, then he could count the qualities of the Supreme Personality of Godhead. But no one

can count the atoms of the universe, nor can anyone count the transcendental qualities of the Lord.

7The son of Cakṣu known as Cākṣuṣa was the sixth Manu. He had many sons, headed by Pūru, Pūruṣa and Sudyumna.

8During the reign of Cākṣuṣa Manu, the King of heaven was known as Mantradruma. Among the demigods were the Āpyas, and among the great sages were Haviṣmān and Vīraka.

9In this sixth manvantara millennium, Lord Viṣṇu, the master of the universe, appeared in His partial expansion. He was begotten by Vairāja in the womb of his wife, Devasambhūti, and His name was Ajita.

10By churning the Ocean of Milk, Ajita produced nectar for the demigods. In the form of a tortoise, He moved here and there, carrying on His back the great mountain known as Mandara.

11-12King Parīkṣit inquired: O great brāhmaṇa, Śukadeva Gosvāmī, why and how did Lord Viṣṇu churn the Ocean of Milk? For what reason did He stay in the water as a tortoise and hold up Mandara Mountain? How did the demigods obtain the nectar, and what other things were produced from the churning of the ocean? Kindly describe all these wonderful activities of the Lord.

13My heart, which is disturbed by the three miserable conditions of material life, is not yet sated with hearing you describe the glorious activities of the Lord, the Supreme Personality of Godhead, who is the master of the devotees.

14Śrī Sūta Gosvāmī said: O learned brāhmaṇas assembled here at Naimiṣāraṇya, when Śukadeva Gosvāmī, the son of Dvaipāyana, was thus questioned by the King, he congratulated the King and then endeavored to describe further the glories of the Supreme Personality of Godhead.

15-16Śukadeva Gosvāmī said: When the asuras, with their serpent weapons, severely attacked the demigods in a fight, many of the demigods fell and lost their lives. Indeed, they could not be revived. At that time, O King, the demigods had been cursed by Durvāsā Muni, the three worlds were poverty-stricken, and therefore ritualistic ceremonies could not be performed. The effects of this were very serious.

17-18Lord Indra, Varuṇa and the other demigods, seeing their lives in such a state, consulted among themselves, but they could not find any solution. Then all the demigods assembled and went together to the peak of Sumeru Mountain. There, in the assembly of Lord Brahmā, they fell down to offer Lord Brahmā their obeisances, and then they informed him of all the incidents that had taken place.

19-20Upon seeing that the demigods were bereft of all influence and strength and that the three worlds were consequently devoid of auspiciousness, and upon seeing that the demigods were in an awkward position whereas all the demons were flourishing, Lord Brahmā, who is above all the demigods and who is most powerful, concentrated his mind on the Supreme Personality of Godhead. Thus being encouraged, he became bright-faced and spoke to the demigods as follows.

21Lord Brahmā said: I, Lord Śiva, all of you demigods, the demons, the living entities born of perspiration, the living beings born of eggs, the trees and plants sprouting from the earth, and the living entities born from embryosall come from the Supreme Lord, from His incarnation of

rajo-guṇa [Lord Brahmā, the guṇa-avatāra] and from the great sages [ṛṣis] who are part of me. Let us therefore go to the Supreme Lord and take shelter of His lotus feet.

22For the Supreme Personality of Godhead there is no one to be killed, no one to be protected, no one to be neglected and no one to be worshiped. Nonetheless, for the sake of creation, maintenance and annihilation according to time, He accepts different forms as incarnations either in the mode of goodness, the mode of passion or the mode of ignorance.

23Now is the time to invoke the mode of goodness of the living entities who have accepted material bodies. The mode of goodness is meant to establish the Supreme Lord's rule, which will maintain the existence of the creation. Therefore, this is the opportune moment to take shelter of the Supreme Personality of Godhead. Because He is naturally very kind and dear to the demigods, He will certainly bestow good fortune upon us.

24O Mahārāja Parīkṣit, subduer of all enemies, after Lord Brahmā finished speaking to the demigods, he took them with him to the abode of the Supreme Personality of Godhead, which is beyond this material world. The Lord's abode is on an island called Śvetadvīpa, which is situated in the Ocean of Milk.

25There [at Śvetadvīpa], Lord Brahmā offered prayers to the Supreme Personality of Godhead, even though he had never seen the Supreme Lord. Simply because Lord Brahmā had heard about the Supreme Personality of Godhead from Vedic literature, with a fixed mind he offered the Lord prayers as written or approved by Vedic literature.

26Lord Brahmā said: O Supreme Lord, O changeless, unlimited supreme truth. You are the origin of everything. Being all-pervading, You are in everyone's heart and also in the atom. You have no material qualities. Indeed, You are inconceivable. The mind cannot catch You by speculation, and words fail to describe You. You are the supreme master of everyone, and therefore You are worshipable for everyone. We offer our respectful obeisances unto You.

27The Supreme Personality of Godhead directly and indirectly knows how everything, including the living force, mind and intelligence, is working under His control. He is the illuminator of everything and has no ignorance. He does not have a material body subject to the reactions of previous activities, and He is free from the ignorance of partiality and materialistic education. I therefore take shelter of the lotus feet of the Supreme Lord, who is eternal, all-pervading and as great as the sky and who appears with six opulences in three yugas [Satya, Tretā and Dvāpara].

28In the cycle of material activities, the material body resembles the wheel of a mental chariot. The ten senses [five for working and five for gathering knowledge] and the five life airs within the body form the fifteen spokes of the chariot's wheel. The three modes of nature [goodness, passion and ignorance] are its center of activities, and the eight ingredients of nature [earth, water, fire, air, sky, mind, intelligence and false ego] comprise the rim of the wheel. The external, material energy moves this wheel like electrical energy. Thus the wheel revolves very quickly around its hub or central support, the Supreme Personality of Godhead, who is the Supersoul and the ultimate truth. We offer our respectful obeisances unto Him.

29The Supreme Personality of Godhead is situated in pure goodness [śuddha-sattva], and therefore He is eka-varṇathe oṁkāra [praṇava]. Because the Lord is beyond the cosmic manifestation, which is considered to be darkness, He is not visible to material eyes. Nonetheless, He is not separated from us by time or space, but is present everywhere. Seated on His carrier, Garuḍa, He is worshiped by means of mystical yogic power by those who have achieved freedom from agitation. Let us all offer our respectful obeisances unto Him.

30No one can overcome the Supreme Personality of Godhead's illusory energy [māyā], which is so strong that it bewilders everyone, making one lose the sense to understand the aim of life. That same māyā, however, is subdued by the Supreme Personality of Godhead, who rules everyone and who is equally disposed toward all living entities. Let us offer our obeisances unto Him.

31Since our bodies are made of sattva-guṇa, we, the demigods, are internally and externally situated in goodness. All the great saints are also situated in that way. Therefore, if even we cannot understand the Supreme Personality of Godhead, what is to be said of those who are most insignificant in their bodily constitutions, being situated in the modes of passion and ignorance? How can they understand the Lord? Let us offer our respectful obeisances unto Him.

32On this earth there are four kinds of living entities, who are all created by Him. The material creation rests on His lotus feet. He is the great Supreme Person, full of opulence and power. May He be pleased with us.

33The entire cosmic manifestation has emerged from water, and it is because of water that all living entities endure, live and develop. This water is nothing but the semen of the Supreme Personality of Godhead. Therefore, may the Supreme Personality of Godhead, who has such great potency, be pleased with us.

34Soma, the moon, is the source of food grains, strength and longevity for all the demigods. He is also the master of all vegetation and the source of generation for all living entities. As stated by learned scholars, the moon is the mind of the Supreme Personality of Godhead. May that Supreme Personality of Godhead, the source of all opulences, be pleased with us.

35Fire, which is born for the sake of accepting oblations in ritualistic ceremonies, is the mouth of the Supreme Personality of Godhead. Fire exists within the depths of the ocean to produce wealth, and fire is also present in the abdomen to digest food and produce various secretions for the maintenance of the body. May that supremely powerful Personality of Godhead be pleased with us.

36The sun-god marks the path of liberation, which is called arcirādi-vartma. He is the chief source for understanding of the Vedas, he is the abode where the Absolute Truth can be worshiped, he is the gateway to liberation, and he is the source of eternal life as well as the cause of death. The sun-god is the eye of the Lord. May that Supreme Lord, who is supremely opulent, be pleased with us.

37All living entities, moving and nonmoving, receive their vital force, their bodily strength and their very lives from the air. All of us follow the air for our vital force, exactly as servants follow an emperor. The vital force of air is generated from the original vital force of the Supreme Personality of Godhead. May that Supreme Lord be pleased with us.

38May the supremely powerful Personality of Godhead be pleased with us. The different directions are generated from His ears, the holes of the body come from His heart, and the vital force, the senses, the mind, the air within the body, and the ether, which is the shelter of the body, come from His navel.

39Mahendra, the King of Heaven, was generated from the prowess of the Lord, the demigods were generated from the mercy of the Lord, Lord Śiva was generated from the anger of the Lord, and Lord Brahmā from His sober intelligence. The Vedic mantras were generated from the bodily holes of the Lord, and the great saints and prajāpatis were generated from His genitals. May that supremely powerful Lord be pleased with us.

40The goddess of fortune was generated from His chest, the inhabitants of Pitṛloka from His shadow, religion from His bosom, and irreligion [the opposite of religion] from His back. The heavenly planets were generated from the top of His head, and the Apsarās from His sense enjoyment. May that supremely powerful Personality of Godhead be pleased with us.

41The brāhmaṇas and Vedic knowledge come from the mouth of the Supreme Personality of Godhead, the kṣatriyas and bodily strength come from His arms, the vaiśyas and their expert knowledge in productivity and wealth come from His thighs, and the śūdras, who are outside of Vedic knowledge, come from His feet. May that Supreme Personality of Godhead, who is full in prowess, be pleased with us.

42Greed is generated from His lower lip, affection from His upper lip, bodily luster from His nose, animalistic lusty desires from His sense of touch, Yamarāja from His eyebrows, and eternal time from His eyelashes. May that Supreme Lord be pleased with us.

43All learned men say that the five elements, eternal time, fruitive activity, the three modes of material nature, and the varieties produced by these modes are all creations of yoga-māyā. This material world is therefore extremely difficult to understand, but those who are highly learned have rejected it. May the Supreme Personality of Godhead, who is the controller of everything, be pleased with us.

44Let us offer our respectful obeisances unto the Supreme Personality of Godhead, who is completely silent, free from endeavor, and completely satisfied by His own achievements. He is not attached to the activities of the material world through His senses. Indeed, in performing His pastimes in this material world, He is just like the unattached air.

45O Supreme Personality of Godhead, we are surrendered unto You, yet we wish to see You. Please make Your original form and smiling lotus face visible to our eyes and appreciable to our other senses.

46O Lord, O Supreme Personality of Godhead, by Your sweet will You appear in various incarnations, millennium after millennium, and act wonderfully, performing uncommon activities that would be impossible for us.

47Karmīs are always anxious to accumulate wealth for their sense gratification, but for that purpose they must work very hard. Yet even though they work hard, the results are not satisfying. Indeed, sometimes their work results only in frustration. But devotees who have dedicated their lives to the service of the Lord can achieve substantial results without working very hard. These results exceed the devotee's expectations.

48Activities dedicated to the Supreme Personality of Godhead, even if performed in small measure, never go in vain. The Supreme Personality of Godhead, being the supreme father, is naturally very dear and always ready to act for the good of the living entities.

49When one pours water on the root of a tree, the trunk and branches of the tree are automatically pleased. Similarly, when one becomes a devotee of Lord Viṣṇu, everyone is served, for the Lord is the Supersoul of everyone.

50My Lord, all obeisances unto You, who are eternal, beyond time's limits of past, present and future. You are inconceivable in Your activities, You are the master of the three modes of material nature, and, being transcendental to all material qualities, You are free from material contamination. You are the controller of all three of the modes of nature, but at the present You are in favor of the quality of goodness. Let us offer our respectful obeisances unto You.

## SB 8.6: The Demigods and Demons Declare a Truce

This chapter describes how the Lord appeared before the demigods when they offered Him their prayers. Following the advice of the Supreme Personality of Godhead, the demigods executed a truce with the demons for the purpose of churning nectar from the sea.

Because of the prayers offered by the demigods in the previous chapter, Lord Kṣīrodakaśāyī Viṣṇu was pleased with the demigods, and thus He appeared before them. The demigods were almost blinded by His transcendental bodily effulgence. At first, therefore, they could not even see any part of His body. After some time, however, when Brahmā could see the Lord, he, along with Lord Śiva, began to offer the Lord prayers.

Lord Brahmā said: "The Supreme Personality of Godhead, being beyond birth and death, is eternal. He has no material qualities. Yet He is the ocean of unlimited auspicious qualities. He is subtler than the most subtle, He is invisible, and His form is inconceivable. He is worshipable for all the demigods. Innumerable universes exist within His form, and therefore He is never separated from these universes by time, space or circumstances. He is the chief and the *pradhāna*. Although He is the beginning, the middle and the end of the material creation, the idea of pantheism conceived by Māyāvādī philosophers has no validity. The Supreme Personality of Godhead controls the entire material manifestation through His subordinate agent, the external energy. Because of His inconceivable transcendental position, He is always the master of the material energy. The Supreme Personality of Godhead, in His various forms, is always present even within this material world, but the material qualities cannot touch Him. One can understand His position only by His instructions, as given in *Bhagavad-gītā*." As stated in *Bhagavad-gītā* (10.10), *dadāmi buddhi-yogaṁ tam.Buddhi-yoga* means *bhakti-yoga*. Only through the process of *bhakti-yoga* can one understand the Supreme Lord.

When offered prayers by Lord Śiva and Lord Brahmā, the Supreme Personality of Godhead was pleased. Thus He gave appropriate instructions to all the demigods. The Supreme Personality of Godhead, who is known as Ajita, unconquerable, advised the demigods to make a peace proposal to the demons, so that after formulating a truce, the demigods and demons could churn the Ocean of Milk. The rope would be the biggest serpent, known as Vāsuki, and the churning rod would be Mandara Mountain. Poison would also be produced from the churning, but it would be taken by Lord Śiva, and so there would be no need to fear it. Many other attractive things would be generated by the churning, but the Lord warned the demigods not to be captivated by such things. Nor should the demigods be angry if there were some disturbances. After advising the demigods in this way, the Lord disappeared from the scene.

Following the instructions of the Supreme Personality of Godhead, the demigods established a peace with Mahārāja Bali, the King of the demons. Then both the demons and the demigods started for the ocean, taking Mandara Mountain with them. Because of the great heaviness of the mountain, the demigods and demons became fatigued, and some of them actually died. Then the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, appeared there on the back of His carrier, Garuḍa, and by His mercy He brought these demigods and demons back to life. The Lord then lifted the mountain with one of His hands and placed it on the back of Garuḍa. The Lord sat on the mountain and was carried to the spot of the churning by Garuḍa, who placed the mountain near the sea. Then the Lord asked Garuḍa to leave that place because as long as Garuḍa was present, Vāsuki could not come there.

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: O King Parīkṣit, the Supreme Personality of Godhead, Hari, being thus worshiped with prayers by the demigods and Lord Brahmā, appeared before them. His bodily effulgence resembled the simultaneous rising of thousands of suns.

2The vision of all the demigods was blocked by the Lord's effulgence. Thus they could see neither the sky, the directions, the land, nor even themselves, what to speak of seeing the Lord, who was present before them.

3-7Lord Brahmā, along with Lord Śiva, saw the crystal-clear personal beauty of the Supreme Personality of Godhead, whose blackish body resembles a marakata gem, whose eyes are reddish like the depths of a lotus, who is dressed with garments that are yellow like molten gold, and whose entire body is attractively decorated. They saw His beautiful, smiling, lotuslike face, crowned by a helmet bedecked with valuable jewels. The Lord has attractive eyebrows, and His cheeks are adorned with earrings. Lord Brahmā and Lord Śiva saw the belt on the Lord's waist, the bangles on His arms, the necklace on His chest, and the ankle bells on His legs. The Lord is bedecked with flower garlands, His neck is decorated with the Kaustubha gem, and He carries with Him the goddess of fortune and His personal weapons, like His disc and club. When Lord Brahmā, along with Lord Śiva and the other demigods, thus saw the form of the Lord, they all immediately fell to the ground, offering their obeisances.

8Lord Brahmā said: Although You are never born, Your appearance and disappearance as an incarnation never cease. You are always free from the material qualities, and You are the shelter of transcendental bliss resembling an ocean. Eternally existing in Your transcendental form, You are the supreme subtle of the most extremely subtle. We therefore offer our respectful obeisances unto You, the Supreme, whose existence is inconceivable.

9O best of persons, O supreme director, those who actually aspire for supreme good fortune worship this form of Your Lordship according to the Vedic Tantras. My Lord, we can see all the three worlds in You.

10My dear Lord, who are always fully independent, this entire cosmic manifestation arises from You, rests upon You and ends in You. Your Lordship is the beginning, sustenance and end of everything, like the earth, which is the cause of an earthen pot, which supports the pot, and to which the pot, when broken, finally returns.

11O Supreme, You are independent in Your self and do not take help from others. Through Your own potency, You create this cosmic manifestation and enter into it. Those who are advanced in Kṛṣṇa consciousness, who are fully in knowledge of the authoritative śāstra, and who, through the practice of bhakti-yoga, are cleansed of all material contamination, can see with clear minds that although You exist within the transformations of the material qualities, Your presence is untouched by these qualities.

12As one can derive fire from wood, milk from the milk bag of the cow, food grains and water from the land, and prosperity in one's livelihood from industrial enterprises, so, by the practice of bhakti-yoga, even within this material world, one can achieve Your favor or intelligently approach You. Those who are pious all affirm this.

13Elephants afflicted by a forest fire become very happy when they get water from the Ganges. Similarly, O my Lord, from whose navel grows a lotus flower, since You have now appeared before us, we have become transcendentally happy. By seeing Your Lordship, whom we have desired to see for a very long time, we have achieved our ultimate goal in life.

14My Lord, we, the various demigods, the directors of this universe, have come to Your lotus feet. Please fulfill the purpose for which we have come. You are the witness of everything, from within and without. Nothing is unknown to You, and therefore it is unnecessary to inform You again of anything.

15I [Lord Brahmā], Lord Śiva and all the demigods, accompanied by the prajāpatis like Dakṣa,

are nothing but sparks illuminated by You, who are the original fire. Since we are particles of You, what can we understand about our welfare? O Supreme Lord, please give us the means of deliverance that is suitable for the brāhmaṇas and demigods.

16Śukadeva Gosvāmī continued: When the Lord was thus offered prayers by the demigods, headed by Lord Brahmā, He understood the purpose for which they had approached Him. Therefore, in a deep voice that resembled the rumbling of clouds, the Lord replied to the demigods, who all stood there attentively with folded hands.

17Although the Supreme Personality of Godhead, the master of the demigods, was capable of performing the activities of the demigods by Himself, He wanted to enjoy pastimes in churning the ocean. Therefore He spoke as follows.

18The Supreme Personality of Godhead said: O Lord Brahmā, Lord Śiva and other demigods, please hear Me with great attention, for what I say will bring good fortune for all of you.

19As long as you are not flourishing, you should make a truce with the demons and asuras, who are now being favored by time.

20O demigods, fulfilling one's own interests is so important that one may even have to make a truce with one's enemies. For the sake of one's self-interest, one has to act according to the logic of the snake and the mouse.

21Immediately endeavor to produce nectar, which a person who is about to die may drink to become immortal.

22-23O demigods, cast into the Ocean of Milk all kinds of vegetables, grass, creepers and drugs. Then, with My help, making Mandara Mountain the churning rod and Vāsuki the rope for churning, churn the Ocean of Milk with undiverted attention. Thus the demons will be engaged in labor, but you, the demigods, will gain the actual result, the nectar produced from the ocean.

24My dear demigods, with patience and peace everything can be done, but if one is agitated by anger, the goal is not achieved. Therefore, whatever the demons ask, agree to their proposal.

25A poison known as kālakūṭa will be generated from the Ocean of Milk, but you should not fear it. And when various products are churned from the ocean, you should not be greedy for them or anxious to obtain them, nor should you be angry.

26Śukadeva Gosvāmī continued: O King Parīkṣit, after advising the demigods in this way, the independent Supreme Personality of Godhead, the best of all living entities, disappeared from their presence.

27Then Lord Brahmā and Lord Śiva, after offering their respectful obeisances to the Lord, returned to their abodes. All the demigods then approached Mahārāja Bali.

28Mahārāja Bali, a most celebrated king of the demons, knew very well when to make peace and when to fight. Thus although his commanders and captains were agitated and were about to kill the demigods, Mahārāja Bali, seeing that the demigods were coming to him without a militant attitude, forbade his commanders to kill them.

29The demigods approached Bali Mahārāja, the son of Virocana, and sat down near him. Bali Mahārāja was protected by the commanders of the demons and was most opulent, having conquered the entire universe.

30After pleasing Bali Mahārāja with mild words, Lord Indra, the King of the demigods, who was most intelligent, very politely submitted all the proposals he had learned from the Supreme Personality of Godhead, Lord Viṣṇu.

31The proposals submitted by King Indra were immediately accepted by Bali Mahārāja and his assistants, headed by Śambara and Ariṣṭanemi, and by all the other residents of Tripura.

32O Mahārāja Parīkṣit, chastiser of enemies, the demigods and the demons thereafter made an armistice between them. Then, with great enterprise, they arranged to produce nectar, as proposed by Lord Indra.

33Thereafter, with great strength, the demons and demigods, who were all very powerful and who had long, stout arms, uprooted Mandara Mountain. Crying very loudly, they brought it toward the Ocean of Milk.

34Because of conveying the great mountain for a long distance, King Indra, Mahārāja Bali and the other demigods and demons became fatigued. Being unable to carry the mountain, they left it on the way.

35The mountain known as Mandara, which was extremely heavy, being made of gold, fell and smashed many demigods and demons.

36The demigods and demons were frustrated and disheartened, and their arms, thighs and shoulders were broken. Therefore the Supreme Personality of Godhead, who knows everything, appeared there on the back of His carrier, Garuḍa.

37Observing that most of the demons and the demigods had been crushed by the falling of the mountain, the Lord glanced over them and brought them back to life. Thus they became free from grief, and they even had no bruises on their bodies.

38The Lord very easily lifted the mountain with one hand and placed it on the back of Garuḍa. Then, He too got on the back of Garuḍa and went to the Ocean of Milk, surrounded by the demigods and demons.

39Thereafter, Garuḍa, the chief of birds, unloaded Mandara Mountain from his shoulder and brought it near the water. Then he was asked by the Lord to leave that place, and he left.

## SB 8.7: Lord Śiva Saves the Universe by Drinking Poison

The summary of the Seventh Chapter is as follows. As described in this chapter, the Supreme Personality of Godhead, appearing in His incarnation as a tortoise, dove deep into the ocean to carry Mandara Mountain on His back. At first the churning of the ocean produced *kālakūṭa* poison. Everyone feared this poison, but Lord Śiva satisfied them by drinking it.

With the understanding that when the nectar was generated from the churning they would share it equally, the demigods and the demons brought Vāsuki to be used as the rope for the churning rod. By the expert arrangement of the Supreme Personality of Godhead, the demons held the snake near the mouth, whereas the demigods held the tail of the great snake. Then, with great endeavor, they began pulling the snake in both directions. Because the churning rod, Mandara Mountain, was very heavy and was not held by any support in the water, it sank into the ocean, and in this way the prowess of both the demons and the demigods was vanquished. The Supreme Personality of Godhead then appeared in the form of a tortoise and supported Mandara Mountain on His back. Then the churning resumed with great force. As a result of the churning, a huge amount of poison was produced. The *prajāpatis,* seeing no one

else to save them, approached Lord Śiva and offered him prayers full of truth. Lord Śiva is called Āśutoṣa because he is very pleased if one is a devotee. Therefore he easily agreed to drink all the poison generated by the churning. The goddess Durgā, Bhavānī, the wife of LordŚiva, was not at all disturbed when Lord Śiva agreed to drink the poison, for she knew Lord Śiva's prowess. Indeed, she expressed her pleasure at this agreement. Then Lord Śiva gathered the devastating poison, which was everywhere. He took it in his hand and drank it. After he drank the poison, his neck became bluish. A small quantity of the poison dropped from his hands to the ground, and it is because of this poison that there are poisonous snakes, scorpions, toxic plants and other poisonous things in this world.

1Śukadeva Gosvāmī said: O best of the Kurus, Mahārāja Parīkṣit, the demigods and demons summoned Vāsuki, king of the serpents, requesting him to come and promising to give him a share of the nectar. They coiled Vāsuki around Mandara Mountain as a churning rope, and with great pleasure they endeavored to produce nectar by churning the Ocean of Milk.

2The Personality of Godhead, Ajita, grasped the front portion of the snake, and then the demigods followed.

3The leaders of the demons thought it unwise to hold the tail, the inauspicious portion of the snake. Instead, they wanted to hold the front, which had been taken by the Personality of Godhead and the demigods, because that portion was auspicious and glorious. Thus the demons, on the plea that they were all highly advanced students of Vedic knowledge and were all famous for their birth and activities, protested that they wanted to hold the front of the snake.

4Thus the demons remained silent, opposing the desire of the demigods. Seeing the demons and understanding their motive, the Personality of Godhead smiled. Without discussion, He immediately accepted their proposal by grasping the tail of the snake, and the demigods followed Him.

5After thus adjusting how the snake was to be held, the sons of Kaśyapa, both demigods and demons, began their activities, desiring to get nectar by churning the Ocean of Milk.

6O son of the Pāṇḍu dynasty, when Mandara Mountain was thus being used as a churning rod in the Ocean of Milk, it had no support, and therefore although held by the strong hands of the demigods and demons, it sank into the water.

7Because the mountain had been sunk by the strength of providence, the demigods and demons were disappointed, and their faces seemed to shrivel.

8Seeing the situation that had been created by the will of the Supreme, the unlimitedly powerful Lord, whose determination is infallible, took the wonderful shape of a tortoise, entered the water, and lifted the great Mandara Mountain.

9When the demigods and demons saw that Mandara Mountain had been lifted, they were enlivened and encouraged to begin churning again. The mountain rested on the back of the great tortoise, which extended for eight hundred thousand miles like a large island.

10O King, when the demigods and demons, by the strength of their arms, rotated Mandara Mountain on the back of the extraordinary tortoise, the tortoise accepted the rolling of the mountain as a means of scratching His body, and thus He felt a pleasing sensation.

11Thereafter, Lord Viṣṇu entered the demons as the quality of passion, the demigods as the quality of goodness, and Vāsuki as the quality of ignorance to encourage them and increase

their various types of strength and energy.

12Manifesting Himself with thousands of hands, the Lord then appeared on the summit of Mandara Mountain, like another great mountain, and held Mandara Mountain with one hand. In the upper planetary systems, Lord Brahmā and Lord Śiva, along with Indra, King of heaven, and other demigods, offered prayers to the Lord and showered flowers upon Him.

13The demigods and demons worked almost madly for the nectar, encouraged by the Lord, who was above and below the mountain and who had entered the demigods, the demons, Vāsuki and the mountain itself. Because of the strength of the demigods and demons, the Ocean of Milk was so powerfully agitated that all the alligators in the water were very much perturbed. Nonetheless the churning of the ocean continued in this way.

14Vāsuki had thousands of eyes and mouths. From his mouths he breathed smoke and blazing fire, which affected the demons, headed by Pauloma, Kāleya, Bali and Ilvala. Thus the demons, who appeared like sarala trees burned by a forest fire, gradually became powerless.

15Because the demigods were also affected by the blazing breath of Vāsuki, their bodily lusters diminished, and their garments, garlands, weapons and faces were blackened by smoke. However, by the grace of the Supreme Personality of Godhead, clouds appeared on the sea, pouring torrents of rain, and breezes blew, carrying particles of water from the sea waves, to give the demigods relief.

16When nectar did not come from the Ocean of Milk, despite so much endeavor by the best of the demigods and demons, the Supreme Personality of Godhead, Ajita, personally began to churn the ocean.

17The Lord appeared like a blackish cloud. He was dressed with yellow garments, His earrings shone on His ears like lightning, and His hair spread over His shoulders. He wore a garland of flowers, and His eyes were pinkish. With His strong, glorious arms, which award fearlessness throughout the universe, He took hold of Vāsuki and began churning the ocean, using Mandara Mountain as a churning rod. When engaged in this way, the Lord appeared like a beautifully situated mountain named Indranīla.

18The fish, sharks, tortoises and snakes were most agitated and perturbed. The entire ocean became turbulent, and even the large aquatic animals like whales, water elephants, crocodiles and timiṅgila fish [large whales that can swallow small whales] came to the surface. While the ocean was being churned in this way, it first produced a fiercely dangerous poison called hālahala.

19O King, when that uncontrollable poison was forcefully spreading up and down in all directions, all the demigods, along with the Lord Himself, approached Lord Śiva [Sadāśiva]. Feeling unsheltered and very much afraid, they sought shelter of him.

20The demigods observed Lord Śiva sitting on the summit of Kailāsa Hill with his wife, Bhavānī, for the auspicious development of the three worlds. He was being worshiped by great saintly persons desiring liberation. The demigods offered him their obeisances and prayers with great respect.

21The prajāpatis said: O greatest of all demigods, Mahādeva, Supersoul of all living entities and cause of their happiness and prosperity, we have come to the shelter of your lotus feet. Now please save us from this fiery poison, which is spreading all over the three worlds.

22O lord, you are the cause of bondage and liberation of the entire universe because you are

its ruler. Those who are advanced in spiritual consciousness surrender unto you, and therefore you are the cause of mitigating their distresses, and you are also the cause of their liberation. We therefore worship Your Lordship.

23O lord, you are self-effulgent and supreme. You create this material world by your personal energy, and you assume the names Brahmā, Viṣṇu and Maheśvara when you act in creation, maintenance and annihilation.

24You are the cause of all causes, the self-effulgent, inconceivable, impersonal Brahman, which is originally Parabrahman. You manifest various potencies in this cosmic manifestation.

25O lord, you are the original source of Vedic literature. You are the original cause of material creation, the life force, the senses, the five elements, the three modes and the mahat-tattva. You are eternal time, determination and the two religious systems called truth [satya] and truthfulness [ṛta]. You are the shelter of the syllable om, which consists of three letters a-u-m.

26O father of all planets, learned scholars know that fire is your mouth, the surface of the globe is your lotus feet, eternal time is your movement, all the directions are your ears, and Varuṇa, master of the waters, is your tongue.

27O lord, the sky is your navel, the air is your breathing, the sun is your eyes, and the water is your semen. You are the shelter of all kinds of living entities, high and low. The god of the moon is your mind, and the upper planetary system is your head.

28O lord, you are the three Vedas personified. The seven seas are your abdomen, and the mountains are your bones. All drugs, creepers and vegetables are the hairs on your body, the Vedic mantras like Gāyatrī are the seven layers of your body, and the Vedic religious system is the core of your heart.

29O lord, the five important Vedic mantras are represented by your five faces, from which the thirty-eight most celebrated Vedic mantras have been generated. Your Lordship, being celebrated as Lord Śiva, is self-illuminated. You are directly situated as the supreme truth, known as Paramātmā.

30O lord, your shadow is seen in irreligion, which brings about varieties of irreligious creations. The three modes of naturegoodness, passion and ignoranceare your three eyes. All the Vedic literatures, which are full of verses, are emanations from you because their compilers wrote the various scriptures after receiving your glance.

31O Lord Girīśa, since the impersonal Brahman effulgence is transcendental to the material modes of goodness, passion and ignorance, the various directors of this material world certainly cannot appreciate it or even know where it is. It is not understandable even to Lord Brahmā, Lord Viṣṇu or the King of heaven, Mahendra.

32When annihilation is performed by the flames and sparks emanating from your eyes, the entire creation is burned to ashes. Nonetheless, you do not know how this happens. What then is to be said of your destroying the Dakṣa-yajṣa, Tripurāsura and the kālakūṭa poison? Such activities cannot be subject matters for prayers offered to you.

33Exalted, self-satisfied persons who preach to the entire world think of your lotus feet constantly within their hearts. However, when persons who do not know your austerity see you moving with Umā, they misunderstand you to be lusty, or when they see you wandering in the crematorium they mistakenly think that you are ferocious and envious. Certainly they are shameless. They cannot understand your activities.

34Even personalities like Lord Brahmā and other demigods cannot understand your position, for you are beyond the moving and nonmoving creation. Since no one can understand you in truth, how can one offer you prayers? It is impossible. As far as we are concerned, we are creatures of Lord Brahmā's creation. Under the circumstances, therefore, we cannot offer you adequate prayers, but as far as our ability allows, we have expressed our feelings.

35O greatest of all rulers, your actual identity is impossible for us to understand. As far as we can see, your presence brings flourishing happiness to everyone. Beyond this, no one can appreciate your activities. We can see this much, and nothing more.

36Śrīla Śukadeva Gosvāmī continued: Lord Śiva is always benevolent toward all living entities. When he saw that the living entities were very much disturbed by the poison, which was spreading everywhere, he was very compassionate. Thus he spoke to his eternal consort, Satī, as follows.

37Lord Śiva said: My dear Bhavānī, just see how all these living entities have been placed in danger because of the poison produced from the churning of the Ocean of Milk.

38It is my duty to give protection and safety to all living entities struggling for existence. Certainly it is the duty of the master to protect his suffering dependents.

39People in general, being bewildered by the illusory energy of the Supreme Personality of Godhead, are always engaged in animosity toward one another. But devotees, even at the risk of their own temporary lives, try to save them.

40My dear gentle wife Bhavānī, when one performs benevolent activities for others, the Supreme Personality of Godhead, Hari, is very pleased. And when the Lord is pleased, I am also pleased, along with all other living creatures. Therefore, let me drink this poison, for all the living entities may thus become happy because of me.

41Śrīla Śukadeva Gosvāmī continued: After informing Bhavānī in this way, Lord Śiva began to drink the poison, and Bhavānī, who knew perfectly well the capabilities of Lord Śiva, gave him her permission to do so.

42Thereafter, Lord Śiva, who is dedicated to auspicious, benevolent work for humanity, compassionately took the whole quantity of poison in his palm and drank it.

43As if in defamation, the poison born from the Ocean of Milk manifested its potency by marking Lord Śiva's neck with a bluish line. That line, however, is now accepted as an ornament of the Lord.

44It is said that great personalities almost always accept voluntary suffering because of the suffering of people in general. This is considered the highest method of worshiping the Supreme Personality of Godhead, who is present in everyone's heart.

45Upon hearing of this act, everyone, including Bhavānī [the daughter of Mahārāja Dakṣa], Lord Brahmā, Lord Viṣṇu, and the people in general, very highly praised this deed performed by Lord Śiva, who is worshiped by the demigods and who bestows benedictions upon the people.

46Scorpions, cobras, poisonous drugs and other animals whose bites are poisonous took the opportunity to drink whatever little poison had fallen and scattered from Lord Śiva's hand while he was drinking.

**SB 8.8: The Churning of the Milk Ocean**

This chapter describes how the goddess of fortune appeared during the churning of the Ocean of Milk and how she accepted Lord Viṣṇu as her husband. As described later in the chapter, when Dhanvantari appeared with a pot of nectar the demons immediately snatched it from him, but Lord Viṣṇu appeared as the incarnation Mohinī, the most beautiful woman in the world, just to captivate the demons and save the nectar for the demigods.

After Lord Śiva drank all the poison, both the demigods and demons took courage and resumed their activities of churning. Because of this churning, first a *surabhi* cow was produced. Great saintly persons accepted this cow to derive clarified butter from its milk and offer this clarified butter in oblations for great sacrifices. Thereafter, a horse named Uccaiḥśravā was generated. This horse was taken by Bali Mahārāja. Then there appeared Airāvata and other elephants that could go anywhere in any direction, and she-elephants also appeared. The gem known as Kaustubha was also generated, and Lord Viṣṇu took that gem and placed it on His chest. Thereafter, a *pārijāta* flower and the Apsarās, the most beautiful women in the universe, were generated. Then the goddess of fortune, Lakṣmī, appeared. The demigods, great sages, Gandharvas and others offered her their respectful worship. The goddess of fortune could not find anyone to accept as her husband. At last she selected Lord Viṣṇu to be her master. Lord Viṣṇu gave her a place to stay everlastingly at His chest. Because of this combination of Lakṣmī and Nārāyaṇa, all who were present, including the demigods and people in general, were very pleased. The demons, however, being neglected by the goddess of fortune, were very depressed. Then Vāruṇī, the goddess of drinking, was generated, and by the order of Lord Viṣṇu the demons accepted her. Then the demons and demigods, with renewed energy, began to churn again. This time a partial incarnation of Lord Viṣṇu called Dhanvantari appeared. He was very beautiful, and he carried a jug containing nectar. The demons immediately snatched the jug from Dhanvantari's hand and began to run away, and the demigods, being very morose, took shelter of Viṣṇu. After the demons snatched the jug from Dhanvantari, they began to fight among themselves. Lord Viṣṇu solaced the demigods, who therefore did not fight, but remained silent. While the fighting was going on among the demons, the Lord Himself appeared as the incarnation Mohinī, the most beautiful woman in the universe.

1Śukadeva Gosvāmī continued: Upon Lord Śiva's drinking the poison, both the demigods and the demons, being very pleased, began to churn the ocean with renewed vigor. As a result of this, there appeared a cow known as surabhi.

2O King Parīkṣit, great sages who were completely aware of the Vedic ritualistic ceremonies took charge of that surabhi cow, which produced all the yogurt, milk and ghee absolutely necessary for offering oblations into the fire. They did this just for the sake of pure ghee, which they wanted for the performance of sacrifices to elevate themselves to the higher planetary systems, up to Brahmaloka.

3Thereafter, a horse named Uccaiḥśravā, which was as white as the moon, was generated. Bali Mahārāja desired to possess this horse, and Indra, the King of heaven, did not protest, for he had previously been so advised by the Supreme Personality of Godhead.

4As the next result of the churning, the king of elephants, named Airāvata, was generated. This elephant was white, and with its four tusks it defied the glories of Kailāsa Mountain, the glorious abode of Lord Śiva.

5Thereafter, O King, eight great elephants, which could go in any direction, were generated. They were headed by Airāvaṇa. Eight she-elephants, headed by Abhramu, were also generated.

6Generated thereafter from the great ocean were the celebrated gems Kaustubha-maṇi and

Padmarāga-maṇi. Lord Viṣṇu, to decorate His chest, desired to possess them. Generated next was the pārijāta flower, which decorates the celestial planets. O King, as you fulfill the desires of everyone on this planet by fulfilling all ambitions, the pārijāta fulfills the desires of everyone.

7Next there appeared the Apsarās [who are used as prostitutes on the heavenly planets]. They were fully decorated with golden ornaments and lockets and were dressed in fine and attractive clothing. The Apsarās move very slowly in an attractive style that bewilders the inhabitants of the heavenly planets.

8Then there appeared the goddess of fortune, Ramā, who is absolutely dedicated to being enjoyed by the Supreme Personality of Godhead. She appeared like electricity, surpassing the lightning that might illuminate a marble mountain.

9Because of her exquisite beauty, her bodily features, her youth, her complexion and her glories, everyone, including the demigods, the demons and the human beings, desired her. They were attracted because she is the source of all opulences.

10The King of heaven, Indra, brought a suitable sitting place for the goddess of fortune. All the rivers of sacred water, such as the Ganges and Yamunā, personified themselves, and each of them brought pure water in golden waterpots for mother Lakṣmī, the goddess of fortune.

11The land became a person and collected all the drugs and herbs needed for installing the Deity. The cows delivered five products, namely milk, yogurt, ghee, urine and cow dung, and spring personified collected everything produced in spring, during the months of Caitra and Vaiśākha [April and May].

12The great sages performed the bathing ceremony of the goddess of fortune as directed in the authorized scriptures, the Gandharvas chanted all-auspicious Vedic mantras, and the professional women dancers very nicely danced and sang authorized songs prescribed in the Vedas.

13The clouds in personified form beat various types of drums, known as mṛdaṅgas, paṇavas, murajas and ānakas. They also blew conchshells and bugles known as gomukhas and played flutes and stringed instruments. The combined sound of these instruments was tumultuous.

14Thereafter, the great elephants from all the directions carried big water jugs full of Ganges water and bathed the goddess of fortune, to the accompaniment of Vedic mantras chanted by learned brāhmaṇas. While thus being bathed, the goddess of fortune maintained her original style, with a lotus flower in her hand, and she appeared very beautiful. The goddess of fortune is the most chaste, for she does not know anyone but the Supreme Personality of Godhead.

15The ocean, which is the source of all valuable jewels, supplied the upper and lower portions of a yellow silken garment. The predominating deity of the water, Varuṇa, presented flower garlands surrounded by six-legged bumblebees, drunken with honey.

16Viśvakarmā, one of the prajāpatis, supplied varieties of decorated ornaments. The goddess of learning, Sarasvatī, supplied a necklace, Lord Brahmā supplied a lotus flower, and the inhabitants of Nāgaloka supplied earrings.

17Thereafter, mother Lakṣmī, the goddess of fortune, having been properly celebrated with an auspicious ritualistic ceremony, began moving about, holding in her hand a garland of lotus flowers, which were surrounded by humming bumblebees. Smiling with shyness, her cheeks decorated by her earrings, she looked extremely beautiful.

18Her two breasts, which were symmetrical and nicely situated, were covered with sandalwood pulp and kuṅkuma powder, and her waist was very thin. As she walked here and there, her ankle bells jingling softly, she appeared like a creeper of gold.

19While walking among the Gandharvas, Yakṣas, asuras, Siddhas, Cāraṇas and denizens of heaven, Lakṣmīdevī, the goddess of fortune, was scrutinizingly examining them, but she could not find anyone naturally endowed with all good qualities. None of them was devoid of faults, and therefore she could not take shelter of any of them.

20The goddess of fortune, examining the assembly, thought in this way: Someone who has undergone great austerity has not yet conquered anger. Someone possesses knowledge, but he has not conquered material desires. Someone is a very great personality, but he cannot conquer lusty desires. Even a great personality depends on something else. How, then, can he be the supreme controller?

21Someone may possess full knowledge of religion but still not be kind to all living entities. In someone, whether human or demigod, there may be renunciation, but that is not the cause of liberation. Someone may possess great power and yet be unable to check the power of eternal time. Someone else may have renounced attachment to the material world, yet he cannot compare to the Supreme Personality of Godhead. Therefore, no one is completely freed from the influence of the material modes of nature.

22Someone may have longevity but not have auspiciousness or good behavior. Someone may have both auspiciousness and good behavior, but the duration of his life is not fixed. Although such demigods as Lord Śiva have eternal life, they have inauspicious habits like living in crematoriums. And even if others are well qualified in all respects, they are not devotees of the Supreme Personality of Godhead.

23Śukadeva Gosvāmī continued: In this way, after full deliberation, the goddess of fortune accepted Mukunda as her husband because although He is independent and not in want of her, He possesses all transcendental qualities and mystic powers and is therefore the most desirable.

24Approaching the Supreme Personality of Godhead, the goddess of fortune placed upon His shoulders the garland of newly grown lotus flowers, which was surrounded by humming bumblebees searching for honey. Then, expecting to get a place on the bosom of the Lord, she remained standing by His side, her face smiling in shyness.

25The Supreme Personality of Godhead is the father of the three worlds, and His bosom is the residence of mother Lakṣmī, the goddess of fortune, the proprietor of all opulences. The goddess of fortune, by her favorable and merciful glance, can increase the opulence of the three worlds, along with their inhabitants and their directors, the demigods.

26The inhabitants of Gandharvaloka and Cāraṇaloka then took the opportunity to play their musical instruments, such as conchshells, bugles and drums. They began dancing and singing along with their wives.

27Lord Brahmā, Lord Śiva, the great sage Aṅgirā, and similar directors of universal management showered flowers and chanted mantras indicating the transcendental glories of the Supreme Personality of Godhead.

28All the demigods, along with the prajāpatis and their descendants, being blessed by Lakṣmījī's glance upon them, were immediately enriched with good behavior and transcendental qualities. Thus they were very much satisfied.

29O King, because of being neglected by the goddess of fortune, the demons and Rākṣasas were depressed, bewildered and frustrated, and thus they became shameless.

30Next appeared Vāruṇī, the lotus-eyed goddess who controls drunkards. With the permission of the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, the demons, headed by Bali Mahārāja, took possession of this young girl.

31O King, thereafter, while the sons of Kaśyapa, both demons and demigods, were engaged in churning the Ocean of Milk, a very wonderful male person appeared.

32He was strongly built; his arms were long, stout and strong; his neck, which was marked with three lines, resembled a conchshell; his eyes were reddish; and his complexion was blackish. He was very young, he was garlanded with flowers, and his entire body was fully decorated with various ornaments.

33He was dressed in yellow garments and wore brightly polished earrings made of pearls. The tips of his hair were anointed with oil, and his chest was very broad. His body had all good features, he was stout and strong like a lion, and he was decorated with bangles. In his hand he carried a jug filled to the top with nectar.

34This person was Dhanvantari, a plenary portion of a plenary portion of Lord Viṣṇu. He was very conversant with the science of medicine, and as one of the demigods he was permitted to take a share in sacrifices.

35Upon seeing Dhanvantari carrying the jug of nectar, the demons, desiring the jug and its contents, immediately snatched it away by force.

36When the jug of nectar was carried off by the demons, the demigods were morose. Thus they sought shelter at the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead, Hari.

37When the Supreme Personality of Godhead, who always desires to fulfill the ambitions of His devotees, saw that the demigods were morose, He said to them, "Do not be aggrieved. By My own energy I shall bewilder the demons by creating a quarrel among them. In this way I shall fulfill your desire to have the nectar."

38O King, a quarrel then arose among the demons over who would get the nectar first. Each of them said, "You cannot drink it first. I must drink it first. Me first, not you!"

39-40Some of the demons said, "All the demigods have taken part in churning the Ocean of Milk. Now, as everyone has an equal right to partake in any public sacrifice, according to the eternal religious system it is befitting that the demigods now have a share of the nectar." O King, in this way the weaker demons forbade the stronger demons to take the nectar.

41-46The Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, who can counteract any unfavorable situation, then assumed the form of an extremely beautiful woman. This incarnation as a woman, Mohinī-mūrti, was most pleasing to the mind. Her complexion resembled in color a newly grown blackish lotus, and every part of Her body was beautifully situated. Her ears were equally decorated with earrings, Her cheeks were very beautiful, Her nose was raised and Her face full of youthful luster. Her large breasts made Her waist seem very thin. Attracted by the aroma of Her face and body, bumblebees hummed around Her, and thus Her eyes were restless. Her hair, which was extremely beautiful, was garlanded with mallikā flowers. Her attractively constructed neck was decorated with a necklace and other ornaments, Her arms were decorated with bangles, Her body was covered with a clean sari, and Her breasts seemed like islands in an ocean of beauty. Her legs were decorated with ankle bells. Because of the

movements of Her eyebrows as She smiled with shyness and glanced over the demons, all the demons were saturated with lusty desires, and every one of them desired to possess Her.

### SB 8.9: The Lord Incarnates as Mohinī-Mūrti

This chapter describes how the demons, being enchanted by the beauty of the Mohinī form, agreed to hand over the container of nectar to Mohinīdevī, who tactfully delivered it to the demigods.

When the demons got possession of the container of nectar, an extraordinarily beautiful young woman appeared before them. All the demons became captivated by the young woman's beauty and became attached to Her. Now, because the demons were fighting among themselves to possess the nectar, they selected this beautiful woman as a mediator to settle their quarrel. Taking advantage of their weakness in this regard, Mohinī, the incarnation of the Supreme Personality of Godhead, got the demons to promise that whatever decision She might give, they would not refuse to accept it. When the demons made this promise, the beautiful woman, Mohinī-mūrti, had the demigods and demons sit in different lines so that She could distribute the nectar. She knew that the demons were quite unfit to drink the nectar. Therefore, by cheating them She distributed all the nectar to the demigods. When the demons saw this cheating of Mohinī-mūrti, they remained silent. But one demon, named Rāhu, dressed himself like a demigod and sat down in the line of the demigods. He sat beside the sun and the moon. When the Supreme Personality of Godhead understood how Rāhu was cheating, He immediately cut off the demon's head. Rāhu, however, had already tasted the nectar, and therefore although his head was severed, he remained alive. After the demigods finished drinking the nectar, the Supreme Personality of Godhead assumed His own form. Śukadeva Gosvāmī ends this chapter by describing how powerful is the chanting of the holy names, pastimes and paraphernalia of the Supreme Personality of Godhead.

1Śukadeva Gosvāmī said: Thereafter, the demons became inimical toward one another. Throwing and snatching the container of nectar, they gave up their friendly relationship. Meanwhile, they saw a very beautiful young woman coming forward toward them.

2Upon seeing the beautiful woman, the demons said, "Alas, how wonderful is Her beauty, how wonderful the luster of Her body, and how wonderful the beauty of Her youthful age!" Speaking in this way, they quickly approached Her, full of lusty desires to enjoy Her, and began to inquire from Her in many ways.

3O wonderfully beautiful girl, You have such nice eyes, resembling the petals of a lotus flower. Who are You? Where do You come from? What is Your purpose in coming here, and to whom do You belong? O You whose thighs are extraordinarily beautiful, our minds are becoming agitated simply because of seeing You.

4What to speak of human beings, even the demigods, demons, Siddhas, Gandharvas, Cāraṇas and the various directors of the universe, the Prajāpatis, have never touched You before. It is not that we are unable to understand Your identity.

5O beautiful girl with beautiful eyebrows, certainly Providence, by His causeless mercy, has sent You to please the senses and minds of all of us. Is this not a fact?

6We are now all engaged in enmity among ourselves because of this one subject matterthe container of nectar. Although we have been born in the same family, we are becoming increasingly inimical. O thin-waisted woman, who are so beautiful in Your prestigious position, we therefore request You to favor us by settling our dispute.

7All of us, both demons and demigods, have been born of the same father, Kaśyapa, and thus we are related as brothers. But now we are exhibiting our personal prowess in dissension. Therefore we request You to settle our dispute and divide the nectar equally among us.

8Having thus been requested by the demons, the Supreme Personality of Godhead, who had assumed the form of a beautiful woman, began to smile. Looking at them with attractive feminine gestures, She spoke as follows.

9The Supreme Personality of Godhead, in the form of Mohinī, told the demons: O sons of Kaśyapa Muni, I am only a prostitute. How is it that you have so much faith in Me? A learned person never puts his faith in a woman.

10O demons, as monkeys, jackals and dogs are unsteady in their sexual relationships and want newer and newer friends every day, women who live independently seek new friends daily. Friendship with such a woman is never permanent. This is the opinion of learned scholars.

11ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: After the demons heard the words of Mohinī-mūrti, who had spoken as if jokingly, they were all very confident. They laughed with gravity, and ultimately they delivered the container of nectar into Her hands.

12Thereafter, the Supreme Personality of Godhead, having taken possession of the container of nectar, smiled slightly and spoke in attractive words. She said: My dear demons, if you accept whatever I may do, whether honest or dishonest, then I can take responsibility for dividing the nectar among you.

13The chiefs of the demons were not very expert in deciding things. Upon hearing the sweet words of Mohinī-mūrti, they immediately assented. "Yes," they answered. "What You have said is all right." Thus the demons agreed to accept Her decision.

14-15The demigods and demons then observed a fast. After bathing, they offered clarified butter and oblations into the fire and gave charity to the cows and to the brāhmaṇas and members of the other orders of society, namely the kṣatriyas, vaiśyas and śūdras, who were all rewarded as they deserved. Thereafter, the demigods and demons performed ritualistic ceremonies under the directions of the brāhmaṇas. Then they dressed themselves with new garments according to their own choice, decorated their bodies with ornaments, and sat facing east on seats made of kuśa grass.

16-17O King, as the demigods and demons sat facing east in an arena fully decorated with flower garlands and lamps and fragrant with the smoke of incense, that woman, dressed in a most beautiful sari, Her ankle bells tinkling, entered the arena, walking very slowly because of Her big, low hips. Her eyes were restless due to youthful pride, Her breasts were like water jugs, Her thighs resembled the trunks of elephants, and She carried a waterpot in Her hand.

18Her attractive nose and cheeks and Her ears, adorned with golden earrings, made Her face very beautiful. As She moved, Her sari's border on Her breasts moved slightly aside. When the demigods and demons saw these beautiful features of Mohinī-mūrti, who was glancing at them and slightly smiling, they were all completely enchanted.

19Demons are by nature crooked like snakes. Therefore, to distribute a share of the nectar to them was not at all feasible, since this would be as dangerous as supplying milk to a snake. Considering this, the Supreme Personality of Godhead, who never falls down, did not deliver a share of nectar to the demons.

20The Supreme Personality of Godhead as Mohinī-mūrti, the master of the universe, arranged

separate lines of sitting places and seated the demigods and demons according to their positions.

21Taking the container of nectar in Her hands, She first approached the demons, satisfied them with sweet words and thus cheated them of their share of the nectar. Then She administered the nectar to the demigods, who were sitting at a distant place, to make them free from invalidity, old age and death.

22O King, since the demons had promised to accept whatever the woman did, whether just or unjust, now, to keep this promise, to show their equilibrium and to save themselves from fighting with a woman, they remained silent.

23The demons had developed affection for Mohinī-mūrti and a kind of faith in Her, and they were afraid of disturbing their relationship. Therefore they showed respect and honor to Her words and did not say anything that might disturb their friendship with Her.

24Rāhu, the demon who causes eclipses of the sun and moon, covered himself with the dress of a demigod and thus entered the assembly of the demigods and drank nectar without being detected by anyone, even by the Supreme Personality of Godhead. The moon and the sun, however, because of permanent animosity toward Rāhu, understood the situation. Thus Rāhu was detected.

25The Supreme Personality of Godhead, Hari, using His disc, which was sharp like a razor, at once cut off Rāhu's head. When Rāhu's head was severed from his body, the body, being untouched by the nectar, could not survive.

26Rāhu's head, however, having been touched by the nectar, became immortal. Thus Lord Brahmā accepted Rāhu's head as one of the planets. Since Rāhu is an eternal enemy of the moon and the sun, he always tries to attack them on the nights of the full moon and the dark moon.

27The Supreme Personality of Godhead is the best friend and well-wisher of the three worlds. Thus when the demigods had almost finished drinking the nectar, the Lord, in the presence of all the demons, disclosed His original form.

28The place, the time, the cause, the purpose, the activity and the ambition were all the same for both the demigods and the demons, but the demigods achieved one result and the demons another. Because the demigods are always under the shelter of the dust of the Lord's lotus feet, they could very easily drink the nectar and get its result. The demons, however, not having sought shelter at the lotus feet of the Lord, were unable to achieve the result they desired.

29In human society there are various activities performed for the protection of one's wealth and life by one's words, one's mind and one's actions, but they are all performed for one's personal or extended sense gratification with reference to the body. All these activities are baffled because of being separate from devotional service. But when the same activities are performed for the satisfaction of the Lord, the beneficial results are distributed to everyone, just as water poured on the root of a tree is distributed throughout the entire tree.

### SB 8.10: The Battle Between the Demigods and the Demons

The summary of Chapter Ten is as follows. Because of envy, the fight between the demons and the demigods continued. When the demigods were almost defeated by demoniac maneuvers and became morose, Lord Viṣṇu appeared among them.

Both the demigods and the demons are expert in activities involving the material energy, but

the demigods are devotees of the Lord, whereas the demons are just the opposite. The demigods and demons churned the Ocean of Milk to get nectar from it, but the demons, not being devotees of the Lord, could derive no profit. After feeding nectar to the demigods, Lord Viṣṇu returned to His abode on the back of Garuḍa, but the demons, being most aggrieved, again declared war against the demigods. Bali Mahārāja, the son of Virocana, became the commander in chief of the demons. In the beginning of the battle, the demigods prepared to defeat the demons. Indra, King of heaven, fought with Bali, and other demigods, like Vāyu, Agni and Varuṇa, fought against other leaders of the demons. In this fight the demons were defeated, and to save themselves from death they began to manifest many illusions through material maneuvers, killing many soldiers on the side of the demigods. The demigods, finding no other recourse, surrendered again to the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, who then appeared and counteracted all the illusions presented by the jugglery of the demons. Heroes among the demons such as Kālanemi, Mālī, Sumālī and Mālyavān fought the Supreme Personality of Godhead and were all killed by the Lord. The demigods were thus freed from all dangers.

1Śukadeva Gosvāmī said: O King, the demons and Daityas all engaged with full attention and effort in churning the ocean, but because they were not devotees of Vāsudeva, the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, they were not able to drink the nectar.

2O King, after the Supreme Personality of Godhead had brought to completion the affairs of churning the ocean and feeding the nectar to the demigods, who are His dear devotees, He left the presence of them all and was carried by Garuḍa to His own abode.

3Seeing the victory of the demigods, the demons became intolerant of their superior opulence. Thus they began to march toward the demigods with raised weapons.

4Thereafter, being enlivened because of drinking the nectar, the demigods, who are always at the shelter of the lotus feet of Nārāyaṇa, used their various weapons to counterattack the demons in a fighting spirit.

5O King, a fierce battle on the beach of the Ocean of Milk ensued between the demigods and the demons. The fighting was so terrible that simply hearing about it would make the hair on one's body stand on end.

6Both parties in that fight were extremely angry at heart, and in enmity they beat one another with swords, arrows and varieties of other weapons.

7The sounds of the conchshells, bugles, drums, bherīs andḍamarīs [kettledrums], as well as the sounds made by the elephants, horses and soldiers, who were both on chariots and on foot, were tumultuous.

8On that battlefield, the charioteers fought with the opposing charioteers, the infantry soldiers with the opposing infantry, the soldiers on horseback with the opposing soldiers on horseback, and the soldiers on the backs of elephants with the enemy soldiers on elephants. In this way, the fighting took place between equals.

9Some soldiers fought on the backs of camels, some on the backs of elephants, some on asses, some on white-faced and red-faced monkeys, some on tigers and some on lions. In this way, they all engaged in fighting.

10-12O King, some soldiers fought on the backs of vultures, eagles, ducks, hawks and bhāsa birds. Some fought on the backs of timiṅgilas, which can devour huge whales, some on the backs of śarabhas, and some on buffalo, rhinoceroses, cows, bulls, jungle cows and aruṇas.

Others fought on the backs of jackals, rats, lizards, rabbits, human beings, goats, black deer, swans and boars. In this way, mounted on animals of the water, land and sky, including animals with deformed bodies, both armies faced each other and went forward.

13-15O King, O descendant of Mahārāja Pāṇḍu, the soldiers of both the demigods and demons were decorated by canopies, colorful flags, and umbrellas with handles made of valuable jewels and pearls. They were further decorated by fans made of peacock feathers and by other fans also. The soldiers, their upper and lower garments waving in the breeze, naturally looked very beautiful, and in the light of the glittering sunshine their shields, ornaments and sharp, clean weapons appeared dazzling. Thus the ranks of soldiers seemed like two oceans with bands of aquatics.

16-18For that battle the most celebrated commander in chief, Mahārāja Bali, son of Virocana, was seated on a wonderful airplane named Vaihāyasa. O King, this beautifully decorated airplane had been manufactured by the demon Maya and was equipped with weapons for all types of combat. It was inconceivable and indescribable. Indeed, it was sometimes visible and sometimes not. Seated in this airplane under a beautiful protective umbrella and being fanned by the best of cāmaras, Mahārāja Bali, surrounded by his captains and commanders, appeared just like the moon rising in the evening, illuminating all directions.

19-24Surrounding Mahārāja Bali on all sides were the commanders and captains of the demons, sitting on their respective chariots. Among them were the following demons: Namuci, Śambara, Bāṇa, Vipracitti, Ayomukha, Dvimūrdhā, Kālanābha, Praheti, Heti, Ilvala, Śakuni, Bhūtasantāpa, Vajradaṁṣṭra, Virocana, Hayagrīva, Śaṅkuśirā, Kapila, Meghadundubhi, Tāraka, Cakradṛk, Śumbha, Niśumbha, Jambha, Utkala, Ariṣṭa, Ariṣṭanemi, Tripurādhipa, Maya, the sons of Puloma, the Kāleyas and Nivātakavaca. All of these demons had been deprived of their share of the nectar and had shared merely in the labor of churning the ocean. Now, they fought against the demigods, and to encourage their armies, they made a tumultuous sound like the roaring of lions and blew loudly on conchshells. Balabhit, Lord Indra, upon seeing this situation of his ferocious rivals, became extremely angry.

25Sitting on Airāvata, an elephant who can go anywhere and who holds water and wine in reserve for showering, Lord Indra looked just like the sun rising from Udayagiri, where there are reservoirs of water.

26Surrounding Lord Indra, King of heaven, were the demigods, seated on various types of vehicles and decorated with flags and weapons. Present among them were Vāyu, Agni, Varuṇa and other rulers of various planets, along with their associates.

27The demigods and demons came before each other and reproached one another with words piercing to the heart. Then they drew near and began fighting face to face in pairs.

28O King, Mahārāja Bali fought with Indra, Kārttikeya with Tāraka, Varuṇa with Heti, and Mitra with Praheti.

29Yamarāja fought with Kālanābha, Viśvakarmā with Maya Dānava, Tvaṣṭā with Śambara, and the sun-god with Virocana.

30-31The demigod Aparājita fought with Namuci, and the two Aśvinī-kumāra brothers fought with Vṛṣaparvā. The sun-god fought with the one hundred sons of Mahārāja Bali, headed by Bāṇa, and the moon-god fought with Rāhu. The demigod controlling air fought with Puloma, and Śumbha and Niśumbha fought the supremely powerful material energy, Durgādevī, who is called Bhadra Kālī.

32-34O Mahārāja Parīkṣit, suppressor of enemies [Arindama], Lord Śiva fought with Jambha, and Vibhāvasu fought with Mahiṣāsura. Ilvala, along with his brother Vātāpi, fought the sons of Lord Brahmā. Durmarṣa fought with Cupid, the demon Utkala with the Mātṛkā demigoddesses, Bṛhaspati with Śukrācārya, and Śanaiścara [Saturn] with Narakāsura. The Maruts fought Nivātakavaca, the Vasus fought the Kālakeya demons, the Viśvedeva demigods fought the Pauloma demons, and the Rudras fought the Krodhavaśa demons, who were victims of anger.

35All of these demigods and demons assembled on the battlefield with a fighting spirit and attacked one another with great strength. All of them desiring victory, they fought in pairs, hitting one another severely with sharpened arrows, swords and lances.

36They severed one another's heads, using weapons like bhuśuṇḍis, cakras, clubs, ṛṣṭis, paṭṭiśas, śaktis, ulmukas, prāsas, paraśvadhas, nistriṁśas, lances, parighas, mudgaras and bhindipālas.

37The elephants, horses, chariots, charioteers, infantry soldiers and various kinds of carriers, along with their riders, were slashed to pieces. The arms, thighs, necks and legs of the soldiers were severed, and their flags, bows, armor and ornaments were torn apart.

38Because of the impact on the ground of the legs of the demons and demigods and the wheels of the chariots, particles of dust flew violently into the sky and made a dust cloud that covered all directions of outer space, as far as the sun. But when the particles of dust were followed by drops of blood being sprinkled all over space, the dust cloud could no longer float in the sky.

39In the course of the battle, the warfield became strewn with the severed heads of heroes, their eyes still staring and their teeth still pressed against their lips in anger. Helmets and earrings were scattered from these severed heads. Similarly, many arms, decorated with ornaments and clutching various weapons, were strewn here and there, as were many legs and thighs, which resembled the trunks of elephants.

40Many headless trunks were generated on that battlefield. With weapons in their arms, those ghostly trunks, which could see with the eyes in the fallen heads, attacked the enemy soldiers.

41Mahārāja Bali then attacked Indra with ten arrows and attacked Airāvata, Indra's carrier elephant, with three arrows. With four arrows he attacked the four horsemen guarding Airāvata's legs, and with one arrow he attacked the driver of the elephant.

42Before Bali Mahārāja's arrows could reach him, Indra, King of heaven, who is expert in dealing with arrows, smiled and counteracted the arrows with arrows of another type, known as bhalla, which were extremely sharp.

43When Bali Mahārāja saw the expert military activities of Indra, he could not restrain his anger. Thus he took up another weapon, known as śakti, which blazed like a great firebrand. But Indra cut that weapon to pieces while it was still in Bali's hand.

44Thereafter, one by one, Bali Mahārāja used a lance, prāsa, tomara, ṛṣṭis and other weapons, but whatever weapons he took up, Indra immediately cut them to pieces.

45My dear King, Bali Mahārāja then disappeared and resorted to demoniac illusions. A giant mountain, generated from illusion, then appeared above the heads of the demigod soldiers.

46From that mountain fell trees blazing in a forest fire. Chips of stone, with sharp edges like picks, also fell and smashed the heads of the demigod soldiers.

47Scorpions, large snakes and many other poisonous animals, as well as lions, tigers, boars and great elephants, all began falling upon the demigod soldiers, crushing everything.

48O my King, many hundreds of male and female carnivorous demons, completely naked and carrying tridents in their hands, then appeared, crying the slogans "Cut them to pieces! Pierce them!"

49Fierce clouds, harassed by strong winds, then appeared in the sky. Rumbling very gravely with the sound of thunder, they began to shower live coals.

50A great devastating fire created by Bali Mahārāja began burning all the soldiers of the demigods. This fire, accompanied by blasting winds, seemed as terrible as the Sāṁvartaka fire, which appears at the time of dissolution.

51Thereafter, whirlpools and sea waves, agitated by fierce blasts of wind, appeared everywhere, before everyone's vision, in a furious flood.

52While this magical atmosphere in the fight was being created by the invisible demons, who were expert in such illusions, the soldiers of the demigods became morose.

53O King, when the demigods could find no way to counteract the activities of the demons, they wholeheartedly meditated upon the Supreme Personality of Godhead, the creator of the universe, who then immediately appeared.

54The Supreme Personality of Godhead, whose eyes resemble the petals of a newly blossomed lotus, sat on the back of Garuḍa, spreading His lotus feet over Garuḍa's shoulders. Dressed in yellow, decorated by the Kaustubha gem and the goddess of fortune, and wearing an invaluable helmet and earrings, the Supreme Lord, holding various weapons in His eight hands, became visible to the demigods.

55As the dangers of a dream cease when the dreamer awakens, the illusions created by the jugglery of the demons were vanquished by the transcendental prowess of the Supreme Personality of Godhead as soon as He entered the battlefield. Indeed, simply by remembrance of the Supreme Personality of Godhead, one becomes free from all dangers.

56O King, when the demon Kālanemi, who was carried by a lion, saw that the Supreme Personality of Godhead, carried by Garuḍa, was on the battlefield, the demon immediately took his trident, whirled it and discharged it at Garuḍa's head. The Supreme Personality of Godhead, Hari, the master of the three worlds, immediately caught the trident, and with the very same weapon he killed the enemy Kālanemi, along with his carrier, the lion.

57Thereafter, two very powerful demons named Mālī and Sumālī were killed by the Supreme Lord, who severed their heads with His disc. Then Mālyavān, another demon, attacked the Lord. With his sharp club, the demon, who was roaring like a lion, attacked Garuḍa, the lord of the birds, who are born from eggs. But the Supreme Personality of Godhead, the original person, used His disc to cut off the head of that enemy also.

### SB 8.11: King Indra Annihilates the Demons

As described in this chapter, the great saint Nārada Muni, being very compassionate to the demons who had been killed by the demigods, forbade the demigods to continue killing. Then Śukrācārya, by his mystic power, renewed the lives of all the demons.

Having been graced by the Supreme Personality of Godhead, the demigods began fighting the demons again, with renewed energy. King Indra released his thunderbolt against Bali, and

when Bali fell, his friend Jambhāsura attacked Indra, who then cut off Jambhāsura's head with his thunderbolt. When Nārada Muni learned that Jambhāsura had been killed, he informed Jambhāsura's relatives Namuci, Bala and Pāka, who then went to the battlefield and attacked the demigods. Indra, King of heaven, severed the heads of Bala and Pāka and released the weapon known as *kuliśa,* the thunderbolt, against Namuci's shoulder. The thunderbolt, however, returned unsuccessful, and thus Indra became morose. At that time, an unseen voice came from the sky. The voice declared, "A dry or wet weapon cannot kill Namuci." Hearing this voice, Indra began to think of how Namuci could be killed. He then thought of foam, which is neither moist nor dry. Using a weapon of foam, he was able to kill Namuci. Thus Indra and the other demigods killed many demons. Then, at the request of Lord Brahmā, Nārada went to the demigods and forbade them to kill the demons any longer. All the demigods then returned to their abodes. Following the instructions of Nārada, whatever demons remained alive on the battlefield took Bali Mahārāja to Asta Mountain. There, by the touch of Śukrācārya's hand, Bali Mahārāja regained his senses and consciousness, and those demons whose heads and bodies had not been completely lost were brought back to life by the mystic power of Śukrācārya.

1Śukadeva Gosvāmī said: Thereafter, by the supreme grace of the Supreme Personality of Godhead, Śrī Hari, all the demigods, headed by Indra and Vāyu, were brought back to life. Being enlivened, the demigods began severely beating the very same demons who had defeated them before.

2When the most powerful Indra became angry and took his thunderbolt in hand to kill Mahārāja Bali, the demons began lamenting, "Alas, alas!"

3Sober and tolerant and well equipped with paraphernalia for fighting, Bali Mahārāja moved before Indra on the great battlefield. King Indra, who always carries the thunderbolt in his hand, rebuked Bali Mahārāja as follows.

4Indra said: O rascal, as a cheater sometimes binds the eyes of a child and takes away his possessions, you are trying to defeat us by displaying some mystic power, although you know that we are the masters of all such mystic powers.

5Those fools and rascals who want to ascend to the upper planetary system by mystic power or mechanical means, or who endeavor to cross even the upper planets and achieve the spiritual world or liberation, I cause to be sent to the lowest region of the universe.

6Today, with my thunderbolt, which has hundreds of sharp edges, I, the same powerful person, shall sever your head from your body. Although you can produce so much jugglery through illusion, you are endowed with a poor fund of knowledge. Now, try to exist on this battlefield with your relatives and friends.

7Bali Mahārāja replied: All those present on this battlefield are certainly under the influence of eternal time, and according to their prescribed activities, they are destined to receive fame, victory, defeat and death, one after another.

8Seeing the movements of time, those who are cognizant of the real truth neither rejoice nor lament for different circumstances. Therefore, because you are jubilant due to your victory, you should be considered not very learned.

9You demigods think that your own selves are the cause of your attaining fame and victory. Because of your ignorance, saintly persons feel sorry for you. Therefore, although your words afflict the heart, we do not accept them.

10Śukadeva Gosvāmī said: After thus rebuking Indra, King of heaven, with sharp words, Bali Mahārāja, who could subdue any other hero, drew back to his ear the arrows known as nārācas and attacked Indra with these arrows. Then he again chastised Indra with strong words.

11Since Mahārāja Bali's rebukes were truthful, King Indra did not at all become sorry, just as an elephant beaten by its driver's rod does not become agitated.

12When Indra, the defeater of enemies, released his infallible thunderbolt scepter at Bali Mahārāja with a desire to kill him, Bali Mahārāja indeed fell to the ground with his airplane, like a mountain with its wings cut off.

13When the demon Jambhāsura saw that his friend Bali had fallen, he appeared before Indra, the enemy, just to serve Bali Mahārāja with friendly behavior.

14The greatly powerful Jambhāsura, carried by a lion, approached Indra and forcefully struck him on the shoulder with his club. He also struck Indra's elephant.

15Being beaten by Jambhāsura's club, Indra's elephant was confused and aggrieved. Thus it touched its knees to the ground and fell unconscious.

16Thereafter, Mātali, Indra's chariot driver, brought Indra's chariot, which was drawn by one thousand horses. Indra then left his elephant and got onto the chariot.

17Appreciating Mātali's service, Jambhāsura, the best of the demons, smiled. Nonetheless, he struck Mātali in the battle with a trident of blazing fire.

18Although the pain was extremely severe, Mātali tolerated it with great patience. Indra, however, became extremely angry at Jambhāsura. He struck Jambhāsura with his thunderbolt and thus severed his head from his body.

19When Nārada Ṛṣi informed Jambhāsura's friends and relatives that Jambhāsura had been killed, the three demons named Namuci, Bala and Pāka arrived on the battlefield in great haste.

20Rebuking Indra with harsh, cruel words that were piercing to the heart, these demons showered him with arrows, just as torrents of rain wash a great mountain.

21Quickly handling the situation on the battlefield, the demon Bala put all of Indra's one thousand horses into tribulation by simultaneously piercing them all with an equal number of arrows.

22Pāka, another demon, attacked both the chariot, with all its paraphernalia, and the chariot driver, Mātali, by fitting two hundred arrows to his bow and releasing them all simultaneously. This was indeed a wonderful act on the battlefield.

23Then Namuci, another demon, attacked Indra and injured him with fifteen very powerful golden-feathered arrows, which roared like a cloud full of water.

24Other demons covered Indra, along with his chariot and chariot driver, with incessant showers of arrows, just as clouds cover the sun in the rainy season.

25The demigods, being severely oppressed by their enemies and being unable to see Indra on the battlefield, were very anxious. Having no captain or leader, they began lamenting like traders in a wrecked vessel in the midst of the ocean.

26Thereafter, Indra released himself from the cage of the network of arrows. Appearing with

his chariot, flag, horses and chariot driver and thus pleasing the sky, the earth and all directions, he shone effulgently like the sun at the end of night. Indra was bright and beautiful in the vision of everyone.

27When Indra, who is known as Vajra-dhara, the carrier of the thunderbolt, saw his own soldiers so oppressed by the enemies on the battlefield, he became very angry. Thus he took up his thunderbolt to kill the enemies.

28O King Parīkṣit, King Indra used his thunderbolt to cut off the heads of both Bala and Pāka in the presence of all their relatives and followers. In this way he created a very fearful atmosphere on the battlefield.

29O King, when Namuci, another demon, saw the killing of both Bala and Pāka, he was full of grief and lamentation. Thus he angrily made a great attempt to kill Indra.

30Being angry and roaring like a lion, the demon Namuci took up a steel spear, which was bound with bells and decorated with ornaments of gold. He loudly cried, "Now you are killed!" Thus coming before Indra to kill him, Namuci released his weapon.

31O King, when Indra, King of heaven, saw this very powerful spear falling toward the ground like a blazing meteor, he immediately cut it to pieces with his arrows. Then, being very angry, he struck Namuci's shoulder with his thunderbolt to cut off Namuci's head.

32Although King Indra hurled his thunderbolt at Namuci with great force, it could not even pierce his skin. It is very wonderful that the famed thunderbolt that had pierced the body of Vṛtrāsura could not even slightly injure the skin of Namuci's neck.

33When Indra saw the thunderbolt return from the enemy, he was very much afraid. He began to wonder whether this had happened because of some miraculous superior power.

34Indra thought: Formerly, when many mountains flying in the sky with wings would fall to the ground and kill people, I cut their wings with this same thunderbolt.

35Vṛtrāsura was the essence of the austerities undergone by Tvaṣṭā, yet the thunderbolt killed him. Indeed, not only he but also many other stalwart heroes, whose very skin could not be injured even by all kinds of weapons, were killed by the same thunderbolt.

36But now, although the same thunderbolt has been released against a less important demon, it has been ineffectual. Therefore, although it was as good as a brahmāstra, it has now become useless like an ordinary rod. I shall therefore hold it no longer.

37Śukadeva Gosvāmī continued: While the morose Indra was lamenting in this way, an ominous, unembodied voice said from the sky, "This demon Namuci is not to be annihilated by anything dry or moist."

38The voice also said, "O Indra, because I have given this demon the benediction that he will never be killed by any weapon that is dry or moist, you have to think of another way to kill him."

39After hearing the ominous voice, Indra, with great attention, began to meditate on how to kill the demon. He then saw that foam would be the means, for it is neither moist nor dry.

40Thus Indra, King of heaven, severed Namuci's head with a weapon of foam, which was neither dry nor moist. Then all the sages satisfied Indra, the exalted personality, by showering flowers and garlands upon him, almost covering him.

41Viśvāvasu and Parāvasu, the two chiefs of the Gandharvas, sang in great happiness. The kettledrums of the demigods sounded, and the Apsarās danced in jubilation.

42Vāyu, Agni, Varuṇa and other demigods began killing the demons who opposed them, just as lions kill deer in a forest.

43O King, when Lord Brahmā saw the imminent total annihilation of the demons, he sent a message with Nārada, who went before the demigods to make them stop fighting.

44The great sage Nārada said: All of you demigods are protected by the arms of Nārāyaṇa, the Supreme Personality of Godhead, and by His grace you have gotten the nectar. By the grace of the goddess of fortune, you are glorious in every way. Therefore, please stop this fighting.

45ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: Accepting the words of Nārada, the demigods gave up their anger and stopped fighting. Being praised by their followers, they returned to their heavenly planets.

46Following the order of Nārada Muni, whatever demons remained on the battlefield took Bali Mahārāja, who was in a precarious condition, to the hill known as Astagiri.

47There, on that hill, Śukrācārya brought to life all the dead demoniac soldiers who had not lost their heads, trunks and limbs. He achieved this by his own mantra, known as Saṁjīvanī.

48Bali Mahārāja was very experienced in universal affairs. When he regained his senses and memory by the grace of Śukrācārya, he could understand everything that had happened. Therefore, although he had been defeated, he did not lament.

### SB 8.12: The Mohinī-mūrti Incarnation Bewilders Lord Śiva

This chapter describes how Lord Śiva was bewildered upon seeing the beautiful Mohinī-mūrti incarnation of the Supreme Personality of Godhead and how he later came to his senses. When Lord Śiva heard about the pastimes performed by the Supreme Personality of Godhead, Hari, in the form of an attractive woman, he mounted his bull and went to see the Lord. Accompanied by his wife, Umā, and his servants, the *bhūta-gaṇa,* or ghosts, he approached the lotus feet of the Lord. Lord Śiva offered obeisances to the Supreme Lord as the all-pervading Lord, the universal form, the supreme controller of creation, the Supersoul, the resting place for everyone, and the completely independent cause of all causes. Thus he offered prayers giving truthful descriptions of the Lord. Then he expressed his desire. The Supreme Personality of Godhead is very kind to His devotees. Therefore, to fulfill the desire of His devotee Lord Śiva, He expanded His energy and manifested Himself in the form of a very beautiful and attractive woman. Upon seeing this form, even Lord Śiva was captivated. Later, by the grace of the Lord, he controlled himself. This demonstrates that by the power of the Lord's external energy, everyone is captivated by the form of woman in this material world. Again, however, by the grace of the Supreme Personality of Godhead, one can overcome the influence of *māyā*. This was evinced by Lord Śiva, the topmost devotee of the Lord. First he was captivated, but later, by the grace of the Lord, he restrained himself. It is declared in this connection that only a pure devotee can restrain himself from the attractive feature of *māyā*. Otherwise, once a living entity is trapped by the external feature of *māyā,* he cannot overcome it. After Lord Śiva was graced by the Supreme Lord, he circumambulated the Lord along with his wife, Bhavānī, and his companions, the ghosts. Then he left for his own abode. Śukadeva Gosvāmī concludes this chapter by describing the transcendental qualities of Uttamaśloka, the Supreme Personality of Godhead, and by declaring that one can glorify the Lord by nine kinds of devotional service, beginning with *śravaṇaṁ kīrtanam.*

1-2Śukadeva Gosvāmī said: The Supreme Personality of Godhead, Hari, in the form of a woman, captivated the demons and enabled the demigods to drink the nectar. After hearing of these pastimes, Lord Śiva, who is carried by a bull, went to the place where Madhusūdana, the Lord, resides. Accompanied by his wife, Umā, and surrounded by his companions, the ghosts, Lord Śiva went there to see the Lord's form as a woman.

3The Supreme Personality of Godhead welcomed Lord Śiva and Umā with great respect, and after being seated comfortably, Lord Śiva duly worshiped the Lord and smilingly spoke as follows.

4Lord Mahādeva said: O chief demigod among the demigods, O all-pervading Lord, master of the universe, by Your energy You are transformed into the creation. You are the root and efficient cause of everything. You are not material. Indeed, You are the Supersoul or supreme living force of everything. Therefore, You are Parameśvara, the supreme controller of all controllers.

5The manifest, the unmanifest, false ego and the beginning, maintenance and annihilation of this cosmic manifestation all come from You, the Supreme Personality of Godhead. But because You are the Absolute Truth, the supreme absolute spirit soul, the Supreme Brahman, such changes as birth, death and sustenance do not exist in You.

6Pure devotees or great saintly persons who desire to achieve the highest goal in life and who are completely free from all material desires for sense gratification engage constantly in the transcendental service of Your lotus feet.

7My Lord, You are the Supreme Brahman, complete in everything. Being completely spiritual, You are eternal, free from the material modes of nature, and full of transcendental bliss. Indeed, for You there is no question of lamentation. Since You are the supreme cause, the cause of all causes, nothing can exist without You. Yet we are different from You in a relationship of cause and effect, for in one sense the cause and effect are different. You are the original cause of creation, manifestation and annihilation, and You bestow benedictions upon all living entities. Everyone depends upon You for the results of his activities, but You are always independent.

8My dear Lord, Your Lordship alone is the cause and the effect. Therefore, although You appear to be two, You are the absolute one. As there is no difference between the gold of a golden ornament and the gold in a mine, there is no difference between cause and effect; both of them are the same. Only because of ignorance do people concoct differences and dualities. You are free from material contamination, and since the entire cosmos is caused by You and cannot exist without You, it is an effect of Your transcendental qualities. Thus the conception that Brahman is true and the world false cannot be maintained.

9Those who are known as the impersonalist Vedāntists regard You as the impersonal Brahman. Others, known as the Mīmāṁsaka philosophers, regard You as religion. The Sāṅkhya philosophers regard You as the transcendental person who is beyond prakṛti and puruṣa and who is the controller of even the demigods. The followers of the codes of devotional service known as the Paṣcarātras regard You as being endowed with nine different potencies. And the Pataṣjala philosophers, the followers of Pataṣjali Muni, regard You as the supreme independent Personality of Godhead, who has no equal or superior.

10O my Lord, I, who am considered to be the best of the demigods, and Lord Brahmā and the great ṛṣis, headed by Marīci, are born of the mode of goodness. Nonetheless, we are bewildered by Your illusory energy and cannot understand what this creation is. Aside from us,

what is to be said of others, like the demons and human beings, who are in the base modes of material nature [rajo-guṇa and tamo-guṇa]? How will they know You?

11My Lord, You are the supreme knowledge personified. You know everything about this creation and its beginning, maintenance and annihilation, and You know all the endeavors made by the living entities, by which they are either implicated in this material world or liberated from it. As the air enters the vast sky and also enters the bodies of all moving and nonmoving entities, You are present everywhere, and therefore You are the knower of all.

12My Lord, I have seen all kinds of incarnations You have exhibited by Your transcendental qualities, and now that You have appeared as a beautiful young woman, I wish to see that form of Your Lordship.

13My Lord, we have come here desiring to see that form of Your Lordship which You showed to the demons to captivate them completely and in this way enable the demigods to drink nectar. I am very eager to see that form.

14Śukadeva Gosvāmīsaid: When Lord Viṣṇu was thus requested by Lord Śiva, who carries a trident in his hand, He smiled with gravity and replied to Lord Śiva as follows.

15The Supreme Personality of Godhead said: When the demons took away the jug of nectar, I assumed the form of a beautiful woman to bewilder them by directly cheating them and thus to act in the interest of the demigods.

16O best of the demigods, I shall now show you My form that is very much appreciated by those who are lusty. Since you want to see that form, I shall reveal it in your presence.

17Śukadeva Gosvāmī continued: After speaking in this way, the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, immediately disappeared, and Lord Śiva remained there with Umā, looking for Him all around with moving eyes.

18Thereafter, in a nice forest nearby, full of trees with reddish-pink leaves and varieties of flowers, Lord Śiva saw a beautiful woman playing with a ball. Her hips were covered with a shining sari and ornamented with a belt.

19Because the ball was falling down and bouncing up, as She played with it Her breasts trembled, and because of the weight of those breasts and Her heavy flower garlands, Her waist appeared to be all but breaking at every step, as Her two soft feet, which were reddish like coral, moved here and there.

20The woman's face was decorated by broad, beautiful, restless eyes, which moved as the ball bounced here and there from Her hand. The two brilliant earrings on Her ears decorated Her shining cheeks like bluish reflections, and the hair scattered on Her face made Her even more beautiful to see.

21As She played with the ball, the sari covering Her body became loose, and Her hair scattered. She tried to bind Her hair with Her beautiful left hand, and at the same time She played with the ball by striking it with Her right hand. This was so attractive that the Supreme Lord, by His internal potency, in this way captivated everyone.

22While Lord Śiva observed the beautiful woman playing with the ball, She sometimes glanced at him and slightly smiled in bashfulness. As he looked at the beautiful woman and She watched him, he forgot both himself and Umā, his most beautiful wife, as well as his associates nearby.

23When the ball leaped from Her hand and fell at a distance, the woman began to follow it, but as Lord Śiva observed these activities, a breeze suddenly blew away the fine dress and belt that covered her.

24Thus Lord Śiva saw the woman, every part of whose body was beautifully formed, and the beautiful woman also looked at him. Therefore, thinking that She was attracted to him, Lord Śiva became very much attracted to Her.

25Lord Śiva, his good sense taken away by the woman because of lusty desires to enjoy with Her, became so mad for Her that even in the presence of Bhavānī he did not hesitate to approach Her.

26The beautiful woman was already naked, and when She saw Lord Śiva coming toward Her, She became extremely bashful. Thus She kept smiling, but She hid Herself among the trees and did not stand in one place.

27His senses being agitated, Lord Śiva, victimized by lusty desires, began to follow Her, just as a lusty elephant follows a she-elephant.

28After following Her with great speed, Lord Śiva caught Her by the braid of Her hair and dragged Her near him. Although She was unwilling, he embraced Her with his arms.

29-30Being embraced by Lord Śiva like a female elephant embraced by a male, the woman, whose hair was scattered, swirled like a snake. O King, this woman, who had large, high hips, was a woman of yoga-māyā presented by the Supreme Personality of Godhead. She released Herself somehow or other from the fond embrace of Lord Śiva's arms and ran away.

31As if harassed by an enemy in the form of lusty desires, Lord Śiva followed the path of Lord Viṣṇu, who acts very wonderfully and who had taken the form of Mohinī.

32Just as a maddened bull elephant follows a female elephant who is able to conceive pregnancy, Lord Śiva followed the beautiful woman and discharged semen, even though his discharge of semen never goes in vain.

33O King, wheresoever on the surface of the globe fell the semen of the great personality of Lord Śiva, mines of gold and silver later appeared.

34Following Mohinī, Lord Śiva went everywherenear the shores of the rivers and lakes, near the mountains, near the forests, near the gardens, and wherever there lived great sages.

35O Mahārāja Parīkṣit, best of kings, when Lord Śiva had fully discharged semen, he could see how he himself had been victimized by the illusion created by the Supreme Personality of Godhead. Thus he restrained himself from any further māyā.

36Thus Lord Śiva could understand his position and that of the Supreme Personality of Godhead, who has unlimited potencies. Having reached this understanding, he was not at all surprised by the wonderful way Lord Viṣṇu had acted upon him.

37Seeing Lord Śiva unagitated and unashamed, Lord Viṣṇu [Madhusūdana] was very pleased. Thus He resumed His original form and spoke as follows.

38The Supreme Personality of Godhead said: O best of the demigods, although you have been amply harassed because of My potency in assuming the form of a woman, you are established in your position. Therefore, may all good fortune be upon you.

39My dear Lord Śambhu, who within this material world but you can surpass My illusory energy? People are generally attached to sense enjoyment and conquered by its influence. Indeed, the influence of material nature is very difficult for them to surmount.

40The material, external energy [māyā], who cooperates with Me in creation and who is manifested in the three modes of nature, will not be able to bewilder you any longer.

41Śukadeva Gosvāmī said: O King, having thus been praised by the Supreme Personality, who bears the mark of Śrīvatsa on His chest, Lord Śiva circumambulated Him. Then, after taking permission from Him, Lord Śiva returned to his abode, Kailāsa, along with his associates.

42O descendant of Bharata Mahārāja, Lord Śiva, in jubilation, then addressed his wife, Bhavānī, who is accepted by all authorities as the potency of Lord Viṣṇu.

43Lord Śiva said: O Goddess, you have now seen the illusory energy of the Supreme Personality of Godhead, who is the unborn master of everyone. Although I am one of the principal expansions of His Lordship, even I was illusioned by His energy. What then is to be said of others, who are fully dependent on māyā?

44When I finished performing mystic yoga for one thousand years, you asked me upon whom I was meditating. Now, here is that Supreme Person to whom time has no entrance and who the Vedas cannot understand.

45Śukadeva Gosvāmī said: My dear King, the person who bore the great mountain on His back for the churning of the Ocean of Milk is the same Supreme Personality of Godhead, known as Śārṅga-dhanvā. I have now described to you His prowess.

46The endeavor of one who constantly hears or describes this narration of the churning of the Ocean of Milk will never be fruitless. Indeed, chanting the glories of the Supreme Personality of Godhead is the only means to annihilate all sufferings in this material world.

47Assuming the form of a young woman and thus bewildering the demons, the Supreme Personality of Godhead distributed to His devotees, the demigods, the nectar produced from the churning of the Ocean of Milk. Unto that Supreme Personality of Godhead, who always fulfills the desires of His devotees, I offer my respectful obeisances.

## SB 8.13: Description of Future Manus

Of the fourteen Manus, six Manus have already been described. Now, this chapter will consecutively describe each Manu from the seventh to the fourteenth.

The seventh Manu, who is the son of Vivasvān, is known as Śrāddhadeva. He has ten sons, named Ikṣvāku, Nabhaga, Dhṛṣṭa, Śaryāti, Nariṣyanta, Nābhāga, Diṣṭa, Tarūṣa, Pṛṣadhra and Vasumān. In this *manvantara,* or reign of Manu, among the demigods are the Ādityas, Vasus, Rudras, Viśvedevas, Maruts, Aśvinī-kumāras and Ṛbhus. The king of heaven, Indra, is known as Purandara, and the seven sages are known as Kaśyapa, Atri, Vasiṣṭha, Viśvāmitra, Gautama, Jamadagni and Bharadvāja. During this period of Manu, the Supreme Personality of Godhead Viṣṇu appears from the womb of Aditi in His incarnation as the son of Kaśyapa.

In the period of the eighth Manu, the Manu is Sāvarṇi. His sons are headed by Nirmoka, and among the demigods are the Sutapās. Bali, the son of Virocana, is Indra, and Gālava and Paraśurāma are among the seven sages. In this age of Manu, the incarnation of the Supreme Personality of Godhead appears as Sārvabhauma, the son of Devaguhya and Sarasvatī.

In the period of the ninth Manu, the Manu is Dakṣa-sāvarṇi. His sons are headed by Bhūtaketu, and among the demigods are the Marīcigarbhas. Adbhuta is Indra, and among the seven sages is Dyutimān. In this period of Manu, the incarnation Ṛṣabha is born of Āyuṣmān and Ambudhārā.

In the period of the tenth Manu, the Manu is Brahma-sāvarṇi. Among his sons is Bhūriṣeṇa, and the seven sages are Haviṣmān and others. Among the demigods are the Suvāsanas, and Śambhu is Indra. The incarnation in this period of Manu is Viṣvaksena, who is a friend of Śambhu and who is born from the womb of Viṣūcī in the house of a *brāhmaṇa* named Viśvasraṣṭā.

In the period of the eleventh Manu, the Manu is Dharma-sāvarṇi, who has ten sons, headed by Satyadharma. Among the demigods are the Vihaṅgamas, Indra is known as Vaidhṛta, and the seven sages are Aruṇa and others. In this *manvantara,* the incarnation is Dharmasetu, who is born of Vaidhṛtā and Āryaka.

In the period of the twelfth Manu, the Manu is Rudra-sāvarṇi, whose sons are headed by Devavān. The demigods are the Haritas and others, Indra is Ṛtadhāmā, and the seven sages are Tapomūrti and others. The incarnation in this *manvantara* is Sudhāmā, or Svadhāmā, who is born from the womb of Sunṛtā. His father's name is Satyasahā.

In the period of the thirteenth Manu, the Manu is Deva-sāvarṇi. Among his sons is Citrasena, the demigods are the Sukarmās and others, Indra is Divaspati, and Nirmoka is among the sages. The *manvantara-avatāra* is Yogeśvara, who is born of Devahotra and Bṛhatī.

In the period of the fourteenth Manu, the Manu is Indra-sāvarṇi. Among his sons are Uru and Gambhīra, the demigods are the Pavitras and others, Indra is Śuci, and among the sages are Agni and Bāhu. The incarnation of this*manvantara* is known as Bṛhadbhānu. He is born of Satrāyaṇa from the womb of Vitānā.

The total duration of the periods ruled by these Manus is calculated to be one thousand *catur-yugas,* or 4,300,000 times 1,000 years.

1Śukadeva Gosvāmī said: The present Manu, who is named Śrāddhadeva, is the son of Vivasvān, the predominating deity on the sun planet. Śrāddhadeva is the seventh Manu. Now please hear from me as I describe his sons.

2-3O King Parīkṣit, among the ten sons of Manu are Ikṣvāku, Nabhaga, Dhṛṣṭa, Śaryāti, Nariṣyanta and Nābhāga. The seventh son is known as Diṣṭa. Then come Tarūṣa and Pṛṣadhra, and the tenth son is known as Vasumān.

4In this manvantara, O King, the Ādityas, the Vasus, the Rudras, the Viśvedevas, the Maruts, the two Aśvinī-kumāra brothers and the Ṛbhus are the demigods. Their head king [Indra] is Purandara.

5Kaśyapa, Atri, Vasiṣṭha, Viśvāmitra, Gautama, Jamadagni and Bharadvāja are known as the seven sages.

6In this manvantara, the Supreme Personality of Godhead appeared as the youngest of all the Ādityas, known as Vāmana, the dwarf. His father was Kaśyapa and His mother Aditi.

7I have briefly explained to you the position of the seven Manus. Now I shall describe the future Manus, along with the incarnations of Lord Viṣṇu.

8O King, I have previously described [in the Sixth Canto] the two daughters of Viśvakarmā, named Saṁjṣā and Chāyā, who were the first two wives of Vivasvān.

9It is said that the sun-god had a third wife, named Vaḍavā. Of the three wives, the wife named Saṁjṣā had three childrenYama, Yamī and Śrāddhadeva. Now let me describe the children of Chāyā.

10Chāyā had a son named Sāvarṇi and a daughter named Tapatī, who later became the wife of King Saṁvaraṇa. Chāyā's third child is known as Śanaiścara [Saturn]. Vaḍavā gave birth to two sons, namely the Aśvinī brothers.

11O King, when the period of the eighth Manu arrives, Sāvarṇi will become the Manu. Nirmoka and Virajaska will be among his sons.

12In the period of the eighth Manu, among the demigods will be the Sutapās, the Virajas and the Amṛtaprabhas. The king of the demigods, Indra, will be Bali Mahārāja, the son of Virocana.

13Bali Mahārāja gave a gift of three paces of land to Lord Viṣṇu, and because of this charity he lost all the three worlds. Later, however, when Lord Viṣṇu is pleased because of Bali's giving everything to Him, Bali Mahārāja will achieve the perfection of life.

14With great affection, the Personality of Godhead bound Bali and then installed him in the kingdom of Sutala, which is more opulent than the heavenly planets. Mahārāja Bali now resides on that planet and is more comfortably situated than Indra.

15-16O King, during the eighth manvantara, the great personalities Gālava, Dīptimān, Paraśurāma, Aśvatthāmā, Kṛpācārya, Ṛṣyaśṛṅga and our father, Vyāsadeva, the incarnation of Nārāyaṇa, will be the seven sages. For the present, they are all residing in their respective āśramas.

17In the eighth manvantara, the greatly powerful Personality of Godhead Sārvabhauma will take birth. His father will be Devaguhya, and His mother will be Sarasvatī. He will take the kingdom away from Purandara [Lord Indra] and give it to Bali Mahārāja.

18O King, the ninth Manu will be Dakṣa-sāvarṇi, who is born of Varuṇa. Among his sons will be Bhūtaketu, and Dīptaketu.

19In this ninth manvantara, the Pāras and Marīcigarbhas will be among the demigods. The king of heaven, Indra, will be named Adbhuta, and Dyutimān will be among the seven sages.

20Ṛṣabhadeva, a partial incarnation of the Supreme Personality of Godhead, will take birth from his father, Āyuṣmān, and his mother, Ambudhārā. He will enable the Indra named Adbhuta to enjoy the opulence of the three worlds.

21The son of Upaśloka known as Brahma-sāvarṇi will be the tenth Manu. Bhūriṣeṇa will be among his sons, and the brāhmaṇas headed by Haviṣmān will be the seven sages.

22Haviṣmān, Sukṛta, Satya, Jaya, Mūrti and others will be the seven sages, the Suvāsanas and Viruddhas will be among the demigods, and Śambhu will be their king, Indra.

23In the home of Viśvasraṣṭā, a plenary portion of the Supreme Personality of Godhead will appear from the womb of Viṣūcī as the incarnation known as Viṣvaksena. He will make friends with Śambhu.

24In the eleventh manvantara, the Manu will be Dharma-sāvarṇi, who will be extremely learned in spiritual knowledge. From him there will come ten sons, headed by Satyadharma.

25The Vihaṅgamas, Kāmagamas, Nirvāṇarucis and others will be the demigods. The king of the demigods, Indra, will be Vaidhṛta, and the seven sages will be headed by Aruṇa.

26The son of Āryaka known as Dharmasetu, a partial incarnation of the Supreme Personality of Godhead, will appear from the womb of Vaidhṛtā, the wife of Āryaka, and will rule the three worlds.

27O King, the twelfth Manu will be named Rudra-sāvarṇi. Devavān, Upadeva and Devaśreṣṭha will be among his sons.

28In this manvantara, the name of Indra will be Ṛtadhāmā, and the demigods will be headed by the Haritas. Among the sages will be Tapomūrti, Tapasvī and Āgnīdhraka.

29From the mother named Sunṛtā and the father named Satyasahā will come Svadhāmā, a partial incarnation of the Supreme Personality of Godhead. He will rule that manvantara.

30The thirteenth Manu will be named Deva-sāvarṇi, and he will be very advanced in spiritual knowledge. Among his sons will be Citrasena and Vicitra.

31In the thirteenth manvantara, the Sukarmās and Sutrāmas will be among the demigods, Divaspati will be the king of heaven, and Nirmoka and Tattvadarśa will be among the seven sages.

32The son of Devahotra known as Yogeśvara will appear as a partial incarnation of the Supreme Personality of Godhead. His mother's name will be Bṛhatī. He will perform activities for the welfare of Divaspati.

33The name of the fourteenth Manu will be Indra-sāvarṇi. He will have sons like Uru, Gambhīra and Budha.

34The Pavitras and Cākṣuṣas will be among the demigods, and Śuci will be Indra, the king of heaven. Agni, Bāhu, Śuci, Śuddha, Māgadha and others of great austerity will be the seven sages.

35O King Parīkṣit, in the fourteenth manvantara the Supreme Personality of Godhead will appear from the womb of Vitānā, and His father's name will be Satrāyaṇa. This incarnation will be celebrated as Bṛhadbhānu, and He will administer spiritual activities.

36O King, I have now described to you the fourteen Manus appearing in the past, present and future. The total duration of time ruled by these Manus is one thousand yuga cycles. This is called a kalpa, or one day of Lord Brahmā.

### SB 8.14: The System of Universal Management

This chapter describes the duties allotted to Manu by the Supreme Personality of Godhead. All the Manus, as well as their sons, the sages, the demigods and the Indras, act under the orders of various incarnations of the Supreme Personality of Godhead. At the end of every *catur-yuga,* consisting of Satya-yuga, Dvāpara-yuga, Tretā-yuga and Kali-yuga, the sages, acting under the orders of the Supreme Personality of Godhead, distribute the Vedic knowledge and thus reinstate eternal religious principles. Manu's duty is to reestablish the system of religion. Manu's sons execute Manu's orders, and thus the entire universe is maintained by Manu and

his descendants. The Indras are various rulers of the heavenly planets. Assisted by the demigods, they rule the three worlds. The Supreme Personality of Godhead also appears as incarnations in different *yugas.* He appears as Sanaka, Sanātana, Yājṣavalkya, Dattātreya and others, and thus He gives instructions in spiritual knowledge, prescribed duties, principles of mystic *yoga,* and so on. As Marīci and others, He creates progeny; as the king, He punishes the miscreants; and in the form of time, He annihilates the creation. One may argue, "If the all-powerful Supreme Personality of Godhead can do anything simply by His will, why has He arranged for so many personalities to manage?" How and why He does this cannot be understood by those who are under the clutches of *māyā*.

1Mahārāja Parīkṣit inquired: O most opulent Śukadeva Gosvāmī, please explain to me how Manu and the others in each manvantara are engaged in their respective duties, and by whose order they are so engaged.

2Śukadeva Gosvāmī said: The Manus, the sons of Manu, the great sages, the Indras and all the demigods, O King, are appointed by the Supreme Personality of Godhead in His various incarnations such as Yajṣa.

3O King, I have already described to you various incarnations of the Lord, such as Yajṣa. The Manus and others are chosen by these incarnations, under whose direction they conduct the universal affairs.

4At the end of every four yugas, the great saintly persons, upon seeing that the eternal occupational duties of mankind have been misused, reestablish the principles of religion.

5Thereafter, O King, the Manus, being fully engaged according to the instructions of the Supreme Personality of Godhead, directly reestablish the principles of occupational duty in its full four parts.

6To enjoy the results of sacrifices [yajṣas], the rulers of the world, namely the sons and grandsons of Manu, discharge the orders of the Supreme Personality of Godhead until the end of Manu's reign. The demigods also share the results of these sacrifices.

7Indra, King of heaven, receiving benedictions from the Supreme Personality of Godhead and thus enjoying highly developed opulences, maintains the living entities all over the three worlds by pouring sufficient rain on all the planets.

8In every yuga, the Supreme Personality of Godhead, Hari, assumes the form of Siddhas such as Sanaka to preach transcendental knowledge, He assumes the form of great saintly persons such as Yājṣavalkya to teach the way of karma, and He assumes the form of great yogīs such as Dattātreya to teach the system of mystic yoga.

9In the form of Prajāpati Marīci, the Supreme Personality of Godhead creates progeny; becoming the king, He kills the thieves and rogues; and in the form of time, He annihilates everything. All the different qualities of material existence should be understood to be qualities of the Supreme Personality of Godhead.

10People in general are bewildered by the illusory energy, and therefore they try to find the Absolute Truth, the Supreme Personality of Godhead, through various types of research and philosophical speculation. Nonetheless, they are unable to see the Supreme Lord.

11In one kalpa, or one day of Brahmā, there take place the many changes called vikalpas. O King, all of these have been previously described to you by me. Learned scholars who know the past, present and future have ascertained that in one day of Brahmā there are fourteen

Manus.

**SB 8.15: Bali Mahārāja Conquers the Heavenly Planets**

This chapter describes how Bali, after performing the Viśvajit-yajṣa, received the benediction of a chariot and various kinds of paraphernalia for war, with which he attacked the King of heaven. All the demigods, being afraid of him, left the heavenly planets and went away, following the instructions of their *guru*.

Mahārāja Parīkṣit wanted to understand how Lord Vāmanadeva, on the plea of taking three paces of land from Bali Mahārāja, took everything away from him and arrested him. Śukadeva Gosvāmī responded to this inquiry with the following explanation. In the fight between the demons and the demigods, as described in the Eleventh Chapter of this Canto, Bali was defeated, and he died in the fight, but by the grace of Śukrācārya he regained his life. Thus he engaged himself in the service of Śukrācārya, his spiritual master. The descendants of Bhṛgu, being pleased with him, engaged him in the Viśvajit-yajṣa. When this *yajṣa* was performed, from the fire of *yajṣa* came a chariot, horses, a flag, a bow, armor and two quivers of arrows. Mahārāja Prahlāda, Bali Mahārāja's grandfather, gave Bali an eternal garland of flowers, and Śukrācārya gave him a conchshell. Bali Mahārāja, after offering obeisances to Prahlāda, the *brāhmaṇas* and his spiritual master, Śukrācārya, equipped himself to fight with Indra and went to Indrapurī with his soldiers. Blowing his conchshell, he attacked the outskirts of Indra's kingdom. When Indra saw Bali Mahārāja's prowess, he went to his own spiritual master, Bṛhaspati, told him about Bali's strength, and inquired about his duty. Bṛhaspati informed the demigods that because Bali had been endowed with extraordinary power by the *brāhmaṇas,* the demigods could not fight with him. Their only hope was to gain the favor of the Supreme Personality of Godhead. Indeed, there was no alternative. Under the circumstances, Bṛhaspati advised the demigods to leave the heavenly planets and keep themselves somewhere invisible. The demigods followed his orders, and Bali Mahārāja, along with his associates, gained the entire kingdom of Indra. The descendants of Bhṛgu Muni, being very affectionate to their disciple Bali Mahārāja, engaged him in performing one hundred *aśvamedha-yajṣas*. In this way, Bali enjoyed the opulences of the heavenly planets.

1-2Mahārāja Parīkṣit inquired: The Supreme Personality of Godhead is the proprietor of everything. Why did He beg three paces of land from Bali Mahārāja like a poor man, and when He got the gift for which He had begged, why did He nonetheless arrest Bali Mahārāja? I am very much anxious to know the mystery of these contradictions.

3Śukadeva Gosvāmī said: O King, when Bali Mahārāja lost all his opulence and died in the fight, Śukrācārya, a descendant of Bhṛgu Muni, brought him back to life. Because of this, the great soul Bali Mahārāja became a disciple of Śukrācārya and began to serve him with great faith, offering everything he had.

4The brāhmaṇa descendants of Bhṛgu Muni were very pleased with Bali Mahārāja, who desired to conquer the kingdom of Indra. Therefore, after purifying him and properly bathing him according to regulative principles, they engaged him in performing the yajṣa known as Viśvajit.

5When ghee [clarified butter] was offered in the fire of sacrifice, there appeared from the fire a celestial chariot covered with gold and silk. There also appeared yellow horses like those of Indra, and a flag marked with a lion.

6A gilded bow, two quivers of infallible arrows, and celestial armor also appeared. Bali Mahārāja's grandfather Prahlāda Mahārāja offered Bali a garland of flowers that would never

fade, and Śukrācārya gave him a conchshell.

7When Mahārāja Bali had thus performed the special ritualistic ceremony advised by the brāhmaṇas and had received, by their grace, the equipment for fighting, he circumambulated the brāhmaṇas and offered them obeisances. He also saluted Prahlāda Mahārāja and offered obeisances to him.

8-9Then, after getting on the chariot given by Śukrācārya, Bali Mahārāja, decorated with a nice garland, put protective armor on his body, equipped himself with a bow, and took up a sword and a quiver of arrows. When he sat down on the seat of the chariot, his arms decorated with golden bangles and his ears with sapphire earrings, he shone like a worshipable fire.

10-11When he assembled with his own soldiers and the demon chiefs, who were equal to him in strength, opulence and beauty, they appeared as if they would swallow the sky and burn all directions with their vision. After thus gathering the demoniac soldiers, Bali Mahārāja departed for the opulent capital of Indra. Indeed, he seemed to make the entire surface of the world tremble.

12King Indra's city was full of pleasing orchards and gardens, such as the Nandana garden. Because of the weight of the flowers, leaves and fruit, the branches of the eternally existing trees were bending down. The gardens were visited by pairs of chirping birds and singing bees. The entire atmosphere was celestial.

13Beautiful women protected by the demigods sported in the gardens, which had lotus ponds full of swans, cranes, cakravākas and ducks.

14The city was surrounded by trenches full of Ganges water, known as Ākāśa-gaṅgā, and by a high wall, which was the color of fire. Upon this wall were parapets for fighting.

15The doors were made of solid gold plates, and the gates were of excellent marble. These were linked by various public roads. The entire city had been constructed by Viśvakarmā.

16The city was full of courtyards, wide roads, assembly houses, and not less than one hundred million airplanes. The crossroads were made of pearl, and there were sitting places made of diamond and coral.

17Everlastingly beautiful and youthful women, who were dressed with clean garments, glittered in the city like fires with flames. They all possessed the quality of śyāmā.

18The breezes blowing in the streets of the city bore the fragrance of the flowers falling from the hair of the women of the demigods.

19Apsarās passed on the streets, which were covered with the white, fragrant smoke of aguru incense emanating from windows with golden filigree.

20The city was shaded by canopies decorated with pearls, and the domes of the palaces had flags of pearl and gold. The city always resounded with the vibrations of peacocks, pigeons and bees, and above the city flew airplanes full of beautiful women who constantly chanted auspicious songs that were very pleasing to the ear.

21The city was filled with the sounds of mṛdaṅgas, conchshells, kettledrums, flutes and well-tuned stringed instruments all playing in concert. There was constant dancing and the Gandharvas sang. The combined beauty of Indrapurī defeated beauty personified.

22No one who was sinful, envious, violent toward other living entities, cunning, falsely proud,

lusty or greedy could enter that city. The people who lived there were all devoid of these faults.

23Bali Mahārāja, who was the commander of numberless soldiers, gathered his soldiers outside this abode of Indra and attacked it from all directions. He sounded the conchshell given him by his spiritual master, Śukrācārya, thus creating a fearful situation for the women protected by Indra.

24Seeing Bali Mahārāja's indefatigable endeavor and understanding his motive, King Indra, along with the other demigods, approached his spiritual master, Bṛhaspati, and spoke as follows.

25My lord, our old enemy Bali Mahārāja now has new enthusiasm, and he has obtained such astonishing power that we think that perhaps we cannot resist his prowess.

26No one anywhere can counteract this military arrangement of Bali's. It now appears that Bali is trying to drink up the entire universe with his mouth, lick up the ten directions with his tongue, and raise fire in every direction with his eyes. Indeed, he has arisen like the annihilating fire known as saṁvartaka.

27Kindly inform me. What is the cause for Bali Mahārāja's strength, endeavor, influence and victory? How has he become so enthusiastic?

28Bṛhaspati, the spiritual master of the demigods, said: O Indra, I know the cause for your enemy's becoming so powerful. The brāhmaṇa descendants of Bhṛgu Muni, being pleased by Bali Mahārāja, their disciple, endowed him with such extraordinary power.

29Neither you nor your men can conquer the most powerful Bali. Indeed, no one but the Supreme Personality of Godhead can conquer him, for he is now equipped with the supreme spiritual power [brahma-tejas]. As no one can stand before Yamarāja, no one can now stand before Bali Mahārāja.

30Therefore, waiting until the situation of your enemies is reversed, you should all leave this heavenly planet and go elsewhere, where you will not be seen.

31Bali Mahārāja has now become extremely powerful because of the benedictions given him by the brāhmaṇas, but when he later insults the brāhmaṇas, he will be vanquished, along with his friends and assistants.

32Śukadeva Gosvāmī continued: The demigods, being thus advised by Bṛhaspati for their benefit, immediately accepted his words. Assuming forms according to their desire, they left the heavenly kingdom and scattered, without being observed by the demons.

33When the demigods had disappeared, Bali Mahārāja, the son of Virocana, entered the heavenly kingdom, and from there he brought the three worlds under his control.

34The brāhmaṇa descendants of Bhṛgu, being very pleased with their disciple, who had conquered the entire universe, now engaged him in performing one hundred aśvamedha sacrifices.

35When Bali Mahārāja performed these sacrifices, he gained a great reputation in all directions, throughout the three worlds. Thus he shone in his position, like the brilliant moon in the sky.

36Because of the favor of the brāhmaṇas, the great soul Bali Mahārāja, thinking himself very

satisfied, became very opulent and prosperous and began to enjoy the kingdom.

**SB 8.16: Executing the Payo-vrata Process of Worship**

As described in this chapter, because Aditi, the mother of the demigods, was very afflicted, her husband, Kaśyapa Muni, told her how to observe vows in austerities for the benefit of her sons.

Since the demigods were not visible in the heavenly kingdom, their mother, Aditi, because of separation from them, was very much aggrieved. One day after many, many years, the great sage Kaśyapa emerged from a trance of meditation and returned to his *āśrama*. He saw that the *āśrama* was no longer beautiful and that his wife was very morose. Everywhere in the *āśrama,* he saw signs of lamentation. The great sage therefore inquired from his wife about the well-being of the *āśrama* and asked her why she looked so morose. After Aditi informed Kaśyapa Muni about the *āśrama's* well-being, she told him that she was lamenting for the absence of her sons. She then requested him to tell her how her sons could return and reoccupy their positions. She wanted all good fortune for her sons. Moved by Aditi's request, Kaśyapa Muni instructed her in the philosophy of self-realization, the difference between matter and spirit, and how to be unaffected by material loss. But when he saw that Aditi was not satisfied even after he had given these instructions, he advised her to worship Vāsudeva, Janārdana. He assured her that only Lord Vāsudeva could satisfy her and fulfill all her desires. When Aditi then expressed her desire to worship Lord Vāsudeva, Prajāpati Kaśyapa told her about a process of worship known as *payo-vrata,* which is executed in twelve days. Lord Brahmā had instructed him how to satisfy Lord Kṛṣṇa by this process, and thus he advised his wife to observe this vow and its regulative principles.

1Śukadeva Gosvāmī said: O King, when Aditi's sons, the demigods, had thus disappeared from heaven and the demons had occupied their places, Aditi began lamenting, as if she had no protector.

2After many, many days, the great powerful sage Kaśyapa Muni arose from a trance of meditation and returned home to see the āśrama of Aditi neither jubilant nor festive.

3O best of the Kurus, when Kaśyapa Muni had been properly received and welcomed, he took his seat and then spoke as follows to his wife, Aditi, who was very morose.

4O most gentle one, I wonder whether anything inauspicious has now taken place in regard to religious principles, the brāhmaṇas or the people in general, who are subject to the whims of death.

5O my wife, who are very much attached to household life, if the principles of religion, economic development and satisfaction of the senses are properly followed in household life, one's activities are as good as those of a transcendentalist. I wonder whether there have been any discrepancies in following these principles.

6I wonder whether because of being too attached to the members of your family, you failed to properly receive uninvited guests, who therefore were not welcomed and went away.

7Homes from which guests go away without having been received even with an offering of a little water are like those holes in the field which are the homes of jackals.

8O chaste and auspicious woman, when I left home for other places, were you in so much anxiety that you did not offer oblations of ghee into the fire?

9By worshiping the fire and the brāhmaṇas, a householder can achieve the desired goal of

residing in the higher planets, for the sacrificial fire and the brāhmaṇas are to be considered the mouth of Lord Viṣṇu, who is the Supersoul of all the demigods.

10O great-minded lady, are all your sons faring well? Seeing your withered face, I can perceive that your mind is not tranquil. How is this so?

11Aditi said: O my respected brāhmaṇa husband, all is well with the brāhmaṇas, the cows, religion and the welfare of other people. O master of the house, the three principles of dharma, artha and kāma flourish in household life, which is consequently full of good fortune.

12O beloved husband, the fires, guests, servants and beggars are all being properly cared for by me. Because I always think of you, there is no possibility that any of the religious principles will be neglected.

13O my lord, since you are a Prajāpati and are personally my instructor in the principles of religion, where is the possibility that all my desires will not be fulfilled?

14O son of Marīci, because you are a great personality you are equal toward all the demons and demigods, who are born either from your body or from your mind and who possess one or another of the three qualitiessattva-guṇa, rajo-guṇa or tamo-guṇa. But although the Supreme Personality of Godhead, the supreme controller, is equal toward all living entities, He is especially favorable to the devotees.

15Therefore, most gentle lord, kindly favor your maidservant. We have now been deprived of our opulence and residence by our competitors, the demons. Kindly give us protection.

16The demons, our formidably powerful enemies, have taken away our opulence, our beauty, our fame and even our residence. Indeed, we have now been exiled, and we are drowning in an ocean of trouble.

17O best of sages, best of all those who grant auspicious benedictions, please consider our situation and bestow upon my sons the benedictions by which they can regain what they have lost.

18Śukadeva Gosvāmī continued: When Kaśyapa Muni was thus requested by Aditi, he slightly smiled. “Alas,” he said, “how powerful is the illusory energy of Lord Viṣṇu, by which the entire world is bound by affection for children!”

19Kaśyapa Muni continued: What is this material body, made of five elements? It is different from the spirit soul. Indeed, the spirit soul is completely different from the material elements from which the body is made. But because of bodily attachment, one is regarded as a husband or son. These illusory relationships are caused by misunderstanding.

20My dear Aditi, engage in devotional service to the Supreme Personality of Godhead, who is the master of everything, who can subdue everyone’s enemies, and who sits within everyone’s heart. Only that Supreme PersonKṛṣṇa, or Vāsudevacan bestow all auspicious benedictions upon everyone, for He is the spiritual master of the universe.

21The Supreme Personality of Godhead, who is very merciful to the poor, will fulfill all of your desires, for devotional service unto Him is infallible. Any method other than devotional service is useless. That is my opinion.

22Śrīmatī Aditi said: O brāhmaṇa, tell me the regulative principles by which I may worship the supreme master of the world so that He will be pleased with me and fulfill all my desires.

23O best of the brāhmaṇas, kindly instruct me in the perfect method of worshiping the Supreme Personality of Godhead in devotional service, by which the Lord may very soon be pleased with me and save me, along with my sons, from this most dangerous condition.

24Śrī Kaśyapa Muni said: When I desired offspring, I placed inquiries before Lord Brahmā, who is born from a lotus flower. Now I shall explain to you the same process Lord Brahmā instructed me, by which Keśava, the Supreme Personality of Godhead, is satisfied.

25In the bright fortnight of the month of Phālguna [February and March], for twelve days ending with Dvādaśī, one should observe the vow of subsisting only on milk and should worship the lotus-eyed Supreme Personality of Godhead with all devotion.

26If dirt dug up by a boar is available, on the day of the dark moon one should smear this dirt on his body and then bathe in a flowing river. While bathing, one should chant the following mantra.

27O mother earth, you were raised by the Supreme Personality of Godhead in the form of a boar because of your desiring to have a place to stay. I pray that you kindly vanquish all the reactions of my sinful life. I offer my respectful obeisances unto you.

28Thereafter, one should perform his daily spiritual duties and then, with great attention, offer worship to the Deity of the Supreme Personality of Godhead, and also to the altar, the sun, water, fire and the spiritual master.

29O Supreme Personality of Godhead, greatest of all, who lives in everyone's heart and in whom everyone lives, O witness of everything, O Vāsudeva, supreme and all-pervading person, I offer my respectful obeisances unto You.

30I offer my respectful obeisances unto You, the Supreme Person. Being very subtle, You are never visible to material eyes. You are the knower of the twenty-four elements, and You are the inaugurator of the sāṅkhya-yoga system.

31I offer my respectful obeisances unto You, the Supreme Personality of Godhead, who have two heads [prāyaṇīya and udāyanīya], three legs [savana-traya], four horns [the four Vedas] and seven hands [the seven chandas, such as Gāyatrī]. I offer my obeisances unto You, whose heart and soul are the three Vedic rituals [karma-kāṇḍa, Jnana-kāṇḍa and upāsanā-kāṇḍa] and who expand these rituals in the form of sacrifice.

32I offer my respectful obeisances unto You, Lord Śiva, or Rudra, who are the reservoir of all potencies, the reservoir of all knowledge, and the master of everyone.

33I offer my respectful obeisances unto You, who are situated as Hiraṇyagarbha, the source of life, the Supersoul of every living entity. Your body is the source of the opulence of all mystic power. I offer my respectful obeisances unto You.

34I offer my respectful obeisances unto You, who are the original Personality of Godhead, the witness in everyone's heart, and the incarnation of Nara-Nārāyaṇa Ṛṣi in the form of a human being. O Personality of Godhead, I offer my respectful obeisances unto You.

35My Lord, I offer my respectful obeisances unto You, who are dressed in yellow garments, whose bodily hue resembles the marakata gem, and who have full control over the goddess of fortune. O my Lord Keśava, I offer my respectful obeisances unto You.

36O most exalted and worshipable Lord, best of those who bestow benediction, You can fulfill

the desires of everyone, and therefore those who are sober, for their own welfare, worship the dust of Your lotus feet.

37All the demigods, as well as the goddess of fortune, engage in the service of His lotus feet. Indeed, they respect the fragrance of those lotus feet. May the Supreme Personality of Godhead be pleased with me.

38Kaśyapa Muni continued: By chanting all these mantras, welcoming the Supreme Personality of Godhead with faith and devotion, and offering Him items of worship [such as pādya and arghya], one should worship Keśava, Hṛṣīkeśa, Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead.

39In the beginning, the devotee should chant the dvādaśākṣara-mantra and offer flower garlands, incense and so on. After worshiping the Lord in this way, one should bathe the Lord with milk and dress Him with proper garments, a sacred thread, and ornaments. After offering water to wash the Lord's feet, one should again worship the Lord with fragrant flowers, incense and other paraphernalia.

40If one can afford to, one should offer the Deity fine rice boiled in milk with clarified butter and molasses. While chanting the same original mantra, one should offer all this to the fire.

41One should offer all the prasāda to a Vaiṣṇava or offer him some of the prasāda and then take some oneself. After this, one should offer the Deity ācamana and then betel nut and then again worship the Lord.

42Thereafter, one should silently murmur the mantra 108 times and offer prayers to the Lord for His glorification. Then one should circumambulate the Lord and finally, with great delight and satisfaction, offer obeisances, falling straight like a rod [daṇḍavat].

43After touching to one's head all the flowers and water offered to the Deity, one should throw them into a sacred place. Then one should feed at least two brāhmaṇas with sweet rice.

44-45One should perfectly honor the respectable brāhmaṇas one has fed, and then, after taking their permission, one should take prasāda with his friends and relatives. For that night, one should observe strict celibacy, and the next morning, after bathing again, with purity and attention one should bathe the Deity of Viṣṇu with milk and worship Him according to the methods formerly stated in detail.

46Worshiping Lord Viṣṇu with great faith and devotion and living only by drinking milk, one should follow this vow. One should also offer oblations to the fire and feed the brāhmaṇas as mentioned before.

47In this way, until twelve days have passed, one should observe this payo-vrata, worshiping the Lord every day, executing the routine duties, performing sacrifices and feeding the brāhmaṇas.

48From pratipat until the thirteenth day of the next bright moon [śukla-trayodaśī], one should observe complete celibacy, sleep on the floor, bathe three times a day and thus execute the vow.

49During this period, one should not unnecessarily talk of material subjects or topics of sense gratification, one should be completely free from envy of all living entities, and one should be a pure and simple devotee of Lord Vāsudeva.

50Thereafter, following the directions of the śāstra with help from brāhmaṇas who know the

śāstra, on the thirteenth day of the moon one should bathe Lord Viṣṇu with five substances [milk, yogurt, ghee, sugar and honey].

51-52Giving up the miserly habit of not spending money, one should arrange for the gorgeous worship of the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, who is situated in the heart of every living entity. With great attention, one must prepare an oblation of grains boiled in ghee and milk and must chant the Puruṣa-sūkta mantra. The offerings of food should be of varieties of tastes. In this way, one should worship the Supreme Personality of Godhead.

53One should satisfy the spiritual master [ācārya], who is very learned in Vedic literature, and should satisfy his assistant priests [known as hotā, udgātā, adhvaryu and brahma]. One should please them by offering them clothing, ornaments and cows. This is the ceremony called viṣṇu-ārādhana, or worship of Lord Viṣṇu.

54O most auspicious lady, one should perform all the ceremonies under the direction of learned ācāryas and should satisfy them and their priests. By distributing prasāda, one should also satisfy the brāhmaṇas and others who have assembled.

55One should satisfy the spiritual master and assistant priests by giving them cloth, ornaments, cows and also some monetary contribution. And by distributing prasāda one should satisfy everyone assembled, including even the lowest of men, the caṇḍālas [eaters of dog flesh].

56One should distribute viṣṇu-prasāda to everyone, including the poor man, the blind man, the nondevotee and the non-brāhmaṇa. Knowing that Lord Viṣṇu is very pleased when everyone is sumptuously fed with viṣṇu-prasāda, the performer of yajṣa should then take prasāda with his friends and relatives.

57Every day from pratipat to trayodaśī, one should continue the ceremony, to the accompaniment of dancing, singing, the beating of a drum, the chanting of prayers and all-auspicious mantras, and recitation of Śrīmad-Bhāgavatam. In this way, one should worship the Supreme Personality of Godhead.

58This is the religious ritualistic ceremony known as payo-vrata, by which one may worship the Supreme Personality of Godhead. I received this information from Brahmā, my grandfather, and now I have described it to you in all details.

59O most fortunate lady, establishing your mind in a good spirit, execute this process of payo-vrata and thus worship the Supreme Personality of Godhead, Keśava, who is inexhaustible.

60This payo-vrata is also known as sarva-yajṣa. In other words, by performing this sacrifice one can perform all other sacrifices automatically. This is also acknowledged to be the best of all ritualistic ceremonies. O gentle lady, it is the essence of all austerities, and it is the process of giving charity and pleasing the supreme controller.

61This is the best process for pleasing the transcendental Supreme Personality of Godhead, known as Adhokṣaja. It is the best of all regulative principles, the best austerity, the best process of giving charity, and the best process of sacrifice.

62Therefore, my dear gentle lady, follow this ritualistic vow, strictly observing the regulative principles. By this process, the Supreme Person will very soon be pleased with you and will satisfy all your desires.

### SB 8.17: The Supreme Lord Agrees to Become Aditi's Son

As explained in this chapter, the Supreme Personality of Godhead, being very pleased by the *payo-vrata* ceremony performed by Aditi, appeared before her in full opulence. At her request, the Lord agreed to become her son.

After Aditi performed the *payo-vrata* ceremony for twelve continuous days, the Lord, who was certainly very pleased with her, appeared before her with four hands and dressed in yellow garments. As soon as Aditi saw the Supreme Personality of Godhead present before her, she immediately got up, and with great ecstatic love for the Lord she fell to the ground to offer respectful obeisances. Aditi's throat was choked because of ecstatic feelings, and her entire body trembled with devotion. Although she wanted to offer suitable prayers to the Lord, she could not do anything, and thus she remained silent for some time. Then, feeling solace, observing the beauty of the Lord, she offered her prayers. The Supreme Personality of Godhead, the Supersoul of all living entities, was very pleased with her, and He agreed to become her son by incarnating as a plenary expansion. He was already pleased by Kaśyapa Muni's austerities, and thus He agreed to become their son and maintain the demigods. After giving His word of honor to this effect, the Lord disappeared. Following the order of the Supreme Personality of Godhead, Aditi engaged in the service of Kaśyapa Muni, who could see by *samādhi* that the Lord was within him and who thus placed his semen in the womb of Aditi. Lord Brahmā, who is known as Hiraṇyagarbha, understood that the Supreme Personality of Godhead had entered Aditi's womb. Thus he offered prayers to the Lord.

1Śukadeva Gosvāmī said: O King, after Aditi was thus advised by her husband, Kaśyapa Muni, she strictly followed his instructions without laziness and in this way performed the payo-vrata ritualistic ceremony.

2-3With full, undiverted attention, Aditi thought of the Supreme Personality of Godhead and in this way brought under full control her mind and senses, which resembled forceful horses. She concentrated her mind upon the Supreme Lord, Vāsudeva. Thus she performed the ritualistic ceremony known as payo-vrata.

4My dear King, the original Supreme Personality of Godhead, dressed in yellow garments and bearing a conchshell, disc, club and lotus in His four hands, then appeared before Aditi.

5When the Supreme Personality of Godhead became visible to Aditi's eyes, Aditi was so overwhelmed by transcendental bliss that she at once stood up and then fell to the ground like a rod to offer the Lord her respectful obeisances.

6Aditi stood silently with folded hands, unable to offer prayers to the Lord. Because of transcendental bliss, tears filled her eyes, and the hairs on her body stood on end. Because she could see the Supreme Personality of Godhead face to face, she felt ecstasy, and her body trembled.

7O Mahārāja Parīkṣit, the demigoddess Aditi then began offering her prayers to the Supreme Personality of Godhead in a faltering voice and with great love. She appeared as though drinking through her eyes the Supreme Lord, who is the husband of the goddess of fortune, the enjoyer of all sacrificial ceremonies, and the master and Lord of the entire universe.

8The goddess Aditi said: O master and enjoyer of all sacrificial ceremonies, O infallible and most famous person, whose name, when chanted, spreads all good fortune! O original Supreme Personality of Godhead, supreme controller, shelter of all holy places, You are the shelter of all poor, suffering living entities, and You have appeared to diminish their suffering. Please be kind to us and spread our good fortune.

9My Lord, You are the all-pervading universal form, the fully independent creator, maintainer

and destroyer of this universe. Although You engage Your energy in matter, You are always situated in Your original form and never fall from that position, for Your knowledge is infallible and always suitable to any situation. You are never bewildered by illusion. O my Lord, let me offer my respectful obeisances unto You.

10O unlimited one, if Your Lordship is satisfied, one can very easily obtain a lifetime as long as that of Lord Brahmā, a body either in the upper, lower or middle planetary systems, unlimited material opulence, religion, economic development and satisfaction of the senses, full transcendental knowledge, and the eight yogic perfections, what to speak of such petty achievements as conquering one's rivals.

11Śukadeva Gosvāmī said: O King Parīkṣit, best of the Bharata dynasty, when the lotus-eyed Lord, the Supersoul of all living entities, was thus worshiped by Aditi, He replied as follows.

12The Supreme Personality of Godhead said: O mother of the demigods, I have already understood your long-cherished desires for the welfare of your sons, who have been deprived of all opulences and driven from their residence by their enemies.

13O Devī, O goddess, I can understand that you want to regain your sons and be together with them to worship Me, after defeating the enemies in battle and retrieving your abode and opulences.

14You want to see the wives of the demons lamenting for the death of their husbands when those demons, the enemies of your sons, are killed in battle by the demigods, of whom Indra is the chief.

15You want your sons to regain their lost reputation and opulence and live again on their heavenly planet as usual.

16O mother of the demigods, in My opinion almost all the chiefs of the demons are now unconquerable, for they are being protected by brāhmaṇas, whom the Supreme Lord always favors. Thus the use of power against them now will not at all be a source of happiness.

17Yet because I have been satisfied by the activities of your vow, O goddess Aditi, I must find some means to favor you, for worship of Me never goes in vain but certainly gives the desired result according to what one deserves.

18You have prayed to Me and properly worshiped Me by performing the great payo-vrata ceremony for the sake of protecting your sons. Because of Kaśyapa Muni's austerities, I shall agree to become your son and thus protect your other sons.

19Always thinking of Me as being situated within the body of your husband, Kaśyapa, go worship your husband, who has been purified by his austerity.

20O lady, even if someone inquires, you should not disclose this fact to anyone. That which is very confidential is successful if kept secret.

21Śukadeva Gosvāmī said: After speaking in this way, the Supreme Personality of Godhead disappeared from that very spot. Aditi, having received the extremely valuable benediction that the Lord would appear as her son, considered herself very successful, and with great devotion she approached her husband.

22Being situated in a meditational trance, Kaśyapa Muni, whose vision is never mistaken, could see that a plenary portion of the Supreme Personality of Godhead had entered within him.

23O King, as the wind promotes friction between two pieces of wood and thus gives rise to fire, Kaśyapa Muni, whose transcendental position was fully absorbed in the Supreme Personality of Godhead, transferred his potency into the womb of Aditi.

24When Lord Brahmā understood that the Supreme Personality of Godhead was now within the womb of Aditi, he began to offer prayers to the Lord by reciting transcendental names.

25Lord Brahmā said: O Supreme Personality of Godhead, all glories unto You, who are glorified by all and whose activities are all uncommon. I offer my respectful obeisances unto You, O Lord of the transcendentalists, controller of the three modes of nature. I offer my respectful obeisances unto You again and again.

26I offer my respectful obeisances unto You, the all-pervading Lord Viṣṇu, who have entered the cores of the hearts of all living entities. All the three worlds reside within Your navel, yet You are above the three worlds. Formerly You appeared as the son of Pṛśni. To You, the supreme creator, who are understood only through Vedic knowledge, I offer my respectful obeisances.

27O my Lord, You are the beginning, the manifestation and the ultimate dissolution of the three worlds, and You are celebrated in the Vedas as the reservoir of unlimited potencies, the Supreme Person. O my Lord, as waves attract branches and leaves that have fallen into deep water, You, the supreme eternal time factor, attract everything in this universe.

28My Lord, You are the original generator of all living entities, stationary or moving, and You are also the generator of the Prajāpatis. O my Lord, as a boat is the only hope for a person drowning in the water, You are the only shelter for the demigods, who are now bereft of their heavenly position.

## SB 8.18: Lord Vāmanadeva, the Dwarf Incarnation

This chapter describes how Lord Vāmanadeva appeared and how He went to the sacrificial arena of Mahārāja Bali, who received Him well and fulfilled His desire by offering Him benedictions.

Lord Vāmanadeva appeared in this world from the womb of Aditi completely equipped with conchshell, disc, club and lotus. His bodily hue was blackish, and He was dressed in yellow garments. Lord Viṣṇu appeared at an auspicious moment on Śravaṇa-dvādaśī when the Abhijit star had arisen. At that time, in all the three worlds (including the higher planetary system, outer space and this earth), all the demigods, the cows, the *brāhmaṇas* and even the seasons were happy because of God's appearance. Therefore this auspicious day is called Vijayā. When the Supreme Personality of Godhead, who has a *sac-cid-ānanda* body, appeared as the son of Kaśyapa and Aditi, both of His parents were very astonished. After His appearance, the Lord assumed the form of a dwarf (Vāmana). All the great sages expressed their jubilation, and with Kaśyapa Muni before them they performed the birthday ceremony of Lord Vāmana. At the time of Lord Vāmanadeva's sacred thread ceremony, He was honored by the sun-god, Bṛhaspati, the goddess presiding over the planet earth, the deity of the heavenly planets, His mother, Lord Brahmā, Kuvera, the seven *ṛṣis* and others. Lord Vāmanadeva then visited the sacrificial arena on the northern side of the Narmadā River, at the field known as Bhṛgukaccha, where *brāhmaṇas* of the Bhṛgu dynasty were performing *yajṣas.* Wearing a belt made of *muṣja* straw, an upper garment of deerskin and a sacred thread and carrying in His hands a *daṇḍa,* an umbrella and a waterpot (*kamaṇḍalu*), Lord Vāmanadeva appeared in the sacrificial arena of Mahārāja Bali. Because of His transcendentally effulgent presence, all the priests were diminished in their prowess, and thus they all stood from their seats and offered prayers to

Lord Vāmanadeva. Even Lord Śiva accepts on his head the Ganges water generated from the toe of Lord Vāmanadeva. Therefore, after washing the Lord's feet, Bali Mahārāja immediately accepted the water from the Lord's feet on his head and felt that he and his predecessors had certainly been glorified. Then Bali Mahārāja inquired of Lord Vāmanadeva's welfare and requested the Lord to ask him for money, jewels or anything He might desire.

1Śukadeva Gosvāmī said: After Lord Brahmā had thus spoken, glorifying the Supreme Lord's activities and prowess, the Supreme Personality of Godhead, who is never subject to death like an ordinary living being, appeared from the womb of Aditi. His four hands were decorated with a conchshell, club, lotus and disc, He was dressed in yellow garments, and His eyes appeared like the petals of a blooming lotus.

2The body of the Supreme Personality of Godhead, blackish in complexion, was free from all inebrieties. His lotus face, decorated with earrings resembling sharks, appeared very beautiful, and on His bosom was the mark of Śrīvatsa. He wore bangles on His wrists, armlets on His arms, a helmet on His head, a belt on His waist, a sacred thread across His chest, and ankle bells decorating His lotus feet.

3An uncommonly beautiful garland of flowers decorated His bosom, and because the flowers were extremely fragrant, a large group of bees, making their natural humming sounds, invaded them for honey. When the Lord appeared, wearing the Kaustubha gem on His neck, His effulgence vanquished the darkness in the home of the Prajāpati Kaśyapa.

4At that time, there was happiness in all directions, in the reservoirs of water like the rivers and oceans, and in the core of everyone's heart. The various seasons displayed their respective qualities, and all living entities in the upper planetary system, in outer space and on the surface of the earth were jubilant. The demigods, the cows, the brāhmaṇas and the hills and mountains were all filled with joy.

5On the day of Śravaṇa-dvādaśī [the twelfth day of the bright fortnight in the month of Bhādra], when the moon came into the lunar mansion Śravaṇa, at the auspicious moment of Abhijit, the Lord appeared in this universe. Considering the Lord's appearance very auspicious, all the stars and planets, from the sun to Saturn, were munificently charitable.

6O King, when the Lord appeared on dvādaśī, the twelfth day of the moon the sun was at the meridian, as every learned scholar knows. This dvādaśī is called Vijayā.

7Conchshells, kettledrums, drums, paṇavas and ānakas vibrated in concert. The sound of these and various other instruments was tumultuous.

8Being very pleased, the celestial dancing girls [Apsarās] danced in jubilation, the best of the Gandharvas sang songs, and the great sages, demigods, Manus, Pitās and fire-gods offered prayers to satisfy the Lord.

9-10The Siddhas, Vidyādharas, Kimpuruṣas, Kinnaras, Cāraṇas, Yakṣas, Rākṣasas, Suparṇas, the best of serpents, and the followers of the demigods all showered flowers on Aditi's residence, covering the entire house, while glorifying and praising the Lord and dancing.

11When Aditi saw the Supreme Personality of Godhead, who had appeared from her own womb, having accepted a transcendental body by His own spiritual potency, she was struck with wonder and was very happy. Upon seeing the child, Prajāpati Kaśyapa exclaimed, "Jaya! Jaya!" in great happiness and wonder.

12The Lord appeared in His original form, with ornaments and weapons in His hands.

Although this ever-existing form is not visible in the material world, He nonetheless appeared in this form. Then, in the presence of His father and mother, He assumed the form of Vāmana, a brāhmaṇa-dwarf, a brahmacārī, just like a theatrical actor.

13When the great sages saw the Lord as the brahmacārī-dwarf Vāmana, they were certainly very pleased. Thus they placed before them Kaśyapa Muni, the Prajāpati, and performed all the ritualistic ceremonies, such as the birthday ceremony.

14At the sacred thread ceremony of Vāmanadeva, the sun-god personally uttered the Gāyatrī mantra, Bṛhaspati offered the sacred thread, and Kaśyapa Muni offered a straw belt.

15Mother earth gave Him a deerskin, and the demigod of the moon, who is the king of the forest, gave Him a brahma-daṇḍa [the rod of a brahmacārī]. His mother, Aditi, gave Him cloth for underwear, and the deity presiding over the heavenly kingdom offered Him an umbrella.

16O King, Lord Brahmā offered a waterpot to the inexhaustible Supreme Personality of Godhead, the seven sages offered Him kuśa grass, and mother Sarasvatī gave Him a string of Rudrākṣa beads.

17When Vāmanadeva had thus been given the sacred thread, Kuvera, King of the Yakṣas, gave Him a pot for begging alms, and mother Bhagavatī, the wife of Lord Śiva and most chaste mother of the entire universe, gave Him His first alms.

18Having thus been welcomed by everyone, Lord Vāmanadeva, the best of the brahmacārīs, exhibited His Brahman effulgence. Thus He surpassed in beauty that entire assembly, which was filled with great saintly brāhmaṇas.

19After Lord Śrī Vāmanadeva set a sacrificial fire, He offered worship and performed a fire sacrifice on the sacrificial field.

20When the Lord heard that Bali Mahārāja was performing aśvamedha sacrifices under the patronage of brāhmaṇas belonging to the Bhṛgu dynasty, the Supreme Lord, who is full in every respect, proceeded there to show His mercy to Bali Mahārāja. By His weight, He pushed down the earth with every step.

21While engaged in performing the sacrifice in the field known as Bhṛgukaccha, on the northern bank of the Narmadā River, the brahminical priests, the descendants of Bhṛgu, saw Vāmanadeva to be like the sun rising nearby.

22O King, because of Vāmanadeva's bright effulgence, the priests, along with Bali Mahārāja and all the members of the assembly, were robbed of their splendor. Thus they began to ask one another whether the sun-god himself, Sanat-kumāra or the fire-god had personally come to see the sacrificial ceremony.

23While the priests of the Bhṛgu dynasty and their disciples talked and argued in various ways, the Supreme Personality of Godhead, Vāmanadeva, holding in His hands the rod, the umbrella and a waterpot full of water, entered the arena of the aśvamedha sacrifice.

24-25Appearing as a brāhmaṇa boy, wearing a belt of straw, a sacred thread, an upper garment of deerskin, and matted locks of hair, Lord Vāmanadeva entered the arena of sacrifice. His brilliant effulgence diminished the brilliance of all the priests and their disciples, who thus stood from their seats and welcomed the Lord properly by offering obeisances.

26Bali Mahārāja, jubilant at seeing Lord Vāmanadeva, whose beautiful limbs contributed

equally to the beauty of His entire body, offered Him a seat with great satisfaction.

27Thus offering a proper reception to the Supreme Personality of Godhead, who is always beautiful to the liberated souls, Bali Mahārāja worshiped Him by washing His lotus feet.

28Lord Śiva, the best of demigods, who carries on his forehead the emblem of the moon, receives on his head with great devotion the Ganges water emanating from the toe of Viṣṇu. Being aware of religious principles, Bali Mahārāja knew this. Consequently, following in the footsteps of Lord Śiva, he also placed on his head the water that had washed the Lord's lotus feet.

29Bali Mahārāja then said to Lord Vāmanadeva: O brāhmaṇa, I offer You my hearty welcome and my respectful obeisances. Please let us know what we may do for You. We think of You as the personified austerity of the great brāhmaṇa-sages.

30O my Lord, because You have kindly arrived at our home, all my forefathers are satisfied, our family and entire dynasty have been sanctified, and the sacrifice we are performing is now complete because of Your presence.

31O son of a brāhmaṇa, today the fire of sacrifice is ablaze according to the injunction of the śāstra, and I have been freed from all the sinful reactions of my life by the water that has washed Your lotus feet. O my Lord, by the touch of Your small lotus feet the entire surface of the world has been sanctified.

32O son of a brāhmaṇa, it appears that You have come here to ask me for something. Therefore, whatever You want You may take from me. O best of those who are worshipable. You may take from me a cow, gold, a furnished house, palatable food and drink, the daughter of a brāhmaṇa for Your wife, prosperous villages, horses, elephants, chariots or whatever You desire.

### SB 8.19: Lord Vāmanadeva Begs Charity from Bali Mahārāja

This Nineteenth Chapter describes how Lord Vāmanadeva asked for three paces of land in charity, how Bali Mahārāja agreed to His proposal, and how Śukrācārya forbade Bali Mahārāja to fulfill Lord Vāmanadeva's request.

When Bali Mahārāja, thinking Vāmanadeva to be the son of a *brāhmaṇa,* told Him to ask for anything He liked, Lord Vāmanadeva praised Hiraṇyakaśipu and Hiraṇyākṣa for their heroic activities, and after thus praising the family in which Bali Mahārāja had been born, He begged the King for three paces of land. Bali Mahārāja agreed to give this land in charity, since this was very insignificant, but Śukrācārya, who could understand that Vāmanadeva was Viṣṇu, the friend of the demigods, forbade Bali Mahārāja to give this land. Śukrācārya advised Bali Mahārāja to withdraw his promise. He explained that in subduing others, in joking, in responding to danger, in acting for the welfare of others, and so on, one could refuse to fulfill one's promise, and there would be no fault. By this philosophy, Śukrācārya tried to dissuade Bali Mahārāja from giving land to Lord Vāmanadeva.

1Śukadeva Gosvāmī continued: When the Supreme Personality of Godhead, Vāmanadeva, heard Bali Mahārāja speaking in this pleasing way, He was very satisfied, for Bali Mahārāja had spoken in terms of religious principles. Thus the Lord began to praise him.

2The Supreme Personality of Godhead said: O King, you are indeed exalted because your present advisors are the brāhmaṇas who are descendants of Bhṛgu and because your instructor

for your future life is your grandfather, the peaceful and venerable Prahlāda Mahārāja. Your statements are very true, and they completely agree with religious etiquette. They are in keeping with the behavior of your family, and they enhance your reputation.

3I know that even until now, no one taking birth in your family has been poor-minded or miserly. No one has refused to give charity to brāhmaṇas, nor after promising to give charity has anyone failed to fulfill his promise.

4O King Bali, never in your dynasty has the low-minded king been born who upon being requested has refused charity to brāhmaṇas in holy places or a fight to kṣatriyas on a battlefield. And your dynasty is even more glorious due to the presence of Prahlāda Mahārāja, who is like the beautiful moon in the sky.

5It was in your dynasty that Hiraṇyākṣa was born. Carrying only his own club, he wandered the globe alone, without assistance, to conquer all directions, and no hero he met could rival him.

6When delivering the earth from the Garbhodaka Sea, Lord Viṣṇu, in His incarnation as a boar, killed Hiraṇyākṣa, who had appeared before Him. The fight was severe, and the Lord killed Hiraṇyākṣa with great difficulty. Later, as the Lord thought about the uncommon prowess of Hiraṇyākṣa, He felt Himself victorious indeed.

7When Hiraṇyakaśipu heard the news of his brother's being killed, with great anger he went to the residence of Viṣṇu, the killer of his brother, wanting to kill Lord Viṣṇu.

8Seeing Hiraṇyakaśipu coming forward bearing a trident in his hand like personified death, Lord Viṣṇu, the best of all mystics and the knower of the progress of time, thought as follows.

9Wheresoever I go, Hiraṇyakaśipu will follow Me, as death follows all living entities. Therefore it is better for Me to enter the core of his heart, for then, because of his power to see only externally, he will not see Me.

10Lord Vāmanadeva continued: O King of the demons, after Lord Viṣṇu made this decision, He entered the body of His enemy Hiraṇyakaśipu, who was running after Him with great force. In a subtle body inconceivable to Hiraṇyakaśipu, Lord Viṣṇu, who was in great anxiety, entered Hiraṇyakaśipu's nostril along with his breath.

11Upon seeing that the residence of Lord Viṣṇu was vacant, Hiraṇyakaśipu began searching for Lord Viṣṇu everywhere. Angry at not seeing Him, Hiraṇyakaśipu screamed loudly and searched the entire universe, including the surface of the earth, the higher planetary systems, all directions and all the caves and oceans. But Hiraṇyakaśipu, the greatest hero, did not see Viṣṇu anywhere.

12Unable to see Him, Hiraṇyakaśipu said, "I have searched the entire universe, but I could not find Viṣṇu, who has killed my brother. Therefore, He must certainly have gone to that place from which no one returns. [In other words, He must now be dead.]"

13Hiraṇyakaśipu's anger against Lord Viṣṇu persisted until his death. Other people in the bodily concept of life maintain anger only because of false ego and the great influence of ignorance.

14Your father, Virocana, the son of Mahārāja Prahlāda, was very affectionate toward brāhmaṇas. Although he knew very well that it was the demigods who had come to him in the dress of brāhmaṇas, at their request he delivered to them the duration of his life.

15You also have observed the principles followed by great personalities who are householder brāhmaṇas, by your forefathers and by great heroes who are extremely famous for their exalted activities.

16O King of the Daityas, from Your Majesty, who come from such a noble family and who are able to give charity munificently, I ask only three paces of land, to the measurement of My steps.

17O King, controller of the entire universe, although you are very munificent and are able to give Me as much land as I want, I do not want anything from you that is unnecessary. If a learned brāhmaṇa takes charity from others only according to his needs, he does not become entangled in sinful activities.

18Bali Mahārāja said: O son of a brāhmaṇa, Your instructions are as good as those of learned and elderly persons. Nonetheless, You are a boy, and Your intelligence is insufficient. Thus You are not very prudent in regard to Your self-interest.

19I am able to give You an entire island because I am the proprietor of the three divisions of the universe. You have come to take something from me and have pleased me by Your sweet words, but You are asking only three paces of land. Therefore You are not very intelligent.

20O small boy, one who approaches me to beg something should not have to ask anything more, anywhere. Therefore, if You wish, You may ask from me as much land as will suffice to maintain You according to Your needs.

21The Personality of Godhead said: O my dear King, even the entirety of whatever there may be within the three worlds to satisfy one's senses cannot satisfy a person whose senses are uncontrolled.

22If I were not satisfied with three paces of land, then surely I would not be satisfied even with possessing one of the seven islands, consisting of nine varṣas. Even if I possessed one island, I would hope to get others.

23We have heard that although powerful kings like Mahārāja Pṛthu and Mahārāja Gaya achieved proprietorship over the seven dvīpas, they could not achieve satisfaction or find the end of their ambitions.

24One should be satisfied with whatever he achieves by his previous destiny, for discontent can never bring happiness. A person who is not self-controlled will not be happy even with possessing the three worlds.

25Material existence causes discontent in regard to fulfilling one's lusty desires and achieving more and more money. This is the cause for the continuation of material life, which is full of repeated birth and death. But one who is satisfied by that which is obtained by destiny is fit for liberation from this material existence.

26A brāhmaṇa who is satisfied with whatever is providentially obtained is increasingly enlightened with spiritual power, but the spiritual potency of a dissatisfied brāhmaṇa decreases, as fire diminishes in potency when water is sprinkled upon it.

27Therefore, O King, from you, the best of those who give charity, I ask only three paces of land. By such a gift I shall be very pleased, for the way of happiness is to be fully satisfied to receive that which is absolutely needed.

28Śukadeva Gosvāmī continued: When the Supreme Personality of Godhead had thus spoken

to Bali Mahārāja, Bali smiled and told Him, "All right. Take whatever You like." To confirm his promise to give Vāmanadeva the desired land, he then took up his waterpot.

29Understanding Lord Viṣṇu's purpose, Śukrācārya, the best of the learned, immediately spoke as follows to his disciple, who was about to offer everything to Lord Vāmanadeva.

30Śukrācārya said: O son of Virocana, this brahmacārī in the form of a dwarf is directly the imperishable Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu. Accepting Kaśyapa Muni as His father and Aditi as His mother, He has now appeared in order to fulfill the interests of the demigods.

31You do not know what a dangerous position you have accepted by promising to give Him land. I do not think that this promise is good for you. It will bring great harm to the demons.

32This person falsely appearing as a brahmacārī is actually the Supreme Personality of Godhead, Hari, who has come in this form to take away all your land, wealth, beauty, power, fame and education. After taking everything from you, He will deliver it to Indra, your enemy.

33You have promised to give Him three steps of land in charity, but when you give it He will occupy the three worlds. You are a rascal! You do not know what a great mistake you have made. After giving everything to Lord Viṣṇu, you will have no means of livelihood. How then shall you live?

34Vāmanadeva will first occupy the three worlds with one step, then He will take His second step and occupy everything in outer space, and then He will expand His universal body to occupy everything. Where will you offer Him the third step?

35You will certainly be unable to fulfill your promise, and I think that because of this inability your eternal residence will be in hell.

36Learned scholars do not praise that charity which endangers one's own livelihood. Charity, sacrifice, austerity and fruitive activities are possible for one who is competent to earn his livelihood properly. [They are not possible for one who cannot maintain himself.]

37Therefore one who is in full knowledge should divide his accumulated wealth in five partsfor religion, for reputation, for opulence, for sense gratification and for the maintenance of his family members. Such a person is happy in this world and in the next.

38One might argue that since you have already promised, how can you refuse? O best of the demons, just take from me the evidence of the Bahvṛca-śruti, which says that a promise is truthful preceded by the word om and untruthful if not.

39The Vedas enjoin that the factual result of the tree of the body is the good fruits and flowers derived from it. But if the bodily tree does not exist, there is no possibility of factual fruits and flowers. Even if the body is based on untruth, there cannot be factual fruits and flowers without the help of the bodily tree.

40When a tree is uprooted it immediately falls down and begins to dry up. Similarly, if one doesn't take care of the body, which is supposed to be untruthin other words, if the untruth is uprootedthe body undoubtedly becomes dry.

41The utterance of the word om signifies separation from one's monetary assets. In other words, by uttering this word one becomes free from attachment to money because his money is taken away from him. To be without money is not very satisfactory, for in that position one cannot fulfill one's desires. In other words, by using the word om one becomes poverty-stricken. Especially when one gives charity to a poor man or beggar, one remains unfulfilled in

self-realization and in sense gratification.

42Therefore, the safe course is to say no. Although it is a falsehood, it protects one completely, it draws the compassion of others toward oneself, and it gives one full facility to collect money from others for oneself. Nonetheless, if one always pleads that he has nothing, he is condemned, for he is a dead body while living, or while still breathing he should be killed.

43In flattering a woman to bring her under control, in joking, in a marriage ceremony, in earning one's livelihood, when one's life is in danger, in protecting cows and brahminical culture, or in protecting a person from an enemy's hand, falsity is never condemned.

**SB 8.20: Bali Mahārāja Surrenders the Universe**

The summary of this Twentieth Chapter is as follows. Despite his knowledge that Lord Vāmanadeva was cheating him, Bali Mahārāja gave everything to the Lord in charity, and thus the Lord extended His body and assumed a gigantic form as Lord Viṣṇu.

After hearing the instructive advice of Śukrācārya, Bali Mahārāja became contemplative. Because it is the duty of a householder to maintain the principles of religion, economic development and sense gratification, Bali Mahārāja thought it improper to withdraw his promise to the *brahmacārī*. To lie or fail to honor a promise given to a *brahmacārī* is never proper, for lying is the most sinful activity. Everyone should be afraid of the sinful reactions to lying, for mother earth cannot even bear the weight of a sinful liar. The spreading of a kingdom or empire is temporary; if there is no benefit for the general public, such expansion has no value. Previously, all the great kings and emperors expanded their kingdoms with a regard for the welfare of the people in general. Indeed, while engaged in such activities for the benefit of the general public, eminent men sometimes even sacrificed their lives. It is said that one who is glorious in his activities is always living and never dies. Therefore, fame should be the aim of life, and even if one becomes poverty-stricken for the sake of a good reputation, that is not a loss. Bali Mahārāja thought that even if this *brahmacārī,* Vāmanadeva, were Lord Viṣṇu, if the Lord accepted his charity and then again arrested him, Bali Mahārāja would not envy Him. Considering all these points, Bali Mahārāja finally gave in charity everything he possessed.

Lord Vāmanadeva then immediately extended Himself into a universal body. By the mercy of Lord Vāmanadeva, Bali Mahārāja could see that the Lord is all-pervading and that everything rests in His body. Bali Mahārāja could see Lord Vāmanadeva as the Supreme Viṣṇu, wearing a helmet, yellow garments, the mark of Śrīvatsa, the Kaustubha jewel, a flower garland, and ornaments decorating His entire body. The Lord gradually covered the entire surface of the world, and by extending His body He covered the entire sky. With His hands He covered all directions, and with His second footstep He covered the entire upper planetary system. Therefore there was no vacant place where He could take His third footstep.

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: O King Parīkṣit, when Bali Mahārāja was thus advised by his spiritual master, Śukrācārya, his family priest, he remained silent for some time, and then, after full deliberation, he replied to his spiritual master as follows.

2Bali Mahārāja said: As you have already stated, the principle of religion that does not hinder one's economic development, sense gratification, fame and means of livelihood is the real occupational duty of the householder. I also think that this religious principle is correct.

3I am the grandson of Mahārāja Prahlāda. How can I withdraw my promise because of greed for money when I have already said that I shall give this land? How can I behave like an ordinary cheater, especially toward a brāhmaṇa?

4There is nothing more sinful than untruthfulness. Because of this, mother earth once said, "I can bear any heavy thing except a person who is a liar."

5I do not fear hell, poverty, an ocean of distress, falldown from my position or even death itself as much as I fear cheating a brāhmaṇa.

6My lord, you can also see that all the material opulences of this world are certainly separated from their possessor at death. Therefore, if the brāhmaṇa Vāmanadeva is not satisfied by whatever gifts one has given, why not please Him with the riches one is destined to lose at death?

7Dadhīci, Śibi and many other great personalities were willing to sacrifice even their lives for the benefit of the people in general. This is the evidence of history. So why not give up this insignificant land? What is the serious consideration against it?

8O best of the brāhmaṇas, certainly the great demoniac kings who were never reluctant to fight enjoyed this world, but in due course of time everything they had was taken away, except their reputation, by which they continue to exist. In other words, one should try to achieve a good reputation instead of anything else.

9O best of the brāhmaṇas, many men have laid down their lives on the battlefield, being unafraid of fighting, but rarely has one gotten the chance to give his accumulated wealth faithfully to a saintly person who creates holy places.

10By giving charity, a benevolent and merciful person undoubtedly becomes even more auspicious, especially when he gives charity to a person like your good self. Under the circumstances, I must give this little brahmacārī whatever charity He wants from me.

11O great sage, great saintly persons like you, being completely aware of the Vedic principles for performing ritualistic ceremonies and yajṣas, worship Lord Viṣṇu in all circumstances. Therefore, whether that same Lord Viṣṇu has come here to give me all benedictions or to punish me as an enemy, I must carry out His order and give Him the requested tract of land without hesitation.

12Although He is Viṣṇu Himself, out of fear He has covered Himself in the form of a brāhmaṇa to come to me begging. Under the circumstances, because He has assumed the form of a brāhmaṇa, even if He irreligiously arrests me or even kills me, I shall not retaliate, although He is my enemy.

13If this brāhmaṇa really is Lord Viṣṇu, who is worshiped by Vedic hymns, He would never give up His widespread reputation; either He would lie down having been killed by me, or He would kill me in a fight.

14ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: Thereafter, the spiritual master, Śukrācārya, being inspired by the Supreme Lord, cursed his exalted disciple Bali Mahārāja, who was so magnanimous and fixed in truthfulness that instead of respecting his spiritual master's instructions, he wanted to disobey his order.

15Although you have no knowledge, you have become a so-called learned person, and therefore you dare be so impudent as to disobey my order. Because of disobeying me, you shall very soon be bereft of all your opulence.

16Śukadeva Gosvāmī continued: Even after being cursed in this way by his own spiritual master, Bali Mahārāja, being a great personality, never deviated from his determination.

Therefore, according to custom, he first offered water to Vāmanadeva and then offered Him the gift of land he had promised.

17Bali Mahārāja's wife, known as Vindhyāvali, who was decorated with a necklace of pearls, immediately came and had a large golden waterpot brought there, full of water with which to worship the Lord by washing His feet.

18Bali Mahārāja, the worshiper of Lord Vāmanadeva, jubilantly washed the Lord's lotus feet and then took the water on his head, for that water delivers the entire universe.

19At that time, the residents of the higher planetary system, namely the demigods, the Gandharvas, the Vidyādharas, the Siddhas and the Cāraṇas, all being very pleased by Bali Mahārāja's simple, nonduplicitous act, praised his qualities and showered upon him millions of flowers.

20The Gandharvas, the Kimpuruṣas and the Kinnaras sounded thousands and thousands of kettledrums and trumpets again and again, and they sang in great jubilation, declaring, "How exalted a person is Bali Mahārāja, and what a difficult task he has performed! Even though he knew that Lord Viṣṇu was on the side of his enemies, he nonetheless gave the Lord the entire three worlds in charity."

21The unlimited Supreme Personality of Godhead, who had assumed the form of Vāmana, then began increasing in size, acting in terms of the material energy, until everything in the universe was within His body, including the earth, the planetary systems, the sky, the directions, the various holes in the universe, the seas, the oceans, the birds, beasts, human beings, the demigods and the great saintly persons.

22Bali Mahārāja, along with all the priests, ācāryas and members of the assembly, observed the Supreme Personality of Godhead's universal body, which was full of six opulences. That body contained everything within the universe, including all the gross material elements, the senses, the sense objects, the mind, intelligence and false ego, the various kinds of living entities, and the actions and reactions of the three modes of material nature.

23Thereafter, Bali Mahārāja, who was occupying the seat of King Indra, could see the lower planetary systems, such as Rasātala, on the soles of the feet of the Lord's universal form. He saw on the Lord's feet the surface of the globe, on the surface of His calves all the mountains, on His knees the various birds, and on His thighs the varieties of air.

24Bali Mahārāja saw beneath the garments of the Lord, who acts wonderfully, the evening twilight. In the Lord's private parts he saw the Prajāpatis, and in the round portion of the waist he saw himself with his confidential associates. In the Lord's navel he saw the sky, on the Lord's waist he saw the seven oceans, and on the Lord's bosom he saw all the clusters of stars.

25-29My dear King, on the heart of Lord Murāri he saw religion; on the chest, both pleasing words and truthfulness; in the mind, the moon; on the bosom, the goddess of fortune, with a lotus flower in her hand; on the neck, all the Vedas and all sound vibrations; on the arms, all the demigods, headed by King Indra; in both ears, all the directions; on the head, the upper planetary systems; on the hair, the clouds; in the nostrils, the wind; on the eyes, the sun; and in the mouth, fire. From His words came all the Vedic mantras, on His tongue was the demigod of water, Varuṇadeva, on His eyebrows were the regulative principles, and on His eyelids were day and night. [When His eyes were open it was daytime, and when they were closed it was night.] On His forehead was anger, and on His lips was greed. O King, in His touch were lusty desires, in His semen were all the waters, on His back was irreligion, and in His wonderful

activities or steps was the fire of sacrifice. On His shadow was death, in His smile was the illusory energy, and on the hairs of His body were all the drugs and herbs. In His veins were all the rivers, on His nails were all the stones, in His intelligence were Lord Brahmā, the demigods and the great saintly persons, and throughout His entire body and senses were all living entities, moving and stationary. Bali Mahārāja thus saw everything in the gigantic body of the Lord.

30O King, when all the demons, the followers of Mahārāja Bali, saw the universal form of the Supreme Personality of Godhead, who held everything within His body, when they saw in the Lord's hand His disc, known as the Sudarśana cakra, which generates intolerable heat, and when they heard the tumultuous sound of His bow, all of these caused lamentation within their hearts.

31The Lord's conchshell, named Pāṣcajanya, which made sounds like that of a cloud; the very forceful club named Kaumodakī; the sword named Vidyādhara, with a shield decorated with hundreds of moonlike spots; and also Akṣayasāyaka, the best of quiversall of these appeared together to offer prayers to the Lord.

32-33These associates, headed by Sunanda and other chief associates and accompanied by all the predominating deities of the various planets, offered prayers to the Lord, who wore a brilliant helmet, bracelets, and glittering earrings that resembled fish. On the Lord's bosom were the lock of hair called Śrīvatsa and the transcendental jewel named Kaustubha. He wore a yellow garment, covered by a belt, and He was decorated by a flower garland, surrounded by bees. Manifesting Himself in this way, O King, the Supreme Personality of Godhead, whose activities are wonderful, covered the entire surface of the earth with one footstep, the sky with His body, and all directions with His arms.

34As the Lord took His second step, He covered the heavenly planets. And not even a spot remained for the third step, for the Lord's foot extended higher and higher, beyond Maharloka, Janaloka, Tapoloka and even Satyaloka.

## SB 8.21: Bali Mahārāja Arrested by the Lord

This chapter describes how Lord Viṣṇu, desiring to advertise the glories of Bali Mahārāja, arrested him for not fulfilling his promise in regard to the Lord's third step.

With the second step the Supreme Personality of Godhead reached the topmost planet of the universe, Brahmaloka, which He diminished in beauty by the effulgence of His toenails. Thus Lord Brahmā, accompanied by great sages like Marīci and the predominating deities of all the higher planets, offered humble prayers and worship to the Lord. They washed the Lord's feet and worshiped Him with all paraphernalia. Ṛkṣarāja, Jāmbavān, played his bugle to vibrate the glories of the Lord. When Bali Mahārāja was deprived of all his possessions, the demons were very angry. Although Bali Mahārāja warned them not to do so, they took up weapons against Lord Viṣṇu. All of them were defeated, however, by Lord Viṣṇu's eternal associates, and, in accordance with Bali Mahārāja's order, they all entered the lower planets of the universe. Understanding Lord Viṣṇu's purpose, Garuḍa, the carrier of Lord Viṣṇu, immediately arrested Bali Mahārāja with the ropes of Varuṇa. When Bali Mahārāja was thus reduced to a helpless position, Lord Viṣṇu asked him for the third step of land. Because Lord Viṣṇu appreciated Bali Mahārāja's determination and integrity, when Bali Mahārāja was unable to fulfill his promise, Lord Viṣṇu ascertained that the place for him would be the planet Sutala, which is better than the planets of heaven.

1Śukadeva Gosvāmī continued: When Lord Brahmā, who was born of a lotus flower, saw that

the effulgence of his residence, Brahmaloka, had been reduced by the glaring effulgence from the toenails of Lord Vāmanadeva, he approached the Supreme Personality of Godhead. Lord Brahmā was accompanied by all the great sages, headed by Marīci, and by yogīs like Sanandana, but in the presence of that glaring effulgence, O King, even Lord Brahmā and his associates seemed insignificant.

2-3Among the great personalities who came to worship the lotus feet of the Lord were those who had attained perfection in self-control and regulative principles, as well as experts in logic, history, general education and the Vedic literature known as kalpe [dealing with old historical incidents]. Others were experts in the Vedic corollaries like Brahma-saṁhitā, all the other knowledge of the Vedas [Sāma, Yajur, Ṛg and Atharva], and also the supplementary Vedic knowledge [Āyurveda, Dhanurveda, etc.]. Others were those who had been freed of the reactions to fruitive activities by transcendental knowledge awakened by practice of yoga. And still others were those who had attained residence in Brahmaloka not by ordinary karma but by advanced Vedic knowledge. After devotedly worshiping the upraised lotus feet of the Supreme Lord with oblations of water, Lord Brahmā, who was born of the lotus emanating from Lord Viṣṇu's navel, offered prayers to the Lord.

4O King, the water from Lord Brahmā's kamaṇḍalu washed the lotus feet of Lord Vāmanadeva, who is known as Urukrama, the wonderful actor. Thus that water became so pure that it was transformed into the water of the Ganges, which went flowing down from the sky, purifying the three worlds like the pure fame of the Supreme Personality of Godhead.

5Lord Brahmā and all the predominating deities of the various planetary systems began to worship Lord Vāmanadeva, their supreme master, who had reduced Himself from His all-pervading form to His original form. They collected all the ingredients and paraphernalia for this worship.

6-7They worshiped the Lord by offering fragrant flowers, water, pādya and arghya, sandalwood pulp and aguru pulp, incense, lamps, fused rice, unbroken grains, fruits, roots and sprouts. While so doing, they offered prayers indicating the glorious activities of the Lord and shouted "Jaya! Jaya!" They also danced, played instruments, sang, sounded conchshells and beat kettledrums, in this way worshiping the Lord.

8Jāmbavān, king of the bears, also joined in the ceremony. Sounding his bugle in all directions, he declared a great festival for Lord Vāmanadeva's victory.

9When the demoniac followers of Mahārāja Bali saw that their master, who had been determined in performing sacrifice, had lost all his possessions to Vāmanadeva, who had taken them away on the plea of begging three paces of land, they were very angry and spoke as follows.

10"This Vāmana is certainly not a brāhmaṇa but the best of cheaters, Lord Viṣṇu. Assuming the form of a brāhmaṇa, He has covered His own form, and thus He is working for the interests of the demigods.

11"Our lord, Bali Mahārāja, because of his position in performing the yajṣa, has given up the power to punish. Taking advantage of this, our eternal enemy, Viṣṇu, dressed in the form of a brahmacārī beggar, has taken away all his possessions.

12"Our lord, Bali Mahārāja, is always fixed in truthfulness, and this is especially so at present, since he has been initiated into performing a sacrifice. He is always kind and merciful toward the brāhmaṇas, and he cannot at any time speak lies.

13"Therefore it is our duty to kill this Vāmanadeva, Lord Viṣṇu. It is our religious principle and the way to serve our master." After making this decision, the demoniac followers of Mahārāja Bali took up their various weapons with a view to killing Vāmanadeva.

14O King, the demons, aggravated by their usual anger, took their lances and tridents in hand, and against the will of Bali Mahārāja they pushed forward to kill Lord Vāmanadeva.

15O King, when the associates of Lord Viṣṇu saw the soldiers of the demons coming forward in violence, they smiled. Taking up their weapons, they forbade the demons to continue their attempt.

16-17Nanda, Sunanda, Jaya, Vijaya, Prabala, Bala, Kumuda, Kumudākṣa, Viṣvaksena, Patattrirāṭ [Garuḍa], Jayanta, Śrutadeva, Puṣpadanta and Sātvata were all associates of Lord Viṣṇu. They were as powerful as ten thousand elephants, and now they began killing the soldiers of the demons.

18When Bali Mahārāja saw that his own soldiers were being killed by the associates of Lord Viṣṇu, he remembered the curse of Śukrācārya and forbade his soldiers to continue fighting.

19O Vipracitti, O Rāhu, O Nemi, please hear my words! Don't fight. Stop immediately, for the present time is not in our favor.

20O Daityas, by human efforts no one can supersede the Supreme Personality of Godhead, who can bring happiness and distress to all living entities.

21The supreme time factor, which represents the Supreme Person, was previously in our favor and not in favor of the demigods, but now that same time factor is against us.

22No one can surpass the time representation of the Supreme Personality of Godhead by material power, by the counsel of ministers, by intelligence, by diplomacy, by fortresses, by mystic mantras, by drugs, by herbs or by any other means.

23Previously, being empowered by providence, you defeated a great number of such followers of Lord Viṣṇu. But today those same followers, having defeated us, are roaring in jubilation like lions.

24Unless providence is in our favor, we shall not be able to gain victory. Therefore we must wait for that favorable time when our defeating them will be possible.

25Śukadeva Gosvāmī continued: O King, in accordance with the order of their master, Bali Mahārāja, all the chiefs of the demons and the Daityas entered the lower regions of the universe, to which they were driven by the soldiers of Viṣṇu.

26Thereafter, on the day of soma-pāna, after the sacrifice was finished, Garuḍa, king of the birds, understanding the desire of his master, arrested Bali Mahārāja with the ropes of Varuṇa.

27When Bali Mahārāja was thus arrested by Lord Viṣṇu, who is the most powerful, there was a great roar of lamentation in all directions throughout the upper and lower planetary systems of the universe.

28O King, the Supreme Personality of Godhead, Vāmanadeva, then spoke to Bali Mahārāja, the most liberal and celebrated personality whom He had arrested with the ropes of Varuṇa. Bali Mahārāja had lost all bodily luster, but he was nonetheless fixed in his determination.

29O King of the demons, you have promised to give Me three steps of land, but I have

occupied the entire universe with two steps. Now think about where I should put My third.

30As far as the sun and moon shine with the stars and as far as the clouds pour rain, all the land throughout the universe is in your possession.

31Of these possessions, with one step I have occupied Bhūrloka, and with My body I have occupied the entire sky and all directions. And in your presence, with My second step, I have occupied the upper planetary system.

32Because you have been unable to give charity according to your promise, the rule is that you should go down to live in the hellish planets. Therefore, in accordance with the order of Śukrācārya, your spiritual master, now go down and live there.

33Far from being elevated to the heavenly planets or fulfilling one's desire, one who does not properly give a beggar what he has promised falls down to a hellish condition of life.

34Being falsely proud of your possessions, you promised to give Me land, but you could not fulfill your promise. Therefore, because your promise was false, you must live for a few years in hellish life.

**SB 8.22: Bali Mahārāja Surrenders His Life**

The summary of this Twenty-second Chapter is as follows. The Supreme Personality of Godhead was pleased by the behavior of Bali Mahārāja. Thus the Lord placed him on the planet Sutala, and there, after bestowing benedictions upon him, the Lord agreed to become his doorman.

Bali Mahārāja was extremely truthful. Being unable to keep his promise, he was very much afraid, for he knew that one who has deviated from truthfulness is insignificant in the eyes of society. An exalted person can suffer the consequences of hellish life, but he is very much afraid of being defamed for deviation from the truth. Bali Mahārāja agreed with great pleasure to accept the punishment awarded him by the Supreme Personality of Godhead. In Bali Mahārāja's dynasty there were many *asuras* who because of their enmity toward Viṣṇu had achieved a destination more exalted than that of many mystic *yogīs*. Bali Mahārāja specifically remembered the determination of Prahlāda Mahārāja in devotional service. Considering all these points, he decided to give his head in charity as the place for Viṣṇu's third step. Bali Mahārāja also considered how great personalities give up their family relationships and material possessions to satisfy the Supreme Personality of Godhead. Indeed, they sometimes even sacrifice their lives for the satisfaction of the Lord, just to become His personal servants. Accordingly, by following in the footsteps of previous *ācāryas* and devotees, Bali Mahārāja perceived himself successful.

While Bali Mahārāja, having been arrested by the ropes of Varuṇa, was offering prayers to the Lord, his grandfather Prahlāda Mahārāja appeared there and described how the Supreme Personality of Godhead had delivered Bali Mahārāja by taking his possessions in a tricky way. While Prahlāda Mahārāja was present, Lord Brahmā and Bali's wife, Vindhyāvali, described the supremacy of the Supreme Lord. Since Bali Mahārāja had given everything to the Lord, they prayed for his release. The Lord then described how a nondevotee's possession of wealth is a danger whereas a devotee's opulence is a benediction from the Lord. Then, being pleased with Bali Mahārāja, the Supreme Lord offered His disc to protect Bali Mahārāja and promised to remain with him.

1Śukadeva Gosvāmī said: O King, although the Supreme Personality of Godhead was

superficially seen to have acted mischievously toward Bali Mahārāja, Bali Mahārāja was fixed in his determination. Considering himself not to have fulfilled his promise, he spoke as follows.

2Bali Mahārāja said: O best Personality of Godhead, most worshipable for all the demigods, if You think that my promise has become false, I shall certainly rectify matters to make it truthful. I cannot allow my promise to be false. Please, therefore, place Your third lotus footstep on my head.

3I do not fear being deprived of all my possessions, living in hellish life, being arrested for poverty by the ropes of Varuṇa or being punished by You as much as I fear defamation.

4Although a father, mother, brother or friend may sometimes punish one as a well-wisher, they never punish their subordinate like this. But because You are the most worshipable Lord, I regard the punishment You have given me as most exalted.

5Since Your Lordship is indirectly the greatest well-wisher of us demons, You act for our best welfare by posing as if our enemy. Because demons like us always aspire for a position of false prestige, by chastising us You give us the eyes by which to see the right path.

6-7Many demons who were continuously inimical toward You finally achieved the perfection of great mystic yogīs. Your Lordship can perform one work to serve many purposes, and consequently, although You have punished me in many ways, I do not feel ashamed of having been arrested by the ropes of Varuṇa, nor do I feel aggrieved.

8My grandfather Prahlāda Mahārāja is famous, being recognized by all Your devotees. Although harassed in many ways by his father, Hiraṇyakaśipu, he still remained faithful, taking shelter at Your lotus feet.

9What is the use of the material body, which automatically leaves its owner at the end of life? And what is the use of all one's family members, who are actually plunderers taking away money that is useful for the service of the Lord in spiritual opulence? What is the use of a wife? She is only the source of increasing material conditions. And what is the use of family, home, country and community? Attachment for them merely wastes the valuable energy of one's lifetime.

10My grandfather, the best of all men, who achieved unlimited knowledge and was worshipable for everyone, was afraid of the common men in this world. Being fully convinced of the substantiality afforded by shelter at Your lotus feet, He took shelter of Your lotus feet, against the will of his father and demoniac friends, who were killed by Your own self.

11Only by providence have I been forcibly brought under Your lotus feet and deprived of all my opulence. Because of the illusion created by temporary opulence, people in general, who live under material conditions, facing accidental death at every moment, do not understand that this life is temporary. Only by providence have I been saved from that condition.

12Śukadeva Gosvāmī said: O best of the Kurus, while Bali Mahārāja was describing his fortunate position in this way, the most dear devotee of the Lord, Prahlāda Mahārāja, appeared there, like the moon rising in the nighttime.

13Then Bali Mahārāja saw his grandfather Prahlāda Mahārāja, the most fortunate personality, whose dark body resembled black ointment for the eyes. His tall, elegant figure was dressed in yellow garments, he had long arms, and his beautiful eyes were like the petals of a lotus. He was very dear and pleasing to everyone.

14Being bound by the ropes of Varuṇa, Bali Mahārāja could not offer befitting respect to Prahlāda Mahārāja as he had before. Rather, he simply offered respectful obeisances with his head, his eyes being inundated with tears and his face lowered in shame.

15When the great personality Prahlāda Mahārāja saw that the Supreme Lord was sitting there, surrounded and worshiped by His intimate associates like Sunanda, he was overwhelmed with tears of jubilation. Approaching the Lord and falling to the ground, he offered obeisances to the Lord with his head.

16Prahlāda Mahārāja said: My Lord, it is Your Lordship who gave this Bali the very great opulence of the post of heavenly king, and now, today, it is You who have taken it all away. I think You have acted with equal beauty in both ways. Because his exalted position as King of heaven was putting him in the darkness of ignorance, You have done him a very merciful favor by taking away all his opulence.

17Material opulence is so bewildering that it makes even a learned, self-controlled man forget to search for the goal of self-realization. But the Supreme Personality of Godhead, Nārāyaṇa, the Lord of the universe, can see everything by His will. Therefore I offer my respectful obeisances unto Him.

18Śukadeva Gosvāmī continued: O King Parīkṣit, Lord Brahmā then began to speak to the Supreme Personality of Godhead, within the hearing of Prahlāda Mahārāja, who stood nearby with folded hands.

19But Bali Mahārāja's chaste wife, afraid and aggrieved at seeing her husband arrested, immediately offered obeisances to Lord Vāmanadeva [Upendra]. She folded her hands and spoke as follows.

20Śrīmatī Vindhyāvali said: O my Lord, You have created the entire universe for the enjoyment of Your personal pastimes, but foolish, unintelligent men have claimed proprietorship for material enjoyment. Certainly they are shameless agnostics. Falsely claiming proprietorship, they think they can give charity and enjoy. In such a condition, what good can they do for You, who are the independent creator, maintainer and annihilator of this universe?

21Lord Brahmā said: O well-wisher and master of all living entities, O worshipable Deity of all the demigods, O all-pervading Personality of Godhead, now this man has been sufficiently punished, for You have taken everything. Now You can release him. He does not deserve to be punished more.

22Bali Mahārāja had already offered everything to Your Lordship. Without hesitation, he has offered his land, the planets and whatever else he earned by his pious activities, including even his own body.

23By offering even water, newly grown grass, or flower buds at Your lotus feet, those who maintain no mental duplicity can achieve the most exalted position within the spiritual world. This Bali Mahārāja, without duplicity, has now offered everything in the three worlds. How then can he deserve to suffer from arrest?

24The Supreme Personality of Godhead said: My dear Lord Brahmā, because of material opulence a foolish person becomes dull-witted and mad. Thus he has no respect for anyone within the three worlds and defies even My authority. To such a person I show special favor by first taking away all his possessions.

25While rotating in the cycle of birth and death again and again in different species because of

his own fruitive activities, the dependent living entity, by good fortune, may happen to become a human being. This human birth is very rarely obtained.

26If a human being is born in an aristocratic family or a higher status of life, if he performs wonderful activities, if he is youthful, if he has personal beauty, a good education and good wealth, and if he is nonetheless not proud of his opulences, it is to be understood that he is especially favored by the Supreme Personality of Godhead.

27Although aristocratic birth and other such opulences are impediments to advancement in devotional service because they are causes of false prestige and pride, these opulences never disturb a pure devotee of the Supreme Personality of Godhead.

28Bali Mahārāja has become the most famous among the demons and nonbelievers, for in spite of being bereft of all material opulences, he is fixed in his devotional service.

29-30Although bereft of his riches, fallen from his original position, defeated and arrested by his enemies, rebuked and deserted by his relatives and friends, although suffering the pain of being bound and although rebuked and cursed by his spiritual master, Bali Mahārāja, being fixed in his vow, did not give up his truthfulness. It was certainly with pretension that I spoke about religious principles, but he did not give up religious principles, for he is true to his word.

31The Lord continued: Because of his great tolerance, I have given him a place not obtainable even by the demigods. He will become King of the heavenly planets during the period of the Manu known as Sāvarṇi.

32Until Bali Mahārāja achieves the position of King of heaven, he shall live on the planet Sutala, which was made by Viśvakarmā according to My order. Because it is especially protected by Me, it is free from mental and bodily miseries, fatigue, dizziness, defeat and all other disturbances. Bali Mahārāja, you may now go live there peacefully.

33O Bali Mahārāja [Indrasena], now you may go to the planet Sutala, which is desired even by the demigods. Live there peacefully, surrounded by your friends and relatives. All good fortune unto you.

34On the planet Sutala, not even the predominating deities of other planets, what to speak of ordinary people, will be able to conquer you. As far as the demons are concerned, if they transgress your rule, My disc will kill them.

35O great hero, I shall always be with you and give you protection in all respects along with your associates and paraphernalia. Moreover, you will always be able to see Me there.

36Because there you will see My supreme prowess, your materialistic ideas and anxieties that have arisen from your association with the demons and Dānavas will immediately be vanquished.

### SB 8.23: The Demigods Regain the Heavenly Planets

This chapter describes how Bali Mahārāja, along with his grandfather Prahlāda Mahārāja, entered the planet Sutala and how the Supreme Personality of Godhead allowed Indra to reenter the heavenly planet.

The great soul Bali Mahārāja experienced that the highest gain in life is to attain devotional service under the shelter of the Lord's lotus feet in full surrender. Being fixed in this conclusion, his heart full of ecstatic devotion and his eyes full of tears, he offered obeisances to the Personality of Godhead and then, with his associates, entered the planet known as Sutala.

Thus the Supreme Personality of Godhead satisfied the desire of Aditi and reinstalled Lord Indra. Prahlāda Mahārāja, being aware of Bali's release from arrest, then described the transcendental pastimes of the Supreme Personality of Godhead in this material world. Prahlāda Mahārāja praised the Supreme Lord for creating the material world, for being equal to everyone and for being extremely liberal to the devotees, just like a desire tree. Indeed, Prahlāda Mahārāja said that the Lord is kind not only to His devotees but also to the demons. In this way he described the unlimited causeless mercy of the Supreme Personality of Godhead. Then, with folded hands, he offered his respectful obeisances unto the Lord, and after circumambulating the Lord he also entered the planet Sutala in accordance with the Lord's order. The Lord then ordered Śukrācārya to describe Bali Mahārāja's faults and discrepancies in executing the sacrificial ceremony. Śukrācārya became free from fruitive actions by chanting the holy name of the Lord, and he explained how chanting can diminish all the faults of the conditioned soul. He then completed Bali Mahārāja's sacrificial ceremony. All the great saintly persons accepted Lord Vāmanadeva as the benefactor of Lord Indra because He had returned Indra to his heavenly planet. They accepted the Supreme Personality of Godhead as the maintainer of all the affairs of the universe. Being very happy, Indra, along with his associates, placed Vāmanadeva before him and reentered the heavenly planet in their airplane. Having seen the wonderful activities of Lord Viṣṇu in the sacrificial arena of Bali Mahārāja, all the demigods, saintly persons, Pitās, Bhūtas and Siddhas glorified the Lord again and again. The chapter concludes by saying that the most auspicious function of the conditioned soul is to chant and hear about the glorious activities of Lord Viṣṇu.

1Śukadeva Gosvāmī said: When the supreme, ancient, eternal Personality of Godhead had thus spoken to Bali Mahārāja, who is universally accepted as a pure devotee of the Lord and therefore a great soul, Bali Mahārāja, his eyes filled with tears, his hands folded and his voice faltering in devotional ecstasy, responded as follows.

2Bali Mahārāja said: What a wonderful effect there is in even attempting to offer respectful obeisances to You! I merely endeavored to offer You obeisances, but nonetheless the attempt was as successful as those of pure devotees. The causeless mercy You have shown to me, a fallen demon, was never achieved even by the demigods or the leaders of the various planets.

3Śukadeva Gosvāmī continued: After speaking in this way, Bali Mahārāja offered his obeisances first to the Supreme Personality of Godhead, Hari, and then to Lord Brahmā and Lord Śiva. Thus he was released from the bondage of the nāga-pāśa [the ropes of Varuṇa], and in full satisfaction he entered the planet known as Sutala.

4Thus having delivered the proprietorship of the heavenly planets to Indra and having fulfilled the desire of Aditi, mother of the demigods, the Supreme Personality of Godhead ruled the affairs of the universe.

5When Prahlāda Mahārāja heard how Bali Mahārāja, his grandson and descendant, had been released from bondage and had achieved the benediction of the Lord, he spoke as follows in a tone of greatly ecstatic devotion.

6Prahlāda Mahārāja said: O Supreme Personality of Godhead, You are universally worshiped; even Lord Brahmā and Lord Śiva worship Your lotus feet. Yet although You are such a great personality, You have kindly promised to protect us, the demons. I think that such kindness has never been achieved even by Lord Brahmā, Lord Śiva or the goddess of fortune, Lakṣmī, what to speak of other demigods or common people.

7O supreme shelter of everyone, great personalities like Brahmā enjoy their perfection simply

by tasting the honey of rendering service at Your lotus feet. But as for us, who are all rogues and debauchees born of an envious family of demons, how have we received Your mercy? It has been possible only because Your mercy is causeless.

8O my Lord, Your pastimes are all wonderfully performed by Your inconceivable spiritual energy; and by her perverted reflection, the material energy, You have created all the universes. As the Supersoul of all living entities, You are aware of everything, and therefore You are certainly equal toward everyone. Nonetheless, You favor Your devotees. This is not partiality, however, for Your characteristic is just like that of a desire tree, which yields everything according to one's desire.

9The Supreme Personality of Godhead said: My dear son Prahlāda, all good fortune unto you. For the time being, please go to the place known as Sutala and there enjoy happiness with your grandson and your other relatives and friends.

10The Supreme Personality of Godhead assured Prahlāda Mahārāja: You shall be able to see Me there in My usual feature with conchshell, disc, club and lotus in My hand. Because of your transcendental bliss due to always personally seeing Me, you will have no further bondage to fruitive activities.

11-12Śrīla Śukadeva Gosvāmī said: Accompanied by Bali Mahārāja, my dear King Parīkṣit, Prahlāda Mahārāja, the master of all the chiefs of the demons, took the Supreme Lord's order on his head with folded hands. After saying yes to the Lord, circumambulating Him and offering Him respectful obeisances, he entered the lower planetary system known as Sutala.

13Hari, the Supreme Personality of Godhead, Nārāyaṇa, thereafter addressed Śukrācārya, who was sitting nearby in the midst of the assembly with the priests [brahma, hotā, udgātāand adhvaryu]. O Mahārāja Parīkṣit, these priests were all brahma-vādīs, followers of the Vedic principles for performing sacrifices.

14O best of the brāhmaṇas, Śukrācārya, please describe the fault or discrepancy in your disciple Bali Mahārāja, who engaged in performing sacrifices. This fault will be nullified when judged in the presence of qualified brāhmaṇas.

15Śukrācārya said: My Lord, You are the enjoyer and lawgiver in all performances of sacrifice, and You are the yajṣa-puruṣa, the person to whom all sacrifices are offered. If one has fully satisfied You, where is the chance of discrepancies or faults in his performances of sacrifice?

16There may be discrepancies in pronouncing the mantras and observing the regulative principles, and, moreover, there may be discrepancies in regard to time, place, person and paraphernalia. But when Your Lordship's holy name is chanted, everything becomes faultless.

17Lord Viṣṇu, I must nonetheless act in obedience to Your order because obeying Your order is most auspicious and is the first duty of everyone.

18Śukadeva Gosvāmī continued: In this way, the most powerful Śukrācārya accepted the order of the Supreme Personality of Godhead with full respect. Along with the best brāhmaṇas, he began to compensate for the discrepancies in the sacrifices performed by Bali Mahārāja.

19O King Parīkṣit, thus having taken all the land of Bali Mahārāja by begging, the Supreme Personality of Godhead, Lord Vāmanadeva, delivered to His brother Indra all the land taken away by Indra's enemy.

20-21Lord Brahmā [the master of King Dakṣa and all other Prajāpatis], accompanied by all the

demigods, the great saintly persons, the inhabitants of Pitṛloka, the Manus, the munis, and such leaders as Dakṣa, Bhṛgu and Aṅgirā, as well as Kārttikeya and Lord Śiva, accepted Lord Vāmanadeva as the protector of everyone. He did this for the pleasure of Kaśyapa Muni and his wife Aditi and for the welfare of all the inhabitants of the universe, including their various leaders.

22-23O King Parīkṣit, Indra was considered the King of all the universe, but the demigods, headed by Lord Brahmā, wanted Upendra, Lord Vāmanadeva, as the protector of the Vedas, the principles of religion, fame, opulence, auspiciousness, vows, elevation to the higher planetary system, and liberation. Thus they accepted Upendra, Lord Vāmanadeva, as the supreme master of everything. This decision made all living entities extremely happy.

24Thereafter, along with all the leaders of the heavenly planets, Indra, the King of heaven, placed Lord Vāmanadeva before him and, with the approval of Lord Brahmā, brought Him to the heavenly planet in a celestial airplane.

25Indra, King of heaven, being protected by the arms of Vāmanadeva, the Supreme Personality of Godhead, thus regained his rule of the three worlds and was reinstated in his own position, supremely opulent, fearless and fully satisfied.

26-27Lord Brahmā, Lord Śiva, Lord Kārttikeya, the great sage Bhṛgu, other saintly persons, the inhabitants of Pitṛloka and all other living entities present, including the inhabitants of Siddhaloka and living entities who travel in outer space by airplane, all glorified the uncommon activities of Lord Vāmanadeva. O King, while chanting about and glorifying the Lord, they returned to their respective heavenly planets. They also praised the position of Aditi.

28O Mahārāja Parīkṣit, pleasure of your dynasty, I have now described to you everything about the wonderful activities of the Supreme Personality of Godhead Vāmanadeva. Those who hear about this are certainly freed from all the results of sinful activities.

29One who is subject to death cannot measure the glories of the Supreme Personality of Godhead, Trivikrama, Lord Viṣṇu, any more than he can count the number of atoms on the entire planet earth. No one, whether born already or destined to take birth, is able to do this. This has been sung by the great sage Vasiṣṭha.

30If one hears about the uncommon activities of the Supreme Personality of Godhead in His various incarnations, he is certainly elevated to the higher planetary system or even brought back home, back to Godhead.

31Whenever the activities of Vāmanadeva are described in the course of a ritualistic ceremony, whether the ceremony be performed to please the demigods, to please one's forefathers in Pitṛloka, or to celebrate a social event like a marriage, that ceremony should be understood to be extremely auspicious.

## SB 8.24: Matsya, the Lord's Fish Incarnation

This chapter describes the Supreme Personality of Godhead's incarnation as a fish, and it also describes the saving of Mahārāja Satyavrata from an inundation.

The Supreme Personality of Godhead expands Himself by *svāṁśa* (His personal expansions) and *vibhinnāṁśa* (His expansions as the living entities). As stated in *Bhagavad-gītā* (4.8), *paritrāṇāya sādhūnāṁ vināśāya ca duṣkṛtām:* the Supreme Personality of Godhead appears on this planet for the protection of the *sādhus,* or devotees, and for the destruction of the miscreants, or nondevotees. He especially descends to give protection to the cows, the

*brāhmaṇas,* the demigods, the devotees and the Vedic system of religion. Thus He appears in various formssometimes as a fish, sometimes a boar, sometimes Nṛsiṁhadeva, sometimes Vāmanadeva and so onbut in any form or incarnation, although He comes within the atmosphere of the material modes of nature, He is unaffected. This is a sign of His supreme controlling power. Although He comes within the material atmosphere, *māyā* cannot touch Him. Therefore, no material qualities can be attributed to Him in any degree.

Once, at the end of the previous *kalpa,* a demon named Hayagrīva wanted to take the Vedic knowledge away from Lord Brahmā at the time of annihilation. Therefore the Supreme Personality of Godhead took the incarnation of a fish at the beginning of the period of Svāyambhuva Manu and saved the *Vedas.* During the reign of Cākṣuṣa Manu there was a king named Satyavrata, who was a great pious ruler. To save him, the Lord appeared as the fish incarnation for a second time. King Satyavrata later became the son of the sun-god and was known as Śrāddhadeva. He was established as Manu by the Supreme Personality of Godhead.

To receive the favor of the Supreme Personality of Godhead, King Satyavrata engaged in the austerity of subsisting only by drinking water. Once, while performing this austerity on the bank of the Kṛtamālā River and offering oblations of water with the palm of his hand, he found a small fish. The fish appealed to the King for protection, asking the King to keep Him in a safe place. Although the King did not know that the small fish was the Supreme Personality of Godhead Himself, as a king he gave shelter to the fish and kept Him in a water jug. The fish, being the Supreme Personality of Godhead, wanted to show His potency to King Satyavrata, and thus He immediately expanded His body in such a way that He could no longer be kept in the jug of water. The King then put the fish in a big well, but the well was also too small. Then the King put the fish in a lake, but the lake was also unsuitable. Finally the King put the fish in the sea, but even the sea could not accommodate Him. Thus the King understood that the fish was no one else but the Supreme Personality of Godhead, and he requested the Lord to describe His incarnation as a fish. The Personality of Godhead, being pleased with the King, informed him that within a week there would be an inundation throughout the universe and that the fish incarnation would protect the King, along with the *ṛṣis,* herbs, seeds and other living entities, in a boat, which would be attached to the fish's horn. After saying this, the Lord disappeared. King Satyavrata offered respectful obeisances to the Supreme Lord and continued to meditate upon Him. In due course of time, annihilation took place, and the King saw a boat coming near. After getting aboard with learned *brāhmaṇas* and saintly persons, he offered prayers to worship the Supreme Personality of Godhead. The Supreme Lord is situated in everyone's heart, and thus he taught Mahārāja Satyavrata and the saintly persons about Vedic knowledge from the core of the heart. King Satyavrata took his next birth as Vaivasvata Manu, who is mentioned in *Bhagavad-gītā.Vivasvān manave prāha:* the sun-god spoke the science of *Bhagavad-gītā* to his son Manu. Because of being the son of Vivasvān, this Manu is known as Vaivasvata Manu.

1Mahārāja Parīkṣit said: The Supreme Personality of Godhead, Hari, is eternally situated in His transcendental position, yet He descends to this material world and manifests Himself in various incarnations. His first incarnation was that of a great fish. O most powerful Śukadeva Gosvāmī, I wish to hear from you the pastimes of that fish incarnation.

2-3What was the purpose for which the Supreme Personality of Godhead accepted the abominable form of a fish, exactly as an ordinary living being accepts different forms under the laws of karma? The form of a fish is certainly condemned and full of terrible pain. O my lord, what was the purpose of this incarnation? Kindly explain this to us, for hearing about the pastimes of the Lord is auspicious for everyone.

4Sūta Gosvāmī said: When Parīkṣit Mahārāja thus inquired from Śukadeva Gosvāmī, that most powerful saintly person began describing the pastimes of the Lord's incarnation as a fish.

5ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: O King, for the sake of protecting the cows, brāhmaṇas, demigods, devotees, the Vedic literature, religious principles, and principles to fulfill the purpose of life, the Supreme Personality of Godhead accepts the forms of incarnations.

6Like the air passing through different types of atmosphere, the Supreme Personality of Godhead, although appearing sometimes as a human being and sometimes as a lower animal, is always transcendental. Because He is above the material modes of nature, He is unaffected by higher and lower forms.

7O King Parīkṣit, at the end of the past millennium, at the end of Brahmā's day, because Lord Brahmā sleeps during the night, annihilation took place, and the three worlds were covered by the water of the ocean.

8At the end of Brahmā's day, when Brahmā felt sleepy and desired to lie down, the Vedas were emanating from his mouth, and the great demon named Hayagrīva stole the Vedic knowledge.

9Understanding the acts of the great demon Hayagrīva, the Supreme Personality of Godhead, Hari, who is full of all opulences, assumed the form of a fish and saved the Vedas by killing the demon.

10During the Cākṣuṣa-manvantara there was a great king named Satyavrata who was a great devotee of the Supreme Personality of Godhead. Satyavrata performed austerities by subsisting only on water.

11In this [the present] millennium King Satyavrata later became the son of Vivasvān, the king of the sun planet, and was known as Śrāddhadeva. By the mercy of the Supreme Personality of Godhead, he was given the post of Manu.

12One day while King Satyavrata was performing austerities by offering water on the bank of the river Kṛtamālā, a small fish appeared in the water in his palms.

13Satyavrata, the King of Draviḍadeśa, threw the fish into the water of the river along with the water in his palm, O King Parīkṣit, descendant of Bharata.

14With an appealing voice, the poor small fish said to King Satyavrata, who was very merciful: My dear King, protector of the poor, why are you throwing Me in the water of the river, where there are other aquatics who can kill Me? I am very much afraid of them.

15To please himself, King Satyavrata, not knowing that the fish was the Supreme Personality of Godhead, decided with great pleasure to give the fish protection.

16The merciful King, being moved by the pitiable words of the fish, placed the fish in a water jug and brought Him to his own residence.

17But in one night that fish grew so much that He could not move His body comfortably in the water of the pot. He then spoke to the King as follows.

18O My dear King, I do not like living in this waterpot with such great difficulty. Therefore, please find some better reservoir of water where I can live comfortably.

19Then, taking the fish out of the waterpot, the King threw Him in a large well. But within a moment the fish developed to the length of three cubits.

20The fish then said: My dear King, this reservoir of water is not fit for My happy residence. Please give Me a more extensive pool of water, for I have taken shelter of you.

21O Mahārāja Parīkṣit, the King took the fish from the well and threw Him in a lake, but the fish then assumed a gigantic form exceeding the extent of the water.

22The fish then said: O King, I am a large aquatic, and this water is not at all suitable for Me. Now kindly find some way to save Me. It would be better to put Me in the water of a lake that will never reduce.

23When thus requested, King Satyavrata took the fish to the largest reservoir of water. But when that also proved insufficient, the King at last threw the gigantic fish into the ocean.

24While being thrown in the ocean, the fish said to King Satyavrata: O hero, in this water there are very powerful and dangerous sharks that will eat Me. Therefore you should not throw Me in this place.

25After hearing these sweet words from the Supreme Personality of Godhead in the form of a fish, the King, being bewildered, asked Him: Who are You, sir? You simply bewilder us.

26My Lord, in one day You have expanded Yourself for hundreds of miles, covering the water of the river and the ocean. Before this I had never seen or heard of such an aquatic animal.

27My Lord, You are certainly the inexhaustible Supreme Personality of Godhead, Nārāyaṇa, Śrī Hari. It is to show Your mercy to the living entities that You have now assumed the form of an aquatic.

28O my Lord, master of creation, maintenance and annihilation, O best of enjoyers, Lord Viṣṇu, You are the leader and destination of surrendered devotees like us. Therefore let me offer my respectful obeisances unto You.

29All Your pastimes and incarnations certainly appear for the welfare of all living entities. Therefore, my Lord, I wish to know the purpose for which You have assumed this form of a fish.

30O my Lord, possessing eyes like the petals of a lotus, the worship of the demigods, who are in the bodily concept of life, is fruitless in all respects. But because You are the supreme friend and dearmost Supersoul of everyone, worship of Your lotus feet is never useless. You have therefore manifested Your form as a fish.

31Śukadeva Gosvāmī said: When King Satyavrata spoke in this way, the Supreme Personality of Godhead, who at the end of the yuga had assumed the form of a fish to benefit His devotee and enjoy His pastimes in the water of inundation, responded as follows.

32The Supreme Personality of Godhead said: O King, who can subdue your enemies, on the seventh day from today the three worldsBhūḥ, Bhuvaḥ and Svaḥwill all merge into the water of inundation.

33When all the three worlds merge into the water, a large boat sent by Me will appear before you.

34-35Thereafter, O King, you shall collect all types of herbs and seeds and load them on that great boat. Then, accompanied by the seven ṛṣis and surrounded by all kinds of living entities, you shall get aboard that boat, and without moroseness you shall easily travel with your companions on the ocean of inundation, the only illumination being the effulgence of the great

ṛṣis.

36Then, as the boat is tossed about by the powerful winds, attach the vessel to My horn by means of the great serpent Vāsuki, for I shall be present by your side.

37Pulling the boat, with you and all the ṛṣis in it, O King, I shall travel in the water of devastation until the night of Lord Brahmā's slumber is over.

38You will be thoroughly advised and favored by Me, and because of your inquiries, everything about My glories, which are known as paraṁ brahma, will be manifest within your heart. Thus you will know everything about Me.

39After thus instructing the King, the Supreme Personality of Godhead immediately disappeared. Then King Satyavrata began to wait for that time of which the Lord had instructed.

40After spreading kuśa with its tips pointing east, the saintly King, himself facing the northeast, sat down on the grass and began to meditate upon the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, who had assumed the form of a fish.

41Thereafter, gigantic clouds pouring incessant water swelled the ocean more and more. Thus the ocean began to overflow onto the land and inundate the entire world.

42As Satyavrata remembered the order of the Supreme Personality of Godhead, he saw a boat coming near him. Thus he collected herbs and creepers, and, accompanied by saintly brāhmaṇas, he got aboard the boat.

43The saintly brāhmaṇas, being pleased with the King, said to him: O King, please meditate upon the Supreme Personality of Godhead, Keśava. He will save us from this impending danger and arrange for our well-being.

44Then, while the King constantly meditated upon the Supreme Personality of Godhead, a large golden fish appeared in the ocean of inundation. The fish had one horn and was eight million miles long.

45Following the instructions formerly given by the Supreme Personality of Godhead, the King anchored the boat to the fish's horn, using the serpent Vāsuki as a rope. Thus being satisfied, he began offering prayers to the Lord.

46The King said: By the grace of the Lord, those who have lost their self-knowledge since time immemorial, and who because of this ignorance are involved in a material, conditional life full of miseries, obtain the chance to meet the Lord's devotee. I accept that Supreme Personality of Godhead as the supreme spiritual master.

47In hopes of becoming happy in this material world, the foolish conditioned soul performs fruitive activities that result only in suffering. But by rendering service to the Supreme Personality of Godhead, one becomes free from such false desires for happiness. May my supreme spiritual master cut the knot of false desires from the core of my heart.

48One who wants to be free of material entanglement should take to the service of the Supreme Personality of Godhead and give up the contamination of ignorance, involving pious and impious activities. Thus one regains his original identity, just as a block of gold or silver sheds all dirt and becomes purified when treated with fire. May that inexhaustible Supreme Personality of Godhead become our spiritual master, for He is the original spiritual master of all other spiritual masters.

49Neither all the demigods, nor the so-called gurus nor all other people, either independently or together, can offer mercy that equals even one ten-thousandth of Yours. Therefore I wish to take shelter of Your lotus feet.

50As a blind man, being unable to see, accepts another blind man as his leader, people who do not know the goal of life accept someone as a guru who is a rascal and a fool. But we are interested in self-realization. Therefore we accept You, the Supreme Personality of Godhead, as our spiritual master, for You are able to see in all directions and are omniscient like the sun.

51A materialistic so-called guru instructs his materialistic disciples about economic development and sense gratification, and because of such instructions the foolish disciples continue in the materialistic existence of ignorance. But Your Lordship gives knowledge that is eternal, and the intelligent person receiving such knowledge is quickly situated in his original constitutional position.

52My Lord, You are the supreme well-wishing friend of everyone, the dearmost friend, the controller, the Supersoul, the supreme instructor and the giver of supreme knowledge and the fulfillment of all desires. But although You are within the heart, the foolish, because of lusty desires in the heart, cannot understand You.

53O Supreme Lord, for self-realization I surrender unto You, who are worshiped by the demigods as the supreme controller of everything. By Your instructions, exposing life's purpose, kindly cut the knot from the core of my heart and let me know the destination of my life.

54Śukadeva Gosvāmī continued: When Satyavrata had thus prayed to the Supreme Personality of Godhead, who had assumed the form of a fish, the Lord, while moving in the water of inundation, explained to him the Absolute Truth.

55The Supreme Personality of Godhead thus explained to King Satyavrata the spiritual science known as sāṅkhya-yoga, the science by which one distinguishes between matter and spirit [in other words, bhakti-yoga], along with the instructions contained in the Purāṇas [the old histories] and the saṁhitās. The Lord explained Himself in all these literatures.

56While sitting in the boat, King Satyavrata, accompanied by the great saintly persons, listened to the instructions of the Supreme Personality of Godhead in regard to self-realization. These instructions were all from the eternal Vedic literature [brahma]. Thus the King and sages had no doubt about the Absolute Truth.

57At the end of the last inundation [during the period of Svāyambhuva Manu] the Supreme Personality of Godhead killed the demon named Hayagrīva and delivered all the Vedic literatures to Lord Brahmā when Lord Brahmā awakened from sleeping.

58King Satyavrata was illuminated with all Vedic knowledge by the mercy of Lord Viṣṇu, and in this period he has now taken birth as Vaivasvata Manu, the son of the sun-god.

59This story concerning the great King Satyavrata and the fish incarnation of the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, is a great transcendental narration. Anyone who hears it is delivered from the reactions of sinful life.

60One who narrates this description of the Matsya incarnation and King Satyavrata will certainly have all his ambitions fulfilled, and he will undoubtedly return home, back to Godhead.

61I offer my respectful obeisances unto the Supreme Personality of Godhead, who pretended

to be a gigantic fish, who restored the Vedic literature to Lord Brahmā when Lord Brahmā awakened from sleep, and who explained the essence of Vedic literature to King Satyavrata and the great saintly persons.

## Canto 9: Liberation

### SB 9.1: King Sudyumna Becomes a Woman

This chapter describes how Sudyumna became a woman and how the dynasty of Vaivasvata Manu was amalgamated with the Soma-vaṁśa, the dynasty coming from the moon.

By the desire of Mahārāja Parīkṣit, Śukadeva Gosvāmī told about the dynasty of Vaivasvata Manu, who was formerly King Satyavrata, the ruler of Draviḍa. While describing this dynasty, he also described how the Supreme Personality of Godhead, while lying down in the waters of devastation, gave birth to Lord Brahmā from a lotus generated from His navel. From the mind of Lord Brahmā, Marīci was generated, and his son was Kaśyapa. From Kaśyapa, through Aditi, Vivasvān was generated, and from Vivasvān came Śrāddhadeva Manu, who was born from the womb of Saṁjṣā. Śrāddhadeva's wife, Śraddhā, gave birth to ten sons, such as Ikṣvāku and Nṛga.

Śrāddhadeva, or Vaivasvata Manu, the father of Mahārāja Ikṣvāku, was sonless before Ikṣvāku's birth, but by the grace of the great sage Vasiṣṭha he performed a *yajṣa* to satisfy Mitra and Varuṇa. Then, although Vaivasvata Manu wanted a son, by the desire of his wife he got a daughter named Ilā. Manu, however, was not satisfied with the daughter. Consequently, for Manu's satisfaction, the great sage Vasiṣṭha prayed for Ilā to be transformed into a boy, and his prayer was fulfilled by the Supreme Personality of Godhead. Thus Ilā became a beautiful young man named Sudyumna.

Once upon a time, Sudyumna went on tour with his ministers. At the foot of the mountain Sumeru there is a forest named Sukumāra, and as soon as they entered that forest, they were all transformed into women. When Mahārāja Parīkṣit inquired from Śukadeva Gosvāmī about the reason for this transformation, Śukadeva Gosvāmī described how Sudyumna, being transformed into a woman, accepted Budha, the son of the moon, as her husband and had a son named Purūravā. By the grace of Lord Śiva, Sudyumna received the benediction that he would live one month as a woman and one month as a man. Thus he regained his kingdom and had three sons, named Utkala, Gaya and Vimala, who were all very religious. Thereafter, he entrusted his kingdom to Purūravā and took the order of *vānaprastha* life.

1King Parīkṣit said: My lord, Śukadeva Gosvāmī, you have elaborately described all the periods of the various Manus and, within those periods, the wonderful activities of the Supreme Personality of Godhead, who has unlimited potency. I am fortunate to have heard all of this from you.

2-3Satyavrata, the saintly king of Draviḍadeśa who received spiritual knowledge at the end of the last millennium by the grace of the Supreme, later became Vaivasvata Manu, the son of Vivasvān, in the next manvantara [period of Manu]. I have received this knowledge from you. I also understand that such kings as Ikṣvāku were his sons, as you have already explained.

4O greatly fortunate Śukadeva Gosvāmī, O great brāhmaṇa, kindly describe to us separately the dynasties and characteristics of all those kings, for we are always eager to hear such topics from you.

5Kindly tell us about the abilities of all the celebrated kings born in the dynasty of Vaivasvata

Manu, including those who have already passed, those who may appear in the future, and those who exist at present.

6Sūta Gosvāmī said: When Śukadeva Gosvāmī, the greatest knower of religious principles, was thus requested by Mahārāja Parīkṣit in the assembly of all the scholars learned in Vedic knowledge, he then proceeded to speak.

7Śukadeva Gosvāmī continued: O King, subduer of your enemies, now hear from me in great detail about the dynasty of Manu. I shall explain as much as possible, although one could not say everything about it, even in hundreds of years.

8The transcendental Supreme Person, the Supersoul of all living entities, who are in different statuses of life, high and low, existed at the end of the millennium, when neither this manifested cosmos nor anything else but Him existed.

9O King Parīkṣit, from the navel of the Supreme Personality of Godhead was generated a golden lotus, on which the four-faced Lord Brahmā took his birth.

10From the mind of Lord Brahmā, Marīci took birth, from the semen of Marīci, Kaśyapa appeared, and from Kaśyapa, by the womb of Dakṣa's daughter Aditi, Vivasvān took birth.

11-12O King, best of the Bhārata dynasty, from Vivasvān, by the womb of Saṁjṣā, Śrāddhadeva Manu was born. Śrāddhadeva Manu, having conquered his senses, begot ten sons in the womb of his wife, Śraddhā. The names of these sons were Ikṣvāku, Nṛga, Śaryāti, Diṣṭa, Dhṛṣṭa, Karūṣaka, Nariṣyanta, Pṛṣadhra, Nabhaga and Kavi.

13Manu at first had no sons. Therefore, in order to get a son for him, the great saint Vasiṣṭha, who was very powerful in spiritual knowledge, performed a sacrifice to satisfy the demigods Mitra and Varuṇa.

14During that sacrifice, Śraddhā, Manu's wife, who was observing the vow of subsisting only by drinking milk, approached the priest offering the sacrifice, offered obeisances to him and begged for a daughter.

15Told by the chief priest "Now offer oblations," the person in charge of oblations took clarified butter to offer. He then remembered the request of Manu's wife and performed the sacrifice while chanting the word "vaṣaṭ."

16Manu had begun that sacrifice for the sake of getting a son, but because the priest was diverted by the request of Manu's wife, a daughter named Ilā was born. Upon seeing the daughter, Manu was not very satisfied. Thus he spoke to his guru, Vasiṣṭha, as follows.

17My lord, all of you are expert in chanting the Vedic mantras. How then has the result been opposite to the one desired? This is a matter for lamentation. There should not have been such a reversal of the results of the Vedic mantras.

18You are all self-controlled, well balanced in mind, and aware of the Absolute Truth. And because of austerities and penances you are completely cleansed of all material contamination. Your words, like those of the demigods, are never baffled. Then how is it possible that your determination has failed?

19The most powerful great-grandfather Vasiṣṭha, after hearing these words of Manu, understood the discrepancy on the part of the priest. Thus he spoke as follows to the son of the sun-god.

20This discrepancy in the objective is due to your priest's deviation from the original purpose. However, by my own prowess I shall give you a good son.

21Śukadeva Gosvāmī said: O King Parīkṣit, after the most famous and powerful Vasiṣṭha made this decision, he offered prayers to the Supreme Person, Viṣṇu, to transform Ilā into a male.

22The Supreme Personality of Godhead, the supreme controller, being pleased with Vasiṣṭha, gave him the benediction he desired. Thus Ilā was transformed into a very fine male named Sudyumna.

23-24O King Parīkṣit, that hero Sudyumna, accompanied by a few ministers and associates and riding on a horse brought from Sindhupradeśa, once went into the forest to hunt. He wore armor and was decorated with bows and arrows, and he was very beautiful. While following the animals and killing them, he reached the northern part of the forest.

25There in the north, at the bottom of Mount Meru, is a forest known as Sukumāra where Lord Śiva always enjoys with Umā. Sudyumna entered that forest.

26O King Parīkṣit, as soon as Sudyumna, who was expert in subduing enemies, entered the forest, he saw himself transformed into a female and his horse transformed into a mare.

27When his followers also saw their identities transformed and their sex reversed, they were all very morose and just looked at one another.

28Mahārāja Parīkṣit said: O most powerful brāhmaṇa, why was this place so empowered, and who made it so powerful? Kindly answer this question, for I am very eager to hear about this.

29Śukadeva Gosvāmī answered: Great saintly persons who strictly observed the spiritual rules and regulations and whose own effulgence dissipated all the darkness of all directions once came to see Lord Śiva in that forest.

30When the goddess Ambikā saw the great saintly persons, she was very much ashamed because at that time she was naked. She immediately got up from the lap of her husband and tried to cover her breast.

31Seeing Lord Śiva and Pārvatī engaged in sexual affairs, all the great saintly persons immediately desisted from going further and departed for the āśrama of Nara-Nārāyaṇa.

32Thereupon, just to please his wife, Lord Śiva said, "Any male entering this place shall immediately become a female!"

33Since that time, no male had entered that forest. But now King Sudyumna, having been transformed into a female, began to walk with his associates from one forest to another.

34Sudyumna had been transformed into the best of beautiful women who excite sexual desire and was surrounded by other women. Upon seeing this beautiful woman loitering near his āśrama, Budha, the son of the moon, immediately desired to enjoy her.

35The beautiful woman also desired to accept Budha, the son of the king of the moon, as her husband. Thus Budha begot in her womb a son named Purūravā.

36I heard from reliable sources that King Sudyumna, the son of Manu, having thus achieved femininity, remembered his familial spiritual master, Vasiṣṭha.

37Upon seeing Sudyumna's deplorable condition, Vasiṣṭha was very much aggrieved. Desiring

for Sudyumna to regain his maleness, Vasiṣṭha again began to worship Lord Śaṅkara [Śiva].

38-39O King Parīkṣit, Lord Śiva was pleased with Vasiṣṭha. Therefore, to satisfy him and to keep his own word to Pārvatī, Lord Śiva said to that saintly person, "Your disciple Sudyumna may remain a male for one month and a female for the next. In this way he may rule the world as he likes."

40Thus being favored by the spiritual master, according to the words of Lord Śiva, Sudyumna regained his desired maleness every alternate month and in this way ruled the kingdom, although the citizens were not satisfied with this.

41O King, Sudyumna had three very pious sons, named Utkala, Gaya and Vimala, who became the kings of the Dakṣiṇā-patha.

42Thereafter, when the time was ripe, when Sudyumna, the king of the world, was sufficiently old, he delivered the entire kingdom to his son Purūravā and entered the forest.

**SB 9.2: The Dynasties of the Sons of Manu**

This Second Chapter describes the dynasties of the sons of Manu, headed by Karūṣa.

After Sudyumna accepted the order of *vānaprastha* and departed for the forest, Vaivasvata Manu, being desirous of sons, worshiped the Supreme Personality of Godhead and consequently begot ten sons like Mahārāja Ikṣvāku, all of whom were like their father. One of these sons, Pṛṣadhra, was engaged in the duty of protecting cows at night with a sword in his hand. Following the order of his spiritual master, he would stand in this way for the entire night. Once, in the darkness of night, a tiger seized a cow from the cowshed, and when Pṛṣadhra came to know this, he took a sword in his hand and followed the tiger. Unfortunately, when he finally approached the tiger, he could not distinguish between the cow and the tiger in the dark, and thus he killed the cow. Because of this, his spiritual master cursed him to take birth in a *śūdra* family, but Pṛṣadhra practiced mystic *yoga,* and in *bhakti-yoga* he worshiped the Supreme Personality of Godhead. Then he voluntarily entered a blazing forest fire, thus relinquishing his material body and going back home, back to Godhead.

Kavi, the youngest son of Manu, was a great devotee of the Supreme Personality of Godhead from his very childhood. From Manu's son known as Karūṣa, a sect of *kṣatriyas* known as Kārūṣas was generated. Manu also had a son known as Dhṛṣṭa, from whom another sect of *kṣatriyas* was generated, but although they were born of one who had the qualities of a *kṣatriya,* they became *brāhmaṇas.* From Nṛga, another son of Manu, came the sons and grandsons known as Sumati, Bhūtajyoti and Vasu. From Vasu, in succession, came Pratīka, and from him came Oghavān. Descending in order from the seminal dynasty of Nariṣyanta, another son of Manu, were Citrasena, Ṛkṣa, Mīḍhvān, Pūrṇa, Indrasena, Vītihotra, Satyaśravā, Uruśravā, Devadatta and Agniveśya. From the *kṣatriya* known as Agniveśya came the celebrated *brāhmaṇa* dynasty known as Āgniveśyāyana. From the seminal dynasty of Diṣṭa, another son of Manu, came Nābhāga, and from him in succession came Bhalandana, Vatsaprīti, Prāṁśu, Pramati, Khanitra, Cākṣuṣa, Viviṁśati, Rambha, Khanīnetra, Karandhama, Avīkṣit, Marutta, Dama, Rājyavardhana, Sudhṛti, Nara, Kevala, Dhundhumān, Vegavān, Budha and Tṛṇabindu. In this way, many sons and grandsons were born in this dynasty. From Tṛṇabindu came a daughter named Ilavilā, from whom Kuvera took birth. Tṛṇabindu also had three sons, named Viśāla, Śūnyabandhu and Dhūmraketu. The son of Viśāla was Hemacandra, his son was Dhūmrākṣa, and his son was Saṁyama. The sons of Saṁyama were Devaja and Kṛśāśva. Kṛśāśva's son, Somadatta, performed an Aśvamedha sacrifice, and by worshiping the Supreme

Personality of Godhead, Viṣṇu, he achieved the supreme perfection of going back home, back to Godhead.

1Śukadeva Gosvāmī said: Thereafter, when his son Sudyumna had thus gone to the forest to accept the order of vānaprastha, Vaivasvata Manu [Śrāddhadeva], being desirous of getting more sons, performed severe austerities on the bank of the Yamunā for one hundred years.

2Then, because of this desire for sons, the Manu known as Śrāddhadeva worshiped the Supreme Lord, the Personality of Godhead, the Lord of the demigods. Thus he got ten sons exactly like himself. Among them all, Ikṣvāku was the eldest.

3Among these sons, Pṛṣadhra, following the order of his spiritual master, was engaged as a protector of cows. He would stand all night with a sword to give the cows protection.

4Once at night, while it was raining, a tiger entered the land of the cowshed. Upon seeing the tiger, all the cows, who were lying down, got up in fear and scattered here and there on the land.

5-6When the very strong tiger seized the cow, the cow screamed in distress and fear, and Pṛṣadhra, hearing the screaming, immediately followed the sound. He took up his sword, but because the stars were covered by clouds, he mistook the cow for the tiger and mistakenly cut off the cows' head with great force.

7Because the tiger's ear had been cut by the edge of the sword, the tiger was very afraid, and it fled from that place, while bleeding on the street.

8In the morning, when Pṛṣadhra, who was quite able to subdue his enemy, saw that he had killed the cow although at night he thought he had killed the tiger, he was very unhappy.

9Although Pṛṣadhra had committed the sin unknowingly, his family priest, Vasiṣṭha, cursed him, saying, "In your next life you shall not be able to become a kṣatriya. Instead, you shall take birth as a śūdra because of killing the cow."

10When the hero Pṛṣadhra was thus cursed by his spiritual master, he accepted the curse with folded hands. Then, having controlled his senses, he took the vow of brahmacarya, which is approved by all great sages.

11-13Thereafter, Pṛṣadhra gained relief from all responsibilities, became peaceful in mind, and established control over all his senses. Being unaffected by material conditions, being pleased with whatever was available by the grace of the Lord to maintain body and soul together, and being equal toward everyone, he gave full attention to the Supreme Personality of Godhead, Vāsudeva, who is the transcendental Supersoul, free from material contamination. Thus Pṛṣadhra, fully satisfied in pure knowledge, always keeping his mind on the Supreme Personality of Godhead, achieved pure devotional service to the Lord and began traveling all over the world, without affection for material activities, as if he were deaf, dumb and blind.

14With this attitude, Pṛṣadhra became a great saint, and when he entered the forest and saw a blazing forest fire, he took this opportunity to burn his body in the fire. Thus he achieved the transcendental, spiritual world.

15Being reluctant to accept material enjoyment, Manu's youngest son, whose name was Kavi, gave up the kingdom before attaining full youth. Accompanied by his friends, he went to the forest, always thinking of the self-effulgent Supreme Personality of Godhead within the core of his heart. Thus he attained perfection.

16From Karūṣa, another son of Manu, came the Kārūṣa dynasty, a family of kṣatriyas. The Kārūṣa kṣatriyas were the kings of the northern direction. They were celebrated protectors of brahminical culture and were all firmly religious.

17From the son of Manu named Dhṛṣṭa came a kṣatriya caste called Dhārṣṭa, whose members achieved the position of brāhmaṇas in this world. Then, from the son of Manu named Nṛga came Sumati. From Sumati came Bhūtajyoti, and from Bhūtajyoti came Vasu.

18The son of Vasu was Pratīka, whose son was Oghavān. Oghavān's son was also known as Oghavān, and his daughter was Oghavatī. Sudarśana married that daughter.

19From Nariṣyanta came a son named Citrasena and from him a son named Ṛkṣa. From Ṛkṣa came Mīḍhvān, from Mīḍhvān came Pūrṇa, and from Pūrṇa came Indrasena.

20From Indrasena came Vītihotra, from Vītihotra came Satyaśravā, from Satyaśravā came the son named Uruśravā, and from Uruśravā came Devadatta.

21From Devadatta came a son known as Agniveśya, who was the fire-god Agni himself. This son, who was a celebrated saint, was well known as Kānīna and Jātūkarṇya.

22O King, from Agniveśya came a brahminical dynasty known as Āgniveśyāyana. Now that I have described the descendants of Nariṣyanta, let me describe the descendants of Diṣṭa. Please hear from me.

23-24Diṣṭa had a son by the name Nābhāga. This Nābhāga, who was different from the Nābhāga described later, became a vaiśya by occupational duty. The son of Nābhāga was known as Bhalandana, the son of Bhalandana was Vatsaprīti, and his son was Prāṁśu. Prāṁśu's son was Pramati, Pramati's son was Khanitra, Khanitra's son was Cākṣuṣa, and his son was Viviṁśati.

25The son of Viviṁśati was Rambha, whose son was the great and religious King Khanīnetra. O King, the son of Khanīnetra was King Karandhama.

26From Karandhama came a son named Avīkṣit, and from Avīkṣit a son named Marutta, who was the emperor. The great mystic Saṁvarta, the son of Aṅgirā, engaged Marutta in performing a sacrifice [yajṣa].

27The sacrificial paraphernalia of King Marutta was extremely beautiful, for everything was made of gold. Indeed, no other sacrifice could compare to his.

28In that sacrifice, King Indra became intoxicated by drinking a large quantity of soma-rasa. The brāhmaṇas received ample contributions, and therefore they were satisfied. For that sacrifice, the various demigods who control the winds offered foodstuffs, and the Viśvedevas were members of the assembly.

29Marutta's son was Dama, Dama's son was Rājyavardhana, Rājyavardhana's son was Sudhṛti, and his son was Nara.

30The son of Nara was Kevala, and his son was Dhundhumān, whose son was Vegavān. Vegavān's son was Budha, and Budha's son was Tṛṇabindu, who became the king of this earth.

31The best of the Apsarās, the highly qualified girl named Alambuṣā, accepted the similarly qualified Tṛṇabindu as her husband. She gave birth to a few sons and a daughter known as Ilavilā.

32After the great saint Viśravā, the master of mystic yoga, received absolute knowledge from his father, he begot in the womb of Ilavilā the greatly celebrated son known as Kuvera, the giver of money.

33Tṛṇabindu had three sons, named Viśāla, Śūnyabandhu and Dhūmraketu. Among these three, Viśāla created a dynasty and constructed a palace called Vaiśālī.

34The son of Viśāla was known as Hemacandra, his son was Dhūmrākṣa, and his son was Saṁyama, whose sons were Devaja and Kṛśāśva.

35-36The son of Kṛśāśva was Somadatta, who performed aśvamedha sacrifices and thus satisfied the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu. By worshiping the Supreme Lord, he achieved the most exalted post, a residence on the planet to which great mystic yogīs are elevated. The son of Somadatta was Sumati, whose son was Janamejaya. All these kings appearing in the dynasty of Viśāla properly maintained the celebrated position of King Tṛṇabindu.

**SB 9.3: The Marriage of Sukanyāand Cyavana Muni**

This chapter describes the dynasty of Śaryāti, another son of Manu, and also tells about Sukanyā and Revatī.

Devajṣa Śaryāti gave instructions about what to do in the ritualistic ceremony observed on the second day of the *yajṣa* of the Aṅgirasas. One day, Śaryāti, along with his daughter, known as Sukanyā, went to the *āśrama* of Cyavana Muni. There Sukanyā saw two glowing substances within a hole of earthworms, and by chance she pierced those two glowing substances. As soon as she did this, blood began to ooze from that hole. Consequently, King Śaryāti and his companions suffered from constipation and inability to pass urine. When the King asked why circumstances had suddenly changed, he found that Sukanyā was the cause of this misfortune. Then they all offered prayers to Cyavana Muni just to satisfy him according to his own desire, and Devajṣa Śaryāti offered his daughter to Cyavana Muni, who was a very old man.

When the heavenly physicians the Aśvinī-kumāra brothers once visited Cyavana Muni, the *muni* requested them to give him back his youth. These two physicians took Cyavana Muni to a particular lake, in which they bathed and regained full youth. After this, Sukanyā could not distinguish her husband. She then surrendered unto the Aśvinī-kumāras, who were very satisfied with her chastity and who therefore introduced her again to her husband. Cyavana Muni then engaged King Śaryāti in performing the *soma-yajṣa* and gave the Aśvinī-kumāras the privilege to drink *soma-rasa*. The King of heaven, Lord Indra, became very angry at this, but he could do no harm to Śaryāti. Henceforward, the Aśvinī-kumāra physicians were able to share in the *soma-rasa*.

Śaryāti later had three sons, named Uttānabarhi, Ānarta and Bhūriṣeṇa. Ānarta had one son, whose name was Revata. Revata had one hundred sons, of whom the eldest was Kakudmī. Kakudmī was advised by Lord Brahmā to offer his beautiful daughter, Revatī, to Baladeva, who belongs to the *viṣṇu-tattva* category. After doing this, Kakudmī retired from family life and entered the forest of Badarikāśrama to execute austerities and penances.

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: O King, Śaryāti, another son of Manu, was a ruler completely aware of Vedic knowledge. He gave instructions about the functions for the second day of the yajṣa to be performed by the descendants of Aṅgirā.

2Śaryāti had a beautiful lotus-eyed daughter named Sukanyā, with whom he went to the forest

to see the āśrama of Cyavana Muni.

3While that Sukanyā, surrounded by her friends, was collecting various types of fruits from the trees in the forest, she saw within the hole of an earthworm two things glowing like luminaries.

4As if induced by providence, the girl ignorantly pierced those two glowworms with a thorn, and when they were pierced, blood began to ooze out of them.

5Thereupon, all the soldiers of Śaryāti were immediately obstructed from passing urine and stool. Upon perceiving this, Śaryāti spoke to his associates in surprise.

6How strange it is that one of us has attempted to do something wrong to Cyavana Muni, the son of Bhṛgu. It certainly appears that someone among us has polluted this āśrama.

7Being very much afraid, the girl Sukanyā said to her father: I have done something wrong, for I have ignorantly pierced these two luminous substances with a thorn.

8After hearing this statement by his daughter, King Śaryāti was very much afraid. In various ways, he tried to appease Cyavana Muni, for it was he who sat within the hole of the earthworm.

9King Śaryāti, being very contemplative and thus understanding Cyavana Muni's purpose, gave his daughter in charity to the sage. Thus released from danger with great difficulty, he took permission from Cyavana Muni and returned home.

10Cyavana Muni was very irritable, but since Sukanyā had gotten him as her husband, she dealt with him carefully, according to his mood. Knowing his mind, she performed service to him without being bewildered.

11Thereafter, some time having passed, the Aśvinī-kumāra brothers, the heavenly physicians, happened to come to Cyavana Muni's āśrama. After offering them respectful obeisances, Cyavana Muni requested them to give him youthful life, for they were able to do so.

12Cyavana Muni said: Although you are ineligible to drink soma-rasa in sacrifices, I promise to give you a full pot of it. Kindly arrange beauty and youth for me, because they are attractive to young women.

13The great physicians, the Aśvinī-kumāras, very gladly accepted Cyavana Muni's proposal. Thus they told the brāhmaṇa, "Just dive into this lake of successful life." [One who bathes in this lake has his desires fulfilled.]

14After saying this, the Aśvinī-kumāras caught hold of Cyavana Muni, who was an old, diseased invalid with loose skin, white hair, and veins visible all over his body, and all three of them entered the lake.

15Thereafter, three men with very beautiful bodily features emerged from the lake. They were nicely dressed and decorated with earrings and garlands of lotuses. All of them were of the same standard of beauty.

16The chaste and very beautiful Sukanyā could not distinguish her husband from the two Aśvinī-kumāras, for they were equally beautiful. Not understanding who her real husband was, she took shelter of the Aśvinī-kumāras.

17The Aśvinī-kumāras were very pleased to see Sukanyā's chastity and faithfulness. Thus they showed her Cyavana Muni, her husband, and after taking permission from him, they returned

to the heavenly planets in their plane.

18Thereafter, King Śaryāti, desiring to perform a sacrifice, went to the residence of Cyavana Muni. There he saw by the side of his daughter a very beautiful young man, as bright as the sun.

19After receiving obeisances from his daughter, the King, instead of offering blessings to her, appeared very displeased and spoke as follows.

20O unchaste girl, what is this that you have desired to do? You have cheated the most respectable husband, who is honored by everyone, for I see that because he was old, diseased and therefore unattractive, you have left his company to accept as your husband this young man, who appears to be a beggar from the street.

21O my daughter, who were born in a respectable family, how have you degraded your consciousness in this way? How is it that you are shamelessly maintaining a paramour? You will thus degrade the dynasties of both your father and your husband to hellish life.

22Sukanyā, however, being very proud of her chastity, smiled upon hearing the rebukes of her father. She smilingly told him, "My dear father, this young man by my side is your actual son-in-law, the great sage Cyavana, who was born in the family of Bhṛgu."

23Thus Sukanyā explained how her husband had received the beautiful body of a young man. When the King heard this he was very surprised, and in great pleasure he embraced his beloved daughter.

24Cyavana Muni, by his own prowess, enabled King Śaryāti to perform the soma-yajṣa. The muni offered a full pot of soma-rasa to the Aśvinī-kumāras, although they were unfit to drink it.

25King Indra, being perturbed and angry, wanted to kill Cyavana Muni, and therefore he impetuously took up his thunderbolt. But Cyavana Muni, by his powers, paralyzed Indra's arm that held the thunderbolt.

26Although the Aśvinī-kumāras were only physicians and were therefore excluded from drinking soma-rasa in sacrifices, the demigods agreed to allow them henceforward to drink it.

27King Śaryāti begot three sons, named Uttānabarhi, Ānarta and Bhūriṣeṇa. From Ānarta came a son named Revata.

28O Mahārāja Parīkṣit, subduer of enemies, this Revata constructed a kingdom known as Kuśasthalī in the depths of the ocean. There he lived and ruled such tracts of land as Ānarta, etc. He had one hundred very nice sons, of whom the eldest was Kakudmī.

29Taking his own daughter, Revatī, Kakudmī went to Lord Brahmā in Brahmaloka, which is transcendental to the three modes of material nature, and inquired about a husband for her.

30When Kakudmī arrived there, Lord Brahmā was engaged in hearing musical performances by the Gandharvas and had not a moment to talk with him. Therefore Kakudmī waited, and at the end of the musical performances he offered his obeisances to Lord Brahmā and thus submitted his long-standing desire.

31After hearing his words, Lord Brahmā, who is most powerful, laughed loudly and said to Kakudmī: O King, all those whom you may have decided within the core of your heart to accept as your son-in-law have passed away in the course of time.

32Twenty-seven catur-yugas have already passed. Those upon whom you may have decided are now gone, and so are their sons, grandsons and other descendants. You cannot even hear about their names.

33O King, leave here and offer your daughter to Lord Baladeva, who is still present. He is most powerful. Indeed, He is the Supreme Personality of Godhead, whose plenary portion is Lord Viṣṇu. Your daughter is fit to be given to Him in charity.

34Lord Baladeva is the Supreme Personality of Godhead. One who hears and chants about Him is purified. Because He is always the well-wisher of all living entities, He has descended with all His paraphernalia to purify the entire world and lessen its burden.

35Having received this order from Lord Brahmā, Kakudmī offered obeisances unto him and returned to his own residence. He then saw that his residence was vacant, having been abandoned by his brothers and other relatives, who were living in all directions because of fear of such higher living beings as the Yakṣas.

36Thereafter, the King gave his most beautiful daughter in charity to the supremely powerful Baladeva and then retired from worldly life and went to Badarikāśrama to please Nara-Nārāyaṇa

**SB 9.4: Ambarīṣa Mahārāja Offended by Durvāsā Muni**

This chapter describes the history of Mahārāja Nabhaga, of his son Nābhāga, and of Mahārāja Ambarīṣa.

The son of Manu was Nabhaga, and his son Nābhāga lived for many years in the *gurukula*. In Nābhāga's absence, his brothers did not consider his share of the kingdom, but instead divided the property among themselves. When Nābhāga returned home, his brothers bestowed upon him their father as his share, but when Nābhāga went to his father and told him about the dealings of the brothers, his father informed him that this was cheating and advised him that for his livelihood he should go to the sacrificial arena and describe two *mantras* to be chanted there. Nābhāga executed the order of his father, and thus Aṅgirā and other great saintly persons gave him all the money collected in that sacrifice. To test Nābhāga, Lord Śiva challenged his claim to the wealth, but when Lord Śiva was satisfied by Nābhāga's behavior, Lord Śiva offered him all the riches.

From Nābhāga was born Ambarīṣa, the most powerful and celebrated devotee. Mahārāja Ambarīṣa was the emperor of the entire world, but he considered his opulence temporary. Indeed, knowing that such material opulence is the cause of downfall into conditional life, he was unattached to this opulence. He engaged his senses and mind in the service of the Lord. This process is called *yukta-vairāgya,* or feasible renunciation, which is quite suitable for worship of the Supreme Personality of Godhead. Because Mahārāja Ambarīṣa, as the emperor, was immensely opulent, he performed devotional service with great opulence, and therefore, despite his wealth, he had no attachment to his wife, children or kingdom. He constantly engaged his senses and mind in the service of the Lord. Therefore, to say nothing of enjoying material opulence, he never desired even liberation.

Once Mahārāja Ambarīṣa was worshiping the Supreme Personality of Godhead in Vṛndāvana, observing the vow of Dvādaśī. On Dvādaśī, the day after Ekādaśī, when he was about to break his Ekādaśī fast, the great mystic *yogī* Durvāsā appeared in his house and became his guest. King Ambarīṣa respectfully received Durvāsā Muni, and Durvāsā Muni, after accepting his invitation to eat there, went to bathe in the Yamunā River at noontime. Because he was

absorbed in *samādhi,* he did not come back very soon. Mahārāja Ambarīṣa, however, upon seeing that the time to break the fast was passing, drank a little water, in accordance with the advice of learned *brāhmaṇas,* just to observe the formality of breaking the fast. By mystic power, Durvāsā Muni could understand that this had happened, and he was very angry. When he returned he began to chastise Mahārāja Ambarīṣa, but he was not satisfied, and finally he created from his hair a demon appearing like the fire of death. The Supreme Personality of Godhead, however, is always the protector of His devotee, and to protect Mahārāja Ambarīṣa, He sent His disc, the Sudarśana *cakra,* which immediately vanquished the fiery demon and then pursued Durvāsā, who was so envious of Mahārāja Ambarīṣa. Durvāsā fled to Brahmaloka, Śivaloka and all the other higher planets, but he could not protect himself from the wrath of the Sudarśana *cakra.* Finally he went to the spiritual world and surrendered to Lord Nārāyaṇa, but Lord Nārāyaṇa could not excuse a person who had offended a Vaiṣṇava. To be excused from such an offense, one must submit to the Vaiṣṇava whom he has offended. There is no other way to be excused. Thus Lord Nārāyaṇa advised Durvāsā to return to Mahārāja Ambarīṣa and beg his pardon.

1Śukadeva Gosvāmī said: The son of Nabhaga named Nābhāga lived for a long time at the place of his spiritual master. Therefore, his brothers thought that he was not going to become a gṛhastha and would not return. Consequently, without providing a share for him, they divided the property of their father among themselves. When Nābhāga returned from the place of his spiritual master, they gave him their father as his share.

2Nābhāga inquired, "My dear brothers, what have you given to me as my share of our father's property?" His elder brothers answered, "We have kept our father as your share." But when Nābhāga went to his father and said, "My dear father, my elder brothers have given you as my share of property," the father replied, "My dear son, do not rely upon their cheating words. I am not your property."

3Nābhāga's father said: All the descendants of Aṅgirā are now going to perform a great sacrifice, but although they are very intelligent, on every sixth day they will be bewildered in performing sacrifice and will make mistakes in their daily duties.

4-5Nābhāga's father continued: "Go to those great souls and describe two Vedic hymns pertaining to Vaiśvadeva. When the great sages have completed the sacrifice and are going to the heavenly planets, they will give you the remnants of the money they have received from the sacrifice. Therefore, go there immediately." Thus Nābhāga acted exactly according to the advice of his father, and the great sages of the Aṅgirā dynasty gave him all their wealth and then went to the heavenly planets.

6Thereafter, while Nābhāga was accepting the riches, a black-looking person from the north came to him and said, "All the wealth from this sacrificial arena belongs to me."

7Nābhāga then said, "These riches belong to me. The great saintly persons have delivered them to me." When Nābhāga said this, the black-looking person replied, "Let us go to your father and ask him to settle our disagreement." In accordance with this, Nābhāga inquired from his father.

8The father of Nābhāga said: Whatever the great sages sacrificed in the arena of the Dakṣa-yajṣa, they offered to Lord Śiva as his share. Therefore, everything in the sacrificial arena certainly belongs to Lord Śiva.

9Thereupon, after offering obeisances to Lord Śiva, Nābhāga said: O worshipable lord,

everything in this arena of sacrifice is yours. This is the assertion of my father. Now, with great respect, I bow my head before you, begging your mercy.

10Lord Śiva said: Whatever your father has said is the truth, and you also are speaking the same truth. Therefore, I, who know the Vedic mantras, shall explain transcendental knowledge to you.

11Lord Śiva said, "Now you may take all the wealth remaining from the sacrifice, for I give it to you." After saying this, Lord Śiva, who is most adherent to the religious principles, disappeared from that place.

12If one hears and chants or remembers this narration in the morning and evening with great attention, he certainly becomes learned, experienced in understanding the Vedic hymns, and expert in self-realization.

13From Nābhāga, Mahārāja Ambarīṣa took birth. Mahārāja Ambarīṣa was an exalted devotee, celebrated for his great merits. Although he was cursed by an infallible brāhmaṇa, the curse could not touch him.

14King Parīkṣit inquired: O great personality, Mahārāja Ambarīṣa was certainly most exalted and meritorious in character. I wish to hear about him. How surprising it is that the curse of a brāhmaṇa, which is insurmountable, could not act upon him.

15-16Śukadeva Gosvāmī said: Mahārāja Ambarīṣa, the most fortunate personality, achieved the rule of the entire world, consisting of seven islands, and achieved inexhaustible, unlimited opulence and prosperity on earth. Although such a position is rarely obtained, Mahārāja Ambarīṣa did not care for it at all, for he knew very well that all such opulence is material. Like that which is imagined in a dream, such opulence will ultimately be destroyed. The King knew that any nondevotee who attains such opulence merges increasingly into material nature's mode of darkness.

17Mahārāja Ambarīṣa was a great devotee of the Supreme Personality of Godhead, Vāsudeva, and of the saintly persons who are the Lord's devotees. Because of this devotion, he thought of the entire universe as being as insignificant as a piece of stone.

18-20Mahārāja Ambarīṣa always engaged his mind in meditating upon the lotus feet of Kṛṣṇa, his words in describing the glories of the Lord, his hands in cleansing the Lord's temple, and his ears in hearing the words spoken by Kṛṣṇa or about Kṛṣṇa. He engaged his eyes in seeing the Deity of Kṛṣṇa, Kṛṣṇa's temples and Kṛṣṇa's places like Mathurā and Vṛndāvana, he engaged his sense of touch in touching the bodies of the Lord's devotees, he engaged his sense of smell in smelling the fragrance of tulasī offered to the Lord, and he engaged his tongue in tasting the Lord's prasāda. He engaged his legs in walking to the holy places and temples of the Lord, his head in bowing down before the Lord, and all his desires in serving the Lord, twenty-four hours a day. Indeed, Mahārāja Ambarīṣa never desired anything for his own sense gratification. He engaged all his senses in devotional service, in various engagements related to the Lord. This is the way to increase attachment for the Lord and be completely free from all material desires.

21In performing his prescribed duties as king, Mahārāja Ambarīṣa always offered the results of his royal activities to the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, who is the enjoyer of everything and is beyond the perception of material senses. He certainly took advice from brāhmaṇas who were faithful devotees of the Lord, and thus he ruled the planet earth without difficulty.

22In desert countries where there flowed the river Sarasvatī, Mahārāja Ambarīṣa performed great sacrifices like the aśvamedha-yajṣa and thus satisfied the master of all yajṣas, the Supreme Personality of Godhead. Such sacrifices were performed with great opulence and suitable paraphernalia and with contributions of dakṣiṇā to the brāhmaṇas, who were supervised by great personalities like Vasiṣṭha, Asita and Gautama, representing the king, the performer of the sacrifices.

23In the sacrifice arranged by Mahārāja Ambarīṣa, the members of the assembly and the priests [especially hotā, udgātā, brahmā and adhvaryu] were gorgeously dressed, and they all looked exactly like demigods. They eagerly saw to the proper performance of the yajṣa.

24The citizens of the state of Mahārāja Ambarīṣa were accustomed to chanting and hearing about the glorious activities of the Personality of Godhead. Thus they never aspired to be elevated to the heavenly planets, which are extremely dear even to the demigods.

25Those who are saturated with the transcendental happiness of rendering service to the Supreme Personality of Godhead are uninterested even in the achievements of great mystics, for such achievements do not enhance the transcendental bliss felt by a devotee who always thinks of Kṛṣṇa within the core of his heart.

26The king of this planet, Mahārāja Ambarīṣa, thus performed devotional service to the Lord and in this endeavor practiced severe austerity. Always satisfying the Supreme Personality of Godhead by his constitutional activities, he gradually gave up all material desires.

27Mahārāja Ambarīṣa gave up all attachment to household affairs, wives, children, friends and relatives, to the best of powerful elephants, to beautiful chariots, carts, horses and inexhaustible jewels, and to ornaments, garments and an inexhaustible treasury. He gave up attachment to all of them, regarding them as temporary and material.

28Being very pleased by the unalloyed devotion of Mahārāja Ambarīṣa, the Supreme Personality of Godhead gave the King His disc, which is fearful to enemies and which always protects the devotee from enemies and adversities.

29To worship Lord Kṛṣṇa, Mahārāja Ambarīṣa, along with his queen, who was equally qualified, observed the vow of Ekādaśī and Dvādaśī for one year.

30In the month of Kārtika, after observing that vow for one year, after observing a fast for three nights and after bathing in the Yamunā, Mahārāja Ambarīṣa worshiped the Supreme Personality of Godhead, Hari, in Madhuvana.

31-32Following the regulative principles of mahābhiṣeka, Mahārāja Ambarīṣa performed the bathing ceremony for the Deity of Lord Kṛṣṇa with all paraphernalia, and then he dressed the Deity with fine clothing, ornaments, fragrant flower garlands and other paraphernalia for worship of the Lord. With attention and devotion, he worshiped Kṛṣṇa and all the greatly fortunate brāhmaṇas who were free from material desires.

33-35Thereafter, Mahārāja Ambarīṣa satisfied all the guests who arrived at his house, especially the brāhmaṇas. He gave in charity sixty crores of cows whose horns were covered with gold plate and whose hooves were covered with silver plate. All the cows were well decorated with garments and had full milk bags. They were mild-natured, young and beautiful and were accompanied by their calves. After giving these cows, the King first sumptuously fed all the brāhmaṇas, and when they were fully satisfied, he was about to observe the end of Ekādaśī, with their permission, by breaking the fast. Exactly at that time, however, Durvāsā Muni, the

great and powerful mystic, appeared on the scene as an uninvited guest.

36After standing up to receive Durvāsā Muni, King Ambarīṣa offered him a seat and paraphernalia of worship. Then, sitting at his feet, the King requested the great sage to eat.

37Durvāsā Muni gladly accepted the request of Mahārāja Ambarīṣa, but to perform the regulative ritualistic ceremonies he went to the river Yamunā. There he dipped into the water of the auspicious Yamunā and meditated upon the impersonal Brahman.

38In the meantime, only a muhūrta of the Dvādaśī day was left on which to break the fast. Consequently, it was imperative that the fast be broken immediately. In this dangerous situation, the King consulted learned brāhmaṇas.

39-40The King said: "To transgress the laws of respectful behavior toward the brāhmaṇas is certainly a great offense. On the other hand, if one does not observe the breaking of the fast within the time of Dvādaśī, there is a flaw in one's observance of the vow. Therefore, O brāhmaṇas, if you think that it will be auspicious and not irreligious, I shall break the fast by drinking water." In this way, after consulting with the brāhmaṇas, the King reached this decision, for according to brahminical opinion, drinking water may be accepted as eating and also as not eating.

41O best of the Kuru dynasty, after he drank some water, King Ambarīṣa, meditating upon the Supreme Personality of Godhead within his heart, waited for the return of the great mystic Durvāsā Muni.

42After executing the ritualistic ceremonies to be performed at noon, Durvāsā returned from the bank of the Yamunā. The King received him well, offering all respects, but Durvāsā Muni, by his mystic power, could understand that King Ambarīṣa had drunk water without his permission.

43Still hungry, Durvāsā Muni, his body trembling, his face curved and his eyebrows crooked in a frown, angrily spoke as follows to King Ambarīṣa, who stood before him with folded hands.

44Alas, just see the behavior of this cruel man! He is not a devotee of Lord Viṣṇu. Being proud of his material opulence and his position, he considers himself God. Just see how he has transgressed the laws of religion.

45Mahārāja Ambarīṣa, you have invited me to eat as a guest, but instead of feeding me, you yourself have eaten first. Because of your miSBehavior, I shall show you something to punish you.

46As Durvāsā Muni said this, his face became red with anger. Uprooting a bunch of hair from his head, he created a demon resembling the blazing fire of devastation to punish Mahārāja Ambarīṣa.

47Taking a trident in his hand and making the surface of the earth tremble with his footsteps, that blazing creature came before Mahārāja Ambarīṣa. But the King, upon seeing him, was not at all disturbed and did not move even slightly from his position.

48As fire in the forest immediately burns to ashes an angry snake, so, by the previous order of the Supreme Personality of Godhead, His disc, the Sudarśana cakra, immediately burnt to ashes the created demon to protect the Lord's devotee.

49Upon seeing that his own attempt had failed and that the Sudarśana cakra was moving

toward him, Durvāsā Muni became very frightened and began to run in all directions to save his life.

50As the blazing flames of a forest fire pursue a snake, the disc of the Supreme Personality of Godhead began following Durvāsā Muni. Durvāsā Muni saw that the disc was almost touching his back, and thus he ran very swiftly, desiring to enter a cave of Sumeru Mountain.

51Just to protect himself, Durvāsā Muni fled everywhere, in all directionsin the sky, on the surface of the earth, in caves, in the ocean, on different planets of the rulers of the three worlds, and even on the heavenly planetsbut wherever he went he immediately saw following him the unbearable fire of the Sudarśana cakra.

52With a fearful heart, Durvāsā Muni went here and there seeking shelter, but when he could find no shelter, he finally approached Lord Brahmā and said, "O my lord, O Lord Brahmā, kindly protect me from the blazing Sudarśana cakra sent by the Supreme Personality of Godhead."

53-54Lord Brahmā said: At the end of the dvi-parārdha, when the pastimes of the Lord come to an end, Lord Viṣṇu, by a flick of His eyebrows, vanquishes the entire universe, including our places of residence. Such personalities as me and Lord Śiva, as well as Dakṣa, Bhṛgu and similar great saints of which they are the head, and also the rulers of the living entities, the rulers of human society and the rulers of the demigodsall of us surrender to that Supreme Personality of Godhead, Lord Viṣṇu, bowing our heads, to carry out His orders for the benefit of all living entities.

55When Durvāsā, who was greatly afflicted by the blazing fire of the Sudarśana cakra, was thus refused by Lord Brahmā, he tried to take shelter of Lord Śiva, who always resides on his planet, known as Kailāsa.

56Lord Śiva said: My dear son, I, Lord Brahmā and the other demigods, who rotate within this universe under the misconception of our greatness, cannot exhibit any power to compete with the Supreme Personality of Godhead, for innumerable universes and their inhabitants come into existence and are annihilated by the simple direction of the Lord.

57-59Past, present and future are known to me [Lord Śiva], Sanat-kumāra, Nārada, the most revered Lord Brahmā, Kapila [the son of Devahūti], Apāntaratama [Lord Vyāsadeva], Devala, Yamarāja, Āsuri, Marīci and many saintly persons headed by him, as well as many others who have achieved perfection. Nonetheless, because we are covered by the illusory energy of the Lord, we cannot understand how expansive that illusory energy is. You should simply approach that Supreme Personality of Godhead to get relief, for this Sudarśana cakra is intolerable even to us. Go to Lord Viṣṇu. He will certainly be kind enough to bestow all good fortune upon you.

60Thereafter, being disappointed even in taking shelter of Lord Śiva, Durvāsā Muni went to Vaikuṇṭha-dhāma, where the Supreme Personality of Godhead, Nārāyaṇa, resides with His consort, the goddess of fortune.

61Durvāsā Muni, the great mystic, scorched by the heat of the Sudarśana cakra, fell at the lotus feet of Nārāyaṇa. His body trembling, he spoke as follows: O infallible, unlimited Lord, protector of the entire universe, You are the only desirable objective for all devotees. I am a great offender, my Lord. Please give me protection.

62O my Lord, O supreme controller, without knowledge of Your unlimited prowess I have

offended Your most dear devotee. Very kindly save me from the reaction of this offense. You can do everything, for even if a person is fit for going to hell, You can deliver him simply by awakening within his heart the holy name of Your Lordship.

63The Supreme Personality of Godhead said to the brāhmaṇa: I am completely under the control of My devotees. Indeed, I am not at all independent. Because My devotees are completely devoid of material desires, I sit only within the cores of their hearts. What to speak of My devotee, even those who are devotees of My devotee are very dear to Me.

64O best of the brāhmaṇas, without saintly persons for whom I am the only destination, I do not desire to enjoy My transcendental bliss and My supreme opulences.

65Since pure devotees give up their homes, wives, children, relatives, riches and even their lives simply to serve Me, without any desire for material improvement in this life or in the next, how can I give up such devotees at any time?

66As chaste women bring their gentle husbands under control by service, the pure devotees, who are equal to everyone and completely attached to Me in the core of the heart, bring Me under their full control.

67My devotees, who are always satisfied to be engaged in My loving service, are not interested even in the four principles of liberation [sālokya, sārūpya, sāmīpya and sārṣṭi], although these are automatically achieved by their service. What then is to be said of such perishable happiness as elevation to the higher planetary systems?

68The pure devotee is always within the core of My heart, and I am always in the heart of the pure devotee. My devotees do not know anything else but Me, and I do not know anyone else but them.

69O brāhmaṇa, let Me now advise you for your own protection. Please hear from Me. By offending Mahārāja Ambarīṣa, you have acted with self-envy. Therefore you should go to him immediately, without a moment's delay. One's so-called prowess, when employed against the devotee, certainly harms he who employs it. Thus it is the subject, not the object, who is harmed.

70For a brāhmaṇa, austerity and learning are certainly auspicious, but when acquired by a person who is not gentle, such austerity and learning are most dangerous.

71O best of the brāhmaṇas, you should therefore go immediately to King Ambarīṣa, the son of Mahārāja Nābhāga. I wish you all good fortune. If you can satisfy Mahārāja Ambarīṣa, then there will be peace for you.

## SB 9.5: Durvāsā Muni's Life Spared

In this chapter we find Mahārāja Ambarīṣa offering prayers to the Sudarśana *cakra* and we find how the Sudarśana *cakra* became merciful to Durvāsā Muni.

By the order of the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, Durvāsā Muni immediately went to Mahārāja Ambarīṣa and fell at his lotus feet. Mahārāja Ambarīṣa, being naturally very humble and meek, felt shy and ashamed because Durvāsā Muni had fallen at his feet, and thus he began to offer prayers to the Sudarśana *cakra* just to save Durvāsā. What is this Sudarśana *cakra*? The Sudarśana *cakra* is the glance of the Supreme Personality of Godhead by which He creates the entire material world. *Sa aikṣata, sa asṛjata*. This is the Vedic version. The Sudarśana *cakra,* which is the origin of creation and is most dear to the Lord, has thousands of

spokes. This Sudarśana *cakra* is the killer of the prowess of all other weapons, the killer of darkness, and the manifester of the prowess of devotional service; it is the means of establishing religious principles, and it is the killer of all irreligious activities. Without his mercy, the universe cannot be maintained, and therefore the Sudarśana *cakra* is employed by the Supreme Personality of Godhead. When Mahārāja Ambarīṣa thus prayed that the Sudarśana *cakra* be merciful, the Sudarśana *cakra,* being appeased, refrained from killing Durvāsā Muni, who thus achieved the Sudarśana *cakra's* mercy. Durvāsā Muni thus learned to give up the nasty idea of considering a Vaiṣṇava an ordinary person (*vaiṣṇave jāti-buddhi*). Mahārāja Ambarīṣa belonged to the *kṣatriya* group, and therefore Durvāsā Muni considered him lower than the *brāhmaṇas* and wanted to exercise brahminical power against him. By this incident, everyone should learn how to stop mischievous ideas of neglecting Vaiṣṇavas. After this incident, Mahārāja Ambarīṣa gave Durvāsā Muni sumptuous food to eat, and then the King, who had been standing in the same place for one year without eating anything, also took *prasāda*. Mahārāja Ambarīṣa later divided his property among his sons and went to the bank of the Mānasa-sarovara to execute devotional meditation.

1Śukadeva Gosvāmī said: When thus advised by Lord Viṣṇu, Durvāsā Muni, who was very much harassed by the Sudarśana cakra, immediately approached Mahārāja Ambarīṣa. Being very much aggrieved, the muni fell down and clasped the King's lotus feet.

2When Durvāsā touched his lotus feet, Mahārāja Ambarīṣa was very much ashamed, and when he saw Durvāsā attempting to offer prayers, because of mercy he was aggrieved even more. Thus he immediately began offering prayers to the great weapon of the Supreme Personality of Godhead.

3Mahārāja Ambarīṣa said: O Sudarśana cakra, you are fire, you are the most powerful sun, and you are the moon, the master of all luminaries. You are water, earth and sky, you are the air, you are the five sense objects [sound, touch, form, taste and smell], and you are the senses also.

4O most favorite of Acyuta, the Supreme Personality of Godhead, you have thousands of spokes. O master of the material world, destroyer of all weapons, original vision of the Personality of Godhead, I offer my respectful obeisances unto you. Kindly give shelter and be auspicious to this brāhmaṇa.

5O Sudarśana wheel, you are religion, you are truth, you are encouraging statements, you are sacrifice, and you are the enjoyer of the fruits of sacrifice. You are the maintainer of the entire universe, and you are the supreme transcendental prowess in the hands of the Supreme Personality of Godhead. You are the original vision of the Lord, and therefore you are known as Sudarśana. Everything has been created by your activities, and therefore you are all-pervading.

6O Sudarśana, you have a very auspicious hub, and therefore you are the upholder of all religion. You are just like an inauspicious comet for the irreligious demons. Indeed, you are the maintainer of the three worlds, you are full of transcendental effulgence, you are as quick as the mind, and you are able to work wonders. I can simply utter the word "namaḥ," offering all obeisances unto you.

7O master of speech, by your effulgence, full of religious principles, the darkness of the world is dissipated, and the knowledge of learned persons or great souls is manifested. Indeed, no one can surpass your effulgence, for all things, manifested and unmanifested, gross and subtle, superior and inferior, are but various forms of you that are manifested by your effulgence.

8O indefatigable one, when you are sent by the Supreme Personality of Godhead to enter

among the soldiers of the Daityas and the Dānavas, you stay on the battlefield and unendingly separate their arms, bellies, thighs, legs and heads.

9O protector of the universe, you are engaged by the Supreme Personality of Godhead as His all-powerful weapon in killing the envious enemies. For the benefit of our entire dynasty, kindly favor this poor brāhmaṇa. This will certainly be a favor for all of us.

10If our family has given charity to the proper persons, if we have performed ritualistic ceremonies and sacrifices, if we have properly carried out our occupational duties, and if we have been guided by learned brāhmaṇas, I wish, in exchange, that this brāhmaṇa be freed from the burning caused by the Sudarśana cakra.

11If the Supreme Personality of Godhead, who is one without a second, who is the reservoir of all transcendental qualities, and who is the life and soul of all living entities, is pleased with us, we wish that this brāhmaṇa, Durvāsā Muni, be freed from the pain of being burned.

12Śukadeva Gosvāmī continued: When the King offered prayers to the Sudarśana cakra and Lord Viṣṇu, because of his prayers the Sudarśana cakra became peaceful and stopped burning the brāhmaṇa known as Durvāsā Muni.

13Durvāsā Muni, the greatly powerful mystic, was indeed satisfied when freed from the fire of the Sudarśana cakra. Thus he praised the qualities of Mahārāja Ambarīṣa and offered him the highest benedictions.

14Durvāsā Muni said: My dear King, today I have experienced the greatness of devotees of the Supreme Personality of Godhead, for although I have committed an offense, you have prayed for my good fortune.

15For those who have achieved the Supreme Personality of Godhead, the master of the pure devotees, what is impossible to do, and what is impossible to give up?

16What is impossible for the servants of the Lord? By the very hearing of His holy name one is purified.

17O King, overlooking my offenses, you have saved my life. Thus I am very much obliged to you because you are so merciful.

18Expecting the return of Durvāsā Muni, the King had not taken his food. Therefore, when the sage returned, the King fell at his lotus feet, pleasing him in all respects, and fed him sumptuously.

19Thus the King respectfully received Durvāsā Muni, who after eating varieties of palatable food was so satisfied that with great affection he requested the King to eat also, saying, “Please take your meal.”

20Durvāsā Muni said: I am very pleased with you, my dear King. At first I thought of you as an ordinary human being and accepted your hospitality, but later I could understand, by my own intelligence, that you are the most exalted devotee of the Lord. Therefore, simply by seeing you, touching your feet and talking with you, I have been pleased and have become obliged to you.

21All the blessed women in the heavenly planets will continuously chant about your spotless character at every moment, and the people of this world will also chant your glories continuously.

22ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: Thus being satisfied in all respects, the great mystic yogī Durvāsā took permission and left, continuously glorifying the King. Through the skyways, he went to Brahmaloka, which is devoid of agnostics and dry philosophical speculators.

23Durvāsā Muni had left the place of Mahārāja Ambarīṣa, and as long as he had not returnedfor one complete yearthe King had fasted, maintaining himself simply by drinking water.

24After one year, when Durvāsā Muni had returned, King Ambarīṣa sumptuously fed him all varieties of pure food, and then he himself also ate. When the King saw that the brāhmaṇa Durvāsā had been released from the great danger of being burned, he could understand that by the grace of the Lord he himself was also powerful, but he did not take any credit, for everything had been done by the Lord.

25In this way, because of devotional service, Mahārāja Ambarīṣa, who was endowed with varieties of transcendental qualities, was completely aware of Brahman, Paramātmā and the Supreme Personality of Godhead, and thus he executed devotional service perfectly. Because of his devotion, he thought even the topmost planet of this material world no better than the hellish planets.

26Śrīla Śukadeva Gosvāmī continued: Thereafter, because of his advanced position in devotional life, Mahārāja Ambarīṣa, who no longer desired to live with material things, retired from active family life. He divided his property among his sons, who were equally as qualified, and he himself took the order of vānaprastha and went to the forest to concentrate his mind fully upon Lord Vāsudeva.

27Anyone who chants this narration or even thinks of this narration about the activities of Mahārāja Ambarīṣa certainly becomes a pure devotee of the Lord.

28By the grace of the Lord, those who hear about the activities of Mahārāja Ambarīṣa, the great devotee, certainly become liberated or become devotees without delay.

## SB 9.6: The Downfall of Saubhari Muni

After describing the descendants of Mahārāja Ambarīṣa, Śukadeva Gosvāmī described all the kings from Śaśāda to Māndhātā, and in this connection he also described how the great sage Saubhari married the daughters of Māndhātā.

Mahārāja Ambarīṣa had three sons, named Virūpa, Ketumān and Śambhu. The son of Virūpa was Pṛṣadaśva, and his son was Rathītara. Rathītara had no sons, but when he requested the favor of the great sage Aṅgirā, the sage begot several sons in the womb of Rathītara's wife. When the sons were born, they became the dynasty of AṅgirāṚṣi and of Rathītara.

The son of Manu was Ikṣvāku, who had one hundred sons, of whom Vikukṣi, Nimi and Daṇḍakā were the eldest. The sons of Mahārāja Ikṣvāku became kings of different parts of the world. Because of violating sacrificial rules and regulations, one of these sons, Vikukṣi, was banished from the kingdom. By the mercy of Vasiṣṭha and the power of mystic *yoga,* Mahārāja Ikṣvāku attained liberation after giving up his material body. When Mahārāja Ikṣvāku expired, his son Vikukṣi returned and took charge of the kingdom. He performed various types of sacrifices, and thus he pleased the Supreme Personality of Godhead. This Vikukṣi later became celebrated as Śaśāda.

Vikukṣi's son fought with the demons for the sake of the demigods, and because of his valuable service he became famous as Puraṣjaya, Indravāha and Kakutstha. The son of

Puraṣjaya was Anenā, the son of Anenā was Pṛthu, and the son of Pṛthu was Viśvagandhi. The son of Viśvagandhi was Candra, the son of Candra was Yuvanāśva, and his son was Śrāvasta, who constructed Śrāvastī Purī. The son of Śrāvasta was Bṛhadaśva. Bṛhadaśva's son Kuvalayāśva killed a demon named Dhundhu, and thus he became celebrated as Dhundhumāra, "the killer of Dhundhu." The sons of the killer of Dhundhu were Dṛḍhāśva, Kapilāśva and Bhadrāśva. He also had thousands of other sons, but they burned to ashes in the fire emanating from Dhundhu. The son of Dṛḍhāśva was Haryaśva, the son of Haryaśva was Nikumbha, the son of Nikumbha was Bahulāśva, and the son of Bahulāśva was Kṛśāśva. The son of Kṛśāśva was Senajit, and his son was Yuvanāśva.

Yuvanāśva married one hundred wives, but he had no sons, and therefore he entered the forest. In the forest, the sages performed a sacrifice known as Indra-yajṣa on his behalf. Once, however, the King became so thirsty in the forest that he drank the water kept for performing *yajṣa*. Consequently, after some time, a son came forth from the right side of his abdomen. The son, who was very beautiful, was crying to drink breast milk, and Indra gave the child his index finger to suck. Thus the son became known as Māndhātā. In due course of time, Yuvanāśva achieved perfection by performing austerities.

Thereafter, Māndhātā became the emperor and ruled the earth, which consists of seven islands. Thieves and rogues were very much afraid of this powerful king, and therefore the king was known as Trasaddasyu, meaning "one who is very fearful to rogues and thieves." Māndhātābegot sons in the womb of his wife, Bindumatī. These sons were Purukutsa, Ambarīṣa and Mucukunda. These three sons had fifty sisters, all of whom became wives of the great sage known as Saubhari.

In this connection, Śukadeva Gosvāmī described the history of Saubhari Muni, who, because of sensual agitation caused by fish, fell from his *yoga* and wanted to marry all the daughters of Māndhātā for sexual pleasure. Later, Saubhari Muni became very regretful. Thus he accepted the order of *vānaprastha,* performed very severe austerities, and thus attained perfection. In this regard, Śukadeva Gosvāmī described how Saubhari Muni's wives also became perfect.

1Śukadeva Gosvāmī said: O Mahārāja Parīkṣit, Ambarīṣa had three sons, named Virūpa, Ketumān and Śambhu. From Virūpa came a son named Pṛṣadaśva, and from Pṛṣadaśva came a son named Rathītara.

2Rathītara had no sons, and therefore he requested the great sage Aṅgirā to beget sons for him. Because of this request, Aṅgirā begot sons in the womb of Rathītara's wife. All these sons were born with brahminical prowess.

3Having been born from the womb of Rathītara's wife, all these sons were known as the dynasty of Rathītara, but because they were born from the semen of Aṅgirā, they were also known as the dynasty of Aṅgirā. Among all the progeny of Rathītara, these sons were the most prominent because, owing to their birth, they were considered brāhmaṇas.

4The son of Manu was Ikṣvāku. When Manu was sneezing, Ikṣvāku was born from Manu's nostrils. King Ikṣvāku had one hundred sons, of whom Vikukṣi, Nimi and Daṇḍakā were the most prominent.

5Of the one hundred sons, twenty-five became kings in the western side of Āryāvarta, a place between the Himālaya and Vindhya mountains. Another twenty-five sons became kings in the east of Āryāvarta, and the three principal sons became kings in the middle. The other sons became kings in various other places.

6During the months of January, February and March, oblations offered to the forefathers are called aṣṭakā-śrāddha. The śrāddha ceremony is held during the dark fortnight of the month. When Mahārāja Ikṣvāku was performing his oblations in this ceremony, he ordered his son Vikukṣi to go immediately to the forest to bring some pure flesh.

7Thereafter, Ikṣvāku's son Vikukṣi went to the forest and killed many animals suitable for being offered as oblations. But when fatigued and hungry he became forgetful and ate a rabbit he had killed.

8Vikukṣi offered the remnants of the flesh to King Ikṣvāku, who gave it to Vasiṣṭha for purification. But Vasiṣṭha could immediately understand that part of the flesh had already been taken by Vikukṣi, and therefore he said that it was unfit to be used in the śrāddha ceremony.

9When King Ikṣvāku, thus informed by Vasiṣṭha, understood what his son Vikukṣi had done, he was extremely angry. Thus he ordered Vikukṣi to leave the country because Vikukṣi had violated the regulative principles.

10Having been instructed by the great and learned brāhmaṇa Vasiṣṭha, who discoursed about the Absolute Truth, Mahārāja Ikṣvāku became renounced. By following the principles for a yogī, he certainly achieved the supreme perfection after giving up his material body.

11After his father's disappearance, Vikukṣi returned to the country and thus became the king, ruling the planet earth and performing various sacrifices to satisfy the Supreme Personality of Godhead. Vikukṣi later became celebrated as Śaśāda.

12The son of Śaśāda was Puraṣjaya, who is also known as Indravāha and sometimes as Kakutstha. Please hear from me how he received different names for different activities.

13Formerly, there was a devastating war between the demigods and the demons. The demigods, having been defeated, accepted Puraṣjaya as their assistant and then conquered the demons. Therefore this hero is known as Puraṣjaya, "he who conquered the residence of the demons."

14Puraṣjaya agreed to kill all the demons, on the condition that Indra would be his carrier. Because of pride, Indra could not accept this proposal, but later, by the order of the Supreme Lord, Viṣṇu, Indra did accept it and became a great bull carrier for Puraṣjaya.

15-16Well protected by armor and desiring to fight, Puraṣjaya took up a transcendental bow and very sharp arrows, and, while being highly praised by the demigods, he got up on the back of the bull [Indra] and sat on its hump. Thus he is known as Kakutstha. Being empowered by Lord Viṣṇu, who is the Supersoul and the Supreme Person, Puraṣjaya sat on the great bull and is therefore known as Indravāha. Surrounded by the demigods, he attacked the residence of the demons in the west.

17There was a fierce battle between the demons and Puraṣjaya. Indeed, it was so fierce that when one hears about it one's hairs stand on end. All the demons bold enough to come before Puraṣjaya were immediately sent to the residence of Yamarāja by his arrows.

18To save themselves from the blazing arrows of Indravāha, which resembled the flames of devastation at the end of the millennium, the demons who remained when the rest of their army was killed fled very quickly to their respective homes.

19After conquering the enemy, the saintly king Puraṣjaya gave everything, including the enemy's riches and wives, to Indra, who carries a thunderbolt. For this he is celebrated as

Puraṣjaya. Thus Puraṣjaya is known by different names because of his different activities.

20The son of Puraṣjaya was known as Anenā, Anenā's son was Pṛthu, and Pṛthu's son was Viśvagandhi. Viśvagandhi's son was Candra, and Candra's son was Yuvanāśva.

21The son of Yuvanāśva was Śrāvasta, who constructed a township known as Śrāvastī Purī. The son of Śrāvasta was Bṛhadaśva, and his son was Kuvalayāśva. In this way the dynasty increased.

22To satisfy the sage Utaṅka, the greatly powerful Kuvalayāśva killed a demon named Dhundhu. He did this with the assistance of his twenty-one thousand sons.

23-24O Mahārāja Parīkṣit, for this reason Kuvalayāśva is celebrated as Dhundhumāra ["the killer of Dhundhu"]. All but three of his sons, however, were burned to ashes by the fire emanating from Dhundhu's mouth. The remaining sons were Dṛḍhāśva, Kapilāśva and Bhadrāśva. From Dṛḍhāśva came a son named Haryaśva, whose son is celebrated as Nikumbha.

25The son of Nikumbha was Bahulāśva, the son of Bahulāśva was Kṛśāśva, the son of Kṛśāśva was Senajit, and the son of Senajit was Yuvanāśva. Yuvanāśva had no sons, and thus he retired from family life and went to the forest.

26Although Yuvanāśva went into the forest with his one hundred wives, all of them were very morose. The sages in the forest, however, being very kind to the King, began very carefully and attentively performing an Indra-yajṣa so that the King might have a son.

27Being thirsty one night, the King entered the arena of sacrifice, and when he saw all the brāhmaṇas lying down, he personally drank the sanctified water meant to be drunk by his wife.

28When the brāhmaṇas got up from bed and saw the waterpot empty, they inquired who had done this work of drinking the water meant for begetting a child.

29When the brāhmaṇas came to understand that the King, inspired by the supreme controller, had drunk the water, they all exclaimed "Alas! The power of providence is real power. No one can counteract the power of the Supreme." In this way they offered their respectful obeisances unto the Lord.

30Thereafter, in due course of time, a son with all the good symptoms of a powerful king came forth from the lower right side of King Yuvanāśva's abdomen.

31The baby cried so much for breast milk that all the brāhmaṇas were very unhappy. "Who will take care of this baby?" they said. Then Indra, who was worshiped in that yajṣa, came and solaced the baby. "Do not cry," Indra said. Then Indra put his index finger in the baby's mouth and said, "You may drink me."

32Because Yuvanāśva, the father of the baby, was blessed by the brāhmaṇas, he did not fall a victim to death. After this incident, he performed severe austerities and achieved perfection in that very spot.

33-34Māndhātā, the son of Yuvanāśva, was the cause of fear for Rāvaṇa and other thieves and rogues who caused anxiety. O King Parīkṣit, because they feared him, the son of Yuvanāśva was known as Trasaddasyu. This name was given by King Indra. By the mercy of the Supreme Personality of Godhead, the son of Yuvanāśva was so powerful that when he became emperor he ruled the entire world, consisting of seven islands, without any second ruler.

35-36The Supreme Personality of Godhead is not different from the auspicious aspects of great sacrifices, such as the ingredients of the sacrifice, the chanting of Vedic hymns, the regulative principles, the performer, the priests, the result of the sacrifice, the arena of sacrifice, and the time of sacrifice. Knowing the principles of self-realization, Māndhātā worshiped that transcendentally situated Supreme Soul, the Supreme Personality of Godhead, Lord Viṣṇu, who comprises all the demigods. He also gave immense charity to the brāhmaṇas, and thus he performed yajṣa to worship the Lord.

37All places, from where the sun rises on the horizon, shining brilliantly, to where the sun sets, are known as the possession of the celebrated Māndhātā, the son of Yuvanāśva.

38Māndhātā begot three sons in the womb of Bindumatī, the daughter of Śaśabindu. These sons were Purukutsa, Ambarīṣa, and Mucukunda, a great mystic yogī. These three brothers had fifty sisters, who all accepted the great sage Saubhari as theirhusband.

39-40Saubhari Ṛṣi was engaged in austerity, deep in the water of the river Yamunā, when he saw a pair of fish engaged in sexual affairs. Thus he perceived the pleasure of sex life, and induced by this desire he went to King Māndhātā and begged for one of the King's daughters. In response to this request, the King said, "O brāhmaṇa, any of my daughters may accept any husband according to her personal selection."

41-42Saubhari Muni thought: I am now feeble because of old age. My hair has become grey, my skin is slack, and my head always trembles. Besides, I am a yogī. Therefore women do not like me. Since the King has thus rejected me, I shall reform my body in such a way as to be desirable even to celestial women, what to speak of the daughters of worldly kings.

43Thereafter, when Saubhari Muni became quite a young and beautiful person, the messenger of the palace took him inside the residential quarters of the princesses, which were extremely opulent. All fifty princesses then accepted him as their husband, although he was only one man.

44Thereafter, the princesses, being attracted by Saubhari Muni, gave up their sisterly relationship and quarreled among themselves, each one of them contending, "This man is just suitable for me, and not for you." In this way there ensued a great disagreement.

45-46Because Saubhari Muni was expert in chanting mantras perfectly, his severe austerities resulted in an opulent home, with garments, ornaments, properly dressed and decorated maidservants and manservants, and varieties of parks with clear-water lakes and gardens. In the gardens, fragrant with varieties of flowers, birds chirped and bees hummed, surrounded by professional singers. Saubhari Muni's home was amply provided with valuable beds, seats, ornaments, and arrangements for bathing, and there were varieties of sandalwood creams, flower garlands, and palatable dishes. Thus surrounded by opulent paraphernalia, the muni engaged in family affairs with his numerous wives.

47Māndhātā, the King of the entire world, consisting of seven islands, was struck with wonder when he saw the household opulence of Saubhari Muni. Thus he gave up his false prestige in his position as emperor of the world.

48In this way, Saubhari Muni enjoyed sense gratification in the material world, but he was not at all satisfied, just as a fire never ceases blazing if constantly supplied with drops of fat.

49Thereafter, one day while Saubhari Muni, who was expert in chanting mantras, was sitting in a secluded place, he thought to himself about the cause of his falldown, which was simply that he had associated himself with the sexual affairs of the fish.

50Alas! While practicing austerity, even within the depths of the water, and while observing all the rules and regulations practiced by saintly persons, I lost the results of my long austerities simply by association with the sexual affairs of fish. Everyone should observe this falldown and learn from it.

51A person desiring liberation from material bondage must give up the association of persons interested in sex life and should not employ his senses externally [in seeing, hearing, talking, walking and so on]. One should always stay in a secluded place, completely fixing his mind at the lotus feet of the unlimited Personality of Godhead, and if one wants any association at all, he should associate with persons similarly engaged.

52In the beginning I was alone and engaged in performing the austerities of mystic yoga, but later, because of the association of fish engaged in sex, I desired to marry. Then I became the husband of fifty wives, and in each of them I begot one hundred sons, and thus my family increased to five thousand members. By the influence of the modes of material nature, I became fallen and thought that I would be happy in material life. Thus there is no end to my material desires for enjoyment, in this life and the next.

53In this way he passed his life in household affairs for some time, but then he became detached from material enjoyment. To renounce material association, he accepted the vānaprastha order and went to the forest. His devoted wives followed him, for they had no shelter other than their husband.

54When Saubhari Muni, who was quite conversant with the self, went to the forest, he performed severe penances. In this way, in the fire at the time of death, he ultimately engaged himself in the service of the Supreme Personality of Godhead.

55O Mahārāja Parīkṣit, by observing their husband progressing in spiritual existence, Saubhari Muni's wives were also able to enter the spiritual world by his spiritual power, just as the flames of a fire cease when the fire is extinguished.

## SB 9.7: The Descendants of King Māndhātā

In this chapter the descendants of King Māndhātā are described, and in this connection the histories of Purukutsa and Hariścandra are also given.

The most prominent son of Māndhātā was Ambarīṣa, his son was Yauvanāśva, and Yauvanāśva's son was Hārīta. These three personalities were the best in the dynasty of Māndhātā. Purukutsa, another son of Māndhātā, married the sister of the snakes (*sarpa-gaṇa*) named Narmadā. The son of Purukutsa was Trasaddasyu, whose son was Anaraṇya. Anaraṇya's son was Haryaśva, Haryaśva's son was Prāruṇa, Prāruṇa's son was Tribandhana, and Tribandhana's son was Satyavrata, also known as Triśaṅku. When Triśaṅku kidnapped the daughter of a *brāhmaṇa,* his father cursed him for this sinful act, and Triśaṅku became a*caṇḍāla,* worse than a *śūdra*. Later, by the influence of Viśvāmitra, he was brought to the heavenly planets, but by the influence of the demigods he fell back downward. He was stopped in his fall, however, by the influence of Viśvāmitra. The son of Triśaṅku was Hariścandra. Hariścandra once performed a Rājasūya-yajṣa, but Viśvāmitra cunningly took all of Hariścandra's possessions as a *dakṣiṇa* contribution and chastised Hariścandra in various ways. Because of this, a quarrel arose between Viśvāmitra and Vasiṣṭha. Hariścandra had no sons, but on the advice of Nārada he worshiped Varuṇa and in this way got a son named Rohita. Hariścandra promised that Rohita would be used to perform a Varuṇa-yajṣa. Varuṇa reminded Hariścandra repeatedly about this *yajṣa,* but the King, because of affection for his son, gave various arguments to avoid sacrificing him. Thus time passed, and gradually the son grew up.

To safeguard his life, the boy then took bow and arrows in hand and went to the forest. Meanwhile, at home, Hariścandra suffered from dropsy because of an attack from Varuṇa. When Rohita received the news that his father was suffering, he wanted to return to the capital, but King Indra prevented him from doing so. Following the instructions of Indra, Rohita lived in the forest for six years and then returned home. Rohita purchased Śunaḥśepha, the second son of Ajīgarta, and gave him to his father, Hariścandra, as the sacrificial animal. In this way, the sacrifice was performed, Varuṇa and the other demigods were pacified, and Hariścandra was freed from disease. In this sacrifice, Viśvāmitra was the *hotā* priest, Jamadagni was the *adhvaryu,* Vasiṣṭha was the *brahmā,* and Ayāsya was the *udgātā*. King Indra, being very satisfied by the sacrifice, gave Hariścandra a golden chariot, and Viśvāmitra gave him transcendental knowledge. Thus Śukadeva Gosvāmī describes how Hariścandra achieved perfection.

1Śukadeva Gosvāmī said: The most prominent among the sons of Māndhātā was he who is celebrated as Ambarīṣa. Ambarīṣa was accepted as son by his grandfather Yuvanāśva. Ambarīṣa's son was Yauvanāśva, and Yauvanāśva's son was Hārīta. In Māndhātā's dynasty, Ambarīṣa, Hārīta and Yauvanāśva were very prominent.

2The serpent brothers of Narmadā gave Narmadā to Purukutsa. Being sent by Vāsuki, she took Purukutsa to the lower region of the universe.

3There in Rasātala, the lower region of the universe, Purukutsa, being empowered by Lord Viṣṇu, was able to kill all the Gandharvas who deserved to be killed. Purukutsa received the benediction from the serpents that anyone who remembers this history of his being brought by Narmadā to the lower region of the universe will be assured of safety from the attack of snakes.

4The son of Purukutsa was Trasaddasyu, who was the father of Anaraṇya. Anaraṇya's son was Haryaśva, the father of Prāruṇa. Prāruṇa was the father of Tribandhana.

5-6The son of Tribandhana was Satyavrata, who is celebrated by the name Triśaṅku. Because he kidnapped the daughter of a brāhmaṇa when she was being married, his father cursed him to become a caṇḍāla, lower than a śūdra. Thereafter, by the influence of Viśvāmitra, he went to the higher planetary system, the heavenly planets, in his material body, but because of the prowess of the demigods he fell back downward. Nonetheless, by the power of Viśvāmitra, he did not fall all the way down; even today he can still be seen hanging in the sky, head downward.

7The son of Triśaṅku was Hariścandra. Because of Hariścandra there was a quarrel between Viśvāmitra and Vasiṣṭha, who for many years fought one another, having been transformed into birds.

8Hariścandra had no son and was therefore extremely morose. Once, therefore, following the advice of Nārada, he took shelter of Varuṇa and said to him, "My lord, I have no son. Would you kindly give me one?"

9O King Parīkṣit, Hariścandra begged Varuṇa, "My lord, if a son is born to me, with that son I shall perform a sacrifice for your satisfaction." When Hariścandra said this, Varuṇa replied, "Let it be so." Because of Varuṇa's benediction, Hariścandra begot a son named Rohita.

10Thereafter, when the child was born, Varuṇa approached Hariścandra and said, "Now you have a son. With this son you can offer me a sacrifice." In answer to this, Hariścandra said, "After ten days have passed since an animal's birth, the animal becomes fit to be sacrificed."

11After ten days, Varuṇa came again and said to Hariścandra, "Now you can perform the sacrifice." Hariścandra replied, "When an animal grows teeth, then it becomes pure enough to be sacrificed."

12When the teeth grew, Varuṇa came and said to Hariścandra, "Now the animal has grown teeth, and you can perform the sacrifice." Hariścandra replied, "When all its teeth have fallen out, then it will be fit for sacrifice."

13When the teeth had fallen out, Varuṇa returned and said to Hariścandra, "Now the animal's teeth have fallen out, and you can perform the sacrifice." But Hariścandra replied, "When the animal's teeth grow in again, then he will be pure enough to be sacrificed."

14When the teeth grew in again, Varuṇa came and said to Hariścandra, "Now you can perform the sacrifice." But Hariścandra then said, "O King, when the sacrificial animal becomes a kṣatriya and is able to shield himself to fight with the enemy, then he will be purified."

15Hariścandra was certainly very much attached to his son. Because of this affection, he asked the demigod Varuṇa to wait. Thus Varuṇa waited and waited for the time to come.

16Rohita could understand that his father intended to offer him as the animal for sacrifice. Therefore, just to save himself from death, he equipped himself with bow and arrows and went to the forest.

17When Rohita heard that his father had been attacked by dropsy due to Varuṇa and that his abdomen had grown very large, he wanted to return to the capital, but King Indra forbade him to do so.

18King Indra advised Rohita to travel to different pilgrimage sites and holy places, for such activities are pious indeed. Following this instruction, Rohita went to the forest for one year.

19In this way, at the end of the second, third, fourth and fifth years, when Rohita wanted to return to his capital, the King of heaven, Indra, approached him as an old brāhmaṇa and forbade him to return, repeating the same words as in the previous year.

20Thereafter, in the sixth year, after wandering in the forest, Rohita returned to the capital of his father. He purchased from Ajīgarta his second son, named Śunaḥśepha. Then he offered Śunaḥśepha to his father, Hariścandra, to be used as the sacrificial animal and offered Hariścandra his respectful obeisances.

21Thereafter, the famous King Hariścandra, one of the exalted persons in history, performed grand sacrifices by sacrificing a man and pleased all the demigods. In this way his dropsy created by Varuṇa was cured.

22In that great human sacrifice, Viśvāmitra was the chief priest to offer oblations, the perfectly self-realized Jamadagni had the responsibility for chanting the mantras from the Yajur Veda, Vasiṣṭha was the chief brahminical priest, and the sage Ayāsya was the reciter of the hymns of the Sāma Veda.

23King Indra, being very pleased with Hariścandra, offered him a gift of a golden chariot. Śunaḥśepha's glories will be presented along with the description of the son of Viśvāmitra.

24The great sage Viśvāmitra saw that Mahārāja Hariścandra, along with his wife, was truthful, forbearing and concerned with the essence. Thus he gave them imperishable knowledge for fulfillment of the human mission.

25-26Mahārāja Hariścandra first purified his mind, which was full of material enjoyment, by amalgamating it with the earth. Then he amalgamated the earth with water, the water with fire, the fire with the air, and the air with the sky. Thereafter, he amalgamated the sky with the total material energy, and the total material energy with spiritual knowledge. This spiritual knowledge is realization of one's self as part of the Supreme Lord. When the self-realized spiritual soul is engaged in service to the Lord, he is eternally imperceptible and inconceivable. Thus established in spiritual knowledge, he is completely freed from material bondage.

## SB 9.8: The Sons of Sagara Meet Lord Kapiladeva

In this Eighth Chapter the descendants of Rohita are described. In the dynasty of Rohita there was a king named Sagara, whose history is described in relation to Kapiladeva and the destruction of the sons of Sagara.

The son of Rohita was known as Harita, and the son of Harita was Campa, who constructed a township known as Campāpurī. The son of Campa was Sudeva, the son of Sudeva was Vijaya, the son of Vijaya was Bharuka, and the son of Bharuka was Vṛka. Bāhuka, the son of Vṛka, was greatly disturbed by his enemies, and therefore he left home with his wife and went to the forest. When he died there, his wife wanted to accept the principles of *satī,* dying with her husband, but when she was about to die a sage named Aurva found that she was pregnant and forbade her to do so. The co-wives of this wife of Bāhuka gave her poison with her food, but still her son was born with the poison. The son was therefore named Sagara (*sa* means "with," and *gara* means "poison"). Following the instructions of the great sage Aurva, King Sagara reformed many clans, including the Yavanas, Śakas, Haihayas and Barbaras. The king did not kill them, but reformed them. Then, again following the instructions of Aurva, King Sagara performed *aśvamedha* sacrifices, but the horse needed for such a sacrifice was stolen by Indra, the King of heaven. King Sagara had two wives, named Sumati and Keśinī. While searching for the horse, the sons of Sumati extensively dug up the surface of the earth and in this way dug a trench, which later became known as the Sāgara Ocean. In the course of this search, they came upon the great personality Kapiladeva and thought Him to have stolen the horse. With this offensive understanding, they attacked Him and were all burned to ashes. Keśinī, the second wife of King Sagara, had a son named Asamaṣjasa, whose son Aṁśumān later searched for the horse and delivered his uncles. Upon approaching Kapiladeva, Aṁśumān saw both the horse meant for sacrifice and a pile of ashes. Aṁśumān offered prayers to Kapiladeva, who was very pleased by his prayers and who returned the horse. After getting back the horse, however, Aṁśumān still stood before Kapiladeva, and Kapiladeva could understand that Aṁśumān was praying for the deliverance of his forefathers. Thus Kapiladeva offered the instruction that they could be delivered by water from the Ganges. Aṁśumān then offered respectful obeisances to Kapiladeva, circumambulated Him, and left that place with the horse for sacrifice. When King Sagara finished his *yajṣa,* he handed over the kingdom to Aṁśumān and, following the advice of Aurva, attained salvation.

1Śukadeva Gosvāmī continued: The son of Rohita was Harita, and Harita's son was Campa, who constructed the town of Campāpurī. The son of Campa was Sudeva, and his son was Vijaya.

2The son of Vijaya was Bharuka, Bharuka's son was Vṛka, and Vṛka's son was Bāhuka. The enemies of King Bāhuka took away all his possessions, and therefore the King entered the order of vānaprastha and went to the forest with his wife.

3Bāhuka died when he was old, and one of his wives wanted to die with him, following the satī rite. At that time, however, Aurva Muni, knowing her to be pregnant, forbade her to die.

4Knowing that she was pregnant, the co-wives of the wife of Bāhuka conspired to give her poison with her food, but it did not act. Instead, the son was born along with the poison. Therefore he became famous as Sagara ["one who is born with poison"]. Sagara later became the emperor. The place known as Gaṅgāsāgara was excavated by his sons.

5-6Sagara Mahārāja, following the order of his spiritual master, Aurva, did not kill the uncivilized men like the Tālajaṅghas, Yavanas, Śakas, Haihayas and Barbaras. Instead, some of them he made dress awkwardly, some of them he shaved clean but allowed to wear mustaches, some of them he left wearing loose hair, some he half shaved, some he left without underwear, and some without external garments. Thus these different clans were made to dress differently, but King Sagara did not kill them.

7Following the instructions of the great sage Aurva, Sagara Mahārāja performed aśvamedha sacrifices and thus satisfied the Supreme Lord, who is the supreme controller, the Supersoul of all learned scholars, and the knower of all Vedic knowledge, the Supreme Personality of Godhead. But Indra, the King of heaven, stole the horse meant to be offered at the sacrifice.

8[King Sagara had two wives, Sumati and Keśinī.] The sons of Sumati, who were very proud of their prowess and influence, following the order of their father, searched for the lost horse. While doing so, they dug into the earth very extensively.

9-10Thereafter, in the northeastern direction, they saw the horse near the āśrama of Kapila Muni. "Here is the man who has stolen the horse," they said. "He is staying there with closed eyes. Certainly he is very sinful. Kill him! Kill him!" Shouting like this, the sons of Sagara, sixty thousand all together, raised their weapons. When they approached the sage, the sage opened His eyes.

11By the influence of Indra, the King of heaven, the sons of Sagara had lost their intelligence and disrespected a great personality. Consequently, fire emanated from their own bodies, and they were immediately burned to ashes.

12It is sometimes argued that the sons of King Sagara were burned to ashes by the fire emanating from the eyes of Kapila Muni. This statement, however, is not approved by great learned persons, for Kapila Muni's body is completely in the mode of goodness and therefore cannot manifest the mode of ignorance in the form of anger, just as the pure sky cannot be polluted by the dust of the earth.

13Kapila Muni enunciated in this material world the Sāṅkhya philosophy, which is a strong boat with which to cross over the ocean of nescience. Indeed, a person eager to cross the ocean of the material world may take shelter of this philosophy. In such a greatly learned person, situated on the elevated platform of transcendence, how can there be any distinction between enemy and friend?

14Among the sons of Sagara Mahārāja was one named Asamaṣjasa, who was born from the King's second wife, Keśinī. The son of Asamaṣjasa was known as Aṁśumān, and he was always engaged in working for the good of Sagara Mahārāja, his grandfather.

15-16Formerly, in his previous birth, Asamaṣjasa had been a great mystic yogī, but by bad association he had fallen from his exalted position. Now, in this life, he was born in a royal family and was a jāti-smara; that is, he had the special advantage of being able to remember his past birth. Nonetheless, he wanted to display himself as a miscreant, and therefore he would do things that were abominable in the eyes of the public and unfavorable to his relatives. He would disturb the boys sporting in the river Sarayū by throwing them into the depths of the

water.

17Because Asamaṣjasa engaged in such abominable activities, his father gave up affection for him and had him exiled. Then Asamaṣjasa exhibited his mystic power by reviving the boys and showing them to the King and their parents. After this, Asamaṣjasa left Ayodhyā.

18O King Parīkṣit, when all the inhabitants of Ayodhyā saw that their boys had come back to life, they were astounded, and King Sagara greatly lamented the absence of his son.

19Thereafter, Aṁśumān, the grandson of Mahārāja Sagara, was ordered by the King to search for the horse. Following the same path traversed by his uncles, Aṁśumān gradually reached the stack of ashes and found the horse nearby.

20The great Aṁśumān saw the sage named Kapila, the saint who is an incarnation of Viṣṇu, sitting there by the horse. Aṁśumān offered Him respectful obeisances, folded his hands and offered Him prayers with great attention.

21Aṁśumān said: My Lord, even Lord Brahmā is to this very day unable to understand Your position, which is far beyond himself, either by meditation or by mental speculation. So what to speak of others like us, who have been created by Brahmā in various forms as demigods, animals, human beings, birds and beasts? We are completely in ignorance. Therefore, how can we know You, who are the Transcendence?

22My Lord, You are fully situated in everyone's heart, but the living entities, covered by the material body, cannot see You, for they are influenced by the external energy, conducted by the three modes of material nature. Their intelligence being covered by sattva-guṇa, rajo-guṇa and tamo-guṇa, they can see only the actions and reactions of these three modes of material nature. Because of the actions and reactions of the mode of ignorance, whether the living entities are awake or sleeping, they can see only the workings of material nature; they cannot see Your Lordship.

23O my Lord, sages freed from the influence of the three modes of material naturesages such as the four Kumāras [Sanat, Sanaka, Sanandana and Sanātana]are able to think of You, who are concentrated knowledge. But how can an ignorant person like me think of You?

24O completely peaceful Lord, although material nature, fruitive activities and their consequent material names and forms are Your creation, You are unaffected by them. Therefore, Your transcendental name is different from material names, and Your form is different from material forms. You assume a form resembling a material body just to give us instructions like those of Bhagavad-gītā, but actually You are the supreme original person. I therefore offer my respectful obeisances unto You.

25O my Lord, those whose hearts are bewildered by the influence of lust, greed, envy and illusion are interested only in false hearth and home in this world created by Your māyā. Attached to home, wife and children, they wander in this material world perpetually.

26O Supersoul of all living entities, O Personality of Godhead, simply by seeing You I have now been freed from all lusty desires, which are the root cause of insurmountable illusion and bondage in the material world.

27O King Parīkṣit, when Aṁśumān had glorified the Lord in this way, the great sage Kapila, the powerful incarnation of Viṣṇu, being very merciful to him, explained to him the path of knowledge.

28The Personality of Godhead said: My dear Aṁśumān, here is the animal sought by your grandfather for sacrifice. Please take it. As for your forefathers, who have been burnt to ashes, they can be delivered only by Ganges water, and not by any other means.

29Thereafter, Aṁśumān circumambulated Kapila Muni and offered Him respectful obeisances, bowing his head. After fully satisfying Him in this way, Aṁśumān brought back the horse meant for sacrifice, and with this horse Mahārāja Sagara performed the remaining ritualistic ceremonies.

30After delivering charge of his kingdom to Aṁśumān and thus being freed from all material anxiety and bondage, Sagara Mahārāja, following the means instructed by Aurva Muni, achieved the supreme destination.

## SB 9.9: The Dynasty of Aṁśumān

This chapter describes the history of the dynasty of Aṁśumān, up to Khaṭvāṅga, and it also describes how Bhagīratha brought the water of the Ganges to this earth.

The son of Mahārāja Aṁśumān was Dilīpa, who tried to bring the Ganges to this world but who died without success. Bhagīratha, the son of Dilīpa, was determined to bring the Ganges to the material world, and for this purpose he underwent severe austerities. Mother Ganges, being fully satisfied by his austerities, made herself visible to him, wanting to give him a benediction. Bhagīratha then asked her to deliver his forefathers. Although mother Ganges agreed to come down to earth, she made two conditions: first, she wanted some suitable male to be able to control her waves; second, although all sinful men would be freed from sinful reactions by bathing in the Ganges, mother Ganges did not want to keep all these sinful reactions. These two conditions were subject matters for consideration. Bhagīratha replied to mother Ganges, "The Personality of Godhead Lord Śiva will be completely able to control the waves of your water, and when pure devotees bathe in your water, the sinful reactions left by sinful men will be counteracted." Bhagīratha then performed austerities to satisfy Lord Śiva, who is called Āśutoṣa because he is naturally satisfied very easily. Lord Śiva agreed to Bhagīratha's proposal to check the force of the Ganges. In this way, simply by the touch of the Ganges, Bhagīratha's forefathers were delivered and allowed to go to the heavenly planets.

The son of Bhagīratha was Śruta, the son of Śruta was Nābha, and Nābha's son was Sindhudvīpa. The son of Sindhudvīpa was Ayutāyu, and the son of Ayutāyu was Ṛtūparṇa, who was a friend of Nala. Ṛtūparṇa gave Nala the art of gambling and learned from him the art of *aśva-vidyā*. The son of Ṛtūparṇa was known as Sarvakāma, the son of Sarvakāma was Sudāsa, and his son was Saudāsa. The wife of Saudāsa was named Damayantī or Madayantī, and Saudāsa was also known as Kalmāṣapāda. Because of some defect in his fruitive activities, Saudāsa was cursed by Vasiṣṭha to become a Rākṣasa. While walking through the forest, he saw a *brāhmaṇa* engaged in sex with his wife, and because he had become a Rākṣasa he wanted to devour the *brāhmaṇa*. Although the *brāhmaṇa's* wife pleaded with him in many ways, Saudāsa devoured the *brāhmaṇa,* and the wife therefore cursed him, saying, "As soon as you engage in sex you will die." After twelve years, therefore, even though Saudāsa was released from the curse of Vasiṣṭha Muni, he remained sonless. At that time, with Saudāsa's permission, Vasiṣṭha impregnated Saudāsa's wife, Madayantī. Because Madayantī bore the child for many years but still could not give birth, Vasiṣṭha struck her abdomen with a stone, and thus a son was born. The son was named Aśmaka.

The son of Aśmaka was known as Bālika. He was protected from the curse of Paraśurāma because of being surrounded by many women, and therefore he is also known as Nārīkavaca.

When the entire world was devoid of *kṣatriyas,* he became the original father of more *kṣatriyas*. He is therefore sometimes called Mūlaka. From Bālika, Daśaratha was born, from Daśaratha came Aiḍaviḍi, and from Aiḍaviḍi came Viśvasaha. The son of Viśvasaha was Mahārāja Khaṭvāṅga. Mahārāja Khaṭvāṅga joined the demigods in fighting the demons and was victorious, and the demigods therefore wanted to give him a benediction. But when the King inquired how long he would live and understood that his life would last only a few seconds more, he immediately left the heavenly planets and returned to his own abode by airplane. He could understand that everything in this material world is insignificant, and thus he fully engaged in worshiping the Supreme Personality of Godhead, Hari.

1Śukadeva Gosvāmī continued: King Aṁśumān, like his grandfather, performed austerities for a very long time. Nonetheless, he could not bring the Ganges to this material world, and thereafter, in due course of time, he died.

2Like Aṁśumān himself, Dilīpa, his son, was unable to bring the Ganges to this material world, and he also became a victim of death in due course of time. Then Dilīpa's son, Bhagīratha, performed very severe austerities to bring the Ganges to this material world.

3Thereafter, mother Ganges appeared before King Bhagīratha and said, "I am very much satisfied with your austerities and am now prepared to give you benedictions as you desire." Being thus addressed by Gaṅgādevī, mother Ganges, the King bowed his head before her and explained his desire.

4Mother Ganges replied: When I fall from the sky to the surface of the planet earth, the water will certainly be very forceful. Who will sustain that force? If I am not sustained, I shall pierce the surface of the earth and go down to Rasātala, the Pātāla area of the universe.

5O King, I do not wish to go down to the planet earth, for there the people in general will bathe in my water to cleanse themselves of the reactions of their sinful deeds. When all these sinful reactions accumulate in me, how shall I become free from them? You must consider this very carefully.

6Bhagīratha said: Those who are saintly because of devotional service and are therefore in the renounced order, free from material desires, and who are pure devotees, expert in following the regulative principles mentioned in the Vedas, are always glorious and pure in behavior and are able to deliver all fallen souls. When such pure devotees bathe in your water, the sinful reactions accumulated from other people will certainly be counteracted, for such devotees always keep in the core of their hearts the Supreme Personality of Godhead, who can vanquish all sinful reactions.

7Like a cloth woven of threads extending for its length and breadth, this entire universe, in all its latitude and longitude, is situated under different potencies of the Supreme Personality of Godhead. Lord Śiva is the incarnation of the Lord, and thus he represents the Supersoul in the embodied soul. He can sustain your forceful waves on his head.

8After saying this, Bhagīratha satisfied Lord Śiva by performing austerities. O King Parīkṣit, Lord Śiva was very quickly satisfied with Bhagīratha.

9When King Bhagīratha approached Lord Śiva and requested him to sustain the forceful waves of the Ganges, Lord Śiva accepted the proposal by saying, "Let it be so." Then, with great attention, he sustained the Ganges on his head, for the water of the Ganges is purifying, having emanated from the toes of Lord Viṣṇu.

10The great and saintly king Bhagīratha brought the Ganges, which can deliver all the fallen

souls, to that place on earth where the bodies of his forefathers lay burnt to ashes.

11Bhagīratha mounted a swift chariot and drove before mother Ganges, who followed him, purifying many countries, until they reached the ashes of Bhagīratha's forefathers, the sons of Sagara, who were thus sprinkled with water from the Ganges.

12Because the sons of Sagara Mahārāja had offended a great personality, the heat of their bodies had increased, and they were burnt to ashes. But simply by being sprinkled with water from the Ganges, all of them became eligible to go to the heavenly planets. What then is to be said of those who use the water of mother Ganges to worship her?

13Simply by having water from the Ganges come in contact with the ashes of their burnt bodies, the sons of Sagara Mahārāja were elevated to the heavenly planets. Therefore, what is to be said of a devotee who worships mother Ganges faithfully with a determined vow? One can only imagine the benefit that accrues to such a devotee.

14Because mother Ganges emanates from the lotus toe of the Supreme Personality of Godhead, Anantadeva, she is able to liberate one from material bondage. Therefore whatever is described herewith about her is not at all wonderful.

15Great sages, completely freed from material lusty desires, devote their minds fully to the service of the Lord. Such persons are liberated from material bondage without difficulty, and they become transcendentally situated, acquiring the spiritual quality of the Lord. This is the glory of the Supreme Personality of Godhead.

16-17Bhagīratha had a son named Śruta, whose son was Nābha. This son was different from the Nābha previously described. Nābha had a son named Sindhudvīpa, from Sindhudvīpa came Ayutāyu, and from Ayutāyu came Ṛtūparṇa, who became a friend of Nalarāja. Ṛtūparṇa taught Nalarāja the art of gambling, and Nalarāja gave Ṛtūparṇa lessons in controlling and maintaining horses. The son of Ṛtūparṇa was Sarvakāma.

18Sarvakāma had a son named Sudāsa, whose son, known as Saudāsa, was the husband of Damayantī. Saudāsa is sometimes known as Mitrasaha or Kalmāṣapāda. Because of his own misdeed, Mitrasaha was sonless and was cursed by Vasiṣṭha to become a man-eater [Rākṣasa].

19King Parīkṣit said: O Śukadeva Gosvāmī, why did Vasiṣṭha, the spiritual master of Saudāsa, curse that great soul? I wish to know of this. If it is not a confidential matter, please describe it to me.

20-21Śukadeva Gosvāmī said: Once Saudāsa went to live in the forest, where he killed a man-eater [Rākṣasa] but forgave and released the man-eater's brother. That brother, however, decided to take revenge. Thinking to harm the King, he became the cook at the King's house. One day, the King's spiritual master, Vasiṣṭha Muni, was invited for dinner, and the Rākṣasa cook served him human flesh.

22While examining the food given to him, Vasiṣṭha Muni, by his mystic power, could understand that it was unfit to eat, being the flesh of a human being. He was very angry at this and immediately cursed Saudāsa to become a man-eater.

23-24When Vasiṣṭha understood that the human flesh had been served by the Rākṣasa, not by the King, he undertook twelve years of austerity to cleanse himself for having cursed the faultless King. Meanwhile, King Saudāsa took water and chanted the śapa-mantra, preparing to curse Vasiṣṭha, but his wife, Madayantī, forbade him to do so. Then the King saw that the ten directions, the sky and the surface of the globe were full of living entities everywhere.

25Saudāsa thus acquired the propensity of a man-eater and received on his leg a black spot, for which he was known as Kalmāṣapāda. Once King Kalmāṣapāda saw a brāhmaṇa couple engaged in sexual intercourse in the forest.

26-27Being influenced by the propensity of a Rākṣasa and being very hungry, King Saudāsa seized the brāhmaṇa. Then the poor woman, the brāhmaṇa's wife, said to the King: O hero, you are not actually a man-eater; rather, you are among the descendants of Mahārāja Ikṣvāku. Indeed, you are a great fighter, the husband of Madayantī. You should not act irreligiously in this way. I desire to have a son. Please, therefore, return my husband, who has not yet impregnated me.

28O King, O hero, this human body is meant for universal benefits. If you kill this body untimely, you will kill all the benefits of human life.

29Here is a learned, highly qualified brāhmaṇa, engaged in performing austerity and eagerly desiring to worship the Supreme Lord, the Supersoul who lives within the core of the heart in all living entities.

30My lord, you are completely aware of the religious principles. As a son never deserves to be killed by his father, here is a brāhmaṇa who should be protected by the king, and never killed. How does he deserve to be killed by a rājarṣi like you?

31You are well known and worshiped in learned circles. How dare you kill this brāhmaṇa, who is a saintly, sinless person, well versed in Vedic knowledge? Killing him would be like destroying the embryo within the womb or killing a cow.

32Without my husband, I cannot live for a moment. If you want to eat my husband, it would be better to eat me first, for without my husband I am as good as a dead body.

33Being condemned by the curse of Vasiṣṭha, King Saudāsa devoured the brāhmaṇa, exactly as a tiger eats its prey. Even though the brāhmaṇa's wife spoke so pitiably, Saudāsa was unmoved by her lamentation.

34When the chaste wife of the brāhmaṇa saw that her husband, who was about to discharge semen, had been eaten by the man-eater, she was overwhelmed with grief and lamentation. Thus she angrily cursed the King.

35O foolish, sinful person, because you have eaten my husband when I was sexually inclined and desiring to have the seed of a child, I shall also see you die when you attempt to discharge semen in your wife. In other words, whenever you attempt to sexually unite with your wife, you shall die.

36Thus the wife of the brāhmaṇa cursed King Saudāsa, known as Mitrasaha. Then, being inclined to go with her husband, she set fire to her husband's bones, fell into the fire herself, and went with him to the same destination.

37After twelve years, when King Saudāsa was released from the curse by Vasiṣṭha, he wanted to have sexual intercourse with his wife. But the Queen reminded him about the curse by the brāhmaṇī, and thus he was checked from sexual intercourse.

38After being thus instructed, the King gave up the future happiness of sexual intercourse and by destiny remained sonless. Later, with the King's permission, the great saint Vasiṣṭha begot a child in the womb of Madayantī.

39Madayantī bore the child within the womb for seven years and did not give birth. Therefore Vasiṣṭha struck her abdomen with a stone, and then the child was born. Consequently, the child was known as Aśmaka ["the child born of a stone"].

40From Aśmaka, Bālika took birth. Because Bālika was surrounded by women and was therefore saved from the anger of Paraśurāma, he was known as Nārīkavaca ["one who is protected by women"]. When Paraśurāma vanquished all the kṣatriyas, Bālika became the progenitor of more kṣatriyas. Therefore he was known as Mūlaka, the root of the kṣatriya dynasty.

41From Bālika came a son named Daśaratha, from Daśaratha came a son named Aiḍaviḍi, and from Aiḍaviḍi came King Viśvasaha. The son of King Viśvasaha was the famous Mahārāja Khaṭvāṅga.

42King Khaṭvāṅga was unconquerable in any fight. Requested by the demigods to join them in fighting the demons, he won victory, and the demigods, being very pleased, wanted to give him a benediction. The King inquired from them about the duration of his life and was informed that he had only one moment more. Thus he immediately left his palace and went to his own residence, where he engaged his mind fully on the lotus feet of the Lord.

43Mahārāja Khaṭvāṅga thought: Not even my life is dearer to me than the brahminical culture and the brāhmaṇas, who are worshiped by my family. What then is to be said of my kingdom, land, wife, children and opulence? Nothing is dearer to me than the brāhmaṇas.

44I was never attracted, even in my childhood, by insignificant things or irreligious principles. I did not find anything more substantial than the Supreme Personality of Godhead.

45The demigods, the directors of the three worlds, wanted to give me whatever benediction I desired. I did not want their benedictions, however, because I am interested in the Supreme Personality of Godhead, who created everything in this material world. I am more interested in the Supreme Personality of Godhead than in all material benedictions.

46Even though the demigods have the advantages of being situated in the higher planetary system, their minds, senses and intelligence are agitated by material conditions. Therefore, even such elevated persons fail to realize the Supreme Personality of Godhead, who is eternally situated in the core of the heart. What then is to be said of others, such as human beings, who have fewer advantages?

47Therefore I should now give up my attachment for things created by the external energy of the Supreme Personality of Godhead. I should engage in thought of the Lord and should thus surrender unto Him. This material creation, having been created by the external energy of the Lord, is like an imaginary town visualized on a hill or in a forest. Every conditioned soul has a natural attraction and attachment for material things, but one must simply give up this attachment and surrender unto the Supreme Personality of Godhead.

48Thus Mahārāja Khaṭvāṅga, by his advanced intelligence in rendering service to the Lord, gave up false identification with the body full of ignorance. In his original position of eternal servitorship, he engaged himself in rendering service to the Lord.

49The Supreme Personality of Godhead, Vāsudeva, Kṛṣṇa, is extremely difficult to understand for unintelligent men who accept Him as impersonal or void, which He is not. The Lord is therefore understood and sung about by pure devotees.

**SB 9.10: The Pastimes of the Supreme Lord, Rāmacandra**

This Tenth Chapter describes how Lord Rāmacandra appeared in the dynasty of Mahārāja Khaṭvāṅga. It also describes the Lord's activities, telling how He killed Rāvaṇa and returned to Ayodhyā, the capital of His kingdom.

The son of Mahārāja Khaṭvāṅga was Dīrghabāhu, and his son was Raghu. The son of Raghu was Aja, the son of Aja was Daśaratha, and the son of Daśaratha was Lord Rāmacandra, the Supreme Personality of Godhead. When the Lord descended into this world in His full quadruple expansionas Lord Rāmacandra, Lakṣmaṇa, Bharata and Śatrughnagreat sages like Vālmīki who were actually in knowledge of the Absolute Truth described His transcendental pastimes. Śrīla Śukadeva Gosvāmī describes these pastimes in brief.

Lord Rāmacandra went with Viśvāmitra and killed Rākṣasas like Mārīca. After breaking the stout and strong bow known as Haradhanu, the Lord married mother Sītā and cut down the prestige of Paraśurāma. To obey the order of His father, He entered the forest, accompanied by Lakṣmaṇa and Sītā. There He cut off the nose of Śūrpaṇakhā and killed the associates of Rāvaṇa, headed by Khara and Dūṣaṇa. Rāvaṇa's kidnapping of Sītādevī was the beginning of this demon's misfortune. When Mārīca assumed the form of a golden deer, Lord Rāmacandra went to bring the deer to please Sītādevī, but in the meantime Rāvaṇa took advantage of the Lord's absence to kidnap her. When Sītādevī was kidnapped, Lord Rāmacandra, accompanied by Lakṣmaṇa, searched for her throughout the forest. In the course of this search, They met Jaṭāyu. Then the Lord killed the demon Kabandha and the commander Vāli and established a friendly relationship with Sugrīva. After organizing the military strength of the monkeys and going with them to the shore of the sea, the Lord awaited the arrival of Samudra, the ocean personified, but when Samudra did not come, the Lord, the master of Samudra, became angry. Then Samudra came to the Lord with great haste and surrendered to Him, wanting to help Him in every way. The Lord then attempted to bridge the ocean, and, with the help of advice from Vibhīṣaṇa, He attacked Rāvaṇa's capital, Laṅkā. Previously, Hanumān, the eternal servant of the Lord, had set fire to Laṅkā, and now, with the help of Lakṣmaṇa, the forces of Lord Rāmacandra killed all the Rākṣasa soldiers. Then Lord Rāmacandra personally killed Rāvaṇa. Mandodarī and other wives lamented for Rāvaṇa, and in accordance with Lord Rāmacandra's order, Vibhīṣaṇa performed the funeral ceremonies for all the dead in the family. Lord Rāmacandra then gave Vibhīṣaṇa the right to rule Laṅkā and also granted him a long duration of life. The Lord delivered Sītādevī from the Aśoka forest and carried her in a flower airplane to His capital Ayodhyā, where He was received by His brother Bharata. When Lord Rāmacandra entered Ayodhyā, Bharata brought His wooden shoes, Vibhīṣaṇa and Sugrīva held a whisk and fan, Hanumān carried an umbrella, Śatrughna carried the Lord's bow and two quivers, and Sītādevī carried a waterpot containing water from holy places. Aṅgada carried a sword, and Jāmbavān (Ṛkṣarāja) carried a shield. After Lord Rāmacandra, accompanied by Lord Lakṣmaṇa and mother Sītādevī, met all His relatives, the great sage Vasiṣṭha enthroned Him as King. The chapter ends with a short description of Lord Rāmacandra's rule in Ayodhyā.

1Śukadeva Gosvāmī said: The son of Mahārāja Khaṭvāṅga was Dīrghabāhu, and his son was the celebrated Mahārāja Raghu. From Mahārāja Raghu came Aja, and from Aja was born the great personality Mahārāja Daśaratha.

2Being prayed for by the demigods, the Supreme Personality of Godhead, the Absolute Truth Himself, directly appeared with His expansion and expansions of the expansion. Their holy names were Rāma, Lakṣmaṇa, Bharata and Śatrughna. These celebrated incarnations thus appeared in four forms as the sons of Mahārāja Daśaratha.

3O King Parīkṣit, the transcendental activities of Lord Rāmacandra have been described by

great saintly persons who have seen the truth. Because you have heard again and again about Lord Rāmacandra, the husband of mother Sītā, I shall describe these activities only in brief. Please listen.

4To keep the promise of His father intact, Lord Rāmacandra immediately gave up the position of king and, accompanied by His wife, mother Sītā, wandered from one forest to another on His lotus feet, which were so delicate that they were unable to bear even the touch of Sītā's palms. The Lord was also accompanied by Hanumān [or by another monkey, Sugrīva], king of the monkeys, and by His own younger brother Lord Lakṣmaṇa, both of whom gave Him relief from the fatigue of wandering in the forest. Having cut off the nose and ears of Śūrpaṇakhā, thus disfiguring her, the Lord was separated from mother Sītā. He therefore became angry, moving His eyebrows and thus frightening the ocean, who then allowed the Lord to construct a bridge to cross the ocean. Subsequently, the Lord entered the kingdom of Rāvaṇa to kill him, like a fire devouring a forest. May that Supreme Lord, Rāmacandra, give us all protection.

5In the arena of the sacrifice performed by Viśvāmitra, Lord Rāmacandra, the King of Ayodhyā, killed many demons, Rākṣasas and uncivilized men who wandered at night in the mode of darkness. May Lord Rāmacandra, who killed these demons in the presence of Lakṣmaṇa, be kind enough to give us protection.

6-7O King, the pastimes of Lord Rāmacandra were wonderful, like those of a baby elephant. In the assembly where mother Sītā was to choose her husband, in the midst of the heroes of this world, He broke the bow belonging to Lord Śiva. This bow was so heavy that it was carried by three hundred men, but Lord Rāmacandra bent and strung it and broke it in the middle, just as a baby elephant breaks a stick of sugarcane. Thus the Lord achieved the hand of mother Sītā, who was equally as endowed with transcendental qualities of form, beauty, behavior, age and nature. Indeed, she was the goddess of fortune who constantly rests on the chest of the Lord. While returning from Sītā's home after gaining her at the assembly of competitors, Lord Rāmacandra met Paraśurāma. Although Paraśurāma was very proud, having rid the earth of the royal order twenty-one times, he was defeated by the Lord, who appeared to be a kṣatriya of the royal order.

8Carrying out the order of His father, who was bound by a promise to his wife, Lord Rāmacandra left behind His kingdom, opulence, friends, well-wishers, residence and everything else, just as a liberated soul gives up his life, and went to the forest with Sītā.

9While wandering in the forest, where He accepted a life of hardship, carrying His invincible bow and arrows in His hand, Lord Rāmacandra deformed Rāvaṇa's sister, who was polluted with lusty desires, by cutting off her nose and ears. He also killed her fourteen thousand Rākṣasa friends, headed by Khara, Triśira and Dūṣaṇa.

10O King Parīkṣit, when Rāvaṇa, who had ten heads on his shoulders, heard about the beautiful and attractive features of Sītā, his mind was agitated by lusty desires, and he went to kidnap her. To distract Lord Rāmacandra from His āśrama, Rāvaṇa sent Mārīca in the form of a golden deer, and when Lord Rāmacandra saw that wonderful deer, He left His residence and followed it and finally killed it with a sharp arrow, just as Lord Śiva killed Dakṣa.

11When Rāmacandra entered the forest and Lakṣmaṇa was also absent, the worst of the Rākṣasas, Rāvaṇa, kidnapped Sītādevī, the daughter of the King of Videha, just as a tiger seizes unprotected sheep when the shepherd is absent. Then Lord Rāmacandra wandered in the forest with His brother Lakṣmaṇa as if very much distressed due to separation from His wife. Thus He showed by His personal example the condition of a person attached to women.

12Lord Rāmacandra, whose lotus feet are worshiped by Lord Brahmā and Lord Śiva, had assumed the form of a human being. Thus He performed the funeral ceremony of Jaṭāyu, who was killed by Rāvaṇa. The Lord then killed the demon named Kabandha, and after making friends with the monkey chiefs, killing Vāli and arranging for the deliverance of mother Sītā, He went to the beach of the ocean.

13After reaching the beach, Lord Rāmacandra fasted for three days, awaiting the arrival of the ocean personified. When the ocean did not come, the Lord exhibited His pastimes of anger, and simply by His glancing over the ocean, all the living entities within it, including the crocodiles and sharks, were agitated by fear. Then the personified ocean fearfully approached Lord Rāmacandra, taking all paraphernalia to worship Him. Falling at the Lord's lotus feet, the personified ocean spoke as follows.

14O all-pervading Supreme Person, we are dull-minded and did not understand who You are, but now we understand that You are the Supreme Person, the master of the entire universe, the unchanging and original Personality of Godhead. The demigods are infatuated with the mode of goodness, the Prajāpatis with the mode of passion, and the lord of ghosts with the mode of ignorance, but You are the master of all these qualities.

15My Lord, You may use my water as You like. Indeed, You may cross it and go to the abode of Rāvaṇa, who is the great source of disturbance and crying for the three worlds. He is the son of Viśravā, but is condemned like urine. Please go kill him and thus regain Your wife, Sītādevī. O great hero, although my water presents no impediment to Your going to Laṅkā, please construct a bridge over it to spread Your transcendental fame. Upon seeing this wonderfully uncommon deed of Your Lordship, all the great heroes and kings in the future will glorify You.

16Śukadeva Gosvāmī said: After constructing a bridge over the ocean by throwing into the water the peaks of mountains whose trees and other vegetation had been shaken by the hands of great monkeys, Lord Rāmacandra went to Laṅkā to release Sītādevī from the clutches of Rāvaṇa. With the direction and help of Vibhīṣaṇa, Rāvaṇa's brother, the Lord, along with the monkey soldiers, headed by Sugrīva, Nīla and Hanumān, entered Rāvaṇa's kingdom, Laṅkā, which had previously been burnt by Hanumān.

17After entering Laṅkā, the monkey soldiers, led by chiefs like Sugrīva, Nīla and Hanumān, occupied all the sporting houses, granaries, treasuries, palace doorways, city gates, assembly houses, palace frontages and even the resting houses of the pigeons. When the city's crossroads, platforms, flags and golden waterpots on its domes were all destroyed, the entire city of Laṅkā appeared like a river disturbed by a herd of elephants.

18When Rāvaṇa, the master of the Rākṣasas, saw the disturbances created by the monkey soldiers, he called for Nikumbha, Kumbha, Dhūmrākṣa, Durmukha, Surāntaka, Narāntaka and other Rākṣasas and also his son Indrajit. Thereafter he called for Prahasta, Atikāya, Vikampana and finally Kumbhakarṇa. Then he induced all his followers to fight against the enemies.

19Lord Rāmacandra, surrounded by Lakṣmaṇa and monkey soldiers like Sugrīva, Hanumān, Gandhamāda, Nīla, Aṅgada, Jāmbavān and Panasa, attacked the soldiers of the Rākṣasas, who were fully equipped with various invincible weapons like swords, lances, bows, prāsas, ṛṣṭis, śakti arrows, khaḍgas and tomaras.

20Aṅgada and the other commanders of the soldiers of Rāmacandra faced the elephants, infantry, horses and chariots of the enemy and hurled against them big trees, mountain peaks, clubs and arrows. Thus the soldiers of Lord Rāmacandra killed Rāvaṇa's soldiers, who had lost

all good fortune because Rāvaṇa had been condemned by the anger of mother Sītā.

21Thereafter, when Rāvaṇa, the king of the Rākṣasas, observed that his soldiers had been lost, he was extremely angry. Thus he mounted his airplane, which was decorated with flowers, and proceeded toward Lord Rāmacandra, who sat on the effulgent chariot brought by Mātali, the chariot driver of Indra. Then Rāvaṇa struck Lord Rāmacandra with sharp arrows.

22Lord Rāmacandra said to Rāvaṇa: You are the most abominable of the man-eaters. Indeed, you are like their stool. You resemble a dog, for as a dog steals eatables from the kitchen in the absence of the householder, in My absence you kidnapped My wife, Sītādevī. Therefore as Yamarāja punishes sinful men, I shall also punish you. You are most abominable, sinful and shameless. Today, therefore, I, whose attempt never fails, shall punish you.

23After thus rebuking Rāvaṇa, Lord Rāmacandra fixed an arrow to His bow, aimed at Rāvaṇa, and released the arrow, which pierced Rāvaṇa's heart like a thunderbolt. Upon seeing this, Rāvaṇa's followers raised a tumultuous sound, crying, "Alas! Alas! What has happened? What has happened?" as Rāvaṇa, vomiting blood from his ten mouths, fell from his airplane, just as a pious man falls to earth from the heavenly planets when the results of his pious activities are exhausted.

24Thereafter, all the women whose husbands had fallen in the battle, headed by Mandodarī, the wife of Rāvaṇa, came out of Laṅkā. Continuously crying, they approached the dead bodies of Rāvaṇa and the other Rākṣasas.

25Striking their breasts in affliction because their husbands had been killed by the arrows of Lakṣmaṇa, the women embraced their respective husbands and cried piteously in voices appealing to everyone.

26O my lord, O master! You epitomized trouble for others, and therefore you were called Rāvaṇa. But now that you have been defeated, we also are defeated, for without you the state of Laṅkā has been conquered by the enemy. To whom will it go for shelter?

27O greatly fortunate one, you came under the influence of lusty desires, and therefore you could not understand the influence of mother Sītā. Now, because of her curse, you have been reduced to this state, having been killed by Lord Rāmacandra.

28O pleasure of the Rākṣasa dynasty, because of you the state of Laṅkā and also we ourselves now have no protector. By your deeds you have made your body fit to be eaten by vultures and your soul fit to go to hell.

29ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: Vibhīṣaṇa, the pious brother of Rāvaṇa and devotee of Lord Rāmacandra, received approval from Lord Rāmacandra, the King of Kosala. Then he performed the prescribed funeral ceremonies for his family members to save them from the path to hell.

30Thereafter, Lord Rāmacandra found Sītādevī sitting in a small cottage beneath the tree named Siṁśapā in a forest of Aśoka trees. She was lean and thin, being aggrieved because of separation from Him.

31Seeing His wife in that condition, Lord Rāmacandra was very compassionate. When Rāmacandra came before her, she was exceedingly happy to see her beloved, and her lotuslike mouth showed her joy.

32After giving Vibhīṣaṇa the power to rule the Rākṣasa population of Laṅkā for the duration of one kalpa, Lord Rāmacandra, the Supreme Personality of Godhead [Bhagavān], placed Sītādevī

on an airplane decorated with flowers and then got on the plane Himself. The period for His living in the forest having ended, the Lord returned to Ayodhyā, accompanied by Hanumān, Sugrīva and His brother Lakṣmaṇa.

33When Lord Rāmacandra returned to His capital, Ayodhyā, He was greeted on the road by the princely order, who showered His body with beautiful, fragrant flowers, while great personalities like Lord Brahmā and other demigods glorified the activities of the Lord in great jubilation.

34Upon reaching Ayodhyā, Lord Rāmacandra heard that in His absence His brother Bharata was eating barley cooked in the urine of a cow, covering His body with the bark of trees, wearing matted locks of hair, and lying on a mattress of kuśa. The most merciful Lord very much lamented this.

35-38When Lord Bharata understood that Lord Rāmacandra was returning to the capital, Ayodhyā, He immediately took upon His own head Lord Rāmacandra's wooden shoes and came out from His camp at Nandigrāma. Lord Bharata was accompanied by ministers, priests and other respectable citizens, by professional musicians vibrating pleasing musical sounds, and by learned brāhmaṇas loudly chanting Vedic hymns. Following in the procession were chariots drawn by beautiful horses with harnesses of golden rope. These chariots were decorated by flags with golden embroidery and by other flags of various sizes and patterns. There were soldiers bedecked with golden armor, servants bearing betel nut, and many well-known and beautiful prostitutes. Many servants followed on foot, bearing an umbrella, whisks, different grades of precious jewels, and other paraphernalia befitting a royal reception. Accompanied in this way, Lord Bharata, His heart softened in ecstasy and His eyes full of tears, approached Lord Rāmacandra and fell at His lotus feet with great ecstatic love.

39-40After offering the wooden shoes before Lord Rāmacandra, Lord Bharata stood with folded hands, His eyes full of tears, and Lord Rāmacandra bathed Bharata with tears while embracing Him with both arms for a long time. Accompanied by mother Sītā and Lakṣmaṇa, Lord Rāmacandra then offered His respectful obeisances unto the learned brāhmaṇas and the elderly persons in the family, and all the citizens of Ayodhyā offered their respectful obeisances unto the Lord.

41The citizens of Ayodhyā, upon seeing their King return after a long absence, offered Him flower garlands, waved their upper cloths, and danced in great jubilation.

42-43O King, Lord Bharata carried Lord Rāmacandra's wooden shoes, Sugrīva and Vibhīṣaṇa carried a whisk and an excellent fan, Hanumān carried a white umbrella, Śatrughna carried a bow and two quivers, and Sītādevī carried a waterpot filled with water from holy places. Aṅgada carried a sword, and Jāmbavān, King of the Ṛkṣas, carried a golden shield.

44O King Parīkṣit, as the Lord sat on His airplane of flowers, with women offering Him prayers and reciters chanting about His characteristics, He appeared like the moon with the stars and planets.

45-46Thereafter, having been welcomed by His brother Bharata, Lord Rāmacandra entered the city of Ayodhyā in the midst of a festival. When He entered the palace, He offered obeisances to all the mothers, including Kaikeyī and the other wives of Mahārāja Daśaratha, and especially His own mother, Kauśalyā. He also offered obeisances to the spiritual preceptors, such as Vasiṣṭha. Friends of His own age and younger friends worshiped Him, and He returned their respectful obeisances, as did Lakṣmaṇa and mother Sītā. In this way they all entered the palace.

47Upon seeing their sons, the mothers of Rāma, Lakṣmaṇa, Bharata and Śatrughna immediately arose, like unconscious bodies returning to consciousness. The mothers placed their sons on their laps and bathed Them with tears, thus relieving themselves of the grief of long separation.

48The family priest or spiritual master, Vasiṣṭha, had Lord Rāmacandra cleanly shaved, freeing Him from His matted locks of hair. Then, with the cooperation of the elderly members of the family, he performed the bathing ceremony [abhiṣeka] for Lord Rāmacandra with the water of the four seas and with other substances, just as it was performed for King Indra.

49Lord Rāmacandra, fully bathed and His head clean-shaven, dressed Himself very nicely and was decorated with a garland and ornaments. Thus He shone brightly, surrounded by His brothers and wife, who were similarly dressed and ornamented.

50Being pleased by the full surrender and submission of Lord Bharata, Lord Rāmacandra then accepted the throne of the state. He cared for the citizens exactly like a father, and the citizens, being fully engaged in their occupational duties of varṇa and āśrama, accepted Him as their father.

51Lord Rāmacandra became King during Tretā-yuga, but because of His good government, the age was like Satya-yuga. Everyone was religious and completely happy.

52O Mahārāja Parīkṣit, best of the Bharata dynasty, during the reign of Lord Rāmacandra the forests, the rivers, the hills and mountains, the states, the seven islands and the seven seas were all favorable in supplying the necessities of life for all living beings.

53When Lord Rāmacandra, the Supreme Personality of Godhead, was the King of this world, all bodily and mental suffering, disease, old age, bereavement, lamentation, distress, fear and fatigue were completely absent. There was even no death for those who did not want it.

54Lord Rāmacandra took a vow to accept only one wife and have no connection with any other women. He was a saintly king, and everything in His character was good, untinged by qualities like anger. He taught good behavior for everyone, especially for householders, in terms of varṇāśrama-dharma. Thus He taught the general public by His personal activities.

55Mother Sītā was very submissive, faithful, shy and chaste, always understanding the attitude of her husband. Thus by her character and her love and service she completely attracted the mind of the Lord.

## SB 9.11: Lord Rāmacandra Rules the World

This chapter describes how Lord Rāmacandra resided in Ayodhyā with His younger brothers and performed various sacrifices.

Lord Rāmacandra, the Supreme Personality of Godhead, performed various sacrifices by which to worship Himself, and at the end of these sacrifices He gave land to the *hotā, adhvaryu, udgātā* and *brahmā* priests. He gave them the eastern, western, northern and southern directions respectively, and the balance He gave to the *ācārya*. Lord Rāmacandra's faith in the *brāhmaṇas* and affection for His servants was observed by all the *brāhmaṇas,* who then offered their prayers to the Lord and returned whatever they had taken from Him. They regarded the enlightenment given to them by the Lord within the core of their hearts as a sufficient contribution. Lord Rāmacandra subsequently dressed Himself like an ordinary person and began wandering within the capital to understand what impression the citizens had of Him. By chance, one night He heard a man talking to his wife, who had gone to another man's house. In the course of rebuking his wife, the man spoke suspiciously of the character of

Sītādevī. The Lord immediately returned home, and, fearing such rumors, He superficially decided to give up Sītādevī's company. Thus He banished Sītādevī, who was pregnant, to the shelter of Vālmīki Muni, where she gave birth to twin sons, named Lava and Kuśa. In Ayodhyā, Lakṣmaṇa begot two sons named Aṅgada and Citraketu, Bharata begot two sons named Takṣa and Puṣkala, and Śatrughna begot two sons named Subāhu and Śrutasena. When Bharata went out to conquer various lands on behalf of the emperor, Lord Rāmacandra, He fought many millions of Gandharvas. By killing them in the fight, He acquired immense wealth, which He then brought home. Śatrughna killed a demon named Lavaṇa at Madhuvana and thus established the capital of Mathurā. Meanwhile, Sītādevī placed her two sons in the care of Vālmīki Muni and then entered into the earth. Upon hearing of this, Lord Rāmacandra was very much aggrieved, and thus He performed sacrifices for thirteen thousand years. After describing the pastimes of Lord Rāmacandra's disappearance and establishing that the Lord appears for His pastimes only, Śukadeva Gosvāmī ends this chapter by describing the results of hearing about the activities of Lord Rāmacandra and by describing how the Lord protected His citizens and displayed affection for His brothers.

1Śukadeva Gosvāmī said: Thereafter, the Supreme Personality of Godhead, Lord Rāmacandra, accepted an ācārya and performed sacrifices [yajṣas] with opulent paraphernalia. Thus He Himself worshiped Himself, for He is the Supreme Lord of all demigods.

2Lord Rāmacandra gave the entire east to the hotā priest, the entire south to the brahmā priest, the west to the adhvaryu priest, and the north to the udgātā priest, the reciter of the Sāma Veda. In this way, He donated His kingdom.

3Thereafter, thinking that because the brāhmaṇas have no material desires they should possess the entire world, Lord Rāmacandra delivered the land between the east, west, north and south to the ācārya.

4After thus giving everything in charity to the brāhmaṇas, Lord Rāmacandra retained only His personal garments and ornaments, and similarly the Queen, mother Sītā, was left with only her nose ring, and nothing else.

5All the brāhmaṇas who were engaged in the various activities of the sacrifice were very pleased with Lord Rāmacandra, who was greatly affectionate and favorable to the brāhmaṇas. Thus with melted hearts they returned all the property received from Him and spoke as follows.

6O Lord, You are the master of the entire universe. What have You not given to us? You have entered the core of our hearts and dissipated the darkness of our ignorance by Your effulgence. This is the supreme gift. We do not need a material donation.

7O Lord, You are the Supreme Personality of Godhead, who have accepted the brāhmaṇas as Your worshipable deity. Your knowledge and memory are never disturbed by anxiety. You are the chief of all famous persons within this world, and Your lotus feet are worshiped by sages who are beyond the jurisdiction of punishment. O Lord Rāmacandra, let us offer our respectful obeisances unto You.

8Śukadeva Gosvāmī continued: Once while Lord Rāmacandra was walking at night incognito, hiding Himself by a disguise to find out the people's opinion of Himself, He heard a man speaking unfavorably about His wife, Sītādevī.

9[Speaking to his unchaste wife, the man said] You go to another man's house, and therefore you are unchaste and polluted. I shall not maintain you any more. A henpecked husband like

Lord Rāma may accept a wife like Sītā, who went to another man's house, but I am not henpecked like Him, and therefore I shall not accept you again.

10Śukadeva Gosvāmī said: Men with a poor fund of knowledge and a heinous character speak nonsensically. Fearing such rascals, Lord Rāmacandra abandoned His wife, Sītādevī, although she was pregnant. Thus Sītādevī went to the āśrama of Vālmīki Muni.

11When the time came, the pregnant mother Sītādevī gave birth to twin sons, later celebrated as Lava and Kuśa. The ritualistic ceremonies for their birth were performed by Vālmīki Muni.

12O Mahārāja Parīkṣit, Lord Lakṣmaṇa had two sons, named Aṅgada and Citraketu, and Lord Bharata also had two sons, named Takṣa and Puṣkala.

13-14Śatrughna had two sons, named Subāhu and Śrutasena. When Lord Bharata went to conquer all directions, He had to kill many millions of Gandharvas, who are generally pretenders. Taking all their wealth, He offered it to Lord Rāmacandra. Śatrughna also killed a Rākṣasa named Lavaṇa, who was the son of Madhu Rākṣasa. Thus He established in the great forest known as Madhuvana the town known as Mathurā.

15Being forsaken by her husband, Sītādevī entrusted her two sons to the care of Vālmīki Muni. Then, meditating upon the lotus feet of Lord Rāmacandra, she entered into the earth.

16After hearing the news of mother Sītā's entering the earth, the Supreme Personality of Godhead was certainly aggrieved. Although He is the Supreme Personality of Godhead, upon remembering the exalted qualities of mother Sītā, He could not check His grief in transcendental love.

17The attraction between man and woman, or male and female, always exists everywhere, making everyone always fearful. Such feelings are present even among the controllers like Brahmā and Lord Śiva and is the cause of fear for them, what to speak of others who are attached to household life in this material world.

18After mother Sītā entered the earth, Lord Rāmacandra observed complete celibacy and performed an uninterrupted Agnihotra-yajṣa for thirteen thousand years.

19After completing the sacrifice, Lord Rāmacandra, whose lotus feet were sometimes pierced by thorns when He lived in Daṇḍakāraṇya, placed those lotus feet in the hearts of those who always think of Him. Then He entered His own abode, the Vaikuṇṭha planet beyond the brahmajyoti.

20Lord Rāmacandra's reputation for having killed Rāvaṇa with showers of arrows at the request of the demigods and for having built a bridge over the ocean does not constitute the factual glory of the Supreme Personality of Godhead Lord Rāmacandra, whose spiritual body is always engaged in various pastimes. Lord Rāmacandra has no equal or superior, and therefore He had no need to take help from the monkeys to gain victory over Rāvaṇa.

21Lord Rāmacandra's spotless name and fame, which vanquish all sinful reactions, are celebrated in all directions, like the ornamental cloth of the victorious elephant that conquers all directions. Great saintly persons like Mārkaṇḍeya Ṛṣi still glorify His characteristics in the assemblies of great emperors like Mahārāja Yudhiṣṭhira. Similarly, all the saintly kings and all the demigods, including Lord Śiva and Lord Brahmā, worship the Lord by bowing down with their helmets. Let me offer my obeisances unto His lotus feet.

22Lord Rāmacandra returned to His abode, to which bhakti-yogīs are promoted. This is the place to which all the inhabitants of Ayodhyā went after they served the Lord in His manifest pastimes by offering Him obeisances, touching His lotus feet, fully observing Him as a fatherlike King, sitting or lying down with Him like equals, or even just accompanying Him.

23O King Parīkṣit, anyone who aurally receives the narrations concerning the characteristics of Lord Rāmacandra's pastimes will ultimately be freed from the disease of envy and thus be liberated from the bondage of fruitive activities.

24Mahārāja Parīkṣit inquired from Śukadeva Gosvāmī: How did the Lord conduct Himself, and how did He behave in relationship with His brothers, who were expansions of His own self? And how did His brothers and the inhabitants of Ayodhyā treat Him?

25Śukadeva Gosvāmī replied: After accepting the throne of the government by the fervent request of His younger brother Bharata, Lord Rāmacandra ordered His younger brothers to go out and conquer the entire world, while He personally remained in the capital to give audience to all the citizens and residents of the palace and supervise the governmental affairs with His other assistants.

26During the reign of Lord Rāmacandra, the streets of the capital, Ayodhyā, were sprinkled with perfumed water and drops of perfumed liquor, thrown about by elephants from their trunks. When the citizens saw the Lord personally supervising the affairs of the city in such opulence, they appreciated this opulence very much.

27The palaces, the palace gates, the assembly houses, the platforms for meeting places, the temples and all such places were decorated with golden waterpots and bedecked with various types of flags.

28Wherever Lord Rāmacandra visited, auspicious welcome gates were constructed, with banana trees and betel-nut trees, full of flowers and fruits. The gates were decorated with various flags made of colorful cloth and with tapestries, mirrors and garlands.

29Wherever Lord Rāmacandra visited, the people approached Him with paraphernalia of worship and begged the Lord's blessings. "O Lord," they said, "as You rescued the earth from the bottom of the sea in Your incarnation as a boar, may You now maintain it. Thus we beg Your blessings."

30Thereafter, not having seen the Lord for a long time, the citizens, both men and women, being very eager to see Him, left their homes and got up on the roofs of the palaces. Being incompletely satiated with seeing the face of the lotus-eyed Lord Rāmacandra, they showered flowers upon Him.

31-34Thereafter, Lord Rāmacandra entered the palace of His forefathers. Within the palace were various treasures and valuable wardrobes. The sitting places on the two sides of the entrance door were made of coral, the yards were surrounded by pillars of vaidūrya-maṇi, the floor was made of highly polished marakata-maṇi, and the foundation was made of marble. The entire palace was decorated with flags and garlands and bedecked with valuable stones, shining with a celestial effulgence. The palace was fully decorated with pearls and surrounded by lamps and incense. The men and women within the palace all resembled demigods and were decorated with various ornaments, which seemed beautiful because of being placed on their bodies.

35Lord Rāmacandra, the Supreme Personality of Godhead, chief of the best learned scholars, resided in that palace with His pleasure potency, mother Sītā, and enjoyed complete peace.

36Without transgressing the religious principles, Lord Rāmacandra, whose lotus feet are worshiped by devotees in meditation, enjoyed with all the paraphernalia of transcendental pleasure for as long as needed.

**SB 9.12: The Dynasty of Kuśa, the Son of Lord Rāmacandra**

This chapter describes the dynasty of Kuśa, the son of Lord Rāmacandra. The members of this dynasty are descendants of Śaśāda, the son of Mahārāja Ikṣvāku.

Following in the genealogical table of Lord Rāmacandra's dynasty, Kuśa, the Lord's son, was followed consecutively by Atithi, Niṣadha, Nabha, Puṇḍarīka, Kṣemadhanvā, Devānīka, Anīha, Pāriyātra, Balasthala, Vajranābha, Sagaṇa and Vidhṛti. These personalities ruled the world. From Vidhṛti came Hiraṇyanābha, who later became the disciple of Jaimini and propounded the system of mystic *yoga* in which Yājṣavalkya was initiated. Following in this dynasty were Puṣpa, Dhruvasandhi, Sudarśana, Agnivarṇa, Śīghra and Maru. Maru attained full perfection in the practice of *yoga,* and he still lives in the village of Kalāpa. At the end of this Age of Kali, he will revive the dynasty of the sun-god. Next in the dynasty were Prasuśruta, Sandhi, Amarṣaṇa, Mahasvān, Viśvabāhu, Prasenajit, Takṣaka and Bṛhadbala, who was later killed by Abhimanyu. Śukadeva Gosvāmī said that these were all kings who had passed away. The future descendants of Bṛhadbala will be Bṛhadraṇa, Ūrukriya, Vatsavṛddha, Prativyoma, Bhānu, Divāka, Sahadeva, Bṛhadaśva, Bhānumān, Pratīkāśva, Supratīka, Marudeva, Sunakṣatra, Puṣkara, Antarikṣa, Sutapā, Amitrajit, Bṛhadrāja, Barhi, Kṛtaṣjaya, Raṇaṣjaya, Saṣjaya, Śākya, Śuddhoda, Lāṅgala, Prasenajit, Kṣudraka, Raṇaka, Suratha and Sumitra. All of them will become kings one after another. Sumitra, coming in this Age of Kali, will be the last king in the Ikṣvāku dynasty; after him, the dynasty will be extinguished.

1Śukadeva Gosvāmī said: The son of Rāmacandra was Kuśa, the son of Kuśa was Atithi, the son of Atithi was Niṣadha, and the son of Niṣadha was Nabha. The son of Nabha was Puṇḍarīka, and from Puṇḍarīka came a son named Kṣemadhanvā.

2The son of Kṣemadhanvā was Devānīka, Devānīka's son was Anīha, Anīha's son was Pāriyātra, and Pāriyātra's son was Balasthala. The son of Balasthala was Vajranābha, who was said to have been born from the effulgence of the sun-god.

3-4The son of Vajranābha was Sagaṇa, and his son was Vidhṛti. The son of Vidhṛti was Hiraṇyanābha, who became a disciple of Jaimini and became a great ācārya of mystic yoga. It is from Hiraṇyanābha that the great saint Yājṣavalkya learned the highly elevated system of mystic yoga known as ādhyātma-yoga, which can loosen the knots of material attachment in the heart.

5The son of Hiraṇyanābha was Puṣpa, and the son of Puṣpa was Dhruvasandhi. The son of Dhruvasandhi was Sudarśana, whose son was Agnivarṇa. The son of Agnivarṇa was named Śīghra, and his son was Maru.

6Having achieved perfection in the power of mystic yoga, Maru still lives in a place known as Kalāpa-grāma. At the end of Kali-yuga, he will revive the lost Sūrya dynasty by begetting a son.

7From Maru was born a son named Prasuśruta, from Prasuśruta came Sandhi, from Sandhi came Amarṣaṇa, and from Amarṣaṇa a son named Mahasvān. From Mahasvān, Viśvabāhu took his birth.

8From Viśvabāhu came a son named Prasenajit, from Prasenajit came Takṣaka, and from Takṣaka came Bṛhadbala, who was killed in a fight by your father.

9All these kings in the dynasty of Ikṣvāku have passed away. Now please listen as I describe the kings who will be born in the future. From Bṛhadbala will come Bṛhadraṇa.

10The son of Bṛhadraṇa will be Ūrukriya, who will have a son named Vatsavṛddha. Vatsavṛddha will have a son named Prativyoma, and Prativyoma will have a son named Bhānu, from whom Divāka, a great commander of soldiers, will take birth.

11Thereafter, from Divāka will come a son named Sahadeva, and from Sahadeva a great hero named Bṛhadaśva. From Bṛhadaśva will come Bhānumān, and from Bhānumān will come Pratīkāśva. The son of Pratīkāśva will be Supratīka.

12Thereafter, from Supratīka will come Marudeva; from Marudeva, Sunakṣatra; from Sunakṣatra, Puṣkara; and from Puṣkara, Antarikṣa. The son of Antarikṣa will be Sutapā, and his son will be Amitrajit.

13From Amitrajit will come a son named Bṛhadrāja, from Bṛhadrāja will come Barhi, and from Barhi will come Kṛtaṣjaya. The son of Kṛtaṣjaya will be known as Raṇaṣjaya, and from him will come a son named Saṣjaya.

14From Saṣjaya will come Śākya, from Śākya will come Śuddhoda, and from Śuddhoda will come Lāṅgala. From Lāṅgala will come Prasenajit, and from Prasenajit, Kṣudraka.

15From Kṣudraka will come Raṇaka, from Raṇaka will come Suratha, and from Suratha will come Sumitra, ending the dynasty. This is a description of the dynasty of Bṛhadbala.

16The last king in the dynasty of Ikṣvāku will be Sumitra; after Sumitra there will be no more sons in the dynasty of the sun-god, and thus the dynasty will end.

## SB 9.13: The Dynasty of Mahārāja Nimi

This chapter describes the dynasty in which the great and learned scholar Janaka was born. This is the dynasty of Mahārāja Nimi, who is said to have been the son of Ikṣvāku.

When Mahārāja Nimi began performing great sacrifices, he appointed Vasiṣṭha to be chief priest, but Vasiṣṭha refused, for he had already agreed to be priest in performing a *yajṣa* for Lord Indra. Vasiṣṭha therefore requested Mahārāja Nimi to wait until Lord Indra's sacrifice was finished, but Mahārāja Nimi did not wait. He thought, "Life is very short, so there is no need to wait." He therefore appointed another priest to perform the *yajṣa*. Vasiṣṭha was very angry at King Nimi and cursed him, saying, "May your body fall down." Cursed in that way, Mahārāja Nimi also became very angry and retaliated by saying, "May your body also fall down." As a result of this cursing and countercursing, both of them died. After this incident, Vasiṣṭha took birth again, begotten by Mitra and Varuṇa, who were agitated by Urvaśī.

The priests who were engaged in the sacrifice for King Nimi preserved Nimi's body in fragrant chemicals. When the sacrifice was over, the priests prayed for Nimi's life to all the demigods who had come to the arena of *yajṣa,* but Mahārāja Nimi refused to take birth again in a material body because he considered the material body obnoxious. The great sages then churned Nimi's body, and as a result of this churning, Janaka was born.

The son of Janaka was Udāvasu, and the son of Udāvasu was Nandivardhana. The son of Nandivardhana was Suketu, and his descendants continued as follows: Devarāta, Bṛhadratha, Mahāvīrya, Sudhṛti, Dhṛṣṭaketu, Haryaśva, Maru, Pratīpaka, Kṛtaratha, Devamīḍha, Viśruta, Mahādhṛti, Kṛtirāta, Mahāromā, Svarṇaromā, Hrasvaromā and Śīradhvaja. All these sons

appeared in the dynasty one after another. From Śīradhvaja, mother Sītādevī was born. Śīradhvaja's son was Kuśadhvaja, and the son of Kuśadhvaja was Dharmadhvaja. The sons of Dharmadhvaja were Kṛtadhvaja and Mitadhvaja. The son of Kṛtadhvaja was Keśidhvaja, and the son of Mitadhvaja was Khāṇḍikya. Keśidhvaja was a self-realized soul, and his son was Bhānumān, whose descendants were as follows: Śatadyumna, Śuci, Sanadvāja, Ūrjaketu, Aja, Purujit, Ariṣṭanemi, Śrutāyu, Supārśvaka, Citraratha, Kṣemādhi, Samaratha, Satyaratha, Upaguru, Upagupta, Vasvananta, Yuyudha, Subhāṣaṇa, Śruta, Jaya, Vijaya, Ṛta, Śunaka, Vītahavya, Dhṛti, Bahulāśva, Kṛti and Mahāvaśī. All of these sons were great self-controlled personalities. This completes the list of the entire dynasty.

1Śrīla Śukadeva Gosvāmī said: After beginning sacrifices, Mahārāja Nimi, the son of Ikṣvāku, requested the great sage Vasiṣṭha to take the post of chief priest. At that time, Vasiṣṭha replied, "My dear Mahārāja Nimi, I have already accepted the same post in a sacrifice begun by Lord Indra."

2"I shall return here after finishing the yajṣa for Indra. Kindly wait for me until then." Mahārāja Nimi remained silent, and Vasiṣṭha began to perform the sacrifice for Lord Indra.

3Mahārāja Nimi, being a self-realized soul, considered that this life is flickering. Therefore, instead of waiting long for Vasiṣṭha, he began performing the sacrifice with other priests.

4After completing the sacrificial performance for King Indra, the spiritual master Vasiṣṭha returned and found that his disciple Mahārāja Nimi had disobeyed his instructions. Thus Vasiṣṭha cursed him, saying, "May the material body of Nimi, who considers himself learned, immediately fall."

5For unnecessarily cursing him when he had committed no offense, Mahārāja Nimi countercursed his spiritual master. "For the sake of getting contributions from the King of heaven," he said, "you have lost your religious intelligence. Therefore I pronounce this curse: your body also will fall."

6After saying this, Mahārāja Nimi, who was expert in the science of spiritual knowledge, gave up his body. Vasiṣṭha, the great-grandfather, gave up his body also, but through the semen discharged by Mitra and Varuṇa when they saw Urvaśī, he was born again.

7During the performance of the yajṣa, the body relinquished by Mahārāja Nimi was preserved in fragrant substances, and at the end of the Satra-yāga the great saints and brāhmaṇas made the following request to all the demigods assembled there.

8"If you are satisfied with this sacrifice and if you are actually able to do so, kindly bring Mahārāja Nimi back to life in this body." The demigods said yes to this request by the sages, but Mahārāja Nimi said, "Please do not imprison me again in a material body."

9Mahārāja Nimi continued: Māyāvādīs generally want freedom from accepting a material body because they fear having to give it up again. But devotees whose intelligence is always filled with the service of the Lord are unafraid. Indeed, they take advantage of the body to render transcendental loving service.

10I do not wish to accept a material body, for such a body is the source of all distress, lamentation and fear, everywhere in the universe, just as it is for a fish in the water, which lives always in anxiety because of fear of death.

11The demigods said: Let Mahārāja Nimi live without a material body. Let him live in a spiritual

body as a personal associate of the Supreme Personality of Godhead, and, according to his desire, let him be manifest or unmanifest to common materially embodied people.

12Thereafter, to save the people from the danger of an unregulated government, the sages churned Mahārāja Nimi's material body, from which, as a result, a son was born.

13Because he was born in an unusual way, the son was called Janaka, and because he was born from the dead body of his father, he was known as Vaideha. Because he was born from the churning of his father's material body, he was known as Mithila, and because he constructed a city as King Mithila, the city was called Mithilā.

14O King Parīkṣit, from Mithila came a son named Udāvasu; from Udāvasu, Nandivardhana; from Nandivardhana, Suketu; and from Suketu, Devarāta.

15From Devarāta came a son named Bṛhadratha and from Bṛhadratha a son named Mahāvīrya, who became the father of Sudhṛti. The son of Sudhṛti was known as Dhṛṣṭaketu, and from Dhṛṣṭaketu came Haryaśva. From Haryaśva came a son named Maru.

16The son of Maru was Pratīpaka, and the son of Pratīpaka was Kṛtaratha. From Kṛtaratha came Devamīḍha; from Devamīḍha, Viśruta; and from Viśruta, Mahādhṛti.

17From Mahādhṛti was born a son named Kṛtirāta, from Kṛtirāta was born Mahāromā, from Mahāromā came a son named Svarṇaromā, and from Svarṇaromā came Hrasvaromā.

18From Hrasvaromā came a son named Śīradhvaja [also called Janaka]. When Śīradhvaja was plowing a field, from the front of his plow [śīra] appeared a daughter named Sītādevī, who later became the wife of Lord Rāmacandra. Thus he was known as Śīradhvaja.

19The son of Śīradhvaja was Kuśadhvaja, and the son of Kuśadhvaja was King Dharmadhvaja, who had two sons, namely Kṛtadhvaja and Mitadhvaja.

20-21O Mahārāja Parīkṣit, the son of Kṛtadhvaja was Keśidhvaja, and the son of Mitadhvaja was Khāṇḍikya. The son of Kṛtadhvaja was expert in spiritual knowledge, and the son of Mitadhvaja was expert in Vedic ritualistic ceremonies. Khāṇḍikya fled in fear of Keśidhvaja. The son of Keśidhvaja was Bhānumān, and the son of Bhānumān was Śatadyumna.

22The son of Śatadyumna was named Śuci. From Śuci, Sanadvāja was born, and from Sanadvāja came a son named Ūrjaketu. The son of Ūrjaketu was Aja, and the son of Aja was Purujit.

23The son of Purujit was Ariṣṭanemi, and his son was Śrutāyu. Śrutāyu begot a son named Supārśvaka, and Supārśvaka begot Citraratha. The son of Citraratha was Kṣemādhi, who became the king of Mithilā.

24The son of Kṣemādhi was Samaratha, and his son was Satyaratha. The son of Satyaratha was Upaguru, and the son of Upaguru was Upagupta, a partial expansion of the fire-god.

25The son of Upagupta was Vasvananta, the son of Vasvananta was Yuyudha, the son of Yuyudha was Subhāṣaṇa, and the son of Subhāṣaṇa was Śruta. The son of Śruta was Jaya, from whom there came Vijaya. The son of Vijaya was Ṛta.

26The son of Ṛta was Śunaka, the son of Śunaka was Vītahavya, the son of Vītahavya was Dhṛti, and the son of Dhṛti was Bahulāśva. The son of Bahulāśva was Kṛti, and his son was Mahāvaśī.

27Śukadeva Gosvāmī said: My dear King Parīkṣit, all the kings of the dynasty of Mithila were completely in knowledge of their spiritual identity. Therefore, even though staying at home, they were liberated from the duality of material existence.

**SB 9.14: King Purūravā Enchanted by Urvaśī**

The summary of this Fourteenth Chapter is given as follows. This chapter describes Soma and how he kidnapped the wife of Bṛhaspati and begot in her womb a son named Budha. Budha begot Purūravā, who begot six sons, headed by Āyu, in the womb of Urvaśī.

Lord Brahmā was born from the lotus that sprouted from the navel of Garbhodakaśāyī Viṣṇu. Brahmā had a son named Atri, and Atri's son was Soma, the king of all drugs and stars. Soma became the conqueror of the entire universe, and, being inflated with pride, he kidnapped Tārā, who was the wife of Bṛhaspati, the spiritual master of the demigods. A great fight ensued between the demigods and the *asuras,* but Brahmā rescued Bṛhaspati's wife from the clutches of Soma and returned her to her husband, thus stopping the fighting. In the womb of Tārā, Soma begot a son named Budha, who later begot in the womb of Ilā a son named Aila, or Purūravā. Urvaśī was captivated by Purūravā's beauty, and therefore she lived with him for some time, but when she left his company he became almost like a madman. While traveling all over the world, he met Urvaśī again at Kurukṣetra, but she agreed to join with him for only one night in a year.

One year later, Purūravā saw Urvaśī at Kurukṣetra and was glad to be with her for one night, but when he thought of her leaving him again, he was overwhelmed by grief. Urvaśī then advised Purūravā to worship the Gandharvas. Being satisfied with Purūravā, the Gandharvas gave him a woman known as Agnisthālī. Purūravā mistook Agnisthālī for Urvaśī, but while he was wandering in the forest his misunderstanding was cleared, and he immediately gave up her company. After returning home and meditating upon Urvaśī all night, he wanted to perform a Vedic ritualistic ceremony to satisfy his desire. Thereafter he went to the same place where he had left Agnisthālī, and there he saw that from the womb of a *śamī* tree had come an *aśvattha* tree. Purūravā made two sticks from this tree and thus produced a fire. By such a fire one can satisfy all lusty desires. The fire was considered the son of Purūravā. In Satya-yuga there was only one social division, called *haṁsa;* there were no divisions of *varṇa* like *brāhmaṇa, kṣatriya, vaiśya* and *śūdra*. The *Veda* was the *oṁkāra*. The various demigods were not worshiped, for only the Supreme Personality of Godhead was the worshipable Deity.

1Śrīla Śukadeva Gosvāmī said to Mahārāja Parīkṣit: O King, thus far you have heard the description of the dynasty of the sun-god. Now hear the most glorious and purifying description of the dynasty of the moon-god. This description mentions kings like Aila [Purūravā] of whom it is glorious to hear.

2Lord Viṣṇu [Garbhodakaśāyī Viṣṇu] is also known as Sahasra-śīrṣā Puruṣa. From the lake of His navel sprang a lotus, on which Lord Brahmā was generated. Atri, the son of Lord Brahmā, was as qualified as his father.

3From Atri's tears of jubilation was born a son named Soma, the moon, who was full of soothing rays. Lord Brahmā appointed him the director of the brāhmaṇas, drugs and luminaries.

4After conquering the three worlds [the upper, middle and lower planetary systems], Soma, the moon-god, performed a great sacrifice known as the Rājasūya-yajṣa. Because he was very much puffed up, he forcibly kidnapped Bṛhaspati's wife, whose name was Tārā.

5Although requested again and again by Bṛhaspati, the spiritual master of the demigods, Soma did not return Tārā. This was due to his false pride. Consequently, a fight ensued between the demigods and the demons.

6Because of enmity between Bṛhaspati and Śukra, Śukra took the side of the moon-god and was joined by the demons. But LordŚiva, because of affection for the son of his spiritual master, joined the side of Bṛhaspati and was accompanied by all the ghosts and hobgoblins.

7King Indra, accompanied by all kinds of demigods, joined the side of Bṛhaspati. Thus there was a great fight, destroying both demons and demigods, only for the sake of Tārā, Bṛhaspati's wife.

8When Lord Brahmā was fully informed by Aṅgirā about the entire incident, he severely chastised the moon-god, Soma. Thus Lord Brahmā delivered Tārā to her husband, who could then understand that she was pregnant.

9Bṛhaspati said: You foolish woman, your womb, which was meant for me to impregnate, has been impregnated by someone other than me. Immediately deliver your child! Immediately deliver it! Be assured that after the child is delivered, I shall not burn you to ashes. I know that although you are unchaste, you wanted a son. Therefore I shall not punish you.

10Śukadeva Gosvāmī continued: By Bṛhaspati's order, Tārā, who was very much ashamed, immediately gave birth to the child, who was very beautiful, with a golden bodily hue. Both Bṛhaspati and the moon-god, Soma, desired the beautiful child.

11Fighting again broke out between Bṛhaspati and the moon-god, both of whom claimed, "This is my child, not yours!" All the saints and demigods present asked Tārā whose child the newborn baby actually was, but because she was ashamed she could not immediately answer.

12The child then became very angry and demanded that his mother immediately tell the truth. "You unchaste woman," he said, "what is the use of your unnecessary shame? Why do you not admit your fault? Immediately tell me about your faulty behavior."

13Lord Brahmā then brought Tārā to a secluded place, and after pacifying her he asked to whom the child actually belonged. She replied very slowly, "This is the son of Soma, the moon-god." Then the moon-god immediately took charge of the child.

14O Mahārāja Parīkṣit, when Lord Brahmā saw that the child was deeply intelligent, he gave the child the name Budha. The moon-god, the ruler of the stars, enjoyed great jubilation because of this son.

15-16Thereafter, from Budha, through the womb of Ilā, a son was born named Purūravā, who was described in the beginning of the Ninth Canto. When his beauty, personal qualities, magnanimity, behavior, wealth and power were described by Nārada in the court of Lord Indra, the celestial woman Urvaśī was attracted to him. Pierced by the arrow of Cupid, she thus approached him.

17-18Having been cursed by Mitra and Varuṇa, the celestial woman Urvaśī had acquired the habits of a human being. Therefore, upon seeing Purūravā, the best of males, whose beauty resembled that of Cupid, she controlled herself and then approached him. When King Purūravā saw Urvaśī, his eyes became jubilant in the ecstasy of joy, and the hairs on his body stood on end. With mild, pleasing words, he spoke to her as follows.

19King Purūravā said: O most beautiful woman, you are welcome. Please sit here and tell me

what I can do for you. You may enjoy with me as long as you desire. Let us pass our life happily in a sexual relationship.

20Urvaśī replied: O most handsome man, who is the woman whose mind and sight would not be attracted by you? If a woman takes shelter of your chest, she cannot refuse to enjoy with you in a sexual relationship.

21My dear King Purūravā, please give protection to these two lambs, who have fallen down with me. Although I belong to the heavenly planets and you belong to earth, I shall certainly enjoy sexual union with you. I have no objection to accepting you as my husband, for you are superior in every respect.

22Urvaśī said: "My dear hero, only preparations made in ghee [clarified butter] will be my eatables, and I shall not want to see you naked at any time, except at the time of sexual intercourse." The great-minded King Purūravā accepted these proposals.

23Purūravā replied: O beautiful one, your beauty is wonderful and your gestures are also wonderful. Indeed, you are attractive to all human society. Therefore, since you have come of your own accord from the heavenly planets, who on earth would not agree to serve a demigoddess such as you.

24Śukadeva Gosvāmī continued: The best of human beings, Purūravā, began freely enjoying the company of Urvaśī, who engaged in sexual activities with him in many celestial places, such as Caitraratha and Nandana-kānana, where the demigods enjoy.

25Urvaśī's body was as fragrant as the saffron of a lotus. Being enlivened by the fragrance of her face and body, Purūravā enjoyed her company for many days with great jubilation.

26Not seeing Urvaśī in his assembly, the King of heaven, Lord Indra, said, "Without Urvaśī my assembly is no longer beautiful." Considering this, he requested the Gandharvas to bring her back to his heavenly planet.

27Thus the Gandharvas came to earth, and at midnight, when everything was dark, they appeared in the house of Purūravā and stole the two lambs entrusted to the King by his wife, Urvaśī.

28Urvaśī treated the two lambs like her own sons. Therefore, when they were being taken by the Gandharvas and began crying, Urvaśī heard them and rebuked her husband. "Now I am being killed," she said, "under the protection of an unworthy husband, who is a coward and a eunuch although he thinks himself a great hero."

29"Because I depended on him, the plunderers have deprived me of my two sons the lambs, and therefore I am now lost. My husband lies down at night in fear, exactly like a woman, although he appears to be a man during the day."

30Purūravā, stricken by the sharp words of Urvaśī like an elephant struck by its driver's pointed rod, became very angry. Not even dressing himself properly, he took a sword in hand and went out naked into the night to follow the Gandharvas who had stolen the lambs.

31After giving up the two lambs, the Gandharvas shone brightly like lightning, thus illuminating the house of Purūravā. Urvaśī then saw her husband returning with the lambs in hand, but he was naked, and therefore she left.

32No longer seeing Urvaśī on his bed, Purūravā was most aggrieved. Because of his great

attraction for her, he was very much disturbed. Thus, lamenting, he began traveling about the earth like a madman.

33Once during his travels all over the world, Purūravā saw Urvaśī, accompanied by five companions, on the bank of the Sarasvatī at Kurukṣetra. With jubilation in his face, he then spoke to her in sweet words as follows.

34O my dear wife, O most cruel one, kindly stay, kindly stay. I know that I have never made you happy until now, but you should not give me up for that reason. This is not proper for you. Even if you have decided to give up my company, let us nonetheless talk for some time.

35O goddess, now that you have refused me, my beautiful body will fall down here, and because it is unsuitable for your pleasure, it will be eaten by foxes and vultures.

36Urvaśī said: My dear King, you are a man, a hero. Don't be impatient and give up your life. Be sober and don't allow the senses to overcome you like foxes. Don't let the foxes eat you. In other words, you should not be controlled by your senses. Rather, you should know that the heart of a woman is like that of a fox. There is no use making friendship with women.

37Women as a class are merciless and cunning. They cannot tolerate even a slight offense. For their own pleasure they can do anything irreligious, and therefore they do not fear killing even a faithful husband or brother.

38Women are very easily seduced by men. Therefore, polluted women give up the friendship of a man who is their well-wisher and establish false friendship among fools. Indeed, they seek newer and newer friends, one after another.

39O my dear King, you will be able to enjoy with me as my husband at the end of every year, for one night only. In this way you will have other children, one after another.

40Understanding that Urvaśī was pregnant, Purūravā returned to his palace. At the end of the year, there at Kurukṣetra, he again obtained the association of Urvaśī, who was then the mother of a heroic son.

41Having regained Urvaśī at the end of the year, King Purūravā was most jubilant, and he enjoyed her company in sex for one night. But then he was very sorry at the thought of separation from her, so Urvaśī spoke to him as follows.

42Urvaśī said: "My dear King, seek shelter of the Gandharvas, for they will be able to deliver me to you again." In accordance with these words, the King satisfied the Gandharvas by prayers, and the Gandharvas, being pleased with him, gave him an Agnisthālī girl who looked exactly like Urvaśī. Thinking that the girl was Urvaśī, the King began walking with her in the forest, but later he could understand that she was not Urvaśī but Agnisthālī.

43King Purūravā then left Agnisthālī in the forest and returned home, where he meditated all night upon Urvaśī. In the course of his meditation, the Tretā millennium began, and therefore the principles of the three Vedas, including the process of performing yajṣa to fulfill fruitive activities, appeared within his heart.

44-45When the process of fruitive yajṣa became manifest within his heart, King Purūravā went to the same spot where he had left Agnisthālī. There he saw that from the womb of a śamī tree, an aśvattha tree had grown. He then took a piece of wood from that tree and made it into two araṇis. Desiring to go to the planet where Urvaśī resided, he chanted mantras, meditating upon the lower araṇi as Urvaśī, the upper one as himself, and the piece of wood between them as his

son. In this way he began to ignite a fire.

46From Purūravā's rubbing of the araṇis came a fire. By such a fire one can achieve all success in material enjoyment and be purified in seminal birth, initiation and in the performance of sacrifice, which are invoked with the combined letters a-u-m. Thus the fire was considered the son of King Purūravā.

47By means of that fire, Purūravā, who desired to go to the planet where Urvaśī resided, performed a sacrifice, by which he satisfied the Supreme Personality of Godhead, Hari, the enjoyer of the results of sacrifice. Thus he worshiped the Lord, who is beyond the perception of the senses and is the reservoir of all the demigods.

48In the Satya-yuga, the first millennium, all the Vedic mantras were included in one mantrapraṇava, the root of all Vedic mantras. In other words, the Atharva Veda alone was the source of all Vedic knowledge. The Supreme Personality of Godhead Nārāyaṇa was the only worshipable Deity; there was no recommendation for worship of the demigods. Fire was one only, and the only order of life in human society was known as haṁsa.

49O Mahārāja Parīkṣit, at the beginning of Tretā-yuga, King Purūravā inaugurated a karma-kāṇḍa sacrifice. Thus Purūravā, who considered the yajṣic fire his son, was able to go to Gandharvaloka as he desired.

## SB 9.15: Paraśurāma, the Lord's Warrior Incarnation

This chapter describes the history of Gādhi in the dynasty of Aila.

From the womb of Urvaśī came six sons, named Āyu, Śrutāyu, Satyāyu, Raya, Jaya and Vijaya. The son of Śrutāyu was Vasumān, the son of Satyāyu was Śrutaṣjaya, the son of Raya was Eka, the son of Jaya was Amita, and the son of Vijaya was Bhīma. Bhīma's son was named Kāṣcana, the son of Kāṣcana was Hotraka, and the son of Hotraka was Jahnu, who was celebrated for having drunk all the water of the Ganges in one sip. The descendants of Jahnu, one after another, were Puru, Balāka, Ajaka and Kuśa. The sons of Kuśa were Kuśāmbu, Tanaya, Vasu and Kuśanābha. From Kuśāmbu came Gādhi, who had a daughter named Satyavatī. Satyavatī married Ṛcīka Muni after the *muni* contributed a substantial dowry, and from the womb of Satyavatī by Ṛcīka Muni, Jamadagni was born. The son of Jamadagni was Rāma, or Paraśurāma. When a king named Kārtavīryārjuna stole Jamadagni's desire cow, Paraśurāma, who is ascertained by learned experts to be a *saktyāveśa* incarnation of the Supreme Personality of Godhead, killed Kārtavīryārjuna. Later, he annihilated the *kṣatriya* dynasty twenty-one times. After Paraśurāma killed Kārtavīryārjuna, Jamadagni told him that killing a king is sinful and that as a *brāhmaṇa* he should have tolerated the offense. Therefore Jamadagni advised Paraśurāma to atone for his sin by traveling to various holy places.

1Śukadeva Gosvāmī continued: O King Parīkṣit, from the womb of Urvaśī, six sons were generated by Purūravā. Their names were Āyu, Śrutāyu, Satyāyu, Raya, Vijaya and Jaya.

2-3The son of Śrutāyu was Vasumān; the son of Satyāyu, Śrutaṣjaya; the son of Raya, Eka; the son of Jaya, Amita; and the son of Vijaya, Bhīma. The son of Bhīma was Kāṣcana; the son of Kāṣcana was Hotraka; and the son of Hotraka was Jahnu, who drank all the water of the Ganges in one sip.

4The son of Jahnu was Puru, the son of Puru was Balāka, the son of Balāka was Ajaka, and the son of Ajaka was Kuśa. Kuśa had four sons, named Kuśāmbu, Tanaya, Vasu and Kuśanābha. The son of Kuśāmbu was Gādhi.

5-6King Gādhi had a daughter named Satyavatī, whom a brāhmaṇa sage named Ṛcīka requested from the King to be his wife. King Gādhi, however, regarded Ṛcīka as an unfit husband for his daughter, and therefore he told the brāhmaṇa, "My dear sir, I belong to the dynasty of Kuśa. Because we are aristocratic kṣatriyas, you have to give some dowry for my daughter. Therefore, bring at least one thousand horses, each as brilliant as moonshine and each having one black ear, whether right or left."

7When King Gādhi made this demand, the great sage Ṛcīka could understand the King's mind. Therefore he went to the demigod Varuṇa and brought from him the one thousand horses that Gādhi had demanded. After delivering these horses, the sage married the King's beautiful daughter.

8Thereafter, Ṛcīka Muni's wife and mother-in-law, each desiring a son, requested the Muni to prepare an oblation. Thus Ṛcīka Muni prepared one oblation for his wife with a brāhmaṇa mantra and another for his mother-in-law with a kṣatriya mantra. Then he went out to bathe.

9Meanwhile, because Satyavatī's mother thought that the oblation prepared for her daughter, Ṛcīka's wife, must be better, she asked her daughter for that oblation. Satyavatī therefore gave her own oblation to her mother and ate her mother's oblation herself.

10When the great sage Ṛcīka returned home after bathing and understood what had happened in his absence, he said to his wife, Satyavatī, "You have done a great wrong. Your son will be a fierce kṣatriya, able to punish everyone, and your brother will be a learned scholar in spiritual science."

11Satyavatī, however, pacified Ṛcīka Muni with peaceful words and requested that her son not be like a fierce kṣatriya. Ṛcīka Muni replied, "Then your grandson will be of a kṣatriya spirit." Thus Jamadagni was born as the son of Satyavatī.

12-13Satyavatī later became the sacred river Kauśikī to purify the entire world, and her son, Jamadagni, married Reṇukā, the daughter of Reṇu. By the semen of Jamadagni, many sons, headed by Vasumān, were born from the womb of Reṇukā. The youngest of them was named Rāma, or Paraśurāma.

14Learned scholars accept this Paraśurāma as the celebrated incarnation of Vāsudeva who annihilated the dynasty of Kārtavīrya. Paraśurāma killed all the kṣatriyas on earth twenty-one times.

15When the royal dynasty, being excessively proud because of the material modes of passion and ignorance, became irreligious and ceased to care for the laws enacted by the brāhmaṇas, Paraśurāma killed them. Although their offense was not very severe, he killed them to lessen the burden of the world.

16King Parīkṣit inquired from Śukadeva Gosvāmī: What was the offense that the kṣatriyas who could not control their senses committed before Lord Paraśurāma, the incarnation of the Supreme Personality of Godhead, for which the Lord annihilated the kṣatriya dynasty again and again?

17-19Śukadeva Gosvāmī said: The best of the kṣatriyas, Kārtavīryārjuna, the King of the Haihayas, received one thousand arms by worshiping Dattātreya, the plenary expansion of the Supreme Personality of Godhead, Nārāyaṇa. He also became undefeatable by enemies and received unobstructed sensory power, beauty, influence, strength, fame and the mystic power by which to achieve all the perfections of yoga, such as aṇimā and laghimā. Thus having

become fully opulent, he roamed all over the universe without opposition, just like the wind.

20Once while enjoying in the water of the river Narmadā, the puffed-up Kārtavīryārjuna, surrounded by beautiful women and garlanded with a garland of victory, stopped the flow of the water with his arms.

21Because Kārtavīryārjuna made the water flow in the opposite direction, the camp of Rāvaṇa, which was set up on the bank of the Narmadā near the city of Māhiṣmatī, was inundated. This was unbearable to the ten-headed Rāvaṇa, who considered himself a great hero and could not tolerate Kārtavīryārjuna's power.

22When Rāvaṇa attempted to insult Kārtavīryārjuna in the presence of the women and thus offended him, Kārtavīryārjuna easily arrested Rāvaṇa and put him in custody in the city of Māhiṣmatī, just as one captures a monkey, and then released him neglectfully.

23Once while Kārtavīryārjuna was wandering unengaged in a solitary forest and hunting, he approached the residence of Jamadagni.

24The sage Jamadagni, who was engaged in great austerities in the forest, received the King very well, along with the King's soldiers, ministers and carriers. He supplied all the necessities to worship these guests, for he possessed a kāmadhenu cow that was able to supply everything.

25Kārtavīryārjuna thought that Jamadagni was more powerful and wealthy than himself because of possessing a jewel in the form of the kāmadhenu. Therefore he and his own men, the Haihayas, were not very much appreciative of Jamadagni's reception. On the contrary, they wanted to possess that kāmadhenu, which was useful for the execution of the agnihotra sacrifice.

26Being puffed up by material power, Kārtavīryārjuna encouraged his men to steal Jamadagni's kāmadhenu. Thus the men forcibly took away the crying kāmadhenu, along with her calf, to Māhiṣmatī, Kārtavīryārjuna's capital.

27Thereafter, Kārtavīryārjuna having left with the kāmadhenu, Paraśurāma returned to the āśrama. When Paraśurāma, the youngest son of Jamadagni, heard about Kārtavīryārjuna's nefarious deed, he became as angry as a trampled snake.

28Taking up his fierce chopper, his shield, his bow and a quiver of arrows, Lord Paraśurāma, exceedingly angry, chased Kārtavīryārjuna just as a lion chases an elephant.

29As King Kārtavīryārjuna entered his capital, Māhiṣmatī Purī, he saw Lord Paraśurāma, the best of the Bhṛgu dynasty, coming after him, holding a chopper, shield, bow and arrows. Lord Paraśurāma was covered with a black deerskin, and his matted locks of hair appeared like the sunshine.

30Upon seeing Paraśurāma, Kārtavīryārjuna immediately feared him and sent many elephants, chariots, horses and infantry soldiers equipped with clubs, swords, arrows, ṛṣṭis, śataghnis, śaktis, and many similar weapons to fight against him. Kārtavīryārjuna sent seventeen full akṣauhiṇīs of soldiers to check Paraśurāma. But Lord Paraśurāma alone killed all of them.

31Lord Paraśurāma, being expert in killing the military strength of the enemy, worked with the speed of the mind and the wind, slicing his enemies with his chopper [paraśu]. Wherever he went, the enemies fell, their legs, arms and shoulders being severed, their chariot drivers killed,

and their carriers, the elephants and horses, all annihilated.

32By manipulating his axe and arrows, Lord Paraśurāma cut to pieces the shields, flags, bows and bodies of Kārtavīryārjuna's soldiers, who fell on the battlefield, muddying the ground with their blood. Seeing these reverses, Kārtavīryārjuna, infuriated, rushed to the battlefield.

33Then Kārtavīryārjuna, with his one thousand arms, simultaneously fixed arrows on five hundred bows to kill Lord Paraśurāma. But Lord Paraśurāma, the best of fighters, released enough arrows with only one bow to cut to pieces immediately all the arrows and bows in the hands of Kārtavīryārjuna.

34When his arrows were cut to pieces, Kārtavīryārjuna uprooted many trees and hills with his own hands and again rushed strongly toward Lord Paraśurāma to kill him. But Paraśurāma then used his axe with great force to cut off Kārtavīryārjuna's arms, just as one might lop off the hoods of a serpent.

35-36Thereafter, Paraśurāma cut off like a mountain peak the head of Kārtavīryārjuna, who had already lost his arms. When Kārtavīryārjuna's ten thousand sons saw their father killed, they all fled in fear. Then Paraśurāma, having killed the enemy, released the kāmadhenu, which had undergone great suffering, and brought it back with its calf to his residence, where he gave it to his father, Jamadagni.

37Paraśurāma described to his father and brothers his activities in killing Kārtavīryārjuna. Upon hearing of these deeds, Jamadagni spoke to his son as follows.

38O great hero, my dear son Paraśurāma, you have unnecessarily killed the king, who is supposed to be the embodiment of all the demigods. Thus you have committed a sin.

39My dear son, we are all brāhmaṇas and have become worshipable for the people in general because of our quality of forgiveness. It is because of this quality that Lord Brahmā, the supreme spiritual master of this universe, has achieved his post.

40The duty of a brāhmaṇa is to culture the quality of forgiveness, which is illuminating like the sun. The Supreme Personality of Godhead, Hari, is pleased with those who are forgiving.

41My dear son, killing a king who is an emperor is more severely sinful than killing a brāhmaṇa. But now, if you become Kṛṣṇa conscious and worship the holy places, you can atone for this great sin.

### SB 9.16: Lord Paraśurāma Destroys the World's Ruling Class

When Jamadagni was killed by the sons of Kārtavīryārjuna, as described in this chapter, Paraśurāma rid the entire world of *kṣatriyas* twenty-one times. This chapter also describes the descendants of Viśvāmitra.

When Jamadagni's wife, Reṇukā, went to bring water from the Ganges and saw the King of the Gandharvas enjoying the company of Apsarās, she was captivated, and she slightly desired to associate with him. Because of this sinful desire, she was punished by her husband. Paraśurāma killed his mother and brothers, but later, by dint of the austerities of Jamadagni, they were revived. The sons of Kārtavīryārjuna, however, remembering the death of their father, wanted to take revenge against Lord Paraśurāma, and therefore when Paraśurāma was absent from the *āśrama,* they killed Jamadagni, who was meditating on the Supreme Personality of Godhead. When Paraśurāma returned to the *āśrama* and saw his father killed, he

was very sorry, and after asking his brothers to take care of the dead body, he went out with determination to kill all the *kṣatriyas* on the surface of the world. Taking up his axe, he went to Māhiṣmatī-pura, the capital of Kārtavīryārjuna, and killed all of Kārtavīryārjuna's sons, whose blood became a great river. Paraśurāma, however, was not satisfied with killing only the sons of Kārtavīryārjuna; later, when the *kṣatriyas* became disturbing, he killed them twenty-one times, so that there were no *kṣatriyas* on the surface of the earth. Thereafter, Paraśurāma joined the head of his father to the dead body and performed various sacrifices to please the Supreme Lord. Thus Jamadagni got life again in his body, and later he was promoted to the higher planetary system known as Saptarṣi-maṇḍala. Paraśurāma, the son of Jamadagni, still lives in Mahendra-parvata. In the next *manvantara,* he will become a preacher of Vedic knowledge.

In the dynasty of Gādhi, the most powerful Viśvāmitra took birth. By dint of his austerity and penance, he became a *brāhmaṇa.* He had 101 sons, who were celebrated as the Madhucchandās. In the sacrificial arena of Hariścandra, the son of Ajīgarta named Śunaḥśepha was meant to be sacrificed, but by the mercy of the Prajāpatis he was released. Thereafter, he became Devarāta in the dynasty of Gādhi. The fifty elder sons of Viśvāmitra, however, did not accept Śunaḥśepha as their elder brother, and therefore Viśvāmitra cursed them to become *mlecchas,* unfaithful to the Vedic civilization. Viśvāmitra's fifty-first son, along with his younger brothers, then accepted Śunaḥśepha as their eldest brother, and their father, Viśvāmitra, being satisfied, blessed them. Thus Devarāta was accepted in the dynasty of Kauśika, and consequently there are different divisions of that dynasty.

1Śukadeva Gosvāmī said: My dear Mahārāja Parīkṣit, son of the Kuru dynasty, when Lord Paraśurāma was given this order by his father, he immediately agreed, saying, "Let it be so." For one complete year he traveled to holy places. Then he returned to his father's residence.

2Once when Reṇukā, the wife of Jamadagni, went to the bank of the Ganges to get water, she saw the King of the Gandharvas, decorated with a garland of lotuses and sporting in the Ganges with celestial women [Apsarās].

3She had gone to bring water from the Ganges, but when she saw Citraratha, the King of the Gandharvas, sporting with the celestial girls, she was somewhat inclined toward him and failed to remember that the time for the fire sacrifice was passing.

4Later, understanding that the time for offering the sacrifice had passed, Reṇukā feared a curse from her husband. Therefore when she returned she simply put the waterpot before him and stood there with folded hands.

5The great sage Jamadagni understood the adultery in the mind of his wife. Therefore he was very angry and told his sons, "My dear sons, kill this sinful woman!" But the sons did not carry out his order.

6Jamadagni then ordered his youngest son, Paraśurāma, to kill his brothers, who had disobeyed this order, and his mother, who had mentally committed adultery. Lord Paraśurāma, knowing the power of his father, who was practiced in meditation and austerity, killed his mother and brothers immediately.

7Jamadagni, the son of Satyavatī, was very much pleased with Paraśurāma and asked him to take any benediction he liked. Lord Paraśurāma replied, "Let my mother and brothers live again and not remember having been killed by me. This is the benediction I ask."

8Thereafter, by the benediction of Jamadagni, Lord Paraśurāma's mother and brothers immediately came alive and were very happy, as if awakened from sound sleep. Lord

Paraśurāma had killed his relatives in accordance with his father's order because he was fully aware of his father's power, austerity and learning.

9My dear King Parīkṣit, the sons of Kārtavīryārjuna, who were defeated by the superior strength of Paraśurāma, never achieved happiness, for they always remembered the killing of their father.

10Once when Paraśurāma left the āśrama for the forest with Vasumān and his other brothers, the sons of Kārtavīryārjuna took the opportunity to approach Jamadagni's residence to seek vengeance for their grudge.

11The sons of Kārtavīryārjuna were determined to commit sinful deeds. Therefore when they saw Jamadagni sitting by the side of the fire to perform yajṣa and meditating upon the Supreme Personality of Godhead, who is praised by the best of selected prayers, they took the opportunity to kill him.

12With pitiable prayers, Reṇukā, the mother of Paraśurāma and wife of Jamadagni, begged for the life of her husband. But the sons of Kārtavīryārjuna, being devoid of the qualities of kṣatriyas, were so cruel that despite her prayers they forcibly cut off his head and took it away.

13Lamenting in grief for the death of her husband, the most chaste Reṇukā struck her own body with her hands and cried very loudly, "O Rāma, my dear son Rāma!"

14Although the sons of Jamadagni, including Lord Paraśurāma, were a long distance from home, as soon as they heard Reṇukā loudly calling "O Rāma, O my son," they hastily returned to the āśrama, where they saw their father already killed.

15Virtually bewildered by grief, anger, indignation, affliction and lamentation, the sons of Jamadagni cried, "O father, most religious, saintly person, you have left us and gone to the heavenly planets!"

16Thus lamenting, Lord Paraśurāma entrusted his father's dead body to his brothers and personally took up his axe, having decided to put an end to all the kṣatriyas on the surface of the world.

17O King, Lord Paraśurāma then went to Māhiṣmatī, which was already doomed by the sinful killing of a brāhmaṇa. In the midst of that city he made a mountain of heads, severed from the bodies of the sons of Kārtavīryārjuna.

18-19With the blood of the bodies of these sons, Lord Paraśurāma created a ghastly river, which brought great fear to the kings who had no respect for brahminical culture. Because the kṣatriyas, the men of power in government, were performing sinful activities, Lord Paraśurāma, on the plea of retaliating for the murder of his father, rid all the kṣatriyas from the face of the earth twenty-one times. Indeed, in the place known as Samanta-paṣcaka he created nine lakes filled with their blood.

20Thereafter, Paraśurāma joined his father's head to the dead body and placed the whole body and head upon kuśa grass. By offering sacrifices, he began to worship Lord Vāsudeva, who is the all-pervading Supersoul of all the demigods and of every living entity.

21-22After completing the sacrifice, Lord Paraśurāma gave the eastern direction to the hotā as a gift, the south to the brahmā, the west to the adhvaryu, the north to the udgātā, and the four cornersnortheast, southeast, northwest and southwestto the other priests. He gave the middle to Kaśyapa and the place known as Āryāvarta to the upadraṣṭā. Whatever remained he

distributed among the sadasyas, the associate priests.

23Thereafter, having completed the ritualistic sacrificial ceremonies, Lord Paraśurāma took the bath known as the avabhṛtha-snāna. Standing on the bank of the great river Sarasvatī, cleared of all sins, Lord Paraśurāma appeared like the sun in a clear, cloudless sky.

24Thus Jamadagni, being worshiped by Lord Paraśurāma, was brought back to life with full remembrance, and he became one of the seven sages in the group of seven stars.

25My dear King Parīkṣit, in the next manvantara the lotus-eyed Personality of Godhead Lord Paraśurāma, the son of Jamadagni, will be a great propounder of Vedic knowledge. In other words, he will be one of the seven sages.

26Lord Paraśurāma still lives as an intelligent brāhmaṇa in the mountainous country known as Mahendra. Completely satisfied, having given up all the weapons of a kṣatriya, he is always worshiped, adored and offered prayers for his exalted character and activities by such celestial beings as the Siddhas, Cāraṇas and Gandharvas.

27In this way the supreme soul, the Supreme Personality of Godhead, the Lord and the supreme controller, descended as an incarnation in the Bhṛgu dynasty and released the universe from the burden of undesirable kings by killing them many times.

28Viśvāmitra, the son of Mahārāja Gādhi, was as powerful as the flames of fire. From the position of a kṣatriya, he achieved the position of a powerful brāhmaṇa by undergoing penances and austerities.

29O King Parīkṣit, Viśvāmitra had 101 sons, of whom the middle one was known as Madhucchandā. In relation to him, all the other sons were celebrated as the Madhucchandās.

30Viśvāmitra accepted the son of Ajīgarta known as Śunaḥśepha, who was born in the Bhṛgu dynasty and was also known as Devarāta, as one of his own sons. Viśvāmitra ordered his other sons to accept Śunaḥśepha as their eldest brother.

31Śunaḥśepha's father sold Śunaḥśepha to be sacrificed as a man-animal in the yajṣa of King Hariścandra. When Śunaḥśepha was brought into the sacrificial arena, he prayed to the demigods for release and was released by their mercy.

32Although Śunaḥśepha was born in the Bhārgava dynasty, he was greatly advanced in spiritual life, and therefore the demigods involved in the sacrifice protected him. Consequently he was also celebrated as the descendant of Gādhi named Devarāta.

33When requested by their father to accept Śunaḥśepha as the eldest son, the elder fifty of the Madhucchandās, the sons of Viśvāmitra, did not agree. Therefore Viśvāmitra, being angry, cursed them. "May all of you bad sons become mlecchas," he said, "being opposed to the principles of Vedic culture."

34When the elder Madhucchandās were cursed, the younger fifty, along with Madhucchandā himself, approached their father and agreed to accept his proposal. "Dear father," they said, "we shall abide by whatever arrangement you like."

35Thus the younger Madhucchandās accepted Śunaḥśepha as their eldest brother and told him, "We shall follow your orders." Viśvāmitra then said to his obedient sons, "Because you have accepted Śunaḥśepha as your eldest brother, I am very satisfied. By accepting my order, you have made me a father of worthy sons, and therefore I bless all of you to become the fathers of

sons also."

36Viśvāmitra said, "O Kuśikas [descendants of Kauśika], this Devarāta is my son and is one of you. Please obey his orders." O King Parīkṣit, Viśvāmitra had many other sons, such as Aṣṭaka, Hārīta, Jaya and Kratumān.

37Viśvāmitra cursed some of his sons and blessed the others, and he also adopted a son. Thus there were varieties in the Kauśika dynasty, but among all the sons, Devarāta was considered the eldest.

### SB 9.17: The Dynasties of the Sons of Purūravā

Āyu, the eldest son of Purūravā, had five sons. This chapter describes the dynasties of four of them, beginning with Kṣatravṛddha.

Āyu, the son of Purūravā, had five sonsNahuṣa, Kṣatravṛddha, Rajī, Rābha and Anenā. The son of Kṣatravṛddha was Suhotra, who had three sons, named Kāśya, Kuśa and Gṛtsamada. The son of Gṛtsamada was Śunaka, and his son was Śaunaka. The son of Kāśya was Kāśi. From Kāśi came the sons and grandsons known as Rāṣṭra, Dīrghatama and then Dhanvantari, who was the inaugurator of medical science and was a *śaktyāveśa* incarnation of the Supreme Personality of Godhead, Vāsudeva. The descendants of Dhanvantari were Ketumān, Bhīmaratha, Divodāsa and Dyumān, who was also known as Pratardana, Śatrujit, Vatsa, Ṛtadhvaja and Kuvalayāśva. The son of Dyumān was Alarka, who reigned over the kingdom for many, many years. Following in the dynasty of Alarka were Santati, Sunītha, Niketana, Dharmaketu, Satyaketu, Dhṛṣṭaketu, Sukumāra, Vītihotra, Bharga and Bhārgabhūmi. All of them belonged to the dynasty of Kāśi, the descendant of Kṣatravṛddha.

The son of Rābha was Rabhasa, and his son was Gambhīra. Gambhīra's son was Akriya, and from Akriya came Brahmavit. The son of Anenā was Śuddha, and his son was Śuci. The son of Śuci was Citrakṛt, whose son was Śāntaraja. Rajī had five hundred sons, all of extraordinary strength. Rajī was personally very powerful and was given the kingdom of heaven by Lord Indra. Later, after Rajī's death, when the sons of Rajī refused to return the kingdom to Indra, by Bṛhaspati's arrangement they became unintelligent, and Lord Indra conquered them.

The grandson of Kṣatravṛddha named Kuśa gave birth to a son named Prati. From Prati came Saṣjaya; from Saṣjaya, Jaya; from Jaya, Kṛta; and from Kṛta, Haryabala. The son of Haryabala was Sahadeva; the son of Sahadeva, Hīna; the son of Hīna, Jayasena; the son of Jayasena, Saṅkṛti; and the son of Saṅkṛti, Jaya.

1-3Śukadeva Gosvāmī said: From Purūravā came a son named Āyu, whose very powerful sons were Nahuṣa, Kṣatravṛddha, Rajī, Rābha and Anenā. O Mahārāja Parīkṣit, now hear about the dynasty of Kṣatravṛddha. Kṣatravṛddha's son was Suhotra, who had three sons, named Kāśya, Kuśa and Gṛtsamada. From Gṛtsamada came Śunaka, and from him came Śaunaka, the great saint, the best of those conversant with the Ṛg Veda.

4The son of Kāśya was Kāśi, and his son was Rāṣṭra, the father of Dīrghatama. Dīrghatama had a son named Dhanvantari, who was the inaugurator of the medical science and an incarnation of Lord Vāsudeva, the enjoyer of the results of sacrifices. One who remembers the name of Dhanvantari can be released from all disease.

5The son of Dhanvantari was Ketumān, and his son was Bhīmaratha. The son of Bhīmaratha was Divodāsa, and the son of Divodāsa was Dyumān, also known as Pratardana.

6Dyumān was also known as Śatrujit, Vatsa, Ṛtadhvaja and Kuvalayāśva. From him were born Alarka and other sons.

7Alarka, the son of Dyumān, reigned over the earth for sixty-six thousand years, my dear King Parīkṣit. No one other than him has reigned over the earth for so long as a young man.

8From Alarka came a son named Santati, and his son was Sunītha. The son of Sunītha was Niketana, the son of Niketana was Dharmaketu, and the son of Dharmaketu was Satyaketu.

9O King Parīkṣit, from Satyaketu came a son named Dhṛṣṭaketu, and from Dhṛṣṭaketu came Sukumāra, the emperor of the entire world. From Sukumāra came a son named Vītihotra; from Vītihotra, Bharga; and from Bharga, Bhārgabhūmi.

10O Mahārāja Parīkṣit, all of these kings were descendants of Kāśi, and they could also be called descendants of Kṣatravṛddha. The son of Rābha was Rabhasa, from Rabhasa came Gambhīra, and from Gambhīra came a son named Akriya.

11The son of Akriya was known as Brahmavit, O King. Now hear about the descendants of Anenā. From Anenā came a son named Śuddha, and his son was Śuci. The son of Śuci was Dharmasārathi, also called Citrakṛt.

12From Citrakṛt was born a son named Śāntaraja, a self-realized soul who performed all kinds of Vedic ritualistic ceremonies and therefore did not beget any progeny. The sons of Rajī were five hundred, all very powerful.

13On the request of the demigods, Rajī killed the demons and thus returned the kingdom of heaven to Lord Indra. But Indra, fearing such demons as Prahlāda, returned the kingdom of heaven to Rajī and surrendered himself at Rajī's lotus feet.

14Upon Rajī's death, Indra begged Rajī's sons for the return of the heavenly planet. They did not return it, however, although they agreed to return Indra's shares in ritualistic ceremonies.

15Thereafter, Bṛhaspati, the spiritual master of the demigods, offered oblations in the fire so that the sons of Rajī would fall from moral principles. When they fell, Lord Indra killed them easily because of their degradation. Not a single one of them remained alive.

16From Kuśa, the grandson of Kṣatravṛddha, was born a son named Prati. The son of Prati was Saṣjaya, and the son of Saṣjaya was Jaya. From Jaya, Kṛta was born, and from Kṛta, King Haryabala.

17From Haryabala came a son named Sahadeva, and from Sahadeva came Hīna. The son of Hīna was Jayasena, and the son of Jayasena was Saṅkṛti. The son of Saṅkṛti was the powerful and expert fighter named Jaya. These kings were the members of the Kṣatravṛddha dynasty. Now let me describe to you the dynasty of Nahuṣa.

## SB 9.18: King Yayāti Regains His Youth

This chapter gives the history of King Yayāti, the son of Nahuṣa. Among Yayāti's five sons, the youngest son, Pūru, accepted Yayāti's invalidity.

When Nahuṣa, who had six sons, was cursed to become a python, his eldest son, Yati, took *sannyāsa,* and therefore the next son, Yayāti, was enthroned as king. By providence, Yayāti married the daughter of Śukrācārya. Śukrācārya was a *brāhmaṇa* and Yayāti a *kṣatriya,* but Yayāti married her nonetheless. Śukrācārya's daughter, named Devayānī, had a girlfriend

named Śarmiṣṭhā, who was the daughter of Vṛṣaparvā. King Yayāti married Śarmiṣṭhā also. The history of this marriage is as follows. Once Śarmiṣṭhā was sporting in the water with thousands of her girlfriends, and Devayānī was also there. When the young girls saw Lord Śiva, seated on his bull with Umā, they immediately dressed themselves, but Śarmiṣṭhā mistakenly put on Devayānī's clothes. Devayānī, being very angry, rebuked Śarmiṣṭhā, who also became very angry and responded by rebuking Devayānī and throwing her into a well. By chance, King Yayāti came to that well to drink water, and he found Devayānī and rescued her. Thus Devayānī accepted Mahārāja Yayāti as her husband. Thereafter, Devayānī, crying loudly, told her father about Śarmiṣṭhā's behavior. Upon hearing of this incident, Śukrācārya was very angry and wanted to chastise Vṛṣaparvā, Śarmiṣṭhā's father. Vṛṣaparvā, however, satisfied Śukrācārya by offering Śarmiṣṭhā as Devayānī's maidservant. Thus Śarmiṣṭhā, as the maidservant of Devayānī, also went to the house of Devayānī's husband. When Śarmiṣṭhā found her friend Devayānī with a son she also desired to have a son. Therefore, at the proper time for conception, she also requested Mahārāja Yayāti for sex. When Śarmiṣṭhā became pregnant also, Devayānīwas very envious. In great anger, she immediately left for her father's house and told her father everything. Śukrācārya again became angry and cursed Mahārāja Yayāti to become old, but when Yayāti begged Śukrācārya to be merciful to him, Śukrācārya gave him the benediction that he could transfer his old age and invalidity to some young man. Yayāti exchanged his old age for the youth of his youngest son, Pūru, and thus he was able to enjoy with young girls.

1Śukadeva Gosvāmī said: O King Parīkṣit, as the embodied soul has six senses, King Nahuṣa had six sons, named Yati, Yayāti, Saṁyāti, Āyati, Viyati and Kṛti.

2When one enters the post of king or head of the government, one cannot understand the meaning of self-realization. Knowing this, Yati, the eldest son of Nahuṣa, did not accept the power to rule, although it was offered by his father.

3Because Nahuṣa, the father of Yayāti, molested Indra's wife, Śacī, who then complained to Agastya and other brāhmaṇas, these saintly brāhmaṇas cursed Nahuṣa to fall from the heavenly planets and be degraded to the status of a python. Consequently, Yayāti became the king.

4King Yayāti had four younger brothers, whom he allowed to rule the four directions. Yayāti himself married Devayānī, the daughter of Śukrācārya, and Śarmiṣṭhā, the daughter of Vṛṣaparvā, and ruled the entire earth.

5Mahārāja Parīkṣit said: Śukrācārya was a very powerful brāhmaṇa, and Mahārāja Yayāti was a kṣatriya. Therefore I am curious to know how there occurred this pratiloma marriage between a kṣatriya and a brāhmaṇa.

6-7Śukadeva Gosvāmī said: One day Vṛṣaparvā's daughter Śarmiṣṭhā, who was innocent but angry by nature, was walking with Devayānī, the daughter of Śukrācārya, and with thousands of friends, in the palace garden. The garden was full of lotuses and trees of flowers and fruits and was inhabited by sweetly singing birds and bumblebees.

8When the young, lotus-eyed girls came to the bank of a reservoir of water, they wanted to enjoy by bathing. Thus they left their clothing on the bank and began sporting, throwing water on one another.

9While sporting in the water, the girls suddenly saw Lord Śiva passing by, seated on the back of his bull with his wife, Pārvatī. Ashamed because they were naked, the girls quickly got out of the water and covered themselves with their garments.

10Śarmiṣṭhā unknowingly put Devayānī's dress on her own body, thus angering Devayānī, who then spoke as follows.

11Oh, just see the activities of this servant-maid Śarmiṣṭhā! Disregarding all etiquette, she has put on my dress, just like a dog snatching clarified butter meant for use in a sacrifice.

12-14We are among the qualified brāhmaṇas, who are accepted as the face of the Supreme Personality of Godhead. The brāhmaṇas have created the entire universe by their austerity, and they always keep the Absolute Truth within the core of their hearts. They have directed the path of good fortune, the path of Vedic civilization, and because they are the only worshipable objects within this world, they are offered prayers and worshiped even by the great demigods, the directors of the various planets, and even by the Supreme Personality of Godhead, the Supersoul, the supreme purifier, the husband of the goddess of fortune. And we are even more respectable because we are in the dynasty of Bhṛgu. Yet although this woman's father, being among the demons, is our disciple, she has put on my dress, exactly like a śūdra taking charge of Vedic knowledge.

15Śukadeva Gosvāmī said: When thus rebuked in cruel words, Śarmiṣṭhā was very angry. Breathing heavily like a serpent and biting her lower lip with her teeth, she spoke to the daughter of Śukrācārya as follows.

16You beggar, since you don't understand your position, why should you unnecessarily talk so much? Don't all of you wait at our house, depending on us for your livelihood like crows?

17Using such unkind words, Śarmiṣṭhā rebuked Devayānī, the daughter of Śukrācārya. In anger, she took away Devayānī's garments and threw Devayānī into a well.

18After throwing Devayānī into the well, Śarmiṣṭhā went home. Meanwhile, King Yayāti, while engaged in a hunting excursion, went to the well to drink water and by chance saw Devayānī.

19Seeing Devayānī naked in the well, King Yayāti immediately gave her his upper cloth. Being very kind to her, he caught her hand with his own and lifted her out.

20-21With words saturated with love and affection, Devayānī said to King Yayāti: O great hero, O King, conqueror of the cities of your enemies, by accepting my hand you have accepted me as your married wife. Let me not be touched by others, for our relationship as husband and wife has been made possible by providence, not by any human being.

22Because of falling in the well, I met you. Indeed, this has been arranged by providence. After I cursed Kaca, the son of the learned scholar Bṛhaspati, he cursed me by saying that I would not have a brāhmaṇa for a husband. Therefore, O mighty-armed one, there is no possibility of my becoming the wife of a brāhmaṇa.

23Śukadeva Gosvāmī continued: Because such a marriage is not sanctioned by regular scriptures, King Yayāti did not like it, but because it was arranged by providence and because he was attracted by Devayānī's beauty, he accepted her request.

24Thereafter, when the learned King returned to his palace, Devayānī returned home crying and told her father, Śukrācārya, about all that had happened because of Śarmiṣṭhā. She told how she had been thrown into the well but was saved by the King.

25As Śukrācārya listened to what had happened to Devayānī, his mind was very much aggrieved. Condemning the profession of priesthood and praising the profession of uṣcha-vṛtti [collecting grains from the fields], he left home with his daughter.

26King Vṛṣaparvā understood that Śukrācārya was coming to chastise or curse him. Consequently, before Śukrācārya came to his house, Vṛṣaparvā went out and fell down in the street at the feet of his guru and satisfied him, checking his wrath.

27The powerful Śukrācārya was angry for a few moments, but upon being satisfied he said to Vṛṣaparvā: My dear King, kindly fulfill the desire of Devayānī, for she is my daughter and in this world I cannot give her up or neglect her.

28After hearing Śukrācārya's request, Vṛṣaparvā agreed to fulfill Devayānī's desire, and he awaited her words. Devayānī then expressed her desire as follows: "Whenever I marry by the order of my father, my friend Śarmiṣṭhā must go with me as my maidservant, along with her friends."

29Vṛṣaparvā wisely thought that Śukrācārya's displeasure would bring danger and that his pleasure would bring material gain. Therefore he carried out Śukrācārya's order and served him like a slave. He gave his daughter Śarmiṣṭhā to Devayānī, and Śarmiṣṭhā served Devayānī like a slave, along with thousands of other women.

30When Śukrācārya gave Devayānī in marriage to Yayāti, he had Śarmiṣṭhā go with her, but he warned the King, "My dear King, never allow this girl Śarmiṣṭhā to lie with you in your bed."

31O King Parīkṣit, upon seeing Devayānī with a nice son, Śarmiṣṭhā once approached King Yayāti at the appropriate time for conception. In a secluded place, she requested the King, the husband of her friend Devayānī, to enable her to have a son also.

32When Princess Śarmiṣṭhā begged King Yayāti for a son, the King was certainly aware of the principles of religion, and therefore he agreed to fulfill her desire. Although he remembered the warning of Śukrācārya, he thought of this union as the desire of the Supreme, and thus he had sex with Śarmiṣṭhā.

33Devayānī gave birth to Yadu and Turvasu, and Śarmiṣṭhā gave birth to Druhyu, Anu and Pūru.

34When the proud Devayānī understood from outside sources that Śarmiṣṭhā was pregnant by her husband, she was frenzied with anger. Thus she departed for her father's house.

35King Yayāti, who was very lusty, followed his wife, caught her and tried to appease her by speaking pleasing words and massaging her feet, but he could not satisfy her by any means.

36Śukrācārya was extremely angry. "You untruthful fool, lusting after women! You have done a great wrong," he said. "I therefore curse you to be attacked and disfigured by old age and invalidity."

37King Yayāti said, "O learned, worshipable brāhmaṇa, I have not yet satisfied my lusty desires with your daughter." Śukrācārya then replied, "You may exchange your old age with someone who will agree to transfer his youth to you."

38When Yayāti received this benediction fromŚukrācārya, he requested his eldest son: My dear son Yadu, please give me your youth in exchange for my old age and invalidity.

39My dear son, I am not yet satisfied in my sexual desires. But if you are kind to me, you can take the old age given by your maternal grandfather, and I may take your youth so that I may enjoy life for a few years more.

40Yadu replied: My dear father, you have already achieved old age, although you also were a young man. But I do not welcome your old age and invalidity, for unless one enjoys material happiness, one cannot attain renunciation.

41O Mahārāja Parīkṣit, Yayāti similarly requested his sons Turvasu, Druhyu and Anu to exchange their youth for his old age, but because they were unaware of religious principles, they thought that their flickering youth was eternal, and therefore they refused to carry out their father's order.

42King Yayāti then requested Pūru, who was younger than these three brothers but more qualified, "My dear son, do not be disobedient like your elder brothers, for that is not your duty."

43Pūru replied: O Your Majesty, who in this world can repay his debt to his father? By the mercy of one's father, one gets the human form of life, which can enable one to become an associate of the Supreme Lord.

44A son who acts by anticipating what his father wants him to do is first class, one who acts upon receiving his father's order is second class, and one who executes his father's order irreverently is third class. But a son who refuses his father's order is like his father's stool.

45Śukadeva Gosvāmī said: In this way, O Mahārāja Parīkṣit, the son named Pūru was very pleased to accept the old age of his father, Yayāti, who took the youth of his son and enjoyed this material world as he required.

46Thereafter, King Yayāti became the ruler of the entire world, consisting of seven islands, and ruled the citizens exactly like a father. Because he had taken the youth of his son, his senses were unimpaired, and he enjoyed as much material happiness as he desired.

47In secluded places, engaging her mind, words, body and various paraphernalia, Devayānī, the dear wife of Mahārāja Yayāti, always brought her husband the greatest possible transcendental bliss.

48King Yayāti performed various sacrifices, in which he offered abundant gifts to the brāhmaṇas to satisfy the Supreme Lord, Hari, who is the reservoir of all the demigods and the object of all Vedic knowledge.

49The Supreme Lord, Vāsudeva, who created the cosmic manifestation, exhibits Himself as all-pervading, like the sky that holds clouds. And when the creation is annihilated, everything enters into the Supreme Lord, Viṣṇu, and varieties are no longer manifested.

50Without material desires, Mahārāja Yayāti worshiped the Supreme Lord, who is situated in everyone's heart as Nārāyaṇa and is invisible to material eyes, although existing everywhere.

51Although Mahārāja Yayāti was the king of the entire world and he engaged his mind and five senses in enjoying material possessions for one thousand years, he was unable to be satisfied.

## SB 9.19: King Yayāti Achieves Liberation

This Nineteenth Chapter describes how Mahārāja Yayāti achieved liberation after he recounted the figurative story of the he-goat and she-goat.

After many, many years of sexual relationships and enjoyment in the material world, King Yayāti finally became disgusted with such materialistic happiness. When satiated with material enjoyment, he devised a story of a he-goat and she-goat, corresponding to his own life, and

narrated the story before his beloved Devayānī. The story is as follows. Once upon a time, while a goat was searching in a forest for different types of vegetables to eat, by chance he came to a well, in which he saw a she-goat. He became attracted to this she-goat and somehow or other delivered her from the well, and thus they were united. One day thereafter, when the she-goat saw the he-goat enjoying sex with another she-goat, she became angry, abandoned the he-goat, and returned to her *brāhmaṇa* owner, to whom she described her husband's behavior. The *brāhmaṇa* became very angry and cursed the he-goat to lose his sexual power. Thereupon, the he-goat begged the *brāhmaṇa's* pardon and was given back the power for sex. Then the he-goat enjoyed sex with the she-goat for many years, but still he was not satisfied. If one is lusty and greedy, even the total stock of gold in this world cannot satisfy one's lusty desires. These desires are like a fire. One may pour clarified butter on a blazing fire, but one cannot expect the fire to be extinguished. To extinguish such a fire, one must adopt a different process. The *śāstra* therefore advises that by intelligence one renounce the life of enjoyment. Without great endeavor, those with a poor fund of knowledge cannot give up sense enjoyment, especially in relation to sex, because a beautiful woman bewilders even the most learned man. King Yayāti, however, renounced worldly life and divided his property among his sons. He personally adopted the life of a mendicant, or *sannyāsī,* giving up all attraction to material enjoyment, and engaged himself fully in devotional service to the Lord. Thus he attained perfection. Later, when his beloved wife, Devayānī, was freed from her mistaken way of life, she also engaged herself in the devotional service of the Lord.

1Śukadeva Gosvāmī said: O Mahārāja Parīkṣit, Yayāti was very much attached to woman. In due course of time, however, when disgusted with sexual enjoyment and its bad effects, he renounced this way of life and narrated the following story to his beloved wife.

2My dearly beloved wife, daughter of Śukrācārya, in this world there was someone exactly like me. Please listen as I narrate the history of his life. By hearing about the life of such a householder, those who have retired from householder life always lament.

3While wandering in the forest, eating to satisfy his senses, a he-goat by chance approached a well, in which he saw a she-goat standing helplessly, having fallen into it by the influence of the results of fruitive activities.

4After planning how to get the she-goat out of the well, the lusty he-goat dug up the earth on the well's edge with the point of his horns in such a way that she was able to come out very easily.

5-6When the she-goat, who had very nice hips, got out of the well and saw the very handsome he-goat, she desired to accept him as her husband. When she did so, many other she-goats also desired him as their husband because he had a very beautiful bodily structure and a nice mustache and beard and was expert in discharging semen and in the art of sexual intercourse. Therefore, just as a person haunted by a ghost exhibits madness, the best of the he-goats, attracted by the many she-goats, engaged in erotic activities and naturally forgot his real business of self-realization.

7When the she-goat who had fallen into the well saw her beloved goat engaged in sexual affairs with another she-goat, she could not tolerate the goat's activities.

8Aggrieved by her husband's behavior with another, the she-goat thought that the he-goat was not actually her friend but was hardhearted and was her friend only for the time being. Therefore, because her husband was lusty, she left him and returned to her former maintainer.

9Being very sorry, the he-goat, who was subservient to his wife, followed the she-goat on the

road and tried his best to flatter her, but he could not pacify her.

10The she-goat went to the residence of a brāhmaṇa who was the maintainer of another she-goat, and that brāhmaṇa angrily cut off the he-goat's dangling testicles. But at the he-goat's request, the brāhmaṇa later rejoined them by the power of mystic yoga.

11My dear wife, when the he-goat had his testicles restored, he enjoyed the she-goat he had gotten from the well, but although he continued to enjoy for many, many years, even now he has not been fully satisfied.

12O my dear wife with beautiful eyebrows, I am exactly like that he-goat, for I am so poor in intelligence that I am captivated by your beauty and have forgotten the real task of self-realization.

13A person who is lusty cannot satisfy his mind even if he has enough of everything in this world, including rice, barley and other food grains, gold, animals and women. Nothing can satisfy him.

14As supplying butter to a fire does not diminish the fire but instead increases it more and more, the endeavor to stop lusty desires by continual enjoyment can never be successful. [In fact, one must voluntarily cease from material desires.]

15When a man is nonenvious and does not desire ill fortune for anyone, he is equipoised. For such a person, all directions appear happy.

16For those who are too attached to material enjoyment, sense gratification is very difficult to give up. Even when one is an invalid because of old age, one cannot give up such desires for sense gratification. Therefore, one who actually desires happiness must give up such unsatisfied desires, which are the cause of all tribulations.

17One should not allow oneself to sit on the same seat even with one's own mother, sister or daughter, for the senses are so strong that even though one is very advanced in knowledge, he may be attracted by sex.

18I have spent a full one thousand years enjoying sense gratification, yet my desire to enjoy such pleasure increases daily.

19Therefore, I shall now give up all these desires and meditate upon the Supreme Personality of Godhead. Free from the dualities of mental concoction and free from false prestige, I shall wander in the forest with the animals.

20One who knows that material happiness, whether good or bad, in this life or in the next, on this planet or on the heavenly planets, is temporary and useless, and that an intelligent person should not try to enjoy or even think of such things, is the knower of the self. Such a self-realized person knows quite well that material happiness is the very cause of continued material existence and forgetfulness of one's own constitutional position.

21Śukadeva Gosvāmī said: After speaking in this way to his wife, Devayānī, King Yayāti, who was now free from all material desires, called his youngest son, Pūru, and returned Pūru's youth in exchange for his own old age.

22King Yayāti gave the southeast to his son Druhyu, the south to his son Yadu, the west to his son Turvasu, and the north to his son Anu. In this way he divided the kingdom.

23Yayāti enthroned his youngest son, Pūru, as the emperor of the entire world and the

proprietor of all its riches, and he placed all the other sons, who were older than Pūru, under Pūru's control.

24Having enjoyed sense gratification for many, many years, O King Parīkṣit, Yayāti was accustomed to it, but he gave it up entirely in a moment, just as a bird flies away from the nest as soon as its wings have grown.

25Because King Yayāti completely surrendered unto the Supreme Personality of Godhead, Vāsudeva, he was freed from all contamination of the material modes of nature. Because of his self-realization, he was able to fix his mind upon the Transcendence [Parabrahman, Vāsudeva], and thus he ultimately achieved the position of an associate of the Lord.

26When Devayānī heard Mahārāja Yayāti's story of the he-goat and she-goat, she understood that this story, which was presented as if a funny joke for entertainment between husband and wife, was intended to awaken her to her constitutional position.

27-28Thereafter, Devayānī, the daughter of Śukrācārya, understood that the materialistic association of husband, friends and relatives is like the association in a hotel full of tourists. The relationships of society, friendship and love are created by the māyā of the Supreme Personality of Godhead, exactly as in a dream. By the grace of Kṛṣṇa, Devayānī gave up her imaginary position in the material world. Completely fixing her mind upon Kṛṣṇa, she achieved liberation from the gross and subtle bodies.

29O Lord Vāsudeva, O Supreme Personality of Godhead, You are the creator of the entire cosmic manifestation. You live as the Supersoul in everyone's heart and are smaller than the smallest, yet You are greater than the greatest and are all-pervading. You appear completely silent, having nothing to do, but this is due to Your all-pervading nature and Your fullness in all opulences. I therefore offer my respectful obeisances unto You.

**SB 9.20: The Dynasty of Pūru**

This chapter describes the history of Pūru and his descendant Duṣmanta. The son of Pūru was Janamejaya, and his son was Pracinvān. The sons and grandsons in the line of Pracinvān, one after another, were Pravīra, Manusyu, Cārupada, Sudyu, Bahugava, Saṁyāti, Ahaṁyāti and Raudrāśva. Raudrāśva had ten sonsṚteyu, Kakṣeyu, Sthaṇḍileyu, Kṛteyuka, Jaleyu, Sannateyu, Dharmeyu, Satyeyu, Vrateyu and Vaneyu. The son of Ṛteyu was Rantināva, who had three sonsSumati, Dhruva and Apratiratha. The son of Apratiratha was Kaṇva, and Kaṇva's son was Medhātithi. The sons of Medhātithi, headed by Praskanna, were all *brāhmaṇas*. The son of Rantināva named Sumati had a son named Rebhi, and his son was Duṣmanta.

While hunting in the forest, Duṣmanta once approached the *āśrama* of Mahāṛṣi Kaṇva, where he saw an extremely beautiful woman and became attracted to her. That woman was the daughter of Viśvāmitra, and her name was Śakuntalā. Her mother was Menakā, who had left her in the forest, where Kaṇva Muni found her. Kaṇva Muni brought her to his *āśrama,* where he raised and maintained her. When Śakuntalā accepted Mahārāja Duṣmanta as her husband, he married her according to the *gāndharva-vidhi*.Śakuntalā later became pregnant by her husband, who left her in the *āśrama* of Kaṇva Muni and returned to his kingdom.

In due course of time, Śakuntalā gave birth to a Vaiṣṇava son, but Duṣmanta, having returned to the capital, forgot what had taken place. Therefore, when Śakuntalā approached him with her newly born child, Mahārāja Duṣmanta refused to accept them as his wife and son. Later, however, after a mysterious omen, the King accepted them. After Mahārāja Duṣmanta's death, Bharata, the son of Śakuntalā, was enthroned. He performed many great sacrifices, in which he

gave great riches in charity to the *brāhmaṇas*. This chapter ends by describing the birth of Bharadvāja and how Mahārāja Bharata accepted Bharadvāja as his son.

1Śukadeva Gosvāmī said: O Mahārāja Parīkṣit, descendant of Mahārāja Bharata, I shall now describe the dynasty of Pūru, in which you were born, in which many saintly kings appeared, and from which many dynasties of brāhmaṇas began.

2King Janamejaya was born of this dynasty of Pūru. Janamejaya's son was Pracinvān, and his son was Pravīra. Thereafter, Pravīra's son was Manusyu, and from Manusyu came the son named Cārupada.

3The son of Cārupada was Sudyu, and the son of Sudyu was Bahugava. Bahugava's son was Saṁyāti. From Saṁyāti came a son named Ahaṁyāti, from whom Raudrāśva was born.

4-5Raudrāśva had ten sons, named Ṛteyu, Kakṣeyu, Sthaṇḍileyu, Kṛteyuka, Jaleyu, Sannateyu, Dharmeyu, Satyeyu, Vrateyu and Vaneyu. Of these ten sons, Vaneyu was the youngest. As the ten senses, which are products of the universal life, act under the control of life, these ten sons of Raudrāśva acted under Raudrāśva's full control. All of them were born of the Apsarā named Ghṛtācī.

6Ṛteyu had a son named Rantināva, who had three sons, named Sumati, Dhruva and Apratiratha. Apratiratha had only one son, whose name was Kaṇva.

7The son of Kaṇva was Medhātithi, whose sons, all brāhmaṇas, were headed by Praskanna. The son of Rantināva named Sumati had a son named Rebhi. Mahārāja Duṣmanta is well known as the son of Rebhi.

8-9Once when King Duṣmanta went to the forest to hunt and was very much fatigued, he approached the residence of Kaṇva Muni. There he saw a most beautiful woman who looked exactly like the goddess of fortune and who sat there illuminating the entire āśrama by her effulgence. The King was naturally attracted by her beauty, and therefore he approached her, accompanied by some of his soldiers, and spoke to her.

10Seeing the beautiful woman, the King was very much enlivened, and the fatigue of his hunting excursion was relieved. He was of course very much attracted because of lusty desires, and thus he inquired from her as follows, in a joking mood.

11O beautiful lotus-eyed woman, who are you? Whose daughter are you? What purpose do you have in this solitary forest? Why are you staying here?

12O most beautiful one, it appears to my mind that you must be the daughter of a kṣatriya. Because I belong to the Pūru dynasty, my mind never endeavors to enjoy anything irreligiously.

13Śakuntalā said: I am the daughter of Viśvāmitra. My mother, Menakā, left me in the forest. O hero, the most powerful saint Kaṇva Muni knows all about this. Now let me know, how may I serve you?

14O King with eyes like the petals of a lotus, kindly come sit down and accept whatever reception we can offer. We have a supply of nīvārā rice that you may kindly take. And if you so desire, stay here without hesitation.

15King Duṣmanta replied: O Śakuntalā, with beautiful eyebrows, you have taken your birth in the family of the great saint Viśvāmitra, and your reception is quite worthy of your family. Aside

from this, the daughters of a king generally select their own husbands.

16When Śakuntalā responded to Mahārāja Duṣmanta's proposal with silence, the agreement was complete. Then the King, who knew the laws of marriage, immediately married her by chanting the Vedic praṇava [oṁkāra], in accordance with the marriage ceremony as performed among the Gandharvas.

17King Duṣmanta, who never discharged semen without a result, placed his semen at night in the womb of his Queen, Śakuntalā, and in the morning he returned to his palace. Thereafter, in due course of time, Śakuntalā gave birth to a son.

18In the forest, Kaṇva Muni performed all the ritualistic ceremonies concerning the newborn child. Later, the boy became so powerful that he would capture a lion and play with it.

19Śakuntalā, the best of beautiful women, along with her son, whose strength was insurmountable and who was a partial expansion of the Supreme Godhead, approached her husband, Duṣmanta.

20When the King refused to accept his wife and son, who were both irreproachable, an unembodied voice spoke from the sky as an omen and was heard by everyone present.

21The voice said: O Mahārāja Duṣmanta, a son actually belongs to his father, whereas the mother is only a container, like the skin of a bellows. According to Vedic injunctions, the father is born as the son. Therefore, maintain your own son and do not insult Śakuntalā.

22O King Duṣmanta, he who discharges semen is the actual father, and his son saves him from the custody of Yamarāja. You are the actual procreator of this child. Indeed, Śakuntalā is speaking the truth.

23Śukadeva Gosvāmī said: When Mahārāja Duṣmanta passed away from this earth, his son became the emperor of the world, the proprietor of the seven islands. He is referred to as a partial representation of the Supreme Personality of Godhead in this world.

24-26Mahārāja Bharata, the son of Duṣmanta, had the mark of Lord Kṛṣṇa's disc on the palm of his right hand, and he had the mark of a lotus whorl on the soles of his feet. By worshiping the Supreme Personality of Godhead with a grand ritualistic ceremony, he became the emperor and master of the entire world. Then, under the priesthood of Māmateya, Bhṛgu Muni, he performed fifty-five horse sacrifices on the bank of the Ganges, beginning from its mouth and ending at its source, and seventy-eight horse sacrifices on the bank of the Yamunā, beginning from the confluence at Prayāga and ending at the source. He established the sacrificial fire on an excellent site, and he distributed great wealth to the brāhmaṇas. Indeed, he distributed so many cows that each of thousands of brāhmaṇas had one badva [13,084] as his share.

27Bharata, the son of Mahārāja Duṣmanta, bound thirty-three hundred horses for those sacrifices, and thus he astonished all other kings. He surpassed even the opulence of the demigods, for he achieved the supreme spiritual master, Hari.

28When Mahārāja Bharata performed the sacrifice known as Maṣṇāra [or a sacrifice in the place known as Maṣṇāra], he gave in charity fourteen lakhs of excellent elephants with white tusks and black bodies, completely covered with golden ornaments.

29As one cannot approach the heavenly planets simply by the strength of his arms (for who can touch the heavenly planets with his hands?), one cannot imitate the wonderful activities of Mahārāja Bharata. No one could perform such activities in the past, nor will anyone be able to

do so in the future.

30When Mahārāja Bharata was on tour, he defeated or killed all the Kirātas, Hūṇas, Yavanas, Pauṇḍras, Kaṅkas, Khaśas, Śakas and the kings who were opposed to the Vedic principles of brahminical culture.

31Formerly, after conquering the demigods, all the demons had taken shelter in the lower planetary system known as Rasātala and had brought all the wives and daughters of the demigods there also. Mahārāja Bharata, however, rescued all those women, along with their associates, from the clutches of the demons, and he returned them to the demigods.

32Mahārāja Bharata provided all necessities for his subjects, both on this earth and in the heavenly planets, for twenty-seven thousand years. He circulated his orders and distributed his soldiers in all directions.

33As the ruler of the entire universe, Emperor Bharata had the opulences of a great kingdom and unconquerable soldiers. His sons and family had seemed to him to be his entire life. But finally he thought of all this as an impediment to spiritual advancement, and therefore he ceased from enjoying it.

34O King Parīkṣit, Mahārāja Bharata had three pleasing wives, who were daughters of the King of Vidarbha. When all three of them bore children who did not resemble the King, these wives thought that he would consider them unfaithful queens and reject them, and therefore they killed their own sons.

35The King, his attempt for progeny frustrated in this way, performed a sacrifice named marut-stoma to get a son. The demigods known as the Maruts, being fully satisfied with him, then presented him a son named Bharadvāja.

36When the demigod named Bṛhaspati was attracted by his brother's wife, Mamatā, who at that time was pregnant, he desired to have sexual relations with her. The son within her womb forbade this, but Bṛhaspati cursed him and forcibly discharged semen into the womb of Mamatā.

37Mamatā very much feared being forsaken by her husband for giving birth to an illegitimate son, and therefore she considered giving up the child. But then the demigods solved the problem by enunciating a name for the child.

38Bṛhaspati said to Mamatā, "You foolish woman, although this child was born from the wife of one man through the semen discharged by another, you should maintain him." Upon hearing this, Mamatā replied, "O Bṛhaspati, you maintain him!" After speaking in this way, Bṛhaspati and Mamatā both left. Thus the child was known as Bharadvāja.

39Although encouraged by the demigods to maintain the child, Mamatā considered him useless because of his illicit birth, and therefore she left him. Consequently, the demigods known as the Maruts maintained the child, and when Mahārāja Bharata was disappointed for want of a child, this child was given to him as his son.

## SB 9.21: The Dynasty of Bharata

This Twenty-first Chapter describes the dynasty born from Mahārāja Bharata, the son of Mahārāja Duṣmanta, and it also describes the glories of Rantideva, Ajamīḍha and others.

The son of Bharadvāja was Manyu, and Manyu's sons were Bṛhatkṣatra, Jaya, Mahāvīrya, Nara

and Garga. Of these five, Nara had a son named Saṅkṛti, who had two sons, named Guru and Rantideva. As an exalted devotee, Rantideva saw every living entity in relationship with the Supreme Personality of Godhead, and therefore he completely engaged his mind, his words and his very self in the service of the Supreme Lord and His devotees. Rantideva was so exalted that he would sometimes give away his own food in charity, and he and his family would fast. Once, after Rantideva spent forty-eight days fasting, not even drinking water, excellent food made with ghee was brought to him, but when he was about to eat it a *brāhmaṇa* guest appeared. Rantideva, therefore, did not eat the food, but instead immediately offered a portion of it to the *brāhmaṇa*. When the *brāhmaṇa* left and Rantideva was just about to eat the remnants of the food, a *śūdra* appeared. Rantideva therefore divided the remnants between the *śūdra* and himself. Again, when he was just about to eat the remnants of the food, another guest appeared. Rantideva therefore gave the rest of the food to the new guest and was about to content himself with drinking the water to quench his thirst, but this also was precluded, for a thirsty guest came and Rantideva gave him the water. This was all ordained by the Supreme Personality of Godhead just to glorify His devotee and show how tolerant a devotee is in rendering service to the Lord. The Supreme Personality of Godhead, being extremely pleased with Rantideva, entrusted him with very confidential service. The special power to render the most confidential service is entrusted by the Supreme Personality of Godhead to a pure devotee, not to ordinary devotees.

Garga, the son of Bharadvāja, had a son named Śini, and Śini's son was Gārgya. Although Gārgya was a *kṣatriya* by birth, his sons became *brāhmaṇas*. The son of Mahāvīrya was Duritakṣaya, whose sons were Trayyāruṇi, Kavi and Puṣkarāruṇi. Although these three sons were born of a *kṣatriya* king, they also achieved the position of *brāhmaṇas*. The son of Bṛhatkṣatra constructed the city of Hastināpura and was known as Hastī. His sons were Ajamīḍha, Dvimīḍha and Purumīḍha.

From Ajamīḍha came Priyamedha and other *brāhmaṇas* and also a son named Bṛhadiṣu. The sons, grandsons and further descendants of Bṛhadiṣu were Bṛhaddhanu, Bṛhatkāya, Jayadratha, Viśada and Syenajit. From Syenajit came four sonsRucirāśva, Dṛḍhahanu, Kāśya and Vatsa. From Rucirāśva came a son named Pāra, whose sons were Pṛthusena and Nīpa, and from Nīpa came one hundred sons. Another son of Nīpa was Brahmadatta. From Brahmadatta came Viṣvaksena; from Viṣvaksena, Udaksena; and from Udaksena, Bhallāṭa.

The son of Dvimīḍha was Yavīnara, and from Yavīnara came many sons and grandsons, such as Kṛtimān, Satyadhṛti, Dṛḍhanemi, Supārśva, Sumati, Sannatimān, Kṛtī, Nīpa, Udgrāyudha, Kṣemya, Suvīra, Ripuṣjaya and Bahuratha. Purumīḍha had no sons, but Ajamīḍha, in addition to his other sons, had a son named Nīla, whose son was Śānti. The descendants of Śānti were Suśānti, Puruja, Arka and Bharmyāśva. Bharmyāśva had five sons, one of whom, Mudgala, begot a dynasty of *brāhmaṇas*. Mudgala had twinsa son, Divodāsa, and a daughter, Ahalyā. From Ahalyā, by her husband, Gautama, Śatānanda was born. The son of Śatānanda was Satyadhṛti, and his son was Śaradvān. Śaradvān's son was known as Kṛpa, and Śaradvān's daughter, known as Kṛpī, became the wife of Droṇācārya.

1Śukadeva Gosvāmī said: Because Bharadvāja was delivered by the Marut demigods, he was known as Vitatha. The son of Vitatha was Manyu, and from Manyu came five sonsBṛhatkṣatra, Jaya, Mahāvīrya, Nara and Garga. Of these five, the one known as Nara had a son named Saṅkṛti.

2O Mahārāja Parīkṣit, descendant of Pāṇḍu, Saṅkṛti had two sons, named Guru and Rantideva. Rantideva is famous in both this world and the next, for he is glorified not only in human society but also in the society of the demigods.

3-5Rantideva never endeavored to earn anything. He would enjoy whatever he got by the arrangement of providence, but when guests came he would give them everything. Thus he underwent considerable suffering, along with the members of his family. Indeed, he and his family members shivered for want of food and water, yet Rantideva always remained sober. Once, after fasting for forty-eight days, in the morning Rantideva received some water and some foodstuffs made with milk and ghee, but when he and his family were about to eat, a brāhmaṇa guest arrived.

6Because Rantideva perceived the presence of the Supreme Godhead everywhere, and in every living entity, he received the guest with faith and respect and gave him a share of the food. The brāhmaṇa guest ate his share and then went away.

7Thereafter, having divided the remaining food with his relatives, Rantideva was just about to eat his own share when a śūdra guest arrived. Seeing the śūdra in relationship with the Supreme Personality of Godhead, King Rantideva gave him also a share of the food.

8When the śūdra went away, another guest arrived, surrounded by dogs, and said, "O King, I and my company of dogs are very hungry. Please give us something to eat."

9With great respect, King Rantideva offered the balance of the food to the dogs and the master of the dogs, who had come as guests. The King offered them all respects and obeisances.

10Thereafter, only the drinking water remained, and there was only enough to satisfy one person, but when the King was just about to drink it, a caṇḍāla appeared and said, "O King, although I am lowborn, kindly give me some drinking water."

11Aggrieved at hearing the pitiable words of the poor fatigued caṇḍāla, Mahārāja Rantideva spoke the following nectarean words.

12I do not pray to the Supreme Personality of Godhead for the eight perfections of mystic yoga, nor for salvation from repeated birth and death. I want only to stay among all the living entities and suffer all distresses on their behalf, so that they may be freed from suffering.

13By offering my water to maintain the life of this poor caṇḍāla, who is struggling to live, I have been freed from all hunger, thirst, fatigue, trembling of the body, moroseness, distress, lamentation and illusion.

14Having spoken thus, King Rantideva, although on the verge of death because of thirst, gave his own portion of water to the caṇḍāla without hesitation, for the King was naturally very kind and sober.

15Demigods like Lord Brahmā and Lord Śiva, who can satisfy all materially ambitious men by giving them the rewards they desire, then manifested their own identities before King Rantideva, for it was they who had presented themselves as the brāhmaṇa, śūdra, caṇḍāla and so on.

16King Rantideva had no ambition to enjoy material benefits from the demigods. He offered them obeisances, but because he was factually attached to Lord Viṣṇu, Vāsudeva, the Supreme Personality of Godhead, he fixed his mind at Lord Viṣṇu's lotus feet.

17O Mahārāja Parīkṣit, because King Rantideva was a pure devotee, always Kṛṣṇa conscious and free from all material desires, the Lord's illusory energy, māyā, could not exhibit herself before him. On the contrary, for him māyā entirely vanished, exactly like a dream.

18All those who followed the principles of King Rantideva were totally favored by his mercy and became pure devotees, attached to the Supreme Personality of Godhead, Nārāyaṇa. Thus they all became the best of yogīs.

19-20From Garga came a son named Śini, and his son was Gārgya. Although Gārgya was a kṣatriya, there came from him a generation of brahmaṇas. From Mahāvīrya came a son named Duritakṣaya, whose sons were Trayyāruṇi, Kavi and Puṣkarāruṇi. Although these sons of Duritakṣaya took birth in a dynasty of kṣatriyas, they too attained the position of brāhmaṇas. Bṛhatkṣatra had a son named Hastī, who established the city of Hastināpura [now New Delhi].

21From King Hastī came three sons, named Ajamīḍha, Dvimīḍha and Purumīḍha. The descendants of Ajamīḍha, headed by Priyamedha, all achieved the position of brāhmaṇas.

22From Ajamīḍha came a son named Bṛhadiṣu, from Bṛhadiṣu came a son named Bṛhaddhanu, from Bṛhaddhanu a son named Bṛhatkāya, and from Bṛhatkāya a son named Jayadratha.

23The son of Jayadratha was Viśada, and his son was Syenajit. The sons of Syenajit were Rucirāśva, Dṛḍhahanu, Kāśya and Vatsa.

24The son of Rucirāśva was Pāra, and the sons of Pāra were Pṛthusena and Nīpa. Nīpa had one hundred sons.

25King Nīpa begot a son named Brahmadatta through the womb of his wife, Kṛtvī, who was the daughter of Śuka. And Brahmadatta, who was a great yogī, begot a son named Viṣvaksena through the womb of his wife, Sarasvatī.

26Following the instructions of the great sage Jaigīṣavya, Viṣvaksena compiled an elaborate description of the mystic yoga system. From Viṣvaksena, Udaksena was born, and from Udaksena, Bhallāṭa. All these sons are known as descendants of Bṛhadiṣu.

27The son of Dvimīḍha was Yavīnara, whose son was Kṛtimān. The son of Kṛtimān was well known as Satyadhṛti. From Satyadhṛti came a son named Dṛḍhanemi, who became the father of Supārśva.

28-29From Supārśva came a son named Sumati, from Sumati came Sannatimān, and from Sannatimān came Kṛtī, who achieved mystic power from Brahmā and taught six saṁhitās of the Prācyasāma verses of the Sāma Veda. The son of Kṛtī was Nīpa; the son of Nīpa, Udgrāyudha; the son of Udgrāyudha, Kṣemya; the son of Kṣemya, Suvīra; and the son of Suvīra, Ripuṣjaya.

30From Ripuṣjaya came a son named Bahuratha. Purumīḍha was sonless. Ajamīḍha had a son named Nīla by his wife known as Nalinī, and the son of Nīla was Śānti.

31-33The son of Śānti was Suśānti, the son of Suśānti was Puruja, and the son of Puruja was Arka. From Arka came Bharmyāśva, and from Bharmyāśva came five sonsMudgala, Yavīnara, Bṛhadviśva, Kāmpilla and Saṣjaya. Bharmyāśva prayed to his sons, “O my sons, please take charge of my five states, for you are quite competent to do so.” Thus his five sons were known as the Paṣcālas. From Mudgala came a dynasty of brāhmaṇas known as Maudgalya.

34Mudgala, the son of Bharmyāśva, had twin children, one male and the other female. The male child was named Divodāsa, and the female child was named Ahalyā. From the womb of Ahalyā by the semen of her husband, Gautama, came a son named Śatānanda.

35The son of Śatānanda was Satyadhṛti, who was expert in archery, and the son of Satyadhṛti

was Śaradvān. When Śaradvān met Urvaśī, he discharged semen, which fell on a clump of śara grass. From this semen were born two all-auspicious babies, one male and the other female.

36While Mahārāja Śāntanu was on a hunting excursion, he saw the male and female children lying in the forest, and out of compassion he took them home. Consequently, the male child was known as Kṛpa, and the female child was named Kṛpī. Kṛpī later became the wife of Droṇācārya.

## SB 9.22: The Descendants of Ajamīḍha

This chapter describes the descendants of Divodāsa. It also describes Jarāsandha, who belonged to the Ṛkṣa dynasty, as well as Duryodhana, Arjuna and others.

The son of Divodāsa was Mitrāyu, who had four sons, one after anotherCyavana, Sudāsa, Sahadeva and Somaka. Somaka had one hundred sons, of whom the youngest was Pṛṣata, from whom Drupada was born. Drupada's daughter was Draupadī, and his sons were headed by Dhṛṣṭadyumna. Dhṛṣṭadyumna's son was Dhṛṣṭaketu.

Another son of Ajamīḍha was named Ṛkṣa. From Ṛkṣa came a son named Saṁvaraṇa, and from Saṁvaraṇa came Kuru, the king of Kurukṣetra. Kuru had four sonsParīkṣi, Sudhanu, Jahnu and Niṣadha. Among the descendants in the dynasty from Sudhanu were Suhotra, Cyavana, Kṛtī and Uparicara Vasu. The sons of Uparicara Vasu, including Bṛhadratha, Kuśāmba, Matsya, Pratyagra and Cedipa, became kings of the Cedi state. In the dynasty from Bṛhadratha came Kuśāgra, Ṛṣabha, Satyahita, Puṣpavān and Jahu, and from Bṛhadratha through the womb of another wife came Jarāsandha, who was followed by Sahadeva, Somāpi and Śrutaśravā. Parīkṣi, the son of Kuru, had no sons. Among the descendants of Jahnu were Suratha, Vidūratha, Sārvabhauma, Jayasena, Rādhika, Ayutāyu, Akrodhana, Devātithi, Ṛkṣa, Dilīpa and Pratīpa.

The sons of Pratīpa were Devāpi, Śāntanu and Bāhlīka. When Devāpi retired to the forest, his younger brother Śāntanu became the king. Although Śāntanu, being younger, was not eligible to occupy the throne, he disregarded his elder brother. Consequently, there was no rainfall for twelve years. Following the advice of the *brāhmaṇas,*Śāntanu was ready to return the kingdom to Devāpi, but by the intrigue of Śāntanu's minister, Devāpi became unfit to be king. Therefore Śāntanu resumed charge of the kingdom, and rain fell properly during his regime. By mystic power, Devāpi still lives in the village known as Kalāpa-grāma. In this Kali-yuga, when the descendants of Soma known as the *candra-vaṁśa* (the lunar dynasty) die out, Devāpi, at the beginning of Satya-yuga, will reestablish the dynasty of the moon. The wife of Śāntanu named Gaṅgā gave birth to Bhīṣma, one of the twelve authorities. Two sons named Citrāṅgada and Vicitravīrya were also born from the womb of Satyavatī by the semen of Śāntanu, and Vyāsadeva was born from Satyavatī by the semen of Parāśara. Vyāsadeva instructed the history of the *Bhāgavatam* to his son Śukadeva. Through the womb of the two wives and the maidservant of Vicitravīrya, Vyāsadeva begot Dhṛtarāṣṭra, Pāṇḍu and Vidura.

Dhṛtarāṣṭra had one hundred sons, headed by Duryodhana, and one daughter named Duḥśalā. Pāṇḍu had five sons, headed by Yudhiṣṭhira, and each of these five sons had one son from Draupadī. The names of these sons of Draupadī were Prativindhya, Śrutasena, Śrutakīrti, Śatānīka and Śrutakarmā. Besides these five sons, by other wives the Pāṇḍavas had many other sons, such as Devaka, Ghaṭotkaca, Sarvagata, Suhotra, Naramitra, Irāvān, Babhruvāhana and Abhimanyu. From Abhimanyu, Mahārāja Parīkṣit was born, and Mahārāja Parīkṣit had four sonsJanamejaya, Śrutasena, Bhīmasena and Ugrasena.

Next Śukadeva Gosvāmī described the future sons of the Pāṇḍu family. From Janamejaya, he said, would come a son named Śatānīka, and following in the dynasty would be Sahasrānīka, Aśvamedhaja, Asīmakṛṣṇa, Nemicakra, Citraratha, Śuciratha, Vṛṣṭimān, Suṣeṇa, Sunītha, Nṛcakṣu, Sukhīnala, Pariplava, Sunaya, Medhāvī, Nṛpaṣjaya, Dūrva, Timi, Bṛhadratha, Sudāsa, Śatānīka, Durdamana, Mahīnara, Daṇḍapāṇi, Nimi and Kṣemaka.

Śukadeva Gosvāmī then predicted the kings of the *māgadha-vaṁśa,* or Māgadha dynasty. Sahadeva, the son of Jarāsandha, would beget Mārjāri, and from him would come Śrutaśravā. Subsequently taking birth in the dynasty will be Yutāyu, Niramitra, Sunakṣatra, Bṛhatsena, Karmajit, Sutaṣjaya, Vipra, Śuci, Kṣema, Suvrata, Dharmasūtra, Sama, Dyumatsena, Sumati, Subala, Sunītha, Satyajit, Viśvajit and Ripuṣjaya.

1Śukadeva Gosvāmī said: O King, the son of Divodāsa was Mitrāyu, and from Mitrāyu came four sons, named Cyavana, Sudāsa, Sahadeva and Somaka. Somaka was the father of Jantu.

2Somaka had one hundred sons, of whom the youngest was Pṛṣata. From Pṛṣata was born King Drupada, who was opulent in all supremacy.

3From Mahārāja Drupada, Draupadī was born. Mahārāja Drupada also had many sons, headed by Dhṛṣṭadyumna. From Dhṛṣṭadyumna came a son named Dhṛṣṭaketu. All these personalities are known as descendants of Bharmyāśva or as the dynasty of Pāṣcāla.

4-5Another son of Ajamīḍha was known as Ṛkṣa. From Ṛkṣa came a son named Saṁvaraṇa, and from Saṁvaraṇa through the womb of his wife, Tapatī, the daughter of the sun-god, came Kuru, the King of Kurukṣetra. Kuru had four sonsParīkṣi, Sudhanu, Jahnu and Niṣadha. From Sudhanu, Suhotra was born, and from Suhotra, Cyavana. From Cyavana, Kṛtī was born.

6The son of Kṛtī was Uparicara Vasu, and among his sons, headed by Bṛhadratha, were Kuśāmba, Matsya, Pratyagra and Cedipa. All the sons of Uparicara Vasu became rulers of the Cedi state.

7From Bṛhadratha, Kuśāgra was born; from Kuśāgra, Ṛṣabha; and from Ṛṣabha, Satyahita. The son of Satyahita was Puṣpavān, and the son of Puṣpavān was Jahu.

8Through the womb of another wife, Bṛhadratha begot two halves of a son. When the mother saw those two halves she rejected them, but later a she-demon named Jarā playfully joined them and said, “Come to life, come to life!” Thus the son named Jarāsandha was born.

9From Jarāsandha came a son named Sahadeva; from Sahadeva, Somāpi; and from Somāpi, Śrutaśravā. The son of Kuru called Parīkṣi had no sons, but the son of Kuru called Jahnu had a son named Suratha.

10From Suratha came a son named Vidūratha, from whom Sārvabhauma was born. From Sārvabhauma came Jayasena; from Jayasena, Rādhika; and from Rādhika, Ayutāyu.

11From Ayutāyu came a son named Akrodhana, and his son was Devātithi. The son of Devātithi was Ṛkṣa, the son of Ṛkṣa was Dilīpa, and the son of Dilīpa was Pratīpa.

12-13The sons of Pratīpa were Devāpi, Śāntanu and Bāhlīka. Devāpi left the kingdom of his father and went to the forest, and therefore Śāntanu became the king. Śāntanu, who in his previous birth was known as Mahābhiṣa, had the ability to transform anyone from old age to youth simply by touching that person with his hands.

14-15Because the King was able to make everyone happy for sense gratification, primarily by the touch of his hand, his name was Śāntanu. Once, when there was no rainfall in the kingdom for twelve years and the King consulted his learned brahminical advisors, they said, "You are faulty for enjoying the property of your elder brother. For the elevation of your kingdom and home, you should return the kingdom to him."

16-17When the brāhmaṇas said this, Mahārāja Śāntanu went to the forest and requested his elder brother Devāpi to take charge of the kingdom, for it is the duty of a king to maintain his subjects. Previously, however, Śāntanu's minister Aśvavāra had instigated some brāhmaṇas to induce Devāpi to transgress the injunctions of the Vedas and thus make himself unfit for the post of ruler. The brāhmaṇas deviated Devāpi from the path of the Vedic principles, and therefore when asked by Śāntanu he did not agree to accept the post of ruler. On the contrary, he blasphemed the Vedic principles and therefore became fallen. Under the circumstances, Śāntanu again became the king, and Indra, being pleased, showered rains. Devāpi later took to the path of mystic yoga to control his mind and senses and went to the village named Kalāpagrāma, where he is still living.

18-19After the dynasty of the moon-god comes to an end in this Age of Kali, Devāpi, in the beginning of the next Satya-yuga, will reestablish the Soma dynasty in this world. From Bāhlīka [the brother of Śāntanu] came a son named Somadatta, who had three sons, named Bhūri, Bhūriśravā and Śala. From Śāntanu, through the womb of his wife named Gaṅgā, came Bhīṣma, the exalted, self-realized devotee and learned scholar.

20Bhīṣmadeva was the foremost of all warriors. When he defeated Lord Paraśurāma in a fight, Lord Paraśurāma was very satisfied with him. By the semen of Śāntanu in the womb of Satyavatī, the daughter of a fisherman, Citrāṅgada took birth.

21-24Citrāṅgada, of whom Vicitravīrya was the younger brother, was killed by a Gandharva who was also named Citrāṅgada. Satyavatī, before her marriage to Śāntanu, gave birth to the master authority of the Vedas, Vyāsadeva, known as Kṛṣṇa Dvaipāyana, who was begotten by Parāśara Muni. From Vyāsadeva, I [Śukadeva Gosvāmī] was born, and from him I studied this great work of literature, Śrīmad-Bhāgavatam. The incarnation of Godhead Vedavyāsa, rejecting his disciples, headed by Paila, instructed Śrīmad-Bhāgavatam to me because I was free from all material desires. After Ambikā and Ambālikā, the two daughters of Kāśīrāja, were taken away by force, Vicitravīrya married them, but because he was too attached to these two wives, he had a heart attack and died of tuberculosis.

25Bādarāyaṇa, Śrī Vyāsadeva, following the order of his mother, Satyavatī, begot three sons, two by the womb of Ambikā and Ambālikā, the two wives of his brother Vicitravīrya, and the third by Vicitravīrya's maidservant. These sons were Dhṛtarāṣṭra, Pāṇḍu and Vidura.

26Dhṛtarāṣṭra's wife, Gāndhārī, gave birth to one hundred sons and one daughter, O King. The oldest of the sons was Duryodhana, and the daughter's name was Duḥśalā.

27-28Pāṇḍu was restrained from sexual life because of having been cursed by a sage, and therefore his three sons Yudhiṣṭhira, Bhīma and Arjuna were begotten through the womb of his wife, Kuntī, by Dharmarāja, by the demigod controlling the wind, and by the demigod controlling the rain. Pāṇḍu's second wife, Mādrī, gave birth to Nakula and Sahadeva, who were begotten by the two Aśvinī-kumāras. The five brothers, headed by Yudhiṣṭhira, begot five sons through the womb of Draupadī. These five sons were your uncles.

29From Yudhiṣṭhira came a son named Prativindhya, from Bhīma a son named Śrutasena, from

Arjuna a son named Śrutakīrti, and from Nakula a son named Śatānīka.

30-31O King, the son of Sahadeva was Śrutakarmā. Furthermore, Yudhiṣṭhira and his brothers begot other sons in other wives. Yudhiṣṭhira begot a son named Devaka through the womb of Pauravī, and Bhīmasena begot a son named Ghaṭotkaca through his wife Hiḍimbā and a son named Sarvagata through his wife Kālī. Similarly, Sahadeva had a son named Suhotra through his wife named Vijayā, who was the daughter of the king of the mountains.

32Nakula begot a son named Naramitra through his wife named Kareṇumatī. Similarly, Arjuna begot a son named Irāvān through his wife known as Ulupī, the daughter of the Nāgas, and a son named Babhruvāhana by the womb of the princess of Maṇipura. Babhruvāhana became the adopted son of the king of Maṇipura.

33My dear King Parīkṣit, your father, Abhimanyu, was born from the womb of Subhadrā as the son of Arjuna. He was the conqueror of all atirathas [those who could fight with one thousand charioteers]. From him, by the womb of Uttarā, the daughter of Virāḍrāja, you were born.

34After the Kuru dynasty was annihilated in the Battle of Kurukṣetra, you also were about to be destroyed by the brahmāstra atomic weapon released by the son of Droṇācārya, but by the mercy of the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, you were saved from death.

35My dear King, your four sonsJanamejaya, Śrutasena, Bhīmasena and Ugrasenaare very powerful. Janamejaya is the eldest.

36Because of your death by the Takṣaka snake, your son Janamejaya will be very angry and will perform a sacrifice to kill all the snakes in the world.

37After conquering throughout the world and after accepting Tura, the son of Kalaṣa, as his priest, Janamejaya will perform aśvamedha-yajṣas, for which he will be known as Turaga-medhaṣāṭ.

38The son of Janamejaya known as Śatānīka will learn from Yājṣavalkya the three Vedas and the art of performing ritualistic ceremonies. He will also learn the military art from Kṛpācārya and the transcendental science from the sage Śaunaka.

39The son of Śatānīka will be Sahasrānīka, and from him will come the son named Aśvamedhaja. From Aśvamedhaja will come Asīmakṛṣṇa, and his son will be Nemicakra.

40When the town of Hastināpura [New Delhi] is inundated by the river, Nemicakra will live in the place known as Kauśāmbī. His son will be celebrated as Citraratha, and the son of Citraratha will be Śuciratha.

41From Śuciratha will come the son named Vṛṣṭimān, and his son, Suṣeṇa, will be the emperor of the entire world. The son of Suṣeṇa will be Sunītha, his son will be Nṛcakṣu, and from Nṛcakṣu will come a son named Sukhīnala.

42The son of Sukhīnala will be Pariplava, and his son will be Sunaya. From Sunaya will come a son named Medhāvī; from Medhāvī, Nṛpaṣjaya; from Nṛpaṣjaya, Dūrva; and from Dūrva, Timi.

43From Timi will come Bṛhadratha; from Bṛhadratha, Sudāsa; and from Sudāsa, Śatānīka. From Śatānīka will come Durdamana, and from him will come a son named Mahīnara.

44-45The son of Mahīnara will be Daṇḍapāṇi, and his son will be Nimi, from whom King Kṣemaka will be born. I have now described to you the moon-god's dynasty, which is the

source of brāhmaṇas and kṣatriyas and is worshiped by demigods and great saints. In this Kali-yuga, Kṣemaka will be the last monarch. Now I shall describe to you the future of the Māgadha dynasty. Please listen.

46-48Sahadeva, the son of Jarāsandha, will have a son named Mārjāri. From Mārjāri will come Śrutaśravā; from Śrutaśravā, Yutāyu; and from Yutāyu, Niramitra. The son of Niramitra will be Sunakṣatra, from Sunakṣatra will come Bṛhatsena, and from Bṛhatsena, Karmajit. The son of Karmajit will be Sutaṣjaya, the son of Sutaṣjaya will be Vipra, and his son will be Śuci. The son of Śuci will be Kṣema, the son of Kṣema will be Suvrata, and the son of Suvrata will be Dharmasūtra. From Dharmasūtra will come Sama; from Sama, Dyumatsena; from Dyumatsena, Sumati; and from Sumati, Subala.

49From Subala will come Sunītha; from Sunītha, Satyajit; from Satyajit, Viśvajit; and from Viśvajit, Ripuṣjaya. All of these personalities will belong to the dynasty of Bṛhadratha, which will rule the world for one thousand years.

## SB 9.23: The Dynasties of the Sons of Yayāti

In this Twenty-third Chapter the dynasties of Anu, Druhyu, Turvasu and Yadu, as well as the story of Jyāmagha, are described.

The sons of Yayāti's fourth son, Anu, were Sabhānara, Cakṣu and Pareṣṇu. Of these three, the sons and grandsons of Sabhānara were, in succession, Kālanara, Sṛṣjaya, Janamejaya, Mahāśāla and Mahāmanā. The sons of Mahāmanā were Uśīnara and Titikṣu. Uśīnara had four sons, namely Śibi, Vara, Kṛmi and Dakṣa. Śibi also had four sonsVṛṣādarbha, Sudhīra, Madra and Kekaya. The son of Titikṣu was Ruṣadratha, who begot a son named Homa. From Homa came Sutapā and from Sutapā, Bali. In this way the dynasty continued. Begotten by Dīrghatamā in the womb of the wife of Bali were Aṅga, Vaṅga, Kaliṅga, Suhma, Puṇḍra and Oḍra, all of whom became kings.

From Aṅga came Khalapāna, whose dynasty included Diviratha, Dharmaratha and Citraratha, also called Romapāda, one after another. Mahārāja Daśaratha gave in charity one of his daughters, by the name Śāntā, to his friend Romapāda because Romapāda had no sons. Romapāda accepted Śāntā as his daughter, and the great sage Ṛṣyaśṛṅga married her. By the mercy of Ṛṣyaśṛṅga, Romapāda had a son named Caturaṅga. The son of Caturaṅga was Pṛthulākṣa, who had three sonsBṛhadratha, Bṛhatkarmā and Bṛhadbhānu. From Bṛhadratha came a son named Bṛhadmanā, whose sons and grandsons in succession were Jayadratha, Vijaya, Dhṛti, Dhṛtavrata, Satkarmā and Adhiratha. Adhiratha accepted the son rejected by Kuntī, namely Karṇa, and Karṇa's son was Vṛṣasena.

The son of Yayāti's third son, Druhyu, was Babhru, whose son and grandsons were Setu, Ārabdha, Gāndhāra, Dharma, Dhṛta, Durmada and Pracetā.

The son of Yayāti's second son, Turvasu, was Vahni, whose seminal dynasty included Bharga, Bhānumān, Tribhānu, Karandhama and Maruta. The childless Maruta accepted Duṣmanta, who belonged to the Pūru dynasty, as his adopted son. Mahārāja Duṣmanta was anxious to have his kingdom returned, and so he went back to the Pūru-vaṁśa.

Of the four sons of Yadu, Sahasrajit was the eldest. The son of Sahasrajit was named Śatajit. He had three sons, of whom one was Haihaya. The sons and grandsons in the dynasty of Haihaya were Dharma, Netra, Kunti, Sohaṣji, Mahiṣmān, Bhadrasenaka, Dhanaka, Kṛtavīrya, Arjuna, Jayadhvaja, Tālajaṅgha and Vītihotra.

The son of Vītihotra was Madhu, whose eldest son was Vṛṣṇi. Because of Yadu, Madhu and Vṛṣṇi, their dynasties are known as Yādava, Mādhava and Vṛṣṇi. Another son of Yadu was Kroṣṭā, and from him came Vṛjinavān, Svāhita, Viṣadgu, Citraratha, Śaśabindu, Pṛthuśravā, Dharma, Uśanā and Rucaka. Rucaka had five sons, one of whom was known as Jyāmagha. Jyāmagha was sonless, but by the mercy of the demigods his childless wife gave birth to a son named Vidarbha.

1Śukadeva Gosvāmī said: Anu, the fourth son of Yayāti, had three sons, named Sabhānara, Cakṣu and Pareṣṇu. O King, from Sabhānara came a son named Kālanara, and from Kālanara came a son named Sṛṣjaya.

2From Sṛṣjaya came a son named Janamejaya. From Janamejaya came Mahāśāla; from Mahāśāla, Mahāmanā; and from Mahāmanā two sons, named Uśīnara and Titikṣu.

3-4The four sons of Uśīnara were Śibi, Vara, Kṛmi and Dakṣa, and from Śibi again came four sons, named Vṛṣādarbha, Sudhīra, Madra and ātma-tattva-vit Kekaya. The son of Titikṣu was Ruṣadratha. From Ruṣadratha came Homa; from Homa, Sutapā; and from Sutapā, Bali.

5By the semen of Dīrghatamā in the wife of Bali, the emperor of the world, six sons took birth, namely Aṅga, Vaṅga, Kaliṅga, Suhma, Puṇḍra and Oḍra.

6These six sons, headed by Aṅga, later became kings of six states in the eastern side of India. These states were known according to the names of their respective kings. From Aṅga came a son named Khalapāna, and from Khalapāna came Diviratha.

7-10From Diviratha came a son named Dharmaratha, and his son was Citraratha, who was celebrated as Romapāda. Romapāda, however, was without issue, and therefore his friend Mahārāja Daśaratha gave him his own daughter, named Śāntā. Romapāda accepted her as his daughter, and thereafter she married Ṛṣyaśṛṅga. When the demigods from the heavenly planets failed to shower rain, Ṛṣyaśṛṅga was appointed the priest for performing a sacrifice, after being brought from the forest by the allurement of prostitutes, who danced, staged theatrical performances accompanied by music, and embraced and worshiped him. After Ṛṣyaśṛṅga came, the rain fell. Thereafter, Ṛṣyaśṛṅga performed a son-giving sacrifice on behalf of Mahārāja Daśaratha, who had no issue, and then Mahārāja Daśaratha had sons. From Romapāda, by the mercy of Ṛṣyaśṛṅga, Caturaṅga was born, and from Caturaṅga came Pṛthulākṣa.

11The sons of Pṛthulākṣa were Bṛhadratha, Bṛhatkarmā and Bṛhadbhānu. From the eldest, Bṛhadratha, came a son named Bṛhanmanā, and from Bṛhanmanā came a son named Jayadratha.

12The son of Jayadratha, by the womb of his wife Sambhūti, was Vijaya, and from Vijaya, Dhṛti was born. From Dhṛti came Dhṛtavrata; from Dhṛtavrata, Satkarmā; and from Satkarmā, Adhiratha.

13While playing on the bank of the Ganges, Adhiratha found a baby wrapped up in a basket. The baby had been left by Kuntī because he was born before she was married. Because Adhiratha had no sons, he raised this baby as his own. [This son was later known as Karṇa.]

14O King, the only son of Karṇa was Vṛṣasena. Druhyu, the third son of Yayāti, had a son named Babhru, and the son of Babhru was known as Setu.

15The son of Setu was Ārabdha, Ārabdha's son was Gāndhāra, and Gāndhāra's son was

Dharma. Dharma's son was Dhṛta, Dhṛta's son was Durmada, and Durmada's son was Pracetā, who had one hundred sons.

16The Pracetās [the sons of Pracetā] occupied the northern side of India, which was devoid of Vedic civilization, and became kings there. Yayāti's second son was Turvasu. The son of Turvasu was Vahni; the son of Vahni, Bharga; the son of Bharga, Bhānumān.

17The son of Bhānumān was Tribhānu, and his son was the magnanimous Karandhama. Karandhama's son was Maruta, who had no sons and who therefore adopted a son of the Pūru dynasty [Mahārāja Duṣmanta] as his own.

18-19Mahārāja Duṣmanta, desiring to occupy the throne, returned to his original dynasty [the Pūru dynasty], even though he had accepted Maruta as his father. O Mahārāja Parīkṣit, let me now describe the dynasty of Yadu, the eldest son of Mahārāja Yayāti. This description is supremely pious, and it vanquishes the reactions of sinful activities in human society. Simply by hearing this description, one is freed from all sinful reactions.

20-21The Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, the Supersoul in the hearts of all living entities, descended in His original form as a human being in the dynasty or family of Yadu. Yadu had four sons, named Sahasrajit, Kroṣṭā, Nala and Ripu. Of these four, the eldest, Sahasrajit, had a son named Śatajit, who had three sons, named Mahāhaya, Reṇuhaya and Haihaya.

22The son of Haihaya was Dharma, and the son of Dharma was Netra, the father of Kunti. From Kunti came a son named Sohaṣji, from Sohaṣji came Mahiṣmān, and from Mahiṣmān, Bhadrasenaka.

23The sons of Bhadrasena were known as Durmada and Dhanaka. Dhanaka was the father of Kṛtavīrya and also of Kṛtāgni, Kṛtavarmā and Kṛtaujā.

24The son of Kṛtavīrya was Arjuna. He [Kārtavīryārjuna] became the emperor of the entire world, consisting of seven islands, and received mystic power from Dattātreya, the incarnation of the Supreme Personality of Godhead. Thus he obtained the mystic perfections known as aṣṭa-siddhi.

25No other king in this world could equal Kārtavīryārjuna in sacrifices, charity, austerity, mystic power, education, strength or mercy.

26For eighty-five thousand years, Kārtavīryārjuna continuously enjoyed material opulences with full bodily strength and unimpaired memory. In other words, he enjoyed inexhaustible material opulences with his six senses.

27Of the one thousand sons of Kārtavīryārjuna, only five remained alive after the fight with Paraśurāma. Their names were Jayadhvaja, Śūrasena, Vṛṣabha, Madhu and Ūrjita.

28Jayadhvaja had a son named Tālajaṅgha, who had one hundred sons. All the kṣatriyas in that dynasty, known as Tālajaṅgha, were annihilated by the great power received by Mahārāja Sagara from Aurva Ṛṣi.

29Of the sons of Tālajaṅgha, Vītihotra was the eldest. The son of Vītihotra named Madhu had a celebrated son named Vṛṣṇi. Madhu had one hundred sons, of whom Vṛṣṇi was the eldest. The dynasties known as Yādava, Mādhava and Vṛṣṇi had their origin from Yadu, Madhu and Vṛṣṇi.

30-31O Mahārāja Parīkṣit, because Yadu, Madhu and Vṛṣṇi each inaugurated a dynasty, their

dynasties are known as Yādava, Mādhava and Vṛṣṇi. The son of Yadu named Kroṣṭā had a son named Vṛjinavān. The son of Vṛjinavān was Svāhita; the son of Svāhita, Viṣadgu; the son of Viṣadgu, Citraratha; and the son of Citraratha, Śaśabindu. The greatly fortunate Śaśabindu, who was a great mystic, possessed fourteen opulences and was the owner of fourteen great jewels. Thus he became the emperor of the world.

32The famous Śaśabindu had ten thousand wives, and by each he begot a lakh of sons. Therefore the number of his sons was ten thousand lakhs.

33Among these many sons, six were the foremost, such as Pṛthuśravā and Pṛthukīrti. The son of Pṛthuśravā was known as Dharma, and his son was known as Uśanā. Uśanā was the performer of one hundred horse sacrifices.

34The son of Uśanā was Rucaka, who had five sonsPurujit, Rukma, Rukmeṣu, Pṛthu and Jyāmagha. Please hear of these sons from me.

35-36Jyāmagha had no sons, but because he was fearful of his wife, Śaibyā, he could not accept another wife. Jyāmagha once took from the house of some royal enemy a girl who was a prostitute, but upon seeing her Śaibyā was very angry and said to her husband, "My husband, you cheater, who is this girl sitting upon my seat on the chariot?" Jyāmagha then replied, "This girl will be your daughter-in-law." Upon hearing these joking words, Śaibyā smilingly replied.

37Śaibyā said, "I am sterile and have no co-wife. How can this girl be my daughter-in-law? Please tell me." Jyāmagha replied, "My dear Queen, I shall see that you indeed have a son and that this girl will be your daughter-in-law."

38Long, long ago, Jyāmagha had satisfied the demigods and Pitās by worshiping them. Now, by their mercy, Jyāmagha's words came true. Although Śaibyā was barren, by the grace of the demigods she became pregnant and in due course of time gave birth to a child named Vidarbha. Before the child's birth, the girl had been accepted as a daughter-in-law, and therefore Vidarbha actually married her when he grew up.

### SB 9.24: Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead

Vidarbha had three sons, named Kuśa, Kratha and Romapāda. Of these three, Romapāda expanded his dynasty by the sons and grandsons named Babhru, Kṛti, Uśika, Cedi and Caidya, all of whom later became kings. From the son of Vidarbha named Kratha came a son named Kunti, from whose dynasty came the descendants named Vṛṣṇi, Nirvṛti, Daśārha, Vyoma, Jīmūta, Vikṛti, Bhīmaratha, Navaratha, Daśaratha, Śakuni, Karambhi, Devarāta, Devakṣatra, Madhu, Kuruvaśa, Anu, Puruhotra, Ayu and Sātvata. Sātvata had seven sons. One of them was Devāvṛdha, whose son was Babhru. Another son of Sātvata was Mahābhoja, by whom the Bhoja dynasty was inaugurated. Another was Vṛṣṇi, who had a son named Yudhājit. From Yudhājit came Anamitra and Śini, and from Anamitra came Nighna and another Śini. The descendants in succession from Śini were Satyaka, Yuyudhāna, Jaya, Kuṇi and Yugandhara. Another son of Anamitra was Vṛṣṇi. From Vṛṣṇi came Śvaphalka, by whom Akrūra and twelve other sons were generated. From Akrūra came two sons, named Devavān and Upadeva. The son of Andhaka named Kukura was the origin of the descendants known as Vahni, Vilomā, Kapotaromā, Anu, Andhaka, Dundubhi, Avidyota, Punarvasu and Āhuka. Āhuka had two sons, named Devaka and Ugrasena. The four sons of Devaka were known as Devavān, Upadeva, Sudeva and Devavardhana, and his seven daughters were Dhṛtadevā, Śāntidevā, Upadevā, Śrīdevā, Devarakṣitā, Sahadevā and Devakī. Vasudeva married all seven daughters of Devaka. Ugrasena had nine sons named Kaṁsa, Sunāmā, Nyagrodha, Kaṅka, Śaṅku, Suhū, Rāṣṭrapāla,

Dhṛṣṭi and Tuṣṭimān, and he had five daughters named Kaṁsā, Kaṁsavatī, Kaṅkā, Śūrabhū and Rāṣṭrapālikā. The younger brothers of Vasudeva married all the daughters of Ugrasena.

Vidūratha, the son of Citraratha, had a son named Śūra, who had ten other sons, of whom Vasudeva was the chief. Śūra gave one of his five daughters, Pṛthā, to his friend Kunti, and therefore she was also named Kuntī. In her maiden state she gave birth to a child named Karṇa, and later she married Mahārāja Pāṇḍu.

Vṛddhaśarmā married the daughter of Śūra named Śrutadevā, from whose womb Dantavakra was born. Dhṛṣṭaketu married Śūra's daughter named Śrutakīrti, who had five sons. Jayasena married Śūra's daughter named Rājādhidevī. The king of Cedi-deśa, Damaghoṣa, married the daughter of Śūra named Śrutaśravā, from whom Śiśupāla was born.

Devabhāga, through the womb of Kaṁsā, begot Citraketu and Bṛhadbala; and Devaśravā, through the womb of Kaṁsavatī, begot Suvīra and Iṣumān. From Kaṅka, through the womb of Kaṅkā, came Baka, Satyajit and Purujit, and from Sṛṣjaya, through the womb of Rāṣṭrapālikā, came Vṛṣa and Durmarṣaṇa. Śyāmaka, through the womb of Śūrabhūmi, begot Harikeśa and Hiraṇyākṣa. Vatsaka, through the womb of Miśrakeśī, begot Vṛka, who begot the sons named Takṣa, Puṣkara and Śāla. From Samīka came Sumitra and Arjunapāla, and from Ānaka came Ṛtadhāmā and Jaya.

Vasudeva had many wives, of whom Devakī and Rohiṇī were the most important. From the womb of Rohiṇī, Baladeva was born, along with Gada, Sāraṇa, Durmada, Vipula, Dhruva, Kṛta and others. Vasudeva had many other sons by his other wives, and the eighth son to appear from the womb of Devakī was the Supreme Personality of Godhead, who delivered the entire world from the burden of demons. This chapter ends by glorifying the Supreme Personality of Godhead Vāsudeva.

1Śukadeva Gosvāmī said: By the womb of the girl brought by his father, Vidarbha begot three sons, named Kuśa, Kratha and Romapāda. Romapāda was the favorite in the dynasty of Vidarbha.

2The son of Romapāda was Babhru, from whom there came a son named Kṛti. The son of Kṛti was Uśika, and the son of Uśika was Cedi. From Cedi was born the king known as Caidya and others.

3-4The son of Kratha was Kunti; the son of Kunti, Vṛṣṇi; the son of Vṛṣṇi, Nirvṛti; and the son of Nirvṛti, Daśārha. From Daśārha came Vyoma; from Vyoma came Jīmūta; from Jīmūta, Vikṛti; from Vikṛti, Bhīmaratha; from Bhīmaratha, Navaratha; and from Navaratha, Daśaratha.

5From Daśaratha came a son named Śakuni and from Śakuni a son named Karambhi. The son of Karambhi was Devarāta, and his son was Devakṣatra. The son of Devakṣatra was Madhu, and his son was Kuruvaśa, from whom there came a son named Anu.

6-8The son of Anu was Puruhotra, the son of Puruhotra was Ayu, and the son of Ayu was Sātvata. O great Āryan King, Sātvata had seven sons, named Bhajamāna, Bhaji, Divya, Vṛṣṇi, Devāvṛdha, Andhaka and Mahābhoja. From Bhajamāna by one wife came three sonsNimloci, Kiṅkaṇa and Dhṛṣṭi. And from his other wife came three other sonsŚatājit, Sahasrājit and Ayutājit.

9The son of Devāvṛdha was Babhru. Concerning Devāvṛdha and Babhru there are two famous songs of prayer, which were sung by our predecessors and which we have heard from a distance. Even now I hear the same prayers about their qualities [because that which was heard

before is still sung continuously].

10-11"It has been decided that among human beings Babhru is the best and that Devāvṛdha is equal to the demigods. Because of the association of Babhru and Devāvṛdha, all of their descendants, numbering 14,065, achieved liberation." In the dynasty of King Mahābhoja, who was exceedingly religious, there appeared the Bhoja kings.

12O King, Mahārāja Parīkṣit, who can suppress your enemies, the sons of Vṛṣṇi were Sumitra and Yudhājit. From Yudhājit came Śini and Anamitra, and from Anamitra came a son named Nighna.

13The two sons of Nighna were Satrājita and Prasena. Another son of Anamitra was another Śini, and his son was Satyaka.

14The son of Satyaka was Yuyudhāna, whose son was Jaya. From Jaya came a son named Kuṇi and from Kuṇi a son named Yugandhara. Another son of Anamitra was Vṛṣṇi.

15From Vṛṣṇi came the sons named Śvaphalka and Citraratha. From Śvaphalka by his wife Gāndinī came Akrūra. Akrūra was the eldest, but there were twelve other sons, all of whom were most celebrated.

16-18The names of these twelve were Āsaṅga, Sārameya, Mṛdura, Mṛduvit, Giri, Dharmavṛddha, Sukarmā, Kṣetropekṣa, Arimardana, Śatrughna, Gandhamāda and Pratibāhu. These brothers also had a sister named Sucārā. From Akrūra came two sons, named Devavān and Upadeva. Citraratha had many sons, headed by Pṛthu and Vidūratha, all of whom were known as belonging to the dynasty of Vṛṣṇi.

19Kukura, Bhajamāna, Śuci and Kambalabarhiṣa were the four sons of Andhaka. The son of Kukura was Vahni, and his son was Vilomā.

20The son of Vilomā was Kapotaromā, and his son was Anu, whose friend was Tumburu. From Anu came Andhaka; from Andhaka, Dundubhi; and from Dundubhi, Avidyota. From Avidyota came a son named Punarvasu.

21-23Punarvasu had a son and a daughter, named Āhuka and Āhukī respectively, and Āhuka had two sons, named Devaka and Ugrasena. Devaka had four sons, named Devavān, Upadeva, Sudeva and Devavardhana, and he also had seven daughters, named Śāntidevā, Upadevā, Śrīdevā, Devarakṣitā, Sahadevā, Devakī and Dhṛtadevā. Dhṛtadevā was the eldest. Vasudeva, the father of Kṛṣṇa, married all these sisters.

24Kaṁsa, Sunāmā, Nyagrodha, Kaṅka, Śaṅku, Suhū, Rāṣṭrapāla, Dhṛṣṭi and Tuṣṭimān were the sons of Ugrasena.

25Kaṁsā, Kaṁsavatī, Kaṅkā, Śūrabhū and Rāṣṭrapālikā were the daughters of Ugrasena. They became the wives of Vasudeva's younger brothers.

26The son of Citraratha was Vidūratha, the son of Vidūratha was Śūra, and his son was Bhajamāna. The son of Bhajamāna was Śini, the son of Śini was Bhoja, and the son of Bhoja was Hṛdika.

27The three sons of Hṛdika were Devamīḍha, Śatadhanu and Kṛtavarmā. The son of Devamīḍha was Śūra, whose wife was named Māriṣā.

28-31Through Māriṣā, King Śūra begot Vasudeva, Devabhāga, Devaśravā, Ānaka, Sṛṣjaya,

Śyāmaka, Kaṅka, Śamīka, Vatsaka and Vṛka. These ten sons were spotlessly pious personalities. When Vasudeva was born, the demigods from the heavenly kingdom sounded kettledrums. Therefore Vasudeva, who provided the proper place for the appearance of the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, was also known as Ānakadundubhi. The five daughters of King Śūra, named Pṛthā, Śrutadevā, Śrutakīrti, Śrutaśravā and Rājādhidevī, were Vasudeva's sisters. Śūra gave Pṛthā to his friend Kunti, who had no issue, and therefore another name of Pṛthā was Kuntī.

32Once when Durvāsā was a guest at the house of Pṛthā's father, Kunti, Pṛthā satisfied Durvāsāby rendering service. Therefore she received a mystic power by which she could call any demigod. To examine the potency of this mystic power, the pious Kuntī immediately called for the sun-god.

33As soon as Kuntī called for the demigod of the sun, he immediately appeared before her, and she was very much surprised. She told the sun-god, "I was simply examining the effectiveness of this mystic power. I am sorry I have called you unnecessarily. Please return and excuse me."

34The sun-god said: O beautiful Pṛthā, your meeting with the demigods cannot be fruitless. Therefore, let me place my seed in your womb so that you may bear a son. I shall arrange to keep your virginity intact, since you are still an unmarried girl.

35After saying this, the sun-god discharged his semen into the womb of Pṛthā and then returned to the celestial kingdom. Immediately thereafter, from Kuntī a child was born, who was like a second sun-god.

36Because Kuntī feared people's criticisms, with great difficulty she had to give up her affection for her child. Unwillingly, she packed the child in a basket and let it float down the waters of the river. O Mahārāja Parīkṣit, your great-grandfather the pious and chivalrous King Pāṇḍu later married Kuntī.

37Vṛddhaśarmā, the King of Karūṣa, married Kuntī's sister Śrutadevā, and from her womb Dantavakra was born. Having been cursed by the sages headed by Sanaka, Dantavakra had formerly been born as the son of Diti named Hiraṇyākṣa.

38King Dhṛṣṭaketu, the King of Kekaya, married Śrutakīrti, another sister of Kuntī's. Śrutakīrti had five sons, headed by Santardana.

39Through the womb of Rājādhidevī, another sister of Kuntī's, Jayasena begot two sons, named Vinda and Anuvinda. Similarly, the king of the Cedi state married Śrutaśravā. This king's name was Damaghoṣa.

40The son of Śrutaśravā was Śiśupāla, whose birth has already been described [in the Seventh Canto of Śrīmad-Bhāgavatam]. Vasudeva's brother named Devabhāga had two sons born of his wife, Kaṁsā. These two sons were Citraketu and Bṛhadbala.

41Vasudeva's brother named Devaśravā married Kaṁsavatī, by whom he begot two sons, named Suvīra and Iṣumān. Kaṅka, by his wife Kaṅkā, begot three sons, named Baka, Satyajit and Purujit.

42King Sṛṣjaya, by his wife, Rāṣṭrapālikā, begot sons headed by Vṛṣa and Durmarṣaṇa. King Śyāmaka, by his wife, Śūrabhūmi, begot two sons, named Harikeśa and Hiraṇyākṣa.

43Thereafter, King Vatsaka, by the womb of his wife, Miśrakeśī, who was an Apsarā, begot sons headed by Vṛka. Vṛka, by his wife, Durvākṣī, begot Takṣa, Puṣkara, Śāla and so on.

44From Samīka, by the womb of his wife, Sudāmanī, came Sumitra, Arjunapāla and other sons. King Ānaka, by his wife, Karṇikā, begot two sons, namely Ṛtadhāmā and Jaya.

45Devakī, Pauravī, Rohiṇī, Bhadrā, Madirā, Rocanā, Ilā and others were all wives of Ānakadundubhi [Vasudeva]. Among them all, Devakī was the chief.

46Vasudeva, by the womb of his wife Rohiṇī, begot sons such as Bala, Gada, Sāraṇa, Durmada, Vipula, Dhruva, Kṛta and others.

47-48From the womb of Pauravī came twelve sons, including Bhūta, Subhadra, Bhadrabāhu, Durmada and Bhadra. Nanda, Upananda, Kṛtaka, Śūra and others were born from the womb of Madirā. Bhadrā [Kauśalyā] gave birth to only one son, named Keśī.

49Vasudeva, by another of his wives, whose name was Rocanā, begot Hasta, Hemāṅgada and other sons. And by his wife named Ilā he begot sons headed by Uruvalka, all of whom were chief personalities in the dynasty of Yadu.

50From the womb of Dhṛtadevā, one of the wives of Ānakadundubhi [Vasudeva], came a son named Vipṛṣṭha. The sons of Śāntidevā, another wife of Vasudeva, were Praśama, Prasita and others.

51Vasudeva also had a wife named Upadevā, from whom came ten sons, headed by Rājanya, Kalpa and Varṣa. From Śrīdevā, another wife, came six sons, such as Vasu, Haṁsa and Suvaṁśa.

52By the semen of Vasudeva in the womb of Devarakṣitā, nine sons were born, headed by Gadā. Vasudeva, who was religion personified, also had a wife named Sahadevā, by whose womb he begot eight sons, headed by Śruta and Pravara.

53-55The eight sons born of Sahadevā such as Pravara and Śruta, were exact incarnations of the eight Vasus in the heavenly planets. Vasudeva also begot eight highly qualified sons through the womb of Devakī. These included Kīrtimān, Suṣeṇa, Bhadrasena, Ṛju, Sammardana, Bhadra and Saṅkarṣaṇa, the controller and serpent incarnation. The eighth son was the Supreme Personality of Godhead HimselfKṛṣṇa. The highly fortunate Subhadrā, the one daughter, was your grandmother.

56Whenever the principles of religion deteriorate and the principles of irreligion increase, the supreme controller, the Personality of Godhead Śrī Hari, appears by His own will.

57O King, Mahārāja Parīkṣit, but for the Lord's personal desire, there is no cause for His appearance, disappearance or activities. As the Supersoul, He knows everything. Consequently there is no cause that affects Him, not even the results of fruitive activities.

58The Supreme Personality of Godhead acts through His material energy in the creation, maintenance and annihilation of this cosmic manifestation just to deliver the living entity by His compassion and stop the living entity's birth, death and duration of materialistic life. Thus He enables the living being to return home, back to Godhead.

59Although the demons who take possession of the government are dressed like men of government, they do not know the duty of the government. Consequently, by the arrangement of God, such demons, who possess great military strength, fight with one another, and thus the

great burden of demons on the surface of the earth is reduced. The demons increase their military power by the will of the Supreme, so that their numbers will be diminished and the devotees will have a chance to advance in Kṛṣṇa consciousness.

60The Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, with the cooperation of Saṅkarṣaṇa, Balarāma, performed activities beyond the mental comprehension of even such personalities as Lord Brahmā and Lord Śiva. [For instance, Kṛṣṇa arranged the Battle of Kurukṣetra to kill many demons for the relief of the entire world.]

61To show causeless mercy to the devotees who would take birth in the future in this Age of Kali, the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, acted in such a way that simply by remembering Him one will be freed from all the lamentation and unhappiness of material existence. [In other words, He acted so that all future devotees, by accepting the instructions of Kṛṣṇa consciousness stated in Bhagavad-gītā, could be relieved from the pangs of material existence.]

62Simply by receiving the glories of the Lord through purified transcendental ears, the devotees of the Lord are immediately freed from strong material desires and engagement in fruitive activities.

63-64Assisted by the descendants of Bhoja, Vṛṣṇi, Andhaka, Madhu, Śūrasena, Daśārha, Kuru, Sṛṣjaya and Pāṇḍu, Lord Kṛṣṇa performed various activities. By His pleasing smiles, His affectionate behavior, His instructions and His uncommon pastimes like raising Govardhana Hill, the Lord, appearing in His transcendental body, pleased all of human society.

65Kṛṣṇa's face is decorated with ornaments, such as earrings resembling sharks. His ears are beautiful, His cheeks brilliant, and His smiling attractive to everyone. Whoever sees Lord Kṛṣṇa sees a festival. His face and body are fully satisfying for everyone to see, but the devotees are angry at the creator for the disturbance caused by the momentary blinking of their eyes.

66The Supreme Personality of Godhead, Śrī Kṛṣṇa, known as līlā-puruṣottama, appeared as the son of Vasudeva but immediately left His father's home and went to Vṛndāvana to expand His loving relationship with His confidential devotees. In Vṛndāvana the Lord killed many demons, and afterwards He returned to Dvārakā, where according to Vedic principles He married many wives who were the best of women, begot through them hundreds of sons, and performed sacrifices for His own worship to establish the principles of householder life.

67Thereafter, Lord Śrī Kṛṣṇa created a misunderstanding between family members just to diminish the burden of the world. Simply by His glance, He annihilated all the demoniac kings on the Battlefield of Kurukṣetra and declared victory for Arjuna. Finally, He instructed Uddhava about transcendental life and devotion and then returned to His abode in His original form.

## Canto 10: The Summum Bonum

### SB 10.1: The Advent of Lord Kṛṣṇa: Introduction

The summary of the First Chapter is as follows. This chapter describes how Kaṁsa, frightened by hearing an omen about his being killed by the eighth son of Devakī, killed Devakī's sons one after another.

When Śukadeva Gosvāmī finished describing the dynasty of Yadu, as well as the dynasties of the moon-god and sun-god, Mahārāja Parīkṣit requested him to describe Lord Kṛṣṇa, who appeared with Baladeva in the Yadu dynasty, and how Kṛṣṇa performed His activities within this world. Kṛṣṇa is transcendental, the King said, and therefore to understand His activities is

the occupation of liberated persons. Hearing of *kṛṣṇa-līlā* is the boat by which to achieve the ultimate goal of life. Except for an animal killer or one who is following a policy of suicide, every intelligent person must strive to understand Kṛṣṇa and His activities.

Kṛṣṇa was the only worshipable Deity for the Pāṇḍavas. When Mahārāja Parīkṣit was in the womb of his mother, Uttarā, Kṛṣṇa saved him from the attack of the *brahma-śastra*. Now Mahārāja Parīkṣit asked Śukadeva Gosvāmī how His Lordship Baladeva, the son of Rohiṇī, could have appeared in the womb of Devakī. Why did Kṛṣṇa transfer Himself from Mathurā to Vṛndāvana, King Parīkṣit asked, and how did He live there with His family members? What did Kṛṣṇa do in Mathurā and Vṛndāvana, and why did He kill His maternal uncle Kaṁsa? For how many years did Kṛṣṇa reside in Dvārakā, and how many queens did He have? Mahārāja Parīkṣit asked Śukadeva Gosvāmī all these questions. He also requested Śukadeva Gosvāmī to describe other activities of Kṛṣṇa about which he could not inquire.

When Śukadeva Gosvāmī began to speak about Kṛṣṇa consciousness, Mahārāja Parīkṣit forgot the fatigue brought about by his fasting. Enthusiastic to describe Kṛṣṇa, Śukadeva Gosvāmī said, "Like the waters of the Ganges, descriptions of the activities of Kṛṣṇa can purify the entire universe. The speaker, the inquirer and the audience all become purified."

Once when the entire world was overburdened by the increasing military power of demons in the form of kings, mother earth assumed the shape of a cow and approached Lord Brahmā for relief. Sympathetic to mother earth's lamentation, Brahmā, accompanied by Lord Śiva and other demigods, took the cow-shaped mother earth to the shore of the Milk Ocean, where he offered prayers to please Lord Viṣṇu, who lay there on an island in transcendental ecstasy. Brahmā thereafter understood the advice of Mahā-Viṣṇu, who informed him that He would appear on the surface of the earth to mitigate the burden created by the demons. The demigods, along with their wives, should appear there as associates of Lord Kṛṣṇa in the family of Yadu to increase the sons and grandsons in that dynasty. By the will of Lord Kṛṣṇa, Anantadeva would appear first, as Balarāma, and Kṛṣṇa's potency, Yoga-māyā, would also appear. Brahmā informed mother earth about all this, and then he returned to his own abode.

After marrying Devakī, Vasudeva was returning home with her on a chariot driven by Kaṁsa, her brother, when an ominous voice addressed Kaṁsa, warning him that Devakī's eighth son would kill him. Upon hearing this omen, Kaṁsa was immediately ready to kill Devakī, but Vasudeva diplomatically began to instruct him. Vasudeva stressed that it would not be good for Kaṁsa to kill his younger sister, especially at the time of her marriage. Anyone who possesses a material body must die, Vasudeva advised him. Every living entity lives in a body for some time and then transmigrates to another body, but one is unfortunately misled into accepting the body as the soul. If a person under this mistaken conception wants to kill another body, he is condemned as hellish.

Because Kaṁsa was not satisfied by Vasudeva's instructions, Vasudeva devised a plan. He offered to bring Kaṁsa all of Devakī's children so that Kaṁsa could kill them. Why then should Kaṁsa kill Devakī now? Kaṁsa was satisfied by this proposal. In due course of time, when Devakī gave birth to a child, Vasudeva brought the newborn baby to Kaṁsa, who, upon seeing Vasudeva's magnanimity, was struck with wonder. When Vasudeva gave Kaṁsa the child, Kaṁsa, showing some intelligence, said that since he was to be killed by the eighth child, why should he kill the first? Although Vasudeva did not trust him, Kaṁsa requested Vasudeva to take the child back. Later, however, after Nārada approached Kaṁsa and disclosed to him that the demigods were appearing in the Yadu and Vṛṣṇi dynasties and conspiring to kill him, Kaṁsa decided to kill all the children born in these families, and he also decided that any child

born from the womb of Devakī must be killed. Thus he arrested and imprisoned both Devakī and Vasudeva and killed six of their sons, one after another. Nārada had also informed Kaṁsa that in his previous birth Kaṁsa was Kālanemi, a demon killed by Viṣṇu. Consequently, Kaṁsa became a great enemy to all the descendants of the *yadu-vaṁśa,* the Yadu dynasty. He even arrested and imprisoned his own father, Ugrasena, for Kaṁsa wanted to enjoy the kingdom alone.

Kṛṣṇa has threefold pastimesthe Vraja-līlā, Māthura-līlā and Dvārakā-līlā. As already mentioned, in the Tenth Canto of *Śrīmad-Bhāgavatam* there are ninety chapters, which describe all these *līlās*. The first four chapters describe Brahmā's prayers for the relief of the earth's burden, and they also describe the appearance of the Supreme Personality of Godhead. Chapters Five through Thirty-nine recount Kṛṣṇa's pastimes in Vṛndāvana. The Fortieth Chapter describes how Kṛṣṇa enjoyed in the water of the Yamunā and how Akrūra offered prayers. Chapters Forty-one through Fifty-one, eleven chapters, tell of Kṛṣṇa's pastimes in Māthura, and Chapters Fifty-two through Ninety, thirty-nine chapters, relate Kṛṣṇa's pastimes in Dvārakā.

Chapters Twenty-nine through Thirty-three describe Kṛṣṇa's dancing with the *gopīs,* known as the *rāsa-līlā*. Therefore these five chapters are known as *rāsa-paṣcādhyāya*. The Forty-seventh Chapter of the Tenth Canto is a description known as the *bhramara-gītā*.

1King Parīkṣit said: My dear lord, you have elaborately described the dynasties of both the moon-god and the sun-god, with the exalted and wonderful character of their kings.

2O best of munis, you have also described the descendants of Yadu, who were very pious and strictly adherent to religious principles. Now, if you will, kindly describe the wonderful, glorious activities of Lord Viṣṇu, or Kṛṣṇa, who appeared in that Yadu dynasty with Baladeva, His plenary expansion.

3The Supersoul, the Supreme Personality of Godhead, Śrī Kṛṣṇa, the cause of the cosmic manifestation, appeared in the dynasty of Yadu. Please tell me elaborately about His glorious activities and character, from the beginning to the end of His life.

4Glorification of the Supreme Personality of Godhead is performed in the paramparā system, that is, it is conveyed from the spiritual master to disciple. Such glorification is relished by those no longer interested in the false, temporary glorification of this cosmic manifestation. Descriptions of the Lord are the right medicine for the conditioned soul undergoing repeated birth and death. Therefore, who will cease hearing such glorification of the Lord except a butcher or one who is killing his own self?

5-7Taking the boat of Kṛṣṇa's lotus feet, my grandfather Arjuna and others crossed the ocean of the Battlefield of Kurukṣetra, in which such commanders as Bhīṣmadeva resembled great fish that could very easily have swallowed them. By the mercy of Lord Kṛṣṇa, my grandfathers crossed this ocean, which was very difficult to cross, as easily as one steps over the hoofprint of a calf. Because my mother surrendered unto Lord Kṛṣṇa's lotus feet, the Lord, Sudarśana-cakra in hand, entered her womb and saved my body, the body of the last remaining descendant of the Kurus and the Pāṇḍavas, which was almost destroyed by the fiery weapon of Aśvatthāmā. Lord Śrī Kṛṣṇa, appearing within and outside of all materially embodied living beings by His own potency in the forms of eternal timethat is, as Paramātmā and as virāṭ-rūpagave liberation to everyone, either as cruel death or as life. Kindly enlighten me by describing His transcendental characteristics.

8My dear Śukadeva Gosvāmī, you have already explained that Saṅkarṣaṇa, who belongs to the

second quadruple, appeared as the son of Rohiṇī named Balarāma. If Balarāma was not transferred from one body to another, how is it possible that He was first in the womb of Devakī and then in the womb of Rohiṇī? Kindly explain this to me.

9Why did Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, leave the house of His father, Vasudeva, and transfer Himself to the house of Nanda in Vṛndāvana? Where did the Lord, the master of the Yadu dynasty, live with His relatives in Vṛndāvana?

10Lord Kṛṣṇa lived both in Vṛndāvana and in Mathurā. What did He do there? Why did He kill Kaṁsa, His mother's brother? Such killing is not at all sanctioned in the śāstras.

11Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, has no material body, yet He appears as a human being. For how many years did He live with the descendants of Vṛṣṇi? How many wives did He marry, and for how many years did He live in Dvārakā?

12O great sage, who know everything about Kṛṣṇa, please describe in detail all the activities of which I have inquired and also those of which I have not, for I have full faith and am very eager to hear of them.

13Because of my vow on the verge of death, I have given up even drinking water, yet because I am drinking the nectar of topics about Kṛṣṇa, which is flowing from the lotus mouth of your Lordship, my hunger and thirst, which are extremely difficult to bear, cannot hinder me.

14Sūta Gosvāmī said: O son of Bhṛgu, after Śukadeva Gosvāmī, the most respectable devotee, the son of Vyāsadeva, heard the pious questions of Mahārāja Parīkṣit, he thanked the King with great respect. Then he began to discourse on topics concerning Kṛṣṇa, which are the remedy for all sufferings in this Age of Kali.

15Śrīla Śukadeva Gosvāmī said: O Your Majesty, best of all saintly kings, because you are greatly attracted to topics of Vāsudeva, it is certain that your intelligence is firmly fixed in spiritual understanding, which is the only true goal for humanity. Because that attraction is unceasing, it is certainly sublime.

16The Ganges, emanating from the toe of Lord Viṣṇu, purifies the three worlds, the upper, middle and lower planetary systems. Similarly, when one asks questions about the pastimes and characteristics of Lord Vāsudeva, Kṛṣṇa, three varieties of men are purified: the speaker or preacher, he who inquires, and the people in general who listen.

17Once when mother earth was overburdened by hundreds of thousands of military phalanxes of various conceited demons dressed like kings, she approached Lord Brahmā for relief.

18Mother earth assumed the form of a cow. Very much distressed, with tears in her eyes, she appeared before Lord Brahmā and told him about her misfortune.

19Thereafter, having heard of the distress of mother earth, Lord Brahmā, with mother earth, Lord Śiva and all the other demigods, approached the shore of the Ocean of Milk.

20After reaching the shore of the Ocean of Milk, the demigods worshiped the Supreme Personality of Godhead, Lord Viṣṇu, the master of the whole universe, the supreme God of all gods, who provides for everyone and diminishes everyone's suffering. With great attention, they worshiped Lord Viṣṇu, who lies on the Ocean of Milk, by reciting the Vedic mantras known as the Puruṣa-sūkta.

21While in trance, Lord Brahmā heard the words of Lord Viṣṇu vibrating in the sky. Thus he

told the demigods: O demigods, hear from me the order of Kṣīrodakaśāyī Viṣṇu, the Supreme Person, and execute it attentively without delay.

22Lord Brahmā informed the demigods: Before we submitted our petition to the Lord, He was already aware of the distress on earth. Consequently, for as long as the Lord moves on earth to diminish its burden by His own potency in the form of time, all of you demigods should appear through plenary portions as sons and grandsons in the family of the Yadus.

23The Supreme Personality of Godhead, Śrī Kṛṣṇa, who has full potency, will personally appear as the son of Vasudeva. Therefore all the wives of the demigods should also appear in order to satisfy Him.

24The foremost manifestation of Kṛṣṇa is Saṅkarṣaṇa, who is known as Ananta. He is the origin of all incarnations within this material world. Previous to the appearance of Lord Kṛṣṇa, this original Saṅkarṣaṇa will appear as Baladeva, just to please the Supreme Lord Kṛṣṇa in His transcendental pastimes.

25The potency of the Lord, known as viṣṇu-māyā, who is as good as the Supreme Personality of Godhead, will also appear with Lord Kṛṣṇa. This potency, acting in different capacities, captivates all the worlds, both material and spiritual. At the request of her master, she will appear with her different potencies in order to execute the work of the Lord.

26Śukadeva Gosvāmī continued: After thus advising the demigods and pacifying mother earth, the very powerful Lord Brahmā, who is the master of all other Prajāpatis and is therefore known as Prajāpati-pati, returned to his own abode, Brahmaloka.

27Formerly, Śūrasena, the chief of the Yadu dynasty, had gone to live in the city of Mathurā. There he enjoyed the places known as Māthura and Śūrasena.

28Since that time, the city of Mathurā had been the capital of all the kings of the Yadu dynasty. The city and district of Mathurā are very intimately connected with Kṛṣṇa, for Lord Kṛṣṇa lives there eternally.

29Some time ago, Vasudeva, who belonged to the demigod family [or to the Śūra dynasty], married Devakī. After the marriage, he mounted his chariot to return home with his newly married wife.

30Kaṁsa, the son of King Ugrasena, in order to please his sister Devakī on the occasion of her marriage, took charge of the reins of the horses and became the chariot driver. He was surrounded by hundreds of golden chariots.

31-32Devakī's father, King Devaka, was very much affectionate to his daughter. Therefore, while she and her husband were leaving home, he gave her a dowry of four hundred elephants nicely decorated with golden garlands. He also gave ten thousand horses, eighteen hundred chariots, and two hundred very beautiful young maidservants, fully decorated with ornaments.

33O beloved son, Mahārāja Parīkṣit, when the bride and bridegroom were ready to start, conchshells, bugles, drums and kettledrums all vibrated in concert for their auspicious departure.

34While Kaṁsa, controlling the reins of the horses, was driving the chariot along the way, an unembodied voice addressed him, "You foolish rascal, the eighth child of the woman you are carrying will kill you!"

35Kaṁsa was a condemned personality in the Bhoja dynasty because he was envious and sinful. Therefore, upon hearing this omen from the sky, he caught hold of his sister's hair with his left hand and took up his sword with his right hand to sever her head from her body.

36Wanting to pacify Kaṁsa, who was so cruel and envious that he was shamelessly ready to kill his sister, the great soul Vasudeva, who was to be the father of Kṛṣṇa, spoke to him in the following words.

37Vasudeva said: My dear brother-in-law Kaṁsa, you are the pride of your family, the Bhoja dynasty, and great heroes praise your qualities. How could such a qualified person as you kill a woman, your own sister, especially on the occasion of her marriage?

38O great hero, one who takes birth is sure to die, for death is born with the body. One may die today or after hundreds of years, but death is sure for every living entity.

39When the present body turns to dust and is again reduced to five elementsearth, water, fire, air and etherthe proprietor of the body, the living being, automatically receives another body of material elements according to his fruitive activities. When the next body is obtained, he gives up the present body.

40Just as a person traveling on the road rests one foot on the ground and then lifts the other, or as a worm on a vegetable transfers itself to one leaf and then gives up the previous one, the conditioned soul takes shelter of another body and then gives up the one he had before.

41Having experienced a situation by seeing or hearing about it, one contemplates and speculates about that situation, and thus one surrenders to it, not considering his present body. Similarly, by mental adjustments one dreams at night of living under different circumstances, in different bodies, and forgets his actual position. Under this same process, one gives up his present body and accepts another [tathā dehāntara-prāptiḥ].

42At the time of death, according to the thinking, feeling and willing of the mind, which is involved in fruitive activities, one receives a particular body. In other words, the body develops according to the activities of the mind. Changes of body are due to the flickering of the mind, for otherwise the soul could remain in its original, spiritual body.

43When the luminaries in the sky, such as the moon, the sun and the stars, are reflected in liquids like oil or water, they appear to be of different shapessometimes round, sometimes long, and so onbecause of the movements of the wind. Similarly, when the living entity, the soul, is absorbed in materialistic thoughts, he accepts various manifestations as his own identity because of ignorance. In other words, one is bewildered by mental concoctions because of agitation from the material modes of nature.

44Therefore, since envious, impious activities cause a body in which one suffers in the next life, why should one act impiously? Considering one's welfare, one should not envy anyone, for an envious person must always fear harm from his enemies, either in this life or in the next.

45As your younger sister, this poor girl Devakī is like your own daughter and deserves to be affectionately maintained. You are merciful, and therefore you should not kill her. Indeed, she deserves your affection.

46Śukadeva Gosvāmī continued: O best of the Kuru dynasty, Kaṁsa was fiercely cruel and was actually a follower of the Rākṣasas. Therefore he could be neither pacified nor terrified by the good instructions given by Vasudeva. He did not care about the results of sinful activities, either in this life or in the next.

47When Vasudeva saw that Kaṁsa was determined to kill his sister Devakī, he thought to himself very deeply. Considering the imminent danger of death, he thought of another plan to stop Kaṁsa.

48As long as he has intelligence and bodily strength, an intelligent person must try to avoid death. This is the duty of every embodied person. But if death cannot be avoided in spite of one's endeavors, a person facing death commits no offense.

49-50Vasudeva considered: By delivering all my sons to Kaṁsa, who is death personified, I shall save the life of Devakī. Perhaps Kaṁsa will die before my sons take birth, or, since he is already destined to die at the hands of my son, one of my sons may kill him. For the time being, let me promise to hand over my sons so that Kaṁsa will give up this immediate threat, and if in due course of time Kaṁsa dies, I shall have nothing to fear.

51When a fire, for some unseen reason, leaps over one piece of wood and sets fire to the next, the reason is destiny. Similarly, when a living being accepts one kind of body and leaves aside another, there is no other reason than unseen destiny.

52After thus considering the matter as far as his knowledge would allow, Vasudeva submitted his proposal to the sinful Kaṁsa with great respect.

53Vasudeva's mind was full of anxiety because his wife was facing danger, but in order to please the cruel, shameless and sinful Kaṁsa, he externally smiled and spoke to him as follows.

54Vasudeva said: O best of the sober, you have nothing to fear from your sister Devakī because of what you have heard from the unseen omen. The cause of death will be her sons. Therefore I promise that when she gives birth to the sons from whom your fear has arisen, I shall deliver them all unto your hands.

55Śrīla Śukadeva Gosvāmī continued: Kaṁsa agreed to the logical arguments of Vasudeva, and, having full faith in Vasudeva's words, he refrained from killing his sister. Vasudeva, being pleased with Kaṁsa, pacified him further and entered his own house.

56Each year thereafter, in due course of time, Devakī, the mother of God and all the demigods, gave birth to a child. Thus she bore eight sons, one after another, and a daughter named Subhadrā.

57Vasudeva was very much disturbed by fear of becoming a liar by breaking his promise. Thus with great pain he delivered his first-born son, named Kīrtimān, into the hands of Kaṁsa.

58What is painful for saintly persons who strictly adhere to the truth? How could there not be independence for pure devotees who know the Supreme Lord as the substance? What deeds are forbidden for persons of the lowest character? And what cannot be given up for the sake of Lord Kṛṣṇa by those who have fully surrendered at His lotus feet?

59My dear King Parīkṣit, when Kaṁsa saw that Vasudeva, being situated in truthfulness, was completely equipoised in giving him the child, he was very happy. Therefore, with a smiling face, he spoke as follows.

60O Vasudeva, you may take back your child and go home. I have no fear of your first child. It is the eighth child of you and Devakī I am concerned with because that is the child by whom I am destined to be killed.

61Vasudeva agreed and took his child back home, but because Kaṁsa had no character and no self-control, Vasudeva knew that he could not rely on Kaṁsa's word.

62-63The inhabitants of Vṛndāvana, headed by Nanda Mahārāja and including his associate cowherd men and their wives, were none but denizens of the heavenly planets, O Mahārāja Parīkṣit, best of the descendants of Bharata, and so too were the descendants of the Vṛṣṇi dynasty, headed by Vasudeva and Devakī and the other women of the dynasty of Yadu. The friends, relatives and well-wishers of both Nanda Mahārāja and Vasudeva and even those who externally appeared to be followers of Kaṁsa were all demigods.

64Once the great saint Nārada approached Kaṁsa and informed him of how the demoniac persons who were a great burden on the earth were going to be killed. Thus Kaṁsa was placed into great fear and doubt.

65-66After the departure of the great saint Nārada, Kaṁsa thought that all the members of the Yadu dynasty were demigods and that any of the children born from the womb of Devakī might be Viṣṇu. Fearing his death, Kaṁsa arrested Vasudeva and Devakī and chained them with iron shackles. Suspecting each of the children to be Viṣṇu, Kaṁsa killed them one after another because of the prophecy that Viṣṇu would kill him.

67Kings greedy for sense gratification on this earth almost always kill their enemies indiscriminately. To satisfy their own whims, they may kill anyone, even their mothers, fathers, brothers or friends.

68In his previous birth, Kaṁsa had been a great demon named Kālanemi and been killed by Viṣṇu. Upon learning this information from Nārada, Kaṁsa became envious of everyone connected with the Yadu dynasty.

69Kaṁsa, the most powerful son of Ugrasena, even imprisoned his own father, the King of the Yadu, Bhoja and Andhaka dynasties, and personally ruled the states known as Śūrasena.

**SB 10.2: Prayers by the Demigods for Lord Kṛṣṇa in the Womb**

As described in this chapter, when the Supreme Personality of Godhead entered the womb of Devakī to kill Kaṁsa, all the demigods understood that the Lord was living within Devakī's womb, and therefore in veneration they offered Him the *Garbha-stuti* prayers.

Kaṁsa, under the protection of his father-in-law, Jarāsandha, and with the help of his demoniac friends like Pralamba, Baka, Cāṇūra, Tṛṇāvarta, Aghāsura, Muṣṭika, Bāṇa and Bhaumāsura, began oppressing the members of the Yadu dynasty. Therefore, the members of the Yadu dynasty left their homes and sought shelter in such states as Kuru, Paṣcāla, Kekaya, Śālva and Vidarbha. Only some of them stayed with Kaṁsa, as nominal friends.

After Kaṁsa killed the *ṣaḍ-garbhas,* the six sons of Devakī, one after another, Anantadeva entered Devakī's womb and was transferred to the womb of Rohiṇī by the manipulation of Yoga-māyā, who was following the order of the Supreme Personality of Godhead. The Lord Himself, who was soon to appear as the eighth son of Devakī, ordered Yoga-māyā to take birth from the womb of Yaśodādevī. Because Kṛṣṇa and His potency, Yoga-māyā, appeared simultaneously as brother and sister, the world is full of Vaiṣṇavas and *śāktas,* and there is certainly some rivalry between them. Vaiṣṇavas worship the Supreme Lord, whereas *śāktas,* according to their desires, worship Yoga-māyā in forms like Durgā, Bhadrakālī and Caṇḍikā. Following the orders of the Supreme Personality of Godhead, Yoga-māyā transferred Baladeva, Saṅkarṣaṇa, the seventh child of Devakī, from the womb of Devakī to the womb of Rohiṇī.

Because Saṅkarṣaṇa appears in order to increase love of Kṛṣṇa, He is known as Baladeva. One may take auspicious strength from Him to become a devotee of the Lord, and therefore He is also known as Balabhadra.

After Yoga-māyā transferred the seventh child of Devakī to the womb of Rohiṇī, the Supreme Personality of Godhead appeared within the heart of Vasudeva and transferred Himself into the heart of Devakī. Because the Lord was present in her heart, Devakī, as her pregnancy continued, appeared effulgent. Upon seeing this effulgence, Kaṁsa was full of anxiety, but he could not harm Devakī because of their family relationship. Thus he began indirectly thinking of Kṛṣṇa and became fully Kṛṣṇa conscious.

Meanwhile, because of the Lord's presence within the womb of Devakī, all the demigods came to offer the Lord their prayers. The Supreme Personality of Godhead, they said, is eternally the Absolute Truth. The spiritual soul is more important than the gross body, and the Supersoul, Paramātmā, is still more important than the soul. The Supreme Godhead is absolutely independent, and His incarnations are transcendental. The prayers of the demigods glorify and exalt devotees and explain the fate of persons who superficially consider themselves liberated from the conditions of material nature. A devotee is always safe. When a devotee fully surrenders at the lotus feet of the Lord, he is completely liberated from the fear of material existence. By explaining why the Supreme Personality of Godhead descends, the prayers of the demigods clearly confirm the Lord's statement in *Bhagavad-gītā* (4.7):

*yadā yadā hi dharmasya*
*glānir bhavati bhārata*
*abhyutthānam adharmasya*
*tadātmānaṁ sṛjāmy aham*

"Whenever and wherever there is a decline in religious practice, O descendant of Bharata, and a predominant rise of irreligionat that time I descend Myself."

1-2Śukadeva Gosvāmī said: Under the protection of Magadharāja, Jarāsandha, the powerful Kaṁsa began persecuting the kings of the Yadu dynasty. In this he had the cooperation of demons like Pralamba, Baka, Cāṇūra, Tṛṇāvarta, Aghāsura, Muṣṭika, Ariṣṭa, Dvivida, Pūtanā, Keśī, Dhenuka, Bāṇāsura, Narakāsura and many other demoniac kings on the surface of the earth.

3Persecuted by the demoniac kings, the Yādavas left their own kingdom and entered various others, like those of the Kurus, Paṣcālas, Kekayas, Śālvas, Vidarbhas, Niṣadhas, Videhas and Kośalas.

4-5Some of their relatives, however, began to follow Kaṁsa's principles and act in his service. After Kaṁsa, the son of Ugrasena, killed the six sons of Devakī, a plenary portion of Kṛṣṇa entered her womb as her seventh child, arousing her pleasure and her lamentation. That plenary portion is celebrated by great sages as Ananta, who belongs to Kṛṣṇa's second quadruple expansion.

6To protect the Yadus, His personal devotees, from Kaṁsa's attack, the Personality of Godhead, Viśvātmā, the Supreme Soul of everyone, ordered Yoga-māyā as follows.

7The Lord ordered Yoga-māyā: O My potency, who are worshipable for the entire world and whose nature is to bestow good fortune upon all living entities, go to Vraja, where there live many cowherd men and their wives. In that very beautiful land, where many cows reside, Rohiṇī, the wife of Vasudeva, is living at the home of Nanda Mahārāja. Other wives of

Vasudeva are also living there incognito because of fear of Kaṁsa. Please go there.

8Within the womb of Devakī is My partial plenary expansion known as Saṅkarṣaṇa or Śeṣa. Without difficulty, transfer Him into the womb of Rohiṇī.

9O all-auspicious Yoga-māyā, I shall then appear with My full six opulences as the son of Devakī, and you will appear as the daughter of mother Yaśodā, the queen of Mahārāja Nanda.

10By sacrifices of animals, ordinary human beings will worship you gorgeously, with various paraphernalia, because you are supreme in fulfilling the material desires of everyone.

11-12Lord Kṛṣṇa blessed Māyādevī by saying: In different places on the surface of the earth, people will give you different names, such as Durgā, Bhadrakālī, Vijayā, Vaiṣṇavī, Kumudā, Caṇḍikā, Kṛṣṇā, Mādhavī, Kanyakā, Māyā, Nārāyaṇī, Īśānī, Śāradā and Ambikā.

13The son of Rohiṇī will also be celebrated as Saṅkarṣaṇa because of being sent from the womb of Devakī to the womb of Rohiṇī. He will be called Rāma because of His ability to please all the inhabitants of Gokula, and He will be known as Balabhadra because of His extensive physical strength.

14Thus instructed by the Supreme Personality of Godhead, Yoga-māyā immediately agreed. With the Vedic mantra om, she confirmed that she would do what He asked. Thus having accepted the order of the Supreme Personality of Godhead, she circumambulated Him and started for the place on earth known as Nanda-gokula. There she did everything just as she had been told.

15When the child of Devakī was attracted and transferred into the womb of Rohiṇī by Yoga-māyā, Devakī seemed to have a miscarriage. Thus all the inhabitants of the palace loudly lamented, "Alas, Devakī has lost her child!"

16Thus the Supreme Personality of Godhead, who is the Supersoul of all living entities and who vanquishes all the fear of His devotees, entered the mind of Vasudeva in full opulence.

17While carrying the form of the Supreme Personality of Godhead within the core of his heart, Vasudeva bore the Lord's transcendentally illuminating effulgence, and thus he became as bright as the sun. He was therefore very difficult to see or approach through sensory perception. Indeed, he was unapproachable and unperceivable even for such formidable men as Kaṁsa, and not only for Kaṁsa but for all living entities.

18Thereafter, accompanied by plenary expansions, the fully opulent Supreme Personality of Godhead, who is all-auspicious for the entire universe, was transferred from the mind of Vasudeva to the mind of Devakī. Devakī, having thus been initiated by Vasudeva, became beautiful by carrying Lord Kṛṣṇa, the original consciousness for everyone, the cause of all causes, within the core of her heart, just as the east becomes beautiful by carrying the rising moon.

19Devakī then kept within herself the Supreme Personality of Godhead, the cause of all causes, the foundation of the entire cosmos, but because she was under arrest in the house of Kaṁsa, she was like the flames of a fire covered by the walls of a pot, or like a person who has knowledge but cannot distribute it to the world for the benefit of human society.

20Because the Supreme Personality of Godhead was within her womb, Devakī illuminated the entire atmosphere in the place where she was confined. Seeing her jubilant, pure and smiling, Kaṁsa thought, "The Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, who is now within her, will kill

me. Devakī has never before looked so brilliant and jubilant."

21Kaṁsa thought: What is my duty now? The Supreme Lord, who knows His purpose will not give up His prowess. Devakī is a woman, she is my sister, and moreover she is now pregnant. If I kill her, my reputation, opulence and duration of life will certainly be vanquished.

22A person who is very cruel is regarded as dead even while living, for while he is living or after his death, everyone condemns him. And after the death of a person in the bodily concept of life, he is undoubtedly transferred to the hell known as Andhatama.

23Śukadeva Gosvāmī said: Deliberating in this way, Kaṁsa, although determined to continue in enmity toward the Supreme Personality of Godhead, refrained from the vicious killing of his sister. He decided to wait until the Lord was born and then do what was needed.

24While sitting on his throne or in his sitting room, while lying on his bed, or, indeed, while situated anywhere, and while eating, sleeping or walking, Kaṁsa saw only his enemy, the Supreme Lord, Hṛṣīkeśa. In other words, by thinking of his all-pervading enemy, Kaṁsa became unfavorably Kṛṣṇa conscious.

25Lord Brahmā and Lord Śiva, accompanied by great sages like Nārada, Devala and Vyāsa and by other demigods like Indra, Candra and Varuṇa, invisibly approached the room of Devakī, where they all joined in offering their respectful obeisances and prayers to please the Supreme Personality of Godhead, who can bestow blessings upon everyone.

26The demigods prayed: O Lord, You never deviate from Your vow, which is always perfect because whatever You decide is perfectly correct and cannot be stopped by anyone. Being present in the three phases of cosmic manifestationcreation, maintenance and annihilationYou are the Supreme Truth. Indeed, unless one is completely truthful, one cannot achieve Your favor, which therefore cannot be achieved by hypocrites. You are the active principle, the real truth, in all the ingredients of creation, and therefore You are known as antaryāmī, the inner force. You are equal to everyone, and Your instructions apply for everyone, for all time. You are the beginning of all truth. Therefore, offering our obeisances, we surrender unto You. Kindly give us protection.

27The body [the total body and the individual body are of the same composition] may figuratively be called "the original tree." From this tree, which fully depends on the ground of material nature, come two kinds of fruitthe enjoyment of happiness and the suffering of distress. The cause of the tree, forming its three roots, is association with the three modes of material naturegoodness, passion and ignorance. The fruits of bodily happiness have four tastesreligiosity, economic development, sense gratification and liberationwhich are experienced through five senses for acquiring knowledge in the midst of six circumstances: lamentation, illusion, old age, death, hunger and thirst. The seven layers of bark covering the tree are skin, blood, muscle, fat, bone, marrow and semen, and the eight branches of the tree are the five gross and three subtle elementsearth, water, fire, air, ether, mind, intelligence and false ego. The tree of the body has nine hollowsthe eyes, the ears, the nostrils, the mouth, the rectum and the genitalsand ten leaves, the ten airs passing through the body. In this tree of the body there are two birds: one is the individual soul, and the other is the Supersoul.

28The efficient cause of this material world, manifested with its many varieties as the original tree, is You, O Lord. You are also the maintainer of this material world, and after annihilation You are the one in whom everything is conserved. Those who are covered by Your external energy cannot see You behind this manifestation, but theirs is not the vision of learned devotees.

29O Lord, You are always in full knowledge, and to bring all good fortune to all living entities, You appear in different incarnations, all of them transcendental to the material creation. When You appear in these incarnations, You are pleasing to the pious and religious devotees, but for nondevotees You are the annihilator.

30O lotus-eyed Lord, by concentrating one's meditation on Your lotus feet, which are the reservoir of all existence, and by accepting those lotus feet as the boat by which to cross the ocean of nescience, one follows in the footsteps of mahājanas [great saints, sages and devotees]. By this simple process, one can cross the ocean of nescience as easily as one steps over the hoofprint of a calf.

31O Lord, who resemble the shining sun, You are always ready to fulfill the desire of Your devotee, and therefore You are known as a desire tree [vāṣchā-kalpataru]. When ācāryas completely take shelter under Your lotus feet in order to cross the fierce ocean of nescience, they leave behind on earth the method by which they cross, and because You are very merciful to Your other devotees, You accept this method to help them.

32[Someone may say that aside from devotees, who always seek shelter at the Lord's lotus feet, there are those who are not devotees but who have accepted different processes for attaining salvation. What happens to them? In answer to this question, Lord Brahmā and the other demigods said:] O lotus-eyed Lord, although nondevotees who accept severe austerities and penances to achieve the highest position may think themselves liberated, their intelligence is impure. They fall down from their position of imagined superiority because they have no regard for Your lotus feet.

33O Mādhava, Supreme Personality of Godhead, Lord of the goddess of fortune, if devotees completely in love with You sometimes fall from the path of devotion, they do not fall like nondevotees, for You still protect them. Thus they fearlessly traverse the heads of their opponents and continue to progress in devotional service.

34O Lord, during the time of maintenance You manifest several incarnations, all with transcendental bodies, beyond the material modes of nature. When You appear in this way, You bestow all good fortune upon the living entities by teaching them to perform Vedic activities such as ritualistic ceremonies, mystic yoga, austerities, penances, and ultimately samādhi, ecstatic absorption in thoughts of You. Thus You are worshiped by the Vedic principles.

35O Lord, cause of all causes, if Your transcendental body were not beyond the modes of material nature, one could not understand the difference between matter and transcendence. Only by Your presence can one understand the transcendental nature of Your Lordship, who are the controller of material nature. Your transcendental nature is very difficult to understand unless one is influenced by the presence of Your transcendental form.

36O Lord, Your transcendental name and form are not ascertained by those who merely speculate on the path of imagination. Your name, form and attributes can be ascertained only through devotional service.

37Even while engaged in various activities, devotees whose minds are completely absorbed at Your lotus feet, and who constantly hear, chant, contemplate and cause others to remember Your transcendental names and forms, are always on the transcendental platform, and thus they can understand the Supreme Personality of Godhead.

38O Lord, we are fortunate because the heavy burden of the demons upon this earth is immediately removed by Your appearance. Indeed, we are certainly fortunate, for we shall be

able to see upon this earth and in the heavenly planets the marks of lotus, conchshell, club and disc that adorn Your lotus feet.

39O Supreme Lord, You are not an ordinary living entity appearing in this material world as a result of fruitive activities. Therefore Your appearance or birth in this world has no other cause than Your pleasure potency. Similarly, the living entities, who are part of You, have no cause for miseries like birth, death and old age, except when these living entities are conducted by Your external energy.

40O supreme controller, Your Lordship previously accepted incarnations as a fish, a horse, a tortoise, Narasiṁhadeva, a boar, a swan, Lord Rāmacandra, Paraśurāma and, among the demigods, Vāmanadeva, to protect the entire world by Your mercy. Now please protect us again by Your mercy by diminishing the disturbances in this world. O Kṛṣṇa, best of the Yadus, we respectfully offer our obeisances unto You.

41O mother Devakī, by your good fortune and ours, the Supreme Personality of Godhead Himself, with all His plenary portions, such as Baladeva, is now within your womb. Therefore you need not fear Kaṁsa, who has decided to be killed by the Lord. Your eternal son, Kṛṣṇa, will be the protector of the entire Yadu dynasty.

42After thus offering prayers to the Supreme Personality of Godhead, Lord Viṣṇu, the Transcendence, all the demigods, with Lord Brahmā and Lord Śiva before them, returned to their homes in the heavenly planets.

## SB 10.3: The Birth of Lord Kṛṣṇa

As described in this chapter, the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, Hari in His original form, appeared as Viṣṇu so that His father and mother could understand that their son was the Supreme Personality of Godhead. Because they were afraid of Kaṁsa, when the Lord appeared as an ordinary child they took Him to Gokula, the home of Nanda Mahārāja.

Mother Devakī, being fully transcendental, *sac-cid-ānanda,* does not belong to this material world. Thus the Supreme Personality of Godhead appeared with four hands, as if born from her womb. Upon seeing the Lord in that Viṣṇu form, Vasudeva was struck with wonder, and in transcendental happiness he and Devakī mentally gave ten thousand cows in charity to the *brāhmaṇas.* Vasudeva then offered prayers to the Lord, addressing Him as the Supreme Person, Parabrahman, the Supersoul, who is beyond duality and who is internally and externally all-pervading. The Lord, the cause of all causes, is beyond material existence, although He is the creator of this material world. When He enters this world as Paramātmā, He is all-pervading (*aṇḍāntara-stha-paramāṇu-cayāntara-stham*), yet He is transcendentally situated. For the creation, maintenance and annihilation of this material world, the Lord appears as the *guṇa-avatāras*Brahmā, Viṣṇu and Maheśvara. Thus Vasudeva offered prayers full of meaning to the Supreme Personality of Godhead. Devakī followed her husband by offering prayers describing the transcendental nature of the Lord. Fearing Kaṁsa and desiring that the Lord not be understood by atheistic and materialistic nondevotees, she prayed that the Lord withdraw His transcendental four-armed form and appear like an ordinary child with two hands.

The Lord reminded Vasudeva and Devakī of two other incarnations in which He had appeared as their son. He had appeared as Pṛśnigarbha and Vāmanadeva, and now this was the third time He was appearing as the son of Devakī to fulfill their desire. The Lord then decided to

leave the residence of Vasudeva and Devakī, in the prison house of Kaṁsa, and at this very time, Yoga-māyā took birth as the daughter of Yaśodā. By the arrangement of Yoga-māyā, Vasudeva was able to leave the prison house and save the child from the hands of Kaṁsa. When Vasudeva brought Kṛṣṇa to the house of Nanda Mahārāja, he saw that by Yoga-māyā's arrangement, Yaśodā, as well as everyone else, was deeply asleep. Thus he exchanged the babies, taking Yoga-māyā from Yaśodā's lap and placing Kṛṣṇa there instead. Then Vasudeva returned to his own place, having taken Yoga-māyā as his daughter. He placed Yoga-māyā on Devakī's bed and prepared to be a prisoner as before. In Gokula, Yaśodā could not understand whether she had given birth to a male or a female child.

1-5Thereafter, at the auspicious time for the appearance of the Lord, the entire universe was surcharged with all the qualities of goodness, beauty and peace. The constellation Rohiṇī appeared, as did stars like Aśvinī. The sun, the moon and the other stars and planets were very peaceful. All directions appeared extremely pleasing, and the beautiful stars twinkled in the cloudless sky. Decorated with towns, villages, mines and pasturing grounds, the earth seemed all-auspicious. The rivers flowed with clear water, and the lakes and vast reservoirs, full of lilies and lotuses, were extraordinarily beautiful. In the trees and green plants, full of flowers and leaves, pleasing to the eyes, birds like cuckoos and swarms of bees began chanting with sweet voices for the sake of the demigods. A pure breeze began to blow, pleasing the sense of touch and bearing the aroma of flowers, and when the brāhmaṇas engaging in ritualistic ceremonies ignited their fires according to Vedic principles, the fires burned steadily, undisturbed by the breeze. Thus when the birthless Lord Viṣṇu, the Supreme Personality of Godhead, was about to appear, the saints and brāhmaṇas, who had always been disturbed by demons like Kaṁsa and his men, felt peace within the core of their hearts, and kettledrums simultaneously vibrated from the upper planetary system.

6The Kinnaras and Gandharvas began to sing auspicious songs, the Siddhas and Cāraṇas offered auspicious prayers, and the Vidyādharīs, along with the Apsarās, began to dance in jubilation.

7-8The demigods and great saintly persons showered flowers in a joyous mood, and clouds gathered in the sky and very mildly thundered, making sounds like those of the ocean's waves. Then the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, who is situated in the core of everyone's heart, appeared from the heart of Devakī in the dense darkness of night, like the full moon rising on the eastern horizon, because Devakī was of the same category as Śrī Kṛṣṇa.

9-10Vasudeva then saw the newborn child, who had very wonderful lotuslike eyes and who bore in His four hands the four weapons śaṅkha, cakra, gadā and padma. On His chest was the mark of Śrīvatsa and on His neck the brilliant Kaustubha gem. Dressed in yellow, His body blackish like a dense cloud, His scattered hair fully grown, and His helmet and earrings sparkling uncommonly with the valuable gem Vaidūrya, the child, decorated with a brilliant belt, armlets, bangles and other ornaments, appeared very wonderful.

11When Vasudeva saw his extraordinary son, his eyes were struck with wonder. In transcendental jubilation, he mentally collected ten thousand cows and distributed them among the brāhmaṇas as a transcendental festival.

12O Mahārāja Parīkṣit, descendant of King Bharata, Vasudeva could understand that this child was the Supreme Personality of Godhead, Nārāyaṇa. Having concluded this without a doubt, he became fearless. Bowing down with folded hands and concentrating his attention, he began to offer prayers to the child, who illuminated His birthplace by His natural influence.

13Vasudeva said: My Lord, You are the Supreme Person, beyond material existence, and You are the Supersoul. Your form can be perceived by transcendental knowledge, by which You can be understood as the Supreme Personality of Godhead. I now understand Your position perfectly.

14My Lord, You are the same person who in the beginning created this material world by His personal external energy. After the creation of this world of three guṇas [sattva, rajas and tamas], You appear to have entered it, although in fact You have not.

15-17The mahat-tattva, the total material energy, is undivided, but because of the material modes of nature, it appears to separate into earth, water, fire, air and ether. Because of the living energy [jīva-bhūta], these separated energies combine to make the cosmic manifestation visible, but in fact, before the creation of the cosmos, the total energy is already present. Therefore, the total material energy never actually enters the creation. Similarly, although You are perceived by our senses because of Your presence, You cannot be perceived by the senses, nor experienced by the mind or words [avāṅ-mānasa-gocara]. With our senses we can perceive some things, but not everything; for example, we can use our eyes to see, but not to taste. Consequently, You are beyond perception by the senses. Although in touch with the modes of material nature, You are unaffected by them. You are the prime factor in everything, the all-pervading, undivided Supersoul. For You, therefore, there is no external or internal. You never entered the womb of Devakī; rather, You existed there already.

18One who considers his visible body, which is a product of the three modes of nature, to be independent of the soul is unaware of the basis of existence, and therefore he is a rascal. Those who are learned have rejected this conclusion because one can understand through full discussion that with no basis in soul, the visible body and senses would be insubstantial. Nonetheless, although his conclusion has been rejected, a foolish person considers it a reality.

19O my Lord, learned Vedic scholars conclude that the creation, maintenance and annihilation of the entire cosmic manifestation are performed by You, who are free from endeavor, unaffected by the modes of material nature, and changeless in Your spiritual situation. There are no contradictions in You, who are the Supreme Personality of Godhead, Parabrahman. Because the three modes of material naturesattva, rajas and tamasare under Your control, everything takes place automatically.

20My Lord, Your form is transcendental to the three material modes, yet for the maintenance of the three worlds, You assume the white color of Viṣṇu in goodness; for creation, which is surrounded by the quality of passion, You appear reddish; and at the end, when there is a need for annihilation, which is surrounded by ignorance, You appear blackish.

21O my Lord, proprietor of all creation, You have now appeared in my house, desiring to protect this world. I am sure that You will kill all the armies that are moving all over the world under the leadership of politicians who are dressed as kṣatriya rulers but who are factually demons. They must be killed by You for the protection of the innocent public.

22O my Lord, Lord of the demigods, after hearing the prophecy that You would take birth in our home and kill him, this uncivilized Kaṁsa killed so many of Your elder brothers. As soon as he hears from his lieutenants that You have appeared, he will immediately come with weapons to kill You.

23Śukadeva Gosvāmī continued: Thereafter, having seen that her child had all the symptoms of the Supreme Personality of Godhead, Devakī, who was very much afraid of Kaṁsa and unusually astonished, began to offer prayers to the Lord.

24Śrī Devakī said: My dear Lord, there are different Vedas, some of which describe You as unperceivable through words and the mind. Yet You are the origin of the entire cosmic manifestation. You are Brahman, the greatest of everything, full of effulgence like the sun. You have no material cause, You are free from change and deviation, and You have no material desires. Thus the Vedas say that You are the substance. Therefore, my Lord, You are directly the origin of all Vedic statements, and by understanding You, one gradually understands everything. You are different from the light of Brahman and Paramātmā, yet You are not different from them. Everything emanates from You. Indeed, You are the cause of all causes, Lord Viṣṇu, the light of all transcendental knowledge.

25After millions of years, at the time of cosmic annihilation, when everything, manifested and unmanifested, is annihilated by the force of time, the five gross elements enter into the subtle conception, and the manifested categories enter into the unmanifested substance. At that time, You alone remain, and You are known as Ananta Śeṣa-nāga.

26O inaugurator of the material energy, this wonderful creation works under the control of powerful time, which is divided into seconds, minutes, hours and years. This element of time, which extends for many millions of years, is but another form of Lord Viṣṇu. For Your pastimes, You act as the controller of time, but You are the reservoir of all good fortune. Let me offer my full surrender unto Your Lordship.

27No one in this material world has become free from the four principles birth, death, old age and disease, even by fleeing to various planets. But now that You have appeared, My Lord, death is fleeing in fear of You, and the living entities, having obtained shelter at Your lotus feet by Your mercy, are sleeping in full mental peace.

28My Lord, because You dispel all the fear of Your devotees, I request You to save us and give us protection from the terrible fear of Kaṁsa. Your form as Viṣṇu, the Supreme Personality of Godhead, is appreciated by yogīs in meditation. Please make this form invisible to those who see with material eyes.

29O Madhusūdana, because of Your appearance, I am becoming more and more anxious in fear of Kaṁsa. Therefore, please arrange for that sinful Kaṁsa to be unable to understand that You have taken birth from my womb.

30O my Lord, You are the all-pervading Supreme Personality of Godhead, and Your transcendental four-armed form, holding conchshell, disc, club and lotus, is unnatural for this world. Please withdraw this form [and become just like a natural human child so that I may try to hide You somewhere].

31At the time of devastation, the entire cosmos, containing all created moving and nonmoving entities, enters Your transcendental body and is held there without difficulty. But now this transcendental form has taken birth from my womb. People will not be able to believe this, and I shall become an object of ridicule.

32The Supreme Personality of Godhead replied: My dear mother, best of the chaste, in your previous birth, in the Svāyambhuva millennium, you were known as Pṛśni, and Vasudeva, who was the most pious Prajāpati, was named Sutapā.

33When both of you were ordered by Lord Brahmā to create progeny, you first underwent severe austerities by controlling your senses.

34-35My dear father and mother, you endured rain, wind, strong sun, scorching heat and severe cold, suffering all sorts of inconvenience according to different seasons. By practicing

prāṇāyāma to control the air within the body through yoga, and by eating only air and dry leaves fallen from the trees, you cleansed from your minds all dirty things. In this way, desiring a benediction from Me, you worshiped Me with peaceful minds.

36Thus you spent twelve thousand celestial years performing difficult activities of tapasya in consciousness of Me [Kṛṣṇa consciousness].

37-38O sinless mother Devakī, after the expiry of twelve thousand celestial years, in which you constantly contemplated Me within the core of your heart with great faith, devotion and austerity, I was very much satisfied with you. Since I am the best of all bestowers of benediction, I appeared in this same form as Kṛṣṇa to ask you to take from Me the benediction you desired. You then expressed your desire to have a son exactly like Me.

39Being husband and wife but always sonless, you were attracted by sexual desires, for by the influence of devamāyā, transcendental love, you wanted to have Me as your son. Therefore you never desired to be liberated from this material world.

40After you received that benediction and I disappeared, you engaged yourselves in sex to have a son like Me, and I fulfilled your desire.

41Since I found no one else as highly elevated as you in simplicity and other qualities of good character, I appeared in this world as Pṛśnigarbha, or one who is celebrated as having taken birth from Pṛśni.

42In the next millennium, I again appeared from the two of you, who appeared as My mother, Aditi, and My father, Kaśyapa. I was known as Upendra, and because of being a dwarf, I was also known as Vāmana.

43O supremely chaste mother, I, the same personality, have now appeared of you both as your son for the third time. Take My words as the truth.

44I have shown you this form of Viṣṇu just to remind you of My previous births. Otherwise, if I appeared like an ordinary human child, you would not believe that the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, has indeed appeared.

45Both of you, husband and wife, constantly think of Me as your son, but always know that I am the Supreme Personality of Godhead. By thus thinking of Me constantly with love and affection, you will achieve the highest perfection: returning home, back to Godhead.

46Śukadeva Gosvāmī said: After thus instructing His father and mother, the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, remained silent. In their presence, by His internal energy, He then transformed Himself into a small human child. [In other words, He transformed Himself into His original form: kṛṣṇas tu bhagavān svayam.]

47Thereafter, exactly when Vasudeva, being inspired by the Supreme Personality of Godhead, was about to take the newborn child from the delivery room, Yoga-māyā, the Lord's spiritual energy, took birth as the daughter of the wife of Mahārāja Nanda.

48-49By the influence of Yoga-māyā, all the doorkeepers fell fast asleep, their senses unable to work, and the other inhabitants of the house also fell deeply asleep. When the sun rises, the darkness automatically disappears; similarly, when Vasudeva appeared, the closed doors, which were strongly pinned with iron and locked with iron chains, opened automatically. Since the clouds in the sky were mildly thundering and showering, Ananta-nāga, an expansion of the Supreme Personality of Godhead, followed Vasudeva, beginning from the door, with

hoods expanded to protect Vasudeva and the transcendental child.

50Because of constant rain sent by the demigod Indra, the river Yamunā was filled with deep water, foaming about with fiercely whirling waves. But as the great Indian Ocean had formerly given way to Lord Rāmacandra by allowing Him to construct a bridge, the river Yamunā gave way to Vasudeva and allowed him to cross.

51When Vasudeva reached the house of Nanda Mahārāja, he saw that all the cowherd men were fast asleep. Thus he placed his own son on the bed of Yaśodā, picked up her daughter, an expansion of Yoga-māyā, and then returned to his residence, the prison house of Kaṁsa.

52Vasudeva placed the female child on the bed of Devakī, bound his legs with the iron shackles, and thus remained there as before.

53Exhausted by the labor of childbirth, Yaśodā was overwhelmed with sleep and unable to understand what kind of child had been born to her.

## SB 10.4: The Atrocities of King Kaṁsa

This chapter describes how Kaṁsa, following the advice of his demoniac friends, considered the persecution of small children to be very diplomatic.

After Vasudeva bound himself with iron shackles as before, all the doors of the prison house closed by the influence of Yoga-māyā, who then began crying as a newborn child. This crying awakened the doorkeepers, who immediately informed Kaṁsa that a child had been born to Devakī. Upon hearing this news, Kaṁsa appeared with great force in the maternity room, and in spite of Devakī's pleas that the child be saved, the demon forcibly snatched the child from Devakī's hands and dashed the child against a rock. Unfortunately for Kaṁsa, however, the newborn child slipped away from his hands, rose above his head and appeared as the eight-armed form of Durgā. Durgā then told Kaṁsa, "The enemy you contemplate has taken birth somewhere else. Therefore your plan to persecute all the children will prove futile."

According to the prophecy, the eighth child of Devakī would kill Kaṁsa, and therefore when Kaṁsa saw that the eighth child was a female and heard that his so-called enemy had taken birth elsewhere, he was struck with wonder. He decided to release Devakī and Vasudeva, and he admitted before them the wrongness of his atrocities. Falling at the feet of Devakī and Vasudeva, he begged their pardon and tried to convince them that because the events that had taken place were destined to happen, they should not be unhappy for his having killed so many of their children. Devakī and Vasudeva, being naturally very pious, immediately excused Kaṁsa for his atrocities, and Kaṁsa, after seeing that his sister and brother-in-law were happy, returned to his home.

After the night passed, however, Kaṁsa called for his ministers and informed them of all that had happened. The ministers, who were all demons, advised Kaṁsa that because his enemy had already taken birth somewhere else, all the children born within the past ten days in the villages within Kaṁsa's kingdom should be killed. Although the demigods always feared Kaṁsa, they should not be treated leniently; since they were enemies, Kaṁsa should try his best to uproot their existence. The demoniac ministers further advised that Kaṁsa and the demons continue their enmity toward Viṣṇu because Viṣṇu is the original person among all the demigods. The *brāhmaṇas,* the cows, the *Vedas,* austerity, truthfulness, control of the senses and mind, faithfulness and mercy are among the different parts of the body of Viṣṇu, who is the origin of all the demigods, including Lord Brahmā and Lord Śiva. Therefore, the ministers advised, the demigods, the saintly persons, the cows and the *brāhmaṇas* should be

systematically persecuted. Strongly advised in this way by his friends, the demoniac ministers, Kaṁsa approved of their instructions and considered it beneficial to be envious of the *brāhmaṇas*. Following Kaṁsa's orders, therefore, the demons began committing their atrocities all over Vrajabhūmi.

1Śukadeva Gosvāmī continued: My dear King Parīkṣit, the doors inside and outside the house closed as before. Thereafter, the inhabitants of the house, especially the watchmen, heard the crying of the newborn child and thus awakened from their beds.

2Thereafter, all the watchmen very quickly approached King Kaṁsa, the ruler of the Bhoja dynasty, and submitted the news of the birth of Devakī's child. Kaṁsa, who had awaited this news very anxiously, immediately took action.

3Kaṁsa immediately got up from bed, thinking, "Here is Kāla, the supreme time factor, which has taken birth to kill me!" Thus overwhelmed, Kaṁsa, his hair scattered on his head, at once approached the place where the child had been born.

4Devakī helplessly, piteously appealed to Kaṁsa: My dear brother, all good fortune unto you. Don't kill this girl. She will be your daughter-in-law. Indeed, it is unworthy of you to kill a woman.

5My dear brother, by the influence of destiny you have already killed many babies, each of them as bright and beautiful as fire. But kindly spare this daughter. Give her to me as your gift.

6My lord, my brother, I am very poor, being bereft of all my children, but still I am your younger sister, and therefore it would be worthy of you to give me this last child as a gift.

7Śukadeva Gosvāmī continued: Piteously embracing her daughter and crying, Devakī begged Kaṁsa for the child, but he was so cruel that he chastised her and forcibly snatched the child from her hands.

8Having uprooted all relationships with his sister because of intense selfishness, Kaṁsa, who was sitting on his knees, grasped the newborn child by the legs and tried to dash her against the surface of a stone.

9The child, Yoga-māyā-devī, the younger sister of Lord Viṣṇu, slipped upward from Kaṁsa's hands and appeared in the sky as Devī, the goddess Durgā, with eight arms, completely equipped with weapons.

10-11The goddess Durgā was decorated with flower garlands, smeared with sandalwood pulp and dressed with excellent garments and ornaments made of valuable jewels. Holding in her hands a bow, a trident, arrows, a shield, a sword, a conchshell, a disc and a club, and being praised by celestial beings like Apsarās, Kinnaras, Uragas, Siddhas, Cāraṇas and Gandharvas, who worshiped her with all kinds of presentations, she spoke as follows.

12O Kaṁsa, you fool, what will be the use of killing me? The Supreme Personality of Godhead, who has been your enemy from the very beginning and who will certainly kill you, has already taken His birth somewhere else. Therefore, do not unnecessarily kill other children.

13After speaking to Kaṁsa in this way, the goddess Durgā, Yoga-māyā, appeared in different places, such as Vārāṇasī, and became celebrated by different names, such as Annapūrṇā, Durgā, Kālī and Bhadrā.

14After hearing the words of the goddess Durgā, Kaṁsa was struck with wonder. Thus he

approached his sister Devakī and brother-in-law Vasudeva, released them immediately from their shackles, and very humbly spoke as follows.

15Alas, my sister! Alas, my brother-in-law! I am indeed so sinful that exactly like a man-eater [Rākṣasa] who eats his own child, I have killed so many sons born of you.

16Being merciless and cruel, I have forsaken all my relatives and friends. Therefore, like a person who has killed a brāhmaṇa, I do not know to which planet I shall go, either after death or while breathing.

17Alas, not only human beings but sometimes even providence lies. And I am so sinful that I believed the omen of providence and killed so many of my sister's children.

18O great souls, your children have suffered their own misfortune. Therefore, please do not lament for them. All living entities are under the control of the Supreme, and they cannot always live together.

19In this world, we can see that pots, dolls and other products of the earth appear, break and then disappear, mixing with the earth. Similarly, the bodies of all conditioned living entities are annihilated, but the living entities, like the earth itself, are unchanging and never annihilated [na hanyate hanyamāne śarīre].

20One who does not understand the constitutional position of the body and the soul [ātmā] becomes too attached to the bodily concept of life. Consequently, because of attachment to the body and its by-products, he feels affected by union with and separation from his family, society and nation. As long as this continues, one continues his material life. [Otherwise, one is liberated.]

21My dear sister Devakī, all good fortune unto you. Everyone suffers and enjoys the results of his own work under the control of providence. Therefore, although your sons have unfortunately been killed by me, please do not lament for them.

22In the bodily conception of life, one remains in darkness, without self-realization, thinking, "I am being killed" or "I have killed my enemies." As long as a foolish person thus considers the self to be the killer or the killed, he continues to be responsible for material obligations, and consequently he suffers the reactions of happiness and distress.

23Kaṁsa begged, "My dear sister and brother-in-law, please be merciful to such a poor-hearted person as me, since both of you are saintly persons. Please excuse my atrocities." Having said this, Kaṁsa fell at the feet of Vasudeva and Devakī, his eyes full of tears of regret.

24Fully believing in the words of the goddess Durgā, Kaṁsa exhibited his familial affection for Devakī and Vasudeva by immediately releasing them from their iron shackles.

25When Devakī saw her brother actually repentant while explaining ordained events, she was relieved of all anger. Similarly, Vasudeva was also free from anger. Smiling, he spoke to Kaṁsa as follows.

26O great personality Kaṁsa, only by the influence of ignorance does one accept the material body and bodily ego. What you have said about this philosophy is correct. Persons in the bodily concept of life, lacking self-realization, differentiate in terms of "This is mine" and "This belongs to another."

27Persons with the vision of differentiation are imbued with the material qualities lamentation, jubilation, fear, envy, greed, illusion and madness. They are influenced by the immediate

cause, which they are busy counteracting, because they have no knowledge of the remote, supreme cause, the Personality of Godhead.

28Śukadeva Gosvāmī continued: Thus having been addressed in purity by Devakī and Vasudeva, who were very much appeased, Kaṁsa felt pleased, and with their permission he entered his home.

29After that night passed, Kaṁsa summoned his ministers and informed them of all that had been spoken by Yoga-māyā [who had revealed that He who was to slay Kaṁsa had already been born somewhere else].

30After hearing their master's statement, the envious asuras, who were enemies of the demigods and were not very expert in their dealings, advised Kaṁsa as follows.

31If this is so, O King of the Bhoja dynasty, beginning today we shall kill all the children born in all the villages, towns and pasturing grounds within the past ten days or slightly more.

32The demigods always fear the sound of your bowstring. They are constantly in anxiety, afraid of fighting. Therefore, what can they do by their endeavors to harm you?

33While being pierced by your arrows, which you discharged on all sides, some of them, who were injured by the multitude of arrows but who desired to live, fled the battlefield, intent on escaping.

34Defeated and bereft of all weapons, some of the demigods gave up fighting and praised you with folded hands, and some of them, appearing before you with loosened garments and hair, said, "O lord, we are very much afraid of you."

35When the demigods are bereft of their chariots, when they forget how to use weapons, when they are fearful or attached to something other than fighting, or when their bows are broken and they have thus lost the ability to fight, Your Majesty does not kill them.

36The demigods boast uselessly while away from the battlefield. Only where there is no fighting can they show their prowess. Therefore, from such demigods we have nothing to fear. As for Lord Viṣṇu, He is in seclusion in the core of the hearts of the yogīs. As for Lord Śiva, he has gone to the forest. And as for Lord Brahmā, he is always engaged in austerities and meditation. The other demigods, headed by Indra, are devoid of prowess. Therefore you have nothing to fear.

37Nonetheless, because of their enmity, our opinion is that the demigods should not be neglected. Therefore, to uproot them completely, engage us in fighting with them, for we are ready to follow you.

38As a disease, if initially neglected, becomes acute and impossible to cure, or as the senses, if not controlled at first, are impossible to control later, an enemy, if neglected in the beginning, later becomes insurmountable.

39The foundation of all the demigods is Lord Viṣṇu, who lives and is worshiped wherever there are religious principles, traditional culture, the Vedas, cows, brāhmaṇas, austerities, and sacrifices with proper remuneration.

40O King, we, who are your adherents in all respects, shall therefore kill the Vedic brāhmaṇas, the persons engaged in offering sacrifices and austerities, and the cows that supply milk, from which clarified butter is obtained for the ingredients of sacrifice.

41The brāhmaṇas, the cows, Vedic knowledge, austerity, truthfulness, control of the mind and senses, faith, mercy, tolerance and sacrifice are the different parts of the body of Lord Viṣṇu, and they are the paraphernalia for a godly civilization.

42Lord Viṣṇu, the Supersoul within the core of everyone's heart, is the ultimate enemy of the asuras and is therefore known as asura-dviṭ. He is the leader of all the demigods because all the demigods, including Lord Śiva and Lord Brahmā, exist under His protection. The great saintly persons, sages and Vaiṣṇavas also depend upon Him. To persecute the Vaiṣṇavas, therefore, is the only way to kill Viṣṇu.

43Śukadeva Gosvāmī continued: Thus, having considered the instructions of his bad ministers, Kaṁsa, who was bound by the laws of Yamarāja and devoid of good intelligence because he was a demon, decided to persecute the saintly persons, the brāhmaṇas, as the only way to achieve his own good fortune.

44These demons, the followers of Kaṁsa, were expert at persecuting others, especially the Vaiṣṇavas, and could assume any form they desired. After giving these demons permission to go everywhere and persecute the saintly persons, Kaṁsa entered his palace.

45Surcharged with passion and ignorance and not knowing what was good or bad for them, the asuras, for whom impending death was waiting, began the persecution of the saintly persons.

46My dear King, when a man persecutes great souls, all his benedictions of longevity, beauty, fame, religion, blessings and promotion to higher planets will be destroyed.

**SB 10.5: The Meeting of Nanda Mahārāja and Vasudeva**

As described in this chapter, Nanda Mahārāja very gorgeously performed the birth ceremony for his newborn child. Then he went to Kaṁsa to pay taxes due and met his intimate friend Vasudeva.

There was great jubilation all over Vṛndāvana due to Kṛṣṇa's birth. Everyone was overwhelmed with joy. Therefore the King of Vraja, Mahārāja Nanda, wanted to perform the birth ceremony for his child, and this he did. During this great festival, Nanda Mahārāja gave in charity to all present whatever they desired. After the festival, Nanda Mahārāja put the cowherd men in charge of protecting Gokula, and then he went to Mathurā to pay official taxes to Kaṁsa. In Mathurā, Nanda Mahārāja met Vasudeva. Nanda Mahārāja and Vasudeva were brothers, and Vasudeva praised Nanda Mahārāja's good fortune because he knew that Kṛṣṇa had accepted Nanda Mahārāja as His father. When Vasudeva inquired from Nanda Mahārāja about the welfare of the child, Nanda Mahārāja informed him all about Vṛndāvana, and Vasudeva was very much satisfied by this, although he expressed his grief because Devakī's many children had been killed by Kaṁsa. Nanda Mahārāja consoled Vasudeva by saying that everything happens according to destiny and that one who knows this is not aggrieved. Expecting many disturbances in Gokula, Vasudeva then advised Nanda Mahārāja not to wait in Mathurā, but to return to Vṛndāvana as soon as possible. Thus Nanda Mahārāja took leave of Vasudeva and returned to Vṛndāvana with the other cowherd men on their bullock carts.

1-2Śukadeva Gosvāmī said: Nanda Mahārāja was naturally very magnanimous, and when Lord Śrī Kṛṣṇa appeared as his son, he was overwhelmed by jubilation. Therefore, after bathing and purifying himself and dressing himself properly, he invited brāhmaṇas who knew how to recite Vedic mantras. After having these qualified brāhmaṇas recite auspicious Vedic hymns, he

arranged to have the Vedic birth ceremony celebrated for his newborn child according to the rules and regulations, and he also arranged for worship of the demigods and forefathers.

3Nanda Mahārāja gave two million cows, completely decorated with cloth and jewels, in charity to the brāhmaṇas. He also gave them seven hills of grain, covered with jewels and with cloth decorated with golden embroidery.

4O King, by the passing of time, land and other material possessions are purified; by bathing, the body is purified; and by being cleansed, unclean things are purified. By purificatory ceremonies, birth is purified; by austerity, the senses are purified; and by worship and charity offered to the brāhmaṇas, material possessions are purified. By satisfaction, the mind is purified; and by self-realization, or Kṛṣṇa consciousness, the soul is purified.

5The brāhmaṇas recited auspicious Vedic hymns, which purified the environment by their vibration. The experts in reciting old histories like the Purāṇas, the experts in reciting the histories of royal families, and general reciters all chanted, while singers sang and many kinds of musical instruments, like bherīs and dundubhis, played in accompaniment.

6Vrajapura, the residence of Nanda Mahārāja, was fully decorated with varieties of festoons and flags, and in different places, gates were made with varieties of flower garlands, pieces of cloth, and mango leaves. The courtyards, the gates near the roads, and everything within the rooms of the houses were perfectly swept and washed with water.

7The cows, the bulls and the calves were thoroughly smeared with a mixture of turmeric and oil, mixed with varieties of minerals. Their heads were bedecked with peacock feathers, and they were garlanded and covered with cloth and golden ornaments.

8O King Parīkṣit, the cowherd men dressed very opulently with valuable ornaments and garments such as coats and turbans. Decorated in this way and carrying various presentations in their hands, they approached the house of Nanda Mahārāja.

9The gopī wives of the cowherd men were very pleased to hear that mother Yaśodā had given birth to a son, and they began to decorate themselves very nicely with proper dresses, ornaments, black ointment for the eyes, and so on.

10Their lotuslike faces extraordinarily beautiful, being decorated with saffron and newly grown kuṅkuma, the wives of the cowherd men hurried to the house of mother Yaśodā with presentations in their hands. Because of natural beauty, the wives had full hips and full breasts, which moved as they hurried along.

11In the ears of the gopīs were brilliantly polished jeweled earrings, and from their necks hung metal lockets. Their hands were decorated with bangles, their dresses were of varied colors, and from their hair, flowers fell onto the street like showers. Thus while going to the house of Mahārāja Nanda, the gopīs, their earrings, breasts and garlands moving, were brilliantly beautiful.

12Offering blessings to the newborn child, Kṛṣṇa, the wives and daughters of the cowherd men said, “May You become the King of Vraja and long maintain all its inhabitants.” They sprinkled a mixture of turmeric powder, oil and water upon the birthless Supreme Lord and offered their prayers.

13Now that the all-pervading, unlimited Lord Kṛṣṇa, the master of the cosmic manifestation, had arrived within the estate of Mahārāja Nanda, various types of musical instruments resounded to celebrate the great festival.

14In gladness, the cowherd men enjoyed the great festival by splashing one another's bodies with a mixture of curd, condensed milk, butter and water. They threw butter on one another and smeared it on one another's bodies.

15-16The great-minded Mahārāja Nanda gave clothing, ornaments and cows in charity to the cowherd men in order to please Lord Viṣṇu, and thus he improved the condition of his own son in all respects. He distributed charity to the sūtas, the māgadhas, the vandīs, and men of all other professions, according to their educational qualifications, and satisfied everyone's desires.

17The most fortunate Rohiṇī, the mother of Baladeva, was honored by Nanda Mahārāja and Yaśodā, and thus she also dressed gorgeously and decorated herself with a necklace, a garland and other ornaments. She was busy wandering here and there to receive the women who were guests at the festival.

18O Mahārāja Parīkṣit, the home of Nanda Mahārāja is eternally the abode of the Supreme Personality of Godhead and His transcendental qualities and is therefore always naturally endowed with the opulence of all wealth. Yet beginning from Lord Kṛṣṇa's appearance there, it became the place for the pastimes of the goddess of fortune.

19Śukadeva Gosvāmī continued: Thereafter, my dear King Parīkṣit, O best protector of the Kuru dynasty, Nanda Mahārāja appointed the local cowherd men to protect Gokula and then went to Mathurā to pay the yearly taxes to King Kaṁsa.

20When Vasudeva heard that Nanda Mahārāja, his very dear friend and brother, had come to Mathurā and already paid the taxes to Kaṁsa, he went to Nanda Mahārāja's residence.

21When Nanda Mahārāja heard that Vasudeva had come, he was overwhelmed with love and affection, being as pleased as if his body had regained its life. Seeing Vasudeva suddenly present, he got up and embraced him with both arms.

22O Mahārāja Parīkṣit, having thus been received and welcomed by Nanda Mahārāja with honor, Vasudeva sat down very peacefully and inquired about his own two sons because of intense love for them.

23My dear brother Nanda Mahārāja, at an advanced age you had no son at all and were hopeless of having one. Therefore, that you now have a son is a sign of great fortune.

24It is also by good fortune that I am seeing you. Having obtained this opportunity, I feel as if I have taken birth again. Even though one is present in this world, to meet with intimate friends and dear relatives in this material world is extremely difficult.

25Many planks and sticks, unable to stay together, are carried away by the force of a river's waves. Similarly, although we are intimately related with friends and family members, we are unable to stay together because of our varied past deeds and the waves of time.

26My dear friend Nanda Mahārāja, in the place where you are living with your friends, is the forest favorable for the animals, the cows? I hope there is no disease or inconvenience. The place must be full of water, grass and other plants.

27My son Baladeva, being raised by you and your wife, Yaśodādevī, considers you His father and mother. Is He living very peacefully in your home with His real mother, Rohiṇī?

28When one's friends and relatives are properly situated, one's religion, economic

development and sense gratification, as described in the Vedic literatures, are beneficial. Otherwise, if one's friends and relatives are in distress, these three cannot offer any happiness.

29Nanda Mahārāja said: Alas, King Kaṁsa killed so many of your children, born of Devakī. And your one daughter, the youngest child of all, entered the heavenly planets.

30Every man is certainly controlled by destiny, which determines the results of one's fruitive activities. In other words, one has a son or daughter because of unseen destiny, and when the son or daughter is no longer present, this also is due to unseen destiny. Destiny is the ultimate controller of everyone. One who knows this is never bewildered.

31Vasudeva said to Nanda Mahārāja: Now, my dear brother, since you have paid the annual taxes to Kaṁsa and have also seen me, do not stay in this place for many days. It is better to return to Gokula, since I know that there may be some disturbances there.

32Śukadeva Gosvāmī said: After Vasudeva advised Nanda Mahārāja in this way, Nanda Mahārāja and his associates, the cowherd men, took permission from Vasudeva, yoked their bulls to the bullock carts, and started riding for Gokula.

## SB 10.6: The Killing of the Demon Pūtanā

A summary of the Sixth Chapter is as follows: when Nanda Mahārāja, following the instructions of Vasudeva, was returning home, he saw a great demoniac woman lying on the road, and then he heard about her death.

While Nanda Mahārāja, the King of Vraja, was thinking about Vasudeva's words concerning disturbances in Gokula, he was a little afraid and sought shelter at the lotus feet of Śrī Hari. Meanwhile, Kaṁsa sent to the village of Gokula a Rākṣasī named Pūtanā, who was wandering here and there killing small babies. Of course, wherever there is no Kṛṣṇa consciousness, there is the danger of such Rākṣasīs, but since the Supreme Personality of Godhead Himself was in Gokula, Pūtanā could expect nothing there but her own death.

One day, Pūtanā arrived from outer space in Gokula, the home of Nanda Mahārāja, and by displaying her mystic power, she assumed the disguise of a very beautiful woman. Taking courage, she immediately entered Kṛṣṇa's bedroom without anyone's permission; by the grace of Kṛṣṇa, no one forbade her to enter the house or the room, because that was Kṛṣṇa's desire. The baby Kṛṣṇa, who resembled a fire covered by ashes, looked upon Pūtanā and thought that He would have to kill this demon, the beautiful woman. Enchanted by the influence of Yoga-māyā and the Personality of Godhead, Pūtanā took Kṛṣṇa upon her lap, and neither Rohiṇī nor Yaśodā objected. The demon Pūtanā offered her breast for Kṛṣṇa to suck, but her breast was smeared with poison. The child Kṛṣṇa, therefore, squeezed Pūtanā's breast so severely that in unbearable pain she had to assume her original body and fell to the ground. Then Kṛṣṇa began playing on her breast just like a small child. When Kṛṣṇa was playing, the *gopīs* were pacified and took the child away to their own laps. After this incident, the *gopīs* took precautions because of the attack of the Rākṣasī. Mother Yaśodā gave the child her breast to suck and then laid Him in bed.

Meanwhile, Nanda and his associates the cowherd men returned from Mathurā, and when they saw the great dead body of Pūtanā, they were struck with wonder. Everyone was astonished that Vasudeva had foretold this mishap, and they praised Vasudeva for his power of foresight. The inhabitants of Vraja cut the gigantic body of Pūtanā into pieces, but because Kṛṣṇa had sucked her breast, she had been freed from all sins, and therefore when the cowherd men burned the pieces of her body in a fire, the smoke filled the air with a very pleasing fragrance.

Ultimately, although Pūtanā had desired to kill Kṛṣṇa, she attained the Lord's abode. From this incident we gain the instruction that if one is attached to Kṛṣṇa somehow or other, even as an enemy, one ultimately attains success. What then is to be said of devotees who are naturally attached to Kṛṣṇa in love? When the inhabitants of Vraja heard about the killing of Pūtanā and the welfare of the child, they were very much satisfied. Nanda Mahārāja took the baby Kṛṣṇa on his lap and was filled with satisfaction.

1Śukadeva Gosvāmī continued: My dear King, while Nanda Mahārāja was on the way home, he considered that what Vasudeva had said could not be false or useless. There must have been some danger of disturbances in Gokula. As Nanda Mahārāja thought about the danger for his beautiful son, Kṛṣṇa, he was afraid, and he took shelter at the lotus feet of the supreme controller.

2While Nanda Mahārāja was returning to Gokula, the same fierce Pūtanā whom Kaṁsa had previously engaged to kill babies was wandering about in the towns, cities and villages, doing her nefarious duty.

3My dear King, wherever people in any position perform their occupational duties of devotional service by chanting and hearing [śravaṇaṁ kīrtanaṁ viṣṇoḥ], there cannot be any danger from bad elements. Therefore there was no need for anxiety about Gokula while the Supreme Personality of Godhead was personally present.

4Once upon a time, Pūtanā Rākṣasī, who could move according to her desire and was wandering in outer space, converted herself by mystic power into a very beautiful woman and thus entered Gokula, the abode of Nanda Mahārāja.

5-6Her hips were full, her breasts were large and firm, seeming to overburden her slim waist, and she was dressed very nicely. Her hair, adorned with a garland of mallikāflowers, was scattered about her beautiful face. Her earrings were brilliant, and as she smiled very attractively, glancing upon everyone, her beauty drew the attention of all the inhabitants of Vraja, especially the men. When the gopīs saw her, they thought that the beautiful goddess of fortune, holding a lotus flower in her hand, had come to see her husband, Kṛṣṇa.

7While searching for small children, Pūtanā, whose business was to kill them, entered the house of Nanda Mahārāja unobstructed, having been sent by the superior potency of the Lord. Without asking anyone's permission, she entered Nanda Mahārāja's room, where she saw the child sleeping in bed, His unlimited power covered like a powerful fire covered by ashes. She could understand that this child was not ordinary, but was meant to kill all demons.

8Lord Śrī Kṛṣṇa, the all-pervading Supersoul, lying on the bed, understood that Pūtanā, a witch who was expert in killing small children, had come to kill Him. Therefore, as if afraid of her, Kṛṣṇa closed His eyes. Thus Pūtanā took upon her lap Him who was to be her own annihilation, just as an unintelligent person places a sleeping snake on his lap, thinking the snake to be a rope.

9Pūtanā Rākṣasī's heart was fierce and cruel, but she looked like a very affectionate mother. Thus she resembled a sharp sword in a soft sheath. Although seeing her within the room, Yaśodā and Rohiṇī, overwhelmed by her beauty, did not stop her, but remained silent because she treated the child like a mother.

10On that very spot, the fiercely dangerous Rākṣasī took Kṛṣṇa on her lap and pushed her breast into His mouth. The nipple of her breast was smeared with a dangerous, immediately effective poison, but the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, becoming very angry at her,

took hold of her breast, squeezed it very hard with both hands, and sucked out both the poison and her life.

11Unbearably pressed in every vital point, the demon Pūtanā began to cry, "Please leave me, leave me! Suck my breast no longer!" Perspiring, her eyes wide open and her arms and legs flailing, she cried very loudly again and again.

12As Pūtanā screamed loudly and forcefully, the earth with its mountains, and outer space with its planets, trembled. The lower planets and all directions vibrated, and people fell down, fearing that thunderbolts were falling upon them.

13In this way the demon Pūtanā, very much aggrieved because her breast was being attacked by Kṛṣṇa, lost her life. O King Parīkṣit, opening her mouth wide and spreading her arms, legs and hair, she fell down in the pasturing ground in her original form as a Rākṣasī, as Vṛtrāsura had fallen when killed by the thunderbolt of Indra.

14O King Parīkṣit, when the gigantic body of Pūtanā fell to the ground, it smashed all the trees within a limit of twelve miles. Appearing in a gigantic body, she was certainly extraordinary.

15-17The Rākṣasī's mouth was full of teeth, each resembling the front of a plow, her nostrils were deep like mountain caves, and her breasts resembled big slabs of stone fallen from a hill. Her scattered hair was the color of copper. The sockets of her eyes appeared like deep blind wells, her fearful thighs resembled the banks of a river, her arms, legs and feet seemed like big bridges, and her abdomen appeared like a dried-up lake. The hearts, ears and heads of the cowherd men and women were already shocked by the Rākṣasī's screaming, and when they saw the fierce wonder of her body, they were even more frightened.

18Without fear, the child Kṛṣṇa was playing on the upper portion of Pūtanā Rākṣasī's breast, and when the gopīs saw the child's wonderful activities, they immediately came forward with great jubilation and picked Him up.

19Thereafter, mother Yaśodā and Rohiṇī, along with the other elderly gopīs, waved about the switch of a cow to give full protection to the child Śrī Kṛṣṇa.

20The child was thoroughly washed with cow urine and then smeared with the dust raised by the movements of the cows. Then different names of the Lord were applied with cow dung on twelve different parts of His body, beginning with the forehead, as done in applying tilaka. In this way, the child was given protection.

21The gopīs first executed the process of ācamana, drinking a sip of water from the right hand. They purified their bodies and hands with the nyāsa-mantra and then applied the same mantra upon the body of the child.

22-23[Śukadeva Gosvāmī informed Mahārāja Parīkṣit that the gopīs, following the proper system, protected Kṛṣṇa, their child, with this mantra.] May Aja protect Your legs, may Maṇimān protect Your knees, Yajṣa Your thighs, Acyuta the upper part of Your waist, and Hayagrīva Your abdomen. May Keśava protect Your heart, Īśa Your chest, the sun-god Your neck, Viṣṇu Your arms, Urukrama Your face, and Īśvara Your head. May Cakrī protect You from the front; may Śrī Hari, Gadādharī, the carrier of the club, protect You from the back; and may the carrier of the bow, who is known as the enemy of Madhu, and Lord Ajana, the carrier of the sword, protect Your two sides. May Lord Urugāya, the carrier of the conchshell, protect You from all corners; may Upendra protect You from above; may Garuḍa protect You on the ground; and may Lord Haladhara, the Supreme Person, protect You on all sides.

24May Hṛṣīkeśa protect Your senses, and Nārāyaṇa Your life air. May the master of Śvetadvīpa protect the core of Your heart, and may Lord Yogeśvara protect Your mind.

25-26May Lord Pṛśnigarbha protect Your intelligence, and the Supreme Personality of Godhead Your soul. While You are playing, may Govinda protect You, and while You are sleeping may Mādhava protect You. May Lord Vaikuṇṭha protect You while You are walking, and may Lord Nārāyaṇa, the husband of the goddess of fortune, protect You while You are sitting. Similarly, may Lord Yajṣabhuk, the fearful enemy of all evil planets, always protect You while You enjoy life.

27-29The evil witches known as Ḍākinīs, Yātudhānīs and Kuṣmāṇḍas are the greatest enemies of children, and the evil spirits like Bhūtas, Pretas, Piśācas, Yakṣas, Rākṣasas and Vināyakas, as well as witches like Koṭarā, Revatī, Jyeṣṭhā, Pūtanā and Mātṛkā, are always ready to give trouble to the body, the life air and the senses, causing loss of memory, madness and bad dreams. Like the most experienced evil stars, they all create great disturbances, especially for children, but one can vanquish them simply by uttering Lord Viṣṇu's name, for when Lord Viṣṇu's name resounds, all of them become afraid and go away.

30Śrīla Śukadeva Gosvāmī continued: All the gopīs, headed by mother Yaśodā, were bound by maternal affection. After they thus chanted mantras to protect the child, mother Yaśodā gave the child the nipple of her breast to suck and then got Him to lie down on His bed.

31Meanwhile, all the cowherd men, headed by Nanda Mahārāja, returned from Mathurā, and when they saw on the way the gigantic body of Pūtanā lying dead, they were struck with great wonder.

32Nanda Mahārāja and the other gopas exclaimed: My dear friends, you must know that Ānakadundubhi, Vasudeva, has become a great saint or a master of mystic power. Otherwise how could he have foreseen this calamity and predicted it to us?

33The inhabitants of Vraja cut the gigantic body of Pūtanā into pieces with the help of axes. Then they threw the pieces far away, covered them with wood and burned them to ashes.

34Because of Kṛṣṇa's having sucked the breast of the Rākṣasī Pūtanā, when Kṛṣṇa killed her she was immediately freed of all material contamination. Her sinful reactions automatically vanished, and therefore when her gigantic body was being burnt, the smoke emanating from her body was fragrant like aguru incense.

35-36Pūtanā was always hankering for the blood of human children, and with that desire she came to kill Kṛṣṇa; but because she offered her breast to the Lord, she attained the greatest achievement. What then is to be said of those who had natural devotion and affection for Kṛṣṇa as mothers and who offered Him their breasts to suck or offered something very dear, as a mother offers something to a child?

37-38The Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, is always situated within the core of the heart of the pure devotee, and He is always offered prayers by such worshipable personalities as Lord Brahmā and Lord Śiva. Because Kṛṣṇa embraced Pūtanā's body with great pleasure and sucked her breast, although she was a great witch, she attained the position of a mother in the transcendental world and thus achieved the highest perfection. What then is to be said of the cows whose nipples Kṛṣṇa sucked with great pleasure and who offered their milk very jubilantly with affection exactly like that of a mother?

39-40The Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, is the bestower of many benedictions,

including liberation [kaivalya], or oneness with the Brahman effulgence. For that Personality of Godhead, the gopīs always felt maternal love, and Kṛṣṇa sucked their breasts with full satisfaction. Therefore, because of their relationship as mother and son, although the gopīs were engaged in various family activities, one should never think that they returned to this material world after leaving their bodies.

41Upon smelling the fragrance of the smoke emanating from Pūtanā's burning body, many inhabitants of Vrajabhūmi in distant places were astonished. "Where is this fragrance coming from?" they asked. Thus they went to the spot where Pūtanā's body was being burnt.

42When the inhabitants of Vraja who had come from distant places heard the whole story of how Pūtanā had come and then been killed by Kṛṣṇa, they were certainly astonished, and they offered their blessings to the child for His wonderful deed of killing Pūtanā. Nanda Mahārāja, of course, was very much obliged to Vasudeva, who had foreseen the incident, and simply thanked him, thinking how wonderful Vasudeva was.

43O Mahārāja Parīkṣit, best of the Kurus, Nanda Mahārāja was very liberal and simple. He immediately took his son Kṛṣṇa on his lap as if Kṛṣṇa had returned from death, and by formally smelling his son's head, Nanda Mahārāja undoubtedly enjoyed transcendental bliss.

44Any person who hears with faith and devotion about how Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, killed Pūtanā, and who thus invests his hearing in such childhood pastimes of Kṛṣṇa, certainly attains attachment for Govinda, the supreme, original person.

## SB 10.7: The Killing of the Demon Tṛṇāvarta

In this chapter, Śrī Kṛṣṇa's pastimes of breaking the cart (*śakaṭa-bhaṣjana*), killing the *asura* known as Tṛṇāvarta, and demonstrating the entire universe within His mouth are especially described.

When Śukadeva Gosvāmī saw that Mahārāja Parīkṣit was eagerly waiting to hear about Lord Kṛṣṇa's pastimes as a child, he was very much pleased, and he continued to speak. When Śrī Kṛṣṇa was only three months old and was just trying to turn backside up, before He even attempted to crawl, mother Yaśodā wanted to observe a ritualistic ceremony with her friends for the good fortune of the child. Such a ritualistic ceremony is generally performed with ladies who also have small children. When mother Yaśodā saw that Kṛṣṇa was falling asleep, because of other engagements she put the child underneath a household cart, called *śakaṭa,* and while the child was sleeping, she engaged herself in other business pertaining to the auspicious ritualistic ceremony. Underneath the cart was a cradle, and mother Yaśodā placed the child in that cradle. The child was sleeping, but suddenly He awakened and, as usual for a child, began to kick His small legs. This kicking shook the cart, which collapsed with a great sound, breaking completely and spilling all its contents. Children who were playing nearby immediately informed mother Yaśodā that the cart had broken, and therefore she hastily arrived there in great anxiety with the other *gopīs*. Mother Yaśodā immediately took the child on her lap and allowed Him to suck her breast. Then various types of Vedic ritualistic ceremonies were performed with the help of the *brāhmaṇas*. Not knowing the real identity of the child, the *brāhmaṇas* showered the child with blessings.

Another day, when mother Yaśodā was sitting with her child on her lap, she suddenly observed that he had assumed the weight of the entire universe. She was so astonished that she had to put the child down, and in the meantime Tṛṇāvarta, one of the servants of Kaṁsa, appeared there as a whirlwind and took the child away. The whole tract of land known as

Gokula became surcharged with dust, no one could see where the child had been taken, and all the *gopīs* were overwhelmed because He had been taken away in the dust storm. But up in the sky, the *asura,* being overburdened by the child, could not carry the child far away, although he also could not drop the child because the child had caught him so tightly that it was difficult for him to separate the child from his body. Thus Tṛṇāvarta himself fell down from a very great height, the child grasping him tightly by the shoulder, and immediately died. The demon having fallen, the *gopīs* picked the child up and delivered Him to the lap of mother Yaśodā. Thus mother Yaśodā was struck with wonder, but because of Yoga-māyā's influence, no one could understand who Kṛṣṇa was and what had actually happened. Rather, everyone began to praise fortune for the child's having been saved from such a calamity. Nanda Mahārāja, of course, was thinking of the wonderful foretelling of Vasudeva and began to praise him as a great *yogī*. Later, when the child was on the lap of mother Yaśodā, the child yawned, and mother Yaśodā could see within His mouth the entire universal manifestation.

1-2King Parīkṣit said: My lord, Śukadeva Gosvāmī, all the various activities exhibited by the incarnations of the Supreme Personality of Godhead are certainly pleasing to the ear and to the mind. Simply by one's hearing of these activities, the dirty things in one's mind immediately vanish. Generally we are reluctant to hear about the activities of the Lord, but Kṛṣṇa's childhood activities are so attractive that they are automatically pleasing to the mind and ear. Thus one's attachment for hearing about material things, which is the root cause of material existence, vanishes, and one gradually develops devotional service to the Supreme Lord, attachment for Him, and friendship with devotees who give us the contribution of Kṛṣṇa consciousness. If you think it fit, kindly speak about those activities of the Lord.

3Please describe other pastimes of Kṛṣṇa, the Supreme Personality, who appeared on this planet earth, imitating a human child and performing wonderful activities like killing Pūtanā.

4Śukadeva Gosvāmī said: When mother Yaśodā's baby was slanting His body to attempt to rise and turn around, this attempt was observed by a Vedic ceremony. In such a ceremony, called utthāna, which is performed when a child is due to leave the house for the first time, the child is properly bathed. Just after Kṛṣṇa turned three months old, mother Yaśodā celebrated this ceremony with other women of the neighborhood. On that day, there was a conjunction of the moon with the constellation Rohiṇī. As the brāhmaṇas joined by chanting Vedic hymns and professional musicians also took part, this great ceremony was observed by mother Yaśodā.

5After completing the bathing ceremony for the child, mother Yaśodā received the brāhmaṇas by worshiping them with proper respect and giving them ample food grains and other eatables, clothing, desirable cows, and garlands. The brāhmaṇas properly chanted Vedic hymns to observe the auspicious ceremony, and when they finished and mother Yaśodā saw that the child felt sleepy, she lay down on the bed with the child until He was peacefully asleep.

6The liberal mother Yaśodā, absorbed in celebrating the utthāna ceremony, was busy receiving guests, worshiping them with all respect and offering them clothing, cows, garlands and grains. Thus she could not hear the child crying for His mother. At that time, the child Kṛṣṇa, demanding to drink the milk of His mother's breast, angrily threw His legs upward.

7Lord Śrī Kṛṣṇa was lying down underneath the handcart in one corner of the courtyard, and although His little legs were as soft as leaves, when He struck the cart with His legs, it turned over violently and collapsed. The wheels separated from the axle, the hubs and spokes fell apart, and the pole of the handcart broke. On the cart there were many little utensils made of various metals, and all of them scattered hither and thither.

8When mother Yaśodā and the other ladies who had assembled for the utthāna festival, and all the men, headed by Nanda Mahārāja, saw the wonderful situation, they began to wonder how the handcart had collapsed by itself. They began to wander here and there, trying to find the cause, but were unable to do so.

9The assembled cowherd men and ladies began to contemplate how this thing had happened. "Is it the work of some demon or evil planet?" they asked. At that time, the small children present asserted that the cart had been kicked apart by the baby Kṛṣṇa. As soon as the crying baby had kicked the cart's wheel, the cart had collapsed. There was no doubt about it.

10The assembled gopīs and gopas, unaware that Kṛṣṇa is always unlimited, could not believe that baby Kṛṣṇa had such inconceivable power. They could not believe the statements of the children, and therefore they neglected these statements as being childish talk.

11Thinking that some bad planet had attacked Kṛṣṇa, mother Yaśodā picked up the crying child and allowed Him to suck her breast. Then she called for experienced brāhmaṇas to chant Vedic hymns and perform an auspicious ritualistic ceremony.

12After the strong, stout cowherd men assembled the pots and paraphernalia on the handcart and set it up as before, the brāhmaṇas performed a ritualistic ceremony with a fire sacrifice to appease the bad planet, and then, with rice grains, kuśa, water and curd, they worshiped the Supreme Lord.

13-15When brāhmaṇas are free from envy, untruthfulness, unnecessary pride, grudges, disturbance by the opulence of others, and false prestige, their blessings never go in vain. Considering this, Nanda Mahārāja soberly took Kṛṣṇa on his lap and invited such truthful brāhmaṇas to perform a ritualistic ceremony according to the holy hymns of the Sāma Veda, Ṛg Veda and Yajur Veda. Then, while the hymns were being chanted, he bathed the child with water mixed with pure herbs, and after performing a fire ceremony, he sumptuously fed all the brāhmaṇas with first-class grains and other food.

16Nanda Mahārāja, for the sake of the affluence of his own son Kṛṣṇa, gave the brāhmaṇas cows fully decorated with garments, flower garlands and gold necklaces. These cows, fully qualified to give ample milk, were given to the brāhmaṇas in charity, and the brāhmaṇas accepted them and bestowed blessings upon the whole family, and especially upon Kṛṣṇa.

17The brāhmaṇas, who were completely expert in chanting the Vedic hymns, were all yogīs fully equipped with mystic powers. Whatever blessings they spoke were certainly never fruitless.

18One day, a year after Kṛṣṇa's appearance, mother Yaśodā was patting her son on her lap. But suddenly she felt the child to be heavier than a mountain peak, and she could no longer bear His weight.

19Feeling the child to be as heavy as the entire universe and therefore being anxious, thinking that perhaps the child was being attacked by some other ghost or demon, the astonished mother Yaśodā put the child down on the ground and began to think of Nārāyaṇa. Foreseeing disturbances, she called for the brāhmaṇas to counteract this heaviness, and then she engaged in her other household affairs. She had no alternative than to remember the lotus feet of Nārāyaṇa, for she could not understand that Kṛṣṇa was the original source of everything.

20While the child was sitting on the ground, a demon named Tṛṇāvarta, who was a servant of Kaṁsa's, came there as a whirlwind, at Kaṁsa's instigation, and very easily carried the child

away into the air.

21Covering the whole land of Gokula with particles of dust, that demon, acting as a strong whirlwind, covered everyone's vision and began vibrating everywhere with a greatly fearful sound.

22For a moment, the whole pasturing ground was overcast with dense darkness from the dust storm, and mother Yaśodā was unable to find her son where she had placed Him.

23Because of the bits of sand thrown about by Tṛṇāvarta, people could not see themselves or anyone else, and thus they were illusioned and disturbed.

24Because of the dust storm stirred up by the strong whirlwind, mother Yaśodā could find no trace of her son, nor could she understand why. Thus she fell down on the ground like a cow who has lost her calf and began to lament very pitifully.

25When the force of the dust storm and the winds subsided, Yaśodā's friends, the other gopīs, approached mother Yaśodā, hearing her pitiful crying. Not seeing Kṛṣṇa present, they too felt very much aggrieved and joined mother Yaśodā in crying, their eyes full of tears.

26Having assumed the form of a forceful whirlwind, the demon Tṛṇāvarta took Kṛṣṇa very high in the sky, but when Kṛṣṇa became heavier than the demon, the demon had to stop his force and could go no further.

27Because of Kṛṣṇa's weight, Tṛṇāvarta considered Him to be like a great mountain or a hunk of iron. But because Kṛṣṇa had caught the demon's neck, the demon was unable to throw Him off. He therefore thought of the child as wonderful, since he could neither bear the child nor cast aside the burden.

28With Kṛṣṇa grasping him by the throat, Tṛṇāvarta choked, unable to make even a sound or even to move his hands and legs. His eyes popping out, the demon lost his life and fell, along with the little boy, down to the ground of Vraja.

29While the gopīs who had gathered were crying for Kṛṣṇa, the demon fell from the sky onto a big slab of stone, his limbs dislocated, as if he had been pierced by the arrow of Lord Śiva like Tripurāsura.

30The gopīs immediately picked Kṛṣṇa up from the chest of the demon and delivered Him, free from all inauspiciousness, to mother Yaśodā. Because the child, although taken into the sky by the demon, was unhurt and now free from all danger and misfortune, the gopīs and cowherd men, headed by Nanda Mahārāja, were extremely happy.

31It is most astonishing that although this innocent child was taken away by the Rākṣasa to be eaten, He has returned without having been killed or even injured. Because this demon was envious, cruel and sinful, he has been killed for his own sinful activities. This is the law of nature. An innocent devotee is always protected by the Supreme Personality of Godhead, and a sinful person is always vanquished for his sinful life.

32Nanda Mahārāja and the others said: We must previously have performed austerities for a very long time, worshiped the Supreme Personality of Godhead, performed pious activities for public life, constructing public roads and wells, and also given charity, as a result of which this boy, although faced with death, has returned to give happiness to His relatives.

33Having seen all these incidents in Bṛhadvana, Nanda Mahārāja became more and more

astonished, and he remembered the words spoken to him by Vasudeva in Mathurā.

34One day mother Yaśodā, having taken Kṛṣṇa up and placed Him on her lap, was feeding Him milk from her breast with maternal affection. The milk was flowing from her breast, and the child was drinking it.

35-36O King Parīkṣit, when the child Kṛṣṇa was almost finished drinking His mother's milk and mother Yaśodā was touching Him and looking at His beautiful, brilliantly smiling face, the baby yawned, and mother Yaśodā saw in His mouth the whole sky, the higher planetary system and the earth, the luminaries in all directions, the sun, the moon, fire, air, the seas, islands, mountains, rivers, forests, and all kinds of living entities, moving and nonmoving.

37When mother Yaśodā saw the whole universe within the mouth of her child, her heart began to throb, and in astonishment she wanted to close her restless eyes.

**SB 10.8: Lord Kṛṣṇa Shows the Universal Form Within His Mouth**

The summary of the Eighth Chapter is as follows. This chapter describes the ceremony of giving a name to Kṛṣṇa. It also describes His crawling, His playing with the cows, and His eating earth and again showing the universal form to His mother.

One day, Vasudeva sent for Garga Muni, the family priest of the *yadu-vaṁśa,* and thus Garga Muni went to the house of Nanda Mahārāja, who received him very well and requested him to give names to Kṛṣṇa and Balarāma. Garga Muni, of course, reminded Nanda Mahārāja that Kaṁsa was looking for the son of Devakī and said that if he performed the ceremony very gorgeously, the ceremony would come to the notice of Kaṁsa, who would then suspect that Kṛṣṇa was the son of Devakī. Nanda Mahārāja therefore requested Garga Muni to perform this ceremony without anyone's knowledge, and Garga Muni did so. Because Balarāma, the son of Rohiṇī, increases the transcendental bliss of others, His name is Rāma, and because of His extraordinary strength, He is called Baladeva. He attracts the Yadus to follow His instructions, and therefore His name is Saṅkarṣaṇa. Kṛṣṇa, the son of Yaśodā, previously appeared in many other colors, such as white, red and yellow, and He had now assumed the color black. Because He was sometimes the son of Vasudeva, His name is Vāsudeva. According to His various activities and qualities, He has many other names. After thus informing Nanda Mahārāja and completing the name-giving ceremony, Garga Muni advised Nanda Mahārāja to protect his son very carefully and then departed.

Śukadeva Gosvāmī next described how the two children crawled, walked on Their small legs, played with the cows and calves, stole butter and other milk products and broke the butter pots. In this way, he described many naughty activities of Kṛṣṇa and Balarāma. The most wonderful of these occurred when Kṛṣṇa's playmates complained to mother Yaśodā that Kṛṣṇa was eating earth. Mother Yaśodā wanted to open Kṛṣṇa's mouth to see the evidence so that she could chastise Him. Sometimes she assumed the position of a chastising mother, and at the next moment she was overwhelmed with maternal love. After describing all this to Mahārāja Parīkṣit, Śukadeva Gosvāmī, at Mahārāja Parīkṣit's request, praised the fortune of mother Yaśodā and Nanda. Nanda and Yaśodā were formerly Droṇa and Dharā, and by the order of Brahmā they came to this earth and had the Supreme Personality of Godhead as their son.

1Śukadeva Gosvāmī said: O Mahārāja Parīkṣit, the priest of the Yadu dynasty, namely Garga Muni, who was highly elevated in austerity and penance, was then inspired by Vasudeva to go see Nanda Mahārāja at his home.

2When Nanda Mahārāja saw Garga Muni present at his home, Nanda was so pleased that he

stood up to receive him with folded hands. Although seeing Garga Muni with his eyes, Nanda Mahārāja could appreciate that Garga Muni was adhokṣaja; that is, he was not an ordinary person seen by material senses.

3When Garga Muni had been properly received as a guest and was very comfortably seated, Nanda Mahārāja submitted with gentle and submissive words: Dear sir, because you are a devotee, you are full in everything. Yet my duty is to serve you. Kindly order me. What can I do for you?

4O my lord, O great devotee, persons like you move from one place to another not for their own interests but for the sake of poor-hearted gṛhasthas [householders]. Otherwise they have no interest in going from one place to another.

5O great saintly person, you have compiled the astrological knowledge by which one can understand past and present unseen things. By the strength of this knowledge, any human being can understand what he has done in his past life and how it affects his present life. This is known to you.

6My lord, you are the best of the brāhmaṇas, especially because you are fully aware of the jyotiḥ-śāstra, the astrological science. Therefore you are naturally the spiritual master of every human being. This being so, since you have kindly come to my house, kindly execute the reformatory activities for my two sons.

7Garga Muni said: My dear Nanda Mahārāja, I am the priestly guide of the Yadu dynasty. This is known everywhere. Therefore, if I perform the purificatory process for your sons, Kaṁsa will consider Them the sons of Devakī.

8-9Kaṁsa is both a great diplomat and a very sinful man. Therefore, having heard from Yoga-māyā, the daughter of Devakī, that the child who will kill him has already been born somewhere else, having heard that the eighth pregnancy of Devakī could not bring forth a female child, and having understood your friendship with Vasudeva, Kaṁsa, upon hearing that the purificatory process has been performed by me, the priest of the Yadu dynasty, may certainly consider all these points and suspect that Kṛṣṇa is the son of Devakī and Vasudeva. Then he might take steps to kill Kṛṣṇa. That would be a catastrophe.

10Nanda Mahārāja said: My dear great sage, if you think that your performing this process of purification will make Kaṁsa suspicious, then secretly chant the Vedic hymns and perform the purifying process of second birth here in the cow shed of my house, without the knowledge of anyone else, even my relatives, for this process of purification is essential.

11Śukadeva Gosvāmī continued: Having thus been especially requested by Nanda Mahārāja to do that which he already desired to do, Garga Muni performed the name-giving ceremony for Kṛṣṇa and Balarāma in a solitary place.

12Garga Muni said: This child, the son of Rohiṇī, will give all happiness to His relatives and friends by His transcendental qualities. Therefore He will be known as Rāma. And because He will manifest extraordinary bodily strength, He will also be known as Bala. Moreover, because He unites two familiesVasudeva's family and the family of Nanda MahārājaHe will be known as Saṅkarṣaṇa.

13Your son Kṛṣṇa appears as an incarnation in every millennium. In the past, He assumed three different colorswhite, red and yellowand now He has appeared in a blackish color. [In another Dvāpara-yuga, He appeared (as Lord Rāmacandra) in the color of śuka, a parrot. All

such incarnations have now assembled in Kṛṣṇa.]

14For many reasons, this beautiful son of yours sometimes appeared previously as the son of Vasudeva. Therefore, those who are learned sometimes call this child Vāsudeva.

15For this son of yours there are many forms and names according to His transcendental qualities and activities. These are known to me, but people in general do not understand them.

16To increase the transcendental bliss of the cowherd men of Gokula, this child will always act auspiciously for you. And by His grace only, you will surpass all difficulties.

17O Nanda Mahārāja, as recorded in history, when there was an irregular, incapable government, Indra having been dethroned, and people were being harassed and disturbed by thieves, this child appeared in order to protect the people and enable them to flourish, and He curbed the rogues and thieves.

18Demons [asuras] cannot harm the demigods, who always have Lord Viṣṇu on their side. Similarly, any person or group attached to Kṛṣṇa is extremely fortunate. Because such persons are very much affectionate toward Kṛṣṇa, they cannot be defeated by demons like the associates of Kaṁsa [or by the internal enemies, the senses].

19In conclusion, therefore, O Nanda Mahārāja, this child of yours is as good as Nārāyaṇa. In His transcendental qualities, opulence, name, fame and influence, He is exactly like Nārāyaṇa. You should all raise this child very carefully and cautiously.

20Śrīla Śukadeva Gosvāmī continued: After Garga Muni, having instructed Nanda Mahārāja about Kṛṣṇa, departed for his own home, Nanda Mahārāja was very pleased and considered himself full of all good fortune.

21After a short time passed, both brothers, Rāma and Kṛṣṇa, began to crawl on the ground of Vraja with the strength of Their hands and knees and thus enjoy Their childhood play.

22When Kṛṣṇa and Balarāma, with the strength of Their legs, crawled in the muddy places created in Vraja by cow dung and cow urine, Their crawling resembled the crawling of serpents, and the sound of Their ankle bells was very charming. Very much pleased by the sound of other people's ankle bells, They used to follow these people as if going to Their mothers, but when They saw that these were other people, They became afraid and returned to Their real mothers, Yaśodā and Rohiṇī.

23Dressed with muddy earth mixed with cow dung and cow urine, the babies looked very beautiful, and when They went to Their mothers, both Yaśodā and Rohiṇī picked Them up with great affection, embraced Them and allowed Them to suck the milk flowing from their breasts. While sucking the breast, the babies smiled, and Their small teeth were visible. Their mothers, upon seeing those beautiful teeth, enjoyed great transcendental bliss.

24Within the house of Nanda Mahārāja, the cowherd ladies would enjoy seeing the pastimes of the babies Rāma and Kṛṣṇa. The babies would catch the ends of the calves' tails, and the calves would drag Them here and there. When the ladies saw these pastimes, they certainly stopped their household activities and laughed and enjoyed the incidents.

25When mother Yaśodā and Rohiṇī were unable to protect the babies from calamities threatened by horned cows, by fire, by animals with claws and teeth such as monkeys, dogs and cats, and by thorns, swords and other weapons on the ground, they were always in anxiety, and their household engagements were disturbed. At that time, they were fully

equipoised in the transcendental ecstasy known as the distress of material affection, for this was aroused within their minds.

26O King Parīkṣit, within a very short time both Rāma and Kṛṣṇa began to walk very easily in Gokula on Their legs, by Their own strength, without the need to crawl.

27Thereafter, Lord Kṛṣṇa, along with Balarāma, began to play with the other children of the cowherd men, thus awakening the transcendental bliss of the cowherd women.

28Observing the very attractive childish restlessness of Kṛṣṇa, all the gopīs in the neighborhood, to hear about Kṛṣṇa's activities again and again, would approach mother Yaśodā and speak to her as follows.

29"Our dear friend Yaśodā, your son sometimes comes to our houses before the milking of the cows and releases the calves, and when the master of the house becomes angry, your son merely smiles. Sometimes He devises some process by which He steals palatable curd, butter and milk, which He then eats and drinks. When the monkeys assemble, He divides it with them, and when the monkeys have their bellies so full that they won't take more, He breaks the pots. Sometimes, if He gets no opportunity to steal butter or milk from a house, He will be angry at the householders, and for His revenge He will agitate the small children by pinching them. Then, when the children begin crying, Kṛṣṇa will go away.

30"When the milk and curd are kept high on a swing hanging from the ceiling and Kṛṣṇa and Balarāma cannot reach it, They arrange to reach it by piling up various planks and turning upside down the mortar for grinding spices. Being quite aware of the contents of a pot, They poke holes in it. While the elderly gopīs go about their household affairs, Kṛṣṇa and Balarāma sometimes go into a dark room, brightening the place with the valuable jewels and ornaments on Their bodies and taking advantage of this light by stealing.

31"When Kṛṣṇa is caught in His naughty activities, the master of the house will say to Him, 'Oh, You are a thief,' and artificially express anger at Kṛṣṇa. Kṛṣṇa will then reply, 'I am not a thief. You are a thief.' Sometimes, being angry, Kṛṣṇa passes urine and stool in a neat, clean place in our houses. But now, our dear friend Yaśodā, this expert thief is sitting before you like a very good boy." Sometimes all the gopīs would look at Kṛṣṇa sitting there, His eyes fearful so that His mother would not chastise Him, and when they saw Kṛṣṇa's beautiful face, instead of chastising Him they would simply look upon His face and enjoy transcendental bliss. Mother Yaśodā would mildly smile at all this fun, and she would not want to chastise her blessed transcendental child.

32One day while Kṛṣṇa was playing with His small playmates, including Balarāma and other sons of the gopas, all His friends came together and lodged a complaint to mother Yaśodā. "Mother," they submitted, "Kṛṣṇa has eaten earth."

33Upon hearing this from Kṛṣṇa's playmates, mother Yaśodā, who was always full of anxiety over Kṛṣṇa's welfare, picked Kṛṣṇa up with her hands to look into His mouth and chastise Him. Her eyes fearful, she spoke to her son as follows.

34Dear Kṛṣṇa, why are You so restless that You have eaten dirt in a solitary place? This complaint has been lodged against You by all Your playmates, including Your elder brother, Balarāma. How is this?

35Lord Śrī Kṛṣṇa replied: My dear mother, I have never eaten dirt. All My friends complaining against Me are liars. If you think they are being truthful, you can directly look into My mouth

and examine it.

36Mother Yaśodā challenged Kṛṣṇa, "If You have not eaten earth, then open Your mouth wide." When challenged by His mother in this way, Kṛṣṇa, the son of Nanda Mahārāja and Yaśodā, to exhibit pastimes like a human child, opened His mouth. Although the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, who is full of all opulences, did not disturb His mother's parental affection, His opulence was automatically displayed, for Kṛṣṇa's opulence is never lost at any stage, but is manifest at the proper time.

37-39When Kṛṣṇa opened His mouth wide by the order of mother Yaśodā, she saw within His mouth all moving and nonmoving entities, outer space, and all directions, along with mountains, islands, oceans, the surface of the earth, the blowing wind, fire, the moon and the stars. She saw the planetary systems, water, light, air, sky, and creation by transformation of ahaṅkāra. She also saw the senses, the mind, sense perception, and the three qualities, goodness, passion and ignorance. She saw the time allotted for the living entities, she saw natural instinct and the reactions of karma, and she saw desires and different varieties of bodies, moving and nonmoving. Seeing all these aspects of the cosmic manifestation, along with herself and Vṛndāvana-dhāma, she became doubtful and fearful of her son's nature.

40[Mother Yaśodā began to argue within herself:] Is this a dream, or is it an illusory creation by the external energy? Has this been manifested by my own intelligence, or is it some mystic power of my child?

41Therefore let me surrender unto the Supreme Personality of Godhead and offer my obeisances unto Him, who is beyond the conception of human speculation, the mind, activities, words and arguments, who is the original cause of this cosmic manifestation, by whom the entire cosmos is maintained, and by whom we can conceive of its existence. Let me simply offer my obeisances, for He is beyond my contemplation, speculation and meditation. He is beyond all of my material activities.

42It is by the influence of the Supreme Lord's māyā that I am wrongly thinking that Nanda Mahārāja is my husband, that Kṛṣṇa is my son, and that because I am the queen of Nanda Mahārāja, all the wealth of cows and calves are my possessions and all the cowherd men and their wives are my subjects. Actually, I also am eternally subordinate to the Supreme Lord. He is my ultimate shelter.

43Mother Yaśodā, by the grace of the Lord, could understand the real truth. But then again, the supreme master, by the influence of the internal potency, Yoga-māyā, inspired her to become absorbed in intense maternal affection for her son.

44Immediately forgetting Yoga-māyā's illusion that Kṛṣṇa had shown the universal form within His mouth, mother Yaśodā took her son on her lap as before, feeling increased affection in her heart for her transcendental child.

45The glories of the Supreme Personality of Godhead are studied through the three Vedas, the Upaniṣads, the literature of Sāṅkhya-yoga, and other Vaiṣṇava literature, yet mother Yaśodā considered that Supreme Person her ordinary child.

46Having heard of the great fortune of mother Yaśodā, Parīkṣit Mahārāja inquired from Śukadeva Gosvāmī: O learned brāhmaṇa, mother Yaśodā's breast milk was sucked by the Supreme Personality of Godhead. What past auspicious activities did she and Nanda Mahārāja perform to achieve such perfection in ecstatic love?

47Although Kṛṣṇa was so pleased with Vasudeva and Devakī that He descended as their son, they could not enjoy Kṛṣṇa's magnanimous childhood pastimes, which are so great that simply chanting about them vanquishes the contamination of the material world. Nanda Mahārāja and Yaśodā, however, enjoyed these pastimes fully, and therefore their position is always better than that of Vasudeva and Devakī.

48Śukadeva Gosvāmī said: To follow the orders of Lord Brahmā, Droṇa, the best of the Vasus, along with his wife, Dharā, spoke to Lord Brahmā in this way.

49Droṇa and Dharā said: Please permit us to be born on the planet earth so that after our appearance, the Supreme Lord, the Personality of Godhead, the supreme controller and master of all planets, will also appear and spread devotional service, the ultimate goal of life, so that those born in this material world may very easily be delivered from the miserable condition of materialistic life by accepting this devotional service.

50When Brahmā said, "Yes, let it be so," the most fortune Droṇa, who was equal to Bhagavān, appeared in Vrajapura, Vṛndāvana, as the most famous Nanda Mahārāja, and his wife, Dharā, appeared as mother Yaśodā.

51Thereafter, O Mahārāja Parīkṣit, best of the Bhāratas, when the Supreme Personality of Godhead became the son of Nanda Mahārāja and Yaśodā, they maintained continuous, unswerving devotional love in parental affection. And in their association, all the other inhabitants of Vṛndāvana, the gopas and gopīs, developed the culture of kṛṣṇa-bhakti.

52Thus the Supreme Personality, Kṛṣṇa, along with Balarāma, lived in Vrajabhūmi, Vṛndāvana, just to substantiate the benediction of Brahmā. By exhibiting different pastimes in His childhood, He increased the transcendental pleasure of Nanda and the other inhabitants of Vṛndāvana.

## SB 10.9: Mother Yaśodā Binds Lord Kṛṣṇa

While mother Yaśodā was allowing Kṛṣṇa to drink her breast milk, she was forced to stop because she saw the milk pan boiling over on the oven. The maidservants being engaged in other business, she stopped allowing Kṛṣṇa to drink from her breast and immediately attended to the overflowing milk pan. Kṛṣṇa became very angry because of His mother's behavior and devised a means of breaking the pots of yogurt. Because He created this disturbance, mother Yaśodā decided to bind Him. These incidents are described in this chapter.

One day, the maidservants being engaged in other work, mother Yaśodā was churning the yogurt into butter herself, and in the meantime Kṛṣṇa came and requested her to allow Him to suck her breast milk. Of course, mother Yaśodā immediately allowed Him to do so, but then she saw that the hot milk on the oven was boiling over, and therefore she immediately stopped allowing Kṛṣṇa to drink the milk of her breast and went to stop the milk on the oven from overflowing. Kṛṣṇa, however, having been interrupted in His business of sucking the breast, was very angry. He took a piece of stone, broke the churning pot and entered a room, where He began to eat the freshly churned butter. When mother Yaśodā, after attending to the overflowing milk, returned and saw the pot broken, she could understand that this was the work of Kṛṣṇa, and therefore she went to search for Him. When she entered the room, she saw Kṛṣṇa standing on the *ulūkhala,* a large mortar for grinding spices. Having turned the mortar upside down, He was stealing butter hanging from a swing and was distributing the butter to the monkeys. As soon as Kṛṣṇa saw that His mother had come, He immediately began to run away, and mother Yaśodā began to follow Him. After going some distance, mother Yaśodā was

able to catch Kṛṣṇa, who because of His offense was crying. Mother Yaśodā, of course, threatened to punish Kṛṣṇa if He acted that way again, and she decided to bind Him with rope. Unfortunately, when the time came to knot the rope, the rope with which she wanted to bind Him was short by a distance equal to the width of two fingers. When she made the rope longer by adding another rope, she again saw that it was short by two fingers. Again and again she tried, and again and again she found the rope too short by two fingers. Thus she became very tired, and Kṛṣṇa, seeing His affectionate mother so tired, allowed Himself to be bound. Now, being compassionate, He did not show her His unlimited potency. After mother Yaśodā bound Kṛṣṇa and became engaged in other household affairs, Kṛṣṇa observed two *yamala-arjuna* trees, which were actually Nalakūvara and Maṇigrīva, two sons of Kuvera who had been condemned by Nārada Muni to become trees. Kṛṣṇa, by His mercy, now began to proceed toward the trees to fulfill the desire of Nārada Muni.

1-2ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: One day when mother Yaśodā saw that all the maidservants were engaged in other household affairs, she personally began to churn the yogurt. While churning, she remembered the childish activities of Kṛṣṇa, and in her own way she composed songs and enjoyed singing to herself about all those activities.

3Dressed in a saffron-yellow sari, with a belt tied about her full hips, mother Yaśodā pulled on the churning rope, laboring considerably, her bangles and earrings moving and vibrating and her whole body shaking. Because of her intense love for her child, her breasts were wet with milk. Her face, with its very beautiful eyebrows, was wet with perspiration, and mālatī flowers were falling from her hair.

4While mother Yaśodā was churning butter, Lord Kṛṣṇa, desiring to drink the milk of her breast, appeared before her, and in order to increase her transcendental pleasure, He caught hold of the churning rod and began to prevent her from churning.

5Mother Yaśodā then embraced Kṛṣṇa, allowed Him to sit down on her lap, and began to look upon the face of the Lord with great love and affection. Because of her intense affection, milk was flowing from her breast. But when she saw that the milk pan on the oven was boiling over, she immediately left her son to take care of the overflowing milk, although the child was not yet fully satisfied with drinking the milk of His mother's breast.

6Being very angry and biting His reddish lips with His teeth, Kṛṣṇa, with false tears in His eyes, broke the container of yogurt with a piece of stone. Then He entered a room and began to eat the freshly churned butter in a solitary place.

7Mother Yaśodā, after taking down the hot milk from the oven, returned to the churning spot, and when she saw that the container of yogurt was broken and that Kṛṣṇa was not present, she concluded that the breaking of the pot was the work of Kṛṣṇa.

8Kṛṣṇa, at that time, was sitting on an upside-down wooden mortar for grinding spices and was distributing milk preparations such as yogurt and butter to the monkeys as He liked. Because of having stolen, He was looking all around with great anxiety, suspecting that He might be chastised by His mother. Mother Yaśodā, upon seeing Him, very cautiously approached Him from behind.

9When Lord Śrī Kṛṣṇa saw His mother, stick in hand, He very quickly got down from the top of the mortar and began to flee as if very much afraid. Although yogīs try to capture Him as Paramātmā by meditation, desiring to enter into the effulgence of the Lord with great austerities and penances, they fail to reach Him. But mother Yaśodā, thinking that same Personality of Godhead, Kṛṣṇa, to be her son, began following Kṛṣṇa to catch Him.

10While following Kṛṣṇa, mother Yaśodā, her thin waist overburdened by her heavy breasts, naturally had to reduce her speed. Because of following Kṛṣṇa very swiftly, her hair became loose, and the flowers in her hair were falling after her. Yet she did not fail to capture her son, Kṛṣṇa.

11When caught by mother Yaśodā, Kṛṣṇa became more and more afraid and admitted to being an offender. As she looked upon Him, she saw that He was crying, His tears mixing with the black ointment around His eyes, and as He rubbed His eyes with His hands, He smeared the ointment all over His face. Mother Yaśodā, catching her beautiful son by the hand, mildly began to chastise Him.

12Mother Yaśodā was always overwhelmed by intense love for Kṛṣṇa, not knowing who Kṛṣṇa was or how powerful He was. Because of maternal affection for Kṛṣṇa, she never even cared to know who He was. Therefore, when she saw that her son had become excessively afraid, she threw the stick away and desired to bind Him so that He would not commit any further naughty activities.

13-14The Supreme Personality of Godhead has no beginning and no end, no exterior and no interior, no front and no rear. In other words, He is all-pervading. Because He is not under the influence of the element of time, for Him there is no difference between past, present and future; He exists in His own transcendental form at all times. Being absolute, beyond relativity, He is free from distinctions between cause and effect, although He is the cause and effect of everything. That unmanifested person, who is beyond the perception of the senses, had now appeared as a human child, and mother Yaśodā, considering Him her own ordinary child, bound Him to the wooden mortar with a rope.

15When mother Yaśodā was trying to bind the offending child, she saw that the binding rope was short by a distance the width of two fingers. Thus she brought another rope to join to it.

16This new rope also was short by a measurement of two fingers, and when another rope was joined to it, it was still two fingers too short. As many ropes as she joined, all of them failed; their shortness could not be overcome.

17Thus mother Yaśodā joined whatever ropes were available in the household, but still she failed in her attempt to bind Kṛṣṇa. Mother Yaśodā's friends, the elderly gopīs in the neighborhood, were smiling and enjoying the fun. Similarly, mother Yaśodā, although laboring in that way, was also smiling. All of them were struck with wonder.

18Because of mother Yaśodā's hard labor, her whole body became covered with perspiration, and the flowers and comb were falling from her hair. When child Kṛṣṇa saw His mother thus fatigued, He became merciful to her and agreed to be bound.

19O Mahārāja Parīkṣit, this entire universe, with its great, exalted demigods like Lord Śiva, Lord Brahmā and Lord Indra, is under the control of the Supreme Personality of Godhead. Yet the Supreme Lord has one transcendental attribute: He comes under the control of His devotees. This was now exhibited by Kṛṣṇa in this pastime.

20Neither Lord Brahmā, nor Lord Śiva, nor even the goddess of fortune, who is always the better half of the Supreme Lord, can obtain from the Supreme Personality of Godhead, the deliverer from this material world, such mercy as received by mother Yaśodā.

21The Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, the son of mother Yaśodā, is accessible to devotees engaged in spontaneous loving service, but He is not as easily accessible to mental

speculators, to those striving for self-realization by severe austerities and penances, or to those who consider the body the same as the self.

22While mother Yaśodā was very busy with household affairs, the Supreme Lord, Kṛṣṇa, observed twin trees known as yamala-arjuna, which in a former millennium had been the demigod sons of Kuvera.

23In their former birth, these two sons, known as Nalakūvara and Maṇigrīva, were extremely opulent and fortunate. But because of pride and false prestige, they did not care about anyone, and thus Nārada Muni cursed them to become trees.

**SB 10.10: The Deliverance of the Yamala-arjuna Trees**

This chapter describes how Kṛṣṇa broke the twin *arjuna* trees, from which Nalakūvara and Maṇigrīva, the sons of Kuvera, then came out.

Nalakūvara and Maṇigrīva were great devotees of Lord Śiva, but because of material opulence they became so extravagant and senseless that one day they were enjoying with naked girls in a lake and shamelessly walking here and there. Suddenly Nārada Muni passed by, but they were so maddened by their wealth and false prestige that even though they saw Nārada Muni present, they remained naked and were not even ashamed. In other words, because of opulence and false prestige, they lost their sense of common decency. Of course, it is the nature of the material qualities that when one becomes very much opulent in terms of wealth and a prestigious position, one loses one's sense of etiquette and does not care about anyone, even a sage like Nārada Muni. For such bewildered persons (*ahaṅkāra-vimūḍhātmā*), who especially deride devotees, the proper punishment is to be again stricken with poverty. The Vedic rules and regulations prescribe how to control the false sense of prestige by the practice of *yama, niyama* and so on (*tapasā brahmacaryeṇa śamena ca damena ca*). A poor man can be convinced very easily that the prestige of an opulent position in this material world is temporary, but a rich man cannot. Therefore Nārada Muni set an example by cursing these two persons, Nalakūvara and Maṇigrīva, to become dull and unconscious like trees. This was a fit punishment. But because Kṛṣṇa is always merciful, even though they were punished they were fortunate enough to see the Supreme Personality of Godhead face to face. Therefore the punishment given by Vaiṣṇavas is not at all punishment; rather, it is another kind of mercy. By the curse of the *devarṣi,* Nalakūvara and Maṇigrīva became twin *arjuna* trees and remained in the courtyard of mother Yaśodā and Nanda Mahārāja, waiting for the opportunity to see Kṛṣṇa directly. Lord Kṛṣṇa, by the desire of His devotee, uprooted these *yamala-arjuna* trees, and when Nalakūvara and Maṇigrīva were thus delivered by Kṛṣṇa after one hundred years of the *devas,* their old consciousness revived, and they offered Kṛṣṇa prayers suitable to be offered by demigods. Having thus gotten the opportunity to see Kṛṣṇa face to face, they understood how merciful Nārada Muni was, and therefore they expressed their indebtedness to him and thanked him. Then, after circumambulating the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, they departed for their respective abodes.

1King Parīkṣit inquired from Śukadeva Gosvāmī: O great and powerful saint, what was the cause of Nalakūvara's and Maṇigrīva's having been cursed by Nārada Muni? What did they do that was so abominable that even Nārada, the great sage, became angry at them? Kindly describe this to me.

2-3Śukadeva Gosvāmī said: O King Parīkṣit, because the two sons of Kuvera had been elevated to the association of Lord Śiva, of which they were very much proud, they were allowed to wander in a garden attached to Kailāsa Hill, on the bank of the Mandākinī River. Taking

advantage of this, they used to drink a kind of liquor called Vāruṇī. Accompanied by women singing after them, they would wander in that garden of flowers, their eyes always rolling in intoxication.

4Within the waters of the Mandākinī Ganges, which were crowded with gardens of lotus flowers, the two sons of Kuvera would enjoy young girls, just like two male elephants enjoying in the water with female elephants.

5O Mahārāja Parīkṣit, by some auspicious opportunity for the two boys, the great saint Devarṣi Nārada once appeared there by chance. Seeing them intoxicated, with rolling eyes, he could understand their situation.

6Upon seeing Nārada, the naked young girls of the demigods were very much ashamed. Afraid of being cursed, they covered their bodies with their garments. But the two sons of Kuvera did not do so; instead, not caring about Nārada, they remained naked.

7Seeing the two sons of the demigods naked and intoxicated by opulence and false prestige, Devarṣi Nārada, in order to show them special mercy, desired to give them a special curse. Thus he spoke as follows.

8Nārada Muni said: Among all the attractions of material enjoyment, the attraction of riches bewilders one's intelligence more than having beautiful bodily features, taking birth in an aristocratic family, and being learned. When one is uneducated but falsely puffed up by wealth, the result is that one engages his wealth in enjoying wine, women and gambling.

9Unable to control their senses, rascals who are falsely proud of their riches or their birth in aristocratic families are so cruel that to maintain their perishable bodies, which they think will never grow old or die, they kill poor animals without mercy. Sometimes they kill animals merely to enjoy an excursion.

10While living one may be proud of one's body, thinking oneself a very big man, minister, president or even demigod, but whatever one may be, after death this body will turn either into worms, into stool or into ashes. If one kills poor animals to satisfy the temporary whims of this body, one does not know that he will suffer in his next birth, for such a sinful miscreant must go to hell and suffer the results of his actions.

11While alive, does this body belong to its employer, to the self, to the father, the mother, or the mother's father? Does it belong to the person who takes it away by force, to the slave master who purchases it, or to the sons who burn it in the fire? Or, if the body is not burned, does it belong to the dogs that eat it? Among the many possible claimants, who is the rightful claimant? Not to ascertain this but instead to maintain the body by sinful activities is not good.

12This body, after all, is produced by the unmanifested nature and again annihilated and merged in the natural elements. Therefore, it is the common property of everyone. Under the circumstances, who but a rascal claims this property as his own and while maintaining it commits such sinful activities as killing animals just to satisfy his whims? Unless one is a rascal, one cannot commit such sinful activities.

13Atheistic fools and rascals who are very much proud of wealth fail to see things as they are. Therefore, returning them to poverty is the proper ointment for their eyes so they may see things as they are. At least a poverty-stricken man can realize how painful poverty is, and therefore he will not want others to be in a painful condition like his own.

14By seeing their faces, one whose body has been pricked by pins can understand the pain of

others who are pinpricked. Realizing that this pain is the same for everyone, he does not want others to suffer in this way. But one who has never been pricked by pins cannot understand this pain.

15A poverty-stricken man must automatically undergo austerities and penances because he does not have the wealth to possess anything. Thus his false prestige is vanquished. Always in need of food, shelter and clothing, he must be satisfied with what is obtained by the mercy of providence. Undergoing such compulsory austerities is good for him because this purifies him and completely frees him from false ego.

16Always hungry, longing for sufficient food, a poverty-stricken man gradually becomes weaker and weaker. Having no extra potency, his senses are automatically pacified. A poverty-stricken man, therefore, is unable to perform harmful, envious activities. In other words, such a man automatically gains the results of the austerities and penances adopted voluntarily by saintly persons.

17Saintly persons may freely associate with those who are poverty-stricken, but not with those who are rich. A poverty-stricken man, by association with saintly persons, very soon becomes uninterested in material desires, and the dirty things within the core of his heart are cleansed away.

18Saintly persons [sādhus] think of Kṛṣṇa twenty-four hours a day. They have no other interest. Why should people neglect the association of such exalted spiritual personalities and try to associate with materialists, taking shelter of nondevotees, most of whom are proud and rich?

19Therefore, since these two persons, drunk with the liquor named Vāruṇī, or Mādhvī, and unable to control their senses, have been blinded by the pride of celestial opulence and have become attached to women, I shall relieve them of their false prestige.

20-22These two young men, Nalakūvara and Maṇigrīva, are by fortune the sons of the great demigod Kuvera, but because of false prestige and madness after drinking liquor, they are so fallen that they are naked but cannot understand that they are. Therefore, because they are living like trees (for trees are naked but are not conscious), these two young men should receive the bodies of trees. This will be proper punishment. Nonetheless, after they become trees and until they are released, by my mercy they will have remembrance of their past sinful activities. Moreover, by my special favor, after the expiry of one hundred years by the measurement of the demigods, they will be able to see the Supreme Personality of Godhead, Vāsudeva, face to face, and thus revive their real position as devotees.

23Śukadeva Gosvāmī continued: Having thus spoken, the great saint Devarṣi Nārada returned to his āśrama, known as Nārāyaṇa-āśrama, and Nalakūvara and Maṇigrīva became twin arjuna trees.

24The Supreme Personality of Godhead, Śrī Kṛṣṇa, to fulfill the truthfulness of the words of the greatest devotee, Nārada, slowly went to that spot where the twin arjuna trees were standing.

25“Although these two young men are the sons of the very rich Kuvera and I have nothing to do with them, Devarṣi Nārada is My very dear and affectionate devotee, and therefore because he wanted Me to come face to face with them, I must do so for their deliverance.”

26Having thus spoken, Kṛṣṇa soon entered between the two arjuna trees, and thus the big mortar to which He was bound turned crosswise and stuck between them.

27By dragging behind Him with great force the wooden mortar tied to His belly, the boy Kṛṣṇa

uprooted the two trees. By the great strength of the Supreme Person, the two trees, with their trunks, leaves and branches, trembled severely and fell to the ground with a great crash.

28Thereafter, in that very place where the two arjuna trees had fallen, two great, perfect personalities, who appeared like fire personified, came out of the two trees. The effulgence of their beauty illuminating all directions, with bowed heads they offered obeisances to Kṛṣṇa, and with hands folded they spoke the following words.

29O Lord Kṛṣṇa, Lord Kṛṣṇa, Your opulent mysticism is inconceivable. You are the supreme, original person, the cause of all causes, immediate and remote, and You are beyond this material creation. Learned brāhmaṇas know [on the basis of the Vedic statement sarvaṁ khalv idaṁ brahma] that You are everything and that this cosmic manifestation, in its gross and subtle aspects, is Your form.

30-31You are the Supreme Personality of Godhead, the controller of everything. The body, life, ego and senses of every living entity are Your own self. You are the Supreme Person, Viṣṇu, the imperishable controller. You are the time factor, the immediate cause, and You are material nature, consisting of the three modes passion, goodness and ignorance. You are the original cause of this material manifestation. You are the Supersoul, and therefore You know everything within the core of the heart of every living entity.

32O Lord, You exist before the creation. Therefore, who, trapped by a body of material qualities in this material world, can understand You?

33O Lord, whose glories are covered by Your own energy, You are the Supreme Personality of Godhead. You are Saṅkarṣaṇa, the origin of creation, and You are Vāsudeva, the origin of the caturvyūha. Because You are everything and are therefore the Supreme Brahman, we simply offer our respectful obeisances unto You.

34-35Appearing in bodies like those of an ordinary fish, tortoise and hog, You exhibit activities impossible for such creatures to performextraordinary, incomparable, transcendental activities of unlimited power and strength. These bodies of Yours, therefore, are not made of material elements, but are incarnations of Your Supreme Personality. You are the same Supreme Personality of Godhead, who have now appeared, with full potency, for the benefit of all living entities within this material world.

36O supremely auspicious, we offer our respectful obeisances unto You, who are the supreme good. O most famous descendant and controller of the Yadu dynasty, O son of Vasudeva, O most peaceful, let us offer our obeisances unto Your lotus feet.

37O supreme form, we are always servants of Your servants, especially of Nārada Muni. Now give us permission to leave for our home. It is by the grace and mercy of Nārada Muni that we have been able to see You face to face.

38Henceforward, may all our words describe Your pastimes, may our ears engage in aural reception of Your glories, may our hands, legs and other senses engage in actions pleasing to You, and may our minds always think of Your lotus feet. May our heads offer our obeisances to everything within this world, because all things are also Your different forms, and may our eyes see the forms of Vaiṣṇavas, who are nondifferent from You.

39Śukadeva Gosvāmī continued: The two young demigods thus offered prayers to the Supreme Personality of Godhead. Although Śrī Kṛṣṇa, the Supreme Godhead, is the master of all and was certainly Gokuleśvara, the master of Gokula, He was bound to the wooden mortar by the ropes of the gopīs, and therefore, smiling widely, He spoke to the sons of Kuvera the

following words.

40The Supreme Personality of Godhead said: The great saint Nārada Muni is very merciful. By his curse, he showed the greatest favor to both of you, who were mad after material opulence and who had thus become blind. Although you fell from the higher planet Svargaloka and became trees, you were most favored by him. I knew of all these incidents from the very beginning.

41When one is face to face with the sun, there is no longer darkness for one's eyes. Similarly, when one is face to face with a sādhu, a devotee, who is fully determined and surrendered to the Supreme Personality of Godhead, one will no longer be subject to material bondage.

42O Nalakūvara and Maṇigrīva, now you may both return home. Since you desire to be always absorbed in My devotional service, your desire to develop love and affection for Me will be fulfilled, and now you will never fall from that platform.

43Śukadeva Gosvāmī said: The Supreme Personality of Godhead having spoken to the two demigods in this way, they circumambulated the Lord, who was bound to the wooden mortar, and offered obeisances to Him. After taking the permission of Lord Kṛṣṇa, they returned to their respective homes.

**SB 10.11: The Childhood Pastimes of Kṛṣṇa**

This chapter describes how the inhabitants of Gokula left Gokula and went to Vṛndāvana and how Kṛṣṇa killed Vatsāsura and Bakāsura.

When the *yamala-arjuna* trees fell, they made a tremendous sound, like that of falling thunderbolts. Being surprised, Kṛṣṇa's father, Nanda, and the other elderly inhabitants of Gokula went to the spot, where they saw the fallen trees and Kṛṣṇa standing between them, bound to the *ulūkhala,* the wooden mortar. They could find no cause for the trees' having fallen and Kṛṣṇa's being there. They thought this might be the work of some other *asura* who had met Kṛṣṇa on this spot, and they inquired from the playmates of Kṛṣṇa about how the whole incident had taken place. The children properly described how everything had happened, but the elderly persons could not believe the story. Some of them, however, thought that it might be true, since they had already seen many wonderful incidents in connection with Kṛṣṇa. Anyway, Nanda Mahārāja immediately released Kṛṣṇa from the ropes.

In this way, Kṛṣṇa, at every day and every moment, displayed wonderful incidents to increase the parental affection of Nanda Mahārāja and Yaśodā, who thus felt both surprise and joy. The breaking of the *yamala-arjunas* was one of these wonderful pastimes.

One day a fruit vendor approached Nanda Mahārāja's house, and Kṛṣṇa gathered some food grains with His little palms and went to the vendor to exchange the grains for fruit. On the way, almost all the grains fell from His palms, only one or two grains remaining, but the fruit vendor, out of full affection, accepted these grains in exchange for as much fruit as Kṛṣṇa could take. As soon as she did this, her basket became filled with gold and jewels.

Thereafter, all the elderly *gopas* decided to leave Gokula because they saw that in Gokula there was always some disturbance. They decided to go to Vṛndāvana, Vraja-dhāma, and the next day they all departed. In Vṛndāvana, both Kṛṣṇa and Balarāma, after finishing Their childhood pastimes, began to take charge of the calves and send them to the pasturing grounds (*go-caraṇa*). During this time, a demon named Vatsāsura entered among the calves and was killed, and another *asura,* in the shape of a big duck, was also killed. The playmates of Kṛṣṇa narrated

all these stories to their mothers. The mothers could not believe their children, Kṛṣṇa's playmates, but because of full affection they enjoyed these narrations of Kṛṣṇa's activities.

1Śukadeva Gosvāmī continued: O Mahārāja Parīkṣit, when the yamala-arjuna trees fell, all the cowherd men in the neighborhood, hearing the fierce sound and fearing thunderbolts, went to the spot.

2There they saw the fallen yamala-arjuna trees on the ground, but they were bewildered because even though they could directly perceive that the trees had fallen, they could not trace out the cause for their having done so.

3Kṛṣṇa was bound by the rope to the ulūkhala, the mortar, which He was dragging. But how could He have pulled down the trees? Who had actually done it? Where was the source for this incident? Considering all these astounding things, the cowherd men were doubtful and bewildered.

4Then all the cowherd boys said: It is Kṛṣṇa who has done this. When He was in between the two trees, the mortar fell crosswise. Kṛṣṇa dragged the mortar, and the two trees fell down. After that, two beautiful men came out of the trees. We have seen this with our own eyes.

5Because of intense paternal affection, the cowherd men, headed by Nanda, could not believe that Kṛṣṇa could have uprooted the trees in such a wonderful way. Therefore they could not put their faith in the words of the boys. Some of the men, however, were in doubt. "Since Kṛṣṇa was predicted to equal Nārāyaṇa," they thought, "it might be that He could have done it."

6When Nanda Mahārāja saw his own son bound with ropes to the wooden mortar and dragging it, he smiled and released Kṛṣṇa from His bonds.

7The gopīs would say, "If You dance, my dear Kṛṣṇa, then I shall give You half a sweetmeat." By saying these words or by clapping their hands, all the gopīs encouraged Kṛṣṇa in different ways. At such times, although He was the supremely powerful Personality of Godhead, He would smile and dance according to their desire, as if He were a wooden doll in their hands. Sometimes He would sing very loudly, at their bidding. In this way, Kṛṣṇa came completely under the control of the gopīs.

8Sometimes mother Yaśodā and her gopī friends would tell Kṛṣṇa, "Bring this article" or "Bring that article." Sometimes they would order Him to bring a wooden plank, wooden shoes or a wooden measuring pot, and Kṛṣṇa, when thus ordered by the mothers, would try to bring them. Sometimes, however, as if unable to raise these things, He would touch them and stand there. Just to invite the pleasure of His relatives, He would strike His body with His arms to show that He had sufficient strength.

9To pure devotees throughout the world who could understand His activities, the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, exhibited how much He can be subdued by His devotees, His servants. In this way He increased the pleasure of the Vrajavāsīs by His childhood activities.

10Once a woman selling fruit was calling, "O inhabitants of Vrajabhūmi, if you want to purchase some fruits, come here!" Upon hearing this, Kṛṣṇa immediately took some grains and went to barter as if He needed some fruits.

11While Kṛṣṇa was going to the fruit vendor very hastily, most of the grains He was holding fell. Nonetheless, the fruit vendor filled Kṛṣṇa's hands with fruits, and her fruit basket was immediately filled with jewels and gold.

12Once, after the uprooting of the yamala-arjuna trees, Rohiṇīdevī went to call Rāma and Kṛṣṇa, who had both gone to the riverside and were playing with the other boys with deep attention.

13Because of being too attached to playing with the other boys, Kṛṣṇa and Balarāma did not return upon being called by Rohiṇī. Therefore Rohiṇī sent mother Yaśodā to call Them back, because mother Yaśodā was more affectionate to Kṛṣṇa and Balarāma.

14Kṛṣṇa and Balarāma, being attached to Their play, were playing with the other boys although it was very late. Therefore mother Yaśodā called Them back for lunch. Because of her ecstatic love and affection for Kṛṣṇa and Balarāma, milk flowed from her breasts.

15Mother Yaśodā said: My dear son Kṛṣṇa, lotus-eyed Kṛṣṇa, come here and drink the milk of my breast. My dear darling, You must be very tired because of hunger and the fatigue of playing so long. There is no need to play any more.

16My dear Baladeva, best of our family, please come immediately with Your younger brother, Kṛṣṇa. You both ate in the morning, and now You ought to eat something more.

17Nanda Mahārāja, the King of Vraja, is now waiting to eat. O my dear son Balarāma, he is waiting for You. Therefore, come back to please us. All the boys playing with You and Kṛṣṇa should now go to their homes.

18Mother Yaśodā further told Kṛṣṇa: My dear son, because of playing all day, Your body has become covered with dust and sand. Therefore, come back, take Your bath and cleanse Yourself. Today the moon is conjoined with the auspicious star of Your birth. Therefore, be pure and give cows in charity to the brāhmaṇas.

19Just see how all Your playmates of Your own age have been cleansed and decorated with beautiful ornaments by their mothers. You should come here, and after You have taken Your bath, eaten Your lunch and been decorated with ornaments, You may play with Your friends again.

20My dear Mahārāja Parīkṣit, because of intense love and affection, mother Yaśodā, Kṛṣṇa's mother, considered Kṛṣṇa, who was at the peak of all opulences, to be her own son. Thus she took Kṛṣṇa by the hand, along with Balarāma, and brought Them home, where she performed her duties by fully bathing Them, dressing Them and feeding Them.

21ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: Then one time, having seen the great disturbances in Bṛhadvana, all the elderly persons among the cowherd men, headed by Nanda Mahārāja, assembled and began to consider what to do to stop the continuous disturbing situations in Vraja.

22At this meeting of all the inhabitants of Gokula, a cowherd man named Upananda, who was the most mature in age and knowledge and was very experienced according to time, circumstances and country, made this suggestion for the benefit of Rāma and Kṛṣṇa.

23He said: My dear friends the cowherd men, in order to do good to this place, Gokula, we should leave it, because so many disturbances are always occurring here, just for the purpose of killing Rāma and Kṛṣṇa.

24The child Kṛṣṇa, simply by the mercy of the Supreme Personality of Godhead, was somehow or other rescued from the hands of the Rākṣasī Pūtanā, who was determined to kill Him. Then, again by the mercy of the Supreme Godhead, the handcart missed falling upon the child.

25Then again, the demon Tṛṇāvarta, in the form of a whirlwind, took the child away into the dangerous sky to kill Him, but the demon fell down onto a slab of stone. In that case also, by the mercy of Lord Viṣṇu or His associates, the child was saved.

26Even the other day, neither Kṛṣṇa nor any of His playmates died from the falling of the two trees, although the children were near the trees or even between them. This also is to be considered the mercy of the Supreme Personality of Godhead.

27All these incidents are being caused by some unknown demon. Before he comes here to create another disturbance, it is our duty to go somewhere else with the boys until there are no more disturbances.

28Between Nandeśvara and Mahāvana is a place named Vṛndāvana. This place is very suitable because it is lush with grass, plants and creepers for the cows and other animals. It has nice gardens and tall mountains and is full of facilities for the happiness of all the gopas and gopīs and our animals.

29Therefore, let us immediately go today. There is no need to wait any further. If you agree to my proposal, let us prepare all the bullock carts and put the cows in front of us, and let us go there.

30Upon hearing this advice from Upananda, the cowherd men unanimously agreed. "Very nice," they said. "Very nice." Thus they sorted out their household affairs, placed their clothing and other paraphernalia on the carts, and immediately started for Vṛndāvana.

31-32Keeping all the old men, women, children and household paraphernalia on the bullock carts and keeping all the cows in front, the cowherd men picked up their bows and arrows with great care and sounded bugles made of horn. O King Parīkṣit, in this way, with bugles vibrating all around, the cowherd men, accompanied by their priests, began their journey.

33The cowherd women, riding on the bullock carts, were dressed very nicely with excellent garments, and their bodies, especially their breasts, were decorated with fresh kuṅkuma powder. As they rode, they began to chant with great pleasure the pastimes of Kṛṣṇa.

34Thus hearing about the pastimes of Kṛṣṇa and Balarāma with great pleasure, mother Yaśodā and Rohiṇīdevī, so as not to be separated from Kṛṣṇa and Balarāma for even a moment, got up with Them on one bullock cart. In this situation, they all looked very beautiful.

35In this way they entered Vṛndāvana, where it is always pleasing to live in all seasons. They made a temporary place to inhabit by placing their bullock carts around them in the shape of a half moon.

36O King Parīkṣit, when Rāma and Kṛṣṇa saw Vṛndāvana, Govardhana and the banks of the river Yamunā, They both enjoyed great pleasure.

37In this way, Kṛṣṇa and Balarāma, acting like small boys and talking in half-broken language, gave transcendental pleasure to all the inhabitants of Vraja. In due course of time, They became old enough to take care of the calves.

38Not far away from Their residential quarters, both Kṛṣṇa and Balarāma, equipped with all kinds of playthings, played with other cowherd boys and began to tend the small calves.

39-40Sometimes Kṛṣṇa and Balarāma would play on Their flutes, sometimes They would throw ropes and stones devised for getting fruits from the trees, sometimes They would throw only

stones, and sometimes, Their ankle bells tinkling, They would play football with fruits like bael and āmalakī. Sometimes They would cover Themselves with blankets and imitate cows and bulls and fight with one another, roaring loudly, and sometimes They would imitate the voices of the animals. In this way They enjoyed sporting, exactly like two ordinary human children.

41One day while Rāma and Kṛṣṇa, along with Their playmates, were tending the calves on the bank of the river Yamunā, another demon arrived there, desiring to kill Them.

42When the Supreme Personality of Godhead saw that the demon had assumed the form of a calf and entered among the groups of other calves, He pointed out to Baladeva, "Here is another demon." Then He very slowly approached the demon, as if He did not understand the demon's intentions.

43Thereafter, Śrī Kṛṣṇa caught the demon by the hind legs and tail, twirled the demon's whole body very strongly until the demon was dead, and threw him into the top of a kapittha tree, which then fell down, along with the body of the demon, who had assumed a great form.

44Upon seeing the dead body of the demon, all the cowherd boys exclaimed, "Well done, Kṛṣṇa! Very good, very good! Thank You." In the upper planetary system, all the demigods were pleased, and therefore they showered flowers on the Supreme Personality of Godhead.

45After the killing of the demon, Kṛṣṇa and Balarāma finished Their breakfast in the morning, and while continuing to take care of the calves, They wandered here and there. Kṛṣṇa and Balarāma, the Supreme Personalities of Godhead, who maintain the entire creation, now took charge of the calves as if cowherd boys.

46One day all the boys, including Kṛṣṇa and Balarāma, each boy taking his own group of calves, brought the calves to a reservoir of water, desiring to allow them to drink. After the animals drank water, the boys drank water there also.

47Right by the reservoir, the boys saw a gigantic body resembling a mountain peak broken and struck down by a thunderbolt. They were afraid even to see such a huge living being.

48That great-bodied demon was named Bakāsura. He had assumed the body of a duck with a very sharp beak. Having come there, he immediately swallowed Kṛṣṇa.

49When Balarāma and the other boys saw that Kṛṣṇa had been devoured by the gigantic duck, they became almost unconscious, like senses without life.

50Kṛṣṇa, who was the father of Lord Brahmā but who was acting as the son of a cowherd man, became like fire, burning the root of the demon's throat, and the demon Bakāsura immediately disgorged Him. When the demon saw that Kṛṣṇa, although having been swallowed, was unharmed, he immediately attacked Kṛṣṇa again with his sharp beak.

51When Kṛṣṇa, the leader of the Vaiṣṇavas, saw that the demon Bakāsura, the friend of Kaṁsa, was endeavoring to attack Him, with His arms He captured the demon by the two halves of the beak, and in the presence of all the cowherd boys Kṛṣṇa very easily bifurcated him, as a child splits a blade of vīraṇa grass. By thus killing the demon, Kṛṣṇa very much pleased the denizens of heaven.

52At that time, the celestial denizens of the higher planetary system showered mallikā-puṣpa, flowers grown in Nandana-kānana, upon Kṛṣṇa, the enemy of Bakāsura. They also congratulated Him by sounding celestial kettledrums and conchshells and by offering prayers. Seeing this, the cowherd boys were struck with wonder.

53Just as the senses are pacified when consciousness and life return, so when Kṛṣṇa was freed from this danger, all the boys, including Balarāma, thought that their life had been restored. They embraced Kṛṣṇa in good consciousness, and then they collected their own calves and returned to Vrajabhūmi, where they declared the incident loudly.

54When the cowherd men and women heard about the killing of Bakāsura in the forest, they were very much astonished. Upon seeing Kṛṣṇa and hearing the story, they received Kṛṣṇa very eagerly, thinking that Kṛṣṇa and the other boys had returned from the mouth of death. Thus they looked upon Kṛṣṇa and the boys with silent eyes, not wanting to turn their eyes aside now that the boys were safe.

55The cowherd men, headed by Nanda Mahārāja, began to contemplate: It is very astonishing that although this boy Kṛṣṇa has many times faced many varied causes of death, by the grace of the Supreme Personality of Godhead it was these causes of fear that were killed, instead of Him.

56Although the causes of death, the daityas, were very fierce, they could not kill this boy Kṛṣṇa. Rather, because they came to kill innocent boys, as soon as they approached they themselves were killed, exactly like flies attacking a fire.

57The words of persons in full knowledge of Brahman never become untrue. It is very wonderful that whatever Garga Muni predicted we are now actually experiencing in all detail.

58In this way all the cowherd men, headed by Nanda Mahārāja, enjoyed topics about the pastimes of Kṛṣṇa and Balarāma with great transcendental pleasure, and they could not even perceive material tribulations.

59In this way Kṛṣṇa and Balarāma passed Their childhood age in Vrajabhūmi by engaging in activities of childish play, such as playing hide-and-seek, constructing a make-believe bridge on the ocean, and jumping here and there like monkeys.

## SB 10.12: The Killing of the Demon Aghāsura

This chapter describes in detail Kṛṣṇa's pastime of killing Aghāsura.

One day Kṛṣṇa wanted to enjoy a picnic lunch within the forest, and therefore He went out early into the forest with the other cowherd boys, accompanied by their respective groups of calves. While they were enjoying their picnic, Aghāsura, the younger brother of Pūtanā and Bakāsura, appeared there, desiring to kill Kṛṣṇa and His companions. The demon, who had been sent by Kaṁsa, assumed the form of a python, expanding himself to a length of eight miles and the height of a mountain, his mouth seeming to extend from the surface of the earth to the heavenly planets. Having assumed this feature, Aghāsura lay on the road. Kṛṣṇa's friends, the cowherd boys, thought that the demon's form was one of the beautiful spots of Vṛndāvana. Thus they wanted to enter within the mouth of this gigantic python. The gigantic figure of the python became a subject for their sporting pleasure, and they began to laugh, confident that even if this figure were dangerous, Kṛṣṇa was there to protect them. In this way, they proceeded toward the mouth of the gigantic figure.

Kṛṣṇa knew everything about Aghāsura, and therefore He wanted to forbid His friends to enter the demon's mouth, but in the meantime all the cowherd boys, along with their groups of calves, entered the mouth of that gigantic figure. Kṛṣṇa was waiting outside, and Aghāsura was waiting for Kṛṣṇa, thinking that as soon as Kṛṣṇa entered he would close his mouth so that everyone would die. While waiting for Kṛṣṇa, he refrained from swallowing the boys. In the

meantime, Kṛṣṇa was thinking of how to save the boys and kill Aghāsura. Thus He entered the mouth of the gigantic *asura,* and when He was within the demon's mouth along with His friends, He expanded His body to such an extent that the *asura* suffocated and died. After this, Kṛṣṇa, by casting His nectarean glance upon His friends, brought them back to life, and with pleasure they all came out unhurt. Thus Kṛṣṇa encouraged all the demigods, and they expressed their pleasure and happiness. For a crooked, sinful person there is no scope for *sāyujya-mukti,* or becoming one with the effulgence of Kṛṣṇa, but because the Supreme Personality of Godhead entered the body of Aghāsura, by His touch this demon got the opportunity to merge into the existence of the Brahman effulgence and thus attain *sāyujya-mukti.*

When this pastime was performed, Kṛṣṇa was only five years old. One year later, when He was six years old and He stepped into the *paugaṇḍa* age, this pastime was disclosed to the inhabitants of Vraja. Parīkṣit Mahārāja inquired, "Why is it that this pastime was disclosed only after one year and yet the inhabitants of Vraja thought that it had been performed that very day?" With this question, the Twelfth Chapter ends.

1Śukadeva Gosvāmī continued: O King, one day Kṛṣṇa decided to take His breakfast as a picnic in the forest. Having risen early in the morning, He blew His bugle made of horn and woke all the cowherd boys and calves with its beautiful sound. Then Kṛṣṇa and the boys, keeping their respective groups of calves before them, proceeded from Vrajabhūmi to the forest.

2At that time, hundreds and thousands of cowherd boys came out of their respective homes in Vrajabhūmi and joined Kṛṣṇa, keeping before them their hundreds and thousands of groups of calves. The boys were very beautiful, and they were equipped with lunch bags, bugles, flutes, and sticks for controlling the calves.

3Along with the cowherd boys and their own groups of calves, Kṛṣṇa came out with an unlimited number of calves assembled. Then all the boys began to sport in the forest in a greatly playful spirit.

4Although all these boys were already decorated by their mothers with ornaments of kāca, guṣjā, pearls and gold, when they went into the forest they further decorated themselves with fruits, green leaves, bunches of flowers, peacock feathers and soft minerals.

5All the cowherd boys used to steal one another's lunch bags. When a boy came to understand that his bag had been taken away, the other boys would throw it farther away, to a more distant place, and those standing there would throw it still farther. When the proprietor of the bag became disappointed, the other boys would laugh, the proprietor would cry, and then the bag would be returned.

6Sometimes Kṛṣṇa would go to a somewhat distant place to see the beauty of the forest. Then all the other boys would run to accompany Him, each one saying, "I shall be the first to run and touch Kṛṣṇa! I shall touch Kṛṣṇa first!" In this way they enjoyed life by repeatedly touching Kṛṣṇa.

7-11All the boys would be differently engaged. Some boys blew their flutes, and others blew bugles made of horn. Some imitated the buzzing of the bumblebees, and others imitated the voice of the cuckoo. Some boys imitated flying birds by running after the birds' shadows on the ground, some imitated the beautiful movements and attractive postures of the swans, some sat down with the ducks, sitting silently, and others imitated the dancing of the peacocks. Some boys attracted young monkeys in the trees, some jumped into the trees, imitating the monkeys,

some made faces as the monkeys were accustomed to do, and others jumped from one branch to another. Some boys went to the waterfalls and crossed over the river, jumping with the frogs, and when they saw their own reflections on the water they would laugh. They would also condemn the sounds of their own echoes. In this way, all the cowherd boys used to play with Kṛṣṇa, who is the source of the Brahman effulgence for jṣānīs desiring to merge into that effulgence, who is the Supreme Personality of Godhead for devotees who have accepted eternal servitorship, and who for ordinary persons is but another ordinary child. The cowherd boys, having accumulated the results of pious activities for many lives, were able to associate in this way with the Supreme Personality of Godhead. How can one explain their great fortune?

12Yogīs may undergo severe austerities and penances for many births by practicing yama, niyama, āsana and prāṇāyāma, none of which are easily performed. Yet in due course of time, when these yogīs attain the perfection of controlling the mind, they will still be unable to taste even a particle of dust from the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead. What then can we describe about the great fortune of the inhabitants of Vrajabhūmi, Vṛndāvana, with whom the Supreme Personality of Godhead personally lived and who saw the Lord face to face?

13My dear King Parīkṣit, thereafter there appeared a great demon named Aghāsura, whose death was being awaited even by the demigods. The demigods drank nectar every day, but still they feared this great demon and awaited his death. This demon could not tolerate the transcendental pleasure being enjoyed in the forest by the cowherd boys.

14Aghāsura, who had been sent by Kaṁsa, was the younger brother of Pūtanā and Bakāsura. Therefore when he came and saw Kṛṣṇa at the head of all the cowherd boys, he thought, "This Kṛṣṇa has killed my sister and brother, Pūtanā and Bakāsura. Therefore, in order to please them both, I shall kill this Kṛṣṇa, along with His assistants, the other cowherd boys."

15Aghāsura thought: If somehow or other I can make Kṛṣṇa and His associates serve as the last offering of sesame and water for the departed souls of my brother and sister, then the inhabitants of Vrajabhūmi, for whom these boys are the life and soul, will automatically die. If there is no life, there is no need for the body; consequently, when their sons are dead, naturally all the inhabitants of Vraja will die.

16After thus deciding, that crooked Aghāsura assumed the form of a huge python, as thick as a big mountain and as long as eight miles. Having assumed this wonderful python's body, he spread his mouth like a big cave in the mountains and lay down on the road, expecting to swallow Kṛṣṇa and His associates the cowherd boys.

17His lower lip rested on the surface of the earth, and his upper lip was touching the clouds in the sky. The borders of his mouth resembled the sides of a big cave in a mountain, and the middle of his mouth was as dark as possible. His tongue resembled a broad traffic-way, his breath was like a warm wind, and his eyes blazed like fire.

18Upon seeing this demon's wonderful form, which resembled a great python, the boys thought that it must be a beautiful scenic spot of Vṛndāvana. Thereafter, they imagined it to be similar to the mouth of a great python. In other words, the boys, unafraid, thought that it was a statue made in the shape of a great python for the enjoyment of their pastimes.

19The boys said: Dear friends, is this creature dead, or is it actually a living python with its mouth spread wide just to swallow us all? Kindly clear up this doubt.

20Thereafter they decided: Dear friends, this is certainly an animal sitting here to swallow us

all. Its upper lip resembles a cloud reddened by the sunshine, and its lower lip resembles the reddish shadows of a cloud.

21On the left and right, the two depressions resembling mountain caves are the corners of its mouth, and the high mountain peaks are its teeth.

22In length and breadth the animal's tongue resembles a broad traffic-way, and the inside of its mouth is very, very dark, like a cave in a mountain.

23The hot fiery wind is the breath coming out of his mouth, which is giving off the bad smell of burning flesh because of all the dead bodies he has eaten.

24Then the boys said, "Has this living creature come to swallow us? If he does so, he will immediately be killed like Bakāsura, without delay." Thus they looked at the beautiful face of Kṛṣṇa, the enemy of Bakāsura, and, laughing loudly and clapping their hands, they entered the mouth of the python.

25The Supreme Personality of Godhead, Śrī Kṛṣṇa, who is situated as antaryāmī, the Supersoul, in the core of everyone's heart, heard the boys talking among themselves about the artificial python. Unknown to them, it was actually Aghāsura, a demon who had appeared as a python. Kṛṣṇa, knowing this, wanted to forbid His associates to enter the demon's mouth.

26In the meantime, while Kṛṣṇa was considering how to stop them, all the cowherd boys entered the mouth of the demon. The demon, however, did not swallow them, for he was thinking of his own relatives who had been killed by Kṛṣṇa and was just waiting for Kṛṣṇa to enter his mouth.

27Kṛṣṇa saw that all the cowherd boys, who did not know anyone but Him as their Lord, had now gone out of His hand and were helpless, having entered like straws into the fire of the abdomen of Aghāsura, who was death personified. It was intolerable for Kṛṣṇa to be separated from His friends the cowherd boys. Therefore, as if seeing that this had been arranged by His internal potency, Kṛṣṇa was momentarily struck with wonder and unsure of what to do.

28Now, what was to be done? How could both the killing of this demon and the saving of the devotees be performed simultaneously? Kṛṣṇa, being unlimitedly potent, decided to wait for an intelligent means by which He could simultaneously save the boys and kill the demon. Then He entered the mouth of Aghāsura.

29When Kṛṣṇa entered the mouth of Aghāsura, the demigods hidden behind the clouds exclaimed, "Alas! Alas!" But the friends of Aghāsura, like Kaṁsa and other demons, were jubilant.

30When the invincible Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, heard the demigods crying "Alas! Alas!" from behind the clouds, He immediately enlarged Himself within the demon's throat, just to save Himself and the cowherd boys, His own associates, from the demon who wished to smash them.

31Then, because Kṛṣṇa had increased the size of His body, the demon extended his own body to a very large size. Nonetheless, his breathing stopped, he suffocated, and his eyes rolled here and there and popped out. The demon's life air, however, could not pass through any outlet, and therefore it finally burst out through a hole in the top of the demon's head.

32When all the demon's life air had passed away through that hole in the top of his head, Kṛṣṇa glanced over the dead calves and cowherd boys and brought them back to life. Then

Mukunda, who can give one liberation, came out from the demon's mouth with His friends and the calves.

33From the body of the gigantic python, a glaring effulgence came out, illuminating all directions, and stayed individually in the sky until Kṛṣṇa came out from the corpse's mouth. Then, as all the demigods looked on, this effulgence entered into Kṛṣṇa's body.

34Thereafter, everyone being pleased, the demigods began to shower flowers from Nandana-kānana, the celestial dancing girls began to dance, and the Gandharvas, who are famous for singing, offered songs of prayer. The drummers began to beat their kettledrums, and the brāhmaṇas offered Vedic hymns. In this way, both in the heavens and on earth, everyone began to perform his own duties, glorifying the Lord.

35When Lord Brahmā heard the wonderful ceremony going on near his planet, accompanied by music and songs and sounds of "Jaya! Jaya!" he immediately came down to see the function. Upon seeing so much glorification of Lord Kṛṣṇa, he was completely astonished.

36O King Parīkṣit, when the python-shaped body of Aghāsura dried up into merely a big skin, it became a wonderful place for the inhabitants of Vṛndāvana to visit, and it remained so for a long, long time.

37This incident of Kṛṣṇa's saving Himself and His associates from death and of giving deliverance to Aghāsura, who had assumed the form of a python, took place when Kṛṣṇa was five years old. It was disclosed in Vrajabhūmi after one year, as if it had taken place on that very day.

38Kṛṣṇa is the cause of all causes. The causes and effects of the material world, both higher and lower, are all created by the Supreme Lord, the original controller. When Kṛṣṇa appeared as the son of Nanda Mahārāja and Yaśodā, He did so by His causeless mercy. Consequently, for Him to exhibit His unlimited opulence was not at all wonderful. Indeed, He showed such great mercy that even Aghāsura, the most sinful miscreant, was elevated to being one of His associates and achieving sārūpya-mukti, which is actually impossible for materially contaminated persons to attain.

39If even only once or even by force one brings the form of the Supreme Personality of Godhead into one's mind, one can attain the supreme salvation by the mercy of Kṛṣṇa, as did Aghāsura. What then is to be said of those whose hearts the Supreme Personality of Godhead enters when He appears as an incarnation, or those who always think of the lotus feet of the Lord, who is the source of transcendental bliss for all living entities and by whom all illusion is completely removed?

40Śrī Sūta Gosvāmī said: O learned saints, the childhood pastimes of Śrī Kṛṣṇa are very wonderful. Mahārāja Parīkṣit, after hearing about those pastimes of Kṛṣṇa, who had saved him in the womb of his mother, became steady in his mind and again inquired from Śukadeva Gosvāmī to hear about those pious activities.

41Mahārāja Parīkṣit inquired: O great sage, how could things done in the past have been described as being done at the present? Lord Śrī Kṛṣṇa performed this pastime of killing Aghāsura during His kaumāra age. How then, during His paugaṇḍa age, could the boys have described this incident as having happened recently?

42O greatest yogī, my spiritual master, kindly describe why this happened. I am very much curious to know about it. I think that it was nothing but another illusion due to Kṛṣṇa.

43O my lord, my spiritual master, although we are the lowest of kṣatriyas, we are glorified and benefited because we have the opportunity of always hearing from you the nectar of the pious activities of the Supreme Personality of Godhead.

44Sūta Gosvāmī said: O Śaunaka, greatest of saints and devotees, when Mahārāja Parīkṣit inquired from Śukadeva Gosvāmī in this way, Śukadeva Gosvāmī, immediately remembering subject matters about Kṛṣṇa within the core of his heart, externally lost contact with the actions of his senses. Thereafter, with great difficulty, he revived his external sensory perception and began to speak to Mahārāja Parīkṣit about kṛṣṇa-kathā.

## SB 10.13: The Stealing of the Boys and Calves by Brahmā

This chapter describes Lord Brahmā's attempt to take away the calves and cowherd boys, and it also describes the bewilderment of Lord Brahmā and finally the clearance of his illusion.

Although the incident concerning Aghāsura had been performed one year before, when the cowherd boys were five years old, when they were six years old they said, "It happened today." What happened was this. After killing Aghāsura, Kṛṣṇa, along with His associates the cowherd boys, went for a picnic within the forest. The calves, being allured by green grasses, gradually went far away, and therefore Kṛṣṇa's associates became a little agitated and wanted to bring back the calves. Kṛṣṇa, however, encouraged the boys by saying, "You take your tiffin without being agitated. I shall go find the calves." And thus the Lord departed. Then, just to examine the potency of Kṛṣṇa, Lord Brahmā took away all the calves and cowherd boys and kept them in a secluded place.

When Kṛṣṇa was unable to find the calves and boys, He could understand that this was a trick performed by Brahmā. Then the Supreme Personality of Godhead, the cause of all causes, in order to please Lord Brahmā, as well as His own associates and their mothers, expanded Himself to become the calves and boys, exactly as they were before. In this way, He discovered another pastime. A special feature of this pastime was that the mothers of the cowherd boys thus became more attached to their respective sons, and the cows became more attached to their calves. After nearly a year, Baladeva observed that all the cowherd boys and calves were expansions of Kṛṣṇa. Thus He inquired from Kṛṣṇa and was informed of what had happened.

When one full year had passed, Brahmā returned and saw that Kṛṣṇa was still engaged as usual with His friends and the calves and cows. Then Kṛṣṇa exhibited all the calves and cowherd boys as four-armed forms of Nārāyaṇa. Brahmā could then understand Kṛṣṇa's potency, and he was astonished by the pastimes of Kṛṣṇa, his worshipable Lord. Kṛṣṇa, however, bestowed His causeless mercy upon Brahmā and released him from illusion. Thus Brahmā began to offer prayers to glorify the Supreme Personality of Godhead.

1Śrīla Śukadeva Gosvāmī said: O best of devotees, most fortunate Parīkṣit, you have inquired very nicely, for although constantly hearing the pastimes of the Lord, you are perceiving His activities to be newer and newer.

2Paramahaṁsas, devotees who have accepted the essence of life, are attached to Kṛṣṇa in the core of their hearts, and He is the aim of their lives. It is their nature to talk only of Kṛṣṇa at every moment, as if such topics were newer and newer. They are attached to such topics, just as materialists are attached to topics of women and sex.

3O King, kindly hear me with great attention. Although the activities of the Supreme Lord are very confidential, no ordinary man being able to understand them, I shall speak about them to

you, for spiritual masters explain to a submissive disciple even subject matters that are very confidential and difficult to understand.

4Then, after saving the boys and calves from the mouth of Aghāsura, who was death personified, Lord Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, brought them all to the bank of the river and spoke the following words.

5My dear friends, just see how this riverbank is extremely beautiful because of its pleasing atmosphere. And just see how the blooming lotuses are attracting bees and birds by their aroma. The humming and chirping of the bees and birds is echoing throughout the beautiful trees in the forest. Also, here the sands are clean and soft. Therefore, this must be considered the best place for our sporting and pastimes.

6I think we should take our lunch here, since we are already hungry because the time is very late. Here the calves may drink water and go slowly here and there and eat the grass.

7Accepting Lord Kṛṣṇa's proposal, the cowherd boys allowed the calves to drink water from the river and then tied them to trees where there was green, tender grass. Then the boys opened their baskets of food and began eating with Kṛṣṇa in great transcendental pleasure.

8Like the whorl of a lotus flower surrounded by its petals and leaves, Kṛṣṇa sat in the center, encircled by lines of His friends, who all looked very beautiful. Every one of them was trying to look forward toward Kṛṣṇa, thinking that Kṛṣṇa might look toward him. In this way they all enjoyed their lunch in the forest.

9Among the cowherd boys, some placed their lunch on flowers, some on leaves, fruits, or bunches of leaves, some actually in their baskets, some on the bark of trees and some on rocks. This is what the children imagined to be their plates as they ate their lunch.

10All the cowherd boys enjoyed their lunch with Kṛṣṇa, showing one another the different tastes of the different varieties of preparations they had brought from home. Tasting one another's preparations, they began to laugh and make one another laugh.

11Kṛṣṇa is yajṣa-bhukthat is, He eats only offerings of yajṣabut to exhibit His childhood pastimes, He now sat with His flute tucked between His waist and His tight cloth on His right side and with His horn bugle and cow-driving stick on His left. Holding in His hand a very nice preparation of yogurt and rice, with pieces of suitable fruit between His fingers, He sat like the whorl of a lotus flower, looking forward toward all His friends, personally joking with them and creating jubilant laughter among them as He ate. At that time, the denizens of heaven were watching, struck with wonder at how the Personality of Godhead, who eats only in yajṣa, was now eating with His friends in the forest.

12O Mahārāja Parīkṣit, while the cowherd boys, who knew nothing within the core of their hearts but Kṛṣṇa, were thus engaged in eating their lunch in the forest, the calves went far away, deep into the forest, being allured by green grass.

13When Kṛṣṇa saw that His friends the cowherd boys were frightened, He, the fierce controller even of fear itself, said, just to mitigate their fear, "My dear friends, do not stop eating. I shall bring your calves back to this spot by personally going after them Myself."

14"Let Me go and search for the calves," Kṛṣṇa said. "Don't disturb your enjoyment." Then, carrying His yogurt and rice in His hand, the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, immediately went out to search for the calves of His friends. To please His friends, He began searching in all the mountains, mountain caves, bushes and narrow passages.

15O Mahārāja Parīkṣit, Brahmā, who resides in the higher planetary system in the sky, had observed the activities of the most powerful Kṛṣṇa in killing and delivering Aghāsura, and he was astonished. Now that same Brahmā wanted to show some of his own power and see the power of Kṛṣṇa, who was engaged in His childhood pastimes, playing as if with ordinary cowherd boys. Therefore, in Kṛṣṇa's absence, Brahmā took all the boys and calves to another place. Thus he became entangled, for in the very near future he would see how powerful Kṛṣṇa was.

16Thereafter, when Kṛṣṇa was unable to find the calves, He returned to the bank of the river, but there He was also unable to see the cowherd boys. Thus He began to search for both the calves and the boys, as if He could not understand what had happened.

17When Kṛṣṇa was unable to find the calves and their caretakers, the cowherd boys, anywhere in the forest, He could suddenly understand that this was the work of Lord Brahmā.

18Thereafter, just to create pleasure both for Brahmā and for the mothers of the calves and cowherd boys, Kṛṣṇa, the creator of the entire cosmic manifestation, expanded Himself as calves and boys.

19By His Vāsudeva feature, Kṛṣṇa simultaneously expanded Himself into the exact number of missing cowherd boys and calves, with their exact bodily features, their particular types of hands, legs and other limbs, their sticks, bugles and flutes, their lunch bags, their particular types of dress and ornaments placed in various ways, their names, ages and forms, and their special activities and characteristics. By expanding Himself in this way, beautiful Kṛṣṇa proved the statement samagra-jagad viṣṇumayam: "Lord Viṣṇu is all-pervading."

20Now expanding Himself so as to appear as all the calves and cowherd boys, all of them as they were, and at the same time appear as their leader, Kṛṣṇa entered Vrajabhūmi, the land of His father, Nanda Mahārāja, just as He usually did while enjoying their company.

21O Mahārāja Parīkṣit, Kṛṣṇa, who had divided Himself as different calves and also as different cowherd boys, entered different cow sheds as the calves and then different homes as different boys.

22The mothers of the boys, upon hearing the sounds of the flutes and bugles being played by their sons, immediately rose from their household tasks, lifted their boys onto their laps, embraced them with both arms and began to feed them with their breast milk, which flowed forth because of extreme love specifically for Kṛṣṇa. Actually Kṛṣṇa is everything, but at that time, expressing extreme love and affection, they took special pleasure in feeding Kṛṣṇa, the Parabrahman, and Kṛṣṇa drank the milk from His respective mothers as if it were a nectarean beverage.

23Thereafter, O Mahārāja Parīkṣit, as required according to the scheduled round of His pastimes, Kṛṣṇa returned in the evening, entered the house of each of the cowherd boys, and engaged exactly like the former boys, thus enlivening their mothers with transcendental pleasure. The mothers took care of the boys by massaging them with oil, bathing them, smearing their bodies with sandalwood pulp, decorating them with ornaments, chanting protective mantras, decorating their bodies with tilaka and giving them food. In this way, the mothers served Kṛṣṇa personally.

24Thereafter, all the cows entered their different sheds and began mooing loudly, calling for their respective calves. When the calves arrived, the mothers began licking the calves' bodies again and again and profusely feeding them with the milk flowing from their milk bags.

25Previously, from the very beginning, the gopīs had motherly affection for Kṛṣṇa. Indeed, their affection for Kṛṣṇa exceeded even their affection for their own sons. In displaying their affection, they had thus distinguished between Kṛṣṇa and their sons, but now that distinction disappeared.

26Although the inhabitants of Vrajabhūmi, the cowherd men and cowherd women, previously had more affection for Kṛṣṇa than for their own children, now, for one year, their affection for their own sons continuously increased, for Kṛṣṇa had now become their sons. There was no limit to the increment of their affection for their sons, who were now Kṛṣṇa. Every day they found new inspiration for loving their children as much as they loved Kṛṣṇa.

27In this way, Lord Śrī Kṛṣṇa, having Himself become the cowherd boys and groups of calves, maintained Himself by Himself. Thus He continued His pastimes, both in Vṛndāvana and in the forest, for one year.

28One day, five or six nights before the completion of the year, Kṛṣṇa, tending the calves, entered the forest along with Balarāma.

29Thereafter, while pasturing atop Govardhana Hill, the cows looked down to find some green grass and saw their calves pasturing near Vṛndāvana, not very far away.

30When the cows saw their own calves from the top of Govardhana Hill, they forgot themselves and their caretakers because of increased affection, and although the path was very rough, they ran toward their calves with great anxiety, each running as if with one pair of legs. Their milk bags full and flowing with milk, their heads and tails raised, and their humps moving with their necks, they ran forcefully until they reached their calves to feed them.

31The cows had given birth to new calves, but while coming down from Govardhana Hill, the cows, because of increased affection for the older calves, allowed the older calves to drink milk from their milk bags and then began licking the calves' bodies in anxiety, as if wanting to swallow them.

32The cowherd men, having been unable to check the cows from going to their calves, felt simultaneously ashamed and angry. They crossed the rough road with great difficulty, but when they came down and saw their own sons, they were overwhelmed by great affection.

33At that time, all the thoughts of the cowherd men merged in the mellow of paternal love, which was aroused by the sight of their sons. Experiencing a great attraction, their anger completely disappearing, they lifted their sons, embraced them in their arms and enjoyed the highest pleasure by smelling their sons' heads.

34Thereafter the elderly cowherd men, having obtained great feeling from embracing their sons, gradually and with great difficulty and reluctance ceased embracing them and returned to the forest. But as the men remembered their sons, tears began to roll down from their eyes.

35Because of an increase of affection, the cows had constant attachment even to those calves that were grown up and had stopped sucking milk from their mothers. When Baladeva saw this attachment, He was unable to understand the reason for it, and thus He began to consider as follows.

36What is this wonderful phenomenon? The affection of all the inhabitants of Vraja, including Me, toward these boys and calves is increasing as never before, just like our affection for Lord Kṛṣṇa, the Supersoul of all living entities.

37Who is this mystic power, and where has she come from? Is she a demigod or a demoness? She must be the illusory energy of My master, Lord Kṛṣṇa, for who else can bewilder Me?

38Thinking in this way, Lord Balarāma was able to see, with the eye of transcendental knowledge, that all these calves and Kṛṣṇa's friends were expansions of the form of Śrī Kṛṣṇa.

39Lord Baladeva said, "O supreme controller! These boys are not great demigods, as I previously thought. Nor are these calves great sages like Nārada. Now I can see that You alone are manifesting Yourself in all varieties of difference. Although one, You are existing in the different forms of the calves and boys. Please briefly explain this to Me." Having thus been requested by Lord Baladeva, Kṛṣṇa explained the whole situation, and Baladeva understood it.

40When Lord Brahmā returned after a moment of time had passed (according to his own measurement), he saw that although by human measurement a complete year had passed, Lord Kṛṣṇa, after all that time, was engaged just as before in playing with the boys and calves, who were His expansions.

41Lord Brahmā thought: Whatever boys and calves there were in Gokula, I have kept them sleeping on the bed of my mystic potency, and to this very day they have not yet risen again.

42A similar number of boys and calves have been playing with Kṛṣṇa for one whole year, yet they are different from the ones illusioned by my mystic potency. Who are they? Where did they come from?

43Thus Lord Brahmā, thinking and thinking for a long time, tried to distinguish between those two sets of boys, who were each separately existing. He tried to understand who was real and who was not real, but he couldn't understand at all.

44Thus because Lord Brahmā wanted to mystify the all-pervading Lord Kṛṣṇa, who can never be mystified, but who, on the contrary, mystifies the entire universe, he himself was put into bewilderment by his own mystic power.

45As the darkness of snow on a dark night and the light of a glowworm in the light of day have no value, the mystic power of an inferior person who tries to use it against a person of great power is unable to accomplish anything; instead, the power of that inferior person is diminished.

46Then, while Lord Brahmā looked on, all the calves and the boys tending them immediately appeared to have complexions the color of bluish rainclouds and to be dressed in yellow silken garments.

47-48All those personalities had four arms, holding conchshell, disc, mace and lotus flower in Their hands. They wore helmets on Their heads, earrings on Their ears and garlands of forest flowers around Their necks. On the upper portion of the right side of Their chests was the emblem of the goddess of fortune. Furthermore, They wore armlets on Their arms, the Kaustubha gem around Their necks, which were marked with three lines like a conchshell, and bracelets on Their wrists. With bangles on Their ankles, ornaments on Their feet, and sacred belts around Their waists, They all appeared very beautiful.

49Every part of Their bodies, from Their feet to the top of Their heads, was fully decorated with fresh, tender garlands of tulasī leaves offered by devotees engaged in worshiping the Lord by the greatest pious activities, namely hearing and chanting.

50Those Viṣṇu forms, by Their pure smiling, which resembled the increasing light of the moon,

and by the sidelong glances of Their reddish eyes, created and protected the desires of Their own devotees, as if by the modes of passion and goodness.

51All beings, both moving and nonmoving, from the four-headed Lord Brahmā down to the most insignificant living entity, had taken forms and were differently worshiping those viṣṇu-mūrtis, according to their respective capacities, with various means of worship, such as dancing and singing.

52All the viṣṇu-mūrtis were surrounded by the opulences, headed by aṇimā-siddhi; by the mystic potencies, headed by Ajā; and by the twenty-four elements for the creation of the material world, headed by the mahat-tattva.

53Then Lord Brahmā saw that kāla (the time factor), svabhāva (one's own nature by association), saṁskāra (reformation), kāma (desire), karma (fruitive activity) and the guṇas (the three modes of material nature), their own independence being completely subordinate to the potency of the Lord, had all taken forms and were also worshiping those viṣṇu-mūrtis.

54The viṣṇu-mūrtis all had eternal, unlimited forms, full of knowledge and bliss and existing beyond the influence of time. Their great glory was not even to be touched by the jṣānīs engaged in studying the Upaniṣads.

55Thus Lord Brahmā saw the Supreme Brahman, by whose energy this entire universe, with its moving and nonmoving living beings, is manifested. He also saw at the same time all the calves and boys as the Lord's expansions.

56Then, by the power of the effulgence of those viṣṇu-mūrtis, Lord Brahmā, his eleven senses jolted by astonishment and stunned by transcendental bliss, became silent, just like a child's clay doll in the presence of the village deity.

57The Supreme Brahman is beyond mental speculation, He is self-manifest, existing in His own bliss, and He is beyond the material energy. He is known by the crest jewels of the Vedas by refutation of irrelevant knowledge. Thus in relation to that Supreme Brahman, the Personality of Godhead, whose glory had been shown by the manifestation of all the four-armed forms of Viṣṇu, Lord Brahmā, the lord of Sarasvatī, was mystified. "What is this?" he thought, and then he was not even able to see. Lord Kṛṣṇa, understanding Brahmā's position, then at once removed the curtain of His yoga-māyā.

58Lord Brahmā's external consciousness then revived, and he stood up, just like a dead man coming back to life. Opening his eyes with great difficulty, he saw the universe, along with himself.

59Then, looking in all directions, Lord Brahmā immediately saw Vṛndāvana before him, filled with trees, which were the means of livelihood for the inhabitants and which were equally pleasing in all seasons.

60Vṛndāvana is the transcendental abode of the Lord, where there is no hunger, anger or thirst. Though naturally inimical, both human beings and fierce animals live there together in transcendental friendship.

61Then Lord Brahmā saw the Absolute Truthwho is one without a second, who possesses full knowledge and who is unlimitedassuming the role of a child in a family of cowherd men and standing all alone, just as before, with a morsel of food in His hand, searching everywhere for the calves and His cowherd friends.

62After seeing this, Lord Brahmā hastily got down from his swan carrier, fell down like a golden rod and touched the lotus feet of Lord Kṛṣṇa with the tips of the four crowns on his heads. Offering his obeisances, he bathed the feet of Kṛṣṇa with the water of his tears of joy.

63Rising and falling again and again at the lotus feet of Lord Kṛṣṇa for a long time, Lord Brahmā remembered over and over the Lord's greatness he had just seen.

64Then, rising very gradually and wiping his two eyes, Lord Brahmā looked up at Mukunda. Lord Brahmā, his head bent low, his mind concentrated and his body trembling, very humbly began, with faltering words, to offer praises to Lord Kṛṣṇa.

**SB 10.14: Brahmā's Prayers to Lord Kṛṣṇa**

This chapter describes the prayers Brahmā offered to Lord Kṛṣṇa, who is also known as Nanda-nandana.

For His satisfaction, Brahmā first praised the beauty of the Lord's transcendental limbs and then declared that His original identity of sweetness is even more difficult to comprehend than His opulence. Only by the devotional process of hearing and chanting transcendental sounds received from Vedic authorities can one realize the Personality of Godhead. It is fruitless to try to realize God through processes outside the scope of Vedic authority.

The mystery of the Personality of Godhead, who is the reservoir of unlimited spiritual qualities, is inconceivable; it is even more difficult to understand than the impersonal Supreme. Thus only by the mercy of God can one understand His glories. Finally realizing this, Brahmā repeatedly condemned his own actions and recognized that Lord Śrī Kṛṣṇa, the ultimate shelter of the universe, is Brahmā's own father, the original Nārāyaṇa. In this way Brahmā begged the Lord's forgiveness.

Brahmā then glorified the inconceivable opulence of the Personality of Godhead and described the ways in which Brahmā and Śiva differ from Lord Viṣṇu, the reason for the Supreme Lord's appearance in various species of demigods, animals and so on, the eternal nature of the pastimes of the Personality of Godhead, and the temporality of the material world. By knowing the Supreme Personality in truth, the individual spirit soul can achieve liberation from bondage. In actuality, however, both liberation and bondage are unreal, for it is only from the living entity's conditioned outlook that his bondage and liberation are produced. Thinking the personal form of Lord Kṛṣṇa illusory, fools reject His lotus feet and look elsewhere to find the Supreme Self. But the futility of their search is the obvious proof of their foolishness. There is simply no way to understand the truth of the Personality of Godhead without His mercy.

Having established this conclusion, Lord Brahmā analyzed the great good fortune of the residents of Vraja and then personally prayed to be born there even as a blade of grass, a bush or a creeper. Indeed, the homes of the residents of Vṛndāvana are not prisons of material existence but rather abodes envied even by the *jṣānīs* and *yogīs*. On the other hand, any home without a connection to Lord Kṛṣṇa is in fact a prison cell of material existence. Finally, Brahmā offered his whole self at the lotus feet of the Supreme Lord and, praising Him again and again, circumambulated Him and took his leave.

Lord Kṛṣṇa then gathered the animals Brahmā stole and led them to the place on the Yamunā's bank where the cowherd boys had been taking lunch. The same friends who had been present before were sitting there now. By the power of Kṛṣṇa's illusory energy, they were not at all aware of what had happened. Thus when Kṛṣṇa arrived with the calves, the boys told Him, "You've returned so quickly! Very good. As long as You were gone we couldn't take even a

morsel of food, so come and eat."

Laughing at the words of the cowherd boys, Lord Kṛṣṇa began taking His meal in their company. While eating, Kṛṣṇa pointed out to His young friends the skin of the python, and the boys thought, "Kṛṣṇa has just now killed this terrible snake." Indeed, later they related to the residents of Vṛndāvana the incident of Kṛṣṇa's killing the Agha demon. In this way, the cowherd boys described pastimes that Lord Kṛṣṇa had performed in His *bālya* age (one to five), even though His *paugaṇḍa* age (six to ten) had begun.

Śukadeva Gosvāmī concludes this chapter by explaining how the *gopīs* loved Lord Kṛṣṇa even more than they loved their own sons.

1Lord Brahmā said: My dear Lord, You are the only worshipable Lord, the Supreme Personality of Godhead, and therefore I offer my humble obeisances and prayers just to please You. O son of the king of the cowherds, Your transcendental body is dark blue like a new cloud, Your garment is brilliant like lightning, and the beauty of Your face is enhanced by Your guṣjā earrings and the peacock feather on Your head. Wearing garlands of various forest flowers and leaves, and equipped with a herding stick, a buffalo horn and a flute, You stand beautifully with a morsel of food in Your hand.

2My dear Lord, neither I nor anyone else can estimate the potency of this transcendental body of Yours, which has shown such mercy to me and which appears just to fulfill the desires of Your pure devotees. Although my mind is completely withdrawn from material affairs, I cannot understand Your personal form. How, then, could I possibly understand the happiness You experience within Yourself?

3Those who, even while remaining situated in their established social positions, throw away the process of speculative knowledge and with their body, words and mind offer all respects to descriptions of Your personality and activities, dedicating their lives to these narrations, which are vibrated by You personally and by Your pure devotees, certainly conquer Your Lordship, although You are otherwise unconquerable by anyone within the three worlds.

4My dear Lord, devotional service unto You is the best path for self-realization. If someone gives up that path and engages in the cultivation of speculative knowledge, he will simply undergo a troublesome process and will not achieve his desired result. As a person who beats an empty husk of wheat cannot get grain, one who simply speculates cannot achieve self-realization. His only gain is trouble.

5O almighty Lord, in the past many yogīs in this world achieved the platform of devotional service by offering all their endeavors unto You and faithfully carrying out their prescribed duties. Through such devotional service, perfected by the processes of hearing and chanting about You, they came to understand You, O infallible one, and could easily surrender to You and achieve Your supreme abode.

6Nondevotees, however, cannot realize You in Your full personal feature. Nevertheless, it may be possible for them to realize Your expansion as the impersonal Supreme by cultivating direct perception of the Self within the heart. But they can do this only by purifying their mind and senses of all conceptions of material distinctions and all attachment to material sense objects. Only in this way will Your impersonal feature manifest itself to them.

7In time, learned philosophers or scientists might be able to count all the atoms of the earth, the particles of snow, or perhaps even the shining molecules radiating from the sun, the stars and other luminaries. But among these learned men, who could possibly count the unlimited transcendental qualities possessed by You, the Supreme Personality of Godhead, who have

descended onto the surface of the earth for the benefit of all living entities?

8My dear Lord, one who earnestly waits for You to bestow Your causeless mercy upon him, all the while patiently suffering the reactions of his past misdeeds and offering You respectful obeisances with his heart, words and body, is surely eligible for liberation, for it has become his rightful claim.

9My Lord, just see my uncivilized impudence! To test Your power I tried to extend my illusory potency to cover You, the unlimited and primeval Supersoul, who bewilder even the masters of illusion. What am I compared to You? I am just like a small spark in the presence of a great fire.

10Therefore, O infallible Lord, kindly excuse my offenses. I have taken birth in the mode of passion and am therefore simply foolish, presuming myself a controller independent of Your Lordship. My eyes are blinded by the darkness of ignorance, which causes me to think of myself as the unborn creator of the universe. But please consider that I am Your servant and therefore worthy of Your compassion.

11What am I, a small creature measuring seven spans of my own hand? I am enclosed in a potlike universe composed of material nature, the total material energy, false ego, ether, air, water and earth. And what is Your glory? Unlimited universes pass through the pores of Your body just as particles of dust pass through the openings of a screened window.

12O Lord Adhokṣaja, does a mother take offense when the child within her womb kicks with his legs? And is there anything in existencewhether designated by various philosophers as real or as unrealthat is actually outside Your abdomen?

13My dear Lord, it is said that when the three planetary systems are merged into the water at the time of dissolution, Your plenary portion, Nārāyaṇa, lies down on the water, gradually a lotus flower grows from His navel, and Brahmā takes birth upon that lotus flower. Certainly, these words are not false. Thus am I not born from You?

14Are You not the original Nārāyaṇa, O supreme controller, since You are the Soul of every embodied being and the eternal witness of all created realms? Indeed, Lord Nārāyaṇa is Your expansion, and He is called Nārāyaṇa because He is the generating source of the primeval water of the universe. He is real, not a product of Your illusory Māyā.

15My dear Lord, if Your transcendental body, which shelters the entire universe, is actually lying upon the water, then why were You not seen by me when I searched for You? And why, though I could not envision You properly within my heart, did You then suddenly reveal Yourself?

16My dear Lord, in this incarnation You have proved that You are the supreme controller of Māyā. Although You are now within this universe, the whole universal creation is within Your transcendental bodya fact You demonstrated by exhibiting the universe within Your abdomen before Your mother, Yaśodā.

17Just as this entire universe, including You, was exhibited within Your abdomen, so it is now manifested here externally in the same exact form. How could such things happen unless arranged by Your inconceivable energy?

18Have You not shown me today that both You Yourself and everything within this creation are manifestations of Your inconceivable potency? First You appeared alone, and then You manifested Yourself as all of Vṛndāvana's calves and cowherd boys, Your friends. Next You

appeared as an equal number of four-handed Viṣṇu forms, who were worshiped by all living beings, including me, and after that You appeared as an equal number of complete universes. Finally, You have now returned to Your unlimited form as the Supreme Absolute Truth, one without a second.

19To persons ignorant of Your actual transcendental position, You appear as part of the material world, manifesting Yourself by the expansion of Your inconceivable energy. Thus for the creation of the universe You appear as me [Brahmā], for its maintenance You appear as Yourself [Viṣṇu], and for its annihilation You appear as Lord Trinetra [Śiva].

20O Lord, O supreme creator and master, You have no material birth, yet to defeat the false pride of the faithless demons and show mercy to Your saintly devotees, You take birth among the demigods, sages, human beings, animals and even the aquatics.

21O supreme great one! O Supreme Personality of Godhead! O Supersoul, master of all mystic power! Your pastimes are taking place continuously in these three worlds, but who can estimate where, how and when You are employing Your spiritual energy and performing these innumerable pastimes? No one can understand the mystery of how Your spiritual energy acts.

22Therefore this entire universe, which like a dream is by nature unreal, nevertheless appears real, and thus it covers one's consciousness and assails one with repeated miseries. This universe appears real because it is manifested by the potency of illusion emanating from You, whose unlimited transcendental forms are full of eternal happiness and knowledge.

23You are the one Supreme Soul, the primeval Supreme Personality, the Absolute Truthself-manifested, endless and beginningless. You are eternal and infallible, perfect and complete, without any rival and free from all material designations. Your happiness can never be obstructed, nor have You any connection with material contamination. Indeed, You are the indestructible nectar of immortality.

24Those who have received the clear vision of knowledge from the sunlike spiritual master can see You in this way, as the very Soul of all souls, the Supersoul of everyone's own self. Thus understanding Your original personality, they are able to cross over the ocean of illusory material existence.

25A person who mistakes a rope for a snake becomes fearful, but he then gives up his fear upon realizing that the so-called snake does not exist. Similarly, for those who fail to recognize You as the Supreme Soul of all souls, the expansive illusory material existence arises, but knowledge of You at once causes it to subside.

26The conception of material bondage and the conception of liberation are both manifestations of ignorance. Being outside the scope of true knowledge, they cease to exist when one correctly understands that the pure spirit soul is distinct from matter and always fully conscious. At that time bondage and liberation no longer have any significance, just as day and night have no significance from the perspective of the sun.

27Just see the foolishness of those ignorant persons who consider You to be some separated manifestation of illusion and who consider the self, which is actually You, to be something else, the material body. Such fools conclude that the supreme soul is to be searched for somewhere outside Your supreme personality.

28O unlimited Lord, the saintly devotees seek You out within their own bodies by rejecting everything separate from You. Indeed, how can discriminating persons appreciate the real nature of a rope lying before them until they refute the illusion that it is a snake?

29My Lord, if one is favored by even a slight trace of the mercy of Your lotus feet, he can understand the greatness of Your personality. But those who speculate to understand the Supreme Personality of Godhead are unable to know You, even though they continue to study the Vedas for many years.

30My dear Lord, I therefore pray to be so fortunate that in this life as Lord Brahmā or in another life, wherever I take my birth, I may be counted as one of Your devotees. I pray that wherever I may be, even among the animal species, I can engage in devotional service to Your lotus feet.

31O almighty Lord, how greatly fortunate are the cows and ladies of Vṛndāvana, the nectar of whose breast milk You have happily drunk to Your full satisfaction, taking the form of their calves and children! All the Vedic sacrifices performed from time immemorial up to the present day have not given You as much satisfaction.

32How greatly fortunate are Nanda Mahārāja, the cowherd men and all the other inhabitants of Vrajabhūmi! There is no limit to their good fortune, because the Absolute Truth, the source of transcendental bliss, the eternal Supreme Brahman, has become their friend.

33Yet even though the extent of the good fortune of these residents of Vṛndāvana is inconceivable, we eleven presiding deities of the various senses, headed by Lord Śiva, are also most fortunate, because the senses of these devotees of Vṛndāvana are the cups through which we repeatedly drink the nectarean, intoxicating beverage of the honey of Your lotus feet.

34My greatest possible good fortune would be to take any birth whatever in this forest of Gokula and have my head bathed by the dust falling from the lotus feet of any of its residents. Their entire life and soul is the Supreme Personality of Godhead, Mukunda, the dust of whose lotus feet is still being searched for in the Vedic mantras.

35My mind becomes bewildered just trying to think of what reward other than You could be found anywhere. You are the embodiment of all benedictions, which You bestow upon these residents of the cowherd community of Vṛndāvana. You have already arranged to give Yourself to Pūtanā and her family members in exchange for her disguising herself as a devotee. So what is left for You to give these devotees of Vṛndāvana, whose homes, wealth, friends, dear relations, bodies, children and very lives and hearts are all dedicated only to You?

36My dear Lord Kṛṣṇa, until people become Your devotees, their material attachments and desires remain thieves, their homes remain prisons, and their affectionate feelings for their family members remain foot-shackles.

37My dear master, although You have nothing to do with material existence, You come to this earth and imitate material life just to expand the varieties of ecstatic enjoyment for Your surrendered devotees.

38There are people who say, "I know everything about Kṛṣṇa." Let them think that way. As far as I am concerned, I do not wish to speak very much about this matter. O my Lord, let me say this much: As far as Your opulences are concerned, they are all beyond the reach of my mind, body and words.

39My dear Kṛṣṇa, I now humbly request permission to leave. Actually, You are the knower and seer of all things. Indeed, You are the Lord of all the universes, and yet I offer this one universe unto You.

40My dear Śrī Kṛṣṇa, You bestow happiness upon the lotuslike Vṛṣṇi dynasty and expand the great oceans consisting of the earth, the demigods, the brāhmaṇas and the cows. You dispel

the dense darkness of irreligion and oppose the demons who have appeared on this earth. O Supreme Personality of Godhead, as long as this universe exists and as long as the sun shines, I will offer my obeisances unto You.

41Śukadeva Gosvāmī said: Having thus offered his prayers, Brahmā circumambulated his worshipable Lord, the unlimited Personality of Godhead, three times and then bowed down at His lotus feet. The appointed creator of the universe then returned to his own residence.

42After granting His son Brahmā permission to leave, the Supreme Personality of Godhead took the calves, who were still where they had been a year earlier, and brought them to the riverbank, where He had been taking His meal and where His cowherd boyfriends remained just as before.

43O King, although the boys had passed an entire year apart from the Lord of their very lives, they had been covered by Lord Kṛṣṇa's illusory potency and thus considered that year merely half a moment.

44What indeed is not forgotten by those whose minds are bewildered by the Lord's illusory potency? By that power of Māyā, this entire universe remains in perpetual bewilderment, and in this atmosphere of forgetfulness no one can understand his own identity.

45The cowherd boyfriends said to Lord Kṛṣṇa: You have returned so quickly! We have not eaten even one morsel in Your absence. Please come here and take Your meal without distraction.

46Then Lord Hṛṣīkeśa, smiling, finished His lunch in the company of His cowherd friends. While they were returning from the forest to their homes in Vraja, Lord Kṛṣṇa showed the cowherd boys the skin of the dead serpent Aghāsura.

47Lord Kṛṣṇa's transcendental body was decorated with peacock feathers and flowers and painted with forest minerals, and His bamboo flute loudly and festively resounded. As He called out to His calves by name, His cowherd boyfriends purified the whole world by chanting His glories. Thus Lord Kṛṣṇa entered the cow pasture of His father, Nanda Mahārāja, and the sight of His beauty at once produced a great festival for the eyes of all the cowherd women.

48As the cowherd boys reached the village of Vraja, they sang, "Today Kṛṣṇa saved us by killing a great serpent!" Some of the boys described Kṛṣṇa as the son of Yaśodā, and others as the son of Nanda Mahārāja.

49King Parīkṣit said: O brāhmaṇa, how could the cowherd women have developed for Kṛṣṇa, someone else's son, such unprecedented pure lovelove they never felt even for their own children? Please explain this.

50ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: O King, for every created being the dearmost thing is certainly his own self. The dearness of everything elsechildren, wealth and so onis due only to the dearness of the self.

51For this reason, O best of kings, the embodied soul is self-centered: he is more attached to his own body and self than to his so-called possessions like children, wealth and home.

52Indeed, for persons who think the body is the self, O best of kings, those things whose importance lies only in their relationship to the body are never as dear as the body itself.

53If a person comes to the stage of considering the body "mine" instead of "me," he will certainly not consider the body as dear as his own self. After all, even as the body is growing old and useless, one's desire to continue living remains strong.

54Therefore it is his own self that is most dear to every embodied living being, and it is simply for the satisfaction of this self that the whole material creation of moving and nonmoving entities exists.

55You should know Kṛṣṇa to be the original Soul of all living entities. For the benefit of the whole universe, He has, out of His causeless mercy, appeared as an ordinary human being. He has done this by the strength of His internal potency.

56Those in this world who understand Lord Kṛṣṇa as He is see all things, whether stationary or moving, as manifest forms of the Supreme Personality of Godhead. Such enlightened persons recognize no reality apart from the Supreme Lord Kṛṣṇa.

57The original, unmanifested form of material nature is the source of all material things, and the source of even that subtle material nature is the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa. What, then, could one ascertain to be separate from Him?

58For those who have accepted the boat of the lotus feet of the Lord, who is the shelter of the cosmic manifestation and is famous as Murāri, the enemy of the Mura demon, the ocean of the material world is like the water contained in a calf's hoof-print. Their goal is paraṁ padam, Vaikuṇṭha, the place where there are no material miseries, not the place where there is danger at every step.

59Since you inquired from me, I have fully described to you those activities of Lord Hari that were performed in His fifth year but not celebrated until His sixth.

60Any person who hears or chants these pastimes Lord Murāri performed with His cowherd friendsthe killing of Aghāsura, the taking of lunch on the forest grass, the Lord's manifestation of transcendental forms, and the wonderful prayers offered by Lord Brahmāis sure to achieve all his spiritual desires.

61In this way the boys spent their childhood in the land of Vṛndāvana playing hide-and-go-seek, building play bridges, jumping about like monkeys and engaging in many other such games.

## SB 10.15: The Killing of Dhenuka, the Ass Demon

This chapter describes how Lord Balarāma and Lord Kṛṣṇa, while tending Their cows in the pastures of Vṛndāvana, killed Dhenukāsura, enabled the residents of Vṛndāvana to eat the fruits of the *tāla* trees and saved the young cowherds from Kāliya's poison.

Revealing Their boyhood (*paugaṇḍa*) phase of pastimes, Rāma and Kṛṣṇa were one day bringing the cows to pasture when They entered an attractive forest decorated with a clear lake. There They began playing forest sports along with Their friends. Pretending to tire, Lord Baladeva laid His head upon the lap of a cowherd boy and rested as Lord Kṛṣṇa helped relieve His elder brother's fatigue by massaging His feet. Then Kṛṣṇa also placed His head on the lap of a cowherd boy to rest, and another cowherd boy massaged His feet. In this way Kṛṣṇa, Balarāma and Their cowherd friends enjoyed various pastimes.

During this play, Śrīdāmā, Subala, Stoka-kṛṣṇa and other cowherd boys described to Rāma and Kṛṣṇa a wicked and irrepressible demon named Dhenuka, who had assumed the form of a

jackass and was living in the Tālavana forest near Govardhana Hill. This forest was full of many varieties of sweet fruits. But fearing this demon, no one dared try to relish the taste of those fruits, and thus someone had to kill the demon and all his associates. Lord Rāma and Lord Kṛṣṇa, hearing of the situation, set off for this forest to fulfill the desire of Their companions.

Arriving at the Tālavana, Lord Balarāma shook many fruits out of the palm trees, and as soon as He did so the jackass demon, Dhenuka, ran swiftly to attack Him. But Balarāma grabbed his hind legs with one hand, whirled him around and threw him into the top of a tree, thus slaying him. All of Dhenukāsura's friends, overcome by fury, then rushed to attack, but Rāma and Kṛṣṇa took hold of them one by one, swung them around and killed them, until the disturbance was finally finished. When Kṛṣṇa and Balarāma returned to the cowherd community, Yaśodā and Rohiṇī placed Them on their respective laps. They kissed Their faces, fed Them with finely prepared food and then put Them to bed.

Some days later Lord Kṛṣṇa went with His friends, but without His older brother, to the banks of the Kālindī in order to tend the cows. The cows and cowherd boys became very thirsty and drank some water from the Kālindī. But it had been contaminated with poison, and they all fell unconscious on the riverbank. Kṛṣṇa then brought them back to life by the merciful rain of His glance, and all of them, regaining their consciousness, appreciated His great mercy.

1Śukadeva Gosvāmī said: When Lord Rāma and Lord Kṛṣṇa attained the age of paugaṇḍa [six to ten] while living in Vṛndāvana, the cowherd men allowed Them to take up the task of tending the cows. Engaging thus in the company of Their friends, the two boys rendered the land of Vṛndāvana most auspicious by imprinting upon it the marks of Their lotus feet.

2Thus desiring to enjoy pastimes, Lord Mādhava, sounding His flute, surrounded by cowherd boys who were chanting His glories, and accompanied by Lord Baladeva, kept the cows before Him and entered the Vṛndāvana forest, which was full of flowers and rich with nourishment for the animals.

3The Supreme Personality of Godhead looked over that forest, which resounded with the charming sounds of bees, animals and birds, and which was enhanced by a lake whose clear water resembled the minds of great souls and by a breeze carrying the fragrance of hundred-petaled lotuses. Seeing all this, Lord Kṛṣṇa decided to enjoy the auspicious atmosphere.

4The primeval Lord saw that the stately trees, with their beautiful reddish buds and their heavy burden of fruits and flowers, were bending down to touch His feet with the tips of their branches. Thus He smiled gently and addressed His elder brother.

5The Supreme Personality of Godhead said: O greatest of Lords, just see how these trees are bowing their heads at Your lotus feet, which are worshipable by the immortal demigods. The trees are offering You their fruits and flowers to eradicate the dark ignorance that has caused their birth as trees.

6O Original Personality, these bees must all be great sages and most elevated devotees of Yours, for they are worshiping You by following You along the path and chanting Your glories, which are themselves a holy place for the entire world. Though You have disguised Yourself within this forest, O sinless one, they refuse to abandon You, their worshipable Lord.

7O worshipable one, these peacocks are dancing before You out of joy, these doe are pleasing You with affectionate glances, just as the gopīs do, and these cuckoos are honoring You with Vedic prayers. All these residents of the forest are most fortunate, and their behavior toward You certainly befits great souls receiving another great soul at home.

8This earth has now become most fortunate, because You have touched her grass and bushes with Your feet and her trees and creepers with Your fingernails, and because You have graced her rivers, mountains, birds and animals with Your merciful glances. But above all, You have embraced the young cowherd women between Your two armsa favor hankered after by the goddess of fortune herself.

9Śukadeva Gosvāmī said: Thus expressing His satisfaction with the beautiful forest of Vṛndāvana and its inhabitants, Lord Kṛṣṇa enjoyed tending the cows and other animals with His friends on the banks of the river Yamunā below Govardhana Hill.

10-12Sometimes the honeybees in Vṛndāvana became so mad with ecstasy that they closed their eyes and began to sing. Lord Kṛṣṇa, moving along the forest path with His cowherd boyfriends and Baladeva, would then respond to the bees by imitating their singing while His friends sang about His pastimes. Sometimes Lord Kṛṣṇa would imitate the chattering of a parrot, sometimes, with a sweet voice, the call of a cuckoo, and sometimes the cooing of swans. Sometimes He vigorously imitated the dancing of a peacock, making His cowherd boyfriends laugh. Sometimes, with a voice as deep as the rumbling of clouds, He would call out with great affection the names of the animals who had wandered far from the herd, thus enchanting the cows and the cowherd boys.

13Sometimes He would cry out in imitation of birds such as the cakoras, krauṣcas, cakrāhvas, bhāradvājas and peacocks, and sometimes He would run away with the smaller animals in mock fear of lions and tigers.

14When His elder brother, fatigued from playing, would lie down with His head upon the lap of a cowherd boy, Lord Kṛṣṇa would help Him relax by personally massaging His feet and offering other services.

15Sometimes, as the cowherd boys danced, sang, moved about and playfully fought with each other, Kṛṣṇa and Balarāma, standing nearby hand in hand, would glorify Their friends' activities and laugh.

16Sometimes Lord Kṛṣṇa grew tired from fighting and lay down at the base of a tree, resting upon a bed made of soft twigs and buds and using the lap of a cowherd friend as His pillow.

17Some of the cowherd boys, who were all great souls, would then massage His lotus feet, and others, qualified by being free of all sin, would expertly fan the Supreme Lord.

18My dear King, other boys would sing enchanting songs appropriate to the occasion, and their hearts would melt out of love for the Lord.

19In this way the Supreme Lord, whose soft lotus feet are personally attended by the goddess of fortune, concealed His transcendental opulences by His internal potency and acted like the son of a cowherd. Yet even while enjoying like a village boy in the company of other village residents, He often exhibited feats only God could perform.

20Once, some of the cowherd boysŚrīdāmā, the very close friend of Rāma and Kṛṣṇa, along with Subala, Stokakṛṣṇa and otherslovingly spoke the following words.

21[The cowherd boys said:] O Rāma, Rāma, mighty-armed one! O Kṛṣṇa, destroyer of the miscreants! Not far from here is a very great forest filled with rows of palm trees.

22In that Tālavana forest many fruits are falling from the trees, and many are already lying on the ground. But all the fruits are being guarded by the evil Dhenuka.

23O Rāma, O Kṛṣṇa! Dhenuka is a most powerful demon and has assumed the form of an ass. He is surrounded by many friends who have assumed a similar shape and who are just as powerful as he.

24The demon Dhenuka has eaten men alive, and therefore all people and animals are terrified of going to the Tāla forest. O killer of the enemy, even the birds are afraid to fly there.

25In the Tāla forest are sweet-smelling fruits no one has ever tasted. Indeed, even now we can smell the fragrance of the tāla fruits spreading all about.

26O Kṛṣṇa! Please get those fruits for us. Our minds are so attracted by their aroma! Dear Balarāma, our desire to have those fruits is very great. If You think it's a good idea, let's go to that Tāla forest.

27Hearing the words of Their dear companions, Kṛṣṇa and Balarāma laughed and, desiring to please them, set off for the Tālavana surrounded by Their cowherd boyfriends.

28Lord Balarāma entered the Tāla forest first. Then with His two arms He began forcefully shaking the trees with the power of a maddened elephant, causing the tāla fruits to fall to the ground.

29Hearing the sound of the falling fruits, the ass demon Dhenuka ran forward to attack, making the earth and trees tremble.

30The powerful demon rushed up to Lord Baladeva and sharply struck the Lord's chest with the hooves of his hind legs. Then Dhenuka began to run about, braying loudly.

31Moving again toward Lord Balarāma, O King, the furious ass situated himself with his back toward the Lord. Then, screaming in rage, the demon hurled his two hind legs at Him.

32Lord Balarāma seized Dhenuka by his hooves, whirled him about with one hand and threw him into the top of a palm tree. The violent wheeling motion killed the demon.

33Lord Balarāma threw the dead body of Dhenukāsura into the tallest palm tree in the forest, and when the dead demon landed in the treetop, the tree began shaking. The great palm tree, causing a tree by its side also to shake, broke under the weight of the demon. The neighboring tree caused yet another tree to shake, and this one struck yet another tree, which also began shaking. In this way many trees in the forest shook and broke.

34Because of Lord Balarāma's pastime of throwing the body of the ass demon into the top of the tallest palm tree, all the trees began shaking and striking against one another as if blown about by powerful winds.

35My dear Parīkṣit, that Lord Balarāma killed Dhenukāsura is not such a wonderful thing, considering that He is the unlimited Personality of Godhead, the controller of the entire universe. Indeed, the entire cosmos rests upon Him just as a woven cloth rests upon its own horizontal and vertical threads.

36The other ass demons, close friends of Dhenukāsura, were enraged upon seeing his death, and thus they all immediately ran to attack Kṛṣṇa and Balarāma.

37O King, as the demons attacked, Kṛṣṇa and Balarāma easily seized them one after another by their hind legs and threw them all into the tops of the palm trees.

38The earth then appeared beautifully covered with heaps of fruits and with the dead bodies of

the demons, which were entangled in the broken tops of the palm trees. Indeed, the earth shone like the sky decorated with clouds.

39Hearing of this magnificent feat of the two brothers, the demigods and other elevated living beings rained down flowers and offered music and prayers in glorification.

40People now felt free to return to the forest where Dhenuka had been killed, and without fear they ate the fruits of the palm trees. Also, the cows could now graze freely upon the grass there.

41Then lotus-eyed Lord Śrī Kṛṣṇa, whose glories are most pious to hear and chant, returned home to Vraja with His elder brother, Balarāma. Along the way, the cowherd boys, His faithful followers, chanted His glories.

42Lord Kṛṣṇa's hair, powdered with the dust raised by the cows, was decorated with a peacock feather and forest flowers. The Lord glanced charmingly and smiled beautifully, playing upon His flute while His companions chanted His glories. The gopīs, all together, came forward to meet Him, their eyes very eager to see Him.

43With their beelike eyes, the women of Vṛndāvana drank the honey of the beautiful face of Lord Mukunda, and thus they gave up the distress they had felt during the day because of separation from Him. The young Vṛndāvana ladies cast sidelong glances at the Lordglances filled with bashfulness, laughter and submissionand Śrī Kṛṣṇa, completely accepting these glances as a proper offering of respect, entered the cowherd village.

44Mother Yaśodā and mother Rohiṇī, acting most affectionately toward their two sons, offered all the best things to Them in response to Their every desire and at the various appropriate times.

45By being bathed and massaged, the two young Lords were relieved of the weariness caused by walking on the country roads. Then They were dressed in attractive robes and decorated with transcendental garlands and fragrances.

46After dining sumptuously on the delicious food given Them by Their mothers and being pampered in various ways, the two brothers lay down upon Their excellent beds and happily went to sleep in the village of Vraja.

47O King, the Supreme Lord Kṛṣṇa thus wandered about the Vṛndāvana area, performing His pastimes. Once, surrounded by His boyfriends, He went without Balarāma to the Yamunā River.

48At that time the cows and cowherd boys were feeling acute distress from the glaring summer sun. Afflicted by thirst, they drank the water of the Yamunā River. But it had been contaminated with poison.

49-50As soon as they touched the poisoned water, all the cows and boys lost their consciousness by the divine power of the Lord and fell lifeless at the water's edge. O hero of the Kurus, seeing them in such a condition, Lord Kṛṣṇa, the master of all masters of mystic potency, felt compassion for these devotees, who had no Lord other than Him. Thus He immediately brought them back to life by showering His nectarean glance upon them.

51Regaining their full consciousness, the cows and boys stood up out of the water and began to look at one another in great astonishment.

52O King, the cowherd boys then considered that although they had drunk poison and in fact

had died, simply by the merciful glance of Govinda they had regained their lives and stood up by their own strength.

### SB 10.16: Kṛṣṇa Chastises the Serpent Kāliya

This chapter describes Lord Śrī Kṛṣṇa's pastime of subduing the serpent Kāliya within the lake adjoining the river Yamunā and His showing mercy to Kāliya in response to the prayers offered by Kāliya's wives, the Nāgapatnīs.

To restore the purity of the Yamunā's waters, which had been contaminated by Kāliya's poison, Lord Kṛṣṇa climbed into a *kadamba* tree on the riverbank and jumped into the water. Then He began fearlessly playing within the water like a maddened elephant. Kāliya could not tolerate Kṛṣṇa's trespassing upon his personal residence, and the serpent quickly went up to the Lord and bit Him on the chest. When Kṛṣṇa's friends saw this, they fell down on the ground unconscious. At that time all sorts of evil omens appeared in Vraja, such as earth tremors, falling stars and the trembling of various creatures' left limbs.

The residents of Vṛndāvana thought, "Today Kṛṣṇa went to the forest without Balarāma, so we do not know what great misfortune may have befallen Him." Thinking in this way, they traced the path of Kṛṣṇa's footprints to the bank of the Yamunā. Within the water of the lake adjoining the river they saw Lord Kṛṣṇa, the very essence of their lives, enwrapped in the coils of a black snake. The residents thought the three worlds had become empty, and they all prepared to enter the water. But Lord Balarāma checked them, knowing well the power of Kṛṣṇa.

Then Lord Kṛṣṇa, seeing how disturbed His friends and relatives had become, expanded His body greatly and forced the serpent to loosen his grip and release Him. Next the Lord began playfully dancing about on the serpent's hoods. By this wonderful, boisterous dancing, Śrī Kṛṣṇa trampled the serpent's one thousand hoods until his body slackened. Vomiting blood from his mouths, Kāliya finally understood that Kṛṣṇa was the primeval personality, Lord Nārāyaṇa, the spiritual master of all moving and nonmoving creatures, and he took shelter of Him.

Seeing how very weary Kāliya had become, his wives, the Nāgapatnīs, bowed down at Lord Kṛṣṇa's lotus feet. Then they offered Him various prayers in hopes of gaining their husband's freedom: "It is quite fitting that You have brought our cruel husband to this condition. Indeed, by Your anger he has gained great benefit. What piety Kāliya must have amassed in his previous lives! Today he has borne upon his head the dust of the lotus feet of the Personality of Godhead, the attainment of which is difficult for even the mother of the universe, the goddess Lakṣmī. Please kindly forgive the offense Kāliya has committed out of ignorance, and allow him to live."

Satisfied by the Nāgapatnīs' prayers, Kṛṣṇa released Kāliya, who slowly regained his sensory and vital powers. Then Kāliya, in a distressed voice, acknowledged the offense he had committed, and finally he offered Kṛṣṇa many prayers and said he was ready to accept His command. Kṛṣṇa told him to leave the Yamunā lake with his family and return to Ramaṇaka Island.

1Śukadeva Gosvāmī said: Lord Śrī Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, seeing that the Yamunā River had been contaminated by the black snake Kāliya, desired to purify the river, and thus the Lord banished him from it.

2King Parīkṣit inquired: O learned sage, please explain how the Supreme Personality of Godhead chastised the serpent Kāliya within the unfathomable waters of the Yamunā, and how

it was that Kāliya had been living there for so many ages.

3O brāhmaṇa, the unlimited Supreme Personality of Godhead freely acts according to His own desires. Who could be satiated when hearing the nectar of the magnanimous pastimes He performed as a cowherd boy in Vṛndāvana?

4ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: Within the river Kālindī [Yamunā] was a lake inhabited by the serpent Kāliya, whose fiery poison constantly heated and boiled its waters. Indeed, the vapors thus created were so poisonous that birds flying over the contaminated lake would fall down into it.

5The wind blowing over that deadly lake carried droplets of water to the shore. Simply by coming in contact with that poisonous breeze, all vegetation and creatures on the shore died.

6Lord Kṛṣṇa saw how the Kāliya serpent had polluted the Yamunā River with his terribly powerful poison. Since Kṛṣṇa had descended from the spiritual world specifically to subdue envious demons, the Lord immediately climbed to the top of a very high kadamba tree and prepared Himself for battle. He tightened His belt, slapped His arms and then jumped into the poisonous water.

7When the Supreme Personality of Godhead landed in the serpent's lake, the snakes there became extremely agitated and began breathing heavily, further polluting it with volumes of poison. The force of the Lord's entrance into the lake caused it to overflow on all sides, and poisonous, fearsome waves flooded the surrounding lands up to a distance of one hundred bow-lengths. This is not at all amazing, however, for the Supreme Lord possesses infinite strength.

8Kṛṣṇa began sporting in Kāliya's lake like a lordly elephantswirling His mighty arms and making the water resound in various ways. When Kāliya heard these sounds, he understood that someone was trespassing in his lake. The serpent could not tolerate this and immediately came forward.

9Kāliya saw that Śrī Kṛṣṇa, who wore yellow silken garments, was very delicate, His attractive body shining like a glowing white cloud, His chest bearing the mark of Śrīvatsa, His face smiling beautifully and His feet resembling the whorl of a lotus flower. The Lord was playing fearlessly in the water. Despite His wonderful appearance, the envious Kāliya furiously bit Him on the chest and then completely enwrapped Him in his coils.

10When the members of the cowherd community, who had accepted Kṛṣṇa as their dearmost friend, saw Him enveloped in the snake's coils, motionless, they were greatly disturbed. They had offered Kṛṣṇa everythingtheir very selves, their families, their wealth, wives and all pleasures. At the sight of the Lord in the clutches of the Kāliya snake, their intelligence became deranged by grief, lamentation and fear, and thus they fell to the ground.

11The cows, bulls and female calves, in great distress, called out piteously to Kṛṣṇa. Fixing their eyes on Him, they stood still in fear, as if ready to cry but too shocked to shed tears.

12In the Vṛndāvana area there then arose all three types of fearful omensthose on the earth, those in the sky and those in the bodies of living creatureswhich announced imminent danger.

13-15Seeing the inauspicious omens, Nanda Mahārāja and the other cowherd men were fearful, for they knew that Kṛṣṇa had gone to herd the cows that day without His elder brother, Balarāma. Because they had dedicated their minds to Kṛṣṇa, accepting Him as their very life, they were unaware of His great power and opulence. Thus they concluded that the

inauspicious omens indicated He had met with death, and they were overwhelmed with grief, lamentation and fear. All the inhabitants of Vṛndāvana, including the children, women and elderly persons, thought of Kṛṣṇa just as a cow thinks of her helpless young calf, and thus these poor, suffering people rushed out of the village, intent upon finding Him.

16The Supreme Lord Balarāma, the master of all transcendental knowledge, smiled and said nothing when He saw the residents of Vṛndāvana in such distress, since He understood the extraordinary power of His younger brother.

17The residents hurried toward the banks of the Yamunā in search of their dearmost Kṛṣṇa, following the path marked by His footprints, which bore the unique signs of the Personality of Godhead.

18The footprints of Lord Kṛṣṇa, the master of the entire cowherd community, were marked with the lotus flower, barleycorn, elephant goad, thunderbolt and flag. My dear King Parīkṣit, seeing His footprints on the path among the cows' hoofprints, the residents of Vṛndāvana rushed along in great haste.

19As they hurried along the path to the bank of the Yamunā River, they saw from a distance that Kṛṣṇa was in the lake, motionless within the coils of the black serpent. They further saw that the cowherd boys had fallen unconscious and that the animals were standing on all sides, crying out for Kṛṣṇa. Seeing all this, the residents of Vṛndāvana were overwhelmed with anguish and confusion.

20When the young gopīs, whose minds were constantly attached to Kṛṣṇa, the unlimited Supreme Lord, saw that He was now within the grips of the serpent, they remembered His loving friendship, His smiling glances and His talks with them. Burning with great sorrow, they saw the entire universe as void.

21Although the elder gopīs were feeling just as much distress as she and were pouring forth a flood of sorrowful tears, they had to forcibly hold back Kṛṣṇa's mother, whose consciousness was totally absorbed in her son. Standing like corpses, with their eyes fixed upon His face, these gopīs each took turns recounting the pastimes of the darling of Vraja.

22Lord Balarāma then saw that Nanda Mahārāja and the other cowherd men, who had dedicated their very lives to Kṛṣṇa, were beginning to enter the serpent's lake. As the Supreme Personality of Godhead, Lord Balarāma fully knew Lord Kṛṣṇa's actual power, and therefore He restrained them.

23The Lord remained for some time within the coils of the serpent, imitating the behavior of an ordinary mortal. But when He understood that the women, children and other residents of His village of Gokula were in acute distress because of their love for Him, their only shelter and goal in life, He immediately rose up from the bonds of the Kāliya serpent.

24His coils tormented by the expanding body of the Lord, Kāliya released Him. In great anger the serpent then raised his hoods high and stood still, breathing heavily. His nostrils appeared like vessels for cooking poison, and the staring eyes in his face like firebrands. Thus the serpent looked at the Lord.

25Again and again Kāliya licked his lips with his bifurcated tongues as He stared at Kṛṣṇa with a glance full of terrible, poisonous fire. But Kṛṣṇa playfully circled around him, just as Garuḍa would play with a snake. In response, Kāliya also moved about, looking for an opportunity to bite the Lord.

26Having severely depleted the serpent's strength with His relentless circling, Śrī Kṛṣṇa, the origin of everything, pushed down Kāliya's raised shoulders and mounted his broad serpentine heads. Thus Lord Śrī Kṛṣṇa, the original master of all fine arts, began to dance, His lotus feet deeply reddened by the touch of the numerous jewels upon the serpent's heads.

27Seeing the Lord dancing, His servants in the heavenly planetsthe Gandharvas, Siddhas, sages, Cāraṇas and wives of the demigodsimmediately arrived there. With great pleasure they began accompanying the Lord's dancing by playing drums such as mṛdaṅgas, paṇavas and ānakas. They also made offerings of songs, flowers and prayers.

28My dear King, Kāliya had 101 prominent heads, and when one of them would not bow down, Lord Śrī Kṛṣṇa, who inflicts punishment on cruel wrong-doers, would smash that stubborn head by striking it with His feet. Then, as Kāliya entered his death throes, he began wheeling his heads around and vomiting ghastly blood from his mouths and nostrils. The serpent thus experienced extreme pain and misery.

29Exuding poisonous waste from his eyes, Kāliya, would occasionally dare to raise up one of his heads, which would breathe heavily with anger. Then the Lord would dance on it and subdue it, forcing it to bow down with His foot. The demigods took each of these exhibitions as an opportunity to worship Him, the primeval Personality of Godhead, with showers of flowers.

30My dear King Parīkṣit, Lord Kṛṣṇa's wonderful, powerful dancing trampled and broke all of Kāliya's one thousand hoods. Then the serpent, profusely vomiting blood from his mouths, finally recognized Śrī Kṛṣṇa to be the eternal Personality of Godhead, the supreme master of all moving and nonmoving beings, Śrī Nārāyaṇa. Thus within his mind Kāliya took shelter of the Lord.

31When Kāliya's wives saw how the serpent had become so fatigued from the excessive weight of Lord Kṛṣṇa, who carries the entire universe in His abdomen, and how Kāliya's umbrellalike hoods had been shattered by the striking of Kṛṣṇa's heels, they felt great distress. With their clothing, ornaments and hair scattered in disarray, they then approached the eternal Personality of Godhead.

32Their minds very much disturbed, those saintly ladies placed their children before them and then bowed down to the Lord of all creatures, laying their bodies flat upon the ground. They desired the liberation of their sinful husband and the shelter of the Supreme Lord, the giver of ultimate shelter, and thus they folded their hands in supplication and approached Him.

33The wives of the Kāliya serpent said: The punishment this offender has been subjected to is certainly just. After all, You have incarnated within this world to curb down envious and cruel persons. You are so impartial that You look equally upon Your enemies and Your own sons, for when You impose a punishment on a living being You know it to be for his ultimate benefit.

34What You have done here is actually mercy for us, since the punishment You give to the wicked certainly drives away all their contamination. Indeed, because this conditioned soul, our husband, is so sinful that he has assumed the body of a serpent, Your anger toward him is obviously to be understood as Your mercy.

35Did our husband carefully perform austerities in a previous life, with his mind free of pride and full of respect for others? Is that why You are pleased with him? Or did he in some previous existence carefully execute religious duties with compassion for all living beings, and

is that why You, the life of all living beings, are now satisfied with him?

36O Lord, we do not know how the serpent Kāliya has attained this great opportunity of being touched by the dust of Your lotus feet. For this end, the goddess of fortune performed austerities for centuries, giving up all other desires and observing austere vows.

37Those who have attained the dust of Your lotus feet never hanker for the kingship of heaven, limitless sovereignty, the position of Brahmā or rulership over the earth. They are not interested even in the perfections of yoga or in liberation itself.

38O Lord, although this Kāliya, the king of the serpents, has taken birth in the mode of ignorance and is controlled by anger, he has achieved that which is difficult for others to achieve. Embodied souls, who are full of desires and are thus wandering in the cycle of birth and death, can have all benedictions manifested before their eyes simply by receiving the dust of Your lotus feet.

39We offer our obeisances unto You, the Supreme Personality of Godhead. Although present in the hearts of all living beings as the Supersoul, You are all-pervasive. Although the original shelter of all created material elements, You exist prior to their creation. And although the cause of everything, You are transcendental to all material cause and effect, being the Supreme Soul.

40Obeisances unto You, the Absolute Truth, who are the reservoir of all transcendental consciousness and potency and the possessor of unlimited energies. Although completely free of material qualities and transformations, You are the prime mover of material nature.

41Obeisances unto You, who are time itself, the shelter of time and the witness of time in all its phases. You are the universe, and also its separate observer. You are its creator, and also the totality of all its causes.

42-43Obeisances unto You, who are the ultimate soul of the physical elements, of the subtle basis of perception, of the senses, of the vital air of life, and of the mind, intelligence and consciousness. By Your arrangement the infinitesimal spirit souls falsely identify with the three modes of material nature, and their perception of their own true self thus becomes clouded. We offer our obeisances unto You, the unlimited Supreme Lord, the supremely subtle one, the omniscient Personality of Godhead, who are always fixed in unchanging transcendence, who sanction the opposing views of different philosophies, and who are the power upholding expressed ideas and the words that express them.

44We offer our obeisances again and again to You, who are the basis of all authoritative evidence, who are the author and ultimate source of the revealed scriptures, and who have manifested Yourself in those Vedic literatures encouraging sense gratification as well as in those encouraging renunciation of the material world.

45We offer our obeisances to Lord Kṛṣṇa and Lord Rāma, the sons of Vasudeva, and to Lord Pradyumna and Lord Aniruddha. We offer our respectful obeisances unto the master of all the saintly devotees of Viṣṇu.

46Obeisances to You, O Lord, who manifest varieties of material and spiritual qualities. You disguise Yourself with the material qualities, and yet the functioning of those same material qualities ultimately reveals Your existence. You stand apart from the material qualities as a witness and can be fully known only by Your devotees.

47O Lord Hṛṣīkeśa, master of the senses, please let us offer our obeisances unto You, whose

pastimes are inconceivably glorious. Your existence can be inferred from the necessity for a creator and revealer of all cosmic manifestations. But although Your devotees can understand You in this way, to the nondevotees You remain silent, absorbed in self-satisfaction.

48Obeisances unto You, who know the destination of all things, superior and inferior, and who are the presiding regulator of all that be. You are distinct from the universal creation, and yet You are the basis upon which the illusion of material creation evolves, and also the witness of this illusion. Indeed, You are the root cause of the entire world.

49O almighty Lord, although You have no reason to become involved in material activity, still You act through Your eternal potency of time to arrange for the creation, maintenance and destruction of this universe. You do this by awakening the distinct functions of each of the modes of nature, which before the creation lie dormant. Simply by Your glance You perfectly execute all these activities of cosmic control in a sporting mood.

50Therefore all material bodies throughout the three worldsthose that are peaceful, in the mode of goodness; those that are agitated, in the mode of passion; and those that are foolish, in the mode of ignoranceall are Your creations. Still, those living entities whose bodies are in the mode of goodness are especially dear to You, and it is to maintain them and protect their religious principles that You are now present on the earth.

51At least once, a master should tolerate an offense committed by his child or subject. O supreme peaceful Soul, You should therefore forgive our foolish husband, who did not understand who You are.

52O Supreme Lord, please be merciful. It is proper for the saintly to feel compassion for women like us. This serpent is about to give up his life. Please give us back our husband, who is our life and soul.

53Now please tell us, Your maidservants, what we should do. Certainly anyone who faithfully executes Your order is automatically freed from all fear.

54Śukadeva Gosvāmī said: Thus praised by the Nāgapatnīs, the Supreme Personality of Godhead released the serpent Kāliya, who had fallen unconscious, his heads battered by the striking of the Lord's lotus feet.

55Kāliya slowly regained his vital force and sensory functions. Then, breathing loudly and painfully, the poor serpent addressed Lord Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, in humble submission.

56The serpent Kāliya said: Our very birth as a snake has made us envious, ignorant and constantly angry. O my Lord, it is so difficult for people to give up their conditioned nature, by which they identify with that which is unreal.

57O supreme creator, it is You who generate this universe, composed of the variegated arrangement of the material modes, and in the process You manifest various kinds of personalities and species, varieties of sensory and physical strength, and varieties of mothers and fathers with variegated mentalities and forms.

58O Supreme Personality of Godhead, among all the species within Your material creation, we serpents are by nature always enraged. Being thus deluded by Your illusory energy, which is very difficult to give up, how can we possibly give it up on our own?

59O Lord, since You are the omniscient Lord of the universe, You are the actual cause of freedom from illusion. Please arrange for us whatever You consider proper, whether it be

mercy or punishment.

60Śukadeva Gosvāmī said: After hearing Kāliya's words, the Supreme Personality of Godhead, who was acting the role of a human being, replied: O serpent, you may not remain here any longer. Go back to the ocean immediately, accompanied by your retinue of children, wives, other relatives and friends. Let this river be enjoyed by the cows and humans.

61If a mortal being attentively remembers My command to youto leave Vṛndāvana and go to the oceanand narrates this account at sunrise and sunset, he will never be afraid of you.

62If one bathes in this place of My pastimes and offers the water of this lake to the demigods and other worshipable personalities, or if one observes a fast and duly worships and remembers Me, he is sure to become free from all sinful reactions.

63Out of fear of Garuḍa, you left Ramaṇaka Island and came to take shelter of this lake. But because you are now marked with My footprints, Garuḍa will no longer try to eat you.

64Śukadeva Gosvāmī continued: My dear King, having been released by Lord Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, whose activities are wonderful, Kāliya joined his wives in worshiping Him with great joy and reverence.

65-67Kāliya worshiped the Lord of the universe by offering Him fine garments, along with necklaces, jewels and other valuable ornaments, wonderful scents and ointments, and a large garland of lotus flowers. Having thus pleased the Lord, whose flag is marked with the emblem of Garuḍa, Kāliya felt satisfied. Receiving the Lord's permission to leave, Kāliya circumambulated Him and offered Him obeisances. Then, taking his wives, friends and children, he went to his island in the sea. The very moment Kāliya left, the Yamunā was immediately restored to her original condition, free from poison and full of nectarean water. This happened by the mercy of the Supreme Personality of Godhead, who was manifesting a humanlike form to enjoy His pastimes.

## SB 10.17: The History of Kāliya

This chapter describes how Kāliya left the island of the snakes and how the sleeping residents of Vṛndāvana were saved from a forest fire.

When King Parīkṣit inquired about Kāliya's leaving Ramaṇaka Island, the abode of the serpents, and about why Garuḍa acted inimically toward him, ŚrīŚukadeva Gosvāmī replied as follows: All the serpents on the island were afraid of being devoured by Garuḍa. To placate him, every month they would leave various offerings for him at the foot of a banyan tree. But Kāliya, puffed-up as he was with false pride, would eat these offerings himself. Hearing of this, Garuḍa became furious and went to kill Kāliya, whereupon the snake began biting the great bird. Garuḍa fiercely beat him with his wing, sending Kāliya fleeing for his life to a lake adjoining the Yamunā River.

Prior to the above incident, Garuḍa had once come to the Yamunā and started eating some fish. Saubhari Ṛṣi had tried to stop him, but Garuḍa, agitated by hunger, had refused to heed the sage's prohibitions, and in response the sage had cursed Garuḍa that if he ever came there again he would immediately die. Kāliya had heard of this, and thus he lived there without fear. In the end, however, he was driven out by Śrī Kṛṣṇa.

When Lord Balarāma and all the residents of Vṛndāvana saw Śrī Kṛṣṇa rise up out of the lake,

beautifully decorated with many different gems and ornaments, they embraced Him in great pleasure. The spiritual masters, priests and learned *brāhmaṇas* then told Nanda Mahārāja, the king of the cowherds, that although his son had been caught in the grips of Kāliya, it was by the king's good fortune that He was now free again.

Because the people of Vṛndāvana were quite worn out by hunger, thirst and fatigue, they spent that night on the banks of the Yamunā. In the middle of the night, a fire happened to blaze up within the forest, which had become dry during the hot season. As the fire surrounded the sleeping inhabitants of Vṛndāvana, they suddenly awoke and rushed to Śrī Kṛṣṇa for protection. Then the unlimitedly powerful Lord Śrī Kṛṣṇa, seeing His dear relatives and friends so distressed, immediately swallowed up the terrible forest fire.

1[Having thus heard how Lord Kṛṣṇa chastised Kāliya,] King Parīkṣit inquired: Why did Kāliya leave Ramaṇaka Island, the abode of the serpents, and why did Garuḍa become so antagonistic toward him alone?

2-3Śukadeva Gosvāmī said: To avoid being eaten by Garuḍa, the serpents had previously made an arrangement with him whereby they would each make a monthly offering of tribute at the base of a tree. Thus every month on schedule, O mighty-armed King Parīkṣit, each serpent would duly make his offering to that powerful carrier of Viṣṇu as a purchase of protection.

4Although all the other serpents were dutifully making offerings to Garuḍa, one serpentthe arrogant Kāliya, son of Kadruwould eat all these offerings before Garuḍa could claim them. Thus Kāliya directly defied the carrier of Lord Viṣṇu.

5O King, the greatly powerful Garuḍa, who is very dear to the Supreme Lord, became angry when he heard of this. Desiring to kill Kāliya, he rushed toward the serpent with tremendous speed.

6As Garuḍa swiftly fell upon him, Kāliya, who had the weapon of poison, raised his numerous heads to counterattack. Showing his ferocious tongues and expanding his horrible eyes, Kāliya then bit Garuḍa with the weapons of his fangs.

7The angry son of Tārkṣya moved with overwhelming speed in repelling Kāliya's attack. That terribly powerful carrier of Lord Madhusūdana struck the son of Kadru with his left wing, which shone like gold.

8Beaten by Garuḍa's wing, Kāliya was extremely distraught, and thus he took shelter of a lake adjoining the river Yamunā. Garuḍa could not enter this lake. Indeed, he could not even approach it.

9In that very lake Garuḍa had once desired to eat a fishfish being, after all, his normal food. Although forbidden by the sage Saubhari, who was meditating there within the water, Garuḍa took courage and, feeling hungry, seized the fish.

10Seeing how the unfortunate fish in that lake had become most unhappy at the death of their leader, Saubhari uttered the following curse under the impression that he was mercifully acting for the benefit of the lake's residents.

11If Garuḍa ever again enters this lake and eats the fish here, he will immediately lose his life. What I am saying is the truth.

12Of all the serpents, only Kāliya came to know of this affair, and in fear of Garuḍa he took up residence in that Yamunā lake. Later Lord Kṛṣṇa drove him out.

13-14[Resuming his description of Kṛṣṇa's chastisement of Kāliya, Śukadeva Gosvāmī continued:] Kṛṣṇa rose up out of the lake wearing divine garlands, fragrances and garments, covered with many fine jewels, and decorated with gold. When the cowherds saw Him they all stood up immediately, just like an unconscious person's senses coming back to life. Filled with great joy, they affectionately embraced Him.

15Having regained their vital functions, Yaśodā, Rohiṇī, Nanda and all the other cowherd women and men went up to Kṛṣṇa. O descendant of Kuru, even the dried-up trees came back to life.

16Lord Balarāma embraced His infallible brother and laughed, knowing well the extent of Kṛṣṇa's potency. Out of great feelings of love, Balarāma lifted Kṛṣṇa up on His lap and repeatedly looked at Him. The cows, bulls and young female calves also achieved the highest pleasure.

17All the respectable brāhmaṇas, together with their wives, came forward to greet Nanda Mahārāja. They said to him, "Your son was in the grips of Kāliya, but by the grace of Providence He is now free."

18The brāhmaṇas then advised Nanda Mahārāja, "To assure that your son Kṛṣṇa will always be free from danger, you should give charity to the brāhmaṇas." With a satisfied mind, O King, Nanda Mahārāja then very gladly gave them gifts of cows and gold.

19The greatly fortunate mother Yaśodā, having lost her son and then regained Him, placed Him on her lap. That chaste lady cried constant torrents of tears as she repeatedly embraced Him.

20O best of kings [Parīkṣit], because the residents of Vṛndāvana were feeling very weak from hunger, thirst and fatigue, they and the cows spent the night where they were, lying down near the bank of the Kālindī.

21During the night, while all the people of Vṛndāvana were asleep, a great fire blazed up within the dry summer forest. The fire surrounded the inhabitants of Vraja on all sides and began to scorch them.

22Then the residents of Vṛndāvana woke up, extremely disturbed by the great fire threatening to burn them. Thus they took shelter of Kṛṣṇa, the Supreme Lord, who by His spiritual potency appeared like an ordinary human being.

23[Vṛndāvana's residents said:] Kṛṣṇa, Kṛṣṇa, O Lord of all opulence! O Rāma, possessor of unlimited power! This most terrible fire is about to devour us, Your devotees!

24O Lord, we are Your true friends and devotees. Please protect us from this insurmountable fire of death. We can never give up Your lotus feet, which drive away all fear.

25Seeing His devotees so disturbed, Śrī Kṛṣṇa, the infinite Lord of the universe and possessor of infinite power, then swallowed the terrible forest fire.

### SB 10.18: Lord Balarāma Slays the Demon Pralamba

The killing of Pralambāsura is described in this chapter. While playing happily in Vṛndāvana, Lord Baladeva climbed up on the shoulders of the demon Pralamba and struck his head with His fist, destroying him.

Śrī Vṛndāvana, where Kṛṣṇa and Balarāma enacted Their pastimes, was even during the summer decorated with all the qualities of spring. At that time Lord Śrī Kṛṣṇa would become absorbed in various sports, surrounded by Balarāma and all the cowherd boys. One day they were intently dancing, singing and playing when a demon named Pralamba entered their midst, disguised as a cowherd boy. The omniscient Lord Kṛṣṇa saw through the disguise, but even as He thought of how to kill the demon, He treated him as a friend.

Kṛṣṇa then suggested to His young friends and Baladeva that they play a game involving contending parties. Taking the role of leaders, Kṛṣṇa and Balarāma divided the boys into two groups and determined that the losers would have to carry the winners on their shoulders. Thus when Śrīdāmā and Vṛṣabha, members of Balarāma's party, were victorious, Kṛṣṇa and another boy in His party carried them on their shoulders. Pralambāsura thought that the unconquerable Lord Śrī Kṛṣṇa would be too great an opponent to contend with, so the demon fought with Balarāma instead and was defeated. Taking Lord Balarāma on his back, Pralambāsura began to walk away very swiftly. But Balarāma became as heavy as Mount Sumeru, and the demon, unable to carry Him, had to reveal his true, demoniac form. When Balarāma saw this terrible form, He struck the demon a ferocious blow on the head with His fist. This blow shattered Pralambāsura's head just as lightning bolts hurled by the king of the demigods shatter mountains. The demon repeatedly vomited blood and then fell upon the ground. When the cowherd boys saw Lord Balarāma return, they joyfully embraced and congratulated Him as the demigods showered garlands of flowers from the heavens and glorified Him.

1Śukadeva Gosvāmī said: Surrounded by His blissful companions, who constantly chanted His glories, Śrī Kṛṣṇa then entered the village of Vraja, which was decorated with herds of cows.

2While Kṛṣṇa and Balarāma were thus enjoying life in Vṛndāvana in the guise of ordinary cowherd boys, the summer season gradually appeared. This season is not very pleasing to embodied souls.

3Nevertheless, because the Supreme Personality of Godhead was personally staying in Vṛndāvana along with Balarāma, summer manifested the qualities of spring. Such are the features of the land of Vṛndāvana.

4In Vṛndāvana, the loud sound of waterfalls covered the crickets' noise, and clusters of trees constantly moistened by spray from those waterfalls beautified the entire area.

5The wind wafting over the waves of the lakes and flowing rivers carried away the pollen of many varieties of lotuses and water lilies and then cooled the entire Vṛndāvana area. Thus the residents there did not suffer from the heat generated by the blazing summer sun and seasonal forest fires. Indeed, Vṛndāvana was abundant with fresh green grass.

6With their flowing waves the deep rivers drenched their banks, making them damp and muddy. Thus the rays of the sun, which were as fierce as poison, could not evaporate the earth's sap or parch its green grass.

7Flowers beautifully decorated the forest of Vṛndāvana, and many varieties of animals and birds filled it with sound. The peacocks and bees sang, and the cuckoos and cranes cooed.

8Intending to engage in pastimes, Lord Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, accompanied by Lord Balarāma and surrounded by the cowherd boys and the cows, entered the forest of Vṛndāvana as He played His flute.

9Decorating themselves with newly grown leaves, along with peacock feathers, garlands, clusters of flower buds, and colored minerals, Balarāma, Kṛṣṇa and Their cowherd friends danced, wrestled and sang.

10As Kṛṣṇa danced, some of the boys accompanied Him by singing, and others by playing flutes, hand cymbals and buffalo horns, while still others praised His dancing.

11O King, demigods disguised themselves as members of the cowherd community and, just as dramatic dancers praise another dancer, worshiped Kṛṣṇa and Balarāma, who were also appearing as cowherd boys.

12Kṛṣṇa and Balarāma played with their cowherd boyfriends by whirling about, leaping, hurling, slapping and fighting. Sometimes Kṛṣṇa and Balarāma would pull the hair on the boys' heads.

13While the other boys were dancing, O King, Kṛṣṇa and Balarāma would sometimes accompany them with song and instrumental music, and sometimes the two Lords would praise the boys, saying, "Very good! Very good!"

14Sometimes the cowherd boys would play with bilva or kumbha fruits, and sometimes with handfuls of āmalaka fruits. At other times they would play the games of trying to touch one another or of trying to identify somebody while one is blindfolded, and sometimes they would imitate animals and birds.

15They would sometimes jump around like frogs, sometimes play various jokes, sometimes ride in swings and sometimes imitate monarchs.

16In this way Kṛṣṇa and Balarāma played all sorts of well-known games as They wandered among the rivers, hills, valleys, bushes, trees and lakes of Vṛndāvana.

17While Rāma, Kṛṣṇa and Their cowherd friends were thus tending the cows in that Vṛndāvana forest, the demon Pralamba entered their midst. He had assumed the form of a cowherd boy with the intention of kidnapping Kṛṣṇa and Balarāma.

18Since the Supreme Lord Kṛṣṇa, who had appeared in the Daśārha dynasty, sees everything, He understood who the demon was. Still, the Lord pretended to accept the demon as a friend, while at the same time seriously considering how to kill him.

19Kṛṣṇa, who knows all sports and games, then called together the cowherd boys and spoke as follows: "Hey cowherd boys! Let's play now! We'll divide ourselves into two even teams."

20The cowherd boys chose Kṛṣṇa and Balarāma as the leaders of the two parties. Some of the boys were on Kṛṣṇa's side, and others joined Balarāma.

21The boys played various games involving carriers and passengers. In these games the winners would climb up on the backs of the losers, who would have to carry them.

22Thus carrying and being carried by one another, and at the same time tending the cows, the boys followed Kṛṣṇa to a banyan tree known as Bhāṇḍīraka.

23My dear King Parīkṣit, when Śrīdāmā, Vṛṣabha and the other members of Lord Balarāma's party were victorious in these games, Kṛṣṇa and His followers had to carry them.

24Defeated, the Supreme Lord Kṛṣṇa carried Śrīdāmā. Bhadrasena carried Vṛṣabha, and Pralamba carried Balarāma, the son of Rohiṇī.

25Considering Lord Kṛṣṇa invincible, that foremost demon [Pralamba] quickly carried Balarāma far beyond the spot where he was supposed to put his passenger down.

26As the great demon carried Balarāma, the Lord became as heavy as massive Mount Sumeru, and Pralamba had to slow down. He then resumed his actual forman effulgent body that was covered with golden ornaments and that resembled a cloud flashing with lightning and carrying the moon.

27When Lord Balarāma, who carries the plow weapon, saw the gigantic body of the demon as he moved swiftly in the skywith his blazing eyes, fiery hair, terrible teeth reaching toward his scowling brows, and an amazing effulgence generated by his armlets, crown and earringsthe Lord seemed to become a little frightened.

28Remembering the actual situation, the fearless Balarāma understood that the demon was tṛying to kidnap Him and take Him away from His companions. The Lord then became furious and struck the demon's head with His hard fist, just as Indra, the king of the demigods, strikes a mountain with his thunderbolt weapon.

29Thus smashed by Balarāma's fist, Pralamba's head immediately cracked open. The demon vomited blood from his mouth and lost all consciousness, and then with a great noise he fell lifeless on the ground, like a mountain devastated by Indra.

30The cowherd boys were most astonished to see how the powerful Balarāma had killed the demon Pralamba, and they exclaimed, "Excellent! Excellent!"

31They offered Balarāma profuse benedictions and then glorified Him, who deserves all glorification. Their minds overwhelmed with ecstatic love, they embraced Him as if He had come back from the dead.

32The sinful Pralamba having been killed, the demigods felt extremely happy, and they showered flower garlands upon Lord Balarāma and praised the excellence of His deed.

## SB 10.19: Swallowing the Forest Fire

This chapter describes how Lord Kṛṣṇa saved the cows and the cowherd boys from a great fire in the Muṣjāraṇya forest.

One day the cowherd boys became absorbed in sporting and allowed the cows to wander into a dense forest. Suddenly a forest fire blazed up, and to escape its flames the cows took refuge in a grove of sharp canes. When the cowherd boys missed their animals, they went searching for them, following their hoofprints and the trail of blades of grass and other plants they had trampled or had broken with their teeth. Finally the boys found the cows and removed them from the cane forest, but by that time the forest fire had grown strong and was threatening both the boys and the cows. Thus the cowherd boys took shelter of Śrī Kṛṣṇa, the master of all mystic power, who told them to close their eyes. They did so, and in a moment He had swallowed up the fierce forest fire and brought them all back to the Bhāṇḍīra tree mentioned in the last chapter. Seeing this wonderful display of mystic potency, the cowherd boys thought Kṛṣṇa must be a demigod, and they began to praise Him. Then they all returned home.

1Śukadeva Gosvāmī said: While the cowherd boys were completely absorbed in playing, their cows wandered far away. They hungered for more grass, and with no one to watch them they entered a dense forest.

2Passing from one part of the great forest to another, the goats, cows and buffalo eventually

entered an area overgrown with sharp canes. The heat of a nearby forest fire made them thirsty, and they cried out in distress.

3Not seeing the cows before them, Kṛṣṇa, Rāma and Their cowherd friends suddenly felt repentant for having neglected them. The boys searched all around, but could not discover where they had gone.

4Then the boys began tracing out the cows' path by noting their hoofprints and the blades of grass the cows had broken with their hooves and teeth. All the cowherd boys were in great anxiety because they had lost their source of livelihood.

5Within the Muṣjāforest the cowherd boys finally found their valuable cows, who had lost their way and were crying. Then the boys, thirsty and tired, herded the cows onto the path back home.

6The Supreme Personality of Godhead called out to the animals in a voice that resounded like a rumbling cloud. Hearing the sound of their own names, the cows were overjoyed and called out to the Lord in reply.

7Suddenly a great forest fire appeared on all sides, threatening to destroy all the forest creatures. Like a chariot driver, the wind swept the fire onward, and terrible sparks shot in all directions. Indeed, the great fire extended its tongues of flame toward all moving and nonmoving creatures.

8As the cows and cowherd boys stared at the forest fire attacking them on all sides, they became fearful. The boys then approached Kṛṣṇa and Balarāma for shelter, just as those who are disturbed by fear of death approach the Supreme Personality of Godhead. The boys addressed Them as follows.

9[The cowherd boys said:] O Kṛṣṇa! Kṛṣṇa! Most powerful one! O Rāma! You whose prowess never fails! Please save Your devotees, who are about to be burned by this forest fire and have come to take shelter of You!

10Kṛṣṇa! Certainly Your own friends shouldn't be destroyed. O knower of the nature of all things, we have accepted You as our Lord, and we are souls surrendered unto You!

11Śukadeva Gosvāmī said: Hearing these pitiful words from His friends, the Supreme Lord Kṛṣṇa told them, "Just close your eyes and do not be afraid."

12"All right," the boys replied, and immediately closed their eyes. Then the Supreme Lord, the master of all mystic power, opened His mouth and swallowed the terrible fire, saving His friends from danger.

13The cowherd boys opened their eyes and were amazed to find not only that they and the cows had been saved from the terrible fire but that they had all been brought back to the Bhāṇḍīra tree.

14When the cowherd boys saw that they had been saved from the forest fire by the Lord's mystic power, which is manifested by His internal potency, they began to think that Kṛṣṇa must be a demigod.

15It was now late in the afternoon, and Lord Kṛṣṇa, accompanied by Balarāma, turned the cows back toward home. Playing His flute in a special way, Kṛṣṇa returned to the cowherd village in the company of His cowherd friends, who chanted His glories.

16The young gopīs took the greatest pleasure in seeing Govinda come home, since for them even a moment without His association seemed like a hundred ages.

**SB 10.20: The Rainy Season and Autumn in Vṛndāvana**

To enhance the description of Lord Kṛṣṇa's pastimes, ŚrīŚukadeva Gosvāmī describes in this chapter the beauty of Vṛndāvana during autumn and the rainy season. In the course of his presentation he gives various charming instructions in metaphorical terms.

1Śukadeva Gosvāmī said:To the ladies of Vṛndāvana, the cowherd boys then related in full detail Kṛṣṇa's and Balarāma's wonderful activities of delivering them from the forest fire and killing the demon Pralamba.

2The elder cowherd men and ladies were amazed to hear this account, and they concluded that Kṛṣṇa and Balarāma must be exalted demigods who had appeared in Vṛndāvana.

3Then the rainy season began, giving life and sustenance to all living beings. The sky began to rumble with thunder, and lightning flashed on the horizon.

4The sky was then covered by dense blue clouds accompanied by lightning and thunder. Thus the sky and its natural illumination were covered in the same way that the spirit soul is covered by the three modes of material nature.

5With its rays, the sun had for eight months drunk up the earth's wealth in the form of water. Now that the proper time had arrived, the sun began releasing this accumulated wealth.

6Flashing with lightning, great clouds were shaken and swept about by fierce winds. Just like merciful persons, the clouds gave their lives for the pleasure of this world.

7The earth had been emaciated by the summer heat, but she became fully nourished again when moistened by the god of rain. Thus the earth was like a person whose body has been emaciated by austerities undergone for a material purpose, but who again becomes fully nourished when he achieves the fruit of those austerities.

8In the evening twilight during the rainy season, the darkness allowed the glowworms but not the stars to shine forth, just as in the Age of Kali the predominance of sinful activities allows atheistic doctrines to overshadow the true knowledge of the Vedas.

9The frogs, who had all along been lying silent, suddenly began croaking when they heard the rumbling of the rain clouds, in the same way that brāhmaṇa students, who perform their morning duties in silence begin reciting their lessons when called by their teacher.

10With the advent of the rainy season, the insignificant streams, which had become dry, began to swell and then strayed from their proper courses, like the body, property and money of a man controlled by the urges of his senses.

11The newly grown grass made the earth emerald green, the indragopa insects added a reddish hue, and white mushrooms added further color and circles of shade. Thus the earth appeared like a person who has suddenly become rich.

12With their wealth of grains, the fields gave joy to the farmers. But those fields created remorse in the hearts of those who were too proud to engage in farming and who failed to understand how everything is under the control of the Supreme.

13As all creatures of the land and water took advantage of the newly fallen rainwater, their

forms became attractive and pleasing, just as a devotee becomes beautiful by engaging in the service of the Supreme Lord.

14Where the rivers joined the ocean it became agitated, its waves blown about by the wind, just as the mind of an immature yogī becomes agitated because he is still tainted by lust and attached to the objects of sense gratification.

15Just as devotees whose minds are absorbed in the Personality of Godhead remain peaceful even when attacked by all sorts of dangers, the mountains in the rainy season were not at all disturbed by the repeated striking of the rain-bearing clouds.

16During the rainy season the roads, not being cleansed, became covered with grass and debris and were thus difficult to make out. These roads were like religious scriptures that brāhmaṇas no longer study and that thus become corrupted and covered over with the passage of time.

17Though the clouds are the well-wishing friends of all living beings, the lightning, fickle in its affinities, moved from one group of clouds to another, like lusty women unfaithful even to virtuous men.

18When the curved bow of Indra [the rainbow] appeared in the sky, which had the quality of thundering sound, it was unlike ordinary bows because it did not rest upon a string. Similarly, when the Supreme Lord appears in this world, which is the interaction of the material qualities, He is unlike ordinary persons because He remains free from all material qualities and independent of all material conditions.

19During the rainy season the moon was prevented from appearing directly by the covering of the clouds, which were themselves illumined by the moon's rays. Similarly, the living being in material existence is prevented from appearing directly by the covering of the false ego, which is itself illumined by the consciousness of the pure soul.

20The peacocks became festive and cried out a joyful greeting when they saw the clouds arrive, just as people distressed in household life feel pleasure when the pure devotees of the infallible Supreme Lord visit them.

21The trees had grown thin and dry, but after they drank the newly fallen rainwater through their feet, their various bodily features blossomed. Similarly, one whose body has grown thin and weak from austerity again exhibits his healthy bodily features upon enjoying the material objects gained through that austerity.

22The cranes continued dwelling on the shores of the lakes, although the shores were agitated during the rainy season, just as materialistic persons with contaminated minds always remain at home, despite the many disturbances there.

23When Indra sent forth his rains, the floodwaters broke through the irrigation dikes in the agricultural fields, just as in the Kali-yuga the atheists' false theories break down the boundaries of Vedic injunctions.

24The clouds, impelled by the winds, released their nectarean water for the benefit of all living beings, just as kings, instructed by their brāhmaṇa priests, dispense charity to the citizens.

25When the Vṛndāvana forest had thus become resplendent, filled with ripe dates and jambu fruits, Lord Kṛṣṇa, surrounded by His cows and cowherd boyfriends and accompanied by Śrī Balarāma, entered that forest to enjoy.

26The cows had to move slowly because of their weighty milk bags, but they quickly ran to the Supreme Personality of Godhead as soon as He called them, their affection for Him causing their udders to become wet.

27The Lord saw the joyful aborigine girls of the forest, the trees dripping sweet sap, and the mountain waterfalls, whose resounding indicated that there were caves nearby.

28When it rained, the Lord would sometimes enter a cave or the hollow of a tree to play and to eat roots and fruits.

29Lord Kṛṣṇa would take His meal of boiled rice and yogurt, sent from home, in the company of Lord Saṅkarṣaṇa and the cowherd boys who regularly ate with Him. They would all sit down to eat on a large stone near the water.

30-31Lord Kṛṣṇa watched the contented bulls, calves and cows sitting on the green grass and grazing with closed eyes, and He saw that the cows were tired from the burden of their heavy milk bags. Thus observing the beauty and opulence of Vṛndāvana's rainy season, a perennial source of great happiness, the Lord offered all respect to that season, which was expanded from His own internal potency.

32While Lord Rāma and Lord Keśava were thus dwelling in Vṛndāvana, the fall season arrived, when the sky is cloudless, the water clear and the wind gentle.

33The autumn season, which regenerated the lotus flowers, also restored the various bodies of water to their original purity, just as the process of devotional service purifies the minds of the fallen yogīs when they return to it.

34Autumn cleared the sky of clouds, let the animals get out of their crowded living conditions, cleaned the earth of its covering of mud, and purified the water of contamination, in the same way that loving service rendered to Lord Kṛṣṇa frees the members of the four spiritual orders from their respective troubles.

35The clouds, having given up all they possessed, shone forth with purified effulgence, just like peaceful sages who have given up all material desires and are thus free of all sinful propensities.

36During this season the mountains sometimes released their pure water and sometimes did not, just as experts in transcendental science sometimes give the nectar of transcendental knowledge and sometimes do not.

37The fish swimming in the increasingly shallow water did not at all understand that the water was diminishing, just as foolish family men cannot see how the time they have left to live is diminishing with every passing day.

38Just as a miserly, poverty-stricken person overly absorbed in family life suffers because he cannot control his senses, the fish swimming in the shallow water had to suffer the heat of the autumn sun.

39Gradually the different areas of land gave up their muddy condition and the plants grew past their unripe stage, in the same way that sober sages give up egotism and possessiveness. These are based on things different from the real self, namely, the material body and its by-products.

40With the arrival of autumn, the ocean and the lakes became silent, their water still, just like a sage who has desisted from all material activities and given up his recitation of Vedic mantras.

41In the same way that the practitioners of yoga bring their senses under strict control to check their consciousness from flowing out through the agitated senses, the farmers erected strong mud banks to keep the water within their rice fields from draining out.

42The autumn moon relieved all creatures of the suffering caused by the sun's rays, just as wisdom relieves a person of the misery caused by his identifying with his material body and as Lord Mukunda relieves Vṛndāvana's ladies of the distress caused by their separation from Him.

43Free of clouds and filled with clearly visible stars, the autumn sky shone brilliantly, just like the spiritual consciousness of one who has directly experienced the purport of the Vedic scriptures.

44The full moon shone in the sky, surrounded by stars, just as Śrī Kṛṣṇa, the Lord of the Yadu dynasty, shone brilliantly on the earth, surrounded by all the Vṛṣṇis.

45Except for the gopīs, whose hearts had been stolen by Kṛṣṇa, the people could forget their suffering by embracing the wind coming from the flower-filled forest. This wind was neither hot nor cold.

46By the influence of the autumn season, all the cows, doe, women and female birds became fertile and were followed by their respective mates in search of sexual enjoyment, just as activities performed for the service of the Supreme Lord are automatically followed by all beneficial results.

47O King Parīkṣit, when the autumn sun rose, all the lotus flowers blossomed happily, except the night-blooming kumut, just as in the presence of a strong ruler everyone becomes fearless, except the thieves.

48In all the towns and villages people held great festivals, performing the Vedic fire sacrifice for honoring and tasting the first grains of the new harvest, along with similar celebrations that followed local custom and tradition. Thus the earth, rich with newly grown grain and especially beautified by the presence of Kṛṣṇa and Balarāma, shone beautifully as an expansion of the Supreme Lord.

49The merchants, sages, kings and brahmacārī students, kept in by the rain, were at last free to go out and attain their desired objects, just as those who achieve perfection in this life can, when the proper time comes, leave the material body and attain their respective forms.

## SB 10.21: The Gopīs Glorify the Song of Kṛṣṇa's Flute

This chapter describes how Lord Śrī Kṛṣṇa entered the enchanting forest of Vṛndāvana upon the arrival of autumn, and the praises the young cowherd girls sang when they heard the vibration of His flute.

As Lord Kṛṣṇa, Lord Balarāma and Their cowherd friends entered the forest to graze the cows, Kṛṣṇa began playing His flute. The *gopīs* heard the enchanting flute-song and understood that Kṛṣṇa was entering the forest. Then they narrated to each other the Lord's various activities.

The *gopīs* declared: "To see Lord Kṛṣṇa playing His flute while taking the cows to pasture is the highest perfection for the eyes. What pious activities has this flute performed that enable him to freely drink the nectar of Śrī Kṛṣṇa's lipsa blessing we cowherd girls find difficult to achieve? Hearing the song of Kṛṣṇa's flute, the peacocks dance, and all the other creatures become stunned when they see them. Demigoddesses traveling through the sky in their airplanes are vexed by Cupid, and their garments become loose. The ears of the cows stand on end as they

drink the nectar of this flute-song, and their calves simply stand stunned, the milk they have been drinking from their mothers' udders still in their mouths. The birds take shelter of the branches of the trees and close their eyes, listening to the song of Kṛṣṇa's flute with rapt attention. The flowing rivers become perturbed by conjugal attraction for Kṛṣṇa and, stopping their flow, embrace Kṛṣṇa's lotus feet with the arms of their waves, while the clouds serve as parasols to shade Kṛṣṇa's head from the hot sun. The aborigine women of the Śabara race, seeing the grass stained by the red *kuṅkuma* adorning the Lord's lotus feet, smear this vermilion powder upon their breasts and faces to alleviate the distress created by Cupid. Govardhana Hill offers grass and various kinds of fruits and bulbous roots in worship of Lord Śrī Kṛṣṇa. All the nonmoving living beings take on the characteristics of moving creatures, and the moving living beings become stationary. These things are all very wonderful."

1Śukadeva Gosvāmī said: Thus the Vṛndāvana forest was filled with transparent autumnal waters and cooled by breezes perfumed with the fragrance of lotus flowers growing in the clear lakes. The infallible Lord, accompanied by His cows and cowherd boyfriends, entered that Vṛndāvana forest.

2The lakes, rivers and hills of Vṛndāvana resounded with the sounds of maddened bees and flocks of birds moving about the flowering trees. In the company of the cowherd boys and Balarāma, Madhupati [Śrī Kṛṣṇa] entered that forest, and while herding the cows He began to vibrate His flute.

3When the young ladies in the cowherd village of Vraja heard the song of Kṛṣṇa's flute, which arouses the influence of Cupid, some of them privately began describing Kṛṣṇa's qualities to their intimate friends.

4The cowherd girls began to speak about Kṛṣṇa, but when they remembered His activities, O King, the power of Cupid disturbed their minds, and thus they could not speak.

5Wearing a peacock-feather ornament upon His head, blue karṇikāra flowers on His ears, a yellow garment as brilliant as gold, and the Vaijayantī garland, Lord Kṛṣṇa exhibited His transcendental form as the greatest of dancers as He entered the forest of Vṛndāvana, beautifying it with the marks of His footprints. He filled the holes of His flute with the nectar of His lips, and the cowherd boys sang His glories.

6O King, when the young ladies in Vraja heard the sound of Kṛṣṇa's flute, which captivates the minds of all living beings, they all embraced one another and began describing it.

7The cowherd girls said: O friends, those eyes that see the beautiful faces of the sons of Mahārāja Nanda are certainly fortunate. As these two sons enter the forest, surrounded by Their friends, driving the cows before Them, They hold Their flutes to Their mouths and glance lovingly upon the residents of Vṛndāvana. For those who have eyes, we think there is no greater object of vision.

8Dressed in a charming variety of garments, upon which Their garlands rest, and decorating Themselves with peacock feathers, lotuses, lilies, newly grown mango sprouts and clusters of flower buds, Kṛṣṇa and Balarāma shine forth magnificently among the assembly of cowherd boys. They look just like the best of dancers appearing on a dramatic stage, and sometimes They sing.

9My dear gopīs, what auspicious activities must the flute have performed to enjoy the nectar of Kṛṣṇa's lips independently and leave only a taste for us gopīs, for whom that nectar is actually meant! The forefathers of the flute, the bamboo trees, shed tears of pleasure. His mother, the

river on whose bank the bamboo was born, feels jubilation, and therefore her blooming lotus flowers are standing like hair on her body.

10O friend, Vṛndāvana is spreading the glory of the earth, having obtained the treasure of the lotus feet of Kṛṣṇa, the son of Devakī. The peacocks dance madly when they hear Govinda's flute, and when other creatures see them from the hilltops, they all become stunned.

11Blessed are all these foolish deer because they have approached Mahārāja Nanda's son, who is gorgeously dressed and is playing on His flute. Indeed, both the doe and the bucks worship the Lord with looks of love and affection.

12Kṛṣṇa's beauty and character create a festival for all women. Indeed, when the demigods' wives flying in airplanes with their husbands catch sight of Him and hear His resonant flute-song, their hearts are shaken by Cupid, and they become so bewildered that the flowers fall out of their hair and their belts loosen.

13Using their upraised ears as vessels, the cows are drinking the nectar of the flute-song flowing out of Kṛṣṇa's mouth. The calves, their mouths full of milk from their mothers' moist nipples, stand still as they take Govinda within themselves through their tear-filled eyes and embrace Him within their hearts.

14O mother, in this forest all the birds have risen onto the beautiful branches of the trees to see Kṛṣṇa. With closed eyes they are simply listening in silence to the sweet vibrations of His flute, and they are not attracted by any other sound. Surely these birds are on the same level as great sages.

15When the rivers hear the flute-song of Kṛṣṇa, their minds begin to desire Him, and thus the flow of their currents is broken and their waters are agitated, moving around in whirlpools. Then with the arms of their waves the rivers embrace Murāri's lotus feet and, holding on to them, present offerings of lotus flowers.

16In the company of Balarāma and the cowherd boys, Lord Kṛṣṇa is continually vibrating His flute as He herds all the animals of Vraja, even under the full heat of the summer sun. Seeing this, the cloud in the sky has expanded himself out of love. He is rising high and constructing out of his own body, with its multitude of flower-like droplets of water, an umbrella for the sake of his friend.

17The aborigine women of the Vṛndāvana area become disturbed by lust when they see the grass marked with reddish kuṅkuma powder. Endowed with the color of Kṛṣṇa's lotus feet, this powder originally decorated the breasts of His beloveds, and when the aborigine women smear it on their faces and breasts, they feel fully satisfied and give up all their anxiety.

18Of all the devotees, this Govardhana Hill is the best! O my friends, this hill supplies Kṛṣṇa and Balarāma, along with Their calves, cows and cowherd friends, with all kinds of necessitieswater for drinking, very soft grass, caves, fruits, flowers and vegetables. In this way the hill offers respects to the Lord. Being touched by the lotus feet of Kṛṣṇa and Balarāma, Govardhana Hill appears very jubilant.

19My dear friends, as Kṛṣṇa and Balarāma pass through the forest with Their cowherd friends, leading Their cows, They carry ropes to bind the cows' rear legs at the time of milking. When Lord Kṛṣṇa plays on His flute, the sweet music causes the moving living entities to become stunned and the nonmoving trees to tremble with ecstasy. These things are certainly very wonderful.

20Thus narrating to one another the playful pastimes of the Supreme Personality of Godhead as He wandered about in the Vṛndāvana forest, the gopīs became fully absorbed in thoughts of Him.

**SB 10.22: Kṛṣṇa Steals the Garments of the Unmarried Gopīs**

This chapter describes how the marriageable daughters of the cowherd men worshiped Kātyāyanī to get Lord Śrī Kṛṣṇa as their husband, and how Kṛṣṇa stole the garments of the young girls and gave the girls benedictions.

During the month of Mārgaśīrṣa, every day early in the morning the young daughters of the cowherds would take one another's hands and, singing of Kṛṣṇa's transcendental qualities, go to the Yamunā to bathe. Desiring to obtain Kṛṣṇa as their husband, they would then worship the goddess Kātyāyanī with incense, flowers and other items.

One day, the young *gopīs* left their garments on the shore as usual and began playing in the water while chanting of Lord Kṛṣṇa's activities. Suddenly Kṛṣṇa Himself came there, took away all the garments and climbed a nearby *kadamba* tree. Wanting to tease the *gopīs,* Kṛṣṇa said, "I understand how fatigued you *gopīs* are from your austerities, so please come onto the shore and take back your clothes."

The *gopīs* then pretended to become angry and said the cold water of the Yamunā was giving them great pain. If Kṛṣṇa did not give them back their garments, they said, they would inform King Kaṁsa of all that had happened. But if He did give the clothes back, they would willingly carry out His orders in the mood of humble servants.

Śrī Kṛṣṇa replied that He had no fear of King Kaṁsa, and that if the girls really intended to follow His command and be His maidservants they should each immediately come onto the shore and take their respective garments. The girls, trembling from the cold, climbed out of the water with their two hands covering their private parts. Kṛṣṇa, who felt great affection for them, again spoke: "Because while executing a vow you bathed in the water naked, you have committed an offense against the demigods, and to counteract it you should offer obeisances with joined palms. Then your vow of austerity will achieve its full result."

The *gopīs* followed this instruction and, folding their hands in respect, offered obeisances to Śrī Kṛṣṇa. Satisfied, He gave them back their clothing. But the young girls had become so attracted to Him that they could not leave. Understanding their minds, Kṛṣṇa said that He knew they had worshiped Kātyāyanī to get Him as their husband. Because they had offered their hearts to Him, their desires would never again become tainted by the mood of materialistic enjoyment, just as fried barleycorns can no longer grow into shoots. Next autumn, He told them, their most cherished desire would be fulfilled.

Then the *gopīs,* fully satisfied, returned to Vraja, and Śrī Kṛṣṇa and His cowherd friends went off to a distant place to graze the cows.

Sometime later, when the boys felt disturbed by the great heat of summer, they took shelter at the base of a tree that stood just like an umbrella. The Lord then said that the life of a tree is most excellent, for even while feeling pain a tree continues to protect others from heat, rain, snow and so on. With its leaves, flowers, fruits, shade, roots, bark, wood, fragrance, sap, ashes, pulp and sprouts, a tree fulfills the desires of everyone. This kind of life is ideal. Indeed, said Kṛṣṇa, the perfection of life is to act with one's vital energy, wealth, intelligence and words for the benefit of all.

After the Lord had glorified the trees in this way, the entire company went to the Yamunā, where the cowherd boys let the cows drink the sweet water and also drank some themselves.

1Śukadeva Gosvāmī said: During the first month of the winter season, the young unmarried girls of Gokula observed the vow of worshiping goddess Kātyāyanī. For the entire month they ate only unspiced khichrī.

2-3My dear King, after they had bathed in the water of the Yamunā just as the sun was rising, the gopīs made an earthen deity of goddess Durgā on the riverbank. Then they worshiped her with such aromatic substances as sandalwood pulp, along with other items both opulent and simple, including lamps, fruits, betel nuts, newly grown leaves, and fragrant garlands and incense.

4Each of the young unmarried girls performed her worship while chanting the following mantra. "O goddess Kātyāyanī, O great potency of the Lord, O possessor of great mystic power and mighty controller of all, please make the son of Nanda Mahārāja my husband. I offer my obeisances unto you."

5Thus for an entire month the girls carried out their vow and properly worshiped the goddess Bhadrakālī, fully absorbing their minds in Kṛṣṇa and meditating upon the following thought: "May the son of King Nanda become my husband."

6Each day they rose at dawn. Calling out to one another by name, they all held hands and loudly sang the glories of Kṛṣṇa while going to the Kālindī to take their bath.

7One day they came to the riverbank and, putting aside their clothing as they had done before, happily played in the water while singing the glories of Kṛṣṇa.

8Lord Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead and master of all masters of mystic yoga, was aware of what the gopīs were doing, and thus He went there surrounded by His young companions to award the gopīs the perfection of their endeavor.

9Taking the girls' garments, He quickly climbed to the top of a kadamba tree. Then, as He laughed loudly and His companions also laughed, He addressed the girls jokingly.

10[Lord Kṛṣṇa said:] My dear girls, you may each come here as you wish and take back your garments. I'm telling you the truth and am not joking with you, since I see you're fatigued from executing austere vows.

11I have never before spoken a lie, and these boys know it. Therefore, O slender-waisted girls, please come forward, either one by one or all together, and pick out your clothes.

12Seeing how Kṛṣṇa was joking with them, the gopīs became fully immersed in love for Him, and as they glanced at each other they began to laugh and joke among themselves, even in their embarrassment. But still they did not come out of the water.

13As Śrī Govinda spoke to the gopīs in this way, His joking words completely captivated their minds. Submerged up to their necks in the cold water, they began to shiver. Thus they addressed Him as follows.

14[The gopīs said:] Dear Kṛṣṇa, don't be unfair! We know that You are the respectable son of Nanda and that You are honored by everyone in Vraja. You are also very dear to us. Please give us back our clothes. We are shivering in the cold water.

15O Śyāmasundara, we are Your maidservants and must do whatever You say. But give us

back our clothing. You know what the religious principles are, and if You don't give us our clothes we will have to tell the king. Please!

16The Supreme Personality of Godhead said: If you girls are actually My maidservants, and if you will really do what I say, then come here with your innocent smiles and let each girl pick out her clothes. If you don't do what I say, I won't give them back to you. And even if the king becomes angry, what can he do?

17Then, shivering from the painful cold, all the young girls rose up out of the water, covering their pubic area with their hands.

18When the Supreme Lord saw how the gopīs were struck with embarrassment, He was satisfied by their pure loving affection. Putting their clothes on His shoulder, the Lord smiled and spoke to them with affection.

19[Lord Kṛṣṇa said:] You girls bathed naked while executing your vow, and that is certainly an offense against the demigods. To counteract your sin you should offer obeisances while placing your joined palms above your heads. Then you should take back your lower garments.

20Thus the young girls of Vṛndāvana, considering what Lord Acyuta had told them, accepted that they had suffered a falldown from their vow by bathing naked in the river. But they still desired to successfully complete their vow, and since Lord Kṛṣṇa is Himself the ultimate result of all pious activities, they offered their obeisances to Him to cleanse away all their sins.

21Seeing them bow down like that, the Supreme Personality of Godhead, the son of Devakī, gave them back their garments, feeling compassionate toward them and satisfied by their act.

22Although the gopīs had been thoroughly cheated, deprived of their modesty, ridiculed and made to act just like toy dolls, and although their clothing had been stolen, they did not feel at all inimical toward Śrī Kṛṣṇa. Rather, they were simply joyful to have this opportunity to associate with their beloved.

23The gopīs were addicted to associating with their beloved Kṛṣṇa, and thus they became captivated by Him. Thus, even after putting their clothes on they did not move. They simply remained where they were, shyly glancing at Him.

24The Supreme Lord understood the determination of the gopīs in executing their strict vow. The Lord also knew that the girls desired to touch His lotus feet, and thus Lord Dāmodara, Kṛṣṇa, spoke to them as follows.

25[Lord Kṛṣṇa said:] O saintly girls, I understand that your real motive in this austerity has been to worship Me. That intent of yours is approved of by Me, and indeed it must come to pass.

26The desire of those who fix their minds on Me does not lead to material desire for sense gratification, just as barleycorns burned by the sun and then cooked can no longer grow into new sprouts.

27Go now, girls, and return to Vraja. Your desire is fulfilled, for in My company you will enjoy the coming nights. After all, this was the purpose of your vow to worship goddess Kātyāyanī, O pure-hearted ones.

28Śukadeva Gosvāmī said: Thus instructed by the Supreme Personality of Godhead, the young girls, their desire now fulfilled, could bring themselves only with great difficulty to return to the village of Vraja, meditating all the while upon His lotus feet.

29Some time later Lord Kṛṣṇa, the son of Devakī, surrounded by His cowherd friends and accompanied by His elder brother, Balarāma, went a good distance away from Vṛndāvana, herding the cows.

30When the sun's heat became intense, Lord Kṛṣṇa saw that the trees were acting as umbrellas by shading Him, and thus He spoke as follows to His boyfriends.

31-32[Lord Kṛṣṇa said:] O Stoka Kṛṣṇa and Aṁśu, O Śrīdāma, Subala and Arjuna, O Viśāla, Vṛṣabha, Ojasvī, Devaprastha and Varūthapa, just see these greatly fortunate trees, whose lives are completely dedicated to the benefit of others. Even while tolerating the wind, rain, heat andsnow, they protect us from these elements.

33Just see how these trees are maintaining every living entity! Their birth is successful. Their behavior is just like that of great personalities, for anyone who asks anything from a tree never goes away disappointed.

34These trees fulfill one's desires with their leaves, flowers and fruits, their shade, roots, bark and wood, and also with their fragrance, sap, ashes, pulp and shoots.

35It is the duty of every living being to perform welfare activities for the benefit of others with his life, wealth, intelligence and words.

36Thus moving among the trees, whose branches were bent low by their abundance of twigs, fruits, flowers and leaves, Lord Kṛṣṇa came to the Yamunā River.

37The cowherd boys let the cows drink the clear, cool and wholesome water of the Yamunā. O King Parīkṣit, the cowherd boys themselves also drank that sweet water to their full satisfaction.

38Then, O King, the cowherd boys began herding the animals in a leisurely way within a small forest along the Yamunā. But soon they became afflicted by hunger and, approaching Kṛṣṇa and Balarāma, spoke as follows.

## SB 10.23: The Brāhmaṇas' Wives Blessed

This chapter describes how Lord Śrī Kṛṣṇa, after inducing the cowherd boys to beg for food, showed mercy to the wives of some *brāhmaṇas* performing a sacrifice and made the *brāhmaṇas* themselves feel remorse.

When the cowherd boys became very hungry, they asked Śrī Kṛṣṇa about obtaining food, and He sent them to beg some from a group of *brāhmaṇas* who were performing a sacrifice nearby. But these *brāhmaṇas* ignored the boys, thinking Śrī Kṛṣṇa an ordinary human being. The boys returned disappointed, but the Lord sent them off again, advising them to ask the *brāhmaṇas'* wives for the food. These ladies had heard of Kṛṣṇa's transcendental qualities and were very much attached to Him. Thus as soon as they learned He was nearby, they went to Him in great haste, bringing all four varieties of food. In this way they offered themselves to Śrī Kṛṣṇa.

Kṛṣṇa told the women that while one can develop transcendental love for Him by seeing His Deity form in the temple, meditating upon Him and chanting His glories, one cannot achieve this result simply by being in His physical presence. He advised them that since they were housewives, their particular duty was to help their husbands perform sacrifices. He therefore instructed them to return to their homes.

When the ladies went back home, their *brāhmaṇa*husbands at once felt remorse, and they lamented, "For anyone inimical to Kṛṣṇa, his three birthsseminal, brahminical and sacrificialare all condemned. On the other hand, these womenfolk, who have not undergone the purificatory processes of the brahminical class or performed any austerity or pious rituals, have through devotion for Kṛṣṇa easily cut off the bondage of death.

"Since Lord Kṛṣṇa's every desire is completely fulfilled, His begging for food was simply an act of mercy toward us *brāhmaṇas*. All the fruits of Vedic sacrificeand indeed all things on earthare His opulences, yet out of ignorance we could not appreciate this fact."

Having spoken thus, all the *brāhmaṇas* offered their obeisances to Lord Śrī Kṛṣṇa, hoping to counteract their offense. Nonetheless, out of fear of King Kaṁsa they did not go to see the Lord in person.

1The cowherd boys said: O Rāma, Rāma, mighty-armed one! O Kṛṣṇa, chastiser of the wicked! We are being harassed by hunger, and You should do something about it.

2Śukadeva Gosvāmī said: Thus entreated by the cowherd boys, the Supreme Personality of Godhead, the son of Devakī, replied as follows, desiring to please certain of His devotees who were brāhmaṇas' wives.

3[Lord Kṛṣṇa said:] Please go to the sacrificial arena where a group of brāhmaṇas, learned in the Vedic injunctions, are now performing the Āṅgirasa sacrifice to gain promotion to heaven.

4When you go there, My dear cowherd boys, simply request some food. Declare to them the name of My elder brother, the Supreme Lord Balarāma, and also My name, and explain that you have been sent by Us.

5Thus instructed by the Supreme Personality of Godhead, the cowherd boys went there and submitted their request. They stood before the brāhmaṇas with palms joined in supplication and then fell flat on the ground to offer respect.

6[The cowherd boys said:] O earthly gods, please hear us. We cowherd boys are executing the orders of Kṛṣṇa, and we have been sent here by Balarāma. We wish all good for you. Please acknowledge our arrival.

7Lord Rāma and Lord Acyuta are tending Their cows not far from here. They are hungry and want you to give Them some of your food. Therefore, O brāhmaṇas, O best of the knowers of religion, if you have faith please give some food to Them.

8Except during the interval between the initiation of the performer of a sacrifice and the actual sacrifice of the animal, O most pure brāhmaṇas, it is not contaminating for even the initiated to partake of food, at least in sacrifices other than the Sautrāmaṇi.

9The brāhmaṇas heard this supplication from the Supreme Personality of Godhead, yet they refused to pay heed. Indeed, they were full of petty desires and entangled in elaborate rituals. Though presuming themselves advanced in Vedic learning, they were actually inexperienced fools.

10-11Although the ingredients of sacrificial performancethe place, time, particular paraphernalia, mantras, rituals, priests, fires, demigods, performer, offering and the as yet unseen beneficial resultsare all simply aspects of His opulences, the brāhmaṇas saw Lord Kṛṣṇa as an ordinary human because of their perverted intelligence. They failed to recognize that He is the Supreme Absolute Truth, the directly manifest Personality of Godhead, whom the

material senses cannot ordinarily perceive. Thus bewildered by their false identification with the mortal body, they did not show Him proper respect.

12When the brāhmaṇas failed to reply even with a simple yes or no, O chastiser of the enemy [Parīkṣit], the cowherd boys returned disappointed to Kṛṣṇa and Rāma and reported this to Them.

13Hearing what had happened, the Supreme Personality of Godhead, the Lord of the universe, simply laughed. Then He again addressed the cowherd boys, showing them the way men act in this world.

14[Lord Kṛṣṇa said:] Tell the wives of the brāhmaṇas that I have come here with Lord Saṅkarṣaṇa. They will certainly give you all the food you want, for they are most affectionate toward Me and, indeed, with their intelligence reside in Me alone.

15The cowherd boys then went to the house where the brāhmaṇas' wives were staying. There the boys saw those chaste ladies sitting, nicely decorated with fine ornaments. Bowing down to the brāhmaṇa ladies, the boys addressed them in all humility.

16[The cowherd boys said:] Obeisances unto you, O wives of the learned brāhmaṇas. Kindly hear our words. We have been sent here by Lord Kṛṣṇa, who is passing by not far from here.

17He has come a long way with the cowherd boys and Lord Balarāma, tending the cows. Now He is hungry, so some food should be given for Him and His companions.

18The wives of the brāhmaṇas were always eager to see Kṛṣṇa, for their minds had been enchanted by descriptions of Him. Thus as soon as they heard that He had come, they became very excited.

19Taking along in large vessels the four kinds of foods, full of fine tastes and aromas, all the ladies went forth to meet their beloved, just as rivers flow toward the sea.

20-21Although their husbands, brothers, sons and other relatives tried to forbid them from going, their hope of seeing Kṛṣṇa, cultivated by extensive hearing of His transcendental qualities, won out. Along the river Yamunā, within a garden decorated with buds of aśoka trees, they caught sight of Him strolling along in the company of the cowherd boys and His elder brother, Balarāma.

22His complexion was dark blue and His garment golden. Wearing a peacock feather, colored minerals, sprigs of flower buds, and a garland of forest flowers and leaves, He was dressed just like a dramatic dancer. He rested one hand upon the shoulder of a friend and with the other twirled a lotus. Lilies graced His ears, His hair hung down over His cheeks, and His lotuslike face was smiling.

23O ruler of men, for a long time those brāhmaṇa ladies had heard about Kṛṣṇa, their beloved, and His glories had become the constant ornaments of their ears. Indeed, their minds were always absorbed in Him. Through the apertures of their eyes they now forced Him to enter within their hearts, and then they embraced Him within for a long time. In this way they finally gave up the pain of separation from Him, just as sages give up the anxiety of false ego by embracing their innermost consciousness.

24Lord Kṛṣṇa, who witnesses the thoughts of all creatures, understood how those ladies had abandoned all worldly hopes and come there simply to see Him. Thus He addressed them as follows with a smile upon His face.

25[Lord Kṛṣṇa said:] Welcome, O most fortunate ladies. Please sit down and make yourselves comfortable. What can I do for you? That you have come here to see Me is most appropriate.

26Certainly expert personalities, who can see their own true interest, render unmotivated and uninterrupted devotional service directly unto Me, for I am most dear to the soul.

27It is only by contact with the self that one's vital breath, intelligence, mind, friends, body, wife, children, wealth and so on are dear. Therefore what object can possibly be more dear than one's own self?

28You should thus return to the sacrificial arena, because your husbands, the learned brāhmaṇas, are householders and need your assistance to finish their respective sacrifices.

29The wives of the brāhmaṇas replied: O almighty one, please do not speak such cruel words. Rather, You should fulfill Your promise that You always reciprocate with Your devotees in kind. Now that we have attained Your lotus feet, we simply wish to remain here in the forest so we may carry upon our heads the garlands of tulasī leaves that fall from Your lotus feet. We are ready to give up all material relationships.

30Our husbands, fathers, sons, brothers, other relatives and friends will no longer take us back, and how could anyone else be willing to give us shelter? Therefore, since we have thrown ourselves at Your lotus feet and have no other destination, please, O chastiser of enemies, grant our desire.

31The Supreme Personality of Godhead replied: Rest assured that your husbands will not be inimical toward you, nor will your fathers, brothers, sons, other relatives or the general populace. I will personally advise them of the situation. Indeed, even the demigods will express their approval.

32For you to remain in My bodily association would certainly not please people in this world, nor would it be the best way for you to increase your love for Me. Rather, you should fix your minds on Me, and very soon you will achieve Me.

33It is by hearing about Me, seeing My Deity form, meditating upon Me and chanting My names and glories that love for Me develops, not by physical proximity. Therefore please go back to your homes.

34Śrīla Śukadeva Gosvāmī said: Thus instructed, the wives of the brāhmaṇas returned to the place of sacrifice. The brāhmaṇas did not find any fault with their wives, and together with them they finished the sacrifice.

35One of the ladies had been forcibly kept back by her husband. When she heard the others describe the Supreme Lord Kṛṣṇa, she embraced Him within her heart and gave up her material body, the basis of bondage to material activity.

36Govinda, the Supreme Personality of Godhead, fed the cowherd boys with that food of four varieties. Then the all-powerful Lord Himself partook of the preparations.

37Thus the Supreme Lord, appearing like a human being to perform His pastimes, imitated the ways of human society. He enjoyed pleasing His cows, cowherd boyfriends and cowherd girlfriends with His beauty, words and actions.

38The brāhmaṇas then came to their senses and began to feel great remorse. They thought, "We have sinned, for we have denied the request of the two Lords of the universe, who deceptively appeared as ordinary human beings."

39Taking note of their wives' pure, transcendental devotion for Lord Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, and seeing their own lack of devotion, the brāhmaṇas felt most sorrowful and began to condemn themselves.

40[The brāhmaṇas said:] To hell with our threefold birth, our vow of celibacy and our extensive learning! To hell with our aristocratic background and our expertise in the rituals of sacrifice! These are all condemned because we were inimical to the transcendental Personality of Godhead.

41The illusory potency of the Supreme Lord certainly bewilders even the great mystics, what to speak of us. As brāhmaṇas we are supposed to be the spiritual masters of all classes of men, yet we have been bewildered about our own real interest.

42Just see the unlimited love these women have developed for Lord Kṛṣṇa, the spiritual master of the entire universe! This love has broken for them the very bonds of deaththeir attachment to family life.

43-44These women have never undergone the purificatory rites of the twice-born classes, nor have they lived as brahmacārīs in the āśrama of a spiritual master, nor have they executed austerities, speculated on the nature of the self, followed the formalities of cleanliness or engaged in pious rituals. Nevertheless, they have firm devotion for Lord Kṛṣṇa, whose glories are chanted by the exalted hymns of the Vedas and who is the supreme master of all masters of mystic power. We, on the other hand, have no such devotion for the Lord, although we have executed all these processes.

45Indeed, infatuated as we are with our household affairs, we have deviated completely from the real aim of our life. But now just see how the Lord, through the words of these simple cowherd boys, has reminded us of the ultimate destination of all true transcendentalists.

46Otherwise, why would the supreme controllerwhose every desire is already fulfilled and who is the master of liberation and all other transcendental benedictionsenact this pretense with us, who are always to be controlled by Him?

47Hoping for the touch of His lotus feet, the goddess of fortune perpetually worships Him alone, leaving aside all others and renouncing her pride and fickleness. That He begs is certainly astonishing to everyone.

48-49All the aspects of sacrificethe auspicious place and time, the various items of paraphernalia, the Vedic hymns, the prescribed rituals, the priests and sacrificial fires, the demigods, the patron of the sacrifice, the sacrificial offering and the pious results obtainedall are simply manifestations of His opulences. Yet even though we had heard that the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, the Lord of all mystic controllers, had taken birth in the Yadu dynasty, we were so foolish that we could not recognize Śrī Kṛṣṇa to be none other than Him.

50Let us offer our obeisances unto Lord Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead. His intelligence is never bewildered, whereas we, confused by His power of illusion, are simply wandering about on the paths of fruitive work.

51We were bewildered by Lord Kṛṣṇa's illusory potency and thus could not understand His influence as the original Personality of Godhead. Now we hope He will kindly forgive our offense.

52Thus reflecting on the sin they had committed by neglecting Lord Kṛṣṇa, they became very eager to see Him. But being afraid of King Kaṁsa, they did not dare go to Vraja.

## SB 10.24: Worshiping Govardhana Hill

In this chapter Lord Śrī Kṛṣṇa crushes the pride of Indra by prohibiting a sacrifice intended for him and initiating a substitute sacrifice in worship of Govardhana Hill.

When Śrī Kṛṣṇa saw the cowherd men busily preparing for a sacrifice to Indra, He inquired about it from their king, Nanda. Nanda explained that the rain given by Indra enables all living entities to maintain their lives, and therefore this sacrifice would be executed to satisfy him. Kṛṣṇa responded, "It is because of *karma* alone that living entities take their birth in a certain body, experience varieties of happiness and suffering in that body, and then give it up as the *karma* pertaining to it runs out. Thus it is *karma* alone that is our enemy, our friend, our *guru* and our lord, and Indra can do nothing to alter the happiness and distress of anyone, for everyone is tightly bound by his karmic reactions. The material modes of goodness, passion and ignorance bring about the creation, maintenance and destruction of this world. The clouds give forth rain when they are impelled by the mode of passion, and cowherds prosper by protecting the cows. Furthermore, the cowherds' proper residence is in the forest and on the hills. Therefore you should offer worship to the cows, the *brāhmaṇas* and Govardhana Hill."

After Kṛṣṇa spoke thus, He arranged for the cowherd men to worship Govardhana with the paraphernalia collected for the sacrifice to Indra. He then assumed a huge, unprecedented transcendental form and devoured all the food and other offerings presented to Govardhana. As He did so He proclaimed to the cowherd community that although they had worshiped Indra for so long, he had never appeared in person, whereas Govardhana himself had now manifested before their eyes and eaten their offerings of foodstuffs. Therefore they should all now offer obeisances to Govardhana Hill. Then Lord Kṛṣṇa joined the cowherds in offering obeisances to His own newly assumed form.

1Śukadeva Gosvāmī said: While staying in that very place with His brother Baladeva, Lord Kṛṣṇa happened to see the cowherd men busily arranging for a sacrifice to Indra.

2Being the omniscient Supersoul, the Supreme Lord Kṛṣṇa already understood the situation, yet He still humbly inquired from the elders, headed by His father, Nanda Mahārāja.

3[Lord Kṛṣṇa said:] My dear father, kindly explain to Me what this great endeavor of yours is all about. What is it meant to accomplish? If this is a ritual sacrifice, then for whose satisfaction is it intended and by what means is it going to be executed?

4Please tell Me about it, O father. I have a great desire to know and am ready to hear in good faith. Certainly, no secrets are to be kept by saintly personalities, who see all others as equal to themselves, who have no conception of "mine" or "another's" and who do not consider who is a friend, who is an enemy and who is neutral.

5One who is neutral may be avoided like an enemy, but a friend should be considered like one's own self.

6When people in this world perform activities, sometimes they understand what they are doing and sometimes they don't. Those who know what they are doing achieve success in their work, whereas ignorant people do not.

7Such being the case, this ritualistic endeavor of yours should be clearly explained to Me. Is it a ceremony based on scriptural injunction, or simply a custom of ordinary society?

8Nanda Mahārāja replied: The great Lord Indra is the controller of the rain. The clouds are his personal representatives, and they directly provide rainwater, which gives happiness and

sustenance to all creatures.

9Not only we, my dear son, but also many other men worship him, the lord and master of the rain-giving clouds. We offer him grain and other paraphernalia of worship produced through his own discharge in the form of rain.

10By accepting the remnants of sacrifices performed to Indra, people sustain their lives and accomplish the threefold aims of religiosity, economic development and sense gratification. Thus Lord Indra is the agent responsible for the fruitive success of industrious people.

11This religious principle is based on sound tradition. Anyone who rejects it out of lust, enmity, fear or greed will certainly fail to achieve good fortune.

12Śukadeva Gosvāmī said: When Lord Keśava [Kṛṣṇa] heard the statements of His father, Nanda, and other senior residents of Vraja, He addressed His father as follows, to arouse anger in Lord Indra.

13Lord Kṛṣṇa said: It is by the force of karma that a living entity takes birth, and it is by karma alone that he meets his destruction. His happiness, distress, fear and sense of security all arise as the effects of karma.

14Even if there is some supreme controller who awards all others the results of their activities, He must also depend upon a performer's engaging in activity. After all, there is no question of being the bestower of fruitive results unless fruitive activities have actually been performed.

15Living beings in this world are forced to experience the consequences of their own particular previous work. Since Lord Indra cannot in any way change the destiny of human beings, which is born of their own nature, why should people worship him?

16Every individual is under the control of his own conditioned nature, and thus he must follow that nature. This entire universe, with all its demigods, demons and human beings, is based on the conditioned nature of the living entities.

17Because it is karma that causes the conditioned living entity to accept and then give up different high- and low-grade material bodies, this karma is his enemy, friend and neutral witness, his spiritual master and controlling lord.

18Therefore one should seriously worship work itself. A person should remain in the position corresponding to his nature and should perform his own duty. Indeed, that by which we may live nicely is really our worshipable deity.

19If one thing is actually sustaining our life but we take shelter of something else, how can we achieve any real benefit? We would be like an unfaithful woman, who can never achieve any actual benefit by consorting with her paramour.

20The brāhmaṇa maintains his life by studying and teaching the Vedas, the member of the royal order by protecting the earth, the vaiśya by trade, and the śūdra by serving the higher, twice-born classes.

21The occupational duties of the vaiśya are conceived in four divisions: farming, commerce, cow protection and moneylending. Out of these, we as a community are always engaged in cow protection.

22The causes of creation, maintenance and destruction are the three modes of naturenamely goodness, passion and ignorance. In particular, the mode of passion creates this universe and

through sexual combination causes it to become full of variety.

23Impelled by the material mode of passion, the clouds pour down their rain everywhere, and by this rain all creatures gain their sustenance. What has the great Indra to do with this arrangement?

24My dear father, our home is not in the cities or towns or villages. Being forest dwellers, we always live in the forest and on the hills.

25Therefore may a sacrifice for the pleasure of the cows, the brāhmaṇas and Govardhana Hill begin! With all the paraphernalia collected for worshiping Indra, let this sacrifice be performed instead.

26Let many different kinds of food be cooked, from sweet rice to vegetable soups! Many kinds of fancy cakes, both baked and fried, should be prepared. And all the available milk products should be taken for this sacrifice.

27The brāhmaṇas who are learned in the Vedic mantras must properly invoke the sacrificial fires. Then you should feed the priests with nicely prepared food and reward them with cows and other gifts.

28After giving the appropriate food to everyone else, including such fallen souls as dogs and dog-eaters, you should give grass to the cows and then present your respectful offerings to Govardhana Hill.

29After everyone has eaten to his satisfaction, you should all dress and decorate yourselves handsomely, smear your bodies with sandalwood paste and then circumambulate the cows, the brāhmaṇas, the sacrificial fires and Govardhana Hill.

30This is My idea, O father, and you may carry it out if it appeals to you. Such a sacrifice will be very dear to the cows, the brāhmaṇas and Govardhana Hill, and also to Me.

31Śukadeva Gosvāmī said: Lord Kṛṣṇa, who is Himself powerful time, desired to destroy the false pride of Lord Indra. When Nanda and the other senior men of Vṛndāvana heard Śrī Kṛṣṇa's statement, they accepted His words as proper.

32-33The cowherd community then did all that Madhusūdana had suggested. They arranged for the brāhmaṇas to recite the auspicious Vedic mantras, and using the paraphernalia that had been intended for Indra's sacrifice, they presented offerings to Govardhana Hill and the brāhmaṇas with reverential respect. They also gave grass to the cows. Then, placing the cows, bulls and calves in front of them, they circumambulated Govardhana.

34As the beautifully ornamented cowherd ladies followed along, riding on wagons drawn by oxen, they sang the glories of Lord Kṛṣṇa, and their songs mingled with the brāhmaṇas' chanting of benedictions.

35Kṛṣṇa then assumed an unprecedented, huge form to instill faith in the cowherd men. Declaring "I am Govardhana Mountain!" He ate the abundant offerings.

36Together with the people of Vraja, the Lord bowed down to this form of Govardhana Hill, thus in effect offering obeisances to Himself. Then He said, "Just see how this hill has appeared in person and bestowed mercy upon us!

37"This Govardhana Hill, assuming any form he wishes, will kill any residents of the forest who neglect him. Therefore let us pay our obeisances to him for the safety of ourselves and our

cows."

38The members of the cowherd community, having thus been inspired by Lord Vāsudeva to properly execute the sacrifice to Govardhana Hill, the cows and the brāhmaṇas, returned with Lord Kṛṣṇa to their village, Vraja.

**SB 10.25: Lord Kṛṣṇa Lifts Govardhana Hill**

This chapter describes how Lord Indra was overcome by anger when the residents of Vraja canceled his sacrifice, how he tried to punish them by sending forth a devastating rainfall to Vṛndāvana, and how Lord Śrī Kṛṣṇa protected Gokula by lifting Govardhana Hill and for seven days using it as an umbrella to ward off the rain.

Indra, angered at the disruption of the sacrifice meant for him and falsely presuming himself the supreme controller, said, "People often give up the pursuit of transcendental knowledgethe means for self-realizationand imagine that they can cross over the ocean of material existence by mundane fruitive sacrifices. Similarly, these cowherd men have become intoxicated by pride and have offended me by taking shelter of an ignorant, ordinary childKṛṣṇa."

To remove this supposed pride of the residents of Vraja, Indra sent the clouds known as Sāṁvartaka, whose function is to facilitate the destruction of the world. He sent them to harass the Vrajavāsīs with downpours of rain and hail. The cowherd community was very disturbed by this and approached Kṛṣṇa for shelter. Understanding that this trouble was the work of Indra, Kṛṣṇa decided to smash to pieces Indra's false prestige, and thus He lifted Govardhana Hill with one hand. He then invited the entire cowherd community to take shelter in the dry space beneath the mountain. For seven successive days He held up the hill, until Indra finally understood Kṛṣṇa's mystic power and ordered the clouds to withdraw.

When the cowherd villagers emerged from beneath the mountain, Kṛṣṇa put Govardhana Hill back in its proper place. The cowherds were in ecstasy, showing loving symptoms such as flowing tears and bodily hairs standing on end. They embraced Kṛṣṇa and offered Him benedictions according to their respective positions, while the demigods in heaven rained down flowers and sang the Lord's praises.

1Śukadeva Gosvāmī said: My dear King Parīkṣit, when Indra understood that his sacrifice had been put aside, he became furious with Nanda Mahārāja and the other cowherd men, who were accepting Kṛṣṇa as their Lord.

2Angry Indra sent forth the clouds of universal destruction, known as Sāṁvartaka. Imagining himself the supreme controller, he spoke as follows.

3[Indra said:] Just see how these cowherd men living in the forest have become so greatly intoxicated by their prosperity! They have surrendered to an ordinary human being, Kṛṣṇa, and thus they have offended the gods.

4Their taking shelter of Kṛṣṇa is just like the foolish attempt of men who abandon transcendental knowledge of the self and instead try to cross over the great ocean of material existence in the false boats of fruitive, ritual sacrifices.

5These cowherd men have acted inimically toward me by taking shelter of this ordinary human being, Kṛṣṇa, who thinks Himself very wise but who is simply a foolish, arrogant, overtalkative child.

6[To the clouds of destruction King Indra said:] The prosperity of these people has made them

mad with pride, and their arrogance is backed up by Kṛṣṇa. Now go and remove their pride and bring their animals to destruction.

7I will follow you to Vraja, riding on my elephant Airāvata and taking with me the swift and powerful wind-gods to decimate the cowherd village of Nanda Mahārāja.

8Śukadeva Gosvāmī said: On Indra's order the clouds of universal destruction, released untimely from their bonds, went to the cowherd pastures of Nanda Mahārāja. There they began to torment the inhabitants by powerfully pouring down torrents of rain upon them.

9Propelled by the fearsome wind-gods, the clouds blazed with lightning bolts and roared with thunder as they hurled down hailstones.

10As the clouds released torrents of rain as thick as massive columns, the earth was submerged in the flood, and high ground could no longer be distinguished from low.

11The cows and other animals, shivering from the excessive rain and wind, and the cowherd men and ladies, pained by the cold, all approached Lord Govinda for shelter.

12Trembling from the distress brought about by the severe rainfall, and trying to cover their heads and calves with their own bodies, the cows approached the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead.

13[The cowherd men and women addressed the Lord:] Kṛṣṇa, Kṛṣṇa, O most fortunate one, please deliver the cows from the wrath of Indra! O Lord, You are so affectionate to Your devotees. Please save us also.

14Seeing the inhabitants of His Gokula rendered practically unconscious by the onslaught of hail and blasting wind, the Supreme Lord Hari understood that this was the work of angry Indra.

15[Śrī Kṛṣṇa said to Himself:] Because We have stopped his sacrifice, Indra has caused this unusually fierce, unseasonable rain, together with terrible winds and hail.

16By My mystic power I will completely counteract this disturbance caused by Indra. Demigods like Indra are proud of their opulence, and out of foolishness they falsely consider themselves the Lord of the universe. I will now destroy such ignorance.

17Since the demigods are endowed with the mode of goodness, the false pride of considering oneself the Lord should certainly not affect them. When I break the false prestige of those bereft of goodness, My purpose is to bring them relief.

18I must therefore protect the cowherd community by My transcendental potency, for I am their shelter, I am their master, and indeed they are My own family. After all, I have taken a vow to protect My devotees.

19Having said this, Lord Kṛṣṇa, who is Viṣṇu Himself, picked up Govardhana Hill with one hand and held it aloft just as easily as a child holds up a mushroom.

20The Lord then addressed the cowherd community: O Mother, O Father, O residents of Vraja, if you wish you may now come under this hill with your cows.

21You should have no fear that this mountain will fall from My hand. And don't be afraid of the wind and rain, for your deliverance from these afflictions has already been arranged.

22Their minds thus pacified by Lord Kṛṣṇa, they all entered beneath the hill, where they found

ample room for themselves and all their cows, wagons, servants and priests, and for all other members of the community as well.

23Lord Kṛṣṇa, forgetting hunger and thirst and putting aside all considerations of personal pleasure, stood there holding up the hill for seven days as the people of Vraja gazed upon Him.

24When Indra observed this exhibition of Lord Kṛṣṇa's mystic power, he became most astonished. Pulled down from his platform of false pride, and his intentions thwarted, he ordered his clouds to desist.

25Seeing that the fierce wind and rain had now ceased, the sky had become clear of rainclouds, and the sun had risen, Lord Kṛṣṇa, the lifter of Govardhana Hill, spoke to the cowherd community as follows.

26[Lord Kṛṣṇa said:] My dear cowherd men, please go out with your wives, children and possessions. Give up your fear. The wind and rain have stopped, and the rivers' high waters have subsided.

27After collecting their respective cows and loading their paraphernalia into their wagons, the cowherd men went out. The women, children and elderly persons gradually followed them.

28While all living creatures looked on, the Supreme Personality of Godhead put down the hill in its original place, just as it had stood before.

29All the residents of Vṛndāvana were overwhelmed with ecstatic love, and they came forward and greeted Śrī Kṛṣṇa according to their individual relationships with Himsome embracing Him, others bowing down to Him, and so forth. The cowherd women presented water mixed with yogurt and unbroken barleycorns as a token of honor, and they showered auspicious benedictions upon Him.

30Mother Yaśodā, mother Rohiṇī, Nanda Mahārāja and Balarāma, the greatest of the strong, all embraced Kṛṣṇa. Overwhelmed with affection, they offered Him their blessings.

31In the heavens, O King, all the demigods, including the Siddhas, Sādhyas, Gandharvas and Cāraṇas, sang the praises of Lord Kṛṣṇa and showered down flowers in great satisfaction.

32My dear Parīkṣit, the demigods in heaven resoundingly played their conchshells and kettledrums, and the best of the Gandharvas, led by Tumburu, began to sing.

33Surrounded by His loving cowherd boyfriends and Lord Balarāma, Kṛṣṇa then went off to the place where He had been tending His cows. The cowherd girls returned to their homes, singing joyfully about the lifting of Govardhana Hill and other glorious deeds performed by Lord Kṛṣṇa, who had so deeply touched their hearts.

## SB 10.26: Wonderful Kṛṣṇa

In this chapter Nanda Mahārāja describes Kṛṣṇa's opulences to the cowherd men, as Nanda had heard of them from Garga Muni.

The cowherd men, unaware of Lord Kṛṣṇa's power, were amazed to see His various extraordinary activities. The men approached Nanda Mahārāja and told him that after seeing how Kṛṣṇa, a boy only seven years old, had lifted a mountain, and how He had previously killed the demoness Pūtanā and generated extreme attraction in the hearts of everyone in

Vṛndāvana, the men had become doubtful and bewildered about how Śrī Kṛṣṇa could possibly have taken birth in the unsuitable environment of a cowherd community. Nanda replied by relating to them what Garga Muni had told him about Śrī Kṛṣṇa.

Garga Muni had said that in the previous three ages Nanda's boy had manifested Himself in white, red and yellow forms, whereas now, in the Dvāpara age, He had assumed His darkish-blue form, *kṛṣṇa-rūpa*. Because He descended as the son of Vasudeva, one of His many names is Vāsudeva, and He has innumerable other names indicating His many qualities and activities.

Garga Muni had predicted that Kṛṣṇa would prevent all sorts of catastrophes in Gokula, spread unlimited auspiciousness, and increase the ecstasy of the cowherd men and women. In a previous age He had provided protection for the saintly *brāhmaṇas* when they were harassed by low-class dacoits and there was no proper ruler in society. As the demons in the higher planets can never defeat the demigods who have Lord Viṣṇu on their side, no enemy can ever defeat those who love Kṛṣṇa. In His affinity for His devotees and in His opulence and power, Kṛṣṇa is just like Lord Nārāyaṇa Himself.

Overjoyed and awestruck by Garga Muni's statements, the cowherd men concluded that Kṛṣṇa must be an empowered representative of the Supreme Lord, Nārāyaṇa. Thus they worshiped Him and Nanda Mahārāja.

1Śukadeva Gosvāmī said: The cowherd men were astonished when they saw Kṛṣṇa's activities, such as lifting Govardhana Hill. Unable to understand His transcendental potency, they approached Nanda Mahārāja and spoke as follows.

2[The cowherd men said:] Since this boy performs such extraordinary activities, how could He warrant a birth among worldly men like usa birth that for Him would seem contemptible?

3How could this seven-year-old boy playfully hold up the great hill Govardhana with one hand, just as a mighty elephant holds up a lotus flower?

4As a mere infant who had hardly yet opened His eyes, He drank the breast milk of the powerful demoness Pūtanā and then sucked out her very life air as well, just as the force of time sucks out the youth of one's body.

5Once, when only three months old, little Kṛṣṇa was crying and kicking up His feet as He lay beneath a huge cart. Then the cart fell and turned upside-down simply because it was struck by the tip of His toe.

6At the age of one, while sitting peacefully He was taken up into the sky by the demon Tṛṇāvarta. But baby Kṛṣṇa grabbed the demon's neck, causing him great pain, and thus killed him.

7Once, His mother tied Him with ropes to a mortar because she had caught Him stealing butter. Then, crawling on His hands, He dragged the mortar between a pair of arjuna trees and pulled them down.

8Another time, when Kṛṣṇa was tending the calves in the forest together with Balarāma and the cowherd boys, the demon Bakāsura came with the intention of killing Kṛṣṇa. But Kṛṣṇa seized this inimical demon by the mouth and tore him apart.

9Desiring to kill Kṛṣṇa, the demon Vatsa disguised himself as a calf and entered among Kṛṣṇa's calves. But Kṛṣṇa killed the demon and, using his body, enjoyed the sport of knocking kapittha fruits down from the trees.

10Together with Lord Balarāma, Kṛṣṇa killed the jackass demon and all his friends, thereby securing the safety of the Tālavana forest, which abounded with fully ripened palm fruits.

11After arranging for the mighty Lord Balarāma to kill the terrible demon Pralamba, Kṛṣṇa saved Vraja's cowherd boys and their animals from a forest fire.

12Kṛṣṇa chastised the most poisonous serpent, Kāliya, and after humbling him He drove him forcibly from the lake of the Yamunā. In this way the Lord made the water of that river free of the snake's powerful poison.

13Dear Nanda, how is it that we and all the other residents of Vraja cannot give up our constant affection for your son? And how is it that He is so spontaneously attracted to us?

14On the one hand this boy is only seven years old, and on the other we see that He has lifted the great hill Govardhana. Therefore, O King of Vraja, a doubt about your son arises within us.

15Nanda Mahārāja replied: O cowherd men, just hear my words and let all your doubts concerning my son be gone. Some time ago Garga Muni spoke to me as follows about this boy.

16[Garga Muni had said:] Your son Kṛṣṇa appears as an incarnation in every millennium. In the past He assumed three different colorswhite, red and yellowand now He has appeared in a blackish color.

17For many reasons, this beautiful son of yours sometimes appeared previously as the son of Vasudeva. Therefore, those who are learned sometimes call this child Vāsudeva.

18For this son of yours there are many forms and names according to His transcendental qualities and activities. These are known to me, but people in general do not understand them.

19To increase the transcendental bliss of the cowherd men of Gokula, this child will always act auspiciously for you. And by His grace only, you will surpass all difficulties.

20O Nanda Mahārāja, as recorded in history, when there was an irregular, incapable government, Indra having been dethroned, and when honest people were being harassed and disturbed by thieves, this child appeared in order to curb the rogues and to protect the people and enable them to flourish.

21Demons cannot harm the demigods, who always have Lord Viṣṇu on their side. Similarly, any person or group attached to all-auspicious Kṛṣṇa cannot be defeated by enemies.

22Therefore, O Nanda Mahārāja, this child of yours is as good as Nārāyaṇa. In His transcendental qualities, opulence, name, fame and influence, He is exactly like Nārāyaṇa. Thus you should not be astonished hy His activities.

23[Nanda Mahārāja continued:] After Garga Ṛṣi spoke these words to me and returned home, I began to consider that Kṛṣṇa, who keeps us free from trouble, is actually an expansion of Lord Nārāyaṇa.

24[Śukadeva Gosvāmī continued:] Having heard Nanda Mahārāja relate the statements of Garga Muni, the residents of Vṛndāvana became enlivened. Their perplexity was gone, and they worshiped Nanda and Lord Kṛṣṇa with great respect.

25Indra became angry when his sacrifice was disrupted, and thus he caused rain and hail to fall on Gokula, accompanied by lightning and powerful winds, all of which brought great suffering to the cowherds, animals and women there. When Lord Kṛṣṇa, who is by nature always

compassionate, saw the condition of those who had only Him as their shelter, He smiled broadly and lifted Govardhana Hill with one hand, just as a small child picks up a mushroom to play with it. Holding up the hill, He protected the cowherd community. May He, Govinda, the Lord of the cows and the destroyer of Indra's false pride, be pleased with us.

**SB 10.27: Lord Indra and Mother Surabhi Offer Prayers**

This chapter describes how the Surabhi cow and Indra, having seen the amazing power of Lord Kṛṣṇa, performed a bathing ceremony for Him.

Ashamed of having attacked Vṛndāvana with a violent storm, Indra secretly came before Lord Kṛṣṇa, offered obeisances and praised Him. Indra stated that although Śrī Kṛṣṇa is never caught in the current of material illusion, which is born of ignorance, He nevertheless accepts a humanlike body and performs various activities to establish religious principles and chastise the wicked. By this means He crushes the false prestige of those who presume themselves great controllers. Indra went on to declare that Kṛṣṇa is the father, *guru* and Lord of all living entities, and that in the form of time He is the agent of their punishment.

Satisfied with Indra's prayers, Śrī Kṛṣṇa told him that He had stopped the *indra-yajṣa* so that Indra, puffed up as he was with false pride, would remember the Lord. Persons intoxicated by material opulence never see Him standing before them with the rod of punishment in His hand. Therefore if Lord Kṛṣṇa desires the actual good fortune of some person, He brings him down from his position of opulence.

Lord Kṛṣṇa ordered Indra to return to his proper position in heaven and to serve there without egotism. Indra, along with the cow Surabhi, then performed a bathing ceremony for Kṛṣṇa, using the water of the heavenly Ganges and the milk of mother Surabhi. Indra and the cow took this opportunity to bestow upon the Lord the name Govinda, and the demigods showered flowers and recited various prayers.

1Śukadeva Gosvāmī said: After Kṛṣṇa had lifted Govardhana Hill and thus protected the inhabitants of Vraja from the terrible rainfall, Surabhi, the mother of the cows, came from her planet to see Kṛṣṇa. She was accompanied by Indra.

2Indra was very ashamed of having offended the Lord. Approaching Him in a solitary place, Indra fell down and lay his helmet, whose effulgence was as brilliant as the sun, upon the Lord's lotus feet.

3Indra had now heard of and seen the transcendental power of omnipotent Kṛṣṇa, and his false pride in being the lord of the three worlds was thus defeated. Holding his hands together in supplication, he addressed the Lord as follows.

4King Indra said: Your transcendental form, a manifestation of pure goodness, is undisturbed by change, shining with knowledge and devoid of passion and ignorance. In You does not exist the mighty flow of the modes of material nature, which is based on illusion and ignorance.

5How, then, could there exist in You the symptoms of an ignorant personsuch as greed, lust, anger and envywhich are produced by one's previous involvement in material existence and which cause one to become further entangled in material existence? And yet as the Supreme Lord You impose punishment to protect religious principles and curb down the wicked.

6You are the father and spiritual master of this entire universe, and also its supreme controller. You are insurmountable time, imposing punishment upon the sinful for their own benefit.

Indeed, in Your various incarnations, selected by Your own free will, You act decisively to remove the false pride of those who presume themselves masters of this world.

7Even fools like me, who proudly think themselves universal lords, quickly give up their conceit and directly take to the path of the spiritually progressive when they see You are fearless even in the face of time. Thus You punish the mischievous only to instruct them.

8Engrossed in pride over my ruling power, ignorant of Your majesty, I offended You. O Lord, may You forgive me. My intelligence was bewildered, but let my consciousness never again be so impure.

9You descend into this world, O transcendent Lord, to destroy the warlords who burden the earth and create many terrible disturbances. O Lord, you simultaneously act for the welfare of those who faithfully serve Your lotus feet.

10Obeisances unto You, the Supreme Personality of Godhead, the great Soul, who are all-pervading and who reside in the hearts of all. My obeisances unto You, Kṛṣṇa, the chief of the Yadu dynasty.

11Unto Him who assumes transcendental bodies according to the desires of His devotees, unto Him whose form is itself pure consciousness, unto Him who is everything, who is the seed of everything and who is the Soul of all creatures, I offer my obeisances.

12My dear Lord, when my sacrifice was disrupted I became fiercely angry because of false pride. Thus I tried to destroy Your cowherd community with severe rain and wind.

13O Lord, You have shown mercy to me by shattering my false pride and defeating my attempt [to punish Vṛndāvana]. To You, the Supreme Lord, spiritual master and Supreme Soul, I have now come for shelter.

14Śukadeva Gosvāmī said: Thus glorified by Indra, Lord Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, smiled and then spoke to him as follows in a voice resonant like the clouds.

15The Supreme Personality of Godhead said: My dear Indra, it was out of mercy that I stopped the sacrifice meant for you. You were greatly intoxicated by your opulence as King of heaven, and I wanted you to always remember Me.

16A man blinded by intoxication with his power and opulence cannot see Me nearby with the rod of punishment in My hand. If I desire his real welfare, I drag him down from his materially fortunate position.

17Indra, you may now go. Execute My order and remain in your appointed position as King of heaven. But be sober, without false pride.

18Mother Surabhi, along with her progeny, the cows, then offered her obeisances to Lord Kṛṣṇa. Respectfully requesting His attention, the gentle lady addressed the Supreme Personality of Godhead, who was present before her as a cowherd boy.

19Mother Surabhi said: O Kṛṣṇa, Kṛṣṇa, greatest of mystics! O Soul and origin of the universe! You are the master of the world, and by Your grace, O infallible Lord, we have You as our master.

20You are our worshipable Deity. Therefore, O Lord of the universe, for the benefit of the cows, the brāhmaṇas, the demigods and all other saintly persons, please become our Indra.

21As ordered by Lord Brahmā, we shall perform Your bathing ceremony to coronate You as Indra. O Soul of the universe, You descend to this world to relieve the burden of the earth.

22-23Śukadeva Gosvāmī said: Having thus appealed to Lord Kṛṣṇa, mother Surabhi performed His bathing ceremony with her own milk, and Indra, ordered by Aditi and other mothers of the demigods, anointed the Lord with heavenly Gaṅgā water from the trunk of Indra's elephant carrier, Airāvata. Thus, in the company of the demigods and great sages, Indra coronated Lord Kṛṣṇa, the descendant of Daśārha, and gave Him the name Govinda.

24Tumburu, Nārada and other Gandharvas, along with the Vidyādharas, Siddhas and Cāraṇas, came there to sing the glories of Lord Hari, which purify the entire world. And the wives of the demigods, filled with joy, danced together in the Lord's honor.

25The most eminent demigods chanted the praises of the Lord and scattered wonderful showers of flowers all around Him. All three worlds felt supreme satisfaction, and the cows drenched the surface of the earth with their milk.

26Rivers flowed with various kinds of tasty liquids, trees exuded honey, edible plants came to maturity without cultivation, and hills gave forth jewels formerly hidden in their interiors.

27O Parīkṣit, beloved of the Kuru dynasty, upon the ceremonial bathing of Lord Kṛṣṇa, all living creatures, even those cruel by nature, became entirely free of enmity.

28After he had ceremonially bathed Lord Govinda, who is the master of the cows and the cowherd community, King Indra took the Lord's permission and, surrounded by the demigods and other higher beings, returned to his heavenly abode.

**SB 10.28: Kṛṣṇa Rescues Nanda Mahārāja from the Abode of Varuṇa**

This chapter describes how Lord Kṛṣṇa brought Nanda Mahārāja back from the abode of Varuṇa and how the cowherd men saw Vaikuṇṭha.

The king of the cowherds, Nanda Mahārāja, observed the prescribed fast on the eleventh day of the lunar month and then considered how to break his fast properly on the twelfth day. By circumstance only a few more minutes remained, and so he decided to take his bath at the very end of the night, although astrologically that was an inauspicious time. Thus he entered the water of the Yamunā. A servant of Varuṇa, the demigod of the ocean, noticed Nanda Mahārāja entering the water at a time forbidden by scripture and took him away to the demigod's abode. In the early morning the cowherd men unsuccessfully searched for Nanda, but Lord Kṛṣṇa immediately understood the situation and went to see Varuṇa. Varuṇa worshiped Kṛṣṇa with great and variegated festivity. Afterwards he begged the Lord to forgive his servant for having foolishly arrested the king of the cowherds.

Nanda was amazed to see the influence Śrī Kṛṣṇa exerted in the court of Varuṇadeva, and after returning home he described his experiences to his friends and relatives. They all thought Kṛṣṇa must be the Supreme Personality of Godhead Himself and wanted to see His supreme abode. Thereupon the omniscient Personality of Godhead arranged for them to bathe in the same lake where Akrūra would have his vision of the Absolute Truth. There the Lord revealed to them Brahmaloka, which is realized by great sages in their mystic trance.

1Śrī Bādarāyaṇi said: Having worshiped Lord Janārdana and fasted on the Ekādaśī day, Nanda Mahārāja entered the water of the Kālindī on the Dvādaśī to take his bath.

2Because Nanda Mahārāja entered the water in the dark of night, disregarding that the time was

inauspicious, a demoniac servant of Varuṇa seized him and brought him to his master.

3O King, not seeing Nanda Mahārāja, the cowherd men loudly cried out, "O Kṛṣṇa! O Rāma!" Lord Kṛṣṇa heard their cries and understood that His father had been captured by Varuṇa. Therefore the almighty Lord, who makes His devotees fearless, went to the court of Varuṇadeva.

4Seeing that the Lord, Hṛṣīkeśa, had arrived, the demigod Varuṇa worshiped Him with elaborate offerings. Varuṇa was in a state of great jubilation upon seeing the Lord, and he spoke as follows.

5Śrī Varuṇa said: Now my body has fulfilled its function. Indeed, now the goal of my life is achieved, O Lord. Those who accept Your lotus feet, O Personality of Godhead, can transcend the path of material existence.

6My obeisances unto You, the Supreme Personality of Godhead, the Absolute Truth, the Supreme Soul, within whom there is no trace of the illusory energy, which orchestrates the creation of this world.

7Your father, who is sitting here, was brought to me by a foolish, ignorant servant of mine who did not understand his proper duty. Therefore, please forgive us.

8O Kṛṣṇa, O seer of everything, please give Your mercy even to me. O Govinda, You are most affectionate to Your father. Please take him home.

9Śukadeva Gosvāmī said: Thus satisfied by Lord Varuṇa, Śrī Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, Lord of lords, took His father and returned home, where their relatives were overjoyed to see them.

10Nanda Mahārāja had been astonished to see for the first time the great opulence of Varuṇa, the ruler of the ocean planet, and also to see how Varuṇa and his servants had offered such humble respect to Kṛṣṇa. Nanda described all this to his fellow cowherd men.

11[Hearing about Kṛṣṇa's pastimes with Varuṇa,] the cowherd men considered that Kṛṣṇa must be the Supreme Lord, and their minds, O King, were filled with eagerness. They thought, "Will the Supreme Lord bestow upon us His transcendental abode?"

12Because He sees everything, Lord Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, automatically understood what the cowherd men were conjecturing. Wanting to show His compassion to them by fulfilling their desires, the Lord thought as follows.

13[Lord Kṛṣṇa thought:] Certainly people in this world are wandering among higher and lower destinations, which they achieve through activities performed according to their desires and without full knowledge. Thus people do not know their real destination.

14Thus deeply considering the situation, the all-merciful Supreme Personality of Godhead Hari revealed to the cowherd men His abode, which is beyond material darkness.

15Lord Kṛṣṇa revealed the indestructible spiritual effulgence, which is unlimited, conscious and eternal. Sages see that spiritual existence in trance, when their consciousness is free of the modes of material nature.

16The cowherd men were brought by Lord Kṛṣṇa to the Brahma-hrada, made to submerge in the water, and then lifted up. From the same vantage point that Akrūra saw the spiritual world, the cowherd men saw the planet of the Absolute Truth.

17Nanda Mahārāja and the other cowherd men felt the greatest happiness when they saw that transcendental abode. They were especially amazed to see Kṛṣṇa Himself there, surrounded by the personified Vedas, who were offering Him prayers.

## SB 10.29: Kṛṣṇa and the Gopīs Meet for the Rāsa Dance

This chapter describes how Lord Śrī Kṛṣṇa, intending to enjoy the *rāsa* dance, engaged in arguments and counterarguments with the *gopīs*. Then there is a description of the beginning of the *rāsa* dance and the Lord's pastime of disappearing from the midst of the *gopīs*.

Remembering the promise He had made to the *gopīs* when He had stolen their clothes, Lord Kṛṣṇa employed His Yoga-māyā potency and manifested within Himself the desire to enjoy pastimes during an autumn night. Thus He began to play His flute. When the *gopīs* heard the flute's sound, the impulses of Cupid were violently aroused within them, and they immediately abandoned all their household duties and hastily went to Kṛṣṇa. All the *gopīs* had purely spiritual bodies, but when some of the *gopīs'* husbands and other family members stopped the young girls from going, Lord Kṛṣṇa arranged for them to temporarily exhibit material bodies, which they then left at the sides of their husbands. In this way they deceived their relatives and went off to meet Kṛṣṇa.

When the *gopīs* came before Lord Kṛṣṇa, He asked, "Why have you come? It is not good for you to travel to such a place in the dead of the night, for this forest is full of violent creatures. Your husbands and children will soon come searching after you to bring you home and engage you again in your household duties. After all, the prime religious duty of a woman is to serve her husband and children. For a respectable woman to consort with a paramour is totally contemptible and sure to obstruct her progress to heaven. Moreover, one develops pure love for Me not by physical proximity but by hearing topics connected with Me, by viewing My Deity form in the temple, by meditating upon Me and by faithfully chanting My glories. Therefore, all of you would do best to return home."

The *gopīs* were crestfallen to hear this, and after crying a little they replied, with a bit of anger, "It is very unfair for You to reject young girls who have abandoned everything in their lives and come to You with the exclusive desire to serve You. By serving our husbands and children we receive only pain, whereas by serving You, the dearmost Soul of all living beings, we will perfectly fulfill the true religious duty of the self. What woman will not deviate from her prescribed duties as soon as she hears Your flute-song and sees Your form, which enchants the three worlds? Just as the Supreme Lord Viṣṇu protects the demigods, You destroy the unhappiness of the people of Vṛndāvana. Therefore You should immediately relieve the torment we have felt because of separation from You." Wanting to please the *gopīs,* Lord Kṛṣṇa, who is always satisfied in Himself, responded to their appeals by playing with them in various pastimes. But when this show of attention made them a little proud, He humbled them by suddenly disappearing from the arena of the *rāsa* dance.

1Śrī Bādarāyaṇi said: Śrī Kṛṣṇa is the Supreme Personality of Godhead, full in all opulences, yet upon seeing those autumn nights scented with blossoming jasmine flowers, He turned His mind toward loving affairs. To fulfill His purposes He employed His internal potency.

2The moon then rose, anointing the face of the eastern horizon with the reddish hue of his comforting rays, and thus dispelling the pain of all who watched him rise. The moon was like a

beloved husband who returns after a long absence and adorns the face of his beloved wife with red kuṅkuma.

3Lord Kṛṣṇa saw the unbroken disk of the full moon glowing with the red effulgence of newly applied vermilion, as if it were the face of the goddess of fortune. He also saw the kumuda lotuses opening in response to the moon's presence and the forest gently illumined by its rays. Thus the Lord began to play sweetly on His flute, attracting the minds of the beautiful-eyed gopīs.

4When the young women of Vṛndāvana heard Kṛṣṇa's flute-song, which arouses romantic feelings, their minds were captivated by the Lord. They went to where their lover waited, each unknown to the others, moving so quickly that their earrings swung back and forth.

5Some of the gopīs were milking cows when they heard Kṛṣṇa's flute. They stopped milking and went off to meet Him. Some left milk curdling on the stove, and others left cakes burning in the oven.

6-7Some of them were getting dressed, feeding milk to their infants or rendering personal service to their husbands, but they all gave up these duties and went to meet Kṛṣṇa. Other gopīs were taking their evening meals, washing themselves, putting on cosmetics or applying kajjala to their eyes. But all the gopīs stopped these activities at once and, though their clothes and ornaments were in complete disarray, rushed off to Kṛṣṇa.

8Their husbands, fathers, brothers and other relatives tried to stop them, but Kṛṣṇa had already stolen their hearts. Enchanted by the sound of His flute, they refused to turn back.

9Some of the gopīs, however, could not manage to get out of their houses, and instead they remained home with eyes closed, meditating upon Him in pure love.

10-11For those gopīs who could not go to see Kṛṣṇa, intolerable separation from their beloved caused an intense agony that burned away all impious karma. By meditating upon Him they realized His embrace, and the ecstasy they then felt exhausted their material piety. Although Lord Kṛṣṇa is the Supreme Soul, these girls simply thought of Him as their male lover and associated with Him in that intimate mood. Thus their karmic bondage was nullified and they abandoned their gross material bodies.

12Śrī Parīkṣit Mahārāja said: O sage, the gopīs knew Kṛṣṇa only as their lover, not as the Supreme Absolute Truth. So how could these girls, their minds caught up in the waves of the modes of nature, free themselves from material attachment?

13Śukadeva Gosvāmī said: This point was explained to you previously. Since even Śiśupāla, who hated Kṛṣṇa, achieved perfection, then what to speak of the Lord's dear devotees.

14O King, the Supreme Lord is inexhaustible and immeasurable, and He is untouched by the material modes because He is their controller. His personal appearance in this world is meant for bestowing the highest benefit on humanity.

15Persons who constantly direct their lust, anger, fear, protective affection, feeling of impersonal oneness or friendship toward Lord Hari are sure to become absorbed in thought of Him.

16You should not be so astonished by Kṛṣṇa, the unborn master of all masters of mystic power, the Supreme Personality of Godhead. After all, it is the Lord who liberates this world.

17Seeing that the girls of Vraja had arrived, Lord Kṛṣṇa, the best of speakers, greeted them with charming words that bewildered their minds.

18Lord Kṛṣṇa said: O most fortunate ladies, welcome. What may I do to please you? Is everything well in Vraja? Please tell Me the reason for your coming here.

19This night is quite frightening, and frightening creatures are lurking about. Return to Vraja, slender-waisted girls. This is not a proper place for women.

20Not finding you at home, your mothers, fathers, sons, brothers and husbands are certainly searching for you. Don't cause anxiety for your family members.

21-22Now you have seen this Vṛndāvana forest, full of flowers and resplendent with the light of the full moon. You have seen the beauty of the trees, with their leaves trembling in the gentle breeze coming from the Yamunā. So now go back to the cowherd village. Don't delay. O chaste ladies, serve your husbands and give milk to your crying babies and calves.

23On the other hand, perhaps you have come here out of your great love for Me, which has taken control of your hearts. This is of course quite commendable on your part, since all living entities possess natural affection for Me.

24The highest religious duty for a woman is to sincerely serve her husband, behave well toward her husband's family and take good care of her children.

25Women who desire a good destination in the next life should never abandon a husband who has not fallen from his religious standards, even if he is obnoxious, unfortunate, old, unintelligent, sickly or poor.

26For a woman from a respectable family, petty adulterous affairs are always condemned. They bar her from heaven, ruin her reputation and bring her difficulty and fear.

27Transcendental love for Me arises by the devotional processes of hearing about Me, seeing My Deity form, meditating on Me and faithfully chanting My glories. The same result is not achieved by mere physical proximity. So please go back to your homes.

28Śukadeva Gosvāmī said: Hearing these unpleasant words spoken by Govinda, the gopīs became morose. Their great hopes were frustrated and they felt insurmountable anxiety.

29Their heads hanging down and their heavy, sorrowful breathing drying up their reddened lips, the gopīs scratched the ground with their toes. Tears flowed from their eyes, carrying their kajjala and washing away the vermilion smeared on their breasts. Thus they stood, silently bearing the burden of their unhappiness.

30Although Kṛṣṇa was their beloved, and although they had abandoned all other objects of desire for His sake, He had been speaking to them unfavorably. Nonetheless, they remained unflinching in their attachment to Him. Stopping their crying, they wiped their eyes and began to speak, their voices stammering with agitation.

31The beautiful gopīs said: O all-powerful one, You should not speak in this cruel way. Do not reject us, who have renounced all material enjoyment to render devotional service to Your lotus feet. Reciprocate with us, O stubborn one, just as the primeval Lord, Śrī Nārāyaṇa, reciprocates with His devotees in their endeavors for liberation.

32Our dear Kṛṣṇa, as an expert in religion You have advised us that the proper religious duty for women is to faithfully serve their husbands, children and other relatives. We agree that this

principle is valid, but actually this service should be rendered to You. After all, O Lord, You are the dearmost friend of all embodied souls. You are their most intimate relative and indeed their very Self.

33Expert transcendentalists always direct their affection toward You because they recognize You as their true Self and eternal beloved. What use do we have for these husbands, children and relatives of ours, who simply give us trouble? Therefore, O supreme controller, grant us Your mercy. O lotus-eyed one, please do not cut down our long-cherished hope to have Your association.

34Until today our minds were absorbed in household affairs, but You easily stole both our minds and our hands away from our housework. Now our feet won't move one step from Your lotus feet. How can we go back to Vraja? What would we do there?

35Dear Kṛṣṇa, please pour the nectar of Your lips upon the fire within our heartsa fire You ignited with Your smiling glances and the sweet song of Your flute. If You do not, we will consign our bodies to the fire of separation from You, O friend, and thus like yogīs attain to the abode of Your lotus feet by meditation.

36O lotus-eyed one, the goddess of fortune considers it a festive occasion whenever she touches the soles of Your lotus feet. You are very dear to the residents of the forest, and therefore we will also touch those lotus feet. From that time on we will be unable even to stand in the presence of any other man, for we will have been fully satisfied by You.

37Goddess Lakṣmī, whose glance is sought after by the demigods with great endeavor, has achieved the unique position of always remaining on the chest of her Lord, Nārāyaṇa. Still, she desires the dust of His lotus feet, even though she has to share that dust with Tulasī-devī and indeed with the Lord's many other servants. Similarly, we have approached the dust of Your lotus feet for shelter.

38Therefore, O vanquisher of all distress, please show us mercy. To approach Your lotus feet we abandoned our families and homes, and we have no desire other than to serve You. Our hearts are burning with intense desires generated by Your beautiful smiling glances. O jewel among men, please make us Your maidservants.

39Seeing Your face encircled by curling locks of hair, Your cheeks beautified by earrings, Your lips full of nectar, and Your smiling glance, and also seeing Your two imposing arms, which take away our fear, and Your chest, which is the only source of pleasure for the goddess of fortune, we must become Your maidservants.

40Dear Kṛṣṇa, what woman in all the three worlds wouldn't deviate from religious behavior when bewildered by the sweet, drawn-out melody of Your flute? Your beauty makes all three worlds auspicious. Indeed, even the cows, birds, trees and deer manifest the ecstatic symptom of bodily hair standing on end when they see Your beautiful form.

41Clearly You have taken birth in this world to relieve the fear and distress of the people of Vraja, just as the Supreme Personality of Godhead, the primeval Lord, protects the domain of the demigods. Therefore, O friend of the distressed, kindly place Your lotus hand on Your maidservants' heads and burning breasts.

42Śukadeva Gosvāmī said: Smiling upon hearing these despondent words from the gopīs, Lord Kṛṣṇa, the supreme master of all masters of mystic yoga, mercifully enjoyed with them, although He is self-satisfied.

43Among the assembled gopīs, the infallible Lord Kṛṣṇa appeared just like the moon surrounded by stars. He whose activities are so magnanimous made their faces blossom with His affectionate glances, and His broad smiles revealed the effulgence of His jasmine-bud-like teeth.

44As the gopīs sang His praises, that leader of hundreds of women sang loudly in reply. He moved among them, wearing His Vaijayantī garland, beautifying the Vṛndāvana forest.

45-46Śrī Kṛṣṇa went with the gopīs to the bank of the Yamunā, where the sand was cooling and the wind, enlivened by the river's waves, bore the fragrance of lotuses. There Kṛṣṇa threw His arms around the gopīs and embraced them. He aroused Cupid in the beautiful young ladies of Vraja by touching their hands, hair, thighs, belts and breasts, by playfully scratching them with His fingernails, and also by joking with them, glancing at them and laughing with them. In this way the Lord enjoyed His pastimes.

47The gopīs became proud of themselves for having received such special attention from Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, and each of them thought herself the best woman on earth.

48Lord Keśava, seeing the gopīs too proud of their good fortune, wanted to relieve them of this pride and show them further mercy. Thus He immediately disappeared.

## SB 10.30: The Gopīs Search for Kṛṣṇa

This chapter describes how the *gopīs,* tormented through the long night by separation from Kṛṣṇa, wandered like madwomen from forest to forest in search of Him.

When Śrī Kṛṣṇa suddenly disappeared from the arena of the *rāsa* dance, the *gopīs,* their minds fully absorbed in thoughts of Him, began looking for Him in the various forests. From all the moving and nonmoving creatures they asked for news of Kṛṣṇa's whereabouts. Finally they became so distraught that they began imitating His pastimes.

Later, while wandering in a corner of the forest, the *gopīs* saw Śrī Kṛṣṇa's footprints, which appeared mixed with Śrīmatī Rādhārāṇī's. Seeing these footprints perturbed them greatly, and they declared that surely Śrīmatī Rādhārāṇī must have worshiped Kṛṣṇa with unusual excellence, since She had been privileged to associate with Him in seclusion. Further along the path the *gopīs* came to a place where they could no longer see Śrīmatī Rādhārāṇī's footprints; they then concluded that Kṛṣṇa must have taken Rādhārāṇī onto His shoulders. In another place they noticed that Kṛṣṇa's footprints were showing only the toes, and thus the *gopīs* concluded He had been picking flowers with which to decorate His beloved. In yet another spot the *gopīs* saw signs that led them to imagine that Śrī Kṛṣṇa had been tying the locks of Śrīmatī Rādhārāṇī's hair. All these thoughts brought pain to the *gopīs'* minds.

Because of the special attention She received from Kṛṣṇa, Śrī Rādhā began to consider Herself the most fortunate of women. She told Him that She could walk no further and that He would have to carry Her on His shoulders. But just then Lord Kṛṣṇa disappeared from Her sight. Śrīmatī Rādhārāṇī, extremely troubled, then began looking everywhere for Him, and when She finally met Her *gopī* girlfriends She related to them what had happened. All the *gopīs* then went out to look for Kṛṣṇa in the forest, going as far as the moonlight reached. But in the end they were unsuccessful, so they went back to the shore of the Yamunā and simply sang Kṛṣṇa's glories in utter helplessness.

1Śukadeva Gosvāmī said: When Lord Kṛṣṇa disappeared so suddenly, the gopīs felt great

sorrow at losing sight of Him, like a group of female elephants who have lost their mate.

2As the cowherd women remembered Lord Kṛṣṇa, their hearts were overwhelmed by His movements and loving smiles, His playful glances and enchanting talks, and by the many other pastimes He would enjoy with them. Thus absorbed in thoughts of Kṛṣṇa, the Lord of Ramā, the gopīs began acting out His various transcendental pastimes.

3Because the beloved gopīs were absorbed in thoughts of their beloved Kṛṣṇa, their bodies imitated His way of moving and smiling, His way of beholding them, His speech and His other distinctive features. Deeply immersed in thinking of Him and maddened by remembering His pastimes, they declared to one another, "I am Kṛṣṇa!"

4Singing loudly of Kṛṣṇa, they searched for Him throughout the Vṛndāvana forest like a band of madwomen. They even asked the trees about Him, who as the Supersoul is present inside and outside of all created things, just like the sky.

5[The gopīs said:] O aśvattha tree, O plakṣa, O nyagrodha, have you seen Kṛṣṇa? That son of Nanda Mahārāja has gone away after stealing our minds with His loving smiles and glances.

6O kurabaka tree, O aśoka, O nāga, punnāga and campaka, has Balarāma's younger brother, whose smile removes the audacity of all proud women, passed this way?

7O most kind tulasī, to whom the feet of Govinda are so dear, have you seen that infallible one walk by, wearing you and encircled by swarms of bees?

8O mālati, O mallikā, O jāti and yūthikā, has Mādhava gone by here, giving you pleasure with the touch of His hand?

9O cūta, O priyāla, O panasa, āsana and kovidāra, O jambu, O arka, O bilva, bakula and āmra, O kadamba and nīpa and all you other plants and trees living by the banks of the Yamunā who have dedicated your very existence to the welfare of others, we gopīs have lost our minds, so please tell us where Kṛṣṇa has gone.

10O mother earth, what austerity did you perform to attain the touch of Lord Keśava's lotus feet, which has brought you such great joy that your bodily hairs are standing on end? You appear very beautiful in this condition. Was it during the Lord's current appearance that you acquired this ecstatic symptom, or was it perhaps much earlier, when He stepped upon you in His form of the dwarf Vāmanadeva, or even earlier, when He embraced you in His form of the boar Varāhadeva?

11O friend, wife of the deer, has Lord Acyuta been here with His beloved, bringing great joy to your eyes? Indeed, blowing this way is the fragrance of His garland of kunda flowers, which was smeared with the kuṅkuma from the breasts of His girlfriend when He embraced Her.

12O trees, we see that you are bowing down. When the younger brother of Rāma walked by here, followed by intoxicated bees swarming around the tulasī maṣjarīs decorating His garland, did He acknowledge your obeisances with His affectionate glances? He must have been resting His arm on the shoulder of His beloved and carrying a lotus flower in His free hand.

13Let us ask these creepers about Kṛṣṇa. Even though they are embracing the arms of their husband, this tree, they certainly must have been touched by Kṛṣṇa's fingernails, since out of joy they are manifesting eruptions on their skin.

14Having spoken these words, the gopīs, distraught from searching for Kṛṣṇa, began to act out

His various pastimes, fully absorbed in thoughts of Him.

15One gopī imitated Pūtanā, while another acted like infant Kṛṣṇa and pretended to suck her breast. Another gopī, crying in imitation of infant Kṛṣṇa, kicked a gopī who was taking the role of the cart demon, Śakaṭāsura.

16One gopī took the role of Tṛṇāvarta and carried away another, who was acting like infant Kṛṣṇa, while yet another gopī crawled about, her ankle bells tinkling as she pulled her feet.

17Two gopīs acted like Rāma and Kṛṣṇa in the midst of several others, who took the role of cowherd boys. One gopī enacted Kṛṣṇa's killing of the demon Vatsāsura, represented by another gopī, and a pair of gopīs acted out the killing of Bakāsura.

18When one gopī perfectly imitated how Kṛṣṇa would call the cows who had wandered far away, how He would play His flute and how He would engage in various sports, the others congratulated her with exclamations of "Well done! Well done!"

19Another gopī, her mind fixed on Kṛṣṇa, walked about with her arm resting on the shoulder of a friend and declared, "I am Kṛṣṇa! Just see how gracefully I move!"

20"Don't be afraid of the wind and rain," said one gopī. "I will save you." And with that she lifted her shawl above her head.

21[Śukadeva Gosvāmī continued:] O King, one gopī climbed on another's shoulders and, putting her foot on the other's head, said, "Go away from here, O wicked snake! You should know that I have taken birth in this world just to punish the envious."

22Then another gopī spoke up: My dear cowherd boys, look at this raging forest fire! Quickly close your eyes and I will easily protect you.

23One gopī tied up her slender companion with a flower garland and said, "Now I will bind this boy who has broken the butter pots and stolen the butter." The second gopī then covered her face and beautiful eyes, pretending to be afraid.

24While the gopīs were thus imitating Kṛṣṇa's pastimes and asking Vṛndāvana's creepers and trees where Kṛṣṇa, the Supreme Soul, might be, they happened to see His footprints in a corner of the forest.

25[The gopīs said:] The marks of a flag, lotus, thunderbolt, elephant goad, barleycorn and so forth on these footprints clearly distinguish them as belonging to that great soul, the son of Nanda Mahārāja.

26The gopīs began following Kṛṣṇa's path, as shown by His many footprints, but when they saw that these prints were thoroughly intermixed with those of His dearmost consort, they became perturbed and spoke as follows.

27[The gopīs said:] Here we see the footprints of some gopī who must have been walking along with the son of Nanda Mahārāja. He must have put His arm on Her shoulder, just as an elephant rests His trunk on the shoulder of an accompanying she-elephant.

28Certainly this particular gopī has perfectly worshiped the all-powerful Personality of Godhead, Govinda, since He was so pleased with Her that He abandoned the rest of us and brought Her to a secluded place.

29O girls! The dust of Govinda's lotus feet is so sacred that even Brahmā, Śiva and the goddess Ramā take that dust upon their heads to dispel sinful reactions.

30These footprints of that special gopī greatly disturb us. Of all the gopīs, She alone was taken away to a secluded place, where She is enjoying the lips of Kṛṣṇa. Look, we can't see Her footprints over here! It's obvious that the grass and sprouts were hurting the tender soles of Her feet, and so the lover lifted up His beloved.

31Please observe, my dear gopīs, how in this place lusty Kṛṣṇa's footprints are pressed more deeply into the ground. Carrying the weight of His beloved must have been difficult for Him. And over here that intelligent boy must have put Her down to gather some flowers.

32Just see how in this place dear Kṛṣṇa collected flowers for His beloved. Here He has left the impression of only the front part of His feet because He was standing on His toes to reach the flowers.

33Certainly Kṛṣṇa sat down here with His girlfriend to arrange Her hair. The lusty boy must have made a crown for that lusty girl out of the flowers He had collected.

34[Śukadeva Gosvāmī continued:] Lord Kṛṣṇa enjoyed with that gopī, although He enjoys only within, being self-satisfied and complete in Himself. Thus by contrast He showed the wretchedness of ordinary lusty men and hardhearted women.

35-36As the gopīs wandered about, their minds completely bewildered, they pointed out various signs of Kṛṣṇa's pastimes. The particular gopī whom Kṛṣṇa had led into a secluded forest when He had abandoned all the other young girls began to think Herself the best of women. "My beloved has rejected all the other gopīs," She thought, "even though they are driven by Cupid himself. He has chosen to reciprocate with Me alone."

37As the two lovers passed through one part of the Vṛndāvana forest, the special gopī began feeling proud of Herself. She told Lord Keśava, "I cannot walk any further. Please carry Me wherever You want to go."

38Thus addressed, Lord Kṛṣṇa replied, "Just climb on My shoulder." But as soon as He said this, He disappeared. His beloved consort then immediately felt great remorse.

39She cried out: O master! My lover! O dearmost, where are You? Where are You? Please, O mighty-armed one, O friend, show Yourself to Me, Your poor servant!

40Śukadeva Gosvāmī said: While continuing to search out Kṛṣṇa's path, the gopīs discovered their unhappy friend close by. She was bewildered by separation from Her lover.

41She told them how Mādhava had given Her much respect, but how She then suffered dishonor because of Her miSBehavior. The gopīs were extremely amazed to hear this.

42In search of Kṛṣṇa, the gopīs then entered the depths of the forest as far as the light of the moon shone. But when they found themselves engulfed in darkness, they decided to turn back.

43Their minds absorbed in thoughts of Him, they conversed about Him, acted out His pastimes and felt themselves filled with His presence. They completely forgot about their homes as they loudly sang the glories of Kṛṣṇa's transcendental qualities.

44The gopīs again came to the bank of the Kālindī. Meditating on Kṛṣṇa and eagerly hoping He

would come, they sat down together to sing of Him.

**SB 10.31: The Gopīs' Songs of Separation**

This chapter relates how the *gopīs,* overwhelmed by feelings of separation from Kṛṣṇa, sat down on the bank of the Yamunā and began praying for His audience and singing His glories.

Because the *gopīs* had dedicated their minds and very lives to Kṛṣṇa, they were beside themselves with the transcendental pain of separation. But their crying, which appears like evidence of misery, actually shows their exalted state of transcendental bliss. As it is said, *yata dekha vaiṣṇaver vyavahāra duḥkha/ niścaya jāniha sei paramānanda sukha*: "Whenever one sees a Vaiṣṇava acting unhappy, one should know it for sure that he is actually experiencing the highest spiritual bliss." Thus each of the*gopīs* began addressing Lord Śrī Kṛṣṇa according to her individual mode of ecstasy, and they all prayed for Him for His mercy.

As the pastimes of Kṛṣṇa spontaneously arose in the minds of the *gopīs,* they sang their song, which relieves the agony of those suffering from the burning pain of separation from Kṛṣṇa and which bestows supreme auspiciousness. They sang, "O Lord, O lover, O cheater, when we remember Your smile, Your loving glances and Your pastimes with Your boyhood friends, we become extremely agitated. Remembering Your lotus face, adorned with locks of blackish hair smeared with the dust of the cows, we become irrevocably attached to You. And when we remember how You followed the cows from forest to forest with Your tender feet, we feel great pain."

In their separation from Kṛṣṇa the *gopīs* considered a single moment an entire age. Even when they had previously seen Him they had found the blinking of their eyelids intolerable, for it blocked their vision of Him for a fraction of a second.

The ecstatic sentiments for Lord Kṛṣṇa that the *gopīs* expressed may appear like symptoms of lust, but in reality they are manifestations of their pure desire to satisfy the Supreme Lord's spiritual senses. There is not even the slightest trace of lust in these moods of the *gopīs.*

1The gopīs said: O beloved, Your birth in the land of Vraja has made it exceedingly glorious, and thus Indirā, the goddess of fortune, always resides here. It is only for Your sake that we, Your devoted servants, maintain our lives. We have been searching everywhere for You, so please show Yourself to us.

2O Lord of love, in beauty Your glance excels the whorl of the finest, most perfectly formed lotus within the autumn pond. O bestower of benedictions, You are killing the maidservants who have given themselves to You freely, without any price. Isn't this murder?

3O greatest of personalities, You have repeatedly saved us from all kinds of dangerfrom poisoned water, from the terrible man-eater Agha, from the great rains, from the wind demon, from the fiery thunderbolt of Indra, from the bull demon and from the son of Maya Dānava.

4You are not actually the son of the gopī Yaśodā, O friend, but rather the indwelling witness in the hearts of all embodied souls. Because Lord Brahmā prayed for You to come and protect the universe, You have now appeared in the Sātvata dynasty.

5O best of the Vṛṣṇis, Your lotuslike hand, which holds the hand of the goddess of fortune, grants fearlessness to those who approach Your feet out of fear of material existence. O lover, please place that wish-fulfilling lotus hand on our heads.

6O You who destroy the suffering of Vraja's people, O hero of all women, Your smile shatters

the false pride of Your devotees. Please, dear friend, accept us as Your maidservants and show us Your beautiful lotus face.

7Your lotus feet destroy the past sins of all embodied souls who surrender to them. Those feet follow after the cows in the pastures and are the eternal abode of the goddess of fortune. Since You once put those feet on the hoods of the great serpent Kāliya, please place them upon our breasts and tear away the lust in our hearts.

8O lotus-eyed one, Your sweet voice and charming words, which attract the minds of the intelligent, are bewildering us more and more. Our dear hero, please revive Your maidservants with the nectar of Your lips.

9The nectar of Your words and the descriptions of Your activities are the life and soul of those suffering in this material world. These narrations, transmitted by learned sages, eradicate one's sinful reactions and bestow good fortune upon whoever hears them. These narrations are broadcast all over the world and are filled with spiritual power. Certainly those who spread the message of Godhead are most munificent.

10Your smiles, Your sweet, loving glances, the intimate pastimes and confidential talks we enjoyed with Youall these are auspicious to meditate upon, and they touch our hearts. But at the same time, O deceiver, they very much agitate our minds.

11Dear master, dear lover, when You leave the cowherd village to herd the cows, our minds are disturbed with the thought that Your feet, more beautiful than a lotus, will be pricked by the spiked husks of grain and the rough grass and plants.

12At the end of the day You repeatedly show us Your lotus face, covered with dark blue locks of hair and thickly powdered with dust. Thus, O hero, You arouse lusty desires in our minds.

13Your lotus feet, which are worshiped by Lord Brahmā, fulfill the desires of all who bow down to them. They are the ornament of the earth, they give the highest satisfaction, and in times of danger they are the appropriate object of meditation. O lover, O destroyer of anxiety, please put those lotus feet upon our breasts.

14O hero, kindly distribute to us the nectar of Your lips, which enhances conjugal pleasure and vanquishes grief. That nectar is thoroughly relished by Your vibrating flute and makes people forget any other attachment.

15When You go off to the forest during the day, a tiny fraction of a second becomes like a millennium for us because we cannot see You. And even when we can eagerly look upon Your beautiful face, so lovely with its adornment of curly locks, our pleasure is hindered by our eyelids, which were fashioned by the foolish creator.

16Dear Acyuta, You know very well why we have come here. Who but a cheater like You would abandon young women who come to see Him in the middle of the night, enchanted by the loud song of His flute? Just to see You, we have completely rejected our husbands, children, ancestors, brothers and other relatives.

17Our minds are repeatedly bewildered as we think of the intimate conversations we had with You in secret, feel the rise of lust in our hearts and remember Your smiling face, Your loving glances and Your broad chest, the resting place of the goddess of fortune. Thus we experience the most severe hankering for You.

18O beloved, Your all-auspicious appearance vanquishes the distress of those living in Vraja's forests. Our minds long for Your association. Please give to us just a bit of that medicine, which

counteracts the disease in Your devotees' hearts.

19O dearly beloved! Your lotus feet are so soft that we place them gently on our breasts, fearing that Your feet will be hurt. Our life rests only in You. Our minds, therefore, are filled with anxiety that Your tender feet might be wounded by pebbles as You roam about on the forest path.

**SB 10.32: The Reunion**

This chapter describes how Śrī Kṛṣṇa manifested Himself in the midst of the *gopīs,* who had become extremely disturbed by their separation from Him. After He consoled them, they expressed to Him their deep feelings of ecstasy.

The *gopīs* having shown in various ways their great eagerness to see Kṛṣṇa, the attractor of Cupid, He appeared before them wearing silken yellow garments and a beautiful flower garland. Some of the *gopīs,* overwhelmed with ecstasy at seeing Him, grasped His hands, others placed His arm on their shoulders, and others accepted the remnants of betel nut He had chewed. Thus they served Him.

One *gopī,* impelled by loving anger toward Kṛṣṇa, bit her lip and looked askance at Him. Because the *gopīs* were so attached to Kṛṣṇa, they were not satiated even by continuously gazing at Him. One of them then placed Kṛṣṇa within her heart, closed her eyes and, embracing Him within herself again and again, became absorbed in transcendental bliss, just like a *yogī*. In this way the pain the *gopīs* had felt because of separation from the Lord was dispelled.

Next Lord Kṛṣṇa went to the bank of the Yamunā in the company of the cowherd girls, His internal potencies. The *gopīs* then made a seat for Kṛṣṇa out of their shawls, and after He had sat down they enjoyed with Him by gesturing amorously. The *gopīs* still felt hurt that Kṛṣṇa had disappeared, so He explained to them why He had done so. He further told them that He had come under the exclusive control of their loving devotion and would ever remain indebted to them.

1Śukadeva Gosvāmī said: O King, having thus sung and spoken their hearts out in various charming ways, the gopīs began to weep loudly. They were very eager to see Lord Kṛṣṇa.

2Then Lord Kṛṣṇa, a smile on His lotus face, appeared before the gopīs. Wearing a garland and a yellow garment, He directly appeared as one who can bewilder the mind of Cupid, who himself bewilders the minds of ordinary people.

3When the gopīs saw that their dearmost Kṛṣṇa had returned to them, they all stood up at once, and out of their affection for Him their eyes bloomed wide. It was as if the air of life had reentered their bodies.

4One gopī joyfully took Kṛṣṇa's hand between her folded palms, and another placed His arm, anointed with sandalwood paste, on her shoulder.

5A slender gopī respectfully took in her joined hands the betel nut He had chewed, and another gopī, burning with desire, put His lotus feet on her breasts.

6One gopī, beside herself with loving anger, bit her lips and stared at Him with frowning eyebrows, as if to wound Him with her harsh glances.

7Another gopī looked with unblinking eyes upon His lotus face, but even after deeply relishing

its sweetness She did not feel satiated, just as mystic saints are never satiated when meditating upon the Lord's feet.

8One gopī took the Lord through the aperture of her eyes and placed Him within her heart. Then, with her eyes closed and her bodily hairs standing on end, she continuously embraced Him within. Thus immersed in transcendental ecstasy, she resembled a yogī meditating upon the Lord.

9All the gopīs enjoyed the greatest festivity when they saw their beloved Keśava again. They gave up the distress of separation, just as people in general forget their misery when they gain the association of a spiritually enlightened person.

10Encircled by the gopīs, who were now relieved of all distress, Lord Acyuta, the Supreme Personality of Godhead, shone forth splendidly. My dear King, Kṛṣṇa thus appeared like the Supersoul encircled by His spiritual potencies.

11-12The almighty Lord then took the gopīs with Him to the bank of the Kālindī, who with the hands of her waves had scattered piles of soft sand upon the shore. In that auspicious place the breeze, bearing the fragrance of blooming kunda and mandāra flowers, attracted many bees, and the abundant rays of the autumn moon dispelled the darkness of night.

13Their heartache vanquished by the ecstasy of seeing Kṛṣṇa, the gopīs, like the personified Vedas before them, felt their desires completely fulfilled. For their dear friend Kṛṣṇa they arranged a seat with their shawls which were smeared with the kuṅkuma powder from their breasts.

14Lord Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, for whom the great masters of mystic meditation arrange a seat within their hearts, took His seat in the assembly of gopīs. His transcendental body, the exclusive abode of beauty and opulence within the three worlds, shone brilliantly as the gopīs worshiped Him.

15Śrī Kṛṣṇa had awakened romantic desires within the gopīs, and they honored Him by glancing at Him with playful smiles, gesturing amorously with their eyebrows, and massaging His hands and feet as they held them in their laps. Even while worshiping Him, however, they felt somewhat angry, and thus they addressed Him as follows.

16The gopīs said: Some people reciprocate the affection only of those who are affectionate toward them, while others show affection even to those who are indifferent or inimical. And yet others will not show affection toward anyone. Dear Kṛṣṇa, please properly explain this matter to us.

17The Supreme Personality of Godhead said: So-called friends who show affection for each other only to benefit themselves are actually selfish. They have no true friendship, nor are they following the true principles of religion. Indeed, if they did not expect benefit for themselves, they would not reciprocate.

18My dear slender-waisted gopīs, some people are genuinely merciful or, like parents, naturally affectionate. Such persons, who devotedly serve even those who fail to reciprocate with them, are following the true, faultless path of religion, and they are true well-wishers.

19Then there are those individuals who are spiritually self-satisfied, materially fulfilled or by nature ungrateful or simply envious of superiors. Such persons will not love even those who love them, what to speak of those who are inimical.

20But the reason I do not immediately reciprocate the affection of living beings even when they worship Me, O gopīs, is that I want to intensify their loving devotion. They then become like a poor man who has gained some wealth and then lost it, and who thus becomes so anxious about it that he can think of nothing else.

21My dear girls, understanding that simply for My sake you had rejected the authority of worldly opinion, of the Vedas and of your relatives, I acted as I did only to increase your attachment to Me. Even when I removed Myself from your sight by suddenly disappearing, I never stopped loving you. Therefore, My beloved gopīs, please do not harbor any bad feelings toward Me, your beloved.

22I am not able to repay My debt for your spotless service, even within a lifetime of Brahmā. Your connection with Me is beyond reproach. You have worshiped Me, cutting off all domestic ties, which are difficult to break. Therefore please let your own glorious deeds be your compensation.

## SB 10.33: The Rāsa Dance

This chapter describes Lord Śrī Kṛṣṇa's *rāsa* dance, which He enjoyed with His beloved girlfriends in the forests along the Yamunā River.

The Supreme Personality of Godhead, Śrī Kṛṣṇa, is most expert in the knowledge of transcendental moods. In the company of the *gopīs,* who were tightly bound to Him by the ropes of affection and totally dedicated to His service, the Lord expanded Himself into numerous forms. The *gopīs* became intoxicated with their enthusiasm to enjoy the *rāsa* dance, and thus they began satisfying Kṛṣṇa's senses by singing, dancing and gesturing amorously. The sweet voices of the *gopīs* filled all the directions.

Even after Lord Kṛṣṇa manifested Himself in numerous forms, each *gopī* thought He was standing next to her alone. Gradually the *gopīs* became fatigued from the continuous dancing and singing, and each of them placed her arm on the shoulder of the Kṛṣṇa standing beside her. Some *gopīs* smelled and kissed Kṛṣṇa's arm, which bore the fragrance of the lotus and was anointed with sandalwood paste. Others put Kṛṣṇa's hand on their bodies, and yet others gave Kṛṣṇa pleasure by embracing Him lovingly.

Lord Kṛṣṇa, being the Supreme Absolute Truth, is the only actual enjoyer and object of enjoyment. Although He is one without a second, He expands Himself into many forms to increase His personal pastimes. Therefore great scholars say that Kṛṣṇa's *rāsa-līlā* is like a child's playing with His own reflection. Śrī Kṛṣṇa is self-satisfied and fully endowed with inconceivable, transcendental opulences. When He exhibits such pastimes as the *rāsa-līlā,* all living beings, from Brahmā down to the blades of grass, become merged in the ocean of astonishment.

When Mahārāja Parīkṣit heard the narration of Kṛṣṇa's conjugal pastimes with the *gopīs,* which superficially resemble the activities of lusty, wanton persons, he expressed a doubt to the great devotee Śrīla Śukadeva Gosvāmī. Śukadeva dispelled this doubt by stating, "Since Śrī Kṛṣṇa is the absolute enjoyer, such pastimes as these can never be contaminated by any fault. But if anyone other than the Supreme Personality of Godhead tries to enjoy such pastimes, he will suffer the same fate that someone other than Lord Rudra would suffer if he attempted to drink an ocean of poison. Moreover, even one who only thinks of imitating Lord Kṛṣṇa's *rāsa-līlā* will certainly suffer misfortune."

The Supreme Absolute Truth, Śrī Kṛṣṇa, is present within the hearts of all living entities as their

indwelling witness. When out of His mercy He exhibits His intimate pastimes to His devotees, these activities are never besmirched by mundane imperfection. Any living being who hears of the spontaneous loving attraction the *gopīs* felt for Lord Kṛṣṇa will have his desires for material sense gratification destroyed at the root and will develop his natural propensity for serving the Supreme Lord, the spiritual master, and the Lord's devotees.

1Śukadeva Gosvāmī said: When the cowherd girls heard the Supreme Personality of Godhead speak these most charming words, they forgot their distress caused by separation from Him. Touching His transcendental limbs, they felt all their desires fulfilled.

2There on the Yamunā's banks Lord Govinda then began the pastime of the rāsa dance in the company of those jewels among women, the faithful gopīs, who joyfully linked their arms together.

3The festive rāsa dance commenced, with the gopīs arrayed in a circle. Lord Kṛṣṇa expanded Himself and entered between each pair of gopīs, and as that master of mystic power placed His arms around their necks, each girl thought He was standing next to her alone. The demigods and their wives were overwhelmed with eagerness to witness the rāsa dance, and they soon crowded the sky with their hundreds of celestial airplanes.

4Kettledrums then resounded in the sky while flowers rained down and the chief Gandharvas and their wives sang Lord Kṛṣṇa's spotless glories.

5A tumultuous sound arose from the armlets, ankle bells and waist bells of the gopīs as they sported with their beloved Kṛṣṇa in the circle of the rāsa dance.

6In the midst of the dancing gopīs, Lord Kṛṣṇa appeared most brilliant, like an exquisite sapphire in the midst of golden ornaments.

7As the gopīs sang in praise of Kṛṣṇa, their feet danced, their hands gestured, and their eyebrows moved with playful smiles. With their braids and belts tied tight, their waists bending, their faces perspiring, the garments on their breasts moving this way and that, and their earrings swinging on their cheeks, Lord Kṛṣṇa's young consorts shone like streaks of lightning in a mass of clouds.

8Eager to enjoy conjugal love, their throats colored with various pigments, the gopīs sang loudly and danced. They were overjoyed by Kṛṣṇa's touch, and they sang songs that filled the entire universe.

9One gopī, joining Lord Mukunda in His singing, sang pure melodious tones that rose harmoniously above His. Kṛṣṇa was pleased and showed great appreciation for her performance, saying "Excellent! Excellent!" Then another gopī repeated the same melody, but in a special metrical pattern, and Kṛṣṇa praised her also.

10When one gopī grew tired from the rāsa dance, She turned to Kṛṣṇa, standing at Her side holding a baton, and grasped His shoulder with Her arm. The dancing had loosened Her bracelets and the flowers in Her hair.

11Upon the shoulder of one gopī Kṛṣṇa placed His arm, whose natural blue-lotus fragrance was mixed with that of the sandalwood pulp anointing it. As the gopī relished that fragrance, her bodily hair stood on end in jubilation, and she kissed His arm.

12Next to Kṛṣṇa's cheek one gopī put her own, beautified by the effulgence of her earrings, which glittered as she danced. Kṛṣṇa then carefully gave her the betel nut He was chewing.

13Another gopī became fatigued as she danced and sang, the bells on her ankles and waist tinkling. So she placed upon her breasts the comforting lotus hand of Lord Acyuta, who was standing by her side.

14Having attained as their intimate lover Lord Acyuta, the exclusive consort of the goddess of fortune, the gopīs enjoyed great pleasure. They sang His glories as He held their necks with His arms.

15Enhancing the beauty of the gopīs' faces were the lotus flowers behind their ears, the locks of hair decorating their cheeks, and drops of perspiration. The reverberation of their armlets and ankle bells made a loud musical sound, and their chaplets scattered. Thus the gopīs danced with the Supreme Lord in the arena of the rāsa dance as swarms of bees sang in accompaniment.

16In this way Lord Kṛṣṇa, the original Lord Nārāyaṇa, master of the goddess of fortune, took pleasure in the company of the young women of Vraja by embracing them, caressing them and glancing lovingly at them as He smiled His broad, playful smiles. It was just as if a child were playing with his own reflection.

17Their senses overwhelmed by the joy of having His physical association, the gopīs could not prevent their hair, their dresses and the cloths covering their breasts from becoming disheveled. Their garlands and ornaments scattered, O hero of the Kuru dynasty.

18The wives of the demigods, observing Kṛṣṇa's playful activities from their airplanes, were entranced and became agitated with lust. Indeed, even the moon and his entourage, the stars, became astonished.

19Expanding Himself as many times as there were cowherd women to associate with, the Supreme Lord, though self-satisfied, playfully enjoyed their company.

20Seeing that the gopīs were fatigued from conjugal enjoyment, my dear King, merciful Kṛṣṇa lovingly wiped their faces with His comforting hand.

21The gopīs honored their hero with smiling glances sweetened by the beauty of their cheeks and the effulgence of their curly locks and glittering golden earrings. Overjoyed from the touch of His fingernails, they chanted the glories of His all-auspicious transcendental pastimes.

22Lord Kṛṣṇa's garland had been crushed during His conjugal dalliance with the gopīs and colored vermilion by the kuṅkuma powder on their breasts. To dispel the fatigue of the gopīs, Kṛṣṇa entered the water of the Yamunā, followed swiftly by bees who were singing like the best of the Gandharvas. He appeared like a lordly elephant entering the water to relax in the company of his consorts. Indeed, the Lord had transgressed all worldly and Vedic morality just as a powerful elephant might break the dikes in a paddy field.

23My dear King, in the water Kṛṣṇa found Himself being splashed on all sides by the laughing gopīs, who looked at Him with love. As the demigods worshiped Him by showering flowers from their airplanes, the self-satisfied Lord took pleasure in playing like the king of the elephants.

24Then the Lord strolled through a small forest on the bank of the Yamunā. This forest was filled to its limits with breezes carrying the fragrances of all the flowers growing on the land and in the water. Followed by His entourage of bees and beautiful women, Lord Kṛṣṇa appeared like an intoxicated elephant with his she-elephants.

25Although the gopīs were firmly attached to Lord Kṛṣṇa, whose desires are always fulfilled, the Lord was not internally affected by any mundane sex desire. Still, to perform His pastimes the Lord took advantage of all those moonlit autumn nights, which inspire poetic descriptions of transcendental affairs.

26-27Parīkṣit Mahārāja said: O brāhmaṇa, the Supreme Personality of Godhead, the Lord of the universe, has descended to this earth along with His plenary portion to destroy irreligion and reestablish religious principles. Indeed, He is the original speaker, follower and guardian of moral laws. How, then, could He have violated them by touching other men's wives?

28O faithful upholder of vows, please destroy our doubt by explaining to us what purpose the self-satisfied Lord of the Yadus had in mind when He behaved so contemptibly.

29Śukadeva Gosvāmī said: The status of powerful controllers is not harmed by any apparently audacious transgression of morality we may see in them, for they are just like fire, which devours everything fed into it and remains unpolluted.

30One who is not a great controller should never imitate the behavior of ruling personalities, even mentally. If out of foolishness an ordinary person does imitate such behavior, he will simply destroy himself, just as a person who is not Rudra would destroy himself if he tried to drink an ocean of poison.

31The statements of the Lord's empowered servants are always true, and the acts they perform are exemplary when consistent with those statements. Therefore one who is intelligent should carry out their instructions.

32My dear Prabhu, when these great persons who are free from false ego act piously in this world, they have no selfish motives to fulfill, and even when they act in apparent contradiction to the laws of piety, they are not subject to sinful reactions.

33How, then, could the Lord of all created beingsanimals, men and demigodshave any connection with the piety and impiety that affect His subject creatures?

34Material activities never entangle the devotees of the Supreme Lord, who are fully satisfied by serving the dust of His lotus feet. Nor do material activities entangle those intelligent sages who have freed themselves from the bondage of all fruitive reactions by the power of yoga. So how could there be any question of bondage for the Lord Himself, who assumes His transcendental forms according to His own sweet will?

35He who lives as the overseeing witness within the gopīs and their husbands, and indeed within all embodied living beings, assumes forms in this world to enjoy transcendental pastimes.

36When the Lord assumes a humanlike body to show mercy to His devotees, He engages in such pastimes as will attract those who hear about them to become dedicated to Him.

37The cowherd men, bewildered by Kṛṣṇa's illusory potency, thought their wives had remained home at their sides. Thus they did not harbor any jealous feelings against Him.

38After an entire night of Brahmā had passed, Lord Kṛṣṇa advised the gopīs to return to their homes. Although they did not wish to do so, the Lord's beloved consorts complied with His command.

39Anyone who faithfully hears or describes the Lord's playful affairs with the young gopīs of Vṛndāvana will attain the Lord's pure devotional service. Thus he will quickly become sober

and conquer lust, the disease of the heart.

### SB 10.34: Nanda Mahārāja Saved and Śaṅkhacūḍa Slain

This chapter describes how Lord Śrī Kṛṣṇa saved His father Nanda from the clutches of a serpent and delivered a Vidyādhara named Sudarśana from the curse of the Āṅgirasa sages.

One day Nanda Mahārāja and the other cowherd men placed their family members on their bullock carts and went to the Ambikāvana forest to worship Lord Śiva. After bathing in the Sarasvatī River and worshiping Lord Sadāśiva, a form of Lord Viṣṇu, they decided to spend the night in the forest. As they slept, a hungry serpent came and began to swallow Nanda Mahārāja. Terrified, Nanda cried out in distress, "O Kṛṣṇa! O my son, please save this surrendered soul!" The cowherd men immediately awoke and began beating the serpent with wooden torches, but the serpent would not release Nanda. Then Lord Kṛṣṇa came and touched the serpent with His lotus foot. The serpent was immediately freed from his reptilian body and appeared in his original form as a demigod. He told them about his previous identity and described how he had been cursed by a group of sages. Then he offered his homage at the lotus feet of Śrī Kṛṣṇa and, on the Lord's order, returned to his own abode.

Later, during the Dola-pūrṇimā festival, Śrī Kṛṣṇa and Baladeva enjoyed pastimes in the forest with the young women of Vraja. The girlfriends of Baladeva and those of Kṛṣṇa joined together and sang about Their transcendental qualities. When the two Lords became absorbed in singing to the point of apparent intoxication, a servant of Kuvera's named Śaṅkhacūḍa boldly came forward and began abducting the *gopīs*. The young girls called out, "Kṛṣṇa, please save us!" and He and Rāma began to chase after Śaṅkhacūḍa. "Don't be afraid!" Kṛṣṇa called out to the *gopīs*. In fear of the Lords, Śaṅkhacūḍa left the *gopīs* aside and ran for his life. Kṛṣṇa chased after him, swiftly approached him and with a blow of His fist removed Śaṅkhacūḍa's jewel, together with his head. Then Kṛṣṇa brought the jewel back and presented it to Lord Baladeva.

1Śukadeva Gosvāmī said: One day the cowherd men, eager to take a trip to worship Lord Śiva, traveled by bullock carts to the Ambikā forest.

2O King, after arriving there, they bathed in the Sarasvatī and then devotedly worshiped with various paraphernalia the powerful Lord Paśupati and his consort, goddess Ambikā.

3The cowherd men gave the brāhmaṇas gifts of cows, gold, clothing and cooked grains mixed with honey. Then the cowherds prayed, "May the lord be pleased with us."

4Nanda, Sunanda and the other greatly fortunate cowherds spent that night on the bank of the Sarasvatī, strictly observing their vows. They fasted, taking only water.

5During the night a huge and extremely hungry snake appeared in that thicket. Slithering on his belly up to the sleeping Nanda Mahārāja, the snake began swallowing him.

6In the clutches of the snake, Nanda Mahārāja cried out, "Kṛṣṇa, Kṛṣṇa, my dear boy! This huge serpent is swallowing me! Please save me, who am surrendered to You!"

7When the cowherd men heard the cries of Nanda, they immediately rose up and saw that he was being swallowed. Distraught, they beat the serpent with blazing torches.

8But even though the firebrands were burning him, the serpent would not release Nanda Mahārāja. Then the Supreme Lord Kṛṣṇa, master of His devotees, came to the spot and touched the snake with His foot.

9The snake had all his sinful reactions destroyed by the touch of the Supreme Lord's divine foot, and thus he gave up his serpent body and appeared in the form of a worshipable Vidyādhara.

10The Supreme Lord Hṛṣīkeśa then questioned this personality, who was standing before Him with his head bowed, his brilliantly effulgent body bedecked with golden necklaces.

11[Lord Kṛṣṇa said:] My dear sir, you appear so wonderful, glowing with such great beauty. Who are you? And who forced you to assume this terrible body of a snake?

12-13The serpent replied: I am the well-known Vidyādhara named Sudarśana. I was very opulent and beautiful, and I used to wander freely in all directions in my airplane. Once I saw some homely sages of the lineage of Aṅgirā Muni. Proud of my beauty, I ridiculed them, and because of my sin they made me assume this lowly form.

14It was actually for my benefit that those merciful sages cursed me, since now I have been touched by the foot of the supreme spiritual master of all the worlds and have thus been relieved of all inauspiciousness.

15My Lord, You destroy all fear for those who, fearing this material world, take shelter of You. By the touch of Your feet I am now freed from the curse of the sages. O destroyer of distress, please let me return to my planet.

16O master of mystic power, O great personality, O Lord of the devotees, I surrender to You. Please command me as You will, O supreme God, Lord of all lords of the universe.

17O infallible one, I was immediately freed from the brāhmaṇas' punishment simply by seeing You. Anyone who chants Your name purifies all who hear his chanting, as well as himself. How much more beneficial, then, is the touch of Your lotus feet?

18Thus receiving the permission of Lord Kṛṣṇa, the demigod Sudarśana circumambulated Him, bowed down to offer Him homage and then returned to his heavenly planet. Nanda Mahārāja was thus delivered from peril.

19The inhabitants of Vraja were astonished to see the mighty power of Śrī Kṛṣṇa. Dear King, they then completed their worship of Lord Śiva and returned to Vraja, along the way respectfully describing Kṛṣṇa's powerful acts.

20Once Lord Govinda and Lord Rāma, the performers of wonderful feats, were playing in the forest at night with the young girls of Vraja.

21Kṛṣṇa and Balarāma wore flower garlands and spotless garments, and Their limbs were beautifully decorated and anointed. The women sang Their glories in a charming way, bound to Them by affection.

22The two Lords praised the nightfall, signaled by the rising of the moon and the appearance of stars, a lotus-scented breeze and bees intoxicated by the fragrance of jasmine flowers.

23Kṛṣṇa and Balarāma sang, producing the entire range of musical sounds simultaneously. Their singing brought happiness to the ears and minds of all living beings.

24The gopīs became stunned when they heard that song. Forgetting themselves, O King, they did not notice that their fine garments were becoming loose and their hair and garlands disheveled.

25While Lord Kṛṣṇa and Lord Balarāma thus played according to Their own sweet will and sang to the point of apparent intoxication, a servant of Kuvera named Śaṅkhacūḍa came upon the scene.

26O King, even as the two Lords looked on, Śaṅkhacūḍa brazenly began driving the women off toward the north. The women, who had accepted Kṛṣṇa and Balarāma as their Lords, began to cry out to Them.

27Hearing Their devotees crying out "Kṛṣṇa! Rāma!" and seeing that they were just like cows being stolen by a thief, Kṛṣṇa and Balarāma began to run after the demon.

28The Lords called out in reply, "Do not fear!" Then They picked up logs of the śala tree and quickly pursued that lowest of Guhyakas, who swiftly ran away.

29When Śaṅkhacūḍa saw the two of Them coming toward him like the personified forces of Time and Death, he was filled with anxiety. Confused, he abandoned the women and fled for his life.

30Lord Govinda chased the demon wherever he ran, eager to take his crest jewel. Meanwhile Lord Balarāma stayed with the women to protect them.

31The mighty Lord overtook Śaṅkhacūḍa from a great distance as if from nearby, my dear King, and then with His fist the Lord removed the wicked demon's head, together with his crest jewel.

32Having thus killed the demon Śaṅkhacūḍa and taken away his shining jewel, Lord Kṛṣṇa gave it to His elder brother with great satisfaction as the gopīs watched.

### SB 10.35: The Gopīs Sing of Kṛṣṇa as He Wanders in the Forest

This chapter contains the songs the *gopīs* sing to express their feelings of separation from Kṛṣṇa when He goes to the forest during the day.

As the *gopīs'* mood of separation from Śrī Kṛṣṇa becomes ever more intense, His names, forms, qualities and pastimes begin spontaneously manifesting in their hearts. Thus they join together and sing as follows: "The beauty of Kṛṣṇa attracts the minds of all. When He stands in His threefold-bending way and plays upon His flute, the Siddhas' wives, flying in the sky with their husbands, become attracted to Him and forget external reality. The bulls, cows and other animals in the pasture become stunned in ecstasy, and they stand so still, with the grass unchewed between their teeth, that they appear like figures in a drawing. Indeed, even the unconscious rivers stop flowing.

"Just see! When Kṛṣṇa dresses Himself in forest array and calls the cows' names by blowing on His flute, even the trees and creepers become so ecstatic out of love that their limbs display eruptions and their sap pours down like a torrent of tears. The sound of Kṛṣṇa's flute causes the cranes, swans and other birds in the lakes to close their eyes in deep meditation, the clouds in the sky to gently rumble, imitating the flute's vibration, and even such great authorities in the science of music as Indra, Śiva and Brahmā to become astonished. And just as we *gopīs* are anxious to offer everything we have to Kṛṣṇa, so the wives of the black deer follow Him about, imitating us.

"When Kṛṣṇa is returning to Vraja, He constantly plays His flute while His young companions chant His glories, and Brahmā and other chief demigods come to worship His lotus feet."

Thus the *gopīs,* feeling intense separation from Kṛṣṇa, sing of His pastimes.

1Śukadeva Gosvāmī said: Whenever Kṛṣṇa went to the forest, the minds of the gopīs would run after Him, and thus the young girls sadly spent their days singing of His pastimes.

2-3The gopīs said: When Mukunda vibrates the flute He has placed to His lips, stopping its holes with His tender fingers, He rests His left cheek on His left arm and makes His eyebrows dance. At that time the demigoddesses traveling in the sky with their husbands, the Siddhas, become amazed. As those ladies listen, they are embarrassed to find their minds yielding to the pursuit of lusty desires, and in their distress they are unaware that the belts of their garments are loosening.

4-5O girls! This son of Nanda, who gives joy to the distressed, bears steady lightning on His chest and has a smile like a jeweled necklace. Now please hear something wonderful. When He vibrates His flute, Vraja's bulls, deer and cows, standing in groups at a great distance, are all captivated by the sound, and they stop chewing the food in their mouths and cock their ears. Stunned, they appear as if asleep, or like figures in a painting.

6-7My dear gopī, sometimes Mukunda imitates the appearance of a wrestler by decorating Himself with leaves, peacock feathers and colored minerals. Then, in the company of Balarāma and the cowherd boys, He plays His flute to call the cows. At that time the rivers stop flowing, their water stunned by the ecstasy they feel as they eagerly wait for the wind to bring them the dust of His lotus feet. But like us, the rivers are not very pious, and thus they merely wait with their arms trembling out of love.

8-11Kṛṣṇa moves about the forest in the company of His friends, who vividly chant the glories of His magnificent deeds. He thus appears just like the Supreme Personality of Godhead exhibiting His inexhaustible opulences. When the cows wander onto the mountainsides and Kṛṣṇa calls out to them with the sound of His flute, the trees and creepers in the forest respond by becoming so luxuriant with fruits and flowers that they seem to be manifesting Lord Viṣṇu within their hearts. As their branches bend low with the weight, the filaments on their trunks and vines stand erect out of the ecstasy of love of God, and both the trees and the creepers pour down a rain of sweet sap.

12-13O goddesses of Vraja, when Kṛṣṇa is enjoying Himself with Balarāma on the mountain slopes, playfully wearing a flower garland on the top of His head, He engladdens all with the resonant vibrations of His flute. Thus He delights the entire world. At that time the nearby cloud, afraid of offending a great personality, thunders very gently in accompaniment. The cloud showers flowers onto his dear friend Kṛṣṇa and shades Him from the sun like an umbrella.

14-15O pious mother Yaśodā, your son, who is expert in all the arts of herding cows, has invented many new styles of flute-playing. When He takes His flute to His bimba-red lips and sends forth the tones of the harmonic scale in variegated melodies, Brahmā, Śiva, Indra and other chief demigods become confused upon hearing the sound. Although they are the most learned authorities, they cannot ascertain the essence of that music, and thus they bow down their heads and hearts.

16-17As Kṛṣṇa strolls through Vraja with His lotus-petal-like feet, marking the ground with the distinctive emblems of flag, thunderbolt, lotus and elephant goad, He relieves the distress the ground feels from the cows' hooves. As He plays His renowned flute, His body moves with the grace of an elephant. Thus we gopīs, who become agitated by Cupid when Kṛṣṇa playfully glances at us, stand as still as trees, unaware that our hair and garments are slackening.

18-19Now Kṛṣṇa is standing somewhere counting His cows on a string of gems. He wears a garland of tulasī flowers that bear the fragrance of His beloved, and He has thrown His arm over the shoulder of an affectionate cowherd boyfriend. As Kṛṣṇa plays His flute and sings, the music attracts the black deer's wives, who approach that ocean of transcendental qualities and sit down beside Him. Just like us cowherd girls, they have given up all hope for happiness in family life.

20-21O sinless Yaśodā, your darling child, the son of Mahārāja Nanda, has festively enhanced His attire with a jasmine garland, and He is now playing along the Yamunā in the company of the cows and cowherd boys, amusing His dear companions. The gentle breeze honors Him with its soothing fragrance of sandalwood, while the various Upadevas, standing on all sides like panegyrists, offer their music, singing and gifts of tribute.

22-23Out of great affection for the cows of Vraja, Kṛṣṇa became the lifter of Govardhana Hill. At the end of the day, having rounded up all His own cows, He plays a song on His flute, while exalted demigods standing along the path worship His lotus feet and the cowherd boys accompanying Him chant His glories. His garland is powdered by the dust raised by the cows' hooves, and His beauty, enhanced by His fatigue, creates an ecstatic festival for everyone's eyes. Eager to fulfill His friends' desires, Kṛṣṇa is the moon arisen from the womb of mother Yaśodā.

24-25As Kṛṣṇa respectfully greets His well-wishing friends, His eyes roll slightly as if from intoxication. He wears a flower garland, and the beauty of His soft cheeks is accentuated by the brilliance of His golden earrings and the whiteness of His face, which has the color of a badara berry. With His cheerful face resembling the moon, lord of the night, the Lord of the Yadus moves with the grace of a regal elephant. Thus He returns in the evening, delivering the cows of Vraja from the heat of the day.

26ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: O King, thus during the daytime the women of Vṛndāvana took pleasure in continuously singing about the pastimes of Kṛṣṇa, and those ladies' minds and hearts, absorbed in Him, were filled with great festivity.

## SB 10.36: The Slaying of Ariṣṭā, the Bull Demon

This chapter describes how Kṛṣṇa killed Ariṣṭāsura and how Kaṁsa reacted when he learned from Nārada that Kṛṣṇa and Balarāma were the sons of Vasudeva.

The demon Ariṣṭa wanted to kill Kṛṣṇa and Balarāma, and thus he assumed the form of a huge bull with sharp horns. Everyone in Kṛṣṇa's cowherd village became terrified when Ariṣṭāsura approached it, but the Lord pacified them, and when the bull demon charged Him He seized him by the horns and threw him about six yards. Though weakened, Ariṣṭa still wanted to attack Kṛṣṇa. Thus, dripping with sweat, he charged the Lord once again. This time Kṛṣṇa grabbed his horns, threw him to the ground and thrashed him like a pile of wet clothing. The demon vomited blood and gave up his life. Then Kṛṣṇa and Rāma, while being honored by the demigods and cowherd boys, returned to the village.

A short time later Nārada Muni, the great sage among the demigods, came to see King Kaṁsa. He informed the King that Kṛṣṇa and Balarāma were not Nanda's sons but rather Vasudeva's. It was out of fear of Kaṁsa that Vasudeva had put the two boys under Nanda's care. Furthermore, said Nārada, Kaṁsa would meet his death at Their hands.

Kaṁsa shook with fear and anger when he heard all this, and in great agitation he began thinking of how to destroy Kṛṣṇa and Balarāma. He called for the demons Cāṇūra and Muṣṭika

and instructed them to kill the two brothers in a wrestling match. Then he spoke to Akrūra, who was expert at executing his duties. Taking Akrūra by the hand, Kaṁsa persuaded him to go to Vraja to bring the two boys to Mathurā. Akrūra agreed to carry out Kaṁsa's order and then returned home.

1Śukadeva Goswāmī said: The demon Ariṣṭa then came to the cowherd village. Appearing in the form of a bull with a large hump, he made the earth tremble as he tore it apart with his hooves.

2Ariṣṭāsura bellowed very harshly and pawed the ground. With his tail raised and his eyes glaring, he began to tear up the embankments with the tips of his horns, every now and then passing a little stool and urine.

3-4My dear King, clouds hovered about sharp-horned Ariṣṭāsura's hump, mistaking it for a mountain, and when the cowherd men and ladies caught sight of the demon, they were struck with terror. Indeed, the strident reverberation of his roar so frightened the pregnant cows and women that they lost their fetuses in miscarriages.

5The domestic animals fled the pasture in fear, O King, and all the inhabitants rushed to Lord Govinda for shelter, crying, "Kṛṣṇa, Kṛṣṇa!"

6When the Supreme Lord saw the cowherd community distraught and fleeing in fear, He calmed them, saying, "Don't be afraid." Then He called out to the bull demon as follows.

7You fool! What do you think you're doing, you wicked rascal, frightening the cowherd community and their animals when I am here just to punish corrupt miscreants like you!

8Having spoken these words, the infallible Lord Hari slapped His arms with His palms, further angering Ariṣṭa with the loud sound. The Lord then casually threw His mighty, serpentine arm over the shoulder of a friend and stood facing the demon.

9Thus provoked, Ariṣṭa pawed the ground with one of his hooves and then, with the clouds hovering around his upraised tail, furiously charged Kṛṣṇa.

10Pointing the tips of his horns straight ahead and glaring menacingly at Lord Kṛṣṇa from the corners of his bloodshot eyes, Ariṣṭa rushed toward Him at full speed, like a thunderbolt hurled by Indra.

11The Supreme Lord Kṛṣṇa seized Ariṣṭāsura by the horns and threw him back eighteen steps, just as an elephant might do when fighting a rival elephant.

12Thus repulsed by the Supreme Lord, the bull demon got up and, breathing hard and sweating all over his body, again charged Him in a mindless rage.

13As Ariṣṭa attacked, Lord Kṛṣṇa seized him by the horns and knocked him to the ground with His foot. The Lord then thrashed him as if he were a wet cloth, and finally He yanked out one of the demon's horns and struck him with it until he lay prostrate.

14Vomiting blood and profusely excreting stool and urine, kicking his legs and rolling his eyes about, Ariṣṭāsura thus went painfully to the abode of Death. The demigods honored Lord Kṛṣṇa by scattering flowers upon Him.

15Having thus killed the bull demon Ariṣṭa, He who is a festival for the gopīs' eyes entered the cowherd village with Balarāma.

16After Ariṣṭāsura had been killed by Kṛṣṇa, who acts wonderfully, Nārada Muni went to speak to King Kaṁsa. That powerful sage of godly vision addressed the King as follows.

17[Nārada told Kaṁsa:] Yaśodā's child was actually a daughter, and Kṛṣṇa is the son of Devakī. Also, Rāma is the son of Rohiṇī. Out of fear, Vasudeva entrusted Kṛṣṇa and Balarāma to his friend Nanda Mahārāja, and it is these two boys who have killed your men.

18Upon hearing this, the master of the Bhojas became furious and lost control of his senses. He picked up a sharp sword to kill Vasudeva.

19But Nārada restrained Kaṁsa by reminding him that it was the two sons of Vasudeva who would cause his death. Kaṁsa then had Vasudeva and his wife shackled in iron chains.

20After Nārada left, King Kaṁsa summoned Keśī and ordered him, "Go kill Rāma and Kṛṣṇa."

21The King of the Bhojas next called for his ministers, headed by Muṣṭika, Cāṇūra, Śala and Tośala, and also for his elephant-keepers. The King addressed them as follows.

22-23My dear heroic Cāṇūra and Muṣṭika, please hear this. Rāma and Kṛṣṇa, the sons of Ānakadundubhi [Vasudeva], are living in Nanda's cowherd village. It has been predicted that these two boys will be the cause of my death. When They are brought here, kill Them on the pretext of engaging Them in a wrestling match.

24Erect a wrestling ring with many surrounding viewing stands, and bring all the residents of the city and the outlying districts to see the open competition.

25You, elephant-keeper, my good man, should position the elephant Kuvalayāpīḍa at the entrance to the wrestling arena and have him kill my two enemies.

26Commence the bow sacrifice on the Caturdaśī day in accordance with the relevant Vedic injunctions. In ritual slaughter offer the appropriate kinds of animals to the magnanimous Lord Śiva.

27Having thus commanded his ministers, Kaṁsa next called for Akrūra, the most eminent of the Yadus. Kaṁsa knew the art of securing personal advantage, and thus he took Akrūra's hand in his own and spoke to him as follows.

28My dear Akrūra, most charitable one, please do me a friendly favor out of respect. Among the Bhojas and Vṛṣṇis, there is no one else as kind to us as you.

29Gentle Akrūra, you always carry out your duties soberly, and therefore I am depending on you, just as powerful Indra took shelter of Lord Viṣṇu to achieve his goals.

30Please go to Nanda's village, where the two sons of Ānakadundubhi are living, and without delay bring Them here on this chariot.

31The demigods, who are under the protection of Viṣṇu, have sent these two boys as my death. Bring Them here, and also have Nanda and the other cowherd men come with gifts of tribute.

32After you bring Kṛṣṇa and Balarāma, I will have Them killed by my elephant, who is as powerful as death itself. And if by chance They escape from him, I will have Them killed by my wrestlers, who are as strong as lightning.

33When these two have been killed, I will kill Vasudeva and all Their lamenting relativesthe

Vṛṣṇis, Bhojas and Daśārhas.

34I will also kill my old father, Ugrasena, who is greedy for my kingdom, and I will kill his brother Devaka and all my other enemies as well.

35Then, my friend, this earth will be free of thorns.

36My elder relative Jarāsandha and my dear friend Dvivida are solid well-wishers of mine, as are Śambara, Naraka and Bāṇa. I will use them all to kill off those kings who are allied with the demigods, and then I will rule the earth.

37Now that you understand my intentions, please go at once and bring Kṛṣṇa and Balarāma to watch the bow sacrifice and see the opulence of the Yadus' capital.

38Śrī Akrūra said: O King, you have expertly devised a process to free yourself of misfortune. Still, one should be equal in success and failure, since it is certainly destiny that produces the results of one's work.

39An ordinary person is determined to act on his desires even when fate prevents their fulfillment. Therefore he encounters both happiness and distress. Yet even though such is the case, I will execute your order.

40Śukadeva Gosvāmī said: Having thus instructed Akrūra, King Kaṁsa dismissed his ministers and retired to his quarters, and Akrūra returned home.

## SB 10.37: The Killing of the Demons Keśi and Vyoma

This chapter describes the killing of the horse demon, Keśī; Nārada's glorification of Lord Kṛṣṇa's future pastimes; and Kṛṣṇa's killing of Vyomāsura.

On Kaṁsa's order the Keśī demon assumed the form of a huge horse and went to Vraja. As he approached, his loud neighing terrified all the inhabitants, and they began looking for Śrī Kṛṣṇa. When He saw the demon, Kṛṣṇa came forward and challenged him to come near. Keśī charged Kṛṣṇa and tried to strike Him with his front legs, but the Lord seized them, whirled the demon around several times, and then threw him a distance of one hundred bow-lengths. Keśī remained unconscious for some time. When the demon regained consciousness, he furiously charged Kṛṣṇa again, his mouth agape. The Lord then thrust His left arm into the horse demon's mouth, and as Keśī tried to bite the arm, it felt like a red-hot iron rod. Kṛṣṇa's arm expanded more and more, finally choking the demon, and in extreme agony Keśī gave up his life. Lord Kṛṣṇa then removed His arm. He stood calmly, showing no pride at having killed the demon, as the demigods showered down flowers from the sky and glorified the Lord with prayers.

Soon thereafter Nārada Muni, the great sage among the demigods, approached Kṛṣṇa and prayed to Him in various ways, glorifying the Lord's future pastimes. Then Nārada paid his obeisances and departed.

One day, while tending the cows, Kṛṣṇa, Balarāma and the cowherd boys became engrossed in playing hide-and-go-seek. Some of the boys took the role of sheep, some the role of thieves, and others shepherds. The shepherds would search for the sheep when the thieves stole them. Taking advantage of this game, a demon named Vyoma, sent by Kaṁsa, dressed himself like a cowherd boy and joined the band of "thieves." He abducted a few cowherd boys at a time and threw them into a mountain cave, keeping them there by blocking the entrance with a boulder. Gradually Vyomāsura abducted all but four or five cowherd boys. When Kṛṣṇa saw what the demon was doing, He ran after him, grabbed him and killed him just as one would kill a

sacrificial animal.

1-2Śukadeva Gosvāmī said: The demon Keśī, sent by Kaṁsa, appeared in Vraja as a great horse. Running with the speed of the mind, he tore up the earth with his hooves. The hairs of his mane scattered the clouds and the demigods' airplanes throughout the sky, and he terrified everyone present with his loud neighing.

3Seeing the Lord standing before him, Keśī ran toward Him in extreme rage, his mouth gaping as if to swallow up the sky. Rushing with furious speed, the unconquerable and unapproachable horse demon tried to strike the lotus-eyed Lord with his two front legs.

4But the transcendental Lord dodged Keśī's blow and then with His arms angrily seized the demon by the legs, whirled him around in the air and contemptuously threw him the distance of one hundred bow-lengths, just as Garuḍa might throw a snake. Lord Kṛṣṇa then stood there.

5Upon regaining consciousness Keśī angrily got up, opened his mouth wide and again rushed to attack Lord Kṛṣṇa. But the Lord just smiled and thrust His left arm into the horse's mouth as easily as one would make a snake enter a hole in the ground.

6Keśī's teeth immediately fell out when they touched the Supreme Lord's arm, which to the demon felt as hot as molten iron. Within Keśī's body the Supreme Personality's arm then expanded greatly, like a diseased stomach swelling because of neglect.

7As Lord Kṛṣṇa's expanding arm completely blocked Keśī's breathing, his legs kicked convulsively, his body became covered with sweat, and his eyes rolled around. The demon then passed stool and fell on the ground, dead.

8The mighty-armed Kṛṣṇa withdrew His arm from Keśī's body, which now appeared like a long karkaṭikā fruit. Without the least display of pride at having so effortlessly killed His enemy, the Lord accepted the demigods' worship in the form of flowers rained down from above.

9My dear King, thereafter Lord Kṛṣṇa was approached in a solitary place by the great sage among the demigods, Nārada Muni. That most exalted devotee spoke as follows to the Lord, who effortlessly performs His pastimes.

10-11[Nārada Muni said:] O Kṛṣṇa, Kṛṣṇa, unlimited Lord, source of all mystic power, Lord of the universe! O Vāsudeva, shelter of all beings and best of the Yadus! O master, You are the Supreme Soul of all created beings, sitting unseen within the cave of the heart like the fire dormant within kindling wood. You are the witness within everyone, the Supreme Personality and the ultimate controlling Deity.

12You are the shelter of all souls, and being the supreme controller, You fulfill Your desires simply by Your will. By Your personal creative potency You manifested in the beginning the primal modes of material nature, and through their agency You create, maintain and then destroy this universe.

13You, that very same creator, have now descended to the earth to annihilate the Daitya, Pramatha and Rākṣasa demons who are posing as kings, and also to protect the godly.

14The horse demon was so terrifying that his neighing frightened the demigods into leaving their heavenly kingdom. But by our good fortune You have enjoyed the sport of killing him.

15-20In just two days, O almighty Lord, I will see the deaths of Cāṇūra, Muṣṭika and other wrestlers, along with those of the elephant Kuvalayāpīḍa and King Kaṁsaall by Your hand.

Then I will see You kill Kālayavana, Mura, Naraka and the conch demon, and I will also see You steal the pārijāta flower and defeat Indra. I will then see You marry many daughters of heroic kings after paying for them with Your valor. Then, O Lord of the universe, in Dvārakā You will deliver King Nṛga from a curse and take for Yourself the Syamantaka jewel, together with another wife. You will bring back a brāhmaṇa's dead son from the abode of Your servant Yamarāja, and thereafter You will kill Pauṇḍraka, burn down the city of Kāśī and slay Dantavakra, and You will also put an end to the King of Cedi during the great Rājasūya sacrifice. I shall see all these heroic pastimes, along with many others You will perform during Your residence in Dvārakā. These pastimes are glorified on this earth in the songs of transcendental poets.

21Subsequently I will see You appear as time personified, serving as Arjuna's chariot driver and destroying entire armies of soldiers to rid the earth of her burden.

22Let us approach You, the Supreme Personality of Godhead, for shelter. You are full of perfectly pure spiritual awareness and are always situated in Your original identity. Since Your will is never thwarted, You have already achieved all possible desirable things, and by the power of Your spiritual energy You remain eternally aloof from the flow of the qualities of illusion.

23I bow down to You, the supreme controller, who are dependent only on Yourself. By Your potency You have constructed the unlimited particular arrangements of this universe. Now you have appeared as the greatest hero among the Yadus, Vṛṣṇis and Sātvatas and have chosen to participate in human warfare.

24Śukadeva Gosvāmī said: Having thus addressed Lord Kṛṣṇa, the chief of the Yadu dynasty, Nārada bowed down and offered Him obeisances. Then that great sage and most eminent devotee took his leave from the Lord and went away, feeling great joy at having directly seen Him.

25After killing the demon Keśī in battle, the Supreme Personality of Godhead continued to tend the cows and other animals in the company of His joyful cowherd boyfriends. Thus He brought happiness to all the residents of Vṛndāvana.

26One day the cowherd boys, while grazing their animals on the mountain slopes, played the game of stealing and hiding, acting out the roles of rival thieves and herders.

27In that game, O King, some acted as thieves, others as shepherds and others as sheep. They played their game happily, without fear of danger.

28A powerful magician named Vyoma, son of the demon Maya, then appeared on the scene in the guise of a cowherd boy. Pretending to join the game as a thief, he proceeded to steal most of the cowherd boys who were acting as sheep.

29Gradually the great demon abducted more and more of the cowherd boys and cast them into a mountain cave, which he sealed shut with a boulder. Finally only four or five boys acting as sheep remained in the game.

30Lord Kṛṣṇa, who shelters all saintly devotees, understood perfectly well what Vyomāsura was doing. Just as a lion grabs a wolf, Kṛṣṇa forcefully seized the demon as he was taking away more cowherd boys.

31The demon changed into his original form, as big and powerful as a great mountain. But try as he might to free himself, he could not do so, having lost his strength from being held in the

Lord's tight grip.

32Lord Acyuta clutched Vyomāsura between His arms and threw him to the ground. Then, while the demigods in heaven looked on, Kṛṣṇa killed him in the same way that one kills a sacrificial animal.

33Kṛṣṇa then smashed the boulder blocking the cave's entrance and led the trapped cowherd boys to safety. Thereafter, as the demigods and cowherd boys sang His glories, He returned to His cowherd village, Gokula.

**SB 10.38: Akrūra's Arrival in Vṛndāvana**

This chapter describes Akrūra's trip from Mathurā to Vṛndāvana, his meditation on Kṛṣṇa and Balarāma along the way and the honor the two Lords showed Akrūra upon his arrival.

Early in the morning on the day after Kaṁsa had ordered him to bring Kṛṣṇa and Balarāma to Mathurā, Akrūra prepared his chariot and set off for Gokula. As he traveled, he thought as follows: "I am about to attain the great good fortune of seeing Śrī Kṛṣṇa's lotus feet, which are worshiped by Brahmā, Rudra and the other demigods. Although Kaṁsa is an enemy of the Supreme Lord and His devotees, still, it is by Kaṁsa's grace that I will get this great boon of seeing the Lord. When I first catch sight of His lotus feet, all my sinful reactions will be destroyed at once. I will descend from my chariot and fall at the feet of Kṛṣṇa and Balarāma, and even though I have been sent by Kaṁsa, the omniscient Śrī Kṛṣṇa will certainly harbor no animosity toward me." As Akrūra thus thought to himself, he arrived in Gokula at sunset. Alighting from his chariot in the cowherd pasture, he began rolling about in the dust in great ecstasy.

Then Akrūra continued on to Vraja. When he saw Kṛṣṇa and Balarāma he fell at Their lotus feet, and both the Lords embraced him. Afterward They brought him to Their residence, inquired from him about the comfort of his trip and honored him in various waysoffering him water for washing his feet, *arghya,* a seat and so forth. They relieved him of his fatigue by massaging his feet and served him a delicious banquet. Mahārāja Nanda also honored Akrūra with many sweet words.

1Śukadeva Gosvāmī said: After passing the night in the city of Mathurā, the high-minded Akrūra mounted his chariot and set off for the cowherd village of Nanda Mahārāja.

2As he traveled on the road, the great soul Akrūra felt tremendous devotion for the lotus-eyed Personality of Godhead, and thus he began to consider as follows.

3[Śrī Akrūra thought:] What pious deeds have I done, what severe austerities undergone, what worship performed or charity given so that today I will see Lord Keśava?

4Since I am a materialistic person absorbed simply in sense gratification, I think it is as difficult for me to have gotten this opportunity to see Lord Uttamaḥśloka as it would be for one born a śūdra to be allowed to recite the Vedic mantras.

5But enough of such thoughts! After all, even a fallen soul like me can have the chance to behold the infallible Supreme Lord, for one of the conditioned souls being swept along in the river of time may sometimes reach the shore.

6Today all my sinful reactions have been eradicated and my birth has become worthwhile, since I will offer my obeisances to the Supreme Lord's lotus feet, which mystic yogīs meditate upon.

7Indeed, today King Kaṁsa has shown me extreme mercy by sending me to see the lotus feet of Lord Hari, who has now appeared in this world. Simply by the effulgence of His toenails, many souls in the past have transcended the insurmountable darkness of material existence and achieved liberation.

8Those lotus feet are worshiped by Brahmā, Śiva and all the other demigods, by the goddess of fortune, and also by the great sages and Vaiṣṇavas. Upon those lotus feet the Lord walks about the forest while herding the cows with His companions, and those feet are smeared with the kuṅkuma from the gopīs' breasts.

9Surely I shall see the face of Lord Mukunda, since the deer are now walking past me on my right. That face, framed by His curly hair, is beautified by His attractive cheeks and nose, His smiling glances and His reddish lotus eyes.

10I am going to see the Supreme Lord Viṣṇu, the reservoir of all beauty, who by His own sweet will has now assumed a humanlike form to relieve the earth of her burden. Thus there is no denying that my eyes will achieve the perfection of their existence.

11He is the witness of material cause and effect, yet He is always free from false identification with them. By His internal potency He dispels the darkness of separation and confusion. The individual souls in this world, who are manifested here when He glances upon His material creative energy, indirectly perceive Him in the activities of their life airs, senses and intelligence.

12All sins are destroyed and all good fortune is created by the Supreme Lord's qualities, activities and appearances, and words that describe these three things animate, beautify and purify the world. On the other hand, words bereft of His glories are like the decorations on a corpse.

13That same Supreme Lord has descended into the dynasty of the Sātvatas to delight the exalted demigods, who maintain the principles of religion He has created. Residing in Vṛndāvana, He spreads His fame, which the demigods glorify in song and which brings auspiciousness to all.

14Today I shall certainly see Him, the goal and spiritual master of the great souls. Seeing Him brings jubilation to all who have eyes, for He is the true beauty of the universe. Indeed, His personal form is the shelter desired by the goddess of fortune. Now all the dawns of my life have become auspicious.

15Then I will at once alight from my chariot and bow down to the lotus feet of Kṛṣṇa and Balarāma, the Supreme Personalities of Godhead. Theirs are the same feet that great mystic yogīs striving for self-realization bear within their minds. I will also offer my obeisances to the Lords' cowherd boyfriends and to all the other residents of Vṛndāvana.

16And when I have fallen at His feet, the almighty Lord will place His lotus hand upon my head. For those who seek shelter in Him because they are greatly disturbed by the powerful serpent of time, that hand removes all fear.

17By offering charity to that lotus hand, Purandara and Bali earned the status of Indra, King of heaven, and during the pleasure pastimes of the rāsa dance, when the Lord wiped away the gopīs' perspiration and removed their fatigue, the touch of their faces made that hand as fragrant as a sweet flower.

18The infallible Lord will not consider me an enemy, even though Kaṁsa has sent me here as

his messenger. After all, the omniscient Lord is the actual knower of the field of this material body, and with His perfect vision He witnesses, both externally and internally, all the endeavors of the conditioned soul's heart.

19Thus He will cast His smiling, affectionate glance upon me as I remain fixed with joined palms, fallen in obeisances at His feet. Then all my contamination will at once be dispelled, and I will give up all doubts and feel the most intense bliss.

20Recognizing me as an intimate friend and relative, Kṛṣṇa will embrace me with His mighty arms, instantly sanctifying my body and diminishing to nil all my material bondage, which is due to fruitive activities.

21Having been embraced by the all-famous Lord Kṛṣṇa, I will humbly stand before Him with bowed head and joined palms, and He will address me, "My dear Akrūra." At that very moment my life's purpose will be fulfilled. Indeed, the life of anyone whom the Supreme Personality fails to recognize is simply pitiable.

22The Supreme Lord has no favorite and no dearmost friend, nor does He consider anyone undesirable, despicable or fit to be neglected. All the same, He lovingly reciprocates with His devotees in whatever manner they worship Him, just as the trees of heaven fulfill the desires of whoever approaches them.

23And then Lord Kṛṣṇa's elder brother, the foremost of the Yadus, will grasp my joined hands while I am still standing with my head bowed, and after embracing me He will take me to His house. There He will honor me with all items of ritual welcome and inquire from me about how Kaṁsa has been treating His family members.

24Śukadeva Gosvāmī continued: My dear King, while the son of Śvaphalka, traveling on the road, thus meditated deeply on Śrī Kṛṣṇa, he reached Gokula as the sun was beginning to set.

25In the cowherd pasture Akrūra saw the footprints of those feet whose pure dust the rulers of all the planets in the universe hold on their crowns. Those footprints of the Lord, distinguished by such marks as the lotus, barleycorn and elephant goad, made the ground wonderfully beautiful.

26Increasingly agitated by ecstasy at seeing the Lord's footprints, his bodily hairs standing on end because of his pure love, and his eyes filled with tears, Akrūra jumped down from his chariot and began rolling about among those footprints, exclaiming, "Ah, this is the dust from my master's feet!"

27The very goal of life for all embodied beings is this ecstasy, which Akrūra experienced when, upon receiving Kaṁsa's order, he put aside all pride, fear and lamentation and absorbed himself in seeing, hearing and describing the things that reminded him of Lord Kṛṣṇa.

28-33Akrūra then saw Kṛṣṇa and Balarāma in the village of Vraja, going to milk the cows. Kṛṣṇa wore yellow garments, Balarāma blue, and Their eyes resembled autumnal lotuses. One of those two mighty-armed youths, the shelters of the goddess of fortune, had a dark-blue complexion, and the other's was white. With Their fine-featured faces They were the most beautiful of all persons. As They walked with the gait of young elephants, glancing about with compassionate smiles, Those two exalted personalities beautified the cow pasture with the impressions of Their feet, which bore the marks of the flag, lightning bolt, elephant goad and lotus. The two Lords, whose pastimes are most magnanimous and attractive, were ornamented with jeweled necklaces and flower garlands, anointed with auspicious, fragrant substances, freshly bathed, and dressed in spotless raiment. They were the primeval Supreme Personalities,

the masters and original causes of the universes, who had for the welfare of the earth now descended in Their distinct forms of Keśava and Balarāma. O King Parīkṣit, They resembled two gold-bedecked mountains, one of emerald and the other of silver, as with Their effulgence They dispelled the sky's darkness in all directions.

34Akrūra, overwhelmed with affection, quickly jumped down from his chariot and fell at the feet of Kṛṣṇa and Balarāma like a rod.

35The joy of seeing the Supreme Lord flooded Akrūra's eyes with tears and decorated his limbs with eruptions of ecstasy. He felt such eagerness that he could not speak to present himself, O King.

36Recognizing Akrūra, Lord Kṛṣṇa drew him close with His hand, which bears the sign of the chariot wheel, and then embraced him. Kṛṣṇa felt pleased, for He is always benignly disposed toward His surrendered devotees.

37-38As Akrūra stood with his head bowed, Lord Saṅkarṣaṇa [Balarāma] grasped his joined hands, and then Balarāma took him to His house in the company of Lord Kṛṣṇa. After inquiring from Akrūra whether his trip had been comfortable, Balarāma offered him a first-class seat, bathed his feet in accordance with the injunctions of scripture and respectfully served him milk with honey.

39The almighty Lord Balarāma presented Akrūra with the gift of a cow, massaged his feet to relieve him of fatigue and then with great respect and faith fed him suitably prepared food of various fine tastes.

40When Akrūra had eaten to his satisfaction, Lord Balarāma, the supreme knower of religious duties, offered him aromatic herbs for sweetening his mouth, along with fragrances and flower garlands. Thus Akrūra once again enjoyed the highest pleasure.

41Nanda Mahārāja asked Akrūra: O descendant of Daśārha, how are all of you maintaining yourselves while that merciless Kaṁsa remains alive? You are just like sheep under the care of a butcher.

42That cruel, self-serving Kaṁsa murdered the infants of his own sister in her presence, even as she cried in anguish. So why should we even ask about the well-being of you, his subjects?

43Honored by Nanda Mahārāja with these true and pleasing words of inquiry, Akrūra forgot the fatigue of his journey.

## SB 10.39: Akrūra's Vision

This chapter describes how Akrūra informed Lord Kṛṣṇa and Lord Balarāma of Kaṁsa's plans and his activities in Mathurā; what the *gopīs* cried out in distress when Kṛṣṇa left for Mathurā; and also the vision of Lord Viṣṇu's abode that Akrūra saw within the water of the Yamunā.

When Kṛṣṇa and Balarāma offered Akrūra great respect and comfortably seated him on a couch, he felt that all the desires he had reflected on while traveling to Vṛndāvana were now fulfilled. After the evening meal, Kṛṣṇa asked Akrūra whether his trip had been peaceful and whether he was well. The Lord also inquired about how Kaṁsa was behaving toward their family members, and finally He asked why Akrūra had come.

Akrūra described how Kaṁsa had been persecuting the Yādavas, what Nārada had told Kaṁsa and how Kaṁsa had been treating Vasudeva cruelly. Akrūra also spoke of Kaṁsa's desire to

bring Kṛṣṇa and Balarāma to Mathurā to kill Them on the pretext of Their seeing the bow sacrifice and engaging in a wrestling match. Kṛṣṇa and Balarāma laughed out loud when They heard this. They went to Their father, Nanda, and informed him of Kaṁsa's orders. Nanda then issued an order to all the residents of Vraja that they should collect various offerings for the King and prepare to go to Mathurā.

The young *gopīs* were extremely upset to hear that Kṛṣṇa and Balarāma would be going to Mathurā. They lost all external awareness and began to remember Kṛṣṇa's pastimes. Condemning the creator for separating them from Him, they began to lament. They said that Akrūra did not deserve his name (*a,* "not"; *krūra,* "cruel"), since he was so cruel to be taking away their dearmost Kṛṣṇa. "It must be that fate is against us," they lamented, "because otherwise the elders of Vraja would have forbidden Kṛṣṇa to leave. So let us forget our shyness and try to stop Lord Mādhava from going." With these words the young cowherd girls began to chant Kṛṣṇa's names and cry.

But even as they wept, Akrūra began taking Kṛṣṇa and Balarāma to Mathurā in his chariot. The cowherd men of Gokula followed behind on their wagons, and the young *gopīs* also walked behind for some distance, but then they became placated by Kṛṣṇa's glances and gestures and pacified by a message from Him that said "I will return." With their minds completely absorbed in Kṛṣṇa, the cowherd girls stood as still as figures in a painting until they could no longer see the chariot's flag or the dust cloud being raised on the road. Then, chanting Kṛṣṇa's glories all the while, they despondently returned to their homes.

Akrūra halted the chariot at the bank of the Yamunā so Kṛṣṇa and Balarāma could perform a ritual of purification and drink some water. After the two Lords had gotten back into the chariot, Akrūra took Their permission to bathe in the Yamunā. As he recited Vedic *mantras,* he was startled to see the two Lords standing in the water. Akrūra came out of the river and returned to the chariotwhere he saw the Lords still sitting. Then he returned to the water to find out if the two figures he had seen there were real or not.

What Akrūra saw in the water was four-armed Lord Vāsudeva. His complexion was dark blue like a fresh raincloud, He wore yellow garments and He lay on the lap of thousand-hooded Ananta Śeṣa. Lord Vāsudeva was receiving the prayers of perfected beings, celestial serpents and demons, and He was encircled by His personal attendants. Serving Him were His many potencies, such as Śrī, Puṣṭi and Ilā, while Brahmā and other demigods sang His praises. Akrūra rejoiced at this vision and, joining his palms in supplication, began to pray to the Supreme Lord in a voice choked with emotion.

1Śukadeva Gosvāmī said: Having been honored so much by Lord Balarāma and Lord Kṛṣṇa, Akrūra, seated comfortably on a couch, felt that all the desires he had contemplated on the road were now fulfilled.

2My dear King, what is unattainable for one who has satisfied the Supreme Personality of Godhead, the shelter of the goddess of fortune? Even so, those who are dedicated to His devotional service never want anything from Him.

3After the evening meal, Lord Kṛṣṇa, the son of Devakī, asked Akrūra how Kaṁsa was treating their dear relatives and friends and what the King was planning to do.

4The Supreme Lord said: My dear, gentle Uncle Akrūra, was your trip here comfortable? May all good fortune be yours. Are our well-wishing friends and our relatives, both close and distant, happy and in good health?

5But, my dear Akrūra, as long as King Kaṁsathat disease of our family who goes by the name "maternal uncle"is still prospering, why should I even bother to ask about the well-being of our family members and his other subjects?

6Just see how much suffering I have caused My offenseless parents! Because of Me their sons were killed and they themselves imprisoned.

7By good fortune We have today fulfilled Our desire to see you, Our dear relative. O gentle uncle, please tell Us why you have come.

8Śukadeva Gosvāmī said: In response to the Supreme Lord's request, Akrūra, the descendant of Madhu, described the whole situation, including King Kaṁsa's enmity toward the Yadus and his attempt to murder Vasudeva.

9Akrūra relayed the message he had been sent to deliver. He also described Kaṁsa's real intentions and how Nārada had informed Kaṁsa that Kṛṣṇa had been born as the son of Vasudeva.

10Lord Kṛṣṇa and Lord Balarāma, the vanquisher of heroic opponents, laughed when They heard Akrūra's words. The Lords then informed Their father, Nanda Mahārāja, of King Kaṁsa's orders.

11-12Nanda Mahārāja then issued orders to the cowherd men by having the village constable make the following announcement throughout Nanda's domain of Vraja: "Go collect all the available milk products. Bring valuable gifts and yoke your wagons. Tomorrow we shall go to Mathurā, present our milk products to the King and see a very great festival. The residents of all the outlying districts are also going."

13When the young gopīs heard that Akrūra had come to Vraja to take Kṛṣṇa and Balarāma to the city, they became extremely distressed.

14Some gopīs felt so pained at heart that their faces turned pale from their heavy breathing. Others were so anguished that their dresses, bracelets and braids became loose.

15Other gopīs entirely stopped their sensory activities and became fixed in meditation on Kṛṣṇa. They lost all awareness of the external world, just like those who attain the platform of self-realization.

16And still other young women fainted simply by remembering the words of Lord Śauri [Kṛṣṇa]. These words, decorated with wonderful phrases and expressed with affectionate smiles, would deeply touch the young girls' hearts.

17-18The gopīs were frightened at the prospect of even the briefest separation from Lord Mukunda, so now, as they remembered His graceful gait, His pastimes, His affectionate, smiling glances, His heroic deeds and His joking words, which would relieve their distress, they were beside themselves with anxiety at the thought of the great separation about to come. They gathered in groups and spoke to one another, their faces covered with tears and their minds fully absorbed in Acyuta.

19The gopīs said: O Providence, you have no mercy! You bring embodied creatures together in friendship and love and then senselessly separate them before they fulfill their desires. This whimsical play of yours is like a child's game.

20Having shown us Mukunda's face, framed by dark locks and beautified by His fine cheeks,

raised nose and gentle smiles, which eradicate all misery, you are now making that face invisible. This behavior of yours is not at all good.

21O Providence, though you come here with the name Akrūra, you are indeed cruel, for like a fool you are taking away what you once gave usthose eyes with which we have seen, even in one feature of Lord Madhudviṣa's form, the perfection of your entire creation.

22Alas, Nanda's son, who breaks loving friendships in a second, will not even look directly at us. Forcibly brought under His control, we abandoned our homes, relatives, children and husbands just to serve Him, but He is always looking for new lovers.

23The dawn following this night will certainly be auspicious for the women of Mathurā. All their hopes will now be fulfilled, for as the Lord of Vraja enters their city, they will be able to drink from His face the nectar of the smile emanating from the corners of His eyes.

24O gopīs, although our Mukunda is intelligent and very obedient to His parents, once He has fallen under the spell of the honey-sweet words of the women of Mathurā and been enchanted by their alluring, shy smiles, how will He ever return to us unsophisticated village girls?

25When the Dāśārhas, Bhojas, Andhakas, Vṛṣṇis and Sātvatas see the son of Devakī in Mathurā, they will certainly enjoy a great festival for their eyes, as will all those who see Him traveling along the road to the city. After all, He is the darling of the goddess of fortune and the reservoir of all transcendental qualities.

26He who is doing this merciless deed should not be called Akrūra. He is so extremely cruel that without even trying to console the sorrowful residents of Vraja, he is taking away Kṛṣṇa, who is more dear to us than life itself.

27Hard-hearted Kṛṣṇa has already mounted the chariot, and now the foolish cowherds are hurrying after Him in their bullock carts. Even the elders are saying nothing to stop Him. Today fate is working against us.

28Let us directly approach Mādhava and stop Him from going. What can our family elders and other relatives do to us? Now that fate is separating us from Mukunda, our hearts are already wretched, for we cannot bear to give up His association even for a fraction of a second.

29When He brought us to the assembly of the rāsa dance, where we enjoyed His affectionate and charming smiles, His delightful secret talks, His playful glances and His embraces, we passed many nights as if they were a single moment. O gopīs, how can we possibly cross over the insurmountable darkness of His absence?

30How can we exist without Ananta's friend Kṛṣṇa, who in the evening would return to Vraja in the company of the cowherd boys, His hair and garland powdered with the dust raised by the cows' hooves? As He played His flute, He would captivate our minds with His smiling sidelong glances.

31Śukadeva Gosvāmī said: After speaking these words, the ladies of Vraja, who were so attached to Kṛṣṇa, felt extremely agitated by their imminent separation from Him. They forgot all shame and loudly cried out, "O Govinda! O Dāmodara! O Mādhava!"

32But even as the gopīs cried out in this way, Akrūra, having at sunrise performed His morning worship and other duties, began to drive the chariot.

33Led by Nanda Mahārāja, the cowherd men followed behind Lord Kṛṣṇa in their wagons. The

men brought along many offerings for the King, including clay pots filled with ghee and other milk products.

34[With His glances] Lord Kṛṣṇa somewhat pacified the gopīs, and they also followed behind for some time. Then, hoping He would give them some instruction, they stood still.

35As He departed, that best of the Yadus saw how the gopīs were lamenting, and thus He consoled them by sending a messenger with this loving promise: "I will return."

36Sending their minds after Kṛṣṇa, the gopīs stood as motionless as figures in a painting. They remained there as long as the flag atop the chariot was visible, and even until they could no longer see the dust raised by the chariot wheels.

37The gopīs then turned back, without hope that Govinda would ever return to them. Full of sorrow, they began to spend their days and nights chanting about the pastimes of their beloved.

38My dear King, the Supreme Lord Kṛṣṇa, traveling as swiftly as the wind in that chariot with Lord Balarāma and Akrūra, arrived at the river Kālindī, which destroys all sins.

39The river's sweet water was more effulgent than brilliant jewels. After Lord Kṛṣṇa had touched it for purification, He drank some from His hand. Then He had the chariot moved near a grove of trees and climbed back on, along with Balarāma.

40Akrūra asked the two Lords to take Their seats on the chariot. Then, taking Their permission, he went to a pool in the Yamunā and took his bath as enjoined in the scriptures.

41While immersing himself in the water and reciting eternal mantras from the Vedas, Akrūra suddenly saw Balarāma and Kṛṣṇa before him.

42-43Akrūra thought, "How can the two sons of Ānakadundubhi, who are sitting in the chariot, be standing here in the water? They must have left the chariot." But when he came out of the river, there They were on the chariot, just as before. Asking himself "Was the vision I had of Them in the water an illusion?" Akrūra reentered the pool.

44-45There Akrūra now saw Ananta Śeṣa, the Lord of the serpents, receiving praise from Siddhas, Cāraṇas, Gandharvas and demons, who all had their heads bowed. The Personality of Godhead whom Akrūra saw had thousands of heads, thousands of hoods and thousands of helmets. His blue garment and His fair complexion, as white as the filaments of a lotus stem, made Him appear like white Kailāsa Mountain with its many peaks.

46-48Akrūra then saw the Supreme Personality of Godhead lying peacefully on the lap of Lord Ananta Śeṣa. The complexion of that Supreme Person was like a dark-blue cloud. He wore yellow garments and had four arms and reddish lotus-petal eyes. His face looked attractive and cheerful with its smiling, endearing glance and lovely eyebrows, its raised nose and finely formed ears, and its beautiful cheeks and reddish lips. The Lord's broad shoulders and expansive chest were beautiful, and His arms long and stout. His neck resembled a conchshell, His navel was deep, and His abdomen bore lines like those on a banyan leaf.

49-50He had large loins and hips, thighs like an elephant's trunk, and shapely knees and shanks. His raised ankles reflected the brilliant effulgence emanating from the nails on His petallike toes, which beautified His lotus feet.

51-52Adorned with a helmet, bracelets and armlets, which were all bedecked with many

priceless jewels, and also with a belt, a sacred thread, necklaces, ankle bells and earrings, the Lord shone with dazzling effulgence. In one hand He held a lotus flower, in the others a conchshell, discus and club. Gracing His chest were the Śrīvatsa mark, the brilliant Kaustubha gem and a flower garland.

53-55Encircling the Lord and worshiping Him were Nanda, Sunanda and His other personal attendants; Sanaka and the other Kumāras; Brahmā, Rudra and other chief demigods; the nine chief brāhmaṇas; and the best of the saintly devotees, headed by Prahlāda, Nārada and Uparicara Vasu. Each of these great personalities was worshiping the Lord by chanting sanctified words of praise in his own unique mood. Also in attendance were the Lord's principal internal potenciesŚrī, Puṣṭi, Gīr, Kānti, Kīrti, Tuṣṭi, Ilā and Ūrjāas were His material potencies Vidyā, Avidyā and Māyā, and His internal pleasure potency, Śakti.

56-57As the great devotee Akrūra beheld all this, he became extremely pleased and felt enthused with transcendental devotion. His intense ecstasy caused His bodily hairs to stand on end and tears to flow from his eyes, drenching his entire body. Somehow managing to steady himself, Akrūra bowed his head to the ground. Then he joined his palms in supplication and, in a voice choked with emotion, very slowly and attentively began to pray.

**SB 10.40: The Prayers of Akrūra**

This chapter relates Akrūra's prayers to the Supreme Personality of Godhead.

Akrūra prayed, "Brahmā, who created this visible world, emanated from the lotus navel of the Supreme Lord. The five elements of physical nature, the five corresponding objects of perception, the ten senses, the ego, the total nature, the primeval creator and the demigods all originate from His bodily limbs. He cannot be known by sensory knowledge, and thus even Brahmā and the other demigods are ignorant of His real identity.

"Different classes of people worship the Supreme Personality of Godhead in different ways. Fruitive workers worship Him by performing Vedic sacrifices, philosophers by renouncing material work and pursuing spiritual knowledge, *yogīs* by meditating, Śaivites by worshiping Lord Śiva, Vaiṣṇavas by following the injunctions of such scriptures as the *Paṣcarātra,* and other saintly persons by worshiping Him as the original form of the self, of the material substance and of the controlling demigods. Just as rivers flow from various directions into the ocean, the worship of those who dedicate themselves to these various entities finds its ultimate purpose within the Supreme Lord Viṣṇu.

"The form of the total universe, the Virāṭ-rūpa, is imagined to be the form of Lord Viṣṇu. Like aquatics moving about in water or like tiny insects burrowing in an *udumbara* fruit, all living beings move about within the Lord. These living beings, bewildered by His Māyā, wander along the path of material work, falsely identifying with body, home and so forth. Under the sway of illusion, a foolish person may overlook a reservoir of water covered by grass and leaves and instead run after a mirage. Similarly, living beings caught in the grip of ignorance abandon Lord Viṣṇu and become attached to their bodies, homes and so on. Such faithful servants of their senses cannot take shelter of the Supreme Lord's lotus feet. Only if, by His mercy, they get the association of saintly devotees will their material entanglement end. Only then can they develop Kṛṣṇa consciousness by serving the Lord's pure devotees."

1Śrī Akrūra said: I bow down to You, the cause of all causes, the original and inexhaustible Supreme Person, Nārāyaṇa. From the whorl of the lotus born from Your navel, Brahmā appeared, and by his agency this universe has come into being.

2Earth; water; fire; air; ether and its source, false ego; the mahat-tattva; the total material nature and her source, the Supreme Lord's puruṣa expansion; the mind; the senses; the sense objects; and the senses' presiding deitiesall these causes of the cosmic manifestation are born from Your transcendental body.

3The total material nature and these other elements of creation certainly cannot know You as You are, for they are manifested in the realm of dull matter. Since You are beyond the modes of nature, even Lord Brahmā, who is bound up in these modes, does not know Your true identity.

4Pure yogīs worship You, the Supreme Personality of Godhead, by conceiving of You in the threefold form comprising the living entities, the material elements that constitute the living entities' bodies, and the controlling deities of those elements.

5Brāhmaṇas who follow the regulations concerning the three sacred fires worship You by chanting mantras from the three Vedas and performing elaborate fire sacrifices for the various demigods, who have many forms and names.

6In pursuit of spiritual knowledge, some persons renounce all material activities and, having thus become peaceful, perform the sacrifice of philosophic investigation to worship You, the original form of all knowledge.

7And yet othersthose whose intelligence is purefollow the injunctions of Vaiṣṇava scriptures promulgated by You. Absorbing their minds in thought of You, they worship You as the one Supreme Lord manifesting in multiple forms.

8There are still others, who worship You, the Supreme Lord, in the form of Lord Śiva. They follow the path described by him and interpreted in various ways by many teachers.

9But all these people, my Lord, even those who have turned their attention away from You and are worshiping other deities, are actually worshiping You alone, O embodiment of all the demigods.

10As rivers born from the mountains and filled by the rain flow from all sides into the sea, so do all these paths in the end reach You, O master.

11Goodness, passion and ignorance, the qualities of Your material nature, entangle all conditioned living beings, from Brahmā down to the nonmoving creatures.

12I offer My obeisances to You, who as the Supreme Soul of all beings witness everyone's consciousness with unbiased vision. The current of Your material modes, produced by the force of ignorance, flows strongly among the living beings who assume identities as demigods, humans and animals.

13-14Fire is said to be Your face, the earth Your feet, the sun Your eye, and the sky Your navel. The directions are Your sense of hearing, the chief demigods Your arms, and the oceans Your abdomen. Heaven is thought to be Your head, and the wind Your vital air and physical strength. The trees and plants are the hairs on Your body, the clouds the hair on Your head, and the mountains the bones and nails of You, the Supreme. The passage of day and night is the blinking of Your eyes, the progenitor of mankind Your genitals, and the rain Your semen.

15All the worlds, with their presiding demigods and teeming populations, originate in You, the inexhaustible Supreme Personality of Godhead. These worlds travel within You, the basis of the mind and senses, just as aquatics swim in the sea or tiny insects burrow within an udumbara fruit.

16To enjoy Your pastimes You manifest Yourself in various forms in this material world, and these incarnations cleanse away all the unhappiness of those who joyfully chant Your glories.

17-18I offer my obeisances to You, the cause of the creation, Lord Matsya, who swam about in the ocean of dissolution, to Lord Hayagrīva, the killer of Madhu and Kaiṭabha, to the immense tortoise [Lord Kūrma], who supported Mandara Mountain, and to the boar incarnation [Lord Varāha], who enjoyed lifting the earth.

19Obeisances to You, the amazing lion [Lord Nṛsiṁha], who remove Your saintly devotees' fear, and to the dwarf Vāmana, who stepped over the three worlds.

20Obeisances to You, Lord of the Bhṛgus, who cut down the forest of the conceited royal order, and to Lord Rāma, the best of the Raghu dynasty, who put an end to the demon Rāvaṇa.

21Obeisances to You, Lord of the Sātvatas, and to Your forms of Vāsudeva, Saṅkarṣaṇa, Pradyumna and Aniruddha.

22Obeisances to Your form as the faultless Lord Buddha, who will bewilder the Daityas and Dānavas, and to Lord Kalki, the annihilator of the meat-eaters posing as kings.

23O Supreme Lord, the living entities in this world are bewildered by Your illusory energy. Becoming involved in the false concepts of "I" and "my," they are forced to wander along the paths of fruitive work.

24I too am deluded in this way, O almighty Lord, foolishly thinking my body, children, home, wife, money and followers to be real, though they are actually as unreal as a dream.

25Thus mistaking the temporary for the eternal, my body for my self, and sources of misery for sources of happiness, I have tried to take pleasure in material dualities. Covered in this way by ignorance, I could not recognize You as the real object of my love.

26Just as a fool overlooks a body of water covered by the vegetation growing in it and chases a mirage, so I have turned away from You.

27My intelligence is so crippled that I cannot find the strength to curb my mind, which is disturbed by material desires and activities and constantly dragged here and there by my obstinate senses.

28Being thus fallen, I am approaching Your feet for shelter, O Lord, because although the impure can never attain Your feet, I think it is nevertheless possible by Your mercy. Only when one's material life has ceased, O lotus-naveled Lord, can one develop consciousness of You by serving Your pure devotees.

29Obeisances to the Supreme Absolute Truth, the possessor of unlimited energies. He is the embodiment of pure, transcendental knowledge, the source of all kinds of awareness, and the predominator of the forces of nature that rule over the living being.

30O son of Vasudeva, obeisances to You, within whom all living beings reside. O Lord of the mind and senses, again I offer You my obeisances. O master, please protect me, who am surrendered unto You.

## SB 10.41: Kṛṣṇa and Balarāma Enter Mathurā

This chapter describes how Lord Kṛṣṇa entered the city of Mathurā, killed a washerman and bestowed benedictions upon a weaver and a garland-maker named Sudāmā.

After showing His Viṣṇu form to Akrūra in the waters of the Yamunā and receiving Akrūra's prayers, Lord Kṛṣṇa withdrew that vision just as an actor winds up his performance. Akrūra emerged from the water and in great amazement approached the Lord, who asked him whether he had seen something wonderful while bathing. Akrūra replied, "Whatever wonderful things there are in the realms of water, earth or sky, all have their existence within You. Thus when one has seen You, nothing remains unseen." Akrūra then began driving the chariot again.

Kṛṣṇa, Balarāma and Akrūra reached Mathurā late in the afternoon. After meeting up with Nanda Mahārāja and the other cowherds, who had gone on ahead, Kṛṣṇa asked Akrūra to return home, promising to visit him there after He had killed Kaṁsa. Akrūra unhappily bid the Lord goodbye, went to King Kaṁsa to inform him that Kṛṣṇa and Balarāma had come, and went home.

Kṛṣṇa and Balarāma took the cowherd boys with Them to see the splendorous city. As they all entered Mathurā, the women of the city eagerly came out of their houses to see Kṛṣṇa. They had often heard about Him and had long since developed a deep attraction for Him. But now that they were actually seeing Him, they were overwhelmed with happiness, and all their distress due to His absence was eradicated.

Kṛṣṇa and Balarāma then came upon Kaṁsa's wicked washerman. Kṛṣṇa asked him for some of the first-class garments he was carrying, but he refused and even chastised the two Lords. At this Kṛṣṇa became very angry and beheaded the man with His fingertips. The washerman's assistants, seeing his untimely end, dropped their bundles of clothes on the spot and ran off in all directions. Kṛṣṇa and Balarāma then took some of the garments They especially fancied.

Next a weaver approached the two Lords and arrayed Them suitably, for which service he received from Kṛṣṇa opulence in this life and liberation in the next. Kṛṣṇa and Balarāma then went to the house of the garland-maker Sudāmā. Sudāmā offered Them his full obeisances, worshiped Them by bathing Their feet and offering Them such items as *arghya* and sandalwood paste, and chanted prayers in Their honor. Then he adorned Them with garlands of fragrant flowers. Pleased, the Lords offered him whatever benedictions he wished, and then They moved on.

1Śukadeva Gosvāmī said: While Akrūra was still offering prayers, the Supreme Lord Kṛṣṇa withdrew His form that He had revealed in the water, just as an actor winds up his performance.

2When Akrūra saw the vision disappear, he came out of the water and quickly finished his various ritual duties. He then returned to the chariot, astonished.

3Lord Kṛṣṇa asked Akrūra: Have you seen something wonderful on the earth, in the sky or in the water? From your appearance, We think you have.

4Śrī Akrūra said: Whatever wonderful things the earth, sky or water contain, all exist in You. Since You encompass everything, when I am seeing You, what have I not seen?

5And now that I am seeing You, O Supreme Absolute Truth, in whom reside all amazing things on the earth, in the sky and in the water, what amazing things could I see in this world?

6With these words, Akrūra, the son of Gāndinī, began driving the chariot onward. At the end of the day he arrived in Mathurā with Lord Balarāma and Lord Kṛṣṇa.

7Wherever they passed along the road, O King, the village people came forward and looked

upon the two sons of Vasudeva with great pleasure. In fact, the villagers could not withdraw their eyes from Them.

8Nanda Mahārāja and the other residents of Vṛndāvana, having reached Mathurā ahead of the chariot, had stopped at a garden on the outskirts of the city to wait for Kṛṣṇa and Balarāma.

9After joining Nanda and the others, the Supreme Lord Kṛṣṇa, the controller of the universe, took humble Akrūra's hand in His own and, smiling, spoke as follows.

10[Lord Kṛṣṇa said:] Take the chariot and enter the city ahead of us. Then go home. After resting here a while, we will go to see the city.

11Śrī Akrūra said: O master, without the two of You I shall not enter Mathurā. I am Your devotee, O Lord, so it is not fair for You to abandon me, since You are always affectionate to Your devotees.

12Come, let us go to my house with Your elder brother, the cowherd men and Your companions. O best of friends, O transcendental Lord, in this way please grace my house with its master.

13I am simply an ordinary householder attached to ritual sacrifices, so please purify my home with the dust of Your lotus feet. By that act of purification, my forefathers, the sacrificial fires and the demigods will all become satisfied.

14By bathing Your feet, the exalted Bali Mahārāja attained not only glorious fame and unequaled power but also the final destination of pure devotees.

15The water of the river Ganges has purified the three worlds, having become transcendental by bathing Your feet. Lord Śiva accepted that water on his head, and by that water's grace the sons of King Sagara attained to heaven.

16O Lord of lords, master of the universe, O You whose glories it is most pious to hear and chant! O best of the Yadus, O You whose fame is recounted in excellent poetry! O Supreme Lord Nārāyaṇa, I offer You my obeisances.

17The Supreme Lord said: I will come to Your house with My elder brother, but first I must satisfy My friends and well-wishers by killing the enemy of the Yadu clan.

18Śukadeva Gosvāmī said: Thus addressed by the Lord, Akrūra entered the city with a heavy heart. He informed King Kaṁsa of the success of his mission and then went home.

19Lord Kṛṣṇa desired to see Mathurā, so toward evening He took Lord Balarāma and the cowherd boys with Him and entered the city.

20-23The Lord saw Mathurā, with its tall gates and household entrances made of crystal, its immense archways and main doors of gold, its granaries and other storehouses of copper and brass, and its impregnable moats. Beautifying the city were pleasant gardens and parks. The main intersections were fashioned of gold, and there were mansions with private pleasure gardens, along with guildhalls and many other buildings. Mathurā resounded with the calls of peacocks and pet turtledoves, who sat in the small openings of the lattice windows and on the gem-studded floors, and also on the columned balconies and on the ornate rafters in front of the houses. These balconies and rafters were adorned with vaidūrya stones, diamonds, crystal quartz, sapphires, coral, pearls and emeralds. All the royal avenues and commercial streets were sprinkled with water, as were the side roads and courtyards, and flower garlands, newly

grown sprouts, parched grains and rice had been scattered about everywhere. Gracing the houses' doorways were elaborately decorated pots filled with water, which were bedecked with mango leaves, smeared with yogurt and sandalwood paste, and encircled by flower petals and ribbons. Near the pots were flags, rows of lamps, bunches of flowers and the trunks of banana and betel-nut trees.

24The women of Mathurā hurriedly assembled and went forth to see the two sons of Vasudeva as They entered the city on the King's road, surrounded by Their cowherd boyfriends. Some of the women, my dear King, eagerly climbed to the roofs of their houses to see Them.

25Some of the ladies put their clothes and ornaments on backwards, others forgot one of their earrings or ankle bells, and others applied makeup to one eye but not the other.

26Those who were taking their meals abandoned them, others went out without finishing their baths or massages, women who were sleeping at once rose when they heard the commotion, and mothers breast-feeding their infants simply put them aside.

27The lotus-eyed Lord, smiling as He recalled His bold pastimes, captivated those ladies' minds with His glances. He walked with the gait of a lordly elephant in rut, creating a festival for their eyes with His transcendental body, which is the source of pleasure for the divine goddess of fortune.

28The ladies of Mathurā had repeatedly heard about Kṛṣṇa, and thus as soon as they saw Him their hearts melted. They felt honored that He was sprinkling upon them the nectar of His glances and broad smiles. Taking Him into their hearts through their eyes, they embraced Him, the embodiment of all ecstasy, and as their bodily hairs stood on end, O subduer of enemies, they forgot the unlimited distress caused by His absence.

29Their lotus faces blooming with affection, the ladies who had climbed to the roofs of the mansions rained down showers of flowers upon Lord Balarāma and Lord Kṛṣṇa.

30Brāhmaṇas standing along the way honored the two Lords with presentations of yogurt, unbroken barleycorns, pots full of water, garlands, fragrant substances such as sandalwood paste, and other items of worship.

31The women of Mathurā exclaimed: Oh, what severe austerities the gopīs must have performed to be able to regularly see Kṛṣṇa and Balarāma, who are the greatest source of pleasure for all mankind!

32Seeing a washerman approaching who had been dyeing some clothes, Kṛṣṇa asked him for the finest laundered garments he had.

33[Lord Kṛṣṇa said:] Please give suitable garments to the two of Us, who certainly deserve them. If you grant this charity, you will undoubtedly receive the greatest benefit.

34Thus requested by the Supreme Lord, who is perfectly complete in all respects, that arrogant servant of the King became angry and replied insultingly.

35[The washerman said:] You impudent boys! You're accustomed to roaming the mountains and forests, and yet You would dare put on such clothes as these! These are the King's possessions You're asking for!

36Fools, get out of here quickly! Don't beg like this if You want to stay alive. When someone is too bold, the King's men arrest him and kill him and take all his property.

37As the washerman thus spoke brazenly, the son of Devakī became angry, and then merely with His fingertips He separated the man's head from his body.

38The washerman's assistants all dropped their bundles of clothes and fled down the road, scattering in all directions. Lord Kṛṣṇa then took the clothes.

39Kṛṣṇa and Balarāma put on pairs of garments that especially pleased Them, and then Kṛṣṇa distributed the remaining clothes among the cowherd boys, leaving some scattered on the ground.

40Thereupon a weaver came forward and, feeling affection for the Lords, nicely adorned Their attire with cloth ornaments of various colors.

41Kṛṣṇa and Balarāma looked resplendent, each in His own unique, wonderfully ornamented outfit. They resembled a pair of young elephants, one white and the other black, decorated for a festive occasion.

42Pleased with the weaver, the Supreme Lord Kṛṣṇa blessed him that after death he would achieve the liberation of attaining a form like the Lord's, and that while in this world he would enjoy supreme opulence, physical strength, influence, memory and sensory vigor.

43The two Lords then went to the house of the garland-maker Sudāmā. When Sudāmā saw Them he at once stood up and then bowed down, placing his head on the ground.

44After offering Them seats and bathing Their feet, Sudāmā worshiped Them and Their companions with arghya, garlands, pān, sandalwood paste and other presentations.

45[Sudāmā said:] O Lord, my birth is now sanctified and my family free of contamination. Now that You both have come here, my forefathers, the demigods and the great sages are certainly all satisfied with me.

46You two Lords are the ultimate cause of this entire universe. To bestow sustenance and prosperity upon this realm, You have descended with Your plenary expansions.

47Because You are the well-wishing friends and Supreme Soul of the whole universe, You regard all with unbiased vision. Therefore, although You reciprocate Your devotees' loving worship, You always remain equally disposed toward all living beings.

48Please order me, Your servant, to do whatever You wish. To be engaged by You in some service is certainly a great blessing for anyone.

49[Śukadeva Gosvāmī continued:] O best of kings, having spoken these words, Sudāmā could understand what Kṛṣṇa and Balarāma wanted. Thus with great pleasure he presented Them with garlands of fresh, fragrant flowers.

50Beautifully adorned with these garlands, Kṛṣṇa and Balarāma were delighted, and so were Their companions. The two Lords then offered the surrendered Sudāmā, who was bowing down before Them, whatever benedictions he desired.

51Sudāmā chose unshakable devotion for Kṛṣṇa, the Supreme Soul of all existence; friendship with His devotees; and transcendental compassion for all living beings.

52Not only did Lord Kṛṣṇa grant Sudāmā these benedictions, but He also awarded him strength, long life, fame, beauty and ever-increasing prosperity for his family. Then Kṛṣṇa and His elder brother took Their leave.

## SB 10.42: The Breaking of the Sacrificial Bow

This chapter describes the benediction Trivakrā received, the breaking of the sacrificial bow, the destruction of Kaṁsa's soldiers, the inauspicious omens Kaṁsa saw and the festivities at the wrestling arena.

After leaving Sudāmā's house, Lord Kṛṣṇa came upon Trivakrā, a young hunchbacked maidservant of Kaṁsa's who was carrying a tray of fine ointments. The Lord asked her who she was and requested some ointment from her. Entranced by His beauty and joking words, Trivakrā gave both Kṛṣṇa and Balarāma a good deal of ointment. In return, Kṛṣṇa stepped on her toes with His lotus feet, took hold of her chin and lifted, thus straightening her spine. The now beautiful and charming Trivakrā then grabbed the edge of Kṛṣṇa's upper cloth and asked Him to come to her house. Kṛṣṇa replied that after He had taken care of some business He would certainly come and relieve her mental torment. Then the two Lords continued Their sightseeing tour of Mathurā.

As Kṛṣṇa and Balarāma walked along the King's road, the merchants worshiped Them with various offerings. Kṛṣṇa asked where the bow sacrifice was to take place, and when He arrived at the arena He saw the wonderful bow, which resembled Lord Indra's. Despite the guards' protests, Kṛṣṇa forcibly picked up the bow, easily strung it and in an instant broke it in half, producing an ear-splitting sound that filled the heavens and struck terror in the heart of Kaṁsa. The many guards attacked Kṛṣṇa, crying out "Seize Him! Kill Him!" But Kṛṣṇa and Balarāma simply picked up the two halves of the bow and beat the guards to death. Next the Lords annihilated a company of soldiers sent by Kaṁsa, and then They left the arena and continued Their tour.

When the people of the city saw the amazing prowess and beauty of Kṛṣṇa and Balarāma, they thought They must be two chief demigods. Indeed, as the residents of Mathurā gazed upon the Lords, they enjoyed all the blessings the *gopīs* had predicted.

At sunset Kṛṣṇa and Balarāma returned to the cowherds' camp for Their evening meal. They then passed the night resting comfortably. But King Kaṁsa was not so fortunate. When he heard how Kṛṣṇa and Balarāma had easily broken the mighty bow and destroyed his soldiers, he spent the night in great anxiety. Both while awake and while dreaming he saw many ill omens portending his imminent death, and his fear ruined any chance for rest.

At dawn the wrestling festival began. Crowds of people from the city and outlying districts entered the arena and took their seats in the lavishly decorated galleries. Kaṁsa, his heart trembling, sat down on the royal dais and invited Nanda Mahārāja and the other cowherd men to come sit in their places, and they did so after offering him their gifts. The musical overture then began as the sounds of the wrestlers slapping their arms resounded.

1Śukadeva Gosvāmī said: As He walked down the King's road, Lord Mādhava then saw a young hunchback woman with an attractive face, who carried a tray of fragrant ointments as she walked along. The bestower of the ecstasy of love smiled and inquired from her as follows.

2[Lord Kṛṣṇa said:] Who are you, O beautiful-thighed one? Ah, ointment! Who is it for, my dear lady? Please tell Us truthfully. Give Us both some of your finest ointment and you will soon gain a great boon.

3The maidservant replied: O handsome one, I am a servant of King Kaṁsa, who highly regards me for the ointments I make. My name is Trivakrā. Who else but You two deserve my ointments, which the lord of the Bhojas likes so much?

4Her mind overwhelmed by Kṛṣṇa's beauty, charm, sweetness, smiles, words and glances, Trivakrā gave both Kṛṣṇa and Balarāma generous amounts of ointment.

5Anointed with these most excellent cosmetics, which adorned Them with hues that contrasted with Their complexions, the two Lords appeared extremely beautiful.

6Lord Kṛṣṇa was pleased with Trivakrā, so He decided to straighten that hunchbacked girl with the lovely face just to demonstrate the result of seeing Him.

7Pressing down on her toes with both His feet, Lord Acyuta placed one upward-pointing finger of each hand under her chin and straightened up her body.

8Simply by Lord Mukunda's touch, Trivakrā was suddenly transformed into an exquisitely beautiful woman with straight, evenly proportioned limbs and large hips and breasts.

9Now endowed with beauty, character and generosity, Trivakrā began to feel lusty desires for Lord Keśava. Taking hold of the end of His upper cloth, she smiled and addressed Him as follows.

10[Trivakrā said:] Come, O hero, let us go to my house. I cannot bear to leave You here. O best of males, please take pity on me, since You have agitated my mind.

11Thus entreated by the woman, Lord Kṛṣṇa first glanced at the face of Balarāma, who was watching the incident, and then at the faces of the cowherd boys. Then with a laugh Kṛṣṇa replied to her as follows.

12[Lord Kṛṣṇa said:] O lady with beautiful eyebrows, as soon as I fulfill My purpose I will certainly visit your house, where men can relieve their anxiety. Indeed, you are the best refuge for Us homeless travelers.

13Leaving her with these sweet words, Lord Kṛṣṇa walked further down the road. The merchants along the way worshiped Him and His elder brother by presenting Them with various respectful offerings, including pān, garlands and fragrant substances.

14The sight of Kṛṣṇa aroused Cupid in the hearts of the city women. Thus agitated, they forgot themselves. Their clothes, braids and bangles became disheveled, and they stood as still as figures in a painting.

15Lord Kṛṣṇa then asked the local people where the arena was in which the bow sacrifice would take place. When He went there He saw the amazing bow, which resembled Lord Indra's.

16That most opulent bow was guarded by a large company of men, who were respectfully worshiping it. Kṛṣṇa pushed His way forward and, despite the guards' attempts to stop Him, picked it up.

17Easily lifting the bow with His left hand, Lord Urukrama strung it in a fraction of a second as the King's guards looked on. He then powerfully pulled the string and snapped the bow in half, just as an excited elephant might break a stalk of sugar cane.

18The sound of the bow's breaking filled the earth and sky in all directions. Upon hearing it, Kaṁsa was struck with terror.

19The enraged guards then took up their weapons and, wanting to seize Kṛṣṇa and His companions, surrounded them and shouted, "Grab Him! Kill Him!"

20Seeing the guards coming upon Them with evil intent, Balarāma and Keśava took up the two halves of the bow and began striking them down.

21After also killing a contingent of soldiers sent by Kaṁsa, Kṛṣṇa and Balarāma left the sacrificial arena by its main gate and continued Their walk about the city, happily looking at the opulent sights.

22Having witnessed the amazing deed Kṛṣṇa and Balarāma had performed, and seeing Their strength, boldness and beauty, the people of the city thought They must be two prominent demigods.

23As They strolled about at will, the sun began to set, so They left the city with the cowherd boys and returned to the cowherds' wagon encampment.

24At the time of Mukunda's [Kṛṣṇa's] departure from Vṛndāvana, the gopīs had foretold that the residents of Mathurā would enjoy many benedictions, and now the gopīs' predictions were coming true, for those residents were gazing upon the beauty of Kṛṣṇa, the jewel among men. Indeed, the goddess of fortune desired the shelter of that beauty so much that she abandoned many other men, although they worshiped her.

25After Kṛṣṇa's and Balarāma's feet were bathed, the two Lords ate rice with milk. Then, although knowing what Kaṁsa intended to do, They spent the night there comfortably.

26-27Wicked King Kaṁsa, on the other hand, was terrified, having heard how Kṛṣṇa and Balarāma had broken the bow and killed his guards and soldiers, all simply as a game. He remained awake for a long time, and both while awake and while dreaming he saw many bad omens, messengers of death.

28-31When he looked at his reflection he could not see his head; for no reason the moon and stars appeared double; he saw a hole in his shadow; he could not hear the sound of his life air; trees seemed covered with a golden hue; and he could not see his footprints. He dreamt that he was being embraced by ghosts, riding a donkey and drinking poison, and also that a naked man smeared with oil was passing by wearing a garland of nalada flowers. Seeing these and other such omens both while dreaming and while awake, Kaṁsa was terrified by the prospect of death, and out of anxiety he could not sleep.

32When the night had finally passed and the sun rose up again from the water, Kaṁsa set about arranging for the grand wrestling festival.

33The King's men performed the ritual worship of the wrestling arena, sounded their drums and other instruments and decorated the viewing galleries with garlands, flags, ribbons and arches.

34The city-dwellers and residents of the outlying districts, led by brāhmaṇas and kṣatriyas, came and sat down comfortably in the galleries. The royal guests received special seats.

35Surrounded by his ministers, Kaṁsa took his seat on the imperial dais. But even as he sat amidst his various provincial rulers, his heart trembled.

36While the musical instruments loudly played in the rhythmic meters appropriate for wrestling matches, the lavishly ornamented wrestlers proudly entered the arena with their coaches and sat down.

37Enthused by the pleasing music, Canura, Muṣṭika, Kūṭa, Śala and Tośala sat down on the

wrestling mat.

38Nanda Mahārāja and the other cowherds, summoned by the King of the Bhojas, presented him with their offerings and then took their seats in one of the galleries.

**SB 10.43: Kṛṣṇa Kills the Elephant Kuvalayāpīḍa**

This chapter tells how Lord Kṛṣṇa killed the lordly elephant Kuvalayāpīḍa, how Kṛṣṇa and Balarāma entered the wrestling arena and what Kṛṣṇa said to the wrestler Cāṇūra.

After finishing Their early-morning rituals, Kṛṣṇa and Balarāma heard kettledrums heralding the start of the wrestling match, and They went to see the festivities. At the gate of the wrestling arena They encountered an elephant named Kuvalayāpīḍa, who attacked Kṛṣṇa at the urging of his keeper. The mighty elephant grabbed at Kṛṣṇa with his trunk, but the Lord struck back and then disappeared from the beast's sight among his legs. Enraged at not being able to see Kṛṣṇa, Kuvalayāpīḍa sought Him out with his sense of smell and seized Him. But the Lord pulled loose. In this way Kṛṣṇa teased and tormented Kuvalayāpīḍa, finally yanking out one of his tusks and beating him and his keepers to death.

Sprinkled with the elephant's blood and carrying one of his tusks on His shoulder as a weapon, Lord Kṛṣṇa appeared unprecedentedly beautiful as He entered the wrestling arena. There the various classes of people saw Him in different ways, according to their specific relationship with Him.

When King Kaṁsa heard how Kṛṣṇa and Balarāma had killed Kuvalayāpīḍa, he realized They were invincible and became filled with anxiety. The members of the audience, on the other hand, became joyful as they reminded one another about the Lords' amazing pastimes. The people declared that Kṛṣṇa and Balarāma must be two expansions of the Supreme Lord Nārāyaṇa who had descended into the house of Vasudeva.

Cāṇūra then stepped forward and challenged Kṛṣṇa and Balarāma to wrestle, saying King Kaṁsa wished to see such a match. Kṛṣṇa replied, "Although We are merely nomadic forest folk, We are nonetheless subjects of the King; thus We will not hesitate to please him with an exhibition of wrestling." As soon as Cāṇūra heard this, he suggested that Kṛṣṇa should wrestle him and that Balarāma should wrestle Muṣṭika.

1Śukadeva Gosvāmī said: O chastiser of enemies, Kṛṣṇa and Balarāma, having executed all necessary purification, then heard the kettledrums resounding at the wrestling arena, and They went there to see what was happening.

2When Lord Kṛṣṇa reached the entrance to the arena, He saw the elephant Kuvalayāpīḍa blocking His way at the urging of his keeper.

3Securely binding up His clothes and tying back His curly locks, Lord Kṛṣṇa addressed the elephant-keeper with words as grave as the rumbling of a cloud.

4[Lord Kṛṣṇa said:] O driver, driver, move aside at once and let Us pass! If you don't, this very day I will send both you and your elephant to the abode of Yamarāja!

5Thus threatened, the elephant-keeper became angry. He goaded his furious elephant, who appeared equal to time, death and Yamarāja, into attacking Lord Kṛṣṇa.

6The lord of the elephants charged Kṛṣṇa and violently seized Him with his trunk. But Kṛṣṇa slipped away, struck him a blow and disappeared from his view among his legs.

7Infuriated at being unable to see Lord Keśava, the elephant sought Him out with his sense of smell. Once again Kuvalayāpīḍa seized the Lord with the end of his trunk, only to have the Lord forcefully free Himself.

8Lord Kṛṣṇa then grabbed the powerful Kuvalayāpīḍa by the tail and playfully dragged him twenty-five bow-lengths as easily as Garuḍa might drag a snake.

9As Lord Acyuta held on to the elephant's tail, the animal tried to twist away to the left and to the right, making the Lord swerve in the opposite direction, as a young boy would swerve when pulling a calf by the tail.

10Kṛṣṇa then came face to face with the elephant and slapped him and ran away. Kuvalayāpīḍa pursued the Lord, managing to touch Him again and again with each step, but Kṛṣṇa outmaneuvered the elephant and made him trip and fall.

11As Kṛṣṇa dodged about, He playfully fell on the ground and quickly got up again. The raging elephant, thinking Kṛṣṇa was down, tried to gore Him with his tusks but struck the earth instead.

12His prowess foiled, the lordly elephant Kuvalayāpīḍa went into a frenzied rage out of frustration. But the elephant-keepers goaded him on, and he furiously charged Kṛṣṇa once again.

13The Supreme Lord, killer of the demon Madhu, confronted the elephant as he attacked. Seizing his trunk with one hand, Kṛṣṇa threw him to the ground.

14Lord Hari then climbed onto the elephant with the ease of a mighty lion, pulled out a tusk, and with it killed the beast and his keepers.

15Leaving the dead elephant aside, Lord Kṛṣṇa held on to the tusk and entered the wrestling arena. With the tusk resting on His shoulder, drops of the elephant's blood and sweat sprinkled all over Him, and His lotus face covered with fine drops of His own perspiration, the Lord shone with great beauty.

16My dear King, Lord Baladeva and Lord Janārdana, each carrying one of the elephant's tusks as His chosen weapon, entered the arena with several cowherd boys.

17The various groups of people in the arena regarded Kṛṣṇa in different ways when He entered it with His elder brother. The wrestlers saw Kṛṣṇa as a lightning bolt, the men of Mathurā as the best of males, the women as Cupid in person, the cowherd men as their relative, the impious rulers as a chastiser, His parents as their child, the King of the Bhojas as death, the unintelligent as the Supreme Lord's universal form, the yogīs as the Absolute Truth and the Vṛṣṇis as their supreme worshipable Deity.

18When Kaṁsa saw that Kuvalayāpīḍa was dead and the two brothers were invincible, he was overwhelmed with anxiety, O King.

19Arrayed with variegated ornaments, garlands and garments, just like a pair of excellently costumed actors, the two mighty-armed Lords shone splendidly in the arena. Indeed, They overpowered the minds of all onlookers with Their effulgences.

20O King, as the citizens of the city and the people from outlying districts gazed upon those two Supreme Personalities from their seats in the galleries, the force of the people's happiness caused their eyes to open wide and their faces to blossom. They drank in the vision of the

Lords' faces without becoming satiated.

21-22The people seemed to be drinking Kṛṣṇa and Balarāma with their eyes, licking Them with their tongues, smelling Them with their nostrils and embracing Them with their arms. Reminded of the Lords' beauty, character, charm and bravery, the members of the audience began describing these features to one another according to what they had seen and heard.

23[The people said:] These two boys are certainly expansions of the Supreme Lord Nārāyaṇa who have descended to this world in the home of Vasudeva.

24This one [Kṛṣṇa] took birth from mother Devakī and was brought to Gokula, where He has remained concealed all this time, growing up in the house of King Nanda.

25He made Pūtanā and the whirlwind demon meet with death, pulled down the twin Arjuna trees, and killed Śaṅkhacūḍa, Keśī, Dhenuka and similar demons.

26-27He saved the cows and the cowherds from a forest fire and subdued the serpent Kāliya. He removed Lord Indra's false pride by holding up the best of mountains with one hand for an entire week, thus protecting the inhabitants of Gokula from rain, wind and hail.

28The gopīs overcame all kinds of distress and experienced great happiness by seeing His face, which is always cheerful with smiling glances and ever free of fatigue.

29It is said that under His full protection the Yadu dynasty will become extremely famous and attain wealth, glory and power.

30This lotus-eyed elder brother of His, Lord Balarāma, is the proprietor of all transcendental opulences. He has killed Pralamba, Vatsaka, Baka and other demons.

31While the people talked in this way and the musical instruments resounded, the wrestler Cāṇūra addressed Kṛṣṇa and Balarāma with the following words.

32[Cāṇūra said:] O son of Nanda, O Rāma, You two are well respected by courageous men and are both skillful at wrestling. Having heard of Your prowess, the King has called You here, wanting to see for himself.

33Subjects of the King who try to please him with their thoughts, acts and words are sure to achieve good fortune, but those who fail to do so will suffer the opposite fate.

34It is well known that cowherd boys are always joyful as they tend their calves, and that the boys playfully wrestle with each other while grazing their animals in the various forests.

35Therefore let's do what the King wants. Everyone will be pleased with us, for the king embodies all living beings.

36Hearing this, Lord Kṛṣṇa, who liked to wrestle and welcomed the challenge, replied with words appropriate to the time and place.

37[Lord Kṛṣṇa said:] Although forest-dwellers, We are also subjects of the Bhoja king. We must gratify his desires, for such behavior will confer upon Us the greatest benefit.

38We are just young boys and should play with those of equal strength. The wrestling match must go on properly so that irreligion does not taint the respectable members of the audience.

39Cāṇūra said: You aren't really a child or even a young man, and neither is Balarāma, the strongest of the strong. After all, You playfully killed an elephant who had the strength of a

thousand other elephants.

40Therefore You two should fight powerful wrestlers. There's certainly nothing unfair about that. You, O descendant of Vṛṣṇi, can show Your prowess against me, and Balarāma can fight with Muṣṭika.

**SB 10.44: The Killing of Kaṁsa**

This chapter tells how Kṛṣṇa and Balarāma killed the wrestlers, how Kṛṣṇa killed Kaṁsa and consoled Kaṁsa's wives, and how the two Lords were reunited with Their mother and father.

Deciding to wrestle, Lord Kṛṣṇa faced off against Cāṇūra, and Lord Baladeva took on Muṣṭika. Battling arm to arm, head to head, knee to knee and chest to chest, the opponents attacked each other so fiercely that they appeared to be harming even their own bodies. The ladies in the arena, seeing the violent battle, began to condemn the King and all the members of the assembly: "A respectable audience should never have allowed a wrestling match between such huge wrestlers, whose limbs are as tough as lightning bolts, and such tender young boys, who are just entering youth. An intelligent person should never enter an assembly if he sees injustice being done there." Because Vasudeva and Devakī did not fully understand the power of Kṛṣṇa and Balarāma, they became extremely unhappy when they heard the women of the audience speak these words.

Śrī Kṛṣṇa then grabbed Cāṇūra's arms, whirled him around several times and threw him to the ground, killing him. Muṣṭika met a similar fate: after being struck powerfully by Lord Baladeva's palm, he began vomiting blood and then fell down dead. Thereupon the wrestlers named Kūṭa, Śala and Tośala came forward, but Kṛṣṇa and Balarāma easily killed them with the blows of Their fists and feet. The remaining wrestlers, fearing for their lives, all fled.

Except for Kaṁsa, everyone present cheered Kṛṣṇa and Balarāma. The King, in a rage, stopped the festive music and ordered that Vasudeva, Nanda, Ugrasena and all the cowherds be severely punished and that Kṛṣṇa and Balarāma be driven from the assembly. Kṛṣṇa became furious when He heard Kaṁsa speak this way, and He instantly leapt onto the lofty royal dais. He grabbed Kaṁsa by the hair, hurled him down onto the floor of the wrestling ring and threw Himself on top of him. In this way, Kaṁsa met his death. Because out of fear Kaṁsa had always thought of Kṛṣṇa, after his death he gained the liberation of having a form like the Lord's.

Kaṁsa's eight brothers then attacked Kṛṣṇa, but Balarāma easily killed each of them with His club, just as a lion kills defenseless animals. Kettledrums resounded in the sky as the joyful demigods rained down flowers and chanted the glories of Lord Kṛṣṇa and Lord Balarāma.

The wives of Kaṁsa, grieving for their husband, lamented that he had died because of his violence toward other living beings and his lack of respect for Kṛṣṇa, the Supreme Soul, who creates, maintains and destroys the entire universe. The Lord consoled the widows, had the funeral rites performed for Kaṁsa and his brothers and then released His mother and father from bondage. Kṛṣṇa offered obeisances at His parents' feet, but they, now understanding Him to be the Supreme Personality of Godhead, did not embrace Him.

1Śukadeva Gosvāmī said: Thus addressed, Lord Kṛṣṇa made up His mind to accept the challenge. He paired off with Cāṇūra, and Lord Balarāma with Muṣṭika.

2Seizing each other's hands and locking legs with each other, the opponents struggled powerfully, eager for victory.

3They each struck fists against fists, knees against knees, head against head and chest against chest.

4Each fighter contended with his opponent by dragging him about in circles, shoving and crushing him, throwing him down and running before and behind him.

5Forcefully lifting and carrying each other, pushing each other away and holding each other down, the fighters hurt even their own bodies in their great eagerness for victory.

6My dear King, all the women present, considering the match an unfair fight between the strong and the weak, felt extreme anxiety due to compassion. They assembled in groups around the arena and spoke to one another as follows.

7[The women said:] Alas, what a greatly irreligious act the members of this royal assembly are committing! As the King watches this fight between the strong and the weak, they also want to see it.

8What comparison can there be between these two professional wrestlers, with limbs as strong as lightning bolts and bodies resembling mighty mountains, and these two young, immature boys with exceedingly tender limbs?

9Religious principles have certainly been violated in this assembly. One should not remain for even a moment in a place where irreligion is flourishing.

10A wise person should not enter an assembly if he knows the participants there are committing acts of impropriety. And if, having entered such an assembly, he fails to speak the truth, speaks falsely or pleads ignorance, he will certainly incur sin.

11Just see the lotus face of Kṛṣṇa as He darts around His foe! That face, covered with drops of perspiration brought on by the strenuous fight, resembles a lotus covered with dew.

12Don't you see the face of Lord Balarāma, with its eyes copper-red from His anger toward Muṣṭika and its beauty enhanced by His laughter and His absorption in the fight?

13How pious are the tracts of land in Vraja, for there the primeval Personality of Godhead, disguising Himself with human traits, wanders about, enacting His many pastimes! Adorned with wonderfully variegated forest garlands, He whose feet are worshiped by Lord Śiva and goddess Ramā vibrates His flute as He tends the cows in the company of Balarāma.

14What austerities must the gopīs have performed! With their eyes they always drink the nectar of Lord Kṛṣṇa's form, which is the essence of loveliness and is not to be equaled or surpassed. That form is the only abode of beauty, fame and opulence. It is self-perfect, ever fresh and extremely rare.

15The ladies of Vraja are the most fortunate of women because, with their minds fully attached to Kṛṣṇa and their throats always choked up with tears, they constantly sing about Him while milking the cows, winnowing grain, churning butter, gathering cow dung for fuel, riding on swings, taking care of their crying babies, sprinkling the ground with water, cleaning their houses, and so on. By their exalted Kṛṣṇa consciousness they automatically acquire all desirable things.

16When the gopīs hear Kṛṣṇa playing His flute as He leaves Vraja in the morning with His cows or returns with them at sunset, the young girls quickly come out of their houses to see Him. They must have performed many pious activities to be able to see Him as He walks on the road, His smiling face mercifully glancing upon them.

17[Śukadeva Gosvāmī continued:] As the women spoke thus, O hero of the Bhāratas, Lord Kṛṣṇa, the master of all mystic power, made up His mind to kill His opponent.

18Out of affection for the two Lords, Their parents [Devakī and Vasudeva] became overwhelmed with sorrow when they heard the women's fearful statements. They grieved, not knowing their sons' strength.

19Lord Balarāma and Muṣṭika, expertly displaying numerous wrestling techniques, battled each other in the same way that Lord Kṛṣṇa and His opponent did.

20The harsh blows from the Supreme Lord's limbs fell like crushing lightning bolts upon Cāṇūra, breaking every part of his body and causing him more and more pain and fatigue.

21Furious, Cāṇūra attacked Lord Vāsudeva with the speed of a hawk and struck His chest with both fists.

22-23No more shaken by the demon's mighty blows than an elephant struck with a flower garland, Lord Kṛṣṇa grabbed Cāṇūra by his arms, swung him around several times and hurled him onto the ground with great force. His clothes, hair and garland scattering, the wrestler fell down dead, like a huge festival column collapsing.

24-25Similarly, Muṣṭika struck Lord Balabhadra with his fist and was slain. Receiving a violent blow from the mighty Lord's palm, the demon trembled all over in great pain, vomited blood and then fell lifeless onto the ground, like a tree blown down by the wind.

26Confronted next by the wrestler Kūṭa, Lord Balarāma, the best of fighters, playfully and nonchalantly killed him with His left fist, O King.

27Then Kṛṣṇa kicked inŚala's head and tore Tośala in half, and both wrestlers fell down dead.

28Cāṇūra, Muṣṭika, Kūṭa, Śala and Tośala having been killed, the remaining wrestlers all fled for their lives.

29Kṛṣṇa and Balarāma then called Their young cowherd boyfriends to join Them, and in their company the Lords danced about and sported, Their ankle bells resounding as musical instruments played.

30Everyone except Kaṁsa rejoiced at the wonderful feat Kṛṣṇa and Balarāma had performed. The exalted brāhmaṇas and great saints exclaimed, "Excellent! Excellent!"

31The Bhoja king, seeing that his best wrestlers had all been killed or had fled, stopped the musical performance originally meant for his pleasure and spoke the following words.

32[Kaṁsa said:] Drive the two wicked sons of Vasudeva out of the city! Confiscate the cowherds' property and arrest that fool Nanda!

33Kill that most evil fool Vasudeva! And also kill my father, Ugrasena, along with his followers, who have all sided with our enemies!

34As Kaṁsa thus raved so audaciously, the infallible Lord Kṛṣṇa, intensely angry, quickly and easily jumped up onto the high royal dais.

35Seeing Lord Kṛṣṇa approaching like death personified, the quick-witted Kaṁsa instantly rose from his seat and took up his sword and shield.

36Sword in hand, Kaṁsa moved quickly from side to side like a hawk in the sky. But Lord Kṛṣṇa, whose fearsome strength is irresistible, powerfully seized the demon just as the son of Tārkṣya might capture a snake.

37Grabbing Kaṁsa by the hair and knocking off his crown, the lotus-naveled Lord threw him off the elevated dais onto the wrestling mat. Then the independent Lord, the support of the entire universe, threw Himself upon the King.

38As a lion drags a dead elephant, the Lord then dragged Kaṁsa's dead body along the ground in full view of everyone present. O King, all the people in the arena tumultuously cried out, "Oh! Oh!"

39Kaṁsa had always been disturbed by the thought that the Supreme Lord was to kill him. Therefore when drinking, eating, moving about, sleeping or simply breathing, the King had always seen the Lord before him with the disc weapon in His hand. Thus Kaṁsa achieved the rare boon of attaining a form like the Lord's.

40Kaṁsa's eight younger brothers, led by Kaṅka and Nyagrodhaka, then attacked the Lords in a rage, seeking to avenge their brother's death.

41As they ran swiftly toward the two Lords, ready to strike, the son of Rohiṇī slew them with His club just as a lion easily kills other animals.

42Kettledrums resounded in the sky as Brahmā, Śiva and other demigods, the Lord's expansions, rained down flowers upon Him with pleasure. They chanted His praises, and their wives danced.

43My dear King, the wives of Kaṁsa and his brothers, aggrieved by the death of their well-wishing husbands, came forward with tearful eyes, beating their heads.

44Embracing their husbands, who lay on a hero's final bed, the sorrowful women loudly lamented while shedding constant tears.

45[The women cried out:] Alas, O master, O dear one, O knower of religious principles! O kind and compassionate protector of the shelterless! By your being slain we have also been slain, together with your household and offspring.

46O great hero among men, bereft of you, its master, this city has lost its beauty, just as we have, and all festivity and good fortune within it have come to an end.

47O dear one, you have been brought to this state because of the terrible violence you committed against innocent creatures. How can one who harms others attain happiness?

48Lord Kṛṣṇa causes the appearance and disappearance of all beings in this world, and He is their maintainer as well. One who disrespects Him can never prosper happily.

49Śukadeva Gosvāmī said: After consoling the royal ladies, Lord Kṛṣṇa, sustainer of all the worlds, arranged for the prescribed funeral rites to be performed.

50Then Kṛṣṇa and Balarāma released Their mother and father from bondage and offered obeisances to them, touching their feet with Their heads.

51Devakī and Vasudeva, now knowing Kṛṣṇa and Balarāma to be the Lords of the universe, simply stood with joined palms. Being apprehensive, they did not embrace their sons.

## SB 10.45: Kṛṣṇa Rescues His Teacher's Son

This chapter describes how Lord Kṛṣṇa consoled Devakī, Vasudeva and Nanda Mahārāja and installed Ugrasena as king. It also relates how Kṛṣṇa and Balarāma completed Their education, retrieved the dead son of Their *guru* and then returned home.

Noting that His parentsVasudeva and Devakīhad realized His true position as God, Śrī Kṛṣṇa expanded His Yogamāyā to again make them think of Him as their dear child. Then, with Lord Balarāma, Kṛṣṇa approached them and said how unhappy He was that He and they had been unable to enjoy the mutual satisfaction of parents and children who live together. Then He stated, "Even in a lifetime of one hundred years, no son can ever repay the debt he owes his parents, from whom he receives his very body. Any capable son who fails to support his parents will be forced, in the hereafter, to eat his own flesh. Indeed, any person who does not maintain and nourish those under his carechildren, wife, spiritual masters, *brāhmaṇas,* elderly parents, and so onis simply a living corpse. It was out of fear of Kaṁsa that We could not serve you, so now please forgive Us." Vasudeva and Devakī, overcome with emotion upon hearing these words of Śrī Kṛṣṇa's, embraced their two sons and in ecstasy shed a torrent of tears.

Having thus satisfied His mother and father, Lord Kṛṣṇa offered Kaṁsa's kingdom to His maternal grandfather, Ugrasena, and then arranged for all His family members who had fled in fear of Kaṁsa to return to their homes. Protected by the mighty arms of Kṛṣṇa and Balarāma, the Yādavas began to enjoy supreme bliss.

Kṛṣṇa and Balarāma next approached Nanda Mahārāja and praised him for having cared so lovingly for Them, another's sons. Kṛṣṇa then said to Nanda, "Dear Father, please return to Vraja. Knowing how much you and Our other relatives are suffering in separation from Us, Balarāma and I will come to see you as soon as We have satisfied your friends here in Mathurā." Kṛṣṇa then worshiped Nanda with various offerings, and Nanda felt overwhelmed with love for his sons. After tearfully embracing Kṛṣṇa and Balarāma, he took the cowherd men and departed for Vraja. Next Vasudeva had his priests perform his sons' ritual of second birth. Kṛṣṇa and Balarāma then went to Garga Muni to take the vow of *brahmacarya,* celibacy. Afterward, Kṛṣṇa and Balarāma, though omniscient, desired to reside at the school of a spiritual master, and thus They went to live with Sāndīpani Muni at Avantīpura.

To teach the proper way to respect one's *guru,* Kṛṣṇa and Balarāma served Their spiritual master with great devotion, as They would a Deity of the Supreme Lord Himself. Sāndīpani Muni, pleased by Their service, imparted to Them detailed knowledge of all the *Vedas,* together with their six corollaries and the *Upaniṣads*. Kṛṣṇa and Balarāma needed to hear each subject explained only once to assimilate it completely, and thus in sixty-four days They learned the sixty-four traditional arts.

Before taking leave of Their *guru,* the two Lords offered Sāndīpani Muni any gift he desired. The wise Sāndīpani, seeing Their amazing prowess, requested that They bring back his son, who had died in the ocean at Prabhāsa.

Kṛṣṇa and Balarāma mounted a chariot and went to Prabhāsa, where They approached the shore and were worshiped by the presiding deity of the ocean. Kṛṣṇa asked the ocean to return His spiritual master's son, and the lord of the ocean replied that a demon dwelling within the ocean named Pāṣcajana had taken the boy away. Hearing this, Śrī Kṛṣṇa entered the ocean, killed that demon and took the shell that had grown from his body. But when Kṛṣṇa did not find His *guru's* son within the demon's belly, He went to the planet of Yamarāja, the lord of death. Yamarāja came forward when he heard Kṛṣṇa blow the Pāṣcajanya conchshell and

devotedly worshiped Him. Lord Kṛṣṇa then asked Yamarāja for Sāndīpani Muni's son, and Yamarāja immediately gave him to the two Lords.

Kṛṣṇa and Balarāma then returned to Their spiritual master and presented him with his son, requesting him to choose yet another favor. But Sāndīpani Muni replied that by having obtained disciples such as Them, all his desires were fulfilled. He thus instructed Them to return home.

Kṛṣṇa and Balarāma traveled to Their home by chariot, and upon Their arrival all the citizens became unlimitedly ecstatic to see Them, just like persons who have regained a lost treasure.

1Śukadeva Gosvāmī said: Understanding that His parents were becoming aware of His transcendental opulences, the Supreme Personality of Godhead thought that this should not be allowed to happen. Thus He expanded His Yoga-māyā, which bewilders His devotees.

2Lord Kṛṣṇa, the greatest of the Sātvatas, approached His parents with His elder brother. Humbly bowing His head and gratifying them by respectfully addressing them as "My dear mother" and "My dear father," Kṛṣṇa spoke as follows.

3[Lord Kṛṣṇa said:] Dear Father, because of Us, your two sons, you and mother Devakī always remained in anxiety and could never enjoy Our childhood, boyhood or youth.

4Deprived by fate, We could not live with you and enjoy the pampered happiness most children enjoy in their parents' home.

5With one's body one can acquire all goals of life, and it is one's parents who give the body birth and sustenance. Therefore no mortal man can repay his debt to his parents, even if he serves them for a full lifetime of a hundred years.

6A son who, though able to do so, fails to provide for his parents with his physical resources and wealth is forced after his death to eat his own flesh.

7A man who, though able to do so, fails to support his elderly parents, chaste wife, young child or spiritual master, or who neglects a brāhmaṇa or anyone who comes to him for shelter, is considered dead, though breathing.

8Thus We have wasted all these days, unable as We were to properly honor you because Our minds were always disturbed by fear of Kaṁsa.

9Dear Father and Mother, please forgive Us for not serving you. We are not independent and have been greatly frustrated by cruel Kaṁsa.

10Śukadeva Gosvāmī said: Thus beguiled by the words of Lord Hari, the Supreme Soul of the universe, who by His internal illusory potency appeared to be a human, His parents joyfully raised Him up on their laps and embraced Him.

11Pouring out a shower of tears upon the Lord, His parents, who were bound up by the rope of affection, could not speak. They were overwhelmed, O King, and their throats choked up with tears.

12Thus having comforted His mother and father, the Supreme Personality of Godhead, appearing as the son of Devakī, installed His maternal grandfather, Ugrasena, as King of the Yadus.

13The Lord told him: O mighty King, We are your subjects, so please command Us. Indeed,

because of the curse of Yayāti, no Yadu may sit on the royal throne.

14Since I am present in your entourage as your personal attendant, all the demigods and other exalted personalities will come with heads bowed to offer you tribute. What, then, to speak of the rulers of men?

15-16The Lord then brought all His close family members and other relatives back from the various places to which they had fled in fear of Kaṁsa. He received the Yadus, Vṛṣṇis, Andhakas, Madhus, Dāśārhas, Kukuras and other clans with due honor, and He also consoled them, for they were weary of living in foreign lands. Then Lord Kṛṣṇa, the creator of the universe, resettled them in their homes and gratified them with valuable gifts.

17-18The members of these clans, protected by the arms of Lord Kṛṣṇa and Lord Saṅkarṣaṇa, felt that all their desires were fulfilled. Thus they enjoyed perfect happiness while living at home with their families. Because of the presence of Kṛṣṇa and Balarāma, they no longer suffered from the fever of material existence. Every day these loving devotees could see Mukunda's ever-cheerful lotus face, which was decorated with beautiful, merciful smiling glances.

19Even the most elderly inhabitants of the city appeared youthful, full of strength and vitality, for with their eyes they constantly drank the elixir of Lord Mukunda's lotus face.

20Then, O exalted Parīkṣit, the Supreme Lord Kṛṣṇa, the son of Devakī, along with Lord Balarāma, approached Nanda Mahārāja. The two Lords embraced him and then addressed him as follows.

21[Kṛṣṇa and Balarāma said:] O Father, you and mother Yaśodā have affectionately maintained Us and cared for Us so much! Indeed, parents love their children more than their own lives.

22They are the real father and mother who care for, as they would their own sons, children abandoned by relatives unable to maintain and protect them.

23Now you should all return to Vraja, dear Father. We shall come to see you, Our dear relatives who suffer in separation from Us, as soon as We have given some happiness to your well-wishing friends.

24Thus consoling Nanda Mahārāja and the other men of Vraja, the infallible Supreme Lord respectfully honored them with gifts of clothing, jewelry, household utensils and so on.

25Nanda Mahārāja was overwhelmed with affection upon hearing Kṛṣṇa's words, and his eyes brimmed with tears as he embraced the two Lords. Then he went back to Vraja with the cowherd men.

26My dear King, then Vasudeva, the son of Śūrasena, arranged for a priest and other brāhmaṇas to perform his two sons' second-birth initiation.

27Vasudeva honored these brāhmaṇas by worshiping them and giving them fine ornaments and well-ornamented cows with their calves. All these cows wore gold necklaces and linen wreaths.

28The magnanimous Vasudeva then remembered the cows he had mentally given away on the occasion of Kṛṣṇa's and Balarāma's birth. Kaṁsa had stolen those cows, and Vasudeva now recovered them and gave them away in charity also.

29After attaining twice-born status through initiation, the Lords, sincere in Their vows, took the

further vow of celibacy from Garga Muni, the spiritual master of the Yadus.

30-31Concealing Their innately perfect knowledge by Their humanlike activities, those two omniscient Lords of the universe, Themselves the origin of all branches of knowledge, next desired to reside at the school of a spiritual master. Thus They approached Sāndīpani Muni, a native of Kāsī living in the city of Avantī.

32Sāndīpani thought very highly of these two self-controlled disciples, whom he had obtained so fortuitously. By serving him as devotedly as one would serve the Supreme Lord Himself, They showed others an irreproachable example of how to worship the spiritual master.

33That best of brāhmaṇas, the spiritual master Sāndīpani, was satisfied with Their submissive behavior, and thus he taught Them the entire Vedas, together with their six corollaries and the Upaniṣads.

34He also taught Them the Dhanur-veda, with its most confidential secrets; the standard books of law; the methods of logical reasoning and philosophical debate; and the sixfold science of politics.

35-36O King, those best of persons, Kṛṣṇa and Balarāma, being Themselves the original promulgators of all varieties of knowledge, could immediately assimilate each and every subject after hearing it explained just once. Thus with fixed concentration They learned the sixty-four arts and skills in as many days and nights. Thereafter, O King, They satisfied Their spiritual master by offering him guru-dakṣiṇā.

37O King, the learned brāhmaṇa Sāndīpani carefully considered the two Lords' glorious and amazing qualities and Their superhuman intelligence. Then, after consulting with his wife, he chose as his remuneration the return of his young son, who had died in the ocean at Prabhāsa.

38"So be it," replied those two great chariot warriors of limitless might, and They at once mounted Their chariot and set off for Prabhāsa. When They reached that place, They walked up to the shore and sat down. In a moment the deity of the ocean, recognizing Them to be the Supreme Lords, approached Them with offerings of tribute.

39The Supreme Lord Kṛṣṇa addressed the lord of the ocean: Let the son of My guru be presented at oncethe one you seized here with your mighty waves.

40The ocean replied: O Lord Kṛṣṇa, it was not I who abducted him, but a demonic descendant of Diti named Paṣcajana, who travels in the water in the form of a conch.

41"Indeed," the ocean said, "that demon has taken him away." Hearing this, Lord Kṛṣṇa entered the ocean, found Paṣcajana and killed him. But the Lord did not find the boy within the demon's belly.

42-44Lord Janārdana took the conchshell that had grown around the demon's body and went back to the chariot. Then He proceeded to Saṁyamanī, the beloved capital of Yamarāja, the lord of death. Upon arriving there with Lord Balarāma, He loudly blew His conchshell, and Yamarāja, who keeps the conditioned souls in check, came as soon as he heard the resounding vibration. Yamarāja elaborately worshiped the two Lords with great devotion, and then he addressed Lord Kṛṣṇa, who lives in everyone's heart: "O Supreme Lord Viṣṇu, what shall I do for You and Lord Balarāma, who are playing the part of ordinary humans?"

45The Supreme Personality of Godhead said: Suffering the bondage of his past activity, My spiritual master's son was brought here to you. O great King, obey My command and bring this

boy to Me without delay.

46Yamarāja said, "So be it," and brought forth the guru's son. Then those two most exalted Yadus presented the boy to Their spiritual master and said to him, "Please select another boon."

47The spiritual master said: My dear boys, You two have completely fulfilled the disciple's obligation to reward his spiritual master. Indeed, with disciples like You, what further desires could a guru have?

48O heroes, now please return home. May Your fame sanctify the world, and may the Vedic hymns be ever fresh in Your minds, both in this life and the next.

49Thus receiving Their guru's permission to leave, the two Lords returned to Their city on Their chariot, which moved as swiftly as the wind and resounded like a cloud.

50All the citizens rejoiced upon seeing Kṛṣṇa and Balarāma, whom they had not seen for many days. The people felt just like those who have lost their wealth and then regained it.

## SB 10.46: Uddhava Visits Vṛndāvana

This chapter describes how Śrī Kṛṣṇa sent Uddhava to Vraja to relieve the distress of Nanda, Yaśodā and the young *gopīs*.

One day Lord Kṛṣṇa asked His intimate friend Uddhava to take news of Him to Vraja and thus relieve His parents and the *gopīs* of their misery caused by their separation from Him. Riding on a chariot, Uddhava reached Vraja at sunset. He saw the cows returning home to the cowherd village and the calves jumping here and there as their mothers followed slowly behind, weighed down by their heavy milk bags. The cowherd men and women were chanting the glories of Kṛṣṇa and Balarāma, and the village was attractively decorated with burning incense and rows of lamps. All this presented a scene of exceptional transcendental beauty.

Nanda Mahārāja welcomed Uddhava warmly into his home. The cowherd King then worshiped him as nondifferent from Lord Vāsudeva, fed him nicely, seated him comfortably upon a bed and then inquired from him about the welfare of Vasudeva and his sons, Kṛṣṇa and Balarāma. Nanda asked, "Does Kṛṣṇa still remember His friends, the village of Gokula and Govardhana Hill? He protected us from a forest fire, wind and rain, and many other disasters. By remembering His pastimes again and again, we are relieved of all karmic entanglement, and when we see the places marked by His lotus feet, our minds become fully absorbed in thought of Him. Garga Muni told me that Kṛṣṇa and Balarāma have both descended directly from the spiritual world. Just see how They have so easily dispatched Kaṁsa, the wrestlers, the elephant Kuvalayāpīḍa and many other demons!" As Nanda remembered Kṛṣṇa's pastimes, his throat choked up with tears and he could speak no further. Meanwhile, as mother Yaśodā heard her husband speak of Kṛṣṇa, the intense love she felt for her son caused a flood of milk to pour from her breasts and a torrent of tears from her eyes.

Seeing the superexcellent affection Nanda and Yaśodā had for Śrī Kṛṣṇa, Uddhava commented, "You two are indeed most glorious. One who has attained pure love for the Supreme Absolute Truth in His humanlike form has nothing further to accomplish. Kṛṣṇa and Balarāma are present in the hearts of all living beings, just as fire lies dormant within wood. These two Lords see all equally, having no particular friends or enemies. Free from egoism and possessiveness, They have no father, mother, wife or children, are never subject to birth, and have no material body. Only to enjoy spiritual happiness and deliver Their saintly devotees do They appear by

Their own sweet will among various species of life, both high and low.

"Lord Kṛṣṇa is not merely the son of you, O Nanda and Yaśodā, but the son of all persons, as well as their mother and father. In fact, He is everyone's dearest relation inasmuch as nothing that is seen or heard in the past, present or future, among the moving or nonmoving, is independent of Him."

Nanda Mahārāja and Uddhava passed the night talking about Kṛṣṇa in this way. Then the cowherd women performed their morning worship and began churning butter, singing the glories of Śrī Kṛṣṇa as they busily pulled the churning ropes. The sounds of churning and singing reverberated into the sky, cleansing the world of all inauspiciousness.

When the sun rose, the *gopīs* saw Uddhava's chariot at the edge of the cowherd village, and they thought that Akrūra might have returned. But just then Uddhava finished his morning duties and presented himself before them.

1Śukadeva Gosvāmī said: The supremely intelligent Uddhava was the best counselor of the Vṛṣṇi dynasty, a beloved friend of Lord Śrī Kṛṣṇa and a direct disciple of Bṛhaspati.

2The Supreme Lord Hari, who relieves the distress of all who surrender to Him, once took the hand of His fully devoted, dearmost friend Uddhava and addressed him as follows.

3[Lord Kṛṣṇa said:] Dear gentle Uddhava, go to Vraja and give pleasure to Our parents. And also relieve the gopīs, suffering in separation from Me, by giving them My message.

4The minds of those gopīs are always absorbed in Me, and their very lives are ever devoted to Me. For My sake they have abandoned everything related to their bodies, renouncing ordinary happiness in this life, as well as religious duties necessary for such happiness in the next life. I alone am their dearmost beloved and, indeed, their very Self. I personally sustain such devotees, who for My sake give up all worldly duties.

5My dear Uddhava, for those women of Gokula I am the most cherished object of love. Thus when they remember Me, who am so far away, they are overwhelmed by the anxiety of separation.

6Simply because I have promised to return to them, My fully devoted cowherd girlfriends struggle to maintain their lives somehow or other.

7Śukadeva Gosvāmī said: Thus addressed, O King, Uddhava respectfully accepted his master's message, mounted his chariot and set off for Nanda-gokula.

8The fortunate Uddhava reached Nanda Mahārāja's pastures just as the sun was setting, and since the returning cows and other animals were raising dust with their hooves, his chariot passed unnoticed.

9-13Gokula resounded on all sides with the sounds of bulls in rut fighting with one another for fertile cows; with the mooing of cows, burdened by their udders, chasing after their calves; with the noise of milking and of the white calves jumping here and there; with the loud reverberation of flute-playing; and with the singing of the all-auspicious deeds of Kṛṣṇa and Balarāma by the cowherd men and women, who made the village resplendent with their wonderfully ornamented attire. The cowherds' homes in Gokula appeared most charming with their abundant paraphernalia for worship of the sacrificial fire, the sun, unexpected guests, the cows, the brāhmaṇas, the forefathers and the demigods. On all sides lay the flowering forest, echoing with flocks of birds and swarms of bees and beautified by its lakes crowded with

swans, kāraṇḍava ducks and bowers of lotuses.

14As soon as Uddhava arrived at Nanda Mahārāja's home, Nanda came forward to meet him. The cowherd King embraced him in great happiness and worshiped him as nondifferent from Lord Vāsudeva.

15After Uddhava had eaten first-class food, been seated comfortably on a bed and been relieved of his fatigue by a foot massage and other means, Nanda inquired from him as follows.

16[Nanda Mahārāja said:] My dear most fortunate one, does the son of Śūra fare well, now that he is free and has rejoined his children and other relatives?

17Fortunately, because of his own sins, the sinful Kaṁsa has been killed, along with all his brothers. He always hated the saintly and righteous Yadus.

18Does Kṛṣṇa remember us? Does He remember His mother and His friends and well-wishers? Does He remember the cowherds and their village of Vraja, of which He is the master? Does He remember the cows, Vṛndāvana forest and Govardhana Hill?

19Will Govinda return even once to see His family? If He ever does, we may then glance upon His beautiful face, with its beautiful eyes, nose and smile.

20We were saved from the forest fire, the wind and rain, the bull and serpent demonsfrom all such insurmountable, deadly dangersby that very great soul, Kṛṣṇa.

21As we remember the wonderful deeds Kṛṣṇa performed, His playful sidelong glances, His smiles and His words, O Uddhava, we forget all our material engagements.

22When we see the places where Mukunda enjoyed His sporting pastimesthe rivers, hills and forests He decorated with His feetour minds become totally absorbed in Him.

23In my opinion, Kṛṣṇa and Balarāma must be two exalted demigods who have come to this planet to fulfill some great mission of the demigods. Such was foretold by Garga Ṛṣi.

24After all, Kṛṣṇa and Balarāma killed Kaṁsa, who was as strong as ten thousand elephants, as well as the wrestlers Cāṇūra and Muṣṭika and the elephant Kuvalayāpīḍa. They killed them all sportingly, as easily as a lion disposes of small animals.

25With the ease of a royal elephant breaking a stick, Kṛṣṇa broke a powerful, giant bow three tālas long. He also held a mountain aloft for seven days with just one hand.

26Here in Vṛndāvana, Kṛṣṇa and Balarāma easily destroyed demons like Pralamba, Dhenuka, Arista, Tṛṇāvarta and Baka, who had themselves defeated both demigods and other demons.

27Śukadeva Gosvāmī said: Thus intensely remembering Kṛṣṇa again and again, Nanda Mahārāja, his mind completely attached to the Lord, felt extreme anxiety and fell silent, overcome by the strength of his love.

28As mother Yaśodā heard the descriptions of her son's activities, she poured out her tears, and milk flowed from her breasts out of love.

29Uddhava then joyfully addressed Nanda Mahārāja, having clearly seen the supreme loving attraction he and Yaśodā felt for Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead.

30Śrī Uddhava said: O respectful Nanda, certainly you and mother Yaśodā are the most

praiseworthy persons in the entire world, since you have developed such a loving attitude toward Lord Nārāyaṇa, the spiritual master of all living beings.

31These two Lords, Mukunda and Balarāma, are each the seed and womb of the universe, the creator and His creative potency. They enter the hearts of living beings and control their conditioned awareness. They are the primeval Supreme.

32-33Anyone, even a person in an impure state, who absorbs his mind in Him for just a moment at the time of death burns up all traces of sinful reactions and immediately attains the supreme transcendental destination in a pure, spiritual form as effulgent as the sun. You two have rendered exceptional loving service to Him, Lord Nārāyaṇa, the Supersoul of all and the cause of all existence, the great soul who, although the original cause of everything, has a humanlike form. What pious deeds could still be required of you?

34Infallible Kṛṣṇa, the Lord of the devotees, will soon return to Vraja to satisfy His parents.

35Having killed Kaṁsa, the enemy of all the Yadus, in the wrestling arena, Kṛṣṇa will now surely fulfill His promise to you by coming back.

36O most fortunate ones, do not lament. You will see Kṛṣṇa again very soon. He is present in the hearts of all living beings, just as fire lies dormant in wood.

37For Him no one is especially dear or despicable, superior or inferior, and yet He is not indifferent to anyone. He is free from all desire for respect and yet gives respect to all others.

38He has no mother, no father, no wife, children or other relatives. No one is related to Him, and yet no one is a stranger to Him. He has no material body and no birth.

39He has no work to do in this world that would oblige Him to take birth in pure, impure or mixed species of life. Yet to enjoy His pastimes and deliver His saintly devotees, He manifests Himself.

40Although beyond the three modes of material naturegoodness, passion and ignorancethe transcendental Lord accepts association with them as His play. Thus the unborn Supreme Lord utilizes the material modes to create, maintain and destroy.

41Just as a person who is whirling around perceives the ground to be turning, one who is affected by false ego thinks himself the doer, when actually only his mind is acting.

42The Supreme Lord Hari is certainly not your son alone. Rather, being the Lord, He is the son, Soul, father and mother of everyone.

43Nothing can be said to exist independent of Lord Acyutanothing heard or seen, nothing in the past, present or future, nothing moving or unmoving, great or small. He indeed is everything, for He is the Supreme Soul.

44While Kṛṣṇa's messenger continued speaking with Nanda, the night ended, O King. The women of the cowherd village rose from bed and, lighting lamps, worshiped their household deities. Then they began churning the yogurt into butter.

45As they pulled on the churning ropes with their bangled arms, the women of Vraja shone with the splendor of their jewels, which reflected the lamps' light. Their hips, breasts and necklaces moved about, and their faces, anointed with reddish kuṅkuma, glowed radiantly with the luster of their earrings reflecting from their cheeks.

46As the ladies of Vraja loudly sang the glories of lotus-eyed Kṛṣṇa, their songs blended with the sound of their churning, ascended to the sky and dissipated all inauspiciousness in every direction.

47When the godly sun had risen, the people of Vraja noticed the golden chariot in front of Nanda Mahārāja's doorway. "Who does this belong to?" they asked.

48"Perhaps Akrūra has returnedhe who fulfilled Kaṁsa's desire by taking lotus-eyed Kṛṣṇa to Mathurā.

49"Is he going to use our flesh to offer funeral oblations for his master, who was so satisfied with his service?" As the women were speaking in this way, Uddhava appeared, having finished his early-morning duties.

## SB 10.47: The Song of the Bee

This chapter describes how Uddhava, on the order of Lord Śrī Kṛṣṇa, delivered the Lord's message to the *gopīs,* consoled them and then returned to Mathurā.

When the young maidens of Vraja saw lotus-eyed Uddhava, who wore a yellow garment and attractive earrings, they were astonished at how much he resembled Kṛṣṇa. Thinking "Who is this?" they approached and encircled him. When they realized that Kṛṣṇa must have sent him, they brought him to a secluded place where he could speak to them confidentially.

The *gopīs* then began to remember the pastimes they had enjoyed with Śrī Kṛṣṇa, and putting aside all ordinary propriety and shyness, they loudly wept. One *gopī,* while deeply meditating on Her association with Kṛṣṇa, noticed a bumblebee before Her. Imagining the bee to be a messenger from Him, She said, "Just as bees wander among various flowers, Śrī Kṛṣṇa has abandoned the young girls of Vraja and developed affection for other women." The *gopī* continued to speak in this way, contrasting Her own supposed ill fortune to Her rival lovers' good fortune, all the while glorifying the names, forms, qualities and pastimes of Lord Kṛṣṇa. She then declared that although Kṛṣṇa may have abandoned the *gopīs,* they could not possibly stop remembering Him for even a moment.

Uddhava tried to console the damsels of Vraja, who were so anxious to see Kṛṣṇa once again. Uddhava explained, "While ordinary persons must perform many pious deeds to qualify as servants of Lord Kṛṣṇa, you simple cowherd girls are so extremely fortunate that the Lord has favored you with the very highest degree of pure devotion for Him." Uddhava then related to them the Lord's message.

Quoting Lord Kṛṣṇa, Uddhava said, "I am the Supreme Soul and supreme shelter of all. By My potencies I create, maintain and destroy the cosmos. I am indeed most dear to you *gopīs,* but to increase your attraction for Me and intensify your remembrance of Me, I left you. After all, when a woman's beloved is far away, she fixes her mind upon him constantly. By incessantly remembering Me, you are sure to regain My association without delay.'"

The *gopīs* then asked Uddhava, "Is Kṛṣṇa happy now that Kaṁsa is dead and He can enjoy the company of His family members and the women of Mathurā? Does He still remember all the pastimes He enjoyed with us, such as the *rāsa* dance? Will Śrī Kṛṣṇa once again appear before us and give us ecstasy, just as Lord Indra, with his rain, gives life back to the forests aggrieved by the summer heat? Although we know that the greatest happiness comes from renunciation, we simply cannot stop hoping to attain Kṛṣṇa, for the marks of His lotus feet are still present

throughout the land of Vraja, reminding us of His graceful gait, generous smiles and gentle talks. By all these our hearts have been stolen away."

Having said this, the *gopīs* loudly chanted Lord Kṛṣṇa's names, calling out, "O Govinda, please come and destroy our suffering!" Uddhava then pacified the *gopīs* with statements that dispelled their pain of separation, and they in turn worshiped him as nondifferent from Śrī Kṛṣṇa.

Uddhava stayed in the district of Vraja for several months, giving pleasure to the residents by reminding them about Kṛṣṇa in various ways. Very satisfied at seeing the extent of the *gopīs'* love for the Lord, he declared, "These cowherd girls have perfected their lives by coming to the platform of unalloyed love for Kṛṣṇa. Indeed, even Lord Brahmā is inferior to them. The goddess of fortune herself, who always resides on Kṛṣṇa's chest, could not get the same mercy as that which the *gopīs* obtained during the *rāsa* dance, when Kṛṣṇa embraced their necks with His mighty arms. What, then, to speak of other women! Indeed, I would consider myself most fortunate to take birth as even a bush or creeper that would sometimes be touched by the dust of these *gopīs'* lotus feet."

Finally, Uddhava entreated Nanda Mahārāja and the other cowherd men for permission to go back to Mathurā. Nanda presented him with many gifts and prayed to Uddhava for the ability to always remember Kṛṣṇa. Returning to Mathurā, Uddhava offered Balarāma, Kṛṣṇa and King Ugrasena the gifts sent by Nanda Mahārāja and described to them everything he had experienced in Vraja.

1-2Śukadeva Gosvāmī said: The young women of Vraja became astonished upon seeing Lord Kṛṣṇa's servant, who had long arms, whose eyes resembled a newly grown lotus, who wore a yellow garment and a lotus garland, and whose lotuslike face glowed with brightly polished earrings. "Who is this handsome man?" the gopīs asked. "Where has he come from, and whom does he serve? He's wearing Kṛṣṇa's clothes and ornaments!" Saying this, the gopīs eagerly crowded around Uddhava, whose shelter was the lotus feet of Lord Uttamaḥśloka, Śrī Kṛṣṇa.

3Bowing their heads in humility, the gopīs duly honored Uddhava with their shy, smiling glances and pleasing words. They took him to a quiet place, seated him comfortably and began to question him, for they recognized him to be a messenger from Kṛṣṇa, the master of the goddess of fortune.

4[The gopīs said:] We know that you are the personal servant of Kṛṣṇa, the chief of the Yadus, and that you have come here on the order of your good master, who desires to give pleasure to His parents.

5We see nothing else He might consider worth remembering in these cow pastures of Vraja. Indeed, the bonds of affection for one's family members are difficult to break, even for a sage.

6The friendship shown toward othersthose who are not family membersis motivated by personal interest, and thus it is a pretense that lasts only until one's purpose is fulfilled. Such friendship is just like the interest men take in women, or bees in flowers.

7Prostitutes abandon a penniless man, subjects an incompetent king, students their teacher once they have finished their education, and priests a man who has remunerated them for a sacrifice.

8Birds abandon a tree when its fruits are gone, guests a house after they have eaten, animals a forest that has burnt down, and a lover the woman he has enjoyed, even though she remains

attached to him.

9-10Thus speaking, the gopīs, whose words, bodies and minds were fully dedicated to Lord Govinda, put aside all their regular work now that Kṛṣṇa's messenger, Śrī Uddhava, had arrived among them. Constantly remembering the activities their beloved Kṛṣṇa had performed in His childhood and youth, they sang about them and cried without shame.

11One of the gopīs, while meditating on Her previous association with Kṛṣṇa, saw a honeybee before Her and imagined it to be a messenger sent by Her beloved. Thus She spoke as follows.

12The gopī said: O honeybee, O friend of a cheater, don't touch My feet with your whiskers, which are smeared with the kuṅkuma that rubbed onto Kṛṣṇa's garland when it was crushed by the breasts of a rival lover! Let Kṛṣṇa satisfy the women of Mathurā. One who sends a messenger like you will certainly be ridiculed in the Yadus' assembly.

13After making us drink the enchanting nectar of His lips only once, Kṛṣṇa suddenly abandoned us, just as you might quickly abandon some flowers. How is it, then, that Goddess Padmā willingly serves His lotus feet? Alas! The answer must certainly be that her mind has been stolen away by His deceitful words.

14O bee, why do you sing here so much about the Lord of the Yadus, in front of us homeless people? These topics are old news to us. Better you sing about that friend of Arjuna in front of His new girlfriends, the burning desire in whose breasts He has now relieved. Those ladies will surely give you the charity you are begging.

15In heaven, on earth or in the subterranean sphere, what women are unavailable to Him? He simply arches His eyebrows and smiles with deceptive charm, and they all become His. The supreme goddess herself worships the dust of His feet, so what is our position in comparison? But at least those who are wretched can chant His name, Uttamaḥśloka.

16Keep your head off My feet! I know what you're doing. You expertly learned diplomacy from Mukunda, and now you come as His messenger with flattering words. But He abandoned those who for His sake alone gave up their children, husbands and all other relations. He's simply ungrateful. Why should I make up with Him now?

17Like a hunter, He cruelly shot the king of the monkeys with arrows. Because He was conquered by a woman, He disfigured another woman who came to Him with lusty desires. And even after consuming the gifts of Bali Mahārāja, He bound him up with ropes as if he were a crow. So let us give up all friendship with this dark-complexioned boy, even if we can't give up talking about Him.

18To hear about the pastimes that Kṛṣṇa regularly performs is nectar for the ears. For those who relish just a single drop of that nectar, even once, their dedication to material duality is ruined. Many such persons have suddenly given up their wretched homes and families and, themselves becoming wretched, traveled here to Vṛndāvana to wander about like birds, begging for their living.

19Faithfully taking His deceitful words as true, we became just like the black deer's foolish wives, who trust the cruel hunter's song. Thus we repeatedly felt the sharp pain of lust caused by the touch of His nails. O messenger, please talk about something besides Kṛṣṇa.

20O friend of My dear one, has My beloved sent you here again? I should honor you, friend, so please choose whatever boon you wish. But why have you come back here to take us to Him, whose conjugal love is so difficult to give up? After all, gentle bee, His consort is the goddess

Śrī, and she is always with Him, staying upon His chest.

21O Uddhava! It is indeed regrettable that Kṛṣṇa resides in Mathurā. Does He remember His father's household affairs and His friends, the cowherd boys? O great soul! Does He ever talk about us, His maidservants? When will He lay on our heads His aguru-scented hand?

22Śukadeva Gosvāmī said: Having heard this, Uddhava then tried to pacify the gopīs, who were most eager to see Lord Kṛṣṇa. He thus began relating to them the message of their beloved.

23Śrī Uddhava said: Certainly you gopīs are all-successful and are universally worshiped because you have dedicated your minds in this way to the Supreme Personality of Godhead, Vāsudeva.

24Devotional service unto Lord Kṛṣṇa is attained by charity, strict vows, austerities and fire sacrifices, by japa, study of Vedic texts, observance of regulative principles and, indeed, by the performance of many other auspicious practices.

25By your great fortune you have established an unexcelled standard of pure devotion for the Lord, Uttamaḥślokaa standard even the sages can hardly attain.

26By your great fortune you have left your sons, husbands, bodily comforts, relatives and homes in favor of the supreme male, who is known as Kṛṣṇa.

27You have rightfully claimed the privilege of unalloyed love for the transcendental Lord, O most glorious gopīs. Indeed, by exhibiting your love for Kṛṣṇa in separation from Him, you have shown me great mercy.

28My good ladies, now please hear your beloved's message, which I, the confidential servant of my master, have come here to bring you.

29The Supreme Lord said: You are never actually separated from Me, for I am the Soul of all creation. Just as the elements of natureether, air, fire, water and earthare present in every created thing, so I am present within everyone's mind, life air and senses, and also within the physical elements and the modes of material nature.

30By Myself I create, sustain and withdraw Myself within Myself by the power of My personal energy, which comprises the material elements, the senses and the modes of nature.

31Being composed of pure consciousness, or knowledge, the soul is distinct from everything material and is uninvolved in the entanglements of the modes of nature. We can perceive the soul through the three functions of material nature known as wakefulness, sleep and deep sleep.

32As a person just arisen from sleep may continue to meditate on a dream even though it is illusory, so by the agency of the mind one meditates on the sense objects, which the senses can then obtain. Therefore one should become fully alert and bring the mind under control.

33According to intelligent authorities, this is the ultimate conclusion of all the Vedas, as well as all practice of yoga, Sāṅkhya, renunciation, austerity, sense control and truthfulness, just as the sea is the ultimate destination of all rivers.

34But the actual reason why I, the beloved object of your sight, have stayed far away from you is that I wanted to intensify your meditation upon Me and thus draw your minds closer to Me.

35When her lover is far away, a woman thinks of him more than when he is present before her.

36Because your minds are totally absorbed in Me and free from all other engagement, you remember Me always, and so you will very soon have Me again in your presence.

37Although some gopīs had to remain in the cowherd village and so could not join the rāsa dance to sport with Me at night in the forest, they were nonetheless fortunate. Indeed, they attained Me by thinking of My potent pastimes.

38Śukadeva Gosvāmī said: The women of Vraja were pleased to hear this message from their dearmost Kṛṣṇa. His words having revived their memory, they addressed Uddhava as follows.

39The gopīs said: It is very good that Kaṁsa, the enemy and persecutor of the Yadus, has now been killed, along with his followers. And it is also very good that Lord Acyuta is living happily in the company of His well-wishing friends and relatives, whose every desire is now fulfilled.

40Gentle Uddhava, is the elder brother of Gada now bestowing on the city women the pleasure that actually belongs to us? We suppose those ladies worship Him with generous glances full of affectionate, shy smiles.

41Śrī Kṛṣṇa is expert in all kinds of conjugal affairs and is the darling of the city women. How can He not become entangled, now that He's constantly adored by their enchanting words and gestures?

42O saintly one, does Govinda ever remember us during His conversations with the city women? Does He ever mention us village girls as He freely talks with them?

43Does He recall those nights in the Vṛndāvana forest, lovely with lotus, jasmine and the bright moon? As we glorified His charming pastimes, He enjoyed with us, His beloved girlfriends, in the circle of the rāsa dance, which resounded with the music of ankle bells.

44Will that descendant of Daśārha return here and by the touch of His limbs bring back to life those who are now burning with the grief He Himself has caused? Will He save us in that way, just as Lord Indra brings a forest back to life with his water-bearing clouds?

45But why should Kṛṣṇa come here after winning a kingdom, killing His enemies and marrying the daughters of kings? He's satisfied there, surrounded by all His friends and well-wishers.

46The great soul Kṛṣṇa is the Lord of the goddess of fortune, and He automatically achieves whatever He desires. How can we forest-dwellers or any other women fulfill His purposes when He is already fulfilled within Himself?

47Indeed, the greatest happiness is to renounce all desires, as even the prostitute Piṅgalā has declared. Yet even though we know this, we cannot give up our hopes of attaining Kṛṣṇa.

48Who can bear to give up intimate talks with Lord Uttamaḥśloka? Although He shows no interest in her, Goddess Śrī never moves from her place on His chest.

49Dear Uddhava Prabhu, when Kṛṣṇa was here in the company of Saṅkarṣaṇa, He enjoyed all these rivers, hills, forests, cows and flute sounds.

50All these remind us constantly of Nanda's son. Indeed, because we see Kṛṣṇa's footprints, which are marked with divine symbols, we can never forget Him.

51O Uddhava, how can we forget Him when our hearts have been stolen away by the charming way He walks, His generous smile and playful glances, and His honeylike words?

52O master, O master of the goddess of fortune, O master of Vraja! O destroyer of all suffering, Govinda, please lift Your Gokula out of the ocean of distress in which it is drowning!

53Śukadeva Gosvāmī continued: Lord Kṛṣṇa's messages having relieved their fever of separation, the gopīs then worshiped Uddhava, recognizing him as nondifferent from their Lord, Kṛṣṇa.

54Uddhava remained there for several months, dispelling the gopīs' sorrow by chanting the topics of Lord Kṛṣṇa's pastimes. Thus he brought joy to all the people of Gokula.

55All the days that Uddhava dwelled in Nanda's cowherd village seemed like a single moment to the residents of Vraja, for Uddhava was always discussing Kṛṣṇa.

56That servant of Lord Hari, seeing the rivers, forests, mountains, valleys and flowering trees of Vraja, enjoyed inspiring the inhabitants of Vṛndāvana by reminding them of Lord Kṛṣṇa.

57Thus seeing how the gopīs were always disturbed because of their total absorption in Kṛṣṇa, Uddhava was supremely pleased. Desiring to offer them all respect, he sang as follows.

58[Uddhava sang:] Among all persons on earth, these cowherd women alone have actually perfected their embodied lives, for they have achieved the perfection of unalloyed love for Lord Govinda. Their pure love is hankered after by those who fear material existence, by great sages, and by ourselves as well. For one who has tasted the narrations of the infinite Lord, what is the use of taking birth as a high-class brāhmaṇa, or even as Lord Brahmā himself?

59How amazing it is that these simple women who wander about the forest, seemingly spoiled by improper behavior, have achieved the perfection of unalloyed love for Kṛṣṇa, the Supreme Soul! Still, it is true that the Supreme Lord Himself awards His blessings even to an ignorant worshiper, just as the best medicine works even when taken by a person ignorant of its ingredients.

60When Lord Śrī Kṛṣṇa was dancing with the gopīs in the rāsa-līlā, the gopīs were embraced by the arms of the Lord. This transcendental favor was never bestowed upon the goddess of fortune or other consorts in the spiritual world. Indeed, never was such a thing even imagined by the most beautiful girls in the heavenly planets, whose bodily luster and aroma resemble the lotus flower. And what to speak of worldly women who are very beautiful according to material estimation?

61The gopīs of Vṛndāvana have given up the association of their husbands, sons and other family members, who are very difficult to give up, and they have forsaken the path of chastity to take shelter of the lotus feet of Mukunda, Kṛṣṇa, which one should search for by Vedic knowledge. Oh, let me be fortunate enough to be one of the bushes, creepers or herbs in Vṛndāvana, because the gopīs trample them and bless them with the dust of their lotus feet.

62The goddess of fortune herself, along with Lord Brahmā and all the other demigods, who are masters of yogic perfection, can worship the lotus feet of Kṛṣṇa only within her mind. But during the rāsa dance Lord Kṛṣṇa placed His feet upon these gopīs' breasts, and by embracing those feet the gopīs gave up all distress.

63I repeatedly offer my respects to the dust from the feet of the women of Nanda Mahārāja's cowherd village. When these gopīs loudly chant the glories of Śrī Kṛṣṇa, the vibration purifies

the three worlds.

64Śukadeva Gosvāmī said: Uddhava, the descendant of Daśārha, then took permission to leave from the gopīs and from mother Yaśodā and Nanda Mahārāja. He bade farewell to all the cowherd men and, about to depart, mounted his chariot.

65As Uddhava was about to leave, Nanda and the others approached him bearing various items of worship. With tears in their eyes they addressed him as follows.

66[Nanda and the other cowherds said:] May our mental functions always take shelter of Kṛṣṇa's lotus feet, may our words always chant His names, and may our bodies always bow down to Him and serve Him.

67Wherever we are made to wander about this world by the Supreme Lord's will, in accordance with the reactions to our fruitive work, may our good works and charity always grant Us love for Lord Kṛṣṇa.

68[Śukadeva Gosvāmī continued:] O ruler of men, thus honored by the cowherd men with expressions of devotion for Lord Kṛṣṇa, Uddhava went back to the city of Mathurā, which was under Kṛṣṇa's protection.

69After falling down to pay his homage, Uddhava described to Lord Kṛṣṇa the immense devotion of the residents of Vraja. Uddhava also described it to Vasudeva, Lord Balarāma and King Ugrasena and presented to them the gifts of tribute he had brought with him.

## SB 10.48: Kṛṣṇa Pleases His Devotees

In this chapter Lord Śrī Kṛṣṇa first visits Trivakrā (also known as Kubjā) and enjoys with her, and then He visits Akrūra. The Lord sends Akrūra to Hastināpura to satisfy the Pāṇḍavas.

After Uddhava had related to Śrī Kṛṣṇa the news of Vraja, the Lord went to the home of Trivakrā, which was decorated with diverse ornamentation conducive to sexual enjoyment. Trivakrā welcomed Kṛṣṇa with great respect, giving Him a raised seat and, together with her female companions, worshiping Him. She also offered Uddhava a seat, as befitted his position, but Uddhava simply touched the seat and sat on the floor.

Lord Kṛṣṇa then reclined on an opulent bed as the maidservant Trivakrā elaborately washed and decorated herself. Then she approached Him. Kṛṣṇa invited Trivakrā to the bed and began to enjoy with her in various ways. By embracing Lord Kṛṣṇa, Trivakrā freed herself of the torment of lust. She asked Kṛṣṇa to remain with her for some time, and the considerate Lord promised to fulfill her request in due course. He then returned with Uddhava to His residence. Apart from offering sandal paste to Kṛṣṇa, Trivakrā had never performed any pious acts, yet simply on the strength of the piety of this single act she attained the rare personal association of Śrī Kṛṣṇa.

Śrī Kṛṣṇa next went to Akrūra's house with Lord Baladeva and Uddhava. Akrūra honored the three of them by bowing down and presenting them with suitable sitting places. Then he worshiped Rāma and Kṛṣṇa, washed Their feet and poured the water on his head. Akrūra also offered Them many prayers.

Lord Kṛṣṇa was pleased with Akrūra's prayers. He told him that since he, Akrūra, was in fact Their paternal uncle, Kṛṣṇa and Balarāma should be the recipients of his protection and mercy. Lord Kṛṣṇa then praised Akrūra as a saint and purifier of the sinful, and He asked him to visit Hastināpura to find out how the Pāṇḍavas, deprived of their father, were faring. Finally, the

Lord returned home, taking Balarāma and Uddhava with Him.

1Śukadeva Gosvāmī said: Next, after assimilating Uddhava's report, Lord Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, the omniscient Soul of all that be, desired to satisfy the serving girl Trivakrā, who was troubled by lust. Thus He went to her house.

2Trivakrā's home was opulently appointed with expensive furnishings and replete with sensual accoutrements meant to inspire sexual desire. There were banners, rows of strung pearls, canopies, fine beds and sitting places, and also fragrant incense, oil lamps, flower garlands and aromatic sandalwood paste.

3When Trivakrā saw Him arriving at her house, she at once rose from her seat in a flurry. Coming forward graciously with her girlfriends, she respectfully greeted Lord Acyuta by offering Him an excellent seat and other articles of worship.

4Uddhava also received a seat of honor, since he was a saintly person, but he simply touched it and sat on the floor. Then Lord Kṛṣṇa, imitating the manners of human society, quickly made Himself comfortable on an opulent bed.

5Trivakrā prepared herself by bathing, anointing her body, and dressing in fine garments, by putting on jewelry, garlands and perfume, and also by chewing betel nut, drinking fragrant liquor, and so on. She then approached Lord Mādhava with shy, playful smiles and coquettish glances.

6Calling forward His beloved, who was anxious and shy at the prospect of this new contact, the Lord pulled her by her bangled hands onto the bed. Thus He enjoyed with that beautiful girl, whose only trace of piety was her having offered ointment to the Lord.

7Simply by smelling the fragrance of Kṛṣṇa's lotus feet, Trivakrā cleansed away the burning lust Cupid had aroused in her breasts, chest and eyes. With her two arms she embraced between her breasts her lover, Śrī Kṛṣṇa, the personification of bliss, and thus she gave up her long-standing distress.

8Having thus gotten the hard-to-get Supreme Lord by the simple act of offering Him body ointment, unfortunate Trivakrā submitted to that Lord of freedom the following request.

9[Trivakrā said:] O beloved, please stay here with me for a few days more and enjoy. I cannot bear to give up Your association, O lotus-eyed one!

10Promising her the fulfillment of this lusty desire, considerate Kṛṣṇa, Lord of all beings, paid Trivakrā His respects and then returned with Uddhava to His own supremely opulent residence.

11Lord Viṣṇu, the Supreme Lord of all lords, is ordinarily difficult to approach. One who has properly worshiped Him and then chooses the benediction of mundane sense gratification is certainly of poor intelligence, for he is satisfied with an insignificant result.

12Then Lord Kṛṣṇa, wanting to have some things done, went to Akrūra's house with Balarāma and Uddhava. The Lord also desired to please Akrūra.

13-14Akrūra stood up in great joy when he saw them, his own relatives and the greatest of exalted personalities, coming from a distance. After embracing them and greeting them, Akrūra bowed down to Kṛṣṇa and Balarāma and was greeted by Them in return. Then, when his guests had taken their seats, he worshiped them in accordance with scriptural rules.

15-16O King, Akrūra bathed the feet of Lord Kṛṣṇa and Lord Balarāma and then poured the bath water on his head. He presented Them with gifts of fine clothing, aromatic sandalwood paste, flower garlands and excellent jewelry. After thus worshiping the two Lords, he bowed his head to the floor. He then began to massage Lord Kṛṣṇa's feet, placing them on his lap, and with his head bowed in humility he addressed Kṛṣṇa and Balarāma as follows.

17[Akrūra said:] It is our good fortune that You two Lords have killed the evil Kaṁsa and his followers, thus delivering Your dynasty from endless suffering and causing it to flourish.

18You both are the original Supreme Person, the cause of the universe and its very substance. Not the slightest subtle cause or manifest product of creation exists apart from You.

19O Supreme Absolute Truth, with Your personal energies You create this universe and then enter into it. Thus one can perceive You in many different forms by hearing from authorities and by direct experience.

20Just as the primary elementsearth and so onmanifest themselves in abundant variety among all the species of mobile and immobile life, so You, the one independent Supreme Soul, appear to be manifold among the variegated objects of Your creation.

21You create, destroy and also maintain this universe with Your personal energiesthe modes of passion, ignorance and goodnessyet You are never entangled by these modes or the activities they generate. Since You are the original source of all knowledge, what could ever cause You to be bound by illusion?

22Since it has never been demonstrated that You are covered by material, bodily designations, it must be concluded that for You there is neither birth in a literal sense nor any duality. Therefore You never undergo bondage or liberation, and if You appear to, it is only because of Your desire that we see You in that way, or simply because of our lack of discrimination.

23You originally enunciated the ancient religious path of the Vedas for the benefit of the whole universe. Whenever that path becomes obstructed by wicked persons following the path of atheism, You assume one of Your incarnations, which are all in the transcendental mode of goodness.

24You are that very same Supreme Person, my Lord, and You have now appeared in the home of Vasudeva with Your plenary portion. You have done this to relieve the earth's burden by killing hundreds of armies led by kings who are expansions of the demigods' enemies, and also to spread the fame of our dynasty.

25Today, O Lord, my home has become most fortunate because You have entered it. As the Supreme Truth, You embody the forefathers, ordinary creatures, human beings and demigods, and the water that has washed Your feet purifies the three worlds. Indeed, O transcendent one, You are the spiritual master of the universe.

26What learned person would approach anyone but You for shelter, when You are the affectionate, grateful and truthful well-wisher of Your devotees? To those who worship You in sincere friendship You reward everything they desire, even Your own self, yet You never increase or diminish.

27It is by our great fortune, Janārdana, that You are now visible to us, for even the masters of yoga and the foremost demigods can achieve this goal only with great difficulty. Please quickly cut the ropes of our illusory attachment for children, wife, wealth, influential friends, home and body. All such attachment is simply the effect of Your illusory material energy.

28[Śukadeva Gosvāmī continued:] Thus worshiped and fully glorified by His devotee, the Supreme Lord Hari smilingly addressed Akrūra, completely charming him with His words.

29The Supreme Lord said: You are Our spiritual master, paternal uncle and praiseworthy friend, and We are like your sons, always dependent on your protection, sustenance and compassion.

30Exalted souls like you are the true objects of service and the most worshipable authorities for those who desire the highest good in life. Demigods are generally concerned with their own interests, but saintly devotees never are.

31No one can deny that there are holy places with sacred rivers, or that the demigods appear in deity forms made of earth and stone. But these purify the soul only after a long time, whereas saintly persons purify just by being seen.

32You are indeed the best of Our friends, so please go to Hastināpura and, as the well-wisher of the Pāṇḍavas, find out how they are doing.

33We have heard that when their father passed away, the young Pāṇḍavas were brought with their anguished mother to the capital city by King Dhṛtarāṣṭra, and that they are now living there.

34Indeed, weak-minded Dhṛtarāṣṭra, the son of Ambikā, has come under the control of his wicked sons, and therefore that blind King is not treating his brother's sons fairly.

35Go and see whether Dhṛtarāṣṭra is acting properly or not. When We find out, We will make the necessary arrangements to help Our dear friends.

36[Śukadeva Gosvāmī continued:] Thus fully instructing Akrūra, the Supreme Personality of Godhead Hari then returned to His residence, accompanied by Lord Saṅkarṣaṇa and Uddhava.

## SB 10.49: Akrūra's Mission in Hastināpura

This chapter describes how Akrūra went to Hastināpura, saw Dhṛtarāṣṭra's unfair behavior toward his nephews, the Pāṇḍavas, and then returned to Mathurā.

On the order of Lord Kṛṣṇa, Akrūra went to Hastināpura, where he met the Kauravas and Pāṇḍavas and then set about to find out how Dhṛtarāṣṭra was treating the latter. This task would keep Akrūra in Hastināpura for several months.

Vidura and Kuntīdevī described to Akrūra in detail how Dhṛtarāṣṭra's sons, envious of the exalted qualities of the Pāṇḍavas, had tried to destroy them by various evil means and were contemplating further atrocities. With tearful eyes, Kuntīdevī asked Akrūra, "Do my parents and other relatives, headed by Kṛṣṇa and Balarāma, ever think of me and my sons, and will Kṛṣṇa ever come to console us in our distress?" Then Kuntīdevī began to chant Lord Kṛṣṇa's names for her protection, and she also chanted *mantras* expressing surrender to Him. Akrūra assured Kuntīdevī, "Since your sons were born from demigods like Dharma and Vāyu, there is no reason to expect that any misfortune will befall them; rather, you should be confident that very soon they will receive the greatest possible good fortune."

Akrūra then delivered to Dhṛtarāṣṭra the message from Kṛṣṇa and Balarāma. Akrūra told the King, "You have assumed the royal throne after the death of Pāṇḍu. Seeing all equally, which is the religious duty of kings, you should protect all your subjects and personal relations. By such fair behavior you will gain all fame and good fortune. But if you act otherwise, you will attain

only infamy in this life and condemnation to a hellish existence in the next. A living being takes his birth all alone, and alone he gives up his life. Alone he enjoys the fruits of his piety and sin. If one fails to understand the true identity of the self and instead maintains his progeny by indulging in evil deeds, then surely he will go to hell. One should therefore learn to understand the unsteadiness of material existence, which is like a sleeper's dream, a magician's illusion or a flight of fancy, and should thus control his mind in order to remain peaceful and equipoised."

To this Dhṛtarāṣṭra replied, "I cannot hear enough of your beneficial words, O Akrūra, which are like the sweet nectar of immortality. But because the tight knot of affection for my sons has made me biased toward them, your statements cannot become fixed within my mind. No one can transgress the arrangement of the Supreme Lord; His purpose for descending into the Yadu dynasty will inevitably be fulfilled."

Knowing now the mentality of Dhṛtarāṣṭra, Akrūra took permission from his dear relatives and friends and returned to Mathurā, where he related everything to Lord Kṛṣṇa and Lord Balarāma.

1-2Śukadeva Gosvāmī said: Akrūra went to Hastināpura, the city distinguished by the glory of the Paurava rulers. There he saw Dhṛtarāṣṭra, Bhīṣma, Vidura and Kuntī, along with Bāhlika and his son Somadatta. He also saw Droṇācārya, Kṛpācārya, Karṇa, Duryodhana, Aśvatthāmā, the Pāṇḍavas and other close friends.

3After Akrūra, the son of Gāndinī, had appropriately greeted all his relatives and friends, they asked him for news of their family members, and he in turn asked about their welfare.

4He remained in Hastināpura for several months to scrutinize the conduct of the weak-willed King, who had bad sons and who was inclined to give in to the whims of mischievous advisers.

5-6Kuntī and Vidura described to Akrūra in detail the evil intentions of Dhṛtarāṣṭra's sons, who could not tolerate the great qualities of Kuntī's sonssuch as their powerful influence, military skill, physical strength, bravery and humilityor the intense affection the citizens had for them. Kuntī and Vidura also told Akrūra about how the sons of Dhṛtarāṣṭra had tried to poison the Pāṇḍavas and carry out other such plots.

7Kuntīdevī, taking advantage of her brother Akrūra's visit, approached him confidentially. While remembering her birthplace, she spoke with tears in her eyes.

8[Queen Kuntī said:] O gentle one, do my parents, brothers, sisters, nephews, family women and girlhood friends still remember us?

9Does my nephew Kṛṣṇa, the Supreme Personality and the compassionate shelter of His devotees, still remember His aunt's sons? And does lotus-eyed Rāma remember them also?

10Now that I am suffering in the midst of my enemies like a doe in the midst of wolves, will Kṛṣṇa come to console me and my fatherless sons with His words?

11Kṛṣṇa, Kṛṣṇa! O great yogi! O Supreme Soul and protector of the universe! O Govinda! Please protect me, who have surrendered to You. I and my sons are being overwhelmed by trouble.

12For persons fearful of death and rebirth, I see no shelter other than Your liberating lotus feet, for You are the Supreme Lord.

13I offer my obeisances unto You, Kṛṣṇa, the supreme pure, the Absolute Truth and the Supersoul, the Lord of pure devotional service and the source of all knowledge. I have come to You for shelter.

14Śukadeva Gosvāmī said: Thus meditating on her family members and also on Kṛṣṇa, the Lord of the universe, your great-grandmother Kuntīdevī began to cry out in grief, O King.

15Both Akrūra, who shared Queen Kuntī's distress and happiness, and the illustrious Vidura consoled the Queen by reminding her of the extraordinary way her sons had taken birth.

16The ardent affection King Dhṛtarāṣṭra felt for his sons had made him act unjustly toward the Pāṇḍavas. Just before leaving, Akrūra approached the King, who was seated among his friends and supporters, and related to him the message that his relativesLord Kṛṣṇa and Lord Balarāmahad sent out of friendship.

17Akrūra said: O my dear son of Vicitravīrya, O enhancer of the Kurus' glory, your brother Pāṇḍu having passed away, you have now assumed the royal throne.

18By religiously protecting the earth, delighting your subjects with your noble character, and treating all your relatives equally, you will surely achieve success and glory.

19If you act otherwise, however, people will condemn you in this world, and in the next life you will enter the darkness of hell. Remain equally disposed, therefore, toward Pāṇḍu's sons and your own.

20In this world no one has any permanent relationship with anyone else, O King. We cannot stay forever even with our own body, what to speak of our wife, children and the rest.

21Every creature is born alone and dies alone, and alone one experiences the just rewards of his good and evil deeds.

22In the guise of dear dependents, strangers steal the sinfully acquired wealth of a foolish man, just as the offspring of a fish drink up the water that sustains the fish.

23A fool indulges in sin to maintain his life, wealth and children and other relatives, for he thinks, "These things are mine." In the end, however, these very things all abandon him, leaving him frustrated.

24Abandoned by his so-called dependents, ignorant of the actual goal of life, indifferent to his real duty, and having failed to fulfill his purposes, the foolish soul enters the blindness of hell, taking his sinful reactions with him.

25Therefore, O King, looking upon this world as a dream, a magician's illusion or a flight of fancy, please control your mind with intelligence and become equipoised and peaceful, my lord.

26Dhṛtarāṣṭra said: O master of charity, I can never be satiated while hearing your auspicious words. Indeed, I am like a mortal who has obtained the nectar of the gods.

27Even so, gentle Akrūra, because my unsteady heart is prejudiced by affection for my sons, these pleasing words of yours cannot remain fixed there, just as lightning cannot remain fixed in a cloud.

28Who can defy the injunctions of the Supreme Lord, who has now descended in the Yadu dynasty to diminish the earth's burden?

29I offer my obeisances to Him, the Supreme Personality of Godhead, who creates this universe by the inconceivable activity of His material energy and then distributes the various modes of nature by entering within the creation. From Him, the meaning of whose pastimes is

unfathomable, come both the entangling cycle of birth and death and the process of deliverance from it.

30Śukadeva Gosvāmī said: Having thus apprised himself of the King's attitude, Akrūra, the descendant of Yadu, took permission from his well-wishing relatives and friends and returned to the capital of the Yādavas.

31Akrūra reported to Lord Balarāma and Lord Kṛṣṇa how Dhṛtarāṣṭra was behaving toward the Pāṇḍavas. Thus, O descendant of the Kurus, he fulfilled the purpose for which he had been sent.

**SB 10.50: Kṛṣṇa Establishes the City of Dvārakā**

This chapter relates how Lord Kṛṣṇa defeated Jarāsandha seventeen times in battle and then constructed the city of Dvārakā.

After Kaṁsa was killed, his two queens, Asti and Prāpti, went to the home of their father, Jarāsandha, and sorrowfully described to him how Kṛṣṇa had made them widows. Upon hearing this account, King Jarāsandha became angry. He vowed to rid the earth of all the Yādavas, and he gathered an immense army to lay siege to Mathurā. When Śrī Kṛṣṇa saw Jarāsandha attacking, the Lord considered the reasons for His descent to this world and then decided to destroy Jarāsandha's army, which was a burden to the earth.

Two effulgent chariots suddenly appeared, equipped with drivers and furnishings, together with all the Lord's personal weapons. Seeing this, Lord Kṛṣṇa addressed Lord Baladeva, "My dear brother, Jarāsandha is now attacking Mathurā-purī, so please mount Your chariot and let Us go destroy the enemy's army." The two Lords took up Their weapons, mounted Their chariots and went forth from the city.

When Lord Kṛṣṇa came before His opponent's army, He sounded His conchshell, striking fear into His enemies' hearts. King Jarāsandha surrounded Kṛṣṇa and Balarāma with his soldiers, chariots and so on, and the women of the city, having climbed up to the roofs of the palaces, became extremely unhappy because they could not see the Lords. Then Kṛṣṇa twanged His bow and started to rain down a torrent of arrows upon the enemy soldiers. Soon Jarāsandha's unfathomable army had been annihilated.

Then Lord Baladeva arrested Jarāsandha and was about to bind him up with ropes when Śrī Kṛṣṇa had Baladeva release the King. Lord Kṛṣṇa reasoned that Jarāsandha would assemble another army and return again to fight; this would facilitate Kṛṣṇa's goal of removing the earth's burden. Released, Jarāsandha returned to Magadha and vowed to perform austerities with the aim of avenging his defeat. The other kings advised him that his defeat was only a reaction of his *karma*. Thus informed, King Jarāsandha withdrew to his kingdom with a heavy heart.

Śrī Kṛṣṇa rejoined the citizens of Mathurā, who began rejoicing, singing songs of triumph and arranging victory celebrations. The Lord brought all the warriors' jewelry and ornaments that had been picked up from the battlefield and presented them to Mahārāja Ugrasena.

Jarāsandha attacked the Yādavas in Mathurā seventeen times, and each time his armies were totally destroyed. Then, as Jarāsandha prepared to attack for the eighteenth time, a warrior named Kālayavana, who had been searching for a worthy opponent, was sent by Nārada Muni to fight the Yādavas. With thirty million soldiers Kālayavana laid siege to the Yādava capital. Lord Kṛṣṇa looked upon this attack with concern, for He knew that with Jarāsandha's arrival imminent, there was a serious danger that the simultaneous attack of these two enemies might

endanger the Yādavas. Therefore the Lord constructed a wonderful city within the sea as a safe haven for the Yādavas; then He brought them all there by His mystic power. This city was fully populated with members of all four social orders, and within it no one felt the pangs of thirst and hunger. The various demigods, headed by Indra, each offered as tribute to Lord Kṛṣṇa the same opulences they had originally obtained from Him to establish their positions of authority.

Once He saw His subjects safely settled, Lord Śrī Kṛṣṇa took permission from Lord Baladeva and went out of Mathurā unarmed.

1Śukadeva Gosvāmī said: When Kaṁsa was killed, O heroic descendant of Bharata, his two queens, Asti and Prāpti, went to their father's house in great distress.

2The sorrowful queens told their father, King Jarāsandha of Magadha, all about how they had become widows.

3Hearing this odious news, O King, Jarāsandha was filled with sorrow and anger, and he began the greatest possible endeavor to rid the earth of the Yādavas.

4With a force of twenty-three akṣauhiṇī divisions, he laid siege to the Yadu capital, Mathurā, on all sides.

5-6Although Lord Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, is the original cause of this world, when He descended to the earth He played the role of a human being. Thus when He saw Jarāsandha's assembled army surrounding His city like a great ocean overflowing its shores, and when He saw how this army was striking fear into His subjects, the Lord considered what His suitable response should be according to the time, place and specific purpose of His current incarnation.

7-8[The Supreme Lord thought:] Since it is such a burden on the earth, I will destroy Jarāsandha's army, consisting of akṣauhiṇīs of foot soldiers, horses, chariots and elephants, which the King of Magadha has assembled from all subservient kings and brought together here. But Jarāsandha himself should not be killed, since in the future he will certainly assemble another army.

9This is the purpose of My present incarnationto relieve the earth of its burden, protect the pious and kill the impious.

10I also assume other bodies to protect religion and to end irreligion whenever it flourishes in the course of time.

11[Śukadeva Gosvāmī continued:] As Lord Govinda was thinking in this way, two chariots as effulgent as the sun suddenly descended from the sky. They were complete with drivers and equipment.

12The Lord's eternal divine weapons also appeared before Him spontaneously. Seeing these, Śrī Kṛṣṇa, Lord of the senses, addressed Lord Saṅkarṣaṇa.

13-14[The Supreme Lord said:] My respected elder brother, see this danger which has beset Your dependents, the Yadus! And see, dear master, how Your personal chariot and favorite weapons have come before You. The purpose for which We have taken birth, My Lord, is to secure the welfare of Our devotees. Please now remove from the earth the burden of these twenty-three armies.

15After Lord Kṛṣṇa had thus invited His brother, the two Dāśārhas, Kṛṣṇa and Balarāma,

wearing armor and displaying Their resplendent weapons, drove out of the city in Their chariots. Only a very small contingent of soldiers accompanied Them.

16As Lord Kṛṣṇa came out of the city with Dāruka at the reins of His chariot, He blew His conchshell, and the enemy soldiers' hearts began to tremble with fear.

17Jarāsandha looked at the two of Them and said: O Kṛṣṇa, lowest of men! I do not wish to fight alone with You, since it would be a shame to fight with a mere boy. You fool who keep Yourself hidden, O murderer of Your relatives, go away! I will not fight with You.

18You, Rāma, should gather Your courage and fight with me, if You think You can do it. You may either give up Your body when it is cut to pieces by my arrows, and thus attain to heaven, or else kill me.

19The Supreme Lord said: Real heroes do not simply boast but rather show their prowess in action. We cannot take seriously the words of one who is full of anxiety and who wants to die.

20Śukadeva Gosvāmī said: Just as the wind covers the sun with clouds or a fire with dust, the son of Jarā marched toward the two descendants of Madhu and with his huge assemblage of armies surrounded Them and Their soldiers, chariots, flags, horses and charioteers.

21The women stood in the watchtowers, palaces and high gates of the city. When they could no longer see Kṛṣṇa's and Balarāma's chariots, identified by banners marked with the emblems of Garuḍa and a palm tree, they were struck with grief and fainted.

22Seeing His army tormented by the relentless and savage rain of arrows from the massive opposing forces gathered like clouds about Him, Lord Hari twanged His excellent bow, Śārṅga, which both gods and demons worship.

23Lord Kṛṣṇa took arrows from His quiver, fixed them on the bowstring, pulled back, and released endless torrents of sharp shafts, which struck the enemy's chariots, elephants, horses and infantrymen. The Lord shooting His arrows resembled a blazing circle of fire.

24Elephants fell to the ground, their foreheads split open, cavalry horses fell with severed necks, chariots fell with their horses, flags, drivers and masters all shattered, and foot soldiers collapsed with severed arms, thighs and shoulders.

25-28On the battlefield, hundreds of rivers of blood flowed from the limbs of the humans, elephants and horses who had been cut to pieces. In these rivers arms resembled snakes; human heads, turtles; dead elephants, islands; and dead horses, crocodiles. Hands and thighs appeared like fish, human hair like waterweeds, bows like waves, and various weapons like clumps of bushes. The rivers of blood teemed with all of these.

29For Him who orchestrates the creation, maintenance and destruction of the three worlds and who possesses unlimited spiritual qualities, it is hardly amazing that He subdues an opposing party. Still, when the Lord does so, imitating human behavior, sages glorify His acts.

30Jarāsandha, with his chariot lost and all his soldiers dead, was left with only his breath. At that point Lord Balarāma forcibly seized the powerful warrior, just as one lion takes hold of another.

31With the divine noose of Varuṇa and other, mortal ropes, Balarāma began tying up Jarāsandha, who had killed so many foes. But Lord Govinda still had a purpose to fulfill through Jarāsandha, and thus He asked Balarāma to stop.

32-33Jarāsandha, whom fighters had highly honored, was ashamed after being released by the two Lords of the universe, and thus he decided to undergo penances. On the road, however, several kings convinced him with both spiritual wisdom and mundane arguments that he should give up his idea of self-abnegation. They told him, "Your defeat by the Yadus was simply the unavoidable reaction of your past karma."

34All of his armies having been killed, and himself neglected by the Personality of Godhead, King Jarāsandha, son of Bṛhadratha, then sadly returned to the kingdom of the Magadhas.

35-36Lord Mukunda had crossed the ocean of His enemy's armies with His own military force completely intact. He received congratulations from the denizens of heaven, who showered Him with flowers. The people of Mathurā, relieved of their feverish anxiety and filled with joy, came out to meet Him as professional bards, heralds and panegyrists sang in praise of His victory.

37-38As the Lord entered His city, conchshells and kettledrums sounded, and many drums, horns, vīṇās, flutes and mṛdaṅgas played in concert. The boulevards were sprinkled with water, there were banners everywhere, and the gateways were decorated for the celebration. The citizens were elated, and the city resounded with the chanting of Vedic hymns.

39As the women of the city affectionately looked at the Lord, their eyes wide open with love, they scattered flower garlands, yogurt, parched rice and newly grown sprouts upon Him.

40Lord Kṛṣṇa then presented to the Yadu king all the wealth that had fallen on the battlefieldnamely, the countless ornaments of the dead warriors.

41Seventeen times the King of Magadha met defeat in this very way. And yet throughout these defeats he fought on with his akṣauhiṇī divisions against the forces of the Yadu dynasty who were protected by Śrī Kṛṣṇa.

42By the power of Lord Kṛṣṇa, the Vṛṣṇis would invariably annihilate all of Jarāsandha's forces, and when all his soldiers had been killed, the King, released by his enemies, would again go away.

43Just as the eighteenth battle was about to take place, a barbarian warrior named Kālayavana, sent by Nārada, appeared on the battlefield.

44Arriving at Mathurā, this Yavana laid siege to the city with thirty million barbarian soldiers. He had never found a human rival worth fighting, but he had heard that the Vṛṣṇis were his equals.

45When Lord Kṛṣṇa and Lord Saṅkarṣaṇa saw Kālayavana, Kṛṣṇa thought about the situation and said, "Ah, a great danger now threatens the Yadus from two sides.

46"This Yavana is besieging us already, and the mighty King of Magadha will soon arrive here, if not today then tomorrow or the next day.

47"If powerful Jarāsandha comes while We two are busy fighting Kālayavana, Jarāsandha may kill Our relatives or else take them away to his capital.

48"Therefore We will immediately construct a fortress that no human force can penetrate. Let Us settle our family members there and then kill the barbarian king."

49After thus discussing the matter with Balarāma, the Supreme Personality of Godhead had a fortress twelve yojanas in circumference built within the sea. Inside that fort He had a city built

containing all kinds of wonderful things.

50-53In the construction of that city could be seen the full scientific knowledge and architectural skill of Viśvakarmā. There were wide avenues, commercial roads and courtyards laid out on ample plots of land; there were splendid parks, and also gardens stocked with trees and creepers from the heavenly planets. The gateway towers were topped with golden turrets touching the sky, and their upper levels were fashioned of crystal quartz. The gold-covered houses were adorned in front with golden pots and on top with jeweled roofs, and their floors were inlaid with precious emeralds. Beside the houses stood treasury buildings, warehouses, and stables for fine horses, all built of silver and brass. Each residence had a watchtower, and also a temple for its household deity. Filled with citizens of all four social orders, the city was especially beautified by the palaces of Śrī Kṛṣṇa, the Lord of the Yadus.

54Lord Indra brought Śrī Kṛṣṇa the Sudharmā assembly hall, standing within which a mortal man is not subject to the laws of mortality. Indra also gave the pārijāta tree.

55Lord Varuṇa offered horses as swift as the mind, some of which were pure dark-blue, others white. The treasurer of the demigods, Kuvera, gave his eight mystic treasures, and the rulers of various planets each presented their own opulences.

56The Supreme Lord having come to the earth, O King, these demigods now offered Him whatever powers of control He had previously delegated to them for the exercise of their particular authority.

57After transporting all His subjects to the new city by the power of His mystic Yoga-māyā, Lord Kṛṣṇa consulted with Lord Balarāma, who had remained in Mathurā to protect it. Then, wearing a garland of lotuses but bearing no weapons, Lord Kṛṣṇa went out of Mathurā by its main gate.

## SB 10.51: The Deliverance of Mucukunda

This chapter describes how Lord Śrī Kṛṣṇa caused Mucukunda to kill Kālayavana with his harsh glance, and it also relates the conversation between Mucukunda and Lord Kṛṣṇa.

After placing His family members safely within the Dvārakā fortress, Śrī Kṛṣṇa went out of Mathurā. He appeared like the rising moon. Kālayavana saw that Kṛṣṇa's brilliantly effulgent body matched Nārada's description of the Lord, and thus the Yavana knew He was the Personality of Godhead. Seeing that the Lord carried no weapons, Kālayavana put his own weapons aside and ran toward Him from behind, wanting to fight with Him. Śrī Kṛṣṇa ran from the Yavana, staying just barely beyond Kālayavana's grasp at every step and eventually leading him a long distance toward a mountain cave. As Kālayavana ran, he hurled insults at the Lord, but he could not grasp Him, since his stock of impious *karma* was not yet depleted. Śrī Kṛṣṇa entered the cave, whereupon Kālayavana followed after Him and saw a man lying on the ground. Taking him for Śrī Kṛṣṇa, Kālayavana kicked him. The man had been sleeping for a very long time, and now, having been violently awakened, he looked around angrily in all directions and saw Kālayavana. The man stared harshly at him, igniting a fire in Kālayavana's body and in a moment burning him to ashes.

This extraordinary person was a son of Mandhātā's named Mucukunda. He was devoted to brahminical culture and always true to his vow. Previously, he had spent many long years helping to protect the demigods from the demons. When the demigods had eventually obtained Kārttikeya as their protector, they allowed Mucukunda to retire, offering him any boon other than liberation, which only Lord Viṣṇu can bestow. Mucukunda had chosen from

the demigods the benediction of being covered by sleep, and thus since then he had been lying asleep within the cave.

Upon Kālayavana's immolation, Śrī Kṛṣṇa showed Himself to Mucukunda, who was struck with wonder at seeing Kṛṣṇa's incomparable beauty. Mucukunda asked Lord Kṛṣṇa who He was and also explained to the Lord his own identity. Mucukunda said, "After growing weary from remaining awake for a long time, I was enjoying my sleep here in this cave when some stranger disturbed me and, suffering the reaction of his sins, was burnt to ashes. O Lord, O vanquisher of all enemies, it is my great fortune that I now have the vision of Your beautiful form."

Lord Śrī Kṛṣṇa then told Mucukunda who He was and offered him a boon. The wise Mucukunda, understanding the futility of material life, asked only that he might be allowed to take shelter of Lord Śrī Kṛṣṇa's lotus feet.

Pleased at this request, the Lord said to Mucukunda, "My devotees are never enticed by material benedictions offered to them; only nondevotees, namely *yogīs* and speculative philosophers, are interested in material benedictions, having mundane desires in their hearts. My dear Mucukunda, you will have perpetual devotion for Me. Now, always remaining surrendered to Me, go perform penances to eradicate the sinful reactions incurred from the killing you had to do in your role as a warrior. In your next life you will become a first-class *brāhmaṇa* and attain Me." Thus the Lord offered Mucukunda His blessings.

1-6Śukadeva Gosvāmī said: Kālayavana saw the Lord come out from Mathurā like the rising moon. The Lord was most beautiful to behold, with His dark-blue complexion and yellow silk garment. Upon His chest He bore the mark of Śrīvatsa, and the Kaustubha gem adorned His neck. His four arms were sturdy and long. He displayed His ever-joyful lotuslike face, with eyes pink like lotuses, beautifully effulgent cheeks, a pristine smile and glittering shark-shaped earrings. The barbarian thought, "This person must indeed be Vāsudeva, since He possesses the characteristics Nārada mentioned: He is marked with Śrīvatsa, He has four arms, His eyes are like lotuses, He wears a garland of forest flowers, and He is extremely handsome. He cannot be anyone else. Since He goes on foot and unarmed, I will fight Him without weapons." Resolving thus, he ran after the Lord, who turned His back and ran away. Kālayavana hoped to catch Lord Kṛṣṇa, though great mystic yogīs cannot attain Him.

7Appearing virtually within reach of Kālayavana's hands at every moment, Lord Hari led the King of the Yavanas far away to a mountain cave.

8While chasing the Lord, the Yavana cast insults at Him, saying "You took birth in the Yadu dynasty. It's not proper for You to run away!" But still Kālayavana could not reach Lord Kṛṣṇa, because his sinful reactions had not been cleansed away.

9Although insulted in this way, the Supreme Lord entered the mountain cave. Kālayavana also entered, and there he saw another man lying asleep.

10"So, after leading me such a long distance, now He is lying here like some saint!" Thus thinking the sleeping man to be Lord Kṛṣṇa, the deluded fool kicked him with all his strength.

11The man awoke after a long sleep and slowly opened his eyes. Looking all about, he saw Kālayavana standing beside him.

12The awakened man was angry and cast his glance at Kālayavana, whose body burst into flames. In a single moment, O King Parīkṣit, Kālayavana was burnt to ashes.

13King Parīkṣit said: Who was that person, O brāhmaṇa? To which family did he belong, and what were his powers? Why did that destroyer of the barbarian lie down to sleep in the cave, and whose son was he?

14Śukadeva Gosvāmī said: Mucukunda was the name of this great personality, who was born in the Ikṣvāku dynasty as the son of Māndhātā. He was devoted to brahminical culture and always true to his vow in battle.

15Begged by Indra and the other demigods to help protect them when they were terrorized by the demons, Mucukunda defended them for a long time.

16When the demigods obtained Kārttikeya as their general, they told Mucukunda, "O King, you may now give up your troublesome duty of guarding us.

17"Abandoning an unopposed kingdom in the world of men, O valiant one, you neglected all your personal desires while engaged in protecting us.

18"The children, queens, relatives, ministers, advisers and subjects who were your contemporaries are no longer alive. They have all been swept away by time.

19"Inexhaustible time, stronger than the strong, is the Supreme Personality of Godhead Himself. Like a herdsman moving his animals along, He moves mortal creatures as His pastime.

20"All good fortune to you! Now please choose a benediction from usanything but liberation, since only the infallible Supreme Lord, Viṣṇu, can bestow that."

21Addressed thus, King Mucukunda took his respectful leave of the demigods and went to a cave, where he lay down to enjoy the sleep they had granted him.

22After the Yavana was burnt to ashes, the Supreme Lord, chief of the Sātvatas, revealed Himself to the wise Mucukunda.

23-26As he gazed at the Lord, King Mucukunda saw that He was dark blue like a cloud, had four arms, and wore a yellow silk garment. On His chest He bore the Śrīvatsa mark and on His neck the brilliantly glowing Kaustubha gem. Adorned with a Vaijayantī garland, the Lord displayed His handsome, peaceful face, which attracts the eyes of all mankind with its shark-shaped earrings and affectionately smiling glance. The beauty of His youthful form was unexcelled, and He moved with the nobility of an angry lion. The highly intelligent King was overwhelmed by the Lord's effulgence, which showed Him to be invincible. Expressing his uncertainty, Mucukunda hesitantly questioned Lord Kṛṣṇa as follows.

27Śrī Mucukunda said: Who are You who have come to this mountain cave in the forest, having walked on the thorny ground with feet as soft as lotus petals?

28Perhaps You are the potency of all potent beings. Or maybe You are the powerful god of fire, or the sun-god, the moon-god, the King of heaven or the ruling demigod of some other planet.

29I think You are the Supreme Personality among the three chief gods, since You drive away the darkness of this cave as a lamp dispels darkness with its light.

30O best among men, if You like, please truly describe Your birth, activities and lineage to us, who are eager to hear.

31As for ourselves, O tiger among men, we belong to a family of fallen kṣatriyas, descendants

of King Ikṣvāku. My name is Mucukunda, my Lord, and I am the son of Yauvanāśva.

32I was fatigued after remaining awake for a long time, and my senses were overwhelmed by sleep. Thus I slept comfortably here in this solitary place until, just now, someone woke me.

33The man who woke me was burned to ashes by the reaction of his sins. Just then I saw You, possessing a glorious appearance and the power to chastise Your enemies.

34Your unbearably brilliant effulgence overwhelms our strength, and thus we cannot fix our gaze upon You. O exalted one, You are to be honored by all embodied beings.

35[Śukadeva Gosvāmī continued:] Thus addressed by the King, the Supreme Personality of Godhead, origin of all creation, smiled and then replied to him in a voice as deep as the rumbling of clouds.

36The Supreme Lord said: My dear friend, I have taken thousands of births, lived thousands of lives and accepted thousands of names. In fact My births, activities and names are limitless, and thus even I cannot count them.

37After many lifetimes someone might count the dust particles on the earth, but no one can ever finish counting My qualities, activities, names and births.

38O King, the greatest sages enumerate My births and activities, which take place throughout the three phases of time, but never do they reach the end of them.

39-40Nonetheless, O friend, I will tell you about My current birth, name and activities. Kindly hear. Some time ago, Lord Brahmā requested Me to protect religious principles and destroy the demons who were burdening the earth. Thus I descended in the Yadu dynasty, in the home of Ānakadundubhi. Indeed, because I am the son of Vasudeva, people call Me Vāsudeva.

41I have killed Kālanemi, reborn as Kaṁsa, as well as Pralamba and other enemies of the pious. And now, O King, this barbarian has been burnt to ashes by your piercing glance.

42Since in the past you repeatedly prayed to Me, I have personally come to this cave to show you mercy, for I am affectionately inclined to My devotees.

43Now choose some benedictions from Me, O saintly King. I will fulfill all your desires. One who has satisfied Me need never again lament.

44Śukadeva Gosvāmī said: Mucukunda bowed down to the Lord when he heard this. Remembering the words of the sage Garga, he joyfully recognized Kṛṣṇa to be the Supreme Lord, Nārāyaṇa. The King then addressed Him as follows.

45Śrī Mucukunda said: O Lord, the people of this world, both men and women, are bewildered by Your illusory energy. Unaware of their real benefit, they do not worship You but instead seek happiness by entangling themselves in family affairs, which are actually sources of misery.

46That person has an impure mind who, despite having somehow or other automatically obtained the rare and highly evolved human form of life, does not worship Your lotus feet. Like an animal that has fallen into a blind well, such a person has fallen into the darkness of a material home.

47I have wasted all this time, O unconquerable one, becoming more and more intoxicated by my domain and opulence as an earthly king. Misidentifying the mortal body as the self, becoming attached to children, wives, treasury and land, I suffered endless anxiety.

48With deep arrogance I took myself to be the body, which is a material object like a pot or a wall. Thinking myself a god among men, I traveled the earth surrounded by my charioteers, elephants, cavalry, foot soldiers and generals, disregarding You in my deluding pride.

49A man obsessed with thoughts of what he thinks needs to be done, intensely greedy, and delighting in sense enjoyment is suddenly confronted by You, who are ever alert. Like a hungry snake licking its fangs before a mouse, You appear before him as death.

50The body that at first rides high on fierce elephants or chariots adorned with gold and is known by the name "king" is later, by Your invincible power of time, called "feces," "worms," or "ashes."

51Having conquered the entire circle of directions and being thus free of conflict, a man sits on a splendid throne, receiving praise from leaders who were once his equals. But when he enters the women's chambers, where sex pleasure is found, he is led about like a pet animal, O Lord.

52A king who desires even greater power than he already has strictly performs his duties, carefully practicing austerity and forgoing sense enjoyment. But he whose urges are so rampant, thinking "I am independent and supreme," cannot attain happiness.

53When the material life of a wandering soul has ceased, O Acyuta, he may attain the association of Your devotees. And when he associates with them, there awakens in him devotion unto You, who are the goal of the devotees and the Lord of all causes and their effects.

54My Lord, I think You have shown me mercy, since my attachment to my kingdom has spontaneously ceased. Such freedom is prayed for by saintly rulers of vast empires who desire to enter the forest for a life of solitude.

55O all-powerful one, I desire no boon other than service to Your lotus feet, the boon most eagerly sought by those free of material desire. O Hari, what enlightened person who worships You, the giver of liberation, would choose a boon that causes his own bondage?

56Therefore, O Lord, having put aside all objects of material desire, which are bound to the modes of passion, ignorance and goodness, I am approaching You, the Supreme Personality of Godhead, for shelter. You are not covered by mundane designations; rather, You are the Supreme Absolute Truth, full in pure knowledge and transcendental to the material modes.

57For so long I have been pained by troubles in this world and have been burning with lamentation. My six enemies are never satiated, and I can find no peace. Therefore, O giver of shelter, O Supreme Soul, please protect me. O Lord, in the midst of danger I have by good fortune approached Your lotus feet, which are the truth and which thus make one fearless and free of sorrow.

58The Supreme Lord said: O emperor, great ruler, your mind is pure and potent. Though I enticed You with benedictions, your mind was not overcome by material desires.

59Understand that I enticed you with benedictions just to prove that you would not be deceived. The intelligence of My unalloyed devotees is never diverted by material blessings.

60The minds of nondevotees who engage in such practices as prāṇāyama are not fully cleansed of material desires. Thus, O King, material desires are again seen to arise in their minds.

61Wander this earth at will, with your mind fixed on Me. May you always possess such unfailing devotion for Me.

62Because you followed the principles of a kṣatriya, you killed living beings while hunting and performing other duties. You must vanquish the sins thus incurred by carefully executing penances while remaining surrendered to Me.

63O King, in your very next life you will become an excellent brāhmaṇa, the greatest well-wisher of all creatures, and certainly come to Me alone.

**SB 10.52: Rukmiṇī's Message to Lord Kṛṣṇa**

This chapter describes how Lord Balarāma and Lord Kṛṣṇa, running as if in fear, went to Dvārakā. Then Lord Kṛṣṇa heard the message of Rukmiṇī from the mouth of a *brāhmaṇa* and chose her as His wife.

King Mucukunda, shown mercy by Lord Śrī Kṛṣṇa, offered obeisances and circumambulated Him. The King then left the cave and saw that humans, animals, trees and plants were all smaller than when he had fallen asleep. From this he could understand that the Age of Kali was at hand. Thus, in a mood of detachment from all material association, the King began worshiping the Supreme Lord, Śrī Hari.

Śrī Kṛṣṇa returned to Mathurā, which was still under siege by the barbarian army. He destroyed this army, collected all the valuables the soldiers had been carrying, and set off for Dvārakā. Just then Jarāsandha arrived on the scene with a force of twenty-three *akṣauhiṇīs*. Lord Balarāma and Lord Kṛṣṇa, acting as if fearful, left Their riches aside and ran far away. Because Jarāsandha could not appreciate Their true power, he ran after Them. After running a long way, Rāma and Kṛṣṇa came to a mountain named Pravarṣaṇa and proceeded to climb it. Jarāsandha thought They had hidden inside a cave and looked all over for Them. Unable to find Them, he built fires on all sides of the mountain. As the vegetation on the mountain slopes burst into flame, Kṛṣṇa and Balarāma jumped off the peak. After reaching the ground unseen by Jarāsandha and his followers, They returned to the Dvārakā fort, which floated within the sea. Jarāsandha decided that Rāma and Kṛṣṇa had burned to death in the fire, and he took his army back to his kingdom.

At this point Mahārāja Parīkṣit asked a question, and ŚrīŚukadeva Gosvāmī responded to it by beginning to narrate the history of the marriage of Lord Śrī Kṛṣṇa and Rukmiṇī. Rukmiṇī, the young daughter of Bhīṣmaka, King of Vidarbha, had heard of Śrī Kṛṣṇa's beauty, strength and other fine qualities, and she therefore made up her mind that He would be the perfect husband for her. Lord Kṛṣṇa also wanted to marry her. But although Rukmiṇī's other relatives approved of her marriage to Kṛṣṇa, her brother Rukmī was envious of the Lord and thus forbade her to marry Him. Rukmī wanted her to marry Śiśupāla instead. Rukmiṇī unhappily took up her duties in preparation for the marriage, but she also sent a trustworthy *brāhmaṇa* to Kṛṣṇa with a letter.

When the *brāhmaṇa* arrived in Dvārakā, Śrī Kṛṣṇa properly honored him with ritual worship and other tokens of reverence. The Lord then asked the *brāhmaṇa* why he had come. The *brāhmaṇa* opened Rukmiṇī's letter and showed it to Lord Kṛṣṇa, who had the messenger read it to Him. Rukmiṇī-devī wrote: "Ever since I have heard about You, my Lord, I have become completely attracted to You. Without fail please come before my marriage to Śiśupāla and take me away. In accordance with family custom, on the day before my marriage I will visit the temple of goddess Ambikā. That would be the best opportunity for You to appear and easily kidnap me. If You do not show me this favor, I will give up my life by fasting and observing severe vows. Then perhaps in my next life I will be able to obtain You."

After reading Rukmiṇī's letter to Lord Kṛṣṇa, the *brāhmaṇa* took his leave so he might carry out

his daily religious duties.

1Śukadeva Gosvāmī said: My dear King, thus graced by Lord Kṛṣṇa, Mucukunda circumambulated Him and bowed down to Him. Then Mucukunda, the beloved descendant of Ikṣvāku, exited through the mouth of the cave.

2Seeing that the size of all the human beings, animals, trees and plants was severely reduced, and thus realizing that the Age of Kali was at hand, Mucukunda left for the north.

3The sober King, beyond material association and free of doubt, was convinced of the value of austerity. Absorbing his mind in Lord Kṛṣṇa, he came to Gandhamādana Mountain.

4There he arrived at Badarikāśrama, the abode of Lord Nara-Nārāyaṇa, where, remaining tolerant of all dualities, he peacefully worshiped the Supreme Lord Hari by performing severe austerities.

5The Lord returned to Mathurā, which was still surrounded by Yavanas. Then He destroyed the army of barbarians and began taking their valuables to Dvārakā.

6As the wealth was being carried by oxen and men under Lord Kṛṣṇa's direction, Jarāsandha appeared at the head of twenty-three armies.

7O King, seeing the fierce waves of the enemy's army, the two Mādhavas, imitating human behavior, ran swiftly away.

8Abandoning the abundant riches, fearless but feigning fear, They went many yojanas on Their lotuslike feet.

9When he saw Them fleeing, powerful Jarāsandha laughed loudly and then pursued Them with charioteers and foot soldiers. He could not understand the exalted position of the two Lords.

10Apparently exhausted after fleeing a long distance, the two Lords climbed a high mountain named Pravarṣaṇa, upon which Lord Indra showers incessant rain.

11Although he knew They were hiding on the mountain, Jarāsandha could find no trace of Them. Therefore, O King, he placed firewood on all sides and set the mountain ablaze.

12The two of Them then suddenly jumped from the burning mountain, which was eleven yojanas high, and fell to the ground.

13Unseen by Their opponent or his followers, O King, those two most exalted Yadus returned to Their city of Dvārakā, which had the ocean as a protective moat.

14Jarāsandha, moreover, mistakenly thought that Balarāma and Keśava had burned to death in the fire. Thus he withdrew his vast military force and returned to the Magadha kingdom.

15As ordered by Lord Brahmā, Raivata, the opulent ruler of Ānarta, gave Lord Balarāma his daughter Raivatī in marriage. This has already been discussed.

16-17O hero among the Kurus, the Supreme Lord Himself, Govinda, married Bhīṣmaka's daughter, Vaidarbhī, who was a direct expansion of the goddess of fortune. The Lord did this by her desire, and in the process He beat down Śālva and other kings who took Śiśupāla's side. Indeed, as everyone watched, Śrī Kṛṣṇa took Rukmiṇī just as Garuḍa boldly stole nectar from the demigods.

18King Parīkṣit said: The Supreme Lord married Rukmiṇī, the beautiful-faced daughter of Bhīṣmaka, in the Rākṣasa styleor so I have heard.

19My lord, I wish to hear how the immeasurably powerful Lord Kṛṣṇa took away His bride while defeating such kings as Māgadha and Sālva.

20What experienced listener, O brāhmaṇa, could ever grow satiated while listening to the pious, charming and ever-fresh topics of Lord Kṛṣṇa, which cleanse away the world's contamination?

21Śrī Bādarāyaṇi said: There was a king named Bhīṣmaka, the powerful ruler of Vidarbha. He had five sons and one daughter of lovely countenance.

22Rukmī was the first-born son, followed by Rukmaratha, Rukmabāhu, Rukmakeśa and Rukmamālī. Their sister was the exalted Rukmiṇī.

23Hearing of the beauty, prowess, transcendental character and opulence of Mukunda from visitors to the palace who sang His praises, Rukmiṇī decided that He would be the perfect husband for her.

24Lord Kṛṣṇa knew that Rukmiṇī possessed intelligence, auspicious bodily markings, magnanimity, beauty, proper behavior and all other good qualities. Concluding that she would be an ideal wife for Him, He made up His mind to marry her.

25O King, because Rukmī envied the Lord, he forbade his family members to give his sister to Kṛṣṇa, although they wanted to. Instead, Rukmī decided to give Rukmiṇī to Śiśupāla.

26Dark-eyed Vaidarbhī was aware of this plan, and it deeply upset her. Analyzing the situation, she quickly sent a trustworthy brāhmaṇa to Kṛṣṇa.

27Upon reaching Dvārakā, the brāhmaṇa was brought inside by the gatekeepers and saw the primeval Personality of Godhead sitting on a golden throne.

28Seeing the brāhmaṇa, Śrī Kṛṣṇa, Lord of the brāhmaṇas, came down from His throne and seated him. Then the Lord worshiped him just as He Himself is worshiped by the demigods.

29After the brāhmaṇa had eaten and rested, Śrī Kṛṣṇa, the goal of saintly devotees, came forward, and while massaging the brāhmaṇa's feet with His own hands, He patiently questioned him as follows.

30[The Supreme Lord said:] O best of exalted brāhmaṇas, are your religious practices, sanctioned by senior authorities, proceeding without great difficulty? Is your mind always fully satisfied?

31When a brāhmaṇa is satisfied with whatever comes his way and does not fall away from his religious duties, those very religious principles become his desire cow, fulfilling all his wishes.

32An unsatisfied brāhmaṇa wanders restlessly from one planet to another, even if he becomes King of heaven. But a satisfied brāhmaṇa, though he may possess nothing, rests peacefully, all his limbs free of distress.

33I repeatedly bow My head in respect to those brāhmaṇas who are satisfied with their lot. Saintly, prideless and peaceful, they are the best well-wishers of all living beings.

34O brāhmaṇa, is your King attending to your welfare? Indeed, that king in whose country the

citizens are happy and protected is very dear to Me.

35Whence have you come, crossing the impassable sea, and for what purpose? Explain all this to Us if it is not a secret, and tell Us what We may do for you.

36Thus questioned by the Supreme Personality of Godhead, who incarnates to perform His pastimes, the brāhmaṇa told Him everything.

37Śrī Rukmiṇī said [in her letter, as read by the brāhmaṇa]: O beauty of the worlds, having heard of Your qualities, which enter the ears of those who hear and remove their bodily distress, and having also heard of Your beauty, which fulfills all the visual desires of those who see, I have fixed my shameless mind upon You, O Kṛṣṇa.

38O Mukunda, You are equal only to Yourself in lineage, character, beauty, knowledge, youthfulness, wealth and influence. O lion among men, You delight the minds of all mankind. What aristocratic, sober-minded and marriageable girl of a good family would not choose You as her husband when the proper time has come?

39Therefore, my dear Lord, I have chosen You as my husband, and I surrender myself to You. Please come swiftly, O almighty one, and make me Your wife. My dear lotus-eyed Lord, let Śiśupāla never touch the hero's portion like a jackal stealing the property of a lion.

40If I have sufficiently worshiped the Supreme Personality of Godhead by pious works, sacrifices, charity, rituals and vows, and also by worshiping the demigods, brāhmaṇas and gurus, then may Gadāgraja come and take my hand, and not Damaghoṣa's son or anyone else.

41O unconquerable one, tomorrow when my marriage ceremony is about to begin, You should arrive unseen in Vidarbha and surround Yourself with the leaders of Your army. Then crush the forces of Caidya and Magadhendra and marry me in the Rākṣasa style, winning me with Your valor.

42Since I will be staying within the inner chambers of the palace, You may wonder, "How can I carry you away without killing some of your relatives?" But I shall tell You a way: On the day before the marriage there is a grand procession to honor the royal family's deity, and in this procession the new bride goes outside the city to visit Goddess Girijā.

43O lotus-eyed one, great souls like Lord Śiva hanker to bathe in the dust of Your lotus feet and thereby destroy their ignorance. If I cannot obtain Your mercy, I shall simply give up my vital force, which will have become weak from the severe penances I will perform. Then, after hundreds of lifetimes of endeavor, I may obtain Your mercy.

44The brāhmaṇa said: This is the confidential message I have brought with me, O Lord of the Yadus. Please consider what must be done in these circumstances, and do it at once.

## SB 10.53: Kṛṣṇa Kidnaps Rukmiṇī

This chapter describes how Lord Śrī Kṛṣṇa arrived in Kuṇḍina, the capital of Vidarbha, and kidnapped Rukmiṇī in the presence of powerful enemies.

After Lord Kṛṣṇa had heard the *brāhmaṇa* messenger recite Rukmiṇī's letter, the Lord said to him, "I am indeed attracted to Rukmiṇī, and I know of her brother Rukmī's opposition to My marrying her. Therefore I must kidnap her after crushing all the low-class kings, just as one might generate fire from wood by friction." Since the solemnizing of vows between Rukmiṇī and Śiśupāla was scheduled to occur in only three days, Lord Kṛṣṇa had Dāruka ready His

chariot at once. Then He immediately set out for Vidarbha, which He reached after one night's travel.

King Bhīṣmaka, trapped by his affection for his son Rukmī, was prepared to give his daughter to Śiśupāla. Bhīṣmaka saw to all the necessary preparations: he had the city decorated in various ways and had its main roads and intersections thoroughly cleansed. Damaghoṣa, the King of Cedi, having also done everything necessary to prepare for his son's marriage, arrived in Vidarbha. King Bhīṣmaka greeted him properly and gave him a place to stay. Many other kings, such as Jarāsandha, Śālva and Dantavakra, also came to witness the occasion. These enemies of Kṛṣṇa had conspired to kidnap the bride if Kṛṣṇa came. They planned to fight Him together and thus guarantee Śiśupāla his bride. Hearing of these plans, Lord Baladeva gathered His entire army and quickly went to Kuṇḍinapura.

On the night before the wedding, Rukmiṇī, about to retire, had still not seen either the *brāhmaṇa* or Kṛṣṇa arrive. In anxiety, she cursed her bad fortune. But just then she felt her left side twitch, a good omen. Indeed, the *brāhmaṇa* shortly appeared and related to her what Kṛṣṇa had said, including His firm promise to kidnap her.

When King Bhīṣmaka heard that Kṛṣṇa and Balarāma had arrived, he went out to greet Them to the accompaniment of triumphant music. He worshiped the Lords with various gifts and then designated residences for Them. Thus the King showed due respect to the Lords, as he did to each of his numerous royal guests.

The people of Vidarbha, seeing Lord Kṛṣṇa, remarked to one another that He alone would be a suitable husband for Rukmiṇī. They prayed that on the strength of whatever pious credit they had, Kṛṣṇa might win Rukmiṇī's hand.

When the time came for Śrīmatī Rukmiṇī-devī to visit the temple of Śrī Ambikā, she proceeded there surrounded by many guards. After bowing down to the deity, Rukmiṇī prayed to be allowed to have Śrī Kṛṣṇa as her husband. Then she took the hand of a girlfriend and left the Ambikā temple. Seeing her inexpressible beauty, the great heroes present dropped their weapons and fell to the ground unconscious. Rukmiṇī walked with deliberate steps until she noticed Kṛṣṇa. Then, as everyone looked on, Śrī Kṛṣṇa took Rukmiṇī onto His chariot. Like a lion claiming his rightful share from a band of jackals, He drove back all the opposing kings and slowly made His exit, followed by His associates. Jarāsandha and the other kings, unable to bear their defeat and dishonor, loudly condemned themselves, declaring that this defamation was like a petty animal's stealing away what rightfully belongs to the lion.

1Śukadeva Gosvāmī said: Thus hearing the confidential message of Princess Vaidarbhī, Lord Yadunandana took the brāhmaṇa's hand and, smiling, spoke to him as follows.

2The Supreme Lord said: Just as Rukmiṇī's mind is fixed on Me, My mind is fixed on her. I can't even sleep at night. I know that Rukmī, out of envy, has forbidden our marriage.

3She has dedicated herself exclusively to Me, and her beauty is flawless. I will bring her here after thrashing those worthless kings in battle, just as one brings a blazing flame out of firewood.

4Śukadeva Gosvāmī said: Lord Madhusūdana also understood the exact lunar time for Rukmiṇī's wedding. Thus He told His driver, "Dāruka, ready My chariot immediately."

5Dāruka brought the Lord's chariot, yoked with the horses named Śaibya, Sugrīva, Meghapuṣpa and Balāhaka. He then stood before Lord Kṛṣṇa with joined palms.

6Lord Śauri mounted His chariot and had the brāhmaṇa do likewise. Then the Lord's swift horses took them from the Ānarta district to Vidarbha in a single night.

7King Bhīṣmaka, the master of Kuṇḍina, having succumbed to the sway of affection for his son, was about to give his daughter to Śiśupāla. The King saw to all the required preparations.

8-9The king had the main avenues, commercial roads and intersections thoroughly cleaned and then sprinkled with water, and he also had the city decorated with triumphant archways and multicolored banners on poles. The men and women of the city, arrayed in spotless raiment and anointed with fragrant sandalwood paste, wore precious necklaces, flower garlands and jeweled ornaments, and their opulent homes were filled with the aroma of aguru.

10O King, in accordance with prescribed rituals, Mahārāja Bhīṣmaka worshiped the forefathers, demigods and brāhmaṇas, feeding them all properly. Then He had the traditional mantras chanted for the well-being of the bride.

11The bride cleaned her teeth and bathed, after which she put on the auspicious wedding necklace. Then she was dressed in brand-new upper and lower garments and adorned with most excellent jeweled ornaments.

12The best of brāhmaṇas chanted mantras of the Ṛg, Sāma and Yajur Vedas for the bride's protection, and the priest learned in the Atharva Veda offered oblations to pacify the controlling planets.

13Outstanding in his knowledge of regulative principles, the King rewarded the brāhmaṇas with gold, silver, clothing, cows and sesame seeds mixed with raw sugar.

14Rājā Damaghoṣa, lord of Cedi, had also engaged brāhmaṇas expert in chanting mantras to perform all rituals necessary to assure his son's prosperity.

15King Damaghoṣa traveled to Kuṇḍina accompanied by armies of elephants exuding mada, chariots hung with golden chains, and numerous cavalry and infantry soldiers.

16Bhīṣmaka, the lord of Vidarbha, came out of the city and met King Damaghoṣa, offering him tokens of respect. Bhīṣmaka then settled Damaghoṣa in a residence especially constructed for the occasion.

17Śiśupāla's supportersŚālva, Jarāsandha, Dantavakra and Vidūrathaall came, along with Pauṇḍraka and thousands of other kings.

18-19To secure the bride for Śiśupāla, the kings who envied Kṛṣṇa and Balarāma came to the following decision among themselves: "If Kṛṣṇa comes here with Balarāma and the other Yadus to steal the bride, we shall band together and fight Him." Thus those envious kings went to the wedding with their entire armies and a full complement of military conveyances.

20-21When Lord Balarāma heard about these preparations of the inimical kings and how Lord Kṛṣṇa had set off alone to steal the bride, He feared that a fight would ensue. Immersed in affection for His brother, He hurried to Kuṇḍina with a mighty army consisting of infantry and of soldiers riding on elephants, horses and chariots.

22The lovely daughter of Bhīṣmaka anxiously awaited the arrival of Kṛṣṇa, but when she did not see the brāhmaṇa return she thought as follows.

23[Princess Rukmiṇī thought:] Alas, my wedding is to take place when the night ends! How

unlucky I am! Lotus-eyed Kṛṣṇa does not come. I don't know why. And even the brāhmaṇa messenger has not yet returned.

24Perhaps the faultless Lord, even while preparing to come here, saw something contemptible in me and therefore has not come to take my hand.

25I am extremely unfortunate, for the creator is not favorably disposed toward me, nor is the great Lord Śiva. Or perhaps Śiva's wife, Devī, who is known as Gaurī, Rudrāṇī, Girijā and Satī, has turned against me.

26As she thought in this way, the young maiden, whose mind had been stolen by Kṛṣṇa, closed her tear-filled eyes, remembering that there was still time.

27O King, as the bride thus awaited the arrival of Govinda, she felt a twitch in her left thigh, arm and eye. This was a sign that something desirable would happen.

28Just then the purest of learned brāhmaṇas, following Kṛṣṇa's order, came to see the divine Princess Rukmiṇī within the inner chambers of the palace.

29Noting the brāhmaṇa's joyful face and serene movements, saintly Rukmiṇī, who could expertly interpret such symptoms, inquired from him with a pure smile.

30The brāhmaṇa announced to her the arrival of Lord Yadunandana and relayed the Lord's promise to marry her.

31Princess Vaidarbhī was overjoyed to learn of Kṛṣṇa's arrival. Not finding anything at hand suitable to offer the brāhmaṇa, she simply bowed down to him.

32The King, upon hearing that Kṛṣṇa and Balarāma had come and were eager to witness his daughter's wedding, went forth with abundant offerings to greet Them as music resounded.

33Presenting Them with madhu-parka, new clothing and other desirable gifts, he worshiped Them according to standard rituals.

34Generous King Bhīṣmaka arranged opulent accommodations for the two Lords, and also for Their army and entourage. In this way he afforded Them proper hospitality.

35Thus it was that Bhīṣmaka gave all desirable things to the kings who had assembled for the occasion, honoring them as befitted their political power, age, physical prowess and wealth.

36When the residents of Vidarbha-pura heard that Lord Kṛṣṇa had come, they all went to see Him. With the cupped palms of their eyes they drank the honey of His lotus face.

37[The people of the city said:] Rukmiṇī, and no one else, deserves to become His wife, and He also, possessing such flawless beauty, is the only suitable husband for Princess Bhaiṣmī.

38May Acyuta, the creator of the three worlds, be satisfied with whatever pious work we may have done and show His mercy by taking the hand of Vaidarbhī.

39Bound by their swelling love, the city's residents spoke in this way. Then the bride, protected by guards, left the inner palace to visit the temple of Ambikā.

40-41Rukmiṇī silently went out on foot to see the lotus feet of the deity Bhavānī. Accompanied by her mothers and girlfriends and protected by the King's valiant soldiers, who held their upraised weapons at the ready, she simply absorbed her mind in the lotus feet of Kṛṣṇa. And all

the while mṛdaṅgas, conchshells, paṇavas, horns and other instruments resounded.

42-43Behind the bride followed thousands of prominent courtesans bearing various offerings and presents, along with well-adorned brāhmaṇas' wives singing and reciting prayers and bearing gifts of garlands, scents, clothing and jewelry. There were also professional singers, musicians, bards, chroniclers and heralds.

44Upon reaching the goddess's temple, Rukmiṇī first washed her lotus feet and hands and then sipped water for purification. Thus sanctified and peaceful, she came into the presence of mother Ambikā.

45The older wives of brāhmaṇas, expert in the knowledge of rituals, led young Rukmiṇī in offering respects to Bhavānī, who appeared with her consort, Lord Bhava.

46[Princess Rukmiṇī prayed:] O mother Ambikā, wife of Lord Siva, I repeatedly offer my obeisances unto you, together with your children. May Lord Kṛṣṇa become my husband. Please grant this!

47-48Rukmiṇī worshiped the goddess with water, scents, whole grains, incense, clothing, garlands, necklaces, jewelry and other prescribed offerings and gifts, and also with arrays of lamps. The married brāhmaṇa women each performed worship simultaneously with the same items, also offering savories and cakes, prepared betel nut, sacred threads, fruit and sugarcane juice.

49The ladies gave the bride the remnants of the offerings and then blessed her. She in turn bowed down to them and the deity and accepted the remnants as prasādam.

50The princess then gave up her vow of silence and left the Ambikā temple, holding on to a maidservant with her hand, which was adorned with a jeweled ring.

51-55Rukmiṇī appeared as enchanting as the Lord's illusory potency, who enchants even the sober and grave. Thus the kings gazed upon her virgin beauty, her shapely waist, and her lovely face adorned with earrings. Her hips were graced with a jewel-studded belt, her breasts were just budding, and her eyes seemed apprehensive of her encroaching locks of hair. She smiled sweetly, her jasmine-bud teeth reflecting the glow of her bimba-red lips. As she walked with the motions of a royal swan, the effulgence of her tinkling ankle bells beautified her feet. Seeing her, the assembled heroes were totally bewildered. Lust tore at their hearts. Indeed, when the kings saw her broad smile and shy glance, they became stupefied, dropped their weapons and fell unconscious to the ground from their elephants, chariots and horses. On the pretext of the procession, Rukmiṇī displayed her beauty for Kṛṣṇa alone. Slowly she advanced the two moving lotus-whorls of her feet, awaiting the arrival of the Supreme Lord. With the fingernails of her left hand she pushed some strands of hair away from her face and shyly looked from the corners of her eyes at the kings standing before her. At that moment she saw Kṛṣṇa. Then, while His enemies looked on, the Lord seized the princess, who was eager to mount His chariot.

56Lifting the princess onto His chariot, whose flag bore the emblem of Garuḍa, Lord Mādhava drove back the circle of kings. With Balarāma in the lead, He slowly exited, like a lion removing his prey from the midst of jackals.

57The kings inimical to the Lord, headed by Jarāsandha, could not tolerate this humiliating defeat. They exclaimed, "Oh, damn us! Though we are mighty archers, mere cowherds have stolen our honor, just as puny animals might steal the honor of lions!"

## SB 10.54: The Marriage of Kṛṣṇa and Rukmiṇī

This chapter describes how Lord Śrī Kṛṣṇa defeated the opposing kings after kidnapping Rukmiṇī, disfigured Rukmiṇī's brother Rukmī, brought Rukmiṇī to His capital and married her.

As Śrī Kṛṣṇa was taking Princess Rukmiṇī away, the inimical kings gathered their armies and pursued Him. Lord Baladeva and the generals of the Yādava army turned to face these opponents, blocking their advance. The enemy armies then began pouring incessant showers of arrows upon Lord Kṛṣṇa's army. Seeing her husband-to-be's forces under such violent attack, Śrīmatī Rukmiṇī looked at Śrī Kṛṣṇa fearfully. But Kṛṣṇa simply smiled and told her there was nothing to fear because His army would surely destroy the enemy in short order.

Lord Balarāma and the other heroes then began to annihilate the opposing army with *nārāca* arrows. The enemy kings, headed by Jarāsandha, retreated after suffering the destruction of their armies at the hands of the Yādavas.

Jarāsandha consoled Śiśupāla: "Happiness and distress are never permanent and are under the control of the Supreme Lord. Seventeen times Kṛṣṇa defeated me, but in the end I was victorious over Him. Thus seeing that victory and defeat are under the control of destiny and time, I have learned not to succumb to either lamentation or joy. Time now favors the Yādavas, so they have defeated you with only a small army, but in the future time will favor you, and you will surely conquer them." Consoled in this way, Śiśupāla took his followers and returned to his kingdom.

Rukmiṇī's brother Rukmī, who hated Kṛṣṇa, was infuriated by Kṛṣṇa's kidnapping of his sister. So, after vowing before all the kings present that he would not return to Kuṇḍina until Kṛṣṇa had been destroyed and Rukmiṇī rescued, Rukmī set out with his army to attack the Lord. Ignorant of Lord Kṛṣṇa's glories, Rukmī boldly went out to attack Kṛṣṇa in a lone chariot. He approached the Lord, struck Him with arrows and demanded that He release Rukmiṇī. Śrī Kṛṣṇa fended off Rukmī's weapons, breaking them to pieces. Then He raised His sword high and was about to kill Rukmī when Rukmiṇī interceded and fervently pleaded that her brother's life be spared. Lord Kṛṣṇa did not kill Rukmī, but with His sword He shaved off bits of Rukmī's hair here and there, leaving him disfigured. Just then Lord Baladeva appeared on the scene with the Yādava army. Seeing Rukmī disfigured, He gently reproached Kṛṣṇa: "To disfigure such a close family member is as good as killing him; therefore he should not be killed but set free."

Lord Baladeva then told Rukmiṇī that the sorry condition of her brother was only the fruit of his past work, since everyone is responsible for his own happiness and suffering. He further instructed her about the transcendental position of the *jīva* soul and how the illusion of happiness and distress is simply a result of ignorance. Accepting Lord Balarāma's instructions, Rukmiṇī gave up her sorrow.

Rukmī, meanwhile, felt totally frustrated, deprived as he was of all his strength and his will to fight. Since he had vowed not to return home without conquering Kṛṣṇa, Rukmī constructed a city on that very spot and took up residence there in a mood of undiminished anger.

Lord Kṛṣṇa took Rukmiṇī to His capital, Dvārakā, and married her. All the citizens celebrated in lavish style, broadcasting throughout the city accounts of how the Lord had kidnapped Rukmiṇī. Everyone in Dvārakā was delighted to see Lord Kṛṣṇa united with Rukmiṇī.

1Śukadeva Gosvāmī said: Having thus spoken, all those infuriated kings donned their armor and mounted their conveyances. Each king, bow in hand, was surrounded by his own army as

he went after Lord Kṛṣṇa.

2The commanders of the Yādava army, seeing the enemy racing to attack, turned to face them and stood firm, O King, twanging their bows.

3Mounted on the backs of horses, the shoulders of elephants and the seats of chariots, the enemy kings, expert with weapons, rained down arrows upon the Yadus like clouds pouring rain on mountains.

4Slender-waisted Rukmiṇī, seeing her Lord's army covered by torrents of arrows, shyly looked at His face with fear-stricken eyes.

5In response the Lord laughed and assured her, "Do not be afraid, beautiful-eyed one. This enemy force is about to be destroyed by your soldiers."

6The heroes of the Lord's army, headed by Gada and Saṅkarṣaṇa, could not tolerate the aggression of the opposing kings. Thus with iron arrows they began to strike down the enemy's horses, elephants and chariots.

7The heads of soldiers fighting on chariots, horses and elephants fell to the ground by the millions; some heads wore earrings and helmets, others turbans.

8Lying all around were thighs, legs and fingerless hands, along with hands clutching swords, clubs and bows, and also the heads of horses, donkeys, elephants, camels, wild asses and humans.

9Seeing their armies being struck down by the Vṛṣṇis, who were eager for victory, the kings headed by Jarāsandha were discouraged and left the battlefield.

10The kings approached Śiśupāla, who was disturbed like a man who has lost his wife. His complexion was drained of color, his enthusiasm was gone, and his face appeared dried up. The kings spoke to him as follows.

11[Jarāsandha said:] Listen, Śiśupāla, O tiger among men, give up your depression. After all, embodied beings' happiness and unhappiness is never seen to be permanent, O King.

12Just as a puppet in the form of a woman dances by the desire of the puppeteer, so this world, controlled by the Supreme Lord, struggles in both happiness and misery.

13In battle with Kṛṣṇa I and my twenty-three armies lost seventeen times; only once did I defeat Him.

14But still I never lament or rejoice, because I know this world is driven by time and fate.

15And now all of us, great commanders of military leaders, have been defeated by the Yadus and their small entourage, who are protected by Kṛṣṇa.

16Now our enemies have conquered because time favors them, but in the future, when time is auspicious for us, we shall conquer.

17Śukadeva Gosvāmī said: Thus persuaded by his friends,Śiśupāla took his followers and went back to his capital. The surviving warriors also returned to their respective cities.

18Powerful Rukmī, however, was especially envious of Kṛṣṇa. He could not bear the fact that Kṛṣṇa had carried off his sister to marry her in the Rākṣasa style. Thus he pursued the Lord with an entire military division.

19-20Frustrated and enraged, mighty-armed Rukmī, dressed in armor and wielding his bow, had sworn before all the kings, "I shall not again enter Kuṇḍina if I do not kill Kṛṣṇa in battle and bring Rukmiṇī back with me. I swear this to you."

21Having said this, he had mounted his chariot and told his charioteer, "Drive the horses quickly to where Kṛṣṇa is. He and I must fight.

22"This wicked-minded cowherd boy, infatuated with His prowess, has violently abducted my sister. But today I will remove His pride with my sharp arrows."

23Boasting thus, foolish Rukmī, ignorant of the true extent of the Supreme Lord's power, approached Lord Govinda in his lone chariot and challenged Him, "Just stand and fight!"

24Rukmī drew his bow with great strength and struck Lord Kṛṣṇa with three arrows. Then he said, "Stand here for a moment, O defiler of the Yadu dynasty!

25"Wherever You go, carrying off my sister like a crow stealing sacrificial butter, I will follow. This very day I shall relieve You of Your false pride, You fool, You deceiver, You cheater in battle!

26"Release the girl before You are struck dead by my arrows and made to lie down!" In response to this, Lord Kṛṣṇa smiled, and with six arrows He struck Rukmī and broke his bow.

27The Lord struck Rukmī's four horses with eight arrows, his chariot driver with two, and the chariot's flag with three. Rukmī grabbed another bow and struck Lord Kṛṣṇa with five arrows.

28Although hit by these many arrows, Lord Acyuta again broke Rukmī's bow. Rukmī picked up yet another bow, but the infallible Lord broke that one to pieces as well.

29Iron bludgeon, three-pointed spear, sword and shield, pike, javelinwhatever weapon Rukmī picked up, Lord Hari smashed it to bits.

30Then Rukmī leaped down from his chariot and, sword in hand, rushed furiously toward Kṛṣṇa to kill Him, like a bird flying into the wind.

31As Rukmī attacked Him, the Lord shot arrows that broke Rukmī's sword and shield into small pieces. Kṛṣṇa then took up His own sharp sword and prepared to kill Rukmī.

32Seeing Lord Kṛṣṇa ready to kill her brother, saintly Rukmiṇī was filled with alarm. She fell at her husband's feet and piteously spoke as follows.

33Śrī Rukmiṇī said: O controller of all mystic power, immeasurable one, Lord of lords, master of the universe! O all auspicious and mighty-armed one, please do not kill my brother!

34Śukadeva Gosvāmī said: Rukmiṇī's utter fear caused her limbs to tremble and her mouth to dry up, while her throat choked up out of sorrow. And in her agitation her golden necklace scattered. She grasped Kṛṣṇa's feet, and the Lord, feeling compassionate, desisted.

35Lord Kṛṣṇa tied up the evil-doer with a strip of cloth. He then proceeded to disfigure Rukmī by comically shaving him, leaving parts of his mustache and hair. By that time the Yadu heroes had crushed the extraordinary army of their opponents, just as elephants crush a lotus flower.

36As the Yadus approached Lord Kṛṣṇa, they saw Rukmī in this sorry condition, practically dying of shame. When the all-powerful Lord Balarāma saw Rukmī, He compassionately released him and spoke the following to Lord Kṛṣṇa.

37[Lord Balarāma said:] My dear Kṛṣṇa, You have acted improperly! This deed will bring shame on Us, for to disfigure a close relative by shaving off his mustache and hair is as good as killing him.

38Saintly lady, please do not be displeased with Us out of anxiety for your brother's disfigurement. No one but oneself is responsible for one's joy and grief, for a man experiences the result of his own deeds.

39[Again addressing Kṛṣṇa, Balarāma said:] A relative should not be killed even if his wrongdoing warrants capital punishment. Rather, he should be thrown out of the family. Since he has already been killed by his own sin, why kill him again?

40[Turning to Rukmiṇī, Balarāma continued:] The code of sacred duty for warriors established by Lord Brahmā enjoins that one may have to kill even his own brother. That is indeed a most dreadful law.

41[Again Balarāma addressed Kṛṣṇa:] Blinded by conceit with their personal opulences, proud men offend others for the sake of such things as kingdom, land, wealth, women, honor and power.

42[To Rukmiṇī Balarāma said:] Your attitude is unfair, for like an ignorant person you wish good to those who are inimical to all living beings and who have done evil to your true well-wishers.

43The Supreme Lord's Māyā makes men forget their real selves, and thus, taking the body for the self, they consider others to be friends, enemies or neutral parties.

44Those who are bewildered perceive the one Supreme Soul, who resides in all embodied beings, as many, just as one may perceive the light in the sky, or the sky itself, as many.

45This material body, which has a beginning and an end, is composed of the physical elements, the senses and the modes of nature. The body, imposed on the self by material ignorance, causes one to experience the cycle of birth and death.

46O intelligent lady, the soul never undergoes contact with or separation from insubstantial, material objects, because the soul is their very origin and illuminator. Thus the soul resembles the sun, which neither comes in contact with nor separates from the sense of sight and what is seen.

47Birth and other transformations are undergone by the body but never by the self, just as change occurs for the moon's phases but never for the moon, though the new-moon day may be called the moon's "death."

48As a sleeping person perceives himself, the objects of sense enjoyment and the fruits of his acts within the illusion of a dream, so one who is unintelligent undergoes material existence.

49Therefore, with transcendental knowledge dispel the grief that is weakening and confounding your mind. Please resume your natural mood, O princess of the pristine smile.

50Śukadeva Gosvāmī said: Thus enlightened by Lord Balarāma, slender Rukmiṇī forgot her depression and steadied her mind by spiritual intelligence.

51Left with only his life air, cast out by his enemies and deprived of his strength and bodily radiance, Rukmī could not forget how he had been disfigured. In frustration he constructed for his residence a large city, which he called Bhojakaṭa.

52Because he had promised "I will not reenter Kuṇḍina until I have killed wicked Kṛṣṇa and brought back my younger sister," in a mood of angry frustration Rukmī took up residence at that very place.

53Thus defeating all the opposing kings, the Supreme Personality of Godhead brought the daughter of Bhīṣmaka to His capital and married her according to the Vedic injunctions, O protector of the Kurus.

54At that time, O King, there was great rejoicing in all the homes of Yadupurī, whose citizens loved only Kṛṣṇa, chief of the Yadus.

55All the men and women, full of joy and adorned with shining jewels and earrings, brought wedding presents, which they reverently offered to the exquisitely dressed groom and bride.

56The city of the Vṛṣṇis appeared most beautiful: there were tall, festive columns, and also archways decorated with flower garlands, cloth banners and precious gems. Arrangements of auspicious, full waterpots, aguru-scented incense, and lamps graced every doorway.

57The city's streets were cleansed by the intoxicated elephants belonging to the beloved kings who were guests at the wedding, and these elephants further enhanced the beauty of the city by placing trunks of plantain and betel-nut trees in all the doorways.

58Those who belonged to the royal families of the Kuru, Sṛṣjaya, Kaikeya, Vidarbha, Yadu and Kunti clans joyfully met one another in the midst of the crowds of people excitedly running here and there.

59The kings and their daughters were totally astonished to hear the story of Rukmiṇī's abduction, which was being glorified in song everywhere.

60Dvārakā's citizens were overjoyed to see Kṛṣṇa, the Lord of all opulence, united with Rukmiṇī, the goddess of fortune.

## SB 10.55: The History of Pradyumna

This chapter tells how Pradyumna was born as the son of Lord Kṛṣṇa and then kidnapped by the demon Śambara. It also describes how Pradyumna killed Śambara and returned home with a wife.

Kāmadeva (Cupid), an expansion of Lord Vāsudeva, had been burned to ashes by Lord Śiva's anger and was reborn as part and parcel of Pradyumna from the womb of Rukmiṇī. A demon named Śambara, thinking Pradyumna his enemy, kidnapped Him from the maternity room even before He was ten days old. Śambara threw Pradyumna into the ocean and returned to his kingdom. A powerful fish swallowed Pradyumna and was caught by fishermen in a net. They presented the huge fish to Śambara, and when his cooks cut it open they found a child within its belly. The cooks gave the infant to the maidservant Māyāvatī, who was astonished to see Him. Just then Nārada Muni appeared and told her who the infant was. Māyāvatī was actually Kāmadeva's wife, Ratidevī. While waiting for her husband to be reborn in a new body, she had taken employment as a cook in the household of Śambara. Now that she understood who the infant was, she began to feel intense affection for Him. After a very short time, Pradyumna grew to youthful maturity, entrancing all the women with His beauty.

Once, Ratidevī approached Pradyumna and playfully moved her eyebrows in a conjugal mood. Addressing her as His mother, Pradyumna commented that she was putting aside her proper maternal mood and behaving like a passionate girlfriend. Rati then told Pradyumna who they

both were. She advised Him to kill Śambara, and to help Him she instructed Him in the mystic *mantras* known as Mahā-māyā. Pradyumna went to Śambara and, after angering him with various insults, challenged him to fight, upon which Śambara angrily took up his club and marched outside. The demon tried various magic spells against Pradyumna, but Pradyumna fended off all of them with the Mahā-māyā*mantras* and then beheaded Śambara with His sword. At that moment Ratidevī appeared in the sky and took Pradyumna away to Dvārakā.

When Pradyumna and His wife entered the inner chambers of Lord Kṛṣṇa's palace, the many beautiful ladies there thought He was Kṛṣṇa Himself, so much did His appearance and dress resemble the Lord's. Out of shyness the ladies ran here and there to hide themselves. But after a little while they noticed small differences in Pradyumna's and Kṛṣṇa's appearances, and once they understood that He was not Lord Kṛṣṇa, they gathered around Him.

When Rukmiṇī-devī saw Pradyumna, she felt overwhelmed with motherly love, and milk began to flow spontaneously from her breasts. Noting that Pradyumna looked exactly like Kṛṣṇa, she became eager to find out who He was. She remembered how one of her sons had been abducted from the maternity room. "If He were still alive," she thought, "He would be the same age as this Pradyumna standing before me." While Rukmiṇī reflected in this way, Lord Kṛṣṇa arrived in the company of Devakī and Vasudeva. Although the Lord understood the situation perfectly well, He remained silent. Then Nārada Muni arrived and explained everything. Everyone was amazed to hear the account and embraced Pradyumna in great ecstasy.

Because Pradyumna's beauty so closely resembled Kṛṣṇa's, the ladies in a maternal relationship with Pradyumna could not help thinking of Him as their conjugal lover. He was, after all, the exact reflection of Śrī Kṛṣṇa, and therefore it was natural for them to see Him in this way.

1Śukadeva Gosvāmī said: Kāmadeva [Cupid], an expansion of Vāsudeva, had previously been burned to ashes by Rudra's anger. Now, to obtain a new body, he merged back into the body of Lord Vāsudeva.

2He took birth in the womb of Vaidarbhī from the seed of Lord Kṛṣṇa and received the name Pradyumna. In no respect was He inferior to His father.

3The demon Śambara, who could assume any form he desired, kidnapped the infant before He was even ten days old. Understanding Pradyumna to be his enemy, Śambara threw Him into the sea and then returned home.

4A powerful fish swallowed Pradyumna, and this fish, along with others, was caught in a huge net and seized by fishermen.

5The fishermen presented that extraordinary fish to Śambara, who had his cooks bring it to the kitchen, where they began cutting it up with a butcher knife.

6Seeing a male child in the belly of the fish, the cooks gave the infant to Māyāvatī, who was astonished. Nārada Muni then appeared and explained to her everything about the child's birth and His entering the fish's abdomen.

7-8Māyāvatī was in fact Cupid's renowned wife, Rati. While waiting for her husband to obtain a new bodyhis previous one having been burnt upshe had been assigned by Śambara to prepare vegetables and rice. Māyāvatī understood that this infant was actually Kāmadeva, and thus she began to feel love for Him.

9After a short time, this son of KṛṣṇaPradyumnaattained His full youth. He enchanted all women who gazed upon Him.

10My dear King, with a bashful smile and raised eyebrows, Māyāvatīexhibited various gestures of conjugal attraction as she lovingly approached her husband, whose eyes were broad like the petals of a lotus, whose arms were very long and who was the most beautiful of men.

11Lord Pradyumna told her, "O mother, your attitude has changed. You are overstepping the proper feelings of a mother and behaving like a lover."

12Rati said: You are the son of Lord Nārāyaṇa and were kidnapped from Your parents' home by Śambara. I, Rati, am Your legitimate wife, O master, because You are Cupid.

13That demon, Śambara, threw You into the sea when You were not even ten days old, and a fish swallowed You. Then in this very place we recovered You from the fish's abdomen, O master.

14Now kill this dreadful Śambara, Your formidable enemy. Although he knows hundreds of magic spells, You can defeat him with bewildering magic and other techniques.

15Your poor mother, having lost her son, cries for You like a kurarī bird. She is overwhelmed with love for her child, just like a cow that has lost its calf.

16[Śukadeva Gosvāmī continued:] Speaking thus, Māyāvatī gave to the great soul Pradyumna the mystic knowledge called Mahā-māyā, which vanquishes all other deluding spells.

17Pradyumna approached Śambara and called him to battle, hurling intolerable insults at him to foment a conflict.

18Offended by these harsh words, Śambara became as agitated as a kicked snake. He came out, club in hand, his eyes red with rage.

19Śambara whirled his club swiftly about and then hurled it at the wise Pradyumna, producing a sound as sharp as a thunder crack.

20As Śambara's club came flying toward Him, Lord Pradyumna knocked it away with His own. Then, O King, Pradyumna angrily threw His club at the enemy.

21Resorting to the black magic of the Daityas taught to him by Maya Dānava, Śambara suddenly appeared in the sky and released a downpour of weapons upon Kṛṣṇa's son.

22Harassed by this rain of weapons, Lord Raukmiṇeya, the greatly powerful warrior, made use of the mystic science called Mahā-māyā, which was created from the mode of goodness and which could defeat all other mystic power.

23The demon then unleashed hundreds of mystic weapons belonging to the Guhyakas, Gandharvas, Piśācas, Uragas and Rākṣasas, but Lord Kārṣṇi, Pradyumna, struck them all down.

24Drawing His sharp-edged sword, Pradyumna forcefully cut off Śambara's head, complete with red mustache, helmet and earrings.

25As the residents of the higher planets showered Pradyumna with flowers and chanted His praises, His wife appeared in the sky and transported Him through the heavens, back to the city of Dvārakā.

26O King, Lord Pradyumna and His wife resembled a cloud accompanied by lightning as they descended from the sky into the inner quarters of Kṛṣṇa's most excellent palace, which were crowded with lovely women.

27-28The women of the palace thought He was Lord Kṛṣṇa when they saw His dark-blue complexion the color of a rain cloud, His yellow silk garments, His long arms and red-tinged eyes, His charming lotus face adorned with a pleasing smile, His fine ornaments and His thick, curly blue hair. Thus the women became bashful and hid themselves here and there.

29Gradually, from the slight differences between His appearance and Kṛṣṇa's, the ladies realized He was not the Lord. Delighted and astonished, they approached Pradyumna and His consort, who was a jewel among women.

30Seeing Pradyumna, sweet-voiced, dark-eyed Rukmiṇī remembered her lost son, and her breasts became moist out of affection.

31[Śrīmatī Rukmiṇī-devī said:] Who is this lotus-eyed jewel among men? What man's son is He, and what woman carried Him in her womb? And who is this woman He has taken as His wife?

32If my lost son, who was kidnapped from the maternity room, were still alive somewhere, He would be of the same age and appearance as this young man.

33But how is it that this young man so much resembles my own Lord, Kṛṣṇa, the wielder of Śārṅga, in His bodily form and His limbs, in His gait and the tone of His voice, and in His smiling glance?

34Yes, He must be the same child I bore in my womb, since I feel great affection for Him and my left arm is quivering.

35As Queen Rukmiṇī conjectured in this way, Lord Kṛṣṇa, the son of Devakī, arrived on the scene with Vasudeva and Devakī.

36Although Lord Janārdana knew perfectly well what had transpired, He remained silent. The sage Nārada, however, explained everything, beginning with Śambara's kidnapping of the child.

37When the women of Lord Kṛṣṇa's palace heard this most amazing account, they joyfully greeted Pradyumna, who had been lost for many years but who had now returned as if from the dead.

38Devakī, Vasudeva, Kṛṣṇa, Balarāma and all the women of the palace, especially Queen Rukmiṇī, embraced the young couple and rejoiced.

39Hearing that lost Pradyumna had come home, the residents of Dvārakā declared, "Ah, providence has allowed this child to return as if from death!"

40It is not astonishing that the palace women, who should have felt maternal affection for Pradyumna, privately felt ecstatic attraction for Him as if He were their own Lord. After all, the son exactly resembled His father. Indeed, Pradyumna was a perfect reflection of the beauty of Lord Kṛṣṇa, the shelter of the goddess of fortune, and appeared before their eyes as Cupid Himself. Since even those on the level of His mother felt conjugal attraction for Him, then what to speak of how other women felt when they saw Him?

**SB 10.56: The Syamantaka Jewel**

This chapter describes how Lord Kṛṣṇa recovered the Syamantaka jewel to allay false accusations against Him and married the daughters of Jāmbavān and Satrājit. By enacting the pastime involving the Syamantaka jewel, the Lord demonstrated the futility of material wealth.

When Śukadeva Gosvāmī mentioned that King Satrājit offended Lord Kṛṣṇa on account of the Syamantaka jewel, King Parīkṣit became curious to hear the details of this incident. Thus Śukadeva Gosvāmī narrated the story.

King Satrājit received the Syamantaka gem by the grace of his best well-wisher, the sun-god, Sūrya. After fastening the gem to a chain, which he then hung around his neck, Satrājit traveled to Dvārakā. The residents, thinking he was the sun-god himself, went to Kṛṣṇa and told Him that Lord Sūrya had come to take His audience. But Kṛṣṇa replied that the man who had come was not Sūrya but King Satrājit, who looked extremely effulgent because he was wearing the Syamantaka jewel.

In Dvārakā Satrājit installed the precious stone on a special altar in his home. Every day the gem produced a large quantity of gold, and it had the additional power of assuring that wherever it was properly worshiped no calamity could occur.

On one occasion Lord Śrī Kṛṣṇa requested Satrājit to give the gem to the King of the Yadus, Ugrasena. But Satrājit refused, obsessed as he was with greed. Shortly thereafter Satrājit's brother Prasena left the city to hunt on horseback, wearing the Syamantaka jewel on his neck. On the road a lion killed Prasena and took the jewel away to a mountain cave, where the king of the bears, Jāmbavān, happened to be living. Jāmbavān killed the lion and gave the jewel to his son to play with.

When King Satrājit's brother did not return, the King presumed that Śrī Kṛṣṇa had killed him for the Syamantaka gem. Lord Kṛṣṇa heard about this rumor circulating among the general populace, and to clear His name He went with some of the citizens to find Prasena. Following his path, they eventually found his body and that of his horse lying on the road. Further on they saw the body of the lion Jāmbavān had killed. Lord Kṛṣṇa told the citizens to remain outside the cave while He went in to investigate.

The Lord entered Jāmbavān's cave and saw the Syamantaka jewel lying next to a child. But when Kṛṣṇa tried to take the jewel, the child's nurse cried out in alarm, bringing Jāmbavān quickly to the scene. Jāmbavān considered Kṛṣṇa an ordinary man and began fighting with Him. For twenty-eight days continuously the two fought, until finally Jāmbavān grew weak from the Lord's blows. Now understanding that Kṛṣṇa was the Supreme Personality of Godhead, Jāmbavān began to praise Him. The Lord touched Jāmbavān with His lotus hand, dispelling his fear, and then explained everything about the jewel. With great devotion Jāmbavān gladly presented the Syamantaka jewel to the Lord, together with his unmarried daughter, Jāmbavatī.

Meanwhile Lord Kṛṣṇa's companions, having waited twelve days for Kṛṣṇa to come out of the cave, returned to Dvārakā despondent. All of Kṛṣṇa's friends and family members became extremely sorrowful and began regularly worshiping Goddess Durgā to assure the Lord's safe return. Even as they performed this worship, Lord Kṛṣṇa entered the city in the company of His new wife. He summoned Satrājit to the royal assembly and, after recounting to him the entire story of the Syamantaka jewel's recovery, gave the jewel back to him. Satrājit accepted the jewel, but with great shame and remorse. He went back to his home, and there he decided to offer Lord Kṛṣṇa not only the jewel but also his daughter so as to atone for the offense he had committed against the Lord's lotus feet. Śrī Kṛṣṇa accepted the hand of Satrājit's daughter,

Satyabhāmā, who was endowed with all divine qualities. But the jewel He refused, returning it to King Satrājit.

1Śukadeva Gosvāmī said: Having offended Lord Kṛṣṇa, Satrājit tried as best he could to atone by presenting Him with his daughter and the Syamantaka jewel.

2Mahārāja Parīkṣit inquired: O brāhmaṇa, what did King Satrājit do to offend Lord Kṛṣṇa? Where did he get the Syamantaka jewel, and why did he give his daughter to the Supreme Lord?

3Śukadeva Gosvāmī said: Sūrya, the sun-god, felt great affection for his devotee Satrājit. Acting as his greatest friend, the demigod gave him the jewel called Syamantaka as a token of his satisfaction.

4Wearing the jewel on his neck, Satrājit entered Dvārakā. He shone as brightly as the sun itself, O King, and thus he went unrecognized because of the jewel's effulgence.

5As the people looked at Satrājit from a distance, his brilliance blinded them. They presumed he was the sun-god, Sūrya, and went to tell Lord Kṛṣṇa, who was at that time playing at dice.

6[The residents of Dvārakā said:] Obeisances unto You, O Nārāyaṇa, O holder of the conch, disc and club, O lotus-eyed Dāmodara, O Govinda, O cherished descendant of Yadu!

7Lord Savitā has come to see You, O Lord of the universe. He is blinding everyone's eyes with his intensely effulgent rays.

8The most exalted demigods in the three worlds are certainly anxious to seek You out, O Lord, now that You have hidden Yourself among the Yadu dynasty. Thus the unborn sun-god has come to see You here.

9Śukadeva Gosvāmī continued: Hearing these innocent words, the lotus-eyed Lord smiled broadly and said, "This is not the sun-god, Ravi, but rather Satrājit, who is glowing because of his jewel."

10King Satrājit entered his opulent home, festively executing auspicious rituals. He had qualified brāhmaṇas install the Syamantaka jewel in the house's temple room.

11Each day the gem would produce eight bhāras of gold, my dear Prabhu, and the place in which it was kept and properly worshiped would be free of calamities such as famine or untimely death, and also of evils like snake bites, mental and physical disorders and the presence of deceitful persons.

12On one occasion Lord Kṛṣṇa requested Satrājit to give the jewel to the Yadu king, Ugrasena, but Satrājit was so greedy that he refused. He gave no thought to the seriousness of the offense he committed by denying the Lord's request.

13Once Satrājit's brother, Prasena, having hung the brilliant jewel about his neck, mounted a horse and went hunting in the forest.

14A lion killed Prasena and his horse and took the jewel. But when the lion entered a mountain cave he was killed by Jāmbavān, who wanted the jewel.

15Within the cave Jāmbavān let his young son have the Syamantaka jewel as a toy to play with. Meanwhile Satrājit, not seeing his brother return, became deeply troubled.

16He said, "Kṛṣṇa probably killed my brother, who went to the forest wearing the jewel on his

neck." The general populace heard this accusation and began whispering it in one another's ears.

17When Lord Kṛṣṇa heard this rumor, He wanted to remove the stain on His reputation. So He took some of Dvārakā's citizens with Him and set out to retrace Prasena's path.

18In the forest they found Prasena and his horse, both killed by the lion. Further on they found the lion dead on a mountainside, slain by Ṛkṣa [Jāmbavān].

19The Lord stationed His subjects outside the terrifying, pitch-dark cave of the king of the bears, and then He entered alone.

20There Lord Kṛṣṇa saw that the most precious of jewels had been made into a child's plaything. Determined to take it away, He approached the child.

21The child's nurse cried out in fear upon seeing that extraordinary person standing before them. Jāmbavān, strongest of the strong, heard her cries and angrily ran toward the Lord.

22Unaware of His true position and thinking Him an ordinary man, Jāmbavān angrily began fighting with the Supreme Lord, his master.

23The two fought furiously in single combat, each determined to win. Contending against each other with various weapons and then with stones, tree trunks and finally their bare arms, they struggled like two hawks battling over a piece of flesh.

24The fight went on without rest for twenty-eight days, the two opponents striking each other with their fists, which fell like the cracking blows of lightning.

25His bulging muscles pummeled by the blows of Lord Kṛṣṇa's fists, his strength faltering and his limbs perspiring, Jāmbavān, greatly astonished, finally spoke to the Lord.

26[Jāmbavān said:] I know now that You are the life air and the sensory, mental and bodily strength of all living beings. You are Lord Viṣṇu, the original person, the supreme, all-powerful controller.

27You are the ultimate creator of all creators of the universe, and of everything created You are the underlying substance. You are the subduer of all subduers, the Supreme Lord and Supreme Soul of all souls.

28You are He who impelled the ocean to give way when His sidelong glances, slightly manifesting His anger, disturbed the crocodiles and timiṅgila fish within the watery depths. You are He who built a great bridge to establish His fame, who burned down the city of Laṅkā, and whose arrows severed the heads of Rāvaṇa, which then fell to the ground.

29-30[Śukadeva Gosvāmī continued:] O King, Lord Kṛṣṇa then addressed the king of the bears, who had understood the truth. The lotus-eyed Personality of Godhead, the son of Devakī, touched Jāmbavān with His hand, which bestows all blessings, and spoke to His devotee with sublime compassion, His grave voice deeply resounding like a cloud.

31[Lord Kṛṣṇa said:] It is for this jewel, O lord of the bears, that we have come to your cave. I intend to use the jewel to disprove the false accusations against Me.

32Thus addressed, Jāmbavān happily honored Lord Kṛṣṇa by offering Him his maiden daughter, Jāmbavatī, together with the jewel.

33After Lord Śauri had entered the cave, the people of Dvārakā who had accompanied Him had waited twelve days without seeing Him come out again. Finally they had given up and returned to their city in great sorrow.

34When Devakī, Rukmiṇī-devī, Vasudeva and the Lord's other relatives and friends heard that He had not come out of the cave, they all lamented.

35Cursing Satrājit, the sorrowful residents of Dvārakā approached the Durgā deity named Candrabhāgā and prayed to her for Kṛṣṇa's return.

36When the citizens had finished worshiping the demigoddess, she spoke to them in response, promising to grant their request. Just then Lord Kṛṣṇa, who had achieved His purpose, appeared before them in the company of His new wife, filling them with joy.

37Seeing Lord Hṛṣīkeśa return as if from death, accompanied by His new wife and wearing the Syamantaka jewel on His neck, all the people were roused to jubilation.

38Lord Kṛṣṇa summoned Satrājit to the royal assembly. There, in the presence of King Ugrasena, Kṛṣṇa announced the recovery of the jewel and then formally presented it to Satrājit.

39Hanging his head in great shame, Satrājit took the gem and returned home, all the while feeling remorse for his sinful behavior.

40-42Pondering over his grievous offense and worried about the possibility of conflict with the Lord's mighty devotees, King Satrājit thought, "How can I cleanse myself of my contamination, and how may Lord Acyuta become satisfied with me? What can I do to regain my good fortune and avoid being cursed by the populace for being so short-sighted, miserly, foolish and avaricious? I shall give my daughter, the jewel of all women, to the Lord, together with the Syamantaka jewel. That, indeed, is the only proper way to pacify Him."

43Having thus intelligently made up his mind, King Satrājit personally arranged to present Lord Kṛṣṇa with his fair daughter and the Syamantaka jewel.

44The Lord married Satyabhāmā in proper religious fashion. Possessed of excellent behavior, along with beauty, broad-mindedness and all other good qualities, she had been sought by many men.

45The Supreme Personality of Godhead told Satrājit: We do not care to take this jewel back, O King. You are the sun-god's devotee, so let it stay in your possession. Thus We will also enjoy its benefits.

### SB 10.57: Satrājit Murdered, the Jewel Returned

This chapter describes how Lord Kṛṣṇa, after the murder of Satrājit, killed Śatadhanvā and had Akrūra bring the Syamantaka jewel back to Dvārakā.

When Lord Śrī Kṛṣṇa heard that the Pāṇḍavas had supposedly been burned to death in the palace of lac, He went to Hastināpura with Lord Baladeva to maintain the principles of worldly protocol, even though, being omniscient, He knew the report was false. With Kṛṣṇa out of Dvārakā, Akrūra and Kṛtavarmā incited Śatadhanvā to steal the Syamantaka jewel from Satrājit. Bewildered by their words, the sinful Śatadhanvā murdered King Satrājit in his sleep and stole the gem. Queen Satyabhāmā was overcome with grief at the death of her father, and she rushed to Hastināpura to report the sorrowful news to Śrī Kṛṣṇa. Together with Lord Baladeva, Kṛṣṇa then returned to Dvārakā to kill Śatadhanvā.

Śatadhanvā went to Akrūra and Kṛtavarmā to beg for help, but when they refused he left the jewel with Akrūra and fled for his life. Kṛṣṇa and Balarāma pursued him, and Lord Kṛṣṇa beheaded him with His sharp-edged disc. When the Lord could not find the Syamantaka jewel on Śatadhanvā's person, Baladeva told Him that Śatadhanvā must have left it in someone's care. Baladeva further suggested that Kṛṣṇa return to Dvārakā to find the jewel while He, Baladeva, would take the opportunity to visit the King of Videha. Thus Lord Balarāma traveled to Mithilā and remained there for a few years, during which He taught King Duryodhana the art of fighting with a club.

Lord Kṛṣṇa returned to Dvārakā and had the funeral rites performed for Satrājit. When Akrūra and Kṛtavarmā heard how Śatadhanvā had met his death, they fled Dvārakā. Soon many kinds of disturbancesmental, physical and so onbegan to afflict Dvārakā, and the citizens concluded that the cause of these troubles must be Akrūra's exile. The city elders explained, "Once there was a drought in Benares, and the king of the region gave his daughter in marriage to Akrūra's father, who was visiting Benares at the time. As a result of this gift, the drought ended." The elders, thinking Akrūra had the same power as his father, declared that Akrūra should be brought back.

Lord Kṛṣṇa knew that Akrūra's exile was not the main cause of the disturbances. Still, He had Akrūra brought back to Dvārakā, and after properly honoring him with worship and greeting him with sweet words, Kṛṣṇa told him, "I know Śatadhanvā left the jewel in your care. Since Satrājit had no sons, his daughter's offspring are the just claimants to whatever property he has left behind. Nonetheless, it would be best for you to keep the troublesome jewel in your care. Just let Me show it once to My relatives." Akrūra presented Kṛṣṇa with the jewel, which shone as brilliantly as the sun, and after the Lord had shown it to His family members He returned it to Akrūra.

1Śrī Bādarāyaṇi said: Although Lord Govinda was fully aware of what had actually occurred, when He heard reports that the Pāṇḍavas and Queen Kuntī had burned to death, He went with Lord Balarāma to the kingdom of the Kurus to fulfill the family obligations expected of Him.

2The two Lords met with Bhīṣma, Kṛpa, Vidura, Gāndhārī and Droṇa. Showing sorrow equal to theirs, They cried out, "Alas, how painful this is!"

3Taking advantage of this opportunity, O King, Akrūra and Kṛtavarmā went to Śatadhanvā and said, "Why not take the Syamantaka jewel?

4"Satrājit promised his jewellike daughter to us but then gave her to Kṛṣṇa instead, contemptuously neglecting us. So why should Satrājit not follow his brother's path?"

5His mind thus influenced by their advice, wicked Śatadhanvā murdered Satrājit in his sleep simply out of greed. In this way the sinful Śatadhanvā shortened his own life span.

6As the women of Satrājit's palace screamed and helplessly wept, Śatadhanvā took the jewel and left, like a butcher after he has killed some animals.

7When Satyabhāmā saw her dead father, she was plunged into grief. Lamenting "My father, my father! Oh, I am killed!" she fell unconscious.

8Queen Satyabhāmā put her father's corpse in a large vat of oil and went to Hastināpura, where she sorrowfully told Lord Kṛṣṇa, who was already aware of the situation, about her father's murder.

9When Lord Kṛṣṇa and Lord Balarāma heard this news, O King, They exclaimed, "Alas! This is the greatest tragedy for Us!" Thus imitating the ways of human society, They lamented, Their eyes brimming with tears.

10The Supreme Lord returned to His capital with His wife and elder brother. After arriving in Dvārakā, He readied Himself to kill Śatadhanvā and retrieve the jewel from him.

11Upon learning that Lord Kṛṣṇa was preparing to kill him, Śatadhanvā was struck with fear. To save his life he approached Kṛtavarmā and begged him for help, but Kṛtavarmā replied as follows.

12-13[Kṛtavarmā said:] I dare not offend the Supreme Lords, Kṛṣṇa and Balarāma. Indeed, how can one who troubles Them expect any good fortune? Kaṁsa and all his followers lost both their wealth and their lives because of enmity toward Them, and after battling Them seventeen times Jarāsandha was left without even a chariot.

14His appeal refused, Śatadhanvā went to Akrūra and begged him for protection. But Akrūra similarly told him, "Who would oppose the two Personalities of Godhead if he knew Their strength?

15"It is the Supreme Lord who creates, maintains and destroys this universe simply as His pastime. The cosmic creators cannot even understand His purpose, bewildered as they are by His illusory Māyā.

16"As a child of seven, Kṛṣṇa uprooted an entire mountain and held it aloft as easily as a young boy picks up a mushroom.

17"I offer my obeisances to that Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, whose every deed is amazing. He is the Supreme Soul, the unlimited source and fixed center of all existence."

18His appeal thus rejected by Akrūra also, Śatadhanvā placed the precious jewel in Akrūra's care and fled on a horse that could travel one hundred yojanas [eight hundred miles].

19My dear King, Kṛṣṇa and Balarāma mounted Kṛṣṇa's chariot, which flew the flag of Garuḍa and was yoked with tremendously swift horses, and pursued Their elder's murderer.

20In a garden on the outskirts of Mithilā, the horse Śatadhanvā was riding collapsed. Terrified, he abandoned the horse and began to flee on foot, with Kṛṣṇa in angry pursuit.

21As Śatadhanvā fled on foot, the Supreme Lord, also going on foot, cut off his head with His sharp-edged disc. The Lord then searched Śatadhanvā's upper and lower garments for the Syamantaka jewel.

22Not finding the jewel, Lord Kṛṣṇa went to His elder brother and said, "We have killed Śatadhanvā uselessly. The jewel isn't here."

23To this Lord Balarāma replied, "Indeed, Śatadhanvā must have placed the jewel in the care of someone. You should return to Our city and find that person.

24"I wish to visit King Videha, who is most dear to Me." O King, having said this, Lord Balarāma, the beloved descendant of Yadu, entered the city of Mithilā.

25The King of Mithilā immediately rose from his seat when he saw Lord Balarāma approaching. With great love the King honored the supremely worshipable Lord by offering Him elaborate worship, as stipulated by scriptural injunctions.

26The almighty Lord Balarāma stayed in Mithilā for several years, honored by His affectionate devotee Janaka Mahārāja. During that time Dhṛtarāṣṭra's son Duryodhana learned from Balarāma the art of fighting with a club.

27Lord Keśava arrived in Dvārakā and described the demise of Śatadhanvā and His own failure to find the Syamantaka jewel. He spoke in a way that would please His beloved, Satyabhāmā.

28Lord Kṛṣṇa then had the various funeral rites performed for His deceased relative, Satrājit. The Lord attended the funeral along with well-wishers of the family.

29When Akrūra and Kṛtavarmā, who had originally incited Śatadhanvā to commit his crime, heard that he had been killed, they fled Dvārakā in terror and took up residence elsewhere.

30In Akrūra's absence ill omens arose in Dvārakā, and the citizens began to suffer continually from physical and mental distresses, as well as from disturbances caused by higher powers and by creatures of the earth.

31Some men proposed [that the troubles were due to Akrūra's absence], but they had forgotten the glories of the Supreme Lord, which they themselves had so often described. Indeed, how can calamities occur in a place where the Personality of Godhead, the residence of all the sages, resides?

32[The elders said:] Previously, when Lord Indra had withheld rain from Kāsī [Benares], the king of that city gave his daughter Gāndinī to Śvaphalka, who was then visiting him. It soon rained in the kingdom of Kāśī.

33Wherever his equally powerful son Akrūra stays, Lord Indra will provide sufficient rain. Indeed, that place will be free of miseries and untimely deaths.

34Hearing these words from the elders, Lord Janārdana, though aware that the absence of Akrūra was not the only cause of the evil omens, had him summoned back to Dvārakā and spoke to him.

35-36Lord Kṛṣṇa honored Akrūra, greeted him confidentially and spoke pleasant words with him. Then the Lord, who was fully aware of Akrūra's heart by virtue of His being the knower of everything, smiled and addressed him: "O master of charity, surely the opulent Syamantaka jewel was left in your care by Śatadhanvā and is still with you. Indeed, We have known this all along.

37"Since Satrājit had no sons, his daughter's sons should receive his inheritance. They should pay for memorial offerings of water and piṇḍa, clear their grandfather's outstanding debts and keep the remainder of the inheritance for themselves.

38-39"Nevertheless, the jewel should remain in your care, O trustworthy Akrūra, because no one else can keep it safely. But please show the jewel just once, since My elder brother does not fully believe what I have told Him about it. In this way, O most fortunate one, you will pacify My relatives. [Everyone knows you have the jewel, for] you are now continually performing sacrifices on altars of gold."

40Thus shamed by Lord Kṛṣṇa's conciliatory words, the son of Śvaphalka brought out the jewel from where he had concealed it in his clothing and gave it to the Lord. The brilliant gem shone like the sun.

41After the almighty Lord had shown the Syamantaka jewel to His relatives, thus dispelling the

false accusations against Him, He returned it to Akrūra.

42This narration, rich with descriptions of the prowess of Lord Śrī Viṣṇu, the Supreme Personality of Godhead, removes sinful reactions and bestows all auspiciousness. Anyone who recites, hears or remembers it will drive away his own infamy and sins and attain peace.

**SB 10.58: Kṛṣṇa Marries Five Princesses**

This chapter describes how Lord Kṛṣṇa married five brides, beginning with Kālindī, and went to Indraprastha to visit the Pāṇḍavas.

After the Pāṇḍavas had completed their incognito exile, Lord Kṛṣṇa went with Sātyaki and other Yadus to see them in Indraprastha. The Pāṇḍavas greeted the Lord and embraced Him in great ecstasy. Their new bride, Draupadī, shyly approached Kṛṣṇa and bowed down to Him. Then the Pāṇḍavas properly worshiped and welcomed Sātyaki and the Lord's other companions, offering them sitting places.

Lord Kṛṣṇa paid a visit to Queen Kuntī, and after He had offered her His respects, they inquired from each other about their family members. As Kuntīdevi recalled the various miseries Duryodhana had inflicted upon her and her sons, she remarked that Kṛṣṇa was their only protector. "You are the well-wisher of the entire universe," she said, "yet even though You are free from all delusion of 'mine' and 'another's,' You nonetheless reside within the hearts of those who meditate on You constantly, and from within their hearts You destroy all their miseries." Then Yudhiṣṭhira told Kṛṣṇa, "Only because we executed many pious acts are we able to see Your lotus feet, which even great *yogīs* find it impossible to attain." Honored by King Yudhiṣṭhira, Śrī Kṛṣṇa happily remained as a guest in Indraprastha for several months.

One day, Kṛṣṇa and Arjuna went hunting in the forest. While bathing in the Yamunā River, they saw a charming young maiden. On Kṛṣṇa's request Arjuna went up to the girl and asked who she was. The beautiful maiden replied, "I am Kālindī, the daughter of the sun-god. Hoping to attain Lord Viṣṇu as my husband, I have been performing severe austerities. I will accept no one else as my husband, and until He marries me I will remain in the Yamunā, living in a house my father built for me here." After Arjuna reported all this to Kṛṣṇa, the omniscient Lord took Kālindī onto His chariot, and then the three of them returned to Yudhiṣṭhira's residence.

Later the Pāṇḍavas requested Kṛṣṇa to build them a city, and He did so by having Viśvakarmā, the architect of the demigods, construct one that was extremely attractive. The Lord satisfied His beloved devotees by remaining with them there for some time. Then, to please Agni, the fire-god, Kṛṣṇa arranged to offer him the Khāṇḍava forest. The Lord asked Arjuna to burn down the forest and accompanied him as his charioteer. Agni was so satisfied with the offering that he presented Arjuna with the Gāṇḍīva bow, a team of horses, a chariot, two inexhaustible quivers, and armor. While the Khāṇḍava forest burned, Arjuna saved a demon named Maya from the blaze. Maya Dānava reciprocated by building Arjuna a splendid palace. In this building Duryodhana would later get a good drenching after mistaking the surface of a pond for a solid floor, thus embarrassing himself.

Next Lord Kṛṣṇa took permission from Arjuna and His other relatives and went back to Dvārakā with His entourage. There He married Kālindī. Some time later He went to Avantīpura, where, in the presence of many kings, He abducted the King of Avantī's sister, Mitravindā, who was very much attracted to Him.

In the kingdom of Ayodhyā lived a devout king named Nagnajit. He had an extraordinarily beautiful, marriageable daughter named Satyā, or Nāgnajitī. The girl's relatives had laid down

the stipulation that any man who could subdue a certain group of seven ferocious bulls would win her hand. When Kṛṣṇa heard about this princess, He went to Ayodhyā with a large contingent of soldiers. King Nagnajit greeted Him hospitably and joyfully worshiped Him with various offerings. When Satyā saw Kṛṣṇa, she immediately desired Him as her husband, and King Nagnajit, understanding his daughter's intentions, informed Lord Kṛṣṇa of his own wish that the Lord and his daughter be married. The King affectionately told the Lord, "You alone would be a suitable husband for my daughter, and if You subdue the seven bulls You may certainly marry her."

Lord Kṛṣṇa then manifested Himself in seven separate forms and subdued the seven bulls. King Nagnajit duly presented his daughter to the Lord, together with a dowry of abundant gifts, and the Lord took Satyā onto His chariot for the journey back to Dvārakā. Just then the rival kings who had been defeated by the bulls tried to attack Lord Kṛṣṇa. But Arjuna easily beat them back, and Kṛṣṇa proceeded with Nāgnajitī to Dvārakā.

Subsequently Śrī Kṛṣṇa married Lakṣmaṇā after abducting her from her *svayaṁvara* ceremony, and He also married Bhadrā, the royal sister of Santardana.

1Śukadeva Gosvāmī said: Once, the supremely opulent Personality of Godhead went to Indraprastha to visit the Pāṇḍavas, who had again appeared in public. Accompanying the Lord were Yuyudhāna and other associates.

2When the Pāṇḍavas saw that Lord Mukunda had arrived, those heroic sons of Pṛthā all stood up at once, like the senses responding to the return of the life air.

3The heroes embraced Lord Acyuta, and the touch of His body freed them of sin. Looking at His affectionate, smiling face, they were overwhelmed with joy.

4After the Lord bowed down at the feet of Yudhiṣṭhira and Bhīma and firmly embraced Arjuna, He accepted obeisances from the twin brothers, Nakula and Sahadeva.

5Faultless Draupadī, the Pāṇḍavas' newly married wife, slowly and somewhat timidly approached Lord Kṛṣṇa, who sat on an exalted seat, and offered Him her obeisances.

6Sātyaki also accepted a seat of honor after receiving worship and welcome from the Pāṇḍavas, and the Lord's other companions, being duly honored, sat down in various places.

7The Lord then went to see His aunt, Queen Kuntī. He bowed down to her and she embraced Him, her eyes moist with great affection. Lord Kṛṣṇa inquired from her and her daughter-in-law, Draupadī, about their welfare, and they in turn questioned Him at length about His relatives [in Dvārakā].

8So overcome by love that her throat choked up and her eyes filled with tears, Queen Kuntī remembered the many troubles she and her sons had endured. Thus she addressed Lord Kṛṣṇa, who appears before His devotees to drive away their distress

9[Queen Kuntī said:] My dear Kṛṣṇa, our welfare was assured only when You remembered us, Your relatives, and gave us Your protection by sending my brother to visit us.

10For You, the well-wishing friend and Supreme Soul of the universe, there is never any illusion of "us" and "them." Yet even so, residing within the hearts of all, You eradicate the sufferings of those who remember You constantly.

11King Yudhiṣṭhira said: O supreme controller, I do not know what pious deeds we fools have

done so that we can see You, whom the masters of yogic perfection rarely see.

12Requested by the King to stay with them, the almighty Lord remained happily in Indraprastha during the months of the rainy season, giving joy to the eyes of the city's residents.

13-14Once Arjuna, the slayer of powerful enemies, donned his armor, mounted his chariot flying the flag of Hanumān, took up his bow and his two inexhaustible quivers, and went to sport with Lord Kṛṣṇa in a large forest filled with fierce animals.

15With his arrows Arjuna shot tigers, boars and buffalo in that forest, along with rurus, śarabhas, gavayas, rhinoceroses, black deer, rabbits and porcupines.

16A crew of servants carried to King Yudhiṣṭhira the slain animals fit to be offered in sacrifice on some special occasion. Then, feeling thirsty and tired, Arjuna went to the bank of the Yamunā.

17After the two Kṛṣṇas bathed there, they drank the river's clear water. The great warriors then saw an attractive young girl walking nearby.

18Sent by his friend, Arjuna approached the exceptional young woman, who possessed beautiful hips, fine teeth and a lovely face, and inquired from her as follows.

19[Arjuna said:] Who are you, O fine-waisted lady? Whose daughter are you, and where do you come from? What are you doing here? I think you must be looking for a husband. Please explain everything, O beautiful one.

20Śrī Kālindī said: I am the daughter of the sun-god. I desire to get as my husband the most excellent and munificent Lord Viṣṇu, and to that end I am performing severe penances.

21I will accept no husband other than Him, the abode of the goddess of fortune. May that Mukunda, the Supreme Personality, the shelter of the helpless, be pleased with me.

22I am known as Kālindī, and I live in a mansion my father built for me within the water of the Yamunā. There I will stay until I meet Lord Acyuta.

23[Śukadeva Gosvāmī continued:] Arjuna repeated all this to Lord Vāsudeva, who was already aware of it. The Lord then took Kālindī onto His chariot and went back to see King Yudhiṣṭhira.

24[Describing a previous incident, Śukadeva Gosvāmīsaid:] Upon the request of the Pāṇḍavas, Lord Kṛṣṇa had Viśvakarmā build them a most wonderful and amazing city.

25The Supreme Lord stayed in that city for some time to please His devotees. On one occasion, Śrī Kṛṣṇa wanted to give the Khāṇḍava forest as a gift to Agni, and so the Lord became Arjuna's charioteer.

26Being pleased, O King, Lord Agni presented Arjuna with a bow, a set of white horses, a chariot, a pair of inexhaustible quivers, and armor that no fighter could pierce with weapons.

27When the demon Maya was saved from the fire by his friend Arjuna, Maya presented him with an assembly hall, in which Duryodhana would later mistake water for a solid floor.

28Then Lord Kṛṣṇa, given leave by Arjuna and other well-wishing relatives and friends, returned to Dvārakā with Sātyaki and the rest of His entourage.

29The supremely auspicious Lord then married Kālindī on a day when the season, the lunar asterism and the configurations of the sun and other heavenly bodies were all propitious. In this way He brought the greatest pleasure to His devotees.

30Vindya and Anuvindya, who shared the throne of Avantī, were followers of Duryodhana's. When the time came for their sister [Mitravindā] to select her husband in the svayaṁvara ceremony, they forbade her to choose Kṛṣṇa, although she was attracted to Him.

31My dear King, Lord Kṛṣṇa forcibly took away Princess Mitravindā, the daughter of His aunt Rājādhidevī, before the eyes of the rival kings.

32O King, Nagnajit, the very pious King of Kośala, had a lovely daughter named Satyā, or Nāgnajitī.

33The kings who came as suitors were not allowed to marry her unless they could subdue seven sharp-horned bulls. These bulls were extremely vicious and uncontrollable, and they could not tolerate even the smell of warriors.

34When the Supreme Personality of Godhead, the master of the Vaiṣṇavas, heard of the princess who was to be won by the conqueror of the bulls, He went to the capital of Kauśalya with a large army.

35The King of Kośala, pleased to see Lord Kṛṣṇa, worshiped Him by rising from his throne and offering Him a seat of honor and substantial gifts. Lord Kṛṣṇa also greeted the King respectfully.

36When the King's daughter saw that most agreeable suitor arrive, she immediately desired to have Him, the Lord of Goddess Rāma. She prayed, "May He become my husband. If I have kept my vows, may the sacred fire bring about the fulfillment of my hopes.

37"Goddess Lakṣmī, Lord Brahma, Lord Śiva and the rulers of the various planets place the dust of His lotus feet on their heads, and to protect the codes of religion, which He has created, He assumes pastime incarnations at various times. How may that Supreme Personality of Godhead become pleased with me?"

38King Nagnajit first worshiped the Lord properly and then addressed Him: "O Nārāyaṇa, Lord of the universe, You are full in Your own spiritual pleasure. Therefore what can this insignificant person do for You?"

39Śukadeva Gosvāmī said: O beloved descendant of Kuru, the Supreme Lord was pleased, and after accepting a comfortable seat He smiled and addressed the King in a voice as deep as the rumbling of a cloud.

40The Supreme Lord said: O ruler of men, learned authorities condemn begging for a person in the royal order who is executing his religious duties. Even so, desiring your friendship, I ask you for your daughter, though We offer no gifts in exchange.

41The King said: My Lord, who could be a better husband for my daughter than You, the exclusive abode of all transcendental qualities? On Your body the goddess of fortune herself resides, never leaving You for any reason.

42But to ascertain the proper husband for my daughter, O chief of the Sātvatas, we previously set a condition to test the prowess of her suitors.

43These seven wild bulls are impossible to tame, O hero. They have defeated many princes, breaking their limbs.

44If You can subdue them, O descendant of Yadu, You will certainly be the appropriate bridegroom for my daughter, O Lord of Śrī.

45Upon hearing these terms, the Lord tightened His clothing, expanded Himself into seven forms and easily subdued the bulls.

46Lord Śauri tied up the bulls, whose pride and strength were now broken, and pulled them with ropes just as a child playfully pulls wooden toy bulls.

47Then King Nagnajit, pleased and astonished, presented his daughter to Lord Kṛṣṇa. The Supreme Personality of Godhead accepted this suitable bride in the proper Vedic fashion.

48The King's wives felt the greatest ecstasy upon attaining Lord Kṛṣṇa as the dear husband of the royal princess, and a mood of great festivity arose.

49Conchshells, horns and drums resounded, along with vocal and instrumental music and the sounds of brāhmaṇas, invoking blessings. The joyful men and women adorned themselves with fine clothing and garlands.

50-51As the dowry, powerful King Nagnajit gave ten thousand cows, three thousand young maidservants wearing golden ornaments on their necks and bedecked in fine clothing, nine thousand elephants, a hundred times as many chariots as elephants, a hundred times as many horses as chariots, and a hundred times as many manservants as horses.

52The King of Kośala, his heart melting with affection, had the bride and groom seated on their chariot, and then he sent them on their way surrounded by a great army.

53When the intolerant kings who had been rival suitors heard what had happened, they tried to stop Lord Kṛṣṇa on the road as He took His bride home. But just as the bulls had broken the kings' strength before, the Yadu warriors broke it now.

54Arjuna, wielder of the Gāṇḍīva bow, was always eager to please his friend Kṛṣṇa, and thus he drove back those opponents, who were shooting torrents of arrows at the Lord. He did this just as a lion drives away insignificant animals.

55Lord Devakī-suta, the chief of the Yadus, then took His dowry and Satyā to Dvārakā and continued to live there happily.

56Bhadrā was a princess of the Kaikeya kingdom and the daughter of Lord Kṛṣṇa's paternal aunt Śrutakīrti. The Lord married Bhadrā when her brothers, headed by Santardana, offered her to Him.

57Then the Lord married Lakṣmaṇā, the daughter of the King of Madra. Kṛṣṇa appeared alone at her svayaṁvara ceremony and took her away, just as Garuḍa once stole the demigods' nectar.

58Lord Kṛṣṇa also acquired thousands of other wives equal to these when He killed Bhaumāsura and freed the beautiful maidens the demon was holding captive.

## SB 10.59: The Killing of the Demon Naraka

This chapter tells how Lord Kṛṣṇa killed Narakāsura, the son of the earth-goddess, and married the thousands of maidens the demon had kidnapped. It also describes how the Lord stole the *pārijāta* tree from heaven and how He behaved like an ordinary householder in each of His palaces.

After Narakāsura stole Lord Varuṇa's umbrella, mother Aditi's earrings, and the playground of the demigods known as Maṇi-parvata, Indra went to Dvārakā and described the demon's transgressions to Lord Kṛṣṇa. Together with Queen Satyabhāmā, the Lord mounted His carrier Garuḍa and traveled to the capital of Narakāsura's kingdom. On a field outside the city He decapitated the demon Mura with His disc. Then He fought Mura's seven sons and sent them all to the abode of death, after which Narakāsura himself entered the battlefield on the back of an elephant. Naraka threw his *śakti* lance at Śrī Kṛṣṇa, but the weapon proved ineffective, and the Lord cut the demon's entire army to pieces. Finally, with His sharp-edged disc Kṛṣṇa cut off Narakāsura's head.

The earth-goddess, Pṛthivī, then approached Lord Kṛṣṇa and gave Him the various items Narakāsura had stolen. She offered prayers to the Lord and presented Naraka's frightened son at Lord Kṛṣṇa's lotus feet. After pacifying the demon's son, Kṛṣṇa entered Narakāsura's palace, where He found sixteen thousand one hundred young women. As soon as they caught sight of the Lord, they all decided to accept Him as their husband. The Lord sent them to Dvārakā along with a great quantity of treasure and then went with Queen Satyabhāmā to the abode of Indra. There He returned Aditi's earrings, and Indra and his wife, Śacīdevī, worshiped Him. On Satyabhāmā's request, Lord Kṛṣṇa uprooted the heavenly *pārijāta* tree and put it on the back of Garuḍa. After defeating Indra and the other demigods who opposed His taking of the tree, Kṛṣṇa returned with Queen Satyabhāmā to Dvārakā, where He planted it in a garden adjacent to Satyabhāmā's palace.

Indra had originally come to Lord Kṛṣṇa offering obeisances and begging Him to kill Narakāsura, but afterwards, when his business had been accomplished, he quarreled with the Lord. The demigods are prone to anger because they become intoxicated with pride in their opulences.

The infallible Supreme Lord manifested Himself in sixteen thousand one hundred separate forms and married each of the sixteen thousand one hundred brides in a different temple. He took up the required activities of household life just like an ordinary person, accepting various kinds of service from each of His many wives.

1[King Parīkṣit said:] How was Bhaumāsura, who kidnapped so many women, killed by the Supreme Lord? Please narrate this adventure of Lord Śārṅgadhanvā's.

2-3Śukadeva Gosvāmī said: After Bhauma had stolen the earrings belonging to Indra's mother, along with Varuṇa's umbrella and the demigods' playground at the peak of Mandara mountain, Indra went to Lord Kṛṣṇa and informed Him of these misdeeds. The Lord, taking His wife Satyabhāmā with Him, then rode on Garuḍa to Prāgyotiṣa-pura, which was surrounded on all sides by fortifications consisting of hills, unmanned weapons, water, fire and wind, and by obstructions of mura-pāśa wire.

4With His club the Lord broke through the rock fortifications; with His arrows, the weapon fortifications; with His disc, the fire, water and wind fortifications; and with His sword, the mura-pāśa cables.

5With the sound of His conchshell Lord Gadādhara then shattered the magic seals of the fortress, along with the hearts of its brave defenders, and with His heavy club He demolished the surrounding earthen ramparts.

6The five-headed demon Mura, who slept at the bottom of the city's moat, awoke and rose up out of the water when he heard the vibration of Lord Kṛṣṇa's Pāṣcajanya conchshell, a sound as

terrifying as the thunder at the end of the cosmic age.

7Shining with the blinding, terrible effulgence of the sun's fire at the end of a millennium, Mura seemed to be swallowing up the three worlds with his five mouths. He lifted up his trident and fell upon Garuḍa, the son of Tārkṣya, like an attacking snake.

8Mura whirled his trident and then hurled it fiercely at Garuḍa, roaring from all five mouths. The sound filled the earth and sky, all directions and the limits of outer space, until it reverberated against the very shell of the universe.

9Then with two arrows Lord Hari struck the trident flying toward Garuḍa and broke it into three pieces. Next the Lord hit Mura's faces with several arrows, and the demon angrily hurled his club at the Lord.

10As Mura's club sped toward Him on the battlefield, Lord Gadāgraja intercepted it with His own and broke it into thousands of pieces. Mura then raised his arms high and rushed at the unconquerable Lord, who easily sliced off his heads with His disc weapon.

11Lifeless, Mura's decapitated body fell into the water like a mountain whose peak has been severed by the power of Lord Indra's thunderbolt. The demon's seven sons, enraged by their father's death, prepared to retaliate.

12Ordered by Bhaumāsura, Mura's seven sonsTāmra, Antarikṣa, Śravaṇa, Vibhāvasu, Vasu, Nabhasvān and Aruṇafollowed their general, Pīṭha, onto the battlefield bearing their weapons.

13These fierce warriors furiously attacked invincible Lord Kṛṣṇa with arrows, swords, clubs, spears, lances and tridents, but the Supreme Lord, with unfailing prowess, cut this mountain of weapons into tiny pieces with His arrows.

14The Lord severed the heads, thighs, arms, legs and armor of these opponents led by Pīṭha and sent them all to the abode of Yamarāja. Narakāsura, the son of the earth, could not contain his fury when he saw the fate of his military leaders. Thus he went out of the citadel with elephants born from the Milk Ocean who were exuding mada from their foreheads out of excitement.

15Lord Kṛṣṇa and His wife, mounted upon Garuḍa, looked like a cloud with lightning sitting above the sun. Seeing the Lord, Bhauma released his Śataghnī weapon at Him, whereupon all of Bhauma's soldiers simultaneously attacked with their weapons.

16At that moment Lord Gadāgraja shot His sharp arrows at Bhaumāsura's army. These arrows, displaying variegated feathers, soon reduced that army to a mass of bodies with severed arms, thighs and necks. The Lord similarly killed the opposing horses and elephants.

17-19Lord Hari then struck down all the missiles and weapons the enemy soldiers threw at Him, O hero of the Kurus, destroying each and every one with three sharp arrows. Meanwhile Garuḍa, as he carried the Lord, struck the enemy's elephants with his wings. Beaten by Garuḍa's wings, beak and talons, the elephants fled back into the city, leaving Narakāsura alone on the battlefield to oppose Kṛṣṇa.

20Seeing his army driven back and tormented by Garuḍa, Bhauma attacked him with his spear, which had once defeated Lord Indra's thunderbolt. But though struck by that mighty weapon, Garuḍa was not shaken. Indeed, he was like an elephant hit with a flower garland.

21Bhauma, frustrated in all his attempts, took up his trident to kill Lord Kṛṣṇa. But even before

he could release it, the Lord cut off his head with His razor-sharp cakra as the demon sat atop his elephant.

22Fallen on the ground, Bhaumāsura's head shone brilliantly, decorated as it was with earrings and an attractive helmet. As cries of "Alas, alas!" and "Well done!" arose, the sages and principal demigods worshiped Lord Mukunda by showering Him with flower garlands.

23The goddess of the earth then approached Lord Kṛṣṇa and presented Him with Aditi's earrings, which were made of glowing gold inlaid with shining jewels. She also gave Him a Vaijayantī flower garland, Varuṇa's umbrella and the peak of Mandara Mountain.

24O King, after bowing down to Him and then standing with joined palms, the goddess, her mind filled with devotion, began to praise the Lord of the universe, whom the best of demigods worship.

25Goddess Bhūmi said: Obeisances unto You, O Lord of the chief demigods, O holder of the conchshell, disc and club. O Supreme Soul within the heart, You assume Your various forms to fulfill Your devotees' desires. Obeisances unto You.

26My respectful obeisances are unto You, O Lord, whose abdomen is marked with a depression like a lotus flower, who are always decorated with garlands of lotus flowers, whose glance is as cool as the lotus and whose feet are engraved with lotuses.

27Obeisances unto You, the Supreme Lord Vāsudeva, Viṣṇu, the primeval person, the original seed. Obeisances unto You, the omniscient one.

28Obeisances unto You of unlimited energies, the unborn progenitor of this universe, the Absolute. O Soul of the high and the low, O Soul of the created elements, O all-pervading Supreme Soul, obeisances unto You.

29Desiring to create, O unborn master, You increase and then assume the mode of passion. You do likewise with the mode of ignorance when You wish to annihilate the universe and with goodness when You wish to maintain it. Nonetheless, You remain uncovered by these modes. You are time, the pradhāna, and the puruṣa, O Lord of the universe, yet still You are separate and distinct.

30This is illusion: that earth, water, fire, air, ether, sense objects, demigods, mind, the senses, false ego and the total material energy exist independent of You. In fact, they are all within You, my Lord, who are one without a second.

31Here is the son of Bhaumāsura. Frightened, he is approaching Your lotus feet, since You remove the distress of all who seek refuge in You. Please protect him. Place Your lotus hand, which dispels all sins, upon his head.

32Śukadeva Gosvāmī said: Thus entreated by Goddess Bhūmi in words of humble devotion, the Supreme Lord bestowed fearlessness upon her grandson and then entered Bhaumāsura's palace, which was filled with all manner of riches.

33There Lord Kṛṣṇa saw sixteen thousand royal maidens, whom Bhauma had taken by force from various kings.

34The women became enchanted when they saw that most excellent of males enter. In their minds they each accepted Him, who had been brought there by destiny, as their chosen husband.

35With the thought "May providence grant that this man become my husband," each and every princess absorbed her heart in contemplation of Kṛṣṇa.

36The Lord had the princesses arrayed in clean, spotless garments and then sent them in palanquins to Dvārakā, together with great treasures of chariots, horses and other valuables.

37Lord Kṛṣṇa also dispatched sixty-four swift white elephants, descendants of Airāvata, who each sported four tusks.

38-39The Lord then went to the abode of Indra, the demigods' king, and gave mother Aditi her earrings; there Indra and his wife worshiped Kṛṣṇa and His beloved consort Satyabhāmā. Then, at Satyabhāmā's behest the Lord uprooted the heavenly pārijāta tree and put it on the back of Garuḍa. After defeating Indra and all the other demigods, Kṛṣṇa brought the pārijāta to His capital.

40Once planted, the pārijāta tree beautified the garden of Queen Satyabhāmā's palace. Bees followed the tree all the way from heaven, greedy for its fragrance and sweet sap.

41Even after Indra had bowed down to Lord Acyuta, touched His feet with the tips of his crown and begged the Lord to fulfill his desire, that exalted demigod, having achieved his purpose, chose to fight with the Supreme Lord. What ignorance there is among the gods! To hell with their opulence!

42Then the imperishable Supreme Personality, assuming a separate form for each bride, duly married all the princesses simultaneously, each in her own palace.

43The Lord, performer of the inconceivable, constantly remained in each of His queens' palaces, which were unequaled and unexcelled by any other residence. There, although fully satisfied within Himself, He enjoyed with His pleasing wives, and like an ordinary husband He carried out His household duties.

44Thus those women obtained as their husband the husband of the goddess of fortune, although even great demigods like Brahmā do not know how to approach Him. With ever-increasing pleasure they experienced loving attraction for Him, exchanged smiling glances with Him and reciprocated with Him in ever-fresh intimacy, replete with joking and feminine shyness.

45Although the Supreme Lord's queens each had hundreds of maidservants, they chose to personally serve the Lord by approaching Him humbly, offering Him a seat, worshiping Him with excellent paraphernalia, bathing and massaging His feet, giving Him pān to chew, fanning Him, anointing Him with fragrant sandalwood paste, adorning Him with flower garlands, dressing His hair, arranging His bed, bathing Him, and presenting Him with various gifts.

## SB 10.60: Lord Kṛṣṇa Teases Queen Rukmiṇī.

This chapter describes how Lord Kṛṣṇa provoked anger in Queen Rukmiṇī with joking words and then consoled her, thus demonstrating the opulence of a lovers' quarrel.

One day Lord Kṛṣṇa sat at ease in Queen Rukmiṇī's bedroom while she and her maidservants attended to Him in various ways. Rukmiṇī always responded to Śrī Kṛṣṇa's moods, whatever they might be. On this occasion the Lord looked at Rukmiṇī, whose beauty was faultless, and began to tease her: "Previously many wealthy kings, worthy of you in their appearance and character, wanted to marry you. In fact, your father and brother intended to give you in

marriage to Śiśupāla. Why, then, did you accept such an unsuitable husband as Me, who once renounced My kingdom and fled to the sea in fear of Jarāsandha? Besides, I transgress worldly morality, and because I own nothing I am dear to other paupers. Certainly the well-to-do would not worship one such as Me.

"When a man and a woman share the same social class, influence, physical beauty and so on, marriage or friendship can flourish between them. But out of shortsightedness you have accepted a husband who lacks every good quality and is glorified by beggars. Better you had married some prominent warrior; then you might have been happy in this life and the next. Your brother Rukmī and kings like Śiśupāla all hate Me, and it was only to cut down their pride that I kidnapped you. But as for such things as body, home, wife and children, I'm indifferent to them, being the self-satisfied Personality of Godhead, transcendental to all material affairs."

Śrī Kṛṣṇa stopped speaking, having destroyed Queen Rukmiṇī's confidence that she was her husband's favorite. She began to cry, and soon she became stunned in extreme fear, pain and sadness and fell unconscious. Lord Kṛṣṇa saw that she had misunderstood His joking, and thus He felt compassion for her. He picked her up from the floor and, caressing her face, consoled her: "I know you are totally attached to Me. It was only out of eagerness to see your lotus face adorned with a frown that I teased you. To joke with one's beloved is the highest enjoyment for householders." These words dispelled Rukmiṇī's fear of rejection. Seeing that Kṛṣṇa had spoken only in jest, she said, "What You said about the two of us being mismatched is actually true. After all, no one is equal to You, the omnipotent master of the three principal deitiesBrahmā, Viṣṇu and Śiva." Rukmiṇī went on to show how everything Kṛṣṇa had said denigrating Himself was actually glorification.

Lord Kṛṣṇa then spoke to Rukmiṇī with deep affection: "I did not intend to agitate your mind with My joking words; rather, I wanted to demonstrate the strength of your chastity. Anyone who prays to Me for sense gratification and happiness in family life is simply deluded by My illusory energy, Māyā. Such a person will take a low birth. Ordinary women with corrupt desires cannot possibly worship Me faithfully, as you have done. At the time of your marriage you showed no interest in any of the royal suitors; rather, you sent a *brāhmaṇa* messenger for Me. Thus you are certainly the most beloved of all My consorts."

In this way the Lord of the universe, Śrī Kṛṣṇa, took pleasure in joking with the goddess of fortune in her form as Rukmiṇī, and in a similar fashion He fulfilled all the duties of a householder in each palace of His other queens.

1Śrī Bādarāyaṇi said: Once, in the company of her maidservants, Queen Rukmiṇī was personally serving her husband, the spiritual master of the universe, by fanning Him as He relaxed on her bed.

2The unborn Personality of Godhead, the supreme controller, who creates, maintains and then devours this universe simply as His play, took birth among the Yadus to preserve His own laws.

3-6Queen Rukmiṇī's quarters were extremely beautiful, boasting a canopy hung with brilliant strings of pearls, as well as effulgent jewels serving as lamps. Garlands of jasmine and other flowers hung here and there, attracting swarms of humming bees, and the spotless rays of the moon shone through the holes of the lattice windows. As aguru incense drifted out of the window holes, my dear King, the breeze wafting the scent of the pārijāta grove carried the mood of a garden into the room. There the Queen served her husband, the Supreme Lord of all the worlds, as He reclined upon an opulent pillow on her bed, which was as soft and white as the foam of milk.

7From her maidservant's hand Goddess Rukmiṇī took a yak-hair fan with a jeweled handle, and then she began to worship her master by fanning Him.

8Her hand adorned with rings, bangles and the cāmara fan, Queen Rukmiṇī looked resplendent standing near Lord Kṛṣṇa. Her jeweled ankle-bells tinkled, and her necklace glittered, reddened by the kuṅkuma from her breasts, which were covered by the end of her sari. On her hips she wore a priceless belt.

9As He contemplated her, the goddess of fortune herself, who desires only Him, Lord Kṛṣṇa smiled. The Lord assumes various forms to enact His pastimes, and He was pleased that the form the goddess of fortune had assumed was just suitable for her to serve as His consort. Her charming face was adorned with curling hair, earrings, a locket on her neck, and the nectar of her bright, happy smile. The Lord then spoke to her as follows.

10The Supreme Lord said: My dear princess, you were sought after by many kings as powerful as the rulers of planets. They were all abundantly endowed with political influence, wealth, beauty, generosity and physical strength.

11Since your brother and father offered you to them, why did you reject the King of Cedi and all those other suitors, who stood before you, maddened by Cupid? Why, instead, did you choose Us, who are not at all your equal?

12Terrified of these kings, O lovely-browed one, We took shelter in the ocean. We have become enemies of powerful men, and We practically abandoned Our royal throne.

13O fine-browed lady, women are usually destined to suffer when they stay with men whose behavior is uncertain and who pursue a path not approved by society.

14We have no material possessions, and We are dear to those who similarly have nothing. Therefore, O slender one, the wealthy hardly ever worship Me.

15Marriage and friendship are proper between two people who are equal in terms of their wealth, birth, influence, physical appearance and capacity for good progeny, but never between a superior and an inferior.

16O Vaidarbhī, not being farsighted, you didn't realize this, and therefore you chose Us as your husband, even though We have no good qualities and are glorified only by deluded beggars.

17Now you should definitely accept a more suitable husband, a first-class man of the royal order who can help you achieve everything you want, both in this life and the next.

18Kings like Śiśupāla, Śālva, Jarāsandha and Dantavakra all hate Me, O beautiful-thighed one, and so does your elder brother Rukmī.

19It was to dispel the arrogance of these kings that I carried you away, My good woman, for they were blinded by the intoxication of power. My purpose was to curb the strength of the wicked.

20We care nothing for wives, children and wealth. Always satisfied within Ourselves, We do not work for body and home, but like a light, We merely witness.

21Śukadeva Gosvāmī said: Rukmiṇī had thought herself especially beloved by the Lord because He never left her company. By saying these things to her He vanquished her pride, and then He stopped speaking.

22Goddess Rukmiṇī had never before heard such unpleasantries from her beloved, the Lord of universal rulers, and she became frightened. A tremor arose in her heart, and in terrible anxiety she began to cry.

23With her tender foot, effulgent with the reddish glow of her nails, she scratched the ground, and tears darkened by her eye makeup sprinkled her kuṅkuma-reddened breasts. There she stood, face downward, her voice choked up by extreme sorrow.

24Rukmiṇī's mind was overwhelmed with unhappiness, fear and grief. Her bangles slipped from her hand, and her fan fell to the ground. In her bewilderment she suddenly fainted, her hair scattering all about as her body fell to the ground like a plantain tree blown over by the wind.

25Seeing that His beloved was so bound to Him in love that she could not understand the full meaning of His teasing, merciful Lord Kṛṣṇa felt compassion for her.

26The Lord quickly got down from the bed. Manifesting four arms, He picked her up, gathered her hair and caressed her face with His lotus hand.

27-28Wiping her tear-filled eyes and her breasts, which were stained by tears of grief, the Supreme Lord, the goal of His devotees, embraced His chaste wife, who desired nothing but Him, O King. Expert in the art of pacification, Śrī Kṛṣṇa tenderly consoled pitiable Rukmiṇī, whose mind was bewildered by His clever joking and who did not deserve to suffer so.

29The Supreme Lord said: O Vaidarbhī, do not be displeased with Me. I know that you are fully devoted to Me. I only spoke in jest, dear lady, because I wanted to hear what you would say.

30I also wanted to see your face with lips trembling in loving anger, the reddish corners of your eyes throwing sidelong glances and the line of your beautiful eyebrows knit in a frown.

31The greatest pleasure worldly householders can enjoy at home is to spend time joking with their beloved wives, My dear timid and temperamental one.

32Śukadeva Gosvāmī said: O King, Queen Vaidarbhī was fully pacified by the Supreme Personality of Godhead and understood that His words had been spoken in jest. Thus she gave up her fear that her beloved would reject her.

33Smiling bashfully as she cast charming, affectionate glances upon the face of the Lord, the best of males, Rukmiṇī spoke the following, O descendant of Bharata.

34Śrī Rukmiṇī said: Actually, what You have said is true, O lotus-eyed one. I am indeed unsuitable for the almighty Personality of Godhead. What comparison is there between that Supreme Lord, who is master of the three primal deities and who delights in His own glory, and myself, a woman of mundane qualities whose feet are grasped by fools?

35Yes, my Lord Urukrama, You lay down within the ocean as if afraid of the material modes, and thus in pure consciousness You appear within the heart as the Supersoul. You are always battling against the foolish material senses, and indeed even Your servants reject the privilege of royal dominion, which leads to the blindness of ignorance.

36Your movements, inscrutable even for sages who relish the honey of Your lotus feet, are certainly incomprehensible for human beings who behave like animals. And just as Your activities are transcendental, O all-powerful Lord, so too are those of Your followers.

37You possess nothing because there is nothing beyond You. Even the great enjoyers of tributeBrahmā and other demigodspay tribute to You. Those who are blinded by their wealth and absorbed in gratifying their senses do not recognize You in the form of death. But to the gods, the enjoyers of tribute, You are the most dear, as they are to You.

38You are the embodiment of all human goals and are Yourself the final aim of life. Desiring to attain You, O all-powerful Lord, intelligent persons abandon everything else. It is they who are worthy of Your association, not men and women absorbed in the pleasure and grief resulting from their mutual lust.

39Knowing that great sages who have renounced the sannyāsī's daṇḍa proclaim Your glories, that You are the Supreme Soul of all the worlds, and that You are so gracious that You give away even Your own self, I chose You as my husband, rejecting Lord Brahmā, Lord Śiva and the rulers of heaven, whose aspirations are all frustrated by the force of time, which is born from Your eyebrows. What interest, then, could I have in any other suitors?

40My Lord, as a lion drives away lesser animals to claim his proper tribute, You drove off the assembled kings with the resounding twang of Your Śārṅga bow and then claimed me, Your fair share. Thus it is sheer foolishness, my dear Gadāgraja, for You to say You took shelter in the ocean out of fear of those kings.

41Wanting Your association, the best of kingsAṅga, Vainya, Jāyanta, Nāhuṣa, Gaya and othersabandoned their absolute sovereignty and entered the forest to seek You out. How could those kings suffer frustration in this world, O lotus-eyed one?

42The aroma of Your lotus feet, which is glorified by great saints, awards people liberation and is the abode of Goddess Lakṣmī. What woman would take shelter of any other man after savoring that aroma? Since You are the abode of transcendental qualities, what mortal woman with the insight to distinguish her own true interest would disregard that fragrance and depend instead on someone who is always subject to terrible fear?

43Because You are suitable for me, I have chosen You, the master and Supreme Soul of all the worlds, who fulfill our desires in this life and the next. May Your feet, which give freedom from illusion by approaching their worshiper, give shelter to me, who have been wandering from one material situation to another.

44O infallible Kṛṣṇa, let each of the kings You named become the husband of a woman whose ears have never heard Your glories, which are sung in the assemblies of Śiva and Brahmā. After all, in the households of such women these kings live like asses, oxen, dogs, cats and slaves.

45A woman who fails to relish the fragrance of the honey of Your lotus feet becomes totally befooled, and thus she accepts as her husband or lover a living corpse covered with skin, whiskers, nails, head-hair and body-hair and filled with flesh, bones, blood, parasites, feces, mucus, bile and air.

46O lotus-eyed one, though You are satisfied within Yourself and thus rarely turn Your attention toward me, please bless me with steady love for Your feet. It is when You assume a predominance of passion in order to manifest the universe that You glance upon me, showing me what is indeed Your greatest mercy.

47Actually, I don't consider Your words false, Madhūsudana. Quite often an unmarried girl is attracted to a man, as in the case of Ambā.

48The mind of a promiscuous woman always hankers for new lovers, even if she is married.

An intelligent man should not keep such an unchaste wife, for if he does he will lose his good fortune both in this life and the next.

49The Supreme Lord said: O saintly lady, O princess, We deceived you only because We wanted to hear you speak like this. Indeed, everything you said in reply to My words is most certainly true.

50Whatever benedictions you hope for in order to become free of material desires are ever yours, O fair and noble lady, for you are My unalloyed devotee.

51O sinless one, I have now seen firsthand the pure love and chaste attachment you have for your husband. Even though shaken by My words, your mind could not be pulled away from Me.

52Although I have the power to award spiritual liberation, lusty persons worship Me with penance and vows in order to get My blessings for their mundane family life. Such persons are bewildered by My illusory energy.

53O supreme reservoir of love, unfortunate are they who even after obtaining Me, the Lord of both liberation and material riches, hanker only for material treasures. These worldly gains can be found even in hell. Since such persons are obsessed with sense gratification, hell is a fitting place for them.

54Fortunately, O mistress of the house, you have always rendered Me faithful devotional service, which liberates one from material existence. This service is very difficult for the envious to perform, especially for a woman whose intentions are wicked, who lives only to gratify her bodily demands, and who indulges in duplicity.

55In all My palaces I can find no other wife as loving as you, O most respectful one. When you were to be married, you disregarded all the kings who had assembled to seek your hand, and simply because you had heard authentic accounts concerning Me, you sent a brāhmaṇa to Me with your confidential message.

56When your brother, who had been defeated in battle and then disfigured, was later killed during a gambling match on Aniruddha's wedding day, you felt unbearable grief, yet out of fear of losing Me you spoke not a word. By this silence you have conquered Me.

57When you sent the messenger with your most confidential plan and yet I delayed going to you, you began to see the whole world as void and wanted to quit your body, which could never have been given to anyone but Me. May this greatness of yours remain with you always; I can do nothing to reciprocate except joyfully thank you for your devotion.

58Śukadeva Gosvāmī said: And so the self-satisfied Supreme Lord of the universe enjoyed with the goddess of fortune, engaging her in lovers' talks and thus imitating the ways of human society.

59The almighty Lord Hari, preceptor of all the worlds, similarly behaved like a conventional householder in the palaces of His other queens, performing the religious duties of a family man.

## SB 10.61: Lord Balarāma Slays Rukmī

This chapter lists Lord Śrī Kṛṣṇa's sons, grandsons and other progeny. It also describes how Lord Balarāma killed Rukmī at Aniruddha's marriage ceremony and how Lord Kṛṣṇa arranged for His sons and daughters to be married.

Not understanding the full truth about Śrī Kṛṣṇa, each of His wives thought that since He remained constantly in her palace she must be His favorite wife. They were all entranced by the Lord's beauty and His loving conversations with them, but they could not agitate His mind with the charming gestures of their eyebrows or by any other means. Having attained as their husband Lord Kṛṣṇa, whom even demigods like Brahmā find it difficult to know in truth, the Lord's queens were always eager to associate with Him. Thus, although each of them had hundreds of maidservants, they would personally render Him menial service.

Each of Lord Kṛṣṇa's wives had ten sons, who in turn each fathered many sons and grandsons. In the womb of Rukmī's daughter Rukmavatī, Pradyumna fathered Aniruddha. Though Śrī Kṛṣṇa had disrespected Rukmī, to please his sister Rukmī gave his daughter in marriage to Pradyumna, and his granddaughter to Aniruddha. Balī, the son of Kṛtavarmā, married Rukmiṇī's daughter Cārumatī.

At Aniruddha's wedding, Lord Baladeva, Śrī Kṛṣṇa and other Yādavas went to Rukmī's palace in the city of Bhojakaṭa. After the ceremony, Rukmī challenged Lord Baladeva to a game of dice. In the first match Rukmī defeated Baladeva, whereupon the King of Kaliṅga laughed at the Lord, displaying all his teeth. Lord Baladeva won the next match, but Rukmī refused to concede defeat. A voice then spoke from the sky, announcing that Baladeva had in fact won. But Rukmī, encouraged by the wicked kings, offended Lord Baladeva by saying that while He was certainly expert at tending cows, He knew nothing of playing dice. Thus insulted, Lord Baladeva angrily struck Rukmī dead with His club. The King of Kaliṅga tried to flee, but Lord Baladeva seized him and knocked out all his teeth. Then the other offensive kings, their arms, thighs and heads wounded by Baladeva's blows, fled in all directions, bleeding profusely. Śrī Kṛṣṇa expressed neither approval nor disapproval of His brother-in-law's death, fearing He would jeopardize His loving ties with either Rukmiṇī or Baladeva.

Lord Baladeva and the other Yādavas then seated Aniruddha and His bride on a fine chariot, and they all set off for Dvārakā.

1Śukadeva Gosvāmī said: Each of Lord Kṛṣṇa's wives gave birth to ten sons, who were not less than their father, having all His personal opulence.

2Because each of these princesses saw that Lord Acyuta never left her palace, each thought herself the Lord's favorite. These women did not understand the full truth about Him.

3The Supreme Lord's wives were fully enchanted by His lovely, lotuslike face, His long arms and large eyes, His loving glances imbued with laughter, and His charming talks with them. But with all their charms these ladies could not conquer the mind of the all-powerful Lord.

4The arched eyebrows of these sixteen thousand queens enchantingly expressed those ladies' secret intentions through coyly smiling sidelong glances. Thus their eyebrows boldly sent forth conjugal messages. Yet even with these arrows of Cupid, and with other means as well, they could not agitate Lord Kṛṣṇa's senses.

5Thus these women obtained as their husband the master of the goddess of fortune, although even great demigods like Brahmā do not know how to approach Him. With ever-increasing pleasure, they felt loving attraction for Him, exchanged smiling glances with Him, eagerly anticipated associating with Him in ever-fresh intimacy and enjoyed in many other ways.

6Although the Supreme Lord's queens each had hundreds of maidservants, they chose to personally serve the Lord by approaching Him humbly, offering Him a seat, worshiping Him with excellent paraphernalia, bathing and massaging His feet, giving Him pān to chew, fanning

Him, anointing Him with fragrant sandalwood paste, adorning Him with flower garlands, dressing His hair, arranging His bed, bathing Him and presenting Him with various gifts.

7Among Lord Kṛṣṇa's wives, each of whom had ten sons, I previously mentioned eight principal queens. I shall now recite for you the names of those eight queens' sons, headed by Pradyumna.

8-9The first son of Queen Rukmiṇī was Pradyumna, and also born of her were Cārudeṣṇa, Sudeṣṇa and the powerful Cārudeha, along with Sucāru, Cārugupta, Bhadracāru, Cārucandra, Vicāru and Cāru, the tenth. None of these sons of Lord Hari was less than his father.

10-12The ten sons of Satyabhāmā were Bhānu, Subhānu, Svarbhānu, Prabhānu, Bhānumān, Candrabhānu, Bṛhadbhānu, Atibhānu (the eighth), Śrībhānu and Pratibhānu. Sāmba, Sumitra, Purujit, Śatajit, Sahasrajit, Vijaya, Citraketu, Vasumān, Draviḍa and Kratu were the sons of Jāmbavatī. These ten, headed by Sāmba, were their father's favorites.

13The sons of Nāgnajitī were Vīra, Candra, Aśvasena, Citragu, Vegavān, Vṛṣa, Āma, Śaṅku, Vasu and the opulent Kunti.

14Śruta, Kavi, Vṛṣa, Vīra, Subāhu, Bhadra, Śānti, Darśa and Pūrṇamāsa were sons of Kālindī. Her youngest son was Somaka.

15Mādrā's sons were Praghoṣa, Gātravān, Siṁha, Bala, Prabala, Ūrdhaga, Mahāśakti, Saha, Oja and Aparājita.

16Mitravindā's sons were Vṛka, Harṣa, Anila, Gṛdhra, Vardhana, Unnāda, Mahāṁsa, Pāvana, Vahni and Kṣudhi.

17Saṅgrāmajit, Bṛhatsena, Śūra, Praharaṇa, Arijit, Jaya and Subhadra were the sons of Bhadrā, together with Vāma, Āyur and Satyaka.

18Dīptimān, Tāmratapta and others were the sons of Lord Kṛṣṇa and Rohiṇī. Lord Kṛṣṇa's son Pradyumna fathered the greatly powerful Aniruddha in the womb of Rukmavatī, the daughter of Rukmī. O King, this took place while they were living in the city of Bhojakaṭa.

19My dear King, the sons and grandsons of Lord Kṛṣṇa's children numbered in the tens of millions. Sixteen thousand mothers gave rise to this dynasty.

20King Parīkṣit said: How could Rukmī give his daughter to his enemy's son? After all, Rukmī had been defeated by Lord Kṛṣṇa in battle and was waiting for an opportunity to kill Him. Please explain this to me, O learned onehow these two inimical parties became united through marriage.

21Mystic yogīs can perfectly see that which has not yet happened, as well as things in the past or present, beyond the senses, remote or blocked by physical obstacles.

22ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: At her svayaṁvara ceremony, Rukmavatī herself chose Pradyumna, who was the re-embodiment of Cupid. Then, although He fought alone on a single chariot, Pradyumna defeated the assembled kings in battle and took her away.

23Though Rukmī always remembered his enmity toward Lord Kṛṣṇa, who had insulted him, in order to please his sister he sanctioned his daughter's marriage to his nephew.

24O King, Balī, the son of Kṛtavarmā, married Rukmiṇī's young daughter, large-eyed Cārumatī.

25Rukmī gave his granddaughter Rocanā to his daughter's son, Aniruddha, despite Rukmī's relentless feud with Lord Hari. Although Rukmī considered this marriage irreligious, he wanted to please his sister, bound as he was by the ropes of affection.

26On the joyous occasion of that marriage, O King, Queen Rukmiṇī, Lord Balarāma, Lord Kṛṣṇa and several of the Lord's sons, headed by Sāmba and Pradyumna, went to the city of Bhojakaṭa.

27-28After the wedding, a group of arrogant kings headed by the King of Kaliṅga told Rukmī, "You should defeat Balarāma at dice. He's not expert at dice, O King, but still He's quite addicted to it." Thus advised, Rukmī challenged Balarāma and began a gambling match with Him.

29In that match Lord Balarāma first accepted a wager of one hundred coins, then one thousand, then ten thousand. Rukmī won this first round, and the King of Kaliṅga laughed loudly at Lord Balarāma, showing all his teeth. Lord Balarāma could not tolerate this.

30Next Rukmī accepted a bet of one hundred thousand coins, which Lord Balarāma won. But Rukmī tried to cheat, declaring "I'm the winner!"

31Shaking with anger like the ocean on the full-moon day, handsome Lord Balarāma, His naturally reddish eyes even redder in His fury, accepted a wager of one hundred million gold coins.

32Lord Balarāma fairly won this wager also, but Rukmī again resorted to cheating and declared, "I have won! Let these witnesses here say what they saw."

33Just then a voice from the sky declared, "Balarāma has fairly won this wager. Rukmī is surely lying."

34Urged on by the wicked kings, Rukmī ignored the divine voice. In fact destiny itself was urging Rukmī on, and thus he ridiculed Lord Balarāma as follows.

35[Rukmī said:] You cowherds who wander about the forests know nothing about dice. Playing with dice and sporting with arrows are only for kings, not for the likes of You.

36Thus insulted by Rukmī and ridiculed by the kings, Lord Balarāma was provoked to anger. In the midst of the auspicious wedding assembly, He raised His club and struck Rukmī dead.

37The King of Kaliṅga, who had laughed at Lord Balarāma and shown his teeth, tried to run away, but the furious Lord quickly seized him on his tenth step and knocked out all his teeth.

38Tormented by Lord Balarāma's club, the other kings fled in fear, their arms, thighs and heads broken and their bodies drenched in blood.

39When His brother-in-law Rukmī was slain, Lord Kṛṣṇa neither applauded nor protested, O King, for He feared jeopardizing His affectionate ties with either Rukmiṇī or Balarāma.

40Then the descendants of Daśārha, headed by Lord Balarāma, seated Aniruddha and His bride on a fine chariot and set off from Bhojakaṭa for Dvārakā. Having taken shelter of Lord Madhusūdana, they had fulfilled all their purposes.

## SB 10.62: The Meeting of Ūṣā and Aniruddha

This chapter recounts the meeting of Aniruddha and Ūṣā, and also Aniruddha's battle with Bāṇāsura.

Of the one hundred sons of King Bali, the oldest was Bāṇāsura. He was a great devotee of Lord Śiva, who favored Bāṇa so much that even demigods like Indra would serve him. Bāṇāsura once satisfied Śiva by playing musical instruments with his one thousand hands while Śiva danced his *tāṇḍava-nṛtya*. In response, Śiva offered Bāṇa whatever benediction he chose, and Bāṇa asked Śiva to become the guardian of his city.

One day when Bāṇa was feeling an urge to do battle, he told Lord Śiva: "Except for you, in the whole world there is no warrior strong enough to fight me. Therefore these thousand arms you've given me are merely a heavy burden." Angered by these words, Lord Śiva replied, "Your pride will be crushed in battle when you meet my equal. Indeed, your chariot flag will fall to the ground, broken."

Bāṇāsura's daughter, Ūṣā, once had an encounter with a lover in her sleep. Several nights in a row this occurred, until one night she failed to see Him in her dreams. She suddenly awoke, speaking aloud to Him in a state of agitation, but when she noticed her maidservants around her, she felt embarrassed. Ūṣā's companion Citralekhā asked her who she had been addressing, and Ūṣā told her everything. Hearing of Ūṣā's dreamlover, Citralekhā tried to relieve her friend's distress by drawing pictures of Gandharvas and other celestial personalities, as well as various men of the Vṛṣṇi dynasty. Citralekhā asked Ūṣā to pick out the man she had seen in her dreams, and Ūṣā pointed to the picture of Aniruddha. Citralekhā, who had mystic powers, knew at once that the young man her friend had pointed out was Lord Kṛṣṇa's grandson Aniruddha. Then, using her mystic powers, Citralekhā flew through the sky to Dvārakā, found Aniruddha and brought Him back with her to Śoṇitapura, Bāṇāsura's capital. There she presented Him to Ūṣā.

Having obtained the man of her desires, Ūṣā began serving Him very affectionately within her private quarters, which were supposed to be strictly off limits to men. After some time the female guards of the inner palace noticed symptoms of sexual activity on Ūṣā's person, and they went to Bāṇāsura to inform him. Greatly disturbed, Bāṇāsura rushed to his daughter's apartments with many armed guards and, to his great surprise, saw Aniruddha there. As the guards attacked Him, Aniruddha took up His club and succeeded in killing a few before the powerful Bāṇa could capture Him with his mystic *nāga-pāśa* ropes, filling Ūṣā with lamentation.

1King Parīkṣit said: The best of the Yadus married Bāṇāsura's daughter, Ūṣā, and as a result a great, fearsome battle occurred between Lord Hari and Lord Śaṅkara. Please explain everything about this incident, O most powerful of mystics.

2Śukadeva Gosvāmī said: Bāṇa was the oldest of the hundred sons fathered by the great saint Bali Mahārāja, who gave the whole earth in charity to Lord Hari when He appeared as Vāmanadeva. Bāṇāsura, born from Bali's semen, became a great devotee of Lord Śiva. His behavior was always respectable, and he was generous, intelligent, truthful and firm in his vows. The beautiful city of Śoṇitapura was under his dominion. Because Lord Śiva had favored him, the very demigods waited on Bāṇāsura like menial servants. Once, when Śiva was dancing his tāṇḍava-nṛtya, Bāṇa especially satisfied the lord by playing a musical accompaniment with his one thousand arms.

3The lord and master of all created beings, the compassionate refuge of his devotees, gladdened Bāṇāsura by offering him the benediction of his choice. Bāṇa chose to have him,

Lord Śiva, as the guardian of his city.

4Bāṇāsura was intoxicated with his strength. One day, when Lord Śiva was standing beside him, Bāṇāsura touched the lord's lotus feet with his helmet, which shone like the sun, and spoke to him as follows.

5[Bāṇāsura said:] O Lord Mahādeva, I bow down to you, the spiritual master and controller of the worlds. You are like the heavenly tree that fulfills the desires of those whose desires are unfulfilled.

6These one thousand arms you bestowed upon me have become merely a heavy burden. Besides you, I find no one in the three worlds worthy to fight.

7Eager to fight with the elephants who rule the directions, O primeval lord, I went forth, pulverizing mountains with my arms, which were itching for battle. But even those great elephants fled in fear.

8Hearing this, Lord Śiva became angry and replied, "Your flag will be broken, fool, when you have done battle with one who is my equal. That fight will vanquish your conceit."

9Thus advised, unintelligent Bāṇāsura was delighted. The fool then went home, O King, to wait for that which Lord Giriśa had predicted: the destruction of his prowess.

10In a dream Bāṇa's daughter, the maiden Ūṣā, had an amorous encounter with the son of Pradyumna, though she had never before seen or heard of her lover.

11Losing sight of Him in her dream, Ūṣā suddenly sat up in the midst of her girlfriends, crying out "Where are You, my lover?" She was greatly disturbed and embarrassed.

12Bāṇāsura had a minister named Kumbhāṇḍa, whose daughter was Citralekhā. A companion of Ūṣā's, she was filled with curiosity, and thus she inquired from her friend.

13[Citralekhā said:] Who are you searching for, O fine-browed one? What is this hankering you're feeling? Until now, O princess, I haven't seen any man take your hand in marriage.

14[Ūṣā said:] In my dream I saw a certain man who had a darkblue complexion, lotus eyes, yellow garments and mighty arms. He was the kind who touches women's hearts.

15It is that lover I search for. After making me drink the honey of His lips, He has gone elsewhere, and thus He has thrown me, hankering fervently for Him, into the ocean of distress.

16Citralekhā said: I will remove your distress. If He is to be found anywhere in the three worlds, I will bring this future husband of yours who has stolen your heart. Please show me who He is.

17Saying this, Citralekhā proceeded to draw accurate pictures of various demigods, Gandharvas, Siddhas, Cāraṇas, Pannagas, Daityas, Vidyādharas, Yakṣas and humans.

18-19O King, among the humans, Citralekhā drew pictures of the Vṛṣṇis, including Śūrasena, Ānakadundubhi, Balarāma and Kṛṣṇa. When Ūṣā saw the picture of Pradyumna she became bashful, and when she saw Aniruddha's picture she bent her head down in embarrassment. Smiling, she exclaimed, "He's the one! It's Him!"

20Citralekhā, endowed with mystic powers, recognized Him as Kṛṣṇa's grandson [Aniruddha]. My dear King, she then traveled by the mystic skyway to Dvārakā, the city under Lord Kṛṣṇa's

protection.

21There she found Pradyumna's son Aniruddha sleeping upon a fine bed. With her yogic power she took Him away to Śoṇitapura, where she presented her girlfriend Ūṣā with her beloved.

22When Ūṣā beheld Him, the most beautiful of men, her face lit up with joy. She took the son of Pradyumna to her private quarters, which men were forbidden even to see, and there enjoyed with Him.

23-24Ūṣā worshiped Aniruddha with faithful service, offering Him priceless garments, along with garlands, fragrances, incense, lamps, sitting places and so on. She also offered Him beverages, all types of food, and sweet words. As He thus remained hidden in the young ladies' quarters, Aniruddha did not notice the passing of the days, for His senses were captivated by Ūṣā, whose affection for Him ever increased.

25-26The female guards eventually noticed unmistakable symptoms of romantic involvement in Ūṣā, who, having broken her maiden vow, was being enjoyed by the Yadu hero and showing signs of conjugal happiness. The guards went to Bāṇāsura and told him, "O King, we have detected in your daughter the kind of improper behavior that spoils the reputation of a young girl's family.

27"We have been carefully watching over her, never leaving our posts, O master, so we cannot understand how this maiden, whom no man can even see, has been corrupted within the palace."

28Very agitated to hear of his daughter's corruption, Bāṇāsura rushed at once to the maidens' quarters. There he saw the pride of the Yadus, Aniruddha.

29-30Bāṇāsura saw before him Cupid's own son, possessed of unrivaled beauty, with dark-blue complexion, yellow garments, lotus eyes and formidable arms. His face was adorned with effulgent earrings and hair, and also with smiling glances. As He sat opposite His most auspicious lover, playing with her at dice, there hung between His arms a garland of spring jasmines that had been smeared with kuṅkuma powder from her breasts when He had embraced her. Bāṇāsura was astonished to see all this.

31Seeing Bāṇāsura enter with many armed guards, Aniruddha raised His iron club and stood resolute, ready to strike anyone who attacked Him. He resembled death personified holding his rod of punishment.

32As the guards converged on Him from all sides, trying to capture Him, Aniruddha struck them just as the leader of a pack of boars strikes back at dogs. Hit by His blows, the guards fled the palace, running for their lives with shattered heads, thighs and arms.

33But even as Aniruddha was striking down the army of Bāṇa, that powerful son of Bali angrily caught Him with the mystic nāga-pāśa ropes. When Ūṣā heard of Aniruddha's capture, she was overwhelmed with grief and depression; her eyes filled with tears, and she wept.

## SB 10.63: Lord Kṛṣṇa Fights with Bāṇāsura

This chapter describes the battle between Lord Kṛṣṇa and Lord Śiva, as well as Śiva's glorification of Kṛṣṇa after the Lord had cut off Bāṇāsura's arms.

When Aniruddha did not return from Śoṇitapura, His family and friends passed the four

months of the rainy season in extreme distress. When they finally heard from Nārada Muni how Aniruddha had been captured, a large army of the best Yādava warriors, under Kṛṣṇa's protection, set off for Bāṇāsura's capital and laid siege to it. Bāṇāsura fiercely opposed them with his own army of equal size. To help Bāṇāsura, Lord Śiva, accompanied by Kārtikeya and a horde of mystic sages, took up arms against Balarāma and Kṛṣṇa. Bāṇa began fighting against Sātyaki, and Bāṇa's son fought against Sāmba. All the demigods assembled in the sky to witness the battle. With His arrows Lord Kṛṣṇa harassed the followers of Lord Śiva, and by putting Lord Śiva into a state of confusion He was able to destroy Bāṇāsura's army. Kārtikeya was so strongly beaten by Pradyumna that he fled the battlefield, while the remnants of Bāṇāsura's army, harried by the blows of Lord Balarāma's club, scattered in all directions.

Enraged to see his army's destruction, Bāṇāsura rushed Kṛṣṇa to attack Him. But the Lord immediately killed Bāṇa's chariot driver and broke his chariot and bow, and then He sounded His Pāṣcajanya conchshell. Next Bāṇāsura's mother, trying to save her son, appeared naked in front of Lord Kṛṣṇa, who averted His face to avoid looking at her. Seeing his chance, Bāṇa fled into his city.

After Lord Kṛṣṇa had thoroughly defeated the ghosts and hobgoblins fighting under Lord Śiva, the Śiva-jvara weapona personification of fever with three heads and three legsapproached Lord Kṛṣṇa to fight Him. Seeing the Śiva-jvara, Kṛṣṇa released His Viṣṇu-jvara. The Śiva-jvara was overwhelmed by the Viṣṇu-jvara; having nowhere else to turn for shelter, the Śiva-jvara began to address Lord Kṛṣṇa, glorifying Him and asking for mercy. Lord Kṛṣṇa was pleased with the Śiva-jvara, and after the Lord had promised him freedom from fear, the Śiva-jvara bowed down to Him and departed.

Next Bāṇāsura returned and attacked Lord Śrī Kṛṣṇa again, wielding all kinds of weapons in his thousand hands. But Lord Kṛṣṇa took His Sudarśana disc and began cutting off all the demon's arms. Lord Śiva approached Kṛṣṇa to pray for Bāṇāsura's life, and when the Lord agreed to spare him, He spoke as follows toŚiva: "Bāṇāsura does not deserve to die, since he was born in the family of Prahlāda Mahārāja. I have severed all but four of Bāṇa's arms just to destroy his false pride, and I have annihilated his army because they were a burden to the earth. Henceforward he will be free from old age and death, and remaining fearless in all circumstances, he will be one of your principal attendants."

Assured he had nothing to fear, Bāṇāsura then offered his obeisances to Lord Kṛṣṇa and had Ūṣā and Aniruddha seated on their wedding chariot and brought before the Lord. Kṛṣṇa then set off for Dvārakā with Aniruddha and His bride leading the procession. When the newlyweds arrived at the Lord's capital, they were honored by the citizens, the Lord's relatives and the *brāhmaṇas.*

1Śukadeva Gosvāmī said: O descendant of Bharata, the relatives of Aniruddha, not seeing Him return, continued to lament as the four rainy months passed.

2After hearing from Nārada the news of Aniruddha's deeds and His capture, the Vṛṣṇis, who worshiped Lord Kṛṣṇa as their personal Deity, went to Śoṇitapura.

3-4With Lord Balarāma and Lord Kṛṣṇa in the lead, the chiefs of the Sātvata clanPradyumna, Sātyaki, Gada, Sāmba, Sāraṇa, Nanda, Upananda, Bhadra and othersconverged with an army of twelve divisions and laid siege to Bāṇasura's capital, completely surrounding the city on all sides.

5Bāṇāsura became filled with anger upon seeing them destroy his city's suburban gardens,

ramparts, watchtowers and gateways, and thus he went out to confront them with an army of equal size.

6Lord Rudra, accompanied by his son Kārtikeya and the Pramathas, came riding on Nandi, his bull carrier, to fight Balarāma and Kṛṣṇa on Bāṇa's behalf.

7A most astonishing, tumultuous and hair-raising battle then commenced, with Lord Kṛṣṇa matched against Lord Śaṅkara, and Pradyumna against Kārtikeya.

8Lord Balarāma fought with Kumbhāṇḍa and Kūpakarṇa, Sāmba with Bāṇa's son, and Sātyaki with Bāṇa.

9Brahmā and the other ruling demigods, along with Siddhas, Cāraṇas and great sages, as well as Gandharvas, Apsarās and Yakṣas, all came in their celestial airplanes to watch.

10-11With sharp-pointed arrows discharged from His bow Śārṅga, Lord Kṛṣṇa drove away the various followers of Lord ŚivaBhūtas, Pramathas, Guhyakas, Ḍākinīs, Yātudhānas, Vetālas, Vināyakas, Pretas, Mātās, Piśācas, Kuṣmāṇḍas and Brahma-rākṣasas.

12Lord Śiva, wielder of the trident, shot various weapons at Lord Kṛṣṇa, wielder of Śārṅga. But Lord Kṛṣṇa was not in the least perplexed: He neutralized all these weapons with appropriate counterweapons.

13Lord Kṛṣṇa counteracted a brahmāstra with another brahmāstra, a wind weapon with a mountain weapon, a fire weapon with a rain weapon, and Lord Śiva's personal pāśupatāstra weapon with His own personal weapon, the nārāyaṇāstra.

14After bewildering Lord Śiva by making him yawn with a yawning weapon, Lord Kṛṣṇa proceeded to strike down Bāṇāsura's army with His sword, club and arrows.

15Lord Kārtikeya was distressed by the flood of Pradyumna's arrows raining down from all sides, and thus he fled the battlefield on his peacock as blood poured from his limbs.

16Kumbhāṇḍa and Kūpakarṇa, tormented by Lord Balarāma's club, fell down dead. When the soldiers of these two demons saw that their leaders had been killed, they scattered in all directions.

17Bāṇāsura was furious to see his entire military force being torn apart. Leaving his fight with Sātyaki, he charged across the battlefield on his chariot and attacked Lord Kṛṣṇa.

18Excited to a frenzy by the fighting, Bāṇa simultaneously pulled taut all the strings of his five hundred bows and fixed two arrows on each string.

19Lord Śrī Hari split every one of Bāṇāsura's bows simultaneously, and also struck down his chariot driver, chariot and horses. The Lord then sounded His conchshell.

20Just then Bāṇāsura's mother, Koṭarā, desiring to save her son's life, appeared before Lord Kṛṣṇa naked and with her hair undone.

21Lord Gadāgraja turned His face away to avoid seeing the naked woman, and Bāṇāsuradeprived of his chariot, his bow shatteredtook the opportunity to flee into his city.

22After Lord Śiva's followers had been driven away, the Śiva-jvara, who had three heads and three feet, pressed forward to attack Lord Kṛṣṇa. As the Śiva-jvara approached, he seemed to

burn everything in the ten directions.

23Seeing this personified weapon approach, Lord Nārāyaṇa then released His own personified fever weapon, the Viṣṇu-jvara. The Śiva-jvara and Viṣṇu-jvara thus battled each other.

24The Śiva-jvara, overwhelmed by the strength of the Viṣṇu-jvara, cried out in pain. But finding no refuge, the frightened Śiva-jvara approached Lord Kṛṣṇa, the master of the senses, hoping to attain His shelter. Thus with joined palms he began to praise the Lord.

25The Śiva-jvara said: I bow down to You of unlimited potencies, the Supreme Lord, the Supersoul of all beings. You possess pure and complete consciousness and are the cause of cosmic creation, maintenance and dissolution. Perfectly peaceful, You are the Absolute Truth to whom the Vedas indirectly refer.

26Time; fate; karma; the jīva and his propensities; the subtle material elements; the material body; the life air; false ego; the various senses; and the totality of these as reflected in the living being's subtle bodyall this constitutes your material illusory energy, māyā, an endless cycle like that of seed and plant. I take shelter of You, the negation of this māyā.

27With various intentions, You perform pastimes to maintain the demigods, the saintly persons and the codes of religion for this world. By these pastimes You also kill those who stray from the right path and live by violence. Indeed, your present incarnation is meant to relieve the earth's burden.

28I am tortured by the fierce power of Your terrible fever weapon, which is cold yet burning. All embodied souls must suffer as long as they remain bound to material ambitions and thus averse to serving Your feet.

29The Supreme Lord said: O three-headed one, I am pleased with you. May your fear of My fever weapon be dispelled, and may whoever remembers our conversation here have no reason to fear you.

30Thus addressed, the Māheśvara-jvara bowed down to the infallible Lord and went away. But Bāṇāsura then appeared, riding forth on his chariot to fight Lord Kṛṣṇa.

31Carrying numerous weapons in his thousand hands, O King, the terribly infuriated demon shot many arrows at Lord Kṛṣṇa, the carrier of the disc weapon.

32As Bāṇa continued hurling weapons at Him, the Supreme Lord began using His razor-sharp cakra to cut off Bāṇāsura's arms as if they were tree branches.

33Lord Śiva felt compassion for his devotee Bāṇāsura, whose arms were being cut off, and thus he approached Lord Cakrāyudha [Kṛṣṇa] and spoke to Him as follows.

34Śrī Rudra said: You alone are the Absolute Truth, the supreme light, the mystery hidden within the verbal manifestation of the Absolute. Those whose hearts are spotless can see You, for You are uncontaminated, like the sky.

35-36The sky is Your navel, fire Your face, water Your semen, and heaven Your head. The cardinal directions are Your sense of hearing, herbal plants the hairs on Your body, and water-bearing clouds the hair on Your head. The earth is Your foot, the moon Your mind, and the sun Your vision, while I am Your ego. The ocean is Your abdomen, Indra Your arm, Lord Brahmā Your intelligence, the progenitor of mankind Your genitals, and religion Your heart. You are indeed the original puruṣa, creator of the worlds.

37Your current descent into the material realm, O Lord of unrestricted power, is meant for upholding the principles of justice and benefiting the entire universe. We demigods, each depending on Your grace and authority, develop the seven planetary systems.

38You are the original person, one without a second, transcendental and self-manifesting. Uncaused, you are the cause of all, and You are the ultimate controller. You are nonetheless perceived in terms of the transformations of matter effected by Your illusory energytransformations You sanction so that the various material qualities can fully manifest.

39O almighty one, just as the sun, though hidden by a cloud, illuminates the cloud and all other visible forms as well, so You, although hidden by the material qualities, remain self-luminous and thus reveal all those qualities, along with the living entities who possess them.

40Their intelligence bewildered by Your māyā, fully attached to children, wife, home and so on, persons immersed in the ocean of material misery sometimes rise to the surface and sometimes sink down.

41One who has attained this human form of life as a gift from God, yet who fails to control his senses and honor Your feet, is surely to be pitied, for he is only cheating himself.

42That mortal who rejects Youhis true Self, dearmost friend, and Lordfor the sake of sense objects, whose nature is just the opposite, refuses nectar and instead consumes poison.

43I, Lord Brahmā, the other demigods and the pure-minded sages have all surrendered wholeheartedly unto You, our dearmost Self and Lord.

44Let us worship You, the Supreme Lord, to be freed from material life. You are the maintainer of the universe and the cause of its creation and demise. Equipoised and perfectly at peace, You are the true friend, Self and worshipable Lord. You are one without a second, the shelter of all the worlds and all souls.

45This Bāṇāsura is my dear and faithful follower, and I have awarded him freedom from fear. Therefore, my Lord, please grant him Your mercy, just as You showed mercy to Prahlāda, the lord of the demons.

46The Supreme Lord said: My dear lord, for your pleasure We must certainly do what you have requested of Us. I fully agree with your conclusion.

47I will not kill this demonic son of Vairocani, for I gave Prahlāda Mahārāja the benediction that I would not kill any of his descendants.

48It was to subdue Bāṇāsura's false pride that I severed his arms. And I slew his mighty army because it had become a burden upon the earth.

49This demon, who still has four arms, will be immune to old age and death, and he will serve as one of your principal attendants. Thus he will have nothing to fear on any account.

50Thus attaining freedom from fear, Bāṇāsura offered obeisances to Lord Kṛṣṇa by touching his head to the ground. Bāṇa then seated Aniruddha and His bride on their chariot and brought them before the Lord.

51At the front of the party Lord Kṛṣṇa then placed Aniruddha and His bride, both beautifully adorned with fine clothes and ornaments, and surrounded them with a full military division. Thus Lord Kṛṣṇa took His leave of Lord Śiva and departed.

52The Lord then entered His capital. The city was lavishly decorated with flags and victory arches, and its avenues and crossways were all sprinkled with water. As conchshells, ānakas and dundubhi drums resounded, the Lord's relatives, the brāhmaṇas and the general populace all came forward to greet Him respectfully.

53Whoever rises early in the morning and remembers Lord Kṛṣṇa's victory in His battle with Lord Śiva will never experience defeat.

**SB 10.64: The Deliverance of King Nṛga**

This chapter describes how Śrī Kṛṣṇa released King Nṛga from a curse and instructed the royal order on the great danger of taking a *brāhmaṇa's* property.

One day Sāmba and other young boys of the Yādava dynasty went to the forest to play, and after playing for a long time they became very thirsty and began looking for water. Inside a dry well they found an amazing creature: a huge lizard resembling a hill. The boys felt sorry for it and tried to pull it out. But after several attempts with leather thongs and ropes, they saw that they would not be able to rescue the creature, and thus they went to Lord Kṛṣṇa and told Him what had happened. The Lord accompanied them to the well and, extending His left hand, easily lifted the lizard out. By the touch of Lord Kṛṣṇa's hand the creature transformed at once into a demigod. Then Lord Kṛṣṇa asked, "Who are you, and how did you assume such a lowly form?"

The divine being replied, "My name was King Nṛga, son of Ikṣvāku, and I was famous for giving charity. Indeed, I gave away countless cows to numerous *brāhmaṇas*. But on one occasion a cow belonging to a first-class *brāhmaṇa* wandered into my herd. Unaware of this, I gave this cow in charity to a different *brāhmaṇa*. When the cow's previous owner saw the second *brāhmaṇa* taking this cow away, the first *brāhmaṇa* claimed the cow as his and began arguing with the second *brāhmaṇa*. After quarreling for some time they approached me, and I implored them to each take one hundred thousand cows in exchange for that one cow, and to please forgive me for the offense I had unknowingly committed. But neither *brāhmaṇa* would accept my proposal, and the matter remained unsettled.

"Shortly thereafter I died and was taken by the Yamadūtas to the court of Yamarāja. Yama asked me which I preferred to do first: suffer the results of my sins or enjoy the results of my pious acts. I decided to suffer my sinful reactions first, and thus I assumed the body of a lizard."

After King Nṛga had told his story, he offered prayers to Lord Kṛṣṇa and then mounted a celestial airplane, which transported him to heaven.

Lord Kṛṣṇa then instructed His personal associates, as well as the general mass of people, on the dangers of stealing a *brāhmaṇa's* property. Finally, the Lord returned to His palace.

1Śrī Bādarāyaṇi said: O King, one day Sāmba, Pradyumna, Cāru, Bhānu, Gada and other young boys of the Yadu dynasty went to a small forest to play.

2After playing for a long time, they became thirsty. As they searched for water, they looked inside a dry well and saw a peculiar creature.

3The boys were astonished to behold this creature, a lizard who looked like a hill. They felt sorry for it and tried to lift it out of the well.

4They caught on to the trapped lizard with leather thongs and then with woven ropes, but still they could not lift it out. So they went to Lord Kṛṣṇa and excitedly told Him about the creature.

5The lotus-eyed Supreme Lord, maintainer of the universe, went to the well and saw the lizard. Then with His left hand He easily lifted it out.

6Touched by the hand of the glorious Supreme Lord, the being at once gave up its lizard form and assumed that of a resident of heaven. His complexion was beautifully colored like molten gold, and he was adorned with wonderful ornaments, clothes and garlands.

7Lord Kṛṣṇa understood the situation, but to inform people in general He inquired as follows: "Who are you, O greatly fortunate one? Seeing your excellent form, I think you must surely be an exalted demigod.

8"By what past activity were you brought to this condition? It seems you did not deserve such a fate, O good soul. We are eager to know about you, so please inform us about yourselfif, that is, you think this the proper time and place to tell us."

9Śukadeva Gosvāmī said: Thus questioned by Kṛṣṇa, whose forms are unlimited, the King, his helmet as dazzling as the sun, bowed down to Lord Mādhava and replied as follows.

10King Nṛga said: I am a king known as Nṛga, the son of Ikṣvāku. Perhaps, Lord, You have heard of me when lists of charitable men were recited.

11What could possibly be unknown to You, O master? With vision undisturbed by time, You witness the minds of all living beings. Nevertheless, on Your order I will speak.

12I gave in charity as many cows as there are grains of sand on the earth, stars in the heavens, or drops in a rain shower.

13Young, brown, milk-laden cows, who were well-behaved, beautiful and endowed with good qualities, who were all acquired honestly, and who had gilded horns, silver-plated hooves and decorations of fine ornamental cloths and garlandssuch were the cows, along with their calves, that I gave in charity.

14-15I first honored the brāhmaṇas who were recipients of my charity by decorating them with fine ornaments. Those most exalted brāhmaṇas, whose families were in need, were young and possessed of excellent character and qualities. They were dedicated to truth, famous for their austerity, vastly learned in the Vedic scriptures and saintly in their behavior. I gave them cows, land, gold and houses, along with horses, elephants and marriageable girls with maidservants, as well as sesame, silver, fine beds, clothing, jewels, furniture and chariots. In addition, I performed Vedic sacrifices and executed various pious welfare activities.

16Once a cow belonging to a certain first-class brāhmaṇa wandered away and entered my herd. Unaware of this, I gave that cow in charity to a different brāhmaṇa.

17When the cow's first owner saw her being led away, he said, "She is mine!" The second brāhmaṇa, who had accepted her as a gift, replied, "No, she's mine! Nṛga gave her to me."

18As the two brāhmaṇas argued, each trying to fulfill his own purpose, they came to me. One of them said, "You gave me this cow," and the other said, "But you stole her from me." Hearing this, I was bewildered.

19-20Finding myself in a terrible dilemma concerning my duty in the situation, I humbly entreated both the brāhmaṇas: "I will give one hundred thousand of the best cows in exchange for this one. Please give her back to me. Your good selves should be merciful to me, your servant. I did not know what I was doing. Please save me from this difficult situation, or I'll surely fall into a filthy hell."

21The present owner of the cow said, "I don't want anything in exchange for this cow, O King," and went away. The other brāhmaṇa declared, "I don't want even ten thousand more cows [than you are offering]," and he too went away.

22O Lord of lords, O master of the universe, the agents of Yamarāja, taking advantage of the opportunity thus created, later carried me to his abode. There Yamarāja himself questioned me.

23[Yamarāja said:] My dear King, do you wish to experience the results of your sins first, or those of your piety? Indeed, I see no end to the dutiful charity you have performed, or to your consequent enjoyment in the radiant heavenly planets.

24I replied, "First, my lord, let me suffer my sinful reactions," and Yamarāja said, "Then fall!" At once I fell, and while falling I saw myself becoming a lizard, O master.

25O Keśava, as Your servant I was devoted to the brāhmaṇas and generous to them, and I always hankered for Your audience. Therefore even till now I have never forgotten [my past life].

26O almighty one, how is it that my eyes see You here before me? You are the Supreme Soul, whom the greatest masters of mystic yoga can meditate upon within their pure hearts only by employing the spiritual eye of the Vedas. Then how, O transcendental Lord, are You directly visible to me, since my intelligence has been blinded by the severe tribulations of material life? Only one who has finished his material entanglement in this world should be able to see You.

27-28O Devadeva, Jagannātha, Govinda, Puruṣottama, Nārāyaṇa, Hṛṣīkeśa, Puṇyaśloka, Acyuta, Avyaya! O Kṛṣṇa, please permit me to depart for the world of the demigods. Wherever I live, O master, may my mind always take shelter of Your feet.

29I offer my repeated obeisances unto You, Kṛṣṇa, the son of Vasudeva. You are the source of all beings, the Supreme Absolute Truth, the possessor of unlimited potencies, the master of all spiritual disciplines.

30Having spoken thus, Mahārāja Nṛga circumambulated Lord Kṛṣṇa and touched his crown to the Lord's feet. Granted permission to depart, King Nṛga then boarded a wonderful celestial airplane as all the people present looked on.

31The Supreme Personality of GodheadLord Kṛṣṇa, the son of Devakīwho is especially devoted to the brāhmaṇas and who embodies the essence of religion, then spoke to His personal associates and thus instructed the royal class in general.

32[Lord Kṛṣṇa said:] How indigestible is the property of a brāhmaṇa, even when enjoyed just slightly and by one more potent than fire! What then to speak of kings who try to enjoy it, presuming themselves lords.

33I do not consider hālāhala to be real poison, because it has an antidote. But a brāhmaṇa's property, when stolen, can truly be called poison, for it has no antidote in this world.

34Poison kills only the person who ingests it, and an ordinary fire may be extinguished with water. But the fire generated from the kindling wood of a brāhmaṇa's property burns the thief's entire family down to the root.

35If a person enjoys a brāhmaṇa's property without receiving due permission, that property destroys three generations of his family. But if he takes it by force or gets the government or other outsiders to help him usurp it, then ten generations of his ancestors and ten generations

of his descendants are all destroyed.

36Members of the royal order, blinded by royal opulence, fail to foresee their own downfall. Childishly hankering to enjoy a brāhmaṇa's property, they are actually hankering to go to hell.

37-38For as many years as there are particles of dust touched by the tears of generous brāhmaṇas who have dependent families and whose property is stolen, uncontrolled kings who usurp a brāhmaṇa's property are cooked, along with their royal families, in the hell known as Kumbhīpāka.

39Whether it be his own gift or someone else's, a person who steals a brāhmaṇa's property will take birth as a worm in feces for sixty thousand years.

40I do not desire brāhmaṇas' wealth. Those who lust after it become short-lived and are defeated. They lose their kingdoms and become snakes, who trouble others.

41My dear followers, never treat a learned brāhmaṇa harshly, even if he has sinned. Even if he attacks you physically or repeatedly curses you, always continue to offer him obeisances.

42Just us I always carefully bow down to brāhmaṇas, so all of you should likewise bow down to them. I will punish anyone who acts otherwise.

43When a brāhmaṇa's property is stolen, even unknowingly, it certainly causes the person who takes it to fall down, just as the brāhmaṇa's cow did to Nṛga.

44Having thus instructed the residents of Dvārakā, Lord Mukunda, purifier of all the worlds, entered His palace.

## SB 10.65: Lord Balarāma Visits Vṛndāvana

This chapter relates how Lord Balarāma went to Gokula, enjoyed the company of the cowherd girls and dragged the Yamunā River.

One day Lord Balarāma went to Gokula to see His relatives and friends. When He arrived there, the elder *gopīs* and Lord Kṛṣṇa's parents, Nanda and Yaśodā, who had all been in great anxiety for a long time, embraced Him and blessed Him. Lord Balarāma offered appropriate respects and greetings to each of His worshipable elders according to age, friendship and family relation. After Gokula's residents and Lord Balarāma had inquired about each other's welfare, the Lord rested from His journey.

In a short while the young *gopīs* came to Lord Balarāma and questioned Him about Kṛṣṇa's well-being. They asked, "Does Kṛṣṇa still remember His parents and friends, and will He be coming to Gokula to visit them? For Kṛṣṇa's sake we gave up everythingeven our fathers, mothers and other relativesbut now He has abandoned us. How could we help but put our faith in Kṛṣṇa's words after seeing His sweetly smiling face and thus being overwhelmed by the urges of Cupid? Still, if Kṛṣṇa can spend His days in separation from us, why can't we tolerate separation from Him? So there is no reason to keep talking about Him." In this manner the *gopīs* remembered Śrī Kṛṣṇa's charming talks, enchanting glances, playful gestures and loving embraces, and as a result they began to cry. Lord Balarāma consoled them by conveying the attractive messages Kṛṣṇa had given Him for them.

Lord Balarāma stayed in Gokula for two months, sporting with the *gopīs* in the groves on the Yamunā's shore. The demigods who witnessed these pastimes played kettledrums in the heavens and showered down flower petals, while the celestial sages recited Balarāma's glories.

One day Lord Balarāma became intoxicated by drinking some *vāruṇī* liquor and began wandering about the forest in the company of the *gopīs*. He called out to the Yamunā, "Come near so I and the *gopīs* can enjoy sporting in your waters." But the Yamunā ignored His command. Lord Balarāma then started to pull the Yamunā with the end of His plow, splitting her into hundreds of tributaries. Trembling out of fright, the goddess Yamunā appeared, fell down at Lord Balarāma's feet and prayed for forgiveness. The Lord let her go and then entered her waters with His girlfriends to sport for some time. When they rose from the water, the goddess Kānti presented Lord Balarāma with beautiful ornaments, clothing and garlands. Even today the Yamunā River flows through the many channels cut by Lord Baladeva's plow, the signs of His having subdued her.

While Lord Balarāma played, His mind became enchanted by the *gopīs'* pastimes. Thus the many nights He spent in their company seemed to Him like a single night.

1Śukadeva Gosvāmī said: O best of the Kurus, once Lord Balarāma, eager to visit His well-wishing friends, mounted His chariot and traveled to Nanda Gokula.

2Having long suffered the anxiety of separation, the cowherd men and their wives embraced Lord Balarāma. The Lord then offered respects to His parents, and they joyfully greeted Him with prayers.

3[Nanda and Yaśodā prayed,] "O descendant of Daśārha, O Lord of the universe, may You and Your younger brother Kṛṣṇa ever protect us." Saying this, they raised Śrī Balarāma onto their laps, embraced Him and moistened Him with tears from their eyes.

4-6Lord Balarāma then paid proper respects to the elder cowherd men, and the younger ones all greeted Him respectfully. He met them all with smiles, handshakes and so on, dealing personally with each one according to age, degree of friendship, and family relationship. Then, after resting, the Lord accepted a comfortable seat, and they all gathered around Him. With voices faltering out of love for Him, those cowherds, who had dedicated everything to lotus-eyed Kṛṣṇa, asked about the health of their dear ones [in Dvārakā], and Balarāma in turn asked about the cowherds' welfare.

7[The cowherds said:] O Rāma, are all our relatives doing well? And Rāma, do all of you, with your wives and children, still remember us?

8It is our great fortune that sinful Kaṁsa has been killed and our dear relatives have been freed. And it is also our good fortune that our relatives have killed and defeated their enemies and found complete security in a great fortress.

9[Śukadeva Gosvāmī continued:] Honored to have the personal audience of Lord Balarāma, the young gopīs smiled and asked Him, "Is Kṛṣṇa, the darling of the city women, living happily?

10"Does He remember His family members, especially His father and mother? Do you think He will ever come back even once to see His mother? And does mighty-armed Kṛṣṇa remember the service we always did for Him?

11-12"For Kṛṣṇa's sake, O descendant of Dāśārha, we abandoned our mothers, fathers, brothers, husbands, children and sisters, even though these family relations are difficult to give up. But now, O Lord, that same Kṛṣṇa has suddenly abandoned us and gone away, breaking off all affectionate ties with us. And yet how could any woman fail to trust His promises?

13"How can intelligent city women possibly trust the words of one whose heart is so unsteady and who is so ungrateful? They must believe Him because He speaks so wonderfully, and also

because His beautiful smiling glances arouse their lust.

14"Why bother talking about Him, dear gopī? Please talk of something else. If He passes His time without us, then we shall similarly pass ours [without Him]."

15While speaking these words, the young cowherd women remembered Lord Śauri's laughter, His pleasing conversations with them, His attractive glances, His style of walking and His loving embraces. Thus they began to cry.

16The Supreme Lord Balarāma, the attractor of all, being expert at various kinds of conciliation, consoled the gopīs by relaying to them the confidential messages Lord Kṛṣṇa had sent with Him. These messages deeply touched the gopīs' hearts.

17Lord Balarāma, the Personality of Godhead, resided there for the two months of Madhu and Mādhava, and during the nights He gave His cowherd girlfriends conjugal pleasure.

18In the company of numerous women, Lord Balarāma enjoyed in a garden by the Yamunā River. This garden was bathed in the rays of the full moon and caressed by breezes bearing the fragrance of night-blooming lotuses.

19Sent by the demigod Varuṇa, the divine vāruṇī liquor flowed from a tree hollow and made the entire forest even more fragrant with its sweet aroma.

20The wind carried to Balarāma the fragrance of that flood of sweet liquor, and when He smelled it He went [to the tree]. There He and His female companions drank.

21As the Gandharvas sang His glories, Lord Balarāma enjoyed within the brilliant circle of young women. He appeared just like Indra's elephant, the lordly Airāvata, enjoying in the company of she-elephants.

22At that time kettledrums resounded in the sky, the Gandharvas joyfully rained down flowers, and the great sages praised Lord Balarāma's heroic deeds.

23As His deeds were sung, Lord Halāyudha wandered as if inebriated among the various forests with His girlfriends. His eyes rolled from the effects of the liquor.

24-25Intoxicated with joy, Lord Balarāma sported flower garlands, including the famous Vaijayantī. He wore a single earring, and beads of perspiration decorated His smiling lotus face like snowflakes. The Lord then summoned the Yamunā River so that He could play in her waters, but she disregarded His command, thinking He was drunk. This angered Balarāma, and He began dragging the river with the tip of His plow.

26[Lord Balarāma said:] O sinful one disrespecting Me, you do not come when I call you but rather move only by your own whim. Therefore with the tip of My plow I shall bring you here in a hundred streams!

27[Śukadeva Gosvāmī continued:] Thus scolded by the Lord, O King, the frightened river-goddess Yamunā came and fell at the feet of Śrī Balarāma, the beloved descendant of Yadu. Trembling, she spoke to Him the following words.

28[Goddess Yamunā said:] Rāma, Rāma, O mighty-armed one! I know nothing of Your prowess. With a single portion of Yourself You hold up the earth, O Lord of the universe.

29My Lord, please release me. O soul of the universe, I didn't understand Your position as the Supreme Godhead, but now I have surrendered unto You, and You are always kind to Your

devotees.

30[Śukadeva Gosvāmī continued:] Thereupon Lord Balarāma released the Yamunā and, like the king of the elephants with his entourage of she-elephants, entered the river's water with His female companions.

31The Lord played in the water to His full satisfaction, and when He came out Goddess Kānti presented Him with blue garments, precious ornaments and a brilliant necklace.

32Lord Balarāma dressed Himself in the blue garments and put on the gold necklace. Anointed with fragrances and beautifully adorned, He appeared as resplendent as Indra's royal elephant.

33Even today, O King, one can see how the Yamunā flows through the many channels created when it was dragged by the unlimitedly powerful Lord Balarāma. Thus she demonstrates His prowess.

34Thus for Lord Balarāma all the nights passed like a single night as He enjoyed in Vraja, His mind enchanted by the exquisite charm and beauty of Vraja's young ladies.

## SB 10.66: Pauṇḍraka, the False Vāsudeva

This chapter relates how Lord Kṛṣṇa went to Kāśī(present-day Benares) and killed Pauṇḍraka and Kāśirāja, and how the Lord's Sudarśana disc defeated a demon, incinerated the city of Kāśī and killed Sudakṣiṇa.

While Lord Baladeva was visiting Vraja, King Pauṇḍraka of Karūṣa, encouraged by fools, announced that he was the real Vāsudeva. Thus he challenged Lord Kṛṣṇa with the following message: "Since I alone am the true Personality of Godhead, You should give up Your false claim to this position, as well as my divine symbols, and take shelter of me. If You do not, then prepare for battle."

When Ugrasena and the members of his royal assembly heard Pauṇḍraka's foolish boast, they all laughed heartily. Śrī Kṛṣṇa then told Pauṇḍraka's messenger to convey a message to his master: "O fool, I will force you to give up the so-called Sudarśana disc and the other divine symbols of Mine you have dared to assume. And when you lie down on the battlefield, you will become the shelter of dogs."

Lord Kṛṣṇa then went to Kāśī. Pauṇḍraka, seeing the Lord preparing for battle, quickly came out of the city to confront Him with his army. His friend Kāśirāja followed him, leading the rear guard. Just as the fire of universal devastation destroys every living being in all directions, so Lord Kṛṣṇa annihilated the armies of Pauṇḍraka and Kāśirāja. Then, after chastising Pauṇḍraka, the Lord beheaded both him and Kāśirāja with His Sudarśana disc. Thereafter, He returned to Dvārakā. Because Pauṇḍraka had constantly meditated on the Supreme Lord, even dressing like Him, he gained liberation.

When Kṛṣṇa beheaded Kāśirāja, the King's head flew into his city, and when his queens, sons and other relatives saw it, they all began to lament. At that time a son of Kāśirāja's named Sudakṣiṇa, wanting to avenge his father's death, began worshiping Lord Śiva with the intention of destroying his father's killer. Gratified by Sudakṣiṇa's worship, Lord Śiva offered him a choice of benedictions, and Sudakṣiṇa asked for a means to kill the one who had slain his father. Lord Śiva advised him to worship the Dakṣiṇāgni fire with black magic rituals. This Sudakṣiṇa did, with the result that a fearsome demon with a body of flames appeared from the pit of the sacrificial fire. The demon rose up carrying a fiery trident and at once set off for

Dvārakā.

The residents of Lord Kṛṣṇa's capital became terrified as the demon approached the city, but Lord Kṛṣṇa assured them of protection and dispatched His Sudarśana *cakra* to oppose the magic creation of Lord Śiva. The Sudarśana overpowered the demon, who then returned to Vārāṇasī and burned Sudakṣiṇa to ashes, together with his priests. The Sudarśana disc, following the demon, entered Vārāṇasī and burned the entire city to the ground. Then the Lord's disc returned to His side in Dvārakā.

1Śukadeva Gosvāmī said: O King, while Lord Balarāma was away visiting Nanda's village of Vraja, the ruler of Karūṣa, foolishly thinking "I am the Supreme Lord, Vāsudeva," sent a messenger to Lord Kṛṣṇa.

2Pauṇḍraka was emboldened by the flattery of childish men, who told him, "You are Vāsudeva, the Supreme Lord and master of the universe, who have now descended to the earth." Thus he imagined himself to be the infallible Personality of Godhead.

3Thus slow-witted King Pauṇḍraka sent a messenger to the inscrutable Lord Kṛṣṇa at Dvārakā. Pauṇḍraka was acting just like an unintelligent child whom other children are pretending is a king.

4Arriving in Dvārakā, the messenger found lotus-eyed Kṛṣṇa in His royal assembly and relayed the King's message to that almighty Lord.

5[On Pauṇḍraka's behalf, the messenger said:] I am the one and only Lord Vāsudeva, and there is no other. It is I who have descended to this world to show mercy to the living beings. Therefore give up Your false name.

6O Sātvata, give up my personal symbols, which out of foolishness You now carry, and come to me for shelter. If You do not, then You must give me battle.

7Śukadeva Gosvāmī said: King Ugrasena and the other members of the assembly laughed loudly when they heard this vain boasting of unintelligent Pauṇḍraka.

8The Personality of Godhead, after enjoying the jokes of the assembly, told the messenger [to relay a message to his master:] "You fool, I will indeed let loose the weapons you boast of in this way.

9"When you lie dead, O fool, your face covered by vultures, herons and vaṭa birds, you will become the shelter of dogs."

10When the Lord had thus spoken, the messenger conveyed His insulting reply to his master in its entirety. Lord Kṛṣṇa then mounted His chariot and went to the vicinity of Kāśī.

11Upon observing Lord Kṛṣṇa's preparations for battle, the mighty warrior Pauṇḍraka quickly went out of the city with two full military divisions.

12-14Pauṇḍraka's friend, the King of Kāśī, followed behind, O King, leading the rear guard with three akṣauhiṇī divisions. Lord Kṛṣṇa saw that Pauṇḍraka was carrying the Lord's own insignia, such as the conchshell, disc, sword and club, and also an imitation Śārṅga bow and Śrīvatsa mark. He wore a mock Kaustubha gem, was decorated with a garland of forest flowers and was dressed in upper and lower garments of fine yellow silk. His banner bore the image of Garuḍa, and he wore a valuable crown and gleaming, shark-shaped earrings.

15Lord Hari laughed heartily when He saw how the King had dressed up in exact imitation of His own appearance, just like an actor onstage.

16The enemies of Lord Hari attacked Him with tridents, clubs, bludgeons, pikes, ṛṣṭis, barbed darts, lances, swords, axes and arrows.

17But Lord Kṛṣṇa fiercely struck back at the army of Pauṇḍraka and Kāśirāja, which consisted of elephants, chariots, cavalry and infantry. The Lord tormented His enemies with His club, sword, Sudarśana disc and arrows, just as the fire of annihilation torments the various kinds of creatures at the end of a cosmic age.

18The battlefield, strewn with the dismembered chariots, horses, elephants, humans, mules and camels that had been cut to pieces by the Lord's disc weapon, shone like the gruesome playground of Lord Bhūtapati, giving pleasure to the wise.

19Lord Kṛṣṇa then addressed Pauṇḍraka: My dear Pauṇḍraka, the very weapons you spoke of through your messenger, I now release unto you.

20O fool, now I shall make you renounce My name, which you have falsely assumed. And I will certainly take shelter of you if I do not wish to fight you.

21Having thus derided Pauṇḍraka, Lord Kṛṣṇa destroyed his chariot with His sharp arrows. The Lord then cut off his head with the Sudarśana disc, just as Lord Indra lops off a mountain peak with his thunderbolt weapon.

22With His arrows, Lord Kṛṣṇa similarly severed Kāśirāja's head from his body, sending it flying into Kāśī city like a lotus flower thrown by the wind.

23Having thus killed envious Pauṇḍraka and his ally, Lord Kṛṣṇa returned to Dvārakā. As He entered the city, the Siddhas of heaven chanted His immortal, nectarean glories.

24By constantly meditating upon the Supreme Lord, Pauṇḍraka shattered all his material bonds. Indeed, by imitating Lord Kṛṣṇa's appearance, O King, he ultimately became Kṛṣṇa conscious.

25Seeing a head decorated with earrings lying at the gate of the royal palace, the people present were puzzled. Some of them asked, "What is this?" and others said, "It is a head, but whose is it?"

26My dear King, when they recognized it as the head of their Kingthe lord of Kāśihis queens, sons and other relatives, along with all the citizens of the city, began to cry pitifully: "Alas, we are killed! O my lord, my lord!"

27-28After the King's son Sudakṣiṇa had performed the obligatory funeral rituals for his father, he resolved within his mind: "Only by killing my father's murderer can I avenge his death." Thus the charitable Sudakṣiṇa, together with his priests, began worshiping Lord Maheśvara with great attention.

29Satisfied by the worship, the powerful Lord Śiva appeared in the sacred precinct of Avimukta and offered Sudakṣiṇa his choice of benedictions. The prince chose as his benediction a means to slay his father's killer.

30-31Lord Śiva told him, "Accompanied by brāhmaṇas, serve the Dakṣiṇāgni firethe original priestfollowing the injunctions of the abhicāra ritual. Then the Dakṣiṇāgni fire, together with many Pramathas, will fulfill your desire if you direct it against someone inimical to the

brāhmaṇas." So instructed, Sudakṣiṇa strictly observed the ritualistic vows and invoked the abhicāra against Lord Kṛṣṇa.

32-33Thereupon the fire rose up out of the altar pit, assuming the form of an extremely fearsome, naked person. The fiery creature's beard and tuft of hair were like molten copper, and his eyes emitted blazing hot cinders. His face looked most frightful with its fangs and terrible arched and furrowed brows. As he licked the corners of his mouth with his tongue, the demon shook his flaming trident.

34On legs as tall as palm trees, the monster raced toward Dvārakā in the company of ghostly spirits, shaking the ground and burning the world in all directions.

35Seeing the approacḥ of the fiery demon created by the abhicāra ritual, the residents of Dvārakā were all struck with fear, like animals terrified by a forest fire.

36Distraught with fear, the people cried out to the Supreme Personality of Godhead, who was then playing at dice in the royal court: "Save us! Save us, O Lord of the three worlds, from this fire burning up the city!"

37When Lord Kṛṣṇa heard the people's agitation and saw that even His own men were disturbed, that most worthy giver of shelter simply laughed and told them, "Do not fear; I shall protect you."

38The almighty Lord, the internal and external witness of all, understood that the monster had been produced by Lord Śiva from the sacrificial fire. To defeat the demon, Kṛṣṇa dispatched His disc weapon, who was waiting at His side.

39That Sudarśana, the disc weapon of Lord Mukunda, blazed forth like millions of suns. His effulgence blazed like the fire of universal annihilation, and with his heat he pained the sky, all the directions, heaven and earth, and also the fiery demon.

40Frustrated by the power of Lord Kṛṣṇa's weapon, O King, the fiery creature produced by black magic turned his face away and retreated. Created for violence, the demon then returned to Vārāṇasī, where he surrounded the city and then burned Sudakṣiṇa and his priests to death, even though Sudakṣiṇa was his creator.

41Lord Viṣṇu's disc also entered Vārāṇasī, in pursuit of the fiery demon, and proceeded to burn the city to the ground, including all its assembly halls and residential palaces with raised porches, its numerous marketplaces, gateways, watchtowers, warehouses and treasuries, and all the buildings housing elephants, horses, chariots and grains.

42After burning down the entire city of Vārāṇasī, Lord Viṣṇu's Sudarśana cakra returned to the side of Śrī Kṛṣṇa, whose actions are effortless.

43Any mortal who recounts this heroic pastime of Lord Uttamaḥ-śloka's, or who simply hears it attentively, will become freed from all sins.

### SB 10.67: Lord Balarāma Slays Dvivida Gorilla

This chapter describes how Lord Baladeva enjoyed the company of the young girls of Vraja on Raivataka Mountain and killed the ape Dvivida there.

Narakāsura, a demon whom Lord Kṛṣṇa killed, had a friend named Dvivida, an ape. Dvivida wanted to avenge the death of his friend, so he set fire to the homes of the cowherds, devastated Lord Kṛṣṇa's province of Ānarta and flooded coastal lands by churning the ocean's

water with his mighty arms. The rascal then tore down the trees in the *āśramas* of great sages and even passed stool and urine on their sacrificial fires. He kidnapped men and women and imprisoned them in mountain caves, which he sealed off with boulders. After thus disrupting the entire land and polluting many young women of respectable families, Dvivida came upon Raivataka Mountain, where he found Lord Baladeva enjoying in the company of a bevy of attractive women. Ignoring Lord Baladeva, who was apparently intoxicated from drinking *vāruṇī* liquor, Dvivida displayed his anus to the women right in front of the Lord and further insulted them by making crude gestures with his eyebrows and passing stool and urine.

Dvivida's outrageous behavior angered Lord Baladeva, and He threw a stone at the ape. But Dvivida managed to dodge it. He then ridiculed Lord Baladeva and tugged at the women's dresses. Seeing this audacity, Lord Baladeva decided to kill Dvivida. Thus He took up His club and His plow weapon. Powerful Dvivida then armed himself by pulling up a *śāla* tree from the ground, and with this tree he struck the Lord on the head. Lord Baladeva, however, remained unmoved and smashed the tree trunk to pieces. Dvivida uprooted another tree, and yet another and another, until the forest was denuded. But although he struck Baladeva on the head with one tree after another, the Lord simply broke all the trees to pieces. Then the foolish ape started throwing a barrage of stones. Lord Baladeva crushed them all to powder, after which Dvivida charged the Lord and hit Him on the chest with his fists, infuriating Him. Putting aside His club and plow weapons, Lord Balarāma then struck Dvivida's throat and shoulder, at which point the ape vomited blood and fell down dead.

Having killed Dvivida, Lord Baladeva set off for Dvārakā as demigods and sages showered flowers from the sky and offered Him praises, prayers and obeisances.

1The glorious King Parīkṣit said: I wish to hear further about Śrī Balarāma, the unlimited and immeasurable Supreme Lord, whose activities are all astounding. What else did He do?

2ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: There was an ape named Dvivida who was a friend of Narakāsura's. This powerful Dvivida, the brother of Mainda, had been instructed by King Sugrīva.

3To avenge the death of his friend [Naraka], the ape Dvivida ravaged the land, setting fires that burned cities, villages, mines and cowherd dwellings.

4Once Dvivida tore up a number of mountains and used them to devastate all the neighboring kingdoms, especially the province of Ānarta, wherein dwelt his friend's killer, Lord Hari.

5Another time he entered the ocean and, with the strength of ten thousand elephants, churned up its water with his arms and thus submerged the coastal regions.

6The wicked ape tore down the trees in the hermitages of exalted sages and contaminated their sacrificial fires with his feces and urine.

7Just as a wasp imprisons smaller insects, he arrogantly threw both men and women into caves in a mountain valley and sealed the caves shut with boulders.

8Once, while Dvivida was thus engaged in harassing the neighboring kingdoms and polluting women of respectable families, he heard very sweet singing coming from Raivataka Mountain. So he went there.

9-10There he saw Śrī Balarāma, the Lord of the Yadus, adorned with a garland of lotuses and appearing most attractive in every limb. He was singing amidst a crowd of young women, and since He had drunk vāruṇī liquor, His eyes rolled as if He were intoxicated. His body shone

brilliantly as He behaved like an elephant in rut.

11The mischievous ape climbed a tree branch and then revealed his presence by shaking the trees and making the sound kilakilā.

12When Lord Baladeva's consorts saw the ape's impudence, they began to laugh. They were, after all, young girls who were fond of joking and prone to silliness.

13Even as Lord Balarāma looked on, Dvivida insulted the girls by making odd gestures with his eyebrows, coming right in front of them, and showing them his anus.

14-15Angered, Lord Balarāma, the best of fighters, hurled a rock at him, but the cunning ape dodged the rock and grabbed the Lord's pot of liquor. Further infuriating Lord Balarāma by laughing and by ridiculing Him, wicked Dvivida then broke the pot and offended the Lord even more by pulling at the girls' clothing. Thus the powerful ape, puffed up with false pride, continued to insult Śrī Balarāma.

16Lord Balarāma saw the ape's rude behavior and thought of the disruptions he had created in the surrounding kingdoms. Thus the Lord angrily took up His club and His plow weapon, having decided to put His enemy to death.

17Mighty Dvivida also came forward to do battle. Uprooting a śāla tree with one hand, he rushed toward Balarāma and struck Him on the head with the tree trunk.

18But Lord Saṅkarṣaṇa remained as motionless as a mountain and simply grabbed the log as it fell upon His head. He then struck Dvivida with His club, named Sunanda.

19-21Struck on the skull by the Lord's club, Dvivida became brilliantly decorated by the outpour of blood, like a mountain beautified by red oxide. Ignoring the wound, Dvivida uprooted another tree, stripped it of leaves by brute force and struck the Lord again. Now enraged, Lord Balarāma shattered the tree into hundreds of pieces, upon which Dvivida grabbed yet another tree and furiously hit the Lord again. This tree, too, the Lord smashed into hundreds of pieces.

22Thus fighting the Lord, who again and again demolished the trees He was attacked with, Dvivida kept on uprooting trees from all sides until the forest was left treeless.

23The angry ape then released a rain of stones upon Lord Balarāma, but the wielder of the club easily pulverized them all.

24Dvivida, the most powerful of apes, now clenched his fists at the end of his palm-tree-sized arms, came before Lord Balarāma and beat his fists against the Lord's body.

25The furious Lord of the Yādavas then threw aside His club and plow and with His bare hands hammered a blow upon Dvivida's collarbone. The ape collapsed, vomiting blood.

26When he fell, O tiger among the Kurus, Raivataka Mountain shook, along with its cliffs and trees, like a wind-tossed boat at sea.

27In the heavens the demigods, perfect mystics and great sages cried out, "Victory to You! Obeisances to You! Excellent! Well done!" and showered flowers upon the Lord.

28Having thus killed Dvivida, who had disturbed the whole world, the Supreme Lord returned to His capital as the people along the way chanted His glories.

## SB 10.68: The Marriage of Sāmba

This chapter describes how the Kauravas captured Sāmba and how Lord Baladeva dragged the city of Hastināpura to secure his release.

Sāmba, the darling son of Jāmbavatī, kidnapped Duryodhana's daughter Lakṣmaṇā from her *svayaṁvara* assembly. In response, the Kauravas joined forces to arrest him. After Sāmba held them off single-handedly for some time, six warriors of the Kaurava party deprived him of his chariot, broke his bow to pieces, seized him, tied him up and brought both him and Lakṣmaṇā back to Hastināpura.

When King Ugrasena heard of Sāmba's capture, he called upon the Yādavas to retaliate. Angered, they prepared to fight, but Lord Balarāma pacified them, hoping to avoid a quarrel between the Kuru and Yadu dynasties. The Lord set off for Hastināpura, together with several *brāhmaṇas* and Yādava elders.

The party of Yādavas set up camp in a garden outside the city, and Lord Balarāma sent Uddhava to ascertain King Dhṛtarāṣṭra's frame of mind. When Uddhava appeared in the Kaurava court and announced Lord Balarāma's arrival, the Kauravas worshiped Uddhava and went to see the Lord, taking auspicious items to offer Him. The Kauravas honored Balarāma with rituals and items of respect, but when He conveyed Ugrasena's demand that they release Sāmba, they became angry. "It is very amazing," they said, "that the Yādavas are trying to give orders to the Kauravas. This is like a shoe trying to climb atop one's head. It is from us alone that the Yādavas have obtained their royal thrones, and yet now they are presuming themselves our equals. No longer will we extend to them royal privileges."

Having said this, the Kaurava nobles went inside their city, and Lord Baladeva decided that the only way to deal with those who are maddened by false prestige is through brute punishment. Thus He took His plow weapon and, intending to rid the earth of all the Kurus, began dragging Hastināpura toward the Ganges. Seeing that their city was in imminent danger of falling into the river, the terrified Kauravas quickly brought Sāmba and Lakṣmaṇā before Lord Balarāma and began to glorify Him. Then they prayed, "O Lord, please forgive us, who were so ignorant of Your true identity."

Baladeva assured the Kauravas He would not harm them, and Duryodhana presented various wedding gifts to his daughter and new son-in-law. Then Duryodhana, extending his greetings to the Yādavas, requested Lord Baladeva to return to Dvārakā with Sāmba and Lakṣmaṇā.

1Śukadeva Gosvāmī said: O King, Jāmbavatī's son Sāmba, ever victorious in battle, kidnapped Duryodhana's daughter Lakṣmaṇā from her svayaṁvara ceremony.

2The angry Kurus said: This ill-behaved boy has offended us, forcibly kidnapping our unmarried daughter against her will.

3Arrest this ill-behaved Sāmba! What will the Vṛṣṇis do? By our grace they are ruling land that we have granted them.

4If the Vṛṣṇis come here when they learn that their son has been captured, we will break their pride. Thus they'll become subdued, like bodily senses brought under strict control.

5After saying this and having their plan sanctioned by the senior member of the Kuru dynasty, Karṇa, Śala, Bhūri, Yajṣaketu and Suyodhana set out to attack Sāmba.

6Seeing Duryodhana and his companions rushing toward him, Sāmba, the great chariot-fighter,

took up his splendid bow and stood alone like a lion.

7Determined to capture him, the angry bowmen led by Karṇa shouted at Sāmba, 'Stand and fight! Stand and fight!' They came straight for him and showered him with arrows.

8O best of the Kurus, as Kṛṣṇa's son Sāmba was being unjustly harassed by the Kurus, that darling of the Yadu dynasty did not tolerate their attack, any more than a lion would tolerate an attack by puny animals.

9-10Twanging his wonderful bow, heroic Sāmba struck with arrows the six warriors headed by Karṇa. He pierced the six chariots with as many arrows, each team of four horses with four arrows, and each chariot driver with a single arrow, and he similarly struck the great bowmen who commanded the chariots. The enemy warriors congratulated Sāmba for this display of prowess.

11But they forced him down from his chariot, and thereupon four of them struck his four horses, one of them struck down his chariot driver, and another broke his bow.

12Having deprived Sāmba of his chariot during the fight, the Kuru warriors tied him up with great difficulty and then returned victorious to their city, taking the young boy and their princess.

13O King, when the Yādavas heard news of this from Śrī Nārada, they became angry. Urged on by King Ugrasena, they prepared for war against the Kurus.

14-15Lord Balarāma, however, cooled the tempers of the Vṛṣṇi heroes, who had already put on their armor. He who purifies the age of quarrel did not want a quarrel between the Kurus and Vṛṣṇis. Thus, accompanied by brāhmaṇas and family elders, He went to Hastināpura on His chariot, which was as effulgent as the sun. As He went, He appeared like the moon surrounded by the ruling planets.

16Upon arriving at Hastināpura, Lord Balarāma remained in a garden outside the city and sent Uddhava ahead to probe King Dhṛtarāṣṭra's intentions.

17After he had offered proper respects to the son of Ambikā [Dhṛtarāṣṭra] and to Bhīṣma, Droṇa, Bāhlika and Duryodhana, Uddhava informed them that Lord Balarāma had arrived.

18Overjoyed to hear that Balarāma, their dearmost friend, had come, they first honored Uddhava and then went forth to meet the Lord, carrying auspicious offerings in their hands.

19They approached Lord Balarāma and worshiped Him with gifts of cows and arghya, as was fitting. Those among the Kurus who understood His true power bowed down to Him, touching their heads to the ground.

20After both parties had heard that their relatives were doing well and both had inquired into each other's welfare and health, Lord Balarāma forthrightly spoke to the Kurus as follows.

21[Lord Balarāma said:] King Ugrasena is our master and the ruler of kings. With undivided attention you should hear what he has ordered you to do, and then you should do it at once.

22[King Ugrasena has said:] Even though by irreligious means several of you defeated a single opponent who follows the religious codes, still I am tolerating this for the sake of unity among family members.

23Upon hearing these words of Lord Baladeva's, which were full of potency, courage and

strength and were appropriate to His transcendental power, the Kauravas became furious and spoke as follows.

24[The Kuru nobles said:] Oh, how amazing this is! The force of time is indeed insurmountable: a lowly shoe now wants to climb on the head that bears the royal crown.

25It is because these Vṛṣṇis are bound to us by marital ties that we have granted them equality, allowing them to share our beds, seats and meals. Indeed, it is we who have given them their royal thrones.

26Only because we looked the other way could they enjoy the pair of yak-tail fans and the conchshell, white umbrella, throne, and royal bed.

27No longer should the Yadus be allowed to use these royal symbols, which now cause trouble for those who gave them, like milk fed to poisonous snakes. Having prospered by our grace, these Yādavas have now lost all shame and are daring to command us!

28How would even Indra dare usurp anything that Bhīṣma, Droṇa, Arjuna or the other Kurus have not given him? It would be like a lamb claiming the lion's kill.

29Śrī Bādarāyaṇi said: O best of the Bhāratas, after the arrogant Kurus, thoroughly puffed up by the opulence of their high birth and relations, had spoken these harsh words to Lord Balarāma, they turned and went back to their city.

30Seeing the bad character of the Kurus and hearing their nasty words, the infallible Lord Balarāma became filled with rage. His countenance frightful to behold, He laughed repeatedly and spoke as follows.

31[Lord Balarāma said:] "Clearly the many passions of these scoundrels have made them so proud that they do not want peace. Then let them be pacified by physical punishment, as animals are with a stick.

32-33"Ah, only gradually was I able to calm the furious Yadus and Lord Kṛṣṇa, who was also enraged. Desiring peace for these Kauravas, I came here. But they are so dull-headed, fond of quarrel and mischievous by nature that they have repeatedly disrespected Me. Out of conceit they dared to address Me with harsh words!

34"King Ugrasena, the lord of the Bhojas, Vṛṣṇis and Andhakas, is not fit to command, when Indra and other planetary rulers obey his orders?

35"That same Kṛṣṇa who occupies the Sudharmā assembly hall and for His enjoyment took the pārijāta tree from the immortal demigodsthat very Kṛṣṇa is indeed not fit to sit on a royal throne?

36"The goddess of fortune herself, ruler of the entire universe, worships His feet. And the master of the goddess of fortune does not deserve the paraphernalia of a mortal king?

37"The dust of Kṛṣṇa's lotus feet, which is the source of holiness for all places of pilgrimage, is worshiped by all the great demigods. The principal deities of all planets are engaged in His service, and they consider themselves most fortunate to take the dust of the lotus feet of Kṛṣṇa on their crowns. Great demigods like Lord Brahmā and Lord Śiva, and even the goddess of fortune and I, are simply parts of His spiritual identity, and we also carefully carry that dust on our heads. And still Kṛṣṇa is not fit to use the royal insignia or even sit on the royal throne?

38"We Vṛṣṇis enjoy only whatever small parcel of land the Kurus allow us? And we are indeed

shoes, whereas the Kurus are the head?

39"Just see how these puffed-up Kurus are intoxicated with their so-called power, like ordinary drunken men! What actual ruler, with the power to command, would tolerate their foolish, nasty words?

40"Today I shall rid the earth of the Kauravas!" declared the furious Balarāma. Thus He took His plow weapon and rose up as if to set the three worlds ablaze.

41The Lord angrily dug up Hastināpura with the tip of His plow and began to drag it, intending to cast the entire city into the Ganges.

42-43Seeing that their city was tumbling about like a raft at sea as it was being dragged away, and that it was about to fall into the Ganges, the Kauravas became terrified. To save their lives they approached the Lord for shelter, taking their families with them. Placing Sāmba and Lakṣmaṇā in front, they joined their palms in supplication.

44[The Kauravas said:] O Rāma, Rāma, foundation of everything! We know nothing of Your power. Please excuse our offense, for we are ignorant and misguided.

45You alone cause the creation, maintenance and annihilation of the cosmos, and of You there is no prior cause. Indeed, O Lord, authorities say that the worlds are mere playthings for You as You perform Your pastimes.

46O unlimited one of a thousand heads, as Your pastime You carry this earthly globe upon one of Your heads. At the time of annihilation You withdraw the entire universe within Your body and, remaining all alone, lie down to rest.

47Your anger is meant for instructing everyone; it is not a manifestation of hatred or envy. O Supreme Lord, You sustain the pure mode of goodness, and You become angry only to maintain and protect this world.

48We bow down to You, O Soul of all beings, O wielder of all potencies, O tireless maker of the universe! Offering You obeisances, we take shelter of You.

49Śukadeva Gosvāmī said: Thus propitiated by the Kurus, whose city was trembling and who were surrendering to Him in great distress, Lord Balarāma became very calm and kindly disposed toward them. "Do not be afraid," He said, and took away their fear.

50-51Duryodhana, being very affectionate to his daughter, gave as her dowry 1,200 sixty-year-old elephants, 120,000 horses, 6,000 golden chariots shining like the sun, and 1,000 maidservants with jeweled lockets on their necks.

52The Supreme Lord, chief of the Yādavas, accepted all these gifts and then departed with His son and daughter-in-law as His well-wishers bid Him farewell.

53Then Lord Halāyudha entered His city [Dvārakā] and met His relatives, whose hearts were all bound to Him in loving attachment. In the assembly hall He reported to the Yadu leaders everything about His dealings with the Kurus.

54Even today the city of Hastināpura is visibly elevated on its southern side along the Ganges, thus showing the signs of Lord Balarāma's prowess.

**SB 10.69: Nārada Muni Visits Lord Kṛṣṇa's Palaces in Dvārakā**

This chapter relates how Nārada Muni was amazed to see the household pastimes of Lord Śrī Kṛṣṇa, and how he offered prayers to the Lord.

After killing the demon Naraka, Lord Kṛṣṇa had simultaneously married sixteen thousand maidens, and sage Nārada wanted to observe the Lord's diverse activities in this unique family situation. Thus he went to Dvārakā. Nārada entered one of the sixteen thousand palaces and saw Goddess Rukmiṇī personally rendering menial service to Śrī Kṛṣṇa, despite her being in the company of thousands of maidservants. As soon as Lord Kṛṣṇa noticed Nārada, He got up from His bed, offered obeisances to the sage and seated him on His own seat. Then the Lord bathed Nārada's feet and sprinkled the water on His own head. Such was the exemplary behavior of the Lord.

After conversing with the Lord for a short while, Nārada went to another of His palaces, where the sage saw Śrī Kṛṣṇa playing at dice with His queen and Uddhava. Going from there to another palace, he found Lord Kṛṣṇa coddling His infant children. In another palace he saw Him preparing to take a bath; in another, performing fire sacrifices, in another, feeding *brāhmaṇas;* and in another, eating the remnants left by *brāhmaṇas.* In one palace the Lord was performing noontime rituals; in another, quietly chanting the Gāyatrī*mantra;* in another, sleeping on His bed; in another, consulting with His ministers; and in yet another, playing in the water with His female companions. Somewhere the Lord was giving charity to *brāhmaṇas,* in another place He was joking and laughing with His consort, in yet another place He was meditating on the Supersoul, somewhere He was serving His spiritual masters, in another place He was arranging for the marriages of His sons and daughters, somewhere else He was going out to hunt animals, and elsewhere He was moving about in disguise to find out what the citizens were thinking.

Having seen all this, Nārada addressed Lord Kṛṣṇa: "Only because I have served Your lotus feet can I understand these varieties of Your Yoga-māyā potency, which ordinary living beings bewildered by illusion cannot begin to perceive. Thus I am most fortunate, and I simply desire to travel all over the three worlds chanting the glories of Your pastimes, which purify all the worlds."

Śrī Kṛṣṇa asked Nārada not to be confused by his vision of the Lord's transcendental opulences, and He described to him the purposes of His appearances in this world. He then honored the sage properly, according to religious principles, and Nārada departed, continuously meditating on the Supreme Personality of Godhead.

1-6Śukadeva Gosvāmī said: Hearing that Lord Kṛṣṇa had killed Narakāsura and had alone married many brides, Nārada Muni desired to see the Lord in this situation. He thought, "It is quite amazing that in a single body Lord Kṛṣṇa simultaneously married sixteen thousand women, each in a separate palace." Thus the sage of the demigods eagerly went to Dvārakā.

7-8In the city of Dvārakā was a beautiful private quarter worshiped by the planetary rulers. This district, where the demigod Viśvakarmā had shown all his divine skill, was the residential area of Lord Hari, and thus it was gorgeously decorated by the sixteen thousand palaces of Lord Kṛṣṇa's queens. Nārada Muni entered one of these immense palaces.

9-12Supporting the palace were coral pillars decoratively inlaid with vaidūrya gems. Sapphires bedecked the walls, and the floors glowed with perpetual brilliance. In that palace Tvaṣṭā had arranged canopies with hanging strands of pearls; there were also seats and beds fashioned of ivory and precious jewels. In attendance were many well-dressed maidservants bearing lockets on their necks, and also armor-clad guards with turbans, fine uniforms and jeweled earrings.

The glow of numerous jewel-studded lamps dispelled all darkness in the palace. My dear King, on the ornate ridges of the roof danced loudly crying peacocks, who saw the fragrant aguru incense escaping through the holes of the latticed windows and mistook it for a cloud.

13In that palace the learned brāhmaṇa saw the Lord of the Sātvatas, Śrī Kṛṣṇa, together with His wife, who fanned Him with a gold-handled yak-tail fan. She personally served Him in this way, even though she was constantly attended by a thousand maidservants equal to her in personal character, beauty, youth and fine dress.

14The Supreme Lord is the greatest upholder of religious principles. Thus when He noticed Nārada, He rose at once from Goddess Śrī's bed, bowed His crowned head at Nārada's feet and, joining His palms, had the sage sit in His own seat.

15The Lord bathed Nārada's feet and then put the water on His own head. Although Lord Kṛṣṇa is the supreme spiritual authority of the universe and the master of His devotees, it was proper for Him to behave in this way, for His name is Brahmaṇya-deva, "the Lord who favors the bṛāhmaṇas." Thus Śrī Kṛṣṇa honored the sage Nārada by bathing his feet, even though the water that bathes the Lord's own feet becomes the Ganges, the ultimate holy shrine.

16After fully worshiping the great sage of the demigods according to Vedic injunctions, Lord Kṛṣṇa, who is Himself the original sageNārāyaṇa, the friend of Naraconversed with Nārada, and the Lord's measured speech was as sweet as nectar. Finally the Lord asked Nārada, "What may We do for you, Our lord and master?"

17Śrī Nārada said: O almighty Lord, it is no surprise that You, the ruler of all worlds, show friendship for all people and yet subdue the envious. As we well know, You descend by Your sweet will in order to bestow the highest good on this universe by maintaining and protecting it. Thus Your glories are widely sung.

18Now I have seen Your feet, which grant liberation to Your devotees, which even Lord Brahmā and other great personalities of unfathomable intelligence can only meditate upon within their hearts, and which those who have fallen into the well of material existence resort to for deliverance. Please favor me so that I may constantly think of You as I travel about. Please grant Me the power to remember You.

19Nārada then entered the palace of another of Lord Kṛṣṇa's wives, my dear King. He was eager to witness the spiritual potency possessed by the master of all masters of mystic power.

20-22There he saw the Lord playing at dice with His beloved consort and His friend Uddhava. Lord Kṛṣṇa worshiped Nārada by standing up, offering him a seat, and so on, and then, as if He did not know, asked him, "When did you arrive? What can needy persons like Us do for those who are full in themselves? In any case, My dear brāhmaṇa, please make My life auspicious." Thus addressed, Nārada was astonished. He simply stood up silently and went to another palace.

23This time Nāradajī saw that Lord Kṛṣṇa was engaged as an affectionate father petting His small children. From there he entered another palace and saw Lord Kṛṣṇa preparing to take His bath.

24In one place the Lord was offering oblations into the sacrificial fires; in another, worshiping through the five mahā-yajṣas; in another, feeding brāhmaṇas; and in yet another, eating the remnants of food left by brāhmaṇas.

25Somewhere Lord Kṛṣṇa was observing the rituals for worship at sunset by refraining from

speech and quietly chanting the Gāyatrī mantra, and elsewhere He was moving about with sword and shield in the areas set aside for sword practice.

26In one place Lord Gadāgraja was riding on horses, elephants and chariots, and in another place He was resting on His bed while bards recited His glories.

27Somewhere He was consulting with royal ministers like Uddhava, and somewhere else He was enjoying in the water, surrounded by many society girls and other young women.

28Somewhere He was giving well-decorated cows to exalted brāhmaṇas, and elsewhere he was listening to the auspicious narration of epic histories and Purāṇas.

29Somewhere Lord Kṛṣṇa was found enjoying the company of a particular wife by exchanging joking words with her. Somewhere else He was found engaged, along with His wife, in religious ritualistic functions. Somewhere Kṛṣṇa was found engaged in matters of economic development, and somewhere else He was found enjoying family life according to the regulative principles of the śāstras.

30Somewhere He was sitting alone, meditating on the Supreme Personality of Godhead, who is transcendental to material nature, and somewhere He was rendering menial service to His elders, offering them desirable things and reverential worship.

31In one place He was planning battles in consultation with some of His advisers, and in another place He was making peace. Somewhere Lord Keśava and Lord Balarāma were together pondering the welfare of the pious.

32Nārada saw Lord Kṛṣṇa engaged in getting His sons and daughters married to suitable brides and bridegrooms at the appropriate time, and the marriage ceremonies were being performed with great pomp.

33Nārada observed how Śrī Kṛṣṇa, the master of all yoga masters, arranged to send away His daughters and sons-in-law, and also to receive them home again, at the time of great holiday celebrations. All the citizens were astonished to see these celebrations.

34Somewhere He was worshiping all the demigods with elaborate sacrifices, and elsewhere He was fulfilling His religious obligations by doing public welfare work, such as the construction of wells, public parks and monasteries.

35In another place He was on a hunting expedition. Mounted on His Sindhī horse and accompanied by the most heroic of the Yadus, He was killing animals meant for offering in sacrifice.

36Somewhere Kṛṣṇa, the Lord of mystic power, was moving about in disguise among the homes of ministers and other citizens in order to understand what each of them was thinking.

37Having thus seen this display of the Lord's Yoga-māyā, Nārada mildly laughed and then addressed Lord Hṛṣīkeśa, who was adopting the behavior of a human being.

38[Nārada said:] Now we understand Your mystic potencies, which are difficult to comprehend, even for great mystics, O Supreme Soul, master of all mystic power. Only by serving Your feet have I been able to perceive Your powers.

39O Lord, please give me Your leave. I will wander about the worlds, which are flooded with Your fame, loudly singing about Your pastimes, which purify the universe.

40The Supreme Personality of Godhead said: O brāhmaṇa, I am the speaker of religion, its performer and sanctioner. I observe religious principles to teach them to the world, My child, so do not be disturbed.

41Śukadeva Gosvāmī said: Thus in every palace Nārada saw the Lord in His same personal form, executing the transcendental principles of religion that purify those engaged in household affairs.

42Having repeatedly seen the vast mystic display of Lord Kṛṣṇa, whose power is unlimited, the sage was amazed and filled with wonder.

43Lord Kṛṣṇa greatly honored Nārada, faithfully presenting him with gifts related to economic prosperity, sense gratification and religious duties. Thus fully satisfied, the sage departed, constantly remembering the Lord.

44In this way Lord Nārāyaṇa imitated the ways of ordinary humans, manifesting His divine potencies for the benefit of all beings. Thus He enjoyed, dear King, in the company of His sixteen thousand exalted consorts, who served the Lord with their shy, affectionate glances and laughter.

45Lord Hari is the ultimate cause of universal creation, maintenance and destruction. My dear King, anyone who chants about, hears about or simply appreciates the extraordinary activities He performed in this world, which are impossible to imitate, will surely develop devotion for the Supreme Lord, the bestower of liberation.

**SB 10.70: Lord Kṛṣṇa's Daily Activities**

This chapter describes Lord Śrī Kṛṣṇa's daily activities and two proposals placed before Himone by a messenger from Dvārakā and another by the sage Nārada.

In the early hours of the morning, Lord Kṛṣṇa would rise from bed and bathe Himself in clear water. After executing the dawn rituals and other religious duties, He would offer oblations into the sacred fire, chant the Gāyatrī*mantra,* worship and pay tribute to the demigods, sages and forefathers, and offer respects to learned *brāhmaṇas*. Then He would touch auspicious substances, decorate Himself with celestial ornaments and gratify His subjects by giving them whatever they desired.

The Lord's chariot driver, Dāruka, would bring His chariot, and the Lord would mount it and drive to the royal assembly hall. When He would take His seat in the assembly, surrounded by the Yādavas, He would appear like the moon surrounded by the circle of stars called *nakṣatras*. Bards would recite His praises to the accompaniment of drums, cymbals, *vīṇās* and other instruments.

On one occasion, the doorkeepers escorted a messenger into the assembly hall. The messenger offered prostrated obeisances to the Lord and then, standing with joined palms, addressed Him: "O Lord, Jarāsandha has captured twenty thousand kings and is holding them prisoner. Please do something, for these kings are all Your surrendered devotees."

Just at that moment Nārada Muni appeared. Lord Śrī Kṛṣṇa and all the members of the assembly stood up and offered obeisances to Nārada by bowing their heads. The sage accepted a seat, and then Lord Kṛṣṇa gently questioned him: "Since you travel all over the universe, please inform Us what the Pāṇḍava brothers are planning to do." Nārada then praised the Supreme Lord and replied, "King Yudhiṣṭhira desires to perform the Rājasūya sacrifice. For this he requests Your sanction and presence. Many demigods and illustrious kings will come just to

see You."

Understanding that the Yādavas wanted Him to defeat Jarāsandha, Lord Kṛṣṇa asked His wise minister Uddhava to determine which of the two matters at handthe defeat of Jarāsandha or the Rājasūya sacrificeshould be attended to first.

1Śukadeva Gosvāmī said: As dawn approached, the wives of Lord Mādhava, each embraced around the neck by her husband, cursed the crowing roosters. The ladies were disturbed that now they would be separated from Him.

2The bees' buzzing, caused by the fragrant breeze from the pārijāta garden, roused the birds from sleep. And when the birds began to sing loudly, they woke Lord Kṛṣṇa like court poets reciting His glories.

3Lying in her beloved's arms, Queen Vaidarbhī did not like this most auspicious hour, for it meant she would lose His embrace.

4-5Lord Mādhava would rise during the brāhma-muhūrta period and touch water. With a clear mind He would then meditate upon Himself, the single, self-luminous, unequaled and infallible Supreme Truth, known as Brahman, who by His very nature ever dispels all contamination, and who through His personal energies, which cause the creation and destruction of this universe, manifests His own pure and blissful existence.

6That most saintly of personalities would then bathe in sanctified water, dress Himself in lower and upper garments and perform the entire sequence of prescribed rituals, beginning with worship at dawn. After offering oblations into the sacred fire, Lord Kṛṣṇa would silently chant the Gāyatrī mantra.

7-9Each day the Lord worshiped the rising sun and propitiated the demigods, sages and forefathers, who are all His expansions. The self-possessed Lord would then carefully worship His elders and the brāhmaṇas. To those well-attired brāhmaṇas He would offer herds of tame and peaceful cows with gold-plated horns and pearl necklaces. These cows were also dressed in fine cloth, and the fronts of their hooves were plated with silver. Providers of abundant milk, they had each given birth only once and were accompanied by their calves. Daily the Lord gave many groups of 13,084 cows to the learned brāhmaṇas, together with linen, deerskins and sesame seeds.

10Lord Kṛṣṇa would offer obeisances to the cows, brāhmaṇas and demigods, His elders and spiritual masters, and all living beingsall of whom are expansions of His supreme personality. Then He would touch auspicious things.

11He would decorate His body, the very ornament of human society, with His own special clothes and jewelry and with divine flower garlands and ointments.

12He would then look at ghee, a mirror, the cows and bulls, the brāhmaṇas and the demigods and see to it that the members of all the social classes living in the palace and throughout the city were satisfied with gifts. After this He would greet His ministers, gratifying them by fulfilling all their desires.

13After first distributing flower garlands, pān and sandalwood paste to the brāhmaṇas, He would give these gifts to His friends, ministers and wives, and finally He would partake of them Himself.

14By then the Lord's driver would have brought His supremely wonderful chariot, yoked with

Sugrīva and His other horses. His charioteer would bow down to the Lord and then stand before Him.

15Holding on to His charioteer's hands, Lord Kṛṣṇa would mount the chariot, together with Sātyaki and Uddhava, just like the sun rising over the easternmost mountain.

16The palace women would look upon Lord Kṛṣṇa with shy, loving glances, and thus He would get free from them only with difficulty. He would then set off, His smiling face captivating their minds.

17The Lord, attended by all the Vṛṣṇis, would enter the Sudharmā assembly hall, which protects those who enter it from the six waves of material life, dear King.

18As the almighty Supreme Lord would seat Himself upon His exalted throne there in the assembly hall, He shone with His unique effulgence, illuminating all the quarters of space. Surrounded by the Yadus, lions among men, that best of the Yadus appeared like the moon amidst many stars.

19And there, O King, jesters would entertain the Lord by displaying various comic moods, expert entertainers would perform for Him, and female dancers would dance energetically.

20These performers would dance and sing to the sounds of mṛdaṅgas, vīṇās, murajas, flutes, cymbals and conchshells, while professional poets, chroniclers and panegyrists would recite the Lord's glories.

21Some brāhmaṇas sitting in that assembly hall would fluently chant Vedic mantras, while others recounted stories of past kings of pious renown.

22Once a certain person arrived in the assembly, O King, who had never been seen there before. The doorkeepers announced him to the Lord and then escorted him inside.

23That person bowed down to Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, and with joined palms he described to the Lord how a number of kings were suffering because Jarāsandha had imprisoned them.

24Twenty thousand kings who had refused to submit absolutely to Jarāsandha during his world conquest had been forcibly imprisoned by him in the fortress named Girivraja.

25The kings said [as related through their messenger]: O Kṛṣṇa, Kṛṣṇa, O immeasurable Soul, destroyer of fear for those surrendered to You! Despite our separatist attitude, we have come to You for shelter out of fear of material existence.

26People in this world are always engaged in sinful activities and are thus bewildered about their real duty, which is to worship You according to Your commandments. This activity would truly bring them good fortune. Let us offer our obeisances unto the all-powerful Lord, who appears as time and suddenly cuts down one's stubborn hope for a long life in this world.

27You are the predominating Lord of the universe and have descended into this world with Your personal power to protect the saintly and suppress the wicked. We cannot understand, O Lord, how anyone can transgress Your law and still continue to enjoy the fruits of his work.

28O Lord, with this corpselike body, always full of fear, we bear the burden of the relative happiness of kings, which is just like a dream. Thus we have rejected the real happiness of the soul, which comes by rendering selfless service to You. Being so very wretched, we simply suffer in this life under the spell of Your illusory energy.

29Therefore, since Your feet relieve the sorrow of those who surrender to them, please release us prisoners from the shackles of karma, manifest as the King of Magadha. Wielding alone the prowess of ten thousand maddened elephants, he has locked us up in his house just as a lion captures sheep.

30O wielder of the disc! Your strength is unlimited, and thus seventeen times You crushed Jarāsandha in battle. But then, absorbed in human affairs, You allowed him to defeat You once. Now he is so filled with pride that he dares to torment us, Your subjects. O unconquerable one, please rectify this situation.

31The messenger continued: This is the message of the kings imprisoned by Jarāsandha, who all hanker for Your audience, having surrendered to Your feet. Please bestow good fortune on these poor souls.

32Śukadeva Gosvāmī said: When the kings' messenger had thus spoken, the sage of the demigods, Nārada, suddenly appeared. Bearing a mass of golden matted locks on his head, the supremely effulgent sage entered like the brilliant sun.

33Lord Kṛṣṇa is the worshipable master of even planetary rulers like Lord Brahmā and Lord Śiva, yet as soon as He saw that Nārada Muni had arrived, He joyfully stood up along with His ministers and secretaries to receive the great sage and offer His respectful obeisances by bowing His head.

34After Nārada had accepted the seat offered to him, Lord Kṛṣṇa honored the sage according to scriptural injunctions and, gratifying him with His reverence, spoke the following truthful and pleasing words.

35[Lord Kṛṣṇa said:] It is certain that today the three worlds have attained freedom from all fear, for that is the influence of such a great personality as you, who travel at will throughout all the worlds.

36There is nothing unknown to you within God's creation. Therefore please tell Us what the Pāṇḍavas intend to do.

37Śrī Nārada said: I have seen many times the insurmountable power of Your Māyā, O almighty one, by which You bewilder even the creator of the universe, Brahmā. O all-encompassing Lord, it does not surprise me that You disguise Yourself by Your own energies while moving among the created beings, as a fire covers its own light with smoke.

38Who can properly understand Your purpose? With Your material energy You expand and also withdraw this creation, which thus appears to have substantial existence. Obeisances to You, whose transcendental position is inconceivable.

39The living being caught in the cycle of birth and death does not know how he can be delivered from the material body, which brings him so much trouble. But You, the Supreme Lord, descend to this world in various personal forms, and by performing Your pastimes You illumine the soul's path with the blazing torch of Your fame. Therefore I surrender unto You.

40Nonetheless, O Supreme Truth playing the part of a human being, I shall tell You what Your devotee Yudhiṣṭhira Mahārāja, the son of Your father's sister, intends to do.

41Desiring unrivaled sovereignty, King Yudhiṣṭhira intends to worship You with the greatest fire sacrifice, the Rājasūya. Please bless his endeavor.

42O Lord, exalted demigods and glorious kings, eager to see You, will all come to that best of

sacrifices.

43O Lord, even outcastes are purified by hearing and chanting Your glories and meditating upon You, the Absolute Truth. What then to speak of those who see and touch You?

44My dear Lord, You are the symbol of everything auspicious. Your transcendental name and fame is spread like a canopy all over the universe, including the higher, middle and lower planetary systems. The transcendental water that washes Your lotus feet is known in the higher planetary systems as the Mandākinī River, in the lower planetary systems as the Bhogavatī and in this earthly planetary system as the Ganges. This sacred, transcendental water flows throughout the entire universe, purifying wherever it goes.

45Śukadeva Gosvāmī said: When His supporters, the Yādavas, objected to this proposal out of eagerness to defeat Jarāsandha, Lord Keśava turned to His servant Uddhava and, smiling, addressed him with fine words.

46The Personality of Godhead said: You are indeed Our best eye and closest friend, for you know perfectly the relative value of various kinds of counsel. Therefore please tell Us what should be done in this situation. We trust your judgment and shall do as you say.

47[Śukadeva Gosvāmī continued:] Thus requested by his master, who, though omniscient, acted as if perplexed, Uddhava took this order upon his head and replied as follows.

## SB 10.71: The Lord Travels to Indraprastha

This chapter relates how Lord Kṛṣṇa followed Uddhava's advice and went to Indraprastha, where the Pāṇḍavas celebrated His arrival with great festivity.

Wise Uddhava, knowing Lord Kṛṣṇa's inner desire, advised the Lord as follows: "By conquering all directions and then performing the Rājasūya sacrifice, King Yudhiṣṭhira will fulfill all his purposesdefeating Jarāsandha, protecting those who have taken shelter of You, and executing the Rājasūya-yajṣa. Thus the Yādavas' powerful enemy will be destroyed and the imprisoned kings freed, and both deeds will glorify You.

"King Jarāsandha can be killed only by Bhīma, and since Jarāsandha is very devoted to the *brāhmaṇas,* Bhīma should disguise himself as a *brāhmaṇa,* go to Jarāsandha and beg a fight from him. Then, in Your presence, Bhīma will defeat the demon."

Nārada Muni, the Yādava elders and Lord Kṛṣṇa praised Uddhava's plan, and Lord Kṛṣṇa proceeded to mount His chariot and head for Indraprastha, followed by His devoted queens. Soon Lord Kṛṣṇa arrived in that city. Hearing of the Lord's arrival, King Yudhiṣṭhira immediately came out of the city to greet Him. Yudhiṣṭhira repeatedly embraced Lord Kṛṣṇa, losing external consciousness in his ecstasy. Then Bhīmasena, Arjuna, Nakula, Sahadeva and others each embraced or bowed down to Him, as was appropriate.

After Lord Kṛṣṇa had properly greeted everyone, He entered the city as a fanfare of many musical instruments played and reverential hymns were chanted. The women of the city scattered flowers down from the rooftops, remarking on the extreme good fortune of the Lord's queens.

Śrī Kṛṣṇa entered the royal palace and offered respects to Queen Kuntīdevī, who embraced her nephew, and Draupadī and Subhadrā offered obeisances to the Lord. Kuntīdevī then requested Draupadī to worship Lord Kṛṣṇa's wives.

The Supreme Personality of Godhead, Śrī Kṛṣṇa, gratified King Yudhiṣṭhira by remaining there for some months. During this stay He enjoyed strolling here and there. He would drive on chariots with Arjuna, followed by many warriors and soldiers.

1Śukadeva Gosvāmī said: Having thus heard the statements of Devarṣi Nārada, and understanding the opinions of both the assembly and Lord Kṛṣṇa, the great-minded Uddhava began to speak.

2Śrī Uddhava said: O Lord, as the sage advised, You should help Your cousin fulfill his plan for performing the Rājasūya sacrifice, and You should also protect the kings who are begging for Your shelter.

3Only one who has conquered all opponents in every direction can perform the Rājasūya sacrifice, O almighty one. Thus, in my opinion, conquering Jarāsandha will serve both purposes.

4By this decision there will be great gain for us, and You will save the kings. Thus, Govinda, You will be glorified.

5The invincible King Jarāsandha is as strong as ten thousand elephants. Indeed, other powerful warriors cannot defeat him. Only Bhīma is equal to him in strength.

6He will be defeated in a match of single chariots, not when he is with his hundred military divisions. Now, Jarāsandha is so devoted to brahminical culture that he never refuses requests from brāhmaṇas.

7Bhīma should go to him disguised as a brāhmaṇa and beg charity. Thus he will obtain single combat with Jarāsandha, and in Your presence Bhīma will no doubt kill him.

8Even Lord Brahmā and Lord Śiva act only as Your instruments in cosmic creation and annihilation, which are ultimately done by You, the Supreme Lord, in Your invisible aspect of time.

9In their homes, the godly wives of the imprisoned kings sing of Your noble deedsabout how You will kill their husbands' enemy and deliver them. The gopīs also sing Your glorieshow You killed the enemy of the elephant king, Gajendra; the enemy of Sīta, daughter of Janaka; and the enemies of Your own parents as well. So also do the sages who have obtained Your shelter glorify You, as do we ourselves.

10O Kṛṣṇa, the killing of Jarāsandha, which is certainly a reaction of his past sins, will bring immense benefit. Indeed, it will make possible the sacrificial ceremony You desire.

11Śukadeva Gosvāmī said: O King, Devarṣi Nārada, the Yadu elders and Lord Kṛṣṇa all welcomed Uddhava's proposal, which was entirely auspicious and infallible.

12The almighty Personality of Godhead, the son of Devakī, begged His superiors for permission to leave. Then He ordered His servants, headed by Dāruka and Jaitra, to prepare for departure.

13O slayer of enemies, after He had arranged for the departure of His wives, children and baggage and taken leave of Lord Saṅkarṣaṇa and King Ugrasena, Lord Kṛṣṇa mounted His chariot, which had been brought by His driver. It flew a flag marked with the emblem of Garuḍa.

14As the vibrations resounding from mṛdaṅgas, bherīs, kettledrums, conchshells and gomukhas filled the sky in all directions, Lord Kṛṣṇa set out on His journey. He was accompanied by the chief officers of His corps of chariots, elephants, infantry and cavalry and surrounded on all sides by His fierce personal guard.

15Lord Acyuta's faithful wives, along with their children, followed the Lord on golden palanquins carried by powerful men. The queens were adorned with fine clothing, ornaments, fragrant oils and flower garlands, and they were surrounded on all sides by soldiers carrying swords and shields in their hands.

16On all sides proceeded finely adorned women-attendants of the royal household, as well as courtesans. They rode on palanquins and camels, bulls and buffalo, donkeys, mules, bullock carts and elephants. Their conveyances were fully loaded with grass tents, blankets, clothes and other items for the trip.

17The Lord's army boasted royal umbrellas, cāmara fans and huge flagpoles with waving banners. During the day the sun's rays reflected brightly from the soldiers' fine weapons, jewelry, helmets and armor. Thus Lord Kṛṣṇa's army, noisy with shouts and clatter, appeared like an ocean stirring with agitated waves and timiṅgila fish.

18Honored by Śrī Kṛṣṇa, the chief of the Yadus, Nārada Muni bowed down to the Lord. All of Nārada's senses were satisfied by his meeting with Lord Kṛṣṇa. Thus, having heard the decision of the Lord and having been worshiped by Him, Nārada placed Him firmly within his heart and departed through the sky.

19With pleasing words the Lord addressed the messenger sent by the kings: "My dear messenger, I wish all good fortune to you. I shall arrange for the killing of King Magadha. Do not fear."

20Thus addressed, the messenger departed and accurately relayed the Lord's message to the kings. Eager for freedom, they then waited expectantly for their meeting with Lord Kṛṣṇa.

21As He traveled through the provinces of Ānarta, Sauvīra, Marudeśa and Vinaśana, Lord Hari crossed rivers and passed mountains, cities, villages, cow pastures and quarries.

22After crossing the rivers Dṛṣadvatī and Sarasvatī, He passed through Paṣcāla and Matsya and finally came to Indraprastha.

23King Yudhiṣṭhira was delighted to hear that the Lord, whom human beings rarely see, had now arrived. Accompanied by his priests and dear associates, the King came out to meet Lord Kṛṣṇa.

24As songs and musical instruments resounded along with the loud vibration of Vedic hymns, the King went forth with great reverence to meet Lord Hṛṣīkeśa, just as the senses go forth to meet the consciousness of life.

25The heart of King Yudhiṣṭhira melted with affection when he saw his dearmost friend, Lord Kṛṣṇa, after such a long separation, and he embraced the Lord again and again.

26The eternal form of Lord Kṛṣṇa is the everlasting residence of the goddess of fortune. As soon as King Yudhiṣṭhira embraced Him, the King became free of all the contamination of material existence. He immediately felt transcendental bliss and merged in an ocean of happiness. There were tears in his eyes, and his body shook due to ecstasy. He completely forgot that he was living in this material world.

27Then Bhīma, his eyes brimming with tears, laughed with joy as he embraced his maternal cousin, Kṛṣṇa. Arjuna and the twinsNakula and Sahadevaalso joyfully embraced their dearmost friend, the infallible Lord, and they cried profusely.

28After Arjuna had embraced Him once more and Nakula and Sahadeva had offered Him their obeisances, Lord Kṛṣṇa bowed down to the brāhmaṇas and elders present, thus properly honoring the respectable members of the Kuru, Sṛṣjaya and Kaikaya clans.

29Sūtas, Māgadhas, Gandharvas, Vandīs, jesters and brāhmaṇas all glorified the lotus-eyed Lordsome reciting prayers, some dancing and singingas mṛdaṅgas, conchshells, kettledrums, vīṇās, paṇavas and gomukhas resounded.

30Thus surrounded by His well-wishing relatives and praised on all sides, Lord Kṛṣṇa, the crest jewel of the justly renowned, entered the decorated city.

31-32The roads of Indraprastha were sprinkled with water perfumed by the liquid from elephants' foreheads, and colorful flags, golden gateways and full waterpots enhanced the city's splendor. Men and young girls were beautifully arrayed in fine, new garments, adorned with flower garlands and ornaments, and anointed with aromatic sandalwood paste. Every home displayed glowing lamps and respectful offerings, and from the holes of the latticed windows drifted incense, further beautifying the city. Banners waved, and the roofs were decorated with golden domes on broad silver bases. Thus Lord Kṛṣṇa saw the royal city of the King of the Kurus.

33When the young women of the city heard that Lord Kṛṣṇa, the reservoir of pleasure for human eyes, had arrived, they hurriedly went onto the royal road to see Him. They abandoned their household duties and even left their husbands in bed, and in their eagerness the knots of their hair and garments came loose.

34The royal road being quite crowded with elephants, horses, chariots and foot soldiers, the women climbed to the top of their houses, where they caught sight of Lord Kṛṣṇa and His queens. The city ladies scattered flowers upon the Lord, embraced Him in their minds and expressed their heartfelt welcome with broadly smiling glances.

35Observing Lord Mukunda's wives passing on the road like stars accompanying the moon, the women exclaimed, "What have these ladies done so that the best of men bestows upon their eyes the joy of His generous smiles and playful sidelong glances?"

36In various places citizens of the city came forward holding auspicious offerings for Lord Kṛṣṇa, and sinless leaders of occupational guilds came forward to worship the Lord.

37With wide-open eyes, the members of the royal household came forward in a flurry to lovingly greet Lord Mukunda, and thus the Lord entered the royal palace.

38When Queen Pṛthā saw her nephew Kṛṣṇa, the master of the three worlds, her heart became filled with love. Rising from her couch with her daughter-in-law, she embraced the Lord.

39King Yudhiṣṭhira respectfully brought Lord Govinda, the Supreme God of gods, to his personal quarters. The King was so overcome with joy that he could not remember all the rituals of worship.

40Lord Kṛṣṇa bowed down to His aunt and the wives of His elders, O King, and then Draupadī and the Lord's sister bowed down to Him.

41-42Encouraged by her mother-in-law, Draupadī worshiped all of Lord Kṛṣṇa's wives, including Rukmiṇī; Satyabhāmā; Bhadrā; Jāmbavatī; Kālindī; Mitravindā, the descendant of Śibi; the chaste Nāgnajitī; and the other queens of the Lord who were present. Draupadī honored them all with such gifts as clothing, flower garlands and jewelry.

43King Yudhiṣṭhira arranged for Kṛṣṇa's rest and saw to it that all who came along with Himnamely His queens, soldiers, ministers and secretarieswere comfortably situated. He arranged that they would experience a new feature of reception every day while staying as guests of the Pāṇḍavas.

44-45Desiring to please King Yudhiṣṭhira, the Lord resided at Indraprastha for several months. During His stay, He and Arjuna satisfied the fire-god by offering him the Khāṇḍava forest, and they saved Maya Dānava, who then built King Yudhiṣṭhira a celestial assembly hall. The Lord also took the opportunity to go riding in His chariot in the company of Arjuna, surrounded by a retinue of soldiers.

## SB 10.72: The Slaying of the Demon Jarāsandha

This chapter describes how Lord Kṛṣṇa heard King Yudhiṣṭhira's request and then arranged for Bhīmasena to defeat Jarāsandha.

One day King Yudhiṣṭhira addressed Lord Kṛṣṇa as He sat in the royal assembly: "My Lord, I wish to perform the Rājasūya sacrifice. In this sacrifice people uninterested in Your devotional service will be able to see firsthand the superiority of Your devotees and the inferiority of nondevotees. They will also be able to see Your lotus feet."

Lord Kṛṣṇa extolled Yudhiṣṭhira's proposition: "Your scheme is so excellent that it will spread your fame throughout the universe. Indeed, all living beings should desire that this sacrifice be performed. To make this sacrifice possible, however, you must first defeat all the kings of the earth and collect all the necessary paraphernalia."

Satisfied with Lord Kṛṣṇa's words, King Yudhiṣṭhira sent his brothers to conquer the various directions. After they had conquered or won the fealty of the kings in their assigned directions, they brought back abundant wealth to Yudhiṣṭhira. They informed him, however, that Jarāsandha could not be defeated. As King Yudhiṣṭhira pondered how he could subdue Jarāsandha, Śrī Kṛṣṇa revealed to him the means for doing so, following the previous advice of Uddhava.

Bhīma, Arjuna and Śrī Kṛṣṇa then disguised themselves as *brāhmaṇas* and went to the palace of Jarāsandha, who was very devoted to the brahminical class. They introduced themselves as *brāhmaṇas* to King Jarāsandha, flattering him by praising his reputation for hospitality, and requested him to grant their desire. Seeing the marks of bowstrings on their limbs, Jarāsandha concluded that they were warriors and not *brāhmaṇas,* but still, even though fearful, he promised to fulfill whatever desire they might have. At that point Lord Kṛṣṇa discarded His disguise and asked Jarāsandha to fight Him in one-to-one combat. But Jarāsandha refused, claiming that Kṛṣṇa was a coward because He had once fled the battlefield. Jarāsandha also declined to fight Arjuna on the plea that he was inferior in age and size. But Bhīma he considered a worthy opponent.

Thus Jarāsandha handed Bhīma a club and took up another himself, and they all went outside the city to begin the fight.

After the fight had gone on for some time, it became clear that the two opponents were too

equally matched for either to gain victory. Lord Kṛṣṇa then split a small tree branch in half, thus showing Bhīma how to kill Jarāsandha. Bhīma threw Jarāsandha to the ground, stepped on one of his legs, seized the other with his arms and proceeded to tear him apart from his genitals to his head.

Seeing Jarāsandha dead, his relatives and subjects cried out in lamentation. Lord Kṛṣṇa then appointed Jarāsandha's son ruler of Magadha and released the kings Jarāsandha had imprisoned.

1-2Śukadeva Gosvāmī said: One day, as King Yudhiṣṭhira sat in the royal assembly surrounded by eminent sages, brāhmaṇas, kṣatriyas and vaiśyas, and also by his brothers, spiritual masters, family elders, blood relations, in-laws and friends, he addressed Lord Kṛṣṇa as everyone listened.

3Śrī Yudhiṣṭhira said: O Govinda, I desire to worship Your auspicious, opulent expansions by the Rājasūya sacrifice, the king of Vedic ceremonies. Please make our endeavor a success, my Lord.

4Purified persons who constantly serve, meditate upon and glorify Your shoes, which destroy everything inauspicious, are sure to obtain freedom from material existence, O lotus-naveled one. Even if they desire something in this world, they obtain it, whereas othersthose who do not take shelter of Youare never satisfied, O Lord.

5Therefore, O Lord of lords, let the people of this world see the power of devotional service rendered to Your lotus feet. Please show them, O almighty one, the position of those Kurus and Sṛṣjayas who worship You, and the position of those who do not.

6Within Your mind there can be no such differentiation as "This one is mine, and that is another's," because You are the Supreme Absolute Truth, the Soul of all beings, always equipoised and enjoying transcendental happiness within Yourself. Just like the heavenly desire tree, You bless all who properly worship You, granting their desired fruits in proportion to the service they render You. There is nothing wrong in this.

7The Supreme Personality of Godhead said: Your decision is perfect, O King, and thus your noble fame will spread to all the worlds, O tormentor of your enemies.

8Indeed, My lord, for the great sages, the forefathers and the demigods, for Our well-wishing friends and, indeed, for all living beings, the performance of this king of Vedic sacrifices is desirable.

9First conquer all kings, bring the earth under your control and collect all the required paraphernalia; then execute this great sacrifice.

10These brothers of yours, O King, have taken birth as partial expansions of the demigods ruling various planets. And you are so self-controlled that you have conquered even Me, who am unconquerable for those who cannot control their senses.

11No one in this world, even a demigodwhat to speak of an earthly kingcan defeat My devotee with his strength, beauty, fame or riches.

12Śukadeva Gosvāmī said: Upon hearing these words sung by the Supreme Lord, King Yudhiṣṭhira became joyful, and his face blossomed like a lotus. Thus he sent forth his brothers, who were empowered with Lord Viṣṇu's potency, to conquer all directions.

13He sent Sahadeva to the south with the Sṛṣjayas, Nakula to the west with the Matsyas,

Arjunato the north with the Kekayas, and Bhīma to the east with the Madrakas.

14After defeating many kings with their prowess, these heroic brothers brought back abundant wealth for Yudhiṣṭhira Mahārāja, who was intent on performing the sacrifice, O King.

15When King Yudhiṣṭhira heard that Jarāsandha remained undefeated, he set to pondering, and then the primeval Lord, Hari, told him the means Uddhava had described for defeating Jarāsandha.

16Thus Bhīmasena, Arjuna and Kṛṣṇa disguised themselves as brāhmaṇas and went to Girivraja, my dear King, where the son of Bṛhadratha was to be found.

17Disguised as brāhmaṇas, the royal warriors approached Jarāsandha at home during the appointed hour for receiving guests. They submitted their entreaty to that dutiful householder, who was especially respectful to the brahminical class.

18[Kṛṣṇa, Arjuna and Bhīma said:] O King, know us to be needy guests who have come to you from afar. We wish all good unto you. Please grant us whatever we desire.

19What can the tolerant not bear? What will the wicked not do? What will the generous not give in charity? And who will those of equal vision see as an outsider?

20He indeed is to be censured and pitied who, though able to do so, fails to achieve with his temporary body the lasting fame glorified by great saints.

21Hariścandra, Rantideva, Uṣchavṛtti Mudgala, Śibi, Bali, the legendary hunter and pigeon, and many others have attained the permanent by means of the impermanent.

22Śukadeva Gosvāmī said: From the sound of their voices, their physical stature and the marks of bowstrings on their forearms, Jarāsandha could tell that his guests were of the royal order. He began to think he had seen them somewhere before.

23[Jarāsandha thought:] These are surely members of the royal order dressed as brāhmaṇas, but still I must grant their request for charity, even if they beg me for my own body.

24-25Indeed, the spotless glories of Bali Mahārāja are heard throughout the world. Lord Viṣṇu, wishing to recover Indra's opulence from Bali, appeared before him in the guise of a brāhmaṇa and made him fall from his powerful position. Though aware of the ruse and forbidden by his guru, Bali, king of the demons, still gave Viṣṇu the whole earth in charity.

26What is the use of an unqualified kṣatriya who goes on living but fails to gain everlasting glory by working with his perishable body for the benefit of brāhmaṇas?

27[Śukadeva Gosvāmī continued:] Thus making up his mind, the generous Jarāsandha addressed Kṛṣṇa, Arjuna and Bhīma: "O learned brāhmaṇas, choose whatever you wish. I will give it to you, even if it is my own head."

28The Supreme Lord said: O exalted King, give us battle in the form of a duel, if you think it fitting. We are princes and have come to beg a fight. We have no other request to make of you.

29Over there is Bhīma, son of Pṛthā, and this is his brother Arjuna. Know Me to be their maternal cousin, Kṛṣṇa, your enemy.

30[Śukadeva Gosvāmī continued:] Thus challenged, Magadharāja laughed out loud and contemptuously said, "All right, you fools, I'll give you a fight!

31"But I will not fight with You, Kṛṣṇa, for You are a coward. Your strength abandoned You in the midst of battle, and You fled Your own capital of Mathurā to take shelter in the sea.

32"As for this one, Arjuna, he is not as old as I, nor is he very strong. Since he is no match for me, he should not be the contender. Bhīma, however, is as strong as I am."

33Having said this, Jarāsandha offered Bhīmasena a huge club, took up another himself and went outside the city.

34The two heroes thus began battling each other on the level fighting grounds outside the city. Maddened with the fury of combat, they struck each other with their lightning-bolt-like clubs.

35As they skillfully circled left and right, like actors dancing on a stage, the fight presented a magnificent spectacle.

36When Jarāsandha's and Bhīmasena's clubs loudly collided, O King, the sound was like the impact of the big tusks of two fighting elephants, or the crash of a thunderbolt in a flashing electrical storm.

37They swung their clubs at each other with such speed and force that as the clubs struck their shoulders, hips, feet, hands, thighs and collarbones, the weapons were crushed and broken like branches of arka trees with which two enraged elephants furiously attack each other.

38Their clubs thus ruined, those great heroes among men angrily pummeled each other with their iron-hard fists. As they slapped each other, the sound resembled the crash of elephants colliding or harsh thunderclaps.

39As they thus fought, this contest between opponents of equal training, strength and stamina reached no conclusion. And so they kept on fighting, O King, without any letup.

40Lord Kṛṣṇa knew the secret of His enemy Jarāsandha's birth and death, and also how he had been given life by the demoness Jarā. Considering all this, Lord Kṛṣṇa imparted His special power to Bhīma.

41Having determined how to kill the enemy, that Lord of infallible vision made a sign to Bhīma by tearing in half a small branch of a tree.

42Understanding this sign, mighty Bhīma, the best of fighters, seized his opponent by the feet and threw him to the ground.

43Bhīma pressed down on one leg with his foot while grabbing Jarāsandha's other leg in his hands, and just as a great elephant might break the branch of a tree, Bhīma tore Jarāsandha apart from the anus upward.

44The King's subjects then saw him lying in two separate pieces, each with a single leg, thigh, testicle, hip, shoulder, arm, eye, eyebrow and ear, and with half a back and chest.

45With the death of the lord of Magadha, a great cry of lamentation arose, while Arjuna and Kṛṣṇa congratulated Bhīma by embracing him.

46The immeasurable Supreme Personality of Godhead, the sustainer and benefactor of all living beings, coronated Jarāsandha's son, Sahadeva, as the new ruler of the Magadhas. The Lord then freed all the kings Jarāsandha had imprisoned.

## SB 10.73: Lord Kṛṣṇa Blesses the Liberated Kings

This chapter relates how Lord Śrī Kṛṣṇa, after freeing the kings imprisoned by Jarāsandha, mercifully gave them His audience and bestowed royal gifts upon them.

When Lord Kṛṣṇa freed the 20,800 kings Jarāsandha had imprisoned, they immediately fell to the ground to pay Him obeisances. Then they stood with joined palms and began to pray to Him. Seeing their imprisonment as an act of mercy by the Lord to smash their false pride, the kings prayed only to be granted whatever would facilitate their perpetual remembrance of His lotus feet.

The Lord assured the kings that their prayer would be fulfilled. He instructed them, "Worship Me by performing Vedic sacrifices, and protect your subjects in accordance with the principles of religion. Fixing your minds on Me, beget progeny, and remain always equipoised in happiness and distress. Thus at the end of your lives you will surely attain Me."

Lord Kṛṣṇa then saw to it that the kings were properly bathed and dressed, and He had Sahadeva offer them flower garlands, sandalwood pulp, fine clothing and other things suitable for kings. After having them adorned with jewels and golden ornaments, He seated them on chariots and sent them off to their respective kingdoms. In accordance with the orders the Lord had given them, they began to carry out their various duties once again.

Lord Kṛṣṇa, Bhīma and Arjuna then departed for Indraprastha, where they met with King Yudhiṣṭhira and related to him everything that had happened.

1-6Śukadeva Gosvāmī said: Jarāsandha had defeated 20,800 kings in combat and thrown them into prison. As these kings emerged from the Giridroṇī fortress, they appeared dirty and shabbily dressed. They were emaciated by hunger, their faces were dried up, and they were greatly weakened by their long imprisonment.

7The ecstasy of beholding Lord Kṛṣṇa having dispelled the weariness of their imprisonment, the kings stood with joined palms and offered words of praise to that supreme master of the senses.

8The kings said: Obeisances to You, O Lord of the ruling demigods, O destroyer of Your surrendered devotees' distress. Since we have surrendered to You, O inexhaustible Kṛṣṇa, please save us from this terrible material life, which has made us so despondent.

9O master, Madhusūdana, we do not blame this King of Magadha, since it is actually by Your mercy that kings fall from their royal position, O almighty Lord.

10Infatuated with his opulence and ruling power, a king loses all self-restraint and cannot obtain his true welfare. Thus bewildered by Your illusory energy, he imagines his temporary assets to be permanent.

11Just as men of childish intelligence consider a mirage in the desert to be a pond of water, so those who are irrational look upon the illusory transformations of Māyā as substantial.

12-13Previously, blinded by the intoxication of riches, we wanted to conquer this earth, and thus we fought one another to achieve victory, mercilessly harassing our own subjects. We arrogantly disregarded You, O Lord, who stood before us as death. But now, O Kṛṣṇa, that powerful form of Yours called time, moving mysteriously and irresistibly, has deprived us of our opulences. Now that You have mercifully destroyed our pride, we beg simply to remember Your lotus feet.

14Never again will we hanker for a miragelike kingdoma kingdom that must be slavishly served by this mortal body, which is simply a source of disease and suffering and which is declining at every moment. Nor, O almighty Lord, will we hanker to enjoy the heavenly fruits of pious work in the next life, since the promise of such rewards is simply an empty enticement for the ears.

15Please tell us how we may constantly remember Your lotus feet, though we continue in the cycle of birth and death in this world.

16Again and again we offer our obeisances unto Lord Kṛṣṇa, Hari, the son of Vasudeva. That Supreme Soul, Govinda, vanquishes the suffering of all who surrender to Him.

17Śukadeva Gosvāmī said: Thus the kings, now freed from bondage, glorified the Supreme Lord. Then, my dear Parīkṣit, that merciful bestower of shelter spoke to them in a gentle voice.

18The Supreme Personality of Godhead said: From now on, my dear kings, you will have firm devotion to Me, the Supreme Self and the Lord of all that be. I assure you this will come to pass, just as you desire.

19Fortunately you have come to the proper conclusion, my dear kings, and what you have spoken is true. I can see that human beings' lack of self-restraint, which arises from their intoxication with opulence and power, simply leads to madness.

20Haihaya, Nahuṣa, Veṇa, Rāvaṇa, Naraka and many other rulers of demigods, men and demons fell from their elevated positions because of infatuation with material opulence.

21Understanding that this material body and everything connected with it have a beginning and an end, worship Me by Vedic sacrifices, and with clear intelligence protect your subjects in accordance with the principles of religion.

22As you live your lives, begetting generations of progeny and encountering happiness and distress, birth and death, always keep your minds fixed on Me.

23Be detached from the body and everything connected to it. Remaining self-satisfied, steadfastly keep your vows while concentrating your minds fully on Me. In this way you will ultimately attain Me, the Supreme Absolute Truth.

24Śukadeva Gosvāmī said: Having thus instructed the kings, Lord Kṛṣṇa, the supreme master of all the worlds, engaged male and female servants in bathing and grooming them.

25O descendant of Bharata, the Lord then had King Sahadeva honor them with offerings of clothing, jewelry, garlands and sandalwood paste, all suitable for royalty.

26After they had been properly bathed and adorned, Lord Kṛṣṇa saw to it that they dined on excellent food. He also presented them with various items befitting the pleasure of kings, such as betel nut.

27Honored by Lord Mukunda and freed from tribulation, the kings shone splendidly, their earrings gleaming, just as the moon and other celestial bodies shine brilliantly in the sky at the end of the rainy season.

28Then the Lord arranged for the kings to be seated on chariots drawn by fine horses and adorned with jewels and gold, and pleasing them with gracious words, He sent them off to their own kingdoms.

29Thus liberated from all difficulty by Kṛṣṇa, the greatest of personalities, the kings departed, and as they went they thought only of Him, the Lord of the universe, and of His wonderful deeds.

30The kings told their ministers and other associates what the Personality of Godhead had done, and then they diligently carried out the orders He had imparted to them.

31Having arranged for Bhīmasena to kill Jarāsandha, Lord Keśava accepted worship from King Sahadeva and then departed with the two sons of Pṛthā.

32When they arrived at Indraprastha, the victorious heroes blew their conchshells, bringing joy to their well-wishing friends and sorrow to their enemies.

33The residents of Indraprastha were very pleased to hear that sound, for they understood that now the King of Magadha had been put to rest. King Yudhiṣṭhira felt that his desires were now fulfilled.

34Bhīma, Arjuna and Janārdana offered their respects to the King and informed him fully about what they had done.

35Upon hearing their account of the great favor Lord Keśava had mercifully shown him, King Dharmarāja shed tears of ecstasy. He felt such love that he could not say anything.

## SB 10.74: The Deliverance of Śiśupāla at the Rājasūya Sacrifice

This chapter describes how Lord Kṛṣṇa received the honor of first worship during the Rājasūya sacrifice, and how He killed Śiśupāla.

After glorifying Lord Kṛṣṇa, King Yudhiṣṭhira selected qualified *brāhmaṇas* such as Bharadvāja, Gautama and Vasiṣṭha to serve as the priests of the Rājasūya sacrifice. Then many exalted guests of all the four social orders arrived to see the sacrificial performance.

As the sacrifice proceeded, the ritual of "first worship" had to be performed, and the members of the assembly were called upon to decide who would receive this honor. Sahadeva spoke up: "Śrī Kṛṣṇa, the Supreme Lord, is indeed the most exalted person, for He Himself comprises all the deities worshiped by Vedic sacrifice. In His role as the Supersoul in the heart, He arranges for everyone in the universe to engage in his particular kind of work, and by His mercy alone human beings can perform various kinds of pious activities and receive the resultant benefits. One who worships Him worships all living entities. Surely Lord Kṛṣṇa should be worshiped first."

Nearly everyone in the assembly agreed with Sahadeva's proposal and loudly congratulated him. Thus King Yudhiṣṭhira happily worshiped Lord Kṛṣṇa. After bathing His feet, the King took the wash water and sprinkled it on his head, and his wives, younger brothers, ministers and relatives also sprinkled that water on their heads. Then everyone shouted, "All victory, all victory!" and bowed down to Lord Kṛṣṇa as flowers rained down from above.

Śiśupāla, however, could not tolerate this worship and glorification of Śrī Kṛṣṇa. He stood up from his seat and harshly rebuked the wise elders for choosing Kṛṣṇa to be worshiped first. "After all" he said, "this Kṛṣṇa is outside the system of Vedic social and spiritual orders and the society of respectable families. He follows no principles of religion and has no good qualities."

Even as Śiśupāla continued to blaspheme Him in this way, Lord Kṛṣṇa remained silent. But many members of the assembly covered their ears and quickly left the hall, while the Pāṇḍava

brothers raised their weapons and prepared to kill Śiśupāla. Lord Kṛṣṇa stopped them from attacking, however, and instead used His Sudarśana disc to decapitate the offender. At that moment an effulgent spark of light rose out of Śiśupāla's dead body and entered the transcendental body of Lord Kṛṣṇa. Having lived through three births as the enemy of the Lord, Śiśupāla now attained the liberation of *sāyujya,* merging into Him, by dint of his constant meditation on Him.

King Yudhiṣṭhira then distributed profuse gifts to the respected guests of the assembly and to the priests, and finally he executed the purificatory oblations known as the *prāyaścitta-homa,* which counteract errors made during the sacrifice. Yudhiṣṭhira's Rājasūya sacrifice having now been completed, Lord Kṛṣṇa took His leave from the King and set off for Dvārakā in the company of His wives and ministers.

Duryodhana could not bear to see this abundant manifestation of King Yudhiṣṭhira's prosperity, but apart from him, everyone happily praised the glories of the Rājasūya sacrifice and of the Lord of all sacrifices, Śrī Kṛṣṇa.

1Śukadeva Gosvāmī said: Having thus heard of the killing of Jarāsandha, and also of almighty Kṛṣṇa's wonderful power, King Yudhiṣṭhira addressed the Lord as follows with great pleasure.

2Śrī Yudhiṣṭhira said: All the exalted spiritual masters of the three worlds, together with the inhabitants and rulers of the various planets, carry on their heads Your command, which is rarely obtained.

3That You, the lotus-eyed Supreme Lord, accept the orders of wretched fools who presume themselves rulers is a great pretense on Your part, O all-pervading one.

4But of course the power of the Absolute Truth, the Supreme Soul, the primeval one without a second, is neither increased nor diminished by His activities, any more than the sun's power is by its movements.

5O unconquerable Mādhava, even Your devotees make no distinctions of "I" and "mine," "you" and "yours," for this is the perverted mentality of animals.

6Śukadeva Gosvāmī said: Having said this, King Yudhiṣṭhira waited until the proper time for the sacrifice was at hand. Then with Lord Kṛṣṇa's permission he selected suitable priests, all expert authorities on the Vedas, to execute the sacrifice.

7-9He selected Kṛṣṇa-dvaipāyana, Bharadvāja, Sumantu, Gotama and Asita, along with Vasiṣṭha, Cyavana, Kaṇva, Maitreya, Kavaṣa and Trita. He also selected Viśvāmitra, Vāmadeva, Sumati, Jaimini, Kratu, Paila and Parāśara, as well as Garga, Vaiśampāyana, Atharvā, Kaśyapa, Dhaumya, Rāma of the Bhārgavas, Āsuri, Vītihotra, Madhucchandā, Vīrasena and Akṛtavraṇa.

10-11O King, others who were invited included Droṇa, Bhīṣma, Kṛpa, Dhṛtarāṣṭra with his sons, the wise Vidura, and many other brāhmaṇas, kṣatriyas, vaiśyas and śūdras, all eager to witness the sacrifice. Indeed, all the kings came there with their entourages.

12The brāhmaṇa priests then plowed the sacrificial ground with golden plowshares and initiated King Yudhiṣṭhira for the sacrifice in accordance with the traditions set down by standard authorities.

13-15The utensils used in the sacrifice were made of gold, just as in the ancient Rājasūya performed by Lord Varuṇa. Indra, Brahmā, Śiva and many other planetary rulers; the Siddhas

and Gandharvas with their entourage; the Vidyādharas; great serpents; sages; Yakṣas; Rākṣasas; celestial birds; Kinnaras; Cāraṇas; and earthly kingsall were invited, and indeed they all came from every direction to the Rājasūya sacrifice of King Yudhiṣṭhira, the son of Pāṇḍu. They were not in the least astonished to see the opulence of the sacrifice, since it was quite appropriate for a devotee of Lord Kṛṣṇa.

16The priests, as powerful as gods, performed the Rājasūya sacrifice for King Yudhiṣṭhira in accordance with the Vedic injunctions, just as the demigods had previously performed it for Varuṇa.

17On the day of extracting the soma juice, King Yudhiṣṭhira properly and very attentively worshiped the priests and the most exalted personalities of the assembly.

18The members of the assembly then pondered over who among them should be worshiped first, but since there were many personalities qualified for this honor, they were unable to decide. Finally Sahadeva spoke up.

19[Sahadeva said:] Certainly it is Acyuta, the Supreme Personality of Godhead and chief of the Yādavas, who deserves the highest position. In truth, He Himself comprises all the demigods worshiped in sacrifice, along with such aspects of the worship as the sacred place, the time and the paraphernalia.

20-21This entire universe is founded upon Him, as are the great sacrificial performances, with their sacred fires, oblations and mantras. Sāṅkhya and yoga both aim toward Him, the one without a second. O assembly members, that unborn Lord, relying solely on Himself, creates, maintains and destroys this cosmos by His personal energies, and thus the existence of this universe depends on Him alone.

22He creates the many activities of this world, and thus by His grace the whole world endeavors for the ideals of religiosity, economic development, sense gratification and liberation.

23Therefore we should give the highest honor to Kṛṣṇa, the Supreme Lord. If we do so, we will be honoring all living beings and also our own selves.

24Anyone who wishes the honor he gives to be reciprocated infinitely should honor Kṛṣṇa, the perfectly peaceful and perfectly complete Soul of all beings, the Supreme Lord, who views nothing as separate from Himself.

25[Śukadeva Gosvāmī continued:] Having said this, Sahadeva, who understood Lord Kṛṣṇa's powers, fell silent. And having heard his words, all the saintly persons present congratulated him, exclaiming "Excellent! Excellent!"

26The King was delighted to hear this pronouncement of the brāhmaṇas, from which he understood the mood of the entire assembly. Overwhelmed with love, he fully worshiped Lord Kṛṣṇa, the master of the senses.

27-28After bathing Lord Kṛṣṇa's feet, Mahārāja Yudhiṣṭhira joyfully sprinkled the water upon his own head, and then upon the heads of his wife, brothers, other family members and ministers. That water purifies the whole world. As he honored the Lord with presentations of yellow silken garments and precious jeweled ornaments, the King's tear-filled eyes prevented him from looking directly at the Lord.

29When they saw Lord Kṛṣṇa thus honored, nearly all who were present joined their palms

reverentially, exclaiming "Obeisances to You! All victory to You!" and then bowed down to Him. Flowers rained down from above.

30The intolerant son of Damaghoṣa became infuriated upon hearing the glorification of Lord Kṛṣṇa's transcendental qualities. He stood up from his seat and, angrily waving his arms, fearlessly spoke to the entire assembly the following harsh words against the Supreme Lord.

31[Śiśupāla said:] The statement of the Vedas that time is the unavoidable controller of all has indeed been proven true, since the intelligence of wise elders has now become diverted by the words of a mere boy.

32O leaders of the assembly, you know best who is a fit candidate for being honored. Therefore you should not heed the words of a child when he claims that Kṛṣṇa deserves to be worshiped.

33-34How can you pass over the most exalted members of this assemblytopmost sages dedicated to the Absolute Truth endowed with powers of austerity, divine insight and strict adherence to severe vows, sanctified by knowledge and worshiped even by the rulers of the universe? How does this cowherd boy, the disgrace of His family, deserve your worship, any more than a crow deserves to eat the sacred puroḍāśa rice cake?

35How does one who follows no principles of the social and spiritual orders or of family ethics, who has been excluded from all religious duties, who behaves whimsically, and who has no good qualitieshow does such a person deserve to be worshiped?

36Yayāti cursed the dynasty of these Yādavas, and ever since then they have been ostracized by honest men and addicted to liquor. How, then, does Kṛṣṇa deserve to be worshiped?

37These Yādavas have abandoned the holy lands inhabited by saintly sages and have instead taken shelter of a fortress in the sea, a place where no brahminical principles are observed. There, just like thieves, they harass their subjects.

38[Śukadeva Gosvāmī continued:] Bereft of all good fortune, Śiśupāla spoke these and other insults. But the Supreme Lord said nothing, just as a lion ignores a jackal's cry.

39Upon hearing such intolerable blasphemy of the Lord, several members of the assembly covered their ears and walked out, angrily cursing the King of Cedi.

40Anyone who fails to immediately leave the place where he hears criticism of the Supreme Lord or His faithful devotee will certainly fall down, bereft of his pious credit.

41Then the sons of Pāṇḍu became furious, and together with the warriors of the Matsya, Kaikaya and Sṛṣjaya clans, they rose up from their seats with weapons poised, ready to kill Śiśupāla.

42Undaunted, Śiśupāla then took up his sword and shield in the midst of all the assembled kings, O Bhārata, and hurled insults at those who sided with Lord Kṛṣṇa.

43At that point the Supreme Lord stood up and checked His devotees. He then angrily sent forth His razor-sharp disc and severed the head of His enemy as he was attacking.

44When Śiśupāla was thus killed, a great roar and howl went up from the crowd. Taking advantage of that disturbance, the few kings who were supporters of Śiśupāla quickly left the assembly out of fear for their lives.

45An effulgent light rose from Śiśupāla's body and, as everyone watched, entered Lord Kṛṣṇa just like a meteor falling from the sky to the earth.

46Obsessed with hatred of Lord Kṛṣṇa throughout three lifetimes, Śiśupāla attained the Lord's transcendental nature. Indeed, one's consciousness determines one's future birth.

47Emperor Yudhiṣṭhira gave generous gifts to the sacrificial priests and the members of the assembly, properly honoring them all in the manner prescribed by the Vedas. He then took the avabhṛtha bath.

48Thus Śrī Kṛṣṇa, the Lord of all masters of mystic yoga, saw to the successful execution of this great sacrifice on behalf of King Yudhiṣṭhira. Afterwards, the Lord stayed with His intimate friends for a few months at their earnest request.

49Then the Lord, the son of Devakī, took the reluctant permission of the King and returned to His capital with His wives and ministers.

50I have already described to you in detail the history of the two residents of Vaikuṇṭha who had to undergo repeated births in the material world because of being cursed by brāhmaṇas.

51Purified in the final, avabhṛthya ritual, which marked the successful completion of the Rājasūya sacrifice, King Yudhiṣṭhira shone among the assembled brāhmaṇas and kṣatriyas like the King of the demigods himself.

52The demigods, humans and residents of intermediate heavens, all properly honored by the King, happily set off for their respective domains while singing the praises of Lord Kṛṣṇa and the great sacrifice.

53[All were satisfied] except sinful Duryodhana, the personification of the age of quarrel and the disease of the Kuru dynasty. He could not bear to see the flourishing opulence of the son of Pāṇḍu.

54One who recites these activities of Lord Viṣṇu, including the killing of Śiśupāla, the deliverance of the kings and the performance of the Rājasūya sacrifice, is freed from all sins.

## SB 10.75: Duryodhana Humiliated

This chapter describes the glorious conclusion of the Rājasūya sacrifice, and how Prince Duryodhana was humiliated in King Yudhiṣṭhira's palace.

At the time of Mahārāja Yudhiṣṭhira's Rājasūya sacrifice, many of his relatives and well-wishers endeavored to please him by performing necessary services. When the sacrifice was complete, the King adorned the priests, the exalted members of the assembly and his own relatives with fragrant sandalwood paste, flower garlands and fine clothing. Then they all went to the banks of the Ganges to perform the ritual bathing that marks the end of the sponsor's period of initiation for the sacrifice. Before the final bathing, there was much sporting in the river among the male and female participants. Sprinkled with aromatic water and other liquids, Draupadī and the other ladies appeared most beautiful, their faces shining with bashful laughter.

After the priests had executed the final rituals, the King and his queen, Śrīmatī Draupadī, bathed in the Ganges. Then all those present who belonged to the orders of *varṇāśrama* bathed. Yudhiṣṭhira put on new clothes and worshiped the learned *brāhmaṇas,* his family, friends and well-wishers, each in the particular manner suitable for them, and offered them all various gifts. The guests then departed for their homes. But King Yudhiṣṭhira was so anxious

about his imminent separation from those who were dear to him that he compelled several of his relatives and closest friends, including Lord Kṛṣṇa, to remain in Indraprastha a bit longer.

King Yudhiṣṭhira's royal palace had been constructed by Maya Dānava, who had endowed it with many wonderful features and opulences. King Duryodhana burned with envy when he saw these riches. One day, Yudhiṣṭhira was seated with Lord Kṛṣṇa in his royal assembly hall. Attended by his subordinates and family members, he was manifesting magnificence equal to that of Lord Indra. At that time Duryodhana entered the hall in a fitful mood. Bewildered by the mystic craft of Maya Dānava, Duryodhana mistook parts of the solid floor for water and thus lifted his garment, while in one place he fell into the water, mistaking it for the solid floor. When Bhīmasena, the ladies of the court and the royal princes present saw this, they began to laugh. Although Mahārāja Yudhiṣṭhira tried to stop them, Lord Kṛṣṇa encouraged their laughter. Thoroughly embarrassed, Duryodhana left the assembly hall in a fury and immediately departed for Hastināpura.

1-2Mahārāja Parīkṣit said: O brāhmaṇa, according to what I have heard from you, all the assembled kings, sages and demigods were delighted to see the wonderful festivities of King Ajātaśatru's Rājasūya sacrifice, with the sole exception of Duryodhana. Please tell me why this was so, my lord.

3Śrī Bādarāyaṇi said: At the Rājasūya sacrifice of your saintly grandfather, his family members, bound by their love for him, engaged themselves in humble services on his behalf.

4-7Bhīma supervised the kitchen, Duryodhana looked after the treasury, while Sahadeva respectfully greeted the arriving guests. Nakula procured needed items, Arjuna attended the respectable elders, and Kṛṣṇa washed everyone's feet, while Draupadī served food, and generous Karṇa gave out the gifts. Many others, such as Yuyudhāna; Vikarṇa, Hārdikya; Vidura; Bhūriśravā and other sons of Bāhlīka; and Santardana, similarly volunteered for various duties during the elaborate sacrifice. They did so because of their eagerness to please Mahārāja Yudhiṣṭhira, O best of kings.

8After the priests, the prominent delegates, the greatly learned saints and the King's most intimate well-wishers had all been properly honored with pleasing words, auspicious offerings and various gifts as remuneration, and after the King of Cedi had entered the lotus feet of the Lord of the Sātvatas, the avabhṛtha bath was performed in the divine river Yamunā.

9During the avabhṛtha celebration, the music of many kinds of instruments resounded, including mṛdaṅgas, conchshells, panavas, dhundhuris, kettledrums and gomukha horns.

10Female dancers danced with great joy, and choruses sang, while the loud vibrations of vīnās, flutes and hand cymbals reached all the way to the heavenly regions.

11All the kings, wearing gold necklaces, then set off for the Yamunā. They had flags and banners of various colors and were accompanied by infantrymen and well-adorned soldiers riding lordly elephants, chariots and horses.

12The massed armies of the Yadus, Sṛṣjayas, Kāmbojas, Kurus, Kekayas and Kośalas made the earth tremble as they followed Yudhiṣṭhira Mahārāja, the performer of the sacrifice, in procession.

13The assembly officials, the priests and other excellent brāhmaṇas resoundingly vibrated Vedic mantras, while the demigods, divine sages, Pitās and Gandharvas sang praises and rained down flowers.

14Men and women, all adorned with sandalwood paste, flower garlands, jewelry and fine clothing, sported by smearing and sprinkling one another with various liquids.

15The men smeared the courtesans with plentiful oil, yogurt, perfumed water, turmeric and kuṅkuma powder, and the courtesans playfully smeared the men with the same substances.

16Surrounded by guards, King Yudhiṣṭhira's queens came out on their chariots to see the fun, just as the demigods' wives appeared in the sky in celestial airplanes. As maternal cousins and intimate friends sprinkled the queens with liquids, the ladies' faces bloomed with shy smiles, enhancing the queens' splendid beauty.

17As the queens squirted water from syringes at their brothers-in-law and other male companions, their own garments became drenched, revealing their arms, breasts, thighs and waists. In their excitement, the flowers fell from their loosened braids. By these charming pastimes they agitated those with contaminated consciousness.

18The emperor, mounted upon his chariot drawn by excellent horses wearing golden collars, appeared splendid in the company of his wives, just like the brilliant Rājasūya sacrifice surrounded by its various rituals.

19The priests led the King through the execution of the final rituals of patnī-saṁyāja and avabhṛthya. Then they had him and Queen Draupadī sip water for purification and bathe in the Ganges.

20The kettledrums of the gods resounded, along with those of human beings. Demigods, sages, forefathers and humans all poured down showers of flowers.

21All the citizens belonging to the various orders of varṇa and āśrama then bathed in that place, where even the most grievous sinner can immediately be freed from all sinful reactions.

22Next the King put on new silken garments and adorned himself with fine jewelry. He then honored the priests, assembly officials, learned brāhmaṇas and other guests by presenting them with ornaments and clothing.

23In various ways King Yudhiṣṭhira, who had totally dedicated his life to Lord Nārāyaṇa, continuously honored his relatives, his immediate family, the other kings, his friends and well-wishers, and all others present as well.

24All the men there shone like demigods. They were adorned with jeweled earrings, flower garlands, turbans, waistcoats, silk dhotīs and valuable pearl necklaces. The lovely faces of the women were beautified by their matched earrings and locks of hair, and they all wore golden belts.

25-26Then the highly cultured priests, the great Vedic authorities who had served as sacrificial witnesses, the specially invited kings, the brāhmaṇas, kṣatriyas, vaiśyas, śūdras, demigods, sages, forefathers and mystic spirits, and the chief planetary rulers and their followersall of them, having been worshiped by King Yudhiṣṭhira, took his permission and departed, O King, each for his own abode.

27As they all glorified the wonderful Rājasūya-yajṣa performed by that great saintly King and servant of Lord Hari, they were not satiated, just as an ordinary man is never satiated when drinking nectar.

28At that time Rājā Yudhiṣṭhira stopped a number of his friends, immediate family members and other relatives from departing, among them Lord Kṛṣṇa. Out of love Yudhiṣṭhira could not

let them go, for he felt the pain of imminent separation.

29My dear Parīkṣit, the Supreme Lord remained there for some time to please the King, after first sending Sāmba and the other Yadu heroes back to Dvārakā.

30Thus King Yudhiṣṭhira, the son of Dharma, was at last relieved of his burning ambition, having by the grace of Lord Kṛṣṇa successfully crossed the vast and formidable ocean of his desires.

31One day Duryodhana, while observing the riches of King Yudhiṣṭhira's palace, felt greatly disturbed by the magnificence of both the Rājasūya sacrifice and its performer, the King, whose life and soul was Lord Acyuta.

32In that palace all the collected opulences of the kings of men, demons and gods were brilliantly manifest, having been brought there by the cosmic inventor, Maya Dānava. With those riches Draupadī served her husbands, and Duryodhana, the prince of the Kurus, lamented because he was very much attracted to her.

33Lord Madhupati's thousands of queens were also staying in the palace. Their feet moved slowly, weighed down by their hips, and the bells on their feet tinkled charmingly. Their waists were very slender, the kuṅkuma from their breasts reddened their pearl necklaces, and their swaying earrings and flowing locks of hair enhanced the exquisite beauty of their faces.

34-35It so happened that Emperor Yudhiṣṭhira, the son of Dharma, was sitting just like Indra on a golden throne in the assembly hall built by Maya Dānava. Present with him were his attendants and family members, and also Lord Kṛṣṇa, his special eye. Displaying the opulences of Brahma himself, King Yudhiṣṭhira was being praised by the court poets.

36Proud Duryodhana, holding a sword in his hand and wearing a crown and necklace, angrily went into the palace in the company of his brothers, O King, insulting the doorkeepers as he entered.

37Bewildered by the illusions created through Maya Dānava's magic, Duryodhana mistook the solid floor for water and lifted the end of his garment. And elsewhere he fell into the water, mistaking it for the solid floor.

38My dear Parīkṣit, Bhīma laughed to see this, and so did the women, kings and others. King Yudhiṣṭhira tried to stop them, but Lord Kṛṣṇa showed His approval.

39Humiliated and burning with anger, Duryodhana turned his face down, left without uttering a word and went back to Hastināpura. The saintly persons present loudly cried out, "Alas, alas!" and King Yudhiṣṭhira was somewhat saddened. But the Supreme Lord, whose mere glance had bewildered Duryodhana, remained silent, for His intention was to remove the burden of the earth.

40I have now replied to your question, O King, concerning why Duryodhana was dissatisfied on the occasion of the great Rājasūya sacrifice.

### SB 10.76: The Battle Between Śālva and the Vṛṣṇis

This chapter relates how the demon Śālva acquired a huge and terrifying airship, how he used it to attack the Vṛṣṇis in Dvārakā, and how Lord Pradyumna was taken from the battlefield during the fighting that ensued.

Śālva was one of the kings who had been defeated at the time of Rukmiṇī-devī's marriage. Having vowed then that he would rid the earth of all the Yādavas, he began worshiping Lord Śiva each day by eating only a palmful of dust. After a year had passed, Śiva appeared before Śālva and asked him to choose a benediction. Śālva begged for a flying machine that could go anywhere and that would strike terror into the hearts of demigods, demons and humans alike. Lord Śiva granted this request and had Maya Dānava construct for Śālva a flying iron city named Saubha. Śālva took this vehicle to Dvārakā, where he and his huge army laid siege to the city. From his airplane Śālva bombarded Dvārakā with tree trunks, boulders and other missiles, and he produced a mighty whirlwind that obscured everything with dust.

When Pradyumna, Sātyaki and the other Yadu heroes saw the plight of Dvārakā and her residents, they went out to do battle with Śālva's forces. Pradyumna, the best of warriors, destroyed with His divine weapons all of Śālva's illusory magic, and He also bewildered Śālva himself. Thus Śālva's airplane began wandering aimlessly on the earth, in the sky and on the tops of mountains. But then a follower of Śālva's named Dyumān struck Pradyumna on the chest with his club, whereupon Pradyumna's chariot driver, thinking his master seriously injured, carried Him from the battlefield. But Pradyumna quickly regained consciousness and sharply criticized His driver for doing this.

1Śukadeva Gosvāmī said: Now please hear, O King, another wondrous deed performed by Lord Kṛṣṇa, who appeared in His humanlike body to enjoy transcendental pastimes. Hear how He killed the master of Saubha.

2Śālva was a friend of Śiśupāla's. When he attended the wedding of Rukmiṇī, the Yadu warriors defeated him in battle, along with Jarāsandha and the other kings.

3Śālva swore in the presence of all the kings: "I will rid the earth of Yādavas. Just see my prowess!"

4Having thus made his vow, the foolish King proceeded to worship Lord Paśupati [Śiva] as his deity by eating a handful of dust each day, and nothing more.

5The great Lord Umāpati is known as "he who is quickly pleased," yet only at the end of a year did he gratify Śālva, who had approached him for shelter, by offering him a choice of benedictions.

6Śālva chose a vehicle that could be destroyed by neither demigods, demons, humans, Gandharvas, Uragas nor Rākṣasas, that could travel anywhere he wished to go, and that would terrify the Vṛṣṇis.

7Lord Śiva said, "So be it." On his order, Maya Dānava, who conquers his enemies' cities, constructed a flying iron city named Saubha and presented it to Śālva.

8This unassailable vehicle was filled with darkness and could go anywhere. Upon obtaining it, Śālva went to Dvārakā, remembering the Vṛṣṇis' enmity toward him.

9-11Śālva besieged the city with a large army, O best of the Bharatas, decimating the outlying parks and gardens, the mansions along with their observatories, towering gateways and surrounding walls, and also the public recreational areas. From his excellent airship he threw down a torrent of weapons, including stones, tree trunks, thunderbolts, snakes and hailstones. A fierce whirlwind arose and blanketed all directions with dust.

12Thus terribly tormented by the airship Saubha, Lord Kṛṣṇa's city had no peace, O King, just

like the earth when it was attacked by the three aerial cities of the demons.

13Seeing His subjects so harassed, the glorious and heroic Lord Pradyumna told them, “Do not fear,” and mounted His chariot.

14-15The chief commanders of the chariot warriorsSātyaki, Cārudeṣṇa, Sāmba, Akrūra and his younger brothers, along with Hārdikya, Bhānuvinda, Gada, Śuka and Sāraṇawent out of the city with many other eminent bowmen, all girded in armor and protected by contingents of soldiers riding on chariots, elephants and horses, and also by companies of infantry.

16A tumultuous, hair-raising battle then commenced between Śālva’s forces and the Yadus. It equaled the great battles between the demons and demigods.

17With His divine weapons Pradyumna instantly destroyed all of Śālva’s magic illusions, in the same way that the warm rays of the sun dissipate the darkness of night.

18-19Lord Pradyumna’s arrows all had gold shafts, iron heads and perfectly smooth joints. With twenty-five of them He struck down Śālva’s commander-in-chief [Dyumān], and with one hundred He struck Śālva himself. Then He pierced Śālva’s officers with one arrow each, his chariot drivers with ten arrows each, and his horses and other carriers with three arrows each.

20When they saw the glorious Pradyumna perform that amazing and mighty feat, all the soldiers on both sides praised Him.

21At one moment the magic airship built by Maya Dānava appeared in many identical forms, and the next moment it was again only one. Sometimes it was visible, and sometimes not. Thus Śālva’s opponents could never be sure where it was.

22From one moment to the next the Saubha airship appeared on the earth, in the sky, on a mountain peak or in the water. Like a whirling, flaming baton, it never remained in any one place.

23Wherever Śālva would appear with his Saubha ship and his army, there the Yadu commanders would shoot their arrows.

24Śālva became bewildered upon seeing his army and aerial city thus harassed by his enemy’s arrows, which struck like fire and the sun and were as intolerable as snake venom.

25Because the heroes of the Vṛṣṇi clan were eager for victory in this world and the next, they did not abandon their assigned posts on the battlefield, even though the downpour of weapons hurled by Śālva’s commanders tormented them.

26Śālva’s minister Dyumān, previously wounded by Śrī Pradyumna, now ran up to Him and, roaring loudly, struck Him with his club of black steel.

27Pradyumna’s driver, the son of Dāruka, thought that his valiant master’s chest had been shattered by the club. Knowing well his religious duty, he removed Pradyumna from the battlefield.

28Quickly regaining consciousness, Lord Kṛṣṇa’s son Pradyumna said to His charioteer, “O driver, this is abominablefor Me to have been removed from the battlefield!

29“Except for Me, no one born in the Yadu dynasty has ever been known to abandon the battlefield. My reputation has now been stained by a driver who thinks like a eunuch.

30"What will I say to My fathers, Rāma and Keśava, when I return to Them after having simply fled the battle? What can I tell Them that will befit My honor?

31"Certainly My sisters-in-law will laugh at Me and say, 'O hero, tell us how in the world Your enemies turned You into such a coward in battle.'"

32The driver replied: O long-lived one, I have done this knowing full well my prescribed duty. O my Lord, the chariot driver must protect the master of the chariot when he is in danger, and the master must also protect his driver.

33With this rule in mind, I removed You from the battlefield, since You had been struck unconscious by Your enemy's club and I thought You were seriously injured.

**SB 10.77: Lord Kṛṣṇa Slays the Demon Śālva**

This chapter describes how Lord Śrī Kṛṣṇa disposed of Śālva, the master of deception, and destroyed his airship Saubha.

Having been removed from the battlefield, Pradyumna was extremely ashamed, and He ordered His driver to take His chariot once again into the presence of Dyumān. As Pradyumna fought with Dyumān, other Yadu heroes like Gada, Sātyaki, and Sāmba began to create havoc among Śālva's army. The battle continued in this way for twenty-seven days and nights.

When Lord Kṛṣṇa returned to Dvārakā, He found it under siege. At once He ordered Dāruka to drive Him onto the battlefield. Suddenly Śālva noticed the Lord and threw his spear at Kṛṣṇa's charioteer, but the Lord shattered the weapon into hundreds of pieces and pierced Śālva and his Saubha vehicle with numerous arrows. Śālva responded by shooting an arrow that struck Kṛṣṇa's left arm. Amazingly, the Lord dropped the Śārṅga bow He was holding in His left hand. The demigods watching the battle cried out in alarm upon seeing the bow fall, while Śālva took the opportunity to insult Kṛṣṇa.

Lord Kṛṣṇa then struck Śālva with His club, but the demon, vomiting blood, disappeared. A moment later a man came before Lord Kṛṣṇa and, after offering Him obeisances, introduced himself as a messenger from Mother Devakī. The man informed the Lord that His father, Vasudeva, had been kidnapped by Śālva. Upon hearing this, Lord Kṛṣṇa seemed to lament like an ordinary man. Śālva then led forward someone who looked just like Vasudeva, decapitated him and took the head with him into his Saubha airship. Lord Śrī Kṛṣṇa, however, could understand the magic tricks of Śālva. Thus He pierced Śālva with a shower of arrows and struck the Saubha vehicle with His club, demolishing it. Śālva descended from his airplane and rushed toward Lord Kṛṣṇa to attack Him, but the Lord took up His Sudarśana disc and severed Śālva's head from his body.

With the killing of Śālva, the demigods in the sky played kettledrums in jubilation. The demon Dantavakra then took a vow to avenge his friend Śālva's death.

1Śukadeva Gosvāmī said: After refreshing Himself with water, putting on His armor and picking up His bow, Lord Pradyumna told His driver, "Take Me back to where the hero Dyumān is standing."

2In Pradyumna's absence, Dyumān had been devastating His army, but now Pradyumna counterattacked Dyumān and, smiling, pierced him with eight nārāca arrows.

3With four of these arrows He struck Dyumān's four horses, with one arrow, his driver, with

two more arrows, his bow and chariot flag, and with the last arrow, Dyumān's head.

4Gada, Sātyaki, Sāmba and others began killing Śālva's army, and thus all the soldiers inside the airship began falling into the ocean, their necks severed.

5As the Yadus and Śālva's followers thus went on attacking one another, the tumultuous, fearsome battle continued for twenty-seven days and nights.

6-7Invited by Yudhiṣṭhira, the son of Dharma, Lord Kṛṣṇa had gone to Indraprastha. Now that the Rājasūya sacrifice had been completed and Śiśupāla killed, the Lord began to see inauspicious omens. So He took leave of the Kuru elders and the great sages, and also of Pṛthā and her sons, and returned to Dvārakā.

8The Lord said to Himself: Because I have come here with My respected elder brother, kings partial to Śiśupāla may well be attacking My capital city.

9[Śukadeva Gosvāmī continued:] After He arrived at Dvārakā and saw how His people were threatened with destruction, and also saw Śālva and his Saubha airship, Lord Keśava arranged for the city's defense and then addressed Dāruka as follows.

10[Lord Kṛṣṇa said:] O driver, quickly take My chariot near Śālva. This lord of Saubha is a powerful magician; don't let him bewilder you.

11Thus ordered, Dāruka took command of the Lord's chariot and drove forth. As the chariot entered the battlefield, everyone there, both friend and foe, caught sight of the emblem of Garuḍa.

12When Śālva, the master of a decimated army, saw Lord Kṛṣṇa approaching, he hurled his spear at the Lord's charioteer. The spear roared frighteningly as it flew across the battlefield.

13Śālva's hurtling spear lit up the whole sky like a mighty meteor, but Lord Śauri tore the great weapon into hundreds of pieces with His arrows.

14Lord Kṛṣṇa then pierced Śālva with sixteen arrows and struck the Saubha airship with a deluge of arrows as it darted about the sky. Firing His arrows, the Lord appeared like the sun flooding the heavens with its rays.

15Śālva then managed to strike Lord Kṛṣṇa's left arm, which held His bow Śārṅga, and, amazingly, Śārṅga fell from His hand.

16Those who witnessed this all cried out in dismay. Then the master of Saubha roared loudly and addressed Lord Janārdana.

17-18[Śālva said:] You fool! Because in our presence You kidnapped the bride of our friend Śiśupāla, Your own cousin, and because You later murdered him in the sacred assembly while he was inattentive, today with my sharp arrows I will send You to the land of no return! Though You think Yourself invincible, I will kill You now if You dare stand before me.

19The Supreme Lord said: O dullard, you boast in vain, since you fail to see death standing near you. Real heroes do not talk much but rather show their prowess in action.

20Having said this, the furious Lord swung His club with frightening power and speed and hit Śālva on the collarbone, making him tremble and vomit blood.

21But as soon as Lord Acyuta withdrew His club, Śālva disappeared from sight, and a moment

later a man approached the Lord. Bowing his head down to Him, he announced, "Devakī has sent me," and, sobbing, spoke the following words.

22[The man said:] O Kṛṣṇa, Kṛṣṇa, mighty-armed one, who are so affectionate to Your parents! Śālva has seized Your father and taken him away, as a butcher leads an animal to slaughter.

23When He heard this disturbing news, Lord Kṛṣṇa, who was playing the role of a mortal man, showed sorrow and compassion, and out of love for His parents He spoke the following words like an ordinary conditioned soul.

24[Lord Kṛṣṇa said:] Balarāma is ever vigilant, and no demigod or demon can defeat Him. So how could this insignificant Śālva defeat Him and abduct My father? Indeed, fate is all-powerful!

25After Govinda spoke these words, the master of Saubha again appeared, apparently leading Vasudeva before the Lord. Śālva then spoke as follows.

26[Śālva said:] Here is Your dear father, who begot You and for whose sake You are living in this world. I shall now kill him before Your very eyes. Save him if You can, weakling!

27After he had mocked the Lord in this way, the magician Śālva appeared to cut off Vasudeva's head with his sword. Taking the head with him, he entered the Saubha vehicle, which was hovering in the sky.

28By nature Lord Kṛṣṇa is full in knowledge, and He possesses unlimited powers of perception. Yet for a moment, out of great affection for His loved ones, He remained absorbed in the mood of an ordinary human being. He soon recalled, however, that this was all a demoniac illusion engineered by Maya Dānava and employed by Śālva.

29Now alert to the actual situation, Lord Acyuta saw before Him on the battlefield neither the messenger nor His father's body. It was as if He had awakened from a dream. Seeing His enemy flying above Him in his Saubha plane, the Lord then prepared to kill him.

30Such is the account given by some sages, O wise King, but those who speak in this illogical way are contradicting themselves, having forgotten their own previous statements.

31How can lamentation, bewilderment, material affection or fear, all born out of ignorance, be ascribed to the infinite Supreme Lord, whose perception, knowledge and power are all similarly infinite?

32By virtue of self-realization fortified by service rendered to His feet, devotees of the Lord dispel the bodily concept of life, which has bewildered the soul since time immemorial. Thus they attain eternal glory in His personal association. How, then, can that Supreme Truth, the destination of all genuine saints, be subject to illusion?

33While Śālva continued to hurl torrents of weapons at Him with great force, Lord Kṛṣṇa, whose prowess never fails, shot His arrows at Śālva, wounding him and shattering his armor, bow and crest jewel. Then with His club the Lord smashed His enemy's Saubha airship.

34Shattered into thousands of pieces by Lord Kṛṣṇa's club, the Saubha airship plummeted into the water. Śālva abandoned it, stationed himself on the ground, took up his club and rushed toward Lord Acyuta.

35As Śālva rushed at Him, the Lord shot a bhalla dart and cut off his arm that held the club. Having finally decided to kill Śālva, Kṛṣṇa then raised His Sudarśana disc weapon, which

resembled the sun at the time of universal annihilation. The brilliantly shining Lord appeared like the easternmost mountain bearing the rising sun.

36Employing His disc, Lord Hari removed that great magician's head with its earrings and crown, just as Purandara had used his thunderbolt to cut off Vṛtra's head. Seeing this, all of Śālva's followers cried out, "Alas, alas!"

37With the sinful Śālva now dead and his Saubha airship destroyed, the heavens resounded with kettledrums played by groups of demigods. Then Dantavakra, wanting to avenge the death of his friends, furiously attacked the Lord.

**SB 10.78: The Killing of Dantavakra, Vidūratha and Romaharṣaṇa**

This chapter relates how Lord Kṛṣṇa killed Dantavakra and Vidūratha, visited Vṛndāvana, and then returned to Dvārakā. It also describes how Lord Baladeva killed the offensive Romaharṣaṇa Sūta.

Intent upon avenging the death of his friend Śālva, Dantavakra appeared on the battlefield with club in hand. Lord Kṛṣṇa took up His own club and came before him. Dantavakra then insulted the Lord with harsh words and struck Him a terrific blow on the head. Without budging in the slightest, Lord Kṛṣṇa bludgeoned Dantavakra's chest, shattering his heart. Dantavakra had a brother named Vidūratha, and he became distraught at Dantavakra's death. Taking up his sword, Vidūratha confronted Śrī Kṛṣṇa, but the Lord cut off Vidūratha's head with His Sudarśana disc. Lord Kṛṣṇa then visited Vṛndāvana for two months, and finally He returned to Dvārakā.

When Lord Baladeva heard that the Pāṇḍavas and Kauravas were about to go to war, in order to remain neutral He left Dvārakā on the pretext of going on pilgrimage. The Lord bathed in sacred places such as Prabhāsa, Tritakūpa and Viśāla, and eventually He came to the holy Naimiṣāraṇya forest, where great sages were performing an extended fire sacrifice. While being worshiped by the assembled sages and offered a seat of honor, the Lord noticed that Romaharṣaṇa Sūta, sitting on the speaker's seat, had failed to stand in deference to Him. Greatly angered by this offense, Lord Balarāma killed Romaharṣaṇa by touching him with the tip of a blade of *kuśa* grass.

The assembled sages were disturbed by what Lord Baladeva had done, and they said to Him, "You have unknowingly killed a *brāhmaṇa*. Therefore, even though You are above the Vedic injunctions, we request You to set a perfect example for the general populace by atoning for this sin." Then Śrī Baladeva, following the Vedic maxim that "one's son takes birth as one's own self," granted to Romaharṣaṇa's son Ugraśravā the position of speaker of the *Purāṇas,* and in accordance with the sages' desires He promised Ugraśravā a long life with unfailing sensory capacity.

Wanting to do something more for the sages, Lord Baladeva promised to kill a demon named Balvala, who had been polluting their sacrificial arena. Finally, on the sages' advice, He agreed to go on a year-long pilgrimage of all the holy places in India.

1-2Śukadeva Gosvāmī said: Acting out of friendship for Śiśupāla, Śālva and Pauṇḍraka, who had all passed on to the next world, the wicked Dantavakra appeared on the battlefield in a great rage, O King. All alone, on foot and wielding a club in his hand, the mighty warrior shook the earth with his footsteps.

3Seeing Dantavakra approach, Lord Kṛṣṇa quickly picked up His club, jumped down from His

chariot and stopped His advancing opponent just as the shore holds back the ocean.

4Raising his club, the reckless King of Karūṣa said to Lord Mukunda, "What luck! What luckto have You come before me today!

5"You are our maternal cousin, Kṛṣṇa, but You committed violence against my friends, and now You want to kill me also. Therefore, fool, I will kill You with my thunderbolt club.

6"Then, O unintelligent one, I who am obliged to my friends will have repaid my debt to them by killing You, my enemy disguised as a relative, who are like a disease within my body."

7Thus trying to harass Lord Kṛṣṇa with harsh words, as one might prick an elephant with sharp goads, Dantavakra struck the Lord on the head with his club and roared like a lion.

8Although hit by Dantavakra's club, Lord Kṛṣṇa, the deliverer of the Yadus, did not budge from His place on the battlefield. Rather, with His massive Kaumodakī club the Lord struck Dantavakra in the middle of his chest.

9His heart shattered by the club's blow, Dantavakra vomited blood and fell lifeless to the ground, his hair disheveled and his arms and legs sprawling.

10A most subtle and wondrous spark of light then [rose from the demon's body and] entered Lord Kṛṣṇa while everyone looked on, O King, just as when Śiśupāla was killed.

11But then Dantavakra's brother Vidūratha, immersed in sorrow over his brother's death, came forward breathing heavily, sword and shield in hand. He wanted to kill the Lord.

12O best of kings, as Vidūratha fell upon Him, Lord Kṛṣṇa used His razor-edged Sudarśana disc to remove his head, complete with its helmet and earrings.

13-15Having thus destroyed Śālva and his Saubha airship, along with Dantavakra and his younger brother, all of whom were invincible before any other opponent, the Lord was praised by demigods, human beings and great sages, by Siddhas, Gandharvas, Vidyādharas and Mahoragas, and also by Apsarās, Pitās, Yakṣas, Kinnaras and Cāraṇas. As they sang His glories and showered Him with flowers, the Supreme Lord entered His festively decorated capital city in the company of the most eminent Vṛṣṇis.

16Thus Lord Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, the master all mystic power and Lord of the universe, is ever victorious. Only those of beastly vision think He sometimes suffers defeat.

17Lord Balarāma then heard that the Kurus were preparing for war with the Pāṇḍavas. Being neutral, He departed on the pretext of going to bathe in holy places.

18After bathing at Prabhāsa and honoring the demigods, sages, forefathers and prominent human beings, He went in the company of brāhmaṇas to the portion of the Sarasvatī that flows westward into the sea.

19-20Lord Balarāma visited the broad Bindu-saras Lake, Tritakūpa, Sudarśana, Viśāla, Brahma-tīrtha, Cakra-tīrtha and the eastward-flowing Sarasvatī. He also went to all the holy places along the Yamunā and the Ganges, O Bhārata, and then He came to the Naimiṣa forest, where great sages were performing an elaborate sacrifice.

21Recognizing the Lord upon His arrival, the sages, who had been engaged in their sacrificial rituals for a long time, greeted Him properly by standing up, bowing down and worshiping

Him.

22After being thus worshiped along with His entourage, the Lord accepted a seat of honor. Then He noticed that Romaharṣaṇa, Vyāsadeva's disciple, had remained seated.

23Lord Balarāma became extremely angry upon seeing how this member of the sūta caste had failed to stand up, bow down or join his palms, and also how he was sitting above all the learned brāhmaṇas.

24[Lord Balarāma said:] Because this fool born from an improperly mixed marriage sits above all these brāhmaṇas and even above Me, the protector of religion, he deserves to die.

25-26Although he is a disciple of the divine sage Vyāsa and has thoroughly learned many scriptures from him, including the lawbooks of religious duties and the epic histories and Purāṇas, all this study has not produced good qualities in him. Rather, his study of the scriptures is like an actor's studying his part, for he is not self-controlled or humble and vainly presumes himself a scholarly authority, though he has failed to conquer his own mind.

27The very purpose of My descent into this world is to kill such hypocrites who pretend to be religious. Indeed, they are the most sinful rascals.

28[Śukadeva Gosvāmī continued:] Although Lord Balarāma had stopped killing the impious, Romaharṣaṇa's death was inevitable. Thus, having spoken, the Lord killed him by picking up a blade of kuśa grass and touching him with its tip.

29All the sages cried out, "Alas, alas!" in great distress. They told Lord Saṅkarṣaṇa, "O master, You have committed an irreligious act!

30"O favorite of the Yadus, we gave him the seat of the spiritual master and promised him long life and freedom from physical pain for as long as this sacrifice continues.

31-32"You have unknowingly killed a brāhmaṇa. Of course, even the injunctions of revealed scripture cannot dictate to You, the Lord of all mystic power. But if by Your own free will You nonetheless carry out the prescribed purification for this slaying of a brāhmaṇa, O purifier of the whole world, people in general will greatly benefit by Your example."

33The Personality of Godhead said: I will certainly perform the atonement for this killing, since I wish to show compassion to the people in general. Please, therefore, prescribe for Me whatever ritual is to be done first.

34O sages, just say the word, and by My mystic power I shall restore everything you promised himlong life, strength and sensory power.

35The sages said: Please see to it, O Rāma, that Your power and that of Your kuśa weapon, as well as our promise and Romaharṣaṇa's death, all remain intact.

36The Supreme Lord said: The Vedas instruct us that one's own self takes birth again as one's son. Thus let Romaharṣaṇa's son become the speaker of the Purāṇas, and let him be endowed with long life, strong senses and stamina.

37Please tell Me your desire, O best of sages, and I shall certainly fulfill it. And, O wise souls, please carefully determine My proper atonement, since I do not know what it might be.

38The sages said: A fearsome demon named Balvala, the son of Ilvala, comes here every new-moon day and contaminates our sacrifice.

39O descendant of Daśārha, please kill that sinful demon, who pours down pus, blood, feces, urine, wine and meat upon us. This is the best service You can do for us.

40Thereafter, for twelve months, You should circumambulate the land of Bhārata in a mood of serious meditation, executing austerities and bathing at various holy pilgrimage sites. In this way You will become purified.

**SB 10.79: Lord Balarāma Goes on Pilgrimage**

This chapter describes how Lord Baladeva satisfied the *brāhmaṇas* by killing Balvala, bathed at various holy pilgrimage sites and attempted to dissuade Bhīmasena and Duryodhana from fighting.

At the sacrificial arena of the sages at Naimiṣāraṇya forest, a harsh wind began to blow on the new-moon day, spreading the obnoxious smell of pus and obscuring everything with dust. The demon Balvala then appeared there with a trident in his hand, his massive body pitch black and his face very frightening. Lord Baladeva caught the demon with His plow and then struck him a ferocious blow on the head with His club, killing him. The sages chanted Lord Baladeva's glories and presented Him with lavish gifts.

Lord Balarāma then began His pilgrimage, during which He visited many holy *tīrthas*. When He heard news of the battle between the Kurus and Pāṇḍavas, the Lord went to Kurukṣetra to try to stop the duel between Bhīma and Duryodhana. But He could not dissuade them from fighting, so deep was their enmity. Understanding that the fight was the arrangement of fate, Lord Baladeva left the battlefield and returned to Dvārakā.

Some time later, Balarāma again went to the Naimiṣāraṇya forest, where the sages performed a number of fire sacrifices on His behalf. Lord Baladeva reciprocated by granting the sages transcendental knowledge and revealing to them His eternal identity.

1Śukadeva Gosvāmī said: Then, on the new-moon day, O King, a fierce and frightening wind arose, scattering dust all about and spreading the smell of pus everywhere.

2Next, onto the sacrificial arena came a downpour of abominable things sent by Balvala, after which the demon himself appeared, trident in hand.

3-4The immense demon resembled a mass of black carbon. His topknot and beard were like molten copper, and his face had horrible fangs and furrowed eyebrows. Upon seeing him, Lord Balarāma thought of His club, which tears to pieces His enemies' armies, and His plow weapon, which punishes the demons. Thus summoned, His two weapons appeared before Him at once.

5With the tip of His plow Lord Balarāma caught hold of the demon Balvala as he flew through the sky, and with His club the Lord angrily struck that harasser of brāhmaṇas on the head.

6Balvala cried out in agony and fell to the ground, his forehead cracked open and gushing blood. He resembled a red mountain struck by a lightning bolt.

7The exalted sages honored Lord Rāma with sincere prayers and awarded Him infallible blessings. Then they performed His ritual bath, just as the demigods had formally bathed Indra when he killed Vṛtra.

8They gave Lord Balarāma a Vaijayantī garland of unfading lotuses in which resided the goddess of fortune, and they also gave Him a set of divine garments and jewelry.

9Then, given leave by the sages, the Lord went with a contingent of brāhmaṇas to the Kauśikī River, where He bathed. From there He went to the lake from which flows the river Sarayū.

10The Lord followed the course of the Sarayū until He came to Prayāga, where He bathed and then performed rituals to propitiate the demigods and other living beings. Next He went to the āśrama of Pulaha Ṛṣi.

11-15Lord Balarāma bathed in the Gomatī, Gaṇḍakī and Vipāśā rivers, and also immersed Himself in the Śoṇa. He went to Gayā, where He worshiped His forefathers, and to the mouth of the Ganges, where He performed purifying ablutions. At Mount Mahendra He saw Lord Paraśurāma and offered Him prayers, and then He bathed in the seven branches of the Godāvarī River, and also in the rivers Veṇā, Pampā and Bhīmarathī. Then Lord Balarāma met Lord Skanda and visited Śrī-śaila, the abode of Lord Giriśa. In the southern provinces known as Draviḍa-deśa the Supreme Lord saw the sacred Veṅkaṭa Hill, as well as the cities of Kāmakoṣṇī and Kāṣcī, the exalted Kāverī River and the most holy Śrī-raṅga, where Lord Kṛṣṇa has manifested Himself. From there He went to Ṛṣabha Mountain, where Lord Kṛṣṇa also lives, and to the southern Mathurā. Then He came to Setubandha, where the most grievous sins are destroyed.

16-17There at Setubandha [Rāmeśvaram] Lord Halāyudha gave brāhmaṇas ten thousand cows in charity. He then visited the Kṛtamālā and Tāmraparṇī rivers and the great Malaya Mountains. In the Malaya range Lord Balarāma found Agastya Ṛṣi sitting in meditation. After bowing down to the sage, the Lord offered him prayers and then received blessings from him. Taking leave from Agastya, He proceeded to the shore of the southern ocean, where He saw Goddess Durgā in her form of Kanyā-kumārī.

18Next He went to Phālguna-tīrtha and bathed in the sacred Paṣcāpsarā Lake, where Lord Viṣṇu had directly manifested Himself. At this place He gave away another ten thousand cows.

19-21The Supreme Lord then traveled through the kingdoms of Kerala and Trigarta, visiting Lord Śiva's sacred city of Gokarṇa, where Lord Dhūrjaṭi [Śiva] directly manifests himself. After also visiting Goddess Pārvatī, who dwells on an island, Lord Balarāma went to the holy district of Śūrpāraka and bathed in the Tāpī, Payoṣṇī and Nirvindhyā rivers. He next entered the Daṇḍaka forest and went to the river Revā, along which the city of Māhiṣmatī is found. Then He bathed at Manu-tīrtha and finally returned to Prabhāsa.

22The Lord heard from some brāhmaṇas how all the kings involved in the battle between the Kurus and Pāṇḍavas had been killed. From this He concluded that the earth was now relieved of her burden.

23Wanting to stop the club fight then raging between Bhīma and Duryodhana on the battlefield, Lord Balarāma went to Kurukṣetra.

24When Yudhiṣṭhira, Lord Kṛṣṇa, Arjuna and the twin brothers Nakula and Sahadeva saw Lord Balarāma, they offered Him respectful obeisances but said nothing, thinking "What has He come here to tell us?"

25Lord Balarāma found Duryodhana and Bhīma with clubs in their hands, each furiously striving for victory over the other as they circled about skillfully. The Lord addressed them as follows.

26[Lord Balarāma said:] King Duryodhana! And Bhīma! Listen! You two warriors are equal in fighting prowess. I know that one of you has greater physical power, while the other is better

trained in technique.

27Since you are so evenly matched in fighting prowess, I do not see how either of you can win or lose this duel. Therefore please stop this useless battle.

28[Śukadeva Gosvāmī continued:] They did not accept Lord Balarāma's request, O King, although it was logical, for their mutual enmity was irrevocable. Each of them constantly remembered the insults and injuries he had suffered from the other.

29Concluding that the battle was the arrangement of fate, Lord Balarāma went back to Dvārakā. There He was greeted by Ugrasena and His other relatives, who were all delighted to see Him.

30Later Lord Balarāma returned to Naimiṣāraṇya, where the sages joyfully engaged Him, the embodiment of all sacrifice, in performing various kinds of Vedic sacrifice. Lord Balarāma was now retired from warfare.

31The all-powerful Lord Balarāma bestowed upon the sages pure spiritual knowledge, by which they could see the whole universe within Him and also see Him pervading everything.

32After executing with His wife the avabhṛtha ablutions, the beautifully dressed and ornamented Lord Balarāma, encircled by His immediate family and other relatives and friends, looked as splendid as the moon surrounded by its effulgent rays.

33Countless other such pastimes were performed by mighty Balarāma, the unlimited and immeasurable Supreme Lord, whose mystic Yoga-māyā power makes Him appear to be a human being.

34All the activities of the unlimited Lord Balarāma are amazing. Anyone who regularly remembers them at dawn and dusk will become very dear to the Supreme Personality of Godhead, Śrī Viṣṇu.

### SB 10.80: The Brāhmaṇa Sudāmā Visits Lord Kṛṣṇa in Dvārakā

This chapter relates how Lord Kṛṣṇa worshiped His *brāhmaṇa* friend Sudāmā, who came to His palace seeking charity, and how the two of them discussed the pastimes they had shared while living at the home of their spiritual master, Sāndīpani Muni.

The *brāhmaṇa* Sudāmā, a personal friend of Lord Kṛṣṇa's, was completely free of material desires. He maintained himself and his wife with whatever came of its own accord, and thus they were poverty-stricken. One day Sudāmā's wife, unable to find any food to prepare for her husband, went to him and asked that he visit his friend Kṛṣṇa in Dvārakā and beg some charity. Sudāmā was reluctant, but when she persisted he agreed to go, reflecting that an opportunity to see the Lord was extremely auspicious. His wife begged a few handfuls of flattened rice as a gift for Śrī Kṛṣṇa, and Sudāmā set off for Dvārakā.

As Sudāmā approached the palace of Lord Kṛṣṇa's principal wife, Rukmiṇī-devī, the Lord saw him from a distance. Kṛṣṇa immediately rose from His seat on Rukmiṇī's bed and embraced His friend with great joy. Then He sat Sudāmā down on the bed, washed his feet with His own hands and sprinkled the wash water on His head. After this He presented him with various gifts and worshiped him with incense, lamps and so on. Meanwhile, Rukmiṇī fanned the shabbily dressed *brāhmaṇa* with a yaktail whisk. All of this astonished the residents of the palace.

Lord Śrī Kṛṣṇa then took the hand of His friend, and the two of them reminisced about the things they had done together long ago, while living in the school of their spiritual master.

Sudāmā pointed out that Kṛṣṇa engages in the pastime of acquiring an education only to set an example for human society.

1King Parīkṣit said: My lord, O master, I wish to hear about other valorous deeds performed by the Supreme Personality of Godhead, Mukunda, whose valor is unlimited.

2O brāhmaṇa, how could anyone who knows the essence of life and is disgusted with endeavoring for sense gratification give up the transcendental topics of Lord Uttamaḥśloka after hearing them repeatedly?

3Actual speech is that which describes the qualities of the Lord, real hands are those that work for Him, a true mind is that which always remembers Him dwelling within everything moving and nonmoving, and actual ears are those that listen to sanctifying topics about Him.

4An actual head is one that bows down to the Lord in His manifestations among the moving and nonmoving creatures, real eyes are those that see only the Lord, and actual limbs are those which regularly honor the water that has bathed the Lord's feet or those of His devotees.

5Sūta Gosvāmī said: Thus questioned by King Viṣṇurāta, the powerful sage Bādarāyaṇi replied, his heart fully absorbed in meditation on the Supreme Personality of Godhead, Vāsudeva.

6Śukadeva Gosvāmī said: Lord Kṛṣṇa had a certain brāhmaṇa friend [named Sudāmā] who was most learned in Vedic knowledge and detached from all sense enjoyment. Furthermore, his mind was peaceful and his senses subdued.

7Living as a householder, he maintained himself with whatever came of its own accord. The wife of that poorly dressed brāhmaṇa suffered along with him and was emaciated from hunger.

8The chaste wife of the poverty-stricken brāhmaṇa once approached him, her face dried up because of her distress. Trembling with fear, she spoke as follows.

9[Sudāmā's wife said:] O brāhmaṇa, isn't it true that the husband of the goddess of fortune is the personal friend of your exalted self? That greatest of Yādavas, the Supreme Lord Kṛṣṇa, is compassionate to brāhmaṇas and very willing to grant them His shelter.

10O fortunate one, please approach Him, the real shelter of all saints. He will certainly give abundant wealth to such a suffering householder as you.

11Lord Kṛṣṇa is now the ruler of the Bhojas, Vṛṣṇis and Andhakas and is staying at Dvārakā. Since He gives even His own self to anyone who simply remembers His lotus feet, what doubt is there that He, the spiritual master of the universe, will bestow upon His sincere worshiper prosperity and material enjoyment, which are not even very desirable?

12-13[Śukadeva Gosvāmī continued:] When his wife thus repeatedly implored him in various ways, the brāhmaṇa thought to himself, "To see Lord Kṛṣṇa is indeed the greatest achievement in life." Thus he decided to go, but first he told her, "My good wife, if there is anything in the house I can bring as a gift, please give it to me."

14Sudāmā's wife begged four handfuls of flat rice from neighboring brāhmaṇas, tied up the rice in a torn piece of cloth and gave it to her husband as a present for Lord Kṛṣṇa.

15Taking the flat rice, the saintly brāhmaṇa set off for Dvārakā, all the while wondering "How will I be able to have Kṛṣṇa's audience?"

16-17The learned brāhmaṇa, joined by some local brāhmaṇas, passed three guard stations and

went through three gateways, and then he walked by the homes of Lord Kṛṣṇa's faithful devotees, the Andhakas and Vṛṣṇis, which ordinarily no one could do. He then entered one of the opulent palaces belonging to Lord Hari's sixteen thousand queens, and when he did so he felt as if he were attaining the bliss of liberation.

18At that time Lord Acyuta was seated on His consort's bed. Spotting the brāhmaṇa at some distance, the Lord immediately stood up, went forward to meet him and with great pleasure embraced him.

19The lotus-eyed Supreme Lord felt intense ecstasy upon touching the body of His dear friend, the wise brāhmaṇa, and thus He shed tears of love.

20-22Lord Kṛṣṇa seated His friend Sudāmā upon the bed. Then the Lord, who purifies the whole world, personally offered him various tokens of respect and washed his feet, O King, after which He sprinkled the water on His own head. He anointed him with divinely fragrant sandalwood, aguru and kuṅkuma pastes and happily worshiped him with aromatic incense and arrays of lamps. After finally offering him betel nut and the gift of a cow, He welcomed him with pleasing words.

23By fanning him with her cāmara, the divine goddess of fortune personally served that poor brāhmaṇa, whose clothing was torn and dirty and who was so thin that veins were visible all over his body.

24The people in the royal palace were astonished to see Kṛṣṇa, the Lord of spotless glory, so lovingly honor this shabbily dressed brāhmaṇa.

25-26[The residents of the palace said:] What pious acts has this unkempt, impoverished brāhmaṇa performed? People regard him as lowly and contemptible, yet the spiritual master of the three worlds, the abode of Goddess Śrī, is serving him reverently. Leaving the goddess of fortune sitting on her bed, the Lord has embraced this brāhmaṇa as if he were an older brother.

27[Śukadeva Gosvāmī continued:] Taking each other's hands, O King, Kṛṣṇa and Sudāmā talked pleasantly about how they once lived together in the school of their guru.

28The Supreme Lord said: My dear brāhmaṇa, you know well the ways of dharma. After you offered the gift of remuneration to our guru and returned home from his school, did you marry a compatible wife or not?

29Even though you are mostly involved in household affairs, your mind is not affected by material desires. Nor, O learned one, do you take much pleasure in the pursuit of material wealth. This I am well aware of.

30Having renounced all material propensities, which spring from the Lord's illusory energy, some people execute worldly duties with their minds undisturbed by mundane desires. They act as I do, to instruct the general populace.

31My dear brāhmaṇa, do you remember how we lived together in our spiritual master's school? When a twice-born student has learned from his guru all that is to be learned, he can enjoy spiritual life, which lies beyond all ignorance.

32My dear friend, he who gives a person his physical birth is his first spiritual master, and he who initiates him as a twice-born brāhmaṇa and engages him in religious duties is indeed more directly his spiritual master. But the person who bestows transcendental knowledge upon the members of all the spiritual orders of society is one's ultimate spiritual master. Indeed, he is as

good as My own self.

33Certainly, O brāhmaṇa, of all the followers of the varṇāśrama system, those who take advantage of the words I speak in My form as the spiritual master and thus easily cross over the ocean of material existence best understand their own true welfare.

34I, the Soul of all beings, am not as satisfied by ritual worship, brahminical initiation, penances or self-discipline as I am by faithful service rendered to one's spiritual master.

35-36O brāhmaṇa, do you remember what happened to us while we were living with our spiritual master? Once our guru's wife sent us to fetch firewood, and after we entered the vast forest, O twice-born one, an unseasonal storm arose, with fierce wind and rain and harsh thunder.

37Then, as the sun set, the forest was covered by darkness in every direction, and with all the flooding we could not distinguish high land from low.

38Constantly besieged by the powerful wind and rain, we lost our way amidst the flooding waters. We simply held each other's hands and, in great distress, wandered aimlessly about the forest.

39Our guru, Sāndīpani, understanding our predicament, set out after sunrise to search for us, his disciples, and found us in distress.

40[Sāndīpani said:] O my children, you have suffered so much for my sake! The body is most dear to every living creature, but you are so dedicated to me that you completely disregarded your own comfort.

41This indeed is the duty of all true disciples: to repay the debt to their spiritual master by offering him, with pure hearts, their wealth and even their very lives.

42You boys are first-class brāhmaṇas, and I am satisfied with you. May all your desires be fulfilled, and may the Vedic mantras you have learned never lose their meaning for you, in this world or the next.

43[Lord Kṛṣṇa continued:] We had many similar experiences while living in our spiritual master's home. Simply by the grace of the spiritual master a person can fulfill life's purpose and attain eternal peace.

44The brāhmaṇa said: What could I possibly have failed to achieve, O Lord of lords, O universal teacher, since I was able to personally live with You, whose every desire is fulfilled, at the home of our spiritual master?

45O almighty Lord, Your body comprises the Absolute Truth in the form of the Vedas and is thus the source of all auspicious goals of life. That You took up residence at the school of a spiritual master is simply one of Your pastimes in which You play the role of a human being.

## SB 10.81: The Lord Blesses Sudāmā Brāhmaṇa

This chapter describes how Lord Kṛṣṇa ate a morsel of the flat rice brought by His friend Sudāmā and bestowed upon him wealth greater than that of the King of heaven.

In the course of His loving talks with His friend Sudāmā, Lord Kṛṣṇa said, "My dear *brāhmaṇa,*

have you brought any gift for Me from home? I regard as very significant even the smallest offering from My loving devotee." But the poor *brāhmaṇa* was ashamed to present Kṛṣṇa with his meager gift of flat rice. However, since Lord Kṛṣṇa is the Supersoul dwelling in all hearts, He knew why Sudāmā had come to visit Him. So He grabbed the bundle of flat rice Sudāmā was hiding and ate a handful of it with great pleasure. He was about to eat a second morsel when Rukmiṇī devī stopped Him.

Feeling as if he had gone back to Godhead, Sudāmā spent that night comfortably in Lord Kṛṣṇa's palace, and the next morning he set off for home. As he passed along the highway, he thought of how fortunate he was to have been so honored by Śrī Kṛṣṇa. Absorbed in this meditation, Sudāmā arrived at the place where his home used to beand he was struck with great wonder. Instead of his broken-down hovel, he saw a series of opulent palaces. While he stood astonished, a group of beautiful men and women came forward to greet him with singing and music. The *brāhmaṇa's* wife, wonderfully adorned with celestial jewelry, came out of the palace and welcomed him with great love and reverence. Sudāmā entered his home together with her, thinking that this extraordinary transformation must have been due to the Supreme Lord's mercy on him.

From then on Sudāmā lived his life amidst lavish wealth, yet he maintained his mood of detachment and constantly chanted the glories of Lord Kṛṣṇa In a short time he broke off all bonds of bodily attachment and attained to the kingdom of God.

1-2[Śukadeva Gosvāmī said:] Lord Hari, Kṛṣṇa, perfectly knows the hearts of all living beings, and He is especially devoted to the brāhmaṇas. While the Supreme Lord, the goal of all saintly persons, conversed in this way with the best of the twice-born, He laughed and spoke the following words to that dear friend of His, the brāhmaṇa Sudāmā, all the while smiling and looking upon him with affection.

3The Supreme Lord said: O brāhmaṇa, what gift have you brought Me from home? I regard as great even the smallest gift offered by My devotees in pure love, but even great offerings presented by nondevotees do not please Me.

4If one offers Me with love and devotion a leaf, a flower, a fruit or water, I will accept it.

5[Śukadeva Gosvāmī continued:] Even after being addressed in this way, O King, the brāhmaṇa felt too embarrassed to offer his palmfuls of flat rice to the husband of the goddess of fortune. He simply kept his head bowed in shame.

6-7Being the direct witness in the hearts of all living beings, Lord Kṛṣṇa fully understood why Sudāmā had come to see Him. Thus He thought, "In the past My friend has never worshiped Me out of a desire for material opulence, but now he comes to Me to satisfy his chaste and devoted wife. I will give him riches that even the immortal demigods cannot obtain."

8Thinking like this, the Lord snatched from the brāhmaṇa's garment the grains of flat rice tied up in an old piece of cloth and exclaimed, "What is this?

9"My friend, have You brought this for Me? It gives Me extreme pleasure. Indeed, these few grains of flat rice will satisfy not only Me but also the entire universe."

10After saying this, the Supreme Lord ate one palmful and was about to eat a second when the devoted goddess Rukmiṇī took hold of His hand.

11[Queen Rukmiṇī said:] This is more than enough, O Soul of the universe, to secure him an abundance of all kinds of wealth in this world and the next. After all, one's prosperity depends

simply on Your satisfaction.

12[Śukadeva Gosvāmī continued:] The brāhmaṇa spent that night in Lord Acyuta's palace after eating and drinking to his full satisfaction. He felt as if he had gone to the spiritual world.

13The next day, Sudāmā set off for home while being honored by Lord Kṛṣṇa, the self-satisfied maintainer of the universe. The brāhmaṇa felt greatly delighted, my dear King, as he walked along the road.

14Although he had apparently received no wealth from Lord Kṛṣṇa, Sudāmā was too shy to beg for it on his own. He simply returned home, feeling perfectly satisfied to have had the Supreme Lord's audience.

15[Sudāmā thought:] Lord Kṛṣṇa is known to be devoted to the brāhmaṇas, and now I have personally seen this devotion. Indeed, He who carries the goddess of fortune on His chest has embraced the poorest beggar.

16Who am I? A sinful, poor friend of a brāhmaṇa. And who is Kṛṣṇa? The Supreme Personality of Godhead, full in six opulences. Nonetheless, He has embraced me with His two arms.

17He treated me just like one of His brothers, making me sit on the bed of His beloved consort. And because I was fatigued, His queen personally fanned me with a yak-tail cāmara.

18Although He is the Lord of all demigods and the object of worship for all brāhmaṇas, He worshiped me as if I were a demigod myself, massaging my feet and rendering other humble services.

19Devotional service to His lotus feet is the root cause of all the perfections a person can find in heaven, in liberation, in the subterranean regions and on earth.

20Thinking "If this poor wretch suddenly becomes rich, he will forget Me in his intoxicating happiness," the compassionate Lord did not grant me even a little wealth.

21-23[Śukadeva Gosvāmī continued:] Thinking thus to himself, Sudāmā finally came to the place where his home stood. But that place was now crowded on all sides with towering, celestial palaces rivaling the combined brilliance of the sun, fire and the moon. There were splendorous courtyards and gardens, each filled with flocks of cooing birds and beautified by ponds in which kumuda, ambhoja, kahlāra and utpala lotuses grew. Finely attired men and doe-eyed women stood in attendance. Sudāmā wondered, "What is all this? Whose property is it? How has this all come about?"

24As he continued to ponder in this way, the beautiful menand maidservants, as effulgent as demigods, came forward to greet their greatly fortunate master with loud song and instrumental music.

25When she heard that her husband had arrived, the brāhmaṇa's wife quickly came out of the house in a jubilant flurry. She resembled the goddess of fortune herself emerging from her divine abode.

26When the chaste lady saw her husband, her eyes filled with tears of love and eagerness. As she held her eyes closed, she solemnly bowed down to him, and in her heart she embraced him.

27Sudāmā was amazed to see his wife. Shining forth in the midst of maidservants adorned with jeweled lockets, she looked as effulgent as a demigoddess in her celestial airplane.

28With pleasure he took his wife with him and entered his house, where there were hundreds of gem-studded pillars, just as in the palace of Lord Mahendra.

29-32In Sudāmā's home were beds as soft and white as the foam of milk, with bedsteads made of ivory and ornamented with gold. There were also couches with golden legs, as well as royal cāmara fans, golden thrones, soft cushions and gleaming canopies hung with strings of pearls. Upon the walls of sparkling crystal glass, inlaid with precious emeralds, shone jeweled lamps, and the women in the palace were all adorned with precious gems. As he viewed this luxurious opulence of all varieties, the brāhmaṇa calmly reasoned to himself about his unexpected prosperity.

33[Sudāmā thought:] I have always been poor. Certainly the only possible way that such an unfortunate person as myself could become suddenly rich is that Lord Kṛṣṇa, the supremely opulent chief of the Yadu dynasty, has glanced upon Me.

34After all, my friend Kṛṣṇa, the most exalted of the Dāśārhas and the enjoyer of unlimited wealth, noticed that I secretly intended to beg from Him. Thus even though He said nothing about it when I stood before Him, He actually bestowed upon me the most abundant riches. In this way He acted just like a merciful rain cloud.

35The Lord considers even His greatest benedictions to be insignificant, while He magnifies even a small service rendered to Him by His well-wishing devotee. Thus with pleasure the Supreme Soul accepted a single palmful of the flat rice I brought Him.

36The Lord is the supremely compassionate reservoir of all transcendental qualities. Life after life may I serve Him with love, friendship and sympathy, and may I cultivate such firm attachment for Him by the precious association of His devotees.

37To a devotee who lacks spiritual insight, the Supreme Lord will not grant the wonderful opulences of this worldkingly power and material assets. Indeed, in His infinite wisdom the unborn Lord well knows how the intoxication of pride can cause the downfall of the wealthy.

38[Śukadeva Gosvāmī continued:] Thus firmly fixing his determination by means of his spiritual intelligence, Sudāmā remained absolutely devoted to Lord Kṛṣṇa, the shelter of all living beings. Free from avarice, he enjoyed, together with his wife, the sense pleasures that had been bestowed upon him, always with the idea of eventually renouncing all sense gratification.

39Lord Hari is the God of all gods, the master of all sacrifices, and the supreme ruler. But He accepts the saintly brāhmaṇas as His masters, and so there exists no deity higher than them.

40Thus seeing how the unconquerable Supreme Lord is nonetheless conquered by His own servants, the Lord's dear brāhmaṇa friend felt the remaining knots of material attachment within his heart being cut by the force of his constant meditation on the Lord. In a short time he attained Lord Kṛṣṇa's supreme abode, the destination of great saints.

41The Lord always shows brāhmaṇas special favor. Anyone who hears this account of the Supreme Lord's kindness to brāhmaṇas will come to develop love for the Lord and thus become freed from the bondage of material work.

### SB 10.82: Kṛṣṇa and Balarāma Meet the Inhabitants of Vṛndāvana

This chapter describes how the Yādavas and many other kings met at Kurukṣetra during a solar

eclipse and discussed topics concerning Lord Kṛṣṇa. It also relates how Kṛṣṇa met Nanda Mahārāja and the other residents of Vṛndāvana at Kurukṣetra and gave them great joy.

Hearing that a total eclipse of the sun was soon to occur, people from all over Bhārata-varṣa, including the Yādavas, converged at Kurukṣetra to earn special pious credit. After the Yadus had bathed and performed other obligatory rituals, they noticed that kings of Matsya, Uśīnara and other places had also come, as well as Nanda Mahārāja and the cowherd community of Vraja, who were always feeling the intense anxiety of separation from Kṛṣṇa. The Yādavas, overjoyed to see all these old friends, embraced them one by one as they shed tears of happiness. Their wives also embraced one another with great pleasure.

When Queen Kuntī saw her brother Vasudeva and other members of her family, she put aside her sorrow. Yet still she said to Vasudeva, "O brother, I am so unfortunate, because all of you forgot me during my tribulations. Alas, even one's relatives forget a person whom Providence no longer favors."

Vasudeva replied, "My dear sister, everyone is merely a plaything of fate. We Yādavas were so harassed by Kaṁsa that we were forced to scatter and take shelter in foreign lands. So there was no way for us to keep in touch with you."

The kings present were struck with wonder upon beholding Lord Śrī Kṛṣṇa and His wives, and they began to glorify the Yādavas for having gotten the Lord's personal association. Seeing Nanda Mahārāja, the Yādavas were delighted, and each of them embraced him tightly. Vasudeva also embraced Nanda with great joy and remembered how, when Vasudeva was tormented by Kaṁsa, Nanda had taken his sons, Kṛṣṇa and Balarāma, under his protection. Balarāma and Kṛṣṇa embraced and bowed down to mother Yaśodā, but Their throats choked up with emotion and they could say nothing to her. Nanda and Yaśodā lifted their two sons onto their laps and embraced Them, and in this way they relieved the distress of separation. Rohiṇī and Devakī both embraced Yaśodā and, remembering the great friendship she had shown them, told her that the kindness she had done by raising and supporting Kṛṣṇa and Balarāma could not be repaid even with the wealth of Indra.

Then the Supreme Lord approached the young cowherd girls in a secluded place. He consoled them by pointing out that He is all-pervasive, being the source of all energies, and thus He implied that they could never be separated from Him. Having been at long last reunited with Kṛṣṇa, the *gopīs* prayed simply to have His lotus feet manifested in their hearts.

1Śukadeva Gosvāmī said: Once, while Balarāma and Kṛṣṇa were living in Dvārakā, there occurred a great eclipse of the sun, just as if the end of Lord Brahmā's day had come.

2Knowing of this eclipse in advance, O King, many people went to the holy place known as Samanta-paṣcaka in order to earn pious credit.

3-6After ridding the earth of kings, Lord Paraśurāma, the foremost of warriors, created huge lakes from the kings' blood at Samantaka-paṣcaka. Although he is never tainted by karmic reactions, Lord Paraśurāma performed sacrifices there to instruct people in general; thus he acted like an ordinary person trying to free himself of sins. From all parts of Bhārata-varṣa a great number of people now came to that Samanta-paṣcaka on pilgrimage. O descendant of Bharata, among those arriving at the holy place were many Vṛṣṇis, such as Gada, Pradyumna and Sāmba, hoping to be relieved of their sins; Akrūra, Vasudeva, Āhuka and other kings also went there. Aniruddha remained in Dvārakā with Sucandra, Śuka and Sāraṇa to guard the city, together with Kṛtavarmā, the commander of their armed forces.

7-8The mighty Yādavas passed with great majesty along the road. They were attended by their soldiers, who rode on chariots rivaling the airplanes of heaven, on horses moving with a rhythmic gait, and on bellowing elephants as huge as clouds. Also with them were many infantrymen as effulgent as celestial Vidyādharas. The Yādavas were so divinely dressedbeing adorned with gold necklaces and flower garlands and wearing fine armorthat as they proceeded along the road with their wives they seemed to be demigods flying through the sky.

9At Samanta-paṣcaka, the saintly Yādavas bathed and then observed a fast with careful attention. Afterward they presented brāhmaṇas with cows bedecked with garments, flower garlands and gold necklaces.

10In accordance with scriptural injunctions, the descendants of Vṛṣṇi then bathed once more in Lord Paraśurāma's lakes and fed first-class brāhmaṇas with sumptuous food. All the while they prayed, "May we be granted devotion to Lord Kṛṣṇa."

11Then, with the permission of Lord Kṛṣṇa, their sole object of worship, the Vṛṣṇis ate breakfast and sat down at their leisure beneath trees that gave cooling shade.

12-13The Yādavas saw that many of the kings who had arrived were old friends and relativesthe Matsyas, Uśīnaras, Kauśalyas, Vidarbhas, Kurus, Sṛṣjayas, Kāmbojas, Kaikayas, Madras, Kuntīs and the kings of Ānarta and Kerala. They also saw many hundreds of other kings, both allies and adversaries. In addition, my dear King Parīkṣit, they saw their dear friends Nanda Mahārāja and the cowherd men and women, who had been suffering in anxiety for so long.

14As the great joy of seeing one another made the lotuses of their hearts and faces bloom with fresh beauty, the men embraced one another enthusiastically. With tears pouring from their eyes, the hair on their bodies standing on end and their voices choked up, they all felt intense bliss.

15The women glanced at one another with pure smiles of loving friendship. And when they embraced, their breasts, smeared with saffron paste, pressed against one another as their eyes filled with tears of affection.

16They all then offered obeisances to their elders and received respect in turn from their younger relatives. After inquiring from one another about the comfort of their trip and their well-being, they proceeded to talk about Kṛṣṇa.

17Queen Kuntī met with her brothers and sisters and their children, and also with her parents, her brothers' wives and Lord Mukunda. While talking with them she forgot her sorrow.

18Queen Kuntī said: My dear, respectable brother, I feel that my desires have been frustrated, because although all of you are most saintly, you forgot me during my calamities.

19Friends and family memberseven children, brothers and parentsforget a dear one whom Providence no longer favors.

20Śrī Vasudeva said: Dear sister, please do not be angry with us. We are only ordinary men, playthings of fate. Indeed, whether a person acts on his own or is forced by others, he is always under the Supreme Lord's control.

21Harassed by Kaṁsa, we all fled in various directions, but by the grace of Providence we have now finally been able to return to our homes, my dear sister.

22Śukadeva Gosvāmī said: Vasudeva, Ugrasena and the other Yadus honored the various kings, who became supremely blissful and content upon seeing Lord Acyuta.

23-26All the royalty present, including Bhīṣma, Droṇa, Dhṛtarāṣṭra, Gāndhārī and her sons, the Pāṇḍavas and their wives, Kuntī, Saṣjaya, Vidura, Kṛpācārya, Kuntībhoja, Virāṭa, Bhīṣmaka, the great Nagnajit, Purujit, Drupada, Śalya, Dhṛṣṭaketu, Kāśirāja, Damaghoṣa, Viśālākṣa, Maithila, Madra, Kekaya, Yudhāmanyu, Suśarmā, Bāhlika with his associates and their sons, and the many other kings subservient to Mahārāja Yudhiṣṭhiraall of them, O best of kings, were simply amazed to see the transcendental form of Lord Kṛṣṇa, the abode of all opulence and beauty, standing before them with His consorts.

27After Lord Balarāma and Lord Kṛṣṇa had liberally honored them, with great joy and enthusiasm these kings began to praise the members of the Vṛṣṇi clan, Śrī Kṛṣṇa's personal associates.

28[The kings said:] O King of the Bhojas, you alone among men have achieved a truly exalted birth, for you continually behold Lord Kṛṣṇa, who is rarely visible even to great yogīs.

29-30His fame, as broadcast by the Vedas, the water that has washed His feet, and the words He speaks in the form of the revealed scripturesthese thoroughly purify this universe. Although the earth's good fortune was ravaged by time, the touch of His lotus feet has revitalized her, and thus she is raining down on us the fulfillment of all our desires. The same Lord Viṣṇu who makes one forget the goals of heaven and liberation has now entered into marital and blood relationships with you, who otherwise travel on the hellish path of family life. Indeed, in these relationships you see and touch Him directly, walk beside Him, converse with Him, and together with Him lie down to rest, sit at ease and take your meals.

31Śukadeva Gosvāmī said: When Nanda Mahārāja learned that the Yadus had arrived, led by Kṛṣṇa, he immediately went to see them. The cowherds accompanied him, their various possessions loaded on their wagons.

32Seeing Nanda, the Vṛṣṇis were delighted and stood up like dead bodies coming back to life. Having felt much distress at not seeing him for so long, they held him in a tight embrace.

33Vasudeva embraced Nanda Mahārāja with great joy. Beside himself with ecstatic love, Vasudeva remembered the troubles Kaṁsa had caused him, forcing him to leave his sons in Gokula for Their safety.

34O hero of the Kurus, Kṛṣṇa and Balarāma embraced Their foster parents and bowed down to them, but Their throats were so choked up with tears of love that the two Lords could say nothing.

35Raising their two sons onto their laps and holding Them in their arms, Nanda and saintly mother Yaśodā forgot their sorrow.

36Then Rohiṇī and Devakī both embraced the Queen of Vraja, remembering the faithful friendship she had shown them. Their throats choking with tears, they addressed her as follows.

37[Rohiṇī and Devakī said:] What woman could forget the unceasing friendship you and Nanda have shown us, dear Queen of Vraja? There is no way to repay you in this world, even with the wealth of Indra.

38Before these two boys had ever seen Their real parents, you acted as Their parents and gave

Them all affectionate care, training, nourishment and protection. They were never afraid, good lady, because you protected Them just as eyelids protect the eyes. Indeed, saintly persons like you never discriminate between outsiders and their own kin.

39Śukadeva Gosvāmī said: While gazing at their beloved Kṛṣṇa, the young gopīs used to condemn the creator of their eyelids, [which would momentarily block their vision of Him]. Now, seeing Kṛṣṇa again after such a long separation, with their eyes they took Him into their hearts, and there they embraced Him to their full satisfaction. In this way they became totally absorbed in ecstatic meditation on Him, although those who constantly practice mystic yoga find such absorption difficult to achieve.

40The Supreme Lord approached the gopīs in a secluded place as they stood in their ecstatic trance. After embracing each of them and inquiring about their well-being, He laughed and spoke as follows.

41[Lord Kṛṣṇa said:] My dear girlfriends, do you still remember Me? It was for My relatives' sake that I stayed away so long, intent on destroying My enemies.

42Do you perhaps think I'm ungrateful and thus hold Me in contempt? After all, it is the Supreme Lord who brings living beings together and then separates them.

43Just as the wind brings together masses of clouds, blades of grass, wisps of cotton and particles of dust, only to scatter them all again, so the creator deals with His created beings in the same way.

44Rendering devotional service to Me qualifies any living being for eternal life. But by your good fortune you have developed a special loving attitude toward Me, by which you have obtained Me.

45Dear ladies, I am the beginning and end of all created beings and exist both within and without them, just as the elements ether, water, earth, air and fire are the beginning and end of all material objects and exist both within and without them.

46In this way all created things reside within the basic elements of creation, while the spirit souls pervade the creation, remaining in their own true identity. You should see both of thesethe material creation and the selfas manifest within Me, the imperishable Supreme Truth.

47Śukadeva Gosvāmī said: Having thus been instructed by Kṛṣṇa in spiritual matters, the gopīs were freed of all tinges of false ego because of their incessant meditation upon Him. And with their deepening absorption in Him, they came to understand Him fully.

48The gopīs spoke thus: Dear Lord, whose navel is just like a lotus flower, Your lotus feet are the only shelter for those who have fallen into the deep well of material existence. Your feet are worshiped and meditated upon by great mystic yogīs and highly learned philosophers. We wish that these lotus feet may also be awakened within our hearts, although we are only ordinary persons engaged in household affairs.

## SB 10.83: Draupadī Meets the Queens of Kṛṣṇa

This chapter relates a conversation between Draupadī and Lord Kṛṣṇa's foremost queens, in which each of them describes how the Lord married her.

Lord Śrī Kṛṣṇa returned from His meeting with the *gopīs* and asked King Yudhiṣṭhira and His other relatives whether they were well. They replied, "My Lord, anyone who has just once imbibed through his ears the honey of Your pastimes can never know misfortune."

Then Draupadī inquired from Lord Kṛṣṇa's wives how the Lord had come to marry them. Queen Rukmiṇī spoke first: "Many kings, headed by Jarāsandha, were intent on giving me in marriage to Śiśupāla. Thus at my wedding they all stood with bows in hand, ready to support Śiśupāla against any opponents. But Śrī Kṛṣṇa came and forcibly took me away, as a lion takes his prey from amidst goats and sheep."

Queen Satyabhāmā said, "When my uncle Prasena was killed, my father, Satrājit, falsely accused Lord Kṛṣṇa of murder. To clear His name, Kṛṣṇa defeated Jāmbavān, recovered the Syamantaka jewel and returned it to Satrājit. Repentant, my father presented the Lord with both the jewel and myself."

Queen Jāmbavatī said, "When Śrī Kṛṣṇa entered my father's cave in search of the Syamantaka jewel, at first my father, Jāmbavān, did not understand who He was. So my father fought with Him for twenty-seven days and nights. Finally, Jāmbavān understood that Kṛṣṇa was none other than Lord Rāmacandra, his worshipable Lord. Thus he gave Kṛṣṇa the Syamantaka jewel, along with me."

Queen Kālindī said, "To obtain Kṛṣṇa as my husband, I performed severe austerities. Then one day Lord Kṛṣṇa came to me in the company of Arjuna, and at that time the Lord agreed to marry me."

Queen Mitravindā said, "Śrī Kṛṣṇa came to my *svayaṁvara* ceremony, where He defeated all the opposing kings and took me away to His city of Dvārakā."

Queen Satyā said, "My father stipulated that to win my hand, a prospective suitor would have to subdue and tie up seven powerful bulls. Accepting this challenge, Lord Kṛṣṇa playfully subdued them, defeated all His rival suitors and married me."

Queen Bhadrā said, "My father invited his nephew Kṛṣṇa, to whom I had already given my heart, and offered me to Him as His bride. The dowry was an entire military division and a retinue of my female companions."

Queen Lakṣmaṇā said to Draupadī, "At my *svayaṁvara,* as at yours, a fish-target was fastened near the ceiling. But in my case the fish was concealed on all sides, and only its reflection could be seen in a pot of water below. Several kings tried to hit the fish with an arrow but failed. Arjuna then made his attempt. He concentrated on the reflection of the fish in the water and took careful aim, but when he released his arrow it only grazed the target. Then Śrī Kṛṣṇa fixed His arrow on the bow and shot it straight through the target, knocking it to the ground. I placed the victory necklace on Śrī Kṛṣṇa's neck, but the kings who had failed raised a violent protest. Lord Kṛṣṇa valiantly fought them, cutting off the heads, arms and legs of many and sending the rest fleeing for their lives. Then the Lord took me to Dvārakā for our lavish wedding."

Rohiṇī-devī, representing all the other queens, explained that they were daughters of the kings defeated by Bhaumāsura. The demon had held them captive, but when Lord Kṛṣṇa killed him He had released them and married them all.

1Śukadeva Gosvāmī said: Thus Lord Kṛṣṇa, the spiritual master of the gopīs and the very purpose of their life, showed them His mercy. He then met with Yudhiṣṭhira and all His other relatives and inquired from them about their welfare.

2Feeling greatly honored, King Yudhiṣṭhira and the others, freed of all sinful reactions by seeing the feet of the Lord of the universe, gladly answered His inquiries.

3[Lord Kṛṣṇa's relatives said:] O master, how can misfortune arise for those who have even once freely drunk the nectar coming from Your lotus feet? This intoxicating liquor pours into the drinking cups of their ears, having flowed from the minds of great devotees through their mouths. It destroys the embodied souls' forgetfulness of the creator of their bodily existence.

4The radiance of Your personal form dispels the threefold effects of material consciousness, and by Your grace we become immersed in total happiness. Your knowledge is indivisible and unrestricted. By Your Yoga-māyā potency You have assumed this human form for protecting the Vedas, which had been threatened by time. We bow down to You, the final destination of perfect saints.

5The great sage Śukadeva Gosvāmī said: As Yudhiṣṭhira and the others were thus praising Lord Kṛṣṇa, the crest jewel of all sublimely glorified personalities, the women of the Andhaka and Kaurava clans met with one another and began discussing topics about Govinda that are sung throughout the three worlds. Please listen as I relate these to you.

6-7Śrī Draupadī said: O Vaidarbhī, Bhadrā and Jāmbavatī, O Kauśalā, Satyabhāmā and Kālindī, O Śaibyā, Rohiṇī, Lakṣmaṇā and other wives of Lord Kṛṣṇa, please tell me how the Supreme Lord Acyuta, imitating the ways of this world by His mystic power, came to marry each of you.

8Śrī Rukmiṇī said: When all the kings held their bows at the ready to assure that I would be presented to Śiśupāla, He who puts the dust of His feet on the heads of invincible warriors took me from their midst, as a lion forcibly takes his prey from the midst of goats and sheep. May I always be allowed to worship those feet of Lord Kṛṣṇa, the abode of Goddess Śrī.

9Śrī Satyabhāmā said: My father, his heart tormented by his brother's death, accused Kṛṣṇa of killing him. To remove the stain on His reputation, the Lord defeated the king of the bears and took back the Syamantaka jewel, which He then returned to my father. Fearing the consequences of his offense, my father offered me to the Lord, even though I had already been promised to others.

10Śrī Jāmbavatī said: Unaware that Lord Kṛṣṇa was none other than his own master and worshipable Deity, the husband of Goddess Sītā, my father fought with Him for twenty-seven days. When my father finally came to his senses and recognized the Lord, he took hold of His feet and presented Him with both me and the Syamantaka jewel as tokens of his reverence. I am simply the Lord's maidservant.

11Śrī Kālindī said: The Lord knew I was performing severe austerities and penances with the hope of one day touching His lotus feet. So He came to me in the company of His friend and took my hand in marriage. Now I am engaged as a sweeper in His palace.

12Śrī Mitravindā said: At my svayaṁvara ceremony He came forward, defeated all the kings presentincluding my brothers, who dared insult Himand took me away just as a lion removes his prey from amidst a pack of dogs. Thus Lord Kṛṣṇa, the shelter of the goddess of fortune, brought me to His capital city. May I be allowed to serve Him by washing His feet, life after life.

13-14Śrī Satyā said: My father arranged for seven extremely powerful and vigorous bulls with deadly sharp horns to test the prowess of the kings who desired my hand in marriage. Although these bulls destroyed the false pride of many heroes, Lord Kṛṣṇa subdued them effortlessly, tying them up in the same way that children playfully tie up a goat's kids. He thus purchased me with His valor. Then He took me away with my maidservants and a full army of four divisions, defeating all the kings who opposed Him along the road. May I be granted the privilege of serving that Lord.

15-16Śrī Bhadrā said: My dear Draupadī, of his own free will my father invited his nephew Kṛṣṇa, to whom I had already dedicated my heart, and offered me to Him as His bride. My father presented me to the Lord with an akṣauhiṇi military guard and a retinue of my female companions. My ultimate perfection is this: to always be allowed to touch Lord Kṛṣṇa's lotus feet as I wander from life to life, bound by my karma.

17Śrī Lakṣmaṇā said: O Queen, I repeatedly heard Nārada Muni glorify the appearances and activities of Acyuta, and thus my heart also became attached to that Lord, Mukunda. Indeed, even Goddess Padmahastā chose Him as her husband after careful consideration, rejecting the great demigods who rule various planets.

18My father, Bṛhatsena, was by nature compassionate to his daughter, and knowing how I felt, O saintly lady, he arranged to fulfill my desire.

19Just as a fish was used as a target in your svayaṁvara ceremony, O Queen, to assure that you would obtain Arjuna as your husband, so a fish was also used in my ceremony. In my case, however, it was concealed on all sides, and only its reflection could be seen in a pot of water below.

20Hearing of this, thousands of kings expert in shooting arrows and in wielding other weapons converged from all directions on my father's city, accompanied by their military teachers.

21My father properly honored each king according to his strength and seniority. Then those whose minds were fixed on me took up the bow and arrow and one by one tried to pierce the target in the midst of the assembly.

22Some of them picked up the bow but could not string it, and so they threw it aside in frustration. Some managed to pull the bowstring toward the tip of the bow, only to have the bow spring back and knock them to the ground.

23A few heroesnamely Jarāsandha, Śiśupāla, Bhīma, Duryodhana, Karṇa and the King of Ambaṣṭhasucceeded in stringing the bow, but none of them could find the target.

24Then Arjuna looked at the reflection of the fish in the water and determined its position. When he carefully shot his arrow at it, however, he did not pierce the target but merely grazed it.

25-26After all the arrogant kings had given up, their pride broken, the Supreme Personality of Godhead picked up the bow, easily strung it and then fixed His arrow upon it. As the sun stood in the constellation Abhijit, He looked at the fish in the water only once and then pierced it with the arrow, knocking it to the ground.

27Kettledrums resounded in the sky, and on the earth people shouted "Jaya! Jaya!" Overjoyed, demigods showered flowers.

28Just then I walked onto the ceremonial ground, the ankle bells on my feet gently tinkling. I was wearing new garments of the finest silk, tied with a belt, and I carried a brilliant necklace fashioned of gold and jewels. There was a shy smile on my face and a wreath of flowers in my hair.

29I lifted my face, which was encircled by my abundant locks and effulgent from the glow of my earrings reflected from my cheeks. Smiling coolly, I glanced about. Then, looking around at all the kings, I slowly placed the necklace on the shoulder of Murāri, who had captured my heart.

30Just then there were loud sounds of conchshells and mṛdaṅga, paṭaha, bherī and ānaka drums, as well as other instruments. Men and women began to dance, and singers began to sing.

31The leading kings there could not tolerate my having chosen the Supreme Personality of Godhead, O Draupadī. Burning with lust, they became quarrelsome.

32The Lord then placed me on His chariot, drawn by four most excellent horses. Donning His armor and readying His bow Śārṅga, He stood on the chariot, and there on the battleground He manifested His four arms.

33Dāruka drove the Lord's gold-trimmed chariot as the kings looked on, O Queen, like small animals helplessly watching a lion.

34The kings pursued the Lord like village dogs chasing a lion. Some kings, raising their bows, stationed themselves on the road to stop Him as He passed by.

35These warriors were deluged by arrows shot from the Lord's bow, Śārṅga. Some of the kings fell on the battlefield with severed arms, legs and necks; the rest gave up the fight and fled.

36The Lord of the Yadus then entered His capital city, Kuśasthalī [Dvārakā], which is glorified in heaven and on earth. The city was elaborately decorated with flagpoles carrying banners that blocked the sun, and also with splendid archways. As Lord Kṛṣṇa entered, He appeared like the sun-god entering his abode.

37My father honored his friends, family and in-laws with priceless clothing and jewelry and with royal beds, thrones and other furnishings.

38With devotion he presented the perfectly complete Lord with a number of maidservants bedecked with precious ornaments. Accompanying these maidservants were guards walking on foot and others riding elephants, chariots and horses. He also gave the Lord extremely valuable weapons.

39Thus, by renouncing all material association and practicing austere penances, we queens have all become personal maidservants of the self-satisfied Supreme Lord.

40Rohiṇī-devi, speaking for the other queens, said: After killing Bhaumāsura and his followers, the Lord found us in the demon's prison and could understand that we were the daughters of the kings whom Bhauma had defeated during his conquest of the earth. The Lord set us free, and because we had been constantly meditating upon His lotus feet, the source of liberation from material entanglement, He agreed to marry us, though His every desire is already fulfilled.

41-42O saintly lady, we do not desire dominion over the earth, the sovereignty of the King of heaven, unlimited facility for enjoyment, mystic power, the position of Lord Brahmā, immortality or even attainment of the kingdom of God. We simply desire to carry on our heads the glorious dust of Lord Kṛṣṇa's feet, enriched by the fragrance of kuṅkuma from His consort's bosom.

43We desire the same contact with the Supreme Lord's feet that the young women of Vraja, the cowherd boys and even the aborigine Pulinda women desirethe touch of the dust He leaves on the plants and grass as He tends His cows.

### SB 10.84: The Sages' Teachings at Kurukṣetra

This chapter describes the arrival of great sages at Kurukṣetra to observe the auspicious

occasion of a solar eclipse, the sages' glorification of Lord Kṛṣṇa, and Vasudeva's enthusiastic performance of sacrifices.

On the occasion of a solar eclipse at Kurukṣetra, exalted ladies like Kuntī, Draupadī and Subhadrā got the chance to associate with Lord Kṛṣṇa's queens. Seeing how much the Lord's consorts loved their husband, the ladies were struck with wonder. As the women talked among themselves, and the men did likewise, great sages headed by Nārada and Vyāsadeva arrived there, desiring to see Lord Kṛṣṇa. The various kings and other leading personalities who were sitting at their leisure, including the Pāṇḍavas, Kṛṣṇa and Balarāma, stood up as soon as they saw the sages. The leaders all bowed down to the great souls, inquired about their well-being and worshiped them by offering them sitting places, water and so on. Lord Kṛṣṇa then said, "Now our lives are successful, for we have obtained the goal of life: the audience of great sages and *yoga* masters, which even demigods only rarely obtain. The water at a holy place of pilgrimage and the deity forms of the gods can purify one only after a long time, but saintly sages purify just by being seen. Those who identify themselves with their bodies and neglect to honor transcendental sages like you are no better than asses."

After hearing Lord Kṛṣṇa speak these words in the mood of a mere mortal, the sages remained silent for some time, bewildered. Then they said, "How amazing our Lord is! He covers His true identity with humanlike activities and pretends to be subject to superior control. Surely He has spoken in this way only to enlighten the general populace. Such behavior of His is indeed inconceivable." The sages continued to glorify the Lord as the Supreme Personality of Godhead, the Supersoul, and the friend and worshiper of the *brāhmaṇas.*

After the sages had praised Him, Lord Kṛṣṇa offered them His obeisances, and they begged His permission to return to their hermitages. But just then Vasudeva came forward, bowed to the sages and asked, "What activities can one perform to be freed from the bondage of fruitive work?" The sages replied, "By worshiping the Supreme Lord, Hari, through the performance of Vedic sacrifices, you will become free from the bondage of fruitive work." Vasudeva then requested the sages to act as his priests, and he arranged for Vedic sacrifices to be performed with superexcellent paraphernalia. Afterward, Vasudeva presented the priests with valuable gifts of cows and jewelry, and also with marriageable *brāhmaṇa* girls. He then performed the ritual bath marking the end of the sacrifice and fed everyone sumptuously, even the village dogs. Next he gave ample gifts to his relatives, the various kings and others, who all took Śrī Kṛṣṇa's leave and returned to their own homes.

Unable to depart because of his intense affection for his relatives, Nanda Mahārāja remained at Kurukṣetra for three months, served with reverence by the Yādavas. On one occasion, Vasudeva began to describe the deep friendship Nanda had shown him, shedding tears openly. At the end of three months, Nanda left for Mathurā with the fond farewells of all the Yādavas. When the Yādavas finally saw that the rainy season was about to begin, they returned to Dvārakā, where they related all that had happened at Kurukṣetra to the residents of their capital.

1Śukadeva Gosvāmī said: Pṛthā, Gāndhārī, Draupadī, Subhadrā, the wives of other kings and the Lord's cowherd girlfriends were all amazed to hear of the queens' deep love for Lord Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead and Soul of all beings, and their eyes filled with tears.

2-5As the women thus talked among themselves and the men among themselves, a number of great sages arrived there, all of them eager to see Lord Kṛṣṇa and Lord Balarāma. They included Dvaipāyana, Nārada, Cyavana, Devala and Asita, Viśvāmitra, Śatānanda, Bharadvāja and Gautama, Lord Paraśurāma and his disciples, Vasiṣṭha, Gālava, Bhṛgu, Pulastya and Kaśyapa,

Atri, Mārkaṇḍeya and Bṛhaspati, Dvita, Trita, Ekata and the four Kumāras, and Aṅgirā, Agastya, Yājṣavalkya and Vāmadeva.

6As soon as they saw the sages approaching, the kings and other gentlemen who had been seated immediately stood up, including the Pāṇḍava brothers and Kṛṣṇa and Balarāma. They all then bowed down to the sages, who are honored throughout the universe.

7Lord Kṛṣṇa, Lord Balarāma and the other kings and leaders properly worshiped the sages by offering them words of greeting, sitting places, water for washing their feet, drinking water, flower garlands, incense and sandalwood paste.

8After the sages were comfortably seated, the Supreme Lord Kṛṣṇa, whose transcendental body protects religious principles, addressed them in the midst of that great assembly. Everyone listened silently with rapt attention.

9The Supreme Lord said: Now our lives are indeed successful, for we have obtained life's ultimate goal: the audience of great yoga masters, which even demigods only rarely obtain.

10How is it that people who are not very austere and who recognize God only in His Deity form in the temple can now see you, touch you, inquire from you, bow down to you, worship your feet and serve you in other ways?

11Mere bodies of water are not the real sacred places of pilgrimage, nor are mere images of earth and stone the true worshipable deities. These purify one only after a long time, but saintly sages purify one immediately upon being seen.

12Neither the demigods controlling fire, the sun, the moon and the stars nor those in charge of earth, water, ether, air, speech and mind actually remove the sins of their worshipers, who continue to see in terms of dualities. But wise sages destroy one's sins when respectfully served for even a few moments.

13One who identifies his self as the inert body composed of mucus, bile and air, who assumes his wife and family are permanently his own, who thinks an earthen image or the land of his birth is worshipable, or who sees a place of pilgrimage as merely the water there, but who never identifies himself with, feels kinship with, worships or even visits those who are wise in spiritual truthsuch a person is no better than a cow or an ass.

14Śukadeva Gosvāmī said: Hearing such unfathomable words from the unlimitedly wise Lord Kṛṣṇa, the learned brāhmaṇas remained silent, their minds bewildered.

15For some time the sages pondered the Supreme Lord's behavior, which resembled that of a subordinate living being. They concluded that He was acting this way to instruct the people in general. Thus they smiled and spoke to Him, the spiritual master of the universe.

16The great sages said: Your power of illusion has totally bewildered us, the most exalted knowers of the truth and leaders among the universal creators. Ah, how amazing is the behavior of the Supreme Lord! He covers Himself with His humanlike activities and pretends to be subject to superior control.

17Indeed, the humanlike pastimes of the Almighty are simply a pretense! Effortlessly, He alone sends forth from His Self this variegated creation, maintains it and then swallows it up again, all without becoming entangled, just as the element earth takes on many names and forms in its various transformations.

18Nonetheless, at suitable times You assume the pure mode of goodness to protect Your

devotees and punish the wicked. Thus You, the Soul of the varṇāśrama social order, the Supreme Personality of Godhead, maintain the eternal path of the Vedas by enjoying Your pleasure pastimes.

19The Vedas are Your spotless heart, and through them one can perceiveby means of austerity, study and self-controlthe manifest, the unmanifest and the pure existence transcendental to both.

20Therefore, O Supreme Brahman, You honor the members of the brahminical community, for they are the perfect agents by which one can realize You through the evidence of the Vedas. For that very reason You are the foremost worshiper of the brāhmaṇas.

21Today our birth, education, austerity and vision have all become perfect because we have been able to associate with You, the goal of all saintly persons. Indeed, You Yourself are the ultimate, supreme blessing.

22Let us offer obeisances unto that Supreme Personality of Godhead, Lord Kṛṣṇa, the infinitely intelligent Supersoul, who has disguised His greatness through His mystic Yoga-māyā.

23Neither these kings nor even the Vṛṣṇis, who enjoy Your intimate association, know You as the Soul of all existence, the force of time and the supreme controller. For them You are covered by the curtain of Māyā.

24-25A sleeping person imagines an alternative reality for himself and, seeing himself as having various names and forms, forgets his waking identity, which is distinct from the dream. Similarly, the senses of one whose consciousness is bewildered by illusion perceive only the names and forms of material objects. Thus such a person loses his memory and cannot know You.

26Today we have directly seen Your feet, the source of the holy Ganges, which washes away volumes of sins. Perfected yogīs can at best meditate upon Your feet within their hearts. But only those who render You wholehearted devotional service and in this way vanquish the soul's coveringthe material mindattain You as their final destination. Therefore kindly show mercy to us, Your devotees.

27Śukadeva Gosvāmī said: Having thus spoken, O wise king, the sages then took leave of Lord Dāśārha, Dhṛtarāṣṭra and Yudhiṣṭhira and prepared to depart for their āśramas.

28Seeing that they were about to leave, the renowned Vasudeva approached the sages. After bowing down to them and touching their feet, he spoke to them with carefully chosen words.

29Śrī Vasudeva said: Obeisances to you, the residence of all the demigods. Please hear me, O sages. Kindly tell us how the reactions of one's work can be counteracted by further work.

30Śrī Nārada Muni said: O brāhmaṇas, it is not so amazing that in his eagerness to know, Vasudeva has asked us about his ultimate benefit, for he considers Kṛṣṇa a mere boy.

31In this world familiarity breeds contempt. For example, one who lives on the banks of the Ganges might travel to some other body of water to be purified.

32-33The Supreme Lord's awareness is never disturbed by time, by the creation and destruction of the universe, by changes in its own qualities, or by anything else, whether self-caused or external. But although the consciousness of the Personality of Godhead, who is the supreme one without a second, is never affected by material distress, by the reactions of material work or by the constant flow of nature's modes, ordinary persons nonetheless think that the Lord is

covered by His own creations of prāṇa and other material elements, just as one may think that the sun is covered by clouds, snow or an eclipse.

34[Śukadeva Gosvāmī continued:] The sages then spoke again, O King, addressing Vasudeva while all the kings, along with Lord Acyuta and Lord Rāma, listened.

35[The sages said:] It has been definitely concluded that work is counteracted by further work when one executes Vedic sacrifices as a means of worshiping Viṣṇu, the Lord of all sacrifices, with sincere faith.

36Learned authorities who see through the eye of scripture have demonstrated that this is the easiest method of subduing the agitated mind and attaining liberation, and that it is a sacred duty which brings joy to the heart.

37This is the most auspicious path for a religious householder of the twice-born ordersto selflessly worship the Personality of Godhead with wealth honestly obtained.

38An intelligent person should learn to renounce his desire for wealth by performing sacrifices and acts of charity. He should learn to renounce his desire for wife and children by experiencing family life. And he should learn to renounce his desire for promotion to a higher planet in his next life, O saintly Vasudeva, by studying the effects of time. Self-controlled sages who have thus renounced their attachment to household life go to the forest to perform austerities.

39Dear Prabhu, a member of the twice-born classes is born with three kinds of debtsthose owed to the demigods, to the sages and to his forefathers. If he leaves his body without first liquidating these debts by performing sacrifice, studying the scriptures and begetting children, he will fall down into a hellish condition.

40But you, O magnanimous soul, are already free from two of your debtsthose to the sages and the forefathers. Now absolve yourself of your debt to the demigods by executing Vedic sacrifices, and in this way free yourself completely of debt and renounce all material shelter.

41O Vasudeva, without doubt you must have previously worshiped Lord Hari, the master of all worlds. Both you and your wife must have perfectly worshiped Him with supreme devotion, since He has accepted the role of your son.

42Śukadeva Gosvāmī said: After hearing these statements of the sages, generous Vasudeva bowed his head to the ground and, praising them, requested them to become his priests.

43Thus requested by him, O King, the sages engaged the pious Vasudeva in performing fire sacrifices at that holy place of Kurukṣetra according to strict religious principles and with most excellent ritual arrangements.

44-45When Mahārāja Vasudeva was about to be initiated for the sacrifice, O King, the Vṛṣṇis came to the initiation pavilion after bathing and putting on fine clothes and garlands of lotuses. The other kings also came, elaborately ornamented, as well as all their joyful queens, who wore jeweled lockets around their necks and were also clad in fine garments. The royal wives were anointed with sandalwood paste and carried auspicious items for the worship.

46Mṛdaṅgas, paṭahas, conchshells, bherīs, ānakas and other instruments resounded, male and female dancers danced, and sūtas and māgadhas recited glorifications. Sweet-voiced Gandharvīs sang, accompanied by their husbands.

47After Vasudeva's eyes had been decorated with black cosmetic and his body smeared with

fresh butter, the priests initiated him according to scriptural rules by sprinkling him and his eighteen wives with sacred water. Encircled by his wives, he resembled the regal moon encircled by stars.

48Vasudeva received initiation along with his wives, who wore silk saris and were adorned with bangles, necklaces, ankle bells and earrings. With his body wrapped in a deerskin, Vasudeva shone splendidly.

49My dear Mahārāja Parīkṣit, Vasudeva's priests and the officiating members of the assembly, dressed in silk dhotīs and jeweled ornaments, looked so effulgent that they seemed to be standing in the sacrificial arena of Indra, the killer of Vṛtra.

50At that time Balarāma and Kṛṣṇa, the Lords of all living entities, shone forth with great majesty in the company of Their respective sons, wives and other family members, who were expansions of Their opulences.

51Performing various kinds of Vedic sacrifice according to the proper regulations, Vasudeva worshiped the Lord of all sacrificial paraphernalia, mantras and rituals. He executed both primary and secondary sacrifices, offering oblations to the sacred fire and carrying out other aspects of sacrificial worship.

52Then, at the appropriate time and according to scripture, Vasudeva remunerated the priests by decorating them with precious ornaments, though they were already richly adorned, and offering them valuable gifts of cows, land and marriageable girls.

53After supervising the patnī-saṁyāja and avabhṛthya rituals, the great brāhmaṇa sages bathed in Lord Paraśurāma's lake with the sponsor of the sacrifice, Vasudeva, who led them.

54His sacred bath complete, Vasudeva joined with his wives in giving the jewelry and clothes they had been wearing to the professional reciters. Vasudeva then put on new garments, after which he honored all classes of people by feeding everyone, even the dogs.

55-56With opulent gifts he honored his relatives, including all their wives and children; the royalty of the Vidarbha, Kosala, Kuru, Kāśī, Kekaya and Sṛṣjaya kingdoms; the officiating members of the assembly; and also the priests, witnessing demigods, humans, spirits, forefathers and Cāraṇas. Then, taking permission from Lord Kṛṣṇa, the shelter of the goddess of fortune, the various guests departed as they all chanted the glories of Vasudeva's sacrifice.

57-58The Yadus were all embraced by their friends, close family members and other relatives, including Dhṛtarāṣṭra and his younger brother, Vidura; Pṛthā and her sons; Bhīṣma; Droṇa; the twins Nakula and Sahadeva; Nārada; and Vedavyāsa, the Personality of Godhead. Their hearts melting with affection, these and the other guests left for their kingdoms, their progress slowed by the pain of separation.

59Nanda Mahārāja showed his affection for his relatives, the Yadus, by remaining with them a little longer, together with his cowherds. During his stay, Kṛṣṇa, Balarāma, Ugrasena and the others honored him with especially opulent worship.

60Having so easily crossed over the vast ocean of his ambition, Vasudeva felt fully satisfied. In the company of his many well-wishers, he took Nanda by the hand and addressed him as follows.

61ŚrīVasudeva said: My dear brother, God Himself has tied the knot called affection, which tightly binds human beings together. It seems to me that even great heroes and mystics find it

very difficult to free themselves from it.

62Indeed, the Supreme Lord must have created the bonds of affection, for such exalted saints as you have never stopped showing matchless friendship toward us ingrates, although it has never been properly reciprocated.

63Previously, dear brother, we did nothing to benefit you because we were unable to, yet even now that you are present before us, our eyes are so blinded by the intoxication of material good fortune that we continue to ignore you.

64O most respectful one, may a person who wants the highest benefit in life never gain kingly opulence, for it leaves him blind to the needs of his own family and friends.

65ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: His heart softened by feelings of intimate sympathy, Vasudeva wept. His eyes brimmed with tears as he remembered the friendship Nanda had shown him.

66And on his part, Nanda was also full of affection for his friend Vasudeva. Thus during the following days Nanda would repeatedly announce, "I will be leaving later today" and "I will be leaving tomorrow." But out of love for Kṛṣṇa and Balarāma he remained there for three more months, honored by all the Yadus.

67-68Then, after Vasudeva, Ugrasena, Kṛṣṇa, Uddhava, Balarāma and others had fulfilled his desires and presented him with precious ornaments, fine linen and varieties of priceless household furnishings, Nanda Mahārāja accepted all these gifts and took his leave. Seen off by all the Yadus, he departed with his family members and the residents of Vraja.

69Unable to withdraw their minds from Lord Govinda's lotus feet, where they had surrendered them, Nanda and the cowherd men and women returned to Mathurā.

70Their relatives having thus departed, and seeing that the rainy season was approaching, the Vṛṣṇis, whose only Lord was Kṛṣṇa, went back to Dvārakā.

71They told the people of the city about the festive sacrifices performed by Vasudeva, lord of the Yadus, and about everything else that had happened during their pilgrimage, especially how they had met with all their loved ones.

### SB 10.85: Lord Kṛṣṇa Instructs Vasudeva and Retrieves Devakī's Sons

This chapter relates how Lord Kṛṣṇa imparted divine knowledge to His father and, along with Lord Balarāma, retrieved His mother's dead sons.

Having heard the visiting sages glorify Kṛṣṇa, Vasudeva ceased to regard Him and Balarāma as his sons and began praising Their omnipotence, omnipresence and omniscience as the Supreme Personality of Godhead. After glorifying his sons, Vasudeva fell at Lord Kṛṣṇa's lotus feet and begged Him to drive away the conception that the Lord was his son. Instead, Lord Kṛṣṇa restored that conception by instructing Vasudeva in the science of Godhead, and upon hearing these instructions, Vasudeva became peaceful and free of doubt.

Then Mother Devakī praised Kṛṣṇa and Balarāma, reminding Them how They had retrieved the dead son of Their spiritual master. She said, "Please fulfill my desire in the same way. Please bring back my sons who were killed by Kaṁsa so I may see them once again." Entreated in this way by Their mother, the two Lords went to the subterranean planet of Sutala, where They approached Bali Mahārāja. King Bali greeted Them respectfully, offering Them seats of honor, worshiping Them and reciting prayers. Kṛṣṇa and Balarāma then requested Bali to return

Devakī's dead sons. The Lords received the boys from Bali and returned them to Devakī who felt such a surge of affection for them that milk began spontaneously flowing from her breasts. Overjoyed, Devakī fed the children her breastmilk, and by drinking the remnants of milk once drunk by Lord Kṛṣṇa Himself, they regained their original forms as demigods and went back to heaven.

1Śrī Bādarāyaṇi said: One day the two sons of VasudevaSaṅkarṣaṇa and Acyutacame to pay him respects, bowing down at his feet. Vasudeva greeted Them with great affection and spoke to Them.

2Having heard the great sages' words concerning the power of his two sons, and having seen Their valorous deeds, Vasudeva became convinced of Their divinity. Thus, addressing Them by name, he spoke to Them as follows.

3[Vasudeva said:] O Kṛṣṇa, Kṛṣṇa, best of yogīs, O eternal Saṅkarṣaṇa! I know that You two are personally the source of universal creation and the ingredients of creation as well.

4You are the Supreme Personality of Godhead, who manifest as the Lord of both nature and the creator of nature [Mahā-Viṣṇu]. Everything that comes into existence, however and whenever it does so, is created within You, by You, from You, for You and in relation to You.

5O transcendental Lord, from Yourself You created this entire variegated universe, and then You entered within it in Your personal form as the Supersoul. In this way, O unborn Supreme Soul, as the life force and consciousness of everyone, You maintain the creation.

6Whatever potencies the life air and other elements of universal creation exhibit are actually all personal energies of the Supreme Lord, for both life and matter are subordinate to Him and dependent on Him, and also different from one another. Thus everything active in the material world is set into motion by the Supreme Lord.

7The glow of the moon, the brilliance of fire, the radiance of the sun, the twinkling of the stars, the flash of lightning, the permanence of mountains and the aroma and sustaining power of the earthall these are actually You.

8My Lord, You are water, and also its taste and and its capacities to quench thirst and sustain life. You exhibit Your potencies through the manifestations of the air as bodily warmth, vitality, mental power, physical strength, endeavor and movement.

9You are the directions and their accommodating capacity, the all-pervading ether and the elemental sound residing within it. You are the primeval, unmanifested form of sound; the first syllable, om; and audible speech, by which sound, as words, acquires particular references.

10You are the power of the senses to reveal their objects, the senses' presiding demigods, and the sanction these demigods give for sensory activity. You are the capacity of the intelligence for decision-making, and the living being's ability to remember things accurately.

11You are false ego in the mode of ignorance, which is the source of the physical elements; false ego in the mode of passion, which is the source of the bodily senses; false ego in the mode of goodness, which is the source of the demigods; and the unmanifest, total material energy, which underlies everything.

12You are the one indestructible entity among all the destructible things of this world, like the underlying substance that is seen to remain unchanged while the things made from it undergo transformations.

13The modes of material naturenamely goodness, passion and ignorancetogether with all their functions, become directly manifest within You, the Supreme Absolute Truth, by the arrangement of Your Yoga-māyā.

14Thus these created entities, transformations of material nature, do not exist except when material nature manifests them within You, at which time You also manifest within them. But aside from such periods of creation, You stand alone as the transcendental reality.

15They are truly ignorant who, while imprisoned within the ceaseless flow of this world's material qualities, fail to know You, the Supreme Soul of all that be, as their ultimate, sublime destination. Because of their ignorance, the entanglement of material work forces such souls to wander in the cycle of birth and death.

16By good fortune a soul may obtain a healthy human lifean opportunity rarely achieved. But if he is nonetheless deluded about what is best for him, O Lord, Your illusory Māyā will cause him to waste his entire life.

17You keep this whole world bound up by the ropes of affection, and thus when people consider their material bodies, they think, "This is me," and when they consider their progeny and other relations, they think, "These are mine."

18You are not our sons but the very Lords of both material nature and its creator [Mahā-Viṣṇu]. As You Yourself have told us, You have descended to rid the earth of the rulers who are a heavy burden upon her.

19Therefore, O friend of the distressed, I now approach Your lotus feet for shelterthe same lotus feet that dispel all fear of worldly existence for those who have surrendered to them. Enough! Enough with hankering for sense enjoyment, which makes me identify with this mortal body and think of You, the Supreme, as my child.

20Indeed, while still in the maternity room You told us that You, the unborn Lord, had already been born several times as our son in previous ages. After manifesting each of these transcendental bodies to protect Your own principles of religion, You then made them unmanifest, thus appearing and disappearing like a cloud. O supremely glorified, all-pervading Lord, who can understand the mystic, deluding potency of Your opulent expansions?

21Śukadeva Gosvāmī said: Having heard His father's words, the Supreme Lord, leader of the Sātvatas, replied in a gentle voice as He bowed His head in humility and smiled.

22The Supreme Lord said: My dear Father, I consider your statements appropriate, since you have explained the various categories of existence by referring to Us, your sons.

23Not only I, but also you, along with My respected brother and these residents of Dvārakā, should all be considered in this same philosophical light, O best of the Yadus. Indeed, we should include all that exists, both moving and nonmoving.

24The supreme spirit, Paramātmā, is indeed one. He is self-luminous and eternal, transcendental and devoid of material qualities. But through the agency of the very modes He has created, the one Supreme Truth manifests as many among the expansions of those modes.

25The elements of ether, air, fire, water and earth become visible, invisible, minute or extensive as they manifest in various objects. Similarly, the Paramātmā, though one, appears to become many.

26Śukadeva Gosvāmī said: O King, hearing these instructions spoken to him by the Supreme

Lord, Vasudeva became freed from all ideas of duality. Satisfied at heart, he remained silent.

27-28At that time, O best of the Kurus, the universally worshiped Devakī took the opportunity to address her two sons, Kṛṣṇa and Balarāma. Previously she had heard with astonishment that They had brought Their spiritual master's son back from death. Now, thinking of her own sons who had been murdered by Kaṁsa, she felt great sorrow, and thus with tear-filled eyes she beseeched Kṛṣṇa and Balarāma.

29Śrī Devakī said: O Rāma, Rāma, immeasurable Supreme Soul! O Kṛṣṇa, Lord of all masters of yoga! I know that You are the ultimate rulers of all universal creators, the primeval Personalities of Godhead.

30Taking birth from me, You have now descended to this world in order to kill those kings whose good qualities have been destroyed by the present age, and who thus defy the authority of revealed scriptures and burden the earth.

31O Soul of all that be, the creation, maintenance and destruction of the universe are all carried out by a fraction of an expansion of an expansion of Your expansion. Today I have come to take shelter of You, the Supreme Lord.

32-33It is said that when Your spiritual master ordered You to retrieve his long-dead son, You brought him back from the forefathers' abode as a token of remuneration for Your guru's mercy. Please fulfill my desire in the same way, O supreme masters of all yoga masters. Please bring back my sons who were killed by the King of Bhoja, so that I may see them once again.

34The sage Śukadeva said: Thus entreated by Their mother, O Bhārata, Balarāma and Kṛṣṇa employed Their mystic Yoga-māyā potency and entered the region of Sutala.

35When the King of the Daityas, Bali Mahārāja, noticed the arrival of the two Lords, his heart overflowed with joy, since he knew Them to be the Supreme Soul and worshipable Deity of the entire universe, and especially of himself. He immediately stood up and then bowed down to offer respects, along with his entire entourage.

36Bali took pleasure in offering Them elevated seats. After They sat down, he washed the feet of the two Supreme Personalities. Then he took that water, which purifies the whole world even up to Lord Brahmā, and poured it upon himself and his followers.

37He worshiped Them with all the riches at his disposalpriceless clothing, ornaments, fragrant sandalwood paste, betel nut, lamps, sumptuous food and so on. Thus he offered Them all his family's wealth, and also his own self.

38Taking hold of the Lords' lotus feet again and again, Bali, the conqueror of Indra's army, spoke from his heart, which was melting out of his intense love. O King, as tears of ecstasy filled his eyes and the hair on his limbs stood on end, he began to speak with faltering words.

39King Bali said: Obeisances to the unlimited Lord, Ananta, the greatest of all beings. And obeisances to Lord Kṛṣṇa, the creator of the universe, who appears as the impersonal Absolute and the Supersoul in order to disseminate the principles of sāṅkhya and yoga.

40Seeing You Lords is a rare achievement for most living beings. But even persons like us, situated in the modes of passion and ignorance, can easily see You when You reveal Yourself by Your own sweet will.

41-43Many who had been constantly absorbed in enmity toward You ultimately became attracted to You, who are the direct embodiment of transcendental goodness and whose divine

form comprises the revealed scriptures. These reformed enemies include Daityas, Dānavas, Gandharvas, Siddhas, Vidyādharas, Cāraṇas, Yakṣas, Rākṣasas, Piśācas, Bhūtas, Pramathas and Nāyakas, and also ourselves and many others like us. Some of us have become attracted to You because of exceptional hatred, while others have become attracted because of their mood of devotion based on lust. But the demigods and others infatuated by material goodness feel no such attraction for You.

44What to speak of ourselves, O Lord of all perfect yogīs, even the greatest mystics do not know what Your spiritual power of delusion is or how it acts.

45Please be merciful to me so I may get out of the blind well of family lifemy false homeand find the true shelter of Your lotus feet, which selfless sages always seek. Then, either alone or in the company of great saints, who are the friends of everyone, I may wander freely, finding life's necessities at the feet of the universally charitable trees.

46O Lord of all subordinate creatures, please tell us what to do and thus free us of all sin. One who faithfully executes Your command, O master, is no longer obliged to follow the ordinary Vedic rites.

47The Supreme Lord said: During the age of the first Manu, the sage Marīci had six sons by his wife Ūrnā. They were all exalted demigods, but once they laughed at Lord Brahmā when they saw him preparing to have sex with his own daughter.

48-49Because of that improper act, they immediately entered a demoniac form of life, and thus they took birth as sons of Hiraṇyakaśipu. The goddess Yoga-māyā then took them away from Hiraṇyakaśipu, and they were born again from Devakī's womb. After this, O King, Kaṁsa murdered them. Devakī still laments for them, thinking of them as her sons. These same sons of Marīci are now living here with you.

50We wish to take them from this place to dispel their mother's sorrow. Then, released from their curse and free from all suffering, they will return to their home in heaven.

51By My grace these sixSmara, Udgītha, Pariṣvaṅga, Pataṅga, Kṣudrabhṛt and Ghṛṇīwill return to the abode of pure saints.

52[Śukadeva Gosvāmī continued:] After saying this, Lord Kṛṣṇa and Lord Balarāma, having been duly worshiped by Bali Mahārāja, took the six sons and returned to Dvārakā, where They presented them to Their mother.

53When she saw her lost children, Goddess Devakī felt such affection for them that milk flowed from her breasts. She embraced them and took them onto her lap, smelling their heads again and again.

54Lovingly she let her sons drink from her breast, which became wet with milk just by their touch. She was entranced by the same illusory energy of Lord Viṣṇu that initiates the creation of the universe.

55-56By drinking her nectarean milk, the remnants of what Kṛṣṇa Himself had previously drunk, the six sons touched the transcendental body of the Lord, Nārāyaṇa, and this contact awakened them to their original identities. They bowed down to Govinda, Devakī, their father and Balarāma, and then, as everyone looked on, they left for the abode of the demigods.

57Seeing her sons return from death and then depart again, saintly Devakī was struck with wonder, O King. She concluded that this was all simply an illusion created by Kṛṣṇa.

58Śrī Kṛṣṇa, the Supreme Soul, the Lord of unlimited valor, performed countless pastimes just as amazing as this one, O descendant of Bharata.

59Śrī Sūta Gosvāmī said: This pastime enacted by Lord Murāri, whose fame is eternal, totally destroys the sins of the universe and serves as the transcendental ornament for His devotees' ears. Anyone who carefully hears or narrates this pastime, as recounted by the venerable son of Vyāsa, will be able to fix his mind in meditation on the Supreme Lord and attain to the all-auspicious kingdom of God.

**SB 10.86: Arjuna Kidnaps Subhadrā, and Kṛṣṇa Blesses His Devotees**

This chapter describes how Arjuna kidnapped Subhadrā and how Lord Kṛṣṇa went to Mithilā to bless His devotees Bahulāśva and Śrutadeva.

When King Parīkṣit desired to learn about the marriage of his grandmother, Subhadrā-devī, ŚrīŚukadeva Gosvāmī said, "While touring on pilgrimage, Arjuna heard that Lord Baladeva intended to give the hand of His sister Subhadrā to Duryodhana in marriage. Wanting to kidnap Subhadrā and marry her himself, Arjuna disguised himself as a renunciant and went to Dvārakā. So effective was the disguise that neither Balarāma nor any other resident of Dvārakā recognized him; rather, they all showed him the respect due a Vaiṣṇava mendicant. In this way the four months of the rainy season passed. One day Arjuna received an invitation to dine at Lord Balarāma's home. There he caught sight of Subhadrā and was immediately overwhelmed with desire for her. Subhadrā also desired to have Arjuna as her husband, and thus she glanced back at him shyly. A few days later, Subhadrā left the palace to participate in a chariot festival. Taking this opportunity, Arjuna abducted Subhadrā and defeated the Yādavas who tried to stop him. Lord Balarāma was at first greatly angered to hear of this, but when Lord Śrī Kṛṣṇa and other family members pacified Him, He became joyful and sent the bride and groom off with elaborate wedding gifts."

There was a *brāhmaṇa* devotee of Śrī Kṛṣṇa's named Śrutadeva, who lived in the city of Mithilā. By the will of Providence, he could earn only barely enough to keep himself and his family alive. Still, he was always satisfied and spent all his time executing his religious duties. King Bahulāśva was another great devotee of the Lord residing in Mithilā. A member of the dynasty in which King Janaka had appeared, Bahulāśva ruled over the whole province of Videha, yet he remained as detached from material wealth as Śrutadeva. Pleased with the devotional attitude of both these great souls, Lord Kṛṣṇa went on His chariot to Mithilā to visit them, taking along Nārada and several other learned sages. The people of Mithilā greeted the Lord and His saintly entourage with great delight. Bearing various gifts for Kṛṣṇa, they bowed down and offered obeisances to both Him and the sages.

Bahulāśva and Śrutadeva both stepped forward and respectfully requested Śrī Kṛṣṇa to visit their homes. To satisfy both of them, the Lord expanded Himself and went to each of their homes simultaneously. They each worshiped Him suitably, offered prayers, washed His feet and then sprinkled themselves and all their family members with the wash water. Lord Kṛṣṇa then praised the sages who were with Him and glorified *brāhmaṇas* in general. He also imparted instructions to His hosts concerning devotional service. Understanding these instructions, both Śrutadeva and Bahulāśva honored the sages and Lord Śrī Kṛṣṇa with single-minded devotion. Lord Kṛṣṇa then returned to Dvārakā.

1King Parīkṣit said: O brāhmaṇa, we would like to learn how Arjuna married Lord Balarāma's and Lord Kṛṣṇa's sister, who was my grandmother.

2-3Śukadeva Gosvāmī said: While traveling far and wide visiting various holy places of pilgrimage, Arjuna came to Prabhāsa. There he heard that Lord Balarāma intended to give his maternal cousin Subhadrā to Duryodhana in marriage, and that no one else approved of this plan. Arjuna wanted to marry her himself, so he disguised himself as a renunciant, complete with triple staff, and went to Dvārakā.

4He stayed there during the monsoon months to fulfill his purpose. Lord Balarāma and the other residents of the city, not recognizing him, offered him all honor and hospitality.

5One day Lord Balarāma brought him to His home as His invited dinner guest, and Arjuna ate the food the Lord respectfully offered him.

6There he saw the wonderful maiden Subhadrā, who was enchanting to heroes. His eyes opened wide with delight, and his mind became agitated and absorbed in thoughts of her.

7Arjuna was very attractive to women, and as soon as Subhadrā saw him, she wanted to have him as her husband. Smiling bashfully with sidelong glances, she fixed her heart and eyes upon him.

8Meditating only on her and waiting for the opportunity to take her away, Arjuna had no peace. His heart trembled with passionate desire.

9Once, on the occasion of a great temple festival in honor of the Supreme Lord, Subhadrā rode out of the fortresslike palace on a chariot, and at that time the mighty chariot warrior Arjuna took the opportunity to kidnap her. Subhadrā's parents and Kṛṣṇa had sanctioned this.

10Standing on his chariot, Arjuna took up his bow and drove off the valiant fighters and palace guards who tried to block his way. As her relatives shouted in anger, he took Subhadrā away just as a lion takes his prey from the midst of lesser animals.

11When He heard of Subhadrā's kidnapping, Lord Balarāma became as disturbed as the ocean during the full moon, but Lord Kṛṣṇa respectfully took hold of His feet and, together with other family members, pacified Him by explaining the matter.

12Lord Balarāma then happily sent the bride and groom very valuable wedding gifts consisting of elephants, chariots, horses and male and female servants.

13Śukadeva Gosvāmī continued: There was a devotee of Kṛṣṇa's known as Śrutadeva, who was a first-class brāhmaṇa. Perfectly satisfied by rendering unalloyed devotional service to Lord Kṛṣṇa, he was peaceful, learned and free from sense gratification.

14Living as a religious householder in the city of Mithilā, within the kingdom of Videha, he managed to fulfill his obligations while maintaining himself with whatever sustenance easily came his way.

15By the will of Providence he obtained each day just what he needed for his maintenance, and no more. Satisfied with this much, he properly executed his religious duties.

16Similarly free from false ego was the ruler of that kingdom, my dear Parīkṣit, a descendant of the Mithila dynasty named Bahulāśva. Both these devotees were very dear to Lord Acyuta.

17Pleased with both of them, the Supreme Personality of Godhead mounted His chariot, which Dāruka had brought, and traveled to Videha with a group of sages.

18Among these sages were Nārada, Vāmadeva, Atri, Kṛṣṇa-dvaipāyana Vyāsa, Paraśurāma,

Asita, Aruṇi, myself, Bṛhaspati, Kaṇva, Maitreya and Cyavana.

19In every city and town the Lord passed along the way, O King, the people came forward to worship Him with offerings of arghya water in their hands, as if to worship the risen sun surrounded by planets.

20The men and women of Ānarta, Dhanva, Kuru-jāṅgala, Kaṅka, Matsya, Paṣcāla, Kunti, Madhu, Kekaya, Kośala, Arṇa and many other kingdoms drank with their eyes the nectarean beauty of Lord Kṛṣṇa's lotuslike face, which was graced with generous smiles and affectionate glances.

21Simply by glancing at those who came to see Him, Lord Kṛṣṇa, the spiritual master of the three worlds, delivered them from the blindness of materialism. As He thus endowed them with fearlessness and divine vision, He heard demigods and men singing His glories, which purify the entire universe and destroy all misfortune. Gradually, He reached Videha.

22Hearing that Lord Acyuta had arrived, O King, the residents of the cities and villages of Videha joyfully came forth to receive Him with offerings in their hands.

23As soon as the people saw Lord Uttamaḥśloka, their faces and hearts blossomed with affection. Joining their palms above their heads, they bowed down to the Lord and to the sages accompanying Him, whom they had previously only heard about.

24Both the King of Mithilā and Śrutadeva fell at the Lord's feet, each thinking that the spiritual master of the universe had come there just to show him mercy.

25At exactly the same time, King Maithila and Śrutadeva each went forward with joined palms and invited the Lord of the Daśārhas to be his guest, along with the brāhmaṇa sages.

26Wanting to please them both, the Lord accepted both their invitations. Thus He simultaneously went to both homes, and neither could see Him entering the other's house.

27-29When King Bahulāśva, a descendant of Janaka, saw Lord Kṛṣṇa approaching his house from a distance with the sages, who were somewhat fatigued from the journey, he immediately arranged to have seats of honor brought out for them. After they were all comfortably seated, the wise King, his heart overflowing with joy and his eyes clouded by tears, bowed down to them and washed their feet with intense devotion. Taking the wash water, which could purify the entire world, he sprinkled it on his head and the heads of his family members. Then he worshiped all those great lords by offering them fragrant sandalwood paste, flower garlands, fine clothing and ornaments, incense, lamps, arghya and cows and bulls.

30When they had eaten to their full satisfaction, for their further pleasure the King began to speak slowly and in a gentle voice as he held Lord Viṣṇu's feet in his lap and happily massaged them.

31Śrī Bahulāśva said: O almighty Lord, You are the Soul of all created beings, their self-illumined witness, and now You are giving Your audience to us, who constantly meditate on Your lotus feet.

32You have said, "Neither Ananta, Goddess Śrī nor unborn Brahmā is dearer to Me than My unalloyed devotee." To prove Your own words true, You have now revealed Yourself to our eyes.

33What person who knows this truth would ever abandon Your lotus feet, when You are ready to give Your very self to peaceful sages who call nothing their own?

34Appearing in the Yadu dynasty, You have spread Your glories, which can remove all the sins of the three worlds, just to deliver those entrapped in the cycle of birth and death.

35Obeisances to You, the Supreme Personality of Godhead, Lord Kṛṣṇa, whose intelligence is ever unrestricted. Obeisances to the sage Nara-Nārāyaṇa, who always undergoes austerities in perfect peace.

36Please stay a few days in our house, along with these brāhmaṇas, O all-pervading one, and with the dust of Your feet sanctify this dynasty of Nimi.

37[Śukadeva Gosvāmī continued:] Thus invited by the King, the Supreme Lord, sustainer of the world, consented to stay for some time to bestow good fortune on the men and women of Mithilā.

38Śrutadeva received Lord Acyuta into his home with as much enthusiasm as that shown by King Bahulāśva. After bowing down to the Lord and the sages, Śrutadeva began to dance with great joy, waving his shawl.

39After bringing mats of grass and darbha straw and seating his guests upon them, he greeted them with words of welcome. Then he and his wife washed their feet with great pleasure.

40With the wash water, the virtuous Śrutadeva copiously sprinkled himself, his house and his family. Overjoyed, he felt that all his desires had now been fulfilled.

41He worshiped them with offerings of auspicious items easily available to him, such as fruits, uśīra root, pure, nectarean water, fragrant clay, tulasī leaves, kuśa grass and lotus flowers. Then he offered them food that increases the mode of goodness.

42He wondered: How is it that I, fallen into the blind well of family life, have been able to meet Lord Kṛṣṇa? And how have I also been allowed to meet these great brāhmaṇas, who always carry the Lord within their hearts? Indeed, the dust of their feet is the shelter of all holy places.

43When his guests were seated comfortably, having each received a proper welcome, Śrutadeva approached them and sat down nearby with his wife, children and other dependents. Then, while massaging the Lord's feet, he addressed Kṛṣṇa and the sages.

44Śrutadeva said: It is not that we have attained the audience of the Supreme Person only today, for we have in fact been associating with Him ever since He created this universe with His energies and then entered it in His transcendental form.

45The Lord is like a sleeping person who creates a separate world in his imagination and then enters his own dream and sees himself within it.

46You reveal Yourself within the hearts of those persons of pure consciousness who constantly hear about You, chant about You, worship You, glorify You and converse with one another about You.

47But although You reside within the heart, You are very far away from those whose minds are disturbed by their entanglement in material work. Indeed, no one can grasp You by his material powers, for You reveal Yourself only in the hearts of those who have learned to appreciate Your transcendental qualities.

48Let me offer my obeisances unto You. You are realized as the Supreme Soul by those who know the Absolute Truth, whereas in Your form of time You impose death upon the forgetful souls. You appear both in Your causeless spiritual form and in the created form of this

universe, thus simultaneously uncovering the eyes of Your devotees and obstructing the vision of the nondevotees.

49O Lord, You are that Supreme Soul, and we are Your servants. How shall we serve You? My Lord, simply seeing You puts an end to all the troubles of human life.

50ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: After hearing Śrutadeva speak these words, the Supreme Personality of Godhead, who relieves His surrendered devotees' distress, took Śrutadeva's hand in His own and, smiling, spoke to him as follows.

51The Supreme Lord said: My dear brāhmaṇa, you should know that these great sages have come here just to bless you. They travel throughout the worlds with Me, purifying them with the dust of their feet.

52One can gradually become purified by seeing, touching and worshiping temple deities, places of pilgrimage and holy rivers. But one can attain the same result immediately simply by receiving the glance of exalted sages.

53By his very birth, a brāhmaṇa is the best of all living beings in this world, and he becomes even more exalted when he is endowed with austerity, learning and self-satisfaction, what to speak of devotion to Me.

54Even My own four-armed form is no dearer to Me than a brāhmaṇa. Within himself a learned brāhmaṇa comprises all the Vedas, just as within Myself I comprise all the demigods.

55Ignorant of this truth, foolish people neglect and enviously offend a learned brāhmaṇa, who, being nondifferent from Me, is their spiritual master and very self. They consider worshipable only such obvious manifestations of divinity as My Deity form.

56Because he has realized Me, a brāhmaṇa is firmly fixed in the knowledge that everything moving and nonmoving in the universe, and also the primary elements of its creation, are all manifest forms expanded from Me.

57Therefore you should worship these brāhmaṇa sages, O brāhmaṇa, with the same faith you have in Me. If you do so, you will worship Me directly, which you cannot do otherwise, even with offerings of vast riches.

58ŚrīŚuka said: So instructed by his Lord, with single-minded devotion Śrutadeva worshiped ŚrīKṛṣṇa and the topmost brāhmaṇas accompanying Him, and King Bahulāśva did the same. Thus both Śrutadeva and the King attained the ultimate transcendental destination.

59O King, thus the Personality of Godhead, who is devoted to His own devotees, stayed for some time with His two great devotees Śrutadeva and Bahulāśva, teaching them the behavior of perfect saints. Then the Lord returned to Dvārakā.

## SB 10.87: The Prayers of the Personified Vedas

This chapter presents the prayers by the personified *Vedas* glorifying the personal and impersonal aspects of Lord Nārāyaṇa.

King Parīkṣit asked Śrīla Śukadeva Gosvāmī how the *Vedas* can directly refer to the Supreme Absolute Truth, Brahman, since the *Vedas* deal with the material realm governed by the three modes of nature and Brahman is completely transcendental to these modes. In reply, Śukadeva Gosvāmī described an ancient encounter between Śrī Nārāyaṇa Ṛṣi and Nārada Muni at Badarikāśrama. Traveling to that sacred hermitage, Nārada found the Lord surrounded by

exalted residents of the nearby village of Kalāpa. After bowing down to Nārāyaṇa Ṛṣi and His associates, Nārada submitted this same question to Him. In reply, Nārāyaṇa Ṛṣi related an account of how this very question had been discussed long ago among the great sages living on Janaloka. Once these sages, feeling inquisitive about the nature of the Absolute Truth, chose Sanandana Kumāra to speak on the subject. Sanandana told them how the numerous personified *Vedas,* appearing as the first emanations from the breathing of Lord Nārāyaṇa, recited prayers for His glorification just before the creation. Sanandana then proceeded to recite these elaborate prayers.

The residents of Janaloka were perfectly satisfied upon hearing Sanandana recite the prayers of the personified *Vedas,* which enlightened them about the true nature of the Supreme Absolute Truth, and they honored Sanandana with their worship. Nārada Muni was equally satisfied to hear this account from Śrī Nārāyaṇa Ṛṣi. Thus Nārada offered his obeisances to the Lord and then went to see his disciple Vedavyāsa, to whom he explained everything he had heard.

1Śrī Parīkṣit said: O brāhmaṇa, how can the Vedas directly describe the Supreme Absolute Truth, who cannot be described in words? The Vedas are limited to describing the qualities of material nature, but the Supreme is devoid of these qualities, being transcendental to all material manifestations and their causes.

2Śukadeva Gosvamī said: The Supreme Lord manifested the material intelligence, senses, mind and vital air of the living entities so that they could indulge their desires for sense gratification, take repeated births to engage in fruitive activities, become elevated in future lives and ultimately attain liberation.

3Those who came before even our ancient predecessors meditated upon this same confidential knowledge of the Absolute Truth. Indeed, anyone who faithfully concentrates on this knowledge will become free from material attachments and attain the final goal of life.

4In this connection I will relate to you a narration concerning the Supreme Lord Nārāyaṇa. It is about a conversation that once occurred between Śrī Nārāyaṇa Ṛṣi and Nārada Muni.

5Once, while traveling among the various planets of the universe, the Lord's beloved devotee Nārada went to visit the primeval sage Nārāyaṇa at His āśrama.

6From the very beginning of Brahmā's day Lord Nārāyaṇa Ṛṣi has been undergoing austere penances in this land of Bhārata while perfectly performing religious duties and exemplifying spiritual knowledge and self-controlall for the benefit of human beings in both this world and the next.

7There Nārada approached Lord Nārāyaṇa Ṛṣi, who was sitting amidst sages of the village of Kalāpa. After bowing down to the Lord, O hero of the Kurus, Nārada asked Him the very same question you have asked me.

8As the sages listened, Lord Nārāyaṇa Ṛṣi related to Nārada an ancient discussion about the Absolute Truth that took place among the residents of Janaloka.

9The Personality of Godhead said: O son of self-born Brahmā, once long ago on Janaloka, wise sages who resided there performed a great sacrifice to the Absolute Truth by vibrating transcendental sounds. These sages, mental sons of Brahmā, were all perfect celibates.

10At that time you happened to be visiting the Lord on Śvetadvīpathat Supreme Lord in whom the Vedas lie down to rest during the period of universal annihilation. A lively discussion arose among the sages on Janaloka as to the nature of the Supreme Absolute Truth. Indeed, the same

question arose then that you are asking Me now.

11Although these sages were all equally qualified in terms of Vedic study and austerity, and although they all saw friends, enemies and neutral parties equally, they chose one of their number to be the speaker, and the rest became eager listeners.

12-13Śrī Sanandana replied: After the Supreme Lord withdrew the universe He had previously created, He lay for some time as if asleep, and all His energies rested dormant within Him. When the time came for the next creation, the personified Vedas awakened Him by chanting His glories, just as the poets serving a king approach him at dawn and awaken him by reciting his heroic deeds.

14The śrutis said: Victory, victory to You, O unconquerable one! By Your very nature You are perfectly full in all opulences; therefore please defeat the eternal power of illusion, who assumes control over the modes of nature to create difficulties for conditioned souls. O You who awaken all the energies of the moving and nonmoving embodied beings, sometimes the Vedas can recognize You as You sport with Your material and spiritual potencies.

15This perceivable world is identified with the Supreme because the Supreme Brahman is the ultimate foundation of all existence, remaining unchanged as all created things are generated from it and at last dissolved into it, just as clay remains unchanged by the products made from it and again merged with it. Thus it is toward You alone that the Vedic sages direct all their thoughts, words and acts. After all, how can the footsteps of men fail to touch the earth on which they live?

16Therefore, O master of the three worlds, the wise get rid of all misery by diving deep into the nectarean ocean of topics about You, which washes away all the contamination of the universe. Then what to speak of those who, having by spiritual strength rid their minds of bad habits and freed themselves from time, are able to worship Your true nature, O supreme one, finding within it uninterrupted bliss?

17Only if they become Your faithful followers are those who breathe actually alive, otherwise their breathing is like that of a bellows. It is by Your mercy alone that the elements, beginning with the mahat-tattva and false ego, created the egg of this universe. Among the manifestations known as anna-maya and so forth, You are the ultimate one, entering within the material coverings along with the living entity and assuming the same forms as those he takes. Distinct from the gross and subtle material manifestations, You are the reality underlying them all.

18Among the followers of the methods set forth by great sages, those with less refined vision worship the Supreme as present in the region of the abdomen, while the Āruṇis worship Him as present in the heart, in the subtle center from which all the prāṇic channels emanate. From there, O unlimited Lord, these worshipers raise their consciousness upward to the top of the head, where they can perceive You directly. Then, passing through the top of the head toward the supreme destination, they reach that place from which they will never again fall to this world, into the mouth of death.

19Apparently entering among the variegated species of living beings You have created, You inspire them to act, manifesting Yourself according to their higher and lower positions, just as fire manifests differently according to the shape of what it burns. Therefore those of spotless intelligence, who are altogether free from material attachments, realize Your undifferentiated, unchanging Self to be the permanent reality among all these impermanent life forms.

20The individual living entity, while inhabiting the material bodies he has created for himself by his karma, actually remains uncovered by either gross or subtle matter. This is so because,

as the Vedas describe, he is part and parcel of You, the possessor of all potencies. Having determined this to be the status of the living entity, learned sages become imbued with faith and worship Your lotus feet, to which all Vedic sacrifices in this world are offered, and which are the source of liberation.

21My Lord, some fortunate souls have gotten relief from the fatigue of material life by diving into the vast nectar ocean of Your pastimes, which You enact when You manifest Your personal forms to propagate the unfathomable science of the self. These rare souls, indifferent even to liberation, renounce the happiness of home and family because of their association with devotees who are like flocks of swans enjoying at the lotus of Your feet.

22When this human body is used for Your devotional service, it acts as one's self, friend and beloved. But unfortunately, although You always show mercy to the conditioned souls and affectionately help them in every way, and although You are their true Self, people in general fail to delight in You. Instead they commit spiritual suicide by worshiping illusion. Alas, because they persistently hope for success in their devotion to the unreal, they continue to wander about this greatly fearful world, assuming various degraded bodies.

23Simply by constantly thinking of Him, the enemies of the Lord attained the same Supreme Truth whom sages fixed in yoga worship by controlling their breath, mind and senses. Similarly, we śrutis, who generally see You as all-pervading, will achieve the same nectar from Your lotus feet that Your consorts are able to relish because of their loving attraction to Your mighty, serpentine arms, for You look upon us and Your consorts in the same way.

24Everyone in this world has recently been born and will soon die. So how can anyone here know Him who existed prior to everything else and who gave rise to the first learned sage, Brahmā, and all subsequent demigods, both lesser and greater? When He lies down and withdraws everything within Himself, nothing else remainsno gross or subtle matter or bodies composed of these, no force of time or revealed scripture.

25Supposed authorities who declare that matter is the origin of existence, that the permanent qualities of the soul can be destroyed, that the self is compounded of separate aspects of spirit and matter, or that material transactions constitute realityall such authorities base their teachings on mistaken ideas that hide the truth. The dualistic conception that the living entity is produced from the three modes of nature is simply a product of ignorance. Such a conception has no real basis in You, for You are transcendental to all illusion and always enjoy perfect, total awareness.

26The three modes of material nature comprise everything in this worldfrom the simplest phenomena to the complex human body. Although these phenomena appear real, they are only a false reflection of the spiritual reality, being a superimposition of the mind upon You. Still, those who know the Supreme Self consider the entire material creation to be real inasmuch as it is nondifferent from the Self. Just as things made of gold are indeed not to be rejected, since their substance is actual gold, so this world is undoubtedly nondifferent from the Lord who created it and then entered within it.

27The devotees who worship You as the shelter of all beings disregard Death and place their feet on his head. But with the words of the Vedas You bind the nondevotees like animals, though they be vastly learned scholars. It is Your affectionate devotees who can purify themselves and others, not those who are inimical to You.

28Though You have no material senses, You are the self-effulgent sustainer of everyone's sensory powers. The demigods and material nature herself offer You tribute, while also enjoying the tribute offered them by their worshipers, just as subordinate rulers of various

districts in a kingdom offer tribute to their lord, the ultimate proprietor of the land, while also enjoying the tribute paid them by their own subjects. In this way the universal creators faithfully execute their assigned services out of fear of You.

29O eternally liberated, transcendental Lord, Your material energy causes the various moving and nonmoving species of life to appear by activating their material desires, but only when and if You sport with her by briefly glancing at her. You, the Supreme Personality of Godhead, see no one as an intimate friend and no one as a stranger, just as the ethereal sky has no connection with perceptible qualities. In this sense You resemble a void.

30If the countless living entities were all-pervading and possessed forms that never changed, You could not possibly be their absolute ruler, O immutable one. But since they are Your localized expansions and their forms are subject to change, You do control them. Indeed, that which supplies the ingredients for the generation of something is necessarily its controller because a product never exists apart from its ingredient cause. It is simply illusion for someone to think that he knows the Supreme Lord, who is equally present in each of His expansions, since whatever knowledge one gains by material means must be imperfect.

31Neither material nature nor the soul who tries to enjoy her are ever born, yet living bodies come into being when these two combine, just as bubbles form where water meets the air. And just as rivers merge into the ocean or the nectar from many different flowers blends into honey, so all these conditioned beings eventually merge back into You, the Supreme, along with their various names and qualities.

32The wise souls who understand how Your Māyā deludes all human beings render potent loving service to You, who are the source of liberation from birth and death. How, indeed, can fear of material life affect Your faithful servants? On the other hand, Your furrowing eyebrowsthe triple-rimmed wheel of timerepeatedly terrify those who refuse to take shelter of You.

33The mind is like an impetuous horse that even persons who have regulated their senses and breath cannot control. Those in this world who try to tame the uncontrolled mind, but who abandon the feet of their spiritual master, encounter hundreds of obstacles in their cultivation of various distressful practices. O unborn Lord, they are like merchants on a boat in the ocean who have failed to employ a helmsman.

34To those persons who take shelter of You, You reveal Yourself as the Supersoul, the embodiment of all transcendental pleasure. What further use have such devotees for their servants, children or bodies, their wives, money or houses, their land, good health or conveyances? And for those who fail to appreciate the truth about You and go on pursuing the pleasures of sex, what could there be in this entire worlda place inherently doomed to destruction and devoid of significancethat could give them real happiness?

35Sages free from false pride live on this earth by frequenting the sacred pilgrimage sites and those places where the Supreme Lord displayed His pastimes. Because such devotees keep Your lotus feet within their hearts, the water that washes their feet destroys all sins. Anyone who even once turns his mind toward You, the ever-blissful Soul of all existence, no longer dedicates himself to serving family life at home, which simply robs a man of his good qualities.

36It may be proposed that this world is permanently real because it is generated from the permanent reality, but such an argument is subject to logical refutation. Sometimes, indeed, the apparent nondifference of a cause and its effect fails to prove true, and at other times the product of something real is illusory. Furthermore, this world cannot be permanently real, for it partakes of the natures of not only the absolute reality but also the illusion disguising that

reality. Actually, the visible forms of this world are just an imaginary arrangement resorted to by a succession of ignorant persons in order to facilitate their material affairs. With their various meanings and implications, the learned words of Your Vedas bewilder all persons whose minds have been dulled by hearing the incantations of sacrificial rituals.

37Since this universe did not exist prior to its creation and will no longer exist after its annihilation, we conclude that in the interim it is nothing more than a manifestation imagined to be visible within You, whose spiritual enjoyment never changes. We liken this universe to the transformation of various material substances into diverse forms. Certainly those who believe that this figment of the imagination is substantially real are less intelligent.

38The illusory material nature attracts the minute living entity to embrace her, and as a result he assumes forms composed of her qualities. Subsequently, he loses all his spiritual qualities and must undergo repeated deaths. You, however, avoid the material energy in the same way that a snake abandons its old skin. Glorious in Your possession of eight mystic perfections, You enjoy unlimited opulences.

39Members of the renounced order who fail to uproot the last traces of material desire in their hearts remain impure, and thus You do not allow them to understand You. Although You are present within their hearts, for them You are like a jewel worn around the neck of a man who has totally forgotten it is there. O Lord, those who practice yoga only for sense gratification must suffer punishment both in this life and the next: from death, who will not release them, and from You, whose kingdom they cannot reach.

40When a person realizes You, he no longer cares about his good and bad fortune arising from past pious and sinful acts, since it is You alone who control this good and bad fortune. Such a realized devotee also disregards what ordinary living beings say about him. Every day he fills his ears with Your glories, which are recited in each age by the unbroken succession of Manu's descendants, and thus You become his ultimate salvation.

41Because You are unlimited, neither the lords of heaven nor even You Yourself can ever reach the end of Your glories. The countless universes, each enveloped in its shell, are compelled by the wheel of time to wander within You, like particles of dust blowing about in the sky. The śrutis, following their method of eliminating everything separate from the Supreme, become successful by revealing You as their final conclusion.

42The Supreme Lord, Śrī Nārāyaṇa Ṛṣi, said: Having heard these instructions about the Supreme Self, the Personality of Godhead, the sons of Brahmā now understood their final destination. They felt perfectly satisfied and honored Sanandana with their worship.

43Thus the ancient saints who travel in the upper heavens distilled this nectarean and confidential essence of all the Vedas and Purāṇas.

44And as you wander the earth at will, My dear son of Brahmā, you should faithfully meditate on these instructions concerning the science of the Self, which burn up the material desires of all men.

45Śukadeva Gosvāmī said: When Śrī Nārāyaṇa Ṛṣi ordered him in this way, the self-possessed sage Nārada, whose vow is as heroic as a warrior's, accepted the command with firm faith. Now successful in all his purposes, he thought about what he had heard, O King, and replied to the Lord as follows.

46Śrī Nārada said: I offer my obeisances to Him of spotless fame, the Supreme Lord Kṛṣṇa, who manifests His all-attractive personal expansions so that all living beings can achieve liberation.

47[Śukadeva Gosvāmī continued:] After saying this, Nārada bowed down to Śrī Nārāyaṇa Ṛṣi, the foremost of sages, and also to His saintly disciples. He then returned to the hermitage of my father, Dvaipāyana Vyāsa.

48Vyāsadeva, the incarnation of the Personality of Godhead, respectfully greeted Nārada Muni and offered him a seat, which he accepted. Nārada then described to Vyāsa what he had heard from the mouth of Śrī Nārāyaṇa Ṛṣi.

49Thus I have replied to the question you asked me, O King, concerning how the mind can have access to the Absolute Truth, which is indescribable by material words and devoid of material qualities.

50He is the Lord who eternally watches over this universe, who exists before, during and after its manifestation. He is the master of both the unmanifest material energy and the spirit soul. After sending forth the creation He enters within it, accompanying each living entity. There He creates the material bodies and then remains as their regulator. By surrendering to Him one can escape the embrace of illusion, just as a dreaming person forgets his own body. One who wants liberation from fear should constantly meditate upon Him, Lord Hari, who is always on the platform of perfection and thus never subject to material birth.

## SB 10.88: Lord Śiva Saved from Vṛkāsura

This chapter describes how it is that the devotees of Viṣṇu obtain liberation, while the devotees of other deities obtain material opulences.

Lord Viṣṇu possesses all opulences, while Lord Śiva lives in poverty. Yet the devotees of Viṣṇu are generally poverty-stricken, while Śiva's attain abundant wealth. When Mahārāja Parīkṣit asked Śukadeva Gosvāmī to explain this puzzling fact, the sage replied as follows: "Lord Śiva manifests as false ego in three varieties, according to the three modes of nature. From this false ego arise the five physical elements and the other transformations of material nature, totaling sixteen. When a devotee of Lord Śiva worships his manifestation in any of these elements, the devotee obtains all sorts of corresponding enjoyable opulences. But because Lord Śrī Hari is transcendental to the modes of material nature, His devotees also become transcendental."

At the end of the performance of his Aśvamedha sacrifices, King Yudhiṣṭhira had asked this same question of Lord Kṛṣṇa, who replied, "When I feel special compassion for someone, I gradually deprive him of his wealth. Then the poverty-stricken man's children, wife and other relations all abandon him. When he again tries to acquire wealth in order to win back his family's favor, I mercifully frustrate him so that he becomes disgusted with fruitive work and befriends My devotees. And at that time I bestow upon him My extraordinary grace; then he can become freed from the bondage of material life and attain to the kingdom of God, Vaikuṇṭha."

Lord Brahmā, Lord Viṣṇu and Lord Śiva can each bestow or withhold favors, but whereas Lord Brahmā and Lord Śiva are satisfied or angered very quickly, Lord Viṣṇu is not. In this regard the Vedic literature relates the following account: Once the demon Vṛka asked Nārada which god was most quickly pleased, and Nārada answered that Lord Śiva was. Thus Vṛkāsura went to the holy place of Kedāranātha and began worshiping Lord Śiva by offering pieces of his own flesh as oblations into the fire. But Śiva did not appear. So Vṛka decided to commit suicide by cutting off his head. Just at the critical moment, Lord Śiva appeared from the sacrificial fire and stopped him, offering the demon whatever boon he chose. Vṛka said, "May death come to whomever I touch upon the head with my hand." Lord Śiva was obliged to fulfill this request, and at once the wicked Vṛka tried to test the benediction by putting his hand on the lord's

head. Terrified, Śiva fled for his life, running as far as heaven and the outer limits of the mortal world. Finally the lord reached the planet of Śvetadvīpa, where Lord Viṣṇu resides. Seeing the desperate Śiva from afar, the Lord disguised Himself as a young student and went before Vṛkāsura. In a sweet voice he addressed the demon: "My dear Vṛka, please rest awhile and tell Us what you intend to do." Vṛka was charmed by the Lord's words and revealed everything that had happened. The Lord said, "Ever since Lord Śiva was cursed by Prajāpati Dakṣa, he has become just like a carnivorous hobgoblin. So you shouldn't trust his word. Better to test his benediction by putting your hand on your own head." Bewildered by these words, the foolish demon touched his own head, which immediately shattered and fell to the ground. Cries of "Victory!" "Obeisances!" and "Well done!" were heard from the sky, and the demigods, sages, celestial forefathers and Gandharvas all congratulated the Supreme Lord by raining down flowers upon Him.

1King Parīkṣit said: Those demigods, demons and humans who worship Lord Śiva, a strict renunciant, usually enjoy wealth and sense gratification, while the worshipers of the Supreme Lord Hari, the husband of the goddess of fortune, do not.

2We wish to properly understand this matter, which greatly puzzles us. Indeed, the results attained by the worshipers of these two lords of opposite characters are contrary to what one would expect.

3ŚrīŚukadeva said: Lord Śiva is always united with his personal energy, the material nature. Manifesting himself in three features in response to the entreaties of nature's three modes, he thus embodies the threefold principle of material ego in goodness, passion and ignorance.

4The sixteen elements have evolved as transformations of that false ego. When a devotee of Lord Śiva worships his manifestation in any one of these elements, the devotee obtains all sorts of corresponding enjoyable opulences.

5Lord Hari, however, has no connection with the material modes. He is the Supreme Personality of Godhead, the all-seeing eternal witness, who is transcendental to material nature. One who worships Him becomes similarly free from the material modes.

6Your grandfather, King Yudhiṣṭhira, after completing his Aśvamedha sacrifices, asked Lord Acyuta this very same question while hearing the Lord's explanation of religious principles.

7This question pleased Śrī Kṛṣṇa, the King's Lord and master, who had descended into the family of Yadu for the purpose of bestowing the highest good on all men. The Lord replied as follows as the King eagerly listened.

8The Personality of Godhead said: If I especially favor someone, I gradually deprive him of his wealth. Then the relatives and friends of such a poverty-stricken man abandon him. In this way he suffers one distress after another.

9When he becomes frustrated in his attempts to make money and instead befriends My devotees, I bestow My special mercy upon him.

10A person who has thus become sober fully realizes the Absolute as the highest truth, the most subtle and perfect manifestation of spirit, the transcendental existence without end. In this way realizing that the Supreme Truth is the foundation of his own existence, he is freed from the cycle of material life.

11Because I am difficult to worship, people generally avoid Me and instead worship other deities, who are quickly satisfied. When people receive kingly opulences from these deities,

they become arrogant, intoxicated with pride and neglectful of their duties. They dare to offend even the demigods who have bestowed benedictions upon them.

12Śukadeva Gosvāmī said: Lord Brahmā, Lord Viṣṇu, Lord Śiva and others are able to curse or bless one. Lord Śiva and Lord Brahmā are very quick to curse or bestow benedictions, my dear King, but the infallible Supreme Lord is not.

13In this connection, an ancient historical account is related concerning how the Lord of Kailāsa Mountain was put into danger by offering a choice of benedictions to the demon Vṛka.

14The demon named Vṛka, a son of Śakuni's, once met Nārada on the road. The wicked fellow asked him which of the three chief gods could be pleased most quickly.

15Nārada told him: Worship Lord Śiva and you will soon achieve success. He quickly becomes pleased by seeing his worshiper's slightest good qualitiesand quickly angered by seeing his slightest fault.

16He became pleased with ten-headed Rāvaṇa, and also with Bāṇa, when they each chanted his glories, like bards in a royal court. Lord Śiva then bestowed unprecedented power upon each of them, but in both cases he was consequently beset with great difficulty.

17[Śukadeva Gosvāmī continued:] Thus advised, the demon proceeded to worship Lord Śiva at Kedāranātha by taking pieces of flesh from his own body and offering them as oblations into the sacred fire, which is Lord Śiva's mouth.

18-19Vṛkāsura became frustrated after failing to obtain a vision of the lord. Finally, on the seventh day, after dipping his hair into the holy waters at Kedāranātha and leaving it wet, he took up a hatchet and prepared to cut off his head. But at that very moment the supremely merciful Lord Śiva rose up out of the sacrificial fire, looking like the god of fire himself, and grabbed both arms of the demon to stop him from killing himself, just as we would do. By Lord Śiva's touch, Vṛkāsura once again became whole.

20Lord Śiva said to him: My friend, please stop, stop! Ask from me whatever you want, and I will bestow that boon upon you. Alas, you have subjected your body to great torment for no reason, since I am pleased with a simple offering of water from those who approach me for shelter.

21[Śukadeva Gosvāmī continued:] The benediction sinful Vṛka chose from the lord would terrify all living beings. Vṛka said, "May death come to whomever I touch upon the head with my hand."

22Upon hearing this, Lord Rudra seemed somewhat disturbed. Nonetheless, O descendant of Bharata, he vibrated om to signify his assent, granting Vṛka the benediction with an ironic smile, as if giving milk to a poisonous snake.

23To test Lord Śambhu's benediction, the demon then tried to put his hand on the Lord's head. Thus Śiva was frightened because of what he himself had done.

24As the demon pursued him, Lord Śiva fled swiftly from his abode in the north, shaking with terror. He ran as far as the limits of the earth, the sky and the corners of the universe.

25-26The great demigods could only remain silent, not knowing how to counteract the benediction. Then Lord Śiva reached the luminous realm of Vaikuṇṭha, beyond all darkness, where the Supreme Lord Nārāyaṇa is manifest. That realm is the destination of renunciants who

have attained peace and given up all violence against other creatures. Going there, one never returns.

27-28The Supreme Lord, who relieves His devotees' distress, had seen from afar that Lord Śiva was in danger. Thus by His mystic Yoga-māyā potency He assumed the form of a brahmacārī student, with the appropriate belt, deerskin, rod and prayer beads, and came before Vṛkāsura. The Lord's effulgence glowed brilliantly like fire. Holding kuśa grass in His hand, He humbly greeted the demon.

29The Supreme Lord said: My dear son of Śakuni, you appear tired. Why have you come such a great distance? Please rest for a minute. After all, it is one's body that fulfills all one's desires.

30O mighty one, please tell Us what you intend to do, if We are qualified to hear it. Usually one accomplishes his purposes by taking help from others.

31Śukadeva Gosvāmī said: Thus questioned by the Personality of Godhead in language that poured down upon him like sweet nectar, Vṛka felt relieved of his fatigue. He described to the Lord everything he had done.

32The Supreme Lord said: If this is the case, We cannot believe what Śiva says. Śiva is the same lord of the Pretas and Piśācas whom Dakṣa cursed to become like a carnivorous hobgoblin.

33O best of the demons, if you have any faith in him because he is the spiritual master of the universe, then without delay put your hand on your head and see what happens.

34If the words of Lord Śambhu prove untrue in any way, O best of the demons, then kill the liar so he may never lie again.

35[Śukadeva Gosvāmī continued:] Thus bewildered by the Personality of Godhead's enchanting, artful words, foolish Vṛka, without realizing what he was doing, placed his hand on his head.

36Instantly his head shattered as if struck by a lightning bolt, and the demon fell down dead. From the sky were heard cries of "Victory!" "Obeisances!" and "Well done!"

37The celestial sages, Pitās and Gandharvas rained down flowers to celebrate the killing of sinful Vṛkāsura. Now Lord Śiva was out of danger.

38-39The Supreme Personality of Godhead then addressed Lord Giriśa, who was now out of danger: "Just see, O Mahādeva, My lord, how this wicked man has been killed by his own sinful reactions. Indeed, what living being can hope for good fortune if he offends exalted saints, what to speak of offending the lord and spiritual master of the universe?"

40Lord Hari is the directly manifest Absolute Truth, the Supreme Soul and unlimited ocean of inconceivable energies. Anyone who recites or hears this pastime of His saving Lord Śiva will be freed from all enemies and the repetition of birth and death.

## SB 10.89: Kṛṣṇa and Arjuna Retrieve a Brāhmaṇa's Sons

This chapter describes how Bhṛgu Muni proved the supremacy of Lord Viṣṇu, and how Lord Kṛṣṇa and Arjuna recovered the dead sons of an aggrieved *brāhmaṇa* in Dvārakā.

Once, long ago, on the shore of the river Sarasvatī, a discussion arose among a group of sages as to which of the three chief lordsBrahmā, Viṣṇu or Śivais the greatest. They deputed Bhṛgu Muni to investigate the matter.

Bhṛgu decided to test the lords' tolerance, for that quality is a sure sign of greatness. First he entered the court of Lord Brahmā, his father, without offering him any respect. This enraged Brahmā, who suppressed his anger because Bhṛgu was his son. Next Bhṛgu went to Lord Śiva, his older brother, who rose from his seat to embrace him. But Bhṛgu rejected the embrace, calling Śiva a deviant heretic. Just as Śiva was about to kill Bhṛgu with his trident, Goddess Pārvatī interceded and pacified her husband. Next Bhṛgu went to Vaikuṇṭha to test Lord Nārāyaṇa. Going up to the Lord, who was lying with His head on the lap of the goddess of fortune, Bhṛgu kicked His chest. But instead of becoming angry, both the Lord and His consort stood up and offered Bhṛgu respects. "Welcome," said the Lord. "Please sit down and rest awhile. Kindly forgive us, dear master, for not noticing your arrival." When Bhṛgu went back to the assembly of sages and told them all that had happened, they concluded that Lord Viṣṇu is certainly supreme.

Once in Dvārakā a *brāhmaṇa's* wife gave birth to a son who immediately died. The *brāhmaṇa* took his dead son to the court of King Ugrasena and berated the King: "This duplicitous, greedy enemy of *brāhmaṇas* has caused my son's death by failing to execute his duties properly!" The same misfortune continued to befall the *brāhmaṇa,* and each time he would bring his dead infant's body to the royal court and berate the King. When the ninth son died at birth, Arjuna happened to hear the *brāhmaṇa's* complaint, and he said, "My lord, I will protect your progeny. And if I fail, I will enter fire to atone for my sin."

Some time later, the *brāhmaṇa's* wife was about to give birth for the tenth time. When Arjuna learned of this, he went to the maternity house and enveloped it with a protective cage of arrows. Arjuna's efforts were to no avail, however, for as soon as the child was born and began to cry, it disappeared into the sky. As the *brāhmaṇa* profusely derided Arjuna, the warrior set off for the abode of Yamarāja, the king of death. But Arjuna did not find the *brāhmaṇa's* son there, and even after searching throughout the fourteen worlds he could find no trace of the infant.

Having failed to protect the *brāhmaṇa's* son, Arjuna was now intent on committing suicide by entering the sacred fire. But just as he was about to do so, Lord Kṛṣṇa stopped him and said, "I will show you the *brāhmaṇa's* sons, so please don't despise yourself like this." Lord Kṛṣṇa then took Arjuna onto His transcendental chariot, and the two of them crossed over the seven universal islands with their seven oceans, passed over the Lokāloka mountain range and entered the region of dense darkness. Since the horses could not find their way, Kṛṣṇa sent His blazing Sudarśana disc ahead to pierce the gloom. Gradually they came to the water of the Causal Ocean, within which they found the city of Lord Mahā-Viṣṇu. There they saw the thousand-hooded serpent Ananta and upon Him lay Mahā-Viṣṇu. The great Lord greeted Śrī Kṛṣṇa and Arjuna, saying "I brought the *brāhmaṇa's* sons here simply because I wanted to see the two of you. Please continue to benefit the people in general by exemplifying religious behavior in your forms of Nara-Nārāyaṇa Ṛṣi."

Lord Kṛṣṇa and Arjuna then took the *brāhmaṇa's* sons, went back to Dvārakā and returned the infants to their father. Having directly experienced the greatness of Śrī Kṛṣṇa, Arjuna was amazed. He concluded that only by the Lord's mercy can a living being exhibit any power or opulence.

1Śukadeva Gosvāmī said: Once, O King, as a group of sages were performing a Vedic sacrifice on the banks of the Sarasvatī River, a controversy arose among them as to which of the three chief deities is supreme.

2Eager to resolve this question, O King, the sages sent Lord Brahmā's son Bhṛgu to find the

answer. First he went to his father's court.

3To test how well Lord Brahmā was situated in the mode of goodness, Bhṛgu failed to bow down to him or glorify him with prayers. The lord became angry at him, inflamed into fury by his own passion.

4Though anger toward his son was now rising within his heart, Lord Brahmā was able to subdue it by applying his intelligence, in the same way that fire is extinguished by its own product, water.

5Bhṛgu then went to Mount Kailāsa. There Lord Śiva stood up and happily came forward to embrace his brother.

6-7But Bhṛgu refused his embrace, telling him, "You are a deviant heretic." At this Lord Śiva became angry, and his eyes burned ferociously. He raised his trident and was about to kill Bhṛgu when Goddess Devī fell at his feet and spoke some words to pacify him. Bhṛgu then left that place and went to Vaikuṇṭha, where Lord Janārdana resides.

8-9There he went up to the Supreme Lord, who was lying with His head on the lap of His consort, Śrī, and kicked Him on the chest. The Lord then rose, along with Goddess Lakṣmī, as a sign of respect. Coming down from His bedstead, that supreme goal of all pure devotees bowed His head to the floor before the sage and told him, 'Welcome, brāhmaṇa. Please sit in this chair and rest awhile. Kindly forgive us, dear master, for not noticing your arrival.'

10-11"Please purify Me, My realm and the realms of the universal rulers devoted to Me by giving us the water that has washed your feet. This holy water is indeed what makes all places of pilgrimage sacred. Today, my lord, I have become the exclusive shelter of the goddess of fortune, Lakṣmī; she will consent to reside on My chest because your foot has rid it of sins."

12Śukadeva Gosvāmī said: Bhṛgu felt satisfied and delighted to hear the solemn words spoken by Lord Vaikuṇṭha. Overwhelmed with devotional ecstasy, he remained silent, his eyes brimming with tears.

13O King, Bhṛgu then returned to the sacrificial arena of the wise Vedic authorities and described his entire experience to them.

14-17Amazed upon hearing Bhṛgu's account, the sages were freed from all doubts and became convinced that Viṣṇu is the greatest Lord. From Him come peace; fearlessness; the essential principles of religion; detachment with knowledge; the eightfold powers of mystic yoga; and His glorification, which cleanses the mind of all impurities. He is known as the supreme destination for those who are peaceful and equipoisedthe selfless, wise saints who have given up all violence. His most dear form is that of pure goodness, and the brāhmaṇas are His worshipable deities. Persons of keen intellect who have attained spiritual peace worship Him without selfish motives.

18The Lord expands into three kinds of manifest beingsthe Rākṣasas, the demons and the demigodsall of whom are created by the Lord's material energy and conditioned by her modes. But among these three modes, it is the mode of goodness which is the means of attaining life's final success.

19Śukadeva Gosvāmī said: The learned brāhmaṇas living along the river Sarasvatī came to this conclusion in order to dispel the doubts of all people. Thereafter they rendered devotional service to the Supreme Lord's lotus feet and attained His abode.

20Śrī Sūta Gosvāmī said: Thus did this fragrant nectar flow from the lotus mouth of Śukadeva Gosvāmī, the son of the sage Vyāsadeva. This wonderful glorification of the Supreme Person destroys all fear of material existence. A traveler who constantly drinks this nectar through his ear-holes will forget the fatigue brought on by wandering along the paths of worldly life.

21Śukadeva Gosvāmī said: Once, in Dvārakā, a brāhmaṇa's wife gave birth to a son, but the newborn infant died as soon as he touched the ground, O Bhārata.

22The brāhmaṇa took the corpse and placed it at the door of King Ugrasena's court. Then, agitated and lamenting miserably, he spoke the following.

23[The brāhmaṇa said:] This duplicitous, greedy enemy of brāhmaṇas, this unqualified ruler addicted to sense pleasure, has caused my son's death by some discrepancies in the execution of his duties.

24Citizens serving such a wicked king, who takes pleasure in violence and cannot control his senses, are doomed to suffer poverty and constant misery.

25The wise brāhmaṇa suffered the same tragedy with his second and third child. Each time, he left the body of his dead son at the King's door and sang the same song of lamentation.

26-27When the ninth child died, Arjuna, who was near Lord Keśava, happened to overhear the brāhmaṇa lamenting. Thus Arjuna addressed the brāhmaṇa: "What is the matter, my dear brāhmaṇa? Isn't there some lowly member of the royal order here who can at least stand before your house with a bow in his hand? These kṣatriyas are behaving as if they were brāhmaṇas idly engaged in fire sacrifices.

28"The rulers of a kingdom in which brāhmaṇas lament over lost wealth, wives and children are merely imposters playing the role of kings just to earn their livelihood.

29"My lord, I will protect the progeny of you and your wife, who are in such distress. And if I fail to keep this promise, I will enter fire to atone for my sin."

30-31The brāhmaṇa said: Neither Saṅkarṣaṇa; Vāsudeva; Pradyumna, the best of bowmen; nor the unequaled warrior Aniruddha could save my sons. Then why do you naively attempt a feat that the almighty Lords of the universe could not perform? We cannot take you seriously.

32Śrī Arjuna said: I am neither Lord Saṅkarṣaṇa, O brāhmaṇa, nor Lord Kṛṣṇa, nor even Kṛṣṇa's son. Rather, I am Arjuna, wielder of the Gāṇḍīva bow.

33Do not minimize my ability, which was good enough to satisfy Lord Śiva, O brāhmaṇa. I will bring back your sons, dear master, even if I have to defeat Death himself in battle.

34Thus convinced by Arjuna, O tormentor of enemies, the brāhmaṇa went home, satisfied by having heard Arjuna's declaration of his prowess.

35When the wife of the elevated brāhmaṇa was again about to give birth, he went to Arjuna in great anxiety and begged him, "Please, please protect my child from death!"

36After touching pure water, offering obeisances to Lord Maheśvara and recollecting the mantras for his celestial weapons, Arjuna strung his bow Gāṇḍīva.

37Arjuna fenced in the house where the birth was taking place by shooting arrows attached to various missiles. Thus the son of Pṛthā constructed a protective cage of arrows, covering the house upwards, downwards and sideways.

38The brāhmaṇa's wife then gave birth, but after the newborn infant had been crying for a short time, he suddenly vanished into the sky in his selfsame body.

39The brāhmaṇa then derided Arjuna in front of Lord Kṛṣṇa: "Just see how foolish I was to put my faith in the bragging of a eunuch!

40"When neither Pradyumna, Aniruddha, Rāma nor Keśava can save a person, who else can possibly protect him?

41"To hell with that liar Arjuna! To hell with that braggart's bow! He is so foolish that he has deluded himself into thinking he can bring back a person whom destiny has taken away."

42While the wise brāhmaṇa continued to heap insults upon him, Arjuna employed a mystic incantation to go at once to Saṁyamanī, the city of heaven where Lord Yamarāja resides.

43-44Not seeing the brāhmaṇa's child there, Arjuna went to the cities of Indra, Agni, Nirṛti, Soma, Vāyu and Varuṇa. With weapons at the ready he searched through all the domains of the universe, from the bottom of the subterranean region to the roof of heaven. Finally, not having found the brāhmaṇa's son anywhere, Arjuna decided to enter the sacred fire, having failed to keep his promise. But just as he was about to do so, Lord Kṛṣṇa stopped him and spoke the following words.

45[Lord Kṛṣṇa said:] I will show you the brāhmaṇa's sons, so please don't despise yourself like this. These same men who now criticize us will soon establish our spotless fame.

46Having thus advised Arjuna, the Supreme Personality of Godhead had Arjuna join Him on His divine chariot, and together they set off toward the west.

47The Lord's chariot passed over the seven islands of the middle universe, each with its ocean and its seven principal mountains. Then it crossed the Lokāloka boundary and entered the vast region of total darkness.

48-49In that darkness the chariot's horsesŚaibya, Sugrīva, Meghapuṣpa and Balāhakalost their way. Seeing them in this condition, O best of the Bhāratas, Lord Kṛṣṇa, the supreme master of all masters of yoga, sent His Sudarśana disc before the chariot. That disc shone like thousands of suns.

50The Lord's Sudarśana disc penetrated the darkness with its blazing effulgence. Racing forward with the speed of the mind, it cut through the fearsome, dense oblivion expanded from primeval matter, as an arrow shot from Lord Rāma's bow cuts through His enemy's army.

51Following the Sudarśana disc, the chariot went beyond the darkness and reached the endless spiritual light of the all pervasive brahmajyoti. As Arjuna beheld this glaring effulgence, his eyes hurt, and so he shut them.

52From that region they entered a body of water resplendent with huge waves being churned by a mighty wind. Within that ocean Arjuna saw an amazing palace more radiant than anything he had ever seen before. Its beauty was enhanced by thousands of ornamental pillars bedecked with brilliant gems.

53In that palace was the huge, awe-inspiring serpent Ananta Śeṣa. He shone brilliantly with the radiance emanating from the gems on His thousands of hoods and reflecting from twice as many fearsome eyes. He resembled white Mount Kailāsa, and His necks and tongues were dark blue.

54-56Arjuna then saw the omnipresent and omnipotent Supreme Personality of Godhead, Mahā-Viṣṇu, sitting at ease on the serpent bed. His bluish complexion was the color of a dense rain cloud, He wore a beautiful yellow garment, His face looked charming, His broad eyes were most attractive, and He had eight long, handsome arms. His profuse locks of hair were bathed on all sides in the brilliance reflected from the clusters of precious jewels decorating His crown and earrings. He wore the Kaustubha gem, the mark of Śrīvatsa and a garland of forest flowers. Serving that topmost of all Lords were His personal attendants, headed by Sunanda and Nanda; His cakra and other weapons in their personified forms; His consort potencies Puṣṭi, Śrī, Kīrti and Ajā; and all His various mystic powers.

57Lord Kṛṣṇa offered homage to Himself in this boundless form, and Arjuna, astonished at the sight of Lord Mahā-Viṣṇu, bowed down as well. Then, as the two of them stood before Him with joined palms, the almighty Mahā-Viṣṇu, supreme master of all rulers of the universe, smiled and spoke to them in a voice full of solemn authority.

58[Lord Mahā-Viṣṇu said:] I brought the brāhmaṇa's sons here because I wanted to see the two of you, My expansions, who have descended to the earth to save the principles of religion. As soon as you finish killing the demons who burden the earth, quickly come back here to Me.

59Although all your desires are completely fulfilled, O best of exalted personalities, for the benefit of the people in general you should continue to exemplify religious behavior as the sages Nara and Nārāyaṇa.

60-61Thus instructed by the Supreme Lord of the topmost planet, Kṛṣṇa and Arjuna assented by chanting om, and then they bowed down to almighty Lord Mahā-Viṣṇu. Taking the brāhmaṇa's sons with them, they returned with great delight to Dvārakā by the same path along which they had come. There they presented the brāhmaṇa with his sons, who were in the same infant bodies in which they had been lost.

62Having seen the domain of Lord Viṣṇu, Arjuna was totally amazed. He concluded that whatever extraordinary power a person exhibits can only be a manifestation of Śrī Kṛṣṇa's mercy.

63Lord Kṛṣṇa exhibited many other, similar heroic pastimes in this world. He apparently enjoyed the pleasures of ordinary human life, and He performed greatly potent fire sacrifices.

64The Lord having demonstrated His supremacy, at suitable times He showered down all desirable things upon the brāhmaṇas and His other subjects, just as Indra pours down his rain.

65Now that He had killed many wicked kings and engaged devotees such as Arjuna in killing others, the Lord could easily assure the execution of religious principles through the agency of such pious rulers as Yudhiṣṭhira.

## SB 10.90: Summary of Lord Kṛṣṇa's Glories

This chapter describes how Lord Kṛṣṇa enjoyed with His queens in the lakes of Dvārakā. It also relates the queens' ecstatic prayers in the mood of intense separation from Him, and summarizes the Lord's pastimes.

Lord Śrī Kṛṣṇa continued to reside in His opulent capital of Dvārakā, together with the Yadus and His queens. He would enjoy sporting with His wives in the ponds on the palace grounds, squirting water on them with a syringe and being squirted in turn. With His graceful gestures,

loving words and sidelong glances, He would enchant their hearts. In this way the queens would become totally absorbed in thoughts of Him. Sometimes, after playing with the Lord in the water, they would address various creatures*kuraṅī* and *cakravāka* birds, the ocean, the moon, a cloud, a cuckoo, a mountain, a river and so ondeclaring their great attachment to Śrī Kṛṣṇa on the pretext of commiserating with these creatures.

Lord Kṛṣṇa begot ten sons in the womb of each of His queens. Among these sons, Pradyumna was foremost, being equal to His father in all transcendental qualities. Pradyumna married Rukmī's daughter, and from her womb Aniruddha was born. Aniruddha then married Rukmī's granddaughter and begot Vajra, who was the only Yadu prince to survive the battle of iron clubs at Prabhāsa. From Vajra descended the remainder of the Yadu dynasty, beginning with Pratibāhu. The members of the Yadu dynasty are virtually innumerable; indeed, just to educate their children the Yadus employed 38,800,000 teachers.

Before Lord Kṛṣṇa appeared, many demons took birth in human families to harass the people of the world and destroy brahminical culture. To subdue them, the Lord ordered the demigods to descend into the Yadu dynasty, which then expanded into 101 clans. All of the Yadus recognized Śrī Kṛṣṇa as the Supreme Personality of Godhead and had unflinching faith in Him. While resting, eating, walking and so on, which they often did in His company, they would forget their own bodies in their transcendental happiness.

The Tenth Canto concludes with this promise of success for the sincere hearer: "By regularly hearing, chanting and meditating on the beautiful topics of Lord Mukunda with ever-increasing sincerity, a mortal being will attain the divine kingdom of the Lord, where the inviolable power of death holds no sway."

1-7Śukadeva Gosvamī said: The master of the goddess of fortune resided happily in His capital city, Dvārakā, which was endowed with all opulences and populated by the most eminent Vṛṣṇis and their gorgeously dressed wives. When these beautiful women in the bloom of youth would play on the city's rooftops with balls and other toys, they shone like flashing lightning. The main streets of the city were always crowded with intoxicated elephants exuding mada, and also with cavalry, richly adorned infantrymen, and soldiers riding chariots brilliantly decorated with gold. Gracing the city were many gardens and parks with rows of flowering trees, where bees and birds would gather, filling all directions with their songs.

8-9As Gandharvas joyfully sang His praises to the accompaniment of mṛdaṅga, paṇava and ānaka drums, and as professional reciters known as Sūtas, Māgadhas and Vandīs played vīṇās and recited poems praising Him, Lord Kṛṣṇa would play with His wives in the water. Laughing, the queens would squirt water on Him with syringes, and He would squirt them back. Thus Kṛṣṇa would sport with His queens in the same way that the lord of the Yakṣas sports with the Yakṣī nymphs.

10Under the drenched clothing of the queens, their thighs and breasts would become visible. The flowers tied in their large braids would scatter as they sprayed water on their consort, and on the plea of trying to take away His syringe, they would embrace Him. By His touch their lusty feelings would increase, causing their faces to beam with smiles. Thus Lord Kṛṣṇa's queens shone with resplendent beauty.

11Lord Kṛṣṇa's flower garland would become smeared with kuṅkuma from their breasts, and His abundant locks of hair would become disheveled as a result of His absorption in the game. As the Lord repeatedly sprayed His young consorts and they sprayed Him in turn, He enjoyed Himself like the king of elephants enjoying in the company of his bevy of she-elephants.

12Afterward, Lord Kṛṣṇa and His wives would give the ornaments and clothing they had worn during their water sports to the male and female performers, who earned their livelihood from singing and from playing instrumental music.

13In this way Lord Kṛṣṇa would sport with His queens, totally captivating their hearts with His gestures, talks, glances and smiles, and also with His jokes, playful exchanges and embraces.

14The queens would become stunned in ecstatic trance, their minds absorbed in Kṛṣṇa alone. Then, thinking of their lotus-eyed Lord, they would speak as if insane. Please hear these words from me as I relate them.

15The queens said: O kurarī bird, you are lamenting. Now it is night, and somewhere in this world the Supreme Lord is asleep in a hidden place. But you are wide awake, O friend, unable to fall asleep. Is it that, like us, you have had your heart pierced to the core by the lotus-eyed Lord's munificent, playful smiling glances?

16Poor cakravākī, even after closing your eyes, you continue to cry pitifully through the night for your unseen mate. Or is it that, like us, you have become the servant of Acyuta and hanker to wear in your braided hair the garland He has blessed with the touch of His feet?

17Dear ocean, you are always roaring, not sleeping at night. Are you suffering insomnia? Or is it that, as with us, Mukunda has taken your insignias and you are hopeless of retrieving them?

18My dear moon, having contracted a severe case of tuberculosis, you have become so emaciated that you fail to dispel the darkness with your rays. Or is it that you appear dumbstruck because, like us, you cannot remember the encouraging promises Mukunda once made to you?

19O Malayan breeze, what have we done to displease you, so that you stir up lust in our hearts, which have already been shattered by Govinda's sidelong glances?

20O revered cloud, you are indeed very dear to the chief of the Yādavas, who bears the mark of Śrīvatsa. Like us, you are bound to Him by love and are meditating upon Him. Your heart is distraught with great eagerness, as our hearts are, and as you remember Him again and again you shed a torrent of tears. Association with Kṛṣṇa brings such misery!

21O sweet-throated cuckoo, in a voice that could revive the dead you are vibrating the same sounds we once heard from our beloved, the most pleasing of speakers. Please tell me what I can do today to please you.

22O magnanimous mountain, you neither move nor speak. You must be pondering some matter of great importance. Or do you, like us, desire to hold on your breasts the feet of Vasudeva's darling son?

23O rivers, wives of the ocean, your pools have now dried up. Alas, you have shriveled to nothing, and your wealth of lotuses has vanished. Are you, then, like us, who are withering away because of not receiving the affectionate glance of our dear husband, the Lord of Madhu, who has cheated our hearts?

24Welcome, swan. Please sit here and drink some milk. Give us some news of the descendant of Śūra, dear one. We know you are His messenger. Is that invincible Lord doing well, and does that unreliable friend of ours still remember the words He spoke to us long ago? Why should we go and worship Him? O servant of a petty master, go tell Him who fulfills our desires to come here without the goddess of fortune. Is she the only woman exclusively devoted to Him?

25Śukadeva Gosvāmī said: By thus speaking and acting with such ecstatic love for Lord Kṛṣṇa, the master of all masters of mystic yoga, His loving wives attained the ultimate goal of life.

26The Lord, whom countless songs glorify in countless ways, forcibly attracts the minds of all women who simply hear about Him. What to speak, then, of those women who see Him directly?

27And how could one possibly describe the great austerities that had been performed by the women who perfectly served Him, the spiritual master of the universe, in pure ecstatic love? Thinking of Him as their husband, they rendered such intimate services as massaging His feet.

28Thus observing the principles of duty enunciated in the Vedas, Lord Kṛṣṇa, the goal of the saintly devotees, repeatedly demonstrated how one can achieve at home the objectives of religiosity, economic development and regulated sense gratification.

29While fulfilling the highest standards of religious householder life, Lord Kṛṣṇa maintained more than 16,100 wives.

30Among these jewellike women were eight principal queens, headed by Rukmiṇī. I have already described them one after another, O King, along with their sons.

31The Supreme Lord Kṛṣṇa, whose endeavor never fails, begot ten sons in each of His many wives.

32Among these sons, all possessing unlimited valor, eighteen were mahā-rathas of great renown. Now hear their names from me.

33-34They were Pradyumna, Aniruddha, Dīptimān, Bhānu, Sāmba, Madhu, Bṛhadbhānu, Citrabhānu, Vṛka, Aruṇa, Puṣkara, Vedabāhu, Śrutadeva, Sunandana, Citrabāhu, Virūpa, Kavi and Nyagrodha.

35O best of kings, of these sons begotten by Lord Kṛṣṇa, the enemy of Madhu, the most prominent was Rukmiṇī's son Pradyumna. He was just like His father.

36The great warrior Pradyumna married Rukmī's daughter [Rukmavatī], who gave birth to Aniruddha. He was as strong as ten thousand elephants.

37Rukmī's daughter's son [Aniruddha] married Rukmī's son's daughter [Rocana]. From her was born Vajra, who would remain among the few survivors of the Yadus' battle with clubs.

38From Vajra came Pratibāhu, whose son was Subāhu. Subāhu's son was Śāntasena, from whom Śatasena was born.

39No one born in this family was poor in wealth or progeny, short-lived, weak or neglectful of brahminical culture.

40The Yadu dynasty produced innumerable great men of famous deeds. Even in tens of thousands of years, O King, one could never count them all.

41I have heard from authoritative sources that the Yadu family employed 38,800,000 teachers just to educate their children.

42Who can count all the great Yādavas, when among them King Ugrasena alone was accompanied by an entourage of thirty trillion attendants?

43The savage descendants of Diti who had been killed in past ages in battles between the demigods and demons took birth among human beings and arrogantly harassed the general populace.

44To subdue these demons, Lord Hari told the demigods to descend into the dynasty of Yadu. They comprised 101 clans, O King.

45Because Lord Kṛṣṇa is the Supreme Personality of Godhead, the Yādavas accepted Him as their ultimate authority. And among them, all those who were His intimate associates especially flourished.

46The Vṛṣṇis were so absorbed in Kṛṣṇa consciousness that they forgot their own bodies while sleeping, sitting, walking, conversing, playing, bathing and so on.

47The heavenly Ganges is a holy place of pilgrimage because her waters wash Lord Kṛṣṇa's feet. But when the Lord descended among the Yadus, His glories eclipsed the Ganges as a holy place. Both those who hated Kṛṣṇa and those who loved Him attained eternal forms like His in the spiritual world. The unattainable and supremely self-satisfied goddess of fortune, for the sake of whose favor everyone else struggles, belongs to Him alone. His name destroys all inauspiciousness when heard or chanted. He alone has set forth the principles of the various disciplic successions of sages. What wonder is it that He, whose personal weapon is the wheel of time, relieved the burden of the earth?

48Lord Śrī Kṛṣṇa is He who is known as jana-nivāsa, the ultimate resort of all living entities, and who is also known as Devakīnandana or Yaśodā-nandana, the son of Devakī and Yaśodā. He is the guide of the Yadu dynasty, and with His mighty arms He kills everything inauspicious, as well as every man who is impious. By His presence He destroys all things inauspicious for all living entities, moving and inert. His blissful smiling face always increases the lusty desires of the gopīs of Vṛndāvana. May He be all glorious and happy!

49To protect the principles of devotional service to Himself, Lord Kṛṣṇa, the best of the Yadus, accepts the pastime forms that have been glorified here in the Śrīmad-Bhāgavatam. One who desires to faithfully serve His lotus feet should hear of the activities He performs in each of these incarnationsactivities that suitably imitate those of the forms He assumes. Hearing narrations of these pastimes destroys the reactions to fruitive work.

50By regularly hearing, chanting and meditating on the beautiful topics of Lord Mukunda with ever-increasing sincerity, a mortal being will attain the divine kingdom of the Lord, where the inviolable power of death holds no sway. For this purpose, many persons, including great kings, abandoned their mundane homes and took to the forest.

## Canto 11: General History

### SB 11.1: The Curse upon the Yadu Dynasty

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: Lord Śrī Kṛṣṇa, accompanied by Balarāma and surrounded by theYadu dynasty, executed the killing of many demons. Then, further to remove the burden of the earth, the Lord arranged for the great Battle of Kurukṣetra, which suddenly erupted in violence between the Kurus and the Pāṇḍavas.

2Because the sons of Pāṇḍu were enraged by the numerous offenses of their enemies, such as duplicitous gambling, verbal insults, the seizing of Draupadī's hair, and many other cruel transgressions, the Supreme Lord engaged those Pāṇḍavas as the immediate cause to execute His will. On the pretext of the Battle of Kurukṣetra, Lord Kṛṣṇa arranged for all the kings who

were burdening the earth to assemble with their armies on opposite sides of the battlefield, and when the Lord killed them through the agency of war, the earth was relieved of its burden.

3The Supreme Personality of Godhead used the Yadu dynasty, which was protected by His own arms, to eliminate the kings who with their armies had been the burden of this earth. Then the unfathomable Lord thought to Himself, "Although some may say that the earth's burden is now gone, in My opinion it is not yet gone, because there still remains the Yādava dynasty itself, whose strength is unbearable for the earth."

4Lord Kṛṣṇa thought, "No outside force could ever bring about the defeat of this family, the Yadu dynasty, whose members have always been fully surrendered to Me and are unrestricted in their opulence. But if I inspire a quarrel within the dynasty, that quarrel will act just like a fire created from the friction of bamboo in a grove, and then I shall achieve My real purpose and return to My eternal abode."

5My dear King Parīkṣit, when the supreme almighty Lord, whose desire always comes to pass, had thus made up His mind, He withdrew His own family on the pretext of a curse spoken by an assembly of brāhmaṇas.

6-7The Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, is the reservoir of all beauty. All beautiful things emanate from Him, and His personal form is so attractive that it steals the eyes away from all other objects, which then seem devoid of beauty in comparison to Him. When Lord Kṛṣṇa was on the earth, He attracted the eyes of all people. When Kṛṣṇa spoke, His words attracted the minds of all who remembered them. By seeing the footsteps of Lord Kṛṣṇa, people became attracted to Him, and thus they wanted to offer their bodily activities to the Lord as His followers. In this way Kṛṣṇa very easily spread His glories, which are sung throughout the world by the most sublime and essential Vedic verses. Lord Kṛṣṇa considered that simply by hearing and chanting those glories, conditioned souls born in the future would cross beyond the darkness of ignorance. Being satisfied with this arrangement, He left for His desired destination.

8King Parīkṣit inquired: How could the brāhmaṇas curse the Vṛṣṇis, who were always respectful to the brāhmaṇas, charitable, and inclined to serve senior and exalted personalities and whose minds were always fully absorbed in thought of Lord Kṛṣṇa?

9King Parīkṣit continued inquiring: What was the motive for this curse? What did it consist of, O purest of the twice-born? And how could such a disagreement have arisen among the Yadus, who all shared the same goal of life? Please tell me all these things.

10Śukadeva Gosvāmī said: The Lord, who bore His body as the amalgamation of everything beautiful, dutifully executed the most auspicious activities while on the earth, although He was, in fact, without any endeavor already satisfied in all desires. Residing in His abode and enjoying life, the Lord, whose glorification is in itself magnanimous, now wanted to annihilate His dynasty, as there still remained some small part of His duty to be carried out.

11-12The sages Viśvāmitra, Asita, Kaṇva, Durvāsā, Bhṛgu, Aṅgirā, Kaśyapa, Vāmadeva, Atri and Vasiṣṭha, along with Nārada and others, once performed fruitive rituals that award abundant pious results, bring great happiness and take away the sins of Kali-yuga for the whole world by merely being recounted. The sages duly executed these rituals in the home of the chief of the Yadus, Vasudeva, the father of Lord Kṛṣṇa. After Lord Kṛṣṇa, who was staying in Vasudeva's house as time personified, respectfully sent the sages off at the conclusion of the ceremonies, they went to the holy place called Piṇḍāraka.

13-15To that holy place, the young boys of the Yadu dynasty had brought Sāmba, son of Jāmbavatī, dressed in woman's garb. Playfully approaching the great sages gathered there, the boys grabbed hold of the sages' feet and impudently asked them with feigned humility, "O learned brāhmaṇas, this black-eyed pregnant woman has something to ask you. She is too embarrassed to inquire for herself. She is just about to give birth and is very desirous of having a son. Since all of you are great sages with infallible vision, please tell us whether her child will be a boy or a girl."

16Thus ridiculed by deceit, the sages became angry, O King, and told the boys, "Fools! She will bear you an iron club that will destroy your entire dynasty."

17Upon hearing the curse of the sages, the terrified boys quickly uncovered the belly of Sāmba, and indeed they observed that therein was an iron club.

18The young men of the Yadu dynasty said, "Oh, what have we done? We are so unfortunate! What will our family members say to us?" Speaking thus and being very disturbed, they returned to their homes, taking the club with them.

19The Yadu boys, the luster of their faces completely faded, brought the club into the royal assembly, and in the presence of all the Yādavas they told King Ugrasena what had happened.

20O King Parīkṣit, when the inhabitants of Dvārakā heard of the infallible curse of the brāhmaṇas and saw the club, they were astonished and distraught with fear.

21After having the club ground to bits, King Āhuka [Ugrasena] of the Yadus personally threw the pieces, along with the remaining lump of iron, into the water of the ocean.

22A certain fish swallowed the iron lump, and the bits of iron, carried back to the shore by the waves, implanted themselves there and grew into tall, sharp canes.

23The fish was caught in the ocean along with other fish in a fishermen's net. The iron lump in the fish's stomach was taken by the hunter Jarā, who fixed it as an arrowhead at the end of his shaft.

24Knowing fully the significance of all these events, the Supreme Lord, though capable of reversing the brāhmaṇas' curse, did not wish to do so. Rather, in His form of time, He gladly sanctioned the events.

### SB 11.2: Mahārāja Nimi Meets the Nine Yogendras

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: Eager to engage in the worship of Lord Kṛṣṇa, O best of the Kurus, Nārada Muni stayed for some time in Dvārakā, which was always protected by the arms of Govinda.

2My dear King, in the material world the conditioned souls are confronted by death at every step of life. Therefore, who among the conditioned souls would not render service to the lotus feet of Lord Mukunda, who is worshipable even for the greatest of liberated souls?

3One day the sage among the demigods, Nārada, came to the house of Vasudeva. After worshiping Nārada with suitable paraphernalia, seating him comfortably and respectfully bowing down to him, Vasudeva spoke as follows.

4Śrī Vasudeva said: My lord, your visit, like that of a father to his children, is for the benefit of all living beings. You especially help the most wretched among them, as well as those who are advanced on the path toward the Supreme Lord, Uttamaśloka.

5The activities of demigods lead to both misery and happiness for living beings, but the activities of great saints like you, who have accepted the infallible Lord as their very soul, result only in the happiness of all beings.

6Those who worship the demigods receive reciprocation from the demigods in a way just corresponding to the offering. The demigods are attendants of karma, like a person's shadow, but sādhus are actually merciful to the fallen.

7O brāhmaṇa, although I am satisfied simply by seeing you, I still wish to inquire about those duties which give pleasure to the Supreme Personality of Godhead. Any mortal who faithfully hears about them is freed from all kinds of fear.

8In a previous birth on this earth, I worshiped the Supreme Lord, Ananta, who alone can award liberation, but because I desired to have a child, I did not worship Him for liberation. Thus I was bewildered by the Lord's illusory energy.

9My dear lord, you are always true to your vow. Please instruct me clearly, so that by your mercy I may easily free myself from material existence, which is full of many dangers and keeps us constantly bound in fear.

10Śukadeva Gosvāmī said: O King, Devarṣi Nārada was pleased by the questions of the highly intelligent Vasudeva. Because they suggested the transcendental qualities of the Supreme Personality of Godhead, they reminded Nārada of Lord Kṛṣṇa. Thus Nārada replied to Vasudeva as follows.

11Śrī Nārada said: O best of the Sātvatas, you have quite correctly asked about the eternal duty of the living entity toward the Supreme Lord. Such devotional service to the Lord is so potent that its performance can purify the entire universe.

12Pure devotional service rendered to the Supreme Lord is spiritually so potent that simply by hearing about such transcendental service, by chanting its glories in response, by meditating on it, by respectfully and faithfully accepting it, or by praising the devotional service of others, even persons who hate the demigods and all other living beings can be immediately purified.

13Today you have made me remember my Lord, the supremely blissful Personality of Godhead, Nārāyaṇa. The Supreme Lord is so auspicious that whoever hears and chants about Him becomes completely pious.

14To explain the devotional service of the Lord, sages have related the ancient history of the conversation between the great soul King Videha and the sons of Ṛṣabha.

15Svāyambhuva Manu had a son named Mahārāja Priyavrata, and among Priyavrata's sons was Āgnīdhra. From Āgnīdhra was born Nābhi, whose son was known as Ṛṣabhadeva.

16ŚrīṚṣabhadeva is accepted as an expansion of the Supreme Lord, Vāsudeva. He incarnated in this world to propagate those religious principles that lead living entities to ultimate liberation. He had one hundred sons, all perfect in Vedic knowledge.

17Of the one hundred sons of Lord Ṛṣabhadeva, the eldest, Bharata, was completely devoted to Lord Nārāyaṇa. It is because of Bharata's fame that this planet is now celebrated as the great Bhārata-varṣa.

18King Bharata rejected this material world, considering all types of material pleasure temporary and useless. Leaving his beautiful young wife and family, he worshiped Lord Hari by severe austerities and attained the abode of the Lord after three lifetimes.

19Nine of the remaining sons of Ṛṣabhadeva became the rulers of the nine islands of Bhārata-varṣa, and they exercised complete sovereignty over this planet. Eighty-one sons became twice-born brāhmaṇas and helped initiate the Vedic path of fruitive sacrifices [karma-kāṇḍa].

20-21The nine remaining sons of Ṛṣabha were greatly fortunate sages who worked vigorously to spread knowledge of the Absolute Truth. They wandered about naked and were very well versed in spiritual science. Their names were Kavi, Havir, Antarīkṣa, Prabuddha, Pippalāyana, Āvirhotra, Drumila, Camasa and Karabhājana.

22These sages wandered the earth seeing the entire universe, with all its gross and subtle objects, as a manifestation of the Supreme Lord and as nondifferent from the self.

23The nine Yogendras are liberated souls who travel freely to the planets of the demigods, the perfected mystics, the Sādhyas, the heavenly musicians, the Yakṣas, the human beings, and the minor demigods such as the Kinnaras and the serpents. No mundane force can check their free movement, and exactly as they wish they can travel as well to the worlds of the sages, the angels, the ghostly followers of Lord Śiva, the Vidyādharas, the brāhmaṇas and the cows.

24Once in Ajanābha [the former name of the earth], they came upon the sacrificial performance of the great soul Mahārāja Nimi, which was being carried out under the direction of elevated sages.

25My dear King, seeing those pure devotees of the Lord, who rival the sun in brilliance, everyone presentthe performer of the sacrifice, the brāhmaṇas and even the sacrificial firesstood in respect.

26King Videha [Nimi] understood that the nine sages were exalted devotees of the Supreme Personality of Godhead. Therefore, overjoyed at their auspicious arrival, he offered them suitable sitting places and worshiped them in a proper way, just as one would worship the Supreme Personality of Godhead.

27Overwhelmed by transcendental joy, the King humbly bowed his head and then proceeded to question the nine sages. These nine great souls glowed with their own effulgence and thus appeared equal to the four Kumāras, the sons of Lord Brahmā.

28King Videha said: I think that you must be direct associates of the Supreme Personality of Godhead, who is famous as the enemy of the demon Madhu. Indeed, the pure devotees of Lord Viṣṇu wander throughout the universe not for their personal, selfish interest, but to purify all the conditioned souls.

29For the conditioned souls, the human body is most difficult to achieve, and it can be lost at any moment. But I think that even those who have achieved human life rarely gain the association of pure devotees, who are dear to the Lord of Vaikuṇṭha.

30Therefore, O completely sinless ones, I ask you to kindly tell me what the supreme good is. After all, even half a moment's association with pure devotees within this world of birth and death is a priceless treasure for any man.

31Please speak about how one engages in the devotional service of the Supreme Lord, if you consider me capable of properly hearing these topics. When a living entity offers loving service to the Supreme Lord, the Lord is immediately satisfied, and in return He will give even His own self to the surrendered soul.

32Śrī Nārada said: O Vasudeva, when Mahārāja Nimi had thus inquired from the nine

Yogendras about devotional service to the Lord, those best of saintly persons sincerely thanked the King for his questions and spoke to him with affection in the presence of the members of the sacrificial assembly and the brāhmaṇa priests.

33Śrī Kavi said: I consider that one whose intelligence is constantly disturbed by his falsely identifying himself with the temporary material world can achieve real freedom from fear only by worshiping the lotus feet of the infallible Supreme Lord. In such devotional service, all fear ceases entirely.

34Even ignorant living entities can very easily come to know the Supreme Lord if they adopt those means prescribed by the Supreme Lord Himself. The process recommended by the Lord is to be known as bhāgavata-dharma, or devotional service to the Supreme Personality of Godhead.

35O King, one who accepts this process of devotional service to the Supreme Personality of Godhead will never blunder on his path in this world. Even while running with eyes closed, he will never trip or fall.

36In accordance with the particular nature one has acquired in conditioned life, whatever one does with body, words, mind, senses, intelligence or purified consciousness one should offer to the Supreme, thinking, "This is for the pleasure of Lord Nārāyaṇa."

37Fear arises when a living entity misidentifies himself as the material body because of absorption in the external, illusory energy of the Lord. When the living entity thus turns away from the Supreme Lord, he also forgets his own constitutional position as a servant of the Lord. This bewildering, fearful condition is effected by the potency for illusion, called māyā. Therefore, an intelligent person should engage unflinchingly in the unalloyed devotional service of the Lord, under the guidance of a bona fide spiritual master, whom he should accept as his worshipable deity and as his very life and soul.

38Although the duality of the material world does not ultimately exist, the conditioned soul experiences it as real under the influence of his own conditioned intelligence. This imaginary experience of a world separate from Kṛṣṇa can be compared to the acts of dreaming and desiring. When the conditioned soul dreams at night of something desirable or horrible, or when he daydreams of what he would like to have or avoid, he creates a reality that has no existence beyond his own imagination. The tendency of the mind is to accept and reject various activities based on sense gratification. Therefore an intelligent person should control the mind, restricting it from the illusion of seeing things separate from Kṛṣṇa, and when the mind is thus controlled he will experience actual fearlessness.

39An intelligent person who has controlled his mind and conquered fear should give up all attachment to material objects such as wife, family and nation and should wander freely without embarrassment, hearing and chanting the holy names of the Lord, the bearer of the chariot wheel. The holy names of Kṛṣṇa are all-auspicious because they describe His transcendental birth and activities, which He performs within this world for the salvation of the conditioned souls. Thus the holy names of the Lord are sung throughout the world.

40By chanting the holy name of the Supreme Lord, one comes to the stage of love of Godhead. Then the devotee is fixed in his vow as an eternal servant of the Lord, and he gradually becomes very much attached to a particular name and form of the Supreme Personality of Godhead. As his heart melts with ecstatic love, he laughs very loudly or cries or shouts. Sometimes he sings and dances like a madman, for he is indifferent to public opinion.

41A devotee should not see anything as being separate from the Supreme Personality of

Godhead, Kṛṣṇa. Ether, fire, air, water, earth, the sun and other luminaries, all living beings, the directions, trees and other plants, the rivers and oceanswhatever a devotee experiences he should consider to be an expansion of Kṛṣṇa. Thus seeing everything that exists within creation as the body of the Supreme Lord, Hari, the devotee should offer his sincere respects to the entire expansion of the Lord's body.

42Devotion, direct experience of the Supreme Lord, and detachment from other thingsthese three occur simultaneously for one who has taken shelter of the Supreme Personality of Godhead, in the same way that pleasure, nourishment and relief from hunger come simultaneously and increasingly, with each bite, for a person engaged in eating.

43My dear King, the devotee who worships the lotus feet of the infallible Personality of Godhead with constant endeavor thus achieves unflinching devotion, detachment and experienced knowledge of the Personality of Godhead. In this way the successful devotee of the Lord achieves supreme spiritual peace.

44Mahārāja Nimi said: Now please tell me in greater detail about the devotees of the Supreme Lord. What are the natural symptoms by which I can distinguish between the most advanced devotees, those on the middle level and those who are neophytes? What are the typical religious activities of a Vaiṣṇava, and how does he speak? Specifically, please describe those symptoms and characteristics by which Vaiṣṇavas become dear to the Supreme Personality of Godhead.

45Śrī Havir said: The most advanced devotee sees within everything the soul of all souls, the Supreme Personality of Godhead, Śrī Kṛṣṇa. Consequently he sees everything in relation to the Supreme Lord and understands that everything that exists is eternally situated within the Lord.

46An intermediate or second-class devotee, called madhyama-adhikārī, offers his love to the Supreme Personality of Godhead, is a sincere friend to all the devotees of the Lord, shows mercy to ignorant people who are innocent and disregards those who are envious of the Supreme Personality of Godhead.

47A devotee who faithfully engages in the worship of the Deity in the temple but does not behave properly toward other devotees or people in general is called a prākṛta-bhakta, a materialistic devotee, and is considered to be in the lowest position.

48Even while engaging his senses in contact with their objects, one who sees this whole world as the energy of Lord Viṣṇu is neither repelled nor elated. He is indeed the greatest among devotees.

49Within the material world, one's material body is always subject to birth and decay. Similarly, the life air [prāṇa] is harassed by hunger and thirst, the mind is always anxious, the intelligence hankers for that which cannot be obtained, and all of the senses are ultimately exhausted by constant struggle in the material nature. A person who is not bewildered by the inevitable miseries of material existence, and who remains aloof from them simply by remembering the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead, is to be considered bhāgavata-pradhāna, the foremost devotee of the Lord.

50One who has taken exclusive shelter of the Supreme Lord, Vāsudeva, becomes free from fruitive activities, which are based on material lust. In fact, one who has taken shelter of the lotus feet of the Lord is freed from even the desire to enjoy material sense gratification. Plans for enjoying sex life, social prestige and money cannot develop within his mind. Thus he is considered bhāgavatottama, a pure devotee of the Lord on the highest platform.

51Birth in an aristocratic family and the execution of austere and pious activities certainly cause one to take pride in himself. Similarly, if one enjoys a prestigious position within society because his parents are highly respected members of the varṇāśrama social system, one becomes even more infatuated with himself. But if despite these excellent material qualifications one does not feel even a tinge of pride within himself, he is to be considered the dearmost servitor of the Supreme Personality of Godhead.

52When a devotee gives up the selfish conception by which one thinks "This is my property, and that is his," and when he is no longer concerned with the pleasures of his own material body or indifferent to the discomforts of others, he becomes fully peaceful and satisfied. He considers himself simply one among all the living beings who are equally part and parcel of the Supreme Personality of Godhead. Such a satisfied Vaiṣṇava is considered to be at the highest standard of devotional service.

53The lotus feet of the Supreme Personality of Godhead are sought even by the greatest of demigods, such as Brahmā and Śiva, who have all accepted the Supreme Personality of Godhead as their life and soul. A pure devotee of the Lord can never forget those lotus feet in any circumstance. He will not give up his shelter at the lotus feet of the Lord for a single momentindeed, not for half a momenteven in exchange for the benediction of ruling and enjoying the opulence of the entire universe. Such a devotee of the Lord is to be considered the best of the Vaiṣṇavas.

54How can the fire of material suffering continue to burn the hearts of those who worship the Supreme Lord? The Lord's lotus feet have performed innumerable heroic deeds, and the beautiful nails on His toes resemble valuable jewels. The effulgence emanating from those nails resembles cooling moonshine, for it instantly relieves the suffering within the heart of the pure devotee, just as the appearance of the moon's cooling light relieves the burning heat of the sun.

55The Supreme Personality of Godhead is so kind to the conditioned souls that if they call upon Him by speaking His holy name, even unintentionally or unwillingly, the Lord is inclined to destroy innumerable sinful reactions in their hearts. Therefore, when a devotee who has taken shelter of the Lord's lotus feet chants the holy name of Kṛṣṇa with genuine love, the Supreme Personality of Godhead can never give up the heart of such a devotee. One who has thus captured the Supreme Lord within his heart is to be known as bhāgavata-pradhāna, the most exalted devotee of the Lord.

## SB 11.3: Liberation from the Illusory Energy

1King Nimi said: Now we wish to learn about the illusory potency of the Supreme Personality of Godhead, Śrī Viṣṇu, which bewilders even great mystics. My lords, please speak to us about this subject.

2Although I am drinking the nectar of your statements about the glories of the Supreme Personality of Godhead, my thirst is not yet satiated. Such nectarean descriptions of the Lord and His devotees are the actual medicine for conditioned souls like me, who are tormented by the threefold miseries of material existence.

3Śrī Antarīkṣa said: O mighty-armed King, by activating the material elements, the primeval Soul of all creation has sent forth all living beings in higher and lower species so that these conditioned souls can cultivate either sense gratification or ultimate liberation, according to their desire.

4The Supersoul enters the material bodies of the created beings, activates the mind and senses, and thus causes the conditioned souls to approach the three modes of material nature for sense

gratification.

5The individual living being, the master of the material body, uses his material senses, which have been activated by the Supersoul, to try to enjoy sense objects composed of the three modes of nature. Thus he misidentifies the created material body with the unborn eternal self and becomes entangled in the illusory energy of the Lord.

6Impelled by deep-rooted material desires, the embodied living entity engages his active sense organs in fruitive activities. He then experiences the results of his material actions by wandering throughout this world in so-called happiness and distress.

7Thus the conditioned living entity is forced to experience repeated birth and death. Impelled by the reactions of his own activities, he helplessly wanders from one inauspicious situation to another, suffering from the moment of creation until the time of cosmic annihilation.

8When the annihilation of the material elements is imminent, the Supreme Personality of Godhead in His form of eternal time withdraws the manifest cosmos, consisting of gross and subtle features, and the entire universe vanishes into nonmanifestation.

9As cosmic annihilation approaches, a terrible drought takes place on earth for one hundred years. For one hundred years the heat of the sun gradually increases, and its blazing heat begins to torment the three worlds.

10Beginning from Pātālaloka, a fire grows, emanating from the mouth of Lord Saṅkarṣaṇa. Its flames shooting upward, driven by great winds, it scorches everything in all directions.

11Hordes of clouds called Saṁvartaka pour torrents of rain for one hundred years. Flooding down in raindrops as long as the trunk of an elephant, the deadly rainfall submerges the entire universe in water.

12Then Vairāja Brahmā, the soul of the universal form, gives up his universal body, O King, and enters into the subtle unmanifest nature, like a fire that has run out of fuel.

13Deprived of its quality of aroma by the wind, the element earth is transformed into water; and water, deprived of its taste by that same wind, is merged into fire.

14Fire, deprived of its form by darkness, dissolves into the element air. When the air loses its quality of touch by the influence of space, the air merges into that space. When space is deprived of its tangible quality by the Supreme Soul in the form of time, space merges into false ego in the mode of ignorance.

15My dear King, the material senses and intelligence merge into false ego in the mode of passion, from which they arose; and the mind, along with the demigods, merges into false ego in the mode of goodness. Then the total false ego, along with all of its qualities, merges into the mahat-tattva.

16I have now described māyā, the illusory energy of the Supreme Personality of Godhead. This illusory potency, consisting of the three modes of material nature, is empowered by the Lord for the creation, maintenance and annihilation of the material universe. Now, what more do you wish to hear?

17King Nimi said: O great sage, please explain how even a foolish materialist can easily cross over the illusory energy of the Supreme Lord, which is always insurmountable for those who are not self-controlled.

18Śrī Prabuddha said: Accepting the roles of male and female in human society, the conditioned souls unite in sexual relationships. Thus they constantly make material endeavors to eliminate their unhappiness and unlimitedly increase their pleasure. But one should see that they inevitably achieve exactly the opposite result. In other words, their happiness inevitably vanishes, and as they grow older their material discomfort increases.

19Wealth is a perpetual source of distress, it is most difficult to acquire, and it is virtual death for the soul. What satisfaction does one actually gain from his wealth? Similarly, how can one gain ultimate or permanent happiness from one's so-called home, children, relatives and domestic animals, which are all maintained by one's hard-earned money?

20One cannot find permanent happiness even on the heavenly planets, which one can attain in the next life by ritualistic ceremonies and sacrifices. Even in material heaven the living entity is disturbed by rivalry with his equals and envy of those superior to him. And since one's residence in heaven is finished with the exhaustion of pious fruitive activities, the denizens of heaven are afflicted by fear, anticipating the destruction of their heavenly life. Thus they resemble kings who, though enviously admired by ordinary citizens, are constantly harassed by enemy kings and who therefore never attain actual happiness.

21Therefore any person who seriously desires real happiness must seek a bona fide spiritual master and take shelter of him by initiation. The qualification of the bona fide guru is that he has realized the conclusions of the scriptures by deliberation and is able to convince others of these conclusions. Such great personalities, who have taken shelter of the Supreme Godhead, leaving aside all material considerations, should be understood to be bona fide spiritual masters.

22Accepting the bona fide spiritual master as one's life and soul and worshipable deity, the disciple should learn from him the process of pure devotional service. The Supreme Personality of Godhead, Hari, the soul of all souls, is inclined to give Himself to His pure devotees. Therefore, the disciple should learn from the spiritual master to serve the Lord without duplicity and in such a faithful and favorable way that the Supreme Lord, being satisfied, will offer Himself to the faithful disciple.

23A sincere disciple should learn to dissociate the mind from everything material and positively cultivate association with his spiritual master and other saintly devotees. He should be merciful to those in an inferior position to him, cultivate friendship with those on an equal level and meekly serve those in a higher spiritual position. Thus he should learn to deal properly with all living beings.

24To serve the spiritual master the disciple should learn cleanliness, austerity, tolerance, silence, study of Vedic knowledge, simplicity, celibacy, nonviolence, and equanimity in the face of material dualities such as heat and cold, happiness and distress.

25One should practice meditation by constantly seeing oneself to be an eternal cognizant spirit soul and seeing the Lord to be the absolute controller of everything. To increase one's meditation, one should live in a secluded place and give up false attachment to one's home and household paraphernalia. Giving up the decorations of the temporary material body, one should dress himself with scraps of cloth found in rejected places, or with the bark of trees. In this way one should learn to be satisfied in any material situation.

26One should have firm faith that he will achieve all success in life by following those scriptures that describe the glories of the Supreme Personality of Godhead, Bhagavān. At the same time, one should avoid blaspheming other scriptures. One should rigidly control his mind, speech and bodily activities, always speak the truth, and bring the mind and senses

under full control.

27-28One should hear, glorify and meditate upon the wonderful transcendental activities of the Lord. One should specifically become absorbed in the appearance, activities, qualities and holy names of the Supreme Personality of Godhead. Thus inspired, one should perform all of one's daily activities as an offering to the Lord. One should perform sacrifice, charity and penance exclusively for the Lord's satisfaction. Similarly, one should chant only those mantras which glorify the Supreme Personality of Godhead. And all one's religious activities should be performed as an offering to the Lord. Whatever one finds pleasing or enjoyable he should immediately offer to the Supreme Lord, and even his wife, children, home and very life air he should offer at the lotus feet of the Supreme Personality of Godhead.

29One who desires his ultimate self-interest should cultivate friendship with those persons who have accepted Kṛṣṇa as the Lord of their life. One should further develop an attitude of service toward all living beings. One should especially try to help those in the human form of life and, among them, especially those who accept the principles of religious behavior. Among religious persons, one should especially render service to the pure devotees of the Supreme Personality of Godhead.

30One should learn how to associate with the devotees of the Lord by gathering with them to chant the glories of the Lord. This process is most purifying. As devotees thus develop their loving friendship, they feel mutual happiness and satisfaction. And by thus encouraging one another they are able to give up material sense gratification, which is the cause of all suffering.

31The devotees of the Lord constantly discuss the glories of the Personality of Godhead among themselves. Thus they constantly remember the Lord and remind one another of His qualities and pastimes. In this way, by their devotion to the principles of bhakti-yoga, the devotees please the Personality of Godhead, who takes away from them everything inauspicious. Being purified of all impediments, the devotees awaken to pure love of Godhead, and thus, even within this world, their spiritualized bodies exhibit symptoms of transcendental ecstasy, such as standing of the bodily hairs on end.

32Having achieved love of Godhead, the devotees sometimes weep loudly, absorbed in thought of the infallible Lord. Sometimes they laugh, feel great pleasure, speak out loud to the Lord, dance or sing. Such devotees, having transcended material, conditioned life, sometimes imitate the unborn Supreme by acting out His pastimes. And sometimes, achieving His personal audience, they remain peaceful and silent.

33Thus learning the science of devotional service and practically engaging in the devotional service of the Lord, the devotee comes to the stage of love of Godhead. And by complete devotion to the Supreme Personality of Godhead, Nārāyaṇa, the devotee easily crosses over the illusory energy, māyā, which is extremely difficult to cross.

34King Nimi inquired: Please explain to me the transcendental situation of the Supreme Lord, Nārāyaṇa, who is Himself the Absolute Truth and the Supersoul of everyone. You can explain this to me, because you are all most expert in transcendental knowledge.

35Śrī Pippalāyana said: The Supreme Personality of Godhead is the cause of the creation, maintenance and destruction of this universe, yet He has no prior cause. He pervades the various states of wakefulness, dreaming and unconscious deep sleep and also exists beyond them. By entering the body of every living being as the Supersoul, He enlivens the body, senses, life airs and mental activities, and thus all the subtle and gross organs of the body begin their functions. My dear King, know that Personality of Godhead to be the Supreme.

36Neither the mind nor the faculties of speech, sight, intelligence, the life air or any of the senses are capable of penetrating that Supreme Truth, any more than small sparks can affect the original fire from which they are generated. Not even the authoritative language of the Vedas can perfectly describe the Supreme Truth, since the Vedas themselves disclaim the possibility that the Truth can be expressed by words. But through indirect reference the Vedic sound does serve as evidence of the Supreme Truth, since without the existence of that Supreme Truth the various restrictions found in the Vedas would have no ultimate purpose.

37Originally one, the Absolute, Brahman, comes to be known as threefold, manifesting itself as the three modes of material naturegoodness, passion and ignorance. Brahman further expands its potency, and thus the power to act and the power of consciousness become manifest, along with the false ego, which covers the identity of the conditioned living being. Thus, by the expansion of the multipotencies of the Absolute, the demigods, as the embodiment of knowledge, become manifest, along with the material senses, their objects, and the results of material activity, namely happiness and distress. In this way the manifestation of the material world takes place as the subtle cause and as the material effect visible in the appearance of gross material objects. Brahman, which is the source of all subtle and gross manifestations, is simultaneously transcendental to them, being absolute.

38Brahman, the eternal soul, was never born and will never die, nor does it grow or decay. That spiritual soul is actually the knower of the youth, middle age and death of the material body. Thus the soul can be understood to be pure consciousness, existing everywhere at all times and never being destroyed. Just as the life air within the body, although one, becomes manifest as many in contact with the various material senses, the one soul appears to assume various material designations in contact with the material body.

39The spirit soul is born in many different species of life within the material world. Some species are born from eggs, others from embryos, others from the seeds of plants and trees, and others from perspiration. But in all species of life the prāṇa, or vital air, remains unchanging and follows the spirit soul from one body to another. Similarly, the spirit soul is eternally the same despite its material condition of life. We have practical experience of this. When we are absorbed in deep sleep without dreaming, the material senses become inactive, and even the mind and false ego are merged into a dormant condition. But although the senses, mind and false ego are inactive, one remembers upon waking that he, the soul, was peacefully sleeping.

40When one seriously engages in the devotional service of the Personality of Godhead, fixing the Lord's lotus feet within one's heart as the only goal of life, one can destroy the innumerable impure desires lodged within the heart as a result of one's previous fruitive work within the three modes of material nature. When the heart is thus purified one can directly perceive both the Supreme Lord and one's self as transcendental entities. Thus one becomes perfect in spiritual understanding through direct experience, just as one can directly experience the sunshine through normal, healthy vision.

41King Nimi said: O great sages, please speak to us about the process of karma-yoga. Purified by this process of dedicating one's practical work to the Supreme, a person can very quickly free himself from all material activities, even in this life, and thus enjoy pure life on the transcendental platform.

42Once in the past, in the presence of my father, Mahārāja Ikṣvāku, I placed a similar question before four great sages who were sons of Lord Brahmā. But they did not answer my question. Please explain the reason for this.

43ŚrīĀvirhotra replied: Prescribed duties, nonperformance of such duties, and forbidden activities are topics one can properly understand through authorized study of the Vedic literature. This difficult subject matter can never be understood by mundane speculation. The authorized Vedic literature is the sound incarnation of the Personality of Godhead Himself, and thus Vedic knowledge is perfect. Even the greatest learned scholars are bewildered in their attempts to understand the science of action if they neglect the authority of Vedic knowledge.

44Childish and foolish people are attached to materialistic, fruitive activities, although the actual goal of life is to become free from such activities. Therefore, the Vedic injunctions indirectly lead one to the path of ultimate liberation by first prescribing fruitive religious activities, just as a father promises his child candy so that the child will take his medicine.

45If an ignorant person who has not conquered the material senses does not adhere to the Vedic injunctions, certainly he will engage in sinful and irreligious activities. Thus his reward will be repeated birth and death.

46By executing without attachment the regulated activities prescribed in the Vedas, offering the results of such work to the Supreme Lord, one attains the perfection of freedom from the bondage of material work. The material fruitive results offered in the revealed scriptures are not the actual goal of Vedic knowledge, but are meant for stimulating the interest of the performer.

47One who desires to quickly cut the knot of false ego, which binds the spirit soul, should worship the Supreme Lord, Keśava, by the regulations found in Vedic literatures such as the tantras.

48Having obtained the mercy of his spiritual master, who reveals to the disciple the injunctions of Vedic scriptures, the devotee should worship the Supreme Personality of Godhead in the particular personal form of the Lord the devotee finds most attractive.

49After cleansing oneself, purifying the body by prāṇāyāma, bhūta-śuddhi and other processes, and marking the body with sacred tilaka for protection, one should sit in front of the Deity and worship the Supreme Personality of Godhead.

50-51The devotee should gather whatever ingredients for worshiping the Deity are available, make ready the offerings, the ground, his mind and the Deity, sprinkle his sitting place with water for purification and prepare the bathing water and other paraphernalia. The devotee should then place the Deity in His proper place, both physically and within his own mind, concentrate his attention, and mark the Deity's heart and other parts of the body with tilaka. Then he should offer worship with the appropriate mantra.

52-53One should worship the Deity along with each of the limbs of His transcendental body, His weapons such as the Sudarśana cakra, His other bodily features and His personal associates. One should worship each of these transcendental aspects of the Lord by its own mantra and with offerings of water to wash the feet, scented water, water to wash the mouth, water for bathing, fine clothing and ornaments, fragrant oils, valuable necklaces, unbroken barleycorns, flower garlands, incense and lamps. Having thus completed the worship in all its aspects in accordance with the prescribed regulations, one should then honor the Deity of Lord Hari with prayers and offer obeisances to Him by bowing down.

54The worshiper should become fully absorbed in meditating upon himself as an eternal servant of the Lord and should thus perfectly worship the Deity, remembering that the Deity is also situated within his heart. Then he should take the remnants of the Deity's paraphernalia, such as flower garlands, upon his head and respectfully put the Deity back in His own place,

thus concluding the worship.

55Thus the worshiper of the Supreme Lord should recognize that the Personality of Godhead is all-pervading and should worship Him through His presence in fire, the sun, water and other elements, in the heart of the guest one receives in one's home, and also in one's own heart. In this way the worshiper will very soon achieve liberation.

**SB 11.4: Drumila Explains the Incarnations of Godhead to King Nimi**

1King Nimi said: The Supreme Personality of Godhead descends into the material world by His internal potency and according to His own desire. Therefore, please tell us about the various pastimes Lord Hari has performed in the past, is performing now and will perform in this world in the future in His various incarnations.

2Śrī Drumila said: Anyone trying to enumerate or describe fully the unlimited qualities of the unlimited Supreme Lord has the intelligence of a foolish child. Even if a great genius could somehow or other, after a time-consuming endeavor, count all the particles of dust on the surface of the earth, such a genius could never count the attractive qualities of the Personality of Godhead, who is the reservoir of all potencies.

3When the primeval Lord Nārāyaṇa created His universal body out of the five elements produced from Himself and then entered within that universal body by His own plenary portion, He thus became known as the Puruṣa.

4Within His body are elaborately arranged the three planetary systems of this universe. His transcendental senses generate the knowledge-acquiring and active senses of all embodied beings. His consciousness generates conditioned knowledge, and His powerful breathing produces the bodily strength, sensory power and conditioned activities of the embodied souls. He is the prime mover, through the agency of the material modes of goodness, passion and ignorance. And thus the universe is created, maintained and annihilated.

5In the beginning, the original Supreme Personality manifested the form of Brahmā through the material mode of passion in order to create this universe. The Lord manifested His form as Viṣṇu, the Lord of sacrifice and protector of the twice-born brāhmaṇas and their religious duties, to maintain the universe. And when the universe is to be annihilated the same Supreme Lord employs the material mode of ignorance and manifests the form of Rudra. The created living beings are thus always subject to the forces of creation, maintenance and destruction.

6Nara-Nārāyaṇa Ṛṣi, who is perfectly peaceful and is the best of sages, was born as the son of Dharma and his wife Mūrti, the daughter of Dakṣa. Nara-Nārāyaṇa Ṛṣi taught the devotional service of the Lord, by which material work ceases, and He Himself perfectly practiced this knowledge. He is living even today, His lotus feet served by the greatest of saintly persons.

7King Indra became fearful, thinking that Nara-Nārāyaṇa Ṛṣi would become very powerful by His severe penances and seize Indra's heavenly kingdom. Thus Indra, not knowing the transcendental glories of the incarnation of the Lord, sent Cupid and his associates to the Lord's residence in Badarikāśrama. As the charming breezes of spring created a most sensuous atmosphere, Cupid himself attacked the Lord with arrows in the form of the irresistible glances of beautiful women.

8The primeval Lord, understanding the offense committed by Indra, did not become proud. Instead He spoke laughingly as follows to Cupid and his followers, who were trembling before Him: "Do not fear, O mighty Madana, O wind-god and wives of the demigods. Rather, please accept these gifts I am offering you and kindly sanctify My āśrama by your presence."

9My dear King Nimi, when Nara-Nārāyaṇa Ṛṣi thus spoke, eradicating the fear of the demigods, they bowed their heads with shame and addressed the Lord as follows, to invoke His compassion: Our dear Lord, You are always transcendental, beyond the reach of illusion, and therefore You are forever changeless. Your causeless compassion toward us, despite our great offense, is not at all unusual in You, since innumerable great sages who are self-satisfied and free from anger and false pride bow down humbly at Your lotus feet.

10The demigods place many obstacles on the path of those who worship You to transcend the temporary abodes of the demigods and reach Your supreme abode. Those who offer the demigods their assigned shares in sacrificial performances encounter no such obstacles. But because You are the direct protector of Your devotee, he is able to step over the head of whatever obstacle the demigods place before him.

11Some men practice severe penances to cross beyond our influence, which is like an immeasurable ocean with endless waves of hunger, thirst, heat, cold and the other conditions brought about by the passing of time, such as the sensuous wind and the urges of the tongue and sex organs. Nevertheless, although crossing this ocean of sense gratification through severe penances, such persons foolishly drown in a cow's hoofprint when conquered by useless anger. Thus they exhaust the benefit of their difficult austerities in vain.

12While the demigods were thus praising the Supreme Lord, the all-powerful Lord suddenly manifested before their eyes many women, who were astonishingly gorgeous, decorated with fine clothes and ornaments, and all faithfully engaging in the Lord's service.

13When the followers of the demigods gazed upon the fascinating mystic beauty of the women created by Nara-Nārāyaṇa Ṛṣi and smelled the fragrance of their bodies, the minds of these followers became bewildered. Indeed, upon seeing the beauty and magnificence of such women, the representatives of the demigods were completely diminished in their own opulence.

14The Supreme Lord of lords then smiled slightly and told the representatives of heaven, who were bowing down before Him, "Please choose one of these women, whomever you find suitable for you. She will become the ornament of the heavenly planets."

15Vibrating the sacred syllable om, the servants of the demigods selected Urvaśī, the best of the Apsarās. Placing her in front of them out of respect, they returned to the heavenly planets.

16The servants of the demigods reached the assembly of Indra, and thus, while all the residents of the three heavens listened, they explained to Indra the supreme power of Nārāyaṇa. When Indra heard of Nara-Nārāyaṇa Ṛṣi and became aware of his offense, he was both frightened and astonished.

17The infallible Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, has descended into this world by His various partial incarnations such as Lord Haṁsa [the swan], Dattātreya, the four Kumāras and our own father, the mighty Ṛṣabhadeva. By such incarnations, the Lord teaches the science of self-realization for the benefit of the whole universe. In His appearance as Hayagrīva He killed the demon Madhu and thus brought the Vedas back from the hellish planet Pātālaloka.

18In His appearance as a fish, the Lord protected Satyavrata Manu, the earth and her valuable herbs. He protected them from the waters of annihilation. As a boar, the Lord killed Hiraṇyākṣa, the son of Diti, while delivering the earth from the universal waters. And as a tortoise, He lifted Mandara Mountain on His back so that nectar could be churned from the ocean. The Lord saved the surrendered king of the elephants, Gajendra, who was suffering terrible distress from the grips of a crocodile.

19The Lord also delivered the tiny ascetic sages called the Vālakhilyas when they fell into the water in a cow's hoofprint and Indra was laughing at them. The Lord then saved Indra when Indra was covered by darkness due to the sinful reaction for killing Vṛtrāsura. When the wives of the demigods were trapped in the palace of the demons without any shelter, the Lord saved them. In His incarnation as Nṛsiṁha, the Lord killed Hiraṇyakaśipu, the king of demons, to free the saintly devotees from fear.

20The Supreme Lord regularly takes advantage of the wars between the demons and demigods to kill the leaders of the demons. The Lord thus encourages the demigods by protecting the universe through His various incarnations during the reigns of each Manu. The Lord also appeared as Vāmana and took the earth away from Bali Mahārāja on the plea of begging three steps of land. The Lord then returned the entire world to the sons of Aditi.

21Lord Paraśurāma appeared in the family of Bhṛgu as a fire that burned to ashes the dynasty of Haihaya. Thus Lord Paraśurāma rid the earth of all kṣatriyas twenty-one times. The same Lord appeared as Rāmacandra, the husband of Sītādevī, and thus He killed the ten-headed Rāvaṇa, along with all the soldiers of Laṅkā. May that Śrī Rāma, whose glories destroy the contamination of the world, be always victorious.

22To diminish the burden of the earth, the unborn Lord will take birth in the Yadu dynasty and perform feats impossible even for the demigods. Propounding speculative philosophy, the Lord, as Buddha, will bewilder the unworthy performers of Vedic sacrifices. And as Kalki the Lord will kill all the low-class men posing as rulers at the end of the Age of Kali.

23O mighty-armed King, there are innumerable appearances and activities of the Supreme Lord of the universe similar to those I have already mentioned. In fact, the glories of the Supreme Lord are unlimited.

### SB 11.5: Nārada Concludes His Teachings to Vasudeva

1King Nimi further inquired: My dear Yogendras, all of you are most perfect in knowledge of the science of the self. Therefore, kindly explain to me the destination of those who for the most part never worship the Supreme Personality of Godhead, Hari, who are unable to quench their material desires and who are not in control of their own selves.

2Śrī Camasa said: Each of the four social orders, headed by the brāhmaṇas, was born through different combinations of the modes of nature, from the face, arms, thighs and feet of the Supreme Lord in His universal form. Thus the four spiritual orders were also generated.

3If any of the members of the four varṇas and four āśramas fail to worship or intentionally disrespect the Personality of Godhead, who is the source of their own creation, they will fall down from their position into a hellish state of life.

4There are many persons who have little opportunity to take part in discussions about the Supreme Personality of Godhead, Hari, and thus it is difficult for them to chant His infallible glories. Persons such as women, śūdras and other fallen classes always deserve the mercy of great personalities like yourself.

5On the other hand, brāhmaṇas, members of the royal order and vaiśyas, even after being allowed to approach the lotus feet of the Supreme Lord, Hari, by receiving the second birth of Vedic initiation, can become bewildered and adopt various materialistic philosophies.

6Ignorant of the art of work, such arrogantly proud fools, enchanted and enlivened by the sweet words of the Vedas, pose as learned authorities and offer flattering entreaties to the

demigods.

7Due to the influence of the mode of passion, the materialistic followers of the Vedas become subject to violent desires and are excessively lusty. Their anger is like that of a snake. Deceitful, overly proud, and sinful in their behavior, they mock the devotees who are dear to Lord Acyuta.

8The materialistic followers of Vedic rituals, giving up the worship of the Lord, instead practically worship their wives, and thus their homes become dedicated to sex life. Such materialistic householders encourage one another in such whimsical behavior. Understanding ritualistic sacrifice as a necessary item for bodily maintenance, they perform unauthorized ceremonies in which there is no distribution of foodstuffs or charity to the brāhmaṇas and other respectable persons. Instead, they cruelly slaughter animals such as goats without any understanding of the dark consequences of their activities.

9The intelligence of cruel-minded persons is blinded by false pride based on great wealth, opulence, prestigious family connections, education, renunciation, personal beauty, physical strength and successful performance of Vedic rituals. Being intoxicated with this false pride, such cruel persons blaspheme the Supreme Personality of Godhead and His devotees.

10The Personality of Godhead is eternally situated within the heart of every embodied being; still the Lord remains situated apart, just as the sky, which is all-pervading, does not mix with any material object. Thus the Lord is the supreme worshipable object and the absolute controller of everything. He is elaborately glorified in the Vedic literature, but those who are bereft of intelligence do not like to hear about Him. They prefer to waste their time discussing their own mental concoctions, which inevitably deal with gross material sense gratification such as sex life and meat-eating.

11In this material world the conditioned soul is always inclined to sex, meat-eating and intoxication. Therefore religious scriptures never actually encourage such activities. Although the scriptural injunctions provide for sex through sacred marriage, for meat-eating through sacrificial offerings and for intoxication through the acceptance of ritual cups of wine, such ceremonies are meant for the ultimate purpose of renunciation.

12The only proper fruit of acquired wealth is religiosity, on the basis of which one can acquire a philosophical understanding of life that eventually matures into direct perception of the Absolute Truth and thus liberation from all suffering. Materialistic persons, however, utilize their wealth simply for the advancement of their family situation. They fail to see that insurmountable death will soon destroy the frail material body.

13According to the Vedic injunctions, when wine is offered in sacrificial ceremonies it is later to be consumed by smelling, and not by drinking. Similarly, the sacrificial offering of animals is permitted, but there is no provision for wide-scale animal slaughter. Religious sex life is also permitted, but only in marriage for begetting children, and not for sensuous exploitation of the body. Unfortunately, however, the less intelligent materialists cannot understand that their duties in life should be performed purely on the spiritual platform.

14Those sinful persons who are ignorant of actual religious principles, yet consider themselves to be completely pious, without compunction commit violence against innocent animals who are fully trusting in them. In their next lives, such sinful persons will be eaten by the same creatures they have killed in this world.

15The conditioned souls become completely bound in affection to their own corpselike material bodies and their relatives and paraphernalia. In such a proud and foolish condition,

the conditioned souls envy other living entities as well as the Supreme Personality of Godhead, Hari, who resides in the heart of all beings. Thus enviously offending others, the conditioned souls gradually fall down into hell.

16Those who have not achieved knowledge of the Absolute Truth, yet who are still beyond the darkness of complete ignorance, generally follow the threefold path of pious material life, namely religiosity, economic development and sense gratification. Not having time to reflect on any higher purpose, they become the killers of their own soul.

17The killers of the soul are never peaceful, because they consider that human intelligence is ultimately meant for expanding material life. Thus neglecting their real, spiritual duties, they are always in distress. They are filled with great hopes and dreams, but unfortunately these are always destroyed by the inevitable march of time.

18Those who have turned away from the Supreme Lord, Vāsudeva, being under the spell of the Lord's illusory energy, are eventually forced to give up their so-called homes, children, friends, wives and lovers, which were all created by the illusory potency of the Supreme Lord, and enter against their will into the darkest regions of the universe.

19King Nimi inquired: In what colors and forms does the Supreme Personality of Godhead appear in each of the different ages, and with what names and by what types of regulative principles is the Lord worshiped in human society?

20Śrī Karabhājana replied: In each of the four yugas, or agesKṛta, Tretā, Dvāpara and KaliLord Keśava appears with various complexions, names and forms and is thus worshiped by various processes.

21In Satya-yuga the Lord is white and four-armed, has matted locks and wears a garment of tree bark. He carries a black deerskin, a sacred thread, prayer beads and the rod and waterpot of a brahmacārī.

22People in Satya-yuga are peaceful, nonenvious, friendly to every creature and steady in all situations. They worship the Supreme Personality by austere meditation and by internal and external sense control.

23In Satya-yuga the Lord is glorified by the names Haṁsa, Suparṇa, Vaikuṇṭha, Dharma, Yogeśvara, Amala, Īśvara, Puruṣa, Avyakta and Paramātmā.

24In Tretā-yuga the Lord appears with a red complexion. He has four arms, golden hair, and wears a triple belt representing initiation into each of the three Vedas. Embodying the knowledge of worship by sacrificial performance, which is contained in the Ṛg, Sāma and Yajur Vedas, His symbols are the ladle, spoon and other implements of sacrifice.

25In Tretā-yuga, those members of human society who are fixed in religiosity and are sincerely interested in achieving the Absolute Truth worship Lord Hari, who contains within Himself all the demigods. The Lord is worshiped by the rituals of sacrifice taught in the three Vedas.

26In Tretā-yuga the Lord is glorified by the names Viṣṇu, Yajṣa, Pṛśnigarbha, Sarvadeva, Urukrama, Vṛṣākapi, Jayanta and Urugāya.

27In Dvāpara-yuga the Supreme Personality of Godhead appears with a dark blue complexion, wearing yellow garments. The Lord's transcendental body is marked in this incarnation with Śrīvatsa and other distinctive ornaments, and He manifests His personal weapons.

28My dear King, in Dvāpara-yuga men who desire to know the Supreme Personality of

Godhead, who is the supreme enjoyer, worship Him in the mood of honoring a great king, following the prescriptions of both the Vedas and tantras.

29-30"Obeisances to You, O Supreme Lord Vāsudeva, and to Your forms of Saṅkarṣaṇa, Pradyumna and Aniruddha. O Supreme Personality of Godhead, all obeisances unto You. O Lord Nārāyaṇa Ṛṣi, O creator of the universe, best of personalities, master of this cosmos and original form of the universe, O Supersoul of all created entities, all homage unto You."

31O King, in this way people in Dvāpara-yuga glorified the Lord of the universe. In Kali-yuga also people worship the Supreme Personality of Godhead by following various regulations of the revealed scriptures. Now kindly hear of this from me.

32In the Age of Kali, intelligent persons perform congregational chanting to worship the incarnation of Godhead who constantly sings the names of Kṛṣṇa. Although His complexion is not blackish, He is Kṛṣṇa Himself. He is accompanied by His associates, servants, weapons and confidential companions.

33My dear Lord, You are the Mahā-puruṣa, the Supreme Personality of Godhead, and I worship Your lotus feet, which are the only eternal object of meditation. Those feet destroy the embarrassing conditions of material life and freely award the greatest desire of the soul, the attainment of pure love of Godhead. My dear Lord, Your lotus feet are the shelter of all holy places and of all saintly authorities in the line of devotional service and are honored by powerful demigods like Lord Śiva and Lord Brahmā. My Lord, You are so kind that You willingly protect all those who simply bow down to You with respect, and thus You mercifully relieve all the distress of Your servants. In conclusion, my Lord, Your lotus feet are actually the suitable boat for crossing over the ocean of birth and death, and therefore even Lord Brahmā and Lord Śiva seek shelter at Your lotus feet."

34O Mahā-puruṣa, I worship Your lotus feet. You gave up the association of the goddess of fortune and all her opulence, which is most difficult to renounce and is hankered after by even the great demigods. Being the most faithful follower of the path of religion, You thus left for the forest in obedience to a brāhmaṇa's curse. Out of sheer mercifulness You chased after the fallen conditioned souls, who are always in pursuit of the false enjoyment of illusion, and at the same time engaged in searching out Your own desired object, Lord Śyāmasundara.

35Thus, O King, the Supreme Lord Hari is the giver of all desirable benefits of life. Intelligent human beings worship the particular forms and names that the Lord manifests in different ages.

36Those who are actually advanced in knowledge are able to appreciate the essential value of this Age of Kali. Such enlightened persons worship Kali-yuga because in this fallen age all perfection of life can easily be achieved by the performance of saṅkīrtana.

37Indeed, there is no higher possible gain for embodied souls forced to wander throughout the material world than the Supreme Lord's saṅkīrtana movement, by which one can attain the supreme peace and free oneself from the cycle of repeated birth and death.

38-40My dear King, the inhabitants of Satya-yuga and other ages eagerly desire to take birth in this Age of Kali, since in this age there will be many devotees of the Supreme Lord, Nārāyaṇa. These devotees will appear in various places but will be especially numerous in South India. O master of men, in the Age of Kali those persons who drink the waters of the holy rivers of Draviḍa-deśa, such as the Tāmraparṇī, Kṛtamālā, Payasvinī, the extremely pious Kāverī and the Pratīcī Mahānadī, will almost all be purehearted devotees of the Supreme Personality of Godhead, Vāsudeva.

41O King, one who has given up all material duties and has taken full shelter of the lotus feet of Mukunda, who offers shelter to all, is not indebted to the demigods, great sages, ordinary living beings, relatives, friends, mankind or even one's forefathers who have passed away. Since all such classes of living entities are part and parcel of the Supreme Lord, one who has surrendered to the Lord's service has no need to serve such persons separately.

42One who has thus given up all other engagements and has taken full shelter at the lotus feet of Hari, the Supreme Personality of Godhead, is very dear to the Lord. Indeed, if such a surrendered soul accidentally commits some sinful activity, the Supreme Personality of Godhead, who is seated within everyone's heart, immediately takes away the reaction to such sin.

43Nārada Muni said: Having thus heard the science of devotional service, Nimi, the King of Mithilā, felt extremely satisfied and, along with the sacrificial priests, offered respectful worship to the sagacious sons of Jayantī.

44The perfect sages then disappeared before the eyes of everyone present. King Nimi faithfully practiced the principles of spiritual life he had learned from them, and thus he achieved the supreme goal of life.

45O greatly fortunate Vasudeva, simply apply with faith these principles of devotional service which you have heard, and thus, being free from material association, you will attain the Supreme.

46Indeed, the whole world has become filled with the glories of you and your good wife because the Supreme Personality of Godhead, Lord Hari, has taken the position of your son.

47My dear Vasudeva, you and your good wife Devakī have manifested great transcendental love for Kṛṣṇa, accepting Him as your son. Indeed, you are always seeing the Lord, embracing Him, speaking with Him, resting with Him, sitting together with Him and taking your meals with Him. By such affectionate and intimate association with the Lord, undoubtedly both of you have completely purified your hearts. In other words, you are already perfect.

48Inimical kings like Śiśupāla, Pauṇḍraka and Śālva were always thinking about Lord Kṛṣṇa. Even while they were lying down, sitting or engaging in other activities, they enviously meditated upon the bodily movements of the Lord, His sporting pastimes, His loving glances upon His devotees, and other attractive features displayed by the Lord. Being thus always absorbed in Kṛṣṇa, they achieved spiritual liberation in the Lord's own abode. What then can be said of the benedictions offered to those who constantly fix their minds on Lord Kṛṣṇa in a favorable, loving mood?

49Do not think of Kṛṣṇa as an ordinary child, because He is the Supreme Personality of Godhead, inexhaustible and the Soul of all beings. The Lord has concealed His inconceivable opulences and is thus outwardly appearing to be an ordinary human being.

50The Supreme Personality of Godhead descended to kill the demoniac kings who were the burden of the earth and to protect the saintly devotees. However, both the demons and the devotees are awarded liberation by the Lord's mercy. Thus, His transcendental fame has spread throughout the universe.

51ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: Having heard this narration, the greatly fortunate Vasudeva was completely struck with wonder. Thus he and his most blessed wife Devakī gave up all illusion and anxiety that had entered their hearts.

52Anyone who meditates on this pious historical narration with fixed attention will purify himself of all contamination in this very life and thus achieve the highest spiritual perfection.

### SB 11.6: The Yadu Dynasty Retires to Prabhāsa

1ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: Lord Brahmā then set off for Dvārakā, accompanied by his own sons as well as by the demigods and the great Prajāpatis. Lord Śiva, the bestower of auspiciousness to all living beings, also went, surrounded by many ghostly creatures.

2-4The powerful Lord Indra, along with the Maruts, Ādityas, Vasus, Aśvinīs, Ṛbhus, Aṅgirās, Rudras, Viśvedevas, Sādhyas, Gandharvas, Apsarās, Nāgas, Siddhas, Cāraṇas, Guhyakas, the great sages and forefathers and the Vidyādharas and Kinnaras, arrived at the city of Dvārakā, hoping to see Lord Kṛṣṇa. By His transcendental form, Kṛṣṇa, the Supreme Lord, enchanted all human beings and spread His own fame throughout the worlds. The Lord's glories destroy all contamination within the universe.

5In that resplendent city of Dvārakā, rich with all superior opulences, the demigods beheld with unsatiated eyes the wonderful form of Śrī Kṛṣṇa.

6The demigods covered the Supreme Lord of the universe with flower garlands brought from the gardens of heaven. Then they praised Him, the best of the Yadu dynasty, with statements containing charming words and ideas.

7The demigods began to speak: Our dear Lord, advanced mystic yogīs, striving for liberation from the severe bondage of material work, meditate with great devotion upon Your lotus feet within their hearts. Dedicating our intelligence, senses, vital air, mind and power of speech to Your Lordship, we demigods bow down at Your lotus feet.

8O unconquerable Lord, You engage Your illusory energy, composed of three modes, to unleash, maintain and devastate the inconceivable manifest cosmos, all within Your own self. As the supreme superintendent of māyā, You appear to be situated in the interaction of the modes of nature; however, You are never affected by material activities. In fact, You are directly engaged in Your own eternal, spiritual bliss, and thus You cannot be accused of any material infection.

9O greatest of all, those whose consciousness is polluted by illusion cannot purify themselves merely by ordinary worship, study of the Vedas, charity, austerity and ritual activities. Our Lord, those pure souls who have developed a powerful transcendental faith in Your glories achieve a purified state of existence that can never be attained by those lacking such faith.

10Great sages, desiring the highest benefit in life, always cherish Your lotus feet within their hearts, which are melted by love for You. Similarly, Your self-controlled devotees, desiring to cross beyond the material kingdom of heaven to achieve opulence equal to Yours, worship Your lotus feet in the morning, at noon and in the evening. Thus, they meditate upon Your Lordship in Your quadruple expansion. Your lotus feet are just like a blazing fire that burns to ashes all the inauspicious desires for material sense gratification.

11Those about to offer oblations into the fire of sacrifice in accordance with the Ṛg, Yajur and Sāma Vedas meditate on Your lotus feet. Similarly, the practitioners of transcendental yoga meditate upon Your lotus feet, hoping for knowledge about Your divine mystic potency, and the most elevated pure devotees perfectly worship Your lotus feet, desiring to cross beyond Your illusory potency.

12O almighty Lord, You are so kind to Your servants that You have accepted the withered

flower garland that we have placed on Your chest. Since the goddess of fortune makes her abode on Your transcendental chest, she will undoubtedly become agitated, like a jealous co-wife, upon seeing our offering also dwelling there. Yet You are so merciful that You neglect Your eternal consort Lakṣmī and accept our offering as most excellent worship. O merciful Lord, may Your lotus feet always act as a blazing fire to consume the inauspicious desires within our hearts.

13O omnipotent Lord, in Your incarnation as Trivikrama, You raised Your leg like a flagpole to break the shell of the universe, allowing the holy Ganges to flow down, like a banner of victory, in three branches throughout the three planetary systems. By three mighty steps of Your lotus feet, Your Lordship captured Bali Mahārāja, along with his universal kingdom. Your lotus feet inspire fear in the demons by driving them down to hell and fearlessness among Your devotees by elevating them to the perfection of heavenly life. We are sincerely trying to worship You, our Lord; therefore may Your lotus feet kindly free us from all of our sinful reactions.

14You are the Supreme Personality of Godhead, the transcendental entity who is superior to both material nature and the enjoyer of nature. May Your lotus feet bestow transcendental pleasure upon us. All of the great demigods, beginning with Brahmā, are embodied living entities. Struggling painfully with one another under the strict control of Your time factor, they are just like bulls dragged by ropes tied through their pierced noses.

15You are the cause of the creation, maintenance and destruction of this universe. As time, You regulate the subtle and manifest states of material nature and control every living being. As the threefold wheel of time You diminish all things by Your imperceptible actions, and thus You are the Supreme Personality of Godhead.

16My dear Lord, the original puruṣa-avatāra, Mahā-Viṣṇu, acquires His creative potency from You. Thus with infallible energy He impregnates material nature, producing the mahat-tattva. Then the mahat-tattva, the amalgamated material energy, endowed with the potency of the Lord, produces from itself the primeval golden egg of the universe, which is covered by various layers of material elements.

17O Lord, You are the supreme creator of this universe and the ultimate controller of all moving and nonmoving living entities. You are Hṛṣīkeśa, the supreme controller of all sensory activity, and thus You never become contaminated or entangled in the course of Your supervision of the infinite sensory activities within the material creation. On the other hand, other living entities, even yogīs and philosophers, are disturbed and frightened simply by remembering the material objects that they have supposedly renounced in their pursuit of enlightenment.

18My Lord, You are living with sixteen thousand exquisitely beautiful, aristocratic wives. By their irresistible coy and smiling glances and by their lovely arching eyebrows, they send You messages of eager conjugal love. But they are completely unable to disturb the mind and senses of Your Lordship.

19The nectar-bearing rivers of discussions about You, and also the holy rivers generated from the bathing of Your lotus feet, are able to destroy all contamination within the three worlds. Those who are striving for purification associate with the holy narrations of Your glories by hearing them with their ears, and they associate with the holy rivers flowing from Your lotus feet by physically bathing in them.

20ŚrīŚukadeva Gosvāmī continued: After Brahmā, along with Lord Śiva and the other demigods, thus offered prayers to the Supreme Lord, Govinda, Lord Brahmā situated himself in

the sky and addressed the Lord as follows.

21Lord Brahmā said: My dear Lord, previously we requested You to remove the burden of the earth. O unlimited Personality of Godhead, that request has certainly been fulfilled.

22My Lord, You have reestablished the principles of religion among pious men who are always firmly bound to the truth. You have also distributed Your glories all over the world, and thus the whole world can be purified by hearing about You.

23Descending into the dynasty of King Yadu, You have manifested Your unique transcendental form, and for the benefit of the entire universe You have executed magnanimous transcendental activities.

24My dear Lord, those pious and saintly persons who in the Age of Kali hear about Your transcendental activities and also glorify them will easily cross over the darkness of the age.

25O Supreme Personality of Godhead, O my Lord, You have descended into the Yadu dynasty, and thus You have spent one hundred twenty-five autumns with Your devotees.

26-27My dear Lord, there is nothing remaining at this time for Your Lordship to do on behalf of the demigods. You have already withdrawn Your dynasty by the curse of the brāhmaṇas. O Lord, You are the basis of everything, and if You so desire, kindly return now to Your own abode in the spiritual world. At the same time, we humbly beg that You always protect us. We are Your humble servants, and on Your behalf we are managing the universal situation. We, along with our planets and followers, require Your constant protection.

28The Supreme Lord said: O lord of the demigods, Brahmā, I understand your prayers and request. Having removed the burden of the earth, I have executed everything that was required on your behalf.

29That very Yādava dynasty in which I appeared became greatly magnified in opulence, especially in their physical strength and courage, to the extent that they threatened to devour the whole world. Therefore I have stopped them, just as the shore holds back the great ocean.

30If I were to leave this world without withdrawing the overly proud members of the Yadu dynasty, the whole world would be destroyed by the deluge of their unlimited expansion.

31Now due to the brāhmaṇas' curse, the annihilation of My family has already begun. O sinless Brahmā, when this annihilation is finished and I am enroute to Vaikuṇṭha, I will pay a small visit to your abode.

32ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: Thus addressed by the Lord of the universe, the self-born Brahmā fell down in obeisances at the lotus feet of the Lord. Surrounded by all the demigods, the great Brahmā then returned to his personal abode.

33Thereafter, the Personality of Godhead observed that tremendous disturbances were taking place in the holy city of Dvārakā. Thus the Lord spoke to the assembled senior members of the Yadu dynasty as follows.

34The Supreme Personality of Godhead said: Our dynasty has been cursed by the brāhmaṇas. Such a curse is impossible to counteract, and thus great disturbances are appearing everywhere around us.

35My dear respected elders, we must not remain any longer in this place if we wish to keep our lives intact. Let us go this very day to the most pious place Prabhāsa. We have no time to

delay.

36Once, the moon was afflicted with consumption because of the curse of Dakṣa, but just by taking bath at Prabhāsa-kṣetra, the moon was immediately freed from his sinful reaction and again resumed the waxing of his phases.

37-38By bathing at Prabhāsa-kṣetra, by offering sacrifice there to placate the forefathers and demigods, by feeding the worshipable brāhmaṇas with various delicious foodstuffs and by bestowing opulent gifts upon them as the most suitable candidates for charity, we will certainly cross over these terrible dangers through such acts of charity, just as one can cross over a great ocean in a suitable boat.

39Śukadeva Gosvāmī said: O favorite son of the Kurus, thus advised by the Personality of Godhead, the Yādavas made up their minds to go to that holy place, Prabhāsa-kṣetra, and thus yoked their horses to their chariots.

40-41My dear King, Uddhava was a constantly faithful follower of Lord Kṛṣṇa. Upon seeing the imminent departure of the Yādavas, hearing from them of the Lord's instructions and taking note of the fearful omens, he approached the Personality of Godhead in a private place. He bowed down with his head at the lotus feet of the supreme controller of the universe and with folded hands addressed Him as follows.

42Śrī Uddhava said: O my Lord, O supreme God among all the demigods, real piety is invoked simply by hearing and chanting Your transcendental glories. My Lord, it appears that You will now withdraw Your dynasty, and thus You Yourself will finally give up Your pastimes within this universe. You are the supreme controller and the master of all mystic power. But although You are fully capable of counteracting the brāhmaṇas' curse against Your dynasty, You are not doing so, and Your disappearance is imminent.

43O Lord Keśava, my dear master, I cannot tolerate giving up Your lotus feet even for a fraction of a moment. I urge You to take me along with You to Your own abode.

44O my dear Kṛṣṇa, Your pastimes are supremely auspicious for mankind and are an intoxicating beverage for the ears. Tasting such pastimes, people forget their desires for other things.

45My dear Lord, You are the Supreme Soul, and thus You are most dear to us. We are Your devotees, and how can we possibly reject You or live without You even for a moment? Whether we are lying down, sitting, walking, standing, bathing, enjoying recreation, eating or doing anything else, we are constantly engaged in Your service.

46Simply by decorating ourselves with the garlands, fragrant oils, clothes and ornaments that You have already enjoyed, and by eating the remnants of Your meals, we, Your servants, will indeed conquer Your illusory energy.

47Naked sages who seriously endeavor in spiritual practice, who have raised their semen upward, who are peaceful and sinless members of the renounced order, attain the spiritual abode called Brahman.

48-49O greatest of mystics, although we are conditioned souls wandering on the path of fruitive work, we will certainly cross beyond the darkness of this material world simply by hearing about Your Lordship in the association of Your devotees. Thus we are always remembering and glorifying the wonderful things You do and the wonderful things You say. We ecstatically recall Your amorous pastimes with Your confidential conjugal devotees and

how You boldly smile and move about while engaged in such youthful pastimes. My dear Lord, Your loving pastimes are bewilderingly similar to the activities of ordinary people within this material world.

50Śukadeva Gosvāmī said: O King Parīkṣit, thus addressed, the Supreme Personality of Godhead, Kṛṣṇa, the son of Devakī, began to reply confidentially to His dear, unalloyed servant Uddhava.

**SB 11.7: Lord Kṛṣṇa Instructs Uddhava**

1The Supreme Personality of Godhead said: O greatly fortunate Uddhava, you have accurately revealed My desire to withdraw the Yadu dynasty from the earth and return to My own abode in Vaikuṇṭha. Thus Lord Brahmā, Lord Śiva and all other planetary rulers are now praying for Me to resume My residence in Vaikuṇṭha.

2Answering the prayer of Lord Brahmā, I descended within this world along with My plenary portion, Lord Baladeva, and performed various activities on behalf of the demigods. I have now completed My mission here.

3Now due to the brāhmaṇas' curse the Yadu dynasty will certainly perish by fighting among themselves; and on the seventh day from today the ocean will rise up and inundate this city of Dvārakā.

4O saintly Uddhava, in the near future I will abandon this earth. Then, being overwhelmed by the Age of Kali, the earth will be bereft of all piety.

5My dear Uddhava, you should not remain here on the earth once I have abandoned this world. My dear devotee, you are sinless, but in Kali-yuga the people will be addicted to all types of sinful activities; therefore do not stay here.

6Now you should completely give up all attachment to your personal friends and relatives and fix your mind on Me. Thus being always conscious of Me, you should observe all things with equal vision and wander throughout the earth.

7My dear Uddhava, the material universe that you perceive through your mind, speech, eyes, ears and other senses is an illusory creation that one imagines to be real due to the influence of māyā. In fact, you should know that all of the objects of the material senses are temporary.

8One whose consciousness is bewildered by illusion perceives many differences in value and meaning among material objects. Thus one engages constantly on the platform of material good and evil and is bound by such conceptions. Absorbed in material duality, such a person contemplates the performance of compulsory duties, nonperformance of such duties and performance of forbidden activities.

9Therefore, bringing all your senses under control and thus subduing the mind, you should see the entire world as situated within the self, who is expanded everywhere, and you should also see this individual self within Me, the Supreme Personality of Godhead.

10Being fully endowed with conclusive knowledge of the Vedas and having realized the ultimate purpose of such knowledge in practice, you will be able to perceive the pure self, and thus your mind will be satisfied. At that time you will become dear to all living beings, headed by the demigods, and you will never be hampered by any disturbance in life.

11One who has transcended material good and evil automatically acts in accordance with religious injunctions and avoids forbidden activities. The self-realized person does this

spontaneously, like an innocent child, and not because he is thinking in terms of material good and evil.

12One who is the kind well-wisher of all living beings, who is peaceful and firmly fixed in knowledge and realization, sees Me within all things. Such a person never again falls down into the cycle of birth and death.

13ŚrīŚukadeva Gosvāmi said: O King, the Supreme Personality of Godhead, Lord Kṛṣṇa, thus instructed His pure devotee Uddhava, who was eager to receive knowledge from the Lord. Uddhava then offered obeisances to the Lord and spoke as follows.

14Śrī Uddhava said: My dear Lord, You alone award the results of yoga practice, and You are so kind that by Your own influence You distribute the perfection of yoga to Your devotee. Thus You are the Supreme Soul who is realized through yoga, and it is You who are the origin of all mystic power. For my supreme benefit You have explained the procedure for giving up the material world through the process of sannyāsa, or renunciation.

15My dear Lord, O Supreme Soul, for those whose minds are attached to sense gratification, and especially for those bereft of devotion unto You, such renunciation of material enjoyment is most difficult to perform. That is my opinion.

16O my Lord, I myself am most foolish because my consciousness is merged in the material body and bodily relations, which are all manufactured by Your illusory energy. Thus I am thinking, "I am this body, and all of these relatives are mine." Therefore, my Lord, please instruct Your poor servant. Please tell me how I can very easily carry out Your instructions.

17My dear Lord, You are the Absolute Truth, the Supreme Personality of Godhead, and You reveal Yourself to Your devotees. Besides Your Lordship, I do not see anyone who can actually explain perfect knowledge to me. Such a perfect teacher is not to be found even among the demigods in heaven. Indeed, all of the demigods, headed by Lord Brahmā, are bewildered by Your illusory potency. They are conditioned souls who accept their own material bodies and bodily expansions to be the highest truth.

18Therefore, O Lord, feeling weary of material life and tormented by its distresses, I now surrender unto You because You are the perfect master. You are the unlimited, all-knowing Supreme Personality of Godhead, whose spiritual abode in Vaikuṇṭha is free from all disturbances. In fact, You are known as Nārāyaṇa, the true friend of all living beings.

19The Supreme Lord replied: Generally those human beings who can expertly analyze the actual situation of the material world are able to raise themselves beyond the inauspicious life of gross material gratification.

20An intelligent person, expert in perceiving the world around him and in applying sound logic, can achieve real benefit through his own intelligence. Thus sometimes one acts as one's own instructing spiritual master.

21In the human form of life, those who are self-controlled and expert in the spiritual science of Sāṅkhya can directly see Me along with all of My potencies.

22In this world there are many kinds of created bodiessome with one leg, others with two, three, four or more legs, and still others with no legsbut of all these, the human form is actually dear to Me.

23Although I, the Supreme Lord, can never be captured by ordinary sense perception, those situated in human life may use their intelligence and other faculties of perception to directly

search for Me through both apparent and indirectly ascertained symptoms.

24In this regard, sages cite a historical narration concerning the conversation between the greatly powerful King Yadu and an avadhūta.

25Mahārāja Yadu once observed a certain brāhmaṇa avadhūta, who appeared to be quite young and learned, wandering about fearlessly. Being himself most learned in spiritual science, the King took the opportunity and inquired from him as follows.

26Śrī Yadu said: O brāhmaṇa, I see that you are not engaged in any practical religious activity, and yet you have acquired a most expert understanding of all things and all people within this world. Kindly tell me, sir, how did you acquire this extraordinary intelligence, and why are you traveling freely throughout the world behaving as if you were a child?

27Generally human beings work hard to cultivate religiosity, economic development, sense gratification and also knowledge of the soul, and their usual motive is to increase the duration of their lives, acquire fame and enjoy material opulence.

28You, however, although capable, learned, expert, handsome and most eloquent, are not engaged in doing anything, nor do you desire anything; rather, you appear stupefied and maddened as if you were a ghostly creature.

29Although all people within the material world are burning in the great forest fire of lust and greed, you remain free and are not burned by that fire. You are just like an elephant who takes shelter from a forest fire by standing within the water of the Ganges River.

30O brāhmaṇa, we see that you are devoid of any contact with material enjoyment and that you are traveling alone, without any companions or family members. Therefore, because we are sincerely inquiring from you, please tell us the cause of the great ecstasy that you are feeling within yourself.

31Lord Kṛṣṇa continued: The intelligent King Yadu, always respectful to the brāhmaṇas, waited with bowed head as the brāhmaṇa, pleased with the King's attitude, began to reply.

32The brāhmaṇa said: My dear King, with my intelligence I have taken shelter of many spiritual masters. Having gained transcendental understanding from them, I now wander about the earth in a liberated condition. Please listen as I describe them to you.

33-35O King, I have taken shelter of twenty-four gurus, who are the following: the earth, air, sky, water, fire, moon, sun, pigeon and python; the sea, moth, honeybee, elephant and honey thief; the deer, the fish, the prostitute Piṅgalā, the kurara bird and the child; and the young girl, arrow maker, serpent, spider and wasp. My dear King, by studying their activities I have learned the science of the self.

36Please listen, O son of Mahārāja Yayāti, O tiger among men, as I explain to you what I have learned from each of these gurus.

37A sober person, even when harassed by other living beings, should understand that his aggressors are acting helplessly under the control of God, and thus he should never be distracted from progress on his own path. This rule I have learned from the earth.

38A saintly person should learn from the mountain to devote all his efforts to the service of others and to make the welfare of others the sole reason for his existence. Similarly, as the disciple of the tree, he should learn to dedicate himself to others.

39A learned sage should take his satisfaction in the simple maintenance of his existence and should not seek satisfaction through gratifying the material senses. In other words, one should care for the material body in such a way that one's higher knowledge is not destroyed and so that one's speech and mind are not deviated from self-realization.

40Even a transcendentalist is surrounded by innumerable material objects, which possess good and bad qualities. However, one who has transcended material good and evil should not become entangled even when in contact with the material objects; rather, he should act like the wind.

41Although a self-realized soul may live in various material bodies while in this world, experiencing their various qualities and functions, he is never entangled, just as the wind which carries various aromas does not actually mix with them.

42A thoughtful sage, even while living within a material body, should understand himself to be pure spirit soul. Similarly, one should see that the spirit soul enters within all forms of life, both moving and nonmoving, and that the individual souls are thus all-pervading. The sage should further observe that the Supreme Personality of Godhead, as the Supersoul, is simultaneously present within all things. Both the individual soul and the Supersoul can be understood by comparing them to the nature of the sky: although the sky extends everywhere and everything rests within the sky, the sky does not mix with anything, nor can it be divided by anything.

43Although the mighty wind blows clouds and storms across the sky, the sky is never implicated or affected by these activities. Similarly, the spirit soul is not actually changed or affected by contact with the material nature. Although the living entity enters within a body made of earth, water and fire, and although he is impelled by the three modes of nature created by eternal time, his eternal spiritual nature is never actually affected.

44O King, a saintly person is just like water because he is free from all contamination, gentle by nature, and by speaking creates a beautiful vibration like that of flowing water. Just by seeing, touching or hearing such a saintly person, the living entity is purified, just as one is cleansed by contact with pure water. Thus a saintly person, just like a holy place, purifies all those who contact him because he always chants the glories of the Lord.

45Saintly persons become powerful by execution of austerities. Their consciousness is unshakable because they do not try to enjoy anything within the material world. Such naturally liberated sages accept foodstuffs that are offered to them by destiny, and if by chance they happen to eat contaminated food, they are not affected, just like fire, which burns up contaminated substances that are offered to it.

46A saintly person, just like fire, sometimes appears in a concealed form and at other times reveals himself. For the welfare of the conditioned souls who desire real happiness, a saintly person may accept the worshipable position of spiritual master, and thus like fire he burns to ashes all the past and future sinful reactions of his worshipers by mercifully accepting their offerings.

47Just as fire manifests differently in pieces of wood of different sizes and qualities, the omnipotent Supreme Soul, having entered the bodies of higher and lower life forms created by His own potency, appears to assume the identity of each.

48The various phases of one's material life, beginning with birth and culminating in death, are all properties of the body and do not affect the soul, just as the apparent waxing and waning of the moon does not affect the moon itself. Such changes are enforced by the imperceptible movements of time.

49The flames of a fire appear and disappear at every moment, and yet this creation and destruction is not noticed by the ordinary observer. Similarly, the mighty waves of time flow constantly, like the powerful currents of a river, and imperceptibly cause the birth, growth and death of innumerable material bodies. And yet the soul, who is thus constantly forced to change his position, cannot perceive the actions of time.

50Just as the sun evaporates large quantities of water by its potent rays and later returns the water to the earth in the form of rain, similarly, a saintly person accepts all types of material objects with his material senses, and at the appropriate time, when the proper person has approached him to request them, he returns such material objects. Thus, both in accepting and giving up the objects of the senses, he is not entangled.

51Even when reflected in various objects, the sun is never divided, nor does it merge into its reflection. Only those with dull brains would consider the sun in this way. Similarly, although the soul is reflected through different material bodies, the soul remains undivided and nonmaterial.

52One should never indulge in excessive affection or concern for anyone or anything; otherwise one will have to experience great suffering, just like the foolish pigeon.

53There once was a pigeon who lived in the forest along with his wife. He had built a nest within a tree and lived there for several years in her company.

54The two pigeons were very much devoted to their household duties. Their hearts being tied together by sentimental affection, they were each attracted by the other's glances, bodily features and states of mind. Thus, they completely bound each other in affection.

55Naively trusting in the future, they carried out their acts of resting, sitting, walking, standing, conversing, playing, eating and so forth as a loving couple among the trees of the forest.

56Whenever she desired anything, O King, the she-pigeon would flatteringly cajole her husband, and he in turn would gratify her by faithfully doing whatever she wanted, even with great personal difficulty. Thus, he could not control his senses in her association.

57Then the female pigeon experienced her first pregnancy. When the time arrived, the chaste lady delivered a number of eggs within the nest in the presence of her husband.

58When the time was ripe, baby pigeons, with tender limbs and feathers created by the inconceivable potencies of the Lord, were born from those eggs.

59The two pigeons became most affectionate to their children and took great pleasure in listening to their awkward chirping, which sounded very sweet to the parents. Thus with love they began to raise the little birds who were born of them.

60The parent birds became very joyful by observing the soft wings of their children, their chirping, their lovely innocent movements around the nest and their attempts to jump up and fly. Seeing their children happy, the parents were also happy.

61Their hearts bound to each other by affection, the foolish birds, completely bewildered by the illusory energy of Lord Viṣṇu, continued to take care of the young offspring who had been born to them.

62One day the two heads of the family went out to find food for the children. Being very anxious to feed their offspring properly, they wandered all over the forest for a long time.

63At that time a certain hunter who happened to be wandering through the forest saw the young pigeons moving about near their nest. Spreading out his net he captured them all.

64The pigeon and his wife were always anxious for the maintenance of their children, and they were wandering in the forest for that purpose. Having obtained proper food, they now returned to their nest.

65When the lady pigeon caught sight of her own children trapped within the hunter's net, she was overwhelmed with anguish, and crying out, she rushed toward them as they cried out to her in return.

66The lady pigeon had always allowed herself to be bound by the ropes of intense material affection, and thus her mind was overwhelmed by anguish. Being in the grip of the illusory energy of the Lord, she completely forgot herself, and rushing forward to her helpless children, she was immediately bound in the hunter's net.

67Seeing his own children, who were more dear to him than life itself, fatally bound in the hunter's net along with his dearmost wife, whom he considered equal in every way to himself, the poor male pigeon began to lament wretchedly.

68The male pigeon said: Alas, just see how I am now destroyed! I am obviously a great fool, for I did not properly execute pious activities. I could not satisfy myself, nor could I fulfill the purpose of life. My dear family, which was the basis of my religiosity, economic development and sense gratification, is now hopelessly ruined.

69My wife and I were an ideal match. She always faithfully obeyed me and in fact accepted me as her worshipable deity. But now, seeing her children lost and her home empty, she has left me behind and gone to heaven with our saintly children.

70Now I am a wretched person living in an empty home. My wife is dead; my children are dead. Why should I possibly want to live? My heart is so pained by separation from my family that life itself has become simply suffering.

71As the father pigeon wretchedly stared at his poor children trapped in the net and on the verge of death, pathetically struggling to free themselves, his mind went blank, and thus he himself fell into the hunter's net.

72The cruel hunter, having fulfilled his desire by capturing the head pigeon, his wife and all of their children, set off for his own home.

73In this way, one who is too attached to family life becomes disturbed at heart. Like the pigeon, he tries to find pleasure in mundane sex attraction. Busily engaged in maintaining his own family, the miserly person is fated to suffer greatly, along with all his family members.

74The doors of liberation are opened wide to one who has achieved human life. But if a human being simply devotes himself to family life like the foolish bird in this story, then he is to be considered as one who has climbed to a high place only to trip and fall down.

## SB 11.8: The Story of Piṅgalā

1The saintly brāhmaṇa said: O King, the embodied living entity automatically experiences unhappiness in heaven or hell. Similarly, happiness will also be experienced, even without one's seeking it. Therefore a person of intelligent discrimination does not make any endeavor to obtain such material happiness.

2Following the example of the python, one should give up material endeavors and accept for one's maintenance food that comes of its own accord, whether such food be delicious or tasteless, ample or meager.

3If at any time food does not come, then a saintly person should fast for many days without making endeavor. He should understand that by God's arrangement he must fast. Thus, following the example of the python, he should remain peaceful and patient.

4A saintly person should remain peaceful and materially inactive, maintaining his body without much endeavor. Even though possessed of full sensual, mental and physical strength, a saintly person should not become active for material gain but rather should always remain alert to his actual self-interest.

5A saintly sage is happy and pleasing in his external behavior, whereas internally he is most grave and thoughtful. Because his knowledge is immeasurable and unlimited he is never disturbed, and thus in all respects he is like the tranquil waters of the unfathomable and unsurpassable ocean.

6During the rainy season the swollen rivers rush into the ocean, and during the dry summer the rivers, now shallow, severely reduce their supply of water; yet the ocean does not swell up during the rainy season, nor does it dry up in the hot summer. In the same way, a saintly devotee who has accepted the Supreme Personality of Godhead as the goal of his life sometimes will receive by providence great material opulence, and sometimes he will find himself materially destitute. However, such a devotee of the Lord does not rejoice in a flourishing condition, nor is he morose when poverty-stricken.

7One who has failed to control his senses immediately feels attraction upon seeing a woman's form, which is created by the illusory energy of the Supreme Lord. Indeed, when the woman speaks with enticing words, smiles coquettishly and moves her body sensuously, his mind is immediately captured, and thus he falls blindly into the darkness of material existence, just as the moth maddened by the fire rushes blindly into its flames.

8A foolish person with no intelligent discrimination is immediately aroused at the sight of a lusty woman beautifully decorated with golden ornaments, fine clothing and other cosmetic features. Being eager for sense gratification, such a fool loses all intelligence and is destroyed just like the moth who rushes into the blazing fire.

9A saintly person should accept only enough food to keep his body and soul together. He should go from door to door accepting just a little bit of food from each family. Thus he should practice the occupation of the honeybee.

10Just as the honeybee takes nectar from all flowers, big and small, an intelligent human being should take the essence from all religious scriptures.

11A saintly person should not think, "This food I will keep to eat tonight and this other food I can save for tomorrow." In other words, a saintly person should not store foodstuffs acquired by begging. Rather, he should use his own hands as his plate and eat whatever fits on them. His only storage container should be his belly, and whatever conveniently fits into his belly should be his stock of food. Thus one should not imitate the greedy honeybee who eagerly collects more and more honey.

12A saintly mendicant should not even collect foodstuffs to eat later in the same day or the next day. If he disregards this injunction and like the honeybee collects more and more delicious foodstuffs, that which he has collected will indeed ruin him.

13A saintly person should never touch a young girl. In fact, he should not even let his foot touch a wooden doll in the shape of a woman. By bodily contact with a woman he will surely be captured by illusion, just as the elephant is captured by the she-elephant due to his desire to touch her body.

14A man possessing intelligent discrimination should not under any circumstances try to exploit the beautiful form of a woman for his sense gratification. Just as an elephant trying to enjoy a she-elephant is killed by other bull elephants also enjoying her company, one trying to enjoy a lady's company can at any moment be killed by her other lovers who are stronger than he.

15A greedy person accumulates a large quantity of money with great struggle and pain, but the person who has struggled so much to acquire this wealth is not always allowed to enjoy it himself or give it in charity to others. The greedy man is like the bee who struggles to produce a large quantity of honey, which is then stolen by a man who will enjoy it personally or sell it to others. No matter how carefully one hides his hard-earned wealth or tries to protect it, there are those who are expert in detecting the whereabouts of valuable things, and they will steal it.

16Just as a hunter takes away the honey laboriously produced by the honeybees, similarly, saintly mendicants such as brahmacārīs and sannyāsīs are entitled to enjoy the property painstakingly accumulated by householders dedicated to family enjoyment.

17A saintly person dwelling in the forest in the renounced order of life should never listen to songs or music promoting material enjoyment. Rather, a saintly person should carefully study the example of the deer, who is bewildered by the sweet music of the hunter's horn and is thus captured and killed.

18Becoming attracted to the worldly singing, dancing and musical entertainment of beautiful women, even the great sage Ṛṣyaśṛṅga, the son of a deer, fell totally under their control, just like a pet animal.

19Just as a fish, incited by the desire to enjoy his tongue, is fatally trapped on the fisherman's hook, similarly, a foolish person is bewildered by the extremely disturbing urges of the tongue and thus is ruined.

20By fasting, learned men quickly bring all of the senses except the tongue under control, because by abstaining from eating such men are afflicted with an increased desire to gratify the sense of taste.

21Although one may conquer all of the other senses, as long as the tongue is not conquered it cannot be said that one has controlled his senses. However, if one is able to control the tongue, then one is understood to be in full control of all the senses.

22O son of kings, previously in the city of Videha there dwelled a prostitute named Piṅgalā. Now please hear what I have learned from that lady.

23Once that prostitute, desiring to bring a lover into her house, stood outside in the doorway at night showing her beautiful form.

24O best among men, this prostitute was very anxious to get money, and as she stood on the street at night she studied all the men who were passing by, thinking, "Oh, this one surely has money. I know he can pay the price, and I am sure he would enjoy my company very much." Thus she thought about all the men on the street.

25-26As the prostitute Piṅgalā stood in the doorway, many men came and went, walking by her

house. Her only means of sustenance was prostitution, and therefore she anxiously thought, "Maybe this one who is coming now is very rich… Oh, he is not stopping, but I am sure someone else will come. Surely this man who is coming now will want to pay me for my love, and he will probably give lots of money." Thus, with vain hope, she remained leaning against the doorway, unable to finish her business and go to sleep. Out of anxiety she would sometimes walk out toward the street, and sometimes she went back into her house. In this way, the midnight hour gradually arrived.

27As the night wore on, the prostitute, who intensely desired money, gradually became morose, and her face dried up. Thus being filled with anxiety for money and most disappointed, she began to feel a great detachment from her situation, and happiness arose in her mind.

28The prostitute felt disgusted with her material situation and thus became indifferent to it. Indeed, detachment acts like a sword, cutting to pieces the binding network of material hopes and desires. Now please hear from me the song sung by the prostitute in that situation.

29O King, just as a human being who is bereft of spiritual knowledge never desires to give up his false sense of proprietorship over many material things, similarly, a person who has not developed detachment never desires to give up the bondage of the material body.

30The prostitute Piṅgalā said: Just see how greatly illusioned I am! Because I cannot control my mind, just like a fool I desire lusty pleasure from an insignificant man.

31I am such a fool that I have given up the service of that person who, being eternally situated within my heart, is actually most dear to me. That most dear one is the Lord of the universe, who is the bestower of real love and happiness and the source of all prosperity. Although He is in my own heart, I have completely neglected Him. Instead I have ignorantly served insignificant men who can never satisfy my real desires and who have simply brought me unhappiness, fear, anxiety, lamentation and illusion.

32Oh, how I have uselessly tortured my own soul! I have sold my body to lusty, greedy men who are themselves objects of pity. Thus practicing the most abominable profession of a prostitute, I hoped to get money and sex pleasure.

33This material body is like a house in which I, the soul, am living. The bones forming my spine, ribs, arms and legs are like the beams, crosSBeams and pillars of the house, and the whole structure, which is full of stool and urine, is covered by skin, hair and nails. The nine doors leading into this body are constantly excreting foul substances. Besides me, what woman could be so foolish as to devote herself to this material body, thinking that she might find pleasure and love in this contraption?

34Certainly in this city of Videha I alone am completely foolish. I neglected the Supreme Personality of Godhead, who awards us everything, even our original spiritual form, and instead I desired to enjoy sense gratification with many men.

35The Supreme Personality of Godhead is absolutely the most dear one for all living beings because He is everyone's well-wisher and Lord. He is the Supreme Soul situated in everyone's heart. Therefore I will now pay the price of complete surrender, and thus purchasing the Lord I will enjoy with Him just like Lakṣmīdevī.

36Men provide sense gratification for women, but all these men, and even the demigods in heaven, have a beginning and an end. They are all temporary creations who will be dragged away by time. Therefore how much actual pleasure or happiness could any of them ever give

to their wives?

37Although I most stubbornly hoped to enjoy the material world, somehow or other detachment has arisen in my heart, and it is making me very happy. Therefore the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, must be pleased with me. Without even knowing it, I must have performed some activity satisfying to Him.

38A person who has developed detachment can give up the bondage of material society, friendship and love, and a person who undergoes great suffering gradually becomes, out of hopelessness, detached and indifferent to the material world. Thus, due to my great suffering, such detachment awoke in my heart; yet how could I have undergone such merciful suffering if I were actually unfortunate? Therefore, I am in fact fortunate and have received the mercy of the Lord. He must somehow or other be pleased with me.

39With devotion I accept the great benefit that the Lord has bestowed upon me. Having given up my sinful desires for ordinary sense gratification, I now take shelter of Him, the Supreme Personality of Godhead.

40I am now completely satisfied, and I have full faith in the Lord's mercy. Therefore I will maintain myself with whatever comes of its own accord. I shall enjoy life with only the Lord, because He is the real source of love and happiness.

41The intelligence of the living entity is stolen away by activities of sense gratification, and thus he falls into the dark well of material existence. Within that well he is then seized by the deadly serpent of time. Who else but the Supreme Personality of Godhead could save the poor living entity from such a hopeless condition?

42When the living entity sees that the entire universe has been seized by the serpent of time, he becomes sober and sane and at that time detaches himself from all material sense gratification. In that condition the living entity is qualified to be his own protector.

43The avadhūta said: Thus, her mind completely made up, Piṅgalā cut off all her sinful desires to enjoy sex pleasure with lovers, and she became situated in perfect peace. Then she sat down on her bed.

44Material desire is undoubtedly the cause of the greatest unhappiness, and freedom from such desire is the cause of the greatest happiness. Therefore, completely cutting off her desire to enjoy so-called lovers, Piṅgalā very happily went to sleep.

## SB 11.9: Detachment from All that Is Material

1The saintly brāhmaṇa said: Everyone considers certain things within the material world to be most dear to him, and because of attachment to such things one eventually becomes miserable. One who understands this gives up material possessiveness and attachment and thus achieves unlimited happiness.

2Once a group of large hawks who were unable to find any prey attacked another, weaker hawk who was holding some meat. At that time, being in danger of his life, the hawk gave up his meat and experienced actual happiness.

3In family life, the parents are always in anxiety about their home, children and reputation. But I have nothing to do with these things. I do not worry at all about any family, and I do not care about honor and dishonor. I enjoy only the life of the soul, and I find love on the spiritual platform. Thus I wander the earth like a child.

4In this world two types of people are free from all anxiety and merged in great happiness: one who is a retarded and childish fool and one who has approached the Supreme Lord, who is beyond the three modes of material nature.

5Once a marriageable young girl was alone in her house because her parents and relatives had gone that day to another place. At that time a few men arrived at the house, specifically desiring to marry her. She received them with all hospitality.

6The girl went to a private place and began to make preparations so that the unexpected male guests could eat. As she was beating the rice, the conchshell bracelets on her arms were colliding and making a loud noise.

7The young girl feared that the men would consider her family to be poor because their daughter was busily engaged in the menial task of husking rice. Being very intelligent, the shy girl broke the shell bracelets from her arms, leaving just two on each wrist.

8Thereafter, as the young girl continued to husk the rice, the two bracelets on each wrist continued to collide and make noise. Therefore she took one bracelet off each arm, and with only one left on each wrist there was no more noise.

9O subduer of the enemy, I travel throughout the surface of the earth learning constantly about the nature of this world, and thus I personally witnessed the lesson of the young girl.

10When many people live together in one place there will undoubtedly be quarreling. And even if only two people live together there will be frivolous conversation and disagreement. Therefore, to avoid conflict, one should live alone, as we learn from the example of the bracelet of the young girl.

11Having perfected the yoga sitting postures and conquered the breathing process, one should make the mind steady by detachment and the regulated practice of yoga. Thus one should carefully fix the mind on the single goal of yoga practice.

12The mind can be controlled when it is fixed on the Supreme Personality of Godhead. Having achieved a stable situation, the mind becomes free from polluted desires to execute material activities; thus as the mode of goodness increases in strength, one can completely give up the modes of passion and ignorance, and gradually one transcends even the material mode of goodness. When the mind is freed from the fuel of the modes of nature, the fire of material existence is extinguished. Then one achieves the transcendental platform of direct relationship with the object of his meditation, the Supreme Lord.

13Thus, when one's consciousness is completely fixed on the Absolute Truth, the Supreme Personality of Godhead, one no longer sees duality, or internal and external reality. The example is given of the arrow maker who was so absorbed in making a straight arrow that he did not even see or notice the king himself, who was passing right next to him.

14A saintly person should remain alone and constantly travel without any fixed residence. Being alert, he should remain secluded and should act in such a way that he is not recognized or noticed by others. Moving without companions, he should not speak more than required.

15When a person living in a temporary material body tries to construct a happy home, the result is fruitless and miserable. The snake, however, enters a home that has been built by others and prospers happily.

16The Lord of the universe, Nārāyaṇa, is the worshipable God of all living entities. Without extraneous assistance, the Lord creates this universe by His own potency, and at the time of

annihilation the Lord destroys the universe through His personal expansion of time and withdraws all of the cosmos, including all the conditioned living entities, within Himself. Thus, His unlimited Self is the shelter and reservoir of all potencies. The subtle pradhāna, the basis of all cosmic manifestation, is conserved within the Lord and is in this way not different from Him. In the aftermath of annihilation the Lord stands alone.

17-18When the Supreme Personality of Godhead displays His own potency in the form of time and guides His material potencies, such as the mode of goodness, into a neutral condition of equilibrium, He remains as the supreme controller of that neutral state, called pradhāna, as well as of the living entities. He is also the supreme worshipable object for all beings, including liberated souls, demigods and ordinary conditioned souls. The Lord is eternally free from any material designation, and He constitutes the totality of spiritual bliss, which one experiences by seeing the Lord's spiritual form. The Lord thus exhibits the fullest meaning of the word "liberation."

19O subduer of the enemies, at the time of creation the Personality of Godhead expands His own transcendental potency in the form of time, and agitating His material energy, māyā, composed of the three modes of material nature, He creates the mahat-tattva.

20According to great sages, that which is the basis of the three modes of material nature and which manifests the variegated universe is called the sūtra or mahat-tattva. Indeed, this universe is resting within that mahat-tattva, and due to its potency the living entity undergoes material existence.

21Just as from within himself the spider expands thread through his mouth, plays with it for some time and eventually swallows it, similarly, the Supreme Personality of Godhead expands His personal potency from within Himself. Thus, the Lord displays the network of cosmic manifestation, utilizes it according to His purpose and eventually withdraws it completely within Himself.

22If out of love, hate or fear an embodied soul fixes his mind with intelligence and complete concentration upon a particular bodily form, he will certainly attain the form that he is meditating upon.

23O King, once a wasp forced a weaker insect to enter his hive and kept him trapped there. In great fear the weak insect constantly meditated upon his captor, and without giving up his body, he gradually achieved the same state of existence as the wasp. Thus one achieves a state of existence according to one's constant concentration.

24O King, from all these spiritual masters I have acquired great wisdom. Now please listen as I explain what I learned from my own body.

25The material body is also my spiritual master because it teaches me detachment. Being subject to creation and destruction, it always comes to a painful end. Thus, although using my body to acquire knowledge, I always remember that it will ultimately be consumed by others, and remaining detached, I move about this world.

26A man attached to the body accumulates money with great struggle to expand and protect the position of his wife, children, property, domestic animals, servants, homes, relatives, friends, and so on. He does all this for the gratification of his own body. As a tree before dying produces the seed of a future tree, the dying body manifests the seed of one's next material body in the form of one's accumulated karma. Thus assuring the continuation of material existence, the material body sinks down and dies.

27A man who has many wives is constantly harassed by them. He is responsible for their maintenance, and thus all the ladies constantly pull him in different directions, each struggling for her self-interest. Similarly, the material senses harass the conditioned soul, pulling him in many different directions at once. On one side the tongue is pulling him to arrange tasty food; then thirst drags him to get a suitable drink. Simultaneously the sex organs clamor for satisfaction, and the sense of touch demands soft, sensuous objects. The belly harasses him until it is filled, the ears demand to hear pleasing sounds, the sense of smell hankers for pleasant aromas, and the fickle eyes clamor for pleasing sights. Thus the senses, organs and limbs, all desiring satisfaction, pull the living entity in many directions.

28The Supreme Personality of Godhead, expanding His own potency, māyā-śakti, created innumerable species of life to house the conditioned souls. Yet by creating the forms of trees, reptiles, animals, birds, snakes and so on, the Lord was not satisfied within His heart. Then He created human life, which offers the conditioned soul sufficient intelligence to perceive the Absolute Truth, and became pleased.

29After many, many births and deaths one achieves the rare human form of life, which, although temporary, affords one the opportunity to attain the highest perfection. Thus a sober human being should quickly endeavor for the ultimate perfection of life as long as his body, which is always subject to death, has not fallen down and died. After all, sense gratification is available even in the most abominable species of life, whereas Kṛṣṇa consciousness is possible only for a human being.

30Having learned from my spiritual masters, I remain situated in realization of the Supreme Personality of Godhead and, fully renounced and enlightened by realized spiritual knowledge, wander the earth without attachment or false ego.

31Although the Absolute Truth is one without a second, the sages have described Him in many different ways. Therefore one may not be able to acquire very firm or complete knowledge from one spiritual master.

32The Supreme Personality of Godhead said: Having thus spoken to King Yadu, the wise brāhmaṇa accepted obeisances and worship from the King and felt pleased within himself. Then bidding farewell, he left exactly as he had come.

33O Uddhava, hearing the words of the avadhūta, the saintly King Yadu, who is the forefather of our own ancestors, became free from all material attachment, and thus his mind was evenly fixed on the spiritual platform.

### SB 11.10: The Nature of Fruitive Activity

1The Supreme Personality of Godhead said: Taking full shelter in Me, with the mind carefully fixed in the devotional service of the Lord as spoken by Me, one should live without personal desire and practice the social and occupational system called varṇāśrama.

2A purified soul should see that because the conditioned souls who are dedicated to sense gratification have falsely accepted the objects of sense pleasure as truth, all of their endeavors are doomed to failure.

3One who is sleeping may see many objects of sense gratification in a dream, but such pleasurable things are merely creations of the mind and are thus ultimately useless. Similarly, the living entity who is asleep to his spiritual identity also sees many sense objects, but these innumerable objects of temporary gratification are creations of the Lord's illusory potency and have no permanent existence. One who meditates upon them, impelled by the senses,

uselessly engages his intelligence.

4One who has fixed Me within his mind as the goal of life should give up activities based on sense gratification and should instead execute work governed by the regulative principles for advancement. When, however, one is fully engaged in searching out the ultimate truth of the soul, one should not accept the scriptural injunctions governing fruitive activities.

5One who has accepted Me as the supreme goal of life should strictly observe the scriptural injunctions forbidding sinful activities and, as far as possible, should execute the injunctions prescribing minor regulative duties such as cleanliness. Ultimately, however, one should approach a bona fide spiritual master who is full in knowledge of Me as I am, who is peaceful, and who by spiritual elevation is not different from Me.

6The servant or disciple of the spiritual master should be free from false prestige, never considering himself to be the doer. He should be active and never lazy and should give up all sense of proprietorship over the objects of the senses, including his wife, children, home and society. He should be endowed with feelings of loving friendship toward the spiritual master and should never become deviated or bewildered. The servant or disciple should always desire advancement in spiritual understanding, should not envy anyone and should always avoid useless conversation.

7One should see one's real self-interest in life in all circumstances and should therefore remain detached from wife, children, home, land, relatives, friends, wealth and so on.

8Just as fire, which burns and illuminates, is different from firewood, which is to be burned to give illumination, similarly the seer within the body, the self-enlightened spirit soul, is different from the material body, which is to be illuminated by consciousness. Thus the spirit soul and the body possess different characteristics and are separate entities.

9Just as fire may appear differently as dormant, manifest, weak, brilliant and so on, according to the condition of the fuel, similarly, the spirit soul enters a material body and accepts particular bodily characteristics.

10The subtle and gross material bodies are created by the material modes of nature, which expand from the potency of the Supreme Personality of Godhead. Material existence occurs when the living entity falsely accepts the qualities of the gross and subtle bodies as being his own factual nature. This illusory state, however, can be destroyed by real knowledge.

11Therefore, by the cultivation of knowledge one should approach the Supreme Personality of Godhead situated within oneself. By understanding the Lord's pure, transcendental existence, one should gradually give up the false vision of the material world as independent reality.

12The spiritual master can be compared to the lower kindling stick, the disciple to the upper kindling stick, and the instruction given by the guru to the third stick placed in between. The transcendental knowledge communicated from guru to disciple is compared to the fire arising from the contact of these, which burns the darkness of ignorance to ashes, bringing great happiness both to guru and disciple.

13By submissively hearing from an expert spiritual master, the expert disciple develops pure knowledge, which repels the onslaught of material illusion arising from the three modes of material nature. Finally this pure knowledge itself ceases, just as fire ceases when the stock of fuel has been consumed.

14-16My dear Uddhava, I have thus explained to you perfect knowledge. There are philosophers, however, who challenge My conclusion. They state that the natural position of

the living entity is to engage in fruitive activities, and they see him as the enjoyer of the happiness and unhappiness that accrue from his own work. According to this materialistic philosophy, the world, time, the revealed scriptures and the self are all variegated and eternal, existing as a perpetual flow of transformations. Knowledge, moreover, cannot be one or eternal, because it arises from the different and changing forms of objects; thus knowledge itself is always subject to change. Even if you accept such a philosophy, My dear Uddhava, there will still be perpetual birth, death, old age and disease, since all living entities must accept a material body subject to the influence of time.

17Although the performer of fruitive activities desires perpetual happiness, it is clearly observed that materialistic workers are often unhappy and only occasionally satisfied, thus proving that they are not independent or in control of their destiny. When a person is always under the superior control of another, how can he expect any valuable results from his own fruitive actions?

18It is observed within the material world that sometimes even an intelligent person is not happy. Similarly, sometimes even a great fool is happy. The concept of becoming happy through expertly performing material activities is simply a useless exhibition of false egotism.

19Even if people know how to achieve happiness and avoid unhappiness, they still do not know the process by which death will not be able to exert its power over them.

20Death is not at all pleasing, and since everyone is exactly like a condemned man being led to the place of execution, what possible happiness can people derive from material objects or the gratification they provide?

21That material happiness of which we hear, such as promotion to heavenly planets for celestial enjoyment, is just like that material happiness we have already experienced. Both are polluted by jealousy, envy, decay and death. Therefore, just as an attempt to raise crops becomes fruitless if there are many problems like crop disease, insect plague or drought, similarly, the attempt to attain material happiness, either on earth or on the heavenly planets, is always fruitless because of innumerable obstacles.

22If one performs Vedic sacrifices and fruitive rituals without any mistake or contamination, one will achieve a heavenly situation in the next life. But even this result, which is only achieved by perfect performance of fruitive rituals, will be vanquished by time. Now hear of this.

23If on earth one performs sacrifices for the satisfaction of the demigods, he goes to the heavenly planets, where, just like a demigod, he enjoys all of the heavenly pleasures he has earned by his performances.

24Having achieved the heavenly planets, the performer of ritualistic sacrifices travels in a glowing airplane, which he obtains as the result of his piety on earth. Being glorified by songs sung by the Gandharvas and dressed in wonderfully charming clothes, he enjoys life surrounded by heavenly goddesses.

25Accompanied by heavenly women, the enjoyer of the fruits of sacrifice goes on pleasure rides in a wonderful airplane, which is decorated with circles of tinkling bells and which flies wherever he desires. Being relaxed, comfortable and happy in the heavenly pleasure gardens, he does not consider that he is exhausting the fruits of his piety and will soon fall down to the mortal world.

26Until his pious results are used up, the performer of sacrifice enjoys life in the heavenly

planets. When the pious results are exhausted, however, he falls down from the pleasure gardens of heaven, being moved against his desire by the force of eternal time.

27-29If a human being is engaged in sinful, irreligious activities, either because of bad association or because of his failure to control his senses, then such a person will certainly develop a personality full of material desires. He thus becomes miserly toward others, greedy and always anxious to exploit the bodies of women. When the mind is so polluted one becomes violent and aggressive and without the authority of Vedic injunctions slaughters innocent animals for sense gratification. Worshiping ghosts and spirits, the bewildered person falls fully into the grip of unauthorized activities and thus goes to hell, where he receives a material body infected by the darkest modes of nature. In such a degraded body, he unfortunately continues to perform inauspicious activities that greatly increase his future unhappiness, and therefore he again accepts a similar material body. What possible happiness can there be for one who engages in activities inevitably terminating in death?

30In all the planetary systems, from the heavenly to the hellish, and for all of the great demigods who live for one thousand yuga cycles, there is fear of Me in My form of time. Even Brahmā, who possesses the supreme life span of 311,040,000,000,000 years, is also afraid of Me.

31The material senses create material activities, either pious or sinful, and the modes of nature set the material senses into motion. The living entity, being fully engaged by the material senses and modes of nature, experiences the various results of fruitive work.

32As long as the living entity thinks that the modes of material nature have separate existences, he will be obliged to take birth in many different forms and will experience varieties of material existence. Therefore, the living entity remains completely dependent on fruitive activities under the modes of nature.

33The conditioned soul who remains dependent on fruitive activities under the material modes of nature will continue to fear Me, the Supreme Personality of Godhead, since I impose the results of one's fruitive activities. Those who accept the material concept of life, taking the variegatedness of the modes of nature to be factual, devote themselves to material enjoyment and are therefore always absorbed in lamentation and grief.

34When there is agitation and interaction of the material modes of nature, the living entities then describe Me in various ways such as all-powerful time, the Self, Vedic knowledge, the universe, one's own nature, religious ceremonies and so on.

35Śrī Uddhava said: O my Lord, a living entity situated within the material body is surrounded by the modes of nature and the happiness and distress that are born of activities caused by these modes. How is it possible that he is not bound by this material encirclement? It may also be said that the living entity is ultimately transcendental and has nothing to do with the material world. Then how is he ever bound by material nature?

36-37O my Lord, Acyuta, the same living entity is sometimes described as eternally conditioned and at other times as eternally liberated. I am not able to understand, therefore, the actual situation of the living entity. You, my Lord, are the best of those who are expert in answering philosophical questions. Please explain to me the symptoms by which one can tell the difference between a living entity who is eternally liberated and one who is eternally conditioned. In what various ways would they remain situated, enjoy life, eat, evacuate, lie down, sit or move about?

## SB 11.11: The Symptoms of Conditioned and Liberated Living Entities

1The Supreme Personality of Godhead said: My dear Uddhava, due to the influence of the material modes of nature, which are under My control, the living entity is sometimes designated as conditioned and sometimes as liberated. In fact, however, the soul is never really bound up or liberated, and since I am the Supreme Lord of māyā, which is the cause of the modes of nature, I also am never to be considered liberated or in bondage.

2Just as a dream is merely a creation of one's intelligence but has no actual substance, similarly, material lamentation, illusion, happiness, distress and the acceptance of the material body under the influence of māyā are all creations of My illusory energy. In other words, material existence has no essential reality.

3O Uddhava, both knowledge and ignorance, being products of māyā, are expansions of My potency. Both knowledge and ignorance are beginningless and perpetually award liberation and bondage to embodied living beings.

4O most intelligent Uddhava, the living entity, called jīva, is part and parcel of Me, but due to ignorance he has been suffering in material bondage since time immemorial. By knowledge, however, he can be liberated.

5Thus, My dear Uddhava, in the same material body we find opposing characteristics, such as great happiness and misery. That is because both the Supreme Personality of Godhead, who is eternally liberated, as well as the conditioned soul are within the body. I shall now speak to you about their different characteristics.

6By chance, two birds have made a nest together in the same tree. The two birds are friends and are of a similar nature. One of them, however, is eating the fruits of the tree, whereas the other, who does not eat the fruits, is in a superior position due to His potency.

7The bird who does not eat the fruits of the tree is the Supreme Personality of Godhead, who by His omniscience perfectly understands His own position and that of the conditioned living entity, represented by the eating bird. That living entity, on the other hand, does not understand himself or the Lord. He is covered by ignorance and is thus called eternally conditioned, whereas the Personality of Godhead, being full of perfect knowledge, is eternally liberated.

8One who is enlightened in self-realization, although living within the material body, sees himself as transcendental to the body, just as one who has arisen from a dream gives up identification with the dream body. A foolish person, however, although not identical with his material body but transcendental to it, thinks himself to be situated in the body, just as one who is dreaming sees himself as situated in an imaginary body.

9An enlightened person who is free from the contamination of material desire does not consider himself to be the performer of bodily activities; rather, he knows that in all such activities it is only the senses, born of the modes of nature, that are contacting sense objects born of the same modes of nature.

10An unintelligent person situated within the body created by his previous fruitive activities thinks, "I am the performer of action." Bewildered by false ego, such a foolish person is therefore bound up by fruitive activities, which are in fact carried out by the modes of nature.

11An enlightened person fixed in detachment engages his body in lying down, sitting, walking, bathing, seeing, touching, smelling, eating, hearing and so on, but is never entangled by such activities. Indeed, remaining as a witness to all bodily functions, he merely engages his bodily

senses with their objects and does not become entangled like an unintelligent person.

12-13Although the sky, or space, is the resting place of everything, the sky does not mix with anything, nor is it entangled. Similarly, the sun is not at all attached to the water in which it is reflected within innumerable reservoirs, and the mighty wind blowing everywhere is not affected by the innumerable aromas and atmospheres through which it passes. In the same way, a self-realized soul is completely detached from the material body and the material world around it. He is like a person who has awakened and arisen from a dream. With expert vision sharpened by detachment, the self-realized soul cuts all doubts to pieces through knowledge of the self and completely withdraws his consciousness from the expansion of material variety.

14A person is considered to be completely liberated from the gross and subtle material bodies when all the functions of his vital energy, senses, mind and intelligence are performed without material desire. Such a person, although situated within the body, is not entangled.

15Sometimes for no apparent reason one's body is attacked by cruel people or violent animals. At other times and in other places, one will suddenly be offered great respect or worship. One who becomes neither angry when attacked nor satisfied when worshiped is actually intelligent.

16A saintly sage sees with equal vision and therefore is not affected by that which is materially good or bad. Indeed, although he observes others performing good and bad work and speaking properly and improperly, the sage does not praise or criticize anyone.

17For the purpose of maintaining his body, a liberated sage should not act, speak or contemplate in terms of material good or bad. Rather, he should be detached in all material circumstances, and taking pleasure in self-realization, he should wander about engaged in this liberated lifestyle, appearing like a retarded person to outsiders.

18If through meticulous study one becomes expert in reading Vedic literature but makes no endeavor to fix one's mind on the Supreme Personality of Godhead, then one's endeavor is certainly like that of a man who works very hard to take care of a cow that gives no milk. In other words, the fruit of one's laborious study of Vedic knowledge will simply be the labor itself. There will be no other tangible result.

19My dear Uddhava, that man is certainly most miserable who takes care of a cow that gives no milk, an unchaste wife, a body totally dependent on others, useless children or wealth not utilized for the right purpose. Similarly, one who studies Vedic knowledge devoid of My glories is also most miserable.

20My dear Uddhava, an intelligent person should never take to literatures that do not contain descriptions of My activities, which purify the whole universe. Indeed, I create, maintain and annihilate the entire material manifestation. Among all My pastime incarnations, the most beloved are Kṛṣṇa and Balarāma. Any so-called knowledge that does not recognize these activities of Mine is simply barren and is not acceptable to those who are actually intelligent.

21Coming to this conclusion of all knowledge, one should give up the false conception of material variety that one imposes upon the soul and thus cease one's material existence. The mind should be fixed on Me, since I am all-pervading.

22My dear Uddhava, if you are not able to free your mind from all material disturbance and thus absorb it completely on the spiritual platform, then perform all your activities as an offering to Me, without trying to enjoy the fruits.

23-24My dear Uddhava, narrations of My pastimes and qualities are all-auspicious and purify the entire universe. A faithful person who constantly hears, glorifies and remembers such

transcendental activities, who through dramatic performances relives My pastimes, beginning with My appearance, and who takes full shelter of Me, dedicating his religious, sensual and occupational activities for My satisfaction, certainly obtains unflinching devotional service to Me, the eternal Personality of Godhead.

25One who has obtained pure devotional service by association with My devotees always engages in worshiping Me. Thus he very easily goes to My abode, which is revealed by My pure devotees.

26-27Śrī Uddhava said: My dear Lord, O Supreme Personality of Godhead, what type of person do You consider to be a true devotee, and what type of devotional service is approved by great devotees as worthy of being offered to Your Lordship? My dear ruler of the universal controllers, O Lord of Vaikuṇṭha and almighty God of the universe, I am Your devotee, and because I love You I have no other shelter than You. Therefore please explain this to me.

28My dear Lord, as the Absolute Truth You are transcendental to material nature, and like the sky You are never entangled in any way. Still, being controlled by Your devotees' love, You accept many different forms, incarnating according to Your devotees' desires.

29-32The Supreme Personality of Godhead said: O Uddhava, a saintly person is merciful and never injures others. Even if others are aggressive he is tolerant and forgiving toward all living entities. His strength and meaning in life come from the truth itself, he is free from all envy and jealousy, and his mind is equal in material happiness and distress. Thus, he dedicates his time to work for the welfare of all others. His intelligence is never bewildered by material desires, and he has controlled his senses. His behavior is always pleasing, never harsh and always exemplary, and he is free from possessiveness. He never endeavors in ordinary, worldly activities, and he strictly controls his eating. He therefore always remains peaceful and steady. A saintly person is thoughtful and accepts Me as his only shelter. Such a person is very cautious in the execution of his duties and is never subject to superficial transformations, because he is steady and noble, even in a distressing situation. He has conquered over the six material qualitiesnamely hunger, thirst, lamentation, illusion, old age and death. He is free from all desire for prestige and offers honor to others. He is expert in reviving the Kṛṣṇa consciousness of others and therefore never cheats anyone. Rather, he is a well-wishing friend to all, being most merciful. Such a saintly person must be considered the most learned of men. He perfectly understands that the ordinary religious duties prescribed by Me in various Vedic scriptures possess favorable qualities that purify the performer, and he knows that neglect of such duties constitutes a discrepancy in one's life. Having taken complete shelter at My lotus feet, however, a saintly person ultimately renounces such ordinary religious duties and worships Me alone. He is thus considered to be the best among all living entities.

33My devotees may or may not know exactly what I am, who I am and how I exist, but if they worship Me with unalloyed love, then I consider them to be the best of devotees.

34-41My dear Uddhava, one can give up false pride and prestige by engaging in the following devotional activities. One may purify oneself by seeing, touching, worshiping, serving, and offering prayers of glorification and obeisances to My form as the Deity and to My pure devotees. One should also glorify My transcendental qualities and activities, hear with love and faith the narrations of My glories and constantly meditate on Me. One should offer to Me whatever one acquires, and accepting oneself as My eternal servant, one should give oneself completely to Me. One should always discuss My birth and activities and enjoy life by participating in festivals, such as Janmāṣṭamī, which glorify My pastimes. In My temple, one should also participate in festivals and ceremonies by singing, dancing, playing musical instruments and discussing Me with other Vaiṣṇavas. One should observe all the regularly

celebrated annual festivals by attending ceremonies, pilgrimages and making offerings. One should also observe religious vows such as Ekādaśī and take initiation by the procedures mentioned in the Vedas, Paṣcarātra and other, similar literatures. One should faithfully and lovingly support the installation of My Deity, and individually or in cooperation with others one should work for the construction of Kṛṣṇa conscious temples and cities as well as flower gardens, fruit gardens and special areas to celebrate My pastimes. One should consider oneself to be My humble servant, without duplicity, and thus should help to clean the temple, which is My home. First one should sweep and dust thoroughly, and then one should further cleanse with water and cow dung. Having dried the temple, one should sprinkle scented water and decorate the temple with maṇḍalas. One should thus act just like My servant. A devotee should never advertise his devotional activities; therefore his service will not be the cause of false pride. One should never use lamps that are offered to Me for other purposes simply because there is need of illumination, and similarly, one should never offer to Me anything that has been offered to or used by others. Whatever is most desired by one within this material world, and whatever is most dear to oneselfone should offer that very thing to Me. Such an offering qualifies one for eternal life.

42O saintly Uddhava, please know that you may worship Me in the sun, fire, brāhmaṇas, cows, Vaiṣṇavas, sky, wind, water, earth, individual soul and all living entities.

43-45My dear Uddhava, one should worship Me within the sun by chanting selected Vedic mantras and by performing worship and offering obeisances. One may worship Me within fire by offering oblations of ghee, and one may worship Me among the brāhmaṇas by respectfully receiving them as guests, even when uninvited. I can be worshiped within the cows by offerings of grass and other suitable grains and paraphernalia for the pleasure and health of the cows, and one may worship Me within the Vaiṣṇavas by offering loving friendship to them and honoring them in all respects. Through steady meditation I am worshiped within the inner space of the heart, and within the air I can be worshiped by knowledge that prāṇa, the life air, is the chief among elements. I am worshiped within water by offerings of water itself, along with other elements such as flowers and tulasī leaves, and one may worship Me within the earth by proper application of confidential seed mantras. One may worship Me within the individual living entity by offering food and other enjoyable substances, and one may worship Me within all living entities by seeing the Supersoul within all of them, thus maintaining equal vision.

46Thus, in the previously mentioned places of worship and according to the processes I have described, one should meditate on My peaceful, transcendental form with four arms holding a conchshell, Sudarśana disc, club and lotus flower. In this way, one should worship Me with fixed attention.

47One who has executed sacrificial performances and pious works for My satisfaction, and who thus worships Me with fixed attention, obtains unflinching devotional service unto Me. By the excellent quality of his service such a worshiper obtains realized knowledge of Me.

48My dear Uddhava, I am personally the ultimate shelter and way of life for saintly liberated persons, and thus if one does not engage in My loving devotional service, which is made possible by associating with My devotees, then for all practical purposes, one possesses no effective means for escaping from material existence.

49My dear Uddhava, O beloved of the Yadu dynasty, because you are My servant, well-wisher and friend, I shall now speak to you the most confidential knowledge. Please hear as I explain these great mysteries to you.

## SB 11.12: Beyond Renunciation and Knowledge

1-2The Supreme Personality of Godhead said: My dear Uddhava, by associating with My pure devotees one can destroy one's attachment for all objects of material sense gratification. Such purifying association brings Me under the control of My devotee. One may perform the aṣṭāṅga-yoga system, engage in philosophical analysis of the elements of material nature, practice nonviolence and other ordinary principles of piety, chant the Vedas, perform penances, take to the renounced order of life, execute sacrificial performances and dig wells, plant trees and perform other public welfare activities, give in charity, carry out severe vows, worship the demigods, chant confidential mantras, visit holy places or accept major and minor disciplinary injunctions, but even by performing such activities one does not bring Me under his control.

3-6In every yuga many living entities entangled in the modes of passion and ignorance gained the association of My devotees. Thus, such living entities as the Daityas, Rākṣasas, birds, beasts, Gandharvas, Apsarās, Nāgas, Siddhas, Cāraṇas, Guhyakas and Vidyādharas, as well as such lower-class human beings as the vaiśyas, śūdras, women and others, were able to achieve My supreme abode. Vṛtrāsura, Prahlāda Mahārāja and others like them also achieved My abode by association with My devotees, as did personalities such as Vṛṣaparvā, Bali Mahārāja, Bāṇāsura, Maya, Vibhīṣaṇa, Sugrīva, Hanumān, Jāmbavān, Gajendra, Jaṭāyu, Tulādhāra, Dharma-vyādha, Kubjā, the gopīs in Vṛndāvana and the wives of the brāhmaṇas who were performing sacrifice.

7The persons I have mentioned did not undergo serious studies of the Vedic literature, nor did they worship great saintly persons, nor did they execute severe vows or austerities. Simply by association with Me and My devotees, they achieved Me.

8The inhabitants of Vṛndāvana, including the gopīs, cows, unmoving creatures such as the twin arjuna trees, animals, living entities with stunted consciousness such as bushes and thickets, and snakes such as Kāliya, all achieved the perfection of life by unalloyed love for Me and thus very easily achieved Me.

9Even though one engages with great endeavor in the mystic yoga system, philosophical speculation, charity, vows, penances, ritualistic sacrifices, teaching of Vedic mantras to others, personal study of the Vedas, or the renounced order of life, still one cannot achieve Me.

10The residents of Vṛndāvana, headed by the gopīs, were always completely attached to Me with deepest love. Therefore, when My uncle Akrūra brought My brother Balarāma and Me to the city of Mathurā, the residents of Vṛndāvana suffered extreme mental distress because of separation from Me and could not find any other source of happiness.

11Dear Uddhava, all of those nights that the gopīs spent with Me, their most dearly beloved, in the land of Vṛndāvana seemed to them to pass in less than a moment. Bereft of My association, however, the gopīs felt that those same nights dragged on forever, as if each night were equal to a day of Brahmā.

12My dear Uddhava, just as great sages in yoga trance merge into self-realization, like rivers merging into the ocean, and are thus not aware of material names and forms, similarly, the gopīs of Vṛndāvana were so completely attached to Me within their minds that they could not think of their own bodies, or of this world, or of their future lives. Their entire consciousness was simply bound up in Me.

13All those hundreds of thousands of gopīs, understanding Me to be their most charming lover and ardently desiring Me in that way, were unaware of My actual position. Yet by intimately associating with Me, the gopīs attained Me, the Supreme Absolute Truth.

14-15Therefore, My dear Uddhava, abandon the Vedic mantras as well as the procedures of supplementary Vedic literatures and their positive and negative injunctions. Disregard that which has been heard and that which is to be heard. Simply take shelter of Me alone, for I am the Supreme Personality of Godhead, situated within the heart of all conditioned souls. Take shelter of Me wholeheartedly, and by My grace be free from fear in all circumstances.

16Śrī Uddhava said: O Lord of all masters of mystic power, I have heard Your words, but the doubt in my heart does not go away; thus my mind is bewildered.

17The Supreme Personality of Godhead said: My dear Uddhava, the Supreme Lord gives life to every living being and is situated within the heart along with the life air and primal sound vibration. The Lord can be perceived in His subtle form within the heart by one's mind, since the Lord controls the minds of everyone, even great demigods like Lord Śiva. The Supreme Lord also assumes a gross form as the various sounds of the Vedas, composed of short and long vowels and consonants of different intonations.

18When sticks of kindling wood are vigorously rubbed together, heat is produced by contact with air, and a spark of fire appears. Once the fire is kindled, ghee is added and the fire blazes. Similarly, I become manifest in the sound vibration of the Vedas.

19The functions of the working sensesthe organ of speech, the hands, the legs, the genitals and the anusand the functions of the knowledge-acquiring sensesthe nose, tongue, eyes, skin and earsalong with the functions of the subtle senses of mind, intelligence, consciousness and false ego, as well as the function of the subtle pradhāna and the interaction of the three modes of material natureall these should be understood as My materially manifest form.

20When many seeds are placed in an agricultural field, innumerable manifestations of trees, bushes, vegetables and so on will arise from a single source, the soil. Similarly, the Supreme Personality of Godhead, who gives life to all and is eternal, originally exists beyond the scope of the cosmic manifestation. In the course of time, however, the Lord, who is the resting place of the three modes of nature and the source of the universal lotus flower, in which the cosmic manifestation takes place, divides His material potencies and thus appears to be manifest in innumerable forms, although He is one.

21Just as woven cloth rests on the expansion of lengthwise and crosswise threads, similarly the entire universe is expanded on the lengthwise and crosswise potency of the Supreme Personality of Godhead and is situated within Him. The conditioned soul has been accepting material bodies since time immemorial, and these bodies are like great trees sustaining one's material existence. Just as a tree first blossoms and then produces fruit, similarly the tree of material existence, one's material body, produces the various results of material existence.

22-23This tree of material existence has two seeds, hundreds of roots, three lower trunks and five upper trunks. It produces five flavors and has eleven branches and a nest made by two birds. The tree is covered by three types of bark, gives two fruits and extends up to the sun. Those lusty after material enjoyment and dedicated to family life enjoy one of the tree's fruits, and swanlike men in the renounced order of life enjoy the other fruit. One who with the help of the bona fide spiritual masters can understand this tree to be a manifestation of the potency of the one Supreme Truth appearing in many forms actually knows the meaning of the Vedic literature.

24With steady intelligence you should develop unalloyed devotional service by careful worship of the spiritual master, and with the sharpened ax of transcendental knowledge you should cut off the subtle material covering of the soul. Upon realizing the Supreme Personality of Godhead, you should then give up that ax of analytic knowledge.

**SB 11.13:**

**The Haṁsa-avatāra Answers the Questions of the Sons of Brahmā**

1The Supreme Personality of Godhead said: The three modes of material nature, namely goodness, passion and ignorance, pertain to material intelligence and not to the spirit soul. By development of material goodness one can conquer the modes of passion and ignorance, and by cultivation of transcendental goodness one may free oneself even from material goodness.

2When the living entity becomes strongly situated in the mode of goodness, then religious principles, characterized by devotional service to Me, become prominent. One can strengthen the mode of goodness by cultivation of those things that are already situated in goodness, and thus religious principles arise.

3Religious principles, strengthened by the mode of goodness, destroy the influence of passion and ignorance. When passion and ignorance are overcome, their original cause, irreligion, is quickly vanquished.

4According to the quality of religious scriptures, water, one's association with one's children or with people in general, the particular place, the time, activities, birth, meditation, chanting of mantras, and purificatory rituals, the modes of nature become differently prominent.

5Among the ten items I have just mentioned, the great sages who understand Vedic knowledge have praised and recommended those that are in the mode of goodness, criticized and rejected those in the mode of ignorance, and shown indifference to those in the mode of passion.

6Until one revives one's direct knowledge of the spirit soul and drives away the illusory identification with the material body and mind caused by the three modes of nature, one must cultivate those things in the mode of goodness. By increasing the mode of goodness, one automatically can understand and practice religious principles, and by such practice transcendental knowledge is awakened.

7In a bamboo forest the wind sometimes rubs the bamboo stalks together, and such friction generates a blazing fire that consumes the very source of its birth, the bamboo forest. Thus, the fire is automatically calmed by its own action. Similarly, by the competition and interaction of the material modes of nature, the subtle and gross material bodies are generated. If one uses his mind and body to cultivate knowledge, then such enlightenment destroys the influence of the modes of nature that generated one's body. Thus, like the fire, the body and mind are pacified by their own actions in destroying the source of their birth.

8Śrī Uddhava said: My dear Kṛṣṇa, generally human beings know that material life brings great future unhappiness, and still they try to enjoy material life. My dear Lord, how can one in knowledge act just like a dog, an ass or a goat?

9-10The Supreme Personality of Godhead said: My dear Uddhava, a person bereft of intelligence first falsely identifies himself with the material body and mind, and when such false knowledge arises within one's consciousness, material passion, the cause of great suffering, pervades the mind, which by nature is situated in goodness. Then the mind, contaminated by passion, becomes absorbed in making and changing many plans for material advancement. Thus, by constantly thinking of the modes of material nature, a foolish person is

afflicted with unbearable material desires.

11One who does not control the material senses comes under the control of material desires and is thus bewildered by the strong waves of the mode of passion. Such a person executes material activities, although clearly seeing that the result will be future unhappiness.

12Although the intelligence of a learned person may be bewildered by the modes of passion and ignorance, he should again carefully bring the mind under control. By clearly seeing the contamination of the modes of nature, he does not become attached.

13A person should be attentive and grave and never lazy or morose. Mastering the yoga procedures of breathing and sitting properly, one should practice fixing the mind on Me at dawn, noon and sunset, and thus gradually the mind should be completely absorbed in Me.

14The actual yoga system as taught by My devotees, headed by Sanaka-kumāra, is simply this: Having withdrawn the mind from all other objects, one should directly and appropriately absorb it in Me.

15Śrī Uddhava said: My dear Keśava, at what time and in what form did You instruct the science of yoga to Sanaka and his brothers? I now desire to know about these things.

16The Supreme Personality of Godhead said: Once, the mental sons of Lord Brahmā, namely, the sages headed by Sanaka, inquired from their father about the difficult subject matter of the supreme goal of yoga.

17The sages headed by Sanaka said: O Lord, people's minds are naturally attracted to material sense objects, and similarly the sense objects in the form of desire enter within the mind. Therefore, how can a person who desires liberation, who desires to cross over activities of sense gratification, destroy this mutual relationship between the sense objects and the mind? Please explain this to us.

18The Supreme Personality of Godhead said: My dear Uddhava, Brahmā himself, who is born directly from the body of the Lord and who is the creator of all living entities within the material world, being the best of the demigods, seriously contemplated the question of his sons headed by Sanaka. The intelligence of Brahmā, however, was affected by his own activities of creation, and thus he could not discover the essential answer to this question.

19Lord Brahmā desired to attain the answer to the question that was puzzling him, and thus he fixed his mind on Me, the Supreme Lord. At that time, in My form of Haṁsa, I became visible to Lord Brahmā.

20Thus seeing Me, the sages, placing Brahmā in the lead, came forward and worshiped My lotus feet. Then they frankly asked Me, "Who are You?"

21My dear Uddhava, the sages, being eager to understand the ultimate truth of the yoga system, thus inquired from Me. Now please hear as I explain that which I spoke unto the sages.

22My dear brāhmaṇas, if, when asking Me who I am, you believe that I am also a jīva soul and that there is no ultimate difference between ussince all souls are ultimately one without individualitythen how is your question possible or appropriate? Ultimately, what is the real situation or resting place both of yourselves and of Me?

23If by asking Me "Who are You?" you were referring to the material body, then I must point out that all material bodies are constituted of five elements, namely earth, water, fire, air and ether. Thus, you should have asked, "Who are you five?" If you consider that all material bodies

are ultimately one, being constituted essentially of the same elements, then your question is still meaningless, since there would be no deep purpose in distinguishing one body from another. Thus, it appears that in asking My identity, you are merely speaking words, without any real meaning or purpose.

24Within this world, whatever is perceived by the mind, speech, eyes or other senses is Me alone and nothing besides Me. All of you please understand this by a straightforward analysis of the facts.

25My dear sons, the mind has a natural proclivity to enter into the material sense objects, and similarly the sense objects enter into the mind; but both this material mind and the sense objects are merely designations that cover the spirit soul, who is part and parcel of Me.

26A person who has thus achieved Me by understanding that he is not different from Me realizes that the material mind is lodged within the sense objects because of constant sense gratification, and that the material objects are existing prominently within the material mind. Having understood My transcendental nature, he gives up both the material mind and its objects.

27Waking, sleeping and deep sleep are the three functions of the intelligence and are caused by the modes of material nature. The living entity within the body is ascertained to possess characteristics different from these three states and thus remains as a witness to them.

28The spirit soul is trapped in the bondage of material intelligence, which awards him constant engagement in the illusory modes of nature. But I am the fourth stage of consciousness, beyond wakefulness, dreaming and deep sleep. Becoming situated in Me, the soul should give up the bondage of material consciousness. At that time, the living entity will automatically renounce the material sense objects and the material mind.

29The false ego of the living entity places him in bondage and awards him exactly the opposite of what he really desires. Therefore, an intelligent person should give up his constant anxiety to enjoy material life and remain situated in the Lord, who is beyond the functions of material consciousness.

30According to My instructions, one should fix the mind on Me alone. If, however, one continues to see many different values and goals in life rather than seeing everything within Me, then although apparently awake, one is actually dreaming due to incomplete knowledge, just as one may dream that one has wakened from a dream.

31Those states of existence that are conceived of as separate from the Supreme Personality of Godhead have no actual existence, although they create a sense of separation from the Absolute Truth. Just as the seer of a dream imagines many different activities and rewards, similarly, because of the sense of an existence separate from the Lord's existence, the living entity falsely performs fruitive activities, thinking them to be the cause of future rewards and destinations.

32While awake the living entity enjoys with all of his senses the fleeting characteristics of the material body and mind; while dreaming he enjoys similar experiences within the mind; and in deep dreamless sleep all such experiences merge into ignorance. By remembering and contemplating the succession of wakefulness, dreaming and deep sleep, the living entity can understand that he is one throughout the three stages of consciousness and is transcendental. Thus, he becomes the lord of the senses.

33You should consider how, by the influence of My illusory energy, these three states of the

mind, caused by the modes of nature, have been artificially imagined to exist in Me. Having definitely ascertained the truth of the soul, you should utilize the sharpened sword of knowledge, acquired by logical reflection and from the instructions of sages and Vedic literatures, to completely cut off the false ego, which is the breeding ground of all doubts. All of you should then worship Me, who am situated within the heart.

34One should see that the material world is a distinct illusion appearing in the mind, because material objects have an extremely flickering existence and are here today and gone tomorrow. They can be compared to the streaking red line created by whirling a fiery stick. The spirit soul by nature exists in the single state of pure consciousness. However, in this world he appears in many different forms and stages of existence. The modes of nature divide the soul's consciousness into normal wakefulness, dreaming and dreamless sleep. All such varieties of perception, however, are actually māyā and exist only like a dream.

35Having understood the temporary illusory nature of material things, and thus having pulled one's vision away from illusion, one should remain without material desires. By experiencing the happiness of the soul, one should give up material speaking and activities. If sometimes one must observe the material world, one should remember that it is not ultimate reality and therefore one has given it up. By such constant remembrance up till the time of death, one will not again fall into illusion.

36Just as a drunken man does not notice if he is wearing his coat or shirt, similarly, one who is perfect in self-realization and who has thus achieved his eternal identity does not notice whether the temporary body is sitting or standing. Indeed, if by God's will the body is finished or if by God's will he obtains a new body, a self-realized soul does not notice, just as a drunken man does not notice the situation of his outward dress.

37The material body certainly moves under the control of supreme destiny and therefore must continue to live along with the senses and vital air as long as one's karma is in effect. A self-realized soul, however, who is awakened to the absolute reality and who is thus highly situated in the perfect stage of yoga, will never again surrender to the material body and its manifold manifestations, knowing it to be just like a body visualized in a dream.

38My dear brāhmaṇas, I have now explained to you the confidential knowledge of Sāṅkhya, by which one philosophically distinguishes matter from spirit, and of aṣṭāṅga-yoga, by which one links up with the Supreme. Please understand that I am the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, and that I have appeared before you desiring to explain your actual religious duties.

39O best of the brāhmaṇas, please know that I am the supreme shelter of the yoga system, analytic philosophy, virtuous action, truthful religious principles, power, beauty, fame and self-control.

40All superior transcendental qualities, such as being beyond the modes of nature, detached, the well-wisher, the most dear, the Supersoul, equally situated everywhere, and free from material entanglementall such qualities, free from the transformations of material qualities, find their shelter and worshipable object in Me.

41[Lord Kṛṣṇa continued:] My dear Uddhava, thus all of the doubts of the sages headed by Sanaka were destroyed by My words. Fully worshiping Me with transcendental love and devotion, they chanted My glories with excellent hymns.

42The greatest of sages, headed by Sanaka Ṛṣi, thus perfectly worshiped and glorified Me, and as Lord Brahmā looked on, I returned to My own abode.

## SB 11.14: Lord Kṛṣṇa Explains the Yoga System to Śrī Uddhava

1ŚrīUddhava said: My dear Kṛṣṇa, the learned sages who explain Vedic literature recommend various processes for perfecting one's life. Considering these varieties of viewpoint, my Lord, please tell me whether all these processes are equally important, or whether one of them is supreme.

2My dear Lord, You have clearly explained the process of unalloyed devotional service, by which a devotee removes all material association from his life, enabling him to fix his mind on You.

3The Supreme Personality of Godhead said: By the influence of time, the transcendental sound of Vedic knowledge was lost at the time of annihilation. Therefore, when the subsequent creation took place, I spoke the Vedic knowledge to Brahmā because I Myself am the religious principles enunciated in the Vedas.

4Lord Brahmā spoke this Vedic knowledge to his eldest son, Manu, and the seven great sages headed by Bhṛgu Muni then accepted the same knowledge from Manu.

5-7From the forefathers headed by Bhṛgu Muni and other sons of Brahmā appeared many children and descendants, who assumed different forms as demigods, demons, human beings, Guhyakas, Siddhas, Gandharvas, Vidyādharas, Cāraṇas, Kindevas, Kinnaras, Nāgas, Kimpuruṣas, and so on. All of the many universal species, along with their respective leaders, appeared with different natures and desires generated from the three modes of material nature. Therefore, because of the different characteristics of the living entities within the universe, there are a great many Vedic rituals, mantras and rewards.

8Thus, due to the great variety of desires and natures among human beings, there are many different theistic philosophies of life, which are handed down through tradition, custom and disciplic succession. There are other teachers who directly support atheistic viewpoints.

9O best among men, the intelligence of human beings is bewildered by My illusory potency, and thus, according to their own activities and whims, they speak in innumerable ways about what is actually good for people.

10Some say that people will be happy by performing pious religious activities. Others say that happiness is attained through fame, sense gratification, truthfulness, self-control, peace, self-interest, political influence, opulence, renunciation, consumption, sacrifice, penance, charity, vows, regulated duties or strict disciplinary regulation. Each process has its proponents.

11All the persons I have just mentioned obtain temporary fruits from their material work. Indeed, the meager and miserable situations they achieve bring future unhappiness and are based on ignorance. Even while enjoying the fruits of their work, such persons are filled with lamentation.

12O learned Uddhava, those who fix their consciousness on Me, giving up all material desires, share with Me a happiness that cannot possibly be experienced by those engaged in sense gratification.

13One who does not desire anything within this world, who has achieved peace by controlling his senses, whose consciousness is equal in all conditions and whose mind is completely satisfied in Me finds only happiness wherever he goes.

14One who has fixed his consciousness on Me desires neither the position or abode of Lord Brahmā or Lord Indra, nor an empire on the earth, nor sovereignty in the lower planetary

systems, nor the eightfold perfection of yoga, nor liberation from birth and death. Such a person desires Me alone.

15My dear Uddhava, neither Lord Brahmā, Lord Śiva, Lord Saṅkarṣaṇa, the goddess of fortune nor indeed My own self are as dear to Me as you are.

16With the dust of My devotees' lotus feet I desire to purify the material worlds, which are situated within Me. Thus, I always follow the footsteps of My pure devotees, who are free from all personal desire, rapt in thought of My pastimes, peaceful, without any feelings of enmity, and of equal disposition everywhere.

17Those who are without any desire for personal gratification, whose minds are always attached to Me, who are peaceful, without false ego and merciful to all living entities, and whose consciousness is never affected by opportunities for sense gratificationsuch persons enjoy in Me a happiness that cannot be known or achieved by those lacking such detachment from the material world.

18My dear Uddhava, if My devotee has not fully conquered his senses, he may be harassed by material desires, but because of his unflinching devotion for Me, he will not be defeated by sense gratification.

19My dear Uddhava, just as a blazing fire turns firewood into ashes, similarly, devotion unto Me completely burns to ashes sins committed by My devotees.

20My dear Uddhava, the unalloyed devotional service rendered to Me by My devotees brings Me under their control. I cannot be thus controlled by those engaged in mystic yoga, Sāṅkhya philosophy, pious work, Vedic study, austerity or renunciation.

21Only by practicing unalloyed devotional service with full faith in Me can one obtain Me, the Supreme Personality of Godhead. I am naturally dear to My devotees, who take Me as the only goal of their loving service. By engaging in such pure devotional service, even the dog-eaters can purify themselves from the contamination of their low birth.

22Neither religious activities endowed with honesty and mercy nor knowledge obtained with great penance can completely purify one's consciousness if they are bereft of loving service to Me.

23If one's hairs do not stand on end, how can the heart melt? And if the heart does not melt, how can tears of love flow from the eyes? If one does not cry in spiritual happiness, how can one render loving service to the Lord? And without such service, how can the consciousness be purified?

24A devotee whose speech is sometimes choked up, whose heart melts, who cries continually and sometimes laughs, who feels ashamed and cries out loudly and then dancesa devotee thus fixed in loving service to Me purifies the entire universe.

25Just as gold, when smelted in fire, gives up its impurities and returns to its pure brilliant state, similarly, the spirit soul, absorbed in the fire of bhakti-yoga, is purified of all contamination caused by previous fruitive activities and returns to its original position of serving Me in the spiritual world.

26When a diseased eye is treated with medicinal ointment it gradually recovers its power to see. Similarly, as a conscious living entity cleanses himself of material contamination by hearing and chanting the pious narrations of My glories, he regains his ability to see Me, the Absolute Truth, in My subtle spiritual form.

27The mind of one meditating upon the objects of sense gratification is certainly entangled in such objects, but if one constantly remembers Me, then the mind is absorbed in Me.

28Therefore, one should reject all material processes of elevation, which are like the mental creations of a dream, and should completely absorb one's mind in Me. By constantly thinking of Me, one becomes purified.

29Being conscious of the eternal self, one should give up association with women and those intimately associated with women. Sitting fearlessly in a solitary place, one should concentrate the mind on Me with great attention.

30Of all kinds of suffering and bondage arising from various attachments, none is greater than the suffering and bondage arising from attachment to women and intimate contact with those attached to women.

31Śrī Uddhava said: My dear lotus-eyed Kṛṣṇa, by what process should one who desires liberation meditate upon You, of what specific nature should his meditation be, and upon which form should he meditate? Kindly explain to me this topic of meditation.

32-33The Supreme Personality of Godhead said: Sitting on a level seat that is not too high or too low, keeping the body straight and erect yet comfortable, placing the two hands on one's lap and focusing the eyes on the tip of one's nose, one should purify the pathways of breathing by practicing the mechanical exercises of pūraka, kumbhaka and recaka, and then one should reverse the procedure (recaka, kumbhaka, pūraka). Having fully controlled the senses, one may thus practice prāṇāyāma step by step.

34Beginning from the mūlādhāra-cakra, one should move the life air continuously upward like the fibers in the lotus stalk until one reaches the heart, where the sacred syllable om is situated like the sound of a bell. One should thus continue raising the sacred syllable upward the distance of twelve aṅgulas, and there the oṁkāra should be joined together with the fifteen vibrations produced with anusvāra.

35Being fixed in the oṁkāra, one should carefully practice the prāṇāyāma system ten times at each sunrise, noon and sunset. Thus, after one month one will have conquered the life air.

36-42Keeping the eyes half closed and fixed on the tip of one's nose, being enlivened and alert, one should meditate on the lotus flower situated within the heart. This lotus has eight petals and is situated on an erect lotus stalk. One should meditate on the sun, moon and fire, placing them one after the other within the whorl of that lotus flower. Placing My transcendental form within the fire, one should meditate upon it as the auspicious goal of all meditation. That form is perfectly proportioned, gentle and cheerful. It possesses four beautiful long arms, a charming, beautiful neck, a handsome forehead, a pure smile and glowing, shark-shaped earrings suspended from two identical ears. That spiritual form is the color of a dark rain cloud and is garbed in golden-yellowish silk. The chest of that form is the abode of Śrīvatsa and the goddess of fortune, and that form is also decorated with a conchshell, disc, club, lotus flower and garland of forest flowers. The two brilliant lotus feet are decorated with ankle bells and bracelets, and that form exhibits the Kaustubha gem along with an effulgent crown. The upper hips are beautified by a golden belt, and the arms are decorated with valuable bracelets. All of the limbs of that beautiful form capture the heart, and the face is beautified by merciful glancing. Pulling the senses back from the sense objects, one should be grave and self-controlled and should use the intelligence to strongly fix the mind upon all of the limbs of My transcendental body. Thus one should meditate upon that most delicate transcendental form of Mine.

43One should then pull the consciousness back from all the limbs of that transcendental body. At that time, one should meditate only on the wonderfully smiling face of the Lord.

44Being established in meditation on the Lord's face, one should then withdraw the consciousness and fix it in the sky. Then giving up such meditation, one should become established in Me and give up the process of meditation altogether.

45One who has completely fixed his mind on Me should see Me within his own soul and should see the individual soul within Me, the Supreme Personality of Godhead. Thus, he sees the individual souls united with the Supreme Soul, just as one sees the sun's rays completely united with the sun.

46When the yogī thus controls his mind by intensely concentrated meditation, his illusory identification with material objects, knowledge and activities is very quickly extinguished.

### SB 11.15: Lord Kṛṣṇa's Description of Mystic Yoga Perfections

1The Supreme Personality of Godhead said: My dear Uddhava, the mystic perfections of yoga are acquired by a yogī who has conquered his senses, steadied his mind, conquered the breathing process and fixed his mind on Me.

2Śrī Uddhava said: My dear Lord Acyuta, by what process can mystic perfection be achieved, and what is the nature of such perfection? How many mystic perfections are there? Please explain these things to me. Indeed, You are the bestower of all mystic perfections.

3The Supreme Personality of Godhead said: The masters of the yoga system have declared that there are eighteen types of mystic perfection and meditation, of which eight are primary, having their shelter in Me, and ten are secondary, appearing from the material mode of goodness.

4-5Among the eight primary mystic perfections, the three by which one transforms one's own body are aṇimā, becoming smaller than the smallest; mahimā, becoming greater than the greatest; and laghimā, becoming lighter than the lightest. Through the perfection of prāpti one acquires whatever one desires, and through prākāmya-siddhi one experiences any enjoyable object, either in this world or the next. Through īśitā-siddhi one can manipulate the subpotencies of māyā, and through the controlling potency called vaśitā-siddhi one is unimpeded by the three modes of nature. One who has acquired kāmāvasāyitā-siddhi can obtain anything from anywhere, to the highest possible limit. My dear gentle Uddhava, these eight mystic perfections are considered to be naturally existing and unexcelled within this world.

6-7The ten secondary mystic perfections arising from the modes of nature are the powers of freeing oneself from hunger and thirst and other bodily disturbances, hearing and seeing things far away, moving the body at the speed of the mind, assuming any form one desires, entering the bodies of others, dying when one desires, witnessing the pastimes between the demigods and the celestial girls called Apsarās, completely executing one's determination and giving orders whose fulfillment is unimpeded.

8-9The power to know past, present and future; tolerance of heat, cold and other dualities; knowing the minds of others; checking the influence of fire, sun, water, poison, and so on; and remaining unconquered by othersthese constitute five perfections of the mystic process of yoga and meditation. I am simply listing these here according to their names and characteristics. Now please learn from Me how specific mystic perfections arise from specific meditations and also of the particular processes involved.

10One who worships Me in My atomic form pervading all subtle elements, fixing his mind on that alone, obtains the mystic perfection called aṇimā.

11One who absorbs his mind in the particular form of the mahat-tattva and thus meditates upon Me as the Supreme Soul of the total material existence achieves the mystic perfection called mahimā. By further absorbing the mind in the situation of each individual element such as the sky, air, fire, and so on, one progressively acquires the greatness of each material element.

12I exist within everything, and I am therefore the essence of the atomic constituents of material elements. By attaching his mind to Me in this form, the yogī may achieve the perfection called laghimā, by which he realizes the subtle atomic substance of time.

13Fixing his mind completely in Me within the element of false ego generated from the mode of goodness, the yogī obtains the power of mystic acquisition, by which he becomes the proprietor of the senses of all living entities. He obtains such perfection because his mind is absorbed in Me.

14One who concentrates all mental activities in Me as the Supersoul of that phase of the mahat-tattva which manifests the chain of fruitive activities obtains from Me, whose appearance is beyond material perception, the most excellent mystic perfection called prākāmya.

15One who places his consciousness on Viṣṇu, the Supersoul, the prime mover and Supreme Lord of the external energy consisting of three modes, obtains the mystic perfection of controlling other conditioned souls, their material bodies and their bodily designations.

16The yogī who places his mind in My form of Nārāyaṇa, known as the fourth factor, full of all opulences, becomes endowed with My nature and thus obtains the mystic perfection called vaśitā.

17One who fixes his pure mind on Me in My manifestation as the impersonal Brahman obtains the greatest happiness, wherein all his desires are completely fulfilled.

18A human being who concentrates on Me as the upholder of religious principles, the personification of purity and the Lord of Śvetadvīpa obtains the pure existence in which he is freed from the six waves of material disturbance, namely hunger, thirst, decay, death, grief and illusion.

19That purified living entity who fixes his mind on the extraordinary sound vibrations occurring within Me as the personified sky and total life air is then able to perceive within the sky the speaking of all living entities.

20Merging one's sight into the sun planet and then the sun planet into one's eyes, one should meditate on Me as existing within the combination of sun and vision; thus one acquires the power to see any distant thing.

21The yogī who completely absorbs his mind in Me, and who then makes use of the wind that follows the mind to absorb the material body in Me, obtains through the potency of meditation on Me the mystic perfection by which his body immediately follows his mind wherever it goes.

22When the yogī, applying his mind in a certain way, desires to assume a particular form, that very form immediately appears. Such perfection is possible by absorbing the mind in the shelter of My inconceivable mystic potency, by which I assume innumerable forms.

23When a perfect yogī desires to enter another's body, he should meditate upon himself within

the other body, and then, giving up his own gross body, he should enter the other's body through the pathways of air, as easily as a bee leaves one flower and flies into another.

24The yogī who has achieved the mystic perfection called svacchanda-mṛtyu blocks the anus with the heel of the foot and then lifts the soul from the heart to the chest, to the neck and finally to the head. Situated within the brahma-randhra, the yogī then gives up his material body and guides the spirit soul to the selected destination.

25The yogī who desires to enjoy in the pleasure gardens of the demigods should meditate on the purified mode of goodness, which is situated within Me, and then the heavenly women, generated from the mode of goodness, will approach him in airplanes.

26A yogī who has faith in Me, absorbing his mind in Me and knowing that My purpose is always fulfilled, will always achieve his purpose by the very means he has determined to follow.

27A person who perfectly meditates on Me acquires My nature of being the supreme ruler and controller. His order, like Mine, can never be frustrated by any means.

28A yogī who has purified his existence by devotion to Me and who thus expertly knows the process of meditation obtains knowledge of past, present and future. He can therefore see the birth and death of himself and others.

29Just as the bodies of aquatics cannot be injured by water, similarly, the body of a yogī whose consciousness is pacified by devotion to Me and who is fully developed in yoga science cannot be injured by fire, sun, water, poison, and so forth.

30My devotee becomes unconquerable by meditating on My opulent incarnations, which are decorated with Śrīvatsa and various weapons and are endowed with imperial paraphernalia such as flags, ornamental umbrellas and fans.

31A learned devotee who worships Me through yoga meditation certainly obtains in all respects the mystic perfections that I have described.

32For a sage who has conquered his senses, breathing and mind, who is self-controlled and always absorbed in meditation on Me, what mystic perfection could possibly be difficult to achieve?

33Learned experts in devotional service state that the mystic perfections of yoga that I have mentioned are actually impediments and are a waste of time for one who is practicing the supreme yoga, by which one achieves all perfection in life directly from Me.

34Whatever mystic perfections can be achieved by good birth, herbs, austerities and mantras can all be achieved by devotional service to Me; indeed, one cannot achieve the actual perfection of yoga by any other means.

35My dear Uddhava, I am the cause, the protector and the Lord of all mystic perfections, of the yoga system, of analytic knowledge, of pure activity and of the community of learned Vedic teachers.

36Just as the same material elements exist within and outside of all material bodies, similarly, I cannot be covered by anything else. I exist within everything as the Supersoul and outside of everything in My all-pervading feature.

**SB 11.16: The Lord's Opulence**

1Śrī Uddhava said: My dear Lord, You are beginningless and endless, the Absolute Truth Himself, unlimited by anything else. You are the protector and life-giver, the destruction and creation of all things that exist.

2My dear Lord, although it is difficult for the impious to understand that You are situated in all superior and inferior creations, those brāhmaṇas who are actual knowers of the Vedic conclusion worship You in truth.

3Please tell me of the perfections that great sages achieve by worshiping You with devotion. Also, kindly explain which of Your different forms they worship.

4O my Lord, maintainer of all, although You are the Supersoul of the living entities, You remain hidden. Thus being bewildered by You, the living entities cannot see You, although You are seeing them.

5O supremely potent Lord, please explain to me Your innumerable potencies, which You manifest on the earth, in heaven, in hell and indeed in all directions. I offer my humble obeisances at Your lotus feet, which are the shelter of all holy places.

6The Supreme Personality of Godhead said: O best of those who know how to inquire, on the Battlefield of Kurukṣetra, Arjuna, desiring to fight with his rivals, asked Me the same question that you are now posing.

7On the Battlefield of Kurukṣetra Arjuna thought that killing his relatives would be an abominable, irreligious activity, motivated only by his desire to acquire a kingdom. He therefore desisted from the battle, thinking, "I would be the killer of my relatives. They would be destroyed." Thus Arjuna was afflicted with mundane consciousness.

8At that time I enlightened Arjuna, the tiger among men, with logical arguments, and thus in the front of the battle Arjuna addressed Me with questions in the same way that you are now inquiring.

9My dear Uddhava, I am the Supersoul of all living entities, and therefore I am naturally their well-wisher and supreme controller. Being the creator, maintainer and annihilator of all entities, I am not different from them.

10I am the ultimate goal of all those seeking progress, and I am time among those who exert control. I am the equilibrium of the modes of material nature, and I am natural virtue among the pious.

11Among things possessing qualities I am the primary manifestation of nature, and among great things I am the total material creation. Among subtle things I am the spirit soul, and of things that are difficult to conquer I am the mind.

12Among the Vedas I am their original teacher, Lord Brahmā, and of all mantras I am the three-lettered oṁkāra. Among letters I am the first letter, "a," and among sacred meters I am the Gāyatrī mantra.

13Among the demigods I am Indra, and among the Vasus I am Agni, the god of fire. I am Viṣṇu among the sons of Aditi, and among the Rudras I am Lord Śiva.

14Among saintly brāhmaṇas I am Bhṛgu Muni, and I am Manu among saintly kings. I am Nārada Muni among saintly demigods, and I am Kāmadhenu among cows.

15I am Lord Kapila among perfected beings and Garuḍa among birds. I am Dakṣa among the

progenitors of mankind, and I am Aryamā among the forefathers.

16My dear Uddhava, among the demoniac sons of Diti know Me to be Prahlāda Mahārāja, the saintly lord of the asuras. Among the stars and herbs I am their lord, Candra (the moon), and among Yakṣas and Rākṣasas I am the lord of wealth, Kuvera.

17I am Airāvata among lordly elephants, and among aquatics I am Varuṇa, the lord of the seas. Among all things that heat and illuminate I am the sun, and among human beings I am the king.

18Among horses I am Uccaiḥśravā, and I am gold among metals. I am Yamarāja among those who suppress and punish, and among serpents I am Vāsuki.

19O sinless Uddhava, among the best of snakes I am Anantadeva, and among those animals with sharp horns or teeth I am the lion. Among the social orders I am the fourth, or the renounced order of life, and among the occupational divisions I am the first, the brāhmaṇas.

20Among sacred and flowing things I am the holy Ganges, and among steady bodies of water I am the ocean. Among weapons I am the bow, and of the wielders of weapons I am Lord Śiva.

21Among residences I am Mount Sumeru, and of impervious places I am the Himālayas. Among trees I am the holy fig tree, and among plants I am those that bear grains.

22Among priests I am Vasiṣṭha Muni, and among those highly situated in Vedic culture I am Bṛhaspati. I am Kārtikeya among great military leaders, and among those advancing in superior ways of life I am the great personality Lord Brahmā.

23Among sacrifices I am study of the Veda, and I am nonviolence among vows. Among all things that purify I am the wind, fire, the sun, water and speech.

24Among the eight progressive states of yoga I am the final stage, samādhi, in which the soul is completely separated from illusion. Among those desiring victory I am prudent political counsel, and among processes of expert discrimination I am the science of the soul, by which one distinguishes spirit from matter. Among all speculative philosophers I am diversity of perception.

25Among ladies I am Śatarūpā, and among male personalities I am her husband, Svāyambhuva Manu. I am Nārāyaṇa among the sages and Sanat-kumāra among brahmacārīs.

26Among religious principles I am renunciation, and of all types of security I am consciousness of the eternal soul within. Of secrets I am pleasant speech and silence, and among sexual pairs I am Brahmā.

27Among the vigilant cycles of time I am the year, and among seasons I am spring. Among months I am Mārgaśīrṣa, and among lunar houses I am the auspicious Abhijit.

28Among ages I am the Satya-yuga, the age of truth, and among steady sages I am Devala and Asita. Among those who have divided the Vedas I am Kṛṣṇa Dvaipāyana Vedavyāsa, and among learned scholars I am Śukrācārya, the knower of spiritual science.

29Among those entitled to the name Bhagavān I am Vāsudeva, and indeed, you, Uddhava, represent Me among the devotees. I am Hanumān among the Kimpuruṣas, and among the Vidyādharas I am Sudarśana.

30Among jewels I am the ruby, and among beautiful things I am the lotus cup. Among all types

of grass I am the sacred kuśa, and of oblations I am ghee and other ingredients obtained from the cow.

31Among the enterprising I am fortune, and among the cheaters I am gambling. I am the forgiveness of the tolerant and the good qualities of those in the mode of goodness.

32Of the powerful I am bodily and mental strength, and I am the devotional activities of My devotees. My devotees worship Me in nine different forms, among which I am the original and primary Vāsudeva.

33Among the Gandharvas I am Viśvāvasu, and I am Pūrvacitti among the heavenly Apsaras. I am the steadiness of mountains and the fragrant aroma of the earth.

34I am the sweet taste of water, and among brilliant things I am the sun. I am the effulgence of the sun, moon and stars, and I am the transcendental sound that vibrates in the sky.

35Among those dedicated to brahminical culture I am Bali Mahārāja, the son of Virocana, and I am Arjuna among heroes. Indeed, I am the creation, maintenance and annihilation of all living entities.

36I am the functions of the five working sensesthe legs, speech, anus, hands and sex organsas well as those of the five knowledge-acquiring sensestouch, sight, taste, hearing and smell. I am also the potency by which each of the senses experiences its particular sense object.

37I am form, taste, aroma, touch and sound; false ego; the mahat-tattva; earth, water, fire, air and sky; the living entity; material nature; the modes of goodness, passion and ignorance; and the transcendental Lord. All these items, along with knowledge of their individual symptoms and the steady conviction that results from this knowledge, represent Me.

38As the Supreme Lord I am the basis of the living entity, of the modes of nature and of the mahat-tattva. Thus I am everything, and nothing whatsoever can exist without Me.

39Even though over a period of time I might count all the atoms of the universe, I could not count all of My opulences which I manifest within innumerable universes.

40Whatever power, beauty, fame, opulence, humility, renunciation, mental pleasure, fortune, strength, tolerance or spiritual knowledge there may be is simply an expansion of My opulence.

41I have briefly described to you all My spiritual opulences and also the extraordinary material features of My creation, which are perceived by the mind and defined in different ways according to circumstances.

42Therefore, control your speaking, subdue the mind, conquer the life air, regulate the senses and through purified intelligence bring your rational faculties under control. In this way you will never again fall onto the path of material existence.

43A transcendentalist who does not completely control his words and mind by superior intelligence will find that his spiritual vows, austerities and charity flow away just as water flows out of an unbaked clay pot.

44Being surrendered to Me, one should control the speech, mind and life air, and then through loving devotional intelligence one will completely fulfill the mission of life.

**SB 11.17: Lord Kṛṣṇa's Description of the Varṇāśrama System**

1-2Śrī Uddhava said: My dear Lord, previously You described the principles of devotional service that are to be practiced by followers of the varṇāśrama system and even ordinary, unregulated human beings. My dear lotus-eyed Lord, now please explain to me how all human beings can achieve loving service unto You by the execution of their prescribed duties.

3-4My dear Lord, O mighty-armed one, previously in Your form of Lord Haṁsa You spoke to Lord Brahmā those religious principles that bring supreme happiness to the practitioner. My dear Mādhava, now much time has passed, and that which You previously instructed will soon practically cease to exist, O subduer of the enemy.

5-6My dear Lord Acyuta, there is no speaker, creator and protector of supreme religious principles other than Your Lordship, either on the earth or even in the assembly of Lord Brahmā, where the personified Vedas reside. Thus, my dear Lord Madhusūdana, when You, who are the very creator, protector and speaker of spiritual knowledge, abandon the earth, who will again speak this lost knowledge?

7Therefore, my Lord, since You are the knower of all religious principles, please describe to me the human beings who may execute the path of loving service to You and how such service is to be rendered.

8ŚrīŚukadeva Gosvāmī said: Śrī Uddhava, the best of devotees, thus inquired from the Lord. Hearing his question, the Personality of Godhead, Śrī Kṛṣṇa, was pleased and for the welfare of all conditioned souls spoke those religious principles that are eternal.

9The Supreme Personality of Godhead said: My dear Uddhava, your question is faithful to religious principles and thus gives rise to the highest perfection in life, pure devotional service, for both ordinary human beings and the followers of the varṇāśrama system. Now please learn from Me those supreme religious principles.

10In the beginning, in Satya-yuga, there is only one social class, called haṁsa, to which all human beings belong. In that age all people are unalloyed devotees of the Lord from birth, and thus learned scholars call this first age Kṛta-yuga, or the age in which all religious duties are perfectly fulfilled.

11In Satya-yuga the undivided Veda is expressed by the syllable om, and I am the only object of mental activities. I become manifest as the four-legged bull of religion, and thus the inhabitants of Satya-yuga, fixed in austerity and free from all sins, worship Me as Lord Haṁsa.

12O greatly fortunate one, at the beginning of Tretā-yuga Vedic knowledge appeared from My heart, which is the abode of the air of life, in three divisionsas Ṛg, Sāma and Yajur. Then from that knowledge I appeared as threefold sacrifice.

13In Tretā-yuga the four social orders were manifested from the universal form of the Personality of Godhead. The brāhmaṇas appeared from the Lord's face, the kṣatriyas from the Lord's arms, the vaiśyas from the Lord's thighs and the śūdras from the legs of that mighty form. Each social division was recognized by its particular duties and behavior.

14The married order of life appeared from the loins of My universal form, and the celibate students came from My heart. The forest-dwelling retired order of life appeared from My chest, and the renounced order of life was situated within the head of My universal form.

15The various occupational and social divisions of human society appeared according to inferior and superior natures manifest in the situation of the individual's birth.

16Peacefulness, self-control, austerity, cleanliness, satisfaction, tolerance, simple straightforwardness, devotion to Me, mercy and truthfulness are the natural qualities of the brāhmaṇas.

17Dynamic power, bodily strength, determination, heroism, tolerance, generosity, great endeavor, steadiness, devotion to the brāhmaṇas and leadership are the natural qualities of the kṣatriyas.

18Faith in Vedic civilization, dedication to charity, freedom from hypocrisy, service to the brāhmaṇas and perpetually desiring to accumulate more money are the natural qualities of the vaiśyas.

19Service without duplicity to the brāhmaṇas, cows, demigods and other worshipable personalities, and complete satisfaction with whatever income is obtained in such service, are the natural qualities of śūdras.

20Dirtiness, dishonesty, thievery, faithlessness, useless quarrel, lust, anger and hankering constitute the nature of those in the lowest position outside the varṇāśrama system.

21Nonviolence, truthfulness, honesty, desire for the happiness and welfare of all others and freedom from lust, anger and greed constitute duties for all members of society.

22The twice-born member of society achieves second birth through the sequence of purificatory ceremonies culminating in Gāyatrī initiation. Being summoned by the spiritual master, he should reside within the guru's āśrama and with a self-controlled mind carefully study the Vedic literature.

23The brahmacārī should regularly dress with a belt of straw and deerskin garments. He should wear matted hair, carry a rod and waterpot and be decorated with akṣa beads and a sacred thread. Carrying pure kuśa grass in his hand, he should never accept a luxurious or sensuous sitting place. He should not unnecessarily polish his teeth, nor should he bleach and iron his clothes.

24A brahmacārī should always remain silent while bathing, eating, attending sacrificial performances, chanting japa or passing stool and urine. He should not cut his nails and hair, including the armpit and pubic hair.

25One observing the vow of celibate brahmacārī life should never pass semen. If the semen by chance spills out by itself, the brahmacārī should immediately take bath in water, control his breath by prāṇāyāma and chant the Gāyatrī mantra.

26Purified and fixed in consciousness, the brahmacārī should worship the fire-god, sun, ācārya, cows, brāhmaṇas, guru, elderly respectable persons and demigods. He should perform such worship at sunrise and sunset, without speaking but by silently chanting or murmuring the appropriate mantras.

27One should know the ācārya as Myself and never disrespect him in any way. One should not envy him, thinking him an ordinary man, for he is the representative of all the demigods.

28In the morning and evening one should collect foodstuffs and other articles and deliver them to the spiritual master. Then, being self-controlled, one should accept for oneself that which is allotted by the ācārya.

29While engaged in serving the spiritual master one should remain as a humble servant, and

thus when the guru is walking the servant should humbly walk behind. When the guru lies down to sleep, the servant should also lie down nearby, and when the guru has awakened, the servant should sit near him, massaging his lotus feet and rendering other, similar services. When the guru is sitting down on his āsana, the servant should stand nearby with folded hands, awaiting the guru's order. In this way one should always worship the spiritual master.

30Until the student has completed his Vedic education he should remain engaged in the āśrama of the spiritual master, should remain completely free of material sense gratification and should not break his vow of celibacy [brahmacarya].

31If the brahmacārī student desires to ascend to the Maharloka or Brahmaloka planets, then he should completely surrender his activities to the spiritual master and, observing the powerful vow of perpetual celibacy, dedicate himself to superior Vedic studies.

32Thus enlightened in Vedic knowledge by service to the spiritual master, freed from all sins and duality, one should worship Me as the Supersoul, as I appear within fire, the spiritual master, one's own self and all living entities.

33Those who are not marriedsannyāsīs, vānaprasthas and brahmacārīsshould never associate with women by glancing, touching, conversing, joking or sporting. Neither should they ever associate with any living entity engaged in sexual activities.

34-35My dear Uddhava, general cleanliness, washing the hands, bathing, performing religious services at sunrise, noon and sunset, worshiping Me, visiting holy places, chanting japa, avoiding that which is untouchable, uneatable or not to be discussed, and remembering My existence within all living entities as the Supersoulthese principles should be followed by all members of society through regulation of the mind, words and body.

36A brāhmaṇa observing the great vow of celibacy becomes brilliant like fire and by serious austerity burns to ashes the propensity to perform material activities. Free from the contamination of material desire, he becomes My devotee.

37A brahmacārī who has completed his Vedic education and desires to enter household life should offer proper remuneration to the spiritual master, bathe, cut his hair, put on proper clothes, and so on. Then, taking permission from the guru, he should go back to his home.

38A brahmacārī desiring to fulfill his material desires should live at home with his family, and a householder who is eager to purify his consciousness should enter the forest, whereas a purified brāhmaṇa should accept the renounced order of life. One who is not surrendered to Me should move progressively from one āśrama to another, never acting otherwise.

39One who desires to establish family life should marry a wife of his own caste, who is beyond reproach and younger in age. If one desires to accept many wives he must marry them after the first marriage, and each wife should be of a successively lower caste.

40All twice-born menbrāhmaṇas, kṣatriyas and vaiśyasmust perform sacrifice, study the Vedic literature and give charity. Only the brāhmaṇas, however, accept charity, teach the Vedic knowledge and perform sacrifice on behalf of others.

41A brāhmaṇa who considers that accepting charity from others will destroy his austerity, spiritual influence and fame should maintain himself by the other two brahminical occupations, namely teaching Vedic knowledge and performing sacrifice. If the brāhmaṇa considers that those two occupations also compromise his spiritual position, then he should collect rejected grains in agricultural fields and live without any dependence on others.

42The body of a brāhmaṇa is not intended to enjoy insignificant material sense gratification; rather, by accepting difficult austerities in his life, a brāhmaṇa will enjoy unlimited happiness after death.

43A brāhmaṇa householder should remain satisfied in mind by gleaning rejected grains from agricultural fields and marketplaces. Keeping himself free of personal desire, he should practice magnanimous religious principles, with consciousness absorbed in Me. In this way a brāhmaṇa may stay at home as a householder without very much attachment and thus achieve liberation.

44Just as a ship rescues those who have fallen into the ocean, similarly, I very quickly rescue from all calamities those persons who uplift brāhmaṇas and devotees suffering in a poverty-stricken condition.

45Just as the chief bull elephant protects all other elephants in his herd and defends himself as well, similarly, a fearless king, just like a father, must save all of the citizens from difficulty and also protect himself.

46An earthly king who protects himself and all citizens by removing all sins from his kingdom will certainly enjoy with Lord Indra in airplanes as brilliant as the sun.

47If a brāhmaṇa cannot support himself through his regular duties and is thus suffering, he may adopt the occupation of a merchant and overcome his destitute condition by buying and selling material things. If he continues to suffer extreme poverty even as a merchant, then he may adopt the occupation of a kṣatriya, taking sword in hand. But he cannot in any circumstances become like a dog, accepting an ordinary master.

48A king or other member of the royal order who cannot maintain himself by his normal occupation may act as a vaiśya, may live by hunting or may act as a brāhmaṇa by teaching others Vedic knowledge. But he may not under any circumstances adopt the profession of a śūdra.

49A vaiśya, or mercantile man, who cannot maintain himself may adopt the occupation of a śūdra, and a śūdra who cannot find a master can engage in simple activities like making baskets and mats of straw. However, all members of society who have adopted inferior occupations in emergency situations must give up those substitute occupations when the difficulties have passed.

50One in the gṛhastha order of life should daily worship the sages by Vedic study, the forefathers by offering the mantra svadhā, the demigods by chanting svāhā, all living entities by offering shares of one's meals, and human beings by offering grains and water. Thus considering the demigods, sages, forefathers, living entities and human beings to be manifestations of My potency, one should daily perform these five sacrifices.

51A householder should comfortably maintain his dependents either with money that comes of its own accord or with that gathered by honest execution of one's duties. According to one's means, one should perform sacrifices and other religious ceremonies.

52A householder taking care of many dependent family members should not become materially attached to them, nor should he become mentally unbalanced, considering himself to be the lord. An intelligent householder should see that all possible future happiness, just like that which he has already experienced, is temporary.

53The association of children, wife, relatives and friends is just like the brief meeting of

travelers. With each change of body one is separated from all such associates, just as one loses the objects one possesses in a dream when the dream is over.

54Deeply considering the actual situation, a liberated soul should live at home just like a guest, without any sense of proprietorship or false ego. In this way he will not be bound or entangled by domestic affairs.

55A householder devotee who worships Me by execution of his family duties may remain at home, go to a holy place or, if he has a responsible son, take sannyāsa.

56But a householder whose mind is attached to his home and who is thus disturbed by ardent desires to enjoy his money and children, who is lusty after women, who is possessed of a miserly mentality and who unintelligently thinks, "Everything is mine and I am everything," is certainly bound in illusion.

57"O my poor elderly parents, and my wife with a mere infant in her arms, and my other young children! Without me they have absolutely no one to protect them and will suffer unbearably. How can my poor relatives possibly live without me?"

58Thus, because of his foolish mentality, a householder whose heart is overwhelmed by family attachment is never satisfied. Constantly meditating on his relatives, he dies and enters into the darkness of ignorance.

## SB 11.18: Description of Varṇāśrama-dharma

1The Supreme Personality of Godhead said: One who desires to adopt the third order of life, vānaprastha, should enter the forest with a peaceful mind, leaving his wife with his mature sons, or else taking her along with him.

2Having adopted the vānaprastha order of life, one should arrange one's sustenance by eating uncontaminated bulbs, roots and fruits that grow in the forest. One may dress oneself with tree bark, grass, leaves or animal skins.

3The vānaprastha should not groom the hair on his head, body or face, should not manicure his nails, should not pass stool and urine at irregular times and should not make a special endeavor for dental hygiene. He should be content to take bath in water three times daily and should sleep on the ground.

4Thus engaged as a vānaprastha, one should execute penance during the hottest summer days by subjecting oneself to burning fires on four sides and the blazing sun overhead; during the rainy season one should remain outside, subjecting oneself to torrents of rain; and in the freezing winter one should remain submerged in water up to one's neck.

5One may eat foodstuffs prepared with fire, such as grains, or fruits ripened by time. One may grind one's food with mortar and stone or with one's own teeth.

6The vānaprastha should personally collect whatever he requires for his bodily maintenance, carefully considering the time, place and his own capacity. He should never collect provisions for the future.

7One who has accepted the vānaprastha order of life should perform seasonal sacrifices by offering oblations of caru and sacrificial cakes prepared from rice and other grains found in the forest. The vānaprastha, however, may never offer animal sacrifices to Me, even those sacrifices mentioned in the Vedas.

8The vānaprastha should perform the agnihotra, darśa and paurṇamāsa sacrifices, as he did while in the gṛhastha-āśrama. He should also perform the vows and sacrifices of cāturmāsya, since all of these rituals are enjoined for the vānaprastha-āśrama by expert knowers of the Vedas.

9The saintly vānaprastha, practicing severe penances and accepting only the bare necessities of life, becomes so emaciated that he appears to be mere skin and bones. Thus worshiping Me through severe penances, he goes to the Maharloka planet and then directly achieves Me.

10One who with long endeavor executes this painful but exalted penance, which awards ultimate liberation, simply to achieve insignificant sense gratification must be considered the greatest fool.

11If the vānaprastha is overtaken by old age and because of his trembling body is no longer able to execute his prescribed duties, he should place the sacrificial fire within his heart by meditation. Then, fixing his mind on Me, he should enter into the fire and give up his body.

12If the vānaprastha, understanding that even promotion to Brahmaloka is a miserable situation, develops complete detachment from all possible results of fruitive activities, then he may take the sannyāsa order of life.

13Having worshiped Me according to scriptural injunctions and having given all one's property to the sacrificial priest, one should place the fire sacrifice within oneself. Thus, with the mind completely detached, one should enter the sannyāsa order of life.

14"This man taking sannyāsa is going to surpass us and go back home, back to Godhead." Thus thinking, the demigods create stumbling blocks on the path of the sannyāsī by appearing before him in the shape of his former wife or other women and attractive objects. But the sannyāsī should pay the demigods and their manifestations no heed.

15If the sannyāsī desires to wear something besides a mere kaupīna, he may use another cloth around his waist and hips to cover the kaupīna. Otherwise, if there is no emergency, he should not accept anything besides his daṇḍa and waterpot.

16A saintly person should step or place his foot on the ground only after verifying with his eyes that there are no living creatures, such as insects, who might be injured by his foot. He should drink water only after filtering it through a portion of his cloth, and he should speak only words that possess the purity of truth. Similarly, he should perform only those activities his mind has carefully ascertained to be pure.

17One who has not accepted the three internal disciplines of avoiding useless speech, avoiding useless activities and controlling the life air can never be considered a sannyāsī merely because of his carrying bamboo rods.

18Rejecting those houses that are polluted and untouchable, one should approach without previous calculation seven houses and be satisfied with that which is obtained there by begging. According to necessity, one may approach each of the four occupational orders of society.

19Taking the food gathered through begging, one should leave the populated areas and go to a reservoir of water in a secluded place. There, having taken a bath and washed one's hands thoroughly, one should distribute portions of the food to others who may request it. One should do this without speaking. Then, having thoroughly cleansed the remnants, one should eat everything on one's plate, leaving nothing for future consumption.

20Without any material attachment, with senses fully controlled, remaining enthusiastic, and satisfied in realization of the Supreme Lord and his own self, the saintly person should travel about the earth alone. Having equal vision everywhere, he should be steady on the spiritual platform.

21Dwelling in a safe and solitary place, his mind purified by constant thought of Me, the sage should concentrate on the soul alone, realizing it to be nondifferent from Me.

22By steady knowledge a sage should clearly ascertain the nature of the soul's bondage and liberation. Bondage occurs when the senses are deviated to sense gratification, and complete control of the senses constitutes liberation.

23Therefore, completely controlling the five senses and the mind by Kṛṣṇa consciousness, a sage, having experienced spiritual bliss within the self, should live detached from insignificant material sense gratification.

24The sage should travel in sanctified places, by flowing rivers and within the solitude of mountains and forests. He should enter the cities, towns and pasturing grounds and approach ordinary working men only to beg his bare sustenance.

25One in the vānaprastha order of life should always practice taking charity from others, for one is thereby freed from illusion and quickly becomes perfect in spiritual life. Indeed, one who subsists on food grains obtained in such a humble manner purifies his existence.

26One should never see as ultimate reality those material things which obviously will perish. With consciousness free from material attachment, one should retire from all activities meant for material progress in this life and the next.

27One should logically consider the universe, which is situated within the Lord, and one's own material body, which is composed of mind, speech and life air, to be ultimately products of the Lord's illusory energy. Thus situated in the self, one should give up one's faith in these things and should never again make them the object of one's meditation.

28A learned transcendentalist dedicated to the cultivation of knowledge and thus detached from external objects, or My devotee who is detached even from desire for liberationboth neglect those duties based on external rituals or paraphernalia. Thus their conduct is beyond the range of rules and regulations.

29Although most wise, the paramahaṁsa should enjoy life like a child, oblivious to honor and dishonor; although most expert, he should behave like a stunted, incompetent person; although most learned, he should speak like an insane person; and although a scholar learned in Vedic regulations, he should behave in an unrestricted manner.

30A devotee should never engage in the fruitive rituals mentioned in the karma-kāṇḍa section of the Vedas, nor should he become atheistic, acting or speaking in opposition to Vedic injunctions. Similarly, he should never speak like a mere logician or skeptic or take any side whatsoever in useless arguments.

31A saintly person should never let others frighten or disturb him and, similarly, should never frighten or disturb other people. He should tolerate the insults of others and should never himself belittle anyone. He should never create hostility with anyone for the sake of the material body, for he would thus be no better than an animal.

32The one Supreme Lord is situated within all material bodies and within everyone's soul. Just as the moon is reflected in innumerable reservoirs of water, the Supreme Lord, although one, is

present within everyone. Thus every material body is ultimately composed of the energy of the one Supreme Lord.

33If at times one does not obtain proper food one should not be depressed, and when one obtains sumptuous food one should not rejoice. Being fixed in determination, one should understand both situations to be under the control of God.

34If required, one should endeavor to get sufficient foodstuffs, because it is always necessary and proper to maintain one's health. When the senses, mind and life air are fit, one can contemplate spiritual truth, and by understanding the truth one is liberated.

35A sage should accept the food, clothing and beddingbe they of excellent or inferior qualitythat come of their own accord.

36Just as I, the Supreme Lord, execute regulative duties by My own free will, similarly, one who has realized knowledge of Me should maintain general cleanliness, purify his hands with water, take bath and execute other regulative duties not by force but by his own free will.

37A realized soul no longer sees anything as separate from Me, for his realized knowledge of Me has destroyed such illusory perception. Since the material body and mind were previously accustomed to this kind of perception, it may sometimes appear to recur; but at the time of death the self-realized soul achieves opulences equal to Mine.

38One who is detached from sense gratification, knowing its result to be miserable, and who desires spiritual perfection, but who has not seriously analyzed the process for obtaining Me, should approach a bona fide and learned spiritual master.

39Until a devotee has clearly realized spiritual knowledge, he should continue with great faith and respect and without envy to render personal service to the guru, who is nondifferent from Me.

40-41One who has not controlled the six forms of illusion [lust, anger, greed, excitement, false pride and intoxication], whose intelligence, the leader of the senses, is extremely attached to material things, who is bereft of knowledge and detachment, who adopts the sannyāsa order of life to make a living, who denies the worshipable demigods, his own self and the Supreme Lord within himself, thus ruining all religious principles, and who is still infected by material contamination, is deviated and lost both in this life and the next.

42The main religious duties of a sannyāsī are equanimity and nonviolence, whereas for the vānaprastha austerity and philosophical understanding of the difference between the body and soul are prominent. The main duties of a householder are to give shelter to all living entities and perform sacrifices, and the brahmacārī is mainly engaged in serving the spiritual master.

43A householder may approach his wife for sex only at the time prescribed for begetting children. Otherwise, the householder should practice celibacy, austerity, cleanliness of mind and body, satisfaction in his natural position, and friendship toward all living entities. Worship of Me is to be practiced by all human beings, regardless of social or occupational divisions.

44One who worships Me by his prescribed duty, having no other object of worship, and who remains conscious of Me as present in all living entities, achieves unflinching devotional service unto Me.

45My dear Uddhava, I am the Supreme Lord of all worlds, and I create and destroy this universe, being its ultimate cause. I am thus the Absolute Truth, and one who worships Me with unfailing devotional service comes to Me.

46Thus, one who has purified his existence by execution of his prescribed duties, who fully understands My supreme position and who is endowed with scriptural and realized knowledge, very soon achieves Me.

47Those who are followers of this varṇāśrama system accept religious principles according to authorized traditions of proper conduct. When such varṇāśrama duties are dedicated to Me in loving service, they award the supreme perfection of life.

48My dear saintly Uddhava, I have now described to you, just as you inquired, the means by which My devotee, perfectly engaged in his prescribed duty, can come back to Me, the Supreme Personality of Godhead.

**SB 11.19: The Perfection of Spiritual Knowledge**

1The Supreme Personality of Godhead said: A self-realized person who has cultivated scriptural knowledge up to the point of enlightenment and who is free from impersonal speculation, understanding the material universe to be simply illusion, should surrender unto Me both that knowledge and the means by which he achieved it.

2For learned, self-realized philosophers I am the only object of worship, the desired goal of life, the means for achieving that goal, and the settled conclusion of all knowledge. Indeed, because I am the cause of their happiness and their freedom from unhappiness, such learned souls have no effective purpose or dear object in life except Me.

3Those who have achieved complete perfection through philosophical and realized knowledge recognize My lotus feet to be the supreme transcendental object. Thus the learned transcendentalist is most dear to Me, and by his perfect knowledge he maintains Me in happiness.

4That perfection which is produced by a small fraction of spiritual knowledge cannot be duplicated by performing austerities, visiting holy places, chanting silent prayers, giving in charity or engaging in other pious activities.

5Therefore, My dear Uddhava, through knowledge you should understand your actual self. Then, advancing by clear realization of Vedic knowledge, you should worship Me in the mood of loving devotion.

6Formerly, great sages, through the sacrifice of Vedic knowledge and spiritual enlightenment, worshiped Me within themselves, knowing Me to be the Supreme Lord of all sacrifice and the Supersoul in everyone's heart. Thus coming to Me, these sages achieved the supreme perfection.

7My dear Uddhava, the material body and mind, composed of the three modes of material nature, attach themselves to you, but they are actually illusion, since they appear only at the present, having no original or ultimate existence. How is it possible, therefore, that the various stages of the body, namely birth, growth, reproduction, maintenance, dwindling and death, can have any relation to your eternal self? These phases relate only to the material body, which previously did not exist and ultimately will not exist. The body exists merely at the present moment.

8Śrī Uddhava said: O Lord of the universe! O form of the universe! Please explain to me that process of knowledge which automatically brings detachment and direct perception of the truth, which is transcendental, and which is traditional among great spiritual philosophers. This knowledge, sought by elevated personalities, describes loving devotional service unto Your Lordship.

9My dear Lord, for one who is being tormented on the terrible path of birth and death and is constantly overwhelmed by the threefold miseries, I do not see any possible shelter other than Your two lotus feet, which are just like a refreshing umbrella that pours down showers of delicious nectar.

10O almighty Lord, please be merciful and uplift this hopeless living entity who has fallen into the dark hole of material existence, where the snake of time has bitten him. In spite of such abominable conditions, this poor living entity has tremendous desire to relish the most insignificant material happiness. Please save me, my Lord, by pouring down the nectar of Your instructions, which awaken one to spiritual freedom.

11The Supreme Personality of Godhead said: My dear Uddhava, just as you are now inquiring from Me, similarly, in the past King Yudhiṣṭhira, who considered no one his enemy, inquired from the greatest of the upholders of religious principles, Bhīṣma, while all of us were carefully listening.

12When the great Battle of Kurukṣetra had ended, King Yudhiṣṭhira was overwhelmed by the death of many beloved well-wishers, and thus, after listening to instructions about many religious principles, he finally inquired about the path of liberation.

13I will now speak unto you those religious principles of Vedic knowledge, detachment, self-realization, faith and devotional service that were heard directly from the mouth of Bhīṣmadeva.

14I personally approve of that knowledge by which one sees the combination of nine, eleven, five and three elements in all living entities, and ultimately one element within those twenty-eight.

15When one no longer sees the twenty-eight separated material elements, which arise from a single cause, but rather sees the cause itself, the Personality of Godheadat that time one's direct experience is called viJnana, or self-realization.

16Commencement, termination and maintenance are the stages of material causation. That which consistently accompanies all these material phases from one creation to another and remains alone when all material phases are annihilated is the one eternal.

17From the four types of evidenceVedic knowledge, direct experience, traditional wisdom and logical inductionone can understand the temporary, insubstantial situation of the material world, by which one becomes detached from the duality of this world.

18An intelligent person should see that any material activity is subject to constant transformation and that even on the planet of Lord Brahmā there is thus simply unhappiness. Indeed, a wise man can understand that just as all that he has seen is temporary, similarly, all things within the universe have a beginning and an end.

19O sinless Uddhava, because you love Me, I previously explained to you the process of devotional service. Now I will again explain the supreme process for achieving loving service unto Me.

20-24Firm faith in the blissful narrations of My pastimes, constant chanting of My glories, unwavering attachment to ceremonial worship of Me, praising Me through beautiful hymns, great respect for My devotional service, offering obeisances with the entire body, performing first-class worship of My devotees, consciousness of Me in all living entities, offering of ordinary, bodily activities in My devotional service, use of words to describe My qualities,

offering the mind to Me, rejection of all material desires, giving up wealth for My devotional service, renouncing material sense gratification and happiness, and performing all desirable activities such as charity, sacrifice, chanting, vows and austerities with the purpose of achieving Methese constitute actual religious principles, by which those human beings who have actually surrendered themselves to Me automatically develop love for Me. What other purpose or goal could remain for My devotee?

25When one's peaceful consciousness, strengthened by the mode of goodness, is fixed on the Personality of Godhead, one achieves religiosity, knowledge, detachment and opulence.

26When consciousness is fixed on the material body, home and other, similar objects of sense gratification, one spends one's life chasing after material objects with the help of the senses. Consciousness, thus powerfully affected by the mode of passion, becomes dedicated to impermanent things, and in this way irreligion, ignorance, attachment and wretchedness arise.

27Actual religious principles are stated to be those that lead one to My devotional service. Real knowledge is the awareness that reveals My all-pervading presence. Detachment is complete disinterest in the objects of material sense gratification, and opulence is the eight mystic perfections, such as aṇimā-siddhi.

28-32Śrī Uddhava said: My dear Lord Kṛṣṇa, O chastiser of the enemies, please tell me how many types of disciplinary regulations and regular daily duties there are. Also, my Lord, tell me what is mental equilibrium, what is self-control, and what is the actual meaning of tolerance and steadfastness. What are charity, austerity and heroism, and how are reality and truth to be described? What is renunciation, and what is wealth? What is desirable, what is sacrifice, and what is religious remuneration? My dear Keśava, O most fortunate one, how am I to understand the strength, opulence and profit of a particular person? What is the best education, what is actual humility, and what is real beauty? What are happiness and unhappiness? Who is learned, and who is a fool? What are the true and the false paths in life, and what are heaven and hell? Who is indeed a true friend, and what is one's real home? Who is a rich man, and who is a poor man? Who is wretched, and who is an actual controller? O Lord of the devotees, kindly explain these matters to me, along with their opposites.

33-35The Supreme Personality of Godhead said: Nonviolence, truthfulness, not coveting or stealing the property of others, detachment, humility, freedom from possessiveness, trust in the principles of religion, celibacy, silence, steadiness, forgiveness and fearlessness are the twelve primary disciplinary principles. Internal cleanliness, external cleanliness, chanting the holy names of the Lord, austerity, sacrifice, faith, hospitality, worship of Me, visiting holy places, acting and desiring only for the supreme interest, satisfaction, and service to the spiritual master are the twelve elements of regular prescribed duties. These twenty-four elements bestow all desired benedictions upon those persons who devotedly cultivate them.

36-39Absorbing the intelligence in Me constitutes mental equilibrium, and complete discipline of the senses is self-control. Tolerance means patiently enduring unhappiness, and steadfastness occurs when one conquers the tongue and genitals. The greatest charity is to give up all aggression toward others, and renunciation of lust is understood to be real austerity. Real heroism is to conquer one's natural tendency to enjoy material life, and reality is seeing the Supreme Personality of Godhead everywhere. Truthfulness means to speak the truth in a pleasing way, as declared by great sages. Cleanliness is detachment in fruitive activities, whereas renunciation is the sannyāsa order of life. The true desirable wealth for human beings is religiousness, and I, the Supreme Personality of Godhead, am sacrifice. Religious remuneration is devotion to the ācārya with the purpose of acquiring spiritual instruction, and the greatest strength is the prāṇāyāma system of breath control.

40-45Actual opulence is My own nature as the Personality of Godhead, through which I exhibit the six unlimited opulences. The supreme gain in life is devotional service to Me, and actual education is nullifying the false perception of duality within the soul. Real modesty is to be disgusted with improper activities, and beauty is to possess good qualities such as detachment. Real happiness is to transcend material happiness and unhappiness, and real misery is to be implicated in searching for sex pleasure. A wise man is one who knows the process of freedom from bondage, and a fool is one who identifies with his material body and mind. The real path in life is that which leads to Me, and the wrong path is sense gratification, by which consciousness is bewildered. Actual heaven is the predominance of the mode of goodness, whereas hell is the predominance of ignorance. I am everyone's true friend, acting as the spiritual master of the entire universe, and one's home is the human body. My dear friend Uddhava, one who is enriched with good qualities is actually said to be rich, and one who is unsatisfied in life is actually poor. A wretched person is one who cannot control his senses, whereas one who is not attached to sense gratification is a real controller. One who attaches himself to sense gratification is the opposite, a slave. Thus, Uddhava, I have elucidated all of the matters about which you inquired. There is no need for a more elaborate description of these good and bad qualities, since to constantly see good and bad is itself a bad quality. The best quality is to transcend material good and evil.

### SB 11.20: Pure Devotional Service Surpasses Knowledge and Detachment

1Śrī Uddhava said: My dear lotus-eyed Kṛṣṇa, You are the Supreme Lord, and thus the Vedic literatures, consisting of positive and negative injunctions, constitute Your order. Such literatures focus upon the good and bad qualities of work.

2According to Vedic literature, the superior and inferior varieties found in the human social system, varṇāśrama, are due to pious and sinful modes of family planning. Thus piety and sin are constant points of reference in the Vedic analysis of the components of a given situationnamely the material ingredients, place, age and time. Indeed, the Vedas reveal the existence of material heaven and hell, which are certainly based on piety and sin.

3Without seeing the difference between piety and sin, how can one understand Your own instructions in the form of Vedic literatures, which order one to act piously and forbid one to act sinfully? Furthermore, without such authorized Vedic literatures, which ultimately award liberation, how can human beings achieve the perfection of life?

4My dear Lord, to understand those things beyond direct experiencesuch as spiritual liberation or the attainment of heaven and similar material enjoymentsand in general to understand the means and end of all things, it is imperative that the forefathers, demigods and human beings consult the Vedic literatures, for these literatures, being Your own laws, constitute the highest evidence and revelation.

5My dear Lord, the distinction observed between piety and sin comes from Your own Vedic knowledge and does not arise by itself. If the same Vedic literature subsequently nullifies such distinction between piety and sin, there will certainly be confusion.

6The Supreme Personality of Godhead said: My dear Uddhava, because I desire that human beings may achieve perfection, I have presented three paths of advancementthe path of knowledge, the path of work and the path of devotion. Besides these three there is absolutely no other means of elevation.

7Among these three paths, Jnana-yoga, the path of philosophical speculation, is recommended for those who are disgusted with material life and are thus detached from ordinary, fruitive activities. Those who are not disgusted with material life, having many desires yet to fulfill,

should seek perfection through the path of karma-yoga.

8If somehow or other by good fortune one develops faith in hearing and chanting My glories, such a person, being neither disgusted with nor very much attached to material life, should achieve perfection through the path of loving devotion to Me.

9As long as one is not satiated by fruitive activity and has not awakened his taste for devotional service by śravaṇaṁ kīrtanaṁ viṣṇoḥ, one has to act according to the regulative principles of the Vedic injunctions.

10My dear Uddhava, a person who is situated in his prescribed duty, properly worshiping by Vedic sacrifices but not desiring the fruitive result of such worship, will not go to the heavenly planets; similarly, by not performing forbidden activities he will not go to hell.

11One who is situated in his prescribed duty, free from sinful activities and cleansed of material contamination, in this very life obtains transcendental knowledge or, by fortune, devotional service unto Me.

12The residents of both heaven and hell desire human birth on the earth planet because human life facilitates the achievement of transcendental knowledge and love of Godhead, whereas neither heavenly nor hellish bodies efficiently provide such opportunities.

13A human being who is wise should never desire promotion to heavenly planets or residence in hell. Indeed, a human being should also never desire permanent residence on the earth, for by such absorption in the material body one becomes foolishly negligent of one's actual self-interest.

14A wise person, knowing that although the material body is subject to death it can still award the perfection of one's life, should not foolishly neglect to take advantage of this opportunity before death arrives.

15Without attachment, a bird gives up the tree in which his nest was constructed when that tree is cut down by cruel men who are like death personified, and thus the bird achieves happiness in another place.

16Knowing that one's duration of life is being similarly cut down by the passing of days and nights, one should be shaken by fear. In this way, giving up all material attachment and desire, one understands the Supreme Lord and achieves perfect peace.

17The human body, which can award all benefit in life, is automatically obtained by the laws of nature, although it is a very rare achievement. This human body can be compared to a perfectly constructed boat having the spiritual master as the captain and the instructions of the Personality of Godhead as favorable winds impelling it on its course. Considering all these advantages, a human being who does not utilize his human life to cross the ocean of material existence must be considered the killer of his own soul.

18A transcendentalist, having become disgusted and hopeless in all endeavors for material happiness, completely controls the senses and develops detachment. By spiritual practice he should then fix the mind on the spiritual platform without deviation.

19Whenever the mind, being concentrated on the spiritual platform, is suddenly deviated from its spiritual position, one should carefully bring it under the control of the self by following the prescribed means.

20One should never lose sight of the actual goal of mental activities, but rather, conquering the

life air and senses and utilizing intelligence strengthened by the mode of goodness, one should bring the mind under the control of the self.

21An expert horseman, desiring to tame a headstrong horse, first lets the horse have his way for a moment and then, pulling the reins, gradually places the horse on the desired path. Similarly, the supreme yoga process is that by which one carefully observes the movements and desires of the mind and gradually brings them under full control.

22Until one's mind is fixed in spiritual satisfaction, one should analytically study the temporary nature of all material objects, whether cosmic, earthly or atomic. One should constantly observe the process of creation through the natural progressive function and the process of annihilation through the regressive function.

23When a person is disgusted with the temporary, illusory nature of this world and is thus detached from it, his mind, guided by the instructions of his spiritual master, considers again and again the nature of this world and eventually gives up the false identification with matter.

24Through the various disciplinary regulations and the purificatory procedures of the yoga system, through logic and spiritual education or through worship and adoration of Me, one should constantly engage his mind in remembering the Personality of Godhead, the goal of yoga. No other means should be employed for this purpose.

25If, because of momentary inattention, a yogī accidentally commits an abominable activity, then by the very practice of yoga he should burn to ashes the sinful reaction, without at any time employing any other procedure.

26It is firmly declared that the steady adherence of transcendentalists to their respective spiritual positions constitutes real piety and that sin occurs when a transcendentalist neglects his prescribed duty. One who adopts this standard of piety and sin, sincerely desiring to give up all past association with sense gratification, is able to subdue materialistic activities, which are by nature impure.

27-28Having awakened faith in the narrations of My glories, being disgusted with all material activities, knowing that all sense gratification leads to misery, but still being unable to renounce all sense enjoyment, My devotee should remain happy and worship Me with great faith and conviction. Even though he is sometimes engaged in sense enjoyment, My devotee knows that all sense gratification leads to a miserable result, and he sincerely repents such activities.

29When an intelligent person engages constantly in worshiping Me through loving devotional service as described by Me, his heart becomes firmly situated in Me. Thus all material desires within the heart are destroyed.

30The knot in the heart is pierced, all misgivings are cut to pieces and the chain of fruitive actions is terminated when I am seen as the Supreme Personality of Godhead.

31Therefore, for a devotee engaged in My loving service, with mind fixed on Me, the cultivation of knowledge and renunciation is generally not the means of achieving the highest perfection within this world.

32-33Everything that can be achieved by fruitive activities, penance, knowledge, detachment, mystic yoga, charity, religious duties and all other means of perfecting life is easily achieved by My devotee through loving service unto Me. If somehow or other My devotee desires promotion to heaven, liberation, or residence in My abode, he easily achieves such benedictions.

34Because My devotees possess saintly behavior and deep intelligence, they completely dedicate themselves to Me and do not desire anything besides Me. Indeed, even if I offer them liberation from birth and death, they do not accept it.

35It is said that complete detachment is the highest stage of freedom. Therefore, one who has no personal desire and does not pursue personal rewards can achieve loving devotional service unto Me.

36Material piety and sin, which arise from the good and evil of this world, cannot exist within My unalloyed devotees, who, being free from material hankering, maintain steady spiritual consciousness in all circumstances. Indeed, such devotees have achieved Me, the Supreme Lord, who am beyond anything that can be conceived by material intelligence.

37Persons who seriously follow these methods of achieving Me, which I have personally taught, attain freedom from illusion, and upon reaching My personal abode they perfectly understand the Absolute Truth.

## SB 11.21: Lord Kṛṣṇa's Explanation of the Vedic Path

1The Supreme Personality of Godhead said: Those who give up these methods for achieving Me, which consist of devotional service, analytic philosophy and regulated execution of prescribed duties, and instead, being moved by the material senses, cultivate insignificant sense gratification, certainly undergo the continual cycle of material existence.

2Steadiness in one's own position is declared to be actual piety, whereas deviation from one's position is considered impiety. In this way the two are definitely ascertained.

3O sinless Uddhava, in order to understand what is proper in life one must evaluate a given object within its particular category. Thus, in analyzing religious principles one must consider purity and impurity. Similarly, in one's ordinary dealings one must distinguish between good and bad, and to insure one's physical survival one must recognize that which is auspicious and inauspicious.

4I have revealed this way of life for those bearing the burden of mundane religious principles.

5Earth, water, fire, air and ether are the five basic elements that constitute the bodies of all conditioned souls, from Lord Brahmā himself down to the nonmoving creatures. These elements all emanate from the one Personality of Godhead.

6My dear Uddhava, although all material bodies are composed of the same five elements and are thus equal, the Vedic literatures conceive of different names and forms in relation to such bodies so that the living entities may achieve their goal of life.

7O saintly Uddhava, in order to restrict materialistic activities, I have established that which is proper and improper among all material things, including time, space and all physical objects.

8Among places, those bereft of the spotted antelope, those devoid of devotion to the brāhmaṇas, those possessing spotted antelopes but bereft of respectable men, provinces like Kīkaṭa and places where cleanliness and purificatory rites are neglected, where meat-eaters are prominent or where the earth is barren, are all considered to be contaminated lands.

9A specific time is considered pure when it is appropriate, either by its own nature or through achievement of suitable paraphernalia, for the performance of one's prescribed duty. That time which impedes the performance of one's duty is considered impure.

10An object's purity or impurity is established by application of another object, by words, by rituals, by the effects of time or according to relative magnitude.

11Impure things may or may not impose sinful reactions upon a person, depending on that person's strength or weakness, intelligence, wealth, location and physical condition.

12Various objects such as grains, wooden utensils, things made of bone, thread, liquids, objects derived from fire, skins and earthy objects are all purified by time, by the wind, by fire, by earth and by water, either separately or in combination.

13A particular purifying agent is considered appropriate when its application removes the bad odor or dirty covering of some contaminated object and makes it resume its original nature.

14The self can be cleansed by bathing, charity, austerity, age, personal strength, purificatory rituals, prescribed duties and, above all, by remembrance of Me. The brāhmaṇa and other twice-born men should be duly purified before performing their specific activities.

15A mantra is purified when chanted with proper knowledge, and one's work is purified when offered to Me. Thus by purification of the place, time, substance, doer, mantras and work, one becomes religious, and by negligence of these six items one is considered irreligious.

16Sometimes piety becomes sin, and sometimes what is ordinarily sin becomes piety on the strength of Vedic injunctions. Such special rules in effect eradicate the clear distinction between piety and sin.

17The same activities that would degrade an elevated person do not cause falldown for those who are already fallen. Indeed, one who is lying on the ground cannot possibly fall further. The material association that is dictated by one's own nature is considered a good quality.

18By refraining from a particular sinful or materialistic activity, one becomes freed from its bondage. Such renunciation is the basis of religious and auspicious life for human beings and drives away all suffering, illusion and fear.

19One who accepts material sense objects as desirable certainly becomes attached to them. From such attachment lust arises, and this lust creates quarrel among men.

20From quarrel arises intolerable anger, followed by the darkness of ignorance. This ignorance quickly overtakes a man's broad intelligence.

21O saintly Uddhava, a person bereft of real intelligence is considered to have lost everything. Deviated from the actual purpose of his life, he becomes dull, just like a dead person.

22Because of absorption in sense gratification, one cannot recognize himself or others. Living uselessly in ignorance like a tree, one is merely breathing just like a bellows.

23Those statements of scripture promising fruitive rewards do not prescribe the ultimate good for men but are merely enticements for executing beneficial religious duties, like promises of candy spoken to induce a child to take beneficial medicine.

24Simply by material birth, human beings become attached within their minds to personal sense gratification, long duration of life, sense activities, bodily strength, sexual potency and friends and family. Their minds are thus absorbed in that which defeats their actual self-interest.

25Those ignorant of their real self-interest are wandering on the path of material existence, gradually heading toward darkness. Why would the Vedas further encourage them in sense

gratification if they, although foolish, submissively pay heed to Vedic injunctions?

26Persons with perverted intelligence do not understand this actual purpose of Vedic knowledge and instead propagate as the highest Vedic truth the flowery statements of the Vedas that promise material rewards. Those in actual knowledge of the Vedas never speak in that way.

27Those who are full of lust, avarice and greed mistake mere flowers to be the actual fruit of life. Bewildered by the glare of fire and suffocated by its smoke, they cannot recognize their own true identity.

28My dear Uddhava, persons dedicated to sense gratification obtained through honoring the Vedic rituals cannot understand that I am situated in everyone's heart and that the entire universe is nondifferent from Me and emanates from Me. Indeed, they are just like persons whose eyes are covered by fog.

29-30Those who are sworn to sense gratification cannot understand the confidential conclusion of Vedic knowledge as explained by Me. Taking pleasure in violence, they cruelly slaughter innocent animals in sacrifice for their own sense gratification and thus worship demigods, forefathers and leaders among ghostly creatures. Such passion for violence, however, is never encouraged within the process of Vedic sacrifice.

31Just as a foolish businessman gives up his real wealth in useless business speculation, foolish persons give up all that is actually valuable in life and instead pursue promotion to material heaven, which although pleasing to hear about is actually unreal, like a dream. Such bewildered persons imagine within their hearts that they will achieve all material blessings.

32Those established in material passion, goodness and ignorance worship the particular demigods and other deities, headed by Indra, who manifest the same modes of passion, goodness or ignorance. They fail, however, to properly worship Me.

33-34The worshipers of demigods think, "We shall worship the demigods in this life, and by our sacrifices we shall go to heaven and enjoy there. When that enjoyment is finished we shall return to this world and take birth as great householders in aristocratic families." Being excessively proud and greedy, such persons are bewildered by the flowery words of the Vedas. They are not attracted to topics about Me, the Supreme Lord.

35The Vedas, divided into three divisions, ultimately reveal the living entity as pure spirit soul. The Vedic seers and mantras, however, deal in esoteric terms, and I also am pleased by such confidential descriptions.

36The transcendental sound of the Vedas is very difficult to comprehend and manifests on different levels within the prāṇa, senses and mind. This Vedic sound is unlimited, very deep and unfathomable, just like the ocean.

37As the unlimited, unchanging and omnipotent Personality of Godhead dwelling within all living beings, I personally establish the Vedic sound vibration in the form of oṁkāra within all living entities. It is thus perceived subtly, just like a single strand of fiber on a lotus stalk.

38-40Just as a spider brings forth from its heart its web and emits it through its mouth, the Supreme Personality of Godhead manifests Himself as the reverberating primeval vital air, comprising all sacred Vedic meters and full of transcendental pleasure. Thus the Lord, from the ethereal sky of His heart, creates the great and limitless Vedic sound by the agency of His mind, which conceives of variegated sounds such as the sparśas. The Vedic sound branches out in thousands of directions, adorned with the different letters expanded from the syllable

om: the consonants, vowels, sibilants and semivowels. The Veda is then elaborated by many verbal varieties, expressed in different meters, each having four more syllables than the previous one. Ultimately the Lord again withdraws His manifestation of Vedic sound within Himself.

41The Vedic meters are Gāyatrī, Uṣṇik, Anuṣṭup, Bṛhatī, Paṅkti, Triṣṭup, Jagatī, Aticchanda, Atyaṣṭi, Atijagatī and Ativirāṭ.

42In the entire world no one but Me actually understands the confidential purpose of Vedic knowledge. Thus people do not know what the Vedas are actually prescribing in the ritualistic injunctions of karma-kāṇḍa, or what object is actually being indicated in the formulas of worship found in the upāsanā-kāṇḍa, or that which is elaborately discussed through various hypotheses in the Jnana-kāṇḍa section of the Vedas.

43I am the ritualistic sacrifice enjoined by the Vedas, and I am the worshipable Deity. It is I who am presented as various philosophical hypotheses, and it is I alone who am then refuted by philosophical analysis. The transcendental sound vibration thus establishes Me as the essential meaning of all Vedic knowledge. The Vedas, elaborately analyzing all material duality as nothing but My illusory potency, ultimately completely negate this duality and achieve their own satisfaction.

## SB 11.22: Enumeration of the Elements of Material Creation

1-3Uddhava inquired: My dear Lord, O master of the universe, how many different elements of creation have been enumerated by the great sages? I have heard You personally describe a total of twenty-eightGod, the jīva soul, the mahat-tattva, false ego, the five gross elements, the ten senses, the mind, the five subtle objects of perception and the three modes of nature. But some authorities say that there are twenty-six elements, while others cite twenty-five or else seven, nine, six, four or eleven, and even others say that there are seventeen, sixteen or thirteen. What did each of these sages have in mind when he calculated the creative elements in such different ways? O supreme eternal, kindly explain this to me.

4Lord Kṛṣṇa replied: Because all material elements are present everywhere, it is reasonable that different learned brāhmaṇas have analyzed them in different ways. All such philosophers spoke under the shelter of My mystic potency, and thus they could say anything without contradicting the truth.

5When philosophers argue, “I don’t choose to analyze this particular case in the same way that you have,” it is simply My own insurmountable energies that are motivating their analytic disagreements.

6By interaction of My energies different opinions arise. But for those who have fixed their intelligence on Me and controlled their senses, differences of perception disappear, and consequently the very cause for argument is removed.

7O best among men, because subtle and gross elements mutually enter into one another, philosophers may calculate the number of basic material elements in different ways, according to their personal desire.

8All subtle material elements are actually present within their gross effects; similarly, all gross elements are present within their subtle causes, since material creation takes place by progressive manifestation of elements from subtle to gross. Thus we can find all material

elements within any single element.

9Therefore, no matter which of these thinkers is speaking, and regardless of whether in their calculations they include material elements within their previous subtle causes or else within their subsequent manifest products, I accept their conclusions as authoritative, because a logical explanation can always be given for each of the different theories.

10Because a person who has been covered by ignorance since time immemorial is not capable of effecting his own self-realization, there must be some other personality who is in factual knowledge of the Absolute Truth and can impart this knowledge to him.

11According to knowledge in the material mode of goodness, there is no qualitative difference between the living entity and the supreme controller. The imagination of qualitative difference between them is useless speculation.

12Nature exists originally as the equilibrium of the three material modes, which pertain only to nature, not to the transcendental spirit soul. These modesgoodness, passion and ignoranceare the effective causes of the creation, maintenance and destruction of this universe.

13In this world the mode of goodness is recognized as knowledge, the mode of passion as fruitive work, and the mode of darkness as ignorance. Time is perceived as the agitated interaction of the material modes, and the totality of functional propensity is embodied by the primeval sūtra, or mahat-tattva.

14I have described the nine basic elements as the enjoying soul, nature, nature's primeval manifestation of the mahat-tattva, false ego, ether, air, fire, water and earth.

15Hearing, touch, sight, smell and taste are the five knowledge-acquiring senses, My dear Uddhava, and speech, the hands, the genitals, the anus and the legs constitute the five working senses. The mind belongs to both these categories.

16Sound, touch, taste, smell and form are the objects of the knowledge-acquiring senses, and movement, speech, excretion and manufacture are functions of the working senses.

17In the beginning of creation nature assumes, by the modes of goodness, passion and ignorance, its form as the embodiment of all subtle causes and gross manifestations within the universe. The Supreme Personality of Godhead does not enter the interaction of material manifestation but merely glances upon nature.

18As the material elements, headed by the mahat-tattva, are transformed, they receive their specific potencies from the glance of the Supreme Lord, and being amalgamated by the power of nature, they create the universal egg.

19According to some philosophers there are seven elements, namely earth, water, fire, air and ether, along with the conscious spirit soul and the Supreme Soul, who is the basis of both the material elements and the ordinary spirit soul. According to this theory, the body, senses, life air and all material phenomena are produced from these seven elements.

20Other philosophers state that there are six elementsthe five physical elements (earth, water, fire, air and ether) and the sixth element, the Supreme Personality of Godhead. That Supreme Lord, endowed with the elements that He has brought forth from Himself, creates this universe and then personally enters within it.

21Some philosophers propose the existence of four basic elements, of which threefire, water and earthemanate from the fourth, the Self. Once existing, these elements produce the cosmic

manifestation, in which all material creation takes place.

22Some calculate the existence of seventeen basic elements, namely the five gross elements, the five objects of perception, the five sensory organs, the mind, and the soul as the seventeenth element.

23According to the calculation of sixteen elements, the only difference from the previous theory is that the soul is identified with the mind. If we think in terms of five physical elements, five senses, the mind, the individual soul and the Supreme Lord, there are thirteen elements.

24Counting eleven, there are the soul, the gross elements and the senses. Eight gross and subtle elements plus the Supreme Lord would make nine.

25Thus great philosophers have analyzed the material elements in many different ways. All of their proposals are reasonable, since they are all presented with ample logic. Indeed, such philosophical brilliance is expected of the truly learned.

26Śrī Uddhava inquired: Although nature and the living entity are constitutionally distinct, O Lord Kṛṣṇa, there appears to be no difference between them, because they are found residing within one another. Thus the soul appears to be within nature and nature within the soul.

27O lotus-eyed Kṛṣṇa, O omniscient Lord, kindly cut this great doubt out of my heart with Your own words, which exhibit Your great skill in reasoning.

28From You alone the knowledge of the living beings arises, and by Your potency that knowledge is stolen away. Indeed, no one but Yourself can understand the real nature of Your illusory potency.

29The Supreme Personality of Godhead said: O best among men, material nature and its enjoyer are clearly distinct. This manifest creation undergoes constant transformation, being founded upon the agitation of the modes of nature.

30My dear Uddhava, My material energy, comprising three modes and acting through them, manifests the varieties of creation along with varieties of consciousness for perceiving them. The manifest result of material transformation is understood in three aspects: adhyātmic, adhidaivic and adhibhautic.

31Sight, visible form and the reflected image of the sun within the aperture of the eye all work together to reveal one another. But the original sun standing in the sky is self-manifested. Similarly, the Supreme Soul, the original cause of all entities, who is thus separate from all of them, acts by the illumination of His own transcendental experience as the ultimate source of manifestation of all mutually manifesting objects.

32Similarly, the sense organs, namely the skin, ears, eyes, tongue and noseas well as the functions of the subtle body, namely conditioned consciousness, mind, intelligence and false egocan all be analyzed in terms of the threefold distinction of sense, object of perception and presiding deity.

33When the three modes of nature are agitated, the resultant transformation appears as the element false ego in three phasesgoodness, passion and ignorance. Generated from the mahat-tattva, which is itself produced from the unmanifest pradhāna, this false ego becomes the cause of all material illusion and duality.

34The speculative argument of philosophers"This world is real," "No, it is not real"is based upon incomplete knowledge of the Supreme Soul and is simply aimed at understanding

material dualities. Although such argument is useless, persons who have turned their attention away from Me, their own true Self, are unable to give it up.

35-36Śrī Uddhava said: O supreme master, the intelligence of those dedicated to fruitive activities is certainly deviated from You. Please explain to me how such persons accept superior and inferior bodies by their materialistic activities and then give up such bodies. O Govinda, this topic is very difficult for foolish persons to understand. Being cheated by illusion in this world, they generally do not become aware of these facts.

37Lord Kṛṣṇa said: The material mind of men is shaped by the reactions of fruitive work. Along with the five senses, it travels from one material body to another. The spirit soul, although different from this mind, follows it.

38The mind, bound to the reactions of fruitive work, always meditates on the objects of the senses, both those that are seen in this world and those that are heard about from Vedic authority. Consequently, the mind appears to come into being and to suffer annihilation along with its objects of perception, and thus its ability to distinguish past and future is lost.

39When the living entity passes from the present body to the next body, which is created by his own karma, he becomes absorbed in the pleasurable and painful sensations of the new body and completely forgets the experience of the previous body. This total forgetfulness of one's previous material identity, which comes about for one reason or another, is called death.

40O most charitable Uddhava, what is called birth is simply a person's total identification with a new body. One accepts the new body just as one completely accepts the experience of a dream or a fantasy as reality.

41Just as a person experiencing a dream or daydream does not remember his previous dreams or daydreams, a person situated in his present body, although having existed prior to it, thinks that he has only recently come into being.

42Because the mind, which is the resting place of the senses, has created the identification with a new body, the threefold material variety of high, middle and low class appears as if present within the reality of the soul. Thus the self creates external and internal duality, just as a man might give birth to a bad son.

43My dear Uddhava, material bodies are constantly undergoing creation and destruction by the force of time, whose swiftness is imperceptible. But because of the subtle nature of time, no one sees this.

44The different stages of transformation of all material bodies occur just like those of the flame of a candle, the current of a river, or the fruits of a tree.

45Although the illumination of a lamp consists of innumerable rays of light undergoing constant creation, transformation and destruction, a person with illusory intelligence who sees the light for a moment will speak falsely, saying, "This is the light of the lamp." As one observes a flowing river, ever-new water passes by and goes far away, yet a foolish person, observing one point in the river, falsely states, "This is the water of the river." Similarly, although the material body of a human being is constantly undergoing transformation, those who are simply wasting their lives falsely think and say that each particular stage of the body is the person's real identity.

46A person does not actually take birth out of the seed of past activities, nor, being immortal, does he die. By illusion the living being appears to be born and to die, just as fire in connection with firewood appears to begin and then cease to exist.

47Impregnation, gestation, birth, infancy, childhood, youth, middle age, old age and death are the nine ages of the body.

48Although the material body is different from the self, because of the ignorance due to material association one falsely identifies oneself with the superior and inferior bodily conditions. Sometimes a fortunate person is able to give up such mental concoction.

49By the death of one's father or grandfather one can surmise one's own death, and by the birth of one's son one can understand the condition of one's own birth. A person who thus realistically understands the creation and destruction of material bodies is no longer subject to these dualities.

50One who observes the birth of a tree from its seed and the ultimate death of the tree after maturity certainly remains a distinct observer separate from the tree. In the same way, the witness of the birth and death of the material body remains separate from it.

51An unintelligent man, failing to distinguish himself from material nature, thinks nature to be real. By contact with it he becomes completely bewildered and enters into the cycle of material existence.

52Made to wander because of his fruitive work, the conditioned soul, by contact with the mode of goodness, takes birth among the sages or demigods. By contact with the mode of passion he becomes a demon or human being, and by association with the mode of ignorance he takes birth as a ghost or in the animal kingdom.

53Just as one may imitate persons whom one sees dancing and singing, similarly the soul, although never the doer of material activities, becomes captivated by material intelligence and is thus forced to imitate its qualities.

54-55The soul's material life, his experience of sense gratification, is actually false, O descendant of Daśārha, just like trees' appearance of quivering when the trees are reflected in agitated water, or like the earth's appearance of spinning due to one's spinning his eyes around, or like the world of a fantasy or dream.

56For one who is meditating on sense gratification, material life, although lacking factual existence, does not go away, just as the unpleasant experiences of a dream do not.

57Therefore, O Uddhava, do not try to enjoy sense gratification with the material senses. See how illusion based on material dualities prevents one from realizing the self.

58-59Even though neglected, insulted, ridiculed or envied by bad men, or even though repeatedly agitated by being beaten, tied up or deprived of one's occupation, spat upon or polluted with urine by ignorant people, one who desires the highest goal in life should in spite of all these difficulties use his intelligence to keep himself safe on the spiritual platform.

60Śrī Uddhava said: O best of all speakers, please explain to me how I may properly understand this.

61O soul of the universe, the conditioning of one's personality in material life is very strong, and therefore it is very difficult even for learned men to tolerate the offenses committed against them by ignorant people. Only Your devotees, who are fixed in Your loving service and who have achieved peace by residing at Your lotus feet, are able to tolerate such offenses.

**SB 11.23: The Song of the Avantī Brāhmaṇa**

1Śukadeva Gosvāmī said: Lord Mukunda, the chief of the Dāśārhas, having thus been respectfully requested by the best of His devotees, Śrī Uddhava, first acknowledged the fitness of his servant's statements. Then the Lord, whose glorious exploits are most worthy of being heard, began to reply to him.

2Lord Śrī Kṛṣṇa said: O disciple of Bṛhaspati, there is virtually no saintly man in this world capable of resettling his own mind after it has been disturbed by the insulting words of uncivilized men.

3Sharp arrows which pierce one's chest and reach the heart do not cause as much suffering as the arrows of harsh, insulting words that become lodged within the heart when spoken by uncivilized men.

4My dear Uddhava, in this regard a most pious story is told, and I shall now describe it to you. Please listen with careful attention.

5Once a certain sannyāsī was insulted in many ways by impious men. However, with determination he remembered that he was suffering the fruit of his own previous karma. I will narrate to you his story and that which he spoke.

6In the country of Avantī there once lived a certain brāhmaṇa who was very rich and gifted with all opulences, and who was engaged in the occupation of commerce. But he was a miserly personlusty, greedy and very prone to anger.

7In his home, devoid of religiosity and lawful sense gratification, the family members and guests were never properly respected, even with words. He would not even allow sufficient gratification for his own body at the suitable times.

8Since he was so hardhearted and miserly, his sons, in-laws, wife, daughters and servants began to feel inimical toward him. Becoming disgusted, they would never treat him with affection.

9In this way the presiding deities of the five family sacrifices became angry at the brāhmaṇa, who, being niggardly, guarded his wealth like a Yakṣa, who had no good destination either in this world or the next, and who was totally deprived of religiosity and sense enjoyment.

10O magnanimous Uddhava, by his neglect of these demigods he depleted his stock of piety and all his wealth. The accumulation of his repeated exhaustive endeavors was totally lost.

11Some of the wealth of this so-called brāhmaṇa was taken away by his relatives, My dear Uddhava, some by thieves, some by the whims of providence, some by the effects of time, some by ordinary men and some by government authorities.

12Finally, when his property was completely lost, he who never engaged in religiosity or sense enjoyment became ignored by his family members. Thus he began to feel unbearable anxiety.

13Having lost all his wealth, he felt great pain and lamentation. His throat choked up with tears, and he meditated for a long time on his fortune. Then a powerful feeling of renunciation came over him.

14The brāhmaṇa spoke as follows: O what great misfortune! I have simply tormented myself uselessly, struggling so hard for money that was not even intended for religiosity or material enjoyment.

15Generally, the wealth of misers never allows them any happiness. In this life it causes their

self-torment, and when they die it sends them to hell.

16Whatever pure fame is possessed by the famous and whatever praiseworthy qualities are found in the virtuous are destroyed by even a small amount of greed, just as one's attractive physical beauty is ruined by a trace of white leprosy.

17In the earning, attainment, increase, protection, expense, loss and enjoyment of wealth, all men experience great labor, fear, anxiety and delusion.

18-19Theft, violence, speaking lies, duplicity, lust, anger, perplexity, pride, quarreling, enmity, faithlessness, envy and the dangers caused by women, gambling and intoxication are the fifteen undesirable qualities that contaminate men because of greed for wealth. Although these qualities are undesirable, men falsely ascribe value to them. One desiring to achieve the real benefit of life should therefore remain aloof from undesirable material wealth.

20Even a man's brothers, wife, parents and friends united with him in love will immediately break off their affectionate relationships and become enemies over a single coin.

21For even a small amount of money these relatives and friends become very agitated and their anger is inflamed. Acting as rivals, they quickly give up all sentiments of goodwill and will reject one at a moment's notice, even to the point of committing murder.

22Those who obtain human life, which is prayed for even by the demigods, and in that human birth become situated as first-class brāhmaṇas, are extremely fortunate. If they disregard this important opportunity, they are certainly killing their own self-interest and thus achieve a most unfortunate end.

23What mortal man, having achieved this human life, which is the very gateway to both heaven and liberation, would willingly become attached to that abode of worthlessness, material property?

24One who fails to distribute his wealth to the proper shareholdersthe demigods, sages, forefathers and ordinary living entities, as well as his immediate relatives, in-laws and own selfis maintaining his wealth simply like a Yakṣa and will fall down.

25Discriminating persons are able to utilize their money, youth and strength to achieve perfection. But I have feverishly squandered these in the useless endeavor for further wealth. Now that I am an old man, what can I achieve?

26Why must an intelligent man suffer by his constant vain efforts to get wealth? Indeed, this whole world is most bewildered by someone's illusory potency.

27For one who is in the grips of death, what is the use of wealth or those who offer it, sense gratification or those who offer it, or, for that matter, any type of fruitive activity, which simply causes one to again take birth in the material world?

28The Supreme Personality of Godhead, Lord Hari, who contains within Himself all the demigods, must be satisfied with me. Indeed, He has brought me to this suffering condition and forced me to experience detachment, which is the boat to carry me over this ocean of material life.

29If there is any time remaining in my life, I will perform austerities and force my body to subsist on the bare necessities. Without further confusion I shall pursue that which constitutes my entire self-interest in life, and I shall remain satisfied within the self.

30Thus may the presiding demigods of these three worlds kindly show their mercy upon me. Indeed, Mahārāja Khaṭvāṅga was able to achieve the spiritual world in a single moment.

31Lord Śrī Kṛṣṇa continued: His mind thus determined, that most excellent Avantī brāhmaṇa was able to untie the knots of desire within his heart. He then assumed the role of a peaceful and silent sannyāsī mendicant.

32He wandered about the earth, keeping his intelligence, senses and life air under control. To beg charity he traveled alone to various cities and villages. He did not advertise his advanced spiritual position and thus was not recognized by others.

33O kind Uddhava, seeing him as an old, dirty beggar, rowdy persons would dishonor him with many insults.

34Some of these persons would take away his sannyāsī rod, and some the waterpot which he was using as a begging bowl. Some took his deerskin seat, some his chanting beads, and some would steal his torn, ragged clothing. Displaying these things before him, they would pretend to offer them back but would then hide them again.

35When he was sitting on the bank of a river about to partake of the food that he had collected by his begging, such sinful rascals would come and pass urine on it, and they would dare to spit on his head.

36Although he had taken a vow of silence, they would try to make him speak, and if he did not speak they would beat him with sticks. Others would chastise him, saying, "This man is just a thief." And others would bind him up with rope, shouting, "Tie him up! Tie him up!"

37They would criticize and insult him, saying, "This man is just a hypocrite and a cheat. He makes a business of religion simply because he lost all his wealth and his family threw him out."

38-39Some would ridicule him by saying, "Just see this greatly powerful sage! He is as steadfast as the Himālaya Mountains. By practice of silence he strives for his goal with great determination, just like a heron." Other persons would pass foul air upon him, and sometimes others would bind this twice-born brāhmaṇa in chains and keep him captive like a pet animal.

40The brāhmaṇa understood that all his sufferingfrom other living beings, from the higher forces of nature and from his own bodywas unavoidable, being allotted to him by providence.

41Even while being insulted by these low-class men who were trying to effect his downfall, he remained steady in his spiritual duties. Fixing his resolution in the mode of goodness, he began to chant the following song.

42The brāhmaṇa said: These people are not the cause of my happiness and distress. Neither are the demigods, my own body, the planets, my past work, or time. Rather, it is the mind alone that causes happiness and distress and perpetuates the rotation of material life.

43The powerful mind actuates the functions of the material modes, from which evolve the different kinds of material activities in the modes of goodness, ignorance and passion. From the activities in each of these modes develop the corresponding statuses of life.

44Although present along with the struggling mind within the material body, the Supersoul is not endeavoring, because He is already endowed with transcendental enlightenment. Acting as my friend, He simply witnesses from His transcendental position. I, the infinitesimal spirit soul, on the other hand, have embraced this mind, which is the mirror reflecting the image of the

material world. Thus I have become engaged in enjoying objects of desire and am entangled due to contact with the modes of nature.

45Charity, prescribed duties, observance of major and minor regulative principles, hearing from scripture, pious works and purifying vows all have as their final aim the subduing of the mind. Indeed, concentration of the mind on the Supreme is the highest yoga.

46If one's mind is perfectly fixed and pacified, then tell me what need does one have to perform ritualistic charity and other pious rituals? And if one's mind remains uncontrolled, lost in ignorance, then of what use are these engagements for him?

47All the senses have been under the control of the mind since time immemorial, and the mind himself never comes under the sway of any other. He is stronger than the strongest, and his godlike power is fearsome. Therefore, anyone who can bring the mind under control becomes the master of all the senses.

48Failing to conquer this irrepressible enemy, the mind, whose urges are intolerable and who torments the heart, many people are completely bewildered and create useless quarrel with others. Thus they conclude that other people are either their friends, their enemies or parties indifferent to them.

49Persons who identify with this body, which is simply the product of the material mind, are blinded in their intelligence, thinking in terms of "I" and "mine." Because of their illusion of "this is I, but that is someone else," they wander in endless darkness.

50If you say that these people are the cause of my happiness and distress, then where is the place of the soul in such a conception? This happiness and distress pertain not to the soul but to the interactions of material bodies. If someone bites his tongue with his own teeth, at whom can he become angry in his suffering?

51If you say that the demigods who rule the bodily senses cause suffering, still, how can such suffering apply to the spirit soul? This acting and being acted upon are merely interactions of the changeable senses and their presiding deities. When one limb of the body attacks another, with whom can the person in that body be angry?

52If the soul himself were the cause of happiness and distress, then we could not blame others, since happiness and distress would be simply the nature of the soul. According to this theory, nothing except the soul actually exists, and if we were to perceive something besides the soul, that would be illusion. Therefore, since happiness and distress do not actually exist in this concept, why become angry at oneself or others?

53And if we examine the hypothesis that the planets are the immediate cause of suffering and happiness, then also where is the relationship with the soul, who is eternal? After all, the effect of the planets applies only to things that have taken birth. Expert astrologers have moreover explained how the planets are only causing pain to each other. Therefore, since the living entity is distinct from these planets and from the material body, against whom should he vent his anger?

54If we assume that fruitive work is the cause of happiness and distress, we still are not dealing with the soul. The idea of material work arises when there is a spiritual actor who is conscious and a material body that undergoes the transformation of happiness and distress as a reaction to such work. Since the body has no life, it cannot be the actual recipient of happiness and distress, nor can the soul, who is ultimately completely spiritual and aloof from the material body. Since karma thus has no ultimate basis in either the body or the soul, at whom can one

become angry?

55If we accept time as the cause of happiness and distress, that experience still cannot apply to the spirit soul, since time is a manifestation of the Lord's spiritual potency and the living entities are also expansions of the Lord's spiritual potency manifesting through time. Certainly a fire does not burn its own flames or sparks, nor does the cold harm its own snowflakes or hail. In fact, the spirit soul is transcendental and beyond the experience of material happiness and distress. At whom, therefore, should one become angry?

56The false ego gives shape to illusory material existence and thus experiences material happiness and distress. The spirit soul, however, is transcendental to material nature; he can never actually be affected by material happiness and distress in any place, under any circumstance or by the agency of any person. A person who understands this has nothing whatsoever to fear from the material creation.

57I shall cross over the insurmountable ocean of nescience by being firmly fixed in the service of the lotus feet of Kṛṣṇa. This was approved by the previous ācāryas, who were fixed in firm devotion to the Lord, Paramātmā, the Supreme Personality of Godhead.

58Lord Śrī Kṛṣṇa said: Thus becoming detached upon the loss of his property, this sage gave up his moroseness. He left home, taking sannyāsa, and began to travel about the earth. Even when insulted by foolish rascals he remained unswerved from his duty and chanted this song.

59No other force besides his own mental confusion makes the soul experience happiness and distress. His perception of friends, neutral parties and enemies and the whole material life he builds around this perception are simply created out of ignorance.

60My dear Uddhava, fixing your intelligence on Me, you should thus completely control the mind. This is the essence of the science of yoga.

61Anyone who listens to or recites to others this song of the sannyāsī, which presents scientific knowledge of the Absolute, and who thus meditates upon it with full attention, will never again be overwhelmed by the dualities of material happiness and distress.

## SB 11.24: The Philosophy of Sāṅkhya

1Lord Śrī Kṛṣṇa said: Now I shall describe to you the science of Sāṅkhya, which has been perfectly established by ancient authorities. By understanding this science a person can immediately give up the illusion of material duality.

2Originally, during the Kṛta-yuga, when all men were very expert in spiritual discrimination, and also previous to that, during the period of annihilation, the seer existed alone, nondifferent from the seen object.

3That one Absolute Truth, remaining free from material dualities and inaccessible to ordinary speech and mind, divided Himself into two categoriesthe material nature and the living entities who are trying to enjoy the manifestations of that nature.

4Of these two categories of manifestation, one is material nature, which embodies both the subtle causes and manifest products of matter. The other is the conscious living entity, designated as the enjoyer.

5When material nature was agitated by My glance, the three material modesgoodness, passion and ignorancebecame manifest to fulfill the pending desires of the conditioned souls.

6From these modes arose the primeval sūtra, along with the mahat-tattva. By the transformation of the mahat-tattva was generated the false ego, the cause of the living entities' bewilderment.

7False ego, which is the cause of physical sensation, the senses and the mind, encompasses both spirit and matter and manifests in three varieties: in the modes of goodness, passion and ignorance.

8From false ego in the mode of ignorance came the subtle physical perceptions, from which the gross elements were generated. From false ego in the mode of passion came the senses, and from false ego in the mode of goodness arose the eleven demigods.

9Impelled by Me, all these elements combined to function in an orderly fashion and together gave birth to the universal egg, which is My excellent place of residence.

10I Myself appeared within that egg, which was floating on the causal water, and from My navel arose the universal lotus, the birthplace of self-born Brahmā.

11Lord Brahmā, the soul of the universe, being endowed with the mode of passion, performed great austerities by My mercy and thus created the three planetary divisions, called Bhūr, Bhuvar and Svar, along with their presiding deities.

12Heaven was established as the residence of the demigods, Bhuvarloka as that of the ghostly spirits, and the earth system as the place of human beings and other mortal creatures. Those mystics who strive for liberation are promoted beyond these three divisions.

13Lord Brahmā created the region below the earth for the demons and the Nāga snakes. In this way the destinations of the three worlds were arranged as the corresponding reactions for different kinds of work performed within the three modes of nature.

14By mystic yoga, great austerities and the renounced order of life, the pure destinations of Maharloka, Janoloka, Tapoloka and Satyaloka are attained. But by devotional yoga, one achieves My transcendental abode.

15All results of fruitive work have been arranged within this world by Me, the supreme creator acting as the force of time. Thus one sometimes rises up toward the surface of this mighty river of the modes of nature and sometimes again submerges.

16Whatever features visibly exist within this worldsmall or great, thin or stoutcertainly contain both the material nature and its enjoyer, the spirit soul.

17Gold and earth are originally existing as ingredients. From gold one may fashion golden ornaments such as bracelets and earrings, and from earth one may fashion clay pots and saucers. The original ingredients gold and earth exist before the products made from them, and when the products are eventually destroyed, the original ingredients, gold and earth, will remain. Thus, since the ingredients are present in the beginning and at the end, they must also be present in the middle phase, taking the form of a particular product to which we assign for convenience a particular name, such as bracelet, earring, pot or saucer. We can therefore understand that since the ingredient cause exists before the creation of a product and after the product's destruction, the same ingredient cause must be present during the manifest phase, supporting the product as the basis of its reality.

18A material object, itself composed of an essential ingredient, creates another material object through transformation. Thus one created object becomes the cause and basis of another created object. A particular thing may thus be called real in that it possesses the basic nature of

another object that constitutes its origin and final state.

19The material universe may be considered real, having nature as its original ingredient and final state. Lord Mahā-Viṣṇu is the resting place of nature, which becomes manifest by the power of time. Thus nature, the almighty Viṣṇu and time are not different from Me, the Supreme Absolute Truth.

20As long as the Supreme Personality of Godhead continues to glance upon nature, the material world continues to exist, perpetually manifesting through procreation the great and variegated flow of universal creation.

21I am the basis of the universal form, which displays endless variety through the repeated creation, maintenance and destruction of the planetary systems. Originally containing within itself all planets in their dormant state, My universal form manifests the varieties of created existence by arranging the coordinated combination of the five elements.

22-27At the time of annihilation, the mortal body of the living being becomes merged into food. Food merges into the grains, and the grains merge back into the earth. The earth merges into its subtle sensation, fragrance. Fragrance merges into water, and water further merges into its own quality, taste. That taste merges into fire, which merges into form. Form merges into touch, and touch merges into ether. Ether finally merges into the sensation of sound. The senses all merge into their own origins, the presiding demigods, and they, O gentle Uddhava, merge into the controlling mind, which itself merges into false ego in the mode of goodness. Sound becomes one with false ego in the mode of ignorance, and all-powerful false ego, the first of all the physical elements, merges into the total nature. The total material nature, the primary repository of the three basic modes, dissolves into the modes. These modes of nature then merge into the unmanifest form of nature, and that unmanifest form merges into time. Time merges into the Supreme Lord, present in the form of the omniscient Mahā-puruṣa, the original activator of all living beings. That origin of all life merges into Me, the unborn Supreme Soul, who remains alone, established within Himself. It is from Him that all creation and annihilation are manifested.

28Just as the rising sun removes the darkness of the sky, similarly, this scientific knowledge of cosmic annihilation removes all illusory duality from the mind of a serious student. Even if illusion somehow enters his heart, it cannot remain there.

29Thus I, the perfect seer of everything material and spiritual, have spoken this knowledge of Sāṅkhya, which destroys the illusion of doubt by scientific analysis of creation and annihilation.

## SB 11.25: The Three Modes of Nature and Beyond

1The Supreme Personality of Godhead said: O best among men, please listen as I describe to you how the living entity attains a particular nature by association with individual material modes.

2-5Mind and sense control, tolerance, discrimination, sticking to one's prescribed duty, truthfulness, mercy, careful study of the past and future, satisfaction in any condition, generosity, renunciation of sense gratification, faith in the spiritual master, being embarrassed at improper action, charity, simplicity, humbleness and satisfaction within oneself are qualities of the mode of goodness. Material desire, great endeavor, audacity, dissatisfaction even in gain, false pride, praying for material advancement, considering oneself different and better than others, sense gratification, rash eagerness to fight, a fondness for hearing oneself praised, the

tendency to ridicule others, advertising one's own prowess and justifying one's actions by one's strength are qualities of the mode of passion. Intolerant anger, stinginess, speaking without scriptural authority, violent hatred, living as a parasite, hypocrisy, chronic fatigue, quarrel, lamentation, delusion, unhappiness, depression, sleeping too much, false expectations, fear and laziness constitute the major qualities of the mode of ignorance. Now please hear about the combination of these three modes.

6My dear Uddhava, the combination of all three modes is present in the mentality of "I" and "mine." The ordinary transactions of this world, which are carried out through the agency of the mind, the objects of perception, the senses and the vital airs of the physical body, are also based on the combination of the modes.

7When a person devotes himself to religiosity, economic development and sense gratification, the faith, wealth and sensual enjoyment obtained by his endeavors display the interaction of the three modes of nature.

8When a man desires sense gratification, being attached to family life, and when he consequently becomes established in religious and occupational duties, the combination of the modes of nature is manifest.

9A person exhibiting qualities such as self-control is understood to be predominantly in the mode of goodness. Similarly, a passionate person is recognized by his lust, and one in ignorance is recognized by qualities such as anger.

10Any person, whether man or woman, who worships Me with loving devotion, offering his or her prescribed duties unto Me without material attachment, is understood to be situated in goodness.

11When a person worships Me by his prescribed duties with the hope of gaining material benefit, his nature should be understood to be in passion, and one who worships Me with the desire to commit violence against others is in ignorance.

12The three modes of material naturegoodness, passion and ignoranceinfluence the living entity but not Me. Manifesting within his mind, they induce the living entity to become attached to material bodies and other created objects. In this way the living entity is bound up.

13When the mode of goodness, which is luminous, pure and auspicious, predominates over passion and ignorance, a man becomes endowed with happiness, virtue, knowledge and other good qualities.

14When the mode of passion, which causes attachment, separatism and activity, conquers ignorance and goodness, a man begins to work hard to acquire prestige and fortune. Thus in the mode of passion he experiences anxiety and struggle.

15When the mode of ignorance conquers passion and goodness, it covers one's consciousness and makes one foolish and dull. Falling into lamentation and illusion, a person in the mode of ignorance sleeps excessively, indulges in false hopes, and displays violence toward others.

16When consciousness becomes clear and the senses are detached from matter, one experiences fearlessness within the material body and detachment from the material mind. You should understand this situation to be the predominance of the mode of goodness, in which one has the opportunity to realize Me.

17You should discern the mode of passion by its symptomsthe distortion of the intelligence because of too much activity, the inability of the perceiving senses to disentangle themselves

from mundane objects, an unhealthy condition of the working physical organs, and the unsteady perplexity of the mind.

18When one's higher awareness fails and finally disappears and one is thus unable to concentrate his attention, his mind is ruined and manifests ignorance and depression. You should understand this situation to be the predominance of the mode of ignorance.

19With the increase of the mode of goodness, the strength of the demigods similarly increases. When passion increases, the demoniac become strong. And with the rise of ignorance, O Uddhava, the strength of the most wicked increases.

20It should be understood that alert wakefulness comes from the mode of goodness, sleep with dreaming from the mode of passion, and deep, dreamless sleep from the mode of ignorance. The fourth state of consciousness pervades these three and is transcendental.

21Learned persons dedicated to Vedic culture are elevated by the mode of goodness to higher and higher positions. The mode of ignorance, on the other hand, forces one to fall headfirst into lower and lower births. And by the mode of passion one continues transmigrating through human bodies.

22Those who leave this world in the mode of goodness go to the heavenly planets, those who pass away in the mode of passion remain in the world of human beings, and those dying in the mode of ignorance must go to hell. But those who are free from the influence of all modes of nature come to Me.

23Work performed as an offering to Me, without consideration of the fruit, is considered to be in the mode of goodness. Work performed with a desire to enjoy the results is in the mode of passion. And work impelled by violence and envy is in the mode of ignorance.

24Absolute knowledge is in the mode of goodness, knowledge based on duality is in the mode of passion, and foolish, materialistic knowledge is in the mode of ignorance. Knowledge based upon Me, however, is understood to be transcendental.

25Residence in the forest is in the mode of goodness, residence in a town is in the mode of passion, residence in a gambling house displays the quality of ignorance, and residence in a place where I reside is transcendental.

26A worker free of attachment is in the mode of goodness, a worker blinded by personal desire is in the mode of passion, and a worker who has completely forgotten how to tell right from wrong is in the mode of ignorance. But a worker who has taken shelter of Me is understood to be transcendental to the modes of nature.

27Faith directed toward spiritual life is in the mode of goodness, faith rooted in fruitive work is in the mode of passion, faith residing in irreligious activities is in the mode of ignorance, but faith in My devotional service is purely transcendental.

28Food that is wholesome, pure and obtained without difficulty is in the mode of goodness, food that gives immediate pleasure to the senses is in the mode of passion, and food that is unclean and causes distress is in the mode of ignorance.

29Happiness derived from the self is in the mode of goodness, happiness based on sense gratification is in the mode of passion, and happiness based on delusion and degradation is in the mode of ignorance. But that happiness found within Me is transcendental.

30Therefore material substance, place, result of activity, time, knowledge, work, the performer

of work, faith, state of consciousness, species of life and destination after death are all based on the three modes of material nature.

31O best of human beings, all states of material being are related to the interaction of the enjoying soul and material nature. Whether seen, heard of or only conceived within the mind, they are without exception constituted of the modes of nature.

32O gentle Uddhava, all these different phases of conditioned life arise from work born of the modes of material nature. The living entity who conquers these modes, manifested from the mind, can dedicate himself to Me by the process of devotional service and thus attain pure love for Me.

33Therefore, having achieved this human form of life, which allows one to develop full knowledge, those who are intelligent should free themselves from all contamination of the modes of nature and engage exclusively in loving service to Me.

34A wise sage, free from all material association and unbewildered, should subdue his senses and worship Me. He should conquer the modes of passion and ignorance by engaging himself only with things in the mode of goodness.

35Then, being fixed in devotional service, the sage should also conquer the material mode of goodness by indifference toward the modes. Thus pacified within his mind, the spirit soul, freed from the modes of nature, gives up the very cause of his conditioned life and attains Me.

36Freed from the subtle conditioning of the mind and from the modes of nature born of material consciousness, the living entity becomes completely satisfied by experiencing My transcendental form. He no longer searches for enjoyment in the external energy, nor does he contemplate or remember such enjoyment within himself.

## SB 11.26: The Aila-gītā

1The Supreme Personality of Godhead said: Having achieved this human form of life, which affords one the opportunity to realize Me, and being situated in My devotional service, one can achieve Me, the reservoir of all pleasure and the Supreme Soul of all existence, residing within the heart of every living being.

2A person fixed in transcendental knowledge is freed from conditioned life by giving up his false identification with the products of the material modes of nature. Seeing these products as simply illusion, he avoids entanglement with the modes of nature, although constantly among them. Because the modes of nature and their products are simply not real, he does not accept them.

3One should never associate with materialists, those dedicated to gratifying their genitals and bellies. By following them one falls into the deepest pit of darkness, just like a blind man who follows another blind man.

4The following song was sung by the famous emperor Purūravā. When deprived of his wife, Urvaśī, he was at first bewildered, but by controlling his lamentation he began to feel detachment.

5When she was leaving him, even though he was naked he ran after her just like a madman and called out in great distress, “O my wife, O terrible lady! Please stop!”

6Although for many years Purūravā had enjoyed sex pleasure in the evening hours, still he was not satisfied by such insignificant enjoyment. His mind was so attracted to Urvaśī that he did

not notice how the nights were coming and going.

7King Aila said: Alas, just see the extent of my delusion! This goddess was embracing me and held my neck in her grip. My heart was so polluted by lust that I had no idea how my life was passing.

8That lady cheated me so much that I did not even see the rising or setting of the sun. Alas, for so many years I passed my days in vain!

9Alas, although I am supposed to be a mighty emperor, the crown jewel of all kings on this earth, just see how my bewilderment has rendered me a toy animal in the hands of women!

10Although I was a powerful lord with great opulence, that woman gave me up as if I were no more than an insignificant blade of grass. And still, naked and without shame, I followed her, crying out to her like a madman.

11Where are my so-called great influence, power and sovereignty? Just like an ass being kicked in the face by his she-ass, I ran after that woman, who had already given me up.

12What is the use of a big education or the practice of austerities and renunciation, and what is the use of studying religious scriptures, of living in solitude and silence, if, after all that, one's mind is stolen by a woman?

13To hell with me! I am such a fool that I didn't even know what was good for me, although I arrogantly thought I was highly intelligent. Although I achieved the exalted position of a lord, I allowed myself to be conquered by women as if I were a bullock or a jackass.

14Even after I had served the so-called nectar of the lips of Urvaśī for many years, my lusty desires kept rising again and again within my heart and were never satisfied, just like a fire that can never be extinguished by the oblations of ghee poured into its flames.

15Who but the Supreme Personality of Godhead, who lies beyond material perception and is the Lord of self-satisfied sages, can possibly save my consciousness, which has been stolen by a prostitute?

16Because I allowed my intelligence to become dull and because I failed to control my senses, the great confusion in my mind did not go away, even though Urvaśī herself gave me wise counsel with well-spoken words.

17How can I blame her for my trouble when I myself am ignorant of my real, spiritual nature? I did not control my senses, and so I am like a person who mistakenly sees a harmless rope as a snake.

18What is this polluted body anywayso filthy and full of bad odors? I was attracted by the fragrance and beauty of a woman's body, but what are those so-called attractive features? They are simply a false covering created by illusion.

19-20One can never decide whose property the body actually is. Does it belong to one's parents, who have given birth to it, to one's wife, who gives it pleasure, or to one's employer, who orders the body around? Is it the property of the funeral fire or of the dogs and jackals who may ultimately devour it? Is it the property of the indwelling soul, who partakes in its happiness and distress, or does the body belong to intimate friends who encourage and help it? Although a man never definitely ascertains the proprietor of the body, he becomes most attached to it. The material body is a polluted material form heading toward a lowly destination, yet when a man stares at the face of a woman he thinks, "What a good-looking

lady! What a charming nose she's got, and see her beautiful smile!"

21What difference is there between ordinary worms and persons who try to enjoy this material body composed of skin, flesh, blood, muscle, fat, marrow, bone, stool, urine and pus?

22Yet even one who theoretically understands the actual nature of the body should never associate with women or with men attached to women. After all, the contact of the senses with their objects inevitably agitates the mind.

23Because the mind is not disturbed by that which is neither seen nor heard, the mind of a person who restricts the material senses will automatically be checked in its material activities and become pacified.

24Therefore one should never let his senses associate freely with women or with men attached to women. Even those who are highly learned cannot trust the six enemies of the mind; what to speak, then, of foolish persons like me.

25The Supreme Personality of Godhead said: Having thus chanted this song, Mahārāja Purūravā, eminent among the demigods and human beings, gave up the position he had achieved in the planet of Urvaśī. His illusion cleansed away by transcendental knowledge, he understood Me to be the Supreme Soul within his heart and so at last achieved peace.

26An intelligent person should therefore reject all bad association and instead take up the association of saintly devotees, whose words cut off the excessive attachment of one's mind.

27My devotees fix their minds on Me and do not depend upon anything material. They are always peaceful, endowed with equal vision, and free from possessiveness, false ego, duality and greed.

28O greatly fortunate Uddhava, in the association of such saintly devotees there is constant discussion of Me, and those partaking in this chanting and hearing of My glories are certainly purified of all sins.

29Whoever hears, chants and respectfully takes to heart these topics about Me becomes faithfully dedicated to Me and thus achieves My devotional service.

30What more remains to be accomplished for the perfect devotee after achieving devotional service unto Me, the Supreme Absolute Truth, whose qualities are innumerable and who am the embodiment of all ecstatic experience?

31Just as cold, fear and darkness are eradicated for one who has approached the sacrificial fire, so dullness, fear and ignorance are destroyed for one engaged in serving the devotees of the Lord.

32The devotees of the Lord, peacefully fixed in absolute knowledge, are the ultimate shelter for those who are repeatedly rising and falling within the fearful ocean of material life. Such devotees are just like a strong boat that comes to rescue persons who are at the point of drowning.

33Just as food is the life of all creatures, just as I am the ultimate shelter for the distressed, and just as religion is the wealth of those who are passing away from this world, so My devotees are the only refuge of persons fearful of falling into a miserable condition of life.

34My devotees bestow divine eyes, whereas the sun allows only external sight, and that only when it is risen in the sky. My devotees are one's real worshipable deities and real family; they

are one's own self, and ultimately they are nondifferent from Me.

35Thus losing his desire to be on the same planet as Urvaśī, Mahārāja Purūravā began to wander the earth free of all material association and completely satisfied within the self.

### SB 11.27: Lord Kṛṣṇa's Instructions on the Process of Deity Worship

1Śrī Uddhava said: My dear Lord, O master of the devotees, please explain to me the prescribed method of worshiping You in Your Deity form. What are the qualifications of those devotees who worship the Deity, on what basis is such worship established, and what is the specific method of worship?

2All the great sages repeatedly declare that such worship brings the greatest benefit possible in human life. This is the opinion of Nārada Muni, the great Vyāsadeva and my own spiritual master, Bṛhaspati.

3-4O most magnanimous Lord, the instructions on this process of Deity worship first emanated from Your lotus mouth. Then they were spoken by the great Lord Brahmā to his sons, headed by Bhṛgu, and by Lord Śiva to his wife, Pārvatī. This process is accepted by and appropriate for all the occupational and spiritual orders of society. Therefore I consider worship of You in Your Deity form to be the most beneficial of all spiritual practices, even for women and śūdras.

5O lotus-eyed one, O Supreme Lord of all lords of the universe, please explain to Your devoted servant this means of liberation from the bondage of work.

6The Supreme Personality of Godhead said: My dear Uddhava, there is no end to the innumerable Vedic prescriptions for executing Deity worship; so I shall explain this topic to you briefly, one step at a time.

7One should carefully worship Me by selecting one of the three methods by which I receive sacrifice: Vedic, tantric or mixed.

8Now please listen faithfully as I explain exactly how a person who has achieved twice-born status through the relevant Vedic prescriptions should worship Me with devotion.

9A twice-born person should worship Me, his worshipable Lord, without duplicity, offering appropriate paraphernalia in loving devotion to My Deity form or to a form of Me appearing upon the ground, in fire, in the sun, in water or within the worshiper's own heart.

10One should first purify his body by cleansing his teeth and bathing. Then one should perform a second cleansing by smearing the body with earth and chanting both Vedic and tantric mantras.

11Fixing the mind on Me, one should worship Me by his various prescribed duties, such as chanting the Gāyatrī mantra at the three junctures of the day. Such performances are enjoined by the Vedas and purify the worshiper of reactions to fruitive activities.

12The Deity form of the Lord is said to appear in eight varietiesstone, wood, metal, earth, paint, sand, the mind or jewels.

13The Deity form of the Lord, who is the shelter of all living entities, can be established in two ways: temporarily or permanently. But a permanent Deity, having been called, can never be sent away, My dear Uddhava.

14The Deity that is temporarily established can optionally be called forth and sent away, but

these two rituals should always be performed when the Deity is traced upon the ground. Bathing should be done with water except if the Deity is made of clay, paint or wood, in which cases a thorough cleansing without water is enjoined.

15One should worship Me in My Deity forms by offering the most excellent paraphernalia. But a devotee completely freed from material desire may worship Me with whatever he is able to obtain, and may even worship Me within his heart with mental paraphernalia.

16-17In worshiping the temple Deity, my dear Uddhava, bathing and decoration are the most pleasing offerings. For the Deity traced on sacred ground, the process of tattva-vinyāsa is most dear. Oblations of sesame and barley soaked in ghee are the preferred offering to the sacrificial fire, whereas worship consisting of upasthāna and arghya is preferred for the sun. One should worship Me in the form of water by offering water itself. Actually, whatever is offered to Me with faith by My devoteeeven if only a little wateris most dear to Me.

18Even very opulent presentations do not satisfy Me if they are offered by nondevotees. But I am pleased by any insignificant offering made by My loving devotees, and I am certainly most pleased when nice presentations of fragrant oil, incense, flowers and palatable foods are offered with love.

19After cleansing himself and collecting all the paraphernalia, the worshiper should arrange his own seat with blades of kuśa grass whose tips point eastward. He should then sit facing either east or north, or else, if the Deity is fixed in one place, he should sit directly facing the Deity.

20The devotee should sanctify the various parts of his body by touching them and chanting mantras. He should do the same for My Deity form, and then with his hands he should clean the Deity of old flowers and the remnants of previous offerings. He should properly prepare the sacred pot and the vessel containing water for sprinkling.

21Then, with the water of that prokṣaṇīya vessel he should sprinkle the area where the Deity is being worshiped, the offerings that are going to be presented, and his own body. Next he should decorate with various auspicious substances three vessels filled with water.

22The worshiper should then purify those three vessels. He should sanctify the vessel holding water for washing the Lord's feet by chanting hṛdayāya namaḥ, the vessel containing water for arghya by chanting śirase svāhā, and the vessel containing water for washing the Lord's mouth by chanting śikhāyai vaṣaṭ. Also, the Gāyatrī mantra should be chanted for all three vessels.

23The worshiper should meditate upon My subtle formwhich is situated within the worshiper's own body, now purified by air and fireas the source of all living entities. This form of the Lord is experienced by self-realized sages in the last part of the vibration of the sacred syllable om.

24The devotee conceives of the Supersoul, whose presence surcharges the devotee's body, in the form corresponding to his realization. Thus the devotee worships the Lord to his full capacity and becomes fully absorbed in Him. By touching the various limbs of the Deity and chanting appropriate mantras, the devotee should invite the Supersoul to join the Deity's form, and then the devotee should worship Me.

25-26The worshiper should first imagine My seat as decorated with the personified deities of religion, knowledge, renunciation and opulence and with My nine spiritual energies. He should think of the Lord's sitting place as an eight-petaled lotus, effulgent on account of the saffron filaments within its whorl. Then, following the regulations of both the Vedas and the tantras, he should offer Me water for washing the feet, water for washing the mouth, arghya and other items of worship. By this process he achieves both material enjoyment and

liberation.

27One should worship, in order, the Lord's Sudarśana disc, His Pāṣcajanya conchshell, His club, sword, bow, arrows and plow, His muṣala weapon, His Kaustubha gem, His flower garland and the Śrīvatsa curl of hair on His chest.

28One should worship the Lord's associates Nanda and Sunanda, Garuḍa, Pracaṇḍa and Caṇḍa, Mahābala and Bala, and Kumuda and Kumudekṣaṇa.

29With offerings such as prokṣaṇa one should worship Durgā, Vināyaka, Vyāsa, Viṣvaksena, the spiritual masters and the various demigods. All these personalities should be in their proper places facing the Deity of the Lord.

30-31The worshiper should bathe the Deity every day, as opulently as his assets permit, using waters scented with sandalwood, uśīra root, camphor, kuṅkuma and aguru. He should also chant various Vedic hymns, such as the anuvāka known as Svarṇa-gharma, the Mahāpuruṣa-vidyā, the Puruṣa-sūkta and various songs of the Sāma Veda, such as the Rājana and the Rohiṇya.

32My devotee should then lovingly decorate Me with clothing, a brāhmaṇa thread, various ornaments, marks of tilaka and garlands, and he should anoint My body with fragrant oils, all in the prescribed manner.

33The worshiper should faithfully present Me with water for washing My feet and mouth, fragrant oils, flowers and unbroken grains, along with incense, lamps and other offerings.

34Within his means, the devotee should arrange to offer Me sugar candy, sweet rice, ghee, śaṣkulī [rice-flour cakes], āpūpa [various sweet cakes], modaka [steamed rice-flour dumplings filled with sweet coconut and sugar], saṁyāva [wheat cakes made with ghee and milk and covered with sugar and spices], yogurt, vegetable soups and other palatable foods.

35On special occasions, and daily if possible, the Deity should be massaged with ointment, shown a mirror, offered a eucalyptus stick for brushing His teeth, bathed with the five kinds of nectar, offered all kinds of opulent foods, and entertained with singing and dancing.

36In an arena constructed according to scriptural injunctions, the devotee should perform a fire sacrifice, utilizing the sacred belt, the sacrificial pit and the altar mound. When igniting the sacrificial fire, the devotee should bring it to a blaze with wood piled up by his own hands.

37After spreading kuśa grass on the ground and sprinkling it with water, one should perform the anvādhāna ritual according to the prescribed rules. Then one should arrange the items to be offered as oblations and should sanctify them with water from the sprinkling vessel. The worshiper should next meditate upon Me within the fire.

38-41The intelligent devotee should meditate upon that form of the Lord whose color is like molten gold, whose four arms are resplendent with the conchshell, disc, club and lotus flower, and who is always peaceful and dressed in a garment colored like the filaments within a lotus flower. His helmet, bracelets, belt and fine arm ornaments shine brilliantly. The symbol of Śrīvatsa is on His chest, along with the glowing Kaustubha gem and a garland of forest flowers. The devotee should then worship that Lord by taking pieces of firewood soaked in the sacrificial ghee and throwing them into the fire. He should perform the ritual of āghāra, presenting into the fire the various items of oblation drenched in ghee. He should then offer to sixteen demigods, beginning with Yamarāja, the oblation called sviṣṭi-kṛt, reciting the basic mantras of each deity and the sixteen-line Puruṣa-sūkta hymn. Pouring one oblation after each

line of the Puruṣa-sūkta, he should utter the particular mantra naming each deity.

42Having thus worshiped the Lord in the sacrificial fire, the devotee should offer his obeisances to the Lord's personal associates by bowing down and should then present offerings to them. He should then chant quietly the mūla-mantra of the Deity of the Lord, remembering the Absolute Truth as the Supreme Personality, Nārāyaṇa.

43Once again he should offer the Deity water for washing His mouth, and he should give the remnants of the Lord's food to Viṣvaksena. Then he should present the Deity with fragrant perfume for the mouth and prepared betel nut.

44Singing along with others, chanting loudly and dancing, acting out My transcendental pastimes, and hearing and telling stories about Me, the devotee should for some time absorb himself in such festivity.

45The devotee should offer homage to the Lord with all kinds of hymns and prayers, both from the Purāṇas and from other ancient scriptures, and also from ordinary traditions. Praying, "O Lord, please be merciful to me!" he should fall down flat like a rod to offer his obeisances.

46Placing his head at the feet of the Deity, he should then stand with folded hands before the Lord and pray, "O my Lord, please protect me, who am surrendered unto You. I am most fearful of this ocean of material existence, standing as I am in the mouth of death."

47Praying in this way, the devotee should respectfully place upon his head the remnants I offer to him. And if the particular Deity is meant to be sent away at the end of the worship, then this should be performed, the devotee once again placing the light of the Deity's presence inside the light of the lotus within his own heart.

48Whenever one develops faith in Mein My form as the Deity or in other bona fide manifestationsone should worship Me in that form. I certainly exist both within all created beings and also separately in My original form, since I am the Supreme Soul of all.

49By worshiping Me through the various methods prescribed in the Vedas and tantras, one will gain from Me his desired perfection in both this life and the next.

50The devotee should more fully establish My Deity by solidly constructing a temple, along with beautiful gardens. These gardens should be set aside to provide flowers for the regular daily worship, special Deity processions and holiday observances.

51One who offers the Deity gifts of land, markets, cities and villages so that the regular daily worship and special festivals of the Deity may go on continually will achieve opulence equal to My own.

52By installing the Deity of the Lord one becomes king of the entire earth, by building a temple for the Lord one becomes ruler of the three worlds, by worshiping and serving the Deity one goes to the planet of Lord Brahmā, and by performing all three of these activities one achieves a transcendental form like My own.

53But one who simply engages in devotional service with no consideration of fruitive results attains Me. Thus whoever worships Me according to the process I have described will ultimately attain pure devotional service unto Me.

54Anyone who steals the property of the demigods or the brāhmaṇas, whether originally given to them by himself or someone else, must live as a worm in stool for one hundred million years.

55Not only the performer of the theft but also anyone who assists him, instigates the crime, or simply approves of it must also share the reaction in the next life. According to their degree of participation, they each must suffer a proportionate consequence.

**SB 11.28: Jnana-yoga**

1The Supreme Personality of Godhead said: One should neither praise nor criticize the conditioned nature and activities of other persons. Rather, one should see this world as simply the combination of material nature and the enjoying souls, all based on the one Absolute Truth.

2Whoever indulges in praising or criticizing the qualities and behavior of others will quickly become deviated from his own best interest by his entanglement in illusory dualities.

3Just as the embodied spirit soul loses external consciousness when his senses are overcome by the illusion of dreaming or the deathlike state of deep sleep, so a person experiencing material duality must encounter illusion and death.

4That which is expressed by material words or meditated upon by the material mind is not ultimate truth. What, therefore, is actually good or bad within this insubstantial world of duality, and how can the extent of such good and bad be measured?

5Although shadows, echoes and mirages are only illusory reflections of real things, such reflections do cause a semblance of meaningful or comprehensible perception. In the same way, although the identification of the conditioned soul with the material body, mind and ego is illusory, this identification generates fear within him even up to the moment of death.

6-7The Supersoul alone is the ultimate controller and creator of this world, and thus He alone is also the created. Similarly, the Soul of all existence Himself both maintains and is maintained, withdraws and is withdrawn. No other entity can be properly ascertained as separate from Him, the Supreme Soul, who nonetheless is distinct from everything and everyone else. The appearance of the threefold material nature, which is perceived within Him, has no actual basis. Rather, you should understand that this material nature, composed of the three modes, is simply the product of His illusory potency.

8One who has properly understood the process of becoming firmly fixed in theoretical and realized knowledge, as described herein by Me, does not indulge in material criticism or praise. Like the sun, he wanders freely throughout this world.

9By direct perception, logical deduction, scriptural testimony and personal realization, one should know that this world has a beginning and an end and so is not the ultimate reality. Thus one should live in this world without attachment.

10Śrī Uddhava said: My dear Lord, it is not possible for this material existence to be the experience of either the soul, who is the seer, or of the body, which is the seen object. On the one hand, the spirit soul is innately endowed with perfect knowledge, and on the other hand, the material body is not a conscious, living entity. To whom, then, does this experience of material existence pertain?

11The spirit soul is inexhaustible, transcendental, pure, self-luminous and never covered by anything material. It is like fire. But the nonliving material body, like firewood, is dull and unaware. So in this world, who is it that actually undergoes the experience of material life?

12The Supreme Personality of Godhead said: As long as the foolish spirit soul remains attracted to the material body, senses and vital force, his material existence continues to flourish, although it is ultimately meaningless.

13Actually, the living entity is transcendental to material existence. But because of his mentality of lording it over material nature, his material existential condition does not cease, and, just as in a dream, he is affected by all sorts of disadvantages.

14Although while dreaming a person experiences many undesirable things, upon awakening he is no longer confused by the dream experiences.

15Lamentation, elation, fear, anger, greed, confusion and hankering, as well as birth and death, are experiences of the false ego and not of the pure soul.

16The living entity who falsely identifies with his body, senses, life air and mind, and who dwells within these coverings, assumes the form of his own materially conditioned qualities and work. He is designated variously in relation to the total material energy, and thus, under the strict control of supreme time, he is forced to run here and there within material existence.

17Although the false ego has no factual basis, it is perceived in many formsas the functions of the mind, speech, life air and bodily faculties. But with the sword of transcendental knowledge, sharpened by worship of a bona fide spiritual master, a sober sage will cut off this false identification and live in this world free from all material attachment.

18Real spiritual knowledge is based on the discrimination of spirit from matter, and it is cultivated by scriptural evidence, austerity, direct perception, reception of the Purāṇas' historical narrations, and logical inference. The Absolute Truth, which alone was present before the creation of the universe and which alone will remain after its destruction, is also the time factor and the ultimate cause. Even in the middle stage of this creation's existence, the Absolute Truth alone is the actual reality.

19Gold alone is present before its manufacture into gold products, the gold alone remains after the products' destruction, and the gold alone is the essential reality while it is being utilized under various designations. Similarly, I alone exist before the creation of this universe, after its destruction and during its maintenance.

20The material mind manifests in three phases of consciousnesswakefulness, sleep and deep sleepwhich are products of the three modes of nature. The mind further appears in three different rolesthe perceiver, the perceived and the regulator of perception. Thus the mind is manifested variously throughout these threefold designations. But it is the fourth factor, existing separately from all this, that alone constitutes the Absolute Truth.

21That which did not exist in the past and will not exist in the future also has no existence of its own for the period of its duration, but is only a superficial designation. In My opinion, whatever is created and revealed by something else is ultimately only that other thing.

22Although thus not existing in reality, this manifestation of transformations created from the mode of passion appears real because the self-manifested, self-luminous Absolute Truth exhibits Himself in the form of the material variety of the senses, the sense objects, the mind and the elements of physical nature.

23Thus clearly understanding by discriminating logic the unique position of the Absolute Truth, one should expertly refute one's misidentification with matter and cut to pieces all doubts about the identity of the self. Becoming satisfied in the soul's natural ecstasy, one should desist from all lusty engagements of the material senses.

24The material body made of earth is not the true self; nor are the senses, their presiding demigods or the air of life; nor is the external air, water or fire or one's mind. All these are simply matter. Similarly, neither one's intelligence, material consciousness nor ego, nor the

elements of ether or earth, nor the objects of sense perception, nor even the primeval state of material equilibrium can be considered the actual identity of the soul.

25For one who has properly realized My personal identity as the Supreme Godhead, what credit is there if his sensesmere products of the material modesare perfectly concentrated in meditation? And on the other hand, what blame is incurred if his senses happen to become agitated? Indeed, what does it mean to the sun if the clouds come and go?

26The sky may display the various qualities of the air, fire, water and earth that pass through it, as well as such qualities as heat and cold, which continually come and go with the seasons. Yet the sky is never entangled with any of these qualities. Similarly, the Supreme Absolute Truth is never entangled with the contaminations of goodness, passion and ignorance, which cause the material transformations of the false ego.

27Nevertheless, until by firmly practicing devotional service to Me one has completely eliminated from his mind all contamination of material passion, one must very carefully avoid associating with the material modes, which are produced by My illusory energy.

28Just as an improperly treated disease recurs and gives repeated distress to the patient, the mind that is not completely purified of its perverted tendencies will remain attached to material things and repeatedly torment the imperfect yogī.

29Sometimes the progress of imperfect transcendentalists is checked by attachment to family members, disciples or others, who are sent by envious demigods for that purpose. But on the strength of their accumulated advancement, such imperfect transcendentalists will resume their practice of yoga in the next life. They will never again be trapped in the network of fruitive work.

30An ordinary living entity performs material work and is transformed by the reaction to such work. Thus he is driven by various desires to continue working fruitively up to the very moment of his death. A wise person, however, having experienced his own constitutional bliss, gives up all material desires and does not engage in fruitive work.

31The wise man, whose consciousness is fixed in the self, does not even notice his own bodily activities. While standing, sitting, walking, lying down, urinating, eating or performing other bodily functions, he understands that the body is acting according to its own nature.

32Although a self-realized soul may sometimes see an impure object or activity, he does not accept it as real. By logically understanding impure sense objects to be based on illusory material duality, the intelligent person sees them to be contrary to and distinct from reality, in the same way that a man awakening from sleep views his fading dream.

33Material nescience, which expands into many varieties by the activities of the modes of nature, is wrongly accepted by the conditioned soul to be identical with the self. But through the cultivation of spiritual knowledge, My dear Uddhava, this same nescience fades away at the time of liberation. The eternal self, on the other hand, is never assumed and never abandoned.

34When the sun rises it destroys the darkness covering men's eyes, but it does not create the objects they then see before them, which in fact were existing all along. Similarly, potent and factual realization of Me will destroy the darkness covering a person's true consciousness.

35The Supreme Lord is self-luminous, unborn and immeasurable. He is pure transcendental consciousness and perceives everything. One without a second, He is realized only after ordinary words cease. By Him the power of speech and the life airs are set into motion.

36Whatever apparent duality is perceived in the self is simply the confusion of the mind. Indeed, such supposed duality has no basis to rest upon apart from one's own soul.

37The duality of the five material elements is perceived only in terms of names and forms. Those who say this duality is real are pseudoscholars vainly proposing fanciful theories without basis in fact.

38The physical body of the endeavoring yogī who is not yet mature in his practice may sometimes be overcome by various disturbances. Therefore the following process is recommended.

39Some of these obstructions may be counteracted by yogic meditation or by sitting postures, practiced together with concentration on controlled breathing, and others may be counteracted by special austerities, mantras or medicinal herbs.

40These inauspicious disturbances can be gradually removed by constant remembrance of Me, by congregational hearing and chanting of My holy names, or by following in the footsteps of the great masters of yoga.

41By various methods, some yogīs free the body from disease and old age and keep it perpetually youthful. Thus they engage in yoga for the purpose of achieving material mystic perfections.

42This mystic bodily perfection is not valued very highly by those expert in transcendental knowledge. Indeed, they consider endeavor for such perfection useless, since the soul, like a tree, is permanent, but the body, like a tree's fruit, is subject to destruction.

43Although the physical body may be improved by various processes of yoga, an intelligent person who has dedicated his life to Me does not place his faith in the prospect of perfecting his physical body through yoga, and in fact he gives up such procedures.

44The yogī who has taken shelter of Me remains free from hankering because he experiences the happiness of the soul within. Thus while executing this process of yoga, he is never defeated by obstacles.

**SB 11.29: Bhakti-yoga**

1Śrī Uddhava said: My dear Lord Acyuta, I fear that the method of yoga described by You is very difficult for one who cannot control his mind. Therefore please explain to me in simple terms how someone can more easily execute it.

2O lotus-eyed Lord, generally those yogīs who try to steady the mind experience frustration because of their inability to perfect the state of trance. Thus they weary in their attempt to bring the mind under control.

3Therefore, O lotus-eyed Lord of the universe, swanlike men happily take shelter of Your lotus feet, the source of all transcendental ecstasy. But those who take pride in their accomplishments in yoga and karma fail to take shelter of You and are defeated by Your illusory energy.

4My dear infallible Lord, it is not very astonishing that You intimately approach Your servants who have taken exclusive shelter of You. After all, during Your appearance as Lord Rāmacandra, even while great demigods like Brahmā were vying to place the effulgent tips of their helmets upon the cushion where Your lotus feet rested, You displayed special affection for monkeys such as Hanumān because they had taken exclusive shelter of You.

5Who, then, could dare reject You, the very Soul, the most dear object of worship, and the Supreme Lord of allYou who give all possible perfections to the devotees who take shelter of You? Who could be so ungrateful, knowing the benefits You bestow? Who would reject You and accept something for the sake of material enjoyment, which simply leads to forgetfulness of You? And what lack is there for us who are engaged in the service of the dust of Your lotus feet?

6O my Lord! Transcendental poets and experts in spiritual science could not fully express their indebtedness to You, even if they were endowed with the prolonged lifetime of Brahmā, for You appear in two featuresexternally as the ācārya and internally as the Supersoulto deliver the embodied living being by directing him how to come to You.

7Śukadeva Gosvāmī said: Thus questioned by the most affectionate Uddhava, Lord Kṛṣṇa, the supreme controller of all controllers, who takes the entire universe as His plaything and assumes the three forms of Brahmā, Viṣṇu and Śiva, began to reply, lovingly displaying His all-attractive smile.

8The Supreme Personality of Godhead said: Yes, I shall describe to you the principles of devotion to Me, by executing which a mortal human being will conquer unconquerable death.

9Always remembering Me, one should perform all his duties for Me without becoming impetuous. With mind and intelligence offered to Me, one should fix his mind in attraction to My devotional service.

10One should take shelter of holy places where My saintly devotees reside, and one should be guided by the exemplary activities of My devotees, who appear among the demigods, demons and human beings.

11Either alone or in public gatherings, with singing, dancing and other exhibitions of royal opulence, one should arrange to celebrate those holy days, ceremonies and festivals set aside specially for My worship.

12With a pure heart one should see Me, the Supreme Soul within all beings and also within oneself, to be both unblemished by anything material and also present everywhere, both externally and internally, just like the omnipresent sky.

13-14O brilliant Uddhava, one who thus views all living entities with the idea that I am present within each of them, and who by taking shelter of this divine knowledge offers due respect to everyone, is considered actually wise. Such a man sees equally the brāhmaṇa and the outcaste, the thief and the charitable promoter of brahminical culture, the sun and the tiny sparks of fire, the gentle and the cruel.

15For him who constantly meditates upon My presence within all persons, the bad tendencies of rivalry, envy and abusiveness, along with false ego, are very quickly destroyed.

16Disregarding the ridicule of one's companions, one should give up the bodily conception and its accompanying embarrassment. One should offer obeisances before alleven the dogs, outcastes, cows and assesfalling flat upon the ground like a rod.

17Until one has fully developed the ability to see Me within all living beings, one must continue to worship Me by this process with the activities of his speech, mind and body.

18By such transcendental knowledge of the all-pervading Personality of Godhead, one is able to see the Absolute Truth everywhere. Freed thus from all doubts, one gives up fruitive activities.

19Indeed, I consider this processusing one's mind, words and bodily functions for realizing Me within all living beingsto be the best possible method of spiritual enlightenment.

20My dear Uddhava, because I have personally established it, this process of devotional service unto Me is transcendental and free from any material motivation. Certainly a devotee never suffers even the slightest loss by adopting this process.

21O Uddhava, greatest of saints, in a dangerous situation an ordinary person cries, becomes fearful and laments, although such useless emotions do not change the situation. But activities offered to Me without personal motivation, even if they are externally useless, amount to the actual process of religion.

22This process is the supreme intelligence of the intelligent and the cleverness of the most clever, for by following it one can in this very life make use of the temporary and unreal to achieve Me, the eternal reality.

23Thus have I related to youboth in brief and in detaila complete survey of the science of the Absolute Truth. Even for the demigods, this science is very difficult to comprehend.

24I have repeatedly spoken this knowledge to you with clear reasoning. Anyone who properly understands it will become free from all doubts and attain liberation.

25Anyone who fixes his attention on these clear answers to your questions will attain to the eternal, confidential goal of the Vedasthe Supreme Absolute Truth.

26One who liberally disseminates this knowledge among My devotees is the bestower of the Absolute Truth, and to him I give My very own self.

27He who loudly recites this supreme knowledge, which is the most lucid and purifying, becomes purified day by day, for he reveals Me to others with the lamp of transcendental knowledge.

28Anyone who regularly listens to this knowledge with faith and attention, all the while engaging in My pure devotional service, will never become bound by the reactions of material work.

29My dear friend Uddhava, have you now completely understood this transcendental knowledge? Are the confusion and lamentation that arose in your mind now dispelled?

30You should not share this instruction with anyone who is hypocritical, atheistic or dishonest, or with anyone who will not listen faithfully, who is not a devotee, or who is simply not humble.

31This knowledge should be taught to one who is free from these bad qualities, who is dedicated to the welfare of the brāhmaṇas, and who is kindly disposed, saintly and pure. And if common workers and women are found to have devotion for the Supreme Lord, they are also to be accepted as qualified hearers.

32When an inquisitive person comes to understand this knowledge, he has nothing further to know. After all, one who has drunk the most palatable nectar cannot remain thirsty.

33Through analytic knowledge, ritualistic work, mystic yoga, mundane business and political rule, people seek to advance in religiosity, economic development, sense gratification and liberation. But because you are My devotee, whatever men can accomplish in these multifarious ways you will very easily find within Me.

34A person who gives up all fruitive activities and offers himself entirely unto Me, eagerly desiring to render service unto Me, achieves liberation from birth and death and is promoted to the status of sharing My own opulences.

35Śukadeva Gosvāmī said: Hearing these words spoken by Lord Kṛṣṇa, and having thus been shown the entire path of yoga, Uddhava folded his hands to offer obeisances. But his throat choked up with love and his eyes overflowed with tears; so he could say nothing.

36Steadying his mind, which had become overwhelmed with love, Uddhava felt extremely grateful to Lord Kṛṣṇa, the greatest hero of the Yadu dynasty. My dear King Parīkṣit, Uddhava bowed down to touch the Lord's lotus feet with his head and then spoke with folded hands.

37Śrī Uddhava said: O unborn, primeval Lord, although I had fallen into the great darkness of illusion, my ignorance has now been dispelled by Your merciful association. Indeed, how can cold, darkness and fear exert their power over one who has approached the brilliant sun?

38In return for my insignificant surrender, You have mercifully bestowed upon me, Your servant, the torchlight of transcendental knowledge. Therefore, what devotee of Yours who has any gratitude could ever give up Your lotus feet and take shelter of another master?

39The firmly binding rope of my affection for the families of the Dāśārhas, Vṛṣṇis, Andhakas and Sātvatasa rope You originally cast over me by Your illusory energy for the purpose of developing Your creationis now cut off by the weapon of transcendental knowledge of the self.

40Obeisances unto You, O greatest of yogīs. Please instruct me, who am surrendered unto You, how I may have undeviating attachment to Your lotus feet.

41-44The Supreme Personality of Godhead said: My dear Uddhava, take My order and go to My āśrama called Badarikā. Purify yourself by both touching and also bathing in the holy waters there, which have emanated from My lotus feet. Rid yourself of all sinful reactions with the sight of the sacred Alakanandā River. Dress yourself in bark and eat whatever is naturally available in the forest. Thus you should remain content and free from desire, tolerant of all dualities, good-natured, self-controlled, peaceful and endowed with transcendental knowledge and realization. With fixed attention, meditate constantly upon these instructions I have imparted to you and assimilate their essence. Fix your words and thoughts upon Me, and always endeavor to increase your realization of My transcendental qualities. In this way you will cross beyond the destinations of the three modes of nature and finally come back to Me.

45Śukadeva Gosvāmī said: Thus addressed by Lord Kṛṣṇa, whose intelligence destroys all the suffering of material life, Śrī Uddhava circumambulated the Lord and then fell down, placing his head upon the Lord's feet. Although Uddhava was free from the influence of all material dualities, his heart was breaking, and at this time of departure he drenched the Lord's lotus feet with his tears.

46Greatly fearing separation from Him for whom he felt such indestructible affection, Uddhava was distraught, and he could not give up the Lord's company. Finally, feeling great pain, he bowed down to the Lord again and again, placed the slippers of his master upon his head, and departed.

47Thereupon, placing the Lord deeply within his heart, the great devotee Uddhava went to Badarikāśrama. By engaging there in austerities, he attained to the Lord's personal abode, which had been described to him by the only friend of the universe, Lord Kṛṣṇa Himself.

48Thus Lord Kṛṣṇa, whose lotus feet are served by all great yoga masters, spoke to His devotee this nectarean knowledge, which comprises the entire ocean of spiritual bliss. Anyone within this universe who receives this narration with great faith is assured of liberation.

49I offer my obeisances to that Supreme Personality of Godhead, the original and greatest of all beings, Lord Śrī Kṛṣṇa. He is the author of the Vedas, and just to destroy His devotees' fear of material existence, like a bee He has collected this nectarean essence of all knowledge and self-realization. Thus He has awarded to His many devotees this nectar from the ocean of bliss, and by His mercy they have drunk it.

## SB 11.30: The Disappearance of the Yadu Dynasty

1King Parīkṣit said: After the great devotee Uddhava left for the forest, what did the Supreme Personality of Godhead, the protector of all living beings, do in the city of Dvārakā?

2After His own dynasty met destruction from the curse of the brāhmaṇas, how could the best of the Yadus give up His body, the dearmost object of all eyes?

3Once their eyes were fixed upon His transcendental form, women were unable to withdraw them, and once that form had entered the ears of the sages and become fixed in their hearts, it would never depart. What to speak of acquiring fame, the great poets who described the beauty of the Lord's form would have their words invested with transcendentally pleasing attraction. And by seeing that form on Arjuna's chariot, all the warriors on the battlefield of Kurukṣetra attained the liberation of gaining a spiritual body similar to the Lord's.

4Śukadeva Gosvāmī said: Having observed many disturbing signs in the sky, on the earth and in outer space, Lord Kṛṣṇa addressed the Yadus assembled in the Sudharmā council hall as follows.

5The Supreme Personality of Godhead said: O leaders of the Yadu dynasty, please note all these terrible omens that have appeared in Dvārakā just like the flags of death. We should not remain here a moment longer.

6The women, children and old men should leave this city and go to Śaṅkhoddhāra. We shall go to Prabhāsa-kṣetra, where the river Sarasvatī flows toward the west.

7There we should bathe for purification, fast, and fix our minds in meditation. We should then worship the demigods by bathing their images, anointing them with sandalwood pulp, and presenting them various offerings.

8After performing the expiatory rituals with the help of greatly fortunate brāhmaṇas, we will worship those brāhmaṇas by offering them cows, land, gold, clothing, elephants, horses, chariots and dwelling places.

9This is indeed the appropriate process for counteracting our imminent adversity, and it is sure to bring about the highest good fortune. Such worship of the demigods, brāhmaṇas and cows can earn the highest birth for all living entities.

10Having heard these words from Lord Kṛṣṇa, the enemy of Madhu, the elders of the Yadu dynasty gave their assent, saying, "So be it." After crossing over the ocean in boats, they proceeded on chariots to Prabhāsa.

11There, with great devotion, the Yādavas performed the religious ceremonies according to the instructions of the Supreme Personality of Godhead, their personal Lord. They also performed

various other auspicious rituals.

12Then, their intelligence covered by Providence, they liberally indulged in drinking the sweet maireya beverage, which can completely intoxicate the mind.

13The heroes of the Yadu dynasty became intoxicated from their extravagant drinking and began to feel arrogant. When they were thus bewildered by the personal potency of Lord Kṛṣṇa, a terrible quarrel arose among them.

14Infuriated, they seized their bows and arrows, swords, bhallas, clubs, lances and spears and attacked one another on the shore of the ocean.

15Riding on elephants and chariots with flags flying, and also on donkeys, camels, bulls, buffalos, mules and even human beings, the extremely enraged warriors came together and violently attacked one another with arrows, just as elephants in the forest attack one another with their tusks.

16Their mutual enmity aroused, Pradyumna fought fiercely against Sāmba, Akrūra against Kuntibhoja, Aniruddha against Sātyaki, Subhadra against Saṅgrāmajit, Sumitra against Suratha, and the two Gadas against each other.

17Others also, such as Niśaṭha, Ulmuka, Sahasrajit, Śatajit and Bhānu, confronted and killed one another, being blinded by intoxication and thus completely bewildered by Lord Mukunda Himself.

18Completely abandoning their natural friendship, the members of the various Yadu clansthe Dāśārhas, Vṛṣṇis and Andhakas, the Bhojas, Sātvatas, Madhus and Arbudas, the Māthuras, Śūrasenas, Visarjanas, Kukuras and Kuntisall slaughtered one another.

19Thus bewildered, sons fought with fathers, brothers with brothers, nephews with paternal and maternal uncles, and grandsons with grandfathers. Friends fought with friends, and well-wishers with well-wishers. In this way intimate friends and relatives all killed one another.

20When all their bows had been broken and their arrows and other missiles spent, they seized the tall stalks of cane with their bare hands.

21As soon as they took these cane stalks in their fists, the stalks changed into iron rods as hard as thunderbolts. With these weapons the warriors began attacking one another again and again, and when Lord Kṛṣṇa tried to stop them they attacked Him as well.

22In their confused state, O King, they also mistook Lord Balarāma for an enemy. Weapons in hand, they ran toward Him with the intention of killing Him.

23O son of the Kurus, Kṛṣṇa and Balarāma then became very angry. Picking up cane stalks, They moved about within the battle and began to kill with these clubs.

24The violent anger of these warriors, who were overcome by the brāhmaṇas' curse and bewildered by Lord Kṛṣṇa's illusory potency, now led them to their annihilation, just as a fire that starts in a bamboo grove destroys the entire forest.

25When all the members of His own dynasty were thus destroyed, Lord Kṛṣṇa thought to Himself that at last the burden of the earth had been removed.

26Lord Balarāma then sat down on the shore of the ocean and fixed Himself in meditation upon the Supreme Personality of Godhead. Merging Himself within Himself, He gave up this

mortal world.

27Lord Kṛṣṇa, the son of Devakī, having seen the departure of Lord Rāma, sat down silently on the ground under a nearby pippala tree.

28-32The Lord was exhibiting His brilliantly effulgent four-armed form, the radiance of which, just like a smokeless fire, dissipated the darkness in all directions. His complexion was the color of a dark blue cloud and His effulgence the color of molten gold, and His all-auspicious form bore the mark of Śrīvatsa. A beautiful smile graced His lotus face, locks of dark blue hair adorned His head, His lotus eyes were very attractive, and His shark-shaped earrings glittered. He wore a pair of silken garments, an ornamental belt, the sacred thread, bracelets and arm ornaments, along with a helmet, the Kaustubha jewel, necklaces, anklets and other royal emblems. Encircling His body were flower garlands and His personal weapons in their embodied forms. As He sat He held His left foot, with its lotus-red sole, upon His right thigh.

33Just then a hunter named Jarā, who had approached the place, mistook the Lord's foot for a deer's face. Thinking he had found his prey, Jarā pierced the foot with his arrow, which he had fashioned from the remaining iron fragment of Sāmba's club.

34Then, seeing that four-armed personality, the hunter became terrified of the offense he had committed, and he fell down, placing his head upon the feet of the enemy of the demons.

35Jarā said: O Lord Madhusūdana, I am a most sinful person. I have committed this act out of ignorance. O purest Lord, O Uttamaḥśloka, please forgive this sinner.

36O Lord Viṣṇu, the learned say that for any man, constant remembrance of You will destroy the darkness of ignorance. O master, I have wronged You!

37Therefore, O Lord of Vaikuṇṭha, please kill this sinful hunter of animals immediately so he may not again commit such offenses against saintly persons.

38Neither Brahmā nor his sons, headed by Rudra, nor any of the great sages who are masters of the Vedic mantras can understand the function of Your mystic power. Because Your illusory potency has covered their sight, they remain ignorant of how Your mystic power works. Therefore, what can I, such a low-born person, possibly say?

39The Supreme Personality of Godhead said: My dear Jarā, do not fear. Please get up. What has been done is actually My own desire. With My permission, go now to the abode of the pious, the spiritual world.

40So instructed by the Supreme Lord Kṛṣṇa, who assumes His transcendental body by His own will, the hunter circumambulated the Lord three times and bowed down to Him. Then the hunter departed in an airplane that had appeared just to carry him to the spiritual sky.

41At that time Dāruka was searching for his master, Kṛṣṇa. As he neared the place where the Lord was sitting, he perceived the aroma of tulasī flowers in the breeze and went in its direction.

42Upon seeing Lord Kṛṣṇa resting at the foot of a banyan tree, surrounded by His shining weapons, Dāruka could not control the affection he felt in his heart. His eyes filled with tears as he rushed down from the chariot and fell at the Lord's feet.

43Dāruka said: Just as on a moonless night people are merged into darkness and cannot find their way, now that I have lost sight of Your lotus feet, my Lord, I have lost my vision and am

wandering blindly in darkness. I cannot tell my direction, nor can I find any peace.

44[Śukadeva Gosvāmī continued:] O foremost of kings, while the chariot driver was still speaking, before his very eyes the Lord's chariot rose up into the sky along with its horses and its flag, which was marked with the emblem of Garuḍa.

45All the divine weapons of Viṣṇu rose up and followed the chariot. The Lord, Janārdana, then spoke to His chariot driver, who was most astonished to see all this.

46O driver, go to Dvārakā and tell Our family members how their loved ones destroyed one another. Also tell them of the disappearance of Lord Saṅkarṣaṇa and of My present condition.

47You and your relatives should not remain in Dvārakā, the capital of the Yadus, because once I have abandoned that city it will be inundated by the ocean.

48You should all take your own families, together with My parents, and under Arjuna's protection go to Indraprastha.

49You, Dāruka, should be firmly situated in devotion to Me, remaining fixed in spiritual knowledge and unattached to material considerations. Understanding these pastimes to be a display of My illusory potency, you should remain peaceful.

50Thus ordered, Dāruka circumambulated the Lord and offered obeisances to Him again and again. He placed Lord Kṛṣṇa's lotus feet upon his head and then with a sad heart went back to the city.

## SB 11.31: The Disappearance of Lord Śrī Kṛṣṇa

1Śukadeva Gosvāmī said: Then Lord Brahmā arrived at Prabhāsa along with Lord Śiva and his consort, the sages, the Prajāpatis and all the demigods, headed by Indra.

2-3The forefathers, Siddhas, Gandharvas, Vidyādharas and great serpents also came, along with the Cāraṇas, Yakṣas, Rākṣasas, Kinnaras, Apsarās and relatives of Garuḍa, greatly eager to witness the departure of the Supreme Personality of Godhead. As they were coming, all these personalities variously chanted and glorified the birth and activities of Lord Śauri [Kṛṣṇa].

4O King, crowding the sky with their many airplanes, they showered down flowers with great devotion.

5Seeing before Him Brahmā, the grandfather of the universe, along with the other demigods, who are all His personal and powerful expansions, the Almighty Lord closed His lotus eyes, fixing His mind within Himself, the Supreme Personality of Godhead.

6Without employing the mystic āgneyī meditation to burn up His transcendental body, which is the all-attractive resting place of all the worlds and the object of all contemplation and meditation, Lord Kṛṣṇa entered into His own abode.

7As soon as Lord Śrī Kṛṣṇa left the earth, Truth, Religion, Faithfulness, Glory and Beauty immediately followed Him. Kettledrums resounded in the heavens and flowers showered from the sky.

8Most of the demigods and other higher beings led by Brahmā could not see Lord Kṛṣṇa as He was entering His own abode, since He did not reveal His movements. But some of them did catch sight of Him, and they were extremely amazed.

9Just as ordinary men cannot ascertain the path of a lightning bolt as it leaves a cloud, the demigods could not trace out the movements of Lord Kṛṣṇa as He returned to His abode.

10A few of the demigods, howevernotably Lord Brahmā and Lord Śivacould ascertain how the Lord's mystic power was working, and thus they became astonished. All the demigods praised the Lord's mystic power and then returned to their own planets.

11My dear King, you should understand that the Supreme Lord's appearance and disappearance, which resemble those of embodied conditioned souls, are actually a show enacted by His illusory energy, just like the performance of an actor. After creating this universe He enters into it, plays within it for some time, and at last winds it up. Then the Lord remains situated in His own transcendental glory, having ceased from the functions of cosmic manifestation.

12Lord Kṛṣṇa brought the son of His guru back from the planet of the lord of death in the boy's selfsame body, and as the ultimate giver of protection He saved you also when you were burned by the brahmāstra of Aśvatthāmā. He conquered in battle even Lord Śiva, who deals death to the agents of death, and He sent the hunter Jarā directly to Vaikuṇṭha in his human body. How could such a personality be unable to protect His own Self?

13Although Lord Kṛṣṇa, being the possessor of infinite powers, is the only cause of the creation, maintenance and destruction of innumerable living beings, He simply did not desire to keep His body in this world any longer. Thus He revealed the destination of those fixed in the self and demonstrated that this mortal world is of no intrinsic value.

14Anyone who regularly rises early in the morning and carefully chants with devotion the glories of Lord ŚrīKṛṣṇa's transcendental disappearance and His return to His own abode will certainly achieve that same supreme destination.

15As soon as Dāruka reached Dvārakā, he threw himself at the feet of Vasudeva and Ugrasena and drenched their feet with his tears, lamenting the loss of Lord Kṛṣṇa.

16-17Dāruka delivered the account of the total destruction of the Vṛṣṇis, and upon hearing this, O Parīkṣit, the people became deeply distraught in their hearts and stunned with sorrow. Feeling the overwhelming pain of separation from Kṛṣṇa, they struck their own faces while hurrying to the place where their relatives lay dead.

18When Devakī, Rohiṇī and Vasudeva could not find their sons, Kṛṣṇa and Rāma, they lost consciousness out of anguish.

19Tormented by separation from the Lord, His parents gave up their lives at that very spot. My dear Parīkṣit, the wives of the Yādavas then climbed onto the funeral pyres, embracing their dead husbands.

20The wives of Lord Balarāma also entered the fire and embraced His body, and Vasudeva's wives entered his fire and embraced his body. The daughters-in-law of Lord Hari entered the funeral fires of their respective husbands, headed by Pradyumna. And Rukmiṇī and the other wives of Lord Kṛṣṇawhose hearts were completely absorbed in Himentered His fire.

21Arjuna felt great distress over separation from Lord Kṛṣṇa, his dearmost friend. But he consoled himself by remembering the transcendental words the Lord had sung to him.

22Arjuna then saw to it that the funeral rites were properly carried out for the dead, who had no remaining male family members. He executed the required ceremonies for each of the

Yadus, one after another.

23As soon as Dvārakā was abandoned by the Supreme Personality of Godhead, the ocean flooded it on all sides, O King, sparing only His palace.

24Lord Madhusūdana, the Supreme Personality of Godhead, is eternally present in Dvārakā. It is the most auspicious of all auspicious places, and merely remembering it destroys all contamination.

25Arjuna took the survivors of the Yadu dynastythe women, children and old mento Indraprastha, where he installed Vajra as ruler of the Yadus.

26Hearing from Arjuna of the death of their friend, my dear King, your grandfathers established you as the maintainer of the dynasty and left to prepare for their departure from this world.

27A person who with faith engages in chanting the glories of these various pastimes and incarnations of Viṣṇu, the Lord of lords, will gain liberation from all sins.

28The all-auspicious exploits of the all-attractive incarnations of Lord Śrī Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead, and also the pastimes He performed as a child, are described in this Śrīmad-Bhāgavatam and in other scriptures. Anyone who clearly chants these descriptions of His pastimes will attain transcendental loving service unto Lord Kṛṣṇa, who is the goal of all perfect sages.

## Canto 12: The Age of Deterioration

### SB 12.1: The Degraded Dynasties of Kali-yuga

1-2Śukadeva Gosvāmī said: The last king mentioned in our previous enumeration of the future rulers of the Māgadha dynasty was Puraṣjaya, who will take birth as the descendant of Bṛhadratha. Puraṣjaya's minister Śunaka will assassinate the king and install his own son, Pradyota, on the throne. The son of Pradyota will be Pālaka, his son will be Viśākhayūpa, and his son will be Rājaka.

3The son of Rājaka will be Nandivardhana, and thus in the Pradyotana dynasty there will be five kings, who will enjoy the earth for 138 years.

4Nandivardhana will have a son named Śiśunāga, and his son will be known as Kākavarṇa. The son of Kākavarṇa will be Kṣemadharmā, and the son of Kṣemadharmā will be Kṣetrajṣa.

5The son of Kṣetrajṣa will be Vidhisāra, and his son will be Ajātaśatru. Ajātaśatru will have a son named Darbhaka, and his son will be Ajaya.

6-8Ajaya will father a second Nandivardhana, whose son will be Mahānandi. O best of the Kurus, these ten kings of the Śiśunāga dynasty will rule the earth for a total of 360 years during the Age of Kali. My dear Parīkṣit, King Mahānandi will father a very powerful son in the womb of a śūdra woman. He will be known as Nanda and will be the master of millions of soldiers and fabulous wealth. He will wreak havoc among the kṣatriyas, and from that time onward virtually all kings will be irreligious śūdras.

9That lord of Mahāpadma, King Nanda, will rule over the entire earth just like a second Paraśurāma, and no one will challenge his authority.

10He will have eight sons, headed by Sumālya, who will control the earth as powerful kings for

one hundred years.

11A certain brāhmaṇa [Cāṇakya] will betray the trust of King Nanda and his eight sons and will destroy their dynasty. In their absence the Mauryas will rule the world as the Age of Kali continues.

12This brāhmaṇa will enthrone Candragupta, whose son will be named Vārisāra. The son of Vārisāra will be Aśokavardhana.

13Aśokavardhana will be followed by Suyaśā, whose son will be Saṅgata. His son will be Śāliśūka, Śāliśūka's son will be Somaśarmā, and Somaśarmā's son will be Śatadhanvā. His son will be known as Bṛhadratha.

14O best of the Kurus, these ten Maurya kings will rule the earth for 137 years of the Kali-yuga.

15-17My dear King Parīkṣit, Agnimitra will follow as king, and then Sujyeṣṭha. Sujyeṣṭha will be followed by Vasumitra, Bhadraka, and the son of Bhadraka, Pulinda. Then the son of Pulinda, named Ghoṣa, will rule, followed by Vajramitra, Bhāgavata and Devabhūti. In this way, O most eminent of the Kuru heroes, ten Śuṅga kings will rule over the earth for more than one hundred years. Then the earth will come under the subjugation of the kings of the Kāṇva dynasty, who will manifest very few good qualities.

18Vasudeva, an intelligent minister coming from the Kāṇva family, will kill the last of the Śuṅga kings, a lusty debauchee named Devabhūti, and assume rulership himself.

19The son of Vasudeva will be Bhūmitra, and his son will be Nārāyaṇa. These kings of the Kāṇva dynasty will rule the earth for 345 more years of the Kali-yuga.

20The last of the Kāṇvas, Suśarmā, will be murdered by his own servant, Balī, a low-class śūdra of the Andhra race. This most degraded Mahārāja Balī will have control over the earth for some time.

21-26The brother of Balī, named Kṛṣṇa, will become the next ruler of the earth. His son will be Śāntakarṇa, and his son will be Paurṇamāsa. The son of Paurṇamāsa will be Lambodara, who will father Mahārāja Cibilaka. From Cibilaka will come Meghasvāti, whose son will be Aṭamāna. The son of Aṭamāna will be Aniṣṭakarmā. His son will be Hāleya, and his son will be Talaka. The son of Talaka will be Purīṣabhīru, and following him Sunandana will become king. Sunandana will be followed by Cakora and the eight Bahus, among whom Śivasvāti will be a great subduer of enemies. The son of Śivasvāti will be Gomatī. His son will be Purīmān, whose son will be Medaśirā. His son will be Śivaskanda, and his son will be Yajṣaśrī. The son of Yajṣaśrī will be Vijaya, who will have two sons, Candravijṣa and Lomadhi. These thirty kings will enjoy sovereignty over the earth for a total of 456 years, O favorite son of the Kurus.

27Then will follow seven kings of the Ābhīra race from the city of Avabhṛti, and then ten Gardabhīs. After them, sixteen kings of the Kaṅkas will rule and will be known for their excessive greed.

28Eight Yavanas will then take power, followed by fourteen Turuṣkas, ten Guruṇḍas and eleven kings of the Maula dynasty.

29-31These Ābhīras, Gardabhīs and Kaṅkas will enjoy the earth for 1,099 years, and the Maulas will rule for 300 years. When all of them have died off there will appear in the city of Kilakilā a dynasty of kings consisting of Bhūtananda, Vaṅgiri, Śiśunandi, Śiśunandi's brother Yaśonandi,

and Pravīraka. These kings of Kilakilā will hold sway for a total of 106 years.

32-33The Kilakilās will be followed by their thirteen sons, the Bāhlikas, and after them King Puṣpamitra, his son Durmitra, seven Andhras, seven Kauśalas and also kings of the Vidūra and Niṣadha provinces will separately rule in different parts of the world.

34There will then appear a king of the Māgadhas named Viśvasphūrji, who will be like another Puraṣjaya. He will turn all the civilized classes into low-class, uncivilized men in the same category as the Pulindas, Yadus and Madrakas.

35Foolish King Viśvasphūrji will maintain all the citizens in ungodliness and will use his power to completely disrupt the kṣatriya order. From his capital of Padmavatī he will rule that part of the earth extending from the source of the Gaṅgā to Prayāga.

36At that time the brāhmaṇas of such provinces as Śaurāṣṭra, Avantī, Ābhīra, Śūra, Arbuda and Mālava will forget all their regulative principles, and the members of the royal order in these places will become no better than śūdras.

37The land along the Sindhu River, as well as the districts of Candrabhāgā, Kauntī and Kāśmīra, will be ruled by śūdras, fallen brāhmaṇas and meat-eaters. Having given up the path of Vedic civilization, they will have lost all spiritual strength.

38There will be many such uncivilized kings ruling at the same time, O King Parīkṣit, and they will all be uncharitable, possessed of fierce tempers, and great devotees of irreligion and falsity.

39-40These barbarians in the guise of kings will devour the citizenry, murdering innocent women, children, cows and brāhmaṇas and coveting the wives and property of other men. They will be erratic in their moods, have little strength of character and be very short-lived. Indeed, not purified by any Vedic rituals and lacking in the practice of regulative principles, they will be completely covered by the modes of passion and ignorance.

41The citizens governed by these low-class kings will imitate the character, behavior and speech of their rulers. Harassed by their leaders and by each other, they will all suffer ruination.

## SB 12.2: The Symptoms of Kali-yuga

1Śukadeva Gosvāmī said: Then, O King, religion, truthfulness, cleanliness, tolerance, mercy, duration of life, physical strength and memory will all diminish day by day because of the powerful influence of the Age of Kali.

2In Kali-yuga, wealth alone will be considered the sign of a man's good birth, proper behavior and fine qualities. And law and justice will be applied only on the basis of one's power.

3Men and women will live together merely because of superficial attraction, and success in business will depend on deceit. Womanliness and manliness will be judged according to one's expertise in sex, and a man will be known as a brāhmaṇa just by his wearing a thread.

4A person's spiritual position will be ascertained merely according to external symbols, and on that same basis people will change from one spiritual order to the next. A person's propriety will be seriously questioned if he does not earn a good living. And one who is very clever at juggling words will be considered a learned scholar.

5A person will be judged unholy if he does not have money, and hypocrisy will be accepted as virtue. Marriage will be arranged simply by verbal agreement, and a person will think he is fit

to appear in public if he has merely taken a bath.

6A sacred place will be taken to consist of no more than a reservoir of water located at a distance, and beauty will be thought to depend on one's hairstyle. Filling the belly will become the goal of life, and one who is audacious will be accepted as truthful. He who can maintain a family will be regarded as an expert man, and the principles of religion will be observed only for the sake of reputation.

7As the earth thus becomes crowded with a corrupt population, whoever among any of the social classes shows himself to be the strongest will gain political power.

8Losing their wives and properties to such avaricious and merciless rulers, who will behave no better than ordinary thieves, the citizens will flee to the mountains and forests.

9Harassed by famine and excessive taxes, people will resort to eating leaves, roots, flesh, wild honey, fruits, flowers and seeds. Struck by drought, they will become completely ruined.

10The citizens will suffer greatly from cold, wind, heat, rain and snow. They will be further tormented by quarrels, hunger, thirst, disease and severe anxiety.

11The maximum duration of life for human beings in Kali-yuga will become fifty years.

12-16By the time the Age of Kali ends, the bodies of all creatures will be greatly reduced in size, and the religious principles of followers of varṇāśrama will be ruined. The path of the Vedas will be completely forgotten in human society, and so-called religion will be mostly atheistic. The kings will mostly be thieves, the occupations of men will be stealing, lying and needless violence, and all the social classes will be reduced to the lowest level of śūdras. Cows will be like goats, spiritual hermitages will be no different from mundane houses, and family ties will extend no further than the immediate bonds of marriage. Most plants and herbs will be tiny, and all trees will appear like dwarf śamī trees. Clouds will be full of lightning, homes will be devoid of piety, and all human beings will have become like asses. At that time, the Supreme Personality of Godhead will appear on the earth. Acting with the power of pure spiritual goodness, He will rescue eternal religion.

17Lord Viṣṇuthe Supreme Personality of Godhead, the spiritual master of all moving and nonmoving living beings, and the Supreme Soul of alltakes birth to protect the principles of religion and to relieve His saintly devotees from the reactions of material work.

18Lord Kalki will appear in the home of the most eminent brāhmaṇa of Śambhala village, the great soul Viṣṇuyaśā.

19-20Lord Kalki, the Lord of the universe, will mount His swift horse Devadatta and, sword in hand, travel over the earth exhibiting His eight mystic opulences and eight special qualities of Godhead. Displaying His unequaled effulgence and riding with great speed, He will kill by the millions those thieves who have dared dress as kings.

21After all the impostor kings have been killed, the residents of the cities and towns will feel the breezes carrying the most sacred fragrance of the sandalwood paste and other decorations of Lord Vāsudeva, and their minds will thereby become transcendentally pure.

22When Lord Vāsudeva, the Supreme Personality of Godhead, appears in their hearts in His transcendental form of goodness, the remaining citizens will abundantly repopulate the earth.

23When the Supreme Lord has appeared on earth as Kalki, the maintainer of religion, Satya-yuga will begin, and human society will bring forth progeny in the mode of goodness.

24When the moon, the sun and Bṛhaspatī are together in the constellation Karkaṭa, and all three enter simultaneously into the lunar mansion Puṣyāat that exact moment the age of Satya, or Kṛta, will begin.

25Thus I have described all the kingspast, present and futurewho belong to the dynasties of the sun and the moon.

26From your birth up to the coronation of King Nanda, 1,150 years will pass.

27-28Of the seven stars forming the constellation of the seven sages, Pulaha and Kratu are the first to rise in the night sky. If a line running north and south were drawn through their midpoint, whichever of the lunar mansions this line passes through is said to be the ruling asterism of the constellation for that time. The Seven Sages will remain connected with that particular lunar mansion for one hundred human years. Currently, during your lifetime, they are situated in the nakṣatra called Maghā.

29The Supreme Lord, Viṣṇu, is brilliant like the sun and is known as Kṛṣṇa. When He returned to the spiritual sky, Kali entered this world, and people then began to take pleasure in sinful activities.

30As long as Lord Śrī Kṛṣṇa, the husband of the goddess of fortune, touched the earth with His lotus feet, Kali was powerless to subdue this planet.

31When the constellation of the seven sages is passing through the lunar mansion Maghā, the Age of Kali begins. It comprises twelve hundred years of the demigods.

32When the great sages of the Saptarṣi constellation pass from Maghā to Pūrvāsāḍhā, Kali will have his full strength, beginning from King Nanda and his dynasty.

33Those who scientifically understand the past declare that on the very day that Lord Śrī Kṛṣṇa departed for the spiritual world, the influence of the Age of Kali began.

34After the one thousand celestial years of Kali-yuga, the Satya-yuga will manifest again. At that time the minds of all men will become self-effulgent.

35Thus I have described the royal dynasty of Manu, as it is known on this earth. One can similarly study the history of the vaiśyas, śūdras and brāhmaṇas living in the various ages.

36These personalities, who were great souls, are now known only by their names. They exist only in accounts from the past, and only their fame remains on the earth.

37Devāpi, the brother of Mahārāja Śāntanu, and Maru, the descendant of Ikṣvāku, both possess great mystic strength and are living even now in the village of Kalāpa.

38At the end of the Age of Kali, these two kings, having received instruction directly from the Supreme Personality of Godhead, Vāsudeva, will return to human society and reestablish the eternal religion of man, characterized by the divisions of varṇa and āśrama, just as it was before.

39The cycle of four agesSatya, Tretā, Dvāpara and Kalicontinues perpetually among living beings on this earth, repeating the same general sequence of events.

40My dear King Parīkṣit, all these kings I have described, as well as all other human beings, come to this earth and stake their claims, but ultimately they all must give up this world and meet their destruction.

41Even though a person's body may now have the designation "king," in the end its name will be "worms," "stool" or "ashes." What can a person who injures other living beings for the sake of his body know about his own self-interest, since his activities are simply leading him to hell?

42[The materialistic king thinks:] "This unbounded earth was held by my predecessors and is now under my sovereignty. How can I arrange for it to remain in the hands of my sons, grandsons and other descendants?"

43Although the foolish accept the body made of earth, water and fire as "me" and this earth as "mine," in every case they have ultimately abandoned both their body and the earth and passed away into oblivion.

44My dear King Parīkṣit, all these kings who tried to enjoy the earth by their strength were reduced by the force of time to nothing more than historical accounts.

## SB 12.3: The Bhūmi-gītā

1Śukadeva Gosvāmī said: Seeing the kings of this earth busy trying to conquer her, the earth herself laughed. She said: "Just see how these kings, who are actually playthings in the hands of death, are desiring to conquer me.

2"Great rulers of men, even those who are learned, meet frustration and failure because of material lust. Driven by lust, these kings place great hope and faith in the dead lump of flesh called the body, even though the material frame is as fleeting as bubbles of foam on water.

3-4"Kings and politicians imagine: 'First I will conquer my senses and mind; then I will subdue my chief ministers and rid myself of the thorn-pricks of my advisors, citizens, friends and relatives, as well as the keepers of my elephants. In this way I will gradually conquer the entire earth.' Because the hearts of these leaders are bound by great expectations, they fail to see death waiting nearby.

5"After conquering all the land on my surface, these proud kings forcibly enter the ocean to conquer the sea itself. What is the use of their self-control, which is aimed at political exploitation? The actual goal of self-control is spiritual liberation."

6O best of the Kurus, the earth continued as follows: "Although in the past great men and their descendants have left me, departing from this world in the same helpless way they came into it, even today foolish men are trying to conquer me.

7"For the sake of conquering me, materialistic persons fight one another. Fathers oppose their sons, and brothers fight one another, because their hearts are bound to possessing political power.

8"Political leaders challenge one another: 'All this land is mine! It's not yours, you fool!' Thus they attack one another and die.

9-13"Such kings as Pṛthu, Purūravā, Gādhi, Nahuṣa, Bharata, Kārtavīrya Arjuna, Māndhātā, Sagara, Rāma, Khaṭvāṅga, Dhundhuhā, Raghu, Tṛṇabindu, Yayāti, Śaryāti, Śantanu, Gaya, Bhagīratha, Kuvalayāśva, Kakutstha, Naiṣadha, Nṛga, Hiraṇyakaśipu, Vṛtra, Rāvaṇa, who made the whole world lament, Namuci, Śambara, Bhauma, Hiraṇyākṣa and Tāraka, as well as many other demons and kings who possessed great powers of control over others, were all full of knowledge, heroic, all-conquering and unconquerable. Nevertheless, O almighty Lord, although they lived their lives intensely trying to possess me, these kings were subject to the passage of time, which reduced them all to mere historical accounts. None of them could permanently establish their rule."

14Śukadeva Gosvāmī said: O mighty Parīkṣit, I have related to you the narrations of all these great kings, who spread their fame throughout the world and then departed. My real purpose was to teach transcendental knowledge and renunciation. Stories of kings lend power and opulence to these narrations but do not in themselves constitute the ultimate aspect of knowledge.

15The person who desires pure devotional service to Lord Kṛṣṇa should hear the narrations of Lord Uttamaḥśloka's glorious qualities, the constant chanting of which destroys everything inauspicious. The devotee should engage in such listening in regular daily assemblies and should also continue his hearing throughout the day.

16King Parīkṣit said: My lord, how can persons living in the Age of Kali rid themselves of the cumulative contamination of this age? O great sage, please explain this to me.

17Please explain the different ages of universal history, the special qualities of each age, the duration of cosmic maintenance and destruction, and the movement of time, which is the direct representation of the Supreme Soul, the Personality of Godhead, Lord Viṣṇu.

18Śukadeva Gosvāmī said: My dear King, in the beginning, during Satya-yuga, the age of truth, religion is present with all four of its legs intact and is carefully maintained by the people of that age. These four legs of powerful religion are truthfulness, mercy, austerity and charity.

19The people of Satya-yuga are for the most part self-satisfied, merciful, friendly to all, peaceful, sober and tolerant. They take their pleasure from within, see all things equally and always endeavor diligently for spiritual perfection.

20In Tretā-yuga each leg of religion is gradually reduced by one quarter by the influence of the four pillars of irreligionlying, violence, dissatisfaction and quarrel.

21In the Tretā age people are devoted to ritual performances and severe austerities. They are not excessively violent or very lusty after sensual pleasure. Their interest lies primarily in religiosity, economic development and regulated sense gratification, and they achieve prosperity by following the prescriptions of the three Vedas. Although in this age society evolves into four separate classes, O King, most people are brāhmaṇas.

22In Dvāpara-yuga the religious qualities of austerity, truth, mercy and charity are reduced to one half by their irreligious counterpartsdissatisfaction, untruth, violence and enmity.

23In the Dvāpara age people are interested in glory and are very noble. They devote themselves to the study of the Vedas, possess great opulence, support large families and enjoy life with vigor. Of the four classes, the kṣatriyas and brāhmaṇas are most numerous.

24In the Age of Kali only one fourth of the religious principles remains. That last remnant will continuously be decreased by the ever-increasing principles of irreligion and will finally be destroyed.

25In the Kali age people tend to be greedy, ill-behaved and merciless, and they fight one another without good reason. Unfortunate and obsessed with material desires, the people of Kali-yuga are almost all śūdras and barbarians.

26The material modesgoodness, passion and ignorancewhose permutations are observed within a person's mind, are set into motion by the power of time.

27When the mind, intelligence and senses are solidly fixed in the mode of goodness, that time should be understood as Satya-yuga, the age of truth. People then take pleasure in knowledge

and austerity.

28O most intelligent one, when the conditioned souls are devoted to their duties but have ulterior motives and seek personal prestige, you should understand such a situation to be the age of Tretā, in which the functions of passion are prominent.

29When greed, dissatisfaction, false pride, hypocrisy and envy become prominent, along with attraction for selfish activities, such a time is the age of Dvāpara, dominated by the mixed modes of passion and ignorance.

30When there is a predominance of cheating, lying, sloth, sleepiness, violence, depression, lamentation, bewilderment, fear and poverty, that age is Kali, the age of the mode of ignorance.

31Because of the bad qualities of the Age of Kali, human beings will become shortsighted, unfortunate, gluttonous, lustful and poverty-stricken. The women, becoming unchaste, will freely wander from one man to the next.

32Cities will be dominated by thieves, the Vedas will be contaminated by speculative interpretations of atheists, political leaders will virtually consume the citizens, and the so-called priests and intellectuals will be devotees of their bellies and genitals.

33The brahmacārīs will fail to execute their vows and become generally unclean, the householders will become beggars, the vānaprasthas will live in the villages, and the sannyāsīs will become greedy for wealth.

34Women will become much smaller in size, and they will eat too much, have more children than they can properly take care of, and lose all shyness. They will always speak harshly and will exhibit qualities of thievery, deceit and unrestrained audacity.

35Businessmen will engage in petty commerce and earn their money by cheating. Even when there is no emergency, people will consider any degraded occupation quite acceptable.

36Servants will abandon a master who has lost his wealth, even if that master is a saintly person of exemplary character. Masters will abandon an incapacitated servant, even if that servant has been in the family for generations. Cows will be abandoned or killed when they stop giving milk.

37In Kali-yuga men will be wretched and controlled by women. They will reject their fathers, brothers, other relatives and friends and will instead associate with the sisters and brothers of their wives. Thus their conception of friendship will be based exclusively on sexual ties.

38Uncultured men will accept charity on behalf of the Lord and will earn their livelihood by making a show of austerity and wearing a mendicant's dress. Those who know nothing about religion will mount a high seat and presume to speak on religious principles.

39-40In the Age of Kali, people's minds will always be agitated. They will become emaciated by famine and taxation, my dear King, and will always be disturbed by fear of drought. They will lack adequate clothing, food and drink, will be unable to properly rest, have sex or bathe themselves, and will have no ornaments to decorate their bodies. In fact, the people of Kali-yuga will gradually come to appear like ghostly, haunted creatures.

41In Kali-yuga men will develop hatred for each other even over a few coins. Giving up all friendly relations, they will be ready to lose their own lives and kill even their own relatives.

42Men will no longer protect their elderly parents, their children or their respectable wives. Thoroughly degraded, they will care only to satisfy their own bellies and genitals.

43O King, in the Age of Kali people's intelligence will be diverted by atheism, and they will almost never offer sacrifice to the Supreme Personality of Godhead, who is the supreme spiritual master of the universe. Although the great personalities who control the three worlds all bow down to the lotus feet of the Supreme Lord, the petty and miserable human beings of this age will not do so.

44Terrified, about to die, a man collapses on his bed. Although his voice is faltering and he is hardly conscious of what he is saying, if he utters the holy name of the Supreme Lord he can be freed from the reaction of his fruitive work and achieve the supreme destination. But still people in the Age of Kali will not worship the Supreme Lord.

45In the Kali-yuga, objects, places and even individual personalities are all polluted. The almighty Personality of Godhead, however, can remove all such contamination from the life of one who fixes the Lord within his mind.

46If a person hears about, glorifies, meditates upon, worships or simply offers great respect to the Supreme Lord, who is situated within the heart, the Lord will remove from his mind the contamination accumulated during many thousands of lifetimes.

47Just as fire applied to gold removes any discoloration caused by traces of other metals, Lord Viṣṇu within the heart purifies the minds of the yogīs.

48By one's engaging in the processes of demigod worship, austerities, breath control, compassion, bathing in holy places, strict vows, charity and chanting of various mantras, one's mind cannot attain the same absolute purification as that achieved when the unlimited Personality of Godhead appears within one's heart.

49Therefore, O King, endeavor with all your might to fix the Supreme Lord Keśava within your heart. Maintain this concentration upon the Lord, and at the time of death you will certainly attain the supreme destination.

50My dear King, the Personality of Godhead is the ultimate controller. He is the Supreme Soul and the supreme shelter of all beings. When meditated upon by those about to die, He reveals to them their own eternal spiritual identity.

51My dear King, although Kali-yuga is an ocean of faults, there is still one good quality about this age: Simply by chanting the Hare Kṛṣṇa mahā-mantra, one can become free from material bondage and be promoted to the transcendental kingdom.

52Whatever result was obtained in Satya-yuga by meditating on Viṣṇu, in Tretā-yuga by performing sacrifices, and in Dvāpara-yuga by serving the Lord's lotus feet can be obtained in Kali-yuga simply by chanting the Hare Kṛṣṇa mahā-mantra.

### SB 12.4: The Four Categories of Universal Annihilation

1Śukadeva Gosvāmī said: My dear King, I have already described to you the measurements of time, beginning from the smallest fraction measured by the movement of a single atom up to the total life span of Lord Brahmā. I have also discussed the measurement of the different millennia of universal history. Now hear about the time of Brahmā's day and the process of annihilation.

2One thousand cycles of four ages constitute a single day of Brahmā, known as a kalpa. In that

period, O King, fourteen Manus come and go.

3After one day of Brahmā, annihilation occurs during his night, which is of the same duration. At that time all the three planetary systems are subject to destruction.

4This is called the naimittika, or occasional, annihilation, during which the original creator, Lord Nārāyaṇa, lies down upon the bed of Ananta Śeṣa and absorbs the entire universe within Himself while Lord Brahmā sleeps.

5When the two halves of the lifetime of Lord Brahmā, the most elevated created being, are complete, the seven basic elements of creation are annihilated.

6O King, upon the annihilation of the material elements, the universal egg, comprising the elemental amalgamation of creation, is confronted with destruction.

7As annihilation approaches, O King, there will be no rain upon the earth for one hundred years. Drought will lead to famine, and the starving populace will literally consume one another. The inhabitants of the earth, bewildered by the force of time, will gradually be destroyed.

8The sun in its annihilating form will drink up with its terrible rays all the water of the ocean, of living bodies and of the earth itself. But the devastating sun will not give any rain in return.

9Next the great fire of annihilation will flare up from the mouth of Lord Saṅkarṣaṇa. Carried by the mighty force of the wind, this fire will burn throughout the universe, scorching the lifeless cosmic shell.

10Burned from all sidesfrom above by the blazing sun and from below by the fire of Lord Saṅkarṣaṇathe universal sphere will glow like a burning ball of cow dung.

11A great and terrible wind of destruction will begin to blow for more than one hundred years, and the sky, covered with dust, will turn gray.

12After that, O King, groups of multicolored clouds will gather, roaring terribly with thunder, and will pour down floods of rain for one hundred years.

13At that time, the shell of the universe will fill up with water, forming a single cosmic ocean.

14As the entire universe is flooded, the water will rob the earth of its unique quality of fragrance, and the element earth, deprived of its distinguishing quality, will be dissolved.

15-19The element fire then seizes the taste from the element water, which, deprived of its unique quality, taste, merges into fire. Air seizes the form inherent in fire, and then fire, deprived of form, merges into air. The element ether seizes the quality of air, namely touch, and that air enters into ether. Then, O King, false ego in ignorance seizes sound, the quality of ether, after which ether merges into false ego. False ego in the mode of passion takes hold of the senses, and false ego in the mode of goodness absorbs the demigods. Then the total mahat-tattva seizes false ego along with its various functions, and that mahat is seized by the three basic modes of naturegoodness, passion and ignorance. My dear King Parīkṣit, these modes are further overtaken by the original unmanifest form of nature, impelled by time. That unmanifest nature is not subject to the six kinds of transformation caused by the influence of time. Rather, it has no beginning and no end. It is the unmanifest, eternal and infallible cause of creation.

20-21In the unmanifest stage of material nature, called pradhāna, there is no expression of words, no mind and no manifestation of the subtle elements beginning from the mahat, nor are

there the modes of goodness, passion and ignorance. There is no life air or intelligence, nor any senses or demigods. There is no definite arrangement of planetary systems, nor are there present the different stages of consciousnesssleep, wakefulness and deep sleep. There is no ether, water, earth, air, fire or sun. The situation is just like that of complete sleep, or of voidness. Indeed, it is indescribable. Authorities in spiritual science explain, however, that since pradhāna is the original substance, it is the actual basis of material creation.

22This is the annihilation called prākṛtika, during which the energies belonging to the Supreme Person and His unmanifest material nature, disassembled by the force of time, are deprived of their potencies and merge together totally.

23It is the Absolute Truth alone who manifests in the forms of intelligence, the senses and the objects of sense perception, and who is their ultimate basis. Whatever has a beginning and an end is insubstantial because of being an object perceived by limited senses and because of being nondifferent from its own cause.

24A lamp, the eye that views by the light of that lamp, and the visible form that is viewed are all basically nondifferent from the element fire. In the same way, intelligence, the senses and sense perceptions have no existence separate from the supreme reality, although that Absolute Truth remains totally distinct from them.

25The three states of intelligence are called waking consciousness, sleep and deep sleep. But, my dear King, the variegated experiences created for the pure living entity by these different states are nothing more than illusion.

26Just as clouds in the sky come into being and are then dispersed by the amalgamation and dissolution of their constituent elements, this material universe is created and destroyed within the Absolute Truth by the amalgamation and dissolution of its elemental, constituent parts.

27My dear King, it is stated [in the Vedānta-sūtra] that the ingredient cause that constitutes any manifested product in this universe can be perceived as a separate reality, just as the threads that make up a cloth can be perceived separately from their product.

28Anything experienced in terms of general cause and specific effect must be an illusion, because such causes and effects exist only relative to each other. Indeed, whatever has a beginning and an end is unreal.

29Although perceived, the transformation of even a single atom of material nature has no ultimate definition without reference to the Supreme Soul. To be accepted as factually existing, something must possess the same quality as pure spiriteternal, unchanging existence.

30There is no material duality in the Absolute Truth. The duality perceived by an ignorant person is like the difference between the sky contained in an empty pot and the sky outside the pot, or the difference between the reflection of the sun in water and the sun itself in the sky, or the difference between the vital air within one living body and that within another body.

31According to their different purposes, men utilize gold in various ways, and gold is therefore perceived in various forms. In the same way, the Supreme Personality of Godhead, who is inaccessible to material senses, is described in various terms, both ordinary and Vedic, by different types of men.

32Although a cloud is a product of the sun and is also made visible by the sun, it nevertheless creates darkness for the viewing eye, which is another partial expansion of the sun. Similarly, material false ego, a particular product of the Absolute Truth made visible by the Absolute

Truth, obstructs the individual soul, another partial expansion of the Absolute Truth, from realizing the Absolute Truth.

33When the cloud originally produced from the sun is torn apart, the eye can see the actual form of the sun. Similarly, when the spirit soul destroys his material covering of false ego by inquiring into the transcendental science, he regains his original spiritual awareness.

34My dear Parīkṣit, when the illusory false ego that binds the soul has been cut off with the sword of discriminating knowledge and one has developed realization of Lord Acyuta, the Supreme Soul, this is called the ātyantika, or ultimate, annihilation of material existence.

35Experts in the subtle workings of nature, O subduer of the enemy, have declared that there are continuous processes of creation and annihilation that all created beings, beginning with Brahmā, constantly undergo.

36All material entities undergo transformation and are constantly and swiftly eroded by the mighty currents of time. The various stages of existence that material things exhibit are the perpetual causes of their generation and annihilation.

37These stages of existence created by beginningless and endless time, the impersonal representative of the Supreme Lord, are not visible, just as the infinitesimal momentary changes of position of the planets in the sky cannot be directly seen.

38In this way the progress of time is described in terms of the four kinds of annihilationcontinuous, occasional, elemental and final.

39O best of the Kurus, I have related to you these narrations of the pastimes of Lord Nārāyaṇa, the creator of this world and the ultimate reservoir of all existence, presenting them to you only in brief summary. Even Lord Brahmā himself would be incapable of describing them entirely.

40For a person who is suffering in the fire of countless miseries and who desires to cross the insurmountable ocean of material existence, there is no suitable boat except that of cultivating devotion to the transcendental taste for the narrations of the Supreme Personality of Godhead's pastimes.

41Long ago this essential anthology of all the Purāṇas was spoken by the infallible Lord Nara-Nārāyaṇa Ṛṣi to Nārada, who then repeated it to Kṛṣṇa Dvaipāyana Vedavyāsa.

42My dear Mahārāja Parīkṣit, that great personality Śrīla Vyāsadeva taught me this same scripture, Śrīmad-Bhāgavatam, which is equal in stature to the four Vedas.

43O best of the Kurus, the same Sūta Gosvāmī who is sitting before us will speak this Bhāgavatam to the sages assembled in the great sacrifice at Naimiṣāraṇya. This he will do when questioned by the members of the assembly, headed by Śaunaka.

### SB 12.5: Śukadeva Gosvāmī's Final Instructions to Mahārāja Parīkṣit

1Śukadeva Gosvāmī said: This Śrīmad-Bhāgavatam has elaborately described in various narrations the Supreme Soul of all that bethe Personality of Godhead, Harifrom whose satisfaction Brahmā is born and from whose anger Rudra takes birth.

2O King, give up the animalistic mentality of thinking, "I am going to die." Unlike the body, you have not taken birth. There was not a time in the past when you did not exist, and you are not about to be destroyed.

3You will not take birth again in the form of your sons and grandsons, like a sprout taking birth from a seed and then generating a new seed. Rather, you are entirely distinct from the material body and its paraphernalia, in the same way that fire is distinct from its fuel.

4In a dream one can see his own head being cut off and thus understand that his actual self is standing apart from the dream experience. Similarly, while awake one can see that his body is a product of the five material elements. Therefore it is to be understood that the actual self, the soul, is distinct from the body it observes and is unborn and immortal.

5When a pot is broken, the portion of sky within the pot remains as the element sky, just as before. In the same way, when the gross and subtle bodies die, the living entity within resumes his spiritual identity.

6The material bodies, qualities and activities of the spirit soul are created by the material mind. That mind is itself created by the illusory potency of the Supreme Lord, and thus the soul assumes material existence.

7A lamp functions as such only by the combination of its fuel, vessel, wick and fire. Similarly, material life, based on the soul's identification with the body, is developed and destroyed by the workings of material goodness, passion and ignorance, which are the constituent elements of the body.

8The soul within the body is self-luminous and is separate from the visible gross body and invisible subtle body. It remains as the fixed basis of changing bodily existence, just as the ethereal sky is the unchanging background of material transformation. Therefore the soul is endless and without material comparison.

9My dear King, by constantly meditating upon the Supreme Lord, Vāsudeva, and by applying clear and logical intelligence, you should carefully consider your true self and how it is situated within the material body.

10The snake-bird Takṣaka, sent by the curse of the brāhmaṇa, will not burn your true self. The agents of death will never burn such a master of the self as you, for you have already conquered all dangers on your path back to Godhead.

11-12You should consider, "I am nondifferent from the Absolute Truth, the supreme abode, and that Absolute Truth, the supreme destination, is nondifferent from me." Thus resigning yourself to the Supreme Soul, who is free from all material misidentifications, you will not even notice the snake-bird Takṣaka when he approaches with his poison-filled fangs and bites your foot. Nor will you see your dying body or the material world around you, because you will have realized yourself to be separate from them.

13Beloved King Parīkṣit, I have narrated to you the topics you originally inquired aboutthe pastimes of Lord Hari, the Supreme Soul of the universe. Now, what more do you wish to hear?

### SB 12.6: Mahārāja Parīkṣit Passes Away

1Sūta Gosvāmī said: After hearing all that was narrated to him by the self-realized and equipoised Śukadeva, the son of Vyāsadeva, Mahārāja Parīkṣit humbly approached his lotus feet. Bowing his head down upon the sage's feet, the King, who had lived his entire life under the protection of Lord Viṣṇu, folded his hands in supplication and spoke as follows.

2Mahārāja Parīkṣit said: I have now achieved the purpose of my life, because a great and merciful soul like you has shown such kindness to me. You have personally spoken to me this narration of the Supreme Personality of Godhead, Hari, who is without beginning or end.

3I do not consider it at all amazing that great souls such as yourself, whose minds are always absorbed in the infallible Personality of Godhead, show mercy to the foolish conditioned souls, tormented as we are by the problems of material life.

4I have heard from you this Śrīmad-Bhāgavatam, which is the perfect summary of all the Purāṇas and which perfectly describes the Supreme Lord, Uttamaḥśloka.

5My lord, I now have no fear of Takṣaka or any other living being, or even of repeated deaths, because I have absorbed myself in that purely spiritual Absolute Truth, which you have revealed and which destroys all fear.

6O brāhmaṇa, please give me permission to resign my speech and the functions of all my senses unto Lord Adhokṣaja. Allow me to absorb my mind, purified of lusty desires, within Him and to thus give up my life.

7You have revealed to me that which is most auspicious, the supreme personal feature of the Lord. I am now fixed in knowledge and self-realization, and my ignorance has been eradicated.

8Sūta Gosvāmī said: Thus requested, the saintly son of Śrīla Vyāsadeva gave his permission to King Parīkṣit. Then, after being worshiped by the King and all the sages present, Śukadeva departed from that place.

9-10Mahārāja Parīkṣit then sat down on the bank of the Ganges, upon a seat made of darbha grass with the tips of its stalks facing east, and turned himself toward the north. Having attained the perfection of yoga, he experienced full self-realization and was free of material attachment and doubt. The saintly King settled his mind within his spiritual self by pure intelligence and proceeded to meditate upon the Supreme Absolute Truth. His life air ceased to move, and he became as stationary as a tree.

11O learned brāhmaṇas, the snake-bird Takṣaka, who had been sent by the angry son of a brāhmaṇa, was going toward the King to kill him when he saw Kaśyapa Muni on the path.

12Takṣaka flattered Kaśyapa by presenting him with valuable offerings and thereby stopped the sage, who was expert in counteracting poison, from protecting Mahārāja Parīkṣit. Then the snake-bird, who could assume any form he wished, disguised himself as a brāhmaṇa, approached the King and bit him.

13While living beings all over the universe looked on, the body of the great self-realized saint among kings was immediately burned to ashes by the fire of the snake's poison.

14There arose a terrible cry of lamentation in all directions on the earth and in the heavens, and all the demigods, demons, human beings and other creatures were astonished.

15Kettledrums sounded in the regions of the demigods, and the celestial Gandharvas and Apsarās sang. The demigods showered flowers and spoke words of praise.

16Hearing that his father had been fatally bitten by the snake-bird, Mahārāja Janamejaya became extremely angry and had brāhmaṇas perform a mighty sacrifice in which he offered all the snakes in the world into the sacrificial fire.

17When Takṣaka saw even the most powerful serpents being burned in the blazing fire of that snake sacrifice, he was overwhelmed with fear and approached Lord Indra for shelter.

18When King Janamejaya did not see Takṣaka entering his sacrificial fire, he said to the brāhmaṇas: Why is not Takṣaka, the lowest of all serpents, burning in this fire?

19The brāhmaṇas replied: O best of kings, the snake Takṣaka has not fallen into the fire because he is being protected by Indra, whom he has approached for shelter. Indra is holding him back from the fire.

20The intelligent King Janamejaya, hearing these words, replied to the priests: Then, my dear brāhmaṇas, why not make Takṣaka fall into the fire, along with his protector, Indra?

21Hearing this, the priests then chanted this mantra for offering Takṣaka together with Indra as an oblation into the sacrificial fire: O Takṣaka, fall immediately into this fire, together with Indra and his entire host of demigods!

22When Lord Indra, along with his airplane and Takṣaka, was suddenly thrown from his position by these insulting words of the brāhmaṇas, he became very disturbed.

23Bṛhaspati, the son of Aṅgirā Muni, seeing Indra falling from the sky in his airplane along with Takṣaka, approached King Janamejaya and spoke to him as follows.

24O King among men, it is not fitting that this king of snakes meet death at your hands, for he has drunk the nectar of the immortal demigods. Consequently he is not subject to the ordinary symptoms of old age and death.

25The life and death of an embodied soul and his destination in the next life are all caused by himself through his own activity. Therefore, O King, no other agent is actually responsible for creating one's happiness and distress.

26When a conditioned soul is killed by snakes, thieves, fire, lightning, hunger, disease or anything else, he is experiencing the reaction to his own past work.

27Therefore, my dear King, please stop this sacrificial performance, which was initiated with the intent of doing harm to others. Many innocent snakes have already been burned to death. Indeed, all persons must suffer the unforeseen consequences of their past activities.

28Sūta Gosvāmī continued: Advised in this manner, Mahārāja Janamejaya replied, "So be it." Honoring the words of the great sage, he desisted from performing the snake sacrifice and worshiped Bṛhaspati, the most eloquent of sages.

29This is indeed the Supreme Lord Viṣṇu's illusory energy, which is unstoppable and difficult to perceive. Although the individual spirit souls are part and parcel of the Lord, through the influence of this illusory energy they are bewildered by their identification with various material bodies.

30-31But there exists a supreme reality, in which the illusory energy cannot fearlessly dominate, thinking, "I can control this person because he is deceitful." In that highest reality there are no illusory argumentative philosophies. Rather, there the true students of spiritual science constantly engage in authorized spiritual investigation. In that supreme reality there is no manifestation of the material mind, which functions in terms of alternating decision and doubt. Created material products, their subtle causes and the goals of enjoyment attained by their utilization do not exist there. Furthermore, in that supreme reality there is no conditioned spirit, covered by false ego and the three modes of nature. That reality excludes everything limited or limiting. One who is wise should therefore stop the waves of material life and enjoy within that Supreme Truth.

32Those who desire to give up all that is not essentially real move systematically, by negative discrimination of the extraneous, to the supreme position of Lord Viṣṇu. Giving up petty

materialism, they offer their love exclusively to the Absolute Truth within their hearts and embrace that highest truth in fixed meditation.

33Such devotees come to understand the supreme transcendental situation of the Personality of Godhead, Lord Viṣṇu, because they are no longer polluted by the concepts of "I" and "my," which are based on body and home.

34One should tolerate all insults and never fail to show proper respect to any person. Avoiding identification with the material body, one should not create enmity with anyone.

35I offer my obeisances to the Supreme Personality of Godhead, the invincible Lord Śrī Kṛṣṇa. Simply by meditating upon His lotus feet I have been able to study and appreciate this great literature.

36Śaunaka Ṛṣi said: O gentle Sūta, please narrate to us how Paila and the other greatly intelligent disciples of Śrīla Vyāsadeva, who are known as the standard authorities of Vedic wisdom, spoke and edited the Vedas.

37Sūta Gosvāmī said: O brāhmaṇa, first the subtle vibration of transcendental sound appeared from the sky of the heart of the most elevated Lord Brahmā, whose mind was perfectly fixed in spiritual realization. One can perceive this subtle vibration when one stops all external hearing.

38By worship of this subtle form of the Vedas, O brāhmaṇa, mystic sages cleanse their hearts of all contamination caused by impurity of substance, activity and doer, and thus they attain freedom from repeated birth and death.

39From that transcendental subtle vibration arose the oṁkāra composed of three sounds. The oṁkāra has unseen potencies and manifests automatically within a purified heart. It is the representation of the Absolute Truth in all three of His phasesthe Supreme Personality, the Supreme Soul and the supreme impersonal truth.

40-41This oṁkāra, ultimately nonmaterial and imperceptible, is heard by the Supersoul without His possessing material ears or any other material senses. The entire expanse of Vedic sound is elaborated from oṁkāra, which appears from the soul, within the sky of the heart. It is the direct designation of the self-originating Absolute Truth, the Supersoul, and is the secret essence and eternal seed of all Vedic hymns.

42Oṁkāra exhibited the three original sounds of the alphabetA, U and M. These three, O most eminent descendant of Bhṛgu, sustain all the different threefold aspects of material existence, including the three modes of nature, the names of the Ṛg, Yajur and Sāma Vedas, the goals known as the Bhūr, Bhuvar and Svar planetary systems, and the three functional platforms called waking consciousness, sleep and deep sleep.

43From that oṁkāra Lord Brahmā created all the sounds of the alphabetthe vowels, consonants, semivowels, sibilants and othersdistinguished by such features as long and short measure.

44All-powerful Brahmā made use of this collection of sounds to produce from his four faces the four Vedas, which appeared together with the sacred oṁkāra and the seven vyāhṛti invocations. His intention was to propagate the process of Vedic sacrifice according to the different functions performed by the priests of each of the four Vedas.

45Brahmā taught these Vedas to his sons, who were great sages among the brāhmaṇas and experts in the art of Vedic recitation. They in turn took the role of ācāryas and imparted the

Vedas to their own sons.

46In this way, throughout the cycles of four ages, generation after generation of disciplesall firmly fixed in their spiritual vowshave received these Vedas by disciplic succession. At the end of each Dvāpara-yuga the Vedas are edited into separate divisions by eminent sages.

47Observing that people in general were diminished in their life span, strength and intelligence by the influence of time, great sages took inspiration from the Personality of Godhead sitting within their hearts and systematically divided the Vedas.

48-49O brāhmaṇa, in the present age of Vaivasvata Manu, the leaders of the universe, led by Brahmā and Śiva, requested the Supreme Personality of Godhead, the protector of all the worlds, to save the principles of religion. O most fortunate Śaunaka, the almighty Lord, exhibiting a divine spark of a portion of His plenary portion, then appeared in the womb of Satyavatī as the son of Parāśara. In this form, named Kṛṣṇa Dvaipāyana Vyāsa, he divided the one Veda into four.

50Śrīla Vyāsadeva separated the mantras of the Ṛg, Atharva, Yajur and Sāma Vedas into four divisions, just as one sorts out a mixed collection of jewels into piles. Thus he composed four distinct Vedic literatures.

51The most powerful and intelligent Vyāsadeva called four of his disciples, O brāhmaṇa, and entrusted to each of them one of these four saṁhitās.

52-53Śrīla Vyāsadeva taught the first saṁhitā, the Ṛg Veda, to Paila and gave this collection the name Bahvṛca. To the sage Vaiśampāyana he spoke the collection of Yajur mantras named Nigada. He taught the Sāma Veda mantras, designated as the Chandoga-saṁhitā, to Jaimini, and he spoke the Atharva Veda to his dear disciple Sumantu.

54-56After dividing his saṁhitā into two parts, the wise Paila spoke it to Indrapramiti and Bāṣkala. Bāṣkala further divided his collection into four parts, O Bhārgava, and instructed them to his disciples Bodhya, Yājṣavalkya, Parāśara and Agnimitra. Indrapramiti, the self-controlled sage, taught his saṁhitā to the learned mystic Māṇḍūkeya, whose disciple Devamitra later passed down the divisions of the Ṛg Veda to Saubhari and others.

57The son of Māṇḍūkeya, named Śākalya, divided his own collection into five, entrusting one subdivision each to Vātsya, Mudgala, Śālīya, Gokhalya and Śiśira.

58The sage Jātūkarṇya was also a disciple of Śākalya, and after dividing the saṁhitā he received from Śākalya into three parts, he added a fourth section, a Vedic glossary. He taught one of these parts to each of four disciplesBalāka, the second Paila, Jābāla and Viraja.

59Bāṣkali assembled the Vālakhilya-saṁhitā, a collection from all the branches of the Ṛg Veda. This collection was received by Vālāyani, Bhajya and Kāśāra.

60Thus these various saṁhitās of the Ṛg Veda were maintained through disciplic succession by these saintly brāhmaṇas. Simply by hearing of this distribution of the Vedic hymns, one will be freed from all sins.

61The disciples of Vaiśampāyana became authorities in the Atharva Veda. They were known as the Carakas because they executed strict vows to free their guru from his sin of killing a brāhmaṇa.

62Once Yājṣavalkya, one of the disciples of Vaiśampāyana, said: O master, how much benefit

will be derived from the feeble endeavors of these weak disciples of yours? I will personally perform some outstanding penance.

63Addressed thus, the spiritual master Vaiśampāyana became angry and said: Go away from here! Enough of you, O disciple who insults brāhmaṇas! Furthermore, you must immediately give back everything I have taught you.

64-65Yājṣavalkya, the son of Devarāta, then vomited the mantras of the Yajur Veda and went away from there. The assembled disciples, looking greedily upon these yajur hymns, assumed the form of partridges and picked them all up. These divisions of the Yajur Veda therefore became known as the most beautiful Taittirīya-saṁhitā, the hymns collected by partridges [tittirāḥ].

66My dear brāhmaṇa Śaunaka, Yājṣavalkya then desired to find out new yajur-mantras unknown to even his spiritual master. With this in mind he offered attentive worship to the powerful lord of the sun.

67Śrī Yājṣavalkya said: I offer my respectful obeisances to the Supreme Personality of Godhead appearing as the sun. You are present as the controller of the four kinds of living entities, beginning from Brahmā and extending down to the blades of grass. Just as the sky is present both inside and outside every living being, you exist both within the hearts of all as the Supersoul and externally in the form of time. Just as the sky cannot be covered by the clouds present within it, you are never covered by any false material designation. By the flow of years, which are made up of the tiny fragments of time called kṣaṇas, lavas and nimeṣas, you alone maintain this world, drying up the waters and giving them back as rain.

68O glowing one, O powerful lord of the sun, you are the chief of all the demigods. I meditate with careful attention on your fiery globe, because for those who offer prayers to you three times daily according to the Vedic method passed down through authorized disciplic succession, you burn away all sinful activities, all consequent suffering and even the original seed of desire.

69You are personally present as the indwelling lord in the hearts of all moving and nonmoving beings, who depend completely on your shelter. Indeed, you animate their material minds, senses and vital airs to act.

70The world has been seized and swallowed by the python of darkness in its horrible mouth and has become unconscious, as if dead. But mercifully glancing upon the sleeping people of the world, you raise them up with the gift of sight. Thus you are most magnanimous. At the three sacred junctures of each day, you engage the pious in the path of ultimate good, inducing them to perform religious duties that situate them in their spiritual position.

71Just like an earthly king, you travel about everywhere spreading fear among the unholy as the powerful deities of the directions offer you in their folded palms lotus flowers and other respectful presentations.

72Therefore, my lord, I am prayerfully approaching your lotus feet, which are honored by the spiritual masters of the three worlds, because I hope to receive from you mantras of the Yajur Veda unknown to anyone else.

73Sūta Gosvāmī said: Satisfied by such glorification, the powerful sun-god assumed the form of a horse and presented to the sage Yājṣavalkya yajur-mantras previously unknown in human society.

74From these countless hundreds of mantras of the Yajur Veda, the powerful sage compiled fifteen new branches of Vedic literature. These became known as the Vājasaneyi-saṁhitā because they were produced from the hairs of the horse's mane, and they were accepted in disciplic succession by the followers of Kāṇva, Mādhyandina and other ṛṣis.

75Jaimini Ṛṣi, the authority of the Sāma Veda, had a son named Sumantu, and the son of Sumantu was Sutvān. The sage Jaimini spoke to each of them a different part of the Sāma-veda-saṁhitā.

76-77Sukarmā, another disciple of Jaimini, was a great scholar. He divided the mighty tree of the Sāma Veda into one thousand saṁhitās. Then, O brāhmaṇa, three disciples of SukarmāHiraṇyanābha, the son of Kuśala; Pauṣyaṣji; and Āvantya, who was very advanced in spiritual realizationtook charge of the sāma-mantras.

78The five hundred disciples of Pauṣyaṣji and Āvantya became known as the northern singers of the Sāma Veda, and in later times some of them also became known as eastern singers.

79Five other disciples of Pauṣyaṣji, namely Laugākṣi, Māṅgali, Kulya, Kuśīda and Kukṣi, each received one hundred saṁhitās.

80Kṛta, the disciple of Hiraṇyanābha, spoke twenty-four saṁhitās to his own disciples, and the remaining collections were passed down by the self-realized sage Āvantya.

## SB 12.7: The Purāṇic Literatures

1Sūta Gosvāmī said: Sumantu Ṛṣi, the authority on the Atharva Veda, taught his saṁhitā to his disciple Kabandha, who in turn spoke it to Pathya and Vedadarśa.

2Śauklāyani, Brahmabali, Modoṣa and Pippalāyani were disciples of Vedadarśa. Hear from me also the names of the disciples of Pathya. My dear brāhmaṇa, they are Kumuda, Śunaka and Jājali, all of whom knew the Atharva Veda very well.

3Babhru and Saindhavāyana, disciples of Śunaka, studied the two divisions of their spiritual master's compilation of the Atharva Veda. Saindhavāyana's disciple Sāvarṇa and disciples of other great sages also studied this edition of the Atharva Veda.

4Nakṣatrakalpa, Śāntikalpa, Kaśyapa, Āṅgirasa and others were also among the ācāryas of the Atharva Veda. Now, O sage, listen as I name the authorities on Purāṇic literature.

5Trayyāruṇi, Kaśyapa, Sāvarṇi, Akṛtavraṇa, Vaiśampāyana and Hārīta are the six masters of the Purāṇas.

6Each of them studied one of the six anthologies of the Purāṇas from my father, Romaharṣaṇa, who was a disciple of Śrīla Vyāsadeva. I became the disciple of these six authorities and thoroughly learned all their presentations of Purāṇic wisdom.

7Romaharṣaṇa, a disciple of Vedavyāsa, divided the Purāṇas into four basic compilations. The sage Kaśyapa and I, along with Sāvarṇi and Akṛtavraṇa, a disciple of Rāma, learned these four divisions.

8O Śaunaka, please hear with attention the characteristics of a Purāṇa, which have been defined by the most eminent learned brāhmaṇas in accordance with Vedic literature.

9-10O brāhmaṇa, authorities on the matter understand a Purāṇa to contain ten characteristic

topics: the creation of this universe, the subsequent creation of worlds and beings, the maintenance of all living beings, their sustenance, the rule of various Manus, the dynasties of great kings, the activities of such kings, annihilation, motivation and the supreme shelter. Other scholars state that the great Purāṇas deal with these ten topics, while lesser Purāṇas may deal with five.

11From the agitation of the original modes within the unmanifest material nature, the mahat-tattva arises. From the mahat-tattva comes the element false ego, which divides into three aspects. This threefold false ego further manifests as the subtle forms of perception, as the senses and as the gross sense objects. The generation of all these is called creation.

12The secondary creation, which exists by the mercy of the Lord, is the manifest amalgamation of the desires of the living entities. Just as a seed produces additional seeds, activities that promote material desires in the performer produce moving and nonmoving life forms.

13Vṛtti means the process of sustenance, by which the moving beings live upon the nonmoving. For a human, vṛtti specifically means acting for one's livelihood in a manner suited to his personal nature. Such action may be carried out either in pursuit of selfish desire or in accordance with the law of God.

14In each age, the infallible Lord appears in this world among the animals, human beings, sages and demigods. By His activities in these incarnations He protects the universe and kills the enemies of Vedic culture.

15In each reign of Manu, six types of personalities appear as manifestations of Lord Hari: the ruling Manu, the chief demigods, the sons of Manu, Indra, the great sages and the partial incarnations of the Supreme Personality of Godhead.

16Dynasties are lines of kings originating with Lord Brahmā and extending continuously through past, present and future. The accounts of such dynasties, especially of their most prominent members, constitute the subject of dynastic history.

17There are four types of cosmic annihilationoccasional, elemental, continuous and ultimateall of which are effected by the inherent potency of the Supreme Lord. Learned scholars have designated this topic dissolution.

18Out of ignorance the living being performs material activities and thereby becomes in one sense the cause of the creation, maintenance and destruction of the universe. Some authorities call the living being the personality underlying the material creation, while others say he is the unmanifest self.

19The Supreme Absolute Truth is present throughout all the stages of awarenesswaking consciousness, sleep and deep sleepthroughout all the phenomena manifested by the illusory energy, and within the functions of all living entities, and He also exists separate from all these. Thus situated in His own transcendence, He is the ultimate and unique shelter.

20Although a material object may assume various forms and names, its essential ingredient is always present as the basis of its existence. Similarly, both conjointly and separately, the Supreme Absolute Truth is always present with the created material body throughout its phases of existence, beginning with conception and ending with death.

21Either automatically or because of one's regulated spiritual practice, one's mind may stop functioning on the material platform of waking consciousness, sleep and deep sleep. Then one understands the Supreme Soul and withdraws from material endeavor.

22Sages expert in ancient histories have declared that the Purāṇas, according to their various characteristics, can be divided into eighteen major Purāṇas and eighteen secondary Purāṇas.

23-24The eighteen major Purāṇas are the Brahma, Padma, Viṣṇu, Śiva, Liṅga, Garuḍa, Nārada, Bhāgavata, Agni, Skanda, Bhaviṣya, Brahma-vaivarta, Mārkaṇḍeya, Vāmana, Varāha, Matsya, Kūrma and Brahmāṇḍa Purāṇas.

25I have thoroughly described to you, O brāhmaṇa, the expansion of the branches of the Vedas by the great sage Vyāsadeva, his disciples and the disciples of his disciples. One who listens to this narration will increase in spiritual strength.

## SB 12.8: Mārkaṇḍeya's Prayers to Nara-Nārāyaṇa Ṛṣi

1ŚrīŚaunaka said: O Sūta, may you live a long life! O saintly one, best of speakers, please continue speaking to us. Indeed, only you can show men the path out of the ignorance in which they are wandering.

2-5Authorities say that Mārkaṇḍeya Ṛṣi, the son of Mṛkaṇḍu, was an exceptionally long-lived sage who was the only survivor at the end of Brahmā's day, when the entire universe was merged in the flood of annihilation. But this same Mārkaṇḍeya Ṛṣi, the foremost descendant of Bhṛgu, took birth in my own family during the current day of Brahmā, and we have not yet seen any total annihilation in this day of Brahmā. Also, it is well known that Mārkaṇḍeya, while wandering helplessly in the great ocean of annihilation, saw in those fearful waters a wonderful personalityan infant boy lying alone within the fold of a banyan leaf. O Sūta, I am most bewildered and curious about this great sage, Mārkaṇḍeya Ṛṣi. O great yogī, you are universally accepted as the authority on all the Purāṇas. Therefore kindly dispel my confusion.

6Sūta Gosvāmī said: O great sage Śaunaka, your very question will help remove everyone's illusion, for it leads to the topics of Lord Nārāyaṇa, which cleanse away the contamination of this Kali age.

7-11After being purified by his father's performance of the prescribed rituals leading to Mārkaṇḍeya's brahminical initiation, Mārkaṇḍeya studied the Vedic hymns and strictly observed the regulative principles. He became advanced in austerity and Vedic knowledge and remained a lifelong celibate. Appearing most peaceful with his matted hair and his clothing made of bark, he furthered his spiritual progress by carrying the mendicant's waterpot, staff, sacred thread, brahmacārī belt, black deerskin, lotus-seed prayer beads and bundles of kuśa grass. At the sacred junctures of the day he regularly worshiped the Supreme Personality of Godhead in five formsthe sacrificial fire, the sun, his spiritual master, the brāhmaṇas and the Supersoul within his heart. Morning and evening he would go out begging, and upon returning he would present all the food he had collected to his spiritual master. Only when his spiritual master invited him would he silently take his one meal of the day; otherwise he would fast. Thus devoted to austerity and Vedic study, Mārkaṇḍeya Ṛṣi worshiped the supreme master of the senses, the Personality of Godhead, for countless millions of years, and in this way he conquered unconquerable death.

12Lord Brahmā, Bhṛgu Muni, Lord Śiva, Prajāpati Dakṣa, the great sons of Brahmā, and many others among the human beings, demigods, forefathers and ghostly spiritsall were astonished by the achievement of Mārkaṇḍeya Ṛṣi.

13In this way the devotional mystic Mārkaṇḍeya maintained rigid celibacy through penance, study of the Vedas and self-discipline. With his mind thus free of all disturbances, he turned it inward and meditated on the Supreme Personality of Godhead, who lies beyond the material

senses.

14While the mystic sage thus concentrated his mind by powerful yoga practice, the tremendous period of six lifetimes of Manu passed by.

15O brāhmaṇa, during the seventh reign of Manu, the current age, Lord Indra came to know of Mārkaṇḍeya's austerities and became fearful of his growing mystic potency. Thus he tried to impede the sage's penance.

16To ruin the sage's spiritual practice, Lord Indra sent Cupid, beautiful celestial singers, dancing girls, the season of spring and the sandalwood-scented breeze from the Malaya Hills, along with greed and intoxication personified.

17O most powerful Śaunaka, they went to Mārkaṇḍeya's hermitage, on the northern side of the Himālaya Mountains where the Puṣpabhadrā River passes by the famous peak Citrā.

18-20Groves of pious trees decorated the holy āśrama of Mārkaṇḍeya Ṛṣi, and many saintly brāhmaṇas lived there, enjoying the abundant pure, sacred ponds. The āśrama resounded with the buzzing of intoxicated bees and the cooing of excited cuckoos, while jubilant peacocks danced about. Indeed, many families of maddened birds crowded that hermitage. The springtime breeze sent by Lord Indra entered there, carrying cooling drops of spray from nearby waterfalls. Fragrant from the embrace of forest flowers, that breeze entered the hermitage and began evoking the lusty spirit of Cupid.

21Springtime then appeared in Mārkaṇḍeya's āśrama. Indeed, the evening sky, glowing with the light of the rising moon, became the very face of spring, and sprouts and fresh blossoms virtually covered the multitude of trees and creepers.

22Cupid, the master of many heavenly women, then came there holding his bow and arrows. He was followed by groups of Gandharvas playing musical instruments and singing.

23These servants of Indra found the sage sitting in meditation, having just offered his prescribed oblations into the sacrificial fire. His eyes closed in trance, he seemed invincible, like fire personified.

24The women danced before the sage, and the celestial singers sang to the charming accompaniment of drums, cymbals and vīṇās.

25While the son of passion [greed personified], spring and the other servants of Indra all tried to agitate Mārkaṇḍeya's mind, Cupid drew his five-headed arrow and fixed it upon his bow.

26-27The Apsarā Puṣjikasthalī made a show of playing with a number of toy balls. Her waist seemed weighed down by her heavy breasts, and the wreath of flowers in her hair became disheveled. As she ran about after the balls, glancing here and there, the belt of her thin garment loosened, and suddenly the wind blew her clothes away.

28Cupid, thinking he had conquered the sage, then shot his arrow. But all these attempts to seduce Mārkaṇḍeya proved futile, just like the useless endeavors of an atheist.

29O learned Śaunaka, while Cupid and his followers tried to harm the sage, they felt themselves being burned alive by his potency. Thus they stopped their mischief, just like children who have aroused a sleeping snake.

30O brāhmaṇa, the followers of Lord Indra had impudently attacked the saintly Mārkaṇḍeya, yet he did not succumb to any influence of false ego. For great souls such tolerance is not at all

surprising.

31The mighty King Indra was most astonished when he heard of the mystic prowess of the exalted sage Mārkaṇḍeya and saw how Cupid and his associates had become powerless in his presence.

32Desiring to bestow His mercy upon the saintly Mārkaṇḍeya, who had perfectly fixed his mind in self-realization through penance, Vedic study and observance of regulative principles, the Supreme Personality of Godhead personally appeared before the sage in the forms of Nara and Nārāyaṇa.

33-34One of Them was of a whitish complexion, the other blackish, and They both had four arms. Their eyes resembled the petals of blooming lotuses, and They wore garments of black deerskin and bark, along with the three-stranded sacred thread. In Their hands, which were most purifying, They carried the mendicant's waterpot, straight bamboo staff and lotus-seed prayer beads, as well as the all-purifying Vedas in the symbolic form of bundles of darbha grass. Their bearing was tall and Their yellow effulgence the color of radiant lightning. Appearing as austerity personified, They were being worshiped by the foremost demigods.

35These two sages, Nara and Nārāyaṇa, were the direct personal forms of the Supreme Lord. When Mārkaṇḍeya Ṛṣi saw Them, he immediately stood up and then with great respect offered Them obeisances by falling down flat on the ground like a stick.

36The ecstasy of seeing Them completely satisfied Mārkaṇḍeya's body, mind and senses and caused the hairs on his body to stand on end and his eyes to fill with tears. Overwhelmed, Mārkaṇḍeya found it difficult to look at Them.

37Standing with his hands folded in supplication and his head bowed in humility, Mārkaṇḍeya felt such eagerness that he imagined he was embracing the two Lords. In a voice choked with ecstasy, he repeatedly said, "I offer You my humble obeisances."

38He gave Them sitting places and washed Their feet, and then he worshiped Them with presentations of arghya, sandalwood pulp, fragrant oils, incense and flower garlands.

39Mārkaṇḍeya Ṛṣi once again bowed down at the lotus feet of those two most worshipable sages, who were sitting at ease, ready to bestow all mercy upon him. He then addressed Them as follows.

40Śrī Mārkaṇḍeya said: O Almighty Lord, how can I possibly describe You? You awaken the vital air, which then impels the mind, senses and power of speech to act. This is true for all ordinary conditioned souls and even for great demigods like Brahmā and Śiva. So it is certainly true for me. Nevertheless, You become the intimate friend of those who worship You.

41O Supreme Personality of Godhead, these two personal forms of Yours have appeared to bestow the ultimate benefit for the three worldsthe cessation of material misery and the conquest of death. My Lord, although You create this universe and then assume many transcendental forms to protect it, You also swallow it up, just like a spider who spins and later withdraws its web.

42Because You are the protector and the supreme controller of all moving and nonmoving beings, anyone who takes shelter of Your lotus feet can never be touched by the contamination of material work, material qualities or time. Great sages who have assimilated the essential meaning of the Vedas offer their prayers to You. To gain Your association, they bow down to You at every opportunity and constantly worship You and meditate upon You.

43My dear Lord, even Lord Brahmā, who enjoys his exalted position for the entire duration of the universe, fears the passage of time. Then what to speak of those whom Brahmā creates, the conditioned souls. They encounter fearful dangers at every step of their lives. I do not know of any relief from this fear except shelter at Your lotus feet, which are the very form of liberation.

44Therefore I worship Your lotus feet, having renounced my identification with the material body and everything else that covers my true self. These useless, insubstantial and temporary coverings are merely presumed to be separate from You, whose intelligence encompasses all truth. By attaining Youthe Supreme Godhead and the master of the soulone attains everything desirable.

45O my Lord, O supreme friend of the conditioned soul, although for the creation, maintenance and annihilation of this world You accept the modes of goodness, passion and ignorance, which constitute Your illusory potency, You specifically employ the mode of goodness to liberate the conditioned souls. The other two modes simply bring them suffering, illusion and fear.

46O Lord, because fearlessness, spiritual happiness and the kingdom of God are all achieved through the mode of pure goodness, Your devotees consider this mode, but never passion and ignorance, to be a direct manifestation of You, the Supreme Personality of Godhead. Intelligent persons thus worship Your beloved transcendental form, composed of pure goodness, along with the spiritual forms of Your pure devotees.

47I offer my humble obeisances to Him, the Supreme Personality of Godhead. He is the all-pervading and all-inclusive form of the universe, as well as its spiritual master. I bow down to Lord Nārāyaṇa, the supremely worshipable Deity appearing as a sage, and also to the saintly Nara, the best of human beings, who is fixed in perfect goodness, fully in control of his speech, and the propagator of the Vedic literatures.

48A materialist, his intelligence perverted by the action of his deceptive senses, cannot recognize You at all, although You are always present within his own senses and heart and also among the objects of his perception. Yet even though one's understanding has been covered by Your illusory potency, if one obtains Vedic knowledge from You, the supreme spiritual master of all, he can directly understand You.

49My dear Lord, the Vedic literatures alone reveal confidential knowledge of Your supreme personality, and thus even such great scholars as Lord Brahmā himself are bewildered in their attempt to understand You through empirical methods. Each philosopher understands You according to his particular speculative conclusions. I worship that Supreme Person, knowledge of whom is hidden by the bodily designations covering the conditioned soul's spiritual identity.

### SB 12.9: Mārkaṇḍeya Ṛṣi Sees the Illusory Potency of the Lord

1Sūta Gosvāmī said: The Supreme Lord Nārāyaṇa, the friend of Nara, was satisfied by the proper glorification offered by the intelligent sage Mārkaṇḍeya. Thus the Lord addressed that excellent descendant of Bhṛgu.

2The Supreme Personality of Godhead said: My dear Mārkaṇḍeya, you are indeed the best of all learned brāhmaṇas. You have perfected your life by practicing fixed meditation upon the Supreme Soul, as well as by focusing upon Me your undeviating devotional service, your austerities, your study of the Vedas and your strict adherence to regulative principles.

3We are perfectly satisfied with your practice of lifelong celibacy. Please choose whatever benediction you desire, since I can grant your wish. May you enjoy all good fortune.

4The sage said: O Lord of lords, all glories to You! O Lord Acyuta, You remove all distress for the devotees who surrender unto You. That you have allowed me to see You is all the benediction I want.

5Such demigods as Lord Brahmā achieved their exalted positions simply by seeing Your beautiful lotus feet after their minds had become mature in yoga practice. And now, my Lord, You have personally appeared before me.

6O lotus-eyed Lord, O crest jewel of renowned personalities, although I am satisfied simply by seeing You, I do wish to see Your illusory potency, by whose influence the entire world, together with its ruling demigods, considers reality to be materially variegated.

7Sūta Gosvāmī said: O wise Śaunaka, thus satisfied by Mārkaṇḍeya's praise and worship, the Supreme Personality of Godhead, smiling, replied, "So be it," and then departed for His hermitage at Badarikāśrama.

8-9Thinking always of his desire to see the Lord's illusory energy, the sage remained in his āśrama, meditating constantly upon the Lord within fire, the sun, the moon, water, the earth, air, lightning and his own heart and worshiping Him with paraphernalia conceived in his mind. But sometimes, overwhelmed by waves of love for the Lord, Mārkaṇḍeya would forget to perform his regular worship.

10O brāhmaṇa Śaunaka, best of the Bhṛgus, one day while Mārkaṇḍeya was performing his evening worship on the bank of the Puṣpabhadrā, a great wind suddenly arose.

11That wind created a terrible sound and brought in its wake fearsome clouds that were accompanied by lightning and roaring thunder and that poured down on all sides torrents of rain as heavy as wagon wheels.

12Then the four great oceans appeared on all sides, swallowing up the surface of the earth with their wind-tossed waves. In these oceans were terrible sea monsters, fearful whirlpools and ominous rumblings.

13The sage saw all the inhabitants of the universe, including himself, tormented within and without by the harsh winds, the bolts of lightning, and the great waves rising beyond the sky. As the whole earth flooded, he grew perplexed and fearful.

14Even as Mārkaṇḍeya looked on, the rain pouring down from the clouds filled the ocean more and more until that great sea, its waters violently whipped into terrifying waves by hurricanes, covered up all the earth's islands, mountains and continents.

15The water inundated the earth, outer space, heaven and the celestial region. Indeed, the entire expanse of the universe was flooded in all directions, and out of all its inhabitants only Mārkaṇḍeya remained. His matted hair scattered, the great sage wandered about alone in the water as if dumb and blind.

16Tormented by hunger and thirst, attacked by monstrous makaras and timiṅgila fish and battered by the wind and waves, he moved aimlessly through the infinite darkness into which he had fallen. As he grew increasingly exhausted, he lost all sense of direction and could not tell the sky from the earth.

17-18At times he was engulfed by the great whirlpools, sometimes he was beaten by the mighty waves, and at other times the aquatic monsters threatened to devour him as they attacked one another. Sometimes he felt lamentation, bewilderment, misery, happiness or fear,

and at other times he experienced such terrible illness and pain that he felt himself dying.

19Countless millions of years passed as Mārkaṇḍeya wandered about in that deluge, his mind bewildered by the illusory energy of Lord Viṣṇu, the Supreme Personality of Godhead.

20Once, while wandering in the water, the brāhmaṇa Mārkaṇḍeya discovered a small island, upon which stood a young banyan tree bearing blossoms and fruits.

21Upon a branch of the northeast portion of that tree he saw an infant boy lying within a leaf. The child's effulgence was swallowing up the darkness.

22-25The infant's dark-blue complexion was the color of a flawless emerald, His lotus face shone with a wealth of beauty, and His throat bore marks like the lines on a conchshell. He had a broad chest, a finely shaped nose, beautiful eyebrows, and lovely ears that resembled pomegranate flowers and that had inner folds like a conchshell's spirals. The corners of His eyes were reddish like the whorl of a lotus, and the effulgence of His corallike lips slightly reddened the nectarean, enchanting smile on His face. As He breathed, His splendid hair trembled and His deep navel became distorted by the moving folds of skin on His abdomen, which resembled a banyan leaf. The exalted brāhmaṇa watched with amazement as the infant took hold of one of His lotus feet with His graceful fingers, placed a toe within His mouth and began to suck.

26As Mārkaṇḍeya beheld the child, all his weariness vanished. Indeed, so great was his pleasure that the lotus of his heart, along with his lotus eyes, fully blossomed and the hairs on his body stood on end. Confused as to the identity of the wonderful infant, the sage approached Him.

27Just then the child inhaled, drawing Mārkaṇḍeya within His body like a mosquito. There the sage found the entire universe arrayed as it had been before its dissolution. Seeing this, Mārkaṇḍeya was most astonished and perplexed.

28-29The sage saw the entire universe: the sky, heavens and earth, the stars, mountains, oceans, great islands and continents, the expanses in every direction, the saintly and demoniac living beings, the forests, countries, rivers, cities and mines, the agricultural villages and cow pastures, and the occupational and spiritual activities of the various social divisions. He also saw the basic elements of creation along with all their by-products, as well as time itself, which regulates the progression of countless ages within the days of Brahmā. In addition, he saw everything else created for use in material life. All this he saw manifested before him as if it were real.

30He saw before him the Himālaya Mountains, the Puṣpabhadrā River, and his own hermitage, where he had had the audience of the sages Nara-Nārāyaṇa. Then, as Mārkaṇḍeya beheld the entire universe, the infant exhaled, expelling the sage from His body and casting him back into the ocean of dissolution.

31-32In that vast sea he again saw the banyan tree growing on the tiny island and the infant boy lying within the leaf. The child glanced at him from the corner of His eyes with a smile imbued with the nectar of love, and Mārkaṇḍeya took Him into his heart through his eyes. Greatly agitated, the sage ran to embrace the transcendental Personality of Godhead.

33At that moment the Supreme Personality of Godhead, who is the original master of all mysticism and who is hidden within everyone's heart, became invisible to the sage, just as the achievements of an incompetent person can suddenly vanish.

34After the Lord disappeared, O brāhmaṇa, the banyan tree, the great water and the dissolution of the universe all vanished as well, and in an instant Mārkaṇḍeya found himself back in his own hermitage, just as before.

### SB 12.10: Lord Śiva and Umā Glorify Mārkaṇḍeya Ṛṣi

1Sūta Gosvāmī said: The Supreme Lord Nārāyaṇa had arranged this opulent display of His bewildering potency. Mārkaṇḍeya Ṛṣi, having experienced it, took shelter of the Lord.

2Śrī Mārkaṇḍeya said: O Lord Hari, I take shelter of the soles of Your lotus feet, which bestow fearlessness upon all who surrender to them. Even the great demigods are bewildered by Your illusory energy, which appears to them in the guise of knowledge.

3Sūta Gosvāmī said: Lord Rudra, traveling in the sky on his bull and accompanied by his consort, Rudrāṇī, as well as his personal associates, observed Mārkaṇḍeya in trance.

4Goddess Umā, seeing the sage, addressed Lord Giriśa: My lord, just see this learned brāhmaṇa, his body, mind and senses motionless in trance.

5He is as calm as the waters of the ocean when the wind has ceased and the fish remain still. Therefore, my lord, since you bestow perfection on the performers of austerity, please award this sage the perfection that is obviously due him.

6Lord Śiva replied: Surely this saintly brāhmaṇa does not desire any benediction, not even liberation itself, for he has attained pure devotional service unto the inexhaustible Personality of Godhead.

7Still, my dear Bhavānī, let us talk with this saintly personality. After all, association with saintly devotees is man's highest achievement.

8Sūta Gosvāmī said: Having spoken thus, Lord Śaṅkarathe shelter of pure souls, master of all spiritual sciences and controller of all embodied living beingsapproached the sage.

9Because Mārkaṇḍeya's material mind had stopped functioning, the sage failed to notice that Lord Śiva and his wife, the controllers of the universe, had personally come to see him. Mārkaṇḍeya was so absorbed in meditation that he was unaware of either himself or the external world.

10Understanding the situation very well, the powerful Lord Śiva employed his mystic power to enter within the sky of Mārkaṇḍeya's heart, just as the wind passes through an opening.

11-13Śrī Mārkaṇḍeya saw Lord Śiva suddenly appear within his heart. Lord Śiva's golden hair resembled lightning, and he had three eyes, ten arms and a tall body that shone like the rising sun. He wore a tiger skin, and he carried a trident, a bow, arrows, a sword and a shield, along with prayer beads, a ḍamaru drum, a skull and an ax. Astonished, the sage came out of his trance and thought, "Who is this, and where has he come from?"

14Opening his eyes, the sage saw Lord Rudra, the spiritual master of the three worlds, together with Umā and Rudra's followers. Mārkaṇḍeya then offered his respectful obeisances by bowing his head.

15Mārkaṇḍeya worshiped Lord Śiva, along with Umā and Śiva's associates, by offering them words of welcome, sitting places, water for washing their feet, scented drinking water, fragrant oils, flower garlands and ārati lamps.

16Mārkaṇḍeya said: O mighty lord, what can I possibly do for you, who are fully satisfied by your own ecstasy? Indeed, by your mercy you satisfy this entire world.

17Again and again I offer my obeisances unto you, O all-auspicious transcendental personality. As the lord of goodness you give pleasure, in contact with the mode of passion you appear most fearful, and you also associate with the mode of ignorance.

18Sūta Gosvāmī said: Lord Śiva, the foremost demigod and the shelter of the saintly devotees, was satisfied by Mārkaṇḍeya's praise. Pleased, he smiled and addressed the sage.

19Lord Śiva said: Please ask me for some benediction, since among all givers of benedictions, we threeBrahmā, Viṣṇu and Iare the best. Seeing us never goes in vain, because simply by seeing us a mortal achieves immortality.

20-21The inhabitants and ruling demigods of all planets, along with Lord Brahmā, the Supreme Lord Hari and I, glorify, worship and assist those brāhmaṇas who are saintly, always peaceful, free of material attachment, compassionate to all living beings, purely devoted to us, devoid of hatred and endowed with equal vision.

22These devotees do not differentiate between Lord Viṣṇu, Lord Brahmā and me, nor do they differentiate between themselves and other living beings. Therefore, because you are this kind of saintly devotee, we worship you.

23Mere bodies of water do not constitute holy places, nor are lifeless statues of the demigods actual worshipable deities. Because external vision fails to appreciate the higher essence of the holy rivers and the demigods, these purify only after a considerable time. But devotees like you purify immediately, just by being seen.

24By meditating upon the Supreme Soul, performing austerities, engaging in Vedic study and following regulative principles, the brāhmaṇas sustain within themselves the three Vedas, which are nondifferent from Lord Viṣṇu, Lord Brahmā and me. Therefore I offer my obeisances unto the brāhmaṇas.

25Even the worst sinners and social outcastes are purified just by hearing about or seeing personalities like you. Imagine, then, how purified they become by directly speaking with you.

26Sūta Gosvāmī said: Drinking with his ears Lord Śiva's nectarean words, full of the confidential essence of religion, Mārkaṇḍeya Ṛṣi could not be satiated.

27Mārkaṇḍeya, having been forced by Lord Viṣṇu's illusory energy to wander about for a long time in the water of dissolution, had become extremely exhausted. But Lord Śiva's words of nectar vanquished his accumulated suffering. Thus he addressed Lord Śiva.

28Śrī Mārkaṇḍeya said: It is indeed most difficult for embodied souls to understand the pastimes of the universal controllers, for such lords bow down to and offer praise to the very living beings they rule.

29Generally it is to induce embodied souls to accept religious principles that the authorized teachers of religion exhibit ideal behavior while encouraging and praising the proper behavior of others.

30This apparent humility is simply a show of mercy. Such behavior of the Supreme Lord and His personal associates, which the Lord effects by His own bewildering potency, does not spoil His power any more than a magician's powers are diminished by his exhibition of tricks.

31-32I offer my obeisances to that Supreme Personality of Godhead, who has created this entire universe simply by His desire and then entered into it as the Supersoul. By making the modes of nature act, He seems to be the direct creator of this world, just as a dreamer seems to be acting within his dream. He is the owner and ultimate controller of the three modes of nature, yet He remains alone and pure, without any equal. He is the supreme spiritual master of all, the original personal form of the Absolute Truth.

33O all-pervading lord, since I have received the benediction of seeing you, what other benediction can I ask for? Simply by seeing you, a person fulfills all his desires and can achieve anything imaginable.

34But I do request one benediction from you, who are full of all perfection and able to shower down the fulfillment of all desires. I ask to have unfailing devotion for the Supreme Personality of Godhead and for His dedicated devotees, especially you.

35Sūta Gosvāmī said: Thus worshiped and glorified by the eloquent statements of the sage Mārkaṇḍeya, Lord Śarva [Śiva], encouraged by his consort, replied to him as follows.

36O great sage, because you are devoted to Lord Adhokṣaja, all your desires will be fulfilled. Until the very end of this creation cycle, you will enjoy pious fame and freedom from old age and death.

37O brāhmaṇa, may you have perfect knowledge of past, present and future, along with transcendental realization of the Supreme, enriched by renunciation. You have the brilliance of an ideal brāhmaṇa, and thus may you achieve the post of spiritual master of the Purāṇas.

38Sūta Gosvāmī said: Having thus granted Mārkaṇḍeya Ṛṣi benedictions, Lord Śiva went on his way, continuing to describe to goddess Devī the accomplishments of the sage and the direct exhibition of the Lord's illusory power that he had experienced.

39Mārkaṇḍeya Ṛṣi, the best of the descendants of Bhṛgu, is glorious because of his achievement of perfection in mystic yoga. Even today he travels about this world, fully absorbed in unalloyed devotion for the Supreme Personality of Godhead.

40I have thus narrated to you the activities of the highly intelligent sage Mārkaṇḍeya, especially how he experienced the amazing power of the Supreme Lord's illusory energy.

41Although this event was unique and unprecedented, some unintelligent persons compare it to the cycle of illusory material existence the Supreme Lord has created for the conditioned soulsan endless cycle that has been continuing since time immemorial.

42O best of the Bhṛgus, this account concerning Mārkaṇḍeya Ṛṣi conveys the transcendental potency of the Supreme Lord. Anyone who properly narrates or hears it will never again undergo material existence, which is based on the desire to perform fruitive activities.

### SB 12.11: Summary Description of the Mahāpuruṣa

1ŚrīŚaunaka said: O Sūta, you are the best of learned men and a great devotee of the Supreme Lord. Therefore we now inquire from you about the definitive conclusion of all tantra scriptures.

2-3All good fortune to you! Please explain to us, who are very eager to learn, the process of kriyā-yoga practiced through regulated worship of the transcendental Lord, the husband of the goddess of fortune. Please also explain how the Lord's devotees conceive of His limbs, associates, weapons and ornaments in terms of particular material representations. By expertly

worshiping the Supreme Lord, a mortal can attain immortality.

4Sūta Gosvāmī said: Offering obeisances to my spiritual masters, I shall repeat to you the description of the opulences of Lord Viṣṇu given in the Vedas and tantras by great authorities, beginning from lotus-born Brahmā.

5The universal form [virāṭ] of the Personality of Godhead includes the nine basic elements of creation, starting with the unmanifest nature, and their subsequent transformations. Once this universal form is instilled with consciousness, the three planetary systems become visible within it.

6-8This is the representation of the Supreme Lord as the universal person, in which the earth is His feet, the sky His navel, the sun His eyes, the wind His nostrils, the demigod of procreation His genitals, death His anus and the moon His mind. The heavenly planets are His head, the directions His ears, and the demigods protecting the various planets His many arms. The god of death is His eyebrows, shame His lower lip, greed His upper lip, delusion His smile, and moonshine His teeth, while the trees are the almighty Puruṣa's bodily hairs, and the clouds the hair on His head.

9Just as one can determine the dimensions of an ordinary person of this world by measuring his various limbs, one can determine the dimensions of the Mahāpuruṣa by measuring the arrangement of the planetary systems within His universal form.

10Upon His chest the almighty, unborn Personality of Godhead bears the Kaustubha gem, which represents the pure spirit soul, along with the Śrīvatsa mark, which is the direct manifestation of this gem's expansive effulgence.

11-12His flower garland is His material energy, comprising various combinations of the modes of nature. His yellow garment is the Vedic meters, and His sacred thread the syllable om composed of three sounds. In the form of His two shark-shaped earrings, the Lord carries the processes of Sāṅkhya and yoga, and His crown, bestowing fearlessness on the inhabitants of all the worlds, is the supreme position of Brahmaloka.

13Ananta, the Lord's sitting place, is the unmanifest phase of material nature, and the Lord's lotus throne is the mode of goodness, endowed with religion and knowledge.

14-15The club the Lord carries is the chief element, prāṇa, incorporating the potencies of sensory, mental and physical strength. His excellent conchshell is the element water, His Sudarśana disc the element fire, and His sword, pure as the sky, the element ether. His shield embodies the mode of ignorance, His bow, named Śārṅga, time, and His arrow-filled quiver the working sensory organs.

16His arrows are said to be the senses, and His chariot is the active, forceful mind. His external appearance is the subtle objects of perception, and the gestures of His hands are the essence of all purposeful activity.

17The sun globe is the place where the Supreme Lord is worshiped, spiritual initiation is the means of purification for the spirit soul, and rendering devotional service to the Personality of Godhead is the process for eradicating all one's sinful reactions.

18Playfully carrying a lotus, which represents the various opulences designated by the word bhaga, the Supreme Lord accepts service from a pair of cāmara fans, which are religion and fame.

19O brāhmaṇas, the Lord's umbrella is His spiritual abode, Vaikuṇṭha, where there is no fear, and Garuḍa, who carries the Lord of sacrifice, is the threefold Veda.

20The goddess of fortune, Śrī, who never leaves the Lord's side, appears with Him in this world as the representation of His internal potency. Viṣvaksena, the chief among His personal associates, is known to be the personification of the Paṣcarātra and other tantras. And the Lord's eight doorkeepers, headed by Nanda, are His mystic perfections, beginning with aṇimā.

21Vāsudeva, Saṅkarṣaṇa, Pradyumna and Aniruddha are the names of the direct personal expansions of the Supreme Godhead, O brāhmaṇa Śaunaka.

22One can conceive of the Supreme Personality of Godhead in terms of awakened consciousness, sleep and deep sleepwhich function respectively through external objects, the mind and material intelligenceand also in terms of the fourth, transcendental level of consciousness, which is characterized by pure knowledge.

23The Supreme Personality of Godhead, Lord Hari, thus appears in four personal expansions, each exhibiting major limbs, minor limbs, weapons and ornaments. Through these distinct features, the Lord maintains the four phases of existence.

24O best of brāhmaṇas, He alone is the self-luminous, original source of the Vedas, perfect and complete in His own glory. By His material energy He creates, destroys and maintains this entire universe. Because He is the performer of various material functions, He is sometimes described as materially divided, yet He always remains transcendentally situated in pure knowledge. Those who are dedicated to Him in devotion can realize Him to be their true Soul.

25O Kṛṣṇa, O friend of Arjuna, O chief among the descendants of Vṛṣṇi, You are the destroyer of those political parties that are disturbing elements on this earth. Your prowess never deteriorates. You are the proprietor of the transcendental abode, and Your most sacred glories, which are sung by Vṛndāvana's cowherd men and women and their servants, bestow all auspiciousness just by being heard. O Lord, please protect Your devotees.

26Anyone who rises early in the morning and, with a purified mind fixed upon the Mahāpuruṣa, quietly chants this description of His characteristics will realize Him as the Supreme Absolute Truth residing within the heart.

27-28ŚrīŚaunaka said: Please describe to us, who have great faith in your words, the different sets of seven personal features and associates the sun-god exhibits during each month, along with their names and activities. The associates of the sun-god, who serve their lord, are personal expansions of the Supreme Personality of Godhead Hari in His feature as the presiding deity of the sun.

29Sūta Gosvāmī said: The sun travels among all the planets and thus regulates their movements. It has been created by Lord Viṣṇu, the Supreme Soul of all embodied beings, through His beginningless material energy.

30The sun-god, being nondifferent from Lord Hari, is the one soul of all the worlds and their original creator. He is the source of all the ritualistic activities prescribed in the Vedas and has been given many names by the Vedic sages.

31Being the source of the material energy, the Personality of Godhead Lord Hari in His expansion as the sun-god is described in nine aspects, O Śaunaka: the time, the place, the endeavor, the performer, the instrument, the specific ritual, the scripture, the paraphernalia of worship and the result to be achieved.

32The Supreme Personality of Godhead, manifesting His potency of time as the sun-god, travels about in each of the twelve months, beginning with Madhu, to regulate planetary motion within the universe. Traveling with the sun-god in each of the twelve months is a different set of six associates.

33My dear sage, Dhātā as the sun-god, Kṛtasthalī as the Apsarā, Heti as the Rākṣasa, Vāsuki as the Nāga, Rathakṛt as the Yakṣa, Pulastya as the sage and Tumburu as the Gandharva rule the month of Madhu.

34Aryamā as the sun-god, Pulaha as the sage, Athaujā as the Yakṣa, Praheti as the Rākṣasa, Puṣjikasthalī as the Apsarā, Nārada as the Gandharva and Kacchanīra as the Nāga rule the month of Mādhava.

35Mitra as the sun-god, Atri as the sage, Pauruṣeya as the Rākṣasa, Takṣaka as the Nāga, Menakā as the Apsarā, Hāhā as the Gandharva and Rathasvana as the Yakṣa rule the month of Śukra.

36Vasiṣṭha as the sage, Varuṇa as the sun-god, Rambhā as the Apsarā, Sahajanya as the Rākṣasa, Hūhū as the Gandharva, Śukra as the Nāga and Citrasvana as the Yakṣa rule the month of Śuci.

37Indra as the sun-god, Viśvāvasu as the Gandharva, Śrotā as the Yakṣa, Elāpatra as the Nāga, Aṅgirā as the sage, Pramlocā as the Apsarā and Varya as the Rākṣasa rule the month of Nabhas.

38Vivasvān as the sun-god, Ugrasena as the Gandharva, Vyāghra as the Rākṣasa, Āsāraṇa as the Yakṣa, Bhṛgu as the sage, Anumlocā as the Apsarā and Śaṅkhapāla as the Nāga rule the month of Nabhasya.

39Pūṣā as the sun-god, Dhanaṣjaya as the Nāga, Vāta as the Rākṣasa, Suṣeṇa as the Gandharva, Suruci as the Yakṣa, Ghṛtācī as the Apsarā and Gautama as the sage rule the month of Tapas.

40Ṛtu as the Yakṣa, Varcā as the Rākṣasa, Bharadvāja as the sage, Parjanya as the sun-god, Senajit as the Apsarā, Viśva as the Gandharva and Airāvata as the Nāga rule the month known as Tapasya.

41Aṁśu as the sun-god, Kaśyapa as the sage, Tārkṣya as the Yakṣa, Ṛtasena as the Gandharva, Urvaśī as the Apsarā, Vidyucchatru as the Rākṣasa and Mahāśaṅkha as the Nāga rule the month of Sahas.

42Bhaga as the sun-god, Sphūrja as the Rākṣasa, Ariṣṭanemi as the Gandharva, Ūrṇa as the Yakṣa, Āyur as the sage, Karkoṭaka as the Nāga and Pūrvacitti as the Apsarā rule the month of Puṣya.

43Tvaṣṭā as the sun-god; Jamadagni, the son of Ṛcīka, as the sage; Kambalāśva as the Nāga; Tilottamā as the Apsarā; Brahmāpeta as the Rākṣasa; Śatajit as the Yakṣa; and Dhṛtarāṣṭra as the Gandharva maintain the month of Iṣa.

44Viṣṇu as the sun-god, Aśvatara as the Nāga, Rambhā as the Apsarā, Sūryavarcā as the Gandharva, Satyajit as the Yakṣa, Viśvāmitra as the sage and Makhāpeta as the Rākṣasa rule the month of Ūrja.

45All these personalities are the opulent expansions of the Supreme Personality of Godhead, Viṣṇu, in the form of the sun-god. These deities take away all the sinful reactions of those who remember them each day at dawn and sunset.

46Thus, throughout the twelve months, the lord of the sun travels in all directions with his six types of associates, disseminating among the inhabitants of this universe purity of consciousness for both this life and the next.

47-48While the sages glorify the sun-god with the hymns of the Sāma, Ṛg and Yajur Vedas, which reveal his identity, the Gandharvas also sing his praises and the Apsarās dance before his chariot. The Nāgas arrange the chariot ropes and the Yakṣas harness the horses to the chariot, while the powerful Rākṣasas push from behind.

49Facing the chariot, the sixty thousand brāhmaṇa sages known as Vālakhilyas travel in front and offer prayers to the almighty sun-god with Vedic mantras.

50For the protection of all the worlds, the Supreme Personality of Godhead Hari, who is unborn and without beginning or end, thus expands Himself during each day of Brahmā into these specific categories of His personal representations.

## SB 12.12: The Topics of Śrīmad-Bhāgavatam Summarized

1Sūta Gosvāmī said: Offering my obeisances to the supreme religious principle, devotional service; to Lord Kṛṣṇa, the supreme creator; and to all the brāhmaṇas, I shall now describe the eternal principles of religion.

2O great sages, I have narrated to you the wonderful pastimes of Lord Viṣṇu, as you inquired about them from me. Hearing such narrations is the suitable engagement for a person who is actually a human being.

3This literature fully glorifies the Supreme Personality of Godhead Hari, who removes all His devotees' sinful reactions. The Lord is glorified as Nārāyaṇa, Hṛṣīkeśa and the Lord of the Sātvatas.

4This literature describes the mystery of the Supreme Absolute Truth, the source of the creation and annihilation of this universe. Also presented are divine knowledge of Him together with the process of its cultivation, and the transcendental realization one achieves.

5The following topics are also narrated: the process of devotional service together with its subsidiary feature of renunciation, and the histories of Mahārāja Parīkṣit and the sage Nārada.

6Also described are saintly King Parīkṣit's sitting down to fast until death in response to the curse of a brāhmaṇa's son, and the conversations between Parīkṣit and Śukadeva Gosvāmī, who is the best of all brāhmaṇas.

7The Bhāgavatam explains how one can attain liberation at the time of death by practicing fixed meditation in yoga. It also contains a discussion between Nārada and Brahmā, an enumeration of the incarnations of the Supreme Personality of Godhead, and a description of how the universe was created in progressive sequence, beginning from the unmanifest stage of material nature.

8This scripture also relates the discussions Vidura had with Uddhava and with Maitreya, inquiries about the subject matter of this Purāṇa, and the winding up of creation within the body of the Supreme Lord at the time of annihilation.

9The creation effected by the agitation of the modes of material nature, the seven stages of evolution by elemental transformation, and the construction of the universal egg, from which arises the universal form of the Supreme Lordall these are thoroughly described.

10Other topics include the subtle and gross movements of time, the generation of the lotus from the navel of Garbhodakaśāyī Viṣṇu, and the killing of the demon Hiraṇyākṣa when the earth was delivered from the Garbhodaka Ocean.

11The Bhāgavatam also describes the creation of demigods, animals and demoniac species of life; the birth of Lord Rudra; and the appearance of Svāyambhuva Manu from the half-man, half-woman Īśvara.

12Also related are the appearance of the first woman, Śatarūpā, who was the excellent consort of Manu, and the offspring of the pious wives of Prajāpati Kardama.

13The Bhāgavatam describes the incarnation of the Supreme Personality of Godhead as the exalted sage Kapila and records the conversation between that greatly learned soul and His mother, Devahūti.

14-15Also described are the progeny of the nine great brāhmaṇas, the destruction of Dakṣa's sacrifice, and the history of Dhruva Mahārāja, followed by the histories of King Pṛthu and King Prācīnabarhi, the discussion between Prācīnabarhi and Nārada, and the life of Mahārāja Priyavrata. Then, O brāhmaṇas, the Bhāgavatam tells of the character and activities of King Nābhi, Lord Ṛṣabha and King Bharata.

16The Bhāgavatam gives an elaborate description of the earth's continents, regions, oceans, mountains and rivers. Also described are the arrangement of the celestial sphere and the conditions found in the subterranean regions and in hell.

17The rebirth of Prajāpati Dakṣa as the son of the Pracetās, and the progeny of Dakṣa's daughters, who initiated the races of demigods, demons, human beings, animals, serpents, birds and so onall this is described.

18O brāhmaṇas, also recounted are the births and deaths of Vṛtrāsura and of Diti's sons Hiraṇyākṣa and Hiraṇyakaśipu, as well as the history of the greatest of Diti's descendants, the exalted soul Prahlāda.

19The reign of each Manu, the liberation of Gajendra, and the special incarnations of Lord Viṣṇu in each manvantara, such as Lord Hayaśīrṣā, are described as well.

20The Bhāgavatam also tells of the appearances of the Lord of the universe as Kūrma, Matsya, Narasiṁha and Vāmana, and of the demigods' churning of the Milk Ocean to obtain nectar.

21An account of the great battle fought between the demigods and the demons, a systematic description of the dynasties of various kings, and narrations concerning Ikṣvāku's birth, his dynasty and the dynasty of the pious Sudyumnaall are presented within this literature.

22Also related are the histories of Ilā and Tārā, and the description of the descendants of the sun-god, including such kings as Śaśāda and Nṛga.

23The histories of Sukanyā, Śaryāti, the intelligent Kakutstha, Khaṭvāṅga, Māndhātā, Saubhari and Sagara are narrated.

24The Bhāgavatam narrates the sanctifying pastimes of Lord Rāmacandra, the King of Kośala, and also explains how King Nimi abandoned his material body. The appearance of the descendants of King Janaka is also mentioned.

25-26The Śrīmad-Bhāgavatam describes how Lord Paraśurāma, the greatest descendant of

Bhṛgu, annihilated all the kṣatriyas on the face of the earth. It further recounts the lives of glorious kings who appeared in the dynasty of the moon-godkings such as Aila, Yayāti, Nahuṣa, Duṣmanta's son Bharata, Śāntanu and Śāntanu's son Bhīṣma. Also described is the great dynasty founded by King Yadu, the eldest son of Yayāti.

27How Śrī Kṛṣṇa, the Supreme Personality of Godhead and Lord of the universe, descended into this Yadu dynasty, how He took birth in the home of Vasudeva, and how He then grew up in Gokulaall this is described in detail.

28-29Also glorified are the innumerable pastimes of Śrī Kṛṣṇa, the enemy of the demons, including His childhood pastimes of sucking out Pūtanā's life air along with her breast milk, breaking the cart, trampling down Tṛṇāvarta, killing Bakāsura, Vatsāsura and Aghāsura, and the pastimes He enacted when Lord Brahmā hid His calves and cowherd boyfriends in a cave.

30The Śrīmad-Bhāgavatam tells how Lord Kṛṣṇa and Lord Balarāma killed the demon Dhenukāsura and his companions, how Lord Balarāma destroyed Pralambāsura, and also how Kṛṣṇa saved the cowherd boys from a raging forest fire that had encircled them.

31-33The chastisement of the serpent Kāliya; the rescue of Nanda Mahārāja from a great snake; the severe vows performed by the young gopīs, who thus satisfied Lord Kṛṣṇa; the mercy He showed the wives of the Vedic brāhmaṇas, who felt remorse; the lifting of Govardhana Hill followed by the worship and bathing ceremony performed by Indra and the Surabhi cow; Lord Kṛṣṇa's nocturnal pastimes with the cowherd girls; and the killing of the foolish demons Śaṅkhacūḍa, Ariṣṭa and Keśīall these pastimes are elaborately recounted.

34The Bhāgavatam describes the arrival of Akrūra, the subsequent departure of Kṛṣṇa and Balarāma, the lamentation of the gopīs and the touring of Mathurā.

35Also narrated are how Kṛṣṇa and Balarāma killed the elephant Kuvalayāpīḍa, the wrestlers Muṣṭika and Cāṇūra, and Kaṁsa and other demons, as well as how Kṛṣṇa brought back the dead son of His spiritual master, Sāndīpani Muni.

36Then, O brāhmaṇas, this scripture recounts how Lord Hari, while residing in Mathurā in the company of Uddhava and Balarāma, performed pastimes for the satisfaction of the Yadu dynasty.

37Also described are the annihilation of each of the many armies brought by Jarāsandha, the killing of the barbarian king Kālayavana and the establishment of Dvārakā City.

38This work also describes how Lord Kṛṣṇa brought from heaven the pārijāta tree and the Sudharmā assembly hall, and how He kidnapped Rukmiṇī by defeating all His rivals in battle.

39Also narrated are how Lord Kṛṣṇa, in the battle with Bāṇāsura, defeated Lord Śiva by making him yawn, how the Lord cut off Bāṇāsura's arms, and how He killed the master of Prāgjyotiṣapura and then rescued the young princesses held captive in that city.

40-41There are descriptions of the powers and the deaths of the King of Cedi, Pauṇḍraka, Śālva, the foolish Dantavakra, Śambara, Dvivida, Pīṭha, Mura, Paṣcajana and other demons, along with a description of how Vārāṇasī was burned to the ground. The Bhāgavatam also recounts how Lord Kṛṣṇa relieved the earth's burden by engaging the Pāṇḍavas in the Battle of Kurukṣetra.

42-43How the Lord withdrew His own dynasty on the pretext of the brāhmaṇas' curse;

Vasudeva's conversation with Nārada; the extraordinary conversation between Uddhava and Kṛṣṇa, which reveals the science of the self in complete detail and elucidates the religious principles of human society; and then how Lord Kṛṣṇa gave up this mortal world by His own mystic powerthe Bhāgavatam narrates all these events.

44This work also describes people's characteristics and behavior in the different ages, the chaos men experience in the Age of Kali, the four kinds of annihilation and the three kinds of creation.

45There are also an account of the passing away of the wise and saintly King Viṣṇurāta [Parīkṣit], an explanation of how Śrīla Vyāsadeva disseminated the branches of the Vedas, a pious narration concerning Mārkaṇḍeya Ṛṣi, and a description of the detailed arrangement of the Lord's universal form and His form as the sun, the soul of the universe.

46Thus, O best of the brāhmaṇas, I have explained herein what you have inquired from me. This literature has glorified in full detail the activities of the Lord's pastime incarnations.

47If when falling, slipping, feeling pain or sneezing one involuntarily cries out in a loud voice, "Obeisances to Lord Hari!" one will be automatically freed from all his sinful reactions.

48When people properly glorify the Supreme Personality of Godhead or simply hear about His power, the Lord personally enters their hearts and cleanses away every trace of misfortune, just as the sun removes the darkness or as a powerful wind drives away the clouds.

49Words that do not describe the transcendental Personality of Godhead but instead deal with temporary matters are simply false and useless. Only those words that manifest the transcendental qualities of the Supreme Lord are actually truthful, auspicious and pious.

50Those words describing the glories of the all-famous Personality of Godhead are attractive, relishable and ever fresh. Indeed, such words are a perpetual festival for the mind, and they dry up the ocean of misery.

51Those words that do not describe the glories of the Lord, who alone can sanctify the atmosphere of the whole universe, are considered to be like unto a place of pilgrimage for crows, and are never resorted to by those situated in transcendental knowledge. The pure and saintly devotees take interest only in topics glorifying the infallible Supreme Lord.

52On the other hand, that literature which is full of descriptions of the transcendental glories of the name, fame, forms, pastimes and so on of the unlimited Supreme Lord is a different creation, full of transcendental words directed toward bringing about a revolution in the impious lives of this world's misdirected civilization. Such transcendental literatures, even though imperfectly composed, are heard, sung and accepted by purified men who are thoroughly honest.

53Knowledge of self-realization, even though free from all material affinity, does not look well if devoid of a conception of the Infallible [God]. What, then, is the use of even the most properly performed fruitive activities, which are naturally painful from the very beginning and transient by nature, if they are not utilized for the devotional service of the Lord?

54The great endeavor one undergoes in executing the ordinary social and religious duties of the varṇāśrama system, in performing austerities, and in hearing from the Vedas culminates only in the achievement of mundane fame and opulence. But by respecting and attentively hearing the recitation of the transcendental qualities of the Supreme Lord, the husband of the goddess of fortune, one can remember His lotus feet.

55Remembrance of Lord Kṛṣṇa's lotus feet destroys everything inauspicious and awards the greatest good fortune. It purifies the heart and bestows devotion for the Supreme Soul, along with knowledge enriched with realization and renunciation.

56O most eminent of brāhmaṇas, you are all indeed extremely fortunate, since you have already placed within your hearts Lord Śrī Nārāyaṇathe Personality of Godhead, the supreme controller and the ultimate Soul of all existencebeyond whom there is no other god. You have undeviating love for Him, and thus I request you to worship Him.

57I also have now been fully reminded of the science of God, which I previously heard from the mouth of the great sage Śukadeva Gosvāmī. I was present in the assembly of great sages who heard him speak to King Parīkṣit as the monarch sat fasting until death.

58O brāhmaṇas, I have thus described to you the glories of the Supreme Lord Vāsudeva, whose extraordinary activities are most worthy of glorification. This narration destroys all that is inauspicious.

59One who with undeviating attention constantly recites this literature at every moment of every hour, as well as one who faithfully hears even one verse or half a verse or a single line or even half a line, certainly purifies his very self.

60One who hears this Bhāgavatam on the Ekādaśī or Dvādaśī day is assured of long life, and one who recites it with careful attention while fasting is purified of all sinful reactions.

61One who controls his mind, fasts at the holy places Puṣkara, Mathurā or Dvārakā, and studies this scripture will be freed from all fear.

62Upon the person who glorifies this Purāṇa by chanting or hearing it, the demigods, sages, Siddhas, Pitās, Manus and kings of the earth bestow all desirable things.

63By studying this Bhāgavatam, a brāhmaṇa can enjoy the same rivers of honey, ghee and milk he enjoys by studying the hymns of the Ṛg, Yajur and Sāma Vedas.

64A brāhmaṇa who diligently reads this essential compilation of all the Purāṇas will go to the supreme destination, which the Supreme Lord Himself has herein described.

65A brāhmaṇa who studies the Śrīmad-Bhāgavatam achieves firm intelligence in devotional service, a king who studies it gains sovereignty over the earth, a vaiśya acquires great treasure and a śūdra is freed from sinful reactions.

66Lord Hari, the supreme controller of all beings, annihilates the accumulated sins of the Kali age, yet other literatures do not constantly glorify Him. But that Supreme Personality of Godhead, appearing in His innumerable personal expansions, is abundantly and constantly described throughout the various narrations of this Śrīmad-Bhāgavatam.

67I bow down to that unborn and infinite Supreme Soul, whose personal energies effect the creation, maintenance and destruction of the material universe. Even Brahmā, Indra, Śaṅkara and the other lords of the heavenly planets cannot fathom the glories of that infallible Personality of Godhead.

68I offer my obeisances to the Supreme Personality of Godhead, who is the eternal Lord and the leader of all other deities, who by evolving His nine material energies has arranged within Himself the abode of all moving and nonmoving creatures, and who is always situated in pure, transcendental consciousness.

69Let me offer my respectful obeisances unto my spiritual master, the son of Vyāsadeva, Śukadeva Gosvāmī. It is he who defeats all inauspicious things within this universe. Although in the beginning he was absorbed in the happiness of Brahman realization and was living in a secluded place, giving up all other types of consciousness, he became attracted by the pleasing, most melodious pastimes of Lord Śrī Kṛṣṇa. He therefore mercifully spoke this supreme Purāṇa, Śrīmad-Bhāgavatam, which is the bright light of the Absolute Truth and which describes the activities of the Lord.

**SB 12.13: The Glories of Śrīmad-Bhāgavatam**

1Sūta Gosvāmī said: Unto that personality whom Brahmā, Varuṇa, Indra, Rudra and the Maruts praise by chanting transcendental hymns and reciting the Vedas with all their corollaries, pada-kramas and Upaniṣads, to whom the chanters of the Sāma Veda always sing, whom the perfected yogīs see within their minds after fixing themselves in trance and absorbing themselves within Him, and whose limit can never be found by any demigod or demonunto that Supreme Personality of Godhead I offer my humble obeisances.

2When the Supreme Personality of Godhead appeared as Lord Kūrma, a tortoise, His back was scratched by the sharp-edged stones lying on massive, whirling Mount Mandara, and this scratching made the Lord sleepy. May you all be protected by the winds caused by the Lord's breathing in this sleepy condition. Ever since that time, even up to the present day, the ocean tides have imitated the Lord's inhalation and exhalation by piously coming in and going out.

3Now please hear a summation of the verse length of each of the Purāṇas. Then hear of the prime subject and purpose of this Bhāgavata Purāṇa, the proper method of giving it as a gift, the glories of such gift-giving, and finally the glories of hearing and chanting this literature.

4-9The Brahma Purāṇa consists of ten thousand verses, the Padma Purāṇa of fifty-five thousand, Śrī Viṣṇu Purāṇa of twenty-three thousand, the Śiva Purāṇa of twenty-four thousand and Śrīmad-Bhāgavatam of eighteen thousand. The Nārada Purāṇa has twenty-five thousand verses, the Mārkaṇḍeya Purāṇa nine thousand, the Agni Purāṇa fifteen thousand four hundred, the Bhaviṣya Purāṇa fourteen thousand five hundred, the Brahma-vaivarta Purāṇa eighteen thousand and the Liṅga Purāṇa eleven thousand. The Varāha Purāṇa contains twenty-four thousand verses, the Skanda Purāṇa eighty-one thousand one hundred, the Vāmana Purāṇa ten thousand, the Kūrma Purāṇa seventeen thousand, the Matsya Purāṇa fourteen thousand, the Garuḍa Purāṇa nineteen thousand and the Brahmāṇḍa Purāṇa twelve thousand. Thus the total number of verses in all the Purāṇas is four hundred thousand. Eighteen thousand of these, once again, belong to the beautiful Bhāgavatam.

10It was to Lord Brahmā that the Supreme Personality of Godhead first revealed the Śrīmad-Bhāgavatam in full. At the time, Brahmā, frightened by material existence, was sitting on the lotus flower that had grown from the Lord's navel.

11-12From beginning to end, the Śrīmad-Bhāgavatam is full of narrations that encourage renunciation of material life, as well as nectarean accounts of Lord Hari's transcendental pastimes, which give ecstasy to the saintly devotees and demigods. This Bhāgavatam is the essence of all Vedānta philosophy because its subject matter is the Absolute Truth, which, while nondifferent from the spirit soul, is the ultimate reality, one without a second. The goal of this literature is exclusive devotional service unto that Supreme Truth.

13If on the full moon day of the month of Bhādra one places Śrīmad-Bhāgavatam on a golden throne and gives it as a gift, he will attain the supreme transcendental destination.

14All other Purāṇic scriptures shine forth in the assembly of saintly devotees only as long as that great ocean of nectar, Śrīmad-Bhāgavatam, is not heard.

15Śrīmad-Bhāgavatam is declared to be the essence of all Vedānta philosophy. One who has felt satisfaction from its nectarean mellow will never be attracted to any other literature.

16Just as the Gaṅgā is the greatest of all rivers, Lord Acyuta the supreme among deities and Lord Śambhu [Śiva] the greatest of Vaiṣṇavas, so Śrīmad-Bhāgavatam is the greatest of all Purāṇas.

17O brāhmaṇas, in the same way that the city of Kāśī is unexcelled among holy places, Śrīmad-Bhāgavatam is supreme among all the Purāṇas.

18Śrīmad-Bhāgavatam is the spotless Purāṇa. It is most dear to the Vaiṣṇavas because it describes the pure and supreme knowledge of the paramahaṁsas. This Bhāgavatam reveals the means for becoming free from all material work, together with the processes of transcendental knowledge, renunciation and devotion. Anyone who seriously tries to understand Śrīmad-Bhāgavatam, who properly hears and chants it with devotion, becomes completely liberated.

19I meditate upon that pure and spotless Supreme Absolute Truth, who is free from suffering and death and who in the beginning personally revealed this incomparable torchlight of knowledge to Brahmā. Brahmā then spoke it to the sage Nārada, who narrated it to Kṛṣṇa-dvaipāyana Vyāsa. Śrīla Vyāsa revealed this Bhāgavatam to the greatest of sages, Śukadeva Gosvāmī, and Śukadeva mercifully spoke it to Mahārāja Parīkṣit.

20We offer our obeisances to the Supreme Personality of Godhead, Lord Vāsudeva, the all-pervading witness, who mercifully explained this science to Brahmā when he anxiously desired salvation.

21I offer my humble obeisances to ŚrīŚukadeva Gosvāmī, the best of mystic sages and a personal manifestation of the Absolute Truth. He saved Mahārāja Parīkṣit, who was bitten by the snake of material existence.

22O Lord of lords, O master, please grant us pure devotional service at Your lotus feet, life after life.

23I offer my respectful obeisances unto the Supreme Lord, Hari, the congregational chanting of whose holy names destroys all sinful reactions, and the offering of obeisances unto whom relieves all material suffering.

## Srimad Bhagavata Mahatmya

## Uddhav speaking Srimad Bhagavatam to Queens of Lord Krishna

## Chapter One
## Śāṇḍilya Muni Describes Vrajabhūmi

Śrī Vyāsadeva said: In order to relish the mellows of devotional service, we continually offer our obeisances unto Lord Śrī Kṛṣṇa, whose eternal form is full of knowledge and bliss. He is supremely enchanting and the essence of all that is beautiful. He always showers unlimited happiness on the living entities by attracting them with the qualities of His beauty and sweetness. He is the cause of the creation, maintenance, and annihilation of innumerable universes.

The sages of Naimiṣāraṇya headed by Śaunaka, who are expert in relishing the nectarean topics of Śrīmad-Bhāgavatam, offered obeisances and asked the following question to Śrī Sūta Gosvāmī, who possesses all knowledge.

Śaunaka said: O best of the sages, after the great King Yudhiṣṭhira installed Śrī Vajranābha (the grandson of Pradyumna) at Mathurā, and Parīkṣit (his own grandson) at Hastināpura and then left to go back to Godhead, what did King Vajranābha and Mahārāja Parīkṣit do?

Śrīla Sūta Gosvāmī said: Before reciting this Śrīmad-Bhāgavatam, which is the very means of conquest, one should offer respectful obeisances unto the Personality of Godhead, Nārāyaṇa, unto Nara-nārāyaṇa Ṛṣi, the supermost human being, unto mother Sarasvatī, the goddess of learning, and unto Śrīla Vyāsadeva, the author.

O great sages headed by Śaunaka, after Yudhiṣṭhira went back to Godhead, Mahārāja Parīkṣit, desiring to see Vajranābha, went to Mathurā one day.

Vajranābha's heart was filled with affection when he heard that Mahārāja Parīkṣit, who was equal to his own father, was coming to see him. He went out of the city, fell at Mahārāja Parīkṣit's feet, and then brought him to his palace.

The great hero Mahārāja Parīkṣit, who was always absorbed in thoughts of Lord Kṛṣṇa, lovingly embraced Vajranābha. They entered the inner palace and offered obeisances to Rohiṇī, the chief of Lord Kṛṣṇa's one hundred and eight wives.

The wives welcomed the King according to custom. Mahārāja Parīkṣit then happily sat on a comfortable seat, and after resting a while he spoke to Vajranābha.

Mahārāja Parīkṣit said: Dear Vajranābha! Your father and grandfather saved my father and grandfather from great dangers. I was also fully protected by your great-grandfather, Lord Kṛṣṇa. Even if I wanted to repay their kindness, I would never be able to. Therefore I humbly request you to happily engage your subordinates in the affairs of the state. You should never worry about protecting your treasury, expanding your army, or subduing your enemies. Simply engage yourself in the service of your mothers.

Please tell me what is the cause of your distress and rest assured that I will dispel all your troubles.

Hearing Mahārāja Parīkṣit's words, Vajranābha was greatly pleased and he replied:

Mahārāja! Whatever you have told me is quite proper. Your father has greatly obliged me by instructing me in the science of archery. Therefore I have not even the slightest worry. By his mercy I have become expert in the military science of the kṣatriyas. I have only one problem. Please consider it.

Although I've been installed as the King of Mathurā, I feel like I am living in a secluded forest. The happiness of a kingdom is due to the people that live there, and I have no idea where the residents of this place have gone.

Hearing Vajranābha's words, Mahārāja Parīkṣit called for Śāṇḍilya Ṛṣi in order to clear Vajranābha's doubts. Śāṇḍilya Ṛṣi had previously acted as the priest for Nanda Mahārāja and the cowherd men. When Śāṇḍilya Ṛṣi received the message from Parīkṣit Mahārāja, he left his āśrama and came before the kings. Vajranābha welcomed the best of sages with the proper ceremonies and had sit him on an elevated seat. Parīkṣit Mahārāja told Śāṇḍilya Ṛṣi everything that Vajranābha had just said. The sage affectionately comforted them with the following words.

Śāṇḍilya Ṛṣi said: Dear Parīkṣit and Vajranābha! I will tell you the secret of Vrajabhūmi. Listen carefully. The meaning of the word “Vraja” is all-pervasive. According to ancient opinions, this land is named Vraja because it is all-pervasive. This land is an all-pervasive spiritual manifestation, situated beyond the three modes of material nature. Therefore this is called Vraja. This land is ever-blissful, effulgent, indestructible, and the abode of liberated souls. Dear kings, in this land of Vraja the self-realized souls and devotees, who relish love of God, constantly experience Kṛṣṇa, whose form is sac-cid-ānanda. Śrīmatī Rādhikā, the daughter of Mahārāja Vṛṣabhanu, is like the ātmā of Lord Śrī Kṛṣṇa, the son of Nanda Mahārāja. She eternally enjoys pastimes with Kṛṣṇa, and therefore the devotees expert in enjoying transcendental mellows call Kṛṣṇa ātmārāma. The meaning of the word kāma is desire. In Vraja, Kṛṣṇa's only desire is to engage in pastimes with the cows, and the cowherd boys and girls. Because He always achieves the fulfillment of this desire, He is called āptakāma. These pastimes of the Lord are beyond material nature. Whenever the Lord enjoys His pastimes in this world, even ordinary people are benefited. The creation, maintenance, and annihilation of the material world are carried out respectively by the qualities of passion, goodness, and ignorance. In this way, two types of pastimes of Govinda—transcendental and ordinary—are manifested. His transcendental pastimes are self-evident. This means that these pastimes are relished in Vraja by Śrī Kṛṣṇa, the topmost expert in loving exchanges. The ordinary pastimes consist of delivering the fallen souls and minimizing the burden of the earth in Vraja, Mathurā, and Dvārakā. There cannot be ordinary pastimes without transcendental pastimes. Ordinary pastimes have no entrance into the transcendental pastimes. The pastimes experienced by the two of you are ordinary pastimes. The jurisdiction of the ordinary pastimes stretches from this planet up to the heavenly planets, and Mathurā-maṇḍala is situated within this planet. The famous Vrajabhūmi is situated in this area, and the Lord's confidential pastimes are enacted here. Sometimes these pastimes are manifest to the devotees whose hearts are filled with

devotion. At the end of the Dvāpara-yuga in the twenty-eighth yuga cycle, when the Lord's associates who are qualified in the conjugal relationship assemble together, the Lord and His intimate associates descend, just as He recently enacted here. In this way the Lord incarnates who He desires to relish His pastimes with His intimate associates. At that time all the demigods and other devotees also incarnate with the Lord.

In these pastimes there were three kinds of devotees present. There is no doubt about it. Of these three kinds of devotees, the first are the Lord's intimate eternal associates, the second are those aspiring to become eternal associates, and the third are the demigods and their expansions whom the Lord has previously already sent to Dvārakā.

Now the demigods who had appeared as Yādavas have been sent by the Lord back to their duties in the heavenly planets through the brāhmaṇa's curse in the Lord's mausala-līlā. And the Lord awarded spiritual forms to the devotees who aspired to become His eternal associates. The Lord then brought these devotees together with His intimate eternal associates of the vāstavī, spiritual pastimes and they thus disappeared from the vision of the ordinary people.

Therefore, common people, who are situated in the vyavaharika pastimes, are unqualified to enter the Lord's eternal pastimes and see the eternal associates of the vāstavī pastimes. That is why this place appears to be devoid of people.

Therefore Vajranābha, you should not worry in the least. By following my instructions and establishing many towns here, you will fulfill all your desires. Wherever Lord Kṛṣṇa has performed His pastimes you should establish towns named after the particular pastime that was performed at that place. In this way you can render very nice service to the transcendental land of Vraja.

Establish your domain at Govardhana, Dirghapura (Deeg), Mathurā, Mahāvana, Nandagrāma (Nandagaon), and Bṛhatsanu (Varṣāṇā). Reside in these pastime sites of Lord Kṛṣṇa and engage in the service of the rivers, mountains, kuṇḍas, lakes, and kuñjas of Vraja, for by doing so you will be happy and the citizens of your kingdom will prosper. This eternal, cognizant, blissful land of Vraja should be served by you by all efforts. By my blessings you will properly identify all of the places of Lord Kṛṣṇa's pastimes. O Vajranābha, by continually serving Vraja in this way, one day you will meet Śrī Uddhava. Then he will instruct you and your mothers in the mysteries of Vraja and the pastimes of the Lord."

After instructing Vajranābha and Parīkṣit in this way, Śāṇḍilya, the best of the ṛṣis, returned to his āśrama while remembering Lord Kṛṣṇa. Parīkṣit and Vajranābha felt great ecstasy after hearing his instructions.

## Chapter Two
## Parīkṣit and Kṛṣṇa's Wives, While Chanting the Glories Of the Lord, Met Uddhava

The sages said: O Sūta Gosvāmī, please tell us what Mahārāja Parīkṣit and King Vajranābha did after the best of the munis, Śāṇḍilya, returned to his āśrama.

Śrīla Sūta Gosvāmī said: Mahārāja Parīkṣit brought thousands of prominent brāhmaṇas and kṣatriyas from Indraprastha and repopulated Mathurā.

Mahārāja Parīkṣit gave respect to the brāhmaṇas and monkeys who were already residing there because he understood they are dear to the Lord. With the help of Mahārāja Parīkṣit and by the mercy of Śāṇḍilya Ṛṣi, Vajranābha gradually searched out the sites where Kṛṣṇa had enjoyed pastimes with His beloved cowherd boyfriends and girlfriends. After properly ascertaining the pastime site, he named the site according to the pastime that was performed there. He thus established and named various towns, kuṇḍas, wells, kuñjas, and gardens, and he established many Śiva temples. He established Deities of the Lord such as Govindadeva and Harideva, and his entire kingdom became blissful because devotion to Lord Kṛṣṇa was preached everywhere. The citizens always engaged in glorifying Lord Kṛṣṇa and thus merged in an ocean of bliss, they praised the rule of King Vajranābha.

One day, Lord Kṛṣṇa's sixteen thousand queens, who were suffering due to separation, inquired without envy from their fellow wife, Kālindī, who they saw was happy.

Kṛṣṇa's Queens said: O beautiful Kālindī! Just as we are all Kṛṣṇa's wives, so are you. We are all continually burning in the fire of separation and our hearts are distressed with unhappiness due to His absence. But you are not in this condition, you are happy. Why is this? Please tell us the reason.

After understanding the pain of separation felt by her co-wives, Kālindī, with great compassion, smiled and spoke as follows:

Kālindī said: Śrī Rādhikā is the soul of Kṛṣṇa, who is known as ātmārāma. I am always engaged in Her service. Due to the influence of this service, the pain of separation could not touch me. All of Kṛṣṇa's consorts are expansions of Śrī Rādhikā. And because Kṛṣṇa is always engaged in enjoying with Śrī Rādhikā, all of Kṛṣṇa's other consorts are automatically being enjoyed by Him. Kṛṣṇa is nondifferent from Śrī Rādhikā, and Śrī Rādhikā is nondifferent from Kṛṣṇa. Their love is manifest in the form of Kṛṣṇa's flute. Śrī Candrāvalī Sakhi is a manifestation of the moonlike nails of Śrī Kṛṣṇacandra. Due to an excessive greed to serve Rādhā-Kṛṣṇa, Candrāvalī has not accepted any other form. But I have seen Śrī Rukmiṇī and other sakhis situated in Śrī Rādhikā. And you also have never been separated from Kṛṣṇa, but you are overwhelmed because this mystery is unknown to you. Previously, when Akrūra came to Vṛndāvana, the gopīs experienced similar feelings of separation, although actually that was not separation, it was simply a reflection of separation. But when Uddhava came and consoled them, their pain of separation was destroyed. Now if you are able to get the association of Uddhava, then you will also achieve the happiness of eternal pastimes with your beloved Śrī Kṛṣṇa.

Śrīla Sūta Gosvāmī said: O sages! When Kṛṣṇa's queens were instructed in this way, they again addressed the ever-blissful Kālindī. At that time they all hankered for some way to meet Uddhava, so that they could all achieve the great fortune of eternal association with their beloved.

Kṛṣṇa's Queens said: O Sakhi, your life is glorious, because you have never experienced the distress of separation from the Lord of your life. We would also like to become Rādhā's

maidservants, just like you. But, O Kālindī, you have told us that all our desires would be fulfilled by meeting Uddhava, so please tell us how we can meet him.

Śrīla Sūta Gosvāmī said: After hearing the words of her co-wives, Kālindī remembered Kṛṣṇa, who possesses sixty-four qualities in full. Just before Lord Kṛṣṇa returned to His supreme abode, He told His minister Uddhava that Badarikāśrama is a suitable place to engage in spiritual activities. Following that instruction, Uddhava stays there and instructs those who visit him in the same knowledge that was taught to him by the Lord. The Lord taught Uddhava about the mysteries of Vraja, where the fruits of spiritual practice are obtained. But since the personification of the fruits of spiritual practice, Lord Kṛṣṇa, has apparently left this place, Uddhava is also no longer seen here. Being desirous to associate with the dust of Vraja, however, Uddhava is certainly residing near Govardhana at Sakhīsthalī in the form of a creeper. Uddhava is the personification of Lord Kṛṣṇa's festivals. Therefore go to Kusuma-sarovara with Vajranābha and organize a festival there. Assemble the Lord's devotees and start a big festival by chanting the Lord's holy names and pastimes accompanied by vīṇās, flutes, and mṛdaṅgas.

In this way when the festival expands, Uddhava will certainly appear there. And by his mercy all your desires will be fulfilled.

Śrīla Sūta Gosvāmī said: After hearing Kālindī speak these words Lord Kṛṣṇa's queens were greatly pleased. After they offered their respects to Kālindī they went and told Vajranābha and Parīkṣit everything that they had heard.

After hearing their narration, Mahārāja Parīkṣit was greatly pleased and accompanied them to Kusuma-sarovara and began organizing a festival there. They began a festival of nama sankīrtana at Sakhīsthalī, a short distance from Govardhana. As they glorified Lord Kṛṣṇa at that place where He always enjoys pastimes with His beloved, the daughter of Vṛṣabhanu, the place was transformed into an extraordinary scene. They became fully absorbed in glorifying Lord Kṛṣṇa.

At that time, from amidst the grass, vines, and creepers Śrī Uddhava appeared before everyone. His complexion was bluish, and he wore yellow garments. He was decorated with a garland of forest flowers and guñjā, and he repeatedly glorified Kṛṣṇa, the lover of the gopīs. Then the beauty of the saṅkīrtana festival increased many times over just as when the moonshine falls on a crystal house. Similarly everyone was merged in an ocean of bliss by his appearance there, and they forgot what they were doing. When they regained their external consciousness, they saw Uddhava, who resembles Lord Kṛṣṇa, and by worshiping him, they fulfilled all their desires.

## Chapter Three
## The Glories of Śrīmad-Bhāgavatam, The Speaker and the Hearer's Attainment of the Supreme Abode.

Śrīla Sūta Gosvāmī said: Seeing everyone engaged in glorifying Lord Kṛṣṇa, Śrī Uddhava offered his respects and embraced them. He spoke with Mahārāja Parīkṣit.

Śrī Uddhava said: O King, you are certainly glorious. Your desire has been fulfilled by your undivided devotional service to Lord Kṛṣṇa, because your mind is absorbed in this saṅkīrtana festival. It is your great fortune that you have such incomparable affection for Vajranābha and Kṛṣṇa's queens. This is quite proper because Lord Kṛṣṇa has given you this body and power. Among the residents of Dvārakā, they are the most glorious. There is no doubt about it. Lord Kṛṣṇa ordered Arjuna to escort them to Vraja so that they could reside there. Illuminated by the effulgence of Śrīmatī Rādhārāṇī's face, the moonlike mind of Lord Kṛṣṇa constantly illuminates Śrī Vṛndāvana, the site of Rādhā's pastimes. Śrī Kṛṣṇacandra is eternally complete. Thousands of spiritual sparks oscillate in all directions from His sixty-four qualities. The full moonlike Kṛṣṇa, who possesses sixty-four prominent qualities, is constantly illuminating this land of Vraja. O King, the right foot of Lord Kṛṣṇa is the residence of Vajranābha, who destroys the fear of his subordinates. In this incarnation, Lord Śrī Kṛṣṇa has bewildered everyone through Yogamāyā. By her influence, they have forgotten their constitutional position and they appear miserable. There is no doubt about it. Without Kṛṣṇa manifesting in one's heart, no one can realise his constitutional position. Kṛṣṇa's manifestation within the hearts of the living entities has been covered by Māyā. When Lord Hari personally appears at the end of Dvāpara-yuga in the twenty-eighth yuga cycle and lifts the covering of Māyā, then He becomes manifest. O Mahārāja Parīkṣit, the time of those manifest pastimes has recently ended. Therefore I will now tell you the means of having Kṛṣṇa manifest within one's heart. When Lord Kṛṣṇa is unmanifest, He will appear from Śrīmad-Bhāgavatam. Whenever and wherever the devotee Bhāgavata hears and recites the book Bhāgavata, at that time and at that place Lord Kṛṣṇa personally appears. Wherever a verse of Śrīmad-Bhāgavatam, or even a half-verse of Śrīmad-Bhāgavatam, is recited, Lord Kṛṣṇa and His beloved gopīs manifest there. After attaining a human birth in the land of Bharata, those who do not hear Śrīmad-Bhāgavatam due to sinful activities are committing suicide. A person who regularly hears or recites Śrīmad-Bhāgavatam delivers the forefathers of his wife, mother, and father.

By studying and hearing Śrīmad-Bhāgavatam, brāhmaṇas are enlightened with knowledge, kṣatriyas achieve victory over their enemies, vaiśyas acquire wealth, and śūdras are freed from disease. Women and lower class people all achieve the fulfillment of their desires. Therefore what fortunate person will not regularly hear and chant the Śrīmad-Bhāgavatam?

After many lifetimes of performing pious activities, when a person achieves full perfection then he obtains the Śrīmad-Bhāgavatam. By reading Śrīmad-Bhāgavatam one's devotional sentiments are awakened and Lord Kṛṣṇa manifests within the heart.

Long ago, Bṛhaspati, the spiritual master of the demigods, heard the Śrīmad-Bhāgavatam by the mercy of Sāṅkhyāyana Ṛṣi, and Bṛhaspati has narrated the same to me. I was therefore able to become the dear friend of Lord Kṛṣṇa. O Mahārāja Parīkṣit, Bṛhaspati has told me one story. Please hear it from me. From this story one can know the method of hearing Śrīmad-Bhāgavatam from the proper authorities.

Bṛhaspati said: O Uddhava, when Lord Kṛṣṇa accepted the puruṣa incarnations and glanced over material nature to create, then the three personalities—Brahmā, Viṣṇu, and Śiva—appeared along with the three modes of material nature—sattva, raja, and tama. Lord Kṛṣṇa then assigned the work of creation, maintenance, and destruction to the three predominating deities. Lord Brahmā appeared from the lotus sprouted from the navel of the Lord.

Lord Brahmā said: O Lord! I offer my respectful obeisances unto You. Because You lie in the transcendental water known as nāra, You are known as Nārāyaṇa. And as the original cause of everything You are ādi-puruṣa, the original person. O Lord, although I am sinful and full of the mode of passion, You have engaged me in the work of creation. But I pray for Your blessing that my engagement in the activities of creation will not be an impediment in my remembering Your lotus feet.

Bṛhaspati said: After Brahmā offered these prayers to Lord Nārāyaṇa, at that time, long ago, the Lord gave Brahmā the Śrīmad-Bhāgavatam and told him: "To achieve fulfillment of your desires, always serve this Śrīmad-Bhāgavatam." On receiving Śrīmad-Bhāgavatam, Lord Brahmā was greatly pleased. In order to attain Lord Kṛṣṇa and penetrate the seven coverings, he recited Śrīmad-Bhāgavatam for seven days. All Brahmā's desires were fulfilled by serving Śrīmad-Bhāgavatam for that seven day sacrifice. Since then he has always been engaged in expanding the creation and repeatedly reciting the Śrīmad-Bhāgavatam. As done by Brahmā, Lord Viṣṇu also prayed for the fulfillment of His desires so that He could engage in maintaining the creation.

Lord Viṣṇu said: O Lord, I will accept the paths of pravṛtti and nirvṛtti due to the need for fruitive activities and philosophical knowledge. Following Your order, I will duly maintain the living entities. In due course of time, whenever there is a decline in religious principles, I will accept various incarnations in order to reestablish the principles of religion. I will certainly award the fruits of their sacrifice to those who desire material enjoyment, and I will award five kinds of liberation, beginning with sālokya, to those who are renounced and desirous to achieve liberation. But please tell Me how to maintain My dear Lakṣmī and those who have no desire for the five kinds of liberation.

After hearing Viṣṇu's prayers, the primeval Lord, Nārāyaṇa, told Him: "In order to achieve the fulfillment of all Your desires, just recite Śrīmad-Bhāgavatam." Lord Viṣṇu was very pleased to receive this instruction from Lord Nārāyaṇa. He engaged every month along with Lakṣmīdevī in the recitation of Śrīmad-Bhāgavatam. Thus He was able to maintain the creation. Whenever Lord Viṣṇu recites Śrīmad-Bhāgavatam, Lakṣmīdevī listens. This takes one full month. And whenever Lakṣmīdevī speaks Śrīmad-Bhāgavatam and Viṣṇu listens, it takes two months to relish the mellows of the Śrīmad-Bhāgavatam. At that time the taste of those topics become extremely palatable. The reason for this is that Viṣṇu is engaged in maintaining the creation, therefore He is preoccupied with many thoughts. But this is not the case with Lakṣmīdevī, who is fully peaceful. The topics of Śrīmad-Bhāgavatam are therefore more elaborately manifested in her heart.

Thereafter the Lord engaged Śiva in the work of annihilation. In order to expand his own ability, Śiva also prayed to the Lord.

Śrī Rudra said: O Lord of lords, I have the power to engage in three types of destruction—perpetual, occasional, and partial. But, O Lord, I have no power at all for the final destruction. For this reason I am very unhappy. I am therefore praying to You.

Bṛhaspati said: Hearing the prayers of Rudra, Lord Nārāyaṇa also instructed him on the topics of Śrīmad-Bhāgavatam. Śrī Rudradeva then conquered the mode of ignorance just by serving

Śrīmad-Bhāgavatam. Sadāśiva Rudra then recited Śrīmad-Bhāgavatam over a period of one year. He thus attained the power of final destruction.

Śrī Uddhava said: I have heard these glories of Śrīmad-Bhāgavatam from the mouth of Śrī Bṛhaspati, my spiritual master. Now I offer my respectful obeisances to him for I have become happy by hearing the instructions of Śrīmad-Bhāgavatam. According to the Vaiṣṇava tradition, I served Śrīmad-Bhāgavatam for just one month. Due to the influence of this service, I have become the dear friend of Lord Kṛṣṇa, and He therefore sent me to Vṛndāvana to serve his beloved gopīs. Although Kṛṣṇa eternally enjoys pastimes in Vṛndāvana, His beloved gopīs were afflicted by feelings of separation. He therefore sent me here to impart the teachings of Śrīmad-Bhāgavatam to the gopīs. The gopīs of Vraja were thus freed from the pains of separation by accepting the teachings of Śrīmad-Bhāgavatam according to their own intelligence. Even though I do not understand the mystery of Śrīmad-Bhāgavatam, still I have experienced the wonder of this great literature. When the demigods, headed by Lord Brahmā, prayed to Lord Kṛṣṇa that He shall return to His own abode, at that time, under a banyan tree, the Lord personally taught me the mystery of Śrīmad-Bhāgavatam. As a result of that instruction my intelligence became fixed and I proceeded to Badarikāśrama and attained perfection. Since then I am living here in Vraja as a creeper.

O Parīkṣit, I am therefore living here at Nārada-kuṇḍa. The devotees will realise Lord Kṛṣṇa by serving Śrīmad-Bhāgavatam. Therefore I will explain Śrīmad-Bhāgavatam for the benefit of the devotees of the Lord. This will be possible only with your help.

Śrīla Sūta Gosvāmī said: After hearing this, Mahārāja Parīkṣit offered his obeisances to Uddhava and said to him: O Uddhava, servant of Lord Hari! You should certainly narrate Śrīmad-Bhāgavatam. Whatever is necessary for me to do in this regard, please order me.

Uddhava was most pleased on hearing Parīkṣit Mahārāja speak in this way and said: O King! Since Lord Kṛṣṇa has left this world, the influence of Kali-yuga has become very prominent. Whenever auspicious activities are being performed Kali certainly creates disturbances. Therefore you should go out and subdue the influence of Kali everywhere. I will remain here by your arrangement and recite Śrīmad-Bhāgavatam for one month according to Vaiṣṇava tradition. The audience will thus relish the mellows of Śrīmad-Bhāgavatam and attain the Lord's eternal abode.

Hearing Śrī Uddhava's instructions, Mahārāja Parīkṣit was pleased by the thought of subduing Kali, but somewhat in anxiety he disclosed his mind to Uddhava.

Mahārāja Parīkṣit said: O Prabhu! I am eager to bring Kali-yuga under my control as you have instructed, but then how will I hear the Śrīmad-Bhāgavatam? I have also come to take shelter at your feet, so you should also be merciful to me.

Hearing the king's words, Uddhava said: O King, there is no need for you to be worried, for you are the most eligible candidate to receive the Śrīmad-Bhāgavatam. People in this world are always engaged in various kinds of fruitive activities and they do not even know the importance of hearing Śrīmad-Bhāgavatam. O King, by your mercy many people in this land of Bharata-varsa will achieve eternal happiness by hearing Śrīmad-Bhāgavatam. The great sage Śrīla Śukadeva Gosvāmī, who is the representative of Lord Kṛṣṇa, the son of Nanda Mahārāja,

will recite Śrīmad-Bhāgavatam to you. There is no doubt about it. O King, you will attain the eternal abode of Lord Kṛṣṇa, the king of Vraja, by hearing Śrīmad-Bhāgavatam, and Śrīmad-Bhāgavatam will then later be propagated throughout the world.

Therefore, O King, prepare yourself to subdue Kali.

After Uddhava spoke in this way, Mahārāja Parīkṣit offered obeisances to Uddhava and circumambulated him, and he then left to eradicate Kali's influence in all directions.

Vajranābha then installed his son, Pratibāhu, as the king of Mathurā. He stayed with his grandmothers simply for the purpose of hearing Śrīmad-Bhāgavatam. Then at that place near Govardhana, Śrī Uddhava recited Śrīmad-Bhāgavatam for one month. While relishing the topics of Śrīmad-Bhāgavatam the listeners saw Kṛṣṇa manifest everywhere along with His transcendental pastimes. The listeners could see themselves taking part in those transcendental pastimes. Vajranābha saw himself situated at the right lotus foot of Lord Kṛṣṇa, and thus felt relief from the pains of separation and pleased with the beauty of that scene. All his grandmothers, headed by Rohiṇī, were most surprised to see themselves situated as the effulgence and portion of the moonlike Kṛṣṇa, who inaugurates the night of the rasa dance. Being cured of the disease of separation from their beloved life and soul, they entered their supreme destination.

Other people who were present there also disappeared and entered the Lord's eternal pastimes. They all enjoy pastimes with Kṛṣṇa in the kuñjas of Govardhana, the pasturing grounds and forest of Vṛndāvana. The devotees who are greedy for attaining the mellows of transcendental love can always see these pastimes.

Śrīla Sūta Gosvāmī said: Whoever chants or hears these pastimes of attaining the Lord's lotus feet will certainly attain those lotus feet, and all his miseries from time immemorial will be destroyed forever.

## Chapter Four
## The Characteristics of Śrīmad-Bhāgavatam, The Symptoms of the Speaker And the Listener, and Establishing The Procedure for Hearing

The sages headed by Śaunaka said: O Sūta, may you live a long life and continue instructing us. Today we have heard the wonderful glories of Śrīmad-Bhāgavatam from your mouth. O Sūta, now please mercifully describe for us the characteristics of Śrīmad-Bhāgavatam, its authenticity, the procedure for hearing, and the symptoms of the speaker and the listener.

Śrīla Sūta Gosvāmī said: The characteristics of Śrīmad-Bhāgavatam and the Personality of Godhead are both eternal, full of knowledge and bliss.

You should know that whatever transcendental, sweet words come from the mouths of those whose hearts are attached to Kṛṣṇa, those statements are Śrīmad-Bhāgavatam. You should also know that Śrīmad-Bhāgavatam consists of knowledge, realized knowledge, and the four limbs

of devotional service, such as hearing and chanting. It is expert in eradicating the influence of māyā, the illusory energy.

Who can understand the authenticity of Śrīmad-Bhāgavatam, which is the unlimited sound representation of the Lord? In the beginning of creation, Lord Hari spoke four verses to Lord Brahmā. O brāhmaṇas, only personalities such as Brahmā, Viṣṇu, and Śiva are able to attain their desired goal by merging into the ocean of the unlimited Śrīmad-Bhāgavatam, others are able.

Whatever Śrīla Vedavyāsa has described in the conversation between Parīkṣit Mahārāja and Śukadeva Gosvāmī for the benefit of the less intelligent, that is known as Śrīmad-Bhāgavatam. Śrīmad-Bhāgavatam consists of 18,000 verses, and it is the only shelter for those who are captured by the crocodile of Kali.

Now I will describe those who listen to Śrīmad-Bhāgavatam. There are two types of listeners—superior and inferior. The superior listeners are of four kinds—namely, cātaka bird, swan, parrot, and fish. And the inferior listeners are also of four kinds—wolf, bhurunda bird, bull, and camel.

Just as the cātaka bird does not take water from any source other than the raincloud, one who does not hear any scripture or book other than those related with Lord Kṛṣṇa is called a cātaka listener.

Just as the swan can extract milk from a mixture of milk and water, one who can extract the essential topics of Lord Kṛṣṇa while listening to various topics is called a swan listener.

Just as a parrot can recite to its master and others whatever it is taught, one who can nicely repeat the topics he has heard from the scriptures to his guru and other listeners is called a parrot listener.

Just as the fish that is situated in an ocean of condensed milk quietly drinks milk without blinking its eyes, one who quietly hears Śrīmad-Bhāgavatam while relishing the topics and staring unblinking at the speaker is called a fish listener.

Just as the cry of the wolf frightens the deer which is attracted by the sweet sound of a flute in the forest, the foolish listener whose loud noises create pain to the devotees engaged in hearing the sweet topics of Śrīmad-Bhāgavatam is called a wolf listener.

Just as the bhurunda bird that lives in the Himalayas tells others whatever instruction it has heard without practicing himself, one who teaches others but does not follow those instructions is called a bhurunda listener.

Just as the bull does not distinguish between eating sweet grapes or pungent oilcakes, the blind person who listens to everything but has no intelligence to discriminate between good and bad is called a bull listener.

Just as the camel rejects the sweet mango leaves and chews instead the bitter neem leaves, one who rejects the sweet narrations about the Lord and hears instead mundane topics is called a camel listener.

Apart from these two categories of listeners, there are many further sub classifications such as bumblebees and asses which one should understand by the symptoms of their normal behavior.

Speakers say the topmost listener is he who comes before the speaker, offers due obeisances, and is eager and expert in hearing the pastimes of Lord Hari, after rejecting all types of mundane topics. He humbly engages in hearing with folded hands like a disciple, he has full faith in the Lord, he is attached to asking questions, and he always contemplates the subject he has heard. He is a dear friend of the Lord's devotees.

The topmost speakers, who are respected by all sages, are those whose hearts are attached to the Lord without hankering for anything else. They are the well-wishers of all, they are merciful to the fallen, and they are expert in learning the truth by various arguments.

Now, O brāhmaṇas, please hear the procedure for hearing Śrīmad-Bhāgavatam in the land of Bharata. Simply by hearing these rules one enjoys everlasting happiness.

There are four kinds of service to the Śrīmad-Bhāgavatam—sattvic, rajasic, tamasic, and nirguṇa.

Enthusiastic service which is joyfully performed in seven days, like a pompous sacrifice with various types of worshipable ingredients and hard labor, is called rajasic bhāgavata-sevā.

Service which is peacefully performed over a month or two, while relishing the topics and thus increasing one's ecstasy, is called sattvic bhāgavata-sevā.

Service which continues for one year, which is performed lazily yet faithfully, which gives happiness, and in which both rememberance and forgetfulness are present, is called tamasic bhāgavata-sevā.

Service in which there is no consideration of time factor but continues on with love and devotion, is called nirguṇa bhāgavata-sevā.

Please know for certain that Mahārāja Parīkṣit and Śukadeva Gosvāmī performed nirguṇa bhagavata-sevā. Although the hearing continued for only seven days, that was because Mahārāja Parīkṣit's life continued for that duration only.

One should hear Śrīmad-Bhāgavatam in any place or in any way one desires—whether sattvic, rajasic, tamasic, or nirguṇa.

Śrīmad-Bhāgavatam is the only wealth of those who are completely devoid of material desires, and greedy to relish hearing and chanting the pastimes of Lord Kṛṣṇa.

Śrīmad-Bhāgavatam is the medicine to cure the material disease of those who are indifferent to the miseries of material existence and desire liberation. Therefore everyone should carefully serve Śrīmad-Bhāgavatam.

The karmīs, who are greedy for material enjoyment and advancement in material life, will attain everything they desire just by serving Śrīmad-Bhāgavatam in Kali-yuga.

In Kali-yuga it is extremely rare to attain perfection on the path of karma due to a lack of physical ability, wealth, and knowledge. Therefore those who wish auspiciousness should serve Śrīmad-Bhāgavatam in all respects.

The topics of Śrīmad-Bhāgavatam are able to give one wealth, children, wife, elephants, horses, fame, palatial residences, and a kingdom without rivals.

By serving the Śrīmad-Bhāgavatam one with material desires can enjoy all his desired results in this world and attain the abode of the Supreme Lord after giving up his body.

One should serve anyone absorbed in discussing the topics of Śrīmad-Bhāgavatam with one's body and wealth.

By serving those who are absorbed in Śrīmad-Bhāgavatam, one can attain the results of serving Śrīmad-Bhāgavatam.

There are two types of reciters and listeners of the Śrīmad-Bhāgavatam. Some desire Kṛṣṇa and some desire material prosperity. Material prosperity refers to anything not related to Kṛṣṇa. So if the reciter and listener are of the same category, then the happiness from serving Śrīmad-Bhāgavatam increases.

If the reciter and the listener are not of the same category, then there is a contradiction and no result is attained. Such a situation is called rasābhāsa, or overlapping of mellows. But a person who desires Kṛṣṇa—whether as a speaker or listener—will certainly attain his goal, even if delayed.

The speaker and listener who desire wealth will attain their desired goal if they act under rules and regulations. But those transcendental speakers and listeners who desire Kṛṣṇa will undoubtedly attain their goal even if they do not follow the rules and regulations, because love of God is the only rule for such persons.

A person with material desires must rigidly follow all the rules through to completion. He should regularly take bath in the morning, and after performing his daily worship he should accept the caraṇāmrtā of Lord Hari.

Thereafter the speaker or listener should worship their spiritual master and Śrīmad-Bhāgavatam with proper ingredients. They should hear and chant Śrīmad-Bhāgavatam in a joyful mood.

One should take a vow of silence, and eat only milk or sweet rice. He should sleep on the ground, give up all anger and greed, and practice the vow of brahmācārya.

After finishing the recitation of Śrīmad-Bhāgavatam, one should constantly chant the holy name of the Lord, and on the last day he should remain awake at night and then feed the brāhmaṇas and satisfy them with charity.

One should then worship his spiritual master after offering him cloth, ornaments, and cows. Anyone who renders service to the Śrīmad-Bhāgavatam according to these regulations will surely achieve the fulfillment of all his desires.

A person with material desires can obtain a beautiful wife, children, kingdom, or wealth if he so desires. But such desires are a mockery to the stature of Śrīmad-Bhāgavatam.

Śrīmad-Bhāgavatam is the ripened fruit of the desire tree of Vedic literature. It has been bestowed to the world in this age of Kali by Śrī Śukadeva Gosvāmī and has become more nectarean by the touch of his lips. It is the direct means of attaining Lord Kṛṣṇa, and it eternally bestows love of God.

## Chapter Five
## Description of the Results of Hearing Śrīmad-Bhāgavatam, and the Condition Of Those Who are Averse to Such Hearing

The Supreme Lord said: O Grandfather Brahmā, one should regularly hear the famous Śrīmad-Bhāgavatam with faith. Know for certain that such hearing is the only means of satisfying Me.

One who daily reads Śrīmad-Bhāgavatam will attain with every syllable the results of giving a brown cow in charity.

One who daily reads or hears even a half or a quarter of a verse of Śrīmad-Bhāgavatam attains the results of giving one thousand cows in charity.

My dear son, one who daily reads Śrīmad-Bhāgavatam with full concentration attains the results of studying the eighteen Purāṇas.

Vaiṣṇavas like Prahlāda Mahārāja are always present wherever the topics of Śrīmad-Bhāgavatam are discussed. Those who worship Śrīmad-Bhāgavatam are beyond the jurisdiction of Kali.

Those persons who worship the Vaiṣṇava literature Śrīmad-Bhāgavatam in their house are freed from all sins and they become worshipable by even the demigods.

In the age of Kali, I become very pleased with those who regularly worship Śrīmad-Bhāgavatam in their house and dance without fear.

O My dear son, as long as Śrīmad-Bhāgavatam is present in one's house, for that long his forefathers consume milk, ghee, honey, and water.

One who with devotion gives the gift of Śrīmad-Bhāgavatam to a Vaiṣṇava resides in My abode for millions of kalpas.

One who always worships Śrīmad-Bhāgavatam in his house satisfies the demigods for the duration of one kalpa.

If even a half or a quarter of a verse of Śrīmad-Bhāgavatam is kept in one's house that is glorious. For what is the need of accumulating thousands of other literatures?

In Kali-yuga, one who does not keep Śrīmad-Bhāgavatam in his house can never be delivered from the control of Yamarāja.

In Kali-yuga, how can one be considered a Vaiṣṇava who does not keep Śrīmad-Bhāgavatam in his house? He is more abominable than a caṇḍāla.

My dear son, lord of the universe. For My pleasure and the pleasure of the Vaiṣṇavas one should keep Śrīmad-Bhāgavatam with devotion.

In Kali-yuga, wherever the auspicious Śrīmad-Bhāgavatam is recited, I reside, along with all the demigods.

My dear son, all the holy rivers, kuṇḍas, and lakes, all sacrifices, the seven sacred cities—Ayodhyā, Mathurā, Māyā (Haridvāra), Kāśī, Kāñci, Avantī (Ujjain), and Dvārakā—and all the holy mountains are present where Śrīmad-Bhāgavatam is discussed.

O lord of the universe, one should hear Śrīmad-Bhāgavatam in order to attain fame, religiosity, victory, freedom from sin, or liberation.

By hearing Śrīmad-Bhāgavatam one becomes religious and he lives a long life, free from disease and all sinful reactions.

O lord of the universe, I speak the truth: those who do not hear the topmost literature, Śrīmad-Bhāgavatam, or do not express happiness after hearing it are kept under Yamarāja's jurisdiction.

O My dear son, there is no one more sinful than one who does not go anywhere to hear Śrīmad-Bhāgavatam, especially on the day of Ekādaśī.

I reside in the house of one who has kept there a verse, a half verse, or even a quarter of a verse of Śrīmad-Bhāgavatam.

The purity one attains by hearing Śrīmad-Bhāgavatam cannot be attained by visiting Badarikāśrama or taking bath in the confluence at Prayāga.

O four-headed Brahmā, I go wherever the topics of Śrīmad-Bhāgavatam are discussed, just as a cow spontaneously follows her calf.

I never leave one who enjoys speaking or hearing Śrīmad-Bhāgavatam. One who does not offer respects after seeing the auspicious Śrīmad-Bhāgavatam loses the pious credits he accumulated over the past year.

I am unlimitedly pleased with one who stands in respect and then offers obeisances upon seeing Śrīmad-Bhāgavatam.

A person who circumambulates Śrīmad-Bhāgavatam achieves the results of an aśvamedha-yajña with every step. Of this there is no doubt.

!!All Glories to Sri Guru and Sri Gauranga!!